प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोप प्रकाशन संस्था
C/o श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन् प्रि. प्रेस, का. २-६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद-१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वेवाऽस्ति
— पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष !

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है ।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है । जब इस कोपका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे ।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोप के समान है । जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं ।

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोप जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं । अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं । अभिधानराजेन्द्र कोप सामान्य शब्दकोप नहीं हैं । किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है ।

— रमेश आर. जवेरी

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज

जगत्पूज्य–गुरूदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

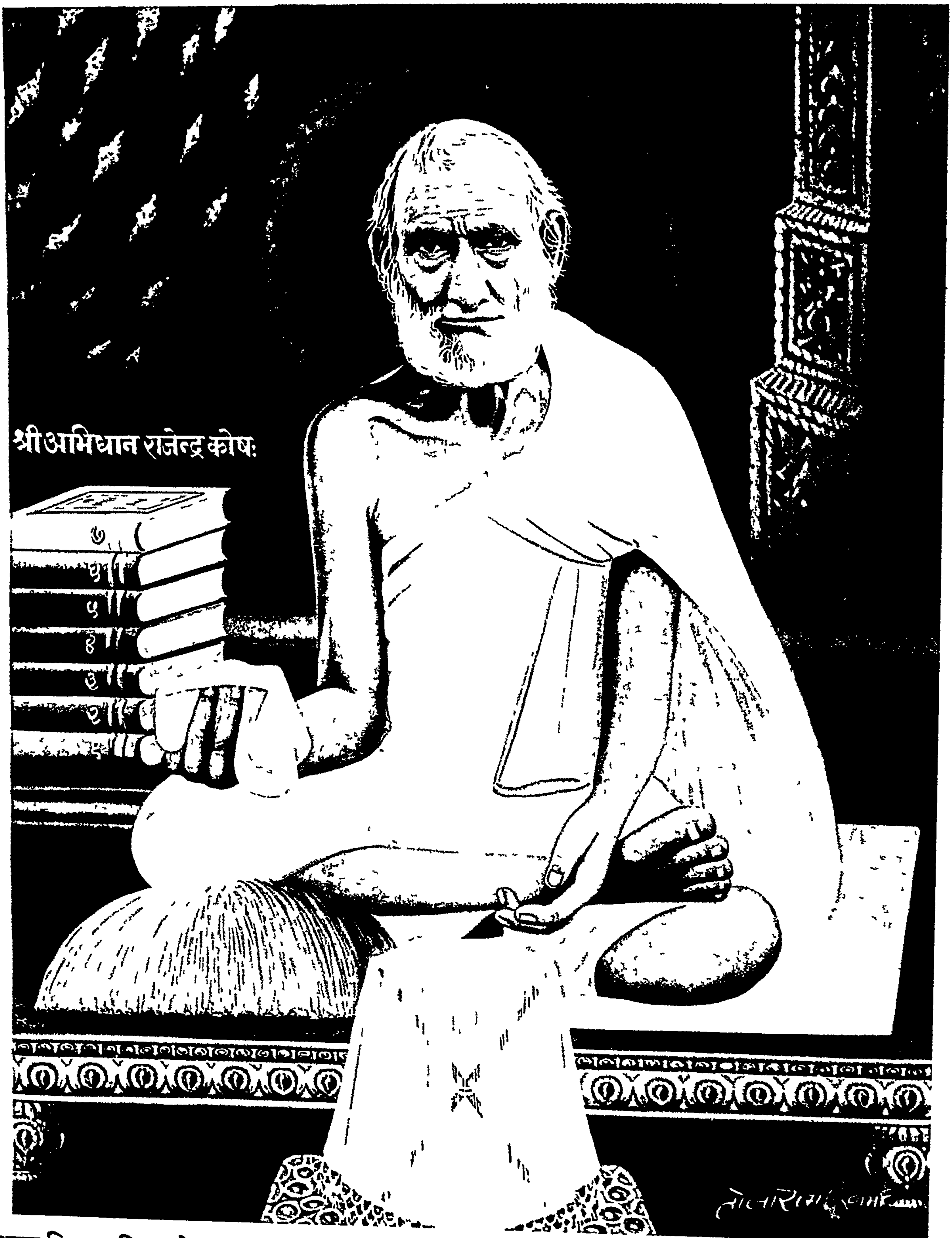


दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १

# प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना हैं श्री अभिधान राजेन्द्र कोश। इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भूत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ भा श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीमांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस मे इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य में परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ हैं।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन में परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानंदविजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल की ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं:

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मण्डल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला है।

इस प्रकाशन में हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है। उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ प्रवर्तिनी साध्वीजी गुरुणीजी प्रेमश्रीजी की शिष्या गुरुणीजी, रायश्रीजी की शिष्या साध्वीजी शिवश्रीजी की स्मृति में विदुषी साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढी, श्री भाण्डवपुर तीर्थ (राज)

४ श्री भेंसवाडा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जोवाणा (राज.)

६ शाह नेमिचन्द, देवीचन्द, फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी वलदरिया, कोशेलाव (राज.)

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ गुजरात)

८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद

९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ धाधाल

१० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-सुराणा

११ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ-धानेरा
१२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई ।
१३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ नेनावा (गुजरात)
१४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मैंगलवा (राज.)
१५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ सियाणा (राज.)
१६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ आकोली (राज.)
१७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (राज)
१८ श्री मांगीलाल, फुटरमल, शांतिलाल, किशोरचन्द्र बेटापोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुडाबालोतान् (राज)
१९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज.)
२० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म प्र)
२१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२२ शा जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, बीरचंद, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेंगलवा, (राजस्थान)
२३ श्री अमरचन्द देशमल, तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
२४ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं मद्रास
२५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटापोता हांसाजी रतनपुरावोरा, मोदरा (राज)
२६ श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी जैन ट्रस्ट मद्रास
२७ कुंदनमल सुरेशकुमार जगदीशकुमार बेटापोता मिश्रीमल नथाजी बागरेचा, आहोर
२८ कुसलराज भूरमलजी बूटा, आहोर (राजस्थान)
२९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ बाघोडा (राजस्थान)
३० सुकनलाल नेमिचंद ब्राइट स्टेनलेस मद्रास
३१ शान्तिलाल ज्वेलर्स नेल्लूर
३२ लीलाबेन गोठालालजी चौधरी रींगणोद
३३ कोठारी निर्मलाबेन धर्मपत्नी कोठारी सागरमलजी रंगलालजी छोटी सादडी
३४ श्री अखिलभारतीय त्रिस्तुतिक जैन संघ इन्दौर
३५ श्री जेठमलजी सरेमलजी भीनमाल
३६ श्री सोहनराज डुंगरजी भीनमाल
३७ श्री भांडवपुर मोहनखेडा तीर्थ छ'रीपालक संघ समिति
३८ संघवी गगलदास हालचंदभाई और संघवी भीखालाल मणीलाल अहमदाबाद

इन के अतिरिक्त गाँव नगरों के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेंगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, माडवला, धाणसा, आहोर, भेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडी, पांथेडी, बम्बई. सुमेरपुर, सांचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदावाद, लेवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, बामी, धानेरा, कलोल. झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू. आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक
श्री अभिधान राजेन्द्र कोषप्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल. श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद
२०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

# द्वितीयावृत्ति

## प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है । सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है ।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं ।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है । यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है । प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा मे स्वयं को डुबो दे । 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा ।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध । दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है । बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं ।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है । सहज स्थिति की कामना करनेवालो को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें ।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है । मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की । प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है । जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप मे और सुवर्ण सुवर्ण के रूप मे प्रकट होता है । मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है । ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक मे सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है ।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती हैं । जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में हैं; ऐसे संसारी जीवो का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आंखो पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन मे वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है; अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग मे रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन मे आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममे विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन मे ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया मे अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती; तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे वर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता हैं।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है, अतः खजाने मे से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता हैं। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ( आत्मशक्ति ) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। सक्षेप मे यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों मे आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालो के लिए द्वादशागी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि.. ...धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनो पक्षो के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म मे प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न वन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के वल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों मे जीव को परमात्मप्राप्ति के वाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन मे परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरुप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनो के अभाव मे जिनागमो का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया मे अपने हाथ मे लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत मे कुञ्जी वन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है-'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमो का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास मे हो तो और कोई ग्रन्थ पास मे रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमो मे निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' मे भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमे से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाम-माला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी-नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्व्यक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताएं प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा मे आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत मे की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रुप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है; इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमे व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमे तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्यादवाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानबे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी है। सात भागों मे विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों में विस्तारित है। इसमे धर्म-संकृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पडेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने मे यह महाग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपडे का एक छोटा सा टुकडा स्याही से तर कर देते थे और उसमे कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशों में उन्होने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति मे केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन मे उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है; क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बडा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बबई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमे यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले मे सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमश. विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में बसे हुए दूर दूर के हजारो श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास मे मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास मे गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति मे 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्याङ्कन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमे आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुखद थी, पर मैं मजबूर था। आतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन सस्थाओंने ...... ............... ...... ........................................। उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियो के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ । संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा । श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी । परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है ।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है, फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाए सदा स्मरणीय हैं ।

इस कार्य में हमे पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है । हम उन्हें नहीं भूल सकते ।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है । शुभम् ।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

# श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ { श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी }
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ { श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि }
९ { श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि }
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ { श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि }
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ { श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि }
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि }
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० { श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि }
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि

# आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय—सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरीजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर ( सूरत—गुजरात ) में बनकर परिपूर्ण ( तैयार ) हुआ ।

गवालियर रियासत के राजगढ ( मालवा ) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी—मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-मानीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकर' प्रिंटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोलना चाहिये । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त--चार महुम--गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सौंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि--प्रातःस्मरणीय—आचार्य--श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय--श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक--मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्--महातपस्वी--मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज, साहित्यविशारद--विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री--गुलाबविजयजी, मुनिश्री--हर्षविजयजी, मुनिश्री--हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृ० तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-रतलाम। | श्रीसंघ-बाँगरोद। | श्रीसंघ-राजगढ़। |
| ,, जावरा। | ,, बारोदा-बड़ा। | ,, झाबुआ। |

| श्रीसंघ-बड़नगर । | श्रीसंघ-सरसी । | श्रीसंघ-झकणावदा । |
|---|---|---|
| ,, खाचरोद । | ,, मुंजाखेड़ी । | ,, कूकसी । |
| ,, मन्दसोर । | ,, खरसोद-बड़ी । | ,, आलीराजपुर । |
| ,, सीतामऊ । | ,, चीरोला-बड़ा । | ,, रींगनोद । |
| ,, निम्बाहेड़ा । | ,, मकरावन । | ,, राणापुर । |
| ,, इन्दौर । | ,, बरड़िया । | ,, पारां । |
| ,, उज्जैन । | ,, (भाट)पचलाना । | ,, टांडा । |
| ,, महेन्दपुर । | ,, पटलावदिया । | ,, धार । |
| ,, नयागाम । | ,, पिपलोदा । | ,, खवासा । |
| ,, नीमच-सिटी । | ,, दशाई । | ,, रंभापुर । |
| ,, संजीत । | ,, बड़ी-कड़ोद । | ,, अमला । |
| ,, नारायणगढ़ । | ,, घामणदा । | ,, बोरी । |
| ,, बरड़ावदा । | ,, राजोद । | ,, नानपुर । |

## श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

| श्रीसंघ-अहमदाबाद । | श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) । | श्रीसंघ-डीसा । |
|---|---|---|
| ,, वीरमगाम । | ,, वाव । | ,, दूधवा । |
| ,, सूरत । | ,, भोरोल । | ,, वात्यम । |
| ,, साणंद । | ,, धानेरा । | ,, वासण । |
| ,, बम्बई । | ,, धोराजी । | ,, जामनगर । |
| ,, पालनपुर । | ,, डुवा । | ,, खंभात । |

## श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

| श्रीसंघ-जोधपुर । | श्रीसंघ-भीनमाल । | श्रीसंघ-शिवगंज । |
|---|---|---|
| ,, आहोर । | ,, सांचोर । | ,, कोरटा । |
| ,, जालोर । | ,, बागरा । | ,, फतापुरा । |
| ,, भैंसवाड़ा । | ,, धानपुर । | ,, जोगापुरा । |
| ,, रमणिया । | ,, आकोली । | ,, भारुंदा । |
| ,, मांकलेसर । | ,, साथू । | ,, पोमावा । |
| ,, देवावस । | ,, सियाणा । | ,, बीजापुर । |
| ,, विशनगढ़ । | ,, काणोदर । | ,, बाली । |
| ,, मांडवला । | ,, देलंदर । | ,, खिमेल । |

| | | |
|---|---|---|
| श्रीसंघ-गोल। | श्रीसंघ-मंडवारिया। | श्रीसंघ-सांडेराव। |
| ,, साहेला। | ,, मलदूट। | ,, खुडाला। |
| ,, आलासण। | ,, जावाल। | ,, राणी। |
| ,, रेवतड़ा। | ,, सिरोही। | ,, खिमाड़ा। |
| ,, भाणसा। | ,, सिरोड़ी। | ,, कोशीलाव। |
| ,, बाकरा। | ,, हरजी। | ,, पावा। |
| ,, मोदरा। | ,, गुडाबालोतरा। | ,, एंदला का गुड़ा। |
| ,, थलवाड़। | ,, भूति। | ,, चाणोद। |
| ,, मेंगलवा। | ,, लखतगढ। | ,, कूडसी। |
| ,, सूराणा। | ,, सेवदरिया। | ,, थाँवला। |
| ,, वाधाल। | ,, गेघाटा। | ,, जोयला। |
| ,, धनारी। | ,, भावरी। | ,, काचोली। |

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

## श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम ( मालवा )

॥ श्रीवर्द्धमानो जयति ॥

# श्रीअभिधानराजेन्द्रः ।

वीरं नमेऊण सुरेसपुज्जं, सारं गहेऊण तयागमाओ ।
साहूण सड्ढाण य बोहयं तं, वोच्छामि भागम्मि य पंचमम्मि ॥ १ ॥



## पकार

प-प-पुं० । पत् पा वा ड । पवने, पानरि पर्णे, पाने च । वाच० । सूर्ये शोषणे, वह्नौ, पाताले, वरुणे च । परित्राणे, क्षमे, क्षत्रे, निपाने पङ्कसङ्कुले, उपदेशे, स्थले च । "प सूर्ये शोषणे वह्नौ, पाताले वरुणेऽनिले । परित्राणे क्षमे क्षत्रे, निपाने पङ्कसकुले ॥८०॥" एका०ना० । पर्वते, क्षणे, प्रकारे, शुभलक्ष्ये च । "पुंल्लिङ्गे तु पकारः स्यात्, पवने पर्वते क्षणे ॥ ५६ ॥ प्रकारे शुभलक्ष्ये च, पात्रकौस्तुभयोरपि ॥ (५७)" एका० र० । "प त्ति य पाववज्जणे ।" प इति पापवर्जने, आ० म० १ अ० ।

प्र-अव्य० । "सर्वत्र लवरामचन्द्रे" ॥८।२।७६॥ इति रलोप । आदिकर्मणि, ज०। प्रणमिता, नमयितुमारब्धा इत्यर्थ । प्रशब्दस्याऽऽदिकर्मार्थत्वात् । ज०१ वक्ष०। उत्त०। प्राथम्ये, सर्वतो भावे, उत्पत्तौ, ख्यातौ,व्यवहारे च । वाच०। प्रकर्षे,सूत्र०२श्रु०१ अ०। उत्त०। आचा०। रा०। नि०चू०। प्रश्ना०। प्रश्रवणे, "विप्पोसहि" इत्यत्र प्रशब्देन प्रश्रवणग्रहणात् । औ० ।

पअ-पुं०-पयस्-न० । "स्नमदामशिरोनभ" ॥८।१।३२॥ इति पयस प्राकृते पुस्त्वम् । प्रा०१ पाद । जले, दुग्धे च । वाच०।

पआगजल-प्रयागजल-न० । "कगचज०" ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यस्य प्रायिकत्वान्न गलुक् । प्रयागाऽऽख्यतीर्थराजस्थगङ्गायमुनोदके, प्रा० १ पाद ।

पआर-प्रचार-पु० । 'प्रचार' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

प्रकार-पु० । "घञ् वृद्धिर्वा" ॥ ८ । १ । ६८ ॥ इति घञ्निमित्तस्य वृद्धिरूपस्याऽऽकारस्याद् वा 'पयार' शब्दे वक्ष्यमाणेऽर्थे, प्रा० १ पाद ।

पआवइ-प्रजापति-पु० । "कगचजतदपयवा प्रायो लुक् ।" ॥८।१।१७७॥ इत्यादिना जलुक् । प्रा० १ पाद । "अवर्णो यश्रुति." ॥ ८ । १ । १८० ॥ इति अवर्णस्थाने लघुप्रयत्नतरयकाराभाव. । प्रा० १ पाद ।

पइ-पति-पुं०। पाति रक्षति तामिति पति । भर्त्तरि,उत्त०१अ०। एकस्या स्त्रिया एक एव पतिर्भवति । मृते पत्यौ पत्नी ब्रह्मचर्यं चरतीति स्मृति । एताहश आचारश्च. पर प्राक्कस्मिंश्चिद्देशे एकस्या स्त्रिया अनेके भर्तार आसन् । तद्यथा -"थेरे मंडियपुत्ते वासिट्ठगुत्तेण अद्धुट्ठाइ समणसयाइ वापइ । थेरे मोरियपुत्ते कासवगुत्तेण अद्धुट्ठाइ समणसयाइ ।" इत्यादि । मण्डिकमौर्यपुत्रयोरेकमातृकत्वेन भ्रात्रोरपिभिन्नगोत्राऽभिधान पृथग् जनकापेक्षया । तत्र मण्डिकस्य पिता धनदेवो, मौर्यपुत्रस्य तु मौर्य इति । अनिसिद्ध च तत्र देशे एकस्मिन् पत्यौ मृते द्वितीयपतिवरणमिति वृद्धा । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । "पई भत्ता" पाइ० ना० २५३ गाथा ।

पइअ-देशी-भर्त्सिते, रथचक्रे च । दे०ना० ६ वर्ग ६४ गाथा ।

पइक्खण-प्रतिक्षण-अव्य० । प्रतिसमयमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० । कर्म० । ध० ।

पइच्छन्न-प्रतिच्छन्न-पुं० । भूतविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

पइट्ठ-प्रतिष्ठ-पु०। सुपार्श्वतीर्थकृत. सप्तमतीर्थकरस्य पितरि, प्रव० ११ द्वार । स० । आव० । ज्ञातरसे, विरले, मार्गे च । दे० ना० ६ वर्ग ६६ गाथा ।

पइट्ठवण-प्रतिष्ठापन-न० । प्रतिष्ठापने, जीवा० १ अधि० ।

पइट्ठा-प्रतिष्ठा-स्त्री० । "प्रत्यादौ ड. ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति-तस्य डः प्राप्तो न, प्रायिकत्वात् । प्रा०१ पाद । अवस्थाने, पञ्चा० ८ विव० । स्था०। ससारभ्रमणविरतौ, सूत्र० १ श्रु०११ अ० । सर्वज्ञगुणाध्यारोपे, जी० १ प्रति० । ( जिनबिम्बविधापनं, प्रतिष्ठाविधिश्च 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे उक्त. ) ( तत्कल्पस्तु प्रतिष्ठाकल्पग्रन्थादवसेय. ) प्रतिष्ठापन प्रतिष्ठा, अपायावधारितस्यैवार्थस्य हृदि प्रभेदेन प्रतिष्ठापने, न० । प्रतिष्ठन्त्यस्यामिति प्रतिष्ठा । आश्रये, औ० ।

पइट्ठाण-प्रतिष्ठान-न० । प्रतिष्ठते प्रासादोऽस्मिन्निति प्रतिष्ठानम् । पीठे, प्रव० १४८ द्वार । ध० । आधारे, रा० । स्था०। सूत्र० । त्रिसोपानमूलप्रदेशे, आ० म० १ अ० । स्था० । ज० । जी० । ससारगर्त्तापतत्प्राणिवर्गस्याऽऽधारे, त० । प्रतिष्ठान सम्यक्त्वम्, तस्य तथाकल्पत्वात् । तथाहि-यथा पय पर्यन्त पृथ्वीतलगतगर्त्तापूरकरहित प्रासाद सुदृढो न भवति, तथा धर्मदेवहर्म्यमपि सम्यक्त्वरूपप्रतिष्ठानपरित्यक्त निश्चलं न भवेदिति । प्रव० १४८ द्वार । आ० चू० । भावे

ल्युट् । अवस्थाने, स्था० ६ ठा० । स्थितौ, आव० ४ अ० । पुरभेदे, नागदत्तो नागवसुपुत्रो जिनकल्पं प्रतिपद्य भ्रष्टः । आ० क० । यत्र वा शालिवाहनो राजाऽऽसीत् । " पइट्ठाणे नगरे सालिवाहणो राया । सो वरिसे वरिसे भरुयच्छे नयरं नरवाहणं रायाणं रोहेइ । " विशे० । कल्प० । आव० । आ० म० ।

पइट्ठाणपट्टण-प्रतिष्ठानपत्तन-न०।महाराष्ट्रविषयप्रधानपुरे,ती.

" जीयाज्जैत्रं पत्तनं पूर्नमत्-क्षोदावर्या. श्रीप्रतिष्ठानसञ्ज्ञम् ।
रत्नाऽऽपीडं श्रीमहाराष्ट्रलक्ष्म्या ,रम्यं दर्शनेनार्शत्यैश्च चैत्यैः ।१।
अष्टौ षष्टिर्लौकिका अत्र तीर्था' द्वापञ्चाशज्जज्ञिरे चात्र वीराः।
पृथ्वीशानां न प्रवेशोऽत्र वीर-क्षेत्रत्वेन प्राहतेजोरवीणाम्॥२॥
नश्यतीति पुटभेदनतोऽस्मात् , पश्चियोजनमितं किल वर्त्म ।
वाघनाय भृगुकच्छमगच्छद् द्वाजिनो जिनपतिः क्रमहाद्म (?)३।
अन्विताभिनवतेनवशात्या, अन्त्यजेऽत्र शरदं जिनमोक्षात् ।
कालयोर्व्यचित वार्षिकमार्या , पर्वभाद्रपदशुक्लचतुर्थ्याम् ॥४॥
नत्तदायननर्वाङ्क्षिधीक्षणा-दत्र मुञ्चति जनो विचक्षणः ।
नन्दनात् सुरविमानधारणि-श्रीविलोकनविधं कुतूहलम् ॥५॥
सातवाहनपुरस्सरा नृपा-श्चित्रकारिचरिता इहाभवन् ।
दैवतैर्बहुविधं प्रतिष्ठिते, चाऽत्र सन्त्यनदनान्यनेकशः ॥ ६ ॥
कापिलाऽऽत्रेयबृहस्पति-पाञ्चाला इह महीभृदुपरोधात् ।
न्यस्तलक्ष(२)चतुर्लक्ष-ग्रन्थार्थं श्लोकमेकमकथयन् ॥ ७ ॥ "

स चायं श्लोकः —

' जीर्णे भोजनमात्रेयः , कपिलः प्राणिनां दया ।
बृहस्पतिरविश्वासः , पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ॥ ८ ॥ "

इह-

जयति दशोरस्मृत-च्छटा सुदर्शनदृशां पयोदघटा ।
जीवितस्वामिप्रतिमा, श्रीमन्मुनिसुव्रतस्य लेप्यमयी ॥ ६ ॥
वर्षाणामेकादश, लक्षाण्यष्टौ शतानि सार्द्धानि ।
अष्टौ शतानि षट् प-ञ्चाशानीत्यजनि कालोऽस्याः ॥ १० ॥
इह सुमतजिनचैत्ये, यात्रामासूत्र्य विहितविविधमहाम् ।
भव्यश्चैत्यालैहिक-पारत्रिकशर्मसंपत्ती ॥ ११ ॥
प्रासादेऽत्र श्रीजिनराजा, चारु चकासति लेप्यमयानि ।
अम्बा देवी क्षेत्राधिपति-र्यक्षाधिपतिश्चापि कपर्दी ॥१२॥ "
बिम्बान्यप्रतिबिम्ब-प्रीतिस्फीर्ति ददाति जिनानाम् ॥
" श्रीप्रतिष्ठानतीर्थस्य, श्रीजिनप्रभसूरय ।
कल्पमेतं विरच्चया-बभूवुर्भूतये सताम् ॥ १३ ॥ "
श्रीप्रतिष्ठानपत्तनकल्पः । ती० २२ कल्प ।

विस्तरेण तु-

" श्रीसुव्रतजिनं नत्वा प्रतिष्ठां प्रापुषः क्षितौ ।
प्रतिष्ठानपुरस्याभि-दध्मः कल्पं यथाश्रुतम् ॥ १ ॥ "

इह भारते वर्षे दक्षिणखण्डे महाराष्ट्रदेशावतंसं श्रीमत् प्रतिष्ठानं नाम पत्तनं विद्यते, तच्च निजभूत्याऽभिभूतपुरन्दरपुरमपि कालान्तरेण क्षुल्लकग्रामप्रायमजनिष्ट। तत्र चैकदा द्वौ वैदेशिकद्विजौ समागत्य विधवया स्वस्रा साकं कस्यचित् कुम्भकारस्य शालायां तस्थिवांसौ,कणवृत्तिं विधाय कणान् स्वसरुपनीय तत्कृताऽऽहारपाकेन समयं यापयतः स्म।अन्येद्युः सा तयोर्विप्रयोः स्वसा जलाऽऽहरणाय गोदावरीं गता, तस्याः स्वच्छं स्वरूपमप्रतिमरूपं निरूप्य स्मरपरवशोऽन्तर्ह्रदवासी शेषो नाम नागराजो ह्रदान्निर्गत्य विहितमनुष्यवपुस्तया सह बलादपि संभोगकेलिमकलयत. भवितव्यताविलसितेन तस्याः सप्तधातुरहितस्याऽपि तस्य दिव्यशक्त्या शुक्रपुद्गलसञ्चाराद्गर्भाऽऽधानमभवत् । स्वनामधेयं प्रकाश्य व्यसनसङ्कटे मां स्मरेरित्यभिधाय च नागराजः पातालालोकमगमत् , सा च स्वगृहं प्रत्यगच्छत् । व्रीडापीडिता च सा स्वभ्रात्रोः न वृत्तान्तं न्यवेदयत् । कालक्रमेण सोदर्याभ्यां गर्भलिङ्गानि वीक्ष्य सा जारगर्भेत्यतर्क्यत । ज्यायसस्तु मनसि शङ्का जाता-यदियं खलु कनीयसोपभुक्तेति. शङ्कनीयान्तराभावात् । यवीयसोऽपि चेतसि समजनि विकल्प -नूनमस्या ज्यायसा सह विनष्टशीलत्वम् इति मिथः कलुषिताऽऽशयौ विहाय तामेकाकिनीं पृथक् देशान्तरमयासिष्टाम् । साऽपि प्रवर्धमानगर्भा परमन्दिरेषु कर्माणि निर्माणा प्राणवृत्तिमकरोत् क्रमेण पूर्णेऽवसरे सर्वलक्षणलक्षिताङ्गं प्रासूत तनयम् । स च क्रमात्पुष्टः गुणैश्च वर्धमानः सवयोभिः रममाणो बालक्रीडया स्वयं भूपतीभूय तेभ्यो वाहनानि करितुरगरथाऽऽदीनि क्लृप्तमृन्मयानि दत्तवानिति, सनोतेर्दानार्थत्वाल्लोके सातवाहन इति व्यपदेशं लम्भितः. स्वजनन्या पाल्यमानः सुखमवास्थित ।

इतश्चोज्जयिन्यां श्रीविक्रमाऽऽदित्यस्यावन्तिनरेशितुः सदसि कश्चिन्नैमित्तिकः सातवाहनं प्रतिष्ठानपत्तने भाविनं नरेन्द्रमादिक्षत् । अथ तस्यामेव पुर्यामेकः स्थविरद्विजः स्वाऽऽयुरवसानसमये स्वचतुरः स्वतनयानाहूय प्रोक्तवान्-यथा वत्साः ! मयि परासुतां गतेऽपि मदीयशय्यायाः पल्यङ्कस्य दक्षिणपादादारभ्य चतुर्णामपि पादानामधो वर्तमानं कलशचतुष्टयं युष्माभिर्यथाक्रमं विभज्य ग्राह्यं येन भवतां निर्वाहः सम्पनीपद्यते । पुत्रैस्तु तथेत्यादेशः स्वीचक्रे पितुः । तस्मिंस्तूपरते तस्यौर्ध्वदैहिकं कृत्वा त्रयोदशेऽहनि भुवं खात्वा यथायथं चतुरोऽपि निधिकलशान्ते जगृहिरे । यावदुद्घाट्य निभालयन्ति तावत्प्रथमेन कुम्भस्य कनकम् , द्वैतीयीकस्य कृष्णमृत्स्ना, तृतीयस्य बुसं, तुरीयस्य चाऽस्थीनि ददृशिरे तदनु ज्यायसा साकं इतरे त्रयो विवदन्ते स्म-यदस्मभ्यमपि विभज्य कनकं वितीर्यताम् । तास्मिंश्चाविनरति सति तेऽवन्तिपतेः धर्माधिकरणमुपास्थिषत । तत्रापि न तेषां वादनिर्णयः समपादि । ततश्चत्वारोऽपि ते महाराष्ट्रजनपदमुपातासिषुः । सातवाहनकुमारस्तु कुलालमृदा हस्त्यश्वरथसुभटानल्पान् विदधानः कुलालशालायां बालक्रीडादुर्ललितः कालमतिवाहयन्नासीत्(?) । ते च द्विजतनुजाः प्रतिष्ठानपत्तनमुपेत्य परितस्तस्यामेव चक्रजीवनशालायां तस्थिवांसः । सातवाहनकुमारस्तु तानवेक्ष्येङ्गिताकारज्ञानकुशलः प्रोवाच-भो विप्राः ! किं भवन्तश्चिन्तापन्ना इव लक्ष्यन्ते। तैस्तु जगदे सुभग ! कथमिव वयं चिन्ताऽऽक्रान्तचेतसस्त्वयाऽज्ञासिष्महि ?। कुमारेण बभणे-इङ्गितैः किमिव नावगम्यते ?। तैरुक्तं-युक्तमेतत् । परं भवतः पुरो निवेदितेन किं चिन्ताऽपहतिः ? । चिन्ताऽपगमोपायं वदिष्यामि,इति सोऽवोचत्। ततस्ते तद्वचनवैचित्र्याहृतहृदयाः सकलमपि स्वस्वरूपं निधिनिर्णयादि मालवेशपरिषद्यपि विवादानिर्णयान्तं तस्मै निवेदितवन्तः । कुमारस्तु स्मितवत्स्फुरिताऽधरोऽवादीत् भो विप्राः !- अहं यौष्माकं कलहं निर्णयामि,श्रूयतामवहितैः -यस्य तावद्धस्तमाप्तः कनककलशः स तेनैव निर्वृतोऽस्तु, यस्य कलशे कृष्णमृत्स्ना निरगात् स क्षेत्रकेदाराऽऽदीन् गृह्णातु, यस्य तु बुसं स कोष्ठाऽगारगतधान्यानि सर्वाण्यपि स्वीकुरुताम् । य-

इव चासीनि निरगु सोऽश्वगोमहिषीवृषभदासीदासाऽऽदि-
कनुगाश्चाभिमि युगपत्नक्ष्याऽऽशय । इति वीरकगठोक्त
श्रुत्वा स्तूनक्रूराक्षिल्लुर्णदि.दाम्नदत्त प्रतिश्रुत्य नगनुशाप्य
प्रत्यायत् ...गांम्. प्र. गना मा तद्विवादनिर्णयकथा पुर्या
म् । गाशाऽऽगाकार्य पर्यनुयुक्त । किं नु भो भवतां वादनिर्ण
यो जात ? तैरुक्तश्चाऽऽम् स्वामिन् ! कृत निर्णीत इति नृप
णोदिने मानच.छन वन्दर सर्वमपि यथानथ्यमचकथयन् । त-
दाकर्ण्य तस्य शिशोरपि बुद्धिवैभव विभाव्य प्राशुक्त दैवज्ञेन
तस्य प्रतिष्ठाने राज्य भविष्यतीत्यनुस्मृत्य तं सशंकितपार्थिवमा
कलस्य त्तुभितमनास्तन्मारणोपायिकर्मान्तिन्तयाश्चर नरेश्वर ।
अभिसगाऽऽदिप्रयोगैर्मारितं त्रासितवश । दायवृत्तिशीतिभं-
वनादीनि विचार्य सपक्षतुरङ्गरथमूलमूलाऽवन्तीपति प्रस्था-
य प्रतिष्ठानपत्तन यथेष्टमवेष्टयत् , तद्वलोक्य त प्राम्याश्च-
स्तात्भिन्तयन्ति स-कस्योपर्ययमेतावानाटोप सकोपस्य मा-
लवेशस्य, न तावदत्र राजा, राजन्यो वा वीर', न च तादृ-
ग्दुर्गादि वेति चिन्तयत्सु तेपु मालवशप्रहितो दूत समेत्य
सातवाहनमवोचत्-भा कुमारक ! तुभ्य नृप क्रुद्ध, प्रात-
स्त्वा मारयिष्यत्यतो युद्धाऽऽयुपायचिन्तनायहितेन भवता
भाव्यमिति । स च श्रुत्वाऽऽपि दूतोक्त निर्भयं निर्भरं क्रीडन्न
वाऽऽस्त, अत्रान्तरे विदितपरमार्थौ तौ तन्मातुलावितरेतरं
प्रतीयगतदुर्विकल्पौ पुन प्रतिष्ठानमागतौ परचक्रं दृष्ट्वा भ-
गिनीं प्रोचतु -हे स्वस. ! येन दिवौकसा तवायं तनयो दत्त-
स्त्वमेव स्मर । यथा स एवास्य साहाय्य विधत्ते । सोऽपि त-
द्वचसा प्राचीनं नागपतेर्वच. स्मृत्वा शिरसि निधेशितघटा
गोदावर्यां नागह्रद गत्वा स्नात्वा च तमेव नागनायकमाराध-
यत् । तत्क्षणान्नागराज प्रत्यक्षीभूय वाचमुवाच ब्राह्मणीम्-
को हेतुरहमनुस्मृतस्त्वया ? । तया च प्रणम्य यथास्थित-
मभिहिते बभाषे शेषराज.-मयि प्रतिपातरि कस्तव तनय-
मभिभवितुं क्षम ?, इत्युदीर्य तद्घटमादाय ह्रदान्तर्निमज्य
पीयूषकुण्डात् सुधया घटमापूर्याऽऽनीय तस्यै दत्तवान् ,
गदितवांश्चानेनऽमृतेन सातवाहनकृतमृन्मयाश्वरथगजपदा-
तिजातमभिषिञ्चे , यथा तत् सजीवं भूत्वा परबल भनक्ति,
त्वत्पुत्रं च प्रतिष्ठानपत्तनराज्येऽयमेव पीयूषघटोऽभिषेक्ष्य-
ति, प्रस्तावे पुन स्मरणीयोऽहमित्युक्त्वा स्वाऽऽस्पदमगमद्
भुजङ्गपुङ्गव । साऽपि सुधाघटमादाय सद्मोपेत्य तत तन्मय
सैन्यमदैन्यमभ्युक्षयामास । प्रातर्दिव्यानुभावत , सचेतनी-
भूय तत्सैन्य समुखं गत्वा युयुधे । परानीकिन्या सार्द्धं तया
सातवाहनपृतनया भग्नमवन्तीशितुर्बल, विक्रमनृपतिरपि प-
लाय्य ययाववन्तीं, नद्नु सातवाहनोऽपि क्रमेण दक्षिणा-
पथमनृण विधाय तापीतीरपर्यन्त चोत्तरापथ साधयित्वा
स्वकीयसंवत्सर प्रावीवृतत् , जैनश्च समजनि, अचीकरच्च
जनितजननयनशैत्यानि जिनचैत्यानि, पञ्चाशद्वीरा अपि प्र-
त्येक स्वस्वनामाङ्कितान्यन्तर्नगरं कारयांबभूवुर्जिनभवनानि ।
इति प्रतिष्ठानपत्तनकल्प । ती० ३२ कल्प ।

पइट्ठाणपुर-प्रतिष्ठानपुर-न० । महाराष्ट्रदेशप्रधाननगरे, ती०
३२ कल्प ।

पइट्ठावग-प्रतिष्ठापक-पु० । व्यवस्थापके, औ० । राजाऽऽदि-
समक्ष स्वपदानवेशनेन प्रतिष्ठाकारके स्था० ? श्रु० १८ अ० ।

पइट्ठावण-प्रतिष्ठापन-न० । व्यवस्थापने, पञ्चा० ७ विव० ।
संस्थापने, पञ्चा० ८ विव० ।

पइट्ठिइ-प्रतिस्थिति-अव्य० । स्थितिं स्थितिं प्रति प्रतिस्थि-
ति । वीप्सायां योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्येऽ-
व्ययीभाव । एकैकस्मिन् स्थितिबन्धे, " पइठिइमसखलोग-
समा । ' कर्म० ५ कर्म० ।

पइट्ठिय-प्रतिष्ठित-त्रि० । व्यवस्थिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १
अ० ७ उ० । स्था० । आ० म० । ज्यो० । प्रतिबद्धे, आचा०
२ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

पइणियय-प्रतिनियत-त्रि० । अवश्य भाविनि, प्रतिनियत-
दिवसभाविनि, "इंदाइमहा पायं, पइनियया ऊसवा होंति ।"
आ० म० १ अ० ।

पइण्ण-प्रकीर्ण-त्रि० । विक्षिप्ते, वृ० १ उ० १ प्रक० ।

प्रतीर्ण-त्रि० । प्रकर्षेण तीर्णे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।
वैपुल्ये, दे० ना० ६ वर्ग ७ गाथा ।

पइण्णंतर-प्रतिज्ञान्तर-न० । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव
धर्मिणि धर्मान्तर साधनीयमभिदधतो निग्रहस्थानभेदे,स्या० ।

पइण्णकहा-प्रकीर्णकथा-स्त्री० । उत्सर्गे, ' उस्सग्गे पइण्णकहा
भण्णति, अववादो निच्छयकहा भण्णति । " नि० चू० ५ उ० ।

पइण्णग-प्रकीर्णक-त्रि० । अनावलिकाबद्धे, द्विविधा नरका -
आवलिकाप्रविष्टा , प्रकीर्णकाश्च । स्था० ६ ठा० । तीर्थकृत्सा-
मान्यसाधुकृते ग्रन्थे, त० । (प्रकीर्णकसंख्या 'तदुलवेयालिय'
शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६८ पृष्ठे गता )

तथा च प्रकीर्णकानि—

एवमाइयाइं चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अर-
हओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स । तहा संखिज्जाइं
पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगजिणवराणं । चोद्दसपइन्नगसह-
स्साणि समणस्स भगवओ वद्धमाणसामिस्स । अहवा-
जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए
पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया,तस्स तत्तियाइं
पइण्णगसहस्साइं, पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव ।

(एवमाइयाइ इत्यादि) कियन्ति नाम नामग्राहमाख्यातुं श-
क्यन्ते प्रकीर्णकानि, तत एवमादीनि चतुरशीतिप्रकीर्णक-
सहस्राणि भगवतोऽर्हत श्रीऋषभस्वामिनः तीर्थकृतस्तथा-
संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि मध्यमानामजिताऽऽदीना जि-
नवरेन्द्राणाम् । एतानि च यस्य यावन्ति भवन्ति तस्य तावन्ति
प्रथमानुयोगतो वेदितव्यानि । तथा चतुर्दशप्रकीर्णकसह-
स्राणि भगवतोऽर्हतो वर्द्धमानस्वामिन । इयमत्र भावना-इह
भगवत ऋषभस्वामिन चतुरशीतिसहस्रसंख्या. श्रमणा
आसीरन् । तत प्रकीर्णकरूपाणि चाध्ययनानि कालिको-
त्कालिकभेदभिन्नानि सर्वसंख्यया चतुरशीतिसहस्रसंख्या-
न्यभवन् । कथमिति चेत् ? । उच्यते-इह यद्भगवदर्ह-
दुपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य भगवन्त श्रमणा विरचयन्ति , त-
त्सर्वं प्रकीर्णकमुच्यते । अथवा-श्रुतमनुसरन्तो यदा-
त्मनो वचनकौशलेन धर्मदेशनाऽऽदिषु ग्रन्थपद्धतिरूपतया
भाषन्ते तदपि सर्वं प्रकीर्णकं , भगवतश्च ऋषभस्वामि-

न उत्कृष्टा श्रमणसम्पदासीत् चतुरशीतिसहस्रप्रमाणा, ततो घटन्ते प्रकीर्णकान्यपि भगवतः चतुरशीतिसहस्रसङ्ख्यानि । एवं मध्यतीर्थकृतामपि संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि भावनीयानि । भगवतस्तु वर्द्धमानस्वामिनः चतुर्दशश्रमणसहस्राणि, तेन प्रकीर्णकान्यपि भगवतश्चतुर्दशसहस्राणि । अत्र द्वे मते । एके सूरयः प्रज्ञापयन्ति-इदं किल चतुरशीतिसहस्राऽऽदिकं ऋषभाऽऽदितीर्थकृतां श्रमणपरिमाणं प्रधानसूत्रविरचनसमर्थान् श्रमणानधिकृत्य वेदितव्यम्, इतरथा पुनः सामान्यश्रमणाः प्रभूततरा अपि तस्मिन् ऋषभाऽऽदिकाले आसीरन् । अपरे पुनरेवं प्रज्ञापयन्ति-ऋषभाऽऽदितीर्थकृतां जीवतामिदं चतुरशीतिसहस्राऽऽदिकं श्रमणपरिमाणम्, प्रवाहतः पुनरेकैकस्मिन् तीर्थे भूयांसः श्रमणा वेदितव्याः । तत्र ये प्रधानसूत्रविरचनशक्तिसमन्विताः सुप्रसिद्धतद्ग्रन्थाः अनन्तकालिका अपि तीर्थे वर्त्तमानास्तेऽत्राधिकृता द्रष्टव्याः । एतदेव मतान्तरमुपदर्शयन्नाह-( अथवेत्यादि ) अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने; यस्य ऋषभाऽऽदेस्तीर्थकृतो यावन्तः शिष्याः तीर्थे औत्पत्तिक्या वैनयिक्या कर्मजया पारिणामिक्या चतुर्विधया बुद्ध्या उपेताः समन्विता आसीरन्, तस्य ऋषभाऽऽदेस्तीर्थकृतः तावन्ति प्रकीर्णकसहस्राणि अभवन्, प्रत्येकबुद्धा अपि तावन्त एव । अन्ये व्याचक्षते-इहैकैकस्य तीर्थकृतस्तीर्थे अपरिमाणानि प्रकीर्णकानि भवन्ति, प्रकीर्णककारिणामपरिमाणत्वात्, केवलमिह प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानि द्रष्टव्यानि, प्रकीर्णकपरिमाणेन प्रत्येकबुद्धपरिमाणप्रतिपादनात् । स्यादेतत्-प्रत्येकबुद्धानां शिष्यभावो विरुध्यते, तदेतदसमीचीनम्, यतः प्रव्राजकाऽऽचार्यमेवाधिकृत्य शिष्यभावो निषिध्यते न तु तीर्थकरोपदिष्टशासनप्रतिपन्नत्वेनापि, ततो न कश्चिद्दोषः । तथा च तेषां ग्रन्थः -" इह तित्थे अपरिमाणा पइण्णगा पइण्णगसामिअपरिमाणत्तणओ, किं तु इह सुत्ते पत्तेयबुद्धपणीयं पइण्णगं भाणियव्वं । कम्हा जम्हा ?, पइण्णगपरिमाणेण चेव पत्तेयबुद्धपरिमाणं करेंति । इय भणिय-पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव । चोयग आह-ननु पत्तेयबुद्धाणं सिस्सभावो विरुज्झए । आयरिय आह-तित्थगरपणीयसासणपडिवन्नत्तेण उ ते तस्सीसा हवंतीति ।" अन्ये पुनरेवमाहुः-सामान्येन प्रकीर्णकैस्तुल्यत्वात् प्रत्येकबुद्धानामत्राभिधानं, न तु नियोगतः प्रत्येकबुद्धरचितान्येव प्रकीर्णकानीति । नं० । प्रज्ञा० । प्रकीर्णककथोपयोगिज्ञानके पदे, दश० २ अ० । ( प्रकीर्णकसङ्ख्या ' उद्देस ' शब्दे द्वितीयभागे ७६६ पृष्ठेऽपि गता )

पइण्णगतव-प्रकीर्णकतपस्-न० । व्यक्तितो भिक्षुप्रतिमावत्सूत्रेऽनिषिद्धे तपोभेदे, पञ्चा० १६ विव० । (" तित्थयर० " ( ६ ) इत्यादिगाथा ' तित्थयरणिग्गमतव ' शब्दे चतुर्थभागे २३१३ पृष्ठे व्याख्याता )

पइण्णपण्ह-प्रकीर्णप्रश्न-त्रि० । विक्षिप्तच्छेदश्रुतरहस्ये, बृ० ।

अथ प्रकीर्णद्वारमाह—

मोउ अणभिगताण, कहेइ अमुगं कहिज्जई इत्थं ।
एस उ पइण्णपण्हो, पइण्णविज्जो उ सव्वं पि ॥ ७६३ ॥

योऽर्थमण्डल्या रहस्यिकग्रन्थार्थं श्रुत्वा उत्थितः सन्ननभिगतानामपरिणतानां लेशोद्देशेन कथयति । यथा-अमुकं प्रलम्बग्रहणादिकमत्र सूत्रे कल्पनीयतया कथ्यते, एष प्रकीर्णप्रश्नः, प्रकीर्णप्रश्नशब्दनेह-प्रकर्षेण ज्ञायते उत्सर्गापवादतत्त्वमनयेति व्युत्पत्त्या छेदश्रुतं गुह्यरहस्यप्रवचनपद्धतिरुच्यते, सा प्रकीर्णा विक्षिप्ता येन स प्रकीर्णप्रज्ञः । प्रकीर्णप्रश्न इति वा पाठः । तत्र अपरिणते किमेतद् रहस्यसूत्रमत्राभिधीयते इत्युल्लेखेन पृच्छ्यते इति प्रश्नः छेदश्रुतान्तःपाती रहस्यार्थः, स प्रकीर्णो येन स प्रकीर्णप्रश्नः । तथा प्रकीर्णविद्यस्तु सर्वमप्यादितआरभ्य पर्यन्तं यावत् छेदश्रुतमुत्सर्गापवादसहितमपरिणतानां कथयति, विद्याशब्देन चात्राखण्डच्छेदश्रुतमभिधीयते, प्रकीर्णा विद्या येन स प्रकीर्णविद्य इति ॥ ७६३ ॥

अथ द्विविधस्यापि प्रकीर्णव्याकर्तुर्दोषानाह-

अप्पच्चओ अकित्ती, जिणाण ओहाव मइलणा चेव ।
दुल्लहबोहीअत्तं, पावंति पइण्णवागरणा ॥ ७६४ ॥

अपरिणताऽऽदीनां राहस्यिकेषु पदेषु श्राव्यमानेषु अप्रत्ययोऽविश्वासो भवति-पूर्वापरविरुद्धमिदं शास्त्रं, यतः पूर्वं न कल्पते तालप्रलम्बं प्रतिगृहीतुमिति प्ररूप्य पश्चात् कल्पते इत्यनुज्ञाया प्रतिपादनात् । यथा चैतदलीकं, तथा सर्वमपि जिनप्रवचनमीदृशमेवेति । ते चैवं विपरिणताः सन्तो जिनानां-तीर्थकृतामकीर्त्तिं कुर्युः-कुतः एषां सर्वज्ञत्वं, यैरीदृशं पूर्वापरव्याहतं ज्ञापितमिति ? । ततश्च ( ओहाव त्ति ) अवधावनमुत्-प्रव्रजनं कुर्वीरन् । अथ नोत्प्रव्रजेयुस्तथाऽपि ( मइलण त्ति ) तेषामद्याप्यपरिणतत्वादपवादपदं श्रुत्वा अपरिणामकत्वेन वा शङ्काऽऽदिदोषतो ज्ञानाऽऽदीनां मलिनता मालिन्यं स्यादिति । ततश्चैवमप्रत्ययाऽऽदिकं जनयन्तो दुर्लभबोधिकत्वं प्राप्नुवन्ति । क एते इत्याह-प्रकीर्णव्याकरणाः प्रविस्तारितच्छेदश्रुतरहस्यार्थनिर्वचनाः, प्रकीर्णप्रश्नाः, प्रकीर्णविद्याश्चेत्यर्थः । व्याख्यातं प्रकीर्णद्वारम् ॥७६४॥ बृ०१ उ०१ प्रक० ।

पइण्णपण्ह-प्रकीर्णप्रश्न-त्रि० । विक्षिप्तच्छेदश्रुतान्तःपातिरहस्यार्थे, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पइण्णवागरण-प्रकीर्णव्याकरण-त्रि० । प्रस्तारितच्छेदश्रुतरहस्यार्थनिर्वचने, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पइण्णविज्ज-प्रकीर्णविद्य-त्रि० । विद्याशब्देन चात्राखण्डं छेदश्रुतमभिधीयते, प्रकीर्णा विद्या येन स प्रकीर्णविद्यः । विक्षिप्तसमग्रच्छेदश्रुते, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पइण्णा-प्रतिज्ञा-स्त्री० । प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा । साध्यवचननिर्देशे, दश० ।

धम्मो मंगलमुक्कि-ट्ठं ति पइन्नऽत्तवयणनिद्देसो ।
सो य इहेव जिणमए, नन्नत्थ पइन्नपविभत्ती ॥१४३॥

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति पूर्ववत्, इयं प्रतिज्ञा । आह-केयं प्रतिज्ञेति ?, उच्यते-आप्तवचननिर्देश इति । तत्राऽऽप्तोऽप्रतारकः, अप्रतारकश्चाशेषरागाऽऽदिक्षयाद्भवतीति । उक्तं च-" आगमो ह्याप्तवचन-माप्तं दोषक्षयाद्विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥ १ ॥ " तस्य वचनमाप्तवचनं, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः । आह-अयमागम इत्युच्यते, विप्रतिपन्नसम्प्रतिपत्तिनिबन्धनत्वेनैष एव प्रतिज्ञेति नैष दोषः । पाठान्तरं वा-साध्यवचननिर्देश इति । साध्यत इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थो यस्मात् स एवोच्यते, साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनं, साध्यार्थ इत्यर्थः । तस्य निर्देशः

प्रतिहेत्युक्तं प्रयोगोऽवयवः । इत्यादि । दश० १ अ० । आ० म०। आव० । नियमे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । ("नाज्ञाण०" इत्यादिश्लोक चतुर्थभागे २७०० पृष्ठे गतः)

**पइण्णाविरोह**–प्रतिज्ञाविरोध–पुं० निग्रहस्थानभेदे, स्था०। "प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥४॥" गौ० सू० ५ अ० २ आ० । अत्र च प्रतिज्ञाहेतुपदे कथाकालीनवाक्यपरे, तथा च कथायां स्ववचनार्थविरोधः प्रतिज्ञाविरोधः, यथापि काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान् पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् ह्रदो वह्निमान् ह्रदत्वात् पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमादित्यादौ हेत्वाभासान्तरसाङ्कर्ये, तथाऽप्युपधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसाङ्कर्यान्न दोषः । न चासङ्कीर्णस्थलाभावः पर्वतो न वह्निमान् धूमात्, यो यो धूमवान् स निरग्निरित्युदाहरणे निरग्निश्चायमित्युपनये तत्सत्वात् एवं निगमनेऽपि बोध्यम् । वा० वृ० । वाच० ।

**पइण्णाविसेस**–प्रतिज्ञाविशेष–पुं० अभिग्रहविशेषे, पञ्चा० १ विव० ।

**पइण्णासण्णास**–प्रतिज्ञासंन्यास–पुं० चतुर्थे निग्रहस्थानभेदे, स्था०। "पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्यासः ॥५॥" गौ० सू० ५ अ० २ आ० । पक्षस्य स्वाभिहितस्य परेण प्रतिषेधे कृते तत्परिजिहीर्षया प्रतिज्ञातस्यार्थस्यापनयनमपलाप इत्यर्थः । वाच० ।

**पइण्णाहाणि**–प्रतिज्ञाहानि–स्त्री० । हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतो निग्रहस्थानभेदे, स्था० । (अत्र 'निग्गहट्ठाण' शब्दे चतुर्थभागे पृष्ठे उदाहरणानि)

**पइण्णेसणा**–प्रकीर्णैषणा–स्त्री० । अनभिगृहीतैषणायाम्, प० चू० ।

**पइदिअस**–प्रतिदिवस–अ० । अहर्निशे, पञ्चा० ३ विव० ।

**पइदिण**–प्रतिदिन–अव्य० । प्रत्यहमित्यर्थे, प० ९८ १ द्वार ।

**पइदिणकिरिया**–प्रतिदिनक्रिया–स्त्री० । प्रतिदिनं प्रत्यहं क्रिया चेष्टा प्रतिदिनक्रिया । प्रव्रजितानां चक्रवालसामाचार्याम्, पं० व० १ द्वार ।

अथ श्रावकस्य प्रतिदिनक्रिया । तत्रापि नियमतः प्रतिदिनकर्तव्यमाह–

**णवकारेण विबोहो, अणुसरणं सावओ वयाइं मे ।**
**जोगो चिइवंदणमो, पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं ॥४२॥**

नमस्कारेण परमेष्ठिपञ्चकनमस्क्रियया, आत्यन्तिकतद्बहुमानकार्यभूतया परममङ्गलार्थया वा विबोधो जागरणं, कार्य इति शेषः । एवमुक्तमपि । इह चाविशेषेणैके नमस्कारपाठं प्ररूपयन्ति । अन्ये आहुः–"नवकारचिंतणं माणसम्मि सेज्जागएण कायव्वं । सुत्ताविणयपवित्ती, निवारिया होइ एवं तु ॥१॥" तथाऽनुस्मरणमनुचिन्तनं सदसत्कर्तव्यप्रवृत्तिहेतुभूतम् । किंस्वरूपं तदित्याह–श्रावकः श्राद्धोऽहं, तथा व्रतान्यणुव्रतादीनि नियमाः, (मे) मम, सन्तीति शेषः । उपलक्षणं चैतत् । तेनाह–कुलोऽहमहं शिष्यश्चेत्यादि द्रव्यतः, अमुत्र ग्रामगृहादाविति क्षेत्रतः, प्रभातमिदमित्यादि कालतः, मूत्रादिबाधानां का बाधेत्यादि भावतः । ततो योगः कायिकोत्सर्गशौचादिरूपो व्यापारः । एवं हि देहबाधापरिहारतः समाधेश्चैत्यवन्दनादीनां भावानुष्ठानता । ततश्चैत्यवन्दनं पूजापुरस्सरमर्हद्बिम्बवन्दनम् । ओ इति निपातो गाथापूरणार्थः । ततः प्रत्याख्यानमागमप्रसिद्धं, चशब्दः समुच्चये । विधिपूर्वमागमिकविधानपुरस्सरं, न तु यथाकथञ्चित् । एतच्च विशेषणं चैत्यवन्दने प्रत्याख्याने च सम्बन्धनीयम् । विधिश्च तयोस्तत्प्रकरणयोर्वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ॥४२॥



तत–

**तह चेईहरगमणं, सक्कारो वंदणं गुरुसगासे ।**
**पच्चक्खाणं सवणं, जइपुच्छा उचियकरणिज्जं ॥४३॥**

तथा तेन प्रकारेण विधिपूर्वकलक्षणेन । चैत्यगृहगमनं जिनबिम्बभवने यानं, प्रवेशश्च । तत्र यानविधिः–"सव्वाए इड्ढीए सव्वाए दित्तीए सव्वाए जुत्तीए सव्वसमुदएणं ।" इत्यादि । एवं हि प्रवचनप्रभावना कृता भवति । प्रवेशविधिस्तु–"सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडिएणं उत्तरासंगेणं, चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं, मणसो एगत्तीभावेण त्ति ।" तत्र च सत्कारो माल्यादिभिरभ्यर्चनम्, अर्हत्प्रतिमाया इति गम्यते । वन्दनं प्रसिद्धविधिना चैत्यवन्दनम् । ततो गुरुसकाशे गुरुसमीपे प्रत्याख्यानं स्वयं गृहादिगृहीतप्रत्याख्यानस्य गुरुसाक्षिकत्वविधानमित्यर्थः । ततः श्रवणमाकर्णनं गुरुसकाशादेवाऽऽगमस्येति गम्यते । एवं हि सत्क्रियानिबन्धनं सद्बोधो भवति । ततो यतिपृच्छा साधुशरीरसंयमवार्ताप्रच्छनम् । एवं हि विनयः प्रयुक्तो भवति । तत्र चोचितकरणीयं विहितकर्तव्यं, ग्लानत्वाऽऽद्यौषधप्रदानोपदेशाऽऽदिविधेयम् । अन्यथा पृच्छाया नातिसार्थकता स्यादिति गाथार्थः ॥४३॥

तत–

**अविरुद्धो ववहारो, काले तह भोयणं च संवरणं ।**
**चेइहराऽऽगम सवणं, सक्कारो वंदणाई य ॥ ४४ ॥**

अविरुद्धः प्रागुपदर्शितपञ्चदशकर्मादानपरिहारतोऽनवद्यप्रायो व्यवहारो वृत्तिनिमित्तप्रवृत्तिः, कार्य इति शेषः । अन्यथा धर्मबाधा, प्रवचनहीला च स्यादिति । काले शरीराऽऽरोग्यानुगुणे, प्रत्याख्यानतीरितत्वसमयस्वरूपे वा । अकालभोजने हि धर्मस्यापदोषाबाधा स्यादिति । तथा तेन भणितप्रकारेण । तद्यथा–"जिणपूओचियदाणं, परियणसंभालणा उचियकिच्चं । ठाणुववेसो य तहा, पच्चक्खाणस्स संभरणं ॥ १ ॥" इत्यादि । भोजनमाहाराभ्यवहारः, प्रकारान्तरभोजने ह्यधर्म एव । चशब्दः समुच्चये । संवरणं तदनन्तरं सम्भवतो ग्रन्थिसहितादेः प्रत्याख्यानस्य ग्रहणं प्रमादपरिजिहीर्षोर्हि प्रत्याख्यानं विना न युक्तं क्षणमप्यासितुम् । ततोऽवसरे चैत्यगृहाऽऽगमश्च प्रतीतः, श्रवणं च साधुसमीपे जिनाऽऽगमाऽऽकर्णनं, चैत्यगृहाऽऽगमश्रवणम् । अथवा–चैत्यगृहे आगमस्य श्रवणमिति विग्रहः । चैत्यगृहे हि प्रायः आगमव्याख्यानं प्रवर्तीत्यागमव्याख्यानस्थानान्तरोपलक्षणार्थं चैत्यगृहग्रहणम् ।

यदाह–

"जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिंति तहिं समोसरणं ।
पूरिंति समोसरणं, अन्नासइ निस्सचेइएसुं पि ॥ १ ॥
इहरा लोगविरुद्धं, सद्धाभंगो य सड्ढाणं ।"

न च चैत्यगृहाऽऽगमपूर्वकमागमश्रवणं विधेयमितो ज्ञापकाच्चैत्यगृह एव साधवोऽवतिष्ठन्त इति निश्चेतव्यम्, यतो व्यवहारभाष्यवचनमेवं स्थितम्–

"जइ वि न आहाकम्मं, भत्तिकयं तह वि वज्जयं तेहिं (चेव) ।
भत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा ॥ १ ॥
दुब्भिगंधमलस्साऽवि, तणुरप्पेसऽण्हाणिया ।
उभओ वा उवहो चेव, तेण ठंति न चेइए ॥ २ ॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइया ।

ताव तत्थ अणुसाय, कारणेण परेण त्ति ॥ ३ ॥"
इत्यत्र प्रश्नद्वयेन । ततो विकाले सत्कारोऽर्हच्चैत्यानां पूजा, वन्दनाऽऽदि च । वन्दना प्रसिद्धाऽर्हच्चैत्यानामेव । आदिशब्दाच्चैत्यसम्बन्धि तत्कालोचितकृत्यान्तरं ग्राह्यं, साध्वाद्यागमनं, तद्वन्दनाऽऽदि वा, भूमिकौचित्येन षड्विधाऽऽवश्यकमवश्य विधेयमिति सर्वत्र गम्यम् । चशब्दः समुच्चये । पञ्चा० १ विव० ।

जइविस्सामणमुचिओ, जोगो नवकारचिंतणाईओ ।
गिहगमणं विहिसयणं, सरणं गुरुदेवयाईणं ॥४५॥

यतीनां साधूनां वैयावृत्त्याऽऽदिभिः श्रान्तानां पुष्टाऽऽलम्बनेन तथाविधश्रावकाऽऽदेरपि देहखेदापनोदमिच्छतां विश्रमणं खेदविनोदनं यतिविश्रमणं, करणीयमिति गम्यते । एवं सर्वत्रोचितक्रियाऽध्याहारः कार्यः । प्राकृतत्वाच्च विश्राम्यतेरुपान्त्यदीर्घत्वम्, यद्वा-विश्रमयतः करणमिति शतृप्रत्ययस्य कारित पुंसि च विश्रामणमिति भवति । तथोचितः स्वभूमिकायोग्यो योगो व्यापारः । तमेवाऽऽह-नमस्कारचिन्तनाऽऽदिकः परमेष्ठिपञ्चकनमस्कृतिध्यानप्रभृतिकः । आदिशब्दात् परिपाटितप्रकरणगुणनाऽऽदिपरिग्रहः । ततो गृहगमनं निजवेश्मगमः । तत्र च विधिशयनं विधिना शयनक्रिया । विधिश्च जिनार्चनवन्दनविशेषप्रत्याख्यानकरणाऽऽदिः । तमेव विशेषेणाऽऽह स्मरणं मनसि धारणम्, उपलक्षणत्वादस्य गुणवर्णनाऽऽदि च, गुरुदेवताऽऽदीनां धर्माऽऽचार्यजिननायकप्रभृतीनाम् । आदिशब्दात्तदन्येषां च धर्मोपकारकाणां प्रत्याख्यानाऽऽदीनामिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तत्र च-

अब्बंभे पुण विरई, मोहदुगुंछा सतत्तचिंता य ।
इत्थीकलेवराणं, तव्विरएसुं च बहुमाणो ॥४६॥

अब्रह्मणि स्त्रीपरिभोगलक्षणे, पुनःशब्दो विशेषणे । तद्भावना चैवम्-गुर्वादिषु स्मरणं कर्तव्यम्, अब्रह्मणि पुनर्विरतिर्निवृत्तिः कार्या । तथा मोहजुगुप्सा स्त्रीपरिभोगहेतुवेदाऽऽदिमोहनीयनिन्दा । यथा-"यल्लज्जनीयमतिगोप्यमदर्शनीयं, बीभत्समुल्बणमसाऽऽविलपूतिगन्धि । तद्याचतेऽङ्गमिह कामिकृमिस्तदेव, का हुनोति न मनोभववामता हा ? ॥१॥" इत्यादि । तथा स्वतत्त्वचिन्ता स्वरूपचिन्तनं, केषाम् ?, स्त्रीकलेवराणां योषिद्देहानाम् । यथा-"शुक्रशोणितसंभूतं, नवच्छिद्रं मलोल्बणम् । अस्थिशृङ्खलिकामात्रं, हन्त योषिच्छरीरकम् ॥ १ ॥" तद्विरतेष्वब्रह्मनिवृत्तेषु मुनिषु । चशब्दः समुच्चये । बहुमानोऽन्तरङ्गप्रीतिरूपो विधेयः । यथा-"धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, तैस्त्रैलोक्यं पावितम् । यैरेष भुवनक्लेशी, काममल्लो निपातितः ॥ १ ॥" इत्यादीनि गाथार्थः ॥ ४६ ॥

तथा-

सुत्तविउद्धस्स पुणो, सुहुमपयत्थेसु चित्तविन्नासो ।
भवठिइनिरूवणे वा, अहिगरणोवसमचित्ते वा ॥४७॥

सुप्तविबुद्धस्य निद्राऽपगमेन जाग्रतः श्रावकस्य, पुनःशब्दः पूर्वोक्तार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणताद्योतकः, सूक्ष्मपदार्थेषु कर्म्मभूतजन्तुपुद्गलकर्माऽऽत्मपरिणामाऽऽदिषु चित्तविन्यासो मानसाऽऽवेशनं करणीयमिति गम्यते । भवस्थितिनिरूपणे संसारस्वरूपपर्यालोचने, चित्तविन्यास इति प्रकृतम् । यथोक्तम्-"स्वो राजा नृपो रङ्कः, स्वमा जाया जनी स्वसा । दुःखी सुखी सुखी दुःखी, यत्राऽसौ निर्गुणो भव ॥१॥" वाशब्दो विकल्पार्थः । अधिकरणानि कलहाः, कृष्याऽऽदीनि वा, तेषामुपशमाय निवर्त्तनाय यच्चित्तं मानसं तत्तथा, तत्राधिकरणोपशमचित्ते कथं कदा वा मेऽधिकरणोपशमचित्तं भविष्यतीत्येवं चित्तविन्यासः कार्य इति भावः । वाशब्दो विकल्पार्थः । इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

तथा-

आउयपरिहाणीए, असमंजसचेट्ठियाण व विवागे ।
खणलाभदीवणाए, धम्मगुणेसु च विविहेसु ॥ ४८ ॥

आयुःपरिहाणौ प्रतिक्षणाऽऽयुष्कक्षयलक्षणायां, चित्तविन्यास इति प्रतिपदं योज्यम् । अत्र चोक्तम्-" समस्तसत्त्वसङ्घानां, क्षयत्यायुरनुक्षणम् । आममल्लकवारीव, किं तथाऽपि प्रमाद्यसि ? ॥ १ ॥" इत्यादि । असमञ्जसचेष्टितानामसदाचरितानां प्राणिवधाऽऽदीनाम् । वाशब्दो विकल्पार्थः, विपाके नरकाऽऽद्यशुभफलदायकत्वे । यथा-"वहमारणअब्भक्खाण-दाणपरधणविलोवणाऽऽईणं । सव्वजहन्नो उदओ, दसगुणिओ एक्कसि कयाणं ॥ १ ॥" इत्यादि । क्षणे कालविशेषे, स्तोककालेऽपीत्यर्थः, लाभोऽशुभाध्यवसायेन महतोऽशुभकर्मणः शुभाध्यवसायेन च महत इतरस्यार्जनं, तस्य दीपना प्रकाशना क्षणलाभदीपना, तस्याम्, यथा-"नरएसु सुरवरेसु य, जो बंधइ सागरोवमं एक्कं । पलिओवमाण बंधइ, कोडिसहस्साइं दिवसेण ॥ १ ॥" अथवा-क्षणोऽवसरो मोक्षसाधनस्य, स च द्रव्याऽऽदिभेदाच्चतुर्विधः । तत्र द्रव्यतो मानुषत्वं, क्षेत्रत आर्यक्षेत्रं, कालतो दुःषमसुषमाऽऽदिः कालविशेषः, भावतो बोधिरिति । तस्य क्षणस्य यो लाभो युगसमिलान्यायेन कष्टप्राप्तिः, तस्य या दीपना सा तथा, तस्याम् । यथोक्तम्-" माणुस्सखेत्तजाई-कुलरूवाऽऽरोग्गआउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगम्मि दुलहाइं ॥ १ ॥" अथवा-क्षणलाभं दीपयति, दीपज्ञातं, द्वीपज्ञानं वा क्षणलाभदीपज्ञातं, क्षणलाभदीपज्ञातं वा । तत्र क्षणलाभज्ञानं प्राग्वत् । दीपज्ञातं पुनर्यथा-" अथक्कारे महाघोरे, दीवो ताणं सरीरिणं । एवमन्नाणतामिस्से, भीमम्मि जिणसासणं ॥१॥" द्वीपज्ञातं तु-" दीवो ताण सरीरीणं, समुद्दे दुत्तरे जहा । धम्मो जिणिंदपन्नत्तो, तहा संसारसागरे ॥ १ ॥" तथा-धर्मस्य श्रुतचारित्ररूपस्य, गुणा उपकाराः, फलानीति यावत्, धर्मगुणाः, तेषु चशब्दः समुच्चये । विविधेषु च बहुविधेष्विहलोकपरलोकाऽऽश्रितेषु । यथोक्तम्-"श्रुतिगम्यं फलं तावत्, सधर्मस्य शिवाऽऽदिकम् । शमजन्यसौख्यरूपं तु, साक्षादेवानुभूयते ॥१॥" तथा-' निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥१॥" अथवा धर्मरूपा गुणा धर्मगुणाः क्षमाऽऽदयस्तेषु विविधधर्मगुणानां कारणे स्वरूपे फले च, चित्तन्यासः कार्य इति हृदयमिति गाथार्थः ॥४८॥

बाहगदोसविवक्खे, धम्मायरिए य उज्जयविहारे ।
एमाइचित्तणासो, संवेगरसायणं देइ ॥ ४९ ॥

यैर्यैर्दोषैरयं कामरागाऽऽदिभिः स धर्माधिकारी पुरुषो बाध्यते कुशलानुष्ठानतश्च्याव्यते ते बाधकदोषाः, तेषां विपक्षः तत्प्रतिपक्षभावनारूपो बाधकदोषविपक्षस्तत्र । यदुक्तम्-" जो जेण बाहिज्जति, दोसेणं चेयणाइविसएण । सो खलु तस्स विवक्खं, तव्विसयं चेव झाइज्जा ॥१॥" चेतनं चात्र द्रव्यम् । "अत्थम्मि रागभावे, तस्सेव उवज्जणाइसंकासं । भाविज्ज धम्महेउं, अभा-

धम्मो तह य तस्सेव ॥१॥" इत्यादि । तथा धर्माऽऽचार्ये बोधिलाभहेतुभूते गुरौ, दुष्करप्रत्युपकारोऽसावित्यादिरूपश्चित्तन्यासो विधेयः । यथोक्तम्-" सम्मत्तदायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु । सव्वगुणमेलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ॥ १ ॥" चशब्दः समुच्चये । तथोद्यतानां प्रयत्नवतां साधूनाम्, उद्यतो वा प्रयत्नवान् विहारो मासकल्पाऽऽदिचर्या उद्यतविहारः, तत्र । यथोक्तम्-" अनिययवासो समुदा-णचरिया, अन्नायउंछं पइरिक्कया य । अप्पोवही कलहविवज्जणा य, विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥ १ ॥" आत्मगते चोद्यते विहारे यथा-"कइया होही सो वा-सरो उ गीयत्थगुरुसमीवम्मि । सव्वविरयं पवज्जिय, विहरिस्सामी अहं जम्मि ॥१॥" धर्माऽऽचार्यविशेषणं चोद्यतविहार इति । एवं चित्तविन्यासं फलनिर्देशद्वारेण निगमयन्नाह-एवमनन्तरोक्तप्रकारं सूक्ष्मपदार्थोऽऽदिकवस्त्रादिर्येषामात्मप्रमादानिन्द्राऽऽदीनां त एवमादयः, तेषु, चित्तविन्यासो मनोनिक्षेप एवमादिचित्तन्यास । अथवैवमाद्विरनन्तरोक्तसूक्ष्मपदार्थचित्तविन्यासप्रभृतिक, स चासौ चित्तन्यासश्चेत्येवमादिचित्तन्यास. । किमित्याह-संवेग संसारनिर्वेदो, मोक्षानुरागो वा, स एव रसायनममृतमजरामरत्वहेतुत्वात्संवेगरसायन, तद्ददाति प्रयच्छति । एव हि चित्तविन्यास सवेग उत्पद्यत इति गाथाऽर्थ ॥ ४६ ॥

तत -

गोसे भणिओ य विही, इय अणवरयं तु चेट्ठमाणस्स ।
भवविरहबीयभूओ, जायइ चारित्तपरिणामो ॥ ५० ॥

(गोसे) प्रत्युषसि । भणित ,चशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्भणित एव प्राक् प्रतिपादित एव । विधि. श्रावकानुष्ठानम् " नवकारेण विबोहो " इत्यादिरूप; अत. पुनरपि नोच्यत इति हृदयम् । एव च प्रतिपादितानुष्ठान फलप्रदर्शनद्वारेण निगमयन्नाह-इति प्राक्तनप्रकारेण नमस्कारविबोधाऽऽदिना, अनवरत सततम् । तुशब्द पुनःशब्दार्थ., एवकारार्थो वा । चेष्टमानस्य प्रदर्शितानुष्ठान विदधत , श्रावकस्येति गम्यम् । किम् ?, भवविरहः ससारवियोगस्तस्य बीजभूतो बीजकल्पो, हेतुरित्यर्थ , ससारविरहबीजभूत , जायते सपद्यते, चारित्रपरिणाम. सर्वविरतिपरिणति. । एव हि देशविरतिमनुपालयन्त उपायप्रवृत्तेरवश्यं भवविरहबीजभूतश्चारित्रपरिणाम', तत्राऽन्यत्र वा भवेदिति हृदयम् । इह च विरह इति सिताम्बरश्रीहरिभद्राऽऽचार्यस्य कृतेरङ्क इति गाथार्थ. । पञ्चा० १ विव० । (साधोस्तु दिनचर्या ' पोरिसी ' शब्दे वक्ष्यते )

रत्तिं पि चउरो भागे, कुज्जा भिक्खू वियक्खणे ।
तत उत्तरगुण कुज्जा, राइभागेसु चउसु वि ॥ १७ ॥
पढमपोरिसिं सज्झायं, बिइए झाणं झियायइ ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु,चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥१८॥

स्पष्टमेव, नवर रात्रिमपि, न केवल दिनमित्यपिशब्दार्थ । द्वितीया पौरुषी ध्यायत इति ध्यान सूक्ष्मसूत्रार्थलक्षण, क्षितिवलयद्वीपसागरभवनाऽऽदि वा । (झियायइ त्ति) ध्यायेच्चिन्तयेत् । तृतीयायां निद्रामोक्ष.-पूर्वं निरुद्धाया मुत्कलना निद्रामोक्ष , स्वाप इत्यर्थ । त कुर्यादिति सर्वत्र प्रक्रमाद्योज्यम् । वृषभापेक्ष चैतत्, सामस्त्येन तु प्रथमचरमप्रहरजागरणमेव । तथाचाऽऽगमः " सव्वे वि पढमजामे, दोन्नि उ वसभाण आइमा जामा । तइओ होइ गुरूणं, चउत्थओ होइ सव्वेसिं ॥ १ ॥" शयनविधिश्चायम्-"बहुपडिपुन्नाए पोरसीए गुरुसगासं गतूण भणइ-इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वंदामि बहुपडिपुन्ना पोरिसी, अणुजाणह राइय संथारयं । ताहे पढमं काइयभूमिं वच्चति । ताहे जत्थ संथारभूमी तत्थ वच्चंति । ताहे उवओगम्मि उवओगं करेत्ता पमज्जित्ता उवहीए डोरयं छोडंति, ताहे संथारपट्टयं उत्तरपट्टयं च पडिलेहित्ता दो वि एगत्थ ठाविता ऊरुम्मि ठवंति । ताहे संथारभूमिं पमज्जति । ताहे संथारयं अत्थरंति सउत्तरपट्टयं, तत्थ य लग्गाए मुहपोत्तियाए उवरिम्मि कायं मज्जंति, हेट्ठिलं रयहरणेण, कप्पे य वामपासे ठावेंति, पुणो संथारं चडित्ता भणंति जेट्ठज्जाईपुरतो-चिट्ठना ण अणुजाणिज्जह, पुणो सामाइयं तिन्नि वारे कड्ढिऊण सुवं [illegible] ।" सुप्तानां चायं विधि.-

" अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेण ।
पायपसारणकुक्कुडि-अतरतो पमज्जए भूमिं ॥ १ ॥
संकोए संडासं, उव्वट्टंतीयं कायपडिलेहा ।
दव्वाई उवओगं,उस्सासनिरुंभणा लोयं ।२।"इति सूत्रार्थः।

सप्रति रात्रिभागचतुष्टयपरिज्ञानोपायमुपदर्शयन् समस्तयतिकृत्यमाह-

जं णेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तम्मि णहचउब्भागे ।
संपत्ते विरमेज्जा, सज्झाय पओसकालम्मि ॥ १९ ॥
तम्मेव य नक्खत्ते, गयणे चउभागसावसेसम्मि ।
वेरत्तियं पि कालं, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥ २० ॥

यद् नयति प्रापयति,परिसमाप्तिमिति गम्यते । यदा रात्रिं नक्षत्र, तस्मिन्नभश्चतुर्थभागे सप्राप्ते विरमेन्निवर्तेत।(सज्झाय त्ति) स्वाध्यायात् प्रदोषकाले रजनीमुखसमये,प्रारब्धादिति शेष । तस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रक्रमात्प्राप्ते। चशब्दात्-(गयण त्ति) गगने, कीदृशि ?, चतुर्भागेण गम्यते सावशेष सोद्धरित चतुर्भागसावशेष,तस्मिन्, वैरात्रिक तृतीयम्, अपिशब्दात्त्रिजनिजसमये प्रादोषकाऽऽदि च काल ( पडिलेहित्तु त्ति ) प्रत्युपेक्ष्य प्रतिजागर्य, मुनि कुर्यात् । करोते. सर्वधात्वर्थाद् गृह्णीयात् । इह च कालोपलक्षणद्वारेण प्रथमाऽऽदिषु नभश्चतुर्भागेषु सप्राप्ते नेतरि नक्षत्रे रात्रे प्रथमाऽऽदय प्रहराऽऽदय इत्युक्त भवतीति सूत्रद्वयार्थः ॥ २० ॥

अथ सामान्येन दिनरजनिकृत्यमुपदर्श्य पुनर्विशेषतस्तदेव दर्शयस्तावद्दिनकृत्यमाह-

पुव्विल्लम्मि चउब्भागे, पडिलेहित्ताण भंडयं ।
गुरु वंदित्तु सज्झायं, कुज्जा भिक्खू वियक्खणे ॥२१॥
पोरिसीए चउब्भागे, वंदित्ताणं तओ गुरुं ।
अपडिक्कमित्तु कालस्स, भायणं तु पडिलेहए ॥ २२ ॥

सूत्राणि सप्तदश सार्धानि, तत्र सूत्रद्वय व्याख्यातप्रायमेव, नवर पूर्वस्मिन् चतुर्थभागे प्रथमपौरुषीलक्षणे, प्रक्रमाद्दिनस्य, प्रत्युपेक्ष्य भण्डक प्राग्वद् वर्षाकल्पाऽऽद्युपधिम्,आदित्योदयसमय इति शेष. । द्वितीयसूत्रे च पौरुष्याश्चतुर्थभागे, विशिष्यमाण इति गम्यते । ततोऽयमर्थ.-पादोनपौरुष्यां भाजन प्रतिलेखयेदिति सबन्ध । स्वाध्यायादुपरतश्चेत् कालस्य प्रतिक्र-

स्यैव कृत्यान्तरमारब्धव्यमित्याशङ्क्येनात आह-अप्रतिक्रम्य कालस्य तत्प्रतिक्रमणार्थं कायोत्सर्गमविधाय चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात् ॥ २१ ॥ २२ ॥

प्रतिलेखनाविधिमेवाऽऽह-

मुहपोत्तिं पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं ।
गोच्छगलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥ २३ ॥

मुखपोतिकां प्रतीतामेव प्रतिलेख्य प्रतिलेखयेत् गोच्छकं पात्रकोपरिवर्त्युपकरणम्। ततश्च (गोच्छगलइयंगुलिय त्ति) प्राकृतत्वाद्‌गुलिभिर्लातो गृहीतो गोच्छको येन सोऽयमङ्गुलिलातगोच्छको वस्त्राणि पटलकरूपाणि प्रतिलेखयेत्, प्रस्तावात् प्रमार्जयेदित्यर्थः ॥ २३ ॥

इत्थं तथाऽवस्थितान्येव पटलानि गोच्छकेन प्रमृज्य पुनर्येन कुर्यात्तदाह-

उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो बिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जिज्जा ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं कायतो वस्त्रतश्च, तत्र कायत उत्कुटुकत्वेन स्थितत्वाद्वस्त्रतश्च तिर्यक्प्रसारितवस्त्रत्वात् । उक्तं हि-" उक्कुडुओ तिरियं पेहे जह विलित्तो ।" स्थिरं दृढग्रहणेन, अत्वरितमद्रुतं स्तिमितं यथा भवत्येव, पूर्वं प्रथमं ( ता इति ) तावद्वस्त्रं पटलकरूपं, जातावेकवचनं, पटलकप्रक्रमेऽपि सामान्यवाचकवस्त्रशब्दाभिधानं वर्षाकल्पाऽऽदिप्रत्युपेक्षणायामप्ययमेव विधिरिति ख्यापनार्थम् । एवशब्दो भिन्नक्रमः । ततः (पडिलेह त्ति) प्रत्युपेक्षेतैव, आरतः परतश्च निरीक्षेतैव, न तु प्रस्फोटयेत् । अथवा-बिन्दुलोपादेवममुना ऊर्ध्वाऽऽदिप्रकारेण प्रत्युपेक्षेत,न त्वन्यथेति भावः । तत्र च यदि जन्तून् पश्यति ततो यतनयाऽन्यत्र सङ्क्रमयति,तददर्शने च (तो इति) ततः प्रत्युपेक्षणादनन्तरं द्वितीयमिदं कुर्यात्-यदुत परिशुद्धं सत्प्रस्फोटयेत्,तत्प्रस्फोटनां कुर्यादित्यर्थः । तृतीयं च पुनरिदं कुर्यात्, यदुत प्रमृज्यात्, कोऽर्थः?, प्रत्युपेक्ष्य प्रस्फोट्य च हस्तगतान् प्राणिनः प्रमृज्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥

कथं पुनः प्रस्फोटयेत्, प्रमृज्याद्वेत्याह-

अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबंधिममोसलिं ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणिविसोहणं ॥ २५ ॥

अनर्तितं प्रस्फोटनं प्रमार्जनं कुर्वता वस्त्रं वपुर्वा यथा नर्तितं न भवति,अवलितं यथाऽऽत्मनो वस्त्रस्य च वलितमिति मोटनं न भवति । ( अणाणुबंधि त्ति ) अननुबन्धि अननुबन्धेन नैरन्तर्यलक्षणेन युक्तमननुबन्धिनस्तथा कोऽर्थोऽलक्ष्यमाणविभागं यथा न भवति ( अमोसलि त्ति ) सूत्रत्वादमर्शवच्चितिर्यगूर्ध्वमधो वा कुड्याऽऽदिपरामर्शवद्यथा न भवति । उक्तं हि-" तिरिउड्ढघट्टणामुसलि त्ति ।" तथा किमित्याह-( छ पुरिम त्ति ) षट् पूर्वाः, पूर्वं क्रियमाणतया तिर्यक्कृतवस्त्रप्रस्फोटनाऽऽत्मिकाः क्रियाविशेषा येषु ते षट्पूर्वाः (नवखोड त्ति) खोटकाः समयप्रसिद्धस्फोटनाऽऽत्मकाः, कर्तव्या इति शेषः । पाणौ पाणितले,प्राणानां कुन्थ्वादिसत्त्वानां,विशोधनं, पाणान्तरतश्च प्रमार्जनं प्रस्फोटनं त्रिकत्रिकखोटकास्त्रिकत्रिकसत्त्वं, पाणिप्राणविशोधनं पाणिप्राणप्रमार्जनं वा कर्तव्यम् ॥ २५ ॥

प्रतिलेखनादोषपरिहारार्थमाह-

आरभडा संमद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥ २६ ॥

आरभटा विपरीतकरणमुच्यते,त्वरितं वा अन्यान्यवस्त्रग्रहणेनासौ भवति । उक्तं हि-"वितहकरणमारभडा,तुरियं वा अन्नमन्नगहणेणं ।" संमर्दनं संमर्दा स्त्रीत्वात् स्त्रीलिङ्गता, वस्त्रान्तःकोणसंवलनमुपधेर्वा उपरि निषदनम् । उक्तं च-" अंतो व होज्ज कोणा, निसीयणं तत्थेव संमद्दा ।" वर्जयितव्येति सर्वत्र सम्बध्यते । च. पूरणे । ( मोसलि त्ति ) तिर्यगूर्ध्वमधो वा घट्टना तृतीया, प्रस्फोटना प्रकर्षेण रेणुगुण्डितस्येव वस्त्रस्य स्फोटनाच्चतुर्थी, विक्षेपणं विक्षिप्ता, पञ्चमीति गम्यते । स्त्रीत्वाच्च स्त्रीलिङ्गता । उक्तं हि-"लिङ्गमशिष्यं लोकाऽऽश्रयत्वात् ।" सा च प्रत्युपेक्षितवस्त्रस्यान्यत्राप्रत्युपेक्षिते क्षेपणं, प्रत्युपेक्ष्यमाणे वा वस्त्राञ्चलं यदूर्ध्वं क्षिपति । वेदिका ( छट्ठि त्ति ) षष्ठी । अत्र संप्रदायः-" वेइया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-उड्ढवेइया, अहोवेइया,तिरियवेइया,दुहओ वेइया,एगओ वेइया । तत्थ उड्ढवेइया उवरिं जाणुगाण हत्थे काऊण पडिलेहेति । अहोवेइया अहो जाणुगाण हत्थे काऊण पडिलेहेइ । तिरियवेइया संडासयाण मज्झे हत्थे णिऊण पडिलेहेइ । दुहओ वेइया बाहूण अंतरे दो वि जाणुगा काऊण पडिलेहेति । एगओ वेइया एगं जाणुगं बाहूणमंतरे काऊण पडिलेहेइ ।" एवमेते षट् दोषाः प्रतिलेखनायां परिहर्तव्याः ॥ २६ ॥

तथा-

पसिढिलपलंबलोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणइ पमाणि पमायं, संकियगणणोवगं कुज्जा ॥ २७ ॥

प्रशिथिलं नाम दोषो यद् दृढमत्वराऽऽयितं वा वस्त्रं गृह्यते,प्रलम्बो विषमग्रहणेन प्रत्युपेक्ष्यमाणवस्त्रकोणानां लम्बनं, लोला यद् भूमौ करे वा प्रत्युपेक्ष्यमाणवस्त्रस्य लोलनम् । अमीषां द्वन्द्वः । एकामर्शनमेकामर्शा,प्राग्वत् स्त्रीलिङ्गता । मध्ये गृहीत्वा ग्रहणदेशं यावदुभयतो वस्त्रस्य यदेककालं संघर्षणमाकर्षणम् । उक्तं च-' पसिढिलमघण अणिरा-यत च विसमगहणं च कोणे वा । भूमी करलोलणया, कड्ढणगहणेगआमोसा ॥ १ ॥ " ( अणेगरूवधुण त्ति ) अनेकरूपा चाऽसौ संख्याऽऽत्मिकमणतो, युगपदनेकवस्त्रग्रहणतो वा धूनना कम्पनाऽऽत्मिका अनेकरूपधूनना । पठ्यते च-(अणेगरूवधूय त्ति)तत्र च धूतं कम्पनम्,अन्यत् प्राग्वत् । तथा यत्करोति प्रमाणे प्रस्फोटाऽऽदिसंख्यातो लक्षणे प्रमादमनवधानं,यच्च शङ्किते प्रमादतः प्रमाणं प्रति शङ्कोत्पत्तौ गणनां कराङ्गुलिरेखास्पर्शाऽऽदिनैकाद्वित्रिसंख्याऽऽत्मिकामुपगच्छत्युपयाति गणनोपगं यथा भवत्येवं गम्यमानत्वात् प्रस्फोटनाऽऽदि कुर्यात्, सत्राप्यत्र लिङ् । सोऽपि दोषः । सर्वत्र पूर्वसूत्राद्नुवर्त्य वर्जनक्रिया योजनीया । उक्तं च-" धूणणा तिन्नि परेण, बहुणि वा घिप्पु पडतो धुणति । खोडणपमज्जणासु य, संकियगणणे करे पमादी ॥ १ ॥ " एवं चानन्तरोक्तदोषैरन्विता सदोषा प्रत्युपेक्षणा, वियुक्ता तु निर्दोषेत्यर्थः उक्तं च ॥ २७ ॥

साम्प्रतं त्वेनामेव भङ्गकनिदर्शनद्वारेण साकारसदोषां च किञ्चिद्विशेषतो वक्तुमाह-

अणूणाइरित्त पडिलेहा, अविच्चासा तहेव य ।
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि य अप्पसत्थाइं ॥ २८ ॥

(अणूणाइरित्त त्ति) ऊना चासावतिरिक्ता चोनातिरिक्ता,न तथा अनूनातिरिक्ता,प्रतिलेखना । इह च न्यूनताऽऽधिक्ये स्फोटना-

प्रमार्जने वेलां चाऽऽश्रित्य वाच्ये। यदुक्तं-"खोरूणगमज्जवेला-सु चेव ऊणाहिया मुणेयव्वा।"(अविवच्चास त्ति)विविधो व्यत्यासः विपर्यासो यस्यां सा व्यत्यासा, न तथा विव्यत्यासा पुरुषोपधिविपर्यासरहिता, कर्त्तव्येति शेषः। अत्र च त्रिभिर्विशेषणपदैरष्टौ भङ्गाः सूचिता भवन्ति। स्थापना चेयम्-एतेषु च कः शुद्धः,को वा अशुद्धः ?, इत्याह-प्रथमं पदमिहैवोपदर्शिताऽऽद्यभङ्गरूपं प्रशस्तं निर्दोषतया श्लाघ्यं,शुद्धमिति यावत्। शेषाणि तु, अक्रमात्पदानि, द्वितीयाऽऽदिभङ्गकाऽऽत्मकानि अप्रशस्तानि,तेषु न्यूनताऽऽद्यन्यतमदोषसम्भवात् । ततः प्रथमभङ्गानुपातिन्येव प्रतिलेखना विधेयेत्युक्तं भवति।

एवंविधामप्येनां कुर्वता यत्परिहर्त्तव्यं, तत् काकोपदेष्टुमाह-

पडिलेहणं कुणंतो, मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा ।
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ २९ ॥

प्रतिलेखनां कुर्वन् मिथः कथां परस्परसंभाषणाऽऽत्मिकां,करोति, जनपदकथां वा, स्त्र्यादिकथोपलक्षणमेतत्। ददाति वा प्रत्याख्यानमन्यस्मै, वाचयत्यपरं श्रावयति, स्वयं प्रतीच्छति वा आलापकाऽऽदिकं गृह्णाति, य इति गम्यते ॥ २९ ॥

स किमित्याह-

पुढवीआउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइतसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥ ३० ॥

"पुढवी" इत्यादि स्पष्टं, नवरं (पुढवीआउक्काए त्ति) पृथिव्यप्काययोः प्रतिलेखनाप्रमत्तो मिथः कथाऽऽदिना तत्रानवहितः सन् षण्णामपि आस्तामेकैकाऽऽदीनामित्यपिशब्दार्थः। विराधकश्चैव प्रमत्तो हि कुम्भकारशालाऽऽदौ स्थितो जलभृतघटाऽऽदिकमपि प्रलोठयेत्, ततस्तज्जलेन मृदग्निबीजकुन्थ्वादयः प्लाव्यन्ते, प्लावनाच्च विराध्यन्ते,यत्र चाग्निस्तत्राऽऽवश्यं वायुरिति षण्णामपि द्रव्यतो विराधकत्वम्। भावतस्तु प्रमत्ततयाऽन्यथापि विराधकत्वमेव। उक्तं हि -"इह दव्वओ उ छण्हं, विराहओ भावओ य इहरा वि। उवउत्तो पुण साहू, संपत्तीए अवहओ होइ ॥१॥"

पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।
पडिलेहणआउत्तो, छण्हं संरक्खओ होइ ॥ ३१ ॥

तदनेन जीवरक्षाऽर्थत्वात्प्रतिलेखनायास्तत्काले च प्रमादजनकत्वेन हिंसाऽऽदिहेतुत्वान्मिथः कथाऽऽदीनां परिहार्यत्वमुक्तम्। इत्थं प्रथमपौरुषीकृत्यमुक्तं, तदनन्तरं द्वितीयपौरुषीकृत्याभिधानावसरः। तच्च "बीए झाणं झियायइ।" इति वचनेन ध्यानमुक्तम्, उभयं चैतदवश्यकर्त्तव्यमतस्तृतीयपौरुषीकृत्यमप्येवम्, उत कारणे एवोत्पन्ने ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाणं गवेसए ।
छण्हं अन्नयराए य, कारणम्मि उवट्ठिए ॥ ३२ ॥

"तइयाए" इत्यादि सुगमं,नवरमौत्सर्गिकमेतत्,अन्यथा हि स्थविरकल्पिकानां यथा कालं भक्ताऽऽदेर्गवेषणं तथा चाऽऽह-"सइ काले चरे भिक्खु त्ति।" षण्णां कारणानां ( अण्णयराए त्ति ) अन्यतरस्मिन् कारणे समुत्थिते सञ्जाते,न तु कारणोत्पत्तिं विनेति भावः। भोजनोपलक्षणं चेह भक्तपानगवेषणम्, भक्तपानगवेषणं गुरुग्लानाऽऽद्यर्थमन्यथाऽपि तस्य सम्भवात्, तथा चान्यत्र भोजन एवैतानि कारणान्युक्तानि ॥ ३२ ॥

तान्येव षट् कारणान्याह-

वेयण-वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ३३ ॥

( वेयणवेयावच्चे त्ति ) सुपव्यत्ययाद्वेदनाशब्दस्य चोपलक्षणत्वात् क्षुत्पिपासाजनितवेदनोपशमनाय, तथा क्षुत्पिपासायां न गुर्वादिवैयावृत्यकरणक्षम इति वैयावृत्याय। तथा ईर्येति ईर्यासमितिः, सैव निर्जरार्थिभिरर्थ्यमानतयाऽर्थः, तस्मै, चः समुच्चये। कथं नामासौ भविष्यति ?। इतरथा हि क्षुत्पिपासाभ्यां पीडितस्य चक्षुर्भ्यामपश्यतः कथमिवासौ स्यादिति। तथा संयमार्थाय,कथं नामाऽसौ पालयितुं शक्यतामित्याकुलितस्य हि ताभ्यां सचित्ताऽऽहारे तद्विघात एव स्यात्। तथा-(पाणवत्तियाए त्ति ) प्राणप्रत्ययं जीवितनिमित्तमपि, विधिना ह्यात्मनोऽपि प्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात्। अत एवोक्तम्-"भाविय जिणवयणाणं,ममत्तरहियाण नऽत्थि हु विसेसो। अप्पाणम्मि परम्मि य, तो वज्जे पीडमुभए वि" ॥ १ ॥ षष्ठं पुनरिदं कारणं वक्तुं-धर्मचिन्तायै, भक्तपानं गवेषयेदिति सर्वत्रानुवर्त्यते, अत्र च धर्मचिन्ता-धर्मध्यानचिन्ता,श्रुतधर्मचिन्ता वा। इयं द्विभयरूपा अपि तदाकुलितचेतसो न स्यादार्त्तध्यानसम्भवात्, इह च यद्यपि वेदनोपशमाऽऽदीनां शाब्दया वृत्त्या तदुपलक्षितभोजनफलत्वेन प्रतीतिः,तथापि तैर्विना तन्निषेधसूचनादार्थ्या वृत्त्या कारणत्वमेवैषामुपदर्शितं भवत्यत एव षष्ठमित्यत्र कारणमेव सम्बन्धितम्।

आह-तत्कारणोत्पत्तौ किमवश्यं भक्तपानगवेषणं कर्त्तव्यमुतान्यथेत्याह-

निग्गंथो धिइमंतो, निग्गंथी सावि करेज्ज छहिँ चेव ।
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणतिक्कमणाइ से होइ ॥ ३४ ॥

निर्ग्रन्थो यतिः धृतिमान् धर्मचरणं प्रति, निर्ग्रन्थी तपस्विनी, साऽपि कुर्याद्,भक्तपानगवेषणमिति प्रक्रमः। षड्भिश्चैव स्थानैः, तुः पुनरर्थे, एभिरनन्तरं वक्ष्यमाणैः, किमित्येवमत आह-(अणइक्कमणामिति) सूत्रत्वादनतिक्रमणं संयमयोगानामनुल्लङ्घनं, चशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् ( से त्ति ) तस्य निर्ग्रन्थस्य तस्या वा निर्ग्रन्थ्या भवति जायते,अन्यथा तदतिक्रमणसंभवात् ॥३४॥

षट्स्थानान्येवाह-

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ ३५ ॥

आतङ्को ज्वराऽऽदिरोगः,तस्मिन्, उपसर्गान् प्रति स्वजनाऽऽदिः कश्चिदुपसर्गांस्तन्निष्क्रमणार्थं करोति, विमर्शाऽऽदिहेतोर्वा ततस्तस्मिन् सति उभयत्र तन्निवारणार्थमिति गम्यते। तथा तितिक्षा सहनं,तया हेतुभूतया,क्व विषये,इत्याह-ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, ता हि नान्यथा सोढुं शक्या, तथा ( पाणिदया तवहेउं ति ) प्राणिदयाहेतोर्वर्षाऽऽदौ निपतदप्कायाऽऽदिजीवरक्षार्थं,तपश्चतुर्थाऽऽदिरूपं तद्धेतोश्च, तथा शरीरस्य व्यवच्छेदः परिहारः, तदर्थं च, उचितकाले संलेखनामनशनं वा कुर्वन् भक्तपानगवेषणं कुर्यादिति सर्वत्र योज्यम्। कारणत्वभावना चामीषां प्राग्वत् ॥ ३५ ॥

तद्गवेषणं च कुर्वन् केन विधिना कियत् क्षेत्रं पर्यटेदित्याह-

अवसेसं भंडगं गिज्झ, चक्खुसा पडिलेहए ।

णं वा किंचि घेत्तूणं विराइयं पउरियजणाणं जहुत्तया-लं समणुट्ठेज्जा, से णं गोयमा ! महापायच्छित्ती भवेज्जा। महा० १ चू० ।

पइदिणपूयाविहाण–प्रतिदिनपूजाविधान–न० । अनुदिवसाऽर्चनकरणे, पञ्चा० ८ विव० ।

पइदिढंग–प्रतिदिग्धाङ्ग–त्रि० । क्षाराऽऽदिना प्रतिदिग्धशरीरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

पइबिंब–प्रतिबिम्ब–पुं० । न० । प्रतिच्छायायाम्, " पनमय पनयपकुप्पित-गोलीचलनग्गपइबिंब । " प्रा० ४ पाद । "प्रतिबिम्बाऽऽत्मको भागः, पुंसि भेदाग्रहादयम् । प्रतिबिम्बमानच्छाया-सदृशच्छायान्तरोद्भवः ॥ १ ॥ " तादृश एव प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते । द्वा० ११ द्वा० ।

पइब्भय–प्रतिभय–पुं० । प्राणिनं प्राणिनं प्रति भयं यस्मात्स प्रतिभयः । प्रतिप्राणिन भयप्रदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पइभास–प्रतिभास–पुं० । शुक्त्यादावपि रजताऽऽदिबुद्धौ, अयथार्थज्ञाने, सम्म० १ काण्ड ।

पइमारिया–पतिमारिका–स्त्री० । भर्तृघातिकायां स्त्रियाम्, "यथैका नर्मदां तीर्त्वा, जारसङ्गता।" आव० ४ अ० । आ० चू० । ( 'गरिहा' शब्दे तृतीयभागे ८५० पृष्ठे उदाहृता )

पइरिक्क–प्रतिरिक्त–त्रि० । स्त्र्यादिविरहितत्वे, उत्त० २ अ० । एकान्ते, सुत्कले, प्रचुरे, भक्तपाने, बृ० ४ उ० ।

पइरिकया–प्रतिरिक्तता–स्त्री० । अनेकान्तसेवितायाम्, दश० २ चू० ।

पइरिक्कसुहविहार–प्रतिरिक्तसुखविहार–त्रि० । प्रतिरिक्ते एकान्ते सुखविहारोऽवस्थानशयनाऽऽदिरूपो यस्य स प्रतिरिक्तसुखविहारः । स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । एकान्ते विहारयोग्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० ।

पइरिक्कु–प्रकीर्य–अव्य० । वाल्येत्यर्थे, "पइरिक्कु ठविय पुणो ।" नि० चू० १ उ० ।

पइलाइया–प्रतिलादिका–स्त्री० । भुजपरिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पइल्ल–पदिक–पुं० । चतु पञ्चाशत्तमे महाग्रहे, " दो पइल्ला। " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पइव–प्रतिव–पुं० । स्वनामख्याते यादवे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

पइव्वया–पतिव्रता–स्त्री० । पतिं भर्तारं व्रतयति तमेवाभिगच्छामि इत्येव नियमं करोतीति पतिव्रता । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आ० चू० ।

पइसमय–प्रतिसमय–अव्य० । प्रतिक्षणे, दश० १ अध्या० ।

पईइणिराकय–प्रतीतिनिराकृत–त्रि० । प्रतीतेरेव विरुद्धे वस्तुस्थापनभेदे, यथाऽचन्द्रः शशी । स्था० १० ठा० ।

पईव–प्रदीप–पुं० । प्रदीप्यते इति प्रदीपः । " पो वः । ८ । १ । २३१ ॥ इति पस्य वः । प्रा० १ पाद । दीपकलिकायाम्, पिं० । दीपयष्ट्यादिसमुदाये, भ० ८ श० ६ उ० । तैलदशाभाजने, भ० ७ श० ८ उ० ।

पईवस्स णं भंते ! झियायमाणस्स किं पईवे झियाइ, लट्ठी झियाइ, वत्ती झियाइ, तेल्ले झियाइ, पईवचंपए झियाइ, जोई झियाइ ? । गोयमा ! नो पईवे झियाइ० जाव नो पईवचंपए झियाइ, जोई झियाइ ॥

( पईवस्सेत्यादि ) ( झियायमाणस्स त्ति ) ध्यायतो ध्मायमानस्य वा, ज्वलत इत्यर्थः । ( पईवे त्ति ) प्रदीपो दीपयष्ट्यादिसमुदायः । ( झियाइ त्ति ) ध्यायति, ध्मायते वा ज्वलति । ( लट्ठी ति ) दीपयष्टिः ( वत्ती ति ) दशा । ( पईवचंपए त्ति ) दीपस्थगनकम् । ( जोइ त्ति ) अग्निः । भ० ८ श० ९ उ० । उद्दीपप्रदीपे, नि० चू० १ उ० । " तस्स लोगप्पईवस्स । " प्रकृष्टपदार्थप्रकाशकारित्वात्प्रदीपः । स० १ सम० । उत्त० । " पईवो दीवो । " पाइ० ना० २४४ गाथा ।

प्रतीप–त्रि० । प्रत्यनीके, " पईवपच्चत्थिपणो वामा । " पाइ० ना० १५४ गाथा ।

पईहर–पतिगृह–न० । " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " ॥ ८ । १ । ४ ॥ इति सूत्राधिकारस्थेकारः । भर्तृभवने, प्रा० १ पाद ।

पउअ–प्रयुत–न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते प्रयुताङ्गे, अनु० । स्था० । हिमे, दे० ना० ६ वर्ग ७ गाथा ।

पउअंग–प्रयुताङ्ग–न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते अयुते, स्था० २ ठा० ४ उ० । अनु० । स्था० ।

पउच्छंत–प्रोञ्छत्–त्रि० । अञ्जनेनाञ्जनि, नि० चू० ३ उ० ।

पउंजंत–प्रयुञ्जत्–त्रि० । उच्चारयति, " हासिता सांविता पवंपता आलोयंता पउंजंता । " औ० ।

पउंजिता–प्रयोक्तृ–त्रि० । प्रवर्तनशीले, स्था० ५ ठा० २ उ० । अन्तर्भूतकारितार्थत्वाद् वा प्रयोजयितरि, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

पउट्टपरिहार–प्रवृत्तपरिहार–पुं० । परिवृत्य परिवृत्य मृत्वा तस्यैवोत्पादे, आ० म० १ अ० । " वणस्सइकाइयाओ पउट्टपरिहारं परिहरति । " परिवृत्य परिवृत्य मृत्वा यस्तस्यैव वनस्पतिशरीरस्य परिहारः परिवर्तितः परिवर्तवाद इत्यर्थः । भ० १५ श० ।

पउट्ठ–प्रकोष्ठ–पुं० । कूर्पराग्रेतनभागे, भ० ११ श० ११ उ० । कक्षाधिकदेशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । त० 'पहुँचा' इति लोकप्रसिद्धे हस्तावयवे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

प्रवृष्ट–त्रि० । " उदृत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋत उत्वम् । कृतवर्षे, प्रा० १ पाद ।

पउट्ठ–देशी–गृहे, दे० ना० ६ वर्ग ४ गाथा ।

पउण–प्रगुण–पुं० । प्रकृतो गुणो येन, प्रकृष्टो गुणो यस्य वा । ऋजुतावति, दक्षे च । वाच० । " पउणीकय होमकुंड । " दर्श० ३ तत्त्व ।

पउत्त–प्रयोक्तृ–त्रि० । कर्तरि, प्रयोगकर्तरि, " उवयारस्सयबधणपउत्ताओ । " त० । प्रयुक्ताः, प्रयोक्त्र्यो वा कर्त्र्यः । त० ।

प्रयुक्त–न० । प्रयोगे, व्यापारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पउत्तसंतसिद्धिजोग–प्रयुक्तसत्सिद्धियोग–पुं० । प्रयुक्तः प्रवर्तितः सत्सिद्धियोगः सत्साधनव्यापारो येन स तथा । सत्सिद्धियोगप्रवर्तके, षो० ६ विव० ।

पउत्ति–प्रवृत्ति–स्त्री० । प्रकृष्टे वर्तने, भ० १५ श० । " वुत्ततो य उयतो, वत्ता य पउत्ति नामाइं । " पाइ० ना० ६ गाथा ।

प्रयुक्ति–स्त्री० । वार्तायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

पउप्पय–प्रपौत्रिक– ० । प्रशिष्ये शिष्यसन्ताने, भ० ११ श० ११ उ० ।

पउम–पद्म–न० । " क्ष्माश्लाघारत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात् " ॥ ८ । २ । १०१ ॥ इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः । 'पउम । पोम्म ।' प्रा० २ पाद । " ओत्पद्मे " ॥ ८ । १ । ६१ ॥ इति अत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । सूर्यविकाशिनि कमले, प्रा० म० १ प्र० । स्थान० । जी० । आचा० । रा० । रविबोध्ये कमले, औ० । कमले पद्मकाभिधाने गन्धद्रव्यविशेषे जी० ३ प्रति० ४ अधि० । औ० । त० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । आव० । चतुरशीतिलक्षगुणिते पद्माङ्गे, जं० २ वक्ष० । स्था० । अनु० । भ० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जातेऽष्टमे बलदेवे, स च सीतापती राम इति प्रसिद्धः । प्रव० २०९ द्वार । स० । आव० । ति० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति अष्टमे च चक्रवर्तिनि, स० । ति० । ती० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति अष्टमे बलदेवे, स० । ति० । ती० । पञ्चमतीर्थकृत प्रथमभिक्षादायके, स० । स्वनामख्याते श्रेणिकपुत्रस्य कालस्य पुत्रे, नि० ।

तद्वक्तव्यता–

जइ णं भंते ! समणेणं० जाव संपत्तेणं कप्पवडिंसियाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स कप्पवडिंसियाणं भगवया० जाव के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था । पुन्नभद्दे चेइए, कूणिए राया, पउमावई देवी । तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणियस्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था सुकुमाला । तीसे णं कालीए देवीए पुत्ते काले नामं कुमारे होत्था सुकुमाले । तस्स णं कालस्स कुमारस्स पउमावई नामं देवी होत्था सुकुमाला ०जाव विहरति । तते णं सा पउमावई देवी अन्नया कयाइं तंसि तारिसगंसि व सयणंसि अब्भिंतरतो सचित्तकम्मे०जाव सीहं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा, एवं जम्म णं जहा महाबलस्स०जाव नामधिज्जं,जम्हा अम्हाणं इमे दारए कालस्स कुमारस्स पुत्ते पउमावईए देवीए अत्तए,त होऊणं अम्हं इमस्स दारयस्स नामधिज्जं पउमे २, सेसं जहा महाबलस्स अट्ठओदातो०जाव उप्पिं पासायवरगते विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसरिए, परिसा निग्गया, कूणिए निग्गते,पउमे वि जहा महाबले निग्गते, तहेव अम्मापितिआपुच्छणा० जाव पव्वइए अणगारे जाए० जाव गुत्तबंभयारी । तते णं से पउमे अणगारे समणस्स भगवतो महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमादियाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थछट्ठम ०जाव विहरति । तते णं से पउमे अणगारे तेणं उरालेणं जहा मेहे तहेव धम्मजागरियाचिंता. एवं जहेव मेहो तहेव समणं भगवं आपुच्छित्ता विउले०जाव पाओवगते,समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं बहुपडिपुण्णाइं पंच वासाइं सामन्नपरियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं आणुपुव्वीए कालगते थेरा उत्तिन्ना भगवं गोयमं पुच्छइ, सामी कहेइ०जाव सट्ठिं भत्ताइं अणसणे छेदित्ता आलोइय उड्ढं चंदिमसूरियाए सोहम्मे देवत्ताए उववन्ने दो सागराइं । से णं भंते ! पउमे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० पुच्छा ?। गोयमा ! महाविदेहे वासे जहा दढपइन्ने० जाव अंतं काहिति । तं एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

आर्यवर्धस्य गौतमगोत्रस्य प्रथमशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । अष्टमदेवलोकविमानभेदे, स० १८ सम० । दिवसस्य त्रिंशत्सु मुहूर्तेषु नवमे मुहूर्ते,ज्यो० २ पाहु० । रुक्मिवर्ष सर्वोत्तरपर्वतस्य पर्यायस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ठा० २ उ० । महापद्मतीर्थकरस्य सहप्रव्रजिष्यमाणे । स्था० ८ ठा० । उभयतोप्रथमह्रदे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जी० । सुधर्मायां सभायां पद्मावतंसके विमाने स्वनामख्याते सिंहासने, ज्ञा० २ श्रु० १० वर्ग १ अ० । दक्षिणरुचकवरपर्वतस्य प्रथमकूटे, स्था० ८ ठा० ।

पउमंग–पद्माङ्ग–न० । चतुरशीतिमहानलिनशतसहस्रे, ज्यो० २ पाहु० । चतुरशीतिलक्षगुणिते कालविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्था० । भ० । जं० । अनु० ।

पउमकूड–पद्मकूट–न० । पद्मकूटे, " दो पउमकूडा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पउमखंड–पद्मखण्ड–न० । स्वनामख्याते पुरे, यत्राद्यो ज्येष्ठपुत्रो गन्धप्रियकुमार आसीत् । ग० २ अधि० ।

पउमगुम्म–पद्मगुल्म–न० । नलिनगुल्मविमाने, स्था० ८ ठा० । उत्त० । अष्टमदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० १८ सम० । श्रेणिकपुत्रवीरकृष्णाङ्गजे,स च श्रेणिकपुत्रात् वीरकृष्णाज्जन्म लब्ध्वा पञ्च. प्राप्तो वीरान्तिके प्रव्रज्य वर्षत्रय व्रतपर्याय परिपाल्य महाशुक्रे सप्तमे कल्पे समुत्पद्य सप्तदशसागरोपमाऽऽयुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यतीति सप्तममध्ययन कल्पावतंसिकाया सूचयतीति । नि० १ श्रु० २ वर्ग १ अ० । महापद्मतीर्थकृता सह प्रव्राजिष्यमाणे पुरुषभेदे, स्था० ७ ठा० ।

पउमगोर–पद्मगौर–त्रि० पद्मवर्णे, " दो तित्थगरा पउमगोरा वण्णेण पण्णत्ता । " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पउमचंद–पद्मचन्द्र–पु० । पद्मचन्द्रकुलाऽऽख्यकुलाऽऽदिपुरुषे, यत्र धनेश्वरसूर्याऽऽदयो दिगम्बरसूरयो अभूवन् । बृह कल्पटीकाकृत्क्षेमकीर्तिसूरिपितृव्यगुरौ, बृ० ६ उ० । अथ पद्मचन्द्राः–एकश्चित्रसेनपद्मावतीचरित्रकर्त्ता पाठकराजवल्लभस्य गुरुः कर्मप्रकृतिविवरणनामकग्रन्थस्य कर्त्ताऽऽसीत् । द्वितीयः श्रीकृष्णराज-

विंगच्छीयः प्रमानन्दसूरिगुरुभ्राता उपाध्यायः । स च वैक्रमीये १६६१ वर्षे विद्यमान आसीत् । तृतीयश्चन्द्रगच्छीयो जिनेश्वरसूरिशिष्यः विजयेन्दुसूरिगुरु धर्माऽभ्युदयमहाकाव्यरचयिता । जै० इ० ।

पउमचरिय-पद्मचरित-न० । दाशरथिरामचरित्रप्रतिबद्धे ग्रन्थभेदे, ध० २ अधि० ।

पउमजाल-पद्मजाल-न० । पद्माऽऽत्मके दाससमूहे, रा० ।

पउमणाभ-पद्मनाभ-पुं० । विमलवाहने महापद्मे भविष्यति प्रथमतीर्थकरे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । ती० । प्रव० । विष्णौ, अमरः । वाच० ।

पउमतिलग-पद्मतिलक-पुं० । सोमप्रभसूरिशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, गच्छा० प्र० ४ अधि० ।

पउमत्थल-पद्मस्थल-न० । मथुरास्थे पद्मारण्ये,क०ती०८कल्प ।

पउमद्दह-पद्मह्रद-पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणे श्रीदेवताऽध्यासिते महाह्रदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आव० । कल्प० । "दो पउमद्दहा दो पउमद्दहवासिणीओ देवीओ सिरीओ।" स्था० २ अ० २ ठा० ३ उ० । ( 'धायईसंडदीव' शब्दे चतुर्थभागे २७४६ पृष्ठे व्याख्या )

अथ पद्मह्रदनामनिरुक्तं पृच्छन्नाह-

**से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-पउमद्दहे पउमद्दहे गोयमा! पउमद्दहेण तत्थ तत्थ देसे, तहिं तहिं बहवे उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइ पउमद्दहप्पभाइं, सिरी अ इत्थ देवी महिड्ढिआ० जाव पलिओवमट्ठिईआ परिवसइ । से एएणऽट्ठेणं० जाव अदुत्तरं च णं गोयमा ! पउमद्दहस्स सासए णामधिज्जे पण्णत्ते, ण कयाइ णासि ।**

( से केणट्ठेणमित्यादि ) अथ केनाऽर्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-पद्मह्रदः पद्मह्रद इति ? । गौतम ! पद्मह्रदे तत्र तत्र देशे तस्मिंस्तस्मिन् देशे बहूनि उत्पलानि यावच्छतसहस्रपत्राणि पद्मह्रदप्रभाणि पद्मह्रदाऽऽकाराणि, आयतचतुरस्राऽऽकाराणीत्यर्थः । एतेन तत्र वानस्पत्यानि पद्मह्रदाऽऽकाराणि पद्मानि बहूनि सन्ति, न तु केवलपार्थिवानि वृत्ताऽऽकाराणि महापद्माऽऽदीन्येव तत्र सन्तीति ज्ञापितम् । तथा पद्मह्रदवर्णस्येवाऽऽभा प्रतिभासो येषां तानि तथा; ततस्तानि तदाकारत्वात् तद्वर्णत्वाच्च पद्मह्रदाणीति प्रसिद्धानि । ततस्तद्योगादयं जलाशयोऽपि पद्मह्रदः । उभयेषामपि च नाम्नादिनाप्रवृत्तत्वेन नेतरेतराऽऽश्रयो दोषः । अथ पार्थिवपद्मतोऽन्यस्य नामप्रवृत्तिर्जाताऽस्तीति ज्ञापयितुं प्रकारान्तरेण नामनिबन्धनमाह-श्रीश्च देवी पद्मवासाऽत्र परिवसति । ततश्च श्रीनिवासयोग्यपद्माऽऽश्रयत्वात् पद्मोपलक्षितो ह्रद इति पद्मह्रद आख्यायते । मध्यमपदलोपी समासात् समाधानम् । शेषं प्राग्वत् । जं० प्र० ७ वक्ष० ।

पउमदेवसूरि-पद्मदेवसूरि-पुं० । मानतुङ्गसूरिशिष्ये आवश्यकप्रबोधिकायोगरहस्यग्रन्थयो कारके स्वनामख्याते आचार्ये, अयमाचार्य सं० १२५० वर्षाद् १२६२ पर्यन्तमासीत् । द्वितीयो ऽप्येतन्नामा नाराचचन्द्रजम्बूद्वीपसूरिशिष्य तिलकसूरिशिष्यगुरुः । जै० इ० ।

पउमज्झय-पद्मध्वज-पुं० । महापद्मतीर्थकरेण सह प्रव्रजिष्यमाणे, स्था० ८ ठा० ।

पउमपम्हगोर-पद्मपक्ष्मगौर-पुं० । पद्मपक्ष्मवद् गौरः । जी० ४ प्रति० २ उ० । कमलगर्भकान्ते पीते, औ० ।

पउमपुर-पद्मपुर-न० । नासिक्यपुरे, " तत्थ पउमासलेण पउमपुर त्ति निवेसियं ।" ती० २६ कल्प ।

पउमप्पभा-पद्मप्रभा-स्त्री० । जम्ब्वा सुदर्शनाया उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे प्रथमवनखण्डे दक्षिणस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० ।

पउमप्पह-पद्मप्रभ-पुं० । निष्पङ्कनामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभा यस्यासौ पद्मप्रभः । तथा पद्मशयनदोहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति पद्मप्रभः । ध० २ अधि० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे षष्ठतीर्थकरे, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रव० । स० । पद्मप्रभस्य सामान्यतोऽभिधानकारणमिदम्-निष्पङ्कतया पद्मस्येव प्रभा यस्य स पद्मप्रभः । तत्र सर्वे एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपास्ततो विशेषकारणमाह-" पउमसयणम्मि जणणीऍ दोहलो तेण पउमाभो ।" येन कारणेन तस्मिन् भगवति गर्भगते जनन्या देव्या पद्मशयनीये दोहदमभूत्, तच्च देवतया सम्पादितम् । भगवान् स्वरूपत पद्मवर्णस्तेन कारणेन पद्मप्रभ इतिनामविषयीकृत । आ० म० २ अ० । आ० चू० । अनु० । स्था० ( 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठादारभ्य वक्तव्यता )

पउमप्पहसूरि-पद्मप्रभसूरि-पुं० । खरतरगच्छीये देवाऽऽनन्दसूरिशिष्ये, स च वैक्रमीये १२६४ वर्षे विद्यमान आसीत् । तेन मुनिसुव्रतचरित्रं नाम पुस्तकं रचितम् । जै० इ० ।

पउमभद्द-पद्मभद्र-पुं० । श्रेणिकपुत्रसुकृष्णसत्कपुत्रे, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य वर्षचतुष्टयं व्रतपर्याय परिपाल्य ब्रह्मलोके पञ्चमलोके दशसागरोपमान्युत्कृष्टमायुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यतीति कल्पावतंसिकायाः पञ्चमाध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० २ वर्ग १ अ० ।

पउममेरु-पद्ममेरु-पुं० । आनन्दमेरुसूरिशिष्ये राजमल्लाभ्युदयमहाकाव्यकृत पद्मसुन्दरसूरिगुरौ, जै० इ० ।

पउमरह-पद्मरथ-पुं० । मिथिलापुर्यां विजयसेनभूपते पुत्रे मदनरेखाकुक्षिसम्भूतस्य युगबाहुपुत्रस्य नमे रक्षके स्वनामख्याते राजनि, उत्त० ९ अ० । आव० । आ० चू० । दर्श० । आ० म० ।

पउमराय-पद्मराज-पुं० । धातकीखण्डभरतक्षेत्रापरकङ्काराजधानीनिवासिनि द्रौपदीहारके स्वनामख्याते राजनि, स्था० १० ठा० । पुण्यसागरशिष्ये गौतमकुलकवृत्तिकृतो ज्ञानतिलकगणिनो गुरौ, जै० इ० ।

पउमरुक्ख-पद्मवृक्ष-पुं० । अतिविशालतया वृक्षकल्पेषु पद्मेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पुष्करवरद्वीपपूर्वार्द्धे तद्द्वीपनामनिबन्धनतद्द्वीपाधिपदेवाऽऽवासशाश्वतपद्मवृक्षाऽऽकृतौ वस्तुनि, " दो पउमरुक्खे ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पउमलया-पद्मलता-स्त्री० । पद्मिन्याम्, स० १ सम० । रा० । जं० । जी० । पद्माऽऽकारलतासु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । औ० । " पउमलयाभत्तिचित्त " भ० ११ श० ११ उ० । पद्मानि च ल-

नाभ्य पद्मलतास्तद्रूपाभिर्विच्छित्तिभिश्चित्रो यस्य स तथा । भ० १४ श० ६ उ० ।

पउमवर्डिसय–पद्मावतंसक–न० । पद्मावतीदेवीनिवासभूते सुधर्मीया सभायां स्वनामख्याते विमाने,ज्ञा० २ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

पउमवरवेइया–पद्मवरवेदिका–स्त्री० । देवभोगभूमौ,जं०१वक्ष०।

पद्मवरवेदिकावर्णक'–

तीसे णं जगतीए उप्पिं बहुमज्झदेसभाए एत्थ ण एगा महं पउमवरवेदिका पण्णत्ता सा णं पउमवरवेदिया अद्धजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामई जगतीसमिया परिक्खेवेण ।

( तीसे ण जगतीए इत्यादि) तस्या यथोक्तस्वरूपाया जगत्या उपरि उपरितने तले यो बहुमध्यदेशभाग., सूत्रे एकारान्तता मागधभाषालक्षणानुरोधात् । तथा " कयरे आगच्छइ दित्तरूवे " इत्यत्र। ( एत्थ णमिति ) अत्र एतस्मिन् बहुमध्यदेशभागे, णमिति पूर्ववत् । महती एका पद्मवरवेदिका प्रज्ञप्ता, मया शेषैश्च तीर्थकृद्भि । सा च ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेनार्द्धयोजन द्वे गव्यूते पञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेण ( जगतीसमिया इति ) जगत्या समा समाना जगतीसमा, सैव जगतीसमिका, परिक्षेपेण परिरयेण, यावान् जगत्या मध्यभागे परिरयस्तावान् तस्या अपि परिरय इति भाव.। सर्वरत्नमयी सामस्त्येन रत्नाऽऽत्मिका।" अच्छा सण्हा " इत्यादि विशेषणकदम्बक पाठतोऽर्थतश्च प्राग्वत् ।

तीसे णं पउमवरवेदियाए अयमेतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा–वयरामया नेमा, रिट्ठामया पतिट्ठाणा, वेरुलियामया खंभा, सुवण्णरुप्पमया फलगा, लोहितक्खमईओ सुईओ, वइरामया संधी, णाणामणिमया कलेवरा कलेवरसंघाडा, णाणामणिमया रूवा रूवसंघाडा, अंकामया पक्खा पक्खबाहाओ, जोतीरसामया वंसा वंसकवेल्लुगाओ रययामयीओ पट्टियाओ, जातरूवमयीओ ओहाडणीओ, वइरामयीओ उवरि पुंछणीओ, सव्वसेयरययामए छादणे ।

(तीसे णमित्यादि) तस्या ,णमिति पूर्ववत् । पद्मवरवेदिकाया अय वक्ष्यमाण एतद्रूपः स्वरूपो वर्णावास वर्ण.श्लाघा यथाऽवस्थितस्वरूपकीर्तन,तस्याऽऽवासो निवासो ग्रन्थपद्धतिरूपो वर्णावासो वर्णकनिवेश इत्यर्थ'। प्रज्ञप्त' प्ररूपितः। तद्यथेत्यादिना तमेव दर्शयति–(वइरामया नेमा इति) नेमा नाम पद्मवरवेदिकायां भूमिभागादूर्द्ध्वं निष्क्रामन्त प्रदेशा ते सर्वे वज्रमया वज्ररत्नमया ,वज्रशब्दस्य दीर्घत्व प्राकृतत्वात् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । रिष्टमयानि रिष्टरत्नमयानि प्रतिष्ठानानि मूलपादा । (वेरुलियामया खभा इति)वैडूर्यरत्नमया स्तम्भा.। सुवर्णरूप्यमयानि फलकानि। लोहिताऽऽख्यरत्नाऽऽत्मिका सूचय फलकद्वयसम्बन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीया'(वइरामया संधी ) वज्रमया सन्धय सन्धिमेला. फलकानाम् । किमुक्त भवति ?–वज्ररत्नाऽऽपूरिता फलकाना सन्धय.। ( णाणामणिमया कलेवरा इति ) नानामणिमयानि कलेवराणि मनुष्यशरीराणि, नानामणिमया कलेवरसङ्घाटा. मनुष्यशरीरयुग्मानि, नानामणिमयाणि रूपाणि रूपकाणि,नानामणिमया. रूपसङ्घाटा. रूपयुग्मानि। ( अंकामया पक्खा पक्खबाहतो य इति ) अङ्को रत्नविशेषस्तन्मया. पक्षास्तदेकदेशा' पक्षबाहवोऽपि तदेकदेशभूता एवाङ्कमया.। आह च मूलटीकाकारः–अङ्कमयाः पक्षास्तदेकदेशभूता',एव पक्षबाहवोऽपि द्रष्टव्या इति । (जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुया य इति ) ज्योतीरसं नाम रत्न, तन्मया वंशा महान्त. पृष्ठवंशाः (वंशकवेल्लुया य इति) महतां पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक् स्थाप्यमाना वंशाः, कवेल्लुकानि प्रतीतानि। ( रययामईओ पट्टियाओ इति ) रजतमय्य. पट्टिकाः वंशानामुपरिकम्बास्थानीयाः (जायरूवमईओ ओहाडणीओ ) जातरूप सुवर्णविशेष , तन्मय्य. (ओहाडणीओ) अवघाटिन्यः, आच्छादनहेतुक चोपरि स्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिञ्चस्थानीयाः । ( वइरामईओ उवरि पुंछणीओ इति ) वज्रमय्यो वज्ररत्नाऽऽत्मिका अवघाटनीनामुपरि पुञ्छन्यो निविडतराच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीयाः । उक्त च मूलटीकाकारेण–" ओहाडणी हारप्रहण महत्, क्षुल्लक तु पुञ्छनी इति । " ( सव्वसेयरययामए छादणे इति ) सर्वश्वेत रजत रजतमयं पुञ्छनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादनम् ।

सा णं पउमवरवेदिया एगमेगेणं हेमजालेणं एगमेगेणं गवक्खजालेणं एगमेगेणं खिंखिणिजालेणं एवं घंटजालेणं जाव मणिजालेणं एगमेगेणं पउमवरजालेणं सव्वरयणामएणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता तेणं जालतवणिज्जलंबूसगा सुवण्णपयरगमंडिया णाणामणिरयणविविधहारद्धहारउवसोहियसमुदया ईसिं अण्णमण्णमसंपत्ता पुव्वावरदाहिणउत्तरागतेहिं वाएहिं मंदायं मदायं एजिया वेपिया कंपिना खोभिया चालिया फंदिया घट्टिया उदीरिया, एतेसिं उरालेणं मणुण्णेणं कण्णमणनिव्वुतिकरेणं सद्देणं सव्वतो समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

(सा णमित्यादि) सा यथास्वरूपा , णमिति वाक्यालङ्कारे । पद्मवरवेदिका, तत्र तत्र प्रदेशे एकैकेन हेमजालेन सर्वाऽऽत्मना हेममयेन लम्बमानेन दामसमूहेन, एकैकेन गवाक्षजालेन गवाक्षाऽऽकृतिरत्नविशेषदामसमूहेन, एकैकेन किङ्किणीजालेन किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिका , एकैकेन घण्टाजालेन किङ्किण्यपेक्षया किञ्चिन्महत्यो घण्टाः, तथैकैकेन मुक्ताजालेन मुक्ताफलमयेन दामसमूहेन, एकैकेन मणिजालेन मणिमयेन दामसमूहेन, एकैकेन कनकजालेन कनक पीतरूपः सुवर्णविशेष , तन्मयेन दामसमूहेन, एकैकेन रत्नजालेन एकैकेन पद्मजालेन सर्वात्म रत्नमयपद्माऽऽत्मकेन दामसमूहेन, सर्वत सर्वासु दिक्षु , समन्ततः सर्वासु विदिक्षु परिक्षिप्ता व्याप्ता । एतानि च दामसमूहरूपाणि हेमजालाऽऽदीनि जालानि लम्बमानानि वेदितव्यानि । तथा चाऽऽह -( तेण जाला इत्यादि ) तानि, सूत्रे पुस्त्वनिर्देश प्राकृतत्वात् , प्राकृते हि लिङ्गमनियतमिति । णमिति पूर्ववत् । हेमजालाऽऽदीनि,जालानि,क्वचित् दामा इति पाठ । तत्र त हेमजालाऽऽदिरूपा दामान इति व्याख्येयम् । (तवणिज्जलंबूसगा ) तपनीयमारक्त सुवर्ण तन्मयो लम्बूसगो दाम्नामग्रिमभागे मण्डनविशेषो येषा तानि तपनीयलम्बूसकानि । ( सुवण्णपयरगमंडिया इति ) पार्श्वत. सामस्त्येन सुवर्णप्रतर-

केण सुवर्णपत्रकेण मण्डितानि सुवर्णप्रतरकमण्डितानि (नानामणिरयणविविहहाररूहारउवसोभियसमुदया इति) ईषन् नानारूपाणां मणीनां रत्नानां च ये विविधा विचित्रवर्णा हारा अष्टादशसरिका अर्द्धहारा नवसरिका, तैरुपशोभित समुदायो येषां तानि तथा। (ईसिमन्नमन्नमसंपत्ता इति) ईषत् मनाक् अन्योऽन्य परस्परमसंप्राप्तानि असंलग्नानि पूर्वापरदक्षिणोत्तरागतैर्वातैर्मन्दायन्ते मन्दायन्ते इति मन्द मन्दम्, एजमानानि कम्पमानानि भृशा० ॥५।४।४२॥ इत्यविच्छेदे द्विः प्रोक्तमवादेः । इत्यविच्छेदे द्विर्वचन, यथा पचति पचतीत्यत्र । एवमुत्तरत्रापि । ईषत्कम्पनवशादेव प्रकर्षत इतस्ततो मनाक् चलनेन लम्बमानानि लम्बमानानि, तत. परस्परसंपर्कवशतः शब्दायमानानि, उदारेण स्फारेण, शब्देनेति योगः। स च स्फारशब्दो मनःप्रतिकूलोऽपि भवति,तत आह-मनोज्ञेन मनोऽनुकूलेन।तच्च मनोऽनुकूल लेशतोऽपि स्यादत आह-मनोहरेण मनांसि श्रोतॄणां हरति आत्मवशं नयतीति मनोहर । लिहाऽऽदेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः। तेन। तदपि मनोहरत्व कुत इत्याह-" कर्णमनोनिर्वृत्तिकरेण।"निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीना प्रायोदर्शनम्।" इति वचनात् हेतौ तृतीया। ततोऽयमर्थः-प्रतिश्रोत्रृ कर्णयोर्मनसश्च निर्वृतिकरः सुखोत्पादकः,ततो मनोहर ,तेन इत्थभूतेन शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् प्रदेशान् सर्वतो दिक्षु,समन्ततो विदिक्षु आपूरयन्ति, शब्दन्तस्य शाब्दि रूपम्। अत एव श्रिया शोभया अतीव शोभमानानि उपशोभमानानि तिष्ठन्तीति ।

**तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं पदेसे बहवे हयसंघाडा गयसंघाडा नरसंघाडा किन्नरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गंधव्वसंघाडा उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्टा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्ककडच्छाया सप्पभा ससिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥**

( तीसे णमित्यादि ) तस्या. पद्मवरवेदिकाया., तत्र तत्र देशे (तहिं तहिं इति) तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे। एतावता किमुक्त भवति ?-यत्र देशे एकस्तत्रान्येऽपि विद्यन्त इति। बहवो हयसंघाटा हययुग्मानि,सङ्घाटशब्दो युग्मवाची, यथा साधुसंघाट इत्यत्र। एव गजनरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्ववृषभसंघाटा अपि वाच्या । एते च कथंभूता इत्याह-(सव्वरयणामया) सर्वाऽऽत्मना रत्नमया , अच्छा आकाशस्फटिकवदतिस्वच्छा । ( जाव पडिरूवा इति ) यावत्करणात्-" सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा " इत्यादि विशेषणकदम्बकपरिग्रह , तच्च प्राग्वत् । एते सर्वेऽपि च संघाटा. पुष्पावकीर्णका उक्ता. ।

सम्प्रत्येतेषामेव हयाऽऽदीना पङ्क्त्यादिप्रतिपादनार्थमाह-

**तीसे णं पउमवरवेदियाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं पदेसे बहवे हयपंतीओ तहेव०जाव पडिरूवाओ,एवं हयवीहीओ ०जाव पडिरूवाओ, एव हयमिहुणाइं०जाव पडिरूवाइं ॥**

( एव पतीओ वीहीओ एव मिहुणगा इति ) यथा अमीषां हयाऽऽदीनामष्टानां संघाटा उक्तास्तथा पङ्क्तयोऽपि वक्तव्या । वीथयोऽपि, मिथुनकानि च। तानि चैवम्-" तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं पएसे बहुयाओ हयपतीओ गयपतीओ" इत्यादि, नवरमेकस्यां दिशि या श्रेणिः सा पङ्क्तिरभिधीयते । उभयोरपि पार्श्वयोरेकैकश्रेणिभावेन यत् श्रेणिद्वय सा वीथी, पङ्क्तिसंघाटा हयाऽऽदीनां पुरुषाणामुक्ताः। साम्प्रतमेतेषामेव हयाऽऽदीनां स्त्रीपुरुषयुग्मप्रतिपादनार्थं "मिहुणाइ" इत्युक्तम । अनेनैव प्रकारेण हयाऽऽदीनां मिथुनकानि स्त्रीपुरुषयुग्मरूपाणि वाच्यानि । यथा-"तत्थ २ देसे तहिं तहिं पएसे बहूहिं हयमिहुणगाइ गयमिहुणगाइ।" इत्यादि।

**तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ २ देसे तहिं २ पएसे बहवे पउमलयाओ नागलयाओ एवं असोगचंपगचूयवणवासंतियअतिमुत्तगकुंदसामलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ०जाव सुविभत्तपडिमंजरीवडेंसकधराओ सव्वरयणामतीओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णीरयाओ निम्मलाओ निप्पंकाओ निक्ककडच्छायाओ सप्पभाओ ससिरियाओ सउज्जोयाओ पासादीयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ तीसे णं पउमवरवेदियाए तत्थ २ देसे तहिं २ पएसे बहवे अक्खया सोत्थिया पण्णत्ता सव्वरयणामया अच्छा० ।**

( तीसे णमित्यादि ) तस्या,णमिति पूर्ववत् । पद्मवरवेदिकायां तत्र तत्र ( तहिं तहिं इति ) तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे, अत्रापि " तत्थ २ देसे तहिं २ " इति वदता यत्रैका लता तत्रत्या अपि बहवो लता सन्तीति प्रतिपादित द्रष्टव्यम्। (बहुयाओ पउमलयाओ इत्यादि) बहव पद्मलताः पद्मिन्य', नागलताः नागा द्रुमविशेषा , त एव लता तिर्यक्शाखाप्रसराभावात् नागलता.। एवमशोकलता , वणलता. वणास्तरुविशेषा ,वासन्तिकालताः अतिमुक्तकलता.,कुन्दलता ,श्यामलता ?,नित्य सर्वकाल,षट्स्वपि ऋतुषु इत्यर्थ । कुसुमिता' कुसुमानि पुष्पाणि सजातान्यास्विति कुसुमिता , तारकाऽऽदिदर्शनादितप्रत्ययः। यावत करणात् एव नित्य मुकुलिता मुकुलानि नाम कुड्मलानि,कलिका इत्यर्थ.,नित्य (पल्लवइयाओ इति) पल्लविताः,नित्य (नवइयाओ इति) स्तवकिता ,नित्य(गुलुइयाओ)गुल्मिता ,स्तवकगुल्मौ गुच्छकविशेषौ, नित्य गुच्छिता ,नित्य यमलिता यमल नाम-समानजातीययोर्लतयोर्युग्म तत् सयातमास्विति यमलिता , नित्य युगलिता युगल सजातीयविजातीययोर्लतयोर्द्वन्द्वम्।तथा नित्य सर्वकाल फलभरेण नता ईषन्नता नित्य प्रणता महता फलभारेण दूर नता ,तथा नित्य (सुविभक्तेत्यादि) सुविभक्तिक. सुविच्छित्तिक प्रतिविशिष्टो मञ्जरीरूपो योऽवतंसकस्तद्धारिण्य ।एव सर्वोऽपि कुसुमितत्वाऽऽदिको धर्म एकैकस्या लताया उक्त। साम्प्रत कासा चिल्लतानां सकलकुसुमितत्वाऽऽदिधर्मप्रतिपादनार्थमाह ( निच्च कुसुमियमउलियलवइयथवइयगुलइयगोच्छियविणमियपणमियसुविभत्तपडिमंजरिवडसगधरीओ ) एताश्च सर्वा अपि लता एव रूपा इत्याह-(सव्वरयणामईओ) सर्वाऽऽत्मना रत्नमय्य. " अच्छा सण्हा " इत्यादि विशेषणकदम्बक प्राग्वत् ।

अधुना पद्मवरवेदिकाशब्दप्रवृत्तिनिमित्त जिज्ञासु' पृच्छति-

**से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ-गोयमा ! पउमवरवेदियाए तत्थ २ देसे तहिं २ पएसे वेदियासु वेतियबाहासु वेतियासीसफलएसु वेतियापुडंतरेसु खंभेसु खंभबाहासु खंभसीसेसु खंभपुडंतरेसु सूयीसु सूयीमुहेसु सूयीफलएसु**

सुईपुडंतरेसु पक्खेसु पक्खवाहासु पक्खपुडंतरेसु बहुयउ-प्पलाइं पउमाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं निम्म-लाइं निप्पंकाइं निक्कंकडच्छायाइं सप्पभाइं ससिरियाइं सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं महया वासिक्कछत्तसमाणाइं पण्णत्ताइं समणा-उसो ! से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ-पउमवरवेदिया २ । अदुत्तरं च णं गोयमा ! पउमवरवेतियाइं सासते नामधे-ज्जे पण्णत्ते, जं ण कयावि णासि० जाव णिच्चे ।

(से केणट्ठेण भंते ! इत्यादि) 'से' शब्दोऽथशब्दार्थः । अथ के-नार्थेन केन कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते-पद्मवरवेदिका पद्मवर-वेदिकेति ?। किमुक्तं भवति ? पद्मवरवेदिकेत्येवं रूपस्य शब्दस्य तत्र प्रवृत्तौ किंनिमित्तमिति ?। एवमुक्ते भगवानाह-गौतम ! पद्म-वरवेदिकायां तत्र तत्र प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र वेदि-कासु उपवेशनयोग्यमत्तवारणरूपासु वेदिकापार्श्वेषु (वेइयापु-डतरेसु इति) द्वे वेदिके वेदिकापुटं, तेषामन्तराणि अपान्तरा-लानि वेदिकापुटान्तराणि तेषु, तथा स्तम्भेषु सामान्यतः, तथा स्तम्भबाहासु स्तम्भपार्श्वेषु । (खंभसीसेसु इति) स्तम्भशीर्षेषु (खंभपुडंतरेसु इति) द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं, तेषामन्तराणि तेषु, सूचीषु फलकद्वयसंबन्धविघटनाभावहेतुपादुकास्थानीयासु,तासा-मुपरि इति तात्पर्यार्थः।(सूईमुहेसु इति) यत्र प्रदेशे सूची फल-कं भित्त्वा मध्ये प्रविशति तत्प्रत्यासन्नो देशः सूचीमुखं, तेषु, त-था सूचीफलकेषु सूचीभिरभिसंबन्धिता ये फलकप्रदेशास्तेऽ-प्युपचारात् सूचीफलकानि,तेषु, सूचीनामधउपरिपर्यन्तेषु,त-था (सूईपुडंतरेसु इति) द्वे सूच्यौ सूचीपुटं, तेषामन्तरेषु, प-क्षाः पक्षबाहा वेदिकैकदेशास्तेषु बहूनि उत्पलकानि गर्दभका-नि, बहूनि पद्मानि सूर्यविकाशीनि, बहूनि पद्मानि चन्द्रविका-शीनि। एवं नलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशत-पत्रसहस्रपत्राण्यपि वाच्यानि। एतेषां च विशेषः प्रागेवोपदर्शि-तः। एतानि कथंभूतानीत्याह-सर्वरत्नमयानि सर्वात्मना रत्न-मयानि ।"अच्छाइ" इत्यादिविशेषणकदम्बकं प्राग्वत् । (महया वासिक्कछत्तसमाणाइ इति ) महान्ति महाप्रमाणानि वार्षिका-णि वर्षाकाले यानि पानीयरक्षणार्थं कृतानि तानि वार्षिकाणि तानि च तानि छत्राणि च तत्समानानि प्रज्ञप्तानि। हे श्रमण ! हे-आयुष्मन् ! (से तेणट्ठेणमित्यादि)तदेतेनार्थेन गौतम ! एवमुच्य-ते पद्मवरवेदिका पद्मवरवेदिकेति ।

पउमवरवेदिया णं भंते ! किं सासता,असासता?। गोयमा ! सिय सासता,सिय असासता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सिय सासता,सिय असासता ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सा-सया,वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता,से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति-सिय सासता, सिय असासता ॥

(पउमवरवेइया णं भंते ! किं सासया इत्यादि) पद्मवरवेदिका, णमिति पूर्ववत्। किं शाश्वती,उताशाश्वती,आर्षत्वाच्च सूत्रे नि-र्देशः प्राकृतत्वात् । किं नित्या,उतानित्येति भावः । भगवानाह-गौतम ! स्यात् शाश्वती, स्यादशाश्वती, कथञ्चिन्नित्या कथञ्चि-दनित्या इत्यर्थः। स्यात्शब्दो निपातः कथञ्चिदित्येतदर्थवा-ची *। "से केणट्ठेण भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवा-नाह-गौतम ! द्रव्यार्थतया द्रव्यास्तिकनयमतेन शाश्वती । द्रव्या-स्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्त्विकमभिमन्यते, न पर्यायान्, द्रव्यं चान्वयपरिणामित्वात् । अन्यथा द्रव्यत्वायोगात्, अन्य-यित्वाच्च सकलकालभावीति भवति । द्रव्यार्थतया शाश्वती। वर्णपर्यायैस्तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषरूपैः, एवं गन्धपर्यायैः रसपर्यायैः स्पर्शपर्यायैः, उपलक्षणमेतत् तदन्यपुद्गलविच-टनोच्चटनैश्च अशाश्वती । किमुक्तं भवति ?-पर्यायास्तिक-नयमतेन पर्यायप्राधान्यविवक्षायामशाश्वती; पर्यायाणां प्रतिक्षणभावितया, कियत्कालभावितया वा विनाशित्वात् । "से तेणट्ठेण " इत्याद्युपसंहारवाक्यं सुगमम् । इह द्रव्या-स्तिकनयवादिनः स्वतत्त्वप्रतिष्ठापनार्थमेवमाहु-"नासतो विद्यते उ-त्पादो, नापि सतो विद्यते विनाशो वा ।" "नासतो विद्यते भा-वो, नाभावो विद्यते सतः ॥ " इति वचनात् । यौ तु दृश्यते प्रतिवस्तु उत्पादविनाशौ, तदाविर्भावतिरोभावमात्रं, यथा स-र्पस्य उत्फणत्वविफणत्वे, तस्मात्सर्वं वस्तु नित्यमिति ।

कियच्चिरम्-

पउमवरवेइया णं भंते ! कालतो केवच्चिरं होइ ?। गोयमा ! ण कयाति णासि,न कयाति णत्थि,न कदाति न भविस्सति, भुविं च, भवति य, भविस्सति य, धुवा णियया सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेदिया ।

एवं तन्मतचिन्तायां संशयः-किं घटाऽऽदिवत् द्रव्यार्थतया शाश्वती, उत सकलकालमेवंरूपेति । ततः संशयापनोदार्थं भ-गवन्तं भूयः पृच्छति-( पउमवरवेदिया णमित्यादि ) पद्मव-रवेदिका,णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! कि-यच्चिरं कियन्तं कालं यावत् भवति एवंरूपा कियन्तं कालम-वतिष्ठते इति । भगवानाह-गौतम ! न कदाचिन्नासीत्, सर्व-दैवाऽऽसीदिति भावः। अनादित्वात् । तथा न कदाचिन्न भवति, सर्वदैव वर्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः । सदैव भावा-त् । तथा न कदाचिन्न भविष्यति, किं तु भविष्यच्चिन्तायां सर्व-दैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यम्, अपर्यवसितत्वात् । तदेवं का-लत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रति-पादयति-( भुविं च इत्यादि ) अभूच्च,भवति च, भविष्यति चे-ति । एवं त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवा मेर्वादिवत्, ध्रुवत्वादेव सदैव स्वस्वरूपे नियता,नियतत्वादेव शाश्वती शश्वद्भवन-स्वभावा, शाश्वतत्वादेव च सततगङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकह्रद इवानेकपुद्गलविघटनेऽपि तावन्मात्रान्यपुद्गलो-च्चाटनसंभवात्, अक्षया न विद्यते क्षयो यथोक्तरूपाऽऽकारभ्रं-शो यस्याः सा अक्षया, अक्षयत्वादेवाव्यया अव्ययशब्दवाच्या, मनागपि स्वरूपाच्चलनस्य जातुचिदप्यसंभवात् । अव्ययत्वादे-व स्वप्रमाणेऽवस्थिता मानुषोत्तरपर्वताद्बहिःसमुद्रवत् । एवं च स्वप्रमाणे सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या, धर्मास्तिका-याऽऽदिवत् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पउमवास-पद्मवर्ष-पुं० । पद्मानामाकाशोत्पाते, " पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति ।" पद्मवर्षः पद्मवर्षरूपः । भ० १५ श० ६ उ० । स्था० ।

* अयमेव स्याद्वादशब्दे निर्देक्ष्यते ।

**पउमवूह**–पद्मव्यूह–पुं०। पद्माऽऽकारे परेषामनभिभवनीये सैन्यविन्यासविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

**पउमसर**–पद्मसरस्–न०। पद्मप्रधानं सरः पद्मसर इति समासः। आ० म० १ अ०। पद्मयुक्ते सरसि, पद्मानि यत्रोत्पद्यन्ते। स्था० १० ठा०। कल्प०। तीर्थकृन्मातरश्चतुर्दशसु स्वप्नेषु दशमस्वप्ने पद्मसरः पश्यन्ति, तत्किं पद्मोपलक्षितं सरोवरमाहोस्वित् मानसरोवत्पद्मसरोऽपि द्वीपान्तरे कोऽप्यस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-पद्मैरुपलक्षितं सरः पद्मसर इति व्याख्यातमस्ति, द्वीपान्तरे तु तन्नामकं सरो नास्तीति। १०६ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

**पउमसागर**–पद्मसागर–पुं०। तपागच्छीये धर्मसागरोपाध्यायशिष्ये नयप्रकाशग्रन्थकारके सूरौ, स च वैक्रमीये १६७२ वर्षे आसीत्। जै० इ०।

**पउमसिरी**–पद्मश्री–स्त्री०। दन्तपुरे नगरे धनमित्रवणिजो भार्यायां धनश्रीसपत्न्याम्, यया दन्तमयसौधे दोहदो याचितः। आ० क०। आव०। आ० चू०। नि० चू०। ( णिरवलाव शब्दे चतुर्थभागे २१११ पृष्ठे कथा ) मेघरथविद्याधरदुहितरि सुभौमस्य चक्रवर्तिनो भार्यायाम्, आ० क०। ( 'माण' शब्देऽस्योदाहरणम् ) सिंहपुरे नगरे कीर्तिधर्मस्य राज्ञो दुहितरि, दर्श० ३ तत्त्व।

**पउमसुंदर**–पद्मसुन्दर–पुं०। नागपुरीयतपागच्छीये राजमल्लाभ्युदयमहाकाव्यधातुपाठपार्श्वनाथकाव्यजम्बूस्वामिकथानकाऽऽदिग्रन्थकृति स्वनामख्याते गणिनि, जै० इ०।

**पउमसेण**–पद्मसेन–पुं०। श्रेणिकपुत्रस्य महाकृष्णसत्कपुत्रे, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य लान्तके कल्पे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति कल्पावतंसिकानां षष्ठेऽध्ययने सूचितम्। नि० १ श्रु० २ वर्ग ८ अ०। पद्मनामविशेषकूटाधिपतौ नागकुमारे देवे, द्वी०।

**पउमसेहर**–पद्मशेखर–पुं०। पृथिवीपुरनरराजे, ध० र०।

पद्मशेखरमहाराजकथा चैवम्-

"पुरिसुत्तमसयण सुर-जणमहिय किं तु खारगुणरहिय।
नीरनिहिनीरसरिसं, पुहइपुर अत्थि इत्थ पुरं ॥ १ ॥
सुनओ घसणविरहिओ, किं तु जडासंगवज्जिओ सययं।
ससिसेहरु व्व सिरिपउ-मसेहरो नरवरो तत्थ ॥ २ ॥
सो बालभावओ भा-विऊण भावेण गहियजिणधम्मो।
राईसराइपुरओ, पत्तो पन्नवइ जिणधम्मं ॥ ३ ॥
वक्खाणइ जीवदयं, अपमायाओ परूवए मुक्खं।
बहुसो बहुमाणेण एव वन्नइ, सया गुरुणो ॥ ४ ॥
खंता दंता संता, उवसंता रागरोसपरिचत्ता।
परपरिवायविरत्ता, हुंति गुरू निम्ममपमत्ता ॥ ५ ॥
उवसमसीयलसलिलप्पवाहविज्झवियकोहजलणा वि।
गाढप्परूढभवविय रुमिडविनिड्डवणदवदहणा ॥ ६ ॥
निज्जियमयणा वि पसि-द्धसिद्धिवहुसंगसुक्खतल्लिच्छा।
परिच त्तसयलसंगा, वि सुद्दिढसंगहियचरणधणा ॥ ७ ॥
नीसेसजंतुसंता-णपालणे फुरियगरुयकरुणा वि।
निद्दयपमायसिंधुर-कुंभत्थलदलणहरिसरिसा ॥ ८ ॥

तहा-

कंसे संखे जीवे, गयणे वाऊ य सारए सलिले।
पुक्खलपत्ते कुम्मे, विहगे खग्गे य भारुंडे ॥ ९ ॥
कुंजरवसहे सीहे, नगराया चेव सागरक्खोहे।
चंदे सूरे कणगे, वसुंधरा चेव सुहुयहुए ॥ १० ॥
जिणसमए निद्दिट्ठा, इच्चाइनिदंसणेहिँ मुणिवसहा।
भावेण तेसि गुणव-न्नण पि नासेइ दुरियभरं ॥ ११ ॥

किं च-

माणुसं उत्तमं धम्मो, गुरुनाणाइसंजुओ।
सामग्गी दुल्लहा, एसा जाणेहि हियमप्पणो ॥१२॥
एयारिसो सुहगुरू, धन्नाण दिट्ठिगोयरमुवेइ।
एयस्स सवणसुहयं, पियंति वयणामयं धन्ना ॥ १३ ॥
एयस्स महामुणिणो, उवएसरसायणं अकाऊण।
दोहिं पच्छायावो, चत्ते पत्ते निहाणे व्व ॥ १४ ॥
इय भणिएण तेण, जिणधम्मे ठाविओ बहू लोओ।
एगो पुण सिट्ठिसुओ, विजओ नामेण इय भणइ ॥ १५ ॥
पवणुद्धुयचेलचलं, चलं मणं कह धरंति मे मुणिणो।
कह नियनियविसए धा-विराइँ रुंधंति करणाइं ? ॥ १६ ॥
दुहियजियाण च वहो, जुत्तो ज ते विणासिया इहयं।
वेइंतु निययकम्मं, सुगईए भायणं हुंति ॥ १७ ॥
ज पुण अपमायाओ, मुक्खस्स परूवणं तयं मन्ने।
जरहरणे तक्खगमउ-लिरयणउवएसदाणं व ॥ १८ ॥
इय सो वायालत्तेण, धम्माभिमुहं पि मोहए लोए।
नीओ निवेण तत्तो-हुणत्थमेव तओ विहियं ॥ १९ ॥
जक्खं त्ति नियपुरिसो, भणिओ जह मह इमं अलंकारं।
पक्खिवसु काउ मित्तं, रयणकरंडम्मि विजयस्स ॥ २० ॥
तेण वि तहेव काउं, विन्नत्तं राइणो तओ इमिणा।
पडहगपयाणपुव्वं, नयरे घोसाविय एवं ॥ २१ ॥
जो निवआहरणं कह-वि लहइ अप्पइ स दोसवं गिण्हे।
पच्छा से तणुदंडो, इय घोसाविउ वारतिगं ॥ २२ ॥
सह पवरेहिँ सपुरिसा, जुत्ता गिहसोहणम्मि अह तेहिं।
विजयगिहे तं दिट्ठं, सो पुट्ठो नणु किमेय ति ? ॥ २३ ॥
स भणइ अहं न याणे, चोरियमवि न मुणासि त्ति भणिरेहिं।
निवपासे नीओ ते-हिं तेण वज्झो स आणत्तो ॥ २४ ॥
न य ते को वि मुयावइ, पच्चक्खो तक्करु त्ति तो विजओ।
पाव्वत्तजीवियासो, जक्खं पइ जपइ सुदीणो ॥ २५ ॥
मित्त निव विन्नविउ, दंडेण दुक्करेण वि कह पि।
दावेसु जीवियं मे, तो जक्खो भणइ इय निवइं ॥ २६ ॥
देव अह मुयसु मित्तं, केण वि दंडेण तो भणइ राया।
जइ जाइ इओ सुगइं, मित्तो तुह किं न पडिहाइ ? ॥ २७ ॥
स भणइ सुगईएँ अलं, जीवंतो पिच्छए नरो भद्दं।
ता देसु पाणभिक्खं, तो निवई भणइ कुविय व्व ॥ २८ ॥
जइ मम पासाओ ते-ल्लपुन्नपत्तं गहित्तु बिंदुं पि।
अचयंतो सयलपुरे, भमिउ पुण ठवइ मह पुरओ ॥ २९ ॥
ता तुह मुएमि मित्तं, रायाए सतत्थं कहइ जक्खो।
विजयस्स तेण तं पि हु, पडिवन्नं जीवियासाए ॥ ३० ॥
तत्तो निरूवियाइं, सयलपुरे पउमसेहरनिवेण।
पहुपडहवेणवीणा-इसद्दउद्दामहरिसाइं ॥ ३१ ॥
अइसरूवलावणिम-सुवेसवेसाविलाससहियाइं।
सव्विंदियसुहयाइं, पए पए पिच्छणसयाइं ॥ ३२ ॥
सो फिर विसेसरसिओ, तेसु अइमरणभीरुओ तह वि।
तेल्लपडिपुन्नपत्ते, निहियमणो भमिय सयलपुरे ॥ ३३ ॥

पत्तो नरवरपासे, पुरओ जलेण मुत्तु त पत्त ।
पभिसो चलणेसु तओ, हंसि हसिउ नियो भणइ ॥ ३४ ॥
अबलसबलाइं, मणकरणाइ कहं तुमे विजय ! ।
अइवल्लहेसु वि भिसं, विच्छुणगाइसु निरुद्धाइं ॥ ३५ ॥
तेणुत्तं सामिय ! मर-णभीरुणा अह नियो भणइ जइ ते ।
एगभवमरणभीए-ण सेविओ पवमपत्तासो ॥ ३६ ॥
ता कह सेवति न तं, अणतजवमरणभीरुणो मुणिणो ।
इय सोउ पडिबुद्धो, विजओ जाओ पवरसढो ॥ ३७ ॥
इय गुरुगुणगणय-रुण परायणो वोहिउ बहू लोयं ।
सो पउमसेहरनिवो, सुगइंव भायण जाओ ॥ ३८ ॥
श्रुत्वेति कुमहविनिग्रहणैकमल्ल-
श्रीपद्मशेखरनरेश्वरसच्चरित्रम् ।
रत्नज्ञानदर्शनचरित्रभृतां गुरूणां,
भक्त्या जना गुरुगणं परिकीर्तयन्तु ॥ ३९ ॥"

इति पद्मशेखरमहाराजकथा । ध० र० २ अधि० ५ लक्ष० ।

पउमा-पद्मा-स्त्री० । लक्ष्म्याम्, अमरजीमस्य राक्षसेन्द्रस्य प्रथमायामग्रमहिष्याम्, स० १० ठा० ४ उ० । स्था० । शक्रस्य प्रथमाग्रमहिष्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ वर्ग १ अ० । भ० । स्था० । (अनयोः पूर्वोत्तरभवकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७३ पृष्ठे उक्ता ) जम्ब्वा. सुदर्शनायाः प्रथमवनखण्डे पूर्वस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० । मुनिसुव्रतस्य विंशतितमतीर्थकृतो मातरि, स० । ति० । चतुर्दशतीर्थकृत प्रथमप्रवर्तिन्याम्, प्रव० १० द्वार । प्रव्रज्यायां आर्यायाम्, द्वितीयबलदेवमातरि, ति० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । लेश्याभेदे, स० ।

पउमाभ-पद्माभ-पुं० । पद्मप्रभाऽऽख्ये तीर्थंकरे, प्रव० ३० द्वार ।

पउमावई-पद्मावती-स्त्री० । भीमस्य राक्षसेन्द्रस्य द्वितीयायाअग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० । ( अस्याः पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ता ) शक्राग्रमहिष्यां च । ज्ञा० २ श्रु० ७ वर्ग १ अ० । ( अस्या अपि पूर्वोत्तरजन्मकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७३ पृष्ठे उक्ता ) चेटकमहाराजदुहितरि चम्पेश्वरमहाराजधिवाहनभार्यायाम्, आव० ४ अ० । उत्त० । आ० क० । आ० चू० । यस्या हस्त्यारोहणदोहदोऽभूत्, ततो हस्त्याहृतया वने करकण्डू नाम कुमारः सुषुवे । उत्त० १० अ० । आ० चू० । सू० । ( 'करकण्डू' शब्दे तृतीयभागे ३५७ पृष्ठे कथा ) हिरण्यनाभनगरराजदुहितरि कृष्णवासुदेवपट्टराज्ञ्याम्, प्रश्न० । पद्मावतीकृते सङ्ग्रामोऽभूत् । तत्र अरिष्टनगरे राममातुलस्य हिरण्यनाभाभिधानननराधिपस्य दुहिता पद्मावती बभूव । तस्याश्च स्वयम्वरमुपश्रुत्य रामकेशवाव-ये च राजकुमारास्तत्राऽऽजग्मुः ।

ततश्च-

"पुव्वइ आहणिज्जो, विहीए सो तत्थ रामगुत्ती ।
रेवगनामो जेठो, भाया य हिरण्णनाभस्स ॥ १ ॥
पिउणा सह पव्वइओ, सो निरथे नमिजिणस्स गयमोहो ।
तस्स घरे वयनामो, रामा सीमा य वसुमई ॥ २ ॥
दुहियाओ पढम चिय, दिन्नाओ आसि तेण रामस्स ।
तत्थ य सयंवरम्मी, सव्वेहिं नरवरिंदाण ॥ ३ ॥
पुरव चिय त गेण्हइ आइ च कुसलाण कयग कण्हो ।
जाय च पत्थिवेहिं, मज्झ सह जायवाण उत्त ॥ ४ ॥
सव्वत्तो विद्दविए, मुहुत्तभित्तेण सव्वनरनाहे ।
रामो कण्हजुओ, हरी वि पउमावईकण्णं ॥ ५ ॥
गहिउ तारिं समेया, समागया नियनयरंर सव्वे ।" इति ।
प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

जति णं भंते ! पंचमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवती नगरी जहा पढमे० जाव कन्हे वासुदेवे आहेवच्चं० जाव विहरति । तस्स णं कन्हस्स वासुदेवस्स पउमावती नामं देवी होत्था, वण्णओ । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे० जाव विहरति । कन्हे विनिग्गते, जाव पज्जुवासति । तते णं से पउमावती देवी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठा जहा देवती देवी० जाव पज्जुवासति । अन्त० ५ वर्ग १ अ० ।

तते णं से कन्हे वासुदेवे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म ओहय० जाव झियाति कण्हादी । अरहा अरिठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय० जाव झियाहि । एवं खलु तुमं देवाणुप्पिया ! तथाओ पुढवीओ जलियातो णरगाओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेसाए ओसप्पिणीते पुंडेसु जणवएसु सयदुवारे णगरे बारसमो अममो नामं अरहा भविस्सति । तत्थ णं तुमे बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता सिज्झिहिति । बुज्झिहिति० जाव अंतं काहिति । तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिआए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा अप्फोडेति २ । दुग्गतिं तिवतिं छिंदति, छिंदइत्ता, सीहनायं करेति, करेतित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसित्ता तमेव अभिसेकं हत्थिरयणं दुरूहति, दुरूहइत्ता जेणेव बारवतीणयरी जेणेव रायगिहे तेणेव उवागते, उवागतेत्ता अभिसेयहत्थिरयणाओ पच्चोरुहति, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवगच्छइत्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, निसीयइत्ता कोडुंबिए पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एव वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बारवतीए णयरीए सिंघाडग० जाव उग्घोसेमाणे एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! बारवतीए णयरीए नवजोयण० जाव देवलोगभूयाओ सुरदीवएणं मूलाए वीणासे भविस्सति, तं जो णं देवाणुप्पिया ! इच्छति बारवतीए राया वा जुवराया वा तलवरे वा मडंबिया कोडुंबिया इब्भे वा सेट्ठी वा देवी वा कुमारो वा कुमारी वा अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडे० जाव पव्वइत्ते, तं णं कण्हे वासुदेवे विसज्जेति । पच्छा तुरस्स वि य से अहापवित्तं वित्तं अणुजाणइ, महया इड्डीसक्कारसमुदएण य से निक्खमणं करेति, करेतित्ता दोच्चं पि तच्च पि घोसणं घोसेह,

ममं एयं पच्चप्पिणह । तते णं ते कोडुंबिया पुरिसा०जाव पच्च-प्पिणंति । तते णं से पउमावती अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अं-तिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा० जाव हियया अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसित्ता एवं वयासी-सद्द-हामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं से जहेतं तुज्झे वदह जं णवरं देवाणुप्पिया ! कण्हं वासुदेवं आपुच्छामि । तते णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिते मुंडा भवित्ता०जाव पव्वयामि ?। अहासुहं । तस्स पउमावती देवी धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति, दुरूहतित्ता जेणेव बारवती णयरी जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता धम्मियातो जाणाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहतित्ता जेणेव कण्हे वासु-देवे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयलकट्टु क-एह वासुदेवं एवं वयासी-इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तु-ब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अं-तिए मुंडा०जाव पव्वइया । तए णं से कण्हे वासुदेवे को-डुंबिए पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पा-मेव पउमावतीए देवीए महत्थ ३ निक्खमणाभिसेयं उव-ट्ठवेह, एतमाणत्तियं पच्चप्पिणति० जाव पच्चप्पिणंतित्ता तमेव कण्हे वासुदेवे पउमावती देवी पट्टयं दुरूहेति, अ-ट्ठसंतेण सोवण०जाव कलसा० जाव महानिक्खमणाभिसे-एणं अभिसिंचति, अभिसिंचतित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेइ, करेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणिं सिवियं दुरूहावेति, दुरूहावेइत्ता बारवतीए णयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छइत्ता जेणेव रेवयते पव्वए जेणेव सहस्संबवणे उज्जा-णे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सीयं ठवेति, पउमाव-ती देवी सिवियातो पच्चोरुहति, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता अरहं अरि-ट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेइत्ता वदति नमंसति, एस णं भंते ! सा मम अग्गमाहिसी पउ-मावती णामं देवी इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणाभिरामा० जाव किमंग ! पुण पासणया, एतेणं अहं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणिभिक्खं दलयामि, पडिच्छंतु मं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणिभिक्खं । अहासुहं । तओ सा पउमावती उत्तर-पच्छिमदिसिभायं अवक्कमति, अवक्कमइत्ता सयमेव आभर-णालंकारं ओमोयति, ओमोयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, करेइत्ता० जाव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवाग-च्छति, उवागच्छइत्ता अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, वंदइत्ता एवं आलित्तेणं०जाव धम्ममातिक्खिय । तते णं अरहा अ-रिट्ठनेमी पउमावतिं देविं सयमेव पव्वावेति, सयमेव मुंडा-वेति, सयमेव जक्खिणीए अज्जाए सिस्सिणिं दलयति, तते सा जक्खिणी अज्जा पउमावतिं देविं सयमेव पव्वज्जा०जाव संजमियव्वं-तते णं अरहा अरिट्ठनेमी पउमावतिं देविं ०जाव संजमेति, तते णं सा पउमावती अज्जा जाया इरिया-समिया० जाव गुत्तबंभयारिणी तस्स पउमावती अज्जा जक्खिणीते अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थछट्ठविविह-तव०अप्पाणं भावेमाणा विहरति । तते णं सा पउमावती अज्जा बहुपडिपुण्णाइं वीसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसेति, झूसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेति रत्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे०जाव तमट्ठं आराहेति, चरि-मुस्सासेहिं सिद्धा । अन्त० ५ वर्ग० १ अ० । स्था० ।

श्रेणिकपुत्रस्य कूणिकस्य स्नुषायां कालस्य भार्यायां पद्ममातरि, नि० १ श्रु० १ वर्ग २ अ० । कूणिकमहाराजभार्यायाम्, सा च स्वदेवरयोर्हल्लविहल्लयोः सेचनकाभिधान हस्तिनमपजिहीर्षन्ती कूणिक प्रेरितवती, तेन च तदर्थमहाशिलाकण्टकसङ्ग्रामः कारितः । भ० ७ श० ९ उ० । ति० । सेलकपुरराजसेलकभार्यायाम् ध० र० २ अधि० ५ लक्ष० । ('थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २०४१ पृष्ठे कथा गता ) अयोध्याराज्ञो हरिसिंहस्य राज्यां पृथ्वीचन्द्रनरेन्द्रमातरि, ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० । ज्ञा० । भरते वर्षे तेतलिपुरनगरराजकनककेतुभार्यायाम्, तेतलिसुतेन पोट्टिलायां जातस्य कनकध्वजस्य मातृत्वेन रक्षितायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । आ० क० । ('तेतलिय' शब्दे चतुर्थभागे ५३५२ पृष्ठे कथा ) सिन्धुसौवीरेषु वीतभयराजस्योदायनस्य भार्यायाम्, भ० १ श० ७ उ० । कौशाम्बीराजशतानीकपुत्रोदायननृपजायायाम्, विपा० १ श्रु० ५ अ० । ( या बृहस्पतिदत्तेन सङ्गतेति 'बहस्सइदत्त' शब्दे कथा ) विंशतितमतीर्थकृतो मुनिसुव्रतस्य मातरि, प्रव० ११ द्वार । आव० । ति० । पार्श्वजिनस्य शासनदेव्याम्, सा च कनकवर्णा कुक्कुटसर्पवाहना चतुर्भुजा पद्मपाशान्वितदक्षिणकरद्वया, फलाङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वया च । प्रव० २७ द्वार । ती० । स्था० । पाश्चमदिग्भागवर्तिरुचकपर्वतस्य मन्दरकूटवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्ष० । स्था० । द्वी० । आ० क० । आ० चू० । रोहीडकनगरराजमहाबलभार्यायां वीरङ्गमातरि, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । ('निसढ' शब्दे चतुर्थभागे २१३७ पृष्ठे कथोक्ता ) पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीराजस्य महापद्मस्य पट्टराज्यां पुण्डरीककण्डरीकमातरि, आ० चू० १ अ० । रम्याविजयराजधान्या रम्यो विजयः, पद्मावती राजपुं उन्मत्तजला महानदी । जं० ४ वक्ष० । तथा पद्मावती किं धरणेन्द्रपत्नी, उताऽन्या परिगृहीतेति प्रश्ने, उत्तरम्-पद्मावती धरणेन्द्रस्याग्रमहिषी, न तु साधारणेति । ११२ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

पउमागिति-पद्माऽऽकृति-त्रि० । पद्मसंस्थिते, "भद्दो णाभी पउमागिती वा ।" नि० चू० १ उ० ।

पउमासण-पद्माऽऽसन-न० । पद्माऽऽकारे आसने, जं० १ वक्ष० । जी० ।

**पउमिणी**–पद्मिनी–स्त्री० । पद्मलतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आचा० । कमलश्रेष्ठिसुतायाम्, तं० । तैलङ्गजनपदे आमरकुण्डनगरे पूज्यमानायां पद्मावत्यां देव्याम्, ती० ।

तत्कल्पः–

"आमरकुण्डकनगरे, तिलङ्गजनपदविभूषणे रुचिरे ।
गिरिशिखरभुवनमध्य-स्थिता जयति पद्मिनी देवी ॥ १ ॥"

अस्ति स्वस्तिकरसमस्तगुणगणगम्भीरं रम्भेष्वामरकुण्डं नाम नगरमभ्रंलिहरत्नहर्म्यश्रेणिविभ्राजितमनाऽऽनन्दं स्निग्धनानाविधच्छायातरुपरिस्कृत मञ्जुगुञ्जन्मधुकरनिकरपरीतकुसुमसौरभसंरम्भसुरभीकृतदिग्वलयं विमलबहलसलिलकलितसरित्सरोवरशोभितं दुर्गमदुर्गतया विपक्षपक्षैरक्षोभितं, किं वा तस्य पुरवरस्य वर्णयामो, यत्र करवीरकुसुमस्तोऽपि मृगमदगन्धयः विशिष्टेक्षुयष्टिविपुलकदलीफलबकुलनारङ्गानेकप्रकारसहकारसंपन्नरसपुन्नागनागवल्लीपूगस्वादुवशालिनालिकेरफलप्रभृतीनि हृद्यस्वाद्यानि फलन्ति प्रतिऋतु सौरभ्यभरनिर्भरवासितदिक्पालयः शालयः वीक्ष्यन्ते परिपक्वकेर्विपणिषु पट्टांशुकप्रमुखचैलनिचयमौक्तिकरत्नाऽऽदीन्यगण्यानि पण्यानि, इत एव निष्पन्नमुरङ्गलब्धपदेशपेशलमेकशिलापत्तनसमीपां भूमिमलङ्करिष्णुर्विष्णुपदचुम्बिशिखरपरम्पराशेखरितः सर्वतो रमणीयः पर्वतः पातयितुमीश्वरः सौन्दर्यगर्वं तं पर्वतराजमास्ते । तदुपरि परिमाहाऽऽरोहशालिश्रीऋषभशान्तिनाथाऽऽदिजिनप्रतिमालङ्कृताः कृतजनमनःप्रसादाः प्रासादाः शोभन्ते शुभयवः । तत्रैकत्र पवित्रतरे पुरे गतसद्मनि छद्मनिर्मुक्तमना मनागपि विषयसुखैरलुभितहृदयः सहृदयाऽऽह्लादितोदयः प्रतिवसति स्म जितस्मरो विस्मयकारिचरणाऽऽकर्षवशीकृतपद्मावतीदेवीलब्धप्रतिष्ठो मेघचन्द्रनामा दिगम्बरो व्रतिपतिरेकोऽनेकनिमित्तपरिपक्तुपासितपदः । स चैकदा श्रावकगोष्ठीमनुज्ञाप्य व्रतरूपे स्थानान्तरविहरणाय, यावत्कियतीमपि भुवमगमत् सहस्ताऽऽभरणं नाद्राक्षीत् पुस्तकम् । ततश्चाऽऽहाहो नः प्रमादोऽक्षुरता, येन स्वपुस्तकमपि व्यस्मार्षमिति क्षणं विचिन्त्य छात्रमेकं क्षत्रियजातीयं माधवराजनामधेयं व्यावर्त्तयत् पुस्तकाऽऽनयनाय । स च छात्रो वलित्वा मठमगमत्, यावत्प्रविशति तावदपश्यदेकयाऽद्भुतरूपधेयश्रिया स्त्रिया तत् पुस्तकमूरुपरि न्यस्तं, यावन्निर्भीककमक्षुब्धचेतास्तद्ग्रहीतुं प्रवृत्तस्ततः तावत् सा वरवर्णिनी तत् पुस्तकं स्वस्कन्धदेशमधीरशत्, तदनु स छात्रो मात्रोच्चीर्णवैयावृत्यस्तदूरौ चरणं दत्त्वा स्कन्धादपि तद् ग्रहीतुं प्रावृतत् । ततस्तयाऽऽराध्योऽयमिति विमृश्य विधृतः करेऽभिहितश्च–वत्स ! किमपि वृणु तत् तुभ्यमहं प्रयच्छामि, तुष्टाऽस्मि तव साहसिक्येन । तदनन्तरं शिष्येण निजगदे–जगदेकवन्द्यो मद्गुरुः सर्वं मह्यमभिवाञ्छितमर्थं प्रदातुं समर्थ एवास्ति, तत्किमहं भुजवतीं भवतीं प्रार्थये इत्यभिधाय छात्रः पुस्तकमादाय च आचार्यसविधमागच्छत् । तदखिलं स्वरूपं निवेद्य पुस्तकमाचार्याय समार्पिपत् । क्षपणकगणाधिपतिरवोचत्–भद्र ! सा न स्त्रीमात्रं, किं तु भगवती पद्मावती देवता सा, तद्गच्छ लिखितहृद्यपद्यमिदं पत्रं तस्यै दर्शयेति । गुर्वादेशं तथेति प्रतिपद्य सद्य एव विनेयो व्याघुट्य तं मठं गत्वा तस्यै तत्पत्रं समर्प्य पुरस्तस्थौ । देव्यप्यवाचयत् । यथा–"अष्टौ दन्तिसहस्राणि, नवकोट्यः पदातयः । रथाश्च लक्षसंख्याश्च, कोशश्चास्मै प्रदीयताम् ॥ १ ॥" भगवत्यपि पद्यार्थमवधार्य तस्मा अन्तेवासिने चतुरगस्तुरगं प्रददे । जगदे चासौ–यदेनमधिरुह्य व्रजतु भवान्, यत्पत्रे लिखितमास्ते तत्सर्वं त्वत्पृष्ठत एव समेष्यति, केवलं गिरिविवराध्वना त्वया गन्तव्यं, पृष्ठतश्च नावलोक्यते इति तद्वचनं तथेत्युररीकृत्य तद्गिरिविवरमनु प्राविविशदश्वम्, यावत् द्वादश योजनान्यत्राजीव्रजीत्, ततः पश्चादागच्छद्तुच्छकरिघटाघण्टाटणत्कारतुमुलमतुलं कोलाहलं समाकर्ण्य कुतूहलोत्तालतया स छात्रः सपदि पश्चाद्भागं सिंहावलोकिनन्यायेन निभालयांबभूव, यावद्दर्शं क्षिप्रं करितुरगाऽऽदिसमूहसंकुलां सेनां, तस्मिंश्च विस्मयरसमयहृदयीभूते तत्रैव द्वादशयोजनान्ते स तदधिष्ठितस्तुरङ्गमपुङ्गवोऽवास्थित । तदनु च स माधवराजः परमजैनस्तया पृतनया परिवृतस्तत्रैव नगरं निवेश्य तस्या देव्या भवनं च विधाप्य पुनरामरकुण्डनगरमागत्य राजलक्ष्मीं पर्युपास्यत् भूपालमौलिलालितशासनः, प्रासादं चाभ्रङ्कषशिखरं हिरण्मयदण्डकलशध्वजभ्राजिष्णुमचीकरत् । प्रत्यतिष्ठिपच्च तत्र विधीयमाणनमस्कुर्वाणमनुष्यचित्तां श्रीपद्मावतीं देवीम् । पर्यपूपुजच्च पर्यासिभक्तितरङ्गितमनाः त्रिसन्ध्यमष्टविधपूजया । विद्यते च तदद्यापि भुवनोदरव्यापिमाहात्म्यं भगवत्या मन्दिरममन्दलक्ष्मीकं भव्यजनतया पर्युपास्यमानं, तस्य च गिरिविवरस्य द्वारे विपुलशिलापट्टमद्यापि दत्तमस्ति, यथा तेन पथा सर्वोऽपि न प्रविशति, तत्र हि शिलामुद्घाट्य महतीं पूजां कृत्वा प्रविश्य प्रथमं लुठता गन्तव्यं कियतीमपि कक्षां, तदग्रे चोपविष्टैश्चलनीयम्, अग्रेनरां च महत्यवकाशे ऊर्ध्वज्ञुभिरेव देवीसदनं किल गन्तव्यमिति प्रत्यूहव्यूहसंभावनया कष्टभयाच्च न कश्चित्प्रापत्तद्विवरद्वारमुद्घाटयितुं पाटवमसाहसिकः कलयतीति शिलापिहितद्वारि विवरस्थान एव सर्वेऽपि श्रद्धालवः पद्मावत्याः पूजां कुर्वते, प्राप्नुवन्ति च विघ्नच्छिदीरेऽभिरुचितार्थसिद्धीः । माधवराजस्य कङ्कतीग्रामवास्तव्यत्वाद्वंशजाः पुरविटरिमराज पिकिकुण्डिमराज प्रोलमराज-रुद्रदेव-गणपतिदेवाः । पुत्री च रुद्रमहादेवी पञ्चत्रिंशद्वर्षकृतराज्यास्ततः श्रीप्रतापरुद्रः । एते काकतीया इति प्रसिद्धाः । "श्रीमदामरकुण्डाख्य-पद्मावत्या यथाश्रुतम् । आजल्पि कल्पलेशोऽयं, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ॥१॥" श्रीआमरकुण्डपद्मावतीदेवीकल्पः । ती० ५६ कल्प । "पउमिणिपत्तोवलग्गजलबिंदुणिचयचित्तं ।" पद्मिन्यः कमलिन्यस्तासां पत्राणि तेषाम् उपरि लग्ना ये जलबिन्दुनिचयास्तैः चित्रमाश्चर्यकृतम् । अत्र इन्द्रनीलरत्नमयानि च पद्मिनीपत्राणि मुक्ताफलानुकारिभिर्जलबिन्दुभिरतीव शोभन्ते, तैश्च पत्रैस्तत् सरः कृतं चित्रमिव भातीति भावः ॥ कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

**पउमिणीसंड**–पद्मिनीखण्ड–पुं० । स्वनामख्याते उद्याने, यत्र वीरो भगवान् निष्क्रान्तः । वि० ।

**पउमुत्तर**–पद्मोत्तर–पुं० । मन्दरस्य पर्वतस्य भद्रशालवने प्रथमदिग्हस्तिकूटपर्वते, जं० ४ वक्ष० । द्वी० । स्था० । ('भद्दसालवण' शब्देऽस्य वक्तव्यता) हस्तिनापुरराजनि ज्वालापतौ विष्णुकुमारमहापद्मयोः पितरि, ती० २० कल्प । महापद्मो नवमचक्रवर्ती । स० ।

**पउमुत्तरा**–पद्मोत्तरा–स्त्री० । शर्कराभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । प्रज्ञा० । जी० ।

**पउमुप्पल**–पद्मोत्पल–न० । पद्मोत्पलकन्दे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "पउमुप्पलसरिसणीलासमुरहिनयणा ।" पद्मं कमलमुत्पलं नीलोत्पलं, यद्वा–पद्मं पद्मकाभिधानं गन्धद्रव्यम्, उत्पलं

च उत्पलकुष्ठ, तयोर्गन्धेन सौरभेण सदृश. समो यो निश्वासस्तेन सुरभिगन्धि वदनं मुखं येषां ते पदूमोत्पलगन्धसदृशनिश्वाससुरभिवदनाः । त० । जी० ।

पउय-प्रयुत-पु० । चतुरशीतिलक्षगुणिते प्रयुताङ्गे, स्था० २ ठा० ४ उ० । जी० ।

पउयंग-प्रयुताङ्ग-न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते अयुतशतसहस्रे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पउर-प्रचुर-त्रि० । प्रभूते, आ० म० १ अ० । औ० । प्रश्न० । अतिप्रभूते, व्य० ३ उ० । ज्ञा० । बहुले, स्था० २ ठा० ४ उ० ।
पौर-त्रि० । "अउ. पौराऽऽद्यौ च" ॥ ८ । १ । १६१ ॥ इत्यौतोऽउ. । "पउरो ।" पुरोद्भवे,प्रा०१ पाद । विशिष्टनगरनिवासिलोके,आ० म० १ अ० । "पउरजणवालवुड्ढपमुइयतुरियपहावियवियलाउलवोलबहुल नभ करते ।" पौरजनाश्च, अथवा प्रचुरजनाश्च बाला वृद्धाश्च ये प्रमुदितास्त्वरितप्रधाविताश्च शीघ्रं गच्छन्तः,तेषां व्याकुलाऽऽकुलानामतिव्याकुलानां,यो बोल. स बहुलो यत्र तत्तथा, तदेवभूत नभ कुर्वन्निति । भ० ६ श० ३३ उ० ।

पउरगोयर-प्रचुरगोचर-पु० । प्रचुरचरणभूमौ, भ० १२ श० ७ उ० ।

पउरिस-पौरुष-न० । पुरुषस्य भावे, " अउ. पौराऽऽद्यौ च । " ॥ ८ । १ । १६२ ॥ इत्यौतोऽउ. । प्रा० १ पाद । " पुरुषे रोः " ॥ ८ । १ । १११ ॥ इत्युकारस्येकार. । प्रा० १ पाद ।

पउरिंधण-प्रचुरेन्धन-न० । बहुलकाष्ठे, उत्त० ३२ अ० ।

पउरुस-पौरुष-न० । ' पउरिस ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

पउ(ओ)ल-पटोल-पु० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे,प्रज्ञा०१ पद ।

पउ(त्त)लट्ठि-प्रतोत्रयष्टि-स्त्री० । प्राजनकदण्डके, दशा०१० अ० ।

पउलण-प्रचोटन-न० । पचनविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पउलिअ-पक्व-त्रि० । दग्धे, पुलुष्टय " पउलिअ वक्क । " पाइ० ना० २०० गाथा ।

पउस्संत-प्रद्विषत्-त्रि० । प्रद्वेषमुपयाति, प्रति० ।

पऊढ-देशी । न० । गृहे, दे० ना० ६ वर्ग ४ गाथा ।

पएस-प्रदेश-पु० । प्रकृष्टो देश. । उत्त० ४ अ० । निर्विभागे भागे, अनु० । आ० म० । स्था० । विशे० । धर्माधर्माऽऽकाशजीवपुद्गलानां निरवयवे ( स्था० ३ ठा० २ उ० ) निरंशे धर्माऽधर्माऽऽकाशजीवाना देशोऽवयवविशेषे, स्था०१ ठा० । विशे० । जी० । आ० म० । निरंशावयवे परिमाणे, स० ५ अङ्ग । प्रमितपरिमाणे, म० । लघुतरभागे, भ० ९ श० ३३ उ० । जनपदैकदेशे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । कणिकाऽऽदिरूपे, ( कर्म० १ कर्म० ) दलसंचये, कर्म० ५ कर्म० । ज० ।

जीवानां सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वम्-

जीवे णं भंते ! कालादेसेणं किं सपएसे, अपएसे ?। गोयमा ! नियमा सपएसे । नेरइए णं भंते ! कालादेसेणं किं सपएसे, अपएसे ? । गोयमा ! सिय सपएसे,सिय अपएसे, एवं०जाव सिद्धे । जीवा णं भंते ! कालादेसेणं किं सपएसा, अपएसा ?। गोयमा ! नियमा सपएसा । नेरइया णं भंते ! कालादेसेणं किं सपएसा, अपएसा ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सपएसा । अहवा-सपएसा य, अपएसे य । अहवा-सपएसा य, अपएसा य । एवं०जाव थणियकुमारा । पुढविकाइया णं भंते ! किं सपएसा, अपएसा ?। गोयमा ! सपएसा वि, अपएसा वि । एवं०जाव वणस्सइकाइया, सेसा जहा नेरइया तहा सिद्धा, आहारगाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, अणाहारगाणं जीवेगिंदियवज्जा छब्भंगा एवं भाणियव्वा-सपएसा वा १, अपएसा वा २ । अहवा सपएसे य, अपएसे य ३ । अहवा सपएसे य, अपएसा य ४ । अहवा-सपएसा य, अपएसे य ५ । अहवा-सपएसा य, अपएसा य ६ । सिद्धेहिं तियभंगो-भवसिद्धी य, अभवसिद्धी य, जहा ओहिया, नोभवसिद्धी य, नोअभवसिद्धी य । जीवसिद्धेहिं तियभंगो, सन्नीहिं जीवादिओ तियभंगो, असन्निएहिं एगिंदियवज्जो तियभंगो, नेरइयदेवमणुएहिं छब्भंगो, नोसन्निनोअसन्नि जीवे मणुयसिद्धेहिं तियभंगो, सलेसे जहा ओहिया कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा जहा आहारओ, णवर जस्स अत्थियाओ तेउलेस्साए जीवाइओ तियभंगो, णवरं पुढविकाइएसु आउवणप्फईसु छब्भंगा, पम्हलेस्से सुक्कलेस्साए जीवाइओ तियभंगो, अलेस्सेहिं जीवसिद्धेहिं तियभंगो, मणुएसु छब्भंगा, सम्मद्दिट्ठीहिं जीवादिओ तियभंगो, विगलिंदिएसु छब्भंगा, मिच्छादिट्ठीहिं एगिंदियवज्जो तियभंगो, सम्मामिच्छद्दिट्ठीहिं छब्भंगा, संजएहिं जीवादिओ तियभंगो, असंजएहिं एगिंदियवज्जो तियभंगो, संजयासंजएहिं जीवादिओ तियभंगो, नोसजयनोअसंजयनोसजयासजयजीवसिद्धेहिं तियभंगो, सकसाइएहिं जीवादिओ तियभंगो, एगिंदिएसु अभंगयं, कोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, देवेहिं छब्भंगा, माणकसाईमाइकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, नेरइयदेवेहिं छब्भंगा, लोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, नेरइएसु छब्भंगा, अकसाईजीवमणुएहिं सिद्धेहिं तियभंगो, ओहियणाणे आभिणिबोहियणाणे सुयनाणे जीवादिओ तियभंगो, विगलिंदिएहिं छब्भंगा, ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे जीवादिओ तियभंगो, ओहिए अण्णाणे मतिअण्णाणे सुयअण्णाणे एगिंदियवज्जो तियभंगो, विभंगणाणे जीवादिओ तियभंगो, सजोई जहा ओहिओ मणजोगिवइजोगिकायजोगिजीवादिओ तियभंगो, णवरं कायजोगी एगिंदिया, तेसु अभंगकं, अजोगी जहा अ-

लेसा, सागारोवउत्तअणागारोवउत्तेहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, सवेयगा जहा सकसाई इत्थीवेयगपुरिसवेयगनपुंसगवेयगेसु जीवादिओ तियभगो, णवरं नपुंसगवेदे एगिंदिएसु अभंगयं, अवेयगा जहा अकसाई, ससरीरी जहा ओहिओ, ओरालियवेउव्वियसरीराणं जीवेगिंदियवज्जो तियभगो, आहारगसरीरे जीवमणुएसु छब्भंगा, तेयगकम्मगाइं जहा ओहिया, असरीरेहिं जीवसिद्धेहिं तियभंगो, आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणापाणपज्जत्तीए जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो, भासामणपज्जत्ती जहा सन्नी, आहारअपज्जत्ती जहा अणाहारगा, सरीरअपज्जत्तीए इंदियअपज्जत्तीए आणापाणअपज्जत्तीए जीवे एगिंदियवज्जो तियभंगो, नेरइयदेवमणुएहिं छब्भंगा, भासामणअपज्जत्तीए जीवादिओ तियभंगो, णेरइयदेवमणुएहिं छब्भंगा । " सपएसाहारगभवि-यसन्निलेसदिट्ठिसंजयकसाए। नाणे जोगुवओगे, वेए य सरीरपज्जत्ती ॥१॥"

( जीवे णमित्यादि ) ( कालादेसेण ति ) कालप्रकारेण, कालमाश्रित्येत्यर्थः । ( सपएसे त्ति ) सविभाग । (नियमा सपएसे त्ति ) अनादित्वेन जीवस्यानन्तसमयस्थितिकत्वात्सप्रदेशता, यो ह्येकसमयस्थितिः सोऽप्रदेशः। द्व्यादिसमयस्थितिस्तु सप्रदेशः। इह चानया गाथया भावना कार्या-" जो जस्स पढमसमए, वट्टइ भावस्स सो उ अपएसो । अण्णम्मि वट्टमाणो, कालाएसेण सपएसो ॥ १ ॥ " नारकस्तु य प्रथमसमयोत्पन्नः सोऽप्रदेशो, द्व्यादिसमयोत्पन्नः पुनः सप्रदेशः । अत उक्तम्-"सिय सपएसे सिय अपएसे "। एवं तावदेकत्वेन जीवाऽऽदिः सिद्धावसानः षड्विंशतिदण्डकः कालसप्रदेशत्वाऽऽदिना चिन्तितोऽथायमेव तथैव पृथक्त्वेन चिन्त्यते-( सव्वे वि ताव होज्ज सपएस त्ति ) उपपातविरहकालेऽसङ्ख्यातानां पूर्वोत्पन्नानां भावात्सर्वेऽपि सप्रदेशा भवेयुः, तथा पूर्वोत्पन्नेषु मध्ये यदैकोऽन्यो नारक उत्पद्यते तदा तस्य प्रथमसमयोत्पन्नत्वेनाप्रदेशत्वाच्छेषाणां च द्व्यादिसमयोत्पन्नत्वेन सप्रदेशत्वादुच्यते-( सपएसा य अपएसे य त्ति ) एवं यदा बहव उत्पद्यमाना भवन्ति तदोच्यते-( सपएसा य अपएसा य त्ति ) उत्पद्यन्ते चैकद्व्यादयो नारकाः। यदाह-"एगो व दो व तिन्नि वि, सखमसखा व एगसमएणं । उववज्जंतेवइया, उव्वट्टंता वि एमेव ॥ १ ॥ " (पुढविकाइयाणमित्यादि ) एकेन्द्रियाणां पूर्वोत्पन्नानामुत्पद्यमानानां च बहूनां सम्भवात् " सपएसा वि अपएसा वि" इत्युच्यते । (सेसा जहा णेरइया इत्यादि ) यथा नारका अभिलापत्रयेणोक्तास्तथा शेषा द्वीन्द्रियाऽऽदयः सिद्धावसाना वाच्याः, सर्वेषामेषां विरहसम्भवादेकाऽऽद्युत्पत्तेश्चेति, एवमाहारकानाहारकशब्दविशेषितावेतावेवैकत्वपृथक्त्वदण्डकावध्येयौ । अध्ययनक्रमश्चायम्-"आहारए णं भंते ! जीवे कालाएसेण किं सपएसे, अपएसे ? । गोयमा ! सिय सपएसे, सिय अपएसे । " इत्यादि स्वधिया वाच्यः । तत्र यदा विग्रहे, केवलिसमुद्घाते वा अनाहारको भूत्वा पुनराहारकत्वं प्रतिपद्यते, तदा तत्प्रथमसमयेऽप्रदेशो, द्वितीयाऽऽदिषु तु सप्रदेश इत्यत उच्यते-( सिय सपएसे, सिय अपएसे त्ति ) एवमेकत्वे सर्वेष्वपि सादिभावेषु, अनादिभावेषु तु-" नियमा सपएसे " इति वाच्यम् । पृथक्त्वदण्डके त्वेवमभिलापो दृश्य -" आहारया णं भंते ! जीवा कालाएसेणं तु नियमा सपएसे" इति वाच्यम् । पृथक्त्वदण्डके त्वेवमभिलापो दृश्यः-"आहारया णं भंते ! जीवा कालाएसेणं किं सपएसा, अपएसा ?। गोयमा ! सपएसा वि, अपएसा वि" इति । तत्र बहूनामाहारकत्वेनावस्थितानां भावात्सप्रदेशत्वम्, तथा बहूनां विग्रहगतेरनन्तरं प्रथमसमये आहारकत्वसम्भवादप्रदेशत्वमप्याहारकाणां लभ्यत इति सप्रदेशा अपि अप्रदेशा अपीत्युक्तम् । एवं पृथिव्यादयोऽप्यध्येयाः। नारकाऽऽदयः पुनर्विकल्पत्रयेण वाच्याः। तद्यथा-"आहारया णं भंते ! नेरइया णं किं सपएसा, अपएसा ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सपएसा । अहवा-सपएसा य, अपएसे य । अहवा-सपएसा य, अपएसा य । इति । एतदेवाऽऽह-(आहारगाण जीवेगिंदियवज्जो तियभगो त्ति ) जीवपदमेकेन्द्रियपदपञ्चकं च वर्जयित्वा त्रिकरूपो भङ्गस्त्रिकभङ्गो, भङ्गकत्रयं वाच्यमित्यर्थः, सिद्धपदं त्विह न वाच्यं, तेषामनाहारकत्वात्, अनाहारकदण्डकद्वयमप्येवमनुसरणीयम् । तत्रानाहारको विग्रहगत्यापन्नः समुद्घातगतकेवली अयोगी सिद्धो वा स्यात्स चानाहारकत्वप्रथमसमयेऽप्रदेशः, द्वितीयाऽऽदिषु तु सप्रदेशस्तेन स्यात्सप्रदेश इत्याद्युच्यते । पृथक्त्वदण्डके विशेषमाह-( अणाहारगाणमित्यादि ) जीवानेकेन्द्रियांश्च वर्जयन्तीति जीवैकेन्द्रियवर्जास्तान्वर्जयित्वेत्यर्थः । जीवपदे, एकेन्द्रियपदे च-" सपएसा य, अपएसा य ।" इत्येवरूप एक एव भङ्गको, बहूनां विग्रहगत्यापन्नानां सप्रदेशानामप्रदेशानां च लाभात् । नारकाऽऽदीनां, द्वीन्द्रियाऽऽदीनां च स्तोकतराणामुत्पादः, तत्र चैकद्व्यादीनामनाहारकाणां भावात् षड्भङ्गिकासम्भवः, तत्र द्वौ बहुवचनान्तौ, अन्ये तु चत्वारः, एकवचनबहुवचनसंयोगात्, केवलैकवचनभङ्गकाविह न स्तः, पृथक्त्वस्याधिकृतत्वादिति । ( सिद्धेहिं तियभगो त्ति)सप्रदेशपदस्य बहुवचनान्तस्यैव सम्भवात् । (भवसिद्धी य अभवसिद्धी य जहा ओहिय त्ति) अयमर्थः-औघिकदण्डकवदेषां प्रत्येकं दण्डकद्वयं, तत्र च भव्योऽभव्यो वा जीवो नियमात्सप्रदेशो, नारकाऽऽदिस्तु सप्रदेशोऽप्रदेशो वा । बहवस्तु जीवाः सप्रदेशा एव, नारकाऽऽद्यास्तु त्रिभङ्गवन्तः, एकेन्द्रियाः पुनः प्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येकभङ्गा एवेति । सिद्धपदं तु न वाच्यं, सिद्धानां भव्याभव्यविशेषणानुपपत्तेरिति । तथा-( नोभवसिद्धी य नो अभवसिद्धी य त्ति) एतद्विशेषण जीवाऽऽदिदण्डकद्वयमध्येयम् । तत्र चाभिलापः-(नो भवसिद्धी य नो अभवसिद्धी य णं भंते ! जीवे सपएसे अपएसे इत्यादि) एवं पृथक्त्वदण्डकोऽपि, केवलमिह जीवपदं सिद्धपदं चेति द्वयमेव, नारकाऽऽदिपदानां नोभव्यनोअभव्यविशेषणस्यानुपपत्तेरिति । इह च पृथक्त्वदण्डके पूर्वोक्तं भङ्गकत्रयमनुसर्तव्यम्, अत एवाऽऽह-(जीवसिद्धेहिं तियभंगो त्ति) सञ्ज्ञिषु यौ दण्डकौ तयोर्द्वितीयदण्डके जीवाऽऽदिपदेषु भङ्गकत्रयं भवतीत्यत आह-( सन्नीहिं इत्यादि ) तत्र सञ्ज्ञिनो जीवाः कालतः सप्रदेशा भवन्ति । चिरोत्पन्नानपेक्ष्य उत्पादविरहानन्तरं चैकस्योत्पत्तौ तत्प्राथम्ये सप्रदेशाश्चाऽप्रदेशश्चेति स्यात् । बहूनामुत्पत्तिप्राथम्ये तु सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेति स्यादेवं भङ्गत्रयमिति । एवं सर्वपदेषु केवलमेतयोर्दण्डकयोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यानि, तेषु सञ्ज्ञिविशेषणस्यासम्भवादिति । ( असन्नीहिं इत्यादि ) अयमर्थः-असञ्ज्ञिषु असञ्ज्ञिविषये द्वितीयदण्डके

पृथिव्यादिपदानि वर्जयित्वा भङ्गत्रयं प्राग्दर्शितमेव वाच्यम्। पृथिव्यादिपदेषु हि सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्च इत्येक एव, सदा बहूनामुत्पत्त्या तेषामप्रदेशबहुत्वस्यापि सम्भवात् । नैरयिकाऽऽदीनां च व्यन्तरान्तानां संज्ञिनामप्यसंज्ञित्वम, असंज्ञित्वमसंज्ञिभ्य उत्पादाद् भूतभावतयाऽवसेयम्। तथा नैरयिकाऽऽदिष्वसंज्ञित्वस्य कादाचित्कत्वेनैकत्वबहुत्वसम्भवात्षड् भङ्गा भवन्ति । ते च दर्शिता एव । एतदेवाऽऽह-( नेरइयदेवमणुए इत्यादि )। ज्योतिष्कवैमानिकसिद्धास्तु न वाच्या., तेषामसंज्ञित्वाऽसम्भवात् । तथा नोसंज्ञिनोऽसंज्ञिविशेषणदण्डकयोर्द्वितीयदण्डके जीवमनुजसिद्धपदेषूक्तरूप भङ्गकत्रय भवति, तेषु बहूनामवस्थितानां लाभाद्युत्पद्यमानानां चैकाऽऽदीनां सम्भवादिति । एतयोश्च दण्डकयोर्जीवमनुजद्विपदान्येव भवन्ति, नारकाऽऽदिपदानां नोसंज्ञिनोऽसंज्ञीति विशेषणस्याघटनादिति । सलेश्यदण्डकद्वये औधिकदण्डकवज्जीवनारकाऽऽदयो वाच्या., सलेश्यताया जीवत्ववदनादित्वेन विशेषानुत्पादकत्वात्केवलं सिद्धपद नाधीयते, सिद्धानामलेश्यत्वादिति, कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्याश्च जीवनारकाऽऽदय प्रत्येक दण्डकद्वयेन आहारकजीवाऽऽदिवदुपयुज्य वाच्याः, केवलं यस्य जीवनारकाऽऽदेरेता. सन्ति स एव वाच्य. । एतदेवाऽऽह-(कण्हलेसेत्यादि ) एताश्च ज्योतिष्कवैमानिकानां न भवन्ति, सिद्धानां तु सर्वा न भवन्तीति तेजोलेश्याद्वितीयदण्डके जीवाऽऽदिपदेषु त एव त्रयो भङ्गाः, पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु पुनः षड्भङ्गा., यत एतेषु तेजोलेश्या एकाऽऽदयो देवा. पूर्वोत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च लभ्यन्त इति सप्रदेशानामप्रदेशानां चैकत्वबहुत्वसम्भव इति । एतदेवाऽऽह-(तेउलेस्सा इत्यादि) । इह नारकतेजोवायुविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यानि,तेजोलेश्याया अभावादिति । पद्मलेश्याशुक्ललेश्ययोर्द्वितीयदण्डके जीवाऽऽदिषु पदेषु त एव त्रयो भङ्गकाः। एतदेवाऽऽह-(पम्हलेसेत्यादि) इह च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यवैमानिकपदान्येव वाच्यानि, अन्येष्वनयोरभावादिति । अलेश्यदण्डकयोर्जीवमनुष्यसिद्धपदान्येवोच्यन्ते, अन्येषामलेश्यत्वस्याऽसम्भवात् । तत्र च जीवसिद्धयोर्भङ्गकत्रय तदेव, मनुष्येषु तु षड् भङ्गा., अलेश्यताप्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानाना चैकाऽऽदीनां मनुष्याणां सम्भवेन सप्रदेशत्वेऽप्रदेशत्वे चैकत्वबहुत्वसम्भवादिति । इदमेवाऽऽह-(अलेसेहिं इत्यादि) सम्यग्दृष्टिदण्डकयोः सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिप्रथमसमये अप्रदेशत्वं, द्वितीयाऽऽदिषु तु सप्रदेशत्वम् । तत्र द्वितीयदण्डके जीवाऽऽदिपदेषु त्रयो भङ्गास्तथैव । विकलेन्द्रियेषु तु षट्। यतस्तेषु सासादनसम्यग्दृष्टय एकाऽऽदय. पूर्वोत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च लभ्यन्ते, अत. सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वयोरेकत्वबहुत्वसम्भव इति । एतदेवाऽऽह-( सम्मद्दिट्ठीहिं इत्यादि ) इहैकेन्द्रियपदानि न वाच्यानि,तेषु सम्यग्दर्शनाभावादिति । (मिच्छद्दिट्ठीहिं इत्यादि ) मिथ्यादृष्टिद्वितीयदण्डके जीवाऽऽदिपदेषु त्रयो भङ्गा.,मिथ्यात्व प्रतिपन्ना. बहवः, सम्यक्त्वभ्रंशे तत्प्रतिपद्यमानाश्चैकाऽऽदय' सम्भवन्तीति कृत्वा । एकेन्द्रियपदेषु पुन. सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव, तेष्ववस्थितानामुत्पद्यमानानां च बहूनामेव भावादिति । इह च सिद्धा न वाच्या., तेषां मिथ्यात्वाभावादिति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिबहुत्वदण्डके-(सम्मामिच्छद्दिट्ठीहिं छब्भगा) अयमर्थ -सम्यग्मिथ्यादृष्टित्व प्रतिपन्नका' प्रतिपद्यमानाश्च एकाऽऽदयोऽपि लभ्यन्त इत्यतस्तेषु षड् भङ्गा भवन्तीति । इह च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यानि, असम्भवादिति ।( संजएहिं इत्यादि ) संयतेषु संयतशब्दविशेषितेषु जीवाऽऽदिपदेषु त्रिकभङ्ग', संयम प्रतिपन्नानां बहूनां प्रतिपद्यमानानां चैकाऽऽदीनां भावात् । इह च जीवपदमनुष्यपदे एव वाच्ये, अन्यत्र संयतत्वाभावादिति । असंयतद्वितीयदण्डके (असंजएहिं इत्यादि) इहासंयतत्व प्रतिपन्नानां बहूनां संयतत्वादितिप्रतिपातेन तत्प्रतिपद्यमानानां चैकाऽऽदीनां भावाद्भङ्गकत्रयम् । एकेन्द्रियाणां तु पूर्वोक्तयुक्त्या सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्ग इति । इह सिद्धपद नाध्येयम,असम्भवादिति । संयतासंयतबहुत्वदण्डके-( संजयासंजएहीत्यादि ) इह देशविरति प्रतिपन्नानां बहूनां संयमादसंयमाद्वा निवृत्य तां प्रतिपद्यमानाना चैकाऽऽदीना भावाद्भङ्गकत्रयसम्भवः । इह च जीवपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यपदान्येवाध्येयानि, तदन्यत्र संयतासंयतत्वस्य अभावादिति । "नोसंजए" इत्यादौ सैव भावना, नवरमिह जीवसिद्धपदे एव वाच्ये,अत एवोक्तम्-(जीवसिद्धेहिं तियभगो त्ति) ( सकसाइएहिं जीवाइओ तियभंगो त्ति) अयमर्थः-सकषायाणां सदाऽवस्थितत्वात्ते सप्रदेशा इत्येको भङ्गकः, तथोपशमश्रेणीत. प्रच्यवमानत्वे सकषायत्व प्रतिपद्यमाना एकाऽऽदयो लभ्यन्ते, ततश्च सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्च, तथा सप्रदेशाश्चाऽप्रदेशाश्चेत्यपरभङ्गकद्वयमिति,नारकाऽऽदिषु तु प्रतीतमेव भङ्गकत्रयम । ( एगिंदिएसु अभंगय त्ति ) भङ्गकानामभावोऽभङ्गक, सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव विकल्प इत्यर्थ.,बहूनामवस्थितानामुत्पद्यमानाना च तेषु लाभादिति । इह च सिद्धपद नाध्येयम,अकषायित्वात् । एवं क्रोधाऽऽदिदण्डकेष्वपि-(कोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभगो त्ति ) अयमर्थः-क्रोधकषायिद्वितीयदण्डके-जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्ग. । शेषेषु तु त्रय. । ननु सकषायिजीवपदवत्कथमिह भङ्गकत्रय न लभ्यते ?। उच्यते-इह मानमायालोभेभ्यो निवृत्ता. क्रोध प्रतिपद्यमाना बहव एव लभ्यन्ते, प्रत्येक तद्राशीनामनन्तत्वात्र त्वेकाऽऽदयो, यथोपशमश्रेणीत. प्रच्यवमाना. सकषायित्वप्रतिपत्तार इति । ( देवेहिं छब्भंग त्ति ) देवपदेषु त्रयोदशस्वपि षड्भङ्गाः तेषु क्रोधोदयवतामल्पत्वेनैकत्वे बहुत्वे च सप्रदेशाप्रदेशत्वयोः सम्भवादिति । मानकषायिमायाकषायिद्वितीयदण्डके-( नेरइयदेवेहिं छब्भग त्ति ) नारकाणां देवानां च मध्येऽल्पा एव मानमायोदयवन्तो भवन्तीति पूर्वोक्तन्यायात् षड् भङ्गा भवन्तीति । ( लोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभगो त्ति ) एतस्य क्रोधसूत्रवद्भावना । ( नेरइएहिं छब्भग त्ति ) नारकाणां लोभोदयवतामल्पत्वात्पूर्वोक्ताः षड् भङ्गा भवन्तीति । आह च-"कोहे माणे माया, बोधव्वा सुरगणेहिँ छब्भगा । माणे माया लोभे, नेरइएहिं पि छब्भगा ॥१॥" देवा लोभप्रचुरा , नारका. क्रोधप्रचुरा इति । अकषायिद्वितीयदण्डके जीवमनुष्यसिद्धपदेषु भङ्गत्रयम,अन्येषामसम्भवात् । एतदेवाऽऽह-(अकसाई इत्यादि) (ओहियनाणे आभिनिबोहियनाणे सुयनाणे जीवाइओ तियभगो त्ति ) औधिकज्ञान मत्यादिभिरविशेषित,तत्र मतिश्रुतज्ञानयोश्च बहुत्वदण्डके। जीवाऽऽदिपदेषु त्रयो भङ्गा पूर्वोक्ता भवन्ति, तत्रौधिकज्ञानिमतिश्रुतज्ञानिना सदाऽवस्थितत्वेन सप्रदेशाना भावात् सप्रदेशा इत्येक', तथा मिथ्याज्ञानान्मत्यादिज्ञानमात्र, मत्यज्ञानान्मतिज्ञानं,श्रुताज्ञानाच्च श्रुतज्ञान प्रतिपद्यमानानामेकाऽऽदीना लाभात्सप्रदेशाश्चाप्रदेशश्च, तथा सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेति भङ्गत्रयमिति । ( विगलिंदिएहिं छब्भ त्ति ) द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु

ादनसम्यक्त्वसम्भवेनाऽऽभिनिवोधिकाऽऽदिज्ञानिनामेका-
नां सम्भवात्त एव षट् भङ्गाः। इह च यथायोगं पृथिव्यादय.,
ाश्च न वाच्याः,असम्भवादिति। एवमवध्यादिष्वपि भङ्गक-
ावना,केवलमवधिदण्डकयोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः सिद्धा-
न वाच्या., मनःपर्यायदण्डकयोस्तु जीवा मनुष्याश्च वा-
•,केवलदण्डकयोस्तु जीवमनुष्यसिद्धा वाच्या.। अत एव
ान्तरे दृश्यते-" विछेय जस्स ज अत्थि त्ति ।" ( ओहिए
ाणे इत्यादि ) सामान्ये अज्ञाने मत्यज्ञानाऽऽदिभिरविशेषिते
ज्ञाने श्रुताज्ञाने च जीवाऽऽदिषु त्रिभङ्गी भवति। एते हि स-
वस्थितत्वात्सप्रदेशा इत्येक , यदा तु तदन्ये ज्ञानं विमुच्य
ऽज्ञानाऽऽदितया परिणमन्ति,तदैकाऽऽदिसम्भवेन सप्रदेशा-
प्रदेशाश्चेत्यादिभङ्गद्वयमित्येवं भङ्गकत्रयमिति । पृथि-
दिषु तु सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एवेत्यत आह-( एगिं-
वज्जो तियभंगो त्ति)इह च त्रयेऽपि सिद्धा न वाच्या.। वि-
तु जीवाऽऽदिषु भङ्गत्रय,तद्भावना च मत्यज्ञानाऽऽदिवत्केव-
रहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः सिद्धाश्च न वाच्या इति । ( स-
जहा ओहिओ त्ति ) सयोगिजीवाऽऽदिदण्डकद्वयेऽपि
वाच्यो यथौधिको जीवाऽऽदि । स चैवम्-सयोगी
नियमात्सप्रदेशो, नारकाऽऽदिस्तु सप्रदेशोऽप्रदेशो
बहवस्तु जीवा सप्रदेशा एव; नारकाऽऽद्यास्तु त्रिभ-
त एकेन्द्रिया. पुनस्तृतीयभङ्गा इति। इह सिद्धपदं नाध्ये-
। ( मणजोई इत्यादि ) मनोयोगिनो योगत्रयवन्तः सञ्ज्ञिन
पं , वाग्योगिन एकेन्द्रियवर्जा.,काययोगिनस्तु सर्वेऽप्येके-
ाऽऽदय'। एतेषु च जीवाऽऽदिषु त्रिविधो भङ्ग। तद्भावना च
योग्यादीनामवस्थितत्वे प्रथम., अमनोयोगित्वाऽऽदित्यागाच्च
योगित्वाऽऽद्युत्पादेनाप्रदेशत्वलाभेऽन्यद्भङ्गकद्वयमिति, नवर
योगिनो ये एकेन्द्रियास्तेष्वभङ्गक, सप्रदेशाश्चाप्रदेशा-
क एव भङ्गक इत्यर्थ.। एतेषु च योगत्रयदण्डकेषु जीवाऽऽ-
ानि यथासम्भवमध्येयानि, सिद्धपद च न वाच्यमिति।
जोगी जहा अलेस त्ति ) दण्डकद्वयेऽप्यलेश्यसमवक्त-
ेषां ततो द्वितीयदण्डकेऽयोगिषु जीवसिद्धपदयोर्भ-
य, मनुष्येषु च षड्भङ्गीति । ( सागारेत्यादि ) साकारो-
ष्वनाकारोपयुक्तेषु च नारकाऽऽदिषु त्रयो भङ्गाः। जीवपदे,
यादिपदेषु च सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव। तत्र चान्य-
योगादन्यतरगमने प्रथमेतरसमयेष्वप्रदेशत्वसप्रदेशत्वे
ीये। सिद्धानां त्वेकसमयोपयोगत्वेऽपि साकारस्येतरस्य
ोगस्यासकृत्प्राप्त्या सप्रदेशत्व, सकृत्प्राप्त्या चाप्रदेशत्व-
यम्। एव चासकृद्वाप्तसाकारोपयोगा बहूनाश्रित्य स-
इत्येको भङ्ग.। तानेव सकृद्वाप्तसाकारोपयोग चैकमा-
द्वितीयः। तथा तानेव सकृद्वाप्तसाकारोपयोगांश्च बहू-
त्य तृतीय.। अनाकारोपयोगे त्वसकृत्प्राप्तानाकारोपयो-
श्रित्य प्रथम.। तानेव सकृत्प्राप्तानाकारोपयोग चैकमा-
द्वितीय.। उभयेषामप्यनेकत्वे तृतीय इति । ( सवेयगा
सकसाई त्ति ) सवेदानामपि जीवाऽऽदिपदेषु भङ्गकत्रय-
र्, एकेन्द्रियेषु चैकभङ्गकसद्भावात्। इह च वेदप्रतिपन्ना-
श्रेणिभ्रंशे च वेद प्रतिपद्यमानकानेकादीनपेक्ष्य भङ्ग-
ावनीयम् । ( इत्थीवेयगेत्यादि ) इह वेदाद्वेदान्तरस-
प्रथमसमये प्रदेशत्वमितरेषु च सप्रदेशत्वमवगम्य
त्रय पूर्ववद्वाच्य, नपुंसकवेददण्डकयोस्त्वेकेन्द्रियेष्वेको
सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येवरूपः, प्रागुक्तयुक्तेरेवेति। स्त्री-



दण्डकपुरुषदण्डकेषु देवपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यपदान्येव, नपुं-
सकदण्डकयोस्तु देववर्जानि वाच्यानि, सिद्धपद च सर्वेष्वपि
न वाच्यमिति । ( अवेयगा जहा अकसाई त्ति ) जीवमनुष्य-
सिद्धपदेषु भङ्गत्रयमकषायिवद्वाच्यमित्यर्थ.। ( ससरीरी जहा
ओहिओ त्ति ) औघिकदण्डकवत् सशरीरिदण्डकयो-
र्जीवपदे सप्रदेशतैव वाच्याऽनादित्वात्सशरीरत्वस्य; नार-
काऽऽदिषु तु बहुत्वे भङ्गकत्रयम,एकेन्द्रियेषु तु तृतीयभङ्ग इति।
( ओरालियवेउव्वियसरीराण जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो
त्ति ) औदारिकाऽऽदिशरीरिसत्त्वेषु जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च
बहुत्वे तृतीयभङ्ग एव, बहूना प्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानाना चा-
नुक्षण लाभात्। शेषेषु भङ्गकत्रय,बहूनां तेषु प्रतिपन्नाना तथौ-
दारिकवैक्रियत्यागेनौदारिक वैक्रिय च प्रतिपद्यमानानामेकाऽऽ-
दीनां लाभात्। इहौदारिकदण्डकयोर्नारका देवाश्च न वाच्या.,
वैक्रियदण्डकयोस्तु पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिविकलेन्द्रिया न वा-
च्याः, यच्च वैक्रियदण्डके एकेन्द्रियपदे तृतीयभङ्गोऽभिधीय-
ते, स चान्यूनानामसङ्ख्यातानां प्रतिसमय वैक्रियकरणमाश्रि-
त्य तथा, यद्यपि पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियलब्धि-
मन्तोऽल्पे, तथाऽपि च भङ्गत्रयवचनसामर्थ्याद्बहूनां वैक्रियाव-
स्थानसम्भव.। तथैकाऽऽदीना तत्प्रतिपद्यमानता चावसेया।(आ-
हारगेत्यादि ) आहारकशरीरे जीवमनुष्ययो. षड् भङ्गका
पूर्वोक्ता एवाऽऽहारकशरीरिणामल्पत्वात, शेषजीवानां तु तन्न
सम्भवतीति। ( तेयगेत्यादि ) तैजसकार्मणशरीरे समाश्रित्य
जीवाऽऽदयस्तथा वाच्या यथौधिकास्त एव, तत्र च जीवा. स-
प्रदेशा एव वाच्याः, अनादित्वात्तैजसाऽऽदिसयोगस्य। नारका-
ऽऽदयस्तु त्रिभङ्गा ,एकेन्द्रियास्तु तृतीयभङ्गा.,एतेषु च शरीरा-
ऽऽदिदण्डकेषु सिद्धपद नाध्येयमिति। (असरीरेत्यादि) अशरी-
रेषु जीवाऽऽदिषु सप्रदेशताऽऽदित्वेन वक्तव्येषु जीवसिद्धपदयो.
पूर्वोक्ता त्रिभङ्गी वाच्या, अन्यत्राऽशरीरत्वस्याभावादिति। (आ-
हारपज्जत्तीए इत्यादि) इह च जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च बहू-
नामाहाराऽऽदिपर्याप्तीः प्रतिपन्नानां तदपर्याप्तित्यागेनाऽऽहारप-
र्याप्त्यादिभि पर्याप्तिभाव गच्छतां च बहूनामेव लाभात्सप्रदेशा-
श्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गः,शेषे तु त्रयो भङ्गा इति।( भासाम-
णेत्यादि ) इह भाषामनसो. पर्याप्ति. भाषामन पर्याप्ति', भाषा-
मन'पर्याप्त्योस्तु बहुश्रुताभिमतेन केनापि कारणेनैकत्व वि-
वक्षित, ततश्च तया पर्याप्तका यथा सञ्ज्ञिनस्तथा सप्रदेशाऽऽ-
दितया वाच्याः, सर्वपदेषु भङ्गत्रयमित्यर्थः। पञ्चेन्द्रियपदान्ये-
व चेह वाच्यानि। पर्याप्तीना चेह स्वरूपमाहु -येन करणेन
भुक्तमाहार खल रस च कर्तुं समर्थो भवति तस्य करणस्य नि-
ष्पत्तिराहारपर्याप्ति। करण शक्तिरिति पर्यायौ। तथा शरीरपर्या-
प्तिर्नाम-येन करणेनौदारिकवैक्रियाऽऽहारकाणा शरीराणां योग्या-
नि द्रव्याणि गृहीत्वौदारिकाऽऽदिभावेन परिणमयति तस्य कर-
णस्य निर्वृत्ति. शरीरपर्याप्तिरिति,तथा येन करणेनैकाऽऽदीनामि-
न्द्रियाणां प्रायोग्यानि द्रव्याणि गृहीत्वाऽऽत्मीयान् विषयान् ज्ञातु
समर्थो भवति तस्य करणस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियपर्याप्ति ,तथा येन
करणेनाऽऽनप्राणप्रायोग्यानि द्रव्याण्यवलम्ब्याऽऽनप्राणतया ।न
स्रष्टु समर्थो भवति तस्य करणस्य निर्वृत्तिरानप्राणपर्याप्तिरिति,
तथा येन करणेन सत्याऽऽदिभाषायाः प्रायोग्यानि द्रव्याण्यवल-
म्ब्य चतुर्विधभाषया परिणमय्य भाषानिसर्जनसमर्थो भवति
तस्य करणस्य निष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः। तथा येन करणेन चतुर्विध-

मनोयोग्यानि द्रव्याणि गृहीत्वा मननसमर्थो भवति तस्य करणस्य निष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिरिति । ( आहारअपज्जत्तीत्यादि) इह जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गकोऽनवरत विग्रहगतिमतामाहारपर्याप्तिमतां बहूनां लाभात्, शेषेषु च षड् भङ्गा· पूर्वोक्ता एवाऽऽहारपर्याप्तिमतामल्पत्वात् । ( सरीरअपज्जत्तीए इत्यादि ) इह जीवेष्वेकेन्द्रियेषु चैक एव भङ्गोऽन्यत्र तु त्रय शरीराऽऽद्यपर्याप्तकानां कालतः सप्रदेशानां सदैव लाभादप्रदेशानां चाऽऽदिकेकाऽऽदीनां च लाभात् नारकदेवमनुष्येषु च षडेवेति । ( भासेत्यादि ) भाषामनोऽपर्याप्त्याऽपर्याप्तकास्ते येषां जातितो भाषामनोयोग्यत्वे सति तदसिद्धिः, ते च पञ्चेन्द्रिया एव, यदि पुनर्भाषामनसोरभावमात्रेण तदपर्याप्तका अभविष्यस्तदेकेन्द्रिया अपि तेऽभविष्यस्ततश्च जीवपदे तृतीय एव भङ्गः स्यात् । उच्यते च-(जीवाइओ तियभंगो त्ति । तत्र जीवेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु च बहूनां तदपर्याप्तिप्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानानां चैकाऽऽदीनां लाभात्पूर्वोक्तमेव भङ्गत्रयम् । ( नेरइयदेवमणुएहिं छब्भंग त्ति ) नैरयिकाऽऽदिषु मनोऽपर्याप्तकानामल्पतरत्वेन सप्रदेशाप्रदेशानामेकाऽऽदीनां लाभात एव षड् भङ्गाः । एषु च पर्याप्त्यपर्याप्तिद्वारकेषु सिद्धपद नाध्येयमसम्भवादिति । पूर्वोक्तद्वाराणां सङ्ग्रहगाथा-( सपएसेत्यादि ) । ( सपएस त्ति ) कालतो जीवाः सप्रदेशाः, इतरे च एकत्वपृथुत्वाभ्यामुक्ता· । (आहारग त्ति ) आहारका अनाहारकाश्च तथैव । ( भविय त्ति ) भव्या अभव्या उभयनिषेधाश्च तथैव । (सन्नि त्ति) सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनो द्वयनिषेधवन्तश्च तथैव । (लेस त्ति) सलेश्या· कृष्णाऽऽदिलेश्या अलेश्याश्च तथैव । ( दिट्ठि त्ति ) दृग् दृष्टि सम्यग्दृष्ट्यादिकान् तद्वन्तस्तथैव । ( संजय त्ति ) संयता असंयता· मिश्रास्त्रयनिषेधिनश्च तथैव । (कसाय त्ति) कषायिण क्रोधाऽऽदिमन्तः, अकषायाश्च तथैव । ( नाण त्ति ) ज्ञानिन आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानिनः ५, अज्ञानिनो मत्यज्ञानाऽऽदिमन्तश्च तथैव । (जोग त्ति) सयोगा मनआदियोगिनोऽयोगिनश्च तथैव । (उवओग त्ति) साकाराऽनाकारोपयोगास्तथैव । (वेद त्ति) सवेदा· स्त्रीवेदाऽऽदिमन्तः ३, अवेदाश्च तथैव । ( ससरीर त्ति ) सशरीरा औदारिकाऽऽदिमन्तः ५, अशरीराश्च तथैव । ( पज्जत्ति त्ति ) आहाराऽऽदिपर्याप्तिमन्तः ५, तदपर्याप्तकाश्च तथैवोक्ता इति ॥ भ० ६ श० ४ उ० ।

लोकाऽऽकाशप्रदेशाः-

केवइया णं भंते ! लोयागासप्पएसा पण्णत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा लोयागासप्पएसा पण्णत्ता । एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स केवइया जीवप्पएसा पण्णत्ता ? । गोयमा ! जावइया लोयागासप्पएसा एवमेगस्स णं जीवस्स एवइया जीवप्पएसा पण्णत्ता ।

( केवइया णमित्यादि ) ( असंखेज्ज त्ति ) यस्मादसङ्ख्येयप्रदेशिको लोकस्तस्मात्तस्य प्रदेशा असङ्ख्येया एवेति । प्रदेशाधिकारादेवेदमाह-( एगमेगस्सेत्यादि ) एकैकस्य जीवस्य तावन्तः प्रदेशा यावन्तो लोकाऽऽकाशस्य, कथम् ?, यस्माज्जीवः केवलिसमुद्घातकाले सर्वं लोकाऽऽकाशं व्याप्यावतिष्ठते, तस्माल्लोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणास्त इति । भ० ८ श० १० उ० ।

अलोए णं भंते ! किं जीवा एवं जहा अत्थिकायउद्देसए अलोगागासे तहेव णिरवसेसं०जाव अणंतभागूणे । अहेलोयखेत्तलोयस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपदेसे किं जीवा जीवदेसा जीवप्पदेसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवप्पदेसा ? । गोयमा ! णो जीवा जीवदेसा वि जीवप्पएसा वि, अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवप्पदेसा वि, जे जीवदेसा ते णियमं एगिंदियदेसा, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स देसे, अहवा एगिंदियस्स देसा य बेइंदियाण य देसा, एवं मज्झिल्लविरहिओ० जाव अणिंदिएसु० जाव अहवा एगिंदियदेसा य अणिंदियाण य देसा, जे जीवप्पएसा ते णियमं एगिंदियप्पदेसा, अहवा एगिंदियप्पएसा य बेइंदियस्स देसा, अहवा एगिंदियप्पदेसा य बेइंदियाण य पएसा, एवं आदिल्लविरहिओ० जाव पंचिंदिएसु य अणिंदिएसु य तियभंगो । जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- रूवी अजीवा य, अरूवी अजीवा य । रूवी तहेव । जे अरूवी अजीवा ते पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-णो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसा । एवं धम्मत्थिकायस्स वि अद्धासमए । तिरियलोयखेत्तलोयस्स णं भंते ! एगम्मि आगासप्पदेसे किं जीवा, एवं जहा अहेलोगखेत्तलोगस्स तहेव, एवं उड्ढलोयखेत्तलोगस्स वि, णवरं अद्धासमओ नत्थि अरूवी चउव्विहा, लोगस्स जहा अहेलोगखेत्तलोगस्स एगम्मि आगासप्पएसे । अलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासप्पएसे पुच्छा ? । गोयमा ! णो जीवा णो जीवदेसा तं चेव० जाव अणंतेहिं अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासस्स अणंतभागूणे, दव्वओ णं अहेलोयखेत्तलोए अणंता जीवदव्वा अणंता अजीवदव्वा अणंता जीवाजीवदव्वा, एवं तिरियलोयखेत्तलोए वि, एवं उड्ढलोयखेत्तलोए वि । दव्वओ णं अलोए णेवत्थि जीवदव्वा, णेवत्थि अजीवदव्वा, णेवत्थि जीवाजीवदव्वा, एगे अजीवदव्वदेसे० जाव सव्वागासस्स अणंतभागूणे । कालओ णं अहेलोयखेत्तलोए० जाव ण कयाइ णासि० जाव णिच्चे, एवं० जाव अलोए । भावओ णं अहेलोगखेत्तलोगे अणंता वण्णपज्जवा जहा खंदए० जाव अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा एवं० जाव लोए । भावओ णं अलोए णेवत्थि वण्णपज्जवा० जाव णेवत्थि अगुरुलहुयपज्जवा एगे अजीवदव्वदेसे० जाव अणंतभागूणे ॥

( अलोए ण भंते ! इत्यादि ) इह च एव जहेत्याद्यतिदेशादेव दृश्यम्-" अलोए ण भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवप्पदेसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवप्पएसा ? । गोयमा ! नो जीवा० जाव नो अजीवप्पदेसा । एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे त्ति ।" तत्र सर्वाऽऽकाशमनन्तभागोनमित्यस्यायमर्थः—लोकरूप-

णेन समस्ताऽऽकाशस्याऽनन्तभागेन न्यून सर्वाऽऽकाशमलोक इति। (अहेलोगखेत्तलोगस्स ण भंते ! एगम्मि आगासप्पएसे इत्यादि ) नोजीवा एकप्रदेशे तेषामनवगाहनात् बहूनां पुनर्जीवानां देशस्य प्रदेशस्याऽवगाहनादुच्यते-( जीवदेसा वि जीवप्पएसा वि त्ति ) यद्यपि धर्मास्तिकायाऽऽद्यजीवद्रव्य नैकत्राऽऽकाशप्रदेशेऽवगाहते तथापि परमाणुद्व्यणुकाऽऽदिद्रव्याणां कालद्रव्यस्य चावगाहनादुच्यते-( अजीवा वि त्ति ) द्व्यणुकाऽऽदिस्कन्धदेशानां त्ववगाहनादुक्तम्-( अजीवदेसा वि त्ति ) धर्माधर्मास्तिकायप्रदेशयोः पुद्गलद्रव्यप्रदेशानां चावगाहनादुच्यते-( अजीवप्पएसा वि त्ति ) ( एव मज्झिल्लविरहिओ त्ति ) दशमशतप्रदर्शिते त्रिकभङ्गे । "अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसा " इत्येवंरूपो यो मध्यमभङ्गस्तद्विरहितोऽसौ त्रिकभङ्ग एवमिति सूत्रप्रदर्शितभङ्गद्वयरूपोऽध्येतव्यो, मध्यमभङ्गस्येहाऽसम्भवात् । तथाहि- द्वीन्द्रियस्यैकस्यैकत्राऽऽकाशप्रदेशे बहवो देशा न सन्ति, देशस्यैवाभावादेवम् ( आइल्लविरहिओ त्ति ) " अहवा-एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स पएसे " इत्येवंरूपाद्यभङ्गकविरहितस्त्रिकभङ्ग एवमितिसूत्रप्रदर्शितभङ्गद्वयरूपोऽध्येतव्यः, आद्यभङ्गकस्येहाऽसम्भवात् । तथाहि-नास्त्येवैकत्राऽऽकाशप्रदेशे केवलिसमुद्घात विनैकस्य जीवस्यैकप्रदेशसम्भवोऽसंख्यातानामेव भावादिति । (अणिंदिएसु य तियभंगो त्ति) अनिन्द्रियेषूक्तभङ्गकत्रयमपि सम्भवतीति कृत्वा तेषु तद्वाच्यमिति । ( रूवी तहेव त्ति ) स्कन्धा देशाः प्रदेशा अणवश्चेत्यर्थः । ( णो धम्मत्थिकाय त्ति ) नोधर्मास्तिकाय एकत्राऽऽकाशप्रदेशे सम्भवत्यसंख्यातप्रदेशावगाहित्वात्तस्येति । ( धम्मत्थिकायस्स देसे त्ति ) यद्यपि धर्मास्तिकायस्यैकत्राकाऽऽशप्रदेशे प्रदेश एवास्ति तथाऽपि देशोऽवयव इत्यनर्थान्तरत्वेनाऽवयवमात्रस्यैव विवक्षितत्वान्निरंशतायाश्च तत्र मत्या अविवक्षितत्वाद्धर्मास्तिकायस्य देश इत्युक्तम्। प्रदेशस्तु निरुपचरित एवास्तीत्यत उच्यते-(धम्मत्थिकायस्स पदेस त्ति) (एवमहम्मत्थिकायस्स वि त्ति) " नो अहम्मत्थिकाए अहम्मत्थिकायस्स देसे अहम्मत्थिकायस्स पदेसे" इत्येवमधर्मास्तिकायसूत्र वाच्यमित्यर्थः । ( अद्धासमओ नत्थि अरूवी चउव्विह त्ति ) ऊर्द्ध्वलोके अद्धा समयो नास्तीत्यरूपिणश्चतुर्विधा धर्मास्तिकायदेशाऽऽदय ऊर्द्ध्वलोकस्यैकत्राऽऽकाशप्रदेशे भवन्तीति । ( लोगस्स जहा अहेलोगखेत्तलोगस्स एगम्मि आगासप्पएसे त्ति) अधोलोकक्षेत्रलोकस्यैकत्राऽऽकाशप्रदेशे यद्वक्तव्य युक्त तल्लोकस्याप्येकत्राऽऽकाशप्रदेशे वाच्यमित्यर्थः। तच्चेदम्-" लोगस्स ण भंते ! एगम्मि आगासप्पएसे किं जीव पुच्छा ? । गोयमा ! नो जीवा०" इत्यादि प्राग्वत् । (अहेलोयखेत्तलोए अणंता वण्णपज्जव त्ति ) अधोलोकक्षेत्रलोकेऽनन्ता वर्णपर्यवा , एकगुणकालकाऽऽदीनामनन्तगुणकालकाऽऽद्यवसानानां पुद्गलानां तत्र भावात् । अधोलोकसूत्रे (नेवत्थि अगरुयलहुयपज्जव त्ति ) । अगुरुलघुपर्यवोपेतद्रव्याणां पुद्गलाऽऽदीनां । तत्राभावात् । भ० ११ श० १० उ० । प्रदेशशब्देन जीवप्रदेशानामष्टप्रकारकर्मपुद्गलैः सह सम्बन्धावबोधनात्, दर्श० ४ तत्त्व । आव० । " पएस त्ति " पूर्वपदलोपाज्जीवप्रदेशा जीवप्रदेशा इति । यथा वीरो महावीर इति । एक एव चरमप्रदेशो जीव इत्यभ्युपगमपरे जीवप्रदेशिकनिह्नवे, विशे० । प्रकृष्टः पुद्गलास्तिकायदेशः प्रदेशः । परमाणौ, अनु० । एकद्व्यणुकेषु, अनु० । प्रातिवेश्मिके, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा ।

पएसकम्म-प्रदेशकर्मन्-न० । प्रदेशा एव पुद्गला एव यस्य वेद्यन्ते न यथा बद्धोऽसत्प्रदेशमात्रतया वेद्य कर्म प्रदेशकर्म । कर्मभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

पएसग्ग-प्रदेशाग्र-न० । प्रदेशप्रमाणे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पएसघण-प्रदेशघन-त्रि० । नीरन्ध्रे निबिडप्रदेशे, औ० ।

पएसट्ठया-प्रदेशार्थता-स्त्री० । प्रकृष्टो देशः प्रदेशः निरवयवोंऽश स चासावर्थश्चेति प्रदेशार्थस्तस्य भावः प्रदेशार्थता । गुणपर्यायाऽऽधारावयवलक्षणार्थतायाम्, स्था० १ ठा० । प्रकृष्टो निरंशो देश प्रदेशः, स चासावर्थश्च प्रदेशार्थस्तस्य भाव. प्रदेशार्थता । परमाणुत्वे, अनु० । प्र० ।

पएसणय-प्रवेशनक-न० । उपदेशे, आ० चू० १ अ० । " पएसणयं णाम उवएसो, कइविहे ण भंते ! पएसणए पण्णत्ते । तं जहा ।" ( इति 'पवेसणग' शब्दे वक्ष्यते)

पएसणाम(ण्)-प्रदेशनामन्-न० । प्रदेशानामायुःकर्मद्रव्याणां नाम तथाविधा परिणतिः प्रदेशनाम प्रदेशरूप वा नाम कर्मविशेष इत्यर्थः । स्था० ६ ठा० । प्रदेशानां प्रमितपरिमाणानामायु कर्मदलिकानां नाम । परिणामोदये आत्मप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानां सम्बन्धने जातिगत्यवगाहनाकर्मणां प्रदेशरूपे नामकर्मणि च । स० ।

पएसणामणिहत्ताउ-प्रदेशनामनिधत्ताऽऽयुष्-न० । प्रदेशनामेन प्रदेशनाम्ना च निधत्ते आयुषि, स० । प्र० । स्था० ।

पएसत्त-प्रदेशत्व-न० । अविभागिपुद्गले, द्रव्या० ११ अध्या० ।

पएसबंध-प्रदेशबन्ध-पु० । जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानामनन्तानन्तानां प्रति प्रकृतिप्रतिनियतपरिमाणानां सम्बन्धनरूपे बन्धभेदे, स० ४ सम० । कर्मपुद्गलानां यद्ग्रहण स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्ध इति । कर्म० ५ कर्म० । क० प्र० । प० सं० । ( प्रदेशबन्धस्य सर्वा वक्तव्यता 'बंध' शब्दे वक्ष्यते )

पएसय-प्रदेशक-पु० । प्रधाने प्रकृष्टे आदौ, वा देशके, विशे० । " तित्थे सुगइगइगए, सिद्धिपहपएसए वंदे । " विशे० ।

पएससंकम-प्रदेशसंक्रम-पु० । " पएसं नीया यत्र नीता " इति यत्कर्मद्रव्यमन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणामेन परिणाम्यते स प्रदेश संक्रम । उक्त च-"ज दलियमन्नपगई, निज्जइ सो संकमो पएसस्स । " स्था० ४ ठा० २ उ० । प० सं० । (" सामान्यलक्षण भेद , साधनाऽऽदिप्ररूपणा । उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमस्वामीति प्रदेशसंक्रमस्य वक्तव्यता 'संकम' शब्दे वक्ष्यते )

पएससंतकम्म(ण्)-प्रदेशसत्कर्मन्-न० । सत्ताकर्मभेदे, क० प्र० १० प्रक० । प० सं० । ('संतकम्म' शब्दे व्याख्या)

पएसाणंतय-प्रदेशानन्तक-न० । आकाशप्रदेशानामानन्त्ये अनन्तकभेदे, स्था० १० ठा० ।

पएसाणेगया-प्रदेशानेकता-स्त्री० । बहुप्रदेशस्वभावे, द्रव्या० १२ अध्या० ।

पएसि ( ण् )-प्रदेशिन्-पुं० । स्वनामख्याते श्वेताम्बिकानगरीराजे प्राच्यभवे सूर्याभदेवे, रा० ।

तत्कथा-

महिड्डिए महज्जुतीए महाजसे महासोक्खे महाणुभागे सूरियाभे देवे । अहो णं भंते ! सूरियाभे देवे महिड्डिए०जाव महाणुभावे, सूरियाभेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देवड्डी सा दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णा पत्ते किण्णा अभिसमण्णागते, पुव्वभवे के आसि, किंणामए वा, किंगुत्तएणं वा कयरंसि वा गामंसि वा ०जाव सण्णिवेसंसि वा किं वा दच्चा किं वा भुच्चा किं वा समायरित्ता कस्स वा तहारूवस्स वा समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियसुवयणं सोच्चा णिसम्म तेणं सूरियाभेणं देवेणं सा दिव्वा देवड्ढी०जाव देवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागते? । गोयमादिसमणं भगवं महावीरे भगवं गोयम त्ति आमंतेत्ता एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे केकयद्धे णाम जणवए होत्था रिद्धित्थिमियसमिद्धे तत्थ णं केकयद्धे जणवए सेयंविया णामं णगरी होत्था रिद्धित्थिमियसमिद्धा ०जाव पडिरूवा । तीसे णं सेयंवियाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं मिगवणे णामं उज्जाणे होत्था रम्मे णंदणवणप्पगासे सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे सुहसुरभिसीयलाए छायाए सव्वतो चेव समणुवद्धे पासादीए०जाव पडिरूवे । तत्थ णं सेयंवियाए णगरीए पएसी णाम राया होत्था महया हिमवत जाव विहरति अधम्मिए अधम्मिट्ठे अधम्मक्खाई अधम्माणुए अधम्मपलोई अधम्मपजणणे अधम्मसीलसमुयारे अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे हण छिंद भिंद पवत्तएपावे कोवे चंडे रोद्दे खोद्दे लोहितपाणी साहसिए उक्कंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसंपओगबहुले णिस्सीले णिव्वते णिग्गुणे णिम्मेरे णिपच्चक्खाणपोसहोववासे बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसरीसवाणं घाताए वहाए उच्छेयणाए अधम्मकेऊ समुट्ठिए गुरूणं णो अब्भुट्ठेति णो विणयं पउंजइ, सयस्स वि णं जणवयस्स णो सम्मं करवा भरं वा वित्तिं पवत्तेइ । तस्स णं पदेसिस्स रण्णो सूरियकंता णामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया, धारिणीवण्णओ । पएसिणा रण्णा सद्धिं अणुरत्ता० जाव विहरति । तस्स णं पदेसिस्स रण्णो जेट्ठे पुत्ते सूरियकंताए देवीए अत्तए सूरियकंते णामं कुमारे होत्था सुकुमालपाणिपाए ०जाव पडिरूवे । से णं सूरियकंते कुमारे जुवराया वि होत्था । पएसिस्स रण्णो रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च पुरं च अंतेउरं च जणवयं च सयमेव पच्चुवेक्खमाणे पच्चुवेक्खमाणे विहरति । तस्स णं पदेसिस्स रण्णो जेट्ठभाउवयंसए चित्ते णामं सारही होत्था अड्ढे० जाव बहुजणस्स अपरिभूए सामभेयदंडउवप्पयाणअत्थसत्थईहामइविसारए उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेते पएसिस्स रण्णो बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य णिच्छएसु य ववहारेसु आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे मेढीपमाणे आधारे आलंबणे चक्खुभूए सव्वट्ठाणसव्वभूमियासु लद्धपच्चए विदिण्णवियारे रज्जधुरचिंतए यावि होत्था । तेणं कालेणं तेणं समयेणं कुणाला णामं जणवए होत्था रिद्धित्थिमियसमिद्धे । तत्थ णं कुणालाए जणवए सावत्थी णामं णयरी होत्था रिद्धित्थिमियसमिद्धा० जाव पडिरूवा । तीसे णं सावत्थीए णगरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए कोट्ठए णामं चेइए होत्था पोराणे० जाव सुरम्मे पासादीए दरिसणिज्जे । तत्थ णं सावत्थीए णयरीए पएसिस्स रण्णो अंतेवासी जियसत्तू णामं राया होत्था, महया हिमवंत०जाव विहरइ तए णं पदेसी राया अण्णया कयाई महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायारिहं पाहुडं सज्जावेइ सज्जावेइत्ता चित्तं सारहिं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं चित्ता ! सावत्थिं णगरिं, जियसत्तुस्स रण्णो इमं महत्थं ०जाव पाहुडं उवणेहि । जाइं तत्थ रायकज्जाणि य रायणिउत्ते य रायववहारे य ताइं जियसत्तुणा सद्धिं सयमेव पच्चुवेक्खमाणे पच्चुवेक्खमाणे विहराहि त्ति कट्टु विसज्जिते । तए णं से चित्ते सारही पएसिणा रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ ०जाव पडिसुणित्ता तं महत्थ० जाव पाहुडं गिण्हइ, पएसिस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता सेयविं णगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तं महत्थ०जाव पाहुडं ठवेइ, कोडुंवियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सछत्तं जाव चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह ०जाव पच्चप्पिणह । तते णं ते कोडुंवियपुरिसा चित्तसारहिस्स एयमट्ठं विणएण पडिसुणेंति, पडिसुणेइत्ता हट्ठतुट्ठ ०जाव हियया खिप्पामेव सछत्तं ०जाव जुद्धसज्जं चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेंति, तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति । तते णं से चित्ते सारही कोडुंवियपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए ण्हाए कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते संणद्धवद्धवम्मियकवयउप्पीलियसरास-

णपट्टए पिणद्धगेविज्जविमलवरचिन्धपट्टे गहियाउहपहरणे महत्थं० जाव पाहुडं गिण्हइ, गिण्हइत्ता जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्ध० जाव गहियाउहपहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भडचडगरहपहकरवंदपरिक्खित्ते सयातो गिहातो णिग्गच्छति, सेयंवियाए णगरीए मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ, णिग्गच्छइत्ता सुहेहिं वासेहिं पायरासएहिं णाइविकिट्ठेहिं अंतरावासेहिं वसमाणे केययऽद्धस्स जणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव कुणाला णाम जणवए जेणेव सावत्थी णगरी तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता सावत्थीए णगरीए मज्झं मज्झेणं अणुपविसति, जेणेव जियसत्तुस्स रण्णो गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रहं ठवेति, रहं ठवेइत्ता रहातो पच्चोरुहति तं महत्थं० जाव पाहुडं गिण्हेइ, जेणेव अब्भितरिया उवट्ठाणसाला जेणेव जियसत्तू राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता जियसत्तुरायं करयलपरिग्गहियं० जाव कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता तं महत्थं० जाव पाहुडं उवणेति। तते णं से जियसत्तू राया चित्तस्स सारहिस्स तं महत्थं० जाव पाहुडं पडिच्छइ, चित्तं सारहिं सक्कारेति, सम्माणेति, पडिविसज्जेइ, रायमग्गमोगाढं आवासं दलयति। तते णं से चित्ते सारही विसज्जिए समाणे जियसत्तुस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमइ, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, दुरूहइत्ता सावत्थीए णयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरए णिगिण्हइ, रहं ठवेति, ठवेइत्ता रहातो पच्चोरुहति, ण्हाए कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे जिमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे पुव्वावरण्हकालसमयंसि गंधव्वेहिं णाडएहिं उवनच्चिज्जमाणे उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणे विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे * केसी णामं कुमारसमणे जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने बलसंपन्ने रूवसंपन्ने विणयसंपन्ने णाणसंपन्ने दंसणसंपन्ने चरित्तसंपन्ने लज्जासंपन्ने लाघवसंपन्ने ओयंसी तेयंसी वच्चसी जसंसी जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जियणिद्दे जितिंदिए जियपरीसहे जीवियासमरणभयविप्पमुक्के तवप्पहाणे गुणप्पहाणे करणप्पहाणे चरित्तप्पहाणे णिग्गहप्पहाणे णिच्छयप्पहाणे अज्जवप्पहाणे मद्दवप्पहाणे लाघवप्पहाणे खंतिप्पहाणे मुत्तिप्पहाणे विज्जप्पहाणे मंतप्पहाणे बंभप्पहाणे वेदप्पहाणे णयप्पहाणे णियमप्पहाणे सच्चप्पहाणे (सोयप्पहाणे) सोयप्पहाणे नाणप्पहाणे दंसणप्पहाणे चारित्तप्पहाणे चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए पचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव सावत्थी णगरी जेणेव कोट्ठए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सावत्थीए णगरीए बहिया कोट्ठए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तए णं सावत्थीए णगरीए सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहेसु महया जणसद्दे वा जणकलकलेइ वा० जाव परिसा पज्जुवासति। तते णं तस्स चित्तसारहिस्स महाजणसद्दं च जणकलकलं च सुणेत्ता पासेत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-किं णं अज्ज सावत्थीए णयरीए इंदमहेइ वा खंदमहेइ वा एवं रुद्दमहेइ वा मउंदमहेइ वा वेसमणमहेइ वा णागमहेइ वा भूयमहेइ वा जक्खमहेइ वा थूभमहेइ वा चेइयमहेइ वा रुक्खमहेइ वा गिरिमहेइ वा दरिमहेइ वा अगडमहेइ वा णदीमहेइ वा सागरमहेइ वा जेण इमे बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा राइण्णा खत्तिया इक्खागुकोरव० जाव इब्भा इब्भपुत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा जहोववाइए तहेव अप्पेगइया हयगया० जाव अप्पेगइया पादचारविहारेणं महया वदा वंदएहिं णिग्गच्छंति, एवं सपेहेइ, सपेहेइत्ता कंचुइपुरिसं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-किं ण देवाणुप्पिया! अज्ज सावत्थीए णयरीए इंदमहेइ वा० जाव सागरमहेइ वा जेणं इमे बहवे उग्गा० णिग्गच्छंति?। तते णं से कंचुइपुरिसे केसिस्स कुमारसमणस्स आगमणोगहियं विणिच्छियंति चित्त सारहिं करयलपरिग्गहिय० जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी-णो खलु देवाणुप्पिया! अज्ज सावत्थीए णगरीए इंदमहेइ वा० जाव सागरमहेइ वा, जे णं इमे बहवे० जाव वंदा वंदएहिं णिग्गच्छंति, एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चिज्जे केसी णामं कुमारसमणे जातिसंपण्णे० जाव दूइज्जमाणे इहमागते० जाव विहरइ। तेणं अज्ज सावत्थीए बहवे उग्गा० जाव इब्भा इब्भपुत्ता अप्पेगइया वंदणवत्तियाए० जाव महया वंदा वंदएहिं णिग्गच्छंति। तते णं से चित्ते सारही कंचुइपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव

* पार्श्वापत्यीय इत्यर्थः ।

उवट्ठवेह ०जाव सत्थओ जाव उवट्ठवेति। तते णं से चित्ते सारही एहाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घटं आसरहं दुरूहति, दुरूहइत्ता सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भडचडगररहपहगरवंदपरिखित्ते सावत्थीए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता केसिस्स कुमारस्स समणस्स अदूरसामंते तुरए णिगिण्हति, रहं ठवेति, रहाओ पच्चोरुहति, जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता केसिं कुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदति, णमंसति, णमंसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासेइ। तते णं केसी कुमारसमणे चित्तस्स सारहिस्स तीसे महतिमहालयाए महच्चाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं कहेइ। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणट्ठाणाओ वेरमणं। तते णं सा महतिमहालया महच्चपरिसा केसिकुमारस्स समणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठ ०जाव हियया वंदित्ता णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। तते णं से चित्ते सारही केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव हियए उट्ठाए उट्ठेति, केसिं कुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदइ, णमंसति, णमंसित्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते! णिग्गंथे पावयणे, पत्तियामि णं भंते! णिग्गंथे पावयणे, रोएमि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते! एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेयं भंते! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते! सच्चे णं एसमट्ठे, से जहा तुब्भे वयह त्ति कट्टु वंदइ, णमंसति, एवं वयासी-जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा ०जाव इब्भा इब्भपुत्ता चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवण्णं एवं धणधण्णबलवाहणकोसकोट्ठागारं पुरं अंतेउरं चिच्चा विउलं धणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालं संतसारसावतेयं विच्छड्डइत्ता विगोवइत्ता दाणं दाइत्ता परिभाइत्ता मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयंति, णो खलु अहं तहा संचाएमि चिच्चा हिरण्णं तं चेव जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

तते णं से चित्ते सारही केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं ०जाव गिहिधम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तते णं चित्ते सारही केसिकुमारसमणस्स णं वंदति, णमंसति, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव पहारेत्थगमणाए चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तेणं से चित्ते सारही समणोवासए जाते अहिगयजीवाजीवे उवलद्धपुण्णपावे आसवसंवरणिज्जरणकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसले असहेज्जे देवासुरणागजक्खरक्खसकिण्णरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं णिग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिए णिक्कंखिए णिव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे अहिगयट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते अयमाउसो! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णपोसहं सम्मं अणुपालेमाणे ऊसियफलिहे अवगयदुवारे चियत्ततेउरपरघरप्पवेसे समणे णिग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणे पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे जाइं तत्थ रायकज्जाणि य ०जाव रायववहारे वि जियसत्तुणा सद्धिं सयमेव पच्चुवेक्खमाणे विहरति। तते णं से जियसत्तू राया अण्णया कयाइ महत्थं० जाव पाहुडं सज्जेइ, चित्तं सारहिं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं चित्ता सेयंवियं णगरिं पएसिस्स रण्णो इमं महत्थं ०जाव पाहुडं उवणेहि, मम पाउग्गहणं जहा भणियमवितहमसंदिद्धं वयणं विण्णवेहि त्ति कट्टु विसज्जिए। तते णं से चित्ते सारही जियसत्तुणा रण्णा विसज्जिए समाणे तं महत्थं ०जाव गिण्हइ, जियसत्तुस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमति, सावत्थीए णगरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं महत्थं ०जाव ठवेइ, एहाए ०जाव सरीरे सकोरिंटछत्तेणं पायचारविहारेणं महया पुरिसपरिसपरिक्खित्ते रायमग्गमोगाढाओ आवासाओ णिग्गच्छइ, जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, केसीकुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा० जाव उट्ठाए उट्ठेइ ०जाव एवं वयासी-एवं खलु अहं भंते! जियसत्तुणा रण्णा पएसिस्स रण्णो इमं महत्थं ०जाव उवणेहि त्ति कट्टु विसज्जिए। तं गच्छामि णं अहं भंते! सेयंवियं णगरिं, पासादीया णं भंते! सेयविया णगरी, एवं दरसणिज्जा णं

भंते ! सेयंविया णगरी, अभिरूवा णं भंते ! सेयविया णगरी, समोसरह णं भंते ! तुब्भे सेयंवियं णगरिं । तते णं केसी कुमारसमणे चित्तेणं सारहिणा एवं वुत्ते समाणे चित्तस्स सारहिस्स एयमट्ठं णो आढाति, णो परिजाणाति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं से चित्ते सारही केसिं कुमारसमणं दोच्चं पि एवं वयासी-एवं खलु मम भंते ! जियसत्तुणा पएसिस्स रण्णो इमं महत्थं० जाव विसज्जिए, तं चेव ०जाव समोसरह भंते ! तुब्भे सेयवियं णगरिं । तए णं केसी कुमारसमणे चित्तेणं सारहिणा दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे चित्तं सारहिं एवं वयासी-चित्ता ! से जहाणामए वणसंडे सिया किण्हे किण्होभासे० जाव पडिरूवे, से णूणं चित्ता ! वणसंडे तेसिं बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसरीसिवाणं अभिगमणिज्जे ? । हंता अभिगमणिज्जे । तंसि च णं चित्ता ! वणसंडंसि बहवे भिलुंगा णाम पावसउणा परिवसंति, जे णं तेसिं बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसरीसिवाणं चेव मंससोणियं आहारेंति, से णूणं चित्ता ! वणसंडे तेसिं बहूणं दुपयचउप्पयसरीसिवाणं अभिगमणिज्जे णोति(?) कम्हा ? । भंते ! सोवसग्गे । एवामेव चित्ता ! तुब्भं पि सेयवियाए णयरीए पदेसी णामं राया परिवसइ अधम्मिए० जाव णो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेति, तं कह अहं चित्ता ! सेयवियाए णयरीए समोसरिस्सामि । तए णं से चित्ते सारही केसिकुमारसमणं एवं वयासी-किं णं भंते ! तुब्भं पएसिणा कायव्वं ? । अत्थि णं भंते ! सेयंवियाए णगरीए अण्णे बहवे ईसरतलवर० जाव सत्थवाहप्पभितिओ, जे णं देवाणुप्पिए ! वंदिस्संति, णमंसिस्संति० जाव पज्जुवासिस्संति, विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभिस्संति, पडिहारिएणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं उवणिमंतिस्संति । तते णं से केसी कुमारसमणे चित्तं सारहिं एवं वयासी-अविआइ चित्ता ! समोसरिस्सामो । तए णं से चित्ते सारही केसीकुमारसमणं वंदइ, णमंसइ, केसिस्स कुमारसमणस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, जेणेव सावत्थी णगरी जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, जहा सेयंवियाए णगरीए णिग्गच्छइ, तहेव० जाव समाणे कुणालाए जणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव केकयद्धे जणवए जेणेव सेयविया णगरी जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता उज्जाणपालए सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-जया णं देवाणुप्पिया ! पासावच्चिज्जे केसी णामं कुमारसमणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागच्छेज्जा, तया णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! केसिं कुमारसमणं वंदिज्जाह, णमंसिज्जाह, वंदित्ता णमंसित्ता अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणेज्जाह, अणुजाणित्ता पाडिहारिएणं पीढफलग० जाव उवणिमंतिज्जाह, एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणिज्जाह । तते णं ते उज्जाणपालगे चित्तेणं सारहिणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव हियया करयलपरिग्गहियं० जाव एवं वयासी-तह त्ति आणाए विणएण वयणं पडिसुणंति । तते णं चित्ते सारही जेणेव सेयंविया णगरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सेयंवियाए णगरीए मज्झं मज्झेणं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता जेणेव पएसिस्स रण्णो गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तुरए णिगिण्हइ, तुरए णिगिण्हित्ता रहं ठवेइ, ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुभेइ, पच्चोरुभेइत्ता महत्थं० जाव गिण्हइ, जेणेव पदेसी राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पएसिं रायं करयल० जाव वद्धावेत्ता महं० जाव उवणेति । तते णं से पएसी राया चित्तस्स सारहिस्स तं महत्थं० जाव पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता चित्तं सारहिं सक्कारेइ, सम्माणेइ, पडिविसज्जेइ । तए णं से चित्ते सारही पदेसिणा रण्णा विसज्जिते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए पएसिस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमइ, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, दुरूहइत्ता सेयंवियाए णगरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छइ, तुरए णिगिण्हइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहेइ, ण्हाए० जाव उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसंविहबद्धएहिं णाडएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणिच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे इट्ठे सद्दे फरिसे० जाव विहरति । तते णं केसी कुमारसमणे अण्णया कयाइ पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेइ, सावत्थीतो कोट्ठयाओ चेतियाओ पडिणिक्खमइ, पंचहिं अणगारसएहिं० जाव विहरमाणे जेणेव केकयद्धे जणवए सेयंविया णगरी जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तते णं सेयंवियाए णगरीए सिंघाडग० जाव महया जणसद्दे इ वा० जाव परिसा णिग्गच्छइ । तते णं ते उज्जाणपालगे इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हियए जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता केसीकुमारसमणं वंदइ, णमंसइ, अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणंति, पाडिहारिएणं० जाव संथारएणं उवणिमंतेइ, णामगोयं पुच्छंति, पुच्छइत्ता धारेंति, अण्णमण्णं एवं वयासी-जस्स णं णामं देवाणुप्पिया ! चित्ते सारही दंसणं कंखइ, दंसणं पत्थेइ, दंसणं पीहेइ, दंसणं अभिलसइ, जस्स णं णामगो-

यस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ०जाव हियए जवइ,से णं केसी कुमारसमणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए,इह संपत्ते, इह समोसढे इहेव सेयंवियाए णगरीए वहिया मियवणे उज्जाणे अहापमिरूवं० जाव विहरइ। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! चित्तस्स साराहिस्स एयमट्ठ पियं णिवेदेमो,पियं ते जवउ,अष्ममष्मस्स अंतिए एयमट्ठ पाडिसुणं-ति, पडिसुणंतित्ता जेणेव सेयविया णयरी जेणेव चित्तस्स साराहिस्स घरे जेणेव चित्ते सारही तेणेव उवागच्छइ, चित्तं सारहिं करयल०जाव वद्धावेंति, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-जस्स णं देवाणुप्पिया! दंसणं कंखाति०जाव अजिलसति, जस्स णं णायगोयस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ० जाव भव इ, से णं अयं पासावच्चिज्जे केसी णामं कुमारसमणे पु-व्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव समोसढे० जाव विहरति, तए णं से चित्ते सारही तेसिं उज्जाणपालगाण अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ०जाव आसणाओ अब्जुट्ठेइ, पा-यपीढाओ पच्चोरुहति,पाउयाओ मुयति,मुयइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता अंजलिमउलियहत्थे केसीकुमा-रसमणाभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ,अणुगच्छइत्ता कर-यलपरिग्गहियं एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरहताणं० जाव संपत्ताणं,णमोऽत्थु णं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्माय-रियस्स धम्मोवएसिस्स,वंदामि णं भगवं तत्थ य इहगए ति कट्टु वंदति,णमंसति, उज्जाणपालए विउलेणं वत्थगंधमल्ला-लंकारेण सक्कारेति,सम्माणेति, विउलेणं जीवितारिहं पीइ-दाणं दलयति,पमिविसज्जेति,कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ,सद्दा-वेइत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव जो देवाणुप्पिया! चाउग्घटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह०जाव पच्चप्पिणह। तते ण ते कोडुं-वियपुरिसे खिप्पामेव सच्छत्तं सज्झय०जाव उट्ठवेत्ता तुरए त-माणत्तिय पच्चप्पिणति। से चित्ते सारही कोडुंवियपुरिसाण अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ०जाव हियए ण्हाए कयवलिकम्मे०जाव सरीरे जेणेव चाउग्घटे०जाव दुरूहित्ता सकोरिंट०महया जमचमकरेण त चेव पज्जुवासइ, धम्मक-हा०जाव। तए णं से चित्ते सारही केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे तहेव एव वयासी-एवं खलु भंते! अम्ह पदेसी राया अधम्मिए०जाव स-इस्स वि जणवयस्स णो सम्मं करजर पव्वत्तेति, तं जइ ण देवाणुप्पिया! पदेसिस्स रष्मो धम्ममाइक्खेज्जा वहुगुण-त्तरं खलु होज्जा पदेसिस्स रष्मो, तेसि णं वहूण य दुपयचउप्पयमिगपसुपक्खिसरीसिवाणं, तं जइ णं देवाणु-प्पिया! पदेसिस्स रष्मो धम्ममाइक्खेज्जा वहुगुणुत्तरं फलं होज्जा तेसि णं वहूणं समणमाहणभिक्खुयाणं, तं जइ णं देवाणुप्पिया! पदेसिस्स वहुगुणतरं होत्था जणवयस्स। तए णं केसी कुमारसमणे चित्तं साराहिं एवं वयासी एवं खलु चउहिं ठाणेहिं चित्ता! जीवा केवलिपएणत्त धम्मं णो लभे-ज्जा सवणयाए, तं जहा आरामगयं वा उज्जाणगयं वा स-मणं वा माहणं वा णो अभिगच्छति,णो वंदति,णो णमंसति, णो सक्कारेति, णो संमाणेइ, णो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पि व पज्जुवासति, णो अट्ठातिहेऊहिं पसिणाइवागरणाइं पुच्छइ, एएणं ठाणेणं चित्ता! जीवे केवलिपएणत्तं धम्मं णो लभति सवणयाए। उवस्सयगयं समणं वा त चेव० जाव एएणं वीयट्ठाणेण चित्ता!० जाव केवलिपएणत्तं ध-म्मं णो लभति सवणयाए। गोयरग्गगयं समणं वा० जाव णो पज्जुवासइ, णो विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पमिलाभेइ, णो अट्ठाइं० जाव पुच्छति, एएण वि ठाणेणं चित्ता। जीवे केवलिपष्मत्तं धम्मं णो लभइ सवणयाए। जत्थ वि णं समणेणं वा माहणेणं वा सद्धिं अभिसमष्मा-गच्छइ, तत्थ वि य णं हत्थेण वा वत्थेण वा अप्पाणं आ-वरित्ता चिट्ठइ, एएणं ठाणेणं केवलिपएणत्तं धम्मं णो लभइ सवणयाए। एएहिं चउहिं ठाणेहिं जीवे केवलिप-ष्मत्तं धम्मं णो लभइ। चित्ता! चउहिं ठाणेहिं जीवे केवलि-पएणत्तं धम्मं लभइ सवणयाए। तं जहा-आरामगयं वा समणं वा माहणं वा वंदइ, णमंसइ०जाव पज्जुवासति, अ-ट्ठाइं० जाव पुच्छइ। एएणं ठाणेणं चित्ता!० जाव लभति सवणयाए। एवं उवस्सयगयं गोयरग्गगयं समणं वा०जाव प-ज्जुवासंति विउलेणं०जाव पडिलाभेति अट्ठाइ०जाव पुच्छइ, एएण वि ठाणेणं०जाव सवणयाए जत्थ वि णं समणेणं वा माहणेणं वा अभिसमागच्छइ,तत्थ वि य णं णो हत्थेणं वा० जाव आवरेत्ता णं चिट्ठइ, एएण वि ठाणेणं चित्ता! जीवे केवलिपष्मत्तं धम्मं लभइ सवणयाए। तुम्हं णं चित्ता! प-एसी राया आरामगयं वा तं चेव सव्वं जाणियव्वं आइल्ल-एणं गमएणं०जाव अप्पाणं आवरेत्ता णं चिट्ठति,तं कहं णु चित्ता! पएसिस्स रष्मो धम्ममाइक्खिस्सामो?। तते णं से चित्ते सारही केसीकुमारसमणं एवं वयासी-एवं खलु भंते! अष्मया कयाइ कंबोएहिं चत्तारि आसा उवणयं उवणीया, ते मए पएसिस्स रएणो अएणया चेव विएणइया तएणं खलु भंते! कारणेण अहं पएसिसएणं रायं देवाणुप्पि-याणं अंतियं हव्वमाणइस्सामो, तम्हा णं देवाणुप्पिया! तुब्भे पएसिस्स रएणो धम्ममाइक्खेज्जाह,वंदे णं भंते! तु-ब्भे पएसिस्स रष्मो धम्ममाइक्खेज्जा। तते ण केसी कुमारसम-णे चित्त सारहिं एवं वयासी-अवियाइं चित्ता! जाणिस्सामो। तते णं से चित्ते सारही केसीकुमारसमणं वंदइ, णमंसति,

वंदित्ता णमंसइत्ता जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए तते णं से चित्ते सारही कल्लं पाउप्पभाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिल्लियम्मि अहे पडुरे पभाए रत्तासोयप्पगासकिंसुयसुयमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते साओ गेहाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पएसी राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता पदेसिराय करयल० जाव कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! णं कंबोएहिं चत्तारि आसा उवणयं उवणीया, ते य मए देवाणुप्पियाणं णिवेइए एहि णं सामी ! आसे भइक्खिया पासह । तए णं से पएसी राया चित्त सारहिं एवं वयासी-गच्छाहि णं तुब्भे चित्ता ! तेहिं चउहिं चेव आसेहिं आसरह जुत्तामेव उवट्ठवेहि, उवट्ठवेत्ता० जाव पच्चप्पिणाहि । तते णं चित्ते सारही पएसिणा रणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठहियए० जाव उवट्ठवेति, उवट्ठवेइत्ता एयमाणत्तिय पच्चप्पिणति । तते णं से पएसी राया चित्तस्स सारहिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे साओ गिहाओ निग्गच्छति, निग्गच्छइत्ता जेणामेव चाउग्घंटे आसरहे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहति, सेयंवियाए णगरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, तते णं से चित्ते सारही तं रहं अणेगाइं जोयणाइं उब्भामेइ । तते णं से पदेसी राया उण्हेण य तण्हाए रहवाएणं परिकिलस्समाणे समाणे चित्तं सारहिं एवं वयासी-चित्ता ! परिकिलते मे सरीरे, तं परावत्तेहि रहं । तए णं से चित्ते सारही रहं परावत्तेति, जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, पएसिं रायं एवं वयासी-एस णं सामी ! मियवणे उज्जाणे, एत्थ णं आसाणं समं किलामं सम्मं पवणेमो । तए णं से पएसी राया चित्तं सारहिं एवं वयासी-एवं होउ चित्ता ! । तए णं से चित्ते सारही जेणेव मियवणे उज्जाणे जेणेव केसिकुमारसमणस्स अदूरसामंते तेणेव उवागच्छइ, तुरए निगिण्हइ, रहं ठवेइ, रहातो पच्चोरुभइ, तुरए मोएति, मोएइत्ता पएसिं रायं एवं वयासी-एहि णं सामी ! आसाणं समं किलामं सम्मं पवणेमो । तते णं से पदेसी राया रहातो पच्चोरुभति, चित्तेणं सारहिणा सद्धिं आसाणं समं किलामं सम्मं पवणेमाणे पासइ जत्थ केसी कुमारसमणे महतिमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगए य महया महया सद्देणं धम्ममाइक्खमाणं पासति, पासित्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए संकप्पे समुप्पज्जित्था-जड्डा खलु भो जड्डं पज्जुवासंति, मुंडा खलु भो मुंडं पज्जुवासंति, मूढा खलु भो मूढं पज्जुवासंति, अपंडिया खलु भो अपंडियं पज्जुवासंति, निव्विन्नाणा खलु भो निव्विन्नाणा खलु भो निव्विन्नाणाणं पज्जुवासंति, केस णं एस पुरिसे जड्डे मूढे मुंडे अपंडिते निव्विन्नाणे सिरीए हिरीए उवगए उत्तप्पसरीरे ?, एस णं पुरिसे किमाहारेति, किं खाइ, किं पियति, किं दलयति, किं पयच्छति, जेणं एस पुरिसे महतिमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगते महया सद्देणं बूयाइ ?, एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता चित्तं सारहिं एवं वयासी-चित्ता ! जड्डा खलु भो जड्डं पज्जुवासंति० जाव बूयाइ साए वि य णं उज्जाणभूमीए णो संचाएमि सम्मं पकामं पवियरित्तए । तए णं चित्ते सारही पएसिरायं एवं वयासी-एस णं सामी ! पासावच्चिज्जे केसी नाम कुमारसमणे जातिसंपण्णे० जाव चउणाणोवगते आहोहिए अण्णजीवी । तए णं से पदेसी राया चित्तं सारहिं एवं वयासी-आहोहियत्तं वयासी चित्ता !, अण्णजीवियत्तं वयासी चित्ता ? । हंता ! सामी ! आहोहियत्त वयामि, अण्णजीवियत्त वयामि । अभिगमणिज्जे णं चित्ता ! अम्हे एस पुरिसे हंता ? । सामी ! अभिगमणिज्जे । अभिगच्छामो णं चित्ता ! अम्हे एयं पुरिसं ? । हन्ता सामी ! अभिगच्छामो । तते णं से पएसी राया चित्तेण सारहिणा सद्धिं जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता केसिस्स कुमारसमणस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी-तुब्भे णं भंते ! आहोहिया अण्णजीविया ? । तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी-से जहानामए अंकवाणियाइ वा संखवाणियाइ वा दंतवाणियाइ वा मणिवाणियाइं वा सुक्कं भंजेउं कामा नो सम्मं पंथं पुच्छंति, एवामेव पदेसी ! तुमं पुच्छेवि वणयं भंजेउं कामे नो सम्मं पुच्छसि, से नूणं तव पदेसी ! मम पासित्ता अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था-जड्डा भो जड्डं पज्जुवासंति ० जाव पवियरित्तए णं । पदेसी ! एस अट्ठे समट्ठे ? । हंता अत्थि । तए णं से पदेसी राया केसी कुमारसमणं एवं वयासी-से केण भंते ! तुब्भं णाणं वा दंसणं वा, जेण तुब्भे मम एयारूवं अब्भत्थियं० जाव संकप्पं समुप्पण्णं जाणह, पासह ? । तते णं से केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वयासी-एवं खलु पदेसी ! अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे णाणे पण्णत्ते । तं जहा-आभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे । से किं तं आभिणिबोहियणाणे ? । आभिणिबोहियणाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-उग्गहे, ईहा, अवाए, धारणा । से किं तं उग्गहे ? । उग्गहे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा नंदीए* जाव सेत्तं धारणा । सेत्तं आभिणिबोहिणाणं । से किं तं सुयनाणं ? । सुयनाणं दुविहं पण्णत्तं-अंगपविट्ठं च, अंगबाहिरं च सव्वं भाणियव्वं० जाव दिट्ठिवाओ । ओहिनाणं से किं तं सुयं खओवसमियं च जहा नंदीए । मणपज्जवनाणे

* नन्दीसूत्रे यथा कृता तथाऽत्रापि कर्त्तव्या ।

दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-उज्जुमती य विपुलमती य। तहेव केवलनाणं भाणियव्वं। एत्थ णं जे से आभिणिबोहियनाणे से णं मम अत्थि,एवं चेव सुयणाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे वि य, तत्थ णं जे से केवलनाणे से णं ममं नत्थि। से णं अरहंताणं भगवंताणं। इच्चेएणं पदेसी!अहं तव चउव्विहेणं छाउमत्थेणं नाणेणं इमेयारूवं अब्भत्थिय०जाव समुप्पन्नं जाणामि, पासामि। तए णं पदेसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी-अह णं भंते!इह उवविसामि?। पदेसी!साए उज्जाणभूमीए तुमंसि चेव जाणए। तते णं से पदेसी राया चित्तेणं सारहिणा सद्धिं केसिकुमारसमणस्स अदूरसामंते उवविसति उवविसित्ता केसिकुमारसमणं एवं वयासी-तुब्भे णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं एसा सण्णा एसा पतिण्णा एसा दिट्ठी एसा रुई एस हेऊ एस उवएसे एस संकप्पे एस तुला एस माणे एस पमाणे एस समोसरणे जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं,नो तज्जीवो तं सरीरं?तते णं केसी कुमारसमणे पदेसिं रायं एवं वयासी-पदेसि ! अम्हं समणाणं निग्गंथाणं एसा सण्णा०जाव एस समोसरणे-जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं,नो तज्जीवो तं सरीरं ।तते णं पदेसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी-जति णं भंते ! तुब्भे समणाणं निग्गंथाणं एसा सण्णा ०जाव एस समोसरणे, जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तज्जीवो तं सरीरं,एवं खलु मम अज्जए होत्था इहेव जंबुद्दीवे दीवे सेयंवियाए नयरीए अधम्मिए ०जाव सगस्स वि य णं जणवयस्स नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेति,से णं तुब्भं वत्तव्वयाए सुबहुपावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु नरएसु नेरइयत्ताए उववण्णे। तस्स णं अज्जगस्स अहं नत्तुए होत्था इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थिज्जे वेसासिए सम्मए बहुमते अणुमए करंडगसमाणे जीविउस्सविए हिययणंदिजणणे उंबरपुप्फं पिव दुल्लभे सवणयाए किमंग पुण पासणयाए?। तं जइ णं से अज्जए ममं आगंतुं वएज्जा-एवं खलु नत्तुया ! अहं तव अज्जए होत्था इहेव सेयवियाए नयरीए अधम्मिए ०जाव नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेमि,तते णं अहं सुबहुपावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता०जाव उववण्णे तं मा णं णत्तुया!तुमं पि भवाहि अधम्मी ०जाव नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेहि मा णं तुमं वि एवं चेव सुबहुपावं कम्मं ०जाव उववज्जिहिसि,तं जया णं से अज्जए समं आगंतुं एवं वएज्जा,तते णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं,नो तज्जीवो तं सरीरं, जहा णं से अज्जए मम आगंतुं नो एवं वयासी,तओ सुपतिट्ठिया मे पतिण्णा समणाउसो ! जहा तज्जीवो तं सरीरं,णो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं?तते णं केसी कुमारसमणे पदेसीरायं एवं वयासी-अत्थि णं पदेसी!तव सूरियकंता नामा देवी?।हंता अत्थि जया णं तुम्हं पदेसि तं सूरियकंतं देविं एहायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं केणइ पुरिसेणं एहाएणं०जाव सव्वालंकारविभूसिएणं सद्धिं इट्ठे सद्दफरिसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणे पासिज्जासि, तस्स णं पदेसी! पुरिसस्स कं दंडं निव्वत्तेज्जासि?। अहं णं भंते ! पुरिसं हत्थच्छिन्नगं वा पायच्छिन्नगं वा सूलाभिन्नगं वा एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेज्जा। अह णं पदेसी! से पुरिसे तुमं एवं वएज्जा मा णं तुम्हे सामी!मुहुत्तगं हत्थच्छिन्नगं वा०जाव जीवियाओ ववरोवेहि जाव ताव अहं मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरिजणं एवं वयामि-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पावाइं कम्माइं समायरित्ताइं इमेयारूवं आवयं पाविज्जामि, तं मा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे केइ पावाइं कम्माइं समायरउ, मा णं से वि एवं चेव आवयं पाविज्जासि य जहा णं अहं। तस्स णं तुमे पदेसी ! पुरिसस्स खणमवि एयमट्ठं पडिसुणेज्जासि?। नो इणट्ठे समट्ठे कम्हा णं भंते ! अवराही णं से पुरिसे । एवामेव पएसी ! तव अज्जए होत्था इहेव सेयंवियाए नयरीए अधम्मिए०जाव नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेति से णं अम्हं वत्तव्वयाए सुबहू०जाव उववण्णे तस्स णं अज्जगस्स तुमं नत्तुए होत्था इट्ठे कंते० जाव पासणयाए से इच्छइ माणुस्सलोगं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए।तते णं चउहिं ठाणेहिं पदेसी! अहुणोववण्णे नरए नेरतिए इच्छइ माणुस्सलोगं हव्वमागच्छित्तए अहुणोववण्णे नरए नेरइए समुब्भूयं वेयणं वेयमाणे इच्छइ माणुस्सं लोगं हव्वमागच्छित्तए नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए, अहुणोववण्णए नरए निरतिए नरयपालेहिं भुज्जो भुज्जो समहिट्ठिज्जमाणे इच्छइ माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए अहुणोववण्णए नरएसु नेरइए निरयंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेइयंसि अणिज्जिण्णंसि इच्छति माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए नो चेव णं संचाएति, एवं निरयाउयंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेइयंसि अणिज्जिण्णंसि इच्छइ माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं पएसी ! अहुणोववण्णे नरएसु नेरइए इच्छइ माणुसं लोगं नो चेव णं संचाएइ, हव्वमागच्छित्तए, तं सद्दहाहि णं तुमं पदेसी ! जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तज्जीवो तं सरीरं १॥ तते णं से पदेसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! एस पण्णत्ती उवमा इमेण पुण कारणेण णो उवाग-

च्छइ। एवं खलु भंते! मम अज्जिया होत्था इहेव सेयंवियानयरीए धम्मिया०जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा समणोवासिया अहिगयजीवाजीवा सव्वो वण्णओ०जाव अप्पाणं भावेमाणा विहरति। से णं तुब्भं वत्तव्वयाए सुवहु पुण्णोवचयं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ना। तीसे णं अज्जियाए अहं णत्तुए होत्था इट्ठे कंते जीवपासणयाए, त जइ णं अज्जिया ममं आगतु एवं वएज्जा। एवं खलु नत्तुया! अहं तव अज्जिया होत्था इहेव सेयवियाए नगरीए धम्मिया० जाव वित्तिं कप्पेमाणी समणोवासिया० जाव विहरामि, तए ण अहं पुण्णोवचय समज्जिणित्ता अन्नतरेसु देवलोएसु उववण्णा, त तुमं पि णत्तुया! भवाहि धम्मिए०जाव विहराहि, तओ णं तुमं वि एवं चेव सुवहुपुण्णोवचय समज्जिणित्ता० जाव देवलोएसु उववज्जिहिसि। त जइ णं सा अज्जिया मम आगंतु एवं वएज्जा, तो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा, जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तज्जीवो तं सरीरं, जम्हा अज्जिया ममं आगंतु नो एवं वयासी—तम्हा सुपइट्ठिया मे पइण्णा जहा तज्जीवो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। तए णं केसी कुमारसमणे पदेसीरायं एवं वयासी—जया णं तुमं पएसी! ण्हाय कयवलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं उल्लपडसाडगं भिंगारं कडुच्छयहत्थगयं देवकुलमणुप्पविसमाणं केइय पुरिसे वच्चघरंसि ठिच्चा एवं वएज्जा हि ताव सामी! इह मुहुत्तगं आसयह वा, सयह वा, चिट्ठह वा, निसीयह वा, तुयट्टह वा, तस्स तुमं पएसी! पुरिसस्स खणमवि एयमट्ठं पडिसुणेज्जासि?। णो इणट्ठे समट्ठे। कम्हा णं भंते! असुती तं मामतो। एवामेव पएसी! तव वि अज्जिया होत्था इहेव सेयवियाए नयरीए धम्मिया०जाव विहरति। सा णं अम्ह वत्तयाए सुवहु०जाव उववण्णा। तीसे णं अज्जियाए तुम्हं णत्तुए होत्था इच्छति माणुसं लोगं हव्वमागच्छिए, नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छिए। चउहिं च णं ठाणेहिं पदेसी! अहुणोववण्णए देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए, अहुणोववण्णए देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं नो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए, अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु दिव्वेहिं कामभोगेहिं मुच्छिते गढिते अज्झोववण्णे, से णं माणुस्सए कामभोगे नो आढाति, नो परिजाणाति, से ण इच्छिज्जा माणुसं लोगं नो चेव णं संचाएति अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु दिव्वेहिं कामभोगेहिं मुच्छिते०जाव अज्झोववन्ने। तस्स णं माणुस्सए पिम्मे वोच्छिण्णे भवति, दिव्वे पिम्मे संकंते भवति, से णं इच्छेज्जा माणुसं लोगं, णो चेव णं संचाएइ अहुणोववण्णए देवे दिव्वेहिं कामभोगेहिं मुच्छिते०जाव अज्झोववण्णए। तस्स णं एवं भवइ इयाणिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छं तेणं कालेणं इहिं अप्पाउया कालधम्मुणा संजुत्ता भवति, से णं इच्छेज्जा माणुसं लोगं नो चेव णं संचाएइ अहुणोववण्णए देवे दिव्वेहिं०जाव अज्झोववण्णए। तस्स णं माणुस्सए उराले गंधे पडिकूले पडिलोमे वि य भवति उड्ढं पि य णं०जाव चत्तारि पंचजोयणसयाइं असुभे माणुस्सए गंधए अभिसमागच्छइ, से णं इच्छेज्जा माणुसं लोगं णो चेव णं संचाएज्जा, इच्चेहिं चउहिं ठाणेहिं पएसी! अहुणोववण्णए देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए त सद्दहाहि णं तुमं पएसी। जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तज्जीवो त सरीरं ३॥ तए णं से पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—अत्थि णं भंते! एसा पन्नत्ती उवमा, इमेणं पुण कारणेणं नो उवागच्छइ, एवं खलु भंते! अहं अन्नया कयाइ बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए चउहिं गणनायगदंडणायगईसरतलवरमाडंवियकोडुंवियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहमंतिमहामंतिगणगदोवारियअमच्चपीढमद्दनगरनिगमदूयसंधिवालेहिं सद्धिं संपरिवुडे विहरामि। ममं नगरगुत्तिया ससक्खं सहोढं सगेवेज्जं अवाउडबंधणबद्धं चोरं उवणेति; तए णं अहं तं पुरिसं जीवंत चेव अउकुंभीए पक्खिवावेमि, अओमएणं पिहाणेणं पिहावेमि, अएण य तउएण य कयावेमि, आयपच्चत्तिएहिं पुरिसेहिं रक्खावेमि, तए णं अहं अन्नया कयाइ जेणेव सा अओकुंभी तेणेव उवागच्छामि, तेणेव उवागच्छित्ता तं अओकुंभिं उग्गलच्छावेमि, उग्गलच्छावेत्ता तं पुरिसं सयमेव पासामि, नो चेव णं तीसे अयोकुंभीए केइ छिड्डेइ वा, विवरेइ वा, राई वा। जओ णं से जीवे अंतोहिंतो वहिया निग्गए। जइ णं भंते! तीसे अयोकुंभीए होज्जा केइ छिड्डेइ वा०जाव राई वा, जओ णं से जीवे अंतोहिंतो निग्गते, तो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, जम्हा णं भंते! तीसे अयोकुंभीए नत्थि केइ छिड्डेइ वा०जाव निग्गए, तम्हा सुप्पतिट्ठियामे पतिन्ना जहा—तज्जीवो त सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। तते णं केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वयासी—से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओलित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा निवायगंभीरा, अह णं केइ पुरिसे भेरिं च दंडं च गहाय कूडसालं अंतो २ अणुप्पविसति, अणुप्पविसित्ता तीसे कूडागारसालाए सव्वओ समंता घणनिचयनिच्छिड्डाइं दुवारवयणाइं पिधेति, पिधेइत्ता तीसे कूडागारसालाए वहुमज्झदेसभाए ठिच्चा त भेरिं दंडेण महया महया सद्देणं तालेज्जा, से नू-

णं पदेसी ! सद्दे अंतोहिंतो बहिया निग्गच्छइ ?। हंता निग्गच्छइ। अत्थि णं पदेसी ! तीसे कूडागारसालाए केइ छिड्डे० जाव राई वा। जहा णं मे सद्दे अंतो बहिया निग्गतो, एवामेव पदेसी ! जीवे वि अप्पडिहयगती पुढविं भिच्चा सिलं भिच्चा पव्वय भिच्चा अंतोहिंतो बहिया निग्गच्छइ, त सद्दहाहि णं तुम पदेसी ! जहा अन्नो जीवो अन्न शरीर, नो तज्जीवो त सरीरं ३॥ तए णं पदेसी राया केसीकुमारसमणं एव वयासी–अत्थि णं भंते ! एसा पण्णत्ती उवमा, इमेण पुण कारणेणं नो उवागच्छइ । एवं खलु भंते ! अन्नया कयाइ बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए० जाव विहरामि। तते णं मम नगरगुत्तिया समक्खं० जाव उवणेइ, तते णं, अहं त पुरिस जीविताओ ववरोवेमि, जीवियाओ ववरोवित्ता अयोकुंभीए पक्खिवेमि, अयोमएणं पिहाणेणं पिहावेमि० जाव पच्चइएहिं पुरिसेहिं रक्खावेमि। तए णं अहं अन्नया कयाइ जेणेव अयोकुंभी तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छित्ता तं अयोकुंभिं उग्गलच्छावेमि, तं अयोकुंभिं किमिकुंभं पिव पासामि, नो चेव णं तीसे अयोकुंभीए केइ छिड्डे वा० जाव राई वा० जओ णं ते जीवा बहियाहिं अंतो अणुपविट्ठा। जति णं तीसे अयोकुंभीए होज्जा केइ छिड्डे वा० जाव अणुपविट्ठा, तो णं अहं सद्दहेज्जा जहा अन्नो जीवो त चेव, जम्हा णं तीसे अयोकुंभीए नत्थि केइ छिड्डे वा० जाव अणुप्पविट्ठा तम्हा सुपतिट्ठिया मे पइण्णा जहा तज्जीवो त सरीर त चेव। तते णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी–अत्थि णं तुम्हे पएसी राया अयं धंतं पुव्वे वा, धम्मावि पुव्वे वा ?। हन्ता अत्थि। से नूण पएसी ! अयो धते समाणे सव्वे अगणिपरिणते भवति ?। हता भवति। अत्थि णं पदेसी ! तस्स अयस्स केई छिड्डे० जाव राई वा, जे णं से जीवा बहियाहिंतो अतो अणुपविट्ठे, एवामेव पएसी ! जीवे वि अप्पडिहयगई पुढविं भिच्चा सिलं भिच्चा पव्वयं भिच्चा बहियाहिं अणुपविसइ, त सद्दहाहि णं तुम्हं पएसी ! तहेव ४ ॥ तए णं मे पदेसी राया केसिकुमारसमणं एव वयासी–अत्थि णं भंते ! एसा पन्नत्ती उवमा, इमेणं पुण कारणेणं नो उवागच्छइ भंते ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे० जाव सिप्पोवगए पभू पचकंडगं निसरित्तए हंता पभू। जति णं भंते ! से चेव पुरिसे बाले० जाव मदविन्नाणे पभू होज्जा पंचकंडगं निसारित्तए, ततो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, जहा अन्नो जीवो तं चेव, जम्हा ण भते ! सो चेव बाले० जाव मंदविण्णाणे नो पभू पचकंडगं निसरित्तए, तम्हा सुपइट्ठिया मे पतिण्णा जहा तज्जीवो तं चेव सरीर। तते णं केसी कुमारसमणे पदेसिं रायं एव वयासी–पदेसी ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे० जाव सिप्पोवगए नवएणं धणुणा नवियाए जीवाए नवएणं उसुणा पभू पंचकंडयं निसारित्तए ?। हंता पभू। सो चेव णं पुरिसे तरुणे० जाव निउणसिप्पोवगते कोरिल्लएण धणुणा कोरिल्लियाए जीवाए कोरिल्लएणं उसुणा पभू पंचकंडगं निसारित्तए ?। नो इणट्ठे समट्ठे कम्हा ण भंते ! तस्स पुरिसस्स अपज्जत्ताइं उवगरणाइं भवंति, एवामेव पएसी ! सो चेव पुरिसे बाले० जाव मंदविण्णाणे अपज्जत्तोवगरणे नो पभू पंचकंडगं निसारित्तए, तं सद्दहाहि णं तुम्ह पएसी ! जहा अन्नो जीवो त चेव ५॥ तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! एसा पन्नत्ती उवमा इमेण पुण कारणेणं नो उवागच्छइ । भंते ! से जहाणामए केइ पुरिसे तरुणे० जाव सिप्पोवगए पभू एगं मह अयभारग वा तउयभारगं वा सीसभारगं वा खारभारगं वा परिवहित्तए, जइ णं भंते ! सो चेव ण पुरिसे जुण्णे जज्जरियदेहे सिढिलवलितयाए विणट्ठगत्तए दंडपरिगयहत्थे पविरलपरिसडियदतसेढी आउरिए पिवासिए दुब्बले कुहापरिकिलंते पभू एग मह अयभारं वा० जाव परिवहित्तए, तो णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा तहेव, जम्हा णं भंते ! सो चेव पुरिसे जुण्णे० जाव किलंते नो पभू एग मह अयभारं वा० जाव परिवहित्तए, तम्हा सुपइट्ठिया मे पतिण्णा तहेव। तए णं केसी कुमारसमणे पदेसी राय एवं वयासी–से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे० जाव सिप्पोवगए नवियाए वहंगियाए नवएहिं सक्कएहिं नवएहिं पच्छियापिट्टएहिं पभू एगं मह अयभारं वा० जाव परिवहित्तए ?। हता पभू। पएसी ! सो चेव णं पुरिसे तरुणे० जाव सिप्पोवगए जुण्णियादुब्बलियाए घुणीए खनियाए वहंगिआए जुण्णएहिं घूणाखडएहिं सिढिलवयापिणद्धेहिं सक्कएहिं जुण्णेहिं थूणाखइएहिं पच्छियापिट्टएहिं पभू एग मह अयभार वा० जाव परिवहित्तए ?। नो इणट्ठे समट्ठे कम्हा भंते ! तस्स ण पुरिसस्स जुण्णाइं उवगरणाइ भवंति, एवामेव से पुरिसे जुण्णे० जाव किलते जुण्णोवगरणे णो पभू एग मह अयभार वा० जाव परिवहित्तए, सद्दहाहि ण तुम्हे पएसी ! जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं ६ ॥ तए ण से पदेसी राया केसीकुमार समणं एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! ० जाव नो वा गच्छइ एवं खलु भंते ! ० जाव विहरामि। तते णं मम नगरगुत्तिया चोरं उवणेति। तते णं अहं त पुरिसं जीवतगं चेव तुलेइ, तुलेइत्ता छविच्छेयं अकुव्वमाणो जीविताओ ववरोएमि, जीविताओ ववरोविया मयं तुलेमि, तुलेइत्ता नो चेव णं तस्स पुरिसस्स जीवितस्स वा तुलियस्स मयस्स वा तुलियस्स नत्थि केइ अण्णत्ते वा नाणत्ते वा उम्मत्ते वा गरुयत्ते वा लहुयत्ते वा। जति ण भंते ! तस्स पुरिसस्स जीवितस्स वा तुलि

यस्स,मयस्स वा तुलियस्स होज्जा केइ अणत्ते वा० जाव लहुयत्ते वा,तो णं अहं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा,तं चेव जम्हा णं भंते ! तस्स पुरिसस्स जीवियस्स वा तुलियस्स मयस्स वा तुलियस्स नत्थि केइ अणत्ते वा लहुयत्ते वा,तम्हा सुपतिट्ठिया मे पतिण्णा जहा तज्जीवो तं चेव सरीरं तए णं केसी कुमारसमणे पएसीरायं एवं वयासी-अत्थि णं पदेसी ! तुम्हे कयाइ वत्थी धनपुव्वे वा?। हंता । अत्थि णं पदेसी ! तस्स वत्थिस्स पुण्णस्स वा तुलियस्स अपुन्नस्स वा तुलियस्स केइ अणत्ते वा० जाव लहुयत्ते वा?। नो तिणं । एवामेव पएसी ! जीवस्स वि गुरुयलहुयत्त पडुच्चियव्वं जीवतस्स वा तुलियस्स मयस्स वा तुलियस्स०जाव नत्थि केइ अणत्ते वा०जाव लहुयत्ते वा,त सद्दहाहि णं पदेसी ! तं चेव० ७ । तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! एस जीव णो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! अन्नया०जाव चोरं उवणेति,तए णं अहं तं पुरिसं सव्वओ समंता समभिलोएमि,नो चेव णं च जीवं पासामि,तते णं अहं तं पुरिसं दुहा फालियं करेमि,सव्वतो समंता समभिलोएमि, नो चेव णं जीवं पासामि, एवं तिहा चउहा संखिज्जहा फालियं करेमि०जाव नो चेव णं त जीवं पासामि,जति णं भंते ! अहं तंमि पुरिसंमि दुहा वा तिहा वा चउहा वा संखेज्जहा वा फालियंसि वा जीवं पासामि, तो णं अहं सद्दहिज्जा तं चेव० जम्हा णं भंते ! अहं तंसि पुरिसंसि दुहा वा तिहा वा चउहा वा संखेज्जहा वा फालियंसि वा जीवं नो पासामि तम्हा सुपइट्ठिया मे पइन्ना जहा तज्जीवो त सरीरं तं चेव । तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी-मूढतराए णं तुमं पदेसी ! ताओ तुच्छतराओ के णं भंते ! तुच्छतराओ पदेसी ! ?। से जहानामए केइ पुरिसा वणत्थी वणोपजीवा वणगवेसणतया ण जोइं च जोइभायणं च गहाय कट्ठाणं अडविं अणुप्पविट्ठा,तए णं ते पुरिसा तीसे अकामियाए जाव किंचि देसं अणुपत्ता समाणा एगं पुरिसं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिया ! कट्ठाणं अडविं अणुपविसामो, एत्तो णं तुमं जोइभायणाओ जोइं गहाय अम्हं असणं साहेज्जासि अह तं जोइभायणे जोए विज्झाएइ एत्तो णं तुमं कट्ठाओ जोतिं गहाय अम्हं असणं साहेज्जासि त्ति कट्टु कट्ठाणं अडविं अणुपविट्ठा । तते णं से पुरिसे तओ मुहुत्तंतरस्स तेसिं पुरिसाणं असणं साहेमि त्ति कट्टु जेणेव जोइभायणे तेणेव उवागच्छइ, जोइभायणे जोइं विज्झायमेव पासति । तए णं से पुरिसे जेणेव से कट्ठे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता तं कट्ठं सव्वतो समंता समभिलोएइ नो चेव णं जोइं पासति,तते णं से पुरिसे परियरं बंधइ, परियरं बंधइत्ता परसुं गेण्हइ,गेण्हइत्ता तं कट्ठं दुहा फालियं करेइ, करेइत्ता सव्वओ समंता समभिलोएइ नो चेव णं जोइं पासति, एवं० जाव संखेज्जफालियं करेइ,करेइत्ता सव्वओ समंता समभिलोएइ,नो चेव णं जोइं पासति,तते णं से पुरिसे तंसि कट्ठंसि दुहा फालियंसि वा०जाव संखेज्जफालियंसि वा जोतिं अपासमाणे संते तंते परितंते निव्विण्णे समाणे परसुं एगते एडेति, एडेइत्ता परियरं मुयति, मुयइत्ता एवं वयासी-अहो मए तेसिं पुरिसाणं असणे णो साहिए ति कट्टु ओहयमणसंकप्पे चितासोगसागरं संपविट्ठे करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमीगयदिट्ठीए झियायइ । तते णं ते पुरिसा कट्ठाइं छिंदंति, छिंदइत्ता जेणेव से पुरिसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं पुरिसं ओहयमणसंकप्पं०जाव झियायमाणं पासंति,पासित्ता एवं वयासी-किं णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! ओहयमणसंकप्पे०जाव झियायति ?। तए णं से पुरिसे एवं वयासी-तुब्भे देवाणुप्पिया ! कट्ठाणं अडविं अणुपविसमाणे मम एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिया ! कट्ठाणं अडविं० जाव अणुपविट्ठा, तते णं अहं तओ मुहुत्तंतरस्स तुब्भं असणं साहेमि त्ति कट्टु जेणेव जोइभायणे० जाव झियामि, तते णं तेसिं पुरिसाणं एगे पुरिसे छेए दक्खे पट्ठे०जाव उवएसलद्धे ते पुरिसे एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एहाया कयबलिकम्मा०जाव हव्वमागच्छह, जा णं अहं तुब्भं असणं साहेमि त्ति कट्टु परियरं बंधति, बंधइत्ता परसुं गिण्हइ, सरं गिण्हइ, अरणिं करेइ सरएणं अरणिं महेइ,महेइत्ता जोइं पाडेइ,जोइं संधुक्खेइ संधुक्खेइत्ता तेसिं पुरिसाणं असणं साहेति, तते णं ते पुरिसा एहाया कयबलिकम्मा०जाव पायच्छित्ता जेणेव से पुरिसे तेणेव उवागच्छइ,तते णं से पुरिसे तेसिं पुरिसाणं सुहासणवरगयाणं तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवणेइ तते णं ते पुरिसा तं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा वीसाएमाणा०जाव विहरंति जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया त पुरिसं एवं वयासी-अहो णं तुमं देवाणुप्पिया ! जड्डे मूढे अपडिते निव्विन्नाणे अणुवदेसलद्धे,जेणं तुमं इच्छइ दुहा फालियंसि वा जोइं पासित्तए । से तेणट्ठेणं पएसी ! एवं वुच्चइ-मूढतराए णं तुमं पएसी ! ताओ तुच्छतराओ। तए णं पदेसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी-जुत्त णं तुब्भं भंते ! इअच्छेयाणं दक्खाणं पतिट्ठाणं कुसलाणं महामईणं विणीयाणं विण्णाणपत्ताणं उवदेसलद्धाणं अहं इमीसाए महालियाए महच्चाए परिसाए मज्झे उच्चावएहिं आओसेहिं आओसित्तए, उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसित्तए, एवं निब्भत्थणाहिं निच्छोडणाहिं । तए णं केसी कुमारसमणे पदेसीरायं एवं

वयासी–जाणासि णं तुम्हं पएसी! केइ परिसाओ पन्नत्ताओ ?। भंते! जाणामि चत्तारि परिसाओ पन्नत्ताओ। तं जहा-खत्तियपरिसा,गाहावतिपरिसा,माहणपरिसा, इसिपरिसा। जाणासि णं तुम्हं पएसी! रायासि चउण्ह परिसाणं कस्स का दंडनीती पन्नत्ता ?। हंता! जाणामि,जे णं खत्तियपरिसाए अवरज्झइ से णं हत्थच्छिण्णए वा पायच्छिण्णए वा सीसच्छिण्णए वा सूलातिगए वा सूलभिन्नाए वा एगाहच्चे कूडाहच्चे जीवितायो ववरोविज्जाते। जे णं गाहावइपरिसाए अवरज्झति से णं तणेण वा वेढेण वा पल्लालेण वा वेढित्ता अगणिकाएणं झामिज्जइ। जे णं माहणपरिसाए अवरज्झइ से णं अणिट्ठाहिं अकंताहिं० जाव अमणामाहिं वग्गूहिं उवालंभित्ता कुंडिआलंछणए वा सुणगलंछणए वा कीरइ, निव्विसए वा आणविज्जइ। जे णं इसिपरिसाए अवरज्झइ से णं णाइअणिट्ठाहिं० जाव णाइअमणामाहिं वग्गूहिं उवालब्भति। एवं च ताव पदेसी! तुमं जाणासि तहा वि णं तुमं वामेणं दंडेणं पडिकूलेणं पडिलोमेण विवच्चास विवच्चासेणं वट्टसि ?। तते णं पएसी केसीकुमारसमणं एवं वयासी–एवं खलु अहं देवाणुप्पिएहिं पढमिल्लएणं चेव वागरणेणं * से उवलद्धे,तेणं मम इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था–जहा जहा णं एयस्स पुरिसस्स वामं वामेणं० जाव विवच्चासेणं वट्टिस्सामि तहा तहा णं अहं णाणं च णाणोवलंभं च चरणं चरणोवलंभं च दंसणं च दंसणोवलंभं च जीवं च जीवोवलंभं च उवलभिस्सामि,तं एएणं अहं कारणेणं वामं वामेणं० जाव विवच्चासं विवच्चासेणं वट्टे। तते णं केसी कुमारसमणे पदेसिरायं एवं वयासी–जाणासि णं तुमं पएसी! कति ववहारगा पन्नत्ता ?। हंता! जाणामि चत्तारि ववहारया पन्नत्ता। देति णामेगे णो सन्नवेति १, सन्नवेति नामेगे नो देति २, एगे देति वि सन्नवेति वि ३, एगे नो देति नो सन्नवेइ ४। जाणासि णं तुमं पएसी! चउण्हं पुरिसाणं के ववहारी, के अववहारी ?। हंता! जाणामि,तत्थ णं जे से पुरिसे देति णो सन्नवेइ,से णं पुरिसे ववहारी। तत्थ णं जे से पुरिसे नो देइ सन्नवेइ, से णं ववहारी २, तत्थ णं जे से पुरिसे देति वि सन्नवेइ वि से णं ववहारी ३, तत्थ णं जे से पुरिसे नो देति नो सन्नवेइ, से णं अववहारी ४। एवामेव पएसी! तुमं पि अववहारी ०। तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी–तुब्भेणं भंते! अइच्छेया दक्खा० जाव उवएसलद्धा,समत्था णं भंते! मम करयलंसि वा आमलयं जीवं सरीराओ अभिनिव्वट्टित्ता णं दंसित्तए ?। तेणं कालेणं तेणं समएणं पएसिस्स रण्णो अदूरसामंते वाउआयसंजुत्ते तणवणस्सइकायए एवं चलइ, फंदइ, घट्टइ, उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ। तए णं केसी कुमारसमणे पएसीरायं एवं वयासी–पाससि णं तुमं पदेसी! एतं तणवणस्सतिकायं एयंतं० जाव तं भावं परिणमंतं ?। हंता! पासामि। जाणासि णं तुमं पएसी! एयं तणवणस्सतिकायं किं देवो चालेइ,असुरो वा चेएइ,णागो वा किन्नरो वा चालेइ, किं पुरिसो वा महोरगो वा गंधव्वो वा चालेइ ?। हंता! जाणामि णो देवो चालेइ० जाव गंधव्वो नो चालेइ। वाउकाइओ चालेइ। पाससि णं तुम्हं पएसी! एयस्स वाउकाइयस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स समोहस्स सवेयस्स सलेसस्स ससरीरस्स रूवं ?। नो इणट्ठे। जइ णं तुम्हे पदेसी! एयस्स वाउकायस्स रूवं न पाससि, तं कहं णं पदेसी! तव करयलंसि वा आमलगं जीवं उवदंसेस्सामि, एवं खलु पएसी! दस ठाणाइं छउमत्थे णं मणुस्से सव्वभावेणं न जाणइ, न पासइ। तं जहा–धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, जीवं असरीरबद्धं,परमाणुपोग्गलं, सद्दं, गंधं, वायं, अयं जिणे भविस्सइ, अयं सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्सइ वा,नो वा। एयाणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ,पासइ। तं जहा–धम्मत्थिकायं० जाव नो वा करिस्सइ, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी! जहा अन्नो जीवो तं चेव ६। तए णं से पदेसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी–से नूणं भंते! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?। हंता! पएसी! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे। से नूणं भंते! हत्थीओ कुंथू अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव अप्पासवतरा चेव एवं आहारनीहारउस्सासनीसासइड्ढी अप्पा जुती य अप्पतरा चेव; कुंथूओ हत्थी महाकम्मतरा चेव महाकिरिया० जाव महज्जुई अंतरा चेव ?। हंता पदेसी! हत्थीओ कुंथू अप्पकम्मतरा चेव,कुंथूओ वा हत्थी महाकम्मतरा चेव तं चेव। कम्हा णं भंते! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?। पदेसी! से जहानामए कूडागारसाला सिया० जाव गंभीरा,अह णं केइ पुरिसे जोइयं दीवचंपगं गहाय तं कूडागारसालं अंतो अंतो अणुपविसइ, तीसे कूडागारसालाए सव्वओ समंता घणनिचयनिरंतरं निच्छिड्डाइं दुवारवयणाइं पिहेइ, पिहेत्ता तीसे कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए तं पदीवं पलीवेज्जा, तए णं से पदीवा तं कूडागारसालं अंतो अंतो ओभासति, उज्जोवेइ,तवति,पभासेइ,नो चेव णं बाहिं। अह णं से पुरिसे तं पईवं इड्डरएणं पिहेज्जा, तते णं से पईवे तं इड्डरयं अंतो ओभासति,नो चेव णं इड्डरगस्स बाहिं,नो चेव णं कूडागारसालं, नो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं,एवं किल

* 'जहा खलु भो जहपज्जुवासति' इत्यादिना पूर्वोक्तम्।

जए णं गोकलिएणं गंमाणियाए पिढएणं आढएणं अद्धाढएणं पत्थएणं चउन्नाइयाए सोलसियाए ब-त्तीसियाए चउसाद्वियाए, तए णं से पुरिसे तं पदीवं दीवचपक पत्ते णं; तते णं से पदीवे दीवचंपगं अतो ओभासति ४ नो चेव णं दीवचंपगस्स बाहिं, नो चेव णं चउसाद्वियं, नो चेव णं कूडागारसालं नो चेव णं कूडागारसाए बाहिं, एवामेव पएसी ! जीवो जं जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धबोंदिं निव्वत्तेइ, तं असंखेज्जेहिं० जाव पदेसेहिं सचित्ता करेइ खुड्डियं वा महालयं वा, त सद्दहाहि णं तुमं पदेसी ! जहा अन्नो जीवो तं चेव १०। तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी–एवं खलु भंते ! अज्जगस्स एमा सण्णा० जाव समोसरणे जहा तज्जीवो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो। तयाणतरं च णं मम पिउणो पि एसा सण्णा० जाव तं सरीरं। तयाणंतरं च णं मम वि एमा सण्णा० जाव समोसरणं, त नो खलु अहं बहुपुरिसपरंपरागयं कुलनिस्सयं दिट्ठिं छड्डेइस्सामि। तते णं केसी कुमारसमणे पदेसिरायं एवं वयासी–माणं तुमं पएसी ! पच्छाणुताविए भवेज्जासि जहा से पुरिसे अयहारए। के णं भंते ! अयहारए ?। पएसी ! से जहानामए केइ पुरिसा अत्यत्थिया अत्थगवेसिया अत्थलुद्धगा अत्थकंखिया अत्थपिवासिया अत्थगवेसणया विउलं पणियभंडमायाय सुबहुं भत्तपाणपत्थयणं गहाय एग महं अकामियं छिन्नावीयं दीहमद्धं अडविं अणुपविट्ठा, तते णं ते पुरिसा तीसे अकामियाए अडवीए किंचि देसं अणुपत्ता समाणा एगं महतं अयआगरं पासति, अएणं सव्वओ समता आइण्णं विच्छिन्नं संछन्नं उवच्छन्नं फुडं अवगाढ पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठ० जाव हियया अण्णमण्णं सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! अयंभंडे इट्ठे कंते० जाव मणामे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं अयभारं बंधित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठ पडिसुणेति, अयभारं बंधति, अहाणुपुव्वीए संपत्थिया, तेणं से पुरिसे अकामियाए० जाव अडवीए किं वि देसमणुपत्ता समणा एगं महं तउआगरं पासति, तउएण आइण्णं तं चेव सद्दावेत्ता एवं वयासी–एस णं देवाणुप्पिया ! तउए भंडे० जाव मणामे अप्पेणं चेव तउएणं सुबहु अए लब्भति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं अयभारए छड्डेत्ता तउयभारे बंधित्तए ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठ पडिसुणिंति, पडिसुणेत्ता अयभारए छड्डेति, छड्डेइत्ता तउयभारए बंधेति। तत्थ णं एगे पुरिसे नो संचाएति अयभारगं छड्डेत्ता तउयं भारं बंधित्तए तते णं पुरिसा तं पुरिसं एवं वयासी–एस ण देवाणुप्पिया ! तउए भंडे० जाव सुबहु अए लब्भति, तं छड्डेहि ण देवाणुप्पिया ! अयभारगं, तउभारगं बंधाहि। तते णं से पुरिसे एवं वयासी–दूराहडे मए देवाणुप्पिया ! अए चिराहडे मए देवाणुप्पिया ! अए० गाढबंधणबद्धे मए देवाणुप्पिया ! अए, धणियं बंधणबंधे मए देवाणुप्पिया ! अए, नो ति खलु देवाणुप्पिया ! संचाएमि अयभारगं छड्डेत्ता तउयभारे बंधित्तए । तते णं ते पुरिसा तं पुरिसं जहा नो संचाएति बहूहिं आघवणाहिं पण्णवणाहिं आघवित्तए वा पण्णवित्तए वा ताहे अहाणुपुव्वीए संपत्थिया एवं २ तंबागरं रुप्पागरं सुवण्णागरं रयणागरं वयरागरं । तते णं ते पुरिसा जेणेव सया सया जणवया जेणेव साइं साइं नगराइं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छेत्ता वयरविक्कणयं करेंति, सुबहुं दासीदासगोमहिसगवेलग गिण्हइ, अट्ठतलमुस्सियपासायवडेंसगे कारवेंति, एहाया कयबलिकम्मा उप्पिं पासायवरगया फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसं बद्धएहिं नाडएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवनच्चिज्जमाणा उवगिज्जमाणा उवलालिज्जमाणा इट्ठसद्दफरिस० जाव विहरंति । तते णं से पुरिसे अयभारयं जेणेव सए नगरे तेणेव उवागच्छइ, अयभारगं गहाय अयविक्कणय करेति। तंसि य अप्पमोल्लंसि निट्ठियंसि भिण्णपरिव्वए, ते पुरिसे उप्पिं पासायवरगते० जाव विहरमाणे पासति, पासइत्ता एवं वयासी–अहो णं अहं अधण्णे अपुण्णे अकयत्थे अक्खयलक्खणे हिरिसिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णे चाउद्दसिए दुरंतपंतलक्खणे । जति णं अहं मित्ताण वा नाईण वा नियगाण वा वयणं सुणेज्जा, तो णं अह पि चेव उप्पिं पासायवरगते० जाव विहरंतो। से तेणट्ठेणं पएसी ! एव वुच्चइ–मा ण तुमं पएसी ! पच्छाणुताविए भवेज्जासि जहा च से पुरिसे अयभारए ११ । एत्थ णं से पदेसी राया संबुद्धे केसीकुमारसमणं वंदइ० जाव एवं वयासी–नो खलु भंते ! अहं पच्छाणुताविए भविस्सामि जहा व से पुरिसे अयभारए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अंते केवलिपण्णत्तं धम्मं निसामित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह धम्मकहा जहा चित्तस्स तहेव ० जाव गिहिधम्मं पडिवज्जए जेणेव सेयंविया णगरी तेणेव पहारेत्थगमणाए। तते णं केसी कुमारसमणे पदेसिं रायं एवं वयासी-जाणासि णं तुम्हं पएमी ! केइया आरिया पन्नत्ता ?। हंता ! जाणामि। तओ आयरिया पन्नत्ता। तं जहा–कलायरिए, सिप्पायरिए, धम्मायरिए। जाणासि णं तुम्हं पएसी ! तेसिं तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणयपडिवत्ती पउंजियव्वा ?। हंता ! जाणामि कलायरियस्स सिप्पायरियस्स उवलेवणं वा समज्जणं करेज्जा, पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मंडवेज्जा वा, भोयावेज्जा वा, विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलएज्जा, पुत्ताणं पुत्तियं वा वित्तिं कप्पेज्जा, जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा

तत्थेव वंदिज्जा, णमंसेज्जा, सक्कारेज्जा, संमाणेज्जा, कल्लाणं मंगलं चेय पज्जुवासेज्जा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा, पाडिहारिएणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं उवनिमंतिज्जा । एवं च ताव तुमं पएसी ! एवं जाणासि तहावि णं तुमं मम वामं वामेणं० जाव वट्टित्ता मम एयमट्ठं अखामेत्ता जेणेव सेयंविया नयरी तेणेव पहारेत्थगमणाए । तते णं से पदेसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—एवं खलु भंते ! मम इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु अहं देवाणुप्पियाणं वाम वामेणं जाव दिते, तं सेयं खलु मे कल्लं पाउप्पभाए रयणीए० जाव तेजसा जलंते अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे देवाणुप्पिया ! वंदित्ता नमंसित्ता एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो सम्मसम्म विणएणं खामित्तए त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगए । तए णं से पदेसी राया कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए० जाव तेयसा जलंते हट्ठतुट्ठ० जाव हियए जहेव कूणिए तहेव निग्गच्छति अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे पंचविहेणं अभिगमेणं वंदइ, नमंसति, एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो सम्मं विणएण खामेइ । तए णं केसी कुमारसमणे पदेसिस्स रण्णो सूरियकंतपमुहाणं देवीणं तीसे णं महइमहालियाए महच्चपरिसाए० जाव धम्मं सम्मं देति । तते णं से पदेसी राया धम्मं सोच्चा निसम्म उट्ठाए उट्ठेइ, केसिकुमारसमणं वंदइ, नमंसति, जेणेव सेयंविया नयरी तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं केसी कुमारसमणे पदेसीराय एवं वयासी—मा णं तुम पदेसी ! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि जहा से वणसंडेइ वा नट्टसालाइ वा इक्खुवाडेति वा खलवाडेति वा । कहं णं भंते ! वणसंडे पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भवति ?। पदेसी ! जहा णं वणसंडे पत्तिए पुप्फिते फलिते हरिते हरितज्जमाणे सिरीए अतीव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति तया णं वणसंडे रमणिज्जे भवति, जया णं वणसंडे नो पत्तिए नो पुप्फिए नो फलिए नो हरिते नो हरितज्जमाणे सिरीए नो अतीव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ, तया णं वणसंडे अरमणिज्जे भवति । जया णं नट्टसालाए गिज्जइ, वाइज्जइ, नच्चिज्जइ, अभिणिज्जइ, हसिज्जइ, रमिज्जइ, तया णं नट्टसाला रमणिज्जा भवति, जया णं नट्टसालाए नो गिज्जइ० जाव नो रमिज्जइ तया णं नट्टसाला नो रमणिज्जा भवति । जया णं इक्खुवाडे छिज्जइ, भिज्जइ, पीलिज्जइ, खज्जइ, पिज्जइ, तया णं इक्खुवाडे रमणिज्जे भवति, जया णं इक्खुवाडे नो छिज्जइ० जाव तया णं इक्खुवाडे अरमणिज्जे भवति । जया णं खलवाडे उच्छुब्भइ, उड्डुइज्जइ, खज्जइ, पिज्जइ, तया णं खलवाडे रमणिज्जे भवति, जया णं खलवाडे नो उच्छुब्भए० जाव अरमणिज्जे भवति, से तेणट्ठेणं पदेसी ! एवं वुच्चति—मा णं तुमं पदेसी ! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि जहा वणसंडेइ वा० जाव खलवाडेइ वा । तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी—नो खलु भंते ! अहं पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविस्सामि जहा से वणसंडेइ वा० जाव खलवाडे वा । अहं णं सेयंवियापामोक्खाइं सत्तगामसहस्साइं चत्तारि भागे करेस्सामि, एगे भागे वलवाहणस्स दलइस्सामि, कोट्ठागारे दलइस्सामि, एगे भागे अंतेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महइमहालियकूडागारसालं करिस्सामि । तत्थ णं बहूहिं पुरिसेहिं दिण्णभत्तिभत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता बहूणं समणमाहणभिक्खुयाणं पंथियपहियाण य परिभोएमाणे परिभोएमाणे बहूहिं सीलपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं० जाव विहरिस्सामि त्ति कट्टु जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगते । तते णं पदेसी राया कल्लं पाओ० जाव तेजसा जलंते सेयवियापामोक्खाइं सत्तगामसहस्साइं चत्तारि भाए करेति, एगं भागं वलवाहणस्स दलइति० जाव कूडागारसालं करेति, तत्थ णं बहूहिं पुरिसेहिं० जाव उवक्खडावेत्ता बहूणं समणमाहणाणं० जाव परिभोएमाणे विहरति । तते णं से पदेसी राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे० जाव विहरति । जप्पभिइं च णं पदेसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च पुरं च अंतेउरं च जणवयं च अणाढायमाणे विहरति । तते णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था—जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च रट्ठं च० जाव अंतेउरं च० जाव समं च जणवयं च अणाढायमाणे यावि विहरइ, तं सेयं खलु मे पदेसीरायं केणइ सत्थप्पओगेण वा अग्गिपओगेण वा मंतपओगेण वा उद्दावेत्ता सूरियकंतं कुमारं रज्जे ठवेत्ता सयमेव रज्जसिरिं करेमाणी विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता सूरियकंतं कुमारं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी—जप्पभिइं च णं पदेसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च रट्ठं च० जाव अंतेउरं च जणवयं च माणुस्सए कामभोगे य अणाढायमाणे यावि विहरति, तं सेयं खलु तव पुत्ता ! पदेसिं रायं केणइ सत्थप्पओगेण वा० जाव उद्दावेत्ता सयमेव रज्जसिरिं करेमाणस्स पालेमाणस्स विहरित्तए । तते णं सूरियकंते कुमारे सूरियकंताए देवीए एवं वुत्ते समाणे सूरियकंताए देवीए एयमट्ठं ना

आदाउ, नो परियाणइ त्ति तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं से सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था से णं सूरियकंते कुमारे पदेसिस्स रणो इमं रहस्सभेयं करिस्सतीति कट्टु पएसिस्स रणो छिद्दाणि मम्माणि रहस्साणि विवराणि अंतराणि य पडिजागरेमाणी पडिजागरेमाणी विहरति । तते णं सूरियकंता देवी अण्णया कयाइ पदेसिस्स रणो अंतरं जाणइ, असण० जाव साइमं सव्ववत्थगंधमल्लालंकारेसु विसप्पओगं पउंजइ, पदेसिस्स रणो ण्हायस्स० जाव पायच्छित्तस्स सुहासणवरगयस्स तं विससंजुत्तं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थं० जाव अलंकारं णिस्सरति । तते णं तस्स पदेसिस्स रणो तं विससंजुत्तं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारयस्स समाणस्स सरीरगंमि वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला पगाढा कक्कसा कडुय चंडा तिव्वा दुक्खा दुग्गा दुरहियासा पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंते यावि विहरति । तए णं से पएसी राया सूरियकंताए देवीए मणसा वि अप्पदुस्समाणे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता पोसहसालं पमज्जइ, पोसहसालं पमज्जइत्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेति, दब्भसंथारगं संथरेइ, दब्भसंथारगं दुरूहति, पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–नमोऽत्थु णं अरिहंताणं० जाव संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं केसिकुमारस्स समणस्स धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स, वंदामि णं भगवंत तत्थ गयं इह गए, पासउ मे भगवं तत्थ गए इह गयं ति कट्टु वंदति, णमंसति, णमंसतित्ता पुव्विं पि णं मए केसिकुमारसमणस्स अंतिए थूलए पाणातिवाए पच्चक्खाए० जाव परिग्गहे, इयाणिं पि णं तस्सेव भगवतो अंतिए सव्वपाणातिवायं पच्चक्खामि० जाव परिग्गहं सव्वं कोहं० जाव मिच्छादंसणसल्लं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, सव्वं असणं चउव्विहं पि आहारं जावज्जीवाए पच्चक्खामि, जं पि य मे सरीरं इट्ठं० जाव फुसंति, एयं पि य णं चरमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सूरियाभे विमाणे उववायसभाए० जाव उववण्णे । तते णं सूरियाभे देवे अहुणोववण्णए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छति । तं जहा–आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदियपज्जत्तीए, आणपाणपज्जत्तीए, भासामणपज्जत्तीए; त एवं खलु गोयमा ! सूरियाभेणं देवेणं सा दिव्वा देवड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए ।

( रायपसेणीटीका पदमात्रार्थबोधिनीत्युपेक्षिता ) रा० । आ० म० । स्था० । आ० चू० । ( सूर्याभदेवस्य स्थितिः 'ठिइ' शब्दे चतुर्थभागे १७२६ पृष्ठे प्रोक्ता ) ( सूर्याभो देवः सूर्याभविमानात् च्युतः सन् क्वोत्पत्स्यतीति 'सूरियाभ' शब्दे वक्ष्यते )



पएसिणी–प्रदेशिनी–स्त्री० । अङ्गुष्ठपार्श्वाङ्गुल्याम्, " पएसिणीए अगुट्ठपोरछिनाए जं घेप्पति । " नि० चू० २ उ० ।

पएसिय–प्रदेशित–त्रि० । प्रणीते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

पएसिराय–प्रदेशिराज–पु० । श्वेताम्बिकानगरीपतौ सूर्याभपूर्वभवजीवे, स्था० ८ ठा० । ( तद्वृत्तं सर्वं 'पएसि ( ण् )' शब्देऽनुपदमेव गतम् )

पएसोगाढ–प्रदेशावगाढ–पु० । एकत्र प्रदेशे क्षेत्रस्यांशविशेषे अवगाढा आश्रिता एकप्रदेशावगाढा, ते च परमाणुरूपा, स्कन्धरूपाश्च । स्था० १ ठा० ।

पएसोदय–प्रदेशोदय–पु० । कर्मणां प्रदेशेन उदयकरणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । ('उदय' शब्दे द्वितीयभागे ७७७ पृष्ठे भेद उक्तः )

पएसोदीरणा–प्रदेशोदीरणा–स्त्री० । प्रदेशविषये उदीरणाकरणे, पं० सं० ४ द्वार । ( 'उदीरणा' शब्दे द्वितीयभागे ६५७ पृष्ठेऽस्या व्याख्या गता )

पओग–प्रयोग–पु० । प्रयोजनं प्रयोगः । जीवव्यापारे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । स० । आ० चू० । पुरुषव्यापारे, भ० ६ श० ३ उ० । चेतनावतो व्यापारे, विशे० । आ० म० ।

तद्भेदाः –

कतिविहे णं भंते ! पओगे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पण्णरसविहे पण्णत्ते । तं जहा–सच्चमणप्पओगे, असच्चमणप्पओगे, सच्चामोसमणप्पओगे, असच्चामोसमणप्पओगे वि । एवं वइप्पओगे वि चउहा । ओरालियसरीरकायप्पओगे, ओरालियमीससरीरकायप्पओगे, वेउव्वियसरीरकायप्पओगे, वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे, आहारगसरीरकायप्पओगे, आहारगमीससरीरकायप्पओगे, कम्मासरीरकायप्पओगे ।

कतिविधः कतिप्रकारो, णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! प्रयोगः प्रज्ञप्तः ? । प्रयोग इति प्रपूर्वस्य युजिर् योगे इत्यस्य घञन्तस्य प्रयोगः । परिस्पन्दः, क्रिया, आत्मव्यापार इत्यर्थः । अथवा प्रकर्षेण युज्यते व्याप्रियते क्रियासु सम्बध्यते वा सांपरायिकेर्यापथकर्मणा सहाऽऽत्मा अनेनेति प्रयोगः । " पुन्नाम्नि घः " ॥ ५ । ३ । १३० ॥ इति करणे घप्रत्ययः । भगवानाह–पञ्चदशविधः प्रज्ञप्तः । तदेव पञ्चदशविधत्वं दर्शयति–( सच्चमणप्पओगे इत्यादि ) सन्तो मुनयः, पदार्था वा, तेषु यथासङ्ख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन यथाऽवस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन च साधु सत्यमस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्याप्येत्यादिरूपतया यथाऽवस्थितवस्तुचिन्तनपरं, सत्यं च तत् मनश्च सत्यमनः, तस्य प्रयोगो व्यापारः सत्यमनःप्रयोगः । ( असच्चमणप्पओगे इति ) सत्यविपरीतमसत्यम्–नाऽस्ति जीव एकान्तसद्रूपश्चेत्यादिकुविकल्पनपरं, तच्च तन्मनश्च, तस्य प्रयोगोऽसत्यमनःप्रयोगः । ( सच्चमोसमणप्पओगे इति ) सत्यमृषा सत्यासत्ये, यथा धवखदिरपलाशाऽऽदिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति विकल्पनपरं, तत्र हि कतिपयाऽशोकवृक्षाणां सद्भावात् । तच्च तन्मनश्चेत्यादि प्राग्वत् । तथा–( अ-

सच्चामोसमणप्पओग इति ) यन्न सत्यं नापि मृषा तदसत्यामृषा । इह विप्रतिपत्तौ सत्या वस्तुप्रतिष्ठाऽऽशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते । यथा-अस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि, तत्किल सत्यपरिभाषिकमाराधकत्वात् । यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्या यद्वस्तु प्रतिष्ठाऽऽशयाऽपि सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्पते, यथा नास्ति जीवः, एकान्तनित्यो वा इत्यादि । तदसत्यम्, विराधकत्वात्, यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाऽऽशामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं, यथा देवदत्तात् घट आनेतव्यो, गौर्याचनीया इत्यादि चिन्तनपरं, तत् असत्यमृषा । इह हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वात् न यथोक्तलक्षणं सत्यं, नापि मृषा एतदपि व्यवहारनयमतापेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यथा विप्रतारणबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति, अन्यत्र तु सत्ये,तच्च तन्मनश्च,तस्य प्रयोगोऽसत्यमृषामनःप्रयोगः । ( एवं वइप्पओगो वि चउहा इति ) यथा मनःप्रयोगश्चतुर्द्धा,तथा वाक्प्रयोगोऽपि चतुर्द्धा तद्यथा सत्यवाक्प्रयोगो, मृषावाक्प्रयोगः , सत्यमृषावाक्प्रयोगः , असत्यामृषावाक्प्रयोगः । एताश्च सत्यवागादयः सत्यमनःप्रभृतिवद् भावनीयाः पूर्ववद् भाविता इति । ( ओरालियसरीरकायप्पओगे इति ) औदारिकाऽऽदिशब्दार्थमग्रे वक्ष्याम. । औदारिकमेव शरीरम् औदारिकशरीरम्, तदेव पुद्गलस्कन्धसमुदायरूपत्वात्, उपचीयमानत्वात् च कायः औदारिकशरीरकायः, तस्य प्रयोगः औदारिकशरीरकायप्रयोगः । अयं च तिरश्चो मनुष्यस्य च पर्याप्तस्य औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोग इति । औदारिकं च तन्मिश्रं च औदारिकमिश्रं, केन सह मिश्रितमिति चेत् ?, उच्यते-कार्मणेन । तथा चोक्तं निर्युक्तिकारेण शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययने-"जोएण कम्मएणं, हारेइ अणंतरं जीवो । तेण परं मिस्सेण य, जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥" न तु मिश्रत्वमुभयनिष्ठम् । तथाहि-यथा औदारिकं कार्मणेन मिश्रं, तथा कार्मणमप्यौदारिकेण मिश्रं, ततः कस्मादौदारिकमिश्रमेव । यदुच्यते-न कार्मणमिश्रमिति ? । उच्यते-इह व्यपदेशः सम्प्रवर्तनीयो येन विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्निष्प्रतिपक्षा श्रोतॄणामुपजायते, अन्यथा सन्देहाऽऽपत्तितो विवक्षितार्थाप्रतिपत्त्या न तथा तेषूपकारः कृतः स्यात्, कार्मणं च शरीरमासंसारमविच्छेदेनावस्थितत्वात् सकलेष्वपि शरीरेषु सम्भवति, ततः कार्मणमिश्रमित्युक्ते, न ज्ञायते किं तिर्यग्मनुष्याणामपर्याप्तावस्थायां तद्विवक्षितमुत देवनारकाणामिति ?। ततः उत्पत्तिमाश्रित्यौदारिकस्य प्रधानत्वात्,कादाचित्कत्वाच्च निष्प्रतिपक्षविवक्षितार्थप्रतिपत्त्यर्थमौदारिकेण व्यपदिश्यते औदारिकमिश्रमिति । तथा यदौदारिकशरीरो वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदा किलौदारिकशरीरयोग एव वर्तमानप्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय वैक्रियशरीरपर्याप्त्या यावन्न पर्याप्तिमुपगच्छति तावत् यद्यपि वैक्रियेण मिश्रतौदारिकस्योभयनिष्ठा तथाऽप्यौदारिकस्य प्रारम्भकतया प्रधानत्वात् तेन व्यपदेश औदारिकमिश्रमिति न वैक्रियेणेति । तथा आहारकमपि शरीरं यदा कश्चिदाहारकलब्धिमान् पूर्वधरः करोति तदा यद्यप्याहारकेण मिश्रत्वमौदारिकस्योभयनिष्ठं, तथाप्यौदारिकमारम्भकतया प्राधान्यमिति, तेन व्यपदेशप्रवृत्तिरौदारिकमिश्रमिति, न त्वाहारकेणेति । औदारिकमिश्रं च तत् शरीरं चेत्यादि पूर्ववत् । वैक्रियशरीरकायप्रयोगो वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगो देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां, मिश्रता च तदानीं कार्मणेन सह वेदितव्या । अत्राऽपि परिहारः प्राग्वत् । तथा यदा मनुष्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो, वायुकायिको वा वैक्रियशरीरी भूत्वा कृतकार्यो वैक्रियं परित्यज्यौदारिके प्रवेष्टुं यतते, तदा किल वैक्रियशरीरबलेन औदारिकोपादानाय प्रवर्तते इति वैक्रियस्य प्राधान्यात्तेन व्यपदेशो नौदारिकेणेति वैक्रियमिश्रमिति । तथा आहारकशरीरकायप्रयोगः आहारकशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगः आहारकौदारिकं प्रविशतः । एतदुक्तं भवति-यदा आहारकशरीरी भूत्वा कृतकार्यं पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदा यद्यपि मिश्रत्वमुभयनिष्ठं तथाऽप्यौदारिके प्रवेश आहारकबलेनाहारकस्य प्रधानत्वात्तेन व्यपदेशो नौदारिकेणाऽऽहारकमिश्रमिति। एतच्च सिद्धान्ताभिप्रायेणोक्तं, कर्मग्रन्थिकाः पुनर्वैक्रियस्य प्रारम्भकाले,परित्यागकाले च वैक्रियमिश्रमाहारकशरीरस्य प्रारम्भकाले, परित्यागकाले च औदारिकमिश्रं न त्वेकस्यामप्यवस्थायामौदारिकमिश्रमिति प्रतिपन्नाः । तैजसकार्मणशरीरप्रयोगो विग्रहगतौ समुद्घातावस्थायां वा सयोगिकेवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु इह तैजसकार्मणेन सहाव्यभिचारीति युगपत्तैजसकार्मणग्रहणम् ।

अमूनेव पञ्चदश प्रयोगान् जीवाऽऽदिषु स्थानेषु चिन्तयन्नाह-

जीवाणं भंते ! कतिविहे पओगे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पन्नरसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-सच्चमणप्पओगे० जाव कम्मसरीरकायप्पओगे ।

" जीवाणं भंते ! कतिविहे पओगे पण्णत्ते " इत्यादि । तत्र जीवपदे पञ्चदशापि प्रयोगाः, नानाजीवापेक्षया सदैव पञ्चदशानामपि योगानां लभ्यमानत्वात् ।

नेरइयाणं भंते ! कइविहे पओगे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एक्कारसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-सच्चमणप्पओगे० जाव असच्चमणप्पओगे । वइप्पओगे चउहा । वेउव्वियसरीरकायप्पओगे,वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे,कम्मासरीरकायप्पओगे । एवं असुरकुमाराण वि० जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! तिविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-ओरालियसरीरकायप्पओगे, ओरालियमीससरीरकायप्पओगे,कम्मासरीरकायप्पओगे । एवं० जाव वणस्सइकाइयाणं, नवरं वाउकाइयाणं पंचविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-ओरालियकायप्पओगे, ओरालियमीससरीरकायप्पओगे, वेउव्विए दुविहे, कम्मासरीरकायप्पओगे । बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! चउव्विहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-असच्चामोसवइप्पओगे,ओरालियसरीरकायप्पओगे, ओरालियमीसकायप्पओगे,कम्मासरीरकायप्पओगे । एवं० जाव चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! तेरसविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-सच्चमणप्पओगे० जाव असच्चामोसमणप्पओगे । एवं वइप्पओगे वि । ओरालियसरीरकायप्पओगे, ओरालियमीससरीरकायप्पओगे, वेउव्वियसरीरकायप्पओगे, वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगे,कम्मासरी-

रकायप्पओगे । मणुस्साणं पुच्छा ?। गोयमा ! पन्नरसविहे पओगे पणत्ते । तं जहा-सच्चमणप्पओगे० जाव कम्मासरीरकायप्पओगे । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं ।

नैरयिकपदे एकादश औदारिकौदारिकमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रयोगाणां तेषामसम्भवात्। एवं सर्वेष्वपि भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु भावनीयम्। पृथिव्यादिषु वायुकायवर्जेष्वेकेन्द्रियेषु प्रत्येकं प्रत्येकं त्रयस्त्रयः प्रयोगा औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणलक्षणा वायुकायिकेषु पञ्च वैक्रियवैक्रियमिश्रयोरपि तेषां सम्भवात्। द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं चत्वार औदारिककार्मौदारिकमिश्रकार्मणमसत्यामृषाभाषा च शेषास्तु सत्याऽऽद्यो भाषास्तेषां न सम्भवन्ति,"विकलेसु असच्चामोस" इति वचनात्। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां त्रयोदश आहारकाहारकमिश्रयोस्तेषामसम्भवश्चतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भवात्। मनुष्येषु पञ्चदशापि मनुष्याणां सर्वभावसम्भवात्।

अधुना जीवाऽऽदिषु पदेषु नियतप्रयोगभावचिन्तयिषुरिदमाह-

जीवा णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगी० जाव किं कम्मासरीरकायप्पओगी ?। गोयमा ! जीवा सव्वेऽपि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगी वि० जाव वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि, कम्मासरीरकायप्पओगी वि १। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य २, अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ३, अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य ४ चउभंगो। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य १। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य २, अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ३. अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य ४ । एए जीवाणं अट्ठ भंगा । नेरइया णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगी०जाव किं कम्मासरीरकायप्पओगी ?। गोयमा ! नेरइया सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगी वि०जाव वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि १, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगी य २,अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य। एवं असुरकुमारा वि० जाव थणियकुमारा । पुढविकाइया णं भंते ! किं ओरालियसरीरकायप्पओगी,ओरालियमीससरीरकायप्पओगी,कम्मासरीरकायप्पओगी ? गोयमा ! पुढविकाइया णं ओरालियसरीरकायप्पओगी वि, ओरालियमीससरीरकायप्पओगी वि, कम्मासरीरकायप्पओगी वि । एवं० जाव वणस्सइकाइयाणं, नवरं वाउकाइया वेउव्वियसरीरकायप्पओगी वि,वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि । बेइंदिया णं भंते ! किं ओरालियसरीरकायप्पओगी० जाव कम्मासरीरकायप्पओगी ? । गोयमा ! बेइंदिया सव्वे वि ताव होज्जा असच्चामोसवइप्पओगी वि,ओरालियसरीरकायप्पओगी वि,ओरालियमीससरीरकायप्पओगी वि । अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगी वि ?, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य । एवं० जाव चउरिंदिया पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया, नवरं ओरालियसरीरकायप्पओगी वि.ओरालियमीससरीरकायप्पओगी वि, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगी य, अहवेगे य कम्मासरीरकायप्पओगिणो य। मणुस्सा णं भंते ! किं सच्चमणप्पओगी० जाव किं कम्मासरीरकायप्पओगी ?। गोयमा ! मणुस्सा सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगी वि० जाव ओरालियसरीरकायप्पओगी वि, वेउव्वियसरीरकायप्पओगी वि, वेउव्वियमीससरीरकायप्पओगी वि । अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, अहवेगे य कम्मगसरीरकायप्पओगी य, अहवेगे य कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ५। एते अट्ठ भंगा पत्तेयं। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य,अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, अहवेगे य ओरालियसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य । एते चत्तारि भंगा। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य । अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,कम्मासरीरकायप्पओगिणो य। एते चत्तारि भंगा। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य,आहारगमीससरीरकायप्पओगी य। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्प-

ओगिणो य । एए चत्तारि भंगा । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य । कम्मासरीरकायप्पओगिणो य । चउरो भंगा। अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य । अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगी य,कम्मासरीरकायप्पओगिणो य। अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मगसरीरकायप्पओगी य। अहवेगे य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य। चउरो भंगा। एवं चउवीसं भंगा २४। अहवेगे य ओरालियमीसगसरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य १। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य,आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य २। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ३। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य ४। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ५। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य ६। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य ७। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य ८। एए अट्ठ भंगा । अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, कम्मगसरीरकायप्पओगी य १। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य,आहारगसरीरकायप्पओगी य,कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य २। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ३। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ४। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,आहारगसरीरकायप्पओगी य, कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य ५। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य,आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ६। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ७। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य,कम्मगसरीरकायप्पओगी य १। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य २। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य. कम्मगसरीरकायप्पओगी य ३। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मगसरीरकायप्पओगी य ५। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ६। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ७। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य,कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य,आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य १। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य,आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मगसरीरकायप्पओगिणो य २। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ३। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य,कम्मासरीरकायप्पओगी य ५। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ६। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य,आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ७। अहवेगे य आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो

य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८। एवं एते वि तियसंजोएणं चत्तारि अट्ठ भंगा। सव्वे वि मिलिया बत्तीसं भंगा जाणियव्वा ३२। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य १। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य २। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ३। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ४। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ५। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ६। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ७। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगी य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य ८। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ९। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १०। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगी य ११। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगी य आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १२। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगी य १३। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगी य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १४। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मगसरीरकायप्पओगी य १५। अहवेगे य ओरालियमीससरीरकायप्पओगिणो य, आहारगसरीरकायप्पओगिणो य, आहारगमीससरीरकायप्पओगिणो य, कम्मासरीरकायप्पओगिणो य १६। एवं एते चउसंजोएणं सोलस भंगा भवंति। सव्वेसि णं संपिंडिया असीइं भंगा भवंति।

"जीवा णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनसूत्रे सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सत्यमनःप्रयोगिण इत्यादिरेको भङ्गः। किमुक्तं भवति ?–सदैव जीवा बहव एव सत्यमनःप्रयोगिणोऽप्यसत्यमनःप्रयोगिणोऽपि यावद्वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगिणोऽपि लभ्यन्ते; तत्र सदैव वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगिणो नारकाऽऽदीनां सदैवोपपातोत्तरवैक्रियाऽऽरम्भसम्भवात्। सदैव कार्मणशरीरकायप्रयोगिणः सर्वदैव वनस्पत्यादीनां विग्रहेणापान्तरगतौ लभ्यमानत्वात्। आहारकशरीरी च कदाचित्सर्वथा न लभ्यते, षण्मासान् यावदुत्कर्षतोऽन्तरभावात्, यदाऽपि लभ्यते तदाऽपि जघन्यपदे एको द्वौ वा, उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वम्। उक्तं च–

"आहारगाइँ लोए, छम्मासे जा न होंति वि कयाई।
उक्कोसेण नियमा, एक्कं समयं जहन्नेणं ॥ १ ॥
होंताइँ जहन्नेणं, एक्कं दो तिन्नि पंच व हवंति।
उक्कोसेण उ जुगवं, पुहुत्तमेत्तं सहस्साणं" ॥ २ ॥

ततो यदा आहारकशरीरकायप्रयोगी, आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगी चैकोऽपि न लभ्यते, तदा वचनविशिष्टत्रयोदशपदाऽऽत्मक एको भङ्गः, त्रयोदशपदानामपि सदैव बहुत्वेनावस्थितत्वात्। यदा त्वेक आहारकशरीरकायप्रयोगी लभ्यते तदा द्वितीयः। तेऽपि यदा बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः। एवमेव आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोगिपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते, इत्येकयोगे चत्वारो भङ्गाः। द्विकसंयोगेऽपि प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वार इति सर्वसंख्यया जीवपदे नव भङ्गाः। नैरयिकपदे सत्यमनःप्रयोगप्रभृतीनि वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगेऽपि पर्यन्तानि सदैव बहुवचनेन दशपदान्यवस्थितानीत्येको भङ्गः। ननु वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगिणः सदैव कथं लभ्यन्ते, द्वादशमौहूर्त्तिकगत्युपपातविरहकालभावात् ? उच्यते–उत्तरवैक्रियापेक्षया। तथाहि–यद्यपि द्वादशमौहूर्त्तिको गत्युपपातविरहकालस्तथापि तदानीमपि उत्तरवैक्रियाऽऽरम्भिणः सम्भवन्ति, उत्तरवैक्रियाऽऽरम्भे च भवधारणीय वैक्रियमिश्रं तद्बलेनोत्तरवैक्रियाऽऽरम्भात्, भवधारणीयप्रवेशे चोत्तरवैक्रियं वैक्रियमिश्रमुत्तरवैक्रियबलेन भवधारणीयप्रवेशात्। तत एवमुत्तरवैक्रियापेक्षया भवधारणीयोत्तरवैक्रियमिश्रसम्भवात्, तदानीमपि वैक्रियशरीरमिश्रकायप्रयोगिणो नैरयिका लभ्यन्ते, कार्मणशरीरकायप्रयोगी च नैरयिकः कदाचिदेकोऽपि न लभ्यते, द्वादशमौहूर्त्तिकगत्युपपातविरहकालभावात्। यदाऽपि लभ्यते तदाऽपि जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽसंख्येयाः। ततो यदा एकोऽपि कार्मणशरीरकायप्रयोगी न लभ्यते, तदा प्रथमो भङ्गः, यदा पुनरेकस्तदा द्वितीयः, यदा बहवस्तदा तृतीय इति। अत एव त्रयो भङ्गा भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु भावनीयाः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिषु औदारिकशरीरकायप्रयोगिणोऽपि,

औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगिणोऽपि, कार्मणशरीरकायप्रयोगिणोऽपि सदा बहव एव लभ्यन्ते, इति पदत्रयबहुवचनाऽऽत्मकः प्रत्येकमेक एव भङ्गः, वायुकायिकेष्वौदारिकद्विकवैक्रियद्विककार्मणशरीरलक्षणपदपञ्चकबहुवचनाऽऽत्मक एको भङ्गः, तेषु वैक्रियशरीरिणां, वैक्रियमिश्रशरीरिणां च सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । द्वीन्द्रियेषु यद्यप्यन्तर्मुहूर्त्तकोपपातविरहकालः, तथाऽप्युपपातविरहकालोऽन्तर्मुहूर्तं लघु, औदारिकमिश्रगतमन्तर्मुहूर्त्तमतिबृहत्प्रमाणमत औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगिणोऽपि तेषु सदैव लभ्यन्ते । कार्मणशरीरकायप्रयोगी तु कदाचिदेकोऽपि न लभ्यते आन्तर्मौहूर्त्तिकोपपातविरहकालभावात् । यदाऽपि लभ्यते तदाऽपि जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयाः; ततो यदा एकोऽपि कार्मणशरीरकायप्रयोगी न लभ्यते तदा प्रथमो भङ्गः । यदा पुनरेकः कार्मणशरीरी लभ्यते, तदा द्वितीयो, यदा बहवस्तदा तृतीय इति । एवं त्रिचतुरिन्द्रियेष्वपि भावनीयम् ।(पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया इत्यादि) पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका यथा नैरयिकास्तथा वक्तव्याः, नवरं वैक्रियमिश्रशरीरकायप्रयोगिस्थाने औदारिकऔदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगिणो वक्तव्याः । किमुक्तं भवति ?-सत्यमनःप्रयोगिणोऽपीत्यादि तावद्वक्तव्यं यावदसत्यामृषावाक्प्रयोगिणोऽपि, तत औदारिकशरीरकायप्रयोगिणोऽपि, औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगिणोऽपीति वक्तव्यम् । एतानि दश पदानि बहुवचनेन सदाऽवस्थितानि । यद्यपि च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामप्युपपातविरहकाल अन्तर्मुहूर्त्तकस्तथाऽप्युपपातविरहकालान्तर्मुहूर्त्तं लघु, औदारिकमिश्रान्तर्मुहूर्त्तमतिबृहदित्यत्राप्यौदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगिणः सदा लभ्यन्ते । यद्वस्तु द्वादशमुहूर्त्तक उपपातविरहकालः स गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिरश्चां, न सामान्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चामिति । कार्मणशरीरकायप्रयोगी तु तेष्वपि कदाचिदेकोऽपि न लभ्यते, आन्तर्मुहूर्त्तकोपपातविरहकालभावात् । ततो यदा एकोऽपि कार्मणशरीरी न लभ्यते तदा प्रथमो भङ्गः । यदा पुनरेको लभ्यते तदा द्वितीयः । यदा बहवस्तदा तृतीयः । मनुष्येषु मनश्चतुष्टयवाक्चतुष्टयौदारिकवैक्रियद्विकरूपाण्येकादश पदानि सदैव बहुवचनेन लभ्यन्ते । वैक्रियमिश्रशरीरिणः कथं सदैव लभ्यन्ते?, इति चेदुच्यते-विद्याधराऽऽद्यपेक्षया । तथाहि विद्याधरा अन्येऽपि केचिन्मिथ्यादृष्ट्यादयो वैक्रियलब्धिसम्पन्ना अन्योन्यभावेन सदैव विकुर्वणायां लभ्यन्ते । आह च मूलटीकाकारः- मनुष्या वैक्रियमिश्रशरीरप्रयोगिणः, सदैव विद्याधराऽऽदीनां विकुर्वणाभावादिति । औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगी, कार्मणशरीरकायप्रयोगी च कदाचित्सर्वथा न लभ्यते, द्वादशमौहूर्त्तिकोपपातविरहकालभावात् । आहारकशरीरी, आहारकमिश्रशरीरी वा कादाचित्कः प्रागेवोक्तः, तत औदारिकमिश्राऽऽद्यभावे पदैकदेशबहुवचनलक्षण एको भङ्गः । तत औदारिकमिश्रपदेन एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गौ । एवमेव द्वौ भङ्गौ आहारकपदेन, द्वौ चाऽऽहारकमिश्रपदेन, द्वौ कार्मणपदेनेत्येकैकसंयोगे अष्टौ भङ्गाः । द्विकसंयोगे प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यामौदारिकमिश्राऽऽहारकपदयोश्चत्वारः । एवमेव औदारिकमिश्राऽऽहारकमिश्रयोश्चत्वारः, औदारिकमिश्रकार्मणयोश्चत्वारः, आहारकाऽऽहारकमिश्रयोश्चत्वारः, आहारककार्मणयोश्चत्वारः, आहारकमिश्रकार्मणयोश्चत्वारः इति सर्वसङ्ख्यया द्विकसंयोगे चतुर्विंशतिभङ्गाः, त्रिकसंयोगे औदारिकमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रपदानामेकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गाः, औदारिकमिश्राऽऽहारककार्मणानामष्टौ, औदारिकमिश्राऽऽहारकमिश्रकार्मणानामष्टौ वाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकार्मणानामिति सर्वसंख्यया त्रिकसंयोगे द्वात्रिंशद्भङ्गाः । औदारिकमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकार्मणरूपाणां तु चतुर्णां पदानामेकवचनबहुवचनाभ्यां षोडश भङ्गाः । सर्वसंकलनया भङ्गानामशीतिरिति वक्तप्रयोग । एकसंयोगे ८, द्विकसंयोगे २४, त्रिकसंयोगे ३२, चतुष्कसंयोगे १६ एवं सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः ८० । प्रज्ञा० १६ पद । आचा० । (गतिप्रपातभेदाः 'गइप्पवाय'शब्दे तृतीयभागे ७७६ पृष्ठे द्रष्टव्याः ) मत्क्लेशसक्लिष्टे विशोधिसङ्क्लिष्टे वा वीर्यकर्मस्वद्मिथ्यासम्यग्मिथ्याप्रयोगः । " तिविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-सम्मप्पओगे, मिच्छप्पओगे, सम्मामिच्छप्पओगे ।" प्रयोगः सम्यक्त्वाऽऽदिपूर्वो मनःप्रभृतिव्यापार इति । अथवा-सम्यगादिप्रयोग उचितानुचितोभयाऽऽत्मक औषधाऽऽदिव्यापारवत् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रश्न० । विसर्जनकुले, रा० । नि०चू० । द्रव्योपार्जनीयविशेषे, स्था० ३ ठा० १ उ० । सूत्र० । " तिविहे पओगे पण्णत्ते । तं जहा-मणप्पओगे, वयप्पओगे, कायप्पओगे । जहा जोगो विगलेंदियवज्जाणं० जाव वेमाणिया-णं तहा पओगो वि । " स्था० ३ ठा० । रा० । अधमर्णानां दाने, स्था० ८ ठा० । उपाये, आ० चू० १ अ० । ज्ञा० । प्रयुज्यते इति प्रयोगः । व्यापारे, धर्मकथाप्रबन्धे, " जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा । " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

**पओगकम्म-प्रयोगकर्मन्**-न० । पञ्चदशविधेनापि योगेनाऽऽत्माऽऽत्मप्रदेशान् विहायोत्तमभोजनोदकवदुद्वर्तमानैः सर्वैरेवाऽऽत्मप्रदेशैर्वाऽऽत्मप्रदेशावष्टब्धाऽऽकाशदेशस्थकार्मणशरीरयोग्यं कर्मदलिकं बध्नाति तत्प्रयोगकर्मेति । कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

**पओगकरण-प्रयोगकरण**-न० । पुरुषव्यापारनिष्पाद्ये, सूत्र० १ श्रु०१ अ०१ उ० । कुसुम्भरागाऽऽदौ, आ० म०१ अ० । ( 'करण' शब्दे तृतीयभागे ३६० पृष्ठे प्रयोगकरणं व्याख्यातम )

**पओगकिरिया-प्रयोगक्रिया**-स्त्री० । वीर्यान्तरायक्षयोपशमाऽऽविर्भूतवीर्येणाऽऽत्मना प्रयुज्यते व्यापार्यत इति प्रयोगो मनोवाक्कायलक्षणः, तस्य क्रिया करणं व्यापृतिरिति प्रयोगक्रिया । अथवा-प्रयोगैर्मनःप्रभृतिभिः क्रियते बध्यते इति प्रयोगक्रिया, कर्मेत्यर्थः । अक्रियाभेदे, दुष्टत्वेनास्या अक्रियत्वात् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । आ० चू० । कायाऽऽदिव्यापारे, स्था० ५ ठा० २ उ० । " पओगकिरिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-मणपओगकिरिया, वइप्पओगकिरिया, कायप्पओगकिरिया । तत्थ मणपओगकिरिया अट्टरुद्दज्झणाई, वइप्पओगो वायाजोगो, जो तित्थकरेहिं सावज्जादीगरहिओ । तं सेवमाणे जासइ । कायप्पओगकिरिया पमत्तस्स गमणाकुंचणपसारणादिचेष्टा कायस्स ॥ " आव० ४ अ० ।

**पओगगइ-प्रयोगगति**-स्त्री० । सत्यमनःप्रभृतिकस्य पञ्चदशविधस्य प्रयोगस्य प्रवृत्तौ, भ० ८ श० ७ उ० ।

**पओगपच्चयफड्डयपरूवणा-प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा**-स्त्री० । प्रकृष्टो योगः प्रयोगस्तेन प्रत्ययभूतेन कारणभूतेन येन गृहीताः पुद्गलास्तेषां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा । प्रयोगजन्यस्पर्धकानां प्ररूपणायाम्, क० प्र० । तत्र प्रयोगो योगः, तत्स्थानवृद्ध्या यो रसः कर्मपरमाणुषु के-

घवयोगप्रत्ययतो वध्यमानेषु परिवर्धते स्पर्द्धकरूपतया तत्प्रयोगप्रत्ययस्पर्द्धकम् । उक्त च-" होइ पओगो जोगो, तट्ठाणविवद्धणाएँ जो उ रसो । परिवड्ढेइ जीवे, पयोगफड्डु तय बेंति ॥ १ ॥ " तस्य पञ्च अनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-अविभागप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्द्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा चेति । (२३ गा०) क० प्र० १ प्रक० ।

**पओगपरिणय-प्रयोगपरिणत**-त्रि० । जीवव्यापारेण तथाविधपरिणतिमुपनीतायां यथा पटाऽऽदिषु कर्माऽऽदिषु वा । त्रिविधपुद्गलभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

**पओगबंध-प्रयोगबन्ध**-पुं० । जीवप्रयोगकृते बन्धभेदे, भ०८ श० ८ उ० । जीवव्यापारबन्धे,भ०८ श०९ उ० । जीवप्रयोगेण द्रव्याणां बन्धने, भ० १८ श० ३ उ० । ( 'मागंदिय ' शब्दे वक्तव्यता )

**पओगमइ-प्रयोगमति**-स्त्री० । वादविषयकपरिज्ञाने, "पत्तो पओगमती, चउव्विहा होइ आणुपुव्वीए । आयपुरिसं च खेत्त, वत्थु चिय पउजए वाय ॥१॥ " उत्त० १ अ० । दशा० । स्था० ।

**पओगसपया-प्रयोगसंपत्**-स्त्री० । गणिसपद्भेदे, स्था० ८ ठा० । ( ' गणिसपया ' शब्दे तृतीयभागे ८२६ पृष्ठे व्याख्याता )

**पओजग-प्रयोजक**-त्रि० । कार्य्याऽऽदौ भृत्याऽऽदीन् प्रयुङ्क्ते, प्रयुज-ण्वुल् । निकृष्टस्य भृत्याऽऽदेः प्रेरके व्याकरणोक्ते हेतुसञ्ज्ञे कर्त्तरि, प० व० १ द्वार । आ० म० ।

**पओजण-प्रयोजन**-न० । प्रयोज्यते येन तत्प्रयोजनम् । कार्ये, तदर्थमेव हि प्रयोज्यते । आ० चू० १ अ० । कारणे, नि० चू० १३ उ० । येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । विशे० । प्रव० । ( ' णमोक्कार ' शब्दे चतुर्थभागे १८४४ पृष्ठे तत्प्रयोजनमुक्तम् ) " पूर्वमेवेह सम्बन्धः, साभिधेय प्रयोजनम् । मङ्गल चैव शास्त्रस्य, प्रयोक्तव्य प्रवर्त्तकम् ॥ १ ॥ " दशा० १ अ० । जी० । तत्र प्रयोजन द्विधा-परम्, अपर च । पुनरेकैक द्विधा कर्तृगतम्, श्रोतृगत च । तत्र द्रव्यास्तिकनयमतपर्यालोचनायामागमस्य नित्यत्वात्कर्तुरभाव एव । तथा चोक्तम्-एषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीत्, न कदाचिन्न भविष्यति न कदाचिन्न भवति " इति वचनात् । पर्यायास्तिकनयमतपर्यालोचनायां चानित्यत्वादवश्यभावी तत्सद्भाव , तस्यपर्यालोचनायां तु सूत्रार्थोभयरूपत्वात् सूत्रापेक्षया त्वनित्यत्वात्कथञ्चित्कर्तृसिद्धि । तत्र च सूत्रकर्तुरनन्तर प्रयोजन सत्त्वानुग्रह. पर त्वपवर्गप्राप्ति. । " सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, य सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दु खतप्ताना, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥ १ ॥ " तदर्थप्रतिपादकस्य भगवतोऽर्हत किं प्रयोजनमिति चेत् ?, उच्यते-न किञ्चित्,कृतकृत्यत्वात् । प्रयोजनमन्तरेणार्थप्रतिपादनप्रयासो न समीचीन इति चेत् । न । तस्य तीर्थकरनामकर्मविपाकोदयप्रभवत्वात् । वक्ष्यति च-"त च कह वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं । " इति । श्रोतृणामनन्तर प्रयोजनमावश्यकश्रुतस्कन्धार्थपरिज्ञान,पर नि श्रेयसावाप्ति । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष सम्यगववोधपुर सरसावद्यानवद्ययोर्निवृत्तिप्रवृत्तिभ्या भवितु खरकिरणैर्जलार्द्रशाटिकाया. सलिलकणानामिव कर्मपरमाणूनामवश्यमुपशोषोपगमसभवात्,ज्ञानक्रियाऽऽत्मक चावश्यकमुभयस्वभावत्वात् । तयोश्च ज्ञानक्रिययोरवाप्तिर्विवक्षिताऽऽवश्यकश्रुतस्कन्धश्रवणतो, जायते नान्यथा, तत्कारणत्वात् तदवाप्ते, अत एव भगवन्तो भद्रबाहुस्वामिन परमकरुणापरीतचेतस ऐदंयुगीनसाधूनामुपकाराय आवश्यकस्य व्याख्यानरूपामिमा निर्युक्तिं कृतवन्तः, अन्यथा सम्यक्परिज्ञानाभावत. शिष्याणां मोक्षपथप्रवृत्त्युच्छेदप्रसक्ते., कारणादेव कार्यसिद्धिभावात् । आह च भाष्यकृत्-"नाणाकिरियाहिँ मोक्खो, तम्मयमावस्सय जतो तेण । पच्चक्खाणारम्भो, कारणतो कज्जसिद्धि त्ति ॥३॥" तत. श्रोतृणामपि परम्परया मुक्तिभावाद्भवति तेषा पर प्रयोजन निश्रेयसावाप्तिरिति प्रयोजनवान् आवश्यकप्रारम्भप्रयास. । आ०म०१ अ० । प्रवर्त्तने,"जत्तत्थ गहणत्थ च,लोगे लिंगप्पओयण ।" उत्त०२३अ० ।

**पओत्तधर-प्रतोत्रधर**-पुं० । शकटखेटके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पओली-प्रतोली**-स्त्री० । गृहाणा प्राकारस्य चान्तरेऽष्टहस्तविस्तारे हस्त्यादिसचारमार्गचरिकायाम्, अनु० । ज्ञा० । "गोउरं पओली य ।" पाइ० ना० २६० गाथा ।

**पओस-प्रद्वेष**-पुं० । प्रकृष्टो द्वेषः प्रद्वेष । उत्त०३४ अ० । आव० । मत्सरे आव०४ अ० । स्था० । स० । आतु० । अन्त० । रा० । प्रीतौ, कर्म० १ कर्म० । कषाये, " कोहाईओ कसाओ " स्था०१० ठा० ।

**प्रदोष**-पुं० । प्रकृष्टदोषे, प्रदोषिके, आचा० २ श्रु० ३ चू० " सेय पओस । " पाइ० ना० २३४ गाथा ।

**पओसज्झाण-प्रद्वेषध्यान**-न० । प्रकृष्टो द्वेषः प्रद्वेषस्तस्य ध्यानमिन्द्रभूतिं प्रति कमठस्येव श्रीवीर प्रति कर्णयोः कटशलाक्यं क्षिपतो गोपस्येव दुर्ध्याने, आतु० ।

**पओहर-पयोधर**-पुं० । स्तने, ज० १ वक्ष० । प्रश्न० । " पओहरा तह थणा सिहिणा । " पाइ० ना० १०६ गाथा ।

**पंक-पङ्क**-पुं० । पङ्कयतीति पङ्कम् । पापे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । बृ० । कर्दमे, स्था० ८ ठा० । उत्त० । आव० । ओघ० । भ० । त० । औ० । चिक्खल्ले, बृ०६ उ० । स्वेदाऽऽर्द्रमले, उत्त०२ अ० । स्था० । ज० । "पको दव्वभावतो, दव्वओ चलणी, भावओ असंजमए ।" नि० चू० १ उ० । " जवालो खजणो पको । " पाइ० ना० १२६ गाथा ।

**पंकजलणिमज्जण-पङ्कजलनिमज्जन**-न० । कर्दमप्रायजले, बोडने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

**पंकप्पभा-पङ्कप्रभा**-स्त्री० । पङ्कस्य प्रभा यस्यां सा पङ्कप्रभा । पङ्काभद्रव्योपलक्षितायां चतुर्थनरकपृथिव्याम्, अनु० । स्था० । प्रज्ञा० । भ० । प्रव० ।

**पंकवहुल-पङ्कवहुल**-त्रि० । पङ्कयतीति पङ्कं पाप, तद्वहुलस्तथा । वहुलपापे, पापप्रचुरे, सूत्र०२ श्रु०२ अ० । दशा० । रत्नप्रभाया पृथिव्या प्रथमकाण्डे, जी० ३ प्रति०१ अधि०१ उ० ।

**पंकय-पङ्कज**-न० । पङ्के जात पङ्कजम् । विशे० । अरविन्दे, स्था० । विशे० । ( अस्यैकार्थिकानि चतुर्थभागे ' नलिण ' शब्दे २७७२ पृष्ठे गतानि )

**पंकरय-पङ्करजस्**-न० । पङ्क कर्दम ,स एव रज पङ्कस्वरूपोपरञ्जनात् श्लक्ष्णाऽवयवत्वेन वा रेणुतुल्यत्वात् । पङ्करूपे रजसि,औ० ।

**पंकवई-पङ्कवती**-स्त्री० । मन्दरस्य पूर्वेण सीताया महानद्या उत्तरेण वहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था० २ ठा० ४ उ० । वेगवत्याम्, " दो पकवई । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**पंकायषण-पङ्कायतन**-न० । पङ्कस्थाने, यत्र पङ्किलप्रदेशे लोका धर्मार्थं लोटनाऽऽदिक्रिया कुर्वन्ति । आचा० २ श्रु०२ चू० ३ अ० ।

**पंकावई**-पङ्कावती-स्त्री०। पङ्कोऽतिशयत्वेनास्त्यस्यामिति पङ्कावती। शरादित्वाद् दीर्घत्वम्। महाविदेहे तृतीयान्तर्नद्याम्, ज०।

काहि णं भंते ! महाविदेहे वासे पंकावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते ?। गोअमा ! मंगलावत्तस्स पुरत्थिमेणं पुक्खलविजयस्स पच्चत्थिमेणं णीलवंतस्स दाहिणे णितंबे एत्थ णं पंकावई० जाव कुंडे पण्णत्ते, तं चेव गाहावइकुंडप्पमाणं० जाव मंगलावत्तपुक्खलावविजए दुहा विभयमाणी विभयमाणी, अवसेसं तं चेव गाहावई। जं० ४ वक्ख०।

**पंकिय**-पाङ्कित-त्रि०। आर्द्रमलोपेते, भ० ६ श० ३ उ०। जल्लमलग्रस्ते, नि० चू० १ उ०।

**पंख**-पक्ष-पु०। पक्षिणामवयवे उड्डयनसाधने, आ० म० १ अ०। पञ्चदशस्वहोरात्रेषु, ज्यो० २ पाहु०।

**पंखासण**-पक्षासन-न०। येषामधोभागे नानारूपरूपाः पक्षिण उपविशन्ति तेषु, रा०।

**पंखुडी**-देशी-पत्रे, दे० ना० ६ वर्ग ८ गाथा।

**पंगु**-पङ्गु-त्रि०। अनभिनिर्वृत्तपाण्याद्यवयवविभागे मृगापुत्रवत्पूर्वकृताशुभकर्मोदयाद्धिताहितप्राप्तिपरिहारविमुखेऽतिकरुणां दशां प्राप्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। पाइ० ना०।

**पंगुरण**-प्रावरण-न०। "प्रावरणे अङ्ग्वाऊ" ॥ ८।१।१७५॥ इति प्रावरणशब्दे आदेः स्वरेण सस्वरव्यञ्जनेन सह अङ्ग्वादेशः। उत्तरीयवस्त्रे, प्रा० १ पाद।

**पंगुल**-पङ्गुल-त्रि०। चङ्क्रमणाऽसमर्थे, प्रश्न० ५ संव० द्वार। पादगमनशक्तिविकले, प्रव० ११० द्वार। ग०। गमनासमर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। व्य०। पादजङ्घाहीने, नि० चू० ११ उ०। "कम्मदोसेण पगुलिया जाया समरिया नियजाती।" आ० म० १ अ०।

**पंगुलअ**-पङ्गुलक-पु०। गमनाऽसमर्थे, पाइ० ना० २३५ गाथा।

**पंच**-पञ्चन्-त्रि०। संख्याविशेषवत्सु दशार्द्धे, नं०। नि० चू०। अनु०। उत्त०। आव०।

**पंचंग**-पञ्चाङ्ग-पु०। पञ्चाङ्गान्यवयवा विवक्षितव्यापारवन्ति यत्र स पञ्चाङ्गः। पञ्चावयवे जानुद्वयाऽऽदीनि भूस्पृष्टानि कृत्वा प्रणिपाते, पञ्चा० ४ विव०। संघा०। ("पचंगो पणिवाओ" इत्यादिगाथा 'पणिवाय' शब्दे व्याख्यास्यते)

**पंचंगमुद्दा**-पञ्चाङ्गमुद्रा-स्त्री०। पञ्चाङ्गान्यवयवाः करजानुद्वयोत्तमाङ्गलक्षणानि विवक्षितव्यापारवन्ति यस्याः सा तथा। पञ्चाङ्गे अङ्गविन्यासविशेषे, ध० २ अधि०।

**पचंगुलि**-देशी-परण्डवृक्षे, दे० ना० ६ वर्ग १७ गाथा।

**पंचंगुलिय**-पञ्चाङ्गुलीय-पु०। अङ्गुलिपञ्चकशालिनि हस्ते, अन्यत्र पञ्चाङ्गुल दारु। "गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपचंगुलितल।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रा०। स०।

**पंचंगुलिया**-पञ्चाङ्गुलिका-स्त्री०। वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

**पंचकत्तिय**-पञ्चकृत्तिक-पु०। कृत्तिकासु जातपञ्चकल्याणे कुन्थुनाथे, स्था० ५ ठा० १ उ०।

**पंचकप्प**-पञ्चकल्प-पु०। भद्रबाहुस्वामिना नवमपूर्वान्निर्यूढे पञ्चविधकल्पप्रतिपादके ग्रन्थभेदे, संघदासगणिकृतभाष्यविभूषिते निर्युक्तिग्रन्थभेदे, पं० भा०।

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसाए कप्पे य ववहारे ॥ १ ॥
कप्पंति नामनिप्फन्नं, महत्थं वत्थुकामओ।
निज्जूहगस्स भत्तीए, मंगलट्ठाएँ संथुतिं ॥ २ ॥
तित्थगरणमोक्कारो, सत्थस्स उ आइए समक्खाओ।
इह पुण जेणऽज्झयणं, निज्जूढं तस्स कीरति तु ॥ ३ ॥
सत्थाणि मंगलपुर-स्सराणि सुहसवणगहणधरणाणि।
जम्हा भवंति जंति य, सिस्सपसिस्सेहिँ पचयं च ॥ ४ ॥
भत्ती य सत्थकत्तरि, ततो उवओगगोरवं सत्थे।
एएण कारणेणं, कीरइ आदी णमोक्कारो ॥ ५ ॥
वंदू-अहिवाद-थुतीए, सुभसद्देणेगहा तु परिगीतो।
वंदण-पूयण-णमणं, थुणणं सक्कारमेगट्ठा ॥ ६ ॥
भद्दं ति सुंदरं ति य, तुल्लत्थो जस्स सुंदरा बाहू।
सो होति भद्दबाहू, गोणं जेणं तु बालत्ते ॥ ७ ॥
पाएण य लक्खिज्जइ, पेसलभावो तु बाहुजुयलस्स।
उववण्णमतो नामं, तस्सेयं भद्दबाहु त्ति ॥ ८ ॥
अण्णे वि भद्दबाहू-विसेसणा गोत्तगणहरपाईणं।
अण्णेसि पडिसिद्धे, विसेसणं चरमसगलसुतं ॥ ९ ॥
चरिमो अपच्छिमो खलु, चोद्दसपुव्वाउ होति सगलसुतं।
सेसाण वुदासट्ठा, सुत्तकरज्झयणमेयस्स ॥ १० ॥
किं तेण कयं तं तु, जं भण्णेति तस्स कारओ सो उ।
भण्णेति गणधरीहिं, सव्वसुयं चेव पुव्वकतं ॥ ११ ॥
तत्तो चिय निज्जूढं, अणुग्गहट्ठाएँ संपयजतीणं।
तो सुत्तकारओ खलु, स भवति दसकप्पववहारे ॥ १२ ॥
वंदे तं भगवंतं, बहुभद्दसुभद्दसव्वओभद्दं।
पवयणहियसुयकेतुं, सुयणाणपभावगं धीरं ॥ १३ ॥
वदिसद्दो पुव्वभणिओ, तदतीतं चेव नामगोत्तेहिं।
इस्सरियाइगुण भगो, सो से अत्थि त्ति तो भगवं ॥ १४ ॥
भद्दं कल्लाणं ति य, एगट्ठं तं च सुबहुयं जस्से।
सो होती बहुभद्दो, सोभण भद्दो सुभद्दो त्ति ॥ १५ ॥
खीरासवमादीणि तु, सुभाणि भद्दाणि तस्स उ बहूणि।
सव्वओ इहपरलोए, भद्दं वो सव्वतोभद्दो ॥ १६ ॥
आमोसहादि इहए पसलोए होतऽणुत्तरसुरादी।
सुकुलुप्पत्ती य तओ, ततो य पच्छा य णिव्वाणं ॥ १७ ॥
भाति त्ति भद्दमहवा, भादी णाणमदिएहि मो जम्हा।
सो होति भद्दनामो, कुव्वइ भद्दाणि वो जम्हा ॥ १८ ॥
पवयण दुवालसंगं, तस्स हितो त करे ति ओच्छित्ति।
संघो तु पवयणं तू, हितोपदेसं अतो तस्स ॥ १९ ॥
केतूमहो जसिए, ओसियगतुं तस्स ओसुह तु।
इहलोगे परलोगे, सो भगव होति परमसुही ॥ २० ॥

वायणयपन्नावणया, सुतनाणगुणा य ते वदति लोए ।
विदुसपरिसाएँ मज्झे, सुतनाणपभावणा एसा ॥ २१ ॥
किं कारणं तस्स कओ, महया भत्तीएँ तु णमोक्कारो ।
जम्हा ते णिज्जूढा, अम्ह हियट्ठा य सुत्त इमे ॥ २२ ॥
आयारदसाकप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसंदो ।
चारित्तरक्खणट्ठा, सूयकडस्सुवरिं ठविया‌इ ॥ २३ ॥
अंगट्ठसा अण्णा वि हु, उवासगाईण तेण तु विसेसो ।
पं० भा० १ कल्प ।

मङ्गलाऽऽदीनि सत्याणि, पूर्वाभिहितानि मङ्गलानि, पूर्वेता चास्मिन् तन्त्रे कल्पाऽऽख्ये ओघनिष्पन्ने निक्षेपे भगवन्त. तीर्थकरा ऋषभाऽऽद्या' कृतार्था कृतकृत्या इति कृत्वा तेषा नमस्कार कृत. । अधुनाऽस्मिन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे पञ्चकल्पसङ्के येनेद दशाकल्पसूत्र प्रवचनहितार्थाय पूर्वादाहृत तस्य नमस्कार करोमि प्रत्येकश गाहासूत्रकर्तुः । तत्राऽऽद्या गाथा (वदामि भद्दबाहु) वदि स्तुत्यभिवादनयो । वन्दनमत्रेन, प्रणिपात इत्यर्थ । निर्देश करोति-भद्दब हु, प्राचीनमिति-प्राचीनजनपदः चरम य पश्चिम इत्यर्थ । सकलसुयनाणिं सकल कृत्स्न निरवशेषमित्यर्थ., तानि च चतुर्दशपूर्वाणि, ततस्तेन भगवता पूर्वधारकेन नवमात्पूर्वात्प्रत्याख्याननामधेयादाहृत, ताणि य कप्पव्ववहाराणि य वयणउवग्गहकराणि भविस्सतीति कट्टु तेण भगवता निज्जूढाणि, तेन कारणेन कार्यवदुपचार इति कृत्वा स एव भगवान् प्रवचनोपग्रहकर्ता; तेण महता भत्तीए भत्तो वि नमोक्कार तस्सेव करेमि-(वदे न भगवत गाहा) भगवन्त इति यशस आख्या, भगवन्त यशोवन्त इत्यर्थ.। अथवा-भगवत इति। यस्माद् ससुरासुरनरोरगतिर्यग्योनौ जीवलोक. कामभोगारतितृषितगार्द्धिमूर्छिताध्युपपन्नस्तेन भगवता वान्त इतीत्यतो भगवन्त इति । बहुभद्द इति । भद्र कल्याणे सुखे च । बहु सुख साद्यपर्यवसित निर्वाण यस्यासौ साधनार्थमभ्युद्यत इत्यतो बहुभद्द । बहु च भद्रद च निर्वाण, भद्रसङ्क शोभन च इत्यत सुभद्द । सर्वतोभद्र इति । सर्वत. सर्वावस्थ एष्य निरुपद्रव चैतत् इत्यत. सर्वतोभद्रप्रवचनमिति द्वादशाङ्गम् । अथवा-श्रमणसङ्घ, तस्य हितसुखकेतुके उच्छ्रये । कस्मादसौ केतुभूत ?-यस्मात्तेन श्रुतज्ञान दशाकल्पव्यवहारनिशीथमहाकल्पसूत्राऽऽद्या. प्रवचनाभिहिता निर्यूढा इत्यर्थ । श्रुतज्ञानप्रभावका ते इत्यभ्युपपद्यते । श्रु श्रवणे । ज्ञा अवबोधने । भा दीप्तौ । धी बुद्धिरित्यर्थ. । प०चू० १ कल्प । ( पञ्चविधकल्पग्रन्थे पञ्चाधिकारा.-तथा च षड्विधकल्प', सप्तविधकल्प., दशविधकल्प., विंशतिविधकल्प, द्वाचत्वारिंशद्विधकल्पश्चेति । ते च स्वस्वस्थाने दर्शिता । तेषा नामनिर्देशस्तु ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २२६ पृष्ठे कृत ) महत्पञ्चकल्पभाष्य सङ्घदासक्षमाश्रमणविरचित समाप्तमिति । " गाहग्गेण पनवीससताइ चउहत्तराइ २५७४ । सिलोयग्गेणं बत्तीससताणि दसअट्ठसट्ठियाइ ३२१८ । प० भा० ५ कल्प० । पञ्चकल्पचूर्णि समाप्ता । ग्रन्थप्रमाण सहस्रत्रय शतमेक पञ्चविंशत्युत्तरम । प० चू० ५ कल्प ।

पंचकल्लाणय-पञ्चकल्याणक-न० । काम्पिल्यनगरे तत्र हि भगवतो विमलनाथस्य च्यवनजननराज्याभिषेकदीक्षाकेवलज्ञानलक्षणानि पञ्च कल्याणकानि जातानीति पञ्चकल्याणकमिति तत्प्रसिद्धमिति । ती० २४ कल्प । तपोविशेषे, जीत० ।

अधुना पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तसाध्यातिचारस्थानानि गाथायुगलेनाऽऽह-

दप्पेणं पंचिंदिय-ववरोवणे संकिलिट्ठकम्मे य ।
दीहद्धाणासेवी, गिलाण कप्पावसाणे य ॥ ५७ ॥
सव्वोवहिकप्पम्मि य, पुरि मत्ताऽपेहणे य चरिमाए ।
चाउम्मासे वरिसे, य सोहणं पचकल्लाण ॥ ५८ ॥

दर्पो धावनवल्गनस्फेटनाऽऽदि प्राग्व्याख्यात, त कुर्वता पञ्चेन्द्रियव्यपरोपण विघातन कृत स्यात्तस्मिन् दर्पेण पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणे, सक्लिष्ट कर्म यद् गाढनस्य लिङ्गस्य करपरिमर्दनेन शुक्रपुद्गलनिष्काशन करकर्मेति यदुच्यते । चकारात् लिङ्गस्य स्नेहाऽऽदिना म्रक्षणाऽऽदिक च, तस्मिन् सक्लिष्टकर्मणि (दीहद्धाणसेवि त्ति ) पष्ठीस्थाने प्रथमा । ततो दीर्घाध्वनि यदाधाकर्म अन्नकल्पाऽऽदिक यत् शुष्ककदलीफलाऽऽदिग्रहणाऽऽत्मक तदासेवित, ग्लानकल्पावसाने च ग्लानकल्पो ग्लानाऽऽचार., आधाकर्मिकक्वाथपथ्याऽऽद्युपजीवनसनिधीभूतचूर्णस्याऽऽसेवन वा तस्य ग्लानकल्पस्यावसाने, नीरोगित्वे जाते सतीत्यर्थ । वा समुच्चये। सर्वोपधिकल्पे च वर्षाऽऽरम्भ विनाऽपि सर्वोपधे कल्पक्षालने कृते सति (पुरि मत्तापेहणे य चरिमाए) सूचकत्वात् सूत्रस्य (पुरि त्ति) पौरुष्यां, (चरिमाए त्ति) चरमभागोनायां, प्रथमपादोनप्रहरे सतीत्यर्थ । मात्राप्रेक्षणे मात्रकस्य भिक्षापात्रकस्य प्रमादेनाप्रतिलेखने तथा चातुर्मासिके वार्षिके च पर्युषणाऽऽख्ये पर्वणि शुद्धौ प्रक्रान्तायां सर्वेष्वप्येतेषु पदेषु शोधक पञ्चकल्याणक प्रायश्चित्तम् । अत्राऽऽह-दर्पत पञ्चेन्द्रियवधाऽऽदौ दीयतां नाम प्रायश्चित्त, चातुर्मासिकवार्षिकेषु चातिचाराभावे कथ प्रायश्चित्तमिति ?। अत्रोच्यते प्रादोषिकार्द्धरात्रिकवैरात्रिकप्राभातिकाऽऽवश्यकानां कदाचिदग्रहण सूत्रार्थपौरुष्यो त्वाकरणमप्रतिलेखितदु प्रतिलेखिताऽऽदि चेत्यादीन् सूक्ष्मातिचारान् कृतानपि यतो न जानाति, न वा स्मरति, ततश्चातुर्मासिकवार्षिकेषु निरतिचारस्यापि प्रायश्चित्त भवति । चकारद्वय चात्र गाथायां समुच्चयार्थे । " पुरि मत्तापेहणे य, चरिमाए । " इत्यत्र यश्चकार सोऽनुक्तसमुच्चयार्थ, तेन यद्युपोषित कश्चिच्चरमायां पाश्चात्यपौरुष्यामपि पात्रकाणि न प्रतिलेखयति, आस्तां प्रथमायां, तदा तस्यैक कल्याणक दीयत इति समुच्चीयते । जीत० ।

पंचकोट्ठग-पञ्चकोष्ठक-पु० । पञ्चभि. कोष्ठकैर्युक्ते पुरुषे, पुरुषस्य हि पञ्च कोष्ठका भवन्ति । तं० ।

पंचखंध-पञ्चस्कन्ध-पु० । रूपाऽऽदिषु स्कन्धेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " पचखंधे वयतेगे । " पञ्चस्कन्धप्ररूपणपुर सरं तन्निराकरण 'खणियवाइ' शब्दे तृतीयभागे ७०४ पृष्ठे द्रष्टव्यम )

पंचचित्त-पञ्चचित्र-पु० । पञ्चसु च्यवनाऽऽदिदिनेषु चित्रा नक्षत्रविशेषो यस्य स पञ्चचित्र । चित्रासु जातपञ्चकल्याणे, पद्मप्रभस्य चित्रा नक्षत्र च्यवनाऽऽदिषु पञ्चसु स्थानेषु भवतीति । स्था० ५ ठा० १ उ० । सत्त० ।

पंचजण्ण-पाञ्चजन्य-पु० । पञ्चजने दैत्ये भव-यञ् । विष्णुशङ्खे, वाच० । वासुदेवशङ्खे, प्रश्न०१ आ० १६ अ० । स्था० । ति० ।

पंचजाम-पञ्चयाम-पु० । हिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहविरतिरूपे प्रथमान्त्यतीर्थंकरधर्मे, स्था० ९ ठा० । ( चातुर्यामो धर्म ' चाउज्जाम ' शब्दे तृतीयभागे ११६८ पृष्ठे उक्त )

**पंचणद**–पञ्चनद–पुं० । पञ्च नद्यो यत्र । " विसस्तेरावतीचन्द्र-भागा मध्ये सरिद्वरा । शतद्रुश्च विपाशा च, तेन पञ्चनदः स्मृत ॥ १ ॥ " इत्युक्ते ( पञ्जाब ) इति ख्याते रुद्रदेशे, पञ्चा-नां नदीनां समाहार । काशीस्थासु " किरणा धूतपापा च, शुभतोया सरस्वती । गङ्गा च यमुना चैव, पञ्च नद्य प्रकीर्तिता ॥ १ ॥ " इत्युक्तासु बिन्दुमाधवतीर्थसन्निहितासु पञ्चसु नदी-षु, वाच० ।

**पंचणाम**–पञ्चनामन्–न० । पञ्चविधे नामनि, अनु० ।

से किं त पंचनामे ? । पचनामे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–नामिकम्, नैपातिकम्, आख्यातिकम्, औपसर्गिकम्, मिश्रम् । अश्व इति नामिकम्, खल्विति नैपातिकम्, धावती-त्याख्यातिकम्, परीत्यौपसर्गिकम्, संयत इति मिश्रम् । से तं पचनामे ॥ १२६ ॥

इहाश्व इति किम् ?– नामिकम्, वस्तुवाचकत्वात् । खल्विति नैपातिकम्, निपातेषु पठितत्वात् । धावतीत्याख्यातिकम्, क्रिया-प्रधानत्वात् । परीत्यौपसर्गिकम्, उपसर्गेषु पठितत्वात् । संयत इति मिश्रम्, उपसर्गनामसमुदायनिष्पन्नत्वादिति । एतैरपि स-र्वस्य क्रोडीकरणात्पञ्चनामत्व भावनीयम् । ' से त पचनामे ' इति ) निगमनम् ॥ १२६॥

**पंचतित्थी**–पञ्चतीर्थी–स्त्री० । तीर्थपञ्चके, अर्बुदगिरिसन्निधे हि तीर्थपञ्चक यथास्थान व्याख्यानम् । ध० २ अधि० ।

**पंचत्त**–पञ्चत्व–न० । पञ्चाना पृथिव्यादिभूतानां भाव पञ्चत्वम् । मरणे, तत्र हि देहाऽऽरम्भकभूताना स्वस्वांशस्य स्वेषु स्वेषु प्रवेशः इति तस्य पञ्चरूपता । । स्था० ८ ठा० ।

**पंचदसी**–पञ्चदशी–स्त्री० । पक्षस्य पूर्णिमायाम्, सू० प्र० १० पाहु० १४ पाहु० पाहु० । वेदान्तग्रन्थे. वाच० ।

**पचदिव्व**–पञ्चदिव्य–न० । वसुधारावृष्टि १, चेलोत्क्षेप २ व्योम्नि देवदुन्दुभि ३, गन्धोदकपुष्पवृष्टि ४ आकाशे अहो-दानमिति घोषण ५ चेति देवकृतजिनभिक्षादातृसत्कारार्थक-वस्तुपञ्चके, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

**पचपुल**–पञ्चपुल–पुं० । मत्स्यबन्धनविशेषे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

**पंचपुव्वासाढ**-पञ्चपूर्वाषाढ–पुं० । पूर्वाषाढासु जातच्यवनाऽऽ-दिकल्याणपञ्चके शीतलजिने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

**पचपूस**–पञ्चपुष्य–पुं० । पुष्येषु सजातच्यवनाऽऽदिकल्याणप-ञ्चके धर्मजिने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

**पंचभूयवाइ**–पञ्चभूतवादिन्–पुं० । भूतपञ्चकमात्रवादाङ्गीकारेणाऽऽत्मन पदार्थान्तरत्वनिषेधके नास्तिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**पंचम**–पञ्चम–त्रि० । पञ्चाना पूरके, पञ्चाना षड्जाऽऽदिस्वराणां निर्देशक्रममाश्रित्य पूरण पञ्चम । अथवा–पञ्चसु नाभ्यादि-षु स्थानेषु मातीति पञ्चम । स्वरज्ञे, " वायु समुत्थितो ना-भेरुरोहृत्कण्ठशिरोहत । पञ्चस्थानस्थितस्यास्य, पञ्चमत्व विधीयते ॥ १ ॥ " स्था० ७ ठा० । अनु० । उपा० ।

**पंचमगलमहासुयक्खंध**–पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्ध–पुं० । पञ्चप-रमेष्ठिनमस्कारगर्भ श्रुतस्कन्धे, प्रति० । ( अस्य विषय ' णमोक्कार ' शब्दे चतुर्थभागे १८३५ पृष्ठे विलोकनीय. । अस्य विनयोपधिविधानविषये विशेष. ' उवहाण ' शब्दे द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे गत. ) " अणुरुवयण-विणिग्गय विणयाऽऽइबहुमाणपरिओसाणुकमोयरड अ-णेगसोगमनादुव्वेगवाहिवेयणाघोरदुक्खदारिद्दकिलेसरोगम-जोगजरामरणगब्भनिवासाइदुट्ठसावयगहर्भीमभवोदहितरड-गभूय इणमो सव्वागममज्झगयस्स मिच्छत्तदोसोवहयवुद्धि-परिकप्पियकुभणियअघडमाणअसेसहेउदिट्ठतजुत्तीविद्धस-णिक्कपञ्चलस्स पञ्चमगलमहासुअक्खधस्स पञ्चमज्झयणेण चू-लापरिक्खित्तस्स पवरपवयणदेवयाहिट्ठिअस्स तिपदमपरिच्छि-न्नमालावगसत्तक्खरपरिमाणा अणतागमपज्जवत्थपसाहग स-व्वमहामनपवरविज्जाण परमपवियभूअ–'नमो अरिहताण' ति पढमज्झयण अहिज्जेयव्व, तद्दिअहे अ आयविलेण पारेअव्व । तहेव बीयदिणे अणेगाइसयगुणपणक्खरपरिमाण–'णमो सि-द्धाण' ति वीय अज्झयण अहिज्जेयव्व, तद्दिअहे अ आयविले-ण पारेयव्व । तहेव तइअदिणे अणेगाऽसयगुणपत्तत्थेय अ-णंतभवियत्थपसाहग अणतर तेणेव कम्मेण तिपयपरिच्छिन्न मा-लावगसत्तक्खरपरिमाण–'नमो उवज्झायाण' ति चोत्थमज्झय-ण अहिज्जेयव्व, तद्दिअहे अ आयविलेण पारेअव्व । 'नमो लोए सव्वसाहूण,' ति पंचममज्झयण पचमदिण आयविलेण तहेव तदि-च्छाणुगामिअएक्कारसपयपरिच्छिन्नति आलावगतिचीसक्खरप-रिमाण " एसो पचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो । मगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगल ॥१॥ " इति । चूल ति छट्ठसत्त-मदिणे तेणेव कम्मविभागेण आयविलेहिं अहिज्जेयव्व । एवमेव पञ्चमगलमहासुअक्खध सरवन्नपयक्खरमत्ताविसुद्ध गुरुणो-वदेय गुरुवइट्ठ कसिणमहिज्जित्ता ण तहा कायव्व जहाऽऽणु-पुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जायाए(?)तरिज्जा तओ तेणऽणतरभणियतिहिकरणमुहुत्तणक्खत्तजोगलग्गससिबल-जतुविरहिओ गोसे चेइआलावगाइकमेण अट्ठमभत्तेण समणुजा-णाविऊण गोयमा ! महया पवधेण सुपरिहुण णिस्सण असदिद्ध सुत्तत्थ अणेगहा सोऊण धारेयव्व । एयाए विहीए पचमगलस्स ण गोयमा ! विणओवहाणेण कायव्व इत्यादि,तदयमनेकसूत्रसिद्धो धर्मास्तिकायवदनादिरनन्ततीर्थंकरगण धरपूर्वधरैरुपदर्शितम-हिमा पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धो यैरुपलभ्यते तेषामन्यश्रुताभ्यु-पगमोऽपि गोलाङ्गूलगलोत्तरणनिवेशतुल्य इति ध्येयम् । प्रति० । महा० ।

**पंचमय**–पञ्चमक–न० । पञ्चममेव पञ्चमकम् । प्राकृतत्वा-त्स्वार्थे कप्रत्यय. । पञ्चसख्यापूरणे, आ० म० १ अ० । प्रश्न० ।

**पंचमहव्वइय**–पञ्चमहाव्रतिक–पुं० । पञ्चयामे धर्मे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

**पचमहव्वय**–पञ्चमहाव्रत–न० । सर्वप्राणातिपातविरत्यादिरू-पेषु पञ्चसु महाव्रतेषु, " पचमहव्वयविसालसाले । " पञ्च महाव्रतानि एव विशाला विस्तीर्णा. शाला. शाखा यस्य स तथा । प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

**पचमहाभूय**-पञ्चमहाभूत–न० । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्ष-णेषु भूतेषु, विशे० । सूत्र० । प्रश्न० । स्था० ।

**पंचमासिय**–पाञ्चमासिक–पुं० । पञ्चसु मासेषु अतीतेषु भवे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० ।

**पंचमी**–पञ्चमी–स्त्री० । प्रतिपदातः पञ्चसङ्ख्यापरिमितायां तिथौ, द० प० । ज्यो० । डसिभ्यांस्भ्यसितिविभक्तिभेदे, "अवायाणे पंचमा ।" अनु० । स्था० ।

**पंचमुट्ठिलोय**–पञ्चमुष्टिलोच–पु० । पञ्चभिर्मुष्टिभिः शिरःकेशापनयने, (ऋषभः) "सयमेव चउहिं अट्ठाहिं मुट्ठीहिं लोयं करेइ ।" स्वयमेव चतसृभिः (अट्ठाहिं ति) मुष्टिभिः करणभूताभिर्लुञ्चनीयकेशानां पञ्चमभागलुञ्चिकाभिरित्यर्थः । लोचं करोति अपराऽलङ्काराऽऽदिमोचनपूर्वकमेव शिरोऽलङ्काराऽऽदिमोचनविधिक्रमायेति पर्यन्ते मस्तकालङ्कारकेशमोचनं तीर्थकृतां पञ्चमुष्टिकलोचसम्भवेऽपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टिकालोचगोचरः श्रीहेमाऽऽचार्यकृतऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयम्–प्रथममेकया मुष्ट्या श्मश्रुकूर्चयोर्लोचे, तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते, एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनाऽऽन्दोलितां कनकावदातयोः प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोपमानमाबिभ्रतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन् ! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामेवमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवताऽपि सा तथैव रक्षितेति । न ह्येकान्तभक्तानां याञ्चामनुगृहीतारः खण्डयन्तीत्येवेदानीमपि श्रीऋषभमूर्त्तौ स्कन्धोपरि वल्लरिका क्रियन्ते इति लुञ्चिताश्च केशाः शक्रेण हंसलक्षणपटे क्षीरोदधौ क्षिप्ता इति । ज० २ वक्ष० ।

**पंचरत्त**–पञ्चरात्र–पु० । "रात्रं तु ज्ञानवचनं, ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् । पञ्चरात्रमिति ख्यातम्" इत्युक्ते पञ्चज्ञानसाधने नारदाऽऽद्युक्ते ग्रन्थभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**पंचरय**–पञ्चरत–त्रि० । पञ्चमहाव्रतशक्ते, "मुणी पंचरए तिगुत्तो चउकसायावगए स पुज्जो ।" दश० ६ अ० ४ उ० ।

**पंचरासिय**–पञ्चराशिक–न० । पञ्चराशिगणिते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

**पंचरूविय**–पञ्चरूपिक–पु० । पञ्चानां रूपाणां गर्जितविद्युज्जलवाताभ्रलक्षणानां समाहारः पञ्चरूपं, तदस्ति येषां ते पञ्चरूपिकाः । उदकगर्भभेदेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**पंचलिंगी**–पञ्चलिङ्गी–स्त्री० । ग्रन्थभेदे, स्या० । तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः । द्वा० १ द्वा० ।

**पंचलोइया**–पञ्चलौकिका–स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

**पंचवग्ग**–पञ्चवर्ग–पु० । पञ्चानां समुदाये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

**पंचवणि (य) तिपंचखर**–पञ्चवणिक्त्रिपञ्चखर–पु० । पञ्चानां वणिजां पञ्चदशसु गर्दभेषु, "पंचवणितिपंचखरअतुल्लमुल्ला य आहरणं ।" व्य० १ उ० ।

**पंचवण्ण**–पञ्चवर्ण–पु० । दशार्द्धवर्णे, "पञ्चवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए त्ति ।" पञ्चवर्णेन सरसेन सुरभिणा च मुक्तेन क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण पूजया कलित यत्तथा तत्र । भ० ११ श० ११ उ० । रा० । औ० । जी० ।

**पंचवण्णा**–पञ्चवर्णा–स्त्री० । चतुर्दशतीर्थकरस्य निष्क्रमणशिबिकायाम्, स० ।

**पंचवत्थुय**–पञ्चवस्तुक–न० । प्रव्रज्याविधानाऽऽदिवस्तुपञ्चकाभिधायके आचार्यहरिभद्रसूरिकृते प्रकरणग्रन्थे, प० व० ।

"प्रणिपत्य जिनं वीरं, नृसुरासुरपूजितम् । व्याख्या शिष्यहिता पञ्च-वस्तुकस्य विधीयते ॥ १ ॥" इह हि पञ्चवस्तुकाऽऽख्य प्रकरणमारब्धुकाम आचार्यः शिष्टसमयप्रतिपालनाय विघ्नविनायकोपशान्तये प्रयोजनाऽऽदिप्रतिपादनार्थमादावेवेदं गाथासूत्रमुपन्यस्तवान्–

णमिऊण वद्धमाणं, सम्मं मणवयणकायजोगेहिं ।
संघं च पंचवत्थुग–महक्कमं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

तत्र शिष्टानामयं समयः–यदुत शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमानाः सन्त इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवर्त्तन्ते इत्ययमप्याचार्यो न हि न शिष्ट इत्यतः तत्समयप्रतिपालनाय, तथा–श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्तीति । उक्तं च–"श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वाऽपि यान्ति विनायकाः ॥ १ ॥" इदं च प्रकरणं सम्यग्ज्ञानहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतमतो मा भूद्विघ्न इति विघ्नविनायकोपशान्तये "नमिऊण वद्धमाणं, सम्मं मणवयणकायजोगेहिं । संघं च ।" इत्यनेनेष्टदेवतास्तवमाह । प्रेक्षापूर्वकारिणश्च प्रयोजनाऽऽदिशून्ये न प्रवर्त्तन्ते इति । उक्तं च–"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य, कर्मणो वाऽपि कस्यचित् । यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ? ॥ १ ॥" इत्यादि । अतः प्रयोजनाऽऽदिप्रतिपादनार्थं च–"पञ्चवत्थुगमहक्कमं कित्तइस्सामि" इत्येतदाह । प्रकरणार्थकथनकालोपस्थितपरसम्भाव्यमानोपन्यासहेतुनिराकरणार्थं च । तथाहि–पञ्चवस्तुकाऽऽख्यं प्रकरणमारभ्यत इत्युक्ते सम्भवत्येव वादी परानारब्धव्यमेवेदं प्रकरणं, प्रयोजनरहितत्वादुन्मत्तकविरुतवत् । तथा निरभिधेयत्वात्काकदन्तपरीक्षावत्, तथा असम्बद्धत्वाद् दश दाडिमानीत्यादिवाक्यवत् दतोऽमीषां हेतूनामसिद्धतोद्विभावयिषयेत्येतदाह– "पंचवत्थुगमहक्कमं कित्तइस्सामि" एष तावद्गाथाप्रस्तावः, समुदायार्थश्च । अधुनाऽवयवार्थोऽभिधीयते– नत्वा प्रणम्य, कमित्याह–वर्द्धमानं वर्त्तमानतीर्थाधिपतिं तीर्थकरं, तस्य हि भगवत एतन्नाम । यच्चोक्तम्– "अम्मापिअइ संतिए वद्धमाणे" इत्यादि । कथं नत्वेत्यत आह–सम्यग् मनोवाक्काययोगैः, सम्यगिति प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्काययोगैर्मनोवाक्कायव्यापारैः, अनेनैवम्भूतमेव भाववन्दनं भवतीत्येतदाह । इह च मनोवाक्काययोगैरसम्यगपि नमनं भवतीति सम्यग्ग्रहणम् । आह–एवमपि सम्यगित्येतदेवास्तु, अलं मनोवाक्काययोगग्रहणेन, सम्यग्नमनेऽस्य तदव्यभिचारित्वात्, तदेवमेकपदव्यभिचारेऽप्यद्रव्यं पृथिवी द्रव्यमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावदर्शनादिति । न केवलं वर्द्धमानं नत्वा किं तु सङ्घं च सम्यग्दर्शनाऽऽदिसमन्वितप्राणिगणं च नत्वा । किमित्याह– पञ्चवस्तुकं यथाक्रमं कीर्त्तयिष्यामि । प्रव्रज्याविधानाऽऽदीनि पञ्च वस्तूनि यस्मिन् प्रकरणे तत्पञ्चवस्तु पञ्चवस्त्वेव पञ्चवस्तुकं ग्रन्थं, यथाक्रममिति यो य क्रमो यथाक्रमं यथा–परिपाटी कीर्त्तयिष्यामि संशब्दयिष्यामि । इति गाथार्थः ॥ १ ॥

अधिकृतानि पञ्चवस्तून्युपदर्शयन्नाह–

पव्वज्जाए विहाणं, पइदिणकिरिया वएसु ठवणा य ।
अणुयोगगणाणुण्णा, संलेहण मो अ इइ पंच ॥ २ ॥

प्रव्रज्याया वक्ष्यमाणलक्षणाया विधानमिति विधिः । तथा–प्रतिदिनक्रियेति, प्रतिदिनं प्रत्यहं क्रिया चेष्टा प्रतिदिनक्रिया, प्र-

ऽजितानामेव चक्रवालसामाचारीति भाव । तथा-व्रतेषु स्थापना चेति । हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतयः व्रतानि, तेषु स्थापना सामायिकसंयतस्य उपस्थापनेत्यर्थः । ननु कथं व्रतानां स्थापनेति युक्त, तत्र तेषामारोप्यमाणत्वात्?, उच्यते-सामान्येन व्रतानामनादित्वात्तेषु तस्योपस्थाप्यमानत्वादित्यमल्पदोष एव । तथा-अनुयोगगणानुज्ञेति, अनुयोजनमनुयोग. सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सम्बन्धन, व्याख्यानमित्यर्थः । गणस्तु गच्छोऽभिधीयते, अनुयोगश्च गणश्चानुयोगगणौ, तयोरनुज्ञा प्रवचनोक्तेन विधिना स्वातन्त्र्यानुज्ञानमिति । संलेखना चेति-संलिख्यते शरीरकषायाऽऽदि यया तपःक्रियया सा संलेखना, यद्यपि सर्वैव तपःक्रियेय तथाऽप्यत्र चरमकालभाविनी विशिष्टैव संलेखनोच्यत इति । 'मो' इति पूरणार्थो निपात । इति पञ्चेतिशंत एवमनेनैव क्रमेण पञ्च वस्तूनि । तथाहि-प्रव्रज्याविधाने सति सामायिकसंयतो भवति, संयतस्य प्रतिदिन क्रिया क्रियावतश्च व्रतेषु स्थापना, व्रतस्थस्य वाऽनुयोगगणानुज्ञे सभवतश्चरमकाले च संलेखनेति गाथाऽर्थ. ॥ २ ॥

साम्प्रतममीषामेव वस्तुत्वप्रतिपादनार्थमाह--

एए चेव य वत्थू, संती एएसु नाणमाईया ।
जं परमगुणा एआ-णि हेउफलभावओ हुंति ॥ ३ ॥

एतान्येव प्रव्रज्याविधानाऽऽदीनि शिष्याऽऽचार्याऽऽदीनि जीवद्रव्याऽऽश्रयत्वात्तत्तद्रूपत्वाद्वस्तूनि, एतेष्वेव भावशब्दार्थोपपत्ते.। तथा चाऽऽह-वसन्ति एतेषु प्रव्रज्याविधानाऽऽदिषु ज्ञानाऽऽदय. ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणाः । यद्यस्मात्परमगुणा प्रधानगुणा एवमप्येतान्येवेत्यवधारणमयुक्तम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिविधानाऽऽदीनां विशिष्टस्वर्गगमनसुकुलप्रत्यायातिपुनर्बोधिलाभाऽऽदीनामपि च वस्तुत्वादित्येतदाशङ्क्याऽऽह-शिष्यादयविरतसम्यग्दृष्ट्यादिविधानाऽऽदीनि हेतुफलभावतो भवन्ति । अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि हेतुभावत. कारणभावेन, विशिष्टस्वर्गगमनाऽऽदीनि तु फलभावत. कार्यभावेन वस्तूनि भवन्ति। तथा-ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादिविधानाऽऽदिकार्याणि प्रव्रज्याविधानाऽऽदीन्यतो वस्तुकारणत्वात्तेषामपि वस्तुत्वमेव। विशिष्टस्वर्गगमनाऽऽदीनि तु प्रव्रज्याविधानाऽऽदिकार्याण्यतो वस्तुकार्यत्वादमीषामेव वस्तुतापत्ति. । व्यवहारनयदर्शनसूत्रतत्त्वाधिकृतानामेव वस्तुत्वमिति गाथार्थ ॥ १ ॥ प० व० १ द्वार ।

इय पंचवत्थुगमिणं, उद्धरिअं सुअसमुद्दाओ
आयाणुसारणत्थ, भवविरहं इच्छमाणेण ॥ १७१३ ॥

( इय ) एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चवस्तुकमिदमुक्तलक्षणमुद्धृत पृथगवस्थापित श्रुतसमुद्राद्विस्तीर्णात् श्रुतोदधेः । किमर्थमित्याह-आत्मानुस्मरणार्थमात्मानुस्मरणाय प्रव्रज्याऽऽदिविधानाऽऽदीनां भवविरह संसारक्षयमिच्छता तस्य भगवद्वचनोपयोगाऽऽदिसाध्यत्वात् । इति गाथार्थ· ॥ १७१३ ॥

साहगं पुण इत्थं, णवरं गणिऊण णाविअं एअं ।
सीमाण हिअट्टाए, सत्तरस सयाणि माणेणं ॥१७१४॥

समाप्ता चेयं पञ्चवस्तुकसूत्रटीका शिष्यहिता नाम, कृतिर्धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्य । "कृत्वा टीकामेनां, यदवाप्त कुशलमिह मया तेन । मात्सर्यदुःखविरहाद्गुणानुरागी भवतु लोक ॥ १ ॥" इति पञ्चवस्तुकटीका सम्पूर्णा । प० व० ५ द्वार ।

पंचवडी-पञ्चवटी स्त्री० । पञ्चानां वटानां समुदाये, नासिक्यपुरान्तिके गोदावरीतीरे रामसीताभ्यामावासीकृते वटपञ्चके, ती० २७ कल्प ।

पंचवरिस-पञ्चवर्ष-पु० । पञ्चवर्षपर्याये, व्य० ३ उ० ।

पंचविह-पञ्चविध-त्रि० । पञ्चेति संख्यावचन, विधानानि विधा भेदा. । पञ्च विधा अस्येति पञ्चविधम् । पञ्चप्रकारे, अनु० । प्रश्न० । न० ।

पंचसंगह-पञ्चसङ्ग्रह-पु० । पञ्चानामर्थाधिकाराणां सङ्ग्रहो यत्र ग्रन्थे स पञ्चसङ्ग्रह. । शतकाऽऽदिपञ्चग्रन्थानां सङ्ग्रहग्रन्थ, प० स० ।

" अशेषकर्मद्रुमदाहदाव, समस्तविज्ञातजगत्स्वभावम् ।
विधूतनि शेषकुतीर्थिमान, प्रणम्य देव जिनवर्द्धमानम् ॥ १ ॥
संसारकूपोदरमग्नजन्तु-स्तोमोद्धृतौ हस्तमिवावलम्ब्यम् ।
जैनाऽऽगम चाहितशेषशास्त्र-न्यग्भावमापूर्णयथार्थवादम् ॥२॥
विवृणोमि पञ्चसग्रह-मतिनिपुणगभीरमल्पबुद्धिरपि ।
शास्त्रान्तरटीकातो, गुरूपदेशाच्च सुखबोधम् ॥ ३ ॥ "

इह शिष्टा. क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमाना. सन्त इष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरमेव प्रवर्तन्ते, न चायमाचार्यो न शिष्ट इति शिष्टसमयपरिपालनाय । तथा-' श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति । उक्त च-"श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्ताना, क्वापि यान्ति विनायका. ॥ १ ॥ " इद च प्रकरण सम्यग्ज्ञानहेतुत्वात् श्रेयोभूतमतो मा भूदत्र विघ्न इति विघ्नविनायकोपशान्तये चेष्टदेवतानमस्कारम् । तथा-न प्रेक्षापूर्वकारिण. प्रयोजनाऽऽदिविरहे प्रवर्तन्ते, तत· प्रेक्षावता प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनाऽऽदिक च प्रतिपिपादयिषुरादाविमा गाथामाह-

नमिऊण जिणं वीर, सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं ।
वोच्छामि पंचसंगह-मेय महत्थं जहत्थं च ॥ १ ॥

सम्यक् त्रिकरणयोगेन नत्वा नमस्कृत्य, शूर वीर विक्रान्तौ । वीरयति स्म कषायोपसर्गपरीषहेन्द्रियाऽऽदिशत्रुगणजय प्रति विक्रामति स्मेति वीर. । अथवा-ईर गतिप्रेरणयो:, विशेषेण ईरयति गमयति स्फेटयति कर्म, प्रापयति वा शिव, प्रेरयति शिवाभिमुखमिति वा वीरः । अथवा-ईरि गतौ । विशेषेण अपुनर्भावेन ईर्ते स्म याति स्म शिवमिति वीरः, त, स च नामतोऽपि कश्चिद्भवति, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणमाह-जिन रागाऽऽदिशत्रुजेतृत्वाज्जिनस्त, सोऽपि श्रुतावधिजिनाऽऽदिकोऽपि सभवति, तस्यापि यथासभव रागाऽऽदिशत्रुजयनात्, ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-दुष्टाऽष्टकर्मनिष्ठापक दुष्टानामष्टानां कर्मणां निष्ठापको विनाशकः, त, केवलिजिनमित्यर्थ. । नन्वेतदेव विशेषणमास्तां पुष्टत्वादल जिनग्रहणेन ?। उच्यते--इह ससारमोचकाऽऽदयो हिंसामैथुनाऽऽदिभ्योऽपि दुष्टाष्टकर्मविनाशमिच्छन्ति, ससारमोचकस्याऽपि हिंसा मुक्तिसाधनमित्यादिवचनश्रवणात् ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं जिनग्रहणम्। जिन एव रागद्वेषाज्ञानाऽऽदिशत्रून् जयन्नेव सन् यो दुष्टाष्टकर्मविनाशको, नान्यथा, त नत्वा। किमित्याह-वक्ष्यामि (वच्छामि)विभक्तिलोप आर्षत्वात्, एतमन्तस्तत्त्वनिष्पन्न पञ्चसग्रह, सगृह्यतेऽनेनेति सग्रह., "पुनाम्नि०" ॥ ५ । ३ । १३० ॥ इति करणे घप्रत्यय , पञ्चाना शतकसप्ततिकाकषायप्राभृतसत्कर्मप्रकृतिलक्षणाना ग्रन्थानाम्, अथवा पञ्चा-

नामर्थाधिकाराणां योगोपयोगविषयमार्गणाबन्धकवद्धव्यबन्धहेतुबन्धविधिलक्षणानां सग्रहः पञ्चसंग्रहः । यद्वा-पञ्चानां ग्रन्थानामर्थाधिकाराणां वा संग्रहो यत्र ग्रन्थे स पञ्चसंग्रहस्तम् । कथम्भूतमित्याह-महार्थं महान् गम्भीरोऽर्थो यस्मिंस्तत्, यथार्थं च,यथावस्थित. प्रवचनाविरोधी अर्थो यस्मिन् तम् । यद्वा-अर्थस्य प्रवचनोक्तस्यानतिक्रमणेन, च स्वमनीषिकया यथार्थ, चः समुच्चये, इह पञ्चसंग्रहोऽभिधेयः, तत्परिज्ञानं श्रोतुरनन्तरप्रयोजनं कर्तुः परानुग्रहः, परम्पराप्रयोजनं तूभयोरपि निःश्रेयसावाप्तिः, सबन्धस्तूपायोपेयलक्षणः । तथाहि-वचनरूपाऽऽपन्नं प्रकरणमुपायस्तत्परिज्ञानं चोपेयमिति ॥ १ ॥

सम्प्रति प्रकरणस्य यथार्थाभिधाननामावेदयति-

सयगाइ पंच गंथा, जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता ।
दाराणि पंच अहवा, तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥ २ ॥

शतकाऽऽदय पञ्च ग्रन्थाः पूर्वोक्ता यथार्हं यथायोगं येन कारणेनाऽत्र प्रकरणे संक्षिप्ता सगृहीताः । अथवा-वक्ष्यमाणस्वरूपाणि पञ्च द्वाराणि यथार्हमत्र संक्षिप्तानि, तेन कारणेन इदमभिधानं पञ्चसंग्रहलक्षण. यथार्थं सान्वयमिति ॥ २ ॥ पं० सं० १ द्वार ।

सम्प्रति यथेदं प्रकरणं समाप्तिमुपगतं तथोपदर्शयन्नाह-

सुयदेविपसायाओ, पगरणमेयं समासओ भणियं ।
समयाओ चंदरिसिणा, समइविभवाणुसारेणं ॥ १५१ ॥

श्रुतं द्वादशाङ्गं, तद्रूपा देवी श्रुतदेवी, तस्याः प्रसादस्तद्विषयभक्तिबहुमानवशसमुच्छलितविशिष्टकर्मक्षयोपशमभावत एतत्पञ्चसंग्रहाऽऽख्यं प्रकरणं, मया चन्द्रर्षिनाम्ना साधुना, समयात् सिद्धान्तात्, तत्र यद्यपि सिद्धान्तेऽनेकेऽर्थाः प्रपञ्चतः प्ररूपितास्तथापि न तेऽस्मादृशा साकल्येनोक्तुं शक्यन्ते,इत्यावेदनार्थमाह- स्वमतिविभवानुसारेण समासतः संक्षेपतः संक्षिप्तरुचिजनानुकम्पया भणिता. ॥ १५१ ॥

"जयति सकलकर्मक्लेशसंपर्कमुक्तः,
स्फुरितविततशुद्धज्ञानसंभारलक्ष्मीः ।
प्रतिनिहतकुतीर्थाशेषमार्गप्रवादः,
शिवपदमधिरूढो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ १ ॥
गणधरदृब्धं जिनभाषितार्थमखिलाऽऽगमभङ्गनयकलितम् ।
परतीर्थानुमतमाहतिमभिगन्तु शासनं जैनम् ॥ २ ॥
बह्वर्थमल्पशब्दं, प्रकरणमेतद् विवृण्वता त्वखिलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ३ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं सिद्धाः, मङ्गलं मम साधवः ।
मङ्गलं मङ्गलं धर्मस्तन्मङ्गलमशिश्रियम् ॥ ४ ॥"

इति श्रीमलयगिरिविरचिता पञ्चसंग्रहटीका समाप्तेति । पं० सं० ५ द्वार ।

**पंचसंवरसंवुड**-पञ्चसंवरसंवृत-त्रि० । प्राणातिपाताऽऽदिपञ्चमहाव्रतोपेतत्वात् पञ्चप्रकारसम्वरसंवृते,सूत्र०१ श्रु० १ अ०४ उ० ।

**पंचसमिय**-पञ्चसमित-त्रि० । ईर्यासमित्यादिभिः पञ्चभिः समितिभिः समिते, आव० ३ अ० । पं० सू० ।

**पंचसर**-पञ्चशर-पुं० । कामदेवे, " मयरद्धओ अणंगो, रइणाहो वम्महो कुसुमबाणो । कंदप्पो पंचसरो, मयणो संकप्पजोणी य " ॥ ७ ॥ पाइ० ना० ७ गाथा ।

**पंचसिह**-पञ्चशिख-पुं० । पञ्चसु स्थानेषु रचितशिखे कुमारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

**पंचसीस**-पञ्चशीर्ष-न० । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० ।

**पंचसुणा**-पञ्चशून्य-न० । पञ्चानां शूनानां समाहारः पञ्चशून्यम् । समाहारविवक्षया एकत्वम् । शूनापञ्चके, प्रव० ३५ द्वार । गृहस्थानां चुल्ल्यादिका पञ्च शूनाः प्राणिवधस्थानानि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

**पंचसुत्तग**-पञ्चसूत्रक-न० । पापप्रतिघातगुणबीजाऽऽधानसूत्राऽऽदीनां पञ्चानां समूहे, पं० सू० । " प्रणम्य परमाऽऽत्मानं,महावीरं जिनेश्वरम् । सत्पञ्चसूत्रकव्याख्या , समासेन विधीयते ॥ १ ॥" आह-किमिदं पञ्चसूत्रकं नाम ? । उच्यते-पापप्रतिघातगुणबीजाऽऽधानसूत्राऽऽदीनि पञ्च सूत्राण्येव । तद्यथा-पापप्रतिघातगुणबीजाऽऽधानसूत्रम् १,साधुधर्मपरिभावनासूत्रम् २, प्रव्रज्याग्रहणविधिसूत्रम् ३, प्रव्रज्यापरिपालनासूत्रम् ४, प्रव्रज्याफलसूत्रम् ५,इति । आह-किमर्थमेवमेतेषामुपन्यासः ? इत्यत्रोच्यते-एतदर्थस्यैवमेव तत्त्वतो भाव इति ख्यापनार्थं, न हि प्रायः पापप्रतिघातेन गुणबीजाऽऽधानं विना तत्त्वतस्तच्छुद्धाभावप्ररोहः, न चासत्यस्मिन्साधुधर्मपरिभावना, न चापरिभावितसाधुधर्मस्य प्रव्रज्याग्रहणविधावधिकारः, न चाप्रतिपन्नस्तां तत्पालनाय यतते, न चापालने एतत्फलमाप्नोतीति प्रवचनसार एव सज्ज्ञानक्रियायोगात् । अन्यथा-अनादिमति संसारे यथाकथञ्चिदनेकशः एतत्प्राप्त्यादेः स्यादेतत्सर्वसत्त्वानामेव न चैतदेवं, सर्वसत्त्वानां सिद्ध्यभावात् । सिद्धिश्च प्रधानफलं प्रव्रज्यापरिपालनस्य, आनुषङ्गिकं तु सुदेवत्वाऽऽदि । यथाकथञ्चिदनेकशः एतत्प्राप्त्यादिवचनप्रामाण्यात्, सर्वसत्त्वानामेव प्रायो ग्रैवेयकेष्वनन्तश उपपातश्रुतेः, न च तेषु साधुक्रियामन्तरेणोपपातः, न च सम्यग्दृष्टेरपार्द्धपुद्गलपरावर्त्ताभ्यधिको भव इति भावनीयमेतत् । तस्मान्निर्बीजस्यैव क्रियामात्रस्य सा प्राप्तिरिति प्रतिपत्तव्यम् । सबीजायां तु तस्यां न दीर्घदौर्गत्यम्, अत एतदर्थस्यैवमेव तत्त्वतो भाव इति स्थितम् । अथ चातिगम्भीरो न प्रवाभिनन्दिभिः क्षौद्र्याद्युपघातात्प्रतिपत्तुमपि शक्यते, आस्तां पुनः कर्तुमिति, न सर्वेषामेवैतत्प्राप्त्यादि, अतो यथोक्तदोषाभाव इति । अलं विस्तरेण । पं० सू० १ सूत्र । सभाष्य पञ्चसूत्रकव्याख्यानतोऽपि, नमः श्रुतदेवतायै भगवत्यै, सर्वनमस्कारार्हेभ्यो नमः सर्ववन्दनार्हान् वन्दे । सर्वोपकारिणामिच्छामो वैयावृत्त्य सर्वानुभावादौचित्येन मे धर्मे प्रवृत्तिर्भवतु, सर्वे सत्त्वाः सुखिनः सन्तु । पञ्चसूत्रकटीका समाप्ता ।" कृतिः सिताम्बराऽऽचार्य-हरिभद्रस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोः ।" पं० सू० ५ सूत्र ।

**पंचसेलग**-पञ्चशैलक-पुं० । लवणोदधिमध्यस्थे व्यन्तराऽऽवाससंभूते शैलपञ्चकविभूषिते लघुद्वीपे,यत्र कुमारनन्दी स्वर्णकारः स्त्रीलोलुपो व्यन्तरत्वं गतः । यत्र विद्युन्माली यक्ष आसीत्, येन देवाधिदेवप्रतिमा वीतिभयनगरं नीता । बृ० ४ उ० । नि० चू० । आ० म० । उत्त० ।

**पंचसोगंधिय**-पञ्चसौगन्धिक-त्रि० । पञ्चभिरेलालवङ्गकर्पूरकक्षोलजातीफललक्षणैः सुगन्धिभिर्द्रव्यैरभिसंस्कृते,उपा० १ अ० ।

**पंचहत्थुत्तर**-पञ्चहस्तोत्तर-पुं० । हस्त उत्तरो आसामुत्तरफा-

नुगुनीता ता हस्तोत्तरा.,ताश्च पञ्चसु स्थानेषु गर्भाऽऽधानसंहरणजन्मदीक्षाज्ञानोत्पत्तिरूपेषु सवृत्ता अतः पञ्चहस्तोत्तर. । आचा०१ श्रु०४ अ०४ उ० । भगवति वीरे तस्य हि गर्भाऽऽधानाऽऽदिषु पञ्चसु स्थानेषु उत्तरफाल्गुन्या. सत्त्वात् । कल्प० १ अधि० १ क्षण । स्था० ।

पंचाणण-पञ्चानन-पु० । सिंहे, "पचाणणो मयारी, मयाहिवो केसरी सीहो । " पा०० ना० ४३ गाथा ।

पंचामेलियपरिमंडियाभिराम-पञ्चापीडिकपरिमण्डिताभिराम-त्रि० । पञ्चभिरापीडिकाभिश्चूडाभि. परिमण्डिते अभिरामे रम्ये च । भ० ७ श० ६ उ० ।

पंचायाम-पञ्चयाम-पु० । पञ्च यामा व्रतानि यत्र स पञ्चायाम । " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " ॥ ८ । १ । ४ ॥ इति प्राकृतलक्षणवशाद्यकारस्य दीर्घत्वम । पूर्वान्तिमतीर्थकरयोः पञ्चमहाव्रतिके धर्मे, " पचायामो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स । " बृ० ६ उ० ।

पंचाल-पञ्चाल-पु० । काम्पिल्यपुरराजधानीप्रतिबद्धेषु आर्यजनपदेषु, प्रज्ञा० १ पद । पञ्चाला यत्र काम्पिल्य नगरम् । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आव० । सूत्र० । स्था० । पञ्चालदेशराजे, आव० १ अ० । आ० चू० । नी० । प्रश्न० । स्वनामख्याते लौकिकपण्डिते, येन स्त्रीमार्दवार्थक श्लोकश्चक्र रचितम् । "जीर्णे भोजनमात्रेय , कपिल प्राणिनां दयाम् । बृहस्पतिरविश्वास, पञ्चाल स्त्रीषु मार्दवम् ॥१॥ " आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

पंचालराय-पञ्चालराज-पु० । काम्पिल्यनगरनायके पञ्चालजनपदराजे, स्था० ७ ठा० ।

पंचावण्ण-पञ्चाशत्-स्त्री० । "गोणाऽऽदय " ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति तथारूपो निपात. । पञ्चाधिकपञ्चाशति, प्रा० २ पाद । दे० ना० ।

पंचासं-पञ्चाशत्-स्त्री० । पञ्चन्यूनायां दशसख्यायाम्, तत्सख्येये च । " पचास अज्जियासाहस्सीओ । " स० ४६ सम० ।

पंचासग-पञ्चाशक-न० । पञ्चाशद्गाथापरिमाणतया स्वनामख्यातेषु हरिभद्रसूरिरचितेषु ग्रन्थेषु, तानि चैकोनविंशतिर्हरिभद्रसूरिरचितान्यभयदेवसूरिटीकितानि । पञ्चा० ।

" सद्दृष्टीनां समस्तार्था , गोभिर्यस्य प्रकाशिना ।
त नत्वा श्रीमहावीर, तिग्मरश्मि तमोऽपहम ॥ १ ॥
वृद्धवाक्यानुसारेण, वृत्तिं वक्ष्ये ममात्मत ।
पञ्चाशकाऽऽख्यशास्त्रस्य, धर्मशास्त्रशिरोमणे ॥ २ ॥ "

इह हि विस्फुरन्निखिलातिशयतेजोधामनि दु षमाकालविपुलजलदपटलावलुप्यमानमहिमनि निनरामनुपलक्ष्यीभूतपूर्वगताऽऽदिवहुतमग्रन्थसार्थतारकानिकरे पारङ्गतगदिताऽऽगमाम्बरे पटुतमनोऽवलोचनतया सुगृहीतनामधेयो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिस्तथाविधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थिनामपटुदृष्टीनामुपमितेनाजिज्ञासाधुष्किन्धराणामैदयुगीनमानवानामात्मनोपलक्ष्यमाणान विवक्षितार्थसार्थमा वबन्धमर्थान् कतिपयप्रवचनार्थतारतारकविशेषानुपदिदर्शयिषु पञ्चाशत्गाथापरिमाणतया पञ्चाशकाभिधानानि प्रकरणानि चिकीर्षुः स्वयस्तश्रावकधर्मो यतिधर्मयोग्यो भवतीति न्यायमाश्रित्य श्रावकधर्मप्रकरण तावदादितो विभणिषुर्मङ्गलसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनाभिधायिकामिमां गाथामाह-" नमिऊण वद्धमाण, सावगधम्म समासओ वोच्छ । सम्मत्ताई भावत्थसगय सुत्तणीईए ॥ १ ॥ " पञ्चा० १ विव० । ('सावगधम्म ' शब्दे अस्या व्याख्या )

"यस्मिन्नतीते श्रुतसयमश्रिया-
वप्यानुवृत्त्यावपर तथाविधम ।
स्वस्याऽऽश्रय सवसतोऽविदुस्थिते,
श्रीवर्द्धमान. स यतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥
शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराऽऽख्य.,
सूरि. कृतानिन्द्यविचित्रशास्त्रः ।
सदा निरालम्बविहारवर्ती,
चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
अन्योऽपि विख्यो भुवि बुद्धिसागरः,
पाण्डित्यचारित्रगुणैरनूपमे. ( ? ) ।
शब्दाऽऽदिलक्ष्मप्रतिपादकानघ-
ग्रन्थप्रणेता प्रवरः क्षमावताम ॥ ३ ॥
तयोरिमा शिष्यवरस्य वाक्याद्,
वृत्ति व्यधात् श्रीजिनचन्द्रसूरे. ।
शिष्यस्तयोरेव विमुग्धबुद्धि-
ग्रन्थार्थबोधेऽभयदेवसूरि ॥ ४ ॥
बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,
न तादृशी वाक्पटुताऽस्ति मे तथा ।
न चास्ति टीकेह न वृद्धनिर्मिता,
हेतु पर मेऽत्र कृतौ विजोर्वच. ॥ ५ ॥
यदिह किमपि दृब्ध बुद्धिमान्द्यादिरुद्ध,
मयि विहितकृपास्तद्धीधना. शोधयन्तु ।
निपुणमतिमतोऽपि प्रायशः सावृते' स्याद् ।
न हि न मतिविमोह किं पुनर्मादृशस्य ? ॥ ६ ॥
चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते च सिद्धेयम् ।
धवलक्कपुरे वसतौ, धनपत्योर्बकुलचन्द्रिकयो ॥ ७ ॥
अणहिलपाटकनगरे, सघवरैर्वर्तमानबुधमुख्यै ।
श्रीद्रोणाऽऽचार्याऽऽद्यैर्विद्वद्भि. शोधिता चेति ॥ ८ ॥ "
पञ्चा० १९ विव० ।

पंचासवपरिण्णाय-पञ्चाऽऽश्रवपरिज्ञात-त्रि० । पञ्चाऽऽश्रवा हिंसाऽऽदय. परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया परि समन्ताज्ज्ञाता यैस्ते पञ्चाऽऽश्रवपरिज्ञाता., आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद् निष्ठाया. पूर्वनिपात इति समासो युक्त । परिज्ञाताऽऽश्रव-पञ्चकेषु, दश० ३ अ० ।

पंचासीइ-पञ्चाशीति-पु० । पञ्चाधिकायामशीतौ, स०८५सम० ।

पंचाह-पञ्चाह-न० । पञ्चानामह्नां समाहारे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पंचिंदिय-पञ्चेन्द्रिय-पु० । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपाणीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । प०स० । मत्स्यमकरकलभसारसहसनरसुरनारकाऽऽदिषु जीवभेदेषु, कर्म० ४ कर्म० । विशे० । आव० । त० ।

पञ्चेन्द्रियवक्तव्यतामाह-

पंचिंदिआ उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया ।

नेरइय तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥५०॥

पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवाश्चतुर्विधास्ते व्याख्याताः । तद्यथा-(णेरइय तिरिक्खा इति) नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च मनुजा देवाश्च व्याख्याताः कथिताः तीर्थकराऽऽदिभिः । इति सूत्रार्थः ॥ ५० ॥ उत्त० पाई० ३६ अ० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० । आच० । आ० म० । भ० । सूत्र० । ('इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५४६ पृष्ठे सर्वेषां जीवानां पञ्चेन्द्रियत्वमुक्तम्)

पंचिंदियउवसट्ट-पञ्चेन्द्रियोपवशार्त-पुं० पञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शनाऽऽदिहृषीकाणामुप सामीप्येन वशमायत्ता वर्णलोपात् पञ्चेन्द्रियोपवशस्तेन यदार्त्तमार्त्तध्यानम् । विहलतायाम्, पा० ।

पंचिंदियजाइणाम-पञ्चेन्द्रियजातिनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयात्पञ्चेन्द्रियजन्म भवति । उत्त० ३३ अ० ।

पंचिंदियणिग्गह-पञ्चेन्द्रियनिग्रह-पुं० । पञ्चसंख्यानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां स्वविषयग्रहणप्रवृत्तानामपि रागद्वेषाऽकरणे, दर्श० २ तत्त्व ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिय-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-पुं० । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियभिन्ने तिर्यग्जन्तौ, जी० ।

से किं त पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पणत्ता । तं जहा-संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया य, गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणिया य । से किं त संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पणत्ता । तं जहा-जलयरा, थलयरा, खहयरा य ।

(से किं तमित्यादि) अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ? । सूरिराह-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-संमूर्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । तत्र संमूर्छनं संमूर्छो गर्भोपपातव्यतिरेकेणैवमेव प्राणिनामुत्पादः, तेन निर्वृत्ताः संमूर्छिमाः । "भावादिमः" ॥ ६ । ४ । २१ ॥ इति इमप्रत्ययः । ते च ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च संमूर्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्येषाम् । यदि वा-गर्भाद् गर्भवासाद् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः, ते च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चेति विशेषणसमासः । चशब्दौ स्वस्वगतानेकभेदसूचकौ । (से किं तमित्यादि) अथ के ते संमूर्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ? । सूरिराह-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-जलचराः, स्थलचराः, खचराः । तत्र जले चरन्तीति जलचराः । एवं स्थलचराः । खचरा अपि भावनीयाः । जी० १ प्रति० ।

से किं तं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ? । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पणत्ता । तं जहा-जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया, खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया ।

पञ्चेन्द्रियान् प्रतिपिपादयिषुराह-(से किं तमित्यादि) अथ के ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः ? । सूरिराह-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-(जलयरेत्यादि) जले चरन्ति पर्यटन्तीति जलचराः । "आधारात्" ॥ ५ । १ । १३७ ॥ इति टप्रत्ययः । ते च ते पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । स्थले चरन्तीति स्थलचराः । खे आकाशे चरन्तीति खचराः । प्राकृतत्वादार्षत्वाच्च "खहयरा" इति सूत्रे पाठः । ते उभयत्रापि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकशब्देन सह विशेषणसमासः । प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । स्था० । जी० ।

इत्थ नैरयिकानभिधाय तिरश्च आह-

पंचिंदिय तिरिक्खा य, दुविहा ते वियाहिया ।
संमुच्छिम तिरिक्खा उ, गब्भवक्कतिया तहा ॥ १७१ ॥
दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा ।
खहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १७२ ॥
मच्छा य कच्छभा यावि, गाहा य मगरा तहा ।
सुसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयरा तहा ॥ १७३ ॥
लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥१७४॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १७५ ॥
एगाओ पुव्वकोडीओ, उक्कोसेणं वियाहियं ।
आउट्ठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ १७६ ॥
( पुव्वकोडिपुहुत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
कायट्ठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नगं ॥ १७७ ॥ )
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नग ।
विजढम्मि सए काए, जलयराणं य अंतरं ॥ १७८ ॥
चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयतो सुण ॥ १७९ ॥
एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपयसणहपया ।
हयमाइ गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो ॥ १८० ॥
भुओरगपरीसप्पा, उरपरिसप्पा दुहा भवे ।
गोहाइ अहिमाई य, एक्केक्का ऽणेगहा भवे ॥ १८१ ॥
लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १८२ ॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १८३ ॥
पलिओवमाउ तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८४॥
पुव्वकोडीपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायट्ठिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ॥ १८५ ॥
कालं अणंतमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं ॥ १८६ ॥
चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खी य ।
विततपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ।१८७।
लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।

इत्तो कालविभाग तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १८८ ॥
संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १८९ ॥
पलिओवमस्स भागो उ, असंखेज्ज इमो भवे ।
आउट्ठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९० ॥
असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडी पुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १९१ ॥
कायट्ठिई खहयराणं, अंतर तेसिमो भवे ।
कालं अणंतमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नय ॥ १९२ ॥
एएसिं वण्णतो चेव, गंधतो रसफासतो ।
संठाणदेसतो वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १९३ ॥

सूत्राणि पञ्चविंशतिः व्याख्यातप्रायाण्येव, नवरमाद्य सूत्रद्वय-मुद्देशतो भेदाननन्तर ग्रन्थसम्बन्ध चाभिदधाति । अत्र स-मूर्छन समूर्च्छो अतिशयमूढना, तया निर्वृत्ताः समूर्छिमाः । यदि वा-समित्युत्पत्तिस्थानपुद्गलैः सहैकीभावेन मूर्च्छन्ति, तत्पुद्गलोपचयात् समुच्छ्रिता भवन्तीति औणादिके इमप्रत्यये समूर्च्छिमाः,ते च ते तिर्यञ्चश्च समूर्च्छिमतिर्यञ्चो ये मनःपर्याप्त्य-भावत सदा समूर्च्छिना इवावतिष्ठन्ते । तथा गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्प-त्तिर्येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः। जले चरन्ति गच्छन्ति,चरेर्भक्षणा-र्थत्वे इति भक्षयन्ति चेति जलचराः। एव स्थल निर्जलो भूभा-गस्तस्मिंश्चरन्तीति स्थलचरा । तथा-(खहयर त्ति) सूत्रत्वात् खमाकाशं,तस्मिंश्चरन्तीति खचराः।"यथोद्देश निर्देशः" इति जलचरभेदानाह-मत्स्या मीना, कच्छपाः कूर्मा, गृह्णन्तीति ग्राहा जलचरविशेषा , मकरा सुसुमारा अपि तद्विशेषा एव । "लोएगदेसे"इत्यादि सूत्राणि षट् क्षेत्रकालभावाभिधायीनि,त-थेह पृथक्त्व द्विप्रभृत्या नवान्त स्थलचरभेदानाह-परि स मन्तात्सर्पन्ति गच्छन्तीति परिसर्पाः। एकखुराऽऽदयश्च हयाऽऽ-दिप्रभृतिभिर्यथाक्रम योज्यन्ते,तत एकः खुरश्चरणाधोवर्त्यस्थि-विशेषो येषां ते एकखुरा हयाऽऽदय, एव द्विखुरा गवादयो, गण्डीपदा कर्णिका,तद्वद् वृत्ततया पदानि येषां ते गण्डीपदा गजाऽऽदय।(सणपय त्ति) सूत्रत्वात् सह नखैर्नखरात्मकैर्वर्तन्त इति सनखास्तथाविधानि पदानि येषां ते सनखपदाः सिंहाऽऽ-दय । ( भुओरगपरिसप्पा य त्ति ) परिसर्पशब्दः प्रत्येकमभि-सम्बध्यते। ततो भुजा इव भुजाः शरीरावयवविशेषा ,तैः परि-सर्पन्त इति भुजपरिसर्पाः, उरो वक्षस्तेन परिसर्पन्तीति उ-र परिसर्पाः तत्रैव तत्र प्राधान्यात् गोधाऽऽदय, अहि, सर्प-स्तश्रादय इति यथाक्रम योग ।एते चैकैक इति प्रत्येकमनेकधा अनेकभेदा गोधेरकनकुलाऽऽदिभेदतो गोधसहात्रयापाऽऽदि-भेदतश्च,पल्योपमानि तु श्रीण्युत्कृष्टेन तु साधिकानि पूर्वकोटीपृ-थक्त्वेनोक्तरूपेण पल्योपमाऽऽयुषो हि न पुनस्तत्रैवोत्पद्यन्ते, ये तु पूर्वकोट्यायुषो मृत्वा तत्रैवोपजायन्ते तेऽपि सप्ताष्ट वा भव-ग्रहणानि यावत्पञ्चेन्द्रियनरतिरश्चामधिकानिरन्तरभवान्तरास-म्भवात् । उक्त हि-" सत्तट्ठ भवा उ तिरियमणुय त्ति । " अत एवाथम एवाधिकस्य सम्भव इति भावना । खचरानाह-(चम्मे उ त्ति) चर्ममयपक्षिणः चर्मचटकाप्रभृतय , चर्म-रूपा एव हि तेषां पक्षा इति । तथा-रोमप्रधाना पक्षा रोमपक्षाः तद्योगाद्रोमपक्षिणो राजहंसाऽऽदय ।समुद्गपक्षिणः समुद्गकाऽऽ-कारपक्षवन्त , ते च मानुषोत्तराद् बहिर्द्वीपवर्त्तिनः । विततपक्षि-णो ये सर्वदा विस्तारिताभ्यामेव पक्षाभ्यामासते, इह च यत् क्षेत्रस्थित्यन्तराऽऽदि प्रत्येक प्राकृतमसदृशमपि पुनः पुनरुच्यते, न पुनरतिदिश्यते, तत् प्रपञ्चितज्ञविनेयाऽनुग्रहार्थम्,एवंविधा अपि प्रज्ञापनीया एव, इतिख्यापनार्थं चेत्यदुष्टमिति विभाव-नीयमिति पञ्चविंशतिसूत्रार्थः । उत्त० ६ अ० ।

**पंचिंदियरयण**—पञ्चेन्द्रियरत्न—न० । चक्रवर्तिनां वीर्यतः स-जात्युत्कृष्टे पञ्चेन्द्रिये एकैकस्य पञ्चेन्द्रियस्य सदा पञ्चे-न्द्रियरत्नानि-सेना यतिर्गृहपतिर्वर्द्धकिः पुरोहितः स्त्री अश्वो हस्ती चेति । स्था० ७ ठा० ।

**पंचिंदियसंवरण**—पञ्चेन्द्रियसंवरण—न०।स्पर्शनाऽऽदीन्द्रियनि-ग्रहणे, ध० ३ अधि० ।

**पंचुंबरी**—पञ्चोदुम्बरी—स्त्री० । पञ्चानामुदुम्बराणां समाहारः पञ्चोदुम्बरी । वटपिप्पलोदुम्बरप्लक्षकाकोदुम्बरीफलरूपे उ-दुम्बराऽऽदिपञ्चके, सा मशकाऽऽकारसूक्ष्मबहुजीवभृतत्वाद् वर्जनीया । प्रव० ४ द्वार । पञ्चा० ।

**पंचोवयारजुत्त**—पञ्चोपचारयुक्त—त्रि०। "दो जाणू दोण्णि करा, पंचमयं होइ उत्तिमगं तु ।" एवमेभिः पञ्चभिरुपचारैः युक्ते प-ञ्चाङ्गप्रणिपाते,"सच्चित्ताण दव्वाणं विउस्सरणयाए।" इत्यादि-केरागमोक्तैः पञ्चभिर्विनयस्थानैर्युक्ते, पञ्चा० १ विव० ।

**पंजर**—पञ्जर—न० । लोहवंशशलाकाऽऽदिनिर्मिते पक्षिनियन्त्र-णस्थाने, उत्त० २२ अ० । सू० प्र० । ज्ञा० । प्रश्न० । जी० । वंशाऽऽदिमयप्रच्छादनविशेषे, रा० । " नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा, संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं । " उत्त० १४ अ० । आ० म० ।

**पंजरग्ग**—पञ्जराग्र—न० । पञ्जरमुखे, आ० म० १ अ०२ खण्ड ।

**पंजरणिरोहण**—पञ्जरनिरोधन—न० । पञ्जरे रोधयित्वा प्राणिनां दण्डने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**पंजरदीव**—पञ्जरदीप—पुं० । अभ्रपटलाऽऽदिपञ्जरयुक्ते दीपे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० ।

**पंजरभग्ग**—पञ्जरभग्न—पुं० । यथा पञ्जरे शकुनेः शलाकाऽऽदि-भिः स्वच्छन्दगमन निवार्यते तथाऽऽचार्याऽऽदिपुरुषगच्छ-पञ्जरे सारणाशलाकया सामान्यरूपोन्मार्गगमन निवार्यते तद्भग्न येन सः । वर्तमानसाधुना मूलादागते, परिभवता वा मूलादागते, व्य० १ उ० ।

**पंजरुम्मीलिय**—पञ्जरोन्मीलित—त्रि० । वंशाऽऽदिमयप्रच्छादन-विशेषात् पञ्जराद् बहिष्कृते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । सू० प्र० । " पंजरुम्मीलिय व । " पञ्जरादुन्मीलितमिव बहिः कृ-तमिव पञ्जरोन्मीलितमिव, यथाहि किल किमपि वस्तु पञ्ज-राद् वंशाऽऽदिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहि कृतमत्यन्तमविन-ष्टच्छायत्वात् शोभते, एव तदपि विमानमिति भाव । च० प्र० १८ पाहु० ।

**पंजल**—प्राञ्जल—त्रि० । समे, विशे० । अनु० ।

**पंजलि**—प्राञ्जलि—पुं० । प्रकृष्टे प्रधाने ललाटतटघटितत्वेनाञ्ज-लौ, ज० १ वक्ष० । विनयरचितकरसंपुटे, ध० २ अधि० ।

ज्ञा० । आव० । प्रकृताञ्जलौ, आ० चू० ४ अ० । प्रवृद्धाञ्जलौ, येन हि प्रवृद्धोऽञ्जलिः । व्य० १ उ० ।

पंजलिउड-प्राञ्जलिकृत-त्रि० । प्रकृष्ट. प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलिर्हस्तन्यासविशेषः कृतो विहितो येन स । अग्न्याहिताऽऽदिदर्शनात्प्राञ्जलिकृतः । भ०१ श०१ उ० । आ० म० । विनयरचितकरपुटे, द० । प्रोद्गताञ्जलौ, दश० ६ अ० १ उ० । रा० । बद्धाञ्जलौ, उत्त० १ अ० । च० प्र० । ज्ञा० । प्रह्वाञ्जलिपुटे, पं० चू० १ कल्प । उत्त० । सू० प्र० । "सुत्तत्थे णेहतो, कुण अजलिं पजलिउडो तु ।" पं० भा० १ कल्प । प्रकर्षेणान्तः प्रीत्यात्मकेन कृतो विहितोऽञ्जलिरुभयकरमीलनाऽऽत्मको ऽनेनेति प्रकृताञ्जलिः । प्राकृतत्वाच्च कृतशब्दस्य परनिपातः । विनयरचितकरपुटे, उत्त० १ अ० ।

प्राञ्जलिपुट-त्रि० । प्रकृष्टभावान्विततयाऽञ्जलिपुटमस्येति प्राञ्जलिपुटः । बद्धाञ्जलौ, उत्त० १ अ० ।

पंडअ-पण्डक-पु० । 'पडग' शब्दार्थे, पाइ० ना० २३५ गाथा ।

पंडग-पण्डक-पु० । नपुंसकभेदे, ध० ३ अधि० । स्था० । सू० । विशे० । पं० भा० । ग० । प्रव० । नि० चू० । "तहिय पंडो निसिद्धो, लक्खण दूसिय तहोवघाओ य ।" पं० भा० १ कल्प । (लक्षणपण्डकः 'लक्खणपंडग' शब्दे द्रष्टव्यः ) ( दूषितपण्डकः 'दूसियपंडग' शब्दे चतुर्थभागे २६०६ पृष्ठे गतः ) ( उपघातपण्डकः 'उवघायपंडग' शब्दे द्वितीयभागे ८०१ पृष्ठे विस्तरेण प्रतिपादितः ) ( सर्वेऽपि पण्डकाः प्रव्रज्याऽयोग्याः इति 'पव्वज्जा' शब्दे वक्ष्यते )

पंडगवण-पण्डकवन-न० । पण्डते गच्छति जिनजन्माभिषेकस्थानत्वेन सर्ववनेष्वतिशायितामिति ण्वुप्रत्यये पण्डकं, तच्च वनमिति । जं०४ वक्ष० । सौमनसवनादूर्ध्वं षट्त्रिंशद्योजनसहस्राणि उत्प्लुत्यात्रान्तरे मेरोरुपरितने तले योजनसहस्रविस्तारे चूलिकायाः सर्वासु दिक्षु मेरौ चतुर्थे स्वनामख्याते वने, ज्यो० १० पाहु० । प्रज्ञा० । "दो पंडगवणा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

तच्च क-

कहि णं भंते ! मन्दरे पव्वए पंडगवणे णामं वणे पण्णत्ते ? । गोयमा ! सोमणसवणस्स बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ छत्तीसं जोअणसहस्साइं उड्ढं उप्पइत्ता एत्थ णं मंदरे पव्वए सिहरतले पंडगवणे णामं वणे पण्णत्ते चत्तारि चउणउए जोअणसए चक्कवालविक्खंभेणं वट्टे वलयाकारसंठाणसंठिए, जे णं मंदरचूलिअं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ, तिण्णि जोअणसहस्साइं एगं च बावट्ठिं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं, से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं०जाव किण्हदेवा आसयंति । जं० ।

( मन्दरचूलिकाच 'मंदरचूलिया' शब्दे वक्ष्यन्ते)

"कहि ण" इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः । उत्तरसूत्रे सौमनसवनस्य बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वं षट्त्रिंशद्योजनसहस्राणि उत्प्लुत्य तत्र देशे मन्दरे पर्वते शिखरतले मौलिभागे पण्डकवन नाम वनं प्रज्ञप्तम् । चत्वारि योजनशतानि चतुर्नवत्यधिकानि चक्रवालविष्कम्भेन । एतच्चोपपत्तिस्तु सहस्रयोजनप्रमाणात् शिरोव्यासान्मध्यस्थितचूलिकामूलव्यासे द्वादशयोजनप्रमाणे शोधितेऽवशिष्टेऽर्धीकृते यथोक्तं मानं, यत्पण्डकवनं मन्दरचूलिकां सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्य तिष्ठति, यथा नन्दनवनं मेरुं सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्य स्थितं, तथेदं मेरुचूलिकामिति । त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्टि द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेणेति । अथास्य वर्णकमाह-( से ण इत्यादि ) व्यक्तम् ।

अथ प्रस्तुतवने भवनप्रासादाऽऽदिवक्तव्यगोचरसूत्रम्-

मंदरचूलियाए णं पुरच्छिमेणं पंडगवणं पण्णासं जोअणाइं ओगाहित्ता एत्थ णं महं एगे भवणे पण्णत्ते, एवं ज चेव सोमणसे पुव्ववण्णिओ गमो भवणाणं पुक्खरिणीणं पासायवडेंसगाण य, सो चेव णेअव्वो०जाव सक्कीसाणवडेंसगा, तेणं चेव परिमाणेणं ।

( मन्दरचूलियाए इत्यादि ) मन्दरचूलिकायाः पूर्वतः पण्डकवनं पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्य अत्रान्तरे महदेकं भवनं सिद्धाऽऽयतनं प्रज्ञप्तम्, एवमुक्ताभिलापेन य एव सौमनसभवने पूर्ववर्णितो नन्दनवनप्रस्तावोक्तो गमः कूटवर्जः सिद्धाऽऽयतनाऽऽदिव्यवस्थाऽऽधायकः सहशाऽऽलापकः पाठः, स एवात्रापि भवनानां पुष्करिणीनां प्रासादावतंसकानां च ज्ञातव्यः, यावच्छक्रेशानप्रासादावतंसकास्तेनैव प्रमाणेनेति । अत्रेदानीं नामानि प्रागुक्तयुक्त्या सूत्रेऽदृष्टान्यपि ग्रन्थान्तरतो लिख्यन्ते । तद्यथा-ऐशानप्रासादपूर्वाऽऽदिक्रमेण पुण्ड्रा १ पुण्ड्रप्रभा २ सुरक्ता ३ रक्तावती ४ । आग्नेयप्रासादे-क्षीररसा १ इक्षुरसा २ अमृतरसा ३ वारुणी ४ । नैर्ऋतप्रासादे-शङ्खोत्तरा १ शङ्खा २ शङ्खावर्ता ३ बलाहका ४ । वायव्यप्रासादे-पुष्पोत्तरा १ पुष्पवती २ सुपुष्पा ३ पुष्पमालिनी ४ चेति । जं० ४ वक्ष० ।

पंडगवेजयंत-पण्डकवैजयन्त-पु० । पण्डकवन शिरसि व्यवस्थित वैजयन्तीकल्प पताकाभूतं यस्य स तथा । पण्डकवनमण्डितशिरस्के, "सयं सहस्सा णउजोयणाण, तिकण्डगे पडगवेजयते ।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

पंडरग-देशी-छन्ने, दे० ना० ६ वर्ग २३ गाथा ।

पंडर-पण्डर-पु० । क्षीरवरद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु० । च० प्र० ।

पंडव-पाण्डव-पु० । 'मांसाऽऽदिष्वनुस्वारे" ॥ ८ । १ । ७० ॥ इति ह्रस्व । प्रा० १ पाद । पाण्डोरपत्य पाण्डवः । पाण्डुराजक्षेत्रजाया कुन्त्याः पुत्रेषु युधिष्ठिराऽऽदिषु, स्था० १० ठा० । अन्त० । ज्ञा० । आव० । आ० म० । ( 'दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५८८ पृष्ठे कथोक्ता )

पंडविअ-देशी-जलाऽऽर्द्रे, दे० ना० ६ वर्ग २० गाथा ।

पंडिय-पण्डित-पु० । पापाड्डीनः पण्डितः । लयते, भ० ७ श० २ उ० । सर्वविरते, सू० ३ उ० । पापानुष्ठानाद्वीयसि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । सदसद्विवेकज्ञे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । सूत्र० । परमार्थज्ञे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । तत्त्वज्ञे, उत्त० ६ अ० । भावरिपुभिरनिहते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

उत्त० । पापोपादानपरिहारतया सम्यक्पदार्थज्ञे, आचा० १ श्रु० ६ अ०४ उ० । सूत्र० । सकलावद्यपरिवर्जके,भ० १ श० ४ उ० । बुद्धिमति, आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० । विवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । हेयोपादेयतत्त्वज्ञे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । परमार्थवेदिनि ( दश० ९ अ० ४ उ० ) साधौ, अनु० । विदुषि, दश० १ अ० । पण्डा बुद्धिः सजाताऽस्येति पण्डितः । उत्त० १ अ० । शास्त्रार्थज्ञे, दश० ६ अ० ४ उ० । दर्शनपरिणामवति,दश० २ अ० । "पठकः पाठकश्चैव,ये चान्ये तत्त्वचिन्तकाः। सर्वे व्यसनिनो राजन् ! यः क्रियावान् स पण्डितः ॥१॥" स्था० ४ ठा० ४ उ० । पण्डितपदनन्दिभवनाभावे पण्डितपदस्थस्य पुरो न्यूनाधिकपर्यायाणां सामान्ययतीनां सजातनन्दीनां लघुपण्डितानां च कियन्ति कियन्ति क्रियाकार्याणि कृतानि शुद्धयन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-पण्डितपदनन्दिभवनाभावेऽपि वृद्धपण्डितस्य पुरः प्रतिदिनक्रियमाणानि सर्वाण्यपि धर्मकार्याणि सर्वेषां कृतानि शुद्धयन्ति, शैक्षोपस्थापनास्थापनाचार्यप्रतिष्ठाप्रतिमाप्रतिष्ठाऽऽदिकानि तु कृत्यानि मन्त्रसापेक्षत्वान्न शुद्धयन्तीति पारम्पर्यं,साम्प्रतं तु केचन वृद्धगणयो लघुपण्डितस्य पुरः कालग्रहणानुष्ठानाऽऽदिकं न कुर्वन्ति, तत्प्रवृत्तिस्तु प्रवाहप्रवृत्तेति निवारयितुमशक्या, परं शास्त्राक्षरानुसारेण लघोरपि पण्डितपुरो वृद्धानामपि गणीनां तत्करणं नानौचित्यमञ्चतीति । १६६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

**पंडियजण**–पण्डितजन–पुं० । विद्वज्जने, पञ्चा० १६ विव० ।

**पंडियप्पवाइ ( ण् )**–पण्डितप्रवादिन्–त्रि० । पण्डिताभिमानिनि, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

**पंडियमरण**–पण्डितमरण–न० । पण्डिताः सर्वविरतास्तेषां मरणं पण्डितमरणम् । स० १७ सम० । आतु० । सर्वविरतमरणे, भ० १३ श० ७ उ० । उत्तमार्थप्रतिपत्तौ, स्था० । "से किं तं पंडियमरणे ? पंडियमरणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य ।" भ० २ श० १ उ० । द० प० ।

**पंडियमाणि ( ण् )**–पण्डितमानिन्–त्रि० । पण्डितमात्मानं मन्यते इत्येवंशीलः पण्डितमानी । उत्त०४ अ० । आत्मानं पण्डितं मन्ये ज्ञानाहङ्कारधारिणि, उत्त० ६ अ० । ओघ० । सूत्र० । आ० म० । दुर्विदग्धे, वृ० १ उ० ।

**पंडियवयण**–पण्डितवचन–न० । सङ्क्षिप्ताभिधाने विद्वदुक्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**पंडियवीरिय**–पण्डितवीर्य–न० । अनगाराणां वीर्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

> इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ( ९ )
> दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे ।
> पणुल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वमकर्मणां पण्डितानां यद्वीर्यं तत् मे मम कथयतः शृणुत यूयमिति ॥९॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाऽऽह-(दविए इत्यादि) द्रव्यो भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः । "द्रव्यं च भव्ये" इति वचनात् । रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थः । यदि वा वीतराग इति । वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-"किं सक्का वो जुत्तुं, सरागधम्ममि कोइ अकसायी । संते वि जो कसाए, निगिण्हई सोऽवि तत्तुल्लो ॥ १ ॥" स च किंभूतो भवतीति दर्शयति-बन्धनात्कषायाऽऽत्मकान्मुक्तो बन्धनोन्मुक्तः । बन्धनं तु कषायाणां कर्मस्थितिहेतुत्वात् । तथा चोक्तम्-" बधट्ठिई कसायवसा ।" इति । यदि वा-बन्धनोन्मुक्त इव बन्धनोन्मुक्तः । तथा-सर्वतः सर्वप्रकारेण सूक्ष्मबादररूपं छिन्नमपनीतं बन्धनं कषायाऽऽत्मकं येन स छिन्नबन्धनः। तथा-प्रणुद्य प्रेर्य पापं कर्म कारणभूतान् वाऽऽश्रवानपनीय शल्यवच्छल्यं शेषकं कर्म तत् कृन्तत्यपनयत्यन्तशो निरवशेषतो विघटयति । पाठान्तरं वा-( सल्लं कतइ अप्पणो त्ति ) शल्यभूतं यदष्टप्रकारं कर्म तदात्मनः सम्बन्धि कृन्तति छिनत्तीत्यर्थः ॥१०॥

यदुपादाय शल्यमपनयति तद्दर्शयितुमाह-

> नेयाउयं सुअक्खायं, उवादाय समीहए ॥
> भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥११॥

( नेयाउयमित्यादि ) नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन् । स चाऽत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मको मोक्षमार्गः, श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वात् गृह्यते । मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकराऽऽदिभिराख्यातं स्वाख्यातं, तमुपादाय गृहीत्वा सम्यक् मोक्षाय चेष्टते ध्यानाध्ययनाऽऽद्यावुद्यमं विधत्ते । धर्मध्यानाऽऽरोहणाऽऽलम्बनायाऽऽह-भूयो भूयः पौनःपुन्येन यद्बालवीर्यं तदतीतानागतानन्तभवग्रहणेषु दुःखमावासयतीति दुःखाऽऽवासं वर्तते । यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकाऽऽदिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव प्रवर्धते इत्येवं संसारस्वरूपमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मध्याने प्रवर्तत इति ॥ ११ ॥

साम्प्रतमनित्यभावनामधिकृत्याऽऽह-

> ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
> अणियंते अयं वासे, णायएहिं सुहीहि य ॥ १२ ॥

( ठाणी विविहेत्यादि ) स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः । तद्यथा-देवलोके इन्द्रः,तत्समानानि त्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि, मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमहामण्डलिकाऽऽदीनि । तिर्यक्ष्वपि यानि कानिचिदिष्टानि भोगभूम्यादौ स्थानानि, तानि सर्वाण्यपि विविधानि नानाप्रकाराण्युत्तमाधममध्यमानि, तेषु स्थानिनस्त्यक्ष्यन्ति नात्र संशयो विधेय इति । तथा चोक्तम्-" अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च । देवासुरमनुष्याणा-मृद्धयश्च सुखानि च ॥ १ ॥ " तथाऽयं ज्ञातिभिः सह बन्धुभिः सार्धं सुहृद्भिश्च मित्रैः सुहृद्भिर्यः संवासः सोऽनित्योऽशाश्वत इति । तथा चोक्तम्-" सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः । सुचिरमपि हि पुष्टं याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्म एकः सहायः ॥ १ ॥" इति । चकारो धनधान्यद्विपदचतुष्पदशरीराऽऽद्यनित्यत्वभावनार्थो,अशरणाऽऽद्यशेषभावनार्थं वाऽनुक्तसमुच्चयार्थमुपात्त इति ॥ १२ ॥

> एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
> आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥ १३ ॥

( एवमादायेत्यादि ) अनित्यानि सर्वाण्यपि स्थानानीत्येवमादायावधार्य मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः, सदसद्विवेकी वाऽऽत्मनः सम्बन्धिनीं गृद्धिं गार्ध्यं ममत्वमुद्धरेदपनयेन्ममेद-

महमस्य स्वामीत्येव ममत्वं क्वचिदपि न कुर्यात् । तथा-आ. राज्ञातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यर्थो मोक्षमार्ग, तमुपसम्पद्येताऽधितिष्ठेत् समाश्रयेदिति । किंभूत मार्गमित्याह-सर्वैः कुतीर्थिकधर्मैरकोपितोऽदूषितः, स्वमहिम्नैव दूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठां गतः । यदि वा-सर्वधर्मैः स्वभावेरनुष्ठानरूपैरगोपित कुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः ॥ १३ ॥

सुधर्मपरिज्ञानं च यथा भवति तद्दर्शयितुमाह-

सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेतु वा ।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खायकुपावए ॥ १४ ॥

( सह समइए इत्यादि ) धर्मस्य सारः परमार्थो धर्मसारस्तं, ज्ञात्वाऽवबुध्य । कथमिति दर्शयति-सह सम्मत्या स्वमत्या वा विशिष्टाऽऽभिनिबोधिकज्ञानेन श्रुतज्ञानेनावधिज्ञानेन वा स्वपरावबोधकत्वात् ज्ञानस्य, तेन सह धर्मस्य सारं ज्ञात्वेत्यर्थः । अन्येभ्यो वा तीर्थकरगणधराऽऽचार्याऽऽदिभ्य इलापुत्रवत् ( तत्कथा ' इलापुत्त ' शब्दे द्वितीयभागे ६३२ पृष्ठे गता ) श्रुत्वा चिलातपुत्रवद्वा ( तत्कथा " चिलाइपुत्त " शब्दे तृतीयभागे ११८८ पृष्ठे द्रष्टव्या ) धर्मसारमुपगच्छति । धर्मस्य वा सारं चारित्रं, तत्प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपन्नश्च पूर्वोपात्तकर्मक्षयार्थं पण्डितवीर्यसम्पन्नो रागाऽऽदिबन्धनविमुक्तो बालवीर्यरहित उत्तरोत्तरगुणसम्पत्तये समुपस्थितोऽनगारः प्रवर्द्धमानपरिणामः प्रत्याख्यात निराकृत कुपापकं सावद्यानुष्ठानरूपं येनाऽसौ प्रत्याख्यातपापको भवतीति ॥ १४ ॥

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥ १५ ॥

( ज किंचुवक्कममित्यादि ) उपक्रम्यते संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमस्तं य कञ्चन जानीयात् । कस्य ? आयु क्षेमस्य स्वायुष इति । इदमुक्त भवति-स्वायुष्कस्य येन केनचित्प्रकारेणोपक्रमो भावी यस्मिन्वा काले तत्परिज्ञाय, तस्योपक्रमस्य कालस्य वा अन्तराले क्षिप्रमेवाऽनाकुलो जीविताऽनाशंसी पण्डितो विवेकी संलेखनारूपां शिक्षां, भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणाऽऽदिकां वा शिक्षेत् । तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायाऽऽसेवनाशिक्षया सेवेतेति ॥ १५ ॥

किं चान्यत्-

जहा कुम्मे अ संगाई, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइँ मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥ १६ ॥

( जहा कुम्मे इत्यादि ) यथेत्युदाहरणप्रदर्शनार्थः । यथा कूर्मः कच्छपः स्वान्यङ्गानि शिरोधराऽऽदीनि स्वके देहे समाहरेद्गोपयेद्व्यापाराणि कुर्यात् । एवमनयैव प्रक्रियया मेधावी मर्यादावान् सदसद्विवेकी वा पापानि पापरूपाण्यनुष्ठानान्यध्यात्मना सम्यक् धर्मज्ञानाऽऽदिभावनया समाहरेदुपसंहरेन्मरणकाले चोपस्थिते सम्यक् संलेखनया संलिखितकायः पण्डितमरणेनाऽऽत्मानं समाहरेदिति ॥ १६ ॥

संहरणप्रकारमाह-

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि य ।
पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥ १७ ॥

(साहरे इत्यादि) पादपोपगमने, इङ्गितमरणे, भक्तपरिज्ञायां, शेषकाले वा कूर्मवद्धस्तौ पादौ च संहरेद्व्यापारान्निवर्तयेत् । तथा मनोऽन्तःकरणं, तच्चाऽकुशलव्यापारेभ्यो निवर्तयेत् । तथा-शब्दाऽऽदिविषयेभ्योऽनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतया श्रोत्रेन्द्रियाऽऽदीनि पञ्चाऽपीन्द्रियाणि । चशब्दः समुच्चये । तथा पापकं परिणाममैहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसारूपं संहरेदिति । एवं भाषादोषं च तादृशपापरूपं संहरेत्, मनोवाक्कायगुप्तः सन् दुर्लभं संयममवाप्य पण्डितमरणं वाऽशेषकर्मक्षयार्थं सम्यगनुपालयेदिति ॥ १७ ॥

तं च संयमे पराक्रममाणं कश्चित् पूजासत्काराऽऽदिना निमन्त्रयेत्,तत्राऽऽत्मनोत्कर्षो न कार्य इति दर्शयितुमाह-

अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।
सातागारवणिहुए, उवसंतेऽणिहे चरे ॥ १८ ॥

( अणु माणं चेत्यादि ) चक्रवर्त्यादिना सत्काराऽऽदिना पूज्यमानेनाऽणुरपि स्तोकोऽपि मानोऽहङ्कारो न विधेय , किमुत महान्? यदि वा-उत्तममरणोपस्थितेनोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा अहोऽहमित्येवंरूपः स्तोकोऽपि गर्वो न विधेय । तथा-"पायकुरायया" इत्यस्तोकाऽपि माया न विधेया,किमुत महतीति ? । एवं क्रोधलोभावपि न विधेयाविति । एवं द्विविधयाऽपि परिज्ञया कषायाँस्तद्विपाकांश्च परिज्ञाय तेभ्यो निवृत्तिं कुर्यादिति । पाठान्तरं वा"- अइमाणं च माए च तं परिण्णाय पंडिए ।" अतीव मानोऽतिमानः सुभूमाऽऽदीनामिव ( अत्र ' सुभूम ' शब्दो मानशब्दश्च द्रष्टव्यः) तं दुःखावहमित्येवं ज्ञात्वा परिहरेत् । इदमुक्तं भवति-यद्यपि सरागस्य कदाचिन्मानोदयः स्यात्तथाऽप्युदयप्राप्तस्य विफलीकरणं कुर्यादिति । एवं मायायामप्यायोज्यम् । पाठान्तरं वा-" सुयं मे इहमेगेसिं, एयं वीरस्स वीरियं । " येन बलेन संग्रामशिरसि महति सुभटे परानीकं विजयते, तत्परमार्थतो वीर्यं न भवति,अपि तु येन कामक्रोधाऽऽदीन्,विजयते तद्वीरस्य महापुरुषस्य वीर्यमिहैवाऽस्मिन्नेव संसारे मनुष्यजन्मनि वैकेषां तीर्थकराऽऽदीनां सम्बन्धि वाक्यं मया श्रुतम् । पाठान्तरं वा-"आयतट्ठं समादाय, एयं वीरस्स वीरियं । " आयतो मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात्, स चासावर्थश्च तदर्थो वा तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः,स आयतार्थ ,तं सम्यगाऽऽदाय गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधाऽऽदिविजयाय च पराक्रमते, एतद्वीरस्य वीर्यमिति वीरस्य वीरत्वमिति, तद्यथा भवति तत्तथाऽऽख्यातम् । किञ्चान्यत्-सातगौरवं नाम सुखशीलता,तत्र निभृतः, तदर्थमनुद्युक्त इत्यर्थः। तथा-क्रोधाऽग्निजयादुपशान्तः शीतीभूतः शब्दाऽऽदिविषयेभ्योऽप्यनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतयोपशान्तो जितेन्द्रियत्वात्तेभ्यो निवृत्त इति । तथा-निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा माया,न विद्यते सा यस्याऽसावनिहो,मायाप्रपञ्चरहित इत्यर्थः । तथा-मानरहितो लोभवर्जित इत्यपि द्रष्टव्यम् । स चैवम्भूतः संयमानुष्ठानं चरेत् कुर्यादिति । तदेव मरणकाले अन्यदा वा पण्डितो वीर्यवान् महाव्रतेषूद्यत स्यात् ।

तत्राऽपि प्राणातिपातविरतिरेव गरीयसीतिकृत्वा तत्प्रतिपादनार्थमाह-

" उड्ढमहे तिरियं वा, जे पाणा तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥ १ ॥ "

अयं च श्लोको न सूत्राऽऽदर्शेषु दृष्टः, टीकायां तु दृष्ट इति कृत्वा लिखितः, उत्तानार्थश्चेति ॥ १८ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

तथा किञ्चान्यत्-

कडं च कज्जमाणं च, आगामिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥ २१ ॥

( कडं चेत्यादि ) साधूद्देशेन यदपरैरनार्यकल्पैः कृतमनुष्ठितं पापकं कर्म, तथा-वर्त्तमाने च काले क्रियमाणम्, तथा-आगामिनि च काले यत्करिष्यते, तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुजानन्ति नाऽनुमोदन्ते,तदुपभोगपरिहारेणेति भावः । यदप्यात्मार्थं पापकं कर्म परैः कृतं, क्रियते, करिष्यते च । तद्यथा-शत्रोः शिरश्छिन्नं, छिद्यते, छेत्स्यते वा । तथा-चौरो, हतो हन्यते, हनिष्यते वा इत्यादिकं परानुष्ठानं नाऽनुजानन्ति, न च बहु मन्यन्ते । तथाहि-यदि परः कश्चित्सुकृतेनाऽऽहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यन्त इति । क एवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा । जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि श्रोत्राऽऽदीनि यैस्ते तथा, एवम्भूताः पापकर्म नाऽनुजानन्तीति स्थितम् ॥ २१ ॥

अन्यच्च-

जे अबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥ २२ ॥

( जे अबुद्धा इत्यादि ) ये केचनाऽबुद्धा धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुष्कतर्काऽऽदिपरिज्ञानेन जाताऽवलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वाऽनवबोधादबुद्धा इत्युक्तम् । न च व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण वस्तुतत्त्वावबोधो भवतीति । तथा चोक्तम्- " शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैवाऽबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् । नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति ॥ १ ॥ " यदि वा-अबुद्धा इव बालवीर्यवन्तः । तथा महान्तश्च ते भागाश्च महाभागा । भागशब्दः पूजावचनः । ततश्च महापूज्या इत्यर्थः, लोकविश्रुता इति । तथा-वीराः परानीकभेदिनः सुभटा इति । इदमुक्तं भवति-पण्डिता अपि त्यागाऽऽदिभिर्गुणैर्लोकपूज्याः । अपि च । तथासुभटवाद वहन्तोऽपि सम्यक् तत्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन भवन्तीति दर्शयति-न सम्यगसम्यक् तद्भावोऽसम्यक्त्वं, तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमाऽऽदिषु पराक्रान्तमुद्यमकृतस्तदशुद्धमविशुद्धकारि,प्रत्युत कर्मबन्धाय भावोपहतत्वात् सनिदानत्वाद्वेति कुवैद्यचिकित्सावद्विपरीतानुबन्धीति,तच्च तेषां पराक्रान्तं,सह फलेन कर्मबन्धेन वर्तत इति सफलम् । सर्वश इति । सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोनुष्ठानाऽऽदिका कर्मबन्धायैवेति ॥ २२ ॥

साम्प्रतं पण्डितवीर्येणाधिकृत्याऽऽह-

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥ २३ ॥

( जे य बुद्धा इत्यादि ) ये केचन स्वयंबुद्धास्तीर्थकराऽऽद्यास्तच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधराऽऽदयो महाभागा महापूजाभाजो वीराः कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानाऽऽदिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः । तथा सम्यक्त्वदर्शिनः परमार्थतत्त्ववेदिनः । तेषां भगवतां यत्पराक्रान्तं तपोऽध्ययनयमनियमाऽऽदावनुष्ठितं तच्छुद्धमवदातं निरुपरोधं सातगौरवशल्यकषायाऽऽदिदोषाऽकलङ्कितं कर्मप्रतिबन्धमफलं भवति, तन्निरनुबन्धनिर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः । तथाहि-सम्यग्दृष्टीनां सर्वमपि संयमतपःप्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानाश्रवरूपत्वात् तपसश्च निर्जराफलत्वादिति । तथा च पठ्यते- " संयमेण अणण्हयफले तवे वोदाणफले " इति ॥ २३ ॥

किञ्चान्यत्-

तेसिं पि तवो असुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जन्नेवऽन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥ २४ ॥

( तेसिं पीत्यादि ) महत्कुलमिक्ष्वाकादिकं येषां ते महाकुला लोकविश्रुताः शौर्याऽऽदिभिर्गुणैर्विस्तीर्णयशसस्तेषामपि पूजासत्काराऽऽद्यर्थमुत्कीर्त्तनेन वा यत्तपस्तदशुद्धं भवति । यच्च क्रियमाणमपि तपो नैवाऽन्ये दानश्राद्धाऽऽदयो जानन्ति तत्तथाभूतमात्मार्थिना विधेयम्, अतो नैवाऽऽत्मश्लाघां प्रवेदयेत् प्रकाशयेत् । तद्यथा- अहमुत्तमकुलीन इभ्यो वा साम्प्रतं पुनस्तपोनिष्टप्तदेह इति, एवं स्वयमाविष्करणेन न स्वकीयमनुष्ठानं फल्गुतामापादयेदिति ॥ २४ ॥

अपि च—

अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए ॥ २५ ॥

( अप्पपिंडा इत्यादि ) अल्पं स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्याऽसावल्पपिण्डाशी, यत्किञ्चनाशीति भावः । तथा चाऽऽगमः-" हे जसव आसीय, जत्थ व तत्थ व सुहोवगयनिद्दा । जेण व तेण व तुट्ठा,धीर! मुणिआसि ते अप्पा ॥ १ ॥ तथा-" अट्ठ कुक्कुडिअंडगमेत्तप्पमाणे कवले आहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालसकवलेहिं । अवड्ढोमोयरिया सोलसेहिं दुभागपत्ते चउवीसं ओमोदरिय सपमाणपत्ते, बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे । " अत एकैककवलहान्यादिनोनोदरता विधेया । एवं पाने उपकरणे । वाचोनोदरतां विदध्यादिति । तथा चोक्तम्-" थोवाहारो थोव-भणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो अ । थोवोवहिउपकरणे, तस्स हु देवा वि पणमति ॥१॥ " सुव्रतः साधुः स्वल्पं परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः । भावादौदर्यमधिकृत्याऽऽह-भावतः क्रोधाऽऽद्युपशमात् क्षान्तः क्षान्तिप्रधानः,तथाऽभिनिर्वृतो लोभाऽऽदिजयान्निरातुरः, तथा इन्द्रियनोइन्द्रियदमनाद्दान्तो जितेन्द्रियः । तथा चोक्तम्-"कषाया यस्य न च्छिन्ना, यस्य नाऽऽत्मवशं मनः । इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम् ॥ १ ॥ " एवं विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिराशंसादोषरहितः, सदा सर्वकालं संयमानुष्ठाने, यतेत यत्नं कुर्यादिति ॥ २५ ॥

अपि च-

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाय परिव्वए ॥ २६ ॥

( झाणजोगमित्यादि ) ध्यानं चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानाऽऽदिकं, तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारः,तं ध्यानयोगं समाहृत्य सम्यगुपादाय, कायं देहमकुशलयोगप्रवृत्तं, व्युत्सृजेत् परित्यजेत् । सर्वतः सर्वेणाऽपि प्रकारेण, हस्तपादाऽऽदिकमपि परपीडाकारि न व्यापारयेत् । तथा-तितिक्षां क्षान्तिं परीषहोपसर्गसहनरूपां, परमां प्रधानां, ज्ञात्वा, आमोक्षायाऽशेष-

कर्मक्षय यावत्परिव्रजेदिति संयमानुष्ठानं कुर्यास्त्वमिति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

पंडिया–पाण्डिता–स्त्री० । पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्या नगर्या वज्रसेनचक्रवर्त्तिन सुतायां श्रीमत्यां अम्बधात्र्याम्, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

पंडु–पाण्डु–पुं० । युधिष्ठिराऽऽदीनां कुन्तीमाद्रीसुतानां पितरि, स्था० १० ठा० । अ०न० । श्वेतवर्णे, केतकीधूलिसन्निभे पीतवर्णार्द्धवर्णभेदे, तद्वति । त्रि० । नागभेदे, श्वेतहस्तिनि, रोगभेदे, पटोलवृक्षे च । पुं० । मापपर्याय, वाच० । " सेअ सिअ वलक्ख, अवदाय पडु धवल च ॥ " पाइ० ना० ६२ गाथा ।

पंडुकंबलसिला–पाण्डुकम्बलशिला–स्त्री० । मेरुचूलिकाया दक्षिणत पण्डकवनदाक्षिणात्यपर्यन्तेऽभिषेकशिलायाम्, जं० ।

कहि णं भंते ! पंडगवणे पडुकंबलसिला णामं सिला पण्णत्ता ? । गोअमा ! मंदरचूलिआए दक्खिणे णं पंडगवणदाहिणपेरंते एत्थ णं पंडगवणे णं पंडुकंबलसिला णामं सिला पण्णत्ता, पाईणपडीणायया उत्तरदाहिणविच्छिण्णा । एवं तं चेव पमाणं, वत्तव्वया य जाणिअव्वा० जाव तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे सीहासणे पण्णत्ते, तं चेव सीहासणप्पमाणं । तत्थ णं बहूहिं भवणवइ जाव० भारहगा तित्थयरा अहिसिच्चंति ॥

" कहि णं ' इत्यादि प्रश्न प्रतीत । उत्तरसूत्रे मेरुचूलिकाया दक्षिणत पण्डकवनदाक्षिणात्यपर्यन्ते पाण्डुकम्बला नाम्नी शिला प्रज्ञप्ता । प्राक् पश्चिमाऽऽयता उत्तरदक्षिणविस्तीर्णा, आद्या तु प्राक् पश्चिमविस्तीर्णा उत्तरदक्षिणाऽऽयतेत्येतद्विशेषणद्वय विहायान्यत् प्रागुक्तमतिदिशति । एवमेवोक्ताभिलापेन तदेव प्रमाण शिलायाः पञ्चयोजनशताऽऽयामाऽऽदिक वक्तव्य, सा चार्जुनस्वर्णवर्णाऽऽदिका भणितव्या यावत्तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्रान्तरे महदेक सिंहासन प्रज्ञप्त, तदेव पञ्चधनु शताधिक सिंहासनप्रमाणसूत्राऽऽदौ ज्ञेयम्, तत्र बहुभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्भारतका भरतक्षेत्रोत्पन्नास्तीर्थकृतोऽभिषिच्यन्ते । ननु पूर्वशिलायां सिंहासनद्वयम्, अत्र तु एक सिंहासन किमिति ? । उच्यते–एषा हि शिला दक्षिणदिगभिमुखा, तद्दिगभिमुख च क्षेत्र भारताऽऽख्यम्, तत्र चैककालमेक एव तीर्थकृदुत्पद्यते इति तदभिषेकातुरो ग्रैकत्व सिंहासनस्येति । जं० ४ वक्ष० । ज्ञा० । स्था० ।

पंडुग–पाण्डुक–पुं० । स्वनामख्याते महानिधौ, स्था० ९ ठा० । प्र० । ( " गणियस्स " ( ३ ) इत्यादि गाथा ' णिहि ' शब्दे चतुर्थभागे २१५१ पृष्ठे व्याख्याता ) पाण्डुकापत्ये सर्पभेदे, आ० चू० १ अ० । प्रव० । दर्श० ।

पडुपत्त–पाण्डुपत्र–न० । पुराणत्वेन पाण्डुवर्णपत्रे, अनु० । ध० ।

पंडुभद्द–पाण्डुभद्र–पुं० । आर्यसंभूतिविजयस्य द्वादशे शिष्ये, " थेरे तह पडुभद्दे य " कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

पडुमट्टिया–पाण्डुमृत्तिका–स्त्री० । देशविशेषे या धूलिरूपा सती पाण्डुरिति प्रसिद्धा, तदात्मका जीवा अप्यभेदोपचारात् पाण्डुमृत्तिकेति । पृथ्वीकायभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

पडुमहुरा–पाण्डुमथुरा–स्त्री० । कृष्णदेशात् पाण्डवैर्निवेशिते भारतवर्षस्य दक्षिणार्द्धवेलातटे स्वनामख्याते सन्निवेशे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आव० । आ० म० । अन्त० । आ० चू० ।

पडुय–पाण्डुक–पुं० । ' पडुग ' शब्दार्थे, स्था० ९ ठा० ।

पंडुर–पाण्डुर–त्रि० । अकलङ्के, जी० । " पडुरससिसकलविमलनिम्मलसखगोक्खीरफेणकुंददगरयमुणालियाधवलदंत-सेढी । " पाण्डुरमकलङ्क यत् शशिशकल चन्द्रखण्ड विमल आगन्तुकमलरहितो निर्मल स्वभावोत्थमलरहितो य. शड्खगोक्षीरफेन प्रतीत., कुन्द कुन्दकुसुम, दकरज उदककणा., मृणालिका बिशम् तद्वत् धवला दन्तश्रेणिर्येषा ते पाण्डुरशशिशकलविमलनिर्मलगोक्षीरफेनकुन्ददकरजोमृणालिकाधवलदन्तश्रेणय । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । शुक्ले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सुधाधवले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । कल्प० ।

पंडुरंग–पाण्डुराङ्ग–पुं० । भस्मोद्धूलितगात्रे पाखण्डिनि, ग० ७ अधि० ।

पंडुरज्जा–पाण्डुराऽऽर्या–स्त्री० । स्वनामख्यातायामार्यायाम्, यया भक्तप्रत्याख्यान कृतवत्या मायादोषेण किल्बिषिकेषु जन्म लेभे । आ० म० १ अ० २ खण्ड । ( 'माया' शब्दे उदाहृतम् )

पंडुरत्थिय–पाण्डुरास्थिक–पुं० । बलीवर्द्दश्वेतास्थिप्राकाराऽऽन्यास्वनामख्याते ग्रामे, यश्चाऽस्थिकग्रामेति सञ्ज्ञा भेजे । आ० चू० १ अ० ।

पंडुरपडपाउरण–पाण्डुरपटप्रावरण–पुं० । पाण्डुरो धौत पट प्रावरण येषा ते तथा । मलपरीषहासहिष्णुताऽऽदरीकृतत्वाद् निर्मलोपधौ, ग० २ अधि० ।

पंडुरय–पाण्डुरक–त्रि० । श्वेते, " केसा पडुरया हवंति ते । " उत्त० ३ अ० ।

पंडुराय–पाण्डुराज–पुं० । माद्रीकुन्तीपतौ युधिष्ठिराऽऽदीना पितरि हस्तिनापुरराजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

पंडुरोग–पाण्डुरोग–पुं० । ज्वरविशेषेण शरीरस्य पाण्डुवर्णतायाम्, जं० १ वक्ष० । प्रव० ।

पडुल्लुइयमुही–पाण्डुकितमुखी–स्त्री० । आ० म० १ अ० १ खण्ड । पाण्डुरीभूतवदनायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

पंडुसिला–पाण्डुशिला–स्त्री० । नन्दनवने प्रथमाभिषेकशिलायाम्, जं० ।

कहि णं भंते ! पडगवणे पडुसिला णामं सिला पण्णत्ता ? । गोअमा ! मंदरचूलिआए पुरत्थिमे णं पंडगवणपुरच्छिमपेरंते एत्थ णं पंडगवणे पंडुसिला णाम सिला पण्णत्ता, उत्तरदाहिणायया पाईणपडीणविच्छिण्णा अद्धचंदसंठाणसंठिआ पंचजोअणसयाइं आयामेणं अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं विक्खंभेणं चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा वेइआ वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता, वण्णओ । तीसे णं प-

कुसिलाए चउद्दिसिं चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पलत्ता० जाव तोरणा । वएणओ । तीसे णं पंडुसिलाए उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पलत्ते० जाव देवा आसयंति, सयंति । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए उत्तरदाहिणेणं एत्थ णं दुवे सीहासणा पलत्ता । पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सीहासणवएणओ भाणिअव्वो, विजयदूसवज्जो । तत्थ णं जे से उत्तरिल्ले सीहासणे तत्थ णं बहूहिं भवण-वइवाणमंतरजोइसिअवेमाणिएहिं देवेहिं देवीहिं अ कच्छा-इआ तित्थयरा अभिसिच्चंति । तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले सीहासणे तत्थ णं बहूहिं भवण० जाव वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहिं अ बच्छाइआ तित्थयरा अभिसिच्चंति ।

"कहि णं" इत्यादि प्रश्नः प्रतीतः । उत्तरसूत्रे स दरच्चूलि-काया पूर्वेण पण्डकवनपूर्वपर्यन्ते पाण्डुशिला नाम शिला प्रज्ञप्ता । उत्तरदक्षिणतश्चाऽऽयता पूर्वेणाऽपरतश्च विस्तृता, अर्धचन्द्रसंस्थानसंस्थिता पञ्चयोजनशतान्यायामेन मुख्यवि-भागेन, अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भेन मध्यभागेन, अर्धचन्द्राऽऽकारक्षेत्रस्येव परमव्यासलक्षणत्वात्, अत एवास्याः परमव्यासः शरत्वेन लभ्यो, जीवात्वेन परिक्षेपो, धनुःपृष्ठत्वेन करणरीत्या अनेतव्या । तथा चत्वारि योजनानि बाहल्येन परितः सर्वाऽऽत्मना कनकमयी अस्तापाद्अर्जुनसुवर्णमयी अच्छा वेदिका वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ता । वर्णना च स्वंभेकाऽऽसला, सम्मुखता तु स्वस्वदिक्क्षेत्राभिमुखा, वर्णकश्च वेदिकावनखण्डयोर्वेतव्यः, चतुर्योजनोच्छ्रिता च शिला इत्य-वाहा रोहकाणामित्याह-( तीसे णमित्यादि ) तस्याः शिलायां चतुर्दिशि चत्वारि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि । तेषां च वर्णको वाच्यो यावत्तोरणानि । अथास्या भूमिभागवर्णनमा-दयन्नाह-( तीसे णमित्यादि ) तस्याः पाण्डुशिलाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तो यावद्देवा आसते, शेरते इत्यादि । अथाऽभिषेकाऽऽसनवर्णनायाऽऽह-(तस्स णमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे उत्तरतो दक्षिणतश्च अत्रान्तरे द्वे अभिषेकसिंहासने जिनज-न्माभिषेकाय पीठे प्रज्ञप्ते, पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्याम्, अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहल्येन, उच्चत्वेनेत्यर्थः । अत्र च सिंहाऽऽसनवर्णको भणितव्यः, स च विजयदूष्यवर्जः । उपरि भागे विजयनामकवस्त्रविशेषवर्णनारहित इत्यर्थः । शिला सिं-हाऽऽसनानामताद्रूप्यादेशादेव सिद्धत्वात् । अत्र च सिंहाऽऽसना नामायामविष्कम्भयोस्तुल्यत्वे सम चतुरस्रतोक्ता । ननु द्वेकेनै-व सिंहाऽऽसनेनाभिषेकसिद्धेः किमर्थं सिंहाऽऽसनद्वयमित्याह-( तत्थ णमित्यादि ) तत्र तयोः सिंहाऽऽसनयोर्मध्ये, "से" इति भाषायामलङ्कारे । यदौत्तराह सिंहासनं तत्र बहुभिर्भवनपतिव्य-न्तरज्योतिष्कवैमानिकैर्देवैर्देवीभिश्च कच्छाऽऽदिविजयाएकजा-तास्तीर्थकरा अभिषिच्यन्ते जन्मोत्सवार्थं स्नप्यते । यत्तु दा-क्षिणात्यं सिंहासनं, तत्र वत्साऽऽदिका इति । अत्रायमर्थः -एषा हि शिला पूर्वदिगभिमुखा, पश्चिमाभिमुखं च क्षेत्रं पूर्वमहाविदेहा-ऽऽख्यम्,तत्र च युगपज्जन्मद्वययुगं जन्मभाग भवति, तत्र शीतो-त्तरदिग्वर्तिविजयजातो जगद्गुरुरुत्तरदिग्वर्तिनि सिंहासनेऽभिषिच्यते, तस्याः एव दक्षिणदिग्वर्तिविजयजातो जगद्गुरु दक्षिणदिग्वर्तिनीति । जं० ४ वक्ष० ।

पंडुसेण-पाण्डुसेन-पुं० । पञ्चानां पाण्डवानां द्रौपद्यां जाते पुत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । स च द्रौपद्या सह प्रव्रजितषु पाण्डवेषु राजा जातः । आ० क० ४ अ० । आ० चू० ।

पंत-प्रान्त-पुं० । प्रकृष्टोऽन्तः । शेषसीमायाम्, वाच० । प्रकृष्टमन्तं प्रान्तं भुक्तावशेषत्वेन, पर्युषितत्वेन वा प्रकर्षेणान्तवर्ति स्यात् प्रान्तम् । भ० ६ श० ३३ उ० । स्नानादिकरसहित अपर्युषितेन वा वल्लचणकाऽऽदौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । पञ्चा० । प्रति० । ज्ञा० । स्था० । "निष्फावचणकमाई, अत पत तु होइ नायव्वं ।" निष्पावा वल्लाः ,चणकाः प्रतीताः,आ-दिशब्दात् कुल्माषाऽऽदिकं प्रान्तमित्युच्यते, प्रान्तं पुनस्तदेव व्यापन्नं विनष्टम् । आचा० १ श्रु० ७ अ० ६ उ० । "पंताणि चेव सेवेज्जा सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।" साधुर्यापनार्थं शरीर-निर्वाहार्थं प्रान्तानि नीरसानि अन्नपानादीनि सेवेत, च पुनरन्यान्यपि सेवेत । उत्त० ८ अ० । अपसदे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । "मा एयं साहू पंत देवया छलेहि ।" नि०चू० १ उ० । "पंत सेज्ज सेविसु ।" प्रान्तां शय्यां वसतिं शून्यगृहाऽऽदि कामन्तकोपद्रवोपद्रुताम् । "आसणगाइं च पंताइं ।" आसनानि यान्युत्कटशर्कराद्युपाऽऽउपचितानि काष्ठानि दुर्घटिता न्यासेवितवान् । आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ।

पंतकुल-प्रान्तकुल-न० । चाण्डालाऽऽदीनामपसदकुले, स्था० ८ ठा० । आ० म० ।

पंतगाम-प्रान्तग्राम-पुं० । आर्यदेशसीमाग्रामे, "प्रान्तग्रामेऽन्यदैकस्मिन्, भागच्छन्ति स्म साधवः ।" आ० क० १ अ० ।

पंतचरग-प्रान्तचरक-पुं० । प्रान्तं चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति प्रान्तचरकः । अभिग्रहविशेषात् प्रान्तमात्राहिण्डके,स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

पंतजीवि ( ण् ) प्रान्तजीविन्-पुं० । प्रान्तेन जीवितुं शीलमाजन्मापि यस्य स प्रान्तजीवी । स्था०५ ठा० १ उ० । अन्तप्रान्तचणकाऽऽदिजीविनि, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

पंतरूपण्णा-प्रान्तरूपप्रज्ञा-स्त्री० । सकलसालम्बनसमाधिपर्यन्तभूमिविशेषाम, द्वा० २५ द्वा० ।

पंतवत्थ-प्रान्तवस्त्र-न० । परिजीर्णचीवरे, बृ० ३ उ० ।

पंतविवेग-प्रान्तविवेक-पुं० । देहादात्मनामात्मनो वा सर्वसंयोगानां बुद्धया विवेचने, ग० १ अधि० ।

पंतावण-प्रान्तापन-न० । प्रहारदाने, निगडाऽऽदिनिर्यन्त्रणे, ग० १ अधि० । पिट्टने, व्य० १ उ० । यष्टिमुष्टिकशाऽऽदिना ताडने, ओघ० । नि० चू० । बृ० ।

पंतावणसकप्प-प्रान्तापनसकल्प-पुं० । यष्टिमुष्टिकर्परप्रहारैर्हन्मीति चिन्तायाम्, नि० चू० १ उ० ।

पंताहार-प्रान्ताऽऽहार-पुं० । प्रकर्षेणान्तं वल्लाद्येव भुक्तावशेषं पर्युषितं वाऽऽहारो यस्य स । औ० । प्रान्तमाहारयति, प्रान्ताऽऽहारो यस्य स प्रान्ताऽऽहारः । अभिग्रहविशेषात्प्रान्ताभिनि, स्था० ५ ठा० १ उ० । सूत्र० ।

नन्वौपपातिकसूत्रे साधुवर्णनाधिकारे "पंताहारे" इत्यस्य वृत्तौ पर्युषित वल्लचणक ऽऽदीनि व्याख्यातमस्ति । तथा च-पर्युषितपूपिकाभक्षणाऽऽदराणा खाद्याऽऽदीनां तद्विषयदोषे दृष्टत्वेन कथं युक्तिमदिति ? । अत्र "निप्फावचणकमाई, अंत पंत च होइ वावन्न ।" इति वृहत्कल्पभाष्ये जिनकल्पिकाधिकारे । एतद्वृत्तौ च-"वावन्न" शब्देन विनष्टमिति व्याख्यातमस्ति, तत्त्व तु तत्त्वविद्वेद्यम्, आत्मना तु पर्युषितस्याग्रहणेऽविच्छिन्नवृद्धपरम्पराऽऽराधन, सत्यक्तिसद्भावे तद्दोषवर्जन च गुणायेवेति बोध्यम । ही० ३ प्रका० । आ० क० ।

पंति-पङ्क्ति-स्त्री० । " ङञणनो व्यञ्जने " ॥ ८ । १ । २५ ॥ इति ङस्थानेऽनुस्वारः । प्रा० १ पाद । पद्धतौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " ओली माला राई, रिंछोली आवली पंती ।" पाइ० ना० ६३ गाथा । स्था० । अनु० । जी० । ( ज्योतिष्काणां पङ्क्तय ' जोइसिय' शब्दे चतुर्थभागे १७०३ पृष्ठे उक्ताः )

पंती-श्रेणी-वेण्याम्, दे० ना० ६ वर्ग २ गाथा ।

पंथ-पथिन्-पुं० । मार्गे, प्र० १० श० २ उ० । स्था० । उत्त० । नि० चू० । अध्वनि, आतु० । "दुविहा य होइ पंथो छिन्नछाण तर अछिन्न च । छिन्नम्मि नत्थि किंची, अछिन्नपल्लीहिँ वइगाहिं ॥७०१४॥ " इति "विहार" शब्दे व्याख्यास्यते । वृ० १ उ० ३ प्रक० । व्य० । भावन. सम्यक्त्वे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । "मग्गो पंथो सरणी, अद्धाए वत्तिणी पहो पयवी ।" पाइ० ना० ५२ गाथा ।

पान्थ-पुं० । पथिक, " सो तेसिं पंथ गुणे कहेइ, एगो पंथो उज्जुगो, एगो वंको ।" आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

पंथकोट्ट-पन्थकोट्ट-न० । सार्थघाते, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

पंथग-पान्थक-पुं० । ब्रह्मदत्तचक्रिभार्याया नागयशसो जनके, (उत्त० १३ अ०) स्थापत्यापुत्रेण सहप्रव्रजिते ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । " वच्छवालीपुत्तस्स पंथगस्स नत्त नेऊण ।" आव० ४ अ० । धन्यस्य सार्थवाहस्य स्वनामख्याते दासचेटके, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

पत्तो सुसीससद्दो, एव कुणंतेण पंथगेणाऽवि ।
गाढप्पमाइणो वि हु, सेलगसूरिस्स सीसेण ॥२३७॥

प्राप्तः प्राप्तः "सुशिष्य" इति शब्दो विशेषणम्, एव गुरोर्भूयाऽपि चारित्रे प्रवृत्तिं कारयता पन्थकेन पन्थकनाम्ना सचिवपुङ्गवसाधुना, अपिशब्दादन्यैरपि तथाविधैः । यतोऽभाणि-

" सीइज्ज कयावि गुरू, त पि सुसीसा सुनिउणमहुरेहिं ।
मग्गे ठवंति पुणरवि, जह सेलगपथगो नाय ॥ १ ॥ "

तमेव विशिनष्टि-गाढप्रमादिनोऽप्यतिशयशैथिल्यवतोऽपि, शैलकसूरे शिष्येणेति व्यक्तमेवेति गाथाक्षरार्थः । भावार्थ कथानकादवसेय ।

कथानक चेदम्-

"कलिकुलकलाविकलिय, सेलगपुरमत्थि सेलसिहर व ।
तत्थ प्पयावसियकित्ति, सेलउ व्व सेलओ राया ॥ १ ॥
सद्धम्मकम्मवज्जिय-उवमा पउमावई पिया तस्स ।
सच्चीइनामवल्ली-इ मडवो मडुगो पुत्तो ॥ २ ॥
चउबुद्धबुद्धिसालि-रूपथगा पथगाइणो आसि ।
रज्जभरधरणसज्जा, सुमतिणो पचसयसखा ॥ ३ ॥
थावच्चासुयगणहर-समीवपडिवन्नसुद्धगिहिधम्मो ।
सेलगराया रज्ज, तिवग्गसार चिर कुणइ ॥ ४ ॥
अन्नदिणे थावच्चा-सुयपहुपयवत्तिसुयगुरुसमीवे ।
पव्वइएँ मतिसएहिं, पथगपमुहेहिँ परियरिओ ॥ ५ ॥
मडुगपुत्ते रज्ज, ठविऊण गिण्हए वय राया ।
इक्कारस अगाइं, अहिज्जिओ वज्जिया वज्जो ॥ ६ ॥
पथगपमुहाण तओ, पचमुणिसयाण नायगो ठविओ ।
सुयमुणिवरेण सेलग-रायरिसी जिणसमयविहिणा ॥ ७ ॥
सुयसूरी उ महप्पा, समए आहारवज्जण काउ ।
सिरिविमलसिहरिसिहरे, सहस्ससहिओ सिव पत्तो ॥ ८ ॥
अह सेलगरायरिसी, अणुचियजलाइभोगदोसेण ।
दाहज्जराइगहिओ, समागओ सेलगपुरम्मि ॥ ९ ॥
उज्जाणम्मि पसत्थे, सुभूमिभागम्मि त समोसरिय ।
सोऊण पहिट्ठमणो, विणिग्गओ मडुगो राया ॥ १० ॥
कयवंदणाइकिच्चो, सरीरवत्त वियाणिउ गुरुणो ।
विन्नवइ एइ भते ! , मम गेहे जाणसालासु ॥ ११ ॥
फासुयएसणिज्जेहिं, अहापवत्तेहिँ तत्थ तुम्हाण ।
कारेमि जेण किरिय, धम्मसरीरस्स रक्खट्ठा ॥ १२ ॥ "

तथा चोक्तम्-

" शरीर धर्मसयुक्त, रक्षणीय प्रयत्नत. ।
शरीराच्छ्रवते धर्म , पर्वतात्सलिल यथा ॥ १३ ॥"
" पडिवज्जिए गुरुणा, पारद्धा तत्थ उत्तमा किरिया ।
निद्धमहुराइएहिं, आहारेहिं सुविज्जेहिं । १४ ॥
विज्जाण कुसलयाए, पत्थोसहपाणगाइसुलभा ।
थोवदियहेहिँ एसो,जाओ निरुओ य बलव च ॥ १५ ॥
नवर सिणिद्धपेसल- आहाराईसु मुच्छिओ धणिय ।
सुहसीलय पवन्नो, नेच्छइ गामतरविहार ॥ १६ ॥
बहुसो वि भणिज्जतो, विरमइ नो जाव सो पमायाओ ।
ताहे पथगवज्जा, मुणिणो मनति एगत्थ ॥ १७ ॥
कम्माइँ नूण घणचि- क्कणाइँ कुडिलाइँ वज्जसाराइ ।
नाणड्ढय पि पुरिस, पथाओ उप्पहं निति ॥ १८ ॥
नाऊण सुयबलेण, करयलमुत्ताहल व भुवणयल ।
अहह निवडति केवि हु, पिच्छह कम्मस्स बलियत्त ॥ १९ ॥
मुत्तूण रायरिद्धि, मुक्कतत्थी नाव एस पव्वइओ ।
सपइ अप्पमाया, विसइरियपओयणो जाओ ॥ २० ॥
काले न देइ सुत्त, अत्थ न कहेइ पुच्छमाणाण ।
आवस्सगाइभत्ति, मुत्तु बहु मन्नए निद्द ॥ २१ ॥
सारणवारणपडिचो-यणाइ न मण पि देइ गच्छस्स ।
न य सारणाइरहिए, गच्छे वासो खण पि खमो ॥ २२ ॥ "

तथा चाऽऽगम -

" जहिं नत्थि सारणा वा-रणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि ।
सो उ अगच्छो गच्छो, सजमकामीहिँ मुत्तव्वो ॥ २३ ॥ "
"उवगारी य इढमिमो, अम्हाण धम्मचरणहेउत्ता ।
मुत्तु चित्तु च इम, जुत्त त्ति फुड न याणामो ॥ २४ ॥
अहवा किं अम्हाण, कारणरहिएण नीयवासेण ।
गुरुणो वेयावच्चे, पथगसाहु निउंजित्ता ॥ २५ ॥
एय चिय पुच्छित्ता, विहरामो उज्जया वय सव्वे ।
कालहरण पि कीरइ, जा चेयइ एस अप्पाण ॥ २६ ॥

सामत्थिऊण एव, पंथगसाहु ठविउ गुरुपासे ।
ते सव्वे वि हु मुणिणो, अजत्थ सुह पविहरंसु ॥ २७ ॥
पंथगमुणी वि गुरुणो, वेयावच्चं जहोचियं कुणइ ।
असवत्तजोगजुत्तो, सया अखूण व निर्यकिरियं ॥ २८ ॥
कत्तियचाउम्मासे, सूरी भुत्तूण निद्धमहुराइ ।
परिहरियंस्सयकिच्चो, सुत्तो नीसहसव्वंगो ॥ २९ ॥
आवस्सग कुणंतो, पंथगसाहू वि खामणनिमित्तं ।
सीसेण तस्स पाए, आघट्टइ विणयनयनिउणो ॥ ३० ॥
तो कुविओ रायरिसी, जपइ को एस अज्ज निल्लज्जो ।
पाए आघट्टंतो, निद्दाविग्घं मह पयट्टो ? ॥ ३१ ॥
कट्ठ दट्ठु सूरिं, महुरगिरं पंथगो इय भणेइ ।
चाउम्मासियखामण-कए मए दूमिया तुब्भे ॥ ३२ ॥
ता एग अवराह, खमह न काहामि एरिसं बीयं ।
हुंति खमासील च्चिय, उत्तमपुरिसा जओ लोए ॥ ३३ ॥
इय पंथगमुणिवयणं, आयन्नंतस्स तस्स सूरिस्स ।
सूरुग्गमे तम पि व, अन्नाणं दूरमोसरियं ॥ ३४ ॥
बहुसो निंदिय अप्प, सविसेसं जायसंजमुज्जोओ ।
खामेइ पंथगमुणिं, पुणो पुणो सुद्धपरिणामो ॥ ३५ ॥
बीयदिणे मडुगनिव-मापुच्छिय दो वि सेलगपुराओ ।
निक्खंता पारद्धा, उग्गविहारेण विहरेउं ॥ ३६ ॥
अवगयतव्वुत्तंता, सपत्ता सेसमंतिमुणिणो वि ।
विहरिय चिरं सुविहिणा, आरूढा पुण्डरीयगिरिं ॥ ३७ ॥
दोमासकयाणसणो, सेलेसिं काउ सेलगमहेसिं ।
पंचसयसमणसहिओ, लोयग्गठिओ पय पत्तो ॥ ३८ ॥"
"एवं पन्थगसाधुवृत्तममलं श्रुत्वा चरित्रोज्ज्वलं,
सज्ज्ञानाऽऽदिगुणान्वितं गुरुकुलं सेवध्वमुच्चैस्तथा ।
भो भो साधुजना ! गुरोरपि यथा सत्संयमे सीदतो,
निस्तारायं कदाचन प्रभवत स्फूर्जद्गुणश्रेणय ॥ ३९ ॥"
इति पन्थकसाधुकथानकम् । ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० ।

पंथघायग-पन्थघातक-त्रि० । पथि लोकानां मारके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पंथच्छेयण-पथिच्छेदन-न० । मार्गच्छेदने, मार्गातिक्रमणे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

पंथजाइ-पथियायिन्-पुं० । स्वसमयबोधविशिष्टे युगप्रधानाऽऽचार्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पंथज्झाण-पथिध्यान-न० । अल्पकालगम्योऽध्वा पन्था', तस्य तस्मिन् वा ध्यानं पथिध्यानम् । पोतनपुरमार्गे गवेषयतो वल्कलचीरिण इव दुर्ध्याने, आतु० ।

पंथणिज्झाइ ( ण् )-पथिनिर्ध्यायिन्-पुं० । गुरो क्वचिद् गतस्य पन्थानं निध्यातुं शीलमस्येति पन्थनिर्ध्यायी । गुरुमार्गप्रतीक्षके, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

पंथाण-पन्थान-पुं० । महति विषमे चाध्वनि, आतु० ।

पंथाणज्झाण-पन्थानध्यान-न० । महान् विषमश्चाध्वा पन्थानस्तस्य ध्यानम् । सनत्कुमारं गवेषयतो महेन्द्रसिंहस्येव ब्रह्मदत्त वा वरधनुस्येव दुर्ध्याने, आतु० ।

पंथिय-पान्थिक-पुं० । पन्थानं नित्यं गच्छतीति पान्थिकः । नित्यपथिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पंथुच्छुहणी-देशी-श्वशुरकुले प्रथमाऽऽनीतायां वध्वाम्, दे० ना० ६ वर्ग ३७ गाथा ।

पंपुअ-देशी-दीर्घ, दे० ना० ६ वर्ग १७ गाथा ।

पंफुल्लिअ-देशी-गवेषिते, दे० ना० ५ वर्ग १३ गाथा ।

पंसण-पांसन-त्रि० । पंसि-ल्युट्-पृषो० । "मांसाऽऽदिष्वानुस्वारे" ॥ ८ । १ । ७० ॥ इत्यातोऽत् । प्रा०१ पाद । दूषके, "कुलपांसनः ।" वाच० ।

पंसु-पांशु-पुं० । "मांसाऽऽदेर्वा" ॥८। १ । २९ ॥ इति अनुस्वारस्य लुग्वा । पासू । पंसू । प्रा० १ पाद । रेणौ, जं० २ वक्ष० । धूमाऽऽकारे अचित्तरजसि, आ० चू० ४ अ० । जं० । आव० । नि० चू० । "पंसू अचित्तरओ ।" पांशवो नाम धूमाऽऽकारमापाण्डुरमचित्तं रजः । व्य० ७ उ० । पाइ० ना० ।

पंसुपिसायभूय-पांशुपिशाचभूत-त्रि० । धूल्यवगुण्ठितशरीरत्वेन मलिनवस्त्रत्वेन भूततुल्ये, उत्त० १२ अ० ।

पंसुमूलिय-पांशुमूलिक-पुं० । पांशुमूलिकापत्ये वैताढ्यपर्वतवासिविद्याधरमनुष्ये, आ० चू० १ अ० ।

पंसुलिया-पांशुलिका-स्त्री० । पार्श्वास्थ्नि, अणु० ३ वर्ग १ अ० । त० । "बारस पसुलिया करंडया इह" इह शरीरे द्वादश पांशुलिकारूपाः करण्डका वंशको भवति । प्रव० २५३ द्वार । बारस पंसुलिया करडे छप्पंसुलिए कडाहे विहत्थियाकुच्छी ।" त० ।

पंसुलियाकड-पांशुलिकाकट-पुं० । पार्श्वास्थ्ना कटके, अणु० ३ वर्ग १ अ० ।

पंसुली-पांशुली-स्त्री० । व्यभिचारिण्याम्, "अहिसारिआ असइयणा य पसुली छिंदई य कुलसीला ।" पाइ०ना० ५६ गाथा ।

पंसुवुट्ठि-पांशुवृष्टि-स्त्री० । धूलिवर्षे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पांशुवृष्टिर्नाम यदचित्तं रजो निपतति । व्य० ७ उ० । प्रव० । पांशुवृष्टयादिदुष्फलादस्यचिन्तके शास्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पकं ( ग ) थ-प्रकथ-धा० । चुरा० । निन्दायाम्, "पलिय पकथे अदुवा पकथे ।" प्रकथ्येऽजुगुप्स्येत् । तद्यथा-जो कौय पकथे अदुवा पकथे ।" प्रकथ्येऽजुगुप्स्येत् । तद्यथा-त्वं ब्राह्मणः प्रव्रजित । त्वमपि मया साद्धमेवं जल्पसि । अथवा-जातिकर्माऽऽदिभिरपरैः प्रकथ्य निन्द्याप्रकारैर्विधत्ते । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । "पलिय पगथे अदुवा पगथे" प्र-कथयेदेवचनमेवमित्यन्यथा वा कुशलपठाऽऽदिगिर्गुणैर्मुखीव काराऽऽदिभिर्वा प्रकथयेदिति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

पकंथय-प्रकन्थक-पुं० । अश्वविशेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पकंप-प्रकम्प-पुं० । क्षोभे, आव०४ अ० । विक्षेपे, आव०४ अ० ।

पकंपिय-प्रकम्पित-त्रि० । विधूते, आव० ५ अ० ।

पकट्टण-प्रकर्षण-न० । आकर्षणे, नि०चू० २० उ० ।

पकत्थन-प्रकत्थन-न० । आत्मनः श्लाघायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पकप्प-प्रकल्प-पुं० । प्रकृष्टः कल्प आचारः । स्था०४ ठा० ३ उ० । आचा० । नि० चू० । निशीथाध्ययने, व्य० ३ उ० । "छद्दाणि पकप्पे त्ति दारं । प्रकल्पन कल्प प्रक

धकं क्रियाणामभावो यत्र तत्प्रकामनिकरण तद्यथा भवतीति । प्रकामनिकरणवत्यां वेदनायाम्, भ० ७ श० ७ उ० । ( स-मर्थोऽपि किं प्रकामनिकरणवेदना वेदयतीति 'अकामणिगरण' शब्दे प्रथमभागे १२४ पृष्ठे उक्तम् )

पकामरसभोगि ( ण् )-प्रकामरसभोगिन्-त्रि० । प्रकाममत्यर्थं रसाना मधुराऽऽदिभेदाना भोगी भोक्ता प्रकामरसभोगीति । मधुराऽऽदिभेदरसानामत्यर्थं भोक्तरि, भ० ७ श० २ उ० ।

पकिट्ठ-प्रकृष्ट-त्रि० । प्रधाने, विशे० । आ० क० ।

पकिण्ण-प्रकीर्ण-त्रि० । उप्ते, " जहिं पकिण्णा विरुहंति पुन्ना । " उत्त० १२ अ० । दत्ते, उत्त० पाई० १२ अ० । वाच० । न० । प्र-कृ-भावे-क्त. । चामरे, भिन्नजातीयाना मिश्रणे च । पूतिकरञ्जे, पु० । कर्मणि क्त । विक्षिप्ते, विस्तृते, भिन्नजातीये मिश्रिते च । त्रि० । स्वार्थे कन् अत्र । चामरे, न० । अश्वे, पु० । वाच० ।

पकिण्णतव-प्रकीर्णतपस्-न० । श्रेण्याऽऽदिनियतरचनादिरहिते स्वशक्त्यपेक्षं तपसि, यत् कथञ्चित् विधीयते, तच्च नमस्कारसहिताऽऽदिपूर्वपुरुषचरित यवमध्यव (ज्रे) च प्रतिमाऽऽदि च । उत्त० ३० अ० ।

पकित्तिय-प्रकीर्तित-त्रि० । तीर्थकरैः कथिते, उत्त० २ अ० ।

पकिरिया-प्रक्रिया-स्त्री० । प्र-कृ-श । अधिकारे, प्रकरणार्थे, राज्ञां छत्रचामरधूननाऽऽदिव्यापारे च । "अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यत ॥१॥" वाच० ।

पकुव्वंत-प्रकुर्वत्-त्रि० । स्वयमेव कृत्वाऽऽत्मन सुखमुत्पादयति, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

पकुव्वमाण-प्रकुर्वाण-त्रि० । प्रकर्षेण कुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० । विदधाने, आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

पकुव्वय-प्रकुर्वक-पु० । आलोचितेष्वपराधेषु प्रायश्चित्तदानतो विशुद्धिं कारयितु समर्थे, भ० २५ श० ७ उ० ।

पकुव्वि ( ण् )-प्रकुर्विन्-त्रि० । आलोचितातिचाराणां प्रायश्चित्तप्रदानेन शुद्धिप्रकर्षेण व्यापारयतीत्येव शीलं । आचार्यत्वाद्यष्टगुणयुक्तोऽपि कश्चिच्छुद्धदान नाभ्युपगच्छतीत्येतद्व्यवच्छेदार्थं प्रकुर्वीत्युक्तम् । ध० ३ अधि० । आलोचिते शुद्धिकरणस्यैव समर्थे आलोचनाग्राहके, स्था० ८ ठा० । आलोचकेनालोचितेष्वपराधेषु य सम्यक् प्रायश्चित्तप्रदानेन आलोचकस्य विशुद्धिमुपजनयति स. । व्य० १ उ० ।

पकोट्ठ-प्रकोष्ठ-पु० । प्रगत. कोष्ठम् । कूर्परस्याधोभागस्थे मणिबन्धपर्यन्ते हस्तावयवे, गृहद्वारपिण्डे च । वाच० । कलाचिकायाम्, औ० ।

पक्क-पक्व-त्रि० । " पक्वाङ्गारललाटे वा " ॥ ८ । १ । ४७ ॥ इति आदेरत इत्वम् । 'पिक्क । पक्क ।' प्रा० १ पाद । पाकप्राप्ते, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । राद्धे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

" पक्क णाम-ज अभिमुह पओलिय । " नि० चू० १५ उ० । प्रव० ।

निक्षेप -

नामं ठवणा पक्क, दव्वे भावे य होइ नायव्व ।

उस्सेइमाइ तं चिय, पाकिंधणजोगतो पक्कं ॥ -

नामपक्क, स्थापनापक्क, द्रव्यपक्क, भावपक्क, चा भवति ज्ञातव्यम् । तत्र नामस्थापने गतार्थे । द्रव्यपक्क तदेवोत्स्वेदिमाऽऽदिक यदामं भणितम् । किमुक्त भवति ?-यद् द्रव्यामम् उत्स्वेदिमसस्वेदिमापरकृतपर्यायाऽऽमभेदाच्चतुर्धा भणित तदेव यदा इन्धनसंयोगात्पक्कमुपजायते तदा द्रव्यपक्क मन्तव्यम् । गत द्रव्यपक्कम् ।

भावपक्कमाह-

संजमचरित्तजोगा, उग्गमसोही य भावपक्कं तु ।

अन्नो वि य आएसो, निरुवक्कमजीवमरणं तु ॥

सयमयोगा प्रत्युपेक्षणाऽऽदयश्चारित्र च मूलोत्तरगुणरूप सुविशुद्धभावपक्वमुच्यते, गाथायां बन्धाऽऽनुलोम्येन चारित्रशब्दस्य व्यत्ययासेन निर्देश । यद्वा-या उद्गमाऽऽदीना दोषाणा शुद्धिस्तद्भावपक्वम । अन्योऽप्यादेशो वर्त्तते, येन यदायुष्क निर्वर्तित तत्सर्वमनुपालय म्रियमाणस्य निरुपक्रमाऽऽयुर्जीवस्य यन्मरण तद् भावपक्वम । अत्र च द्रव्यपक्केनाधिकार, तत्रापि पर्यायपक्वेण, तत्रापि वृक्षपर्यायपक्वेण । निर्गत पक्वपदम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । दुर्व्यवहारिभेदे, व्य० ।

फलमिव पक्कं पडए, पक्कस्साऽहवा न गच्छए पागं ।

ववहारो तज्जोगा, ससिगुत्तसिरी व संगासे ॥

पक्कुल्लावभया वा, कज्ज पि न सेसया उदीरंति ।

पक्वस्य व्यवहार. फलमिव पक्क पतति, न पुन स्थिरोऽवतिष्ठते । अथवा-तद्योगाद् व्यवहारः पाक न गच्छति । यथा चाणक्यस्य सकाशे शशिगुप्तश्री चन्द्रगुप्तस्य लक्ष्मीः । अत एव एतेन पाको गमनेन वा पक्वफलसदृशव्यवहारकरणात् स पक्क इति व्यवह्रियते । अथवा-यस्य पक्वोल्लापभयात् कार्यमपि न शेषका उदीरयन्ति ब्रुवते स पक्वम् । किमुक्त भवति ?-पक्वपक्वानि तादृशानि स भाषते, यैः भाषिताः सन्तोऽन्ये सद्यादिनस्तूष्णीका आसते, ततः पक्वोल्लापयोगात्स पक्व इति । व्य० ३ उ० ।

पक्कंत-प्रक्रान्त-न० । प्रकृते प्रस्तुते, आव० ४ अ० । " पक्क पिक्क परिणय ।" पाइ० ना० १४३ गाथा ।

पक्कघय-पक्वघृत-न० । औषधैः पक्वे सिद्धार्थके आमलकाऽऽदिसवन्धिनि पाकावस्था प्रापिते घृते, ध० २ अधि० ।

पक्कण-पक्कण-पु० । अनार्यदेशभेदे, अनार्यदेशोत्पन्ने मनुष्यभेदे च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० । प्रव० । प्रश्न० । सूत्र० ।

पक्कणउल-पक्कणकुल-न० । मातङ्गगृहे, बृ० ३ उ० । गर्हितकुले, " पक्कणकुले वसतो, सउणी इयरो वि गरहिओ होइ । " आव० ३ अ० ।

पक्कण्ण-पकान्न-न० । अग्निसंस्कृतान्ने, पक्वान्नग्रहणकाल कुत्र प्रोक्तोऽस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-पक्वान्नग्रहणकाल आवश्यकवृत्त्यादौ कथितोऽस्तीति । २० प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

पक्कतिल्ल-पक्वतैल-न० । लाक्षाऽऽदिद्रव्यपक्वतैले, ध० २ अधि० ।

पक्कम-प्रक्रम-पु० । प्र-क्रम-घञ्, न वृद्धि । क्रमे, अवसर, उपक्रमे, वाच० । चरणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रकर्षेण प्रजवने, स्था० १० ठा० ।

पक्कमहुर–पक्कमधुर–त्रि०। पक्व इव मधुरे, पक्वे सति मधुरे च। स्था० ४ ठा० १ उ०।

पक्कल–समर्थ–त्रि०। गौणाऽऽदित्वात् समर्थस्थाने पक्कलाऽऽदेशः। शक्ते, प्रा० २ पा०। "पक्का नहा समत्था, य पक्कला पंचला पोढा।" पाइ० ना० ३६ गाथा।

पक्कीलिय–प्रक्रीडित–त्रि०। यस्तु तोरणयाऽऽश्रिता प्रक्रीडितुमारब्धे, कल्प० १ अधि० ४ क्षण। जं०। विपा०। अ० त०। ज्ञा०।

पक्केल्लघर–पक्वगृह–न०। पक्वेष्टकागृहे, व्य० ४ उ०।

पक्केल्लय–पक्व–त्रि०। स्वार्थे इल्लप्रत्ययः। अग्निना कृतपाके, उत्त० ४ अ०।

पक्ख–पक्ष–पुं०। पततनेन पक्षः। उत्त० ४ अ०। तनूरुहे, "जायपक्खा जहा हंसा।" उत्त० ११ अ०। पार्श्व स्था० ४ ठा० ३ उ०। दक्षिणवामाऽऽदिपार्श्वे, स्था० ७ ठा० ४ उ०। कस्यचिदेकदेशभूते, रा०। जं०। पञ्चदशाहोरात्रप्रमाणे (स्था० २ ठा० ४ उ०। विशे०) मासार्द्धे, जं० १ वक्ष०। पञ्चदशाहोरात्रप्रमाणे, स्था० २ ठा० ४ उ०। विपा०। कर्म०। "पन्नरस अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो।" भ० ६ श० ७ उ०। तं०। अनु०। आ० म०। म०। "एगमेगस्स णं भंते! कति पक्खा?। गोयमा! दो पक्खा पण्णत्ता। तं जहा–बहुलपक्खे, सुक्कपक्खे य।" जी० २ प्रति०। दर्श०। "विवादधिषया शून्या, सिद्धिर्यत्र न विद्यते। स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे हेतुसाध्याधिकरणे अनुमानवाक्ये पक्षप्रयोगः। रत्ना० ३ परि०। "ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे, पक्षो धर्म्यभिधीयते। व्याप्तिकाले भवेद्धर्मः, साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम् ॥" रत्ना० ३ परि०। ('अणुमाण' शब्दे प्रथमभागे ४०२ पृष्ठे पक्षस्वरूपमुक्तम्)

पक्खओ–पक्षतस्–अव्य०। दक्षिणाऽऽदिपक्षमाश्रित्येत्यर्थे, उत्त० १ अ०। दश०। पार्श्वत इत्यर्थे, दश० ८ अ०।

पक्खंत–पक्षान्त–न०। अन्यतरस्मिन्निन्द्रियजाते, "अन्नतर इन्दियजाय पक्खंत भण्णइ।" नि० चू० ६ उ०।

पक्खंतर–पक्षान्तर–न०। पक्षविशेषे, आ० म० १ अ० २ खण्ड।

पक्खंद–प्रस्कन्द्–धा०। प्र–स्कन्द् आक्रमणे, "अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा।" अग्निं प्रस्कन्दथ वाऽऽक्रमथ। उत्त० १२ अ०। "पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।" प्रस्कन्दन्ति अध्यवस्यन्ति प्रस्कन्देत, प्राकृतत्वात् प्रस्कन्देयुः। उत्त० १२ अ०। दश०।

पक्खंदण–प्रस्कन्दन–न०। धावित्वा पतने, "पडणं तु उप्पतित्ता, पक्खंदणं धाविऊण जं पडति, जं पुण अदूरओ आधावित्ता पडइ तं पक्खंदणं। अहवा उप्पाइय पक्खंदणं, तं पुण गिरिम्मि झुज्जइ, रुक्खाट्टियस्स जं उप्पइत्ता पडणं तं पक्खंदणं, हत्थेहिं वा लंबिउं जं अवोलइत्ता पडइ, तं वा पक्खंदणं मरणं।" नि० चू० ११ उ०।

पक्खंदोलग–पक्ष्यान्दोलक–पुं०। यत्र पक्षिण आगत्याऽऽत्मानमान्दोलयन्ति तस्मिन्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

पक्खग–पक्षग–त्रि०। मासार्द्धभाविनि, "पक्खगा संजलणा कसाया।" कर्म० १ कर्म०।

पक्खज्जमाण–प्रखाद्यमान–त्रि०। भक्ष्यमाणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

पक्खपिंड–पक्षपिण्ड–पुं०। बाहुद्वयकायपिण्डे, उत्त० १ अ०। जानुजङ्घोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मके योगपट्टाऽऽश्रयके, बाहुद्वयेन च कायस्य बाऽऽत्मके बाऽऽसनभेदे, "नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिंडं च संजए।" उत्त० १ अ०।

पक्खर–पक्खर–पुं०। अश्वाऽऽदीनां तनुत्राणविशेषे, विपा० १ श्रु० २ अ०।

पक्खरा–देशी–तुरगसन्नाहे, दे० ना० ६ वर्ग १० गा०।

पक्खलंत–प्रस्खलत्–त्रि०। पदघाताऽऽदेः प्रपतति, "पक्खलंते य से तत्थ, पक्खलंते य संजए।" दश० ५ अ० १ उ०।

पक्खलण–प्रस्खलन–न०। गत्या भूमिसम्प्राप्तौ, "भूमिए असंपत्तं पत्तं वा हत्थजाणुमाईहिं पक्खलणं नायव्वं।" भूमावसम्प्राप्त हस्तजान्वाऽऽदिभिः प्राप्त वा प्रस्खलन ज्ञातव्यम्। बृ० ६ उ०। स्था०।

पक्खलमाणी–प्रस्खलन्ती–स्त्री०। प्रकर्षेण स्खलन्त्याम्, गत्या गच्छन्त्या भूमावसम्प्राप्तायाम्, बृ० ६ उ०। स्था०।

पक्खवंत–पक्षवत्–त्रि०। नृपवर्गीयपक्षसमन्वित, व्य० १ उ०।

पक्खवाइ–पक्षपातिन्–त्रि०। पक्षमेकपक्षाभिनिवेशं पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती। कश्चिद् द्विष्टे कश्चिदनुरक्ते नैकपक्षानुरागिणि, स्था०।

पक्खवाय–पक्षपात–पुं०। अनुमोदनधर्मे आचारे, "जइ वि न सक्कामि न भत्ती, न पक्खवाओ अमग्गअगुणेसु।" ध० २ अधि०। "न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु। यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीर प्रभुमाश्रयाम ॥१॥" अ० ए० १७ अष्ट०।

पक्खवाह–पक्षवाह–पुं०। वेदिकैकदेशविशेषे, जं० १ वक्ष०। जी०। पक्षैकदेशविशेषे, रा०। जी०।

पक्खवाइ–पक्षादि–पुं०। अर्द्धमासप्रभृतौ, आदिशब्दाच्चतुर्मासाऽऽदिग्रहः। पञ्चा० १५ विव०।

प्रख्याति–स्त्री०। यशसि, औ०।

पक्खाभास–पक्षाऽऽभास–पुं०। पक्षदोषविशिष्टे, रत्ना०।

पक्षाऽऽभासांस्तावदाहु–

तत्र प्रतीतनिराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणास्त्रयः पक्षाऽऽभासाः ॥ ३७ ॥

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण, निराकृतसाध्यधर्मविशेषण, अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणश्चेति त्रयः पक्षाऽऽभासा भवन्ति। अप्रतीतानिराकृताभीप्सितसाध्यधर्मविशिष्टधर्मिणः सम्यक्पक्षत्वेन प्रागुपवर्णितत्वादेतेषां च तद्विपरीतत्वात् ॥ ३८ ॥

तत्राऽऽद्यं पक्षाऽऽभासमुदाहरन्ति–

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–आर्हतान् प्रत्यवधारणवर्जं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥ ३९ ॥

अवधारणं वर्जयित्वा परोपन्यस्तः समस्तोऽपि वाक्प्रयो-

न आर्हतानां प्रतीतमेवार्थं प्रकाशयति। ते हि सर्वे जीवाऽऽदि-वस्त्वनेकान्ताऽऽत्मकं प्रतिपन्नाः, ततस्तेषामवधारणरहितं प्रमाणवाक्यं, सुनयवाक्यं वा प्रयुज्यमानं प्रसिद्धमेवार्थमुद्भावयतीति व्यर्थस्तत्प्रयोगः । सिद्धसाधनं, प्रसिद्धसंबन्ध इत्यपि सञ्ज्ञाद्वयमस्याविरुद्धम् ॥ ३९ ॥

द्वितीयपक्षाऽऽभासं भेदतो नियमयन्ति-

निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमलोकस्ववचनाऽऽदिभिः साध्यधर्मस्य निराकरणादनेकप्रकारः ॥४०॥

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः। आदिशब्दात् स्मरणनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, प्रत्यभिज्ञाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणः, तर्कनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणश्चेति ॥४०॥

एषु प्रथमं प्रकारं प्रकाशयन्ति-

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति भूतविलक्षण आत्मा ॥ ४१ ॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण हि पृथिव्यादिभ्योऽत्यन्तं शरीरत्वेन परिणतेभ्यो भूतेभ्यो विलक्षणोऽस्य आत्मा परिच्छिद्यत इति । तद्विलक्षणाऽऽत्मनिराकरणप्रतिज्ञाऽनेन बाध्यते । यथाऽनुष्णोऽग्निः, इति प्रतिज्ञा बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षेण ॥ ४१ ॥

द्वितीयप्रकारं प्रकाशयन्ति-

अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति सर्वज्ञो, वीतरागो वा ॥ ४२ ॥

अत्र हि यः कश्चिन्निर्ह्रासातिशयवान्, स क्वचित्स्वकारणजनितनिर्मूलक्षयो यथा-कनकाऽऽदिमलो,निर्ह्रासातिशयवती च दोषाऽऽवरणे इत्यनेनानुमानेन सुव्यक्तमेव, बाधा एतस्मात्खल्वनुमानात्क्वचन पुरुषधौरेये दोषाऽऽवरणयोः सर्वथा प्रक्षयप्रसिद्धिः, स एव सर्वज्ञो वीतरागश्चेति । एवमपरिणामी शब्द इत्यादिरपि प्रतिज्ञा परिणामी शब्दः कृतकत्वान्यथानुपपत्तेरित्याद्यनुमानेन बाध्यमानाऽत्रोदाहरणीया ॥ ४२ ॥

अथ तृतीयं भेदमाहु -

आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-जैनेन रजनिभोजनं भजनीयम् ॥ ४३ ॥

" अत्थं गयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए । आहारमाइयं सव्वं, मणसाऽवि न पत्थए ॥ १ ॥" इत्यादिना हि प्रसिद्धप्रामाण्येन परमागमवाक्येन क्षपाभक्तणपक्षः प्रतिक्षिप्यमाणस्तत्र साधु-समाकन्दति। एवं जैनेन परकलत्रमभिलषणीयमित्याद्युदाहरणीयम् ॥ ४३ ॥

चतुर्थं प्रकारं प्रथयन्ति-

लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-न पारमार्थिकः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ॥ ४४ ॥

लोकशब्देनात्र लोकप्रतीतिरुच्यते। ततो लोकप्रतीतिनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण इत्यर्थः। सर्वोऽपि हि लोकस्य प्रतीतिरीदृशी यत्पारमार्थिकं प्रमाणं,तेन च तत्त्वतस्तद्विवेकः पारमार्थिक एव क्रियते। ननु लोकप्रतीतिस्तावत्प्रमाणं प्रमाणं वा ?। अप्रमाणं चेत्, कथं तया बाधा ? कस्याऽपि कर्तुं शक्यं ?। प्रमाणं चेत्, प्रत्यक्षाऽऽद्यतिरिक्तं, तदन्यतरद्वा। न तावदाद्यः पक्षः,प्रत्यक्षाऽऽद्यतिरिक्तप्रमाणस्यासम्भवात्। अन्यथा "प्रत्यक्षं च परोक्षं च । " इत्यादिविभागस्याऽऽसमञ्जस्याऽऽपत्तेः । द्वितीयपक्षे तु प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणाऽऽदिपक्षाभासेष्वेवास्यान्तर्भूतत्वात् न वाच्यः प्रकृतः पक्षाभास इति चेत्। सत्यमेतत्, किं तु लोकप्रतीतिरप्रोत्कलितत्वेन प्रतिभातीति विनेयमतीयोन्मीलनार्थमस्य पार्थक्येन निर्देशः। एवं शुचि नरशिरःकपालमप्रमुखं, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खशुक्तिवदित्याद्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ४४ ॥

पञ्चमप्रकारं कीर्त्तयन्ति-

स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति प्रमेयपरिच्छेदकं प्रमाणम् ॥ ४५ ॥

सर्वप्रमाणाभावमभ्युपगच्छतः स्वमपि वचनं स्वाभिप्रायप्रतिपादनपरं नास्तीति वाचंयमत्वमेव तस्य श्रेयः, ब्रुवाणस्तु नास्ति प्रमाणं प्रमेयपरिच्छेदकमिति स्ववचनं प्रमाणीकुर्वन् नून इति स्ववचनेनैवासौ व्याहन्यते; एवं निरन्तरमहं मौनीत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । ननु स्ववचनस्य शब्दरूपत्वात्तन्निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः पक्षाभासः प्रागुदिताऽऽगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणपक्षाभासेऽन्तर्भवतीति किमर्थमस्य भेदेन कथनमिति चेत्। एवमेतत्, तथापि शिष्यशेमुषीविकाशार्थमस्यापि पार्थक्येन कथनमिति न दोषः। आदिशब्दसूचितास्तु पक्षाभासास्त्रयः स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणाः। तत्र स्मरणनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा,स सहकारतरुः फलशून्य इति, अयं पक्षः कस्यचित्सहकारतरुफलभरभ्राजिष्णु सम्यक् स्मर्तुः स्मरणेन बाध्यते । प्रत्यभिज्ञाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा, सदृशेऽपि कस्यचिन वस्तुनि कश्चन कञ्चनाधिकृत्योर्ध्वतासामान्यभ्रान्त्या पक्षीकुरुते, तदेवेदमिति । तस्याऽयं पक्षस्तिर्यक्सामान्यावलम्बिना तेन सदृशमिदमिति प्रत्यभिज्ञानेन निराक्रियते । तर्कनिराकृते साध्यधर्मविशेषणो यथा, यो यस्तत्पुत्रः, स श्याम इति व्याप्तिः समीचीनेति। अस्याऽयं पक्षो यो जनन्युपभुक्तशाकाऽऽद्याहारपरिणामपूर्वकस्तत्पुत्रः, स श्याम इति व्याप्तिग्राहिणा सम्यक् तर्केण निराक्रियते ॥ ४५ ॥

द्वितीयं पक्षाभासं सभेदमुपदर्श्य तृतीयमुपदर्शयन्ति-

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणो यथा-स्याद्वादिनः शाश्वतिक एव कलशाऽऽदिरशाश्वतिक एव वेति वदतः ॥४६॥

स्याद्वादिनो हि सर्वत्रापि वस्तुनि नित्यत्वैकान्तः, अनित्यत्वैकान्तो वा नाभीप्सितः, तथाऽपि कदाचिदसौ सभाक्षोभाऽऽदिनैवमपि वदेत् । एवं नित्यः शब्द इति ताथागतस्य वदतः प्रकृतः पक्षाभासः । ये त्वप्रसिद्धविशेषणाप्रसिद्धविशेष्याप्रसिद्धोभया पक्षाभासाः परैः प्रोचिरे, नामी समीचीनाः । अप्रसिद्धस्यैव विशेषणस्य साध्यमानत्वात्, अयथा सिद्धसाधनताऽवतारात् । अथाऽत्र सार्वत्रिकी प्रसिद्धिरभावो विवक्षितो न तु तत्रैव धर्मिणि, यथा साङ्ख्यस्य विनाशस्य क्वापि धर्मिणि न प्रसिद्धः, तिरोभावमात्रस्यैव सर्वत्र तेनाभिधानात् । तद्युक्तम् । एवं सति क्षणिकतां साधयतो भवतः कथं नाप्रसिद्धविशेषणत्वं दोषो भवेत् ?, क्षणिकताया सपक्षे क्वाप्यप्रसिद्धेः । विशेष्यस्य तु धर्मिणः सिद्धिर्विकल्पादपि प्रतिपादितेति कथमप्रसिद्धताऽस्य ?। एतेनाप्रसिद्धोभयोऽपि परास्तः ॥ ४६ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

**पक्खारिण**–पक्कारिण–पुं० । अनार्यदेशविशेषे, तद्देशजा दासी पक्कारिणी । "पक्खारिणी ।" ज्ञा० ।

**पक्खालण**–प्रक्षालन–न० । धावने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० । सूत्र० । औ० ।

**पक्खाबडिअ**–पक्षाऽऽपतित–त्रि० । अन्यतरस्य पार्श्वे पतिते, "पक्खावडिय तासु ।" प्रा० ४ पाद ।

**पक्खासण**–पक्ष्यासन–न० । येषामधोभागे नानारूपाः पक्षिणस्तेषु आसनभेदेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज्ञ० ।

**पक्खि (ण्)**–पक्षिन्–पुं० । स्त्री० । पतत्यनेन पक्षः, सोऽस्यास्तीति पक्षी । उत्त० १ अ० । गृध्राऽऽदिषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । अनु० ।

चउव्विहा पक्खी पण्णत्ता । तं जहा–चम्मपक्खी, लोमपक्खी, समुग्गपक्खी, विययपक्खी । ( स्था० ४ ठा० ४ उ० ) तिविहा पक्खी पण्णत्ता । तं जहा–अंडया, पोयया, सम्मुच्छिमा । अंडया पक्खी तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा । पोयया पक्खी तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–इत्थी, पुरिसा, णपुंसगा त्ति । एवमेएणं अभिलावेणं उरपरिसप्पा वि जाणियव्वा, भुयपरिसप्पा वि भाणियव्वा ।

पक्षिणोऽण्डजाः हंसाऽऽदयः, पोतजा वल्गुलीप्रभृतयः, सम्मूर्च्छिमाः खञ्जनकाऽऽदयः, उद्भिज्जत्वेऽपि तेषां सम्मूर्च्छिमत्वव्यपदेशो भवत्येव, उद्भिज्जाऽऽदीनां सम्मूर्च्छनजविशेषत्वादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । ( 'खहयर' शब्दे तृतीयभागे ७३४ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता )

**पक्खिजाय**–पक्षिजात–न० । गृध्राऽऽदौ पक्षिणि, स्था० ५ ठा० २ उ० । नि० चू० ।

**पक्खिणिसेविय**–पक्षिनिषेवित–त्रि० । विविधविहङ्गैरतिशयेनाऽऽश्रिते, उत्त० २० अ० ।

**पक्खिपह**–पक्षिपथ–पुं० । पक्षिमार्गे, यत्र भारुण्डाऽऽदिपक्षिभिर्देशान्तरमवाप्यते । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

**पक्खिप्प**–प्रक्षिप्य–अव्य० । निष्काश्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

**पक्खिय**–पाक्षिक–न० । पक्षेऽर्द्धमासे भवं पाक्षिकम् । पञ्चा० १५ विव० । भ० । पक्षे पक्षे भवे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । पक्षस्यान्तिकं पाक्षिकम् । प्रव० ४ द्वार । पक्षातिचारनिवृत्ते प्रतिक्रमणे, आव० ४ अ० । ( तच्च पाक्षिकप्रतिक्रमणं कदा कथं कर्तव्यमिति 'पडिक्कमण' शब्दे वक्ष्यते ) अथ तत्सङ्क्रान्तप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा–श्राद्धाः पाक्षिकदिने अतीचारान् कथयन्ति, तत्र षष्ठं दिग्व्रतं, दशमं च देशावकाशिकं, तदन्ये नाङ्गीकुर्वन्ति, यद्व्रतद्वयं कथितमस्ति तदारम्भश्राद्धे कथितं, यत्षष्ठव्रतं यावज्जीवप्रत्ययिकं, दशमं तु दिनप्रत्ययिकमित्यपि नाङ्गीकुर्वन्ति तत्र का युक्तिः ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्–श्रीआवश्यके श्रावकव्रताधिकारे देशावकाशिकव्रताऽऽलापकः कथितोऽस्ति, स लिख्यते । यथा–" दिसिव्वयगहीयस्स दिसापरिणामस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासिअं, देसावगासियस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा–आणवणप्पओगे १, पेसवणप्पओगे २, सद्दाणुवाए ३, रूवाणुवाए ४, बहिया पुग्गलपक्खेवे ५ ।" एतदालापकानुसारेण षष्ठदिग्व्रतस्य संक्षेपः देशावकाशिकं स्पष्टतया ज्ञायते, तथा योगशास्त्राऽऽद्यनेकग्रन्थेषु षष्ठदिग्व्रतसंक्षेपरूपं देशावकाशिकं कथितमस्ति । तथा श्रीउपासकदशाङ्गे आनन्दश्रमणोपासकव्रतोच्चाराधिकारे सामायिकाऽऽदिचतुष्कव्रताऽऽलापकविस्तारो न कथितः, तस्मात्केचन नाङ्गीकुर्वन्ति, तत्तु तदज्ञानमेव, यतो व्रतोच्चाराऽऽदौ एवं पाठोऽस्ति–" अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जिस्सामि ?। अहासुहं देवाणुप्पिआ ! मा पडिबंधं करेह ।" तथा–व्रतोच्चारानन्तरमेव पाठोऽस्ति–" तए णं आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ ।" एतदालापकद्वये द्वादशव्रतोच्चाराङ्गीकारः कथं घटते ?। यदि देशावकाशिकव्रतं न भवति तर्हि पञ्चातीचाराः कथं कथिताः ?। तस्मादानन्देन चत्वारि व्रतानि सविस्तराणि नोच्चरितानि, यत्प्रतिदिनं वारं वारमुच्चार्यन्ते पुनः संक्षेपतस्तदुच्चरितान्येवेति ज्ञेयम् । ७३ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

**पक्खियखामणा**–पाक्षिकक्षामणा–स्त्री० । " इच्छामि खमासमणो ! पियं च मे जं भे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायंकाणं " इत्यादि भणनाऽऽत्मिकायां पाक्षिकप्रतिक्रमणस्यान्ते क्षामणायाम्, ( 'पडिक्कमण' शब्दे व्याख्या ) पाक्षिकक्षामणाऽवसरे श्राद्धाः प्रत्येकं नमस्कारान् मनोमध्ये कथयेयुः, किं वा नेति प्रश्ने, उत्तरम्–क्षामणाऽवसरे यतिसद्भावे श्राद्धा नमस्कारान् न पठन्ति, किंतु यतिभिः पठ्यमानं क्षामणकपाठं शृण्वन्ति, यतीनामभावे तु नमस्कारं पाक्षिकसूत्रस्थाने प्रतिक्रमणसूत्रं च परम्परया पठन्तीत्यवसेयम् । २१ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

**पक्खियपडिक्कमण**–पाक्षिकप्रतिक्रमण–न० । पक्षातिचारनिवृत्ते चतुर्दश्यां क्रियमाणे प्रतिक्रमणे, ध० २ अधि० । भुवनसुरीस्मृतिकायोत्सर्गादनु पाक्षिकप्रतिक्रमणे ज्ञानाऽऽदिगुणयुतानामिति स्तुतिः श्राविकाभिरपि पठ्यते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–पाक्षिकप्रतिक्रमणे ज्ञानाऽऽदिगुणयुतानामिति स्तुतिः श्राविकाभिः साध्वीभिरपि च कथ्यमानाऽस्तीति । ४०३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । अथ सुगतानसङ्क्रान्तानुयोजनानि, तत्प्रतिवचांसि च । यथा–सर्वैः पाक्षिकप्रतिक्रमणे शान्तिरवश्यं कथ्यते, कैश्चित्पुनरन्यस्मिन् दिनेऽपि कथ्यते, तत्किमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–पाक्षिकप्रतिक्रमणे परम्परया शान्तिरवश्यं कथ्यतेऽन्यस्मिन् दिने तु कथनमाश्रित्य नियमो नास्तीति । ५७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

**पक्खियपोसह**–पाक्षिकपोषध–पुं० । पक्षे भवं पाक्षिकमर्द्धमासिकं पर्व, तत्र पोषधः पाक्षिकपोषधः । चतुर्दश्यष्टमीषु पोषधव्रते, दशा० ५ अ० ।

**पक्खियपोसहिय**–पाक्षिकपौषधिक–पुं० । पाक्षिकपोषधोऽस्ति येषां ते पाक्षिकपौषधिकाः । पर्वसु कृतपौषधोपवासेषु, दशा० । यतश्चूर्णी –" पक्खियं पक्खियमेव, पक्खिए पोसहो पक्खियपोसहो चाउद्दसिअट्ठमीसु वा ।" अत्रापि स एवार्थः । यथा–पक्षे अर्द्धमासे भवं पाक्षिकं, तत्र पाक्षिके पोषधः पाक्षिकपोषधः,

अत्र च नियत पौषध उपवासरूप । यतः श्रीउत्तराध्ययनबृहद्वृत्तौ-" सर्वेष्वपि तपोयोग, प्रशस्तः कालपर्वसु । अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतं पोषधं वसेत् ॥१॥ " तथा श्रीआवश्यकचूर्णौ-'सव्वेसु कालपव्वेसु पसत्थो जिणमए तवो जोगो । अट्ठमिपन्नरसीसु, नियमेण हविज्ज पोसहिओ ॥ १ ॥ " इति वचनात् पाक्षिकेऽवश्य तपः कार्यम् । उपलक्षण चैतच्चतुर्दश्यष्टम्योस्तत्रापि तप कार्यमिति । अत एवोक्त चूर्णिकृता-"चाउद्दसिअट्ठमीसु वा । " अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थे, अनुक्तपर्वसंग्राहको व्याख्यातश्चूर्णिकृता । तत्र तपोविशेषश्चतुर्थाऽऽदिरूपस्तेन युक्तानां साधूना मध्ये । दशा० ४ अ० ।

पक्खियापक्खिय-पाक्षिकापाक्षिक-पु० । नपुंसकभेदे, यस्य पक्षे, शुक्लपक्षे अतीव मोहोदय स्यात्-अपक्षे च-कृष्णपक्षे स पाक्षिकापाक्षिक । ध० ३ अधि० । शुक्लपक्षे सवेदो, नो कृष्णपक्षे । अथवा-शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वा पक्षं यावदतीवोदयः स्यात्तावत्समेव कालमल्पोदय । स पाक्षिकापाक्षिक । ग० १ अधि० । बृ० । प० भा० । प० चू० ।

पक्खिविरालय-पक्षिविरालक-पु० । जीवविशेषे, " से जहाणामए पक्खिविरालए सिया रुक्खाओ रुक्ख डेवेमाण गच्छेज्जा । " भ० १३ श० ९ उ० ।

पक्खिविराली-पक्षिविराली-स्त्री० । चर्मपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

पक्खुभंतअ-प्रक्षुभ्यत्-त्रि० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति क प्रत्यय स्वार्थिक । प्रकर्षेण क्षोभं प्राप्नुवति, " धरणीहरपक्खुब्भन्तअं ।" प्रा० २ पाद ।

पक्खेव-प्रक्षेप-पु० । प्रक्षेपणे, एकदेशग्रहणात् प्रक्षेपाऽऽहारे । प्रव० २०५ द्वार ।

पक्खेवय-प्रक्षेपक-पु० । अर्कपथे त्रुटितशम्बलस्य शम्बलपूरणे द्रव्ये, " अपक्खेवगस्स पक्खेवग दलयति । " स्था० १ श्रु० १४ अ० । प्रक्षेपणे, बृ० १ उ० । " नाम्नि पुंसि वा " ॥ ५ । ३ । १२१॥ इति भावे णकप्रत्यय । यथा अरोचनमरोचक । हैम० । ( वस्त्रप्रक्षेपकस्वरूपम् ' वत्थ ' शब्दे वक्ष्यते )

पक्खेवाहार-प्रक्षेपाऽऽहार-पु० । प्रक्षेपेण कवलाऽऽदेराहारः प्रक्षेपाऽऽहारः । कावलिके कवलप्रक्षेपनिष्पादिते आहारभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

पक्खोड-शद्-धा० । शातने, " शदो झड-पक्खोडौ " ॥ ८ । ४ । १३०॥ इति शीयतेः पक्खोडाऽऽदेशः । 'पक्खोडइ' । शीयते । प्रा० ४ पाद ।

पक्खोडिअ-शादित- त्रि० "पप्फोडिअं च पक्खोडिअं ।" पाइ० ना० २४३ गाथा ।

पक्खोलण-शदन-न० । शद-कर्तरि ल्युट् । प्रस्खलति, रुध्यति, नि० १ श्रु० ३ वर्ग २ अ० ।

पगइ-प्रकृति-स्त्री० । प्रीत्यप्रीतिविषादाऽऽत्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाम् , स्था० । आचा० । आ० म० । बुद्धिदेव प्रसुसम्बन्धा साधिकारा प्रकृतिरिति केचित् । ठा० ११ ठा० । स्वभावे, भ० १ श० ६ उ० । " पगई एसा दुमगणाणं । " दश० १ अ० । भ० । औ० । ज्ञा० । स्था० । नि० चू० । बृ० । कर्मांशे, कर्मभेदे ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदौ, भ० १ श० १ उ० । स० । कर्मणामपि किञ्चित् ज्ञानमावृणोति किञ्चिद्दर्शनम्, किञ्चित्सुखदुःखेन जनयति, किञ्चिन्मोहयतीत्येवस्वरूपा प्रकृति । क० प्र० १ प्रक० । समुदाये, ( 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४८ पृष्ठे मोदकदृष्टान्तेन तत्स्वरूपमुक्तम् ) भेदे, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राऽऽख्याश्चतस्रः प्रकृतयः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । कुम्भकाराऽऽदश्रेणय प्रकृतय । औ० । बलदेवस्य रेवत्यामुत्पन्ने पुत्रे, स चारिष्टनेमिस्वामिनोऽन्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यति । नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० ।

पगइअंत-प्रकृत्यन्त-पु० । प्रकृतिविश्रान्तौ, ठा० ११ ठा० ।

पगइउदय-प्रकृत्युदय-पु० । कर्मभेदविपये उत्तरकरणे, प० सं० ५ द्वार । क० प्र० ।

पगइउदीरणा-प्रकृत्युदीरणा-स्त्री० । कर्मप्रकृतिविषये उदीरणाकरणे, प० स० ५ द्वार । क० प्र० ।

पगइउवसंत-प्रकृत्युपशान्त-त्रि० । क्रोधोदयरहिते, भ० १ श० ६ उ० । औ० ।

पगइंतर-प्रकृत्यन्तर-न० । पतद्ग्रहप्रकृतिरूपे कर्मांशे, प०सं० ५ द्वार ।

पगइंतरणयणसंकम-प्रकृत्यन्तरनयनसंक्रम-पुं० । विवक्षितायाः प्रकृते समाकृष्य प्रकृत्यन्तरे नीत्वा निवेशने, प० स० ५ द्वार ।

पगइट्ठाण-प्रकृतिस्थान-न० । प्रकृतीनां स्थानानि । द्विव्यादिप्रकृतिसमुदाये, कर्म० ५ कर्म० ।

पगइट्ठाणपडिग्गह-प्रकृतिस्थानपतद्ग्रह-पु० । यदा सुप्रभूतासु प्रकृतिषु एका सक्रामति यथा मिथ्यात्वं सम्यक्त्वमिश्रत्वयोस्तदा संभवति । प्रकृतिसंक्रमे, प० स० ५ द्वार ।

पगइट्ठाणसंकम-प्रकृतिस्थानसंक्रम-पु० । यदा प्रभूतासु प्रभूताः सक्रामन्ति यथा ज्ञानाऽऽवरणस्य पञ्चापि प्रकृतय पञ्चसु तदा सम्भवन्ति । सम्क्रमभेदे, प० सं० ५ द्वार ।

पगइपडिग्गह-प्रकृतिपतद्ग्रह-पु० । प्रकृतिस्थानानां यदेकप्रकृतिपतद्ग्रहभावो विवक्ष्यते तदा सभवति । संक्रमभेदे, प० स० ५ द्वार ।

पगइपतणुकोहमाणमायालोह-प्रकृतिप्रतनुक्रोधमानमायालोभ-पु० । प्रकृत्यैव प्रतनवोऽतिमन्दीभूताः क्रोधमानमायालोभा येषां ते तथा । त० । सत्यपि कषायोदये प्रतनुक्रोधाऽऽदिष्वात्मसु, औ० । जी० ।

पगइपेलवसत्ता-प्रकृतिपेलवसत्ता-स्त्री० । स्वभावेनैव तुच्छधृतिवञ्चायाम्, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

पगइबंध-प्रकृतिबन्ध-पु० । कर्मणः प्रकृतयोंऽशा भेदा ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदयोऽष्टौ तासां प्रकृतेर्वाऽविशेषितस्य कर्मणो बन्धः । स्था० ४ ठा० २ उ० । कर्मपरमाणुना ( स० ४ सम० ) समुदायस्थित्यनुभागप्रदेशसमुदाये, प० स० ५ द्वार । कर्म० । ( प्रकृतिबन्धस्वरूपस्य 'बन्ध' शब्दे सर्वा वक्तव्यता )

पगइभद्दग-प्रकृतिभद्रक-त्रि० । प्रकृत्या स्वभाव एव न परानुवृत्त्यादिना भद्रक परोपकारकरणशील प्रकृतिभद्रक । औ० ।

स्वभावत एव परोपकरणशीले, भ० १ श० ६ उ० । स्वभावेन परानुपहतकस्वभावाऽऽमनश्चेष्टे, श्रा० १ श्रु० १ अ० । जी० । न० ।

पगइजद्दयया-प्रकृतिजद्रकता-स्त्री० । स्वभावेन परानुपतापितायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० । औ० ।

पगइमउय-प्रकृतिमृदुक-त्रि० । स्वभावत एव भावमार्दविके, भ० १ श० ६ उ० ।

पगइमंद-प्रकृतिमन्द-पुं० । स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात् सद्बुद्धिरहिते, " पगईए मंदा वि भवंति एगे, डहरा वि य, जे सुअबुद्धोववेया । (३) " दश० ६ अ० १ उ० ।

पगइविजुत्त प्रकृतिवियुक्त-त्रि० । स्वतन्त्रपरिभाषया सकलज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिमूलोत्तरभेदप्रकृतिभेदवियुक्ते,परतन्त्रपरिभाषया सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरित्यनया वियुक्ते,"नित्यप्रकृतिवियुक्त, लोकालोकावलोकनाऽऽभोगम । " धो० १६ विव० ।

पगइविणीय-प्रकृतिविनीत-त्रि० । स्वभावेन , न तु परोपदेशत. विनययुक्ते, त० । भ० ।

पगइविसमा-प्रकृतिविषमा-स्त्री० । आवश्यकोक्तपतिमारिकावत् स्वभावेन वक्रभावयुक्तायां स्त्रियाम्, त० । ( पतिमारिकावृत्तम् ' गरिहा ' शब्दे तृतीयभागे ८५० पृष्ठे गतम् )

पगइसंकम-प्रकृतिसंक्रम-पुं० । प्रकृते संक्रम्यमाणाया. सकाशात् दलिकं परमाणवात्मक समाकृष्याऽन्यां प्रकृतिं पतद्ग्रहप्रकृतिस्वभावस्तत्संक्रम. प्रकृतिसंक्रम इत्युच्यते । प० सं० ५ द्वार । संक्रमभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ० । प० सं० ।

पगइसंतकम्म-प्रकृतिसत्कर्मन्-न० । मूलोत्तरप्रकृतीनां सत्ताकर्मणि, क० प्र० १० प्रक० । प० सं० ।

पगइसोम्म-प्रकृतिसौम्य-पुं० । प्रकृत्या स्वभावेन सौम्योऽभीषणाऽऽकृतिः । विश्वसनीयरूपे षष्ठे श्रावकगुणे,एवंविधश्च प्रायेण न पापव्यापारे व्याप्रियते, सुखाऽऽश्रयणीयश्च भवति । प्रव० २३६ द्वार । स्वभावतोऽपापकर्मणि, ध० १ अधि० । स्वभावेनैव शशधरवदानन्दकारिणि, दर्श० ५ तत्त्व ।

अथ तृतीयं प्रकृतिसौम्यत्वगुणमाह-

पयईसोमसहावो, न पावकम्मे पवत्तए पायं ।

हवइ सुहसेवणिज्जो, पसमनिमित्तं परेसिं पि ।। १० ।।

प्रकृत्याऽकृत्रिमभावेन सौम्यस्वभावोऽभीषणाऽऽकृतिर्विश्वसनीयरूप इत्यर्थः ।(न)नैव,पापकर्मण्याक्रोशवधाऽऽदौ हिंसाचौर्याऽऽदौ वा प्रवर्त्तते व्याप्रियते प्रायो बाहुल्येन निर्वाहाऽऽदिकरणमन्तरेण । अत एव भवति सुखसेवनीयोऽक्लेशाराध्य प्रशमनिमित्तमुपशमकारणं च अपिशब्दस्येह समुच्चायकस्य योगात्, परेषामन्येषामपीदृशानां भवेत् विजयश्रेष्ठिवत् । ध० र० १ अधि० ३ गुण । ( विजयश्रेष्ठिकथा ' विजयसेट्ठि ' शब्दे )

पगंठ-प्रकण्ठ-पुं० पीठविशेषे, आह च मूलटीकाकार -"प्रकण्ठौ पीठविशेषौ ।" चूर्णिकारस्त्वेवमाह-आदर्शवृत्तौ पर्यन्तावनतप्रदेशौ । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । रा० ।

पगंथ-प्रग्रन्थ-पुं० । प्रगते ग्रन्थे, स्था० ६ ठा० । " पलिय पगंथे अदुवा पगंथे । " आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

पगड-प्रकट-त्रि० । सर्वजनदृश्ये, त० । प्रकटयति प्रकाशयति, विशे० ।

पगड-प्रकृत-त्रि० । प्रकर्षेण विहिते, उत्त० १३ अ० । प्रकर्षेण बद्धे, उत्त० १३ अ० । आचा० ।

पगडण-प्रकटन-न० । प्रकाशे, प्रकाशके च । नं० ।

पगडत्थ-प्रकटार्थ-पुं० । उत्तानार्थे, पं० प्र० १७ पाहु० ।

पगडि-प्रकृति-स्त्री० । पर्याये, "पगडि त्ति वा, पज्जाय त्ति वा, भेद त्ति वा एगट्ठा । " आ० चू० १ अ० । आचा० । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । उत्त० । आचा० । 'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कार ।' प्रज्ञा० ३३ पद । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मप्रकृतिषु, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

पगड्ड-प्रगर्त-पुं० । महागर्त्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

पगत-प्रगत-त्रि० । अधिकारे प्रयोजने, नि० चू० १ उ० ।

पगप्प-प्रकल्प-पुं० । प्रादुर्भूते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

पगप्पिता-प्रकर्त्तयितृ-त्रि० । पृष्ठोदराऽऽदे कर्त्तयितरि, " हंता छेत्ता पगप्पित्ता, आयसायाणुगामिणो" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

पगप्पिय-प्रकल्पित-त्रि० । प्ररूपिते प्रख्यापिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

पगब्भ-प्रगल्भ-पुं० । धार्ष्ट्योपगते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आचा० । अतीव परिपुष्टे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । धृष्टता याते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पगब्भणा-प्रगल्भना-स्त्री० । धार्ष्ट्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । पापकरणे, धृष्टतायाम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पगब्भा-प्रगल्भा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां पार्श्वनाथान्तेवासिन्याम्, यथा कूपिकसंनिवेशे उपसृष्टो वीरस्वामी मोचित । आ० म० १ अ० २ खण्ड । न० ।

पगब्भिय-प्रगल्भित-त्रि० । धृष्टता गते, प्रमादवति च । " किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमुत्तमं । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । धार्ष्ट्यवति, सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० । धार्ष्ट्योपगते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

पगय-प्रकृत-त्रि० । अधिकृते, व्य० ७ उ० । विशे० । प्रस्तुते, अनु० । सूत्र० । विशे० । भावे क्त. । प्रस्तावे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । अधिकारे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । बृ० । आचा० । प्रयोजने, विशे० । श्रुतविशेषे, व्य० ६ उ० । (कल्पव्यवहारयोः प्रकृतानि ' अइसेस ' शब्दे प्रथमभागे २६ पृष्ठे दर्शितानि )

पगत-त्रि० । प्राप्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पगरण-प्रकरण-न० । प्रक्रियन्तेऽर्था अस्मिन्निति प्रकरणम् । अनेकार्थाधिकारवत् कार्यप्रकरणाऽऽदौ, दश०४ अ० । आचा० ।

पगरणसम-प्रकरणसम-न० । हेत्वाभासभेदे, रत्ना० ६ परि० । अस्य हि लक्षणम्-यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट प्रकरणसम इति । यस्मात्प्रकरणस्य पक्षप्रतिपक्षयोश्चिन्ता विमर्शाऽऽत्मिका प्रवर्त्तते, कस्माच्चासौ प्रवर्त्तते ?, विशेषानुपलम्भात्, स एव विशेषानुपलम्भो यदा निर्णयार्थमपदिश्यते तदा प्रकरणमनतिवर्त्तमानत्वात् प्रकरणसमो भवति, प्रकरणे पक्षे प्रतिपक्षे च समस्तुल्य इति।यथा-अनित्य शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्येकेनोक्ते,द्वितीय प्राऽऽह-यद्यनेन प्रकारेणा-

नित्यत्व साध्यते, तर्हि नित्यतासिद्धिरप्यस्तु, अन्यतरानुपलब्धे स्तत्रापि सद्भावात्। तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धे रिति। अथ चाऽनुपपन्नो, यतो यदि नित्यधर्मानुपलब्धिर्निश्चिता तदा कथमतो नानित्यत्वसिद्धिः ?, अथानिश्चिता, तर्हि सन्दिग्धासिद्धतैव दोषः। अथ योग्यायोग्यविशेषणमपास्य नित्यधर्माणामनुपलब्धिमात्र निश्चितमेव, तथाहि व्यभिचार्येव। प्रतिवादिनश्चाऽसौ नित्यधर्मानुपलब्धिः स्वरूपासिद्धैव नित्यधर्मोपलब्धेः तत्रास्य सिद्धेः। एवमनित्यधर्मानुपलब्धिरपि परीक्षणीया। इति सिद्धत्रय एव हेत्वाभासाः। (५७ सूत्र० टी०) रत्ना० ६ परि०। ( प्रकरणसमस्य विषयः ' अणेगंतवाय ' शब्दे प्रथमभागे ४३३ पृष्ठे द्रष्टव्यः )

पगरणसुत्त प्रकरणसूत्र-न०। स्वसमय एवाऽऽक्षेपनिर्णयप्रसिद्ध्युद्भावके सूत्रभेदे, बृ० १ उ०। ( 'सुत्त' शब्दे इदं व्याख्यास्यते)

पगरणोवएस-प्रकरणोपदेश-पुं०। कारणोपदेशे, आ० चू० १ अ०। ( अस्यैकार्थिकानि ' कारणोवएस ' शब्दे तृतीयभागे ४६६ पृष्ठे गतानि )

पगरिय-प्रगलित-त्रि०। गलत्कुष्ठे, पिं०।

पगलंत-प्रगलत्-त्रि०। निस्यन्दमाने, न०। विपा०। प्रश्न०। " पगलंतलोयणसु जलदिट्ठो।" महा० २ अ०।

पगलिय-प्रगलित-त्रि०। क्षरिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि० चू०। प्रश्न०।

पगाढ-प्रगाढ-त्रि०। प्रकर्षवति, भ० ५ श० ६ उ०। प्रश्न०। प्रकर्षेण व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। प्रकर्षवृत्तौ, भ० ६ श० ३१ उ०। ज्ञा०। स्था०।"पगाढा जडा दुहा निव्वा दुरहियासा" इति एकार्थाः। विपा० १ श्रु० १ अ०। प्रगाढा प्रकर्षेण मर्मप्रदेशव्यापितयाऽतीव समवगाढा ( वेदना )। जी०३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

पगाम-प्रकाम-न०। अत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। सूत्र०। उत्कटे, आव० ४ अ०। अत्यन्ते, " रसा पगामं न निसेवियव्वा।" उत्त० ३२ अ०।

पगामभोयण-प्रकामभोजन-न०। द्वात्रिंशदादिकवलेभ्यः परेण परतो भुञ्जानस्य भोजने, पिं०।

पगामसज्जा-प्रकामशय्या-स्त्री०। 'शीङ्' स्वप्ने। अस्य क्यप्प्रत्ययान्तस्य " कृत्यल्युटो बहुलम् " ॥ ३। ३। ११३ ॥ इति वचनात् शयनं शय्या प्रकामं चातुर्यामं शयनं शेरतेऽस्यामिति वा शय्या संस्तारकाऽऽदिलक्षणा, प्रकामा उत्कटा शय्या प्रकामशय्या। संस्तारोत्तरपट्टकादतिरिक्ताया प्रावरणमधिकृत्य कल्पत्रयातिरिक्तायां वा शय्यायाम्, आव० ४ अ०। ध०। ( प्रकामशय्याऽतिचारप्रतिक्रमणं ' पडिक्कमण ' शब्दे )

पगार-प्रकार-पुं०। भेदे, आ० चू० १ अ०। विशे०। स्था०। "भेद त्ति वा पगारो त्ति वा एगट्ठा।" आ० चू० १ अ०। आचार्ये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। विधाने, आव० ४ अ०।

पगास-प्रकाश-पुं०। प्रभायाम्, औ०। ज्ञा०। अनु०। आविर्भावे, विशे०। दिनरात्रिविभागनिबन्धने तरणिप्रभारूपेऽर्थे, विशे०। नेत्रवक्त्राऽऽदिविकाशे, अनु०। प्रतिभायाम्, प्रज्ञा० २ पद। प्रकटे, नि० चू० १ उ०। प्रसिद्धौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। चकचिक्कायमानत्वे, विशे०। दीप्तौ, रा०। औ०। "अयसीकुसुमप्पगासा।" क्रोधे, "न य उक्कोसपगासमाहणे।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

पगासग-प्रकाशक-त्रि०। प्रकाशयतीति प्रकाशकम्। ज्ञाने, आ० म० १ अ० १ खण्ड। अवबोधके, पंचा० १६ विव०। चन्द्रार्काऽऽदिके प्रकाशकृद्वस्तुनि, विशे०। आचा०।

पगासण-प्रकाशन-न०। प्रकटने, प्रव० ६ द्वार। सूत्र०। आ० चू०।

पगासदीव-प्रकाशदीप-पुं०। प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः। आदित्यचन्द्रमण्यादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०।

पगासिय-प्रकाशित-त्रि०। प्रकटिते, स्था०। सम्यगाविष्कृते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

पगिज्झिय-प्रगृह्य-अव्य०। उत्क्षिप्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। विधायेत्यर्थे, भ० ३ श० १ उ०। औ०। धृत्वेत्यर्थे, भ० ९ श० ३१ उ०।

पगिट्ठ-प्रकृष्ट-त्रि०। प्रधाने, प० सं० १ द्वार।

पगिट्ठभावज्जिय-प्रकृष्टभावार्जित-त्रि०। शुभभावार्जिते, प० सू० ए सूत्र।

पगीय-प्रगीयत्-त्रि०। गातुमारब्धवति, रा०।

पगुण-प्रगुण-त्रि०। अकुटिले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। आचा०। अव्यभिचारिणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। ध०। आ० म०।

पगे-प्रगे-अव्य०। वाच०। प्रगीयतेऽत्र प्र-गै-क। प्रतिप्रातःकाले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

पग्गह-प्रग्रह-पुं०। प्रगृह्यते उपादीयते आदेयवचनत्वाद्यः स प्रग्रहः। ग्राह्यवाक्ये नायके, स च लौकिको, लोकोत्तरश्चेति। तत्र लौकिको राजयुवराजमहत्तरामात्यकुमाररूपो, लोकोत्तरश्चाऽऽचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकरूप इति। स्था० १ ठा०। ( ' ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे १६६६ पृष्ठे व्याख्यात ) प्रकर्षेण गृह्णातीति प्रग्रहः। उपधौ, ओघ०। रश्मौ, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। उपा०।

पग्गहिय-प्रगृहीत-त्रि०। प्रकर्षेणाभ्युपगते, अणु० ३ वर्ग १ अ०। आदरप्रतिपन्नत्वात्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। प्रकर्षेण गृहीते, बहुमानप्रकर्षाद् गृहीते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। भोजनार्थमुत्पादिते, स्था० ६ ठा०। सूत्र०।

पग्गहियतर-प्रगृहीततरक-न०। प्रकर्षेण गृहीतं प्रगृहीततरं, तदेव प्रगृहीततरकम्। प्रकर्षेणातिशायित्वेन गृहीते, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। प्रगृहीततरां शय्यां चैव काञ्चिद्विषयसमाऽऽश्रिका वसतिं सम्पन्ना तामेवम्। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

पग्गहियतालियंट-प्रगृहीततालवृन्त-त्रि०। प्रगृहीतं तालवृन्तं य प्रति तस्मिन्, भ० ६ श० ३३ उ०। औ०।

पग्गहिया-प्रगृहीता-स्त्री०। भोजनवेलायां दातुमभ्युत्थितेन कराऽऽदिना प्रगृहीतं यद्भोजनजातं, भोक्ता वा स्वहस्ताऽऽदिना तद् गृहीत इति षष्ठ्या पिण्डैषणायाम्, आव० ४ अ०। आचा०। ( 'पिंडेसणा' शब्दे सूत्रम् ) भोजनसमय भोक्तुमुपविष्टाय परिवेषितुं

परिवेषकेण स्थाल्यादेरुद्धृत्य कडुच्छुकाऽऽदिना उत्क्षिप्त परेण च न गृहीत प्रव्रजिताय दापितम् । यद्वा-भोक्तुःस्य भोक्तुं स्वकरेण यद् गृहीतमशनाऽऽदि तद् गृह्णतो भिक्षायाम्,ध०३ अधि०।

पगिम्म-प्रायस्-अव्य० । " प्रायस प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पगिम्वा " ॥ ८ । ४ । ४१४ ॥ इति प्रायस. पगिम्वाऽऽदेश । " पगिम्बमइ मणोरहइ, दुक्करु दड्ड करेइ । " प्रा० ४ पाद ।

पघंसण-प्रघर्षण-न० । पुनः पुनर्घर्षणे, " एक्क दिण आघसण, दिणे दिणे पघसण । " नि० चू० ३ उ० ।

जे भिक्खू णिग्गंथे दंते अण्णउत्थियएण्ण गारत्थियएस वा आघंसेज्ज वा, पघंसेज्ज वा, आघसावतं वा पघंसावंत वा साइज्जइ ॥

ग्रन्थद्रव्येण ईपत्पुन पुनर्वा घर्षयेत् । नि०चू०१७ उ०। आचा०।

पचंड-प्रचण्ड-त्रि० । प्रकोपनशीले, व्य० ८ उ० ।

पचत्तर-देशी-चाटौ, सुन्दरे, दे० ना० ६ वर्ग २१ गाथा ।

पचलिय-प्रचलित-त्रि०। कम्पिते, कल्प०। "पचलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडल त्ति । " तत्र प्रचलितानि भगवद्दर्शनेन अधिकसम्भ्रमवत्त्वात् कम्पितानि (वरकडग त्ति) वराणि कटकानि कङ्कणानि त्रुटिताश्च बाहुरक्षका ( बहिरखा इति लोके ) केयूराणि चाङ्गदानि (बाजूबन्ध इति लोके)(मउड त्ति) मुकुट, कुण्डले च प्रसिद्धे, एतानि प्रचलितानि यस्य स तथा । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

पचालेमाण-प्रचालयत्-त्रि० । प्रकर्षेण चालयति, भ० १७ श० १ उ० ।

पचोइय-प्रचोदित-त्रि० । प्रेरिते, "अयले होइ गव पचोइए।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पच्च-प्रत्यय-पु० । "त्योऽचैत्ये " ॥ ८ । २ । १३ ॥ इति त्यस्य चः । प्रा० २ पाद । सर्वजनप्रतीतौ, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

पच्चइय-प्रात्ययिक-पु० । प्रत्ययाद् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणान्निमित्ताज्जातः प्रात्ययिक. । व्यवसायभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

पच्चंगिरा-प्रत्यङ्गिरा-स्त्री० । देवीभेदे, वाच० । अन्यत्र लगनीयस्य दोषस्याऽऽत्मनि लगने, " पच्चंगिरयोगमुद्धाहो । " अथवा साधुर्भीत. सन् निह्नुते अपलपति, न कथयतीत्यर्थः । श्रु० १ उ० । नि० चू० ।

पच्चंत-प्रत्यन्त-त्रि० । सीमासन्धिवर्तिनि, व्य० १ उ० । " पच्चंता मिलक्खु बोहिया । " प्रत्यन्तदेशवासिनो म्लेच्छा. । वृ० १ उ० । सीमाप्रान्तस्थ नगर प्रत्यन्तनगरम् । आव० ४ अ० ।

पच्चंतय-प्रत्यन्तक-पु० । नीचके, आव० ४ अ० ।

पच्चंतर-प्रत्यन्तर-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ५ सम० ।

पच्चंतराय-प्रत्यन्तराज-पु० । सीमाराजे, " अमुगो पच्चंतरायउव्वेहो अम्ह ज तारिसा पुरिसा । " आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

पच्चक्ख-प्रत्यक्ष-न० । अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतम्-इन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षमिति तत्पुरुष । ननु-अक्षिशब्दादपि प्रतिपूर्वात्-"प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण । (ग०)" इत्यव्ययीभावसमासान्ते टचि प्रत्यक्षमिति सिध्यति, तत्किं न कक्षीचकृवान्स.?, न चैव स्पार्शनाऽऽदिप्रत्यक्ष नैतच्छब्दवाच्य स्यादिति वाच्य, तत्प्रवृत्तिनिमित्तस्य स्पष्टत्वस्य तत्रापि भावेन तच्छब्दवाच्यतोपपत्ते । व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रतया ह्यत्राक्षिशब्दः शब्द्यते, कथमन्यथाऽक्षशब्दोपादानेऽप्यनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य तच्छब्दवाच्यता चतुरस्रा स्यात् ? । अथ कथमेव प्रत्यक्ष प्रेक्षाक्षणः, प्रत्यक्षा पदमस्तीति स्त्रीपुंसभाव ?, अव्ययीभावस्य सदा नपुंसकत्वात् । नैव, प्रत्यक्षमस्यास्तीति अर्शआदित्वेनादन्तत्वात्तद्भावसिद्धेः । अथोच्यते एवमपि प्रत्यक्षो बोध , प्रत्यक्षा बुद्धिरित्यत्र पोंस्न स्त्रैण च न प्राप्नोति, न ह्यत्र मत्वर्थीयार्थो घटते, प्रत्यक्षस्वरूपस्यैव वेदनस्य बोधबुद्धिशब्दाभ्यामभिधानात् । रत्ना० २ परि० । विशे० । सूत्र० । साक्षाज्ज्ञाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । 'अशूङ्' व्याप्तौ, अश्नुते, ज्ञानाऽऽत्मना सर्वानर्थान् व्याप्नोतीत्यक्ष । अथवा-अश् भोजने । अश्नाति सर्वान् यथायोग भुङ्क्ते पालयति वेति अक्षो जीव । उणादयोऽसन्प्रत्ययाऽऽदिक सक्प्रत्यय । तमक्ष जीव प्रति साक्षाद् वर्तते यत्तत्प्रत्यक्षम् । " अत्यादय क्रान्ताऽऽद्यर्थे द्वितीयया (वा०) " इति समास । अनु० । इन्द्रियमनोनिरपेक्षे आत्मनः साक्षात्प्रवृत्तिमति ज्ञानभेदे, न०। अश्नात्यश्नुते व्याप्नोति अर्थानित्यक्ष आत्मा,त प्रति यद्वर्त्तते ज्ञान तत्प्रत्यक्ष,निश्चयतोऽवधिमन पर्यायकेवलानि अक्षाणि चेन्द्रियाणि प्रति यत्तत्प्रत्यक्षम्, व्यवहारतस्तच्च चक्षुरादिप्रभवमिति । लक्षणमिदमस्य-"अपरोक्षतयाऽर्थस्य, ग्राहक ज्ञानमीदृशम् । प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेय, परोक्ष ग्रहणे तथा ॥ १ ॥" स्था० ४ ठा० ३ उ० । न० । जीवस्यार्थसाक्षात्कारित्वेन वर्त्तमाने ज्ञाने, अनु० ।

( १ ) तत्र प्रत्यक्षस्य लक्षणमाह-

जीवो अक्खो अत्थ-व्वावणभोयणगुणण्णिओ जेण ।
तं पइ वट्टइ नाणं, जं पच्चक्खं तयं तिविहं ॥ ८९ ॥

अक्षस्तावज्जीव उच्यते । केन हेतुना ?, इत्याह-( अत्थव्वावणेत्यादि ) अर्थव्यापनभोजनगुणान्वितो येन, तेनाक्षो जीव । इदमुक्त भवति-अशूङ् व्याप्तौ । अश्नुते ज्ञानाऽऽत्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणाऽऽदिकनिपातनादक्षो जीवः । अथवा-अश् भोजने । अश्नाति समस्तत्रिभुवनान्तर्वर्तिनो देवलोकसमृद्ध्यादीनर्थान् पालयति भुङ्क्ते वेति निपातनादक्षो जीव, अश्नातेर्भोजनार्थत्वाद्भुजेश्च पालनाभ्यवहारार्थत्वादितिभाव । इत्येवमर्थव्यापनभोजनगुणयुक्तत्वेन जीवस्याक्षत्व सिद्ध भवति । तमक्ष जीव प्रति साक्षादुगतमिन्द्रियनिरपेक्ष वर्त्तते यद् ज्ञान तत्प्रत्यक्षम् । तच्चावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानभेदात्त्रिविधत्रिप्रकारम्, तस्यैव साक्षादर्थपरिच्छेदकत्वेन जीव प्रति साक्षाद्वर्त्तमानत्वादिति गाथार्थ ॥ ८९ ॥ विशे० । वृ० । आ० चू० । दर्श० । सूत्र० । आ० म० । ( अवधिज्ञानस्वरूपम् ' ओहिणाण ' शब्दे तृतीयभागे १५६ पृष्ठे गतम् ) ( मन -पर्यायज्ञानस्वरूपं ' मणपज्जवणाण ' शब्दे वक्ष्यते ) ( केवलज्ञानविस्तर. ' केवलणाण ' शब्दे तृतीयभागे ६४२ पृष्ठे गत. )

प्रत्यक्ष लक्षयन्ति-

स्पष्टं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥

प्रबलतरज्ञानाऽऽवरणवीर्यान्तराययो क्षयोपशमात् क्षयाद्वा स्पष्टताविशिष्ट वैशद्याऽऽस्पदीभूत यत् तत् प्रत्यक्ष प्रत्येयम् ॥२॥

स्पष्टत्वमेव स्पष्टयन्ति-

अनुमानाऽऽद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ॥ ३ ॥

अनुमानाऽऽदिभ्यो वक्ष्यमाणपरोक्षप्रकारेभ्योऽतिरेकेण यद्विशेषाणां नियतवर्णसंस्थानाऽऽद्यर्थाऽऽकाराणां प्रतिभासनं ज्ञानस्य तत् स्पष्टत्वमिति ॥ ३ ॥ रत्ना० २ परि० ।

(२) अत्र वैशेषिकाऽऽदयः प्राऽऽहुः-ननु 'अक्षमिन्द्रियं प्रोक्तो हृषीकं करणं स्मृतं,' ततोऽक्षाणामिन्द्रियाणां या साक्षादुपलब्धिः सा प्रत्यक्षा, अक्षमिन्द्रियं प्रति वर्त्तते प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तेः । तथा च सति सकललोके प्रसिद्धं साक्षादिन्द्रियाऽऽश्रितं घटाऽऽदिज्ञानं प्रत्यक्षमिति सिद्धम् । तदेतदयुक्तम्, इन्द्रियाणामुपलब्धृत्वासंभवस्याचेतनत्वात् । तथा चात्र प्रयोगः-यदचेतनं तन्नोपलब्धृ, यथा घटोऽचेतनानि च द्रव्येन्द्रियाणि, न चायमसिद्धो हेतुर्यतो नाम द्रव्येन्द्रियाणि निर्वृत्युपकरणरूपाणि, निर्वृत्युपकरणे च पुद्गलमये, यथा चानयोः पुद्गलमयता तथाऽग्रे वक्ष्यते । पुद्गलमयं च सर्वमचेतनं, पुद्गलानां च काठिन्यादिधर्मरूपतया चैतन्यं प्रति धर्मीत्वायोगात् । धर्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्मी, यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी, यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्मधर्मिभावो भवेत्ततः काठिन्यजलयोरपि स भवेत्, न च भवति, तस्मादचेतनं पुद्गलः । उक्तं च-

"बोहसहावममुत्तं, विसयपरिच्छेयगं च चेयन्नं ।
विवरीयसहावाणि य, भूयाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥
ता धम्मधम्मिभावो, कहमेसिं घडउ तइऽणुवगमे य ।
अणुरूवत्ताभावे, काठिन्नजलाण किं न भवे ? ॥ २ ॥" इति ।

नापि संदिग्धानैकान्तिकता हेतोः शङ्कनीया, अचेतनस्योपलम्भकत्वशक्त्यायोगात् । उपलम्भकत्वं हि चेतनाया धर्मः, ततः स कथं तदभावे भवितुमर्हति ? । आह-प्रत्यक्षबाधितेयं प्रतिज्ञा, साक्षादिन्द्रियाणामुपलम्भकत्वेन प्रतीतेः । तथाहि-चक्षू रूपं गृह्णदुपलभ्यते, शब्दं कर्णौ, नासिका गन्धमित्यादि । तदेतन्मोहावष्टब्धान्तःकरणताविलसितम् । तथा हि-आत्मा शरीरेन्द्रियैः सहान्योऽन्यानुवेधेन व्यवस्थितः, ततोऽयमात्माऽमूनि चेन्द्रियाणि इति विवेक्तुमशक्नुवन्तो बालिशजन्तवः, तत्रापि युष्मादृशां कुशास्त्रसंपर्कतः कुवासनासङ्गम, ततः साक्षादुपलम्भकानीन्द्रियाणीति मन्यन्ते, परमार्थतः पुनरुपलब्धा तत्राऽऽत्मैव । कथमेतदवसीयते इति चेत् । उच्यते-तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात् । तथाहि-कोऽपि पूर्वं चक्षुषा विवक्षितमर्थं गृहीतवान् ततः कालान्तरे दैवविनियोगतश्चक्षुषोपगमेऽपि स तमर्थमनुस्मरति । तत्र यदि चक्षुरेव द्रष्टा स्यात्ततश्चक्षुषोऽभावे तदुपलब्धार्थानुस्मरणं न भवेत् । न ह्यात्मना सोऽर्थोऽनुभूतः, किं तु चक्षुषा, चक्षुष एव साक्षात् द्रष्टृत्वेनोपगमात्, न चान्येनानुभूतेऽर्थेऽन्यस्य स्मरणं मा प्रापदिति प्रसङ्गः । अपि च-मा भूच्चक्षुषापगमस्तथापि यदि चक्षुरेव द्रष्टा तत् स्मरणमात्मनो न भवेत्, अन्येनानुभूतेऽर्थे अन्यस्य स्मरणायोगात्, भवति च स्मरणमात्मनः, चक्षुषः स्मर्तृत्वेनाप्रतीतेरनभ्युपगमाच्च, तस्मादात्मैवोपलब्धा नेन्द्रियमिति । तथा चात्र प्रयोगः-यो येषूपरतेष्वपि तदुपलब्धानर्थान् स्मरति स तत्रोपलब्धा, यथा गवाक्षोपलब्धानामर्थानामनुस्मर्त्ता देवदत्तोऽनुस्मरति च द्रव्येन्द्रियोपलब्धानर्थान् द्रव्येन्द्रियापगमेऽप्यात्मा, इह स्मरणमनुभवपूर्वकतया व्याप्तं, व्याप्यव्यापकभावश्चानयोः प्रत्यक्षेणैव प्रतिपन्नः । तथाहि-योऽर्थोऽनुभूतः स स्मर्यते, न शेषः । तथा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण प्रतीतेर्विपक्षे चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम्, अनुभूते विषये यदि स्मरणं भवेत्ततोऽननुभूतत्वाविशेषात् खरविषाणाऽऽदेरपि स्मरणं भवेदित्यतिप्रसङ्गः, तस्माद् द्रव्येन्द्रियापगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणादात्मोपलब्धेति स्थितम् ।

उक्तं च-

"केसिं चि इंदियाइं, अक्खाइं तदुवलद्धिपच्चक्खं ।
तन्नो ताइं जमचे-यणाइं जाणंति न घडो व्व ॥ १ ॥
उवलद्धा तव्वाया, तव्विगमे तदुवलद्धसरणाओ ।
गेहगवक्खोपरमे, वि तदुवलद्धाणुसरिया वा ॥ २ ॥"

अत्र वाशब्द उपमार्थः । अपरे पुनराहुः न वयमिन्द्रियाणामुपलब्धृत्वं प्रतिजानीमहे । किं चैतदेव ब्रूमो-यदिन्द्रियद्वारेण प्रवर्त्तते ज्ञानमात्मनि तत्प्रत्यक्षं, न चेन्द्रियव्यापारव्यवहितत्वादात्मा साक्षान्नोपलब्धा इति वक्तव्यम्, इन्द्रियाणामुपलब्धिप्रतिकरणतया व्यवधायकत्वायोगात् । न खलु देवदत्तो हस्तेन भुञ्जानो हस्तव्यापारव्यवहितत्वात्साक्षान्न भोक्तेति व्यपदेष्टुं शक्यम् तदेतदसमीचीनम्, सम्यग् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि यदात्मा चक्षुरादिकमपेक्ष्य बाह्यमर्थमवबुध्यते तदाऽऽवश्यं चक्षुरादेः सादुगुण्यमपेक्षते । तथाहि-यदा सद्गुणं चक्षुस्तदा बाह्यमर्थं स्पष्टं यथावस्थितं चोपलभते, यदा तु तिमिराशुभ्रमणनौयानादिसंक्षोभदेशदवीयस्त्वाऽऽद्यापादितविभ्रमं, तदा विपरीतं संशयितं वा, ततोऽवश्यमात्मा अर्थोपलब्धौ पराधीनः, तथा च सति यथा राजा निजदौवारिकेनोपदर्शितं परराष्ट्रराजकीयं पुरुषं पश्यन्नपि समीचीनमसमीचीनं वा राजा निजदौवारिकवचनत एव प्रत्येति, न साक्षात्तद्वदात्माऽपि चक्षुरादिनोपदर्शितं बाह्यमर्थं चक्षुरादिप्रत्ययत एव समीचीनमसमीचीनं वा वेत्ति, न साक्षात् । तथाहि-चक्षुरादिनोपदर्शितेऽपि बाह्येऽर्थे यदि संशयमधिरूढो भवति, तर्हि चक्षुरादिसादुगुण्यमेव प्रतीत्य निश्चयं विदधाति, यथा न मे चक्षुस्तिमिरोपप्लुतं नौयानाशुभ्रमणाऽऽद्यापादितविभ्रमं वा, ततोऽयमर्थः समीचीन इति । ततो यथा राज्ञो नाऽयं मम राजा दौवारिकोऽसत्यालापी कदाचनाप्यस्य व्यभिचारानुपलम्भादिति निजदौवारिकस्य सादुगुण्यमवगम्य परराष्ट्रराजकीयपुरुषसमीचीनताऽवधारणं परमार्थतः परोक्षं, तद्वदात्मनोऽपि चक्षुरादिसादुगुण्यावधारणतो वस्तुयाथात्म्यावधारणं वस्तुतः परोक्षम् । नन्विदमिन्द्रियसादुगुण्यावधारणतो वस्तुयाथात्म्यावधारणमनभ्यासदशामापन्नस्योपलभ्यते, नाभ्यासदशामुपगतस्य, अभ्यासदशामापन्नो ह्यभ्यासप्रकर्षसामर्थ्यादिन्द्रियसादुगुण्यमनपेक्ष्यैव साक्षादवबुध्यते, ततस्तस्येन्द्रियाऽऽश्रितं ज्ञानं कथं प्रत्यक्षं न भवति ? । तदप्ययुक्तम् । अभ्यासदशामापन्नस्यापि साक्षादनवबोधस्यापीन्द्रियद्वारेणावबोधप्रवृत्तेरवश्यमिन्द्रियसादुगुण्यापेक्षणात् केवलमभ्यासप्रकर्षवशात्तदिन्द्रियसादुगुण्यं झटित्येवावधारयति, पूर्वावधृतं च झटित्येव निश्चिनोति । ततः कालसौक्ष्म्यात्तन्नोपलक्ष्यते, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यं, यतोऽवश्यमपायज्ञानमवग्रहेहापूर्वम्, ईहा च विचारणाऽऽत्मिका, विचारश्चेन्द्रियसादुगुण्यसद्भूतवस्तुधर्माश्रितः, अन्यथैकतरविचाराभावेऽपायज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वायोगात्, न ह्यविचारितेन्द्रियवस्तुनि वा सम्यगविचारितो वा यज्ज्ञानं समीचीनं भवति, ततोऽभ्यासदशाऽऽपन्नेऽपीन्द्रियसादुगुण्यावधारणमवसेयम् । यदपि चोक्तम् "न खलु देवदत्तो हस्तेन भुञ्जानो हस्तव्यापारव्यवहितत्वात् न साक्षाद्भोक्तेति व्यपदेष्टुं शक्यमिति" । तदप्ययुक्तम् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकार्थवैषम्याद् । भोक्ता हि भक्तिक्रियानुभवभागी भण्यते, भुजिक्रियाऽनुभवश्च देवदत्तस्य न हस्तेन विधीयते, किं तु सा-

क्षात्, हस्तो हि कवलप्रक्षेप एव व्याप्रियते, न परिच्छेदक्रियायाम्, इन्द्रियमिवाऽऽहारक्रियानुभवेऽपि येन व्यवधानं भवेत्, ततो देवदत्तः साक्षाद्भोक्तेति व्यवह्रियते। इह तु वस्तूनामुपलब्धिरुक्तनीत्या चक्षुरादीन्द्रियसादृगुण्यावगमानुसारेणोपजायते। ततो व्यवधानान्न साक्षादुपलम्भक आत्मेति। नन्विदं सर्वमप्युत्सूत्रप्ररूपणं, सूत्रे ह्यनन्तरमेवेन्द्रियाऽऽश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षमुपदेक्ष्यते। नं०। आ० म०। स्था०। विशे०।

( ३ ) तथाहि-इन्द्रियनोइन्द्रियप्रत्यक्षम्-

से किं तं पच्चक्खं ?। पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा-इंदियपच्चक्खं, नोइंदियपच्चक्खं च। से किं तं इंदियपच्चक्खं ?। इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा-सोइंदियपच्चक्खं, चक्खिंदियपच्चक्खं, घाणिंदियपच्चक्खं, जिब्भिंदियपच्चक्खं, फासिंदियपच्चक्खं। से तं इंदियपच्चक्खं। से किं तं नोइंदियपच्चक्खं ?। नोइंदियपच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं। तं जहा-ओहिनाणपच्चक्खं, मणपज्जवनाणपच्चक्खं, केवलनाणपच्चक्खं।

प्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा- इन्द्रियप्रत्यक्षं, नोइन्द्रियप्रत्यक्षं च। (नं०) इह च द्विविधमपि द्रव्यभावरूपमिन्द्रियं गृह्यते, एकतरस्याप्यभावे इन्द्रियप्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। तत्रेन्द्रियस्य प्रत्यक्षमिन्द्रियप्रत्यक्षं, नोइन्द्रियप्रत्यक्षं यत् इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवति। नोशब्दः सर्वनिषेधवाची। तेन मनसोऽपि कथञ्चिदिन्द्रियत्वाभ्युपगमात्तदाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति सिद्धम्। ( से किं तमित्यादि ) अथ किं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् ?। इन्द्रियप्रत्यक्षं पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमित्यादि। तत्र श्रोत्रेन्द्रियस्य प्रत्यक्षं श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं, श्रोत्रेन्द्रियं निमित्तीकृत्य यदुत्पन्नं ज्ञानं तत् श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमिति भावः। एवं शेषेष्वपि भावनीयम्। एतच्च व्यवहारत उच्यते, न परमार्थत इत्यनन्तरमेव प्रागुक्तम्। आह-स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणीति क्रमः। अयमेव च समीचीनः, पूर्वपूर्वलाभ एवोत्तरोत्तरलाभसम्भवात्। ततः किमर्थमुत्क्रमोपन्यासः कृतः। उच्यते-"अस्ति पूर्वानुपूर्वी, अस्ति पश्चानुपूर्वी।" इति न्यायप्रदर्शनार्थं। अपि च-शेषेन्द्रियापेक्षया श्रोत्रेन्द्रियं पटु। ततः श्रोत्रेन्द्रियस्य यत्प्रत्यक्षं तच्छेषेन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षया स्पष्टम्। संवेदनस्पष्टसंवेदनं चोपवर्ण्यमानं विनेयैः सुखेनाऽवबुध्यते, ततः सुखप्रतिपत्तये श्रोत्रेन्द्रियाऽऽदिक्रम उक्तः। (से किं तं नोइंदियपच्चक्खं इत्यादि) अथ किं तत् नोइन्द्रियप्रत्यक्षम् ?। नोइन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-अवधिज्ञानप्रत्यक्षमित्यादि। नं०। सत्यमेतद् वैशेषिकाऽऽदिसम्मतम्, किन्तु इह लोकव्यवहारमपेक्ष्योक्तं, न परमार्थेन। तथाहि-यदिन्द्रियाश्रितमपरव्यवधानरहितं ज्ञानमुदयते, तल्लोके प्रत्यक्षमिति व्यवस्थितम्, अपरधूमाऽऽदिलिङ्गनिरपेक्षतया साक्षादिन्द्रियमधिकृत्य प्रवर्त्तनात्। यत्पुनरिन्द्रियव्यापारेऽप्यपरधूमाऽऽदिकमपेक्ष्याऽग्न्यादिविषयं ज्ञानमुदयते, तल्लोके परोक्षम्। तत्र साक्षादिन्द्रियव्यापारासम्भवात्। यत्पुनरात्मन इन्द्रियमप्यनपेक्ष्य साक्षादुपजायते, तत्परमार्थतः प्रत्यक्षं, तच्चावध्यादिकं त्रिप्रकारं ततः संव्यवहारमधिकृत्येन्द्रियाऽऽश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तं, न परमार्थतः। अथ कथमेतदवसीयते-संव्यवहारमधिकृत्येन्द्रियाऽऽश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तं, न परमार्थतः ?। उच्यते तत्रैवोत्तरसूत्रार्थपर्यालोचनात्। तथाहि-प्रत्यक्षभेदाभिधानानन्तरं तत्र सूत्रम्-"परोक्खं दुविहं पन्नत्तं। तं जहा-आभिनिबोहियनाणं सुयनाणं।" इत्यादि। तत्राऽऽभिनिबोधिकमवग्रहाऽऽदिरूपम्, अवग्रहाऽऽदयश्च श्रोत्रेन्द्रियाऽऽद्याश्रितास्तत्र वर्णिताः, तद्यदि श्रोत्राऽऽदीन्द्रियाऽऽश्रितं ज्ञानं परमार्थतः प्रत्यक्षं, तत्कथम् ?, अवग्रहाऽऽदयः परोक्षत्वेनाग्रेऽभिहिताः, तस्मादुत्तरत्रेन्द्रियाऽऽश्रितज्ञानस्य परोक्षत्वेनाभिधानादवसीयते प्रागिन्द्रियाऽऽश्रितं ज्ञानं संव्यवहारतः प्रत्यक्षमुक्तं, न परमार्थतः। आह च भाष्यकृत्-"एगतेण परोक्खं, लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं। इंदियमणोभवं जं, तं संववहारपच्चक्खं ॥९५॥" इति। आ० म० १ अ० १ खण्ड। विशे०। अनु०। वृ०। आ० चू०। नि० चू०। "दुविहे पच्चक्खनाणे पण्णत्ते। तं जहा-केवलणाणे चेव, नोकेवलनाणे चेव।" स्था० २ ठा०।

(४) बौद्धाऽऽदिभिः सह प्रत्यक्षविषयकः शास्त्रार्थः-यदपि सन्निहितमर्थमवतरत्यध्यक्षं, नामाऽऽदिकं च विशेषणमसन्निहितमिति, न तद्योजनामवतरीतुं क्षममिति, तत्रापि यदि सन्निहितमध्यक्षमवतरेत् पद्ममूलपरिष्वक्तमञ्जनाऽऽदिकं सन्निहितं किं नावतरेत्, अथ यत् प्रतिभासयोग्यं वस्तु तदेवावतरेत्। न च स्तम्भाऽऽदिकं व्यवहितमपि योग्यमित्येतदेव कुतः ?, स्तम्भाऽऽदेः प्रतिभासनात् तद्योग्यता व्यवस्थाप्यते, तर्हि तत्प्रतिभासनं कुतो व्यवस्थाप्यम् स्वयं वेदनादिति चेन्न तत्प्रतिभासः संवेद्यते। तथा च योग्येतरत्वयोग्यव्यवस्था या तत्सन्निधानासन्निधाने कोपयोगिनी। एवं यद्यसन्निहितस्यापि नामाऽऽदिविशेषणं तस्यापि मतौ प्रतिभासः को विरोधः ?, अध्यक्षत्वेन विरोधे वा चिरातीतभविष्यदर्थराशेरसन्निहितस्य बुद्धसंवेदनप्रतिभासनादध्यक्षताविरोधस्तस्यापि भवेत्। अथ विशदत्वात् तज्ज्ञानस्य नाध्यक्षताविरोधः, तद्विशेषणविशिष्टार्थावभासिन्यप्यध्यक्षज्ञाने समानम्। एतेनोपाधीनामुपाधिमतः पूर्वकालत्वे उपाधिमद्ग्राहिणा ज्ञानेनासन्निहितत्वेनाग्रहणात् न तद्विशेषणविशिष्टार्थग्राहिण्यध्यक्षमतिर्विशदा सम्भवतीति प्रत्युक्तम्। बुद्धज्ञानेऽप्यानेतव्या येन वैशद्याभावतोऽनध्यक्षताऽऽपत्तेः। न चासन्निहितस्यापि विशेषणस्याध्यक्षे प्रतिभासे कस्याप्यसन्निहितस्य प्रशक्तिः, यतो यस्यैवासन्निहितस्यापि प्रतिभासः संविद्यते तदेव तत्र प्रतिभातीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा अनन्तरातीतार्थक्षणसाध्यक्षप्रतिभासे चिरतरातीतस्याप्यतीततया प्रतिभासिः इत्यनाद्यता तज्जन्मपरम्पराप्रतिभासस्य वा। तदसङ्गतम्। न ह्येकस्य व्यवहितस्य प्रति तादृगध्यक्षं भवेत्, यच्च वाचो व्यापितयाऽपदार्थात्मतया च नार्थदेशे सन्निधिरिति तद्दर्शनेन सा प्रतिभातीति तत्सिद्धमेव साधितम्। यच्च व्यवहितायास्तु वाक्प्रतिभासे निखिलातीतार्थपरम्परप्रतिभासिनामिति। तदसङ्गतम्। न ह्येकस्य व्यवहितस्य प्रतिभासे अतीतक्षणवत् सकलस्य व्यवहितस्य चिरातीतक्षणस्येव प्रतिभासः समवीत्युक्तत्वात्। यच्च समनन्तरप्रत्यया च बोधरूपत्वे च वाग्रूपताऽपि वाचकस्मृतिसन्निहितोदया भविष्यतीति। तदुक्तमेव। यच्च हेतुविषयभेदादेकस्मृतिप्रभवसंवेदनस्मरणयोर्भेदप्रसक्तिरिति। तदसङ्गतमेव। चक्षूरूपालोके मनस्कारप्रभवस्य यथा रूपज्ञानस्य हेतुभेदेऽप्येकसामग्रीप्रभवत्वादभेदस्तथा विशिष्टशब्दस्मरणमनस्कारसचिवसामग्रीप्रभवस्य रूपमित्युल्लेखवतो विशदस्यैकतया प्रतीयमानस्य किमिति भेदो भवेत् ?। यथा हि चक्षुषो रूपग्रहणं प्रति नियमो बोधाच्चिद्रूपता आलोकाद्विशदतोत्पाद्यनेकधर्माऽऽक्रान्तस्य रूपज्ञानस्यैकरूपतया प्रतिभानं

देकतया तथा विशिष्टार्थस्मरणमनस्काराद्रूपमिति विशिष्टोल्लेखाऽऽक्रान्तस्यैकतया प्रतीयमानस्य बोधविशेषस्यैकरूपता युक्तिसङ्गतैव। सामग्र्यन्तर्गतकारणाभेदेऽपि सामग्रीलक्षणस्य कारणस्याभिन्नत्वात्। यदपि तदक्षवाग्रूपताविशिष्टा वा अर्थमात्रा गृह्यते, वाग्रूपतनापन्ना वा?, तत्पक्षद्वयमप्यनभ्युपगमान्निरस्तम्, विशिष्टशब्दवाच्यतया तु विशिष्टक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियजप्रतिपत्त्याऽर्थमात्रा गृह्यत एव, तद्वाच्यत्व वाऽर्थमात्राणां कथञ्चिदनभिभूतो निजो धर्म इति प्रतिपादित शब्दप्रामाण्य व्यवस्थापयद्भिः केवल तद्वाच्यताप्रतिपत्तिस्तासा मतिः श्रुत चेत्यत्र विचार । स च यथास्थान निरूपयिष्यते । अत्र प्रभवानुरूपमिदमिति प्रतिपत्तिरूपशब्दवाच्यताविशिष्टाऽर्थग्राहियैका स्वसंवेदनाऽध्यक्षतोऽनुभूत एव, अस्या अपलापे स्वसंवेदनामात्रस्याप्यपन्हवप्रसक्तेः शून्यतामात्रमेव स्यात् । न च शब्दगोचरोऽर्थ इन्द्रियविषयः, सामान्यविशेषाऽऽत्मनस्तस्यात्तप्रभवप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात् न च प्रतिभासमानस्याविषयत्वम्, अतिप्रसङ्गात् । तच्च न सविदितप्रतीतोऽर्थः, सविदन्तरप्रतीतस्य विशेषणम् । तदयुक्तमेव । विशिष्टशब्दवाच्यताविशेषणस्य रूपस्य रूपमिदमित्येकप्रतीतिविषयत्वाभ्युपगमात् । अत एव केय तदनुरक्तेति विकल्पत्रये यद्दोषाभिधान, तदनभ्युपगमादेव निरस्तम् । यदपि यदि नाम, परिणद्धा यस्य सक्तसमार्थस्य सविरुद्दाऽर्थसवेदमेव न भवेदिति दोषाभिधानम्, तदप्यनभ्युपगमान्निरस्तम् । न हि शब्दानुविद्धार्थप्रतिपत्तिरेव सविकल्पिका, तथाऽभ्युपगमे सविकल्पप्रतिपत्तिरेव न भवेदित्युक्त प्राक् । अग्रहीतसकेतस्य पुसोऽर्थप्रतिपत्तिर्विकल्पिका, तथा च विकल्पयतो गोप्रतिपत्तिः गोशब्दोल्लेखविकलेऽत्रापि प्रतिविहितमेव । व्युत्क्रामेयदपि वाग्रूपता चेद्दित्यादिदोषाऽभिधान, तच्च सिद्धसाध्यतया निरस्तम् । यच्च समानकालयोर्वा भावयो विशेषणविशेष्यभावमिन्द्रियप्रतिपत्तिरधिगच्छति, भिन्नकालयोर्वेति पक्षद्वयेऽपि दोषाभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् । यत्र हि समानासमानकालविशेषणविशिष्टोऽर्थ अबाधिताकाराक्षजप्रतिपत्तौ प्रतिभाति, सा तदग्राहिकाऽभ्युपगम्यते नान्येति कुतोऽतिप्रसङ्गदोषावकाश, यथा च स्तम्भाऽऽकारोत्पन्नैकपरमाणुग्रहणप्रवृत्त सवेदन भिन्नदेश परमाण्वन्तरमवभासयति, अन्यथा प्रतिभाऽतिविरतिप्रसङ्गात् । तथाहि-विशेषग्रहणप्रवृत्त विशेष्यावभासि तदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा विशेषणविशेषार्थावभासाभावो भवेदित्युक्त प्राक् । न च विशेषणविशेष्यभावस्यानवस्थानाद् न समानकालयोरपि तयोः सद्भावप्रतिपत्तिः, अनेकधर्मकलाऽऽक्रान्तस्य वस्तुनो विशिष्टसामग्रीप्रभवप्रतिपत्त्या प्रतिनियतधर्मविशिष्टतया ग्रहणात् । न चाऽर्वाग्दृग्दर्शने अशेषधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपप्रतिभास कस्यचित् कथञ्चित् कयाचित्प्रतिपत्त्या, यथा क्षयोपशमग्रहणात् । न च तत्प्रतिपत्त्याऽगृह्यमाणस्याऽऽत्यन्तिकस्ततो भेद, असत्त्व चाऽऽदेरपि नीलप्रतिपत्त्याऽप्रतीयमानस्य तथात्वप्रसक्तेरित्युक्तत्वात् । यदपि पुरोवर्तिनि रूपे प्रवृत्तमक्ष यद्यतीते विशेषणाऽऽदौ प्रतिपत्तिमुपजनयति, अतिविरतिमुपगतासु यदा परम्परास्वपि प्रतिपत्तिमुपजनयेत । तदप्ययुक्ताभिधानम् । यतो यदेव ह्यक्रमतो परिस्फुट प्रतिभाति तत्रैवाक्ष प्रतिपत्तिमुपरचयतीति व्यवस्थाप्यते, अन्यथैकस्तम्भपरिणत्यापन्नैकपरमाणुग्रहणज्ञानजननप्रवृत्तमक्ष तद्परपरमाणुग्रहणज्ञानजननवत् सकलपदार्थग्राहिज्ञानजननेऽपि प्रवर्त्तते, भेदाविशेषात्, तद्

भ्युपगमेनानन्तरानीतक्षणग्रहणज्ञानजननप्रवृत्त वा सकलानीतक्षणग्रहणज्ञानजनने वा प्रवर्त्तते, अनीतत्वाविशेषात् । अथ यदेव तज्ज्ञाने प्रतिभाति, जनन एव तस्य व्यापारः परिकल्प्यते, तदितरत्रापि समानम् । न च विशेषणाऽऽदयस्तत्राऽसन्निहिता एवैकान्ततो येन तान् प्रति प्रत्यक्षबुद्धिर्निरालम्बने भवेत् । निरन्वयक्षणक्षयस्य निषिद्धत्वात् कथञ्चिदनुगतस्य च प्रसाधितत्वात् । यदपि सुखाऽऽदिव्यतिरिक्तस्याक्षप्रभवसवेदनस्यार्थावभासकत्व प्रतिपादितं, तदपि सिद्धसाधनमेव । यच्च सुखाऽऽदिवद्विकल्पोऽपि नार्थस्यात्कारणस्वभाव इत्यत्र यद्यविशेषेण विकल्पमात्रं विधीयते तदा सिद्धसाध्यता । अथ प्रकृतो विकल्पस्तदाऽसिद्धः, तमन्तरेणापरस्यार्थसाक्षात्कारिणोऽविकल्पस्याभावात् । यदपि यदि नाम पुरोवर्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्योतयति । तथा क्रिया समर्थरूपा अपरिच्छेदात्तत्र प्रवृत्तिमारचयितु क्षमेति । तदप्ययुक्तम् । अर्थक्रियासमर्थरूपस्य तस्या एव परिच्छेदकत्वेन प्रवर्तकत्वादन्यथाप्रवृत्तेरभावप्रसङ्गात् । नान्तरेण कस्यचित् प्रत्ययस्य तद्रूपयोगादपि प्रतिपादनात् । अत एव यदि नयनप्रसरमनुसरन्ती प्रथमा मतिर्न तत्त्व प्रत्येति, पश्चादपि नैव प्रत्येष्यति, स्मरणसहायस्याऽपि लोचनस्य विषयतयैकत्वेन प्रतिपत्त्यजनकत्वादित्यादि सर्वं प्रतिक्षिप्तम्, स्थिरस्थूरावभासस्य प्रत्यक्षसंवेदनाध्यक्षत प्रसिद्धे । तथाऽपि तत्त्वस्यात्तप्रतिपत्तिविषयत्वे सवेदनस्य स्वसंवेदनाध्यक्षविषयताऽपि न भवेत् । अबाधितप्रतिपत्तिविषयत्वाऽऽदिक च सर्वमन्यत्रापि समानम् । अथ स्वसवेदन वेदनाभावेन दृष्टमिति तत्तद्विषय, सवेदन तु विपर्ययात्तद्विषयम् । ननु? क्षणिकनिरंशैकपरमाण्वाकारसवेदनाभावे तत्र दृष्टमुत तद्विपरीतसंवेदनाभावे । यद्याद्य पक्षः-स न युक्तः, सर्वदा तदभाव एव तस्य दृष्टेः । अथ द्वितीयस्तदा विपर्ययसिद्धिः यथा स्थिरस्थूराऽऽकारसवेदनाभावे अभवत् स्वसंवेदन तद्विषय सिद्ध्यति । स्थिरस्थूरार्थाभावे सवेदन किं न तद्विषय सिद्ध्यति, येन लोचनाविषयत्व तत्त्वस्य भवेद् । यथा पूर्वदिग्देशादर्शनादू नामग्रहणेऽपीदानीतनदर्शनेन स्वग्राह्यस्य तद्विवेक प्रतीयते, तथाऽनेन तस्य तत्संपृक्तता किमिति नावगम्यत इति न युक्तम्, पूर्वदर्शनाप्रतीतौ तद्दृष्टताऽऽदिक तस्य न प्रत्येतु शक्यमित्याद्यभिधानम् । यदि प्राप्याप्रतीतावपि इदयदर्शनेन स्वग्राह्यस्य तदेकत्व प्रतीयते, अन्यथा तस्याविसवादकत्वायोगात् प्रमाण्य न स्यात्, किमित्यर्थक्रियादर्शने तत्समर्थरूपप्रतिपत्तियेन प्रकृतविकल्पात्प्रवृत्तिर्न भवेत् । यदपि स्मर्यमाणस्यार्थस्य सत्त्वासिद्धेस्तद्वृत्तिस्मृत्यनन्तरभाविनोऽध्यक्षस्य सत्यतेत्यादीतरेतराश्रयत्व प्रेरित, तत् स्वसवेदनेऽपि समानम् । तथा हि-सवेदस्य सत्यत्वे तत्स्वसवेदनस्य सत्यत्वेन, तस्याश्च तत्सत्येति कथ नेतरेतराश्रयत्वम्?, यथा च लिङ्गनिश्चयाद्विशदतनोऽनुमितिरविशदावभासा पृथगवसीयते, न तथा प्रकृतविकल्पात् प्रथमविकल्पिका मति, कदाचिदप्यनुभूयत इति । तत्स्थमेव । निरंशक्षणिकैकपरमाण्ववभासस्यासत्त्वप्रतिपादनात् । यदपि न चाऽपि लिङ्गत, पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनमित्यादि प्रत्यर्थिगिरयोपन्यस्त तत्सर्वमयुक्ततया स्थितम् । यदपि जात्यादेरभावात्तद्विशिष्टाऽर्थप्रतिपत्तिः सविकल्पिका सम्भवतीति । तदपि प्रतिक्षिप्तत्वान्न पुनः प्रतिसमाधानमर्हति । यच्च कल्पनयाऽभ्यता परोक्षेति नाध्यक्षप्रतिपत्तिर्निश्चयात्मिका प्रवर्तत इति । तदपि प्रतिविहितमेव । यच्च दर्शनपरिणत्यनवगतफल

सम्बन्धित्वमवगच्छन्ति कथं तद् भिन्नविषयेति । तन्निरुद्धमेव साधितम् । तद्व्यतिरेकेण दर्शनपरिणतेरविकल्पिकाया अभावात् । यदपि रूपदर्शनाद्भिन्नात्परोक्षार्थक्रियायोग्यताऽध्यवसायानुमानमुदयमासादयति, तद् व्यवहितमुपजनयतीति । तदप्ययुक्तम् । फलजननयोग्यताया परोक्षत्वाऽसिद्धेः प्रतिज्ञासमानरूपस्य वा निश्चितस्य लिङ्गस्यायोगादनुमानात्तन्निश्चयेऽनवस्थाप्रतिपादनात् । अध्यक्षतस्तन्निश्चये च सिद्धं निर्णयात्मकमध्यक्षम् । यदप्यनिश्चयात्मकमध्यक्षमभ्यासदशायां प्रवृत्तिमुपरचयत् दृष्टं, तदप्यसंगतम् । शब्दोल्लेखशून्यस्यापि सायवैकरूपार्थाधिगतिस्वभावस्य सविकल्पकतया व्यवस्थापनात्, तमन्तरेणाभ्यासदशायामपि प्रवृत्तेः । यत्पुनः सर्वत्राऽनुमानात् प्रवृत्त्यभ्युपगमे लिङ्गग्रहणादावध्यक्षानवस्थादूषणमभ्यधायि, तद् युक्तमेव । यदपि पौर्वापर्ये अप्रवृत्तमध्यक्षं कथं तादृग्लिङ्गग्रहणे क्षममिति पूर्वपक्षस्तु सांव्यवहारिकाभिमानादेवाध्यक्षं, लिङ्गग्रहणादिव्यवहारोऽपि न च । तत्त्वतस्तु-स्वसंविन्मात्रात् प्रत्यक्षानुमानभेद इत्युक्ताभिधानम् । तदप्यसंगतम्, प्रत्यक्षानुमानभेदस्यापारमार्थिकत्वे स्वसंवेदनमात्रस्याप्यपारमार्थिकत्वप्रसङ्गे, सर्वशून्यताऽऽपत्तिरिति निर्विकल्पकत्वाऽऽदिव्यवहारो दूरापास्त एव स्यात् । न च शून्यता वाऽस्तीत्यभिधानं युक्तिसंगतम्, प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमस्याप्यघटमानत्वात् इत्युक्तत्वात् तदेव सकलबाधका सविकल्पका, प्रमाणाविषयत्वात्, सविकल्पकमध्यक्षं सिद्धमिति व्यवस्थितप्रमाणं स्वार्थनिर्णीतस्वभावं ज्ञानमिति । अत्र च स्वस्य ग्रहणयोग्योऽर्थः स्वार्थः इत्यस्यापि समासस्याऽऽश्रयणाद् व्यवहारिजनापेक्षयाऽस्य यथा यत्र ज्ञानस्याविसंवादस्तस्य तथा तत्र प्रामाण्यमित्यभिहितं भवति । तेन संशयाऽऽदेरपि धर्मिमात्रापेक्षया न प्रामाण्यव्याहतिः । एतेन "प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम् ।" इति प्रत्यक्षलक्षणं सौगतपरिकल्पितमयुक्ततया व्यवस्थापितम् ।

(५) तत्राऽऽहुर्नैयायिकाः-मा भूत् सौगतपरिकल्पितं निर्विकल्पकमध्यक्षं प्रमाणम्, "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" इत्येतल्लक्षणलक्षितं तु प्रत्यक्षं प्रमाणम् । अस्यार्थः-इन्द्रियं द्रव्यत्वकरणत्वनियताधिष्ठानत्वातीन्द्रियत्व सत्परोक्षोपलब्धिजनकत्वात् चक्षुरादिमनःपर्यन्तं, तस्यार्थं परिच्छेद्य इन्द्रियार्थः 'पृथिव्यादिगुणा रूपाऽऽदयस्तदर्थाः ।' इति तदर्थलक्षणत्वात् । तदर्थं इति लक्षणनिर्देशः, तदर्थत्वं लक्षणं, तदर्थत्वं पञ्चेन्द्रियार्थत्वं, न तु तदर्था इत्येतावदेवास्तु तदर्थलक्षणम् । पृथिव्यादिगुणग्रहणं तु न कर्त्तव्यं, ननु तदर्थत्वेन लक्षणेन ये संगृहीतास्तेषां विभागार्थं पृथिव्यादिगुणग्रहणम् । तथा चाद्योतकरः-पृथिव्यादिग्रहणेन त्रिविधं द्रव्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं गृह्यते । गुणग्रहणेन सर्वो गुणोऽसत्तावगुणत्वादिलक्षणप्राप्त आश्रितत्वविशेषणत्वाभ्यामेव पृथिव्यादिगुणग्रहणं लक्षणविभागसूत्रोपलक्षणार्थम् । नन्वेवमपि रूपाऽऽदिग्रहणं व्यर्थं, गुणग्रहणेन संगृहीतत्वात् विशेषलक्षणप्रतिपादनार्थत्वात् । तथा च प्रतिपादितम्-पृथिव्यादिगुणस्य सतश्चक्षुर्ग्राह्यत्वमेव यस्य तद्रूपं चक्षुर्ग्राह्यं, यत्तद्रूपमित्यभिधीयमाने घटाऽऽदावतिप्रसक्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमवधारणम् । तथाऽपि रूपत्वेऽतिप्रसङ्गः, तन्निवृत्त्यर्थं पृथिव्यादिगुणग्रहणम् । एवं रसाऽऽदिष्वप्येकाऽऽदिव्यवहारहेतुः संख्येत्यादि विशेषलक्षणं वैशेषिकमतप्रसिद्धमत्र दृष्टम् । नन्वेवं रूपाऽऽदीनामपि विशेषलक्षणं न वाच्यम्, तत्रैव प्रसिद्धत्वाभावप्रतिपत्तिज्ञापनार्थत्वात् । रूपाऽऽदयो हि चक्षुर्विषयत्वेन संप्रतिपन्ना इति पञ्चानामपि लक्षणाऽऽभिधानम् । पुरुषस्य चेतनत्वेन शक्तिहेतवः । एतावदत्रोपयुज्यते-इन्द्रियविषयभूतोऽर्थशब्देनाभिप्रेतः, नार्थमात्रं, तेन सन्निकर्षप्रत्यासत्तिरिन्द्रियस्य प्राप्तिः, तस्य च व्यवहितार्थानुपलब्ध्या सद्भावः सूत्रकृता प्रतिपाद्यते, तत्सद्भावे सिद्धे पारिशेष्यात् तत्संयोगाऽऽदिषट्कल्पना, परिशेषश्चेन्द्रियेण सार्द्धं द्रव्यस्य संयोग एव, अयुतसिद्धत्वात् । गुणाऽऽदीनां द्रव्यसमवेतानां संयुक्तसमवायो द्रव्ये सति स्वत्र समवायात्, तत्समवेतेषु संयुक्तसमवेतसमवायः, एतान्यस्यासम्भवादात्मश्रवणेन्द्रियत्वात् शब्दे समवायः यथाऽऽकाशस्य श्रोत्रत्वेन व्यवस्थापितत्वात्, शब्दस्य च गुणाभावात्, गुणत्वेनाथाऽऽकाशलिङ्गत्वादाकाशसमवायित्वं निश्चितमिति समवायः इत्युक्तः शब्दत्वे समवेतसमवाय एव परिशेषात् लक्षणस्य च तद्विधानं कथमेतल्लक्षणं व्यवच्छिन्नत्वात्यन्यव्यवच्छेदार्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षं कारणमित्यभिधीयते । कारणत्वेऽप्यसञ्जातविरोधाऽऽकाशपरिज्ञानविषयाऽन्यानुयायिकारणवचनं, न त्वन्यानुयायिकारणनिवृत्तिरेवभूतस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षस्यैव कारणत्वाभिधानं, तत्समस्त करणेन्द्रियसम्बन्धस्य तस्य व्यापकत्वात् । अव्यापकत्वं तु सुखाऽऽदिज्ञानोत्पत्तावसम्भवात् । अथ सन्निकर्षग्रहणमेवास्तु सद्ग्रहणं व्यर्थं न संशयाऽऽदिज्ञाननिवृत्त्यर्थत्वात् सच्छब्दोपादानस्य । तथाहि-सम्यग् निकर्षः सन्निकर्षः । सम्यक्त्वं तु तस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टफलजनकत्वेन नतदतिचाराऽऽदिपदोपादानवैयर्थ्यप्रसक्तिः, तदर्थस्य सच्छब्दोपादानादेव लब्धत्वात् नाव्यभिचाराऽऽदिविशेषणोपादानमन्तरेण तत्सम्यक्त्वस्य ज्ञातुमशक्तेः, तदर्थस्य सन्निकर्षणस्यातीन्द्रियस्य सम्यक्त्वं वा सम्यग् कार्यद्वारेणैव निश्चीयत इति तत्फलविशेषणार्थमव्यभिचाराऽऽदिपदोपादानं कारणसाधुत्वावगमव्यापारः । नन्वेवमपि सच्छब्दोपादानानर्थक्यम्, अव्यभिचाराऽऽदिपदोपादानात् । अथ तत्फलस्य विशेषणत्वात् सद्ग्रहणस्य सन्निकर्षपदस्य प्रतिपादनार्थत्वादिदमेव सन्निकर्षपदं ज्ञानोत्पादे समर्थकारणं न संयुक्तसंयोगाऽऽदिकमिति सद्ग्रहणाल्लभ्यते । नन्वेवमपीन्द्रियग्रहणानर्थक्यं नानुमानव्यवच्छेदार्थत्वात् । तथा हि-अर्थसन्निकर्षादुत्पन्नमित्यभिधीयमाने अनुमानेऽतिप्रसङ्ग इतीन्द्रियग्रहणम् । इन्द्रियविषयेऽर्थे सन्निकर्षाऽऽदुत्पद्यते ज्ञानं तत्प्रत्यक्षमनुमानाऽऽदिभ्यो व्यवच्छेदेनेति । न चानुमानिकमिन्द्रियसम्बन्धादिन्द्रियविषये समुत्पद्यत इति । तथाऽर्थग्रहणमनर्थकमिति चेत् । न । स्मृतिफलसन्निकर्षनिवृत्त्यर्थत्वाद् । न ह्यात्मनः करणसम्बन्धात् स्मृतिरुपजायत इति जनकस्यापि प्रत्यक्षत्वं स्यादसत्यर्थग्रहणे, तच्चेन्द्रियार्थग्रहणमनर्थं सन्निकर्षजा स्मृतिः, अतीतेऽपि स्मर्यमाणत्वात्तस्य च सदा सदाद्युत्पत्तिग्रहणं कारकत्वज्ञापनार्थम्, ज्ञानग्रहणं सुखाऽऽदिनिवृत्त्यर्थम् । न च तुल्यकारणजन्यत्वात् ज्ञानसुखाऽऽदीनामेकत्वमिति, तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानग्रहणं न कार्यम् । तुल्यकारणजन्यत्वस्यासिद्धत्वात् । वदति च चतुर्थेऽध्याये-"एकयोनयश्च पाकजाः," न च तथामेकत्वमिति व्यभिचारः, प्रत्यक्षविरोधश्च सुप्रसिद्ध एव । तथा हि-आह्लादाऽऽदिस्वभावा सुखाऽऽदयोऽनुभूयन्ते, ग्राह्यतया च, ज्ञानं त्वर्थावगमस्वभावं ग्राहकतयाऽनुभूयत इति ज्ञानसुखाद्योर्भेदोऽध्यक्षसिद्ध एव, विशिष्टादृष्टकारणजन्यत्वान्सुखाऽऽदेः । सुखाऽऽदिजोत्पादत्वाच्च न भिन्नहेतुजत्वमसिद्धं, ज्ञानसुखाऽऽद्योरतो बोधजनकस्य ज्ञापनार्थं ज्ञानग्रहणम्, अव्यपदेश्यग्रहणमन्यथातिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थम्, व्यपदेशः शब्दस्तेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण चोत्पादितमध्यक्षं शब्देऽन्तर्भावात् स्यात् तन्नि-

वृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदोपादानम्, नन्विन्द्रियविषयशब्दस्य सामान्यविषयत्वेन व्यापारासंभवादिन्द्रियस्य च स्वलक्षणविषयत्वान्नोभयोरेकविषयत्वमिति, न तज्जन्यमेकं ज्ञानं सम्भवति । न च तयोर्भिन्नविषयत्वस्य 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु ।' पदार्थ इत्यत्र निषेत्स्यमानत्वात्तद्भावभावित्वाच्चोभयजनत्वं ज्ञानस्यावगतमेव । तथाहि-चक्षुर्गोशब्दव्यापारे सत्यय गौरितिविशिष्टकाले ज्ञानमुपजायमानमुपलभ्यत एव, तद्भावभावित्वेन चान्यत्रापि कार्यकारणभावो व्यवस्थाप्यते, तच्चात्रापि तुल्यमिति कथं नोभयजं ज्ञानम् । न चान्तःकरणानधिष्ठितत्वदोषः, चक्षुषस्तेनाधिष्ठानात् शब्दस्य च प्रदीपवत् कारणत्वात् । न च ग्राह्यत्वकाले शब्दस्य करणत्वमयुक्तम्, श्रोत्रस्यैव तदा करणभावात्, शब्दस्य तु तदा ग्राह्यत्वमेव, गृहीतस्य चोत्तरकालमन्तःकरणाधिष्ठितचक्षुःसहायस्यार्थप्रतिपत्तौ व्यापार इति भवत्युभयजं गौरिति ज्ञानम् । न चास्य प्रमाणान्तरत्वं युक्तम्, उभयविलक्षणात् शाब्दे अव्यपदेश्यविशेषणस्याभावात्प्रत्यक्षे च सादृश्यशब्दत्वात् । न च शब्देनैव यज्जन्यते न शब्दमिति शाब्दलक्षणे नियमोऽपि शब्देन यज्जनितं शब्दमस्ति च प्रकारान्तरे एतद्रूपमिति कथं न शाब्दम् । न चेतदप्रास्ति न चाप्रमाणव्यभिचारित्वाऽऽदिविशेषणायोगात् । न चानुमानपक्षधर्मत्वाऽऽद्यभावात् प्रत्यक्षमप्येतन्न भवति, शब्देनाऽपि जन्यत्वान्नाप्युपमानं, तल्लक्षणविरहात् । पारिशेष्यात् शाब्दम् । ननु शाब्दमपि न युक्तम् । इन्द्रियेणापि जनितत्वात्, न शब्दस्यात्र प्राधान्यात् । प्राधान्यं च तस्य प्रभूतविषयापेक्षया यतोऽसौ न क्वचिद् व्याहन्यते । तथा च प्रत्यापादि भाष्यकृता-यावदर्था वै नामधेयशब्दा इति । नन्वेवमिन्द्रियं, तस्य स्वर्गाऽऽदौ प्रतिहन्यमानत्वात्तस्मात्प्राधान्यात् शब्देनैव व्यपदेशः, व्यपदेशकर्मताऽऽपन्नज्ञाननिवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यमिति विशेषणमिति केचित् प्रतिपन्नाः, तथाहीन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजातस्य ज्ञानस्य शब्देनानभिधीयमानस्य प्रत्यक्षत्वमयुक्तम्, एतत्प्रदीपेन्द्रियसुवर्णाऽऽदीनामभिधीयमानत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वानिवृत्तेः । न च ज्ञानस्याभिधीयमानत्वे करणत्वव्याहतिः । शक्तिनिमित्तत्वात्कारकशब्दस्य । न ह्यभिधीयमानार्थोऽन्यत्र तदेव परिच्छित्तिं न विदधाति । न चायं न्यायो नैयायिकैर्नाभ्युपगतः, प्रमेया च तुला प्रामाण्यवदित्यत्र प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्, फलविशेषणपक्षेऽप्यभिधीयमानस्य स्वकारणव्यवच्छेदकत्वमस्त्येव शब्दग्रहनिवृत्त्यर्थमेतदित्येतदप्ययुक्तम् । अप्रकृतत्वात् । शब्दप्रमेयत्वेऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं ज्ञानस्य सम्भवति किमनेन विशेषणेन कृत्यम् ? । तथाहि इन्द्रियविषयभूतेन रूपेण शब्देन वा जातं ज्ञानमिति सर्वथा लक्षणं युक्तिमदेव विशेषणं वाऽतिव्याप्त्यादिदोषनिवृत्त्यर्थं लक्षणे उपादेयम्, न परपक्षव्युदासार्थम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजातं शब्देन वा जनितं व्यभिचारि ज्ञानं न प्रत्यक्षव्यवच्छेदकमित्यव्यभिचारिपदोपादानम्, इन्द्रियजत्वं च मरीचिषूदकज्ञानस्य तद्भावभावित्वेनावसीयते, मरीच्यालम्बनत्वमपि तत एवावसीयते, मरीचिदेशं प्रति प्रवृत्तेश्च, पूर्वानुभूतोदकविषयत्वे तु तद्देश एव प्रवृत्तिर्भवेत्, न मरीचिदेशे, भ्रान्तत्वान्न तद्देशे प्रवर्त्तत इति चेद् यथाभ्रान्तः स उदकस्मरणादुदकदेश एव प्रवर्त्तेत, अथ तु भ्रान्त इत्युक्तमेतत्, भ्रान्तिनिमित्ताभावादिन्द्रियव्यापार एव तन्निमित्तं प्राप्त इति युक्तमेतत्, तत एवेन्द्रियजत्वसिद्धेः । न च स्मृतिर्बाह्येन्द्रियजा दृष्टा, इदं तु बाह्येन्द्रियजमिति न स्मृतिः । ननु कथमुदकज्ञानस्याऽऽलम्बनं मरीचयोऽप्रतिभासमाना

उक्तमेतत्तेषु सत्सु भावादस्य । ननु यद्येतदनुदके उदकप्रतिभासनं भवत्यन्यत्र किमिति न भवेत्, न भवत्यन्यस्योदकेन सारूप्याभावात्, तस्मादुदकसरूपा मरीचय एव देशकालाऽऽदिसव्यपेक्षा उदकज्ञानं जनयन्ति । तथाहि-सामान्योपक्रमं विशेषपर्यवसानमिदमुदकमित्येकं ज्ञानं तस्य सामान्यवाचकं स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षो जनकस्तिरस्कृतस्याऽऽकारस्यागृहीताऽऽकारान्तरस्य सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनो विपर्ययजनकत्वे तथाविधस्येन्द्रियेण सम्बन्धोपपत्तेः कथं नेन्द्रियार्थसन्निकर्षजो विपर्ययः । नन्वस्य शब्दसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वेन नाव्यभिचारिपदव्यवच्छेद्यत्वम्, अव्यपदेश्यपदेनैव निरस्तत्वान्न प्रथमाक्षसन्निपातजस्य शब्दस्मरणनिमित्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवस्याशब्दजन्यस्याव्यभिचारिपदापोह्यस्याभ्युपगमात् अभ्युपगमनीयं चैतत्, अन्यथोदकशब्दस्मृतेरयोगात् । यत्सन्निधाने यो दृष्टस्तद् ध्वनौ स्मृतिरिति न्यायात् । न च तरङ्गायमाणवस्तुसन्निधाने उदकशब्दस्य दृष्टिः, किं तूदकसन्निधौ त एवातो मरुजङ्गलाऽऽदौ देशे क्वचिद् दूरस्थस्य निदाघसमये तरङ्गायमाणवस्तुनः सामान्यविशिष्टस्य दर्शनान्तरं तत्सहचरितोदकत्वानुस्मरणं, तस्मात्सामान्यवस्त्वाध्यारोपितोदकग्रहणम्, तत उदकशब्दानुस्मृतिस्ततोऽप्यनुस्मृतोऽप्युदकसहायादिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमतो न पूर्वमुदकस्मृतेर्निमित्तं तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षत्वेनाव्यभिचारि यदापोह्यमिति केचित् सम्प्रतिपन्नाः । अपरे तु स्मर्यमाणशब्दसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षजमप्यव्यभिचारिपदापोह्यमेव मरीचिषूदकमितिशब्दोल्लेखवत् ज्ञानं मन्यन्ते, अव्यपदेश्यपदव्यवच्छेद्यं तु यत्र प्रथमत एवेन्द्रियसन्निकृष्टार्थसंकेतानभिज्ञस्य श्रूयमाणात् शब्दादुत्पन्नोऽयमिति ज्ञानमुत्पद्यते तत्र शब्दस्यैव तदवगतौ प्राधान्यात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य तु विद्यमानस्यापि तदवगतावप्राधान्यात् तदेव व्यपदेश्यपदव्यवच्छेद्यं, न पुनरवगतसमयस्मर्यमाणशब्दसचिवेन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवं, तत्र तत्सन्निकर्षस्यैव प्राधान्याद्वाचकस्य च तद्विपर्ययात् । ननु सामग्र्यां कस्य व्यभिचारः-कर्तुः, करणस्य, कर्मणो वा ? । तत्र स्वाकारसंवरणेनाकारान्तरेण ज्ञानजननात् कर्मणो व्यभिचारः, कर्तृकरणयोस्तु तथाविधकर्मसहकारित्वाद्दसाविति मन्यन्ते, भवत्वयं व्यभिचारो, न त्वेतन्निवृत्त्यर्थमव्यभिचारपदोपादानमर्थवानिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेतन्निवृत्तिसिद्धेः, न हि ज्ञानरूपत्वेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वे तत्र सिद्धे तस्याप्यतस्मिंस्तदित्युत्पद्यते तद्व्यभिचारि ज्ञानं, तद्व्यवच्छेदेन तस्मिंस्तदिति ज्ञानमव्यभिचारिपदसंग्राह्यम् । नन्वेवमपि ज्ञानपदमनर्थकमव्यभिचारिपदादेव ज्ञानसिद्धेः, व्यभिचारित्वं हि ज्ञानस्यैव तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारित्वमपि तस्यैवेति ज्ञानपदमनर्थकम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नस्याज्ञानरूपस्यापि सुखस्य व्यभिचारात्तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानपदमर्थवत्, किं पुनः सुखं व्यभिचारि यत्परत्रोपिति । ननु कस्तस्य व्यभिचारो ज्ञानस्य क इति वाच्यम् । तस्मिंस्तदिति भावात्, ज्ञानत्वेऽपि तद्व्यभिचार्यं सुखसाधने म् । [illegible] पराङ्गनाऽऽदौ सुखस्य भावात् समानव्यभिचारित्वमिति सुखपराङ्गनाऽऽदौ सुखस्य भावात् निवृत्त्यर्थं ज्ञानपदमर्थवदेतच्च केचिद् दूषयन्ति । न हि तापाऽऽदिस्वभावत्वं पराङ्गनायां सुखमुत्पद्यते, अपि त्वाह्लादस्वरूपं, यथा स्वनलनाया सुखसाधनत्वादेव वा शक्तिहेतुत्वाद्धर्मोत्पादकत्वेन तस्याभाविनि काले दुःखसाधनत्वम् । न च यस्यैकदा दुःखजनकत्वं न सर्वदा तद्रूपत्वमेव । अन्यथा पावकस्य निदाघसमये दुःखजनकत्वात् शिशिरेऽपि तज्जनकत्वमेव स्याद् । एवं देशाऽऽद

पेक्षयाऽपि न नियतरूपता साधनानाम् । उक्तं च भाष्यकृता-"सो ऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येय इति ।' ततो व्यभिचाराभावान्न तु स्वनिवृत्त्या ज्ञानपदोपादानमनर्थकम् । न चैवमनर्थकमेवैतत्, धर्मप्रतिपादनार्थत्वादस्य । ज्ञानपदोपात्तो हि धर्मी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाऽऽदिभिर्विशिष्यते, अन्यथा धर्ममात्रं ह्यव्यभिचारा-ऽऽदीन् धर्मं न तु तानि प्रतिपादयेयुः । न च विशेषणसामर्थ्यात् धर्मिणः प्रतिलम्भ इति वक्तव्यम्, तथाऽभ्युपगमे प्रत्यक्षं प्रत्यक्ष-मित्येव वक्तव्यं, शिष्टस्य सामर्थ्यलभ्यत्वात् यथोक्तविशेषण-विशिष्टं संशयज्ञानं भवति, व्यभिचारिप्रतियोगि अव्यभिचारि कृत्वा तन्निराकरणमत्र प्रत्यक्षव्यवच्छेदकम् । न चास्येन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जत्वं नास्ति, तद्भावितया तज्जन्यत्वस्य तत्र सिद्धेः । संशयव्यव-च्छेदार्थं व्यवसायाऽऽत्मकपदोपादानम्-व्यवसीयतेऽनेनेति व्यवसायो विशेषः उच्यते । विशेषजनितं च व्यवसायाऽऽत्मकम्, संशयज्ञानं तु सामान्यजनितत्वात् नैवम् । अथवा-निश्चयाऽऽत्मकं व्यवसायाऽऽत्मकं ज्ञानं स्वनिश्चयाऽऽत्मकम्, अत एव विपर्ययादपि, व्यवस्यतीति व्यवसायः, स यदर्थ-व्यवच्छेदेनैकपदार्थाऽऽलम्बनत्वमस्य, तद्विपरीतस्तु संशयः । ननु च विकल्परूपत्वात् तद्व्यवसायाऽऽत्मकस्येन्द्रि-यार्थजत्वे कथमस्य प्रत्यक्षफलता न व्यवसायाऽऽत्मकस्या-प्यव्यक्तताऽनुसारेण व्यवस्थापनीया, तेनानेकाऽऽत्मक-स्यावस्तुनोऽङ्गीकृतत्वात्, भवतस्येवाभिलापादिनस्तद्व्यक्ति-तद्व्यवस्थापनासम्भवात्, कुतः पुनरिदं प्रत्यासत्तेरर्थजत्वम्, न शब्दार्थप्रतिभासस्वभावत्वात् । न हि विकल्पोऽर्थसामर्थ्येन समुपजायते, निर्विकल्पकं त्वर्थसन्निधानापेक्षं, तत्सामर्थ्यस-द्भूतत्वात्प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तदुक्तम्-यो ज्ञानप्रतिभासमन्व-यव्यतिरेकावनुकारयतीत्यादि । अथ शब्दार्थप्रतिभासित्वेऽपि किमिति विकल्पानां नार्थजत्वम्, रूपाऽऽदेरर्थस्य स्वलक्षणत्वेन व्यावृत्तरूपत्वात् शब्दार्थानुपपत्तेर्विकल्पप्रतिभासस्याऽऽकार स्यानु(?) तद्व्यतिरिक्तस्यार्थत्वानुपपत्तेः । तत्सद्रूपस्य नित्य-स्यानित्यत्वाभ्यां तस्य जनकत्वनिषेधात्, अननुगतस्य चार्थत्वात् स्वलक्षणस्य च सर्वतो व्यावृत्ततयाऽनुगतत्वासम्भवात्तदर्थजा विकल्पाः इतोऽप्यक्षार्थजा न भवन्ति अक्षार्थसन्निपातवेलायां प्रथमत एव तेषामनुद्भूतेः । यदि हि तदुद्भवास्ते स्युः, स्मृति-मन्तरेणानुभववत् उत्पद्येरन् । नचार्थोपयोगेऽपि तामन्तरेण उत्पद्य-न्ते । तदुक्तम्-"अर्थोपयोगेऽपि पुनः, स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् । अ-क्षधीर्यद्यपेक्षेत, सोऽर्थो व्यवहितो भवेत् ॥१॥ " यो हि यज्जनः स तदापात एवेत्यविकल्पवत्, न भवन्ति च तदापातसमये विकल्पा इति नार्थजन्यत्वं तेषां, स्मृतिव्यवहितत्वात् । न च अर्थस्य स्मृ-त्याऽव्यवधानं, तस्यास्तत्सहकारित्वादिति वाच्यम्, यतो यदर्थ-स्य ज्ञानजनकत्वं तदा तज्जनने किमित्यसौ स्मृत्यपेक्षः । न च तथा विज्ञानस्योत्पत्तिः, तदार्थस्वजनकः स पश्चादपि तेन स्या-दर्थापायोपनेयधीः । अपि च-जात्यादिविशेषणविशिष्टार्थग्राहि-विकल्पज्ञानं न च जात्यादीनां सद्भावः, तत्त्वेऽपि तद्विशिष्टग्र-हणं, बहुप्रयाससाध्यमध्यक्षं न भवति । उक्तं च-

"विशेषणविशेष्यं च, संबन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।
गृहीत्वा संकलय्यैतत्, तथा प्रत्येति नान्यथा ॥ १ ॥
संकेतस्मरणोपायं, दृष्टसंकल्पनाऽऽत्मकम् ।
पूर्वापरपरामर्श-शून्ये तच्चाक्षुषे कथम् ? ॥ २ ॥ " इति ।

अतोऽर्थसन्निधानाभावेऽपि भावान्नार्थप्रभवा विकल्पाः । अथ मा भूवन् राज्याऽऽदिविकल्पा अर्थप्रभवाः, इदन्ताविकल्पा-स्त्वर्थमन्तरेणानुद्भवन्तः कथं नार्थप्रभवाः ? । तदुक्तम्-"नान्य-थेदन्तयेति चेत् । " न । इदन्ताविकल्पानामपि वस्तुप्रतिभा-सत्वासम्भवात् । न हि शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासतो विकल्पा वस्तुनिष्ठायकाः । अन्यथा शब्दप्रत्ययस्याप्यक्षप्रतीतितुल्य-ता भवेत् । उक्तं च-"शब्देनाव्यापृताक्षस्य, बुद्धावप्रतिभासनात् । अर्थस्य दृष्टाविव तन्निर्देशस्य वेदकम् ॥१॥" इति । तस्मादर्था-क्षप्रभवत्वं व्यवसायस्यापि प्रत्यक्षत्वमयुक्तम् ।

अत्र नैयायिकोऽभिदधाति-किमिदं विकल्पकत्वं परस्याभि-प्रेतम्-किं शब्दसंसर्गयोग्यवस्तुप्रतिभासित्वम् । आहोस्विदनि-श्चितार्थग्राहित्वं, किं विशेषणविशिष्टार्थावभासित्वम् । उता-ऽऽकारान्तरानुषक्तावभासकत्वम् ?, तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा व क्तव्यम्-किमिदं शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासित्वं विकल्पित्वं पारिभाषिकमुत वास्तवम् ? । यदि पारिभाषिकं तदा न युक्तम्, परिभाषाया अव्यवस्थानात् । अथ वास्तवं, तदपि प्रमाणाभा-वात् भवतु वा तस्य तद्रूपत्वं, तथापि कथमनध्यक्षत्वम् ? । अ-थार्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तस्येत्युक्तं विकल्पानां च तदसम्भवा-दनध्यक्षता । ननु नीलाऽऽदिज्ञानवत् शब्दार्थप्रतिभासित्वेऽपि कथं नार्थप्रभवत्वं, तेषां स्वलक्षणातिरिक्तशब्दार्थस्याभावा-त्तत्प्रभवत्वं तेषामिति चेत्, नन्वेवमसदर्थग्राहित्वं कल्पना-प्रसक्तम्, तथा सामान्याऽऽदेः सत्त्वप्रतिपादनात्तज्जातिवि-शिष्टस्यार्थस्य शब्दार्थत्वेन प्रतिपादनात् । तदवभासिनो ज्ञान-स्य कथमसदर्थविषयत्वेन कल्पनात्वं भवेत् । न चार्थाभावेऽपि विकल्पानामुत्पत्तेः नार्थजत्वम्, अविकल्पस्याप्यर्थाभावेऽपि भावादनर्थजत्वप्रसक्तेः । अथ तदध्यक्षं प्रमाणमेव नाभ्युपग-म्यते, नहि विकल्पानामप्ययं न्यायः समानः, तेऽर्थास्तदर्था-ऽध्यक्षप्रमाणतयाऽभ्युपगम्यन्ते । असदर्थत्वं च विकल्पाविक-ल्पयोर्बाधकप्रमाणावसेयं, तच्च यत्र न प्रवर्त्तते तस्मात् कथमस-दर्थता । एतेन द्वितीयो विकल्पः प्रतिविहितः । अथ विशेषण-विशिष्टार्थग्राहित्वं कल्पनात्वं, तदा किं तथाभूतार्थाभावात् तद्-ग्राहिणो ज्ञानस्य विकल्पत्वम्, आहोस्विद्विशेषणविशिष्टार्थग्रा-हित्वेनेति वक्तव्यम् । आद्यविकल्पे सिद्धसाध्यता असदर्थग्रा-हिणः प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनाभ्युपगमात् । न च द्वितीयपक्षादस्य प-क्षान्तरत्वं द्वितीयपक्षस्य च प्रतिविधानं विहितमेव । अथ द्वि-तीयः पक्षोऽभ्युपगम्यते, सोऽपि न युक्तः, नीलाऽऽदिज्ञानस्यापि अप्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः । अथास्य न विशेषणविशिष्टार्थग्राहिता, ननु विशेषणविशिष्टार्थग्राहकत्वेनाध्यक्षत्वस्य को विरोधः ?, येन त-द्ग्राहिणोऽध्यवसायस्यानध्यक्षता ? । अथ विशेषणविशिष्टार्थ-ग्राहित्वे विचारकत्वमध्यक्षाविरुद्धम्, अर्थसामर्थ्योद्भूतस्य वि-चारकत्वायोगात् । असदेतत् । विशेषणविशिष्टार्थावभासिनस्त-स्याविकल्पवत् विचारकत्वायोगात्, स्मरणाऽऽद्यनुसन्धानात् स-मर्थस्य प्रमातुरविचारकत्वात्, कथं विशेषणग्रहणादिसामग्रीप्रभ-वस्य तस्याप्रत्यक्षता विशिष्टसामग्रीप्रभवस्यास्याप्रत्यक्षत्वे चक्षु-रूपाऽऽलोकमनस्कारसापेक्षस्याविकल्पस्याप्रत्यक्षताप्रसक्तिः । न च विशेषणाऽऽदिसामग्र्यनपेक्षत्वादस्य प्रत्यक्षता, प्रतिनियतस्य सामग्र्यपेक्षस्य विशेषणविशिष्टार्थावभासिनोऽपि प्रत्यक्षताविरो-धात् । अन्यथा-रूपज्ञानस्याऽऽलोकाऽऽद्यपेक्षस्याध्यक्षत्वे रसज्ञा-नं सामग्र्यन्तरसापेक्षमनध्यक्षं स्यात्, विभिन्नस्वजातिसामग्री-सापेक्षत्वात् । न च विशेषणविशिष्टार्थग्रहणे विशेषणविशेष्यस-म्बन्धलौकिकस्थितीनां परामर्शः, यतः-विशेषणविशेष्यतत्स-म्बन्धानां न स्वतन्त्राणां विशिष्टार्थग्रहणात् प्रागवभासः, अपि तु

चक्षुरादिव्यापारे स्वतन्त्रनीलग्रहणवत् विशेषणविशिष्टार्थग्रहण सङ्कटेन, केवल तत्र त्रयमिति प्रतिभासो विशिष्टार्थग्रहणस्याऽन्यथाऽसम्भवात् कथ्यते। न च यथाऽवस्थितवस्तुग्रहण कल्पनाऽतीताऽऽदिग्रहणवत्। न च जात्यादित्रयस्याभिन्नभेदोऽध्यवसायः,दण्डशब्दयोर्भिन्नयोरभेदाध्यवसायो वा, कल्पनाद्वयस्याप्यसम्भवात्। तथाहि-न जात्यादित्रयस्य वस्तुनोऽव्यतिरेकादसत्त्वाद्वा भेदाभेदाध्यवसायो, द्वयोरप्यनुपपत्तेः। न हि जातेरभेदेऽसत्त्वे वा तदव्यवच्छिन्ने वस्तुग्रहणसम्भव ,असतो भिन्नस्य वाऽवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न च तत्प्रतिभासेऽपि प्रतिभासविषयस्य द्विचन्द्राऽऽदेरर्थप्रमाण्याधीनत्वात् प्रतिभासोऽप्रमाण, यतो न द्विचन्द्राऽऽदेरिव जात्यादे' किञ्चिद्बाधक वृत्तिविकल्पाऽऽदेस्तद्बाधकस्य निषेधात्। तत्र जात्यादित्रयस्याभिन्नस्याभेदप्रतिभासकल्पना, नापि दण्डशब्दयोरभेदाध्यवसाय.। यदि तत्राप्रतिपत्तिस्तदेकप्रतिभासेऽवच्छेदकावच्छेद्यभावेन ग्रहण न भवेत्,किं तर्हि तदपेक्ष्यावच्छेदकमवच्छेद्य वा,अर्थान्तरापेक्षत्वात्तयोः। तथाहि-दण्डस्य दण्डिन प्रति व्यवच्छेदकत्वेन प्रतिभासो, नैकत्वेन, एव वाचकस्यापि वाच्यप्रतिपत्तौ द्रष्टव्यम्। वाचकावच्छिन्नवाच्यप्रतिभासाऽभ्युपगमवादिनामेतन्मतम्। येषां तु नत्स्य एव वाचक. वाच्यप्रतिपत्तौ वाचकत्वेन प्रतिभातीति मत,तेषामभेदाध्यवसायो दूरापास्त एव। अपि च-एवंवादिना तिरस्कृतस्वाकारस्याऽऽकारान्तरानुपकस्यार्थस्य ग्रहण कल्पेतेति चतुर्थपक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्। न चायमभ्युपगम. सौगताना युक्त.,स्वसिद्धान्तविकल्पकमेवद्धिज्ञानं भ्रान्तमन्यदाऽऽभासमभ्रान्तपदव्यवच्छेद्य सौगतसमये प्रसिद्धम्। तथाहि भ्रान्तिसंवृतिसज्ज्ञानमनुमानानुमानिक, स्मार्ताभिलाषिक चेति प्रत्यक्षाभ्रसतिमिरमित्यत्र स्मार्ताभिलाषिक चेतीतिशब्दपरिसमापिताद्विकल्पवर्गात्पृथक् सतैमिरमित्यतो विकल्पस्यैवंजातीयकस्य प्रत्यक्षाभासत्व प्रतिपादित, कल्पनात्वे वाऽस्याभ्रान्तपदोपादानमेतद्व्यवच्छेदार्थं प्रत्यक्षलक्षणेन युक्तियुक्त स्यात्। तत्र चतुर्थपक्षाभ्युपगमोऽपि न्यायोपपन्न इति नार्थसामर्थ्यानुभूतत्वादप्रत्यक्षता विकल्पानाम्। यच्चार्थोऽपीत्यादि दूषणमक्षजत्वे तेषां प्रतिपादितम्। तदप्यसङ्गतम्, यतोऽर्था निर्विकल्पोद्घाटकस्मामग्र्यन्तर्भूताश्चक्षुरादय. सहकारिणोऽन्योन्यसव्यपेक्षा अपि सा विकल्पोत्पादनेनैव परस्परतो व्यवधीयते,तज्जननस्वभावत्वात् तेषाम्। तथा सविकल्पकोत्पादका अपि न चान्त्यावस्थाप्राप्त निर्विकल्पोत्पादक चक्षुरादिकमन्यनिरपेक्षमेव स्वकार्यनिर्वृत्तिकम,अन्यसन्निधिस्तु तत्र हेतुनिबन्धनोपालम्भविषय इति वक्तव्यम्, न च किञ्चिदेक जनकमित्यादिर्विरोधप्रसक्तेश्चक्षुरादिवन्न स्मृत्यर्थस्यावधानम्। न च क्षणिकत्वस्मृतिकाले अर्थस्यातीतत्वात् तथा तस्य व्यवधान क्षणिकत्वस्यासाम् प्रत्यसिद्धत्वात् स्फाटिकसूत्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। यदप्यर्थस्य स्मृतिसापेक्षत्वे दूषणमभ्यधायि-"य प्राग् जनक इत्यादि" तदप्यसङ्गतम्। उपयोगविशेषस्यासिद्धत्वात्। तथाहि-भावाना द्विविधा शक्ति -प्रतिनियतकार्यजनने एका स्वरूपशक्ति। द्वितीया सहकारिस्वभावा तत्र प्राक् स्मरणात् स्वरूपशक्ति केवला न कार्यं जनयति, यदा तु समासादितसहकारिशक्ति. स्वरूपशक्तिर्भवति तदा कार्यमाविर्भावयत्येव। न च स्वरूपशक्ते सहकारिशक्त्या व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा कश्चिदुपकार क्रियते, किं तु सभूय ताभ्यामेक कार्यं निष्पाद्यते। तथाहि-अन्त्यावस्थाप्राप्तक्षणवत् सहकर्तृत्वमेव सर्वत्र सहकारार्थो, नातिशयाऽऽधानमिति क्षणभङ्गभङ्गे विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते।

यदपि विशेषण विशेष्य च इत्यादिदूषणमभिहितम्। तथा सङ्केतस्मरणोपायमित्यादि च। तदपि प्रागेव निरस्तम्। यदपि किञ्चाऽध्यक्षयोरेकविषयत्वे प्रतिभासभेदो न स्यात्, दृश्यते च। तदुक्तम्-"शब्देनाव्यापृताक्षस्य।" इत्यादि। तदप्यसङ्गतम् शब्दाक्षप्रभवप्रतिभेदस्य प्रसाधितत्वात्। शब्दजप्रतिपत्तौ शब्दावच्छेदेन वाच्यस्य कैश्चित् प्रतिभासोपगमात् करणभेदादेकविषयत्व प्रतिभासभेदस्य च कैश्चिदभ्युपगमात् नैकान्तेन तयोर्भिन्नविषयता तत्र व्यवसायात्मक किञ्चिदस्ति अरूपत्वात्,अनक्षार्थज व्यवसायस्य ज्ञानरूपत्वात् ज्ञानग्रहण न कार्यमिति चेत्। न। धर्मिदेशार्थं ज्ञानपदोपादानस्य दर्शितत्वाद्व्यवसायात्मकग्रहण तु धर्मिनिर्देशार्थमिति न पुनरुक्तम्। ननु फलस्वरूपसामग्र्या विशेषत्वेनाऽसम्भवान्नेद लक्षणम्। तथाहि-प्रत्यक्षफलविशेषणत्वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाऽऽदिषु ज्ञानप्रत्यक्षशब्दयो. सामानाधिकरण्यानुपपत्ति'। फलप्रमाणविधायकत्वेन ज्ञान हि फल प्रत्यक्ष तत्साधकतमत्वात्प्रमाणमिति कथ तयो. सामानाधिकरण्यम्?। न चैवभूत फल, यतस्तत्प्रत्यक्ष यत इत्यस्याश्रुतत्वात् तत्र फलविशेषणपक्ष ,अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपविशेषणपक्षः समाश्रीयते,सोऽप्ययुक्त। एतद्विशेषणविशिष्टस्य प्रत्यक्षनिर्णयस्याऽऽकारकस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः। न चाकारकस्यासाधकतमत्वात् प्रत्यक्षत्व युक्तम्। अथ कारकत्वविशेषणमुपादीयते तथाऽपि संस्कारजनकेऽतिप्रसङ्ग। अथैवविशिष्टमुपलब्धिसाधन यत्तत्प्रत्यक्षम्। नन्वेवमप्यश्रुतपरिकल्पनाप्रसक्तिः। सामान्यलक्षणानुवादद्वारेण विशेषलक्षणाविधानान्नाश्रुतकल्पनेति चेन्नैवमपि द्वितीयालिङ्गदर्शने विनाभावस्मृतिजनके गोत्ववदर्थदर्शने च सङ्केतस्मृतिजनकेऽतिप्रसङ्ग , तन्निवृत्त्यर्थमर्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारे विपर्ययज्ञानजनकेऽतिप्रसङ्ग। विपर्ययज्ञान हि सारूप्यज्ञानादुपजायत यथोक्तविशेषणविशेषितात् तस्य चार्थोपलब्धित्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वप्रतिपादनात् सूत्रकारस्याभीष्टमेव। अथ तद्व्यावृत्तये अव्यभिचारिविशिष्टोपलब्धिजनकत्वाध्याहार ,तथा संशयज्ञानजनके प्रत्यक्षत्वप्रसक्ति। अथ तन्निवृत्तये व्यवसायाऽऽत्मकार्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारस्तथाऽप्यनुमानेऽतिप्रसङ्ग. यस्मात्प्राक्प्रतिपादिताशेषविशेषणाध्यासित विशिष्टोपलब्धिजनक च परामर्शज्ञानम न्ययनाऽऽदिभिरभ्युपगम्यते इति तस्यानुमितिफलजनकस्याध्यक्षताप्रसक्तिः। अथेन्द्रियार्थसन्निकर्षजोपलब्धिजनकस्येत्यध्याहार.,तथाऽप्युभयज्ञानजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसक्ति। यस्मादिन्द्रियजस्वरूपज्ञानात् केनचिद् देवदत्तोऽयमितिशब्द उच्चारित इन्द्रियशब्दव्यापाराद्देवदत्तोऽयमिति सङ्केतग्रहणसमर्थे ज्ञानमुत्पद्यते यथोक्तविशेषणविशिष्टमिति तज्जनकस्य स्वरूपज्ञानस्य प्रत्यक्षताप्रसक्ति ,तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदाध्याहार इति चेत्, तर्ह्यश्रुतस्य द्वितीयसूत्रस्य कल्पनाप्रसक्ति। सत्यामपि सूत्रकल्पनायामव्याप्त्यतिव्याप्त्योरनिवृत्ति , तुलासुवर्णाऽऽदीनामबोधरूपाणामप्रत्यक्षत्वप्राप्तेः सन्निकर्षेन्द्रियाऽऽदीनां च। न च सन्निकर्षस्य प्रामाण्य सूत्रकृता नेष्ट, सन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणमिति वचनात् ग्रहणाहेतोर्न प्रामाण्यम्। न च कर्मकर्तृरूपना तस्येति कर्मकर्तृविलक्षणस्य ज्ञानजनकत्वात्कथ न तस्य प्रामाण्यम्। एवमिन्द्रियाणामपि प्रमाणत्व सूत्रकृतोऽभिमतम,"इन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलक्षणम" इति वचनात्। न च प्रमाणसहकारित्वात्तेषां प्रमाणत्वम्, अन्यस्येन्द्रियात् प्रागुपग्राहकस्यौपग्राहिणोऽभावात्,भावेऽप्यज्ञानरूपत्वात्तस्य न प्रमाणता भवेदित्यतिव्याप्ति तदवस्थैव। प्रदीपाऽऽदीना वा ज्ञाना॰

त्मकत्वेऽपि प्रमाणत्वं प्रसिद्धं लोके, तथा सुवर्णाऽऽदेः प्रमेयाच्च तुला प्रामाण्यवदिति प्रामाण्यं प्रतिपादितं सूत्रकृता। सूत्रस्य चार्थः-यथा सुवर्णाऽऽदि परिच्छिद्यते तदा तुला प्रमाणं, प्रमाणं चाऽनुमानमागपूर्वकं देशपक्षाऽऽदिज्ञानस्यानिन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्वकत्वात्, तदभावश्च चक्षुराऽऽदिव्यवहितेऽपि भावात्। तथा प्रमेयं च यदा सुवर्णाऽऽदिना तुलाऽन्तरमितेनानुमीयते, तदा सुवर्णाऽऽदिद्रव्यं प्रत्यक्षं प्रमाणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानजनकत्वात्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं च पञ्चपलरेखाऽऽदिज्ञानं तद्भाविभावित्वाऽऽदिनेन्द्रियाऽऽदिसहकारि तत्सुवर्णाऽऽदि पञ्चपलरेखाऽऽदिज्ञानमुत्पादयत् प्रत्यक्षं प्रमाणं सुवर्णवदिन्द्रियार्थजज्ञानमुत्पादयन्तः सर्व एव भावाः प्रत्यक्षप्रमाणतामात्मसात्कुर्वन्ति। स्मृतिसंशयविपर्ययादीनां चेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह व्यापारे विशिष्टफलजनकत्वेन प्रत्यक्षतोपपद्यते। तथाहि-संशयविपर्यययोरपि बाह्ये विषये स्वाऽऽलम्बने स्वावच्छेदकत्वेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह व्यापारादात्मप्रत्यक्षत्वादिना चाऽऽत्मनो विशेषणत्वेन विशिष्टप्रतीतिजनकत्वेन प्रत्यक्षत्वात्, न न च तयोः सूत्रोपात्तविशेषणयोरव्यतासंदिग्धविपर्ययस्वभावत्वादतिव्याप्तिरपि यदेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् लिङ्गादनुमितमिन्द्रियं प्रतिपद्यते, तदा सकलसूत्रोपात्तविशेषयोगात् सन्निकर्षलक्षणलिङ्गाऽऽलम्बनस्य ज्ञानस्य तथाविधफलजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसङ्गाऽऽदेः, तच्चेन्द्रियस्यार्थ इति समासानाश्रयणे दूषणं द्रष्टव्यमिति। स्वरूपविशेषणपक्षे अनेकदोषाऽऽपत्तिः। अथ ज्ञानप्रामाण्यवादिभिर्निर्णयस्य प्रामाण्यमिष्यत एवेति नानिष्टप्रेरणाऽवकाशः। तथाहि-तत्सद्भावे विषयाधिगतिरिति लोकस्याभिमानो, यच्च तथाविधविषयाधिगमे करणं तत्प्रमाणं, निर्णये त्वसति तदधिगतिरिति स एव प्रमाणम्। अत एव नाधुनस्त्वान्तरकल्पनादोषानुषङ्गोऽपि। नैतत्सारम्। यतो निर्णये सति योऽयं विषयाधिगत्यभिधानः स किं साधकतमत्वान्निर्णयस्याऽतिविषयाधिगतिस्वभावत्वादिति संदेहो, विशेषहेत्वभावात्, साधकतमत्वे च सिद्धे तत्प्रामाण्यावगतिः। अथ विषयाधिगतिस्वभावत्वेनैव निर्णयस्य विषयाधिगत्यभिमानो, न साधकतमत्वेनेति भवतोऽपि विशेषहेतोर्भावनाबोधस्वभावानामप्यर्थोपलम्भनिमित्तानां भावे विषयाधिगतिसिद्धेः। तथा च धूमाज्जातोऽग्निरिति व्यपदिशल्लोक उपलभ्यते, नाग्निज्ञानादित्येव चक्षुषः प्रदीपाऽऽदेश्चान्धकारे विषयाधिगतिसिद्धेः। तथा च धूमाज्जातोऽग्निरिति व्यपादिशल्लोकप्रसिद्धेभ्यो नाग्निज्ञानाऽऽदिरिति परच्छेदे अबोधस्वभावस्य तज्जनकस्य साधकतमत्वान्नार्थज्ञानस्य प्रमाणता। अथापि स्यात् साधकतमज्ञानजनकत्वेनापि धूमाऽऽदीनां तथा व्यपदेशः सम्भवतीति तथापि तत साधकतमत्वासिद्धिः। तथा च धूमसद्भावे विषयाऽधिगतिरित्यभिमानाभावात् सति त्वर्थज्ञाने प्रत्येकशस्तेषामभावेऽपि भावाद्विषयाधिगत्यभिमानेऽनन्तरवृत्तमर्थज्ञानमेव साधकतमं, न विषयाधिगतौ ज्ञानस्य साधकतमता, विषयाधिगतिस्वरूपत्वात् तस्य। न च किञ्चिद्वस्तु स्वरूपे साधकतमं, तद्विशेषस्याभिधानं च प्रमाणपदम्। अथ स्वविषये सव्यापारप्रतीततामुपादाय फलस्यैव प्रमाणोपचारः। उक्तं च-"सव्यापारप्रतीतत्वात्, प्रमाणं फलमेव सत्। सव्यापारमिवाभाति, व्यापारेण स्वकर्मणि ॥१॥" इति चेत्। न मुख्यसद्भावे उपचारपरिकल्पनात्। बौद्धपक्षे तु न मुख्यं साधकतमत्वं क्वचिदपि सिद्धमिति नोपचारः। अस्मन्मते तु धूमाऽऽदीनां साधकतमत्वे प्रमाणफलयोर्भेदः प्रसज्यते, स च

भवतोऽनिष्टः। यच्च धूमाऽऽदिभावे विषयाधिगतेरभावात् तद्भावे च भावादित्युक्तम्। तदसङ्गतम्। यतो नैव सदज्ञानसद्भावे क्वचित् तज्जन्यविषया विषयाधिगतिः, धूमाऽऽदिसद्भावे तु तस्याः सद्भावोऽनन्तरमुपलभ्यत एव। अतो धूमाऽऽद्येव साधकतमम्, अभिमानस्तु ज्ञानानन्तरमुपजायमानो धूमाऽऽदिभावेऽप्यनुपजायमानो ज्ञानस्य न साधकतमत्वं प्रकाशयति, अपि त्वर्थाधिगमस्वरूपताम्। तथा हि-अर्थाधिगतावर्थोऽधिगत इत्यभिमतः प्रभवति। ननु धूमाऽऽदिभावतो विषयाधिगतस्याभिमानस्यानेन प्रकारेण भावाच्च तदभावाच्च तद्गतौ साधकतमत्वं ज्ञानस्येति निर्णये अत्यक्तताप्रसक्तिप्रेरणा तदवस्थैव। किं च-सुप्तावस्थोत्तरकाले घटाऽऽदिज्ञानोत्पत्तौ यद्बोधरूपं तज्जनकं प्रमाणं नेष्यते, तदा प्रागपरज्ञानस्याभावात् कस्य तत्फलं भवेत्। घटत्वसामान्यज्ञानस्य घटज्ञानं फलमिति चेत्। ननु घटत्वज्ञाने किं प्रमाणम्?, तदेवेति चेदेकस्य प्रमाणफलताप्रसक्तिरभ्युपगम्यत एवेति। अत्र विशेष्यज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न च विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ विशेषणज्ञानस्य प्रमाणत्वमिति तदनभिमतमभ्युपगम्यत इति वक्तव्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं घटत्वाऽऽदिसामान्यज्ञानस्य दर्शनात्तत्र सन्निकर्षस्य प्रमाणत्वप्रसङ्गः, अज्ञानत्वान्नेति चेन्न, विशेषणज्ञानं विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ प्रामाण्यं, तथा सन्निकर्षस्याऽपि विशेषणज्ञानोत्पत्तौ तदभ्युपगन्तव्यम्। तथाहि-सन्निकर्षप्रमाणं विशिष्टज्ञानसत्ताकारणत्वाद्विशेषणज्ञानत्वात् प्रमाणत्वाभ्युपगमे कारणनिर्णयाऽऽदीनां प्रमाणत्वं स्यात्। न च स्वयं संवेद्यत्वेन तेषामजनकानामपि प्रमाणत्वम्। अर्थान्तरफलत्वादित्वहानिप्रसङ्गात्। न च नैयायिकैरर्थान्तरभूतं बौद्धैरिव फलमभ्युपगम्यते। तदभ्युपगमे वा तत्पक्षे निरासादयमपि निरस्त एव। अतो ज्ञानप्रमाणवादिनः सुषुप्तावस्थोत्तरकाले घटत्वाऽऽदिज्ञानाभावप्रसक्तेर्घटाऽऽदिज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यशेषस्य जगत आन्ध्याऽऽपत्तिः। न च सुषुप्तावस्थायां ज्ञानसद्भावान्नायं दोषः, असंवेद्यमानस्य तदवस्थायां तस्य सद्भावासिद्धेः। न च जाग्रत्प्रत्ययेन तत्सद्भावोऽवसीयते, तस्य तत्प्रतिबन्धासिद्धेः। तत्कार्यत्वान्न प्रतिबन्ध इति चेन्न। वैशेषिकैः सर्वस्य ज्ञानस्य ज्ञानपूर्वकत्वानभ्युपगमाद्विशेष्यज्ञानाऽऽदीनामेव विशेषणज्ञानाऽऽदिपूर्वत्वं नान्येषां, प्रतिबन्धाभावात् बोधरूपताप्रतिबन्ध इति चेन्न। अबोधस्वभावादपि बोधस्योत्पत्त्यविरोधात्। अन्यथा धूमस्वभावादग्नेर्धूमोत्पत्तिर्न भवेत्, तस्य तज्जननस्वभावत्वाददोष इति चेन्न। इतरत्राप्यस्य समानत्वात्। तथा ह्यबोधाऽऽत्मिका कारणसामग्री बोधजननस्वभावत्वात्तं जनयिष्यतीति न प्रतिबन्धः, तस्मादपि बोधाऽऽत्मकस्यापि प्रमाणत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यव्यापकत्वं लक्षणदोषः, तन्न स्वरूपविशेषणपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः, नापि सामग्रीविशेषणपक्षः, तत्रास्यौपचारिकत्वात्। तथाहि सामग्रीविशेषणपक्षे इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्युपपन्नमिति व्याख्येयम्। तच्चायुक्तम्। उत्पत्तिशब्दे स्वरूपनिष्पत्तौ प्रसिद्धत्वात्। तथा-ज्ञानशब्दोऽपि सामग्रीविशेषणपक्षे ज्ञानजनकत्वात्सामग्र्या ज्ञानमिति व्याख्येयम्। एवमव्यभिचारि व्यवसायाऽऽत्मकं च सामग्र्यं तथाविधफलजनकत्वाद्व्यपदेश्यमिति, तच्छब्देन सहाव्यापारात्। तदेव सूत्रोपात्तविशेषणयोगित्वं सामग्र्यस्य तथाविधफलस्य जनकेन न स्वत इति न युक्तिमत्पक्षोऽपि। तर्ह्यवर्थकं सूत्रं, न। फलविशेषणपक्षस्योपपत्तेर्न तत्राऽपि यत इत्यध्याहारोऽस्त्येव क्षेपो न तावन्मात्रेण, सकलदोषविकलाभिमतपक्षसिद्धेः। अतस्तथाविधं ज्ञानं यतो भवति तत् प्रत्यक्षमिति सकलदोषविकलं प्रत्यक्षलक्षण

चक्षुरादिव्यापारे स्वतन्त्रनीलग्रहणवत् विशेषणविशिष्टार्थग्रहण संकटेन, केवलं तत्र गयमिति प्रतिभासो विशिष्टार्थग्रहणस्याऽन्यथाऽसंभवात् कथ्यते। न च यथाऽवस्थितवस्तुग्रहणं कल्पनाऽतीताऽऽदिग्रहणवत्। न च जात्यादिद्वयस्याभिन्नभेदोऽध्यवसायः, दण्डशब्दयोर्भिन्नयोरभेदाध्यवसायो वा, कल्पनाद्वयस्याप्यसंभवात्। तथाहि-न जात्यादिद्वयस्य वस्तुनोऽव्यतिरेकादसत्त्वाद्वा भेदाभेदाध्यवसायो, द्वयोरप्यनुपपत्तेः। न हि जातेरभेदेऽसत्त्वे वा तद्व्यवच्छिन्ने वस्तुग्रहणसंभवः, असतो भिन्नस्य वाऽवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न च तत्प्रतिभासेऽपि प्रतिभासविषयस्य द्विचन्द्राऽऽदेरर्थप्रमाणबाधितत्वात् प्रतिभासोऽप्रमाणं, यतो न द्विचन्द्राऽऽदेरिव जात्यादेः किञ्चिद्बाधकं वृत्तिविकल्पाऽऽदेस्तद्बाधकस्य निषेधात्। तत्र जात्यादिद्वयस्याभिन्नस्याभेदप्रतिभासकल्पना, नापि दण्डशब्दयोरभेदाध्यवसायः। यदि तत्राप्रतिपत्तिस्तदैकप्रतिभासेऽवच्छेदकावच्छेद्यभावेन ग्रहणं न भवेत्, किं तर्हि तदभेदावच्छेदकमवच्छेद्यं वा, अर्थान्तरापेक्षत्वात्तयोः। तथाहि-दण्डस्य दण्डिनं प्रति व्यवच्छेदकत्वेन प्रतिभासो, नैकत्वेन। एवं वाचकस्यापि वाच्यप्रतिपत्तौ द्रष्टव्यम्। वाचकावच्छिन्नवाच्यप्रतिभासोऽभ्युपगमवादिनामेतन्मतम्। येषां तु नरस्य एव वाचकं वाच्यप्रतिपत्तौ वाचकत्वेन प्रतिभातीति मतं, तेषामभेदाध्यवसायो दूरापास्त एव। अपि च-एवंवादिना तिरस्कृतस्वाकारस्याऽऽकारान्तरानुपकस्यार्थस्य ग्रहणं कल्पेतेति चतुर्थपक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्। न चायमभ्युपगमः सौगतानां युक्तः, स्वसिद्धान्तविकल्पकमेवाद्विज्ञानं भ्रान्तमध्यवसायमभ्रान्तपदव्यवच्छेद्यं सौगतसमये प्रसिद्धम्। तथाहि भ्रान्तिसहितसज्ज्ञानमनुमानानुमानिकं, सांव्यवहारिकं चेति प्रत्यक्षाभ्रसतिमिरमित्यत्र स्मार्ताभिलापिकं चेत्यतिशब्दपरिसमापितविकल्पवर्गात्पृथक् समैमिरमित्यतो विकल्पस्यैवजातीयकस्य प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतिपादितं, कल्पनात्वे वाऽस्याभ्रान्तपदोपादानमेतद्द्वयवच्छेदार्थं प्रत्यक्षलक्षणेन युक्तियुक्तं स्यात्। तत्र चतुर्थपक्षाभ्युपगमोऽपि न्यायोपपन्न इति नार्थसामर्थ्यानुभूतत्वादप्रत्यक्षता विकल्पानाम्। यच्चार्थोऽपीत्यादि दूषणमद्राजस्त्वे तेषां प्रतिपादितम्। तदप्यसङ्गतम्, यतोऽर्थो निर्विकल्पोद्घाटकमाभ्यन्तरभूतानाश्चक्षुरादयः सहकारिणोऽन्योन्यसव्यपेक्षा अपि सा विकल्पोत्पादनेनैव परस्परतो व्यवधीयते, तज्जननस्वभावत्वात्तेषाम्। तथा सविकल्पकोत्पादका अपि न चान्यावस्थाप्राप्तनिर्विकल्पोत्पादकचक्षुरादिकमन्यनिरपेक्षमेव स्वकार्यनिवृत्तिकम्, अन्यसन्निधिस्तु तत्र हेतुनिबन्धनोपालम्भविषय इति वक्तव्यम्, न च किञ्चिदेकजनकमित्यादिर्विरोधप्रसक्तेश्चक्षुरादिवत्र स्मृत्यर्थस्याव्यवधानम्। न च क्षणिकत्वस्मृतिकाले अर्थस्यातीतत्वात् तथा तस्य व्यवधानं क्षणिकत्वस्यासाम् प्रत्यसिद्धत्वात् स्फाटिकसूत्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। यदप्यर्थस्य स्मृतिसापेक्षत्वे दूषणमभ्यधायि-"य प्राग् जनक इत्यादि" तदप्यसङ्गतम्। उपयोगविशेषस्यासिद्धत्वात्। तथाहि-भावानां द्विविधा शक्तिः-प्रतिनियतकार्यजनने एका स्वरूपशक्तिः। द्वितीया सहकारिस्वभावा तत्र प्राक् स्मरणात् स्वरूपशक्तिः केवला न कार्यं जनयति, यदा तु समासादितसहकारिशक्तिः स्वरूपशक्तिर्भवति तदा कार्यमाविर्भावयत्येव। न च स्वरूपशक्तेः सहकारिशक्त्या व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा कश्चिदुपकारः क्रियते, किं तु संभूय तान्यामेकं कार्यं निष्पाद्यते। तथा हि-अन्यावस्थाप्राप्तक्षणवत् सहकर्तृत्वमेव सर्वत्र सहकारार्थो, तदतिशयाऽऽधानमिति क्षणभङ्गभङ्गे विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते।

यदपि विशेषणं विशेष्यं च इत्यादिदूषणमभिहितम्। तथा सङ्केतस्मरणोपायमित्यादि च। तदपि प्रागेव निरस्तम्। यदपि भिन्नाध्यक्षयोरेकविषयत्वे प्रतिभासभेदो न स्यात्, दृश्यते च। तदुक्तम्-"शब्देनाव्यापृताक्षस्य।" इत्यादि। तदप्यसङ्गतम् शब्दाक्षप्रभवप्रतिभेदस्य प्रसाधितत्वात्। शब्दजप्रतिपत्तौ शब्दावच्छेदेन वाच्यस्य कैश्चित् प्रतिभासोपगमात् करणभेदादेकविषयत्वे प्रतिभासभेदस्य च कैश्चिदभ्युपगमात् नैकान्तेन तयोर्भिन्नविषयता तत्र व्यवसायात्मकं किञ्चिदस्ति अरूपत्वात्, अनक्षार्थजव्यवसायस्य ज्ञानरूपत्वात् ज्ञानग्रहणं न कार्यमिति चेत्। न। धर्मिदेशार्थं ज्ञानपदोपादानस्य दर्शितत्वाद्व्यवसायात्मकग्रहणं तु धर्मनिर्देशार्थमिति न पुनरुक्तम्। ननु फलस्वरूपसामर्थ्या विशेषत्वेनाऽसंभवान्नेदं लक्षणम्। तथाहि-प्रत्यक्षफलविशेषणत्वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाऽऽदिषु ज्ञानप्रत्यक्षशब्दयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः। फलप्रमाणविधायकत्वेन ज्ञानं हि फलं प्रत्यक्षं तत्साधकतमत्वात्प्रमाणमिति कथं तयोः सामानाधिकरण्यम्? न चैवंभूतं फलं, यतस्तत्प्रत्यक्षं यत इन्द्रियस्याश्रुतत्वात् तत्र फलविशेषणपक्षः, अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपविशेषणपक्षः समाश्रीयते, सोऽप्ययुक्तः। एतद्विशेषणविशिष्टस्य प्रत्यक्षनिर्णयस्याऽऽकारकस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः। न चाकारकस्यासाधकतमत्वात् प्रत्यक्षत्वं युक्तम्। अथ कारकत्वविशेषणमुपादीयते तथाऽपि संस्कारजनकेऽतिप्रसङ्गः। अर्थैवविशिष्टमुपलब्धिसाधनं यत्तत्प्रत्यक्षम्। नन्वेवमप्यश्रुतपरिकल्पनाप्रसक्तिः। सामान्यलक्षणानुवादद्वारेण विशेषलक्षणविधानान्नाश्रुतकल्पनेति चेन्नैवमपि द्वितीयसङ्केतदर्शने विनाभावस्मृतिजनके गोत्वचदर्थदर्शने च सङ्केतस्मृतिजनकेऽतिप्रसङ्गः, तन्निवृत्त्यर्थमर्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारे विपर्ययज्ञानजनकेऽतिप्रसङ्गः। विपर्ययज्ञानं हि सादृश्यज्ञानादुपजायते यथोक्तविशेषणविशेषितात् तस्य चार्थोपलब्धित्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वप्रतिपादनात् सूत्रकारस्याभीष्टमेव। अथ तद्व्यावृत्तये अव्यभिचारिविशिष्टोपलब्धिजनकत्वाध्याहारः, तथा संशयज्ञानजनके प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिः। अथ तन्निवृत्तये व्यवसायाऽऽत्मकार्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारस्तथाऽप्यनुमानेऽतिप्रसङ्गः यस्मात्तदुपलब्धिजनकत्वाध्याहारस्तथा यथोक्तप्रतिपादिताशेषविशेषणाध्यासितविशिष्टोपलब्धिजनकत्वप्रक्रमशैक्षातमध्ययनाऽऽदिभिरभ्युपगम्यते इति तस्यानुमितिफलजनकस्याध्यक्षताप्रसक्तिः। अर्थेन्द्रियार्थसन्निकर्षजोपलब्धिजनकस्येत्यध्याहारः, तथाऽप्युभयज्ञानजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसक्तिः। यस्मादिन्द्रियजस्वरूपज्ञानात् केनचिद् देवदत्तोऽयमिति शब्द उच्चारित इन्द्रियशब्दव्यापाराद्देवदत्तोऽयमिति सङ्केतग्रहणसमये ज्ञानमुत्पद्यते यथोक्तविशेषणविशिष्टमिति तज्जनकस्य स्वरूपज्ञानस्य प्रत्यक्षताप्रसक्तिः, तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदाध्याहार इति चेत्, तर्ह्यश्रुतस्य द्वितीयसूत्रस्य कल्पनाप्रसक्तिः। सत्यमपि सूत्रकल्पनायामव्याप्त्यतिव्याप्त्योरनिवृत्तिः, तुलासुवर्णाऽऽदीनामाबोधरूपाणामप्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः सन्निकर्षेन्द्रियाऽऽदीनां च। न च सन्निकर्षस्य प्रामाण्यं सूत्रकृता नेष्टं, सन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणमिति वचनात् ग्रहणहेतोर्न प्रामाण्यम्। न च कर्मकर्तृरूपता तस्येति कर्मकर्तृविलक्षणस्य ज्ञानजनकत्वात्कथं न तस्य प्रामाण्यम्। एवमिन्द्रियाणामपि प्रमाणान्तरसूत्रकृतोऽभिमतम्, "इन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलक्षणम्" इति वचनात्। न च प्रमाणसहकारित्वाच्चेषां प्रमाणत्वम्, अन्यस्येन्द्रियात् प्रागुपग्राहकस्यैवोपग्राहिणोऽभावात्, भावेऽप्यज्ञानरूपत्वात्तस्य न प्रमाणता भवेदित्यतिव्याप्तिः तदवस्थैव। प्रदीपाऽऽदीनां वा प्रमा-

त्मकत्वेऽपि प्रमाणत्वं प्रसिद्धं लोके, तथा सुवर्णाऽऽदेः प्रमेया च
तुला प्रामाण्यवदिति प्रामाण्यं प्रतिपादितं सूत्रकृता। सूत्रस्य चा-
र्थः-यथा सुवर्णाऽऽदि परिच्छिद्यते तदा तुला प्रमाणं,प्रमाणं वा-
ऽनुमानमार्गपूर्वकं देशपलाऽऽदिज्ञानस्यानिन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्व-
कत्वात्,तदभावश्च वस्त्राऽऽदिव्यवहितेऽपि भावात्। तथा प्रमेयं च
यदा सुवर्णाऽऽदिना तुलाऽन्तरमितेनानुमीयते, तदा सुवर्णाऽऽदि-
रूप्यं प्रत्यक्षं प्रमाणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानजनकत्वात्। इन्द्रि-
यार्थसन्निकर्षजं च पञ्चपलरेखाऽऽदिज्ञानं तद्भाविभावित्वाऽऽदि-
नेन्द्रियाऽऽदिसहकारि तत्सुवर्णाऽऽदि पञ्चपलरेखाऽऽदिज्ञानमु-
त्पादयत् प्रत्यक्षं प्रमाणं सुवर्णवदिन्द्रियार्थजज्ञानमुत्पादयन्तः
सर्व एव भावाः प्रत्यक्षप्रमाणतामाबिभ्रति। स्मृतिसंशयविपर्यया-
दीऽऽनां चेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह व्यापारे विशिष्टफलजनक-
त्वेन प्रत्यक्षतेष्यते। तथाहि-संशयविपर्यययोरपि बाह्ये विषये
स्वाऽऽलम्बने स्वावच्छेदकत्वेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह व्यापा
राद्दात्मप्रत्यक्षत्वादिनां चाऽऽत्मनो विशेषणत्वेन विशिष्टप्रती-
तिजनकत्वेन प्रत्यक्षत्वात्, न न च तयोः सूत्रोपात्तविशेषणयो-
गतासंदिग्धविपर्ययस्वभावत्वादतिव्याप्तिरपि यदेन्द्रियार्थसन्नि-
कर्षाद् लिङ्गादनुमितमिन्द्रियं प्रतिपद्यते, तदा सकलसूत्रोपा-
त्तविशेषयोगात् सन्निकर्षलक्षणलिङ्गाऽऽलम्बनस्य ज्ञानस्य तथा-
विधफलजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसङ्गाऽऽदे, तच्चेन्द्रियस्यार्थं इति
समासानाश्रयणे दूषणं द्रष्टव्यमिति। स्वरूपविशेषणपक्षे अने-
कदोषाऽऽपत्तिः। अथ ज्ञानप्रामाण्यवादिभिर्निर्णयस्य प्रामा-
ण्यमिष्यत एवेति नानिष्टप्रेरणाऽवकाशः। तथाहि-तत्सद्भावे
विषयाधिगतिरिति लोकस्याभिमानो, यच्च तथाविधविषया
ऽधिगमे करणं तत्प्रमाणं, निर्णये त्वसति तदधिगतिरिति स
एव प्रमाणम्। अत एव नाश्रुतसूत्रान्तरकल्पनादोषानुषङ्गोऽपि।
नैतत्सारम्। यतो निर्णये सति योऽयं विषयाधिगत्यभिधानः स
किं साधकतमत्वान्निर्णयस्याऽतिविषयाधिगतिस्वभावत्वा-
दिति संदेहो, विशेषहेत्वभावात्, साधकतमत्वे च सिद्धे त-
त्प्रामाण्यावगतिः। अथ विषयाधिगतिस्वभावत्वेनैव निर्णयस्य
विषयाधिगत्यभिमानो, न साधकतमत्वेनेति भवतोऽपि विशे-
षहेतोर्जीवनाबोध स्वभावानामप्यर्थोपलम्भनिमित्तानां भावे
विषयाधिगतिसिद्धेः। तथा च धूमाज्जातोऽग्निरिति व्यप-
पदिशल्लोक उपलभ्यते, नाग्निज्ञानादित्येव चक्षुषः प्रदीपाऽऽदे-
श्चान्धकारे विषयाधिगतिसिद्धेः। तथा च धूमाज्जातोऽग्निरिति
व्यपदिशल्लोकप्रसिद्धेभ्यो नाग्निज्ञानाऽऽदिरिति परच्छेदे अबो-
धस्वभावस्य तज्जनकस्य साधकतमत्वान्नार्थज्ञानस्य प्रमाण-
ता। अथापि स्यात् साधकतमज्ञानजनकत्वेनापि धूमाऽऽदीनां
तथा व्यपदेशः संभवतीति तत्तेषां ततः साधकतमत्वासिद्धिः।
तथा च धूमसद्भावे विषयाऽधिगतिरित्यभिमानाभावात् सति
त्वर्थज्ञाने प्रत्येकशस्तेषामभावेऽपि भावाद्विषयाधिगत्यभिमा-
नेऽनन्तरवृत्तमर्थज्ञानमेव साधकतमं, न विषयाधिगतौ ज्ञानस्य
साधकतमता, विषयाधिगतिस्वरूपत्वात् तस्य। न च किञ्चिद्व-
स्तु स्वरूपे साधकतमं, तद्विशेषस्याभिधानं च प्रमाणपदम्।
अथ स्वविषये सव्यापारप्रतीततामुपादाय फलस्यैव प्रमाणोप-
चारः। उक्तं च-"सव्यापारप्रतीतत्वात्, प्रमाणं फलमेव सत्।
सव्यापारमिवाभाति,व्यापारेण स्वकर्मणि ॥१॥" इति चेत्। न
मुख्यसद्भावे उपचारपरिकल्पनात्। बौद्धपक्षे तु न मुख्यं सा-
धकतमत्व [illegible]

भवतोऽनिष्टं। यच्च धूमाऽऽदिभावे विषयाधिगतेरभाव
तद्भावे च भावादित्युक्तम्। तदसंगतम्। यतो नैव सद्ज्ञान-
द्भावे क्वचित् तज्जन्यविषया विषयाधिगतिः, धूमाऽऽदिसद्भा
तु तस्याः सद्भावोऽनन्तरमुपलभ्यत एव। अतो धूमाऽऽद्येव सा-
धकतमम्,अभिमानस्तु ज्ञानानन्तरमुपजायमानो धूमाऽऽदिना
ऽप्यनुपजायमानो ज्ञानस्य न साधकतमत्वं प्रकाशयति,अपि त-
र्थाधिगमस्वरूपताम्। तथा हि-अर्थाधिगतावर्थोऽधिगत इत्यभि-
तः प्रभवति। ननु धूमाऽऽदिभावतो विषयाधिगतस्याभिमानस्याने
प्रकारेण भावान्न तदभावान्न तद्गतौ साधकतमत्वं ज्ञानस्यो
निर्णये अध्यक्षताप्रसक्तिप्रेरणा तदवस्थैव। किं च-सुप्तावस्थोत्त-
रकाले घटाऽऽदिज्ञानोत्पत्तौ यद्बोधरूपं तज्जनकं प्रमाणं नेष्यते
तदा प्रागपरज्ञानस्याभावात् कस्य तत्फलं भवेत्। घटत्वसाम-
न्यज्ञानस्य घटज्ञानं फलमिति चेत्। ननु घटत्वज्ञाने किं प्रमाण-
म्?,तदेवेति चेदेकस्य प्रमाणफलताप्रसक्तिरभ्युपगम्यत एवेति
अत्र विशेष्यज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात्। न च विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ वि-
शेषणज्ञानस्य प्रमाणत्वमिति ततस्तभिन्नमभ्युपगम्यत इति व-
क्तव्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं घटत्वाऽऽदिसामान्यज्ञानस्य द-
र्शनात्तत्र सन्निकर्षस्य प्रमाणत्वप्रसक्तेः,अज्ञानत्वान्नेति चेन्न, वि-
शेषणज्ञानं विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ प्रामाण्यं,तथा सन्निकर्षस्याऽपि
विशेषणज्ञानोत्पत्तौ तदभ्युपगन्तव्यम्। तथाहि-सन्निकर्षप्रमाण
विशिष्टज्ञानसत्ताकारणत्वाद्विशेषणज्ञानत्वात् प्रमाणत्वाभ्युपगमे
कारणनिर्णयाऽऽदीनां प्रमाणत्वं स्यात्। न च स्वयं संवेद्यत्वेन
तेषामजनकानामपि प्रमाणत्वम्। अर्थान्तरफलत्वादित्वहानिप्रस-
ङ्गात्। नच नैयायिकैरर्थान्तरभूतं बौद्धैरिव फलमभ्युपगम्यते। त-
दभ्युपगमे वा तत्पक्षे निरासादयमपि निरस्त एव। अतो ज्ञानप्र-
माणवादिनः सुषुप्तावस्थोत्तरकाले घटत्वाऽऽदिज्ञानाभावप्रसक्तेः
घटाऽऽदिज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यशेषस्य जगत आन्ध्याऽऽपत्तिः।
न च सुषुप्तावस्थायां ज्ञानसद्भावान्नायं दोषः,असंवेद्यमानस्य त-
दवस्थायां तस्य सद्भावासिद्धेः। न च जाग्रत्प्रत्ययेन तत्सद्भावोऽ-
वसीयते,तस्य तत्प्रतिबन्धासिद्धेः। तत्कार्यत्वान्न प्रतिबन्ध इति
चेन्न। वैशेषिकैः सर्वस्य ज्ञानस्य ज्ञानपूर्वकत्वानभ्युपगमाद्विशे-
ष्यज्ञानाऽऽदीनामेव विशेषणज्ञानाऽऽदिपूर्वत्वं नान्येषां,प्रतिबन्धा-
भावात् बोधरूपताप्रतिबन्ध इति चेन्न। अबोधस्वभावादपि बोध-
स्योत्पत्त्यविरोधात्। अन्यथा धूमस्वभावादग्नेर्धूमोत्पत्तिर्न भवेत्,
तस्य तज्जननस्वभावत्वाददोष इति चेन्न। इतरत्राप्यस्य समानत्वा-
त्। तया ह्यबोधाऽऽत्मिका कारणसामग्री बोधजननस्वभावत्वात्त
जनयिष्यतीति न प्रतिबन्धः,तस्मादपि बोधाऽऽत्मकस्यापि प्रमा-
णत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यव्यापकत्वं लक्षणदोषः, तन्न स्वरूपविशेष-
णपक्षोऽपि युक्तिसङ्गतः, नापि सामग्रीविशेषणपक्षः,तत्रास्यौप-
चारिकत्वात्। तथाहि-सामग्रीविशेषणपक्षे इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्प-
न्नमित्युपपन्नमिति व्याख्येयम्। तच्चायुक्तम्। उत्पत्तिशब्दे स्वरूप-
निष्पत्तौ प्रसिद्धत्वात्। तथा-ज्ञानशब्दोऽपि सामग्रीविशेषणपक्षे
ज्ञानजनकत्वात्सामग्र्या ज्ञानमिति व्याख्येयम्। एवमव्यभिचारि
व्यवसायाऽऽत्मकं च सामग्र्यं तथाविधफलजनकत्वादव्यपदेश्य-
मिति, तच्छब्देन सहाव्यापारात्। तदेव सूत्रोपात्तविशेषणयो-
गित्वं सामग्र्यस्य तथाविधफलस्य जनकेन न स्वत इति न यु-
क्तिमत्पक्षोऽपि। तदेवमर्थकं सूत्रम्,न। फलविशेषणपक्षस्योपपत्ते-
र्न तत्राऽपि यत इत्यध्याहारोऽस्त्येव दोषो न [illegible]

सिद्धम्, नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे ज्ञानस्य प्रामाण्यं न लभ्यते, इष्टं च तस्य प्रामाण्यम्, यदा ज्ञानं प्रमाणं तदाऽनादिबुद्धयः फलमिति वचनात् नैष दोषः। ज्ञानस्याप्येवंविधफलजनकत्वेन प्रमाणत्वानुभवज्ञानवशजाया. स्मृतेस्तथा चायमित्येतद् ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षत्वात् प्रत्यक्षं फलम्, तत्स्मृतेस्तु प्रत्यक्षप्रमाणता, सुखदुःखसबन्धस्मृतेस्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षसहकारित्वात्तथा ध्येयमिति । सारूप्यज्ञानजनकत्वेनाध्यक्षप्रमाणता सारूप्यज्ञानस्य च सुखसाधनोऽयमित्यानुमानिकफलजनकत्वेनानुमानप्रमाणता। न च सुखसाधनत्वज्ञानमिति केचित्। अपरे तु बाह्येऽप्यर्थे विशेषाऽऽकृष्टमसन्निहिते विशेषणे मनः प्रवर्तत इति मनोलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षप्रमाणफलमेतत् ज्ञानमिति सम्प्रतिपन्ना.। नन्वेवमप्यव्यापकं लक्षणमात्मसुखाऽऽदिविषयज्ञानस्याप्रत्यक्षफलत्वात् । तच्च मनसोऽनिन्द्रियत्वे मनस इन्द्रियसूत्रेऽपरिपठितत्वात् प्रत्यक्षफलं तावत्तद्विषयज्ञानस्याभ्युपगम्यते । असदेतत् । मनस इन्द्रियधर्मोपेतत्वेनेन्द्रियत्वादधिगताधिगतविषयग्राहकत्वमिन्द्रियधर्मः, स च मनसि विद्यत एव, तेनेन्द्रियधर्मोपेतस्य सर्वस्यैव प्रत्यक्षसूत्रे इन्द्रियग्रहणेनाविरोधः। ततः प्रत्यक्षसूत्र एवेन्द्रियत्वं मनसः सिद्धं, तत्सिद्धौ च नाव्याप्तिर्लक्षणदोषः । इन्द्रियसूत्रे च मनसोऽपाठ , तत्सूत्रस्य नानात्वे इन्द्रियाणां लक्षणपरत्वात्सूत्रशब्देन हि जात्यपेक्षया सूत्रमेवोच्यते । तेन लक्षणसूत्रसमूहोद्देशार्थं तत्सूत्रं, तथा च जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं भूतं गन्धोपलब्धौ कारणं घ्राणमित्यभिधीयमाने सन्निकर्षप्रसङ्ग.। तन्निवृत्त्यर्थं भूतमिति भूतस्वभावत्वं विशेषणम् । एवं च अनेनेति चक्षूरूपोपलब्धौ कारणं सन्निकर्षे प्रसङ्ग', तन्निवृत्त्यर्थं भूतग्रहणं सबन्धनीयं प्रदीपे प्रसङ्गस्तन्निवृत्त्यर्थमिन्द्रियाणामिति वाच्यम् । एवं त्वगादिष्वपि योज्यम् । एवं च सूत्रकपञ्चकमेतल्लक्षणार्थं प्रत्येकमिन्द्रियाणां न पुनर्विभागार्थम्, आदिसूत्रोद्दिष्टस्य भेदवतो विभागाभ्युपगमात्, विभक्तिविभागे चानवस्था विभागार्थं वा बाह्यानामित्यध्याहारः कार्य., स्वलक्षणसामर्थ्यात् । मनसस्तु तदनन्तरं लक्षणानुपदेशो वैधर्म्यात् । तच्च तस्याभूतस्वाभाव्यात्, भूतस्वाभाव्येनेन्द्रियाणि व्यवच्छिद्यन्ते भूतेभ्य इति वचनात्तु मनस एतल्लक्षणमिति । अत एव सर्वविषयत्वं मनसो न त्विन्द्रियाणि बाह्यानि सर्वविषयाणि तन्त्रयुक्त्या वा मनसोऽनभिधानं परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तत्र युक्तिः। न चैवं घ्राणाऽऽदीनामप्यनभिधानं प्रसज्यते, घ्राणाऽऽदेरप्यनभिधाने स्वमतस्यैवाभावात् परमतमिति व्यपदेशासंभवात् । "अस्ति युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" इति वचनात् । मनसोऽभिधानमिन्द्रियत्वेन, इन्द्रियान्तरत्वनभिधानं वैधर्म्यादित्युक्तम्, तन्नाव्याप्तिर्दोष इति स्थितम् । श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिकेति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणमनेनैव निरस्तम् । तथा हि अविकल्पिका शाक्यदृष्टाऽध्यक्षमतिः प्रमाणं न भवति । तथा विन्ध्यवासिपरिकल्पिताऽपि सा प्रमाणं न युक्ता । न च साङ्ख्यदर्शनकल्पितस्य श्रोत्रादेः पदार्थस्य सिद्धिः, सत्कार्यवादसिद्धान्तसदर्थव्यवस्थितेः तस्य च निषिद्धत्वात् । किं च-श्रोत्रादीनां वृत्तिस्तेभ्यो यद्यव्यतिरिक्ता तदा श्रोत्रादिकमेव, तच्च सुप्तमत्ताऽऽद्यवस्थास्वपि विद्यत इति तदाऽप्यध्यक्षप्रमाणप्रसक्तिरिति सुप्ताऽऽदिव्यवहारोच्छेदः। अथ व्यतिरिक्ता तेभ्यो वृत्तिस्तदा वक्तव्यम्-किमसौ तेषां धर्ममात्रम्, आहोस्विदर्थान्तरम् । यद्याद्यः पक्षस्तदा वृत्तेस्तैः सम्बन्धो वक्तव्य ?। यदि तादात्म्यं, तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासाविति पूर्वोक्तो दोषः । अथ समवायः, तदा पुनः सिद्धिप्रसक्तिरित्यपि श्रोत्रादिसद्भावे सति नियतदेशावृत्तिरभिव्यज्यत इति । एवं तेऽथ संयोगः, तदाऽर्थान्तरप्रसक्तिरिति न तद्धर्मो वृत्तिर्भवेत् । अथार्थान्तरं वृत्तिः, तदा नाऽसौ वृत्तिः, अर्थान्तरत्वात् पटाऽऽदिवत् । अथार्थान्तरत्वेऽपि प्रतिनियतविशेषसद्भावात्तेषामसौ वृत्तिः । नन्वसौ विशेषो यदि श्रोत्रादिविषयप्राप्तिस्वरूपः, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽभिधानान्तरेण प्रतिपादितो भवेत् । स च यद्यव्यभिचाराऽऽदिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनकः प्रत्यक्षं प्रमाणमभिधीयते, तदा अस्मत्पक्ष एव समाश्रितो भवेत् । अथ तथाभूतोपलब्ध्या जनको न तर्हि प्रमाणम्, असाधकतमत्वात् । अथार्थाकारा परिणतिः श्रोत्रादीनां वृत्तिः, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-किमसौ परिणतिः श्रोत्रादिस्वभावोऽनुद्धर्म आहोस्विदर्थान्तरमिति पक्षत्रयेऽपि च पूर्ववद्दोषाभिधानं विधेयम् । न च श्रोत्रादीनां विषयाऽऽकारपरिणतिः परपक्षेऽसम्भविनी, परिणामस्य व्यतिरिक्तस्याऽव्यतिरिक्तस्य वा सम्भवादिति प्रतिपादितत्वात् । प्रतिनियताध्यवसायस्तु श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षफलं, न पुनरध्यक्षं प्रमाणम्, असाधकतमत्वात् । विशिष्टोपलब्धिनिर्वर्तकत्वेनाध्यक्षत्वे अस्मन्मतमेव समाश्रितं भवेत्, तन्न साङ्ख्यमतानुसारि कल्पितमप्यध्यक्षलक्षणमुपपन्नम् । जैमिनिपरिकल्पितमपि प्रत्यक्षलक्षणं सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमिति । संशयाऽऽदिषु समानत्वाद्वार्त्तिककारप्रभृतिभिर्निरस्तमेव । यैरपि सम्यगर्थे च सच्छब्दो दुष्प्रयोगनिवारण इत्यादिना तल्लक्षणं व्याख्यातं, तेषां प्रयोगस्यातीन्द्रियत्वात्सम्यक्त्वं न विशिष्टफलमन्तरेण ज्ञातुं शक्यं, फलविशेषणत्वेन च न किञ्चित्पदं श्रूयत इति न कार्यद्वारेणाऽपि तत्सम्यक्त्वावगतिः, बुद्धिजन्मनः प्रमाणत्वं तु न सम्भवत्येव । बुद्धेर्ज्ञातृव्यापारलक्षणायाः पूर्वमेव प्रमाणत्वनिषेधात् । यैस्तु नेदं प्रत्यक्षलक्षणविधानं किं तु लोकप्रसिद्धप्रत्यक्षानुवादेन प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वविधानमिति व्याख्यातं, तैरपि वाच्यम्-कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते किमस्मदादिप्रत्यक्षस्य, उत योगिप्रत्यक्षस्येति ?। तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः । सिद्धसाध्यताप्रसक्तेः । द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः, योगिप्रत्यक्षस्य स्वमतेनासिद्धत्वात् न ह्यसिद्धस्यानिमित्तत्वविधानम् । अन्यथा खरविषाणाऽऽदेरपि तं प्रत्यनिमित्तविधिर्भवेत् । न च योगिप्रत्यक्षं परेणाभ्युपगतमिति प्रतीतस्य तदनिमित्तत्वं साध्यत इति वक्तव्यम् । इति विषयग्राहिसम्पात्यादेर्गृध्रराजस्य तु चक्षुषोऽपि चक्षुः योजनशतावगाहि श्रूयते रामायणाऽऽदौ । न च कादम्बर्याऽऽदेरिव काव्यत्वादस्याप्रमाणतेति न तन्निबन्धना वस्तुव्यवस्था, तारताऽपि प्रमाणभूतेऽस्यार्थस्य सूचनात् स्वार्थप्रतिपादकत्वेऽपि च तारता, यदि प्रमाणस्य सर्वतोऽपि प्रसिद्धत्वात्तत्तदनेनाभ्युपगतं तदा प्रमाणप्रसिद्धस्य भवतोऽपि प्रसिद्धत्वात् कथं तदनिमित्तत्वसिद्धिः, अत एवातीन्द्रियं वस्तु नाङ्गीकुर्वतोऽपरप्रतिपन्ने वस्तुन्यतीन्द्रियेऽसौ प्रमाणं प्रष्टव्यः, चेत्, तत्र भूते, तदुक्तस्वाङ्गीकर्तव्यम् । अथ न भूते, तदा तस्य प्रमाणाभावादेवासिद्धिर्न तदुक्तप्रमाणप्रतिषेधात् । न ह्यतीन्द्रिये वस्तुनि प्रमाणप्रतिषेधविधायि प्रवर्त्तितुमुत्सहन्त इति । धर्म्यसिद्धत्वादिदोषराघ्रातत्वात् । अथाऽपि स्यात् भवेदेष दोषः स्वतन्त्रसाधनपक्षे । न त्विदं स्वतन्त्रसाधनमपि तु प्रसङ्गसाधनम् । नच स्वतोऽप्रसिद्धेऽपि वस्तुनि परप्रसिद्धेन परस्यानिष्टाऽऽपादनमिति पैरभ्युपगतं यथा सामान्याऽऽदिनिषेधे । एतदप्ययुक्तम् । दृष्टान्तस्याप्यसिद्धिः । यथा च सामान्याऽऽदिनिषेधेन प्रसङ्गसाधनं प्रवर्तते तथा नैयायिकैः प्रतिपादितं सामान्याऽऽदिपरीक्षायाम् । किंच प्रसङ्गसाधनानुपपत्तिरत्र । यतः प्रसङ्गः सर्वोऽपि विपर्ययफल इति पूर्व

प्रसङ्गः प्रदर्शनीयः, स च कथं प्रदर्शित इति वक्तव्यम्। अथ योगिप्रत्यक्षं धर्मग्राहकं न भवति, विद्यमानोपलम्भनत्वात्, न हेतोरसिद्धत्वात्। अथ तस्मिन् सिद्ध्यर्थं हेत्वन्तरोपादानम्। तथाहि-विद्यमानोपलम्भनं योगिप्रत्यक्षं सत्संप्रयोगजत्वात् नास्याप्यसिद्धत्वात्। अथैतत्सिद्ध्यै हेत्वन्तरमुपादीयते। विवादास्पदं सत्संयोगजं, प्रत्यक्षत्वात्तच्छब्दवाच्यम्, अस्मदादिप्रत्यक्षवदिति दृष्टान्त सर्वत्र वक्तव्य। धर्माऽऽदिग्राहकत्वे वा धर्माऽऽदेरसत्वात्। न विद्यमानोपलम्भकत्वमिति विपर्ययोऽविद्यमानोपलम्भनत्वे च न सत्संयोगजम्। असत्संयोगजत्वे वा न प्रत्यक्षताऽपि। तच्छब्दवाच्यम्। ननु भवत्येव प्रसङ्गपूर्वको विपर्ययः, नत्वनेन किं सद्भावो निषिध्यते, उत न पक्षत्वम्। प्राच्ये विकल्पे धर्म्यसिद्धता हेतूनामित्युक्तम्। द्वितीयेऽपि तस्य प्रमाणान्तरप्रसक्तिः, विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञालक्षणत्वात्। स्यादेतद्विशेषप्रतिषेधधर्मिण एव प्रतिषेधस्यास्य तद्रूपतयैवाभ्युपगमात्। न च धर्मसिद्धत्वाऽऽदिहेतुदोषः। यद्यर्थस्याभ्युपगमात्। असदेतत्। व्याप्तौ सत्यां प्रसङ्गपूर्वकस्य विपर्ययस्य प्रवृत्तेः। न च प्रत्यक्षत्वस्य तस्य तच्छब्दवाच्यत्वमन्यस्य वा सत्संप्रयोगजत्वेन व्याप्तिसिद्धिः क्वचित्सञ्जाता। अथ प्रसङ्गसाधनवादिनि तत्सिद्धिस्तथाऽपि दोषो, न हि यत्तेन न गृह्यते तदन्येनापि न गृह्यत इति व्याप्तिसिद्धिः। तथाहि-यथा प्रसङ्गसाधनवादिचक्षुर्नातिदूरस्थविषयग्राहि सपात्यादेर्गृध्रराजस्य चक्षुष्ट्वेऽपि चक्षुः योजनशतव्यवहितावभासि श्रूयते रामायणाऽऽदौ। न च कादम्बर्यादेरिव काव्यत्वादस्याप्रमाणतेति न तन्निबन्धना वस्तुव्यवस्था। अतोऽपि प्रमाणभूतेऽस्यार्थस्य संसूचनात् स्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेऽपि च तारताऽऽदीनां प्रमाणता सिद्धैव। यद्यन्यथाप्तप्रणीतत्वे निश्चयः, तथा वृषदंशचक्षुश्चक्षुष्ट्वेऽपि तच्छब्दवाच्यत्वेऽपि वा भिन्नाभिन्नस्वभाव दृष्टं तद्वद् योगिप्रत्यक्षं भविष्यति। एवं प्रतिवादिप्रत्यक्षेऽपि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिनिषेधो द्रष्टव्यः। अथ गृध्रवृषदंशचक्षुषोरेतत्स्वभावत्वेऽपि रूपग्रहणप्रतिनियमः, न हि ते रसाऽऽदौ कदाचित्प्रवर्त्तन्ते, तथा योगिप्रत्यक्षस्यापि स्वविषय एवातिशयो भविष्यति। तदुक्तम्-"तत्राप्यतिशयो दृष्टः।" इत्यादि। तथा "अपि सातिशया दृष्टाः, प्रज्ञामेधाऽऽदिभिर्नराः" इत्यादि च एवमेतत् किं तु द्विविधं प्रत्यक्षम् बाह्येन्द्रियजं, मानसं च। तत्र पूर्वस्यातीताऽऽदिग्राहकत्वनिषेधे रसाऽऽदिग्राहकाणामिवेतरेतरविषयाग्रहणे सिद्धसाध्यता। मानसस्य त्वतीताऽऽदिरपि विषयः, तस्य सर्वविषयत्वात्। तथा हि वादिप्रतिवादिनोर्मनस्पृष्टान्त स्मार्तमतीतार्थग्राहि विज्ञानं सिद्धम्। एवमनागतार्थाध्यवसायिना न संवादिप्रतिवादिनोस्तथाविध दृष्टव्यम् तस्य वा भूतार्थस्यापि स्पष्टा भूता भावनाप्रकर्षात्कामशोकभयादिज्ञाने प्रतिपादिता, यत्पुनर्भूतार्थे प्रमाणद्वयपूर्वक भावनाप्रकर्षसमुद्भूत, तत्संवादात्प्रमाणं, विशदत्वाच्च प्रत्यक्षं। सम्भाव्यते च तथाविध प्रत्यक्षं योगिनां यथाऽस्मदादीनां प्रातिभम्, श्वो मे भ्राता आगन्तेत्यनागतार्थग्राहकम्। न च संदिग्धसम्भावनाऽस्या निश्चितत्वात्सत्यत्वाद् बाधकाभावाच्च विपर्ययः, ततोऽप्येवमसत्यां प्रतिभासस्यार्था न सिद्धेति न प्रामाण्यं प्रातिभम्। इन्द्रियजमपि सर्वं न सत्यार्थं सिद्धमिति। तदप्यप्रमाणं भवेत्। अथ यत् सत्यमप्रमाणं यद्बाध्यते, इतरं तु प्रमाणं प्रातिभेऽपि समानम्। तद्ग्राह्यप्रतिभाया न प्रमाणफलता, अर्थजत्वानुपपत्तेः। तथाहि-कर्मशक्तिः स्वकर्तृकरणसहकृता क्रियानिवर्तिका कर्तृकरणशक्तिरेव कर्मशक्तिसहकृता, न चासती स्वरूपेणानागतवर्तमानकाल कर्तृकरणाभ्यां सह कर्मशक्तिः स्वकार्ये व्याप्रियते, नापि कर्तृकरणशक्तिर्वर्तमानसमयसंबन्धिनी भाविकर्मशक्त्या तदोत्पद्यमानया सह स्वकार्ये व्याप्तिः। यत इति कथमगतार्थविषयार्थजा प्रतिभा, ततो न प्रमाणफलं सेत्ययुक्तमेतदसमानकालत्वेऽपि प्रतिभाविषयस्य कर्तृकरणव्यापारसमानकालतोपपत्तेः। तथाहि-करणं प्रतिभाजनकं न वर्तमानसमयवस्तुपरिच्छेदकं, किं त्वनागतस्य, तेनाऽऽगते वस्तुनि करणस्य व्यापाराद्वस्तुनश्च तेन रूपेण सत्त्वात् कथं प्रतिभा निर्विषया?। यदि च भावाभावविषयं ज्ञानं निर्विषयं तर्हि चोदनाजनितं ज्ञानं वाक्यप्रभवं वाक्यकाले कार्यस्यार्थस्यासत्त्वाद् निर्विषयमासज्येत। अथ वर्तमानार्थग्रहणस्वभावोऽध्यक्षस्यैव न शब्दाऽऽदेः, उक्तं च-"संबद्धं वर्तमानं च, गृह्यते चक्षुरादिना।" तथा एषा प्रत्यक्षधर्मतश्च वर्तमानार्थतैव, या सन्निकृष्टार्थवर्तित्वम्। ननु ज्ञानान्तरेष्वयमित्यसदेतत्, मनोविज्ञानस्यातीतानागतार्थग्रहणे व्याघाताभावात्। चक्षुरादिप्रभवप्रतिपत्तीनां तु युक्तवर्तमानार्थग्रहणलक्षणो धर्मः। ननु मानसस्यान्यथा चोदनाजनितस्यास्मादित्युक्तं मत्वैवमपि भाविरूपता भावस्य सावधिः प्रागभावः। न च भिन्नकालत्वाद्वस्त्ववस्तुनोः संबन्ध इति कथं तस्य भाविरूपता। अत्र केचिदाहुः- न तयोः संबन्धिता, विशेषणविशेष्यतया प्रतिपत्तेः। नैतत् न हि संबन्धपूर्वको विशेषणविशेष्यभावः, किं तर्हि भाविता भावस्योच्यते, बुद्धौ प्रतिभासमानस्याऽऽकारस्य कुतश्चिन्निमित्तत्वात् प्रागभावविशेषणता, तच्च निमित्तं भोजनाऽऽदि कार्यं भ्रातृकृतं तद्भ्रातुरनुगतस्य नोपपद्यत इत्यनागमनकाल एव कार्येन बुद्ध्यस्थापितस्य भ्रातुः श्वस्तनागमनविशिष्टतां प्रतिपद्यते। सद्व्यवहारनिबन्धनं च सत्त्वम्, तच्च विधिप्रतिभास एवातो विधिप्रतिभासस्वभावत्वान्न निर्विषया प्रतिभासमानता मा भून्निर्विषयत्वं तस्यास्तेन त्वर्थेन सह सन्निकर्ष इन्द्रियस्य वाच्यः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अत्र केचित्प्रतिभासमादधति-श्वो मे भ्राताऽत्र देशे आगन्तेति प्रतिभोत्पादे, श्वादे(?)श्चेन्द्रियेण संयोगात्तद्विशेषणत्वाच्च श्वस्तनाऽऽगमनविशिष्टस्य भ्रातुः संयुक्तविशेषणभावः सन्निकर्षः। एतत्परेणानुविशेषणविशेष्ययोरेकविषयत्वाद्भ्राता विशेषणे त्वचक्षुरादेः सन्निकर्षः, तदभावाद् विशेषणाग्रहणे कथं विशेष्यबुद्धिः?। अपि च-श्वस्तनागमनविशिष्टभ्रातृज्ञानं प्रतिभा न देशाऽऽदिज्ञानं, न चेन्द्रियत्वेन कश्चित्संबन्धः। अत एवार्थमपि ज्ञानं न प्रतिभा यतो रूपिणामपि यज्ज्ञाने तदप्यागमपूर्वम्, अनेनोपायजन्यमार्षस्य दर्शयति। उपायश्च सन्निकर्षलिङ्गशब्दस्वभावः, आगमग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। नाऽपि धर्मविशेषात्, सन्निकर्षं विनाऽपि प्रतिभायाः समुद्भवः, यतो धर्माधर्मयोः फलजनकत्वं साधनजनकत्वेनैव, यथा सुखाऽऽदिजन्ये शरीराऽऽदिर्जननमेव प्रतिभाया अपि धर्मविशेषजन्यत्वे केनचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षाऽऽदिनाऽन्येन धर्मविशेषजनितेन भाव्यम्। अत एव सिद्धदर्शनमपि न प्रतिभा, रथ्यापुरुषस्यापि भावात्। अनियतनिमित्तप्रभवत्वेन प्रमाणं प्रतिभेति यत्कैश्चिदभ्यधायि, तन्नैयायिकैर्निराक्रियते एव मनसस्तन्निमित्तत्वेन तत्र तत्र प्रतिपादनात्। नाप्यस्यालिङ्गशब्दप्रभवत्व, तदभावेऽपि भावादुपमानजत्वाशङ्का दूरोत्सारिताऽतः प्रत्यक्षं प्रतिभा। यद्येवं तदुत्पत्तावपि वक्तव्यम्। किमत्रोच्यते-मनसः संनिहितत्वात् तस्य विशिष्टार्थग्रहणे विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्षं नियामकत्वेन पूर्वं प्रदर्शितं, यथा प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तौ स्मर्यमाणप्रमीयमाणानुभवविशेषण वस्तुनस्तत्र्याविषयो, न चैतावता बाह्येन्द्रियव्यापार इति मानसं प्रत्यभिज्ञानं, तद्वत्प्रातिभमपि। तथा हि-मनसो दार्शाभ्युपगमे म-

नञ्च' स्वातन्त्र्येण पूर्वं निराकृत'। एव मानसस्य प्रत्यक्षस्याविद्यमानोपलम्भकस्य सद्भावाच्च प्रसङ्गसाधने व्याप्तिसिद्धि'। तथा सर्वस्यैव स्थपत्यादे' क्रियमाणवस्तुग्रहण प्रत्यक्षासिद्धमेव । किं च-कथ जैमिनीयाः स्थिरग्रहणवादिनो वर्तमानविषयमेव प्रत्यक्ष सचक्षते,स्थिरग्रहण हि वस्तुन एव भवति। यदि वर्तमानविशिष्टस्यैवातीतानागतकालविशिष्टग्रहणम, अन्यथा स्थिरग्रहणाभाव.। तथा चोक्तम्-"रजतं गृह्यमाणं हि,चिरस्थायीति गृह्यते।" तत. परस्पराव्याहतार्थाभिधानाद्यत् किञ्चित तत्तदेवं न प्रत्यक्षस्यातीन्द्रियार्थग्रहणनिषेध', पूर्वोक्तनीत्या सभाव्यते चातीन्द्रियार्थग्रहणमध्यक्षस्य यथा सम्भवति तथा सर्वज्ञसिद्धौ प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते । किञ्च सत्संयोगत्वाऽऽद्यविद्यमानोपलम्भत्वमुच्यते, तत्र सतासीता (?) साधुना सद्भिर्वैत्येतान् पक्षान् व्युदस्याभिमतपक्षस्थापन कृतम्। सति सप्रयोगे प्रयोगश्च श्विद्धिना(?)प्रदर्शितोऽपीन्द्रियाणां व्यापारो,योग्यता वा। ननु नैयायिकाभ्युपगत एव सयोगाऽऽदि.,स द्विवि ओऽप्यतीतानागताऽऽदिलक्षणेऽर्थेत' करणवास्याऽऽदिना इव कार्येऽर्थे न वार्यते। अथाविद्यमाने कथ करणव्यापार.,करणत्वेनाभ्युपगतायाः चोदनाया अपि कथ कार्येऽर्थे, ततो नास्त करणस्य विशेष.,तत्प्रमेयस्य त्रिकालावच्छिन्नत्वात् भाविरूपस्यापि वा तद्रूपत्वेन सतो वर्त्तमानत्वाऽऽपत्तिः। तथा चोक्त व्यासेन-"अवश्य भाविन नाश,विद्धि सप्रत्युपस्थितम । अयमेव हि ते काल पूर्वमासीदनागत' ॥१॥" यत्पुन. कार्यं कालत्रयापरामृष्ट शशशृङ्गाऽऽद्यथ तत्र कथ प्रेरणाऽऽश्रयकरणव्यापार । अथावाधितप्रतीतिजनकत्वेन प्रेरणायास्तत्र व्यापार.,नह्यन्त.करणेऽप्येतत्तुल्यं, ततोऽविद्यमानोपलम्भस्य मानसाध्यक्षस्य सद्भावाच्च प्रसङ्गो मानसाध्यक्षस्य सद्भावाच्च प्रसङ्गसाधने व्याप्तिसिद्धिरिति न प्रथमा व्याख्या। द्वितीयव्याख्याने तत्सतो व्यत्ययेऽपि च न सशयज्ञानव्युदास.। तत्र ह्ययमर्थो व्यवतिष्ठते-यद्विषय विज्ञान तेनैव सप्रयोगे इन्द्रियाणां प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास त्वन्यसप्रयोगजमिति। तत्र सशयज्ञानं सम्यग्ज्ञानवत् यत्प्रतिभासि तेनैव सयोगे भवति। ननूभयाऽऽलम्बनत्वादुभयप्रतिभासिसशयज्ञानम्,न चोभयाऽऽत्मकेनेन्द्रियसबन्ध.। यद्यपि नोभयाऽऽत्मकेन तेनेन्द्रियसंबन्धस्तथापि तत्वत. सामान्यवान् पुरोऽवस्थितोऽर्थस्ति प्रतिभासमानाऽन्यतरविशेषाऽऽश्रयोऽतो यत्प्रतिभाति तेन सहेन्द्रियस्य संयोगे सशयज्ञानमुदेति। न चैतद्व्यवच्छेदाय किञ्चित्पदमुपात्तमिति नैतल्लक्षणात तद्व्युदास इति न जैमिनीयमतेऽपि प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम् न चार्वाकैस्तु प्रत्यक्षमपि तत्वत. प्रमाणमभ्युपगम्यत इति न तद्विचारप्रयास. सफल इत्यक्षपादविचारितमेव प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यमिति नैयायिका.। असदेतत्। तदभ्युपगमेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वाऽऽदेरघटमानत्वात्। तथा हि-इन्द्रिय यदि चक्षुर्गोलकाऽऽदिकमनयविरूपमभ्युपगम्यते, तदा तस्य स्वविषयेण व्यवहित देशेन पर्वताऽऽदिना सनिकर्षोऽसिद्ध। न ह्यत्यन्तव्यवहितयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव चक्षुर्गोलके तदर्थयो सन्निकर्षसयोगाऽऽदिलक्षण. सिद्धः। न चावयविलक्षण गोवालकाऽऽदिवस्तुसंबद्ध,तद्ग्राहकाभिमतप्रमाणस्य निषिद्धत्वात्। न च तदाधार. सयोगाऽऽदिक. संबन्धः समस्ति, पराभ्युपगतस्य तस्य निषिद्धत्वात्, निषेत्स्यमानत्वाच्च। योऽपि कथञ्चित्पदार्थाव्यतिरिक्त सश्लेषणकाष्ठजतुनोरिव सबन्धः प्रसिद्ध.,सोऽप्यवहितेन पर्वताऽऽदिना स्वाविषयेण सह चक्षुर्गोलकस्यानुपपन्न.,तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात्। अथास्ति तत्प्रसाधक प्रमाणम्,ननु तत्कि प्रत्यक्षमुतानुमानम्?। न तावत् प्रत्यक्षमत्र विषये प्रवर्त्तितुमुत्सहते। न हि देवदत्तचक्षुस्तद्विषयेण पर्वताऽऽदिना सबद्धमित्यस्मदादेरक्षप्रभवा प्रतिपत्तिः। अथानुमान तत्सन्निकर्षप्रसाधनाय प्रवर्त्तते। ननु किं तदनुमानमिति वक्तव्यम्?। चक्षु. प्राप्तार्थप्रकाशक बाह्यत्वात् त्वगादिवदित्येतदनुमान तत्सन्निकर्षप्रसाधन न चक्षुर्गोलकतदर्थयोरध्यक्षेणैवासन्निकृष्टयो. प्रतिपत्तेरध्यक्षे बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनास्य हेतो कालात्ययापदिष्टत्वात्। अवयविलक्षणस्य च चक्षुषो. सिद्धेराश्रयासिद्धश्च हेतु। अत एव स्वरूपासिद्धश्च। नह्यविद्यमानस्यावयविनो बाह्येन्द्रियत्वमुपपन्नम्,त्वगादिवदिति निदर्शनमपि साध्यसाधनविकलम्। अथ चक्षु.शब्देनात्र तद्रश्मयोऽभिधीयन्त इति न प्रागुक्तदोषावकाश.। न। तेषामसिद्धेः इतरथाऽस्यानुमानस्य वैफल्याऽऽपत्तेराश्रयासिद्धो हेतु.। अथात एवानुमानात तत्सिद्धेर्नाय दोषः,न। इतरेतराश्रयदोषप्रसक्ते.। तथाहि-तद्रश्मिसिद्धावाश्रयासिद्धत्वदोषपरिहार',तस्मिंश्च सत्यतो हेतोस्तत्सिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। अत एव स्वरूपासिद्धिरपि हेतो,तेषामसिद्धौ तदाश्रयबाह्येन्द्रियत्वासिद्धे। यदि पुनर्गोलकाद्बहिर्भूता रश्मयश्चक्षु शब्दवाच्यार्थप्रकाशकास्तर्हि गोलकस्याञ्जनाऽऽदिना सस्कार उन्मीलनाऽऽदिकश्च व्यापारो वैयर्थ्यमनुभवेत्। अथ गोलकाऽऽश्रयास्त इति तन्निमीलिते असस्कारे वा तेषामपि स्थगनमसंस्कृतिश्चेति विषय प्रति गमन तत्प्रकाशन च न स्यादतस्तदर्थतदुन्मीलन तत्सस्कारश्च। न च वैयर्थ्यमनुभवेत् नहिं गोलकानुपक्तकामलाऽऽदे. प्रकाशकत्व तेषां स्यात्। न हि प्रदीप स्वलग्न शलाकाऽऽदिक न प्रकाशयतीति दृष्टम्। यैरपि गोलकान्तर्गत तेजो द्रव्यमस्ति तदा (?) तास्त इत्यभ्युपगत तेषामपीद दूषणं समानम्। न हि काचकूपिकान्तर्गता: प्रदीपाऽऽदिरश्मयस्ततो निर्गच्छन्तस्तद्योगिनमर्थं न प्रकाशयन्ति। तदेवं रश्मीनामसिद्धेर्न ते चक्षु शब्दाभिधेया। अथ रसनाऽऽदयो बाह्येन्द्रियत्वात्प्राप्तार्थप्रकाशका उपलब्धा बाह्येन्द्रिय च चक्षु', ततस्तदपि प्राप्तार्थप्रकाशक न च गोलकस्य बाह्यार्थप्राप्ति सम्भविनीति पारिशेष्यात् तद्रश्मीनां तत्सिद्धिरिति रश्मिसिद्धिः। नात्यासन्नमलाञ्जनशलाकाऽऽदिप्रकाशप्रसक्तेः। किं च यदि गोलकाद् निर्गत्य बाह्यार्थेनाभिसबन्ध्य तद्रश्मयोऽर्थं प्रकाशयन्ति, न ह्यर्थं प्रत्युपसर्पन्तस्त उपलभ्येरन्, रूपस्पर्शविशेषवतां तैजसानां वह्न्यादिवत् सतामनुपलम्भे निमित्ताभावात्, नचोपलभ्यन्त इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलम्भादसत्त्वम्। अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वाद् उपलभ्यास्त इति चेत्, किं पुनरनुद्भूतरूपस्पर्शतेजो द्रव्यमुपलब्ध येनैवं कल्पना भवेत्?। अथ इतरूपस्पर्शतेजो द्रव्यमुपलब्ध ... न सश्यते सतोरपि तैजसरूपस्पर्शयोर्नीरहेम्नोरनुद्भूति., न घृततप्तोदकयोस्तेजस्त्वासिद्धे. दृष्टानुसारेण चानुपलभ्यमानभाव. प्रकल्पना. प्रभवन्ति। अन्यथा-भास्करकरा. सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते, अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वाश्रयणेन रश्मिवदित्यपि कल्पनाप्रसक्ते । सम्म० २ काण्ड । अवधिमन.केवलाऽऽख्ये स्वय दर्शनलक्षणे वा व्यवसायभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। स्वय करणे, "पच्चक्ख सयमे च करेति ' अहवा-राज्ञः समक्षं प्रत्यक्षम् । नि० चू० ४ उ प्रत्यक्षकरणचक्षुषे, आ० म० १ अ०।

पच्चक्खणाण-प्रत्यक्षज्ञान-न०। अवधिमन.पर्यायकेवलाऽऽत्मके प्रत्यक्षस्वरूपे ज्ञानभेदे, न०। (' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १६३७ पृष्ठे विशेष.)

**पच्चक्खणिराकय**–प्रत्यक्षनिराकृत–पुं० । प्रत्यक्षाविषये, यथा–अश्रावणः शब्दः । स्था० १० ठा० ।

**पच्चक्खपच्चयकारी**–प्रत्यक्षप्रत्ययकारी–स्त्री० । प्रत्यक्षेण ज्ञानेन, साक्षादित्यर्थः, यः प्रत्ययः सर्वातिशयनिधानमतीन्द्रियार्थोपदर्शनाव्यभिचारि चेदं जिनप्रवचनमित्येवरूपा प्रतिपत्तिः । अथवा-प्रत्यक्षेणैवार्थाः प्रतीयन्ते इति प्रत्यक्षमेवेदमित्येवं प्रतीति प्रत्यक्षप्रत्ययस्तत्करणशीलाः प्रत्यक्षप्रत्ययकार्य, प्रत्यक्षनाप्रत्ययकार्यो वा । प्रत्यक्ष प्रतिपन्नायाम्, स० १० अङ्ग० ।

**पच्चक्खवयण**–प्रत्यक्षवचन–न० । एष देवदत्त इत्येवरूपे वचने, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० ।

**पच्चक्खसिद्ध**–प्रत्यक्षसिद्ध–त्रि० । प्रत्यक्षज्ञानविषये, न च सकललोकप्रत्यक्षसिद्धेऽर्थेऽन्यत्प्रमाणान्तरं मृग्यते । आचा० १ श्रु० ए अ० ४ उ० ।

**पच्चक्खाण**–प्रत्याख्यान–न० । परिहरणीय वस्तु प्रति आख्यान प्रत्याख्यानम् । गुरुसाक्षिके निवृत्तिकथने सामायिकपर्याये, आ० म० १ अ० । ( एतदुदाहरण 'तेतलिसुय' शब्दे चतुर्थभागे २३५२ पृष्ठे गतम् )

पच्चक्खे दट्ठूणं, जीवाजीवे य पुन्नपावे य ।
पच्चक्खाया जोगा, सावज्जा तेयलिसुएणं ॥

प्रत्यक्षानीव दृष्ट्वा जीवाजीवान् पुण्यपापे च सम्यक् चतुर्दशपूर्वस्मरणात् प्रत्याख्याता योगाः सावद्यास्तेतलिसुतेन । आ० म० १ अ० २ खण्ड । निवृत्तिद्वारेण प्रतिज्ञाकरणे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आ० म० । प्रति० । स्वेच्छाप्रवृत्तिप्रतिकूलतया मर्यादया विवक्षितकालाऽऽदिमानयाऽऽख्यान प्रकथन प्रत्याख्यानम् । मूलगुणोत्तरगुणरूपे इष्टार्थविषयाभिवर्त्तने, प्रव० १ द्वार । ज्ञपरिज्ञया ज्ञाने प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरणे, आ० चू० १ अ० । ध० ।

( १ ) प्रत्याख्यानमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः -

पच्चक्खाणं पच्च-क्खाओ पच्चक्खेयं च आणुपुव्वीए ।
परिसा कहणविही य, फलं च आईए छब्भेआ ॥ १ ॥

'ख्या' प्रकथने इत्यस्य प्रत्याङ् पूर्वस्य ल्युडन्तस्य प्रत्याख्यानं भवति । तत्र प्रत्याख्यायते निषिध्यते मनोवाक्कायक्रियाजालेन किञ्चिदनिष्टमिति प्रत्याख्यानम्, क्रियाक्रियावतो कथञ्चिदभेदात्प्रत्याख्यानक्रियैव प्रत्याख्यानम् । प्रत्याख्यायते अस्मिन् सति प्रत्याख्यानम् । "कृत्यल्युटो बहुलम्" ॥ ३।३।१३३॥ इति वचनात् । अन्यथाऽप्यदो प प्रत्याख्यानमित्यादौ । तथा प्रत्याख्यातीति प्रत्याख्याता गुरुर्विनेयश्च । तथा प्रत्याख्यायत इति प्रत्याख्येय गोचरवस्तु । चशब्दात्त्रयाणामपि तुल्यकक्षतोद्भावनार्थः । आनुपूर्व्या परिपाट्या, कथनीयमिति वाक्यशेषः । तथा परिषद्वक्तव्या-कीदृशस्याः परिषदः कथनीयमिति । तथा कथनविधिश्च कथनप्रकारश्च वक्तव्य । तथा फलं चास्यैहिकाऽऽमुष्मिकभेदं कथनीयम्, आद्यावेते षड् भेदा इति गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तु यथाऽवसर भाष्यकार एव वक्ष्यति ॥१॥ आव० ६ अ० । आ० चू० । ध० ।

(२) एकार्थाः -

नमिऊण वद्धमाणं, समासओ सुत्तजुत्तिओ वोच्छं ।
पच्चक्खाणस्स विहिं, मंदमइविबोहणट्ठाए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्द्धमान महावीरम्, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये इत्यनेन सबन्धः । तथा सूत्रयुक्तितः आगमाऽऽश्रितामुपपत्तिमाश्रित्य, अथवा-सूत्र च युक्तिं चाऽऽश्रित्य, वक्ष्ये भणिष्यामि, प्रत्याख्यानस्य नमस्कारसहिताऽऽदिनियमस्य, विधिं विधानम् । किमर्थमित्याह-मन्दमतीनामल्पमेधसां, विबोधन प्रबोधन तल्लक्षणोऽर्थः प्रयोजन मन्दमतिविबोधनार्थस्तस्मै मन्दमतिविबोधनार्थाय । यतः पूर्वाऽऽचार्यैः प्रत्याख्यानविधिर्विस्तरेण महामतिसमधिगम्य एवोक्तः । इति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ प्रत्याख्यानमेव पर्यायतो भेदतश्च निरूपयन्नाह–

पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा ।
मूलुत्तरगुणविसयं, चित्तमिणं वण्णियं समए ॥ २ ॥

प्रति प्रवृत्तिप्रतिकूलतया, आ मर्यादया, ख्यान प्रकथन प्रत्याख्यानम् । तथा नियमनं नियमः-हेयार्थेभ्य उपरमः । तथा चरति मोक्षं प्रति याति येन तच्चरित्रं, तच्च तद्धर्मश्चेति चरित्रधर्मः । चरित्रशब्देन श्रुतस्य व्यवच्छेदः । चशब्दः समुच्चये । भवन्ति वर्त्तन्ते, एकार्था अभिन्नार्थाः । निवृत्त्यभिधायकत्वादेते शब्दा इति गम्यते । मूलानीव चारित्रकल्पद्रुमस्य मूलान्युत्तरे च तस्यैव शाखाऽऽद्यवयववत् ये गुणास्ते विषयो गोचरो यस्य तन्मूलोत्तरगुणविषयम् । तत्र मूलगुणाः सर्वतो महाव्रतानि देशतश्चाणुव्रतानि । उत्तरगुणास्तु सर्वतः पिण्डविशुद्ध्यादयो, देशतश्च दिग्व्रताऽऽदयः । अथ वोत्तरगुणा दशविधप्रत्याख्यानमनागताऽऽदि नमस्कारसहिताऽऽदि वाऽऽगमप्रसिद्धम् । अत एव चित्र बहुप्रकारम्, इद प्रत्याख्यानम्, वर्णितं भणितम्, समये प्रत्याख्याननिर्युक्त्यादिसिद्धान्ते । इति गाथार्थः ॥ १ ॥ पञ्चा० ५ विव० ।

नामं ठवणा दविए, अ इच्छ पडिसेहमेव भावे अ ।
एए खलु छब्भेआ, पच्चक्खाणम्मि नायव्वा ॥ २ ॥

नामप्रत्याख्यान, स्थापनाप्रत्याख्यानम् । ( दविए त्ति ) द्रव्यप्रत्याख्यानम् (अदिच्छ त्ति) दातुमिच्छा दित्सा न दित्सा अदित्सा सैव प्रत्याख्यानम् अदित्साप्रत्याख्यानम् (पडिसेहे त्ति) प्रतिषेधप्रत्याख्यानम् । (एव भावे अ त्ति) एव भावप्रत्याख्यान च । एते खलु षड्भेदाः ( पच्चक्खाणम्मि नायव्वा । " इति गाथाऽक्षरं निगदसिद्धम् । अथ गाथासमुदायार्थः । अवयवार्थं तु यथावसरं वक्ष्याम । तत्र नामस्थापने गतार्थे । आव० ६ अ० ।

(३) अधुना द्रव्यप्रत्याख्यान प्रतिपादयन्नाह–

नामं ठवणा दविए, खित्ते अदिच्छा य भावओ तं च ।
नामाभिहाणमुत्तं, ठवणाऽऽगारत्थनिक्खेवो । ९६ ॥
दव्वम्मि निन्हगाई, निव्विसयाई अ होइ खित्तम्मि ।
भिक्खाईणमदाणे, अदिच्छ भावे पुणो दुविह ॥ ९७ ॥

इह प्रत्याख्यामीति वा प्रत्याचक्षे इति वा उत्तमपुरुषैकवचने द्वौ शब्दौ । तत्राऽऽद्य प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्दः प्रतिषेधे, आङ् आभिमुख्ये, 'ख्या' प्रकथने । प्रति किम् ?, आभिमुख्यं स्थापन सावद्ययोगस्य करोमि प्रत्याख्यामि । अथवा–'चक्षिङ्' व्यक्तायां वाचि । प्रतिषेधस्याऽऽदरेणाऽभिधान करोमि । प्रत्याचक्षे प्रतिषेधस्याऽऽख्यानम् । ( निव्विसयाई य होइ खेत्तम्मि ) निर्विषयाऽऽदि च भवति क्षेत्र इति । तत्र निर्विषय स्यादि-

छन्य कृतप्रत्याख्यानम्। आदिशब्दान्नगराऽऽदिप्रतिषेधपरिग्रहः। भिक्षाऽऽदीनामदाने ( अदिच्छ त्ति ) भिक्षणं भिक्षा प्रभृतिकोच्यते आदिशब्दाद्वस्त्राऽऽदिपरिग्रहः। तेषामदाने सति अदित्सेति वचने अदित्सेति प्रत्याख्यानम्। ( भावे पुण दुविह ति ) भाव इति द्वारपरामर्शः। भावप्रत्याख्यान पुनर्द्विविधम्-तत्र भावप्रत्याख्यानमिति-भावस्य सावद्ययोगस्य प्रत्याख्यान भावप्रत्याख्यान, भावतो वा शुभात्परिणामोत्पादात् भावहेतोर्निर्वाणार्थं वा भाव एव वा सावद्ययोगविरतिलक्षण प्रत्याख्यान भावप्रत्याख्यानम्। इति गाथार्थ ॥ ९७ ॥

साम्प्रत द्वैविध्यमेव दर्शयन्नाह-

सुअ नोसुअ सुअदुविहं, पुव्वमपुव्वं तु होइ नायव्वं ।
नोसुअपच्चक्खाणं, मूले तह उत्तरगुणे अ ॥ ९८ ॥

(सुअणोसुअ त्ति) श्रुतप्रत्याख्यान नोश्रुतप्रत्याख्यान च ( सुयदुविह ति ) श्रुतप्रत्याख्यान द्विविधम। द्वैविध्यमेव दर्शयति-( पुव्वमपुव्व तु होइ नायव्व ति ) पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानम्, अपूर्वश्रुतप्रत्याख्यान च भवति ज्ञातव्यमिति। तत्र पूर्वश्रुतप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानसञ्ज्ञित पूर्वमेव। अपूर्वश्रुतप्रत्याख्यान त्वातुरप्रत्याख्यानाऽऽदिकमिति। तथा-(नोसुयपच्चक्खाण ति) नोश्रुतप्रत्याख्यान च, श्रुतप्रत्याख्यानादित्यार्थ। (मूले तह उत्तरगुणे य त्ति) मूलगुणप्रत्याख्यानम्,उत्तरगुणप्रत्याख्यान च तत्र मूलगुणप्रत्याख्यान च देशसर्वभेदम्,देशत. श्रावकाणां, सर्वतस्तु सयतानामिति। इहाधिकृत सर्वम, सामायिकानन्तर सर्वशब्दोपादानादिति गाथार्थ ॥ ९८ ॥ इच च वृद्धसप्रदाय -" पच्चक्खाणे उदाहरण-रायधूयाए वरिसे मस न खायिय। पारणए अणेगाण जीवाण घाओ कओ,स हूहिं सबोहिया पव्वइया। पुव्व दव्वपच्चक्खाण, पच्छा भावपच्चक्खाणं जात।" इति कृत प्रसङ्गेन। प्रत्याख्यामीति व्याख्यातः सूत्रावयव.। आव० ६ अ०। आ० म०। हा०।

अथ सूत्राणि।

कइविहे णं भंते ! पच्चक्खाणे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते। तं जहा-मूलगुणपच्चक्खाणे य, उत्तरगुणपच्चक्खाणे य। मूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। त जहा-सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे य, देसमूलगुणपच्चक्खाणे य। सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं० जाव सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। देसमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं० जाव थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं। उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य, देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे य। सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते। त जहा-

" अणागयमइक्कतं, कोडीसहियं नियंटियं चेव ।
सागारमणागारं, परिमाणकडं निरवसेसं ॥ १ ॥
संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं भवे दसहा। "

देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा-दिसिव्वय, उवभोगपरिभोगपरिमाणं, अणत्थदण्डवेरमणं, सामाइय देसावगासियं, पोसहोववासो अतिहिसंविभागो, अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणता ॥ भ० ७ श० २ उ०।

द्रव्यप्रत्याख्यानम्-

दव्वनिमित्तं दव्व, दव्वभूओ उ तत्थ रायसुआ ।

द्रव्यनिमित्त प्रत्याख्यान वस्त्राऽऽदिद्रव्यार्थमित्यर्थ। यथा केषाञ्चित् क्षपकाणा तथा प्रत्याख्यान तथा भूम्यादौ व्यवस्थित करोति तथा द्रव्यभूतमुपयुक्तः स न करोति, त द्रव्यभीष्टफलरहितत्वाद्द्रव्यप्रत्याख्यानमुच्यते। तुशब्दाद् द्रव्यस्य द्रव्याणा द्रव्येण द्रव्यैरिति। क्षुण्णश्चाय मार्ग। ( तत्थ रायसुय ति ) अत्र कथानकम्-" एगस्स रन्नो धूता अण्णस्स रन्नो दिण्णा, सो य मओ, ताहे सा रण्णा पिउणा आणीया, धम्म पुत्ति ! करेहि त्ति भणिया, सा पासंडीण दाण देइ, अण्णया कत्तिओ धम्ममासो त्ति मस न खामि त्ति पच्चक्खाय। तत्थ पारणए दंडिएहिं अणेगाणि सतसहस्साणि मसत्थाए उवणीयाणि, ताहे भत्त दिज्जउ, जो भुजइ तस्स नाणाविहाणि मसाणि दिज्जति, तत्थ साधू अदूरे आलेत्ता निमंतिता, तेहिं भत्त गहियं, मस नेच्छति। सा रायधूया भणइ-किं तुब्भ न ताव कत्तियमासो पूरइ ?। ते भणति-जावज्जीवाए कत्तिओ त्ति। किं वा, कह था ?। ताहे ते धम्मकह कहेति, मंसदोसे परिकहेंति,पच्छा सबुद्धा पव्वइया। एव तीसे दव्वपच्चक्खाण पच्छा भावपच्चक्खाण जाय।" आव० ६ अ०। विशे०।

(४) अधुना अदित्साप्रत्याख्यान प्रतिपाद्यते, तत्रेद गाथार्द्धम्-

अदिच्छापच्चक्खाणं, बंभणसमणाण अस्सं ति ॥ ३ ॥

अदित्साप्रत्याख्यानम्-हे ब्राह्मण ! हे श्रमण ! अदित्सेति नाम दातुमिच्छा न तु नास्ति, यद्वस्तु याचित, तस्यादित्सैव वस्तुनःप्रतिषेधाऽऽदिमर्केति कृत्वा प्रत्याख्यानमिति गाथादलार्थ.।

अधुना प्रतिषेधप्रत्याख्यानव्याचिख्यासयेद गाथाशकलमाह-

अमुगं दिज्जउ मज्झ, नत्थि मम तं तु होइ पडिसेहो ।

अमुक घृताऽऽदि दीयता मह्यम। इतरस्त्वाह-नास्ति मम तदिति, न तु दातु नेच्छा, एष इत्थभूतो भवति प्रतिषेध., अयमपि वस्तुत. प्रत्याख्यानमेव प्रतिषेध एव प्रत्याख्यानम्।

( ५ ) इदानीं भावप्रत्याख्यान प्रतिपाद्यते तत्रेद गाथार्द्धम्-

सेसपयाण य गाहा, पच्चक्खाणस्स भावम्मि ।

शेषपदानामागमनोआगमेत्यादीनां साक्षादिहानुक्तानां प्रत्याख्यानस्य सबन्धिना गाथा, कार्येति वाक्यशेष। इह गाथा प्रतिष्ठोच्यते निश्चितिरित्यर्थ। "गाधृ" प्रतिष्ठालिप्सयोरिति धातुवचनात्। ( भावम्मि त्ति ) द्वारपरामर्श। भावप्रत्याख्याने इत्यर्थ। आव० ६ अ०।

अपेक्षा चाविधिश्चैवा-परिणामस्तथैव च ।
प्रत्याख्यानस्य विघ्नास्तु, वीर्याभावस्तथाऽपरः ॥ ७ ॥

अपेक्षा ऐहिकाऽऽमुष्मिकाथकाऽऽशसिका अविधिर्विधिव्यतिरेक

विधिश्चायम्-" गिण्हइ सय गिही य, काले विणएण सम्ममु-वउत्तो । अणुभासंतो पइव-त्थुजाणगो जाणगसगासे ॥ १ ॥" चशब्दौ समुच्चयार्थौ, एवकारोऽवधारणार्थः । तस्य चैव प्रयोग -अविधिरेव च, न तु विधेरपीत्यर्थ, तथा अपरिणामः-प्रत्याख्यानप्रतिपत्तौ निजश्रद्धारूपपरिणामाभावः । तथैव-यथा अपेक्षाऽऽद्यो भावप्रत्याख्यानविघ्नाः, तथैवायमपीति । चशब्द समुच्चये । प्रत्याख्यानस्य भावतो नियमस्य,विघ्नास्तु प्रतिघाता एव, द्रव्यप्रत्याख्यानहेतव एते अपेक्षाऽऽदय इत्यर्थः । वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमाऽऽदिसमुत्थो जीवपरिणाम ,तस्याभावो वीर्याभाव , तथेति यत्प्रकारा अपेक्षाऽऽदयस्तत्प्रकारः प्रत्याख्यानविघ्नोऽपरोऽन्य इति । अय च परिणामे सत्यपि प्रत्याख्यानापरिपालनहेतुत्वेन प्रत्याख्यानविघ्नो भवतीति ॥ २ ॥

अपेक्षाकृतप्रत्याख्यानं निष्फलत्वेनाप्रधानत्वाद् द्रव्यप्रत्याख्यानमित्यस्यार्थस्य प्रतिपादनायापेक्षां निन्दन्नाह-

लब्ध्याद्यपेक्षया ह्येत-दभव्यानामपि क्वचित् ।
श्रूयते न च तत्किञ्चि-दित्यपेक्षाऽत्र निन्दिता ॥ ३ ॥

लब्धिर्भोजनाऽऽदिलाभ आदिर्येषां यशःपूजाऽऽदीनां ते लब्ध्यादयः, तेषु तेषां वा अपेक्षा स्पृहा लब्ध्याद्यपेक्षा, तया, हिशब्दो यस्मादर्थः । एतत् प्रत्याख्यानम्,अभव्यानामपि सिद्धिगमनायोग्यानामपि, आस्तां भव्यानामित्यपिशब्दार्थः । क्वचिद् अवस्थान्तरे,यथाप्रवृत्तिकरणेन ग्रन्थिप्रदेशमागतानां, श्रूयते आगमे आकर्ण्यते । तथाहि-"असंजयभवियदव्वदेवाणं भंते ! देवलोएसु उववज्जमाणाणं कहिं उववाए पन्नत्ते ? । गोयमा ! जहन्नेण भवणवईसु, उक्कोसेणं उवरिमगेवेज्जेसु । " इह चासंयतभविकद्रव्यदेवा अभव्याः सन्तो ये देवत्वेन भाविनस्ते व्याख्याताः । तथा-" एगमेगस्स णं भंते ! मणूसस्स गेवेज्जगदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अईया ? । गोयमा ! अणंत त्ति । " द्रव्येन्द्रियाणि च त्वगादीनि शरीराणीति तात्पर्यम् । ग्रैवेयकोपपातश्च साधुलिङ्गेनैव, तत्र च प्रत्याख्यानमवश्यं भवतीति । आह च-" आणोहेणाणंता, मुक्का गेवेज्जगेसु उ सरीरा । न य तत्थासंपुन्ना-ए साहुकिरियाए उववाओ ॥१॥ " ततश्च किमित्याह-न च न पुनः, तदपेक्षाजनितप्रत्याख्यान, किञ्चिद्वस्तु मुमुक्षुविवक्षितमोक्षलक्षण स्वफलाप्रसाधकत्वात् । स्वफलप्रसाधकं हि वस्तु वस्तुत्वमाप्नोति, न पुनरन्यद्वन्ध्यासुतवदिति । इतिशब्दो हेत्वर्थः । ततश्च यतोऽपेक्षाकृतप्रत्याख्यानमफलमतोऽपेक्षा भावप्रत्याख्याने विघ्नभूता, अत्र प्रत्याख्यानविषये, जिनशासने वा, निन्दिता गर्हितेति ॥ ३ ॥

अथ विधेर्भावप्रत्याख्यानविघ्नतामाह-

यथैवाऽविधिना लोके, न विद्याग्रहणाऽऽदि यत् ।
विपर्ययफलत्वेन, तथेदमपि भाव्यताम् ॥ ४ ॥

यथैव येनैव प्रकारेण,अविधिना अविधानेन प्रसिद्धेन, लोके सामान्यजने,विद्याग्रहणाऽऽदि विद्यामन्त्रोपादानाऽऽदि,यत् किमपि यच्छब्दस्येह दर्शनात्तदित्यस्य च गम्यमानत्वान्न नैव तद्विद्याग्रहणाऽऽदिकं भवति,स्वं स्वभावं न लभत इत्यर्थः । कथमित्याह-विपर्ययेण वाञ्छितफलविपर्यासेन, फलं यस्य तद्विपर्ययफलं,तद्भावस्तत्त्वं तेन, मरणादिफलत्वेनेत्यर्थः । दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-तथा तेनैव प्रकाऽऽरेण, अप्रत्याख्यानत्वेनेत्यर्थः । इदमपि अविधिकृतप्रत्याख्यानमपि, भाव्यतां निरूप्यतामिति । प्रयोगश्चैवम्-अविधिप्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानमेव, विपर्ययफलत्वात् । यद्यद्विपर्ययफलं तत्तन्न भवति अविधिप्रत्याख्यानमतः प्रत्याख्यानं न भवतीति ॥ ४ ॥

अपरिणामकृतप्रत्याख्यानस्य द्रव्यप्रत्याख्यानतामाह-

अक्षयोपशमात् त्याग-परिणामे तथा सति ।
जिनाऽऽज्ञाभक्तिसंवेग-वैकल्यादेतदप्यसत् ॥ ५ ॥

क्षय उदीर्णस्य विरत्यावारककर्मणो विनाशः, तेन सहोपशमस्तस्यैवानुदीर्णस्य विपाकोदयापेक्षया विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः,तन्निषेधादक्षयोपशमात्, त्यागपरिणामे प्रत्याख्येयवस्तुविवेकपरिणतौ, तथा तेन प्रकारेण देशसर्वविरतिनमस्कारसहिताऽऽदिप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिलक्षणेन,असति अविद्यमाने । अनेन देशसर्वविरतिप्रत्याख्यानयोस्तथा तद्वतोरेव गृहस्थश्रमणयोर्नमस्कारसहिताऽऽद्युत्तरगुणप्रत्याख्यानस्य च द्रव्यतोक्ता । अथवा-तथेति यथाविधक्षयोपशमे सति त्यागपरिणामो भवति, तथाविधे त्यागपरिणामे असति । एतेन चाविरतसम्यग्दृष्टीनां वासुदेवाऽऽदीनामभव्याऽऽदीनां च प्रत्याख्यानस्य द्रव्यतोक्ता । अथ कथञ्चित् प्रत्याख्येयवस्तुत्यागपरिणामेऽपि सत्यभव्याऽऽदेः कथं द्रव्यप्रत्याख्यानतेत्याशङ्क्याऽऽह-जिनाऽऽज्ञायामाप्ताऽऽगमे भक्तिर्बहुमानो जिनाऽऽज्ञाभक्तिः,सा च संवेगश्च मोक्षाभिलाषो जिनाऽऽज्ञाभक्तिसंवेगौ जिनाऽऽज्ञाभक्तेर्वा सकाशात्संवेगो जिनाऽऽज्ञाभक्तिसंवेग ,तयोस्तस्य वा वैकल्यं विरहितत्वं जिनाऽऽज्ञाभक्तिसंवेगवैकल्यम्,तस्मात् । एतदुक्तं भवति-अभव्याऽऽदीनां त्यागपरिणामस्य संवेगाऽऽदिविकलतया अपरिणामत्वात्तद् द्रव्यप्रत्याख्यानमिति । एतदपि न केवलमविधिप्रत्याख्यानमपरिणामप्रत्याख्यानमपि, असत् अशोभनं, भावप्रत्याख्यानापेक्षया अप्रधानं द्रव्यप्रत्याख्यानमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ वीर्याभावस्य द्रव्यप्रत्याख्यानहेतुतामाह-

उदग्रवीर्यविरहात्, क्लिष्टकर्मोदयेन यत् ।
बाध्यते तदपि द्रव्य-प्रत्याख्यानं प्रकीर्तितम् ॥ ६ ॥

उदग्रमुत्कटं यद्वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमसंपन्नाऽऽत्मपरिणामलक्षणं, तस्य विरहो विच्छेद उदग्रवीर्यविरहः,तस्माद्धेतोः, क्लिष्टकर्मोदयेन तीव्रवीर्यान्तरायाऽऽदिकर्मविपाकेन कर्तृभूतेन, यत् प्रत्याख्यानं प्रतिपन्नमपि सद् बाध्यतेऽभिभूयते, वीर्योल्लासेन हि जीवः क्लिष्टं कर्म शमयति तदभावे च क्लिष्टकर्मोदयो भवति । तेन च प्रत्याख्यानं बाध्यत इति वीर्याभावः प्रत्याख्यानबाधने हेतुः । अथवा-क्लिष्टकर्मोदयेन यो वीर्याभावस्तस्मात् प्रत्याख्यानं यद्बाध्यते जीवेनेति, तदपि न केवलमविधिप्रत्याख्यानं वीर्याभावप्रत्याख्यानमपि, द्रव्यप्रत्याख्यानमुक्तलक्षणं,प्रकीर्तितं तत्त्ववेदिभिः, अन्यैस्तु व्याख्यातं कालान्तरेण भावप्रत्याख्यानकारणत्वात् द्रव्यत्वम्, अस्य सकृत्सञ्जातो हि भावान्तरं जनयति । यदाह-" सइसंजाओ भावो, पायं भावंतरं जओ कुणइ । " इति । इह च द्रव्यशब्दो योग्यतावाची द्रष्टव्य इति ॥ ६ ॥ उक्तं द्रव्यप्रत्याख्यानम् ।

अथ भावप्रत्याख्यानमाह-

एतद्विपर्ययाद्भाव-प्रत्याख्यानं जिनोदितम् ।
सम्यक् चारित्ररूपत्वा-न्नियमान्मुक्तिसाधनम् ॥ ७ ॥

एतद्विपर्ययादपेक्षाऽऽदिकृतप्रत्याख्यानविपर्यासात्, अनपेक्षा-

ऽऽदिकृतमित्यर्थः, भावप्रत्याख्यानमुक्तशब्दार्थं, भवतीति गम्यम् । किंभूतम् ?-जिनोदितम्-आप्ताभिहितम् । इह च प्रयोगः-यद्यस्य विपर्ययभूतं तत्तस्याभावेऽवश्यं भवति । यथा-छायाया अभावे सत्यातपः,द्रव्यप्रत्याख्यानविपर्ययभूतं च भावप्रत्याख्यानमिति द्रव्यप्रत्याख्यानाभावेऽवश्यं भवति प्रत्याख्यानसामान्ये सतीति । तच्च भावप्रत्याख्यानं किंफलमित्याह-नियमादवश्यंभावेन मुक्तिसाधनं मोक्षकारणं साक्षात् पारम्पर्येण वा कुत इत्याह-सम्यक् चारित्ररूपत्वाच्छोभनचरणस्वभावत्वात्तथाभूतध्यानाऽऽदियोगवदिति दृष्टान्त ऊह्य इति ॥ ७ ॥

द्रव्यप्रत्याख्यानं किमनर्थकमेव ?, नेत्याह-

जिनोक्तमितिसद्भक्त्या, ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः ।
बाध्यमानं भवेद्भाव-प्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥ ८ ॥

इहैवमक्षरघटना-अदः एतत् प्रत्याख्यानं, ग्रहणे उपादाने, द्रव्यतोऽपि न केवलं भावतः, अपेक्षाऽऽदियोगेन द्रव्यतो गृहीतमपीत्यर्थः, भवेद्भावप्रत्याख्यानस्य कारणमिति योगः । कथंभूतं सदित्याह-जिनोक्तमाप्तप्रणीतमिति । एवमुल्लेखवती या सती शोभना प्रशस्ता भक्तिर्बहुमानविशेषः सा जिनोक्तमितिसद्भक्तिः,तया । अथवा-जिनोक्तमिति हेतौ ,शेषं तथैव । बाध्यमानं निराक्रियमाणं, भवेत् स्यात् । भावप्रत्याख्यानस्य परमार्थप्रत्याख्यानस्य,कारणं निमित्तं,जिनोक्तमिति सद्भक्तिर्हि द्रव्यप्रत्याख्यानहेतूनामपेक्षाऽऽदिभावानां विरुद्धा, अतो यत्र सा स्यात् तेषां निवृत्तेर्भावप्रत्याख्यानी भवति, न सर्वमेवेति भावनेति ॥ ८ ॥ हा० ८ अष्ट० । सूत्र० । आव० ।

(६) तं दुविहं सुअ नोसुअ,सुअं दुहा पुव्वमेव नोपुव्वं ।
पुव्वसुअ नवमपुव्वं, नोपुव्वसुअं इम चेव ॥ ५ ॥

तच्च प्रत्याख्यानं द्विविधं द्विप्रकारम्-( सुय नोसुयं ति )श्रुतप्रत्याख्यानं नोश्रुतप्रत्याख्यानं च । श्रुतप्रत्याख्यानं द्विधा भवति-पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं, नोपूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं च । ( पुव्वसुय नवमपुव्व) पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं नवमपूर्वं, प्रत्याख्यानपूर्वमित्यर्थः । (नोपुव्वसुय इम चेव) नोपूर्वश्रुतप्रत्याख्यानाध्ययनमिति । एतच्चोपलक्षणमन्यच्चाऽऽतुरप्रत्याख्यानाऽऽदि पूर्वबाह्यमिति गाथार्थः ॥५॥

अधुना नोश्रुतप्रत्याख्यानप्रतिपादनायाऽऽह-

नोसुअपच्चक्खाणं, मूलगुणा चेव उत्तरगुणे अ ।
मूले सव्वं देसं, इत्तरियं आवकहिअं च ॥ ६ ॥

मूलगुणा वि अ दुविहा, समणाणं चेव सावयाणं च ।
ते पुण विभज्जमाणा, पचविहा हुंति नायव्वा ॥ ७ ॥

( नोसुयपच्चक्खाणं ति ) श्रुतप्रत्याख्यानं न भवति नोश्रुतप्रत्याख्यानम् (मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ) मूलगुणोत्राधिकृतस्योत्तरगुणाश्च मूलभूता गुणाः,त एव प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्तिरूपत्वात् प्रत्याख्यानं वर्त्तते । उत्तरभूता गुणास्त एवाऽशुद्धपिण्डनिवृत्तिरूपत्वात्प्रत्याख्यानं,तद्विषयं वा अनागताऽऽदि वा दशविधमुत्तरगुणप्रत्याख्यानम् । (मूले सव्वे देसे त्ति) मूलगुणप्रत्याख्यानं द्विधा-सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानं,देशमूलगुणप्रत्याख्यानं च । सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानं पञ्च महाव्रतानि, देशमूलगुणप्रत्याख्यानं पञ्चाणुव्रतानि । इदं चोपलक्षणं वर्त्तते, यतः उत्तरगुणप्रत्याख्यानमपि द्विधैव-सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं, देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानं च । तत्र सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं दशविधम्-"अणागयमइक्कंत" इत्यादु परिष्टाद्वक्ष्याम । देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानं सप्तविधम् त्रीणि गुणव्रतानि,चत्वारि शिक्षाव्रतान्यप्यूर्ध्वं वक्ष्यामः । पुनरुत्तरगुणप्रत्याख्यानमोघतो द्विविधम्-"इत्तरियमावकहियं ।" यदित्वरं साधूनां किञ्चिदभिग्रहाऽऽदि,श्रावकाणां तु चत्वारि शिक्षाव्रतानि । यावत्कथिकं तु नियन्त्रितं यत्कान्तारदुर्भिक्षाऽऽदिष्वपि न भज्यते,श्रावकाणां तु त्रीणि गुणव्रतानीति गाथार्थः ।

साम्प्रतं स्वरूपतः सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानमुपदर्शयन्नाह-

पाणवह मुसावाए, अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।
समणाणं मूलगुणा, तिविहं तिविहेण नेयव्वा ॥ ८ ॥

प्राणा द्वीन्द्रियाऽऽदयः । तथा चोक्तम्-"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥१॥" तेषां वधः प्राणवधो जीववधः, तस्मिन्, मृषावदनं मृषावादस्तस्मिन्, असदभिधान इत्यर्थः । (अदत्त त्ति) उपलक्षणत्वाददत्ताऽऽदाने परस्वापहारे इत्यर्थः । ( मेहुण त्ति ) मैथुनमब्रह्मासेवने ( परिग्गहे चेव त्ति ) परिग्रहे चैव । एतेषु विषयभूतेषु श्रमणानां साधूनां मूलगुणाः प्रथमगुणास्त्रिविधत्रिविधेन योगत्रयकरणत्रयेण नेतव्या अनुसरणीयाः । इयमत्र भावना-श्रमणः प्राणातिपाताऽऽदिविरतिं त्रिविधं त्रिविधेन "तत्थ तिविहे त्ति-न करेइ न कारवेइ न करेंतं पि अन्नं समणुजाणइ, तिविहेण त्ति मणेणं, वायाए, काएणं ।" एवमन्यमपि योजनीयमिति गाथार्थः ॥ ८ ॥ अथ तावदुपदर्शितं सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानम् ।

अधुना देशमूलगुणप्रत्याख्यानावसरः,तच्च श्रावकाणां भवतीतिकृत्वा विनेयानुग्रहाय तद्धर्मविधिरेवौघतः प्रतिपादनीयः । आव० ४ अ० । आ० चू० । ध० ।

तत्र प्रत्याख्यानद्वारे मूलगुणप्रत्याख्यानोदाहरणमाह-

कोमीवरिसे चिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणा य ।
साएए सत्तुंजय-वीरे कहणा य सबोही ॥ १ ॥

"साकेतनगरे क्षीण-शत्रुः शत्रुञ्जयो नृपः ।
जिनदेवः श्रावकोऽगा-त्कोटीवर्षपुरेऽर्जितुम् ॥ १ ॥
तत्रानार्यश्चिलातो राट्, तस्य रत्नान्यढौकयत् ।
विस्मितस्तैश्चिलातोऽथ, क्वैतानीति तमब्रवीत् ॥ २ ॥
जिनदेवोऽन्यधादस्म-द्राज्ये सन्ति बहून्यपि ।
सोऽप्यधाद्यद्दमप्येमि, तत्र रत्नानि वीक्षितुम् ॥ ३ ॥
पर बिभेमि ते राज्ञो, मा भैषीरिति सोऽब्रवीत् ।
तेन विज्ञप्तिका प्रैषि, राज्ञस्तेनोक्तमेत्वसौ ॥ ४ ॥
श्रावकेण स आनिन्ये, तदानीं च जिनेश्वर ।
श्रीवीरः समवासार्षी-त्तत्र शत्रुञ्जयो नृपः ॥ ५ ॥
सर्वर्द्ध्या निर्ययौ नन्तु, पौराश्च सपरिच्छदाः ।
जिनदेव चिलातोऽधा-त्क्वैत कुतैत्यय जनः ? ॥ ६ ॥
रत्नानि सोऽवादी-त्ततो द्वावपि तौ गतौ ।
दृष्ट्वा समवसरणं, चिलातोऽतीव विस्मितः ॥ ७ ॥
प्रभु प्रणम्य रत्नानि, पप्रच्छाथ सविस्तरम् ।
तस्याऽऽख्यद्द्रव्यरत्नानि, भावरत्नानि च प्रभुः ॥ ८ ॥
आद्यं सामायिकं सार, सच्चतुर्विंशतिस्तवम् ।
तार्तीयीकं वन्दनकं, प्रतिक्रमणसञ्ज्ञकम् ॥ ९ ॥
कायोत्सर्गस्तथा प्रत्या-ख्यानं रत्नानि भावतः ।

तेन पत्रावयुक्तानि, गृहाणाऽऽत्मविभूषणम् ॥ १० ॥
विलातः प्रतिबुद्धोऽथ, प्रावरत्नान्ययाचत ।
महाघ्रतानि रत्नानि, स्वामी तस्य ततो ददौ ॥ ११ ॥ "

उत्तरगुणप्रत्याख्यानोदाहरणमाह-

वाणारसी अ नयरी, अणगारे धम्मघोसधम्मजसे ।
मासस्स य पारणए, गोउलगंगाइअणुकंपा ॥ १ ॥

" वाराणस्यां चतुर्मासीं, धर्मघोषमुनिः स्थितः ।
तथा धर्मयशाश्चान्यौ द्वौ, मासान्मासाच्च भोजिनौ ॥ १ ॥
तुर्यपारणकस्याह्नि, मा भूव नित्यवासिनौ ।
कृत्वा सूत्रार्थपौरुष्यौ, निरगातां महात्मपी ॥ २ ॥
शारदेनाऽऽतपेनाथा-भ्याहतौ बाधितौ तृषा ।
आहर्यमुत्तरन्तौ तौ, मनसाऽप्यम्बु नैच्छताम् ॥ ३ ॥
गङ्गा दृष्ट्वावृता तीरे, घोषान्निर्माय वैक्रियान् ।
आजुहवती भिक्षार्थं, दृष्ट्वा तामुपयुज्य च ॥ ४ ॥
ज्ञात्वा सूरी निराकृत्य, प्रस्थितावथ देवता ।
स्वेऽनुकम्पया वर्षां, वार्दलैर्भूमिशीतिना ॥ ५ ॥
शीतो वातश्च तैराप्या-यितौ तौ ग्राममीयतुः ।
भिक्षा तत्राऽऽददे ताभ्यां, नैवोत्तरगुणाः कृताः ॥ ६ ॥"
आ० क० ४ अ० ।

(७) श्रावकधर्मः-

सावगधम्मस्स विहिं, वुच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं ।
जं चरिऊण सुविहिआ, गिहिणो वि सुहाइँ पावंति ॥ ६ ॥

सम्प्राप्तसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवस यतिभ्यः साधूनामनगारिणां सामाचारीं शृणोतीति श्रावक इति । उक्तं च-" यो ह्यभ्युपेत. सम्यक्त्वे, यतिभ्य प्रत्यह कथाम् । शृणोति धर्मसम्बद्धा-मसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥ " श्रावकाणां धर्मः श्रावकधर्मः,तस्य विधिः,तं च वक्ष्येऽभिधास्ये,किंभूतम् ?, धीरपुरुषप्रज्ञप्तं महासत्त्वमहाबुद्धितीर्थकरगणधरप्ररूपितमित्यर्थः, तं चरित्वा सुविहिताः गृहिणोऽपि सुखान्यैहिकाऽऽमुष्मिकाणि प्राप्नुवन्तीति गाथार्थः ।

तत्र-

इह योऽसौ कश्चनाभिग्रहं गृह्णाति,स ह्येवंविध द्विविधमिति कृतकारी,तत्त्रिविधेनेति मनसा वाचा कायेनेति । एतदुक्तं भवति-स्थूलप्राणातिपात न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्यैर्मनसा वाचा कायेनेति प्रथमः, अस्यानुमतिरप्रतिषिद्धा,अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात्,तद्व्यापत्तिकरणे च तस्यानुमतिप्रसङ्गात्,इतरथा सपरिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजितयोरभेदापत्तेरिति भावना । अत्राऽऽह-ननु भगवत्यादावागमे त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यानमुक्तमगारिणस्तच्च वस्तुनोक्तत्वादनवद्यमेव,तदिह कस्मान्नोक्तं निर्युक्तिकारेणेति । अत्रोच्यते-तस्य विशेषविषयत्वात् । तथाहि-किल यः प्रविव्रजिषुरेव प्रतिमां प्रतिपद्यते पुत्राऽऽदिसन्ततिपालनाय,स एव त्रिविधत्रिविधेनेति करोति,तथा विशेष्य वा किञ्चिद्वस्तु स्वयम्भूरमणमत्स्याऽऽदिकं,तथा स्थूलप्राणातिपाताऽऽदिकं चेत्यादि,न तु सकलसावद्यव्यापारविरमणमधिकृत्येति । ननु च निर्युक्तिकारेण स्थूलप्राणातिपाताऽऽदावपि त्रिविध त्रिविधेनेति नोक्तो विकल्प, "धीरवयणम्मि एते,बत्तीस सावया भणिया ।" इति वचनात्,अन्यथा पुनरधिका स्युरिति । अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, किं तु बाहुल्यपक्षमेवाङ्गीकृत्य निर्युक्तिकारेणाऽभ्यधायि, तत्पुनरवस्थाविशेषे कदाचिदेव समाचर्यते,न सुष्ठु साधुसामाचार्यनुपाति, तत्रोक्त बाहुल्येन तु द्विविधं ( घोयओ इति)द्विविधमिति स्थूलप्राणातिपात न करोति,न कारयति द्विविधेनेति मनसा वाचा । यद्वा मनसा कायेन । यद्वा-कायेन वाचा । इह च प्रधानोपसर्जनभावविवक्षायां चार्थो वाऽऽशय , तत्र यदा मनसा वाचा त्रिविधेनेत्यादिभिरेव षड्भिर्विकल्पैः सर्वस्यागारिणः सर्वमेव प्रत्याख्यानं भवतीति न कश्चिद्दोष इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः-( दुविहं दुविहेण ) न करोति न कारयति,तन्मनसाऽभिसन्धिरहित एव, वाचाऽपि सहिंसकमथ नैव कायेनैव कायेन दुश्चेष्टिताऽऽदि न करोत्यसमञ्जसम् । यदा तु मनसा कायेन च न करोति न कारयति तदा मनस्यैवाभिसन्धिमधिकृत्य करोत्यनुमतिश्चाभिरपि भवत्येवास्तीति भावना । एवं शेषा विकल्पा अपि भावनीया इति । ( दुविहमेगविहेण ति ) द्विविधमेकविधेन, एकविधं चैव त्रिविधेनेति गाथार्थः । ( एग विहदुविहे त्ति ) एकविधद्विविधेन ( एगविहेन छट्ठओ होइ ) एकविधमेकविधेन षष्ठो भवति भेद । ( उत्तरगुणसत्तमओ ) प्रतिपन्नोत्तरगुण सप्तमः । इह च सम्पूर्णासम्पूर्णोत्तरगुणभेदमनादृत्य सामान्येनैक एव भेदो विवक्षित । ( अविरयओ अट्ठमओ त्ति ) अविरतश्चैवाष्टम इति अविरतसम्यग्दृष्टिरिति गाथार्थः ।

अथवोत्तरगुणाँश्च गुणवताऽऽदिलक्षणान् गृह्णाति, केवलसम्यग्दर्शनिना सह द्वात्रिंशद्भवन्ति । तथा चाऽऽह-( अहवा वि न गेण्हई ते वि ) अथवा न गृह्णाति तानप्युत्तरगुणानिति केवलसम्यग्दृष्टिरेवेति गाथार्थः ।

इह च पुनर्मूलगुणोत्तरगुणानामाधारसम्यक्त्वं वर्त्तते । तथा चाऽऽह-

निस्संकिअ निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ ।
वीरवयणम्मि एए, बत्तीसं सावया भणिआ ॥ १४ ॥

शङ्काऽऽदिस्वरूपमुदाहरणद्वारेणोपरिष्टाद्वक्ष्यामः । वीरवचने भगवन्महावीरवर्द्धमानस्वामिप्रवचने, एते अनन्तरोक्तद्वात्रिंशदुपासकाः श्रावका भणिता उक्ता इति गाथार्थः । "एए चेव बत्तीस तिविहा-करणतियजोगतियकालतिएण य वि सेसिज्जमाणा सीयाल समणोवासगस्स य भवंति । कह ?,पाणाइवाय न करेइ मणसा १, अहवा-पाणातिवात न करेइ वायाए २, अहवा पाणातिवाय न करेइ काएण ३, अहवा-पाणातिवाय न करेइ मणेण वायाए य ४, अहवा-पाणातिपात ण करेति मणेण काएण य ५, अहवा-पाणातिवाय न करेइ वाया काएण य ६, अहवा-पाणातिपात न करेइ मणेण वायाए काएण य ७ । एते सत्त भगा करणेण । एव कारवणेण वि एते चेव सत्त भगा ७ ॥ १४ ॥

अणुमोयणेण वि सत्त भगा २१। अहवा-न करेइ न कारवेइ मनसा १, अहवा-न करेइ न कारवेइ वयसा २, अहवा-न करेइ न कारवेइ काएण ३,अहवा-न करेइ न कारवेइ मनसा वयसा ४, अहवा-न करेइ न कारवेइ मनसा कायेन ५, अहवा-न करेइ न कारवेइ वयसा कायेन ६ । अहवा-न करेइ न कारेइ मनसा वयसा कायेन ७ । एते करणकारणेहिं सत्त भगा । एव कारणाणुमोयणेहिं वि सत्त भगा ७ । एव कारवणअणुमोयणेहिं वि सत्त भगा ७ । एव कारणाणुमोयणेहिं वि सत्त भगा ७ । एवमेते सत्त सत्त भगा एगूणपन्नासविगप्पा भवति । तत्थ इमो एगूणपन्नासमो विगप्पो-पाणातिवाय न करेइ, न कारवेइ, करत पि अन्न न समणुजाणाति । मणेण वायाए काएण ति,एस अंतिमविगप्पो ।४९। पडिमापडिवन्नस्स समणोवासगस्स तिविह तिविहेण भवंतीति । एव अतीताए काले पडिक्कमतस्स एगूणपन्नासा भवति । एव पडुप्पन्ने वि काले एगूणपन्नासा भवति। एव अणागते च काले पच्चक्खे य तस्स एगूणपन्नासाओ, तिन्नि ॥ १४ ॥

सीआलं भगसयं, पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।
सो खलु पच्चक्खाणे,कुसलो सेसा अकुसला उ ॥१५॥
तिन्नि तिआ तिन्नि दुआ, तिन्निक्किक्का य हुंति जोगेसु ।
ति दु एगं ति दु एगं, ति दु एगं चेव करणाइं ॥१६॥
पढमे लब्भइ एगो,सेसेसु पएसु तिअ तिअ तिअं ति ।
दो नव तिअ दो नवगा, तिगुणिअसीआलभंगसयं ॥१७॥

सीयाल सावयसय इच्च सीयालभगसतग जस्स विसोहीए होइ उवलद्ध, सो खलु पच्चक्खाणे अकुसलओ एय पुण पचहिं अणुव्वयेहिं गुणिय सत्त सयाणि सावयाणि भवति । अहवा-अणुव्वए चेव पडुच्च एकगादिसजोगदुवारेण पभूततरा भेदा निदसिज्जति ।" तत्रेयमेकाऽऽदिसयोगपरिमाणप्रदर्शनपराऽन्यकर्तृकीगाथः । आव० ६ अ० ।

अथेद प्रत्याख्यान यतिगृहस्थयोर्भेदेन व्यवस्थापयन्नाह-

करणतिगेणेक्केकं, कालतिगे तिघणसंखियमिसीणं ।
सव्वं ति जओ गहियं, सीयालसय पुण गिहीणं ॥३५४०॥

अत्र न करोमि न कारयामि इत्यादिकमेकैक योग मनःप्रभृतिना करणत्रयेण सह कालत्रिके चारयेत् । ततश्च त्रयाणां यो घनः सप्तविंशतिलक्षण ,तत्सख्यक भङ्गकसख्यामाश्रित्य तत्सख्याप्रमाणमृषीणां साधूनाम्,अवबुध्यते इति शेष ।कस्माद्?,इत्याह यतः सर्वं सावद्य योग प्रत्याख्यामि, इति साधोः प्रत्याख्यान गृहीत, ततस्तत्प्रत्याख्यानभङ्गकानामेतत्सख्याप्रमाणता, असर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यायिना पुनर्गृहिणा प्रत्याख्यानस्य सप्तचत्वारिंशदधिक भङ्गकशत विज्ञेयमिति । इयमत्र भावना-त्रिविध त्रिविधेनेत्यनेन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानादर्थत साधुप्रत्याख्यानस्य सप्तविंशतिर्भङ्गाः सूचिताः । ते चैव भवन्ति-यन्न करोति तन्मनसा वाचा कायेन, एव न कारयत्यपि मनसा वाचा कायेन, एव न समनुजानीते च मनसा वाचा कायेन इत्येव वर्त्तमानकाले नव भङ्गा भवन्ति, एवमतीतेऽपि नव भविष्यन्ति, भविष्यत्यपि नव, इत्येव सप्तविंशतिभङ्गा साधुप्रत्यख्यानस्य भवन्ति । गृहिणस्तर्हि कथ सप्तचत्वारिंश भङ्गकशतमिति चेद् ?। उच्यते-गृही सावद्य योग न करोति, न कारयति, नान्य समनुजानीते, मनसा वाचा कायेन चेत्येको भङ्ग १, अथवा-न करोति न कारयति नानुजानीते मनसा वचसा च २, अथवा मनसा कायेन च ३, अथवा-वचसा कायेन च ४, अथवा-न करोति न कारयति नानुजानीते मनसा ५, अथवा-वचसा ६, अथवा-कायेन ७, अथवा न करोति न कारयति मनसा वाचा कायेन ८, अथवा-न करोति नानुजानीते त्रिभिरपि करणैः ९, अथवा-न कारयति नानुजानीते त्रिभिरपि करणैः १०, अथवा-न करोति न कारयति मनसा वचसा ११, अथवा मनसा कायेन च १२, अथवा-वचसा कायेन च १३, अथवा-न करोति नानुजानीते मनसा वचसा १४, अथवा -मनसा कायेन १५, अथवा -वचसा कायेन १६, अथवा--कारयति नानुजानीते मनसा वचसा १७, अथवा-मनसा कायेन १८, अथवा-वचसा कायेन १९, अथवा-न करोति न कारयति मनसा २०, अथवा--वचसा २१, अथवा-कायेन २२, अथवा न करोति नानुजानाति मनसा २३, अथवा वचसा २४, अथवा कायेन २५, अथवा-न कारयति मनसा २६, अथवा वचसा २७, अथवा कायेन २८, अथवा-न करोति मनसा वचसा कायेन २९,अथवा न कारयति ३०,अथवा नानुजानीते ३१,अथवा-न करोति मनसा वचसा ३२,अथवा-मनसा कायेन ३३, अथवा-वचसा कायेन ३४,अथवा न कारयति मनसा वचसा ३५, अथवा मनसा कायेन ३६, अथवा-वचसा कायेन ३७, अथवा नानुजानीते मनसा वचसा ३८, अथवा मनसा कायेन ३९, अथवा-वचसा कायेन ४०, अथवा-न करोति मनसा ४१, अथवा वचसा ४२ अथवा-कायेन ४३, अथवा-न कारयति मनसा ४४, अथवा-वचसा ४५, अथवा-कायेन ४६, अथवा-नानुजानीते मनसा ४७, अथवा-वचसा ४८, अथवा-कायेन ४९ , एवमेते वर्त्तमानकाले एकोनपञ्चाशद्भङ्गा दर्शिताः, एवमतीते भविष्यति च प्रत्येकमेते द्रष्टव्याः ।

ततः सर्वेऽपि सप्तचत्वारिंशं शतं भङ्गानां भवति । अत्र चायं भावार्थः-

" तिविहं तिविहेण पढमो, तिविहं दुविहेण बीअओ होइ ।
तिविहं एक्कविहेणं, दुविहं तिविहेण तिं चउत्थो ॥ १ ॥
दुविहं दुविहेण पंचम, दुविहेक्कविहेण छट्ठओ होइ ।
एक्क (ग) विहं तिविहेणं, दुविहेण य सत्तमट्ठमओ ।
एक्कविहमेक्कविहेण, नवमो पढमम्मि, एक्कगो य ।
सेसेसु तिन्नि तिन्नि य, तिन्नि य नव नव य तह तिन्नि ॥३॥
नव नव य हौंति कमसो, एए सव्वे वि एगुणव्वन्ना ।
कालतिएण गुणिया, सीयालसयं तु भगाण ॥ ४ ॥
आह कहं पुण मणसा, करणं कारावणं अणुमई य ।
जह वइतणुजोगेहिं, करणाइ तह भवे मणसा ॥ ५ ॥
तदहीणत्ता वयतणु--करणाईणमहव मणकरणं ।
सावज्जजोगमणणं, पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ ६ ॥
कारवण पुण मणसा, चिंतेइ कारओ,एस सावज्ज ।
चिंतेइ ज च करओ, सुट्ठु कयं अणुमई होइ ॥ ७ ॥ "

इत्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु प्रज्ञप्त्यादिग्रन्थाः समनुसरणीया इति ॥ ३५४० ॥

एते च भङ्गा यस्यार्थेनोऽवगता. स एव सामायिकप्रत्याख्यानकुशल इति दर्शयन्नाह-

सीयालं भंगसयं, पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।
सो सामाइयकुसलो, सेसा सव्वे अकुसला उ ॥३५४१॥

गतार्था ॥ ३५४१ ॥

अत्र त्रिविधं त्रिविधेनेति गृहस्थप्रत्याख्यानस्य प्रथम प्रक्रमाश्रित्याऽऽक्षेपपरिहारावाह-

केई भणंति गिहिणो, तिविहं तिविहेण त्ति संवरणं ।
तं न जओ निद्दिट्ठं, पन्नत्तीए विसेसेउं ॥ ३५४२ ॥
तो कह निज्जुत्तीए-ऽणुमइनिसेहो त्ति सो सविसयम्मि।
सामन्नेणऽन्नत्थ उ,तिविहं तिविहेण को दोसो?॥३५४३॥
पुत्ताइसंतइनिमि-त्तमित्तमेक्कारसिं पवन्नस्स ।
जंपंति केइ गिहिणो,दिक्खाभिमुहस्स तिविहं ति॥३५४४॥

एता· तिस्रोऽपि पूर्वमुपोद्धाते " किं कइविहं " इत्यादिगाथायां कस्य सामायिकं भवतीतिद्वारे विस्तरेण व्याख्याता एव, नवरं सामान्येन स्वविषयबहिर्भागे चिन्तामुत्सृज्य प्रत्याख्याने क्रियमाणे निर्युक्तावनुमतिनिषेध उक्त·,अन्यत्र तु विशेषतो विषयबहिर्भागे त्रिविधं त्रिविधेनेति न दोष इति ।

अपरस्त्वाह--

जुत्तं संपयमिस्सं, संवरणं कहमतीयविसयं तु ।
कहमउणवन्नभेयं, कए व न कहं मुसावाओ ? ॥३५४५॥

युक्त साम्प्रतैष्यतो· कालयो· सावद्ययोगस्य सवरण प्रत्याख्यान, तयोस्तस्याऽद्याप्यनासेवितत्वात् । अतीतकालविषय तु तत्कथ युक्तम्?, पूर्वमेव तस्याऽऽसेवितत्वात् । कथं च तदतीतसावद्ययोगप्रत्याख्यानमेकोनपञ्चाशद्भेदं वक्तु युज्यते, सूत्रत एवासंभवात्?, कृते वा तस्मिन्नतीतसावद्यप्रत्याख्याने कथं न मृषावाद·, असद्भूतविषयत्वादिति ? ॥ ३५४५ ॥

अत्र परिहारमाह-

निंदणमईयविसयं, न करेमिच्चाइभणओऽभिहियं ।
अणुमइसंवरणं वाऽ-तीतस्स करेमि जं भणियं ॥३५४६॥

अतीतसावद्ययोग न करोमि न कारयामीत्यादिवचनतोऽतीतकृतसावद्ययोगविषय निन्दनमहमिदानीं करोमीत्यभिहित सुष्ठु तदा सावद्ययोगाऽऽसेवन मया कृतम् इत्येवरूपाया अनुमतेर्वा संवरणमतीतस्य सावद्ययोगाऽऽसेवनस्य इदानीं करोमीति यद्भणित भवति-न करोमि इत्यादिना अतीतस्य संवरण करोमीत्येनदुक्तं भवतीत्यर्थ· ॥ ३५४६ ॥

परिहारान्तरमाह-

अहवा तयविरईओ, विरमे संपयमईयविसयाओ ।
संपइसावज्जा इव,पवज्जओ को मुसावाओ? ॥ ३५४७ ॥

अथवा तस्मात् सावद्ययोगादविरतिस्तदविरति· तस्यास्तदविरतेरतीतविषयायाः साम्प्रतसावद्यादिव विरमामि साम्प्रतमहमित्येवमतीतकालविषयप्रत्याख्यान प्रपद्यमानस्य को मृषावाद ?, न कश्चिदिति ॥ ३५४७ ॥

आह-" ननु न करेमि न कारवेमि न समणुजाणामि " इत्येतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेः " करेंत पि अन्न " इत्येतत्किमर्थमुक्तम् ? इत्याशङ्कयाऽऽह-

न समणुजाणंति गए, करेंतमन्नं पि यं सुएऽभिहियं ।
संभावणेऽविसद्दो, तदिहोभयसद्दमज्झत्थो ॥ ३५४८ ॥

" न करेमि न कारवेमि न समणुजाणामि । " इत्येतावतैव गते सिद्धे यत्-" करेंत पि अन्न " इति प्रस्तुतसामायिकश्रुतेऽभिहित, तदिह " करेंतमन्न " इत्युभयशब्दयोर्मध्यस्थो मध्ये वर्तमान·, अपिशब्द· सभावने यथा स्यादित्येतदर्थमवगन्तव्यमिति ॥ ३५४८ ॥

किं पुनरयमधिक सभावयतीत्याह-

न करेंतं पि त्ति न का-रवेंतमवि नावि याणुजाणंतं ।
न समणुजाणेमि न का-रयामि अवि नाणुजाणामि३५४९
अन्नं पि अप्पयं पि व, सहसाकाराइणा पयत्तंतं ।
इह सव्वो संगहिओ, कत्ताकिरियापरंपरओ ॥ ३५५० ॥

यथा-आत्मान सहसाऽऽकारादिना सावद्ययोगे प्रवर्तमान सुष्ठु कृतमित्येव न समनुजानामि, किं तु मिथ्यादुष्कृतदानाऽऽदिना ततो निवर्तयामि, इत्येव कुर्वन्तमपिशब्दात्कारयन्तमपि अनुजानन्तमप्यन्य न समनुजानामि, यथा चान्य कुर्वन्त न कारयामि, एवमपि शब्दात्कारयन्तमप्यन्य न कारयामीत्याह-यथा चान्य नानुजानाम्येवमपिशब्दादनुजानन्तमप्यन्य नानुजानामि, इत्यादिप्रकारेण सभवन् सर्वोऽपि कर्तृक्रियापरम्परकोऽपिशब्देनेह सगृहीत इति ॥ ३५५० ॥

अथवा त्रिकालोपसग्रहार्थमपिशब्द इति दर्शयन्नाह-

न करिंतं वा भणिए,अविसद्दा न कयवंतमिच्चाई ।
समईयमागमिस्सं,'तह न करिस्सं तमिच्चाई ॥ ३५५१ ॥

अथवा कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामीति वर्तमानकालमाश्रित्य भणिते अपिशब्दात्समनीतमपि कालमनुसृत्य तद् द्रष्टव्य, कृतवन्तमप्यादिशब्दात्कारितवन्तमप्यनुज्ञातमप्यन्यं नानुजानामीति। तथा-आगमिष्यन्तमपि कालमङ्गीकृत्याऽऽदिशब्दादेनद् द्रष्टव्यम्, करिष्यन्तमप्यादिशब्दात् कारयिष्यन्तमप्यनुज्ञास्यन्तमप्यन्य नानुजानामीति ।

अथवा-अन्यथा त्रिकालोपसंग्रह इत्याह-

सव्वं पच्चक्खामि, त्ति वा तिकालोवसंगहोऽभिमओ ।

अभिसद्दाओ तस्से-व कत्तकिरियाऽभिहाणं ति ।३५५१।

अथवा-सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि इत्यनेन सामान्याभिधानेन त्रिकालसंग्रहोऽभिमतः, अस्मादेव सामान्याभिधानादतीते सम्प्रति भविष्यति च काले सर्वं सावद्ययोगं प्रत्याख्यामीति गम्यत इत्यर्थः । इदानीं तु " करेंत पि अन्न " इत्यत्रापिशब्दात्तस्यैव कालत्रयस्य सम्बन्धे कर्तृक्रियाऽभिधानमभिहितं, यथा वर्तमानकाले सर्वं न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमन्यं न समनुजानामि, तथा अपिशब्दादतीते भविष्यति च काले न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमन्यं न समनुजानामीति प्रत्यक्षमवगन्तव्यमिति ॥ ३५५१ ॥

अत्राऽऽक्षेप परिहार चाऽऽह-

एवं सव्वस्सासे-सविसयओऽतीयणागएसुं पि ।

पावइ सव्वनिसेहो, भणइ तं नाववायाओ ॥ ३५५२ ॥

नन्वेवमुक्तप्रकारेणातीऽतेनागते च सर्वस्मिन्नपि काले आसेवितस्याऽऽसेविष्यमाणस्य च सर्वस्यापि सावद्ययोगस्य निषेधः प्राप्नोति । कुतः ?, इत्याह-( सव्वस्सेत्यादि ) सर्वस्य सर्वशब्दस्याशेषविषयत्वादशेषविषयत्वेन पूर्वमिदं व्याख्यानत्वादित्यर्थः । न चैतद्युक्तम्-अतीतसावद्य-योगस्याऽऽसेवितत्वाद्, आसेवितस्य प्रत्याख्याने मृषावादाऽऽक्लिष्टो पत्रसङ्गाद्, भविष्यतश्च तस्य सर्वस्यापि प्रत्याख्यानदोषानुपङ्गादिति । भण्यतेऽत्रोत्तरम्-तदेतन्न प्राप्नोति । कुतः ?, इत्याह-अपवादाद् अपवादबाधितत्वादिति ॥ ३५५२ ॥

तमेव चापवादं दर्शयति-

भूयस्स पडिक्कमणाऽ-भिहाणओऽणुमइमेत्तमागहियं ।

जावज्जीवग्गहणा, एस्सस्स य मरणमज्जाया ॥३५५३॥

" तस्स भंते ! पडिक्कमामि " इत्यादिना प्रस्तुत एव सामायिकसूत्रे प्रतिक्रमणस्याभिधानतो भूतस्यातीतसावद्ययोगस्यानुमतिमात्रमेव प्रत्याख्येयत्वेनागृहीतं न पुनः, सर्वोऽपि सावद्ययोगः, तदनुमतेश्च प्रत्याख्याने न कश्चिन्मृषावादः इत्यनन्तरमेव प्रागुक्तं यावज्जीवग्रहणात्पुनरेष्यतोऽपि सर्वसावद्ययोगस्य प्रत्याख्याने मरणमर्यादाऽपवादः, यावज्जीवमेव तं प्रत्याचक्षे न परत इति॥ ३५५३ ॥

अथवाऽस्मिन्नेव सामायिकसूत्रे निरवशेषवचनोऽपि सर्वशब्दः प्रतिनियतविषयत्वेन व्यवस्थापित इति दर्शयन्नाह-

अहवा जावज्जीव-ग्गहणाओऽणागयावरोहोऽयं ।

संपइ कालग्गहणं, न करोमिच्चाइगहणाओ ॥३५५४॥

भूयस्स पडिक्कमणा-इणा य तेणेह सव्वसद्दोऽयं ।

नेओ विसेसाविसओ,जओ य सुत्तंतरेऽभिहियं ।३५५५।

अथवा सूत्र एव यावज्जीवग्रहणादनागतकालस्यायमवरोधः सुदीर्घोऽप्यनागतकालो यावज्जीवग्रहणाद् नैयत्यविधानेन विशेषे व्यवस्थापित इत्यर्थः । " न करेमि न कारवेमि " इत्यादिवचनात्तु साम्प्रतकालग्रहणमिति " तस्स भंते ! पडिक्कमामि" इत्यादिसूत्रावयवे च भूतस्यातीतस्य सावद्ययोगस्य प्रतिक्रमणाऽऽदिना,आदिशब्दान्निन्दागर्हाविधानेन च विशेषविषयतागर्भमतीतकालग्रहणमिति शेषः । येनैव, तेनेह निरवशेषवचनोऽप्ययं सर्वशब्दो विशेषविषयो ज्ञेयः । ततश्च भविष्यत्कालमावद्ययोग इह जीवितमर्यादपर्यन्त एव निरवशेषसर्वशब्देन गृहीतः, अतीतसावद्ययोगोऽप्यनुमतिमात्रक एव निरवशेषः, तेन क्रोडीकृत इति भावः । पूर्वमुत्सर्गतः कालत्रयगतः समस्तसावद्ययोगविषयं सर्वशब्दं कृत्वा अपवादेन बाधा प्रोक्ता, इह तु सामायिकसूत्रे नियमग्रहणद्वारेण प्रथमत एव देशतो निरवशेषविषयता सर्वशब्दस्य दर्शिता, इत्येताव मात्रो व्याख्याद्वयस्य विशेषोऽवगन्तव्य इति ॥ ३५५४ ॥ ॥ ३५५५ ॥

इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं, यतः सूत्रान्तरेऽप्यभिहितम् । किम् ?, इत्याह-

समईयं पडिक्कमए, पच्चुप्पन्नं च संवरेइ त्ति ।

पच्चक्खाइ अणागय-मेत्थं इहइं पि विन्नेयं ॥ ३५५६ ॥

सुबोधा, नवरमतीतप्रतिक्रमणेन तदनुमतिमात्रप्रत्याख्यानमुक्तम् " पच्चक्खाइ अणागय " इत्यत्र " यावज्जीवम् " इति शेषः । ततश्च देशतो निरवशेषविषयः सर्वशब्दः सिद्ध इति ।

" तस्स भंते " इत्यादेर्व्याख्यानार्थमाह-

तस्स त्ति स संबज्झइ, जोगो सावज्ज एव जोऽहिगओ ।

तमिति विइयाहिगारा-दभिधेये किमिह तस्स त्ति।३५५७।

" तस्स " इत्यत्रासावधिकृत एव सावद्यो योगः सम्बध्यते । अत्र परः प्राऽऽह-ननु प्रतिक्रमामीति क्रियायोगतो द्वितीयाधिकारात्तमित्यभिधेये वक्तव्ये किमिह षष्ठीनिर्देशस्तस्यात्यन्त्यम् ?, इति ॥ ३५५७ ॥

गुरुराह-

संबन्धलक्खणाए, छट्ठीए ऽवयवलक्खणाए वा ।

समतीय मावज्जं, संबज्झावेइ न उ सेसं ॥ ३५५८ ॥

इह सम्बन्धलक्षणया अवयवलक्षणया वा षष्ठ्या समतीतकालविषयमेव सावद्य योगं सम्बन्धयति । इदमुक्तं भवति- तस्य त्रिकालगतयोगस्य सम्बन्धिनं तदवयवभूतं वा अतीतं सावद्ययोगं प्रतिक्रमामीति सामान्येन सम्बन्धलक्षणया अवयवलक्षणया वा षष्ठ्या तस्येत्यत्रातीतसावद्ययोगं सम्बध्यति सूत्रकारः । न तु शेषं वर्तमानमेष्यन्तं वा, तस्य सम्प्रति प्रत्याख्यायमानत्वाच्च प्रतिक्रमणस्य चातीतविषयत्वादिति ॥ ३५५८ ॥

अत्र केषाञ्चिन्मतमुपन्यस्य दूषयन्नाह-

अविसिट्ठं सावज्जं, संबज्झावेंति केइ छट्ठीए ।

तन्न पओयणाभा-वओ तहा गथगुरुयाओ ॥३५५९॥

पच्छित्तस्स पडिक्कम-णओ य पायं व भूयविसयाओ ।

तीयपडिक्कमणाओ, पुणरुत्ताइप्पसंगाओ ॥ ३५६० ॥

इह केचनाप्याचार्यदेशीयास्तस्येत्यत्र षष्ठ्या अविशिष्टमेव त्रैकालिकं सावद्ययोगं सम्बन्धयन्ति । तदेतन्न युक्तम्, अविशिष्टत्रैकालिकसावद्ययोगसम्बन्धस्येह प्रयोजनाभावात्, तदभावश्चातीतस्यैव प्रतिक्रमणसम्भवात् । अथ सामान्ययोग सम्बध्य पश्चाद् विशेषेणातीतस्यैव तस्य प्रतिक्रमणं व्याख्यास्यत इति आशङ्क्याऽऽह-तथा सति ग्रन्थगुरुताप्रसङ्गादिति । किं च-( पच्छित्तेत्यादि ) प्रायश्चित्तस्यैव प्रतिक्रमणरूपत्वात्, प्राय-

श्चित्तरूपमेव हि प्रतिक्रमणं, नान्यदित्यर्थः । ततः किमित्याह- प्रायश्चित्तस्य च प्रायो भूतविषयत्वादासेवित सावद्ययोगविषयत्वात्किमिह सामान्यसावद्ययोगसबन्धेने ? । प्रायोग्रहणं चेह मिथ्यादुष्कृतदानाऽऽदेर्वर्त्तमानसावद्ययोगविषयत्वादपीति। तथा-"तीयं पडिक्कमइ पडुप्पन्नं संवरेइ अणागयं पच्चक्खाइ ।" इत्यादावतीतस्यैव प्रतिक्रमणोक्तेर्नेह त्रैकाल्यसामान्यसावद्ययोगसबन्धः,पौनरुक्त्यादिदोषप्रसङ्गाच्च। सामान्यसावद्ययोगो हि "सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि ।" इत्यनेनैव प्रत्याख्यातः किं तस्येत्यत्र पुनरपि ग्रहणेनेति भाव इति ॥३५६० ॥ ३५६१॥

उपसंहरन्नाह-

तम्हा पडिक्कमामि, त्ति तस्सावस्सं कम्मामिसंबंधो ।
भव्वमिह कम्मणा तं, च भूयसावज्जओऽणन्नं ॥३५६२॥

तस्मात्तस्य प्रतिक्रमामीत्यस्य शब्दस्यावश्यं कर्मणा भाव्यम्। ततः प्रकृते किमित्याह-तच्च कर्म पूर्वोक्तविवक्षया तस्यातीतसामान्यसावद्ययोगस्यावयवभूताद् भूतसावद्ययोगादुक्तन्यायेनान्यन्न संभवति, तस्मादिहातीतस्यैव सावद्ययोगस्य संबन्धो, नेतरयोरिति गाथार्थः ॥ ३५६२ ॥

"अथ-तिविहं तिविहेण" इत्यत्राऽऽक्षेपपरिहारावाह-

तिविहेणं ति न जुत्तं, पइपयविहिणा समाहियं जेण ।
अत्थविगप्पणयाए, गुणभावणाय त्ति को दोसो ? ३५६३

आह-ननु त्रिविधेनेति न युक्तं, त्रिविधं त्रिविधेनेति यत्सूत्रे प्रथममुद्दिष्टं तन्न युक्तमित्यर्थः । कुतः?, इत्याह-येन यस्मात्प्रतिपदविधिनैवैतत्समाहितं समापितम् " मणेणं वायाए काएणं न करेमि,न कारवेमि,करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि ।" इत्यनेनैव प्रतिपदनिर्देशेन सिद्धमेतदित्यर्थः । अत्र परिहारमाह-अर्थविकल्पनया अर्थभेदोपदर्शनाद् गुणभावनया वा गुणभावनातः को दोषो, न कश्चिदित्यर्थः । इयमत्र भावना-एवं ह्येके सामान्यविशेषभेदरूपत्वं सर्वस्याप्यर्थस्य दर्शितं भवति, " तिविहं तिविहेणं।" इत्यनेनैव वस्तुनः सामान्यरूपतादर्शनात्," मणेणं वायाए" इत्यादिना तु तस्य विशेषरूपताप्रकाशनादिति। अन्यच्च-एवमिह पुनरभिहिते सामायिकलक्षणे यो गुणस्तस्य सबन्धिनी भावना निबिडवासनाऽऽत्मन्यारोपिता भवतीति न कश्चिद्दोषः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ३५६३ ॥

साधनान्तरमाह-

अहवा मणसा वाया, काएणं मा भवे जहासंखं ।
न करेमि न कारवेमि य, न याऽणुजाणे य पत्तेयं ३५६४॥

अथवा-" मणेणं वायाए" इत्यादिमात्रके एवोक्ते मनसा न करोमि, वाचा न कारयामि, कायेन नानुजानामि, इत्येवंभूतमनिष्टं यथासंख्यं मा भूदिति " तिविहं तिविहेणं " इत्यभिहितं, यतश्च मनसा न करोमि न कारयामि नानुजानामि इत्येवं वाचा कायेन सह योगत्रयस्य प्रत्येकं संबन्धोऽभिमतः, स नाभविष्यदिति ॥ ३५६४ ॥

ततः किमित्याह-

तो तिविहं तिविहेणं, भण्णइ पइपयसमापणाहेउं ।
न करेमि त्ति पडिपयं, जोगविभागेण वा सज्झं ॥३५६५॥

ततस्त्रिविधं त्रिविधेनेति भण्यते । किमर्थम् ?, इत्याह-प्रतिपदसमापनहेतोः मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि, एवं वाचा कायेन च सह योगत्रयस्य प्रत्येकं सबन्धहेतोरित्यर्थः । त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्याभावे दूषणान्तरमप्याह-( न करेमि इत्यादि ) । अथवा-त्रिविधं त्रिविधेन इत्यस्याभावे न करोमि इत्यादि प्रतिपदं योगानां करणकारणानुमतिलक्षणानां यो विभागो विच्छेदस्तेन प्रस्तुताऽभिमतं वस्तु साध्यं स्यात् । तथा च सति प्रतिपत्तिगौरवं स्यादिति शेषः । इदमुक्तं भवति-त्रिविधं त्रिविधेनेत्येतस्याभावे " न करेमि मणेणं वायाए काएणं, ण कारवेमि मणेणं वायाए काएणं, णाणुजाणामि मणेणं वायाए काएणं ।" इत्येवमेकैकयोगविच्छेदेन करणत्रयसबन्धे यथासंख्यनिराकरणेन प्रस्तुताभिमतोऽर्थः साध्यो भवेत् । एवं च सति प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । अतः सुखप्रतिपत्त्यर्थं कर्तव्यं त्रिविधं त्रिविधेनेति ॥ ३५६५ ॥

समाधानान्तरमाह-

अहवा करेंतमन्नं, न समणुजाणेऽविसइओ नेयं ।
अत्थविकप्पणयाए, विसेसओ तो समाजोज्जं ॥३५६६॥

अथवा " करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि " इत्यत्रापि शब्दात् यत् पूर्वं त्रिकालविषयं ज्ञेयमुक्तम् । ( तो त्ति ) विभक्तिव्यत्ययादिहानयाऽर्थविकल्पनया विशेषतः समायोज्यम् । कथमिति चेद् ? । उच्यते-अतीते कृतस्य कारितस्यानुमतस्य च सबन्धिनी अनुमतिरिदानीं प्रत्याख्यायते, न तु करणकारणे, तयोः कृतकारितत्वात् । इतरकालद्वये तु करणकारणानुमतयः प्रत्याख्येयत्वेन न वार्यन्ते,अविरुद्धत्वाद्,इत्यस्याप्यर्थस्य दर्शनार्थं त्रिविधम् इत्यादि कर्तव्यमिति॥३५६६॥ विशे०।

(८) समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूलए पाणाइवाए अपच्चक्खाए भवइ। से णं भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करेइ ? । गोयमा ! तीयं पडिक्कमइ,पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ । तीयं पडिक्कममाणे किं तिविहं तिविहेणं पडिक्कमइ १ , तिविहं दुविहेणं पडिक्कमइ २ , तिविहं एगविहेणं पडिक्कमइ ३ , दुविहं तिविहेणं पडिक्कमइ ४ , दुविहं दुविहेणं पडिक्कमइ ५ , दुविहं एगविहेणं पडिक्कमइ ६ , एगविहं तिविहेणं पडिक्कमइ ७ , एगविहं दुविहेणं पडिक्कमइ ८ , एगविहं एगविहेणं पडिक्कमइ, ९ । गोयमा ! तिविहं तिविहेणं पडिक्कमइ तिविहं वा दुविहेणं पडिक्कमइ । तं चेव जाव एगविहं एगविहेणं पडिक्कमइ । तिविहं तिविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ, न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा कायसा १ । तिविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ,न कारवेइ,करेंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा २। अहवा न करेइ, न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ मणसा कायसा ३ । अहवा न करेइ ३ वयसा कायसा ४ । तिविहं एगविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ ३ मणसा ५ । अहवा न करेइ ३ वयसा ६ । अहवा न करेइ ३ कायसा ७। दुविहं तिविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ, न कारवेइ, मणसा वयसा कायसा ८ ।

हवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा कायसा ६। अहवा न कारवेइ, करंत नाणुजाणइ मणसा वयसा कायसा १०। दुविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ, न कारवेइ, मणसा वयसा ११ । अहवा न करेइ, न कारवेइ, मणसा कायसा १२ । अहवा न करेइ, न कारवेइ वयसा कायसा १३ । अहवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा १४ । अहवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ मणसा कायसा १५ । अहवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ वयसा कायसा १६ । अहवा न कारवेइ,करंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा १७ । अहवा न कारवेइ, करंतं नाणुजाणइ मणसा कायमा १८ । अहवा न कारवेइ, करंतं नाणुजाणइ वयसा कायसा १९ । दुविहं एकविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ, न कारवेइ मणसा २० । अहवा न करेइ, न कारवेइ वयसा २१ । अहवा न करेइ,न कारवेइ कायसा २२ । अहवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ मणसा २३ । अहवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ वयसा २४ । अहवा न करेइ, करंतं नाणुजाणइ कायसा २५ । अहवा न कारवेइ, करंतं नाणुजाणइ मणसा २६ । अहवा न कारवेइ, करंत नाणुजाणइ वयसा २७ । अहवा न कारवेइ, करंत नाणुजाणइ कायसा २८ । एगविहं तिविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ मणसा वयसा कायसा २९ । अहवा न कारवेइ मणसा वयसा कायसा ३० । अहवा करंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा कायसा ३१ । एक्कविहं दुविहेण पडिक्कममाणे न करेइ मणसा वयसा ३२ । अहवा न करेइ मणसा कायसा ३३ । अहवा न करेइ वयसा कायसा ३४ । अहवा न कारवेइ मणसा वयसा ३५। अहवा न कारवेइ मणसा कायसा ३६ । अहवा न कारवेइ वयसा कायसा ३७। अहवा करंतं नाणुजाणइ मणसा वयसा ३८। अहवा करंतं नाणुजाणइ मणसा कायसा ३९। अहवा करंतं नाणुजाणइ वयसा कायसा ४० । एगविहं एगविहेणं पडिक्कममाणे न करेइ मणसा ४१ । अहवा न करेइ वयसा ४२। अहवा न करेइ कायसा ४३ । अहवा न कारवेइ मणसा ४४ । अहवा न कारवेइ वयसा ४५ । अहवा न कारवेइ कायसा ४६ । अहवा करंतं नाणुजाणइ मणसा ४७ । अहवा करंतं नाणुजाणइ वयसा ४८। अहवा करंतं नाणुजाणइ कायसा ४९ । पडुप्पणं संवरेमाणे किं तिविहेण संवरेइ, एवं जहा पडिक्कमणेणं एगूणवन्नं भंगा भणिया, संवरमाणे वि एगूणवन्नं भंगा भाणियव्वा । अणागयं पच्चक्खमाणे किं तिविहं तिविहेणं पच्चक्खाइ, एवं तं चेव भंगा एगूणवन्नं भाणियव्वा० जाव अहवा करंतं नाणुजाणइ कायसा । समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूलए मुसावाए पच्चक्खाए भवइ । से णं भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे एवं जहा पाणाइवायस्स सीयालं भंगसयं भणियं, तहा मुसावायस्स वि भाणियव्वं, एवं अदिन्नादाणस्स वि, एवं थूलगस्स मेहुणस्स वि परिग्गहस्स०जाव करंतं नाणुजाणइ कायसा, एए खलु एरिसगा समणोवासगा भवंति, नो खलु एरिसगा आजीवियोवासगा भवंति ।

( समणोवासयस्स ण त्ति ) तृतीयार्थत्वात्षष्ठ्याः, श्रमणोपासकेनेत्यर्थः । सम्बन्धमात्रविवक्षया वा षष्ठीयम् । ( पुव्वामेव त्ति ) प्राक्कालमेव सम्यक्त्वप्रतिपत्तिसमनन्तरमेवेत्यर्थः । ( अपच्चक्खाए त्ति ) न प्रत्याख्यातो भवति, तदा देशविरतिपरिणामस्याजातत्वात् । ततश्च-(से ण ति) स श्रमणोपासकः पश्चात्प्राणातिपातविरतिकाले ( पच्चाइक्खमाणे त्ति ) प्रत्याचक्षाणः प्राणातिपातमिति गम्यते, किं करोतीति प्रश्नः । वाचनान्तरे तु-"अपच्चक्खाए" इत्यस्य स्थाने-"पच्चक्खाए त्ति" "पच्चाइक्खमाणे" इत्यस्य च स्थाने-"पच्चक्खावेमाणे त्ति" दृश्यते । तत्र च प्रत्याख्यातः स्वयमेव, प्रत्याख्यापयँश्च गुरुणा हेतुकर्त्रा प्राणातिपातप्रत्याख्यान गुरुणाऽऽत्मानं ग्राहयन्नित्यर्थ इति । ( तीतमित्यादि ) अतीतमतीतकालकृत प्राणातिपात प्रतिक्रामति, ततो निन्दाद्वारेण निवर्त्तत इत्यर्थः । (पडुप्पन्न ति) । प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानकालीन प्राणातिपात संवृणोति, न करोतीत्यर्थः। अनागत भविष्यत्कालविषय प्रत्याख्याति,न करिष्यामीत्यादि प्रतिजानीते । ( तिविह तिविहेणमित्यादि ) इह च नव त्रिकल्पाः।तत्र गाथा-"तिन्नि तिया तिन्नि दुया,तिन्नि य एक्का हवंति जोगेसु । ति दु एक्क ति दु एक्क, ति दु एक्क चेव करणाइं ॥१॥" एतेषु च विकल्पेष्वेकादश विकल्पा लभ्यन्ते । आह च-"एक्को तिन्नि य तियगा-दो नवगा तह य तिन्नि नव य । भगनवगस्स एव, भगा एगूणपन्नास ॥ १ ॥ " स्थापना । तत्र-( तिविह तिविहेण त्ति ) त्रिविध त्रिप्रकार करणकारणानुमतिभेदात् प्राणातिपातयोगमिति गम्यते, त्रिविधेन मनोवचनकायलक्षणेन करणेन प्रतिक्रामति, ततो निन्दनेन विरमति । ( तिविह दुविहेण ति ) त्रिविध करणाऽऽदिभेदात्, द्विविधेन करणेन मनःप्रभृतीनामेकतरवर्जितद्वयेन । ( तिविह एगविहेण ति ) त्रिविध तस्यैव एकविधेन मनःप्रभृतीनामेकतमेन करणेनेति । (दुविह तिविहेण ति)द्विविध कृताऽऽदीनामन्यतमद्वयरूप योग त्रिविधेन मनःप्रभृतिकरणेन । एवमन्येऽपि । ( तिविह तिविहेण पडिक्कममाणे इत्यादि ) न करोति न स्वय विदधात्यतीतकाले प्राणातिपात मनसा हा हतोऽह,येन मया तदाऽसौ न,हत इत्येव मनुध्यानात्,तथा न नैव कारयति मनसैव यथा-हा न युक्तं कृत यदसौ परेण न घातित इति चिन्तनात्,तथा कुर्वन्त विध्वानमुपलक्षणत्वात्कारयन्त वा समनुजानन्त वा परमात्मान वा प्राणातिपात नानुजानाति नानुमोदयति,मनसैव वधानुस्मरणेन तदनुमोदनात् । एव न करोति, न कारयति, कुर्वन्त नानुजानाति वचसा, तथाविधवचनप्रवर्तनात् । एव न करोति, न कारयति, कुर्वन्त नानुजानाति कायेन । तथाविधाक्षादिकारकरणादिति ।

न चेह यथासङ्ख्यन्यायो न करोति मनसा, न कारयति वचसा, नानुजानाति कायेन इत्येवलक्षणानुसरणीयो, वक्तृविवक्षाधीनत्वात्सर्वन्यायानां वक्ष्यमाणविकल्पायोगाच्चेति । एवं त्रिविध त्रिविधेनेत्यत्र विकल्प एक एव विकल्पः, तदन्येषु पुनर्द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु त्रयस्त्रयः, पञ्चमषष्ठयोर्नव नव,सप्तमे त्रयोऽष्टमनवमयोर्नव नवेति, एवं सर्वेऽप्येकोनपञ्चाशत् । एवमेवमतीतकालमाश्रित्य कृता करणाऽऽदियोजना । अथ चैवमेषाऽतीतकाले मनःप्रभृतीनां कृत कारितमनुज्ञात वा वध क्रमेण न करोति, न कारयति, न चानुजानाति, तन्निन्दनेन तदनुमोदननिषेधतस्ततो निवर्तत इत्यर्थ , तन्निन्दनस्याभावे हि तदनुमोदनानिवृत्ते. कृताऽऽदिरसौ क्रियमाणाऽऽदिरिव स्यादिति,वर्तमानकाल त्वाश्रित्य सुगमैव भविष्यत्कालापेक्षया त्वेवमसौ न करोति मनसा, त हनिष्यामीत्यस्य चिन्तनात, न कारयति, मनसैव तमह घातयिष्यामीत्यस्य चिन्तनात, नानुजानाति मनसा भाविन वधमनुश्रुत्य हर्षकरणात्, एव वाचा, कायेन च तयास्तथाविधयो. करणादिति । अथ चैवमेषा भविष्यत्काले मनःप्रभृतिना करिष्यमाण कारयिष्यमाणमनुमस्यमान वा वध क्रमेण न करोति, न कारयति, न चानुजानाति । ततो निवृत्तिमस्त्युपगच्छतीत्यर्थ., सर्वेषां मीलने सप्तचत्वारिंशदधिक भङ्गकशत भवति, इह च त्रिविध त्रिविधेनेति विकल्पमाश्रित्याऽऽक्षेपपरिहारौ वृद्धोक्तावेवम्-

" न करेइच्चाइतिय, गिहिणो कह होइ देसविरयस्स ।
भण्णइ विसयस्स बहिं, पडिसेहो अणुमईए वि ॥ १ ॥
केई भणति गिहिणो, तिविह तिविहेण नत्थि सवरण ।
त न जओ निद्दिट्ठ, इहेव सुत्ते विसेसे उ ॥ २ ॥
तो कह निज्जुत्तीए-ऽणुमइनिसेहो त्ति सेसविसयम्मि ।
सामन्ने वऽवत्थश्रो, तिविहं तिविहेण को दोसो ? ॥ ३ ॥ "

इह च-( सविसयम्मि त्ति ) स्वविषये यथानुमतिरस्ति । ( सामन्ने व त्ति ) सामान्ये वा, अविशेषे प्रत्याख्याने सति ( अवत्थश्रो त्ति ) विशेषे स्वयम्भूरमणजलधिमत्स्यादौ " पुत्ताइसतंईनिमि-त्तमेत्तमेगारसिं पवन्नस्स । जपति केइ गिहिणो, दिक्खाभिमुहस्स तिविह पि ॥ १ ॥ " यथा च त्रिविध त्रिविधेनेत्यत्राऽऽक्षेपपरिहारौ कृतौ,तथाऽऽन्यत्रापि कार्यौ। यत्रानुमतेरनुप्रवेशोऽस्तीति । अथ कथ मनसा करणाऽऽदि ?, उच्यते-यथा-वाक्काययोरिति । आह च-

" आह कह पुण मणसा, करण कारावणमणुमई य ।
जह वइतणुजोगेहिं, करणाइ तह भवे मणसा ॥ १ ॥
तयहीणत्ता वइतणु-करणाईण च अहव मणकरण ।
सावज्जजोगमरण, पन्नत्त वीयरागेहिं ॥ २ ॥
कारावण पुण मणसा, चिंतेइ करेउ एस सावज्ज ।
चिंतेई य कए उण, सुट्ठु कय अणुमई होइ ॥ ३ ॥ " इति ।

इह च पञ्चस्वणुव्रतेषु प्रत्येक सप्तचत्वारिंशदधिकस्य भङ्गकशतस्य भावाद्भङ्गकानां सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि भवन्तीति यत् स्थविरा आजीविके श्रमणोपासकगत वस्तु पृष्टा गौतमेन च भगवांस्तत्तावदुक्तम्, अथानन्तरोक्तशीला श्रमणोपासका एव भवन्ति । न पुनराजीविकोपासका । आजीविकाना गुणित्वेनाभिमता अपीति दर्शयन्नाह-( एए खलु इत्यादि ) एते खलु एत एव परिदृश्यमाना निर्ग्रन्थसत्का इत्यर्थ.। (एरिसग त्ति) ईदृशका. प्राणातिपाताऽऽदिप्रतीतप्रतिक्रमणाऽऽदिमन्तः ( नो खलु त्ति ) नैव ( एरिसग त्ति ) उक्तरूपा अस्कार्थानामपरिज्ञानात् । ( आजीविओवासय त्ति ) गोशालकशिष्यश्रावका. ॥ भ० ८ श० ५ उ० ।

तत्रेयमेकादिसंजोगपरिमाणप्रदर्शनपरान्यकर्तृकीगाथा-

पंचएहणुव्वयाणं, एकगदुगतिगचउक्कपणएहिं ।
पंच य तह दस पण इ-क्कगो य संजोगें नायव्वा ॥१८॥

सरातीए वक्खाण पचण्ह अणुव्वयाण पुव्वभणियाणं एकगदुगतिगचउक्कपणएहिं वितिज्जमाणाणं पच य दस पण एकगो य संजोगे नायव्वा । एकेण वितिज्जमाणाणं पंच । संजोगा कह? पचघरएसु एगेण पचेव हवति, दुगेण वितिज्जमाणाण दस चेव । कह ? । पढमवितीयघरेण एको १, पढमतइयघरेण २, पढमचउत्थघरेण ३, पढमपचमघरेण ४, वितियततियघरेण ५ , वितियचउत्थघरेण ६ , वितियपचमघरेण ७, ततियचउत्थघरेण ८, ततियपचमघरेण ९, चउत्थपचमघरेण १०, तिगेण वितिज्जमाणाण दस चेव । कह ? । पढमवितियतइयघरेण एको १, पढमवितियचउत्थघरेण वितिओ २, पढमवितियपचमघरेण ३, पढमततियचउत्थघरेण ४, पढमततियपचमघरेण ५, पढमचउत्थपचमघरेण ६, वितियततियचउत्थघरेण ७, वितियततियपचमघरेण ८, वितियचउत्थपचमघरेण ९, ततियचउत्थपचमघरेण १०, चउक्केण वितिज्जमाणाण पच हवति । कथ ? । पढमवितियततियचउत्थघरेण एको १, पढमवितियततियपचमघरेण २, पढमवितियचउत्थपचमघरेण ३, पढमततियचउत्थपचमघरेण ४, वितियततियचउत्थपचमघरेण ५, पचगेण वितिज्जमाणाण एको चेव भङ्ग इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

एत्थ य एकगेण च जे पचसंजोगा, दुगेण य जे दस इच्चाइ एएसिं चारणियाएओएण अणेगफलगा होंति ।

वयइक्कगसंजोगा-ण हुंति पंचण्ह तीसई भंगा ।
दुगसंजोगाण दस-एह तिन्नि सट्ठी सया हुंति ॥१९॥
तिगसंजोगाण दस-ण्ह भंगसय एकवीस इक्कसट्ठा ।
चउसंजोगाणं पुण, चउसट्ठिसयाणि अमियाणि ॥२०॥
सत्तत्तरिं सयाइं, उसत्तराइ नु पंचसंजोए ।
उत्तरगुण अविरयमे-लियाण जाणाहि सव्वग्गं ॥२१॥
सोलस चेव सहस्सा, अट्ठ सया चेव होंति अट्ठऽहिया ।
एसो उ सावगाणं, वयगहणविही समासेणं ॥ २२ ॥

एताश्चतस्रोऽप्यन्यकृता. सोपयोगा इत्युपन्यस्ता । "एतासिं भावणाविही इमा-तावदिय स्थापना-सपइ चारणिया कज्जति -थूलग पाणातिपात दुविह तिविहेण १, दुविह दुविहेण २, दुविह एकविहेण ३,एकविह तिविहेण ४,एकविह दुविहेण ५, एकविह एकविहेण ६, एव थूलगमुसावायादत्तमेहुणपरिग्गहेसु एकेक्केत्थ भेदा । एते सव्वे वि मिलिता तीस हवति । ततश्च यदुक्त प्राक्-" वयएक्कगसजोगा-णं, पचण्हं तीसइ भग त्ति " तद्भावित । इदाणिं दुगचारणिया-थूलगपाणातिपात थूलगमुसावाद पच्चक्खाइ दुविह तिविहेण १, थूलगपाणातिपात दुविह तिविहेण, थूलगमुसावाद पुण दुविह दुविहेण २, थूलगपाणातिपात २ थूलगमुसावाद पुण दुविह एगविहेण ३, थूलगपाणातिपात २३, थूलगमुसावाद पुण एगविह ति-

विहेण ४, थूलगपाणातिपात २३, थूलगमुसावादं पुण एगविहं दुविहेणं ५, थूलगपाणातिपात २३, थूलगमुसावाय पुण एगविह एगविहेण६,फले य एवं थूलगअदत्तादाणमेहुणपरिग्गहेसु एक्केक्कछब्भंगा सव्वे वि मेलिता चउवीस । एते य थूलगपाणातिपातपढमघरममुचमाणेण य लद्धा । एवं वितियघरएसु पत्तेय चउवीस भवंति । एते य सव्वे वि मिलिता चउतालीस सत चारिनो १४४ थूलगमुसावादादि चिंतिज्जति-तत्थ थूलगमुसावाद थूलगअदत्तादाणं च पच्चक्खाइ दुविह तिविहेण १, थूलगमुसावाद २३ थूलगादत्तादाण पुण दुविह दुविहेण २। एव पुव्वकमेण छ भंगा णायव्वा,एव मेहुणपरिग्गहेसु वि पत्तेय पत्तेय छछ,सव्वे वि मेलिता अट्ठारस । एते य मुसावायपढमघरयममुचमाणेण लद्धा। एवं वितियादिघरगेसु वि पत्तेयं पत्तेय अट्ठारस अट्ठारस भवंति । एते सव्वे वि मेलिता अट्ठुत्तर सतं ति चारितो थूलगमुसावादो । इदाणिं थूलगादत्तादाण चिंतिज्जति-तत्थ थूलगादत्तादाण थूलगमेहुण च पच्चक्खाति-दुविह तिविहेण १, थूलगादत्तादाण २३, थूलगमेहुण च पुण दुविह दुविहेण २, एव पुव्वकमेण छब्भगा णायव्वा । एव थूलगपरिग्गहेण वि छ भगा, मेलिता दुवालस । एते य थूलगादत्तादाण पढमघरयममुचमाणेण लद्धा वितियादिसु वि पत्तेय पत्तेय दुवालस भवति। एते सव्वे मिलिता वावत्तरिं हवति चारिय थूलगअदत्तादाण । इदाणिं थूलगमेहुणाइ चिंतिज्जइ-तत्थ थूलगमेहुण थूलगपरिग्गह च पच्चक्खाइ दुविह तिविहेण १, थूलगमेहुण २३, थूलपरिग्गह पुण दुविह दुविहेण २। एव पुव्वकमेण छब्भगा। एते य थूलगमेहुणपढमघरमुचमाणेण लद्धा, एव वीयादिसु वि पत्तेय पत्तेयं छ छ हवति,सव्वे मेलिता छत्तीस। एते य मूलाओ आरब्भ सव्वे वि चोयालसयट्ठुत्तरसयं वावत्तरि छत्तीस मेलिता तिन्नि सयाणि सट्ठाणि हवति।" ततश्च यदुक्तं प्राक्-"दुगसजोगाण दसन्न, तिन्नि य सट्ठा सया हुति त्ति" तदेतद् भावितम् । इदाणिं तिगचारणिया-थूलगपाणातिवात थूलगमुसावाद थूलगादत्तादाणं च पच्चक्खाइ त्ति तिविह तिविहेण थूलगपाणातिवात थूलगमुसावाद २३, थूलगादत्तादाण पुण दुविध दुविधेण २,थूलगपाणाइवाय थूलगमुसावाय च दुविह तिविहेण, थूलगादत्तादाणं पुण दुविह एगविहेण २, एव पुव्वकमेण छब्भगा, एव मेहुणपरिग्गहेसु वि पत्तेय पत्तेय छ छ, सव्वे वि मिलिता अट्ठारस । एए य थूलगमुसावायपढमघरमुंचमाणेण य लद्धा। एव वितियादिसु वि पत्तेय पत्तेय अट्ठारस २ हवति २ ।सव्वे वि मिलिता अट्ठुत्तरसय, थूलगपाणातिवात पढमघरमुचमाणेण लद्धा । एव वितियादिसु वि पत्तेय पत्तेय अट्ठुत्तर सत भवति । एते सव्वे वि मिलिता छसताणि अडयालाणि।एव थूलगपाणातिवातो तिगसजोएण थूलगमुसावाएण सहचारिओ । इयाणिं अदत्तादाणेण सहचारि, तत्थ थूलगपाणातिवात थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पच्चक्खाति दुविहतिविहेण १, थूलगपाणाइवायथूलगादत्तादाण २३, थूलगमेहुण पुण दुविहं दुविहेण २, एव पुव्वकमेण छब्भगा। एव थूलगपरिग्गहे वि छमेलिता दुवालस। एए अदत्तादाणे पढमघरयममुचमाणेण लद्धा। एव वीयादि पत्तेय पत्तेय दुवालस २, सव्वे वि मेलिता वावत्तरि हवति। एए पाणाइवायपढमघरयममुचमाणेण लद्धा, एव वीयादिसु वि पत्तेय पत्तेयं वावत्तरि, सव्वे वि मेलिया चत्तारि सता बत्तीस हवंति। एव थूलगपाणाइवाओ तिगसजोगेण थूलगादत्तादाणेण सहचारिओ । इयाणिं थूलगमेहुणेण सह चारति-थूलगपाणातिवायं थूलगमेहुण थूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाइ दुविह तिविहेण १, थूलगपाणातिवाय थूलगमेहुणं च २३, थूलगपरिग्गहं पुण दुविहेण २। एव पुव्वकमेण छब्भंगा एए थूलगमेहुणपढमघरयममुंचमाणेण लद्धा वितियादिसु पत्तेयं पत्तेय छ छ, सव्वे वि मेलिता छत्तीस। एए थूलगपाणातिवातपढमघरयममुचमाणेण लद्धा, बीयासु वि पत्तेय पत्तेय, छत्तीस २ सव्वे वि मेलिता दोसता सोलसुत्तरा, एव थूलगपाणातिवातो तिगसजोएण थूलगमेहुणेण सहचारिओ एव (?) तिगसजोए पाणातिवातो। इदानीं मुसावाओ चिंतिज्जति-तत्थ थूलगमुसावाद थूलगादत्तादाण थूलगमेहुण च पच्चक्खाति तिविह तिविहेण। थूलगमुसावाद थूलगादत्तादाण च २३, थूलगमेहुणं पुण दुविह दुविहेण २, एव पुव्वकमेण छब्भगा, एव थूलगपरिग्गहेण वि य मेलिता दुवालस, एए य थूलगादत्तादाणपढमघरयममुचमाणेण लद्धा वितियादिसु वि पत्तेयं पत्तेय दुवालस, सव्वे वि मिलिता वावत्तरि। एए थूलगमुसावादपढमघर अमुचमाणेण लद्धा वितियादिसु वि पत्तेय पत्तेय वावत्तरि, सव्वे वि मेलिता चत्तारि सया वत्तीसा। एव थूलगमुसावाओ तिगसजोगेण थूलगादत्तादाणेण सहचारितो । इदाणिं थूलगमेहुण सहचारिज्जति-तत्थ थूलगमुसावाद थूलगमेहुण थूलगपरिग्गह पच्चक्खाति दुविह तिविहेण १, थूलगमुसावाद थूलगमेहुण च २३, थूलगपरिग्गह पुण दुविह दुविहेण २ एव पुव्वकमेण छब्भगा, एते थूलगमेहुणपढमघरममुचमाणेण लद्धा वितियादिसु वि पत्तेयं पत्तेय छ छ हवति। सव्वे वि मेलिता छत्तीस। एते वि थूलगमुसावादपढमघरमुचमाणेण लद्धा वितियादिसु वि पत्तेय छत्तीस छत्तीस हवति, सव्वे मिलिया दो सया सोलसुत्तरा चारिओ, तिगसजोगेण थूलगमुसावाओ। इयाणिं थूलगादत्तादाणादि चिंतिज्जति-तत्थ थूलगादत्तादाण थूलगमेहुण थूलगपरिग्गह पच्चक्खाइ २३, थूलगादत्तादाण थूलगमेहुण च २३, थूलगपरिग्गह पुण दुविह दुविहेण २,एव पुव्वकमेण छ भगा। एए थूलगमेहुणपढमघरमसुचमाणेण लद्धा बीयादिसु पत्तेय पत्तेय छ छ,सव्वे वि मेलिया छत्तीस,एए थूलगादत्तादाणपढमघरमुचमाण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेय छत्तीस छत्तीसं,सव्वे मेलिया दो सया सोलसुत्तरा । एए य मूलाओ आरब्भ सव्वे वि [बत्तीअडयालं छसया बत्तीसचउसया सोलसुत्तरा दोसया [बत्तीसुत्तरा चउसया सोलसुत्तर दोसया २] मेलिया एगवीससयाइ सट्ठाइ भगाण हवति। ततश्च यदुक्त प्राग्-"तिगसयोगाण दससट्ठाइ भगसया एक्कवीसती सट्ठा।" तदेतद्भावितम्। इयाणिं चउक्कचारणिया-तत्थ थूलगपाणाइवाय थूलगमुसावाय थूलगादत्तादाण थूलगमेहुण च पच्चक्खाइ दुविह तिविहेण १ थूलगपाणाइपाताइ २३, थूलगमेहुण पुण दुविह दुविहेण २, एव पुव्वकमेण छब्भगा थूलगपरिग्गहेण वि छ, एव य मेलिया दुवालस । एए य थूलगादत्तादाणपढमघरगममुचमाणेण लद्धा, वितियादिसु वि पत्तेय पत्तेय दुवालस दुवालस, सव्वे वि मेलिया वावत्तरि, एए थूलगमुसावायपढमघरमनुचमाणेण लद्धा ७२, वीयादिसु वि पत्तेय पत्तेय वावत्तरि वावत्तरि, सव्वे

मेलिया चत्तारि सया बत्तीसा, एए थूलगपाणाइवायपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि सया बत्तीसा, सव्वे वि मेलिया दो सहस्सा पंचसया बाणउया। इयाणिं अन्नो विगप्पो-थूलगपाणाइवायं थूलगमुसावायं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं पच्चक्खाइ दुविहं तिविहेण थूलगपाणातिपात २३, थूलगपरिग्गहं पुण दुविहं दुविहेण २ एवं कमेण छब्भंगा, एए य थूलगमेहुणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु पत्तेयं पत्तेयं छ छ, सव्वे वि मेलिया छत्तीसं। एए थूलगमुसावायं पढमघरममुंचमाणेण लद्धा बितियादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं तीसं २। सव्वे वि मेलिया दो सया सोलसुत्तरा। एए थूलगपाणातिवायपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं दो सया सोलसुत्तरा, सव्वे वि मेलिता दुवालससया छण्णउया। इदाणिं अन्नो विगप्पो-थूलगपाणातिवातं थूलगअदत्तादाणं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाइ, दुविहं तिविहेण थूलगपाणाइवायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च २३ थूलगपरिग्गहं पुण दुविहेण २। एवं पुव्वकमेण छब्भंगा, एए य थूलगमेहुणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु पत्तेयं पत्तेयं छ छ मेलिया छत्तीसं, एए य थूलगादत्तादाणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं छत्तीसं २, सव्वे वि मेलिया दो सया सोलसुत्तरा। एए थूलगपाणाइवायपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं दो सया सोलसुत्तरा, सव्वे वि मेलिया दुवालससया छण्णउया। इयाणिं अन्नो विगप्पो थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं पच्चक्खाइ दुविहं तिविहेण १, थूलगमुसावायादि २३, थूलगपरिग्गहं पुण दुविहं दुविहेण २, एए पुव्वकमेण छ भंगा, एए य थूलगमेहुणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं छ छ मेलिया छत्तीसं। एए य थूलगादत्तादाणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि घरेसु पत्तेयं छत्तीसं छत्तीसं, मेलिया दो सया सोलसुत्तरा, एए य थूलगमुसावायपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं दो दो सया सोलसुत्तरा, सव्वे वि मेलिया दुवालससया छण्णउया, एवं मूलाओ आरब्भ सव्वे वि दो सहस्सा पंचसया बाणउया दुवालस सया छण्णउयाइं मेलिया छ सहस्सा चत्तारि सया असीया।" ततश्च यदुक्तं प्राक्-" छ संजोगाणं चउसट्ठिसयाणि असीयाणि त्ति।" तद्भावितम्। इयाणिं पंचगचारणिया-तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं, च पच्चक्खाइ दुविहं तिविहेणं १, थूलगपाणाइवायादि २३, थूलगपरिग्गहं पुण दुविहं दुविहेणं २। एवं पुव्वकमेण छब्भंगा, एए थूलगमेहुणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं छ, मेलिया छत्तीसं, एए थूलगादत्तादाणं पढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु पत्तेयं पत्तेयं छत्तीसं २, मेलिया दो सया सोलसुत्तरा। एए थूलगमुसावायपढमघरममुंचमाणेण लद्धा बीयादिसु वि पत्तेयं पत्तेयं दुवालससया छण्णउया, सव्वे वि मेलिया सत्त य सया छावत्तरा।" ततश्च यदुक्तं प्राक्-" सत्तरिसया छहत्तराइं तु पंचसजोगे। " तद् भावितम्। उत्तरगुणअविरयमिलियाण जाणाहि सव्वग्गं ति। उत्तरगुणमाइएहिं एगो चेव भेदोऽविरयसम्मादिट्ठी बीओ, एएहिं मेलियाण सव्वेसिं पुव्वभणियाण भेदाणं जाणाहि सव्वग्गं इमं परूवणे पडुच्च, तं पुण इमं सोलस चेव सहस्सेत्यादि गाथा भावितार्थेति। आव० ६ अ०। दश०।

अथाऽऽहारभेदप्ररूपणायां सत्यां यद् भवति तद्दर्शयन्नाह-

तिविहाइभेयओ खलु, एत्थ इमं वण्णियं जिणिंदेहिं।
एत्तो च्चिय भेएसु वि, सुहुमं ति बुहाणमविरुद्धं ॥३२॥

त्रिविधः पानकवर्जोऽऽहार आदिर्यस्य स तथा। आदिशब्दाच्चतुर्विधपरिग्रहः। स चासौ भेदश्च विशेषस्त्रिविधाऽऽदिभेदः, तस्मात्तमाश्रित्य। खलुर्वाक्यालङ्कारे। अत्र प्रवचने, इदमाहारप्रत्याख्यानं, वर्णितमुक्तम्, जिनेन्द्रैर्जिननायकैः, पानकाऽऽहार प्रत्याकारषट्कस्य वर्णितत्वादिति। (एत्तो च्चिय त्ति) इत एव त्रिविधस्य चतुर्विधस्य वाऽऽहारस्य प्रत्याख्यानानुज्ञानात्। भेदेष्वपि अशनाऽऽदिगतौदनाऽऽदिविशेषेष्वपि न केवलं त्रिविधाऽऽदिभेदत एवेदम्, अविरुद्धमिति योगः। यथा-एतावन्त्येवौदनाऽऽदिद्रव्याण्येतत्परिमाणान्येव च ग्रहीष्यामीति। आह-च-" लेवकडमलेवडं वा, अमुगं दव्वं च अज्ज घेत्थामि। अमुगेण व दव्वेण उ, अह दव्वाभिग्गहो नाम ॥१॥" इति। किमित्येवमित्याह-सूक्ष्ममिति निपुणमिति कृत्वा। बुधानां विवेकिनाम्, अविरुद्धमविरोधवद्विशेषतोऽप्रमादवृद्धिहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

इहार्थे विप्रतिपत्तिं दर्शयन्नाह-

अन्ने भणंति जातिणो, तिविहाऽऽहारस्स ण खलु जुत्तमिणं।
सव्वविरईउ एवं, भेयग्गहणे कहं सा उ ॥ ३३ ॥

अन्ये जैनविशेषेभ्योऽपरे दिगम्बरा इत्यर्थः, भणन्ति ब्रुवते। किं तदित्याह-यतेः साधोः त्रिविधाऽऽहारस्य पानकवर्जस्य, न खलु नैव, युक्तं सङ्गतम्, इदं प्रत्याख्यानं, कुत एतदेवमित्याह-सर्वविरतेः समस्तवस्तुविनिवृत्तत्वात्। किं चात इत्याह-एवमुक्तन्यायेन त्रिभेदतोऽपि प्रत्याख्यानं स्यादित्यभ्युपगमप्रकारेण। भेदग्रहणे त्रिविधाऽऽहारस्येत्येवंविशेषप्रतिपत्तौ। कथं तु केन पुनः प्रकारेण?, न कथञ्चिदित्यर्थः। सा सर्वविरतिः। तुशब्दः पुनरर्थः, तत्प्रयोगश्च दर्शित एव। एतदुक्तं भवति-त्रिविधाऽऽहारस्य प्रत्याख्याने सर्वाऽऽहारस्याप्रत्याख्यानादसर्वविरतित्वं स्यात्। इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

अपमायवुड्ढिजणगं, एयं एत्थं ति दंसियं पुव्वं।
तब्भोगमित्तकरणे, सेसच्चागा तओ अहिगो ॥ ३४ ॥

अप्रमादवृद्धिजनकमप्रमत्ततोत्कर्षसंपादकम्, एतदाहारप्रत्याख्यानम्, अत्र सर्वसावद्ययोगविरतिरूपे सामायिके सत्यमपीति, एतद्दर्शितमुक्तम्, पूर्वं प्राक्। तद्यथा-" सामाइए वि सावज्जच्चागरूवे उ गुणकरं एयं। अपमायवुड्ढिजणगत्तणेण आणाउ विन्नेयं ॥ १ ॥" इति। ततश्च तद्भोग एव पानकाऽऽहार एव तद्भोगमात्रं, तस्य करणं विधानं तद्भोगमात्रकरणं, तत्र सति शेषत्यागादशनाऽऽद्याहारत्रयपरिहारात्तकोऽसावप्रमादः, अधिकः सर्वविरतिसामायिकप्रतिपत्तिप्रभवाप्रमादापेक्षयाऽन्यतरो भवति, अतः सर्वसावद्ययोगविरतेरबाधितत्वादप्रमादविशेषोत्पादकत्वाच्च सर्वविरतस्यापि त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानमसङ्गतं न भवति। इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

इहाभ्युपगमे परवचनमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

एवं कहंचि कज्जे, दुविहस्स वि त ण होति चितमिणं।

सच्चं जइणो णवरं, पाएण ण अन्नपरिभोगो ॥ ३५ ॥

एवमनेन प्रकारेणाप्रमादवृद्धिजनकतया त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानाभ्युपगमे, कथञ्चित्केनचित्प्रकारेण वाताभिभवाऽऽदिना, कार्ये प्रयोजने ग्लानत्वाऽऽदौ । पाठान्तरेण क्वचित्कार्ये, द्विविधस्याप्यशनखादिमरूपस्याप्याहारस्य, आस्तां त्रिविधस्य, तत्प्रत्याख्यानम, न भवति न जायते, चिन्त्य चिन्तनीयम । इदमेतद् भवन्मत, भवत्येव द्विविधाऽऽहारस्यापि तदिति पराभिप्राय. । अत्रोत्तरमाह-सत्यमेवैतत् । एव प्रसङ्गमभ्युपगम्य तत्रैव विशेषमाह-यते: साधो., नवर केवलम्, प्रायेण बाहुल्येन, विशिष्टग्लानाऽऽद्यवस्थां मुक्त्वा (न) नैव, अन्यपरिभोगोऽशनपानकापेक्षयाऽपरस्य खादिमस्वादिमाऽऽहारस्य भोजनमस्ति, वेदनाऽऽदिष्वाहारग्रहणकारणेषु खादिमस्वादिमयोरात्यन्तिकतयाऽनुपयोगित्वात् । यतिग्रहणेन श्रावकस्य द्विविधाऽऽहारस्यापि प्रत्याख्यानमभ्युपगतम् । इति गाथाऽर्थः ॥३५॥ पञ्चा० ५ विव०। (सम्यक्त्वप्रतिक्रमणम् "समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ ।" इत्यादिना सूत्रेण श्रावकस्य प्रत्याख्यान 'सम्मत्त' शब्दे वक्ष्यते ) ( श्रावकव्रतानि स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यानि )

अधुना सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानमुच्यते । अथवा-देशोत्तरगुणप्रत्याख्यान श्रावकाणामेव भवतीति तदधिकार एवोक्तम्,सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान तु देशत उभयसाधारणमित्यतस्तदभिधित्सयाह-

पच्चक्खाणं उत्तर-गुणेसु खमणाइअं अणेगविहं ।
तेण य इहयं पगयं, तं पि अ इणमो दसविहं तु ॥१॥

प्रत्याख्यान प्राङ्निरूपितशब्दार्थम्, उत्तरगुणेषु उत्तरगुणविषयं,प्रकरणात् साधूनां तावदिदमिति क्षपणाऽऽदि, क्षपणग्रहण चतुर्थाऽऽदिभक्तपरिग्रह । आदिग्रहणाद्विचित्राभिग्रहग्रह । अनेकविधमित्यनेकप्रकार,प्रकाराश्च वक्ष्यमाणा., तेन चानेकविधेन, चशब्दादुक्तलक्षणेन च, अत्रेति सामान्येनोत्तरगुणप्रत्याख्याननिरूपणाधिकारे । अथवा-चशब्दस्यैवकारार्थत्वात्तेनैव, अत्रेति सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानप्रक्रमे प्रकृतमुपयोगाधिकार इति पर्याय । तदपि चेद दशविध तु मूलापेक्षया दशप्रकारमेव। इति गाथार्थः॥ १ ॥

अधुना दशविधमेवोपदर्शयन्नाह-

अणागयमइक्कंतं, कोडीसहिअं निअंटिअं चेव ।
सागारमणागारं, परिमाणकडं निरविसेसं ॥ २ ॥
संकेअं चेव अद्धाए, पच्चक्खाण तु दसविहं ।
सयमेवऽणुपालणिअं, दाणुवएसे जह समाही ॥ ३ ॥

द्वारगाथाद्वय ।

भाविअजिणवयणाणं, ममत्तरहिआण नत्थि हु विसेसो ।
अप्पाणम्मि परम्मि अ, तो वज्जे पीडमुभओ वि ॥४॥

अनागतकरणादनागत, पर्युषणाऽऽद्यावाचार्याऽऽदिवैयावृत्त्यकरणान्तरायसद्भावादारत एव तत्प करणमित्यर्थ । एवमतिक्रान्तकरणादतिक्रान्तम्। भावना प्राग्वत् । (कोडीसहियमिति) कोटिभ्यां सहितम् २। मिलितोभयप्रत्याख्यानकोटिचतुर्थाऽऽदिश्चतुर्थाऽऽदिकरणमेवत्यर्थ ३। नियन्त्रित चैव नितरां यन्त्रित नियन्त्रितं, प्रतिज्ञातदिनादौ ग्लानाऽऽद्यन्तरायभावेऽपि नियमत. कर्तव्यमिति हृदयम् ४। साकारमाक्रियन्त इत्याकारा., प्रत्याख्यानापवादहेतवोऽनाभोगाऽऽदयः सहकारै. ५। तथा अविद्यमानाकारमनाकारम् ६। परिमाणकृतमिति दत्त्यादिकृतपरिमाणमिति भावना ७। ( निरविसेसमिति ) समग्राशनाऽऽदिविषयम् ८। इति गाथार्थ. ॥ २ ॥ सकेत चैवेति केत चिह्नमङ्गुष्ठाऽऽदि,सह केतेन सकेत, चिह्नमित्यर्थ.। (अद्धाए त्ति) कालाऽऽख्यमद्धामाश्रित्य पौरुष्यादिकालमानमित्यर्थ. १०। प्रत्याख्यान तु दशविध, प्रत्याख्यानशब्दः सर्वत्रानागताऽऽदौ सबध्यते। तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्व्यवहितोपन्यासाद्दशविधमेव। इह चोपाधिभेदात्स्पष्ट एव भेद इति न पुनरुक्तमाशङ्कनीयमिति। आह-इद प्रत्याख्यान प्राणातिपाताऽऽदिप्रत्याख्यानवत् किं तावत्स्वयमकरणाऽऽदिभेदभिन्नमनुपालनीयमाहोस्विदन्यथा ?, अन्यथेत्याह-स्वयमेवानुपालनीय, न पुनरन्यकारापणे, अनुमतौ वा निषेध इत्याह-(दाणुवएसे जह समाहि त्ति) अन्याऽऽहारदाने यतिप्रदानोपदेशे च यथा समाधिर्यथा समाधानमात्मनोऽप्यपीडया प्रवर्तितव्यमिति वाक्यशेष. । उक्तं च-" भावियजिणवयणाण, ममत्तरहियाण नत्थि हु विसेसो । अप्पाणम्मि परम्मि य, तो वज्ज पीडमुभओ वि ॥ १ ॥ " इति गाथार्थ. । आव० ६ अ०। ( अनागताऽऽदीनां व्याख्या स्वस्थाने )

अद्धाप्रत्याख्यानम्-

इह पुण अद्धारूवं, णवकाराऽऽदि पतिदिणोवओगि त्ति ।
आहारगोयरं जइ-गिहीण भणिमो इमं चेव ॥ ३ ॥

इहास्मिन् प्रकरणे,पुन शब्दो विशेषद्योतनार्थः,स चायम्-अद्धा काल ,सैव रूप स्वभावो यस्य तदद्धारूपम्। अद्धारूपता च प्रत्याख्यानस्य तत्परिमाणभूतकालादभिन्नत्वविवक्षयेति। किं तदित्याह-(नवकाराइ त्ति)नमस्कारसहितप्रभृति दशधा। यदाह-"नवकार पोरिसीए, पुरिमड्ढेक्कासणेकठाणे य । आयंबिलभत्तट्ठे, चरिमे य अभिग्गहे विगई ॥ १ ॥" ननु नमस्कारसहिताऽऽद्यपि न सर्वमप्यद्धाप्रत्याख्यानम, एकाशनाऽऽचाम्लाऽऽदेः परिमाणकृताभिधानप्रत्याख्यानरूपत्वात् । यदाह-" दत्तीहिँ व कवलेहिँ व, घरेहिँ भिक्खाहिँ अहव दव्वेहिं । जो भत्तपरिच्चाय, करेइ परिमाणकडमेयं ॥ १ ॥ " इति । तत्कथमुक्तमद्धारूप " नवकाराइ त्ति " ?। अत्रोच्यते-अद्धाप्रत्याख्यानपूर्वक प्राय एकाशनाऽऽदि प्रतिपद्यते। तेन नमस्काराऽऽदिक दशविधमप्यद्धारूपतयोक्तमिति न दोष.। अथ शेषभेदत्यागेन नमस्कारसहिताऽऽदिकमेव कस्माद् भण्यते ?, इत्याह-प्रतिदिनमनुदिवसमुपयोगि प्रयोजनवत् प्रतिदिनोपयोगि, इतिशब्दो हेत्वर्थ.। प्रतिदिनोपयोगित्वमेवास्य कुतः ?, इत्याह-आहारगोचरमशनाऽऽद्याहारविषयम्। यत आहारश्च प्रतिदिनोपयोगीति । अथ किं यतीनामेवेदम ?, नैवम्, यत आह-यतिगृहिणामुभयसाधारणमित्यर्थ.। अनेन च ये श्रावकाणा नमस्कारसहिताऽऽदिप्रत्याख्यान न प्रतिपद्यन्ते, तन्मतमपास्तम्। तत्र चोपपत्ति. प्रागुपदर्शिता। ( भणिमो त्ति ) भणाम , इदमेवानन्तरगाथोक्ततया प्रत्याख्यानमेव । चैवशब्द एवकारार्थं । एवकारश्च प्रत्याख्यानाद् व्यतिरिक्तस्य ग्रन्थान्तरस्य भणनीयतया व्यवच्छेदार्थ. । इति गाथार्थ ॥३॥ पञ्चा० ५ विव० । स्था० । नं० । औ० । उपा० । ध० । न० । रात्रौ भुक्तिमतां प्रातर्नमस्कारसहिताऽऽद्युपोषणप्रत्याख्यान शुद्धयति, न वा ?, इति प्रश्ने,

ध्यति, परं त्वजानतेति । ह्री० ३ प्रका० । आद्धानामष्टमा- न्तप्रत्याख्याने ऽवश्रावणं कल्पते, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्- आद्धानामष्टमान्ततपसि अवश्रावणं न कल्पते, आचरणाया अभावात् । ह्री० २ प्रका० ।

(६) श्राद्धाः प्रत्याख्यानं कदा गृह्णन्ति-

प्रतिक्रामकस्य च प्रत्याख्यानोच्चारात्पूर्वं सचित्ताऽऽदिचतु- र्दशनियमग्रहणं स्यात्, अप्रतिक्रामकेणापि सूर्योदयात्प्राक् च- तुर्दशनियमग्रहण यथाशक्तिनमस्कारसहितग्रन्थिसहिता ऽऽदि- द्वयासनैकाशना ऽऽदियथागृहीतसचित्तद्रव्यविकृतिनैयत्यादि- नियमोच्चारणरूपं देशावकाशिकं च कार्यमिति श्राद्धविधि- वृत्तिलिखितानुवादः। कोदकेमश्चायम्-यतो नमस्कारसहितपौ- रुष्यादिकालप्रत्याख्यान सूर्योदयात्प्रागेवोच्चारयितु युक्त, न तु तत्पश्चात , कालप्रत्याख्यानस्य " सूरे उग्गए " इति पा- ठबलात् सूर्योदयेनैव सवद्ध्वसिद्धेः, शेषाणि सकेताऽऽदीनि तु पश्चादपि कृतानि शुद्ध्यन्ति । यतः श्राद्धविधिवृत्तौ-" न मस्कारसहितपौरुष्यादिकालप्रत्याख्यान सूर्योदयात्प्राक् यद्युच्चा र्यते तदा शुद्ध्यति , नान्यथा, शेषप्रत्याख्यानानि सूर्योद- यात्पश्चादपि क्रियन्ते, नमस्कारसहित यदि सूर्योदया- त्प्रागुच्चारित तदा तत्पूर्त्तरन्वपि पौरुष्यादिकालप्रत्याख्यानं क्रियते स्वस्वावधिमध्ये नमस्कारसहितोच्चार विना सूर्योदया- दनु कालप्रत्याख्यान न शुद्ध्यति । यदि दिनोदयात्प्राग् नमस्का- रसहित विना पौरुष्यादि कृत तदा तत्पूर्त्तेरूर्द्धमपर कालप्र- त्याख्यानं न शुद्ध्यति, तन्मध्ये तु शुद्ध्यतीति वृद्धव्यवहारः। श्रावकदिनकृत्येऽपि-" पच्चक्खाण तु ज तम्मि ।" इति गाथा- र्थपर्यालोचनयेयमेव वेला प्रतिपादिता समाम्यते । प्रवचन- सारोद्धारवृत्तावपि-" उचिए काले विहिण त्ति ।" गाथाव्या- ख्यायामुचिते काले विधिना प्राप्त यत् स्पृष्ट तद्भणितम् । इदमुक्त भवति-साधुः श्रावको वा प्रत्याख्यानसूत्रार्थं सम्य- गवबुध्यमानः सूर्येऽनुद्गत एव स्वमाक्षितया चैत्यस्थापनाऽऽ- चार्यसमक्षं वा स्वय प्रतिपन्नविवक्षितप्रत्याख्यानः पश्चात्पा- रित्रपवित्रगात्रस्य गीतार्थस्य गुरोः समीपे सूत्रोक्तविधिना कृति- कर्माऽऽदिविनय विधाय रागाऽऽदिरहितः सर्वत्रोपयुक्तः प्राञ्ज- लिपुटो लघुतरशब्दो गुरुवचनमनुच्चरन् यदा प्रत्याख्यानं प्रतिपद्यते तदा स्पृष्ट भवतीति । तथा प्रत्याख्यानपञ्चाश- कवृत्तावपि-" गिण्हइ सयं गहीयं काले " त्ति गाथा, गृ- ह्णाति प्रतिपद्यते, प्रत्याख्यानमिति प्रकृत, स्वयं गृहीतमात्म ना प्रतिपन्न, विकल्पमात्रेण स्वसाक्षितया वा चैत्यस्थापनाऽऽ- चार्यसमक्ष वा, कदा गृह्णातीत्याह-काले पौरुष्यादिके आ- गामिनि सति, न पुनस्तदतिक्रमे, अनागतकालस्यैव प्रत्याख्या- नविषयत्वात्, अतीतवर्तमानयोस्तु निन्दासंवरणविषयत्वा- दिति । इय च वहुग्रन्थानुसारेण कालप्रत्याख्यान सूर्योदया- त्प्रागेवोच्चार्यं, नान्यथेति तत्त्वम् । ध० २ अधि० । चैत्यपूजाऽन- न्तर जिनगृहे प्रत्याचष्टे । अथ गृहचैत्यपूजाऽनन्तर यत्क- र्तव्यं तदाह-तत इत्यादि । ततो देवपूजाऽनन्तर स्वयमात्मना जिनानामग्रतः पुरतस्तत्साक्षिकमिति यावत् । प्रत्याख्यानस्य नमस्कारसहिताऽऽद्यद्धारूपस्य ग्रन्थिसहिताऽऽदे सकेतरूपस्य च करणमुच्चारण, विशेषतो गृहिधर्मो भवतीति पूर्वप्रतिज्ञातेन सबन्धः । ध० २ अधि० । नमस्कारपौरुष्यादि दिवसप्रत्याख्या- न न गृह्णाति, गृहीत्वा वा विराधयति, तर्हि प्रायश्चित्त नि- र्विकृतिकम् । व्य० १ उ० । ( श्रद्धाप्रत्याख्यानम ' अद्ध क्खाण ' शब्दे प्रथमभागे ५६५ पृष्ठे गतम् )

इदानीमुपसहरन्नाह-

भणिअं दसविहमेअं, पच्चक्खाणं गुरूवएसेणं ।
कयपच्चक्खाणविहिं, इत्तो वुच्छं समासेणं ॥ १९ ।

भणित दशविधमेतत्प्रत्याख्यान गुरूपदेशेन कृतं प्रत्या येन स तथाविधस्तम् । अत ऊर्द्ध वक्ष्ये समासेन सक्षेपेणा थार्थः ॥१६॥ आव० ६ अ० । ( साकारद्वारम 'सागारक'

( १० ) प्रत्याख्यानविधौ दानविधिः । अथ प्रत्याख्यान प्रतिपिपादयिषुस्तद्द्वाराण्याह-

गहणे आगारेसुं, सामइए चेव विहिसमाउत्तं ।
भेए भोगे सयपा-लणाए अणुवधभावे य ॥ ४ ॥

ग्रहणमङ्गीकरणं तद्विषये । विधिसमायुक्त प्रत्याख्यान णाम इति प्रकृतम् । एवमुत्तरपदेष्वपि योजना कार्या । आकारेषु प्रत्याख्यानापवादेषु । ( सामइए चेव त्ति ) यिक एव च सामायिकप्रत्याख्याने सत्यपि प्रतिपत्तव्य मित्यादिलक्षणो विधिरिति गमः । ( विहिसमाउत्त त्ति ) षु ग्रहणाऽऽदिषु यो विधिर्विधानं, तेन समायुक्तं समन्वि त्तथा, तथा भेदे अशनाऽऽद्याहारभेदे, तथा भोगे भो तथा स्वयं पालनायामात्मनैवाऽऽसेवायां, तथाऽनुबन्धो नोत्तरकालमपि स्वाध्यायाऽऽदिसद्व्यापाराभिष्वङ्गात् ख्यानपरिणामाविच्छेद् । प्रत्याख्याताऽऽहारस्य हि स्वाद ऽऽदि न निर्वहति । ततो मुक्त्वाऽपि यदि तमेव करोति तद त्याख्यानेऽनुबन्धोऽवसीयत इति । तदेवमनुबन्धस्य सत्ताऽनुबन्धभावः,तत्र च विधिसमायुक्तमिति प्रकृतम् । च समुच्चये । इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ ४ ॥

एतामेव लेशतो व्याचिख्यासुर्ग्रहणविधिप्रतिपादनार्थं ताव

गिण्हति सयं गहीयं, काले विणएण सम्ममुवउत्तो ।
अणुभासंतो पइव-त्थुजाणगो जाणगसगासे ॥ ५ ॥

गृह्णाति प्रतिपद्यते,प्रत्याख्यानमिति प्रकृतम् । स्वय गृही त्मना प्रतिपन्नं, विकल्पमात्रेण स्वसाक्षितया वा चैत्य पनाऽऽचार्यसमक्ष वा । कदा गृह्णातीत्याह-काले पौरुष्या आगामिनि सति, न पुनस्तदतिक्रमे, अनागतकालस्यै त्याख्यानविषयत्वात्, अतीतवर्त्तमानयोर्निन्दासवरणविषय दिति । तथा विनयेन वन्दनकदानाऽऽदिना, अनेन प्रत्या नस्य विनयतः शुद्धिरुपदर्शिता ॥ ( पञ्चा० ) वस्तु प्रति प्रतिवस्तु, वस्तु च पुरिमार्द्धाशनाऽऽदि । इह च भाषमाण इत्यनेन ज्ञायक इत्यनेन वा सबन्धनीयम् । ज्ञायको ज्ञाता, गृह्णातीति प्रकृतम् । अनेन च ज्ञानशुद्धिर का, ज्ञानस्य दर्शनत्वैकत्वाद्दर्शनशुद्धिश्च । पञ्चा० ५ विव ज्ञायको ज्ञायकसमीप इत्युक्तम्, इह च चत्वारो भङ्गा न्तीति तदुपदर्शनायाऽऽह-

एत्थं पुण चउभंगो, विन्नेओ जाणगेयरगओ उ ।
सुद्धासुद्धा पढमं-तिमा उ सेसेसु उ विभासा ॥ ६ ।

अत्र ज्ञायको ज्ञायकसमीप इत्यत्र ग्रहणविधेरवयवे, पुन न्दोऽस्यैव विशेषद्योतनार्थः । स चायम्-चतूरूपो भङ्गश्चतुर्

आतावेकवचनम् । चत्वारो भङ्गका भवन्तीत्यर्थः । विशेषो ज्ञानस्य । किंविषयोऽसावित्याह-ज्ञायकः प्रतीतस्तु ज्ञाता, इतरश्चाज्ञायकः, तौ, गत आश्रितो ज्ञायकेनरगतः । तुशब्दोऽवधारणे । तेन ज्ञायकेनरगत एवेति स्यात् । ते चामी-ज्ञायकसमीपे ज्ञायकः १, ज्ञायकसमीपे अज्ञायकः २, अज्ञायकसमीपे ज्ञायकः ३, अज्ञायकसमीपे अज्ञायक इति ४ । एतेषां च शुद्धेतरविभागमाह-शुद्धाशुद्धौ निर्दोषसदोषौ, क्रमेण प्रथमान्तिमावेवाऽऽद्यचरमावेव, आद्यस्य सम्यग्ज्ञानयोगात् शुद्धत्वम् । अन्तिमस्य तु सर्वथा ज्ञानाभावादशुद्धत्वम् । विरतौ ज्ञानस्यैव, अशुद्धिहेतुत्वादिति । तुशब्द एवकारार्थे, तत्प्रयोगो दर्शित एव । शेषयोस्तु प्रथमान्तिमाभ्यामन्ययोः पुनर्द्वितीयतृतीययोरित्यर्थः, किमित्याह-विभाषा-शुद्ध्यशुद्धिविषये विविध भाषणम् । कार्येति शेषः । इदमुक्तं भवति-कथञ्चिच्छुद्धाशुद्धौ च तौ स्यातामिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

विभाषामेव स्पष्टयन्नाह--

विइए जाणावेउं, ओहेण तइए जेट्ठगाइम्मि ।
कारणओ उ ण दोसो, इहरा होइ त्ति गहणविही ॥७॥

द्वितीये ज्ञायकसमीपे अज्ञायक इत्येवलक्षणे भङ्गके,न दोष इति सबन्धः । कथम् ?,ज्ञापयित्वा ओघेन सामान्येन, विशेषज्ञापनस्य प्रत्याख्यानावसरे कर्तुमशक्यत्वात् । प्रत्याख्येयवस्त्वादिकमर्थं प्रत्याख्यानाप्रतिपत्तार, प्रत्याख्यायत इति गम्यम् । तथा तृतीये अज्ञायकसमीपे ज्ञायक इत्येवलक्षणे भङ्गके न दोष इति सबन्धः । कथमित्याह-ज्येष्ठक आचार्याऽऽदिसंबन्धी वृद्धभ्राता, आदिशब्दात्तन्मातुलपितृपितृव्याऽऽदिग्रहः । तत्र विषये, कारणत एव पुष्टाऽऽलम्बनेनैव गुरूणां पूज्योऽयमित्यस्य पूजा कृता भवतु,असन्तोषश्चास्य परिहृताऽस्त्वित्यादिलक्षणेन,न तु यथाकथञ्चित् । तुशब्द एवकारार्थः । प्रत्याख्यानं प्रतिपद्यमानस्येति शेषः । न दोषो नापराधः । "अजाणगो अजाणगसगासे ।"इत्याज्ञाभङ्गरूपो भवति । अथोक्तविपर्ययमाह--इतरथाऽन्यथा अज्ञापयित्वा प्रत्याख्यानं यच्छत , तथाऽऽलम्बनाभावेऽज्ञसमीपे तद् गृह्णत इत्यर्थः । भवति जायते दोषविशेष इत्येषोऽनन्तरोक्तः ग्रहणविधिः, प्रत्याख्यानाऽऽदानविधानमिति । एवमोघद्वारं निगमितमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ पञ्चा० ५ विव० ।

आह जइ जीवघाए, पच्चक्खाए न कारए अन्नं ।
भंगभयाऽसणदाणे, धुवकारवणं ति न हु दोसो ॥२०॥

प्रत्याख्यानाधिकार एवाऽऽह परः । किमाह--यथा जीवघाते प्राणातिपाते प्रत्याख्याते सत्यसौ प्रत्याख्याता कारयत्यन्यमिति कारयति जीवघातमन्यप्राणिनमिति । कुत ?,भङ्गभयात्प्रत्याख्यानभङ्गभयादिति भावार्थः । अशनं इत्यशनमोदनाऽऽदि,तस्य दानमशनदानं,तस्मिन्नशनदाने,अशनशब्दः पानाऽऽद्युपलक्षणार्थः । ततश्चैतदुक्तं भवति-कृतप्रत्याख्यानस्य अन्यस्मै अशनाऽऽदिदाने ध्रुवं कारणमित्यवश्यं भुजिक्रियाकारणम्, अशनाऽऽदिलाभे सति भोक्तुर्भुजिक्रियासद्भावात् तत किमिति चेन्न तु दोषः, प्रत्याख्यानभङ्गदोष इति गाथार्थः ॥ २० ॥ आव० ६ अ० ।

निज्जायकारणम्मी, महयरगा नो करंति आगारं ।
कंतारविसिदुब्भिक्ख-याइ एअं निरागारं ॥ १४ ॥

निश्चयेन यातमपगतं कारणं प्रयोजनं यस्मिन्नसौ निर्यातकारणः,तस्मिन्साधौ,महत्तराः प्रयोजनविशेषाः , तत्फलाभावान्न कुर्वन्त्याकारं, कार्याभावादित्यर्थः । कान्तारवृत्तौ, दुर्भिक्षतायां च दुर्भिक्षभावे नेति भावः । अत्र क्रियते एतदेवभूतं प्रत्याख्यानं निराकारम् । इति गाथासमासार्थः । आव० ६ अ० ।

नो कयपच्चक्खाणो, आयरिआईण दिज्ज असणाई ।
न य विरइ पालणाओ, वेआवच्चं पहाणयरं ॥ २१ ॥

यतश्चैवमतः न कृतप्रत्याख्यानः पुमानाचार्याऽऽदिभ्यः, आदिशब्दादुपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानवृद्धाऽऽदिपरिग्रह । दद्यात्, किम् ?,अशनाऽऽदि । स्यादेतद्ददतो वैयावृत्यलाभ इत्यत आह-न च विरतिपालनाद्वैयावृत्यं प्रधानतरं,सत्यपि तल्लाभे किं तेन ?। इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

एव विनेयजनहिताय पराभिप्रायमाशङ्क्य गुरुराह-

नो तिविहं तिविहेणं, पच्चक्खाइ अन्नदाण कारवणं ।
सुद्धस्स उ तं मुणिणो, न होइ तब्भंगहेउ त्ति ॥२२॥

न त्रिविध करणकारणानुमतिभेदभिन्न, त्रिविधेन मनोवाक्काययोगत्रयेण, प्रत्याख्यानात् प्रत्याचष्टे अकान्नमशनाऽऽदि,ततोऽनभ्युपगतोपालम्भश्चोदकमत (?) यतश्चैवमन्यस्मै दानमन्यदानम्,अशनाऽऽदेरिति गम्यते,तेन हेतुभूतेन कारणं भुजिक्रियायाश्चरमन्यदानकारणं, तच्छुद्धस्याऽऽशनाऽऽदिदोषरहितस्य,ततस्तस्मान्मुनेः साधोर्न भवति तद्भङ्गहेतुः प्रत्याख्यानभङ्गहेतुः, तथाऽनभ्युपगमादिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

किं च-

सयमेवऽणुपालणिअं, दाणुवएसो य नेह पडिसिद्धो ।
ता दिज्ज उवइसिज्ज व, जहासमाहीइ अन्नेसिं ॥२३॥

स्वयमेवाऽऽत्मनैवानुपालनीयं प्रत्याख्यानमित्युक्तं निर्युक्तिकारेण, दानोपदेशौ च नेह प्रतिषिद्धौ,नत्वाऽऽत्मना आनयित्वा दानं श्राद्धकाऽऽदिकुलाऽऽख्यानं तूपदेश इति यस्मादेवं तस्माद्दद्यात्, उपदिशेत वा, यथासमाधिना यथासामर्थ्येन, अन्येभ्यो बालाऽऽदिभ्य इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-

कयपच्चक्खाणो वि अ, आयरिअगिलाणबालवुड्ढाणं ।
दिज्जाऽसणाइ संते, लाभे कयवीरिआयारो ॥ २४ ॥
संविग्गअन्नसंभो-इआण दंसिज्ज सड्ढगकुलाइं ।
अतरंतो वा संभो-इआण देसे जह समाही ॥ २५ ॥

निगदसिद्धा ॥ २४ ॥ "एत्थ पुण सामायारी -सय अभुंजतो वि साहूणं आणेत्ता भत्तपाणं देज्जा, संते वीरिए ण विगूहितव्वं, अप्पणो सते वीरिते अन्नो नाणावेयव्वो, जहा अज्जो अमुगस्स आणिउं देहि, तम्हा अप्पणो सते वीरिए आयरियगिलाणबालवुड्ढपाहुणगाईण गच्छस्स वसभाण कुलेहिंतो असलावएहिं वालद्धिसपन्नो आणेत्ता देज्जा वा, दवावेज्जा वा, परिविएसु सखडीए वा दवावेज्ज । दाणेत्ति गयं । उवदेसेज्जा वा संविग्गअन्नसंभोइयाणं, जहा-एयाणि दाणकुलाणि सड्ढगकुलाणि वा असरतो सभोइयाण वि देसेज्ज, न दोसो, अह पाहुणगस्स सन्नाभूमिं वा गतेण सखडी सुता दिट्ठा वा होज्ज वा, ताहे साहूणं अमुगत्थ सखडि त्ति एवं उवदिसेज्ज । उवदिसेति गयं । जहा समाही नाम-दाणे उवदिसे य जहासामत्थं जइ तरइ आणेउ देइ, अह न तरइ ते देवावेज्जा वा, उवदिसेज्जा वा, जहा अहा साहूण अप्पणो

वा समाही तहा तहा पयइयव्वं । समाहि त्ति वक्खाणियं ॥२४॥
अमुमेवार्थमुपदर्शयन्नाह भाष्यकारः-

**संविग्गअन्नसंभोइयाण, दंसिज्ज सड्ढगकुलाइं ।**
**अतरंतो वा संभो-इयाण दंसे जहसमाही ॥२५॥**

गतार्था, नवरमंतरस्स अन्नसंभोइयव्वं ॥ २५ ॥ आव० ६ अ०।

(११) धर्मकथामन्थनिर्मथितमिथ्यात्वभावाश्च भव्याः शुद्धं प्रत्याख्यानं प्रपद्यन्त इति । तदाह-

**पंचविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते । तं जहा-सद्दहणासुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे ।**

( पञ्चविहेत्यादि ) प्रतिषेधत आत्मनः मर्यादया कथनं प्रत्याख्यानम् । तत्र श्रद्धानेन तथेतिप्रत्ययलक्षणेन शुद्धं निरवद्यं श्रद्धानशुद्धम्, श्रद्धानाभावे हि तदशुद्धं भवति । एवं सर्वत्र इह निर्युक्तिगाथा-

" पच्चक्खाणं सव्व-न्नुदेसियं जं जहिं जया काले ।
तं जो सद्दहइ नरो, तं जाणसु सद्दहणसुद्धं ॥ १ ॥ "

विनयशुद्धं यथा-

किइकम्मस्स विसोहिं, पउंजए जो अहीणमइरित्तं ।
मणवयणकायगुत्तो, तं जाणसु विणयओ सुद्धं ॥ १ ॥ "

अनुभाषणाशुद्धं यथा-

" अणुभासइ गुरुवयणं, अक्खरपयवंजणेहिँ परिसुद्धं ।
पंजलिउडो अभिमुहो, तं जाणऽणुभासणासुद्धं ॥ १ ॥ "
नवरं गुरुर्भणति-"वोसिरह त्ति ।" शिष्यस्तु-"वोसिरामि त्ति ।"

अनुपालनाशुद्धं यथा-

"कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने ।
जं पालियं न भग्गं, तं जाणऽणुपालणासुद्धं ॥ १ ॥ "

भावशुद्धं यथा-

" रागेण व दोसेण व, परिणामेण व न दूसियं जं तु ।
तं खलु पच्चक्खाणं, भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥ १ ॥ " इति ।
अन्यदपि षष्ठं ज्ञातशुद्धमिति निर्युक्तावुक्तं, तदाह-
" पच्चक्खाणं जाणइ, कप्पे जं जम्मि होइ कायव्वं ।
मूलगुणउत्तरगुणे, तं जाणसु जाणसुद्धं ति ॥ १ ॥ "
स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

(१२) प्रत्याख्यानशुद्धिः-

**सोही पच्चक्खाण-स्स छव्विहा समणसमयकेऊहिं ।**
**पन्नत्ता तित्थयरेहिं, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ २६ ॥**

शोधनं शुद्धिः, सा प्रत्याख्यानस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, षड्विधा षट्प्रकारा, श्रमणसमयकेतुभिः साधुसिद्धान्तचिह्नभूतैः, प्रज्ञप्ता प्ररूपिता, कैः ?, तीर्थकरैः ऋषभादिभिः, तामहं व क्ष्ये । कथम् ?, समासेन संक्षेपेणेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अधुना षड्विधत्वमुपदर्शयन्नाह-

**सा पुण सद्दहणा जा-णणा य विणय अणुभासणा चेव ।**
**अणुपालणा विसोही, भावविसोही भवे छट्ठा ॥२७॥**

सा पुनः शुद्धिरेव षड्विधा । तद्यथा-श्रद्धानशुद्धिर्ज्ञानशुद्धिर्विनयशुद्धिः, अनुभाषणाशुद्धिश्चैव । तथा-अनुपालनाशुद्धिर्भवति षष्ठी । पाठान्तरं वा-" सोही सद्दहणा " इत्यादि । तत्र शुद्धिशब्दो द्वारोपलक्षणार्थः, निर्युक्तिगाथा चेयमिति गाथासमासार्थः ॥ २७ ॥

अवयवार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति इति, तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाऽऽह-

**पच्चक्खाणं सव्व-न्नुदेसियं जं जहिं जया काले ।**
**तं जो सद्दहइ नरो, तं जाणसु सद्दहणसुद्धं ॥ २८ ॥**

प्रत्याख्यानं सर्वज्ञभाषितं तीर्थकरप्रणीतमित्यर्थः । यदिति यत्सप्तविंशतिविधं पञ्चविधं साधुमूलगुणप्रत्याख्यानं, दशविधमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं, द्वादशविधं श्रावकप्रत्याख्यानम्, यत्र जिनकल्पे स्थविरकल्पे, चतुर्यामे पञ्चयामे च श्रावकधर्मे वा । यदा सुभिक्षे दुर्भिक्षे वा, पूर्वाह्णे पराह्णे वा । काल इति चरमकाले यत्र च श्रद्धत्ते नरस्तत्र तद्भेदोपचारात् तस्यैव तथापरिणतत्वाज्जानीहि श्रद्धानशुद्धमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

ज्ञानशुद्धं प्रतिपाद्यते-

**पच्चक्खाणं जाणइ, कप्पे जं जम्मि होइ कायव्वं ।**
**मूलगुणउत्तरगुणे, तं जाणसु जाणणासुद्धं ॥ २९ ॥**

प्रत्याख्यानं जानात्यवगच्छति, कल्पे जिनकल्पाऽऽदौ, यत्प्रत्याख्यानं, यस्मिन् भवति कर्त्तव्यं मूलोत्तरगुणविषयं, तज्जानीहि ज्ञानशुद्धम् । इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

विनयशुद्धमुच्यते-

**किइकम्मस्स विसुद्धिं, पउंजई जो अहीणमइरित्तं ।**
**मणवयणकायगुत्तो, तं जाणसु विणयओ सुद्धं ॥ ३० ॥**

( कितिकम्मस्सेत्यादि ) कृतिकर्मणो वन्दनकस्येत्यर्थः । विशुद्धिं निरवद्यां करणक्रियां प्रयुङ्क्ते यः प्रत्याख्यानकाले अन्यूनातिरिक्तां त्रिगुप्तमनोवाक्कायगुप्तः सन्, तत्प्रत्याख्यानपरिणामत्वात् प्रत्याख्यानं जानीहि विनयतो विनये शुद्धम् । इति गाथाऽर्थः ॥३०॥

अधुना अनुभाषणाशुद्धं प्रतिपादयन्नाह-

**अणुभासइ गुरुवयणं, अक्खरपयवंजणेहिँ परिसुद्धं ।**
**कयपंजली अभिमुहो, तं जाणऽणुभासणासुद्धं ॥३१॥**

कृतिकर्मप्रत्याख्यानं कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचनं, लघुतरेण शब्देन भणतीत्यर्थः । कथमनुभाषते ?, अक्षरपदव्यञ्जनैः परिशुद्धम्, अनेनानुभाषणाऽऽप्तमाह । नवरं "गुरू भणइ-वोसिरह त्ति । इमो वि भणइ-वोसिरामि त्ति । सेसं गुरुभणियसरिसं भाणियव्वं । " किंभूतः सन् कृतप्राञ्जलिरभिमुखः, तज्जानीह्यनुभाषणाशुद्धमिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ आव० ६ अ० । ( अनुपालनाशुद्धम् 'अणुपालण'सुद्ध' शब्दे प्रथमभागे ३८८ पृष्ठे गतम )

इदानीं भावशुद्धमाह-

**रागेण व दोसेण व, परिणामेण व न दूसिअं जं तु ।**
**तं खलु पच्चक्खाणं, भावविसुद्धं मुणेअव्वं ॥ ३३ ॥**

रागेण वाऽभिष्वङ्गलक्षणेन, द्वेषेण वा अप्रीतिलक्षणेन, परिणामेन चेहलोकाऽऽद्याशंसालक्षणेन स्वाम्भाऽऽदिना वक्ष्यमाणेन, न दूषितं न कलुषितं यत्तु यदेव तत्परिहरति तदेव, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्प्रत्याख्यानं भावशुद्धं, ( मुणेयव्वं ति ) ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः । (३३) "अवयवत्थे पुण-रागेण एस पूइज्जइ त्ति अहं पि एवं करेमि त्ति पूजाहामि त्ति एवं रागेण करेइ । दोसेण तहा करेमि जहा लोगो ममाउट्टो पडइ, तेण पदस्स नाढायंति त्ति, एवं दोसेण परिणामेण नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो कित्तिजससद्दहेउं वा अन्नपाणवत्थसेज्जासयणासणहेउं वा जो एवं न करेइ तं भावसुद्धं " ॥ ३३ ॥

एएहिँ छहिं ठाणेहिँ, पच्चक्खाणं न दूसिअं जं तु ।
तं सुद्धं नायव्वं, तप्पडिवक्खे असुद्धं तु ॥ ३४ ॥

एभिरनन्तरव्यावर्णितैः षड्भिः स्थानकैः श्रद्धानाऽऽदिभिः प्रत्याख्यानं न दूषितं न कलुषितम्, यत्तु यदेव, तच्छुद्धं ज्ञातव्यं, तत्प्रतिपक्षे अश्रद्धानाऽऽदौ सति अशुद्धं तु इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

परिणामेन वा न दूषितमित्युक्तं, तत्र परिणामं प्रतिपादयन्नाह–

थंभा कोहा अणाभोगा, अणापुच्छा असंतई ।
परिणामा उ असुद्धो–पाओ तम्हा विऊ पमाणं ॥३५॥

स्तम्भान्मानात्, क्रोधात्प्रतीतात्, अनाभोगाद्विस्मृतेः, अनापृच्छात्, असन्ततेः, परिणामतः, अशुद्धोपायो वा निमित्तं यस्मादेव तस्मात्प्रत्याख्यानचिन्तायां विद्वान्प्रमाणं निश्चयनयदर्शनेन विज्ञ इति गाथासमासार्थः ॥३५॥ "थंभेण एसो माणिज्जइ–अहं पि पच्चक्खामि, तो माणिज्जिस्सामि । कोहेण पडिचोयणादिओ वाहिओ नेच्छइ जेमिउं, कोहेण अभत्तट्ठं करेइ । अणाभोगेण न याणाइ–किं मम पच्चक्खाणं ति जिमिएण समरियं भग्गं पच्चक्खाणं । अणापुच्छा नाम–अणापुच्छाए भुंजइ–मा वारिज्जाहामि जहा तुमे अभत्तट्ठो पच्चक्खाओ । अहवा–जेमेमि तो भणीहामि वीसरियं ति, नत्थि अत्थ किंचि भोत्तव्वं, एवं पच्चक्खायति । परिणामओ असुद्ध त्ति दारं, सो पुव्वभणिओ, इह लोगजसकित्तिमादि । अहवा–एसेव थभादि अवाउ त्ति–अहं पि पच्चक्खामि, मा निच्छुभीहामि त्ति अवाएण पच्चक्खाइ, एवं न कप्पइ, विदू नाम जाणओ, तस्स सुद्धं भवति, सो अन्नहा न करेइ । कम्हा ? । जम्हा जाणओ तम्हा वि पमाणं, जाणंतो सुहं परिहरेइ त्ति भणियं होइ, सो पमाणंति ।" तस्य शुद्धं भवतीत्यर्थः पच्चक्खाणं सम्मत्तं । मूलद्वारगाथायां प्रत्याख्यानमिति द्वारं व्याख्यातम् । शेषाणि तु प्रत्याख्यानाऽऽदीनि पञ्च द्वाराणि नामनिष्पन्ननिक्षेपान्तर्गतान्यपि सूत्रानुगमोपरि व्याख्यास्यामि । किमिति ?, अत्रोच्यते–येन प्रत्याख्यानं परमार्थतः सूत्रानुगमेन समाप्तिं यास्यति । आव० ६ अ० ।

( १३ ) मनसा वचसा–

दुविहे पच्चक्खाणे पन्नत्ते । तं जहा–मणसा वेगे पच्चक्खाति, वयसा वेगे पच्चक्खाति । अहवा–पच्चक्खाणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा–दीहं एगे अद्धं पच्चक्खाति, रहस्सं एगे अद्धं पच्चक्खाति ।

(दुविहे पच्चक्खाणे इत्यादि) प्रमादप्रातिकूल्येन मर्यादया ख्यानं कथनं प्रत्याख्यानं, विधिनिषेधविषया प्रतिज्ञेत्यर्थः । तच्च द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वाऽनुपयुक्तस्य कृतचतुर्मासप्रत्याख्यानायाः पारणकदिने मांसदानप्रवृत्तायाः राजदुहितुरिवेति । भावप्रत्याख्यानमुपयुक्तसम्यग्दृष्टेरिति, तच्च देशसर्वमूलगुणोत्तरगुणभेदादनेकविधमपि कारणभेदाद् द्विविधम् । आह च–मनसा चैकः प्रत्याख्याति वधाऽऽदिकं निवृत्तिविषयीकरोति, शेषः प्राग्वदिति । प्रकारान्तरेणापि तदाह–( अहवेत्यादि ) सुगमम् । स्था० २ ठा० १ उ० ।

तिविहे पच्चक्खाणे पन्नत्ते । तं जहा–मणसा वेगे पच्चक्खाइ, वयसा वेगे पच्चक्खाइ, कायसा वेगे पच्चक्खाइ । एवं जहा गरहा तहा पच्चक्खाणे वि दो आलावगा भाणियव्वा ।

( मणसेत्यादि ) "कायसा वेगे पच्चक्खाइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए" इत्येतदन्त एकः । "अहवा–पच्चक्खाणे तिविहे पन्नत्ते । तं जहा–दीहं एगे अद्धं पच्चक्खाइ, रहस्सं एगे अद्धं पच्चक्खाइ, कायं एगे पडिसाहरइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए ।" इति द्वितीयः, तत्र कायमप्येकः प्रतिसंहरति पापकर्माकरणाय । अथवा–कायं प्रतिसंहरति पापकर्मभ्योऽकरणतायै तेषामेवेति । स्था० ३ ठा० १ उ० । (नमस्कारसहितप्रत्याख्यानम् 'णमोक्कारसहियपच्चक्खाण' शब्दे चतुर्थभागे १८६१ पृष्ठे "सूरे उग्गए" इत्यादि सूत्रे व्याख्यातम् )

अधुना सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्येदमेव निरूपयन्नाह–

असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एसो आहारविही, चउव्विहो होइ नायव्वो ॥ ३६ ॥

अशनं मण्डकौदनाऽऽदि, पानकं चैव द्राक्षापानाऽऽदि, खादिमं फलाऽऽदि, स्वादिमं गुडाऽऽदि, एष आहारविधिश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्यः । इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

साम्प्रतं समयपरिभाषया शब्दार्थनिरूपणायाऽऽह–

आसं खुहं समेई, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं ।
खे माइ खाइमं ती, साएइ गुणे तओ साई ॥३७॥

आशु शीघ्रं क्षुधं बुभुक्षां शमयतीत्यशनं, तथा प्राणानामिन्द्रियाऽऽदिलक्षणानामुपग्रहे उपकारे, यद्वर्तत इति गम्यते । तत्पानमिति । खमित्याकाशं, तच्च मुखविवरमेव, तस्मिन्मातीति खादिमम् । स्वादयति गुणान् रसाऽऽदीन् संयमगुणान्वा यतः स्वादिमं हि तत्त्वेन तदेवाऽऽस्वादयतीत्यर्थः । विचित्रनिरुक्तं स्वादिमं हि पाठाद् भ्रमति रौति तद् भ्रमर इत्यादिप्रयोगदर्शनात्साधुरेवायमन्वर्थः । इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्तः पदार्थः । पदविग्रहस्तु समासभाक्पदविषय इति नोक्तः ।

अधुना चालनामाह–

सव्वो वि अ आहारो, असणं सव्वो वि वुच्चई पाणं ।
सव्वो वि खाइमं त्ति अ, सव्वो वि अ साइमं होइ ॥३८॥

यद्यनन्तरोदितपदार्थापेक्षया अशनाऽऽदीनीति, यतः सर्वोऽपि चाऽऽहारश्चतुर्विधोऽपि तदर्थमशनं, सर्वोऽपि चोच्यते पानकं, सर्वोऽपि च खादिमं, सर्व एव च स्वादिमं भवति, अन्वर्थाविशेषात् । तथाहि–यथैवाशनमोदनमण्डकाऽऽदि क्षुधं शमयति, एवं पानमपि तथैव द्राक्षाक्षीरपानाऽऽदि, खादिममपि फलाऽऽदि, स्वादिममपि गुडाऽऽदि, यथा च पानं प्राणानामुपग्रहे वर्तते, एवमशनाऽऽदीन्यपि । तथा चत्वार्यपि खे मान्ति, चत्वार्यपि चाऽऽस्वादयन्ति, आस्वाद्यन्ते चेति न कश्चिद्विशेषस्तस्मादयुक्तमेव भेद इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ इयं चालना । प्रत्यवस्थानं तु यद्यपि एतदेव, तथापि तुल्यार्थप्राप्तावपि रूढितोऽप्रयोजनं संयमोपकारकमस्त्येव कल्पनया, अन्यथा दोषः ॥३८॥

तथा चाऽऽह–

जइ असणं चिअ सव्वं, पाणगमवि वज्जणम्मि सेसाणं ।
हवइ विसेसविवेगो, तेण विभत्ताणि चउरो वि ॥ ३९ ॥

यद्यशनमेव सर्वमाहारजातं गृह्यते, ततः शेषापरिभोगेऽपि

पानकाऽऽदिवर्जने उदकापरित्यागे शेषाणामाहारभेदानां, निवृत्तिर्न कृता भवतीति वाक्यशेषः । ततः का नो हानिरिति चेत् ?, भवति विशेषविवेक.,अस्ति च शेषाऽऽहारभेदपरित्यागः, न्यायोपपन्नत्वात् प्रेक्षापूर्वेणेत्यर्द्धकुक्कुट्याः पच्यते, अर्द्धं प्रसवाय कल्पत इत्यपरिणतानां श्राद्धानां च न जायते (?),एवं सामान्यविशेषभेदनिरूपणया सुखावसेयं सुखश्रद्धेयं च भवति । इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

तथा चाऽऽह-

असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।

एवं परूविअम्मी, सद्दहिउं जं सुहो होइ ॥ ४० ॥

अशनं पानकं चैव खादिमं स्वादिमं तथा, एवं प्ररूपिते सामान्यविशेषभावनाख्याते तथ्यावबोधात् श्रद्धातुं सुखं भवति-सुखेन श्रद्धा प्रवर्त्तते, उपलक्षणार्थत्वाद्दीयते, पाल्यते च सुखम् । इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

आह-मनसाऽन्यथा सम्प्रधारिते प्रत्याख्याने त्रिविधस्य प्रत्याख्यानं करोमीति वागन्यथा विनिर्गता चतुर्विधस्येति गुरुणाऽपि तथैव दत्तमत्र कः प्रमाणम् ?, उच्यते-शिष्यस्य मनोगतो भाव इति । आह च-

अन्नत्थ निवडिए वं-जणम्मि जो खलु मणोगओ भावो ।

तं खलु पच्चक्खाणं, न पमाणं वंजणं छलणा ॥४१॥

अन्यत्र निपतिते व्यञ्जने त्रिविधप्रत्याख्यानचिन्तायां चतुर्विध इत्येवमादौ निपतिते शब्दे यः खलु मनोगतो भावः प्रत्याख्यापयितुः, खलुशब्दो विशेषणे । अधिकृततरलयमयोगकरणं क्षिप्तचेतसोऽन्यत्र निपतिते, न तु तथाविधप्रमादात् यो मनोगतो भावः । तत्खलु प्रत्याख्यानं न प्रमाणम्, अनेनापान्तरालगतसूक्ष्मविवक्षाऽन्तरप्रतिषेधमाह । आज्ञाया एव प्रवर्तकत्वाद् व्यवहारदर्शनस्य चाधिकृतत्वात्, अतो न प्रमाणं व्यञ्जनं तच्छिक्षाऽऽचार्यवचनम्, किमिति ?, छलनाऽसौ व्यञ्जनमात्र, तदन्यथाभावसद्भावात् । इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

इदं च प्रत्याख्यानं प्रधानं निर्जराकारणमिति विधिवदनुपालनीयम्, तथा चाऽऽह-

फासिअं पालिअं चेव, सोहिअं तीरिअं तहा ।

किट्टिअमाराहिअं चेव, एरिसम्मि पयइअव्वं ॥ ४२ ॥

स्पृष्टं प्रत्याख्यानग्रहणकाले विधिना प्राप्तं, पालितं चैव पुनः पुनरुपयोगप्रतिजागरणेन रक्षितं, शोभितं गुर्वादिप्रदत्तशेषभोजनाऽऽसेवनेन, तीरितं तथा-पूर्णेऽपि कालावधौ किञ्चित्कालावस्थानेन, कीर्तितं भोजनवेलायाममुकं प्रत्याख्यानं तत्पूर्णमधुना भोक्ष्ये, इत्युच्चारणे, आराधितं चैव-एभिरेव प्रकारैः सम्पूर्णैर्निष्ठां नीतं, यस्मादेवम्भूतमेतदाज्ञापालनादप्रमादाच्च महत्कर्मक्षयकारणं तस्मात् अस्मिन् प्रयतितव्यमिति एवम्भूते यत्र प्रत्याख्याने यत्नः कर्तव्य इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

उचिए काले विहिणा, जं पत्तं फासिअं तयं भणियं ।

तह पालिअं च असइं,सम्मं उवओगपडिअरिअं ॥४३॥

गुरुदत्तसेसभोअण-सेवणयाए अ सोहिअं जाण ।

पुन्ने वि थोवकाला-वत्थाणा तीरिअं होइ ॥ ४४ ॥

भोअणकाले अमुगं, पच्चक्खायं ति सरइ किट्टिअं ।

आराहियं पयारेहिं, सम्मेएहिं निट्ठविअं ॥ ४५ ॥

गाथात्रयमन्यकर्तृकम् ।

साम्प्रतमनन्तरं, पारम्पर्येण च प्रत्याख्यानगुणानाह-

पच्चक्खाणम्मि कए, आसवदाराइँ हुंति पिहिआइं ।

आसववुच्छेएण य, तण्हा वुच्छेअणं होइ ॥ ४६ ॥

प्रत्याख्याने कृते सम्यक् निवृत्तौ कृतायां किमाश्रवद्वाराणि भवन्ति पिहितानि तद्विषयप्रतिबन्धानि कर्मबन्धद्वाराणि भवन्ति स्थगितानि, तत्राप्रवृत्तेराश्रवव्यवच्छेदेन च कर्मबन्धद्वारस्थगनेन,संवरणेन चेत्यर्थः। किम् ?, तद्व्यवच्छेदनं भवति तद्विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवति । इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

तण्हा वुच्छेएण य, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं ।

अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥ ४७ ॥

तद्व्यवच्छेदेन च तद्विषयाभिलाषनिवृत्त्या च अतुलः अनन्यसदृश उपशमः माध्यस्थ्यपरिणामो भवति मनुष्याणां पुरुषाणां जायते । पुरुषप्रणीतः पुरुषप्रधानश्च धर्म इति ख्यापनार्थं मनुष्यग्रहणम्,अन्यथा स्त्रीणामपि भवत्येव । अतुलोपशमेन पुनरनन्यसदृशमाध्यस्थ्यपरिणामेन,पुनः प्रत्याख्यानमुक्तलक्षणं भवति शुद्ध-जायते निष्कलङ्कम् । इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो तओ अपुव्वं च ।

तत्तो केवलनाणं, तत्तो मुक्खो सया सुक्खो ॥ ४८ ॥

ततः प्रत्याख्यानात् शुद्धाच्चारित्रधर्मः, स्फुरतीति वाक्यशेषः । कर्मविवेकः कर्मनिर्जरा, ततश्च चारित्रधर्मात्, ततश्चेति द्विरावर्तते, ततश्च तस्माच्च कर्मविवेकात् अपूर्वमिति क्रमेणापूर्वकरणं भवति । ततः अपूर्वकरणाच्छ्रेणिक्रमेण केवलज्ञानम्, ततश्च केवलज्ञानाच्छेषोपग्राहिकर्मक्षयेण मोक्षः सदा सौख्यः अपवर्गो नित्यसुखो भवत्येवमिदं प्रत्याख्यानं सकलकल्याणैककारणमतो यत्नेन कर्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ आ० ० ६ अ० । ध० ।

एवमपि शुद्ध्यमानेन प्रत्याख्यानं कार्यमतस्तत्फलं प्रश्नपूर्वकमाह-

पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ,पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीयलभूए विहरइ ॥ १३ ॥

हे भदन्त ! प्रत्याख्यानेन मूलगुणोत्तरगुणप्रत्याख्यानरूपेण जीवः किं जनयति ?। गुरुराह-हे शिष्य ! प्रत्याख्यानेन आश्रवद्वाराणि निरुणद्धि अतिशयेन आवृणोति । अत्र प्रत्यन्तरे कुत्रचित् अयं प्रश्नोऽस्ति-हे स्वामिन् ! प्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति ?। अत्रोत्तरम्--हे शिष्य ! प्रत्याख्यानेनेच्छानिरोधमाहाराऽऽदिवाञ्छाया निरोधं जनयति,इच्छानिरोधं प्राप्तो जीवः सर्वद्रव्येषु विनीततृष्णो भवति--सुतरामतिशयेन विनीता स्फोटिता तृष्णा येन स सुविनीततृष्ण.--अत्यन्तत्यक्ततृष्णः सन् शीतलीभूतो विहरति बाह्याभ्यन्तरसन्तापरहितो विचरति ॥ १३ ॥ उत्त० २९ अ० ।

इह च प्रत्याख्यानमिहोपाधिभेदाद्दशविधं भवति; आकारसमन्वितं च गृह्यते पाल्यते च । अत इदमभिधित्सुराह-

नमुक्कारपोरिसीए, पुरिमड्ढेगासणेगठाणे अ ।

आयंबिलि भत्तट्ठे, चरमे अ अभिग्गहे विगई ॥४९॥

दो छच्च सत्त अट्ठ य, सत्तऽट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि ।
चउ पंच अट्ठ नव य, पत्तेअं पिंडए नव य ॥ ५० ॥
दो चेव नमुक्कारे, आगारा छच्च पोरिसीए उ ।
सत्तेव उ पुरिमड्ढे, एगासणगम्मि अट्ठेव ॥ ५१ ॥
सत्तेगट्ठाणगस्स उ, अट्ठेवायंबिलस्स आगारा ।
पंच अभत्तट्ठस्स उ, छ प्पाणे चरमि चत्तारि ॥ ५२ ॥

नमस्कार इत्युपलक्षणत्वात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्द्धे एकासने एकस्थाने च आचाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ; किम् ?, यथासंख्यमेते आकाराः-द्वौ षट् सप्त अष्टौ सप्त अष्टौ च पञ्च षट् पाने, चतुः पञ्च अष्टौ नव प्रत्येकं पिण्डके नवकः । इति गाथाद्वयाऽक्षरार्थः । भावार्थमाह-द्वावेव नमस्कारे आकारौ, इह नमस्कारग्रहणात् नमस्कारसहितं गृह्यते । तत्र द्वावेवाऽऽकारौ, आकारो हि नाम प्रत्याख्यानेऽपवादे हेतुः ॥ ५० ॥ आव० ६ अ० । आ० चू० । पञ्चा० । प० व० । ( पौरुष्यादिप्रत्याख्यानसूत्राणि स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यानि )

(१२) अथ सामायिकविधिरभिधीयते । तस्य चैव प्रस्तावना-ननु सामायिके सकलसावद्ययोगविरतिरूपे सति किमनेनाऽऽहारप्रत्याख्यानेन, सकलगुणानां सामायिकेनैवाऽऽक्षिप्तत्वात् । अत एव कैश्चिदुद्घुष्यते-"रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ?। तावेव यदि न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ? ॥१॥" इत्याशङ्क्याऽऽह-

सामाइए वि हु साव-ज्जचागरूवे उ गुणकरं एयं ।
अपमायवुड्ढिजणग-त्तणेण आणाउ विण्णेयं ॥ १३ ॥

सामायिके आत्मपरिणामविशेषे, अपिशब्द उत्तरत्र संभन्त्स्यते । हुशब्दो वाक्यालङ्कारे । किंभूते ?, सावद्यत्यागरूपेऽपि निखिलसपापव्यापारपरिहारस्वभावेऽपि, न केवलं देशविरतिसम्यक्त्वश्रुतसामायिकेष्वेव, तुशब्द एवकारार्थो, भिन्नक्रमश्च । गुणकरमेवोपकारकमेव, एतदाहारप्रत्याख्यानमनन्तरोक्तम् । कथमिदमेवमित्याह-अप्रमादवृद्धिजनकत्वेनाप्रमत्तसमग्ररूपोत्पादकत्वात् । अनुभवन्ति च साधवोऽमुतोऽप्रमादवृद्धिम् । तथा आज्ञातः सर्वविदादेशात् । आदिष्टं च सर्वविदा सामायिकवतामेतच्चतुर्थाऽऽदि, तपसामादेशात् । आह च-" तवेहउ चउत्थाई, जाव य छम्मासिओ तवो होइ । " विज्ञेयं ज्ञातव्यं, गुणकरमिति योगः । अतः सामायिके सत्यपीदं युक्तम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १३ ॥

न चाप्रमादवृद्धिजनकत्वमस्यासिद्धमित्याह-

एत्तो य अप्पमाओ, जायइ एत्थमिह अणुहवो पायं ।
विरईसरणपहाणे, सुद्धपवित्तीसमिद्धफलो ॥ १४ ॥

इतोऽनन्तरोक्तादाहारप्रत्याख्यानात् । तुशब्दः, चशब्दो वा पुनरर्थे । अप्रमादोऽप्रमत्तता, जायते विशेषेण संपद्यते । क्वाप्रमादो जायते ?, इत्याह-(एत्थ त्ति) अत्र सावद्ययोगविरतिरूपे सामायिके । अथ किमत्र प्रमाणमित्याह-इहाहारप्रत्याख्यानस्याप्रमादजनकत्वेऽर्थे अनुभवः स्वसंवेदनं प्रमाणम्, प्रायो बाहुल्येन, वीतरागाणामप्रमादस्य जातत्वात्, अनुपयुक्तसाधूनां वा न जायतेऽसौ, प्रत्याख्याने सत्यपीत्यप्रमादविशेषानुभवाभावोऽपि स्यात्, एतत्सूचनार्थं प्रायोग्रहणम् । किंविधोऽसावप्रमाद इत्याह-विरतिस्मरणप्रधानः प्रत्याख्येयार्थनिवृत्तिस्मृतिपरम । प्रत्याख्यानजन्याप्रमादो हि विरतिं स्मारयत्येव, अनेन चान्तरं फलमप्रमादस्योक्तम् । तथा शुद्धप्रवृत्तेरनवद्यानुष्ठानस्य समृद्धिः संपूर्णता फलं यस्य स तथा । दृश्यते च प्रत्याख्यानजन्याप्रमादवतां सत्प्रवृत्तिप्रकर्षः । अनेन पुनरस्य बाह्यं फलमुक्तम् । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

नन्विदमाहारप्रत्याख्यानं त्रिविधाऽऽद्याहारभेदेन गृह्यमाणमप्रत्याख्यातान्यतराऽऽहारविषयेऽभिष्वङ्गभावयुक्तत्वेनेतरत्र च द्वेषभावोपेतत्वेन सामायिकं बाधते, सर्वत्र तस्य निरभिष्वङ्गतास्वभावत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-

ण य सामाइयमेयं, बाहइ भेयग्गहे वि सव्वत्थ ।
समभावपवित्तिणिवि-त्ति भावओ ठाणगमणं व ॥१५॥

न च नैव, सामायिकं समभावलक्षणं कर्मताऽऽपन्नम्, एतदाहारप्रत्याख्यानं कर्तृ, बाधते विनाशयति । भेदेन त्रिविधाहाराऽऽदिलक्षणविकल्पेन ग्रहणं प्रतिपत्तिः भेदग्रहणं, तत्रापि, न केवलं चतुर्विधाऽऽहारग्रहणं एवेति प्रतिज्ञा कुत एतदेवमित्याह-सर्वत्राऽऽहाराऽऽदौ समभावेन प्रत्याख्याततराऽऽहारभेदयोस्तुल्यपरिणामेन ये प्रवृत्तिनिवृत्ती क्रमेणाप्रत्याख्यातप्रत्याख्यातार्थयोः प्रवर्तननिवर्तने, तयोर्यो भावः सद्भावः, स तथा, तस्मात्समभावप्रवृत्तिनिवृत्तिभावत इति हेतुः । समभावता च प्रत्याख्यातुः प्रत्याख्यातेतराऽऽहारविषये वेदनावैयावृत्याऽऽदिनाऽऽतङ्कोपसर्गाऽऽदिना च शास्त्रोक्ताऽऽलम्बनेनैव प्रवृत्तेर्निवृत्तेश्च स्थानगमने प्रतीते इव स्थानगमनवदिति दृष्टान्तः । यथा हि समभावत एव क्वचित् स्थानं गमनं चेतरेतरपरिहारवदपि न सामायिकं बाधते, एवमिदमपीति । प्रयोगोऽत्र-यत्समभावपूर्वकमनुष्ठानं तत्सामायिकं न बाधते, स्थानगमने इव समभावपूर्वकं च भेदप्रत्याख्यानम् । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अथाऽऽहारप्रत्याख्यानवत्सामायिके आकाराः किमिति नोक्ता इति परमतमाशङ्कमान आह-

सामाइए आगारा, महल्लतरगे वि णेह पण्णत्ता ।
भणिया अप्पतरे वि हु, णवक्काराइम्मि तुच्छमिणं ॥१६॥

सामायिके सर्वविरतिरूपे, आकारा अपवादाः, ( महल्लतरगे वि त्ति ) आहारप्रत्याख्यानापेक्षया महत्तरकेऽपि बृहत्तरेऽपि, महत्तरत्वं च तस्य यावज्जीवितया त्रिविधं त्रिविधेन च प्रतिपत्तेः । न नैव, इह प्रत्याख्यानाधिकारे, प्रज्ञप्ताः प्ररूपिताः, महत्तर एव विषये ते प्ररूपयितव्या भवन्तीति हृदयम् । भणिताश्च प्ररूपिताः पुनरल्पतरेऽल्पनिशायतुच्छेऽपि, अपिशब्दोऽत्राऽऽहारप्रत्याख्यानस्याऽल्पतरत्वेनाऽऽकारभणनायोग्यतासूचनार्थः । हुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । नमस्काराऽऽदौ नमस्कारसहितपौरुषीप्रभृतिके, तदेव तुच्छमसारमिदं नमस्कारसहिताऽऽद्याकारभणने सति सामायिके तदभणनं युक्तिरहितत्वादिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

अत्रोत्तरमाह-

समभावे च्चिय तं जं, जायइ सव्वत्थ आवकहियं च ।
ता तत्थ ण आगारा, पण्णत्ता किमिह तुच्छं ति ? ॥१७॥

समभाव एव रागाऽऽदिविहितवैषम्यविरहितपरिणाम एव सन्ति, नान्यथा । तत्साम्‌ायिकम्, यद्यस्मात् जायते भवति । किं विषये समभाव इत्याह-सर्वत्र सर्वेषु पदार्थेषु शत्रुमित्राऽऽदिषु, अनेन द्रव्याण्याश्रित्य सामायिकमुक्तम् । अथ कालतस्तदेवाऽऽह-यावत्कथित यावज्जीविकम् । चशब्द. समुच्चये । तज्जायते इति वर्त्तते । तत्तस्मात्कारणद्वयात्, तत्र सामायिके नाकारा नापवादाः, प्रज्ञप्ताः प्ररूपिताः, जिनैरिति गम्यम् । ततश्च किम् ?, न किञ्चिदित्यर्थः । इहाऽऽकारविचारे, तुल्यमसारं युक्तियुक्तत्वादिति । अयमत्र भावार्थः-सामायिके आकारा न युक्ताः, तस्याऽन्म समभावरूपत्वात् । तथाहि-यदि गुरुलाघवाऽऽलोचनतो ग्लानाऽऽद्यवस्थायां प्रशस्ताऽऽलम्बनः काञ्चित्प्रतिषेवां करोति, तदा तस्य समभावावस्थितत्वेन सामायिकस्याबाधितत्वात्किं महत्तराऽऽकाराऽऽदिकरणेन ? । यदि च सामायिकप्रतिपत्तिकाले सर्वं सावद्य योग प्रत्याख्यामि अन्यत्र वैरिप्रतीकाराऽऽदेरित्येवं साकार षण्मासाऽऽदि यावदित्यवधिविशेषवद्वा प्रत्याख्याति तदा वैरिकाऽऽदिषु षण्मासाऽऽदिपरतश्च समभावाभावात्सामायिक नास्त्येवेत्याकारकरणमनर्थकमित्येव सामायिके आकाराभावः । इति गाथाऽर्थः ॥ १७ ॥

एतदेव सामायिकस्य सर्वार्थनिरभिष्वङ्गत्वं यावत्कथिकत्व च स्पष्टयन्नाह--

तं खलु णिरभिस्संगं, समयाए सव्वभावविसयं तु ।
कालावहिम्मि वि परं, भंगभया णावहिंतेण ॥ १८ ॥

तत्सामायिकम, खलुरवधारणे, निरभिष्वङ्गमेव निराशंसमेव । तया समतया इष्टानिष्टार्थेषु तुल्यतया हेतुभूतया, सर्वभावविषय समस्तवस्तुगोचरमेव । क्वचित् दृश्यते-( सव्वभावविसय ति चि ) तत्र निरभिष्वङ्गमेव तत्समतया सर्वभावविषयमिति कृत्वेति व्याख्येयम् । अनेन "समभावे च्चिय त जायइ सव्वत्थेति" भावितम् । ननु तत्त्व कथ निरभिष्वङ्गम्‌ जीवन यावदेव निवृत्तिभावेन तत परतोऽभिष्वङ्गभावाद् ? । उच्यते-कालावधावपि यावज्जीवमित्येवंभूतमर्यादायामपि, किंभूते काल,यथाविस्याह-परमिति जीवनात्परत., भङ्गभयात्प्रतिज्ञाभ्रशभीत्या, कृते सतीति शेष । नावधित्वेन न पुनर्मर्यादात्वेन, परतः सावद्यं करिष्यामीत्येवं रूपेणेति शेष । निरभिष्वङ्गमेव तदिति प्रकृतम । अनेन च ( आवकहियं ति ) भावितमिति गाथाऽर्थ ॥ १८ ॥

अथ निदर्शनत सामायिकमाकाराणामविषय इति दर्शयन्नाह-

मरणाजयऽज्झवसियसुहड-भावतुल्लमिह हीणाएण ।
[illegible] ण विसओ, भावेयव्वं पयत्तेण ॥ १९ ॥

[illegible] जयो वाऽवाप्तव्य इत्युल्लेखेन रणावसरे मरणजये मृत्युरिपुविजयावध्यवसितो येन सुभटेन स त[illegible] तस्य यो भावोऽध्यवसाय., तस्य तुल्यं सदृश यत्तत्तथा । इह [illegible] हीनज्ञातेन तुच्छोदाहरणेन, हीनता चास्य तत्रैव [illegible] मात्रैकत्वात्, रागाऽऽदिवैरिवारविधुरितात्म करणात्त्र [illegible] परापकारकरणपरायणत्वात्, सामायिकवतश्चैतद्विपरीत [illegible] व्यवसायमात्रेणैव च साधर्म्यात् । एतदेवमतोऽस्यासामाकाराणाम, न विषयो गोचर, तथाविधैकरूपत्वात्, भावयितव्यं भावनीयम, एतत् प्रयत्नेनाऽऽदरेण । न

इष्टपादेयविशेषे उपायविशेषेणतः प्रवर्तमान आशङ्कावान् भवति । इति गाथाऽर्थ ॥ १९ ॥

यत एवेदमित्थं महत्तरमत एवाऽऽह-

एत्तो च्चिय पडिसेहो, दढं अजोग्गाण वण्णिओ समए ।
एयस्स पाइणो वि हु, वीयं ति-विही य अइसइणा ॥२०॥

यत एवेदं सुभटभावतुल्यमत एव कारणात्प्रतिषेधो निवारणा दानं प्रति, दृढमत्यर्थम्, अयोग्यानां क्षुद्रमनस्त्वतया सुभटभाववर्जितानां, वर्णितोऽभिहित, समये सिद्धान्ते । कस्य प्रतिषेध इत्याह-एतस्य सामायिकस्य । ननु यद्ययोग्यानामेतद्दानंनिषेधो वर्णितस्तदा कथं भगवता महावीरेण जन्मान्तरविदारितसिंहजीवाजीवस्य सामायिकप्रतिपातवतोऽपि सामायिकदानविधिरादिष्टो गौतमस्य ?, इत्याशङ्क्याऽऽह--पातिनोऽप्यवश्य सामायिकात् प्रतिपतनशीलस्यापि, शास्त्रमितस्य । हुशब्दोऽलङ्कारार्थ । बीजमिति मुक्तिप्राप्त्यवन्ध्यकारणमयं सामायिकविधिरस्य भविष्यतीति कृत्वा । विधिश्च सामायिकदानप्रवर्त्तन च । वर्णित इति प्रकृतम । अतिशायिना केवलिना भगवता महावीरेण । अतो विशिष्टतरोपकारहेतुत्व विज्ञाय केवलिना तद्विधेः कृतत्वान्न तत्र भङ्गदोषः, प्रकृत्यैव तस्य भावाद, गुणस्यैव तत्राधिकत्वात्, मारणान्तिकसन्निपाते स्मृतिकार्यौषधदानवत् । इति गाथार्थ. ॥ २० ॥

ननु यदि सुभटभावतुल्यत्वाद सामायिकेनाऽऽकारा भवन्ति,
तदा सामायिकवतो नमस्कारसहिताऽऽद्यावपि ते न
युक्ताः, सुभटभावतुल्यभावबाधकत्वाद
तेषामित्याशङ्क्याऽऽह-

तस्स उ पवेसणिग्गम-वारणजोगेसु जह उ अववाया ।
मूलावाहाएँ तहा, णवकाराइम्मि आगारा ॥ २१ ॥

तस्य तु तस्यैव सुभटस्य, प्रवेशश्च सग्रामे जयार्थिन प्रवेशन, निर्गमश्च तत एव जयार्थिन एव निर्गमन, वारणं च विशिष्टावसरप्राप्तये प्रहरत. स्वबलस्य शत्रोर्वा निवारणं, योगश्च तदर्थमेव प्रयोगो व्यापारणं, प्रवेशनिर्गमवारणयोगा', प्रवेशनिर्गमवारणान्येव वा योगा व्यापारा. प्रवेशनिर्गमवारणयोगाः । तत्स्तेषु वैरिनिराकरणोपायभूतेषु सामायिकसिद्धयुपायभूतनमस्कारसहितादिकल्पेषु, यथा तु यथैव, अपवादा आकारास्तत्कारणभजनालक्षणा महत्तराऽऽकाराऽऽदिकल्पा भवन्ति । कथमित्याह-मूलाबाधया मूलभूतस्य मर्त्तव्यं जयो वाऽवाप्तव्य इत्येवंलक्षणस्य अध्यवसायस्याविचलिततया, तथा तेनैव प्रकारेण, नमस्काराऽऽदौ नमस्कारसहिताऽऽदौ प्रत्याख्याने । आकारा अपवादा महत्तराऽऽदिलक्षणा मूलाबाधया सुभटभावकल्पसामायिकाबाधया भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ २१ ॥

मूलाबाधामेव स्पष्टयन्नाह-

ण य तस्स तेसु वि तहा, णिरभिस्संगो उ होइ परिणामो ।
पडियारलिंगसिद्धो, उ णियमओ अप्पहारूवो ॥२२॥

न च नैव, तस्य साम यिकवतः सुभटस्य च, तेष्वपवादेष्वपि सत्सु, भावसामान्यत्र । तथा तत्प्रकार इष्टानिष्टार्थतुल्यतारूपो, जीवितानपेक्ष्य, निरभिष्वङ्गस्तु निराशंस एव स-

न्, भवति जायते, परिणामोऽध्यवसायोऽन्यथारूप इति योगः । किंभूतोऽसावन्यथारूपः ?, प्रतीकारः प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरूपः । सुभटपक्षे तु शरणान्वेषणाऽऽदिरूपः । स एव लिङ्गं चिह्नं, तेन भिन्नो यः स तथा । तुशब्दः पूरणार्थः । नियमाद्वश्यंभावेन, अन्यथारूपं, सामिष्वङ्ग इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यदि सामायिकवतो मद्दत्तराऽऽद्याकारेषु सत्सु साभिष्वङ्गः परिणामोऽभविष्यत्तदा तच्छुद्धये प्रायश्चित्तमकरिष्यत्, न चैवम्, ततस्तस्याऽऽकारेष्वपि सत्सु निरभिष्वङ्ग एव परिणामोऽनः साधूक्तं मूलभावाबाधया । इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

अपवादाऽऽश्रयणेऽपि न मूलभावबाधा भवतीत्येतदेव सविशेषं दर्शयन्नाह-

ण य पढमभावबाधा-य मो उ एवं पि अवि य तस्सिद्धी ।
एवं चिय होइ दढं, इहरा वामोहपायं तु ॥ २३ ॥

न च नैव, प्रथमभावस्याबाधात आद्याध्यवसायबाधा, प्रत्याख्यानपक्षे सामायिकबाधा, सुभटपक्षे जयाध्यवसायबाधा । " मो " इति निपातः पादपूरणे । तुशब्दः पुनरर्थः । तत्संबन्धश्च दर्शयिष्यते । एवमपि अनन्तरोक्तापवादाऽऽश्रयणेऽपि । अपि चेत्यभ्युच्चये । तत्सिद्धिः प्रथमभावस्य विशेषतो निष्पत्तिः, एवमेवापवादाऽऽश्रयण एव, भवति जायते, दृढमत्यर्थमाकारवन्, प्रत्याख्यानाऽऽश्रयणस्य तदुपायत्वात्,रिपुविजये प्रवेशाऽऽदिभजनाया इवेति । इतरथा पुनरपवादानवत्प्रत्याख्यानानाश्रयणे पुनः, व्यामोहप्राय तु मूढताप्रायमेव सामायिकं, सुभटस्य विजयाध्यवसानं वा भवेद्,उपायत एव तत्सिद्धेरिति गाथार्थः॥२३॥

ननु यद्यपि सामायिकं सुभटाध्यवसायतुल्यं, तथापि कस्यापि प्राणिनः कालान्तरे तस्य प्रतिपातः सम्भवतीत्यतः तदपि सापवादमेव कर्तुं युक्तम् । अत्रोत्तरमाह-

उभयाभावेऽपि कुतो, वि अगओ हंदि एरिसो चेव ।
तक्काले तब्भावो, चित्तखओवसमओ णेओ ॥ २४ ॥

उभयस्य-वर्तमानभवक्षयस्य भाववैरिजयादपवर्गस्य च, सुभटदृष्टान्तापेक्षया तु मरणारिपुविजयलक्षणस्य द्वयस्याभावोऽसत्ता उभयाभावस्तत्रापि, आस्तां तद्भावे । कुतोऽपि कस्मादपि परीषहानीकभयाऽऽदेः, अग्रतः पुरः, सामायिकप्रतिपत्तेरनन्तरं तत्पालनावसरे, सुभटपक्षे तु सङ्ग्रामकाल इत्यर्थः । हन्दीत्युपप्रदर्शने । ईदृश एव-मर्तव्यं वा भाववैरिविजयो वा विधेय इत्येवंविध एव, न पुनरपवादाभिमुखः, तद्भाव इति योगः । कदेत्याह-तत्काले सामायिकप्रतिपत्तिकाले, सुभटपक्षे तु सङ्ग्रामाभ्युपगमकाले । कोऽसावित्याह-तद्भावः सामायिकप्रतिपत्तिपरिणामः, अन्यत्र तु सुभटाध्यवसायः । कथमेतदेवमित्याह-चित्रक्षयोपशमतः कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात्, ज्ञेयो ज्ञातव्यः । एवंविधो हि तस्य क्षयोपशमो भवति, यतोऽवश्यम्भाव्यमनोभङ्गत्वेऽपि साधुसुभटस्याऽऽदावुदात्त एव भावो भवति । इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ तदेव सामायिके विधिसमायुक्तमित्यभिहितम् । पञ्चा० ५ विव० ।

( १४ ) अथ कोऽपि ब्रूयात्-विद्यमानार्थविषयमेव प्रत्याख्यानमुपपद्यते, निवृत्तिफलत्वादित्यत्राऽऽह-

बज्झाभावे वि इमं, पच्चक्खंतस्स गुणकरं चेव ।
आसवनिरोहभावा, आणाआराहणाओ य ॥ ४७ ॥

बाह्याभावेऽपि दुर्भिक्षकान्ताराऽऽद्यावशनाऽऽदेर्बाह्यस्य प्रत्याख्येयद्रव्यस्यात्यन्तासद्भावेऽपि, आस्तां सद्भावे, इदं प्रत्याख्यानं, प्रत्याचक्षाणस्य प्रत्याख्यातुः, गुणकरमेव कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकरणशीलमेव भवति । कुत इत्याह-आश्रवनिरोधभावात् आश्रवस्य कर्माऽऽदानहेतोरविरतलक्षणस्यान्तरार्थस्य निरोधो निषेधो यत्रास्य यो भावः सत्ता स तथा, तस्मादाश्रवनिरोधभावात्, आज्ञाराधनाच्च सर्वज्ञाऽऽज्ञानुपालनाच्च । सर्वविदो हि बाह्याभावेऽप्यातुरस्याविरत्याश्रयार्थस्य प्रत्याख्येयस्य सद्भावात् प्रत्याख्यानस्य सफलतां पश्यन्तस्तदादिशन्ति, रङ्काऽऽदीनां प्रव्राजनश्रवणादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अथास्यैव समर्थनार्थमाह-

न य एत्थं एगंतो, सगडाऽऽहरणाऽऽदि एत्थ दिट्ठंतो ।
संतं पि णासइ लहुं, होइ असंतं पि एवमेव ॥ ४८ ॥

न च नैव, अत्रापि बाह्यप्रत्याख्येयद्रव्याभावे निर्विषयं प्रत्याख्यानं भवतीत्यस्मिन्नपि पक्षे, अपिशब्दाद्बाह्यसद्भावे सविषयमित्यत्रापि । एकान्तोऽवश्यं भावः । अत्र चार्थे दृष्टान्ताद् सिद्ध इत्याह-शकटं यानं, तेनोपलक्षितमुदाहरणं कथानकं शकटोदाहरणं, तदादिर्यस्य कुन्ताऽऽदेः शकटोदाहरणाऽऽदि । अत्र बाह्याभावे प्रत्याख्यानं निर्विषयमित्यस्य पक्षस्यानैकान्तिकत्वे साध्ये दृष्टान्तो निदर्शनम् । अत्रैव हेतुमाह-सदपि विद्यमानमपि प्रत्याख्येयं वस्तु, असत्पुनर्नष्टमेवेत्यपिशब्दार्थः । नश्यत्यपैति, पुण्यविपर्ययाल्लघु शीघ्रम् । तथा भवति जायते, असदप्यविद्यमानमपि प्रत्याख्येयवस्तु पुण्यवशात्पुनर्जातमेवेत्यपिशब्दार्थः । एवमेव लघ्वेव । अथवा-सतो नाशः प्रायः प्रसिद्धः, असतस्तु भावो न तथेत्यत उच्यते-एवमेव यथा सन्नश्यति तथाऽसदपि स्यादित्यर्थः । हेतुप्रयोगश्चैवम्-अविद्यमानार्थविषयं प्रत्याख्यानमविषयमेवेत्यनेकान्तोऽसतोऽपि सम्भवात्, शकटकथानके असतः शकटस्यैवेति गाथाऽक्षरार्थः । कथानकं पुनरेवम्-किल केनचिद् द्विजातिना तथाविधमुनिपुङ्गवचरणकमलमूले नानाविधविषयाभिग्रहान् प्रतिपद्यमानान् मानवानवलोक्यासम्भवद्विषयत्वेन निष्फला एते नियमा इति मन्यमानेनोपहासपरिगतबुद्धिना "यद्यसद्विषयमपि प्रत्याख्यानं सफलं भवति ततो ममापि तद्भवतु ।" इत्यसूयया मया शकटं न भोक्तव्यमित्येवंभूतो नियमो विहितः । तस्य चान्यदा कथञ्चित् कान्तारोत्तीर्णस्यातिबुभुक्षितस्य कयाचिन्नरपतिसुतयोपवसननिमित्तमपूर्वमुद्धूलितजङ्घम्प्रजन्मानमवेपमाणया पक्वान्नमयं शकटं भोजनपात्रया विभ्यस्य समुपहितं, ततोऽसौ दृष्ट्वा चिन्तयामास-अहो साधूक्तं साधुभिः, असंभाविनोऽपि वस्तुनः कथञ्चित्सम्भवो भवतीति सविषयमेव सर्वं प्रत्याख्यानं तदिदं शकटं भक्ष्यतया प्राप्तं, कथमहं स्ववाचा अभक्ष्यतया प्रतिज्ञातं स्ववचनविलोपनेन भक्षयिष्यामीति विभाव्य तत्परिहृतवान् । सञ्जातसाधुवचनबहुमानश्च राजसुतासम्बोधनार्थं सर्वां स्ववार्तां तस्याः कथितवानिति संक्षेपतो दृष्टान्तः । इति गाथाऽर्थः ॥४८॥

पुनरपि प्रत्याख्यानस्य निर्विषयतापरिहारार्थमाह-

ओहेणाविसयं पि हु, ण होइ एयं कहिं चि णियमेणं ।
मिच्छासंसज्जियक-म्मओ तहा सव्वभोगाओ ॥ ४९ ॥

ओघेन सामान्येन, अविषयमपि बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरमपि, शकटभक्षणनियमवद्, अपिशब्दः सम्भावनायाम् । हुशब्दो

धाक्यालङ्कारे । न भवति न जायते, एतत्प्रत्याख्यानम् । कुत इत्याह-क्वचिद्देशे काले वा, सर्वभोगादिति सम्बन्धः । नियमेनावश्यतया । कुत एतदेवमित्याह-मिथ्या विरत्यपेक्षया विपरीततया ससज्जित सामस्त्येन प्रगुणितम् । पाठान्तरेण-"ससँजित" जीवेन स्वप्रदेशेषु सम्बन्धितम्,यत्कर्म चारित्रमोहाऽऽदि तत्तथा, तस्मान्मिथ्याससज्जितकर्मतो मिथ्याससर्जितकर्मतो वा । तथा तेन केनापि विशिष्टेन प्रकारेणाशकटाऽऽदावपि शकटाऽऽद्याकारत्वेन तत्कल्पनाऽऽदिना, सर्वेषां समस्तानामसभाव्यमानभोगआधानां शकटाऽऽदिप्रत्याख्येयार्थानां भोगः सर्वभोगस्तस्मात् । इति गाथाऽऽर्थः ॥ ४९ ॥

अन्वेवमपि प्रत्याख्यान निष्फलमेव, मिथ्यासंसज्जितकर्मतः सर्वस्य भोगभावेनावश्यतया तस्य भङ्गभवादित्याशङ्क्याऽऽह-

विरईए संवेगा, तक्खयओ भोगविगमभावेण ।
सफलं सव्वत्थ इमं, भवविरहं इच्छमाणस्स ॥ ५० ॥

विरतेः प्रत्याख्येयार्थेषु निवृत्तिपरिणामाद्धेतोः । तथा संवेगाद्विरतिप्रतिपत्तिकारणभूतान्मोक्षाभिलाषरूपाध्यवसायात् । किमित्याह-तस्य मिथ्याससज्जितकर्म्मणः क्षयस्तत्क्षयस्तस्मात्तत्क्षयतः कारणात् । किम् ?, भोगस्य विरतिविबाधकस्य कर्मजन्यस्य प्रत्याख्यानार्थोपभोगस्य, विगमभावो वियोगसत्ता भोगविगमभावस्तेन हेतुना, सफलं फलवत् । सर्वत्र सर्वेषु विद्यमानाविद्यमानेष्वर्थेषु, इदं प्रत्याख्यानम् । कस्येत्याह-भवविरहं ससारवियोगम्, इच्छतोऽभिलषत , तदन्यस्य हि प्रत्याख्यानाप्रतिपत्तेः । प्रतिपत्तावपि सांसारिकफलसाधकत्वात् परमार्थतस्तन्निष्फलमेवेति गाथार्थः ॥ ५० ॥ पञ्चा० ५ विव० । श्रावकस्य प्रतिक्रमणम् । ध० २ अधि० । ( प्रत्याख्यानविषये निह्नवेन सह विप्रतिपत्तिः 'अबद्धिय' शब्दे प्रथमभागे ६६१ पृष्ठे दर्शिता )

(१५) यदुक्तम्-प्रत्याख्यानपरिणाममेव विधीयमानं श्रेयो भवति, इति । तत्र प्रतिधीयते-

किमपरिमाणं सत्ती, अणागयद्धा अहापरिच्छेओ ? ।
जइ जावदत्थि सत्ती,तो नणु सच्चेय परिमाणं ॥२५३४॥
सत्तिकिरियाणुमेओ, कालो सूरकिरियाणुमेओ व्व ।
नणु अपरिमाणहाणी,आसंसा चेव तदवत्था ॥२५३५॥

किमिदं नामाऽपरिमाणम् ?, किं शक्तिर्यावज्जनोमीत्यपरिमाणम् ?, उत सर्वोऽप्यनागताद्धा, आहोस्विदपरिच्छेदः ?, इति त्रयी गतिः । तत्र यदि यावदस्ति शक्तिस्तावदहमिदं न सेविष्ये इत्यपरिमाणमिष्यते, ततस्तर्हि ननु सैव शक्तिः परिमाणमापन्नम्, अतो यदेव निषिध्यते तदेवाभ्युपगतमिति ॥ २५३४ ॥ कुतः ?, इत्याह-( सत्तीत्यादि ) 'यावच्छक्नोमि तावदिदं न सेविष्ये' इत्येवभूतया हि शक्तिक्रियया प्रत्याख्यानस्यावधिभूत कालं एवानुमीयते-यावन्तं कालं शक्तिस्तावन्त कालमिदं न सेविष्ये इत्यर्थः । दृष्टान्तमाह-यथा सूर्याऽऽदिगतिक्रियया समयावलिकाऽऽदिः कालोऽनुमीयते, तथाऽत्रापि शक्तिक्रियया प्रत्याख्यानावधिकाल इत्यर्थः । अस्त्वेवमिति चेत् । तदयुक्तम्, यतो नन्वेवं सति त्वया प्रतिज्ञातस्याऽपरिमाणपक्षस्य हानिः प्राप्नोति, शक्तिक्रियाऽनुमितकालपरिमाणस्येदानीं स्वयमेवाभ्युपगमादिति । यदुक्तम्-" तं दुट्ठं आसंसा होइ । " इति । अत्राऽऽह-(आसंसेत्यादि) ननु शक्तिरूपे अपरिमाणेऽपि त्वयेष्यमाणे आशंसादोषस्तदवस्थ एव, शक्तेरुत्तरकालमिदं सेविष्ये इत्याशंसायाः तदवस्थत्वादिति ॥ २५३५ ॥

शक्तिरूपे परिमाणेऽभ्युपगम्यमाने न केवलं भवतः स्वपक्षहानिः, किं त्वन्येऽपि दोषाः । के ?, इत्याह-

जइ न वयभंगदोसो, मयस्स तइ जीवओ वि सेवाए ।
वयभंगनिब्भयाओ, पच्चक्खाणाणवत्था य ॥ २५३६ ॥
इत्तियमेत्ती सत्ती, ति नाइयारो न यावि पच्छित्तं ।
न य सव्ववयनियमो,एगेण वि संजयत्त त्ति ॥२५३७॥

यथा मृतस्य पञ्चत्वमुपगतस्य सुरलोकादौ सुरकामिनीसंभोगाऽऽदिभोगान् भुञ्जतोऽस्मत्पक्षे दोषो न भवति तथा शक्तिरूपमपरिमाणमभ्युपगच्छतस्तव मते जीवतोऽपि भोगोपसेवायां न दोषः प्राप्नोति, एतावत्येव मम शक्तिः, अतो मत्प्रत्याख्यानस्य पूर्णत्वाज्जीवन्नपि भुनज्मि भोगान्, इत्यभिप्रायवतस्तदभ्युपगमेन जीवतोऽपि भोगानासेवमानस्य दोषानुषङ्गो न स्यादित्यर्थः । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा जिनशासने । किं चेत्थमभ्युपगमे एतावती मम शक्तिः, इत्यवष्टम्भवतो व्रतभङ्गनिर्भयत्वात्प्रत्याख्यानानवस्थैव स्याद्, एतावती मम शक्तिः, इति भोगासेवनात्पुनः प्रत्याख्यानात्पुनरप्यासेवनात्पुनः प्रत्याख्यानादिति । किं च-व्रतानामतिचारः, तदाचरणे च प्रायश्चित्तम्, एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्गनियमेन सर्वाण्यपि व्रतानि पालनीयानीति ॥ २५३६ ॥ यदागमरूढं तत्सर्वमपि भवदभिप्रायेण न प्राप्नोतीति सयुक्तिकं दर्शयन्नाह-( इत्तियमेत्तेत्यादि ) एतावत्येव मम शक्तिर्नाधिका, इत्यध्यवसायेन प्रतिसेवां कुर्वतोऽपि साधोः शक्त्यपरिमाणवादिनो भवतोऽभिप्रायेण नातिचारो, न चाऽपि व्रतभङ्ग , न चापि प्रायश्चित्तम्, तथा सर्वव्रतपरिपालननियमश्च न स्यात्,शक्त्यवष्टम्भाद्, एकव्रतपरिपालनेनापि त्वदभिप्रायेण सयतत्वादिति ॥ २५३७ ॥

अथ सर्वोऽप्यनागताद्धा अपरिमाणमपि द्वितीयो विकल्प इष्यते, सोऽपि न युक्त इति दर्शयन्नाह-

अहवा सव्वाणागय-कालग्गहणं मयं अपरिमाणं ।
तेणाणुवयपइण्णो, मओ वि भग्गव्वओ नाम ॥२५३८॥
सिद्धो वि संजओ च्चिय, सव्वाणागयद्धसंवरधर त्ति ।
उत्तरगुणसंवरणा-भावो च्चिय सव्वहा चेव ॥ २५३९ ॥

अथ सर्वस्याप्यनागतकालस्य ग्रहणमपरिमाणं भवतः, तेन तर्हि मृतोऽपि देवलोकाऽऽदौ भोगानासेवमानः, 'नाम' इत्यामन्त्रणे । अहो भग्नव्रत एव साधुः, अपूर्णप्रतिज्ञत्वात्, सर्वमप्यनागतकाल तदपरिपालनादिति सुव्यक्तमेवेति ॥ २५३८ ॥ अपि चैव सिद्धोऽपि संयत एव प्राप्नोति, सर्वानागताद्धासंवरधरत्वाद्, अस्यापि सर्वाद्धागृहीतप्रत्याख्यानकालाभ्यन्तरवर्तित्वादित्यर्थः, यावज्जीवगृहीतविरतिकालाभ्यन्तरवर्तिसाधुवदिति दृष्टान्तः स्वयमेव द्रष्टव्यः । भवतु सिद्धः संयतः, कोदोषः ?, इति चेत् । तदयुक्तम्, " सिद्धे नोसंजए, नोअसंजए, नोसंजयासंजए । " इति वचनादिति । अपि च-अन्योऽपि दोषः । कः ?, इत्याह-( उत्तरगुणेत्यादि ) उत्तरगुणः पौरुषीपुरिमा-

कैकाशनकोपवासाऽऽदितपोरूप. सवरण बहुभिराकारैर्गृही-तस्यैकाऽऽसनकाऽऽदिप्रत्याख्यानस्य भोजनानन्तरमाकारसं-क्षेपेण स्वरूपम, उत्तरगुणश्च सवरण चोगुणसवरणे, तयोरे-व सर्वानागताद्धाप्रत्याख्यानपक्षेऽभ्युपगम्यमाने सर्वथैवाभावः प्राप्नोति, पौरुष्यादिषु सर्वानागताद्धाप्रत्याख्यानत्वानुपपत्तेः, एकाशनकाऽऽदिषु पुनस्त्वदभिप्रायेण सर्वाद्धाप्रमाणेषु सवरण कदाचिदपि न घटत इति व्यक्तमेवेति ॥ २५३९ ॥

अथापरिच्छेदोऽपरिमाणमिति तृतीयपक्षमपाकर्तुमाह-

**अपरिच्छेए वि समा-ण एस दोसो जओ सुए तेणं ।**
**वयभंगभयाउ च्चिय, जावज्जीवं ति निद्दिट्ठं ॥२५४०॥**

यतोऽपरिच्छेदरूपेऽप्यपरिमाणेऽभ्युपगम्यमाने एव सर्वानाग-ताद्धाप्रत्याख्यानोक्तदोष. समान एव । तथाहि-कालापरिच्छेदे-नापि प्रत्याख्याने कृते किं घटिकाऽऽदिमात्र कञ्चित्काल प्रती-क्ष्य प्रतिसेवा करोतु, आहोस्वित्सर्वमप्यनागताद्धाप्रत्याख्यान पालयतु ?। यद्याद्य पक्ष, तर्ह्यनवस्था, यावद्धि घटिकां प्र-तीक्षते तावद् द्वे अपि घटिके किं न प्रतीक्षते ?, यावच्च द्वे प्रतीक्षते तावत् तिस्रोऽपि किं न प्रतीक्षते ?, इत्यादि । अथ द्वि-तीयः पक्षः, तर्हि मृतस्यापि भोगानासेवमानस्य व्रतभङ्ग एव, सिद्धस्यापि सयतत्वम्, उत्तरगुणसवरणाभावश्चेति त एव दोषा. । उपसंहरन्नाह-( सुए तेणेत्यादि ) तेनैताद् परिमाण-प्रत्याख्यानदोषाननिवीक्ष्य व्रतभङ्गभयादेव जिनकुचरिहारेण श्रुत आगमे-" सव्व सावज्जं जोग पच्चक्खामि जावज्जी-वाए । " इत्यत्र साधुप्रत्याख्यानस्य यावज्जीवमिति परिमाण-मादिष्टम्, अतो युक्ततामपरिमाणतामह इति ॥ २५४० ॥

आह-ननु सपरिमाणे प्रत्याख्याने मयाऽऽशसालक्षणो दोप उक्त एव, स कथम ?, इत्याह-

**नासंसा सेविस्सा-मि किं तु मा मे मयस्स वयभंगो ।**
**होही सुरेसु को वा, वयावगासो विमुक्कस्स ? ॥२५४१॥**

यावज्जीवावधिना प्रत्याख्यान कुर्वतो मरणानन्तरमहं भो-गान् सेविष्ये इत्येवंभूता हन्त ! न काचिदाशसा वर्तते-किंभू-तेन परिणामेन सावधिक प्रत्याख्यान करोतीत्यर्थ । किं तु मा मे मृतस्य-सुरेषूत्पन्नस्य सतो भोगानासेवमानस्य व्रतभङ्गो भविष्यति, इत्यध्यवसायेन मा मे व्रतभङ्गस्तत्र भूयाद्, इत्येवम् तेनैव शुभपरिणामेनेत्थंभूत प्रत्याख्यान करोतीत्यर्थ ,अतस्तत्र का आशसा ?। हि स विरत्यावारककर्मणा क्षयोपशमाभावत्-त्वात्र स्यात्त , सुरलोके त्ववश्य तदुदयात्परावस्य अयत शक्यस्वाद् यावज्जीवावधिना प्रत्याख्याति, परतस्तत्रशक्यत्वान्न प्रत्याख्याति, इति कथमाशसाऽऽदोषव्याख्यम् ?, इति । अथैव ब्रूया-स्त्व-किमितीत्थ व्रतभङ्गाद्बिभेत्यसौ ? । अयं हि मृतो मुक्तिं यास्यति, तत्र च कामभोगाभावाद्व्रतभङ्गासंभव एव, इति क स्तस्य व्रतभङ्गसक्षोभ ?। तदयुक्तम । साम्प्रतमिह मुक्तिगमना संभवात्,महाविदेहेष्वपि सर्वस्यापि तद्गमनानिश्चयायोगादिति । अथ कोऽपि तावन्मुक्तिं गच्छति,तस्य च निर्मुक्तस्य । मदभिमते-ऽपरिमाणे प्रत्याख्याने गृह्यमाणे गुणाधपि महाव्रतानुगमादप-रिमाणप्रत्याख्यानस्य सफलता भविष्यतीति चोदितयाऽऽह-"को वा वयेत्यादि" योऽपि मुक्तिं गच्छति तस्याऽपि विमुक्तस्य निष्ठितार्थस्य को व्रतानामवकाश ?, किं व्रतानां साफल्यम् ?, कृतकार्यस्य सिद्धत्वात्र किञ्चिदिति भाव । तस्मान्मुक्तिनामभि-नमपि प्रत्यक्षगतमेवाऽपरिमाणप्रत्याख्यानमिति । तदेव मुग्ध-मागिक्ष वा व्यक्तयाऽनपेक्ष्य सामान्येनैवापरिमाणप्रत्याख्याने दूषणान्युक्तानि ॥ २५४१ ॥

अथ निर्द्धार्य किञ्चिद्भिक्षु प्रति दूषणमाह-

**जो पुणरव्वयभावं, मुणमाणोऽवस्समाविनं भणइ ।**
**वयमपरिमाणमेवं, पच्चक्खं सो मुसावाई ॥ २५४२ ॥**

य. पुनरत्रेऽपि किञ्चिच्छास्त्रपरिकर्मितमतिर्भिक्षो मत गृहा-ति, भिक्षत्वादेव च चीर्णव्रत. सुरलोकमेव गच्छति, इत्यवबु-ध्यमान सुरेषु चाव्रतभावमविरतिभावमवश्यभाविन मुणन् जानानोऽपि व्रत प्रत्याख्यानमपरिमाण यावज्जीवपरिमाणर-हित भणत्युच्चरति स एव ब्रुवाण. प्रत्यक्ष साक्षादेव मृषा-वादी, अन्यथा भणित्वा अन्यथा करणादिति ॥ २५४२ ॥

अपि च-

**भावो पच्चक्खाणं, सो जइ मरणपरओ वि तो भग्गं ।**
**अह नत्थि न निद्दिस्सइ,जावज्जीवं ति तो कीस ?॥२५४३॥**

भावश्चैतसिको विरतिपरिणाम प्रत्याख्यानमुच्यते, स च प्रत्याख्यातुर्यावज्जीवावधिमेवास्ति, उत मरणपरतोऽपीति व-क्तव्यम ?। यद्यनन्तरपक्षस्तर्हि भग्न तस्य प्रत्याख्यानम, सुर लोकाऽऽदौ भोगसेवनादवश्यंभावी तद्भङ्ग इत्यर्थ. । अथाऽऽद्य पक्षस्तर्हि वचनेनाऽपि यावज्जीवम, इति परिमाण प्रगुणेन न्यायेन किं न निर्दिश्यते किं न क्रियते, येनान्यच्चेतस्यन्यत्तु वचनेनोच्यते ?, इति ॥ २५४३ ॥

अथ भावोऽन्यथा, वचन त्वन्यथा प्रोच्यते, तर्हि मायैव केवलमिति दर्शयन्नाह-

**जइ अवहेव भावो चेतयओ वयणमन्नहा माया ।**
**किं वाऽभिहिए दोसो,भावाओ किं वओ गुरुए ? ॥२५४४॥**

हन्त ! यद्यन्यथैव यावज्जीवावधिक एव चेतसि भाव प्र-त्याख्यानपरिणाम., अन्यथैव च यावज्जीवावधिपरिमाणर-हितमेव वचन, तर्हि चेतयतो जानत केवलैव माया नि-ष्कीयते । नान्यत्फल दृश्यते, अन्यथा विचिन्त्यान्यथा प्राप-णादिति । अथवा-प्रष्टव्योऽसि त्वम्-किं भावे तथा स्थितेऽपि "यावज्जीवाए ।" इत्यभिहिते दोप. कश्चिद्दृश्यते भवता, येन वचनेनापि नेदमभिधीयते ?। यदि वा-किं भावात्सकाशाद् ( वउ त्ति ) वचन गुरुक प्रधान पश्यसि त्व, येन भावेऽ-न्यथा स्थितेऽपि वचनमन्यथा अभिदधासि ?। एतद्युक्तम्, आगमे भावस्यैव प्रामाण्येन, वचनस्य त्वप्रामाण्येनाभिधाना-दिति ॥ २५४४ ॥

क. पुनरयमागम इत्याह-

**अनत्थ निवडिए व-ञ्जणम्मि जो खलु मणोगओ भावो ।**
**त खलु पच्चक्खाणं, न पमाणं वंजणं छलणा ॥२५४५॥**

इह केनापि त्रिविधाऽऽहाराऽऽदिप्रत्याख्यान कर्तुमध्यवसि-तम्, अधिकृतरसत्यमकरणाऽऽक्षिप्तचेतसा पुनश्चतुर्विधमाहारं प्रत्याख्यामीत्यादिव्यञ्जन शब्द उच्चरित. । एव च मानसप्र-त्यानुवृत्त्या व्यञ्जने शब्देऽन्यत्र निपतिते अन्यविषये समुच्चा-रिते य खलु प्रत्याख्यानविषयानेकसूक्ष्मविचाराऽनिक्कान्त. स्प-ष्ट प्रत्याख्यातुर्मनोगतो भावस्तदेव प्रत्याख्यान प्रमाण, स एव

प्रत्याख्यातृविवक्षितप्रत्याख्यानविषयो मनोगतो भाव प्रमाणं, न तु व्यञ्जन, शब्द इत्यर्थ. । कुतो न व्यञ्जन प्रमाणम् ? । यतश्छलना-छलमात्र तद्व्यञ्जनमतोऽप्रमाणम्, भावाननुरोधेन प्रवृत्तत्वात् । तदेवमागमेऽपि वचनस्याप्रामाण्येनोक्तत्वात यदि यावज्जीवावधिको मनसो भावस्त्वयेष्यते तदा वचनेनापि यावज्जीवम इत्युच्चार्यतां, किं मिथ्याग्रहेण ?, इति ॥ २५४५ ॥ विशे०। अत एव-"नरभवजीवियमिह गय-विसेसओ सेसय ज-हाजोगं । जावज्जीवाभिगयं, ता पच्चक्खामि सावज्जं ॥१॥" आ० म० २ अ० ।

(१६) अव्यक्तज्ञानोऽपि सपाप., तेनापि प्रत्याख्यातव्यम्-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु पच्च-क्खाणकिरिया णामऽज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते-आया अपच्चक्खाणी यावि भवति, आया अकिरियाकुसले यावि भवति, आया मिच्छासंठिया यावि भवति, आया एगं-तदंडे यावि भवति, आया एगंतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमणवयणकायवक्के यावि भवति, आया अप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति । एस खलु भगवता अक्खाए असंजते अ-विरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमणवयण-कायवक्के सुविणमवि ण पस्सति । पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ १ ॥

इहास्मिन् प्रवचने, सूत्रकृताङ्गे वा, खलुर्वाक्यालङ्कारे । प्रत्याख्यानक्रिया नामाऽध्ययन, तस्यायमर्थो वक्ष्यमाणलक्षणः। अनन्तीत्यात्मा जीवः प्राणी, स चानादिमिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-योगानुगततया स्वभावत एवाप्रत्याख्याय्यपि भवति, अपि-शब्दात्म एव कुतश्चिन्निमित्तात्प्रत्याख्याय्यपि । तत्राऽऽत्मग्र-हणमपरदर्शनव्युदासार्थम् । तथाहि-सांख्यानामप्रच्युतपन्न-स्थिरैकस्वभाव आत्मा । स च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थत-या किञ्चित्करत्वान्न प्रत्याख्यानक्रियायां भवितुमर्हति । बौद्धा-नामप्यात्मनो भावात् ज्ञानस्य च क्षणिकतया स्थितेरभा-वात् कुतः प्रत्याख्यानक्रियेति । एवमन्यत्रापि प्रत्याख्यानक्रि-याया अभावो वाच्य । तथा सदनुष्ठान क्रिया, तस्यां कुशलः क्रियाकुशल., तत्प्रतिषेधादक्रियाकुशलोऽप्यात्मा भवति । तथा-ऽऽत्मा मिथ्यात्वोदयसंस्थितो भवति । तथैकान्तेनाऽपराद्ध प्रा-णिनो दण्डयतीति दण्डः, तदेवभूतश्चात्मा भवति । तथा अना-रताऽऽपादनाद्रागद्वेषाऽऽकुलितत्वाद्, बालवद्, बाल आत्मा भ-वति । सुप्तवत्सुप्त । तथाहि-द्रव्यसुप्त शब्दाऽऽदीन् विषयान् न जानाति हिताहितप्राप्तिपरिहारविकलश्च । तथा-भावसुप्तोऽप्या-त्मैवभूत एव भवतीति । एवमविचारणीयान्यशोभनतया नि-रूपणीयान्यपर्यालोचनीयानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा । तत्र मनोऽन्तःकरण, वाग् वाणी, कायो देह, अर्थप्रति-पादक पदसमूहाऽऽत्मकं वाक्यमेक तिङन्त सुबन्त वा । तत्र वाग्ग्रहणेनैव वाक्यार्थस्य गतार्थत्वात्पुनर्वाक्यग्रहण करोति तदेव ज्ञापयति-इह वाग्व्यापारस्य प्रचुरतया प्राधान्य, प्रा-यशस्तत्प्रवृत्त्यैव प्रतिषेधविधानेन तयोरन्येषां प्रवर्त्तन भव-ति । तदेवमप्रत्याख्यानक्रिय. सन् आत्माऽविचारितमनोवाक्का-यवाक्यश्चापि भवतीति । तथा-प्रतिहत प्रतिस्खलित प्रत्या-ख्यात विरतिप्रतिपत्त्या पापकर्माऽसदनुष्ठान येन सः प्रतिह-तप्रत्याख्यातपापकर्मा, तत्प्रतिषेधादसदनुष्ठानपरश्चात्मा भव-ति । तदेवमेष पूर्वोक्ताऽसंयतोऽविरतोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियः सावद्यानुष्ठान· तथाभूतश्चासंवृतो मनोवाक्काये-रगुप्ताऽगुप्तत्वाच्चात्मन· परेषां च दण्डहेतुत्वाद्दण्डः, तदेवभूत-श्च सन् एकान्तेन बालवद् बाल· सुप्तवदेकान्तेन सुप्तस्तदेवं-भूतश्च बालसुप्ततयाऽविचाराण्यविचारितरमणीयानि परमार्थ-विचारगुणया युक्त्या वा विघटमानानि मनोवाक्कायवाक्या-नि यस्य स तथा । यदि वा-परसवन्ध्यविचारितमनोवाक्का-यवाक्यः सन् क्रियासु प्रवर्त्तते, तदेवभूतो निर्विवेकतया पटु-विज्ञानरहित· स्वप्नमपि न पश्यति, तस्य चाव्यक्तविज्ञान-स्य स्वप्नमप्यपश्यत पाप कर्म बध्यते, तेनैवभूतनाव्यक्तवि-ज्ञानेनापि पाप कर्म क्रियत इति भाव ॥ १ ॥

अत्र चाऽऽचार्याभिप्रायं चोदकोऽनूद्य निषेधयति-

तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी-असंतएणं मणेणं पाव-एणं, असंतीयाए वतीयाए पावियाए, असंतएणं काएणं पा-वएणं अहणं तस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयकायव-क्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावकम्मे णो कज्जइ । कस्स णं तं हेउं । चोयए एवं वदीति-अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वत्तिए पावि-याए वत्तिवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ । हणंतस्स सम-णक्खस्स सवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि पासओ, एवंगुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ । पुणरवि चोयए एवं वदीति-तत्थ णं जे ते एवमाहंसु-असंतएणं मणेणं पावएणं असंतीयाए वत्तिए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयण-कायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ, तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु ॥ २ ॥

( असंतएण इत्यादि ) अविद्यमानेनाऽसता मनसाऽसत्प्रवृ-त्तेनाऽशोभनेन । तथा-वाचा कायेन च पापेनाऽसता । तथा-ऽहिंसतः अमनस्कस्याऽविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः स्वप्नान्तिक च कर्म नोपचय यातीत्येवम-व्यक्तविज्ञानस्याऽपि, पाप कर्म न बध्यते । एवंभूतविज्ञानेन पापं न क्रियत इति यावत् । कस्य हेतो केन हेतुना केन कारणेन तत्पाप कर्म बध्यते ? । नात्र कश्चिदव्यक्तविज्ञानवतः पापकर्म-बन्धहेतुरिति भाव । तदेव चोदक एव स्वाभिप्रायेण पापकर्म-बन्धहेतुमाह-(अन्नयरेणमित्यादि) कर्माऽऽश्रवद्वारभूतैर्मनोवा-क्कायकर्मभि· कर्म बध्यत इति दर्शयति-अन्यतरेण क्लिष्टेन प्राणातिपाताऽऽदिप्रवृत्त्या मनसा वाचा कायेन च तत्प्रत्ययिक कर्म च बध्यत इति । इदमेव स्पष्टतरमाह-घ्नतस्समनस्क-स्य सविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमपि पश्यत प्रस्पष्टवि-ज्ञानस्यैवंगुणजातीयस्य पाप कर्म बध्यते न पुनरेकेन्द्रियविक-लेन्द्रियाऽऽदे· पापकर्म सभव इति । तेषां चानकस्य मनोवाक्का-

व्यापारस्याऽभावात् । अथैतद्व्यापारमन्तरेणाऽपि कर्मबन्ध इष्यते, एवं च सति मुक्तानामपि कर्मबन्धः स्यात्, न चैतदिष्यते, तस्मात् नैव स्वप्नान्तिकमविद्योपचितं कर्म बध्यत इति । तत्र यथैवभूतैरेव मनोवाक्कायव्यापारैः कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते तथैव व्यवस्थिते सति ये ते एवमुक्तवन्तः, तद्यथा- अविद्यमानैरेवाशुभैर्योगैः पापं कर्म क्रियते, मिथ्या त एवमुक्तवन्त इति स्थितम् ॥ २ ॥

तदेवं चोदकेनाऽऽचार्यपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षे व्यवस्थापिते सत्याचार्य आह-

तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी-तं सम्मं जं मए पुव्वे वुत्तं-असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वत्तियाए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जति, तं सम्मं । कस्स णं तं हेतुं ? । आयरिय आह-तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पएणत्ता । तं जहा-पुढविकाइया०जाव तसकाइया, इच्चेएहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे । तं जहा-पाणातिवाए०जाव परिग्गहे, कोहे०जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ ३ ॥

तत्राऽऽचार्यः स्वमतमनूद्य तस्योपपत्तिकं साधयितुमाह-(तं सम्ममित्यादि) यदेतन्मयोक्तं प्राग् यथा स्पष्टाऽव्यक्तयोगानामपि कर्म बध्यते, तत्सम्यक् शोभनं युक्तिसङ्गतमिति । एवमुक्ते पर आह-कस्य हेतोः केन कारणेन तत्सम्यगिति चेत् ? । आह-(तत्थ खलु इत्यादि) तत्रेति वाक्योपन्यासार्थम् । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना षड्जीवनिकायाः कर्मबन्धहेतुत्वेनोपन्यस्ताः । तद्यथा-पृथिवीकायिका इत्यादि, यावत्त्रसकायिका इति । कथमेते षड् जीवनिकायाः कर्मबन्धस्य कारणमिति ? । आह-(इच्चेएहिमित्यादि) इत्येतेषु पृथिव्यादिषु षड्जीवनिकायेषु, प्रतिहतं विध्वस्तं प्रत्याख्यातं नियमितं पापं कर्म येन स तथा । पुनर्नञ् समासेनाऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा य आत्मा जन्तुः, तथा तद्भवस्थादेव नित्यं सर्वकालं प्रकर्षेण शठः, तथा व्यतिपाते प्राणव्यपरोपणे चित्तं यस्य स व्यतिपातचित्तः, स्वपरदण्डहेतुत्वाद्दण्डः, प्रशठश्चासौ व्यतिपातचित्तदण्डश्चेति कर्मधारयः । इत्येतदेव प्रत्येकं दर्शयितुमाह-(तं जहेत्यादि) तद्यथा-प्राणातिपाते विधेये प्रशठचित्तदण्डः । एवं मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेष्वपि वाच्यम् । यावन्मिथ्यादर्शनशल्यमिति, तेषामिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाऽऽदीनाममनस्कत्वान्मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतत्वं द्रष्टव्यम् । तद्भावाच्च ते कथं प्राणातिपाताऽऽदिदोषवन्तस्तथा व्यक्तविज्ञाना अपि स्वप्नाऽऽद्यवस्थायामिति ते कर्मबन्धका एव ? । तदेवं व्यवस्थिते यत्प्रागुक्तं परेण-यथा नाव्यक्तविज्ञानानाममनस्कानां कर्मबन्ध इत्येतत् प्लवते ॥ ३ ॥

साम्प्रतमाचार्यः स्वपक्षसिद्धये दृष्टान्तमाह-

तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पएणत्ते । से जहाणामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाएणं निदाए पविसिस्सामि, खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे, से किं णु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाए पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि, पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवति, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए हंता ! भवति ॥ ४ ॥

(तत्थ खलु भगवया इत्यादि) तत्रेति वाक्योपन्यासार्थः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । भगवतैश्वर्याऽऽदिगुणोपेतेन चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितेन तीर्थकृता वधकदृष्टान्तः प्रज्ञप्तः प्ररूपितः । तद् यथानाम वधकः कश्चित्स्यादिति । कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितः सन् कस्यचिद्वधपरिणतः कश्चित्पुरुषो भवति । यस्याऽसौ वधकस्तं विशेषेण दर्शयितुमाह-(गाहावइस्स वा इत्यादि) गृहस्य पतिर्गृहपतिस्तत्पुत्रो वा । अनेन सामान्यतः प्राकृतपुरुषोऽभिहितः, तस्योपरि कुतश्चिन्निमित्ताद्वधकः कश्चित्स्यात्, स च वधपरिणामपरिणतोऽपि कस्मिंश्चित्क्षणे पाश्चात्येन घातयिष्यामीति । तथा-राज्ञः, तत्पुरुषस्योपरि कुपितं एतत्कुर्यादित्याह-(खणं निदाय इत्यादि) क्षणमवसरम् (णिदाय त्ति) प्राप्य तथाविधस्य पुरे गृहे वा प्रवेक्ष्यामीत्येतदध्यवसायी भवति । तथा-क्षणमवसरं छिद्राऽऽदिकं वध्यस्य लब्ध्वा तदुत्तरकालं तं वध्यं हनिष्यामीत्येवं सम्प्रधारयति । एतदुक्तं भवति-गृहपतेः सामान्यपुरुषस्य, राज्ञो वा विशिष्टतमस्य कस्यचिद्वधपरिणतोऽप्यात्मनोऽवसरं छद्माऽऽपरकार्यक्षणे सति । तथा-वध्यस्य च छिद्रमपेक्षमाणस्तदवसरापेक्षी किञ्चित्कालमुदास्ते, स च तथौदासीन्यं कुर्वाणोऽपरकार्यं प्रति व्यग्रचेताः सन्नस्मिन्नवसरे वधं प्रत्यस्पष्टविज्ञानो भवति । स चैवभूतोऽपि तथा तं वध्यं प्रति नित्यमेव प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति । एवमविद्यमानैरपि प्रव्यक्तैरशुभैर्योगैरेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया दृषोऽस्पष्टविज्ञाना अपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतत्वात्प्राणातिपाताऽऽदिदोषवन्तो भवन्ति । न च तेऽवसरापेक्षमाणा उदासीना अप्यवैरिणो न भवन्तीति । अत्र च वध्यवधकयोः क्षणापेक्षया चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा-वध्यस्याऽनवसरो, वधकस्य च, उभयोर्वाऽनवसरो, द्वयोरप्यवसर इति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" अप्पणो अक्खणयाए तस्स वा पुरिसस्स छिद्दं अलभमाणे णो वहेइ, तं जया मे खणो भविस्सइ तस्स पुरिसस्स छिद्दं लभिस्सामि, तया मे स पुरिसे अवस्सं वहयव्वे भविस्सइ, एवं मणो पहारेमाणे । " इति सूत्रं निगदसिद्धम् । साम्प्रतमाचार्य एव स्वाभिप्रेतमर्थं परप्रश्नपूर्वकमाविर्भावयन्नाह-(से किं तु हु इत्यादि) आचार्यः स्वतो हि निर्णीतार्थोऽप्युपया परं पृच्छति-किमिति प्रश्ने, तुरिति वितर्के, हुशब्दो वाक्यालङ्कारे । किमसौ वधकपुरुषोऽवसरापेक्षी छिद्रमवसरं प्रधारयन् पर्यालोचयन्नहर्निशं सुप्तो जाग्रदवस्थो वा तस्य गृहपते राज्ञो वा वध्यस्यामित्रभूतो मिथ्यासंस्थितो नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवत्याहोस्विन्नेत्येवं पृष्टः परः समतया माध्यस्थ्यमवलम्बमानो यथाऽवस्थितमेव व्यागृणीयात् । तद्यथा-हन्त ! आचार्य ? भवत्यसावमित्रभूत इतीत्यादि ॥ ४ ॥

तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह-

जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा

रन्नो वा रायपुरिसस्स खणं निद्दाए पविसिस्सामि, खणं लद्धूण वहिस्सामि त्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे, एवमेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं० जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे । तं जहा–पाणातिवाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले । एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवइ, से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ ५ ॥

( जहा से वहए इत्यादि ) यथाऽसौ वधक इत्यादिना दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह-(एवमेवेत्यादि) एवमेवेति। यथाऽसौ वधकोऽवसरापेक्षितया वध्यस्य व्यापत्तिमकुर्वाणोऽप्यमित्रभूतो भवत्येवमेवासावपि बालवत्, बालोऽस्पष्टविज्ञानो भवत्येव निवृत्तेरभावाद्योग्यतया सर्वेषां प्राणिनां व्यापादको भवति, यावन्मिथ्यादर्शनशल्योपेतो भवति । इदमुक्तं भवति-यद्यप्युत्थानाऽऽदिक विनय कुतश्चिन्निमित्तादसौ विधत्ते, तथाऽप्यदावधिनृपव्यापादकचण्डदुष्ट एवेति नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डश्च । यथा–परशुरामः कृतवीर्यं व्यापाद्यापि न तुष्टः क्षत्रियान् समन्तात् निःक्षत्रां पृथिवीं चकार । आह च–" अपकारसमेन कर्मणा, न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरुतेऽरियातनां, द्विषतां मूलमशेषमुद्धरेत् ॥ १ ॥ " इति । एवमसावमित्रभूतो मिथ्याविनीतश्च भवतीति । साम्प्रतमुपसंहरन् प्राक् प्रतिपादितमर्थमनुवदन्नाह–( एवं खलु भगवया इत्यादि ) यथाऽसौ वधकः स्वपरावसरापेक्षी न तावद् घातयति । अथवाऽनिवृत्तत्वाद्दोषदुष्ट एव, एवमसावप्येकेन्द्रियाऽऽदिकोऽस्पष्टविज्ञानोऽपि तथाभूत एवाविरताप्रतिहतप्रत्याख्यातसत्क्रियाऽऽदिदोषदुष्ट इति । शेषं सुगमम्, यावत्पापं कर्म क्रियत इति ॥ ५ ॥

तदेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रदर्शनेन पूर्वप्रतिपादितार्थस्य निगमनं कृत्वाऽधुना सर्वेषामेव प्रत्येकं प्राणिनां दुष्टाऽऽत्मा भवति, इत्येव तत्प्रतिपादयितुकाम आह–

जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स० जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तं समादाय दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं० जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तं समादाय दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवइ ॥ ६ ॥

(जहा से वहए इत्यादि) यथा असौ वधकः पराऽऽत्मनोरवसरापेक्षी, तथाऽस्य गृहपतेः, तत्पुत्रस्य वाऽभ्यर्हितस्य वा राजाऽऽदेस्तत्पुत्रस्य चैकमेकं पृथक् पृथक् सर्वेष्वपि वध्येषु घातकचित्तं समादाय प्राप्तावसरोऽहमेनं वैरिणं ममाधिविधायिनं पातयिष्यामीत्येवं प्रतिज्ञाय दिवा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद्वा सर्वास्ववस्थासु सर्वेषामेव वध्यानां प्रत्येकममित्रभूतोऽवसरापेक्षितया तथापि मिथ्यासंस्थितो नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति । इति रागद्वेषाऽऽकुलितो बालवद् बालोऽज्ञानाऽऽवृत एकेन्द्रियाऽऽदिरविरतिः सर्वेषामेव प्राणिनां विरतेरभावात्तद्योग्यतया प्रत्येकं वध्येषु घातकचित्तं समादाय नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति । इदमुक्तं भवति-यथाऽसौ तस्माद् गृहपतिराजानुज्ञाताऽनुपशान्तवैरः कालावसरापेक्षितया वधमकुर्वाणोऽप्यविरतिसद्भावाद्वैरान्न निवर्तते, तत्प्रत्ययिकेन च कर्मणा बध्यते, एवं मृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहेष्वपि प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनार्थविधानेन पञ्चावयवत्वं वाक्यमिति । इहैव पञ्चावयवस्य सूत्राणां विभागो द्रष्टव्यः । तद्यथा–" आया अपच्चक्खाणी यावि भवति । " इत्यत आरभ्य यावत् " पावे य से कम्मे कज्जइ त्ति । " इयं प्रतिज्ञा । तत्र परः प्रतिज्ञामात्रेणोक्तमनुक्तसममिति कृत्वा चोदयति । तद्यथा–" तत्थ चोयए पण्णवगं एवं वयासी । " इत्यत आरभ्य यावत् " जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु त्ति । " तत्र प्रज्ञापकश्चोदकं प्रत्येवं वदेत् । तद्यथा–मन्मया पूर्वं प्रतिज्ञातं तत्सम्यक् । कस्य हेतोः केन हेतुनेति चेत् ?, तत्र हेतुमाह–" तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकायहेऊ पण्णत्ता । " इत्यत आरभ्य यावत् " मिच्छादंसणसल्ले " इत्ययं हेतुः । हेतोरनैकान्तिकत्वव्युदासार्थं स्वपक्षे सिद्धिं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह–तद्यथा–" जहा खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते । " इत्येतदारभ्य यावत्सूत्रं " खणं लद्धूण वहिस्सामि त्ति पहारेमाणे त्ति । " तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य, तत्र च हेतोः सत्तां स्वाभिप्रेतां परेण स्थापयितुमाह–" से किं तु हु णाम से वहए । " इत्यादेरारभ्य यावत् " हंता भवति । " तदेवं हेतोर्दृष्टान्ते सत्त्वं प्रसाध्य हेतोः पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमुपनयार्थं दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः सत्तां परेणाभ्युपगतामनुवदति–" जहा से वहए । " इत्यत आरभ्य यावत् " णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे त्ति । " साम्प्रतं हेतोः पक्षधर्मत्वमाह–" एवमेव बाले यावि । " इत्यादीत आरभ्य यावत् " पावे य से कम्मे कज्जइ त्ति । " तदेवं प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयप्रतिपादकानि यथाविधिसूत्राणि विभागतः प्रदर्श्याऽधुना प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनमित्येतत्प्रतिपादयितुमाह–" जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स । " इत्यादि यावत् " णिच्चं पसढविउवायचित्तदंडे त्ति । " एतानि प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनाख्यानि सूत्रैः प्रदर्शितानि । प्रयोगस्त्वेवं द्रष्टव्यः–तत्राप्रतिहताप्रत्याख्यातक्रिय आत्मा पापानुबन्धीति प्रतिज्ञा, सदा षड्जीवनिकायेषु प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डत्वादिति हेतुः, स्वपरावसरापेक्षितया कदाचिदव्यापादयन्नपि राजाऽऽदिवधकवदिति दृष्टान्तः । यथाऽसौ वधपरिणामादनिवृत्तत्वात्तस्यामित्रभूतस्तथाऽऽत्मा अपि विरतेरभावात्सर्वेष्वपि सत्त्वेषु नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्ड इत्युपनयः । यत एव तस्मात् पापानुबन्धीति निगमनम् । एवं मृषावादाऽऽदिष्वपि पञ्चावयवत्वं योजनीयमिति । केवलं मृषावादाऽऽदिशब्दोच्चारणं विधेयम्, तच्चानेन विधिना नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डत्वात्, तथा नित्यं प्रशठादत्ताऽऽदानचित्तदण्डत्वादिति ॥ ६ ॥

तदेव सर्वाऽऽत्मना षट्स्वपि जीवनिकायेषु प्रत्येकममित्रभूत-तया पापानुबन्धित्वे प्रतिपादिते व्यभिचार दर्शयन्नाह-

णो इणट्ठे समट्ठे, चोदक ! इह खलु बहवे पाणा जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा नाभि-मया वा विन्नाया वा, जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तं स-मायाय दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अ-मित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे । तं जहा-पाणातिवाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ ७ ॥

( णो इणट्ठे समट्ठे इत्यादि ) नायमर्थः समर्थ इति प्रतिपत्तु योग्यः । तद्यथा-सर्वे प्राणिनः सर्वेषामेव सत्त्वानां प्रत्येक-ममित्रभूता इति । तत्राऽपरः स्वपक्षसिद्धये सर्वेषां प्रत्येक मि-त्राऽभावं दर्शयितु कारणमाह-इहास्मिश्चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके बहवोऽनन्ताः प्राणिनः सूक्ष्मबादरभेदभिन्नाः सन्ति । यद्येवं त-तः किमित्याह-ते च देशकालस्वभावविप्रकृष्टास्तथाभूता बहवः सन्ति ये प्राणिनः सूक्ष्माऽऽदिविप्रकृष्टाऽऽयत्तया अमुना शरीरस-मुच्छ्रयेणेत्यनेनेदमाऽऽह-प्रत्यक्षाऽऽसन्नवर्तिनाऽर्वाग्दर्शनेना-र्वाग्दर्शिनज्ञानसमन्वितसमुच्छ्रयेण न कदाचिद्, दृष्टाश्चक्षुषा, न श्रुताः श्रवणेन्द्रियेण, विशेषतो नाभिमता इष्टा न च विज्ञाता प्रतिभेदज्ञानेन स्वयमेवेत्यतः कथञ्चित्सन्निपर्यय, तस्य मित्र-भावः स्यात् । अतस्तेषां कदाचिदविज्ञानानां कस्य प्रत्येकं व-ध प्रति चित्तसमादान न भवति । न चाऽसौ तान् प्रति नित्य-प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति । शेष सुगमम् ॥ ७ ॥

एवं व्यवस्थितेनेन सर्वविषयप्रत्याख्यानं युज्यते, इत्येवं प्रति-पादिते परेण सत्याचार्य आह-

तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता । तं जहा-सन्नि-दिट्ठंते य, असन्निदिट्ठंते य । से किं तं सन्निदिट्ठंते ? । जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा, एतेसि णं छज्जीवनिकाए पडुच्च० तं जहा-पुढवीकायं० जाव तसकायं, से एगइओ पुढवीकाएणं किच्चं करेइ वि, कारावेइ वि, तस्स णं एवं भवइ-एवं खलु अहं पुढवीकाएणं किच्चं करेमि वि, कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ इमेणं वा, से एतेणं पुढवीकाएण किच्चं क-रेइ वि, कारावेइ वि, से णं ताओ पुढवीकायाओ असंजय-अविरयअप्पडिहयपच्चक्खाणपावकम्मे यावि भवइ । एवं० जाव तसकाए त्ति भाणियव्वं । से एगइओ छजीवनिकाएहिं किच्चं करेइ वि, कारावेइ वि । तस्स णं एवं भवइ-एवं खलु अहं छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि, कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ, इमेहिं वा से य तेहिं छज्जीवनि-काएहिं० जाव कारवेइ वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं अ-संजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मेहिं । तं जहा-पाणातिवाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले; एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सओ पावे य से कम्मे कज्जइ । सेत्तं स-न्निदिट्ठंतेणं ॥ ८ ॥

(तत्थ खलु भगवया इत्यादि) यद्यपि सर्वेष्वपि देशकालस्व-भावविप्रकृष्टेषु वधकचित्त नोत्पद्यते । तथाऽप्यसावविरतिप्रत्या-ख्येयत्वात्सेऽप्रमुक्तवैर एव भवति । अस्य चार्थस्य सुखप्रतिपत्त-ये भगवता तीर्थकृता द्वौ दृष्टान्तौ प्रज्ञप्तौ प्ररूपितौ । तद्यथा-संज्ञिदृष्टान्तोऽसंज्ञिदृष्टान्तश्च । अथ कोऽयं संज्ञिदृष्टान्त ? । ये के-चन इमे प्रत्यक्षाऽऽसन्नाः षड्भिरपि पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः ऊहा-ऽपोहविमर्शरूपाः, संज्ञा विद्यन्ते येषां ते संज्ञिनः, पञ्चेन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः करणपर्याप्त्या पर्याप्तकाः, एषां च मध्ये कश्चिदेकः षड्जीवनिकायान् प्रतीत्यैवंभूतां प्रतिज्ञां नियमं कुर्यात् । तद्यथा-षट्सु जीवनिकायेषु मध्ये पृथिवीकायेनैवैकेन वालुकाशिलोपललवणादिस्वरूपेण कृत्यं कार्यं कुर्याम् । स चैवंकृतप्रतिज्ञस्तेन तस्मिन् तस्मात् वा करोति, कारयति च, शेषकायेभ्योऽहं त्रिनिवृत्तः, तस्य च कृतनियमस्यैवंभूतो भवत्य-ध्यवसायः । तद्यथैव खल्वहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोमि, कारयामि च, तस्य च सामान्यकृतप्रतिज्ञस्य विशेषाभिसन्धिर्नैव भवति । तद्यथा-अमुना कृष्णेनामुना श्वेतेन पृथिवीकायेन कार्यं करोति, कारयति च स तस्मात्पृथिवीकायादनिवृत्तोऽ-प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, तत्र खननस्थाननिषीदनत्व-ग्वर्तनोच्चारप्रश्रवणाऽऽदिकरणक्रियासद्भावात् एवमप्तेजोवा-युवनस्पतिष्वपि वाच्यम् । तत्राप्कायेन स्नानपानावगाहन-भाण्डोपकरणप्रक्षालनाऽऽदिषु प्रयोग, तेजःकायेनापि पचनपाच-नप्रकाशनाऽऽदिषु । वायुनाऽपि व्यजनतालवृन्तवाद्यादिव्यापारा-ऽऽदिषु प्रयोजनम् । वनस्पतिनाऽपि कन्दमूलपुष्पफलपत्रत्वक्-शाखाऽऽद्युपयोगः । एवं विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेष्वप्यायोज्यमि-ति । तथैकः कश्चित् षट्स्वपि जीवकायेषु अनिरोधाऽसंयतत्वा-त्तैरशौ कार्यं सावद्यानुष्ठान स्वयं करोति, कारयति च परैः, तस्य च कश्चिदपि निवृत्तेरभावादेवंभूतोऽध्यवसायो भवति । तद्यथैवं खल्वहं षड्भिरपि जीवनिकायैः सामान्येन कृत्यं करोमि, न पुनस्तद्विशेषप्रतिज्ञेति । स च तेषु षट्स्वपि जीवनिकायेष्वसं-यतोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति । एवं मृषावादेऽपि वा-च्यम् । तद्यथेदं मया वक्तव्यमीदृग्भूतं तु न वक्तव्यम् । स च तस्मान्मृषावादादनिवृत्तत्वादसंयतो भवति । तथाऽदत्ताऽऽदा-नमप्याश्रित्य वक्तव्यम् । तद्यथेदं मयाऽदत्ताऽऽदानं ग्राह्यमिदं तु न ग्राह्यमिति । एवं मैथुनपरिग्रहेष्वपीति । तथा क्रोधमानमाया-लोभेष्वपि स्वयमभ्यूह्य वाच्यम् । तदेवमसौ हिंसाऽऽदीन्यकुर्व-न्नप्यविरतत्वात्तत्प्रत्ययिकं कर्म चिनोतीति । एवं देशकालस्वभा-वविप्रकृष्टेष्वपि जन्तुष्वमित्रभूतोऽसौ भवति, तत्प्रत्ययिकं च कर्म चिनोतीति, सोऽयं संज्ञिदृष्टान्तोऽभिहित । स च यद्यप्येककमेव पृथिवीकायं व्यापादयति, शेषेषु निवृत्त कदाचिद्भवेत् । एवं त्रि-काऽऽदिका संयोगा भणनीया यावत्सर्वानपि व्यापादयतीति । स चैवम्-सर्वेषां व्यापादकत्वेन व्यवस्थाप्यते, सर्वविषया-ऽऽरम्भप्रवृत्ते, तत्प्रवृत्तिरपि तदनिवृत्तेः । यथा कश्चिद् ग्रामघा-ताऽऽदौ प्रवृत्तः, यद्यपि च न तेन विवक्षितकाले केचन पुरुषा दृष्टास्तथाऽप्यसौ तत्प्रवृत्तिनिवृत्तेरभावात्तद्योग्यतया तद्घातक इत्युच्यते, इत्येष दार्ष्टान्तिकोऽप्यायोज्यम् ॥ ८ ॥

संज्ञिदृष्टान्तानन्तरमसंज्ञिदृष्टान्तः प्रागुपन्यस्तः, सोऽधुना प्रतिपाद्यते-

से किं तं असन्निदिट्ठंते ? । जे इमे असन्निणो पाणा । तं जहा-पुढवीकाइया० जाव वणस्सइकाइया, छट्ठा वेगइया तसा पाणा

जेसिं णो तक्काइ वा सन्नाइ वा पन्नाइ वा मणाइ वा वई वा पावे वा सयं वा करणाए अन्नेहिं वा कारवेत्तए करंतं वा समणुजाणित्तए, ते वि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं० जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूतमिच्छासंठिया निच्चं पसढविउवातचित्तदंडा भवंति । तं जहा-पाणाइवाते० जाव मिच्छादंसणसल्ले, इच्चेवं० जाव णो चेव मणो, णो चेव वई पाणाणं० जाव सत्ताणं दुक्खणताए सोयणताए जूरणताए (तिप्पावणताए) तिप्पणताए पिट्टणताए परितप्पणताए, ते दुक्खणसोयण० जाव परितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ॥९॥

( से किं तं असन्निदिट्ठंते इत्यादि ) सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा, सा विद्यते येषां ते सञ्ज्ञिनः, तत्प्रतिषेधादसञ्ज्ञिनः, मनसो द्रव्यतया अभावात्तीव्राऽतीव्राध्यवसायविशेषरहिताः, प्रसुप्तमत्तमूर्च्छिताऽऽदिवदिति । ये इमेऽसञ्ज्ञिनः । तद्यथा-पृथिवीकायिका यावद्वनस्पतिकायिकाः, तथा षष्ठा अप्येके त्रसाः प्राणिनो विकलेन्द्रिया यावत्सम्मूर्च्छिमाः पञ्चेन्द्रियाः, ते सर्वेऽप्यसञ्ज्ञिनः, येषां न तर्काऽऽदिविचारो मीमांसाविशिष्टविमर्शो विद्यते । यथा-कस्यचित्सञ्ज्ञिनो मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचिते देशे किमयं स्थाणुरुत पुरुषः ?, इत्येवमात्मक ऊहस्तर्कः सम्भवति, नैवं तेषामसञ्ज्ञिनां तर्काः संभवन्तीति । तथा सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा-पूर्वोपलब्धार्थे तदुत्तरकालपर्यालोचना ; तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा-स्वबुद्ध्योत्प्रेक्षणम्, स एवायमित्येवंभूतं प्रज्ञानं च । तथा मननं मनो, मतिरित्यर्थः । सा चावग्रहाऽऽदिरूपा । तथा स्पष्टवर्णा वाक्, सा च न विद्यते तेषामिति । यद्यपि च द्वीन्द्रियाऽऽदीनां जिह्वेन्द्रियसन्निवेशाऽऽदिकमस्ति तथाऽपि न तेषां स्पष्टवर्णत्वम् । तथा न चैषां पापं हिंसाऽऽदिकं करोमि कारयामीत्येवंभूताध्यवसायपूर्विका मतिः, तथा स्वयं करोम्यन्यैर्वा कारयामि, कुर्वन्तं वा समनुजानामीत्येवम्भूतोऽध्यवसायो न विद्यते तेषाम् । तदेवं तेऽप्यसञ्ज्ञिनो बालवद् बालाः सर्वेषां प्राणिनां घातनिवृत्तेरभावात्तद्योग्यतया घातका व्यापादकाः । तथाहि-द्वीन्द्रियाऽऽदय परोपघाते प्रवर्त्तन्ते, एवं तत्कृणाऽऽदिना अनृतभाषणमपि विद्यते, तेषामविरतत्वात्, केवलं कर्मपरतन्त्राणां वागभावः । तथाऽदत्ताऽऽदानमपि तेषामस्त्येव, वध्यादिभक्षणात् । तथेदमस्मदीयमिदं च पारक्यमित्येवंभूतविचाराभावाच्चेति । तथा तीव्रनपुंसकवेदोदयान्मैथुनाविरतेश्च मैथुनसद्भावोऽपि । तथाऽशनाऽऽदेः स्थापनात्परिग्रहसद्भावोऽपीति । एवं क्रोधमानमायालोभा यावन्मिथ्यादर्शनशल्यसद्भावश्च तेषामवगन्तव्य । तद्भावाच्च ते दिवा वा रात्रौ वा सुप्ता वा जाग्रदवस्था वा नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा भवन्ति । तदेव दर्शयितुमाह-( तं जहा इत्यादि ) ते ह्यसंज्ञिनः क्वचिदपि निवृत्तेरभावात्तत्प्रत्ययिककर्मबन्धोपेता भवन्ति । तद्यथा-प्राणातिपाते यावन्मिथ्यादर्शनशल्यवन्तो भवन्ति । तद्वत्तया च यद्यपि विशिष्टमनोवाग्व्यापाररहितास्तथाऽपि सर्वेषां प्राणिनां दुःखोत्पादनतया, तथा शोचनतया शोकोत्पादनत्वेन, तथा जूरणतया, जूरणं वयोहानिरूपं तत्करणशीलतया, तथा त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्यः पातनं त्रिपातनं तद्भावस्तथा । यदि वा-( तिप्पणयाए त्ति ) परिदेवनतया । तथा ( पिट्टणताए ) मुष्टिलोष्टप्रहारेण, परितापनतया बहिरन्तश्च पीडया,



ते चाऽसञ्ज्ञिनोऽपि यद्यपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां न सर्वेषां दुःखं समुत्पादयन्ति, तथाऽपि विरतेरभावात्तद्योग्यतया दुःखपरितापक्लेशाऽऽदेरप्रतिविरता भवन्ति, तत्सद्भावाच्च तत्प्रत्ययिकेन कर्मणा बध्यन्ते ॥ ९ ॥

तदेवं विप्रकृष्टविषयमपि कर्मबन्धं प्रदर्श्योपसंजिहीर्षुराह-

इति खलु से असन्निणो वि सत्ता अहोनिसिं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति० जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति०, जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति । एवं भूतवादी सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो होंति, असन्निणो हुच्चा सन्निणो होंति होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी । तत्थ से अविविचित्ता अविधूणिता असंमुच्छिता अणणुतावित्ता असन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमंति, सन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति, सन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमंति, असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति । जे एए सन्नी वा असन्नी वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविउवायचित्तदंडा । तं जहा-पाणातिवाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले । एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमणवयकायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥ १० ॥

( इति खलु ते इत्यादि ) इतीरूपप्रदर्शने । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, विशेषणे वा । किं विशिनष्टि ?, ये इमे पृथिवीकायाऽऽदयोऽसञ्ज्ञिनः प्राणिनस्तेषां न तर्को, न संज्ञा, न मनो, न वाक्, न स्वयं कर्तुं, नान्येन कारयितुं, न कुर्वन्तमनुमन्तुं वा प्रवृत्तिरस्ति । ते चाहर्निशममित्रभूता मिथ्यासंस्थिता नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा दुःखोत्पादनतया यावत्परितापनपरिक्लेशाऽऽदेरप्रतिविरताः, असञ्ज्ञिनोऽपि सन्तोऽहर्निशं सर्वकालमेव प्राणातिपाते कर्तव्ये तद्योग्यतया तदसम्प्राप्तावपि ग्रामघातकवदुपाख्यायन्ते, यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्त इति । उपाख्यानं वा असञ्ज्ञिनोऽपि योग्यतया पापकर्मानिवृत्तेरित्यभिप्रायः । तदेवं दर्शिते दृष्टान्तद्वये तत्प्रतिबद्धमेवार्थशेषं प्रतिपादयितुं चोद्यं क्रियते । तद्यथा-किमेते सत्त्वाः सञ्ज्ञिनश्च भव्याभव्यत्ववन्नियतरूपा एवाऽऽहोस्वित्सञ्ज्ञिनो भूत्वाऽसञ्ज्ञित्वं प्रतिपद्यन्ते, असञ्ज्ञिनोऽपि सञ्ज्ञित्वमित्येवं चोदिते सत्याहाऽऽचार्यः-( सव्वजोणिया वि खलु इत्यादि ) यदि वा-सत्येनवचना वेदान्तवादिनो य एवं प्रतिपादयन्ति--" पुरुषः पुरुषत्वमश्नुते, पशुरपि पशुत्वमिति । " तदत्रापि सञ्ज्ञिनः सञ्ज्ञिन एव भविष्यन्त्यसञ्ज्ञिनोऽप्यसञ्ज्ञिन इति तन्मतव्यवच्छेदार्थमाह-(सव्वजोणिया वीत्यादि ) यदि वा-किं सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिकर्मबन्धं प्राक्तने सत्येव कर्मणि कुर्वन्ति, किं वा नेति । एवमसञ्ज्ञिनोऽपि सञ्ज्ञिकर्मबन्धं प्राक्तने सत्येव कुर्वन्ति, आहोस्विन्नेत्येतदाशङ्क्याऽऽह-( सव्वजोणिया वीत्यादि ) सर्वा योनयो येषां ते सर्वयोनयः, संवृतविवृतोभयशीतोष्णोभयसचित्ताऽचित्तोभयरूपा योनय इत्यर्थः । ते च नारकतिर्यङ्नरामराः, अपिशब्दाद्विशिष्टैकयोनयोऽपि । खलुरिति विशेषणे । एतद्विशिनष्टि-तज्जन्मापेक्षया

सर्वयोनयोऽपि सत्त्वाः पर्याप्त्यपेक्षया यावन्नाद्यापि पर्याप्तिं निष्पद्यते तावदसंज्ञिनः करणतः सन्तः पश्चात्संज्ञिनो भवन्त्येकस्मिन्नेव जन्मनि अन्यजन्मापेक्षया त्वेकेन्द्रियाऽऽदयोऽपि सन्तः पश्चान्मनुष्याऽऽदयो भवन्तीति । तथाभूतकर्मपरिणामात् पुनर्भव्याभव्यत्वयोस्तु व्यवस्थानियम, भव्याभव्यत्वे हि न कर्माऽऽयत्ते, अतो नानयोर्व्यभिचारः । ये पुनः कर्मवशगास्ते संज्ञिनो भूत्वाऽसंज्ञिनो भवन्त्यसंज्ञिनश्च भूत्वा संज्ञिन इति वेदान्तवादिमतस्य प्रत्यक्षेणैव व्यभिचारः समुपलभ्यते । तद्यथा-सन्नपि कश्चिन्मूर्च्छाऽऽद्यवस्थायामसंज्ञित्वं प्रतिपद्यते, तदपगमे तु पुनः संज्ञित्वमिति, जन्मान्तरे तु सुतरां व्यभिचार इति । तदेवं संज्ञ्यसंज्ञिनोः कर्मपरतन्त्रत्वादन्योन्यानुगतिरविरुद्धा । यथा प्रतिबुद्धो निद्रोदयात्स्वपिति, सुप्तश्च प्रतिबुध्यते इत्येवं स्वापप्रतिबोधयोरन्योऽन्यानुगमनम् । एवमिहापीति । तत्र प्राक्तनं कर्म यदुदीर्णं यच्च बद्धमास्ते, तस्मिन् सत्येव तद्विविच्य पृथक्कृत्य तथाऽविधूयाऽसमुच्छिद्याऽननुताप्य, एते चाविविच्याऽऽश्रवद्वारोऽप्येकार्थिका अवस्थाविशेषं चाऽऽश्रित्य भेदेन व्याख्यातव्याः । तदेवमपरित्यक्तप्राक्तनकर्मणोऽसंज्ञिकायात्संज्ञिकायं संक्रामन्ति, तथा संज्ञिकायादसंज्ञिकायमिति । तथा-नारकाः सावशेषकर्माण एव नरकादुद्वृत्य मनुष्येषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते । एवं देवा अपि प्रायशस्तत्कर्मशेषतया शुभस्थानेषूत्पद्यन्त इत्यवगन्तव्यम् । अत्र चतुर्भङ्गकसमन्वं सूत्रेणैव दर्शयति-व्याख्यानमप्रत्याख्यानार्थमुपसंजिघृक्षुः प्राक् प्रतिपन्नमर्थं निगमयन्नाह-(जे एते से त्यादि ) ये एते सर्वाभिरपि पर्याप्तिभिः पर्याप्ता लब्ध्या करणेन च विकलाश्चापर्याप्तका अन्योन्यसंक्रमभाजः संज्ञिनोऽसंज्ञिनो वा सर्वेऽप्येते मिथ्याऽऽचारा, अप्रत्याख्यानित्वादित्यभिप्रायः । तथा सर्वजीवेष्वपि नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डाः भवन्तीत्येवंभूताश्च प्राणातिपातादिषु सर्वेष्वप्याश्रवद्वारेषु वर्तन्त इति, तदेवं व्यवस्थिते यत्प्रागुक्तं चोदकेन तदर्थेष्वविद्यमानाऽशुभयोगसंभवे कथं पापं कर्म बध्यत इत्येतन्निराकृत्य विरतेरभावात्स्वयोग्यतया पापकर्मसद्भावं दर्शयति-( एवं खलु इत्यादि ) एवमुक्तनीत्या, खलुरवधारणे, अलङ्कारे वा । भगवता तीर्थकृतेत्यादिना यत्प्राक् प्रतिज्ञातं तदनुवदति-यावत्पापं च कर्म क्रियत इति ॥ १० ॥

तदेवमप्रत्याख्यानिनः कर्मसद्भावात्तत्संभवाच्च नारकतिर्यङ्नरामरगतिलक्षणं संसारमवगम्य संजातवैराग्यश्चोदक आचार्यं प्रति प्रवणचेताः प्रष्टुमिच्छुराह-

से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवइ ? ।

आचार्य आह-

तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकायहेऊ पण्णत्ता । तं जहा-पुढवीकाइया० जाव तसकाइया । से जहाणामए मम अस्सातं (?) दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आताडिज्जमाणस्स वा० जाव उद्दविज्जमाणस्स वा० जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाणंतो सव्वे पाणा० जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा० जाव कवालेण वा आताडिज्जमाणे वा हम्ममाणे वा तज्जिज्जमाणे वा तालिज्जमाणे वा० जाव उद्दविज्जमाणे वा० जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा० जाव सव्वे सत्ता न हंतव्वा० जाव ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णियए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए । एवं से भिक्खू विरते पाणाइवायातो० जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं णो वमणं णो धूवणं तं पि न आदत्ते, से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे० जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे, एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए यावि भवइ त्ति बेमि ॥ ११ ॥

( से किं कुव्वमित्यादि ) अथ किमनुष्ठानं स्वतः कुर्वन्, किं वा परं कारयन्, कथं वा केन प्रकारेण संयतविरतप्रतिहतपापकर्मा जन्तुर्भवति । संयतस्य हि विरतिसद्भावात्सावद्यक्रियानिवृत्तिः, तन्निवृत्तेश्च क्रूरकर्मसंचयाभावः, तदभावाच्चनरकाऽऽदिगत्यभाव इत्येवं पृष्टे सत्याचार्य आह-( तत्थ खलु इत्यादि ) तत्र संयमसद्भावे षड्जीवनिकाया भगवता हेतुत्वेनोपन्यस्ताः । यथा प्रत्याख्यानरहितस्य षड्जीवनिकायाः संसारगतिनिबन्धनत्वेनोपन्यस्ता एवं त एव प्रत्याख्यानिनो मोक्षाय भवन्तीति । तथा चोक्तम्-" जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे । गणणाईया लोगा, दोण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥ " इत्यादि । इदमुक्तं भवति-यथाऽऽत्मनो दण्डाऽऽद्युपघाते दुःखमुत्पद्यते, एवं सर्वेषामपि प्राणिनामित्यात्मोपमया तदुपघातान्निवर्तते, एष धर्मः सर्वापायत्राणक्षमो ध्रुवोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरस्वभावो नित्य इति । परिणामानित्यतायामपि सत्यां द्रव्याऽऽश्रयणात् । तथा श्रा ठिन्नोऽग्निरिव शाश्वतः... पैः काचिदप्यस्खलितो, युक्तिसंगतत्वादित्यभिप्रायः, अयमेवंभूतश्च धर्मः सर्वैरपि लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं क्षेत्रज्ञैः सर्वज्ञैः प्रवेदितः, तदेवं स भिक्षुर्निवृत्तश्च सर्वाऽऽश्रवद्वारेभ्यो दन्तप्रक्षालनाऽऽदिकाः क्रिया अकुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रियोऽक्रियत्वाच्च प्राणिनामलूषकोऽव्यापादको यावदेकान्तेनैवासौ पण्डितो भवति । इति परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति पूर्ववत् । नयाः प्राग्वद् व्याख्येयाः । सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

(१७) जीवाः किं मूलगुणप्रत्याख्यानिनः ? इत्युक्त-प्रश्नोत्तरभेदेन प्रत्याख्यानेन तद्विपर्ययेण च जीवाऽऽदिपदानि विशेषयन्नाह-

जीवा णं भंते ! किं मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी ?, अपच्चक्खाणी ? । गोयमा ! जीवा मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी वि । नेरइया णं भंते ! किं मूलगुणपच्चक्खाणी वि पुच्छा ? । गोयमा ! नेरइया नो मूलगुणपच्चक्खाणी वि, नो उत्तरगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि । एवं० जाव चउरिंदिया पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, मणुस्सा य जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा नेरइया ।

( जीवा णमित्यादि ) ( पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा जीव त्ति ) मूलगुणप्रत्याख्यानिन उत्तरगुणप्रत्याख्या-

िनोऽप्रत्याख्यानिनश्च,नवरं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो देशत एव मूलगुणप्रत्याख्यानिनः, सर्वविरतेस्तेषामभावात् । इह चोक्त गाथया-
" तिरियाणं चारित्त, निवारियं अह य तो पुणो तेसिं ।
सुव्वइ बहुयाण च्चिय, महव्वयारोवणं समए ॥ १ ॥ "
परिहारोऽपि गाथयैव-
" तु महव्वयसब्भा-वे वि चरणपरिणामसंभवो तेसिं ।
न बहुगुणाण पि जहा, केवलसंभूइपरिणामो ॥ २ ॥" इति ।
( १८ ) अथ मूलगुणप्रत्याख्यानाऽऽदिमतामेवाल्पत्वाऽऽदि चिन्तयन्ति-

एएसि णं भंते ! जीवाणं मूलगुणपच्चक्खाणीणं उत्तरगुणपच्चक्खाणीणं अपच्चक्खाणीण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मूलगुणपच्चक्खाणी,उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी अणंतगुणा । एएसि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! मणुस्साणं मूलगुणपच्चक्खाणीणं पुच्छा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी संखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा । जीवा णं भंते ! किं मूलगुणपच्चक्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी ? । गोयमा ! जीवा सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी वि, देसमूलगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि । नेरइयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! नेरइया नो सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी, नो मूलदेसगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी वि । एवं० जाव चउरिंदिया । पंचिंदियतिरिक्खपुच्छा ? । गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खा नो सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी वि, देसमूलगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि । मणुस्सा जहा जीवा, वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा नेरइया । एएसि णं भंते ! जीवाणं सव्वमूलगुणपच्चक्खाणीणं देसमूलगुणपच्चक्खाणीणं अपच्चक्खाणीण य कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी अनंतगुणा । एवं अप्पाबहुगाणि तिण्णि वि जहा पढमिल्लए दंडए, नवरं सव्वत्थोवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया, देसमूलगुणपच्चक्खाणी अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा । जीवा णं भंते ! किं सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी, देसुत्तरगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी ? । गोयमा ! जीवा सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी, तिण्णि वि पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा, एवं चेव सेसा अपच्चक्खाणी० जाव वेमाणिया । एएसि णं भंते ! जीवाणं सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणीणं अप्पाबहुगाणि तिण्णि वि जहा पढमे दंडए० जाव मणुस्साणं ॥

( एएसि णमित्यादि ) ( सव्वत्थोवा जीवा मूलगुणपच्चक्खाणी त्ति ) देशतः सर्वतो वा ये मूलगुणवन्तस्ते स्तोकाः, देशसर्वोत्तरगुणवतामसङ्ख्येयगुणत्वात् । इह च सर्वविरतेषु ये उत्तरगुणवन्तस्तेऽवश्यं मूलगुणवन्तो, मूलगुणवन्तस्तु स्यादुत्तरगुणवन्तः, स्यान्नेति विकल्पः, य एव च तद्विकलास्त एवेह मूलगुणवन्तो ग्राह्याः ते चेतरेभ्यः स्तोका एव, बहुतरयतीनां दशविधप्रत्याख्यानयुक्तत्वात् । तेऽपि च मूलगुणिभ्यः सङ्ख्यातगुणा एव, नासंख्यातगुणाः, सर्वयतीनामपि सङ्ख्यातत्वात् । देशविरतेषु पुनर्मूलगुणवद्भ्यो भिन्ना अप्युत्तरगुणिनो लभ्यन्ते, ते च मधुमांसाऽऽदिविविधाभिग्रहवशाद्बहुतरा भवन्तीति कृत्वा देशविरतोत्तरगुणवतोऽभिक्रान्तोत्तरगुणवतां मूलगुणवद्भ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वं भवत्यत एवाऽऽह-"उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुण त्ति, अपच्चक्खाणी अणंतगुण त्ति ।" मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च एव प्रत्याख्यानिनोऽन्ये त्वप्रत्याख्यानिन एव, वनस्पतिप्रभृतिकत्वात्तेषामनन्तगुणत्वमिति । मनुष्यसूत्रे-" अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुण त्ति ।" यदुक्तं तत्सम्मूर्छिमग्रहणेनावसेयम् । इतरेषां संख्यातत्वादिति । ( एवं अप्पाबहुगाणि तिण्णि वि जहा पढमिल्लए त्ति ) तत्रैकं जीवानामिदमेव, द्वितीयं पञ्चेन्द्रियतिरश्चां, तृतीयं तु मनुष्याणाम् । एतानि च यथा निर्विशेषणमूलगुणाऽऽदिप्रतिबद्धे दण्डके उक्तानि, एवमिहापि एयाणि वाच्यानि । विशेषमाह-" नवरमित्यादि । "
( पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य एवं चेव त्ति ) यथा जीवाः सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान्यादय उक्ता एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च वाच्याः । इह पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चोऽपि सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनो भवन्तीत्यवसेयम् । देशविरतानां देशतः सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानस्याभिमतत्वादिति । भ० ७ श० २ उ० ।

( १९ ) जीवाः ? प्रत्याख्यानिनोऽप्रत्याख्यानिनो वा-
जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणाऽपच्चक्खाणी ? । गोयमा ! जीवा पच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि । एवं तिण्णि वि, एवं मणुस्सा वि । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया आदिल्लविरहिया सेसा अपच्चक्खाणी० जाव वेमाणिया । एएसि णं भंते ! जीवाणं पच्चक्खाणीणं० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी अणंतगुणा । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया सव्वत्थोवा पच्चक्खाणापच्चक्खाणी अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, मणुस्सा सव्वत्थोवा पच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी संखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा । भ० ७ श० २ उ० ।

जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी ? । गोयमा ! जीवा पच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी वि । सव्वजीवाणं एवं पुच्छा ? । गोयमा ! नेरइया

अपच्चक्खाणी० जाव चउरिंदिया । सेसा दो पडिसेहेयव्वा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया नो पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी वि, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी वि, मणुया तिन्नि वि सेसा जहा नेरइया ।

( जीवा णमित्यादि ) ( पच्चक्खाणि त्ति ) सर्वविरता । ( अपच्चक्खाणि त्ति ) अविरता । ( पच्चक्खाणापच्चक्खाणि त्ति ) देशविरता इति । ( सेसा दो पडिसेहेयव्वे त्ति ) प्रत्याख्यानदेशप्रत्याख्याने प्रतिषेधनीये, अविरतत्वान्नारकाऽऽदीनामिति ।

प्रत्याख्यान च तज्ज्ञाने सति स्यादिति ज्ञानसूत्रम्-

जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणं जाणंति, अपच्चक्खाणं जाणंति, पच्चक्खाणापच्चक्खाणं जाणंति ? । गोयमा ! जे पंचिंदिया ते तिन्नि वि जाणंति, अवसेसा न पच्चक्खाणं जाणंति । जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणं कुव्वंति, अपच्चक्खाणं कुव्वंति, पच्चक्खाणापच्चक्खाणं कुव्वंति ? । जहा ओहिया तहा कुव्वणा ।

तत्र च ( जे पंचिंदिया ते तिन्नि वि त्ति ) नारकाऽऽदयो दण्डकोक्तपञ्चेन्द्रियाः समनस्कत्वात्सम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानाऽऽदित्रयं जानन्तीति । ( अवसेसेत्यादि ) एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया प्रत्याख्यानाऽऽदित्रयं न जानन्ति, अमनस्कत्वादिति ।

कृत च प्रत्याख्यानं भवतीति तत्करणसूत्रं प्रत्याख्यानमायुर्बन्धहेतुरपि भवतीत्यायुःसूत्रम्-

जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया, अपच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया, पच्चक्खाणापच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया ? । गोयमा ! जीवा य, वेमाणिया य, पच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया, तिन्नि वि अवसेसा पच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया । गाहा-

" पच्चक्खाणं जाणइ, कुव्वति तेणेव आउनिव्वत्ती ।
सपएसुद्देसम्मि य, एमेए दंडगा चउरो ॥ १ ॥ "

तत्र च ( जीवा णेत्यादि ) जीवपदे जीवाः प्रत्याख्यानाऽऽदित्रयनिबद्धाऽऽयुष्का वाच्याः, वैमानिकपदे च वैमानिका अप्येवं प्रत्याख्यानाऽऽदित्रयवता तेषूत्पादात् । ( अवसेस त्ति ) नारकाऽऽदयोऽप्रत्याख्याननिर्वृत्ताऽऽयुषो, यतस्तेषु तत्त्वेनाविरता एवोत्पद्यन्त इति । भ० ६ श० ४ उ० । आ० चू० । स्था० ३ ठा० । आ० म० ।

( २० ) प्रत्याख्यान पर्षदि कथनीयम्-

से नूणं भंते ! सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवइ, दुपच्चक्खायं ? । गोयमा ! सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवइ, सिय दुपच्चक्खायं भवइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं० जाव सिय दुपच्चक्खायं भवइ ? । गोयमा ! जस्स णं सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स नो एवं अभिसमन्नागयं भवइ-इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा, तस्स णं सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं दुपच्चक्खायं भवइ । एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ, एवं खलु स मुसावाई सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले यावि भवइ । जस्स णं सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स एवं अभिसमन्नागयं भवइ-इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा, तस्स णं सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वयमाणस्स सुपच्चक्खायं भवइ, नो दुपच्चक्खायं भवइ, एवं खलु से सुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं वयमाणे सच्चं भासं भासइ, नो मोसं भासइ, एवं खलु से सच्चवाई सव्वपाणेहिं० जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए यावि भवइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव सिय दुपच्चक्खायं भवइ ।

( से नूणमित्यादि ) " सिय सुपच्चक्खायं सिय दुपच्चक्खायं " इति प्रतिपाद्य यत्प्रथमं दुष्प्रत्याख्यानत्ववर्णनं कृतं तद्यथासंख्यन्यायत्यागेन यथाऽऽसन्नतान्यायमङ्गीकृत्येति द्रष्टव्यम् । ( नो एवं अभिसमन्नागयं भवइ त्ति ) ( नो ) नैव एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारमभिसमन्वागतमवगतं स्यात् । ( नो सुपच्चक्खायं भवइ त्ति ) ज्ञानाभावेन यथावदपरिपालनात्सुप्रत्याख्यानत्वाभावः । ( सव्वपाणेहिं ति ) सर्वप्राणेषु ४ । ( तिविहं ति ) त्रिविधं कृतकारितानुमतिभेदभिन्नं योगमाश्रित्य ( तिविहेण ति ) त्रिविधेन मनोवाक्कायलक्षणेन करणेन ( असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे त्ति ) संयतो वधाऽऽदिपरिहारे प्रयतः, विरतो वधाऽऽदेर्निवृत्तः, प्रतिहतानि अतीतकालसम्बन्धीनि, निन्दातः प्रत्याख्यातानि चानागतप्रत्याख्यानेन पापानि कर्माणि येन स तथा । ततः संयताऽऽदिपदानां कर्मधारयः । ततस्तन्निषेधादसंयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा । अत एव ( सकिरिए त्ति ) कायिक्यादिक्रियायुक्तः सकर्मबन्धनो वा, अत एव-( असंवुडे त्ति ) असंवृताऽऽश्रवद्वारः । अत एव-( एगंतदंडे त्ति ) एकान्तेन सर्वथैव परान्दण्डयतीति एकान्तदण्डः, अत एवैकान्तबालः, सर्वथा बालिशोऽज्ञ इत्यर्थः । भ० ७ श० २ उ० ।

( २१ ) साम्प्रतं प्रत्याख्यातव्यमुक्तमध्ययने द्वाराशून्यार्थमाह-

दव्वे भावे अ दुहा, पच्चक्खायव्वय तु विन्नेयं ।
दव्वम्मी असणाई, अन्नाणाई उ भावम्मि ॥ ६९ ॥
सोउं उवट्ठिआए, विणीअवक्खित्ततदुवउत्ताए ।
एवंविहपरिसाए, पच्चक्खाणं कहेअव्वं ॥ ७० ॥

द्रव्यतो भावतश्च द्विधा प्रत्याख्यातव्यं तु विज्ञेयम् । द्रव्यप्रत्याख्यातव्यमशनाऽऽदि, अज्ञानाऽऽदि तु भावे, भावप्रत्याख्या. द्रव्यमि

ति गाथाऽर्थः ॥६९॥ मूलद्वारगाथायां गत तृतीयद्वारम् । इयाणि परिसा, सा य पुव्वभणिया सामाइयनिज्जुत्तीए सेलघणकुडग-चालणि इच्चाई । इह पुण सविसेसं भन्नइ । परिसा दुविहा-उवट्ठिया, अणुवट्ठिया य । उवट्ठियाए कहेयव्वं, अणुवट्ठियाए न कहेयव्वं । जा उवट्ठिया सा दुविहा-सम्मोवट्ठिया, मिच्छोवट्ठिया य । मिच्छोवट्ठिया जहा अज्जगोविंदो, तारिसाए न वट्टइ कहेउं । सम्मोवट्ठिया दुविहा-भाविया, अभाविया य । अभावियाए न वट्टइ । भाविया दुविहा-विणीया, अविणीया य । अविणीया न वट्टइ । विणीयाए कहेयव्वं । विणीया दुविहा-वक्खित्ता, अव्वक्खित्ता य । वक्खित्ता सुणेइ कम्मं च किंचि करेइ, खिप्पं ति वा अन्नं वावारं करेइ । अव्वक्खित्ता न किंचि अन्नं करेइ, केवलं सुणेइ । अव्वक्खित्ताए कहेयव्वं । अव्वक्खित्ता दुविहा-उवउत्ता, अणुवउत्ता य । अणुवउत्ता जा सुणेइ अन्नमणा वा चिंतेइ । उवउत्ता जा तच्चित्ता तम्मणा । उवउत्ताए कहेयव्वं । " तथा चाह-" सोउ उवट्ठियाए (गाहा ७०)" गतार्था । एवमेसा उवट्ठिया सम्मोवट्ठिया भाविया । विणीया अव्वक्खित्ता उवउत्ता य पढमपरिसाजोग्गा कहणाए, सेसाओ तेवट्ठि परिसाओ अजोग्गाओ अजोग्गणा इमा पढमा उवट्ठिया सम्मोवट्ठिया भाविया । विणीया अव्वक्खित्ता अणुवउत्ता एसा पढमा अजोग्गा । एवं तेवट्ठिं पि भाणियव्वाओ । उवट्ठिया सम्मोवट्ठिया भाविया । विणीए य होइ वक्खित्ता उवउत्तिगा य जोग्गा । सेसा अजोग्गाओ तेवट्ठि । एव पच्चक्खाणं पढमपोरिसीए कहिज्जइ । तब्बइरित्ताए न कहेयव्वं । न केवल पच्चक्खाणं, सव्वमवि आवस्सयं, सव्वमवि सुयनाणं ति । " मूलद्वारगाथायां परिषदिति गतम् । अधुना कथनविधिरुच्यते । तत्राय वृद्धवादः-" काए विहीए कहेयव्वं, पढमं मूलगुणा कहिज्जंति पाणातिवायवेरमणाति, ततो साधुधम्मे कहिते पच्छा असत्तिजुत्तस्स सावगधम्मो, इयरहा करिज्जते सत्तिजुत्तो वि सावगधम्मं पढमं सोउं तत्थेव विरमिति करेइ, उत्तरगुणेसु वि छम्मासियं आइकाउं ज जस्स जोग्गं पच्चक्खाणं त तस्स असढेणं कहेयव्वं । " ॥ ७० ॥ आव० ६ अ० । आ० चू० ।

अथवाऽयं कथनविधि -

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो ।
दिट्ठंतिय दिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इहरा ॥ ७१ ॥

आज्ञा आगमः,तद्ग्राह्यस्तन्निश्चितोऽर्थः-अनागतातिक्रान्तप्रत्याख्यानाऽऽदि., आज्ञयैवाऽऽगमेनैवाऽसौ कथयितव्यो,न दृष्टान्तेन तथा दार्ष्टान्तिकः दृष्टान्तपरिच्छेद्यः प्राणातिपाताऽऽद्यनिवृत्तानामेते दोषा भवन्त्येवमादि ,दृष्टान्तात् दृष्टान्तेन कथयितव्यः। कथनेऽयं विधिरेष कथनप्रकार प्रत्याख्याने वा। यद्वा-सामान्येनैवाऽऽज्ञाग्राह्योऽर्थः सौधर्माऽऽदिराज्ञयैवासौ कथयितव्यः, न दृष्टान्तेन, तत्र तस्य वस्तुनोऽसम्भवात् । तथा दार्ष्टान्तिक उत्पादाऽऽदिमानात्मा,वस्तुत्वाद्, घटवदित्येवमादिदृष्टान्तात् कथयितव्यः । एष कथनविधि, विराधना इतरथा विपर्ययोऽन्यथा, कथनविधेरप्रतिपत्तिहेतुत्वात् अधिकतरसमोहादिति गाथाऽर्थः ॥ ७१ ॥ मूलद्वारगाथोपन्यस्त उक्त. कथनविधि ।

( २२ ) प्रत्याख्यानफलम्-

पच्चक्खाणस्स फलं, इह परलोए अ होइ दुविहं तु ।
इहलोए धम्मिलाई, दामन्नगमाइ परलोए ॥ ७२ ॥

प्रत्याख्यानस्योक्तफलस्वरूपस्य फलं कार्यमिह लोके परलोके च भवति द्विविध द्विप्रकारम् । तुशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः । तथा चाऽऽह-इहलोके धम्मिलाऽऽदय उदाहरणम् । दामन्नकाऽऽदयः परलोके इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ७२ ॥ कथानके तु-" धम्मिल्लोदाहरणं धम्मिल्लहिंडीओ * नायव्व । आदिशब्दतो आमोसहिमाइया घेप्पति । दामन्नगोदाहरणं तु-रायपुरे नयरे एगो कुलपुत्तगजातीओ, तस्स जिणदासो मित्तो, तेण सो साहुसगासं नीओ । तेण मच्छमंसस्स पच्चक्खाणं गहियं । दुब्भिक्खे मच्छाहारो लोगो जाओ । इयरो वि सालपहिं महिलाए य खिसिज्जमाणो गओ उव्विग्गो दहं मच्छ दट्ठु, पुणरावत्ती जाया । एवं तिन्नि दिवसे तिन्नि वारे गहिया, मुक्का य । अणसणं काउ रायगिहे नयरे मणियारसेट्ठिपुत्तो दामन्नगो नामेण जाओ । अट्ठवरिसस्स कुलं मारीओ छिन्नं, तत्थेव सागरपोयसत्थवाहस्स गिहे चिट्ठइ । तत्थ रायगिहे साहू भिक्खट्ठं पविट्ठो । साहुणा सघाडयस्स कहियं-एयस्स गिहस्स एस दारओ अहिवती भविस्सइ । सुयं सत्थवाहेण, पच्छन्नं चमाढाण अप्पिओ । तेहिं दूरं नेउं अंगुलिं छेत्तुं मेसिओ निव्विसओ कओ, नासतो तस्सेव गोमंधिएण गहिओ,पुत्तो त्ति जोव्वणत्थो जाओ । अन्नया सागरपोओ तत्थ गओ, तं दट्ठूण उवाएण परियणं पुच्छइ-को एस ? । कहियं अणाहो त्ति इहागओ त्ति । सोऽतिभीओ लेहं दाउं वरं पाएहि पि विसाज्जेइ । गओ रायगिहस्स बाहिं परिस्संतो देवउले सुयइ, सागरपोयधूया विसा नाम कन्नगा, तीए अच्चणियावावडाए दिट्ठो पिउमुद्दमुद्दियलेह दट्ठु वाएइ-एयस्स दारयस्स असोहियसक्खिसपायस्स विसं दायव्वं, अणुसारकुसलो वि मुद्देइ नगरं पविट्ठो त्ति सा अणेण विवाहिया । आगओ सागरपोयओ, माइघरअच्चणियाविसज्जण सागरपोयस्स पुत्तअरत्त सोउ सागरपोओ हिययउब्भेदेण मओ, रन्ना दामन्नगो घरसामी कओ, भोगलंभिओ जाया । अन्नया पुव्वावरत्तहे मगलिएहिं पुरओ से नगीय-"अणुपुव्वमावहंता, वि अणत्था तस्स बहुगुणा होंति । सुहदुक्खकच्छपुडओ, जस्स कयंतो वहइ पक्खं ॥१॥" सोउ सयसहस्स मंगलियाण देइ । एव तिन्नि वारा तिन्नि सयसहस्साणि । रन्ना सुयं पुच्छिएण सव्वो रन्न सिट्ठं, तुट्ठेण रन्ना सेट्ठी ठविओ । बोहिलाभो,पुणो धम्मायुट्ठाणं, देवलोगगमणं । एवमाइ परलोए । अहवा सुकेण पच्चक्खाणेण देवलोयगमणं पुण बोहिलाभो सुकुलपच्चयादिसोक्खपरपरेण सिद्धिगमणं, केसि च पुण तेणेव भवगहणेण सिद्धिगमणं भवतीति । "

अत एव प्रधानफलोपदर्शनेनोपसहरन्नाह-

पच्चक्खाणमिणं से-विऊण भावेण जिणवरुद्दिट्ठं ।
पत्ता अणंतजीवा, सासयसुक्खं लहुं मुक्खं ॥ ७३ ॥

प्रत्याख्यानमिदमनन्तरोक्तमासेव्य भावेनान्त करणेन जिनवरोद्दिष्ट तीर्थकरकथित प्राप्ता अनन्तजीवा ,तीर्थस्वरूपकथन एव प्रवृत्तिहेतुत्वात् तत्रोक्तमित्यनपराध एवेत्यलं विस्तरेण। उक्तोऽनुगमः। आव०६अ०।(प्रत्याख्याने मृषावादो 'परिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते ) तीर्थकृतां महाव्रतरूपस्य प्रत्याख्यानस्य परिमाणम् । अधुना प्रत्याख्यानद्वारमाह-प्रथमजिनस्य ऋषभस्वामिनोऽन्तिमजिनस्य वीरस्वामिन इद प्रत्याख्यान-प्रकृत पञ्च यमा , प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि पञ्च महाव्रतानि, शेषाणामजितस्वामिप्र-

* धम्मिल्लहिंडिनामकग्रन्थात् । यथा वसुदेवहिंडी ।

भूतीनां मध्यमानां द्वाविंशतितीर्थकृतां चत्वारो यमाः, मैथुनव्रतवर्जानि शेषाणि चत्वारि महाव्रतानीत्यर्थः। तेषां मैथुनस्य परिग्रहेऽन्तर्भावविवक्षणात्-"नापरिगृहीता स्त्री परिभुज्यते" इतिन्यायात्। आ० म० १ अ० १ खण्ड।

( २३ ) साम्प्रतं प्रत्याख्याता उच्यते-

पच्चक्खाएण कया, पच्चक्खाविंतए वि सूत्रा उ।
उभयमवि जाणगेअर, चउभंगो गोणिदिट्ठंतो ॥६५॥
मूलगुण उत्तरगुणे, सव्वे देसे अ तह य सुद्धीए।
पच्चक्खाणविहिन्नू, पच्चक्खाया गुरू होइ ॥ ६६ ॥

प्रत्याख्याता गुरु, तेन प्रत्याख्यात्रा कृता प्रत्याख्यापयितर्यपि शिष्ये सूचा उल्लिङ्गना। न हि प्रत्याख्यानं प्रायो गुरुशिष्यावन्तरेण संभवति। अन्ये तु "पच्चक्खाणेण कय" इति पठन्ति, तत्पुनरयुक्तम्। प्रत्याख्यातुः निर्युक्तिकारेण साक्षादुपन्यस्तत्वात्। सूत्रानुपपत्तेः प्रत्याख्यापयितुरपि तदन्तरङ्गत्वादिति। अत्र च ज्ञातर्यज्ञातरि च चतुर्भङ्गो भवति। तत्र चतुर्भङ्गे गोदृष्टान्त इति गाथासमासार्थः ॥ ६५ ॥ भावार्थं तु स्वयमेवाऽऽह-मूलगुणेषु उत्तरगुणेषु च (सव्वे देसे य त्ति) सर्वमूलगुणेषु देशमूलगुणेषु च, एवं सर्वोत्तरगुणेषु देशोत्तरगुणेषु च। तथा च शुद्धौ षड्विधायां श्रद्धानाऽऽदिलक्षणायां प्रत्याख्यानविधिज्ञ अस्मिन्विषये प्रत्याख्यानविधिवेत्तेत्यर्थः, प्रत्याख्यातीति प्रत्याख्याता गुरुर्भवति आचार्यो भवति। इति गाथार्थः ॥६६॥

किइकम्माइविहिन्नू, उवओगपरो असढभावो अ।
संविग्ग थिरपइन्नो, पच्चक्खाविंतओ भणिओ ॥६७॥
इत्थं पुण चउभंगो, जाणगे इअरम्मि गोणिनाएणं।
सुद्धासुद्धा पढमं-तिमा उ सेसेसु अ विभासा ॥ ६८ ॥

कृतिकर्माऽऽदि विधिज्ञः वन्दनाऽऽकाराऽऽदिप्रकारज्ञ इत्यर्थः। उपयोगपरश्च प्रत्याख्यानं प्रत्युपयोगप्रधानश्च, अशठभावश्च, शुद्धचित्तश्च, संविग्नो मोक्षार्थी, स्थिरप्रतिज्ञः न भाषितमन्यथा करोति। प्रत्याख्यापयतीति प्रत्याख्यापयिता शिष्य एवंभूतो भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥६७॥ "एत्थ पुण पच्चक्खायतस्स, पच्चक्खावेंतस्स य चउभंगो, जाणगस्स पच्चक्खाइय सुद्ध पच्चक्खाणं, जम्हा दो वि जाणंति किमवि पच्चक्खाय नमोक्कारसहियं, पोरिसिमाइयं वा, जाणगो अजाणगस्स जाणवेउ पच्चक्खाइ, जहा नमोक्कारसहियाईणं अमुगं पच्चक्खाय ति सुद्ध, अन्नहा असुद्ध। अयाणगो जाणगस्स पच्चक्खाइ सुद्ध, पहुसन्निहाइसु विभासा-अयाणगो अयाणगस्स पच्चक्खाइ असुद्धं। एत्थ दिट्ठंतो गावीओ। जइ वि गावीण पमाण सामिओ वि जाणइ, गोवालो वि जाणइ, दोण्हावि जाणमाणाण भितीमोल्लं सुहं सामिओ देइ, इयरो गेण्हइ इहलोइए चउभंगो। एवं जाणगो जाणगेण पच्चक्खावेइ सुद्ध, जाणगो अयाणगेण कारणेण पच्चक्खावेंतो सुद्धो, निक्कारणेण सुज्झइ, अयाणगो जाणगेण पच्चक्खावेइ सुद्धो, अयाणओ अयाणएण पच्चक्खावेइ न सुद्धो इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ आव० ६ अ०।

( २४ ) प्रकीर्णकवार्ता -

कश्चित्पारणकोत्तरपारणकयोरेकाशनकं विना "सूरे उग्गए अभत्तट्ठ।" प्रत्याख्याति, यदा पारणकोत्तरपारणकयोरेकाशनं करोति तदा 'चउत्थभत्त' प्रत्याख्याति इति रीतिर्दृश्यते। तथा-"छट्ठभत्त" इत्यादिकस्थाने तु नास्ति, तदा पारणकोत्तरपारणकयोरेकाशनं विनाऽपि "छट्ठभत्त" इत्यादि प्रत्याख्याति, तत्र को हेतुरिति प्रश्ने, उत्तरम्-यद्येकाशनकसहितोपवासं करोति तदा "सूरे उग्गए चउत्थभत्तं अभत्तट्ठ" प्रत्याख्याति पुनरेकाशनकरहितं करोति तदा "सूरे उग्गए अभत्तट्ठ" प्रत्याख्यातीदृग्विधिछिन्नपरम्परा दृश्यते। षष्ठप्रमुखप्रत्याख्याने तु पारणके उत्तरपारणके चैकाशनकं करोति, अथवा न करोति तथापि "सूरे उग्गए छट्ठभत्तं अभत्तट्ठं" इति कथ्यते, तदक्षराणि तु श्रीकल्पसूत्रसामाचारीमध्ये सन्तीति बोध्यम्। ५८ प्र०। सेन० ४ उल्ला०। केचन वदन्ति-नमस्कारसहितप्रत्याख्याने उदिते सूर्ये भोक्तुं कल्पते, योगशास्त्रे त्वहो मुखेऽवसाने च घटिकाद्वयमध्ये भोक्तुं न कल्पते, घटिकाद्वयप्रारम्भोऽपि किं प्रातः कररेखादर्शनात् उत सूर्योदयत इति? प्रश्ने, उत्तरम्-नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं सूर्योदारभ्य मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानभङ्गभयाद्भोक्तुं न कल्पते, "उग्गए सूरे नमुक्कारसहिअं पच्चक्खामि" इत्यादि सूत्रव्याख्याने, योगशास्त्रवृत्त्यादौ च तथैव दर्शनादिति। १६१ प्र०। सेन० २ उल्ला०। मुक्कलश्रावका नमस्कारत्रयेण नमस्कारिकाऽऽदिप्रत्याख्यानं पारयन्ति, तदक्षराणि क्व सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-मुक्कलश्राद्धा नमस्कारत्रयेण नमस्कारिकाऽऽदिप्रत्याख्यानं पारयन्तीत्यविच्छिन्नपरम्पराऽस्ति, परमेतदक्षराणि कुत्रापि दृष्टानि न स्मरन्तीति। ३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानवतां श्राद्धानां रात्रौ यत्सचित्तजलपानं तत्किं ग्रन्थस्थमुत परम्परागतं, तत्र कया युक्त्या दिवसे सचित्तजलं न शुध्यति, रात्रौ च शुध्यतीति प्रश्ने, उत्तरम्-दिवससंबन्धी त्रिविधप्रत्याख्याने "तइ तिविहं पच्चक्खाणे भणंति अपाणगस्स आगारा" इति वचनात् "अपाणस्स" इत्युच्चारो भवति। तथा च प्रासुकमेव जलं कल्पते, रात्रिकत्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्याने तु "पाणस्स" इत्युच्चाराभावात्सचित्तजलमपि कल्पत इति। १८९ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। चम्पकाऽऽदिपुष्पवासितवारिसिक्ताऽऽर्द्रवस्तुप्रत्याख्यानवतः श्राद्धस्य पातुं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सकलार्द्रवस्तुप्रत्याख्यानवतस्तद्वारि कल्पते पातुमिति। २६८ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। योगशास्त्रतृतीयप्रकाशवृत्तौ "शुचिः पुष्पामिषस्तोत्रैर्देवमभ्यर्च्य वेश्मनि।" इति १२२ श्लोकव्याख्याने पूर्वं गण्डूषाऽऽदिकं कृत्वा पश्चात्प्रत्याख्यानं प्रोक्तमस्ति तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-योगशास्त्रे शुचित्वनप्रकारो लोकप्रसिद्धोऽनुवादपरतया प्रोक्तोऽस्ति न त्ववश्य विधेयतयेति प्रत्याख्यानवतां गण्डूषकरणं विनाऽपि देवपूजा शुध्यतीति न कश्चिद्विरोधः। २३५ प्र०। सेन० ३ उल्ला०, शुद्धकालवेलाया नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं कृतं भवति। ततो घटिकाद्वयं गृह्यते, किं वा सूर्योदयाद् घटिकाद्वयं गृह्यते, तद् व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-शुद्धकालवेलाया नमस्कारसहितप्रत्याख्यानं कृतं भवति, तत आरभ्य घटिकाद्वयं गृह्यते इति। ८६ प्र०। सेन० ४ उल्ला०। नमस्कारसहितप्रत्याख्यानस्य फलमधिकं भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-नमस्कारसहितप्रत्याख्यानस्य जघन्यकालमानं घटिकाद्वयं कथितमस्ति। यदा नमस्कारं गणयति तदा प्रत्याख्यानं पूर्णं भवतीत्यपि कथितमस्ति, तस्माद् घटिकाद्वयस्योपरि यावत्कालमुपयोगत्वात्। सेन०। पौषधिकश्राद्धो द्वितीयदिने प्राभातिकप्रतिक्रमणे ह्यशनाऽऽदिप्रत्याख्यानमिवाऽऽगामिविषयं देशावकाशिकमपि कस्मान्न कुरुते, अथ प्रत्याख्-

वद्यऽयपारस्तदाऽऽगामिविषयमपि न कुरुत इति चेत्तर्हि सामायिकस्य कथं कुर्यादिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रार्थेऽव्यवच्छिन्नवृद्धपरंपरैव गतिर्न तु ग्रन्थाक्षरावगतिरिति । ७२ प्र० । सेन० १ उल्ला० । आर्द्रफलकर्कटिकाऽऽम्राऽऽदीनि बीजीकृतानि घटिद्वयानन्तरं प्रासुकानि भवन्ति । तथा त्रिविधाऽऽहारद्विविधाऽऽहारप्रत्याख्यानिनामेकाशनकमध्ये तानि कल्पन्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-आमार्द्रफलानि निर्बीजीकृतान्यपि घटिकाद्वयादनु प्रासुकानि न भवन्ति यतः कटाहजीवस्तथैव तिष्ठति । तथा त्रिविधाऽऽहारैकाशनके न कल्पन्ते । द्विविधाऽऽहारैकाशनकेऽपि सचित्तप्रत्याख्यानिनां न कल्पन्ते । पक्वफलानि निर्बीजीकृतानि घटिकाद्वयानन्तरं त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानिनां कल्पन्त इति । ७५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । अनशनिश्राद्धस्य त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानं कारयित्वा रात्रौ उष्णपानीयपानेनाशनस्य दूषणं लगति । न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तथा कारणेनानशनस्य दूषणं न लगतीति । १३७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । एकाशनप्रत्याख्यानकर्ता वान्तौ जातायां द्वितीयवारं भुङ्क्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तस्मिन्नेव स्थानके स्थिते यदि वान्तिर्भवति, मुखशुद्धिश्च कृता भवति, तदा द्वितीयवारं भोक्तुं कल्पते, नान्यथा चेति । १५८ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । प्रथमदिने चतुर्विधाऽऽहारोपवासं कृत्वा द्वितीयदिनोपवासमेकीकृत्य षष्ठाष्टमाऽऽदिकं प्रत्याख्याति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रथमदिवसे चतुर्विधाऽऽहारकोपवासं प्रत्याख्याति, द्वितीयदिवसे एकमेव प्रत्याख्याति, न तु षष्ठम् । यदि द्वितीयदिने षष्ठाऽऽदिकं, तर्हि अग्रे तृतीयोपवासः कृतो युज्यते, ईदृशी सामाचार्यस्तीति । १४१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । कश्चित्प्रातः कृतनमस्कारिकासहितप्रत्याख्यानः प्रतिलेखनायां त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानं करोति, स सन्ध्यायां, किं वा प्रत्याख्यानं विदधातीति प्रश्ने, उत्तरम्-एकाशनाऽऽद्यप्रत्याख्यानी, विहितप्रतिलेखनात्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानी च सन्ध्यायां पानकाऽऽहारप्रत्याख्यानं करोति । अकृतप्रतिलेखनात्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानस्तु चतुर्विधाऽऽहारप्रत्याख्यानं करोतीतिपरम्पराऽस्ति । १६६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । कसेल्लकपानीयं त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानिनां पातुं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानिनां तत्पानीयमानं शुद्ध्यति, परमात्मनामाचरणा नास्तीति १६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । तथा केनचित् श्राद्धेन योजनशतादुपरि गमनप्रत्याख्यानं कृतं, तस्य धर्मार्थमधिकं गन्तुं कल्पते, न वा, यदि गच्छति, तदा केन विधिनेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रत्याख्यानकरणसमये विवेको विलोक्यते, तेन प्रायो मुख्यवृत्त्या प्रत्याख्यानं सांसारिकाऽऽरम्भस्य भवति, न तु धर्मकृत्यस्य, यदि च सामान्यतः कृतं, तदा नियमितक्षेत्रोपरि यतनया गच्छति, तत्र च गतः सांसारिककृत्यं न करोतीति । ३६३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पञ्चविकृतिप्रत्याख्यानिना द्विघटिकाऽनन्तरं गुडमिश्रितचूरिमकं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पञ्चविकृतिप्रत्याख्याने द्विघटिकाऽनन्तरं गुडमिश्रितं चूरिमकं तद्दिने न कल्पते इति । ३६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । येषां कटाहविकृतिप्रत्याख्यानं भवति तेषां कोलियाख्यतैलतालितपक्वान्नाऽऽदिकं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-कोलियाख्यतैलविकृतिर्न भवति तत्र तैलनिष्पन्नपक्वान्नाऽऽद्यपि विकृतिर्न भवतीति सेन० । मनुष्यलोकाद् बहिः क्वचिद्रात्रिरेव क्वचिद्दिवैव । तत्र कालप्रत्याख्यानं, रात्रिभोजनप्रत्याख्यानं च घटते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मनुष्यलोकाद् बहिष्कालप्रत्याख्यानं रात्रिभोजनप्रत्याख्यानं वेदत्यापेक्षया सम्यक्कालस्वरूपपरिज्ञाने भवत्यन्यथा तु सङ्केतप्रत्याख्यानमिति । १२५ । प्र० सेन० १ उल्ला० । जिनाऽऽलये प्रत्याख्यानं पारयितुं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-शुद्ध्यति सम्प्रदाय इति । १७४ प्र० । सेन० २ उल्ला० । यावज्जीवं रात्रौ चतुर्विधाऽऽहारप्रत्याख्यानवतः स्त्रीसेवने भङ्गो, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-स्त्रीसेवने ओष्ठचुम्बने सति प्रत्याख्यानभङ्गो भवति, नान्यथेति श्राद्धविधिवचनादिति । २२० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । चतुर्दशनियमेषु द्वित्राऽऽदीनि सचित्तानि प्रातः प्रत्याख्याने क्रियमाणे मुत्कलानि रक्षितानि तान्यहन्येव सर्वाण्यपि पूर्णीभूतानि, अथ रात्रौ तेषां कार्ये समुत्पन्ने पूर्वप्रमाणीकृताद्रव्यपराण्यादातुं कल्पन्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-श्राद्धानां चतुर्दशनियमेषु द्वित्राऽऽदीनि सचित्तानि प्रातः प्रत्याख्यानसमयेऽहोरात्रावधि मुत्कलानि रक्षितानि भवन्ति, तदा तावतां दिवा परिभोगे रात्रावधिकानि न कल्पन्ते, यदि च सन्ध्याऽवध्येव तावन्ति मुत्कलानि रक्षितानि, तदा रात्रावधिकान्यपि न कल्पन्ते इति । ४११ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

### विषयसूची-

ऽसंक्लिष्टप्रवृत्तौ च । अप्रत्याख्यानिनः संसारभ्रमणमय संजातवैराग्यश्चोदकः सूरिं प्रति पृच्छति ।

( १७ ) जीवाः किं मूलगुणप्रत्याख्यानिनः ?, इत्यादि ।

( १८ ) मूलगुणप्रत्याख्यानादिमतामल्पत्वादि ।

( १९ ) जीवाः प्रत्याख्यानिनोऽप्रत्याख्यानिनो वा ।

( २० ) प्रत्याख्यानं पर्वदि कथनीयम् ।

( २१ ) प्रत्याख्यानविधिः ।

( २२ ) प्रत्याख्यानफलम् ।

( २३ ) प्रत्याख्याता ।

( २४ ) प्रकीर्णकवार्ताः ।

पच्चक्खाणकिरिया-प्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० । क्रियाभेदे, (प्रत्याख्याननिक्षेपः ' पच्चक्खाण ' शब्देऽनुपदमेव गतः )

मूलगुणेसु य पगयं, पच्चक्खाणे इहं अधीगारो ।
होज्जहु तप्पच्चइया, अपच्चक्खाणकिरियाओ ॥

मूलगुणाः प्राणातिपातविरमणादयस्तेषु, प्रकृतमधिकारः, प्राणातिपातादेः प्रत्याख्यानं कर्त्तव्यमिति यावत्। इह प्रत्याख्यानक्रियाऽध्ययनेनार्थाधिकारः, यदि मूलगुणप्रत्याख्यानं न क्रियते तत्रोपाय दर्शयितुमाह-प्रत्याख्यानाभावेऽनियतत्वाद्यत्किञ्चनकारितया तत्प्रत्ययिका तन्निमित्ताभावादुत्पद्यतेऽप्रत्याख्यानक्रिया सावद्यानुष्ठानक्रिया तत्प्रत्ययिकश्च कर्मबन्धस्तन्निमित्तश्च संसार इत्यतः प्रत्याख्यानक्रिया मुमुक्षुणा विधेयेति । सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । द्वितीये श्रुतस्कन्धे सूत्रकृतश्चतुर्थेऽध्ययने, आव० ४ अ० ।

पच्चक्खाणज्झयण-प्रत्याख्यानाध्ययन-न० । प्रत्याख्यानप्रतिपादके आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, आव० ५ अ० । आ० चू० ।

पच्चक्खाणपोसहोववास-प्रत्याख्यानपोषधोपवास-पुं० । पौरुष्यादिविषयप्रत्याख्यानपर्वदिनोपवासयोः, भ० ७ श० ६ उ० ।

पच्चक्खाणप्पवाय-प्रत्याख्यानप्रवाद-न० । प्रत्याख्यानं सप्रभेदं यद्वदति तत्प्रत्याख्यानप्रवादम् । नवमे पूर्वे, " पच्चक्खाणपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता । " पदपरिमाणं चास्य एका कोटिरशीतिश्च पदसहस्राणि । न० । आचा० । स० ।

पच्चक्खाणभंग-प्रत्याख्यानभङ्ग-पुं० । प्रत्याख्यानं गृहीत्वा प्रत्याख्यातप्रतिसेवनातो भञ्जने, नि० चू० ।

जे भिक्खू अभिक्खणं अभिक्खणं पच्चक्खाणं, भंजइ भंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

अभिक्खणं नाम पुणो पुणो, नमुक्काराइपच्चक्खाणं भजंतस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा ।

इमो सुत्तफासो-

पच्चक्खाणं भिक्खू, अभिक्खणाऽऽउट्टियाए जो भुंजे ।
उत्तरगुणणिप्फण्णं, सो पावति आणमादीणि ॥ ११ ॥

आउट्टियं नाम आभोगो, जानान इत्यर्थः । नमोकाराई उत्तरगुणपच्चक्खाणं, पंच महव्वया मूलगुणपच्चक्खाणं । इह उत्तरगुणपच्चक्खाणेणाहिगारो ।

इमा अभिक्खाऽऽसेवा-

सकिं भंजणम्मि लहुओ, मासो बितियम्मि सो गुरू होति ।
सुत्तणिवातो ततिए, चरमं पुण पावती दसहिं ॥ १२ ॥

सगिंति एक्कसिं भजमाणस्स मासलहुं, एत्थ सुत्तणिवातो, चउत्थवारे चउगुरु, पंचमवारे छल्लहु, छट्ठवारे छग्गुरु, सत्तमवारे छेओ, अट्ठमवारे मूलं, नवमे अणवट्ठं, दसमवारे चरिमं पारंचीत्यर्थः । आणाइया य दोसा ।

इमे य-

अप्पच्चओ अवण्णो, पसंगदोसो य अदढओ धम्मो ।
माया य मुसावाओ, होति पइण्णाविलोए य ॥ १३ ॥

जहा एस नमोक्काराइ भंजइ तहा मूलगुणपच्चक्खाणं पि भंजइ, एवं अगीयगिहत्थाण य अप्पच्चयं जाणइ। वर्ण्यते येन स वर्णः, तत्प्रतिपक्षः अवर्णः । सो अप्पणो साहूण च, पच्चक्खाणभंगेण संगेण मूलगुणे वि भंजइ, पच्चक्खाणधम्मे समणधम्मे वा अदढत्तं कयं भवइ, अन्नं पइन्नं परिवज्जइ अन्नं वा करेइ त्ति माया, अन्नं भासइ अन्नं करेइ ति मुसावाओ । एते दो वि जुगवं भो लब्भंति । पोरिसिमाइए पइन्नापयलोवो कओ भवइ, एसा संजमविराहणा, पच्चक्खाणं भुंजइ त्ति देवया पडिणीया खित्ताइ करेज्ज ।

कारणे पुण अपुन्ने वि काले भुंजइ ।

बितियपदमणप्पज्झे, भुंजे अविकोविते च अप्पज्झे ।
कंतारोऽमगिलाणे, गुरू णिओगा य जाणे वि ॥ १४ ॥

खमणेण खामियं वा, णिव्वीयति दुब्बलं वि नाऊणं ।
उस्सूरे वा सेहो, दुक्खमवाई व वितरंति ॥ १५ ॥

अणप्पज्झे सेहो वा अजाणतो भुंजइ नत्थि दोसो। कंतारे त्ति अद्धाणपडिवन्नस्स पच्चक्खाए पच्छा भत्तं पडुप्पन्नं, दूरं च गंतव्वं । अंतरे य भत्तलंभो नत्थि, एवं भुंजंतो सुद्धो । ओमे वि कल्लं न भविस्सइ ति साहारणट्ठा भुंजइ । गिलाणो वि विगइमाइपच्चक्खायं विज्जुवएसा भुंजइ । अणिययगवाहिं वा राओ भुंजइ । आयरिओवएसेण वा तुरियं कहिं वि गंतव्वं, तत्थ पोरिसिमाइ अपुन्ने भोत्तु गच्छइ । खमओ वा मासाइखवणे कते अईव किलंतो अपुन्ने चेव भुंजाविज्जइ । दुब्बलसरीरस्स वा विगइपच्चक्खाणे विगई दिज्जइ। उस्सूरे सेहो दुक्खं गमिस्सइ त्ति काउं नमोक्कारे चेव वितरंति, खीराइया वा विणासि दव्वं चिरकालमच्छाहिं अपुन्ने पोरिसिमाइपच्चक्खाणे णमोक्कारो चेव वितरंति । नि० चू० १२ उ० । प्रातः प्रतिक्रमणे तपसः कायोत्सर्गमध्ये उपवासाद्युक्तं तपः करिष्ये, ईदृशं विचिन्त्य कायोत्सर्गं पारयति, पश्चात्कस्यचिदाग्रहाच्चिन्तितादन्यं तपः करोति, तस्य प्रत्याख्यानभङ्गो लगति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रत्याख्यानभङ्गो न लगतीति । ८६ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

पच्चक्खाणविहिण्णु-प्रत्याख्यानविधिज्ञ-त्रि० । प्रत्याख्यानविधिवेत्तरि, आव० ६ अ० ।

पच्चक्खाणापच्चक्खाणि ( ण् )-प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानिन्-पुं० । देशविरते भ० ६ श० ४ उ० ।

पच्चक्खाणावरण-प्रत्याख्यानावरण-पुं० । आङो मर्यादेषद्-र्थत्वाद् आसर्वविरतिप्रत्याख्यानमर्यादया । अथवा-ईषत्सावद्ययोगानुमतिमात्र विरतिरूप प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा इति व्युत्पत्तेः । विशे० । "सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमिहोच्यते । तदावरणसंज्ञान-स्तृतीयेषु निवेशिता ॥१॥" इत्युक्तस्वरूपेषु क्रोधाऽऽदिकषायेषु,कर्म०१ कर्म०। दर्श०। विशे०।

पच्चक्खाणावरणणामधिज्ज-प्रत्याख्यानावरणनामधेय-त्रि० । प्रत्याख्यान सर्वविरतिलक्षण, तस्यावऽऽरणा एतदेव नामधेयं येषा ते प्रत्याख्यानाऽऽवरणनामधेया । प्रत्याख्यानावरणशब्दाभिधेयेषु, विशे० ।

पच्चक्खाणि (ण्)-प्रत्याख्यानिन्-त्रि० । सर्वविरते, भ० ६ श० ४ उ० ।

पच्चक्खाणी-प्रत्याख्यानी-स्त्री० । याचमानस्य प्रतिषेधवचने, ध० ३ अधि० । याचमानस्यादित्सा मेऽतो मा याचस्वेत्यादि प्रत्याख्यानरूपायां भाषायाम्, भ० १० श० ३ उ० । स्था० ।

पच्चक्खाभास-प्रत्यक्षाभास-पुं० । प्रत्यक्षस्य स्वरूपाभासे, रत्ना० ।

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षाभास तावदाहु -

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम् ॥२७॥

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियनिबन्धनतया द्विप्रकार प्रागुपवर्णितस्वरूपम् ॥ २७ ॥

उदाहरन्ति-

यथाऽम्बुधरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं,दुःखे सुखज्ञानं च ॥२८॥

अत्राऽऽद्य निदर्शनमिन्द्रियनिबन्धनाभासस्य, द्वितीय पुनरनिन्द्रियनिबन्धनाभासस्य । अवग्रहाभासाऽऽदयस्तु तद्भेदाः स्वयमेव प्राज्ञैर्विज्ञेया ॥ २८ ॥

पारमार्थिकप्रत्यक्षाभासं प्रादुष्कुर्वन्ति-

पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम् ॥२९॥

पारमार्थिकप्रत्यक्ष विकलसकलस्वरूपतया द्विभेद प्रागुक्तम् ।२९।

तदाहरन्ति-

यथा शिवाख्यस्य राजर्षेरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु सप्तद्वीपसमुद्रज्ञानम् ॥ ३० ॥

शिवाऽऽख्यो राजर्षिः स्वसमयप्रसिद्ध , तस्य किल विभङ्गापरपर्यायमवध्याभास तादृश वेदनमाविर्बभूवेत्याहु सैद्धान्तिकाः । मन पर्यायकेवलज्ञानयोस्तु विपर्ययः कदाचिन्न सम्भवति, एकस्य संयमविशुद्धिप्रादुर्भूतत्वात्, अन्यस्य समस्ताऽऽवरणक्षयसमुत्थत्वात् । ततश्च नात्र तदाभासचिन्ताऽवकाशः ॥ ३० ॥ रत्ना० ६ परि० ।

पच्चक्खाय-प्रत्याख्यात-त्रि० । निराकृते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । सर्वविरतप्रतिपक्षिन. प्रतिषेधिते, औ० । नियमिते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

प्रत्याख्यातृ-त्रि० । प्रत्याख्यातरि, "पच्चक्खायण कया पच्चक्खाविसए ।" आ०प० ६ अ० ।



पच्चक्खायपावग-प्रत्याख्यातपापक-त्रि० । प्रत्याख्यात निराकृतं पापक सावद्यानुष्ठान येनासौ प्रत्याख्यातपापकः । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । पापकर्मप्रत्याख्यानवति, औ० ।

पच्चक्खावितअ-प्रत्याख्यापयितृ-त्रि० । प्रत्याख्यापयतीति प्रत्याख्यापयिता । प्रत्याख्यानकारयितरि,आव० ६ अ० ।

पच्चक्खि-(ण्)-प्रत्यक्षिन्-त्रि० । प्रत्यक्षज्ञानिनि आगमव्यवहारिणि, व्य० १ उ० ।

पच्चक्खीभूय-प्रत्यक्षीभूय-अव्य० । साक्षाज्ज्ञानविषयतां प्राप्येत्यर्थे, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

पच्चक्खेय-प्रत्याख्येय-त्रि० । प्रत्याख्यानविषये वस्तुनि, आव० ६ अ० ।

पच्चग्ग-प्रत्यग्र-त्रि० । नवीने, " पच्चग्ग अहिणव च सच्छुक्क । " पाइ० ना० १६२ गाथा ।

पच्चच्छिम-पाश्चात्य-त्रि० । पश्चिमभागवर्तिनि, भ० १६ श० ३ उ० ।

पच्चच्छिमा-पश्चिमा-स्त्री० । दिग्भेदे, स्था० १० ठा० ।

पच्चच्छिमुत्तरा-पश्चिमोत्तरा-स्त्री० । दिग्भेदे, स्था० १० ठा० ।

पच्चड-क्षर-धा० । सचलने, " क्षर खिर-झर-पज्झर-पच्चड" ॥ ८ ।४। १७३॥ इत्यादिना क्षरधातोः पच्चडाऽऽदेशः "पच्चडइ ", क्षरति । प्रा०४ पाद ।

पच्चड्ड-गम्-धा० । " गमे' अई-अइच्छा-णुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुसपच्चड्ड० "॥८।४।१६२॥ इत्यादिना गमधातोः पच्चड्डाऽऽदेश: ।" पच्चड्डइ । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

पच्चड्डिया-प्रत्यड्डिका-स्त्री० । मल्लानां करणविशेषे , विशे० । आ० म० ।

पच्चणुभवमाण-प्रत्यनुभवत्-त्रि० । प्रत्येक वेदयमाने, जी० ३ प्रति० १ अधि०२ उ० । रा० । "पच्चणुभवमाणे विहरइ ।" विपा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । ( इष्टानिष्टाऽऽदिषु दृष्टान्तः ' वीईवयण ' शब्दे वक्ष्यते )

पच्चत्थि ( ण् )-प्रत्यर्थिन्-त्रि० । अर्थिन प्रतिकूले, य' परस्य गृहीत्वा न किमपि प्रयच्छति । व्य० १ उ० । पाइ० ना० ।

पच्चत्थिय-प्रत्यर्थिक-पुं० । प्रत्यनीके प्रतिबाधाऽऽदौ, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

पच्चत्थुय-प्रत्यवस्तृत-न० । आच्छादिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पुन पुनराच्छादिते, ज्ञा० १ श्रु० ८० अ ।

पच्चप्पण-प्रत्यर्पण-न० । निवेदने, विशे० । आचा० ।

पच्चप्पिणमाण-प्रत्यर्पयत्-त्रि० । आदिष्टकार्यसंपादनेन निवेदने, स्था० ५ ठा० २ उ० । रा० । भ० । आचा० ।

पच्चब्भाम-प्रत्याभ्याम-पुं० । प्रत्युच्चारणे निगमने, विशे० ।

पच्चभिण्णा-प्रत्यभिज्ञा-स्त्री० । स एवायमित्याकारे ज्ञाने,विशे० ।

प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यम्-

यद्यपि-

" प्रत्यक्षाऽऽदेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।

साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि ॥ १ ॥"

सेति प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटाऽऽदिग्राहकतया परिणामाभावः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन्घटविविक्ततऽऽस्थे वस्तुन्युपजाते घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाणमभिधीयते । तदपि यथासम्भवं प्रत्यक्षाऽऽद्यन्तर्गतमेव । तथाहि-" गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं, जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ १ ॥ " इतीयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलाऽऽदिकं वस्तु प्रत्यक्षेण घटाऽऽदिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम्, असंसृष्टं वा गृह्यते ? । नाद्यः पक्षः-प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलाऽऽदिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यं, प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिना कुम्भाऽऽदीनामभावप्रतिपत्तेः । अथ न संसृष्टं नाप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतलाऽऽदिवस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि दुष्टम्, संसृष्टत्वासंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधेऽपरविधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवाभावो वेद्यते । क्वचित्तु तदघटं भूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन " योऽग्निमान्न भवति, नाऽसौ धूमवान्" इति तर्केण, "नात्र धूमोऽनग्नेः" इत्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतेः क्वाऽभावः प्रमाणं प्रवर्तताम् ? । सम्भवोऽपि समुदायेन समुदायिनोऽवगमः इत्येवलक्षणः " सम्भवति खार्यां द्रोणः" इत्यादिनाऽनुमानात्पृथग्ज्ञानम् । तथाहि-खारी द्रोणवती, खारीत्वात्, पूर्वोपलब्धखारीवत् । ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमितिहोचुर्बुधाः । यथा-" इह वटे यक्षः प्रतिवसति " इति । तदप्रमाणम्, अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्, आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति । यदपि प्रातिभं ज्ञानमक्षिलिङ्गशब्दव्यापारानपेक्षमकस्मादेव " अद्य मे महीपतिप्रसादो भविता " इत्याकारं स्पष्टतया वेदनमुदयते, तदप्यनिन्द्रियनिबन्धनतया मानसमिति प्रत्यक्षकुक्षिनिक्षिप्तमेव । यत्पुनः प्रियाप्रियप्राप्तिप्रभृतिफलेन सार्द्धं गृहीतान्यथाऽनुपपत्तिकान्मनःप्रसादोद्वेगाऽऽदेर्लिङ्गादुदेति, तदस्पष्टत्वात्स्वपर्णोत्थज्ञानवदस्पष्टमनुमानमेव । इति न प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणद्वैविध्यातिक्रमं शक्रेणापि कर्त्तुं शक्यम् ॥ १ ॥ रत्ना० २ परि० । नत्र प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यखण्डनम्-न च प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणम् । "तत्र पूर्वार्थविज्ञानं, निश्चितं बाधवर्जितम् । अदुष्टकारणाऽऽरब्धं, प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥ १ ॥" इति प्रमाणलक्षणयोगात् प्रत्यक्षं च प्रवर्त्तमानं सम्बद्धे वर्त्तमाने च गृह्यते चक्षुरादिना इति ... न च स्मृतिपूर्वकत्वेन प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमयुक्तमिति वाच्यम् । ... स्मरणपश्चाद्भाविनोऽप्यत्र प्रत्यक्षस्य लोके प्रत्यक्षत्वेन प्रसिद्धत्वात् । उक्तं च-" न हि स्मरणतो यत् प्राक् प्रत्यक्षमितीदृशम् ।

वचनं राजकीयं वा, लौकिकं वाऽपि विद्यते ॥ १ ॥
न चापि स्मरणात्पश्चा-दिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ।
वार्यते केनचिन्नापि, तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥ २ ॥
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धा-त्प्रागूर्ध्वं चापि यत् स्मृते ।
विज्ञानं जायते सर्वं, प्रत्यक्षमिति गम्यते ॥ ३ ॥"

इति । अनेकदेशकालावस्थासमन्वितं सामान्यं, द्रव्याऽऽदिकं च वस्त्वन्यत् प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयसद्भावः । तदुक्तम्-
"गृहीतमपि गोत्वाऽऽदि, स्मृतिस्पृष्टं च यद्यपि ।
तथापि व्यतिरेकेण, पूर्वबोधात्प्रतीयते ॥ १ ॥
देशकालाऽऽदिभेदेन, तत्रास्त्यवसरो मितेः ।
यः पूर्वमवगतो नांशः, स च नाम प्रतीयते ॥ २ ॥
इदानीन्तनमस्तित्वं, न हि पूर्वधियाऽऽगतम् ॥ " इति ।

नन्वेवं भिन्नाभिन्नवस्तुविषयो निबन्धनप्रत्ययः प्राप्त, इष्यत एव चैतत् । यतो न भिन्नत्वेन प्रत्यभिज्ञानमभिन्नत्वेऽपि न प्रमेयभेदः । प्रत्यभिज्ञाव्यपदेशोऽप्यस्य भेदाऽऽलम्बनत्वमेव द्योतयति, यतो नैककालिकप्रमेयगोचराणां भिन्नप्रमातृसम्बन्धिज्ञानानां प्रत्यभिज्ञेति व्यपदेशः, नापि सर्वथा भिन्नेषु घटपटाऽऽदिषु न च कालस्यातीन्द्रियत्वाद्भिन्नकालिकप्रमेयप्रत्यभिज्ञानेन प्रमेयातिरेक इति वक्तव्यम् । यतो यद्यपि न कश्चित्तत्र प्रमेयातिरेकः, तथाऽपि घटाऽऽदयः कदाचिदुपलब्धिताऽऽकारा अन्यदाऽनुपलक्ष्यमाणाः सन्दिग्धतया सन्देहविषयतामापद्यन्ते, तत्स्वभावावधिका च प्रत्यभिज्ञा तेषां सन्देहविषयतामपाकुर्वाणा प्रमाणतामश्नुते, यतो न विषयातिरेक एव प्रामाण्यनिबन्धनं प्रत्ययानां, किं तु सन्देहापाकरणमपि सन्दिग्धस्य । यदा त्वविरतोपलब्धिसन्तानः पुनः पुनरनेन सन्देहमन्तरा प्रत्यभिज्ञायन्ते भावास्तदा सन्देहविच्छेदात्मकफलाभावात्मा तत्प्रत्यभिज्ञाप्रमाणम् । न च सविकल्पकमेवैकं प्रत्यभिज्ञानम् । अविकल्पकस्याप्यैक्यग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य सद्भावात् । तथाहि-एकप्रमातृसम्बन्धिप्रथमप्रत्ययाभिन्नविषयाऽऽकारा तु भवतोऽनुत्पन्नपूर्वापरग्राहि विकल्पकज्ञानमनुभूयत एव, एकत्वग्राहि च ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाज्ञानमुच्यत इति क्षणिकाऽनित्यविच्छेदेऽपि शब्दसाधारणालोचनाप्रत्ययावगतमेव स्थैर्यं, स एवायमित्यनन्तरमनुसन्धानविकल्पोत्पत्तिदर्शनात् । तथाहि अर्थसंसर्गानुसारिणोऽनुभवादुपजाता अपि विकल्पाः सत्यापाराऽनुसारिणो यथा नीलानुभवव्यवस्था सौगतैरभ्युपगता तथा पूर्वदृष्टं पश्यामीत्युल्लेखवतोऽनुसन्धानविकल्पात्पूर्वदर्शनस्यानुग्रहणव्यापारत्वाद्विनिर्भासिनः, तथाऽध्यवसितविकल्पस्य किमिति न व्यवस्थाप्यते, पूर्वदृष्टमेव पश्यामीत्युल्लेखवानुपजायमानोऽप्यनुसन्धानप्रत्ययो न प्रत्यभिज्ञाऽध्यक्षतामनुभवति । सम्म० १ काण्ड ।

**पच्चभिणाभास**-प्रत्यभिज्ञाऽऽभास-पुं० । अयथार्थप्रत्यभिज्ञाने, रत्ना० ।

प्रत्यभिज्ञाऽऽभासं प्ररूपयन्ति-

**तुल्ये पदार्थे स एवायमिति, एकस्मिंश्च तेन तुल्य इत्यादिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाऽऽभासम् ॥ ३३ ॥**

प्रत्यभिज्ञानं हि तिर्यगूर्ध्वतासामान्याऽऽदिगोचरमुपवर्णितं तत्र तिर्यक्सामान्याऽऽलिङ्गिते भावे स एवायमिति ज्ञानं, तत्सामान्यस्वभावे चैकस्मिन् द्रव्ये तेन तुल्य इति ज्ञानम्, आदिशब्दाद्विजातीयाकारेऽपि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाऽऽभासमिति ॥ ३३ ॥

उदाहरन्ति-

**यमलकजातवत् ॥ ३४ ॥**

यमलकजातयोरेकस्या स्त्रिया एकदिनोत्पन्नयोः पुत्रयोर्मध्ये एकत्र दृष्टनीयेन तुल्योऽयमिति विज्ञानं स एवायमिति, अपरत्र स एवायमिति पूर्वदृष्टे तेन तुल्योऽयमिति च ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाऽऽभासम् ॥ ३४ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

पच्चमाण-पच्यमान-त्रि० । विपाकावस्थां प्राप्ते,उत्त० ३२ अ०। अत्याकुलीक्रियमाणे, उत्त० २३ अ०। "णिरए णेरइयाण, अ-होणिसं पच्चमाणाणं ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

पच्चय-प्रत्यय-पुं०। अवबोधे, स्था० १ ठा० । विश्वासे, ज्ञा० १४ अ०। व्य०। प्रतीतौ, अविसंवादिवचनत्वे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। सर्वातिशयनिधानमतीन्द्रियार्थोपदर्शनाव्यभिचारि चेदं जिन-प्रवचनमित्येवंरूपायां प्रतिपत्तौ, स० १० अङ्ग। प्रत्यभिज्ञानाऽऽदौ, विशे०। प्रत्यापयतीति प्रत्ययः । अन्तर्भूतण्यर्थादच्प्रत्ययः । आ० म० १ अ० १ खण्ड । विशे० । प्रतीयतेऽनेनार्थ इति प्र-त्ययः । ज्ञानकारणे, उत्त० १ अ० । अने० । प्रव० ।

अथ प्रत्ययद्वारमाह-

पच्चयनिक्खेवो खलु, दव्वम्मी तत्तमाऽऽसगाईओ ।
भावम्मि ओहिमाई, तिविहो पगयं तु भावेणं ॥२१३१॥
केवलनाणि त्ति अहं, अरिहा सामाइयं परिकहेइ ।
तेसिं पि पच्चओ खलु, सव्वण्णू तो निसामिंति ॥२१३२॥

प्रत्याययतीति प्रत्ययः, प्रत्ययनं वा प्रत्ययः, तन्निक्षेपस्तन्न्यासः, खलुशब्दस्यापिशब्दार्थत्वात्सोऽपि तन्निक्षेपः कारणनिक्षेपव-न्नामस्थापनाऽऽदिभेदाच्चतुर्विधः । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्ये द्रव्यविषयः प्रत्ययो ज्ञशरीरभव्यशरीररूपः सुगमः । तद्व्यतिरि-क्तस्तु तप्तमाषकाऽऽदिः, आदिशब्देन घटत-तुलचर्वणाऽऽदिद्र-व्यपरिग्रहः । द्रव्यं च तत्प्रत्यायस्य प्रतीतिहेतुत्वात्प्रत्ययश्च द्र-व्यप्रत्ययस्तप्तमाषकाऽऽदिरेव, तज्जो वा प्रत्याय्यपुरुषगतप्रत्ययः । (भावम्मि त्ति) भावे भावप्रत्यये विचार्येऽवध्यादिस्त्रिविधो भावप्रत्ययः । अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानत्रयलक्षणो बाह्यलि-ङ्गानपेक्ष एव प्रत्याययति, अतस्तात्त्विकप्रत्ययत्वाद्भावप्रत्य-यस्त्रिविध इत्यर्थः । मतिश्रुते तु बाह्यलिङ्गं कारणमपेक्ष्य प्र-त्याययतः, न साक्षाद्, अतः किलात्र न विवक्षिते । प्रकृत प्र-स्तुतोपयोगस्तु सामायिकमङ्गीकृत्य भावेन भावप्रत्ययेनेति । ॥ २१३१ ॥ अत एव केवलज्ञान्यहमिति स्वकायादेव केवलल-क्षणाद्भावप्रत्ययादर्हन् साक्षादेव सामायिकार्थमुपलभ्य सामा-यिकं परिकथयति, तेषामपि श्रोतॄणां गणधराऽऽदीनां हृतशेष-संशयपरिच्छित्त्या सर्वज्ञ इति प्रत्ययो बोधनिश्चयो भवति । ततो यस्मात्सर्वज्ञप्रत्ययात्ते निशमयन्ति शृण्वन्ति सामायिकम्, अत एव यत्कैश्चिदुच्यते-"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ? ॥१॥" इ-त्यादि । तदू व्युदस्तं भवति । अन्यथा चतुर्वेदोऽयमित्यादिलोक-व्यवहारानुपपत्तेः । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥ २१३२ ॥

अथ भाष्यम्-

दव्वस्स दव्वओ वा, दव्वेण व दव्वपच्चओ नेओ ।
तव्विवरीओ भावे, सो वि हु नाणाइओ तिविहो ॥२१३३॥

प्रत्ययः पुद्गलक्षणस्य प्रत्ययः प्रतीतिर्द्रव्यप्रत्ययः, तथा द्र-व्यात्तप्तमाषकाऽऽदेः, द्रव्येण वा घटाऽऽदिना प्रत्ययो द्रव्यप्रत्ययो ज्ञेयः। यस्तु न द्रव्याद् बाह्यद्रव्येण वा न क्रियते, किं तु तद्विपरीतस्तन्निरपेक्ष एव साक्षादुपलम्भाद्भवति स भावरूपः प्रत्ययो भावप्रत्ययः स चावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानभेदात्त्रि-विध इति । अनेन च भावप्रत्ययेनेहाधिकारः ॥ २१३३ ॥

तथा चाऽऽह-

केवलनाणित्तणओ, अप्प च्चिय पच्चओ जिणिंदस्स ।
तप्पच्चक्खत्तणओ, तत्तो च्चिय गोयमाईणं ॥२१३४॥

जिनेन्द्रस्य तीर्थकरस्य केवलज्ञानित्वात्सामायिकार्थं साक्षा-दुपलभ्य कथयत आत्मैव प्रत्ययो नान्यः, केवलज्ञानाऽऽत्मना भावप्रत्ययावष्टम्भेनैव तस्य सामायिकप्ररूपणादिति । गौतमाऽऽ-दीनामपि श्रोतॄणां तत एव केवलज्ञानलक्षणाद्भावप्रत्ययात्सामा-यिकश्रवणमिति गम्यते । कुतः ?, इत्याह--तस्य केवलज्ञानिनः प्रत्यक्षत्वं तत्प्रत्यक्षत्वं, तस्मात् । इदमुक्तं भवति सर्वसंशयपरिच्छे-दाऽऽदिना केवलज्ञान्यसौ, इत्यनुभवप्रत्यक्षद्वारेणैव गौतमादयो-ऽवगच्छन्त्येव, ततस्तेषामपि वस्तुतः केवलज्ञानलक्षणभा-वप्रत्ययादेव सामायिकश्रवणं प्रवर्त्तत इति ॥२१३४॥

आह-ननु कथमवध्यादिरेव त्रिविधो भावप्रत्ययः
यावता मतिश्रुते अपि प्रत्यायनफलत्वा-
त्कथं न भावप्रत्ययः? इत्याह-

जेणाइंदियमिट्ठं, सामइयं तोऽवहाइविसयं तं ।
न तु मइसुयपच्चक्खं, जं ताइँ परोक्खविसयाइं ॥२१३५॥

येन यस्मात्कारणाज्जीवपर्यायत्वात् जीवस्य चाऽमूर्त्तत्वादती-न्द्रियमिन्द्रियविषयो न भवति सामायिकम्, इष्टं तत्त्व-वेदिना, तस्मादवध्यादिज्ञानानामेव तद्विषयः । मतिश्रुतप्रत्यक्षं तु तन्न भवति, यद्यस्मात्ते मतिश्रुते परोक्षार्थविषये, इन्द्रिय-द्वारेणैवोत्पत्तेरिति ॥ २१३५ ॥

अत्र प्रेरक आऽऽह-

जुत्तमिह केवलं चे-व पच्चओ नोहि-माणसं नाणं ।
पोग्गलमेत्तविसयओ, सामइयरूवया जं च ॥२१३६॥

ननु यद्येवं, तर्हि जीवपर्यायत्वादमूर्त्तत्वेन सामायिकं केवल-ज्ञानस्यैव विषयः, अतस्तदेवैकं भावप्रत्ययो युक्तः, न त्वव-धिमनःपर्यायज्ञाने, तयोः पुद्गलमात्रविषयत्वात्, रूपिद्रव्य-विषयत्वादित्यर्थः । सामायिकमपि पौद्गलिकं भविष्यति, न, इत्याह-यद् यस्माच्चारूपताऽमूर्त्तता सामायिकस्य, जीव-पर्यायत्वादित्युक्तमेवेति । २१३६ ॥

सूरिराह-

जं लेसापरिणामो, पायं सामाइयं छउमत्थस्स ।
तप्पच्चक्खत्तणओ, तेसिं तो तं पि पच्चक्खं ॥२१३७॥

यद्यस्माद्भवस्थस्य जन्तोः सबन्धि प्रायो द्रव्यलेश्याजनित एव परिणामोऽध्यवसायः सामायिकम् । सिद्धस्यालेश्यापरिणामे-ऽपि सम्यक्त्वसामायिकं भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं भ-वस्थग्रहणम् । भवस्थस्याप्ययोगिकेवलिनोऽलेश्यापरिणाम-रूपे अपि सम्यक्त्वचारित्रसामायिके भवतः, ततस्तन्निरासार्थं प्रायोग्रहणं, यस्मात्प्रायो द्रव्यलेश्याजनित एव परिणामो छद्म-स्थस्य सामायिकम् । (तो तं पि पच्चक्खं ति) ततस्तदपि सा-मायिकं प्रत्यक्षम् । केषाम् ?, इत्याह-(तेसिं ति) तेषामवधिमनः-पर्यायज्ञानिनाम् । कुतः ?, इत्याह-(तप्पच्चक्खत्तणओ त्ति)तासां द्रव्यलेश्यानां प्रत्यक्षत्वं तत्प्रत्यक्षत्वं, तस्मात्तत्प्रत्यक्षत्वात्। इदमु-क्तं भवति-अवधिमनःपर्यायज्ञानिनोऽपि सामायिकपरिणामजन-कानि लेश्याद्रव्याणि साक्षात्पश्यन्ति, ततस्तद्द्वारेण तज्जनितप-रिणामरूपं सामायिकमपि तेषां प्रत्यक्षमुच्यते । मतिश्रुते तु

साक्षान्न किञ्चित्पश्यत इत्येतावता नेदं तयोर्नावप्रत्ययत्वे नोक्तमिति ॥ २१३७ ॥

एवमप्यन्यदनिष्टमुत्पादयन्नाह परः-

ओहाइपच्चयं चिय, जइ त न सुयं पि पच्चओ पत्तो ।
पच्चक्खनाणिवज्ज-स्स तेण वयणं न सद्धेयं ॥२१३८॥

ननु यद्युक्तन्यायेनावध्यादिज्ञानत्रयप्रत्ययमेव सामायिकं, ततः श्रुतज्ञानमपि हन्त ! न प्रत्ययः प्राप्तः । मा प्रापत्, किं न कूयते ?, इति चेत् । उच्यते-तेन ततः प्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययकेवलरूपं ज्ञानं येषां ते प्रत्यक्षज्ञानिनः, तद्वर्जस्य तान्वर्जयित्वा, अन्यस्य कस्यापि वचनं न श्रद्धेयं प्राप्नोति; न चैतदस्ति, चतुर्दशपूर्वधराऽऽदिवचनस्य प्रमाणत्वेनोक्तत्वादिति ॥ २१३८ ॥

अत्रोत्तरमाह-

सुयमिह सामइयं चिय, पच्चइयं जं तओ य तव्वयणं ।
पच्चक्खनाणिणो च्चिय, पच्चायणमेत्तवावारं ॥२१३९॥

ननु श्रुतं श्रुतज्ञानं यत्त्वया गणधराऽऽदिसंबद्ध प्रत्ययत्वेन गीयते, तदिह श्रुतसामायिकमेव, सामायिकहेतुत्वात् न पुनरन्यत्किञ्चित् । तच्च प्रत्ययिकं प्रतीयतेऽर्थो यस्मादसौ प्रत्ययोऽवध्यादिज्ञानत्रयलक्षणः, स प्रत्यायकत्वेन यस्यास्तीति तत्प्रत्ययिकं, सर्वाभिलाप्यार्थगोचरं सर्वद्रव्यसर्वपर्यायविषयं श्रुतज्ञानमित्यादिरूपेण केवलाऽऽदिज्ञानत्रयप्रत्यायम्, न तु केवलाऽऽदिज्ञानत्रयवत्स्वयमेव तत्प्रत्यय इत्यर्थः, ततः कथमत्र भावप्रत्ययत्वेन तदधिक्रियते ? । अथ वचनरूपं द्रव्यश्रुतं त्वया प्रत्ययोऽभिधीयते । तदप्ययुक्तम् । कुतः ?, इत्याह ( जं तओ य तव्वयणं इत्यादि ) यतश्च तस्य प्रत्यक्षज्ञानिनो व्याख्याविधिप्रवृत्तस्य वचनं तद्वचनम् । कथंभूतम् ? इत्याह-प्रत्यक्षज्ञान एव प्रत्यायनमात्रमेव परावबोधनमात्रमेव व्यापारो यस्य तत्प्रत्यायनमात्रव्यापारम् । अतः केवलिप्रयुक्तत्वेन श्रद्धीयमानत्वात्तदपि प्रत्ययः, न तु केवलाऽऽदिवत्स्वयमेवेति ॥ २१३९ ॥

यद्येवं, तर्हि किमिह स्थितम् ?-किं श्रुतं सर्वथैव प्रत्ययत्वेन नेहाधिकर्तव्यम् ?, इत्याह-

ओहाइपच्चओ त्ति य, भणिए तो तं पि पच्चओऽहिगियं ।
ओहाइतिगं च कहं, तदभावे पच्चओ होज्जा ? ॥२१४०॥

ततस्तदपि श्रुतं प्रत्ययोऽभिहितं प्रत्ययत्वेनाधिकृतं भवति । किं साक्षात् ?, नैव, सामर्थ्यात् । कथम् ?, इत्याशङ्क्याह-अवध्यादित्रिविधोऽत्र प्रत्ययोऽधिक्रियते इति भणितेऽर्थापत्त्या श्रुतमपि प्रत्ययो गम्यते, किं पुनस्तदन्तरेण नोपपद्यते ?। इत्याह-अन्यथा तदभावे श्रुताभावे अवध्यादिज्ञानत्रयमपि कथं प्रत्ययो भवेत् । इदमुक्तं भवति-अवध्यादित्रयं प्रत्यय इति द्रव्यश्रुतेनैव परस्य प्रत्याय्यते, तदभावे त्ववध्यादीनि मूकत्वादात्मनः प्रत्ययत्वं परस्य प्रतिपादयितुं न शक्नुयुः, न चाप्रतिपादितं तत् प्रत्ययत्वं सिद्ध्येत्, द्रव्यश्रुतमपि चोपचारात् श्रुतज्ञानेऽन्तर्भवति । अतोऽवध्यादिप्रत्ययत्वसाधकत्वात् श्रुतस्यापीह प्रत्ययत्वमवगन्तव्यम् । उक्तं च-" सुयनाणे उ निउत्तं, केवलमेत्तं तयणंतरं । अप्पणो य परेसिं च, जम्हा तं परिभावग ॥ १ ॥ " इति । तदेवमवध्यादित्रयं प्रत्ययाः साक्षादुक्ताः, श्रुतप्रत्ययस्तु सामर्थ्यादभिहितः ॥ २१४० ॥

अथवाऽन्यथा त्रयः प्रत्यया भवन्तीत्याह-

आया गुरवो सत्थं, ति पच्चया वाऽऽदिमो च्चिय जिणस्स ।
सप्पच्चक्खत्तणओ, सीसाण उ तिप्पयारो वि ॥२१४१॥

वा इत्यथवा, आत्मा, गुरवः, शास्त्रम्, इत्येवं त्रयः प्रत्ययाः । तत्राऽऽदिम आद्य एवाऽऽत्मलक्षणः प्रत्ययो जिनस्य, केवलित्वेन स्वप्रत्यक्षत्वाद्, आत्मावष्टम्भेनैव जिनः सामायिकं कथयतीत्यर्थः । शिष्याणां तु गणधरतच्छिष्यप्रशिष्याऽऽदीनाम्, आत्मगुरुशास्त्रलक्षणस्त्रिप्रकारोऽपि प्रत्ययो विज्ञेय इति ॥ २१४१ ॥

तत्र सर्वोऽपि प्रेक्षावान् 'युक्तमिदम्' इत्यात्मना ज्ञात्वैव प्रायः सामायिकप्ररूपणश्रवणाऽऽदिकार्ये प्रवर्त्तत इत्यात्मप्रत्ययत्वं शिष्येष्वप्यस्तीति पश्चाद्दर्शयति, अतो यथा गुरुप्रत्ययस्तथा विदर्शयिषुर्गणधरापेक्षं तावदाह-

एस गुरू सव्वण्णू, पच्चक्खं सव्वसंसयच्छेया ।
भयरागदोसरहिओ, तल्लिंगाभावओ जं च ॥ २१४२ ॥
अणुवकयपराणुग्गह-परो पमाणं च जं तिहुयणस्स ।
सामाइयउवएसे, तम्हा सद्धेयवयणो त्ति ॥ २१४३ ॥

गणधराणां तीर्थकरो गुरुः; ततस्ते तत्प्रत्ययत्वेन सामायिकं शृण्वन्ति । किं विचिन्त्य ते तस्य प्रत्ययत्वमुपकल्पयन्ति ?, इत्याह-एषोऽस्माकं गुरुः सर्वज्ञः प्रत्यक्षमनुभवसिद्धः सर्वसंशयच्छेदाद् अपरं च भयरागद्वेषरहितोऽयं, शस्त्रपरिग्रहाङ्गनासन्निधानवदनकाष्ण्याऽऽदितल्लिङ्गाभावात्, अतः सर्वज्ञत्वाद् भयरागाऽऽदिदोषरहितत्वाच्च नायमनृतं कदाचिदपि भाषते, अतः सामायिकोपदेशे श्रद्धेयवचन इति संबन्धः ॥ २१४२ ॥
तथा-अनुपकृत आत्मोपकारे निरपेक्ष एव परानुग्रहपरः, प्रमाणं च सकलत्रिभुवनस्य यस्मात्, ततः सामायिकोपदेशे अस्माकं श्रद्धेयवचनः । एवं जम्बूप्रभवाऽऽदीनामपि शिष्यप्रशिष्याणां निजनिजगुरुषु सभवद्गुणोद्भावनपूर्वकं सामायिकश्रवणप्रत्ययत्वं भावनीयम् ॥ २१४३ ॥

शास्त्रस्य कथं ते प्रत्ययत्वमवगम्य प्रवर्त्तन्ते ?, इत्याह-

सत्थं च सव्वसत्तो-वगारि पुव्वावराविरोहीदं ।
सव्वगुणाऽऽदाणफलं, सव्वं सामाइयऽज्झयणं ॥२१४४॥

शास्त्रं चेदं सर्वसत्त्वोपकारि, तथा पूर्वापराविरोधि, सर्वगुणग्रहणफलं च सर्वमप्येतत्सामायिकाध्ययनम्, अतः प्रमाणमस्माकम्, इत्येवं शास्त्रस्य प्रत्ययत्वमवधार्य तच्छ्रवणे प्रवर्त्तन्ते शिष्याः । आह-ननु श्रुतस्य शास्त्रस्य प्रथममेव कथं सर्वसत्त्वोपकारकत्वाऽऽदीन् गुणान् शिष्या जानन्ति ?। सर्वं शास्त्रं श्रुत्वा जानन्तीति चेत् । तदयुक्तम्, श्रुते शास्त्रे तत्प्रत्ययाध्यवसायस्य निष्फलत्वात्, तमन्तरेणापि तच्छ्रवणस्य प्रवृत्तत्वात् । नैतदेवं, यतो वर्णिकामात्रहेतोः कियदपि शास्त्रं श्रुत्वा तद्गुणान्विन्दन्ति शिष्याः, ततः शेषं शृण्वन्ति, आदिवाक्याद् वा समुदायार्थं वा गुर्वादिभ्यः श्रुत्वा अश्रुतेऽपि शास्त्रे तद्गुणान् ज्ञात्वा तच्छ्रवणे प्रवर्त्तन्त इत्यदोष इति ॥ २१४४ ॥

अथ शिष्याणामात्मप्रत्ययत्वमाह-

बुज्झामो णं निजमिव, विघायणं संसयाइभावाओ ।
कम्मक्खओवसमओ, य होइ सप्पच्चओ तेसिं ॥२१४५॥

बुद्ध्यामहे सद्विज्ञानरूपतया सामायिकाध्ययनमवगच्छाम ।

किमिवेत्याह निजमिव घटाऽऽदिज्ञानमित्येवंभूतः स्वप्रत्यय आत्मप्रत्ययस्तेषां शिष्याणां भवति, कुतो हेतोः पुनरयं स्वप्रत्ययस्तेषां भवतीत्याह-संशयाऽऽद्यभावात्संशयविपर्ययानध्यवसायाभावत्वेनास्याध्ययनस्य तेषां सिद्धत्वादित्यर्थः । कर्मक्षयो यस्माद्वा कुतश्चिदेवंभूत स्वप्रत्ययस्तेषां भवतीति प्रयोदशगाथार्थः । विशे० । आ० म० । कारणे, त० । निमित्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । विशे० । अनु० । हेतौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० । विशे० । आतु० । प्रत्ययशब्दः कारणत्वे । यत उक्तम्-" प्रत्ययः शपथज्ञान-हेतुविश्वासनिश्चये । " न० ।

सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्चेत्यधिकृत्याऽऽह-

तथाऽऽत्मगुरुलिङ्गानि, प्रत्ययस्त्रिविधो मतः ।
सर्वत्र सदनुष्ठाने, योगमार्गे विशेषतः ॥ २३१ ॥

तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, आत्मगुरुलिङ्गानि-आत्मा च गुरुश्च लिङ्गानि चेति समासः । प्रतीयते भाव्यार्थोऽस्मादिति प्रत्ययः,त्रिविधस्त्रिप्रकारो मतः । सर्वत्र सदनुष्ठाने फलाविसंवादिनि प्रयोजने, योगमार्गे प्रस्तुत एव, विशेषतो विशेषेण मत इति । अस्य सर्वसदनुष्ठानातिशायित्वात् ॥ २३१ ॥

एनमेव त्रिविध प्रत्ययं भावयन्नाह-

आत्मा तदभिलाषी स्याद्, गुरुराह तदेव तु ।
तल्लिङ्गोपनिपातश्च, संपूर्णं सिद्धिसाधनम् ॥ २३२ ॥

आत्मासदनुष्ठानाऽऽरम्भिणः पुंसोऽन्तराऽऽत्मरूपः, स्वत एव तावत्तदभिलाषी सदनुष्ठानाभिलाषवान्, स्याद्भवेत, ततो गुरुर्धर्मोपदेष्टा,आह ब्रूते,तदेव तु यदेवाऽऽत्मनाऽभिलषितमात्मन् तल्लिङ्गोपनिपात -तस्याभिलषितस्य सिद्धिसूचकानि लिङ्गानि यानि-" नन्दीतूरं पुन्न-स्स दंसणं सङ्खपडहसद्दो य । भिंगारछत्तचामर-धयप्पडागा पसत्थाइ ॥ १ ॥ " इत्यादिरूपाणि सिद्धानि, तेषामुपनिपातः सन्निहितता । च समुच्चये । किमित्याह-सम्पूर्णं समस्तम सिद्धिसाधनम् विवक्षितफलनिष्पत्तिसूचकम् ॥ २३२ ॥

अथ सिद्धिमेव भावयन्नाह-

सिद्ध्यन्तरस्य सद्बीजं, या सा सिद्धिरिहोच्यते ।
ऐकान्तिक्यन्यथा नैव, पातशक्त्यनुवेधतः ॥ २३३ ॥

सिद्ध्यन्तरस्य फलान्तरसिद्धिरूपस्य, सदवन्ध्यं बीज हेतुर्या सा सिद्धिरिह विद्वल्लोके उच्यते । कीदृशीत्याह-( ऐकान्तिकी ) नियमेनासिद्धिरूपपरिहारवती । अन्यथा सिद्ध्यन्तरसद्बीजाभावेनैव न सर्वथा सिद्धिर्भवति । कुत इत्याह-( पातशक्त्यनुवेधतः ) भ्रंशसामर्थ्यानुवेधात् । यथा दिनधनिधनाद्याऽऽद्यस्यादिशब्दोपघातान्महता यत्नेनोपार्ज्यमाणमपि नोद्यमासादयति किं त्ववश्य पतति, एवं विपरीतसिद्धिरपि मिथ्याऽभिनिवेशाऽऽदिपातशक्त्यनुवेधात्र निर्वाणावसानफलाय संपद्यते ॥ २३३ ॥

तमुमेवार्थमधिकृत्याऽऽह-

सिद्ध्यन्तरं न संधत्ते, या साऽवश्यं पतत्यतः ।
तच्छक्त्याऽप्यनुविद्धैव, पातोऽसौ तत्त्वतो मतः ॥ २३४ ॥

सिद्ध्यन्तरं प्रस्तुतफलोत्तरकालं कार्यान्तरसिद्धिरूपम् । ( न ) संधत्ते घटयति, या सिद्धिः, साऽवश्यं नियमेन पतति निवर्त्तते, ऽतश्च पातशक्त्याऽपि पातशक्त्याऽपि, सकृदि



वा स्यात् । एवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्ततः पात एव, असौ सिद्धिः, सप्रत्यपातेऽपि परतस्तावत्पात एवेत्यपिशब्दार्थः । तत्त्वतः परमार्थतः, मतः सम्मतो विदुषाम् । यथा ह्यविद्यमानपुत्रपौत्राऽऽदिसन्तानः पुमान् स्वकालेऽपतन्नपि पातशक्त्यनुवेधात्परमार्थेन पात एव, तथा प्रस्तुता यमनियमाऽऽदिसिद्धिरप्यनुबन्धविकला योजनीया पातत्वेनेति ॥ २३४ ॥

अथैतद्विपर्ययमाह-

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात्, साध्वी चैकान्तिकी भृशम् ।
आत्माऽऽदिप्रत्ययोपेता, तदेषा नियमेन तु ॥ २३५ ॥

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात् सिद्ध्यन्तराणां प्रस्तुतसिद्धेरन्यसिद्धिविशेषाणां यान्यङ्गानि हेतवस्तेषां संयोगान्मीलनात् साध्वी सङ्गता पुनः । एकान्तिकी सिद्धिः पातविकला, भृशमत्यर्थं परम्परयाऽप्यसिद्धिरूपपरिहारात् । आत्माऽऽदिप्रत्ययोपेता आत्मगुरुलिङ्गप्रतीतिसङ्गता, तत्तस्मात्, एषा ऐकान्तिकी सिद्धिः, नियमेन त्ववश्य तथैव वर्त्तते, आत्माऽऽदिप्रत्ययस्यैव सिद्ध्यन्तरानन्यहेतुत्वात् ॥ २३५ ॥

एतदेव समर्थयते-

न ह्युपायान्तरोपेय-मुपायान्तरतोऽपि हि ।
हाठिकानामपि यत-स्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥ २३६ ॥

न हि नैव, उपायान्तरोपेयं मृत्पिण्डाऽऽद्युपायान्तरसाध्यं घटाऽऽदिकार्यमुपायान्तरतोऽपि हि सूत्रपिण्डाऽऽद्युपायान्तरादपि भवति, हाठिकानामपि बलात्कारचारिणां, किं पुनस्तदन्यथाचारिणामित्यपिशब्दार्थः । यतो यस्मात्, तत्प्रत्ययपर आत्माऽऽदिप्रत्ययपरायणः, भवेत् स्यादैकान्तिकीं सिद्धिमभिलषन् योगी, तस्यास्तदेकहेतुत्वात् । यथा हि कुम्भकाराऽऽदिसन्निहितमृत्पिण्डाऽऽदिसर्वस्वोपकरणोऽपि न पटाऽऽदि साधयितुमलं, तदुपकरणाभावात्, तथा आत्माऽऽदिप्रत्ययविकलस्तदन्यानुष्ठानवानपि योगी नैकान्तिकीं सिद्धिमाराधयितुं समर्थः स्यात् ॥ २३६ ॥

अथामुमेव पुरस्कुर्वन्नाह-

पठितः सिद्धिदूतोऽयं, प्रत्ययो ह्यत एव हि ।
सिद्धिहस्तावलम्बश्च, तथाऽन्यैर्मुख्ययोगिभिः ॥ २३७ ॥

पठितो निरूपितः, सिद्धिदूतः सिद्धिसमागमहेतुः, अयमात्माऽऽदिप्रत्ययः हि स्फुटम्, अत एव ह्यैकान्तिकसिद्धिहेतुत्वादेव हेतोः, सिद्धिहस्तावलम्बश्च-सिद्धौ तथाविधप्रासादशृङ्ग इवाऽऽरोढुमनसो हस्तावलम्बसदृशः । च समुच्चये । तथेति तत्प्रकारैरन्यैरेतदध्ययनात्प्रभेदैरन्योऽस्मद्भिन्नैर्मुख्ययोगिभिः सूक्ष्ममार्गदर्शितया तत्तदर्पण्डैर्निरूपितमिति ॥ २३७ ॥ द्वा० वि० ।

पच्चयओ-प्रत्ययतस्-अव्य० । प्रतीयते इति प्रत्ययो ज्ञानकारणं घटाऽऽदि, सर्वथा निरालम्बनज्ञानाभावेन तदविनाभावित्वात् ज्ञानस्य । ज्ञानविषयमाश्रित्येत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

पच्चयकरण-प्रत्ययकरण-न० । दृष्टान्तादिना प्रतीत्युत्पादने, दश० १ श्रु० १४ द० ।

पच्चल-प्रत्यल-त्रि० । समर्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पा० न० ।

पच्चलिउ-प्रत्युत-अव्य० । प्रत्युतस्य पच्चलिउ इति आ०

देश । " सा व सलोणी गोरडी, नवखी कवि विसगांठ । भड पच्चल्लिउ सो मरइ, जासु न लग्गइ कंठि ॥ १ ॥ " प्रा० ४ पाद ।

पच्चवत्थय-प्रत्यवस्तृत-त्रि० । आच्छादिते, आ० म० १ अ० १ खण्ड ।

पच्चवत्थाण-प्रत्यवस्थान-न० । प्रतीति परोक्तदूषणप्रातिकूल्येनावस्थीयतेऽनभूतएवर्थत्वादवस्थाप्यते युक्तिपुरस्सरं निर्दोषमेतदिति शिष्यबुद्धावारोप्यते येन तत्प्रत्यवस्थानम् । प्रतिवचने, वृ० १ उ० । समाधौ, स्था० १ ठा० । " तस्स सद्दत्थन्नायाओ, परिहारो पच्चवत्थाणं ॥ १००७ ॥ " ( तस्स त्ति ) तस्य चालनस्य परिहारः प्रत्यवस्थानं, दूषितसिद्धिरित्यर्थः । कस्माद्योऽसौ परिहार ?, इत्याह-शब्दार्थन्यायतः-शब्दविषयिणा न्यायेन शब्दसमविन्या युक्त्या शब्दगतदूषणस्य परिहारः, अर्थविषयिणा न्यायेनार्थसमविन्या युक्त्याऽर्थगतदूषणस्य परिहारः प्रत्यवस्थानं, दूषितसिद्धिरिति भावार्थः । नयमतविशेषाच्च शब्दार्थगतदूषणस्य परिहारः प्रत्यवस्थानमित्यपि द्रष्टव्यम् । इदमुक्तं भवति-' करोमि भदन्त ! सामायिकम्' इत्यादौ गुर्वामन्त्रणवचनो भदन्तशब्द इत्युक्ते, कश्चिच्चालनां करोति-नन्वेवं तर्हि गुरुविरहे भदन्तशब्दाऽनभिधानप्रसङ्गः, अभिधाने वाऽनर्थकत्वाऽऽदिदोषप्रसङ्गः । अत्र प्रत्यवस्थानमुच्यते-आचार्याभावे स्थापनाऽऽचार्यस्य पुरतः सर्वोऽपि सामाचारी क्रियत इति ज्ञापनार्थमिदम् । अन्यत्रापि चोक्तम्-" ठवणा आयरियस्सा, सामायारी पउंजए एव " इत्यादि । तथा दृश्यते चार्हदभावेऽर्हत्प्रतिमोपवेशनमिति । अथवा-गुरुविरहेऽपि स्वातन्त्र्यनिषेधो, विनयमूलधर्मोपदर्शनार्थं च गुरुगुणज्ञानोपयोगो विधेय इत्येतच्चानेन ज्ञाप्यते । यदि वा-नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदाच्चतुर्विध आचार्यः, तत्राऽऽचार्योपयोगरूपो योऽसौ भावाऽऽचार्यः शिष्यस्य मनसि वर्त्तते, तद्विषयमिदमामन्त्रणं, मनोनिर्वेसंमानगुणमयाऽऽचार्यनिबन्धनमिति भावः । अतो गुरुविरहोऽप्यसिद्ध एवेति भावः । इत्येवमन्यत्रापि चालनाप्रत्यवस्थाने यथासम्भवमभ्यूह्ये इति । तदनेन " संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालनप्रत्यवस्थाने, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥ " विशे० । गुरुकथने, दश० १ अ० । नीतितः पृष्टसंशयनिरासे यथा युज्यत एवेष्टसिद्धे । ल० ।

पच्चवर-देशी-मुशले, दे० ना० ६ वर्ग १५ गाथा ।

पच्चवाय-प्रत्यवाय-पुं० । अनर्थे, द्वा० १६ द्वा० । व्य० । आ० म० । उन्मार्गरोगधर्मभ्रंशलक्षणेष्वनर्थेषु, पञ्चा० ४ विव० । कल्प० । आचा० । आव० । उपघातहेतुषु अध्यवसायाऽऽदिषु, उत्त० १० अ० ।

पच्चा-पत्या-स्त्री० । चमरस्य बलस्य च लोकपालानामग्रमहिषीणां च सर्ववाह्यायां पर्षदि, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

पच्चाइक्खमाण-प्रत्याचक्षाण-त्रि० । प्राणातिपाताऽऽदिप्रत्याख्यानं कुर्वाणे, भ० ७ श० ५ उ० ।

पच्चाउट्टणया-प्रत्यावर्त्तनता-स्त्री० । आवर्त्तनं प्रति योगेनार्थविशेषेषु उत्तरोत्तरेषु विवक्षिताऽपायप्रत्यासन्नतरा वा विशेषाऽन्ने प्रत्यावर्त्तनात्तद्भावः प्रत्यावर्त्तनता । अवायाऽऽख्ये आभिनिबोधिकज्ञानभेदे, न० ।

पच्चाउवयंत-प्रत्यापतत्-त्रि० । प्रतिवर्त्तमाने, औ० ।

पच्चाएस-प्रत्यादेश-पुं० । दृष्टान्ते, पाइ० ना० २१६ गाथा ।

पच्चागच्छणया-प्रत्यागमनता-स्त्री० । आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमने, भ० १४ श० ७ उ० ।

पच्चागय-प्रत्यागत-न० । प्रत्यागमे, उत्त० ३० अ० ।

पच्चाथरण-प्रत्यास्तरण-न० । समुखाभिमुख युद्धकरणे, व्य० १ उ० ।

पच्चापिच्चिय-प्रत्यापिट्टित-न० । तृणविशेषस्य कुट्टितत्वक्कमये रजोहरणे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

पच्चामित्त-प्रत्यामित्र-पुं० । शत्रुभूते प्रातिवेशिकराजे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । औ० ।

पच्चामित्तया-प्रत्यामित्रता-स्त्री० । अमित्रसहायतायाम्, भ० १२ श० ७ उ० ।

पच्चायाइ-प्रत्यायाति-स्त्री० । प्रत्यागमने, जन्म, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

प्रत्याजाति-स्त्री० । जन्मनि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पच्चार-उपालम्भ-उप-आ-लभ्-धा० । असतः सतो वा दोषस्याभिधाने, " उपालम्भेर्झङ्खपच्चार-वेलवा " ॥ ८ । ४ । १५६ ॥ इत्युपालम्भेः पच्चाराऽऽदेशः । 'पच्चारइ । उपालम्भइ' उपालभ्यते । प्रा० ४ पाद ।

पच्चारण-उपालम्भन-न० । प्रतिभेदे, पाइ० ना० २६७ गाथा ।

पच्चारुहंत-प्रत्यारोहत्-त्रि० । अवतरति, औ० ।

पच्चालीढ-प्रत्यालीढ-त्रि० । यद् वाममूरुमग्रतो मुखमाधाय दक्षिणमूरु पश्चान्मुखमपसारयति, अन्तरा वा, अत्रापि द्वयोरपि पादयोः पञ्च पादास्ततः पूर्वप्रकारेण युज्यते तत्प्रत्यालीढम् । युद्धस्थानभेदे, व्य० १ उ० । आ० चू० । आ० म० ।

पच्चावत्त-प्रत्यावर्त्त-पुं० । एकस्याऽऽवर्त्तस्य प्रत्यभिमुखमावर्त्ते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । प्रतिपुद्गलाऽऽवर्त्ते, द्वा० १२ द्वा० ।

पच्चासत्ति-प्रत्यासत्ति-स्त्री० । सादृश्ये सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पच्चासन्नत्त-प्रत्यासन्नत्व-न० प्रत्यासत्तौ, सादृश्ये, विश० ।

पच्चासि ( ण् )-प्रत्याशिन्-त्रि० । प्रत्याशितुं शीलमस्येति प्रत्याशी । वान्तभक्षके, " परिण्णाय पमायइ पच्चासी । " आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

पच्चाहार-प्रत्याहार-पुं० । योगशास्त्रप्रसिद्धे इन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो निराकरणे, वाच० । " प्रत्याहारो हृषीकाणामेनदायत्तनाफलः " ( ? ) द्वा० २३ द्वा० । ( अस्यार्थः ' धिरा ' शब्दे चतुर्थभागे २४१० पृष्ठे गतः )

पच्चुत्तरित्ता-प्रत्यवतीर्य-अव्य० । नीचैर्गत्वेत्यर्थे, रा० ।

पच्चुत्थ-देशी-प्रत्युप्ते, दे० ना० ६ वर्ग १३ गाथा ।

पच्चुत्थय-प्रत्यवस्तृत-त्रि० । उपरि आच्छादिते, कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

पच्चुप्पन्न-प्रत्युत्पन्न-त्रि० । साम्प्रतमुत्पन्ने, अनु० । वर्त्तमाने, आव० ४ अ० । सूत्र० । वर्त्तमानकालीने, विशे० । कल्प० ।

पच्चुप्पराणग्गाहि (ण्) प्रत्युत्पन्नग्राहिन्-त्रि० । साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नमुच्यते, वर्त्तमानकालभावीत्यर्थः । तत् गृहीतुं शीलमस्येति प्रत्युत्पन्नग्राही । वर्त्तमानकालभाविवस्तुग्राहिणि ऋजुसूत्रनये, अनु० । ग० ।

पच्चुप्पेहिऊण-प्रत्युत्प्रेक्ष्य-अव्य० । प्रतिलेख्येत्यर्थे, "वसहिं पच्चुप्पेहिऊण ण सपयज्जा ।" महा० १ चू० ।

पच्चुरस-प्रत्युरस-न० । उरसोऽभिमुखं प्रत्युरसम् । उरोऽभिमुखे, ओघ० ।

पच्चुवगार-प्रत्युपकार-पुं० । प्रत्युपकृते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पच्चूस-प्रत्यूष-पु० । " प्रत्यूषे षश्च हो वा " ॥ ८ ॥ २ ॥ १४ ॥ इति त्यस्य चः तत्सन्नियोगेन षस्य हः । पच्चूहो । पच्चूसो । प्रा० २ पाद । रात्रेश्चरमप्रहरे, स्था० ४ ठा० २ उ० । आव० ।

पच्चूसकालसमय-प्रत्यूषकालसमय-पु० । प्रत्यूषकालसक्षणो य. समयोऽवसर. । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रभातसमये, कल्प० १अधि० ३ क्षण ।

पच्चूह-प्रत्यूह-पुं० । विघ्ने, ज्ञा० १६ ज्ञा० । आचा० । विशे० । सूर्ये, पु० । पाइ० ना० ६ वर्ग ४ गाथा ।

पच्चेड-देशी-मुशले, दे० ना० ६ वर्ग १५ गाथा ।

पच्चोइय-प्रत्योदित-त्रि० । परिकर्मिते, संथा० ।

पच्चोगिलमाण-प्रत्यवगिलत्-त्रि० । भूयोऽप्यास्वादयति, सू० ५ उ० ।

पच्चोणियत्त-प्रत्यवनिवृत्त-त्रि० । ऊर्ध्वमूर्ध्वमुच्छल्य तत्रैव पुनः पुन. पतिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । उत्पत्य निपतिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पच्चोतरित्ता-प्रत्यवतीर्य-अव्य० । अधोवतीऽर्येत्यर्थे, "जाणविमाणाओ पच्चोतरित्ता ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

पच्चोयड-प्रत्यवतट-न० । तटसमीपवर्त्तिनि अभ्युन्नतप्रदेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । " फालियपडलपच्चोयडा " स्फाटिकपटलावच्छादितः । रा० ।

पच्चोरुहित्ता-प्रत्यवरुह्य-अव्य० । मध्ये प्रविश्येत्यर्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पच्चोवयमाण-प्रत्यवपतत्-त्रि० । अध.पतति, " पच्चोवयमाणा जाइ तत्थ पाणाइं जावजीवियाओ ववरोवेइ ।" भ० १७ श० १ उ० ।

पच्चोसक्कित्ता-प्रत्यवष्वष्क्य-अव्य० । प्रत्यवसर्प्येत्यर्थे, व्यावर्त्त्येत्यर्थे, भ० १२ श० ६ उ० ।

पच्छ-पथ्य-न० । " ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले " ॥ ८ । २ । २१ ॥ इति थ्यस्थाने च्छ । हिते, प्रा०२ पाद ।

पच्छइ-पश्चात्-अव्य० । "पश्चादेवमेवैवेदानीं-प्रत्युतेतस पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे" ॥ ८ । ४ । ४२० ॥ अपभ्रंशे पश्चाच्छब्दस्य स्थाने पच्छइ इत्यादेशः । प्रा०४ पाद । प्रथमाऽऽद्यर्थवृत्तेरपरशब्दस्यार्थे, वाच० ।

पच्छद-गम्-धा० । गतौ, " गमेर०-" ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इत्यादिना गमधातोः पच्छन्दाऽऽदेशः । पच्छदइ । गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

पच्छंभाग-पश्चाद्भाग-पुं० । दिवसस्य पश्चाद्भागे भागे, चं० प्र० १ पाहु० ३ पाहु० पाहु० ।

पच्छंवत्थुग-पश्चाद्वास्तुक-न० । पश्चाद् गृहे, प्रश्न०४ संब० द्वार ।

पच्छण-प्रक्षण-न० । ह्रस्वे त्वचो विदारणे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । विपा० ।

पच्छन्न-प्रच्छन्न-त्रि० । अप्रकटे, " पच्छन्न पडियरइ ।" आ० म० १ अ० १ खण्ड । रहसि, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

पच्छण्णपइ-प्रच्छन्नपति-पु० । जारे, " एते जोव्वणकिच्चगा, पच्छन्न पइं महिलियाणं ।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पच्छण्णपडिसेवित्तिणी-प्रच्छन्नप्रतिसेविनी-स्त्री० । प्रच्छन्न प्रतिसेवते इति प्रच्छन्नप्रतिसेविनी । जारेण गुप्तमैथुनकारिण्यां स्त्रियाम्, सा च गर्भं न धरते । आव० ४ अ० ।

पच्छण्णपाव-प्रच्छन्नपाप-त्रि० । कूटप्रयोगकारिणि, असद्गुण गुणवन्तमात्मानं ख्यापयति, गुणरहितमात्मानं वा यो गुणवन्तं ख्यापयति, न तस्मादपर' प्रच्छन्नपापोऽस्तीति आव०४ अ० ।

पच्छतोवाहत-पश्चाद्व्याहृत-न० । पश्चाद्धुके गत्वा प्रत्यागतलक्षणभेदे, आ० चू० १ अ० । "जहा जीवति भते ! जीवे जीवति? गोयमा ! जीवति ता नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवति, सिय नो जीवति ।" आ० चू० १ अ० ।

पच्छय-प्रच्छद-पु० । वस्त्रविशेषे, " चित्तपरिच्छयपरिच्छेय ।" भ० ७ श० ६ उ० । " पिच्छोरी " इति ख्याते ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । उत्तरपटे, है० ।

पच्छयाव-पश्चात्ताप-पु० । स्वप्रत्यक्षं जुगुप्सायाम्, आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

पच्छा-पश्चात्-अव्य० । अनन्तरे, भ० ३ श० २ उ० । कल्प० । पर्यन्तसमये, सथा० । विवक्षितकालस्याऽनन्तरे, तं० । परलोके, " पच्छा कडुयविवागा ।" इत्यत्र यथा पश्चाच्छब्दस्य परभवविषयत्वम् । प्रति० । पाइ० ना० ।

पच्छाइअ-प्रच्छादित-त्रि० । आच्छादिते, " पच्छाइअभूमिआइँ वइआइँ ।" पाइ० ना० १७६ गाथा ।

पच्छाउत्त-पश्चादायुक्त-न० । तदागमनकालादनन्तरमायुक्ते, पञ्चा० १० विव० ।

पच्छाकड-पश्चात्कृत-न० । पश्चात्कृतश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासं प्रतिपन्न । सू० १ उ० । मुक्तलिङ्गे, जीवा० ११ अधि० । व्य० । ", पच्छाकड तु वोच्छामि । सो दुविहो बोधव्वो, गिहत्थ सारूविए चेव ।" पश्चात्कृत तु वक्ष्यामि, पश्चात्कृतो द्विविधः । तद्यथा-गृहस्थ', सारूपिकश्च । व्य० ४ अ० । नि० चू० । भावातीते, आव० ५ अ० ।

पच्छाकम्म (ण्)-पश्चात्कर्मन्-न० । पश्चात् दानानन्तरं कर्म भाजनधावनाऽऽदि यत्राशनाऽऽदौ तत्पश्चात्कर्म । प्रश्न० ५ संव० द्वार । भक्तदानात् पश्चात् यतिनिमित्त हस्ताऽऽदिधाव-

ने, ध० ३ अधि० । पश्चाज्जलोज्झनकर्मणि, आव० ४ अ० । पं० चू० । " कज्जेण गिहिणिसिज्जा-गतस्य वत्थम्मि मइलिए गिहिणो । उप्फुसणधोवणादी, करेज्ज पच्छाकम्म त तु । " पं० भा० १ कल्प ।

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

असंसृष्टेन हस्तेन अन्नाऽऽदिभिरलिप्तेन दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं नेच्छेत् । किं सामान्येन ?, नेत्याह-पश्चात्कर्म भवति यत्र दर्व्यादौ, शुष्कमण्डकाऽऽदिवत् तदन्यद् दोषरहितं गृह्णीयादिति सूत्रार्थः ॥ ३५ ॥

संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३६ ॥

संसृष्टेन हस्तेन अन्नाऽऽदिलिप्तेन तथा दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं प्रतीच्छेत् गृह्णीयात् । किं सामान्येन?, नेत्याह-यत्तत्रैषणीयं भवति तदन्यदोषरहितमित्यर्थः । इह च वृद्धसंप्रदायः-" संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे, संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते णिरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठभंगा, एत्थ पढमभंगो सव्वुत्तमो, अन्नेसु वि जत्थ सावसेस दव्वं तत्थ घिप्पइ ण इयरेसु पच्छाकम्मदोसाओ । " इति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

कर्मण्यपि विधिमाह-

संसट्ठमसंसट्ठे, सावसेसे य णिरवसेसे य ।
हत्थे मत्ते दव्वे, सुद्धमसुद्धे तिगट्ठाणे ॥ १०३१ ॥

इह भिक्षादातृसम्बन्धी हस्तः संसृष्टो वा भवेदसंसृष्टो वा येन च कांस्यिकाऽऽदिना मात्रकेण भिक्षां ददाति तदपि संसृष्टमसंसृष्टं वा, द्रव्यमपि सावशेषं वा स्यान्निरवशेषं वा, अत संसृष्टासंसृष्टसावशेषनिरवशेषपदैर्हस्तमात्रकद्रव्यविषयैरष्टौ भङ्गा भवन्ति । तद्यथा-संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं सावशेषं द्रव्यम् १, संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं निरवशेषं द्रव्यम् २, संसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रकं सावशेषं द्रव्यम् ३ संसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रकं निरवशेषं द्रव्यम् ४ । एवमसंसृष्टेनापि हस्तेन चत्वारो भङ्गा प्राप्यन्ते ८ । एतस्यामष्टभङ्ग्यां यानि त्रीणि स्थानानि हस्तमात्रकद्रव्यरूपाणि, तैर्यत्र पश्चात्कर्मदोषो न भवति ते भङ्गकाः शुद्धाः, इतरे अशुद्धाः ॥ १०३१ ॥

अमुमेवार्थं स्पष्टयति-

पढमे भंगे गहणं, सेसेसु य जत्थ सावसेसं तु ।
अन्नेसु उ अग्गहणं, अलेवसुक्केसु उ गहणं ॥ १०३२ ॥

अस्यामष्टभङ्ग्यां यः प्रथमो भङ्गस्त्रिभिरपि पदैः शुद्धस्तत्र ग्रहणं भवति, शेषेष्वपि भङ्गकेषु यत्र सावशेषं द्रव्यं भवति तत्र ग्रहीतुं कल्पते । पश्चात्कर्मसंभवात् अन्येषु निरवशेषपदेषु युक्तेषु भङ्गेष्वग्रहणं, न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः । इयमत्र भावना-इह हस्तो मात्रकं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म संभवति, किं तर्हि द्रव्यवशेन । तथाहि-यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते सावशेषे स्वरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति, भूयोऽपि परिवेषणसंभवात् । यत्र तु निरवशेषं, तत्र साधुदानानन्तरं नियमतो हस्तं मात्रकं वा प्रक्षालयति । ततो द्वितीयाऽऽदिषु समेषु भङ्गेषु पश्चात्कर्मसंभवान्न कल्पते, प्रथमाऽऽदिषु तु विषमेषु भङ्गेषु तदसंभवात्कल्पते ग्रहीतुमिति । यदि चैतेष्वपि यदलेपकृतं सक्तुमण्डकाऽऽदि, यच्च शुष्कं कुरुपिण्डकाऽऽदि, तयोरपि ग्रहणं कल्पते । उक्तं परिकर्मद्वारम् ॥ १०३२ ॥ बृ० १ उ० । पं० चू० । ( अत्र विशेषः 'असंसट्ठ' शब्दे प्रथमभागे ८६२ पृष्ठे गतः ) पश्चात्कर्म सस्निग्धोदकार्द्ररूपं चतुर्भेदम्, अत्र प्रायश्चित्तमाचामाम्लम् । जीत० । " पुरेकम्मे य पच्छाकम्मे य चउलहु । " पं० चू० १ कल्प० । " जं पुव्वकम्म तं पच्छाकम्म, तं पुव्वकम्मं जं भिक्खुपडियाए वट्टमाणा । " इत्यन्यत्र । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । पश्चात्कर्माऽऽदि न गृह्णीयाच्चतुर्थी पिण्डैषणा । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । यदि निजकानां सम्बन्धी ग्लानो, वैद्यो वा निजकोऽन्यस्य कुरुते चिकित्सां, तत्र निश्चितं पश्चात्कर्म । व्य० ६ उ० ।

पच्छाग-प्रच्छादक-पुं० । प्रावरणरूपे कल्पे, " तिन्नेव पच्छागा । " बृ० ३ उ० । पं० व० । प्रव० ।

पच्छागइ-पश्चाद्गति-स्त्री० । गच्छतोऽनुगमने विनयभेदे, द्वा० २६ द्वा० ।

पच्छाणिवाइ ( ण् )-पश्चान्निपातिन्-त्रि० । प्रव्रज्याग्रहणानन्तरं चारित्रतो लिङ्गतो वा निपतनशीले, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

पच्छाणुताव-पश्चादनुताप-पुं० । हा मया दुष्टं कर्म कृतमित्येवमनुतापे, उत्त० २० अ० । रा० । "पच्छाणुतावेण सुमज्झवसाणेण । " आ० म० १ अ० २ खण्ड ।

पच्छाणुपुव्वि ( ण् )-पश्चादानुपूर्वी-स्त्री० । पाश्चात्यादारभ्य प्रतिलोमं व्यत्ययेनानुपूर्वी परिपाटिः क्रियते यस्यां सा पश्चानुपूर्वी । आनुपूर्वीभेदे, अनु० । ( अत्रोदाहरणमुत्क्रमेणैव भवतीत्युक्तम् ' आणुपुव्वी ' शब्दे द्वितीयभागे १४१ पृष्ठे )

पच्छाताव-पश्चात्ताप-पुं० । अनुतापे, आव० ४ अ० । आ० म० । आ० चू० ।

पच्छातावित-पश्चात्तापिक-पुं० । पश्चात्तापवति, प्रश्न० ३ सब० द्वार ।

पच्छाभाग-पश्चाद्भाग-पुं० । पाश्चात्यभागे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

पच्छाविकुव्वणा-पश्चाद्विकुर्वणा-स्त्री० । पश्चाद् विक्रियायाम्, स० ।

पच्छासंखडि-पश्चात्संखडि-स्त्री० । मृतकसंखडौ, मरणानन्तरं बहुभोजनार्थं महारसवत्याम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

पच्छासंजोग-पश्चात्संयोग-पुं० । श्वशुराऽऽदिकृते संबन्धे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

पच्छासथव-पश्चात्संस्तव-पुं० । " जे पच्छा स्तरा । " मातृश्वशुराऽऽदिसम्बन्धे, " नि० चू० २ उ० । ( पश्चात्संस्तवेन पिण्डग्रहणनिषेधं ' संथव ' शब्दे वक्ष्यामि )

पच्छासंथुय-पश्चात्संस्तुत-त्रि० । श्वशुरकुलसम्बन्धे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० ।

पुव्विं पच्छा संथुता इमे चिंत्यते-

मामन्ने जे पुव्विं, दिट्ठा जट्ठा व परिजिता वा वि ।
ते हुंति पुव्वसंथुय, जे पच्छा एतरा हुंति ॥ १०३ ॥

सामण्णे प्रतिपत्तिकालात्पूर्वं, पश्चाद्वा । अहवा-सामण्णकाले चेव चिंतिज्जति । नि० चू० २ उ० ।

पच्छित्त-पापच्छिद्-न० । पापं छिनत्तीति पापच्छित् । जीत० ।
प्रायश्चित्त-न० अथवा प्रायश्चित्त जीव मनो वाऽतिचारमलम-लिनित शोधयतीति प्रायश्चित्तम् । जीत० । न० । पा० ।
" प्रायः पाप विजानीया-च्चित्त तस्य विशोधनम् " इत्युक्तेः । अथवा-प्रकर्षेण अयते गच्छत्यस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोक., तेन चिन्त्यते स्मर्यतेऽतिचारवि-शुद्ध्यर्थमिति निरुक्तात्प्रायश्चित्तम् । शोधिरूपेऽनुष्ठानविशेषे, ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

( १ ) अथ प्रायश्चित्तनिरुक्ताभिधानायाऽऽह-

पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं ति भएणई तेणं ।
पाएण वा वि चित्तं, सोहयती तेण पच्छित्तं ॥ ३ ॥

पापमशुभ, छिनत्ति कृन्तति, यस्माद्धेतो. पापच्छिदिति वक्तव्ये प्राकृतत्वेन "पायच्छित्तमिति," भण्यते निगद्यते, तेन तस्मा-द्धेतोः, प्रायेण बाहुल्येन, वाऽपीत्यथवा, चित्तं मनः, शोधय-ति निर्मलयति, तेन हेतुना प्रायश्चित्तमित्युच्यते । इति गा-थार्थ । पञ्चा० १६ विव० ।

( २ ) इदाणिं पायच्छित्ते अहिकारो त्ति छठं दारं, तं च पच्छित्त एव भवति-

आयारे चउसु य चू-लियासु उवएसवितधकारिस्स ।
पच्छित्तमिहऽज्झयणे, भणियं अएणेसु य पदेसु ॥ ७१ ॥

आयारो णवबंभचेरमाईओ चउसु य आइल्लचूलासु पिंडे-सणातिविमोक्खावसाणासु ( ? ) पञ्चासु जो उवदेसो उवदि-स्सइ त्ति । उवदेसो क्रियेत इत्यर्थः । सो य पडिलेहणापप्फो-डणाति, तं वितहं विवरीय, करेंतस्स, आयरंतस्सेत्यर्थः । पाव छिंदतीति पच्छित्त, इह पकप्पज्झयणे, वुत्त निर्दिष्टमित्य-र्थः । किं इह अज्झयणे केवल पच्छित्त इवइ ?, नेत्युच्यते, अण्णे-सु य पदेसु अण्णपयाणि कप्पववहाराईणि, तेसु वि वुत्त । अहवा-वितहकारि त्ति अणायारो भणिओ । किं अणायार एव केवल पच्छित्त हवइ ?, नेत्युच्यते-अण्णेसु य पएसु अइक्कमो वइक्क-मो अइयारो, एएसु वि पच्छित्त वुत्त । अहवा-किमायार एव सुत्ते वितहकारिस्स केवल पच्छित्त वुत्त ?, नेत्युच्यते-अ-ण्णेसु य पदेसु, अण्णपदा सूयकडादओ पया, तेसु वि वितहका-रिस्स पच्छित्तं वुत्त । च. पूरणे । नि० चू० १ उ० । दुःस्व-प्नाऽऽदिप्रतिघातकेऽनुष्ठाने, " कयकोउयमंगलपायच्छित्ता । " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

( ३ ) अथेदं प्रायश्चित्तं भावतः कस्य भवतीत्याह-

भव्वस्साऽऽणारुइणो, संवेगपरस्स वणियं एयं ।
उवउत्तस्स जहत्थं, सेसस्स उ दव्वतो णवरं ॥ ४ ॥

भव्यस्य मुक्तिगमनोचितस्य, तस्याऽप्याज्ञारुचेरागमब-हुमानिनः सम्यग्दृष्टेः, न जातिभव्यस्य । तस्याऽपि संवे-गपरस्य संविग्नस्य, चारित्रिण इत्यर्थ. । वर्णितमुक्तमागमे, एतत्प्रायश्चित्तम, तस्याऽप्युपयुक्तस्य सर्वापराधस्थानेषु दत्तावधानस्य, यथार्थमन्वर्थयुक्तम, शुद्धिकारकमित्यर्थ. । उ-क्तव्यतिरिक्तस्य का वार्त्तेत्याह-शेषस्य तूक्तादन्यस्य पुनर्भवति नवरं केवल द्रव्यतो भावशून्यत्वेनाप्रधानतया अयथार्थमि-त्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

एतदेव भावयन्नाह-

सत्थत्थबाहणाओ, पायमिणं तेण चेव कीरंतं ।
एयं चिय संजायति, वियाणियव्वं बुहजणेण ॥ ५ ॥

शास्त्रार्थबाधनादागमार्थविराधनात् प्राणातिपाताऽऽदिरूपात्, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च हिंसाऽऽदावप्यप्रमत्तस्य "उच्चा-लियम्मि पाए" इत्यादिन्यायेन न प्रायश्चित्तमिति ज्ञापनार्थम् । इदमिति प्रायश्चित्तं, भवतीति गम्यते । इह च प्रायश्चित्तशब्देन तद्विशोध्यमुपचारात्पाप गृह्यते । तत. किमित्याह-तेनैव शा-स्त्रार्थबाधनेनैव, क्रियमाणं विधीयमानम्, विशुद्धिरूप प्राय-श्चित्तम्, एतदेव प्रायश्चित्तमेव, पापमेवेत्यर्थ. । संजायते संप-द्यते, शास्त्रनिषिद्धानुष्ठानवत् । विज्ञातव्य ज्ञेयम्, बुधजनेन स-मयज्ञलोकेन । समयानभिज्ञजनो हि यथा कथंचिदपि क्रिय-माणं तत्साध्वेव मन्यते, बुद्धिदोषादिति । अथवा शास्त्रार्थ-बाधनात्प्राय इद द्रव्यप्रायश्चित्त भवति, प्रायोग्रहणादन्यथा-ऽपि योग्यताविवक्षायां स्यादिति । ततश्च तेनैव शास्त्रार्थबाधने-नैव, क्रियमाण प्रायश्चित्तम् , इदमेव द्रव्यप्रायश्चित्तमेव, संजा-यते । शेष तथैव । इति गाथार्थ. ॥ ५ ॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

दोसस्स जं णिमित्तं, होति तगो तस्स सेवणाए उ ।
ण उ तक्खउ त्ति पयडं, लोगम्मि वि हंदि एयं ति ॥ ६ ॥

दोषस्यापराधस्य, यद्वस्तु शास्त्राऽर्थबाधनमिति । हृदयम् निमि-त्तकारण, भवति जायते, तकोऽसौ दोष., तस्य निमित्तस्य शा-स्त्रार्थबाधनरूपस्य, सेवनया तु आश्रयणेनैव, नान्यथा, न तु न पुन । तत्क्षयो दोषक्षयः, इत्येतद्वस्तु, प्रकटं प्रसिद्ध रोगाद्युदाऽऽह-रणे , लोकेऽपि पृथग्जनेऽपि, आस्तां लोकोत्तरजने । हन्दीत्युपप्र-दर्शने । एतद्दोषोत्पाददोषाक्षयलक्षणद्वयम्, इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथाऽर्थः ॥ ६ ॥

एतच्च प्रायश्चित्त व्रणचिकित्सातुल्य पूर्वसूरिभि-रभिहितमित्येतद्दर्शनाय प्रस्तावयन्नाह-

दव्ववणाऽऽहरणेणं, जोजितमेतं विदूहिँ समयम्मि ।
भाववणतिगिच्छाए, सम्मं ति जतो इमं भणितं ॥ ७ ॥

द्रव्यव्रणोदाहरणेन वक्ष्यमाणज्ञातेन करणेन, योजितमु-पनीतम्, एतत्प्रायश्चित्तम्, विद्वद्भिर्बुधैः, समये कायोत्सर्गनि-र्युक्तिलक्षणे सिद्धान्ते । क्व योजितमित्याह-भावव्रणचिकित्सायां चरणातिचाररूपक्षतप्रतिक्रियायां, सम्यग् यथावत् । इतिशब्दः समाप्तौ । यतो यस्मादिदं वक्ष्यमाण, भणितमुक्तं श्रीभद्रबा-हुस्वामिभिः । इति गाथार्थ ॥ ७ ॥

यदुक्त तदेव गाथाषट्केनाऽऽह-

दुविहो कायम्मि वणो, तदुब्भवाऽऽगंतुगो य णायव्वो ।
आगंतुगस्स कीरति, सल्लुद्धरणं ण इयरस्स ॥ ८ ॥

द्विविधो द्विप्रकार , काये देहे, व्रण क्षतम् । द्वैविध्यमेवाऽऽह त-स्मिन् काये भवतीति तद्भवो गण्डाऽऽदि., आगन्तुकश्च कण्ट-काऽऽदिकृतः, ज्ञातव्यो ज्ञेयः, तत्राऽऽगन्तुकस्य कण्टकाऽऽदिजन्य-स्य, क्रियते विधीयते, शल्योद्धरण कण्टकाऽऽद्युद्धारः, नेतरस्य न कायसम्भवस्य, आगन्तुकशल्याभावादिति ॥ ८ ॥

द्रव्यव्रणक्रियाविशेषं दर्शयन्नाह-

तणुओ अतिक्खतुंडो, असोणितो केवल तयालग्गो ।
उद्धरिउं अवउज्झइ, सल्लो ण मलिज्जइ वणो उ ॥९॥

तनुरेव तनुकः स्वरूपेण कृशः, अतीक्ष्णतुण्डोऽनत्यन्तभेदकमुखः, अत एवाशोणितोऽरुधिरप्राप्तः, केवलं नवरं, त्वग्लग्नः त्वङ्मात्रावसक्तः, स एवंभूतः शल्यः । किमित्याह-उद्धृत्याऽऽकृष्य देहाद्, अपोह्यते बहिः प्रक्षिप्यते, शल्यो देहप्रविष्टः कण्टकाऽऽदि । शल्यशब्दः पुल्लिङ्गोऽपि प्राकृतत्वान्नामर्दितः । एष तावच्छल्यविधिः । व्रणस्य तु को विधिरित्याह-व्रणस्तु व्रणः पुनः, न मल्यते न मृद्यते, शल्याल्पत्वेन तद्व्रणस्याप्यल्पत्वाच्छल्योद्धारमात्रमेव तच्चिकित्सेति ॥ ९ ॥

तथा-

लग्गुद्धियम्मि बीए, मलिज्जइ परं अदूरगे सल्ले ।
उद्धरणमलणपूरण-दूरयरगए य तइयम्मि ॥ १० ॥

तथा लग्नश्चासावुद्धृतश्च लग्नोद्धृतस्तस्मिन् । द्वितीये, शल्य इति योगः । मल्यते मृद्यते, व्रण इति गम्यते । परं केवलं न तु कर्णमलपूरणाऽऽदि विधीयते व्रणस्य अदूरगे शरीरानतिभेदके, शल्ये कण्टकाऽऽदौ । तथा उद्धरणमलनपूरणानि शल्योद्धारव्रणमर्दनकर्णमलपूरणानि, प्रथमाबहुवचनलोपोऽत्र दृश्यः । क्रियन्त इति गम्यते । दूरतरगते द्वितीयशल्यापेक्षया देहे दूरतरावगाढे, तृतीयके शल्य इति ॥ १० ॥

तथा-

मा वेअणा उ तो उ-द्धरित्तु गालिंति सोणियं चउत्थे ।
रुब्भइ लहुं ति चेट्ठा, वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥ ११ ॥

तथा मा वेदना मा भूत्पीडा शल्यवतः । तुशब्दः पुनरर्थो, भिन्नक्रमश्च । ( तो इति ) तस्माद्वेदनानिवारणार्थत्वलक्षणाद्धेतो, उद्धृत्य निष्कृष्य शल्यं व्रणाद्गालयन्ति निःसारयन्ति, शोणितं रक्तं कियदपि । अनुस्वारस्य चाऽश्रवणं छन्दोवशात् । भिषज इति गम्यम् । चतुर्थे पुनः शल्ये । तथा रुध्यते, व्रणेन रूढो भवत्यसावित्यर्थः । लघु शीघ्रं शल्योद्धारानन्तरं चेष्टानिरोधे सति, इति कृत्वा, चेष्टाऽवगमनाऽऽदिक्रिया, वार्यते निषिध्यते वैद्यैः । पञ्चमे शल्ये गाढतरावगाढे व्रणिनो व्रणवत इति ॥ ११ ॥

तथा-

रोहेइ वणं छट्ठे, हितमितभोजी अभुंजमाणो वा ।
तत्तियमेत्तं छिज्जति, सत्तमए पूइमंसादी ॥ १२ ॥

रोहति निराश्रवीकरोति व्रणीति, व्रणं क्षतम् । क ?, तत्र षष्ठे शल्ये उद्धृते । सन् किंविधः सन्नित्याह-हितमितभोजी पथ्याल्पाऽऽहाराभ्यवहारी, अभुञ्जमानो वा भोजनत्यागी वा चिकित्सानुगुण्येन । तथा यावच्छल्येन दूषितं तावन्मात्रं तावत्प्रमाणम् । छिद्यतेऽपनीयते, सप्तमके शल्ये उद्धृते । किमित्याह-पूतिमांसाऽऽदि दुष्टपिशितमेदःप्रभृतीति ॥ १२ ॥

तह वि य अठायमाणे, गोणसखइयादि रप्पुए वा वि ।
कीरति तदंगछेदो, सअट्ठितो सेसरक्खट्ठा ॥ १३ ॥

तथाऽपि चैवमपि च विधीयमाने कर्मणि, अनिष्ठति विसर्पति, गोनसखादिताऽऽदौ सरीसृपभक्षितप्रभृतौ, आदिशब्दात्क्षेडरकखादिताऽऽदिपरिग्रहः । रप्पुके वाऽपि वल्मीकरोगे, वाऽपीति समुच्चये । क्रियते विधीयते, तदङ्गच्छेदो दूषिताऽवयवकर्तनं, सहास्थ्ना वर्तत इति सास्थिकः । शेषरक्षार्थमदूषिताङ्गत्राणाय इति, सप्तम एव शल्ये । इति गाथाषट्कार्थः ॥ १३ ॥

एवं तावद् द्रव्यशल्योद्धारद्वारेण द्रव्यव्रणचिकित्सोक्ता, अथ भावव्रणेन तथैव प्रतिपादयिषुर्भावव्रणप्ररूपणायाऽऽह-

मूलुत्तरगुणरूव-स्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स ।
अवराहसल्लपभवो, भाववणो होइ णायव्वो ॥ १४ ॥

मूलोत्तरगुणा महाव्रतपिण्डविशुद्ध्यादयस्त एव रूपमात्मा यस्य स तथा तस्य । तायिनः संसारसागरात्प्राणिगणपालकस्य, परमचरणपुरुषस्य प्रधानचरित्रलक्षणनरस्य, अपराधशल्यप्रभवः पृथ्वीसंघट्टाऽऽद्यतिचाररूपशल्यनिमित्तः, भावव्रणो भावक्षतरूपो, भवति स्यात्, ज्ञातव्यो ज्ञेयः । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

भावव्रणचिकित्साप्रस्तावनायाऽऽह-

एसो एवंरूवो, सचिगिच्छो एत्थ होइ विण्णेओ ।
सम्मं भावाणुगतो, णिउणाए जोगिबुद्धीए ॥ १५ ॥

एष भावव्रणः, एवंरूप उक्तस्वभावः, सचिकित्सो वक्ष्यमाणप्रतिक्रियोपेतः, अत्र प्रायश्चित्ताधिकारे, भवति स्याद्, विज्ञेयो ज्ञातव्यः, सम्यगविपरीततया भावानुगतः ऐदम्पर्यसंगतः, निपुणया सूक्ष्मया, योगिबुद्ध्या समाधिविशेषवदवबोधेन, योगिनः पर्याध्यात्मिकार्थविवेचनचतुरचेतसो भवन्ति । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अथ भावव्रणचिकित्सां गाथात्रयेण दर्शयन्नाह-

भिक्खायरियादि सुज्झति, अतियारो कोइ वियडणाए उ ।
बितिओ उ असमितो मि, त्ति कीस सहसा अगुत्तो वा ॥ १६ ॥

भिक्षाचर्याऽऽदिः भिक्षाटनप्रभृतिः, तत्र गमनाऽऽगमनयोर्योऽतिचारः स भिक्षाटनाऽऽदिरेव । आदिशब्दाद्विहारभूमिगमनाऽऽदिभवातिचारपरिग्रहः । शुद्ध्यत्यपैति, अतिचारोऽतिक्रमः, कोऽपि कश्चिदत्यन्तमल्पः प्रथमशल्यतुल्यः, विकटनया त्वालोचनयैव प्रथमशल्योद्धरणमात्रकल्पनया, न तत्र मलनाऽऽदिचिकित्साकल्पं प्रायश्चित्तान्तरमुपयोगीति । तथा द्वितीयस्तु द्वितीयः पुनरतिचारः समित्यादिभङ्गरूपः, शुद्ध्यतीति प्रकृतम् । कथम् ?, असमितः समितिषु प्रमत्तः अस्मि भवाम्यहम् । इतिशब्दोऽन्यत्र योक्ष्यते । कस्मात् कुतो हेतोः ?, सहसा प्रयोजनमन्तरेण, अगुप्तो वा गुप्तिप्रमत्तो वा, न किञ्चिदप्यसमितत्वेऽगुप्तत्वे वा पुष्टाऽऽलम्बनमस्ति इत्येवंविधपश्चात्तापरूपविकल्पेन मिथ्यादुष्कृतदानरूपा प्रतिक्रमणचिकित्सेत्यर्थः । इयं च द्वितीयशल्योद्धारे व्रणमलनकल्पे इति ॥ १६ ॥

सद्दादिएसु रागं, दोसं व मणे गओ तइयगम्मि ।
णाउं अणेसणिज्जं, भत्तादि विगिंचण चउत्थे ॥ १७ ॥

शब्दाऽऽदिकेषु शब्दरूपप्रभृतिष्विष्टानिष्टविषयेषु, रागमभिष्वङ्गं, द्वेषमप्रीतिम्, वाशब्दो विकल्पार्थः । मनसि चेतसि, मनोमात्रेणेत्यर्थः । गतः प्रतिपन्नः, मुनिरिति गम्यते । तृतीयके चिकित्साविशेषे व्रणमलनपूरणकल्पे मिथ्याऽऽदाने सति शुद्ध्यतीति प्रकृतम् । तदुभयार्हं हि मनोगतरागाऽऽदिशल्यमिति । तथा ज्ञात्वाऽवबुध्य, अनेषणीयमशुद्धं, भक्ताऽऽद्यशनप्रभृति चतुर्थद्रव्यशल्यकल्पम् । ( विगिंचण

त्ति ) विवेचनातस्यैव परिष्ठापनाद्विवेकाभिधानभावचिकित्सारूपाच्छोणितनिर्गालनकल्पात्, चतुर्थेऽतिचारशल्यविशेषे, शुद्ध्यतीति प्रकृतमिति ॥ १७ ॥

उस्सग्गेण विसुज्झति, अइयारो कोइ कोइ उ तवेणं ।
तह वि य असुज्झमाणे, छेयविसेसा विसोहिंति ॥१८॥

उत्सर्गेणापि कायोत्सर्गाभिधभावचिकित्साविशेषेणाऽपि चेष्टानिरोधकल्पेन, न केवलं विवेकेन, शुद्ध्यत्यपैति, अति चारोऽतिक्रमः, पञ्चमशल्यकल्पः । कोऽपि कश्चिद् दुष्टस्वप्नाऽऽदिः, न तु सर्वोऽपि । तथा कोऽपि तु कश्चित् पुनरतिचारः पृथिवीसंघट्टनाऽऽदिषष्ठशल्यकल्पः । तपसा निर्विकृतिकाऽऽदिना षण्मासावसानेन भावचिकित्साविशेषेण हितमितभोजनाभोजनकल्पेन, तथाऽपि च तेनापि च प्रकारेण तपोरूपेण, अशुद्ध्यत्यनपगच्छत्यतिचारशल्येऽतिचारशल्यजनिते वा व्रणे, छेदविशेषाः श्रामण्यपर्यायच्छेदप्रकाराः पञ्चरात्रिंऽऽदिवाऽऽदयो भावचिकित्साविशेषाः पूतिमांसाविच्छेदकल्पाः, विशोधयन्त्यतिचारशल्यमपनयन्ति, तज्जन्यभावव्रणं वा नीरुजयन्ति, छेदविशेषाद्वा विशोधयन्त्याचार्याः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ १८ ॥

कथ पुनश्छेदविशेषेभ्योऽपराधशुद्धिर्भवतीत्यत आह-

छिज्जति दूमियभावो, तहोमरायणियभावकिरियाए ।
संवेगादिपभावा, सुज्झइ णाता तहाऽऽणाओ ॥१९॥

छिद्यतेऽपनीयते । ( दूमियभावो ) दूषितभावसमाय, साधोः, तथा तेन प्रकारेण रात्रिन्दिवपञ्चकच्छेदाऽऽदिना । अवमो लघु, स चाऽसौ रात्निकश्च गुणरत्नव्यवहारी, तस्य भावोऽवमरात्निकभावो न्यूनपर्यायता, तस्य या क्रिया करणं सा तथा तया अवमरात्निकभावक्रियया, लघुताऽऽपादनेनेत्यर्थः । ततश्च संवेगाऽऽदिप्रभावात् लघुताकरणजन्यसंवेगनिर्वेदाऽऽदिगुणसामर्थ्यात्, शुद्ध्यति शुद्धिमनुभवति, अपगतपापमलः स्यादित्यर्थः । कोऽसावित्याह-ज्ञाता बुद्धिमान् । अथवा-न्याय्यात् ज्ञातुरुत्तव्यवहारात्, तथेति समुच्चये । आज्ञात आप्तोपदेशाद्, छेदो ह्युपायो नगवद्भिस्तथाविधापराधशुद्धौ । यदाह-" छक्कोल तवभूमी, समतीनो सावसेसचरणो य । छेय पणगाईय, पावई जा धरइ परियाओ ॥ १ ॥ " इति गाथार्थः ॥ १९ ॥

एव तावदालोचनाऽऽदीनि सप्त प्रायश्चित्तानि निरूपितानि।

अथ शेषनिरूपणप्रस्तावनार्थमाह-

मूलाऽऽदिसु पुण अहिगत-पुरिसाभावेण णत्थि वणचिंता।
एतेसिं पि मरूवं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २० ॥

मूलाऽऽदिषु मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकेषु, पुन शब्दो विशेषणार्थः । तद्भावना चैवम्-आलोचनाऽऽदीनि व्रणोदाहरणेन चिन्तितानि, मूलाऽऽदिषु पुन, अधिकृतपुरुषाभावेन प्रस्तुतचरणरूपनरासद्भावेन हेतुना, नास्ति न विद्यते, व्रणचिन्ता क्षतनिरूपणा, मूलाऽऽदीनि हि चरणाभाव एव भवन्ति, तत्र चातिचारासत्त्वात् व्रणचिन्तोपपद्यते, ततो व्रणचिन्ताविरहेण तत्स्वरूपसंनिपातनाय प्रस्तावयन्नाह एतेषामपि मूलाऽऽदीनामपि, आलोचनाऽऽदीनां तु क्रमेण, स्वरूपं स्वभावम्, वक्ष्यामि भणिष्यामि, यथानुपूर्वि अनुपूर्व्यनतिक्रमेण । इति गाथाऽर्थः ॥ २० ॥

तत्र मूलस्वरूपमाह-

पाणातिवातपभितिसु, संकप्पकएसु चरणविगमम्मि ।
आउट्टे परिहारा, पुण वयठवणं तु मूलं ति ॥ २१ ॥

प्राणातिपातप्रभृतिषु प्राणिवधमृषावादाऽऽदिष्वपराधेषु, संकल्पकृतेष्वाकुट्टिकाऽऽदिविहितेषु, चरणविगमे चारित्राभावे सति, आवृत्ते आवृत्तपरिणामे साधौ, कथं ? परिहाराद्दोषपरिहारमाश्रित्य । पुनर्व्रतस्थापनमुत्तरकाल महाव्रतन्यासम, तुशब्दः पुनरर्थे । मूलमिति मूलाभिधानं प्रायश्चित्तमेतत् । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अनवस्थाप्यमाह-

साहम्मिगादितेया-दितो तहा चरणविगमसंकेसे ।
णो चिय तवेऽकयम्मी, ठविज्जति वएसु अणवट्ठो ॥२२॥

साधर्मिकाऽऽश्रय. साधुप्रभृतय., आदिशब्दादन्यसाधर्मिकग्रह.। तत्सम्बन्धिद्रव्यस्योत्कृष्टस्य सचित्ताऽऽदेर्यत् स्तेय चौर्यं तत्तथा, तदादिर्यस्य तत्तथा तस्मात्साधर्मिकाऽऽदिस्तेयाऽऽदितः। आदिशब्दाद्धस्तताडनाऽऽदिग्रहः । हस्ततालन चाऽस्थिमुष्टिप्रहाराऽऽदिभिर्मरणनिरपेक्षतयाऽऽत्मनः परस्य वा स्वपक्षगतस्य परपक्षगतस्य वा घोरपरिणामतः प्रहरणम्। आहच-" उक्कोस बहुसो वा, पउट्ठचित्तो य तेणियं कुणइ ।, पहरइ जो सप पक्खे, निरवेक्खो घोरपरिणामो ॥१॥ " कथ यत्साधर्मिकाऽऽदिस्तेयाऽऽदीत्याह-तथा तेनाऽऽगमोक्तप्रकारेण " उक्कोस " इत्यादिनोक्तरूपेण । किमित्याह-चरणविगमसंक्लेशे चारित्राभावहेतुदुष्टाध्यवसाये जाते सति, न चोचिततपसि तदवस्थायोग्याऽऽगमोक्ततपसि, अकृतेऽनासेविते, स्थाप्यत आरोप्यते, व्रतेषु महाव्रतेषु य. सोऽयमेवंविधोऽनवस्थाप्य । तद् भेदोपचारात्प्रायश्चित्तमपि तथोच्यते। इति गाथाऽर्थः ॥२२॥

अथ सविषय पाराञ्चिकमाह-

अण्णोण्णमूढदुट्ठा-इकरणतो तिव्वसंकिलेसम्मि ।
तवसाऽतिचारपारं, अंचति दिक्खिज्जइ ततो य ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्य मूढस्य दुष्टस्य च यदतिकरणं तथाविधक्रियासु पौन पुन्यप्रवृत्तिरतत्तथा ततोऽन्योन्यमूढदुष्टातिकरणतः, तत्राऽन्योन्यस्याऽतिकरण परस्परेण पुरुषयोर्वेदविकारकरणम्, मूढातिकरण पञ्चमनिद्रावशविवर्तनम् । दुष्टातिकरणं तु द्विविधम्-कषायतो, विषयतश्च । तत्र स्वपक्षे कषायतो लिङ्गिघात., विषयतस्तु लिङ्गिनीप्रतिसेवा । परपक्षे तु कषायतो राजवध, विषयतस्तु राजदारसेवेति। अथवा-अन्योन्यमूढदुष्टाऽऽदिकरणत. इति व्याख्येयम्। तत्र चाऽऽदिशब्दात्तीर्थकराऽऽद्याशातनाकरणपरिग्रह.। तीव्रसंक्लेश उत्कृष्टदुष्टपरिणामे सति, तपसा चतुर्थाऽऽदिना समयोक्तेन, कालतः षण्मासाऽऽदिना द्वादशवर्षान्तेन,अतिचारपारमपराधान्तम्, अञ्चति गच्छति । (ततो य त्ति) ततश्चातिचारपारगमनानन्तर दीक्ष्यते प्रव्राज्यते, नान्यथेति। य एवविध स पाराञ्चिकः, तदभेदात् प्रायश्चित्तमपि पाराञ्चिकम्। इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

इहैव मतान्तरमाह-

अण्णेसिं पुण तज्जव-तदण्णऽवेक्खाएँ जे अजोग त्ति ।
चरणस्स ते इमे खलु, सलिंगचितिभेदमाईहिं ॥२४॥

अन्येषामपरेषामाचार्याणां मतेन, पुनःशब्दो विशेषणार्थः । स एव यत्रापराधः कृतो भवो जन्म तद्भव ,तस्मादपराधजन्मादन्योऽपरो यो भवोऽनागतः स तदन्यः, तद्भवश्च तदन्यश्च तद्भवतदन्यौ, तयोरपेक्षाऽऽश्रयणं तद्भवतदन्यापेक्षा, तया । ये जीवाः, अयोग्या इत्यनुचिता एव, इतिशब्दस्यावधारणार्थत्वात् । कस्येत्याह-चरणस्य चारित्रस्य, ते जीवा , इमे एते पाराञ्चिका उच्यन्त इत्यर्थः । खलुर्वाक्यालङ्कारे । केऽचरणायोग्या इत्यत आह-स्वलिङ्गं च साधुलिङ्गं, चितिश्च चैत्यमर्हत्प्रतिमा, तयोर्यो भेदो विध्वंसः , स तथा, तदादिभिस्तत्प्रभृतिभिः, आदिशब्दात्प्रवचनोपघातपरिग्रहः , तत्र स्वलिङ्गभेद उपघातेन, लिङ्गिनीभोगेन च । चितिभेदश्च प्रतिमाविनाशनेन, चैत्यद्रव्यविनाशनेन च, भवन्ति चैतत्कारिणो वर्त्तमानभवे भवान्तरेषु च चरणायोग्या , इतयोधिलाभत्वात् । आह च-" सजइ चउत्थभंगे, चेइयदव्वे य पवयणुड्डाहे । रिसिघायए चउत्थे , मूलग्गी बोहिलाभस्स " ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथेदमेव समर्थयन्नाह-

आसयविचित्तयाए, किलिट्ठियाए तहेव कम्माणं ।
अत्थस्स सब्भावातो, णेय पि असंगयं चेव ॥ २५ ॥

आशयविचित्रतया परिणामवैचित्र्यात्, क्लिष्टतया दुष्टतया, निरुपक्रमतयेत्यर्थः । तथैवेति समुच्चये । कर्मणां मोहनीयाऽऽदीनाम् । किमित्याह--अर्थस्य तद्भवान्यभवयोश्चरणायोग्यतालक्षणस्य, सम्भवादुपपद्यमानत्वात् न नैव, इदमपि आचार्यान्तरेणोक्तपाराञ्चिकलक्षणमपि, आस्तामस्मदुक्तम् । असङ्गतमेवाऽयुक्तमेव । चैवशब्द एवकारार्थः । इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अथ प्रायश्चित्तस्य विचित्रतोपदर्शनेन मतान्तरमेव समर्थयन्नाह-

आगममाई य जतो, ववहारो पंचहा विणिद्दिट्ठो ।
आगम सुय आणा धा-रणा य जीए य पंचमए ॥ २६ ॥
एयाणुसारतो खलु, विचित्तमेयमिह वण्णियं समए ।
आसेवणाऽऽइभेदा, तं पुण सुत्ताउ णायव्वं ॥ २७ ॥

आगमाऽऽदिश्च ज्ञानविशेषप्रभृतिः । मकारो लाक्षणिकः । चकारश्च युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थः । यतो यस्माद्धेतोः, व्यवहारः प्रायश्चित्तसमाचारः, पञ्चधा पञ्चभिः प्रकारैः, विनिर्दिष्टोऽभिहितो जिनैः। पञ्चधात्वमेवाऽऽह--आ मर्यादाऽभिविधिभ्यां गम्यन्ते परिच्छिद्यन्तेऽर्थाः येनासावागमः केवलमनःपर्यायावधिचतुर्दशदशनवपूर्वलक्षणः । व्यवहारता चास्य व्यवहारहेतुत्वात् । तथा श्रुतं श्रुतज्ञानं शेषमङ्गानङ्गभेदम् । इह पदद्वयेऽपि प्रथमैकवचनलोपो द्रष्टव्यः । तथा--आज्ञा यदगीतार्थो देशान्तरस्थगीतार्थस्य तत्समीपगमनाय स्वातिचाराणां गूढभाषोक्तानां निवेदनार्थमगीतार्थमाज्ञापयति, सा च तत्प्रवृत्तिरुत्तरदानार्थमिति । तथा धारणा बहुशो निवेदिताऽतिचारस्य प्रभुशुद्धीनामवधारणम् । तथा जीतं गीतार्थसंविग्नप्रवर्तितशुद्धव्यवहारः । चशब्दौ समुच्चयार्थौ । पञ्चम एव पञ्चमकः ॥ २६ ॥ ततः एतदनुसारतः पञ्चविधव्यवहारानुसारेण । खलुर्वाक्यालङ्कारे , विचित्रं बहुप्रकारमेतत् प्रायश्चित्तम् । इह प्रत्यक्षे आर्हत इत्यर्थः । वर्णितमुक्तम्, समये सिद्धान्ते । कथमित्याह-आसेवनाऽऽदिभेदात् प्रतिषेवापुरुषप्रभृतिभेदेन । तत्पुनः प्रायश्चित्तविचित्रत्वम्, सूत्रादागमात्, ज्ञातव्यं विज्ञेयमिति । तत्राऽऽगमव्यवहारिणा प्रत्यक्षज्ञानित्वात् समानेऽप्यपराधे भावानुसारेण प्रायश्चित्तदानात् तस्य विचित्रता, श्रुताऽऽदिव्यवहारिणां तु श्रुतमात्राऽऽदिप्रामाण्यव्यवहारित्वात्, एवं प्रतिषेवाया आकुट्टिदर्पप्रमादकल्पभेदेन चतुर्विधत्वात्, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन वा । एवं पुरुषस्याऽऽचार्योपाध्यायवृषभभिक्षुक्षुल्लकभेदभिन्नत्वात्, एवमेकादिवाराभेदाद्, अतः प्रायश्चित्तलक्षणविचित्रत्वादपि मतान्तरं नासङ्गतमिति गाथाद्वयार्थः ॥ २७ ॥

अथाऽऽक्तविधिप्रायश्चित्तस्यैव परमार्थं प्रतिपादयन्नाह-

एयं च एत्थ तत्तं, असुहज्झवसाणओ हवति बंधो ।
आणाविराहणाणुग-मेयं पि य होति दट्ठव्वं ॥ २८ ॥
सुहभावा तव्विगमो, सो वि य आणाणुगो णिओगेण ।
पच्छित्तमेय सम्मं, विसिट्ठओ चेव विण्णेओ ॥ २९ ॥

एतच्चेद पुनः, अत्र प्रायश्चित्तविषये, तत्त्वं परमार्थो, यदुताऽऽशुभाध्यवसानतः क्लिष्टपरिणामात् , भवति स्यात्, बन्धोऽशुभकर्मबन्धनम्, ( एय पि य त्ति ) इदं पुनरशुभाध्यवसानम् । आज्ञाविराधनामाप्तोपदेशाननुपालनामनुगच्छत्यनुसरतीत्याज्ञाविराधनानुगम्, भवति स्यात्, द्रष्टव्यं ज्ञेयमिति ॥ २८ ॥ शुभभावात्प्रशस्ताध्यवसायात्, तद्विगमोऽशुभकर्मविगमो भवति । ( सो वि य त्ति ) स पुनः शुभभावः , आज्ञाऽनुग आगमानुसारी भवति । नियोगेन नियमेन, अनाज्ञानुगास्त्वशुभ एवेति भावः । प्रायश्चित्तं च विशुद्धिः पुनः, एष एव शुभभाव एव सम्यक् यथावत् । किं सर्व एव ?, नेत्याह-विशिष्टको विशेषवान्, चैवशब्दौ नियोजितावेव, विज्ञेयो ज्ञेयः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ २९ ॥

विशिष्टः शुभाध्यवसायः प्रायश्चित्तमित्युक्तम् । अथ विशिष्टमेव तस्य दर्शयन्नाह-

असुहज्झवसाणाओ, जो सुहभावो विसेसओ अहिगो ।
सो इह होति विसिट्ठो, ण ओहतो समयणीतीए ॥ ३० ॥

अशुभाध्यवसानादकृत्यासेवननिबन्धनसंक्लेशात्सकाशात्, यः शुभभावः प्रायश्चित्ततया विवक्षितसत्परिणामः, विशेषतो विशेषेणाऽधिकोऽनर्गलतरः, स शुभभावः, इह प्रायश्चित्तप्रक्रमे, भवति वर्त्तते, विशिष्टोऽतिशयवान्, न नैव, ओघतः सामान्येन, शुभभावमात्रमित्यर्थः । समयनीत्याऽऽगमन्यायेन । इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

व्यतिरेके दोषमाह-

इहरा वंदणादीणं, आवस्सयकरणतो उ ओहेणं ।
पच्छित्तं ति विसुद्धी, ततो ण दोसो समयसिद्धो ॥ ३१ ॥

इतरथाऽन्यथा, शुभभावमात्रस्यापि प्रायश्चित्तत्वे इत्यर्थः । वन्दनाऽऽदीनामादिदेवज्येष्ठपुत्रीप्रभृतीनाम् , आदिशब्दात्तु प्रतिक्रमणाऽऽदिपरिग्रहः । किमित्याह-आवश्यककरणत एव प्रतीतात् । तुशब्द एवकारार्थः । ओघेन सामान्येन, विशिष्टतरशुभभावाभावेनेत्यर्थः । प्रायश्चित्तं शुद्ध्यर्थमनुष्ठानं कृतमभविष्यत् । ततो विशुद्धिरिति कृत्वा, विशुद्धिः कर्मविगमोऽभविष्यत्, ततो विशुद्धे

सकाशात्, न नैव, दोषो दूषणम्, समयसिद्ध आगमोक्तः श्रीत्वलक्षणोऽभविष्यत्, इति न शुभभावमात्रं शुद्धिनिमित्तमिति ॥३१॥ ( अत्र आर्द्रीवृत्तान्तः 'बभी' शब्दे वक्ष्यते )

अथोपसंहरन्नाह-

ता एयम्मि पयत्तो, कायव्वो अप्पमत्तयाए उ ।
सतिबलजोगेण तहा, संवेगविसेसजोगेण ॥ ३२ ॥

यस्माद्विशिष्ट एव शुभभावः शुद्धिनिमित्तं भवति । तस्मादेतस्मिन् विशिष्टशुभभावे, प्रयत्नः समुद्यमः, कर्त्तव्यो विधेयः, अप्रमत्ततया त्वप्रमादेनैव, स्मृतिबलयोगेन स्थूलेतराऽऽदतिचारस्मरणसामर्थ्ययुक्ततया, तथेति समुच्चये । संवेगविशेषयोगेन भवभयातिशयसंबन्धेन । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

अथ कस्माद्विशिष्टशुभभावे अप्रमत्तत्वाऽऽदिना यत्नो विधेय इत्याह-

एएण पगारेणं, संवेगाइसयजोगतो चेव ।
अहिगयविसिट्ठभावो, तहा तहा होति णियमेणं ॥३३॥

एतेनोक्तेन प्रकारेणाऽप्रमत्तनास्मृतिबलयोगलक्षणेन । संवेगातिशययोगतश्चैव संवेगप्रकर्षसंबन्धत एव च, इह चैतेन प्रकारेणेत्यनेनैव संवेगसयोगस्य ग्रहणे यत्पुन साक्षात्तद्ग्रहणं, तत्तस्य विशिष्टशुभभावजनने मुख्यकारणतांप्रतिपादनार्थम् । अधिकृतविशिष्टभावो विशुद्धिहेतुप्रस्तुतप्रकृष्टशुभाध्यवसायः । तथा तथा जीववीर्यातिशयेन, भवति स्यात्, नियमेनावश्यम्भावेन । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

ततश्च-

तत्तो तन्निग्गमो खलु, अणुबंधावणयणं व होज्जाहि ।
जं इय अपुव्वकरणं, जायति सेढी य विहियफला ॥३४॥

ततो विशिष्टशुभभावात्, तद्विगमः खलु अशुभाध्यवसायजातकर्मविनाश एव, अनुबन्धापनयनं वाऽशुभभावजातकर्मानुबन्धव्यवच्छेदो वा, वेति विकल्पार्थः। भवेत्स्यात्, सर्वथा तद्विगमाभावे। अथ कथं तद्विगमो भवतीत्याह-यत् यस्माद्धेतोः, इत्यमुना प्रकारेण विशिष्टशुभभावलक्षणेन, अपूर्वकरणम् अष्टमगुणस्थानकमपूर्वेषामध्यवसायविशेषाणां स्थितिघाताऽऽदीनामपि करणभूतम्, जायते भवति, श्रेणिश्चोपशमकक्षपकश्रेणिरूपा, विहितफला सिद्धान्तनिरूपितप्रयोजनानुत्तरसौख्यनिर्वाणफला । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

अथ प्रायश्चित्तरूपशुभभावस्य पुनरपि महार्थतां दर्शयन्नाह-

एव निकाइयाण वि, कम्माणं भणियमेत्थ खवणं ति ।
त पि य जुज्जइ एवं, तु भावियव्वं अओ एयं ॥ ३५ ॥

एवमित्यनेनैव न्यायेनापूर्वकरणश्रेणिजननरूपेण, निकाचितानामपि उपशमनाऽऽदिकरणान्तराविषयत्वेन नितरां बद्धानामपि,आस्तामनिकाचितानां कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनाम्, भणितमुक्तमागमे-" तवसा उ निकाइयाण पि " इति वचनात् । अत्र प्रायश्चित्तरूपशुभभावे, क्षपणं सर्वथा क्षयो भवतीति यत्तदपि च, अनिकाचितक्षपणं तु निर्विचारमित्यपि चशब्दार्थः। युज्यते सगच्छते, ततश्चैव तु एवमेव कर्मविगमकर्मानुबन्धापनयनहेतुत्वेनैव, भावयितव्यं पर्यालोचनीयमतो निकाचितकर्मक्षपणहेतुत्वात्, एतत् शुभभावरूपं प्रायश्चित्तमिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथाऽविहितानुष्ठानेषु युक्तं प्रायश्चित्तं, न तु विहितेषु भिक्षाचर्याऽऽदिष्विति परमतमादर्शयन्नाह-

विहियाणुट्ठाणम्मी,एत्थं आलोयणाऽऽदि जं भणियं ।
तं कह पायच्छित्तं, दोसाभावेण तस्स त्ति ॥ ३६ ॥
अह तं पि सदोसं चिय,तस्स विहाणं तु कह णु समयम्मि ।
न य णो पायच्छित्तं, इमं पि तह कित्तणाओ उ ॥३७॥

विहितानुष्ठाने आगमोक्तक्रियायां भिक्षाचर्याऽऽदिरूपायाम्, अत्र प्रायश्चित्ताधिकारे, आलोचनाऽऽदि आलोचनाकायोत्सर्गप्रभृति, यत्प्रायश्चित्तं, भणितमुक्तमागमे-" भत्ते पाणे सयणा-सणे य अरहंतसमणसेज्जासु । उच्चारे पासवणे, पणवीसं होंति छसासा ॥ १ ॥ " इति वचनात् । तत्कथं प्रायश्चित्तम् ? । न कथञ्चित् घटत इत्यर्थः । दोषाभावेन निर्दोषत्वेन हेतुना, तस्य भिक्षाऽटनाऽऽदिविहितानुष्ठानस्य, इतिः वाक्यसमाप्तौ ॥ ३६ ॥ अथ ब्रूषे, तदपि विहितानुष्ठानमपि, आस्तां तदन्यत् । सदोषमेव सातिचारमेव, तस्य भिक्षाऽटनाऽऽदेर्विधानमुपदेशः, कथं केन प्रकारेण ?, नु इति वितर्के । समये सिद्धान्ते न तद्विधिं प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वालोचनाऽऽदिप्रायश्चित्तमेव न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह-न च नो, प्रायश्चित्तमपि तु प्रायश्चित्तमेव, इदमप्यालोचनाऽऽद्यपि, आस्तां तप आदि, कुत इत्याह-तथा कीर्तनात् तु प्रायश्चित्तत्वेन सशब्दनादेव । तथाहि-" आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे । " इत्यादि । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७ ॥

सूरिराह-

भण्णइ पायच्छित्तं, विहियाणुट्ठाणगोयरं चेयं ।
तत्थ वि य किं तु सुहुमा, विराहणा अत्थि तीए इमं ॥३८॥

भण्यतेऽभिधीयते अत्रोत्तरम् प्रायश्चित्तम्, न तु न प्रायश्चित्तम्। तथा विहितानुष्ठानगोचरं च विधेयक्रियाविषयम्, चशब्दो विशेषणसमुच्चये। तत्र प्रथमविशेषणेन-"तं कहपायच्छित्तं " इत्यादिप्रायश्चित्तदूषणं वक्ष्यमाणयुक्तिवलान्निराकृतम् । द्वितीयेन तु " अह तं पि " इत्यादि विहितानुष्ठानदूषणमिति । एतदालोचनाऽऽदिप्रायश्चित्तं, किं तु केवलं तत्राऽपि च विहितानुष्ठानेऽपि च, आस्तामितरत्र, सूक्ष्माऽल्पा, विराधना खण्डना, अस्ति विद्यते, अनन्तरस्या विराधनायाः, शुद्ध्यर्थमिदमेतदालोचनाऽऽदीति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ कथमुपयुक्तस्यापि सूक्ष्मा विराधना स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-

सव्वावत्थासु जओ, पायं बंधो भवत्थजीवाणं ।
भणितो विचित्तभेदो, पुव्वायरिया तहा चाहु ॥३९॥

सर्वावस्थासु सरागवीतरागाऽऽदिसमस्तपर्यायेषु,यतो यस्माद्धेतोः, प्रायो बाहुल्येनायोग्यावस्थायां बन्धो न स्यादपीति सूचनार्थं प्रायोग्रहणम् । बन्धः कर्मबन्धो, भवस्थजीवानां संसारिजन्तूनां, न तु सिद्धानां, भणित उक्तः सिद्धान्ते। किंविध इत्याह-विचित्रभेदो बहुप्रकारः, कुत एतत्सिद्धमित्याह-पूर्वाऽऽचार्या अतीतसूरयः, तथा च कर्मबन्धवैचित्र्यतार्थत्वेन आहुर्बुवते । इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

यदाहुस्तदेव दर्शयन् गाथापञ्चकमाह-

सत्तविहबंधगा हों-ति पाणिणो आउवज्जियाणं तु ।
तह सुहुमसंपराया, छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ ४० ॥

सप्तविधबन्धकाः सप्तप्रकारकर्मोपार्जकाः, भवन्ति स्यु, प्राणिनो जीवा, आयुर्वर्जितानां त्वायुःकर्मविरहितानामेव, शेषाणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां, तद्धि एकत्र भवे सकृदेव बध्यते। तथेति समुच्चये । सूक्ष्मसंपरायाः दशमगुणस्थानवर्त्तिन, षड्विधो बन्धो येषां ते तथा । विनिर्दिष्टा उक्ता आगमे ॥ ४० ॥

कथ षड्विधबन्धा इत्याह-

मोहाऽऽउयवज्जाणं, पगडीणं ते उ बंधगा भणिता ।
उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबंधा ॥४१॥

मोहाऽऽयुर्वर्जाना मोहनीयाऽऽयुष्कवर्जितानाम्, प्रकृतीनां कर्मभेदाना, ते तु सूक्ष्मसंपरायाः पुन, बन्धका आवर्जकाः, भणिता उक्ताः, तथा उपशान्तः सर्वथाऽनुदयावस्थ क्षीणश्च निर्जीर्णो मोहो मोहनीय कर्म येषां ते तथा । केवलिनश्च सयोगिकेवलिन, एकविधबन्धा व्यक्तमिति ॥ ४१ ॥

ते पुण दुसमयठितिय-स्स बंधगाण पुण संपरायस्स ।
सेलेसीपडिवन्ना, अबंधया होंति विन्नेया ॥४२॥

ते पुनस्त्रयोऽपि द्वौ समयौ बन्धोदयविशिष्टौ स्थितिरवस्थान यस्य तत् द्विसमयस्थितिक योगप्रत्ययं सातवेदनीयमित्यर्थः, तस्य, बन्धका अर्जकाः, न तु न पुन, संपरायस्य कषायप्रत्ययस्य, उपशान्तक्षीणकषायत्वाच्चेषाम, तथा शैलेश्ययोग्यवस्थासंज्ञ करणविशेषस्तां प्रतिपन्ना आश्रिता ये ते तथा ते, अबन्धकाः कर्मबन्धरहिताः, भवन्ति स्युः, विज्ञेया ज्ञातव्या इति ॥ ४२ ॥

एष प्रकृतिबन्धापेक्षया सर्वावस्थासु बन्ध उक्तोऽथ स्थित्यपेक्षया तमाह-

अपमत्तसंजयाणं, बंधठिती होंति अट्ठ उ मुहुत्ता ।
उक्कोसेण जहन्ना, भिन्नमुहुत्तं तु विन्नेया ॥ ४३ ॥

अप्रमत्तसंयतानां सप्तमगुणस्थानकवर्त्तिनाम, बन्धत स्थितिर्बन्धस्य कर्मणोऽवस्थानम् । भवति स्यात्, अष्ट तु अष्टावेव, मुहूर्त्तान् नाडिकाद्वयमानान्, उत्कर्षेणोत्कर्षेन, जघन्या तु सर्वाऽल्पा पुनः, भिन्नमुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्त्तं यावत् । तुशब्द पुनरर्थो योजित एव, विज्ञेया अवसेया, कषायाणां स्थितिबन्धहेतूनां विद्यमानत्वादिति ॥ ४३ ॥

जे उ पमत्ताऽणाउ-ट्टिगाए बंधंति तेसि बंधठिती ।
संवच्छराणि अट्ठ उ, उक्कोसियरा मुहुत्तंतो ॥ ४४ ॥

ये तु ये पुनः, प्रमत्ता प्रमत्तसंयता षष्ठगुणस्थानकवर्त्तिनः अनाकुट्टिकया अनुपेत्यकरणेन प्राणातिपाताऽऽदौ वर्त्तमाना व बन्नन्त्यावर्जयन्ति कर्म, तेषां बन्धस्थिति कर्मबन्धावस्थान संवत्सरान् वर्षाणि, अष्ट तु अष्टावेव, उत्कर्षा उत्कृष्टा भवन्ति, इतरा जघन्या पुन । मुहूर्त्तान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं यावदिति गाथापञ्चकार्थ ॥ ४४ ॥

प्रस्तुतयोजनामाह-

ता एवं चिय एय, विहियाणुट्ठाणमेत्थ हवइ त्ति ।
कम्माणुबंधछेयण-भणइ आलोयणाऽऽदिजुय ॥ ४५ ॥

यस्मात् सर्वावस्थासु कर्मबन्धोऽस्ति, कर्मबन्धानुमेय विराधना, इष्यत चासौ इष्यतो वीतरागस्यापि क्षुद्रा चतुर्णामपि मनोयोगाऽऽदीनामभिधानात्, तस्मात् । (एव त्ति) एवमेव विराधनायाः शोधनीयत्वेन एतद्विहिताऽनुष्ठानम्, विहितानुष्ठान विधेयक्रिया । अत्र कर्मोपमयतत्र भवति स्याद, इतिशब्द समाप्त्यर्थो गाथाऽन्ते योज्यः । विध भवतीत्याह-कर्मानुबन्धच्छेदन कर्मसन्तानाऽवच्छेद अनघमदोषं, परोक्तदूषणाभावात् । किंभूत सदित्याह-आलोचनाऽऽदियुतमालोचनाप्रतिक्रमणाऽऽदिप्रायश्चित्तसमन्वित ति गाथाऽर्थः ॥ ४५ ॥

इदैवार्थे परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

विहितागुट्ठाणत्तं, तस्स त्ति एवं ति ता कहं एयं ।
पच्छित्तं ग्गणु भन्नति, समयम्मि तहा विहाणाओ ॥४६॥

विहितानुष्ठानत्व विधेयक्रियात्वम्, तस्यापालोचनाऽऽदियश्चित्तस्याऽपि प्राप्नोति, आस्तां भिक्षाऽटनाऽऽदे । एवमुक्तेन, विहितानुष्ठानमालोचनाऽऽदियुत सत्कर्मानुबन्धच्छेदन तीत्येवंलक्षणेन, इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ । यत एव तस्मात्, कथम् ?, न कथञ्चिदित्यर्थः । तदालोचनाऽऽदिप्रायश्चि समुच्यत इति पर । सूरिराह-नन्विति परमताक्षमाया भण्यते उच्यते, उत्तरमत्र समये सिद्धान्ते, तथा तेन प्रकारे प्रायश्चित्तत्वेन, विधानाद्विहितत्वादिति गाथाऽर्थः ॥ ४६

अथवा प्रायश्चित्तमपि विहितानुष्ठानमेवेति दर्शयन्नाह-

विहियाणुट्ठाण च्चिय, पायच्छित्तं तदण्णहा ण भवे ।
समए अभिहाणाओ, इट्ठत्थपसाहगं णियमा ॥ ४७ ॥

विहितानुष्ठानमेव विहितक्रियैव, प्रायश्चित्तमालोचनाऽऽदिक मिति प्रतिज्ञा, समये सिद्धान्तेऽभिधानादुक्तत्वादिति हेतु भिक्षाऽटनाऽऽदिवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः । विपर्यये बाधकमाह तत्प्रायश्चित्तम्, अन्यथाऽविहितानुष्ठाने सति, न भवे आगमे, इष्टार्थप्रसाधक कर्मविशोधकमित्यर्थः । नियमादवश्य तयेति । यादृष्टार्थसाधक न भवति तद्विहितानुष्ठानमपि न भवति यथा हिंसाऽऽदि, इष्टार्थसाधक च प्रायश्चित्तम्, अतो विहितानुष्ठानमिति । अथवा पूर्वोक्तार्थमेव भावयन्नाह-विहितानुष्ठानमेव प्रायश्चित्तम्, तत्प्रायश्चित्तम यथा विहितानुष्ठानत्वा नमेव प्रायश्चित्तम्, भावे न भवेद् अविहितानुष्ठानत्वादेवेति । नन्वेव विहितानुष्ठानत्वे प्रायश्चित्तस्य भिक्षाऽटनाऽऽदिवच्छोधकतैव स्यान्न शोधकनेत्याशङ्क्याऽऽह-समये आभिधानाच्छोधकतया प्रायश्चित्तस्याऽऽगमेऽभिहितत्वादिष्टार्थप्रसाधक नियमाच्छोधकमेव तदिति गाथाऽर्थः ॥ ४७ ॥

अथ प्रायश्चित्तस्य विहितानुष्ठानत्वसमर्थनायैवाह-

सव्वा वि य पव्वज्जा, पायच्छित्तं भवंतरकडाणं ।
पावाणं कम्माणं, ता एत्थ णत्थि दोसो त्ति ॥ ४८ ॥

सर्वाऽपि च समस्ताऽपि च, न केवलं तदेकदेशः । प्रव्रज्या महाव्रतप्रतिपत्ति, प्रायश्चित्त विशुद्धिहेतुर्भवति, केषामित्याह-भवान्तरकृतानां जन्मान्तरोपात्तानाम, पापानां प्रकृत्या बन्धनत्वेन दुष्टानाम, कर्मणा प्रतीतानाम, यत एव तस्मात्, अत्र प्रायश्चित्तस्य विहितानुष्ठानत्वे, नास्ति दोषो न विद्यते दूषण, प्रव्रज्यालक्षणप्रायश्चित्तस्य विहितानुष्ठानत्वाऽनुगमाद इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथाऽर्थ ॥ ४८ ॥

किं पुन· सम्यक्चरितस्य प्रायश्चित्तस्य लिङ्गमित्याह-

**चिण्णस्स णवरि लिंगं, इमस्स पाएणमकरणया तस्स ।**
**दोसस्स तहा अन्ने, नियमं परिसुद्धए विंति ॥ ४९ ॥**

चीर्णस्य सम्यक्चरितस्य, ( नवरि त्ति ) केवल, लिङ्ग चिह्नम्, अस्य प्रायश्चित्तस्य, प्रायेण बाहुल्येन· प्रायेणेतिकरणात्कारणमपि सजाव्यते । अकरणमनासेवन, तस्य, यमाश्रित्य प्रायश्चित्त प्रतिपन्नम्, दोषस्यापराधस्य प्रायश्चित्तार्हस्य, तथेति समुच्चये, अन्येऽपरे सूरयः, नियमं दोषस्याकरणमेवेत्येवलक्षणम, प्रायेणेति प्रागुक्तविशेषणस्यानिष्टे, परिशुद्धके विशुद्धेऽपगते, दोष इति प्रक्रम· । ब्रुवतेऽभिदधति । अन्ये तु व्याख्यान्ति-नियममकरणनियमम्, आसंसार तद्दोषाऽऽसेवनाद्, परिशुद्धये दोषविशुद्धये । इति गाथाऽर्थ· ॥ ४९ ॥

अथेदमपि मतान्तर सङ्गतमेवेति दर्शयन्नाह-

**णिच्छयणएण संजम-ठाणापातंम्मि जुज्जति इमं पि ।**
**तह चेव पयट्टाणं, भवविरहपराण साहूणं ॥ ५० ॥**

निश्चयनयेन तत्त्वनयमतेन, परिणामत इत्यर्थः । सयमस्थानाऽऽपाते चरणशुद्धिविशेषाप्रतिपाते सति, युज्यते सगच्छते, इदमपि आचार्यान्तरमतमपि, आस्तामस्मन्मतम । केषामित्याह-तथैव संयमाप्रतिपातेनैव, प्रवृत्तानां व्यापृतानां, भवविरहपराणां ससारच्छेदनप्रधानानाम्, साधूनां सयतानामिति गाथाऽर्थ· ॥ ५० ॥ पञ्चा० १६ विव० । " पायच्छित्त ओहिय निच्छइय च । " प० चू० ४ कल्प० । स्था० ।

प्रायश्चित्तसूत्रद्वयम-

**चउव्विहे पायच्छित्ते पन्नत्ते । तं जहा–णाणपायच्छित्ते, दंसणपायच्छित्ते, चरित्तपायच्छित्ते, वियत्तकिच्चे । चउव्विहे पायच्छित्ते पएणत्ते । तं जहा–पडिसेवणापायच्छित्ते, संजोयणापायच्छित्ते, आरोवणापायच्छित्ते, पलिउंचणापायच्छित्ते ।**

तत्र ज्ञानमेव प्रायश्चित्तम्, यतस्तदेव पापं छिनत्ति, प्रायश्चित्त वा शोधयतीति निरुक्तिवशाद् ज्ञान प्रायश्चित्तमिति । एवमन्यत्रापि, ( वियत्तकिच्चेति ) व्यक्तस्य भावतो गीतार्थस्य, कृत्य करणीयं व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्तमिति । गीतार्थो हि गुरुलाघवपर्यालोचनेन यत्किञ्चन करोति तत्सर्वं पापविशोधकमेव भवतीति । अथवा-ज्ञानाऽऽद्यतिचारविशुद्धये यानि प्रायश्चित्तान्यालोचनार्हाऽऽदीनि विशेषतोऽभिहितानि तानि तथा व्यपदिश्यन्ते ।" वियत्त त्ति " विशेषेण अवस्थाऽऽद्यौचित्येन विशेषानभिहितमपि, दत्त वितीर्णमभ्यनुज्ञातमित्यर्थः । यत्किञ्चिन्मध्यस्थगीतार्थेन कृत्यमनुष्ठान तद् वितत्तकृत्य प्रायश्चित्तमेव । " वियतकिच्चेति " पाठान्तरम् । प्रीतिकृत्य वैयावृत्त्याऽऽदीति । प्रतिषेवणमासेवनमकृत्यस्येति प्रतिषेवणा । सा च द्विधा-परिणामभेदात्, प्रतिषेवणीयभेदाच्च । तत्र परिणामभेदात्-" पडिसेवणाउ भावो, सो पुण कुसलो व्व होज्जऽकुसलो वा । कुसलेण होइ कप्पो, अकुसलपरिणामओ दप्पो ॥ १ ॥ " प्रतिषेवणीयभेदात्तु-"मूलगुणउत्तरगुणे, दुविहा पडिसेवणा समासेण । मूलगुणे पचविहा, पिंडविसोहाइया इयरा ॥१॥" तस्यां प्रायश्चित्तमालोचनाऽऽदि । तच्चेदम "आलोयण पडिकमणे, मीसविवेगे, तहा विउस्सग्गे । तवछेयमूलअणव-ट्ठया य पारंचिए चेव ॥ १ ॥ " इति प्रतिषेवणाप्रायश्चित्तम् । तथा संयोजनमेकजातीयातिचारमीलनं संयोजना यथा शय्यातरपिण्डो गृहीतः, सोऽप्युदकाऽऽर्द्रहस्ताऽऽदिना, सोऽप्यभ्याहृतः, सोऽप्याधाकर्मिकः, तत्र यत्प्रायश्चित्तं तत् संयोजनाप्रायश्चित्तम् । तथा आरोपणमेकापराधप्रायश्चित्ते पुनः पुनरासेवनेन विजातीयप्रायश्चित्ताध्यारोपणमारोपणा । यथा--पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमापन्न , पुनस्तत्सेवने दशरात्रिन्दिवं, पुनःपञ्चदशरात्रिन्दिवम् । एव यावत् षण्मासान्, ततस्तस्याधिक तपो देय न भवति । अपि तु शेषतपांसि तु तत्रैवान्तर्भावनीयानि । इह तीर्थे षण्मासान्तत्वात्तपस इति । उक्तं च-" पचाइय रोवणे, नेयव्वा जाव होंति छम्मासा । तेण परमसियाणं, छण्हुवरिं झोसण कुज्जा ॥ १ ॥" इति । आरोपणायाः प्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तमिति । तथा परिकुञ्चनमपराधस्य क्षेत्रकालभावानां गोपायनमन्यथा सतामन्यथा भणनं परिकुञ्चना, परिकुञ्चना वा । उक्त च-"दव्वे खेत्ते काले, भावे पलिउंचणा चउवियप्प त्ति " । तथाहि-" सच्चित्ते अच्चित्ते, जणवयपडिसेविय च अद्धाणे । सुभिक्खे दुब्भिक्खे, हट्ठेण तह गिलाणेण ॥ १ ॥ " इति । तस्या प्रायश्चित्तं परिकुञ्चनाप्रायश्चित्तम् । विशेषोऽत्र व्यवहारपीठाद्वसेय इति । प्रायश्चित्तं च कालापेक्षया दीयत इति कालनिरूपणासूत्रम् * । तत्र प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशतपल्योपमाऽऽदि तत्प्रमाण, तदेव कालः प्रमाणकाल· स च अद्धा कालविशेष एव दिवसाऽऽदिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तीति । उक्तं च-" दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाण च होइ राई य । चउ पोरिसिओ दिवसो, राई चउपोरिसी चेव ॥ १ ॥ " इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

( ४ ) अथ प्रायश्चित्तमिति कः शब्दार्थः ?, कतिविधं प्रायश्चित्तमिति प्रश्नमुपजीव्य प्रायश्चित्तनिरुक्ताऽऽदिद्वारकलापप्रतिपादनाय द्वारगाथामाह-

**पायच्छित्तनिरुत्तं, भेया जत्तो परूवणाबहुलं ।**
**अज्झयणाण विसेसो, तदरिहपरिसा य सुत्तत्थे ॥ ३४ ॥**

प्रथमत· प्रायश्चित्तनिरुक्तं प्रायश्चित्तशब्दार्थो वक्तव्यः । ततः प्रायश्चित्तस्य भेदा प्रतिसेवनाऽऽदयो वक्तव्या· । तदनन्तर यतो निमित्तात्प्ररूपणाबाहुल्यम् । किमुक्तं भवति?-यतो निमित्तात्प्रतिषेवणात· सयोजनाप्रायश्चित्तम, आरोपणाप्रायश्चित्तम, परिकुञ्चनाप्रायश्चित्तं च पृथगुपपद्यते, तद्वक्तव्यम् । ततोऽनयोः कल्पाध्ययनव्यवहाराध्ययनयोर्विशेषो नानात्व वक्तव्यम्, तदनन्तर तदर्हाऽपि प्रायश्चित्तार्हा परिषद् वाच्या, ततः सूत्रार्थ·, एष द्वारगाथासक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु प्रतिद्वार वक्ष्यति ॥ ३४ ॥

तत्र निरुक्तद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

**पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णते तेणं ।**
**पाएण वा वि चित्त, विसोहए तेण पच्छित्त ॥ ३५ ॥**

यस्मात् शोधिरूपो व्यवहारोऽपराध संचितं पापं छिनत्ति विनाशयति, तेन कारणेन प्रायश्चित्त भण्यते । पृषोदराऽऽदित्वात् रूपसिद्धि· । अथ प्रायेण प्रायोऽपराधमलिन चित्तं जीवमत्र चित्तशब्देन "चित्तचित्तवतोरभेदोपचारात् " जीवोऽभिधीयते । तथा चाऽऽह चूर्णिकृत्-चित्तमिति जीवस्याऽऽख्येति, विशोधयत्यपराधमलरहित करोति, तेन कारणेन, प्रा-

* कालनिरूपणा सूत्र स्थानाङ्गमूलपाठतो ज्ञेयम् ।

यश्चित्त, प्राय. यथाऽवस्थितं भवत्यस्मादिति प्रायश्चित्तमिति व्युत्पत्तेः । गतं निरुक्तद्वारम् ॥ ३५ ॥

इदानीं भेदद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

पडिसेवणा य संजो-यणा य आरोवणा य बोधव्वा ।
पलिउंचणा चउत्थी, पायच्छित्तं चउद्धा उ ॥ ३६ ॥

प्रतिषिद्धस्याऽऽसेवना प्रतिषेवणा, अकल्प्यसमाचरणमिति भावः । चः समुच्चये । संयोजना शय्यातरराजपिण्डाऽऽदिभेदभिन्नापराधजनितप्रायश्चित्तानां सकल्पनाकरणम्, आरोप्यते इति आरोपणा । प्रायश्चित्तानामुपर्युपर्यारोपणं यावत् षण्मासाः, परतो वर्द्धमानस्वामितीर्थे आरोपणाया प्रतिषेधात् । परिकुञ्चनं परिकुञ्चना, गुरुदोषस्य मायया लघुदोषस्य कथनम्-यथा-सचित्तं प्रतिषेव्य मया अचित्तं प्रतिषेवितमित्याहेति । एवा प्रतिषेवनात आरभ्य गण्यमाना चतुर्थी एवमेतत् प्रायश्चित्तं चतुर्धा भवति । तत्र-" यथोद्देशं निर्देशः " इति न्यायात् । प्रथमतः प्रतिषेवणोच्यते-सा च प्रतिषेवणा प्रतिषेवकप्रतिषेव्यव्यतिरेकेण नोपपद्यते, सकर्मकक्रियायाः कर्तृकर्मव्यतिरेकेणासम्भवात् । व्य० १ उ० ।( प्रतिषेवणाप्रायश्चित्तं स्वस्थाने )

आलोचनाऽऽदिप्रतिषेवणारूपं प्रायश्चित्तमिदं दशधा दशप्रकारं, तामेव दशप्रकारतामुपदर्शयति-

आलोयणपडिकमणे, मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे ।
तवछेदमूलअणव-ट्ठिया य पारंचिए चेव ॥ ५३ ॥

आङ् मर्यादायाम् । सा च मर्यादा इयम्-" जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ । तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥१॥" अनया मर्यादया 'लोकृ' दर्शने । चुराऽऽदित्वात् णिच् । लोकनं लोचना प्रकटीकरणम् । आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणमिति भावः । यत् प्रायश्चित्तमालोचनमात्रेण शुध्यति, तद् आलोचनार्हतया कारणे कार्योपचारात् आलोचनम् । तथा-प्रतिक्रमणं दोषात् प्रतिनिवर्तनमपुनःकरणतया मिथ्यादुष्कृतप्रदानमित्यर्थः । तदर्हं प्रायश्चित्तमपि प्रतिक्रमणम् । किमुक्तं भवति-प्रायश्चित्तं मिथ्यादुष्कृतमात्रेणैव शुद्धिमासादयति, न च गुरुसमक्षमालोच्यते । यथा सहसाऽनुपयोगतः श्लेष्माऽऽदिप्रक्षेपादुपजातं प्रायश्चित्तम् । तथाहि-सहसाऽनुपयुक्ते यदि श्लेष्माऽऽदिप्रक्षिप्तं भवति । न च हिंसाऽऽदिकं दोषमापन्नस्तर्हि गुरुसमक्षमालोचनामन्तरेणाऽपि मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेण शुध्यति । तत्प्रतिक्रमणार्हत्वात् प्रतिक्रमणं, यस्मिन्पुनः प्रतिसेविते प्रायश्चित्ते यदि गुरुसमक्षमालोचयति, आलोच्य च गुरुसन्दिष्टः प्रतिक्रामति, पश्चाच्च मिथ्यादुष्कृतमिति ब्रूते तदा शुध्यति तत् आलोचनाप्रतिक्रमणलक्षणोभयार्हत्वान्मिश्रम् । तथा विवेकः परित्यागः, यत्प्रायश्चित्तं विवेक एव कृते शुद्धिमासादयति, नान्यथा, यथा आधाकर्मणि गृहीते तत् विवेकाऽऽर्हत्वात् विवेकः तथा व्युत्सर्गः कायचेष्टानिरोधः । यदात्मनैव कायचेष्टानिरोधोपयोगमात्रेण शुध्यति प्रायश्चित्तं, यथा दुःस्वप्नजनितं, तद् व्युत्सर्गार्हत्वाद् व्युत्सर्गः ( तवेत्ति ) यस्मिन् प्रतिसेविते निर्विकृताऽऽदिषण्मासपर्यवसानं तपो दीयते, तत्तपोऽर्हत्वात्तपः, यस्मिन्पुनरापतिते प्रायश्चित्ते सदूषितपूर्वपर्यायदेशावच्छेदः शेषपर्यायरक्षानिमित्तं दुष्टव्रणो विषदूषिततच्छरीरैकदेशच्छेदनमिव शेषशरीरावयवपरिपालनाय क्रियेत भवच्छेदार्हत्वाच्छेदः । (मूल त्ति) यस्मिन्नापतिते प्रायश्चित्ते निरवशेषपर्यायोच्छेदमाधाय भूयो महाव्रतारोपणं तन्मूलार्हत्वान्मूलम् । येन पुनः प्रतिसेवितेनोत्थापनाया अप्ययोग्यः सन् किञ्चित्कालं न व्रतेषु स्थाप्यते यावन्नाद्यापि प्रतिविशिष्टं तपश्चरणं भवति, पश्चाच्च चीर्णतपास्तद्दोषात् परतो व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थितार्हत्वादनवस्थितप्रायश्चित्तम् । (पारंचिए चेव त्ति) अञ्चू गतौ च । यस्मिन् प्रतिसेविते लिङ्गक्षेत्रकालतपसां पारमञ्चित, तत्पाराञ्चितमर्हतीति पाराञ्चितम् । एष सङ्क्षेपार्थः । व्य० १ उ० । ग० । ध० । विशे० । ध० र० । जीत० । पं० व० । प्रव० । पञ्चा० ।

तस्स उ विसुद्धिहेउं, पच्छित्तं तस्स कत्तिया भेदा ।
छट्ठाणादीया खलु, परूवणा तेसिमा होति ॥
छसु काएसु वतेसु य, छव्विह एगिंदियादि पंचविहं ।
संघयणपरीतावण-उद्दवणे चेव णिप्फन्नं ॥
चउहा तु णाणवंते, दंसणवंते चरित्तवंते य ।
तवो च्चिय त्ति किच्चे, अहवा दव्वाइयं चउहा ॥
अहवा अतिक्कमादी, चउहा कोहाइयं च चउहा तु ।
णाणाऽतियारमादी, होती तिविह त्ति पच्छित्तं ॥
अहवा आहारोवहि-सेज्जऽतियारे य होति तिविहं तु ।
उग्गम उप्पायण ए-सणाय तिविहं तु एक्केक्के ॥
आलोयणपडिक्कमणे, तदुभयमेवं तु होति तिविहं तु ।
सचित्त अचित्त मीसग, तिविहं चेदं मुणेयव्वं ॥
अहवा सत्तविहं, एव दसहा वा वि होति पच्छित्तं ।
आलोयण पडिक्कमणे, मीस विवेगे य वोसग्गे ॥
छट्ठगतवे य तत्तो, सव्वे तु वसिह्र मत्तमं छेदो ।
अट्ठविह छेद दुविहो, देसे सव्वे य बोधव्वो ॥
एवविह सव्वच्छेदो, दुह संजमुवट्ठ वज्जती मूले ।
कालंतरम्मि इतरे, पुण खेत्तंतोवहिं च दसभेदं ॥
अहवऽभह दुविहेह, एगविहं वा वि होज्ज नेयव्वं ।
पं० भा० १ कल्प ।

( आलोचनाऽऽदिव्याख्या स्वस्थाने ) ( तपोऽर्हप्रायश्चित्ते मासिकानि प्रायश्चित्तानि ' तवारिह ' शब्दे चतुर्थभाग २२०८ पृष्ठे गतानि ) ( संयोजनाप्रायश्चित्तं 'संजोअणा' शब्दे व- दयते । (आरोपणाप्रायश्चित्तम ' आरोवणा ' शब्दे द्वितीयभागे ३८६ पृष्ठ गतम ) ( प्रतिकुञ्चनाप्रायश्चित्तम ' पलिउंचणा ' वक्ष्यते शब्दे)

( ५ ) प्रायश्चित्तदानयोग्या पर्षत् । इदानीम्-" तवरिहप- रिसा य " इत्येतद् द्वारं व्याचिख्यासुः " इहइ भणिय पुरि- सजाया " इत्यवयवं व्याख्यानयन्नाह-

वट्टतस्स अकप्पे, पच्छित्तं तस्स वण्णिया जेदा ।
जे उण पुरिसज्जाया, तस्सऽरिहा ते इमे हुंति ॥ ५७ ॥

इह कल्पे वर्तमानस्य तत्रो कारिणोरिता यतनया प्रवृत्ते प्रायश्चित्तविषयतैव नोपजायते इत्यग्रहणम् । अकल्प्ये दर्पे-ऽर्थो वर्त-

मानस्य यत्प्रायश्चित्तं, तस्य ये भेदाः प्रतिसेवनासंयोजनाऽऽ-दयस्ते वर्णिता, ये पुनस्तस्य प्रायश्चित्तस्यार्हा योग्याः पुरुषप्रकाराः, पुरुषभेदा इत्यर्थः । ते इमे वक्ष्यमाणस्वरूपा भवन्ति ।

तानेव दर्शयति-

**कयकरणा इयरे वा, सावेक्खा खलु तहेव निरवेक्खा ।**
**निरवेक्खा जिणमादी सावेक्खा आयरियमादी ॥१६०॥**

कृतकरणा नाम-षष्ठाष्टमाऽऽदिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्म्मितशरीराः । इतरे अकृतकरणाः षष्ठाष्टमाऽऽदिभिस्तपोविशेषैरपरिकर्म्मितशरीराः । तत्र ये कृतकरणास्ते द्विविधाः । तद्यथा सापेक्षाः खलु, तथैव निरपेक्षाः, सह अपेक्षा, गच्छस्येति गम्यते । येषां ते सापेक्षा गच्छवासिनः । निर्गता अपेक्षा येभ्यस्ते निरपेक्षाः, ते त्रिविधा जिनाऽऽदयः । तद्यथा-जिनकल्पिकाः, शुद्धपरिहारिकाः, यथालन्दकल्पिकाश्च । एते नियमाः कृतकरणाकृतकरणानामन्यतमस्यापि कल्पस्य प्रतिपत्त्ययोगात् सापेक्षा अपि त्रिविधा आचार्याऽऽदयः । तद्यथा-आचार्या, उपाध्यायाः, भिक्षवश्च । एते प्रत्येकं द्विधाऽत्वात्षट् भवन्ति । तद्यथा-आचार्या कृतकरणाः, अकृतकरणाश्च । उपाध्याया अपि कृतकरणाः, अकृतकरणाश्च । भिक्षवोऽपि कृतकरणाः, अकृतकरणाश्च । तत्र कृतकरणानां चिन्त्यमानत्वादस्यां गाथायामेते कृतकरणा ग्राह्याः ॥ १६० ॥

**अकयकरणा वि दुविहा,अणहिगया अहिगया य बोधव्वा।**
**जं सेवेइ अहिगए, अणहिगए अत्थिरे इच्छा ॥ १६१ ॥**

इहाऽऽचार्या उपाध्यायाश्च कृतकरणा अकृतकरणा वा नियमाद् गीतार्थाः, स्थिराश्च, तत इहाकृतकरणा भिक्षव एव ग्राह्याः । ते अकृतकरणा भिक्षवो द्विविधाः । तद्यथा-अनधिगताः, अधिगताश्च । अनधिगता नाम अगीतार्थाः । अधिगता गीतार्थाः । अपिशब्दः संभावने । स चैतत् संभावयति-ये भिक्षवोऽधिगतास्ते द्विविधाः । तद्यथा-स्थिराः, अस्थिराश्च । स्थिरा नाम धृतिसंहननसंपन्नाः, तद्विपरीता अस्थिराः । अधिगता अपि द्विधा-स्थिराः, अस्थिराश्च । कृतकरणा अपि भिक्षवो द्विधा-अधिगताः । अनधिगताश्च । अनधिगता अपि द्विधा-स्थिराः, अस्थिराश्च । अधिगता अपि द्विधा स्थिराः, अस्थिराश्च । अत्रैव संक्षेपतः प्रायश्चित्तदानविधिमाह-( जं सेवेइ इत्यादि ) यत्प्रायश्चित्तस्थानं सेवते अधिगतो गीतार्थः । उपलक्षणमेतत् कृतकरणः, स्थिरश्च । तस्मै, तदेव परिपूर्णं दीयते । तदेव प्रायश्चित्तस्थानं प्राप्ते अनधिगते अस्थिरे, चशब्दादकृतकरणे च गुरोः प्रायश्चित्तदानविधौ इच्छा सूत्रोपदेशानुसारेण स्वेच्छा । तथाहि-यदि श्रुतोपदेशानुसारतः कृतकरणः स्थिरोऽधिगत इति वा । कृतकरणादपि समर्थ इति विज्ञातो भवति, तदा यदेव प्रायश्चित्तमापन्नस्तदेव तस्मै दीयते । अथासमर्थ इति परीक्षितस्ततो यत्प्रायश्चित्तं प्राप्तस्तस्यार्वाक्तनमनन्तरं दीयते, तत्राप्यसमर्थतायां, ततोऽप्यनन्तरं तत्राप्यसमर्थतायां ततोऽनन्तरम् । एवं यथा पूर्वं क्रमेण नायमेव यावन्निर्विकृतिकं, तत्राप्यसमर्थतायां पौरुषीप्रत्याख्यानं, तत्राप्यशक्तौ नमस्कारसहितं गाढग्लानत्वाऽऽदिना, तस्याप्यसम्भवे पदमेवाऽऽलोचनामात्रेण शुद्ध्यापादनमिति ॥१६१॥

साम्प्रति पुरुषभेदमार्गणायामेव प्रकारान्तरमाह-

**अहवा मावेक्खियरे, निरवेक्खा सव्वहा उ कयकरणा ।**
**इयरे कयाऽकया वा, थिराऽथिरा होंति गीयत्था ॥१६२॥**

अथ वेति प्रकारान्तरमिदं पूर्वं कृतकरणाऽकृतकरणभेदावादौ कृत्वा पुरुषभेदमार्गणा कृता । अत्र तु सापेक्षनिरपेक्षभेदौ तथा चाऽऽह-(सावेक्खियरे ति) द्विविधाः प्रायश्चित्तार्हाः पुरुषाः । तद्यथा-सापेक्षाः, इतरे च । सापेक्षा गच्छवासिनः । ते च त्रिधा-आचार्याः, उपाध्यायाः, भिक्षवश्च । निरपेक्षा जिनकल्पिकाऽऽदयः । तत्र ये निरपेक्षास्ते सर्वशः सर्वात्मना कृतकरणाः । तुशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाद् अधिगताः, स्थिराश्च । इतरे सापेक्षा द्विविधाः । तद्यथा-" कयाकया वा " इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् कृतकरणाः, अकृतकरणाश्च । वशब्दः समुच्चये । कृतकरणा अपि द्विधा-स्थिराः, अस्थिराश्च । एकैके द्विधा-गीतार्थाः, अगीतार्थाश्च । सूत्रे गीतार्था इत्युपलक्षणम् । ततोऽगीतार्था अपि विवृताः ॥ १६२ ॥

अथ किंस्वरूपाः कृतकरणाः ?, इति कृतकरणस्वरूपमाह-

**छट्ठऽट्ठमाइएहिं, कयकरणा ते उभयपरियाए ।**
**अहिगयकयकरणत्त, जोगा य तवारिहा केई ॥१६३॥**

कृतकरणा नाम ये षष्ठाष्टमाऽऽदिभिस्तपोविशेषैरुभयपर्याये, श्रामण्ये, गार्हस्थ्ये पर्याये वेत्यर्थः । परिकर्म्मितशरीरास्ते ज्ञातव्याः, तद्विलक्षणा इतरे सामर्थ्यादकृतकरणाः । अत्रैव मतान्तरमाह (अहिगए इत्यादि) केचिदाचार्या ये अधिगतास्ते नियमात् कृतकरणा इत्यधिगतानांकृतकरणत्वमिच्छन्ति । कस्मादिति चेदत आह-( जोगा य तवारिहा इति ) " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति " वृद्धवैयाकरणप्रवादात् हेतावत्र प्रथमा । ततोऽयमर्थः -यतस्तैर्महाकल्पश्रुताऽऽदीनामायतका योगा उद्व्यूढाः, तत आयतकयोगार्हा अत्रचर्षिता नियमतोऽधिगताः कृतकरणा इति । तदेवं कृता पुरुषभेदमार्गणा । साम्प्रतममीषां प्रायश्चित्तदानविधिरेकस्य:-तत्र ये निरपेक्षा जिनकल्पाऽऽदयस्ते यत्प्रायश्चित्तमापन्नास्तदेव तेभ्यो न दीयते, द्विविषया गुरुलाघवनिरपेक्षत्वात् । सापेक्षाणां तु सापेक्षतयैव प्रायश्चित्तदानविधौ तद्विषया गुरुलाघवचिन्ता कर्तव्या ॥ १६३ ॥

तत्र यानि प्रायश्चित्तानि दानस्थानि तानि
संक्षेपतो गाथाद्वयेनाऽऽह-

**निव्विइए पुरिमड्ढे, एक्कासणे अंबिले चउत्थे य ।**
**पणगं दस पन्नरसा, वीसा तह पण्णवीसा य ॥१६४॥**
**मासो लहुओ गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहुगुरुगा ।**
**छम्मासा लहुगुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥१६५॥**

निर्विकृतिकं विकृतिप्रत्याख्यानं, (पुरिमड्ढ त्ति) दिवसपूर्वार्द्धप्रत्याख्यानम् । एकाशनाऽऽचाम्लचतुर्थानि प्रतीतानि । (पणग त्ति ) रात्रिन्दिवानां पञ्चकम् । (लहुगुरुय त्ति) वक्ष्यमाणं पदत्रयापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति विभक्तिपरिणामेन सम्बध्यते । (पणग त्ति) लघु रात्रिन्दिवपञ्चकं च । तत्र लघु रात्रिन्दिवपञ्चकमाचाम्लेन, एकद्व्यादिदिनैर्वा हीनं परिपूर्णम् । गुरु रात्रिन्दिवपञ्चकम् । एवं सति लघु रात्रिन्दिवदशकम् । गुरुरात्रिन्दिवदशकम् । (पन्नरस त्ति) लघु रात्रिन्दिवपञ्चविंशतिकम् । ( मासो लहु गुरु त्ति) लघुमासो, गुरुमासः । चत्वारो लघु-

मासाश्चत्वारो गुरुमासाः। षण्मासा लघवः, षण्मासा गुरवः। तथा- छेदः कतिपयपर्यायस्य मूलं, सर्वपर्यायोच्छेदेन व्रतारोपणम्। (नढा दुग च त्ति) । अनवस्थाप्यं, पाराञ्चितं च । इह पाराञ्चितप्रायश्चित्तवर्ती प्रायो जिनकल्पिकप्रतिरूपको वर्तते । उक्तं च-" पारंचिउ पगाणी, इच्चाइ जिणकप्पियपडिरूवगा।" इति । अनवस्थाप्यप्रायश्चित्तवर्त्त्येवंगुण । उक्तं च-

" संघयण विरिय आगम, सुत्तविहीए जो समुज्जुत्तो ।
निग्गहजुत्तो तवस्सी, पवयणसारे गहियअत्थो ॥ १ ॥
तिलतुसविभागमित्तो, वि जस्स असुभो न विज्जए भावो ।
निज्जूहणारिहो सो, सेसे निज्जूहणा नत्थि ॥२॥
एयगुणसंपउत्तो, पावइ णवठप्पमुत्तमगुणोहो ।
एयगुणविप्पहीणो, तारिसगम्मो, भवे मूलं ॥ ३ ॥" इति ।

एतौ चैकान्ततो निरपेक्षौ । सापेक्षाणां त्वयं प्रायश्चित्तदानविधिं कथयितुमुपक्रान्तः, ततो मूलादारभ्य प्रायश्चित्तदानविधिरुच्यते । तथा चाऽऽह-

पढमस्स होइ मूलं, बिइए मूलं व छेदो छग्गुरुगा ।
जयणाएँ होइ सुद्धो, अजयणगुरुगा तिविहभेदं ॥ १६६ ॥

प्रथमस्याऽऽचार्यस्य कृतकरणस्य सापेक्षस्य महत्यप्यपराधे सापेक्षत्वात्प्रायश्चित्तं मूलम् । उपलक्षणमेतत्-तेनास्यैवाकृतकरणस्यासमर्थत्वात् छेद इत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीये उपाध्याये कृतकरणे तथारूपायां धृतिबलसमर्थतायां मूलम्, इतरथा छेदः । अकृतकरणे गुरु षाण्मासिकम् । इहाऽऽचार्य उपाध्यायो वा यदि यतनया कारणे देशकालानुरूपं प्रायश्चित्तस्थानेऽवर्त्तिष्ट, तदा शुद्धो, न प्रायश्चित्तविषयः, यतनया कारणे प्रवृत्तेः। अयतनया तु प्रायश्चित्तस्थाने प्रवृत्तौ मूलं, छेदो वा । आचार्यस्य उपाध्यायस्य गुरुकादारभ्योक्तं, प्रकारेण त्रिविधं प्रायश्चित्तस्य भेदः, षड्गुरु, छेदो, मूलं च । एवमुक्तानुसारेण भिक्षुष्वपि प्रायश्चित्तदानविधिरनुसरणीयः ।

एतदेव व्याचक्षाण आह-

सव्वेसिं अविसिट्ठा, आवित्ती तेण पढमया मूलं ।
सावेक्खे गुरु मूलं, कयाकए होइ पुण छेओ ॥ १६७ ॥
सावेक्खो त्ति व काउं, गुरुस्स कयजोगिणो भवे छेदो ।
अकयकरणम्मि छग्गुरु, इइ अट्ठोक्कंतिए नेयं ॥ १६८ ॥

इति प्रायश्चित्तदानविधिरुक्तप्रकारेण कथयितुमभीष्टो यथा सर्वेषामाचार्याऽऽदीनामापत्तिः प्रायश्चित्तस्यापादानमविशिष्टा, सापेक्षाणां च महत्यपराधे मूलं नामानवस्थाप्यं, पाराञ्चितं वा । ततः प्रथमतया सर्वेषां मूलमापन्नमविशिष्टमधिकृत्य गुरुलाघवचिन्तया प्रायश्चित्तदानविधिरुच्यते । तत्र सापेक्षे गुरौ आचार्ये,गाथायां विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । कृते कृतकरणे । "प्रायश्चित्तं मूलं सापेक्षे।" इति वचनात् । महत्यप्यपराधे गुरौ सापेक्षत्वात् मूलमेव प्रायश्चित्तं, न त्वनवस्थाप्यं, पराञ्चितं वेति ज्ञापितम् । एतदेव चोपजीव्य प्रागेवमस्माभिर्व्याख्यातम्। अकृते अकृतकरणे, गुराविति सम्बन्धादाचार्ये भवति प्रायश्चित्तं छेदः । ( सावेक्खो त्ति व काउमित्यादि ) अत्र गुरुशब्देनोपाध्याय प्रोच्यते, आचार्यस्योक्तत्वात् । गुरोरुपाध्यायस्य, कृतयोगिनः कृतकरणस्य, मूलं प्रायश्चित्तमापन्नस्यापि सापेक्ष इति कृत्वा प्रायश्चित्तं छेदो भवति । तस्यापि कृतकरणस्य मनाक् निरपेक्षतायां मूलमिति प्रायश्चित्तम्। "बिइए मूलं च छेदो छग्गुरुगा (१६६)" इति वचनात् । अकृतकरणे तु तस्मिन्नेवोपाध्याये मूलमापन्नेऽपि प्रायश्चित्तं षड् गुरुकाः । गुरवः षण्मासाः, प्राक् कृतकरणतया छेदप्रायश्चित्तस्याप्यनर्हत्वात् । इति एवममुना प्रकारेण (अट्ठोक्कंतिए इति) इह एकैकस्मिन्नाचार्याऽऽदौ स्थानेऽकृतकरणकृतकरणभेदतो द्वे द्वे प्रायश्चित्ते । तयोश्च द्वयोरेकमाद्यं प्रायश्चित्तमपक्रामति । द्वितीयं चोत्तरस्थानेऽनुवर्तते । एकं च द्वयोर्द्धमित्यर्थापक्रान्त्या, ज्ञेयं प्रायश्चित्तदानम् । इदमिति सङ्क्षिप्तमुक्तमिति। विनेयजनानुग्रहाय यन्त्रककल्पनया विशेषतो भाव्यते । तत्र यन्त्रकाविधानमिदम्- तिर्यग् द्वादश गृहकाणि क्रियन्ते । अधोमुखं च विंशतिगृहाणि । एवं च द्वादशगृहात्मकानि विंशतिगृहाणि । एवं च द्वादशगृहात्मिका विंशतिगृहपङ्क्तयो जाताः । तत्र विंशतितमायां पङ्क्तौ दक्षिणतोऽन्तिमे ये द्वे गृहके ते मुक्त्वा तस्या अधस्तात् दशगृहाऽऽत्मिका एकविंशतितमा पङ्क्तिः स्थाप्या। तस्यामप्येकविंशतितमायां पङ्क्तौ ये द्वे अन्तिमे गृहके ते मुक्त्वा अधस्तात् अष्टगृहात्मिका द्वाविंशतितमा पङ्क्तिः स्थापनीया । तस्यामपि ये द्वे अन्तिमगृहके ते मुक्त्वा तस्या अधस्तात् षड्गृहात्मिका त्रयोविंशतितमा पङ्क्तिर्न्यसनीया, तस्यामपि ये द्वे गृहके ते विमुच्य तस्या अधस्ताच्चतुर्गृहात्मिका चतुर्विंशतितमा पङ्क्तिः स्थापयितव्या। तस्यामपि ये द्वे अन्तिमे गृहके ते परित्यज्य तस्या अधस्तात् द्विगृहात्मिका पञ्चविंशतितमा पङ्क्तिः स्थाप्यते, तस्या अधस्तादेकगृहात्मिका षड्विंशतितमा पङ्क्तिः । एवं षड्विंशपङ्क्त्यात्मकस्य यन्त्रकस्य सर्वोपरि तत्प्रथमपङ्क्तेरुपरि प्रथमगृहके कृतकरण आचार्यः स्थापनीयः । द्वितीये गृहके अकृतकरणः । तृतीये कृतकरण उपाध्यायः । चतुर्थे स एवाकृतकरणः। पञ्चमे अधिगतस्थिरभिक्षुः कृतकरणः । षष्ठे स एवाकृतकरणः । सप्तमे अधिगतास्थिरभिक्षुः कृतकरणः। अष्टमे स एवाकृतकरणः। नवमे अनधिगतस्थिरभिक्षुः कृतकरणः । दशमे स एवाकृतकरणः । एकादशे अनधिगतास्थिरभिक्षुः कृतकरणः । द्वादशे अनधिगतोऽस्थिरोऽकृतकरणः । एवं स्थापयित्वा कृतकरणस्याऽऽचार्यस्य मूलं, तस्मिन्नेवापराधे ऽकृतकरणस्य छेदः । उपाध्यायस्य मूलमापन्नस्य कृतकरणस्य छेदः । अकृतकरणस्य षण्मासगुरु । सर्वापराधे भिक्षोरधिगतस्य कृतकरणस्य षण्मासगुरु । अकृतकरणस्य षण्मासलघु। अधिगतस्य भिक्षोरस्थिरस्य कृतकरणस्य षण्मासलघु । अकृतकरणस्य चतुर्मासगुरु । अनधिगतस्य भिक्षोः स्थिरस्य कृतकरणस्य चतुर्मासगुरु। तस्यैवाकृतकरणस्य चतुर्मासलघु । अनधिगतस्य भिक्षोरस्थिरस्य कृतकरणस्य चतुर्मासलघु । तस्यैवाकृतकरणस्य मासगुरु ॥१॥ एवं प्रथमपङ्क्तौ मूलादारभ्य मासगुरुके निष्ठितम् । द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमे गृहके छेदः । द्वितीये षड्गुरु । तृतीये षड्गुरु । चतुर्थे षड्लघु। पञ्चमे षड्लघु। षष्ठे चतुर्गुरु। सप्तमे चतुर्गुरु। अष्टमे चतुर्लघु। नवमेऽपि चतुर्लघु। दशमे मासगुरु। एकादशेऽपि मासगुरु। द्वादशमे मासलघु । अत्र छेदादारभ्य मासलघुके निष्ठितम । तृतीयपङ्क्तौ प्रथमे गृहके षड्गुरु । द्वितीये षड्लघु। तृतीये षड्लघु। चतुर्थे चतुर्मासगुरु। पञ्चमे चतुर्मासगुरु। षष्ठे मासलघु। सप्तमेऽपि चतुर्मासलघु। अष्टमे मासगुरु । नवमे मा

सलघु। एकादशेऽपि मासलघु। द्वादशे भिन्नमासगुरु। अत्र षड्गुरुकादारब्ध भिन्नमासे गुरौ निष्ठितम्। चतुर्थपङ्क्तौ प्रथमे गृहके षड्लघु। द्वितीये चतुर्मासगुरु। तृतीयेऽपि चतुर्मासगुरु। चतुर्थे चतुर्लघु। पञ्चमे चतुर्लघु। षष्ठे मासगुरु। सप्तमे मासगुरु। अष्टमे मासलघु। नवमेऽपि मासलघु। दशमे भिन्नमासगुरु। एकादशेऽपि भिन्नमासगुरु। द्वादशे भिन्नमासलघु। अत्र षड्गुरुकादारब्ध लघु भिन्नमासे निष्ठितम्। पञ्चमपङ्क्तौ प्रथमे गृहे चतुर्मासगुरु। द्वितीये चतुर्लघु। तृतीये चतुर्लघु। चतुर्थे मासगुरु। पञ्चमेऽपि मासगुरु। षष्ठे मासलघु। सप्तमे मासलघु। अष्टमे भिन्नमासो गुरु। नवमे भिन्नमासो गुरु। दशमे भिन्नमासो लघु। एकादशे भिन्नमासो लघु। द्वादशे गुरु विंशतिरात्रिंदिनम्। अत्र चतुर्गुरुकादारब्ध गुरुके विंशतिरात्रिंदिवे स्थितम्। षष्ठपङ्क्तौ प्रथमे गृहे चतुर्मासलघु। द्वितीये मासगुरु। तृतीयेऽपि मासगुरु। चतुर्थे मासलघु। पञ्चमेऽपि मासलघु। षष्ठे गुरु पञ्चविंशतिकम्। सप्तमेऽपि गुरु पञ्चविंशतिकम्। अष्टमे लघु पञ्चविंशतिकम्। नवमेऽपि लघु पञ्चविंशतिकम्। दशमे गुरु विंशतिकम्। एकादशमे गुरु विंशतिकम्। द्वादशे लघुविंशतिक चतुर्मासलघुकादारब्ध लघुविंशतिके स्थितम्। सप्तमपङ्क्तौ प्रथमगृहके मासगुरु। द्वितीये मासलघु। तृतीये मासलघु। चतुर्थे गुरुपञ्चविंशतिकम्। पञ्चमे गुरुपञ्चविंशतिकम्। षष्ठे लघुपञ्चविंशतिकम्। सप्तमे लघुपञ्चविंशतिकम्। अष्टमे गुरुविंशतिकम्। नवमे गुरुविंशतिकम्। दशमे लघुविंशतिकम्। एकादशे लघुविंशतिकम्। द्वादशे गुरुपञ्चदशकम्। अत्र मासगुरुकादारब्ध गुरुपञ्चदशके पर्यासम्। अष्टमपङ्क्तौ प्रथमे गृहके मासलघु। द्वितीये गुरुपञ्चविंशतिकम्। तृतीये गुरुपञ्चविंशतिकम्। चतुर्थे लघु। पञ्चमे पञ्चविंशतिक लघु। षष्ठे गुरुविंशतिकम्। अष्टमे लघुविंशतिकम्। नवमे लघुविंशतिकम्। दशमे गुरुपञ्चदशकम्। एकादशे गुरुपञ्चदशकम्। द्वादशे लघुपञ्चदशकम्। अत्र मासलघुकादारब्ध लघुके पञ्चदशके पर्यासम्। नवमपङ्क्तौ प्रथमे गृहके गुरुपञ्चविंशतिकम्। द्वितीये लघुपञ्चविंशतिकम्। तृतीये लघुपञ्चविंशतिकम्। चतुर्थे गुरुविंशतिकम्। पञ्चमे गुरुविंशतिकम्। षष्ठे लघुविंशतिकम्। सप्तमे लघुविंशतिकम्। अष्टमे गुरुपञ्चदशकम्। नवमे गुरुपञ्चदशकम्। दशमे लघुपञ्चदशकम्। एकादशे लघुपञ्चदशकम्। द्वादशे गुरुदशकम्। अत्र गुरुपञ्चविंशतिकादारब्ध गुरुदशके निष्ठितम्। दशमपङ्क्तौ प्रथमे गृहे लघुपञ्चविंशतिकम्। द्वितीये गुरुविंशतिकम्। तृतीये गुरुविंशतिकम्। चतुर्थे लघुविंशतिकम्। पञ्चमे लघुविंशतिकम्। अष्टमे लघुपञ्चदशकम्। नवमे लघुपञ्चदशकम्। दशमे गुरुदशकम्। एकादशे गुरुदशकम्। द्वादशे दशक लघु। अत्र लघुपञ्चविंशतिकादारब्ध लघुदशके स्थितम्। एकादशपङ्क्तौ प्रथमे गृहके गुरुविंशतिकम्। द्वितीये लघुविंशतिकम्। चतुर्थे गुरुपञ्चदशकम्। पञ्चमे गुरुपञ्चदशकम्। सप्तमे लघुपञ्चदशकम्। अष्टमे गुरुदशकम्। नवमे गुरुदशकम्। दशमे लघुदशकम्। एकादशे लघुदशकम्। द्वादशे गुरुपञ्चकम्। अत्र गुरुविंशतिकादारब्ध गुरुपञ्चके पर्यासम्। द्वादशपङ्क्तौ प्रथमे गृहके लघुविंशतिकम्। द्वितीये गुरुपञ्चदशकम्। तृतीये गुरुपञ्चदशकम्। चतुर्थे लघुपञ्चदशकम्। पञ्चमे लघुदशकम्। षष्ठे गुरुदशकम्। अष्टमे लघुदशकम्। नवमे लघुदशकम्। दशमे गुरुपञ्चकम्। एकादशे गुरुपञ्चकम्। द्वादशे गुरुपञ्चकम्। द्वादशे लघुपञ्चकम्। अत्र लघुविंशतिकादारब्धे लघुपञ्चके पर्यासम्। त्रयोदशपङ्क्तौ प्रथमे गृहके गुरुपञ्चदशकम्। द्वितीये पञ्चदशकम्। तृतीये लघुपञ्चदशकम्। चतुर्थे गुरुदशकम्। पञ्चमे गुरुदशकम्। षष्ठे लघुदशकम्। सप्तमे लघुदशकम्। अष्टमे गुरुपञ्चकम्। नवमे गुरुपञ्चकम्। दशमे लघुपञ्चकम्। एकादशे लघुपञ्चकम्। द्वादशे दशकम्। अत्र गुरुपञ्चदशकादारब्ध दशमे निष्ठितम्। चतुर्दशपङ्क्तौ प्रथमगृहके लघुपञ्चदशकम्। द्वितीये गुरुदशकम्। तृतीये गुरुदशकम्। चतुर्थे लघुदशकम्। पञ्चमे लघुदशकम्। षष्ठे गुरुपञ्चकम्। सप्तमे गुरुपञ्चकम्। अष्टमे लघुपञ्चकम्। नवमे लघुपञ्चकम्। दशमे दशमम्। एकादशे दशमम्। द्वादशे अष्टमम्। अत्र लघुपञ्चकादारब्धमष्टमे निष्ठितम्। पञ्चदशपङ्क्तौ प्रथमे गृहके गुरुदशकम्। द्वितीये लघुदशकम्। तृतीये लघुदशकम्। चतुर्थे गुरुपञ्चकम्। सप्तमे लघुपञ्चकम्। अष्टमे दशकम्। नवमे दशकम्। दशमे अष्टमम्। एकादशे अष्टमम्। द्वादशे षष्ठम्। अत्र गुरुदशकादारब्ध षष्ठे निष्ठितम्। षोडशपङ्क्तौ प्रथमे गृहके लघुदशकम्। द्वितीये गुरुपञ्चकम्। तृतीये गुरुपञ्चकम्। चतुर्थे लघुपञ्चकम्। पञ्चमे लघुपञ्चकम्। षष्ठे दशमम्। सप्तमे दशमम्। अष्टमे अष्टमम्। दशमे षष्ठम्। द्वादशे चतुर्थम्। अत्र लघुदशकादारब्धं चतुर्थे निष्ठितम्। सप्तदशपङ्क्तौ प्रथमे गृहके गुरुपञ्चकम्। द्वितीये लघुपञ्चकम्। तृतीये लघुपञ्चकम्। चतुर्थे दशमम्। पञ्चमे दशमम्। षष्ठे अष्टमम्। सप्तमे अष्टमम्। अष्टमे षष्ठम्। नवमे षष्ठम्। दशमे चतुर्थम्। एकादशे चतुर्थम्। द्वादशे आचामाम्लमिति। अत्र गुरुपञ्चकादारब्धमाचामाम्ले निष्ठितम्। अष्टादशपङ्क्तौ प्रथमगृहके लघुपञ्चकम्। द्वितीये दशमम्। तृतीये दशमम्। चतुर्थे अष्टमम्। पञ्चमे अष्टमम्। षष्ठे षष्ठम्। सप्तमे षष्ठम्। अष्टमे चतुर्थम्। नवमे चतुर्थम्। दशमे आचामाम्लम्। एकादशे आचामाम्लम्। द्वादशे एकाशनकम्। अत्र लघुपञ्चकादारब्धमेकाशनके निष्ठितम्। एकोनविंशतितमायां पङ्क्तौ प्रथमगृहके दशमम्। द्वितीयेऽष्टमम्। चतुर्थे षष्ठम्। पञ्चमे षष्ठम्। षष्ठे चतुर्थम्। सप्तमे चतुर्थम्। अष्टमे आचामाम्लम्। दशमे एकाशनकम्। एकादशे एकाशनकम्। द्वादशे पूर्वार्द्धस्थितम्। विंशतितमायां पङ्क्तौ प्रथमे गृहके अष्टमम्। द्वितीये षष्ठम्। तृतीये षष्ठम्। चतुर्थे चतुर्थम्। पञ्चमे चतुर्थम्। षष्ठे आचामाम्लम्। अष्टमे एकाशनकम्। नवमे एकाशनकम्। दशमे पूर्वार्द्धम्। एकादशे पूर्वार्द्धम्। द्वादशे निर्विकृतिकम्। अत्राष्टमादारब्ध निर्विकृतिके निष्ठितम्। एकविंशतितमायां पङ्क्तौ प्रथमे गृहके षष्ठम्। द्वितीये चतुर्थम्। तृतीये चतुर्थम्। चतुर्थे आचामाम्लम्। पञ्चमे आचामाम्लम्। षष्ठे एकाशनकम्। सप्तमे एकाशनकम्। अष्टमे पूर्वार्द्धम्। नवमे पूर्वार्द्धम्। दशमे निर्विकृतिकम्। अत्र षष्ठादारब्ध निर्विकृतिके निष्ठितम्। द्वाविंशतितमायां पङ्क्तौ प्रथमे गृहके चतुर्थम्। द्वितीये आचामाम्लम्। तृतीये आचामाम्लम्। चतुर्थे एकाशनम्। पञ्चमे एकाशनम्। षष्ठे पूर्वार्द्धम्। सप्तमे पूर्वार्द्धम्। अष्टमे निर्विकृतिकम्। अत्र चतुर्थादारब्ध निर्विकृतिके निष्ठितम्। त्रयोविंशतितमायां पङ्क्तौ प्रथमगृहके आचामाम्लम्। द्वितीये एकाशनकम्। तृतीये एकाशनकम्। चतुर्थे पु-

र्धार्द्धम । पञ्चमे पूर्वार्द्धम् । षष्ठे निर्विकृतिकम् । चतुर्विंशतितमपङ्क्तौ प्रथमे गृहके एकाशनम् । द्वितीये पूर्वार्द्धम् । तृतीये पूर्वार्द्धम । चतुर्थे निर्विकृतिकम । पञ्चविंशतितमपङ्क्तौ प्रथमगृहके पूर्वार्द्धम् । द्वितीये निर्विकृतिकम् । षड्विंशतितमायां पङ्क्तौ निर्विकृतिकमिति । तदेवम्-" कयकरणा इयरे वा ।" इत्यादिना ये पुरुषभेदा प्रागुक्तास्तेषा प्रायश्चित्तदानविधिरुक्त ।

सम्प्रति " ज सेवेइ अहिगतो " इत्यादि यद् गाथोत्तरार्द्धमुक्त तद्व्याख्यानार्थमाह-

**अकयकरणा उ गीया,जे य अगीया य अकय अथिरा य।
तेसा वत्ति अणंतर, बहुयतरियं व झोसो वा ।। १६९ ।।**

ये गीतार्था. । अधिगता इत्यर्थ. । अकृतकरणा. । ये च अगीतार्था., अनधिगता इति भाव । ( अकय त्ति ) अकृतकरणा' । चशब्दात् कृतकरणाश्च । अस्थिराश्च अकृतकरणाश्च, तेषां कदाचित् आपत्तिप्रायश्चित्त दीयते । यत् यत् प्रायश्चित्तमापन्न तदेव दीयते । इति यावत्कदाचित्तथाविधायां समर्थताया यत्प्रायश्चित्तमापन्न तस्यार्वाक्तनमनन्तर दीयते । कदाचित्प्रभुतायामसमर्थतायां बह्वन्तरित बहुभि प्रायश्चित्तैरन्तारितमर्वाक्तन दीयते । अत्यन्तासमर्थताया 'झोषो' वा, सर्वस्य प्रायश्चित्तस्य परित्याग. । आलोचनामात्रेणैव तस्यामवस्थाया तस्य शुद्धिभावनात् यथा कृतकरणस्योपाध्यायस्य मूलमापन्नस्य तथाविधयोग्यतायां मुल दीयते । अकृतकरणस्य पुनरसमर्थ इति कृत्वा छेद , तथाप्यसमर्थतायां षड्गुरु । तत्राप्यशक्तौ षड्लघु । एव तावत् नेय यावन्निर्विकृतिकम् । तत्राप्यशक्तौ पौरुषी । तत्राप्यसमर्थतायां नमस्कारसहितम् । तस्यापि गाढग्लानत्वभावतोऽसम्भव एवमेवाऽऽलोचनामात्रत. शुद्धिरिति । तदेवम्-" कयकरणा इयरे वा । " इत्यादिगाथाद्वय सकलमपि भावितम् ।

अधुना " सावेक्खा आयरियमादी ।" इति यदुक्त तत्र परस्याऽऽक्षेपमाह-

**आयरियादी तिविहो, सावेक्खाणं तु किं कओ भेदो ?।
एएसिं पच्छित्त, दाण चऽएणं अतो तिविहो ।।१७०।।**

नन्वाचार्योपाध्याययोरपि भिक्षुत्वस्याचस्थितत्वात् तद्ग्रहणे तयोरपि ग्रहणमिति । किं किमर्थं सापेक्षाणां त्रिविध आचार्याऽऽदिक आचार्योपाध्यायभिक्षुलक्षण कृतो भेद । एवमुक्ते सूरिराह-(एएसिं इत्यादि) एतेषामाचार्याऽऽदीना यत् आभवति प्रायश्चित्त, यच्च तस्य प्रायश्चित्तस्य समर्थासमर्थपुरुषाऽऽद्यपेक्ष दान तत् पृथक् पृथक् अन्यत्, अत सापेक्षाणामाचार्याऽऽदिकस्त्रिविधो भेद कृत ।

एतदेव सविशेषमाह-

**कारणमकारणं वा,जयणाऽजयणा व नत्थि अगियत्थो।
एएण कारणेणं, आयरियादी भवे तिविहा ।। १७१ ।।**

इह कारणं प्रतिसेवनाया इदमकारण तथा इय यतना, इयमयतना इत्येतन्नास्ति अगीतार्थे अगीतार्थस्य तु, अर्थाद् गीतार्थस्यास्तीति प्रतीयते । तत्राऽऽचार्योपाध्यायौ गीतार्थौ, भिक्षुर्गीतार्थोऽगीतार्थश्च । कारणे यतनया कारणे अयतनया पृथक् पृथक् अन्यत्प्रायश्चित्त सहासहपुरुषाऽऽद्यपेक्षानुतुल्येऽपि प्रायश्चित्ते आपद्यमाने पृथगन्यो दानविधिरत एतेनाऽऽचार्यास्त्रिविधा भवन्ति सूत्रे इति । बहुत्वेऽप्येकवचन प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्यय. क्वचिद्भवतीति ।

एतामेव गाथा व्याख्यानयति-

**कज्जाकज्ज जयाजय-अविजाणंतो अगीउ जं सेवे ।
सो होइ तस्स दप्पो, गीओ दप्पो जए दोसा ।।१७२।।**

कार्यं नाम प्रयोजन, तत् अधिकृतवृत्ते' प्रयोजकत्वात् कारणम् । अत एवान्यत्रोक्तम्-"कारण ति वा, कज्ज ति वा एगट्ठा ।" ततोऽयमर्थ -अगीतोऽगीतार्थ. कारण न जानाति यस्मिन् प्राप्ते प्रतिसेवना न क्रियते, तथा कारणे अकारणे वा प्रतिसेवना कुर्वन् यतनामयतना वा न जानाति, एतान्यजानानो य. सेवते तस्य दर्पो भवति । सा तस्य दर्पिका प्रतिसेवना भवतीति भाव । गीतार्थ. पुन. सर्वाण्यप्येतानि जानाति, तत कारणे प्रतिसेवते नाकारणे । कारणेऽपि यतनया न पुनरयतनया । तत' स शुद्ध एव न प्रायश्चित्तविषय. । अगीतार्थस्य त्वज्ञानतया दर्पेण प्रतिसेवमानस्य प्रायश्चित्त, यदि पुनर्गीतार्थोऽपि दर्पेण प्रतिसेवते कारणेऽप्ययतनया वा, तदा तुल्यमगीतार्थेन सम तस्य प्रायश्चित्तम् । तथा चाऽऽह-" गीए दप्पा जए दोसा ।" गीते गीतार्थे, दर्पेण प्रवर्त्तमाने प्रतिसेवनायामिति गम्यते । कारणेऽपि प्रतिसेवनामयतमाने अगीतार्थेन तुल्य तस्य प्रायश्चित्तमिति भाव । प्रतिसेव्यमाने तुल्ये वस्तुनि दर्पेणापि क्रियमाणाया प्रतिसेवनाया यतनया प्रवृत्तौ न तुल्य प्रायश्चित्तम् । कारणे पुनर्यतनया प्रवर्त्तमानः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तविषयः । तत्राऽऽचार्या उपाध्यायाश्च नियमात् गीतार्था इति गीतार्थत्वापेक्षया समा , केवल प्रतिसेव्यमान वस्तु प्रतीत्य विषमा भिक्षवो गीतार्थाऽगीतार्थाश्च भवन्ति । प्रतिसेव्यमपि वस्त्वधिकृत्य भेद इति । वस्तुभेदतो गीतार्थत्वतश्च पृथक् भिन्न भिन्न प्रायश्चित्त सहासहपुरुषाऽऽद्यपेक्षया तुल्येऽप्याभवति प्रायश्चित्ते पृथग् भिन्न प्रायश्चित्तदानम् ।

**दोसविहवाणुरूवो, लोए दंडो वि किमुत उत्तरिए ।
तत्थुच्छेदो इहरा, निराणुकंपा न य विसोही ।। १७३ ।।**

दण्डोऽपि इति, अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् लोकेऽपीत्येवं द्रष्टव्य , लोकेऽपि दण्डो दोष. विभवानुरूप. । तथाहि-महत्यपराधे महान् दण्डोऽल्पेऽल्पीयान्, तथा समानेऽपि दोषे अल्पधनस्याल्पो महान् धनस्य महान् । लोकेऽपि तावदेव किमुत किं पुनर्लोकोत्तरिके लोकोत्तरसम्बन्धिनि व्यवहारे, तत्र सुतरां दोष. सामर्थ्यानुरूपो दण्ड ,तस्य सकलजनानुकम्पाया. प्रधानत्वात्, यदि पुनरल्पेऽपि दोषे महान्दण्डो, महत्यल्पीयान्, तथा यदि समानेऽप्यपराधे कृतकरणत्वमकृतकरणत्व वाऽऽचार्योपाध्याययोर्भिक्षोरपि कृतकरणत्वमधिगतत्वमनधिगतत्व स्थिरत्वमस्थिरत्व वाऽनपेक्ष्य तदनुरूपो दण्ड स्यात्, किं तु तुल्य एव, तदा व्यवस्थाया अभावत सन्तानप्रवृत्त्यसम्भवे तार्थोच्छेद' स्यात् । तथा निरनुकम्पाया अभाव प्रायश्चित्तदायकस्य असमर्थ भिक्षुप्रभृतीनामनुग्रहात् । न च तस्य प्रायश्चित्तदायकस्य विशोधिरप्रायश्चित्तस्य, प्रायश्चित्तेऽप्रतिमात्रप्रायश्चित्तस्य दानतो महाशातनासम्भवात् । " अप्पच्छित्ते य देइ पच्छित्त पच्छित्ते, अइमत्त आसायणा तस्स महती उ ।" इतिवचनात् । तत सापेक्षा आचार्याऽऽदयस्त्रिविधा उक्ता. ।

तत्रैव प्रकारान्तरमाह-

अहवा कज्जाकज्जे, जयाजयंते य कोविदं गीतो ।
दप्पा जतो निसेवे, अणुरूवं पावए दोसं ॥ १७४ ॥

अथवेति प्रकारान्तरे, गीतो गीतार्थः, स कारणमपि जानाति, अकारणमपि जानाति, यतनामपि जानाति, अयतनामपि जानाति एवं कार्ये यतायते कोविदो गीतार्थो यदि दर्पेण प्रतिसेवते,कारणेऽप्ययतनया, तदा स दर्पायतनातो निषेवमाणोऽनुरूपं दोषं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति; दर्पायतनानिष्पन्नं तस्मै प्रायश्चित्तं दीयते इति भावः ।

कप्पे य अकप्पम्मि य,जो पुण अविणिच्छितो अकज्जं पि ।
कज्जमिति सेवमाणे, अदोसवंतो असढभावो ॥१७५॥

यः पुनः कल्पे अविनिश्चितः किं कल्प्यं किमकल्प्यमिति विनिश्चयरहितः सोऽकार्यमपि, अकल्प्यमिति यावत् । कार्यमिति कल्पिकमिति बुद्ध्या सेवमानोऽशठभावः । अत्र हेतौ प्रथमा। अशठभावत्वाददोषवान् न प्रायश्चित्तभाग्भवतीति भावः ।

जं च दोसमयाणंतो, देहंजुओ निसेवई ।
निद्दोसवं केण हुज्जा, वियाणंतो तमायरं ॥ १७६ ॥

देहनुतो नाम गुणदोषपरिज्ञानविकलोऽशठभावः । सच दोषमजानानो निषेवते प्रतिसेवते तमेव दोषं विजानानः कोविदो गीतार्थ आचरन् समाचरन् केन हेतुना निर्दोषवान्, दोषस्याभावो निर्दोषं, तदस्यास्तीति निर्दोषवान्, भवेत्, नैव भवतीति भावः । तीव्रदुष्टाध्यवसायभावात् । न खलु जानानस्तीव्रदुष्टाध्यवसायमन्तरेण तथा प्रवर्त्तते ।

अत्रैव दृष्टान्तमभिधाय पुनर्दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

एमेव य तुल्लम्मि वि, अवराहपयम्मि वट्टिया दो वि ।
तत्थ वि जहाणुरूवं, दलंति दंडं दुवेण्ह पि ॥१७७॥

एवमेवानेनैव प्रकारेण,अनेनैव दृष्टान्तेनेति भावः। द्वावपि जनौ, आस्तामेक इत्यपिशब्दार्थः । तुल्येऽपि समानेऽप्यपराधपदे वर्त्तिनौ, तत्रापि तुल्येऽप्यपराधपदे द्वयोरपि तयोः यथाऽनुरूपं गीतार्थागीतार्थयतनासहननविशेषानुरूपं दण्डं, दलयन्ति प्रयच्छन्ति ।

तस्मात्प्रायश्चित्तभेदतः प्रायश्चित्तदानभेदतश्चाचार्याऽऽदिकास्त्रिविधो भेदः इह , तदेवमाचार्याऽऽदित्रिविधभेदसमर्थनायोक्तरूपदृष्टान्तवशतो गीतार्थाऽऽदिभेदतः आभवत्प्रायश्चित्तनानात्वं चोपदर्शितम् । इदानीमत एव दृष्टान्तादवस्थाभेदतो गीतार्थे एव केवले शोधिनानात्वमुपदर्शयति-

एमेव तु दिट्ठंतो, तिविहे गीयम्मि सोहिनाणत्तं ।
वत्थुसरिसो उ दंडो, दिज्जइ लोए वि पुव्वुत्तं ॥१७८॥

गीते गीतार्थे त्रिविधे त्रिप्रकारे बालतरुणवृद्धलक्षणे यत् शोधिनानात्वं तद्विषय एव एवानन्तरोदितस्वरूपो दृष्टान्तः । तथाहि-यथा कल्प्याकल्प्यविधिपरिज्ञानविकलोऽकल्पनीयमपि कल्पनीयमिति बुद्ध्या प्रतिसेवमानो न दोषवान् भवति । कोविदस्तु कल्प्याकल्प्यौ जानानोऽकल्पनीयं प्रतिसेवमानो दोषवान्। एवमिहापि तुल्ये प्रतिसेव्यमाने वस्तुनि तरुणे प्रभूतं प्रायश्चित्तं, समर्थत्वात् । बालवृद्धयोः स्तोकम,असमर्थत्वात् । न चैतदन्याय्यं, यतो लोकेऽपि वस्तुसदृशः पुरुषानुरूपो दण्डो दीयते । तथाहि-बाले वृद्धे च महत्यपि अपराधे करुणाऽऽस्पदत्वा-

त् स्तोको दण्डः, तरुणे महान् । एतच्च ( पुव्वुत्तमिति ) प्रागेवोक्तम्-" दोसविहवाणुरूवो ।" इत्यादिना, ततो न्याय्यमनन्तरोदितमिति ।

सम्प्रत्याचार्योपाध्यायभिक्षूणामेव चिकित्साविषये विधिनानात्वं दर्शयति-

तिविहे तेगिच्छम्मी, उज्जुयवाउलण साहणा चेव ।
पन्नवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोएहिं ॥ १७९ ॥

त्रिविधे त्रिप्रकारे आचार्योपाध्यायभिक्षुलक्षणे, विचिकित्स्यमाने, गीतार्थे इति गम्यते । ( उज्जुय त्ति ) ऋजु स्फुटमेव व्यापृतसाधुना व्यापृतक्रियाकथनं कर्त्तव्यम् । इयमत्र भावनाआचार्याणामुपाध्यायानां गीतार्थानां च भिक्षूणां चिकित्स्यमानानां यदि शुद्धं प्रासुकमेषणीयं लभ्यते, तदा समीचीनमेव, न तत्र विचारः । अथ प्रासुकमेषणीयं न लभ्यते, अवश्यं च चिकित्सा कर्त्तव्या, तदाऽशुद्धमप्यानीय दीयते,तथाभूते दीयमाने स्फुटमेव निवेद्यते-इदमेवंभूतमिति, तेषां गीतार्थत्वेनापरिणामदोषस्य चासम्भवात् । अगीतार्थभिक्षोः पुनः शुद्धालाभे चिकित्सामशुद्धेन कुर्वन्तो मुनिवृषभा यतनां कुर्वन्ति, न चाशुद्धं कथयन्ति । यदि पुनः कथयन्त्ययतनया कुर्वन्ति, तदा सोऽपि परिणामत्वादनिच्छन् यत् आगाढाऽऽदिपरितापनमनुभवति, तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमापद्यते तेषां मुनिवृषभाणाम् । यद्वाऽतिपरिणामतया सोऽतिप्रसङ्गं कुर्यात्तस्मान्न कथनीयं, नाप्ययतना कर्त्तव्या । अथ कथमपि तेनागीतार्थेन भिक्षुणा ज्ञातं भवेत्, यथा अकल्पिकमानीय मह्यं दीयते इति तदा तदनिच्छन् प्रज्ञाप्यते । तथा चाऽऽह-(पन्नवणमणिच्छंते इति ) अकल्पिकमनिच्छत्यगीतार्थे भिक्षौ प्रज्ञापना कर्त्तव्या। यथा ग्लानार्थं यदकल्पिकमपि यतनया सेव्यते तत्र शुद्धो, ग्लाने यतनया प्रवृत्तेरल्पीयान् दोषोऽशुद्धग्रहणात्, सोऽपि च पश्चात् प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यते, न चाऽसावल्पीयान् दोषो नाङ्गीकर्त्तव्यः, उत्तरकालं प्रचुरसंयमलाभात् । तथाहि-चिकित्साकरणतः प्रगुणीभूतः सन् परिपालयिष्यसि । चिरकालं संयमम् । संयमप्रभावतश्च कदाचिद्भूयते तद्भव एव मोक्षो यदि पुनः चिकित्सां न कारयिष्यसि ततस्तदकरणतो मृतः सन्नसंयतो भविष्यसि, असंयतस्य भूयान्कर्मबन्धस्तस्मादल्पेन बहून्वेषणामेतद्विद्वत्ताया लक्षणम् । उक्तं च-" अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणमिति । ' एवं प्रज्ञापना तरुणे क्रियते । यः पुनर्बालः स बालत्वात् यथाभणितं करोत्येव । यस्तु वृद्धस्तरुणो वाऽतिरोगग्रस्तोऽचिकित्सनीयः स प्रोत्साह्यते-महानुभाव ! कुरु भक्तप्रत्याख्यानं, साधय त्वं पूर्वमहर्षिरिवोत्तमार्थं तज्जिनवचनाधिगमफलमिति । यदि पुनरेवमुत्साह्यमानोऽपि न भक्तप्रत्याख्यानं कर्त्तुमिच्छति, तदा भण्डीपोताभ्यां दृष्टान्तः करणीयः । तत्र भण्डी गन्त्री, पोतः प्रवहणं, दृष्टान्तकरणं चाग्रे ग्रन्थकारः स्वयमेव दर्शयिष्यति । एष गाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवृणोति-

सुद्धाऽऽलंभेऽगीते, अजयणकरणकहणे भवे गुरुगा ।
कुज्जा व अतिपसंगं, असेवमाणे व असमाही ॥ १८० ॥

अगीते अगीतार्थे भिक्षौ शुद्धालाभे प्रासुकैषणीयालाभे, अशुद्धेन चिकित्स्यमाने यदि अयतना क्रियते, कथ्यते वा तदा

मुनिवृषभाणामयतनाकारिणां कथयतां प्रायश्चित्तं भवति गुरुकाश्चत्वारो मासगुरवः । इयमत्र भावना-यदि अयतना-करणतोऽकरणतो वा ज्ञात भवति-यथा ममाऽशुद्धेन चिकि-[illegible] निवृषभाणां चत्वारो गुरुका । एत-च्चासमाचारप्रवृत्तिनिषेधार्थं प्रायश्चित्तम् । या पुनरनिच्छतोऽसमाधिप्रवृत्तेरनागाढाऽऽदिपरितापनानिष्पन्नमन्यदेव पृथगिति। यदि वा सोऽतिपरिणामकत्वादनिप्रसङ्ग कुर्यात । अथवा-चिकित्सायाः प्रतिषेधतोऽकल्पनीयमसेवमाने रोगवृद्धिवशा-दसमाधिस्तस्य स्यात, असमाहितस्य च कुगतिप्रपातः, त-स्मात्तस्मिन् यतनया कर्त्तव्यम्, न च कथनीयमिति ।

साम्प्रत यदुक्त भण्डीपोताभ्यां दृष्टान्तः कर्त्तव्य इति, तत्र भ-ण्डीदृष्टान्तं भावयति-

जा एगदोसे अदढा उ भंडी,

सीलप्पए सा उ करेइ कज्जं ।

जा दुब्बला सठविया वि संती,

न तं तु सीलंति विसण्णदारुं ॥ १८१ ॥

या भण्डी गन्त्री, एकदेशे क्वचित् अदृढा, सा शीलाप्यते तस्याः परिशीलन कार्यते, तुशब्दो यस्मादर्थे, यत. सा तथा शीलिता सती करोति कार्यम् । या पुन स्तस्यापिना सती दुर्बला न कार्यकरणक्षमा, ता विषण्णदारु नैव, तुशब्द एव-कारार्थो भिन्नक्रमत्वादत्र सम्बध्यते । शीलयन्ति, कार्यक-रणाक्षमत्वात । एष भण्डीदृष्टान्त । एतदनुसारेण पोतदृष्टा-न्तोऽपि भावनीय. ।

तथा-

जो एगदोसे अदढो उ पोतो,

सीलप्पए सो उ करेइ कज्जं ।

जो दुब्बलो संठविओ वि संतो,

न तं तु सीलंति विसण्णदारुं ॥ १८२ ॥

दार्ष्टान्तिकयोजना त्वेवम्-यदि प्रभूतमायु सम्भाव्यते, प्रगु-णीकृतश्च देहः संयमव्यापारेषु समर्थ इति ज्ञायते, तदा चिरकालसंयमपरिज्ञापालनाय युक्ता चिकित्सा, अल्पेन बहु-तमन्वेषयेदिति वचनात् । यदा त्वायु संदिग्ध, न च प्र-गुणीकृतोऽपि देहः संयमव्यापारक्षमस्तदैव प्रज्ञापना नि-ष्फला चिकित्सेति, न चिकित्सा कारयितुमुचितेति ।

अन्यच्च-

संदेहियमारोग्गं, पउणो वि न पच्चलो उ जोगाणं ।

इइ सेवंतो दप्पं, वट्टइ न य सो तहा कज्जे ॥ १८३ ॥

सन्दिग्धमारोग्यम्, अतिरोगग्रस्तत्वात् । न च प्रगुणोऽपि प्रगुणी-कृतोऽपि योगाना संयमव्यापाराणां करणे प्रत्यल समर्थ इति जानानो यदि यतनयाऽप्यकल्प्य प्रतिसेवते, तदा स दर्पे वर्त्तते । न च स तथारूपो दर्पो गीतार्थेन करणीयः, दर्पि-कप्रतिसेवनाया दीर्घसंसारमूलत्वादिति प्रज्ञाप्यते ।

यदि पुनरेवमपि प्रज्ञाप्यमानो नावबुध्यते, तदा यतनया समा-धिमुत्पादयद्भिरुपेक्षितव्यम् । य. पुनस्तरुणो मनाक् वृद्धो वा प्रगुणीकृतः सन् तप.संयमाऽऽदिषु प्रत्यलो भवितेति ज्ञायते तदा त चिकित्सामप्रतिपद्यमान प्रत्येव ज्ञापना-

काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोविहाणेसु य उज्जमिस्सं ।

गणं व नीईइ य सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥ १८४ ॥

यो ग्लान. सन्नत्रमवबुध्यत. समर्थो भूत्वा सत्यांस्थिति प्रभूतलोकप्रव्राजनाऽऽदिना तीर्थाव्यवच्छेदं करिष्यामि ( अदु-वेति ) अथवा-अहमध्येष्ये सूत्रतोऽर्थतश्च द्वादशाङ्ग, दर्शन-प्रभावकाणि वा शास्त्राणि, यदि वा तपोलब्धिसमन्वितत्वात् तपोविधानेषु नानाप्रकारेषु ( उज्जमिस्सं ति ) उद्यंस्यामि उद्यम करिष्यामि । गण वा गच्छं वा नीत्या सूत्रोक्तया सारयिष्यामि गुणैः प्रवृद्ध करिष्यामि । स एव सालम्ब-सेवी एतैरनन्तरोदितैरालम्बनैर्यतनया चिकित्सार्थमकल्प्यमपि प्रतिसेवमान समुपैति प्राप्नोति मोक्ष सिद्धिमिति ॥ १८४ ॥

गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप । व्य० १ उ० १ प्रक० ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति । सूत्र चाऽनुगमे । स चानुगमो द्विधा-सूत्रानुगमो, निर्युक्त्यनुगमश्च । तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविध. । तद्यथा-निक्षे-पनिर्युक्त्यनुगमः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम , उपोद्घातनिर्यु-क्त्यनुगमस्तत्राद्यां द्वारगाथाभ्यां समवगन्तव्य. । तद्यथा-

उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत्तकालपुरिसे य ।

कारणपच्चयलक्खण-नए समोयारणाऽणुमए ॥ १ ॥

किं कइविहं कस्स कहिं, केसु कहिं केचिरं हवइ कालं ।

कइसंतरमविरहियं, भवागरिसफासणनिरुत्ती ॥ २ ॥

अनयोरर्थ आवश्यकटीकातोऽवसेय., महार्थत्वात् । सूत्रस्प-र्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रप्रवृत्तौ प्रवर्तत्र सत्सूत्रानुगमे, स चावस-रप्राप्त एव, युगपच्च सूत्राऽऽदयो व्रजन्ति । तथा चोक्तम्-" सु-त्त सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगकनो य निक्खेवो । सुत्तप्फासिय निज्जु-त्तिनया य समग तु वच्चति ॥ १ ॥

विषयविभाग पुनरयममीषामवसातव्य -

होइ कयत्थो वोत्तु, सपयच्छेय जवे सुयाणुगमो ।

सुत्तालावगनासो, नामादिन्नासविणिओग ॥१॥

सुत्तप्फासियनिज्जु-त्तिनिओगो सेसओ पयत्थादी ।

पाय सो च्चिय नेगम-नयाइनयगोयरो होइ ॥२ ।

अत्राऽऽक्षेपपरिहारौ सामायिकाध्ययने निरूपिताविति नेह वि-तायेते । सूत्रानुगमे त्वाऽस्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेद सूत्रम्-

जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचियं आ-लोएमाणस्स दोमासियं ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या-तल्लक्षण चेदम्-"संहिता च पद चैव, पदार्थः पदविग्रह । चालना प्रत्यवस्थान, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥ " तत्राऽस्खलितपदोच्चारण संहिता । सा चैवम्-" जे भिक्खू मासियं । " इत्यादि पाठ । अधुना पदानि-य भि-क्षुर्मासिक परिहारस्थान प्रतिसेव्य आलोचयेत् । अपरिकु-ञ्च्य आलोचयमानस्य मासिक, परिकुञ्च्य आलोचयमानस्य द्वैमासिकमिति ( १ ) । अधुना पदार्थ.-अस्मिन्प्रस्तावे यत्पी-ठिकायामुक्तम्-" सुत्तत्थो " इति द्वारम्, तदापतितम् । य इति सर्वनाम, अनिर्दिष्टनाम्ना निर्देश' । भिक्षाया याच्ञायाम्, यमनियमव्यवस्थित कृतकारितानुमोदितपरिहारेण भिक्षत इस्ये

क्षीणो भिक्षु ।"सनूभिक्षाऽऽशसेरुः"५॥२।३३। इति उप्रत्यय । यदि वा-नैरुक्ता च शब्दव्युत्पत्ति-क्षुध बुभुक्षायाम् । क्षुध्यति बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति चतुर्गतिकमपि संसारमस्मादिति सपक्षादित्वात् क्षुत्, अष्टप्रकार कर्म्म, त ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्भिनत्तीति भिक्षु । " पृषोदराऽऽदयः ' ॥३। २ । १५५ । इतीष्टरूपनिष्पत्ति । मासेन निर्वृत्त मासिकम् । " तेन निर्वृत्ते च" ॥६।४ ।७१॥ इतीकण् । परिह्रियते परित्यज्यते, गुरुमूल गत्वा यत् तत परिहारविषय। "अकर्त्तरि च कार०" ॥३। ३।१६॥(पा०) इति कर्माणि घञ्। तिष्ठन्ति जन्तव। कर्म्मकलुषिता अस्मिन्निति स्थानम् । "करणाऽऽधारे" ॥५ ।३।१२९॥ इत्यनट्। परिहार स्थान परिहारस्थानम् विशेषणसमासः । ( पडिसेविसेति ) प्रतिशब्दो भृशार्थे, प्रकर्षे वा । सेवित्वा प्रतिसेव्य । "गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः॥ ३ ।१ । ४२ ॥ " इति समास। "अनञत्क्त्वो यप् ॥ ३ । २। १५४ ॥ इति क्त्वो यबादेश । सूत्रे यव प्राकृतत्वात् । आलोचयेत् । लोचृ दर्शने । चुराऽऽदित्वात् णिच् । आङ् मर्यादायाम । आ मर्यादया " जह बालो जंपतो" इत्यादिरूपया आलोचयेत् । यथाऽऽत्मनस्तथा गुरो । प्रकटीकुर्यात् । यच्छब्दस्तच्छब्दापेक्षोऽतोऽत्र तस्येति सामर्थ्योदवसीयते । तस्य ( पलिउंचिय त्ति ) कुचु कुञ्चु कौटिल्याल्पीभावयो । परि सर्वतो भावे । परि समन्तात् कुञ्चित्वा कौटिल्यमाचर्य परिकुञ्च्य । सूत्रे 'रश्च ऋपिकादीनाम ॥" इति विकल्पवचनतो रेफस्य लकारभावः । न परिकुञ्च्य अपरिकुञ्च्य, अपरिकुञ्च्य आलोचयमानस्य मासिक लघुक गुरुक वा प्रतिसेवनानुसारत प्रायश्चित्त दद्यादिति शेषः । परिकुञ्च्य कौटिल्यमाचर्य आलोचयमानस्य द्वैमासिक दद्यात्, मायाकरणतोऽधिकस्य गुरुमासस्य भावात् । तथाहि-य प्रतिकुञ्चयन्नालोचयति तस्य यदापन्न तद्दीयते । अन्यश्च मायाप्रत्ययो गुरुको मास इति । उक्तः पदार्थ । अधुना पदविग्रहः-स च समासो भाष्यपदेषु भवतीति परिहारस्थानमित्यत्र परिकुञ्च्येत्यत्र च दर्शित । स च यथा भवति तथा दर्शित एव । सम्प्रति चालनाऽवसर । तत्र चोदक आह-यदि परिहार एव स्थान ततो द्वयोरप्येकार्थत्वात् परिहारशब्दस्यैव ग्रहणमुचितम् । परस्योक्तार्थत्वादप्रयोगः । 'उक्तार्थानामप्रयोग" इति न्यायात् । अत्राऽऽचार्य' प्रत्यवस्थान करोति-स्थानशब्दो नाम शब्दशक्तिस्वाभाव्यादनेकविशेषाऽऽधारसामान्याभिधायी । तेनैतद् ध्वनयति-अनेकप्रकाराणि नाम मासिकप्रायश्चित्तेनोपन्यस्तेन प्रयोजन कल्पाध्ययनोक्तम-कृतमासिकप्रायश्चित्तविषयदानाऽऽलोचनयोरभिधातुमुपक्रमात्, अतोऽत्र स्थानग्रहणम् । पुनरप्याह-किं कारण मासिक प्रायश्चित्तमधिकृत्याऽऽदिसूत्रोपनिबन्ध कृतः । अथ मत -जघन्यमिद प्रायश्चित्तमत एतदधिकृत्य कृतो, जघन्यमध्यमोत्कृष्टेषु प्रथमतो जघन्यस्याभिधातुमुचितत्वात् । तदसम्यक् । रात्रिन्दिव पञ्चकस्य जघन्यत्वात् ।

अत्र भाष्यकृत् प्रत्यवस्थानार्थमिदमाह-

दुहतो भिन्नपलंबे, मासियसोही उ वणिणया कप्पे ।
तस्स पुण इमं दाणं, भणियं आलोयणविही य ॥१॥

कल्पाध्ययने आदिसूत्रे-" आमे तालपलंब " इत्यादिरूपे प्रलम्बने प्रकर्षेण वृद्धि यानि वृत्तोऽस्मादिति प्रलम्ब मूलम्-"अकर्त्तरि-' ॥३॥३॥१६॥ इति (पा०) घञ्प्रत्यय । तस्मिन्, उपलक्षणमेतत्-तालो वृक्षस्तत्र भव तालम्-तालवृक्षफलम् । तस्मिन्नपि प्रायश्चित्तस्य दानविधिरालोचनाविधिश्च वक्तुमुपक्रान्तः, ततो यदादौ कल्पाध्ययने मासिक प्रायश्चित्तमुक्त, तस्य पुनः इत्यादि । पुनःशब्दो विशेषणे । स चेम विशेष द्योतयति-तत्र हि सामान्यत एव मासिक प्रायश्चित्तमुक्तम, न दानविधिरालोचनाविधिर्वेति । इह पुनर्व्यवहारे तस्य मासिकस्य प्रायश्चित्तस्यद दान भणितमालोचनाविधिश्च । न केवलमस्यैव मासिकस्य प्रायश्चित्तस्य, किं त्वन्येषामपि मासिकप्रायश्चित्तानां तत्रोक्तानां सामान्येन सूत्रस्य प्रवृत्तत्वात् ।

एमेव सेसएसु वि, सुत्तेसुं कप्पे नाम अज्झयणे ।
जहिँ मासियआवित्ती, तीसे दाणं इह भणियं ॥ २ ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण,कल्पे नाम्नि अध्ययने यानि शेषाणि सूत्राणि ' सपरिक्खेवे आवाहिरिए कप्पेइ हेमन्तगिम्हासु मासं वत्थए जइ मासकप्प भिंदइ मासलहु । एव निग्गंथीण वि तहा । " अत्र ( सपरिक्खेवे इति ) सपरिक्षेपेऽपि वृतिवरण्डकाऽऽदिसमन्विते अबाह्ये ग्रामस्यात्यन्तमबहिर्भूते, उपाश्रये इति गम्यते । ( वत्थए इति ) वस्तुम् । शेष सुगमम् । तथा " अभिनिव्वगडाए वइए नगे मासलहु ।" अत्र " अभिनिव्वगडाए" इति । अभिनिर्व्याकृतायां पृथग्विविक्तद्वारायां वसताविल्यर्थ । एव शेषाण्यपि सूत्राण्युच्चारणीयानि । तेषु शेषेष्वपि सूत्रेषु ( जहिं ति ) अगृहीतवीप्सोऽप्येषशब्दः सामर्थ्यात् वीप्सां गमयति, शेषसूत्राणामतिप्रभूतत्वात् । ततोऽयमर्थ - यत्र यत्र मासिकी आपत्तिरुक्ता ( तीसे इति ) अत्राऽपि वीप्सार्थो द्रष्टव्य, तच्छब्दस्य यच्छब्दापेक्षत्वात् । तस्यास्तस्या इह आदिसूत्रे दान भणितमुपलक्षणमेतत्-आलोचनाविधिश्च ।

छट्ठे अपच्छिमसुत्ते, जिणथेराणं ठिई समक्खाया ।
तहियं पि होइ मासो, अमेरतो सो उ निप्फन्नो ॥३॥

षष्ठे षष्ठोद्देशके, अपश्चिमसूत्रे जिनाना जिनकल्पिकानां, स्थविराणां च स्थितिः समाख्याता । तत्राऽपि यदि जिनानां स्थविराणा च स्वकल्पस्थित्यनुरूपसामाचार्यतिक्रम , ततो भवति मासो मासलघु प्रायश्चित्तम । तथा चाऽऽह-( अमेरओ सो उ निप्फन्नो ) स पुनर्मासो मर्यादाऽतिक्रमतः स्वस्वकल्पस्थित्यनुरूपा सामाचार्यतिक्रमत इत्यर्थः । निष्पन्नस्तस्याऽप्यस्मिन्नादिसूत्रे दानमालोचनाविधिश्चोक्त । अतोऽर्थं मासिक प्रायश्चित्तमधिकृत्याऽऽदिसूत्रोपनिबन्ध कृतः । एष सूत्रार्थ : ॥ १ ॥

अधुना निर्युक्तिकृतविस्तर वक्तुकाम आह-

जे त्ति व से त्ति व के त्ति व, निद्देसा होंति एवमादीया ।
भिक्खुस्स परूवणया, जे त्ति कए होइ निद्देसो ॥४॥

' जे इति वा ' ' से इति वा ' कियन्तो नामग्राहं दर्शयितु शक्यन्ते । तत आह-एवमादिका । आदिशब्दात् "एगे" इत्यादिपरिग्रहाद् निर्देशा भवन्ति, सामान्यार्थे इति गम्यते । तत्र ये इति निर्देशो यथा अत्रैव सूत्रे । अत्रैव-" जे ण भंते ! एए समतवण अभत्तद्वाणेण अब्भत्तद्वाड्ढा ।" इत्यादि "से" इति निर्देशो यथा-" से गामंसि वा नगरंसि वा ।" इत्यादि । 'के' इति यथ. -"के आगच्छइ दित्तरूवे ।" इत्यादि । सामान्यं च

विशेष निर्दिशन्तो "जे" इति निर्देशे कृते भिक्षोर्भवति निर्देशो, यो भिक्षुर्मर्त्य इति तस्य च भिक्षोस्तथा निर्दिष्टस्य प्ररूपणा नामाऽऽदिनिक्षेपरूपा कर्त्तव्या। व्य० १ उ०२ प्रक०। नि०चू०। (भिक्षुमासस्थानप्रतिसेवनाऽऽलोचनानां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

(६) अथ कस्य समीपे आलोचना दातव्या। उच्यते-आगमव्यवहारिण, श्रुतव्यवहारिणो वा ?। तथा चाऽऽह-

आगमसुयववहारी, आगमतो छव्विहो उ ववहारी।
केवलिमणोहिचोद्दस-दसनवपुव्वीउ नायव्वा ॥१३५॥

"आगमसुयववहारि त्ति" व्यवहारिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। आलोचनार्हो द्विविधः। तद्यथा-आगमव्यवहारी, श्रुतव्यवहारी च। तत्राऽऽगमतो व्यवहारी षड्विधः। तद्यथा-केवली, केवलज्ञानी। (मणोहि त्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मनःपर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी। (चोद्दसदसनवपुव्वी इति) पूर्विशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी च। ज्ञातव्या एते चाऽऽगमव्यवहारिणः प्रत्यक्षज्ञानिन उच्यन्ते, चतुर्दशाऽऽदिपूर्वबलसमुत्थस्याऽपि ज्ञानस्य प्रत्यक्षतुल्यत्वात्। तथाहि-येन यथा योऽतिचारः कृतस्तं तथा सर्वमेते जानन्तीति।

पम्हुट्ठे पडिसारण, अप्पडिवज्जंतयं न खलु सारे।
जइ पडिवज्जइ सारे, दुविहऽतियारं पि पच्चक्खी ॥१३६॥

प्रत्यक्षी प्रत्यक्षज्ञानी, आगमव्यवहारीत्यर्थः। द्विविधमपि मूलगुणविषयमुत्तरगुणविषयं वाऽतिचारमालोचनीयम्। (पम्हुट्ठे त्ति) विस्मृतं भवति। ततस्तस्मिन्विस्मृते प्रतिसारणं करोति। यथाऽमुकं तवाऽऽलोचनीयं विस्मृतमिति तदप्यालोचयति। केवलं यदि केवलज्ञानाऽऽदिचक्षुषैतत् जानाति तदैष भणितः सन् ऋजुभावत्वात् सम्यक् प्रतिपद्यते। "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा।" इति वचनतो भविष्यति वर्तमानविधानात् प्रतिपत्स्यते इति तदा स्मारयति। यदि पुनरेतदवगच्छति-यथैष भणितोऽपि सन् न सम्यग् प्रतिपत्स्यते इति, तदा तमप्रतिपत्स्यमानं न खलु नैव स्मारयति, निष्फलत्वात्। अमूढलक्ष्यो हि भगवानागमव्यवहारी। अत एव दत्तायामप्यालोचनायां यत्राऽऽलोचकः सम्यगावृत्तो ज्ञानस्ततस्तस्मै प्रायश्चित्तं प्रयच्छति। अथ न प्रत्यावृत्तस्ततो न प्रयच्छतीति श्रुतव्यवहारिणः।

आऽऽह-

कप्पपकप्पी उ सुए, आलोयावेंति ते उ तिक्खुत्तो।
सरिसत्थमपलिउंची, विसरिसपरिणामतो कुंची ॥१३७॥

कल्पग्रहणेन दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहारा गृहीताः। प्रकल्पग्रहणेन निशीथः। कल्पश्च प्रकल्पश्च कल्पप्रकल्पम्। तदेषामस्तीति कल्पप्रकल्पिनः। दशाकल्पव्यवहाराऽऽदिसूत्रार्थधराः। तुशब्दत्वाद् महाकल्पश्रुतमहाकल्पनिशीथनिर्युक्तिपीठिकाधराश्च। श्रुतव्यवहारिणः प्रोच्यन्ते। तथाऽऽलोचकं त्रि कृत्वस्त्रीन् वारान् आलोचयन्ति। ते ह्येकं द्वौ वारान्वाऽऽलोचिते-अनेन प्रतिकुञ्चनयाऽऽलोचितमप्रतिकुञ्चनया वेति विशेषं न बुध्यन्ते। ततस्त्रीन् वारान् आलोचापयन्ति। कथमिति चेत् ?, उच्यते-प्रथमवेलायां निद्रायमाण इव शृणोति। ततो ब्रूते-निद्रायमाणो नाहमश्रौषं, ततः भूयोऽप्यालोचय। द्वितीयवारमालोचिते भणति-न सुष्ठु मयाऽवधारितमनुपयोगभावात्, अतः पुनरप्यालोचय। एवं त्रिष्वपि वारेषु यदि सदृशार्थमालोचितं ततो ज्ञातव्यमेषोऽप्रतिकुञ्ची अमायावी। अथ विसदृशं तर्हि ज्ञातव्यमेष परिणामतः कुञ्ची कुटिलो मायावी। अथैकं द्वौ वा वारानालोचनादापनेन मायावी अमायावी वा किं नोपलक्ष्यते, येन त्रीन्वारानित्युक्तम् ?। उच्यते-उपलक्ष्यते परं स्फुटतरोपलब्धिनिमित्तं त्रीन् वारानालोचाप्यते। तस्याऽपि च प्रत्ययो भवति-यथाऽहं विसदृशभणनेन मायावी लक्षितः, ततो मायानिष्पन्नं मासगुरु प्रायश्चित्तं पूर्वं दातव्यम्, तदनन्तरमपराधनिमित्तं प्रायश्चित्तमिति।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

तिन्नि उ वारा जह द-डियस्स पलिउंचियम्मि अस्सुवमा।
सुद्धस्स होइ मासो, पलिउंचिऽतं चिय वऽसुं ॥१३८॥

दण्डिको नाम करणपतिः, तस्य यथा अपन्यायपीडितं कारणमुपस्थितं किं मायाव्येषोऽमायावी चेति परिज्ञानाय त्रीन्वारानपन्यायमुच्चारयितुमभियोगः। एवं श्रुतव्यवहारिणोऽपि अतीचारशल्यपीडितं प्रायश्चित्तव्यवहारार्थमुपस्थितमेष प्रतिकुञ्चनापरो, न वेति परिज्ञानार्थं त्रीन्वारानुच्चारयितुं संरम्भः। ततो यदा श्रुतव्यवहारिभिस्त्रिकृत्व आलोचनाप्रदापनेनाऽऽगमव्यवहारिभिः प्रथमवेलायामप्यागमबलेन तस्य प्रतिकुञ्चितं कौटिल्यज्ञानं भवति, तदा तस्मिन् प्रतिकुञ्चिते ज्ञातेऽश्वोपमा अश्वदृष्टान्तः क्रियते। यथा आचार्य ! (?) शृणु तावदिदमुदाहरणम्-" जहा कस्सइ रन्नो एगो अस्सो सव्वलक्खणसजुत्तो धावणपवणसमत्थो, तस्स आसस्स गुणेण अजेयो सो राया सव्वे सामतराइणो आज्ञापयति। ताहे सामतराइणो अप्पप्पणो सभासु भणति-नऽत्थि कोइ एरिसे पुरिसो जो तं हरित्ता आणेइ। सव्वेहिं भणियं सो पुरिसपञ्जरत्थो चिट्ठइ। तत्थ नो परतो सक्को हरिउं। एगस्स रण्णो एगेण पुरिसेण भणियं-जइ सो मारेयव्वो तो मारेमि। ताहे रन्ना भणियं मा अम्ह तस्स वा भवउ वाहरत्ति। ततो सो तत्थ गओ। पच्छन्नपदेसट्ठिएण अहण्णाया इषीकाया अग्रभागे क्षुद्रकण्टकं प्रोतं कृत्वा धिक्करुयधणुएण मिल्लेइ, तेण आसो विद्धो, इषीका अश्वमाहत्य पतिता रिङ्गिणिकाकण्टकोऽश्वशरीरेऽनुप्रविष्टः। ततोऽसौ आसो तेण अव्वत्तसल्लेण परिहायइ पजूयगणजोग्गास्सणमवि चरतो। नता विज्जस्स अक्खातो। वेज्जेण परिचिंतिऊण भणियं-नत्थि अण्णो कोइ रोगो, अवस्समव्वत्तो कोइ सल्लो। ताहे वेज्जेण सो आसो जमगसमगपुरिसेहिं चिक्खल्लेण आलिंपावितो। ततो जत्थ पढमं सुक्कं दिट्ठं, तत्थ फालेत्ता अवणीतो सो क्षुद्रकण्टकः। सल्लो। जहा सो अस्सो ससल्लो न सक्केइ सामतरायाणो जिणिउं, एवं साधुरपि। तस्य प्रतिकुञ्चितं ज्ञानं भवति तदा तस्याऽऽलोचितं अश्वदृष्टान्तः क्रियते, स्वभावत एवास्य सम्यगालोचकत्वात्। तस्य तु शुद्धस्य मासिकं परिहारस्थानं प्राप्तस्य प्रायश्चित्तं भवति मासः। इतरस्य तु कृतप्रतिकुञ्चितस्य तदापन्नं मासिकं प्रायश्चित्तमिदं चान्यद् मायानिष्पन्नं मासगुरु। इति गाथार्थः।

सम्प्रति यदुक्तम् " जह दण्डियस्स " इति तद्भावयति-

अत्थुप्पत्ती असरिस-निवेयणे दंडो पच्छ ववहारो।
इय लोउत्तरियम्मि वि, कुंचियभावं तु दंडेति ॥१३९॥

उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्ति, अर्थस्योत्पत्तिर्व्यवहार उच्यते, तस्यामर्थोत्पत्तौ। करणव्यवहारे असदृशनिवेदने दण्डः । इय-मत्र भावना-यथा कोऽपि पुरुषोऽपन्यायपीडितो राजकर-णमुपस्थितो निवेदयति-अह देवदत्तेनाऽन्यायेन पीडित । ततः कारणिकाः पृच्छन्ति-कथमन्यायः सवृत्तः। सोऽकथ-यत् कथिते करणः प्रतिश्रुते, पुनः कथय । ततो भूय कथयति । ततः पुनरपि श्रुते भूयोऽपि कथय । तत्र यदि तिसृष्वपि वेलासु सदृश वक्ति ततो ज्ञायते-यथा अनेन यथावस्थितः सद्भावः कथितः । अथ विसदृश, ततो जानाति करणपति, एष प्रतिकुञ्च्य कथयति, ततः स निर्भर्त्सयति-किमिति राजकुलेऽपि समागतस्त्व मृषा वदसीति पूर्व मायामृषाप्रत्ययं दण्ड ते ( पच्छ ववहारो इति ) पश्चाद् व्यवहार कार्यते। व्यवहारेऽपि यदि परो जितो भवति ततो द्वितीयवेल दण्ड्यते । एष दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-( इय इत्यादि ) एवमुक्तप्रकारेण लोको-त्तरेऽपि वारत्रयमालोचनादापनेन यदि कुञ्चितो भावो ज्ञातो भवति । ततस्त कुञ्चितभाव कुटिलभाव ज्ञात्वा पूर्वमा-चार्यो निर्भर्त्सयति-किमित्यालोचनायामुपस्थितो मृषा वद-सि? । ततः ( दंडेइ त्ति ) प्रथमतो मायानिष्पन्नेन मासगुरु प्रायश्चित्तेन दण्डयति, पश्चाद् यदापन्न मासिक, तेन द्वि तीयवेल दण्डयति ।

अथ वारत्रयमालोचनादापनेऽपि कथ श्रुतव्यवहा-रिणो मायामन्तर्गतां लक्षयन्ति । तत आह-

**आगारेहिं सरेहि य, पुव्वावरवाहयाहि य गिराहिं ।**
**नाउं कुंचियभावं, परोक्खनाणी ववहरंति ॥ १४० ॥**

आकारा शरीरगता भावविशेषा, तत्र य. शुद्धस्तस्य स-वेऽप्याकारा. सविग्नभावोपदर्शका भवन्ति, इतरस्य तु न तादृशा. । स्वरा अप्यालोचयत शुद्धस्य व्यक्ता विस्पष्टा अक्षु-भिताश्च निस्सरन्ति, इतरस्य त्वव्यक्ता अस्पष्टा क्षुभित-गद्गदाश्च । तथा शुद्धवाणी पूर्वापराऽव्याहता, इतरस्य तु पूर्वा-परविसवादिनी । तत एवं परोक्षज्ञानिन श्रुतव्यवहारिण आ-कारै स्वरै पूर्वापराव्याहता गिरश्च गीर्भिस्तस्याऽऽलोचकस्य कुञ्चितभाव कुटिलभाव ज्ञात्वा तथा व्यवहरन्ति, पूर्वं माया-प्रत्ययेन प्रायश्चित्तदण्डेन दण्डयन्ति, पश्चादपराधप्रत्ययेन मायारहितदण्डेनेति भाव ।

द्वैमासिक प्रायश्चित्तम्-

**जे भिक्खू दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलो-एज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलि-उंचियं आलोएमाणस्स तिमासियं ॥ २ ॥**

यो भिक्षुर्द्वाभ्यां मासाभ्यां निर्वृत्त द्वैमासिक परिहारस्थान प्रतिसेव्य आलोचयति, तस्याप्रतिकुञ्च्य मायामकृत्वा आ-लोचयतो द्वैमासिकं प्रायश्चित्त, शुद्धत्वात् । प्रतिकुञ्च्याऽऽलो-चयतस्त्रैमासिकम्, प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नस्य गुरुमासस्य प्रक्षेपात् । द्वैमासिकं परिहारस्थानमापन्नस्य प्रतिकुञ्चकस्य दृष्टान्त । कुञ्चिको नाम तापस । तद्यथा-"कुंचिगो तावसो, सो फलाण सहाए अरण्णं गतो, तेण नदीए सय मतो मच्छो दिट्ठो । तेण अप्पसागारिए पइत्ता खइतो, तस्स तेण अणुचियाहारेण अजीरन्तेण गेलण्ण जाय, तेण विज्जो पुच्छिओ । वेज्जो पुच्छइ-किं ते खइयं, जतो रोगो उप्पन्नो ? । तावसो भणइ-फ-



लाइं मोत्तु अन्न न किंचि खइय । वेज्जो भणइ-कदाइ हिं ते निकिरिसिय सरीर, तो थय पिवाहि । तेण पीय सुट्ठयर । गिलाणीभूतो पुणो पुच्छितो विज्जो । तेण भणियं-सम्म कहेहि । कहियं-मच्छो मे खइतो । ततो विज्जेण ससोहणवमणविरेयण-किरियाहिं लट्ठीकओ । इमो उवणओ । जो पलिउंचइ तस्स पच्छित्तकिरिया न सक्कइ गुण काउ सम्मं । पुण इयरे रोग आ-लोयतस्स सक्कइ । "

त्रैमासिकम्-

**जे भिक्खू तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आ-लोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चउमासियं ॥ ३ ॥**

( जे भिक्खू तेमासिय परिहारट्ठाणमित्यादि ) अत्र व्या-ख्या पूर्ववत् नवर त्रैमासिकमिति त्रिभिर्मासैर्निर्वृत्त त्रै-मासिकम् । शेषं तथैव । केवल त्रयो मासा अवस्थिता., अन्यो मायाप्रत्ययनिष्पन्नश्चतुर्थो मासो गुरुर्दीयते इति चातुर्मा-सिकम् । अत्र प्रतिकुञ्चिकस्य दृष्टान्त । तद्यथा-" दो राया-णो सगामं सगामेंति । तत्थ एगस्स रण्णो एगो मणूसो सुरत्तण-ण अतीव वल्लभो, सो बहुहिं सल्लेहिं सल्लितो । ते तस्स सल्ले वेज्जो अवणेइ, अवणिज्जमाणेहिं य सल्लेहिं सोऽतीव दुक्खाविज्जइ । तओ एक्कम्मि अंगे सल्लो विज्जमाणो वि दुक्खाविज्जामि त्ति वेज्जस्स न कहितो । ताहे सो तेण सल्लेण विघट्टमाणेण वत्त न गेण्हइ, दुब्बलो भवति । पुणो तेण पुच्छमाणेण नि-ब्बन्धे कहियं । नीणितो सल्लो, पच्छा बलव जातो । ' अत्राप्यु-पनय. प्राग्वत् ।

चातुर्मासिकम्-

**जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासिय, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥ ४ ॥**

अस्य व्याख्या प्राग्वत्, नवर प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नः पञ्चमो गुरुमासोऽधिको दीयते इति पाञ्चमासिकम् । अत्र प्रति-कुञ्चके दृष्टान्तो मालाकारः-"दो मालागारा, कोमुईवारो आस-ण्णीभूतो त्ति पुप्फाणि बहूणि आरामातो उच्चिणित्ता वी-हीए कड्डेऊण एगेण पागडाणि कयाणि । बीएण न पाग-डाणि कयाणि । जेण पागडाणि कयाणि तेण बहुलाभो लद्धो, जेण न पागडाणि कयाणि तस्स न कोइ कयगो अल्लीणो, तेण न लद्धो लाभो । एवं जो मूलगुणावराहे, उत्तरगुणावराहे य न पगडेइ सो निव्वाणलाभ न लहइ । "

पाञ्चमासिक पाण्मासिक च-

**जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलो-एज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलि-उंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥**

( जे भिक्खू पंचमासिय परिहारट्ठाणमित्यादि ) इदमपि तथैव नानात्वमिदम् प्रतिकुञ्चनायां षष्ठो गुरुमासोऽधिको दी-यते इति षाण्मासिकम् । अत्र प्रतिकुञ्चके मेघदृष्टान्त । यथा-"मेघो गज्जिता नामेगे नो वासित्ता । एव तुमं पि आयोएमि त्ति गज्जित्ता निज्जिस काउ आलोएउम दुरं, पडिसेवेमि मा दि-ट्ठ मि त्ति मद हि, सम्म आलोएहि । "

एतानेव दृष्टान्तान् गाथापूर्वार्द्धेन भाष्यकृदाह-

कुंचिए जोहे मालागारे मेहे पलिउंचिए तिगट्ठाणा (१४१)

द्वैमासिकाऽऽदिपरिहारस्थानेषु प्रतिकुञ्चितेषु यथाक्रममिमे कुञ्चिकाऽऽदयो दृष्टान्ताः । तद्यथा-द्वैमासिक परिहारस्थानमापन्नस्य प्रतिकुञ्चकस्य दृष्टान्त कुञ्चिकतापस । त्रैमासिक परिहारस्थानमापन्नस्य योधः । चतुर्मासिक परिहारस्थानमापन्नस्य मालाकारः । पाञ्चमासिक परिहारस्थानमापन्नस्य मेघः । ( पलिउंचिए त्ति ) प्रतिकुञ्चनाया कृतायामाचार्येण सम्यगालोचय मा प्रतिकुञ्चय मा प्रतिकुञ्चनां कार्षीरित्युपालब्ध स सम्यक् प्रत्यावर्त्तते- भगवन्मिथ्या मे दुष्कृत, सती चोदना सम्यगालोचयामीति । तत स श्रुतव्यवहारी प्रतिकुञ्चिते कृते त तथाप्रत्यावृत्त सन्त पुनरपि त्रीन्वारान् आलोचापयति । तत्र यदि त्रिभिरपि वारैः सदृशमालोचयति ततो ज्ञातव्यो, यथा-सम्यगेष प्रत्यावृत्त इति । तदनन्तर च यद्देय प्रायश्चित्त तद्दातव्यमिति । अथ विसदृशमालोचयति, ततो भणति-अन्यत्र त्व शोधिं कुरु, नाह तव शक्नोम्येतादृश्या आलोचनाया. सद्भावमजानान. शोधिं कर्तुमिति । अथवा शिष्य पृच्छति-भगवन् ! एतानि मासाऽऽदीनि षण्मासपर्यन्तानि परिहारस्थानानि कुत. प्राप्नोति ? सूरिराह-(तिगट्ठाणा) त्रस्माऽऽद्विविक्करूपात् स्थानात् । किमुक्त भवति ? उद्गमोत्पादनैषणासु यत् अकल्प्यप्रतिसेवनया अनाचारकरण तस्मादेतानि प्राप्नोति ।

साम्प्रत षाण्मासिक परिहारस्थानसूत्रमाह-

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ ५ ॥

( तेण पर पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ) तेनेत्यव्यय तत इत्यर्थे । तत पाञ्चमासिकात् परिहारस्थानात् परमित्येतदव्यय सप्तम्यर्थप्रधानम्, परस्मिन् षाण्मासिके परिहारस्थाने प्रतिसेविते आलोचनाकाले प्रतिकुञ्चिते, प्रतिकुञ्चनया वा आलोचिते इत्यर्थ । ते एव प्रतिसेवनानिष्पन्ना स्थिता. षण्मासा , नाधिक प्रतिकुञ्चनानिमित्तमारोपणम् । कस्मादिति चेत् ? । उच्यते-इह जीतकल्पोऽयम्-यस्य तीर्थकरस्य यावत्प्रमाणमुत्कृष्ट तप करणं तस्य तीर्थे तावदेव शेषसाधूनामुत्कृष्ट प्रायश्चित्तदानम् । चरमतीर्थकरस्य तु भगवतो वर्द्धमानस्वामिन उत्कृष्ट तप षाण्मासिक, ततोऽस्य तीर्थे सर्वोत्कृष्टमपि प्रायश्चित्तदान षण्मासा एवेति षाण्मासिक परिहारस्थान प्रतिसेव्य प्रतिकुञ्चनयाऽप्यालोचयतो नाधिकमारोपणमतस्त एव षण्मासा स्थिता उक्ता ।

बहुमासिकम्-

जे भिक्खू बहुसो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ ६ ॥

यो भिक्षुर्बहुशोऽपि त्रिप्रभृतिवारानपि; अन्नामेकं, द्वौ वा वारावित्यपिशब्दार्थः । मासिक परिहारस्थान प्रतिसेव्य आलोचयेत्, तस्याप्रतिकुञ्च्याऽऽलोचयतो मासिकमेक प्रायश्चित्तम् । प्रतिकुञ्च्यालोचनानिष्पन्नो गुरुमासो दीयते इति द्वैमासिकम् । इयमत्र भावना-केनापि गीतार्थेन कारणे अयतनया त्रीन्वारान्बहून्वा वा वार न् मासिक परिहारस्थान प्रतिसेवितम्, आलोचनाकाले चाऽप्रतिकुञ्चनयाऽऽलोचित, तस्मै एकमेव मासिक प्रायश्चित्त दीयते. न तु यावतो वारान् प्रतिसेवना मासिकस्य कृतवान् तावन्ति मासिकानीति, कारणे प्रतिसेवनाया कृतत्वात् । अथ प्रतिकुञ्चनयाऽऽलोचनयति ततो द्वितीयो मासो मायानिष्पन्नो गुरुर्दीयते इति द्वैमासिकम् । एव शेषाण्यपि द्वैमासिकाऽऽदिविषयाणि चत्वारि सूत्राणि भावनीयानि । नवर द्वैमासिकसूत्रे तृतीयो मायानिष्पन्नो गुरुमासो दयिते इति त्रैमासिकम् । त्रैमासिकसूत्रे चतुर्थो मायानिष्पन्नो मास इति चातुर्मासिकम् । चातुर्मासिकसूत्रे पञ्चमो मायाप्रत्यय इति पाञ्चमासिकम् । पाञ्चमासिकसूत्रे षष्ठो मायानिष्पन्नो गुरुमास इति षाण्मासिकम् । तत पर षाण्मासिके परिहारस्थाने आलोचनाकाले प्रतिकुञ्चनाया वा त एव स्थिताः षण्मासा इति ।

अमीषां पञ्चानामपि सूत्राणां सूचकमिद गाथायाः पश्चार्द्धम्-

पंच गमा नेयव्वा, बहुहिं उक्खडमड्डाहिं वा ॥१४२॥

पञ्च गमा' सूत्रप्रकारा ज्ञातव्या. । कथमित्याह-( बहुहिं इत्यादि ) " उक्खडमड्डा " इति देशीपदमेतत् पुनः पुन शब्दार्थे द्रष्टव्यम् । उक्त च-"उक्खडमड्ड त्ति वा भुज्जो भुज्जो वा पुणो पुणो त्ति वा एगट्ठ ।" पुन पुनः शब्दार्थश्च वार वार बहुभिर्वारैर्विशेषिता बहुश इति; बहु इति पदविशेषिता इत्यर्थः ।

अत्र चोदक आह-

बहुएसु एगदाणे, रागो एक्केक्कदाणे दोसो उ ।
एवमगीते चोयग !, गीयम्मि य अजतसेविम्मि ॥१४३॥

ननु यूय न मध्यस्था ,रागद्वेषकरणात् । तथाहि-बहुशः प्रतिसेवितेष्वेतेषु पञ्चसु सूत्रेषु मासिकेषु परिहारस्थानेषु बहुश' शब्दविशेषितेष्वपि एकमेव मास प्रयच्छथ, द्वैमासिकेषु परिहारस्थानेषु बहुश प्रतिसेवितेष्वप्येक द्वैमासिकम्, त्रैमासिकेषु परिहारस्थानेषु बहुश. प्रतिसेवितेष्वप्येक त्रैमासिकम्, चातुर्मासिकेषु परिहारस्थानेषु बहुश. प्रतिसेवितेष्वेक चातुर्मासिकम्, पाञ्चमासिकेषु परिहारस्थानेषु बहुश प्रतिसेवितेषु एक पाञ्चमासिकम् । एव बहुकेषु बहुश प्रतिसेवितेषु मासादिषु परिहारस्थानेष्वेकदाने एकैकमसंख्याकस्य मासिकाऽऽदेर्दानीयेषु एकैक प्रयच्छथ तेषु राग । आद्येषु पञ्चसु सूत्रेषु एकैकदाने एकैकवार यत प्रतिसेवित मासिकाऽऽदि तस्य परिपूर्णस्य दानेष्वेव प्रयच्छथ तेषु विषये द्वेष एव । तुशब्द एवकारार्थ । न च रागद्वेषवन्त परेषा शोधिमुत्पादयितुं क्षमा , सम्यक् प्रायश्चित्तदानविधेरकरणादिति । अत्र सूरिराह ( एवमित्यादि ) अहो चोदक ! एवमाद्येषु पञ्चसु सूत्रेषु यावन्मात्र प्रतिसेवित तावन्मात्रस्य परिपूर्णस्य दानमगीते अगीतार्थे प्रतिसेवके । यत्पुनर्बहुशःशब्दविशेषितेषु पञ्चसु सूत्रेषु बहुश प्रतिसेवितेष्वपि मासिकाऽऽदिषु स्थानेष्वेकैकसंख्याकस्य मासिकाऽऽदेर्दान तत् गीते गीतार्थे अयतसेविनि अयतनया प्रतिसेवके । ततो गीतार्थागीतार्थभेदेन प्रतिसेवकस्य भेदादित्थ प्रायश्चित्तविधानमित्यदोष ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

जो जत्तिएण रोगो, पसमइ तं देइ भेसजं विज्जो ।

एवाऽऽगमसुयनाणी, सुज्झइ जेणं तयं देंति ॥ १४३ ॥

यो रोगो यस्मिन्पुरुषेऽल्पो महान् वा पुरुषप्रकृतिमपेक्ष्य यावन्मात्रेण प्रशाम्यति तस्य पुरुषस्य तत् तावन्मात्र भेषज वैद्यः प्रयच्छति नाऽधिकम्; एवममुना दृष्टान्तप्रकारेण, मकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् । (आगमसुयनाणी ति) ज्ञानिशब्दः प्रत्येकमभिसबध्यते । आगमज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च गीतार्थोऽगीतार्थश्च येन यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तेन परिणामवशात् शुध्यति तस्मै तत् तावत्प्रमाण प्रायश्चित्त ददति,ततो यथौचित्यप्रवृत्तेर्न रागद्वेषवत्तेति न काचित् क्षति ।

सम्प्रतिवक्ष्यमाणार्थसूचिकामिमां सग्रहणिगाथामाह-

सुत्त चोयग मा गद्द-भत्ति कोट्ठारतिय दुवे य खलुगा । अद्धाणसेविएम्मी, सव्वेसिं घेत्तुणं दिन्नं ॥ १४४ ॥

प्रथमत. प्रमाणत्वेन सूत्रमुपन्यसनीयम्, ततश्चोदकवचन मुत्क्षिप्य मा इति प्रतिषेधो वक्तव्य., तदनन्तरं गर्दभदृष्टान्त., तत.ऽध्वनि सेविते अनेकवार मासिके परिहारस्थाने तेषां सर्वेषां समविषमतया दिवसान् गृहीत्वा दत्तमेक मासिक प्रायश्चित्तमित्युक्ते चोदकवचनमुत्क्षिप्य कोष्ठागारत्रय दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तव्यम्,तदनन्तर च भूयः परवचनमाशङ्क्य द्वौ खल्वाटौ दृष्टान्तौ करणीयाविति गाथाऽक्षरयोजना ।

भावार्थं तु स्वयमेव भाष्यकृद्वक्ष्यति । तत्र-" सुत्त चोयग मा " इत्येतद् व्याख्यानयन्नाह-

अवि य हु सुत्ते भणियं, सुत्तं विसमं ति मा भणसु एवं । संभवइ न सो हेऊ, अत्ता जेणालियं बूया ॥ १४५ ॥

अपि चेति रागद्वेषवत्ताभावहेत्वन्तरसमुच्चयने, आस्तां गीतार्थाऽगीतार्थभेदेन यथौचित्यप्रायश्चित्तदानतो न वय रागद्वेषवन्तः, अपि च अन्यच्च सूत्रमेवविधेष्वर्थेषु प्रमाण, सूत्रे वह्नु निश्चित्त विषमास्वपि प्रतिसेवनासु तुल्य प्रायश्चित्त भणित, ततो न कश्चिद् दोष । एतावता सूत्रमिति व्याख्यातम् । तत्र चोदक आह-ननु सूत्रमेव विषम न समीचीन, परस्परविरुद्धत्वात् । तथा ह्यादिमेषु पञ्चसु सूत्रेषु यावत् प्रतिसेवित तावतः परिपूर्णस्य दानम्, उत्तरेषु तु पञ्चसु सूत्रेषु बहुश प्रतिसेवितेष्वपि मासिकाऽऽदिष्वेकैकसख्याकस्य मासिकाऽऽदेर्दान, न च विषमासु प्रतिसेवनासु सम प्रायश्चित्त दातुमुचितमिति । एतावता चोदक इति व्याख्यातम् । इदानीमेतदेव चोदकवचनमुत्क्षिप्यमिति व्याख्यानयति-( सुत्त विसम ति इत्यादि ) एवमुपदर्शितेन प्रकारेण सूत्र विषममिति मा भण मा वादीः । यत. सूत्रस्य अर्थतः कर्त्तारो भगवन्तो वीतरागा. सर्वज्ञा.-" अत्थ भासइ अरहा " इति वचनात् । एव परमार्थत· प्राप्ति क्षीणरागाऽऽदितया परिपूर्णयथावस्थिताऽऽप्तत्वलक्षणसद्भावात्, न च तेषामित्थभूतानामाप्तानां स हेतुः कारण सभवति, येन ते आप्ता अलीक ब्रूयु । अलीकभाषणाहेतो रागाऽऽदेर्निर्मूलकाष कषणात् । उक्त च-"रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात् ? ॥ १ ॥"

ननु यद्यप्येवं तथापि विषमाणि खलु प्रतिसेवनावस्तूनि, विषमेषु च प्रतिसेवनावस्तुषु कथ तुल्य प्रायश्चित्तमिति ?। तत्राऽऽह-

कामं विसमा वत्थू, तुल्ला सोही तहा वि खलु तेसिं । पंचवणि तिपंचखरा, अतुल्लमुल्ला य आहरणं ॥ १४६ ॥

काममित्यनुमतौ । काममनुमन्यामहे विषमाणि वस्तूनि प्रतिसेवनालक्षणानि, तथाऽपि खलु निश्चितम, तेषां शुद्धिस्तुल्या भवति, प्रतिसेवकभेदात् । एकत्र ह्यगीतार्थः प्रतिसेवकोऽन्यत्र गीतार्थः । तथा चाऽत्र पञ्चवणिजां पञ्चानां वणिजां, त्रिपञ्च खरा पञ्चदश गर्दभा । पञ्चवणिक् त्रिपञ्चखराः कथभूता इत्याह--अतुल्यमूल्या अतुल्यम असदृश मूल्य येषां ते तथा । आहरण दृष्टान्त.-" पचवाणिया समभागसामाइया ववहरंति । तेर्सि पन्नरस्स खरा लाभतो जाता; ते विसमभारवाहित्तेण विसममोल्लत्तेण य सम विभइउमचायता भंडिउमारद्धा, ततो ते एक्कस्स बुद्धिमंतस्स समीवमुवट्ठिया । तेण खराण मुल्ल पुच्छिया । तेहिं कहिय । ततो भणइ-सम विभयामि त्ति, धीरा होह,| मा भंडेह । ततो तेण एको खरो सट्ठिमोल्लो एक्कस्स वाणियगस्स दिण्णो, दोण्णि खरा पत्तेय तीसमोल्ला बिइयस्स वाणियगस्स दिण्णा । तिण्ह खराण पत्तेय वीस वसि मोल्ल, ते तइयस्स वाणियगस्स दिण्णा । चतुण्ह खराण पत्तेय पन्नरस मोल्ल, ते चउत्थस्स वाणियगस्स दिण्णा । पच खरा पत्तेय बारसमोल्ला, ते पचमस्स वाणियगस्स दिण्णा।"

एतदेवाऽऽह-

विणिउत्तभंडभंडण, मा भंडह एत्थ एगसट्ठी उ । दो तीस तिन्नि वीसग,चउ पन्नरस पंच बारसगा ॥ १४७ ॥

पञ्चानां वणिजा समभागसामाजिकानां विनियुक्तभाण्डानां विनियुक्त व्यापारित भाण्ड क्रयाणक यैस्ते तथा, तेषां पञ्चदश खरा अभूवन्निति वाक्यशेष. । ते च विषमभारवाहिनो विषममूल्याश्च, ततो यद्यपि समविभागेन विभज्यमाना रूपतस्त्रयस्त्रया भवन्ति, तथाऽप्यतुल्यमूल्या इति परस्पर भण्डनमभूत् । तत्र. एकोऽपरो मध्यस्थ. समागत्य ब्रूते-मा भण्डयताह समविभागेन विभज्य दास्यामीति । तत्रैक षष्टिक षष्टिमूल्य., एकस्य दत्त इति वाक्यशेष. । एव द्वौ त्रिंशन्मूल्यौ द्वितीयस्य, त्रयो विंशतिमूल्याःतृतीयस्य, चत्वारः पञ्चदश मूल्या. चतुर्थस्य, पञ्च द्वादशमूल्याः पञ्चमस्य।यथा तेषां पञ्चानां वणिजां पञ्चदश खरा. परस्परमतुल्यतया विभिन्नास्तथा केनाऽपि विभज्य दत्ता यथा तुल्या लाभप्राप्तिर्भवति, तथा साधूनामपि गीतार्थागीतार्थाऽऽदिभेदेनानेकविधानामागमव्यवहारिणां श्रुतव्यवहारिणां वा तथा कथञ्चनापि रासभस्थानीया मासा विभज्य दीयन्ते यथा तुल्या विशोधिर्भवतीति।

एतदेवाऽऽह-

कुसलविभागसरिसओ, गुरु साहू य होंति वणिया वा । रासभसमा य मासा, मोल्लं पुण रागदोसाउ ॥ १४८ ॥

कुशलो विभागे कुशलविभाग., राजदन्ताऽऽदित्वाऽभ्युपगमात्कुशलशब्दस्य पूर्वनिपात. । तेन सदृशस्तुल्यो गुरुरागमव्यवहारी वा श्रुतव्यवहारी वा, साधवश्च भवन्ति वणिज इव वणिक्तुल्या । वाशब्द उपमानार्थे. "वा विकल्पोपमानयो. " इति वचनात् । रासभसमाश्च मासा , मूल्य पुन रागद्वेषावेव । तुशब्द एवकारार्थ. । तथाहि-यथा रासभद्रव्यगुणवृद्धिहानितो मूल्यवृद्धिहानी, तथा रागद्वेषवृद्धिहानिकृते प्रतिसेवनात. प्रायश्चित्तस्य वृद्धिहानी । यथा केनापि तीव्ररागं

द्वेषाध्यवसानेन मासिकं स्थानं प्रतिसेवितं, तस्य मासः परिपूर्णो दीयते । अपरेण मन्दाध्यवसानेन द्वे मासिके स्थाने प्रतिसेविते, तस्य एकैकस्य मासस्य अर्द्धाष्टमानि दिनानि गृहीत्वा मासो दीयते इत्यादि । ततो भवति सूक्ष्मे रागद्वेषौ । एवं सकलद्वैमासिकाऽऽदिसूत्रेषु बहुश सूत्रेषु च कारणाऽयतनाप्रतिसेविनो रागद्वेषवृद्धिहानिन उपयुज्य बहुविस्तरं वक्तव्यम् ।

तदेवम्-"गहभत्ति" व्याख्यातम् । अधुना-"अद्धाणसेवियम्मि" इत्यादि व्याख्यायते-गीतार्थेनाऽध्वनि, उपलक्षणमेतत् अन्यस्मिन्वा कारणान्तरे यदयतनया प्रतिसेवितं तत्र बहूनि मासिकस्थानान्यापन्नानि, तानि चाऽऽलोचनाकाले सर्वाण्यप्येकवेलायामालोचितानि, गुरुश्चाऽऽलोचनाप्रदानविशेषतो जानाति-यथैष गीतार्थः, कारणे च प्रतिसेवना कृता परमयतनया, ततोऽयतनाप्रसङ्गनिवारणार्थं सर्वेषामपि मासानां समविषमतया दिवसान् गृहीत्वा मास एकस्तस्मै दत्तः, अगीतार्थो यो मन्देनाध्यवसानेन बहूनि मासिकस्थानानि प्रतिसेव्य तीव्रेण वाऽध्यवसानेन प्रतिसेव्य हा दुष्ठु मया कृतमित्येवमादिभिर्निन्दनैरालोचितवान्, सोऽप्येकेन शुध्यति । तथा गीतार्थोऽपरिणामको वा चिन्तयेत् द्वौ मासिकावापन्नोऽहं कथमेकेन मासेन शुद्ध्यामि ?। ततः श्रुतव्यवहारी तस्य प्रत्ययकरणार्थमेकैकस्मात् मासात्कतिपयान् दिवसान् गृहीत्वा मासमेकं प्रयच्छति, यथा द्वयोरपि मासयोः प्रतिसेवितयोरेकैकस्यार्द्धमासमर्द्धमासं गृहीत्वा इति । एवं हि सर्वेऽपि मासा सफलीकृता इति तस्य महती धृतिरुपजायते । यस्त्वागमव्यवहारी, स न द्वैमासिकं प्राप्तस्य द्वावपि मासौ सफलीकरोति, किं त्वेकं ददाति, द्वितीयं त्यजति । स हि प्रत्यक्षज्ञानी, ततो न तद्वचने कस्याप्यशुद्ध्याशङ्केति । यदा पुनः तीव्राध्यवसानो निष्कारणप्रतिसेवितस्य मासाऽऽदिकमापन्नस्य परिपूर्णं मासाऽऽदिकमेव दीयते-

वीसु दिन्ने पुच्छा, दिट्ठतो तत्थ दंडलतिएण ।
दंडो रक्खा तेसिं, भयजणणं चेव सेसाणं ॥१४९॥

एवं गीतार्थानामगीतार्थानां च कारणे निष्कारणे वा पृथक् पृथक् प्रायश्चित्ते दत्ते (पुच्छ त्ति) शिष्य पृच्छति-किं कारणं गीतार्थानां कारणे निष्कारणे च विसदृशं प्रायश्चित्तं दत्तमिति ?। अथ "दो दो गारत्थिए" इत्यस्य व्याख्याया अवसरः । सूरिराह-( दिट्ठतो तत्थ दंडलतिएण ) तत्र पुरुषभेदेन विसदृशः प्रायश्चित्तदाने दृष्टान्तो दण्डलातिको दण्डो लातो गृहीतो येन स दण्डलात, सुखाऽऽदिदर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः । दण्डलात, प्राकृतत्वात् स्वार्थिक इकप्रत्ययो, यथा पृथ्वीकायिका इत्यत्र । तेन दण्डलातिकेन गृहीतदण्डेन राज्ञा इत्यर्थः । यथा तेन दण्डलातिकेन राज्ञा राजकार्ये प्रवृत्तानामपि तेषां दण्डानां रक्षा भवतु, मा भूयो गृहीषु कोष्ठागाराणां विनिवारणार्थं, तथा शेषाणां भयजननं च भयोत्पादश्च स्यादित्येवमर्थं स्तोको दण्डः कृतः, तथा गीतार्थस्याऽऽदिपारणे प्रवृत्तस्यायतनाप्रसङ्गनिवारणार्थम्, अगीतार्थस्य मन्दाध्यवसानप्रतिसेविनो दुष्टाध्यवसायप्रतिसेविनो वा बहुभिर्निन्दनैर्वाऽऽलोचनस्य प्रमादनिवारणार्थं मासानां समविषमतया दिवसान् गृहीत्वा मासो दीयते । यथा च स राजा शेषस्य राजकार्याप्रवृत्तस्य कोष्ठागारलुपकस्य सर्वाऽऽत्मना दण्डं करोति, एवं यो निष्कारणप्रतिसेवी तस्य मासाऽऽदिको दीयते ।

अथ के ते दण्डाः, कथं च तेषां राजा दण्डं कृतवानिति तत्कथानकमिदं गाथाद्वयमाह-

दंडतिगं तु पुरतिगे, ठवियं पच्चंतपरनिवारोहे ।
पच्चत्थीस तीसं, कुंभगह आगया जेउं ॥१५०॥
कामं ममेयं कज्जं, कयावित्तीए वि कीस भे गहियं ? ।
एस पमादो तुब्भं, दस दस कुंभे दलह दंडं ॥१५१॥

एगस्स पयंडरन्नो पच्चंतिओ राया विरुद्धो । ततो तेण पयंडेण रन्ना तस्स पच्चासण्णेसु तिसु पुरेसु तिन्नि दंडा निमज्जिया । गच्छह । पुराणि रक्खह । ततो तेसु नयरेसु पत्तेयं २ ठिया पच्चंतियराइणा ते आगतु रोहिया । तेहिं रोहिएहिं खाणभत्तेहिं जे ते पुरेसु पयंडस्स रन्नो कोट्ठागारा तेहिंतो पत्तेयं पत्तेयं धण्णस्स तीसं तीसं कुंभा गहिया । ततो तेहिं सो पच्चंतिओ राया जितो, आगया रन्नो समीवं कहियं सव्वं सवित्थरं । तुट्ठो राया । पुणो तेहिं कहियं-तुज्झ कज्जं करेंतेहिं धन्नं गहियं । रन्ना चिंतियं-जइ एएसिं दंडो न कीरइ ता मे पुणो पुणो वि अप्पसयपओयणेहिं कोट्ठागारा विलुंपेहिंति, न य अन्नेसिं भयं भवति, तम्हा मे दंडो कायव्वो । एवं चिंतिऊण भणइ-कामं मम कज्जं, तहा वि तुज्झ मए वित्ती कया आसि, ततो कयवित्तीहिं कीस भे धन्नं मज्झ गहियं ?। तुज्झ एस पमाओ । ततो अणवत्थपसंगनिवारणत्थं भणति-एस तुज्झ दंडो-मम धन्नं देह । एवं भणित्ता राया अणुग्गहं करेइ । जेहिं कोट्ठागारेहिंतो तीसं कुंभा गहिया, तेसु अप्पणिज्जस्स धन्नस्स दस कुंभे पक्खिवह, वीसं वीसं कुंभा मुक्का ।" अक्षरयोजना त्वेवम्-प्रत्यन्तपरनृपावरोधनिमित्तं दण्डत्रिकं पुरत्रिके स्थापितं, तेन च प्रत्येकं भक्तार्थं ( तीसं तीसं कुंभगह त्ति ) त्रिंशतस्त्रिंशतः कुम्भानां ग्रहो ग्रहणं कृतम् । ततस्ते प्रत्यन्तनृपं जित्वा आगतास्ते दण्डा राजानं विज्ञपयन्तो यथा युष्मत्कार्यार्थं त्रिंशत् कुम्भा गृहीता । राजा प्राऽऽह-कामं ममैतत्कार्यं, परं युष्माकं मया वृत्तिः कृता आसीदिति कृतवृत्तिभि ( र्वे ) भवद्भिः किमर्थं मम धान्यं गृहीतम् ?। युष्माकमेष प्रमादस्तस्माद् दण्डं दश दश कुम्भान् दत्त । एष दृष्टान्त ।

अयमर्थोपनयः-

तित्थयरा रायाणो, जइणो दंडा य काय कोट्ठारो ।
असिवाइ वुग्गहा पुण, अजयपमायारुहणं दंडो ॥१५२॥

तीर्थकरा राजानो राजस्थानीयाः, साधवो दण्डाः दण्डस्थानीयाः, कायाः पृथिवीकायिकाऽऽदयः कोष्ठागाराणि कोष्ठागारतुल्याः, अशिवाऽऽदीनि कारणानि व्युद्ग्रहाः प्रत्यन्तपरनृपेण सह ये व्युद्ग्रहास्तत्स्थानीयानि, अयतनाप्रमादरोपणार्थं गीतार्थायतनाप्रसङ्गनिवारणार्थमगीतार्थस्य प्रमादनिवारणार्थं सर्वेषां प्रतिसेवितानां मासानां समविषमतया दिवसान् गृहीत्वा मासो दण्डो दीयते इति ।

अत्र पर आह-

बहुएहि वि मासेहिं, एगो जइ दिज्जती उ पच्छित्तं ।
एवं बहु सेवित्ता, एक्कँसि वियडेमो चोएइ ॥ १५३ ॥

यदि गीतार्थस्य कारणे अयतनया बहुकेष्वपि मासेषु, अत्र तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात् । प्रतिसेवितेषु एकवेलायामालोचिता इति कृत्वा एको मास प्रायश्चित्तं दीयते । ततः

इतः प्रभृति वयं बहूनि मासिकाऽऽदीनि प्रतिसेव्य ( एक्कसि ) एकवेलायां विकटयिष्याम । तत एकमेव मासाऽऽदिकं ल- प्स्यामहे इति चोदयति चोदकः ।

अत्राऽऽचार्य आह-

मा वय एवं एक्कसि, वियडेमो सुबहुए वि सेवित्ता ।
लब्भिहिसि एवं चोयग !, देंतो खल्लाडखड्डुगं व ॥१५४॥

मा वद मा वादीरेवम्-यदुत सुबहून्यपि मासिकाऽऽदीनि स्थानानि सेवित्वा प्रतिसेव्य (एक्कसि) एकवेलायां विकटयिष्यामो, येनैवमेकमासिकाऽऽदिकं लप्स्यामहे इति । यत एवं कुर्वन् चोदक ! लप्स्यसे महान्तमपराधं, खल्वाटे खडुकां ददान इव । अत्र "दुवे य खल्लाडा " इत्यस्यावसरः । द्वौ खल्वाटावत्र दृष्टान्तः । " एगो खल्लाडो तंबोलवाणियओ पण्णे विक्किणइ, सो एक्केण चारभडपोट्टेण पण्णे मग्गितो । अरे खल्लाडवाणिया ! पण्णे देह । तेण सकसायेण न दिन्ना । अन्ने भणति-थोवा दिन्ना । ततो तेण रूसिएण चारभडपोट्टेण खल्लाडसिरे खडुगा दिन्ना, टक्करा दिन्नेति वुत्तं भवति । वाणियएण चिंतिय-जइ कलहेमि तो मं एस दुमितो मारेज्जा । तम्हा उवीएण वेरनिज्जायणं करेमि । एवं चिंतिऊण उट्ठित्ता हत्थो से मेलिओ, वत्थजुयलं से दिन्नं, पादेसु पडिओ-बहु च से तंबोलं दिन्नं । चारभडपोट्टो पुच्छइ-किं कारणं तुमं न रुट्ठो, पच्चुत मम पूएसि ?, पाएसु य पडिसि त्ति ? । वाणियएण भणिय-अम्ह विसए सव्वखल्लाडाणमेरिसा चेव वित्ती । चारभडपोट्टेण चिंतिय-लद्धो मए जीवणोवाओ । ततो पुणो चिंतिय-तारिसगस्स खडुगं देमि, जो मं अदरिद्दं करेज्जा । ताहे तेण एगस्स ठक्कुरस्स खल्लाडगस्स खडुगा दिन्ना । तेण मारितो ॥"

एतदेवाऽऽह-

खल्लाडगम्मि खडुगा, दिन्ना तंबोलियस्स एगेणं ।
सक्कारिता जुयलं, दिन्नं बिइएण वोरवितो ॥ १५५ ॥

एकेन चारभटपोतेन ताम्बूलिकस्य शिरसि खल्वाटे खडुका टक्करा दिन्ना, ततस्तेन वणिजा ताम्बूलिकेन सत्कार्य तस्मै वस्त्रयुगलं दत्तम् । द्वितीयेन खल्वाटेन व्यपरोपितो मारितः । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः-

एवं तुमं पि चोयग !, एक्कसि पडिसेविऊण मासेणं ।
मुच्चिहिसि बिइयगं पुण, लब्भिहिसि मूलं तु पच्छित्तं ॥१५६॥

एवं त्वमपि चोदक ! ( एक्कसि ) एकं वारं बहूनि मासिकानि प्रतिसेव्य एकवेलाया सर्वाण्यप्यालोचितानीति मासेन मुक्तो द्वितीयवारमुपेत्य प्रतिसेव्य तथाऽऽलोचयन् लब्धितस्वभावो मूलं, तुशब्दात् छेदं वा, लप्स्यसे, यथा लब्धवान् चारभटो मरणम् । अन्यच्च स चारभटपोत एकं मरणं प्राप्तवान्, त्वं पुनः संसारे अनेकानि मरणानि प्राप्स्यसि, तस्मात्प्रतिसेवकपरिणामानुरूप एव प्रायश्चित्तदानविधिर्नाऽऽलोचनामात्रविशेषः कृत इति नान्यथा प्रमार्जनीयः ।

एतदेवाऽऽह-

असुहपरिणामजुत्ते-ण सेविए होइ एगमासो उ ।
दिज्जइ य बहुसु एगो, सुहपरिणामो जया सेवे ॥१५७॥

अशुभपरिणामयुक्तेन सेविते निष्कारणमयतनया प्रतिसेवितेऽर्थः । एकस्मिन् मासे एको मासः परिपूर्णो दीयते, दुष्टाध्यवसायेन प्रतिसेवनात् पुनः प्रत्यावृत्तेरभावाच्च, यदा पुनः शुभपरिणामः सेवते, पुष्टमालम्बनमालम्ब्य प्रतिसेवते इत्यर्थः । दुष्टाध्यवसायेन सेवित्वा पश्चाद् बह्वात्मनिन्दनं करोति, तस्य बहुष्वपि मासेषु प्रतिसेवितेष्वेको मासो दीयते ।

इह कश्चिद् दण्डदानादात्मानमपभ्राजनास्थानं दुःखितं मन्यते, तं प्रति दण्डदानादानफलमाह-

दिण्णमदिण्णो दंडो, सुहदुहजणणो उ दोण्ह वग्गाणं ।
साहूणं दिन्न सुहो, अदिन्न सुक्खो गिहत्थाणं ॥१५८॥

द्वौ वर्गौ । तद्यथा-साधुवर्गो, गृहस्थवर्गश्च । तयोर्द्वयोर्वर्गयोर्दण्डो दत्तोऽदत्तश्च यथायोगं सुखदुःखजननः । तत्र साधूनां दत्तः सन् दण्डः सुखं सुखहेतुः, अदत्तः सन् दुःखकारणमिति सामर्थ्याद् गम्यते । गृहस्थानामदत्तः सन् दण्डः सुखं सुखावहः, दत्तः सन् दुःखावह इति सामर्थ्यात् प्रत्येयम् ।

कस्मादेवमिति चेदत आह-

उद्धियदंडो साहू, अचिरेण उवेइ सासयं ठाणं ।
सो चियऽणुद्धियदंडो, संसारपवड्ढओ होइ ॥ १५९ ॥
उद्धियदंडो गिहत्थो, असणवसणविरहिओ दुही होइ ।
सो च्चियऽणुद्धियदंडो, असणवसणभोगवं होइ ॥१६०॥

उद्धृत उत्पाटितो गृहीतो दण्डो येन स उद्धृतदण्डः साधुरचिरेण स्तोकेन कालेनाप्येति शाश्वतं स्थानं, प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या अतीचारमलापगमकरणतः उत्तरोत्तरविशुद्धसंयमलाभात् । स एव साधुरनुद्धृतदण्डः संसारप्रवर्तको भवति, अतीचारजातस्य संसारकारणत्वात् । तथा-उद्धृतदण्डो गृहस्थोऽशनवसनविरहितो भोजनवस्त्रपरिहीनो दुःखी भवति स एवानुद्धृतदण्डोऽशनवसनभोगवान् भवति ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा तेसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचियं वा आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चाउमासियं वा पंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥

(जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा इत्यादि,) यो भिक्षुर्मासिकं वा द्वैमासिकं वा त्रैमासिकं वा चातुर्मासिकं वा पाञ्चमासिकं वा । वाशब्दाः सर्वे विकल्पार्थाः । तथा चाऽऽह-एतेषां परिहारस्थानानामन्यतमत् तस्येति सामर्थ्यादवसीयते । यच्छब्दस्य तच्छब्दापेक्षित्वात्, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतो मासिकं वा द्वैमासिकं वा त्रैमासिकं वा चातुर्मासिकं वा पाञ्चमासिकं वा, प्रतिकुञ्च्याऽऽलोचयतः सर्वत्र आपन्नप्रायश्चित्तापेक्षया अधिको मायानिष्पन्नो गुरुमासो दीयते इति द्वैमासिकाऽऽदिक्रमेणाऽऽह-द्वैमासिकं वा त्रैमासिकं वा चातुर्मासिकं वा पाञ्चमासिकं वा षाण्मासिकं वा । (तेण परमित्यादि) ततः पाञ्चमासिकात्परिहारस्थानात्परं परस्मिन् षाण्मासिके परिहारस्थाने प्रतिसेविते आलोचनायां प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चिते वाऽत एव स्थिताः षण्मासाः, ततः ऊर्ध्वमस्मिन् तीर्थे आरोपणाया अभावात् ।

अत्र शिष्यः प्राऽऽह-

कसिणाऽऽरोवणा पढमे, बिइए बहुसो वि सेविए सरिसा ।
सुद्धी संजोगो पुण, तइयंऽतिम सुत्त वल्ली वा ॥ १६१ ॥

आदिमानि पञ्चापि सकलसूत्राणि सकलसूत्रसामान्यादेकं प्रथमसूत्रं विवक्षितं, द्वितीयानि पञ्च सूत्राणि बहुशःशब्दविशेषितानि बहुशःशब्दविशेषितत्वाविशेषाद् द्वितीयं सूत्रम् । तत्र प्रथमसूत्रे कृत्स्ना आरोपणा कृता । इदमुक्तं भवति-यत् प्रतिसेवितं तत्सर्वं परिपूर्णं दत्तं, न पुनः किञ्चिदपि तस्मान्मुक्तमिति । द्वितीये सूत्रे बहुशोऽपि सेविते मासिकाऽऽदौ परिहारस्थाने झोषित्वा शुद्धिः सदृशी प्रथमसूत्रगमसदृशी दत्ता । एवं प्रथमे द्वितीये च सूत्रे गतेऽथ तृतीयसूत्रगमः किं प्रसिद्ध्यर्थमारब्धः ? । आचार्य आह-( संजोगो इत्यादि ) तृतीयस्मिन्सूत्रे संयोगः पञ्चपदगत उपदर्शितः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । स चैतद्विशिनष्टि-पञ्चानामादिसूत्रगमानां संयोगज्ञापनार्थमिदं तृतीयं सूत्रमारब्धमिति । तथाहि-पञ्चानां पदानां दश द्विकसंयोगे भङ्गाः, दश त्रिकसंयोगे, पञ्च चतुष्कसंयोगे, पञ्च पञ्चकसंयोगे । तत्र योऽसावेकः पञ्चकसंयोगे सोऽनेन सूत्रेणाऽत्र साक्षात् गृहीतः । तथा चाऽऽह- तत्थऽतिमसुत्त त्ति) तत्र तेषु द्विकसंयोगाऽऽदिभङ्गकेषु मध्येऽन्तिमः पञ्चकसंयोगाऽऽत्मको भङ्गः सूत्रेण गृहीतः । विभक्तिलोपोऽत्र प्राकृतत्वात् । अस्य ग्रहणादितरेऽपि सर्वे भङ्गका गृहीताः । किमिवेत्यत आह-(वल्ली वा ) वाशब्द उपमार्थे, वल्लीवत् । यथा वल्ली अग्रे गृहीत्वा समाकृष्टा सर्वा समूला समध्या समाकृष्टा भवति, एवमेते-"अन्नयरं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा ॥१॥ एवं जे भिक्खू मासियं वा तेमासियं वा ॥२॥ जे भिक्खू मासियं वा चउमासियं वा ॥ ३ ॥ जे भिक्खू मासियं वा पंचमासियं वा ॥४॥ जे भिक्खू दोमासियं वा तेमासियं वा ॥ ५ ॥ दोमासियं वा चउमासियं वा ॥६॥ दोमासियं वा पंचमासियं वा ॥७॥ जे भिक्खू तेमासियं वा चउमासियं वा ॥८॥ तेमासियं वा पंचमासियं वा ॥९॥ चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥१०॥" त्रिकसंयोगे दश भङ्गा इमे । तद्यथा-" जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणमन्नयरं ।" इत्यादि ॥१॥ जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा चउमासियं वा ॥२॥ मासियं वा दोमासियं वा पंचमासियं वा ॥ ३ ॥ मासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा ॥ ४ ॥ मासियं वा तेमासियं वा पंचमासियं वा ॥ ५ ॥ मासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥ ६ ॥ दोमासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा ॥७॥ दोमासियं वा तेमासियं वा पंचमासियं वा ॥ ८ ॥ दोमासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥९॥ ते मासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥१०॥" पञ्च चतुष्कसंयोगे भङ्गा इमे-"जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणमन्नयरं परिहारट्ठाणं ।" इत्यादि ॥१॥ जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा पंचमासियं वा ॥२॥ मासियं वा दोमासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥३॥ मासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥४॥ दोमासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा पंचमासियं वा ॥५॥" यस्त्वेकः पञ्चकसंयोगे स भङ्गः साक्षात् सूत्रे गृहीतः । सूत्रम्-"बहुसो वि एमेव त्ति ।" यथाऽऽदिमसकलसूत्रपञ्चकसंयोगप्रदर्शनपरं तृतीयं सूत्रमुक्तम् । एवमेव अनेनैव प्रकारेण बहुशःशब्दविशेषितद्वितीयसूत्रपञ्चकसंयोगप्रदर्शनपरं "बहुसो वि" इतिपदविशेषितं चतुर्थसूत्रं वक्तव्यम् । तद्यथा-" जे भिक्खू बहुसो मासियं वा बहुसो दोमासियं वा बहुसो तेमासियं वा बहुसो चउमासियं वा बहुसो पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं बहुसो पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चउमासियं वा (?) छम्मासियं वा तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥" इति ।

एतदेव निर्युक्तिकृदाह-

जे भिक्खू बहुसो मा-सियाइँ सुत्तं विभासियव्वं तु ।
दोमासियतेमासिय-कयाइँ एगुत्तरा वुड्ढी ॥ १६२ ॥

( बहुसो इति ) त्रिप्रभृति, न केवलं बहुशो मासिकानि, किंतु ( दोमासियतेमासियकयाइ इति ) द्वैमासिकानि त्रैमासिकान्यपि च बहुशः प्रतिसेवनया कृतानि, उपलक्षणमेतत्-चातुर्मासिकानि पाञ्चमासिकानि द्रष्टव्यानि । एवंरूपं सूत्रं विभाषितव्यम्, बहुशःशब्दविशेषितद्वितीयसूत्रपञ्चकव्याख्यातव्यम्-( एगुत्तरा वुड्ढीति ) द्विकाऽऽदिसंयोगचिन्तायां पदानामेकोत्तरा वृद्धिः कर्तव्या । एतेनाऽपि द्विकाऽऽदिसंयोगभङ्गा द्रष्टव्या इति ख्यापितम्, सूत्रस्य तथास्थितत्वात् । तथाहि-अन्तिमः पञ्चकसंयोगनिष्पन्नो भङ्गः सूत्रेण साक्षादुपात्तः । अस्य ग्रहणादादिमा अपि द्विकसंयोगाऽऽदिभङ्गा वल्लीदृष्टान्ताद् गृहीता अवसेयाः, ते च सर्वसंख्यया षड्विंशतिः, द्विकाऽऽदियोगे चैकैकं सूत्रमित्यनेन चतुर्थेन सूत्रेण षड्विंशतिः सूत्राणि सूचितानि, तृतीयेनापि सूत्रेण षड्विंशतिरिति सर्वमिलितानि संयोगसूत्राणि द्वापञ्चाशत्, पञ्चाऽऽदिमानि सकलसूत्राणि, पञ्च च बहुशःशब्दविशेषितानीति सर्वसंख्यया द्वाषष्टिः सूत्राणि । एतानि च उद्घातानुद्घाताऽऽदिविशेषरहितानि उक्तानि ।

साम्प्रतमेतेषामेवोद्घाताऽऽदिविशेषपरिज्ञानार्थमिदमाह-

उग्घायमणुग्घाए, मूलुत्तर दप्प कप्पतो चेव ।
संजोगा कायव्वा, पत्तेयं मीसगा चेव ॥ १६३ ॥

उद्घातं लघु, अनुद्घातं गुरु । उद्घाते, अनुद्घाते । तथा-(मूलु त्ति) मूलगुणापराधे, ( उत्तर त्ति ) उत्तरगुणापराधे । तथा दर्पे, कल्पतश्चैव कल्पे चैव, संयोगा अनन्तरोदिताः कर्तव्या भणितव्याः । कथमित्याह-प्रत्येकमेकैकस्मिन् उद्घाताऽऽदि मिश्रका वा उद्घाता उद्घातसंयोगनिष्पन्नाः । उपलक्षणमेतत्, ते न केवलं संयोगाः, किं त्वादिमान्यपि दश सूत्राणि उद्घाताऽऽदिविशेषणैर्वक्तव्यानि । तत्रोद्घातविशेषणैरुपदर्श्यन्ते (जे भिक्खू उग्घाइयं मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा इत्यादि ) इत्येवमादिमानि पञ्च सकलसूत्राणि, पञ्च बहुशःशब्दविशेषितानि, षड्विंशतिस्तृतीयसूत्रसूचितानि, षड्विंशतिश्चतुर्थसूत्रसूचितानि, सर्वसंख्यया द्वाषष्टिः सूत्राणि उद्घातानि । एवं द्वाषष्टिः सूत्राणि अनुद्घातिमानि, अनुद्घाताभिधानेन वक्तव्यानि । तद्यथा-(जे भिक्खू अणुग्घाइयं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा इत्यादि ) एवमेतास्तिस्रो द्वाषष्टयः । अत्र च त्रिषष्टसूत्राणां, सर्वसंख्यया षडशीतं सूत्रशतम् ।

योगाऽऽदिसूत्राणि, षट्पञ्चाश च शत संयोगसूत्राणाम्। साम्प्रतमुद्घातानुद्घातमिश्रकाभिधानेन सयोगसूत्राणि वक्तव्यानि। तानि चैवमुच्चारणीयानि-"जे भिक्खू उग्घायमासिय अणुग्घायमासिय वा परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स उग्घाइय वा अणुग्घाइय वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स उग्घाइयदोमासिय वा अणुग्घाइयदोमासिय वा। जे भिक्खू उग्घाइयमासियं वा परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता।" इत्येवमुद्घातितपदममुञ्चता अनुद्घातद्वैमासिकाऽऽदीन्यपि वक्तव्यानि। एवमेते भङ्गाः पञ्च, एते च उद्घातितमासिकेऽनुद्घातितमासिकद्वैमासिकाऽऽद्येकैकसयोगेन लब्धाः। एवमुद्घातिते द्वैमासिकेऽपि पञ्च, त्रैमासिकेऽपि पञ्च, चातुर्मासिकेऽपि पञ्च, पञ्चमासिकेऽपि पञ्चेत्युभयोरप्येकैकसयोगेन सर्वसख्यया भङ्गाः पञ्चविंशतिः। तथा-उद्घातितमासिके, एवमनुद्घातितमासिके द्वैमासिकाऽऽदिद्विकसयोगे भङ्गा दश। एवमुद्घातितद्वैमासिके त्रैमासिके चतुर्मासिके पञ्चमासिके च प्रत्येकं दश दशेति सर्वसख्यया उद्घातितैकैकसयोगे अनुद्घातितद्विकसयोगे भङ्गाः पञ्चाशत्। इह एकैकस्मिन् अनुद्घातितसयोगे उद्घातितमासिकद्वैमासिकाऽऽदिक्रमेण पञ्च पञ्च भङ्गा लभ्यन्ते। ततो येऽनुद्घातिते त्रिकसयोगे दश भङ्गास्ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जातास्तत्र भङ्गाः पञ्चाशत्। चतुष्कसयोगे भङ्गाः पञ्च पञ्चभिर्गुणिता जाताः पञ्चविंशतिरेकः। पञ्चकसंयोगे भङ्गाः पञ्चभिर्गुण्यन्ते जाताः पञ्च। सर्वसख्यया उद्घातितैकसयोगे भङ्गानां पञ्चपञ्चाशदधिकं शतम् १५५। तथा पञ्चानां द्विकसंयोगे भङ्गा दशेत्युद्घातिते द्विकसयोगचिन्तायामेकैकस्मिन् अनुद्घातितसयोगे भङ्गा दश दश लभ्यन्ते इति अनुद्घातिते एकसयोगे पञ्च, द्विकसयोगे दश, त्रिकसयोगे दश, चतुष्कसयोगे पञ्च, पञ्चकसयोगे एकः प्रत्येक दशभिर्गुण्यन्ते इति जात क्रमेण भङ्गानां पञ्चाशत्, शत, शत, पञ्चाशत्, दश च। ५०। १००। १००। ५०। १०। सर्वसख्यया उद्घातिते द्विकसंयोगे भङ्गाना त्रीणि शतानि दशोत्तराणि ३१०। तथा पञ्चानां पदानां त्रिकसंयोगे, ऽपि भङ्गा दशेत्युद्घातिते त्रिकसयोगचिन्तायामप्येकैकस्मिन्ननुद्घातितसयोगे भङ्गा दश दशेत्येकसयोगे पञ्च, द्विकसयोगे दश, चतुष्कसयोगे पञ्च, पञ्चकसयोगे एकः। प्रत्येक दशभिर्गुण्यन्ते जाता क्रमेणैव भङ्गाना संख्या पञ्चाशत, शत, शत, पञ्चाशत्, दश। ५०। १००। १००। ५०। १०। अत्रापि सर्वसख्यया भङ्गानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि ३१०। पञ्चानां चतुष्कसयोगे भङ्गा पञ्चवत् (?) उद्घातिते चतुष्कसयोगचिन्तायामेकैकस्मिन् अनुद्घातितसयोगे भङ्गाः पञ्च पञ्च लभ्यन्त इति। तत्रैकैकसयोगजाः पञ्च, द्विकसयोगजाः दश, त्रिकसंयोगजाः दश, चतुष्कसयोगजाः दश, पञ्चसयोगज एकम्, प्रत्येक पञ्चभिर्गुण्यन्ते, ततो जाता क्रमेणैव भङ्गानां सख्या पञ्चविंशतिः, पञ्चाशत, पञ्चाशत्, पञ्चविंशतिः, पञ्च। २५। ५०। ५०। २५। ५। सर्वसख्यया उद्घातिते चतुष्कसयोगे भङ्गानां पञ्चपञ्चाशदधिक शतम् १५५। पञ्चकसयोगे पञ्चानां पदानामेको भङ्ग इत्युद्घातिते पञ्चकसयोगचिन्तायामनुद्घातित एकसंयोगाः पञ्च, द्विकसयोगा दश चतुष्कसयोगाः पञ्च, पञ्चकसयोग एक, प्रत्येकमेकेन गुण्यते, एकेन च गुणित तदेव भवतीति सैव भङ्गसंख्या। तद्यथा-पञ्च दश दश पञ्चकः, एककः। ५। १०। १०। ५। १। सर्वसख्यया उद्घातिते पञ्चकसयोगा एकत्रिंशत् ३१। मूलत आरभ्य भङ्गानां सर्वसख्यया नवशतान्येकषष्ट्यधिकानि ६६१। एतावन्ति किल सूत्राणि पञ्चस्वादिमेषु सकलसूत्रेषूद्घातसयोगतो जानाति। एतावन्त्येव बहुशःशब्दविशेषितेष्वपि पञ्चसु सूत्रेष्वेतेनैव विधिना सूत्राणि द्रष्टव्यानि ९६१। सर्वसख्यापिण्डनेन मिश्रकसूत्राणि द्वाविंशत्युत्तराणि एकोनविंशतिशतानि १९२२। एतानि च तृतीयचतुर्थसूत्राभ्यामुत्पन्नानीति न तत्र पृथक् मिश्रकसूत्राणां सम्भवः। तदेवममीषां मिश्रकसूत्राणामेकोनविंशतिशतानि द्वाविंशानि १९२२, षडशीत च शत प्राक्तनसूत्राणामिति सर्वसख्यया सूत्राणामेकविंशतिशतान्यष्टोत्तराणि २१०८। तथा यस्मादपराधो द्विधा। तद्यथा-मूलगुणे, उत्तरगुणे च। तत एतानि सर्वाण्यप्यनन्तरोदितानि सूत्राणि मूलगुणापराधाभिधानेनाप्यभिधातव्यान्युत्तरगुणापराधाभिधानेनापीत्येष राशिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि चत्वारि सहस्राणि द्वे शते षोडशोत्तरे ४२१६। अपराधोऽपि च यस्मान्मूलगुणेषूत्तरगुणेषु च दर्पतः कल्पतो वाऽध्ययतः तया तत एष राशिर्भूयो द्वाभ्यां गुण्यते। जातान्यष्टौ सहस्राणि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि ८४३२। एतावती सङ्क्षेपतः सूत्रसख्या भणिता।

इय चैन्नवती भङ्गकवशात्प्रायेण जाता, ततो
भङ्गकपरिज्ञानार्थमाह-

**एत्थ पडिसेवणाओ, एक्कगदुगतिगचउक्कपणगेहिं।**
**दस दस पंचग एक्कग, अदुव अणेगाउ एयाओ॥१६४॥**

अत्र चैतस्मिन् सूत्रसमूहे एतावत्यः प्रतिसेवना एवसंख्याकाः प्रतिसेवनाप्रकाराः पञ्चानां पदानामेककद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकैरेककद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसयोगैर्ये भवन्ति भङ्गा क्रमेण (दस दसेत्यादि) इहैककसयोगे भङ्गाः पञ्च साक्षात्सूत्रे एव दर्शिता इति नोक्ता सामर्थ्यादवसेयाः, ततोऽयमर्थः -पञ्च, पञ्च, दश, दश पञ्चक इति तेभ्योऽवसेयाः। यथाऽध्यवसातव्यास्तथा प्रागेवोक्ता। ( अदुव अणेगाउ एयाओ इति) अथवा न केवलमेतावत्य एवैताः प्रतिसेविता, किं त्वन्यासामपि भावादनेका एता द्रष्टव्या। ताश्चान्या प्रतिसेवना इमाः-" जे भिक्खू पचराइदिय पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पचराइदिय पलिउंचिय आलोएमाणस्स दचराइदिय मासिय।" एव दशपञ्चदशविंशतिपञ्चविंशतिरात्रिन्दिवेष्वपि सूत्राणि वक्तव्यानि। एवमेव पञ्च सूत्राणि बहुश शब्दाभिलापेनाभिधातव्यानि, तदनन्तर तृतीय सयोगसूत्र षड्विंशतिसूत्राऽऽत्मकं वक्तव्यम्। ततश्चतुर्थ सयोगसूत्र षड्विंशतिसूत्रात्मक बहुश शब्दविशेषितम्। एवमेतानि सामान्यतो द्वाषष्टि सूत्राणि भणित्वा तदनन्तरमुद्घातानुद्घातमिश्रसूत्रोत्तरदर्पकल्पैः प्रागुक्तप्रकारेण तावत्सूत्राणि वक्तव्यानि यावदष्टौ सहस्राणि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि परिपूर्णानि भवन्ति। अत्र पञ्चकाऽऽदीनि मासिकद्वैमासिकादिभिः सह न चारयितव्यानि, यत उपरि पञ्चम सातिरेकसूत्रं वक्ष्यति। तत्र च सातिरेकता पञ्चकाऽऽदिभिरिति पुनरुक्तता स्यादिति।

साम्प्रतमेतेषां सूत्राणामर्थावगमेनोत्कालितप्रश्नः सन् शिष्य पृच्छति-

जह मन्ने बहुसो मा-सियाइँ सेवित्तु वहुई उवरिं ।
तह हेट्ठा परिहायइ, दुविहं तिविहं च आमं ति ॥१६५॥

इह मासिकद्वैमासिकाऽऽदिप्रायश्चित्ताऽऽपत्तिः प्रतिसेवकपरिणामानुरूपा, ततोऽहं मन्ये चिन्तयामि यथा येन प्रकारेण बहूनि मासिकानि प्रतिसेव्य कदाचित् मासिकमेव प्रायश्चित्तमापद्यते, मन्दाध्यवसायेन प्रतिसेवनात्, कदाचिदुपरि वर्द्धते । तद्यथा-कदाचिद् द्वैमासिकं तीव्रेणाऽध्यवसायेन प्रतिसेवनायाः कारणात् त्रैमासिकं यावत् षाण्मासिकं वा कदाचित्तीव्रतराऽध्यवसायेन प्रतिसेवनात्, तच्छेदं वा, कदाचित् मूलं वा, यावत्कदाचित्पाराञ्चितं वा । तथा तेन प्रकारेणाधस्तादपि परिहीयते हानिमुपगच्छति । तद्यथा-मासिकं प्रतिसेव्य कदाचिद्भिन्नमासमापद्यते, कदाचित्पञ्चविंशतिरात्रिन्दिवं, यावत् रात्रिन्दिवपञ्चकम् ( दुविह तिविह चेति ) द्विविधौ प्रकारौ मासलक्षणौ यस्य तत् द्विविधं, द्वैमासिकमित्यर्थः । तत एव त्रिविधं त्रैमासिकं, चशब्दात् चातुर्मासिकं पाञ्चमासिकं षाण्मासिकं च प्रतीत्योक्तरूपेण प्रायश्चित्तवृद्धिहानी वक्तव्ये । तद्यथा-द्वैमासिके स्थाने प्रतिसेविते कदाचित्तदेव द्वैमासिकमापद्यते, कदाचित् त्रैमासिकं, कदाचित् चातुर्मासिकम्, एवं यावत् पाराञ्चितम् । अधस्ताद्धानिः, एवं द्वैमासिकं प्रतिसेव्य कदाचित् मासिकं प्रायश्चित्तं लभते, कदाचित् भिन्नमासम्, एवं यावत् पञ्चरात्रिन्दिवम् । एवं त्रैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकषाण्मासिकेष्वपि भावनीयम् । तत्राऽऽचार्य आह-( आमं ति ) आमशब्दोऽनुमतौ. सम्मतमेतदस्माकमपीति भावः ।

केण पुण कारणेणं, जिणपन्नत्ताणि काणि पुण ताणि ? ।
जिण जाणंति उ ताइं, चोयग पुच्छा बहु नाउं ॥१६६॥

शिष्यः पृच्छति-केन पुनः कारणेन मासिकाऽऽदौ प्रायश्चित्तस्य वृद्धिहानी वा भवतः ? । आचार्य आह-अत्र कारणानि जिनप्रज्ञप्तानि सर्वज्ञोपदिष्टानि । कानि पुनस्तानीति चेत् ? । उच्यते-रागद्वेषहर्षाऽऽदीनि । तथाहि-रागाध्यवसानानां चोपर्युपरि वृद्ध्या, यदि वा सिंहव्यापादकस्येव पश्चाद्धर्षवृद्ध्या मासिकप्रतिसेवनायामप्युत्तरोत्तरप्रायश्चित्तवृद्धिर्भवति । तथा प्रथमत एव रागाध्यवसानहानितो वा, यदि वा पश्चात्-" हा दुट्ठु कयं हा दुट्ठु कारियं दुट्ठु अणुमयं मे" त्यनुतापकरणतो मासिकप्रतिसेवनायामपि भिन्नं पञ्चविंशतिर्वा रात्रिन्दिवानि । एवमधोऽधस्तात् प्रायश्चित्तहानिर्भवति । ततो रागद्वेषहर्षाऽऽदीन्येव वृद्धिहानिमन्ति कारणानि । पुनः शिष्यः पृच्छति-ननु यदि प्रायश्चित्तवृद्धिहानिषु रागद्वेषहर्षाऽऽदीनि वृद्धिहानिमन्ति कारणानि, ततस्तानि प्रतिसेवकगतानि परमार्थतो जिना एव तु-शब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्चात्र संबध्यते । केवलमनःपर्यायज्ञानानि चतुर्दशदशनवपूर्विणो जानन्ति केवलाऽऽदिविरहात्, ये पुनः कल्पव्यवहारिणस्ते कथं जानन्ति, तेषामतिशयाभावात् ? । अत्राऽऽचार्यः प्रतिवचनम्-तेऽपि जानन्ति तदुपदिष्टश्रुतज्ञानप्रमाणेन । तथाहि-तेऽपि वाग्व्यवमालोचनां ददतः श्रुतोपदेशानुसरणतोऽवबुध्यन्ते रागद्वेषाऽऽद्यध्यवसायस्थानानां वृद्धिहानिं चेति । ( चोयग पुच्छा बहुं नाउ त्ति ) बहुशःशब्दविशेषितेषु सूत्रेषु बहुशब्दोऽस्ति तमर्थतो ज्ञातुम् ।

चोदकस्य पृच्छा-यथा-भगवन् ! । तेषु तेषु सूत्रेषूपात्तस्य बहुशब्दस्य कोऽर्थ इति ? । आह-

तिविहं च होइ बहुगं, जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं ।
जहणेण तिण्णि बहुगा, उक्कोसे पंच चुलसीया ॥१६७॥

त्रिविधं बहुकं भवति । तद्यथा-जघन्यं, मध्यमम्, उत्कृष्टं च । तत्र जघन्येन त्रीणि बहूनि । किमुक्तं भवति ?-जघन्येन त्रयो मासा बहवः, उत्कर्षतः पञ्चमासशतानि चतुरशीतानि चतुरशीत्यधिकानि । एतेषां मध्ये यानि प्रायश्चित्तस्थानानि चतुराद्दीनि यावत्पञ्चशतानि त्र्यशीत्यधिकानि तानि मध्यमानि ।
संप्रति यथा प्रायश्चित्तं दीयते तथा भणनीयम् । तत्र मासादारभ्य यावत् षण्मासास्तावत् स्थापनाऽऽरोपणाव्यतिरेकेणापि सूत्रेणैव दीयते, ततः पराणि तु यानि सप्त मासाऽऽदीनि प्रायश्चित्तानि मध्यमानि, उत्कृष्टं च यत्प्रायश्चित्तं तत् स्थापनाऽऽरोपणप्रकारेणैव दीयते इति, तत्प्रतिपादयन्नाह-

ठवणासंचयरासी-माणाइँ पभू य कित्तिया सिद्धा ।
दिट्ठा निसीहनामे, सव्वे वि तहा अणायारा ॥ १६८ ॥

स्थाप्यते इति स्थापना-वक्ष्यमाणेनाऽऽरोपणाप्रकारेण झोषीभूतेभ्यः सञ्चयमासेभ्यो ये शेषा मासास्तेषां प्रतिनियतदिवसपरिमाणतया व्यवस्थापनम् । स्थापनाग्रहणेन आरोपणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या, परस्परमनयोः संबन्धात् । तत्र आरोप्यते इत्यारोपणा, वक्ष्यमाणेन गणितप्रकारेण सञ्चयमासानां षट्सु मासेषु समविषमतया प्रतिनियतदिवसग्रहणतो व्यवस्थापनम् ताभ्यां स्थापनाऽऽरोपणाभ्यां सञ्चयनं सकलनं सञ्चयः । किमुक्तं भवति ?-एषां मासानामुपरि प्रतिसेवनायां कृतायां कुतोऽपि मासात्पञ्चदश रात्रिन्दिवानि, कुतोऽपि दश, कुतोऽपि पञ्च गृहीत्वा स्थापनाऽऽरोपणविधानेन षण्मासपूरणं सञ्चयः । तथा-( रासि त्ति ) एष प्रायश्चित्तराशिः कुत उत्पद्यते ?, इति वक्तव्यम् । तथा मानानि प्रायश्चित्तस्य वक्तव्यानि, यथा प्रथमतीर्थकृतस्तीर्थे प्रायश्चित्तमानं संवत्सरं, मध्यमानामष्ट मासाः, तथा चरमस्य षण्मासाः । तथा प्रभवः प्रायश्चित्तदाने स्वामिनः केवलिप्रभृतयो वक्तव्याः । तथा-( कित्तिया सिद्धा त्ति ) कियन्तः खलु प्रायश्चित्तभेदाः सिद्धा इति वक्तव्यम् ? । तथा एते सर्वेऽपि प्रायश्चित्तभेदा दृष्टा निशीथनाम्नि अध्ययने, न केवलमेते, किं तु तथा सर्वेऽप्यनाचारा अतीचारा अतिक्रमाऽऽदयो निशीथनाम्नि दृष्टाः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रति प्रतिद्वारं व्यासार्थो भणनीयः, तत्र यान् प्रति स्थापनाऽऽरोपणे क्रियेते तानुपदर्शयति-

बहुपडिसेवी सेयो, वि अगीतो अवि य अपरिणामो वि ।
अहवा अतिपरिणामो, तप्पच्चयकारणे ठवणा ॥१६९॥

इह प्रायश्चित्तप्रतिपत्तारः पुरुषा इमे । तद्यथा-गीतार्थः, अगीतार्थः, परिणामकः, अपरिणामकः, अतिपरिणामकश्च । तत्र ये प्रायश्चित्तप्रतिपत्तारो बहूनां मासिकस्थानानां प्रतिसेवी, एकस्मिन् हि मासिके स्थाने प्रतिसेविते प्रायो न स्थापनाऽऽरोपणाविधिस्ततो बहुसेवीत्युक्तम् । सोऽपि चागीतोऽगीतार्थः,

अगीतार्थे हि प्रायश्चित्तप्रतिपत्तरि च बहुष्वपि मासेषु प्रतिसेवितेषु न स्थापनाऽऽरोपणे क्रियेते, तस्य गीतार्थतया ताभ्यां विनाऽपि यदुक्तार्थग्राहित्वात्; ततोऽगीतार्थ इत्युक्तम्, सोऽपि यदि परिणामको भवेत्, तर्हि तमपि प्रतिस्थापनाऽऽरोपणे, तस्यापि परिणामकतया ताभ्यां विनाऽपि यदुक्तार्थप्रतिपत्ते। तत आह-अपि च अपरिणामोऽपि-न विद्यते परिणामो यदुक्तार्थपरिणमनं यस्य स तथा; आस्तामगीतार्थे किं त्वपरिणामकश्चेत्यपिशब्दार्थः । अथवा-अतिपरिणामः-अतिव्याप्त्या परिणामो यथोक्तस्वरूपो यस्यासावतिपरिणामस्तत्प्रत्ययकारणात्तयोरपरिणामातिपरिणामयोः प्रत्ययो भवति यावन्तो मासाः प्रतिसेवितास्तावन्तः सर्वेऽपि सफलीकृता इत्येवरूपः स्यादिति हेतोः स्थापनाग्रहणेनाऽऽरोपणाऽपि गृह्यते इति आरोपणाऽपि क्रियते । तद्यथा-यावन्तो मासा दिवसा वा प्रतिसेवितास्तावन्तः सर्वे एकत्र स्थाप्यन्ते, स्थापयित्वा च यत्संक्षेपार्हं विंशिकाऽऽदिकं प्रतिसेवित तत् स्थाप्यते, एषा स्थापना । तदनन्तरं येऽन्ये मासाः प्रतिसेवितास्ते सफलीकर्त्तव्या इत्येकैकस्माद् मासात् परिसेवनापरिणामानुरूपाँस्तोकान् स्तोकतरान् समान् विषमान् वा दिवसान् गृहीत्वैकत्राऽऽरोपयति एषा आरोपणा, एषा चोत्कर्षतस्तावत्कर्त्तव्या यावत्याः स्थापनायाः सह सकलव्यमानाः षण्मासाः पर्यन्ते, नाधिकाः, ततः स्थापनारोपणयोर्यदेकत्र सकलनमेष सञ्चयः । अथ स्थापनारोपणासञ्चयाना परस्परप्रतिभक्तोऽर्थः । अनेन हि प्रकारेण प्रायश्चित्तदानेऽतिपरिणामकोऽपरिणामको वा चिन्तयति सर्वे मासाः सफलीकृता इति शुद्धोऽहमिति गीतार्थोऽगीतार्थपरिणामकयोः पुनर्न स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण प्रायश्चित्त दीयते प्रयोजनाभावात्किं त्वेवमेव ।

तथा चाऽऽह-

एगम्मिऽणेगदाणं-ऽणेगेसु य एगदाणमेगेगं ।
जं दिज्जइ तं गेण्हइ, गीतमगीतो अपरिणामी ॥१७०॥

योऽगीतार्थोऽपि परिणामी तस्मै एकस्मिन्मासे प्रतिसेविते रागद्वेषहर्षात्तरोत्तरवृद्ध्या प्रतिसेवनात् यदि अनेकदानम्-अनेके बहवो मासा दीयन्ते , अनेकेषु वा मासेषु प्रतिसेवितेषु कारणे मन्दाध्यवसायेन वा प्रतिसेवनात् तीव्राध्यवसानतः प्रतिसेवनायां वा पश्चात् हा दुष्ठु मया कृतमित्यादि बहुनिन्दनादेकदानमेको मासो दीयते । अथवा-एकस्मिन्मासे प्रतिसेविते एकदानमेकः परिपूर्णो मासो दीयते, दुष्टाध्यवसायेन प्रतिसेवनात्,पश्चाच्च हर्षरागद्वेषवृद्ध्यसम्भवतोऽनेकमासदानायोगात् । उपलक्षणमेतत्, तेनैतदपि द्रष्टव्यम्-बहुषु मासेषु सप्ताष्टाऽऽदिसङ्ख्येषु प्रतिसेवितेषु यदि बहवो मासाः षट् पञ्च चत्वारो वा दीयन्ते , तदाऽपि तत्सम्यक् गृह्णाति, श्रद्धत्ते च शुद्धि प्राप्तोऽहमिति । ततस्तयोर्न स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण प्रायश्चित्तदानमिति । यदि पुनरपरिणामकेऽतिपरिणामके वा अगीतार्थे न स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण प्रायश्चित्त दीयते, तदा बहवो दोषाः ।

तत्रापरिणामके दोष दर्शयति-

बहुएसु एगदाणे, सो च्चिय सुज्झो न सेसया मासा ।
अपरिणामे उ संका, सफला मासा कया तेण ॥१७१॥

बहुकेषु मासेषु प्रतिसेवितेषु यदा प्रागुक्तकारणवशात् एको मासः स्थापनाऽऽरोपणाव्यतिरेकेणापरिणामके दीयते तदा तस्मिन्नपरिणामके एवमाशङ्का स्यात्-यथा यस्यैकमासस्य मे दत्त प्रायश्चित्त स एवैको मासः शुद्धो, न शेषा मासाः, ततो नाद्याप्यहं शुद्ध इति । तस्मादेवंभूता आशङ्का मा भूदित्यपरिणामके स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण सर्वे मासाः सफलाः स्मृताः,समस्तमाससफलीकरणार्थं तत्र स्थापनाऽऽरोपणे क्रियेते इति भावः ।

अतिपरिणामके दोषानुपदर्शयति-

ठवणामित्त आरो-वण त्ति नाऊणमतिपरीणामो ।
कुज्जा व अइपसंगं, बहुय सेवित्तु मा विगरूं ॥ १७२ ॥

अतिपरिणामकेऽपि यदि बहुकेषु मासेषु प्रतिसेवितेष्वेको मास स्थापनाऽऽरोपणाव्यतिरेकेण दीयते, ततः सोऽप्येव चिन्तयेत्, भाषेत वा यथा-यदेतदागमे गीयते ( आरोवण त्ति ) प्रायश्चित्तमिति । ततः स्थापनामात्र, मात्रशब्दस्तात्पर्यार्थे विश्रान्तेस्तुल्यवाची । यदाह निशीथचूर्णिकृत्-'मात्रशब्दस्तुल्यवाचीति ।' यथा हि स्थापना शक्राऽऽदेः शक्राऽऽदिलक्षणतात्त्विकार्थशून्या, एवमाऽऽरोपणाप्यागमे भाष्यमाना तात्त्विकार्थशून्या बहुष्वपि मासेषु प्रतिसेवितेष्वेकस्य मासस्य प्रदानात् । यद्वा-स्थापनामात्रमारोपणेति ज्ञात्वा अतिपरिणामोऽतिप्रसङ्गं कुर्यात् पुनःपुनस्तत्रैव प्रवर्त्तते, बहुकेष्वपि मासेषु प्रतिसेवितेष्वेकस्य प्रायश्चित्तलाभ इति बुद्धेः । यद्वा-अकल्प्य प्रतिसेवनया बहून् मासान् प्रतिसेव्य सर्वान् मासान् मा विकटयेत् नाऽऽलोचयेत्, किं त्वेकमेव, बहुष्वपि मासेषु प्रतिसेवितेष्वेक एव मासस्तस्य प्रायश्चित्तमित्यवगमात् । तस्मादपरिणामकेऽतिपरिणामके च सकलमाससफलीकरणाय स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण प्रायश्चित्त दातव्यम् ।

इह स्थापनायाश्चत्वारि स्थानानि । तद्यथा-प्रथम त्रिंशत्स्थापनाऽऽत्मकं, द्वितीय त्रयस्त्रिंशत्स्थापनाऽऽत्मकं, तृतीय पञ्चत्रिंशत्स्थापनाऽऽत्मकं, चतुर्थमेकोनाशीत्यधिकस्थानशताऽऽत्मकम् । आरोपणाया अपि चत्वारि स्थानानि । तद्यथा-प्रथम त्रिंशत्स्थानाऽऽत्मकं तृतीय, पञ्चत्रिंशत्स्थानाऽऽत्मकं चतुर्थमेकोनाशीत्यधिकस्थानकशतप्रमाणमतः साम्प्रतमेतेषां चतुर्णां स्थापनास्थानानां चतुर्णां चाऽऽरोपणास्थानानां यानि जघन्यानि स्थानानि तानि प्रतिपादयति-

ठवणा वीसिय पक्खिय, पंचिय एगाहिया उ बोधव्वा ।
आरोवणा वि पक्खिय,पंचिय तह पंचि एगाही ॥१७३॥

स्थापनाया प्रथमस्थाने जघन्ये स्थापना विंशिका विंशतिरात्रिन्दिवप्रमाणा,द्वितीये पाक्षिकी,तृतीये पञ्चिका पञ्चदिवसाऽऽत्मिका,चतुर्थे च एकाहिका एकाहमात्रा । आरोपणाऽपि प्रथमे स्थाने जघन्या पाक्षिकी, द्वितीये पाञ्चिका पञ्चदिनप्रमाणा, तृतीयेऽपि पञ्चिका, चतुर्थे एकाहिका, सर्वजघन्यान्येतानि स्थापनाऽऽरोपणास्थानानि । आह च चूर्णिकृत्-" एयाणि सव्वजहन्नगाणि ठवणाऽऽरोवणाठाणाणि ।" इति ।

इह न ज्ञायते कस्मिन् जघन्ये स्थापनास्थाने किं जघन्यमारोपणास्थान भवति, तत्परिज्ञानार्थमिदमाह-

वीसाए अद्धमासं, पक्खे पंचाहमारुहेज्जाहि ।
पंचाहे पंचाहं, एगाहे चेव एगाहं ॥ १७४ ॥

विंशिकायां विंशिकारूपे जघन्ये स्थाने स्थापनास्थाने जघन्यमारोपणस्थानमर्द्धमासमारोहयेत्, स्वबुद्ध्याऽऽरोपयेत्, जानीयादित्यर्थः । तथा पञ्चे पक्षप्रमाणे जघन्ये स्थापनास्थाने पञ्चाहं पञ्चाहप्रमाणं जघन्यमारोपणास्थानम् । तथा पञ्चाहप्रमाणे जघन्ये स्थाने पञ्चाहं पञ्चाहप्रमाणमेव जघन्यमारोपणास्थानम् । एकाहे एकदिनप्रमाणे जघन्ये स्थापनास्थाने जघन्यमारोपणास्थानमेकाहमेव एकदिनप्रमाणमेव ।

सम्प्रति प्रथमे स्थापनास्थाने या जघन्या स्थापना, या च उत्कृष्टा, तां प्रतिपादयति-

ठवणा होइ जहन्ना, वीसइ राइंदियाइँ पुन्नाइं ।
पणसट्ठं चेव सयं, ठवणा उक्कोसिया होइ ॥ १७५ ॥

प्रथमे स्थापनास्थाने जघन्या स्थापना भवति पूर्णानि परिपूर्णानि विंशतिरात्रिन्दिवानि, विंशतिरात्रिन्दिवप्रमाणेति भावः । उत्कृष्टा भवति स्थापना पञ्चषष्टं शतं, पञ्चषष्ट्यधिकं रात्रिन्दिवानां शतम् । शेषाणि तु स्थानानि मध्यमानि ।

सम्प्रति प्रथमे आरोपणास्थाने या जघन्या आरोपणा, या चोत्कृष्टा, तां प्रतिपिपादयिषुराह-

आरोवणा जहन्ना, पन्नर राइंदियाइँ पुन्नाइं ।
उक्कोसं सट्ठिसयं, दोसु वि पक्खेवगो पंच ॥ १७६ ॥

प्रथमे आरोपणास्थाने जघन्या आरोपणा पूर्णानि पञ्चदश रात्रिन्दिवानि, उत्कृष्टा पुनरारोपणा जानीयात् षष्टिशतं षष्ट्यधिकं रात्रिन्दिवशतं, शेषाणि तु स्थानानि मध्यमानि, तत्परिज्ञानार्थमाह-(दोसु वि पक्खेवगो पंच) द्वयोरपि स्थापनाऽऽरोपणयोः प्रत्येकं जघन्यपदादारभ्योत्तरोत्तरे मध्यमस्थाने प्रक्षेपकः पञ्च पञ्चपरिमाणो ज्ञातव्यो यावदुत्कृष्टं पदम् । इयमत्र भावना-प्रथमे स्थापनास्थाने जघन्या स्थापना विंशिका, ततः पञ्चकप्रक्षेपे अन्या द्वितीया पञ्चविंशतिदिनमाना, ततः पुनः पञ्चकप्रक्षेपे तृतीया त्रिंशद्दिना । एवं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेतव्यं यावत्पञ्चषष्टिरात्रिन्दिवशतप्रमाणा त्रिंशत्तमा स्थापनेति । तथा प्रथमे आरोपणास्थाने जघन्या आरोपणा पक्षप्रमाणा, ततः पञ्चकप्रक्षेपे विंशतिदिनप्रमाणा द्वितीया, ततोऽपि पञ्चकप्रक्षेपे पञ्चविंशतिदिनमाना तृतीया । एवं यथोत्तरं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेयं यावत् षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतप्रमाणा त्रिंशत्तमेति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

पंचण्हं परिवुड्ढी, उक्किट्ठा चेव होइ पंचण्हं ।
एएण पमाणेणं, नेयव्वं जाव चरिमं ति ॥ १७७ ॥

स्थापनायामारोपणायां प्रत्येकं जघन्यपदादारभ्योत्तरोत्तरस्थानजिज्ञासायां पञ्चानां परिवृद्धिर्ज्ञातव्या प्रत्येकम् । एवमेव चान्तिमस्थानादारभ्य क्रमेणाऽधोऽधःस्थानजिज्ञासायां पञ्चानामपकृष्टिर्हानिर्भवत्यवसातव्या । तद्यथा-पञ्चषष्ट्यधिका रात्रिन्दिवशतप्रमाणा सर्वोत्कृष्टा त्रिंशत्तमस्थापना, ततः पञ्चानामपसारणे रात्रिन्दिवषष्ट्यधिकशतमाना एकोनत्रिंशत्तमा मध्यमा । ततोऽपि पञ्चानामपगमे पञ्चपञ्चाशदधिकशतप्रमाणा अष्टाविंशतितमा । एवं क्रमेणाधोऽधस्तात्पञ्चपञ्चपरिहापयता तावन्नेतव्यं यावत् विंशतिदिनप्रमाणा प्रथमा स्थापना । तथा षष्ट्यधिकरात्रिन्दिवशतप्रमाणा सर्वोत्कृष्टा त्रिंशत्तमा आरोपणा । ततः पञ्चानामपगमे पञ्चपञ्चाशदधिकशतमाना एकोनत्रिंशत्तमा मध्यमा । ततोऽपि पञ्चानामपगमे पञ्चाशच्छतप्रमाणा अष्टाविंशतितमा । एवं क्रमेणाधोऽधः पञ्च पञ्च परिहापयता तावन्नेयं यावत् प्रथमा पक्षप्रमाणेति । तथा चाऽऽह-(एएणमित्यादि) एतेन पूर्वानुपूर्व्या पञ्चकपरिवृद्धिरूपेण, पश्चानुपूर्व्या पञ्चकापकृष्टिरूपेण प्रमाणेन, पूर्वानुपूर्व्या जघन्यपदादारभ्य पश्चानुपूर्व्या तूत्कृष्टात् स्थानात् प्रभृति तावन्नेतव्यं यावच्चरमं स्थानं परिवृद्धौ सर्वान्तिमं स्थानं चरमम्, अपकृष्टौ जघन्यमादिमं चरममिति । अथवेयं गाथा अन्यथा व्याख्यायते-पूर्वं किल स्थापनायामारोपणायां च प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि स्थानान्युक्तानि, साम्प्रतमेकैकस्मिन् स्थापनास्थाने जघन्यादीनि कियन्त्यारोपणास्थानानि, एकैकस्मिन् वा आरोपणास्थाने कियन्ति स्थापनास्थानानीत्येतत् प्रतिपादयति-(पंचण्ह परिवुड्ढी इत्यादि) पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् स्थापनास्थानादारोपणास्थानाद्वोत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् स्थापनास्थाने आरोपणास्थाने वा वृद्धिर्भवति । यस्मिंश्च यदपेक्षया स्थापनास्थाने आरोपणास्थाने वा पञ्चानां वृद्धिर्भवति तस्मिन् तदपेक्षया स्थापनास्थाने आरोपणाचिन्तायाम्, आरोपणास्थाने वा स्थापनास्थानचिन्तायामन्ते पञ्चानामपकृष्टिर्हानिर्भवति । एतेन प्रमाणेन पञ्चकपरिवृद्धिरूपेण पञ्चकहानिरूपेण च तावत् ज्ञेयं यावदेकमन्तिमं चरममपरमाऽऽदिमं चरममिति । तथाहि-विंशिकायां स्थापनायां जघन्या पाक्षिकी आरोपणा, ततोऽन्या विंशिका, ततोऽप्यन्या पञ्चविंशतिदिनमाना ततोऽप्यन्या त्रिंशिका एवं पञ्च पञ्च आरोपयता तावन्नेयं यावत् तस्यामेव विंशिकायां सर्वोत्कृष्टा षष्ट्यधिकदिनशतप्रमाणा त्रिंशत्तमा आरोपणा । तथा पञ्चविंशतिकायां स्थापनायां जघन्या पाक्षिकी आरोपणा ततोऽप्यन्या विंशद्दिना । एवं च परिवर्द्धयता तावज्ज्ञातव्यं यावदेकोनत्रिंशत्तमा पञ्चपञ्चाशदधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा आरोपणा । अस्यामेकोनत्रिंशदारोपणास्थानानि, पूर्वस्थापनापेक्षया अस्याः स्थापनायाः पञ्चभिर्दिनैः परिवर्द्धमानतया पर्यन्ते पञ्चानां दिनानां त्रुटितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । तथा त्रिंशद्दिनायां स्थापनायां जघन्या पाक्षिकी आरोपणा । ततोऽप्यन्या विंशतिदिना । ततोऽप्यन्या पञ्चविंशद्दिना । एवं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेयं यावत्सर्वोत्कृष्टा पञ्चाशच्छतदिना स्थापना, विंशतितमाऽऽरोपणा । अस्यामष्टाविंशतिरारोपणास्थानानि । तथा पञ्चत्रिंशद्दिनायां स्थापनायां जघन्या पाक्षिकी आरोपणा । ततोऽन्या विंशतिदिना । ततोऽप्यन्या पञ्चविंशतिदिना । एवं पञ्च पञ्चाऽऽरोपयता तावद्गन्तव्यं यावत्सर्वोत्कृष्टा पञ्चचत्वारिंशद्दिनशतमाना सप्तविंशतितमाऽऽरोपणा । अस्यां सप्तविंशतिरारोपणास्थानानि, कारणं प्रागेवोक्तम् । एवमुत्तरोत्तरस्थापनासङ्क्रान्तावन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरता तावन्नेतव्यं यावत्पञ्चषष्टिदिनशतायां त्रिंशत्तमायां स्थापनायामेकैव जघन्या पाक्षिकी आरोपणा, नान्येति । तथा पाक्षिक्यामारोपणायां जघन्या विंशतिदिना स्थापना, ततोऽन्या पञ्चविंशतिदिना मध्यमा, ततोऽप्यन्या त्रिंशद्दिना । एवं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेतव्यं यावत्पञ्चषष्टिदिनशतप्रमाणा सर्वोत्कृष्टा त्रिंशत्तमा स्थापना । तथा विंशिकायामारोपणायां जघन्या स्थापना विंशतिदिना, ततोऽन्या मध्यमा पञ्चविंशतिदिना, ततोऽप्यन्या त्रिंशद्दिना । एवं यथोत्तरं पञ्च पञ्च विलगयता तावद् गन्तव्यं यावत्-

षष्ठ्यधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा एकोनत्रिंशत्तमा स्थापना । पूर्वाऽऽरोपणातो ह्यस्यामारोपणायां पञ्चदिनान्यधिकानि चोपरि त्रुटितानीत्येकोनत्रिंशदेवास्यामारोपणायां स्थापनास्थानानि । तथा पञ्चत्रिंशतिदिनायामारोपणायां जघन्या विंशिका स्थापना, ततोऽन्या पञ्चविंशतिदिना मध्यमा, ततोऽप्यन्या त्रिंशद्दिना। एवं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेय यावत्पञ्चपञ्चाशद्दिनशतमाना सर्वोत्कृष्टाऽष्टाविंशतितमा स्थापना । अस्यां हि प्रागुक्तयुक्त्याऽष्टाविंशतिः स्थापनास्थानानि । एवमुत्तरोत्तराऽऽरोपणासङ्क्रान्तावन्तिममन्तिमं स्थापनास्थानं परिहरता तावद्गन्तव्यं यावत्षष्टिदिनशतमानायामारोपणायां जघन्या त्रिंशिका स्थापनेति । यथा च प्रथमे स्थापनास्थाने, आरोपणास्थाने च प्रत्येकं सर्वेधतश्च भावना कृता, तथा द्वितीये, तृतीये च कर्तव्या । तद्यथा-द्वितीये स्थापनास्थाने जघन्या स्थापना पाक्षिका, ततः पञ्चकप्रक्षेपेऽन्या विंशतिदिना, ततोऽपि पञ्चकप्रक्षेपेऽन्या पञ्चविंशतिदिना । एवं पञ्च पञ्च प्रक्षिपता तावद्गन्तव्यं यावत्पञ्चसप्तरात्रिन्दिवशतप्रमाणा त्रयस्त्रिंशत्तमा स्थापनेति । तथा द्वितीये स्थाने जघन्या आरोपणा पञ्चाहिका, ततः पञ्चकप्रक्षेपे दशाहिका, ततोऽपि पञ्चकप्रक्षेपे पाक्षिकी । एवं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेय यावत्पञ्चषष्टिदिनशतमाना त्रयस्त्रिंशत्तमा सर्वोत्कृष्टा आरोपणेति । इदानीं संवेधभावना-पाक्षिक्यां स्थापनायां जघन्या पञ्चाहिका आरोपणा, ततोऽन्या दशदिना मध्यमा, ततोऽप्यन्या पाक्षिकी, ततोऽप्यन्या विंशतिदिना । एवं पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावद् गन्तव्यं यावत्त्रयस्त्रिंशत्तमा पञ्चषष्टिदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा आरोपणा । अस्यां त्रयस्त्रिंशदारोपणास्थानानि । तथा विंशिकायां स्थापनायां जघन्या पञ्चाहिका आरोपणा, ततोऽन्या दशदिना, ततोऽप्यन्या पाक्षिकी । एवं विंशिकां स्थापनाममुञ्चता पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावद्गन्तव्यं यावत्षष्टिशतदिनमाना सर्वोत्कृष्टा द्वात्रिंशत्तमा आरोपणा; अस्यां द्वात्रिंशदारोपणास्थानानि, पूर्वस्थापनातोऽस्यां पञ्चकपरिवृद्धेरन्ते पञ्चानां त्रुटितत्वात् पञ्चविंशतिदिनायां स्थापनायां जघन्या पञ्चाहिका आरोपणा, ततोऽन्या मध्यमा दशदिना ततोऽप्यन्या पाक्षिकी । पञ्चपञ्चविंशतिदिनानां स्थापनाममुञ्चता पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेय यावत् पञ्चपञ्चाशद्दिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा एकत्रिंशत्तमा आरोपणा । एवमुत्तरोत्तरस्थापनासङ्क्रान्तावन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरता तावन्नेय यावत्पञ्चसप्ततिरात्रिन्दिवशतमानायां स्थापनायामेकैव जघन्या एकाहिका आरोपणेति । तथा पञ्चाहिकायामारोपणायां जघन्या पाक्षिकी स्थापना, ततोऽन्या मध्यमा विंशतिदिना, ततोऽप्यन्या पञ्चविंशतिदिना । एवं पञ्चाहिकामारोपणामपरित्यजता पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावद् गन्तव्यं यावत् पञ्चसप्ततिदिनानां सर्वोत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्तमा स्थापना, तथा दशाहिकायामारोपणायां जघन्या पाक्षिकी स्थापना । ततोऽन्या मध्यमा विंशतिदिना, ततोऽप्यन्या पञ्चविंशतिदिना । एवं दशाहिकामारोपणाममुञ्चता पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावद् गन्तव्यं यावत् सप्ततिदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा द्वात्रिंशत्तमा स्थापना । अस्यां द्वात्रिंशदेव स्थापनास्थानानि, पूर्वारोपणातोऽस्यामारोपणायां पञ्चकवृद्धेरन्ते पञ्चानां त्रुटितत्वात् । एवमुत्तरोत्तराऽऽरोपणास्थानसङ्क्रान्तावन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरता तावद्गन्तव्यं यावत्पञ्चषष्टिदिनशतमानायां त्रयस्त्रिंशत्तमायामारोपणायामेकैकजघन्या पाक्षिकी स्थापनेति । तथा तृतीये स्थापनास्थाने जघन्या पञ्चाहिका स्थापना । ततः पञ्चानां प्रक्षेपेऽन्या मध्यमा दशदिना, ततोऽपि पञ्चकप्रक्षेपेऽन्या पाक्षिकी। एवं पञ्च पञ्च प्रक्षिपता तावद् गन्तव्यं यावत्पञ्चसप्ततिरात्रिन्दिवशतप्रमाणा पञ्चत्रिंशत्तमा स्थापनेति । तथा तृतीये स्थाने जघन्याऽऽरोपणा पञ्चदिना, ततः पञ्चकप्रक्षेपेऽन्या मध्यमा दशदिना । ततोऽपि पञ्चकप्रक्षेपेऽन्या पाक्षिकी। एवं पञ्च प्रक्षिपता तावद्गन्तव्यं यावत्पञ्चसप्ततिदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा पञ्चत्रिंशत्तमा आरोपणेति । संप्रति संवेधभावना-पञ्चदिनायां स्थापनायां जघन्या आरोपणा पञ्चदिना, ततोऽन्या मध्यमा दिनदशकमाना, ततोऽपि अन्या पाक्षिकी । एवं पञ्चदिनां स्थापनाममुञ्चता पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावन्नेय यावत्पञ्चत्रिंशत्तमा पञ्चसप्ततिदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा आरोपणा । अस्यां पञ्चत्रिंशदारोपणास्थानानि । तथा दशदिनायां स्थापनायां जघन्या पञ्चाहिका आरोपणा, ततोऽन्या दशदिना, ततोऽप्यन्या पाक्षिकी । एवं दशदिनां स्थापनाममुञ्चता पञ्च पञ्च परिवर्द्धयता तावद्गन्तव्यं यावदुत्कृष्टा चतुस्त्रिंशत्तमा सप्ततिदिनशतमाना आरोपणेति । अस्यां चतुस्त्रिंशदारोपणास्थानानि । एवमुत्तरोत्तरस्थापनास्थानसङ्क्रान्तौ अन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरता तावद्गन्तव्यं यावत्पञ्चसप्ततिदिनशतमानायां स्थापनायामेकैव जघन्या पञ्चदिना आरोपणेति । तथा पञ्चदिनायामारोपणायां जघन्या पञ्चदिना स्थापना, ततोऽन्या मध्यमा दशदिना, ततोऽप्यन्या पञ्चदशदिना । आरोपणामपरित्यजता पञ्च परिवर्द्धयता तावद् गन्तव्यं यावत्पञ्चसप्ततिदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा पञ्चत्रिंशत्तमा स्थापना । तथा दशदिनायामारोपणायां जघन्या पञ्चदिना स्थापना, ततोऽन्या मध्यमा दशदिना स्थापना । ततोऽन्या पञ्चदशदिना । एवं दशदिनामारोपणाममुञ्चता पञ्च परिवर्द्धयमानेन तावद् गन्तव्यं यावत् सप्ततिदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा चतुस्त्रिंशत्तमा स्थापना । एवमुत्तरोत्तराऽऽरोपणास्थानसङ्क्रान्तावन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरता तावन्नेय यावत्पञ्चसप्ततिदिनशतमानायां पञ्चत्रिंशत्तमायामारोपणायामेकैव जघन्या पञ्चदिना स्थापनेति। चतुर्थे स्थापनास्थाने आरोपणास्थाने च न पञ्चकवृद्धिर्नापि पञ्चकापकृष्टिः, किं तु वृद्धिर्हानिर्वा एकोत्तरा । ततो यद्यपि तद्भावना अधिकृतगाथाक्षरानुयायिनी तथाऽपि विनेयजनानुग्रहाय क्रियते । तद्यथा-चतुर्थे स्थापनास्थाने जघन्या स्थापना एकदिना, अन्या मध्यमा द्विदिना, अन्या त्रिदिना । एवमेकैकं प्रक्षिपता तावद्गन्तव्यं यावदेकोनाशीत्यधिकशतमाना सर्वोत्कृष्टा एकोनाशीत्यधिकशततमा स्थापनेति । तथा चतुर्थस्थाने जघन्याऽऽरोपणा एकदिना, ततोऽन्या मध्यमा द्विदिना, ततोऽन्या त्रिदिना । एवमेकैकं परिवर्द्धयता तावद्गन्तव्यं यावदेकोनाशीत्यधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा एकोनाशीत्यधिकशततमा आरोपणेति । संप्रति संवेधभावना-एकदिनायां स्थापनायां जघन्याऽऽरोपणा एकदिना, ततोऽन्या द्विदिना मध्यमा, ततोऽन्या त्रिदिना । एवमेकदिनां स्थापनाममुञ्चता एकैकं परिवर्द्धयता तावद् गन्तव्यं यावदेकोनाशीत्यधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा एकोनाशीतिशततमा आरोपणा । अस्यामेकोनाशीत्यधिकशतप्रमाणान्यारोपणास्थानानि । तथाहि-द्विदिनायां स्थापनायां जघन्याऽऽरोपणा एकदिना, ततोऽन्या द्विदिना मध्यमा,

ततोऽन्या त्रिदिना । एवं द्विदिनां स्थापनाममुञ्चता एकैकं परिवर्द्धयता तावन्नेयं यावदष्टसप्तत्यधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा अष्टसप्ततिशततमा आरोपणा । अस्यामष्टसप्ततिशतप्रमाणान्यारोपणास्थानाऽऽदीनि, पूर्वस्थापनातोऽस्यां स्थापनायामेकस्य परिवृद्धेरन्ते एकस्य त्रुटितत्वात् । एवमुत्तरोत्तरस्थापनास्थानसङ्क्रान्तौ अन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरता तावज्ज्ञातव्यं यावदेकोनाशीत्यधिकशततमायां स्थापनायामेकैव जघन्या एकदिना आरोपणेति । तथा एकदिनायामारोपणायां जघन्या स्थापना एकदिना, ततोऽन्या मध्यमा द्विदिना, ततोऽन्या त्रिदिना । एवमेकदिनामारोपणाममुञ्चता एकैकं परिवर्द्धयता तावद्वक्तव्यं यावदेकोनाशीत्यधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा एकोनाशीतिदिनशततमा स्थापना । अस्यामेकोनाशीत्यधिकशतसंख्यानि स्थापनानि । तथा द्विदिनायामारोपणायां जघन्या स्थापना एकदिना, ततोऽन्या द्विदिना मध्यमा, ततोऽन्या त्रिदिना । एवं द्विदिनामारोपणाममुञ्चता एकैकं परिवर्द्धयता तावद्वक्तव्यं यावदष्टसप्तत्यधिकदिनशतमाना सर्वोत्कृष्टा अष्टसप्ततिशततमा स्थापना । अस्यामष्टसप्ततिप्रमाणानि स्थापनास्थानानि, कारणं प्रागुक्तमनुसर्त्तव्यम् । एवमुत्तरोत्तराऽऽरोपणास्थानसङ्क्रान्तावन्तिममन्तिमं स्थानं परिहरन् तावद्वक्तव्यं यावदेकोनाशीत्यधिकशततमायामारोपणायामेकैव जघन्या एकदिना स्थापनेति । इहैकैकस्मिन् स्थापनास्थाने आरोपणा जघन्या, मध्यमा, उत्कृष्टा च प्रतिपादिता ।

तत साम्प्रतमुत्कृष्टाऽऽरोपणापरिज्ञानार्थमाह-

जा ठवणा उद्दिट्ठा, छम्मासा ऊणिया भवे ताए ।
आरोवण उक्कोसा, तीसे ठवणाएँ नायव्वा ॥ १७८ ॥

षण्णां मासानामशीतं दिवसशतं भवति, ततः स्थापयित्वा १८० या स्थापना उद्दिष्टेति । यस्याः स्थापनाया उत्कृष्टा आरोपणा ज्ञातुमिष्टा सा उद्दिष्टेत्यभिधीयते; उद्दिष्टा ईप्सिता इत्यनर्थान्तरम् । तया षण्मासा षण्मासदिवसा ऊनकाः क्रियन्ते । किमुक्तं भवति ?-तामुद्दिष्टां स्थापनां षण्मासदिवसेभ्योऽशीत्यधिकशतप्रमाणेभ्यः शोधयेत्, ततो यच्छेषमवतिष्ठते तत्तस्या ईप्सितायाः स्थापनाया उत्कृष्टा आरोपणा भवति ज्ञातव्या । यथा विंशतिदिनाया स्थापनाया उत्कृष्टा आरोपणा ज्ञातुमिष्टा ततो विंशतिरशीत्यधिकशतात् षण्मासदिवससंख्याभूतात् शोध्यते, जातं षष्ट्यधिकं शतम् । एषा विंशिकायाः स्थापनाया उत्कृष्टा आरोपणा, ततः परमारोपणाया असम्भवात्, विंशत्या सह षण्णां मासानां परिपूर्णत्वभावात्, षण्मासाधिकस्य च प्रायश्चित्तस्याऽदानात् । तथा पञ्चविंशतिदिनायाः स्थापनायाः किल उत्कृष्टा आरोपणा ज्ञातुमिष्टा, ततोऽशीत्यधिकशतात् पञ्चविंशतिः शोध्यते, जातं पञ्चपञ्चाशदधिकं शतम् । एषा पञ्चविंशतिदिनाया उत्कृष्टा आरोपणा । एवं सर्वत्र भावनीयम् ।

साम्प्रतमारोपणास्थाने उत्कृष्टस्थापनापरिज्ञानार्थमाह-

आरोवण उद्दिट्ठा, छम्मासा ऊणगा भवे ताए ।
आरोवणाएँ तीसे, ठवणा उक्कोसिया होइ ॥ १७९ ॥

याऽऽरोपणा उद्दिष्टा, यस्या आरोपणाया उत्कृष्टा स्थापना ज्ञातुमिष्टेति भावः । तया षण्मासा ऊनका क्रियन्ते, सा षण्मासदिवसेभ्यः शोध्यते इत्यर्थः । ततो यच्छेषमवतिष्ठते तत्तस्या ईप्सितायाः आरोपणाया उत्कृष्टा स्थापना भवति । यथा पञ्चदशदिनाया आरोपणाया उत्कृष्टा स्थापना ज्ञातुमिष्टा, ततः पञ्चदश अशीत्यधिकशतादपनीयन्ते, जातं पञ्चषष्ट्यधिकं शतं, तावत्प्रमाणा पञ्चदशदिनाया आरोपणाया उत्कृष्टा स्थापना । तथा विंशतिदिनाया आरोपणाया उत्कृष्टा स्थापना किल ज्ञातुमिष्टेति विंशतिरशीत्यधिकशतादपनीयते, जातं षष्ट्यधिकं शतम् । एतावती विंशतिदिनाया आरोपणा उत्कृष्टा स्थापना । एवं सर्वत्रापि भावनीयम् ।

साम्प्रतं प्रथमे स्थाने कियन्ति स्थापनास्थानानि, कियन्त्यारोपणास्थानानि । कियन्तो वा स्थापनाऽऽरोपणास्थानानां संवेधतः संयोगा इत्येतत्प्ररूपणार्थमाह-

तीसं ठवणाठाणा, तीसं आरोवणाएँ ठाणाइं ।
ठवणाणं संवेहो, चत्तारि सया उ पण्णट्ठा ॥ १८० ॥

प्रथमे स्थाने त्रिंशत् स्थापनास्थानानि, त्रिंशच्चाऽऽरोपणायाः स्थानानि । एतच्च प्रागेवानेकशो भावितमिति न भूयो भाव्यते । ( ठवणाणमित्यादि ) स्थापनायामारोपणाभिः सह संवेधाः संयोगाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि पञ्चषष्टीनि भवन्ति ४६५ । तथाहि-प्रथमे विंशतिदिनरूपे स्थापनास्थाने त्रिंशदारोपणास्थानानि, द्वितीये पञ्चविंशतिदिनरूपे एकोनत्रिंशत्, तृतीये अष्टाविंशतिः । एवमेकैकरूपहान्या तावद्वक्तव्यं यावत्पञ्चषष्टिदिनशतरूपे त्रिंशत्तमे स्थापनास्थाने एकमारोपणास्थानम् । एतानि सर्वाण्यप्येकत्र लिखितानि यथोक्तसंख्याकानि भवन्ति । स्थापनाग्रहणे चाऽऽरोपणाऽपि गृह्यते; अनयोः परस्परं संवेधात् । तत एतदपि द्रष्टव्यम्-आरोपणास्थानानां स्थापनाभिः सह संवेधाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि पञ्चषष्टीनि भवन्ति । तथाहि-प्रथमे पञ्चदशदिनरूपे आरोपणास्थाने त्रिंशत्स्थापनास्थानानि, द्वितीये विंशतिदिनरूपे एकोनत्रिंशत्, तृतीये अष्टाविंशतिः । एवमेकैकरूपहान्या तावद्वक्तव्यं यावत्षष्टिदिनशतप्रमाणे त्रिंशत्तमे आरोपणास्थाने एकविंशतिदिनं स्थापनास्थानम् । एतच्च सर्वं प्रागेव सप्रपञ्चं भावितम् । एतानि च सर्वाण्यप्येकत्र मिलितानि यथोक्तसंख्याकानि भवन्ति ।

यथोक्तसंवेधसंख्यापरिज्ञानार्थमेव करणगाथामाह-

गच्छुत्तरसंवग्गे, उत्तरहीणम्मि पक्खिवे आइं ।
अंतिमधणमादिजुअं, गच्छद्धगुणं तु सव्वधणं ॥ १८१ ॥

इह यद्यपि प्रथमे स्थाने त्रिंशदारोपणास्थानानि, द्वितीये एकोनत्रिंशत्, तृतीये अष्टाविंशतिरिति क्रमः, तथापि सकलनायां यथोत्तरमङ्का निवेश्यन्ते इत्येकद्वित्र्यादिक्रमः । तत्र गच्छस्त्रिंशत्त्रिंशतोऽङ्कस्थानानां भावात्, उत्तरमेकम्, एकोत्तरया वृद्ध्या भावात्, आदिरप्येकः, सर्वाङ्कस्थानानामाद्यावेकस्य भावात्, गच्छस्य त्रिंशत उत्तरेण एकेन संवर्गो गुणनं गच्छोत्तरसंवर्गस्तस्मिन् । किमुक्तं भवति ? त्रिंशदेकेन गुण्यते, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति जाता त्रिंशदेव । तत्र ( उत्तरहीणम्मि ) उत्तरेणैकेन हीने तस्मिन् कृते एकेन हीनं क्रियते इत्यर्थः । जाता एकोनत्रिंशत् । तत्र प्रक्षिपेदादिमेकं, जाता भूयस्त्रिंशत् । एतत् अन्तिममन्तिमऽङ्कस्थान

परिमाणम् । एतत् आदिना एकेन युत क्रियते,जाता एकत्रिंशत् गच्छत्रिंशतस्यार्द्धं पञ्चदश, सा एकत्रिंशता गुण्यते,जातानि सर्वेषामां चत्वारि शतानि पञ्चषष्ठानि ४६५ ।

अथवाऽयमन्यो गणितप्रकारः-

**दो रासी ठवेज्जा, रूवं पुण पक्खिवाहि एगत्तो ।**
**जत्तो य देइ अर्द्धं, तेण गुणं जाण संकलियं ॥१०२॥**

राशिर्गच्छ इत्यनर्थान्तरम् । ततो द्वौ राशी स्थापयेत् । किमुक्तं भवति ?-द्वौ वाराबुपर्यधोभागेन त्रिंशत स्थापयेत् । तत एकत एकस्मिन् राशौ रूप पुन प्रक्षिपेत्, जातः स एकत्रिंशत्, यतश्च यस्माच्च राशेरर्द्धमात्मान ददाति, तस्यार्द्धं गृह्यते, तत्रेह त्रिंशदर्द्धमर्पयति, नैकत्रिंशदिति त्रिंशतोऽर्द्धं पञ्चदश गृह्यन्ते, तेन इतरो राशिरेकत्रिंशल्लक्षणो गुण्यते, गुणित च सति यत् जायते तत् जानीहि सकलित सर्वं सर्वेषसकलन, तच्च चत्वारि शतानि पञ्चषष्ठानि ४६५ ।

इह चत्वारि स्थापनास्थानानि, चत्वारि चाऽऽरोपणास्थानानि । तत्र कस्मिन् स्थापनास्थाने कियन्ति स्थापनापदानि कस्मिन्नारोपणास्थाने कियन्त्यारोपणापदानीत्येतत्परिज्ञानाय करणमाह-

**आसीया दिवससया, दिवसा पढमाए ठवणरुवणाणं ।**
**सोहित्तुत्तरजइए, ठाणा दुएहं पि रूवजुया ॥ १०३ ॥**

षर्णां मासानामशीत दिवसशतं भवति, तस्मादशीतात् दिवसशतात् प्रथमयो' स्थापनाऽऽरोपणयोर्ये दिवसास्तान् शोधयेत्, शोधयित्वा च यत्र यदुत्तरा वृद्धिस्तत्र तत् उत्तरम्, तत्राऽऽद्येषु त्रिषु स्थापनास्थानेषु त्रिषु चाऽऽरोपणास्थानेषु पञ्चोत्तरा वृद्धिरिति । तत्रोत्तर पञ्च, चरिमे स्थापनास्थाने चरिमे चाऽऽरोपणास्थाने पदानामेकोत्तरा वृद्धिरिति तत्रोत्तरमेक. । ततस्तेनोत्तरेण भक्ते सति यदागच्छति तानि रूपयुतानि द्वयोरपि स्थापनाऽऽरोपणयो. स्थानानि । एष गाथार्थं । भावार्थस्त्वयम्-षट्सु मासेषु किल दिवसानामशीत शतमित्यशीत शत ध्रियते १८०, तत. प्रथमे स्थाने प्रथमायाः स्थापनाया दिनानि विंशति., प्रथमाया आरोपणायाः पञ्चदशेत्युभयमीलने जाता पञ्चत्रिंशत्, सा शोध्यते, जात पञ्चचत्वारिंश शत, तत उत्तरेण पञ्चलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशत्, सा रूपयुता क्रियते, प्रथमस्थापनाऽऽरोपणयो. प्रथमत एव शोधितत्वात्, जाता त्रिंशत्, एतावन्ति प्रथमे स्थाने स्थापनापदानि,एतावन्त्येव चाऽऽरोपणापदानि । तथा द्वितीये स्थाने प्रथमस्थापनाया दिवसा. पञ्चदश, प्रथमाऽऽरोपणायाः पञ्च उभयेषां मीलने जाता विंशति , अशीतिशतात् शोध्यते, जात षष्ट शत, तस्योत्तरेण पञ्चकलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धा द्वात्रिंशत् रूपयुता क्रियते, जाता त्रयस्त्रिंशत, एतावन्ति द्वितीये स्थाने स्थापनापदान्येतावन्त्येव चाऽऽरोपणापदानि, तृतीये स्थाने प्रथमस्थापनाया दिवसा. पञ्च, प्रथमाऽऽरोपणाया अपि पञ्च । उभयमीलने जाता दश, ते अशीतात् शतादपनीयन्त, जात सप्तत शतम् १७० । तस्योत्तरेण पञ्चकलक्षणेन भागो ह्रियते , लब्ध. चतुस्त्रिंशत, सा रूपयुता क्रियते, जाता पञ्चत्रिंशत्, एतावन्ति तृतीये स्थाने स्थापनापदान्येतावन्त्येव चाऽऽरोपणापदानि । चतुर्थे स्थाने प्रथमस्थापनाया एक दिन,प्रथमाऽऽरोपणाया अपि चैकम् । उभयमीलने जाते द्वे दिने, ते अशीतात् शतात् शोध्येते । जातमष्टसप्तत शतम् १७८ । तस्योत्तरेण एकलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धमष्टसप्तत शत, तत् रूपयुत क्रियते, जातमेकोनाशीतं शतमेतावन्ति चतुर्थे स्थाने स्थापनापदानि, एतावन्त्येव चाऽऽरोपणापदानि ।

" उत्तरभइए " इत्युक्तम् , तत्र कस्मिन् स्थाने किमुत्तरमित्युत्तरविभागकरणार्थमाह-

**ठवणरुवणाण तिएहं, उत्तरं तु पच पंच विष्णेया ।**
**एगुत्तरिया एगा, सव्वा वि हवंति अट्ठेव ॥ १०४ ॥**

तिसृणामाद्यानां स्थापनानां तिसृणामाद्यानामारोपणानां च पदचिन्तायामुत्तर पञ्च पञ्च विज्ञेयाः तिसृष्वपि पदानां यथोत्तर पञ्चोत्तरवृद्ध्या प्रवृत्तत्वात् । " . चतुर्थी स्थापना, एका चतुर्थी आरोपणा, एकोत्तरिका । वृद्ध्या प्रवर्द्धमाना, ततस्तत्रोत्तरमेकं जानीयात्, सर्वसख्यया च सर्वा अपि स्थापनाऽऽरोपणा अष्टौ भवन्ति; "तस्र. स्थापनाश्चतस्र आरोपणा इत्यर्थः ।

सम्प्रति करणवशाद् यद् लब्ध पदपरिमाण तद् दर्शयति-

**तीसा तेत्तीसा वि य, पणतीसा अउणसीय सयमेव ।**
**एए ठवणाए पया, एवइया चेव रुवणाणं ॥ १०५ ॥**

एतानि चतसृणामपि स्थापनानां यथाक्रम पदानि । तद्यथा-प्रथमायास्त्रिंशत् द्वितीयायास्त्रयस्त्रिंशत, तृतीयाया., पञ्चत्रिंशत्, चतुर्थ्या एकोनाशीत शतम् । एतावन्त्येव चतसृणामप्यारोपणानां यथाक्रम पदानि । तद्यथा-प्रथमायास्त्रिंशत्, द्वितीयस्यास्त्रयस्त्रिंशत्, तृतीयस्याः पञ्चत्रिंशत्, चतुर्थ्या एकोनाशीत शतमिति ।

अथ का स्थापना, आरोपणा च ?, कतिषु मासेषु प्रतिसेवितेषु कृत्स्नेत्येतत्परिज्ञानार्थमाह-

**ठवणाऽऽरोवणदिवसे, माणाओ विसोहइत्तु जं सेसं ।**
**इच्छियरुवणाएँ भए,असुज्झमाणे खिवइ झोसं ॥१०६॥**

मानात् षर्णां मासानां दिवसपरिमाणादशीत्यधिकशतरूपात् विवक्षिताया. स्थापनाया विवक्षितायाश्चाऽऽरोपणाया ये दिवसास्तान् विशोधयेत्, विशोध्य च यच्छेषमुपलभ्यते तत् ईप्सितया अधिकृतया. यस्या दिवसा पूर्वं विशोधितास्तया इत्यर्थः । आरोपणया भजेत , भाग ह्रियात् । भागे च हृते यदि राशिर्निर्लेप. शुद्ध्यति ततो न किमपि प्रक्षिप्यते, केवल सा आरोपणा कृत्स्नभागहरणात् कृत्स्नेति व्यवह्रियते । यदि पुनर्निर्लेपो न शुद्ध्यति ततः क्षिपति झोष, यस्मिन्प्रक्षिप्ते समो भागहारो भवति स राशि' समकरणो झोष. । उक्त च-" झोसिति वा समकरण त्ति वा एगट्ठ ।" सा च आरोपणा अकृत्स्नभागहरणात् अकृत्स्नेति व्यवहर्त्तव्या ।

तथा च यथोक्तस्वरूपमेव झोषमुपदर्शयति-

**जेत्तियमेत्तेणं जो, सुद्धं भागं पयच्छती रासी ।**
**तत्तियमेत्तं पक्खिव, अकसिणरुवणाएँ झोसगं ॥१०७॥**

यावन्मात्रेण प्रक्षिप्तेन शोधितुमनाराशिः शुद्ध निर्लेप भागं प्रयच्छति तावन्मात्र प्रक्षिप, एतत् अकृत्स्नाऽऽरोपणाया उत्क्षुद्रा-

र्थाया झोषाग्र झोषपरिमाणम्। यथा केनापि पृष्टम्-विंशिका स्थापना, पाक्षिकी चाऽऽरोपणा कतिभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना?। उच्यते-त्रयोदशभिर्मासैः। कथमेतदवसीयते इति चेत्?, उच्यते-इह षण्णां मासानामशीतं दिवसशतमित्यशीतं शतं ध्रियते १८०। ततो विंशिकाया स्थापनाया विंशतिदिनानि, पाक्षिक्याश्चाऽऽरोपणाया पञ्चदश दिनानि शोध्यन्ते, "ठवणाऽऽरुवणादिवसे माणाउ विसोहइत्तु" इति वचनात्। शेषं जातं पञ्चचत्वारिंशशतम्, ततः "इच्छियरुवणाएँ भए" इति वचनात्। अधिकृतया पञ्चदशदिनया आरोपणया भागो ह्रियते। तत्र चोपरितनो राशिः शुद्धं भागं न प्रयच्छति, पञ्चसु च प्रक्षिप्तेषु प्रयच्छतीति पञ्चसु च प्रक्षिप्तेषु प्रयच्छतीति पञ्चपरिमाणोऽत्र झोषः प्रक्षिप्यते। ततो भागे हृते लब्धा दश मासाः। तथा "दिवसा पचहिँ भइया, दुरूवहीणा उ ते भवे मासा।" इति वक्ष्यमाणवचनात् स्थापनादिवसानां विंशतेः पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारः, ते द्विरूपहीनाः क्रियन्ते, स्थितौ द्वौ मासौ स्थापनायाः। तथा पञ्चदशदिनाया आरोपणायाः पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयस्ते द्विरूपहीनाः कृता जाता एको, लब्ध आरोपणाया एको मासः, तेन, यदि वा प्रथमेयमारोपणेति लब्धमासा दश, एकेन गुण्यन्ते, जाता दशैव-"एकेन गुणितं तदेव भवति" इति न्यायात्। ततो द्वौ स्थापनामासावेक आरोपणामासो दश प्रागुक्ता इति लब्धाः प्रतिसेविता मासास्त्रयोदश। पृच्छति-विंशिकास्थापना पञ्चविंशतिदिना चाऽऽरोपणा कतिभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना?। उच्यते-त्रयोविंशतिमासैः। तथाहि-स्थापनादिवसा विंशतिरारोपणादिवसा पञ्चविंशतिरेते मिलिताः पञ्चचत्वारिंशत्, ते षण्मासदिवसेभ्योऽशीतिशतसंख्येभ्यः शोध्यन्ते, जातं शेषं पञ्चत्रिंशशतं, ततोऽधिकृतया पञ्चविंशतिदिनया आरोपणया तस्य भागो ह्रियते। तत्रोपरितनो राशिः शुद्धं भागं न प्रयच्छति, पञ्चदशसु च प्रक्षिप्तेषु प्रयच्छतीति पञ्चदशपरिमाणोऽत्र झोषः प्रक्षिप्यते, लब्धाः षण्मासाः। तथा अधिकृताऽऽरोपणायाः पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्च ते द्विरूपहीनाः क्रियन्ते जातास्त्रयः, एतावन्त आरोपणाया मासाः, यदि वेयं तृतीयाऽऽरोपणेति "दुण्ह पि गुणसु लद्धं इच्छियरुवणाइ जइ मासा॥" इति वक्ष्यमाणवचनात् ते षण्मासास्त्रिभिर्गुण्यन्ते, जाता अष्टादश, द्वौ स्थापनामासौ त्रयश्चाऽऽरोपणामासा इति सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिमासाः।

अथवा अन्यथा झोषपरिमाणं कथयति-

ठवणादिवसे माणा, विसोहइत्ताण जयह रुवणाए।
जो सेयसविसेसो, अकसिणरुवणाएँ सो झोसो॥१७८॥

मानात् षण्मासदिवसपरिमाणात् अशीतशतात् स्थापनादिवसान् अधिकृतस्थापनावासरान् विशोध्य, विशोध्य च यच्छेषमवतिष्ठते तत् आरोपणया अधिकृताऽऽरोपणादिवसैर्भजं भागहीनं कुर्यात्, भागे च हृते य छेदात् अंशानां विश्लेषः। इह विश्लेषे कृते सति यदवतिष्ठते तदपि विश्लेषतो जातत्वाद् विश्लेषः। स तावत्प्रमाणोऽकृत्स्नाऽऽरोपणाया झोषः। यथा षण्मासदिवसपरिमाणतूनात् अशीतशतात् विंशिकाया स्थापनायाः दिवसा विंशतिरिति, ततो विंशतिः शोध्यते, जातं षष्ट्यधिकं शतम् १६०। ततः पाक्षिक्यामारोपणायां सप्तमासा ज्ञातुमिष्टा इति पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, स्थिताः शेषा दश, अधस्तात् छेदः पञ्चदश, तेभ्यो दश विश्लिष्यन्ते, स्थिताः पञ्च, आगतं पाञ्चदशिक्यामकृत्स्नाऽऽरोपणाया पञ्चको झोषः। तथा अशीतशतात् स्थापनादिवसा विंशतिः शोध्यन्ते, जातं षष्टं शतम् १६०। ततः पञ्चविंशतिदिनाया आरोपणायाः सप्तमासा ज्ञातुमिष्टा इति पञ्चविंशत्या भागो ह्रियते, तथा शेषा दश छेदोऽधस्तात्पञ्चविंशतिः, तस्या दश विश्लिष्यन्ते स्थिताः पञ्चदश, आगतं पञ्चविंशतिदिनायामारोपणायां पञ्चदशको झोषः। एवं सर्वत्र भावनीयम्।

जत्थ पुण देइ सुद्धं, भागं आरोवणा उ सा कसिणा।
दोण्हं पि गुणसु लद्धं, इच्छियरुवणाएँ जइ मासा॥१७९॥

यस्यां पुनरारोपणायामुपरितनो राशिः शुद्धं भागं प्रयच्छति, न किञ्चिदपश्चादवस्यावतिष्ठते इति भावः। सा आरोपणा कृत्स्नभागहरणात् कृत्स्नेति प्रतिपत्तव्या, यथा विंशतिदिना। तथाहि-केनापि पृष्टं विंशिका स्थापना विंशिका चाऽऽरोपणा कतिभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना?। उच्यते अष्टादशभिर्मासैः। कथमेतदवसेयमिति चेत्?। उच्यते-षण्णां मासानामशीतं दिवसशतं, तेभ्यो विंशतिर्दिनानि स्थापनाया विंशतिर्दिनान्यारोपणाया शोध्यन्ते, जातं शेषं चत्वारिंशं शतम्। ततः-"इच्छियरुवणाइ भए" इति वचनात् विंशिकया आरोपणया भागो ह्रियते, भागे च हृते उपरितनो राशिर्निर्लेपः शुद्धः, एषा कृत्स्नाऽऽरोपणा, लब्धाः सप्त मासाः। ततः "दोण्ह पि गुणसु लद्धं, इच्छियरुवणाएँ जइ मासा।" इति वक्ष्यमाणवचनात् इयमारोपणा प्रागुक्तक्रमेण द्वाभ्यां मासाभ्यां निष्पन्नेति सप्त मासा द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाताश्चतुर्दश मासाः। ततो द्वौ स्थापनामासौ द्वौ चाऽऽरोपणामासाविति समुदिताश्चत्वारस्ते चतुर्दशसु प्रक्षिप्यन्ते आगतं विंशिका स्थापना विंशिका चाऽऽरोपणा अष्टादशभिर्मासैर्निष्पन्नेति। (दोण्ह तु इत्यादि) द्वयोरपि आरोपणयोः कृत्स्नाऽकृत्स्नयोर्लब्धमोक्षितायाः आरोपणाया यति मासा यतिभिर्मासैरीक्षिताऽऽरोपणा निष्पन्नेति यावत्, तैर्निर्गुणय, यद्येकेन मासेन निष्पन्ना तत एकेन गुणय इति, द्वाभ्यां मासाभ्यां निष्पन्ना तर्हि द्विकेनापि, अथ त्रिभिस्ततस्त्रिभिरित्यादि। अथवा-द्वयोरप्यारोपणयोः कृत्स्नाकृत्स्नयोर्लब्ध यतिमासास्तत इप्सितया आरोपणया गुणय, यदि प्रथमा तत एकेन गुणयते, अथ द्वितीया ततो द्वाभ्याम्, अथ तृतीया ततस्त्रिभिरित्यादि। एतच्च प्रागपि भावितम्। तदेवमशीतिशतात् स्थापनाऽऽरोपणादिवसेषु शोधितेषु यच्छेषं तद्वक्ष्यतोक्ता।

संप्रति स्थापनाऽऽरोपणादिवसेभ्यो यथा मासा आगच्छन्ति, मासेभ्यो वा दिवसास्तथा प्रतिपादयति-

दिवसा पंचहिँ भइया, दुरूवहीणा उ ते भवे मासा।
मासा दुरूवसहिया, पचगुणा ते भवे दिवसा॥१८०॥

स्थापनाया आरोपणायाश्च दिवसाः पञ्चभिर्भज्यन्ते, पञ्चभिस्तेषा भागो ह्रियते इति भावः। ततो भागे हृते ये लब्धास्ते द्विरूपहीनाः क्रियन्ते, ततो रूपद्वये स्फेटिते इति भावः। रूपद्विके वा स्फेटिते यदवशिष्यते ते भवेयुर्मासाः, यथा विंशिकायाः स्थापनाया दिवसा विंशतिः, तेषां पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारस्ते द्विरूपहीना क्रियन्ते, स्थितौ द्वौ, आगतं विंशिकास्थापना द्वाभ्यां मासाभ्यां निष्पन्ना। तथा पाक्षिक्या आरोपणाया दिनानि पञ्चदश, तेषां पञ्चभिर्भागहरणं, लब्धास्

ष, ते द्विरूपहीनाः क्रियन्ते, स्थित एकः, आगत पाक्षिकी आरोपणा एकेन मासेन निष्पन्ना,विंशिकाऽऽरोपणा विंशिकास्थापना च द्विमासनिष्पन्ना भावनीया । तृतीयायाः पञ्चविंशतिदिनाया आरोपणाया दिवसाः पञ्चविंशतिः, तेषां पञ्चभिर्भागहारो, लब्धा पञ्च, ते द्विरूपहीनाः कृताः, स्थितास्त्रयः, आगत पञ्चविंशतिदिना तृतीयाऽऽरोपणा त्रिभिर्मासैर्निष्पन्ना । एवं सर्वत्र भावनीयम् । ( मासा दुरूवसहिया इत्यादि ) यति मासाः स्थापनायामारोपणायां वाऽधिकृतकरणवशात् लब्धास्ते दिवसाऽऽनयनाय द्विरूपसहिताः क्रियन्ते, ततः पञ्चगुणास्ते भवेयुर्यथोक्ता दिवसाः । यथा विंशिकायाः स्थापनाया द्वौ मासौ, तौ द्विरूपसहितौ क्रियेते, जाताश्चत्वारः, ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते, आगतं विंशिकायाः स्थापनाया विंशतिर्दिनानि; तथा पाक्षिक्या आरोपणाया एको मासः, ते द्विरूपसहिताः क्रियन्ते, जातास्त्रयः, ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते । आगत पाक्षिक्या आरोपणायाः पञ्चदश दिनानि, तथा पञ्चविंशतिदिनाया आरोपणायास्त्रयो मासास्ते द्विरूपयुताः क्रियन्ते, जाताः पञ्च, ते पञ्च पञ्चभिर्गुण्यन्ते, आगत पञ्चविंशतिदिनानि । एव सर्वत्र भावनीयम् ।

तदेवं करणान्यभिधायोपसंहारमाह-

**ठवणाऽऽरोवणसहिया, संचयमासा हवंति एवइया ।**
**कत्तो किं गहियंति य, ठवणामासे ततो सोह ॥१६१॥**

पूर्वम् "ठवणाऽऽरोवणदिवसे माणा उ विसोहइत्तु" इत्यादि करणवशात् ये लब्धा मासास्तेऽनन्तरोक्तकरणवशादानीताः,ये स्थापनाऽऽरोपणामासास्तत्सहिताः क्रियन्ते,ततः शिष्येभ्य एव प्ररूपय-अस्यां स्थापनायामस्या चाऽऽरोपणायामेतावन्तः सचयमासाः सर्वप्रायश्चित्तसकलनमासा भवन्ति , तदेव यतिभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्या स्थापना आरोपणा च निष्पन्ना, तदेतत्प्रतिपादितम् । अधुना तस्या तस्यां स्थापनायामारोपणायां च सचयमासानां मध्ये कुतो मासात्किं गृहीतमिति प्रतिपादनार्थमाह-( कत्तो इत्यादि ) शिष्यः पृच्छति-तस्यां तस्या स्थापनायामारोपणायां च सचयमासानां मध्ये कुतो मासात्किं गृहीतम् ? । अत्र सूरिराह-( ठवणा मासे ततो सोहे ) ततः सचयमाससङ्ख्यातः स्थापनामासान् शोधयेत, शोधिते च सति-

**दिवसेहिँ जइहिँ मासो, निप्फन्नो हवइ सव्वरुवणाणं ।**
**तइहिँ गुणिया उ मासा,ठवणादिणजुया उ छम्मासा ॥१६२॥**

सर्वासामारोपणानां यतिभिर्दिवसैर्मासो भवति निष्पन्नस्ततिभिर्गुणितास्ते मासाः कर्त्तव्याः पुनः स्थापनादिनयुक्तास्ततस्ते षण्मासा भवन्ति , यथा प्रथमायामारोपणायां त्रयोदश संचयमासाः, तेभ्यः स्थापनामासौ द्वौ शोधितौ, स्थिता पश्चादेकादश । अत्राऽऽरोपणायामेको मासः, स पञ्चदशभिर्दिनैर्निष्पन्न इति,ते एकादश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते,जातं पञ्चषष्ट शतम्, ततो विंशतिदिवसाः स्थापनासत्काः प्रक्षिप्यन्ते, जात पञ्चाशीत शत, पञ्च क्षोषः इति । तद्युक्ता जाताः षण्मासाः, आगत द्वाभ्यां स्थापनीकृताभ्यां मासाभ्यां दश दश दिनानि गृहीतानि, शेषेभ्यस्त्वेकादशभ्य पञ्चदश पञ्चदश दिनानि, केवल तन्मध्यात् पञ्चानां क्षोषः कृत , पञ्च दिनानि त्यक्तानीति भावः । क्षोषशब्दस्य तत्त्वतस्त्यागवाचित्वात् । अत एव च यान्यमूनि पञ्चदिनानि त्यक्तानि, तान्येव प्राक् राशिसमकरणार्थं प्रक्षिप्तानीति समकरणः प्रक्षेपणीयो राशिः क्षोषशब्देनोक्तः । एव सर्वत्र क्षोषभावना भावनीया । तथा विंशिकायां चाऽऽरोपणायामष्टादश किल सचया मासाः,तेभ्यो द्वौ स्थापनामासौ शोधितौ, जाताः षोडश । अत्र विंशतिदिनाऽऽरोपणा द्विमासेत्येकैको मासो दशभिर्दिनैर्निष्पन्नः, ततस्ते षोडश दशभिर्गुण्यन्ते, जातं षष्टं शतम् १६० । ततः स्थापनादिवसा विंशतिः प्रक्षिप्यन्ते, जातमशीतं शतम् , आगतमत्र द्वाभ्यां स्थापनामासाभ्यां दश दश वासरा गृहीताः, शेषेभ्योऽपि षोडशेभ्यो मासतो दश दशेति । तथा विंशिकायां स्थापनायां पञ्चविंशिकायां चाऽऽरोपणायां त्रयोविंशतिः सचयमासाः,तेभ्यो द्वौ स्थापनामासौ शोधितौ, जाताः पश्चादेकविंशतिः पञ्चविंशतिदिना चाऽऽरोपणा त्रिभिर्मासैर्निष्पन्नेत्येकैको मासः, स त्रिभागैरष्टभिर्दिनैर्निष्पन्नः,ततः एकविंशतिरष्टभिर्गुणिता जातमष्टषष्टं शतं, त्रिभागगुणने च सप्त । सप्त, तेऽपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातं पञ्चसप्ततं शत, तत्र विंशतिः स्थापनादिवसाः प्रक्षिप्यन्ते, जात पञ्चनवतं शतम् १९५ । अत्र पञ्चदश दिनानि क्षोष इति, तान्यपनीयन्ते, जातमशीतं शतम्, आगतमत्र द्वाभ्यां स्थापनाकृताभ्यां मासाभ्यां दश दश रात्रिंदिवानि गृहीतानि, शेषेभ्यस्त्वेकविंशतिमासेभ्यो मासतः सत्रिभागान्यष्टावष्टौ रात्रिन्दिवानि, केवलं तत्रापि पञ्चदश दिनानि क्षोषीकृतानि । तदेव स्थापनातः शेषमासेभ्यो मासतो यद् गृहीत तत्प्रतिपादितम् ।

अधुना शेषमासेभ्यो यद् येभ्यो विशेषतो गृहीत तत्प्रतिपादनार्थं करणमाह-

**रुवणाई जइमासा, तइभागं तं करे तिपंचगुणं ।**
**सेसं च पंचगुणियं, ठवणादिवसाजुया दिवसा ॥१६३॥**

स्थापनामासेषु शोधितेषु यच्छेषमवतिष्ठते तत् आरोपणायां यतिमासास्ततिभाग तावत्सङ्ख्याकभाग करोति, कृत्वा चाऽऽद्य भाग त्रिपञ्चगुण करोति, शेषं तु समस्तमपि पञ्चगुणम् । एतच्चैव द्रष्टव्यम्-पाक्षिक्यादिष्वारोपणासु यदि पुनरेकादिना द्विदिना यावच्चतुर्दशदिना आरोपणा, तदा यतिदिना आरोपणा, ततिगुण कुर्यात् , ततस्ते दिवसा स्थापनादिवसयुताः क्रियन्ते, ततो दिवसाः षण्मासदिवसा भवन्ति । तद्यथा-प्रथमायां स्थापनायां प्रथमायां चाऽऽरोपणाया त्रयोदश सचयमासाः, तेभ्यो द्वौ स्थापनामासौ शोधितौ, जाता एकादश, अन्ये तु ब्रुवते-अत्राय वृद्धसंप्रदायः-यद्येकस्मात् मासाद् निष्पन्ना आरोपणा, ततः प्रतिसेवितमासेभ्य स्थापनायाः आरोपणायाश्च मासाः शोधयितव्याः । अथ द्व्यादिमासैर्निष्पन्नाऽऽरोपणा,ततः प्रतिसेवितमासेभ्य स्थापनामासा एव शोध्यन्ते, नाऽऽरोपणामासा इति । ततस्तन्मतेन द्वौ स्थापनामासावेकश्चाऽऽरोपणामास इति त्रयः सचयमासेभ्य शोध्यन्ते,जाता दशेति । तत्र स्वमते अधिकृताऽऽरोपणा एकमासनिष्पन्नेति एकादश एकभागेन क्रियन्ते, एकभागकृत च तत्स्वरूपमेव भवतीति जाताः समुदिता एव ते एकादश, ततः त्रिपञ्चगुणमिति वचनात् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जात पञ्चषष्टं शतम् १६५ । तत्र स्थापनादिवसाः विंशतिः प्रक्षिप्ताः, जात पञ्चाशीतं शतम् । ततः पञ्चरात्रिन्दिवान्यत्र क्षोषीकृतानि-

ति, तान्यपसार्यन्ते, जातमशीतं शतम् । मतान्तरेण तु ते दश मासा एकभागीकृताः पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चाशं शतम् १५० । ततः स्थापनादिवसा विंशतिरारोपणादिवसाः पञ्चदश प्रक्षिप्यन्ते, जातं पञ्चाशीतं शतम् १८५ । पञ्च दिनानि क्षोष इति तानि ततोऽपनीयन्ते, जातमशीतं दिवसशतम्, आगतमत्र द्वाभ्यां स्थापनीकृताभ्यां मासाभ्यां दश दश दिनानि गृहीतानि, शेषेभ्यस्त्वेकादशमासेभ्यः पञ्चदश पञ्चदश दिनानि, केवलं पञ्चदिनानि क्षोषीकृतानि । तथा विंशिकायां स्थापनायां विंशिकायां चाऽऽरोपणायामष्टादश संचयमासाः, तेभ्यो द्वौ स्थापनामासावपनीतौ, जाताः षोडश, ततोऽत्राऽऽरोपणा द्वाभ्यां मासाभ्यां निष्पन्नेति षोडश द्वाभ्यां भागाभ्यां क्रियन्ते, एकतोऽप्यष्टावधः, तत्रोपरितनमाद्यं भणन्ति, " पञ्चगुणमिति " वचनात् पञ्चदशभिर्गुणयेत्, जातं विंशं शतम् १२० । अधस्तनास्त्वष्टौ, " सेस च पञ्चगुणियं " इति वचनतः पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाताश्चत्वारिंशत् ४० । उभयमीलने जातं षष्टं शतम् १६० । अत्र स्थापनादिवसा विंशतिः प्रक्षिप्ताः, जातमशीतं शतम्, आगतमत्र द्वाभ्यां स्थापनामासाभ्यां दश दश रात्रिन्दिवानि गृहीतानि, अष्टाभ्यो मासेभ्यः पञ्चदश पञ्चदश, अन्येभ्यस्त्वष्टाभ्यः पञ्च पञ्चेति । तथा विंशिकायां स्थापनायां पञ्च, विंशिकायां चाऽऽरोपणायां त्रयोविंशतिः संचयमासाः, तेभ्यो द्वौ स्थापनामासौ शोधितौ, जाता एकविंशतिः, अत्राऽऽरोपणा त्रिभिर्मासैर्निष्पन्नेति कृत्वा ते एकविंशतिः संचयमासास्त्रिभागाः क्रियन्ते, जातास्त्रयः सप्तकाः पुञ्जाः । तत्र प्रथमे सप्तके पञ्चगुणमिति वचनात् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चोत्तरं शतम् । अत्र एको क्षोष इति पञ्चदश शोध्यन्ते, जाता नवतिः ९० । शेषौ च द्वौ भागौ सप्तकौ सेस च पञ्चगुणमिति वचनात् प्रत्येकं पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाता उभयत्र प्रत्येकं पञ्चत्रिंशत्, उभयमीलने जाता सप्ततिः, सा पूर्वराशौ प्रक्षिप्ता, जातं षष्ट्यधिकं शतम् १६० । अत्र विंशतिः स्थापनादिवसाः प्रक्षिप्ताः, जातमशीतं शतम्, आगतमत्र द्वाभ्यां स्थापनीकृताभ्यां मासाभ्यां दश दश वासरा गृहीताः सप्तभ्यो मासेभ्यः पञ्चदश, चतुर्दशभ्यो मासेभ्यः पञ्च पञ्च पञ्चदश वासराश्च क्षोषीकृता इति, एवं सर्वत्र भावनीयम् । तदेवं या स्थापना आरोपणा च यतिभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना, यस्यां च स्थापनायामारोपणायां च संचयमासानां मध्ये यतो मासात् यत् गृहीतं तदेतत्सर्वं प्रतिपादितम् ।

अधुना यतः स्थापनाया आरोपणायाश्च मासाऽऽनयनाय करणमुक्तं, "दिवसा पञ्चहिँ भइया " इत्यादि तत्प्रथमस्थान एव सर्वाऽऽत्मना व्याप्ति, न द्वितीयाऽऽदिषु स्थानेषु, तेषु क्वचित्सद्व्याप्ति, क्वचिदन्यथाऽपि, ततस्तत्रोभयं विवक्षुः प्रथमतस्तावत्तदेव करणमाह-

दिवसा पँचहिँ भइया, दुरूवहीणा य ते भवे मासा ।
मासा दुरूवसहिया, पंचगुणा ते भवे दिवसा ॥ १६४ ॥

अस्या व्याख्या पूर्ववत् ॥१९२॥

जत्थ य दुरूवहीणं,न होज्ज भागं च पंचहिँ दिज्जा ।
तहिँ ठवणारुवणमासो,एगो उ दिणा उ ते चेव ॥१६५॥

यत्र पुनः स्थापनासु आरोपणासु च पञ्चदिनाऽऽदिकासु पञ्चभिर्भागे हृते यल्लब्धं तद् द्विरूपहीनं न भवेत् । पञ्चदिनाऽऽदिकासु नवदिनपर्यन्तासु द्वयोरेव रूपयोरसम्भवात्, दशादिनाऽऽदिकासु तु चतुर्दशदिनपर्यन्तासु द्विरूपहीनतायां शून्यताऽऽपत्तेः । यदि वा-यासु स्थापनास्वारोपणासु चैकादिनाऽऽदिषु चतुर्दिनपर्यन्तासु पञ्चभिर्भागमुपरितनो राशिर्न दद्यात्, स्तोकत्वात्, तत्र तासु स्थापनास्वारोपणासु चैको मासो द्रष्टव्यः । ( दिणा उ ते चेव त्ति ) दिनान्यपि तान्येव यान्युपात्तानि, न पुनर्मासस्थायां द्विरूपसहितां कृत्वा पञ्चभिश्च गुणयित्वा दिनान्यानेतव्यानीति भावः ।

अथ कियन्तो दिवसाः स्थापनायामारोपणायां च प्राग्नुक्तकरणमन्तरेणैवमेवैकस्मात् मासात् प्रतिपत्तव्याः ? । तत आह-

एक्कादीया दिवसा, नायव्वा जाव होंति चउदसओ ।
एक्कातो मासाओ, निप्फन्ना परतो दुगहीणा ॥१९६॥

एकस्मात् मासात् निष्पन्ना दिवसा एकाऽऽदयो ज्ञातव्याः, यावच्चतुर्दश भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-एकदिनाऽऽदिकाश्चतुर्दशदिनपर्यन्ताः स्थापना आरोपणाश्च दिवसाः " पञ्चहिं भइया " इत्यादिकरणप्रयोगमन्तरेणैवमेव एकस्मात् मासात् प्रतिपत्तव्या इति (परतो दुगहीण त्ति) परतः पञ्चदशदिनाऽऽदिकासु स्थापनास्वारोपणासु च " दुगहीण त्ति " पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् " दिवसा पञ्चहिँ भइया दुरूवहीणा " इति करणतो मासाः प्रत्येतव्याः ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह-

जइ वा दुरूवहीणे, कयम्मि होज्जा जहिं तु आगासं ।
तत्थ वि एगो मासो, दिवसा ते चेव दोण्हं पि ॥१९७॥

यदि वेति प्रकारान्तरे, तच्च प्रकारान्तरमिदम्-पूर्वं दशदिनाऽऽदिकासु चतुर्दशदिनपर्यन्तासु द्विरूपहीनताया एवासंभवत एको मास उक्तो, यदि वा भवतु तत्र द्विरूपहीनता, तथाऽप्येतत्करणवशात्तत्रैको मासः प्रतिपत्तव्य इति । तदेव करणमाह-( दुरूवहीणे इत्यादि ) यत्र यासु दशादिनाऽऽदिकासु चतुर्दशदिनपर्यन्तासु पञ्चभिर्भागे हृते यल्लब्धं तस्मिन् द्विरूपहीने कृते भवेदाकाशं शून्यम्, तत्राप्येको मासो द्रष्टव्यः । दिवसा अपि द्वयीनां स्थापनाऽऽरोपणानां त एवाऽऽश्रया ये उपात्ता न तु प्राग्नुक्तकरणवशतो माससंख्यात आनेतव्या इति भावः ।

अथ यत्रोत्कृष्टा स्थापनाऽऽरोपणाभ्यामेव षण्णां मासानां परिपूर्णी भवनात् " ठवणारुवणादिवसे, माणा उ विसोहइत्तु ज सेस । " इत्यादिकरणं प्रवर्त्तते, तदप्रवृत्तौ च कथं संचयमाससंख्यानं कर्त्तव्यम् ? । तत आह-

उक्कोसारुवणाणं, मासा जे होंति करणनिद्दिट्ठा ।
ते ठवणामासजुया, संचयमासाओ सव्वासिं ॥१९८॥

सर्वासामुत्कृष्टानामारोपणानां ये मासा भवन्ति करणनिर्दिष्टाः, " दिवसा पञ्चहिँ भइया " इत्यादिना आरोपणाकरणेन निर्दिष्टाः, ते स्थापनामासयुताः, स्थापनायां ये करणवशतो लब्धमासास्तद्युक्ताः, संचयमासा द्रष्टव्याः । यथा विंशिकायां षष्टदिनशतायामारोपणायां द्वात्रिंशन्मासाः । तथाहि-स्थापना-

थां द्वौ मासौ लब्धौ,तौ च प्रागेव भाविनौ। आरोपणायाः पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धा द्वात्रिंशत्। सा द्विरूपहीना क्रियते, जाता त्रिंशत्,स्थापनामासौ तत्र प्रक्षिप्तावागतं द्वात्रिंशत्प्रतिसेविता मासाः। अथात्र कुतो मासात्किं गृहीतम्?। उच्यते-द्वौ द्वात्रिंशतः सञ्चयमासेभ्यः स्थापनामासौ शोध्येते । स्थिताः पश्चात् त्रिंशत् मासाः । तत इयमारोपणा त्रिंशता मासैर्निष्पन्ना त्रिंशत्समा वेति त्रिंशद्भागाः क्रियन्ते, आगत एकैकस्मिन् भागे एकैको मासः । तत्र प्रथमतो भागः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जाताः पञ्चदश, एवं एकोनत्रिंशत् पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चचत्वारिंशं शतम् । उभयमीलने षष्टं शतम् १६० । अत्र स्थापनादिवसा विंशतिः प्रक्षिप्ता, जातमशीतं शतम्, आगतमत्र द्वाभ्यां स्थापनीकृताभ्यां मासाभ्यां दश दश दिवसा गृहीताः एकस्मात् पञ्चदश,शेषेभ्यः पञ्च पञ्चेति । एवं सर्वत्र भावनीयम्।

तत्र प्रथमे स्थाने यावती प्रथमा स्थापना, यावती च प्रथमाऽऽरोपणा, यावन्तश्च तत्र सञ्चयमासास्तदेतत्प्रतिपादयति-

पढमा ठवणा वीसा, पढमा आरोवणा भवे पक्खो ।
तेरसहिं मासेहिं, पंच उ राइंदिया झोसो ॥ १९९ ॥

प्रथमे स्थाने प्रथमा स्थापना विंशिका विंशतिदिना,प्रथमा चाऽऽरोपणा भवति पक्षः पक्षप्रमाणा । एषा स्थापनाऽऽरोपणा च त्रयोदशभिर्मासैर्निष्पन्ना । तथा एषाऽऽरोपणा अकृत्स्ना,ततोऽत्र यमस्यां झोषोऽभूदिति झोषपरिमाणमाह, पञ्चरात्रिन्दिवानि झोषः । एतद्विषया भावना प्रागेव कृता, न भूयोऽपि क्रियते ।

अधुना प्रथमस्थाने एव प्रथमस्थापनाया द्वितीयाऽऽरोपणा यावद्दिना भवति, यावद्भिश्च सञ्चयमासैः स्थापनाऽऽरोपणा च निष्पन्ना, तदेतत्प्रतिपादयति-

पढमा ठवणा वीसा, बिइया आरोवणा भवे वीसा ।
अट्ठारस मासेहिं, एसा पढमा भवे कसिणा ॥ २०० ॥

प्रथमे स्थाने प्रथमस्थापना विंशतिर्द्वितीया आरोपणा भवेद्विंशिका विंशतिदिना। एषा स्थापना आरोपणा च निष्पन्ना अष्टादशभिर्मासैरेषा चाऽऽरोपणा कृत्स्ना प्रथमा च सर्वासां कृत्स्नाऽऽरोपणानामिति । एतद्विषयाऽपि भावना प्रागेव कृतेति न भूयः क्रियते ।

सम्प्रति प्रथमे स्थाने प्रथमायां यावद्दिना तृतीया आरोपणा,यतिभिश्च सञ्चयमासैस्ते उभे अपि निष्पन्ने तत् प्रतिपादयति-

पढमा ठवणा वीसा, तइया आरोवणा उ पणवीसा ।
तेवीसा मासेहिं, पक्खो उ तहिं भवे झोसो ॥ २०१ ॥

प्रथमस्थाने एव प्रथमा स्थापना विंशतिदिना, तृतीया चाऽऽरोपणा पञ्चविंशतिदिना । एषा प्रथमा स्थापना तृतीया चाऽऽरोपणा त्रयोविंशतिमासैर्निष्पन्ना । इयमप्यकृत्स्नाऽऽरोपणा इति झोषोऽत्राऽभूत्, अतो झोषपरिमाणमाह पक्ष , तत्र तस्यां तृतीयायामारोपणायां झोष इति शेषस्थापनाऽऽरोपणानां दिनपरिमाणे सञ्चयपरिमाणे चाऽतिदेशपरिमाणमाह-

एवं एयागमिया, गाहाओ होंति आणुपुव्वीए ।
एएण कमेण भवे, चत्तारि सया उ पणट्ठा ॥ २०२ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण एषोऽनन्तरोदितो दिनमानाऽऽदिलक्षणो गमः प्रकारो यासां ता एतद्गमिका गाथा भवन्त्यानुपूर्व्याऽनुक्रमेणाऽन्या अपि ज्ञातव्याः। यथा-" पढमा ठवणा वीसा, चोत्थी आरोवणा भवे तीसा । छव्वीसा मासेहिं, वीसइराइंदिया झोसो ॥ १ ॥" इत्यादि । अथानेन प्रकारेण कियत्सङ्ख्याका गाथा अनुगन्तव्याः? । तत आह-( एएणेत्यादि ) एतेन क्रमेण चत्वारि शतानि पञ्चषष्ठानि गाथानां भवन्ति । इयमत्र भावना-विंशिका स्थापनाममुञ्चता पञ्च, पञ्च आरोपणायां प्रक्षिप्य तावन्नेतव्यं यावदन्तिमा आरोपणा । एतासु च सञ्चयमासाऽऽनयनाय प्रागुक्तकरणलक्षणं प्रयोक्तव्यम् । तद्यथा-अशीतात् दिवसशतात् प्राक् स्थापनाऽऽरोपणादिवसाः शोधयितव्याः । ततो यच्छेषमवतिष्ठते तस्याधिकृताया आरोपणाया भागो हर्तव्यः, तत्र यदि शुद्धं भागं न प्रयच्छति, ततो यावता प्रक्षिप्तेन परिपूर्णो भागः शुद्ध्यति, तावन्मात्रो झोषः प्रक्षेपणीयः । तत्प्रक्षेपानन्तरं च भागे हृते ये लब्धा मासास्ते यतिभिर्मासैरारोपणा निष्पन्ना ततित्रिगुणयितव्या ,ततः स्थापनाऽऽरोपणामासा अपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततः समागच्छति प्रतिसेवितमासपरिमाणमिति कुतो मासात् किं गृहीतमित्यस्यामपि जिज्ञासायां सञ्चयमासेभ्यः प्रथमं स्थापनामासाः शोधयितव्याः, ततः शेषा ये मासास्तिष्ठन्ति ते यतिभिर्मासैर्निष्पन्ना यत्सङ्ख्याका वा आरोपणा तावन्तो भागाः कर्त्तव्याः। तत्र प्रथमो भागः पञ्चदशभिर्गुणयितव्यः, शेषाः सर्वेऽपि पञ्चभिर्गुणनीयाः । एते सर्वेऽपि दिवसा एकत्र मीलयितव्याः, यश्च झोषः प्रक्षिप्तः स शोधयितव्यः । ततः स्थापनादिवसाः प्रक्षेपणीयाः । आगतफलमप्येवं कथनीयम्-यतिभिर्दिवसैः स्थापनामासो निष्पन्नस्तति दिवसाः स्थापनीकृतेभ्यो मासेभ्यः प्रत्येकं गृहीताः, यावन्तश्च मासाः पञ्चदशत्रिगुणितास्तावद्भ्यः पञ्चदश पञ्चदश, शेषेभ्यः पञ्च पञ्चेति, एवं पञ्चविंशिकायामपि स्थापनायां पाक्षिक्यादय आरोपणा द्रष्टव्या, यावच्चरमा पञ्चपञ्चाशद्दिनशतमाना,त्रिंशत्कायां स्थापनायां पाक्षिक्यादय आरोपणा यावत्पञ्चाशद्दिनशतमाना।एवं तावद्यावच्चरमायां स्थापनाया पञ्चषष्टदिनशतमानाया पाक्षिक्येकाऽऽरोपणा। एतासु च पूर्वभणितेन प्रकारेण चत्वारि शतानि पञ्चषष्ठानि गाथानां कर्त्तव्यानि। इति प्रथमं स्थापनाऽऽरोपणास्थानं समाप्तम्।

सम्प्रति द्वितीयं स्थापनाऽऽरोपणास्थानं
प्रतिपिपादयिषुरित्याह-

तेत्तीसं ठवणपया, तेत्तीसाऽऽरोवणाएँ ठाणाइं ।
ठवणाणं संवेहा, पंचेव सया उ एगट्ठा ॥ २०३ ॥

द्वितीये स्थाने त्रयस्त्रिंशत्स्थापनापदानि, त्रयस्त्रिंशच्चाऽऽरोपणाया स्थानानि पदानि । एतच्च प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते । सम्प्रति संवेधपरिमाणमाह-( ठवणाणमित्यादि ) स्थापनानामारोपणाभिः सह संवेधाः सर्वसङ्ख्यया भवन्ति पञ्चशतान्येकषष्ठानि एकषष्ट्यधिकानि ५६१ । कथमेतदवसातव्यमिति चेत् ? । उच्यते-इह संवेधसङ्ख्याऽऽनयनाय प्रागुक्ता "गच्छोत्तरसावर्गे" इत्यादि करणगाथा। गच्छश्चात्र त्रयस्त्रिंशत्।

तथा गच्छाऽऽनयनाय पूर्वसूरिप्रदर्शितेयं करणगाथा-

ठवणाऽऽरोवणदिवसा, उम्मासा पञ्चभागभइया जे।

रूवजुया ठवणपया, तिसु चरमाऽऽदेस भागेक्को ॥२०४॥

षण्णां मासानां समाहार षण्मास, तस्मात् षण्मासात् स्थापनाऽऽरोपणादिवसैर्विरहितात् तदनन्तर पञ्चभागरूपात् ये लब्धास्ते रूपयुता सन्तो यावन्तो भवन्ति, तावन्ति स्थापनापदानि एतावान् अत्र गच्छ इति भाव. । एतच्च त्रिष्वाद्येषु स्थानेषु द्रष्टव्यम्, चरमेऽपि स्थाने एष एवाऽऽदेशः केवलमकेन भागो हर्त्तव्य । एष गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-प्रथमस्थाने प्रथमा स्थापना विंशतिदिना प्रथमा चाऽऽरोपणा पञ्चदशदिना उभयमीलने दिनानि पञ्चत्रिंशत् । तानि षण्मासदिवसेभ्योऽशीतशतप्रमाणेभ्य. शोध्यन्ते, जात पञ्चचत्वारिंश शतम, तस्य पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशत्, सा रूपयुता क्रियते, जाता त्रिंशत् । आगतः प्रथमे स्थाने त्रिंशत् गच्छ । तथा द्वितीये स्थाने प्रथमा स्थापना पञ्चदशदिना, प्रथमा चाऽऽरोपणा पञ्चदिना उभयमीलने जातानि दिनानि विंशति, षण्मासदिवसेभ्योऽशीतशतप्रमाणेभ्य. शोध्यते, जात षष्टि शतम्-१६० । तस्य पञ्चभिर्भागो ह्रियते । लब्धा द्वात्रिंशत्, सा रूपयुता क्रियते, जाता त्रयस्त्रिंशत् । आगत द्वितीये स्थाने त्रयस्त्रिंशद्गच्छ । चत्तरमेक आदिरप्येक । अत्र भावना प्रागुक्ताऽनुसर्त्तव्या । तत्र गच्छस्त्रयस्त्रिंशत् एकेन गुणाऽनुसर्त्तव्या । तत्र गच्छस्त्रयस्त्रिंशत् एकेन गुण्यते, एकेन गुणित तदेव भवतीति जातास्त्रयस्त्रिंशदेव मासा. उत्तरेणैकेन हीना. क्रियन्ते, जाता द्वात्रिंशत्, तत्राऽऽदिममेकरूपलक्षणं प्रक्षिपेत्, जाता भूयस्त्रयस्त्रिंशत्, एतत् अन्तिम धनम् । एतच्चान्तिम धनमादिना एकेन युत क्रियते, जाता चतुस्त्रिंशत् सा गच्छार्द्धेन गुणयितव्या । तत्र गच्छराशेर्विषमत्वात्परिपूर्णमर्द्धं न लभ्यते इति चतुस्त्रिंशदर्द्धीक्रियते, जाता. सप्तदश, ते गच्छेन परिपूर्णेन गुण्यन्ते, जातानि पञ्चशतान्येकषष्ट्यानि ५६१ ।

सम्प्रत्यस्मिन् द्वितीये स्थाने कतिदिना प्रथमा स्थापना कतिदिना च प्रथमाऽऽरोपणा सा च प्रथमा स्थापनाऽऽरोपणा च कतिभि. सञ्चयमासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना तत्प्रतिपादयति-

पढमा ठवणा पक्खो, पढमा आरोवणा भवे पंच ।
चोत्तीसा मासेहिं, एसा पढमा भवे कसिणा ॥ २०५ ॥

द्वितीये स्थाने प्रथमा स्थापना पक्ष पक्षप्रमाणा, प्रथमा चाऽऽरोपणा भवति पञ्चपञ्चदिना । एषा स्थापना आरोपणा च निष्पन्ना चतुस्त्रिंशता मासै प्रतिसेवितै. । कथमिति चेत् । उच्यते-षण्मासानादिवसा अशीत शत, तस्मात् "ठवणाऽऽरोवणदिवसे माणा उ विसोहइत्तु " इति वचनात् स्थापनादिवसा पञ्चदश, आरोपणादिवसा पञ्च उभयमीलने विंशति शोध्यन्ते, जात षष्ट शतम् १६० । ततोऽधिकृतया पञ्चकलक्षणया आरोपणया भागो ह्रियते, लब्धा द्वात्रिंशत् मासा । राशिश्चात्र निर्लेप शुद्ध इत्येषा आरोपणा कृत्स्ना । तथा चाऽऽह-एषा आरोपणा भवति कृत्स्ना, कृत्स्नभागहरणात् । सा चास्यस्या कृत्स्नाऽऽरोपणाना प्रथमा स्थापनादिवसा (?), ता च मासाऽऽनयनाय पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रय', ते द्विरूपहीना क्रियन्ते, जात एकक आगत एको मास , आरोपणायामप्येको मासो लब्ध , " जत्थ उ दुरूवहीण न होज्ज । " इत्यादिवचनात् । तत एकः स्थापनामास एक आरोपणामास इति द्वौ मासौ पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, आगत चतुस्त्रिंशन्मासा प्रतिसेविता । अथ कुतो मासात् किं गृहीतम् ?। उच्यते-चतुस्त्रिंशत प्रतिसेवितमासेभ्य एक. स्थापनामासः शोध्यते, जातास्त्रयस्त्रिंशत्, ते आरोपणया पञ्चदिनमानया भागे हृते लब्ध इति पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जात पञ्च षष्टि शतम् १६५ । तत्र स्थापनादिवसाः पञ्चदिवसप्रक्षिप्ता, जात(?)मागतमेकस्मात् स्थापनीकृतान्मासात् पञ्चदश दिनानि गृहीतानि शेषेभ्यस्तु पञ्च पञ्चेति ।

अधुना द्वितीये स्थाने प्रथमायां स्थापनायां यावद्दिना द्वितीया आरोपणा, यतिभिश्च सञ्चयमासैः प्रतिसेवितै. सा प्रथमा स्थापना, द्वितीया चाऽऽरोपणा निष्पन्ना, तदेतत्प्रतिपादयति-

पढमा ठवणा पक्खो, वितिया आरोवणा भवे दसओ ।
अट्ठारस मासेहिं, पंच उ राइंदिया झोसो ॥ २०६ ॥

द्वितीये स्थाने प्रथमा स्थापना पक्षो, द्वितीया चाऽऽरोपणा दश दश दिनानि भवन्ति । एषा च स्थापना, आरोपणा च अष्टादशमासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना । तथाहि- अशीतात् स्थापनादिवसा पञ्चदश, आरोपणादिवसा दश, उभयमीलने पञ्चविंशति शोध्यते, जात पञ्च पञ्चाश शतम् १५५ । ततोऽधिकृतया दशदिनया आरोपणया भागो ह्रियते, अत्र शुद्धो भागो न शुध्यति, पञ्चसु प्रक्षिप्तेषु शुध्यतीति पञ्चकोऽत्र झोष । तथा चाऽऽह-पञ्चरात्रिन्दिवानि झोष इति लब्धा षोडश मासा', स्थापनायां च प्रागुक्तप्रकारेणैको मास आरोपणायास्तु दशाऽऽत्मिकायाः पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धौ द्वौ तौ द्विरूपहीनौ कृतौ, जात शून्यम, लब्ध एको मास. " जइ वा दुरूवहीणे, क यम्मि सुन्ना जहिं तु आगास० । तत्थ वि एगो मासो ।" इति वचनात्, तौ द्वावपि मासौ पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते, आगतमष्टादश मासा प्रतिसेविता । अथ कुतो मासात् किं गृहीतम् ?। उच्यते-षोडशमासेभ्यो दश दश रात्रिन्दिवानि पञ्च झोषीकृतानि, स्थापनामासात्पञ्चदश, आरोपणामासाद्दशकः प्रत्यय इति ?। उच्यते-षोडश दशभिर्गुणिता जात षष्ट शतम १६० । पञ्च झोषीकृतास्तत. शोध्यन्ते, जात पञ्चाश शतम् । तत. स्थापनादिवसा पञ्चदश, आरोपणादिवसा दश, उभयमीलने पञ्चविंशतिः प्रक्षिप्यन्ते, जातमशीत शतम् ।

पढमा ठवणा पक्खो, तइया आरोवणा भवे पक्खो ।
बारसहिं मासेहिं, एसा बिइया भवे कसिणा ॥ २०७ ॥

द्वितीये स्थाने प्रथमा स्थापना पक्षस्तृतीया चाऽऽरोपणा भवति पक्ष । एषा स्थापना आरोपणा च द्वादशभिर्मासैर्निष्पन्ना । कथमवसीयते इति चेत् ?। उच्यते-अशीतात् दिवसशतात् स्थापनादिवसा पञ्चदश, आरोपणादिवसाश्च पञ्चदश, उभयमीलने त्रिंशत् शोधिता, जात पञ्चाश शतम् १५० । ततोऽधिकृतया पञ्चदशदिनया आरोपणया भागो ह्रियते, लब्धा दश मासा', प्रागुक्तप्रकारेण चैको मास स्थापनायामेको मास आरोपणायामिति द्वौ मासौ तत्र प्रक्षिप्तौ, आगत द्वादश मासै' प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना । अथ कुतो मासात् किं गृहीतम् ?, उच्यते-एकैकस्मात्पञ्चदश वासरा । तथाहि द्वादश मासा पञ्चदशभिर्गुणिता जातमशीत दिवसशतमिति ।

एवं एयागमिया, गाहाओ हुंति आणुपुव्वीए ।
एएण कमेण भवे, पंचेव सया उ एगट्ठा ॥ २०८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण एतद्गमिका अनन्तरोक्तप्रकारा, गाथा १

नुपूर्व्या क्रमेण भवन्त्यन्या अपि ज्ञातव्याः। कियत्संख्याकास्ता एतेन क्रमेण ज्ञातव्याः ?, इत्याह-एतेन क्रमेण भवन्ति पञ्चशतान्येकषष्टीनि गाथानामिति । इयमत्र भावना--पाक्षिकीं स्थापनाममुञ्चता आरोपणायां च पञ्च पञ्च प्रक्षिपता तावन्नेतव्य यावत् त्रयस्त्रिंशत् मासाः, पञ्चषष्टदिनशतमाना आरोपणा । ततो विंशतिदिनां स्थापनाममुञ्चता पञ्चाह्निकायामारोपणायां पञ्च पञ्च प्रक्षिपता तावन्नेतव्य यावत् द्वात्रिंशत्तमा षष्टिदिनशतमाना आरोपणा । एवं स्थापनासु पञ्च पञ्च प्रक्षिपता आरोपणासु चैकैक स्थानमुपरितनभागात्परिहरता तावन्नेतव्यं यावद्गाथानां पञ्चशतानैकषष्टानि भवन्ति । द्वितीयं स्थापनाऽऽरोपण स्थान समाप्तम् ।

सम्प्रति तृतीय स्थापनाऽऽरोपणास्थान प्रतिपादयन्निदमाह-

**पणतीसं ठवणपया, पणतीसाऽऽरोवणाइँ ठाणाइं ।**
**ठवणाणं संवेहे, छच्चेव सया भवे तीसा ॥२०९॥**

तृतीये स्थाने पञ्चत्रिंशत्स्थापनापदानि, पञ्चत्रिंशच्चाऽऽरोपणाया स्थानानि पदानि । एतदपि पूर्वमेव भावितम् । सम्प्रति संवेधपरिमाणमाह-( ठवणाणमित्यादि ) स्थापनानामारोपणाभिः सह संवेधाः सर्वसंख्यया भवन्ति षट्शतानि त्रिंशानि ६३०। एतानि च "गच्छुत्तरसंविग्गे" इत्यादिकरणवशादानेतव्यानि । तत्र गच्छ. पञ्चत्रिंशत् । कथमिति चेत् ?, उच्यते-"ठवणारोवणदिवसा ।" इत्यादिकरणवशात् । तथाहि-अशीतात् शतात् पञ्चदिनानि प्रथमस्थापनायाः, पञ्चदिनानि प्रथमाऽऽरोपणाया उभयमीलने दश शोध्यन्ते, जात सप्ततशतम् १७०। तस्य पञ्चभिर्भागो ह्रियते, लब्धा चतुस्त्रिंशत् । सा रूपयुता क्रियते, आगत पञ्चत्रिंशत् गच्छः । उत्तरमेक आदिरप्येकः । ततः पञ्चत्रिंशत् एकेन गुण्यते । एकेन गुणित तदेव भवतीति जाता पञ्चत्रिंशदेव, सा उत्तरेणैकेन हीना क्रियते, जाताश्चतुस्त्रिंशत् तत्राऽऽदिमेक प्रक्षिपेत् । भूयोऽभवत् पञ्चत्रिंशत् । एतत् अन्तिमधनमन्तिमेऽङ्कस्थाने परिमाणम् । एतदादियुत क्रियते, जाता षट्त्रिंशत्, सा गच्छार्द्धेन गुणयितव्या । तत्र गच्छराशेर्विषमत्वात्परिपूर्णमर्द्धं न ददातीति षट्त्रिंशदर्द्धीक्रियते, जाता अष्टादश, ते गच्छेन परिपूर्णेन गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि ।

सम्प्रत्यस्मिन् तृतीये स्थाने कियद्दिना प्रथमा स्थापना, प्रथमाऽऽरोपणा च, सा च स्थापनाऽऽरोपणा च कियद्भिः संचयमासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्नेत्येतदभिधित्सुराह-

**पढमा ठवणा पंच उ, पढमा आरोवणा भवे पंच ।**
**छत्तीसा मासेहिँ, एसा पढमा भवे कसिणा ॥ २१० ॥**

तृतीये स्थाने प्रथमा स्थापना पञ्च पञ्चदिनप्रमाणा, प्रथमा आरोपणा भवति पञ्चपञ्चदिना । एषा स्थापना आरोपणा च निष्पन्ना षट्त्रिंशता मासैः प्रतिसेवितैः । कथमिति चेत् ? उच्यते-अशीतात् शतात् पञ्च स्थापनादिवसाः पञ्च आरोपणादिवसाः, उभयमीलने दश शोधिताः, जात सप्त शतम् १७० । एतस्य पञ्चदिनया आरोपणया भागो ह्रियते, लब्धाश्चतुस्त्रिंशन्मासा, एकः स्थापनायां पूर्वप्रकारेण मास, एक आरोपणायामिति द्वौ मासौ तत्र प्रक्षिप्तौ, जाताः षट्त्रिंशत् मासाः । अथ कुतो मासात्किं गृहीतम् ? उच्यते-प्रतिसेवितमासेभ्य षट्त्रिंशत् एकः स्थापनामासः शोधितो, जाताः पञ्चत्रिंशत्, ते यथैकद्वित्र्यादिदिना आरोपणा पञ्च दिना दशदिना वा, ततस्तयैवाऽऽरोपणया संचयमासा गुण्यन्ते इति वचनादत्र पञ्चदिनाऽऽरोपणेति पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जात पञ्चसप्तत शतम् १७५ । स्थापनादिवसाश्च पञ्च तत्रैव प्रक्षिपता जातमशीत शतमागतमेकैकस्मान्मासात् पञ्च पञ्च रात्रिन्दिवानि गृहीतानि । अत्र भागः शुद्धः पतित इति कृत्स्नैवाऽऽरोपणा सर्वासां च कृत्स्नाऽऽरोपणानामाद्येति प्रथमा । तथा चाऽऽह-" एसा पढमा भवे कसिणा । "

**पढमा ठवणा पंच उ, बिइया आरोवणा भवे दस उ ।**
**एगुणवीसमासेहिँ, पंचहिँ राइंदिया झोसो ॥ २११ ॥**

तृतीये स्थाने प्रथमा स्थापना पञ्चपञ्चदिना, द्वितीया आरोपणा भवति दश दशदिना । एषा स्थापना द्वितीया चाऽऽरोपणा निष्पन्ना एकोनविंशत्या मासैः प्रतिसेवितैः । तथाहि-अशीतात् शतात् पञ्च स्थापनादिवसाः । उभयमीलने पञ्चदश शोध्यन्ते, जात पञ्चषष्ठ शतम् १६५ । अस्य दशभिर्भागो ह्रियते । तत्र परिपूर्णो भागो न पततीति पञ्चरात्रिन्दिवानि झोषः प्रक्षिप्यते । तथा चाऽऽह-"पंचहिँ राइंदिया झोसा" झोषे च प्रक्षिप्ते लब्धाः सप्तदश मासाः एक. स्थापनाया मास., एक आरोपणाया इति द्वौ मासौ तत्र प्रक्षिप्तौ । जाता एकोनविंशतिरागतमेकोनविंशत्या प्रतिसेवितैर्मासैर्निष्पन्नेति । अथ कुतो मासात्किं गृहीतम् ?, उच्यते । प्रतिसेवितमासेभ्य एकोनविंशतेरेकस्थापनामास. शोधितो, जाता अष्टादश मासा. । अत्र दशदिनाऽऽरोपणेति ते दशभिर्गुण्यन्ते, जातमशीत शत, पञ्चवासरा झोष इति पञ्च ततोऽपसारिता जात पञ्चसप्तत शतम् । तत्र स्थापनादिवसाः पञ्च प्रक्षिप्ताः, जातमशीत शतम् । आगतं स्थापनीकृतान्मासात्पञ्चरात्रिन्दिवानि गृहीतानि । पञ्चझोषीकृत्य शेषेभ्यो दश दशरात्रिन्दिवानीति ।

**पढमा ठवणा पंच उ, तइया आरोवणा भवे पक्खो ।**
**तेरसहिँ मासेहिँ, पंच य राइंदिया झोसो ॥ २१२ ॥**

तृतीये स्थाने प्रथमा स्थापना पञ्चपञ्चदिना, तृतीया चाऽऽरोपणा भवति पक्ष. पक्षप्रमाणा, एषा प्रथमा स्थापना तृतीया चाऽऽरोपणा त्रयोदशभिः प्रतिसेवितैर्मासैर्निष्पन्ना । तथाहि-अशीतात् दिवसशतात् पञ्चस्थापना दिवसा, पञ्चदश आरोपणा दिवसाः । उभयमीलने विंशति. शोध्यन्ते, जातं षष्टि शतम् १६० । तस्याधिकृतया पञ्चदिनया आरोपणया भागो ह्रियते, तत्र सिद्धो भागो न पततीति पञ्च झोष. प्रक्षिप्यते । तथा चाऽऽह-"पंच उ राइदिया झोसो ।" झोषे च प्रक्षिप्ते लब्धा एकादश एकस्थापनाया मास एक आरोपणाया इति द्वौ मासौ तत्र प्रक्षिप्तावागत त्रयोदशभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना । अथ कुतो मासात् किं गृहीतम् ?, उच्यते-प्रतिसेवितमासेभ्यस्त्रयोदशभ्य एकस्थापनामास. शोधित., स्थिताः पश्चाद् द्वादश आरोपणा एकमासनिष्पन्नेत्येकमागीक्रियन्ते, आद्यश्च भागः पञ्चदशभि किल गुणयितव्य इति पञ्चदशभिस्ते द्वादशापि गुण्यन्ते, जातमशीत शत शत, पञ्च झोष-इति ततोऽपनीयन्ते जात पञ्चसप्तत शत, तत्र पञ्चस्थापनादिवसा. प्रक्षिप्यन्ते जातमशीत शतमागतमत्र स्थापनाकृतान्मासात्पञ्च दिवसा गृहीता, शेषेभ्यस्तु द्वादशमासेभ्य. पञ्चझोषीकृत्य पञ्चदश पञ्चदशेति ॥

एवं एयागमिया, गाहाओ हुंति आणुपुव्वीए ।
एएण कमेण भवे, छच्चेव सयाई तीसाई ॥ ११३ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण एतद्गमिका अनन्तरोदितगाथा आनुपूर्व्या क्रमेणान्या अपि भवन्ति ज्ञातव्या । कियत्सङ्ख्याकाः ?, इत्याह- एतेनानन्तरोदितेन क्रमेण भवन्ति गाथानां षट्शतानि त्रिंशानि । किमुक्तं भवति-पञ्चदिनस्थापनाममुञ्चता आरोपणायां च यथोत्तरं पञ्च पञ्च प्रक्षिपता तावद् गन्तव्यं यावत्पञ्चत्रिंशन्मासा पञ्चसप्ततशतदिना आरोपणा । पुनर्दशदिना स्थापनां कृत्वा यथोक्तप्रकारेण तावन्नेयं यावच्चतुस्त्रिंशत्तमा सप्ततदिनशता आरोपणा । एवं स्थापनासु पञ्च पञ्च प्रक्षिपता आरोपणास्वेकैकमुपरितनं स्थानं हापयता तावन्नेयं यावत् गाथानां षट्शतानि त्रिंशदधिकानि भवन्ति । तृतीयं स्थापनाऽऽरोपणास्थानं समाप्तम् ।

सम्प्रति चतुर्थं स्थापनाऽऽरोपणास्थानं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह-

अउणासीयं ठवणा-ण सयं आरोवणा वि तह चेव ।
सोलस चेव सहस्सा, दसुत्तर सयं च संवेहो ॥ ११४ ॥

चतुर्थे स्थाने एकोनाशीतं स्थापनापदानां शतं भवति, आरोपणाया अपि तथैव ज्ञातव्यम् । किमुक्तं भवति ?-आरोपणानामपि पदानां शतमेकोनाशीतं भवतीति । एतच्च प्रागेव भावितम् । सम्प्रति संवेधपरिमाणमाह-स्थापनानामारोपणाभिः सह संवेधे संयोगाः षोडशसहस्राणि दशोत्तरं शतम् १६११० भवतीति । एवंसङ्ख्याकाश्च संवेधाः, "गच्छुत्तरसंविग्गे" इत्यादिकरणवशादानेतव्याः । गच्छश्चात्र एकोनाशीतं शतम् । तथाहि-अशीतात् शतात्प्रथमस्थापनादिवस एकः ,प्रथमाऽऽरोपणादिवस एक इत्युभयमीलने द्वौ शोधितौ, जातमष्टसप्ततं शतम् । तस्य " चरमा देसभागेको " इति वचनादेकेन भागो ह्रियते, लब्धमष्टसप्ततमेव शतम् । तत्र पूर्वं रूपं प्रक्षिप्तं, जातमेकोनाशीतं शतम् । उत्तरमेकं आदिरप्येकं, तत्र गच्छ एकोनाशीतशतलक्षणः उत्तरेणैकेन गुण्यते, जातं तदेव एकोनाशीतं शतम्,ततः एकेन हीनं क्रियते, जातमष्टसप्ततं शतं,तत्राऽऽदिमेकं प्रक्षिपेत्,च्युपत्तरेवाचुटेकोनाशीतं शतम्,एतदन्तिमधनम्,एतत् आदिना एकेन युतं क्रियते, जातमशीतं शतं गच्छराशिरत्र विषम इत्यस्यैवाशीतस्य शतस्यार्द्धं क्रियते,जाता नवतिः, सा गच्छेन परिपूर्णेन एकोनाशीतशतप्रमाणेन गुण्यते, आगतं षोडशसहस्राणि, शतं दशोत्तरमिति ।

तथाऽस्मिन् चतुर्थे स्थाने कतिदिना प्रथमा स्थापना, कतिदिना च प्रथमाऽऽरोपणा, कतिभिश्च सा प्रथमा स्थापना,आरोपणा च प्रतिसेवितैर्मासैर्निष्पन्नेत्यत आह-

पढमा ठवणा एक्को, पढमा आरोवणा भवे एक्को ।
आसीया माससया, एसा पढमा भवे कसिणा ॥ ११५ ॥

चतुर्थे स्थाने प्रथमा स्थापना एको दिवसः, एकदिनप्रमाणा इत्यर्थः । प्रथमा आरोपणा भवत्येकं एकदिना । एषा स्थापना आरोपणा च अशीतात् शताऽशीत्यधिकात् मासशतात् निष्पन्ना । तथाहि-अशीतात् शतात् एकः स्थापनादिवस, एक आरोपणादिवस इति द्वौ शोधितौ, जातमष्टसप्ततं शतं, तस्य एकाङ्केनप्रमाणयाऽऽरोपणया भागो ह्रियते, लब्धमष्टसप्ततमेव शतम् । एकः स्थापनामास एक आरोपणामास इति द्वौ तत्र प्रक्षिप्तौ, लब्धमशीतं मासशतम् । अथ कुतो मासात्किं गृहीतम् ?,उच्यते एकैकस्मान्मासादेकैको दिवस । अत्र भाग० शुद्ध पतित इति कृत्स्नाऽऽरोपणा । असावन्यासां कृत्स्नाऽऽरोपणानामाद्येति प्रथमा । तथा चाऽऽह-" एसा पढमा भवे कसिणा । "

पढमा ठवणा एक्को, बिइया आरोवणा भवे दोन्नि ।
एगनउयमासेहिं, एगो उ तहिं भवे झोसो ॥ ११६ ॥

चतुर्थे स्थाने प्रथमा स्थापना एक एकदिवसा, द्वितीया आरोपणा भवति द्विदिने द्विदिनप्रमाणा । एषा स्थापना आरोपणा च निष्पन्ना एकनवतिमासैः । तथाहि-अशीतात् एकः स्थापनादिवसो, द्वावारोपणादिवसौ, उभयमीलने त्रयः शोध्यन्ते, जाताः पञ्चसप्ततिमासा द्विदिना आरोपणेति द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जातमशीतं शतम्, एको झोष इति स ततः शोध्यते, ततोऽभवदेकोनाशीतं शतम् । तत्र स्थापनादिवस एकस्तत्र प्रक्षिप्तो, जातमशीतं शतम् । आगतमेकस्मात् स्थापनीकृतात् मासात् एको दिवसो गृहीतः, शेषेभ्य एकं झोषीकृत्य द्वौ द्वौ दिवसाविति ।

पढमा ठवणा एक्को, तइया आरोवणा भवे तिन्नि ।
एगट्ठी मासेहिं, एगो उ तहिं भवे झोसो ॥ ११७ ॥

चतुर्थे स्थाने प्रथमा स्थापना एक० एकदिना, तृतीया आरोपणा त्रीणि दिनानि । एषा स्थापना आरोपणा च निष्पन्ना एकषष्टिमासैः । तथाहि-अशीतात् दिवसशतात् एकः स्थापनाया दिवसस्त्रय आरोपणायाः, उभयमीलने चत्वारः शोध्यन्ते, जातं षट्सप्ततं शतम् १७६। तस्य त्रिभिर्भागो ह्रियते,आरोपणायास्त्रिदिननिष्पन्नत्वात् । तत्र भाग० शुद्धो न पततीत्येको झोषः प्रक्षिप्यते,जातं सप्तसप्ततं शतम्१७७(?)भागे हृते लब्धा एकोनषष्टिर्मासा ,एकः स्थापनाया मास एकस्त्वारोपणाया इति द्वौ मासौ तत्र प्रक्षिप्तौ, आगतमेकषष्टिभिर्मासैः प्रतिसेवितैर्निष्पन्ना । अथ कुतो मासात्किं गृहीतम् ?,उच्यते-सञ्चयमासेभ्य एकषष्टिसङ्ख्याकेभ्य एकः स्थापनामास शोध्यते, जाता षष्टिस्त्रिदिना सङ्ख्याकेभ्य आरोपणेति ते त्रिभिर्गुण्यन्ते, जातमशीतं शतमेको झोष इति । एकस्ततोऽपनीतो, जातमेकोनाशीतं शतमेकः स्थापनादिवस०, तत्र प्रक्षिप्तो जातमशीतं, शतमागतमेकस्मात् स्थापनीकृतान्मासात् एकदिनं गृहीतं, शेषेभ्यः षष्टिमासेभ्य एकं दिनं झोषीकृत्य त्रीणि त्रीणि दिनानीति ।

एवं खलु गमियाणं, गाहाणं हुंति सोलससहस्सा ।
सयमेगं दससहियं, नेयव्व आणुपुव्वीए ॥ ११८ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण गमिकानामुक्तरूपगमोपेतानां गाथानामानुपूर्व्या क्रमेण खलु निश्चितं भवति ज्ञातव्यानि षोडशसहस्राणि, शतमेकं च दशाधिकमिति । एतदुक्तं भवति-एकदिना स्थापनाममुञ्चता आरोपणाया यथोत्तरमेकैकमारोपयता तावन्नेयं यावदेकोनाशीतदिनशता चरमाऽऽरोपणा, द्विदिनाऽऽदिष्वपि स्थापनास्वेकाऽऽदिकाऽऽरोपणा तावद् नेया यावदष्टसप्तदिना चरमा आरोपणा । एवं षोडश सहस्राणि गाथानां शतमेकं च दशोत्तरं पूरणीयमिति । एतासु च स्थापनाऽऽरोपणासु मासकरणं कुर्वता एकाऽऽदिषु चतुर्दिनपर्यन्तासु पञ्चभिर्भागहरः

मासु पञ्चदिनाऽऽदिषु नवदिनपर्यन्ता शुद्धाति.रूपद्विके दशदि-नाऽऽदिषु चतुर्दशदिनपर्यन्तासु रूपद्विकशुद्धौ जायमाने शून्ये मास एको ग्रहीतव्य. । एव पञ्चदशदिनाऽऽदिष्वेकोनविंशति-दिनपर्यन्तासु एकोनविंशतिदिनाऽऽदिषु चतुर्विंशतिदिनपर्य-न्ता शुद्धौ मासौ । एव सर्वत्र यावत्पञ्चक न परिपूर्यते तावत् पूर्वसङ्ख्याकान् मासान् दद्यात् पञ्चके तु पूर्णे रूपमधिक प्रक्षि-प्ता भावनीयम । तदेवमुक्तं स्थापनासञ्चयद्वारम् ।

अधुना राशिद्वारमाह-

असमाहिट्ठाणा खलु, सवला य परीसहा य मोहे ति ।
पलिओवमसागरोवम-परमाणु ततो असंखेज्जा ॥२१९॥

एष प्रायश्चित्तराशि कुत ? । उच्यते-यानि खल्वसमाधिस्था-नानि विंशति.,खलुशब्द. सभावने । स चैतत्संभावयति-अस-ङ्ख्यातानि देशकालपुरुषभेदतोऽसमाधिस्थानानि । एवमेकविं-शतिः शबलानि, द्वाविंशति. परीषहाः, तथा मोहे मोहनीये क-र्मणि ये अष्टाविंशतिर्भेदाः । अथवा-मोहविषयाणि त्रिंशत्स्था-नानि, एतेभ्योऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्तराशिरुत्पद्यते । भूयः शिष्य. पृच्छति-कियन्ति खलु तान्यसंयमस्थानानि ? । उच्यते—( पलितोवमेत्यादि ) पल्योपमे सागरोपमे च यावन्ति वालाग्राणि तावन्ति न भवन्ति, किं तु व्याव-हारिकपरमाणुमात्राणि यानि वालाग्राणां खण्डानि ते-भ्योऽसङ्ख्येयानि । इयमत्र भावना-यावन्ति खलु पल्यो-पमे वालाग्राणि तावन्त्यसंयमस्थानानि भवन्ति । नायमर्थ. समर्थः । यावन्ति सागरोपमे वालाग्राणि तावन्ति । यद्येव तर्हि सागरोपमेयानि वालाग्राणि प्रत्येकमसंख्येयखण्डानि क्रियन्ते, तानि च खण्डानि सांव्यवहारिकपरमाणुमात्राणि तावन्ति भवन्ति । नायमप्यर्थ. । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? । उच्यते-तेभ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणानि । अन्ये तु ब्रुवते-परमाणुमात्राणि ख-ण्डानि सूक्ष्मपरमाणुमात्राणि द्रष्टव्यानि । तदसम्यक् । सूक्ष्म परमाणवो हि तत्रानन्ता., असंयमस्थानानि चोत्कर्षतोऽप्यस-ङ्ख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि । इति गत राशिद्वारम् ।

अथ मानद्वारमाह-

वारस अट्ठ य छक्कग, माणं भणियं जिणेहिँ सोहिकरं ।
तेण परं जे मासा, संहणंता परिसडंति ॥ २२० ॥

मीयते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति मानम् । तद् द्विधा-द्रव्ये,भावे च । तत्र द्रव्येषु प्रस्थकाऽऽदिषु,भावत. पुनरिद मान प्रायश्चित्त-मान जिनैस्तीर्थकृद्भिस्त्रिविध शोधिकर भणितम् । तद्यथा-प्रथमतीर्थकरस्य द्वादश मासा ,मध्यमतीर्थकृतामष्टौ मासाः,व-र्द्धमानस्वामिनः षट् षण्मासाः । इतोऽधिक न दीयते,किन्तु ब हुष्वपि प्रतिसेवितेषु मासेष्वेतावन्मात्रमेव । अत्र प्रस्थकदृष्टान्तो यथा-प्रस्थकेन मीयमानं धान्य तावन्मीयते यावत् प्रस्थकस्य शिखा परिपूर्णा भवति, ततः परमधिकमारोप्यमाणमपि परि-पतति । एव षण्णां मासानामधिक यद्यपि प्रतिसेवित तथापि तत् स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण संहन्यमान परिशटति । तथा-चाऽऽह-(तेण परमित्यादि)तत उक्तरूपात् परमित्यव्ययम्,परे ये मासास्ते स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण संहन्यमाना संघात्यमाना परिशटन्ति । तावन्मात्रेणापि च प्रायश्चित्तप्रतिपत्तार. शुद्ध्यन्ति, शुरूपनावत्वात् भगवता तीर्थकृतामाज्ञैषा सम्यगनुष्ठेया इति ।

सम्प्रति प्रभुद्वारमाह-

केवलमणपज्जवना-णिणो य तत्तो य ओहिनाणजिणा ।



चोद्दसदसनवपुव्वी, कप्पधर पकप्पधारी य ॥ २२१ ॥

(केवलमणपज्जवनाणिणो त्ति) ज्ञानशब्द. प्रत्येकमभिसबध्यते, केवलज्ञानिनो मन पर्यायज्ञानिनश्च, ततस्तदनन्तरमवधि-ज्ञानेन जिना अवधिज्ञानजिनाः । जिनशब्दो विशुद्धाव-धिप्रदर्शक', विशुद्धावधिज्ञाना इत्यर्थ. । ततश्चतुर्दशपूर्विणो, दशपूर्विणो नवपूर्विणश्च । इहाऽमतां नवपूर्विणः न परि-पूर्णनवपूर्वधरा , किं तु नवमस्य पूर्वस्य यत् तृतीयमाचार-नामक वस्तु तावन्मात्रधारिणोऽपि नवपूर्विणः । तथा कल्पधराः कल्पव्यवहारधारिण., प्रकल्पो निशीथाध्ययन. तद्धारिणः । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।

तदेवानुक्त चशब्देन सूचितं दर्शयति-

घेप्पंति चसद्देणं, निज्जुत्तीसुत्तपेढियधरा य ।
आणाधारण जीते,य होंति पहुणो उ पच्छित्ते ॥२२२॥

चशब्देन गृह्यन्ते निर्युक्तिसूत्रपीठिकाधरा. । तत्र निर्युक्तयो भ-द्रबाहुस्वामिकृता., सूत्रपीठिका निशीथकल्पव्यवहारप्रथम-पीठिकागाथारूपा. । तथा आज्ञायां धारणे जीत च ये व्यव-हारिण.-आज्ञाव्यवहारिणो, धारणाव्यवहारिणो, जीतव्यवहा-रिणश्च । एते प्रायश्चित्तदाने प्रभव । तदेव गत प्रभुद्वारम् ।

इदानीं कियन्ति सिद्धानि प्रायश्चित्तस्थानानीति द्वारावसरः । तत्र शिष्य पृच्छति-कियन्ति खलु प्रायश्चित्तानि ? । आचार्य आह-अर्थतोऽपरिमितानि सूत्रत. पुनरिद परिमाणम्-

अणुघाइयमासाणं, दो चेव सया हवंति वावण्णा ।
तिन्नि सया बत्तीसा,हुंति अ उग्घाइयाणं पि ॥२२३॥
पंचसया चुलसीया, सव्वेसिं मासियाण बोधव्वा ।
तेण पर वुच्छामी, चाउम्मासाण संखेवं ॥ २२४ ॥

अनुद्घातिता नाम गुरवः, उद्घातिता लघवः । निशीथनाम्नि अध्ययने प्रथमोद्देशके अनुद्घातिता गुरवो मासा अभिहिताः, तेषामेकत्र सङ्क्षिप्तानां द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके भवत । द्वि-तीयतृतीयचतुर्थपञ्चमोद्देशकेषु उद्घातिता मासा उक्ताः, तेषा-मुद्घातितानां मासानामेकत्र सङ्क्षिप्तानां त्रीणि शतानि द्वात्रिं-शानि भवन्ति । एतेषां सर्वेषामप्युद्घातितमासानामनुद्घातितमा-सानां चैकत्र मीलने मासिकाना प्रायश्चित्तानां बोद्धव्यानि पञ्चशतानि चतुरशीतानि ५८४ । ( तेण परमित्यादि ) अतः पर चातुर्मासिकाना सङ्क्षेप वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

छच्च सया चोयाला, चाउम्मासाण होंतिऽणुग्घाया ।
सत्तसया चउवीसा, चाउम्मासाण उग्घाया ॥ २२५ ॥
तेरससय अठसट्ठा, चाउम्मासाण होंति सव्वेसिं ।
तेण पर वुच्छाम, सव्वसमासेण संखेवं ॥ २२६ ॥

षष्ठसप्तमाष्टमनवमदशमैकादशोद्देशकेषु अनुद्घातितानि चा-तुर्मासिकान्युक्तानि । एतेषामेकत्र संङ्क्षिप्तानां भवन्ति षट्शतानि चतुश्चत्वारिंशानि ६४४ । गाथायां " होंतिऽणुग्घाया । ' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा, प्राकृतत्वात् । एवमुत्तरार्द्धेऽपि द्वादशचतुर्दश-पञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशैकोनविंशतितमेष्वष्टसूद्देशकेषु उ-द्घातिताश्चतुर्मासिका उक्ता , तेषामेकत्र सङ्क्षिप्तानां सप्तशताना-नि चतुर्विंशतिः ७२४ । उद्घातितानामनुद्घातितानां च सर्वेषां चतुर्मासानामेकत्र मीलितानां भवन्ति त्रयोदश शतानि अ-

छप्पष्टानि १३६८ । ( तेण परमित्यादि ) ततः पर सर्वेषां मासिकानां चातुर्मासिकानां च यः समासो मीलन तेन सङ्क्षेप सर्वसंख्यासग्रह वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

नव य सया य सहस्सं, ठाणाणं पडिवत्तिओ होंति ।
बावण्णा ठाणाइं, सत्तहिँ आरोवणा कसिणा ॥२२७॥

स्थानानां मासाऽऽदिप्रायश्चित्तस्थानानां प्रतिपत्तय प्रतिपादनानि सहस्र नव च शतानि द्वापञ्चाशच्च स्थानानि १९५२ भवन्ति । तथाहि-सर्वाणि प्रागुक्तानि मासाऽऽदिप्रायश्चित्तस्थानान्येकत्र मीलितान्येतावन्तीति । सप्तभिः पुनरारोपणा कृत्स्ना । अथ कोऽस्य सूत्रस्याभिसम्बन्ध ?। उच्यते-नन्वेष एव सम्बन्धः कियन्ति प्रायश्चित्तस्थानानि सिद्धानि कियत्यश्चाऽऽरोपणा जघन्या, जघन्योत्कृष्टा, तथा कृत्स्ना अकृत्स्नाश्च सिद्धाः। तत्र प्रथमे स्थापनाऽऽरोपणे स्थाने एका जघन्या, त्रिंशत् उत्कृष्टा । एकैकस्यां स्थापनायामारोपणाभिः सह संवेधे एकैकस्या उत्कृष्टाया लभ्यमानचत्वारिंशतानि चतुस्त्रिंशदधिकानि ४३४ । द्वितीये स्थापनाऽऽरोपणास्थाने एका जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्, उत्कृष्टा अजघन्योत्कृष्टाना पञ्चशतानि सप्तविंशानि ५२७। तृतीये स्थापनाऽऽरोपणास्थाने एका जघन्या, पञ्चत्रिंशत् उत्कृष्टा, अजघन्योत्कृष्टानां पञ्चशतानि चतुर्णवतानि ४९५। चतुर्थे स्थापनाऽऽरोपणास्थाने एका जघन्या एकोनाशीत शतमुत्कृष्टानां पञ्चदश सहस्राणि नवशतानि त्रिंशानि १५९३० अजघन्योत्कृष्टानां तथा प्रथमे स्थापनाऽऽरोपणास्थाने सप्ततिरारोपणा. कृत्स्नाः, भागहारिण्य इत्यर्थः । झोषविरहिता इति यावत् ।

ताश्चेमा.-

सव्वेंसि ठाणाणं, उक्कोसाऽऽरोवणा जवे कसिणा ।
सेसा चत्ता कसिणा, ता खलु नियमा अणुक्कोसा ॥२२८॥

प्रथमे स्थापनाऽऽरोपणास्थाने त्रिंशत् स्थापनास्थानानि, तेषां च सर्वेषामपि स्थानानामन्तिमाऽऽरोपणा उत्कृष्टा भवति। ताश्च सर्वसंख्यया त्रिंशत्। एताश्च नियमतो झोषविरहिता इति कृत्स्नाः, शेषाश्चोत्कृष्टाऽऽरोपणाव्यतिरिक्तानामारोपणानां मध्ये झोषविरहिततया कृत्स्नाऽऽरोपणाश्चत्वारिंशत् । ताश्च खलु नियमान्नियमेन अनुत्कृष्टा., जघन्या मध्यमा वा इत्यर्थः । एता उत्कृष्टाः, ता मीलिता जाता सप्तति. ।

अथ कास्ता अनुत्कृष्टाश्चत्वारिंशत् कृत्स्ना ?, इत्यत आह--

वीसाए उ वीसा, चत्त असीया य तिन्नि कसिणाओ ।
तीसाएँ पक्ख पणवी-स तीस पन्ना य पणसयरी ॥२२९॥
चत्ताएँ वीस पणती-स सत्तरी चेव तिन्नि कसिणाओ ।
पणयालाए पक्खो, पणयाला चेव दो कसिणा ॥२३०॥
पणाए पणट्ठी, पणपन्नाए य पन्नवीसा य ।
सट्ठिठवणाएँ पक्खो, वीसा तीसा य चत्ता य ॥ २३१॥
सयरीए पणपन्ना, तत्तो पन्नत्तरीएँ पक्ख पणतीसा ।
असतीए ठवणाए, वीसा पणुवीस पण्णासा ॥२३२॥
नउईएँ पक्ख तीसा, पणयाला चेव तिन्नि कसिणाओ ।
सतियाएँ वीस चत्ता, पंचुत्तरि पक्ख वीसा उ ॥२३३॥
दसुत्तरसइयाए, पणतीसा वीसउत्तरे पक्खो ।
वीसा तीसा य तहा, कसिणाओ तिन्नि वीए य ॥२३४॥
तीसुत्तरि पणवीसा, पणतीसे पक्खिया जवे कसिणा ।
चत्तालीसा वीसा, पन्नासं पक्खिया कसिणा ॥२३५॥

विंशिकायां विंशतिदिनायां स्थापनायां विंशतिर्विंशतिदिना । एव चत्वारिंशद्दिना, अशीतिदिना च । एतास्तिस्रोऽप्यारोपणा कृत्स्नाः । तथा त्रिंशति त्रिंशद्दिनायां स्थापनायामिमाः पञ्चाऽऽरोपणा' कृत्स्ना । तद्यथा-पक्षः पञ्चविंशतिस्त्रिंशत्पञ्चाशत्पञ्चसप्ततिश्च ५ । तथा चत्वारिंशति स्थापनायामिमास्तिस्र आरोपणा' कृत्स्ना. । तद्यथा-विंशतिदिना, पञ्चत्रिंशद्दिना, सप्ततिदिना च । तथा पञ्चचत्वारिंशति स्थापनायामिमे द्वे कृत्स्ने आरोपणे । तद्यथा-पक्ष' पक्षप्रमाणा, पञ्चचत्वारिंशच्च पञ्चचत्वारिंशद्दिना च । पञ्चाशद्दिनायां स्थापनायामेका पञ्चषष्टिदिना कृत्स्ना आरोपणा । पञ्चपञ्चाशद्दिनायामप्येका पञ्चविंशति १ । षष्टिदिनायां स्थापनायामारोपणा. कृत्स्नाः चतस्रः। तद्यथा-पक्षो विंशतिस्त्रिंशत् चत्वारिंशत् । सप्ततिदिनायां स्थापनायामेका पञ्चपञ्चाशद्दिना कृत्स्नाऽऽरोपणा ५५। पञ्चसप्ततिदिनायां स्थापनाया द्वे कृत्स्ने आरोपणे-पाक्षिकी, पञ्चत्रिंशद्दिना च २। अशीतिदिनाया स्थापनायां तिस्र. कृत्स्ना आरोपणाः। तद्यथा-विंशति ,पञ्चविंशतिः, पञ्चाशद्दिना । नवतिदिनाया स्थापनायामिमास्तिस्र कृत्स्ना आरोपणा.-पक्षस्त्रिंशत्पञ्चचत्वारिंशच्च । शतिकायां स्थापनायां द्वे कृत्स्ने आरोपणे-पञ्चविंशतिदिना, चत्वारिंशद्दिना च २। पञ्चोत्तरशतिकायां पुन. स्थापनायामिमे द्वे कृत्स्ने आरोपणे-पाक्षिकी, पञ्चविंशतिदिना च २। दशोत्तरशतिकाया स्थापनायामेका पञ्चत्रिंशत्कृत्स्नाऽऽरोपणा १। विंशत्युत्तरशतिकायां स्थापनायामेतास्तिस्र. कृत्स्ना आरोपणा । तद्यथा-पाक्षिकी, विंशतिदिना, त्रिंशद्दिना च । त्रिंशदुत्तरशतिकाया स्थापनायामेका पञ्चविंशतिदिना कृत्स्नाऽऽरोपणा १ । पञ्चत्रिंशदुत्तरशतिकायां स्थापनायामेका पाक्षिक्यारोपणा कृत्स्ना १ । चत्वारिंशदुत्तरशतिकायां स्थापनाया पुनरियमेका कृत्स्ना आरोपणा विंशतिदिना १। पञ्चाशदुत्तरशतिकाया स्थापनायामेका पाक्षिक्यारोपणा कृत्स्ना । एवमेताश्चत्वारिंशत् त्रिंशदुत्कृष्टा, सर्वमिलिताः सप्तति कृत्स्ना आरोपणा.। शेषाः पञ्चनवतिस्त्रिंशत्संख्या अकृत्स्नाऽऽरोपणा । एवं शेषेष्वपि स्थापनाऽऽरोपणास्थानेषु कृत्स्न ऽकृत्स्नाऽऽरोपणानां परिमाणमुपयुज्य परिभावनीयमिति ।

अत. परमेतासा सर्वासामपि स्थापनाऽऽरोपणानां स्वरूप वे' न लक्ष्यते तद्विभणिषुरिदमाह-

सव्वासिं ठवणाणं, एत्तो सामन्नलक्खणं वुच्छं ।
मासग्गे झोसग्गे, हीणाहीणे य गहणे य ॥ २३६ ॥

चतुर्ष्वपि स्थापनाऽऽरोपणास्थानेषु या' स्थापना आरोपणाश्चान्योन्यानुवेधतो भवन्ति, तासां सर्वासामपि स्थापनानामारोपणाना च इत ऊर्ध्वं सामान्येन सकलव्यापितया लक्षण-लक्ष्यते येन तासां स्वरूप तल्लक्षणमुकानुकस्वरूप वक्ष्ये । केन्याह-मासाग्रे प्रतिसेवितसञ्चयमासाना परिमाणे, तथा प्रतिसेवितमासाऽऽनयननिमित्तमेवाऽऽरोपणादिवसैर्भागो ह्रियमाणे कियति प्रक्षेपे शुद्ध भाग दास्यतीति । एवं झोषाग्रे झोषपरिमाणे लक्षणं वक्तव्यम् । तथा हीनाहीने च ग्रहणे च । हीन-

ग्रहण नाम विषमग्रहणम्, अहीनग्रहणं समग्रहणम्। एतच्च यथा सञ्चयमासेभ्यो भवति तथा लक्षणं वक्तव्यम्।

तत्र मासपरिमाणविषयं लक्षणमभिधित्सुरिदं पूर्वोक्तमेव तावदाह-

**जइहिँ भवे आरुवणा, ततिभागं तं करे तिपंचगुणं।**
**सेसं पंचहिँ गुणए, ठवणदिणजुया उ छम्मासा ॥२३७॥**

इयमर्थतः प्रागेव व्याख्याता, परमन्यथा कियान् शब्दसंदर्भ इति भूयोऽपि व्याख्यायते-सञ्चयमासेभ्यः स्थापनामासेषु शुद्धेषु यच्छेषमवतिष्ठते तत्र (जइ त्ति) यति मासा भवन्त्यारोपणा। किमुक्तं भवति ?-यतिभिर्मासैर्निष्पन्ना आरोपणा ततिभागं तावत्संख्याकं भागं करोति, कृत्वा चाऽऽद्य (त्रिपञ्चगुणमिति) त्रिपञ्चगुणं पञ्चदशगुणं करोति। शेषं समस्तमनेकभागाऽऽत्मकमपि सपिण्ड्य पञ्चभिर्गुणयेत्। ततः स्थापनादिनयुताः षण्मासा भवन्ति। एतत्कर्म पञ्चदशाऽऽदिष्वारोपणासु कर्तव्यम्, एकाऽऽदिषु चतुर्दशदिनपर्यन्तासु पुनरारोपणासु यावन्त्यारोपणादिनानि तावद्भिर्गुणयितव्यम्। एवं सञ्चयमासानां मध्ये यावतो मासान् यत गृहीतं तद्दिनप्रमाणाभिधानतो मासपरिमाणविषयलक्षणमभिहितम्।

सम्प्रत्येतदेव प्रकारान्तरेणाभिधित्सुराह-

**जतिभि भवे आरुवणा, ततिभागं तस्स पन्नरसहिँ गुणए।**
**ठवणाऽऽरोवणसहिया, छम्मासा होंति नायव्वा ॥२३८॥***

ये सञ्चयमासास्ते पूर्वं स्थापनाऽऽरोपणामासविशुद्धाः कर्तव्याः। ततो (जइभि त्ति) यतितमा प्रथमा द्वितीया तृतीया इत्यादि आरोपणा, ततिभागस्थास्ते कर्तव्या। तत्र यद्येकभागस्थास्ततः सर्वानपि पञ्चदशभिर्गुणयति, गुणने च कृते स्थापनारोपणाऽऽदिवससहिता शेषविशुद्धास्ते षण्मासा भवन्ति। अथानेकभागस्थाः तर्हि तस्य अनेकस्य भागस्य आद्यं भागं पञ्चदशभिर्गुणयेत्। शेषान् समस्तानपि, पञ्चगुणानिति वाक्यशेषः। ततः स्थापनाऽऽरोपणादिवससहिताः षण्मासा ज्ञातव्या भवन्ति। तद्यथा-विंशतिदिनायां स्थापनायां पञ्चदशदिनायां चाऽऽरोपणायां त्रयोदश सञ्चयमासाः, तेभ्य एक आरोपणामासो, द्वौ स्थापनामासौ। उभयमीलने त्रयो मासाः शोधिता जाता दश मासाः। इयमारोपणा प्रथमे स्थाने प्रथमेति ते दश मासा एकभागस्थाः क्रियन्ते, कृत्वा पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातं पञ्चाशं शतम् १५०। अत्र शेषपञ्चक इति पञ्च ततो विशोधिता जातं पञ्चचत्वारिंशं शतम् १४५। तत्र स्थापनादिवसा विंशतिः, आरोपणादिवसाः पञ्चदशेति मीलिताः पञ्चत्रिंशत् ते प्रक्षिप्यन्ते, जातमशीतं शतमिति। तथा विंशतिदिनायां स्थापनायां पञ्चविंशतिदिनायां च आरोपणायां त्रयोविंशतिः सञ्चयमासाः, तेभ्यो द्वौ स्थापनामासौ, त्रय आरोपणामासाः, उभयमीलने पञ्च मासाः शोधिता जाता अष्टादश। इयमारोपणा प्रथमे स्थाने तृतीयेति त्रिभागस्थाः क्रियते, जाता एकैकस्मिन् भागे षट् षट्। तत्राऽऽद्यो भागः पञ्चदशभिर्गुण्यते, जाता नवतिः। अत्र एको क्षेप इति तेभ्यः पञ्चदश शोधिता जाता पञ्चसप्ततिः ७५। शेषौ द्वावपि भागौ चैकत्र मीलितौ, जाता द्वादश, ते पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाता षष्टिः, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातं पञ्चत्रिंशतम्। तत्र स्थापनादिवसा विंशतिरारोपणादिवसाः पञ्चविंशतिः। उभयमीलने पञ्चचत्वारिंशत् प्रक्षिप्ता, जातमशीतं शतम्। एवमन्यत्रापि भावनीयम्। नवरमेतत्कर्म क्वचिदेव प्रतिनियतेषु पदेषु कर्तव्यं, नावश्यं सर्वत्रेति।

* इयं गाथा मूले न दृश्यते।

सम्प्रति गुणकारवशेन यथा कृत्स्नाऽऽरोपणा परिज्ञानं भवति, तथा प्रतिपादयति-

**जेण उ पएण गुणिया,हि ऊणं सो ण होति गुणकारो।**
**तस्सुवरिं जेण गुणे, होंति समं सो उ गुणकारो ॥२३९॥**

(जेण उ पएण गुणिया हि) विंशतिकायां स्थापनायां पाक्षिका आरोपणा दशभिर्गुणिता, जातं पञ्चाशं शतम् १५०। तत्र स्थापनादिवसा विंशतिः प्रक्षिप्ता जातं सप्ततं शतम् १७०। तदेवं दशभिर्गुणने ऊनाः षण्मासाः, एकादशभिर्गुणने अधिका इति पाक्षिक्यामारोपणायां समकरणे प्रतीत्यैतद्दशाऽऽदिको गुणकार इतीयमकृत्स्नाऽऽरोपणेति प्रतिपत्तव्यम्। (तस्सुवरिं इत्यादि) तस्याधिकृतस्य विंशिकाऽऽदिरूपस्य पदस्योपरि त्रिंशत्प्रभृतिके स्थापनापदे येन गुणकारेण दशाऽऽदिलक्षणेन गुणने षण्मासदिवसपरिमाणं समं भवति स तत्र गुणकारः, तेन गुणकारेण सा आरोपणा तस्मिन् स्थापनापदे कृत्स्नेत्यवगन्तव्या। यथा पाक्षिक्येवाऽऽरोपणा त्रिंशत्स्थापनायाम्। तथाहि-पञ्चदशदिनाऽऽरोपणा दशभिर्गुणिता जातं पञ्चाशं शतं, त्रिंशत्स्थापनादिवसाः प्रक्षिप्ता जातमशीतं शतम्। एवं पञ्चचत्वारिंशद्दिने स्थापनापदे नवभिः, षष्टिदिनेऽष्टाभिः, पञ्चसप्ततिदिने सप्तभिः, नवतिदिने षड्भिः, पञ्चोत्तरशतदिने पञ्चभिः, विंशत्युत्तरशतदिने चतुर्भिः, पञ्चत्रिंशदुत्तरशतदिने त्रिभिः, पञ्चाशच्छतदिने द्वाभ्यां, षष्टिशतदिने एकेन समं षण्मासदिवसपरिमाणं भवतीति पञ्चचत्वारिंशदादिषु स्थापनापदेषु पाक्षिक्यारोपणा कृत्स्ना प्रतिपत्तव्या। तथा विंशिकायामारोपणायां विंशतिदिने स्थापनापदेऽष्टभिः, चत्वारिंशद्दिने सप्तभिः, षष्टिदिने षड्भिरशीतिदिने पञ्चभिः, शतदिने चतुर्भिर्विंशतिशतदिने त्रिभिश्चत्वारिंशशतदिने द्वाभ्यां, षष्टिशतदिने एकेन समं षण्मासदिवसपरिमाणं भवतीति विंशिकाऽऽरोपणा विंशिकाऽऽदिषु स्थापनापदेषु कृत्स्नेत्यवसेया। एवं शेषा आरोपणा गुणकारैर्विचारयितव्या इति।

एतदेव सुव्यक्ततरमाह-

**जइहिं गुणा आरोवण, ठवणाजुत्ता हवंति छम्मासा।**
**तावइयाऽऽरुवणाओ, हवंति सरिसाभिलावाओ ॥२४०॥**

यतिभिर्यावद्भिर्गुणकारैर्गुण्यते स्म गुणा गुणिता आरोपणा तदनन्तरं स्थापनायुक्ता स्थापनादिवसयुक्ता षण्मासा भवन्ति, तावत्यो गुणकारसंख्यातुल्यास्ता आरोपणाः, कृत्स्ना ज्ञात गम्यते। प्रतिपत्तव्या। कथम्भूतास्तास्तावत्यः कृत्स्नाऽऽरोपणा इत्याह-सदृशाभिलापाः, एकाभिलापा इति भावः। यथा पाक्षिकी आरोपणा त्रिंशद्दिनाऽऽदिषु दशाऽऽदिभिर्गुणकारैर्गुणिता, तदनन्तरं च स्थापनादिवसयुक्ता, षण्मासान्पूरयतीति दश कृत्स्ना आरोपणाः सदृशाभिलापाः, एवमन्या अपि तैस्तैर्गुणकारैस्तावत्संख्याकैस्तेषु तेषु स्थापनापदेषु गुणिताः, तदनन्तरं तत्तत्स्थापनादिवसयुक्ताः षण्मासपूरिकास्तावत्संख्याका कृत्स्ना आरोपणाः सदृशाभिलापा भावनीयाः।

संप्रति चाऽऽलोचकमुखात् प्रतिसेवितमासाग्रं श्रुत्वा तत् मासाग्रं स्थापनायामारोपणायां च स्थापयित्वाऽऽरोप्य च परस्मै विविक्तमुपदर्शयेदित्युपदेशमाह-

ठवणाऽऽरोवणमासे, नाऊणं तो भणाहि मासग्गं ।
जेण समं तं कसिणं, जेणऽहियं तं च झोसग्गं ॥२४१॥

आलोचकमुखात् प्रतिसेवितमासपरिमाणमाकर्ण्य तदनन्तरमेतावन्तो मासाः स्थापनायामेतावन्त आरोपणायामिति ज्ञात्वा ततः सञ्चयमासाग्रं विविक्तमालोचकाय भण प्रतिपादय । यथा-अष्टापञ्चाशत् प्रतिसेवितमासा, आलोचकमुखादुपलब्धे । तत आचार्येण स्थापनाऽऽरोपणाक्रमेण विंशिका स्थापना, पञ्चाशशतिका चाऽऽरोपणा स्थापिता, तत्र स्थापनाऽऽरोपणादिवसानामेकत्र मीलने जातं सप्तत शतम् १७० । ततः षण्मासदिवसेभ्योऽशीतशतसङ्ख्येभ्यः शोधित, स्थिताः पश्चात् दश, तेषामधिकृतया पञ्चाशशतिकया आरोपणया भागो ह्रियते, तत्र भागो न लभ्यते इति चत्वारिंश शतं प्रक्षिप्तम् । ततो भागे हृते लब्ध एको मासः, इयमारोपणा अष्टाविंशतिमासनिष्पन्ना अष्टाविंशतितमा चेति एकोऽष्टाविंशत्या गुणितो, जाता अष्टाविंशतिः २८। तत एवमालोचकाय कथयति-यथा द्वौ स्थापनामासौ, अष्टाविंशतिरारोपणामासाः । एते मिलितास्त्रिंशत्, अष्टाविंशतिरन्ये मासा आरोपणाया भागे हृते लब्धाः। एवं सर्वत्र सञ्चयमासाग्रमालोचकाय विविक्त भणनीयमिति । येन पुनरारोपणाभागहारेण भागे ह्रियमाणे झोषविरहेण सम शुद्ध्यति तत् कृत्स्नमारोपणं द्रष्टव्यम् । येन यावत्प्रमाणेन तु दिवसमीलनचिन्तायां षण्मासपरिमाणमधिकं भवति तच्च तावत्प्रमाण पुनर्झोषाग्रं झोषपरिमाणमवसातव्यम् । यथा विंशिकायां स्थापनायाः पाक्षिक्या आरोपणायां पञ्चेति । एतेन झोषपरिमाणलक्षणमुक्त द्रष्टव्यम् ।

जत्थ उ दुरूवहीणा, न होंति तत्थ उ हवंति साभावी ।
एक्काई जा चोद्दस, एक्कादी सेस दुगहीणा ॥२४२॥

इह सर्वासां स्थापनानामारोपणानां च दिवसेभ्यो मासानामुत्पादनाय पञ्चभिर्भागो हर्त्तव्यः । तत्र भागे हृते यल्लब्ध तस्मिन्मासाद् द्विरूपहीन कर्त्तव्यम् । यत्र पुनरारोपणा द्विकहीना लब्धमासा न भवन्ति, एकाऽऽदिषु चतुर्दिनपर्यन्तासु पञ्चभिर्भागहारस्य एवासम्भवात् । पञ्चदिनाऽऽदिषु नवदिनपर्यन्तासु पञ्चभिर्भागे हृते लब्धस्यापि(?) द्वयो रूपयोरसम्भवात् । दशादिनाऽऽदिषु चतुर्दशदिनपर्यन्तासु द्विकरूपापसरणे शून्यस्य भावात् । तथा एकाऽऽद्य एकादिनाऽऽदयो यावच्चतुर्दशदिनपर्यन्ता स्थापना आरोपणाश्च स्वाभाविक्य एकस्मान्मासाद्द्रष्टव्या । किमुक्तं भवति ?-स्वभावेनैव, न तु मासोत्पादननिमित्तकरणप्रयोगत एकस्मान्मासान्निर्वृत्ता प्रतिपत्तव्या इति ॥ ( सेस दुगहीण त्ति ) शेषाः पुनः पञ्चदशदिनाऽऽद्यः स्थापना आरोपणाश्च द्विकहीना ज्ञेयाः, पञ्चभिर्भागे हृते लब्धस्य द्विरूपहीनत्वाभावात् उपचारतो द्विकहीना उक्ता ।

उवरिं तु पंचभइए, जइ सेसा तत्थ केइ दिवसा उ ।
ते सव्वे एगाओ, मासातो हुंति नायव्वा ॥ २४३ ॥

पञ्चदशदिनायाः स्थापनाया आरोपणायाश्च उपरि षोडशादिनाऽऽदिषु स्थापनाऽऽरोपणासु पञ्चभिर्भागे हृते, उपरिमलब्धेभ्यः शेषा ये एकाद्विकाऽऽदयो दृश्यन्ते, ते सर्वे लब्धानां पूरणभूतत्वादेकस्माद् मासाद्भवन्ति ज्ञातव्याः । किमुक्तं भवति ? तेषु झोषीभूतेष्वपि स एवैको मासो गृह्यते यः पञ्चदशदिनायां लब्ध इति । एवमेकविंशतिदिनाऽऽदिष्वपि भावनीयम् ।

सम्प्रति हीनाहीने ग्रहणे लक्षण प्रतिपिपादयिषुर्यथा स्थापनाऽऽरोपणामासेभ्यः शेषसञ्चयमासेभ्यश्च दिवसग्रहण क्रियते, तथा प्रतिपादयति-

होइ समे समगहणं, तह वि य पडिसेवणा उ नाऊणं ।
हीणं वा अहियं वा, सव्वत्थ समं च गेण्हेज्जा ॥२४४॥

स्थापनाऽऽरोपणानां दिवसपरिमाणे समे तुल्ये, यासु स्थापनाऽऽरोपणासु मासेभ्यो दिवसग्रहण समं भवति तावन्तः स्थापनामासेभ्यः प्रत्येकं दिवसा गृहीताः, तावन्त आरोपणामासेभ्योऽपीति भावः । शेषमासेभ्यो दिवसग्रहण समं विषमं वा । यथा सप्तदिनायां स्थापनायां सप्तदिनायां चाऽऽरोपणायाम्, तथाह्यत्र पूर्वकरणप्रयोगत षड्विंशतिसंचयमासो लब्ध, तत्र स्थापनाऽऽरोपणामासाभ्यां सप्त सप्त दिनानि गृहीतानि, ये चाऽऽरोपणया भागे हृते लब्धाश्चतुर्विंशतिमासास्तेष्वेकस्मात्पञ्च दिनानि गृहीतानि, द्वयोर्दिनयोर्झोषे पातितत्वात् । शेषेभ्यः सप्त सप्त दिनानीति । एवमन्यास्वपि स्थापनाऽऽरोपणासु तुल्ये दिवसपरिमाणे स्थापनाऽऽरोपणामासेभ्यस्तुल्य दिवसग्रहणम् । शेषमासेभ्यस्तुल्य विषम वा भावनीयम् । कासुचित्पुनः स्थापनाऽऽरोपणासु यद्यपि दिवसपरिमाण समं भवति, तथापि प्रतिसेवनां ज्ञात्वा कस्यापि मासस्य कीदृशी प्रतिसेवना उत्कृष्टरागाऽऽद्यध्यवसाया, मन्दरागाऽऽद्यध्यवसाया वा इति ज्ञात्वा तदनुरोधतः स्थापनाऽऽरोपणासु दिवसग्रहण कदाचिद्धीन कदाचिदतिरिक्त वा ॥ किमुक्त भवति ?-कदाचिदारोपणायां हीन, स्थापनायामधिकम् । यथा विंशिकायां स्थापनायां विंशिकायामारोपणायाम् । अत्र हि द्वाभ्यामपि स्थापनामासाभ्यां प्रत्येकं दश दिवसा गृहीताः । आरोपणामासयोस्त्वेकस्मात्पञ्चदश, एकस्मात्पञ्च । अथ स्थापनाया मासयोरेकस्मात्पञ्चदश दिवसा गृहीताः, अपरस्मात्पञ्च । आरोपणामासाभ्यां तु द्वाभ्यां प्रत्येकं दश दशेति प्रतिसेवनाविशेषमन्तरेण तु स्थापनामासाभ्यामारोपणामासाभ्यां च प्रत्येकं दश दश दिवसा गृह्यन्ते इति । ( सव्वत्थ समं च गेण्हेज्जा ) कदाचित्पुनः सर्वत्र स्थापनायामारोपणायाम्, तथा आरोपणया भागे हृते ये लब्धा मासास्तेषु च समं दिवसग्रहणं भवति । यथा प्रथमे स्थाने स्थापनायां विंशिकायामारोपणायां, द्वितीये स्थाने पाक्षिक्यां स्थापनायां पाक्षिक्यामारोपणायां, तृतीये स्थाने पञ्चदिनायां स्थापनायां पञ्चदिनायामारोपणायां, चतुर्थे स्थाने एकदिनायां स्थापनायामेकादिनायां चाऽऽरोपणायाम् । एवमन्यास्वपि द्वित्र्यादिदिनासु स्थापनाऽऽरोपणासु यथायोगं भावनीयम् ।

विसमा आरुवणाओ, विसमं गहणं तु होइ नायव्वं ।
सरिसे वि सेवियम्मी, जह झोसो तह खलु विसुद्धो ॥२४५॥

इह आरोपणाग्रहणेन स्थापनाऽपि गृहीता द्रष्टव्या । तत्र प्रतिसेवनां कुर्वता यद्यपि सर्वेऽपि मासाः सदृशापराधप्रतिसेवनेन प्रतिसेविता, तथाऽपि सदृशे सेवितेऽपि सञ्चयमपि प्रतिसेवनायां या स्थापनाऽऽरोपणा परस्पर दिवसमानेन वि-

षमाः, ताभ्यस्तदनुरोधेन आरोपणया भागे हृते ये लब्धमासास्तेषु दिवसग्रहणं विषमं भवति ज्ञातव्यं, स्थापनाऽऽरोपणादिवसानां परस्परविषमत्वतस्तेष्वपि ग्रहणं विषमं भवतीति प्रतिपत्तव्यमिति भावः । एवं विषमासु कृत्स्नाऽऽरोपणास्वसहित, याः पुनरारोपणा विषमा अकृत्स्नाश्च, तत्र दिवसग्रहणं कुर्वता यथा झोषो विशुद्ध्यति, तथा खलु निक्षिप्त कर्त्तव्यं, नान्यथेति ।

एवं खलु ठवणातो, आरुवणाओ विसेसतो हुंति ।
ताहिँ गुणा तावइया, नायव्वा तहेव झोसा य ॥२४६॥

एवमुक्तप्रकारेण स्थापनात आरोपणा विशेषतो भवन्ति-विशेषवत्यो भवन्ति । तथाहि-यदा स्थापनामासयुक्ता शेषा मासा यावन्तोऽधिकृतायामारोपणायां मासास्तावत्संख्याका भागाः क्रियन्ते, कृत्वा च प्रथमो भागः पञ्चदशगुणः क्रियते, शेषाः पञ्चगुणाः। यदि वा सर्वे अप्यारोपणादिवसगुणा मासाः क्रियन्ते, एवमारोपणाया दिवसपरिमाणं लब्धं भवति, तदा एतावद्भिः स्थापनादिवसैः प्रक्षिप्तैः षण्मासाः पूर्यन्ते इति तदनुसारतः स्थापनादिवसाः स्थाप्यन्ते, तत आरोपणानुरोधिनी स्थापनेति स्थापनात आरोपणा विशेषवती । तथा चाऽऽह-( ताहिँ गुणा तावइया इति ) ताभिरारोपणामाससंख्याभिः, आरोपणादिवससंख्याभिर्वा आरोपणया भागे हृते ये लब्धा मासास्ते गुणा गुणिताः स्थापनारोपणादिवसयुक्तास्तावन्तः सञ्चयमासा आगच्छन्ति, न तु स्थापनामाससंख्याभिः स्थापनादिवससंख्याभिर्वा गुणिताः, ततो विशेषवत्यः स्थापनास्य आरोपणा इति । ( नायव्वा तहेव झोसा य इति ) झोषा अपि तथैव ज्ञातव्याः । तद्यथा-आरोपणया भागे ह्रियमाणे यावता भागो न शुद्ध्यति तावत्प्रमाणा ज्ञातव्या झोषा इति ।

कसिणाआरुवणाए, समगहणं होति तिसु य मासेसु ।
आरुवणाऽकसिणाए, विसमं झोसो जहा सुज्झे ॥२४७॥

कृत्स्ना आरोपणा नाम या झोषविरहिता, तस्यां कृत्स्नायामारोपणायाम्, आरोपणया भागे हृते ये लब्धमासास्तेष्वेकभागं, तेष्विति पाठशेषः । समं दिवसग्रहणं भवति । अथ प्रथमादिभागस्थास्तत. प्रत्येकं भागेषु स्वग्रहणं द्रष्टव्यम् । तद्यथा-आद्यभागगतेषु मासेषु प्रत्येकं पञ्चदशदिवसग्रहणं, शेषभागगतेषु पुनः सर्वत्र पञ्चदिवसग्रहणमिति । अकृत्स्नायामारोपणायां पुनर्नियमतो विषमदिवसग्रहणं, तत्राद्यभागेऽपि विषमं दिवसग्रहणं झोषवशात्कुर्यादिति । तथा चाऽऽह-झोषो यथा शुद्ध्यति तथा दिवसग्रहणं भवति, ततो विषममिति दिवसग्रहणविषयं च करणमिदम् ।

जइ इच्छसि नाऊणं, ठवणाऽऽरोवण सहाहि मासेहिं ।
गहियं सदिवसेहिं, तम्मासेहिं हरे भागं ॥ २४८ ॥

भागं हरेत् । तत्र यल्लब्धं तान् दिवसान् जानीहि, शेषं पुनर्जानीयात् दिवसभागान् स्थापनाऽऽरोपणादिवसास्तान् स्थापनाऽऽरोपणामासैरेव भागो हर्त्तव्यः, तथापि यल्लब्धं, ते दिवसाः, यच्छेषं, ते दिवसभागा इति यथा प्रथमे स्थाने विंशिकायां स्थापनायां चाऽऽरोपणायां पूर्वप्रकारेण त्रयोदश सञ्चयमासा लब्धाः तेभ्यः स्थापनामासौ द्वावेक आरोपणामासः, उभयमीलने त्रयः शोध्यन्ते, जाताः पश्चाद्दश । तत. स्थापनाऽऽरोपणादिवसाः पञ्चत्रिंशत्, तद्रहिता ये षण्मासदिवसाः पञ्चचत्वारिंशं शतम् १४५, ते किल तद्दिवसाः, तेभ्यस्तन्मासैस्तैः शेषीभूतैर्दशभिर्मासैर्दशकेनेत्यर्थः । भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धाश्चतुर्दश, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च; आगतमेकैकस्मात् मासात् चतुर्दश चतुर्दश दिवसा गृहीताः, पञ्च पञ्च दिवसस्य दश भागाः । यदि वा एकस्मात् मासात् चतुरः सार्द्धान् दिवसान् गृहीत्वा शेषेषु मासेष्वर्द्धमर्द्धं प्रक्षिपेत् , तत आगतं नवभ्यो मासेभ्यः प्रत्येकं पञ्चदश दिवसा गृहीता एकस्माद्दश, एतत्प्रागुक्तमनुसारितम् । स्थापनादिवसानां विंशतेः स्थापनामासाभ्यां भागो ह्रियते, लब्धा एकैकस्मिन्मासे दश दश दिवसाः, आरोपणामासस्त्वेक एव । तत्र पञ्चदश दिवसा लब्धाः, आगतं स्थापनामासाभ्यां दश दश दिवसा लब्धाः, आगतं स्थापनामासाभ्यां दश दश दिवसा गृहीताः । आरोपणामासात्पञ्चदश । एवं विषमदिवसग्रहणं सर्वत्राऽऽनेतव्यम् । यत्र पुनः स्थापना आरोपणा च नास्ति, अकृत्स्नत्वात् । अथवा-सञ्चिता मासा ज्ञायन्ते, तत्राशीतस्य शतस्य सेवितमासैर्भागे हृते यल्लभ्यते तद्दिवसग्रहणं प्रत्येकं मासेभ्योऽवगन्तव्यम् । उक्तं च-" जहिँ नत्थि ठवण आरो-वणा य नज्जति सेविया मासा । सेवियमासेहि भए, असीय लद्धो गहिय ॥ १ ॥ "

एवं तु समासेणं, भणियं सामन्नलक्खणं बीयं ।
एएण लक्खणेणं, झोसेयव्वा उ सव्वाओ ॥२४९॥

एवमुक्तेन प्रकारेण सामन्यतैव, तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्चात्रैव सम्बध्यते-सामान्यलक्षणबीजमिव बीजं सकलसामान्यलक्षणावगमप्ररोहसमर्थं किञ्चिद्भणितम् , एतेनानन्तरोदितेन बीजकल्पेन लक्षणेन सर्वा अपि कृत्स्ना अकृत्स्नाश्चाऽऽरोपणा झोषयितव्याः सुगुरौ शिष्यगुरौ च यथाऽवस्थिततया प्रक्षेपणीयाः । तदेवं कथिता सिद्धा इति द्वारमुक्तम् ।

अधुना " सिद्धा निसीहनामे " इति द्वारं व्याचिख्यासुराह-

कसिणाऽकसिणा एया, सिद्धाओ भवे पकप्पनामम्मि ।
चउरो अतिक्कमादी, सिद्धा तत्थेव अज्झयणे ॥२५०॥

कृत्स्ना अकृत्स्नाश्चाऽऽरोपणा एता अनन्तरोदितसामान्यलक्षणाः प्रकल्पनाम्नि निशीथेऽध्ययने सिद्धाः प्रसिद्धाः । एतेन " सिद्धा निसीहनामे " इति व्याख्यातम् । अधुना " सव्वे सद्दा गईसारा " इति व्याख्यानयति ( चउरो इत्यादि ) सर्वाऽऽरा

तो व्रतस्यातिक्रमणमतीचारः । अनाचारस्य साध्वाचारस्याभावः परिभोगतो ध्वंसोऽनाचारः । एते चातिक्रमाऽऽदय आधाकर्माधिकृत्यैव व्याख्याताः । आधाकर्मणा निमन्त्रितः सन् यः प्रतिशृणोति सोऽतिक्रमे वर्त्तते, तद् ग्रहणनिमित्तं पदभेदं कुर्वन् व्यतिक्रमे गृह्णानोऽतीचारे भुञ्जानोऽनाचारे, एवमन्यदपि परिहारस्थानमधिकृत्यातिक्रमाऽऽदयो ज्ञातव्याः । एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् अतिक्रमे मासगुरु,व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु, काले लघु । अतीचारे मासगुरु द्वाभ्यां विशेषितम् । तद्यथा तपोगुरु, कालगुरु च । अनाचारे चतुर्गुरु,यस्मात् गुरुकातीचार ,चशब्दाऽनुक्तसमुच्चयार्थः, स चैतत् समुच्चिनोति-अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुकः,तस्मादपि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचाराद् गुरुतरकोऽनाचारः ।

तत इत्थं प्रायश्चित्तविशेषः-

तत्थ भवे न उ सुत्ते अतिक्कमादी उ वण्णिया केई ।
चोयग सुत्ते सुत्ते, अतिक्कमादीउ जोएज्जा ॥ २५२ ॥

तत्र एवमुक्तेन प्रकारेण भवेन्मतिश्चोदकस्य, यथा न तु नैव सूत्रे निशीथाध्ययनलक्षणे, केचिदतिक्रमाऽऽदय उपवर्णिताः सन्ति, ततः कथं चत्वारोऽतिक्रमाऽऽदयस्तत्रैवाध्ययने सिद्धा इति ? । सूरिराह-चोदक ! सर्वोऽप्येष प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमाऽऽदिषु भवति, ततः साक्षादनुक्ता अपि सूत्रे सूत्रे तान् अतिक्रमाऽऽदीन् योजयेत्, अर्थतः सूचितत्वात् ।

कथमर्थतः सूचिता इत्याह-

सव्वे वि य पच्छित्ता, जे सुत्ते ते पडुच्चऽणायारं ।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे चउसु वि पएसु ॥ २५३ ॥

यानि कानिचित् सूत्रेऽभिहितानि प्रायश्चित्तानि तानि सर्वाण्यपि स्थविराणां कल्पे स्थविरकल्पिकानामनाचारं प्रतीत्य भवन्ति, यतः स्थविरकल्पिकानां त्रिष्वतिक्रमाऽऽदिषु पदेषु प्रायश्चित्तं न भवति । तथाहि-प्रतिश्रुतेऽपि यदि स्वतः परतो वा प्रतिबोधतः पदभेदं न कुरुते, कृतेऽपि वा पदभेदे भेदेन गृह्णाति, गृहीतेऽपि यदि न भुङ्क्ते किं तु परिष्ठापयति, तदा स मिथ्यादुष्कृतमात्रप्रदानेनापि शुध्यतीति न सूत्राभिहितप्रायश्चित्तविषयः, भुञ्जानस्त्वनाचारे वर्त्तते इति तस्य सूत्रोक्तप्रायश्चित्तविषयता, जिनकल्पे जिनकल्पिकानां पुनश्चतुर्ष्वप्यतिक्रमाऽऽदिषु पदेषु प्रायश्चित्तं भवति,किं त्विह प्रायस्ते न कुर्वन्ति । तदेव सर्वमपि सूत्राभिहितं प्रायश्चित्तं, यतोऽनाचारमधिकृत्य प्रवृत्तम्,अनाचारश्चातिक्रमाऽऽद्यविनाभावी, ततोऽर्थतः सूचितत्वात् प्रतिसूत्रमतिक्रमाऽऽदयो योजनीया इति स्थितम् ।

ननु यद्येतत्सर्वं निशीथे सिद्धं, ततो निशीथमपि कुतः सिद्धमित्यत आह-

निस्सीहं नवमपुव्वा, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ ।
आयारनामधेज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया ॥ २५४ ॥

प्रत्याख्यानस्याभिधायकं यन्नवमं पूर्वं प्रत्याख्याननामकं तस्मात्,तत्रापि तृतीयादाचारनामधेयाद्वस्तुनः, तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतच्छेदान्निशीथमध्ययनं सिद्धम् । इयमत्र भावना-उत्पादपूर्वाऽऽदीनि चतुर्दश पूर्वाणि, तत्र नवमं पूर्वं प्रत्याख्याननामकं, तस्मिन् विंशतिर्वस्तूनि, वस्तूनि नाम अर्थाधिकारविशेषाः,तेषु विंशतौ वस्तुषु तृतीयमाचारनामधेयं वस्तु, तत्र विंशतिः प्राभृतच्छेदाः परिमाणपरिच्छिन्नाः प्राभृतशब्दवाच्या इछेदा अर्थच्छेदाः, तेषु यो विंशतितमः प्राभृतच्छेदः, तस्मान्निशीथं सिद्धमिति ।

अत्राऽऽह शिष्यः सर्वं साधूक्तं, किन्तु-

पत्तेयं पत्तेयं, पए पए भासिऊण अवराहे ।
तो केण कारणेणं, दोसा एगत्तमावन्ना ॥ २५५ ॥

एकोनविंशतावुद्देशकेषु पदे पदे सूत्रे सूत्रे, यदि वा उद्देशके प्रत्येकं प्रत्येकमेकस्य दोषस्य प्रति प्रत्येकम् । अत्राभिमुख्ये प्रतिशब्दो यथा प्रत्यग्निशलभाः पतन्तीत्यत्र, न वीप्सायामतः प्रत्येकशब्दस्य वीप्साविवक्षाया द्विर्वचनम् । अपराधान्, अपराधे सति मासाऽऽदिकं प्रायश्चित्तं दीयते इति उपचारतः प्रायश्चित्तान्येवापराधशब्देनोक्तानि, तान् भणित्वा यथा केषुचिदपराधेषु मासलघु, केषुचित् मासगुरु, केषुचित् चतुर्मासगुरु । एवं सूत्रतोऽर्थतश्च केषुचिल्लघुपञ्चकं, केषुचिद् गुरुपञ्चकम् । एवं यावत् केषुचित् भिन्नमासगुरु, तथा केषुचिदपराधेषु षड्लघु, केषुचित् छेद, केषुचिद् मूलं, केषुचिदनवस्थाप्यं,केषुचित्पाराञ्चितम् । एवं दोषेषु प्रत्येकं प्रत्येकं प्रायश्चित्तानि भणित्वा भूय इदमुक्तं,यथा एकः पुरुषो गुरुकं मासिकमापन्नोऽपरो लघुमासिकं, तयोर्द्वयोरपि कदाचित् गुरुकं मासिकं दद्यात्,कदाचित् लघुमासिकं, तथा एको लघुपञ्चकमापन्नोऽपरो गुरुपञ्चकं, तयोरपि कदाचिल्लघुपञ्चकं दद्यात्, कदाचिद् गुरुपञ्चकं, तथा एकः पञ्चकमापन्नोऽपरो दशकं, तयोर्द्वयोरपि कदाचित्पञ्चकं दद्यात्,कदाचित् दशकम् । एवं पञ्चदशकविंशतिरात्रिन्दिवमासमासद्विमासत्रिमासचतुर्मासपञ्चमासषण्मासच्छेदाऽऽदिक्रमेण तावद्वाच्यं यावत्पाराञ्चितम् । तद्यथा--एकः पञ्चकमापन्नोऽपरः पाराञ्चितं, तयोर्द्वयोरपि कदाचित्पञ्चकं दद्यात्, कदाचित्पाराञ्चितमिति । एवं दशकाऽऽदिकमपि स्वस्थाने गुरुलघुविकल्पतः परस्थाने पञ्चदशाऽऽदिभिः सह वक्तव्यं यावत्पाराञ्चितम् । एतच्च तदोपपद्यते यदा दोषाणामेकत्वं भवति, तच्च दुरूपपादमतः पृच्छति-( तो केणेत्यादि ) यतो दोषेषु प्रत्येकं प्रत्येकं प्रायश्चित्तान्युक्त्वा पश्चात् दोषाणामेकत्वे सतीव प्रायश्चित्तान्युक्तानि, ततः कथय केन कारणेन दोषाः परस्परं गुरुगुरुतराऽऽदितया महदन्तराला अपि एकत्वमापन्नाः ।

सूरिराह-

जिण चोद्दस जातीए, आलोयण दुब्बले य आयरिए ।
एएण कारणेण, दोसा एगत्तमावन्ना ॥ २५६ ॥

जिनं प्रतीत्य ( चोद्दस त्ति ) चतुर्दशपूर्वधरम् । उपलक्षणमेतत्, यावद्भिन्नदशपूर्वधरं प्रतीत्य, तथा-(जातीए त्ति) एकजातीयं प्रतीत्य, तथा आलोचनां प्रतीत्य, दुर्बलं प्रतीत्य, आचार्यं प्रतीत्य दोषाणामन्यथात्वमपि भवति, ततः एतेन जिनाऽऽद्याश्रयणलक्षणेन कारणेन, दोषा एकत्वमापन्नाः, जिनाऽऽदीन् प्रतीत्य दोषाणामेकत्वमभूदिति भावः ।

तत्राऽऽद्ययोर्यथाक्रमं घृतकुटनालिकादृष्टान्तौ,अपरयोस्तु द्वयोर्यथाक्रममेकानेकरूप्यमेकानेकनिषद्या च विषय इति दर्शयति-

घयकुडगो उ जिणस्सा,चोद्दसपुव्विस्स नालिया होइ ।
सव्वे एगमणेगा, निसज्ज एगा अणेगा य ॥ २५७ ॥

जिनस्य जिनविषये घृतकुटको दृष्टान्तः, चतुर्दशपूर्विणो नालिका भवति दृष्टान्तः, एकजातीयस्य एकानेकरूप्यविषयः, आलोचनाया एकाऽनेकनिषद्याविषयः ।

तत्र यथा जिनं प्रतीत्य दोषा एकत्वमापन्नास्तथा विभङ्गिप्रयुक्तघृतकुण्डदृष्टान्तेन भण्यते-

उप्पत्ति रोगाणं, तस्समणे ओसहे य विब्भंगी ।
नाउं तिविहमामयीणं, देइ तहा ओसहगणं तु ॥२५८॥

मिथ्यादृष्टिरुत्पन्नावधिर्विभङ्गी, स हि चिकित्सां करोति, न साधुरिति तदुपादानम् । विभङ्गिनो विभङ्गज्ञानिनो रोगाणामुत्पत्तिम्, उत्पद्यन्ते रोगा अस्या इत्युत्पत्तिः निदान, तां ज्ञात्वा, तथा तदित्यनेन रोगा संबध्यन्ते, शम्यन्ते उपशमं नीयन्ते रोगा यैस्तानि शमनानि, औषधानि तेषां रोगाणां शमनानि प्रच्छमनानि तानि औषधानि, यथावत् ज्ञात्वा त्रिविधतापाऽऽदिअन्यरोगयोगतस्त्रिप्रकाराः, आमयो रोगः स येषां विद्यते ते आमयिनः, त्रिविधाश्च ते आमयिनश्च, तेषां त्रिविधाऽऽमयिनां तथा औषधगणं ददति प्रयच्छन्ति यथा नियमतो रोगोपशमो भवति ।

औषधप्रदाने च चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा-

एकेणेको छिज्जइ, एकेण अणेगऽणेगाहिँ एको ।
णेगेहिँ पि अणेए, पडिसेवा एव मासेहिँ ॥ २५९ ॥

कश्चित् एकेन घृतकुटेन एको वाताऽऽदिको रोगश्छिद्यते, एष प्रथमो भङ्गः । कश्चिदेकेन घृतकुटेन अनेके त्रयोऽपि वाताऽऽद्यो दोषाश्छिद्यन्ते, एष द्वितीयः । तथा क्वचिदनेकैर्घृतकुटैरेकोऽत्यन्तमवगाढो रोगो वाताऽऽदिकश्छेदमुपयाति, एष तृतीयः । कश्चिदनेकैर्घृतकुटैरनेके वाताऽऽद्यो दोषा उपशाम्यन्ति, एष चतुर्थो भङ्गः । एवं प्रतिसेवाऽप्येकानेकमासविषया चतुर्भङ्गिकया एकानेकैर्मासैः शुध्यतीति घृतकुटदृष्टान्त उपलक्षण, तेन सामान्यत औषधदृष्टान्तोऽपि द्रष्टव्यः । तत्राऽपि चतुर्भङ्गिका ।

तामेवाऽऽह-

एकोसहेण छिज्जं-ति केवि कुविया उ तिण्णि वायाऽऽदी ।
बहुएहिँ छिज्जंती, बहुए एक्केकतो वा वि ॥ २६० ॥

एकेनौषधेन तथाविधेन केचित् वाताऽऽदयस्त्रयोऽपि कुपिताश्छिद्यन्ते, उपशमं नीयन्ते इति भावः । एष द्वितीयो भङ्गः । तथा बहुभिरौषधैर्बहवो वाताऽऽदयो रोगाश्छिद्यन्ते । एष चतुर्थो भङ्गः । तथा-( एकेकतो वावि त्ति ) एकेनौषधेनैको वाताऽऽदिको रोगः छेदमुपयाति । एष प्रथमो भङ्गः । भङ्गत्रयग्रहणाच्चतुर्थोऽपि भङ्गः सूचितो द्रष्टव्यः । स चायम्-अनेकैरौषधैरेको वाताऽऽदिको रोगोऽत्यन्तमवगाढश्छिद्यते । एष तृतीयो भङ्गः । इयमत्र भावना-यथा विभङ्गज्ञानिनः सर्वरोगाणां निदानमेकानेकौषधसामर्थ्यं चावबुध्यमाना उपसपन्नानां रोगिणां घृताऽऽद्यौषधगणं प्रयुञ्जते, तेन च प्रयुज्यमानेन घृतकुटेन औषधेन वा केवलेन कदाचिदेकेनैको रोग उपशमं नीयते, कदाचिदेकेन अनेके, कदाचिदनेकैरेकः, कदाचिदनेके । एवं भगवन्तोऽपि जिना केवलिनो मासार्हं रागाऽऽदिभिरासेवितो मास इत्ययमवश्यं मासेन शुद्ध्यतीति जानानास्तस्मै मासं प्रयच्छन्ति, एष प्रथमो भङ्गः । तथा यद्यपि बहवो मासाः प्रतिसेवितास्तथाऽपि ते मन्दानुभावतः प्रतिसेविताः, यदि वा पश्चात् हा दुष्टु कृतमित्यादिनिन्दनैः प्रतिधूलिताः, तत एव एकेन मासेन शुद्ध्यतीति जानाना एकं मासं प्रयच्छन्ति । यदि वा-पञ्चरात्राऽऽदिकम्, एष द्वितीयो भङ्गः । एकेन मासेन, पञ्चरात्राऽऽदिना वा बहूनां मासिकाऽऽदिपरिहारस्थानानामुपशमनात् । तथा येन तीव्रेण रागाऽऽद्यध्यवसानेन एको मास एकं वा पञ्चरात्राऽऽदिकं प्रतिसेवितं, स किलैकेन मासेनैकेन पञ्चरात्राऽऽदिना वा न शुध्यतीति तस्मै अनेकान् मासान् प्रयच्छन्ति । उपर्युपरि रागद्वेषाऽऽदिवृद्धिं पश्यन्तश्छेदमपि मूलमपि यावत्पाराञ्चितमपि प्रयच्छन्ति, एष तृतीयो भङ्गः । अनेकैर्मासैश्छेदाऽऽदिभिर्वा पाराञ्चितपर्यन्तैरेकस्य मासस्य पञ्चरात्राऽऽदिकस्य वा शोधनात् । तथा बहुषु मासेषु प्रतिसेवितेषु नूनमेव बहुभिर्मासैः शोधिमासादयिष्यतीत्यवबुध्यमाना स्थापनाऽऽरोपणाव्यतिरेकेण षण्मासान् प्रयच्छन्ति, परतः तपःप्रायश्चित्तदानस्यासंभवात् । एष चतुर्थो भङ्गः, अनेकैर्मासैरनेकेषां मासानां शोधनात् ।

उपनययोजनामाह-

विब्भंगीव जिणा खलु, रोगी साहू य रोग अवराहा ।
सोही य ओसहाइं, तीए जिणाओ विसोहिंति ॥२६१॥

इह विचारप्रक्रमे विभङ्गितुल्याः खलु जिनाः प्रतिपत्तव्या रोगिणो रोगितुल्याः साधवः, रोगा रोगतुल्या अपराधा मूलगुणोत्तरगुणापराधाः औषधानि औषधतुल्याः शोधयः प्रायश्चित्तलक्षणाः, यतस्तया शोध्या कृत्वा जिना अपि शोधयन्ति, नैवमेव, नत औषधस्थानीया शोधिः, एवं जिनं प्रतीत्य दोषाः एकत्वमापन्नाः ।

संप्रति यथा चतुर्दशपूर्विणामधिकृत्य दोषाणामेकत्वं भवति तथा प्रतिपादयति-

एसेव य दिट्ठंतो, विब्भंगिकएहिँ विज्जसत्थेहिँ ।
भिसजा करेंति किरियं, सोहिंति तहेव पुव्वधरा ॥२६२॥

एष एव घृतकुटलक्षण औषधलक्षणो वा दृष्टान्तश्चतुर्दशपूर्विणोऽपि योजनीयः। यतो यथा भिषजो भिषग्वरा विभङ्गिकृतैर्वैद्यशास्त्रैर्विभङ्गिवत् चतुर्भङ्गविकल्पेनावितथां रोगापनयनक्रियां कुर्वन्ति, तथा चतुर्दशपूर्वधरास्त्रयोदशपूर्वधरा यावद्दशपूर्वधरा यावदभिन्नदशपूर्वधरा जिनोपदिष्टैः शास्त्रैर्जिना इव चतुर्भङ्गविकल्पनः प्रायश्चित्तप्रदानेन प्राणिनोऽपराधमलिनान् शोधयन्ति, ततस्तत्रापि घृतकुटदृष्टान्तः केवलौषधदृष्टान्तो वा योजनीय इति । आह परः-ननु जिनाः केवलज्ञानसामर्थ्यतः प्रत्यक्षेण रागाऽऽदिवृद्ध्यपवृद्धी पश्यन्ति, ततस्ते चतुर्भङ्गविकल्पनः प्रायश्चित्तं ददतु, तथा शुद्धिदर्शनात् । चतुर्दशपूर्विणस्तु साक्षान्न वेक्षन्ते, ततः कथं ते तथा दद्युरिति ? । नैष दोषः । तेषामपि ज्ञानात् ।

तथा चात्र नालिकादृष्टान्तः-

नालीएँ परूवणया, जह तीएँ गतो उ नज्जए कालो ।
तह पुव्वधरा भावं, जाणंति विसुज्झए जेण ॥ २६३ ॥

नालिका नाम घटिका, तस्याः पूर्वं प्ररूपणा कर्त्तव्या, यथा पादलिप्तकृताविवरणे कालज्ञाने । सा चैवम्-

" दाडिमपुप्फाऽऽगारा, लोहमयी नालिगा उ कायव्वा ।
तीसे तलम्मि छिड्डं, छिड्डपमाण च मे सुणह ॥ १ ॥
छण्णउयसुत्तवाले-हिँ तिवस्सजायाएँ गयकुमारीए ।
उज्जुकयपिंडियाहिँ, कायव्वं नालियाछिड्डं ॥ २ ॥

अहवा दुधक्खजाया-एँ गयकुमारीएँ पुच्छपालेहिँ ।
तिहिँ विहिँ गुणहिँ तेहिँ उ, कायव्व नालियाछिड्डं ॥ ३ ॥
अहवा सुवण्णमासे-हिँ चउहिँ चउरंगुला कया सुई ।
नालियतलम्मि तीए, कायव्व नालियाछिड्डु ॥४॥ " इत्यादि ।

तया नालिकया यथोदकसगलनेन दिवसस्य रात्रेर्वा गतो वा अतीतो वाऽवशिष्टो वा कालो ज्ञायते । यथा-एतावत् दिवसस्य रात्रेर्वा गतमेतावत्तिष्ठति इति । तथा पूर्वधरा अपि चतुर्दशपूर्वधराऽऽदय आलोचयतां भावमभिप्राय दुरुपलक्ष्यमप्यागमबलत सम्यग् जानन्ति, ज्ञाते च भावे यो येन प्रायश्चित्तेन शुध्यति, तस्मै तच्चतुर्भङ्गविकल्पतो जिना इव प्रयच्छन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । तदेव च तुर्दशपूर्विणमधिकृत्य दोषा एकत्वमापन्ना इति भावितम् ।

अधुना यथा जाति प्रतीत्य दोषा एकत्वमापद्यन्ते, तथा प्रतिपादयति-

मासचउमासिएहिँ, बहूहिँ वेगं तु दिज्जए सरिसं ।
असणाई दव्वाई, विसरिसवत्थूसु जं गरुयं ॥ २६४ ॥

जातिर्द्विधा-प्रायश्चित्तैकजातिर्द्रव्यजातिश्च । तत्र प्रायश्चित्तैकजातिमधिकृत्येदमुच्यते-मासचतुर्मासिकैर्बहुभिरपि प्रतिसेवितैरेक मास चतुर्मासाऽऽदिक दीयते । इयमत्र भावना-बहुषु लघुमासिकेषु प्रतिसेवितेष्वेकत्रेलायामालोचितेषु प्रतिसेवनायां महानुभावकृतत्वात्, प्रतिसेवितमासानामपि सदृशत्वात्, आलोचनायामपि सर्वेषामशठभावेनैकवेलायामालोचितत्वात्, एक लघुमासिक दातव्यम । एव बहुषु गुरुमासिकेषु प्रतिसेवितेष्वेक गुरुक, बहुषु लघुषु द्वैमासिकेष्वेक लघु द्वैमासिक, बहुषु लघुगुरुद्वैमासिकेष्वेक गुरु द्वैमासिकम । एव त्रैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकषाण्मासिकेष्वपि भावनीयम । ( विसरिसवत्थूसु ज गरुयमिति) विसदृशवस्तुषु यत् गुरुक तद्दातव्यम् । तद्यथा-बहुषु लघुगुरुमासिकेषु प्रतिसेवितेष्वेक गुरुक, बहुषु लघुगुरुद्वैमासिकेष्वेक गुरु द्वैमासिकम् । एव त्रैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकषाण्मासिकेष्वपि द्रष्टव्यम । तथा बहुषु मासिकेषु बहुषु च द्वैमासिषु प्रतिसेवितेष्वेकं द्वैमासिकम् । एव त्रैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकषाण्मासिकेष्वपि भावनीयम । बहुषु मासिकेषु द्वैमासिकेषु त्रैमासिकेषु चातुर्मासिकेषु पाञ्चमासिकेषु षाण्मासिकेषु प्रतिसेवितेष्वेक षाण्मासिकमिति । सम्प्रति द्रव्यजातिमधिकृत्य दोषाणामेकत्वं भावयति-(असणाई दव्वाई इति) द्रव्याणि अशनाऽऽदीनि अशनपानखादिमस्वादिमानि तान्येकान्येकान्यधिकृत्य दोषाणामेकत्वमुपजायते, तत्रैकद्रव्यमधिकृत्यैवम् । अनेकानि अशनैकद्रव्यविषयाण्याधाकर्मिकान्यभवन् तत्रैकमाधाकर्मिक चतुर्गुरु दीयते । यदि वा बहून्याहृतान्यभवन्, तत्रैकमाहृतनिष्पन्नं मासिक दीयते । एवमुदकाऽऽर्द्रराजपिण्डाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । अनेकद्रव्याण्यधिकृत्यैव अशनमाधाकर्मिक खादिममाधाकर्मिक प्रतिसेवित, तेषु सर्वेष्वेकवेलमालोचितेषु एकमाधाकर्मिक चतुर्गुरु दीयते । एव बहुष्वनेकद्रव्यविषयेषूदकाऽऽर्द्रेषु एकमुदकार्द्रनिष्पन्न मासलघु दीयते । एवमनेकद्रव्यविषयेष्वपि स्थापनौद्देशिकाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । "विसरिसवत्थूसु ज गुरुय । " इत्येतदत्रापि संबध्यते । तद्यथा-एकमशन राजपिण्डोऽपरमशनमाहृतमन्यदुदकाऽऽर्द्रमपरमाधाकर्मिकम, अत्रैकमेव गुरुतरमाधाकर्मिकनिष्पन्न चतुर्गुरु दीयते । एवं पानकाऽऽदिष्वपि भावनीयम । एतदेकद्रव्यमधिकृत्योक्तम, अनेकद्रव्याण्यधिकृत्येवम-अशनमाधाकर्मिक, पान बोजाऽऽदियन्त्रपतितमामिश्र, खादिम स्थापित स्वादिममौद्देशिकम् । अत्राप्येकमाधाकर्मिकनिष्पन्न चतुर्गुरु दीयते । अत्र चागारीदृष्टान्तः । यथा-"एगो रहकारो, तस्स भज्जाए बहू अवराहा कया, न य भत्तुणा नाया । अन्नया सा घर उग्घाडदुवार पमोत्तु पमायाओ सयम्मि घरे ठिया । तत्थ य घरे साणो पविट्ठो । तम्समय च पई आगतो । तेण साणो दिट्ठो । पच्छा सा अगारी आगया, अवराहकारिणीति भत्तुणा पिट्टिउमारद्धा । सा चिंतेइ-अण्णे वि मे बहू अवराहा अत्थि, ते अयाणओ एस पिट्टिहिइ ता इयाणिं चेव सव्वा कहेमि । गावी वच्छेण पीआ, थाली हारिया, कसभायणमवि हत्थाओ पडिय भिन्न, एसो वि तुम्हाण नट्ठो त्ति । एवमाइअवराहेसु पडिमरा कहिएसु तेण सा एकवार पिट्टिया ।" एव लोकोत्तरेऽपि अनेकेष्वपराधपदेष्वेकः प्रायश्चित्तदण्डो दीयते । तदेवम्-" दव्वे एगमणेग त्ति " गतम् ।

इदानीमालोचनाऽऽदीनि त्रीणि द्वाराणि वक्तव्यानीति तेषां यथाक्रममिमे दृष्टान्ताः-

आगारीदिट्ठंतो, एगमणेगे य ते य अवराहा ।
कंसी चउक्कभंगो, सामीपत्ते य तेणम्मि ॥ २६५ ॥

आलोचनायामगारीदृष्टान्त. । येषु चापराधेषु विषयेषु अगारीदृष्टान्तस्ते अपराधा एकेऽनेके च । दुर्बले भण्डीदृष्टान्त' । तत्र च भण्ड्या चतुष्कभङ्ग , भङ्गचतुष्टयमिति भाव । आचार्ये स्वामित्वप्राप्ते स्तेनदृष्टान्तता ।

तत्राऽऽलोचनाविकल्पा इमे-

निस्सज्जे वियडणाए, एगमणेगा य होइ चतुभंगो ।
बीसरिउस्सण्णपए, विइयतिचरिमे सिया दो वि ॥२६६॥

इह स्त्रीत्वेऽपि पुस्त्व प्राकृतत्वात्, निषद्याया विकटनायाश्च भवति चतुर्भङ्गी, चतुर्णां भङ्गाना समाहारश्चतुर्भङ्गी, गाथायां स्त्रीत्वेऽपि पुस्त्व प्राकृतत्वात् । कथ चतुर्भङ्गीत्यत आह-एकाऽनेका च । एका निषद्या अनेका च । तथा एका विकटना, अनेका वा । इयमत्र भावना-एका निषद्या आलोचना । इहाऽऽलोचनां ददानेन गुरोर्निषद्या कर्तव्या, यावतश्च वारान् आलोचनां ददाति तावतो वारान् निषद्यां करोति । तत्र यदा विधिना अशेषानप्यतीचारान् विधिनैकवेलायामालोचयति तदा एकस्यामेव निषद्याया सर्वातीचाराऽऽलोचनात् प्रथमो यथोक्तो भङ्ग । ( बीसरि उस्सण्णपए विइय तिसि ) द्वितीयो भङ्गो विस्मृतौ, तृतीयो भङ्ग उत्सन्नपदे प्रभूतपदेषु । किमुक्त भवति ?-द्वितीयो भङ्ग एका निषद्या, अनेकाऽऽलोचना एव विस्मृतातिचारस्य । यदि वा-मायाविन आलोच्य उत्थिते गुरौ पुन. स्मरणतो मायाविन पश्चात्सम्यगालोचनापरिमाणपरिज्ञ तस्य गुरौ तथा विनिर्दिष्ट एव वन्दनक दत्त्वा आलोचयतो वेदितव्य तृतीयो भङ्ग । अनेका निषद्या, एका आलोचना, एव प्रभूतेन कालेन प्रतिसेविते बहुकस्य एकादिनेनाऽऽलोचनामपारयताऽन्यस्मिन्नन्यस्मिन् दिने निषद्या कृत्वाऽऽलोचयतो भावनीय । यदि वा-निषद्य निषद्या, गुरौ बहुवेल कायिकभूमि

गतप्रत्यागते अनेका निषद्या एका आलोचनेति । ( चरिमे सिया दो वि ) चरमभङ्गे अनेका निषद्या 'अनेका आलोचनाः, इत्येवंरूपे अशठभावोपेतस्य स्यातां द्वे अपि कारणे-विस्मृतत्वं, यदि वाऽपराधबाहुल्यम् । इदमुक्तं भवति-प्रभूतेन कालेन प्रभूतमासेवितमतो बहुविस्मृतमित्यन्यस्मिन् दिने स्मृत्वा आलोचयतः,यद्वा-अपराधबाहुल्यत एकदिनेनाऽऽलोचयितुमपारयतोऽपरस्मिन्नहन्यालोचयतो यथोक्तस्वरूपश्चतुर्थो भङ्गः । तत्र एका निषद्या एकाऽऽलोचनेति प्रथमे भङ्गे एकमेव गुरुतरं प्रायश्चित्तं दीयते शेषाणां सर्वेषामपि प्रायश्चित्तानामाच्छादकम् । तथा चोक्तम्-"तं चेग ओहाऊणं दिज्जइ ।" इति । अस्यायमर्थः-तदेवैकं गुरुतर प्रायश्चित्तं शेषाणां प्रायश्चित्तानामपघाटनमाच्छादक दीयते इति । अत्र दृष्टान्तः क्षारयोगः । यथा हि पङ्कापनयनाय प्रयुक्तः क्षारयोगोऽशेषमपि मलं शोधयति तथैकमप्यवघाटन प्रायश्चित्तानि शोधयतीति । उक्तं च-"जह्वा पंकावणयणपउत्तो खारजोगो मेसमलं पि सोहेइ तह्वा ओहाऊणपच्छित्तं पि सेसपच्छित्ते सोहेइ ॥" इति । अथवा स एवागारीदृष्टान्तः-यथा सा अगारी एकापराधे हन्यमाना अन्यानप्यपराधान् कथयन्त्येकवार पिट्टिता, यदि पुनर्बहवोऽपराधाः कृता इत्यन्यस्मिन्नन्यस्मिन् दिवसे एकैकमपराधं कथयेत् तर्हि यावतो वारान् कथयेत् तावतो वारान् हन्येत् । एवमत्रापि यद्येकैकमपरस्मिन्नहन्यालोचयेत् ततो यावन्तोऽपराधास्तावन्ति प्रायश्चित्तान्याप्नुयादेकनिषद्यायाम । एकालोचनायां त्वेकमेव गुरुतरकं प्रायश्चित्तं दीयते इति । द्वितीये भङ्गे बहुप्रतिसेवितमशठेन सता पूर्वं न स्मृत यद्यपि पश्चादालोचयति तथापि, यथा प्रथमे भङ्गे गुरुतरकमेकं शेषप्रायश्चित्तानामाच्छादकं दत्त, तथाऽत्रापि, अशठभावेन आलोचितवान् ततो यावन्ति प्रायश्चित्तान्यालोचयति तावन्ति दीयन्ते इति । तृतीयेऽपि भङ्गे बहुप्रतिसेवितमतोऽशठस्य सत एकनिषद्ययाऽऽलोचना न समाप्तिमुपगता, ततो यस्मिन् दिने समाप्तिमुपयाति तस्मिन् दिने प्रथमभङ्गक इवैकं गुरुतरकं प्रायश्चित्त दातव्यम् । अथ शठतया अन्यस्मिन्नन्यस्मिन्नहन्यालोचयति तर्हि यावन्त्यपराधपदान्यालोचयति तावन्ति प्रायश्चित्तानि दातव्यानि । चरमभङ्गेऽपि यद्यशठभावतो विस्मृततया, बहुप्रतिसेवनातो वा अनेकेषु दिवसेष्वेकाऽऽलोचना समाप्तिं गच्छति, ततस्तत्राऽपि प्रथमभङ्गक इवैक गुरुतरकमवघाटन प्रायश्चित्तं देयम् । अथ मायाविनया, ततो यावन्त्यपराधपदानि तावन्ति प्रायश्चित्तानि दातव्यानीति ।

य इह अगारीदृष्टान्तः पूर्वमुपक्षिप्तस्तमिदानीं कथयति-

गावी पीया वासी, य हारिया भायणं च ते भिन्नं ।
अज्जेव ममं सुहयं, करेहि पअओ त्ति ते नट्ठो ॥२६७॥
एगावराहदंडे, अन्ने य कहेयऽगारि हम्मती ।
एवं णेगपएसु वि, दंडो लोगुत्तरे एगो ॥ २६८ ॥

अगारी गृहस्था रथकारस्य भार्या एकापराधदण्डे शून्ये गृहे प्रविष्टा इत्येकस्यापराधस्य दण्डे पिट्टितलक्षणे भर्त्रा क्रियमाणे हन्यमानाऽचिन्तयत्-बहवोऽपराधा मया कृताः, ततो मा प्रतिदिवसमेवाय मां हन्यात्, किं त्वद्यैवं मा सुहृतां करोतु, एव चिन्तयित्वा अन्यानप्यपराधान्कथयति । यथा-गौर्वत्सेन पीता । किमुक्त भवति?-गां वत्सो धापितवान् । तथा वासी च हारिता क्वापि मुक्ता, कस्मै समर्पिता वा, न जानामि । तथा भाजनमपि कस्यचिभाजनमपि ते तव सत्कमिव, यत्र भवान् भुङ्क्ते, हस्तात्पतितं सद् भग्नम् । तथा पटोऽपि तव सत्कः कोऽपि न दृश्यते, केनाऽपि हृत इति भावः । एवं लोकोत्तरेऽपि एकनिषद्यायामेकाऽऽलोचनायामित्यादिचतुर्भङ्ग्याममायाविनोऽनेकेष्वपराधपदेषु दण्ड एको गुरुतरको दीयते ।

अथवा-अत्रैवाऽऽलोचनाविषयेऽयमन्यो दृष्टान्तः-

णेगासु चोरियासुं, मारणदंडो न सेसया दंडा ।
एवमणेगपएसु वि, एक्को दंडो न उ विरुद्धो ॥२६९॥

"एगो चोरो,तेण बहुयाओ चोरियाओ कयाओ । तं जहा-कस्सइ भाण हरियं, कस्सइ पडओ, कस्सइ हिरण्णं, कस्सइ रुप्पं । अन्नया तेण रायउले खत्तं खणियं, रयणा हिया । दिट्ठो आरक्खगेहिं,गहितो, रण्णो उवट्ठवितो, तस्समयं च अण्णे बहवो उवट्ठिया भणंति-अम्ह वि एएण हडं । ततो रण्णा रयणहारि त्ति काउं तस्स मारणदंडो एक्को आणत्तो, सेसे चोरियादंडा तत्थेव पविट्ठा ।" तथा चाऽऽह-अनेकासु चोरिकासु रत्नचोरिकानिमित्त तस्यैको मारणदण्डः प्रयुक्तो, न शेषचोरिकादण्डाः, तेषां तत्रैव प्रविष्टत्वात् । एवं लोकोत्तरेऽप्यनेकपदेषु गुर्वेकपदनिमित्त एको दण्डोऽविरुद्धः,शेषदण्डानां तत्रैव प्रवेशात् । तदेवमालोचना प्रत्येकत्वं दोषाणामुपपादितम् । सांप्रत दुर्बल प्रतीत्य भाष्यते भाण्डीदृष्टान्तः, तत्राऽपि भङ्गचतुष्टयम् । तद्यथा-भण्डी बलिका,बलीवर्दा बलिकाः१,भण्डी बलिका,बलीवर्दा दुर्बलाः २,भण्डी दुर्बला,बलीवर्दा बलिकाः ३,भण्डी दुर्बला, बलीवर्दाश्च दुर्बलाः । तत्र प्रथमे भङ्गे भाण्डं परिपूर्णमारोप्यते । द्वितीये भङ्गे यावत् बलीवर्दा आक्रष्टुं शक्नुवन्ति तावदारोप्यते । तृतीये भङ्गे यावता आरोपितेन भण्डी न भज्यते तावदारोप्यते । चरमभङ्गे यावन्मात्रेण न भण्डी भङ्गमुपयाति, यावच्च बलीवर्दा आक्रष्टुमलं, तावदारोप्यते । एष दृष्टान्तः ।

अयमुपनयः-

सगडं जह सगडं, धिईउ धुज्जेहिँ होंति उवणीया ।
बियतियचरिमे भंगे, तं दिज्जइ जं तरइ वोढुं ॥२७०॥

यथा शकट तथा संहननं, शकटस्थानीय संहननमित्यर्थः । धृतयो धुर्यैर्धौरेयैर्भवन्त्युपनीताः, धौरेयतुल्या धृतय इति भावः । अत्रापि भङ्गचतुष्टयम् । तत्र प्रथमभङ्गे यावदापन्न तत्सर्वं दीयते, द्वितीये धृत्यनुरूप,तृतीये संहननानुरूपं,चतुर्थे धृतिसंहननानुरूपम् । तथा चाऽऽह-( बियतिय इत्यादि ) द्वितीय तृतीये चरिमे च भङ्गे तत्प्रायश्चित्त धृत्याद्यनुरूप दीयते यत् शक्नोति वोढुमिति ।

साम्प्रतमाचार्यमधिकृत्य दोषाणामेकत्व यथोपपद्यते तथा भाव्यते । तत्र स्वामित्वप्राप्तस्तेनदृष्टान्त , तमेवाऽऽह-

निवमरण मूलदेवो, आसेऽधिवासे य पट्टिन उ दंडो ।
सकप्पियगुरुदंडो, मुच्चइ जं वा तरइ वोढुं ॥ २७१ ॥

"एगत्थ नगरे राया अपुत्तो मतो, तत्थ य रज्जचिंतगेहिं रज्जाऽऽरोहणनिमित्त आसो अहिवासिओ, हत्थी य । इतो मूल-

देवो चोरियं करेंतो आरक्खगेहिं गहितो । तेहिं रज्जचिंतगेहिं वज्झो आणत्तो नगरं हिंडाविज्जइ । इतो य सो आसो हत्थी य मुक्को, अट्ठारसपयइपरिवारेहिं दिट्ठो मूलदेवो । आसेण हेसियं । पट्ठी अल्लिया, हत्थिणा गुलुगुलाइयं । गंधोदकं करे घेत्तुं अहिसित्तो, खंधे य आरूढो । " सामुद्रिकलक्षणपाठकैरादिष्ट 'एष राजा' इति तस्य चौरिकापराधाः सर्वे मुक्ता, राज्ये स्थापितः । तथा चाऽऽह-नृपमरणमभूत् ततोऽश्वोऽधिवासितोऽश्वाधिवासे कृते तेनाऽश्वेन मूलदेवस्य पृष्ठं दत्तं, ततो मूलदेवो राजा बभूव, न पुनस्तस्य चौरिकादण्डः कृतः । एष दृष्टान्तः । अयमुपनयः-एकस्य साधोर्बहुश्रुतस्य अपराधे प्रायश्चित्तदण्डो गुरुकः सङ्कल्पितः, आचार्याश्च कालगताः, स चाऽऽचार्यपदयोग्य इत्याचार्यैः स्थापितः, गच्छे च सूत्रार्थतदुभयाऽऽदिभिः संग्रहः कर्त्तव्यः । ततो यच्छक्नोति वोढुं तद्दीयते । अथ न शक्नोति तर्हि न किञ्चिद् दीयते । तथा चाऽऽह-(सकप्पेत्यादि) सङ्कल्पितगुरुदण्ड आचार्यपदे स्थापितः सन् एवमेव मुच्यते, यद्वा शक्नोति वोढुं तद्दीयते इति । एवमाचार्यमधिकृत्य दोषा एकत्वमापन्नाः । अत्राऽऽह चोदकः-साधूनामिह दोषैकत्वकारणं, किमनया एतावत्प्रमाणया स्थापनाऽऽरोपणाभ्यामाकृष्टिविकृष्ट्या कृतः पञ्च दिवसा गृहीता इतो दशेत्यादिरूपया । गुरुणा ह्यागममनुसृत्य यत्प्रायश्चित्तमाभवति तत्स्थापनाऽऽरोपणाभ्यामन्तरेणैव दीयताम्-इदं ते प्रायश्चित्तमिति ।

अत्र सूरिराह-

चोयग ! पुरिसा दुविहा, गीयागीय परिणामि इयरे य ।
दोण्ह वि पच्चयकरणं, सव्वे सफला कया मासा ॥ २७३ ॥

चोदक ! पुरुषा द्विविधाः । तद्यथा-(गीयागीय त्ति) गीतार्थाः, अगीतार्थाश्च । अगीतार्था द्विविधाः-परिणामिन, इतरे च । इतरे नाम-अपरिणामा, अतिपरिणामाश्च । तत्र गीतार्थानामपि च परिणामिकानां परिहारस्थानमापन्नानां यत् दातव्यं तत्स्थापनाऽऽरोपणाभ्यामाकृष्टिविकृष्ट्या विना दीयते । अत्र दृष्टान्तो वणिक्-"एगो वाणियओ, तस्स वीसं भंडीओ एगजातीयभंडभरियाओ सव्वाओ समभाराओ । तस्स गच्छतो सुंकट्ठाणे सुंकियओ उवट्ठितो भणइ-सुंकं देहि । वणिओ भणइ-किं दायव्वं ? । सुंकिओ भणइ-वीसतिमो भागो । ताहे वणिएण सुंकिएण य परिच्छिऊण मा ओयारणपच्चारोहेसु विक्खेवो हवउ त्ति एका भंडी सुंके दिण्णा । एवं सव्वेसिं गीयत्थाणमगीयत्थाण य परिणामगाणं विणा आकड्ढविकड्ढीए पायच्छित्तं दिज्जइ । जे उण अगीयत्था अपरिणामगा य, ते जं छण्हं मासाणं परेण आवण्णा तेसिं दोण्ह पच्चयकरणट्ठा सव्वे मासा ठवणाऽऽरोवणविहाणेण सफलीकाउं दिज्जंति ।" तथा चाऽऽह-(दोण्ह वीत्यादि) द्वयानामपि अपरिणामकानामतिपरिणामकानां च प्रत्ययकारणं स्यादिति हेतोः सर्वे मासाः स्थापनाऽऽरोपणाभ्यां सफलाः कृताः । अत्र दृष्टान्तो मूर्खमरुकेन " मुक्खमरुगस्स वीसं भंडीओ एगजातीयभंडभरियाओ सव्वाओ समभाराओ । तस्स गच्छंतस्स सुंकट्ठाणे सुंकितो उवट्ठितो भणइ-एगं भंडिं दाउं वच्च, किं मम ओयारणविक्खेवेण । मुक्खमरुगो भणइ ओयारित्ता एकेकाओ वीसइमं भागं गेण्हसु । सुंकिएण तस्स सव्वभंडीओ ओयारित्ता एकेकाओ वीसइमो भागो गहितो । मरुगसरिच्छा अगीया, सुंकियसरिसो गुरू । अहवा । निहिदिट्ठंतो कज्जाकज्जे जयमाणाजयमाणासु । एक्केण वाणिएण निही उवलद्धो, तं अप्पेहिं नाउं रण्णो निवेइयं, वणिओ पूइतो, निही य से दिण्णो । एवं मरुएण वि निही दिट्ठो, रण्णो निवेइओ, रण्णा पुच्छिओ, तेण सव्वं कहियं । मरुगो पूइतो, निही वि से दक्खिणा दिण्णा । एवं जो कज्जे जयणाकारी तस्स सव्वं मरुगस्सेव मुच्चइ, जो कज्जे अजयणाकारी तेसु वि जो अकज्जे जयणाकारी य, अजयणाकारी य, वणिगस्सेव पच्छित्तं दिज्जइ, नवरं कज्जे अजयणाकारिस्स लहुतरं दिज्जइ ।

एतदेवाऽऽह-

वणिमरुगनिही य पुणो, दिट्ठंता तत्थ होंति कायव्वा ।
गीयत्थमगीयाण य, उवणयणं तेहिं कायव्वं ॥ २७३ ॥

गीतार्थानामगीतार्थानां च विषये वणिक्मरुकनिधयः पुनर्दृष्टान्ता भवन्ति कर्त्तव्याः । तत्र वणिजा गीतार्थानामुपनयनं कर्त्तव्यं, मरुकेनाऽगीतार्थानाम्, एवमेतद्व्याख्यानान्तरमेव भावितम् ।

तत्र वणिक्मरुकदृष्टान्तावेव भावयति-

वीसं वीसं भंडी, वणि मरु सव्वा य तुल्लभंडाओ ।
वीसइभागे सुंकमरु-गसरिच्छो इहमगीतो ॥ २७४ ॥

वणिजा मरुकेण च प्रत्येकं विंशतिर्भाण्ड्यो गन्त्र्यः कृताः । कथम्भूताः ?, इत्याह-सर्वास्तुल्यभाण्डाः तुल्यक्रयाणकाः, तत्र शौल्किको विंशतितमे भागे प्रत्येकमेकैकं विंशतितमं भागं याचितवान्, वणिक् एकां भाण्डीमेव दत्तवान्, मरुकस्तु प्रत्येकं प्रत्येकं भाण्डीभ्य एकैकं विंशतितमं भागम् । अत्र वणिक्सदृशो गीतार्थो मरुकसदृशः (इहमगीत इति) पुनरिह अगीतोऽगीतार्थः ।

अथवा-कार्याकार्येषु यतनाऽयतनयोर्निधिलाभे यौ वणिग्मरुकौ तौ दृष्टान्तौ कर्त्तव्यौ । तथा चाऽऽह-

अथवा वणिमरुएण य, निहिलंभ निवेइए वणिए दंडो ।
मरुए पूय विसज्जणं, इय कज्जमकज्ज जयमजओ ॥ २७५ ॥

अथवेति प्रकारान्तरे । तच्च प्रकारान्तरमिदम्-पूर्वं गीतार्थागीतार्थयोर्वणिक्मरुकदृष्टान्तावुक्ताविदानीं तु कार्याकार्येषु यतनायामयतनायां च निधिलाभोपलक्षितौ वणिक्मरुकदृष्टान्तावुच्येते इति । वणिजा निधिलाभे अनिवेदिते वणिजो राज्ञा दण्डः कृतः, मरुकेण निधिलाभे निवेदिते तस्मिन्मरुके राज्ञा पूजा कृता, विसर्जनं च प्रदानं निधेः मरुकाय कृतम् । इतिरेवममुना दृष्टान्तेन कार्यमकार्यं वाऽधिकृत्य यतमानोऽयतमानश्चोपनेतव्यः । यः कार्ये यतनाकारी स मरुक इव पूज्यः, सर्वमपि च तस्य प्रायश्चित्तमुच्यते । कार्ये अयतनाकारी अकार्ये, यतनाकारी च वणिगिव दण्ड्यते, नवरं कार्येऽयतनाकारिणः स्तोको दण्डः ।

अत्राऽऽह-किमिति आचार्यस्य सर्वं मुच्यते, किमिति वा शेषाः साधवः सर्वं प्रायश्चित्तं वाह्यन्ते ? । अत्र निधिदृष्टान्त । तथा चाऽऽह-

मरुयसमाणो उ गुरू, मुच्चइ पुव्वं पि सव्वं से ।
साहू वणिओ व जहा, वाहिज्जइ सव्वपच्छित्तं ॥ २७६ ॥

कथानकं प्रागुक्तमेव । उपनयस्त्वयम्-यथा मरुको निधिलाभनिवेदनेन राज्ञाऽनुग्रह कृतवान्, तथाऽऽचार्योऽपि

च्छोपग्रहं करोति, गच्छोपग्रहं च कुर्वन् भगवदाज्ञां पालय ति. ततो मरुकवत्स पूज्य', सर्वं च तस्य प्रायश्चित्त मुच्यते इत्यदोषः । तथा चाऽऽह- 'मरुकसमानो गुरुरिति पूज्यते, अत एव च ( से ) तस्य पूर्वं प्रायश्चित्त मुच्यते । साधु पुनर्यथा वणिक् तथा द्रष्टव्यः, ततः सर्वं प्रायश्चित्त वाह्यते । अथ- वा-"वणिमरुयनिहीं य पुणो(२७०)" इत्यत्र वणिग्दृष्टान्तो गी- तार्थानां, मरुकदृष्टान्तोऽगीतार्थानाम्, अन्येषामपि यादृशः ष- ण्मासाऽऽलोचनायामाचार्यस्य विनयोपचारः करणीयस्तथा मासिकाऽऽलोचनायामपि । इत्यत्रार्थे निधिदृष्टान्तः ।

तथा चाऽऽह-

अहवा महानिहिम्मी, जो उवयारो स एव थोवे वि ।
विणयादुवयारो पुण, जो छम्मासे स मासे वि ॥२७७॥

अथवेति निधिशब्दस्यार्थान्तरार्थदृष्टान्तत्वोपदर्शने । महानि- धावुत्खनितव्ये यो यादृश उपचारः क्रियते, स एव तादृश एव स्तोकेऽपि निधावुत्खनितव्ये करणीयः । एवमपराधाऽऽलोचना- यामपि यादृशः षण्मासाऽऽलोचनायां विनयाऽऽद्युपचारः क्रिय- ते । मत्ताऽऽदिशब्द्प्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिग्रहः । स ताद- शो मासेऽपि मासिकाऽऽलोचनायामपि कर्तव्यः ।

अत्राऽऽह परः-यदिदं सूत्रखण्ड यूय प्ररूपयथ-"तेण परं प- डिसेविए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ।" इति । स किमेष सर्वस्यापि नियम उत पुरुषविशेषस्य ? । सूरिराह-

सुबहूहिं मासेहिं, छम्मासाणं परं न दायव्वं ।
अविकोवियस्स एवं, विकोविए अन्नहा होइ ॥२७८॥

षण्मासेभ्यः परतः सुबहुभिरपि मासैः प्रतिसेवितैः प्राय- श्चित्त षण्मासानां परं सप्तमासाऽऽदिक न दातव्य, किं तु षण्मासावधिकमेव । यतोऽस्माकमेतावदेव भगवता वर्द्धमा- नस्वामिना तपोर्हं प्रायश्चित्त व्यवस्थापितम् । एतच्चैवमुक्त- प्रकारेण स्थापनाऽऽरोपणालक्षणेन दातव्यमविकोविदस्य प- रिणामकस्य अपरिणामकस्य वा अगीतार्थस्य । इयमत्र भावना- सर्वस्यापेष नियमो, यदुत -सुबहुष्वपि षण्मासेभ्यः परतो मा- सेषु प्रतिसेवितेषु प्रायश्चित्त षण्मासावधिकमेव दातव्यम्, न ततोऽधिकमपि, केवलमेतावांस्तु विशेषः-योऽपरिणामको- ऽतिपरिणामको वा तस्यागीतार्थस्य स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण सर्वान्मासान्सफलीकृत्य षाण्मासिक तपो दीयते, यस्तु वि- कोविदो गीतार्थोऽगीतार्थो वा परिणामक, तस्मिन्नन्यथा भव- ति प्रायश्चित्तदानम् । किमुक्तं भवति? विकोविदस्य षण्मासानां परत. सुबहुष्वपि मासेषु प्रतिसेवितेषु शेष समस्त त्यक्त्वा षण्मासा दीयन्ते,न पुनरस्ति तत्र स्थापनाऽऽरोपणाप्रकार इति ।

आह परः-यदि भगवता तपोर्हे प्रायश्चित्ते उत्कर्षत षण्मासा दृष्टा', ततः षण्मासा तिरिक्तमासाऽऽदिप्रतिसेवने छेदाऽऽ- दि कस्मान्न दीयते, येन शेष समस्तमपि त्यज्यते ? , इति । तत्राऽऽह-

सुबहूहिं वि मासेहिं, छेदो मूलं तहिं न दायव्वं ।
अविकोवियस्स एवं, विकोविए अन्नहा होइ ॥२७९॥

यो नामागीतार्थोऽपरिणामकोऽतिपरिणामको वा,यो वा छेदाऽऽ- दिकं न श्रद्दधाति,तस्य एवमवसातव्यम्-षण्मासानामुपरि तस्य बहुभिरपि मासैः प्रतिसेवितैश्छेदो मूलं वा न दातव्यम्.अपरि- णामाऽऽदिस्वभावतया तस्य छेदमूलानर्हत्वात् । किं तु स्थापनाऽऽ- रोपणाप्रकारेण षण्मासा दीयन्ते । विकोविदे गीतार्थे वा परिणा- मके तदेव षण्मासदानमन्यथा भवति-स्थापनाऽऽरोपणाप्रकार- मन्तरेणैवमेव दीयन्ते षण्मासा इति भावः । अयमत्र संप्रदायः- अविकोविदा उक्तस्वरूपा निष्कारणप्रतिसेवनया यतनया प्रतिसेवनया वा अभीक्ष्णप्रतिसेवनया वा यदि कथमपि छेदमूलाऽऽदिकं प्राप्तास्तथापि तेषां छेदो मूलं वा न देय, किं- तु षण्मासिकं तपः । यदि पुनरकोविदोऽभ्युपेत्य पञ्चेन्द्रिय- घात करोति, दर्पेण वा मैथुनं प्रतिसेवते, तदा छेदो मूलं वा दीयते । विकोविदस्य षण्णां मासानामुपरि बहुष्वपि प्र- तिसेवितेषु मासेषु प्रथमवेलायामुद्घातिता. षण्मासा दीयन्ते, द्वितीयवेलायामनुद्घातिता., तृतीयवेलायां छेदो मूलं वा इति । अथ कीदृश. कोविदः कीदृशो वा अविकोविद इत्यत आह-

गीतो विकोवितो खलु, कयपच्छित्तो सिया अगीतो वि ।
छम्मासियपट्ठवणा-ए तस्स सेसाण पक्खेवो ॥ २८० ॥

गीतो गीतार्थ खलु कृतप्रायश्चित्तो विकोविदः, योऽप्युक्तो यथा आचार्यैः-यदीदं भूयः सेविष्यसे तत' छेदं मूलं वा दा- स्याम', सोऽपि कोविद. । तद्विपरीतोऽगीतार्थः । यश्च प्रथमतया प्रायश्चित्त प्रतिपद्यते, यश्चोक्तोऽपि तथा न सम्यक् परिणामयति स स्यादविकोविद । तत्र यदि कोविदः षट्सु मासेषु तपसा कर्त्तुमारब्धेषु अन्तरा यदि मासाऽऽदिक प्रतिसेव- ते तत्तस्य पूर्वप्रस्थापितषण्मासस्य ये शेषा मासा दिवसा वा तिष्ठन्ति तेषां मध्ये प्रक्षिप्यते, न पुन. षण्मासपरिपूर्त्यनन्तर तद्विषयं भिन्न प्रायश्चित्तं दातव्यमिति । तथा चाऽऽह-षण्मास- प्रस्थापनायाः, षण्मासेषु तपसा कर्त्तुमारब्धेषु इत्यर्थः । तस्य मासिकाऽऽदेरपान्तराले प्रतिसेवितस्य षण्मासस्य ये शेषा मा- सा दिवसास्तिष्ठन्ति तेषां मध्ये अनुग्रहकृत्स्न, न वा प्रक्षेप ।

आह- एतत्तपश्छेदमूलार्हं प्रायश्चित्त कुत उत्पद्यते ?। सूरिराह

(७) मूलातिचारे प्रायश्चित्तम्-

मूलातियारे चेयं, पच्छित्तं होइ उत्तरेहिं वा ।
तम्हा खलु मूलगुणे-ऽनतिक्कमे उत्तरगुणे वा ॥२८१॥

एतत् तपश्छेदमूलार्हं प्रायश्चित्त यस्मात् भवति मूलाति- चारे मूलगुणातिचारे, प्राणातिपाताऽऽदिप्रतिसेवने इत्यर्थ. । उ- त्तरैर्वा उत्तरगुणैर्वा पिण्डविशुद्ध्यादिभिरतिचर्यमाणैर्भवति प्रायश्चित्त,तस्मात् मूलगुणान् प्राणातिपाताऽऽदिप्रतिसेवनया, उत्तरगुणान् वा उद्गमाऽऽदिदोषाऽऽसेवनया नातिक्रमेत् ।

अत्र पर आह-

मूलव्वयाइयारा, जयऽसुद्धा चरणभंसगा हुंति ।
उत्तरगुणातियारा,जिणसासणे किं पडिक्कुट्ठा ?॥२८२॥

यदि मूलगुणातिचारा अशुद्धा इति कृत्वा चरणभ्रंशका भवन्ति , ततः साधूनामुत्तरगुणातिचाराश्चरणस्याभ्रंशकाः प्राप्ता , मूलगुणातिचाराणां चरणभ्रंशकतया प्रतिपन्नत्वात् । ततः किमुत्तरगुणा जिनशासने प्रतिक्रुष्टा , न युक्तस्तेषां प्रति- षेधो, दोषाकारित्वादिति भावः ।

उत्तरगुणातियारा, जयऽसुद्धा चरणभंसगा हुंति ।
मूलव्वयातियारा,जिणसासणे किं पडिक्कुट्ठा ?॥२८३॥

यदि उत्तरगुणातिचारा अशुद्धा इति कृत्वा चरणभ्रंशका भवन्ति, ततो मूलव्रतातिचारांश्चरणभ्रंशका न प्राप्नुवन्ति,उत्तरगुणातिचाराणां चरणभ्रंशकतया प्रतिपन्नत्वात् । तथा च सति मूलव्रतातिचाराः किं जिनशासने प्रतिक्रुष्टाः ?, दोषाभावात् ।

अत्र सूरिराह-

**मूलगुण उत्तरगुणा, जम्हा भंसंति चरणसेढीओ ।**
**तम्हा जिणेहिँ दोन्नि वि, पडिकुट्ठा सव्वसाहूणं ॥२८४॥**

यस्मात् मूलगुणा उत्तरगुणा वा पृथक् पृथक् युगपद्वा अतिचर्यमाणाश्चरणश्रेणीत संयमश्रेणीतो भ्रंशयन्ति । साधून् ततो जिनैः सर्वैरपि मूलगुणातिचारा उत्तरगुणातिचाराश्च प्रतिक्रुष्टाः । अन्यच्च-मूलगुणेष्वतिचर्यमाणेषु मूलगुणास्तावद्धता एव। किं तु उत्तरगुणा अपि हन्यन्ते । तेषां विनाशे उत्तरगुणेष्वतिचर्यमाणेषूत्तरगुणास्तावद्धता एव, किं तु मूलगुणा अपि हन्यन्ते ।

तथा चाऽत्र दृष्टान्तमाह-

**अग्गघाओ हणे मूलं, मूलघातो उ अग्गयं ।**
**तम्हा खलु मूलगुणा, न संति न य उत्तरगुणा य॥२८५॥**

यथा तालद्रुमस्याग्रस्तदृव्याघातो मूलं हन्ति,मूलघातोऽपि चाग्रं हन्ति,एवं मूलगुणानां विनाश उत्तरगुणानपि नाशयति, उत्तरगुणानामपि विनाशो मूलगुणान्, तस्मात् मूलगुणातिचारा उत्तरगुणातिचाराश्च जिनैः प्रतिक्रुष्टाः। अत्र चोदक आह-यदि मूलगुणानां नाशे उत्तरगुणानामपि नाशः, उत्तरगुणानां नाशे मूलगुणानामपि, तस्मात्ततो न खलु नैव मूलगुणाः सन्ति, नाप्युत्तरगुणाः । यस्मान्नास्ति स संयतो यो मूलोत्तरगुणानामन्यतमं गुणं न प्रतिसेवते, अन्यतमगुणप्रतिसेवने च द्वयानामपि मूलोत्तरगुणानामभावः, तेषामप्यभावे सामायिकाऽऽदिसंयमाभावः, तदभावे बकुशाऽऽदिनिर्ग्रन्थानामभावः । ततः प्राप्तं तीर्थमचारित्रमिति ।

सूरिराह-

**चोयग ! छक्कायाणं, तु संजमो जाऽणुधावए ताव ।**
**मूलगुण उत्तरगुणा, दोन्नि वि अणुधावए ताव ।२८६।**

चोदक ! यावत् षड्जीवनिकायेषु संयमोऽनुधावति अनुगच्छति प्रबन्धेन वर्त्तते, तावत् मूलगुणा उत्तरगुणाश्च द्वयेऽप्यते अनुधावन्ति प्रबन्धेन वर्त्तन्ते ।

**इत्तरसामाइयछेयसंजता तह दुवे नियंठा य ।**
**बउसपडिसेवगा ता, अणुसज्जंते य जा तित्थं ॥ २८७ ॥**

यावत् मूलगुणा उत्तरगुणाश्चानुधावन्ति तावदित्वरसामायिकच्छेदसंयतावनुधावतः। यावच्चेत्वरसामायिकच्छेदोपस्थापनसंयमौ तावद् द्वौ निर्ग्रन्थावनुधावतः। तद्यथा-बकुशः,प्रतिसेवकश्च । तथाहि-यावन्मूलगुणप्रतिसेवना तावत्प्रतिसेवको, यावदुत्तरगुणप्रतिसेवना तावद्बकुशः । ततो यावत्तीर्थं तावद्बकुशाः प्रतिसेवकाश्च अनुसज्जन्ति अनुवर्त्तन्ते, अतो नाचारित्रं प्रसक्तं प्रवचनमिति ।

( ८ ) मूलोत्तरगुणप्रतिसेवायां प्रायश्चित्तम्-

अथ मूलगुणप्रतिसेवनायामुत्तरगुणप्रतिसेवनायां वा चारित्रभ्रंशं प्रत्यत्र कश्चिद्विशेषः उत नास्ति ?। अस्तीति ब्रूमः । कोऽसावित्याह-

**मूलगुणे दइयसगडे, उत्तरगुणे मंडवे सरिसवाई ।**
**छक्कायरक्खणट्ठा, दोसु वि सुद्धे चरणसुद्धी ॥२८८॥**

मूलगुणेषु दृष्टान्तः दृतिः शकटं च केवलम्, उत्तरगुणा अपि तत्र दर्शयितव्याः । उत्तरगुणेषु दृष्टान्तो मण्डपे सर्षपाऽऽदि। आदिशब्दात् शिलाऽऽदिपरिग्रहः । तत्रापि मूलगुणा अपि दर्शयितव्याः । इयमत्र भावना-एकेनापि मूलगुणप्रतिसेवनेन तत्क्षणादेव चारित्रभ्रंश उपजायते, उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन । अत्र दृष्टान्तो दृतिकः । तथाहि-यथा दृतिक उदकभृतः पञ्चमहाद्वारः,तेषां महाद्वाराणामेकस्मिन्नपि द्वारे मुत्कलीभूते तत्क्षणादेव रिक्तो भवति,सूक्ष्मरन्ध्रेणानेककालेन पूर्यते। एवं महाव्रतानामेकस्मिन्नपि महाव्रते अतिचर्यमाणे तत्क्षणादेव समस्तचारित्रभ्रंशो भवति, एकमूलगुणघाते सर्वमूलगुणानां घातात् । तथा च गुरवो व्याचक्षते एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग इति एतन्निश्चयनयमतम् । व्यवहारतः पुनरेकव्रतभङ्गे तदेवैकं भग्नं प्रतिपत्तव्यम्, शेषाणां तु भङ्गः क्रमेण, यदि प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नानुसन्धत्ते इति । अन्ये पुनराहुः-चतुर्थमहाव्रतप्रतिसेवने तत्क्षणमेव सकलचारित्रभ्रंशः, शेषेषु पुनर्महाव्रतेष्वप्राणिग्रहणप्रतिसेवनया महत्यतिचरणे वा वेदितव्यः । उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन चरणभ्रंशो यदि पुनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नोज्ज्वालयति । एतदेव कुतोऽवसेयमिति चेत् ?। उच्यते-शकटदृष्टान्तात् ।तथाहि-शकटस्य मूलगुणा द्वे चक्रे, उर्द्धी ?, अक्षश्च । उत्तरगुणा वध्रकीलकलोहपट्टाऽऽदयः । एतैर्मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसम्प्रयुक्तं सत् शकटं यथा भारवहनक्षमं भवति, मार्गे च सुखं भवति, तथा साधुरपि मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसम्प्रयुक्तः सन् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमो भवति, विशिष्ट उत्तरोत्तरसंयमाध्यवसायस्थानपथे च सुखं वहति । अथ शकटस्य मूलाङ्गानामेकमपि मूलाङ्गं भग्नं भवति, तदा न भारवहनक्षमं, नापि मार्गे प्रवर्त्तते, उत्तराङ्गेषु कैश्चिद्विनाऽपि शकटं कियत्कालं भारक्षमं भवति, प्रवहति च मार्गे, कालेन पुनर्गच्छताऽन्यान्यपरिशटनादयोग्यमेव तदुपजायते। एवमिहापि मूलगुणानामेकस्मिन्नपि मूलगुणे हते न साधुनाऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमता, नापि संयमश्रेणिपथे प्रवहनम्, उत्तरगुणैस्तु कैश्चित् प्रतिसेवितैरपि भवति कियन्तं कालं चरणभारवहनक्षमता, संयमश्रेणिपथे प्रवर्त्तनं च । कालेन पुनर्गच्छता तस्मादन्यान्यगुणप्रतिसेवनातो भवति समस्तचारित्रभ्रंशः, ततः शकटदृष्टान्तादुपपद्यते मूलगुणानामेकस्यापि मूलगुणस्य नाशे तत्काल चारित्रभ्रंश उत्तरगुणनाशे कालक्रमेणेति । इतश्चैतदेव मण्डपसर्षपाऽऽदिदृष्टान्तात् । तथाहि-एरण्डाऽऽदिमण्डपे यद्येको द्वौ बहवो वा सर्षपाः,उपलक्षणमेतत्-तिलतण्डुलाऽऽदयो वा प्रक्षिप्यन्ते, तथाऽपि न मण्डपो भङ्गमापद्यते,अतिप्रचुरैः स्वादकाऽऽदिसंख्याकैर्भज्यते (?)। अथ तत्र महती शिला प्रक्षिप्यते, तदा तयैकयाऽपि तत्क्षणादेव भङ्गं समुपयाति । एवं चारित्रमण्डपोऽप्येकद्वित्र्यादिभिरुत्तरगुणैरतिचर्यमाणैर्न भङ्गमुपयाति बहुभिस्तु कालक्रमेणातिचर्यमाणैर्भज्यते, शिलाकल्पेन पुनरेकस्यापि मूलगुणस्यातिचारमेतत्काल ध्वंसमुपगच्छतीति । तदेवं यस्मात् मूलगुणातिचरणे क्षिप्रम्-उत्तरगुणातिचरणे कालेन चारित्रभ्रंशो भवति तस्मान्मे मूलगुणा उत्तरगुणाश्च निरतिचाराः स्युरिति षट्कायरक्षणार्थं सम्यक् प्रयतितव्यम् । षट्कायरक्षणे हि मूलगुणा उत्तरगुणाश्च शुद्धा भवन्ति, तेषु च द्वयेष्वपि शुद्धेषु, अत्र

गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽपि भवतीति । चरणशुद्धिश्चारित्रशुद्धिः ।

अत्र शिष्य आह-ये प्राणातिपाताऽऽदिनिवृत्त्यात्मकाः पञ्च मूलगुणास्ते ज्ञाताः, ये तूत्तरगुणास्तान्न जानीमः, ततः कति उत्तरगुणा इति ? । सूरिराह-

**पिंडस्स जा विसोही, समितीओ भावणा तवो दुविहो।**
**पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि ॥ २७९॥**

पिण्डस्य या विशोधिर्याश्च समितय ईर्यासमित्यादिकाः, याश्च भावना महाव्रतानां, यच्च द्विभेदं तपः, याश्च प्रतिमा भिक्षूणां द्वादश, ये चाभिग्रहा द्रव्याऽऽदिभेदभिन्नाः, एतान् उत्तरगुणान् " मो " इति पादपूरणे । विजानीहि ।

एतेषां चोत्तरगुणानामिय क्रमेण संख्या-

**बायाला अट्ठेव उ, पणवीसा बार बारस य चेव ।**
**दव्वाइ-चउरभिग्गह, भेया खलु उत्तरगुणाणं ॥ २८० ॥**

उत्तरगुणानां प्रागुक्तानां पिण्डविशुद्ध्यादीनां क्रमेण खल्वमी भेदाः । तद्यथा-पिण्डविशुद्धेः द्वाचत्वारिंशद्भेदाः-षोडशविध उद्गमः, षोडशविधा उत्पादना, दशविधा एषणा च । समितीनामष्टौ भेदाः । तद्यथा-पञ्च ईर्यासमित्यादयः,तथा मनःसमितिः, वाक्समितिः, कायसमितिरित्यष्टौ । भावनानां भेदा पञ्चविंशतिः, एकैकस्य महाव्रतस्य पञ्चपञ्चभावनासद्भावात् । तपसो द्विविधस्यापि सर्वसंख्यया भेदा द्वादश । द्विविध हि तपो, बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदात् । बाह्यस्याऽऽभ्यन्तरस्य च प्रत्येक षड्भेदा इति । प्रतिमानां भेदा द्वादश । ते च-"मासाई सत्तंता ।" इत्याद्यावश्यकग्रन्थतो वेदितव्याः । अभिग्रहभेदाश्चत्वारो द्रव्याऽऽदिकाः-द्रव्याभिग्रहाः, क्षेत्राभिग्रहा , कालाभिग्रहाः, भावाभिग्रहाश्च । तदेवमुक्ता उत्तरगुणाः ।

संप्रति यदधस्तात्प्रायश्चित्तमुपवर्णितं तद्गतानां पुरुषाणामिमे विशेषा इति प्रतिपादयति-

**निग्गय वट्टंता वि य, संचइया खलु तहा असंचइया ।**
**एक्केका ते दुविहा, उग्घाय तहा अणुग्घाया ॥२८१॥**

ये प्रायश्चित्तं वहन्ति ते द्विविधाः । तद्यथा-निर्गताः, वर्त्तमानाश्च । निर्गता नाम ये तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमतिक्रान्ताश्छेदाऽऽदिप्राप्ताः। वर्त्तमाना ये तपोऽर्हे प्रायश्चित्ते वर्तन्ते । तत्र ये वर्त्तमानास्ते पुनर्द्विविधाः-सचयिताः, असचयिताश्च । सचयः सजात एषामिति सचयिताः, तारकाऽऽदिदर्शनादितच् प्रत्ययः । ये षण्मासाना परतः सप्तमासाऽऽदिक यावदुत्कर्षतोऽशीतशत मासानां प्रायश्चित्त प्राप्तास्ते सचयिताः,तेषां मासेभ्य स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण दिवसान् गृहीत्वा षण्मासावधिक प्रायश्चित्त दीयते। असचयिता नाम-ये मासिके द्वैमासिके त्रैमासिके चातुर्मासिके पञ्चमासिके षण्मासिके वा प्रायश्चित्ते वर्त्तन्ते । ते सचयिता असचयिताश्च एकैके द्विविधा -उद्घातास्तथा अनुद्घाताः । उद्घातो नाम-लघु।। अनुद्घातो गुरु । तत्र ये सचये असचये च उद्घाते वर्त्तन्ते ते सचयिता असचयिताश्च उद्घाताः । ये च पुनरुद्घाते वर्त्तन्ते सचयिता असचयिताश्च ते अनुद्घाताः ।

साम्प्रतमेतामेव गाथा यथोक्तव्याख्यानेन व्याख्यानयति-

**छेयाईआवन्ना, उ निग्गया ते तवा उ बोधव्वा ।**
**जे पुण वट्टंति तवे, ते वट्टंता मुणेयव्वा ॥ २८२ ॥**
**मासादी आवण्णे, जा छम्मासा असंचयं होइ ।**
**छम्मासा उ परेणं, संचइयं तं मुणेयव्वं ॥ २८३ ॥**

ये छेदाऽऽदिप्रायश्चित्तमापन्नास्ते निर्गता उच्यन्ते । कुतस्ते निर्गता ?,इत्याह-(ते तवा उ बोधव्वा)ते निर्गतास्तपसस्तपोऽर्हात्प्रायश्चित्तात् बोद्धव्याः । ये पुनर्वर्त्तन्ते तपसि तपोऽर्हे प्रायश्चित्ते ते वर्त्तमाना ज्ञातव्याः।(मासादीत्यादि)मासाऽऽदिक प्रायश्चित्तस्थानमापन्ने मासादारभ्य यावत्षण्मासाः, तावत्तत्प्रायश्चित्तमसचयम्-असचयलक्ष भवति । षण्मासात्तु परतः सप्तभ्यो मासेभ्यः परेण परतो यत्प्रायश्चित्तं तत्सचयित ज्ञातव्यम् । उद्घातानुद्घातविशेषस्तु सुप्रतीत इति न व्याख्यात. ।

सम्प्रति संचयासचयेषूद्घातानुद्घातेषु प्रस्थापनविधिं विवक्षुरिदमाह-

**मासाइ असंचइए, संचइऍ छहिं तु होइ पट्ठवणा ।**
**तेर पय असंचइए, संचय एक्कारस पयाइं ॥ २८४ ॥**

असचयिते प्रायश्चित्तस्थाने प्रस्थापना मासाऽऽदि मासप्रभृतिका,सचयिते पुनः प्रस्थापना नियमतः षड्भिर्मासैर्भवति । प्रस्थापना नाम दानम् । उक्त च निशीथचूर्णौ-" पट्ठवणा नाम दाणं ति । " इयमत्र भावना-असचये प्रायश्चित्तस्थानविषये यो मासिकं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्तस्य मासिकी प्रस्थापना, द्वौ मासावापन्नस्य द्वैमासिकी, त्रीन् मासानापन्नस्य त्रैमासिकी । एव यावत्षण्मासानापन्नस्य षाण्मासिकी । य. पुन. संचयाऽऽपन्नस्तस्य नियमात् षाण्मासिकी प्रस्थापना । तत्राऽसचये प्रस्थापनायाः पदानि त्रयोदश, सचये एकादश ।

तत्रासचये प्रस्थापनाया पदानि त्रयोदशामूनि-

**तवतिय छेयतियं वा, मूलतियं अणवठावणतियं च ।**
**चरमं च एक्कसरयं, पढमं तववज्जियं बिइयं ॥ २८५ ॥**

तपस्त्रिकं छेदत्रिकं मूलत्रिकमनवस्थाप्यत्रिकं चरमं पाराञ्चितं तद् एकस्वरमेकवारं दीयते । इदमुक्त भवति-असचये उद्घाते मासाऽऽदिकमापन्नस्य प्रथमवेलायामुद्घातो मासो दीयते । द्वितीयवेलायामुद्घातचतुर्मासिक, तृतीयवेलायामुद्घातषण्मासिक, चतुर्थवेलायां छेदः, पञ्चमवेलायामपि छेदः, षष्ठवेलायामपि छेद. । सर्वत्र त्रीणि त्रीणि दिनानि छेद । सप्तमवेलायां मूलम्, अष्टमवेलायां मूल, नवमवेलायामपि मूल, दशमवेलायामनवस्थाप्यम्, एकादशवेलायामनवस्थाप्यम् । द्वादशवेलायां पाराञ्चितमिति । एवमनुद्घातितेऽपि । सचये त्रयोदश पदानि प्रस्थापनाया वक्तव्यानि । ( पढमं ति ) प्रथममसचयं पदं गतं, द्वितीय सचय पद ( तववज्जिय ति ) मासचतुर्मासलक्षणाभ्यामादिमाभ्यां द्वाभ्या पदाभ्यां वर्जितमेकादशपद भवति ।

एतदेव व्याख्यानयति-

**बिइयं संचइयं खलु, तं आइपएहि दोहिँ रहियं तु ।**
**छम्मासतवादीयं, एक्कारसपएहिँ चरमेहिं ॥ २८६ ॥**

द्वितीय खलु सचयितमुच्यते, तद् द्वाभ्यामादिपदाभ्यां रहितं षण्मासतपआदिक षण्मासतपःप्रभृतिकं चरमैरेकादशपदैर्वक्तव्यम् । तत्राऽपीय भावना-संचयित प्रायश्चित्तस्थानमाप-

क्षस्य प्रथममुद्घात षाण्मासिक तपो दीयते, द्वितीयवेलायां छेद , तृतीयवेलायां छेद., चतुर्थवेलायामपि छेद., पञ्चमवेलायां मूलं, षष्ठवेलायां मूलं,सप्तमवेलायामपि मूलम्,अष्टमवेलायामनवस्थाप्यं, नवमवेलायामनवस्थाप्यं, दशमवेलायामप्यनवस्थाप्यम्, एकादशवेलायां पाराञ्चिनमिति ।

एतदेवाऽऽह-

छम्मास तवो छेदा-इयाण तिग तिग तहेक्क चरमं च ।
सव्वट्टियावराहे, एक्कार पया उ संचइए ॥ २७७ ॥

सचयिते, कथचूते ?, इत्याह-सवर्तितापराधे सवर्तिताः पिण्डीभूता अपराधा यत्र तत् सवर्तितापराधम् । तथाहि-बहुषु मासेषु प्रतिसेवितेषु स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण तेभ्यो मासेभ्यो दिनानि दश दश पञ्च पञ्चेत्यादिरूपतया गृहीत्वा षाण्मासिक तपो निष्पाद्यते, ततो भवति सचयितं सवर्तितापराधं, तस्मिन्नेकादशपदान्येव भवन्ति-प्रथमवेलायामुद्घात षाण्मासिक तपः, तत छेदाऽऽदीना त्रिक त्रिकम् । किमुक्त भवति ?-तदनन्तर वेलात्रयमपि यावत् छेदत्रिक, तदनन्तरमनवस्थाप्यत्रिक, तथा एकमेकवेल वा चरम पाराञ्चिनमिति । एवमनुद्घातितेऽपि सचयिते एकादश पदानि वाच्यानि ।

सप्रति येऽत्र प्रायश्चित्तस्यार्हाः पुरुषास्तान् प्रतिपादयति-

पच्छित्तस्स उ अरहा, इमे उ पुरिमा चउव्विहा हुंति ।
उभयतर आयतरगा, परतरगा अन्नतरगा य ॥२७८॥

प्रायश्चित्तस्यार्हा योग्या इमे चतुर्विधाश्चत्वार. पुरुषा भवन्ति । तद्यथा-उभयतराः, आत्मतरका , परतरका , अन्यतरकाश्च । तत्र ये उत्कर्षत. षण्मासान् अपि यावत्तप. कुर्वन्तोऽम्लाना सन्त आचार्याऽऽदीनामपि वैयावृत्य कुर्वन्ति, तल्लब्ध्युपेतत्वात् ते उभयमात्मान पर चाऽऽचार्याऽऽदिक तारयन्तीत्युभयतरा., पृषोदराऽऽदित्वाद् ह्रस्व. । ये पुन तपोबलिष्ठा वैयावृत्यलब्धिहीनास्ते तप एव यथोक्तरूप कुर्वन्ति, न वैयावृत्यमाचार्याऽऽदीनामित्यात्मान केवल तारयन्तीत्यात्मतरा., स्वार्थिकप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः । ये पुनस्तप कर्तुमसमर्था वैयावृत्य चाऽऽचार्याऽऽदीनां कुर्वन्ति ते पर तारयन्तीति परतरका. । येषा न तपसि वैयावृत्ये च सामर्थ्यमस्ति केवलम्, उभय युगपत्कर्तुं न शक्नुवन्ति, किं त्वन्यतरत्, ते एकस्मिन् काले आत्मपरयोरन्यमन्यतर तारयन्तीत्यन्यतरकाः ।

आयतर परतरे वि य, आयतरे अभिमुहे य निक्खित्ते ।
एक्कक्कमसंचइए, संचय उग्घायमणुघाया ॥ २७९ ॥

आत्मतरश्च स परतरश्च,आत्मतरपरतर ,उभयतर इत्यर्थः। यश्चाऽऽत्मतरः परतरो वा,एतौ द्वावपि प्रायश्चित्तवहनाभिमुखौ भवत , ततस्तस्मिन्प्रत्येक प्रायश्चित्तमभिमुखमुच्यते । यस्तु परतरोऽन्यतरको वा यावद् वैयावृत्य करोति,तौ च तयो प्रायश्चित्त निक्षिप्त क्रियते,इति निक्षिप्तमभिधीयते । एकैकमभिमुख, निक्षिप्त च द्विधा-सचयितमसचयित च । पुनरेकैक द्विधा-उद्घातमनुद्घात च । तदेतत् सक्षेपत उक्तम् ।

इदानीं विस्तरोऽभिधेय., तत्र य प्रथम उभयतर., तस्येमं दृष्टान्तमाचार्या. परिकल्पयन्ति-

जह मासओ उ लद्धो, सेवयपुरिसेण जुयलय चेव ।
तस्स ठुवे तुट्ठीओ, वित्ती य कया जुयलयं च ॥२८०॥

" एगो सेवगपुरिसो राय ओलग्गइ, सो राया तस्स वित्तिं न देइ, अन्नया तेण राया केणइ कारणेण परितोसितो, ततो तेण रन्ना तस्स तुट्ठेण पइदिवसं सुवण्णमासगो वित्ती कया, पहाण च से वत्थजुयल दिन्नं ।" तथा चाऽऽह-( जहेत्यादि ) यथेति दृष्टान्तोपन्यासे, माषकः सुवर्णमाषकः सेवकपुरुषेण लब्धो, युगल च वस्त्रयुगलं च । तस्य च सेवकपुरुषस्य द्वे तुष्ट्यौ जाते, एका वृत्तिः कृता, द्वितीयं वस्त्रयुगलमिति । एष दृष्टान्तः ।

अथमुपनयः-

एवं उभयतरस्सा, दो तुट्ठीओ उ सेवगस्सेव ।
सोही य कया से त्ती, वेयावच्चे निउत्तो य ॥ २८१ ॥

एव सेवकपुरुषदृष्टान्तप्रकारेण उभयतरस्य सेवकस्येव सेवकपुरुषस्येव द्वे तुष्ट्यौ भवतः तद्यथा-एक तावन्मे प्रायश्चित्तदानेन शोधिः कृता, द्वितीयं वैयावृत्ये नियुक्तस्य महती मे निर्जरा भविष्यति ।

अथ प्रायश्चित्त वहन् वैयावृत्य च कुर्वन् यदि अन्यदपि प्रायश्चित्तमापद्यते तदा कथम् ? । उच्यते-

सो पुण जइ वहमाणो, आवज्जइ इंदियाइहिँ पुणो वि ।
तं पि य से आरुहिज्जइ, भिन्नाई पंचमासंतं ॥२८२॥

स पुनरुभयतरः प्रायश्चित्तं वहन् वैयावृत्य कुर्वन् यदि पुनरपि श्रोत्रादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणामन्यतमेनेन्द्रियेण, आदिशब्दात् क्रोधाऽऽदिभिश्च,स्तोक बहु वा प्रायश्चित्तमापद्यते, तत्र स्तोक विंशतिरात्रिन्दिवादारभ्य पश्चादानुपूर्व्या, बहु पञ्चरात्रिन्दिव, बहुपाराञ्चितादारभ्य पश्चादानुपूर्व्या यावत् मासिक,तदपि (से) तस्य आरुह्यते,भिन्नाऽऽदि भिन्नमासाऽऽदि, आदिशब्दात्सकलमासाऽऽदिपरिग्रह. । पञ्चमासान्त पञ्चमासपर्यन्तम् । इयमत्र भावना-स्तोक बहु वा यथोक्तस्वरूप यदि प्रायश्चित्तस्थानमापन्न., तथापि तस्य भिन्नमासाऽऽदि दीयते ।

कस्मादिति चेद् ? अत आह-

तवबलिओ सो जम्हा, तेण र अप्पे वि दिज्जई बहुयं ।
परतरओ पुण जम्हा, दिज्जइ बहुए वि तो थोवं ॥२८३॥

यस्मात्स उभयतरक प्रायश्चित्ततप करणे छ्रातिसहनबलिष्ठ , तेन कारणेन । रेफ पादपूरणे ।" इजेरा' पादपूरणे "॥८।२। २१७॥ इति वचनात् । अल्पेऽपि पञ्चरात्रिन्दिवाऽऽदिकप्रायश्चित्तस्थाने,बहुक भिन्नमासाऽऽदि दीयते । यस्माच्च परत परमाचार्याऽऽदिक वैयावृत्यकरणतस्तारयति, ततो बहुकेऽपि पाराञ्चितिके प्रायश्चित्ते प्राप्ते स्तोक भिन्नमासाऽऽदि दीयते । तदेव,स्तोके बहुके वा प्रायश्चित्तस्थाने प्राप्ते भिन्नमासाऽऽदिदाने कारणमुक्तम् ।

सप्रति भिन्नमासाऽऽदि यथा दातव्य, तथा प्रतिपादयति-

वीसऽट्ठारस लहुगुरु-भिन्नाणं मासियाण मासओ ।
सत्तारस पन्नारस, लहुगुरुया मासिया हुंति ॥ २८४ ॥

स उभयतरक प्रस्थापित प्रायश्चित्त वहन् वैयावृत्य च कुर्वन् यदि स्तोक बहु वा उद्घातमनुद्घात प्रायश्चित्तस्थानमन्यदापन्न , ततो यदि पूर्वप्रस्थापित प्रायश्चित्तमुद्घात, लघु-

द्धातो भिन्नमासो दीयते। यदि पुनरप्यापद्यते, ततो भूयोऽपि भिन्नमासो दीयते। एवं विंशतिवारान् भिन्नमासो दातव्यः २०। यदि विंशतेर्वारेभ्यः परतोऽपि भूय आपद्यते, ततः स्तोके बहुके वा प्रायश्चित्ते प्राप्ते लघुमासो दीयते, एवं भूयो भूयस्तावद् यावत् सप्तदश वारा १७। नवरमत्र स्तोक पञ्चकाऽऽदिकं भिन्नमासान्तं, बहु द्विमासाऽऽदि पाराञ्चिनान्तं, ततः परतो यदि पुनरपि भूयो भूय आपद्यते, ततोऽन्यत् सप्तदशवारान् द्वैमासिकं दातव्यम्। अत्र स्तोकं पञ्चकाऽऽदि लघुमासपर्यन्तं, बहु त्रिमासाऽऽदि पाराञ्चिनान्तम्। एवं त्रैमासिकाऽऽदिष्वप्यधस्तनानि स्थानानि स्तोकमुपरितनानि बहु वेदितव्यानि। ततः सप्तदशवारेभ्यः परतो यदि भूयः पुनः पुनरापद्यते, ततस्त्रैमासिकं सप्तदशवारान् दीयते १७। ततोऽपि परतो यदि पुनः पुनरापद्यते, ततः सप्तवारान् लघु चातुर्मासिकं दीयते ७। ततोऽपि परतो यदि पुनर्भूयो भूय आपद्यते, ततः पञ्चवारान् लघुपाञ्चमासिकं दीयते। यदि ततोऽपि परतो भूय आपत्तिः, तत एकवारं लघुषाण्मासिकं दीयते। तदनन्तरं यदि पुनरपि भूयो भूय आपत्तिः, ततस्त्रीन् वारान् छेदो दीयते ३। यदि ततः परमपि पुनः पुनरापत्तिस्ततस्त्रीन्वारान् मूलं दीयते ३। ततोऽपि परतो भूयो भूय आपत्तौ त्रीन् वाराननवस्थाप्यदानं, तदनन्तरं यदि पुनरापद्यते तत एकं वारं पाराञ्चिकदानमिति। एवमसञ्चयितमुद्धातितं गतम्। अथासंचयितमनुद्धातितं प्रस्थापितं ततोऽल्पं बहु वा यदि प्रायश्चित्तस्थानमापद्यते, तर्हि गुरुको भिन्नमासो दीयते, ततः पुनः पुनरापत्तौ सोऽष्टादश वारान् दीयते १८। ततः परं भूयो भूय आपत्तौ पञ्चदश वारान् गुरुमासिकम् १५। ततः परं पञ्चदश वारान् गुरुद्वैमासिकम् १५। ततः परं पञ्चदश वारान् गुरुत्रैमासिकम् १५। ततो भूयोऽपि परं पञ्चवारान् गुरुचातुर्मासिकम् ५। ततः परं यदि भूयो भूय आपत्तिस्ततस्त्रीन् वारान् गुरुपाञ्चमासिकम् ३। तदनन्तरमेकवारं षड्गुरु १। ततः परं छेदत्रिकं, ततोऽनवस्थाप्यत्रिकं, ततः परमेकं वारं पाराञ्चितम्। संप्रत्यक्षरार्थो विव्रियते-यदि पूर्वप्रस्थापितमुद्धातमनुद्धातं च प्रायश्चित्तं वहन् वैयावृत्त्यं च कुर्वन्नुभयतरः स्तोकं बहु वा भूयो भूयः प्रायश्चित्तस्थानमापद्यते, ततो यथासंख्यमुद्धातं प्रायश्चित्तं वहतो लघुभिन्नानां मासिकानां विंशतिवारान् प्रदानम्। अनुद्धातं प्रायश्चित्तं वहतो गुरुभिन्नानां मासिकानामष्टादश वारान्। तदनन्तरं भूयो भूय आपत्तावुद्धातं प्रायश्चित्तं वहतः सप्तदश वारान् लघुमासिका भवन्ति, अनुद्धातं प्रायश्चित्तं वहतः पञ्चदश वारान् गुरुमासिकाः।

> उग्घाइयमासाणं, सत्तरसेव य अणुग्घयंतेणं।
> णायव्वा दोणि तिण्णि य, गुरुया पुण होंति पन्नरस ॥३०५॥
> सत्त चउक्का उग्घा-इयाण पंचेव होंतऽणुग्घाया।
> पंच लहुया उ पंच उ, गुरुगा पुण पंचगा तिण्णि ॥३०६॥

उद्धातितमासानामनुद्धातितमासिकानां ये सप्तदश वारास्तानमुञ्चता ज्ञातव्यौ द्वौ मासौ, त्रयश्च मासा ज्ञातव्याः। ये पुनर्गुरुका द्वौ त्रयश्च मासास्ते पञ्चदश वारान् ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति?-उद्धातितं प्रायश्चित्तं वहतो मासिकानन्तरं भूयो भूय आपत्तौ द्वौ मासौ सप्तदश वारान् दीयेते। ततोऽपि भूयो भूय आपत्तौ सप्तदश वारान् त्रीन् मासान्। अथानुद्धातितं प्रायश्चित्तं वहति तर्हि गुरुमासिकानन्तरं भूयो भूय आपत्तौ द्वौ गुरुकौ मासौ पञ्चदश वारान् दीयेते, तदनन्तरं पञ्चदश वारान् त्रीन् गुरुकान्मासानिति। (सत्तचउक्के-त्यादि) उद्धातितानां चतुष्काः सप्त भवन्ति। अनुद्धातितानाम्, अत्र गाथायां प्रथमा षष्ठ्यर्थे। चतुष्काः पञ्च भवन्ति। लघुका पञ्च मासाः पञ्च वारान् भवन्ति। गुरुकाः पुनः पञ्चकाः पञ्च मासाः त्रीन् वारान् भवन्ति। इदमुक्तं भवति-उद्धातं प्रायश्चित्तं वहतः त्रैमासिकानन्तरं भूयो भूय आपत्तौ सप्त वारान् लघुकाश्चत्वारो मासा दीयन्ते; तदनन्तरं पञ्च वारान् लघुकाः पञ्च मासाः। अनुद्धातितं प्रायश्चित्तं वहतः त्रैमासिकानन्तरं पुनः पुनरापत्तौ पञ्च वारान् गुरुकाः पञ्च मासाः, तदनन्तरं त्रीन् मासान् पञ्च गुरुमासाः।

साम्प्रतमत्रैवासञ्चये उद्धातानुद्धाताऽऽपत्तिस्थानानां सुखावगमोपायमाह-

> उक्कोसाउ पयातो, ठाणे ठाणे दुवे परिहरेज्जा।
> एवं दुगपरिहाणी, नेयव्वा जाव तिण्णेव ॥३०७॥

उत्कृष्टं नाम-उद्धातभिन्नमासगतं विंशतिलक्षणं, तस्मादारभ्योद्धातगते स्थाने यदुत्कृष्टं तदपेक्षया अनुद्धातगतेषु स्थानेषु द्वौ द्वौ परिहापयेत्। एवं द्विकपरिहानिस्तावत् ज्ञातव्या यावदुद्धातगतपञ्चकोत्कृष्टापेक्षया अनुद्धाते त्रय इति। इयमत्र भावना-उद्धाते भिन्नमासे विंशतिः, अनुद्धाते द्विकपरिहान्या अष्टादश, तथोद्धाते मासे सप्तदश, अनुद्धाते पञ्चदश। एवं द्विमासे त्रिमासेऽपि। तथा उद्घाते चतुर्मासे सप्त, अनुद्घाते पञ्च। तथा उद्घाते पञ्चमासे पञ्च, अनुद्घाते त्रय इति। तदेवमापत्तिस्थानान्युक्तानि।

(९) उद्घातानुद्घातदानविधिः। साम्प्रतमेतेषां दानविधिमाह-

> अट्ठऽट्ठ उ अवणेत्ता, सेसा दिज्जंति जाव उ तिमासे।
> जत्थऽट्ठगावहारो, न होज्ज तं झोसए सव्वं ॥३०८॥

ये भिन्नमासाऽऽदयो विंशत्यादिवारा आपन्नास्तेभ्यः प्रत्येकमष्टावष्टावपनयेत्, अपनीय शेषा दीयन्ते, एवं तावद् वाच्यं यावत्त्रिमासाः त्रैमासिकम्। अयमत्र भावार्थः-विंशतिवाराः किलोद्धाता भिन्नमासा आपन्नाः, तत्राष्टौ भिन्नमासा झोषिताः, शेषा द्वादश दीयन्ते। तेऽपि स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेणाधिकं परिशाट्य षण्मासाः कृत्वा दीयन्ते, तथा अष्टादश अनुद्धाता भिन्ना मासा आपन्नाः, तेभ्योऽष्टौ त्यक्त्वा, शेषा दश भिन्नमासाः प्रदातव्याः। तेऽपि स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेणाऽधिकं समस्तमपि त्यक्त्वा षण्मासाः कृत्वा दातव्या इति। तथा सप्तदश वारा लघुमासाः प्राप्ताः, तेभ्योऽष्टौ परित्यज्य शेषा नव लघुमासा दीयन्ते। पञ्चदश वारा गुरुमासा आपन्नाः, तेभ्योऽष्टौ परित्यज्य शेषाः सप्त गुरुमासा देयाः। एवं द्वैमासिकत्रैमासिकेऽपि वाच्यम्। सर्वत्र स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेणाधिकं त्यक्त्वा षण्मासाः कृत्वा देयाः। अथाष्टकझोषणाभिधानं किमर्थम्?, एतदेव कस्मान्नोक्तम्-विंशत्यादयो भिन्नमासाऽऽदयः स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण षण्मासीकृत्य दातव्या इति?। उच्यते-मध्यमतीर्थकृतामष्टमासिकी या तपोभूमिः, तदनुग्रहार्थमित्यदोषः। उक्तं च निशीथचूर्णौ-"अट्ठमासिया मज्झिमा तवोभूमी, तीए अणुग्गहकरणत्थमट्ठभागहारझोसणा कया।" इति। यत्र पुनश्चातुर्मासिके वा पाञ्चमासिके वा अष्टकापहारो न

भवेत्, अस्थानामेवासंभवात् । तं सव्वं झोषयेत्-सर्वमपि तत्परित्यजेत् ; न किमपि तत्र दानं प्रवर्तीति भावः ।

येभ्योऽष्टकापहारे यद्यवतिष्ठते, तदेतदुभयं दर्शयति-

वारस दस नव चेव य, सत्तेव जहण्णगाइँ ठाणाइं ।
वीसऽट्ठारस सतरस-पन्नरस णाण बोधव्वा ॥३०९॥

द्वादश दश नव सप्तेत्यमूनि जघन्यानि स्थानानि बोधव्यानि, जघन्यता चैषां विंशत्याद्यपेक्षयाऽमीषां स्तोकत्वात् । केषां स्थाने इत्याह-विंशत्यष्टादशसप्तदशपञ्चदशस्थानानां स्थाने । इदमुक्तं भवति-विंशतिस्थानानामष्टकापहारे द्वादश स्थानानि, अष्टादशानामष्टकापहारे दश, सप्तदशानामष्टकापहारे नव, पञ्चदशानामष्टकापहारे सप्तेति ।

पुणरावि जे अवसेसा, जेहिँ जेहिँ पि ठगह मासाणं ।
उवरिं झोसेऊणं, छम्मासा सेस दायव्वा ॥ ३१० ॥

अष्टकापहारे कृते सति पुनरपि षण्णां मासानामुपरि येऽवशेषा मासा वर्तन्ते (जेहिँ जेहिँ पीत्यादि) अनुग्रहकृत्स्नविषयमेतत् । यैः यैरपि च दिवसैर्मासैर्वा पूर्वं स्थापितानां षण्णां मासानामुपरि गच्छति, तत्सर्वं स्थापनाऽऽरोपणाप्रकारेण झोषयित्वा षण्मासाः शेषाः दातव्याः । अनुग्रहचिन्तायां पूर्वस्थापितषण्मासो व्यूढदिवसैः सह परिपूर्णीकृत्य षण्मासा शेषा दातव्याः । निरनुग्रहकृत्स्नचिन्तायां परिपूर्णा षण्मासाः शेषा देयाः, झोषस्तु पूर्वप्रस्थापितषण्मासविषय इति ।

छहिँ दिवसेहिँ गएहिं, छण्हं मासाण हुंति पक्खेवो ।
छहिँ चेव य दिवसेहिं, छण्ह मासाण पक्खेवो ॥३११॥

सूत्रे तृतीया सप्तम्यर्थे । ततोऽयमर्थः-षट्सु दिवसेषु गतेषु षण्मासानां भवति प्रक्षेपः । इयमत्र भावना-ये ते प्रस्थापिताः षण्मासाः, तेषां षट् दिवसा व्यूढा , तदनन्तरमन्यान् षण्मासानापन्नाः, ततः पूर्वं प्रस्थापितषण्मासानां पञ्चमासाश्चतुर्विंशतिदिनाश्च झोष्यन्ते,झोषयित्वा च तत्र पाश्चात्याः षण्मासाः प्रक्षिप्यन्ते । ते च यथा प्रक्षिप्यन्ते यथा पूर्वप्रस्थापितषण्मासा व्यूढदिवसैः सह षण्मासाः भवन्ति , एवं पाश्चात्यानामपि षण्मासानां षट् दिवसा झोषिता इति । एतद् धृतिसंहननाभ्यां दुर्बलमपेक्ष्यानुग्रहकृत्स्नम् । एवं मित्रवाचकक्षमाश्रमणानामादेशः । साधुरक्षितगणिक्षमाश्रमणाः पुनरेवं ब्रुवते-( छहिं चेव येत्यादि ) षट्सु चैव दिवसेषु षण्मासानां प्रक्षेपः । इदमुक्तं भवति-ये पूर्वप्रस्थापिताः षण्मासास्ते षड्भिर्दिवसैरूनाः परिपूर्णा व्यूढा , शेषाः षट्दिवसास्तिष्ठन्ति । अत्रान्तरे अन्यान् षण्मासानापन्नस्ते षण्मासा ,तेष्वेव षट्सु दिवसेषु प्रक्षिप्यन्ते । किमुक्तं भवति ?--तेषां षण्णां मासानां षट् दिवसाः प्रायश्चित्तशेष समस्तमपि झोषितं, पूर्वप्रस्थापितषण्मासानामपि षट् दिवसाः झोषिताः । एतद् धृतिसंहननदुर्बलमपेक्ष्यानुग्रहकृत्स्नमिति ।

संप्रति निरनुग्रहकृत्स्नमाह-

एवं बारस मासा, छद्दिवसूणा य जेट्ठ पट्ठवणा ।
छद्दिवसगएऽणुग्गह, निरणुग्गहत्थागते खेवो ॥३१२॥

इह निरनुग्रहकृत्स्ने आदेशद्वयम् । एकस्तावदयमादेशः-पूर्वप्रस्थापितानां षण्मासानां षट् दिवसा व्यूढा ,तेषु षट्सु दिवसेषु व्यूढेषु अन्यत् पाण्मासिकमापन्नः, ततः पूर्वप्रस्थापिताः षण्मासास्तेष्वेव षट्सु दिवसेषु व्यूढेषु परिसमाप्यन्ते । किमुक्तं भवति ?--ये व्यूढाः षट् दिवसास्ते व्यूढा एव,शेषाः पञ्च मासाश्चतुर्विंशतिदिवसा झोषिताः । यत्पुनरन्यत्पाण्मासिकं, तत्परिपूर्णं दीयते । एवं षट् मासाः षड्भिर्दिवसैरधिका भवन्ति। एतत् धृतिसंहननबलिष्ठस्य निरनुग्रहकृत्स्नम् । द्वितीय आदेशः-पूर्वप्रस्थापितानां षण्मासानां षट् दिवसाः शेषास्तिष्ठन्ति । अन्यत्सर्वमपि व्यूढं,ततोऽन्यान् षण्मासानापन्नः,ततो ये शेषाः षट् दिवसास्ते झोष्यन्ते,पाश्चात्यं पाण्मासिकं परिपूर्णं दीयते,धृतिसंहननबलिष्ठत्वात् । एवं च षण्मासाः षड्भिर्दिवसैर्न्यूना पूर्वस्थापिताः, पाश्चात्याः परिपूर्णा षण्मासाः । तत सर्वसङ्कलनया द्वादश मासाः षड्भिर्दिवसैर्न्यूना भवन्ति । एषा ज्येष्ठा प्रस्थापना। नातः परा तपोऽर्हे प्रायश्चित्ते उत्कृष्टतरा प्रस्थापनाऽस्तीति भावः। अत्रापि सानुग्रहनिरनुग्रहचिन्तां कुर्वन्नाह- छद्दिवसगए इत्यादि) पूर्वप्रस्थापितानां षण्मासानां षट्सु दिवसेषु गतेषु यदन्यदापन्नः षण्मासाऽऽदिकं तपस्तदारोप्यते, पूर्वप्रस्थापिताश्च षण्मासाः,तेष्वेव षट्सु दिवसेषु व्यूढेषु परिसमाप्ताः क्रियन्ते । एतदनुग्रहकृत्स्नम् । यत्पुनः षट्सु मासेषु षड्भिर्दिवसैरागतेषु अव्यूढेषु षट् दिवसाः शेषा अव्यूढाः सन्ति, अन्यच्च समस्तमपि व्यूढमिति भावः । अत्रान्तरे अन्यत् पाण्मासिकमापन्नस्तत्परिपूर्णमारोप्यते, प्राक्तनाश्च शेषीभूताः षट् दिवसास्त्यज्यन्ते । एतन्निरनुग्रहकृत्स्नमिति ।

चोएइ रागदोसे, दुब्बल बलिए य जाणए चक्खू ।
भिन्ने खधगिगम्मि य, मासे चउमासिए चेवं ॥ ३१३ ॥

परश्चोदयति-यूयं रागद्वेषवन्तः। तथाहि-यस्य षण्णां मासानां षट्सु दिवसेषु शेषीभूतेषु अन्यत्पाण्मासिकमापन्न षट्सु दिवसेषु परिसमाप्यते, तस्य दुर्बलस्योपरि रागो, यतो यूयं आत्मीय-एष इति सन् सुख विनयवैयावृत्त्यं करोति । यस्य पुनः पूर्वप्रस्थापितषण्मासानां पञ्चसु मासेषु चतुर्विंशती दिनेषु व्यूढेषु षट् दिवसाः शेषीभूता झोषिताः, अन्यत् पाण्मासिकमारोपितम् , तस्य बलिष्ठस्योपरि विद्वेषः । अत्रापि जानीथ-यथैष तपः कृत्वा शरीरे नास्माकं शक्नोति वैयावृत्त्यं कर्तुं, तस्माद्दीयतामस्य निरनुग्रहप्रायश्चित्तमिति । एवं च भवन्तः कुर्वन्तो नूनं चक्षुर्मेलं कुरुथ । चक्षुर्मेलो नाम-यदेकं चक्षुरुन्मीलयति, अपरं निमीलयति । एवमेकं सानुग्रहप्रायश्चित्तदानेन जीवापयथ, अपरं निरनुग्रहप्रायश्चित्तदानेन मारयथेति । अत्राऽऽचार्य आह-" भिन्ने " इत्यादि पश्चार्द्धम् । भिन्नो नाम-तत्कालमरणिनिर्मथनेन नवोदितोऽग्निः, स यथा महति काष्ठाऽऽदिके प्रक्षिप्ते तद्दग्धुमसमर्थो भवति, शीघ्रं च विध्यायति । स एव श्लक्ष्णकाष्ठछगणाऽऽदिचूर्णाऽऽदिषु स्तोकं प्रक्षिप्यमाणेषु क्रमेण प्रबलं उपजायते । स्कन्धाग्निर्नाम महत्काष्ठ प्रज्वलत्याऽग्निरूपतया परिणमितं,स महत्यपि काष्ठाऽऽदिके प्रक्षिप्ते तद्दग्धुं समर्थो भवति, प्रबलः प्रबलतरश्चोपजायते । एवं दुर्बलस्य षट्सु मासेषु पूर्वप्रस्थापितेषु बहुषु व्यूढेषु षट्सु दिवसेषु शेषीभूतेषु । यदि वा-षट्सु मासेषु पूर्वप्रस्थापितेषु षट्सु दिवसेषु व्यूढेषु यदन्यत् पाण्मासिकं तपः पूर्यते, ते, ततः स भिन्नोऽग्निरिव विषीदति, धृतिसंहननदुर्बलत्वात् । यस्य पुनः षट्सु मासेषु व्यूढेषु षट्सु दिवसेषु शेषीभूतेषु अन्यदारोप्यते षण्मासाऽऽदिकं तपः, स धृतिसंहननाभ्यां बलीयानिति न विषीदति, न च विषादमुपगच्छति स्कन्धाग्निरिव।

तथा द्वौ चेटौ । तद्यथा-मासजातः, चतुर्मासजातश्च । तत्र यदि मासजातस्य चेटस्य चतुर्मासचेटाऽऽहारो दीयते तदा सोऽजीर्णेन विद्राति । चतुर्मासजातस्य मासजातवदाहारो दीयते तदा स तेनाऽऽहारेण नाऽऽत्मानं सन्धारयितुमलम् । एवं यो दुर्बलस्तस्य यदि बलिष्ठं प्रायश्चित्तं दीयते तदा स विद्राति, दुर्बलत्वात्, मासिकचेटवत् । बलिष्ठस्यापि यदि दुर्बलं प्रायश्चित्तं दीयते तदा स तावता न विशुद्धिमासादयतीत्यशुद्धया विषीदति । ततो यथा जिनाग्नौ प्रभूतमिन्धनं, तथा मासजाते चेटे स्तोकमाहारं चतुर्मासजाते प्रभूतमाहारं प्रयच्छतो न रागद्वेषवत्ता, योग्यताऽनुरूपं प्रवृत्तेः । तथा दुर्बले बलिष्ठे च यथोक्तरूपं प्रायश्चित्तं ददाना न वयं रागद्वेषवन्तः । इति उक्त उभयतरकः ।

(१०) इदानीमात्मतरकाऽऽदयो वक्तव्याः, परमुभयतरसदृशोऽन्यतर इति स एवोत्क्रमेण प्रथमतो भण्यते । तस्य स्वरूपमिदम्-यथा एकेन स्कन्धेन द्वे कापोत्यौ युगपत् वोढुं न शक्नोति, तथा सोऽप्यन्यतरकः प्रायश्चित्तवैयावृत्ये युगपत्कर्तुं न शक्नोति; स च सचयितमसचयितं वा प्रायश्चित्तमापन्नः । अथ च तदा गुरूणामन्यो वैयावृत्यकरो न विद्यते ततस्तदापन्नं प्रायश्चित्तं निक्षिप्तं क्रियते । एतेन यदुक्तमधस्तनाक्षिप्तमिति तद् भावितमवसेयम् । गुरूणां वैयावृत्यं कार्यते, तच्च वैयावृत्यं कुर्वन् यदीन्द्रियाऽऽदिभिरन्यदापद्यते तत्सर्वं तु क्षिप्यते । यदा तु वैयावृत्यं समाप्तं भवति तदा तत्प्राग्निक्षिप्तं प्रायश्चित्तमुत्क्षिप्यते ।

तच्च वहन् यदीन्द्रियाऽऽदिभिरन्यदापद्यते तदाऽनेन विधिना दातव्यम्-

सत्त चउक्का उग्घा-इयाण पंचेव होंतऽणुग्घाया ।
पंच लहु पंच गुरुगा, गुरुगा पुण पंचगा तिन्नि ॥ ३१४ ॥
सत्तारस पण्णरस, निक्खेवा हुंति मासियाणं तु ।
वीसऽट्ठारस भिन्ने, तेण परं निक्खिवणया उ ॥ ३१५ ॥

सोऽन्यतरः पूर्वप्रस्थापितं प्रायश्चित्तं वहन् यदि स्तोकं बहु उद्घातं वा प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, ततो यदि पूर्वप्रस्थापितं प्रायश्चित्तमुद्घातस्तत उद्घातो भिन्नमासो दीयते । यदि पुनरापद्यते तद् भूयोऽपि भिन्नमासदानम् । एवं भूयो भूय आपत्तौ विंशतिवारान् भिन्नमासा दातव्या २० । तदनन्तरं सप्तदश वारा लघुमासाः १७ । एवं द्विमासत्रिमासा अपि वक्तव्याः । तदनन्तरमपि भूयो भूय आपत्तौ सप्त वाराश्चतुर्मासा ७ । ततः परं पञ्च वारा. पञ्च लघुमासाः ५ । तदनन्तरं त्रीन् वारान् छेदः । ततः परं वारत्रयं मूलम् । तदनन्तरं वारत्रयमनवस्थाप्यम् । तदनन्तरमेकं वारं पाराञ्चितमिति । अथ तस्य पूर्वप्रस्थापितमनुद्घातितं, ततोऽष्टादश वारा गुरुभिन्नमासा दातव्याः १८ । तदनन्तरं पञ्चदश वारा गुरुमासाः १५ । एवं द्विमासास्त्रिमासा अपि वक्तव्याः । तदनन्तरं पञ्च वाराश्चत्वारो गुरुमासाः ५ । ततोऽपि परं त्रिवाराः पञ्च गुरुमासाः ३ । ततो वारत्रयं छेदः ३ । तदनन्तरं वारत्रयं मूलम् । ततः परं वारत्रयमनवस्थाप्यम् । एवं संचयिते उद्घाते अनुद्घाते च वक्तव्यम्, असंचयिते उद्घाताऽऽदिमासाद्यपभेदाः वक्तव्याः । किन्तु प्रथमत एव षण्मासिकं, तदनन्तरं छेदत्रिकाऽऽदि अष्टकापहाराऽऽदि पूर्वपद्वत्सर्वम् । अथ गाथाक्षरगमनिका-इह विचित्रा व्याख्याप्रवृत्तिरिति पश्चादानुपूर्व्या व्याख्या विधेया । पूर्वप्रस्थापितमुद्घातमनुद्घातं च वहतो यथाक्रमं भिन्ने भिन्नमासविषये दानं विंशत्यष्टादशवारान् । किमुक्तं भवति ?-पूर्वप्रस्थापितमुद्घातं प्रायश्चित्तं वहतो विंशतिवारान् भिन्नमासा दातव्याः । अनुद्घातं वहतोऽष्टादश वारा भिन्नमासा । ( तेण परमित्यादि ) ततो भिन्नमासदानात् पश्चादानुपूर्व्या परं, प्रागिति भावार्थः । निक्षेपणता निक्षिप्तता आसीत् विंशत्यष्टादशवारानन्तरं च उद्घातं पूर्वप्रस्थापितं वहतो मासिकानां लघूनां मासिकत्रैमासिकानां सप्तदश निक्षेपा भवन्ति; सप्तदशवारं दानं भवतीत्यर्थः । अनुद्घातं पूर्वप्रस्थापितं वहतो मासिकानां निक्षेपाः पञ्चदश भवन्ति, पञ्चदशवारं मासिकानां दानमित्यर्थः । तथा उद्घातितानां चतुष्का मासचतुष्टयानि सप्त भवन्ति । अनुद्घाताश्चतुष्का. पञ्च भवन्ति, तेषां पञ्च मासा लघुकाः पञ्च गुरुकाः पञ्च भवन्ति । गुरुका. पुनः पञ्चका. पञ्च मासास्त्रयः । इदमुक्तं भवति-पूर्वप्रस्थापितमुद्घातं वहतस्त्रिमासदानानन्तरं सप्तवाराश्चत्वारो लघुमासा दातव्याः, तदनन्तरं पञ्च वाराः पञ्चमासा लघवः । अनुद्घातं पूर्वप्रस्थापितं वहतो गुरुमासत्रिमासदानानन्तरं पञ्चवारा लघवश्चतुर्मासा दातव्याः, ततः परं गुरवः पञ्चमासास्त्रिवारा इति । तदेवमेकेषामाचार्याणां व्याख्यानमुपदर्शितम् ॥ अन्ये पुनरेवं व्याख्यानयन्ति-अन्यतरो नाम द्विधा-आत्मतरः, परतरश्च । तत्र आत्मतरस्य प्रायश्चित्तदानविधानमिदम् ( सत्त चउक्का उग्घाइयाणमित्यादि ) यदि पूर्वप्रस्थापितमुद्घातं वहन् भूयो भूयोऽन्यदापद्यते प्रायश्चित्तं तदा प्रथमत एव सप्त वारा उद्घातितानां लघूनां मासानां चतुष्का दातव्याः । सप्तवारा लघवश्चतुर्मासा देयाः, तदनन्तरं पञ्च वारा लघवः पञ्चमासाः, तदनन्तरं वारत्रयं छेदः, ततः परं वारत्रिकं मूलं, ततो वारत्रिकमनवस्थाप्यं, तत एकवारं पाराञ्चितम् । अथानुद्घातं पूर्वप्रस्थापितं वहन् पुनः पुनरापद्यते प्रायश्चित्तं तत आदौ पञ्चवारा अनुद्घाता गुरवश्चत्वारो मासा दाने भवन्ति, तदनन्तरं त्रीन् वारान् पञ्चमासा गुरवः, ततो वारत्रयं छेदः, तदनन्तरं वारत्रयं मूलं, ततो वारत्रयमनवस्थाप्यम्, तत एकवारं पाराञ्चितम् । यस्त्वन्यतरेतरतस्तस्येदं प्रायश्चित्तविधानम् । ( सत्तारस पण्णरसेत्यादि ) पूर्वप्रस्थापितमुद्घातं प्रायश्चित्तं वहन् यदि भूयो भूयः स्तोकं बहु वा अन्यत् प्रायश्चित्तमापद्यते, ततस्तस्य सप्तदश त्रैमासिकानां निक्षेपा भवन्ति, सप्तदशवारं त्रैमासिकं दीयते इति भावः । तदनन्तरं भूयो भूय आपत्तौ सप्तदश निक्षेपा द्वैमासिकानाम् । तदनन्तरं सप्तदश निक्षेपा मासिकानाम् । ततः परं निक्षेपणं दानं भिन्ने भिन्नमासस्य विंशतिवारान्, ततः परं वारत्रयं छेदः, तदनन्तरं वारत्रयं मूलम्, तदनन्तरं वारत्रयमनवस्थाप्यम् । तत एकवारं पाराञ्चितम् । अनुद्घातं पूर्वप्रस्थापितं वहन् यदि भूयो भूयः स्तोकं बहु वा प्रायश्चित्तमन्यदापद्यते तस्य पञ्चदश गुरूणां द्वैमासिकानां निक्षेपा भवन्ति, पञ्चदशवारं द्वैमासिकं गुरु दीयते इत्यर्थः । ततः परं निक्षेपणता भिन्नमासानां गुरूणामष्टादशवारान्, ततः परं वारत्रयं मूलं, ततोऽनवस्थाप्यं एकवारं पाराञ्चितमिति प्रायश्चित्तदानमुद्घातं वा अनुद्घातं वा वहन् ऽऽदिभिः

यते । ततः परं भूयो भूय आपत्तौ चतुरो वारान् लघुकं चतुर्मासम्, ततः परं छेदत्रिकं, तदनन्तरं मूलत्रिकं, ततोऽनवस्थाप्यत्रिकं, तत एकवारं पाराञ्चितं, यदि पुनः पूर्वप्रस्थापितमनुद्धात वहन् स्तोकं बहु वाऽन्यदापद्यते भूयो भूयस्ततः पञ्चवारान् गुरुमासिकं दीयते, ततः परं त्रीन् वारान् चतुर्गुरुकं, वारत्रयं छेदः,तदनन्तरं वारत्रयमनवस्थाप्यं, तत एकवारं पाराञ्चितम् ।

एतदेवाऽऽह-

आयतरमाइयाणं, मासा लहु गुरुगा सत्त पंचेव ।
चउ तिग चाउम्मासा,तत्तो य चउव्विहो भेओ ।।३१६।।

आत्मतरो नाम-यस्य वैयावृत्यकरणे लब्धिर्नास्ति । आदिशब्दात्परतरपरिग्रहः ।आत्मतर आदिर्येषां ते आत्मतराऽऽदयः, आत्मतरा ,परतराश्चेत्यर्थः । तेषामात्मतराऽऽदीनां प्रायश्चित्तदानविधिरुच्यते । तत्राऽऽत्मतराणामयम् । उद्धात पूर्वप्रस्थापित वहतां सप्त वारान् लघुमासा दीयन्ते । तदनन्तरं चतुरो वारान् चतुर्मासा लघवः । ततश्चतुर्विधो भेदः छेदमूलानवस्थाप्यपाराञ्चितलक्षणो दातव्यः । अनुद्धात पूर्वप्रस्थापित वहतां पञ्चवारान् गुरुमासो दीयते । तदनन्तरं त्रीन् वारान् गुरवश्चतुर्मासाः । ततो यथोक्तरूपश्चतुर्विधो भेदः । संप्रति परतरस्य प्रायश्चित्तदानविधिरभिधीयते परतरो नाम-यस्य वैयावृत्यकरणे लब्धिरस्ति, न तपसि, ततः स यदा तपः करोति न तदा वैयावृत्त्यं कर्तुं समर्थ इति । अत्रापि एकस्कन्धेन कापोतीद्वयं वोढुं न शक्यमिति दृष्टान्तो वक्तव्यः । यद्य प्रायश्चित्तं सञ्चयितमसञ्चयितं वाऽऽपन्नस्तत् यावद् वैयावृत्त्यं करोति तावन्निक्षिप्तं क्रियते, वैयावृत्त्यं च कुर्वन् यदन्यदापद्यते तत्सर्वं झोष्यते,वैयावृत्त्ये च समाप्ते तत् पूर्वनिक्षिप्तं प्रस्थाप्यते, तच्च वहन् यदि भूयो भूय इन्द्रियाऽऽदिभिरन्यदापद्यते तत उद्धातं पूर्वप्रस्थापितं वहतः सप्त वारान् लघुमासिकं दीयते । तदनन्तरं पञ्च वारान् चतुर्लघुकम् । ततः परं वारत्रयं मूलं, ततः परं वारत्रयमनवस्थाप्यम् । तत एकवारं पाराञ्चितमिति । अनुद्धातं पूर्वप्रस्थापितं वहतः षट् वारान् गुरुमासिकं दीयते । तदनन्तरं चतुरो वारान् चतुर्गुरुकम् । ततः परं वारत्रयं छेदः, तदनन्तरं वारत्रयं मूलं, ततः परं वारत्रयमनवस्थाप्यम्, तत एकवारं पाराञ्चितम् ।

एतदेव सूत्रकारमाह-

आयमे इंदिएहिं, परतरए झोसणा तउ परेण ।
मासलहुगा य सत्त य, छच्चेव य हुंति मासगुरू ।।३१७।।
चउलहुगाणं पणगं, चउगुरुगाणं तहा चउक्कं च ।
तत्तो छेदादीयं, होइ चउक्कं मुणेयव्वं ।। ३१८ ।।

परतरको वैयावृत्यं कुर्वन् यदीन्द्रियाऽऽदिभिः स्तोकं बहु वा आपद्यते प्रायश्चित्तं, ततस्तस्मिन्परतरके ततो वैयावृत्यकरणादारभ्य यावद्वैयावृत्यं करोति तावत्परोपकारीति, स्तोकं बहु वा यदन्यदापद्यते तस्य सर्वस्य झोषणता परित्यागः । ततो वैयावृत्यसमाप्त्यनन्तरं पूर्वनिक्षिप्तं प्रायश्चित्तमुद्धातं वहतो भूयो भूय आपत्तौ मासलघुकाः सप्त भवन्ति, दातव्याः, सप्त वारान् लघुमासो दीयते इति भावः । अनुद्धातं वहतः षट् भवन्ति मासगुरवो देयाः, षट् वारान् गुरुमासो दीयते इत्यर्थः । ( चउलहुगाणमित्यादि ) उद्धातं वहतः सप्तवारलघुमासिकदानानन्तरं भूयो भूय आपत्तौ चतुर्लघुकानां पञ्चकं दातव्यम्, पञ्चवारान् चत्वारो मासा लघुका दातव्या इत्यर्थः । अनुद्धातं वहतः षड्वारगुरुमासिकदानानन्तरं चतुर्गुरुकाणां चतुष्कं, चतुरो वारान् गुरुकं देयं, ततः परमुभयस्यापि छेदाऽऽदिचतुष्कं छेदमूलानवस्थाप्यपाराञ्चितलक्षणं भवति पूर्वप्रकारेण ज्ञातव्यम् ।

साम्प्रतं "झोसणा तउ परेण," एतस्य व्याख्यानार्थमाह-

तं चेव पुव्वभणियं, परतरए णत्थि एगखधादी ।
दो जोए अचयंते, वेयावच्चट्ठया झोसो ।। ३१९ ।।

यत्पूर्वमात्मतरके भणितं यथा नास्त्येतत् यत् (एगखधाई) एकेन स्कन्धेन एककालं द्वे कापोत्यौ न वोढुं शक्ये इति तदेव परतरकेऽपि सर्वं ज्ञातव्यम् । ततो द्वौ योगौ तपःकरणवैयावृत्यलक्षणौ युगपदशक्नुवतः वैयावृत्यार्थं झोषः, त्यागः ।

स्यादेवमुच्यते-

तवतीयमसद्दहिए, तवबलिए चेव होइ परियाए ।
दुब्बले अपरिणामे,अथिर अबहुस्सुए मूलं ।।३२०।।

यो मासाऽऽदिकं षण्मासपर्यन्तं तपोऽतीतो व्युत्क्रान्तः । किमुक्तं भवति?-मासाऽऽदिना षण्मासपर्यन्तेन तपसा यो न शुद्ध्यति, तपोग्रहणमुपलक्षणम् । देशच्छेदमपि योऽतीतो,देशच्छेदेनापि यो न शुद्ध्यतीति भावः । तस्य मूलं दीयते इति सर्वत्र संबध्यते । तथा (असद्दहिए इति) तपसा पापं शुद्ध्यतीति एतद्यो न श्रद्दधाति तस्मिन्नप्यश्रद्दधाने मूलम् । अथवा-अश्रद्दधानो नाम-मिथ्यादृष्टिः, ततो योऽश्रद्दधान एव सन् व्रतेषु स्थापितः पश्चात्सम्यक्त्वं प्रतिपन्नः सन् सम्यगावृत्तो भवति तस्य मूलं देयम् यथा गोविन्दवाचकस्य दत्तमिति । ( तवबलिए त्ति ) तपसा बलिकस्तपोबलिकः । किमुक्तं भवति?-महताऽपि तपसा यो न क्लाम्यति यत्र तत्र वा स्वल्पे प्रयोजने,तपः करिष्यामि इति विचिन्त्य प्रतिसेवते । यदि वा षाण्मासिके तपसि दत्ते वदति-समर्थोऽहमन्यदपि तपः कर्तुं तदपि मे देहीति तस्मिन् तपोबलिके मूलम् । (परियाए इति) यस्य छेदेन छिद्यमानः पर्यायो न पूर्यते,स्तोकत्वात् । अथ वा छेदपर्याये बोन सम्यक् श्रद्दधाति-यथा कोऽयमर्द्धजरतीयो न्यायः । किमत्र पर्यायस्य छिद्यते,क्रियते ति । यदि छिद्यते तर्हि मूलत एव छिद्यताम्, यदि वा न किमपीति । यदि वा वक्ति-रत्नाधिकोऽहं बहुकेऽपि परिच्छिन्ने पर्याये अस्ति मे दीर्घः पर्याय इति न किमपि छेत्स्यति,तस्य सर्वस्यापि पर्याये हीनस्य पर्याये अहीनतरहितस्य पर्याये गर्वितस्य मूलम् । तथा यो बहुप्रायश्चित्तमापन्नो धृतिसंहननाभ्यां दुर्बलत्वात्तपः कर्तुमसमर्थस्तस्मिन्नपि दुर्बले मूलम् । तथा योऽपरिणामत्वात् श्रुते-यदेतत् पाण्मासिकं युष्माभिर्मे दत्तमेतेनाहं न शुद्ध्यामि, प्रायश्चित्तस्याबहुत्वात् । तस्मिन्नप्यपरिणामे मूलम् । तथा यो धृतिदुर्बलतया पुनः पुनः प्रतिसेवते तस्मिन्नस्थिरे धृत्यसहननतया मूलम् । तथाऽबहुश्रुतोऽगीतार्थः । अथवा-अनवस्थाहिते मूलम् । तथाऽबहुश्रुतोऽगीतार्थः पाराञ्चितं वा आपन्नः,तस्य चाबहुश्रुततया तदानार्यत्वतः, तस्मिन्नप्यबहुश्रुते मूलं दातव्यमिति ।

साम्प्रतमाचार्यो विशेषं दर्शयितुकामो यदेवाभिहितं तदेव पृच्छन्नाह-

जइ मासो मासियं से-विऊण एगेण सो उ निगच्छे ।

तह मन्ने मासियं से-विऊण चरमेण निग्गच्छे॥३२१॥

चोदको वाक्-अहमेव मन्ये-यथा मासिकं परिहारस्थानं सेवित्वा सोऽधिकृतः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या एकेन मासेनेति गम्यते। निर्गच्छति शुद्ध्यति। तथा आस्नामन्येन द्वैमासिकाऽऽदिना। एतत्पुनरहं मन्ये। अतिशयख्यापनार्थं भूयो मन्ये इत्युपादानम्। मासिकं सेवित्वा चरमेण पाराञ्चिकेन निर्गच्छति शुद्ध्यति। एवं चोदकेनोक्ते सत्याचार्य आह-सत्यमेतत्, यदा मासकं सेवित्वा कदाचिच्चरमेण शुद्ध्यति ; इह मासिकं सेवित्वा मासेन शुद्ध्यतीत्यादिगमो गृहीतो, मासिकं सेवित्वा चरमेण शुद्ध्यतीत्यन्तगमः। आद्यन्तग्रहणे मध्यमस्यापि ग्रहणमिति शेषा अपि गमाः सूचिताः, मासिकग्रहणेन तद् द्वैमासिकाऽऽदीन्यपि। तद्यथा-यथा मासं सेवित्वा मासेन निर्गच्छति, तथा मासं सेवित्वा द्वाभ्यां मासाभ्यां निर्गच्छति, मासं सेवित्वा त्रिभिर्मासैर्निर्गच्छति, मासं सेवित्वा चतुर्भिर्मासैर्निर्गच्छति, मासं सेवित्वा पञ्चभिर्मासैर्निर्गच्छति मासं सेवित्वा षड्भिर्मासैर्निर्गच्छति, मासं सेवित्वा छेदेन निर्गच्छति, मासं सेवित्वा मूलेन निर्गच्छति, मासं सेवित्वा अनवस्थाप्येन निर्गच्छति, मासं सेवित्वा चरमेण पाराञ्चितेन निर्गच्छति। तथा-द्वैमासिकं सेवित्वा द्वाभ्यां निर्गच्छति, द्वैमासिकं सेवित्वा त्रिभिर्मासैर्निर्गच्छति। एवं यावद् द्वैमासिकं सेवित्वा चरमेण निर्गच्छति। तथा त्रैमासिकं सेवित्वा त्रिभिर्मासैर्निर्गच्छति, त्रैमासिकं सेवित्वा चतुर्भिर्मासैर्निर्गच्छति। एवं यावत्त्रैमासिकं सेवित्वा चरमेण निर्गच्छति। तथा चातुर्मासिकं सेवित्वा चतुर्भिर्मासैर्निर्गच्छति, यावच्चरमेण निर्गच्छति। तथा-पञ्चमासिकं सेवित्वा पञ्चभिर्मासैर्निर्गच्छति। एवं यावच्चरमेण निर्गच्छति। तथा-षाण्मासिकं सेवित्वा षड्भिर्मासैर्निर्गच्छति, यावच्चरमेण निर्गच्छति। तथा छेदं सेवित्वा छेदेन निर्गच्छति, यावच्चरमेण निर्गच्छति। मूलं सेवित्वा मूलेन निर्गच्छति, यावच्चरमेण निर्गच्छति। अनवस्थाप्यं सेवित्वा अनवस्थाप्येन निर्गच्छति, अनवस्थाप्यं सेवित्वा चरमेण निर्गच्छति।

अत्र शिष्यः प्राऽऽह-यस्मिन्नापन्ने यत्तदेव दीयते तद् आपत्तिसमं दानमुचितम्, अन्यादृशे त्वासेविते यदन्यादृशं दीयते तत्र को हेतुः ?। आचार्य आह-

जिण निल्लेवणकुडए, मासे अपलिउंचमाण सट्ठाणं ।
मासेण विसुज्झिहिई, तो देंति गुरूवएसेणं ॥ ३२२ ॥

जिनाः केवलिनो, जिनग्रहणादवधिमनःपर्यायज्ञानिनः चतुर्दशनवपूर्वधरा गृहीताः। एते यथावस्थिताः सक्लेशविशोधिपरिज्ञाने अपराधनिष्पन्नं मासिकाऽऽदि, भावनिष्पन्नं च द्वैमासिकाऽऽदि यथा विशुध्यति तदा तद्विशोधिनिमित्तं प्रायश्चित्तं ददति। तत्राध्यवसानेन मासे प्रतिसेविते यदप्रतिकुञ्चनमालोचयति ततस्तस्मिन्नालोचनायामप्रतिकुञ्चनः स्वस्थानं मासमेव प्रयच्छन्ति। अथवा-यानि द्वैमासिकाऽऽदीनां प्रायश्चित्तानामर्हाण्यध्यवसायस्थानानि तैर्मासं प्रतिसेवितं, तत एव द्वैमासाऽऽदिभिर्मासैर्विशोध्यतीति जिना केवलाऽऽदिवचनं, श्रुतव्यवहारिणो वा गुरूपदेशेनाधिकमपि प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति। अत्र चार्थे-( निल्लेवणकुडए इति ) निर्लेपनकुटदृष्टान्तः, निर्लेपको रजकः, कुटो जलभृतो घटः। यथा जलकुटैर्वस्त्राणि रजकः प्रक्षालयति, तथाऽपराधपदानि जिनाऽऽदयो मासाऽऽदिभिः शोधयन्ति। अथवा-निर्लेपनं लेपस्य मलस्याभावः, कुटो जलकुटः, स दृष्टान्तः। अत्र चत्वारो भङ्गाः। एकं वस्त्रमेकेन जलकुटेन निर्लेपनं क्रियते १। एकं वस्त्रमनेकैर्जलकुटैः २। अनेकानि वस्त्राणि एकेन जलकुटेन ३। अनेकानि वस्त्राण्यनेकैर्जलकुटैः ४।

तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गव्याख्यानार्थमाह-

एगुत्तरिया घडछक्कएण छेयादि होंति निग्गमणं ।
एएहिँ दोसवुड्ढी, कप्पिज्जइ दोहिँ ठाणेहिँ ॥ ३२३ ॥

एकोत्तरिका घटस्याभिवृद्धिर्घटषट्केन परिसमापयितव्या। इयमत्र भावना-कोऽप्यल्पमलः पट एकेन जलकुटेन शुध्यति, स गृह एव प्रक्षाल्यते। एष प्रथमभङ्गः। ततो मलिनतरः कठिनमलो वा पटो द्वाभ्यां कुटाभ्यां शुद्धिमासादयति, सोऽपि गृह एव प्रक्षाल्यते। ततोऽपि मलिनतरस्त्रिभिः कुटैः, सोऽपि गृहे प्रक्षाल्यते। एवमेकोत्तरिका वृद्धिस्तावन्नेया यावत्कोऽपि मलिनतरः षड्भिर्जलकुटैः शुद्ध्यति, सोऽपि गृह एव प्रक्षाल्यते। अत्र वस्त्रस्थानीयान्यपराधपदानि मलस्थानीयानि रागद्वेषाध्यवसायस्थानानि, तज्जनितो वा कर्मसञ्चयः, जलकुटस्थानीयानि मासिकाऽऽदीनि प्रायश्चित्तानि। तथाहि-अल्पमपराधपदमेकेन मासेन शुध्यति, ततो गुर्वपराधपदं द्वाभ्यां मासाभ्यां, गुरुतरमपराधपदं त्रिभिर्मासैः, ततोऽपि गुरुतरं चतुर्भिर्मासैर्यावद् गुरुतरमपराधपदं षड्भिर्मासैः। (छेयादि होंति निग्गमणमिति) ये गाढगाढतराऽऽदिमलाः पटास्ते गृहान्निर्गत्य बहिः सरित्तडागाऽऽदि गत्वा प्रभूतप्रभूततरैः क्षारगोमूत्राऽऽदिभिर्बहुबहुतरैरास्फोटनपिट्टनाऽऽदिभिर्महन्महत्तमप्रयत्नैः शुद्धिमासादयन्ति। तथाऽपराधपदान्यपि गाढगाढतराध्यवसायाभिर्वर्तितानि छेदमूलानवस्थाप्यपाराञ्चितैः पर्यायाऽऽदिभ्यो निष्काशनेन शुध्यन्ति। ततो निर्गमतुल्याः छेदाऽऽदयो भवन्ति। अथ कथं जलकुटबहिर्निर्गमतुल्यो मासाऽऽदिच्छेदाऽऽदय इति। अत्राऽऽह-( एएहिं इत्यादि ) एताभ्यामनन्तरोदिताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां मासाऽऽदिच्छेदाऽऽदिलक्षणाभ्यां दोषवृद्धिस्तीव्रतीव्रतररागद्वेषाध्यवसायवृद्धिः, तज्जनिता कर्मोपचयवृद्धिर्वा कल्प्यते छिद्यते, ततो मासाऽऽदिच्छेदाऽऽदयो जलकुटनिर्गमसमानाः।

साम्प्रतम् " एगुत्तरिया घडछक्कएण त्ति " व्याख्यानयति-

अप्पमलो होइ सुई, कोइ पडो जलकुडेण एक्केण ।
मलपरिवुड्ढीएँ भवे, कुडपरिवुड्ढी तु जा छन्नू ॥३२४॥

कोऽपि पटोऽल्पमलः सन् एकेन जलकुटेन शुचिर्भवति शुद्ध्यति। एष प्रथमभङ्ग उक्तः। मलपरिवृद्धौ कुटपरिवृद्धिर्भवति। सा च तावत् यावत्। तुशब्दो विशेषणार्थः। स चैतद्विशिनष्टि-एकेन यावत् पटस्य शुद्धिर्गृह एव क्रियते। इयमत्र भावना-बहुमलपटो द्वाभ्यां जलकुटाभ्यां शुद्ध्यति। बहुमलतरस्त्रिभिर्जलकुटैः। एवं मलपरिवृद्ध्या जलकुटपरिवृद्धिस्तावन्नेया यावद् बहुमलतमः षड्भिर्जलकुटैः। एते च गृह एव प्रक्षाल्यन्ते। एवमपराधपदान्यपि मासिकाऽऽदीनि साधूनां स्वपर्यायमपकृत्यादिरूपे गृहे एव स्थितानि मासिकाऽऽदिभिः प्रायश्चित्तैः शोध्यन्ते। एतेन द्वितीयो भङ्ग उपदर्शितः॥

"छेयाई हुंति निग्गमणं" इत्यस्य व्याख्यानमाह-

**तेण परं सरियादी, गंतुं सोहिंति बहुतरमलं तु ।**
**मलनाणत्तेण कए, आयंचणजत्तनाणत्तं ॥ ३२५ ॥**

तस्मादनन्तरोदितात् पदात् परं बहुतरमलं पटं सरिदादि । सरित् नदी । आदिशब्दात्-हृदकूपतडागाऽऽदिपरिग्रहः । तत् गत्वा शोधयन्ति । एवं साधूनामप्यपराधपदानि छेदाऽऽदिभिः पर्यायमपहृत्यादिरूपाद् गृहाद् निष्काशनेन जिनाऽऽदयः शोधयन्ति । (मलनाणत्तेणेत्यादि) द्वितीयाऽऽदिपदेषु यथा यथा मलनानात्वं तथा तथा आदञ्चनयत्ननानात्वमपि । आदञ्चनं नाम-गोमूत्रअजालिण्डिकोद्माऽऽदि यत्नं आच्छोटनपिट्टनाऽऽदिषु प्रयत्नः । तन्नानात्वमपि । तथाहि-यथा यथा मलस्योपचयस्तथा तथा बहुतरगोमूत्राऽऽदिप्रक्षेपो, बहुतरं आच्छोटनपिट्टनाऽऽदिषु प्रयत्नस्ततो भवति । मलनानात्वे आदञ्चनयत्ननानात्वमिव साधूनामप्यपराधपदेषु रागद्वेषोपचयवृद्धौ मासादिवृद्धिस्तपःक्रियाविशेषवृद्धिश्चेति ।

चरमतृतीयभङ्गव्याख्यानार्थमाह-

**बहुएहिँ जलकुडेहिँ, बहूणि वत्थाणि काणि वि विसुज्झे ।**
**अप्पमलाणि बहूणि वि, काणि वि सुज्झंति एक्केणं ॥ ३२६ ॥**

कानिचिद्वस्त्राणि तथाविधगाढमलानि बहूनि बहुभिर्जलकुटैर्विशुध्यन्ति । एवमपराधपदान्यपि तथाविधानि बहूनि साधूनां बहुभिर्मासैः शुद्धिमासादयन्ति । एतेन चतुर्भङ्गो व्याख्यात । तथा कानिचिदल्पमलानि वस्त्राण्येकेन जलकुटेन शुद्ध्यन्ति । एवं मन्दानुभावे कृतानि बहून्यपि साधूनामपराधपदान्येकेन मासेन शुद्ध्यन्ति । एष तृतीयो भङ्ग उपदर्शितः । अत्र शिष्यः प्राह-यथा रागद्वेषवृद्धिवशतः प्रायश्चित्तवृद्धिरुपलब्धा, तथा किं रागद्वेषहानिवशतः प्रायश्चित्तहानिरप्युपलब्धा ? । आचार्यः प्राऽऽह-उपलब्धा ।

तथा चैतदेव प्रयच्छति-

**जह मन्ने दसमं से-विऊण निग्गच्छए उ दसमेणं ।**
**तह मन्ने दसमं से-विऊण नवमेण निग्गच्छे ॥ ३२७ ॥**

अहमेवं मन्ये-यथा दशमं प्रायश्चित्तं पाराञ्चितं प्रतिसेव्य दशमेन पाराञ्चितेन प्रायश्चित्तेन निर्गच्छति । तथा एतदपि मन्ये-दशमं पाराञ्चितं सेवित्वा नवमेन अनवस्थाप्येन प्रायश्चित्तेन निर्गच्छति शुध्यति । आचार्य आह-सत्यमेतत् । दशमं सेवित्वा दशमेन शुद्ध्यति, कदाचिन्नवमेनाऽपि अनया गाथया सर्वेऽधोमुखा गमाः सूचिताः । ते चाऽमी-दशमं सेवित्वा मूलेन, मूलं सेवित्वा छेदेन निर्गच्छति । एवं षाण्मासिकेन पाञ्चमासिकेन चातुर्मासिकेन त्रैमासिकेन द्वैमासिकेन मासिकेन च वक्तव्यम् । दशमं सेवित्वा भिन्नमासेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा विंशत्या रात्रिन्दिवैर्निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा पञ्चदशभी रात्रिन्दिवैर्निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा दशमभक्तेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा अष्टमेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा षष्ठेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा चतुर्थेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा आचाम्लेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वैकाशनकेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा पूर्वार्द्धेन निर्गच्छति । दशमं सेवित्वा निर्विकृतिकेन निर्गच्छति । तथा-अनवस्थाप्यं सेवित्वा अनवस्थाप्येन निर्गच्छति । अनवस्थाप्यं सेवित्वा मूलेन निर्गच्छति । एवं यावन्निर्विकृतिकेन निर्गच्छति । एवं मूलेऽपि नेतव्यं यावन्मूलं सेवित्वा निर्विकृतिकेन निर्गच्छति । एवं छेदे, एवं षाण्मासिके, एवं पाञ्चमासिके, एवं चातुर्मासिके, एवं त्रैमासिके, एवं मासिके, भिन्नमासे, विंशतिरात्रिन्दिवे, पञ्चदशरात्रिन्दिवे, दशरात्रिन्दिवे, पञ्चरात्रिन्दिवे, दशमे, अष्टमे, षष्ठे, चतुर्थे, आचामाम्ले, एकाशनके, पूर्वार्द्धे, निर्विकृतिके च गमा वक्तव्याः, तथा एतेऽपि गमा द्रष्टव्याः, सूत्रस्य सूचकत्वात् । निर्विकृतिकं सेवित्वा तेनैव निर्विकृतिकेन शुध्यति । निर्विकृतिकं कृत्वा पूर्वार्द्धेन निर्गच्छति । एवं यावत्क्रमेण पाराञ्चितेन निर्गच्छति । तथा-पूर्वार्द्धं सेवित्वा पूर्वार्द्धेन निर्गच्छति । पूर्वार्द्धं सेवित्वा एकाशनेन निर्गच्छति । यावत्क्रमेण एकाशनं सेवित्वा एकाशनेन निर्गच्छति । एकाशनं सेवित्वा आचामाम्लेन निर्गच्छति यावत्क्रमेण । एवमाचामाम्लाऽऽदिष्वप्यूर्ध्वं गमा वक्तव्याः ।

अत्र शिष्यः प्राऽऽह-

**जह मन्ने बहुसो मा-सियाइँ सेविय एगेण निग्गच्छे ।**
**तह मन्ने बहुसो मा-सियाइ सेविय बहूहिँ निग्गच्छे ॥ ३२८ ॥**

अहमेवं मन्ये-यथा बहुशो बहून् वारान् मासिकाऽऽदीनि परिहारस्थानानि सेवित्वा एकेन मासेन सोऽपराधकारी निर्गच्छति, अपराधपदान्निर्याति, मन्दानुभावेन प्रतिसेवनायां कृतत्वात् । तथा एतदपि मन्ये-बहुशो बहूनि मासिकानि सेवित्वा कदाचिद् बहुभिर्मासैर्निर्गच्छति, यदि तीव्रानुभावेन प्रतिसेवनां कृत्वा स्यादिति भावः । अत्रार्थे आचार्याणामिति वक्तव्यम्, रागद्वेषवृद्धिहानिवशत एकैकस्मिन्नापत्तिस्थाने सर्वप्रायश्चित्तनामारोपणाभावात् ।

तत्र यदुक्तं दशमं प्रायश्चित्तस्थानं सेवित्वा दशमेन शुध्यति दशमं सेवित्वा नवमेन शुध्यति, तत्र दृष्टान्तं प्रागुक्तमेव दर्शयति-

**एगुत्तरिया घडछ-क्कएण छेयाईं होंति निग्गमणं ।**
**तेहिँ तु दोसवुड्डी, उप्पत्ती रागदोसेहिं ॥ ३२९ ॥**

एकोत्तरिका जलकुटस्य वृद्धिर्घटषट्केन नियमायितव्या । किं एकोत्तरिका जलकुटेन मुक्तं भवति ? कोऽपि तथाविधाऽल्पमलः पटः एकेन जलकुटेन गृहे प्रक्षाल्यते, कोऽपि बहुतरमलो द्वाभ्यां कुटाभ्याम् । ततोऽपि बहुतरमलस्त्रिभिः कुटैः । एवं यावद् बहुतम षड्भिः कुटैः । एवं किमपि साधूनामपराधपदमतिप्रभूतरागद्वेषाध्यवसायोपचितं स्वपर्यायमपहृत्यादिरूपे गृहे एवाऽवस्थितानां षड्भिर्मासैः शुध्यति । किमपि स्तोकरागद्वेषाध्यवसायोपचितं चतुर्भिर्मासैः । ततोऽपि स्तोकरागद्वेषाध्यवसायोपचितं यावत्किमप्यल्पतररागद्वेषाध्यवसायोपचितमेकेन शुद्ध्यतीति । (छेयाई होंति निग्गमणं) यथा एवमेकैकहानिस्तावद्वक्तव्या यावत्किमप्यल्पतररागद्वेषाध्यवकेऽपि घटा अतिप्रभूतकठिनमला गृहान्निर्गत्य बहिः सरित्तडागाऽऽदि गत्वा बहुभिर्गोमूत्राऽऽदिभिर्बहुभिश्चाऽऽच्छोटनपिट्टनप्रकारैः शुध्यन्ति । तथा निर्गमतुल्याः छेदाऽऽदयो भवन्ति । तथाहि-किञ्चिदतिप्रबलरागद्वेषाध्यवसायोपचितमपराधपदं साधूनां दशमेन पाराञ्चिताभिधानेन शुध्यति । किञ्चित्ततो हीनरागद्वेषाध्यवसायोपचितमनवस्थाप्येन । ततो हीनतररागद्वेषाध्यवसायोपचितं मूलेन । ततो हीनतमरागद्वेषाध्यवसायोपचितं छेदेन । छेदाऽऽदयश्च पर्यायाऽऽदिगृहान्निष्काशनेन भवन्ति । ततो निर्गमनतुल्याश्छेदाऽऽदयः । कस्मादेवं प्रायश्चित्तहानिः ? (अत आ-

ह-( तेहिं तु इत्यादि ) तै रागद्वेषैस्तीव्रतीव्रतरवैराऽऽदिदोषवृद्धेः कर्मोपचयवृद्धेरुत्पादितो यथा यथा रागद्वेषाध्यवसायवृद्धिस्तथा तथा प्रायश्चित्तस्याऽपि वृद्धिः, यथा यथा च रागद्वेषहानिस्तथा तथा प्रायश्चित्तस्यापि हानिरिति ।

एतदेवाऽऽह-

जिण निल्लेवणकुडए, मासे अपलिउंचमाणे सट्ठाणं ।
मासेण विसुज्झिहिई, तो देंति गुरूवएसेणं * ॥३३०॥

जिनाः केवलावधिमनःपर्यायज्ञानिप्रभृतयः ते केवलाऽऽदिबलतो यथाऽवस्थितरागद्वेषाऽध्यवसायहानिवृद्धीरुपलभमाना निर्लेपनकुटान् प्रागुक्तप्रकारेण दृष्टान्तीकृत्य यो यथा शुध्यति तस्मै तथा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । तथाहि-मासार्हैः रागद्वेषाध्यवसायैर्मासे प्रतिसेविते तदनन्तरमालोचनायामप्रतिकुञ्चति जिनाः केवलाऽऽदिबलतः श्रुतव्यवहारिणो गुरूपदेशतः, पाठान्तरं-"जिनोपदेशेन" मासेनैष विशोत्स्यतीति विज्ञाय स्वस्थानं मासिकमेव प्रायश्चित्तं ददति प्रयच्छन्ति । यदि पुनर्द्वैमासिकं यावत्पाराञ्चितं वा मासाऽऽदिरेव रागद्वेषाध्यवसायैस्ततो हीनतरैर्वा प्रतिसेवितम् । यदि वा-पश्चात् हा दुष्टु कृतमित्यादिभिर्निन्दनैः प्रतनूकृतं तदा जिनाः केवलाऽऽदिबलतः, श्रुतव्यवहारिणो गुरूपदेशतस्तथा विज्ञाय तस्मै मासं भिन्नमासं यावदन्ते निर्विकृतिकमपि प्रयच्छन्ति, ततो न कश्चिद्दोषः ।

पुनरप्याह चोदकः-

पत्तेयं पत्तेयं, पए पए भासिऊण अवराहे ।
तो केण कारणेणं, हीणाऽब्भहिया व पट्ठवणा ॥३३१॥

पदे पदे सूत्रगते प्रत्येकं प्रत्येकमपराधान् भाषित्वा तदनन्तरमर्थतः केन कारणेन हीना अभ्यधिका वा प्रस्थापना भणिता ? । यथा स्तोके प्रायश्चित्तस्थाने बहु प्रयच्छथ, बहुके वा स्तोकम्, यदि वा सर्वथा झोषं कुरुथेति ? ।

अत्राऽऽचार्य आह-

मण पर मोहि जिणं वा, चउदस दसपुव्वियं च नवपुव्विं ।
थेरे च समासज्जा, ऊणऽब्भहिया च पट्ठवणा ॥३३२॥

मनःपर्यायज्ञानिनं परमावधिं प्रभूतावधिं जिनं वा केवलज्ञानिनं चतुर्दशपूर्विणं दशपूर्विणं नवपूर्विणं च स्थविरांश्च समासाद्याऽऽश्रित्य हीना अभ्यधिका वा प्रस्थापना भवति । इयमत्र भावना-मनःपरमावधिजिनाऽऽदयः प्रत्यक्षज्ञानिनः,ततः ते प्रतिसेवकेषु रागद्वेषाऽध्यवसायस्थानानां हानिं वृद्धिं वा साक्षादवेक्षमाणा तुल्येऽप्यपराधपदे रागद्वेषानुरूपं हीनमधिकं वा प्रस्थापयन्ति, ददतीत्यर्थः ।

अथ ये मनःपरमावधिजिनाऽऽदयः प्रत्यक्षज्ञानिनस्तेषामेतद् युक्तम्, रागद्वेषाध्यवसायवृद्धिहान्या साक्षादवेक्षणात् । ये पुनः स्थविरास्ते कथं रागद्वेषाणां हानिं वृद्धिं वा जानीयुः ?। उच्यते-बाह्यपश्चात्तापाऽऽदिलिङ्गतः, तत्र हानिपरिज्ञानलिङ्गं पश्चात्तापाऽऽदिकमाह-

हा दुट्ठु कयं हा दु-ट्ठु कारियं दुट्ठुमणुमयं मे त्ति ।
अंतो अंतो डज्झइ, पच्छातावेण वेवंतो ॥ ३३३ ॥

प्राणातिपाताऽऽदि कृत्वा, कारयित्वा, अनुमोद्य च तदुत्तरकालं हा इति विषादे, दुष्टु अशोभनं मया कृतम्, हा दुष्टु कारितम्, हा दुष्टु अनुमतं मे ममेत्येवंलक्षणेन पश्चात्तापेन पश्चात्तापवह्निना वेपमानः पश्चात्तापकरणत एव कम्पमानोऽन्तरन्तश्चित्तमध्ये दह्यते ततो ज्ञायते स्थविरैरेतस्य रागद्वेषहानिरिति तदनुरूपं प्रायश्चित्तं प्रस्थाप्यते ।

वृद्धिपरिज्ञानलिङ्गमाह-

जिणपण्णत्ते भावे, असद्दहंतस्स तस्स पच्छित्तं ।
हरिसमिव वेदयंतो, तहा तहा वड्ढए उवरिं ॥ ३३४ ॥

तस्य प्रायश्चित्तप्रतिपत्तुर्जिनैः सर्वज्ञैः प्रकर्षेण ज्ञाताः प्रज्ञप्ता भावा जीवाऽऽदिकास्तान् जिनप्रज्ञप्तान् भावान् अश्रद्दधानस्य । तथा प्राणातिपाताऽऽदि कृत्वा आस्तां तदुत्तरकालं किं त्वालोचनायामपि निखिलाभे हर्षमिव वेदयमानस्य यथा यथा हर्षगमनं तथा तथा प्रायश्चित्तमुपर्युपरि वर्द्धते । किमुक्तं भवति ? -स्थविरा अपि जिनप्रज्ञप्तभावाश्रद्धानेन तथा तथा हर्षगमनेन च प्रतिसेवकस्य रागद्वेषवृद्धिमवगच्छन्त्यवगत्य च तदनुरूपमुपर्युपरि प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा सातिरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा सातिरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा सातिरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा सातिरेगपंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा सातिरेगपंचमासियं छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचियए वा ते चेव छम्मासा ॥१३॥ ( ५ )

यो भिक्षुश्चातुर्मासिकं वा सातिरेकचातुर्मासिकं वा पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा एतेषां परिहारस्थानानामन्यतरत् परिहारस्थानमालोचयेत्, तस्याप्रतिकुञ्च्याऽऽलोचयतः चातुर्मासिकं वा सातिरेकचातुर्मासिकं वा पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा,दद्याद् इति शेषः । यत्प्रतिसेवितं तद्दद्यादिति भावः । तद्योग्यैरेवाध्यवसायैस्तस्य तस्य प्रतिसेवनात्,आलोचनायां वा तत्प्रतिकुञ्चनात् । प्रतिकुञ्च्याऽऽलोचयतश्चातुर्मासिकप्रतिसेवकस्य पाञ्चमासिकं सातिरेकचातुर्मासिकप्रतिसेवकस्य सातिरेकपाञ्चमासिकं, मायानिष्पन्नस्य गुरुमासस्याधिकस्य दानात् । पाञ्चमासिकप्रतिसेवकस्य सातिरेकपाञ्चमासिकप्रतिसेवकस्य च षाण्मासिकं, षण्मासात्परस्य भगवद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे तपोदानस्यासंभवात् । (तेण परमित्यादि) ततः पाञ्चमासिकात्स्थानात्परस्मिन्षाण्मासिके सातिरेके वा षाण्मासिके प्रतिसेविते आलोचनाकाले प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चिते वा त एव स्थिताः षण्मासाः प्रदातव्याः, परतस्तपोदानस्य निषेधनात् । तदेव पञ्चमसूत्रमुक्तम् ।

इदानीं षष्ठं सूत्रमाह-

एवं बहुसो वि नेयव्वं ।

एवममुना प्रकारेण बहुशोऽपि बहुशःशब्देन विशिष्टमपि सूत्रं षष्ठं वक्तव्यम् । तच्चैवम्-

" जे भिक्खू बहुसो चाउम्मासियं वा बहुसो सातिरेगचाउम्मासियं वा बहुसो पंचमासियं वा बहुसो सातिरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा सातिरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा सातिरेगपंचमासियं वा

* "जिणोवएसेणं" इति पाठान्तरम् ।

पडिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं छम्मासियं वा तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा इति ।"

अस्याक्षरगमनिका पञ्चसूत्रानुसारतः कर्तव्या, नवरं बहुशोऽपि चातुर्मासिके प्रतिसेविते यदेकं चातुर्मासिकं दत्तं तद् बहुशोऽपि प्रतिसेवनाया मन्दानुभावकृतत्वात् आलोचनावेलायामप्येककालं सर्वेषामालोचितत्वात् । एवं सातिरेकचातुर्मासाऽऽदावपि भावनीयम् ।

(११) आलोचनायां दन्तपुरकथानकम् । संप्रति वक्तव्यविशेषमभिधित्सुराह-

एत्तो निकायणा मा-सियाण जह घोसणं पुहविपालो ।
दंतपुरे कासी या, आहरणं तत्थ कायव्वं ॥ ३३५ ॥

इत इति तृतीयार्थे पञ्चमी । ततोऽयमर्थः-एतैरनन्तरोदितैः सर्वैरपि सूत्रैर्मासिकानां मासनिष्पन्नानां मासिकद्वैमासिकत्रैमासिकयावत्पाण्मासिकानां निकाचनोक्ता । निकाचना नाम-यत् मासिकाऽऽदि प्रतिसेवितं तद् यावदद्यापि आलोचनार्हस्य पुरतो नालोच्यते तावदनिकाचितमवसेयम् । आलोचितं तु निकाचितं, ततः " आलोएज्जा " इत्यादिपदैर्निकाचना भाविता द्रष्टव्या । तत्र आलोचनायामाहरणं ज्ञातं कर्तव्यम् । किं तदित्याह-( जह घोसणमित्यादि ) यथेत्याहरणोल्लेखोपदर्शने; दन्तपुरे पत्तने पृथिवीपालो राजा दन्तवक्रनामा घोषणामकार्षीत्-दन्ता न केनापि क्रेतव्याः, स्वगृहे वसन्तः समर्पणीया इत्येवरूपामित्यादि । तच्चेदम्-" दंतपुरं नगरं, दंतवक्को राया, तस्स सच्चवती देवी, तीसे दोहलो जाओ-जइ अहं सव्वदंतमए पासाए कीलिज्जामि, रन्नो कहियं । रन्ना अमच्चो आणत्तो-सिग्घं मे दंते उवट्ठवेह । तेण नगरे घोसावियं-जो अन्नो दंतो किणेइ, न देइ वा घरे संते, तस्स सारीरो दंडो । तत्थ नगरे धणमित्तो सत्थवाहो, तस्स दो भज्जाओ-धणसिरी, पउमसिरी य । अन्नया तासिं दुण्ह वि कलहो जाओ । तत्थ धणसिरीए पउमसिरी भणिया-किमेवं गव्वमुव्वहसि, किं ते सच्चवतीए विव दंतमयो पासाओ कतो ?। ताहे पउमसिरीए असग्गाहो गहितो-जइ मे दंतमओ पासाओ न किज्जइ, तो अलं मे जीविएण । न देइ धणमित्तस्स वि उल्लावं । तस्स वयंसो दढमित्तो नाम, तस्स कहियं । तेण भणियं-अहं ते इच्छं पूरेमि, भज्जाविया असग्गाहं ताहे सो दढमित्तो वणयरे दाणमाणसंगहिए करेइ । तेहिं भणियं-किं आणेमो, किं वा पयच्छामो ?। तेण भणियं-दंते मे देह । तेहि य ते दंता खरूपूयगेहिं गोविया, सगडं भरियं, नगरदारे पवेसिज्जंताण एगो खरूपूयगो त्ति गोणेण गहीतो, दंतो पडिओ । चोरो त्ति रायपुरिसेहिं वणयरो गहितो, पुच्छिता-कस्सेते दंता ?। सो न साहेइ, एत्थंतरे दढमित्तेण भणियं-मम एते दंता, एस कम्मकरो, ततो वणयरो मुक्को, दढमित्तो गहितो । रन्ना पुच्छिओ-कस्सेते दंता?। सो भणइ-मम त्ति । एत्थंतरे दढमित्तं गहियं सोऊण धणमित्तो आगतो, रन्नो पुरतो भणइ-ममेते दंता, मम दंडं सारीरं वा निग्गहं करेह । दढमित्तो भणइ-अहमेयं न जाणामि, मम सतिया-दंता मम निग्गहं करेह । एवं ते अन्नोन्नावराहरक्खणट्ठिया रन्ना भणिया-भो ! तुब्भे निरवराधा, भूयत्थं कहेह । तेहिं सव्वं जहाभूयं कहियं । तुट्ठेण रन्ना मुक्का । जम्मुक्को जहा सो दढमित्तो निरवलावी, अवि य मरणमब्भुवगतो, न य परावराहो सिट्ठो, तहा आलोयणारिहेण अपरिस्साविणा भवियव्वं । जहा सो धणमित्तो भूयत्थं कहेइ-ममेसोऽवराहो त्ति । एवं आलोयगेण मूलुत्तरावराहा अपलिउंचमाणेण जहट्ठिया कहेयव्वा ।"

निकाचना किल तत्त्वत आलोचनार्हाऽऽलोचकाभ्यां विना न भवतीति द्वितयमपि सप्रपञ्चं विवक्षुरिदमाह-

आलोयणारिहो आ-लोयओ आलोयणाएँ दोसविही ।
पणगातिरेग जा प-ण्णवीस सुत्ते अह विसेसो ॥ ३३६ ॥

आलोचनार्हो यादृग् वक्तव्यः, तथा आलोचकश्च यथावस्थितो यादृशो भवति तादृशोऽभिधातव्यः, आलोचनायां दोषविषयो विधिः दोषभेदा वक्तव्याः । तथा (अह त्ति) एष सूत्रे विशेषः-यदुत चातुर्मासिकस्य पाञ्चमासिकस्य वा पञ्चकाऽतिरेको रात्रिन्दिवपञ्चकेनातिरेकोऽत्यर्गलता । एवं पञ्चकवृद्ध्याऽतिरेकस्तावद्वक्तव्यो यावत्पञ्चविंशतिः, पञ्चविंशत्यातिरेक इत्यर्थः । इयमत्र भावना-सूत्रे चातुर्मासिकस्य पाञ्चमासिकस्य च या सातिरेकता सा दिनानां पञ्चकेन दशकेन पञ्चदशकेन विंशत्या पञ्चविंशत्या वा द्रष्टव्येति ।

साम्प्रतमालोचनार्हो यादृग्भवति तादृशमुपदर्शयति-

आलोयणारिहो खलु, निरावलावी उ जह उ दढमित्तो ।
अट्ठहिँ चेव गुणेहिं, इमेहिँ जुत्तो उ नायव्वो ॥ ३३७ ॥

आलोचनार्हः खलु निरपलापी-अपलपतीत्येवंशीलोऽपलापी, निश्चितमपलापीति निरपलापी, प्रथमसौऽपरिश्रावीति भावार्थः । तथैव, तुरेवकारार्थः । दढमित्रोऽनन्तरकथानकोक्तस्तथैव द्रष्टव्यः, स चाष्टभिर्गुणैरेतैः वक्ष्यमाणस्वरूपैर्युक्तो ज्ञातव्यः ।

तानेव गुणानाह-

आयारव आहारव ववहारवऽवीलए पकुव्वी य ।
निज्जव अवायदंसी, अपरिस्सावी य बोधव्वा ॥ ३३८ ॥

आचारो ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिरूपः पञ्चप्रकारः, सोऽस्यास्तीति आचारवान् । आ सामस्त्येनाऽऽलोचितापराधानां धारणमाधारः, सोऽस्यास्तीत्याधारवान्, आलोचकेनाऽऽलोच्यमानो यः सर्वमवधारयति स आधारवानित्यर्थः । व्यवह्रियतेऽपराधजातं प्रायश्चित्तप्रदानतो येन स व्यवहार आगमाऽऽदिकः पञ्चप्रकारः, सोऽस्यास्तीति व्यवहारवान्, यः सम्यगागमाऽऽदिव्यवहारं जानाति, ज्ञात्वा च सम्यक् प्रायश्चित्तदानतो व्यवहरति, स व्यवहारवानिति भावः । तथाऽपव्रीडयति लज्जां मोचयतीत्यपव्रीडकः, आलोचकं लज्जयाऽतीचारान् गोपायन्तं यो विचित्रमधुराऽऽदिवचनप्रयोगैस्तथा कथञ्चनापि वक्ति यथा स लज्जामपहाय सम्यगालोचयति सोऽपव्रीडक इत्यर्थः । (पकुव्वी य त्ति ) 'कुर्व' इत्यागमप्रसिद्धो धातुरस्ति, यस्य विकुर्वणेति प्रयोगः । प्रकुर्वतीत्येवं शीलः प्रकुर्वी । किमुक्तं भवति ?-आलोचकेनालोचितेष्वपराधेषु यः सम्यक् प्रायश्चित्तप्रदानत आलोचकस्य विशुद्धिमुपजनयति स प्रकुर्वीति । ( निज्जव त्ति ) निश्चितं यापयति प्रायश्चित्तविधिषु यापयमालोचकं करोति, निर्वाहयतीति यावदिति निर्यापकः, अच्प्रत्ययः । अपराधकारी यथोक्तं प्रायश्चित्तं कर्तुमसमर्थो यथा निर्वहति तथा तदुचितप्रायश्चित्तप्रदानतः प्रायश्चित्तं कारयति स निर्यापक इति भावः । तथा इह लोकेऽपायान् दर्शयति इ-

त्येवंशीलोऽपायदर्शी। किमुक्तं भवति ?-यः सम्यगालोचयति, कुञ्चितं वा आलोचयति, दत्तं वा प्रायश्चित्तं सम्यग् न करोति, तस्य, यदि त्वमसम्यगालोचयिष्यसि प्रतिकुञ्चितं वा करिष्यसि, दत्तं वा प्रायश्चित्तं न सम्यक् पूरयिष्यसि, ततस्ते भूयान् मासिकाऽऽदिको दण्डो भविष्यतीत्येवमिहलोकापायान्,तथा संसारे जन्ममरणाऽऽदिकं त्वया प्रभूतमनुभवितव्यं, दुर्लभबोधिता च तवैवं भविष्यतीत्येवं परलोकापायांश्च दर्शयति, सोऽपायदर्शीति भावः। तथा न परिश्रवतीत्येवंशीलोऽपरिश्रावी, आलोचितं गोप्यमगोप्यं वा योऽन्यस्मै न कथयति सोऽपरिश्रावीति भावः।

साम्प्रतमालोचकमभिधित्सुराह-

आलोयंतो एत्तो, दसहिँ गुणेहिँ तु होइ उववेओ।
जाइकुलविणयनाणे-दंसणचरणेहिँ संपन्नो ॥ ३३९ ॥
खंते दंते अमाई, अपच्छतावी य होंति बोधव्वो।
आलोयणाएँ दोसे, एत्तो वुच्छं समासेणं ॥ ३४० ॥

इत ऊर्द्धमालोचयन् आलोचको वक्तव्यः, स च दशभिर्गुणैरुपेत एव युक्तो एव भवति। तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्चावेत्रं संबध्यते। तानेव गुणानुपदर्शयति-(जाइ इत्यादि) जातिसंपन्नः, कुलसंपन्नः, मातृपक्षो जातिः, पितृपक्षः कुलम्। विनयसंपन्नः, ज्ञानसंपन्नो, दर्शनसंपन्नः, चरणसंपन्नः। क्षान्तः, दान्तः, अमायी, अपश्चात्तापी च बोधव्यः। अथ कस्मादालोचकस्यैतावान् गुणसमूहोऽन्विष्यते ?। उच्यते-जातिसंपन्नः प्रायोऽकृत्यं न करोति, अथ कथमपि कृतं तर्हि सम्यगालोचयति। कुलसंपन्नः प्रतिपन्नप्रायश्चित्तनिर्वाहक उपजायते। विनयसंपन्नो निषद्यादानाऽऽदिकं विनयं सर्वं करोति सम्यगालोचयति। ज्ञानसंपन्नः श्रुतानुसारेण सम्यगालोचयति, अमुकश्रुतेन मे तद्दत्तं प्रायश्चित्तमतः शुद्धोऽहमिति च जानीते। दर्शनसंपन्नः प्रायश्चित्तात् शुद्धिं श्रद्धत्ते। चरणसंपन्नः पुनरतिचारं प्रायो न करोति, अनालोचिते चारित्रं मे न शुद्ध्यतीति सम्यगालोचयति। क्षान्तो नाम क्षमायुक्तः, स कस्मिंश्चित्प्रयोजने गुर्वादिभिः खरपरुषमपि भणितः सम्यक् प्रतिपद्यते, यदपि च प्रायश्चित्तमारोपितं तत्सम्यग्वहति। दान्तो नाम इन्द्रियजयसंपन्नः, स प्रायश्चित्ततपः सम्यक् करोति। माया अस्यास्तीति मायी, न मायी अमायी, सोऽप्रतिकुञ्चितमालोचयति। अपश्चात्तापी नाम यः पश्चात्परितापं न करोति-हा दुष्टु कृतं मया यदालोचितमिदानीं प्रायश्चित्ततपः। कथं करिष्यामीति ?, किन्त्वेवं मन्यते-कृतपुण्योऽहं यत्प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवानिति। अत ऊर्द्धमालोचनाया दोषान् समासेन संक्षेपेण वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

आकंपइत्ता अणुमा-णइत्ता जं दिट्ठ बायरं सुहुमं।
छन्नं सद्दाउलगं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ ३४१ ॥

आवर्जितः सन् आचार्यः स्तोकं मे प्रायश्चित्तं दास्यतीति बुद्ध्या वैयावृत्त्यकरणाऽऽदिभिरालोचनाऽऽचार्यमाकम्प्य आराधयन् आलोचयत्येष आलोचनादोषः १। तथा अनुमान्य अनुमानं कृत्वा लघुतरापराधनिवेदनतो मृदुदण्डप्रदायकत्वाऽऽदिस्वरूपमाचार्यस्याऽऽकलय्य यदालोचयत्येषोऽप्यालोचनादोषः २।

तथा यद् दृष्टमपराधजातं क्रियमाणमाचार्याऽऽदिना तदेवाऽऽलोचयति नापरमिति तृतीय आलोचनादोषः ३। (बायर त्ति) बादरं दोषजातमालोचयति, न सूक्ष्मं, तत्रावज्ञापरत्वादेष चतुर्थमालोचनादोषः ४। (सुहुमं ति) सूक्ष्मं वा दोषजातमालोचयति, न बादरम्। यः किल सूक्ष्ममालोचयति स कथं बादरं नाऽऽलोचयिष्यतीत्येवंरूपभावसंपादनार्थमेवार्थस्येति। एष पञ्चम आलोचनादोषः ५। तथा (छन्नमिति) प्रच्छन्नमालोचयति। किमुक्तं भवति ?-लज्जालुतामुपदर्श्याऽपराधानल्पशब्देन तथाऽऽलोचयति यथा केवलमात्मैव शृणोति, न गुरुरित्येष षष्ठ आलोचनादोषः ६। (सद्दाउल त्ति) शब्दाकुलं बृहच्छब्दं यथा भवत्येवमालोचयति। इदमुक्तं भवति-महता शब्देन तथा आलोचयति यथा अन्येऽप्यगीतार्थाऽऽदयः शृण्वतीत्येष सप्तम आलोचनादोषः ७। तथा (बहुजण त्ति) तथा बहुजनमध्ये यदालोचनं तद्बहुजनम्। अथवा बहवो जना आलोचनागुरवो यत्र तत् बहुजनमालोचनम्। किमुक्तं भवति ?-एकस्य पुरत आलोच्य तदेवापराधजातमन्यस्यान्यस्य पुरत आलोचयति, एषोऽष्टम आलोचनादोषः ८। (अव्वत्त त्ति) अव्यक्तोऽगीतार्थस्तस्याव्यक्तस्य गुरोः पुरतो यदपराधाऽऽलोचनं तदव्यक्तम्। एष नवम आलोचनादोषः ९। (तस्सेवी ति) शिष्यो यमपराधमालोचयिष्यति तमेव सेवते यो गुरुरसौ तत्सेवी, तस्य समीपे यदपराधाऽऽलोचनमेष ममातिचारेण तुल्यस्ततो न किमपि मे प्रायश्चित्तं दास्यत्यल्पं वा दास्यति, न च मां खरण्टयिष्यति-यथा विरूपं कृतं त्वयेति बुद्ध्या यदालोचनं तत्सेवी। एष दशम आलोचनादोषः १०। तदेवमालोचनाविधिदोषा उक्ताः।

सम्प्रति यथाभूतेषु द्रव्याऽऽदिष्वालोचनं तथाभूतद्रव्याऽऽदिप्रतिपादनार्थमाह-

आलोयणाविहाणं, तं चिय जं दव्व खित्त काले य।
भावे सुद्धमसुद्धे, ससणिद्धे सातिरेगाइं ॥ ३४२ ॥

आलोचनाविधानं तदेवात्रापि सविस्तरमभिधातव्यम्। यदुक्तं प्रथमसूत्रे-"दव्वादि चउरभिग्गह" इत्यादिना ग्रन्थेन। ततः प्रागुक्तदोषवर्जिता आलोचना प्रशस्ते द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च प्रागुक्तस्वरूपे दातव्या, नाऽप्रशस्ते इह प्रतिसेवितं द्विधा भवति-शुद्धम्,अशुद्धं च। तत्र यत् शुद्धेन भावेन प्रतिसेवितं यतनया च तत् शुद्धं, तच्च शुद्धत्वादेव न प्रायश्चित्तविषयः। यत्त्वशुद्धेन भावेन प्रतिसेवितमयतनया च तदशुद्धं, तच्च प्रायश्चित्तविषयोऽशुद्धत्वात्, तस्मिंश्चाशुद्धे प्रायश्चित्तानि केवलानि मासिकाऽऽदीनि सातिरेकाणि च। तत्र सातिरेकाणि (ससणिद्धे इति) सस्निग्धे हस्ते मात्रके वा सति तेन भिक्षाग्रहणतः, उदकार्द्रेणेत्यनन्तरं-तेन बीजकायसंघट्टनाऽऽदिनाऽपि सातिरेकाणि द्रष्टव्यानि।

तत्र सातिरेकतामेव भावयति-

पणगेणऽहिओ मासो, दस पक्खेणं च वीस भिन्नेणं।
संजोगा कायव्वा,गुरुलहुमीसेहिँ य अणेगा ॥ ३४३ ॥

इह मूलत आरभ्याऽमूनि सर्वाण्यप्यालोचनासूत्राणि किल सर्वसंख्यया दश भवन्ति। तत्राऽऽद्यानि चत्वारि सूत्राणि साक्षात्सूत्रत एव परिपूर्णान्युक्तानि, शेषाणि तु षट् सूत्राण्याद्याभ्यां द्वाभ्यां सूत्राभ्यामर्थतः सूचितानि। तानि चामूनि-सा-

तिरेकसूत्रम् १ । बहुसातिरेकसूत्रम् २ । सातिरेकसंयोगसूत्रम् ३ । बहुसातिरेकसंयोगसूत्रम् ४ । नवमं सकलस्य सातिरेकस्य च संयोगसूत्रम् ५ । दशमं बहुशःशब्दविशिष्टस्य सकलस्य बहुशःशब्दविशिष्टस्य सातिरेकस्य च संयोगसूत्रम् ६। तत्र पञ्चमं सातिरेकसूत्रं पञ्चसूत्राऽऽत्मकम् । तच्चैवमुच्चारणीयम्-" जे भिक्खू सातिरेगमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगदोमासियं ।" इदं पञ्चमसूत्रे प्रथमसूत्रम् । अत्र मासिकस्य सातिरेकतां पूर्वार्द्धेन व्याख्यानयति-पञ्चकेन रात्रिन्दिवपञ्चकेन मासोऽधिकः । ( दस त्ति ) दशभिरहोरात्रैः पक्षेण ( वीस त्ति ) विंशत्या रात्रिन्दिवैर्भिन्नेन भिन्नमासेन, पञ्चविंशत्या दिनैरित्यर्थः । तत्र पञ्चकातिरिक्तो मासो-यथा केनाऽपि शय्यातरपिण्डः सस्निग्धेन हस्तेन मात्रकेण वा गृहीतः तत्र मासः शय्यातरपिण्डग्रहणात् रात्रिन्दिवपञ्चकं, सस्निग्धेन हस्तेन मात्रकेण भिक्षाग्रहणात् रात्रिन्दिवदशकेनाऽधिको मासो, यथा केनापि शय्यातरपिण्डः परीत्तकायानन्तरं निक्षिप्तः सस्निग्धेन हस्तेन मात्रकेण वा गृहीतः, तत्र मासः शय्यातरपिण्डग्रहणात् रात्रिन्दिवपञ्चकं परीत्तकायानन्तरनिक्षिप्तग्रहणात् । द्वितीयं रात्रिन्दिवपञ्चकं सस्निग्धेन हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षाग्रहणात् । एवं पक्षाऽऽद्यतिरेकेऽपि भावना कार्या । एवं द्वितीयतृतीयसूत्राऽऽदिष्वपि द्वैमासिकाऽऽदीनां सातिरेकता पञ्चकाऽऽदिभिर्भावनीया । सूत्रपाठस्त्वेवम्-" जे भिक्खू सातिरेगं दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगं मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगं तेमासियं । जे भिक्खू सातिरेगं तेमासियं परिहारट्ठाणमित्यादि । " षष्ठमपि बहुशःशब्दविशिष्टं सातिरेकसूत्रं पञ्चसूत्राऽऽत्मकम् । तच्चैवमुच्चारणीयम्-" जे भिक्खू बहुसो सातिरेगमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगदोमासियं । जे भिक्खू बहुसो सातिरेगदोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,अपलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगदोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगतेमासियं ।"इत्यादि सप्तमं सातिरेकसंयोगसूत्रम् । अष्टमं बहुशः सातिरेकसंयोगसूत्रम् । तत्र सातिरेकाणां मासिकाऽऽदीनां संयोगाः सातिरेकसंयोगाः,तदात्मकं सूत्रं सातिरेकसंयोगसूत्रं,तदेव बहुशःशब्दविशिष्टं बहुशः सातिरेकम् । तत्र सातिरेकाणि पञ्च पदानि । तद्यथा-सातिरेकं मासिकम् १। सातिरेकं द्वैमासिकम् २। सातिरेकं त्रैमासिकम् ३ । सातिरेकं चातुर्मासिकम् ४। सातिरेकं पाञ्चमासिकम् ५ । पञ्चानां च पदानां द्विकसंयोगे भङ्गा दश, त्रिकसंयोगेऽपि दश, चतुष्कसंयोगे पञ्च,पञ्चकसंयोगे एकः । एते च तृतीयचतुर्थसूत्रचिन्तायामिव भावनीयाः सर्वसंख्यया भङ्गाः षड्विंशतिः । एवमेव षड्विंशतिर्भङ्गाः सातिरेकसंयोगसूत्रेऽपि भावनीयाः । उभयमीलने भङ्गा द्वापञ्चाशत् । पञ्च सूत्राणि पञ्चमे सातिरेकसूत्रे,पञ्च सूत्राणि षष्ठे बहुशः सातिरेकसूत्रे,तान्यप्यत्र मीलितानि जातानि सर्वसंख्यया द्वाषष्टिसूत्राणि ६२ । एतानि च उद्घातानुद्घातविशेषरहितानि । तत एतावन्त्येवोद्घातविशेषपरिकलितान्यन्यानि सूत्राणि द्रष्टव्यानि ६२। एतावन्त्येव चानुद्घातविशेषपरिकलितान्यपि ६२। एवमेतानि संख्या द्वाषष्ट्य सूत्राणां सर्वसंख्यया षडशीतं सूत्रशतम् १८६। अत ऊर्द्धं उद्घातमिश्रकाभिधानतः संयोगसूत्राणि भवन्ति । तत्सूचनार्थमिदमुत्तरार्द्धमाह-(संजोगा कायव्वा इत्यादि) गुरवश्च लघवश्च गुरुलघवः,ते च ते मिश्राश्च गुरुलघुमिश्राः, तैरनेकैः संयोगा भवन्ति कर्त्तव्याः । ते चैवमुच्चारणीयाः- " जे भिक्खू सातिरेगउग्घायमासियं वा परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगमुग्घायमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स सातिरेगमुग्घायदोमासियं वा, सातिरेगमणुग्घायदोमासियं वा । जे भिक्खू सातिरेगमुग्घायमासियं वा सातिरेगमणुग्घायदोमासियं वा परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता ।" इत्येवमुद्घातितपदममुञ्चता अनुद्घातद्वैमासिकाऽऽदीन्यपि वक्तव्यानि । एवमेते भङ्गाः पञ्च । एते अनुद्घातमासिके अनुद्घातमासिकद्वैमासिकाऽऽद्यधिसंयोगेन लब्धाः । एवमुद्घातिते द्वैमासिकेऽपि पञ्च, पाञ्चमासिकेऽपि पञ्चेत्युभयोरेककसंयोगेन सर्वसंख्यया भङ्गाः पञ्चविंशतिः। तथा उद्घातसातिरेकमासिके । एवमनुद्घातसातिरेकमासिकद्वैमासिकाऽऽदिद्विकसंयोगे भङ्गा दश । एवमुद्घातिते सातिरेके द्वैमासिके त्रैमासिके चातुर्मासिके पाञ्चमासिके च प्रत्येकं दश दशेति सर्वसंख्यया उद्घातितैकसंयोगे,अनुद्घातितद्विकसंयोगे भङ्गाः पञ्चाशत् । एवं तृतीयसूत्रानुसारतो भङ्गकास्तावद् वाच्याः यावत्सर्वसंख्यया भङ्गकानां नवशतान्येकषष्ट्यधिकानि ९६१ भवन्ति । एतावन्त एव च ९६१ भङ्गकाः अष्टमेऽपि बहुशःसातिरेकसंयोगसूत्रे भवन्ति । षडशीतं शतं सूत्राणां प्राक्तनमिति सर्वसंख्यया पञ्चमषष्ठसूत्रेषु सूत्राणामेकविंशतिशतान्यष्टोत्तराणि भवन्ति २१०८। एतानि च मूलगुणापराधाभिधानेनोत्तरगुणापराधाभिधानेन च प्रत्येकं वक्तव्यानीत्येष राशिर्द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि द्वाचत्वारिंशच्छतानि षोडशोत्तराणि ४२१६। एतानि च दर्पतः कल्पतो वाऽप्ययतनया भवन्तीति द्वाभ्यां गुण्यन्ते , जातानि अष्टौ सहस्राणि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि ८४३२। एतावन्त्येव चाऽऽदिमेषु सूत्रेषु सूत्राणि द्वात्रिंशदधिकानि ८४३२। एतावन्त्येव चाऽऽदिमेषु सूत्राणि भवन्तीत्यष्टास्वपि सूत्रेषु सर्वसंख्यया सूत्राणां षोडश सहस्राण्यष्टौ शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि भवन्ति १६८६४। नवमं सूत्रं सकलस्य सातिरेकस्य च संयोगाऽऽत्मकं,तत्र सकलसंयोगा मासिकद्वैमासिकाऽऽदिसंयोगाः सातिरेकसंयोगाः लघुगुरुपञ्चकदशकाऽऽदिसंयोगाः। तत्र प्रथमतो लघुगुरुरहितपञ्चकाऽऽदिसूत्राणि केवलान्युपदर्श्यन्ते-" जे भिक्खू पणगातिरेगमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा " इत्यादि । " जे भिक्खू दसगातिरेगं मासियं परिहारट्ठाणं सेवित्ता " इत्यादि । एवं पञ्चदशकेन विंशत्या सातिरेकसूत्राणि मासिकविषयाणि वक्तव्यानि । एवमेव प्रत्येकं द्वैमासिकत्रैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकविषयाण्यपि पञ्च पञ्च सातिरेकसूत्राणि वक्तव्यानि, सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिसूत्राणि । एवं लघुपञ्चकाऽऽदिविषयाण्यपि पञ्चविंशतिसूत्राणि वाच्यानि । एवमेव पञ्चविंशतिसूत्राणि गुरुपञ्चकाऽऽदिविषयाण्यपि । सर्वमीलने पञ्चसप्ततिसूत्राणि । एतानि गुरुलघुविशेषरहितमासिकाऽऽदिविषयाणि, तदनन्तरमेतावन्त्येव लघुमासिकाऽऽदिविषयाण्यपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येतावन्ति गुरुमासिकाऽऽदिविषयाणि, सर्वसंख्यया एककसंयोगे सूत्राणां द्वे शते पञ्चविंशत्यधिके २२५ । तदनन्तरम्-' जे भिक्खू पणगातिरेगमासियं वा पणगातिरेगदोमासियं वा परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ।" इत्यादि । तथा-" जे भिक्खू पणगातिरेगमा-

सिय दसगातिरेगमासियं वा परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा।" इत्यादि। एवं मासिक पञ्चक वा। द्वैमासिके पञ्चकदशकपञ्चदशकविंशतिपञ्चविंशति भिः सह पञ्च सूत्राणि वक्तव्यानि। एवं त्रैमासिकम्। चातुर्मासिके पञ्चमासिके च प्रत्येक पञ्च पञ्चेति द्वैमासिकेन पञ्चकेन विंशतिसूत्राणि लब्धानि। एवं दशकेन पञ्चदशकेन विंशत्या च विंशतिविंशतिसूत्राणि लभ्यन्ते. इति पञ्चविंशत्य शतम्। तदनन्तर द्वैमासिके पञ्चकममुञ्चता त्रैमासिके पञ्चकदशकपञ्चदशकविंशतिभिन्नमासैः सह पञ्च सूत्राणि। एवं चातुर्मासिके पञ्च पञ्चमासिके दश चेति पञ्चदश सूत्राणि वक्तव्यानि। एवं दशकं पञ्चदशक विंशति पञ्चविंशतिं चाऽमुञ्चता पञ्चदश सूत्राणि लभ्यन्ते; इति सर्वमीलने पञ्चसप्ततिसूत्राणि। तथा त्रैमासिके पञ्चकाऽऽदिभिः सह पञ्च सूत्राणि, पञ्च पाञ्चमासिकपञ्चकाऽऽदिभिः सहेति दश सूत्राणि। एवं दशकाऽऽदीन् अमुञ्चता प्रत्येक प्रत्येक दश दश लभ्यन्ते; इति पञ्चाशत् सूत्राणि। तदनन्तरं चातुर्मासिके पञ्चकममुञ्चता तानि पाञ्चमासिकपञ्चकाऽऽदिभिः सह पञ्च सूत्राणि वाच्यानि। एवं दशकाऽऽदीन्यमुञ्चता प्रत्येक पञ्च पञ्चेति सूत्राणि। सर्वसंख्ययाऽर्द्धतृतीयानि शतानि सूत्राणां भवन्ति। एतावन्ति लघुपञ्चकाऽऽदिभिरन्यैतावन्त्येव गुरुपञ्चकाऽऽदिभिरपीति सर्वसंख्यया पञ्चाशदधिकानि सप्तशतानि सूत्राणाम्। एतानि च मासिकद्वैमासिकाऽऽदीनां गुरुलघुविशेषाभावेन लब्धानि। ततो मासिकाऽऽदीनां लघुविशेषविवक्षायामप्येतावन्ति सूत्राणि लभ्यन्ते। एतावन्त्येव च गुरुविशेषविवक्षायामपि। सर्वमीलने द्वाविंशशतानि पञ्चाशदधिकानि २२५०। तदनन्तरम्—
"जे भिक्खू पणगातिरेगमासियं वा पणगाइरेगदोमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं सेवित्ता।" इत्यादीनि त्रिसंयोगविषयाणि। "जे भिक्खू पणगातिरेगमासियं वा पणगातिरेगदोमासियं वा पणगातिरेगतिमासियं वा पणगातिरेगचाउम्मासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं।" इत्यादीनि चतुःसंयोगविषयाणि। "जे भिक्खू पणगाइरेगमासियं वा पणगातिरेगदोमासियं वा पणगातिरेगतेमासियं वा पणगातिरेगचाउम्मासियं वा पणगातिरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणमन्नयरं परिहारट्ठाणं।' इत्यादीनि पञ्चकसंयोगविषयाणि बहूनि सूत्राणि वक्तव्यानि। एतानि च गुरुलघुगतपरस्परसंयोगरहितान्युपदर्शितानि। सम्प्रति लघुगुरुगतपरस्परसंयोगविषयाण्युपदर्श्यन्ते—"जे भिक्खू लहुगपणगगुरुगपणगातिरेगपंचमासियं वा परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा।" इत्यादि। "जे भिक्खू लहुगपणगलहुदसगातिरेगमासियं परिहारट्ठाणं।" इत्यादि। "जे भिक्खू लहुगपणगगुरुदसगातिरेगमासियं परिहारट्ठाणं" इत्यादि। पञ्चमासिके लघुपञ्चकं वाऽमुञ्चता तावद्वक्तव्यं यावद् गुरुभिन्नमासः। एवं मासिकममुञ्चता पञ्चकाऽऽदीनां सर्वे द्विकसंयोगाः, तदनन्तरं सर्वे चतुष्कसंयोगा यावत्सर्वे नवकसंयोगा वक्तव्याः, ततः परमेकादशकसंयोगो वाच्यः। ततो मासलघुममुञ्चता पञ्चकदशकविंशतिपञ्चविंशतीनां गुरुलघुभेदभिन्नानां द्विकाऽऽदिसंयोगा दशकैकसंयोगपर्यन्ताः सर्वे वक्तव्याः, ततः परमेव मासगुरुममुञ्चता वक्तव्याः। एवं द्वैमासिकाऽऽदिस्थानेष्वपि प्रत्येक संयोगतश्च पञ्चकाऽऽदीनां सर्वे संयोगाः कर्त्तव्याः। एवमनेकसंयोगाऽऽ-



त्मकं सूत्रम्; एवं दशमसूत्रमपि बहुशः सकलबहुशः सातिरेकसंयोगरूपं वक्तव्यम्।

तत्र येषु स्थानेषु पञ्चकं भवति तानि स्थानान्युपदर्शयति—

ससणिद्धे वीयघट्टे, काएसुं मीसएसु परिठविए।
इत्तर सुहुम सरक्खे, पणगा एमाइया हुंति ॥ ३४४ ॥

सस्निग्धे भोजनमात्रके सातिरेकभिक्षाग्रहणेन, तथा बीजघट्टे बीजकायसंघट्टं कुर्वत्याः सकाशात् भिक्षाऽऽदाने, तथा कायेषु परीत्तेषु अचित्तेषु, मिश्रेषु वा सचित्ताचित्तरूपेषु परीत्तकायेषु परिस्थापिते परम्परस्थापिते, इतरस्मिन्नानन्तरस्थापिते गृह्यमाणे, तथा (सुहुम त्ति) सूक्ष्मप्राभृतिकाग्रहणे, (सरक्ख त्ति) सरजस्केन हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षाग्रहणे, सर्वत्र पञ्चकं भवतीति वाक्यशेषः। किमेतेष्वेव स्थानेषु पञ्चकं भवति किं वाऽन्येष्वपीति चेत्? उच्यते अन्येष्वपि। तथा चाऽऽह-(पणगा एमाइया हुंति) पञ्चकान्येवमादीनि एवमाद्यपराधहेतुकानि भवन्ति। एवमादिष्वन्येष्वप्यपराधेषु पञ्चकं द्रष्टव्यमिति भावार्थः।

साम्प्रतमालोचनाऽर्हस्य यथा पञ्चकाऽऽदि परिज्ञातं, यथा च प्रायश्चित्तदानविधिस्तथा प्रतिपादयति—

ससणिद्धमादि अहियं, परोक्खी सोउ देंति अहियं तु।
हीणाहियं तुल्लं वा, नाउं भावं तु पच्चक्खी ॥ ३४५ ॥

परोक्षेषु विषयेषु भव पारोक्षं, पारोक्षं विषयं ज्ञानं तदस्यास्तीति पारोक्षी श्रुतव्यवहारी, शय्यातरपिण्डाऽऽदेरधिकं सस्निग्धाऽऽदि आलोचकमुखात् श्रुत्वा मासपञ्चकाऽऽदिभिरधिकं, तुरेवकारार्थः। ददति प्रयच्छन्ति. आलोचकमुखात् श्रवणानुसारतः प्रायेण तस्य प्रायश्चित्तदानविधिप्रवृत्तेः। यः पुनः प्रत्यक्षी प्रत्यक्षज्ञानी केवल्यादिः स पञ्चकातिरिक्ते मासे आलोचिते भावमेव, तुरेवकारार्थः। रागद्वेषपरिणामलक्षणं, ज्ञात्वा रागद्वेषपरिणामानुसारतः प्रतिसेवनातो हीनमधिकं वा, यदि वा प्रतिसेवनातुल्यं प्रयच्छति।

साम्प्रतमस्मिन्नर्थे तो नवमे सूत्रतः पञ्चमे सूत्रे संयोगविधिप्रदर्शनार्थमाह—

एत्थ पडिसेवणातो, एक्कगदुगतिगचउक्कपणगेहिं।
छक्कगसत्तगअट्ठग-नवदसगेहिं अणेगाओ ॥ ३४६ ॥

इहार्थतो नवमे सूत्रतः पञ्चमे सूत्रे साक्षाद्दशकसंयोगस्यान्तिमानि चत्वारि पदान्युपात्तानि। तत्र एतैर्दशकसंयोगो दर्शितः। स चायम्—मासिकम् १। सातिरेकमासिकम् २। द्वैमासिकम् ३। सातिरेकद्वैमासिकम् ४। त्रैमासिकम् ५। सातिरेकत्रैमासिकम् ६। चातुर्मासिकम् ७। सातिरेकचातुर्मासिकम् ८। पाञ्चमासिकम् ९। सातिरेकपाञ्चमासिकम् १०। तेन च दशकसंयोगेन शेषा अप्येककाऽऽदयः संयोगाः सूचितास्तानन्तरेण दशकसंयोगविकल्पस्यासंभवात्। तथा चात्र पूर्वसूरयो बलीदृष्टान्तमुपन्यस्यन्ति, स च प्राग्वद्भावनीयः। तत आह—अत्राधिकृतेऽर्थे तो नवमे सूत्र पञ्चमे सूत्रे, प्रतिसेवना एककद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकषट्सप्तकाष्टकनवकदशकैरनेका प्रतिसेवना उपात्तव्या। किमुक्तं भवति—दशानां पदानामेकद्विकाऽऽदिसंयोगेषु यावन्तो भङ्गका भवन्ति तावन्त्यः प्रतिसेवना अनेन सूत्रेण सूचिता द्रष्टव्याः।

तत्रैकका ऽऽदिसंयोगेषु भङ्गसंख्याऽऽनयनाय करणमाह-

करण एत्थ य इणमो, एक्कादेगुत्तरा दस ठवेउ ।
हेट्ठा पुण विवरीयं, काउ रूवं गुणयव्व ॥ ३४७॥

अत्र हेत्त्रेकाऽऽदिसयोगेषु भङ्गकसख्याऽऽनयनाय करणमिदम् एकाऽऽदीनेकोत्तरान् एकोत्तरवृद्धया प्रवर्द्धमानान् दशकपर्यन्ताऽनङ्कान् स्थापयित्वेत्यर्थः । अधस्तात् पुनर्विपरीतं राशिं कृत्वा । किमुक्तं भवति ?-य एकका ऽऽदय एकोत्तरदशकपर्यन्ता अङ्का पूर्वानुपूर्व्या उपरि स्थापितास्तेषामधस्तात् पश्चानुपूर्व्या एकका ऽऽद्य एकोत्तरदशपर्यन्ता अङ्का स्थापनीयाः ।

स्थापना-

| १/१० | २/९ | ३/८ | ४/७ | ५/६ | ६/५ | ७/४ | ८/३ | ९/२ | १०/१ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|

अत्रोपरितना अङ्का गुणकाराः, अधस्तना भागहाराः । तत्रैककसयोगसंख्यामिच्छन् अन्यदेक सकल रूप स्थापयेत्, स्थापयित्वाऽन्तिमेन दशमेन गुणकारेण गुणयितव्यम् । तेन तस्य गुणने जाता दशैव, एकस्य गुणने तदेव भवतीति वचनात् ।

दसहिँ गुणउ रूवं, एक्केणऽहियम्मि भागेँ ज लद्धं ।
त पडिरासेऊणं, पुण वि नवेहिं गुणेयव्वं ॥ ३४८ ॥

दशभिर्गुणयित्वा रूपमेकेनाधस्तनेन भागहारेण भागो हरणीयः, भागे च हृते यल्लब्ध तत्प्रतिराशीक्रियते, लब्धाश्चात्र दश, "एकेन भागहारेण यदेवोपरि तदेव लभ्यते ।" इति वचनात् । लब्धा एककसयोगे भङ्गा दश, ते एकान्ते स्थापनीयाः, तान् प्रतिराश्य एकान्ते स्थापयित्वा द्विकसयोगे भङ्गसख्यामिच्छता तत् प्रतिराशीकृत दशकलक्षणमङ्कस्थान पुनरपि नवभिर्गुणयितव्यम्, जाता नवतिः ।

दोहिँ हरिऊण भागं, पडिरासेऊण तं पि जं लद्धं ।
एएण कमेणं तू, कायव्व आणुपुव्वीए ॥ ३४९ ॥

तस्या नवतेरधस्तनेन द्विकेन भाग हियात्, भागे हृते लब्धाः पञ्चचत्वारिंशत्, आगत द्विकसयोगे पञ्चचत्वारिंशद् भङ्गाः । तथैव सूत्रत उच्चारणीयाः-" जे भिक्खू मासिय च सातिरेगमासिय च १ । जे भिक्खू मासिय च दोमासिय च २ । जे भिक्खू मासिय च सातिरेगदोमासिय च ३ । जे भिक्खू मासिय च तेमासिय च ४ । जे भिक्खू मासिय च सातिरेगतेमासिय च ५ । " इत्यादि । ततो यल्लब्ध पञ्चचत्वारिंशल्लक्षण तत्त्रिकसयोगे भङ्गसख्यामिच्छता प्रतिराशीकर्त्तव्य, प्रतिराश्योपरितनेनाष्टकेन गुणयेत् । एतेनानन्तरोदितेन क्रमेण सर्वेष्वप्यङ्कस्थानेष्वानुपूर्व्या सर्वं कर्त्तव्यम् ।

कैरित्याह-

उवरिमगुणकारेहिं, हेट्ठिल्लेहिं व भागहारेहिं ।
जा आइमं तु ठाणं, गुणिते इमे होंति संजोगा ॥ ३५० ॥

उपरितनैर्गुणकारैस्तस्य तस्य प्रतिराशीकृतस्य क्रमेण गुणन कर्त्तव्यम्, गुणने च कृतेऽधस्तनैर्भागहारैर्भागो हर्त्तव्य, भागे च हृते यल्लभ्यते तैर्विवक्षितस्य त्रिकसयोगाऽऽदेर्भङ्गा । एतच्च तावत्कर्त्तव्य यावदाद्यिममङ्कस्थानम्, तत्रैवमुपरितनैर्गुणकारैः गुणिते, उपलक्षणमेतत्-अधस्तनैर्भागहारैर्भागे हृते इमे वक्ष्यमाणसख्याका क्रमेण सयोगा एककद्विकाऽऽदिसयोगभङ्गा भवन्ति ।

तानेवाऽऽह-

दस चेव य पणयाला, वीसालसय च दोस दसअहिया ।
दोण्णि सया बावण्णा, दसुत्तरा दोण्णि उ सया उ ॥ ३५१ ॥
वीसालसयं पणया-लीसं दस चेव होंति एक्को य ।
तेवीसं च सहस्सं, अहुव अणेगाउ नेयाओ ॥ ३५२ ॥

एककसंयोगे दश भङ्गा, द्विकसयोगे पञ्चचत्वारिंशत् ४५ एते प्रागेव भाविताः । त्रिकसयोगे ( वीसालसय चेति ) विंशत्युत्तर शतम् । तच्चैवम्-पञ्चचत्वारिंशत् अष्टकेन [illegible] जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६० । तेषां त्रिकेनाऽधस्तनेन भागे हृते लब्ध विंशतिशतम् १२० । चतुष्कसयोगे भङ्गकानां द्वे शते दशाऽधिके २१० । तथाहि-त्रिकसयोगे लब्धं शत प्रतिराशीक्रियते, प्रतिराश्योपरितनेन सप्तकेन गुण्यते, जातान्यष्टौ शतानि चत्वारिंशदधिकानि ८४० । एतेषामधस्तनेन चतुष्केण भागो ह्रियते, लब्धे द्वे शते दशोत्तरे । एव सर्वत्र भावना कार्या । पञ्चकसयोगे भङ्गकानां द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२ । षट्कसयोगे भङ्गकाना दशोत्तरे द्वे शते २१० । सप्तकसयोगे विंशत्युत्तरं शतम् १२० । अष्टकसयोगे पञ्चचत्वारिंशत् ४५ । नवकसयोगे दश १० । दशकसयोगे एकः । सर्वसख्यया भङ्गानां त्रयोविंशत्यधिक सहस्रम् । ( अहुवा ) अथवा-अनेका इतोऽप्यतिप्रचुरसख्याकाः प्रतिसेवनाः ज्ञातव्याः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-एता हि अनन्तरोदिताः प्रतिसेवना सामान्यत उक्ताः, तत एता एव भूय उद्घातविशेषणविशिष्टा ज्ञातव्याः, एता एव चानुद्घातविशेषणविशिष्टाः । तदनन्तरमनेका उद्घातानुद्घातसयोगविकल्पतः, तत सर्वा अपि पिण्डीकृत्य मूलगुणोत्तरगुणापराधाभ्या गुणयितव्याः । ततो दर्पकल्प्याभ्यामेवानेका भवन्ति । अथवा-अनेकप्रतिसेवनाऽऽनयनार्थमय त्रिंशत्पदाऽऽत्मिका रचना कर्त्तव्या-मासिकम् १ । पञ्चदिनातिरेकमासिकम् २ । दशदिनातिरेकमासिकम् ३ । पञ्चदशदिनातिरेकमासिकम् ४ । विंशतिदिनातिरेकमासिकम् ५ । भिन्नमासातिरेकमासिकम् ६ । एवं द्वैमासिकत्रैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकेषु प्रत्येक षट् षट् स्थानानि वेदितव्यानि पञ्चषट्कानि त्रिंशत् । एतेषु च त्रिंशतिपदेषु करणमनन्तरोदित प्रवर्तयितव्यम् । तत्र सर्वेषामागतफलानामेकत्र सपिण्डनेनेय सूत्रसख्या " कोडिसय सत्ततीस, ' ' ' (?, च होंति लक्खाइं । पञ्चालीससहस्सा, अट्ठसया अहियतेवीसा ॥ १ ॥ " एता अपि सामान्यतः प्रतिसेवना उक्ताः, तत एता एवोद्घातविशेषणविशिष्टा ज्ञातव्याः, तदनन्तरमेता एवानुद्घातविशेषणविशिष्टाः, ततोऽनेकानुद्घातसंयोगतः, तत सपिण्ड्य मूलोत्तरापराधाभ्यां गुणयितव्याः, तदनन्तर दर्पकल्पाभ्याम् । एवमनेका प्रतिसेवना । व्य० १ उ० २ प्रक० ।

(१२) आलोचनां श्रुत्वा प्रायश्चित्त यथा दद्यात्-

सो ववहारविहिण्णू, अणुमज्जित्ता सुतोवदेसेणं ।
सीसस्स देइ आणं, तस्स इमं देहि पच्छित्त ॥ ६३१ ॥

स आलोचनाऽऽचार्यो व्यवहारविधिज्ञ कल्पव्यवहाराऽऽत्मके छेदश्रुते अनुमज्ज्य पूर्वापरपर्यालोचनेन श्रुततात्पर्यनिमग्नो भूत्वा श्रुतोपदेशेन रागद्वेषतोऽन्यथा तस्य पूर्वप्रेषितस्य स्वशिष्यायाऽऽज्ञा ददाति-यथा गत्वा तस्येद प्रायश्चित्त देहि ।

किं तदित्याह-

पढमस्स य कज्जस्स य, दसविहमालोयणं निसामेत्ता ।
नक्खत्ते भे पीडा, सुक्के मास तवं कुणसु ॥ ६३२ ॥

प्रथमस्य कार्यस्य दर्पलक्षणस्य सम्बन्धिनीं दर्पाऽऽदिपदभेदतो दशविधां दशप्रकारामालोचनां निशम्याऽऽकर्ण्य परिभावित,यथा नक्षत्रशब्देन मासः सूचित, मासे मासप्रमेये प्रायश्चित्तविषये ( मे ) भवतः पीमा अनवद्रूपीमा कल्प्याऽऽदिषट्कपीडा वा आसीत् । साऽपि च ( सुक्कं त्ति ) शुक्ले इति सांकेतिकी संज्ञेति बुद्ध्याऽतीत मास तपः कुर्यात् ।

यदि चातुर्मास षण्मास वा लघुप्रायश्चित्तमापन्नो भवेत्, तदेव कथयति-

पढमस्स य कज्जस्स य, दसविहमालोअणं निसामेत्ता ।
नक्खत्ते मे पीडा, चउमासतवं कुणसु सुक्के ॥६३३॥
पढमस्स य कज्जस्स य, दसविहमालोयणं निसामेत्ता ।
नक्खत्ते मे पीला, छम्मासतवं कुणसु सुक्के ॥६३४॥

गाथाद्वयमपि व्याख्यातार्थम् ।

एवं ता उग्घाए, अणुग्घाएँ ताणि चेव किण्हम्मि ।
मासचउमासछम्मा-सियाणि छेयं अतो वुच्छं ॥६३५॥

एवमुक्तेन प्रकारेण तावत् उद्घाते लघुरूपे मासचतुर्मासषण्मासलक्षणे प्रायश्चित्ते समापतितेऽभिहितम् । अनुद्घाते गुरुके समापतिते तान्येव मासचतुर्मासषण्मासानि " किण्हम्मि " इत्यनेन पदेन विशेषितानि वक्तव्यानि ।

तद्यथा-

" पढमस्स य कज्जस्स य, दसविहमालोयण निसामेत्ता ।
नक्खत्ते मे पीला, किण्हे मास तव कुज्जा ॥ १ ॥
पढमस्स य कज्जस्स य, दसविहमालोयण निसामेत्ता ।
नक्खत्ते मे पीला, चउमासतवं कुणसु किण्हे ॥ २ ॥
पढमस्स य कज्जस्स य, दसविहमालोयण निसामेत्ता ।
नक्खत्ते मे पीला, छम्मासतव कुणसु किण्हे ॥ ३ ॥

( छेय अतो वोच्छं ति ) अत पर छेदम् । उपलक्षणमेतत्-मूलाऽऽदिक च वक्ष्ये ।

तदाह-

छिंदंतु व मे भाणं, गच्छंतु व तस्स साहुणो मूलं ।
अव्वावडा व गच्छे, अव्विइया वा पविहरंतु ॥६३६॥

वाशब्दो विकल्पने । अथवा-यदि छेदप्रायश्चित्तमापन्नो भवति तदेव सदिशति-भवन्तो भाजन छिन्दन्तु ।

अत्र विशेषव्याख्यानार्थमिद गाथाद्वयमाह-

"भाणंऽगुल पणगे दस-राएँ तिभाग अद्ध पण्णरसे ।
वीसाएँ तिभागूणं, छब्भागूण तु पणवीसा ॥१॥
मासचउमासछक्के, अंगुल चउरो तहेव ७ चेव ।
एए छेयवियप्पा, नायव्वा जह कमेणं तु ॥२॥ "

पञ्चके पञ्चरात्रिंदिवप्रमाणे छेदे समापन्ने एव सदेशं कथयति-भाजनरूपस्याङ्गुलपञ्चभाग छिन्दन्तु । दशरात्रे च छेदे समापतिते त्रिभागमङ्गुलस्य भाजन छिन्दन्तु । पञ्चदशे पञ्चदशरात्रे छेदे अर्द्धमङ्गुलस्य । विंशतौ विंशतिरात्रिन्दिवच्छेदे त्रिभागोनमङ्गुलम् । पञ्चविंशतौ पञ्चविंशतिरात्रिन्दिवच्छेदे षड्भागोनमङ्गुलम् । मासे मासप्रमाणे छेदे प्राप्ते परिपूर्णमेकमङ्गुलम् । चतुर्मासे चत्वार्यङ्गुलानि । षण्मासे षडङ्गुलानि छेद्यानि सदिशन्ति । एवमेते यथाक्रमेण छेदविकल्पाः सदेशा ज्ञातव्याः ।

( गच्छंतु व तस्स साहुणो मूलमिति ) यदि मूल प्रायश्चित्तमापन्नो भवति तदेव संदिशति-योऽन्यो दूरे साधुर्गच्छाधिपतिर्विहरति तस्य मूल समीप गच्छन्तु, तस्य समीप गत्वा मूल प्रायश्चित्त प्रतिपद्यतामिति भाव । ( अव्वावडा व गच्छे इति ) अथानवस्थाप्य प्रायश्चित्तमापन्नस्तत एव कथयति सदेशं-यथा गच्छे अव्यापृता भवत, किञ्चित् काल गच्छस्य वर्तमानिकामवहन्तस्तिष्ठन्तु ( अव्विइया वा पविहरंतु इति ) पाराञ्चिता प्रायश्चित्ताऽऽपत्तौ पुनरेव सदिशति-किञ्चित्कालमद्वितीयका एकाकिनः प्रविहरन्तु । तदेव दर्पेणाऽऽसेविते प्रायश्चित्तम् ।

अधुना कल्प्ये यतनया सेविते प्राऽऽह-

विइयस्स य कज्जस्स य, तहियं चउवीसतिं निसामेत्ता ।
नमुक्कारे आउत्ता, भवंतु एवं भणिज्जासि ॥६३७॥

द्वितीयस्य कार्यस्य कल्प्यलक्षणस्य सम्बन्धिनीं चतुर्विंशतिं निशम्याऽऽकर्ण्य तत्रैवं सदिशति-नमस्कारे भवन्त आयुक्ता भवन्तु, एव भणेत ब्रूयात् ।

एवं गंतुण तहिं, जहोवएसेण देहि पच्छित्तं ।
आणाएँ एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं ॥६३८॥

एवमुक्तप्रकारेणाऽऽचार्यवचनमुपगृह्य तत्र गच्छे यथोपदेशेन ददाति प्रायश्चित्तम् । एष आज्ञया व्यवहारः पुरुषैर्भणितः ।

एसाऽऽणाववहारो, जहोवएसं जहक्कमं भणितो (६३९)

एष आज्ञाव्यवहारो यथोपदेशं यथाक्रम भणितः कथितः।व्य० १ उ० २ प्रक० ।

( १३ ) सप्रति तेषां चातुर्मासिक प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत्-

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा सातिरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा सातिरेगपंचमासियं वा एतेसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं० जाव पुव्वं पडिसेविय पच्छा आलोइयं० जाव पलिउंचिएमाणस्स सव्वमेयं सगयं साहणियं० जाव आरुहियव्वे सिया ॥२०॥ जे भिक्खू बहुसो चाउम्मासियं वा० एवं तं चेव आरुहियव्वे सिया ॥ २१ ॥

इद सूत्र परिहारप्रायश्चित्ततप प्रतिपादकमतस्तद्विधेयमाह--( ठवणिज्ज ठवइत्ता इत्यादि ) य. परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्तस्य परिहारतपोदानार्थं सकलसाधुसाध्वीजनपरिज्ञानाय सकलगच्छसमक्ष निरुपसर्गप्रत्ययं कायोत्सर्गः पूर्वं क्रियते, तत्क्षणानन्तर च गुरुर्ब्रूते-अह ते कल्पस्थितोऽय च साधुरनुपरिहारकः, ततः स्थापनीयं स्थापयित्वा एतेन सह नाऽऽचरणीयं तत्स्थाप्यते इति स्थापनीय वक्ष्यमाणमालोचनपरिवर्तनाऽऽदि तत सकलगच्छसमक्ष स्थापयित्वा कल्पस्थितेनानुपरिहारिकेण च यथायोगमनुशिष्टयुपालम्भे परिग्रहरूप वक्ष्यमाणवैयावृत्यं करणीयम्, ताभ्या क्रियमाणेऽपि वैयावृत्ये स्थापितेऽप्यालोचनाऽऽदौ कदाचित्किमपि प्रतिसेवित्वा गुरो समीपमुपतिष्ठेत-यथा भगवन् ! अहममुकं प्रायश्चित्तस्थानमापन्न । नत. ( मे त्ति * )

* २०५ गाथामुपजीव्येद सूत्रं व्याख्यायते ।

तदपि कृत्स्नं परिहारतपसि उह्यमाने आरोहयितव्यमातोपणाय स्यात् । स्यादित्यव्ययमत्रावधारणे । आरोहयितव्य केवलं, तत्कृत्स्नमारोहयितव्यमनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन तस्य प्रतिसेवितस्य गुरुसमक्षमालोचनाया चतुर्भङ्गी । तामेवाऽऽह-(पुव्व पडिसेवियमित्यादि ) पूर्वमिति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पूर्वानुपूर्व्येति द्रष्टव्यम । ततोऽयमर्थ -गुरुलघुपर्यालोचनायामानुपूर्व्या लघुपञ्चकाऽऽदिक्रमेण प्रतिसेवित पूर्वं पूर्वानुपूर्व्या, प्रतिसेवनानुक्रमेणेति भावः । आलोचितम् । एष प्रथमो भङ्गः । तथा पूर्वं गुरुलघुपर्यालोचनया पूर्वानुपूर्व्या मासलघुकाऽऽदि प्रतिसेवित, तदनन्तर च तथाविधाल्पप्रयोजनोत्पत्तौ गुरुलघुपर्यालोचनयैव लघुपञ्चकाऽऽदि प्रतिसेवितम् । आलोचनाकाले तु पश्चात् पश्चानुपूर्व्या आलोचितम् । पूर्वं लघुपञ्चकाऽऽद्यालोचित पश्चात् लघुमासाऽऽदीति भाव. । एष द्वितीयो भङ्ग. । तथा पश्चात् अनुपूर्व्या प्रतिसेवित गुरुलघुपर्यालोचनामन्तरेण पूर्वं गुरुमासाऽऽदि प्रतिसेवित पश्चात् लघुपञ्चकाऽऽदीति भावः । आलोचनावेलाया तु पूर्वानुपूर्व्या आलोचित पश्चात् गुरुमासाऽऽदीत्यर्थ । एष तृतीयो भङ्ग. । तथा पश्चादनुपूर्व्या प्रतिसेवित, गुरुलघुपर्यालोचनाविरहतो यथाकथञ्चन प्रतिसेवितमिति भाव । पश्चात् पश्चादनुपूर्व्या आलोचित,प्रतिसेवनाऽनुक्रमेण वाऽऽलोचितम् । अथवा स्मृत्वा स्मृत्वा यथाकथञ्चनाप्यालोचितमित्यर्थ । एष चतुर्थो भङ्गः । इह प्रथमचरमभङ्गावप्रतिकुञ्चनायां, द्वितीयतृतीयभङ्गौ प्रतिकुञ्चनाऽप्रतिकुञ्चनाभ्या चतुर्भङ्गी कृता । तामेवाऽऽह-(अपलिउंचिए अपलिउंचियमित्यादि ) यदा अपराधानापन्न आलोचनाभिमुखस्तदैव कश्चित् सङ्कल्पितवान्-यथा सर्वेऽप्यपराधा मया आलोचनीया । एव पूर्वं सङ्कल्पकाले अप्रतिकुञ्चिते आलोचनावेलायामप्यप्रतिकुञ्चितमालोचयति । एष प्रथमो भङ्ग । तथा पूर्वं संकल्पकाले अप्रतिकुञ्चितम । आलोचनावेलाया तु प्रतिकुञ्चितमालोचयतीत्येष द्वितीयः । पूर्वं सङ्कल्पकाले केनाऽपि प्रतिकुञ्चित यथा मया सर्वेऽपराधा आलोचनीयाः । एव पूर्वं सङ्कल्पकाले प्रतिकुञ्चिते आलोचनावेलाया भावपरावृत्ते. सर्वमप्रतिकुञ्चितमालोचयति । एष तृतीयो भङ्ग । तथा पूर्वं सङ्कल्पकाले केनाऽपि प्रतिकुञ्चित-यथा मया सर्वेऽपराधा आलोचनीया. । तत एव सङ्कल्पकाले प्रतिकुञ्चित आलोचनावेलायामपि प्रतिकुञ्चितमेवालोचयति । एष चतुर्थो भङ्ग । तथा प्रतिकुञ्चितमप्रतिकुञ्चितमालोचयतो वीप्सा कल्प्येन व्याप्ता भवति । ततोऽयमर्थ -निरवशेषमालोचयतः सर्वमेतत् यदापन्नमपराधजातम, यदि वा-कथमपि प्रतिकुञ्चना कृता स्यात्, तत प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नम् । यच्च गुरुणा सहाऽऽलोचनावेलायां ममासेनोल्लाऽऽलननिष्पन्नं, या चाऽऽलोचनाकाले असमाचारी तन्निष्पन्न च, सकलमेतत्स्वयमात्मना अपराधकारिणा कृतं स्वकृतम । (साहणिया इति ) संहृत्य एकत्र मीलयित्वा, यदि सञ्चयेन प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्ततः षाण्मासिक प्रायश्चित्त दद्यात् । यत्पुन षण्मासातिरिक्तं तत्सर्वं क्षोपयेत । अथ मासादिक प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्ततस्तदेवमिति वाक्यशेषः । ( जे एयाए इत्यादि ) यः साधुरेतया अनन्तरोदितया षाण्मासिक्याद्विकया वा प्रस्थापनया प्राक् कृतस्यापराधस्य विषये स्थापना प्रायश्चित्तदानप्रज्ञापना तया प्रस्थापित. प्रायश्चित्तकरणे प्रवर्तितो निर्विशमानस्तत् प्रायश्चित्तमुपभुञ्जान, कुर्वाण इत्यर्थ । यत् प्रमादतो विषयकषायाऽऽदिभिर्वा प्रतिसेवते, ततस्तस्या प्रतिसेवनायां यत्प्रायश्चित्तं सेवते, तदपि कृत्स्नमनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा तत्रैव पूर्वप्रस्थापिते प्रायश्चित्ते आरोहयितव्य स्यात् । वहापयितव्यमित्यर्थ । एष सङ्क्षेपतः सूत्रार्थ ।

व्यासार्थं तु भाष्यकारोवदन्-" जे भिक्खू " इत्यादिसूत्रावयवस्य व्याख्यामतिदेशत आह-

जे चिय सुत्तविनासा, हेट्ठिल्लसुयम्मि वण्णिया एसा ।<br>
स चिय इहं पि नेया, नाणत्तं ठवणपरिहारे ॥३५७॥

यैवैषा सूत्रविभाषा-" जे भिक्खू " इत्यादिसूत्र वयवव्याख्या एकद्विकाऽऽदिसंयोगोपदर्शनरूपा अधस्तनसूत्रे अनन्तरोदितसूत्रे वर्णिता, सैव इहापि अस्मिन्नपि सूत्रे वर्णयितव्या, यदि सैव वर्णयितव्या ततः को विशेष. ? तत आह-नानात्व पूर्वसूत्राद्विशेष स्थापनापरिहारे । व्य० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । ( परिहारतपोव्याख्याऽन्यत्र )

(१४) तत -

एवं च कीरमाणे, अणुसट्ठाईहिँ वेयवच्चए ।<br>
को वि य पडिसेवेज्जा.सेवि य कसिणेऽऽरुहेयव्वो ॥३७५॥

एवमपि यथागममनन्तरोदितेनापि प्रकारेण अनुशिष्ट्यादौ त्रिविधे वैयावृत्ये क्रियमाणे कोऽपि प्रतिसेवेत, प्रायश्चित्तस्थानमापद्येत इति भाव. । (से वि य कसिणेऽऽरुहेयव्वो इति ) तदपि कृत्स्नमारोपयितव्यम् । कृत्स्न नाम निरवशेषम् । एतेन-" ठावए पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया । " इति सूत्रपदं व्याख्यातम् ।

कृत्स्नमित्युक्तम् । तत्र कृत्स्नप्ररूपणार्थमाह-

पडिसेवणा य संचय, आरुवण अणुग्गहे य बोधव्वे ।<br>
अणुघाय निरवसेसं,कसिणं पुण छव्विहं होइ ॥३७६॥<br>
पारंचियमासीयं, छम्मासा रुवण छद्दिणगएहिं ।<br>
कालगुरु निरंतर वा,अणुणमहियं जवे छट्ठ ॥ ३७७ ॥

अनयोर्गाथयोर्यथासङ्ख्येन पदयोजना । सा चैवम्-कृत्स्न,पुनःशब्दो वाक्यभेदार्थः,स च वाक्यभेद एवम्-वैयावृत्ये क्रियमाणे प्रतिसेवते ततस्तत् कृत्स्नमारोपयेत् । तत पुनः कृत्स्न षड्विध षट्प्रकार भवति । तद्यथा-प्रतिसेवने प्रतिसेवनाकृत्स्नम्, एव सञ्चयकृत्स्नम, आरोपणाकृत्स्नम, अनुग्रहकृत्स्नम्, अनुद्घातकृत्स्नम, निरवशेषकृत्स्नमिति । तत्र पाराञ्चित प्रतिसेवनाकृत्स्नम, ततः परस्यान्यस्य प्रतिसेवनास्थानस्यासम्भवात् । संचयकृत्स्नमशीतं मासशत, तत. परस्य सञ्चयस्याभावात । आरोपणाकृत्स्नम्-षाण्मासिक, तत परस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे आरोपणस्याभावात । अनुग्रहकृत्स्नम्-यत षण्णां मासानामारोपितानां षट् दिवसा गतास्तदनन्तरमन्यान् षण्मासानापन्नस्ततो यत् अव्यूढ तत्समस्त क्षोषित पश्चाद् यदन्यत् षाण्मासिकमापन्नस्तद्वहति । तथा चाऽऽह-(छद्दिणगएहिं ति ) अत्र तृतीया सप्तम्यर्थे । पूर्वषण्माससम्बन्धिषु षट्सु दिनेषु गतेषु यदन्यत् षाण्मासिकमारोपितमुह्यते , यत्र यस्मात् पञ्चमासाश्चतुर्विंशतिदिवसाआरोपितास्तत एतद्-

नुग्रहकृत्स्नम् । अनुग्रहकृत्स्नग्रहणेन निरनुग्रहकृत्स्नमपि सूचित द्रष्टव्यम् । तच्चैवं भावनीयम्-षण्मासे प्रतिस्थापिते पञ्च मासाश्चतुर्विंशतिदिवसा व्यूढाः, तदनन्तरमन्यत् षाण्मासिकमापन्नस्तद्वहति पूर्वषण्मासस्य षट् दिवसा झोषिताः । अनुद्धातकृत्स्नम्-यत् कालगुरु,यथा मासगुरुकाऽऽदि । अथवा-निरन्तरं दानमनुद्घातकृत्स्नम् । अत्र मासलघुकाऽऽद्यपि निरन्तरं दीयमानमनुद्घातमवसातव्यम् । यदि वा-अनुद्घात त्रिविधम् । तद्यथा-कालगुरु, तपोगुरु, उभयगुरु च । तत्र कालगुरु नाम-यत् ग्रीष्माऽऽदौ कर्कशे काले दीयते । तपोगुरु यदष्टमाऽऽदि दीयते । निरन्तरं वा,उभयगुरु-यत् ग्रीष्माऽऽदौ काले निरन्तरं च दानम् । निरवशेषकृत्स्नं नाम-यदापन्नं तत्सर्वमन्यूनमनतिरिक्तं दीयते ।

अथाऽत्र कतमेन कृत्स्नेनाऽऽरोपयितव्यम् ?। उच्यते-

एत्तो समारुहेज्जा, अणुगहकसिणेण चिण्णसेसम्मि ।

आलोयणं सुणेत्ता, पुरिसज्जायं च विण्णाय ॥ ३८८ ॥

"एत्तो" इति प्राकृतशैलीवशात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । अमीषां षण्णां कृत्स्नानां मध्ये अनुग्रहकृत्स्नेन प्रागारोपितस्य चीर्णशेषेषु दिवसेषु आरोपयेत् । किं कृत्वा अनुग्रहकृत्स्नेनाऽऽरोपयेत् ?, इत्यत आह-आलोचनां हा दुट्टु कृतमित्यादिनिन्दनपुरस्सरं,श्रुत्वा आकर्ण्य, तथा पुरुषजातं धृतिसंहननाभ्यां दुर्बलं विज्ञाय । इयमत्र भावना-यदि षण्मासानापन्नो धृतिसंहननाभ्यां दुर्बलस्ततस्ते अनुग्रहकृत्स्नेन दीयन्ते । अथ तीव्राध्यवसायेन प्रतिसेवितं, रागद्वेषाध्यवसायकलुषितेन वाऽऽलोचितं, धृतिसंहननाभ्यां च दुर्बलः,ततस्ते निरनुग्रहकृत्स्नेनाऽऽरोप्यन्ते, षट्सु दिवस ( ? ) मारोप्यते इति भावः ।

संप्रति प्रतिसेवनाऽऽलोचनाविषयचतुर्भङ्गिकाप्ररूपकसूत्रम्-"पुव्वं पडिसेवियं ।" इत्यादि व्याख्यानयति-

पुव्वाणुपुव्वि दुविहा, पडिसेवणए तहेव आलोए ।

पडिसेवण आलोयण,पुव्विं पच्छा व चउभंगो ॥ ३८९ ॥

सूत्रे पूर्वमिति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पूर्वानुपूर्वीति प्रतिपत्तव्यम् । पूर्वानुपूर्वी नाम-अनुपरिपाटिः । सा द्विविधा । तद्यथा-प्रतिसेवने, तथैव आलोचे-आलोचनायाम् । तत्र प्रतिसेवने,आलोचनायां च पूर्वे पश्चादितिपदाभ्यां चतुर्भङ्गी । सा च यथा सूत्रे तथा उच्चारयितव्या । परं सूत्रे पूर्वशब्दः पश्चाच्छब्दश्च साक्षादुपात्तः, पूर्वशब्दश्च पूर्वानुपूर्वीवाचक , पश्चाच्छब्दश्च पश्चादनुपूर्व्यभिधायी । तत एव भङ्गोच्चारणं द्रष्टव्यम्-पूर्वानुपूर्व्या प्रतिसेवितं पूर्वानुपूर्व्या आलोचितम् १। पूर्वानुपूर्व्या प्रतिसेवितं पश्चादानुपूर्व्या आलोचितम् २। पश्चादानुपूर्व्या प्रतिसेवित, पूर्वानुपूर्व्या आलोचितम् ३। पश्चादानुपूर्व्या प्रतिसेवितं, पश्चादानुपूर्व्या आलोचितम् ४।

चतुर्भङ्गीभावनार्थमेवाऽऽह-

पुव्वाणुपुव्वि पढमो, विवरीए बिइयतइयए गुरुगो ।

आयरियकारणा वा, पच्छा पच्छा व सुद्धो उ ॥ ३९० ॥

या पूर्वानुपूर्वी प्रतिसेवनायामालोचनायां च, एष प्रथमो भङ्गः । अस्य चेयं भावना-गीतार्थः कारणे समुत्पन्ने सति लघुगुरुपर्यालोचनापुरस्सरं लघुगुरुपञ्चकाऽऽदियतनया प्रतिसेवते, एषा प्रतिसेवनाऽनुपूर्वी । तदनन्तरं गुरुसकाशे यत् यथा प्रतिसेवितं तत्तथैवाऽऽलोचयति,एषा आलोचनाऽनुपूर्वी ।(विवरीए बिइय तातिय त्ति ) यथाक्रममुत्तरपूर्वयोः पदयोर्विपरीते,भावप्रधानोऽयं निर्देशः । वैपरीत्ये, द्वितीयतृतीयभङ्गौ पूर्वानुपूर्व्या प्रतिसेवितं पश्चादानुपूर्व्या आलोचितमिति द्वितीयः । पश्चादानुपूर्व्या प्रतिसेवितं पूर्वानुपूर्व्या आलोचितमिति तृतीय इति भावः । तत्र द्वितीयभङ्गकभावना पूर्वं लघुगुरुपर्यालोचनेन लघुगुरुमासाऽऽदिक्रमेण यतनया प्रतिसेवितम्, तदनन्तरं तथाविधकारणोत्पत्तौ लघुगुरुपञ्चकाऽऽदि, आलोचनावेलायां प्रथमतो लघुगुरुपञ्चकाऽऽदि कथयति,पश्चात् मासाऽऽदि । कस्मादेवं कथयतीतिचेत् ?। उच्यते-आशङ्कासम्भवात् । तथाहि-यदि मासाऽऽदि कथयिष्यामि पूर्वं पश्चात्पञ्चकाऽऽदि,तत एव गुरूणां चित्ते स्थास्यति-यथा एषोऽयतनया प्रतिसेवी, कथमन्यथाऽसौ माऽऽसाऽऽदि प्रथमतः प्रतिसेवितवान् । ततोऽयतनानिष्पन्न च द्वे प्रायश्चित्ते मह्य दास्यन्ति पूर्वानुपूर्व्या प्रतिसेवते, पश्चादानुपूर्व्या आलोचयति । तृतीयभङ्गे त्वियं भावना-पूर्वं गुरुलाघवचिन्ताविकलतया प्रथमतो गुरुमासाऽऽदीनि प्रतिसेवितानि, तदनन्तरं गुरुपञ्चकाऽऽदीनि;आलोचनावेलायां तु पूर्वं लघुपञ्चकाऽऽदीनि कथयति, तदनन्तरं गुरुमासाऽऽदीनि । मा मह्यमयतनया प्रतिसेवनाकारीति ज्ञात्वा अयतनानिष्पन्नं प्रतिसेवनानिष्पन्नं चेति प्रायश्चित्तद्वयं दद्युरिति बुद्ध्या । अथवा-एवमालोचयन्तं श्रुत्वा गुरवो ज्ञास्यन्ति-एष महानुभावो यतनया प्रतिसेवितवान्, ततो न प्रायश्चित्तप्राप्तिरिति न मह्यं प्रायश्चित्तं वा दास्यन्ति । ततो द्वितीयभङ्गे तृतीयभङ्गे च यदापन्न तद्दीयते, मायां च कृतवानिति मायानिष्पन्नो गुरुक इति गुरुमासोऽधिको दीयते । अथवा-"पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइय ।" इत्यत्र न पूर्वशब्दः पूर्वानुपूर्व्यभिधायी, नापि पश्चाच्छब्दः पश्चादानुपूर्वीवाचकः, किं तु प्रसिद्धार्थप्रतिपादकः । ततोऽयमर्थः-पश्चात् प्रतिसेवते पूर्वं प्राक् आलोचयति । एष भङ्गः कथं भवतीति चेत् ?। अत आह-( आयरियकारणा वा इति ) वाशब्दस्तृतीयभङ्गस्य प्रकारान्तरताख्यापनार्थः । आचार्यकारणात्, उपलक्षणमेतत् अन्यस्माद्वा कारणात्-पश्चात्प्रतिसेवते पूर्वमालोचयति । इयमत्र भावना-आचार्याऽऽदिकारणतोऽन्यग्रामं गन्तुकामः । यदि वा-कारणान्तरे समुत्पन्ने सति विकृतिमाहारयितुकाम आचार्यं विज्ञपयति-इच्छामि भदन्त ! युष्माभिरनुज्ञातः सन् एतेन कारणेन अमुकां विकृतिमेतावन्तं कालमाहारयितुमिति । एवं पूर्वमालोचना पश्चात्प्रतिसेवनोपजायते । अथवाऽयं तृतीयो भङ्गः शून्य एव द्रष्टव्यः, तथाऽनुज्ञायामपि कृतायां प्रतिसेवनानन्तरं भूय आलोचनात् । तथा चाऽऽह-( पच्छा व सुद्धो त्ति ) पश्चात्प्रतिसेवना, पूर्वमालोचनेति शून्य एव भङ्गः,तुरेवकारार्थः ।

तत्र यदुक्तम्-" पुव्वाणुपुव्वि पढमो" इत्यस्य व्याख्यानमाह-

पच्छित्तऽणुपुव्वीए, जयणापडिसेवणाएँ अणुपुव्वी ।

एमेव वियडणाए, वितियतइयमाइणो गुरुगो ॥ ३९१ ॥

गुरुलघुपर्यालोचनया प्रायश्चित्तानुपूर्व्या प्रायश्चित्तानुपरिपाट्या, गुरुलघुपञ्चकाऽऽदिक्रमेणेत्यर्थः । यद् यतनया प्रतिसेवितमेषा प्रतिसेवनायामानुपूर्वी । एवमेव यथैव प्रतिसेवितवान् तथैव यत् आलोचयति, एषा विकटनायामानुपूर्वीति । द्वितीयतृतीयभङ्गयोः पुनर्यदापन्न तावन्नियमतो दीय-

ते केवल मायिनो मायाविनस्तौ भङ्गाविति द्वयोरपि भङ्गयोरधिको गुरुको मासो दीयते ।

साम्प्रतमनयोरेव भङ्गयोर्भावनामाह-

पुव्वं गुरूणि पडिसे-विऊण पच्छा लहूणि सेवित्ता ।
लहुए पुव्वं कहए, मा मे दो देज्ज पच्छित्ते ॥ ३७२ ॥

अत्र द्वितीयभङ्गभावनाया गुरुशब्दो बृहदभिधायी लघुशब्दोऽल्पवाचकः । ततोऽयमर्थः-पूर्वं गुरूणि लघुमासिकाऽऽदीनि प्रतिसेव्य पश्चात् लघूनि लघुपञ्चकाऽऽदीनि प्रतिसेवते । प्रतिसेव्य च तदनन्तरमालोचनवेलायां लघुकानि लघुपञ्चकाऽऽदीनि कथयति, पश्चाल्लघुमासकाऽऽदीनि । कस्मादेवं कथयतीति चेत् ?, अत आह-( मा मे इत्यादि ) पूर्वं मासलघुकाऽऽदिकथने अयतनया प्रतिसेवितमेतत् गुरुणा ज्ञायेत, ततो द्वे प्रायश्चित्ते गुरुर्दद्यात्-अयतनानिष्पन्नं,प्रतिसेवनानिष्पन्नं च । तस्मात् मा मे द्वे प्रायश्चित्ते दद्यादिति पूर्वं लघुपञ्चकाऽऽदि कथयति । तृतीयभङ्गभावनाया इयं व्याख्या-गुरुलघुपर्यालोचनामन्तरेण गुरूणि मासगुरुकाऽऽदीनि प्रतिसेव्य पश्चाल्लघूनि लघुपञ्चकाऽऽदीनि प्रतिसेवते,प्रतिसेव्य च पूर्वं लघुकानि लघुपञ्चकाऽऽदीनि कथयति, पश्चात् गुरुमासाऽऽदीनि । कस्मादेवं कथयतीति चेत् ?, अत आह-" मा मे " इत्यादि पूर्ववत् ।

अथ वा इय तृतीयभङ्गे विशेषतो भावना-

अहवा जयपडिसेवि, त्ति नेव दाहंति मज्झ पच्छित्तं ।
इय दो मज्झिमभंगा, चरमो पुण पढमसरिसो उ ॥ ३७३ ॥

अथ वेति प्रकारान्तरे, यतनया प्रतिसेवी प्रतिसेवनाकारीति ज्ञात्वा नैव मम दास्यन्ति प्रायश्चित्तम् । उपलक्षणमेतत्-स्वल्पं वा दास्यन्ति प्रायश्चित्तमिति हेतोरुक्तेन प्रकारेण कथयति । तत इति एवममुना प्रकारेण द्वौ मध्यभङ्गौ द्वितीयतृतीयभङ्गौ, मायाविन इति शेषः । चरमः पुनर्भङ्गः पश्चादानुपूर्व्या प्रतिसेवितं पश्चादानुपूर्व्याऽऽलोचितमित्येवंरूपः प्रथमसदृशः । यथा प्रथमे भङ्गे यथैव प्रतिसेवना तथैवाऽऽलोचनेत्यमायाविनः स भङ्गः,तथा चरमभङ्गेऽपि प्रतिसेवनाक्रमेणाऽऽलोचना मायाया अभावतोऽन्यथैवेत्येषोऽप्यमायिन एवेति प्रथमसदृशश्चरमभङ्गः । तदेवं यत् प्रथमचरमभङ्गावमायाविनो, द्वितीयतृतीयभङ्गौ प्रतिकुञ्चनावामन. प्रतिकुञ्चनाप्रतिकुञ्चनाविषयचतुर्भङ्गीसूत्रखण्डम् " अपलिउंचिय " इत्यादि ।

एतद् व्याख्यानार्थमाह-

पलिउंचण चउभंगो, वाहे गोणी य पढमतो सुद्धो ।
त चेव य मच्छरिते, सहसा पलिउंचमाणे उ ॥ ३७४ ॥

प्रतिकुञ्चनमधिकृत्य विधिप्रतिषेधाभ्यां चतुर्भङ्गी गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । सा चतुर्भङ्गी यथा सूत्रे तथोच्चारणीया । तद्यथा-अप्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम्,अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम्, प्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम्, प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम्, अस्यां च चतुर्भङ्ग्यां व्याधो, गोणी, चशब्दात् भिक्षुकी च दृष्टान्तः । तत्र व्याधदृष्टान्तोऽयम्-"जहा कोवि वाहो कस्सइ ईसरस्स कयवित्तीतो मंसं उवणेइ । अन्नया सो वाहे मंसं सुंदरं घेत्तु ईसरसमीवे संपट्ठिओ । चिंतेइ य-इमस्स सव्वं मंसं दायव्वं ति । पत्तो ईसरसमीवं, तेण आसट्ठो,सागतं सुस्सागतं उवविसाहि त्ति । वाहेण तुट्ठेण सव्वं मंसं दिन्नं । एवं कोइ सावराहो आलोइयकामो आयरियसगासं पट्ठितो, चिंतेइ य-सुहुमबायरा सव्वे अइयारा मए आलोइयव्वा इति । पत्तो आयरियसमीवं, आयरिएण सुट्ठु आढाइतो धण्णो सि तुमं, सपुण्णो सि तुमं जं दुक्करं जं सम्मं आलोएसि । ततो तुट्ठेण सव्वं जहा विहियं पडिसेवियमालोइयं ।" इह चिन्तावेलायामप्रतिकुञ्चितमालोचनावेलायामप्रतिकुञ्चितमिति प्रथमभङ्गः शुद्धः । ( त चेव य मच्छरिते इत्यादि ) यथैव प्रथमभङ्गे व्याधोदाहरणं व्याधस्याऽऽगमनं तथैव द्वितीयभङ्गेऽपि वक्तव्यम् । नवरमप्रतिकुञ्चनया व्याध आगत इति वक्तव्यमित्यर्थः । तद्यथा-" वाहो सुंदरं मंसं घेत्तुं ईसराभिमुहं संपट्ठितो, चिंतेइ य-सव्वं मंसं इमस्स दायव्वं ति । पत्तो ईसरसमीवं ।" तेन च केनापि कारणेन अकारणे वा सहसा पूर्वापरमपर्यालोच्य मत्सरिणो, मत्सरत्वमेवोपदर्शितो, यथा किमिति त्वमुत्सूरे समागतः ?, इति ।

खरंटणाभीतो रुट्ठो, सक्कार देंति ततियएऽवेमं ।
जिमवुणि वाह चउत्थो,सहसा पलिउंचमाणे उ ॥ ३७५ ॥

स उक्तप्रकारेण मत्सरितः सन् खरण्टनभीतः-खरण्टनमुपालम्भकारणं निर्भर्त्सनं, तेन भीतः खरण्टनभीतो, रुष्टो रोषं गतवान् । ततस्तेन रुष्टेन प्रतिकुञ्चितं, न सर्वं मांसं दत्तम् । ततस्तस्मिन् सहसा मत्सरिते खरण्टनभीते रुष्टे प्रतिकुञ्चिते द्वितीयभङ्गस्योपनयः कार्यः । स चैवम्-" आलोयगो वि आगतो,पुच्छितो-केण कारणेण आगतो सि ?। भणियं अवराहमालोएउं । आयरिएण खरंटितो-कीस तदा विराहियं, जहा अवराहे पत्तो ?। आलोयगो वा खरंटितो ततो तेण न सम्ममालोइयं ।" इति गतो द्वितीयभङ्गः । तृतीयभङ्गभावनार्थमाह-( सक्कार देंति ततियएऽवेमं ) तृतीयभङ्गे स ईश्वरस्तस्य व्याधस्य सत्कारं कृतवान्, ततः स व्याधस्तस्मै अशेषं समस्तं मांसं ददाति । एषोऽक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-" तइय वाहो संपट्ठितो मंसं घेत्तुं, चिंतेइ य न सव्वं मंसं मए दायव्वं ति । पत्तो ईसरसमीवं । ईसरेण सुट्ठु आढाइतो । तेण से सव्वं मंसं दिन्नं । एवमालोयगो वि संपट्ठितो ताए पडिउ साहु पुच्छइ-अमुगस्स आयरियस्स सगासेण आगतो सि ?। सो भणइ आम । केरिसो सो आयरितो-सुहाहिगम्मो, न वत्ति । तेण भणियं-दुराहिगम्मो । ताहे तेण चिंतियं न सम्मं मए आलोइयव्वं ति । आगतो गुरुसमीवं । तेण सम्ममाढातितो, पुच्छितो य-किमागमणं ?। तेण भणियं-आलोइउं ताहे आयरिएण सुट्ठु उववूहितो-धण्णोसि तुममिच्चादि विभासा । तेण तुट्ठेण सव्वं सम्मं आलोइयं ।" गतः तृतीयो भङ्गः । चतुर्थभङ्गस्य त्वेवं भावना-" सो वाहो मंसं घेत्तु पट्ठितो, चिंतेइ य न सव्वं मंसं मए दायव्वं । एवं पलिउंचिय आगतो । ईसरेण खरंटितो । तेण य खरंटिएण पुव्वपलिउंचियभावेण न सव्वं दिन्नं । एवमालोयगे वि उवणओ कायव्वो ।" सम्प्रति चतुर्ष्वपि भङ्गेषु दृष्टान्तभावना-" जहा गोणी दोहिउकामा पण्हुया आगया, सामिणा उवज्झिया ।" गृहे प्रविशन्ती मधुरभणित्या नाम्ना उपाहूता, आकारिता इत्यर्थः । " ततो हत्थेण पुट्ठा धूमाईहिं य उवग्गाहिया वलिमत्ताए य निउत्ता । भक्खे नियोजिता इत्यर्थः । " ततो सव्वं खीरं पण्हुया ।" एवमालोचकेऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वयमुपनयो भावनीयः ।" बिइया गोणी दोहिउकामा पण्हुया आगया, ताडिया, पिट्टिया वयसाईहिं । ताए न सव्वं खीरं दिण्णं "

एवमालोचकेऽप्युपनयो भावनीयः । " तइया गोणी अदोहेउकामा आगया, सभाए वज्झिमत्ताए निवत्ता सव्व पन्हुया । एवमालोयगे वि विभासा । चउत्थी गोणी अदोहिउकामा आगया, सामिणा पिट्टिया, सत्तर न पन्हुया । " अत्राप्यालोचके तथैवोपनयः । अधुना चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु भिक्षुकीदृष्टान्तो भाव्यते-" काइ वि भिक्खुणी कस्सइ पुव्वपरिचियस्स घर अतिगया । तीए पइरिक्के खोरिय विसियं दिठ । गहियं च, गया निवं ठाए । पच्छा से भावो परिणतो, अप्पेमि त्ति घर गया । तेहिं आढाइया । तुट्ठाए दिण्ण खोरिय । एवमालोयगे वि विभासा । अधा भिक्खुणी कस्सइ पुव्वपरिचियस्स घर गया । तीए पइरिक्के खोरियं चोरियं । चिंतियं च णाए दायव्वं ति घर गया । भा नाढाइया खरंटिया य । इय तीए न दिण्णं । एवमालोयगे विभासा । तइयाए भिक्खुणीए खोरिय गहिय, चिंतिय च-न दायव्व । घर गया । स्वागत सुस्वागतम् च विसाहि त्ति आसणाईहिं आढाइया । तीए दिण्णं । एवमालोयगे वि उवणओ ३ । चउत्थीए भिक्खुणीए गहिय खोरियं । चिंतियं च-णाए न दायव्वं ति घरं गया नाढाइया य । न दिण्णं । एवमालोयगे वि विभासा । " "भिक्खुणि चाइ । " इत्यादिश्चतुर्ष्वपि भङ्गेषु भिक्षुकी व्याधः । उपलक्षणमेतत्-गौश्च दृष्टान्तो भावनीयः । यथा च भिक्षुकाऽऽदिषु त्रिष्वपि दृष्टान्तेषु स्वय भिक्षुकयादौ प्रतिकुञ्चितस्वामिना स्वार्थभ्रंशिना सहसा अनादर, खरण्टना वा कृता, तथा आलोचकेऽपि चतुर्थभङ्गे स्वयं प्रतिकुञ्चत्याचार्येण सहसा कृतोऽनादरः, खरण्टना वा योजनीयेति ।

एतदेव विभावयिषुरिदमाह-

**अप्पलिउंचिय पलिउ-चियम्मि चउरो हवंति भंगा उ ।**
**वाहे य गोणि भिक्खुणि,चउसु वि भंगेसु दिट्ठंता ।३९६।**

अप्रतिकुञ्चित च प्रतिकुञ्चित च अप्रतिकुञ्चितप्रतिकुञ्चित,तस्मिन् । किमुक्तं भवति ?-अप्रतिकुञ्चितप्रतिकुञ्चिताभ्यां चत्वारो भङ्गा भवन्ति, चतुर्ष्वपि भङ्गेषु प्रत्येक व्याधो, गोणी गौर्भिक्षुकी च दृष्टान्ताः ।

**पढमतइएसु पूया, खिंसा इयरेसु पिसियपयखोरे ।**
**एमेव उवणओ खलु, चउसु वि भंगेसु वियमंते ॥३९७॥**

पिसित मांस, पय क्षीर, खोरक वृत्त्याकारो भाजनविशेषः । एतेषा समाहारो द्वन्द्वः । तस्मिन्विषये यथाक्रमं ये व्याधगोभिक्षुकीदृष्टान्तास्तेषा यथा प्रथमे तृतीये च भङ्गे पूजा स्वाम्यादिना कृता, इतरयोस्तु द्वयोर्द्वितीयचरमयोर्भङ्गयो. खिंसा खरण्टना । एवमेव अनेनैव प्रकारेण चतुर्ष्वपि भङ्गेषु विकटयत्यालोचयति खलूपनय. कर्त्तव्यः ।

तत्र व्याधदृष्टान्तमधिकृत्योपनययोजनामाह-

**ईसरसरिसो उ गुरू, वाहो साहू पडिसेवणा मंसं ।**
**नूमणया पलिउंचण, सक्कारो वीलणा होइ ॥ ३९८ ॥**

ईश्वरसदृश ईश्वरस्थानीयो गुरुर्व्याधो व्याधस्थानीय· साधुः, प्रतिसेवनास्थानीय मांसम् । ( नूमणयेति ) देशीपदमेतत् । स्थगनमित्यर्थ. । स्थगनस्थानीया प्रतिकुञ्चना, सत्कारः सत्कारस्थानीया व्रीडता, स्थगनविषये लज्जाऽऽपादन भवतीति । सम्प्रति-" सपलिउंचिय आलोएमाणस्स सव्वमेय सकय साहणिज्जे पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेविते, सेवि कसिणे तत्थेव आरोहेयव्वे सिया ।" इति व्याख्यानयन्नाह-

**आलोयण त्ति य पुणो, जा एसा अकुंचिया उभयतो वि ।**
**सच्चेव होइ सोही, तत्थ य मेरा इमा होति ॥ ३९९ ॥**

( आलोएमाणस्सेति ) किमुक्त भवति ?-आलोचयतः सा पुनरेषा आलोचना या उभयतः-संकल्पकाले आलोचनाकाले च अप्रतिकुञ्चिता-न विद्यते प्रतिकुञ्चित प्रतिकुञ्चन यत्र सा,प्रतिकुञ्चनारहिता इत्यर्थ. । सैव भवति शुद्धि·,उभयत्रापि प्रतिकुञ्चनाया अभावात् । इयमत्र भावना-सकल्पकालेऽप्यप्रतिकुञ्चितमालोचनाकालेऽप्यप्रतिकुञ्चितमालोचयति । यदि वा-उभयत इति प्रतिसेवनाऽनुलोमतः प्रायश्चित्तानुलोमतश्चाप्रतिकुञ्चितमालोचयति । एष एव तत्त्ववृत्त्या शुद्धो, मायालेशस्याप्यभावात् । सा चाऽऽलोचना आचार्यशिष्यभावे भवति । तत्र च शिष्याऽऽचार्याणामिय मर्यादा समाचारी ।

तामेवाऽऽह-

**आयरिए कयसोही, सीहाणुग वसभकोट्टुगाणुगे ।**
**अहवा वि सहावेणं, निम्मसुए मासिया तिथि ॥ ४०० ॥**

आचार्ये आलोचनाऽर्होऽऽचार्यसमीपे यदा आलोचक आलोचनां प्रयुङ्क्ते तदा कथं शुद्धि· । उपलक्षणमेतत्-कथमशुद्धिर्वा भवतीति ?। उच्यते-आचार्यस्त्रिविधः तद्यथा-सिंहानुगो,वृषभानुग·, क्रोष्टुकानुगश्च । क्रोष्टुक. शृगाल· तत्र यो महत्यां निषद्यायां स्थितः सन् सूत्रमर्थं वा वाचयति तिष्ठति वा स सिंहानुगः । यः पुनरेकस्मिन्कल्पे स्थित. सन् वाचयति तिष्ठति वा स वृषभानुगः । यस्तु रजोहरणनिषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा स्थितो वाचयति तिष्ठति वा स क्रोष्टुकानुगत. । इह यदा आचार्य आलोचनाऽर्हो न प्राप्यते तदा वृषभस्यापि पुरत आलोचनाऽऽदेया,तदभावे गीतार्थस्य भिक्षोरपीति वृषभभिक्षू अपि आचार्यवत् सिंहवृषभक्रोष्टुकानुगतया प्रत्येकं त्रिविकल्पौ वाच्यौ । आलोचका अपि त्रिविधाः । तथा-आचार्या वृषभा भिक्षवश्च एकैके त्रिविकल्पा.-सिंहानुगाः,वृषभानुगा·, क्रोष्टुकानुगाश्च । नवर क्रोष्टुकानुगे विशेषः । स यदा निषद्याया पादप्रोञ्छने वा उत्कुटुको वा आलोचयति, तत्र यद्युत्कुटुक. सन् आलोचयति तत· शुद्धिर्निषद्यापादप्रोञ्छनयोस्तु भजनम् । किमुक्त भवति ?-यद्याचार्यो,महान्वा वृषभो,यदि वा भिक्षुरपि ग्लान आलोचयति, आलोचनाऽर्हेण च क्रियतेऽनुज्ञा, तदा शुद्धि·, शेषकालमशुद्धिरिति । ( अहवा वि सभावेण निम्मसुए इति ) अथवा स आचार्यो वृषभो भिक्षुर्वा स्वभावेन, स्व आत्मीयो भाव· स्वभावः, स्वशीलमित्यर्थ. । तेन, क्रोष्टुकानुगो भवेत् । यदि वा-कोऽपि धर्मश्रद्धया निषद्यायामुपवेष्टुं नेच्छति, तस्य किं निषद्या कर्त्तव्या ?, किं वा न कर्त्तव्या ?। उच्यते-भवतु यो वा स वा,नियमेन तस्य निषद्या कृत्वा आलोचकेनाऽऽलोचयितव्यम् , यदि पुनर्न करोति तत प्रायश्चित्तमाप्नोति । अत्र दृष्टान्तो निःश्मश्रुको राजा-" जहा एगो राया निम्मसुओ, तस्स कयविक्री कासवो, सो परिभवेण न कयाइ उवट्ठाति, वालो नत्थि त्ति काउं सो विणासितो । " एवमिहापि यो निषद्यां न करोति स प्रायश्चित्तदण्डेन दण्ड्यते । " अण्णो कासवो कतो, सो सत्तमे सत्तमे दिवसे उवट्ठाइ, सो रण्णा पूइतो ।" एवमिहापि यो नि-

यथा करोति, स विनीतोऽयमिति यश प्राप्नोति । परलोके कर्मक्षपणतः सिद्धिमेति । तत्पुनः प्रायश्चित्तं त्रीणि मासिकानि, तानि च सदृशे सदृशानुगे सदृशानुगस्य पुरत आलोचयति वेदितव्यानि । कथमिति चेत् ? उच्यते-सिंहानुगस्याऽऽचार्यस्य सिंहानुग एवाऽऽचार्ये आलोचयत्येक मासिकम् । वृषभस्य वृषभानुगस्य वृषभ एव वृषभानुगे आलोचयति द्वितीयम् । भिक्षोः क्रोष्टुकानुगस्य भिक्षावेव क्रोष्टुकानुगे आलोचयति तृतीयमिति । एतत्स्वस्थाने प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

इदानीं स्वस्थानपरस्थानज्ञानार्थं स्वस्थानपरस्थानेषु प्रायश्चित्त वक्तुकाम इदमाह-

सट्ठाणाणुग केई, परठाणाणुगा य केइ गुरुवादी ।
सनिसिज्जाए कप्पो, पुंछनिसिज्जाएँ उक्कुडुओ ॥४०१॥

गुर्वादयो गुरुवृषभभिक्षवः केचित्स्वस्थानानुगा, केचित् परस्थानानुगा । तत्र आचार्यस्य सती शोभना निषद्या सन्निषद्या, तस्यां स्थितस्य स्वस्थानानुगतवृषभस्य कल्पे स्थितस्य भिक्षो. पादप्रोञ्छनके निषद्यायां रजोहरणनिषद्यायाम् । यदि वा-यदुक्त-गुर्वादयो गुरुवृषभभिक्षव. । इयमत्र भावना-आचार्यस्य महत्यां निषद्यायामुपविष्टस्य यत् सिंहानुगतत्वमेतत्स्वस्थानम्, वृषभानुगतत्व, क्रोष्टुकानुगतत्व च परस्थानम् । वृषभस्य कल्पेऽवास्थतस्य यत् वृषभानुगत्वमिद स्वस्थानम्, यत्पुनर्महत्या निषद्यायां पादुकोऽवतिष्ठते एषा भिक्षोः स्वस्थानानुगता । इह, प्रोञ्छनकनिषद्यायां चोपवेशनतः सिंहानुगत्वम्, क्रोष्टुकानुगत्व च यत् तत् परस्थानम् । भिक्षो पादप्रोञ्छनके रजोहरणनिषद्यायामुत्कुटुकत्वेनावस्थितस्य यत् क्रोष्टुकानुगतत्व तत् स्वस्थानम्, यत्सन्निषद्यायां कल्पे चोपवेशनत सिंहानुगतत्व, वृषभानुगत्व च तत् परस्थानम् । तत्र सिंहानुगस्याऽऽचार्यस्य सिंहानुगः सन्नाचार्यं आलोचयति एष प्रथम १ । सिंहानुगस्याऽऽचार्यस्य वृषभानुग सन्नाचार्यं आलोचयति एष द्वितीय. २ । सिंहानुगस्याऽऽचार्यस्य क्रोष्टुकानुग सन्नाचार्ये इति तृतीय ३ । ··· (?) वृषभानुगस्याऽऽचार्यस्य सिंहानुग. सन्नाचार्यः आलोचयतीति नवम. ९ ।

एतेषां नवानामाचार्याणामालोचयतां यथासङ्ख्यमिद प्रायश्चित्तम्-

मासो दोन्नि उ सुद्धो, चउ लहु लहुओ य अंतिमो सुद्धो ।
गुरुया लहुया लहुगे, भेया गणिणो नव गणिम्मि ॥४०२॥

गणिन्याचार्ये आलोचनाऽर्हे गणिन आचार्यस्याऽऽलोचकस्य भेदा नव, ते चानन्तरमेवोपदर्शिता. । एतेषा च यथाक्रम प्रायश्चित्तमिदम्-(मासो इत्यादि) सिंहानुगस्याऽऽचार्यस्य पुरत सिंहानुगतया आलोचयन् आचार्यस्य प्रायश्चित्त मासलघु । वृषभानुगतया आलोचयन् द्वौ मासौ । क्रोष्टुकानुगतया आलोचयन् शुद्ध । वृषभानुगस्याऽऽचार्यस्य पुरत सिंहानुगतया आलोचयन् आचार्यस्य प्रायश्चित्त चत्वारो लघवो लघुमासा. । वृषभानुगतया आलोचयतो लघुको मास. । क्रोष्टुकानुगतयाऽऽलोचयन् शुद्ध । क्रोष्टुकानुगस्याऽऽचार्यस्य पुरतः सिंहानुगतयाऽऽलोचयन् आचार्यस्य चत्वारो गुरुका. गुरुमासा, वृषभानुगतयाऽऽलोचयतश्चत्वारो लघुका लघुमासा. । क्रोष्टुकानुगतयाऽऽलोचयतो लघुक एको मास । एष पादप्रोञ्छने रजोहरणनिषद्याया वा क्रोष्टुकानुगालोचनाऽर्हाऽऽचार्यसदृशाऽऽसने उपविष्टस्य वेदितव्य. । यदा पुनरुत्कुटुक. सन्नालोचयति तदा शुद्ध एव । एतानि च प्रायश्चित्तानि तपसा कालेन च गुरुकालेन च गुरुकाणि द्रष्टव्यानि । तथा सिंहानुगवृषभानुगक्रोष्टुकानुगरूपाणा त्रयाणामाचार्याणां भिक्षवोऽप्यालोचका नव, तेषामपि यथाक्रम तान्येव प्रायश्चित्तानि, नवरं तपसा लघूनि कालतो गुरूणि ।

तथा चाऽऽह-

दोहिँ वि गुरूणि एते, गुरुम्मि नियमा तवेण कालेण ।
वसभम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होंति भिक्खुम्मि ॥४०३॥

गुरावाचार्ये आलोचके, जातावेकवचनम्-गुरुषु आचार्येषु आलोचकेषु नवसु नियमादेतानि यथाक्रममनन्तरोदितानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यां गुरुकाणि द्रष्टव्यानि । तद्यथा-तपसा, कालेन च । वृषभे, अत्रापि जातावेकवचनम् वृषभेषु तपसा गुरुकाणि, कालतो लघूनि सामर्थ्यादवसीयते । भिक्षौ, भिक्षुषु कालतो गुरूणि, सामर्थ्यात्तपसा लघूनि भवन्ति । तदेवमालोचनाऽर्हमाचार्यं प्रतीत्याऽऽचार्यवृषभभिक्षुष्वालोचकेषु सप्तविंशतिप्रायश्चित्तस्थानानि प्रतिपादितानि ।

अधुना सिंहवृषभक्रोष्टुकानुगरूपतया त्रयाणामालोचनार्हाणां वृषभाणा ये पूर्वक्रमेणाऽऽचार्या आलोचका नव भवन्ति, तेषां यथासङ्ख्य प्रायश्चित्तमाह-

लहुया लहुओ सुद्धो, गुरुया लहुओ य अंतिमो सुद्धो ।
छल्लहु चउलहु लहुओ, वसभस्स उ नवसु ठाणेसु ॥४०४॥

वृषभस्याऽऽलोचनार्हस्य सिंहानुगाऽऽदिरूपतया त्रिविधस्य नवसु स्थानेषु नवस्वाचार्येषु यथाक्रममिद प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-वृषभस्य सिंहानुगस्य पुरत. सिंहानुगतया आलोचयत आचार्यस्य चत्वारो लघुमासा. । वृषभानुगतया आलोचयतो लघुको लघुमास. । क्रोष्टुकानुगतया आलोचयन् शुद्धः । ···(?) वृषभस्य क्रोष्टुकानुगस्य पुरत सिंहानुगततयाऽऽलोचयत आचार्यस्य प्रायश्चित्त षट् लघवो लघुमासा । वृषभानुगतयाऽऽलोचयतश्चत्वारो लघुमासा. । क्रोष्टुकानुगतयाऽऽलोचतो लघुमास. ।

दोहिँ वि गुरुगा एते, गुरुम्मि नियमा तवेण कालेणं ।
वसभम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होंति भिक्खुम्मि ॥४०५॥

गुरौ नवप्रकारे आलोचयति नियमादेतानि यथाक्रममनन्तरोदितानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यां गुरुकाणि प्रतिपत्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, कालेन च । वृषभस्यैव सिंहवृषभक्रोष्टुकानुगतया त्रिविधस्याऽऽलोचनाऽर्हस्य पुरतो वृषभे नवप्रकारे आलोचयति यथाक्रममनन्तरोदितानि प्रायश्चित्तानि तपसा गुरूणि, सामर्थ्यात् कालतो लघूनि वेदितव्यानि । तथा वृषभस्यैव सिंहवृषभक्रोष्टुकानुगतया त्रिप्रकारस्य पुरतो नवप्रकारे भिक्षावालोचयति यथासङ्ख्यमुक्तानि प्रायश्चित्तानि कालतो गुरूणि, सामर्थ्यात्तपसि लघूनि भवन्ति प्रतिपत्तव्यानि । तदेव वृषभमालोचनाऽर्हं प्रतीत्य नवानामाचार्याणा नवानां वृषभाणां नवानां भिक्षूणामालोचयता प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

इदानीं सिंहवृषभक्रोष्टुकानुगतया त्रयाणामालोचनाऽर्हाणां भिक्षूणां ये पूर्वं क्रमेणाऽऽचार्या आलोचका नव, तेषां प्रायश्चित्तमाह-

चउगुरु चउलहु सुद्धो, छल्लहु चउगुरुग अंतिमो सुद्धो ।
छग्गुरु चउलहु लहुओ, भिक्खुस्स उ नवसु ठाणेसु ॥४०६॥

भिक्षोरालोचनाऽर्हस्य सिंहवृषभक्रोष्टुकानुगतया त्रिविकल्पस्य नवसु स्थानेषु नवस्वालोचकेषु यथाक्रममिदम् । तद्यथा-भिक्षोः सिंहानुगतस्य पुरतः सिंहानुगतया आलोचयत आचार्यस्य चत्वारो गुरुकाः। वृषभानुगतया आलोचयत आचार्यस्य चत्वारो गुरुका । वृषभानुगतया आलोचयतश्चत्वारो लघुका लघुमासाः। क्रोष्टुकानुगतयाऽऽलोचयन् शुद्धः । भिक्षोर्वृषभानुगस्य पुरतः सिंहानुगतया आलोचयत आचार्यस्य षड् लघवो लघुमासाः। वृषभानुगतयाऽऽलोचयतश्चत्वारो गुरुका गुरुमासाः । क्रोष्टुकानुगतयाऽऽलोचयन् शुद्धः । भिक्षोः क्रोष्टुकानुगस्य पुरतः सिंहानुगतयाऽऽलोचयत आचार्यस्य प्रायश्चित्तं षड् गुरवो गुरुमासाः । वृषभानुगतयाऽऽलोचयतश्चत्वारो लघवो मासाः । क्रोष्टुकानुगतयाऽऽलोचयतो लघुमासः, सोऽप्यालोचनाऽर्हः सदृशाऽऽसने सति प्रतिपत्तव्यः । उत्कुटुकस्त्वालोचयन् शुद्धः । एतानि च प्रायश्चित्तानि तपसा कालेन च गुरुकाणि द्रष्टव्यानि । तथा सिंहानुगवृषभानुगरूपाणां त्रयाणामालोचनाऽर्हाणां भिक्षूणां वृषभा अप्यालोचका नव । तेषामपि यथाक्रममून्येव प्रायश्चित्तानि, नवरं तपसा गुरूणि कालतो लघूनि । तथा त्रयाणां सिंहानुगाऽऽदिरूपाणां भिक्षूणामालोचनाऽर्हाणां भिक्षवोऽप्यालोचका नव, तेषामपि यथाक्रममून्येव प्रायश्चित्तानि, नवरं तपसा लघूनि कालतो गुरूणि ।

तथा चाऽऽह-

दोहिँ वि गुरुया एते, गुरुम्मि नियमा तवेण कालेणं ।
वसभम्मि य तवगुरुगा, कालगुरू होंति भिक्खुम्मि ॥४०७॥

गतार्था ।

संप्रति व्याख्या प्रायश्चित्तलक्षणप्रतिपादनार्थमाह-

सव्वत्थ वि सट्ठाणं, अमुंचमाणस्स मासियं लहुयं ।
परठाणम्मि य सुद्धो, जइ उच्चतरो भवे इयरो ॥४०८॥

स्वस्थानं नाम स्वोचितमुपवेशनं तत आलोचयन्नपि यदि न मुञ्चति । ततस्तदमुञ्चतः सर्वत्रापि सर्वेष्वप्याचार्याऽऽदिषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं मासिकं लघु । इयमत्र भावना-यथाऽऽलोचनाऽर्हस्याऽऽचार्यस्य सिंहानुगस्य पुरतः सिंहानुग एव सन्नालोचयति, तथा वृषभस्य वृषभानुगस्य वृषभ एव वृषभानुग आलोचयति, तथा भिक्षोः क्रोष्टुकानुगस्य भिक्षुरेव क्रोष्टुकानुग आलोचयति, तत एतेषु त्रिष्वपि स्थानेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासिकं लघु । एवम्-"भ.सिया निसिज्जं" इत्यादि व्याख्यातम् । परस्थाने च वर्तमानः सर्वत्र शुद्धो यदि नीचतरासनः सन्नालोचयति । इतर आलोचनाऽर्हः पुनरुच्चतरासनो भवेत् । तदेवं विभागतः एकाशीतिविधप्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तुर्गुरु प्रायश्चित्तं, सिंहानुगस्य वृषभानुगीभूयाऽऽलोचयतो मासलघु । सिंहानुगस्य क्रोष्टुकानुगीभूय पादप्रोञ्छने रजोहरणनिषद्यायां वा स्थितस्याऽऽलोचयतो मासलघु । उत्कुटुकः सन् आलोचयन् शुद्धः । वृषभानुगस्य पुरतः सिंहानुगो भूत्वा यद्यालोचयति ततः षड् लघु षड्मासा लघवः प्रायश्चित्तम् । वृषभानुगस्य पुरतो वृषभानुगीभूयाऽऽलोचयतश्चतुर्गुरुश्चत्वारो गुरुमासाः। वृषभानुगस्य क्रोष्टुकानुगीभूयाऽऽलोचयतो मासो लघुमासः । क्रोष्टुकानुगस्य पुरतो यदि सिंहानुगो भूत्वा आलोचयति ततः षड्गुरु षण्मासा गुरवः । क्रोष्टुकानुगतस्य च पुरतो वृषभानुगीभूयाऽऽलोचयतः षड्लघु षण्मासा लघवः । क्रोष्टुकानुगस्य पुरतः क्रोष्टुकानुगीभूयाऽऽलोचयतश्चतुर्गुरु । एतच्च सदृशाऽऽसनपरिग्रहे प्रतिपत्तव्यम् । यदि पुनरुत्कुटुकः सन्नालोचयति तदा शुद्धः ।

अत्रैव व्याख्या प्रायश्चित्तलक्षणमाह-

सव्वत्थ वी समासणे, आलोएंतस्स चउगुरू हुंति ।
विसमासण नीचतरे, अकारणे अविहिए मासो ॥४१०॥

सर्वत्रापि सिंहानुगे वृषभानुगे च समे आसने उपविष्टस्य सत आलोचयतः । किमुक्तं भवति ?-यादृशे आसने निविष्ट आलोचनाऽर्हः, आलोचकोऽपि यदि तादृश एवाऽऽसने उपविष्टः सन्नालोचयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं भवति चतुर्गुरु चत्वारो गुरुमासाः । अत एव प्राक् सिंहानुगस्य पुरतः सिंहानुगस्यैवाऽऽलोचयतो, वृषभस्य पुरतो वृषभानुगस्याऽऽलोचयतः, क्रोष्टुकानुगस्य पुरतः क्रोष्टुकानुगस्य समानाऽऽसनस्याऽऽलोचयतश्चतुर्गुरुकमुक्तम् । अथ विषमेऽधिके आसने स्थितः सन् आलोचयति ततः षड्लघु, षड्गुरवो । तत्र वृषभानुगस्याऽऽलोचयतः षड् लघु । क्रोष्टुकानुगस्य पुरतः सिंहानुगस्याऽऽलोचयतः षड्गुरु । एतद्व्यतिरिक्तमपि सामर्थ्याद्दर्शितम् । तत्र विषमे आसने नीचतरे स्थितः सन्नालोचयति ततः प्रायश्चित्तं मासो लघुमासः । एतच्चाकारणे निषीदतो वेदितव्यम् । कारणे निषीदन् शुद्ध एव । तथा आलोचनाकाले ये शेषा अप्रमार्जनाऽऽदयोऽविधयस्तेष्वपि प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासलघु ।

संप्रति "जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेविते से वि कसिणे तत्थेव आरोवेयव्वे सिया ।" इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह-

मासादी पट्ठविए, जं अन्नं सेवए तयं सव्वं ।
साहणिऊणं मासा, छ दिज्जंत परे झोसो ॥ ४११ ॥

प्रागुक्तया प्रस्थापनया प्रायश्चित्तदानलक्षणया प्रस्थापिते प्रायश्चित्तकरणे प्रवर्तित यदन्यत् मासाऽऽदि स सेवते प्रतिसेवते तत्सर्वं सदृश एकत्र मीलयित्वा षण्मासा दीयन्ते, षण्मासेभ्यः परं तस्य समस्तस्यापि, गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे । झोषः परित्यागः ।

सूत्रे "पट्ठवे" इत्युक्तम् । तत प्रस्थापनाया भेदानाह-

त्वभेदचिन्तायां द्विधा-उद्घाता,अनुद्घाता च । अनेका पुनरियम्-(तवतियमित्यादि) तत्र पञ्चकाऽऽदिषु भिन्नमासान्तेषु परिहारतपो न भवति,किं तु मासाऽऽदिषु,ततो मासिकमेकं तपःस्थानकम् । द्वैमासिकाऽऽदि यावच्चातुर्मासिकमेतद् द्वितीयं तपःस्थानम् । पाञ्चमासिकं षण्मासिकं च तृतीयं तपःस्थानम् । एतान्यपि प्रत्येकं द्विविधानि। तद्यथा-उद्घातानि,अनुद्घातानि च । एतत् तपस्त्रिकम् । ( परियत्तिग ति ) प्रव्रज्यापर्यायस्य पराव र्त्तः, तस्य त्रिकं परिवर्त्तत्रिकम् । तच्च-छेदत्रिकं, मूलत्रिकम्, अनवस्थाप्यत्रिकं च । छेदो द्विधा-उद्घातः, अनुद्घातो वा । पाराञ्चितमेकम् । एतानि यानि त्रयोदश पदानि । एषा पाराञ्चितवर्जा अनेका प्रस्थापना । अथैतानि त्रयोदश पदानि प्रागेवाभिहितानि,किमर्थमिह पुनरुच्चार्यन्ते ? । उच्यते-स्मरणार्थम् । अथवा-यदेतत्प्रस्थापितोऽपि प्रतिसेवते तत् कृत्स्नमनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा आरोप्यते । प्राकृतत्वं त्वनुग्रहकृत्स्नेनैवाऽऽरोपितमिति ज्ञापनार्थम् । इह " अपलिउंचिए " इत्यादि सूत्रम्-"अपलिउंचिए अपलिउंचियं ।" इति प्रथमभङ्गानुगतमुक्तम् । एतच्चोपलक्षणम्-तेन द्वितीयतृतीयभङ्गानुगते अपि सूत्रे वक्तव्ये । तच्चैवम्-"जे भिक्खू चाउम्मासियं वा सातिरेगचाउम्मासियं वा " इत्यादि "०जाव पलिउंचिए अपलिउंचियं, अपलिउंचिए पलिउंचियं, अपलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियमालोएमाणस्स सव्वमेयं साहणिय० जाव आरोहेयव्वे सिया । " तृतीयभङ्गानुगमपि सूत्रमेवमुच्चारणीयम्-" नवरं पलिउंचिए अपलिउंचियमालोएमाणस्स ।" इति वक्तव्यम्, शेषं तथैव । चतुर्थभङ्गानुगतं तु सूत्रं साक्षादाह-" जे भिक्खू चाउम्मासियं वा" इत्यादि । अस्य व्याख्या निरवशेषा प्राग्वत्, नवरमेषोऽत्र विशेषः-"पलिउंचिए पलिउंचियमालोएमाणस्सेति ।" शेषं तथैव । एवममूनि चत्वारि सूत्राणि चतुर्भङ्गविकल्पनत उक्तानि । एवं मासिकद्वैमासिकसूत्राण्यप्युपयुज्य चतुर्भङ्गविकल्पनतः सविस्तरं भणनीयानि । एवं बहुशःशब्दविशिष्टान्यपि प्रथमचतुर्भङ्गविकल्पेन चत्वारि सूत्राणि वक्तव्यानि । तत्र प्रथमभङ्गानुगतसूत्रं प्रागेवातिदेशत उक्तम् । द्वितीयतृतीयभङ्गानुगते सूत्रे प्राग्वद्वक्तव्ये । चतुर्थभङ्गानुगतं सूत्रं साक्षादतिदेशत आह-" एवं बहुसो वि । " इति । एवमनन्तरोदितसूत्रप्रकारेण बहुशोऽपि बहुशःशब्दविशिष्टमपि सूत्रं वक्तव्यम् । तद्यथा-" जे भिक्खू बहुसो चाउम्मासियं वा बहुसो सातिरेगचाउम्मासियं वा बहुसो पंचमासियं वा बहुसो सातिरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ठविए परिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरोहेयव्वे सिया पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं० जाव पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं अपलिउंचिए अपलिउंचियं० जाव पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिज्जे पट्ठवणाए० जाव तत्थेव आरोहेयव्वे सिया ।" इति । तदनन्तरं मासिकद्वैमासिकाऽऽदीन्यपि सूत्राणि सम्यगुपयुज्य विस्तरतोऽनेकानि वक्तव्यानि । आह-"से वि तत्थेव आरोहेयव्वे सिया ।" इत्युक्तम् । तत्र कति भेदा आरोपणायाः ? । उच्यते-पञ्च ।

तथा चाह-

पट्ठविता य ठविया, कसिणाऽकसिणा तहेव हाडहडा ।

आरोपण पंचविहा, पायच्छित्तं पुरिसजाते ॥ ४१३ ॥

आरोपणा पञ्चविधा पञ्चप्रकारा । तद्यथा-प्रस्थापितिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाडहडा च । एषा पञ्चप्रकाराऽप्यारोपणा प्रायश्चित्तस्य । तच्च प्रायश्चित्तं पुरुषजाते कृतकरणाऽऽदौ यथायोग्यमवसेयम् । एष गाथासंक्षेपार्थः । व्य० १ उ०२ प्रक०। ( स्त्रीणां विषये विशेषः ' इत्थी ' शब्दे द्वितीयभागे ६१० पृष्ठे दर्शितः )

( १५ ) अश्रद्धया कृतमफलम्-

भयवं ! मंदसद्धेहिं, पायच्छित्तं न कीरइ ।
अह काहिंति किलिट्ठमणे, नाणुकंपं विरुज्झए ? ॥
नारायादीहिं संगामे, गोयमा ! सल्लिए नरे ।
सल्लुद्धरणे जवे दुक्खं, नाणुकंपा विरुज्झए ॥
एवं संसारसंगामे, अंगोवंगं तु बाहिरं ।
भावसल्लुद्धरिताणं, अणुकंपा अणोवमा ॥
भयवं ! सल्लम्मि देहत्थे, दुक्खिए होंति पाणिणो ।
जं समयं निप्फमे सल्लं, तक्खणा सो सुही भवे ॥
एवं तित्थयरे सिद्धे, साहू धम्मं पि वंचिउं ।
जं अकज्जं कयं तेणं, निस्सरए स सुही जवे ॥
पायच्छित्तेण को तत्थ, कारिएणं गुणो भवे ।
जेणं घोरस्स वी देसि. पुक्करकरं धुरणुत्तरं ॥
उद्धरिउं गोयमा ! सल्लं, वेदणभंगो जाव णो कओ ।
वणपिंडी पट्टबंधं च, ताव णो किं परुज्झए ॥
भावसल्लस्स वणपिंडं, पट्टबंधो इमो भवे ।
पच्छित्तो दुक्खरोहं पि, जाव वणं खिप्पं परोहए ॥
भयवं ! किमणु विज्जंते, सुच्चंते जाणिएइ वा ।
सोहेइ सव्वपावाई, पच्छित्ते सव्वन्नुदेसिए ॥
सुसाउ सीयले उदगे, गोयमा ! जाव णो पिए ।
णरो गिम्हे वियाणंते, ताव तण्हा ण उवसमे ॥
एवं जाणित्तु पच्छित्तं, अमढभावेण जं चरे ।
ताव तस्स तयं पावं, वड्ढए ण उ हायए ॥
भयवं ! किं तं वएज्जा, जं पमादेण कत्थइ ।
आगयं पुणो आउत्तस्स, तेतियं किं न हायए ? ॥
गोयमा ! जइ पमाएणं, अणिच्छंतो अहिमकिए ।
आउत्तस्स जहा पच्छा * विसं वड्ढे तह चेव पावगं ॥
भयवं ! जे विदियपरमत्थे, सव्वपच्छित्तजाणगे ।
ते किं परेसिं साहंति, नियमकज्जं जहट्ठियं ? ॥
गोयमा ! मंततंवेहिं, दिट्ठे जो कोइ सुदवे ।
से वि दिट्ठे विणिव्वट्ठे, धारियओहिं सद्धिए ।
एवं सील्लुज्जले माहू, पच्छित्तं नेव वड्ढए ।
अओ णिउणलद्धत्थं, साहेती ववहारओ ॥ महा० २ अ० ।

* " आउत्तस्स जहा पच्छा । " इत्यपि पाठः ।

( १६ ) कीदृशः कस्योपदिशेत्·

एवं स पेमपासेहिं, बद्धो सावग जूमणं ।
जहोवइट्ठं करेमाणे, दसअहिए वा दिणे दिणे ॥
पडिबोहिऊणं संविग्गे, गुरुपामूलं पवेसई ।
संपयं बोहिओ सो वि, दुम्मुहेण जहा तुमं ॥
धम्मं लोगस्स साहेसि, अत्तकज्जम्मि मुज्झसि ।
नूणं विक्केणयं धम्मं, जं सयं णाणुचिट्ठसि ॥
एयं सो वयणं सोच्चा, दुम्मुहस्स सुजासियं ।
थरथरस्स कंपंतो, निंदिउं गरहिउं चिर ॥
हा हा हा हा अकज्ज मे, भट्ठसीलेण किं कयं ?।
सेणं तु सुत्तप्पसरे, गुंफिओऽसुइकिमी जहा ॥
धी धी धी धी अहन्नेणं, पेच्छ जं मेऽणुचिट्ठियं ।
जवकंचणसमं नाणं, असुईसरिसं मए कयं ॥
खणभंगुरस्स देहस्स, जा विवत्ती ण मे भवे ।
ता तित्थयरस्स पामूलं, पायच्छित्तं चरामि हं ॥
एसमागच्छती एत्थं, चिंतंता णेव गोयमा ! ।
घोरं चरिऊण पच्छित्त, संविग्गो ओजामिओ ॥
घोरवीरं तवं काउं, असुहकम्मं खवेत्तु य ।
सुक्कज्झाणे समारुहिय, केवलं पप्प सिज्झही ॥
ता गोयम ! णाएणं, बहवो पवियारिया ।
लिंगं गुरुस्स अप्पेयं, नंदिसेणेण जह कयं ॥
उस्सग्गं ता तुमं बुज्झ, सिज्झंते य जहट्ठियं ।
तवंतराउदयं तस्स, महंतं आसि गोयमा ! ॥
तहा वि जा संपइन्ने, तवे घोरं महातवं ।
अट्ठगुणं तेणमणुचिण्णं, तो विसएण णिज्जए ताहे ॥
विसजक्खणं कूडपडणं, अणसणं तेण इच्छियं ।
इयं पि चारणसमणेहिं, चेव से जाव सेहिओ ॥
ताव य गुरुस्स रयहरणं, अल्लियन्नं देसंतरं गओ ।
एते ते गोयमा ! चाए, सुयनिबद्धे वियाणए जहा ॥
जाव गुरुणो रयहरणं, पव्वज्जा य ण अन्ने य ।
ताव कज्जं न कायव्वं, लिंगमवि जिणदेसियं ॥
अन्नत्थ ण उज्जेयव्वं, गुरुणो मोत्तूण अंजलिं ।
जइ सो उवसामिउं सक्को, गुरू ता उवसामइ ॥
अह अन्नो उवसामिउं, सक्को तो वी तस्स कहिज्जई ।
गुरुणा वि तयं ण अन्नस्स, गिरा वयव्वं कयाइ वि ॥
जो भमिया वी य परमट्ठा, जगट्ठिइ वियाणगो ।
एयाइं तु पयाइं जा, गोयमा ! णं विसंवए ॥
मायाए वंचणं तेण, सो भमिही आमहो जहा ।
भयवं ! न याणमो को वि, मायासीलो हुया सढो ॥
किं वा निमित्तमुवचरिउं, सो भमे बहु दुहट्ठिओ ।

चरिमासन्नस्स तित्थम्मि, गोयमा ! कंचणच्छवी ॥
आयरिओ आसि जूडक्खो, तस्स सीसो सया सढो ॥
महव्वयाइं घित्तूणं, अह सुत्तत्थं अहिज्जिया ॥
ताव कोऊहलं जायं, णणं वेएहि पीडिओ ।
चिंतेइ जह सिद्धंते, एरिसो देसिओ विही ॥
ततो तस्स पमाएणं, गुरुजणं रंजिउं दढं ।
तदवट्ठगुणं काउं, पक्कणाणसणं भिसं ॥
कहेहामि तहाऽहं पी, देवयाए निवारिओ ।
दीहाऊ छिन्नभच्चू, भोगे भुंज जहिच्छिए ॥
लिंगं गुरुस्स अप्पेउं, अन्नं देसंतरं वये ।
भोगहलं वेइया पच्छा, घोरवीर तवं चरे ॥
अहवा हा हा अहं मूढो, आयसल्लेण सल्लिओ ।
समणाणं णेरिसं जुत्त, समयमवी मणसि धारिओ ॥
पच्छा तओ मे पच्छित्तं, आलोइत्ता लहू धरे ।
अहवा णं ण आलोउं, मायावी भन्निओ पुणो ॥
ता दस वासे आयामं, मासखमणस्स पारणे ।
वीसाअंबिलमादीहिं, दो दो मासाण पारणे ॥
पणवीसं वासे तत्थं, चंदायणतवेण य ।
छट्ठट्ठमदसमाई, अट्ठवासे अणूणगे ॥
महाघोरेरिसपच्छित्तं, सयमेवेत्थ अणुचर ।
गुरुपामूले वि एत्थेयं, पायच्छित्तं मे ण अग्गलं ॥
अहवा तित्थयरेणेस, किमट्ठं साइओ विही ।
जेणेयमहीयमाणोऽहं, पायच्छित्तस्स मेलिओ ॥
अहवा सो वि जाणिज्ज, सव्वन्नू पच्छित्तं मे ण अग्गलं ।
पुरा जमित्थ दुट्ठ चिंतियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥
एवं तु तं कट्ठं घोरं, पायच्छित्तं सयं मती ।
काऊणं पि ससल्लो सो, वाणमंतरियं गओ ॥
हिट्ठिमो चरिमगेवेय-विमाणो तेण गोयमा ! ।
वेयंतो आलोइत्ता, जइ तं पच्छित्तं कुव्विया ॥
वाणमंतरदेवत्ता, चइऊणं तु गोयमा ! ।
संढदोसहतो तित्थेसु, नरिंदघरमागओ ॥
निच्चं तत्थ वरुवाणं, संघट्टणदोसा तहिं ।
वेसणिवाही समुप्पन्नो, किमी एत्थ समुत्थिए ॥
तओ किमिएहिं खज्जंतो, वणदेसम्मि गोयमा ! ।
मुक्काहारो खिइ लेभे, वियाणंतो ताव साहुणो ॥
अदूरेणेव लेज्जे द-ट्ठूण जाई सरेत्तु य ।
निंदिउं गरहिउं आया, अणसणं पडिवज्जिया ॥
कोगसाणेहिं खज्जंतो, सुद्धभावेण गोयमा ! ।
अरहतगतिं सरमा-णो सम्मं उज्झियं तणू ॥
कालं काऊण देविंद-महाघोससमाणिओ ।

जाओ तं दिव्वदेवड्ढिं, समणुब्भोत्तू तच्चुओ ॥
उववन्नो वेसताए जा, सा नियडीण पयडिया ।
तओ वि मरिऊणं बहु-अंतपतकुले ठिओ ॥
कालक्कमेण महुराए, मिवइंदस्स दयायणे ।
मुओ होऊण पडिबुद्धो, सामन्नकाउम्मि पडिबुद्धो ॥
एय तं गोयमा! सिद्ध, नियडीपुंजं तु आमडे ।
जे य सव्वं तु सुहन्नणिए, वयणं मणसा विमंविए ॥
कोऊहलेणं विसयाणं, पाऊण विसएहिं पडिओ ।
सच्छंदपायच्छित्तेण, भमियं भवपरंपरं ॥
एयं नाऊणमिक्क पि, सिद्धंतिगमालावगं ।
जायमाणो हु उम्मग्गं, कुज्जा जे सेवियाणि उ ॥
जो पुण सुच्चा सुयन्नाणं, अट्ठ वा णच्चा वएज्ज मग्गेणं ।
तस्स अहीण वच्चइ, ’ ‥ …… ‥ · ॥
एयं नाऊण मणसा, विमग्गं नो पवत्तए। त्ति बेमि।
भयवं! अकिच्चं काऊणं, पच्छित्त जो करेज्ज वा ।
तस्स लहुयरं पुरओ, जं अकिच्चं न कुव्वए ।
ता जुत्तं गोयमा! मिणमो, वयणं मणसा विधारिउं ।
जहा काउमकत्तव्वं, पच्छित्तेण वि सुज्झिय ॥
जो एयं वयण सोच्चा, सद्दहे अणुचरेइ वा ।
भट्ठसीलाण सव्वेसिं, सत्थवाहो स गोयमा! ॥
एसो काउ पि पच्छित्तं, पाणसंदेहकारयं ।
आणाअवराहदीए दीवसिहं, पविसे सलभो जहा ॥
भयवं! जो बलं विरियं, पुरिसयारपरक्कमी ।
अणिगूहंतो तवं चरइ, पच्छित्त तस्स किं भवे? ॥
तस्सेयं होइ पच्छित्ते, असदब्भावस्स गोयमा! ।
जो तं थाम वियाणेत्ता, वेरी सत्तगवेक्खया ॥
जो बलं वीरियं सत्तं, पुरिसयारं निगूहए ।
सो सपच्छित्तपच्छित्तो, सढसीलो नराहमो ॥
नीयागोत्तं दुहं घोर, निरिए सुक्कामियं हित्तिं ।
वेदेंतो तिरियजोणीए, हिंडिज्जा चउगईए सो ॥
से भयव! पावयं कम्मं, पर वेइ समुद्दरे ।
अणणुभूएण णो मोक्खं, पायच्छित्तेण किं तहिं? ॥
गोयमा! वासकोडीहिं, जं अणेगाहिं संचियं ।
तं पच्छित्तरवीपुट्ठं, पावतुहिणं विलीयई ॥
घणघोरंधयारतमतामिसा, जहा सूरस्स गोयमा! ।
पायच्छित्तरविस्सेव, पावकम्म पणस्सए ॥
णवर जइ तं पच्छित्त जह भणियं तह समुच्चरे असढभावो ।
अणिगूहिय लवीरिय पुरिसायारपरक्कमे ॥
अन्नं च काउ पच्छित्त, सव्वं थोवमणुच्चरे ।
जो दुरुद्धियसल्लो, अप्पेसो दीह चाउग्गइयं पडे ॥

भयवं! कस्मालोएज्जा, पच्छित्तं को व दिज्ज वा ।
कस्स व पच्छित्तं देज्जा, आलोवेज्जा कहं पुणो ॥
गोयम! आलोयणं ता के-वलीण च बहूसु वि ।
जोयणसएहिं गतूणं, सुद्धभावेहिं दिज्जए ॥
चउनाणीणं तया भावे, एवं ओहिमईसु वि ।
जस्स विमलयरे तस्स, तारतम्मेण दिज्जई ॥
उम्मग्ग पन्नवितस्स, उस्सग्गे पट्ठियस्स य ।
उस्सग्गरयणे चेव, सव्वभावतरेहि ण ॥
उवसंतस्स दंतस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।
समिती गुत्तीपहाणस्स, दढवीरियस्स असढभाविणो ॥
आलोएज्जा पडिच्छेज्जा, देज्जा दाविज्ज वा परं ।
अहन्निसं तदुद्दिट्ठं, पायच्छित्तं च अणुचरे ॥
से भयवं! केत्तियं तस्स, पच्छित्तं हवइ निच्छियं ।
पायच्छित्तस्स ठाणाइ, केवइयाइ कहेहि मे ॥
गोयमा! जं सुसीलाणं, समणाणं दसएह उ ।
खलियागयपच्छित्तं, संजई तं नवं गुणं ॥
एक्को पावेइ पच्छित्तं, जइ सुसीलो दढव्वओ ।
अह सीलं विराहेज्जा, ता त हवइ सयगुणं ॥
तीए पंचेंदिया जीवा, जोणीमज्झे निवासिणो ।
सामन्नं नवलक्खाइं, सव्वे पासंति केवली ॥
केवलनाणस्स ते गम्मा, केवली ताइं पासति ।
ओहिनाणी वियाणेइ, णो पासे मणपज्जवी ॥
ते पुरिसा संघट्टंती, कोल्हुगामि तिले जहा ।
सव्वेसु सूसुरावेइ, रतुं मत्ता अहन्नया ॥
चक्कमंतीइ गाढाइं, काइयं वोसिरंति य ।
बावाइज्जाउ दो तिन्नि, सेसाइं परियावइ ॥
पायच्छित्तस्स ठाणाइं, संखाईयाइं गोयमा! ॥ महा० ६ अ० ।

भयवं! ता एयनाएणं जं भणियं आसि मे तुमं जहा परिवाडीए तत्थ किं न अक्खसि पायच्छित्तं तत्थ मज्झ नी हवइ?। गोयमा! पच्छित्तं जइ तुमं तमालंबसि नवर धम्मवियारो ते कओ सुवियारो फुडो लहेज्जा एत्थ पच्छित्त पुणरवि पुच्छेज्ज। गोयमा! संदेह जाव अच्छिन्नं ताव निच्छयं मिच्छत्तेण वि अभिभूए तित्थयरस्स वि भासियं वयणं लंघित्तु विवरीयं वा पत्ता णं पविसंति घोरतमतिमिरबहलंधयार पायालं। नवरं सुवियारिअ काउ तित्थयरा सयमेव य जाणंति। तं जहा-चेव गोयमा! समणुट्ठण ।

अत्थेगे गोयमा! पाणी, पव्वइज्जय जहा तहा ।
अविहीए तह चरे धम्मं, जह संसाराणमुच्चए ।
से भयवं! कयरेणं से विहा सिलोगो?। गोयमा! इमे णं ।
से विहीसिलोगो। तं जहा-

" चिइवंदणपडिक्कमणं, जीवाईतत्तसब्भावं ।
समिइंदियसद्दगुत्ती-कसायनिग्गहणमुवओगं ॥
नाऊण सुवीसत्थो, सामायारिं कियाकलावं च ।
आलोइय नीसल्लो, आगब्भा परमसंविग्गो ॥
जम्मजरामरणभीओ, चउगइसंसारकम्मदहणट्ठा ।
पयभियहियएण एयं, अणवरयं चेव झायंतो ॥
जरमरणमगरपउरे, रोगकिलेसाइबहुविहतरंगे ।
कम्मट्ठकसायग्गा-हगहिरभवजलहिमज्झम्मि ॥
भमिहामि अहमंम-भनाणचारित्तलद्धवरपोओ ।
कालं अणोरपारं, अंतं दुक्खाणमलभंतो ॥
ता कइया सो दियहो, जत्थाहं सत्तुमित्तसमपक्खो ।
नीसंगो विहरिस्सं, सुहझाणनिरंतरो पुणो भवत्तट्ठं ॥
एवं वरचिंतियमिमुहमाणो, हरिससंपनिहरिसमुल्लासि-ओ, भत्तिभरनिब्भरो रोमंचकंचुपुलयंगो, सीलंगमट्ठ-रसट्ठा-रसधरणे समोच्छ्रयक्खंधो, छत्तीसायाकंठ-निठविवयासेसमिच्छत्तो, पमिवज्जे पव्वज्जं, विमुच्च भमदमाणमच्छरामरिसो, निस्समनिरहुतसुहिसयणधण-मित्तबंधवधन्नसुवन्नाहिरन्नमणिरयणसारभंडारो अच्चंत-परमवेरग्गवासणाजणियपवरसुहज्झवसायपरधम्मसद्धापरो, अकिलिट्ठनिक्कलुसअदीणमाणसो, जमनियमनाणचारित्त-तवाइसयलभुवणेकमंगलअहिंसालक्खणखंताइदसविहध-म्माणुट्ठाणेकंतबद्धलक्खो, सव्वावस्सगतक्कालकरण-सज्झायज्झाणमाउत्तो, संखाईयअणेगकसिणसंजमपए-सु अविक्खलिओ, संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो, अणियाणो मायामोसविवज्जिओ साहू वा साहुणी वा ए-वंगुणकलिओ, जइ कहवि पमायदोसेणं असइं कइं वि कत्थइ वायाइं वा माणसाइं वा तिकरणविसुद्धीए सव्व-भावं भावंतरेहिं चेव संजममायरमाणो असंजमेणं छले-ज्जा, तस्स णं विमोहिपयं पायच्छित्तमेव, तेणं पायच्छित्ते-णं गोयमा ! तस्स विसुद्धिं उवदिसिज्जा, न अन्नह त्ति । महा० १ चू० ।

( निष्ठितप्रायश्चित्तम् 'णिट्ठकिय' शब्दे चतुर्थभागे २०६३ पृष्ठे गतम् )

से भयवं ! कइविहं पायच्छित्तमुवइट्ठं ?। गोयमा ! दसविहं पायच्छित्त उवइट्ठ । तं च अणेगहा जाव णं पारंचिए । से भयवं ! केवइयं कालं जाव इमस्स विही णं पायच्छि-त्तसुत्तस्साणुट्ठाणं वहिही ?। गोयमा ! जाव णं कक्की नाम राणे निहणं गच्छिय एक्कं जिणाययणमंडियं च सुहं सिरिप्पने अणगारे । भयवं ! उड्ढं पुच्छा ?। गोयमा ! उड्ढं न केइ पुरिसे पुन्नजामे होही जस्स णं इणमो सुयक्खधं उवइसेज्जा । से भयवं ! केवइयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं ?। गोयमा ! पायच्छित्तस्स पयाइं संखाईयाइं से भयवं ! तेसि णं संखाईयाणं पायच्छित्तपयाणं किं तं पढमं पायच्छित्तस्स णं पयं ?। गोयमा ! पइदिणं किरियं । से भयवं ! किं ति पइदिणं किरियं ?। गोयमा ! जमणुसमया अहन्निसा पुणो चरमं जावऽणुट्ठेयव्वाणि संखेज्जाणि आव-स्सगाणि । से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं आवस्सगाणि ?। गोयमा ! असेसकसिणट्ठकम्मक्खयकारि उत्तमसम्मद्दंसणचारित्तअच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करतवसाह-णट्ठाए परूविज्जंति नियमियविभत्त दिट्ठपरिमिएणं काल-समएणं पयंपएणाहंनिसाणुसमयमाजम्मं अवस्समेव ति-त्थयराइसु कीरंति अणुट्ठिज्जंति उवइसिज्जंति परूवि-ज्जंति पन्नविज्जंति सययं, एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ-गोयमा ! जहा णं आवस्सगाणि । तेसिं च णं गोयमा ! जे भिक्खू कालाइक्कमेणं वेलाइक्कमेणं समयाइक्कमेणं अल-सायमाणे अणोवउत्तपमए अविहीए अन्नेसिं व असद्धं उप्पायमाणे अन्नयरमावस्सगं पमाइयसंतेणं बलवीरिए-णं सातलेहत्ताए आलंबणं वा किंचि घेत्तूण विराइयं पडरियाणाणं जहुत्तयालं समणुट्ठेज्जा, से णं गोयमा ! महापायच्छित्ती भवेज्जा । से भयवं ! किं तं वितियपाय-च्छित्तस्स णं पयाइं ?। गोयमा ! बीयं तइयं चउत्थं पंचमं जाव णं संखाईयाण पायच्छित्तस्स णं पयाइं ताव णं एत्थ चेव पढमपायच्छित्तपए अंतरोवगाइं समणुविंदा । से भयवं ! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जओ णं सव्वावस्सगका-लाणुपेही भिक्खू णं रोवइज्जा ण रागदोसकसायगारवथ-यमकराइसु णं अणेगपमायालंबणेसु च सव्वभावं-तरेहिं णं अच्चंतविप्पमुक्को भवेज्जा, केवलं तु नाणदंस-णचारित्ततवोकम्मसज्झायज्झाणसद्धम्मावसाणेसु अच्चंतं अणगूहियबलवीरियपरक्कमे सम्मं अभिरमेज्जा जाव णं सद्धम्मावस्सगेसु अभिरमेज्जा ताव णं सुसंवुडासव-दारे हवेज्जा, जाव णं सुसंवुडासवदारे भवेज्जा ताव णं सजीववीरिएणं अणाइभवग्गहणसंचिया-णिट्ठदुट्ठट्ठकम्मरासीए एगंतनिट्ठवणेक्कबद्धलक्खो अ-णिकमेज्जा ण निरुद्धजोगी भवेज्जा णं निद्दिट्ठासेसकम्म-विमुक्कजाइजरामरणचउगइसंसारपासबंधणे य सव्वदुक्ख-म्मि मोक्खतेलोक्कसिहरनिवासी भवेज्जा । एएणं अट्ठेणं गो-यमा ! एवं वुच्चइ-जहा णं एत्थ चेव पढमपए असेसाइं पायच्छित्तपयाइं अंतरोवगयाइ समणुविंदा । से भयवं ! कयरे ते आवस्सगे ?। गोयमा ! णं चिइवंदणाइओ । महा० १ चू० ।

( १७ ) प्रायश्चित्तसमकालम्-

से णं दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावकम्मे पारंचिए अहा णं महाववस्सी हवेज्जा तओ सयरं मासक्खमणाणं सयरं दसमाणं सयरं अट्ठमाणं सयरं अवट्ठाण सयरं चउत्थाणं सयरं आयंबिलाण सयरं एगट्ठाणाणं सयरं सुद्धायामेसणाणं सयरं निव्विगइयाणं जाव णं अणुलोमेण निद्दिसेज्जा एयं च पायच्छित्त जे णं भिक्खू अवी सतो समणुट्ठेज्जा, से णं आसन्नपुरेक्खडेणए । महा० १ चू० ।

( १८ ) प्रायश्चित्तमुपदिशेत्-

से णं भयवं ! इणमो सयरिं अणुलोमपरिलोमेण केवइयं कालं जाव समणुट्ठिहिइ य ? । गोयमा ! जाव णं आयारमंगं वाएज्जा । भयवं ! उड्ढं पुच्छा ?। गोयमा ! उड्ढं केइ समणुट्ठेज्जा से णं वंदे से णं पुज्जे से णं दट्ठव्वे से णं सुपसत्थमंगल्ले सुगहियनामधेज्जा तिण्ह पि लोगाणं वंदणिज्ज त्ति, जे णं तु णो समणुट्ठे मे णं पावे से णं महापावे से महापावपावे से दुरतपंतलक्खणे जाव णं अदट्ठव्वे त्ति । जया णं गोयमा ! इणमो पच्छित्तसुत्त वोच्छिज्जिहिइ तया णं चंदाइच्चगहरिक्खतारगाण सत्त अहोरत्ते तेय णो विप्फुरिज्जा, इमस्स णं वोच्छेदे गोयमा ! कसिणसंजमस्स अभावो जओ णं सव्वपावणिट्ठवगे चेव पच्छित्ते सव्वस्स णं तवसंजमाणुट्ठाणस्स पहाणमंगे परमविसोहीए पवयणस्सावि णं णवणीयसारभूए पन्नत्ते । इमे सव्वमवि पायच्छित्ते गोयमा ! जावइयं एगत्थ संपिंडियं हवेज्जा तावइय चेव एगस्स णं गच्छाहिवइणो मयहर पवत्तणीए य चउगुणं उवइसेज्जा जओ सव्वमवि एएसिं देसियं हवेज्जा । अहासमिमे चेव पमायवस गच्छेज्जा तओ अन्नेसि सम्मेधावसवीरिए सुट्ठुत्तरागयमुट्ठुतरागयमभुज्जमणुद्दवेज्जा,अहा ण किंचि सुमहंतमवि तओणुट्ठाणमब्भुवगमेज्जा ता णं न तारिसाए धम्मसद्धाए किं तुम दुट्ठाए समणुट्ठेज्जा जगपरिणामस्स निरत्थगमेव कायकोसे जम्हा णं तम्हा उ अचिंताणंतणिरणुवंधिपुन्नपन्भावेणं संभुज्जमाणे वि साहुणो न संजुज्जति, एवं सव्वमवि गच्छाहिवयादीणं दोसे णेव पवत्तेज्जा । एएणं पवुच्चइ गोयमा ! जहा ण गच्छाहिवइयाण इणमो सव्वमवि पच्छित्तं जावइयं एगत्थं सपिंडिय हवेज्जा तावइय चेव चउगुणं उवइसेज्जा । से भयवं ! जे णं गणी अप्पमादी हवेज्जा णं सुयाणुसारेण जहुत्तविहाणेहिं चेव सययं अहन्निस गच्छं न सारविज्जा,तस्स किं पायच्छित्तमुवइसिज्जा ?। गोयमा ! अप्पउत्ती पारंचियं उवइसेज्जा । से भयवं ! जस्स उण गणिणो सव्वपमायालंवणविप्पमुक्कस्सावि णं सुयाणुसारेणं जहुत्तविहाणेहिं चेव सययं अहन्निसं गच्छं सारवेमाणे सो उ केइ तहाविहे दुट्ठसीले न सम्मगं समायरिज्जा तस्स वीय किं पच्छित्तमुवइसेज्जा ?। गोयमा ! उवइसेज्जा । से भयवं ! केणं अट्ठेण ?। गोयमा ! जओ तेणं अपरिक्खियगुणदोसे निक्खमाए हविज्जा एएणं । से भयवं ! किं तं पायच्छित्तमुवइसिज्जा ?। जे ण एवं गुणकलिए गणी से णं जया एवंविहे पावसीले गच्छे तिविहं तिविहेणं वोसिरित्ता णं आयहियं न समणुट्ठेज्जा, तया णं संघवज्झे उवइसेज्जा । से भयवं ! जया णं गणिणा गच्छे तिविहेण वोसिरिए हविज्जा,तया णं ते गच्छे असारेज्जा, जइ संविग्गे भविता ण जहुत्तं पच्छित्तमणुचरित्ता णं अन्नस्स गच्छाहिवइणो उवसंपज्जित्ता णं सम्मगमणुसरेज्जा तओ णं आयरिज्जा,अहा णं सच्छंदताए तहेव चिट्ठे तओ णं चउविहस्स वि समणसंघस्स वज्झतं गच्छ आयरेज्जा । महा० १ चू० ।

से भयवं ! किं तं सव्विसेसं पायच्छित्तं जाव णं वयासि ? गोयमा ! वासारत्तियं पंथगामियं वसहिपारिभोगियं गच्छायारमइक्कमणं संघायारमइक्कमणं गुत्तीभेयपयरणं सव्वमंडलधम्माइक्कमणं अगीयत्थपयाणजायकुसीलसंभोगजं अविहीए पव्वज्जादाणोवट्ठावणाजायं अउस्सग्गा सुत्तत्थोभयपन्नवणजायं अणाययणेक्कक्खणविरत्तणाजायं देवसियं राइयं पक्खियं मासियं चाउम्मासियं संवच्छरियं एहियं परलोइयं मूलगुणविराहणं आभोगाणाभोगयं आउट्टिपमायदप्पकप्पियं वयसमणधम्मसंजमतवनियमकसायदमगुत्तीय मयभयगारवइंदियजं वसणाइक्क रोद्दट्टज्झाणरागदोसमोहमिच्छत्तदुट्ठकूरज्झवसायसमुत्थ ममत्तमुच्छापरिग्गहारंभज असमिइत्त पट्ठीसं मासित्तधम्मंतरायसंताबुव्वेवगा समाहाणुप्पायग संखाईय आसायणा अन्नयरा आसायणाय पाणवहसमुत्थं मुसावायसमुत्थ अदत्तादाणगहणसमुत्थं मेहुणसेवणासमुत्थं परिग्गहकरणसमुत्थं राइभोयणसमुत्थं माणसियं वाइय काइयं असंजमकरणकारावणअणुमइसमुत्थ जाव ण नाणदंसणचरित्ताइयारसमुत्थं किं बहुणा जावइयाइ तिगालचिइवंदणाइओ पायच्छित्तट्ठाणाई पन्नत्ताइं तावइयं च पुणो विसेसेण गोयमा ! असंखेयहा पन्नविज्जति एवं संधारेज्जा जहा णं गोयमा ! पायच्छित्तसुत्तस्स णं संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संगहणीओ संखिज्जाइ अणुओगदाराइयं संखेज्जे अक्खरे अणंते पज्जवे जाव णं दंसिज्जति उवदंसिज्जंति आघविज्जंति

पव्वविज्जंति कालाभिग्गहित्ताए दव्वाभिग्गहित्ताए भावा-भिग्गहित्ताए जाव णं आणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जहा-णुओगं गुणट्ठाणेसुं ति बेमि । से भयवं ! एरिसे पच्छि-त्ताहुल्ले, से भयवं ! एरिसे पच्छित्तसंघट्टे, से भयवं ! एरिसे पच्छित्तसंगहणे, अत्थि केई जे णं आलोइत्ता णं निंदित्ता णं गरहित्ता णं जाव णं अहारिहं तवोकम्म पा-यच्छित्तमणुचरित्ता णं सामन्नमाराहेज्जा पवयणमाराहि-ज्जा (?) आराहिज्जा जाव णं आणहियट्ठयाए उवसंप-ज्जित्ता णं सकज्जं तमट्ठं आराहेज्जा । महा० १ चू० ।

से भयवं ! एरिसं पप्प, विसोहिं उत्तमं वरं ।
जे पमाया पुणो असई, कत्थइ चुक्के खलिज्ज वा ॥
तस्स किं भवे सोहिपयं, सुद्धं चेव पलिक्खिए ।
उया हु णो समुल्लिक्खे, संसयमेवं वियागरे ? ॥
गोयमा ! निंदिउं गरहियं. सुइरं पायच्छित्तं चरित्तु णं ।
लिक्खामि य तह वुच्छामि, एवं पाणं नरक्खए ॥
सो सुरहिगंधगब्भेण, गंधोदयविमलनिम्मलपवित्ते ।
मज्जिय खीरसमुद्दे असुईगड्डाएं जइ पडइ ॥
ता पुण तस्स सा पुणा, ······ · ······ · ।
अह होज्ज देवजोगो, असुइं गंधं सुदुद्धरिसं ॥
एवं कयपच्छित्ते, जेणं छज्जीवकायवयनियमं ।
दंसणनाणचरित्तं, सीलंगे वा भवंगे वा ॥
कोहेण व माणेण व, मायालोभे कसायदोसेणं ।
रागेण पओसेण व, अत्ताणं मोहमिच्छत्त ।
हासेणं वावि भएणं, अहवा कंदप्पदप्पेणं ॥
एएहि य अन्नेहि य, गारवमालंबणेहिं जो खंडे ।
सो सव्वट्ठविमाणा, पत्ते अत्ताण एगं निरए य ॥

से भयवं ! किं आया संरक्खेयव्वे उयाहु छज्जीवनिका-यमाइसंजमो रक्खेयव्वो ? । गोयमा ! जे णं छकायसंजमे संरक्खे से णं अणंतदुक्खपओगाओ दोग्गइगमणाओ अत्ता संरक्खे, तम्हा छकायाइसंजममेव रक्खेयव्वं होइ । महा० १ चू० ।

(१७) अत्र परः प्राह-यदेतत्प्रायश्चित्तं भणितं किमेतावता पर्यवसितं, किं वा नेति । तथा चाह निर्युक्तिकारः-

सत्तरत्त तवो होइ, तओ छेओ पहावई ।
छेएण छिन्नपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं ॥ ७१४ ॥

सप्तरात्रमिति जातावेकवचनम् । ततोऽयमर्थः-त्रीणि सप्तरात्राणि यावच्चतुर्गुर्वादिकं तपो भवति, त्रिष्वपि सप्तरात्रेषु गतेषु यद्यनुपरतो ततः सप्तरात्रत्रयानन्तरं छेदः, तयोराचार्ययोरभिमुखं प्रकर्षेण धावति प्रधावति, छेदेनापि यस्य प्रभूतत्वात् पर्यायो न छिद्यते, तस्मिन्नाचार्ये छेदेनाच्छिन्नपर्यायेणैकेनैव दिवसेन मूलं, ततो द्विकमनवस्थाप्यपाराञ्चिकयुगम् ।

अथैनं श्लोकं विवरीषुराह-

एक्केक्कं सत्तदिणे, दाऊण अइच्छियंति उ तवम्मि ।
पंचाइ होइ छेदो, केसिं वि जहा कमो तत्तो ॥ ७१५ ॥

एकैकं तपश्चतुर्गुरुकाऽऽदि सप्त सप्त दिनानि दत्त्वा ततस्तपःप्रायश्चित्तेऽतिक्रान्ते पञ्चकाऽऽदिकः छेदो भवति । केषाञ्चिदाचार्याणामयमादेशः-यथा यत एव स्थानात्तपः कृतं प्रारब्धं तत आरभ्य छेदोऽपि दीयते, चतुर्गुरुकादित्यर्थः । इयमत्र भावना-तयोराचार्ययोः प्रथमतः सप्तरात्रं यावद्दिवसे दिवसे चतुर्गुरुकं, यद्येतावति गते केनाप्यपरेण गीतार्थेन आचार्यो न कल्पते अबहुश्रुतस्यागीतार्थस्य वा गणं दातुं धारयितुं वा ततः प्रतिपद्यध्वं, सप्रत्यपि प्रायश्चित्तमिति प्रज्ञापितौ स्वयं वा यद्युपरतौ ततः प्रायश्चित्तमप्युपरतम् । अथ नोपरमेत ततो द्वितीयं सप्तरात्रं दिने दिने षड् लघवः । तृतीयं सप्तरात्रं प्रत्यहं षड् गुरवः । यद्येतौ स्थितौ ततः सुन्दरमेव, नो चेत्ततः छेदः प्रधावति, तत्रैके आचार्याः पञ्चरात्रिन्दिवादारभ्य छेदं प्रस्थापयन्ति । अपरे पुनः-चतुर्गुरुकादिति पञ्चरात्रिन्दिवप्रस्थापनायां भूयोऽप्यादेशयुगम् । तद्यथा-केचिदाचार्या लघुभ्यः, केचित्तु गुरुभ्यः पञ्चरात्रिन्दिवेभ्यः छेदं प्रारभन्ते । तत्र लघुपञ्चरात्रिन्दिवप्रस्थापना प्रथमतो भाव्यते-सप्तरात्रत्रयानन्तरं तृतीयं सप्तरात्रं लघुपञ्चकच्छेदः, पञ्चमं गुरुपञ्चकः, षष्ठं लघुदशरात्रिन्दिवः सप्तमं गुरुदशरात्रिन्दिवः, अष्टमं लघुपञ्चदशकः, नवमं गुरुपञ्चदशकः, दशमं लघुर्विंशतिरात्रिन्दिवः, एकादशं गुरुर्विंशतिरात्रिन्दिवः, द्वादशं लघुपञ्चविंशतिकः, त्रयोदशं गुरुपञ्चविंशतिकः, चतुर्दशं लघुमासिकः, पञ्चदशं गुरुमासिकः, षोडशं चतुर्लघुमासिकः, सप्तदशं चतुर्गुरुमासिकः, अष्टादशं लघुषाण्मासिकः, एकोनविंशं सप्तरात्रं गुरुषाण्मासिकच्छेदः इति सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिंशं शतमहोरात्राणां भवति । गुरुपञ्चकप्रस्थापनायां तु सप्तरात्रत्रयानन्तरं सप्ताहोरात्राणि प्रथमत एव गुरुपञ्चकच्छेदः, ततः सप्ताहं लघुदशकः । एवं पूर्वोक्तविधिना गुरुदशकाऽऽदयोऽपि षड्गुरुकान्ताश्छेदाः सप्ताहं सप्ताहं प्रत्येकं द्रष्टव्या इति । अत्र चाऽष्टादशभिः सप्तरात्रैः षड्विंशं शतं रात्रिन्दिवानां भवति । यदा तु यतः प्रभृति तपः प्रायश्चित्तमुपक्रान्तं तत आरभ्य छेदविवक्षा क्रियते तदा चतुर्थे सप्तरात्रे प्रथमत एव चतुर्गुरुकछेदः, पञ्चमे षड्लघुकः षष्ठे षड्गुरुकः । एवं षड्भिः सप्तरात्रैर्द्वाचत्वारिंशद्दिनानि भवन्ति । इत्थं त्रयाणामादेशानामन्यतमेनाऽऽदेशेन छिद्यमानोऽपि भूयस्त्वात् यदा पर्यायो न छिद्यते, ततो यद्यपि देशोनपूर्वकोटीप्रमाणः पर्यायोऽवशिष्यते, तथाऽपि स सर्वोऽपि युगपदेकदिनेनैव छिद्यते इति सर्वच्छेदकरणं, ततो मूलं, ततो द्वितीये दिवसेऽनवस्थाप्यम्, तृतीये पाराञ्चितम् । अथ सामान्यतस्तपःस्थानानि, छेदस्थानानि च परस्परं किं तुल्यानि, किं वा हीनाधिकानि ? । उच्यते-तुल्यानि ।

यत आह-

तुल्ला चेव उ ठाणा, तवछेयाणं हवंति दोण्हं पि ।
पणगाइ पणगवुड्ढी, दोण्ह वि छम्मासे निट्ठवणा ॥७१६॥

तपश्छेदयोर्द्वयोरपि स्थानानि तुल्यान्येव भवन्ति, न हीनानि नाप्यधिकानीत्येवशब्दार्थः । कुत इत्याह-( पणगा इ-

स्यादि ) यतो द्वयोरपि नवदशभेदयोः पञ्चकं पञ्चरात्रिन्दिवान्यादौ कृत्वा पञ्चकवृद्ध्या वर्द्धमानानां षण्मासेषु निष्ठापना भवति । इयमत्र भावना-लघुपञ्चकाऽऽदीनि गुरुषण्मासिकपर्यन्तानि यान्येव तपःस्थानानि तान्येव छेदस्थानानि भावः ।

अथ कीदृशस्य गणधरपदस्याऽऽरोपणा विधीयते ? । उच्यते-

पढियसुयगुणियधारिय करणे उवउत्तो थेरेहिँ वि गणेहिँ ।
उट्ठाए संपउत्तो, गुणपरिवड्ढी अणुन्नाओ ॥ ७१७ ॥

निशीथाध्ययने पठिते सूत्रतः सम्पूर्णेऽध्यधीते, ततः श्रुते अर्थेन सद्गुरुमुखादाकर्णिते, गुणिते परावर्त्तनानुप्रेक्षाऽभ्यामभ्यस्त स्वभ्यस्तीकृते, धारिते चेतसि सम्यग् च व्यवस्थापिते, ततः करणे तदुक्ताया विधिप्रतिषेधरूपायाः क्रियाया विधाने उपयुक्तः प्रमादरहितः। केचित्त्वाहुः-पदस्थानेषु, पञ्चसु महाव्रतेषु रात्रिभोजनविरमणषष्ठेष्वित्यर्थः । गाथायां प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी । पतैः पठितैः स्थानैः पठितश्रुतगणितधारितयथोक्तकरणप्रवचनसारकोपयोगलक्षणैः समितिसमुदितैः प्रकर्षेण संयुक्तः सम्प्रयुक्तो गणपरिवर्ती गच्छवार्त्तापकोऽनुज्ञातस्तीर्थकरगणधरैः ।

अथवा-

सत्तट्ठनवगदसगं, परिहरई जो विहारकप्पी सो ।
तिविहं ताहिँ विसुद्धं, परिहरनवएण भेएण ॥७१८॥

य आचार्याऽऽदिः सप्तविधमष्टविधं नवविधं दशविधं वा प्रायश्चित्तं परिहरति । कथंभूतं तदित्याह-त्रिविधं दानतपःकालप्रायश्चित्तभेदादेकैकमपि त्रिभेदं परिहारविषयेण नवकेन भेदेन परिहरति । तद्यथा-मनसा, वचसा, कायेन, स्वयं परिहरति, अन्यैः स्वपरिवारसाधुभिः परिहारयति, अन्यान् परिहरतोऽनुमन्यते, याभिः प्रतिसेवनाभिः प्रतिसेविताभिः सप्तविधादिकं प्रायश्चित्तं भवति ताः करणत्रययोगत्रयविशुद्धं परिहरतीति भावः । अथ कथं सप्तविधं प्रायश्चित्तं भवतीति ? । उच्यते-आलोचनाऽर्हं, प्रतिक्रमणार्हं, तदुभयार्हं, विवेकार्हं, व्युत्सर्गार्हं, तपोऽर्हं छेदनार्हमिति ।

अथ मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि क्वान्तर्भवन्ति ? । उच्यते-

दुविहो अ होइ छेदो, देसच्छेदो अ सव्वछेओ अ ।
मूलाणवट्ठचरिमा, सव्वच्छेओ अतो सत्त ॥ ७१९ ॥

इह छेदो द्विविधो भवति-देशच्छेदः, सर्वच्छेदश्च । पञ्चकाऽऽदिकः षण्मासपर्यन्तो देशच्छेदः, मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि पुनर्देशोनपूर्वकोटिप्रमाणस्यापि पर्यायस्य युगपच्छेदः सर्वच्छेदः। एष द्विविधोऽपि सामान्यतश्छेदशब्देन गृह्यते इति विवक्षया सप्तविधं प्रायश्चित्तम् ।

अथ अष्टविधं कथं भवतीत्युच्यते-

विज्जंतेवि न पावे-ज्ज कोई मूलं अओ भवे अट्ठ ।
चिरघाई वा छेओ, मूलं पुण सज्जघाइ उ ॥ ७२० ॥

विद्यमानेऽपि पर्याये कश्चिच्चिरप्रव्रजितश्चैतत् मूलं यदा न प्राप्नुयात्तदा तस्य षण्मासच्छेदादूर्द्ध्वं यन्मूलं दीयते तस्मात् छेदविलक्षणत्वादष्टमं भवतीत्यष्टौ प्रायश्चित्तभेदा भवेयुः । यद्वा-छेदमूलयोरेतत्पर्यायोऽयमभिधीयते-चिरघाती छेदः, चिरेण पर्यायस्य छेदकत्वात् । सद्योघाति मूलम्, झगित्येव निःशेषपर्यायच्छेदकत्वादित्यष्टविधं प्रायश्चित्तम् ।

अथ नवविधदशविधे प्रतिपादयति-

वूढे पायच्छित्ते, ठविज्जई जेण तेण नव होंति ।
जं वसइ खित्तबाहिँ, चरिमं तम्हा दस हवंति ॥७२१॥

येन कारणेन द्वादशवार्षिकाऽऽदिके परिहारतपःप्रायश्चित्ते व्यूढे सत्यनवस्थाप्यो व्रतेषु स्थाप्यते नान्यथा तेन मूलादनवस्थाप्यं विलक्षणमिति कृत्वाऽनवस्थाप्यप्रक्षेपात् नव भेदा भवन्ति । यत्पुनस्तदेव परिहारतपःप्रायश्चित्तं वहमानः सक्रोशक्रोशयोजनप्रमाणक्षेत्राद् बहिर्वसति तदेव तावताऽनवस्थाप्यादपरं पाराञ्चितं विभिन्नमिति तस्मादश प्रायश्चित्तानि भवन्तीति । उक्तो विहारकल्पिकः । वृ० १ उ० १ प्रक० । व्य०।

( सप्रायश्चित्तां निर्ग्रन्थीं गृह्णन् निष्क्रामति )

" सपायच्छित्तं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे अवलंबमाणे वा नातिक्कमइ ॥ १८ ॥ " अस्य ( सूत्रस्य ) सम्बन्धमाह-

अहिगरणम्मि कयंमी, खामिए समुवट्ठियाए पच्छित्तं ।
तप्पढमताभएणं, होति खित्ता व वहमाणी ॥

अधिकरणे कृते क्षामिते च तस्मिन् समुपस्थितायाः प्रायश्चित्तं दीयते, ततः साधिकरणसूत्रानन्तरं प्रायश्चित्तसूत्रमुक्तम् । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । साऽपि प्रायश्चित्ता तत्प्रथमतायां प्रथमतः प्रायश्चित्ते दीयमाने भयेन कथमहमेतत् प्रायश्चित्तं वक्ष्यामीत्येवंरूपेण विषमं भवेत् । यद्वा-प्रायश्चित्तं वहन्ती तपसा क्लान्ता भवेत् ।

तत्रैव यतना-

पायच्छित्ते दिण्णे, भीताएँ विसज्जणं किलंताए ।
अणुसट्ठिवहंतीए, भएण खित्ताएँ तेगिच्छं ॥

प्रायश्चित्ते दत्ते यदि बिभेति ततस्तस्या भीतायाः क्लान्तायाश्च विसर्जनं प्रायश्चित्तं मुत्कलं क्रियते इत्यर्थः । अथ वहन्ती क्लाम्यते ततस्तस्या वहन्त्या अनुशिष्टिर्दीयते, यथा मा भैषीर्बहु गतं स्तोकं तिष्ठति । यदि वा-वयं साहाय्यं करिष्याम इति । अथैवं मनुष्याणामपि भयेन क्षिप्तचित्ता भवति, ततस्तस्याः चिकित्सायाः कर्म कर्तव्यम् ॥ ८ ॥ वृ० ६ उ० ।

( २० ) सप्रायश्चित्तं भिक्षुं निर्ग्रन्थीं ग्लायन्तीम्-

" सपच्छित्तं भिक्खु गिलायमाणे नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए गिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के ततो पच्छा अहालहुस्सगे नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया । "

अथाऽस्य सूत्रस्य कः सम्बन्धः ? । उच्यते-

अहिगरणम्मि कतम्मि य,खामिएँ समुवट्ठियस्स पच्छित्तं ।
तप्पढमया-भएण व,होज्ज किलंते व वहमाणो ॥७२३॥

अधिकरणे कृते च तस्मिन् समुपस्थितस्य प्रायश्चित्तं दीयते । ततः साधिकरणसूत्रानन्तरं सप्रायश्चित्तसूत्रमुक्तम् । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । " सपच्छित्तं भिक्खु गिलायमाणं " इत्यु-

क्रम्, तत्र यथा ग्लानिर्भवति तथा प्रतिपादयन्ति-( तप्पढमयाए इत्यादि ) तस्याऽधिकृतस्य साधोः तत्प्रथमतायां भवेत्-' कथमहमेतत्प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि ' इत्येवरूपेण । यदि वा वहन् तपसा क्रान्तः सन् ग्लानो भवति । तत्रेय यतना-प्रायश्चित्ते दत्ते भीतः सन् यदि ग्लायति, ततस्तस्य विसर्जना क्रियते; प्रायश्चित्त मुत्कल क्रियते इति भावः । अथ वहन् कराम्यति ततस्तस्य वहतोऽनुशिष्टिर्दीयते-यथा मा भैषीः, बहु गतं, स्तोकं तिष्ठति । यदि वा-वय साहाय्यं करिष्याम इत्यादि । अथैवमनुशिष्यमाणोऽपि भयेन क्षिप्तचित्तो भूयात्, ततस्तस्य यत्नेन क्षिप्तस्य सतश्चैकित्स्य चिकित्साकर्म कारयितव्यमिति । व्य० २ उ० ।

(२१) प्रायश्चित्ते उदाहरणम् । प्रायश्चित्तद्वारोदाहरणगाथा-पूर्वार्धमाह-

पायच्छित्तपरूवण, आहरणं तत्थ होइ धणगुत्ता ।

" आचार्या धनगुप्ताख्या", एकत्र नगरेऽभवन् ।
छद्मस्था अपि दातु ते, प्रायश्चित्तं विदुस्तथा ॥ १ ॥
शुद्धिरेतावताऽमुष्य, स्यात्रवेनीङ्गिनाऽऽदिभिः ।
पार्श्वे वहति यस्तेषां, स निस्तरति तत्सुखम ॥ २ ॥
शोधयत्यतिचारं वा-ऽधिकं वाऽऽप्नोति निर्वृतिम् ।
एत्र प्रायश्चित्तज्ञान-वहनायोगसंग्रह. ॥३॥" आ०क० ४ अ० ।

(२२) इदानीं प्रायश्चित्तमस्ति । अधुना "न दीसइ धणिएण विणा ।" इति व्याख्यानार्थमाह-

जइ अत्थि न दीसंती, केइ करेंतऽत्थ वणिज्जदिट्ठंतो ।
संतमसंते गिहिणा, मोयंता दो वि मुचंति ॥५४॥

चोदकः प्राऽऽह-यद्यस्ति प्रायश्चित्त ततः कस्मात्केचित्कुर्वन्तो न दृश्यन्ते ?। सूरिराह-उपायेन कुर्वन्ति, ततो न दृश्यन्ते । तथा चात्र धनिकेन दृष्टान्तो; धारके सत्यसति च विभवे तौ च धारकौ द्वावपि सद्विभवासद्विभवौ विधिना मोच्यमानौ ऋणान्मुच्येते ।

एतदेव भावयति-

संतविभवो उ जाहे, मग्गितो ताहे व देति तं सव्वं ।
जा पुण असंतविभवो, तत्थ विसेसो इमो होइ ॥५५॥

धनिकस्य द्वौ धारकौ संभवतः । तद्यथा-सद्विभवोऽसद्विभवश्च । तत्र य स यदैव याच्यते तदैव तत्सर्वं दातव्य ददाति । यः पुनरसद्विभवस्तत्राय वक्ष्यमाणो विशेषो भवति ।

तमेवाऽऽह-

निरवेक्खो तिन्नि चयती, अप्पाणं धणागमं च धारणगं ।
सावेक्खो पुण रक्खइ, अप्पाणं धणं च धारणगं ॥ ५६ ॥

धनिको द्विधा-सापेक्षो निरपेक्षश्च । तत्र सापेक्षो नामयो धारकादसद्विभवात् धनमुपायेन गृह्णाति, निरपेक्ष.-कर्कशग्रहेण धनस्य ग्रही, तत्र निरपेक्षस्त्रीणि त्यजति । तद्यथा-आत्मानं, धनाऽऽगमं, धारक च । सापेक्ष पुनस्त्रीण्यपि रक्षयति-आत्मानं, धनं, धारणकं च ।

कथमित्याह-

जो उ असंतवि भवा-ण घेत्तूण पगह पादेणं ।
सो अप्पाणं धणं पि य, धारणगं चेव नासेति ॥ ५७ ॥

यो धनिको निरपेक्षोऽसद्विभवस्य पादौ गृहीत्वा आत्मीय पादेन सह वध्या पातेन पतति स आत्मानं, धनं, धारणकं च नाशयति । यतः स तथा क्लिश्यमानो धनिकं जीविताऽऽद्व्यपरोके नश्येत, यदि वाऽऽत्मानं विनाशयेत, यद्वा-उभयमपि । ततस्त्रयस्यापि विनाशः ।

जो पुण सहती कालं, सो अत्थं लभ ति रक्खई तं च ।
न किलिस्सइ य सयं पी, एव उवातो उ सव्वत्थो ॥५८॥

यः पुनर्धनिको धारकमसद्विभवं कृत्वा उपायेनास्माद्धनमुत्पादेयमिति विचिन्त्य कालं सहते वक्ष्यमाणप्रकारेण कालं सहते सोऽर्थं लभते, तं च धारणकं रक्षति, न च स्वयमपि क्लिश्यति । एवमुपाय' पुरुषेण सर्वत्र कर्तव्यः ।

अथ कथं कालं सहते इत्याह-

जो उ धारेज्ज वहंतं, असंतविभवो सयं ।
कुणमाणो उ कम्मं तु, निव्विसे कारिसावणं ॥ ५९ ॥
अणमप्पेण कालेणं, सो तगं तु विमोयए ।
दिट्ठंतेसो भणितो, अत्थोवणओ इमो तस्स ॥ ६० ॥

यो धारणको रूपकशत दातव्य धनिकानुमत्या प्रतिमास वा काकिनीवृद्ध्या वर्द्धमानं धारयति स्वयं वा सद्विभवो धनिकस्य प्रवेशयति सोऽल्पेन कालेन तत् ऋणं मोचयति एष दृष्टान्त. । अयमर्थोपनयस्तस्य ।

संतविभवेहि तुल्ला, धितिसंघयणेहि जे उ संपन्ना ।
ते आवन्ना सव्वं, वहति निरणुग्गहं धीरा ॥ ६१ ॥

ये धृतिसंहननाभ्यां संपन्ना युक्ताः सद्विभवैस्तुल्यास्ते धीराः सर्वमापन्नप्रायश्चित्त निरनुग्रहमनुग्रहरहितं वहन्ति । व्य० १० उ० ।

प्राक् षाण्मासिकं प्रायश्चित्तमासीत्, इदानीं तु न तथा, तत्र शोधिस्थानमाह-"पुव्विं छम्मासेहिं, परिहारेण वा।" परिहारतपसा वा शोधिरासीत्, इदानीं निर्विकृतिकाऽऽदिभिरपि च शोधिः पञ्चकल्याणकदशकल्याणकोऽऽदिमात्रप्रायश्चित्तदानव्यवहारात् शोधिविषय एव । व्य० ३ उ० ।

( २३ ) कुतो निर्यूढानि प्रायश्चित्तानि कदा विनङ्क्ष्यन्ति । तत्र प्रथमतो यत्र प्रायश्चित्तमभिहित तदभिधित्सुराह-

सव्वं पि य पच्छित्तं, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुम्मि ।
तत्तो वि य निज्जूढं, पकप्प कप्पो य ववहारा ॥ ३३३ ॥

सर्वमपि प्रायश्चित्त नवमस्य प्रत्याख्याननाम्नः पूर्वस्य तृतीये वस्तुनि तत एव निर्यूढ इथ, प्रकल्पो निशीथाध्ययनं, कल्पो व्यवहारश्च ।

संप्रति " किं धरति किं च वोच्छिन्नं " इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह-

सपयपरूवण अणुम-ज्जणा य दस चोद अट्ठ दुट्ठ दुप्पसहे ।
अत्थि न दीसइ धणिए-ण विणा तित्थं च निज्जवए ॥३३४॥

स्वपद नाम निज स्थान, तच्च प्रज्ञापकस्य प्रायश्चित्तम् । तथाहि-चारित्रस्य प्रवर्त्तक. प्रज्ञापक उच्यते । प्रज्ञापन चातीव प्रायश्चित्तज्ञान इति स्वपद प्रज्ञापकस्य प्रायश्चित्त, तस्य प्ररूपणा कर्तव्या । तथा यावच्च दशपूर्विण तावद्दशानामपि प्रायश्चित्तानामनुषञ्जना । अग्रानामन्तिमाद्विरूपानां यावद् दु.-

प्रसन्न आचार्यस्तावद्नुपलभ्यते । यदप्युच्यते-इदतः कुर्वाणो वा शोधिं न दृश्यन्ते केचनेति । तदप्ययुक्तम् । यत आह-( अत्थि त्ति ) सन्ति तेऽपि केचित् न दृश्यन्ते, उपायेन ग्रहणात् । अत्र च विनेतिदृष्टान्तो धनिकेन वक्तव्य । तथा तीर्थे च चारित्रसहितमनुवर्तते । यदप्युक्तम्-निर्यामको नास्तीति । तदप्ययुक्तम् । यत आह-( निज्जवए त्ति ) निर्यापकोऽस्ति । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः " सपयपरूवणा " इत्यस्य व्याख्यानमाह-

पट्ठवगस्स उ सपयं, पच्छित्तं चोयगस्स तणगिट्ठं ।
तं संपयं पि विज्जइ, तहा जहा मे निसामेहि ॥३३५॥

प्रस्थापकस्य स्वपदं प्रायश्चित्तम् । एतत् प्रागेव भावितम् । तचोदकस्यानिष्टं नास्तीति समारूढम् । तच्चायुक्तम् । यत साम्प्रतमपि तद्विद्यते यथा कथ्यमानं निशामय ।

पासायस्स उ निम्मं, छिहाविय चित्तकारएहिँ जहा ।
लीलाविहूणं नवरं, आगारो होइ सो चेव ॥ ३३६ ॥

चक्रवर्तिनो वर्द्धकिरत्नेन प्रासादो निर्म्मापितः, तमन्ये राजानो दृष्ट्वा आत्मीयान् वर्द्धकीनादिशन्ति-यथा चक्रवर्तिन प्रासादः, ईदृशान् अस्माक प्रासादान् कुरुत तेऽब्रुवन्-देव ! स तादृशः प्रासादोऽस्माभिर्न दृष्टः,नवरं कदाच्यालेख्य दर्शयन्तु,येन स दृष्ट्वा तदनुरूपान्प्रासादान्निर्म्मापयाम । ततस्तै राजभिश्चक्रवर्तिनगरे प्रविश्य स्वस्वकीयैश्चित्रकारैः प्रासादस्य निर्म्मापण फलकेषु लेखापित, निजप्रधानवर्द्धकिना समर्पित, तैरपि तदनुरूपाः प्रासादा निर्म्मापिताः, पर यादृशी लीला चक्रवर्तिप्रासादस्य,न तादृशी तेषाम् । तथा चाऽऽह-तेषां प्राकृतवर्द्धकिनिष्पादितानां प्रासादानां निर्म्मापण नवरं लीलाविहीन जातम, आकार पुनर्भवति स एव यादृशश्चक्रवर्तिप्रासादस्य ।

एतदेव किञ्चिद्भावयति-

भुंजइ चक्की भोए, पासाए सिप्पिरयणनिम्मविए ।
किं न च कारेइ तहा, पासाए पागयजणो वि ? ॥३३७॥

चक्री चक्रवर्ती शिल्पिरत्ननिर्म्मापिते वर्द्धकिरत्ननिष्पादिते प्रासादे स्थित सन् भोगान् भुङ्क्ते, त च तथा दृष्ट्वा किं प्राकृतजनोऽपि प्राकृतराजलोकोऽपि तथा प्रासादान् न कारयति कारयत्येवेति भाव । पर न तादृशस्तेषां रूपविशेष ।

तत किमित्याह-

जह रूवादिविसेसा, परिहीणा होंति पागयजणस्स ।
न च तेन होंति गेहा, एमेव इमं पि पासामो ॥३३८॥

यथा प्राकृतजनस्य प्राकृतवर्द्धकिलोकस्य तथारूपसम्यक्परिज्ञानाभावेन रूपाऽऽदिविशेषा कर्तव्या तथा परिहीना प्रासादाना भवन्ति, न च ते न भवन्ति गेहा प्रासादा , एवमिदमपि प्रायश्चित्तं पश्याम ।

एतदेव भावयति-

एमेव य पारोक्खी, तयाणुरूवं तु सो वि ववहराति ।
किं पुण ववहरियव्वं, पायच्छित्तं इमं दसहा ॥ ३३९ ॥

एवमेव वर्द्धकिदृष्टान्तगतेन प्रकारेण तदनुरूपं प्रत्यक्षाऽऽगमव्यवहारानुरूप पारोक्षी परोक्षज्ञानी व्यवहरति । किं पुनर्व्यवहर्तव्यम् ?,उच्यते-इद वक्ष्यमाण दशधा दशप्रकारं प्रायश्चित्तम् ।

तदेवाऽऽह-

आलोयणपडिकमणे-मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे ।
तवछेयमूलअणव-ट्ठयायपारंचिए चेव ॥३४० ॥

आलोचना प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण मिथ्यादुष्कृतप्रदानलक्षणं, मिश्रमालोचनाप्रतिक्रमणाऽऽत्मक,विवेकः परिष्ठापनं,व्युत्सर्गः ?। तपश्चतुर्थाऽऽदिषण्मासपर्यन्तम् । छेद प्रव्रज्यापर्यायस्य दिनैर्मासैर्वा परिहानि । मूल पुनर्व्रताऽऽरोपणम् । अनवस्थाप्य,पाराञ्चित वा आसीषा च दशाना स्वरूप प्रागुक्त पीठिकायामुक्तं,कल्पाध्ययने वा, ततस्तस्मादवधार्यम् । तदेवम् " सपयपरूवणे त्ति" गतम् । व्य० १० उ० । ("अणुन्नवणा य" इत्यादि गाथा; ' तित्थाणुसज्जणा ' शब्दे २३१७ पृष्ठे व्याख्याताः )

(२४) श्रावकस्य प्रायश्चित्तमस्ति । अथ सूत्रे-पडिक्कमणाऽऽवश्यकमतिचारशुद्धिरूप वर्तते । न च श्रावकाणामालोचनाऽऽदिदशप्रकारशुद्धेर्मध्यादेकाऽपि कल्पाऽऽदिग्रन्थेषूपलभ्यते,न च तेषामतिचारा घटन्ते,सज्वलनोदय एव तेषामुक्तत्वात् । अत्रोच्यते-यद्यपि श्रावकाणां प्रकटतयाऽऽदिषु शुद्धिर्न दृश्यते, तथाऽप्यसौ श्रावकजीतकल्पाऽऽदे सकाशादवश्यमभ्युपगन्तव्या, अन्यथोपासकदशासु यदुक्त किल भगवान् गौतममुनिरानन्दश्रावक प्रत्यवादीत्-" तुमं ण आणंदा ! , एअस्स अट्ठस्स आलोआहि पडिक्कमाहि निंदाहि गरिहाहि अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जाहि । " इति कथं घटते ?। अत एव ज्ञापकादतिचारा अपि तेषां भवन्तीति सिद्धम् । यथा वा अतिचारा असज्वलनोदयेऽपि भवन्ति तथा प्रागुक्तम् । किञ्च-" सव्वं ति भाणिऊण, विरई खलु जस्स सव्विआ नत्थि । सो सव्वविरइवाई, चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥ १ ॥ " इत्यनया गाथया सामायिकसूत्रे सर्वशब्दवर्जं श्रावकस्योक्तम् ॥१॥ चतुर्विंशतिस्तवस्तु सम्यग्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वात्, सम्यग्दर्शनस्य च श्रावकस्यापि शोधनीयत्वात्, कर्तृविशेषस्य चानभिहितत्वाच्चोपपन्न एवास्य । किं च-ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणस्य गमनाऽऽगमनशब्देन भगवत्या शङ्खोपाख्यानके पुष्कलिश्रावककृतत्वेन दर्शितत्वाद्गमनाऽऽगमनशब्दस्य चेर्यापथिकीपर्यायतया भगवत्यामेव तेषु तदाख्यानकेषु ओघनिर्युक्तिचूर्ण्यो च प्रसिद्धत्वादीर्यापथिकीकायोत्सर्गे च चतुर्विंशतिस्तवस्य प्रायश्चित्तनीयत्वाच्चासौ सिद्ध इति ॥ २ ॥ वन्दनकमपि गुणवत्प्रतिपत्तिरूपत्वाद् गुणवत्प्रतिपत्तेश्च श्रावकस्याप्यविरुद्धत्वात् कृष्णाऽऽदिभिश्च तस्य प्रवर्तितत्वात्सङ्गतमेवास्य । ननु "पंचमहव्वयजुत्तो, अनलसमाणपरिवज्जिअमई अ । संविग्गनिज्जरट्ठी, किइकम्मकरो हवइ साहू ॥ १ ॥ " इति । अनया निर्युक्तिगाथया साधुग्रहणेन श्रावकस्य व्यवच्छेदात्र सङ्गतं तस्य वन्दनकम् । नैवम् । यत. साधुग्रहण तत्र तदन्यवन्दनकोपलक्षणार्थं,यदि तु व्यवच्छेदार्थमभविष्यत्तदा साध्व्या अपि व्यवच्छेदोऽभविष्यत् । न चासौ सङ्गतो, मातुर्विशेषेण वन्दनकनिषेधात् । तथा-" पंचमहव्वयजुत्तो " अनेन यथा महाव्रतग्रहणादणुव्रतयुक्तस्य व्यवच्छेद. तथा-पञ्चग्रहणाच्चतुर्महाव्रतयुक्तस्य मध्यतीर्थसाधोरपि व्यवच्छेद स्यात्, न चैतदिष्टमित्यतो निर्विशेषं वन्दनकमपीति ॥३॥ ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

" अहागिहं तवोकम्म पायच्छित्त पडिवज्जाहि । " इति प्रतीतम् । एतेन च निशीथाऽऽदिषु गृहिणं प्रति प्रायश्चित्तस्याऽप्रतिपादनाच्च तेषां प्रायश्चित्तमस्तीति ये प्रतिपद्यन्ते तन्मतमपास्तम् । साधूद्देशेन गृही प्रायश्चित्तस्य जीतव्यवहारानुपातित्वात् । व्यवा० ३ अ० । ( उद्धातिकमनुद्धातिकं वदतीति ' अणुग्घाइय ' शब्दे प्रथमभागे ३६४ पृष्ठे गतम् ) ( पञ्चनिर्ग्रन्थानां प्रायश्चित्तम् ' नियंठ ' शब्दे चतुर्थभागे २११६ पृष्ठे प्रतिपादितम् ) ( पञ्चविधस्य व्यवहारस्य प्रायश्चित्तदानविधिप्ररूपणा ' ववहार ' शब्दे प्ररूपयिष्यते )

## विषय-सूची-

( १ ) प्रायश्चित्तनिरुक्ताभिधानम् ।

( २ ) प्रायश्चित्ते अधिकारः ।

( ३ ) तावत् प्रायश्चित्तं कस्य भवति । व्रणचिकित्सातुल्यं प्रायश्चित्तम् । द्रव्यव्रण-भावव्रण-चिकित्सा । छेदविशेषेभ्योऽपराधशुद्धिः । मूलम्याऽनवस्थाप्यस्य,सविषयं समतान्तरं च पाराञ्चिकस्य च स्वरूपदर्शनम् । प्रायश्चित्तविचित्रतोपदर्शनेन मतान्तरम् । विशिष्टः शुभाध्यवसाय॰ प्रायश्चित्तम् । व्यतिरेके दोषमुपसंहारश्च । विशिष्टशुभभावेऽप्रमत्तस्यातिना यस्तो महार्थता च । विहितानुष्ठानेषु युक्तं प्रायश्चित्तं विहितेषु न, अत्र परमतम् । कथमुपयुक्तस्यापि सूक्ष्मा विराधनास्यादित्याशङ्का । प्रकृति-स्थित्य-पेक्षया बन्धः । सम्यक्चरितस्य प्रायश्चित्तस्य लिङ्गम्, प्रायश्चित्तसूत्रद्वयं च ।

( ४ ) प्रायश्चित्तमिति कः शब्दार्थः । कतिविधं प्रायश्चित्तम् । निरुक्त-भेद-द्वारप्रतिपादनम् । दशधा प्रायश्चित्तम् ।

( ५ ) प्रायश्चित्तदानयोग्या पर्षत्, कृतकरणाऽकृतकरणादिपुरुषभेदमार्गणायां प्रकारान्तरम् । तत्र यानि प्रायश्चित्तानि दातव्यानि । दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोजना । आचार्योपाध्यायभिक्षुचिकित्साविधिनानात्वं, अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयमित्यत्र संहिताद्या षड्विधा व्याख्या च ।

( ६ ) कस्य समीपे आलोचना दातव्या, अत्र चाऽश्वदृष्टान्तम् । वारत्रयमालोचनादापनेऽपि कथं श्रुतव्यवहारिणो मायामन्तर्गता ? । सोदाहरणं द्वित्रिचतुष्पञ्चषड्बहुमासिकं प्रायश्चित्तम् । विषमेषु प्रतिसेवनावस्तुषु कथं तुल्यं प्रायश्चित्तम् । सार्थोपनय॰ के ते दण्डास्तेषां च गाहा कथं दण्डं कुर्वन्ति तत्कथानकम् । सबहुतङ्गसभङ्गकपरिज्ञानं दण्डदानादानफलम् । बहुशब्दार्थः । येषां प्रतिस्थापनारोपणे क्रियेते तेषामुपदर्शनं, अपरिणामकेऽतिपरिणामके च दोषा दर्शिताः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टभिन्नानि स्थापनाऽऽरोपणयोश्च चत्वारि २ स्थानानि, दर्शितेषु स्थाने तयोरेव कियन्ति पदानीत्येतत्परिज्ञानम् । क्षेप, क्षेपपरिमाण, स्थानेषु दिवसमानप्रमाणम्, राशि-मान-प्रभु-द्वाराणि च । कियन्ति सिद्धानि प्रायश्चित्तानीति द्वारम् । सानुग्रहनिरनुग्रहकृत्स्ना आरोपणा॰, सर्वासामारोपणानां स्वरूपम्, गुणकारवशेन कृत्स्नाऽऽरोपणापरिज्ञानम्, ' दिवसानि मासानामे ' इति द्वारम्, अतिक्रमाद्यर्थदर्शनम्, यदेतत्सर्वं निशीथेऽभिहितं तत्रो निशीथ ( सूत्र ) मपि कृतः सिद्धम् । जितशत्रोः पृष्टपूर्वोदाहरणम्, औषधदाने चतुर्भङ्गाश्च-

चतुर्दशपूर्विणामधिकृत्य नालिकाज्ञातम्, आलोचनादिद्वारत्रिकं तत्रालोचनायामगारी दुर्बले भण्डी, आचार्ये स्वामित्वप्राप्ते निधिलाभेऽपि च स्तेन दृष्टान्तः । सोपनयौ गीतार्थोऽगीतार्थविषयौ कार्याकार्ययतनायत्नेषु वणिक्पुरुषदृष्टान्तौ । विकोविदाऽविकोविदस्वरूपं च ।

( ७ ) सङ्घात मूलातिचारप्रायश्चित्तम् ।

( ८ ) मूलोत्तरगुणप्रतिसेवायां प्रायश्चित्तमुत्तरगुणसंख्या तद्गतपुरुषविशेषश्च । सचयासचयेषूद्धातानुद्धातेषु प्रस्थापनविधिरसचये च प्रस्थापनायास्त्रयोदश पदानि । प्रायश्चित्तार्हपुरुषा उभयतरस्य च सोपनयदृष्टान्तः । प्रायश्चित्तं वहन् वैयावृत्त्यं च वहन् यद्यन्यत्प्रायश्चित्तमापद्यते तदा कथम् ? । असञ्चये उद्घातानुद्धाताऽपत्तिस्थानानां सुखावगमोपायम् ।

( ९ ) उद्घातानुद्धातदानविधिः ।

( १० ) अन्यतरस्वरूपम्, इन्द्रियादिभिरन्यदापन्ने विधिः, अन्यादृशे स्वासेविते यदन्यादृशं दीयते तत्र को हेतुः ? । सविस्तृतविवरणेन चतुर्भङ्गाश्च । दशमं प्रायश्चित्तं निषेव्य दशमेन, दशमं सेवित्वा नवमेन च शुद्ध्यत्यत्र निदर्शनम् । स्थविरास्ते कथं रागद्वेषाणां हानिं वृद्धिं वा जानीयुरुत्तरोत्तरं, हानिवृद्धिपरिज्ञानलिङ्गं च ।

( ११ ) आलोचनायां दन्तपुरकथानकं, आलोचनार्हं कृतस्याग्रे गुणाः, आलोचकस्वस्य च दश गुणाश्च । यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचनं, पञ्चकस्थानानि, आलोचनार्हपञ्चकाऽऽदि प्रायश्चित्तदानविधिः, अर्थतो नवमे, सूत्रतः पञ्चमे सूत्रे संयोगविधिश्च । एककाऽऽदिसंयोगेषु भङ्गसंख्याऽऽनयनाय करणं स्थापना च ।

( १२ ) आलोचनामाकर्ण्य प्रायश्चित्तदानं, छेदविकल्पाश्च ।

( १३ ) चातुर्मासिकं प्रतिसेव्यालोचयेत् ।

( १४ ) तत॰ तदपि कृत्स्नमारोपयितव्यम्, सद्भावनार्थं सचतुर्दृष्टान्तं प्रतिसेवनाऽऽलोचनाविषयचतुर्भङ्गिकासामान्यसूत्रम् । स्वस्थानपरस्थानज्ञानार्थमेतेष्वेव प्रायश्चित्तं, नवानामाचार्याणामालोचयतां यथासंख्यमिदं प्रायश्चित्तम् । प्राप्त्या प्रायश्चित्तलक्षणमोघतश्च नवविधं प्रायश्चित्तम् ।

( १५ ) अश्रद्धया कृतमफलम् ।

( १६ ) कीदृशेन कस्योपदिशेत् ।

( १७ ) प्रायश्चित्तमकालम् ।

( १८ ) प्रायश्चित्तमुपदिशेत् ।

( १९ ) यदेतत्प्रायश्चित्तं भणितं किमेतावता पर्यवसितं किं वा नेति । कीदृशस्य गणधरपदाध्यारोपणा विधीयते ? । मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि कान्तर्भवन्त्युत्तरोत्तरं, अष्टविधं नवविधं दशविधं च प्रायश्चित्तम् ।

( २० ) सप्रायश्चित्तं भिक्षुर्निर्ग्रन्थी स्वाध्यन्तीं नो कल्पते ।

( २१ ) प्रायश्चित्ते उदाहरणम् ।

( २२ ) इदानीं प्रायश्चित्तमस्ति । अधुना " न शीमद्‌ धरिएण विणा " इति व्याख्यानम् । सार्थोपनयः कथं काल सहते इति ।

( २३ ) कुतो निर्यूढानि प्रायश्चित्तानि कदा विच्छेद्यन्ति । ' किं धरति किं च वोच्छिन्न ' इति व्याख्या ।

( २४ ) श्रावकस्य प्रायश्चित्तमस्ति ?, इत्यस्य सम्प्रतिविधानं विस्तृतमुक्तम् ।

**पच्छित्तकरण**–प्रायश्चित्तकरण–न० । प्रायश्चित्तग्रहणरूपे योगसङ्ग्रहे, स० ३२ सम० । प्रश्न० । ( ' पच्छित्त ' शब्देऽनुपदमेव कथोक्ता )

**पच्छित्तववहार**–प्रायश्चित्तव्यवहार–पुं० । व्यवहारभेदे, व्य० ।

पच्छित्तं ववहारं, सुण वच्छ ! समासतो वुच्छं ॥ १७६ ॥

प्रायश्चित्ते व्यवहारं समासतो वक्ष्ये, तं वत्स ! वक्ष्यमाणं शृणु–

सो पुण चउव्विहो द–व्व खित्त काले य होइ भावे य ।
सचित्ते अचित्ते, दुविहो पुण होइ दव्वम्मि ॥ १७७ ॥

स पुनः प्रायश्चित्तव्यवहारश्चतुर्विधः । तद्यथा–द्रव्ये, क्षेत्रे, काले, भावे च । तत्र द्रव्ये पुनर्द्विविधो भवति । तद्यथा–सचित्ते, अचित्ते वा ।

तत्र प्रथमतः सचित्ते विवक्षुरिदमाह–

पुढविदगअगणिमारुय–वणस्सइतसेसु होइ सचित्ते ।
अचित्ते पिंड उवही, दस पन्नरसेव सोलसगे ॥ १७८ ॥
संघट्टणपरियावण–उद्दवणाऽऽवज्जणाएँ सट्ठाणं ।
दाणं तु चउत्थाऽऽदी, तत्तियमित्ता च कल्लाणा ॥ १७९ ॥

पृथिव्यादीनां संघट्टनाऽऽदौ प्रत्येकं यदापतति प्रायश्चित्तं तत्स्वस्थानमित्युच्यते । तच्च–" छक्काय चउसु लहुया " इत्यादिना प्रागेवाभिहितम् । इह तु दानप्रायश्चित्तमभिधीयते । किं तदित्याह–चतुर्थाऽऽदि । तद्यथा पृथिव्यादिकं वनस्पतिपर्यन्तमेकेन्द्रियमपद्रावयति जीविताद् व्यपरोपयति तदा अभक्तार्थं । द्वीन्द्रियमपद्रावयतः षष्ठम् । त्रीन्द्रियमपद्रावयतोऽष्टमम् । चतुरिन्द्रिये दशमम् । पञ्चेन्द्रिये द्वादशमम् ।" तत्तियमित्ता च कल्लाणा ।" इति । अथवा यस्य यावन्ति इन्द्रियाणि तस्य तावन्ति कल्याणानि प्रायश्चित्तम् । तद्यथा–एककल्याणकमेकेन्द्रियाणां परितापने, द्वे कल्याणके द्वीन्द्रियाणां, पूर्वार्द्धमित्यर्थः । त्रीणि कल्याणकानि त्रीन्द्रियाणाम, एकाशनकमिति भावः । चतुरिन्द्रियाणामाचाम्लम् । पञ्चेन्द्रियाणामभक्तार्थं ।

अथवेह वर्जनायां सचित्ते प्रायश्चित्तम्–

अहवा अट्ठारसगं, पुरिसे इत्थीसु वज्जिया वीसुं ।
दसगं च नपुंसेसु, आरोवण वन्निया तत्थ ॥ १८० ॥

वर्जना नाम–प्रव्राजनाया निषेधः । तत्र पुरुषे अष्टादशकं वर्जितम् । स्त्रीषु वर्जिता विंशतिः । दशकं नपुंसकेषु । तत्राऽऽरोपणाप्रायश्चित्तं प्राक्कल्पाध्ययने सप्रपञ्चमभिहितमिति ततोऽवधार्यम् ।

"अचित्ते पिंड उवही ( १७८ )" इत्यादि । अचित्ते प्रायश्चित्तं पिण्डविषयमुपधिविषयं च । केत्याह–दशके, पञ्चदशके, षोडशके च । इयमत्र भावना–पिण्डमुपधिं वा दशभिरेषणादोषैः, पञ्चदशभिरुद्गमदोषैः, इहाध्यवसायपूरकस्य मिश्रेऽन्तर्भावविवक्षणं तु पञ्चदशभिरित्युच्यते । षोडशभिरुत्पादनादोषैरविशुद्धं गृह्णतस्य प्रायश्चित्तं, तदपि च प्राक्कल्पाध्ययनेऽभिहितमिति न भूयो भण्यते । तदेवं सचित्ते अचित्ते, इति द्वारद्वयं गतम् ।

अधुना क्षेत्रद्वारं, कालद्वारं चाऽऽह–

जणवयअध्दाणरोधए, मग्गातीए य होंति खेत्तम्मि ।
दुब्भिक्खे य सुभिक्खे, दिया व राती व कालम्मि ॥ १८१ ॥

जनपदे अध्वनिरोधके मार्गातीते च यत् प्रायश्चित्तं तत् क्षेत्रे क्षेत्रविषयं भवति । इयमत्र भावना–जनपदेऽपि वसन् सस्तरन्नपि चाध्वानं प्रतिपन्नानां य कल्पस्तमाचरति, अध्वानं प्रतिपन्नो वा न यतनां करोति, दर्पेण वाऽध्वानं प्रतिपद्यते । तथा रोधकेऽपि सेनासु, तत्र यो विधिरभिहितस्तं न करोति । मार्गातीत क्षेत्राऽऽदि मार्गातीत क्षेत्रातिक्रान्तमशनाऽऽदिकमाहारयति एतेषु यत्प्रायश्चित्तं तत् क्षेत्रविषयमिति । सम्प्रति कालद्वारम्–दुर्भिक्षे सुभिक्षे दिवा रात्रौ च काले कालविषयम् । किमुक्तं भवति ?–सुभिक्षेऽपि काले सस्तरन्नपि दुर्भिक्षम, अयतनां करोति । तथा दिवसे य कल्पस्तं रजन्यामाचरति रजन्यामपि यः कल्पस्तं दिवा अथवा यो दिवसकल्पस्तं न्यूनमधिकं वा करोति । एवं रात्रिकल्पमपि । एतेषु यत्प्रायश्चित्तं तत् कालविषयम ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवृणोति–

वसमे वि व विहिकरणं, संथरमाणं च खेत्तपच्छित्तं ।
अध्दाणे उ अजयणं, पवज्जणा चेव दप्पेणं ॥ १८२ ॥
कालम्मि उ संथरणे, पडिसेवइ अजयणावएसम्मि ।
दियनिसिमेराऽकरणं, ऊणऽहियं वा वि कालेणं ॥ १८३ ॥

वसिमेऽपि सस्तरणतोऽपि यदध्वविधिकरणं तन्निष्पन्नं क्षेत्रप्रायश्चित्तम् । तथा अध्वानेऽप्रयत्ने अयतनायामध्वनः प्रपदने वा दाने वा दर्पेण प्रायश्चित्तम । तथा काले सुभिक्षे सस्तरणेऽपि दुर्भिक्षकल्पं समाचरति, दुर्भिक्षे वा समापतितेऽयतना दिवानिशामर्यादाया अकरणं दिवसस्य कल्पस्य रात्रौ रात्रिकल्पस्य दिवसे समाचरणमिति भावः । यदि वा–दिवसकल्पस्य रात्रिकल्पस्य ऊनमधिकं वा करणं तन्निष्पन्नं कालविषयं प्रायश्चित्तम् ।

भावविषयमाह–

जोगतिए करणतिए, दप्पे पमाएँ पुरिसेँ भावम्मि ।
एएसिं तु विभागं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ १८४ ॥

योगत्रिकं मनोवाक्कायलक्षणं, करणत्रिकं करणकारापणकारणानुमोदनारूपं, दर्पो निष्कारणमकल्प्यस्य प्रतिसेवनम, प्रमादः पञ्चविधः, पुरुषो गुर्वादिलक्षणो वक्ष्यमाणः, एतेषु यत्प्रायश्चित्तं तद्भावविषयम । साम्प्रतमेतेषामेव पदानां विभागमहं समासेन वक्ष्ये ।

तत्र योगत्रिककरणत्रिककारणमाह–

जोगतिए करणतिए, सुभासुभे तितिहकालभेएणं ।
सत्तावीसं भंगा, दुगुणा वा बहुत्तरा वा वि ॥ १८५ ॥

योगत्रिके करणत्रिके प्रत्येकं शुभे अशुभे च त्रिविधकालभेदेन सञ्चार्यमाणे सप्तविंशतिर्भङ्गा भवन्ति, द्विगुणा वा, बहुतरा वा ॥ तद्यथा मनसा करोति १, मनसा कारयति २, म-

मसा कुर्वन् मनसा जानाति ३। एवं च वचसा ३, कायेन ३ च। तत्र सर्वसंख्यया नव। एते चातीतानागतवर्तमानरूपकालत्रिके चिन्त्यमानाः सप्तविंशतिर्भवन्ति। एते वा सूत्रव्यापारसमाचरणविषयेऽपि द्रष्टव्यम्। यथा न करोति कालमात्रमपि च तस्य सूत्रव्यापारम् १, न च कारयति २, कुर्वन्तं नानुजानीते ३। इत्यादि। तथैव उभयमीलने चतुःपञ्चाशत् उक्तम्। त्रिगुणा वा एते एककसंयोगे द्विकत्रिकसंयोगे च बहुतरा भवन्ति। ते चाऽऽवश्यकटीकायां प्रत्याख्यानचिन्तायामिव भावनीयाः। ततोऽप्यादि बहुतरा वाऽपि।

अथ मनसा कथं करणमनुमननं वा ?। तत आह-

**वावेमऽहमंबवणं, मणसा करणं तु होयऽवुत्ते वि।**
**अणुजाणसु जेणुप्पइ, मणकारण मो अवारेंते ॥१८६॥**

कोऽपि संयतः कञ्चित्प्रदेशं दृष्ट्वा चिन्तयति-अस्मिन्नवकाशेऽहमाम्रवणं वपामि, यद्यपि तेन तथा चिन्तयित्वा नोसमाम्रवणं तथाऽपि तदेन मनसा कृतमिति मनसा करणम्। तथा केनचिद् गृहस्थेन संयत उक्तो यथा संयत! यदि त्वमनुजानासि तत एतस्मिन्नवकाशे आम्रवणं वपामि तस्मादनुजानीहि येनोप्यते इति एवमुक्ते यदि निवारयति तदा वरं, अथवाऽनुक्तेऽपि मनसा कारापणं द्रष्टव्यम्।

तदेव भावयति-

**मागहा इंगिएणं तु, पेहिएण य कोसला।**
**अद्धुत्तेण उ पंचाला, नाणुत्तं दक्खिणावहा ॥ १८७ ॥**
**एवं तु अणुत्ते वी, मणसा कारावणं तु बोधव्वं।**
**मणसाऽणुन्ना साहू, नूयवणं वुत्त वुप्पति वा ॥ १८८ ॥**

मागधा मगधदेशोद्भवाः प्रतिपन्नमप्रतिपन्नं वा इङ्गिताऽऽकारविशेषेण जानन्ति। कोशलाः प्रेक्षितेन अवलोकनेन। पञ्चाला अर्द्धोक्तेन। नानुक्त दक्षिणापथाः, किं तु साक्षाद्वचसा स्वकीकृत ते जानते, प्रायो जडप्रकृतत्वात्। तत एवं सति वचसाऽनुक्तेऽपि निवारणाभावात् मनसा कारापणं बोद्धव्यम्। सम्प्रति मनसाऽनुज्ञातं भावयति-चूतवनमुप्तं पूर्वमारोपितम्। यदि वा-उप्यते। आरोप्यमाणं तिष्ठतीति ज्ञात्वा साधुः चिन्तयति-शोभनं यदिह चूतवनमुप्तमुप्यते वा। एषा मनसाऽनुज्ञा।

**एवं वयकायम्मी, तिविहं करणं विजाण बुद्धीए।**
**हत्थाऽऽदिसन्न छोटिं. इय काए कारणमणुण्णा ॥१८९॥**

एवमुक्तप्रकारेण वचसि काये च त्रिविधं करणं करणकारणानुमननलक्षणं स्वबुद्ध्या विजानीत। तत्र वचसि सुप्रतीतम्, काये तु दुर्विभावमिति तद्भावनामाह-( हत्थादि इत्यादि ) अत्रापि कायेन स्वयं करणमिति प्रतीतम्। ततः कारणमाह-हस्ताऽऽदिसंज्ञा कायेन, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे। कारणम्। तथा-छोटिं नखच्छोटिकां ददतः कायेन अनुज्ञा।

**एवं नवभेएणं, पाणाइवायादिगे उ अइयारे।**
**निरवेक्खमणेण वि प-च्छित्तमियरेसि उभएणं ॥१९०॥**

एवमुक्तेन प्रकारेण नवभेदेन, समाहारोऽयम्। नवभिर्भेदैः प्राणातिपाताऽऽदिके अतीचारे यत्प्रायश्चित्तं तद्भावविषयमिति भावः। तत्र निरपेक्षाणां प्रतिमाप्रतिपन्नाऽऽदीनां मनसाऽप्यतीचारसेवने प्रायश्चित्तम्, इतरेषां गच्छस्थितानामुभयेन वाचा कायेन वाऽतीचारसेवने प्रायश्चित्तमिति ॥ १९० ॥

**वायामवग्गणादी, धावण डेवणं य होइ दप्पेणं।**
**पंचविहपमायम्मी, जं जहिं आवज्जई तं तु ॥१९१॥**

यच्छिष्कारणं व्यायामवल्गनाऽऽदि करोति। यदि वा-धावनं, डेपनं वा लोष्ठाऽऽदेः प्रक्षेपणं तद्विषयं प्रायश्चित्तं भवति ज्ञातव्यम्। दर्पेण तथा पञ्चविधे पञ्चप्रकारे प्रमादे यं प्रमादमापद्यते यत्र तद्भवति प्रमादविषयं प्रायश्चित्तम्।

संप्रति पुरुषानाह-

**गुरुमाईया पुरिसा, तुल्लऽवराहे वि तेसि नाणत्तं।**
**परिणामगाइया वा, इड्ढिमनिक्खंत असहू वा ॥१९२॥**
**पुरं वाल थिरा चेव, कयजोग्गा य सेयरा।**
**अहवा सभावतो पुरिसा, होंति दारुण भद्दगा ॥१९३॥**

गुर्वादयः पुरुषास्तेषां तुल्येऽप्यपराधे प्रायश्चित्तमधिकृत्य भवति नानात्वम्। अथवा-त्रिविधाः पुरुषाः परिणामकाऽऽदयः। परिणामकाः, अपरिणामकाः, अतिपरिणामकाश्च। तेषामपि तुल्येऽप्यपराधे प्रायश्चित्तम्। अथवा-अन्यथा भवति। अथवा अनेकविधाः पुरुषाः। तद्यथा-ऋद्धिमन्निष्क्रान्ताः,अऋद्धिमन्निष्क्रान्ताश्च। असहाः,ससहाश्च। पुरुषाः स्त्रीपुंनपुंसकानि च, बालास्तरुणाश्च, स्थिरा अस्थिराश्च, कृतयोगा अकृतयोगाश्च। सेतरा नाम-प्रतिपक्षाः। एतेषामपि तुल्येऽप्यपराधे पुरुषभेदेन प्रायश्चित्तभेदः। अथवा-स्वभावतः पुरुषा द्विविधा भवन्ति। तद्यथा-दारुणाः,भद्रकाश्च। तत्र तुल्येऽप्यपराधे दारुणानामन्यत्प्रायश्चित्तम्, अन्यद् भद्रकाणामिति।

उपसंहारमाह-

**पायच्छित्ताऽऽभवती, ववहारेसो समासतो भणितो।**
**जेणं तु ववहारिज्जइ, इयाणि तं तू पवक्खामि ॥१९४॥**

एषोऽनन्तरोदितः प्रायश्चित्ते आभवति च प्रत्येक पञ्चविधो व्यवहारः समासतो भणितः। इदानीं तु येन व्यवह्रियते तं व्यवहारं प्रवक्ष्यामि। व्य० १० उ०। ( स च "ववहार" शब्दे दर्शयिष्यते )

**पच्छित्ताणुपुव्वी**-प्रायश्चित्तानुपूर्वी-स्त्री०। प्रायश्चित्तानुपरिपाट्यां गुरुलघुपञ्चकाऽऽदिक्रमे, व्य० १ उ०।

**पच्छिपिडय**-पच्छिपिटक-न०। पक्षिकालक्षणपिटके, भ० ७ श० ८ उ०।

**पच्छिम**-पश्चिम-त्रि०। पश्चात्-डिमच्। "हस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" ॥ ८। २। २१॥ इति श्चभागस्य छः। प्रा० २ पाद। पाश्चात्ये सर्वान्तिमे, न०। आ०। स्था०। आ० म०।

**पच्छिमओ**-पश्चिमतस्-अव्य०। पश्चिमभागे, पञ्चा० ३ विव०।

**पच्छिमंत**-पश्चिमान्त-न०। पश्चादनीके, "पच्छिमंतपरागाहरणे।" पश्चिमान्ते पश्चादनीके कस्यापि विजिगीषोः पताकाहरणमन्ते जयाय भवति, संथा०।

पच्छिमखंध-पश्चिमस्कन्ध-पुं० । पश्चिमशरीरे, आ० चू० । अथ कोऽयं पश्चिमस्कन्धः ?, इति प्रश्ने व्याख्यायते-औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि स्कन्ध इत्याचक्षते । पश्चिमशरीरं पश्चिमभव इति यावदुक्तं स्यात्तावदिदं पश्चिमस्कन्ध इति कथमिह यस्मादयमनादौ संसारे परिभ्रमन् स्कन्धान्तराणि भूयांसि गृह्णाति मुञ्चति च तस्याऽऽयसमयमवाप्य स्कन्धमाविर्भूतासाधारणज्ञानदर्शनचारित्रवलोभूय स्कन्धान्तरमन्यदात्मनोपादत्ते स पश्चिमस्कन्ध इति । आ० चू० १ अ० ।

पच्छिमग-पश्चिमक-पुं० । चरमे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

पच्छी-स्त्री० । देशी-पेटिकायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १ गाथा ।

पच्छेणय-न० । देशी-पाथेये, दे० ना० ६ वर्ग २४ गाथा ।

पजंपमाण-प्रजल्पत्-त्रि० । प्रजल्पनकारके, भ० ११ श० ११ उ० ।

पजंपिय-प्रजल्पित-त्रि० । प्रकृष्टवचने, सू० १ श्रु० ३ प्रक० ।

पजणण-प्रजनन-न० । प्रजन्यतेऽनेनापत्यं प्रजननम् । लिङ्गे, शिश्ने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । मेहने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । विशे० ।

पजणणपुरिस-प्रजननपुरुष-पुं० । प्रजन्यतेऽपत्यं येन तत्प्रजननं शिश्नं लिङ्गम्, तत्प्रधानः पुरुषः, परपुरुषकार्यहितत्वात् । पुरुषभेदे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पजहियव्व-प्रहातव्य-त्रि० । त्यक्तव्ये, " लोको जह वज्झइ जह य त पजहियव्वं । " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

पज्ज-पद्य-त्रि० । छन्दोनिबद्धे वाक्ये, यथा विमुक्ताध्ययनम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अधुना पद्यमाह-

> पज्जं तु होइ तिविहं, सममद्धसमं च नाम विसमं च ।
> पाएहिँ अक्खरेहि य, एव विहिन्नू कई बेंति ॥ १७८ ॥

पद्यम्, तुशब्दो विशेषणार्थः । भवति त्रिविधं त्रिप्रकारम्-समम्, अर्द्धसमं च, नाम विषमं च । कैः सममित्यादि । अत्राऽऽह-पादैरक्षरैश्च । पादैश्चतु पादाऽऽदिभिः, अक्षरैर्गुरुलघुभिः । अन्ये तु व्याचक्षते-समं यत्र चतुर्ष्वपि पादेषु समान्यक्षराणि । अर्द्धसमं यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समान्यक्षराणि । विषमं तु सर्वपादेष्वेव विषमाक्षरमित्येवं विभिन्नाः छन्दःप्रकारज्ञाः कवयो ब्रुवत इति गाथार्थः ॥ १७८ ॥ दश० २ अ० । वृत्ताऽऽदि गीयते यत्र तादृशे गेयभेदे, ज० १ वक्ष० ।

पाद्य-न० । पादहितं पाद्यम् । पादप्रक्षालनोदके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

पज्जंत-पर्यन्त-पुं० । "पल्ल्युत्करपर्यन्ताऽऽश्चर्ये वा" ॥८।१।५८॥ इति आदेरत एत्वम् । "पेरंतो । पज्जंतो " प्रा० १ पाद । प्रान्ते, औ० । आद्यन्तलक्षणे प्रान्ते, विशे० ।

पज्जण-न० । देशी-पाने, दे० ना० ६ वर्ग ११ गाथा ।

पज्जणय-पायन-न० । जलनिबोलने, " नवपज्जणएण । " नवप्रत्यग्र(पज्जणएण ति) प्रतरचितस्यायोघनकुट्टनेन तीक्ष्णीकृतस्य पायनं जलनिबोलनं यस्य तन्नवपायनं, तेन । भ० १४ श० ७ उ० ।

पज्जणया-पायनता-स्त्री० । निष्पन्नस्य वस्तुनः प्रतिकापायके, सू० १ उ० ।

पज्जणुओग-पर्यनुयोग-पुं० । प्रश्नाऽऽदिद्वारेण विचारणायाम्, सम्म० २ काण्ड । विशे० । आ० म० ।

पज्जणुजुज्जुपेक्खण-पर्यनुयोज्योपेक्षण-न० । ऊनविंशतिमे निग्रहस्थानभेदे, स्या० । निग्रहस्थानप्राप्तस्योपेक्षणे, " निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् । " ( गौत० सू० ५ । २ । २२ ) पर्यनुयोज्योपेक्षणं लक्षयति-निग्रहस्थानं प्राप्तवतोऽनिग्रहः, निग्रहस्थानानुद्भावनमित्यर्थः । यत्र त्वनेकनिग्रहस्थानपाते एकतरोद्भावनं तत्र न पर्यनुयोज्योपेक्षणम् । अवसरे निग्रहस्थानोद्भावनत्वावच्छिन्नाभावस्यैव तत्त्वात् । ननु वादिना कथमिदमुद्भाव्यं, स्वकौपीनविवरणस्यायुक्तत्वादिति चेत् । सत्यम् । मध्यस्थेनैवमुद्भाव्यम् । वादे च स्वयमुद्भावनेऽप्यदोषः । इतिविश्वनाथकृतवृत्तिः । वाच० ।

पज्जण्ण-पर्जन्य-पुं० । सेचने, इन्द्रे, मेघे च । वाच० । " अत्थि णं भंते ! पज्जण्णे कालवासी वुट्ठिकायं पकरेंति ? । हंता अत्थि । " भ० १४ श० २ उ० ।

पज्जत्त-पर्याप्त-त्रि० । पर्याप्तयो विद्यन्ते यस्यासौ पर्याप्तः । "अभ्राऽऽदिभ्यः " ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । न० । " द्वय्यर्या त्तः " ॥ ८ । २ । २४ ॥ इति द्यस्थाने ज्ञः । प्रा० २ पाद । पद् पर्याप्ती परिसमाप्तवति, आ० म० १ अ० । कर्म० १ प्रज्ञा० । पं० सं० । समस्तपर्याप्तिनि पर्याप्ते संज्ञिनि, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । सर्वे जीवाः पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति द्विविधाः । प्रज्ञा० १ पद । लब्धे, अणु० ७ वर्ग १ अ० । परिपूर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । "पज्जत्त च पहुत्त ।" पाइ० ना० १८४ गाथा ।

पज्जत्तग-पर्याप्तक-त्रि० । पर्याप्त एव पर्याप्तक, पर्याप्तनामकर्मोदयात् । स्था० २ ठा० २ उ० । ('अपज्जत्तग' शब्दे प्रथमभागे ५६३ पृष्ठे दृष्टव्य उक्त ) अवाप्तपर्याप्तौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "नारयदेवतिरियमणुय -गब्भजा जे असंखवासाओ । एए अप्पज्जत्ता खलु, उववाए चेव बोधव्वा ॥" आ० । पर्याप्तिनामकर्मोदयान्निजनिजपर्याप्तियुते, कर्म० १ कर्म० ।

पज्जत्तणाम-पर्याप्तनामन्-न० । पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते । " अभ्राऽऽदिभ्यः" ॥७।२।४६॥ इत्यप्रत्ययेऽन पर्याप्ताः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि पर्याप्तनाम । कर्म० । चतुर्विंशतितमनामकर्मभेदे, यदुदयात् स्वपर्याप्तियुक्ता भवन्ति जीवास्तत्पर्याप्तनामेत्यर्थः । ते च पर्याप्ता द्विधा-लब्ध्या, करणैश्च । तत्र ये स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थ्य म्रियन्ते नार्वाग् ते लब्धिपर्याप्ताः, ये च पुनः करणानि शरीरेन्द्रियाऽऽदीनि निवर्तितवन्तस्ते करणपर्याप्ता इति । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । आ० । प० सं० । ( एतेनैव शरीरोत्पत्त्याययो. सिद्धयोः शरीरनामाऽऽदिपृथगुपादानं 'णामकम्म' शब्दे चतुर्थभागे १९९९ पृष्ठे निहितम् )

पज्जत्ति-पर्याप्ति-स्त्री० । सामर्थ्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आहाराऽऽदिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः, स च पुद्गलोपचयादुपजायते । किमुक्तं भवति ?-उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथाऽन्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्सम्पर्कतस्तद्रूपतया जातानां य शक्तिविशेषः आहाराऽऽदिपुद्गलखलरसरूपताऽऽपादानहेतुर्यथोदरान्तर्गतानां पुद्गल-

विशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतुः सा पर्याप्तिः । सा च षोढा । तद्यथा-आहारपर्याप्तिः, शरीरपर्याप्तिः, इन्द्रियपर्याप्तिः, प्राणापानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिश्च । इति । जी० १ प्रति० । प्रव० । प्रज्ञा० । न० । प० स० । कर्म० । दर्श० । स्था० । ( आसां व्याख्या स्वस्वस्थाने ) ( 'जीवट्ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १५४८ पृष्ठे विशेषः ) समस्तपर्याप्तिपर्याप्तितायाम्, उत्त० ३ अ० । प्रश्न० । आहारशरीराऽऽदीनां निर्वृत्तौ, भ० ३ श० १ उ० । आ० म० ।

पज्जवबंध-पर्यवबन्ध-पु० । छन्दोनियतकाव्यरचने, स्था० १ श्रु० ६ अ० ।

पज्जय-प्रार्जक-पु० । पितुः पितामहे, भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० । " अज्जए पज्जए वा वि, बप्पो चुल्लपिउत्ति य । " दश० ७ अ० ।

पज्जयजोग-पर्याययोग-पु० । परिणतिसम्बन्धे, सम्म० १ काण्ड ।

पज्जयसमास-पर्यायसमास-पु० । ये हि द्व्यादयः श्रुतज्ञानाविभागपलिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते तेषां समुदाये, वृ० १ उ० । लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत्सर्वजघन्यं श्रुतमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकः श्रुतज्ञानांशो विभागपलिच्छेदरूपो वर्धते, तस्मिन्, कर्म० १ कर्म० ।

पज्जरइ-देशी-क्लायति, दे० ना० ६ वर्ग २४ गाथा ।

पज्जरय-पर्जरक-पु० । सीमन्तकप्रभावरकेन्द्रकात् पूर्वावलिकायां पञ्चत्रिंशत्तमे महानरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ।

पज्जरयमज्झ-पर्जरकमध्य-पु० । सीमन्तकमध्यादुत्तरावलिकासु पञ्चत्रिंशत्तमे नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ।

पज्जरयावत्त-पर्जरकाऽऽवर्त्त-पु० । सीमान्तकाऽऽवर्तात्पश्चिमायां पञ्चत्रिंशत्तमे नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ।

पज्जरयावसिट्ठ-पर्जरकावशिष्ट-पुं० । सीमान्तकावशिष्टाद्दक्षिणायां पञ्चत्रिंशत्तमे नरकेन्द्रके, स्था० ६ ठा० ।

पज्जलंत-प्रज्वलत्-त्रि० । जाज्वल्यमाने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पज्जलण-प्रज्वलन-पु० । प्रज्वलयति दीपयति वर्णवादकरणेन मागधवदिति प्रज्वलनः । तस्मिन्, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दर्पित-पु० । अवष्टम्भके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पज्जलिय-प्रज्वलित-पु० । जाज्वल्यमाने, ग० २ अधि० । आव० ।

पज्जव-पर्यव-पु० । परि सर्वतो भावे, अवनमवः । तुदादिभ्यो नकाविस्यधिकारे, "अकितो वा ।" इत्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । अवनं, गमनं, वेदनमिति पर्यायाः । अथ वा-पर्यवणं पर्यवः, भावेऽल् प्रत्ययः । परिच्छेदे, आ० म० १ अ० । प्रज्ञा० । अनु० । स्था० । धर्मे, पर्याया पर्यवाः पर्यया धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । भ० २५ श० ५ उ० । अनु० । विशे० । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । पर्याया गुणा विशेषा धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । प्रज्ञा० ५ पद । विशे० । ज्ञानाऽऽदिविशेषे, स्था० १ ठा० । आव० । स्वपरभेदभिन्ने नवपुराणाऽऽदौ च, भ० ५ श० । पर्यवा द्विविधाः । तद्यथा-गुणाः, पर्यायाश्च । सहवर्तिनो गुणाः, शुक्लाऽऽदयः । क्रमवर्तिनः पर्यायाः, नवपुराणाऽऽदयः । तत्र गुणाः स्थूलाः । पर्यायास्तु तत्सूक्ष्माः । आ० म० १ अ० । नाव० ।

कतिविधाः पर्यवा ?, इति-

कइविहा णं भंते ! पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पज्जवा पण्णत्ता । तं जहा-जीवपज्जवा य, अजीवपज्जवा य ॥

( कइविहा णं भंते ! पज्जवा पण्णत्ता ? । इति ) अथ केनाभिप्रायेण गौतमस्वामिना भगवानेवं पृष्टः ? । उच्यते-उक्तमादौ प्रथमपदे,प्रज्ञापना द्विविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-जीवप्रज्ञापना, अजीवप्रज्ञापना चेति । तत्र जीवाश्च, अजीवाश्च द्रव्याणि । द्रव्यलक्षणं चेदम्-"गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति ।" ततो जीवाजीवपर्यायभेदावगमार्थमेवं पृष्टवान् । तथा च भगवानपि निर्वचनमेवमाह-(गोयमा ! दुविहा पज्जवा पण्णत्ता । तं जहा-जीवपज्जवा य, अजीवपज्जवा य इति) तत्र पर्याया गुणा विशेषा धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । ननु सम्बन्धं प्रतिपादयतेदमुक्तम्, इह त्वौदयिकाऽऽदिभावाऽऽश्रयपर्यायपरिमाणावधारणं प्रतिपाद्यत इति । औदयिकाऽऽदयश्च भावा जीवाऽऽश्रयास्ततो जीवपर्याया एव गम्यन्ते । अथ चास्मिन्निर्वचनसूत्रे द्वयानामपि पर्याया उक्ताः। ततो न सुन्दरः सम्बन्ध । तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात् । औदयिको हि भावः पुद्गलद्रव्याणामपि भवति, ततो जीवाजीवभेदेनौदयिकभावस्य द्वैविध्यान्न सम्बन्धः, कथं न निर्वचनसूत्रयोर्विरोधः ? ।

सम्प्रति सम्बन्धपरिमाणावगमाय पृच्छति-

जीवपज्जवा णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ? । गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवपज्जवा नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ? । गोयमा ! असंखेज्जा णेरइया असंखेज्जा असुरा असंखेज्जा नागा असंखेज्जा सुवण्णा असंखेज्जा विज्जुकुमारा असंखेज्जा अग्गिकुमारा असंखेज्जा दीवकुमारा असंखेज्जा उदहिकुमारा असंखेज्जा दिसाकुमारा असंखेज्जा वाउकुमारा असंखेज्जा थणियकुमारा असंखेज्जा पुढविकाइया असंखेज्जा आउकाइया असंखेज्जा तेउकाइया असंखेज्जा वाउकाइया अणंता वणस्सइकाइया असंखेज्जा बेइंदिया असंखेज्जा तेइंदिया असंखेज्जा चउरिंदिया असंखेज्जा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया असंखेज्जा मणुस्सा असंखेज्जा वाणमंतरा असंखेज्जा जोइसिया असंखेज्जा वेमाणिया । अणंता सिद्धा । से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । तेणं णो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ॥

( जीवपज्जवा णं भंते ! किं संखेज्जा इत्यादि ) इह यस्माद्वनस्पतिसिद्धवर्जाः सर्वेऽपि नैरयिकाऽऽदयः प्रत्येकमसंख्येयाः, मनुष्येष्वसंख्येयत्वं सम्मूर्छिममनुष्यापेक्षया, वनस्पतयः सिद्धाश्च प्रत्येकमनन्ता ततः पर्यायिणामनन्तत्वात्पर्यवा अप्यनन्ता जीवपर्यायाः, तदेव गौतमेन सामान्येन जीवपर्यायाः पृष्टा भगवानपि च सामान्येन निर्वचनमुक्तवान् ।

इदानीं विशेषविषयप्रश्नं गौतम आह-

णेरइयाणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-णेरइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ? । गोयमा ! णेरइए णेरइयस्स दव्वट्ठ-

थाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले उग्गाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए, जदि हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा, अह अब्भहिए असंखेज्जभागमब्भहिए संखेज्जभागमब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए संखेज्जगुणमब्भहिए वा, ठिइए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय मब्भहिए, जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा, अह अब्भहिए असंखेज्जइभागमब्भहिए वा संखेज्जइभागमब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए वा संखिज्जगुणमब्भहिए वा । कालवण्णपज्जवेहिं सिय हीणे सिय तुल्ले सिय मब्भहिए, जदि हीणे अणंतभागहीणे वा असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा संखिज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा अणंतगुणहीणे वा, अह अब्भहिए अणंतभागमब्भहिए वा असंखेज्जभागमब्भहिए वा संखेज्जभागमब्भहिए वा संखेज्जगुणमब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए वा अणंतगुणमब्भहिए वा । नीलवण्णपज्जवेहिं लोहियवण्णपज्जवेहिं पीयवण्णपज्जवेहिं सुक्किलवण्णपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए, सुब्भिगंधपज्जवेहिं दुब्भिगंधपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, तित्तरसपज्जवेहिं कडुयरसपज्जवेहिं कसायरसपज्जवेहिं अंबिलरसपज्जवेहिं महुररसपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए, कक्खडफासपज्जवेहिं मउयफासपज्जवेहिं गरुयफासपज्जवेहिं लहुयफासपज्जवेहिं सीतफासपज्जवेहिं उसिणफासपज्जवेहिं णिद्धफासपज्जवेहिं लुक्खफासपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए, आभिनिबोहियनाणपज्जवेहिं सुयनाणपज्जवेहिं ओहिनाणपज्जवेहिं मइअन्नाणपज्जवेहिं सुयअन्नाणपज्जवेहिं विभंगनाणपज्जवेहिं चक्खुदंसणपज्जवेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं ओहिदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ-णेरइया णं नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता पज्जवा पण्णत्ता ।

अथ केनाऽभिप्रायेणैवं गौतमः पृष्टवान् ? । उच्यते-पूर्वं किल सामान्यप्रश्ने पर्यायिणामनन्तत्वात् पर्यायाणामानन्त्यमुक्तम् । यत्र पुनः पर्यायिणामानन्त्यं नास्ति तत्र कथमिति पृच्छति-(नेरइयाणमित्यादि) तत्राऽपि निर्वचनमिदम्-अनन्ता इति । अत्रैष जातसंशय प्रश्न इति । ( से केणट्ठे णं भंते ! इत्यादि ) अथ केनार्थेन केन कारणेन केन हेतुना भदन्त ! एवमुच्यते-नैरयिकाणां पर्याया एवमनन्ता इति । भगवानाह-( गोयमा ! नेरइए नेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले इत्यादि ) अथ पर्यायाणामानन्त्यं कथं घटते ?, इति पृष्टे तदेव पर्यायाणामानन्त्यं यथायुक्त्युपपन्नं भवति तथा निर्वचनीयं, नान्यत्, ततः केनाऽभिप्रायेण भगवानेवं निर्वचनमवाचि ? नैरयिको नैरयिकस्य द्रव्यार्थतया तुल्य इति ? । उच्यते-एकमपि द्रव्यमनन्तपर्यायमित्यस्य न्यायस्य प्रदर्शनार्थम् । तत्र यस्मादिदमपि नारकजीवद्रव्यमेकसंख्याऽवरुद्धमिदमिति नैरयिकस्य द्रव्यार्थतया तुल्यो, द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थस्तद्भावो द्रव्यार्थता, तया तुल्य एवं तावद् द्रव्यार्थतया तुल्यत्वमभिहितम् । इदानीं प्रदेशार्थतामधिकृत्य तुल्यत्वमाह-( पएसट्ठयाए तुल्ले ) इदमपि नारकजीवद्रव्यं लोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशमिति प्रदेशार्थतयाऽपि नैरयिको नैरयिकस्य तुल्यः प्रदेशा एवार्थः प्रदेशार्थः, तद्भावः प्रदेशार्थता, तया प्रदेशार्थतया । कस्मादभिहितमिति चेत् ? । उच्यते-द्रव्यद्वैविध्यप्रदर्शनार्थम् । तथाहि-द्विविधं द्रव्यम्-प्रदेशवत्, अप्रदेशवच्च । तत्र परमाणुरप्रदेशो, द्विप्रदेशाऽऽदिकं तु प्रदेशवत् । एतच्च द्रव्यद्वैविध्यं पुद्गलास्तिकाय एव भवति । शेषाणि तु धर्मास्तिकायाऽऽदीनि द्रव्याणि नियमादसंख्येयप्रदेशानि । ( उग्गाहणट्ठयाए सिय हीणे इत्यादि ) नैरयिकोऽसंख्यातप्रदेशोऽपरस्य नैरयिकस्य तुल्यप्रदेशस्य अवगाहनमवगाहः शरीरोच्छ्रयोऽवगाहनमेवार्थोऽवगाहनार्थस्तद्भावोऽवगाहनार्थता, तया अवगाहनार्थतया । ( सिय हीणे इत्यादि ) स्याच्छब्दः प्रशंसाऽस्तित्वविवादविचारणाऽनेकान्तसंशयप्रश्नाऽऽदिष्वर्थेषु । अत्राऽनेकान्तद्योतकस्य ग्रहणं, स्याद्धीनो, नैकान्तेन हीन इत्यर्थः, स्यात्तुल्यो नैकान्तेन तुल्य इत्यर्थः, स्यादभ्यधिको नैकान्तेनाभ्यधिक इति भावः । कथमिति चेत् ? । उच्यते-यस्माद्वक्ष्यति-रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाणां भवधारणीयस्य वैक्रियशरीरस्य जघन्येनावगाहनाया अङ्गुलस्यासंख्येयो भाग उत्कर्षतः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि । उत्तरोत्तरासु च पृथिवीषु द्विगुणं द्विगुणं यावत्सप्तमपृथिवीनैरयिकाणां जघन्यतोऽवगाहनाऽङ्गुलस्यासंख्येयो भागः, उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानीति । तत्र ( जइ हीणेत्यादि ) यदि हीनस्ततोऽसंख्येयभागहीनो वा स्यात्संख्येयभागहीनो वा संख्येयगुणहीनो वा स्यात् असंख्येयगुणहीनो वा । अथाऽभ्यधिकस्ततोऽसंख्येयभागाभ्यधिको वा स्यात् संख्येयभागाभ्यधिको वा संख्येयगुणाऽधिको वा असंख्येयगुणाधिको वा । कथमितिचेत् ? । उच्यते-एकः किल नारक उच्चैस्त्वेन पञ्च धनुःशतानि, अपरस्तान्येवाङ्गुलाऽसंख्येयभागहीनानि, अङ्गुलासंख्येयभागश्च पञ्चानां धनुःशतानामसंख्येये भागे वर्तते, तेन सोऽङ्गुलासंख्येयभागहीनः पञ्चधनुःशतप्रमाणोऽपरस्य परिपूर्णपञ्चधनुःशतप्रमाणस्यापेक्षयाऽसंख्येयभागहीनः, इतरस्त्वितरापेक्षयाऽसंख्येयभागाभ्यधिकः । तथा एकः पञ्चधनुःशतान्युच्चैस्त्वेनाऽपरस्तु तान्येव द्वाभ्यां त्रिभिर्वा धनुर्भिन्यूनानि, ते च द्वे त्रीणि वा धनूंषि पञ्चानां धनुःशतानां संख्येयभागे वर्तते, ततः सोऽपरस्य परिपूर्णपञ्चधनुःशतप्रमाणस्यापेक्षया संख्येयभागहीनः, अपरस्तु परिपूर्णपञ्चधनुःशतप्रमाणः, तदपेक्षया संख्येयभागाधिकः, तथा एकः पञ्चविंशतिधनुःशतमुच्चैस्त्वेनाऽपरः परिपूर्णानि पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंश च धनुःशतं चतुर्भिर्गुणितं पञ्चधनुःशतानि भवन्ति । ततः पञ्चविंशत्यधिकधनुःशतप्रमाणोच्चैस्त्वेऽप्यपरस्य परिपूर्णपञ्चधनुःशतप्रमाणस्यापेक्षया संख्येयगुणहीनो भवति, तदपेक्षया त्वितरः परिपूर्णपञ्चधनुःशतप्रमाणः संख्येयगुणाधिकः । तथा-एकोऽपर्याप्तावस्थायामङ्गुलमात्रस्यासंख्येयभागावगाहे वर्तते, अन्यस्तु पञ्चधनुःशतप्रमाणान्युच्चैस्त्वेनाङ्गुलासंख्येयभागश्चासंख्येयेन गुणितः सन् पञ्चधनुःशतप्रमाणो भवति । ततोऽपर्याप्तावस्थायामङ्गुलास-

ख्येयभागप्रमाणेऽवगाहे वर्त्तमानः परिपूर्णः पञ्चधनुःशतप्रमाणापेक्षया असंख्येयगुणहीनः, पञ्चधनुःशतप्रमाणस्तु तदपेक्षया असंख्येयगुणाऽभ्यधिकः । ( ठिइए सिय हीणे इत्यादि ) यथाऽवगाहनया हानौ वृद्धौ चतुःस्थानपतित उक्तस्तथा स्थित्याऽपि वक्तव्य इति भावः । एतदेवाऽऽह-(जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा इत्यादि) तत्रैकस्य किल नारकस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिः,अपरस्य तु तान्येव समयाऽऽदिन्यूनानि । तत्र यः समयाऽऽदिन्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्थितिकः स परिपूर्णत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनारकापेक्षया असंख्येयभागहीनः परिपूर्णः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकस्तु तदपेक्षया असंख्येयभागाऽभ्यधिकः । समयाऽऽदेः सागरोपमापेक्षया असंख्येयभागमात्रत्वात् । तथा ह्यसंख्येयैः समयैरेकाऽऽवलिका, संख्याताभिरावलिकाभिरेक उच्छ्वासनिःश्वासकालः, सप्तभिरुच्छ्वासनिःश्वासैरेकः स्तोकः, सप्तभिस्तोकैरेको लवः, सप्तसप्तत्या७७ लवानामेको मुहूर्त्तः,त्रिंशता मुहूर्त्तैरहोरात्रः,पञ्चदशभिरहोरात्रैः पक्षो,द्वाभ्यां पक्षाभ्यां मासो, द्वादशभिर्मासैः संवत्सरः, असंख्येयैः संवत्सरैः पल्योपमसागरोपमाणि । समयावलिकोच्छ्वासमुहूर्त्तदिवसाहोरात्रपक्षमाससंवत्सरयुगैर्हीनः परिपूर्णस्थितिकनारकापेक्षयाऽसंख्येयभागहीनो भवति । तदपेक्षया स्वितरोऽसंख्येयभागाऽभ्यधिकः । तथा एकस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिः, परस्य तान्येव पल्योपमैर्न्यूनानि, दशभिश्च पल्योपमकोटाकोटीभिरेकं सागरोपमं निष्पद्यते; ततः पल्योपमैर्न्यूनस्थितिकः परिपूर्णस्थितिकनारकापेक्षया संख्येयभागहीनः, परिपूर्णस्थितिकस्तु तदपेक्षयाऽसंख्येयभागाभ्यधिकः । तथा-एकस्य सागरोपममेकं स्थितिरपरस्य परिपूर्णानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तत्रैकसागरोपमस्थितिकः परिपूर्णस्थितिकनारकापेक्षया संख्येयगुणहीनः,एकस्य सागरोपमस्य त्रयस्त्रिंशता गुणने परिपूर्णस्थितिकत्वप्राप्तेः । परिपूर्णस्थितिकस्तु तदपेक्षया संख्येयगुणाभ्यधिकः । तथा एकस्य दशवर्षसहस्राणि स्थितिरपरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि दशवर्षसहस्राण्यसंख्येयरूपेण गुणकारेण गुणितानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवन्ति । ततो दशवर्षसहस्रस्थितिकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनारकापेक्षया असंख्येयगुणहीनः, तदपेक्षया तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकोऽसंख्येयगुणाऽभ्यधिक इति । तदेवमेकस्य नारकस्याऽपरनारकापेक्षया द्रव्यतो द्रव्यार्थतया प्रदेशार्थतया च तुल्यत्वमुक्तम् । क्षेत्रतोऽवगाहनं प्रति हीनाधिकत्वेन चतुःस्थानपतितत्वम् । कालतोऽपि स्थितितो हीनाधिकत्वेन चतुःस्थानपतितत्वम् । इदानीं भावाऽऽश्रयं हीनाधिकत्वं प्रतिपादयति-यतः सकलमेव जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं वा परस्परतो द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विभज्यते, यथा घटः । तथाहि-घटो द्रव्यत एको मार्त्तिकोऽपरः काञ्चनो राजताऽऽदिर्वा । क्षेत्रत एक इहत्यः,अपरः पाटलिपुत्रकः । कालत एकोऽद्यतनोऽपरस्त्वैषमः परुतनो वा । भावत एकः श्यामोऽपरस्तु रक्ताऽऽदिः । एवमन्यदपि । तत्र प्रथमतः पुद्गलविपाकिनामकर्मोदयनिमित्तजीवौदयिकभावाऽऽश्रयेण हीनाधिकत्वमाह-(कालवण्णपज्जवेहिं सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए ) अस्याक्षरघटना पूर्ववत् । तत्र यथा हीनत्वमभ्यधिकत्वं वा तथा प्रतिपादयति-( जइ हीणेत्यादि ) इह भावापेक्षया हीनाधिकत्वचिन्तायां हानौ वृद्धौ च प्रत्येकं षट्स्थानपतितत्वमभिधीयते । षट्स्थानके च यत् यदपेक्षया अनन्तभागहीनं तस्य सर्वजीवानन्तकेन भागे हृते यल्लभ्यते तेनानन्ततमेन भागेन हीनं, यच्च तदपेक्षया असंख्येयभागहीनं तस्यापेक्षणीयस्यासंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते यल्लभ्यते तावता भागेन न्यूनम् । यच्च तदधिकृत्य संख्येयभागहीनं तस्यापेक्षणीयस्योत्कृष्टसंख्येयकेन भागे हृते यल्लभ्यते तावता हीनम् । गुणनसंख्यायां तु यद्यतः संख्येयगुणं तदवधिभूतमुत्कृष्टेन संख्येयकेन गुणितं सत् यावद्भवति तावत्प्रमाणमवसातव्यम् । यच्च यतोऽसंख्येयगुणं तदवधिभूतमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणेन गुणकारेण गुण्यते,गुणितं सत् यावद्भवति तदवसेयम् । यच्च यस्मादनन्तगुणं तदवधिभूतं सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यते,गुणितं सत् यावद्भवति तावत्प्रमाणं द्रष्टव्यम् । तथा चैतदेव कर्मप्रकृतिसंग्रहिण्यां षट्स्थानकप्ररूपणावसरे भागहारगुणकारस्वरूपमुपवर्णितम्-"सव्वजीवाणंतमसंखलोगसंखेज्जगस्स जेट्ठस्स भागो तिसु गुणणा तिसु हांति" सम्प्रत्यधिकृतसूत्रोक्तषट्स्थानपतितत्वं भाव्यते-तत्र कृष्णवर्णपर्यायपरिमाणं तत्त्वतोऽनन्तसंख्याऽऽत्मकमप्यसद्भावस्थापनया किल दश सहस्राणि १०००० । तस्य सर्वजीवानन्तकेन शतपरिमाणपरिकल्पितेन भागो व्हियते, लब्धं शतम् १०० । तत्रैकस्य किल नारकस्य कृष्णवर्णपर्यायपरिमाणं दशसहस्राणि, अपरस्य तान्येव शतेन हीनानि ९९०० । शतं च सर्वजीवानन्तभागहारलब्धत्वादनन्ततमो भागः, ततो यस्य शतेन हीनानि दश सहस्राणि सोऽपरस्य परिपूर्णदशसहस्रप्रमाणकृष्णवर्णपर्यायस्य नारकस्यापेक्षयाऽनन्तभागहीनः, तदपेक्षया तु सोऽपरः कृष्णवर्णपर्यायोऽनन्तभागाभ्यधिकः । तथा कृष्णवर्णपर्यायपरिमाणस्य दशसहस्रसंख्याकस्यासंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणपरिकल्पितेन पञ्चाशत्परिमाणेन भागहारेण भागो व्हियते, लब्धे द्वे शते । एषोऽसंख्येयतमो भागस्तत्रैकस्य किल नारकस्य कृष्णवर्णपर्याया दशसहस्राणि शतद्वयेन हीनानि ९८०० । अपरस्य परिपूर्णानि दशसहस्राणि १०००० । तत्र यः शतद्वयहीनदशसहस्रप्रमाणकृष्णवर्णपर्यायः स परिपूर्णकृष्णवर्णपर्यायनारकापेक्षयाऽसंख्येयभागहीनः । परिपूर्णकृष्णवर्णपर्यायस्तु तदपेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकः २ । तथा तस्यैव कृष्णवर्णपर्यायराशेर्दशसहस्रसंख्याकस्योत्कृष्टसंख्येयकपरिमाणकल्पितेन दशकपरिमाणेन भागहारेण भागो व्हियते, लब्धं सहस्रम् । एष किल संख्याततमो भागः । तत्रैकस्य नारकस्य किल कृष्णवर्णपर्यायपरिमाणं नवसहस्राणि ९००० । अपरस्य दशसहस्राणि १०००० । नवसहस्राणि तु दशसहस्राणि सहस्रेण हीनानि । सहस्रं च संख्येयतमो भाग इति नवसहस्रप्रमाणकृष्णवर्णपर्यायः परिपूर्णकृष्णवर्णपर्यायनारकापेक्षया संख्येयभागहीनः, तदपेक्षया त्वितरः संख्येयभागाधिकः । तथैकस्य नारकस्य किल कृष्णवर्णपर्यायपरिमाणं सहस्रम्,अपरस्य दशसहस्राणि,तत्र सहस्रं दशकेनोत्कृष्टसंख्यातकल्पनेन गुणितं दशसहस्रसंख्याकं भवतीति सहस्रसंख्यकृष्णवर्णपर्यायो नारको दशसहस्रसंख्याककृष्णवर्णपर्यायनारकापेक्षया संख्येयगुणहीनः, तदपेक्षया परिपूर्णकृष्णवर्णपर्यायः संख्येयगुणाऽभ्यधिकः । तथा एकस्य किल नारकस्य कृष्णवर्णपर्यायाग्रं द्वे शते, अपरस्य परिपूर्णानि दश सहस्राणि द्वे च शते संख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रकल्पितेन पञ्चाशत्परिमाणेन गुणकारगुणितेन दशसहस्राणि जायन्ते ।

ततो द्विशतपरिमाणकृष्णवर्णपर्यायो नारकः परिपूर्णकृष्णवर्णपर्यायनारकापेक्षया असङ्ख्येयगुणहीनः, तदपेक्षया त्वितरोऽसङ्ख्येयगुणाभ्यधिकः ५, तथैकस्य किल नारकस्य कृष्णवर्णपर्यायपरिमाणं शतमपरस्य दशसहस्राणि शते च सर्वजीवानन्तकपरिकल्पितेन गुणकारेण गुणिते जायन्ते दश सहस्राणि, तत शतपरिमाणकृष्णवर्णपर्यायो नारकः परिपूर्णकृष्णवर्णपर्यायनारकापेक्षयाऽनन्तगुणहीनः, इतरस्तु तदपेक्षयाऽनन्तगुणाभ्यधिकः । यथा कृष्णवर्णपर्यायानधिकृत्य हानौ वृद्धौ च षट्स्थानपतितत्वमुक्तमेव शेषवर्णगन्धरसस्पर्शैरपि प्रत्येकं षट्स्थानपतितत्वं भावनीयम् । तदेव पुद्गलविपाके नामकर्मोदयजनितजीवौदयिकभावाऽऽश्रयेण षट्स्थानपतितत्वमुपदर्शितम् । इदानीं जीवविपाकिज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मक्षयोपशमभावाऽऽश्रयेण तदुपदर्शयति-"आभिणिबोहियपज्जवेहिं" इत्यादि पूर्ववत् । प्रत्येकमाभिनिबोधिकाऽऽदिषु षट्स्थानपतितत्वं भावनीयम् । इह द्रव्यतस्तुल्यत्वं वदता सम्मूर्च्छिमसर्वप्रभेदानिर्भेदबीजं मसूराणुकरसवदनभिव्यक्तदेशकालक्रमप्रत्ययवद्धविशेषभेदपरिणतैर्योग्यं द्रव्यमित्यावेदितम् । अवगाहनया चतुःस्थानपतितत्वमभिदधता क्षेत्रतः सङ्कोचविकोचधर्मा आत्मा, न तु द्रव्यप्रदेशसङ्ख्यया इति दर्शितम् । उक्तं चैतदन्यत्रापि-विकसनसङ्कोचनयोर्न स्तो द्रव्यप्रदेशसङ्ख्यया वृद्धिह्रासौ स्तः, क्षेत्रतस्तु तावात्मनः, तस्मात् स्थित्या चतुःस्थानपतितत्वं वदता आयुःकर्मस्थितिनिर्वर्तकानामध्यवसायस्थानानामुत्कर्षापकर्षवृत्तिरुपदर्शिता, अन्यथा स्थित्या चतुःस्थानपतितत्वायोगात् । आयुःकर्म चोपलक्षणं, तेन च सर्वकर्मस्थितिनिर्वर्तकेष्वध्यवसायोत्कर्षापकर्षवृत्तिरवसातव्या। कृष्णादिपर्यायैः षट्स्थानपतितत्वमुपदर्शयता एकस्यापि नारकस्य पर्याया अनन्ताः किं पुनः सर्वेषां नारकाणामिति दर्शितम् । अथ नारकाणां पर्यायाऽऽनन्त्यं पृष्टेन भगवता तदेव पर्यायाऽऽनन्त्यं वक्तव्यं, न त्वन्यत्, ततः किमर्थं द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिधानमिति ?। तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह न सर्वेषां सर्वे स्वपर्याया समसङ्ख्याः किं तु षट्स्थानपतिताः । एतच्चानन्तरमेव दर्शितम्, तच्च षट्स्थानपतितत्वं परिणामित्वमन्तरेण न भवति, तच्च परिणामित्वं यथोक्तलक्षणस्य द्रव्यस्येति द्रव्यतस्तुल्यत्वमभिहितम् । तथा न कृष्णाऽऽदिपर्यायैरेव पर्यायवान् जीवः, किं तु तत्तत्क्षेत्रसङ्कोचविकोचधर्मतयाऽपि । तथा तत्तदध्यवसायस्थानयुक्ततयाऽपीति ख्यापनार्थं क्षेत्रकालाभ्यां चतुःस्थानपतितत्वमुक्तमिति कृतं प्रसङ्गेन, तदेवमवसितं नैरयिकाणां पर्यायाऽऽनन्त्यम् ।

इदानीमसुरकुमारेषु पर्यायान् विपृच्छिषुराह-

असुरकुमाराणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-असुरकुमाराणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असुरकुमारे असुरकुमारस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं नीलवण्णपज्जवेहिं लोहियवण्णपज्जवेहिं हालिद्दवण्णपज्जवेहिं सुक्किल्लवण्णपज्जवेहिं सुब्भिगंधपज्जवेहिं दुब्भिगंधपज्जवेहिं तित्तरसपज्जवेहिं कडुयरसपज्जवेहिं कसायरसपज्जवेहिं अंबिलरसपज्जवेहिं महुररसपज्जवेहिं कक्खडफासपज्जवेहिं मउयफासपज्जवेहिं गरुयफासपज्जवेहिं लहुयफासपज्जवेहिं सीतफासपज्जवेहिं उसिणफासपज्जवेहिं निद्धफासपज्जवेहिं लुक्खफासपज्जवेहिं आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं सुयनाणपज्जवेहिं ओहिनाणपज्जवेहिं मइअन्नाणपज्जवेहिं सुयअन्नाणपज्जवेहिं विभंगनाणपज्जवेहिं चक्खुदंसणपज्जवेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं ओहिदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-असुरकुमाराणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता । एवं जहा णेरइया जहा असुरकुमारा तहा नागकुमारा वि० जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ-पुढविकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पुढविकाइए पुढविकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए । जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखिज्जगुणहीणे वा । अह अब्भहिए असंखेज्जइभागअब्भहिए वा संखेज्जइभागअब्भहिए वा संखेज्जगुणमब्भहिए वा असंखिज्जगुणमब्भहिए वा । ठिईए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए । जइ हीणे असंखिज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा । अह अब्भहिए असंखेज्जइभागअब्भहिए वा संखेज्जइभागअब्भहिए वा संखेज्जगुणमब्भहिए वा वण्णेहिं गंधेहिं रसेहिं फासेहिं मइअन्नाणपज्जवेहिं सुयअन्नाणपज्जवेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । आउकाइयाणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-आउकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! आउकाइए आउकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए तिट्ठाणवडिए वन्नगंधरसफासमइअन्नाणसुयअन्नाणअचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । तेउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-तेउकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तेउकाइए तेउकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पएसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए । ठिईए तिट्ठाणवडिए वण्णगंधरसफासमइअन्नाणसुयअन्नाणअचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । वाउकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! वाउकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-वाउकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! वाउकाइए

वाउक्काइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए। ठिईए तिट्ठाणवडिए वण्णगंधरसफासमइअन्नाणसुयअन्नाणअचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। वणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-वणस्सइकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! वणस्सइकाइए वणस्सइकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए। ठिईए तिट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासमइअन्नाणसुयअन्नाणअचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। से तेणट्ठेणं गोयमा ! वणस्सइकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता। बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! बेइंदियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-बेइंदियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! बेइंदिए बेइंदियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए। जदि हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा। अह अब्भहिए असंखेज्जभागमब्भहिए वा संखेज्जभागमब्भहिए वा संखेज्जगुणमब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए वा। ठिईए तिट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासआभिणिबोहियनाणसुयनाणमइअन्नाणसुयअन्नाणअचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। एवं तेइंदियाण वि, एवं चउरिंदियाण वि, णवरं दो दंसणा चक्खुदंसणेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पज्जवा जहा णेरइयाणं तहा भाणियव्वा। मणुस्साणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-मणुस्साणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! मणुस्से मणुस्सस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए। ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासआभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणमणपज्जवनाणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए, केवलनाणपज्जवेहिं तुल्ले तिहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए, केवलदंसणपज्जवेहिं तुल्ले। वाणमंतरा ओगाहणट्ठयाए ठिईए चउट्ठाणवडिया, वण्णाईहिं छट्ठाणवडिया। जोइसियवेमाणिया वि एवं चेव, नवरं ठिईए तिट्ठाणवडिया।

संख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादवसेयम्। स्थित्या हीनत्वमधिकत्वं च त्रिस्थानपतितं, न चतुःस्थानपतितम्, असंख्येयगुणवृद्धिहान्योरसम्भवात्। कथं तयोरसम्भव इति चेत् ?। उच्यते-इह पृथिव्यादीनां सर्वजघन्यमायुः क्षुल्लकभवग्रहणं, क्षुल्लकभवग्रहणस्य परिमाणमावलिकानां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके मुहूर्ते च द्विघटिकाप्रमाणे, सर्वसंख्यया क्षुल्लकभवग्रहणानां पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ६५५३६।

उक्तं च-

" दोन्नि सयाइं नियमा, छप्पन्नाइं पमाणओ होंति।
आवलियपमाणेणं, खुड्डागभवग्गहणमेयं ॥ १ ॥
पण्णट्ठि य सहस्साइं, पंचेव सयाइँ तह य छत्तीसा।
खुड्डागभवग्गहणा, हवंति एते मुहुत्तेणं ॥ २ ॥ "

पृथिव्यादीनां च स्थितिरुत्कर्षतोऽपि संख्येयवर्षप्रमाणा, ततो नासंख्येयगुणवृद्धिहान्योः सम्भवः। शेषवृद्धिहानित्रिकभावना त्वेवम्-एकस्य किल पृथिवीकायस्थितिः परिपूर्णानि द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, अपरस्य तान्येव समयन्यूनानि। ततः समयन्यूनद्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकः परिपूर्णद्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकापेक्षया असंख्येयभागहीनः, तदपेक्षया त्वितरोऽसंख्येयभागाधिकः, तथा एकस्य परिपूर्णानि द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि स्थितिरपरस्य तान्येवान्तर्मुहूर्ताऽऽदिनोनानि। अन्तर्मुहूर्ताऽऽदिकं द्वाविंशतिवर्षसहस्राणां संख्येयतमो भागः, ततोऽन्तर्मुहूर्ताऽऽदिन्यूनद्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकः परिपूर्णद्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकापेक्षया संख्येयभागहीनः, तदपेक्षया तु इतरः संख्येयभागाभ्यधिकः। तथा एकस्य द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि स्थितिरपरस्यान्तर्मुहूर्त्तं मासो वर्षं वर्षसहस्रं वा, अन्तर्मुहूर्त्ताऽऽदिकं नियतपरिमाणया संख्यया गुणितं द्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिप्रमाणं भवति, तेनान्तर्मुहूर्त्ताऽऽदिप्रमाणस्थितिकः परिपूर्णद्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकापेक्षया संख्येयगुणहीनः, तदपेक्षया तु परिपूर्णद्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकः संख्येयगुणाभ्यधिकः। एवमप्कायिकाऽऽदीनामपि चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां स्वस्वोत्कृष्टस्थित्यनुसारेण स्थित्या त्रिस्थानपतितत्वं भावनीयम्। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च चतुःस्थानपतितत्वं, तेषामुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः। पल्योपमं चासंख्येयवर्षसहस्रप्रमाणमतोऽसंख्येयगुणवृद्धिहान्योरपि सम्भवादुपपद्यते चतुःस्थानपतितत्वम्। एवं व्यन्तराणामपि तेषां जघन्यतो दशवर्षसहस्रस्थितिकत्वादुत्कर्षतः पल्योपमस्थितिः, ज्योतिष्कवैमानिकानां पुनः स्थित्या त्रिस्थानपतितत्वं, यतो ज्योतिष्काणां जघन्यमायुः पल्योपमाष्टभागः, उत्कर्षतो वर्षलक्षाधिकं पल्योपमं, वैमानिकानां जघन्यं पल्योपममुत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि दशकोटाकोटीसमयपल्योपमप्रमाणं च, सागरोपममतस्तेषामसंख्येयगुणवृद्धिहान्योरसम्भवात्। स्थित्या त्रिस्थानपतितता। शेषसूत्रभावना तु सुगमत्वात् स्वयं भावनीया, नवरं सामान्यतो नैरयिकादीनां प्रत्येकं पर्यायाऽऽनन्त्यं प्रतिपादितम्।

ते ! एवं वुच्चइ-जहन्नोगाहणगाणं णेरइयाणं अनंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नोगाहणए णेरइए जहन्नोगाहणस्स णेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं णाणेहिं तिहिं अण्णाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए । उक्कोसोगाहणया णं भंते ! णेरइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-उक्कोसोगाहणयाणं णेरइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! उक्कोसोगाहणए णेरइए उक्कोसोगाहणस्स णेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले । ठिईए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए। जदि हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जइभागहीणे वा । अह अब्भहिए असंखेज्जभागअब्भहिए वा संखेज्जभागमब्भहिए वा, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अण्णाणेहिं तिहिं दंसणेहि छट्ठाणवडिए । अजहन्नुक्कोसोगाहणगाणं भंते ! णेरइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अजहन्नुक्कोसोगाहणगाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अजहन्नुक्कोसोगाहणए णेरइए अजहन्नुक्कोसोगाहणस्स णेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए । जइ हीणे असंखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जइभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा। अह अब्भहिए वा असंखेज्जभागमब्भहिए वा संखेज्जइभागमब्भहिए वा संखेज्जगुणअब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए वा । ठिईए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए । जदि हीणे असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा। अह अब्भहिए असंखेज्जइभागअब्भहिए वा संखेज्जइभागअब्भहिए वा संखेज्जगुणअब्भहिए वा असंखेज्जगुणअब्भहिए वा, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए । से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ-गोयमा ! अजहन्नुक्कोसोगाहणगाणं णेरइयाणं अनंता पज्जवा पण्णत्ता । जहण्णठिइयाणं भंते ! णेरइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहन्नट्ठिईयाणं णेरइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नट्ठितीए नेरइए जहन्नठिइयस्स णेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए । ठिईए तुल्ले, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नुक्कोसट्ठिईए वि एवं, णवरं सट्ठाणे चउट्ठाणवडिए । जहण्णगुणकालयाणं भंते ! णेरइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णगुणकालयाणं नेरइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णगुणकालए नेरइए जहण्णगुणकालगस्स नेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए । कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जहन्नगुणकालयाणं नेरइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता । एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहण्णमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, नवरं कालवण्णपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए एवं, अवसेसा चत्तारि वण्णा दो गंधा पंच रसा अट्ठ फासा भाणियव्वा । जहण्णाभिणिबोहियनाणीणं भंते ! नेरइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णाभिणिबोहियनाणीणं नेरइयाणं अणंता पज्जवा पन्नत्ता ?। गोयमा ! जहण्णाभिणिबोहियनाणी नेरइए जहन्नाभिणिबोहियनाणिस्स नेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं तुल्ले, सुयनाणओहिनाणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसाभिणिबोहियनाणी वि, अजहण्णमणुक्कोसाभिणिबोहियनाणी वि एवं चेव, नवरं आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं सुयनाणी, ओहिनाणी वि एवं चेव, नवरं जस्स नाणा तस्स अन्नाणा नत्थि, जहा नाणा तहा अन्नाणा वि भाणियव्वा, नवरं जस्स अन्नाणा तस्स नाणा नत्थि । जहण्णचक्खुदंसणीणं भंते ! नेरइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णचक्खुदंसणीणं नेरइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णचक्खुदंसणीणं नेरइए जहण्णचक्खुदंसणिस्स नेरइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं छट्ठाणवडिए, चक्खुदंसणपज्जवेहिं तुल्ले, अचक्खुदंसणपज्जवेहिं ओहिदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं

उक्कोसचक्खुदंसणी वि, अजहण्णमणुक्कोसचक्खुदंसणी वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं अचक्खुदंसणी वि,ओहिदंसणी वि । जहण्णोगाहणगाणं भंते ! असुरकुमाराणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णोगाहणगाणं असुरकुमाराणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए असुरकुमारे जहण्णोगाहणगस्स असुरकुमारस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले,पदेसट्ठयाए तुल्ले, उग्गाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णादीहिं छट्ठाणवडिए, आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंसणेहि य छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसोगाहणए वि, एवं अजहण्णमणुक्कोसोगाहणए वि, नवरं उक्कोसोगाहणए वि असुरकुमारट्ठितीए चउट्ठाणवडिए, एवं जाव थणियकुमारो । जहन्नोगाहणगाणं भंते ! पुढविकाइयाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णोगाहणगाणं पुढविकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए पुढविकाइए जहन्नोगाहणगस्स पुढविकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठितीए तिट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं अन्नाणेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसोगाहणए वि, अजहण्णमणुक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे चउट्ठाणवडिए । जहन्नठितीयाणं भंते! पुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा! अनंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठे णं भंते! एवं वुच्चइ-जहन्नठितीयाणं पुढविकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णठितीए पुढविकाइए जहण्णठितीयस्स पुढविकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए तुल्ले, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं मतिअन्नाणसुयअन्नाणअचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसट्ठितीए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठितीए वि एवं चेव,णवरं सट्ठाणे तिट्ठाणवडिए । जहन्नगुणकालयाणं भंते ! पुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-जहन्नगुणकालगाणं पुढविकाइयाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नगुणकालए पुढविकाइए जहन्नगुणकालगस्स पुढविकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, उग्गाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठितीए तिट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, दोहिं अन्नाणेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहण्णमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, णवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं पंच वन्ना,दो गंधा,पंच रसा,अट्ठ फासा भाणियव्वा । जहण्णमइअन्नाणीणं भंते ! पुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-जहन्नमतिअन्नाणी पुढविकाइए, जहन्नमतिअन्नाणिस्स पुढविकाइयस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठितीए तिट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, मतिअन्नाणपज्जवेहिं तुल्ले, सुयअन्नाणपज्जवेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसमतिअन्नाणी वि, अजहण्णमणुक्कोसमतिअण्णाणी वि एवं चेव,नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं सुयअण्णाणी वि, अचक्खुदंसणी वि एवं चेव । एवं० जाव वणस्सइकाइया । जहण्णोगाहणगाणं भंते ! बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णोगाहणगाणं बेइंदियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए बेइंदिए जहण्णोगाहणगस्स बेइंदियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले । ठितीए तिट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं नाणेहिं दोहिं अण्णाणेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसोगाहणए वि, नवरं णाणा नत्थि । अजहण्णमणुक्कोसोगाहणए जहा जहण्णोगाहणए णवरं सट्ठाणे ओगाहणाए चउट्ठाणवडिए । जहण्णट्ठितीयाणं भंते ! बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णट्ठितीयाणं बेइंदियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णट्ठितीए बेइंदिए जहण्णट्ठितियस्स बेइंदियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले,पदेसट्ठयाए तुल्ले,ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए । ठितीए तुल्ले, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं अन्नाणेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसट्ठितीए वि, नवरं दो नाणा अब्भहिया । अजहण्णमणुक्कोसट्ठितीए जहा उक्कोसट्ठितीए, नवरं ठितीए तिट्ठाणवडिए । जहण्णगुणकालयाणं भंते ! बेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णगुणकालयाणं बेइंदियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णगुणकालए बेइंदिए जहण्णगुणकालगस्स बेइंदियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले,उग्गाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए,ठितीए तिट्ठाणवडिए । कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं नाणेहिं दोहिं अन्नाणेहिं अचक्खुदंसणपज्ज हिं

ट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहण्णमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए, एवं पंच वण्णा दो गंधा पंच रसा अट्ठ फासा जाणियव्वा। जहण्णाभिणिबोहियनाणीणं भंते ! वेइंदियाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहण्णाभिनिबोहियनाणी वेइंदिए जहण्णाभिनिबोहियनाणी वेइंदियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए ठिईए तिट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं तुल्ले सुयनाणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, अचक्खुदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसाभिणिबोहियनाणी वि, अजहण्णमणुक्कोसाभिनिबोहियनाणी वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए, एवं सुयनाणी वि, सुयअन्नाणी वि, मतिअन्नाणी वि, अचक्खुदंसणी वि, नवरं जत्थ नाणा तत्थ अन्नाणा नत्थि, जत्थ अन्नाणा तत्थ नाणा नत्थि । जत्थ दंसणं तत्थ नाणा वि अन्नाणा वि एवं चेव, तेइंदियाण वि एवं, चउरिंदियाण वि एवं चेव, नवरं चक्खुदंसणमब्भहियं ।

"जहण्णोगाहणाण भंते !" इत्यादि सुगमम् । ( नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए इति ) जघन्यावगाहनो हि दशवर्षसहस्राणि स्थितिकोऽपि भवति, रत्नप्रभायामुत्कृष्टस्थितिकोऽपि, सप्तमनरकपृथिव्यां तत्रोपपद्यते, स्थित्या चतुःस्थानपतितत्वात् । ( तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं ति ) इह यदा गर्भव्युत्क्रान्तिकसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया नरकेषूत्पद्यन्ते तदा स नारकाऽऽयुःसंवेदनप्रथमसमय एव पूर्वगृहीतौदारिकशरीरपरिशाटं करोति, तस्मिन्नेव समये सम्यग्दृष्टेस्त्रीणि ज्ञानानि मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि अज्ञानानि समुत्पद्यन्ते, ततोऽविग्रहेण विग्रहेण वा गत्वा वैक्रियशरीरसङ्घातं करोति, यस्तु सम्मूर्च्छिमासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियो नरकेषूत्पद्यते तस्य तदानीं विभङ्गज्ञानं नास्तीति जघन्यावगाहनस्याज्ञानानि भजनया वक्तव्यानि द्वे त्रीणि वेति । उत्कृष्टावगाहनसूत्रे स्थित्या हानौ वृद्धौ च द्विस्थानपतितत्वम् । तद्यथा-असङ्ख्येयभागहीनत्वं वा सङ्ख्येयभागहीनत्वं वा, तथा असङ्ख्येयभागाधिकत्वं वा सङ्ख्येयभागाधिकत्वं वा, न तु सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयगुणवृद्धिहानी । कस्मादिति चेत् ?। उच्यते-उत्कृष्टावगाहना हि नैरयिकाः पञ्चधनुःशतप्रमाणाः, ते च सप्तमनरकपृथिव्यां, तत्र जघन्या स्थितिर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि, उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, ततोऽसङ्ख्येयासङ्ख्येयभागहानिवृद्धिरेव घटेत, न सङ्ख्येयगुणहानिवृद्धिस्तेषां चोत्कृष्टावगाहनानां त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि वा नियमाद्वेदितव्यानि, न भजनया, भजनाहेतोः सम्मूर्च्छिमासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्पादस्य तेषामसम्भवात्, अजघन्योत्कृष्टावगाहनसूत्रे यदवगाहनया चतुःस्थानपतितत्वं तदेवम्, अजघन्योत्कृष्टावगाहनो हि सर्वजघन्याङ्गुलासङ्ख्येयभागात्परतो मनाक् बृहत्तराङ्गुलासङ्ख्येयभागादारभ्य यावदङ्गुलासङ्ख्येयभागन्यूनानि पञ्चधनुःशतानि तावद्वसेयः, ततः सामान्यनैरयिकसूत्र इवात्राऽप्युपपद्यते अवगाहनतश्चतुःस्थानपतितता, स्थित्या चतुःस्थानपतितता सुप्रतीता, दशवर्षसहस्रेभ्य आरभ्योत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणामपि तस्यां लभ्यमानत्वात् । जघन्यस्थितिसूत्रेऽवगाहनया चतुःस्थानपतितत्वं तस्यावगाहनायां जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागादारभ्योत्कर्षतः सप्तपादोनधनुषोऽवाप्यमानत्वात्, अत्रापि त्रीण्यज्ञानानि केषाञ्चित्कदाचित्कतया वक्तव्यानि, सम्मूर्च्छिमासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य तत्रोत्पन्नानामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गस्याऽभावात्, उत्कृष्टस्थितिचिन्तायामवगाहनया चतुःस्थानपतितत्वम्, उत्कृष्टस्थितिकस्याऽवगाहनाया जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागादारभ्योत्कर्षतः पञ्चानां धनुःशतानामवाप्यमानत्वात् । ( अजहन्नुक्कोसट्ठिईए वि एवं चेव इत्यादि ) अजघन्योत्कृष्टस्थितावपि वक्तव्यं यथा जघन्यस्थितिसूत्रे उत्कृष्टस्थितिसूत्रे च, नवरमयं विशेषो-जघन्यस्थितिसूत्रे उत्कृष्टस्थितिसूत्रे च स्थित्या तुल्यत्वमभिहितमत्र तु स्वस्थानेऽपि स्थितावपि चतुःस्थानपतित इति वक्तव्यम्, समयाधिकदशवर्षसहस्रेभ्य आरभ्योत्कर्षतः समयोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणामवाप्यमानत्वात् । जघन्यगुणकालिकाऽऽदिसूत्राणि सुप्रतीतानि, नवरम् ( जस्स नाणा तस्स अन्नाणा नत्थि त्ति ) यस्य ज्ञानानि तस्याज्ञानानि न सन्तीति । यतः सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानानि मिथ्यादृष्टेरज्ञानानि । सम्यग्दृष्टित्वं च मिथ्यादृष्टित्वोपमर्देन भवति, मिथ्यादृष्टित्वमपि सम्यग्दृष्टित्वोपमर्देन भवति । ततो ज्ञानसद्भावे अज्ञानाभावः, एवमज्ञानसद्भावे ज्ञानाभावः । तत उक्तम्-" जहा नाणा तहा अन्नाणा वि भाणियव्वा, नवरं जस्स अन्नाणा तस्स नाणा न भवति ।" इति । शेषं पाठसिद्धम् । एवमसुरकुमाराऽऽदिसूत्राण्यपि भावनीयानि, प्रायः समानगमत्वात् । जघन्यावगाहनाऽऽदिपृथिव्यादिसूत्रे स्थित्या त्रिस्थानपतितत्वं, सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वात् । एतच्च प्रागेव सामान्यपृथिवीकायिकसूत्रे भावितम् । पर्यायचिन्तायामज्ञाने एव मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणे वक्तव्ये न तु ज्ञाने, तेषां सम्यक्त्वस्पर्शोऽपि, तेषु मध्ये सम्यक्त्वसहितस्य चोत्पादासम्भवात्, "उभयाभावो पुढवाइएसु" इति वचनात् । अत एवैतदेवोक्तमत्र-( दोहिं अन्नाणेहिं इति) जघन्यावगाहनद्वीन्द्रियसूत्रे-( दोहिं नाणेहिं दोहिं अन्नाणेहिं इति) द्वीन्द्रियाणां हि केषाञ्चित् अपर्याप्तावस्थायां सास्वादनसम्यक्त्वमवाप्यते सम्यग्दृष्टेश्च ज्ञाने लभ्यते शेषाणामज्ञाने । तत उक्तम्-" द्वाभ्यां ज्ञानाभ्यां द्वाभ्यामज्ञानाभ्यामिति ।" उत्कृष्टावगाहनायां त्वपर्याप्तावस्थाया अभावान्न सास्वादनसम्यक्त्वं नावाप्यते ततस्तत्र ज्ञाने न वक्तव्ये । तथा चाऽऽह-(एवं उक्कोसितोगाहणाए वि, नवरं नाणा नत्थि त्ति) तथा अजघन्योत्कृष्टावगाहना किल प्रथमसमयादूर्ध्वं भवति इति अपर्याप्तावस्थायामपि तस्यासम्भवात्, सास्वादनसम्यक्त्ववता ज्ञाने, अन्येषां चाज्ञाने इति । ज्ञाने चाऽज्ञाने च वक्तव्ये । तथा चाऽऽह-(अजहन्नुक्कोसोगाहणाए जहा जहन्नोगाहणाए इति) तथा जघन्यस्थितिसूत्रे द्वे अज्ञाने एव वक्तव्ये न तु ज्ञाने, यतः सर्वजघन्यस्थितिको लब्ध्यपर्याप्तको भवति । न च लब्ध्यपर्याप्तकेषु मध्ये सास्वादनसम्यग्दृष्टिरुत्पद्यते । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते लब्ध्यपर्याप्तको हि सर्वसङ्क्लिष्टः सास्वादनसम्यग्दृष्टिश्च मनाक् शुभपरिणामस्ततः स तेषु मध्ये नोत्पद्यते, तेनाज्ञाने एव लभ्येते

न ज्ञाने। उत्कृष्टस्थितिषु पुनर्मध्ये सास्वादनसम्यक्त्वसहितोऽप्युत्पद्यते इति तत्सूत्रे ज्ञानेऽज्ञाने च वक्तव्ये। तथा चाऽऽह-(एवं उक्कोसट्ठिईए वि नवरं दो नाणा अब्भहिया इति) एवमेवाजघन्योत्कृष्टस्थितिसूत्रमपि वक्तव्यम्। तावत्सूत्राणि पाठसिद्धानि। एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया अपि वक्तव्याः, नवरं चतुरिन्द्रियाणां चक्षुर्दर्शनमधिकम्, अन्यथा चतुरिन्द्रियत्वाऽयोगादिति चक्षुर्दर्शनविषयमपि सूत्रं वक्तव्यम्।

जघन्यावगाहना तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रे-

जहण्णोगाहणगाणं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णोगाहणगाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए पंचिंदियतिरिक्खजोणिए जहण्णोगाहणगस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए तुल्ले ठिईए तिट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं नाणेहिं दोहिं अन्नाणेहिं दोहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए। उक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, नवरं तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए। जहा उक्कोसोगाहणए तहा अजहन्नमणुक्कोसोगाहणए वि, नवरं ओगाहणट्ठिईए चउट्ठाणवडिए ठिईए चउट्ठाणवडिए। जहण्णट्ठितीयाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णट्ठितीयाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णट्ठितीए पंचिंदियतिरिक्खजोणिए जहण्णट्ठितीयस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए ठितीए तुल्ले, वण्णगंधरसपज्जवेहिं दोहिं अण्णाणेहिं दोहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए। उक्कोसट्ठितीए वि एवं चेव, नवरं दो अण्णाणा दो दंसणा। अजहण्णमणुक्कोसट्ठितीए वि एवं चेव, नवरं ठितीए चउट्ठाणवडिए। तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा तिण्णि दंसणा। जहण्णगुणकालगाणं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जहण्णगुणकालगाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णगुणकालए पंचिंदियतिरिक्खजोणिए जहण्णगुणकालगस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए ठितीए चउट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं तिहिं अण्णाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए। एवं पंच वण्णा दो गंधा पंच रसा अट्ठ फासा। जहन्नाभिणिबोहियनाणीणं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहन्नाभिणिबोहियनाणी पंचिंदियतिरिक्खजोणिए जहण्णाभिणिबोहियनाणिस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए। ठितीए चउट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए। आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं तुल्ले, सुयनाणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए। चक्खुदंसणपज्जवेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसाभिणिबोहियनाणी वि, णवरं ठितीए तिट्ठाणवडिए। तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा तिण्णि दंसणा सट्ठाणे तुल्ले, सेसेसु छट्ठाणवडिए, अजहन्नुक्कोसाभिणिबोहियनाणी जहा उक्कोसाभिणिबोहियनाणी वि, नवरं ठितीए चउट्ठाणवडिए, एवं सुयनाणी वि। जहण्णोहिनाणीणं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहण्णोहिनाणी पंचिंदियतिरिक्खजोणिए जहन्नोहिनाणिस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठितीए तिट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं आभिणिबोहियनाणसुयनाणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, ओहिनाणपज्जवेहिं तुल्ले अन्नाणा नत्थि। चक्खुदंसणपज्जवेहिं अचक्खुदंसणपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसोहिनाणी वि, अजहन्नुक्कोसोहिनाणी वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए। जहा आभिणिबोहियनाणी तहा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य। जहा ओहिनाणी तहा विभंगनाणी य, चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी य। जहा आभिणिबोहियनाणी ओहिदंसणी तहा ओहिणाणी। जत्थ नाणा तत्थ अन्नाणा नत्थि, जत्थ अन्नाणा तत्थ नाणा नत्थि। जत्थ दंसणा तत्थ नाणा वि अन्नाणा वि अत्थि त्ति भाणियव्वं।

इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रेष्वयं विशेषः—जघन्यावगाहनो भवति, सो ऽवश्यमपर्याप्तकः। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-अपर्याप्तकावस्थायां [illegible] महाशरीरता, [illegible] [illegible], पुण्याऽऽहारा, [illegible] सूक्ष्मशरीरो

भवति । शुक्रनिषेकानुसारेण च तिर्यङ्मनुष्याणामुत्पत्तिसमये-ऽवगाहनेति न तेषां युगलिकानां जघन्यावगाहना लभ्यते, किन्तु सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषाम्, सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषश्च स्थित्या त्रिस्थान-पतितता, एतच्च भावित प्राक् । तत उक्तस्थित्या त्रिस्थानपतितता इति । ( दोहिं नाणेहिं दोहिं अन्नाणेहिं इति ) जघन्यावगाहनो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियासङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषोऽपर्याप्तो भवति, सोऽपि चाल्पकायेषु मध्ये समुत्पद्यमानस्ततस्तस्यावधिविभङ्गज्ञा-नासम्भवात् द्वे ज्ञाने द्वे अज्ञाने उक्ते । यस्तु विभङ्गज्ञानस-हितो नरकादुद्वृत्य सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पद्यमानो वक्ष्यते स महाकायेषूत्पद्यमानो द्रष्टव्यो, नाल्पकायेषु,तथास्वाभाव्यात्, अन्यथाऽधिकृतसूत्रविरोधः, उत्कृ-ष्टावगाहनतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रे-(तिहिं नाणेहिं तिहिं अन्नाणेहिं इति ) त्रिभिर्ज्ञानैस्त्रिभिरज्ञानैः षट्स्थानपतिता. त्रीण्यज्ञानानि । कथमिति चेत् ?,उच्यते-इह यस्य योजनसहस्रशरीरावगाहना स उत्कृष्टावगाहन', स च सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्क एव भवति, प-र्याप्तश्च । तेन तस्य त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि च सम्भ-न्ति । स्थित्याऽपि चासावुत्कृष्टावगाहनः त्रिस्थानपतितः, सङ्-ख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वात् । अजघन्योत्कृष्टावगाहसूत्रे स्थित्या चतुः-स्थानपतितो,यतो जघन्योत्कृष्टावगाहनोऽसङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्को-ऽपि लभ्यते, तत्रोपपद्यते प्रागुक्तयुक्त्या चतु स्थानपतितत्वम् । जघन्यस्थितिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रे द्वेऽज्ञाने एव वक्तव्ये न तु ज्ञाने, यतोऽसौ जघन्यस्थितिको लब्ध्यपर्याप्तक एव भवति, न तन्मध्ये सासादनसम्यग्दृष्टेरुत्पाद इति । उत्कृष्टस्थितिकतिर्य-क्पञ्चेन्द्रियसूत्रे-( दो नाणा दो अन्नाणा इति ) उत्कृष्टस्थिति-को हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रिपल्योपमस्थितिको भवति । तस्य च द्वेऽज्ञाने तावन्नियमेन,यदा पुनः षण्मासविशेषाऽऽयुर्वैमानिकेषु बद्धाऽऽयुष्को भवति, तदा तस्य द्वे ज्ञाने लभ्येते । अत उक्तम् द्वे ज्ञाने द्वे अज्ञाने इति । अजघन्योत्कृष्टस्थितिकतिर्यक्पञ्चे-न्द्रियसूत्रे-( ठिईए चउट्ठाणवडिए इति ) अजघन्यो-त्कृष्टस्थितिको हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्कोऽपि लभ्यते, असङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्कोऽपि समयो, न त्रिपल्यो-पमस्थितिक', ततश्चतुःस्थानपतितता । जघन्याभिनिबोधिक-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रे-( ठिईए चउट्ठाणवडिए इति ) असंख्ये-यवर्षाऽऽयुषोऽपि हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य स्वभूमिकाऽनुसारेण ज-घन्येनाऽऽभिनिबोधिकश्रुतज्ञाने लभ्येते । तत' सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषो-ऽसङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषश्च जघन्याऽऽभिनिबोधिकश्रुतज्ञानसम्भवाद्भव-ति स्थित्या चतुःस्थानपतित.,उत्कृष्टाऽऽभिनिबोधिकज्ञानसूत्रे स्थित्या च त्रिस्थानपतितता वक्तव्या । यत इह यस्योत्कृष्ट आभिनिबो-धिकश्रुतज्ञाने स नियमात्सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुश्च स्थित्या त्रिस्थानप-तित एव,यथोक्त प्राक् अवधिसूत्रे । विभङ्गसूत्रेऽपि स्थित्या त्रिस्थानपतितता । किं कारणमिति चेत् ?,उच्यते-असङ्ख्येयवर्षा ऽऽयुषोऽवधिविभङ्गासम्भवात् । आह च मूलटीकाकार.-"ओहि विभंगेसु नियमा तिट्ठाणवडिए, किं कारण ?, भण्णइ-ओहिवि-भंगा असंखेज्जवासाउयस्स नत्थि य त्ति ॥ "

सम्प्रति अजीवपर्यायान् पृच्छति-

जहण्णोगाहणगाणं भंते ! मणुस्साणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जहण्णोगाहणगाणं मणुस्साणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए मणुस्से जह-ण्णोगाहणगस्स मणुस्सस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तु-ल्ले ओगाहणट्ठयाए तुल्ले ठितीए तिट्ठाणवडिए,वण्णगंधर-सफासपज्जवेहिं तिहिं नाणेहिं दोहिं अन्नाणेहिं तिहिं दंस-णेहिं छट्ठाणवडिए । उक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, नवरं ठितीए सिय हीणे,सिय तुल्ले,सिय अब्भहिए । जइ ही-णे असंखेज्जइभागहीणे, अह अब्भहिए असंखेज्जइभाग-मब्भहिए । दो नाणा दो अन्नाणा दो दंसणा । अज-हण्णमणुक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, नवरं ओगाहणट्ठया-ए चउट्ठाणवडिए, ठितीए चउट्ठाणवडिए । आइल्लेहिं च-उहिं नाणेहिं छट्ठाणवडिए, केवलनाणपज्जवेहिं तुल्ले, तिहिं अण्णाणेहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए । केवलदंसणप-ज्जवेहिं तुल्ले । जहण्णट्ठितीयाणं भंते ! मणुस्साणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहण्णट्ठितीए मणुस्से जहण्णट्ठितीयस्स मणुस्सस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले प-देसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठितीए तुल्ले । वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं अण्णाणेहिं दोहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसट्ठितीए वि, नवरं दो नाणा दो अन्नाणा दो दंसणा । अजहण्णमणुक्कोसट्ठितीए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, आइल्लेहिं चउहिं नाणेहिं छट्ठाणवडिए, केवलनाणपज्जवेहिं तुल्ले, तिहिं अण्णाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए, केवलदंसणपज्जवेहिं तुल्ले । जहण्ण-गुणकालयाणं भंते ! मणुस्साणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहण्णगुणकालए मणुस्से जहण्णगुणका-लगस्स मणुस्सस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाह-णट्ठयाए चउट्ठाणवडिए । कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसे-सेहिं वण्णगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, चउहिं नाणे-हिं छट्ठाणवडिए , केवलनाणपज्जवेहिं तुल्ले, तिहिं अ-न्नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए, केवलदंसणपज्ज-वेहिं तुल्ले, एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहण्णमणुक्को-सगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं पंच वण्णा दो गंधा पंच रसा अट्ठ फासा भाणियव्वा । जह-ण्णाभिणिबोहियनाणीणं भंते ! मणुस्साणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! जहण्णाभिणिबोहियनाणी मणुस्से जहण्णाभिणिबोहियनाणिस्स मणुस्सस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए ,

ठितीए चउट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं तुल्ले, सुयनाणपज्जवेहिं दोहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसाभिणिबोहियनाणी वि, नवरं आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं तुल्ले, ठितीए तिट्ठाणवडिए, तिहिं नाणेहिं तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए। अजहन्नमणुक्कोसाभिणिबोहियनाणी जहा उक्कोसाभिणिबोहियनाणी, नवरं ठितीए चउट्ठाणवडिए, सट्ठाणे वि छट्ठाणवडिए, एवं सुयनाणी वि। जहन्नोहिनाणीणं भंते! मणुसाणं केवइया पज्जवा पएणत्ता?। गोयमा! अणंता पज्जवा पएणत्ता। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-गोयमा! जहन्नोहिनाणी मणुसे जहन्नोहिनाणिस्स मणुसस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए तिट्ठाणवडिए, ठितीए तिट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं दोहिं नाणेहिं छट्ठाणवडिए, ओहिनाणपज्जवेहिं तुल्ले, मणपज्जवनाणपज्जवेहिं, छट्ठाणवडिए तिहिं दंसणेहिं छट्ठाणवडिए,सट्ठाणे छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसोहिनाणी वि, अजहन्नमणुक्कोसोहिनाणी वि एवं चेव, नवरं ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, सट्ठाणे छट्ठाणवडिए। जहा ओहिनाणी तहा मणपज्जवनाणी वि भाणियव्वो, नवरं ओगाहणट्ठयाए तिट्ठाणवडिए, जहा आभिनिबोहियनाणी तहा सुयअन्नाणी य भाणियव्वो। जहा ओहिनाणी तहा विभंगनाणी वि भाणियव्वो। चक्खुदंसणी, अचक्खुदंसणी य। जहा आभिणिबोहियनाणी ओहिदंसणी तहा ओहिनाणी। जत्थ नाणा तत्थ अन्नाणा नत्थि, जत्थ अन्नाणा तत्थ नाणा नत्थि। जत्थ दंसणा तत्थ नाणा वि,अन्नाणा वि। केवलनाणीणं भंते! मणुस्साणं केवइया पज्जवा पएणत्ता?। गोयमा! अणंता पज्जवा पएणत्ता। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-केवलनाणीणं मणुस्साणं अणंता पज्जवा पएणत्ता?। गोयमा! केवलनाणी मणुस्से केवलनाणिस्स मणुसस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए तुल्ले ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए तिट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, केवलनाणपज्जवेहिं केवलनाणदंसणपज्जवेहिं तुल्ले। एवं केवलदंसणी वि मणुस्से भाणियव्वे। वाणमंतरा जहा असुरकुमारा। एवं जोइसिया वेमाणिया, नवरं सट्ठाणे ठिईए तिट्ठाणवडिए भाणियव्वे। सेत्तं जीवपज्जवा।

जघन्यावगाहनमनुष्यसूत्रे (ठितीए तिट्ठाणवडिए इति) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवन्मनुष्योऽपि जघन्यावगाहनो नियमात् संख्येयवर्षाऽऽयुष्क ,संख्येयवर्षाऽऽयुष्कश्च स्थित्या त्रिस्थानपतित एवेति। (तिहिं नाणेहिं इति)यदा यदा कश्चित्तिर्यक्योऽनुत्तरोपपातिकदेवो वा अप्रतिपतितेनावधिज्ञानेन जघन्यायामवगाहनायामुत्पद्यते,तदाऽवधिज्ञानमपि लभ्यते इति त्रिभिर्ज्ञानैरित्युक्तम्। विभङ्गज्ञानसहितस्तु नारकादुद्वृत्तो जघन्यायामवगाहनायां नोत्पद्यते, तथास्वाभाव्यादतो विभङ्गज्ञानं न लभ्यते इति द्वाभ्यामज्ञानाभ्यामित्युक्तम्। उत्कृष्टावगाहनामनुष्यसूत्रे-" ठिईए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए जइ हीणे असंखेज्जभागहीणे जइ अब्भहिए असंखेज्जभागमब्भहिए।" उत्कृष्टावगाहना हि मनुष्यास्त्रिगव्यूतोच्छ्रयास्त्रिगव्यूतानां स्थितिर्जघन्यतः पल्योपमासंख्येयभागहीनानि त्रीणि पल्योपमानि, उत्कर्षतस्तान्येव परिपूर्णानि त्रीणि पल्योपमानि। उक्तं च जीवाभिगमे-" उत्तरकुरुदेवकुराए मणुस्साणं भंते! केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता?। गोयमा! जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागहीणाइं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं त्ति।" पल्योपमासंख्येयभागश्च त्रयाणां पल्योपमानामसंख्येयतमो भाग इति पल्योपमासंख्येयभागहीनः पल्योपमत्रयस्थितिकः परिपूर्णपल्योपमत्रयस्थितिकापेक्षयाऽसंख्येयभागहीन , इतरस्तु तदपेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकः, शेषा वृद्धिहानयो न सम्भवन्ते। (दो नाणा दो अन्नाणा इति) उत्कृष्टावगाहना हि असंख्येयवर्षाऽऽयुषोऽसंख्येयवर्षाऽऽयुषां चावधिविभङ्गासम्भवः,तथास्वाभाव्यादतो द्वे एव ज्ञाने द्वे चाऽज्ञाने इति। तथा अजघन्योत्कृष्टावगाहनः संख्येयवर्षाऽऽयुष्कोऽपि भवत्यसंख्येयवर्षाऽऽयुष्कोऽपि गव्यूतद्विगव्यूतोऽच्छ्रयः,ततोऽवगाहनयाऽपि चतुःस्थानपतितत्वं स्थित्याऽपि तथाऽऽद्यैश्चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्यवरूपैर्ज्ञानैः षट्स्थानपतिता , तेषां चतुर्णामपि ज्ञानानां तत्तद्द्रव्याऽऽदिसापेक्षक्षयोपशमवैचित्र्यतारतम्यभावात्केवलज्ञानपर्यवैस्तुल्यता,निःशेषस्वावरणक्षयतः, प्रभूतस्य केवलज्ञानस्य भेदाभावात्। शेषं सुगमम्। जघन्यस्थितिकमनुष्यसूत्रे-( दोहिं अन्नाणेहिं इति ) द्वाभ्यामज्ञानाभ्यां मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपाभ्यां षट्स्थानपतितता वक्तव्या,न तु ज्ञानाभ्याम्। कस्मादिति चेत्?। उच्यते-जघन्यस्थितिका मनुष्याः सम्मूर्च्छिमाः, सम्मूर्च्छिममनुष्याश्च नियमतो मिथ्यादृष्टयस्ततः , तेषामज्ञाने एव न ज्ञाने। उत्कृष्टस्थितिमनुष्यसूत्रे-( दो नाणा दो अन्नाणा इति ) उत्कृष्टस्थितिका हि मनुष्यास्त्रिपल्योपमाऽऽयुषस्तेषां च तावद् ज्ञाने नियमेन,यदा पुनः षण्मासावशेषाऽऽयुषो वैमानिकेषु बद्धाऽऽयुषस्तदा सम्यक्त्वलाभात् द्वे ज्ञाने लभ्येते,अवधिविभङ्गौ पुनरसंख्येयवर्षाऽऽयुषां न स्त इति त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानीति नोक्तम्। अजघन्योत्कृष्टस्थितिमनुष्यसूत्रमजघन्योत्कृष्टावगाहनमनुष्यसूत्रमिव भावनीयम्। जघन्याऽऽभिनिबोधिकमनुष्यसूत्रे द्वे ज्ञाने वक्तव्ये,द्वे दर्शने। किं कारणमिति चेत्?,उच्यते-जघन्याभिनिबोधिको हि जीवो नियमादवधिमनःपर्यवज्ञानविकल ,प्रबलज्ञानाऽऽवरणकर्मोदयसद्भावादन्यथा जघन्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानत्वायोगात्, ततः शेषज्ञानदर्शनासम्भवाद्वाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवैस्तुल्यश्रुतज्ञानपर्यवैर्द्वाभ्यां दर्शनाभ्यां च षट्स्थानपतिता उक्ता। उत्कृष्टाऽऽभिनिबोधिकसूत्रे-( ठिईए तिट्ठाणवडिए इति) उत्कृष्टाऽऽभिनिबोधिको हि नियमात्संख्येयवर्षाऽऽयुरसंख्येयवर्षाऽऽयुष , तथा भवस्वाभाव्यात्,सर्वोत्कृष्टाऽऽभिनिबोधिकज्ञानसम्भवाद्,संख्येयवर्षाऽऽयुषश्च प्रागुक्तयुक्तेः स्थित्या त्रिस्थानपतिता इति जघन्याऽवधिसूत्रे उत्कृष्टावधिसूत्रे च अवगाहनया त्रिस्थानपतितो वक्तव्यः। यतः सर्वजघन्योऽवधिर्यथोक्तस्वरूपो मनुष्याणां पारभविको न भवति, किं तु तद्

घभावी,सोऽपि च पर्याप्तावस्थायाम्,अपर्याप्तावस्थायां तद्योग्य-विशुद्ध्यभावात्। उत्कृष्टोऽप्यवधिर्भावतश्चारित्रिणस्ततो जघन्या-वधिरुत्कृष्टावधिर्वाऽवगाहनया त्रिस्थानपतितः, अजघन्योत्कृष्टस्त्ववधिः पारभविकोऽपि सम्भवति, ततोऽपर्याप्तावस्थायामपि तस्य सम्भवात्, अजघन्योत्कृष्टाऽवधिरवगाहनया चतुःस्थानपतितः,स्थित्या तु जघन्यावधिरुत्कृष्टावधिरजघन्योत्कृष्टावधिर्वा त्रिस्थानपतितः, असङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषामवधेरसम्भवात्, सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुषां च त्रिस्थानपतितत्वात् जघन्यमनःपर्यवज्ञानी, उत्कृष्टमनःपर्यवज्ञानी, अजघन्योत्कृष्टमनःपर्यवज्ञानी स्थित्या त्रिस्थानपतितः, चारित्रिणामेव मनःपर्यवज्ञानसद्भावात्, चारित्रिणां च सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वात्। केवलज्ञानसूत्रे तु-( ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए इति ) केवलिसमुद्घातं प्रतीत्य। तथाहि-केवलिसमुद्घातगतः केवली शेषकेवलिभ्योऽसङ्ख्येयगुणावगाहनः, तदपेक्षया शेषाः केवलिनोऽसङ्ख्येयगुणहीनावगाहनाः, स्वस्थाने तु शेषाः केवलिनस्त्रिस्थानपतिता इति स्थित्या त्रिस्थानपतितत्वम्, सङ्ख्येयवर्षाऽऽयुष्कत्वात्, व्यन्तरा यथा असुरकुमाराः ज्योतिष्का वैमानिका अपि तथैव, नवरं ते स्थित्या त्रिस्थानपतिता वक्तव्याः। एतच्च प्रागेव भावितम्। उपसंहारमाह-( से त्त जीवपज्जवा इति ) ते जीवपर्यायाः।

संप्रत्यजीवान् पृच्छति-

अजीवपज्जवा णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पएणत्ता । तं जहा-रूविअजीवपज्जवा, अरूविअजीवपज्जवा य। अरूविअजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पएणत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पएणत्ता। तं जहा-धम्मत्थिकाए,धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा,अधम्मत्थिकाए,अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा,आगासत्थिकाए,आगासत्थिकायस्स देसे,आगासत्थिकायस्स पदेसा,अद्धासमए। रूविअजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पएणत्ता ?। गोयमा! चउव्विहा पएणत्ता। तं जहा-खंधा, खंधदेसा,खंधपदेसा,परमाणुपोग्गला। ते णं भंते ! किं संखेज्जा,असंखेज्जा अणंता ?। गोयमा ! नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-नो संखिज्जा,नो असंखिज्जा,अणंता ?। गोयमा ! अणंता परमाणुपोग्गला, अणंता दुपएसिया खंधा० जाव अणंता दसपदेसिया खंधा, अणंता संखिज्जपदेसिया खंधा, अणंता असंखिज्जपदेसिया खंधा,अणंता अणंतपदेसिया खंधा। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-ते णं नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता ।

( अजीवपज्जवा ण इत्यादि ) ( रूविअजीवपज्जवा य अरूविअजीवपज्जवा य इति ) रूपमिति, उपलक्षणमेतत्-वर्णगन्धरसस्पर्शाश्च विद्यन्ते येषां ते रूपिणः, ते च ते जीवाश्च रूप्यजीवाः, तेषां पर्याया रूप्यजीवपर्याया इत्यर्थः। तद्विपरीता अरूप्यजीवपर्याया ,अमूर्त्ताऽजीवपर्याया इति भावः। ( धम्मत्थिकाए इत्यादि ) धर्मास्तिकाय इति परिपूर्णमवयवि द्रव्यं धर्मास्तिकायस्य देशः,तस्यैवार्द्धाऽऽदिरूपो विभागः, धर्मास्तिकायस्य प्रदेशास्तस्यैव निर्विभागा भागाः। एवं त्रिकमधर्मास्तिकाये आकाशास्तिकाये च भावनीयम्। एतावता चान्योऽन्यानुगमाऽऽत्मकाधयवाधयविरूपधर्मास्तिकायाऽऽदिकं वस्त्विति प्रतिपादितम्। दशमोऽद्धासमयः। ननु अत्र पर्याया वक्तुमुपक्रान्तास्तत्कथं द्रव्यमात्रोपन्यासः कृतः?। उच्यते-पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदख्यापनार्थं । एवमुत्तरत्रोऽपि ग्रन्थः। आह च मूलटीकाकारः-अत्र सर्वत्र पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदख्यापनार्थमित्थं सूत्रोपन्यास इति। परमार्थतस्त्वेवं द्रष्टव्यम्-धर्मास्तिकायत्वं धर्मास्तिकायदेशत्वं धर्मास्तिकायप्रदेशत्वमित्यादि। (ते ण भंते ! किं संखेज्जा इत्यादि) स्कन्धाऽऽदयः प्रत्येकं किं सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनन्ताः?। भगवानाह-अनन्ताः। एतदेव भावयति-"से केणट्ठेणं भंते !" इत्यादि पाठसिद्धम्। सम्प्रति द्रव्यक्रमेण परमाणुपुद्गलाऽऽदीनां पर्यायाश्चिन्तनीयाः। इदमत्र क्रमसूत्रम्-प्रथमतः सामान्येन परमाण्वादयश्चिन्तनीयाः, तदनन्तरमेव एकप्रदेशाऽऽद्यवगाढाः,तत एकसमयाऽऽदिस्थितिकाः, तदनन्तरमेकगुणकालकाऽऽद्यः, ततो जघन्याऽऽद्यवगाहनाप्रकारेण, तदनन्तरं जघन्यस्थित्यादिभेदेन, ततो जघन्यगुणकालाऽऽदिक्रमेण,तदनन्तरं जघन्यप्रदेशाद्विभेदेनेति। उक्तं च-

" अणुमाइआोहियाणं, खेत्ताऽऽदिपएससमयाण य ।
जहन्नावगाहणाई-ण चेव जहन्नाइदेसाण ॥ १ ॥ "

अस्या अक्षरगमनिका-प्रथमतोऽएवादीनां चिन्ता कर्तव्या, तदनन्तरं क्षेत्राऽऽदिप्रदेशसङ्कुलानाम्। अत्राऽऽदिशब्दात्कालभावपरिग्रहः। ततोऽयमर्थः-प्रथमतः क्षेत्रप्रदेशैरेकाऽऽदिभिः सङ्कुलानां चिन्ता कर्तव्या, तदनन्तरं कालप्रदेशैरेकाऽऽदिसमयैः, ततो भावप्रदेशैरेकगुणकालकाऽऽदिभिरिति। तदनन्तरं जघन्यावगाहनाऽऽदीनामिति। अत्र-अपिशब्देन मध्यमोत्कृष्टावगाहना जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितिजघन्यमध्यमोत्कृष्टगुणकालिकाऽऽदिवर्णाः परिग्रहः। ततो जघन्याऽऽदिप्रदेशानां जघन्यप्रदेशानां मध्यमप्रदेशानामजघन्योत्कृष्टप्रदेशानामिति।

अत्र प्रथमतः क्रमेण परमाण्वादीनां चिन्तां कुर्वन्नाह-

परमाणुपोग्गलाणं भंते ! केवइया पज्जवा पएणत्ता ?। गोयमा ! परमाणुपोग्गलाणं अणंता पज्जवा पएणत्ता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-परमाणुपोग्गलाणं अनंता पज्जवा पएणत्ता ?। गोयमा ! परमाणुपोग्गले, परमाणुपोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए। जइ हीणे संखेज्जइभागहीणे वा असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा, अह अब्भहिए संखेज्जइभागमब्भहिए वा असंखेज्जइभागमब्भहिए वा संखेज्जगुणमब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए वा । कालवन्नपज्जवेहिं सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए। जइ हीणे अणंतभागहीणे वा असंखिज्जभागहीणे वा संखिज्जभागहीणे वा संखिज्जगुणहीणे वा असंखिज्जगुणहीणे वा अणंतगुणहीणे वा, अह अब्भहिए असंखेज्जइभागमब्भहिए वा संखेज्जइभागमब्भहिए वा संखिज्जगुणमब्भहिए वा असंखिज्ज-

गुणमब्भहिए वा अणंतगुणमब्भहिए वा । एवं अवसेसवन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । फासाणं सीयउसिणनिद्धलुक्खेहिं छट्ठाणवडिए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-परमाणुपोग्गलाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता ॥

( परमाणुपोग्गलाणं भंते ! इत्यादि ) स्थित्या चतुःस्थानपतितत्वं, परमाणोः समयादारभ्योत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालमवस्थानभावात् । कालाऽऽदिवर्णपर्यायैः षट्स्थानपतितता, एकस्यापि परमाणोः पर्यायाऽऽनन्त्याविरोधात् । ननु परमाणुरप्रदेशो गीयते ततः कथं पर्यायाऽऽनन्त्याविरोधः, पर्यायाऽऽनन्त्ये नियमतः सप्रदेशत्वप्रसक्तेः ? । तदयुक्तम्-वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । परमाणुर्हि अप्रदेशो गीयते-द्रव्यरूपतया सांऽशो न भवतीति, न तु कालभावाभ्यामिति । "अपएसो दव्वट्ठयाए उ" इति वचनात् । ततः कालभावाभ्यां सप्रदेशत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः । तथा परमाण्वादीनामसङ्ख्यातप्रदेशकस्कन्धपर्यन्तानां केषाञ्चिदनन्तप्रदेशकानामपि स्कन्धानां तथा एकप्रदेशावगाढानां यावत्सङ्ख्यातप्रदेशावगाढानां शीतोष्णस्निग्धरूक्षरूपाश्चत्वार एव स्पर्शा इति तैरेव परमाण्वादीनां षट्स्थानपतितता वक्तव्या, न शेषैः ।

द्विप्रदेशकस्कन्धसूत्रे-

दुपदेसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता ? । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-गोयमा ! दुपदेसिए, दुपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पएसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए । जइ हीणे पएसहीणे, अह अब्भहिए पदेसमब्भहिए, ठितीए चउट्ठाणवडिए, वन्नादीहिं उवरिल्लेहिं चउफासेहि य छट्ठाणवडिए । एवं तिपएसिए वि, नवरं ओगाहणट्ठाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए, जइ हीणे पदेसहीणे वा दुपएसहीणे वा, अह अब्भहिए पदेसमब्भहिए वा, एव० जाव दसपदेसिए, नवरं ओगाहणाए पदेसपरिवुड्ढी कायव्वा० जाव दसपदेसिए, नवरं पदेसहीणे त्ति । संखेज्जपदेसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-गोयमा ! संखिज्जपदेसिए, संखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए, जइ हीणे संखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा, अह अब्भहिए एवं चेव, ओगाहणट्ठया वि दुट्ठाणवडिए, ठितीए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिउवरिल्ले चउफासपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए । असंखेज्जपदेसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए खंधे असंखेज्जपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिउवरिल्ले चउफासेहि य छट्ठाणवडिए । अणंतपदेसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! अणंतपदेसिए खंधे, अणंतपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठितीए चउट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एगपदेसोगाढाणं पोग्गलाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! एगपदेसोगाढे पोग्गले, एगपदेसोगाढस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठितीए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिउवरिल्लचउफासेहि य छट्ठाणवडिए । एवं दुपएसोगाढे वि० जाव दसपदेसोगाढे । संखेज्जपदेसोगाढाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! संखेज्जपदेसोगाढे पोग्गले संखिज्जपदेसोगाढस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए ? । ओगाहणट्ठयाए दुट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिउवरिल्लचउफासेहि य छट्ठाणवडिए । असंखेज्जपदेसोगाढाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता पज्जवा पण्णत्ता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! असंखेज्जपदेसोगाढे पोग्गले, असंखेज्जपदेसोगाढस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णादिअट्ठफासेहिं छट्ठाणवडिए । एगसमयठिईयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! एगसमयट्ठिईए पोग्गले एगसमयट्ठिइयस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए तुल्ले, वण्णादिअट्ठफासेहिं छट्ठाणवडिए । एव० जाव दससमयट्ठिईए । संखेज्जसमयट्ठिईयाणं एवं चेव, नवरं ठिईए दुट्ठाणवडिए । असंखेज्जसमयट्ठिईयाणं एवं चेव, ठिईए चउट्ठाणवडिए । एगगुणकालगाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! एगगुणकालए पोग्गले, एगगुणकालगस्स पुग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए, चउट्ठाणवडिए ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णगंधरसपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, अट्ठहिं फासेहिं छट्ठाणवडिए । एवं० जाव दसगुणकालए, संखेज्जगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे दुट्ठाणवडिए । एवं असंखिज्जगुणकालए वि, नवरं सट्ठाणे चउट्ठाणवडिए । एवं अणंतगुणकालए वि, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं जहा कालवण्णस्स वत्तव्वया भणिया, तहा सेसाण वि वण्णगंधरसफासाणं वत्तव्वया भाणियव्वा ० जाव अणंतगुणलुक्खे । जहण्णोगाहणगाणं भंते ! दुपदे-

मियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए दुपदेसिए खंधे जहण्णो-गाहणगस्स दुपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेस-ट्ठयाए तुल्ले,ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवन्नपज्जवेहिं छ-ट्ठाणवडिए,सेसवन्नगंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, सी-तउसिणणिद्धलुक्खफासेहिं छट्ठाणवडिए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जहण्णोगाहणगाणं दुपदेसियाणं पो-ग्गलाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता । उक्कोसोगाहणए वि एवं चेव,अजहन्नमणुक्कोसोगाहणओ नत्थि । जहन्नोगाहणगाणं भंते ! तिपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठे-णं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहा दुपदेसिए जहन्नोगा-हणए उक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, एवं अजहन्नमणुक्को-सोगाहणए वि । जहण्णोगाहणगाणं भंते ! चउपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नोगाहणए दुपदेसिए तहा उक्कोसो-गाहणए चउप्पएसिए वि, एवं अजहण्णमणुक्कोसोगाहणए वि चउप्पदेसिए, णवरं उग्गाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए,जइ हीणे पदेसहीणे, अह अब्भहिए पदेसअब्भहिए,एवं० जाव दसपदेसिए णेयव्वं, नवरं अजह-ण्णमणुक्कोसोगाहणए पदेसपरिवुड्ढी कायव्वा० जाव दसपदे-सियस्स सत्त पएसा परिवुड्ढिज्जंति । जहण्णोगाहणगाणं भंते ! संखेज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहण्णोगाहणए संखेज्जपएसिए, जहन्नोगाहणगस्स संखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, प-देसट्ठयाए दुट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिचउफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसोगाहणए वि, अजहन्नमणुक्कोसोगाहणए वि एवं चेव नवरं सट्ठाणे दुट्ठाणवडिए । जहन्नोगाहण-गाणं भंते ! असंखिज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जह-न्नोगाहणए असंखेज्जपदेसिए खंधे, जहण्णोगाहणगस्स अ-संखिज्जपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाण-वडिए,वण्णादिउवरिल्ले फासेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसो-गाहणए वि,अजहन्नमणुक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे चउट्ठाणवडिए। जहन्नोगाहणगाणं भंते ! अणंत-पदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जहन्नोगाहणए अणंतपदेसिए खंधे, जहन्नोगाहणगस्स अणंतपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए,वन्नादिचउफासेहिं छट्ठाणवडिए । उक्को-सोगाहणए वि एवं चेव, नवरं ठिईए वि तुल्ले । अजह-ण्णमणुक्कोसोगाहणगाणं भंते ! अणंतपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। अजहण्णमणुक्कोसोगाह-णए अणंतपदेसिए खंधे, अजहन्नमणुक्कोसोगाहणगस्स अ-णंतपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए ठिईए व-न्नादिअट्ठफासेहिं छट्ठाणवडिए । जहन्नट्ठिईयाणं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नट्ठिईए परमाणुपोग्गले, जहन्नट्ठिइयस्स परमाणुपोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, उ-ग्गाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए तुल्ले, वन्नाइदुफासेहि य छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठि-ईए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए। जहन्नट्ठि-ईयाणं दुपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता से के-णट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नट्ठिईए दुपदेसिए, जहन्नट्ठिई-यस्स दुपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, उग्गाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भ-हिए, जइ हीणे पदेसहीणे, अह अब्भहिए पदेसट्ठयाए अब्भहिए, ठिईए तुल्ले, वन्नादिचउफासेहि य छट्ठाणव-डिए। एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठिईए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए, एवं०जाव दसपदेसिए, नवरं पदेसपरिवुड्ढी कायव्वा, ओगाहणट्ठयाए तिसु वि गमे-एसु०जाव दसपदेसिए नव पदेसा वुड्ढिज्जति । जहन्नठि-ईयाणं भंते ! संखेज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अ-णंता। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नट्ठिईए संखेज्जपदेसि-ए, जहन्नट्ठिईयस्स संखेज्जपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए दुट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए दुट्ठाणव-डिए, ठिईए तुल्ले, वण्णादिचउफासेहि य छट्ठाणवडिए वि, एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठिईए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए । जहन्नट्ठिईयाणं भंते ! अस-खिज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नट्ठिईए असंखिज्जपएसिए, जहन्नट्ठिईयस्स असंखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए चउट्ठाण-वडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए तुल्ले,वन्ना-दिउवरिल्लचउफासेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठिईए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउ-ट्ठाणवडिए । जहन्नठिईयाणं अणंतपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नट्ठिईए अणंतपदेसिए जहण्णठिईयस्स अणंतपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाण-

वड्डिए, ठिईए तुल्ले, वन्नादिअट्ठफासेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठितीए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए । जहन्नगुणकालयाणं परमाणुपोग्गलाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणकालए परमाणुपोग्गले, जहन्नगुणकालगस्स परमाणुपोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवन्नपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसा वन्ना नत्थि, गंधरसफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणकालए वि, एवं अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । जहन्नगुणकालयाणं भंते ! दुपदेसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणकालए दुपदेसिए, जहन्नगुणकालगस्स दुपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए, जइ हीणे पदेसहीणे, अह अब्भहिए पदेसमब्भहिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसवण्णादिउवरिल्लचउफासेहि य छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणकालओ वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं० जाव दसपदेसिए, नवरं पदेसपरिवुड्ढी ओगाहणा तहेव । जहन्नगुणकालयाणं भंते ! संखेज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणकालए संखेज्जपदेसिए, जहन्नगुणकालगस्स संखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए दुट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए दुट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णादिउवरिल्लचउफासेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणकालए वि, एवं अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । जहन्नगुणकालयाणं भंते ! असंखिज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणकालए असंखेज्जपदेसिए, जहन्नगुणकालगस्स असंखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवण्णपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वण्णादिउवरिल्लचउफासेहि य छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । जहन्नगुणकालयाणं भंते ! अणंतपदेसियाणं पुच्छा ? । अणंता । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! जहन्नगुणकालए अणंतपदेसिए, जहन्नगुणकालगस्स अणंतपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवन्नपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहि य वण्णादिअट्ठफासेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसगुणकालए वि । एवं अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं नीललोहियहालिद्दसुक्किल्लसुब्भिगंधदुब्भिगंधतित्तकडुयकसायअंबिलमहुररसपज्जवेहि य वत्तव्वया भाणियव्वा, नवरं परमाणुपोग्गलस्स सुब्भिगंधस्स दुब्भिगंधो न भण्णति, दुब्भिगंधस्स सुब्भिगंधो न भण्णति, तित्तस्स अवसेसा न भण्णंति, एवं कडुयादीनि वि, सेसं तं चेव । जहन्नगुणकक्खडाणं अणंतपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणकक्खडे अणंतपदेसिए, जहन्नगुणकक्खडस्स अणंतपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए । ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसेहिं छट्ठाणवडिए, कक्खडफासपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं सत्तफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए. एवं उक्कोसगुणकक्खडे वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणकक्खडे वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं मउयगुरुयलहुए वि भाणियव्वे । जहन्नगुणसीयाणं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणसीयाणं परमाणुपोग्गले जहन्नगुणसीयस्स परमाणुपोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसेहिं छट्ठाणवडिए, सीतफासपज्जवेहिं तुल्ले, उसिणफासो न भवति, निद्धलुक्खफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणसीते वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणसीते वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । जहन्नगुणसीताणं दुपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता से केणट्ठेणं भंते ! ? । गोयमा ! जहन्नगुणसीते दुपदेसिए, जहन्नगुणसीयस्स दुपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए, जदि हीणे पदेसहीणे, अह अब्भहिए पदेसमब्भहिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वण्णगंधरसपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, सीयफासपज्जवेहिं तुल्ले, उसिणणिद्धलुक्खफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । एवं उक्कोसगुणसीते वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणसीते वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं० जाव दसपदेसिए, नवरं ओगाहणट्ठयाए पदेसपरिवुड्ढी कायव्वा० जाव दसपदेसियस्स नव पदेसा वुड्ढिज्जति । जहन्नगुणसीयाणं संखेज्जपदेसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नगुणसीते संखिज्जपदेसिए, जहन्नगुणसीयस्स संखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए

छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादीहिं छट्ठाणवडिए, सीयफासपज्जवेहि य तुल्ले, उसिणनिद्धलुक्खेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणसीते वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणसीते वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । जहन्नगुणसीयाणं असंखेज्जपदेसियाणं पुच्छा?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं भंते ! ?। गोयमा ! जहन्नगुणसीते असंखेज्जपदेसिए, जहन्नगुणसीतस्स असंखेज्जपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, सीतफासपज्जवेहिं तुल्ले, णिद्धउसिणलुक्खफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणसीते वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणसीते वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । जहन्नगुणसीयाणं अणंतपदेसियाणं पुच्छा?, गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं?। गोयमा ! जहन्नगुणसीते अणंतपदेसिए, जहन्नगुणसीतस्स अणंतपदेसियस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, सीतफासपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं सत्तफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, एवं उक्कोसगुणसीते वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणसीते वि एवं चेव, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए, एवं उसिणे णिद्धे लुक्खे जहा सीते परमाणुपोग्गलस्स तहेव पडिपक्खो सव्वेसिं न भन्नति त्ति भाणियव्वं । जहन्नपदेसियाणं भंते! खंधाणं पुच्छा?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं?। गोयमा ! जहन्नपदेसिए खंधे, जहन्नपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय मब्भहिए, जदि हीणे पदेसहीणे, अह अब्भहिए पदेसमब्भहिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नगंधरसउवरिल्लचउफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए। उक्कोसपदेसियाणं भंते! खंधाणं पुच्छा?।गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! उक्कोसपएसिए खंधे, उक्कोसपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिअट्ठफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । अजहन्नमणुक्कोसपदेसियाणं भंते ! खंधाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसपदेसिए खंधे अजहन्नमणुक्कोसपदेसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिअट्ठफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए । जहन्नोगाहणगाणं भंते ! पोग्गलाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंता । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नोगाहणए पोग्गले, जहन्नोगाहणगस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए तुल्ले, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिउवरिल्लफासेहि य छट्ठाणवडिए, उक्कोसोगाहणए वि एवं चेव, नवरं ठिईए तुल्ले । अजहन्नमणुक्कोसोगाहणगाणं भंते ! पोग्गलाणं पुच्छा?।गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं?। गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसोगाहणए पोग्गले, अजहन्नमणुक्कोसोगाहणगस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, वन्नादिअट्ठफासपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। जहन्नट्ठिईयाणं भंते! पोग्गलाणं पुच्छा?।गोयमा! अणंता। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहन्नट्ठिईए ?। पोग्गले, जहन्नट्ठिइयस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए तुल्ले, वन्नादिअट्ठफासपज्जवेहि य छट्ठाणवडिए। एवं उक्कोसट्ठिईए वि, अजहन्नमणुक्कोसट्ठिइए वि एवं चेव, नवरं ठिईए चउट्ठाणवडिए । जहन्नगुणकालगाणं भंते ! केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। अणंता । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! जहन्नगुणकालए पोग्गले, जहन्नगुणकालगस्स पोग्गलस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठिईए चउट्ठाणवडिए, कालवन्नपज्जवेहिं तुल्ले, अवसेसेहिं वन्नगंधफासपज्जवेहिं छट्ठाणवडिए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–जहन्नगुणकालयाणं पोग्गलाणं अणंता पज्जवा पण्णत्ता । एवं उक्कोसगुणकालए वि, अजहन्नमणुक्कोसगुणकालए वि एवं, नवरं सट्ठाणे छट्ठाणवडिए । एवं जहा कालवन्नपज्जवाणं वत्तव्वया भणिया तहा सेसाण वि वन्नगंधरसफासाणं वत्तव्वया भाणियव्वा, ०जाव अजहन्नमणुक्कोसलुक्खे सट्ठाणे छट्ठाणवडिए। से त्तं रूविअजीवपज्जवा । से त्तं अजीवपज्जवा।

द्विप्रदेशकस्कन्धसूत्रे-( ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए इत्यादि ) यदा द्वावपि द्विप्रदेशकौ स्कन्धौ द्विप्रदेशावगाढावेकप्रदेशावगाढौ वा भवतस्तदा तुल्यावगाहनौ, यदा त्वेको द्विप्रदेशावगाढस्तदा एकप्रदेशावगाढो द्विप्रदेशावगाढापेक्षया प्रदेशहीनो, द्विप्रदेशावगाढस्तु तदपेक्षया प्रदेशाभ्यधिकः, शेषं प्राग्वत् । त्रिप्रदेशस्कन्धसूत्रे ( ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे इत्यादि ) यदा द्वावपि त्रिप्रदेशकौ स्कन्धौ त्रिप्रदेशावगाढौ द्विप्रदेशावगाढावेकप्रदेशावगाढौ वा तदा तुल्यौ, यदा त्वेकस्त्रिप्रदेशावगाढो वा द्विप्रदेशावगाढो वाऽपरस्तु द्विप्रदेशावगाढ एकप्रदेशावगाढो वा तदा द्विप्रदेशावगाढैकप्रदेशावगाढौ यथाक्रमं त्रिप्रदेशावगाढद्विप्रदेशावगाढापेक्षया एकप्रदेशहीनौ, त्रिप्रदेशावगाढद्विप्रदेशावगाढौ तु तदपेक्षया एकप्रदेशाभ्यधिकौ, यदा त्वेकस्त्रिप्रदेशावगाढोऽपर एकप्रदेशावगाढस्त्रिप्रदेशावगाढापेक्षया द्विप्रदेशहीनस्त्रिप्रदेशावगाढस्तु तदपेक्षया द्विप्रदेशाभ्य-

धिक.। एवमेकैकप्रदेशपरिवृद्ध्या चतुःप्रदेशाऽऽदिषु स्कन्धेष्ववगाहनामधिकृत्य हानिर्वृद्धिर्वा तावद्वक्तव्या यावद्दशप्रदेशकस्कन्धः। तस्मिंश्च दशप्रदेशकस्कन्धे एवं वक्तव्यम्-" जइ हीणे पएसहीणे वा दुपएसहीणे वा० जाव नवपएसहीणे वा, अह अब्भहिए पएसमब्भहिए वा दुपएसमब्भहिए वा० जाव नवपएसमब्भहिए इति।" भावना पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं कर्तव्या। सङ्ख्यातप्रदेशकस्कन्धसूत्रे-( ओगाहणट्ठयाए दुट्ठाणवडिए इति ) सङ्ख्येयभागेन सङ्ख्येयगुणेन वेति। असङ्ख्यातप्रदेशकस्कन्धे-( ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए इति ) असङ्ख्यातभागेन सङ्ख्यातभागेन सङ्ख्यातगुणेनाऽसङ्ख्यातगुणेनेति। अनन्तप्रदेशस्कन्धेऽप्यवगाहनार्थतया चतुःस्थानपतितता, अनन्तप्रदेशावगाहनयाऽसम्भवतोऽनन्तभागानन्तगुणाभ्यां वृद्धिहान्यसम्भवात्, ( एगपएसोगाढाणं पोग्गलाणं भंते ! इत्यादि ) अत्र-( दव्वट्ठयाए तुल्ले पदेसट्ठयाए छट्ठाणवडिए इति ) इदमपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढपरमाण्वादिकं द्रव्यमिदमप्यपरैकप्रदेशावगाढं द्विप्रदेशाऽऽदिकं द्रव्यमिति। द्रव्यार्थतया तुल्यता प्रदेशार्थतया षट्स्थानपतिता, अनन्तप्रदेशकस्याऽपि स्कन्धस्यैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहसम्भवात्। शेषं सुगमम्। एवं स्थितिभावाऽऽश्रयाण्यपि सूत्राणि उपयुज्य भावनीयानि ( जहन्नोगाहणाणं भंते ! दुपएसियाणमित्यादि ) जघन्या द्विप्रदेशकस्य स्कन्धस्यावगाहना एकप्रदेशाऽऽत्मिका, उत्कृष्टा द्विप्रदेशाऽऽत्मिका। अत्र अपान्तरालं नास्तीति मध्यमा न लभ्यते। तत उक्तम् ( अजहन्नुक्कोसोगाहणओ नत्थि इति ) त्रिप्रदेशकस्य जघन्याऽवगाहना एकप्रदेशरूपा, मध्यमा द्विप्रदेशरूपा, उत्कृष्टा त्रिप्रदेशरूपा। चतुःप्रदेशस्य जघन्या एकप्रदेशरूपा, उत्कृष्टा चतुःप्रदेशाऽऽत्मिका, मध्यमा द्विविधा-द्विप्रदेशाऽऽत्मिका च, त्रिप्रदेशाऽऽत्मिका। एवं च सति मध्यमावगाहनचतुःप्रदेशको मध्यमावगाहनचतुःप्रदेशापेक्षया यदि हीनस्तर्हि प्रदेशतो हीनो भवति, अथाभ्यधिकस्तत प्रदेशतोऽधिकः। एवं पञ्चप्रदेशाऽऽदिषु स्कन्धेषु मध्यमावगाहनामधिकृत्य प्रदेशपरिवृद्ध्या वृद्धिर्हानिश्च तावद्वक्तव्या यावद्दशप्रदेशके स्कन्धे सप्तप्रदेशपरिवृद्धिः। सा चैवं वक्तव्या-" अजहन्नमणुक्कोसोगाहणए दसपएसिए अजहन्नमणुक्कोसोगाहणस्स दसपएसियस्स खंधस्स ओगाहणट्ठयाए सिय हीणे सिय तुल्ले सिय अब्भहिए, जइ हीणे पएसहीणे दुपएसहीणे० जाव सत्तपएसहीणे, अह अब्भहिए पएसमब्भहिए दुपएसमब्भहिए० जाव सत्तपएसमब्भहिए।" इति। शेषं सूत्रं स्वयमुपरि भावनीयं, सुगमत्वात्, नवरमनन्तप्रदेशकोत्कृष्टावगाहनाचिन्तायाम्-( ठिईए वि तुल्ले इति )। उत्कृष्टावगाहनः किलानन्तप्रदेशकः स्कन्धः स उच्यते यः समस्तलोकव्यापी स चाचित्तमहास्कन्धः, केवलिसमुद्घातकर्मस्कन्धो वा, तयोश्चोभयोरपि दण्डकपाटमन्थान्तरपूरणकालक्षणश्चतुः समयप्रमाणैवेति तुल्यकालता। शेषसूत्रमापादपरिसमाप्तेः प्रागुक्तभावनानुसारेण स्वयमुपयुज्य परिभावनीयम्। प्रज्ञा० ५ पद। ( संहननानां पर्यायद्वारम्, निर्ग्रन्थानां परिहारविशुद्धिकस्य च पर्यायद्वारं स्वस्थाने )

आभिनिबोधिकाऽऽदिज्ञानपर्यायाः-

केवइया णं भंते ! आभिणिबोहियनाणपज्जवा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता आभिणिबोहियनाणपज्जवा पण्णत्ता। केवइया णं भंते ! सुयनाणपज्जवा पण्णत्ता ? एवं चेव, एवं० जाव केवलनाणस्स, एवं मइअन्नाणस्स सुयअन्नाणस्स य। केवइया णं भंते ! विभंगनाणपज्जवा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता विभंगनाणपज्जवा पण्णत्ता।

आभिनिबोधिकज्ञानस्य पर्यवाः विशेषधर्मा आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाः, ते च द्विविधाः, स्वपरपर्यायभेदात्। तत्र येऽवग्रहाऽऽदयो मतिविशेषाः क्षयोपशमवैचित्र्यात्ते स्वपर्यायाः, ते चाऽनन्ताः। कथम् ? एकस्मादवग्रहादेरन्योऽवग्रहाऽऽदिरनन्तभागवृद्ध्या विशुद्धोऽन्यस्त्वसङ्ख्येयभागवृद्ध्याऽपरः सङ्ख्येयभागवृद्ध्या अन्यतरः सङ्ख्येयगुणवृद्ध्या तदन्योऽसङ्ख्येयगुणवृद्ध्याऽपरस्त्वनन्तगुणवृद्ध्येति। एवं च सङ्ख्यातस्य सङ्ख्यातभेदत्वादसङ्ख्यातस्य चाऽसङ्ख्यातभेदत्वादनन्तस्य चानन्तभेदत्वादनन्ता विशेषा भवन्ति, अथवा-तज्ज्ञेयस्यानन्तत्वात्प्रतिज्ञेयं च तस्य भिद्यमानत्वात्, अथवा मतिज्ञानमविभागपरिच्छेदैर्बुद्ध्या छिद्यमानमनन्तखण्डं भवतीत्येवमनन्तास्तत्पर्यायाः, तथा ये पदार्थान्तरपर्यायास्ते तस्य परपर्यायाः, ते च स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः, एतेषामनन्तगुणत्वादिति। ननु यदि ते परपर्यायास्तदा तस्येति न व्यपदेष्टुं युक्त, परसम्बन्धित्वात्। अथ तस्य ते, तदा न परपर्यायास्ते व्यपदेष्टव्याः स्वसम्बन्धित्वादिति ? अत्रोच्यते-यस्मात्तत्रासम्बद्धास्ते तस्मात्तेषां परपर्यायव्यपदेशो, यस्माच्च ते परित्यज्यमानत्वेन तथा स्वपर्यायाणां स्वपर्याया एतदितीव विशेषणहेतुत्वेन च तस्मिन्नुपयुज्यन्ते, तस्मात्तस्य पर्यवा इति व्यपदिश्यन्ते, यथा असम्बद्धमपि धनं स्वधनमुपयुज्यमानत्वादिति। आह च-

" जइ ते परपज्जाया, न तस्स अह तस्स न परपज्जाया।"

आचार्य आह-

जं तम्मि असंबद्धा, तो परपज्जायववएसो ॥ १ ॥

चायसपज्जायविसे-सणाइणा तस्स जमुवउज्जंति।

सधणमिवासंबद्धं, हवंति तो पज्जवा तस्स ॥ २ ॥" इति।

(केवइयाणं भंते ! सुयनाणेत्यादि) (एवं चेव त्ति) अनन्ता श्रुतज्ञानपर्यायाः प्रज्ञप्ता इत्यर्थः, ते च स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च। तत्र स्वपर्याया ये श्रुतज्ञानस्य स्वगता अक्षरश्रुताऽऽदयो भेदाः, ते चाऽनन्ताः, क्षयोपशमवैचित्र्यविषयाऽऽनन्त्याभ्यां श्रुतानुसारिणां बोधानामनन्तत्वादविभागपलिच्छेदानन्त्याच्च, परपर्यायास्त्वनन्ताः सर्वभावानां प्रतीता एव। अथवा-श्रुतग्रन्थानुसारिज्ञानं श्रुतज्ञानं, श्रुतग्रन्थश्चाक्षराऽऽत्मकोऽक्षराणि चाऽऽकाराऽऽदीनि, तेषां चैकैकमक्षरं यथायोगमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदात्सानुनासिकानिरनुनासिकभेदात् अल्पप्रयत्नमहाप्रयत्नभेदाऽऽदिभिश्च संयुक्तसंयोगासंयुक्तसंयोगभेदात् द्व्यादिसंयोगभेदादभिधेयाऽऽनन्त्याच्च भिद्यमानमनन्तभेदं भवति, ते च तस्य स्वपर्यायाः। परपर्यायाश्चान्ये अनन्ता एव। एवं चाऽनन्तपर्यायं तत्। आह च-

" एक्केक्कमक्खरं पुण, सपरपज्जायभेयओ भिन्नं।

तं सव्वदव्वपज्जा-यरासिमाणं मुणेयव्वं ॥ १ ॥

जे लभइ केवली से-सवण्णसहिओ य पज्जवेगारो।

ते तस्स सपज्जाया, सेसा परपज्जवा तस्स ॥ २ ॥" इति।

एवं चाक्षराऽऽत्मकत्वेनाक्षरपर्यायोपेतत्वादनन्ताः श्रुतज्ञानस्य पर्याया इति। एवं "जाव" त्ति करणादिदं दृश्यम्-"केवइया णं भंते ! ओहिनाणपज्जवा पण्णत्ता ? । गोयमा ! अणंता ओहिनाणपज्जवा पण्णत्ता। केवइया णं भंते ! मणपज्जवनाणपज्जवा

पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता मणपज्जवा पण्णत्ता । केवइ-या णं भंते ! केवलनाणपज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता केवलनाणपज्जवा पण्णत्त त्ति ।" तत्रावधिज्ञानस्य स्वपर्याया-यऽवधिज्ञानभेदा भवप्रत्ययक्षायोपशमिकभेदान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवरूपत्वात् स्वामिभेदादसङ्ख्यातभेदनद्विषयभूतक्षेत्रकाल भेदादनन्तभेदतद्विषयद्रव्यपर्यायभेदादविभागपलिच्छेदाच्च ते चैवमनन्ता इति । मनःपर्यायज्ञानस्य केवलज्ञानस्य च स्वप-र्याया· ये स्वाम्यादिभेदेन स्वगता विशेषास्ते चानन्ता अन-न्तद्रव्यपर्यायपरिच्छेदापेक्षया अविभागपलिच्छेदापेक्षया वेति। एव मत्यज्ञानाऽऽदित्रयेऽप्यनन्तपर्यायत्वमूह्यमिति ।

अथ पर्यवाणामेवाल्पबहुत्वनिरूपणायाऽऽह-

एएसि णं भंते! आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं ओहिना-णपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाण केवलनाणपज्ज-वाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा मणनाणपज्जवा, ओहिनाणपज्जवा अणंत-गुणा, सुयनाणपज्जवा अणंतगुणा, आभिणिबोहियना-णपज्जवा अणंतगुणा, केवलनाणपज्जवा अणंतगुणा । एएसि णं भंते ! मइअन्नाणपज्जवाणं सुयअन्नाणविभं-गनाणपज्जवाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा विभंगनाणपज्जवा, सुयअन्नाणप-ज्जवा अणंतगुणा,मइअन्नाणपज्जवा अणंतगुणा । एएसि णं भंते ! आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं०जाव केवलणा-णपज्जवाणं मइअन्नाणपज्जवाणं सुयअन्नाणपज्जवाण वि-भंगनाणपज्जवाण य कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा मणनाणपज्जवा, विभंगनाणपज्जवा अणंतगुणा, ओहिनाणपज्जवा अणंतगुणा, सुयअन्नाण-पज्जवा अणंतगुणा, सुयनाणपज्जवा विसेसाहिया, मइ-अन्नाणपज्जवा अणंतगुणा,आभिणिबोहियनाणपज्जवा वि-सेसाहिया,केवलनाणपज्जवा अणंतगुणा,सेवं भंते भंते त्ति।

( एएसि णमित्यादि ) इह च स्वपर्यायापेक्षयैवाल्पबहुत्व-मवसेय,स्वपरपर्यायापेक्षया सर्वेषां तुल्यपर्यायत्वादिति। तत्र स-र्वस्तोका मनःपर्यायज्ञानपर्याया , तस्य मनोमात्रविषयत्वात् । तेभ्योऽवधिज्ञानपर्याया अनन्तगुणाः,मनःपर्यायज्ञानापेक्षयाऽव-धिज्ञानस्य द्रव्यपर्यायतोऽनन्तगुणविषयत्वात् । तेभ्य श्रुतज्ञा-नपर्याया अनन्तगुणा , तनस्तस्य रूप्यरूपिद्रव्यविषयत्वेनान-न्तगुणविषयत्वात् । ततोऽप्याभिनिबोधिकज्ञानपर्याया अनन्तगु णा ,ततस्तस्याभिलाप्यानभिलाप्यद्रव्याऽऽदिविषयत्वेनानन्तगु-णविषयत्वात् । ततः केवलज्ञानपर्याया अनन्तगुणा ,सर्वद्रव्यप-र्यायविषयत्वात् तस्येति । एवमज्ञानसूत्रेऽप्यल्पबहुत्वकारण सूत्रानुसारेणोहनीयम्। मिश्रसूत्रे तु स्तोका मनःपर्यायज्ञानपर्या-या। इहोपपत्ति प्राग्वत्तेभ्यो विभङ्गज्ञानपर्यवा अनन्तगुणा , मनःपर्यायज्ञानापेक्षया विभङ्गस्य बहुतमविषयत्वात्। तथाहि-वि-भङ्गज्ञानमूर्ध्वम उपरिमग्रैवेयकादधस्ताच्च सप्तमपृथिव्यन्ते क्षेत्रे तिर्यक्त्वसङ्ख्यातद्वीपसमुद्ररूपे क्षेत्रे यानि रूपिद्रव्याणि तानि कानिचिज्जानाति, कांश्चित्तत्पर्यायांश्च, तानि च मनःपर्यायज्ञा-नविषयापेक्षयाऽनन्तगुणानीति । तेभ्योऽवधिज्ञानपर्यवा अनन्त-गुणा , अवधेः सकलरूपिद्रव्यप्रतिद्रव्यासङ्ख्यातपर्यायविषय-त्वेन विभङ्गापेक्षयाऽनन्तगुणविषयत्वात् । तेभ्योऽपि श्रुताज्ञान-पर्यवा अनन्तगुणा , श्रुताज्ञानस्य श्रुतज्ञानवदोघाऽऽदेशेन सम-स्तमूर्तामूर्तद्रव्यसर्वपर्यायविषयत्वेनावधिज्ञानापेक्षयाऽनन्तगु-णविषयत्वात्। तेभ्य· श्रुतज्ञानपर्यवा विशेषाधिका·, केषाञ्चिच्छ्रु-ताज्ञानविषयीकृतपर्यायाणां विषयीकरणात् ।यतो ज्ञानत्वेन स्प-ष्टावभास तत्तेभ्योऽपि मत्यज्ञानपर्यवा अनन्तगुणा यतः श्रुत-ज्ञानमभिलाप्यवस्तुविषयमेव, मत्यज्ञान तु तदनन्तगुणानाम-भिलाप्यवस्तुविषयमपीति । ततोऽपि मतिज्ञानपर्यवा विशेषा धिका , केषाञ्चिदपि मत्यज्ञानाविषयीकृतभावानां विषयीकर-णात्तद्धि मत्यज्ञानापेक्षया स्फुटतरमिति, ततोऽपि केवलज्ञान-पर्यवा अनन्तगुणाः, सर्वाद्धाभाविनां समस्तद्रव्यपर्यायाणा-मनन्यसाधारणावभासेनावभासनादिति । भ० ८ श० २ उ० ।

पज्जवएक्कय-पर्यवैकक-न० । पर्यायविषयभूते एकके, स्था० ४ ठा० ३ उ० । (व्याख्या 'एक्क'शब्दे तृतीयभागे २ पृष्ठे द्रष्टव्या)

पज्जवकसिण-पर्यवकृत्स्न-न० । चतुर्दशपूर्वाऽऽत्मके विस्तृतश्रुते, "पज्जवकसिणसमासो,पज्जवकसिण तु चोद्दसा पुव्वा। सामाइ-य य कप्पो,होति समासो मुणेयव्वो । पज्जवकसिण ,तिविह , सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव । " पं० भा० ५ कल्प ।

पज्जवकाय-पर्यवकाय-पुं० । पर्याया वस्तुधर्मा यत्र परमाण्वा-दौ पिण्डिता बहवस्तादृशे सङ्घाते, आव० ५ अ० ।

पज्जवजात-पर्यवजा(या)त-त्रि०। पर्यवा ज्ञानाऽऽदिविशेषा जाता यस्य पर्यवजात । आहिताग्न्यादित्वात् जातशब्दस्योत्तरपदत्व-म । अथवा-पर्यवान् पर्यवेषु वा यातः प्राप्त पर्यवयात·। अथवा-पर्यवः परिच्छा परिज्ञा परिज्ञान वा । पर्यवप्राप्ते, स्था० १ ठा० । जातविशेषे, न० । " सुत्ते वा मे पज्जवजाए भविस्सइ । " स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्रार्थप्रकारे, स्था० ५ ठा० १ उ० । पर्यवोऽवस्थान्तर जातो यत्र तत्पर्यवजातम् । कू-राऽऽदिके, उद्धरिते, दध्यादिना विमिश्रिते करम्बाऽऽदिके पर्या-यान्तरमापादिते, अयमप्यौद्देशिकभेदकृताभिधान· । प्रश्न० ५ सव० द्वार । द्रव्यजातभेदे, पर्यवजात तैरेवावाग्नि-सृष्टत्वापाद्रव्यैः यानि विश्रेणिस्थानि भाषावर्गणान्तर्गतानि सृष्टद्रव्यपराघातेन भाषापर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते, तानि द्रव्याणि प-र्यवजातमित्युच्यते। आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

पज्जवजायलेस्स-पर्यवजातलेश्य-त्रि० । पर्यवा पारिशेष्याद् विशुद्धिविशेषाः प्रतिसमय जाता यस्यां सा तथा, विशुद्ध्या वर्द्धमानेत्यर्थ । सा लेश्या यस्मिंस्तत्तथा। बालमरणभेदे,स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पज्जवजायसत्थ-पर्यवजातशस्त्र-न०।शब्दाऽऽदिविषयाणां पर्य-वा विशेषास्तेषु तन्निमित्त जातशस्त्रम । शब्दाऽऽदिविशेषाऽऽपा-दनाय प्राण्युपघातकार्यनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

पज्जवजायसत्थखेयण्ण-पर्यवजातशस्त्रखेदज्ञ-पुं० । पर्यायश-स्त्रस्य खेदज्ञ· । पर्यायशस्त्रनिपुणे, य शब्दाऽऽदिपर्यायाणा-त्मकस्तत्परिहारानुष्ठान च शस्त्रभूतं चेति सोऽनुपघात-कत्वात्-संयममध्यशस्त्रभूतमात्मपरोपकारिण नेति सूत्रार्थम, " जे खेयण्णे, से पज्जवजायसत्थखेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे पज्जवजातखेयण्णे । " आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

पज्जवट्ठिय-पर्यवार्थिक-पुं० । पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः, स एवार्थः, सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः । रत्ना० ७ परि० । सर्वेषां भावानामनित्यताऽभ्युपगन्तरि मूलनयभेदे, सम्म०१ काण्ड। ("मूलणिमेण पज्जव-णयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो । तस्स उ सद्दाईया,साहपसाहा सुहुमभेया ॥५॥" इति गाथा ' दव्वट्ठिय ' शब्दे चतुर्थभागे २४६८ पृष्ठे व्याख्याता)(तथा "ण य दव्वट्ठियपक्खे, ससारो णेव पज्जवणयस्स । सासयवियत्तिवाई, जम्हा उच्छेअवाई य ॥ १७॥ " इय 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८७० पृष्ठे व्याख्याता )

पर्यायार्थिक प्रपञ्चयन्ति-

**पर्यायार्थिकश्चतुर्धा-ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्चेति ॥ २७ ॥** रत्ना० ७ परि० ।

( ऋजुसूत्राऽऽदीनां व्याख्यातु स्वस्वस्थाने )

**पर्यायार्थिक एवापि, मुख्यवृत्त्याऽत्र भेदताम् ।**
**उपचारानुभूतिभ्यां, मनुतेऽभेदतां त्रिषु ॥ ३ ॥**

( पर्यायेति ) पर्यायार्थिकनयः एवाऽपि एवमेवप्रकारेणोक्तलक्षणेन, मुख्यवृत्त्या प्रधानव्यापारेण, अत्र द्रव्यगुणपर्यायेषु, भेदता भेदभाव ज्ञापयति, यतश्चैतस्य नयस्य मते मृदादिपदस्य द्रव्यमित्यर्थः १, रूपाऽऽदिपदस्य गुण इत्यर्थः २, घटाऽऽदिपदस्य कम्बुग्रीवपृथुबुध्नाऽऽदिपर्याय इत्यर्थः ३, इत्थं त्रयाणामपि मिथो नामाऽनन्तरकल्पना भिन्नाऽभिन्ना प्रदर्शिता, अतो द्रव्यगुणपर्यायाणां प्राधान्येन भेदोऽस्तीति ध्येयम् । तथा पुनः-उपचारानुभूतिभ्यामुपचारो लक्षणा, अनुभूतिरनुभवः, उपचारश्चानुभूतिश्च ताभ्यां पर्यायार्थिकनयोऽपि अभेदताम् अभेदभाव द्रव्याऽऽदिषु त्रिषु मनुते । यतः घटाऽऽदि मृद्द्रव्याऽऽद्यभिन्नमेवाऽऽस्ते, लक्षणया ज्ञानेन चेति इमां प्रतीतिं घटाऽऽदिपदानां मृदादिद्रव्येषु लक्षणाप्रवृत्त्याऽङ्गीकुर्वतां न कदाऽपि क्षतिरिति भावार्थः ॥३॥ द्रव्या० ५ अध्या० ।

पर्यायार्थिकषड्भेदानाह-

**पर्यायार्थिकषड्भेद-स्तत्राऽऽद्योऽनादिनित्यकः ।**
**पुद्गलानां तु पर्यायो, मेरुशैल इवाऽचलः ॥ ४ ॥**

( पर्येति ) पर्यायार्थिकश्चाऽसौ षड्भेदश्च पर्यायार्थिकषड्भेद , पर्यायार्थिको नय षट्प्रकार इत्यर्थः । तत्र तेषु षट्सु भेदेषु, आद्यः प्रथमो भेदः, अनादिनित्यक. शुद्धपर्यायार्थिक. कथ्यते। न विद्यते आदिर्यस्यानादि. पूर्वकल्पनारहितः, उत्पत्त्यभावात्, नित्य एव नित्यकः, स्वार्थे कः, सदैकस्वभाव., अनश्वरत्वात्, अनादिश्च नित्यकश्चेति द्वन्द्व । अयं च शुद्धपर्यायार्थिकः प्रथम' । क इव ?, अचलो मेरुगिरिरिव यथा मेरुः पुद्गलपर्यायेण प्रवाहतोऽनादिनित्योऽस्ति-असङ्ख्यातकाले अन्योऽन्यपुद्गलसंक्रमेणाऽपि संस्थानत. स एव मेरुर्वर्तते, एवं रत्नप्रभाऽऽदीनामपि पृथ्वीपर्याया ज्ञातव्या इति ।

अथ द्वितीय. पर्यायार्थिकस्य कथ्यते-

**पर्यायार्थिकः सादि-नित्यः सिद्धस्वरूपवत् ।**

( पर्यायेति ) पर्यायार्थिको द्वितीय. साऽऽदिः आदिसहितः, पुनर्नित्य , किंवत् ?, सिद्धस्वरूपवत्, यथा-सिद्धस्य पर्याय सादिरस्ति, उत्पत्तिमत्त्वात्, सर्वकर्मक्षयात्सिद्धपर्याय उत्पन्न', पर तु नित्योऽविनश्वरत्वात् सिद्धपर्यायः सदाकाशवत्स्थितो लभ्यते, राजपर्यायसम सिद्धपर्यायद्रव्य भावनीयम् ।

अथ तृतीयं पर्यायार्थिकं श्लोकार्द्धेन,पुनरग्रेतनश्लोकार्द्धेनाऽऽह-

**सत्तागौणतयोत्पाद-व्यययुक् सदनित्यकः ॥ ३ ॥**

सत्तागौणतयाऽध्रुवत्वेन उत्पादव्ययग्राहक सदनित्यक -संज्ञासदनित्यकश्च अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः कथ्यते, सद्शब्देन यदा शुद्धमित्यर्थस्तदा अनित्यशुद्धपर्यायार्थिको भवति । कीदृश ?, उत्पादव्यययुक्-उत्पादश्च व्ययश्च उत्पादव्ययौ ताभ्यां युक् सहितः-सतो हि वस्तुन उत्पादव्ययौ पर्यायेण भवतः, तस्मात्सत्तागौणतया सत्ताया अप्राधान्येन उत्पादव्यययोः प्राधान्येन अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः ॥ ३ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह-

**एकस्मिन्समये यद्वत, पर्यायो नश्वरो भवेत् ।**

एकस्मिन्समये पर्यायो नश्वरः पर्यायो विनाशी भवेद् यद्वद्, शब्दो यथा पर्यायवाचक., अत्र हि नाश कथयत. पर्यायस्य उत्पादोऽपि आगत. पर ध्रौव्य तु गौणत्वेन निदर्शितं,"प्राधान्याप्राधान्ययो. प्राधान्यविधिर्बलीयान् ।" तस्माद्यस्य प्रधानत्व तस्यैवोत्पत्तिनाशयोः समावेशः,सत्ता हि ध्रुवे नाशे च विचरन्ती आत्मनो गौणत्वव्यपदेशि वर्तमानत्वमुभयत्र निक्षिपति इति ।

अथ चतुर्थभेदमुपदिशन्नाह-

**सत्तां गृह्णन् चतुर्थोऽऽख्यो, नित्योऽशुद्ध उदीरितः ॥४॥**

(सत्तेति) सत्तां ध्रुवत्व गृह्णन् अङ्गीकुर्वन् चतुर्थोऽऽख्यश्चतुर्थो भेदो नित्योऽशुद्धपर्यायार्थिक उदीरित. कथित इति श्लोकार्थः ॥४॥

अथामुमेव दृष्टान्तेन द्रढयति-

**यथोत्पादव्ययध्रौव्य-रूपैः शुद्धः स्वपर्ययः ।**
**एकस्मिन्समयेऽख्यातः, पर्यायार्थिकपञ्चमः ॥५॥**

( यथेति ) यथा एकसमयमध्य स्वपर्यायो रूपत्रययुक्त उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणैः शुद्ध । किं च-कोऽपि पर्यव उत्तरचरो रूपाऽऽदिः पाकानुकूलघटे श्यामवर्णः पूर्वचरो नष्टस्तत उत्तरो रक्तवर्ण इति प्रश्नः-रूपी घट. श्यामो वा रक्तो वेति वितर्क्यमाणः सत्तया तथाऽऽकारपरिणतपर्यवः प्राप्यते इति । अत्र हि पर्यायस्य शुद्धरूपं सत्ता,सा यदि गृह्यते तदा नित्याशुद्धपर्यायार्थिको भवति,सत्तादर्शनमेवाशुद्धमिति । अथ पञ्चम भेदोत्कीर्तनं करोति ( अथेति ) अथात. पर पर्यायार्थिकः पञ्चमो ज्ञेय. ॥ ५ ॥

**कर्मोपाधिविनिर्मुक्तो, नित्यः शुद्धः प्रकीर्तितः ।**
**यथा सिद्धस्य पर्यायैः, समो जन्तुर्भवी शुचिः ॥ ६ ॥**

नित्यशुद्धपर्यायार्थिकोऽस्ति । कीदृशः ?, कर्मोपाधिविनिर्मुक्त'-कर्मण उपाधिकानामन्यद्रव्याणां कुतश्चित्संगतानामुपाधि साहचर्यं, तेन विनिर्मुक्तो रहित. कर्मोपाधिविनिर्मुक्त । ( यथेति ) यथाशब्देन दृष्टान्तविषयीकरोति-यथा भवी-भवः संसारोऽस्तीति भवी संसारी, जन्तु' प्राणी. सिद्धस्य कर्मोपाधिविनिर्मुक्तस्य सिद्धस्य, पर्यायैः समः शुचिर्निर्मल , संसारे संसरतः प्राणिनोऽपि कर्माणि सन्ति, तानि न विचार्यमाणान्युपाधिरूपाणि वर्तन्ते, यद्वत् अग्नेः शुद्धद्रव्यस्याऽऽर्द्रेन्धनसंयोगजनितो धूम औपाधिक एव मन्यते तद्वदिहापि विद्यमानान्यपि कर्माणि अनात्मगुणत्वेनौपाधिकानि सन्ति, अतस्तेभ्यो युक्तोऽपि अयुक्ततया विचिन्त्यमान. प्राणी सिद्ध एवेति कर्मोपाधिभाव सन्नपि न विवक्षणीयः । अथ च ज्ञानदर्शनचारित्राणि उत्पन्नान्यपि बहिः प्रकटतया विधक्षितानि तनो नित्यशुद्धपर्यायार्थिकभेदस्य भावना सम्पद्यते ॥६॥

अथ पर्यायार्थिकस्य षष्ठभेदोपकीर्तनमाह-

अशुद्धश्च तथाऽनित्य-पर्यायार्थिकोऽन्तिमः ।
यथा संसारिणः कर्मो-पाधिसापेक्षिकं जनुः ॥ ७ ॥

( अशुद्धेति ) कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धो विनश्वरत्वादनित्यः एवमनित्यमादौ कृत्वा अशुद्ध ततो योजयित्वा पर्यायार्थिकपदेन समुच्चार्यते तदा षष्ठोऽन्तिमो भेदोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको निष्पद्यते । अथ तस्योदाहरणमाह-यथा संसारिण संसारवासिजनस्य जनुर्जन्म कर्मोपाधिसापेक्षिक प्रवर्तते,जन्ममरणव्याधयो वर्त्तमानाः पर्यायाः अनित्या उत्पत्तिविनाशशालित्वात्, पुनरशुद्धाः कर्मसंयोगजनितत्वात् भवस्थितानां प्राणिनां भवन्तीति । अत एव मोक्षार्थिनो जीवा' जन्माऽऽदिपर्यायाणां विनाशाय ज्ञानाऽऽदिना मोक्षे यतन्ते, तस्मात कर्मापयनित्यानि अशुद्धानि,तै· सापेक्षिक जन्माऽऽद्यपि अनित्यमशुद्ध चेत्य योजनया निष्पन्नो नयोऽपि अनित्याशुद्धपर्यायार्थिक· कथ्यते इत्यर्थः ॥ ७ ॥ द्रव्या० ६ अध्या० । ( पर्यायार्थिकनयमन सामायिकोदाहरणेन ' सामाइय' शब्दे ) ( पर्यायार्थिकनयविषये विशेषः ' सुद्धपज्जवट्ठियणयमत ' शब्दे दर्शयिष्यते )

पज्जवणय-पर्यवनय-पुं० । परि समन्तादवनमवः पर्यवो विशेष·,तज्ज्ञाता वक्ता वा नयो नीतिः पर्यवनयः। पर्यायार्थिकनये,"दव्वट्ठिओ य पज्जव-ट्ठिओ य सेसा वियप्पासि।" सम्म०१काण्ड। आव० । विशेषाणामुपर्पासबलात्परिच्छेदे, सम्म० १ काण्ड ।

पज्जवणाम-पर्यवनामन्-न० । नामभेदे, अनु० ।

से किं तं पज्जवणामे ?। पज्जवणामे एगगुणकालए दुगुणकालए तिगुणकालए० जाव दसगुणकालए संखिज्जगुणकालए असंखिज्जगुणकालए अणंतगुणकालए, एवं नीललोहिअहालिद्दसुक्किल्ला वि भाणियव्वा । एगगुणसुरभिगंधे दुगुणसुरभिगंधे तिगुणसुरभिगंधे०जाव अणंतगुणसुरभिगधे । एवं दुरभिगंधो वि भाणियव्वो । एगगुणतित्ते० जाव अणंतगुणतित्ते । एवं कडुअकसायअंबिलमहुरा वि भाणिअव्वा । एगगुणकक्खडे० जाव अणंतगुणकक्खडे । एवं मउअगरुअलहुअसीतउसिणणिद्धलुक्खा वि भाणिअव्वा । से त्त पज्जवनामे ।

परिः समन्तादवन्त्यपगच्छन्ति, न तु द्रव्यवत् सर्वदैवावतिष्ठन्त इति पर्यवाः । अथवा-परि समन्तादवनानि गमनानि द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिरूपाणि पर्यवा एकगुणकालत्वाऽऽदय ,तेषा नाम पर्यवनाम । यत्र तु पर्यायनामेति पाठ , तत्र परि· समन्तादयन्तेऽपगच्छन्ति न पुनर्द्रव्यवत्सर्वदैव तिष्ठन्तीति पर्याया । अथवा-परि· सामस्त्येन पत्यभिगच्छति व्याप्नोति वस्तुतामिति पर्याया एकगुणकालत्वाऽऽदय एव,तेषां नाम पर्यायनामेति । तत्रेह गुणशब्दोंऽशपर्याय , ततश्च सर्वस्यापि त्रैलोक्यगतकालद्रव्यस्यासत्कल्पनया पिण्डितस्य य एक·-सर्वजघन्यो गुणोंऽशस्तेन कालक· परमाण्वादिरेकगुणकालक·--सर्वजघन्यकृष्ण इति । द्वाभ्यां गुणाभ्यां तदंशाभ्यां कालकः परमाण्वादिरेव द्विगुणकालक । एव तावद् नेय यावदनन्तैर्गुणैस्तदंशै कालकोऽनन्तगुणकालक· स एवेति, एवमुक्तानुसारेणैकगुणनीलकाऽऽदीनामेकगुणसुरभिगन्धाऽऽदीना च सर्वत्र भावना कार्येति ।

आह-गुणपर्याययो' कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते-सदैव सहवर्त्तित्वाद्वर्णगन्धरसाऽऽदय' सामान्येन गुणा उच्यन्ते । न हि मूर्ते वस्तुनि वर्णाऽऽदिकमात्र कदाचिदपि व्यवच्छिद्यते एकगुणकालत्वाऽऽदयस्तु द्विगुणकालत्वाऽऽद्यवस्थायां निवर्तन्त एवेत्यतः क्रमवृत्तित्वात्पर्यायाः । उक्त च--" सह वर्त्तिनः गुणा', यथा जीवस्य चैतन्यामूर्त्तत्वाऽऽदयः । क्रमवर्त्तिन पर्यायाः, यथा तस्यैव नारकत्वातिर्यगादय इति । ननु यद्येवं तर्हि वर्णाऽऽदिसामान्यस्य भवतु गुणत्व तद्विशेषाणां कृष्णाऽऽदीनां न स्यात् अनियतत्वात्तेषाम् ?। सत्यम् । वर्णाऽऽदिसामान्यभेदानामपि कृष्णनीलाऽऽदीना प्राय' प्रचुरकालं सहवर्त्तित्वात् गुणत्व विवक्षितमित्यल विस्तरेण

आह-भवत्वेव, किन्तु पुद्गलादिकायद्रव्यस्यैव सम्बन्धिनो गुणपर्यायाः किमिति गुणपर्यायनामत्वेनोदाहृता ?, न धर्मास्तिकायाऽऽदीनाम्, न च वक्तव्य-तेषां ते न सन्तीति, धर्माधर्माऽऽकाशजीवकालद्रव्येष्वपि यथाक्रम गतिस्थित्यवगाहोपयोगवर्तमानाऽऽदिगुणानां प्रत्येकमनन्तानामगुरुलघुपर्यायाणां च प्रसिद्धत्वात् ?। सत्यं, किन्त्विन्द्रियप्रत्यक्षगम्यत्वात् सुप्रतिपादतया पुद्गलद्रव्यस्यैव गुणपर्याया उदाहृता न शेषाणामित्यल विस्तरेण, तस्माद्यत्किमपि नाम तेन सर्वेणापि द्रव्यनाम्ना गुणनाम्ना पर्यायनाम्ना वा भवितव्यं, नातः पर किमपि नामास्ति,ततः सर्वस्यैवानेन संग्रहात् त्रिनामैतदुच्यत इति । अनु०।

पज्जवणिस्सामण्ण-पर्यायनिःसामान्य-न०। पर्यायाद् निष्कान्त तद्विकल सामान्यं संग्रहस्वरूप यस्मिन्वचने तत्पर्यायनि·सामान्यम् । पर्यायऋजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वाऽऽदिविशेष , स एव निश्चित सामान्य वचनम् । द्रव्यत्वाऽऽदिसामान्यविशेषाभिधायिनि द्रव्यार्थिकरूपप्रतिपादके वचने, सम्म० १ काण्ड। ( " पज्जवणिस्सामण्ण ( ७ ) " इत्यादिगाथाया· ' णय ' शब्दे चतुर्थभागे १८८८ पृष्ठे विस्तर )

पज्जववाइ-पर्यायवादिन्-पुं० । पर्यायनयमतानुसारिणि नयविशेषे, " उत्पत्तिविगमध्रौव्य-स्थापक सम्प्रवर्त्तते । उत्पत्तिविगमावत्र, मतं पर्यायवादिन· ॥ १ ॥ " उत्त० १ अ० ।

पज्जवसाण-पर्यवसान-न० । निष्ठाफले,प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । अन्ते, स्था० २ ठा० १ उ० ।

पज्जवसिय-पर्यवसित-न० । पर्यवसान पर्यवसितम् । भावे क्तप्रत्यय· । नं० । स्था० । समाधिमरणतोऽपुनर्मरणतो वाऽनशने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

पज्जा-प्रज्ञा-स्त्री० । " ज्ञो ञः " ॥ ८ । २ । ८३ ॥ इति ज्ञसम्बन्धिनो ञस्य लुक् । जद्वित्वे । पज्जा । लुक्यभावे ण· । पण्णा । प्रकृष्टबुद्धौ, प्रा० २ पाद ।

पद्या-स्त्री० । अधिकारे, 'पज्जा अहिगारो।' पाइ० २६८ गाथा अधिरोहिण्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ।

पज्जाअ-पर्याय-पुं० । परि समन्तादयन्तेऽपगच्छन्ति न पुनर्द्रव्यवत्सर्वदैव तिष्ठन्तीति पर्याया' । अथ वा-परि सामस्त्येन पत्यभिगच्छति व्याप्नोति वस्तूनामिति पर्याया' । " पर्यायी ण्ज· " ॥ ८ । २ । २४ ॥ इति र्यस्थाने ज्ज· । एकगुणकालत्वाऽऽदिषु, अनु० । अजीवानां मानुषत्वबालत्वाऽऽदिषु च जीवानां कालकृताऽवस्थालक्षणेष्वर्थेषु, स्था० १० ठा० । पर्याया भेदा धर्मा , बाह्यवस्त्वालोचनाप्रकारा इत्यर्थ । आ० म० १ अ० ।

मं० । पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरम् । स्था० ४ ठा० २ उ० । अनु० । विशे० । स्वपरपर्याया ऽऽद्योऽनेकप्रकाराः पर्यायाः । विशे० । ते च पर्याया द्विविधाः-रूपरसा ऽऽद्यो युगपद्भाविनो,नवपुराणा ऽऽदयस्तु क्रमभाविनः । पुनः शब्दार्थपर्यायभेदात्सर्वेऽपि द्विविधाः । तत्र इन्द्रो पुरन्दरः शक्र इरिरित्यादिशब्दैर्येऽभिलप्यन्ते ते सर्वेऽपि शब्दपर्यायाः । ये त्वभिलापयितु न शक्यन्ते श्रुतज्ञानविषयत्वादतिक्रान्ता. केवलाऽऽदिज्ञानविषयास्तेऽर्थपर्यायाः । पुनरेते द्विविधाः-स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च । पुनस्तेऽपि केचित्स्वाभाविकाः, केचित्पूर्वापराऽऽदिशब्दतयाऽपेक्षिकाः । पुनरेते सर्वेऽप्यतीतानागतवर्तमानकालभेदात्त्रिविधाः । विशे० । न० । आ० म० । ( अक्षरस्य के स्वपर्यायाः के परपर्याया इति 'अक्खर' शब्दे प्रथमभागे १४१ पृष्ठे उक्तम् ) गुणपर्याययोर्भेदः-सहवर्तिनो गुणाः, क्रमवर्तिनस्तु पर्यायाः । आ० म० १ अ० । सहवर्तिनो गुणाः शुक्लत्वाऽऽदयः । क्रमवर्तिनः पर्याया नवपुराणाऽऽदयः । आ० म० १ अ० । ( इति 'गुण' शब्दे तृतीयभागे ६०६ पृष्ठे विस्तरः )

दूरे ता अण्णत्तं, गुणसद्दे चेव जाव पारिच्छं ।
किं पज्जवाहिए होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

दूरे तावत् गुणगुणिनोरेकान्तेनान्यत्वम्, असम्भावनीयमिति, यावद्गुणाऽऽत्मकद्रव्यप्रत्ययबाधितत्वादेकान्तगुणगुणिभेदस्य । न च समवायनिमित्तोऽयमभेदपारोहयमस्ति । किं पर्यायादधिके गुणशब्द उत पर्याय एव प्रयुक्त इति अभिप्रायश्च-न पर्यायादन्यो गुणः, पर्यायश्च कथञ्चिद् द्रव्याऽऽत्मकम् इति विकल्पः कुतः । यदि पर्यायाः गुणसंज्ञा. ततः ।

दो पुण नया भगवया, दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया नियया ।
एत्तो य गुणविसेसे, गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो ॥ १० ॥

द्वावेव मूलनयौ भगवता द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नियमितौ तत्रातः पर्यायादधिके गुणविशेषे ग्राह्ये सति तद्ग्राहकगुणास्तिकनयोऽपि नियमितु युज्यमानः स्यात्, अन्यथा अव्यापकत्वं नयानां भवेत्, अर्हता वा तदपरिज्ञान प्रसज्येत ।

न च भगवताऽसावुक्त इत्याह-

जं च पुण अरिहया ते-सु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ।
पज्जवसण्णा णियया, वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

यतः पुनर्भगवता तस्मिंस्तस्मिन्सूत्रे " वण्णपज्जवेहिं गधपज्जवेहिं " इत्यादिना पर्यायसंज्ञा नियमिता वर्णाऽऽदिषु गौतमाऽऽदिभ्यो व्याकृता, ततः पर्याया एव वर्णाऽऽदयो गुणा इत्यभिप्रायः । अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्तस्तुल्यार्थत्वादागमाच्च य एव पर्याय. स एव गुण इत्यादिकात् ॥ ११ ॥

एतदेवाऽऽह-

परिगमणं पज्जाओ, अणेगकरणं गुणो त्ति एगत्थं ।
तह वि न गुण त्ति भण्णइ,पज्जवणयदेसणं जम्हा ॥ १२ ॥

परि समन्तात्सहभाविभिः, क्रमभाविभिश्च भेदैर्वस्तुन. परिणतस्य गमन परिच्छेदो य. स पर्यायो विषयविषयिणोरभेदेनैकरूपतया वस्तुनः करण करोतेर्ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञानं, विषयविषयिणोरभेदादेव गुण इति तुल्यार्थौ गुणपर्यायशब्दौ तथाऽपि न गुणार्थिक इत्यभिहितस्तीर्थकृता, पर्यायनयद्वारेणैव देशना यस्मात्त कृता भगवतेति ।

गुणद्वारेणाऽपि देशनायां भगवतः प्रवृत्तिरुपन्यस्यते, न गुणाभाव इत्याह-

जंपंति अत्थि समये, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।
रूवाईपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

जल्पन्ति द्रव्यगुणान्यत्ववादिनो-विद्यत एव सिद्धान्ते " एगगुणकालए दुगुणकालए " इत्यादि रूपाऽऽदौ व्यपदेशस्तस्माद् रूपाऽऽदिर्गुणविशेष एवेत्यस्ति गुणार्थिको नय उद्दिष्टश्च भगवतेति ।

अत्राऽऽह सिद्धान्तवादी-

गुणसद्दमंतरेण वि, तं तु पज्जवविसेससंखाणं ।
सिज्झइ णवरं संखा-ण सत्थधम्मो न य गुणो त्ति ॥ १४ ॥

रूपाऽऽद्यपि गुणशब्दव्यतिरेकेणाप्येकगुणकाल इत्यादि (?) तत्तु पर्यायविशेषसंख्यावाचकं वचः सिध्यति, न पुनः गुणास्तिकनयप्रतिपादकत्वेन,यतः सख्यान न गुणः शास्त्रधर्मत्वादस्येत्यर्थः ।

दृष्टान्तद्वारेणामुमेवार्थं दृढीकर्तुमाह-

जह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि य दसत्तणं समं चेव ।
अहियम्मि वि गुणसद्दे, तहेव एयं पि दट्ठव्वं ॥ १५ ॥

यथा द्वयसु द्रव्येषु एकस्मिन् वा द्रव्ये दशगुणिते गुणशब्दातिरेकेऽपि दशत्व सममेव तथैवैतदपि न विद्यते परमाणुरेकगुणकृष्णाऽऽदिरित्येकाऽऽदिशब्दाऽऽधिक्ये गुणपर्यायशब्दयोः, वस्तु पुनस्तयोः तुल्यमिति भावः, न च गुणानां पर्यायत्वे वाचकमुख्यसूत्रं गुणपर्यायवद् द्रव्यमिति विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् तस्य । न चैवमपि मतुब्योगाद्द्रव्यविभिन्नपर्यायसिद्धिर्नित्ययोगेऽत्र मतुब्विधानात् , द्रव्यपर्याययोस्तादात्म्यात् सदा विनिर्भागवर्तित्वात् । अन्यथा प्रमाणबाधोपपत्तेः संज्ञासंख्यास्वलक्षणार्थक्रियाभेदाद्वा कथञ्चित्तयोरभेदेऽपि भेदसिद्धेर्न मतुबनुपपत्तिः ।

एव द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तप्रतिषेधे अभेदैकान्तवाद्याह-

एगंतपक्खवाओ, जो पुण दव्वगुणजाइभेयम्मि ।
अह पुव्वं पडिकुट्ठो, उ आहरणमेत्तमेयं तु ॥ १६ ॥

एकान्तव्यतिरिक्ताभ्युपगमवादो यः पुनर्द्रव्यगुणजातिभेदेषु स यद्यपि पूर्वमेव प्रतिक्षिप्तोऽभेदैकान्तग्राहकप्रामाण्यात्, अभेदग्राहकस्य च सर्व ··· ?।

पिअपुत्तनत्तिभज्जय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो ।
ण य से एगस्स पिउ, त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥ १७ ॥

पितृपुत्रनप्तृभागिनेयभ्रातृभिर्य एकस्य पुरुषस्य सम्बन्धस्तेनासावेक एव पित्रादिव्यपदेशमासादयति । न चासावेकस्य पितापुत्रसंबन्ध इति शेषाणामपि पिता भवति ।

जह संबंधविसिट्ठो, सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ ।
तह दव्वमिंदियगयं, रूवाइविसेसणं लहइ ॥ १८ ॥

यथा प्राग् दर्शितप्रतिसम्बन्धिविशिष्टः पित्रादिव्यपदेशमाश्रित्याऽसौ पुरुषः पुरुषरूपतया निरतिशयोऽपि सस्तथा द्रव्यमपि इन्द्रियगत घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रसम्बन्धमवाप्य रूपरसगन्धस्पर्शशब्दव्यपदेशमात्र लभते द्रव्यस्वरूपेणाविशिष्टमपि, न हि

शक्रेन्द्राऽऽदिशब्दभेदात्कीर्यांणनाथस्येव रूपाऽऽदिशाब्दभेदाद्वस्तुभेदो युक्तः, तदा द्रव्याद्वैतैकान्तास्थितेः कथञ्चित् भेदवादी द्रव्यगुणयोर्मिथ्यावाद इति ॥ १८ ॥

अस्य निराकरणायाऽऽह-

होज्जा हि दुगुणमहुरं, अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं ।
न उ डहरओ महल्लो, होई संबंधओ पुरिसो ॥ १९ ॥

यदि नामाऽऽम्राऽऽदिद्रव्यमेव रसनसम्बन्धान्मम इति द्विगुणमासादयेत् द्विगुणमधुररसं कुतो भवेत्? तथा नयनसम्बन्धाद् यदि नाम कृष्णमिति भवेदनन्तगुणकृष्णं तत् कुतः स्यात्?, वैषम्यभेदावगतेर्नयनाऽऽदिसम्बन्धमात्रादसम्भवात् । तथा पुत्राऽऽदिसंबन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेत्, न स्थविरो महान्वेति युक्तं, विशेषप्रतिपत्तेरुपस्थितत्वे मिथ्यात्वे वा सामान्यप्रतिपत्तावपि तथा प्रसक्तेरिति भावः ।

अत्राऽऽह भेदैकान्तवादी-

भणइ संबंधवसा, जइ संबंधित्तणं अणुमयं ते ।
णणु संबंधविसेसे, संबधिविसेसणं सिद्धं? ॥ २० ॥

सम्बन्धसामान्यवशात् यदि सम्बन्धित्वसामान्यमनुमतं तव, ननु सम्बन्धविशेषद्वारेण तथैव सम्बन्धिविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते? ।

सिद्धान्तवाद्याह-

जुज्जइ संबंधवसा, संबधिविसेसणं ण पुण एयं ।
णयणाइविसेसगओ, रूवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

सम्बन्धविशेषवशात् युज्यते सम्बन्धिविशेषः यथा-दण्डाऽऽदिसम्बन्धविशेषजनितसम्बन्धिविशेषसमानाधिकरण सम्बन्धिविशेषोऽवगतः । द्रव्याद्वैतवादिनस्तु सम्बन्धिविशेषेणाऽपि सम्बन्धविशेषः सङ्गच्छते इति कुतो रसनाऽऽदिविशेषसंबन्धजनितो रसाऽऽदिविशेषपरिणाम (?) ।

नन्वनेकान्तवादिनोऽपि रूपरसाऽऽदेरनन्तद्विगुणाऽऽदिवैषम्यपरिणतिः कथमुपपन्नेत्याह-

भन्नइ विसमपरिणयं, कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं ।
तं होइ परणिमित्तं, न व त्ति एत्थ त्थि एगंतो ॥ २२ ॥

शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधात् प्रत्यक्ष एकत्राऽऽम्रफलाऽऽदौ विषमपरिणतिः कथं भवतीति परेण प्रेरिते उपनीत प्रदर्शितमात्रेण, तद्भवति परनिमित्त द्रव्यक्षेत्रकालभावानां सहकारिणां वैचित्र्यात् आसादयति तदाऽऽम्राऽऽदि वस्तु विषमरूपतया परनिमित्तं भवति, न वा परनिमित्तमेव तत्राप्येकान्तोऽस्ति, स्वरूपस्याऽपि कथञ्चिन्निमित्तत्वात्, तत्र द्रव्याद्वैतैकान्त सभत्री, द्रव्यगुणयोर्भेदैकान्तवादिना प्राक् प्रदर्शिततल्लक्षणस्यैकत्वप्रतिपत्त्यध्यक्षबाधितत्वाल्लक्षणान्तरं वक्तव्यम् ।

तदाह-

दव्वस्स ठिई जम्म वि-गमो य गुणलक्खणं तु वत्तव्वं ।
एवं सइ केवलिणो, जुज्जइ तं णो उ दवियस्स ॥ २३ ॥

द्रव्यस्य लक्षणं स्थितिः, जन्म विगमो लक्षणं गुणानाम, एवं सति केवलिनो युज्यते एतल्लक्षणं, तत्र किल केवलाऽऽत्मना स्थित एव चेतनाचेतनरूपा अन्येऽर्था ज्ञेयभावेनोत्पद्यन्ते, अज्ञेयरूपतश्चाऽऽदिवत् (?) कथं वा केवलिनः सकलज्ञेयग्राहिणो गैतलक्षणं युज्यते, न चाऽपि द्रव्यस्यैतल्लक्षणस्य गुणगुणिनोरत्यन्तभेदे समानाऽऽधारत्वमेव यत्पिण्डाऽऽदिष्विव लक्षणासम्भवात् इति द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनः ।

दव्वत्यंतरभूया, मुत्ताऽमुत्ता य ते गुणा होज्जा? ।
जइ मुत्ता परमाणू, णत्थि अ मुत्तेसु अग्गहणं ॥ २४ ॥

द्रव्यादर्थान्तरभूता गुणा मूर्ता अमूर्ता वा भवेयुः? यदि मूर्ताः, परमाणवो न तर्हि परमाणवो भवन्ति, मूर्तिमद्गुणाऽऽधारत्वात्, अनेकप्रदेशकस्कन्धद्व्यणुकवत् । अथाऽमूर्ताः, अग्रहणं तेषां, कथञ्चित् भेदः, यथाक्रममेककालकप्रत्ययावसेयत्वात्, कथञ्चिदभेदोऽपि, रूपाऽऽद्यात्मना स्वरूपस्य रूपाऽऽदीनां च द्रव्याऽऽत्मकतया प्रतीतेरन्यथा तदनावाऽऽपत्तेः ।

तत-

सीसमईविप्फारण-मित्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो ।
इहरा कहामुहं चे-व नत्थि एवं ससमयम्मि ॥ २५ ॥

शिष्यबुद्धिविकाशनमात्रार्थोऽयं कृतः प्रबन्धः, इतरथा कथनं चैषां नास्ति स्वसिद्धान्ते-किमेते गुणाः गुणिनो भिन्ना आहोस्विदभिन्ना इति । अनेकान्ताऽऽत्मकत्वादनेकान्तवस्तुनः ।

एवरूपे च वस्तुन्यर्थे अन्यथारूपं तत्प्रतिपादयन्तो मिथ्यावादिनो भवन्तीत्याह-

न वि अत्थि अन्नवादो, न वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।
तं चेव य मन्नंता, अवमन्नंता नयाणं ति ॥ २६ ॥

नैवान्यत्ववादो गुणगुणिनोर्नाप्यनन्यवादो, जिनोपदेशे द्वादशाङ्गे प्रवचने, सर्वत्र कथञ्चिदित्याश्रयणात् तदेवाप्यदेवेति वा मन्यमाना आगममेवावमन्यमाना वादिनोऽभ्युपगतविपर्यासाबाधायित्वाश्च भवन्ति, अभ्युपगमनीयवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकोपायनिमित्तापरिज्ञानात्, मृषावादिवदिति तात्पर्यार्थः । सम्म० ३ काण्ड ।

परस्पर द्रव्यपर्याययोरत्यन्तं भेदः?, इत्यत्र युक्तिमाह-

उप्पायाइसहावा, पज्जाया जं च सासयं दव्वं ।
ते तप्पभवा न तयं, तप्पभव तेण ते भिन्ना ॥ २६५२ ॥

( उप्पायेत्यादि ) यस्मादुत्पादव्ययपरिणामस्वभावाः पर्यायाः, शाश्वतं नित्यं पुनर्द्रव्यम् । अपरं च-ते गुणास्तत्प्रभवा द्रव्याल्लब्धाऽऽत्मलाभाः, न पुनस्तद् द्रव्यं तत्प्रभवं गुणेभ्यो लब्धाऽऽत्मस्वरूपम्, तेन तस्मादुक्तन्यायेन परस्परं भिन्नस्वभावत्वात् भिन्नास्ते द्रव्यपर्याया अन्योऽन्यव्यतिरेकिण इति ॥ २६५२ ॥ द्रव्यपर्यायार्थिकनयप्रस्तावे, विशे० । एकार्थके, आ० म० १ अ० । विशे० । अथ पर्यायाभिधानं किमर्थम्?। उच्यते-असम्मोहप्रतिपत्त्यर्थम् । तथा चन्द्रः शशी निशाकरो रजनिकर उडुपतिरित्येवमादिषु चन्द्रपर्यायेषु, आदित्यः सविता भास्करो दिनकर इत्येवमादिषु सूर्यपर्यायेष्वभिहितेषु चन्द्रसूर्यपर्यायाभिज्ञः सन् एकस्मिन् शशिपर्याये केनाप्युक्ते समस्तसूर्यपर्यायव्युदासेन चन्द्रपर्यायेषु सर्वेषु यदि वा सूर्यपर्याय एकस्मिन् केनाप्युक्ते समस्तचन्द्रपर्यायपरित्यागेन सर्वेषु सूर्यपर्यायेषु सम्प्रत्ययो भवति, न तु मुह्यति । आ० म० १ अ० । भेदे, आव० ४ अ० । पर्यायो भेदो भाव इत्यनर्थान्तरम् । विशे० । आ० चू० ।

अथ पर्यायभेदानाह-

नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि, पर्यायोत्कीर्तनं मुदा ।
व्यञ्जनार्थविभेदेन, तद् द्विभेदं समासतः ॥ १ ॥

जिनं वीतरागं, नत्वा नमस्कृत्य, पर्यायोत्कीर्तनं पर्यायाणामुत्कीर्तनं पर्यायोत्कीर्तनं, मुदा हर्षेण, प्रवक्ष्यामि, यदित्युत्तरापेक्षायां, तत्पर्यायोत्कीर्तनं, समासतः सङ्क्षेपात्, व्यञ्जनार्थविभेदेन-व्यञ्जनं चाऽर्थश्च,तयोर्विभेदः प्रत्येकं योजना, व्यञ्जनभेदेनार्थभेदेन,तत् कीर्तनं पर्यायस्य द्विभेदं द्विप्रकारमित्यर्थः ॥१॥

तत्र व्यञ्जनपर्यायः, त्रिकालस्पर्शनो मतः ।
द्वितीयश्चार्थपर्यायो, वर्तमानानुगोचरः ॥ २ ॥

तत्र तयोर्द्वयोरुत्कीर्तनयोर्मध्ये आद्यो व्यञ्जनपर्यायः त्रिकालस्पर्शनो मतोऽनुगतकालकलितः कथितः । यस्य हि त्रिकालस्पर्शनः पर्यायः स च व्यञ्जनपर्यायः । यथा हि घटाऽऽदीनां मृदादिपर्यायो व्यञ्जनपर्यायो-मृन्मयः, सुवर्णाऽऽदिधातुमयो वा घटः कालत्रयेऽपि मृदादिपर्यायत्वं व्यञ्जयति । तथा द्वितीयो भेदोऽर्थपर्यायः वर्तमानानुगोचरः सूक्ष्मवर्तमानकालवर्ती अर्थपर्यायः । यथाहि-घटाऽऽदेस्तत्तत्क्षणवर्ती पर्यायो यस्मिन् काले वर्तमानतया स्थितस्तत्तत्कालापेक्षा कृतविद्यमानत्वेनार्थपर्याय उच्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ तयोः प्रत्येकं द्वैविध्यं दर्शयन्नाह-

द्रव्यतो गुणतो द्वेधा, शुद्धोऽशुद्धस्तथा ।
शुद्धद्रव्यव्यञ्जनाऽऽख्य-श्चेतने सिद्धता यथा ॥ ३ ॥

द्रव्यतो द्रव्यपर्यायो भवति, तथा गुणतो गुणपर्यायोऽपि भवति, एवं द्वेधा द्विप्रकारः स्यात् । तथाहि-द्रव्यव्यञ्जनपर्यायो, गुणव्यञ्जनपर्याय इति । तथा-पुनस्तेनैव प्रकारेण शुद्धतः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, अशुद्धतोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायश्च द्विप्रकारः । तत्र तेषु भेदेषु शुद्धद्रव्यव्यञ्जनाऽऽख्यः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, कस्मिन् भवति ?, चेतने, यथा सिद्धता-चेतनद्रव्यस्य यथा सिद्धपर्यायः । अयं हि केवलभावात् ज्ञेयः ॥ ३ ॥

पुनर्भेदोपदेशमाह-

अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनो,नराऽऽदिर्बहुधा मतः ।
गुणतोऽपीत्थमेवात्र, कैवल्यं मतिचिन्मुखः ॥ ४ ॥

अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनो नराऽऽदिः, आदिशब्दात् देवनारकतिर्यगादयो बहुधा मताः,तदपेक्षया नराऽऽदिर्बहुधा मतः । अत्र हि द्रव्यभेदः पुद्गलसंयोगजनितोऽस्ति, मनुष्याऽऽदिभेदेनैव भेदः । गुणतोऽपीत्थमेव । गुणव्यञ्जनपर्यायो द्विप्रकारः । तत्र प्रथमः शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायः कैवल्यं केवलज्ञानाऽऽदिरूपः, द्वितीयोऽप्यशुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायो मतिचिन्मुखः मतिश्रुतावधिमनःपर्यायरूप इति ॥ ४ ॥

पुनः कथयति-

ऋजुसूत्रमतेनाऽर्थ-पर्यायः क्षणवृत्तिमान् ।
आभ्यन्तरः शुद्ध इति, तदन्योऽशुद्ध ईरितः ॥ ५ ॥

ऋजुसूत्रमतेन ऋजुसूत्राऽऽदेशेनाऽर्थपर्यायः, आभ्यन्तरः शुद्धोऽर्थपर्यायः क्षणवृत्तिमान् क्षणपरिणतः । तदन्यस्तदतिरिक्तोऽशुद्ध ईरितः, यो यस्मादल्पकालवर्ती पर्यायः स च तस्मादल्पत्वविवक्षया अशुद्धार्थपर्यायः कथ्यते ॥ ५ ॥

अत्र वृद्धवचनसम्मतिं दर्शयति-

नरो हि नरशब्दस्य, यथा व्यञ्जनपर्ययः ।
बालाऽऽदिकोऽर्थपर्यायः, सम्मतौ भणितस्त्वयम् ॥ ६ ॥

नरो हि नरशब्दस्य यथा व्यञ्जनपर्याय इति । यथा पुरुषशब्दवाच्यजन्ममरणकालपर्यन्त एकोऽनुगतनरत्वपर्यायः,स च पुरुषस्य व्यञ्जनपर्यायोऽस्ति, सम्मतिविषये बालाऽऽदिकस्तु पुनरर्थपर्यायः कथितः । अयमिति इदमः प्रत्यक्षत्वे साक्षात्सम्मतौ दृष्टः इति । अत्र गाथा-" पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माइमरणकालपज्जंतो । तस्स उ बालाईया, पज्जवभेया बहुविगप्पा ॥ ३२ ॥ " ॥ ६ ॥

अथ केवलज्ञानाऽऽदिकः शुद्धगुणव्यञ्जनपर्याय एव भवति,तत्रार्थपर्यायो नास्तीत्येतादृशी कस्यचिद् दिगपटाऽऽभासस्याऽऽशङ्काऽस्ति तां निराकरोति-

षड्गुणहानिवृद्धिभ्यां, यथाऽगुरुलघुस्तथा ।
पर्यायः क्षणभेदाच्च, केवलाऽऽख्योऽपि संमतः ॥ ७ ॥

षड्गुणहानिवृद्धिभ्यामगुरुलघुपर्याया यथा कथिताः षड्गुणहानिवृद्धिलक्षणा अगुरुलघुपर्याया सूक्ष्मार्थपर्याया इति वत् पर्यायः क्षणभेदात् केवलाऽऽख्योऽपि समतः क्षणभेदात् केवलज्ञानपर्यायोऽपि भिन्न एव दर्शितः । यतः-" पढमसमयेऽयोगिभवत्थकेवलनाणे अपढमसमये सयोगिभवत्थकेवलनाणे ।" इत्यादिवचनात् । तदृजुसूत्राऽऽदेशेन शुद्धगुणस्याप्यर्थपर्याया मन्तव्याः ॥ ७ ॥

सद्द्रव्यव्यञ्जनोऽणुश्च, शुद्धपुद्गलपर्ययः ।
द्व्यणुकाऽऽद्या गुणाः स्वीय-गुणपर्यायसंयुताः ॥ ८ ॥

सद्द्रव्यव्यञ्जनोऽणुः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपरमाणुः शुद्धपुद्गलपर्ययः तस्य नाशो नाऽस्ति । तथा द्व्यणुकाऽऽदिका अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः संयोगजनितत्वात् । कीदृशाः ?, स्वीयगुणपर्यायसंयुताः पुद्गलद्रव्यस्य अशुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायास्ते निजनिजगुणाऽऽश्रिता मन्तव्याः । यतः परमाणुगुणो यः स च शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायः, तथा-द्विप्रदेशाऽऽदेर्गुणो यः स चाशुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मार्थपर्यवाः सन्ति,धर्माऽऽदीनामितीव ये ।
कथयन्ति न किं तेऽमुं, जानन्त्यात्मपरार्थतः ॥ ९ ॥

धर्माऽऽदीनां धर्मास्तिकायाऽऽदीनां सूक्ष्मार्थपर्यवाः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः सन्ति, इतीव ये कथयन्त्येतादृशं हठं कुर्वन्ति ते जना हठं त्यक्त्वा आत्मपरार्थतः निजपरप्रत्ययादृजुसूत्राऽऽदेशेन चाऽमुं क्षणपरिणतिरूपं पूर्वोक्तमर्थपर्यायमपि केवलज्ञानाऽऽदिवत् न किं, किमिति कथं न जानन्ति,हठं त्यक्त्वा कथं नाङ्गीकुर्वन्ति ? ।

किं च-तेषु धर्मास्तिकायाऽऽदिष्वपेक्षयाऽशुद्धपर्यायोऽपि भवति, न चेत्तदा परमाणुपर्यन्तविश्रामः पुद्गलद्रव्येऽपि न भवतीत्यभिप्रायेण कथयन्नाह-

यथाऽऽकृतिश्च धर्माऽऽदेः, शुद्धो व्यञ्जनपर्यवः ।
लोकस्य द्रव्यसंयोगा-दशुद्धोऽपि तथा भवेत् ॥ १० ॥

धर्मास्तिकायाऽऽदेराकृतिर्लोकाऽऽकाशमानसंस्थानरूपा यथा च-

र्तते तथा शुद्धो व्यञ्जनपर्यवः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः कथ्यते परानिरपेक्षत्वेनेति । तथा-लोकस्य द्रव्यसंयोगात् लोकवर्ती द्रव्यसंयोगरूपोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायोऽपि तस्य लोकस्य द्रव्यसंयोगात् निरपेक्षत्वं कथयन् विरोधं नोत्पादयति, विरोधः कोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

अथाऽऽकृतिः पर्यायो भविष्यति, संयोगः पर्यायो न भविष्यतीत्याशङ्कां परिहरन्नाह-

आकृतेरिव संयोगः, पर्यवः कथ्यते यतः ।
उत्तराध्ययनेऽप्युक्तं, पर्यायस्य हि लक्षणम् ॥ ११ ॥

संयोगोऽप्याकृतेरिव आकृतिवत्पर्यायः कथ्यते । यतो हेतोः पर्यायस्य लक्षणं, हीति निश्चितम्, उत्तराध्ययनेऽप्युक्तम् कथितम् । ततोऽस्य लक्षणं सभेदमपि श्रीउत्तराध्ययनादेवावसेयमिति ॥ ११ ॥

पुनस्तदेवाऽऽह-

एकत्वं च पृथक्त्वं च, संख्या संस्थानमेव च ।
संयोगश्च विभागश्चे-त्येवं मनसि चिन्तय ॥ १२ ॥

एकत्वं, पृथक्त्वम् एतद् द्वयं तथा पुनः संख्या संस्थानम् । एतद् द्वयं, च पुनः संयोगः विभागः-एतद् द्वयं च, इत्यादि षट्कं द्वित्वपरिणतं मनसि चिन्तय, स्वचेतोगोचरीकुरुष्वेत्यर्थः । तथा च तत्र गाथा-"एगत्तं च पुहुत्तं च,संखा संठाणमेव य । संजोगो य विभागो य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१॥" इत्येतद्गाथोक्तपर्यायभेदभावना भावयितव्या ।

पुनः प्रकृतमेवार्थमाह-

उपचारी न वाऽशुद्धो, यद्यप्यन्याऽऽश्रितो भवेत् ।
असद्भूता मनुष्याऽऽद्या-स्तदा नाऽशुद्धयोगकाः ॥ १३ ॥

उपचारी न भवति अशुद्धो यद्यप्यन्याऽऽश्रितो भवेत् परद्रव्यसंयोगी स्यात् तथाऽप्युपचारी अशुद्धतां नाप्नोति । अथ च यथैव कथञ्चिदथ यद् यदि च धर्मास्तिकायाऽऽदीनां परद्रव्यसंयोगोऽस्ति, तदुपचरितपर्याय इति कथ्यते, परं त्वशुद्धपर्याय इति न कथ्यते, द्रव्यातथात्वहेतुष्वेवाशुद्धत्वव्यवहारोऽस्तीति, तत्तस्माद् मनुष्याऽऽदिपर्यायोऽप्यशुद्ध इति न कथ्यते, असद्भूतव्यवहारनयग्राह्यत्वेनासद्भूत इति कथ्यते । तद्धि तत्त्वादिपर्यायवदेकद्रव्यजनकावयवसङ्घातस्यैवाशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायत्वं च कथयन्तं चतुरस्रं लगेदिति । तस्मादपेक्षाऽनपेक्षाभ्यां शुद्धाशुद्धानेकान्तव्यापकत्वमेव श्रेय' इति । तदेवाग्रेतने पद्ये प्रतिपादयिष्यति । पुनरत्त्रार्थस्त्वेवम्-असद्भूता मनुष्याऽऽद्यास्तदा अशुद्धयोगका नेति ॥ १३ ॥

पुनः कथयति-

धर्माऽऽदेरन्यपर्याये-णाऽऽत्मपर्यायतोऽन्यथा ।
अशुद्धताविशेषो न, जीवपुद्गलयोर्यथा ॥ १४ ॥

धर्माऽऽदेर्धर्मास्तिकायाऽऽदेरन्यपर्यायेण परपर्यायेणाऽऽत्मपर्यायेणाऽऽत्मपर्यायतः स्वपर्यायादन्यथा विषमत्वं विलक्षणत्वं ज्ञातव्यम् । यतः कारणादशुद्धताया विशेषो नास्ति, यथा-जीवपुद्गलयोर्विषये मशुद्धताविशेषो नास्ति ॥ १४ ॥

अथ प्रकारान्तरेण चतुर्विधपर्याया नयचक्रे कथिताः, तानेव दर्शयन्नाह-

स्वजातेश्च विजातेश्च, पर्याया इत्यमर्थके ।
स्वभावाच्च विभावाच्च, गुणे चत्वार एव च ॥ १५ ॥

इत्थममुना प्रकारेण स्वजातेः पर्यायाः सजातीयद्रव्यपर्यायाः, विजातेः पर्याया विजातीयद्रव्यपर्यायाश्च, अर्थके द्रव्ये द्रव्यविषये भवन्ति । स्वभावाच्च पुनर्विभावादिति स्वभावगुणपर्यायाः, विभावगुणपर्यायाः, इत्थं चत्वारो भेदा द्रव्यगुणभेदात्पर्यायाणां कथनीयाः, स्वजातीयद्रव्यपर्यायः, विजातीयद्रव्यपर्यायः, स्वभावगुणपर्यायः, विभावगुणपर्यायः, इति चत्वारो द्रव्यगुणयोर्भेदा भावनीया इति ॥ १५ ॥

अत्र पूर्वोक्तानां भेदानामुदाहरणमाह-

द्व्यणुकं च मनुष्याश्च, केवलं मतिचिन्मुखाः ।
दृष्टान्ताः प्रायिकास्तेषु, नाणुरन्तर्भवेत्क्वचित् ॥ १६ ॥

(द्व्यणुकं चेति) द्विप्रदेशाऽऽदिस्कन्धः, स च सजातीयद्रव्यपर्यायः, कथं तत् ? । द्वयोः परमाण्वोः संयोगे सति द्व्यणुकमेतावता द्रव्यद्वयं सङ्गत्यैकद्रव्यं भवतीति सजातीयद्रव्यपर्यायः १ । मनुष्याश्च मनुजाऽऽदिपर्याया विजातीयद्रव्यपर्याय इति, जीवपुद्गलयोर्योगे सति मनुष्यत्वव्यवहारो जायते, एतावता विजातीयद्रव्यद्वयं सङ्गत्यैकद्रव्यं निष्पन्नमिति विजातीयद्रव्यपर्यायः २ । अथ केवलमिति केवलज्ञानं स्वभावगुणपर्यायः कथ्यते । कथं तत् ?-कर्मणां संयोगरहितत्वात् स्वभावगुणपर्यायः ३ । अथ मतिचिन्मुखा मतिज्ञानाऽऽदयः पर्यायाः विभावगुणपर्यायाः कथ्यन्ते । कथं तत् ?, कर्मणा परतन्त्रत्वात् विभावगुणपर्यायाः ४ इति । एते हि चत्वारो दृष्टान्ताः प्रायिका ज्ञातव्याः । परमार्थतस्तु परमाणुरूपद्रव्यपर्यायः, एषु चतुर्षु नान्तर्भवितुमर्हति, विभागजनितपर्यायत्वात् । तदुक्तं सम्मतौ-"अणु अणुएहिं दव्वे, आरद्धेति अणुअं ति णिद्देसो । तत्तो अ पुण विभत्तो, अणु त्ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥" (अस्या अर्थः 'अणेगतवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२७ पृष्ठे गतः) इत्यादिकं सर्वं विमृश्य विज्ञेयमिति । आरब्धद्रव्यपर्याये अणुद्वयसंयोगे सति द्व्यणुकं निष्पद्यते, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकं जायते, त्रिभिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकमुत्पद्यते, एवं महती पृथ्वी महत्य आपो, महान्तो वायव इत्यादि नैयायिकैः प्रणीतत्वात् ॥ १६ ॥

पुनः प्रतिपिपादयिषुराह-

गुणानां हि विकाराः स्युः, पर्याया द्रव्यपर्यवाः ।
इत्यादिकथयन् "देव-सेनो" जानाति किं हृदि ? ॥ १७ ॥

गुणविकाराः पर्याया एव कथयित्वा तेषां भेदाधिकारे पर्याया द्विविधाः-द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्चेति कथयंश्च "देवसेनो" दिगम्बराऽऽचार्यो नयचक्रग्रन्थकर्ता हृदि चित्ते किं जानाति ?, अपि तु सम्भावितार्थे, न किमपि जानातीत्यर्थः । पूर्वापरविरुद्धभाषणादसत्प्रलापप्रायं एवेदमित्यभिप्रायः । किं च-द्रव्यपर्याया एव कथनीयाः परं तु गुणपर्याया इति पृथग् भेदोत्कीर्तनं न कर्तव्यं, द्रव्ये गुणत्वाधिरोपाद्, गुणे च गुणत्वाभावादिति निष्कर्षः ॥ १७ ॥ द्रव्या० १४ अध्या० । क्रमे, परिपाट्यां, पर्यायः परिपाटिरित्यनर्थान्तरम् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

ाअलोग-पर्यायलोक-पुं० । "दव्वगुणखेत्तपज्जव-भावणु-
ावे य भावपरिणामे । जाण चउव्विहमिम, पज्जवलोगं समा-
ेण ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे लोकभेदे, आ० म० २ अ० ।

ाअसद्द-पर्यायशब्द-पुं० । एकार्थकशब्दे, आ० म० १ अ० ।

ाउल-पर्याकुल-त्रि० । "नवा र्यो य्यः" ॥ ८ । ४ । २६६ ॥
ति र्यस्य स्थाने यो वा । 'पज्जाउलो । पय्याकुलो ।' परितो
ाकुले, प्रा० ४ पाद ।

जाभाइत्ता-पर्याभाज्य-अव्य० । भागं कृत्वेत्यर्थे, "दातारे-
ुण दाय पज्जाभातित्ता ।" आचा०२ श्रु०१ चू०३ अ०३ उ० ।

जालेत्ता-प्रज्वाल्य-अव्य० । प्रकर्षेण ज्वालयितुमित्यर्थे,
'अगणिकाय उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्जा ।" आ-
ा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

जालिय-प्रज्वाल्य-अव्य० । पुनः पुनः प्रज्वालनं कृत्वेत्यर्थे,
श० ५ अ० १ उ० ।

ज्जमाण-पाय्यमान-त्रि० । पान कार्यमाणे, सूत्र० १ श्रु०
५ अ० १ उ० ।

ज्जिया-प्रार्जिका-स्त्री० । मातुः पितुर्वा मातामह्याम्, दश०
७ अ० ।

ज्जुण्ण-प्रद्युम्न-न० । "म्नज्ञोर्णः" ॥ ८ । २ । ४२ ॥ इति म्न-
थाने णः । प्रा० २ पाद । प्रजिकाभिधानाया ब्रह्मदत्तचक्रिणो
ार्यायाम्, उत्त० १३ अ० । कृष्णवासुदेवपुत्रे,स च कृष्णाद्रुक्-
मिण्यामुत्पन्नोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्ध इत्यन्तकृ-
द्दशासु चतुर्थे वर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ४ वर्ग ।
आ० चू० । आ० म० । आ० क० । ( कमलामेलोदाहरणेऽस्य
किञ्चिद् वृत्तम् )

ज्जुण्णखमासमण-प्रद्युम्नक्षमाश्रमण-पुं० । निशीथचूर्णिकृदुप-
देशके, "सविसेसायरजुत्त, काउ पणाम च अत्थदाइस्स ।
पज्जुण्णखमासमण-स्स चरणकरणाणुपालस्स ॥ २ ॥" नि०
चू० १ उ० ।

ज्जुण्णगिरि-प्रद्युम्नगिरि-पुं० । उज्जयन्तशैलाऽवयवभेदे, "गि-
रिपज्जुण्णवायारे, अविश्रग्रासमएय च नामेणं ।" ती०३ कल्प।

ज्जुण्णसूरि-प्रद्युम्नसूरि-पुं० । चन्द्रकुलालङ्कारयशोदेवसूरिशि-
ष्ये, ग०। सुघुम्न. प्रद्युम्नाभिधश्च यशोदेवसूरिशिष्य' सूरिस्ततोऽ-
प्यासीत् । ग०३ अधि० । अयमाचार्यो विक्रमसंवत्-८०७ मिते
वर्तमान आसीत् । द्वितीयश्चैतन्नामा विचारसारनामप्रकरणग्र
न्थरचयिता, तृतीयश्च राजगच्छे अभयदेवसूरिगुरु , स च वै-
यकशास्त्रे परिनिष्ठित आसीत्, चतुर्थ चन्द्रगच्छ मूलशुद्धिप्रक-
रणग्रन्थकृत्, पञ्चमोऽपि चन्द्रगच्छ एव कनकप्रभसूरिशिष्यः ।
स च विक्रमसंवत्-१३२२ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

ज्जुदास-पर्युदास-पुं० । परि-उद्-अस-घञ् । निवारणे. फल-
प्रत्यवायशून्यतया भेदार्थकनञा बोध्ये, "प्राधान्य हि विधे-
र्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता । पर्युदास. स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदे न
नञ् ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे निषेधे च । वाच० । विशे० । (वि-
स्तरस्तु वाचस्पत्येऽस्ति )

पज्जुवट्ठिय-पर्युपस्थित-त्रि० । परि सामस्त्येनोपस्थित उपर-
तः । परिसमाप्ते, भ० १५ श० । "पुत्तं रज्जे ठवेऊणं, सामन्ने
पज्जुवट्ठिया ।" श्रामण्ये चारित्रे पर्युपस्थिताः, चारित्रयोग्य-
क्रियाऽनुष्ठानतत्पराः । उत्त० १८ अ० ।

पज्जुवासण-पर्युपासन-न० । सेवायाम, दशा० १० अ० ।
स्था० । सूत्र० । नि० । ज्ञा० ।

पज्जुवासणकप्प-पर्युपासनकल्प-पुं० । पर्युपासनसामाचार्याम्,
पं० भा० ।

पज्जुवासणकप्पो, सुत्ते कप्पो तहा चरित्ते य ।
अज्झयणुद्देसम्मि य, कप्पो तह वयणाए य ॥
कप्पो परिच्छणाए, परियट्टणुपेहणाए कप्पो य ।
तितमट्ठिएसु दोसु वि, एते सव्वे भवे कप्पा ॥
जातमजाओ अहुणा, दोणि वि एते समं तु वच्चंति ।
जातं णिप्पण्णं ति य, पगट्ठं होति णायव्वं ॥
जातमजातं करणं, जाते करणे गती तिह भिण्णा ।
अज्जाए करणम्मि तु, अण्णतरी तं गती जाइ ॥
जाइं खलु णिप्पण्णं, सुत्तेणऽत्थेण तदुभएणं च ।
चरणेण य संजुत्तं, वतिरित्तं होति अज्जातं ॥
जातिकरणेण भिण्णा,णरगतिरिक्खा गती उ दोणि भवे ।
अहवा वि तिहा भिण्णा, नरगतिरिक्खा मणुस्सगती ॥
दोवेसु वि तिण्णि गती, भिण्णा वेमाणिएसु उववत्ती ।
चउसु वि गतीसु गच्छति, अण्णतरिं अजातकरणेणं ॥
एसो जातमजाते, कप्पो अभिहितो इयाणि वक्खामि ।
पं० भा० ६ क० ।

पज्जुवासमाण-पर्युपासीन-त्रि० । सेवमाने, भ० १ श०१ उ० ।
औ० । सू० प्र० । च० प्र० । तथारूप श्रमणं पर्युपासीनस्य पर्यु-
पासना किंफला ?। भ० २ श० ५ उ० । ( 'समणपज्जुवासणा'
शब्देऽस्य विस्तर )

पज्जुसवणाकप्प-पर्युषणाकल्प-पर्योसवनाकल्प-पुं० । पर्याया
ऋतुबद्धिका द्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धिन उत्सृज्यन्ते उज्झ्य-
न्ते यस्या सा निरुक्तविधिना पर्योसवना । अथवा-परीति
सर्वतः क्रोधाऽऽदिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना ।
अथवा-परि- सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यत सप्ततिदिनानि,उत्कृष्टत-
षण्मासान् वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा । तस्या- कल्प आचारो,
मर्यादेत्यर्थ । पर्योसवनाकल्पः पर्युपशमनाकल्पः । "सक्कोस
जोयण विगईनवय" इत्यादिके वर्षाकल्पे,स्था०१० ठा० । न्यू-
नोदरताकरणविकृतिनवकपरित्यागपीठफलकाऽऽदिसंस्तारका-
ऽऽदानमित्यादिके वर्षाकल्पे, स्था० ५ ठा० ५ उ० ।

( १ ) अपर्युषणायां पर्युपर्यति-

जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ, पज्जोसवंतं वा
साइज्जइ ॥ ४८ ॥ जे भिक्खू ण पज्जोसवेइ, ण पज्जोसवंतं
वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

"जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवति" इत्यादि द्वौ सु-
त्रा सुगम वक्ष्यति । इमो सुत्तत्थो ।

गाहा-

पज्जोसवणाकाले, पत्ते जे भिक्खु णो वसेज्जाहि ।
अप्पत्तमतीते वा, सो पावति आणमादीणि ॥५२१॥

जे भिक्खू पज्जोसवणाकाले पत्ते ण पज्जोसवति, अपज्जोसवणए त्ति अपत्ते अतीते वा जो पज्जोसवति तस्स आणादिया दोसा, चउगुरु पच्छित्त, एस सुत्तत्थो ।

( २ ) एकार्थिकानि तत्र इमा णिज्जुत्तिगाहा-

पज्जोसवणाए अ-क्खराइं होंति उ इमाइ गोणाइं ।
परियायववणाए पज्जोसवणा य पागइया ॥ ५२२ ॥
परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसवणा य वासो य ।
पढमसमोसरणं ति य, ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा ॥५२३॥

( पज्जोसवण त्ति ) एतेसिं अक्खराणि इमाणि एगट्ठिणाणि गोणणामाणि अट्ठ भवति । त जहा-परियायठवणा, पज्जोसवणा य,परिवसणा,पज्जुसणा,वासावासो,पढमसमोसरण, ठवणा,जेट्ठोग्गहो त्ति । एते एगट्ठिया । एतेसिं इमो अत्थो-जम्हा पज्जोसवणादिवसे पव्वज्जापरियागो व्यपदिश्यते व्यवस्थाप्यते सत्ता परिया वरिसा मम उवट्ठावियस्सति । तम्हा परियायठवणा भण्णति, जम्हा उडुबद्धिया व दव्वखेत्तकालभावा पज्जाया, एत्थ परि समता ओसविज्जति, परित्यजन्तीत्यर्थः । अण्णे य दव्वादिया पुरिसकालपायोग्गा घेत्तु आयरज्जति तम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा परिवसतीति, तम्हा परिवसणा भण्णति, उडुबद्धियवाससमीवातो जम्हा पुरिसेण उमति सव्वदिसासु परिमाणपरिच्छिन्न तम्हा पज्जुसणा भण्णति, पज्जोसवणा इति गतार्थम् । वर्ष इति वर्षाकाल तस्मिन् वास' ३ प्रथमं आयन्त्यवद्रूण समीवातो समोसरण, ते य दो समोसरण-एग वासासु, वितिय उडुबद्धे, जतो पज्जोसवणातो वरिसं आढप्पति अतो पढम समोसरण भण्णति, वासकप्पातो जम्हा अण्णा वासकप्पमेरा ठविज्जति तम्हा उडुबद्धे एक्क मासं खेत्तो उग्गहो भवति, वासावासासु चत्तारि मासा तम्हा उडुबद्धिया ओग्गहो जेट्ठो भवति । एषा व्यंजनतो नानात्वं,न त्वर्थः। एतेसिं एगट्ठियाण एग ठवणापद परिगृह्यति,तम्मि णिक्खित्ते सव्वे णिक्खित्ता भवति । नि० चू० १० उ० । स चैवम्-"पज्जोसवणाकप्पो" त्ति ( ६ गाथा ) पञ्चा० १७ विव० । परि सामस्त्येन उषणा वसन पर्युषणा, तत्र पर्युषणाशब्देन सामस्त्येन वसन, वार्षिक पर्व च द्वयमपि कथ्यते, तत्र वार्षिक पर्व भाद्रपदसितपञ्चम्यां, कालकसूरेरनन्तर चतुर्थ्यामेवेति, सामस्त्येन वसनलक्षणश्च। पर्युषणाकल्पो द्विविध-सालम्बनो, निरालम्बनश्च । तत्र निरालम्बन ,कारणाभाववान् इत्यर्थ । स द्विविध-जघन्य , उत्कृष्टश्च । तत्र जघन्यस्तावत्सावत्सरिकप्रतिक्रमणादारभ्य कार्तिकचतुर्मासप्रतिक्रमण यावत् सप्तति ७० दिनमान , उत्कृष्टस्तु चातुर्मासिक , अय द्विविधो निरालम्बन स्थविरकल्पिकाना, जिनकल्पिकाना तु एको निरालम्बनश्चातुर्मासिक', सालम्बनस्तु कारणिक इत्यर्थ । यत क्षेत्रे मासकल्प कृतस्तत्रैव चतुर्मासककरणे चतुर्मासकानन्तर च मासकल्पकरणे पाण्मासिक , अयमपि स्थविरकल्पिकानामेव, तथा पञ्चकपञ्चकवृद्ध्या गृहिज्ञाताऽऽदिविस्तरस्तु नात्र लिखितः, साम्प्रतं सङ्घाऽऽज्ञया तस्य विधर्व्युच्छिन्नत्वाद्विस्तरभयाच्च विशेषार्थिना च कल्पकिरणावल्यादयो विलोक्याः, एव सर्वत्रापि ज्ञेयम् । अयैव वर्णितस्वरूपः पर्युषणाकल्प प्रथमान्तिमजिनतीर्थे नियतः, शेषाणां तु अनियतः, यतस्ते हि दोषाभावे एकस्मिन् क्षेत्रे देशोनां पूर्वकोटिं यावत्तिष्ठन्ति, दोषसद्भावे तु न मासमपि। एव महाविदेहेऽपि द्वाविंशतिजिनवत्सर्वेषां जिनाना कल्पव्यवस्था ज्ञेया । कल्प० १ अधि० १ क्षण । ( कल्पसूत्रस्य वाचनीयत्वं 'कप्पसुत्त' शब्दे तृतीयभागे २३६ पृष्ठे उक्तम )

( ३ ) प्रथम पर्युषणा कदा विधेयेत्याह-

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ ॥१॥ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ ? । जओ णं पाएणं अगारीणं अगाराइं कडियाइं उक्कंपियाइं छन्नाइं लित्ताइं घट्ठाइं मट्ठाइं संपधूमियाइं खाओदगाइं खायनिद्धमणाइं अप्पणो अट्ठाए परिणामियाइं भवंति, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ-समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ ॥ २ ॥ तहा णं गणहरा वि वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसविंति ॥ ३ ॥ जहा णं गणहरा वि वासाणं सवीसइराए० जाव पज्जोसविंति, तहा णं गणहरसीसा वि वासाणं० जाव पज्जोसविंति ॥ ४ ॥ जहा णं गणहरसीसा वासाणं० जाव पज्जोसविंति तहा णं थेरा वि वासाणं० जाव पज्जोसविंति ॥ ५ ॥ जहा णं थेरा वासाणं० जाव पज्जोसविंति तहा णं जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति, एते वि अ णं वासाणं० जाव पज्जोसविंति ॥ ६ ॥ जहा णं जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा वि वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावास पज्जोसविंति, तहा णं अम्हे पि आयरिया उवज्झाया वासाणं० जाव पज्जोसविंति ॥ ७ ॥

अथ सामाचारीलक्षण तृतीय वाच्यं वक्तु प्रथम पर्युषणा कदा विधेयेत्याह-"तेण कालेण" इत्यादितो " वासावास पज्जोसवेइ " इति पर्यन्तम । तत्र आषाढचतुर्मासकदिनादारभ्य विंशतिरात्रिसहिते मासे व्यतिक्रान्ते भगवान् ( पज्जोसवेइ त्ति ) पर्युषणामकार्षीत् । ( से केणट्ठेणमित्यादि ) तत्केनार्थेन केन कारणेन इति शिष्येण प्रश्ने कृते गुरुरुत्तर दातु सूत्रमाह ॥ १ ॥ " जओ ण " इत्यादित " पज्जोसवेइ त्ति " यावत । तत्र यतः प्रायेण अगारिणा गृहस्थानामगाराणि गृहाणि ( कडियाइ ति ) कटयुक्तानि ( उक्कंपियाइ ति ) धवलितानि ( छन्नाइ ) तृणाऽऽदिभि (लित्ताइ ति) छगणाऽऽदिभि (गुत्ताइ ति) वृतिकरणाऽऽदिभि ( घट्ठाइ ) विषम

भूमिभञ्जनात् (मट्ठाइ त्ति) पाषाणखण्डेन घृष्ट्वा सुकुमालीकृतानि ( संपधूमियाइ ) सौगन्ध्यार्थं धूपैर्वासितानि । (खाओदगाइ) कृतप्रणालीरूपजलमार्गाणि ( खायनिद्धमणाइ ) सज्जितखातानि, एव विधानि (अप्पणो अट्ठाए त्ति)आत्मार्थम् । (कडाइ) गृहस्थैः कृतानि परिकर्मितानि (परिभुत्ताइ) परिभुक्तानि ( परिणामियाइं ) परिणामितानि, अचित्तीकृतानि, ईदृशानि यतो गृहाणि भवन्ति (से तेणट्ठेणं ति) तेनाऽर्थेन तेन कारणेन भगवान् महावीरो वर्षाणां वर्षाकालस्य विंशतिरात्रे युक्ते मासेऽतिक्रान्ते पर्युषणामकार्षीत् । यतोऽमी प्रागुक्ता अधिकरणदोषा मुनिमाश्रित्य न स्युः ॥२॥ "जहा णं" इत्यादिका "पज्जोसविंति त्ति" पर्यन्ता सप्तसूत्री सुगमा । नवरं षष्ठसूत्रे-(अज्जत्ताए त्ति) अद्यकालीना,आर्यतया वा व्रतस्थविरत्वेन वर्तमाना । कल्प० ३ अधि० ९ क्षण ।

(४) पर्युषणास्थापना-

ठवणाए णिक्खेवो, छक्को दव्वं च दव्वणिक्खेवो ।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जोओ ॥
ओदइयादीयाणं, भावाणं जो हि ठाणजावेण ।
अहवा वि पुणो भावे, ठवेज्ज ते भावठवणा तु ॥
सामित्तयकरणम्मि य, अह करणे होति छब्भेया ।
एगत्तपुहुत्तेहिं, दव्वे खेत्ते य भावे य ॥५२४॥

ठवणाए छव्विहो निक्खेवो । तं जहा-णामठवणा, दव्वठवणा, खेत्तठवणा, कालठवणा, भावठवणा । णामठवणाओ गयाओ । दव्वठवणा दुविहा-आगमतो, णोआगमतो य । आगमतो जाणए अणुवउत्ते । णोआगमतो तिविधा । तं जहा-जाणगसरीरठवणा, भवियसरीरठवणा, जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ता । जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ता दव्वठवणा इमा-दव्वं च दव्वणिक्खेवो । दव्व परिमाणेन स्थाप्यमानं दव्वठवणा भवति, चसद्दोऽणुकरिसणे,किं अणुकरिसयति ?। भण्यते-इमं दव्वं वा णिक्खममाण दव्वस्स परिवसभ गामस्स अन्तर पत्तियायकरणे खेत्तेण एगत्तबहुमित्ते दव्वस्स ठवणा, दव्वाण वा ठवणा । जहा-कोइ साहू एगसथाराभिग्गहण ठवेति गृह्णातीत्यर्थः । दव्वाण ठवणा जहा-संथारगातिगपुरो आग्गहणाभिग्गहण आत्मनि ठवेति । करणे जहा दव्वेण ठवणा, दव्वेहिं वा ठवणा । तत्थ दव्वेण चाउम्मासिं जावेति । दव्वेहिं कूरकुसणेहिं वा चातुम्मास जावेति, अहवा चउसु मासेसु एक्क आयंबिल पारेत्ता सेसकालं अभत्तट्ठं करेति, एवमात्मान स्थापयतीत्यर्थः । दव्वेहिं दोहिं आयंबिलेहिं चाउम्मास जावेति । अधिकरणे दव्वे ठवणा दव्वेसु वा ठवणा, तत्थ दव्वे जहाणामए कलहमएसु ठवियव्व, दव्वेसु अणेगम्मि सथारमएसु ठवियव्व । एव छभेदा णातपुत्तेहिं दव्वे भणित्त । इदाणिं खेत्तठवणा-(खेत्त तु जम्मि खेत्ति)क्षेत्र यत्परिभोगेन परित्यागेन वा स्थाप्यते । जम्मि वा खेत्तठवणा ठविज्जति सा खेत्तठवणा । सा य सामित्तकरणअधिकरणेहिं एगत्तपुहत्तेहिं छब्भेया भाणियव्वा । इयाणि कालठवणा-(कालो जहिं जोओ त्ति)काले कालो,तत्थ वि सामित्तकरणअधिकरणेहिं एगत्तपुहत्तेहिं छब्भेयाऽणुभवति । भावे छब्भेया-सामित्ते खेत्तस्स एगगामस्स परिभोगो, खेत्ताणं तिमाईणि मूलगामस्स परिवसभगामस्स अंतरं पल्लियाए करणे खेत्तेण एगत्तपुहत्तेण । एत्थ ण किंचि संभवति । अधिकरणे एए अद्धजोयणमेराए गतु पडियत्तए पुहत्तकरणे दुमादी अद्धजोयण गतु पडिए य कालस्स ठवणा । अधिकरणे एगत्तं एए उडुबद्धे जा मेरा सा वज्जिज्जति, स्थाप्यते इत्यर्थः । कालाण चउण्ह मासाणं ठवणा ठविज्जति, आचरणतेनेत्यर्थः । कालेण आसाढपुण्णिमा कालेण ठायंति, कालेहिं बहूहिं पचाहेहिं गते ठायति । कालम्मि पाउसे ठायति, कालेसु कारणे आसाढपुण्णिमातो वीसइमासदिवसेसु गतेसु ठायति । भावस्सोदइयस्स ठवणा, भावाण कोहमाणमायालोभादीण । अहवा-णाणमादीणं गहण । अहवा-खाइय भाव संकामंतस्स सेसाण भावाण परिवज्जण भवति । भावेण णिज्जरट्ठत्ताए एगखेत्ते ठायति णोऽद्ध ति । भावेहिं सगहदव्वगहणिज्जरणिमित्त वाणा अहति । भावम्मि खाइए वा ठवणा भवति, भावेसु णत्थि ठवणा । अहवा-खओवसमिए भावे सुद्धातो भावातो सुद्धतर भाव संकमतस्स भावेसु ठवणा भवति । एव दव्वातिठवणा समासेण भणि[illegible]या । इयाणि एते चेव वित्थारेण भणीहामि । तत्थ पढमं कालठवण भणामि । किं कारण ?। जेण एग सुत्तं कालठवणाए गत ।

एत्थ भण्णति-

कालो समयादीओ, पगयं कालम्मि तं परूवेस्सं ।
णिक्खमणे य पवेसे,पाउस सरए य वोच्छामि ॥५२५॥

कलन काल, कलिज्जतीति वा कालः, कालसमूहो वा कालः । सो य समयादी । समयो पट्टसाडियाफाडणादिट्ठतेणं सुत्ताएसेण परूवेयव्वो । आदिग्गहणातो आवलिया मुहुत्तो पक्खो मासो उदू अयण संवच्छरो जुग एवमाइ । एत्थ जेण पगयं ति अधिकार समए सिद्ध तमह परूवेस्स । उदुबद्धियवरिसभासकप्पखेत्तातो पाउसे णिक्खमण वासो, खेत्त य पाउसे चेव पवेस वोच्छ । वासाखेत्तातो सरए णिक्खमण उडुबद्धियखेत्ते पवेस सरए चेव वोच्छामि । अथवा सरए णिग्गमणं पाउसे पवेसं वोच्छामीत्यर्थः ।

गाहा-

ऊणाऽतिरित्तमासे, अट्ठ विहरिऊण गिम्ह हेमंतो ।
एगाहं पंचाहं, मासं व जहासमाहीए ॥ ५२६ ॥

चत्तारि हेमंतिया मासा, चत्तारि गिम्हिया मासा । एते अट्ठ ऊणाऽतिरित्ता वा विहरित्ता भण्णति-पडिमापडिवण्णाण एगाहो, अहालंदियाए पंचाहो, जिणकप्पियाण सुद्धपरिहारिण थेराण य मासो, जस्स जहा णाणदंसणचरित्तसमाही भवति सो तहा विहरित्ता वासाखेत्त ठवेति, कह पुण ऊणातिरित्ता वा उडुबद्धिया मासा भवति तत्थ ऊणा ।

गाहा-

काऊण मासकप्पं, तत्थेव उवगयाण ऊणा ते ।
चिक्खल्लवासरोहे-ण वा वितीए ठिता णूणं ॥५२७॥

जत्थ खेत्ते आसाढमासकप्पो कतो तत्थेव खेत्ते वासावासत्तेण उवगया । एवं ऊणा अट्ठमासा, आसाढमासे सनिर्गच्छतां सप्त विहरणका भवन्तीत्यर्थः । अथवा इमेहिं पगारेहिं ऊणा अट्ठ मासा हवेज्ज, स चिक्खल्लपया वास वा

अन्न वि णोवरमते, णयए वा रोहिन्न, वाही वा असिवादिकारणा, तेण मग्गसिरे सव्व ठिया अतो पोसादिया आसाढता सत्त विराहणाकाला भवति। इयाणि जहा अतिरित्ता अट्ठ मासा विहारो तहा भण्णति।

गाहा-

वासाखेत्तालंभे, अद्धाणादीसु पत्तमहिगाओ।
मावगवाघातेण व, अप्पडिक्कमितुं जति वयति ॥५२८॥

आसाढासुद्धवासावासपाउग्गा खेत्त मग्गतेहिं लद्ध ताव जाव आसाढचाउम्मासातो परतो सवीसतीराते मासे अतिक्कते लद्ध, ताहे भद्दवयाओ हस्सपचमीए पज्जोवति। एव णव मासा वीसतीराता विहरणकालो दिट्ठो। एव अतिरित्ता अट्ठ मासा। अहवा साहू अट्ठाणा पडिवण्णा सत्तुवसेण आसाढचउम्मासातो परेण पचाहेण वा जाव वीसराते वा मासे वासाखेत्त पत्ताए अतिरित्ता अट्ठ मासा विहारो भवति। अहवा-वासवज्जाए अण्णवुड्डीए आसोए कत्तियणिग्गयाए अट्ठ अतिरित्ता भवति। वसहिवाघाते वा कत्तिय चाउम्मासियस्स आरओ चेव णिग्गया। अहवा-आयरियाण कत्तियपोण्णिमाए परतो वा साहग णक्खत्त भवति, अण्ण वा रोहगादिक ति। एस वाघाय जाणिऊण कत्तियचाउम्मासिय अपडिक्कमिय जया वयति तत्तो अतिरित्ता अट्ठ मासा भवति।

" एगाह पचमास च जहासमाहीए " त्ति। अस्य व्याख्या गाहा-

पडिमापडिवण्णाण य, एगाहो पचहो तहा लंदो।
जिणसुद्धाण मासो, णिक्कारणतो य थेराणं ॥ ५२९ ॥

जिण त्ति जिणकप्पिया, सुद्धाण त्ति सुद्धपरिहारियाण। एतेसिं मासकप्पविहारो णिव्वाघाय कारणाभावा। वाघाते पुण थेरकप्पिया ऊण अतिरित्त वा मास अत्थति।

गाहा-

ऊणाऽतिरित्त मासा, एवं थेराण अट्ठ नायव्वा।
इयरेसु अट्ठ रिउतुं, णियमा चत्तारि अत्थंति ॥५३०॥

एव ऊणातिरित्ता थेराण अट्ठ मासा णायव्वा। इतरेण न पडिमा पडिवण्णा, अहालंदिया विसुद्धपरिहारिया जिणकप्पिया य जहा विहारेण अट्ठ रितु वासारत्तियाचउरो सव्वे णियमा अत्थति।

वासावासे कम्मि खेत्ते कम्मि काले पविसियव्व अतो भण्णति। गाहा-

आसाढपुण्णिमाए, वासावासासु होंति ठायव्वं।
मग्गसिरबहुलदसमी-तो जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि ॥५३१॥

(ठायव्व त्ति) उस्सग्गेण पज्जोसवेयव्व अहवा पवेसव्व, तम्मि पविट्ठा उस्सग्गेण कत्तियपुण्णिम जाव अत्थति। अववादेण मग्गसिरबहुलदसमी जाव ताव तम्मि एगखेत्ते अत्थति। इ[illegible] दसराता अच्छेज्जा, [illegible] मार्गसिरमास [illegible]। नि० चू० १० उ०।

( ४ ) [illegible] -

जहा णं अम्हं पि आयरिया उवज्झाया वासाणं • जाव पज्जोसविंति, तहा णं अम्हे वि वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेमो, अंतरा वि य से कप्पइ, नो से कप्पइ त रयणिं उवाइणावित्तए ॥ ८ ॥

"जहा ण" इत्यादितः "उवाइणावित्तए त्ति" पर्यन्त सूत्रद्वयम्। तत्र (अन्तरा वि य त्ति) अर्वागपि तत् पर्युषणाकरण कल्पते परं न कल्पते तां रात्रिं भाद्रशुक्लपञ्चमीरात्रिम्। (उवाइणावित्तए त्ति) अतिक्रमयितुम्। तत्र परि सामस्त्येन उषण वसन पर्युषणा। सा द्वेधा गृहस्थज्ञाता, गृहस्थैरज्ञाता च। तत्र गृहस्थैरज्ञाता यस्यां वर्षायोग्यपीठफलकाऽऽदौ प्राप्ते कल्पोक्तद्रव्यक्षेत्रकालभावस्थापना क्रियते, सा चाऽऽषाढपूर्णिमायां, योग्यक्षेत्राभावे तु पञ्चपञ्चदिनवृद्ध्या दशपर्वतिथिक्रमेण यावत् श्रावणकृष्णदशम्यामेव। गृहिज्ञाता तु द्वेधा-सांवत्सरिककृत्यविशिष्टा, गृहिज्ञातमात्रा च। तत्र सांवत्सरिककृत्यानि-"संवत्सरप्रतिक्रान्ति-र्लुञ्चनं चाऽष्टमं तपः। सर्वार्हद्भक्तिपूजा च, सघस्य क्षामणं मिथः ॥ १ ॥" एतत्कृत्यविशिष्टा भाद्रसितपञ्चम्यामेव, कालिकाऽऽचार्याऽऽदेशाच्चतुर्थ्यामपि, केवल गृहिज्ञाता तु सा यत् अभिवर्द्धिते वर्षे चतुर्मासकदिनादारभ्य विंशत्या दिनैर्वयमत्र स्थिताः स्मेति पृच्छतां गृहस्थानां पुरो वदन्ति, तदपि जैनटिप्पनकानुसारेण, यतस्तत्र युगमध्ये पौषो, युगान्ते चाऽऽषाढो वर्द्धते, नान्ये मासाः, तट्टिप्पनकं तु अधुना सम्यग् न ज्ञायते, ततः पञ्चाशतैव दिनैः पर्युषणा युक्तेति वृद्धाः। अत्र कश्चिदाह-ननु श्रावणवृद्धौ श्रावणसितचतुर्थ्यामेव पर्युषणा युक्ता, न तु भाद्रसितचतुर्थ्यां, दिनानामशीत्यापत्तेः, "वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते" इति वचनबाधा स्यादिति चेत्?, मैवम्, अहो देवानुप्रिय!। एवं आश्विनवृद्धौ चतुर्मासककृत्यम् आश्विनसितचतुर्दश्यां कर्तव्यं, यस्मात्कार्तिकसितचतुर्दश्यां करणे तु दिनानां शताऽऽपत्त्या "समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते सत्तरिराइंदिएहिं सेसेहिं।" इति समवायाङ्गवचनबाधा स्यात्। न च वाच्यं चतुर्मासकानि हि आषाढाऽऽदिमासप्रतिबद्धानि, तस्मात्कार्तिकचतुर्मासकं कार्तिकसितचतुर्दश्यामेव युक्तं, दिनगणनायां त्वधिको मासः कालचूलेत्यविवक्षणाद्दिनानां सप्ततिरेवेति कुतः समवायाङ्गवचनबाधा इति, यतो यथा चतुर्मासिकानि आषाढाऽऽदिमासप्रतिबद्धानि तथा पर्युषणाऽपि भाद्रपदमासप्रतिबद्धा तत्रैव कर्तव्या, दिनगणनायामधिकमासः कालचूलेत्यविवक्षणाद्दिनानां पञ्चाशदेव, कुतोऽशीतिवार्ताऽपि, न च भाद्रपदप्रतिबद्धत्वं पर्युषणाया अयुक्तं, बहुष्वागमेषु तथा-प्रतिपादनात्। तथाहि-" अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणो भणिओ भद्दवयजुण्हपंचमीए पज्जोसवणा," इत्यादि पर्युषणाकल्पचूर्णौ। तथा-" तत्थ य सालिवाहणो राया, सो अ सावगो, सो अ कालगज्जं तं इंतं सोऊण निग्गओ अभिमुहो, समणसंघो अ, महाविभूईए पविट्ठो कालगज्जो, पविट्ठेहिं अ भणिअं-' भद्दवयसुद्धपंचमीए पज्जोसविज्जइ।' समणसंघेण पडिवन्नं, ताहे रण्णा भणिअं, तद्दिवसं मम लोगाणुवत्तीए इंदो अणुजाणेयव्वो होहि त्ति साहू चेइए न पज्जुवासिस्सं, तो छट्ठीए पज्जोसवणा किज्जउ। आयरिएहिं भणिअं-न वट्टति अतिक्कमिउं। ताहे रण्णा भणिअं-तो अणागयचउत्थीए पज्जोसविज्जति। आयरिएहिं भणिअं-एवं भवउ,

ताहे चउत्थीए पज्जोसविन । एवं जुगप्पहाणेहिं कारणे चउत्थी पवत्तिया, सा चेवाणुमता सव्वसाहूणं ।" इत्यादि श्रीनिशीथचूर्णिदशमोद्देशके । एवं यत्र कुत्राऽपि पर्युषणानिरूपणं तत्र भाद्रपदविशेषितमेव न तु क्वाप्यागमे "भद्दवयसुद्धपंचमीए पज्जोसविज्जइ त्ति" पाठवत् "अभिवड्ढियवरिसे सावणसुद्धपंचमीए पज्जोसविज्जइ त्ति" पाठ उपलभ्यते, ततः कार्तिकमासप्रतिबद्धचतुर्मासककृत्यकरणे यथा नाधिकमासः प्रमाणं, तथा भाद्रमासप्रतिबद्धपर्युषणाकरणेऽपि नाधिकमासः प्रमाणमिति त्यज कदाग्रहं, किं चाधिकमासः किं काकेन भक्षितः, किं वा तस्मिन्मासे पापं न लगति, उत बुभुक्षा न लगति, इत्याद्युपहसन्मा स्वकीयं ग्रहिलत्वं प्रकटय, यतस्त्वमपि अधिकमासे सति त्रयोदशसु मासेषु जातेष्वपि सांवत्सरिकक्षामणे-"बारसण्हं मासाणं" इत्यादिकं वदन्नधिकमासं नाङ्गीकरोषि । एवं चतुर्मासिकक्षामणेऽधिकमाससद्भावेऽपि "चउण्हं मासाणं" इत्यादि, पाक्षिकक्षामणेऽधिकतिथिसम्भवेऽपि-"पन्नरसण्हं दिवसाणमिति" ब्रूषे । तथा-नवकल्पविहाराऽऽदिलोकोत्तरकार्येषु "आसाढे मासे दुपया" इत्यादि, सूर्यचारेऽपि तथैव, लोकेऽपि दीपालिकाऽक्षततृतीयाऽऽदिपर्वसु धनकलान्तराऽऽदिषु च अधिकमासो न गण्यते, तदपि त्वं जानासि, अन्यच्च सर्वाणि शुभकार्याणि अभिवर्द्धिते मासे नपुंसक इति कृत्वा ज्योतिःशास्त्रे निषिद्धानि । अपरमास्तामन्योऽभिवर्द्धितो, भाद्रपदवृद्धौ प्रथमो भाद्रपदोऽपि अप्रमाणमेव, यथा-चतुर्दशीवृद्धौ प्रथमां चतुर्दशीमवगणय्य द्वितीयायां चतुर्दश्यां पाक्षिककृत्यं क्रियते, तथाऽत्रापि । एवं तर्हि अप्रमाणे मासे देवपूजामुनिदानाऽऽवश्यकाऽऽदिकार्यमपि न कार्यम्, इत्यपि वक्तुं माऽधरोष्ठं चपलय, यतो यानि हि दिनप्रतिबद्धानि देवपूजामुनिदानाऽऽदिकृत्यानि तानि तु प्रतिदिनं कर्त्तव्यान्येव, यानि च सन्ध्याऽऽदिसमयप्रतिबद्धानि आवश्यकाऽऽदीनि तान्यपि च कश्चन सन्ध्याऽऽदिसमयं प्राप्य कर्त्तव्यान्येव, यानि तु भाद्रपदाऽऽदिमासप्रतिबद्धानि तानि तु तद्द्वयसम्भवे कस्मिन् क्रियते इति विचारे प्रथममवगणय्य द्वितीये क्रियते इति सम्यग्विचारय । तथा च पश्य अचेतना वनस्पतयोऽधिकमासं नाङ्गीकुर्वते, येनाधिकमासं प्रथमं परित्यज्य द्वितीय एव मासे पुष्प्यन्ति । यदुक्तमावश्यकनिर्युक्तौ- "जइ फुल्ला कणियारया, चूअग अहिमासयम्मि घुट्ठम्मि । तुह न खमं फुल्लेउं, जइ पच्चंता करिति डमराइं ॥ १ ॥" तथा च कश्चित्-"अभिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसई मासो ।" इति वचनबलेन मासाभिवृद्धौ विंशत्या दिनैरेव लोचाऽऽदिकृत्यविशिष्टां पर्युषणां करोति, तदप्ययुक्तम् । येन "अभिवड्ढियम्मि वीसा" इति वचनं गृहिज्ञातमात्रापेक्षया, अन्यथा- "आसाढपुण्णिमाए पज्जोसवितेति एस उस्सग्गो, सेसकालं पज्जोसवेंताणं अववाओ त्ति ।" श्रीनिशीथचूर्णिदशमोद्देशकवचनादाषाढपूर्णिमायामेव लोचाऽऽदिकृत्यविशिष्टा पर्युषणा कर्त्तव्या स्यात् । इत्यलं प्रसङ्गेन । कल्पोक्ता द्रव्यक्षेत्रकालभावस्थापना त्वियम्-द्रव्यस्थापना-तृणडगलभस्ममल्लकाऽऽदीनां परिभोग, सचित्ताऽऽदीनां च परिहार । तत्र सचित्तद्रव्यं शैक्षो न प्रव्राज्यते, अचित्तं राजानं राजामात्यं च विना, अचित्तद्रव्यं वस्त्राऽऽदि न गृह्यते, मिश्रद्रव्यं सोपधिकः शिष्यः । क्षेत्रस्थापना-सक्रोशं योजनं ग्लानवैद्यौषधाऽऽदिकारणेन चत्वारि पञ्च वा योजनानि ।

कालस्थापना चत्वारो मासाः । भावस्थापना-क्रोधाऽऽदीनां विवेक, ईर्याऽऽदिसमितिषु चोपयोग इति ॥ ८ ॥ कल्प० ३ अधि० ९ क्षण ।

( ६ ) भाद्रपदपञ्चमीविचार -वर्षाप्रायोग्यक्षेत्रप्रवेशः-" कहं पुण वासापाउग्गं खेत्तं पविसति ? । इमेण विहिणा-

वाहिट्ठिया वसभे-हिं खेत्त गाहेतु वासपाउग्गं ।
कप्पं कहेतु ठवणा, सावणबहुलस्स पंचाहे ॥ ५३२ ॥

वाहिट्ठित त्ति । जत्थ आसाढमासकप्पो कतो अण्णत्थ वा आसण्णे ठिता वासासामायारीखेत्तं वसभेहिं गाहेति, भावयतीत्यर्थः । आसाढपुण्णिमाए पविट्ठा पडिवयाओ आरब्भ पंच दिणा संथारगडगलगच्छारमल्लगादीयं गेण्हंति, तम्मि चेव पणगराती पज्जोसवणाकप्पं कहेंति, ताहे सावणबहुलपंचमीए वासकालसामायारिं ठवेंति ।

गाहा-

एत्थं अणभिग्गहियं, वीसतिरायं य वीसतीमासं ।
तेण परमभिग्गहितं, गिहिणातं कत्तिओ जाव ॥ ५३३ ॥

एत्थ त्ति । एत्थ आसाढपुण्णिमाए सावणबहुलपंचमीए वासपज्जोसविए वि अप्पणो अणभिग्गहियं, अहवा-जति गिहत्था पुच्छंति-अज्जो ! तुब्भे एत्थ वरिसाकालं ठिया, अह ण ठिया ? । एवं पुच्छितेहिं अणभिग्गहियं ति सदिग्धं वक्तव्यं, इह अन्यत्र वाऽद्यापि निश्चयो न भवतीत्यर्थः । एवं सदिग्धं कियत्कालं वक्तव्यं ? । उच्यते-वीसतिरायं वीसतिमासं जति अभिवड्ढियवरिसं तो वीसतिरायं जाव अणभिग्गहियं, अह चंदवरिसं तो सवीसतिरायं मासं अणभिग्गहियं भवति ( तेण त्ति ) तत्कालात्परतः अप्पणो आभिमुख्येन गृहीतं अभिगृहीतं इह व्यवस्थिता इति इह ठिया मो वरिसाकालं ति ।

किं पुण कारणं तिवीसतिरातं सवीसतिरातं वा मासो । अप्पणो अभिग्गहियं गिहिणातं वा कहेंति, आरतो ण कहेंति ? । उच्यते-

असिवादिकारणेहिं, अहव ण वासं न सुट्ठु आरद्धं ।
अहिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसती मासे ॥ ५३४ ॥

कयाइ असिवे भवे, आदिग्गहणातो रायदुट्ठाइ । वासाणं वा ण सुट्ठु आरद्धं वासितुं । एवमादीहिं कारणेहिं जइ अत्थंति तो आणादिया दोसा । अहवा गच्छति ततो गिहत्था भणंति-एते सव्वण्णुपुत्तगा ण किंचि जाणंति, मुसावायं च भासंति । ठिता मो त्ति भणित्ता जेण णिग्गता । लोगो वा भणेज्जा-साहू एत्थं वरिसारत्तं ठिता अवस्सं वासं भविस्सति, ततो धण्णं विक्किणंति, लोगो घरादीणि छादेति, हलादिकम्माणि वा संठवेति । अणभिग्गहिते गिहिणातं च आरतो कते जम्हा एवमादिया अधिकरणदोसा तम्हा अभिवड्ढियवरिसे वीसतिराते गते गिहिणातं करेंति । तिसु चंदवरिसेसु सवीसतिराते मासे गते गिहिणातं करेंति, जत्थ अधिमासगो पडति वरिसे तं अभिवड्ढियवरिसं भण्णति, जत्थ ण पडति तं चंदवरिसं, सो य अधिमासगो जुगस्स अंते मज्झे वा भवति, जति अंते णियमा दो आसाढा भवंति, अह मज्झे दो पोसा । सीसो पुच्छति-कम्हा अभिवड्ढियवरिसे वीसतिरातं, चंदवरिसे सवीसतिमासो ? । उच्यते-जम्हा अभिवड्ढियवरिसे गिम्हे चेव सो मासो अतिक्कंतो

तम्हा वीसदिणा अणभिग्गहियं न कीरति, इयरेसु तिसु चंदवरिसेसु विसतिमासा इत्यर्थः ।

गाहा-

एत्थ उ पणगं पणगं, कारणियं जा सवीसती मासो ।
सुद्धदसमीठियाए व, आसाढीपुन्निमा सवणा ॥५३७॥

जत्थ उ आसाढपुण्णिमाए ठिय डगलादीय गेण्हंति पज्जोसवणाकप्पं च कहेति पंच दिणा ततो सावणबहुलपंचमीए पज्जोसवेंति, खित्ताभावे कारणे पणगेसु वुड्ढे दसमीए पज्जोसवेंति, एवं पण्णरसीए, एवं पणगवड्ढिता वउजति जा वासवीसतिमासो पुण्णो, सो य सवीसतिमासो भद्दवयसुद्धपंचमीए पुज्जति, अह आसाढसुद्धदसमीए वासाखेत्त पविट्ठा । अहवा-जत्थ आसाढमासकप्पो कओ तं वासपाउग्गं खेत्तं अन्नं च णत्थि वासपाउग्गं ताहे तत्थेव पज्जोसवेंति, वासं च गाढं अणुवरयं आढत्तं ताहे तत्थेव पज्जोसवेंति, एक्कारसीओ आढवेउं डगलादीयं गेण्हति, पज्जोसवणाकप्पं कहंति ताहे आसाढपुण्णिमाए पज्जोसवेंति । एस उस्सग्गो । सेसकाल पज्जोसवेंताण अववातो । अववाते वि सवीसतिरातमासातो परेण अतिक्कामेउं ण वट्टति सवीसतिराते मासे पुण्णे, जति वासखेत्तं ण लब्भति तो रुक्खहेट्ठा वि पज्जोसवेयव्वं, तं पुण्णिमाए पंचमीए दसमीए एवमादिपव्वेसु पज्जोसवेयव्वं, णो अपव्वेसु । सीसो पुच्छति-इयाणिं कह चउत्थीए अपव्वे पज्जोसविज्जति ? । आयरिओ भणति-कारणिया चउत्थी अज्जकालगायरिएण पवत्तिया । कह ?, भण्णते कारणं । कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो, तत्थ वासावासं ठितो, तत्थ णगरीए बलमित्तो राया, तस्स कणिट्ठो भाया भाणुमित्तो जुवराया, तेसिं भगिणी भाणुसिरीणामा, तस्स पुत्तो बलभाणू णाम, सो य पगतिभद्दविणीययाए साहू पज्जुवासति, आयरिएहिं से धम्मं कहिंतो पडिबुद्धो पव्वावितो य, तेहि य बलमित्तभाणुमित्तेहिं कालगज्जो पज्जोसविते णिव्विसितो कतो । केति ?, आयरिया भणंति-जहा बलमित्तभाणुमित्ता कालगायरियाण भागिणज्जा भवंति, माउले त्ति काउं महंतं आयरं करेंति, अब्भुट्ठाणादियं तओ पुरोहियस्स अप्पत्तियं, भणति य-एस सुद्दपासंडी वेदादिबाहिरो रण्णो अग्गतो पुणो पुणो उल्लावतो आयरिएण णिप्पट्ठपसिणवागरणो कतो, ताहे सो पुरोहितो आयरियस्स पदुट्ठो रायाणं अणुलोमेहिं विप्परिणामेहिं ति, एते सतो महाणुभावा, एते जेण पहेण गच्छंति तेण पहेण जति रण्णो णागच्छंति ताणि वा अक्कमति तो असिवं भवति, ताहे णिग्गता । एवमादियाण कारणाण अण्णतमेण णिग्गता विहरंता पतिट्ठाणं गवेसंतेण पट्ठिता पतिट्ठाणसमणसंघस्स य अज्जकालगेहिं संदिट्ठं-जाव हं आगच्छामि ताव तुज्झेहिं णो पज्जोसवियव्वं । तत्थ य सायवाहणो राया सावगो, सो य कालगज्जं एंतं सोउं णिग्गतो, अभिमुहो समणसंघो य, महया विभूईए पविट्ठो कालगज्जो । पविट्ठेहि य भणियं-भद्दवयसुद्धपंचमीए पज्जोसविज्जति । समणसंघेण पडिवण्णं । ताहे रण्णा भणियं-तद्दिवसं मम लोगाणुवत्तीए इंदो अणुजायव्वो होहिति साहू चेतिते ण पज्जुवासिस्सं तो छट्ठीए पज्जोसवणा कज्जउ । आयरिएहिं भणियं-ण वट्टति अतिक्कामिउं । ताहे रण्णा भणियं-तो अणागयचउत्थीए पज्जोसविज्जति । आयरिएण भणियं-एवं भवउ । ताहे चउत्थीए पज्जोसवियं । एवं जुगप्पहाणेहिं चउत्थी कारणे पवित्ता स चेवाणुमता सव्वसाधूण । रण्णा अंतेपुरियाओ भणिता-तुब्भे अमावासाए उववासं कातुं पडिवयाए सव्वखज्जभोज्जविहीहिं साधू उत्तरपारणाए पडिलाभेत्ता पारेह, पज्जोसवणाए अट्ठमं ति काउं पाडिवयाए उत्तरपारणयं भवति, तं च सव्वलोगेण वि कयं ततो पभिति मरहट्ठविसए समणपूयउ त्ति छणो पवत्तो ।

इयाणिं पचगपरिहाणिमधिकृत्य कालावग्रह उच्यते-

इय सत्तरी जहण्णा, असीति नउती दसुत्तरसयं च ।
जति वासति मग्गसिरे, दसराया तिन्नि उक्कोसा ॥५३६॥
पण्णासा पडिवज्जइ, चउण्ह मासाण मज्झओ ।
ततो उ सत्तरी होति, जहण्णो वा सुयग्गहो ॥ ५३७ ॥
काऊण मासकप्पं, तत्थेव ठियाणती तु मग्गसिरे ।
सालंबणाण छम्मा-सिओ उ जेट्ठो उ उग्गहो होइ ॥५३८॥

इह इति उपप्रदर्शने, जे आसाढचाउम्मासियातो सवीसतिमासो पण्णासं दिवसा ते वीसुत्तरमज्झातो साधितो, सेसा सत्तरी, जे भद्दवयबहुलदसमीए पज्जोसावति तेसिं असीतदिवसा मज्झिमो वासाकालोग्गहो भवति, ते सावणपुण्णिमाए पज्जोसवेंति, तेसिं णउत्ती चेव वासाकालोग्गहो भवति, जे सावणबहुलदसमीए पज्जोसवेंति, तेसिं दसुत्तरं दिवससयं जेट्ठो वासुग्गहो भवइ, सेसन्तरेसु दिवसपमाणं वत्तव्वं, पमाणातिप्पगारेहिं वरिसारत्तं एगखेत्ते कत्तियचउम्मासियपडिवयाए अवस्सं णिग्गतव्वं । अह मग्गसिरमासे वासति, चिक्खल्लजला ओल्ला पथा तो अववातेण एक्कं, उक्कोसेण तिण्णि वा दसराया जाव तम्मि खेत्ते अत्थति, मार्गसिरपौर्णमासी यावदित्यर्थः । मग्गसिरपुण्णिमाए जं परतो जति वि सचिक्खल्ला पथा, वासं वा गाढं अणवरयं वासति, जति वि पल्लवंतेहिं तहा वि अवस्सं णिग्गतव्वं, अह ण णिग्गच्छंति तो चउगुरुगा । एवं पंचमासितो जेट्ठोग्गहो जातो काऊण मासगाहीं, जम्मि खेत्ते कतो आसाढमासकप्पो, तं च वासावासपाउग्गं खेत्तं अण्णम्मि अलद्धे वासपाउग्गे खेत्ते जत्थ आसाढमासकप्पो कतो तत्थेव वासावासं ठिता, तम्मि वासावासे चिक्खल्लाइएहिं कारणेहिं तत्थेव मग्गसिरं ठिता, एवं सालंबणाण कारणा, अववाते छम्मासितो जेट्ठोग्गहो भवतीत्यर्थः ।

गाहा-

जति अत्थि पयविहारो, चउपाडिवयम्मि होति णिग्गमणं ।
अहवा वि अणिंतस्स उ, आरोवणयाएँ णिद्दिट्ठा ॥५३९॥

वासाखेत्ते णिव्विग्घेण चउरो मासा अत्थितुं कत्तियचाउम्मासं पडिक्कमिउं मग्गसिरबहुलपाडिवयाए णिग्गतव्वं । एसो चेव चउपाडिवओ, चउपाडिवए अणिंताण अविसहातो एसेव चउलहुं सवित्थारो, जहा पुव्वं वण्णिओ, बितियसुत्ते सभोगसुत्ते वा तहा दायव्वो चउपाडिवए, अप्पत्ते अतिक्कंते वा णिंते कारणे णिद्दोसा ।

तत्थ अपत्ते इमे कारणा-

राया कुंथू सप्पे, अगणि गिलाणे य थंडिलस्सऽसती ।
एएहिँ कारणेहिं, अप्पत्ते होंति निग्गमणं ॥ ५४० ॥

राया दुट्ठो, सप्पो वसहिं पविट्ठो, कुंथूहिं वा वसही ससत्ता, अगणीण वा वसही दड्ढा, गिलाणस्स पडिचरणट्ठ, गिलाणस्स वा ओसहहेउ, थंडिलस्स वा असति, एतेहिं कारणेहिं अपत्ते चउप्पाडिवए णिग्गमणं भवति ।

अहवा इमे कारणा-

काइयभूमीसंथा-तिए य संसत्तदुल्लभे भिक्खे ।
एएहिँ कारणेहिं, अप्पत्ते होति निग्गमणं ॥ ५४१ ॥

काइयभूमीसंथाए ससत्तो दुल्लभं वा भिक्खं जातं,आयपरसमुत्थेहिं वा दोसेहिं मोहोदओ जाओ, असिवं वा उप्पण्णं । एतेहिं कारणेहिं ' अप्पत्ते ' णिग्गमणं भवति ।

चउप्पाडिवए अतिक्कते निग्गमो इमेहिं कारणेहिं-

वासं वण उवरमती, पंथा वा दुग्गमा सचिक्खल्ला ।
एएहिँ कारणेहिं, अतिक्कते होति निग्गमणं ॥ ५४२ ॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
आगाढकारणेणं, अतिकंते होइ निग्गमणं ॥ ५४३ ॥

अइक्कते वासाकाले वासं णोवरमइ, पथो वा दुग्गमो अइजलेण सचिक्खल्लो य । एवमाइएहिं कारणेहिं चउप्पाडिवए अइक्कते णिग्गमणं भवति ॥ ५४२ ॥ अहवा इमे कारणा-असिवं ओमं वा वाहिं वा रायदुट्ठ बोहिगाऽऽदिभयं वा आगाढं, आगाढकारणेण वा ण णिग्गच्छति । एतेहिं कारणेहिं चउप्पाडिवए अतिक्कते अ णिग्गमणं भवति । एसा कालठवणा गता । नि० चू० १० उ० ।

येन शुक्लपञ्चमी उच्चारिता भवति स यदि पर्युषणायां द्वितीयातोऽष्टमं करोति तदैकान्तेन पञ्चम्यामेकाशनकं करोति, उत यथा रुच्येति ? प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र येन शुक्लपञ्चमी उच्चारिता भवति तेन मुख्यवृत्त्या तृतीयातोऽष्टमः कार्योऽथ कदाचित् द्वितीयातः करोति तदा पञ्चम्यामेकाशनकरणप्रतिबन्धो नास्ति, करोति तदा भव्यमिति ॥१४॥ ही० ४ प्रका० ।

( ७ ) वर्षासु सक्रोश योजनमवग्रह -

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सक्कोसं जोअणं उग्गहं ओगिण्हित्ता णं चिट्ठिउं अहालंदमवि उग्गहे ॥ ९ ॥

( वासावास त्ति ) वर्षावासं चतुर्मासकम् । ( पज्जोसवियाण त्ति ) पर्युषितानां स्थितानां निर्ग्रन्थानां साधूनां, निर्ग्रन्थीनां साध्वीनां वा सर्वतश्चतसृषु दिक्षु समन्तात् विदिक्षु च सक्रोशं योजनमवग्रहं अवगृह्य ( अहालंदमवि त्ति ) अथेत्यव्ययं, लन्दशब्देन कालं उच्यते, तत्र यावता कालेनोदकाऽऽर्द्रः करः शुष्यति तावान्कालो जघन्यं लन्दं, पञ्चाहोरात्रा उत्कृष्टं लन्दं, तन्मध्ये मध्यमं लन्दं, लन्दमपि कालं यावत् स्तोककालमपि अवग्रहे स्थातुं कल्पते, न तु अवग्रहाद् बहिः ; अपिशब्दात् यथालन्दमपि बहुकालमपि यावत्षण्मासानेकत्रावग्रहे स्थातुं कल्पते, नाऽवग्रहाद् बहिः, गजेन्द्रपदाऽऽदिगिरिमेखलाग्रामस्थितानां पञ्चसु दिक्षु उपाश्रयात् सार्द्धक्रोशद्वय, गमनाऽऽगमने पञ्चक्रोशावग्रहः यत्तु विदिक्षु इत्युक्तम्, तद् व्यावहारिकविदिगपेक्षया,नैश्चयिकविदिशामेकप्रदेशाऽऽत्मकत्वेन तत्र गमनासंभवात्,अटवीजलाऽऽदिना व्याघातेषु त्रिदिक्को द्विदिक्क एकदिक्को वा अवग्रहो भाव्यः ॥९॥ कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

( ८ ) क्षेत्रस्थापना । इयाणिं खत्तठवणा-

उभओ वि अद्धजोयण,अद्धक्कोसं च तह भवति खेत्तं ।
होति सकोसं जोयण, मोत्तूणं कारणज्जाए ॥ ५४४ ॥

उभओ त्ति । पुव्वावरेण दक्खिणुत्तरेण वा । अहवा भउओ त्ति सव्वओ समंता अद्धजोयणं सह अद्धकोसेण एगदिसाए खेत्तपमाणं भवति, उभयतो वि मेलित गताऽऽगतेन वा सकोसजोयणं भवति, वासासु एरिसं खेत्तठवणं ठवेति, क्षेत्रावग्रहं गृह्णातीत्यर्थः । सो य खेत्तावग्गहो सव्ववहारं पडुच्च उद्दिट्ठं भवति ।

जओ भण्णति-

उडुमहोतिरियम्मि वि, अद्धक्कोसं हरंति सव्वतो खेत्तं ।
इंदपदमादिएसुं, छद्दिसि सेसेसु चउ पंच ॥ ५४५ ॥

उड्ढं अहो पुव्वादओ य तिरियदिसाओ चउरो । एतेसु छसु दिसासु गिरिमज्झट्ठिताणं सव्वतो समता सकोसं जोयणं खेत्तं भवति । तं च इंदपयपव्वते छद्दिसि संभवंति, इंदपयपव्वतो गयग्गपव्वतो भण्णति । तस्स उवरिं गामो । एवं छद्दिसिं पि गामे संभवो भवति । आतिग्गहणातो अण्णो वि जो एरिसो पव्वतो भवति तत्थ वि छद्दिसाओ संभवंति । सेसेसु पव्वतेसु चउद्दिसं वा पंचदिसं भवति । समभूमीए वा णिव्वाघाएण चउद्दिसिं संभवति । वाघाय पुण पडुच्च नो भवति ।

तिण्णि दुवे एक्का वा,वाघाएणं दिसा हवति खेत्ते ।
उज्जाणातो परेणं, छिण्णमडंबं तु अक्खेत्तं ॥ ५४६ ॥

एगदिसाए वाघाते तिसु दिसासु खेत्तं भवति,दोसु दिसासु वाघाते दोसु दिसासु खेत्तं भवति, तिसु दिसासु वाघाते एगदिसि खेत्तं भवति । को पुण वाघातो ?,महाडवी पव्वतादि, विसमं वा समुद्दादि विसमं समुद्दादिजलं वा । एतेहिं कारणेहिं ता चउद्दिसाओ रुद्धाओ, जेण गामगोकुलादी नत्थि, जं दिसं वाघातो तं दिसं मखुज्जाण(?) जाव खेत्तं भवति,परओ अखेत्तं जं छिण्णमडंबं णाम-जस्स गामस्स णगरस्स णिग्गमस्स वा उग्गहे सव्वासु दिसासु अण्णो गामो णत्थि, गोकुलं वा, तत्थऽवि मरुव तं च अखेत्तं भवति ।

णदिमादिजलेसु । इमा विधी-

दगघट्ट तिण्णि सत्त व, उडुवासासु ण हणंति ते खेत्तं ।
चउरट्ठादिहणंती, जं घट्टे को वि तु परेणं ॥ ५४७ ॥

दगघट्टो णाम-जत्थ अद्धजंघा जाव उदगं,उडुबद्धे तिण्णि दगसघट्टा खेत्तोवघातं ण करेंति ते भिक्खायरियाए गयागएण य भवंति ण हणंति य खेत्तं वासासु सत्तदगसघट्टाओ व हणंति खेत्तं, ते गयागतेण चोद्दसउडुबद्धे चउरो दगसंघट्टाओ व हणंति खेत्तं,ते गयागतेण अट्ठवासासु अट्ठदगसघट्टा उ वहणंति खेत्तं, गयागतेण सोलस, जत्थ संघट्टातो परतो उदगगमणं एगेण वि उडुबद्धे वासासु चउवहं संगच्छति खेत्तं सो य लेवो भण्णति । गता खेत्तठवणा । नि० चू० १० उ० ।

(७) भिक्षाक्षेत्रम्-

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा णि-ग्गंथीण वा सव्वओ समता सक्कोसं जोअणं भिक्खाय-रियाए गंतुं पडिनियत्तए ॥ १० ॥

"वासावास" इत्यादितो "गंतु पडिनिअत्तए" इति पर्यन्तं सुगमम् ॥ १० ॥

पञ्चमहार्णवसूत्रम्-

जत्थ नई निच्चोयगा निच्चसंदणा नो से कप्पइ स-व्वओ समंता सक्कोस जोअण भिक्खायरियाए गंतुं पडि-नियत्तए ॥ ११ ॥ एरावई कुणालाए, जत्थ चक्किआ सिआ-एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवं चक्किया एवं णं कप्पइ सव्वओ समंता सक्कोसं जो-अणं गंतुं पडिनियत्तए ॥ १२ ॥ एवं च नो चक्किआ एवं से नो कप्पइ सव्वओ समंता गंतु पडिनियत्तए ॥ १३ ॥

"जत्थ नई" इत्यादितो "नियत्तए" त्ति । यत्र नदी (नि-च्चोयगा) नित्योदका प्रचुरजला (निच्चसंदण त्ति) नित्य-स्यन्दना नित्यस्रवणशीला, सततवाहिनीत्यर्थं ॥ ११ ॥ "ए-रावई" इत्यादितो "नियत्तए त्ति" यावत्सूत्रद्वयी । तत्र यथा ऐ-रावती नाम्नी नदी कुणालाया पुर्या सदा द्विक्रोशवाहिनी तादृशी नदी लङ्घयितु कल्प्या, स्तोकजलत्वात् । यत. (जत्थ चक्किय त्ति) यत्र एवं कर्तुं शक्नुवन्ति । किं तदित्याह-(सिय त्ति) यदि (एग पायमित्यादि) एक पाद जले कृत्वा जलान्तः प्रक्षिप्य, द्वितीय च जलादुपरि उत्पाट्य (एव चक्कय त्ति) एवं गन्तु शक्नुयात्, तदा तामुत्तीर्य परतो भिक्षाचर्यां क-ल्पते ॥ १२ ॥ यत्र चैव कर्तुं न शक्नुयाज्जल विलोड्य गम-न स्यात्तत्र गन्तु न कल्पते, यतो जङ्घार्द्धं यावदुदक दक-संघट्टो, नाभेर्यावल्लेपो, नाभेरुपरि, लेपोपरि, तत्र शेषकाले त्रि-भिर्दकसंघट्टैः रुतौ क्षेत्र नोपहन्यते, तत्र गन्तु कल्पते इति भाव । वर्षाकाले च सप्तभिः क्षेत्र नोपहन्यते, चतुर्थे अष्टमे च दकसंघट्टे क्षेत्रमुपहन्यते एव, लेपस्तु एकोऽपि क्षेत्रमु-पहन्ति, नाभेर्यावल्लेपसद्भावे तु गन्तु न कल्पते एव, किं पुनर्लेपोपरि नाभेरुपरि जलसद्भावे ॥ १३ ॥

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ, दावे भंते ! एवं से कप्पइ दावित्तए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १४ ॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अ-त्थेगइयाण एवं वुत्तपुव्वं भवइ, पडिगाहे भंते ! एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ दावित्तए ॥ १५ ॥ वासावास पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्व भवइ दावे भंते ! पडिगाहेहि भंते ! एवं से कप्पइ दावित्तए वि पडिगाहित्तए वि ॥ १६ ॥

वासावासमित्यादित "पडिगाहित्तए त्ति" पर्यन्तस्य सूत्रत्रयस्य शब्दार्थः सुगम । भावार्थस्त्वयम्-चतुर्मासीस्थि-तानाम् । (अत्थेगइयाण ति) अस्त्येतद् यत् एकेषा साधू-नां गुरुभिरेवम् (वुत्तपुव्व ति) पूर्वमुक्त भवति यत् (भंते ति) हे भदन्त कल्याणिन् शिष्य ! (दावे त्ति) त्व ग्लानाय अशनाऽऽदिकं दद्यास्तदा दातु कल्पते, न तु स्वय प्रतिग्रहीतुम् । यदि चैवमुक्त भवति यत् त्व स्वय प्रतिगृह्णीयाः ग्लानाय अ-न्यो दास्यति तदा स्वय प्रतिग्रहीतुं कल्पते, न तु दातुम् । य-दि च दद्या प्रतिगृह्णीयाश्चेत्युक्त भवति तदा दातु प्रतिग्रहीतुं उभयमपि कल्पते । १४ । १५ । १६ ।

(१०) नवरसविकृतिनिषेध.-

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा नि-ग्गंथीण वा हट्ठाणं आरुग्गाणं बलियसरीराणं इमाओ नव रसविगइओ अभिक्खणं अभिक्खणं आहारित्तए । तं जहा-खीर १ दहिं २ नवणीअं ३ सप्पिं ४ तिल्लं ५ गुडं ६ महुं ७ मज्जं ८ मंसं ॥ १७ ॥

वासावासमित्यादितो 'मसं ति' पर्यन्तम । तत्र (हट्ठाण ति) हृष्टाना तारुण्येन समर्थाना, तरुणा अपि केचिद्रो-गिणो निर्बलशरीराश्च भवन्ति । अत उक्तम्-(आरोग्गाण ब-लियसरीराणं ति) आरोग्याना बलवच्छरीराणामीदृशानां साधूनामिमा वक्ष्यमाणा. नवरसप्रधाना विकृतयोऽभीक्ष्ण २ वार वारमाहारयितु न कल्पन्ते, अभीक्ष्णग्रहणात्कारणे कल्प-न्तेऽपि, नवग्रहणात्कदाचित्पक्वान्नं गृह्यतेऽपि, तत्र विकृतयो द्वे-धा-साञ्चयिका', असाञ्चयिकाश्च । तत्राऽसाञ्चयिका या बहु-काल रक्षितुमशक्या दुग्धदधिपक्वान्नाऽऽख्या । ग्लानत्वे गुरुबा-लाऽऽद्युपग्रहार्थं थाद्धा ग्राह्या. । साञ्चयिकास्तु घृततैलगुडा-द्यास्तिस्रस्ताश्च प्रतिलम्भयन् गृही वाच्यो महान्कालो-ऽस्ति, ततो ग्लानाऽऽदिनिमित्त ग्रहीष्याम, स वदेत् गृह्णी-त चतुर्मासीं यावत्प्रचुरा' सन्ति, ततो ग्राह्या बालाऽऽदीनां च देया, न तरुणानाम् । यद्यपि मधुमांसमद्यनवनीतवर्जन या-वज्जीवमस्त्येव तथापि अत्यन्तापवाददशाया बाह्यपरिभो-गाऽऽद्यर्थं कदाचिद् ग्रहणेऽपि चतुर्मास्यां सर्वथा निषेध । कल्प० ९ अधि० ६ क्षण ।

(११) इयाणिं दव्वठवणा-

दव्वट्ठवणाऽऽहारे, विगती संथारमत्तए लोए ।
सचित्ते अचित्ते, वोसिरणं गहणधरणादी ॥ ५४७ ॥

आहारे विगतीसु संथारगो मत्तगो लोयकरण सचित्तो से-हो डगलाऽऽदियाण य अचित्ताण, उडुबद्धे गहीयाण वोसि-रण, वासापाउग्गाण संथारादियाण गहण, उडुबद्धे वि गहि-याण वत्थपायादीण धरण डगलगादियाण य कारणाण । नि० चू० १० उ० ।

इदाणि विगतिठवण त्ति दार । संचतिम त्ति गाथापच्छद्ध वि-गती दुविहा-संचतिया, असंचतिया य । तत्थ असंचइया खी-रदहिमसणवणीय केइ उग्गाहिमगा य । सेसा उ घयगुल-मज्जखज्जगविहाणा य संचतिगाओ । तत्थ महुमज्जमंस-ठाणा य अप्पसत्थाओ । सेसा खीरादिया पसत्थाओ । पस-त्थासु वा कारणे पमाणपत्तासु वेप्पमाणीसु दव्वविवड्ढी क-ता भवति ।

णिक्कारणे अप्पतरविगतिग्गहे दोष उच्यते-

विगतिं विगतीभीतो, विगतिगयं जो तु भुंजते भिक्खू ।
विगती विगतिसहावा, विगती विगतिं बला नेति ॥५५०॥

विगतीए गहणम्मि वि, गरहियविगती य होइ कज्जम्मि।
गरहा लाभ पमाणे, पच्चय पावप्पडीयारो ॥ ५५१ ॥

पसत्थविगतिगहणं, तत्थ वि य असंचइयजाओ उ ।
संचतिय ण गेण्हंती, गिलाणमादीण कज्जट्ठा ॥५५२॥

विगतिं खीरादियं, धीजन्ती विकृता वा गतीति विगती । सा य तिरियगती, णरगगती, कुमाणुसत्तं, कुदेवत्त च । अहवा विविधा गती, संसारेत्यर्थः । अहवा संजमो गती, तस्स भीतो विगतिय ति विगतिप्रतिकारामित्यर्थः । विगती वा जम्मि दव्वे गता त विगतिम भण्णति । त पुण भत्तं पाणं वा, जो त विगतिं विगतिगतं भुंजति तस्स इमे दोसा-विगतिसभाव त्ति खीरादिया वुत्ता, जम्हा संजमसभावातो विगतिसभाव करेति । कारणे कज्ज उवचरित्ता पढिज्जति-विगती विगतिसभावा । अहवा-विगयसभावा । त विकृतस्वभावं विगतसभावं जो भुंजति तं सा बला णरगादियं विगतिं णेति, प्रापयतीत्यर्थः । जम्हा एते दोसा तम्हा विगती णाहारेयव्वा । तो उडुबद्धे वासासु विसेसेण जम्हा साधारणे काले अतीव मोहुब्भवो भवति । विज्जुगज्जियाइएहिं य तम्मि काले मोहो दिप्पति । कारणे बितियपदेण गेण्हेज्जा, आहारेज्ज वा गेलण्णट्ठा गेण्हेज्जा गिलाणो वा आहारेज्ज । एव आयरियबालवुड्ढदुब्बलस्स वा गच्छोवग्गहा घेप्पज्जा । अथवा सड्ढाणिबन्धेण णिमंतेज्जा । पसत्याहिं विगतीहिं तत्थिमा विधी पसत्थविगतीतो खीर दहिं णवणीयं घयं गुलो तेल्ल ओगाहिमग च अप्पसत्था उ मद्दुमज्जमसा आयरियबालवुड्ढादियाण कज्जेसु पसत्था असंचइया उ खीराइया घेप्पति । सचतिया उ घयादिया उ ण घेप्पंति। तासु खीणासु जया कज्जभया ण लब्भति तेण ताओ ण घेप्पति । अह सड्ढाणिबन्धेण भणेज्ज ताहे ते थसव्वा। जया गिलाणातिकज्ज भविस्सति तया घेत्थामो, बालवुड्ढसेहाण य बहूणि कज्जाणि उप्पज्जति । महतो य कालो एत्तो त उप्पणे कज्जे घेत्थामो त्ति ताहे सड्ढा भणति अम्ह घरे अत्थि अचित्तं, विगतिदव्वं च पभूतमत्थि जाविच्छा ताव गेण्हह, गिलाणकज्जे वि दाहामो। एवं भणित्ता सचइय पि गिण्हेति । गेण्हंताण य अविच्छिण्णभावे भण्णति अदिला पज्जत्तं। सो य गिहित्था बालवुड्ढदुब्बलाण दिज्जति बलियतरुणाण ण दिज्जति। एव पसत्थविगतिगहणं मद्दुमज्जमसादिगरहियविगतीणं गहण । आगाढे गिलाणकज्ज गरहा लाभपमाणेति गरहतो गेण्हंति । अहो कज्जमिण, किं कुणिमो, अण्णहा गिलाणो ण पउणइ । गरहियविगतिलाभे य प माणपत्तं गेण्हंति, णो अपरिमितमित्यर्थ. । जायति ता गिलाणस्स उवउज्जति, तम्हाए घेप्पमाणीए दाणारस्स पच्चयो भ वति जेए सप्पणो अभिलासो तस्स य पडिघाओ कतो भवति । पावाइहीण वा पडिघातो भवति । पुत्सुत्ता पते गिलाणस्स गण्हामि, ण जोहल्लोल्लयाए त्ति। एव विगतिठवणा गता । नि० चू० १० उ० ।

(१२) आहारस्थापनम् । "आहारे त्ति" पढम द्वारम ।

अस्य व्याख्या-

पुव्वाहारोसवणं, जोगविवड्ढी य सत्ति उग्गहणं ।
संचतियमसंचतिए, दव्वविवड्ढी य सत्याओ ॥५५३॥

जो उडुवद्धितो आहारो, सो ओसवेयव्वो। ओसारेयव्वो,परित्याजेत्यर्थः। जइ से आवस्सगपरिहाणी ण भवति, तो चउरो सो उववासी अत्थउ। अह ण तरति तो चत्तारि मासा दिवसूणा। एव तिण्णि मासा अत्थित्ता पारेउ। एवं जइ जोगपरिहाणी तो दोसा ता अत्थउ मासं वा अतो पर दिवसहाणी जाव दिणे दिणे आहारेओ जोगविवड्ढीए इमा जोगविवड्ढी जा णमोक्कारइत्तो सो पोरिसीए पारेउ। जो पोरिसिओ पुरिमड्ढेण पारेउ। जो पुरिमड्ढइत्तो एक्कासणय करेउ। एव जहासत्तीए जोगविवड्ढीए कायव्वा। किं कारणं?,'वासासु चिक्खल्लचिखिल्ले दुक्ख भिक्खागहण कज्जति, सण्णाभूमिं च दुक्ख गम्मथंडिला हरियमादिएहिं दुविसो (?) अज्झ भवति। आहारठवण त्ति गय। नि० चू० १० उ०।

नित्यभक्तिकाऽऽदीनाम्-

जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तिरियं पि आहारेति, आहारंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

गाहा-

इत्तिरियं पीऽऽहारं, पज्जोसवणाएँ जो उ आहारे ।
तयभूतिबिंदुमादी, सो पावति आणमादीणि ॥ ५५४ ॥

इत्तिरिय णाम--थोव, एगसित्थमवि अलद्धवणादि वा। अहवाऽऽयारे तहामेत्त सातिमिरिय चुण्णगादि भूतिमेत्तपाणगे बिंदुमत्त। तयेत्ति तिलतुसतिभागमेत्त। भूतिरिति यत्प्रमाणमङ्गुष्ठप्रदेशनीसदंशकेन ग्रस्म गृह्यते। पानके बिन्दुमात्रमपि आदिग्गहणातो खातिम पि थोव जो आहारेति पज्जोसवणाए, सो आणादिया दोसा पावति, चउगुरुं च पच्छित्त।

पुव्वेसु तच्च करेंतस्स इमो गुणो भवति-

उत्तरकरणं एग-ग्गता य आलोयणेति वंदणया ।
मंगलधम्मकहा वि य, पुव्वेसु य तहगुणा होति । ५५५॥
अट्ठमचउत्थं सं-वच्छरचाउम्मासपक्खे य ।
पासहिय तवे भणिते, वितियं असहू गिलाणे य ॥५५६॥

उत्तरगुणकरण कत भवति, एगग्गया कया भवति, पज्जोसवणासु य वरिसिया आलोयणा दायव्वा। वरिसाकालस्स य आदीए मगल कत भवति। सड्ढाण धम्मकहा कायव्वा। पज्जोसवणाए जइ अट्ठमं न करेति तो चउगुरु, चाउम्मासिए छट्ठं न करेति तो चउलहु,पक्खिए चउत्थ ण करेति तो मासगुरुं। जम्हा एते दोसा तम्हा जहाभणितो तवो कायव्वो। वितियं अववादेण ण करेज्जा, उववासस्स असहू न करेज्ज, गिलाणो वा न करेज्जा। गिलाणपडियरगो वा सो उववासं वेयावच्च च दो वि काउं असमत्थो। एवमादिएहिं कारणेहिं पज्जोसवणाए आहारेंतो सुद्धो। नि० चू० १० उ०।

(१३) एवमाहारविधिमुक्त्वा पानकविधिमाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वाइं पाणगाइं पडिगाहित्तए?, वासावासं पज्जो-

सवियस्स चउत्थभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए । तं जहा–ओसेइमं, संसेइमं, चाउलोदगं । वासावासं पज्जोसवियस्स छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए । त जहा–तिलोदगं, तुसोदगं, जवोदगं वा । वासावास पज्जोसवियस्स अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए । त जहा–आयामं वा, सोवीरं वा, सुद्धवियडं वा । वासावासं पज्जोसवियस्स विकिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति एगे उसिणवियडे पडिगाहित्तए। से वि य णं असित्थे–नो वि य णं ससित्थे । वासावासं पज्जोसवियस्स भत्तपडियाइक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिगाहित्तए, से वि य णं असित्थे–नो चेव णं ससित्थे । से वि य णं परिपूए–नो चेव णं अपरिपूए । से वि य णं परिमिए–नो चेव णं अपरिमिए । से वि य ण बहुसंपन्ने, नो चेव णं अबहुसंपन्ने ॥ २५ ॥

वासेत्यादिन "सपन्ने" इति यावत् । तत्र नित्यभक्तिकस्य सर्वाणि पानकानि कल्पन्ते, सर्वाणि च आचाराङ्गोक्तानि एकविंशतिरत्र वक्ष्यमाणानि नव वा । तत्राऽऽचाराङ्गोक्तानि इमानि–

"उस्सेइम ससेइम, तडुलतिलतुसजवोदगायाम ।
सोवीर सुद्धवियड, अबय अबाडय कविठ ॥ १ ॥
माउलिंग दक्ख दाडिम- खज्जुर नालिकेर कयर बोरजल ।
आमलग चिंचा पा-णगाइ पढमगे भणिआइ ॥ २ ॥"

एषु पूर्वाणि नव तु अत्रोक्तानि, तत्र उत्स्वेदिम-पिष्टाऽऽदिभृतहस्ताऽऽदिधावनजलम्, सस्वेदिम-पत्रशाकाद्युत्काल्यशीतोदकेन सिच्यते तज्जलम्, चाउलोदग तदुलधावनजलम् । तिलोदक-तिलधावनजलम्, तुषोदक-व्रीह्याऽऽदितुषधावनजलम्, यवोदक यवधावनजलम्। आयामकोऽवश्रावणं, सौवीर काञ्जिक, शुद्धविकटम-उष्णोदकम्। एषु चतुर्थभक्तिकस्य उत्स्वेदिमसस्वेदिमतण्डुलोदकाख्यानि त्रीणि पानकानि कल्पन्ते । षष्ठभक्तिकस्य तिलतुषयवोदकानि, अष्टमभक्तिकस्य आयामकसौवीरशुद्धविकटानि, ततः पर विकृष्टभक्तिकाना तु एकमुष्णोदक कल्पते, तदप्यसिक्थम् यत प्रायेणाष्टमोऽर्द्ध तपस्विन शरीर देवताऽधितिष्ठति । ( भत्तपडियाइक्खियस्स त्ति ) प्रत्याख्यातभक्तस्य, अनशनिन इत्यर्थः । तस्याऽपि एकमुष्णोदक कल्पते, तदपि असिक्थ, तदपि परिपूत वस्त्रगलितम् । अपरिपूते तृणाऽऽदेर्गलग्रहणात्, तदपि परिमितम्, अन्यथा अजीर्णं स्यात्, तदपि बहु सपूर्णम् ईषदपरिसमाप्त सपूर्णम् । अतिस्तोके हि तृषमात्रस्याऽपि नोपशम इति ॥ २५ ॥

(१४) दत्तिसख्यया ग्राह्यग्रहणम्–

वासावासं पज्जोसवियस्स संखा दत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंती पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए पच पाणगस्स, अहवा चत्तारि भोअणस्स पंच पाणगस्स, अहवा पंच भोअणस्स चत्तारि पाणगस्स । तत्थ णं एगा दत्ती लोणासायणमित्तमवि पडिगाहिआ सिया, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए । नो से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ॥ २६ ॥

वासावासमित्यादितः "पविसित्तए त्ति" यावत् । तत्र ( सखा दत्तियस्सेति ) दत्तिपरिमाणवत इत्यर्थः । तत्र दत्तिशब्देनाऽल्पं बहु वा यदेकवारेण दीयते तदुच्यते इत्यादि–( लोणासायण त्ति ) लवण किल स्तोक दीयते । यदि तावन्मात्र भक्तपानस्य गृह्णाति साऽपि दत्तिर्गण्यते, पञ्चेत्युपलक्षण, तेन चतस्रस्तिस्रो द्वे एका वा सप्त वा यथा अभिग्रह वाच्या । समग्रस्य च सूत्रस्य अर्थ जाव·-यावत्योऽन्नस्य पानकस्य वा दत्तयो दत्तिना भवन्ति तावत्य एव तस्य कल्पन्ते, न तु परस्पर समावेशः कर्तुं कल्पते । न च दत्तिभ्योऽतिरिक्त ग्रहीतु कल्पते ।

(१५) सप्तगृहमध्ये निषेधः–

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव उवस्सयाओ सत्तघरतर संखडिं सन्निअट्टचारिस्स इत्तए एगे पुण एवमाहंसु-नो कप्पइ जाव उवस्सयाओ परेणं संखडिं सन्नियट्टचारिस्स इत्तए । एगे पुण एवमाहंसु–नो कप्पइ जाव उवस्सयाओ परंपरेणं संखडिं संनिअट्टचारिस्स इत्तए ॥ २७ ॥

वासावासमित्यादितः "इत्तए त्ति" यावत् । तत्रोपाश्रयादारभ्य ( सत्तघरतर ति ) सप्तगृहमध्ये ( सखडि त्ति ) सस्कृतिरोदनपाक, तां गन्तु साधोर्न कल्पते, भिक्षार्थ तत्र न गच्छेदित्यर्थः । एतावता शय्यातर गृहमन्यानि च षट् गृहाणि वर्जयेदिति । तेषामासन्नत्वेन साधुगुणानुरागितया उद्गमाऽऽदिदोषसभवात् । कथभूतस्य साधो ?, ( सन्निअट्टचारिस्स त्ति ) निषिद्धगृहेभ्य. सन्निवृत्त· सञ्चरति यस्तस्य, प्रतिषिद्धवर्जकस्येत्यर्थः । बहवस्त्वेव व्याचक्षते–सप्तगृहान्तरे सखडिं जनसकुलजेमनवारलक्षणा गन्तु न कल्पते । अत्रार्थे सूत्रकृन्मतान्तराण्याह–( एगे पुणेत्यादि ) द्वितीयमते–( परेण ति ) शय्यातरगृहम्, अन्यानि च सप्त गृहाणि वर्जयेत् । तृतीयमते–( परपरेणेति ) शय्यातरगृह, तत एक गृहं तत पर सप्त गृहाणि वर्जयेदिति भाव· ॥ २७ ॥ कल्प० ९ अधि० ६ क्षण ।

(१६) उदउल्ल–

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा उदगउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएणं असणं वा पाण वा खाइम वा साइमं वा आहारित्तए ॥ ४२ ॥ से किमाहु भंते ! सत्त सिणेहायमणा पन्नत्ता । त जहा–पाणी, पाणिलेहा, नहा, नहसिहा, भमुहा, अहरुट्ठा, उत्तरुट्ठा । अह पुण एव जाणिज्जा–विगओदए मे काए छिन्नसिणेहे, एवं मे कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइम वा साइम वा आहारित्तए ॥ ४३ ॥

( वासावासमित्यादि )-तत्र ( उदगउल्लेणेत्यादि ) उदकाऽऽर्द्रेण गलद्बिन्दुयुक्तेन सस्निग्धेन ईषदुदकयुक्तेन कायना–

ऽशनाऽऽदिकमाहारयितुं न कल्पते ॥ ४२ ॥ ( से किमाहु भंते त्ति ) तत्र स तीर्थकरः किंकारणमाह ? । इति शिष्येण पृष्टे गुरुराह-( सत्तेत्यादि ) सप्त स्नेहाऽऽयतनानि जलावस्थानस्थानानि प्रज्ञप्तानि जिनैर्येषु चिरेण जलं शुष्यति तमिति । तद्यथा-पाणी हस्तौ, पाणिरेखा आयुरेखाऽऽदयः, तासु हि चिरं जलं तिष्ठति, नखा अखण्डा नखशिखास्तदग्रभागाः, भमुहा भ्रूर्नेत्रोर्द्ध्वरोमाणि । ( अहरुट्टा ) दाढिका ( उत्तरुट्ठा ) श्मश्रूणि । अथ पुनरेवं जानाति-यत् विगतोदको बिन्दुरहितः छिन्नस्नेहः सर्वथा निर्जलो मम कायः सजातः तदा कल्पते अशनाऽऽद्याहारयितुम् ॥ ४३ ॥

सूक्ष्माणि-

वासावासं पज्जोसवियाणं इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं अट्ठ सुहुमाइं जाइं छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीण वा अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वाइं पासियव्वाइं पडिलेहियव्वाइं भवंति । तं जहा-पाणसुहुमं १, पणगसुहुमं २, बीयसुहुमं ३, हरियसुहुमं ४, पुप्फसुहुमं ५, अंडसुहुमं ६, लेणसुहुमं ७, सिणेहसुहुमं ८ ॥ ४४ ॥

( अट्ठ सुहुमाइं इत्यादि ) अष्ट सूक्ष्माणि (अभिक्खणं ति) वारं वारं यत्रावस्थानाऽऽदि करोति तत्र तत्र ज्ञातव्यानि सूत्रोपदेशेन ( पासियव्वाइ ति ) चक्षुषा द्रष्टव्यानि ( पडिलेहियव्वाइ ति ) ज्ञात्वा दृष्ट्वा च प्रतिलेखितव्यानि परिहर्तव्यतया विचारणीयानि । कल्प० ३ अधि० ९ क्षण । ( प्राणसूक्ष्माऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने )

(१७) भिक्षुरिच्छेद् गृहपतिकुलम्-

वासावासं पज्जोसविए भिक्खू इच्छिज्जा गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं वा पवित्तिं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेइयं जं वा पुरओ काउं विहरइ, कप्पइ से आपुच्छिउं आयरियं वा० जाव जं वा पुरओ काउं विहरइ-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, ते य से वियरिज्जा एवं से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,ते य से नो वियरिज्जा, एवं से नो कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, से किमाहु भंते ! आयरिया पच्चवायं जाणंति ॥४६॥

अथ ऋतुबद्धवर्षाकालयोः सामान्या सामाचारी, वर्षासु विशेषेणोच्यत-वासावासमित्यादिना " जाणंति पर्यन्तं सूत्रम् । तत्र ( आयरियं वेत्यादि ) आचार्यः सूत्रार्थदाता, दिगाचार्यो वा । उपाध्यायः सूत्राध्यापकः, स्थविरो ज्ञानाऽऽदिषु सीदतां स्थिरीकर्त्ता, उद्यतानामुपबृंहकश्च; प्रवर्तको ज्ञानाऽऽदिषु प्रवर्त्तयिता, गणी यस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्राण्यध्यस्यन्ति; गणधरस्तीर्थकृच्छिष्यः, गणावच्छेदको यः साधून् गृहीत्वा बहिः क्षेत्रे आस्ते, गच्छार्थं क्षेत्रोपधिमार्गणाऽऽदौ प्रधावनाऽऽदिकर्ता सूत्रार्थोभयवित्, य चान्यं वयःपर्यायाभ्यां लघुमपि पुरतः कृत्वा गुरुत्वेन कृत्वा विहरन्ति तमापृच्छ्यैव भक्तपानाऽऽद्यर्थं गन्तुं कल्पते, न त्वनापृच्छ्य । केनोल्लेखेनेत्याह-( इच्छामि णमित्यादि ) इच्छाम्यहं भवद्भिरनुज्ञातः सन् भक्तपानाऽऽद्यर्थं गन्तुम् । ( ते य से वियरिज्ज त्ति ) ते आचार्याऽऽदयः ( से ) तस्स वितरेयुरनुज्ञां दद्यु , तदा कल्पते, अथ न वितरेयुः, तदा न कल्पते ( से किमाहु भंते त्ति ) तत्कुतो हेतोरिति शिष्यप्रश्ने गुरुराह-( आयरिया इत्यादि ) प्रत्यपायम्-अपायं तत्परिहारं च जानन्तीति ॥४६॥

एवं विहारभूमिं वा विआरभूमिं वा अन्नं वा जं किंचि पओयणं एवं गामाणुगामं दूइज्जित्तए ॥ ४७ ॥

( एवमित्यादि ) तत्र प्रथमसूत्रे विहारभूमिर्जिनचैत्ये गमनम्, "विहारो जिनसद्मनि" इति वचनात् । विचारभूमिः शरीरचिन्ताऽऽद्यर्थं गमनम् । ( अन्नं वेत्यादि ) अन्यद्वा लेपसीवनसिलनाऽऽदिकम् उच्छ्वासाऽऽदिवर्जं सर्वमापृच्छ्यैव कर्त्तव्यमिति तत्त्वम् । ( एवं गामाणुगामं दूइज्जित्तए त्ति ) ग्रामानुग्रामं विहर्तुं भिक्षाऽऽद्यर्थम् ग्लानाऽऽदिकारणे वा, अन्यथा वर्षासु ग्रामानुग्रामादटनमनुचितमेव ॥ ४७ ॥

वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खू इच्छिज्जा अन्नयरिं विगइं आहारित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा० जाव जं वा पुरओ काउं विहरइ, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं० जाव आहारित्तए-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अन्नयरिं विगइं आहारित्तए, तं एवइयं वा एवइखुत्तो वा, ते य से वियरिज्जा, एवं से कप्पइ अन्नयरिं विगइं आहारित्तए ते य से नो वियरिज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नयरिं विगइं आहारित्तए, से किमाहु भंते ! आयरिया पच्चवायं जाणंति ॥ ४८ ॥

द्वितीये विकृत्याहारसूत्रे-( तं एवइयं ति ) तां विकृतिमेतावतीम् (एवइखुत्तो त्ति) एतावतो वारान् इत्यादि (ते अ से इत्यादि ) यथा ते तस्य वितरन्ति आज्ञां ददति, तथा अन्यतरां विकृतिमाहारयितुं कल्पते, नान्यथा ॥ ४८ ॥

वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खू इच्छेज्जा अन्नयरं तेगिच्छं आउट्टित्तए, तं चेव सव्वं भाणियव्वं ॥ ४९ ॥

तृतीये चिकित्सासूत्रे-( अन्नयरं तेगिच्छं आउट्टित्तए त्ति ) 'आउट्टि' धातुः करणार्थे सैद्धान्तिकः, ततः अन्यतरां चिकित्सां कारयितुम्-आज्ञयैव कल्पते ।

वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खू इच्छिज्जा अन्नयरं ओरालं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगलं सस्सिरियं महाणुभावं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए तं चेव सव्वं भाणियव्वं ॥ ५० ॥ वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खू इच्छिज्जा अपच्छिममारणंतिअसंलेहणाझूसणाझूसिए

भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकंख-माणे वि विहरित्तए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए वा उच्चारं पासवणं परिट्ठावित्तए वा, सज्झाय वा करित्तए, धम्मजागरियं वा जागरित्तए, नो से कप्पइ अ-णापुच्छित्ता त चेव सव्वं ॥ ५१ ॥

एव तप सूत्रेऽपि । सलेखनासूत्रे—( अपच्छिमेत्यादि ) अपश्चिम चरम मरणम् । अपश्चिम मरण न पुन· प्रतिक्षणमायुर्दलिकानुभवलक्षणमावीचिकमरणम्, अपश्चि-म मरणम् एवान्तस्तत्र भवा अपश्चिममारणान्तिकी, सलिख्यते कृशीक्रियते शरीरकषायाऽऽद्यनयेति सलेखना, सा च द्रव्यभावभेदभिन्ना । ( चत्तारि वि चित्ताइ इत्यादि ) का तस्या ( झूसण त्ति ) जोषण सेवा, तया ( झूसिए त्ति ) क्षपितशरीरोऽत एव प्रत्याख्यातभक्तपानोऽत एव काल जीवितकाल मरणकाल वा अनवकाङ्क्षन्नभिल-षन्विहर्तुमिच्छन्तदपि गुर्वाज्ञयेति तत्त्वम् ( धम्मजागरिय ति ) धर्मध्यानेन जागरिका धर्मजागरिका, तामपि जागर्तुं गुर्वाज्ञ-यैव कल्पते ।

रत्नाऽऽदि गृह्णाति-

वासावासं पज्जोसवियाणं भिक्खू इच्छिज्जा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबल वा पायपुंछण वा अन्नयरिं वा उवहिं आयावित्तए वा पयावित्तए वा, नो से कप्पइ एगं वा अणेगं वा अप(डि)ण्णवित्ता गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा असण वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए बहिया विहा-रभूमिं वा वियारभूमिं वा सज्झाय वा करित्तए, काउ-स्सग्ग वा ठाणं वा ठाइत्तए, अत्थि इत्थ केइ अहास-न्निहिए एगे वा अणेगे वा कप्पइ से एवं वइत्तए-इमं ता अज्जो ! मुहुत्तगं वा जाणाहि जाव ताव अह गाहा-वइकुल० जाव काउस्सग्ग वा ठाणं वा ठाइत्तए, से अ पडिसुणेज्जा, एव से कप्पइ गाहावइकुलं त चेव स-व्व भाणियव्व, से अ से नो पडिसुणेज्जा, एवं से नो कप्पइ गाहावइकुलं० जाव ठाणं वा ठाइत्तए ॥ ५२ ॥

वासावासमित्यादित " ठाइत्तए त्ति " पर्यन्तम् । तत्र ( वत्थ वेत्यादि ) पादप्रोञ्छन रजोहरण, ततो वस्त्राऽऽदि-कमुपधिमातापयितुमेकवारम् आतपे दातु, प्रतापयितु पुन पुनरातपे दातुमिच्छति, अनातापने कुन्थुपनकाऽऽदिदोषोत्पत्ते । तदा उपधौ आतपे दत्ते सति एक वा अनेक वा साधुमप्रतिज्ञा-प्य गोचराऽऽदौ न तु यावत्कायोत्सर्गेऽपि स्थातु न कल्पते,वृष्टि-भयात् । अस्त्यत्र कोऽपि यथा सन्निहितस्तमेव वक्तु कल्पते-यत् आर्य ! इममुपधि तावन्मुहूर्तमात्र जानीहि विभावय । ( जाव ताव त्ति ) यावदर्थे ( से अ पडिसुणेज्ज त्ति ) स प्रतिशृणुया-त् अङ्गीकुर्यात्, तदुक्तमत्यापन, तदा कल्पते गोचराऽऽदौ ग-न्तुमशनाऽऽद्याहारयितु, विहारभूमिं विचारभूमिं वा गन्तु, स्वाध्याय वा कायोत्सर्ग वा कर्तुं, स्थान वा वीराऽऽसना ऽऽदिक स्थातुम् ॥ ५२ ॥

शय्यासस्तार.-

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा नि-ग्गंथीण वा अणभिग्गहियसिज्जासणिएणं हुत्तए, आ-याणमेयं, अणभिग्गहियसिज्जासणियस्स अणुच्चाकु-इअस्स अणट्ठाबंधिअस्स अमियासणियस्स अणाता-वियस्स असमियस्स अभिक्खणं अभिक्खणं अपडिलेह-णासीलस्स अपमज्जणासीलस्स तहा तहा संजमे दुराराहए भवइ ॥ ५३ ॥ अणायाणमेयं अभिग्ग-हियसिज्जासणियस्स उच्चाकुइयस्स अट्ठाबंधियस्स मि-यासणियस्स आयाविअस्स समियस्स अभिक्खणं अ-भिक्खणं पडिलेहणासीलस्स पमज्जणासीलस्स तहा तहा संजमे सुआराहए भवइ ॥ ५४ ॥

वासावासमित्यादित " भवइ त्ति " यावत् । तत्र ( अ-णभिग्गहियेत्यादि ) न अभिगृहीते शय्यासने येन सः अनभिगृहीतशय्यासन', अनभिगृहीतशय्यासन एव 'अनभि-गृहीतशय्यासनिक' स्वार्थे इकप्रत्ययः । तथाविधेन साधुना ( हुत्तए त्ति ) भवितु न कल्पते । वर्षासु मणिकुट्टिमेऽपि पी-ठफलकाभिग्रहवतैव भाव्यम्, अन्यथा शीतलाया भूमौ श-यने च कुन्थ्वादिविराधनोत्पत्ते । ( आयाणमेअ ति ) कर्म-णां दोषाणां वा आदानकारणमेतद् अनभिगृहीतशय्यास-निकत्वम् । तदेव द्रढयति-- अणभिग्गहियेत्यादि ) अन-भिगृहीतशय्यासनिक इति प्राग्वत् । तस्य ( अणुच्चा-कुइयस्स त्ति ) उच्चा हस्ताऽऽदि यावत् येन पीपिलिकाऽऽदेर्बाधो न स्यात्, सर्पाऽऽदेर्वा दशो न स्यात् । अकुचा " कुच " परिस्पन्दे " इति वचनात् । परिस्पन्दरहिता,निश्चलेति यावत् । ततः कर्मधारय.। उच्चा कुचा शय्या कम्बाऽऽदिमयी,सा नो वि-द्यते यस्य स अनुच्चाकुचिको नीचमपरिस्पन्दशय्याक', तस्य ( अणट्ठाबधियस्स त्ति ) अनर्थकबन्धिनः पक्षमध्ये अन-र्थक निष्प्रयोजनमेकवारोपरि द्वौ त्रींश्चतुरो वारान् कम्बासु ब-न्धान् ददाति, चतुरुपरि बहूनि अट्टकानि वा बध्नाति । तथा च स्वाध्यायनिष्पलिमघाऽऽदयो (?) दोषा. । यदि चैकाङ्गिक चम्पकाऽऽदिपट्ट लभ्यते तदा तदेव ग्राह्य,बन्धनाऽऽदिपलिमन्थ-परिहारात्, ( अमियासणियस्स त्ति ) अमितासनिकस्य अबद्धाऽऽसनस्य मुहुर्मुहु स्थानात् स्थानान्तर गच्छतो हि सत्त्ववध. स्यात् । अनेकानि वा आसनानि सेवमानस्य ( अ-णातावियस्स त्ति ) सस्तारकपात्राऽऽदीनामातपे अदातु· ( अ-समियस्स ति ) ईर्याऽऽदिषु समितिषु अनुपयुक्तस्य । ( अभि क्खण ति ) वार वारमप्रतिलेखनाशीलस्य दृष्ट्वा अनाप्रमा-र्जनशीलस्य रजोहरणाऽऽदिना, ईदृशस्य साधो सयमो दुराराधो भवति । अत्र किरणावलीदीपिकाकाराभ्यां दुरा दुराराधो भवति । अत्र किरणावलीदीपिकाकाराभ्यां " दु· राधो दु.प्रतिपाल्य इति प्रयोगौ लिखितौ, तौ चिन्त्यौ । " दु· खेषत् कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात्खल्" ॥ ५ । ३ । १३९॥ इति सूत्रेण ख-लुप्रत्ययाऽऽगमनेन दुराराध इति दुष्प्रतिपाल इति च भवनात् । न च वाच्यम् आङा प्रतिना च प्रतिव्यवधानात्खल् न भविष्य-

तीति, "उपसर्गो न व्यवधायीति" न्यायात् । किं च-समागच्छतीत्यत्र आङा व्यवधानेन " समो गम्यृच्छिभ्याम् " ॥१।३।२७॥ इत्यादिनाऽऽत्मनेपदाप्राप्तेरस्य न्यायस्यानित्यत्वादत्रोपसर्गस्य व्यवधायकत्वं भविष्यतीत्यपि न वाच्यम् । न हि खल्विषये उपसर्गस्य व्यवधायकत्वम्, " उपसर्गात् खल्घञोश्च " ॥४।४।१०७॥ इति सूत्रेण ईषत्प्रलम्भं दुष्प्रलम्भमित्यादिप्रयोगज्ञापनादिति दिक् । आदानमुक्त्वा अनादानमाह-"अणायाणमित्यादितः " सुआराहए भवइ त्ति " यावत् । तत्र कर्मणां दोषाणां वा अनादानमकारणमेतत्-अभिगृहीतशय्यासनिकत्वम्, उच्चाकुचशय्यावत्त्व सप्रयोजनं पक्षमध्ये सकृच्च शय्याबन्धकत्वमिति । तदेव द्रढयति-अभिगृहीतशय्यासनिकस्य उच्चाकुचिकस्य अर्थाय बन्धिनो मितासनिकस्य आतापिनो वस्त्राऽऽदेरातपे दातुः समितस्य समितिषु दत्तोपयोगस्याभीक्ष्णं प्रतिलेखनाशीलस्य प्रमार्जनाशीलस्येदृशस्य साधोः तथा तथा तेन तेन प्रकारेण संयमः सुखाऽऽराध्यो भवति ॥ ५४ ॥ कल्प० ३ क्षण ६ अधि० ।

(१८) इदाणिं संथारग त्ति दारं-

**करणे उडुगहिते उ-ज्झिऊण गेण्हंति अमपरिसाडिं ।**
**दाउं गुरुस्स तिण्णि उ, सेसा गेण्हंति एक्केक्कं ॥५५३॥**

उडुबद्धकाले जे संथारगा कारणे गहिता ते वोसिरित्ता अण्णे संथारगा अपरिसाडि वासा जे गेण्हति गुरुस्स तिण्णि दाउ णिवाते पवाते णिवायपवाए से साधू अहाराइणियाए एक्केक्कं गेण्हति । नि० चू० १० उ० । ( ऋतुबद्धिकं शय्यासंस्तारमन्यत्र नयतीति 'सिज्जासंथार' शब्दे वक्ष्यते )

(१९) उच्चारप्रस्रवणभूमिः-

**वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ उच्चारपासवणभूमीओ पडिलेहित्तए, न तहा हेमंतगिम्हासु जहा णं वासासु, से किमाहु भंते ! वासासु णं ओसन्नं पाणा य तणा य बीया य पणगा य हरियाणि य भवंति ॥ ५५ ॥**

(उच्चारपासवणभूमीओ त्ति) अनधिसहिष्णोस्तिस्रोऽन्तः, अधिसहिष्णोश्च बहिस्तिस्रः 'दूरव्याघाते मध्या भूमिः,तद्व्याघाते चाऽऽसन्नेति । आसन्नमध्यदूरभेदात्त्रिविधा भूमिः प्रतिलेखितव्या ( न तहेत्यादि ) न तथा हेमन्तग्रीष्मयोर्यथा वर्षासु ( से किमाहु भंते ! त्ति ) तत्कुत इति प्रश्ने गुरुराह-( वासासु णं इत्यादि ) वर्षासु ( ओसन्नं ति ) प्रायेण प्राणाः शङ्खनकेन्द्रगोपकृम्यादय , तृणानि प्रतीतानि, बीजानि तत्तद्वनस्पतीनां नवोद्भिन्नानि किशलयानि । पनका उल्लयो, हरितानि बीजेभ्यो जातानि । एतानि वर्षासु बाहुल्येन भवन्तीति ॥ ५५ ॥

(२०) मात्रकद्वारम्-

**वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा तओ मत्तगाइं गिण्हित्तए । तं जहा-उच्चारमत्तए, पासवणमत्तए, खेलमत्तए ॥ ५६ ॥**

( तओ मत्तगाइं ति ) त्रीणि मात्रकाणि उच्चारप्रस्रवणश्लेष्मार्थम । मात्रकाभावे वेलाऽतिक्रमेण वेगधारणे आत्मविराधना, वर्षति च बहिर्गमने संयमविराधनेति । कल्प० ३ अधि० ९ क्षण ।

इयाणिं मत्तए त्ति दारं-

**उच्चारपासवणखे-लमत्तए तिण्णि तिण्णि गेण्हंति ।**
**संजम-आएसट्ठा, भिज्जेज्ज व सेस उज्झंति ॥ ५५४ ॥**

वरिसाकाले उच्चारमत्तया तिण्णि, पासवणमत्तया तिण्णि, तिण्णि खेलमत्तया । एव ण घेतव्वा । इम कारणं-जं सज्जमाणमित्तं वरिसंते एगम्मि वाहडिते वितिय ततियएसु कज्जं करेंति । असिवाऽऽदिकारणिएसु वा । आएसिए आगतेसु दलएज्जा, सेसेहिं अप्पणो करेंति । एगमादिभिण्णेण वा सेसेहिं कज्ज करंति । एव सेसा जे उडुबद्धगाहिया ते उज्झति । उभओ काल पडिलेहणा कज्जति-दिया, रातो वा । अवासते जति परिभुंजति ता मासलहु । जाहे वा सपक्रति ताहे परिभुंजति । जेण अभिग्गहो गहितो सो परिट्ठवेति । उल्लो ण खिक्खियव्वो, अपरिणयलेहाण ण वाइज्जति । मत्तए त्ति गयं । नि० चू० १० उ० ।

(२१) लोचः-

**वासावासं पज्जोसवियाण नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसे तं रयणिं उवायणावित्तए अज्जेणं खुरमुंडेण वा लुक्कसिरएणं वा होयव्वं सिया पक्खिया आरोवणा, मासिए खुरमुंडे, अद्धमासिए कत्तरिमुंडे, छम्मासिए लोए, संवच्छरिए वा थेरे कप्पे ॥ ५७ ॥**

वासावास पज्जोसवियाणमित्यादितः "संवच्छरिए थेरे कप्पे त्ति" यावत् । तत्र (परं पज्जोसवणाओ त्ति) पर्युषणातः परमाषाढचतुर्मासकादनन्तरं गोलोमप्रमाणा अपि केशा न स्थापनीया , आस्तां दीर्घाः । " धुवलोओ उ जिणाणं, निच्चं थेराण वासवासासु (५५५ नि०चू०)" इति वचनात् । यावत् तां रजनीं भाद्रसितपञ्चमीरात्रिम् । साम्प्रतं तु चतुर्थीरात्रिं नातिक्रमयेत, चतुर्थ्याश्च अर्वागेव लोचं कारयेत् । अयं भावः-यदि समर्थस्तदा वर्षासु नित्यं लोचं कारयेत् । असमर्थोऽपि तां रात्रिं नोल्लङ्घयेत । पर्युषणापर्वणि लोचं विना प्रतिक्रमणस्याऽऽवश्यमकल्प्यत्वात् । केशेषु हि अप्कायविराधना-तत्संसर्गाच्च यूकाः संमूर्च्छन्ति, ताश्च कण्डूयमानो हन्ति, शिरसि नखक्षतं वा स्यात् । यदि क्षुरेण मुण्डापयति कर्त्तर्या वा तदाऽऽज्ञाभङ्गाऽऽद्या दोषाः । संयमाऽऽत्मविराधना-यूकाश्छिद्यन्ते, नापितश्च पश्चात्कर्म करोति, शासनापभ्राजना च । ततो लोच (?) शिरोजेन । अपवादतो बालग्लानाऽऽदिना मुण्डितशिरोजेन भवितव्यं स्यात् तत्र केवलं प्रासुकोदके एव श्रेयान् । यदि चासहिष्णुर्लोचे कृते ज्वराऽऽदिर्वा स्यात् कस्यचित् । बालो वा रुदन्धर्मं वा त्यजेत्, ततो न तस्य लोच इत्याह-( अज्जेणमित्यादि ) आर्येण साधुना ( लुक्कसिरएण त्ति ) उत्सर्गेनो लुञ्चितशिरः प्रक्षाल्य नापितस्याऽपि तेन करौ क्षालयति । यस्तु क्षुरेणापि कारयितुमसमर्थो, व्रणादिमच्छिरा वा,तस्य केशाः कर्त्तर्या कल्पनीयाः । ( पक्खिआ आरोवण त्ति ) कोऽर्थः ?, पक्षे पक्षे संस्तारकदव-

रकाणां वन्धा मोक्तव्या , प्रतिलेखितव्याश्चेत्यर्थः । अथवा-आरोपणाप्रायश्चित्तं पक्षे पक्षे ग्राह्यं सर्वकालं, वर्षासु विशेषतः । ( मासिए खुरमुंडे त्ति ) असहिष्णुना मासि मासि मुण्डनं कारणीयम् । ( अद्धमासिए कत्तरिमुंडे त्ति ) यदि कर्त्तर्या कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तं कारणीयम् । क्षुरकर्त्तर्योश्च लोचे प्रायश्चित्तं निशीथोक्तं यथाक्रमं लघुगुरुमासलक्षणं ज्ञेयम् । ( छम्मासिए लोए त्ति ) षाण्मासिको लोचः । ( संवच्छरिए वा थेरे कप्पे त्ति ) स्थविराणां वृद्धानां जराजर्जरत्वेनासामर्थ्याद् दृष्टिरक्षार्थं च । (संवच्छरिए वा थेरकप्पे त्ति) सांवत्सरिको वा लोचः, स्थविरकल्पे स्थितानामिति, अर्थात्तरुणानां चातुर्मासिक इति ॥५७॥ कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । नि० चू० ।

धुवलोओ उ जिणाणं थेराणं निच्च वासवासासु ।
असहू गिलाणयस्स य, तं रयणिं तू नातिक्कमे ॥५५५॥

इदाणिं लोए त्ति । उडुबद्धे वासासु वा जिणकप्पियाण धुवलोचो,दिने दिने कुर्वन्तीत्यर्थः । थेराण वि वासासु धुवलोओ चेव । असहूगिलाणाण पज्जोसवणरातिं णातिक्कमति, आउक्काइयविराहणाभया संसज्जणभया य वासासु धुवलोचो कज्जति । लोए त्ति गतं । नि० चू० १० उ० ।

अत्र पर्युषणायां केशलोचः -

जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलोमाइं पि वालाइं उवाइणावेइ, उवायणावंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

गोलोममात्रा अपि न कर्त्तव्याः, किमुत दीर्घा । अहवा हस्तप्राप्याः । अपिशब्देन विशेषयति । (उवातिणावेति त्ति) पज्जोसवणारयणिं अतिक्रामतीत्यर्थः ।

गाहासूत्र-

पज्जोवसणाकेसे, गावीलोमप्पमाणमेत्ते वी ।
जे भिक्खूवातिणती, सो पावति आणमादीणि ॥५५०॥

तस्स चउगुरु पच्छित्तं, आणादिया य दोसा ।

गोलोमविशेषणार्थमाह-

ण वि णिंगपुंछवालो, ण अत्थि पुच्छेण वत्थिया वाला ।
मुजवसणीरोगाए, सेस गुरू होंति हाणीए ॥ ५५१ ॥
णिसुढते आउवधो, उल्लेसु य छप्पदा उ मुच्छंति ।
ता कडुयं विराहे, कुज्जा व खयं तु आतोदे ॥ ५६१ ॥
धुवलोओ उ जिणाणं,वरिसासु य होंति गच्छवासीणं ।
चउतरणे चउमासो, खुर कत्तरि लहुहू गुरुगा ॥५५२॥

कंठा । वासासु लोए अकज्जते इमे दोसा-आउक्काए णिसुढते आढते आउविराहणा, उल्लेसु य वालेसु छप्पयाओ समुच्छंति, कडुयंतो वा छप्पदादि विराहेति, कडुयंतो वा खयं करेज्जा, तत्थ आयविराहणा । जम्हा एते दोसा तम्हा, धुवलोओ गाहा । उडुबद्धे वासासु वा जिणकप्पियाण धुवलोओ, थेरकप्पियाण वासासु धुवलोओ, धुवलोयासमत्थो वा तं रयणिं नातिक्कमे,थेरकप्पिओ तरुणे उडुबद्धे उक्कोसेण चउण्ह मासाण लोयं करावेति । थेरस्स वि एवं, णवरं उक्कोसेण छम्मासा, जति उडुबद्धे वासासु वा खुरेण कारावेति, तो मासलहु, कत्तीए मासगुरु, आणादिया य दोसा । उप्पतिगाए विराहणा पच्छकम्मदोसा य । आदेसंतरेण कारवेति, तो लहुहु, कत्तरीए चउगुरुमासा, लोयं कारवंतेण एते दोसा परिहरिया भवंति ।

गाहा-

पक्खियमासियछम्मा-सिए य थेराण तू भवे कप्पो ।
कत्तरि खुर लोए वा,बितिए असहू गिलाणे य ॥५५३॥

(बितिय त्ति) बितियपदेण लोयं ण कारवेज्जा असहू लोयं ण कारवेज्जा, असहू लोयं ण तरति अधियासेउं, सिरोरोगेण वा, मंदचक्खुणा वा, लोयं वा असहंतो धम्मं छड्डेज्जा, गिलाणस्स वा लोओ ण कज्जति, लोयं वा करेति गिलाणो हवेज्ज । एवमादिएहिं कारणेहिं जइ व कत्तरीए करेति तो पक्खे पक्खे । अह खुरेण, तो मासे मासे । पढमं खुरेण वा कत्तरीए लोयकरस्स महुरोदए हत्थधोवणं दिज्जति, पच्छा कम्मपरिहरणत्थ । अववादेण लोओ छम्मासेण कारावेयव्वो । थेराण एस कप्पो संवच्छरिए भणितो । नि० चू० १० उ० ।

(२२) अधिकरणम्-

इयाणिं अधिकरणं त्ति । अधिकरणं कलहो भण्णति । तं च जहा चउत्थोद्देसए वण्णियं तहा इहावि सवित्थरं दट्ठव्वं । तं च ण कायव्वं, पुव्वुप्पण्णं च ण उदीरियव्वं, पुव्वुप्पण्णं जइ कसायकलुसत्ताए ण खामियं तो पज्जोसवणासु अवस्स विउसावयव्वं । अधिगरणे इमे दिट्ठंता-दुरूयगगामोवलक्खिय पज्जोतो दो मओ य । तत्थ दुरूयग त्ति उदाहरणं । आयरियजणवयस्स अंतग्गामा एक्को कुमारो, सो कुलालाण भरिकाण पच्चंतगामं दुरूयगं णामयं गता ।

तेहिं य दुरुत्तावेहिं गोहेहिं एग वइल्लं हरिउकामेहिं भण्णति-

एगवइल्लं भंडिं, पासह तुज्झे वि डज्झ खलहाणे ।
हरणे झामण जाणग, घोसणता मल्लजुद्धेसु ॥५६२ ॥

भो भो पेच्छह इमं अच्छेरं-एगेण वइल्लेणेगा भंडी गच्छति तेण वि कुंभकारेण भणियं-पेच्छह भो इमस्स गामस्स खलहाणा,णि डज्झति । अतिगया भंडी गाममज्झे ठिता । तस्स तेहिं दुरूयगवेहिं छिद्दं लभिऊण एगो वइल्लो हरो, विक्कय गया कुलालातो य गामिल्लया जाचिता देह वइल्लं । ते भणति-तुमं एक्केण वइल्लेण आगयो । ते पुणो जातिता जाहे ण देंति ताहे सरयकाले सव्वधाणि खलधारणेसु कताणि, ताहे अग्गी दिण्णो । एवं तेण सत्त वरिसाणि झमिता खलधाणा । ताहे अट्ठमे वरिसे दुरूयगगामसल्लएहिं मल्लजुद्धमहे वट्टमाणे भाणगो भणितो-घोसेहि भो जस्स अम्हेहिं अवरद्धं, तं खामेमो, जं च गहेयं तं देमो, मा अम्हे भासेह, दहेओ । ततो भाणएण उग्घोसियं । कुंभकारेण भाणगो भणितो-भो इमं घोसेहि-

अप्पिण हतं वइल्लं, दुरूयगो तस्स कुंभकारस्स ।
मा भे डहिहिंति बंधण,अण्णाणि वि सत्त वरिसाणि ॥५६३॥

भाणगेण उग्घोसियं, तं तेहिं दुरूयगव्वेहिं सो कुंभकारो खामितो,दिण्णो य से वइल्लो । इमो उवसंहारो-जति ता तेहिं अखामितो,दिण्णो य से वइल्लो । सजाएहिं अण्णाणीहिं होंतेहिं खामियं, तेण वि खमियं, किमंग ! पुण संजएहिं णाणीहिं जय कय तं सव्वं पज्जोसवणाए खमियव्वं, खामेयव्वं च । एवं कारतेहिं संजमाराहणा कता भवति ।

अहवा-इमो दिट्ठंतो पज्जोसवेंति-

चंपा कुमारणंदी, पंचऽच्छरा थेरणयण दुमवलए ।
विहपासणयण सावग,इंगिणि उववाय णंदिवरे ॥५६४॥
देहण पडिमोदायण, पभाव उप्पाय देवदत्तपदे ।
मरणुववातो वस-नयणं तह भीसणा समणा ॥५६५॥
गंधारगिरी देवय-पडिमा गुलिया गिलाणपडियरणं ।
पज्जोयहरण दुक्खररण,गहणेण गओ उवसमा ॥५६६॥
नि० चू० १० उ० ।

(अत्र चम्पानगरीवास्तव्याऽनङ्गसेनवृत्तं "दसउर" शब्दे चतुर्थभागे २४७७ पृष्ठे गतम् । तस्यैवानङ्गसेनस्य कुमारनन्दीति नामान्तरम्) (टीकास्थोदायनवृत्तान्तमात्रमुपवर्ण्यतेऽधः)सिन्धुसौवीरदेशाधिपतिर्दशमुकुटबद्धनृपसेव्य उदयनराजो विद्युन्मालिसमर्पितश्रीवीरप्रतिमाऽर्चनाऽऽगतश्रीरोगीभूतगन्धारश्राद्धार्पितगुटिकाभक्षणतो जाताद्भुतरूपायाः सुवर्णगुलिकाया देवाधिदेवप्रतिमायुताया अपहर्तार मालवदेशनृपसेव्य चण्डप्रद्योतराजं देवाधिदेवप्रतिमाप्रत्यानयनोत्पन्नसङ्ग्रामे बद्ध्वा पश्चादागच्छन् दशपुरे वर्षासु तस्थौ, वार्षिकपर्वणि च स्वयमुपवासं चक्रे । नृपाऽऽदिष्टसूपकारेण भोजनार्थं पृष्टेन चण्डप्रद्योतेन विषशङ्कया श्राद्धस्य ममाप्यद्योपवास इति प्रोक्ते धूर्तसाधर्मिकेऽप्यस्मिन्नक्षमिते मम प्रतिक्रमणं न शुद्ध्यतीति तत्सर्वस्वप्रदानतस्तद्भाले मम दासीपतिरित्यक्षराऽऽच्छादनाय स्वमुकुटपट्टदानतश्च श्रीउदयनराजेन श्रीचण्डप्रद्योतः क्षमितोऽत्र श्रीउदयनराजस्यैवाराधकत्वं, तस्यैवोपशान्तत्वात् ।

क्वचिद्द्वयोरप्याराधकत्वम् । तथाहि-अन्यदा कौशाम्ब्यां सूर्याचन्द्रमसौ स्वविमानेन श्रीवीरं वन्दितुं समागच्छतः स्म । चन्दना च दक्षाऽस्तसमयं विज्ञाय स्वकीयस्थानं गता । मृगावती च सूर्येन्दुगमनात्तमसि विस्तृते सति रात्रिं विज्ञाय भीता उपाश्रयमागत्यैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य निद्राणां चन्दनां प्रवर्तिनीं क्षमयन्ती ममापराधं इत्युक्तवती । चन्दनाऽपि भद्रे ! कुलीनायास्तवेदृशं न युक्तमित्युवाच । साऽप्यूचे-भूयो नेदृशं करिष्ये, इति पादयोः पतिता तावता प्रवर्तिन्या निद्राऽगात् । तया च तथैव क्षमणेन केवलं प्राप्तं, सर्पसमीपात्करापसारणव्यतिकरेण प्रबोधिता । प्रवर्तिन्यपि कथं सर्पोऽज्ञायीति पृच्छन्ती तस्याः केवलं ज्ञात्वा मृगावतीं क्षमयन्ती केवलमाससाद । तेनेदृशं मिथ्यादुष्कृतं देयं, न पुनः कुम्भकारक्षुल्लकदृष्टान्तेन । तथाहि-कश्चित् क्षुल्लको भाण्डानि काणीकुर्वन् कुम्भकारेण निवारितो मिथ्यादुष्कृतं ददौऽपि न पुनस्ततो निवर्तते, ततः स कुम्भकारोऽपि कर्करैः क्षुल्लककर्णमोटनं कुर्वन्पुनः पुनः क्षुल्लकेन पीड्येऽहमित्युक्तोऽपि मुधा मिथ्यादुष्कृतं ददौ ॥५९॥ कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । (विस्तरस्तु 'अहिगरण' शब्दे प्रथमभागे ६८३ पृष्ठे उक्तम् )

स्थापना न कर्तव्या -इदाणिं थाय त्ति दारं । तेसिं चउरुण्हि दरिसो पुरप पामियप्पो । जहा तट्ठाणे कोहो चउविधो । उदगराइसमाणो, पुढविराइसमाणो, वालुराइसमाणो, पव्वयराइसमाणो य । नि० चू० १० उ० ।

(२३) उपाश्रयाः -

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ उवस्सया गिण्हित्तए । तं जहा-वेउव्विया पडिलेहा, साइज्जिया, पमज्जणा ॥ ६० ॥

"वासावासं पज्जोसवियाणं" इत्यादितः "पमज्जणा ।" इति यावत् । तत्र वर्षासु त्रय उपाश्रया ग्राह्याः, जन्तुसंसक्त्यादिभयात्समिति पदं तथेत्यर्थः । तत्र त्रिषु उपाश्रयेषु ( वेउव्विया पडिलेह त्ति) द्वौ पुनः पुनः प्रतिलेख्यौ द्रष्टव्यौ इति भावः । ( साइज्जिया पमज्जण त्ति ) ' साइज्ज ' धातुरास्वादने । तत उपभुज्यमानो य उपाश्रयस्तत्सम्बन्धिनी प्रमार्जना कार्या, यतो यस्मिन्नुपाश्रये साधवस्तिष्ठन्ति तं प्रातः प्रमार्जयन्ति, पुनर्भिक्षां गतेषु साधुषु, पुनस्तृतीयप्रहरान्ते चेति वारत्रयम् । ऋतुबद्धे च वारद्वयम्, असंसक्तेऽयं विधिः, संसक्ते च पुनः पुनः प्रमार्जयन्ति, शेषोपाश्रयद्वयं तु प्रतिदिनं दृशा पश्यन्ति, कोऽपि तत्र ममत्वं मा कार्षीदिति, तृतीयदिने च पादप्रोञ्छनेन प्रमार्जयन्तीति । अत उक्तम् ( वेउव्विया पडिलेह त्ति) ॥६०॥ कल्प० । (आज्ञां गृहीत्वा गोचरचर्या गन्तव्या इति 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे १००४ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

(२४) योजनान्यवग्रहः-

वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा गिलाणहेउं जाव चत्तारि पंच जोअणाइं गंतुं पडिनियत्तए, अंतरा वि य से कप्पइ वत्थव्वए, नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवायणावित्तए ॥ ६२ ॥

" वासेत्यादित उवायणावित्तए त्ति " पर्यन्तम् । तत्र-(जावेत्यादि ) वर्षाकल्पौषधवैद्याऽऽद्यर्थं ग्लानसारीकरणार्थं वा यावच्चत्वारि पञ्च योजनानि गत्वा प्रतिनिवर्तितुं कल्पते, न तु तत्र स्थातुं कल्पते । स्वस्थानं प्राप्तुमक्षमश्चेत्तदा तस्यान्तराऽपि वस्तुं कल्पते, न पुनस्तत्रैव । एवं हि वीर्याऽऽचाराऽऽराधनं स्यादिति यत्र दिने वर्षाकल्पाऽऽदि लब्धं तद्दिनरात्रिं तत्रैव नातिक्रमयितुं कल्पते, कार्ये जाते सद्य एव बहिर्निर्गत्य तिष्ठेदिति भावः ।

इच्चेयं संवच्छरिअं थेरकप्पं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता सोभित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आराहित्ता आणाए अणुपालित्ता अत्थेगइया समणा निग्गंथा तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करिंति, अत्थेगइया दुच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झंति० जाव अंतं करिंति । अत्थेगइआ तइएणं भवग्गहणेणं० जाव अंतं करिंति, सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमंति ॥ ६३ ॥

( इच्चेयं संवच्छरिअं थेरकप्पं ) इतिरुपप्रदर्शने । तं पूर्वोपदर्शितं सांवत्सरिकं वर्षारात्रिकं स्थविरकल्पम् । ( अहासुत्त ) यथा सूत्रे भणितं तथा, न तु सूत्रविरुद्धम् । ( अहाकप्पं ) यथा अत्रोक्तं तथा करणे कल्पोऽन्यथा त्वकल्प इति यथाकल्पम् । एतत्कुर्वतश्च (अहामग्ग) ज्ञानाऽऽदित्रयलक्षणो मार्ग इति यथामार्गम् । ( अहातच्चं ) अत एव यथातथ्यं, सत्यमित्यर्थः ।

( सम्म ) सम्यग् यथावस्थितम् ( काएण ) उपलक्षणत्वात्कायवाङ्मानसैः ( फासित्ता ) स्पृष्ट्वा आसेव्य ( पालित्ता ) पालयित्वा अतिचारेभ्यो रक्षयित्वा ( सोभित्ता ) शोभयित्वा विधिवत्करणेन ( तीरित्ता ) तीरयित्वा यावज्जीवम् आराध्य ( किट्टित्ता ) कीर्तयित्वा अन्येभ्य उपदिश्य ( आराहित्ता ) आराध्य यथोक्तकरणेन ( आणाए अणुपालित्ता ) आज्ञया जिनोपदेशेन यथा पूर्वं पालित तथा पश्चात् परिपाल्य ( अत्थेगइया समणा निग्गंथा ) सन्त्येके ये अत्युत्तमया तदनुपालनया श्रमणा निर्ग्रन्था ( तेणेव भवग्गहणेण सिज्झंति ) तस्मिन्नेव भवग्रहणेन भवे सिध्यन्ति कृतार्था भवन्ति । ( बुज्झंति ) बुध्यन्ते केवलज्ञानेन ( मुच्चंति ) मुच्यन्ते कर्मपञ्जरात् ( परिनिव्वायंति ) परिनिर्वान्ति कर्मकृतः सर्वतापोपशमनात् शीतीभवन्ति ( सव्वदुक्खाणमंतं करिंति ) सर्वदुःखानां शारीरमानसानामन्तं कुर्वन्ति ( अत्थेगइया दुच्चेणं भवग्गहणेणं० जाव अंतं करिंति ) सन्त्येके ये उत्तमया तु तत्पालनया द्वितीयभवग्रहणे सिध्यन्ति यावत् अन्तं कुर्वन्ति । ( अत्थेगइया तइएणं भवग्गहणेणं० जाव अंतं करिंति ) सन्त्येके ये मध्यमया तत्पालनया तृतीयभवे यावत् अन्तं कुर्वन्ति । ( सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमंति ) जघन्ययाऽपि एतदाराधनया सप्ताष्टभवांस्तु पुनः नातिक्रामन्तीति भावः ॥ ६३ ॥

अथैव वर्णकं स्वबुद्ध्या न प्रोच्यते, किन्तु भगवदुपदेशपारतन्त्र्येणेत्याह-

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं मज्झगए चेव एवमाइक्खइ, एवं भासइ एवं पन्नवेइ, एवं परूवेइ पज्जोसवणाकप्पो नामं अज्झयणं सअट्ठं सहेउअं सकारणं ससुत्तं सअत्थं सउभयं सवागरणं भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ त्ति बेमि ॥ ६४ ॥

( तेण कालेण ) तस्मिन् काले चतुर्थारकपर्यन्ते ( तेण समएण ) तस्मिन् समये ( समणे भगवं महावीरे ) श्रमणो भगवान् महावीरः ( रायगिहे नगरे ) राजगृहनगरे समवसरणावसरे ( गुणसिलए चेइए ) गुणशैले नाम चैत्ये ( बहूण समणाण ) बहूनां श्रमणानां ( बहूण समणीण ) बहूनां श्रमणीनाम् ( बहूण सावयाण ) बहूनां श्रावकाणाम् ( बहूण सावियाण ) बहूनां श्राविकाणाम् ( बहूण देवाण ) बहूनां देवानाम् ( बहूण देवीण ) बहूनां देवीनाम् ( मज्झगए चेव ) मध्यगत एव, न तु कोणके प्रविश्य प्रच्छन्नतयेति भाव । ( एवमाइक्खइ ) एवमाख्याति कथयति ( एवं भासइ ) एवं भाषते वाग्योगेन ( एवं पन्नवेइ ) एवं प्रज्ञापयति फलकथनेन ( एवं परूवेइ ) एवं प्ररूपयति दर्पणे इव श्रोतृहृदये सङ्क्रामयति । ( पज्जोसवणाकप्पो नाम अज्झयणं ) पर्युषणाकल्पो नाम अध्ययनम् ( सअट्ठं ) अर्थेन प्रयोजनेन सहितं, न तु निष्प्रयोजनम् ( सहेउअं ) सहेतुकं हेतवो निमित्तानि, यथा गुरुणा पृष्ट्वा सर्वं कर्तव्यं, तत् केन हेतुना, यत आचार्या प्रत्यपायं जानन्तीत्यादयो हेतवस्तैः सहितम् ( सकारणं ) कारणमपवादो यथा 'अंतरा वि से कप्पइ' इत्यादि, तेन सहितम् ( ससुत्तं ) सूत्रसहितम् ( सअत्थं ) अर्थसहितम् ( सउभयं ) उभयसहितं च ( सवागरणं ) व्याकरणं पृष्टार्थकथनं तेन सहितं सव्याकरणम् ( भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ त्ति बेमि ) भूयो भूय उपदर्शयति इत्यहं ब्रवीमीति श्रीभद्रबाहुस्वामी स्वशिष्यान् प्रतीदमुवाचेति । कल्प० ३ अधि० ९ क्षण ।

(७४) सचित्तद्वारम्ः-

इयाणि सचित्तेत्ति । जो पुराणो भावियसड्ढो वा एते दो वि सचित्तो सेसाण चित्ताण पव्वाविज्जति, अह पव्वावेति संसहि यातो चउगुरु, आणातिया य दोसा । वासासु पव्वावितो मा होहि त्ति णिद्धम्मो, तेण ण पव्वाविज्जति । कहं निद्धम्मो भवति ? । उच्यते-वासतेमाणीहिं आउक्काइयविराहणा भवति, ताहे सो भणाति-जइ एते जीवा तो णिस्सरमाणे किं णिपत्त गेण्हह, वियारभूमिं वा गच्छह, कह वा तुज्झेहिं सव्वा साहवो य वासासु चलणे धोवंति, पायलेहणियाए णिल्लिहंति ?, ताहे सो भणाति, असुरू चिक्खल्लमट्टिकाण पाए ण धोवेंति, असुइणो एतो समणस्स य कओ धम्मो । एवं विपरिणतो उ णिक्खमति । अहवा सागारियं काउं साहवो पाए धोवेंति, ततो असमायारी, पाउसदोसो य, असमंजसं ति काउं ण सहति, णिद्धम्मो भवति, मोयणं मोए य उड्डाहेंति, वासे पडते अभावितं सेहं वसहीतो अणिते जइ मंडलीए भुंजति तो उड्डाहं करेति, पाणाइयाए परोप्परसंकट्ठ भुंजंति, अहं पि एतेहिं विट्टालितो, ताहे विपरिणमति, अह मंडलीए न भुंजंति, ताहे असमायारी समयाण कता भवति, जति वा ते साहवो णिस्सरमाणे मत्तएसु उच्चारपासवणाणि आयरंति, सो य तं दट्ठुं विप्परिणामेज्जा, उण्णिक्खमति, उड्डाहं च करेति । अह साहवो सागारियं ति काउं धरेंति, तो आयविराहणा । अह णिस्सरमाणे चेव णिसरंति, तो संजमविराहणा । जम्हा एवमादी दोसा तम्हा वासासु पज्जोसविते ण पव्वावेतव्वो । पुराणे सड्ढे सपुच्छा एते दोसा ण भवंति, तेण ते पव्वाविज्जंति कारणे पज्जोसविते पव्वाविज्जति अतिसती जाणति कारणं जत्थ पुव्वुत्ता दोसा णत्थि त पव्वावेति । अणतिसती वि अव्वोच्छित्तिमाइकारणेहिं पव्वावेति, इमं च जयणं करेति, विवित्ते महंति वसहिं गेण्हंति, आउक्कायजीवचोदणे पाणविज्जति, असरीरो धम्मो णत्थि त्ति काउं मंडली मोएसु जुत्तं करेंति, असमाए वा वसहीए ठवेंति, जत्तेण य उवचरंति । सचित्ते त्ति गयं । इदाणिं अचित्तेत्ति दारं । छारडगलमल्लमादीण गहणं, वासाउडुबद्धगहियाण वोसिरणं, वत्थातियाण धरणं छाराइयाण जति ण गेण्हति तो मासलहुं, भायणे विणा गिलाणादियाण विराहणा, भायणे वि विराधिते लेवेण विणा, तम्हा वत्थादि वित्थारो गहितो एगकोणेऽप्पणो कज्जति, जति ण कज्जं तलियाहितो वि गिज्झति, अह कज्जं ता हितो छारपुंजस्स मज्झे ठविज्जति, पणगमादिससज्जणमयाओ भयं काउं तडियाडगलं च सव्वं पडिलेहंति, एवं सजोएत्ता अप्पडिभुज्जमाणभायाण हेट्ठा पुप्फके कीरंति, छारेण य उ गुविज्जति, सइ भायणेण पडिलेहिज्जति, अहापरिभुज्जमाणं भायणं णत्थि, ताहे मल्लएण पडिलेहिज्जति, अहापरिभुज्जमाण भायण णत्थि, ताहे मल्लगं छिविता ण पडिहरत्थ भरिज्जति । एवं कारणे य गहणं कारणे वोसिरणं, कारणे गहणं धरणं । दव्वट्ठवणा गता ।

इयाणिं भावठवणा-

इरिएसणभासाणं, मणवयसा काय य दुच्चरिते ।
अहिकरणकसायाणं, संवच्छरिए वि ओसमणं ॥५५८॥

इरियासमिती,एसणासमिती,भासासमिती। एतेसिं गहणे आयाणणिक्खमणासमिती, पारिठावणियासमिती य गहियाओ एतासु पंचविहसमितीसु वासासु समिएण भवियव्वं। एवं उक्के चोदकाऽऽह-उडुबद्धे किं असमितेण भवितव्वं, जेण वासासु पंचसु वि समितीसु वासाउवत्तेण भवियव्वमिति भणसु?।

आचार्य आह-

कामं तु सव्वकालं, पंचसु समितीसु होति जतियव्वं ।
वासासु य अहिकारो, बहुपाणा मेदिणी जेणं ॥५५९॥

काम तु काममनुमतार्थे। यद्यपि सर्वकालसमितो भवति तहा वि वासासु विसेसे अधिकारो कीरति, ज ण तदा बहुपाणा मेदिणी आगासमेति त्ति पुढवी। एव ताव सव्वासिं सामण्ण भणिय।

इयाणिं एक्केकाए समितीए दोसा भणति-

भासणे संति वहो, दुष्षेअ णेहछेओ तातियाए ।
इरिए चरिमासु दोसु य,अपेह अपमज्जणे पाणा ॥५६०॥

(भासणे त्ति) भासमिती ते असमियस्स असमजसं भासमाणस्स मक्खिगादिसपातिमाण मुहे पविसंताण वधो भवति। आदिग्गहणातो आउक्काय फुसिया सचित्तपुढविरओ सचित्तवातो य मुहे पविसति। ततियासणासमिती पडिक्कमणऽज्झयणे सुत्ता हिताणुक्कमेण वासासु तस्स विराहणा, किं पुण अणुवउत्तस्स, उदउल्लपुक्खेमाणं च हत्थमत्ताण णेहच्छेयं दुक्ख जाणति, स्निग्धकालत्वात् दुर्ज्ञेयो दुर्विज्ञेयः आउक्काइयच्छेदो परिणमति, अचित्तीभवतीत्यर्थः। (इरिए त्ति) इरियासमितीअए अणुवउत्तो छज्जीवणिकाये विराहेति। (चरिमासु त्ति) आयाणे णिक्खेवणासमिती, पारिठावणियासमिती य। एता दो चरिमाओ एयासु अणुवउत्तो जइ पडिलेहणपमज्जणं करेति, दुप्पडिलेहियदुप्पमज्जिय करेति वा। एयासु वि एव छज्जीवणिकायविराहणा भवति।

पंचसमिओ आहरणातो जहा आवस्सए-

मणवयसकायगुत्तो, दुच्चरिताणि व णेचमालोए ।
अहिकरणेसु दुरूतग, पज्जोए चेव दमए य ॥ ५६१ ॥

मणेण वायाए काएण य जो गुत्तो गुत्तीण उदाहरणा जहा आवस्सए। ज किंचि मूलगुणेसुत्तरगुणेसु समितीसु गुत्तिसु वा उदुबद्धे वासासु य दुच्चरियं त वासासु खिप्पं आलोएव्वं। नि० चू० १० उ०।

(२६) इम च वासासु कायव्वं-

पच्छित्ते बहुपाणा, कालो बलिओ चिरं वि ठायव्वं ।
सज्झायसंजमतवे, धणियं अप्पा निओयव्वो ॥५७३॥

अट्ठसु उडुबद्धिएसु मासेसु जं पच्छित्त संचिय णवुढ त वासासु वोढव्वं। किं कारणं तं वासासु वुब्भते?। भण्णते-जेण वासासु बहू पाणा भवंति, त हिंडतेहिं वाहिज्जंति, सीयाणुभावेण य कालो बलितो, सुहं तत्थ पच्छित्त वोढु सक्कति, एगक्खेत्ते चिर अत्थियव्वं,तेण वासासु पच्छित्तं वुज्झति। अवि य-सीयलगुणए पलिया इंदियाइं भवंति,तद्दप्पणिरोहणत्थं तवो कज्जति, पंचपगारसज्झाए उज्जमियव्वं, सत्तरसविहे य संजमे बारसविहे य तवे अप्पा धणियं सुट्ठु णिओयव्वो, णिउंज्जितव्वमित्यर्थः।

गाहा-

पुरिमचरिमाण कप्पो, उ मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि ।
तो परिकहिया जिणपरि-कहिए थेरावली चेत्थ ॥५८३॥

पुरिमा उसभसामिणो सिस्सा, चरिमा ण चरिमसामिणो। एतेसिं एस कप्पो चेव,ज वासासु पज्जोसविज्जति वासं पडउ,मा वा। मज्झिमाण पुण भणित पज्जोसवेंति वा, ण वा। जति दोसो अत्थि तो पज्जोसवेंति वा,ण वा। जति इहरहा णो मंगलं वद्धमाणसामितित्थे भवति,जेण य मगल तेण सव्वजिणाण चरितादि कहिज्जंति, समोसरणाणि य। सुधम्मादियाण थेराण आवलिया कहिज्जति।

एत्थ सुत्तणिबद्धे य इमो कप्पो कहिज्जति-

सुत्ते जहा निबंधो, वग्घारियभत्तपाणमग्गहणं ।
णाणट्ठि तवस्सी अण-हियासि वग्घारिए गहणं ॥५८४॥

णो कप्पति णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा वग्घारियवुट्ठिकायसि गाहावतिकुलं वा भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। वग्घारिय णाम-ज तिण्णि वास पडति,जत्थ वा णिव्व वासकप्पो वा गलति, जत्थ वा वासकप्प भेत्तूण अतो काय उल्लेति, एय वग्घारियवास वरिसे ण कप्पति भत्तपाण घेत्तु, सुत्ते जहा णिबधो तहा न कल्पतीत्यर्थः। अवग्घारिए पुण भत्तपाणग्गहण कप्पति, से अप्पवुट्ठिकायसि सतरुत्तरसि, सतरमिति अतरकप्पो, उत्तरमिति वासकप्पकंबली। इमेहिं कारणेहिं बितियपदे वग्घारियवुट्ठिकाए वि भत्तपाणग्गहण कज्जति-णाणट्ठी पच्छद्धं। (णाणट्ठि त्ति) जदा कोति साहू अज्झयण सुत्त खधमग वा अहिज्जति, वग्घारियवास पडति, ताहे सो वग्घारिए वि हिंडति। अहवा-छुहालू अणधियासो वग्घारिए हिंडइ। एते तिण्णि वग्घारिते सतरुत्तरा हिंडति। सतरुत्तरस्य व्याख्या पूर्ववत्। अहवा-इह सतर जहासत्तीए चउत्थमादी करेंति, उत्तरमिति वायसुत्तादिएण अडति।

गाहा-

संजमखेत्तचुयाणं, णाणट्ठि तवस्सि अणहियासी य ।
आसज्ज निक्खकालं,उत्तरकरणेण जतियव्वं ॥ ५८५ ॥

संजमखेत्तचुता व जे णाणट्ठी तवस्सी अणधियासीया, जोएते सव्वे भिक्खाकाले उत्तरकरणेण भिक्खग्गहण करेंति।

के य पुण संजमे खेत्त-

ओसियवासाकप्पं, लाउयपातं व लब्भती जत्थ ।
सज्झाएसणसोहो, वरिसइ काले य तं खेत्तं ॥ ५८६ ॥

जत्थ खेत्ते उण्णियवासा कप्पा लब्भति, जत्थ अलाउपाना चाउक्कालो य सुज्झति, सज्झाओ जत्थ य भत्तादीय सव्वं एसणासुद्ध लब्भति, विविध च धम्मसाहणोवकरणं जत्थ

लब्भति। कालवरिसी णाम-रातो वासइ, ण दिवा। अहवा भि-क्खावेल,सण्णाभूमिगमणवेलं च मोत्तु वासति। अथवा-वासासु वासति, णो उडुबद्धे, भकालवरिसाए य । सजमखेत्ततातो असिवादिकारणेहिं चुना णाणट्ठितवरिसअधियासे त्ति तिण्णि वि एगगाहाए वक्खाणेति ।

गाहा-

पुव्वाहीयं णासति, णवं च छातो ण पच्चलो घेत्तुं ।
खमगस्स य पारणए,वरती असहू व बालादी ॥५०७॥

छुभाभिभूयस्स परिवार्मि अकुव्वतो पुव्वाधीत णासेति, णभिणव वा सुत्तत्थं छातो घहीतुमसमत्थो भवति, खम-गपारणए वा वसति, बालादी असहू वा वा सते असम-त्था उववास काउ, ताहे इमेण उत्तरकरणेण गच्छति ।

गाहा-

बालेसु य तेमऽसती, कुड पलास छत्तए य पाच्छिमए ।
णाणट्ठिया तवस्सी, अणहियासि अह उत्तरविसेसो ।५०८।

वरिसते वत्थवासो कायव्वो, असहू कारणे वा (बाले त्ति) उ-ण्णियवासाकप्पेण पाउतो अडति, उण्णियस्स असति उट्टिए-ण अडति, उट्टियासति कुतवेण, ताहे य एय पलासप-त्तेहिं वागमेण विणो छत्तय कीरड, त सिर काउ हिंडति । तस्सऽसति विद्दलमादिछत्तएण हिंडति । एसो सजमखे-त्तसुत्तादियाण वासासु वासते उत्तरकरणविसेसो भणितो । सव्वो य एस पज्जोसवणाविधी भणितो ।

बितियपदेण पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेति, अपज्जोसवणाए वा पज्जोसवेज्जा, इमेहिं कारणेहिं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, दोसु वि सुत्तेसु अप्पबहू ॥ ५०९ ॥

पज्जोसवणाकाले पत्ते असिव होहिति त्ति णो तेण प-ज्जोसविस्सा ओमरसु वि एव अतिक्कते वा पज्जोसवेज्जा, महद्धट्ठाणातो वा चिरेण णिग्गया, तेण पज्जोसवणाए पज्जो सवेज्जा,बोहियभएण वा णिग्गता अतिक्कतो पज्जोसवेति। ए-वं दोसु वि पत्तेसु अप्पाबहु णाऊण पज्जोसवेति, अपज्जो-सवणाए वा पज्जोसवेति । नि० चू० १० उ० ।

पर्युषणाकल्पसामायारी-

जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा पज्जोसवेइ, पज्जोसवंत वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

गाहा-

पज्जोसवणाकप्पं, पज्जोसवणा य जो तु कड्ढेज्जा ।
गिहिअण्णतित्थिओस-न्नसंजतीणं च आणादी ॥५०७॥

पज्जोसवणा पुव्व वण्णिता, गिहत्थाण अण्णतित्थियाण गिह-त्थीण अण्णतित्थणीण ओसण्णाण य सजतीण य जो एते प-ज्जोसवेति । पज्जोसवणाकप्प पर्युपणाकल्प पठतीत्यर्थ । तस्स चउगुरू, आणादिया य दोसा ।

गाहा-

गिहिअण्णतित्थिओस न्न दुगतेगुणेहिंऽणुववेया ।
सम्मीववासससंका-दिणो य दोसा समणिवग्गे ॥५०८॥

गिहत्था गिहत्थीओ एय दुग, अहवा अण्णतित्थिया अण्ण-तित्थिणीओ। अहवा-ओसण्णा,ओसण्णीओ एते दुगा। सजमगु-णेहिं अणुववेया तेण तेसिं पुरतो ण कड्ढिज्जति। अहवा-ए-तेहिं सह समीववासे दोसा भवति, इत्थीसु य सकमा-दिया दोसा भवति, सजतीओ जइ सजमगुणेहिं उववेयाओ तथा वि समीववासाईओ, संकादोसो य ।

गाहा-

दिवसतो न चेव कप्पति, खेत्तं पडुच्च सुणेज्जिमं तेसिं ।
असती पढइ तासिं, दंडगमादित्थितो कड्ढे ॥५०९॥

पज्जोसवणकप्पो दिवसतो कड्ढिज्जति, तस्स वि साहू ण कड्ढेति, पासत्थो कड्ढति, त साहू सुणेज्जा, ण दोसो, पास-त्थाण वा कड्ढगस्स असति णिइगेण वा अज्झट्ठिओ, सड्ढेहिं वा ताहे दिवसतो कड्ढति ।

(२७) पर्युषणाकल्पकथने सामाचारी-

पज्जोसवणाकप्पकड्ढणे इमा सामायारी-अप्पणो उवस्सए पा-दोसिए आवस्सए कते कालं घेत्तु काले सुद्धे वा पट्ठवेत्ता कड्ढिज्जति । एव चउसु वि रातीसु । पज्जोसवणरातीए पुण कड्ढिए सव्वे साधू समप्पावणीयं काउस्सग्ग करेति । पज्जो-सवणकप्पस्स समप्पावणी करेमि काउस्सग्ग ज खंडियं ज विराहियं ज ण पूरियं सव्वो दडओ कड्ढियव्वो० जाव वोसिरा-मि त्ति " लोगस्सुज्जोयकर " चिंतेऊ उस्सारेत्ता पुणो " लो-यस्सुज्जोयकरं" कड्ढित्ता सव्वे साहवो णिसीयति, जेण क-ड्ढितो सो ताहे कालस्स पडिक्कमति, ताहे वरिसाकालठव-णे ठविज्जति। एसा विधी भणिता। कारणे गिहत्थअण्णति-त्थियपासत्थे य पज्जोसवेति । कह ?, भणति ।

गाहा-

वितियं गिहिओसण्णा, कड्ढिज्जंतम्मि रत्ति एज्जाहि ।
असती असंजतीए, जयणाए दिवसतो कप्पे ॥ ६०० ॥

सजतितो कड्ढिज्जति गिहत्था अण्णतित्थिया ओसण्णो वा आग च्छेज्जा तो वि ण ठवेज्जा। एव सेज्जियमादिइत्थीसु वि सजतीतो वि अप्पणो पडिस्सए चेव रातो कड्ढति । जइ पुण सजती-ए सभोतियाण कड्ढतियाण होज्ज तो अहाणाए कुलाण आ-सण्णपडिदुवारे सलोए साहुणीए य अतरे चिलिमिलि दाउ दिवसतो कड्ढिज्जति, पूर्ववत् ।

जे भिक्खू पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइ चीवराइं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंत वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

बितियसमोसरण उडुबद्ध, त पडुच्च वासावासोग्गहो पढ-मसमोसरण भणति। सेसा सुत्तपदा कठा। त वत्थपादा-दिगहण सेवमाणे आवज्जति प्राप्नोति चउमासेहिं णिप्फ-ण्णचाउम्मासिय अणुग्घातिय गुरुग पावति ।

इमो सुत्तत्थो-

पढमं ति समोसरणे, वत्थ पायं व जे पडिग्गाहे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ६०१ ॥

जो गेण्हइ सो आणाइक्कम करेति, अणवत्था य तेण कता भ-वति, मिच्छत्त च जणेति, न यथा वादिनस्तथा कारिण इति आयविराहण च पावति ।

पढमे समणे उवही,ण कप्पती पुव्वगहियअतिरित्ते ।
अप्पत्ताणं तु गहणं, उवहिस्सा सातिरेगस्स ॥६०१॥

जइ पढमसमोसरणे कप्पति उवधी घेत्तु,तो किं कायव्वं ?। उच्यते-पुव्वगहितो अतिरित्तो उवधी परिभोत्तु । कथ पुण सो अतिरेगो उवधी घेत्तव्वो ?। उच्यते-अप्पत्तेहिं ति खेत्तकाले अपत्तपत्तेहिं चउभंगो कायव्वो। सो इमो चउभंगो खेत्तओ णामेगे पत्ता नो कालओ १,कालतो नामेगे पत्ता न खेत्ततो २,एगे खेत्तओ वि कालओ वि पत्ता ३,एगे णो खेत्तओ णो कालओ पत्ता ४। इमो पढमभंगो उडुबद्धितो चरिममासकप्पो जत्थ कतो अण्णखेत्तासतीए कारणतो वा, तत्थेव वासं काउमाणो खेत्ततो, इमो ततियभंगो-जे चरिमखेत्त आसाढपुण्णिमा जाता एते कालतो एत्ताण, खेत्ततो इमो ततियभंगो-जे वरिसखेत्त आसाढपुण्णिमाए पविट्ठा ते उभयएण वि पत्ता आसाढपुण्णिम अपत्ताण अतरे अद्धाणे वट्टमाणाण एवं उभयएण वि अप्पत्ताण चरिमभंगो भवति । नि० चू० १० उ० ।

(२८) अथ यस्मिन्काले वर्षावासे स्थातव्य यावन्त वा काल येन वा विधिना तदेतदुपदर्शयति-

आसाढपुण्णिमाए, वासावासु य होति अतिगमणं ।
मग्गसिरबहुलदसमी-उ जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि ॥५९०॥

आषाढपूर्णिमायां वर्षावासप्रायोग्ये क्षेत्रे गमन प्रवेशः कर्त्तव्य भवति । तत्र चाऽपवादतो मार्गशीर्षबहुलदशमीं यावदेकत्र क्षेत्रे वस्तव्यम्। एतच्च चिक्खल्लवर्षाऽऽदिक वक्ष्यमाणं कारणमङ्गीकृत्योक्तम्। उत्सर्गतस्तु कार्तिकपूर्णिमायां निर्गन्तव्यम्।

इदमेव भावयति -

बाहिट्ठिय वसभेहिं, खेत्तं गाहित्तु वासपाउग्गं ।
कप्पं कहित्तु ठवणे, सावणबहुलस्स पंचाहे ॥ ५९१ ॥

यत्राऽऽषाढमासकल्प कृतस्तत्रान्यत्र वा प्रत्यासन्नग्रामे स्थिता वर्षाक्षेत्र वृषभै साधुसामाचारीं ग्राहयन्ति, ते च वृषभा वर्षाप्रायोग्य संस्तारकतृणडगलक्षारमल्लकाऽऽदिकमुपधिं गृह्णन्ति, तत आषाढपूर्णिमायां प्रविष्टा प्रतिपद आरभ्य पञ्चभिरात्रिन्दिवैः पर्युषणाकल्प कथयित्वा श्रावणबहुलपञ्चम्यां वर्षाकालसामाचार्याः स्थापनां कुर्वन्ति, पर्युषणयन्तीत्यर्थः ।

एत्थ य अणभिग्गहियं, वीसतिरायं सवीसगं मासं ।
तेण परमभिग्गहियं, गिहिजायं कित्तिउं जाव ॥५९२॥

अत्रेति श्रावणबहुलपञ्चम्यादौ आत्मना पर्युषितेऽपि अनभिगृहीतमनवधारित गृहस्थानां पुरत कर्त्तव्यम्। किमुक्त भवति?- यदि गृहस्था पृच्छेयु -आर्या यूयमत्र स्थिता वा,न वेति एव पृष्टे सति स्थिता वयमत्रेति सावधारण न कर्तव्य किं तु साकार,यथा-नाद्यापि कोऽपि निश्चय', स्थिता अस्थिता वेति । इत्यमनभिगृहीत कियन्तं काल वक्तव्यम् ?, उच्यते-यद्यभिवर्द्धितोऽसौ संवत्सरस्ततो विंशतिरात्रिन्दिवानि । अथ चन्द्रोऽसौ,तत सविंशतिरात्र मास यावदनभिगृहीत कर्तव्यम् ।(तेण ति)विंशतिरात्रात् परं विंशतिरात्रात् सविंशतिरात्रमासाद्वोऽर्द्धमभिगृहीतं निश्चित कर्तव्य,गृहिज्ञात च गृहस्थानां पृच्छतां ज्ञापना कर्तव्या, यथा वयमत्र वर्षाकाल स्थिता । एतच्च गृहज्ञात कार्तिकमास यावत् कर्तव्यम् । किं पुन कारणं गते काले इयतां एव गृहज्ञात क्रियते, नार्वागिति ?। अत्रोच्यते-

असिवाइकारणेहिं, अहवा ण वासं सुट्ठु आरद्धं ।
अभिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसतीमासो ॥५९३॥

कदाचित्तत्र क्षेत्रे अशिव भवेत्, आदिशब्दात्, राजद्विष्टाऽऽदिक वा भयमुपजायेत, एवमादिभि कारणै । अथवा-तत्र क्षेत्रे न सुष्ठु वर्ष वर्षितुमारब्ध, येन धान्यनिष्पत्तिरुपजायते, ततश्च प्रथममेव स्थिता वयमित्युक्ते पश्चादशिवाऽऽदिकारणे समुपस्थिते यदि गच्छन्ति ततो लोको ब्रूयात्-अहो एते आत्मान सर्वज्ञपुत्रतया ख्यापयन्ति , पर न किमपि जानते, मृषावादं वा भाषन्ते-स्थिताः स्म इति भणित्वा सम्प्रति गच्छन्तीति कृत्वा, अथाशिवाऽऽदिकारणेषु संजातेष्वपि तिष्ठन्ति, तत आज्ञाऽऽदयो दोषा. । अपि च-स्थिता स्म इत्युक्ते गृहस्थाश्चिन्तयेयु.-अवश्य वर्षं भविष्यति, येनैते वर्षारात्र स्थिता., ततो धान्य विक्रीणीयु , गृह वा छादयेयु., हलाऽऽदीनि वा संस्थापयेयुः । यत एवमतोऽभिवर्द्धितवर्षे विंशतिरात्रे गते, इतरेषु च त्रिषु चन्द्रसंवत्सरेषु सविंशतिरात्रे मासे गते गृहिज्ञातं कुर्वन्ति ।

एत्थ उ पणगं कारणि-गं जाव सवीसती मासो ।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढा पुण्णिमा सवणं ॥५९४॥

अत्रेति आषाढपूर्णिमायां स्थिता पञ्चाहं यावद् दिवा संस्तारकडगलाऽऽदि गृह्णन्ति रात्रौ च पर्युषणाकल्प कथयन्ति, तत श्रावणबहुलपञ्चम्यां पर्युषण कुर्वन्ति । अथाऽऽषाढपूर्णिमायां क्षेत्र न प्राप्तास्तत एवमेव पञ्चरात्र वर्षावासप्रायोग्यमुपधिं गृहीत्वा पर्युषणाकल्प च कथयित्वा दशम्यां पर्युषयन्ति । एव कारणिक रात्रिन्दिवानां पञ्चक पञ्चक वर्धयता तावन्नेय यावत् सविंशतिरात्रो मास· पूर्ण । अथवा-आषाढशुद्धदशम्यामेव वर्षाक्षेत्रे स्थितास्ततस्तेषां पञ्चरात्रेण डगलाऽऽदौ गृहीते पर्युषणाकल्पे च कथिते आषाढपूर्णिमायां समवसरण पर्युषण भवति, एष उत्सर्ग., शेष काल पर्युषणमनुतिष्ठता सर्वोऽपवादः । अपवादेऽपि सविंशतिरात्रात् मासात् परतो नातिक्रमयितुं कल्पते, यद्येतावतोऽपि गतवर्षाक्षेत्र न लभ्यते ततो वृक्षमूलेऽपि पर्युषणयितव्यम् ।

अथ पञ्चकपरिहाणिमधिकृत्य ज्येष्ठकल्पावग्रहप्रमाणमाह-

इय सत्तरी जहन्ना, असती णउई दसुत्तरसयं च ।
जति वासति मग्गसिरे,दस राया तिण्णि उक्कोसा ।५९५।

इतिरुपप्रदर्शने, ये किलाषाढपूर्णिमायां सविंशतिरात्रे मासे गते पर्युषयन्ति, तथा सप्ततिर्दिवसानि जघन्यो वर्षावासावग्रहो भवति, भाद्रपदशुद्धपञ्चम्या अनन्तर कार्तिकपूर्णिमायां सप्ततिदिवससद्भावात् । एव ये भाद्रपदबहुलदशम्यां पर्युषयन्ति तेषामशीतिर्दिवसा मध्यमो वर्षाकालावग्रहः । श्रावणपूर्णिमाया नवतिर्दिवसा श्रावणबहुलदशम्या दशोत्तरं दिवसशत मध्यम एव वर्षाकालाऽऽवग्रहो भवति । शेषान्तरेषु दिवसपरिमाण गाथायामनुक्तमपीत्थं वक्तव्यम्-भाद्रपदामावास्यां पर्युषणं क्रियमाणे पञ्चसप्ततिर्दिवसा , भाद्रपदबहुलपञ्चम्या पञ्चाशीतिः, श्रावणशुद्धदशम्या पञ्चनवतिः, श्रावणामावास्यां पञ्चोत्तरशत, श्रावणबहुलपञ्चम्यां पञ्चदशोत्तर शतम् आषाढपूर्णिमाया तु पर्युषिते विंशत्युत्तर दिवसशत भवति । एवमेतेषां प्रकाराणामन्यतरेषां वा समये क्षेत्रे स्थित्वा कार्तिकचातुर्मासिकप्रतिपदि निर्गन्तव्यम् । कथ

मार्गशीर्षे वर्षे वर्षति, कर्दमजलाऽऽकुलाश्च पन्थान., ततोऽपवादेनैक दशरात्रमवतिष्ठन्ते । अथ तथापि वर्षं नोपरमते ततो द्वितीय दशरात्र तत्राऽऽसते, अथैवमपि वर्षं न तिष्ठति,तत स्तृतीयमपि दशरात्रमासते । एव त्रीणि दशरात्राणि तुत्कर्षतस्तत्र क्षेत्रे आसितव्य, मार्गशिर-पूर्णमासी यावदित्यर्थ । तत ऊर्द्ध्वं यद्यपि कर्दमाऽऽकुला पन्थानो, वर्षं वा गाढमनुपरत वर्षति, यद्यपि च पानीयै पूर्यमाणै. तदानीं गम्यते, त थाप्यवश्य निर्गन्तव्यम् । एव पाण्मासिको ज्येष्ठकल्पावग्रह सपन्न ।

अथ तमेव षाण्मासिकमाह-

काऊण मासकप्प, तत्थेव ठिताणऽतीतमग्गसिरे ।
सालंबणाण छम्मा-सिओ उ जिट्ठोग्गहो होति ॥४६६॥

यस्मिन् क्षेत्रे आषाढमासकल्प कृत तद्वर्षावासयोग्यमन्यच्च तथाविध क्षेत्र नास्ति ततो मासकल्प कृत्वा तत्रैव वर्षावास स्थितानां ततश्चतुर्मासानन्तर कर्दमवर्षाऽऽदिभि कारणैरतीते मार्गशीर्षमासे निर्गच्छता सालम्बनानामेवंविधाऽऽलम्बनसहितानां षाण्मासिको ज्येष्ठावग्रहो भवति, एकक्षेत्रे अवस्थानमित्यर्थ. ।

अह अत्थि पदवियारो, चउपडिवयम्मि होति निग्गमणं ।
अहवा वि अणिताणं, आरोवण पुव्वनिद्दिट्ठा ॥५०७॥

अथास्ति कर्दमवर्षाऽऽदिकारणभावात्पदविचार , ततश्चतुर्णां मासाना पर्यन्ते यावत् प्रतिपत्त तावत् निर्गमन कर्तव्यम् । अथ ते पदप्रचारसम्भवेऽपि निर्गच्छन्ति ततोऽनिर्गच्छतां पूर्वनिर्दिष्टा मासकल्पे प्रकृते प्रार्गाभिहिता चतुर्लघुकाऽऽख्या आरोपणा मन्तव्या । बृ० ३ उ० ।

( २९ ) अथ द्विविध पर्युषणाद्वारमाह-

पज्जोसवणाकप्पो, होति ठितो अट्ठितो य थेराणं ।
एमेव जिणाणं पि य, कप्पो ठितमट्ठितो होति ॥३५४॥

पर्युषणाकल्प. स्थविरकल्पिकाना जिनकल्पिकानां च भवति। तत्र स्थविराणा स्थितोऽस्थितश्च भवति, एवमेव जिनानामपि स्थितोऽस्थितश्च पर्युषणाकल्प प्रतिपत्तव्य ।

इदमेव भावयति-

चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरि राइदिया जहन्नेण ।
ठितमट्ठितमेगतरे, कारणे वच्चासितऽण्णयरे ॥ ३५५ ॥

उत्कर्षत पर्युषणाकल्पश्चतुर्मास; यावद्भवति, आषाढपूर्णिमाया कार्तिकपूर्णिमा यावदित्यर्थ । जघन्यत. पुनः सप्ततिरात्रिन्दिवानि, भाद्रपदशुक्लपञ्चम्या कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थ । एवंविधे पर्युषणाकल्पे पूर्वपश्चिमसाधव. पुनरस्थितास्ते हि यदि वर्षारात्रो भवति तत एकत्र क्षेत्रे तिष्ठन्ति, अन्यथा तु विहरन्ति । पूर्वपश्चिमा अप्यन्यतरस्मिन्नशिवाऽऽदौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासित विपर्यस्तमपि कुर्यु. । किमुक्त भवति ?-अशिवाऽऽदिभि कारणे ऋतुबद्धे मासस्तूनमधिकं वा तिष्ठेयु , वर्षास्वपि तैरेव कारणैश्चतुर्मासमपूरयित्वाऽपि निर्गच्छन्ति, परभावात् तत्रैव क्षेत्रे तिष्ठन्ति ।

इदमेवाऽऽह-

थेराण सत्तरी खलु, वासासु ठितो उडुम्मि मासा उ ।
वच्चासितो तु कज्जे,जिणाण नियमऽट्ठ चउरो य ॥३५६॥

स्थविराणां स्थविरकल्पिकानां प्रथमपश्चिमतीर्थकरसत्कानां सप्ततिदिनानि, खलु शब्दो जघन्यत इत्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थम्, वर्षासु पर्युषणाकल्पो भवति । तेषामेव ऋतुबद्धे मासमेकत्रावस्थानरूपो मासकल्पः स्थितो भवति । कार्ये पुनरशिवाऽऽदौ व्यासितो विपर्यस्तोऽपि भवति, हीनाधिकप्रमाण इत्यर्थ' । जिनानां तु प्रथमचरमतीर्थकरसत्कजिनकल्पिकानामृतुबद्धे नियमादष्टौ मासकल्पा., वर्षासु तु चत्वारो मासा न्यूनाधिका. स्थिता. कल्पतया मन्तव्याः, निरपवादानुष्ठानपरत्वादेषामिति भाव' ।

दोसासति मज्झिमगा, अत्थंती जाव पुव्वकोडी वि ।
विचरंति य वासासु वि, अकद्दमे पाणरहिए य ॥३५७॥
जिष्णं पि मासकप्प, करंति तणुगं पि कारणं पप्प ।
जिनकप्पिका वि एवं, एमेव महाविदेहेसु ॥ ३५८ ॥

यत्तु मध्यमा अस्थितकल्पिका साधवस्ते दोषाणामप्रीतिकप्रतिबन्धाऽऽदीनामसत्यभावे पूर्वकोटीमप्येकत्र क्षेत्रे आसते, तथा वर्षास्वपि अकर्दमे पुन. चिक्खल्ले प्राणरहिते वसुधातले जाते सति विचरन्ति विहरन्ति, ऋतुबद्धेऽपि यत्प्रतिकावग्रहो वसतेर्व्याघातो वा भवेत्, तत एवमादिकं तनुकमपि सूक्ष्ममपि कारण प्राप्य मासकल्प भिन्नमपि कुर्वन्ति, आपूरयित्वा निर्गच्छन्तीत्यर्थः । जिनकल्पिका अपि मध्यमतीर्थकरसत्का एवमेव मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा स्थिता प्रतिपत्तव्याः । एवमेव महाविदेहेषु ये स्थविरकल्पिका., जिनकल्पिकाश्च तेऽप्यस्थितकल्पिका. प्रतिपत्तव्या । गत पर्युषणाकल्पद्वारम् । बृ० ६ उ० । प्रव० । ध० । प० भा० । प० चू० । पञ्चा० । जीत० ।

विषयसूची-

( १८ ) ऋतुबद्धकाले संस्तारकग्रहणविषयविचारः।
( १९ ) उच्चारप्रस्रवणभूमिः।
( २० ) मात्रकद्वारम्।
( २१ ) लोचविचारः।
( २२ ) अधिकरणम्।
( २३ ) उपाश्रयाः।
( २४ ) योजनान्यवग्रहश्च।
( २५ ) सचित्तलाभः।
( २६ ) वर्षासु यत्कर्त्तव्य तन्निरूपणम्।
( २७ ) पर्युषणाकल्पकर्षणे सामाचारी।
( २८ ) यस्मिन् काले वर्षावासे स्थातव्य यावन्त वा कालं येन वा विधिना तदुपदर्शनम्।
( २९ ) द्विविधपर्युषणाद्वारनिरूपणम्।

पज्जुसवणाकप्प-पर्युषणाकल्प-पुं०। वर्षाकालसामाचार्याम्, पञ्चा० १७ विव०।

पज्जोइय-प्रद्योतित-पुं०। वह्निना ज्वालिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

पज्जोत-प्रद्योत-पुं०। प्रकाशे,स०१ सम०। भ०। सूत्र०। स्वनामख्याते उज्जयिनीराजे, श्रेणिकभार्यायाश्चेल्लणाया भगिन्याःशिवायाः पत्यौ, ( आवश्यकनिर्युक्ति१०३ मूलगाथायामियकथा)

" प्रद्योतनृपतेश्चासित, दिव्या रत्नचतुष्टयी (१८)
लोहजङ्घो लेखहारी, अग्निभीरुस्तथा रथः।
स्त्रीरत्नं च शिवा देवी, गजोऽनलगिरिः पुनः ॥ १९ ॥
लोहजङ्घोऽन्यदाऽगच्छद्, भृगुकच्छं नृपाज्ञया।
दध्यौ तदीशोऽह्नेत्येष, पञ्चविंशतियोजनीम् ॥ २० ॥ "

आ० क० ४ अ०। आ० म०। आ० चू०। व्य०। नि० चू०। आव०। ( श्रेणिकशब्दे विस्तरः ) ( राजगृहनगराऽवरोधोऽभयकुमारेण तत्पराजयोऽन्यत्र )

पज्जोयगर-प्रद्योतकर-त्रि०। प्रद्योतं करोतीति प्रद्योतकरः। प्रकाशकरे, भ०१ श० १ उ०।

पज्जोयगारि-प्रद्योतकारि (न्)-पुं०। श्रीरामशयनतीर्थे पूज्यमानवर्धमानप्रतिमायाम्, ती० ४३ कल्प।

पज्जोयण-प्रद्योतन-पुं०। चन्द्रकुलीने देवसूरिशिष्ये, ग० ३ अधि०।

पज्झंझमाण-प्रझञ्झायमान-त्रि०। शब्दायमाने, ज०१ वक्ष०।

पज्झर-प्रझर-पुं०। जलप्रस्रवणमार्गविशेषे, प्रज्ञा० २ पद।

पज्झरिअ-प्रझरित-त्रि०। पतिते, " निट्ठुरिअ खिरिअं ल्हिसिअ च नीसरिअ पज्झरिअ।" पाइ० ना० ८० गाथा।

पज्झाय-प्रध्यात-न०। चिन्तिते, अनु०।

पज्झुत्त-प्रयुक्त-त्रि०। खचिते, " वेअडिअ पज्झुत्त, खचिअं विच्छुरिअ जडिअ।" पाइ० ना० ८७ गाथा।

पट्ट-पट्ट-पुं०। सुवर्णसूत्रे, ('कलाबत्तू' इति भाषायाम् ) स्था० ५ ठा० ३ उ०। तत्प्रचुरे वस्त्रे. ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। बृ०। पट्टसूत्रमये वस्त्रे. भ० ११ श० ११ उ०। शाके, सू०प्र० २० पाहु०। ज्ञा०। परिधानपट्टे, विपा० १ श्रु० ३ अ०। अथः पट्टाः। तद्यथा-संस्तारपट्ट., उत्तरपट्ट, चोलपट्टश्च। पिं०। प० चू०।

पट्टो वि होइ इक्को,देहपमाणेण सो य भइयव्वो।(४०१)

पट्टोऽपि गणनयैको भवति, स च पर्यन्तभागवर्त्तिवाटकबन्धवद्. पृथुत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दीर्घेण तु स्त्रीकटीप्रमाण, स च देहप्रमाणेन भक्तव्य, पृथुलकटीभागाया दीर्घ. सकीर्णकटीभागायास्तु ह्रस्व इत्यर्थ। (४०१) वृ० ३ उ०। नि० चू०। ललाटाऽऽभरणे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

पट्टइ-देशी- धा०। पिबतीत्यर्थे, दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा।

पट्टइल्ल-पट्टवत्-पुं०। भूमिकरनिबन्धनपट्टोऽस्त्यस्य। प्राकृते मत्वर्थीय इल्ल। प्रधानकृषके राज्ञां प्रकृतौ, ज० ३ वक्ष०।

पट्टकार-पट्टकार-पुं०। पट्टकूलकुविन्दे, प्रज्ञा० १ पद।

पट्टण-पत्तन-न०। पतन्ति तस्मिन् समस्तदिग्भ्यो जना इति पत्तनम्। उत्त०३० अ०।"पट्टण वा" उभयत्रापि प्राकृतत्वेन निर्देशस्य समानत्वात्। प्रज्ञा० १ पद। जलस्थलनिर्गमप्रवेशे, जलस्थलयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशो, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०। कल्प०। विविधदेशाऽऽगतपण्यस्थाने, भ० १ श० १ उ०। विविधदेशपण्यान्यागत्य यत्र पतन्ति तादृशे नगरविशेषे, स० ४८ सम०। रत्नयोण्याम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। रत्नखनौ, उत्त० ३० अ०। ग०। स्था०। " जलपट्टण च थलपट्टण च भवे दुविहं।" पत्तनं द्विधा-जलपत्तन,स्थलपत्तन च। यत्र जलपथेन नावादिवाहनारूढ भाण्डमुपैति तज्जलपत्तन यथा द्वीप, यत्र तु स्थलपथेन शकटाऽऽद्यैः स्थापितं भाण्डमायाति तत् स्थलपत्तन,यथा आनन्दपुरम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। नि० चू०। जलपत्तन यज्जलमध्यवर्ति, यथा काननद्वीपः। स्थलपत्तनं च निर्जलभूभागभावि, यथा मथुरा। उत्त० ३० अ०। स्था०। आचा०। जलस्थलनिर्गमप्रवेशो, यथा भृगुकच्छ.। उक्त च-" पत्तन शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च। नौभिरेव तु यद् गम्य,पट्टन तत्प्रचक्षते ॥१॥" व्य० १ उ०। ओघ०। प्रश्न०। जी०। आचा०। छादनकोशके, औ०।

पट्टबंध-पट्टबन्ध-पुं०। यस्य शिरसि पट्टो बद्धः तस्मिन्, प्रद्योनराजाय बन्धोन्मुक्ताय उदायनराजेन मस्तके पट्टो बद्ध.। " तप्पभिइ पट्टबद्धा रायाणो, पुव्व मउडबद्धा आसी।" आ० म० १ अ०। आ० चू०।

पट्टसंठिय-पट्टसंस्थित-त्रि०। पट्टवत् शिलापट्टकाऽऽदिवत्, शिलापट्टकाऽऽकृतौ, "पट्टसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणीओ।" पट्टवत् शिलापट्टकाऽऽदिवत् संस्थिता पट्टसंस्थिता प्रशस्ता प्रशस्तलक्षणोपेतत्वात् विस्तीर्णा ऊर्द्धाधः पृथुला दक्षिणोत्तरतः श्रोणि. कटेरग्रभागो यासां ता. पट्टसंस्थितविस्तीर्णपृथुलश्रोणयः। जी० ३ प्रति० ४ उ०।

पट्टसुत्त-पट्टसूत्र-न०। मलयकीटजे सूत्रे,आ० म० १ अ०। अनु०।

पट्टाकिइ-पट्टाऽऽकृति-त्रि०। पट्टसंस्थिते, स्था० ६ ठा०।

पट्टावलि-पट्टावलि-स्त्री०। पट्टपरम्परायाम्, ताश्चानेकविधा अनेकैरनेकत्र दर्शिता, यथा गच्छाऽऽचारटीकाकृता विजयविमलगणिना गच्छाऽऽचारवृत्त्यन्ते।

अथ प्रशस्तिर्लिख्यते-

प्रकटितजगदानन्दः, सुरतरुमणिसुरभिमहिमरमणीयः ।
प्रणतेहितप्रणेता, शासननेता जयति वीरः १ ॥ १ ॥
तत्पट्टोदयभानु-र्गणी सुधर्मा २ यथार्थनामाऽभूत् ।
बोधितशरशतचौरः, श्रीजम्बूकेवली ३ चरमः ॥ २ ॥
श्रीमान् प्रभवस्वामी, ४ गणनाथो गुणमणिः सलिलनाथः ।
शय्यंभवोऽपि सूरि-र्मणकपिता सोऽजनिष्ट ततः ५ ॥ ३ ॥
निजगतिनिर्जितभद्रः, कृतभद्रः श्रीगणी यशोभद्रः ६ ।
तत्पट्टे श्रीमन्तौ, संभूतविजयसुभद्रबाहुगुरू ७ ॥ ४ ॥
श्रुतकेवलीह चरमः, स्थूलभद्रस्तयोर्विनेयोऽभूत् ८ ।
शिष्योत्तमौ तदीयौ, सूरिमहागिरिसुहस्तिगुरू ॥ ५ ॥
जिनकल्पपरिकर्मप्रथमः, प्रथया चितः प्रथयति स्म ।
श्रेणिकतः प्रति संप्रति-नृपं द्वितीयः स्म बोधयति ६ ॥ ६ ॥
तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दकावजायेताम् ।
सुस्थितसुप्रतिबद्धौ, कौटिकगच्छस्ततश्च समभूत् १० ॥ ७ ॥
तत्रेन्द्रदिन्नसूरि ११-र्भगवान् श्रीदिन्नसङ्गसूरीन्द्रः १२ ।
तस्य पदे सिंहगिरि-र्गिरिरिवाऽऽधारो गिरि गम्भीरः १३ ॥ ८ ॥
समजनि वज्रस्वामी, जृम्भकदेवार्पितस्फुरद्धिः ।
बाल्येऽपि जातजाति-स्मृतिः प्रभुश्चरमदशपूर्वी १४ । ९ ॥
श्रीवज्रसेनसङ्ग-स्तत्पदपूर्वाद्रिचूलिकाऽऽदित्यः १५ ।
मूलं चान्द्रकुलस्या-जनि च ततश्चन्द्रसूरिगुरुः १६ ॥ १० ॥
पूर्वगतश्रुतजलधि-स्तस्मात्सामन्तभद्रसूरीन्द्रः १७ ।
श्रीमांश्च देवसूरि-स्तदीयपट्टेऽभवद् वृद्धः १८ ॥ ११ ॥
प्रद्योतनाभिधानः १९, ततोऽपि सूरीन्द्रमानदेवाऽऽख्यः ।
शान्तिस्तवेन मारिं, यो जह्रे देवताऽभ्यर्च्यः २० ॥ १२ ॥
श्रीमानतुङ्गसूरि, कर्त्ता भक्तामरस्य गणभर्ता २१ ।
श्रीमान् वीरः सूरिः २२, ततोऽपि जयदेवसूरीन्द्रः २३ ॥ १३ ॥
श्रीदेवानन्दगुरु २४-र्विक्रमसूरि २५ गुरुश्च नरसिंहः ।
बोधितहिंसकयक्षः, २६ क्षपणकजेता समुद्रोऽथ २७ ॥ १४ ॥
हरिभद्रमित्रमभव-त्सूरिः पुनरेव मानदेवगुरुः २८ ।
विबुधप्रभश्च सूरिः, २९ तस्मात्सूरिर्जयाऽऽनन्दः ३० ॥ १५ ॥
श्रीमद्रविप्रभगुरु ३१-र्गरिमालङ्कारगुरुर्यशादेवः ३२ ।
सुद्युम्नः प्रद्युम्ना-भिधश्च सूरिस्ततोऽप्यासीत् ३३ ॥ १६ ॥
विहितोपधानवाच्य-ग्रन्थस्तस्माच्च मानदेवाऽऽख्यः ।
सूरिः समजनि भूयो, मानवदेवार्चितः सततम् ३४ ॥ १७ ॥
( केचिदिदं सूरिद्वयमिह न वदन्ति )
तस्माच्च विमलचन्द्रः, सहेमसिद्धिर्बभूव सूरिवरः ३५ ।
उद्द्योतनश्च सूरिः, दूरीकृतदुरिताङ्कुरव्यूहः ३६ ॥ १८ ॥
अथ गगनवनन्द ९९४ मिते, वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते ।
पूर्वार्धानतो विहरन्, सोऽर्बुदसुगिरेः सावधमागात् ॥ १९ ॥
तत्र वटेलीखेटक-सीमास्थ निसन्थवरवटाध ।
सुमुहूर्त्ते स्वपदेऽष्टौ, सूरीन् संस्थापयामास ॥ २० ॥ (युग्मम्)
ख्यातस्ततो गणोऽयं, वटगच्छाह्वोऽपि वृद्धगच्छ इति ।
अभवत्तत्र प्रथमः, सूरिः श्रीसूरिदेवाह्वः ३७ ॥ २१ ॥
रूपश्रीरिति नृपति प्रतिबोधदोऽथ देवसूरिरभूत् ३८ ।
श्रीसर्वदेवसूरि-र्जज्ञे पुनरेव गुरुचन्द्रः ३९ ॥ २२ ॥
जातौ तस्य विनेयौ, सूरियशोभद्रनामिचन्द्राऽऽह्वौ ४० ।
ताभ्यां मुनीन्द्रः श्रीमुनि-चन्द्रो भूयो गुरुः समभूत् ४१ ॥ २३ ॥
श्रीअजितदेवसूरि, प्राच्यस्तस्माद् बभूव शिष्यवरः ।
वादीति देवसूरि-र्द्वितीयशिष्यस्तदीय इह ४२ ॥ २४ ॥
तत्राऽऽदिमाद् बभावे, गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपसिंहः ४३ ।
तस्याप्युभौ विनेयौ, बभूवतुर्भूमिविख्यातौ ॥ २५ ॥
ख्यातस्तत्र शतार्थः, सोमप्रभसूरिपुङ्गव प्रथमः ।
श्रीमणिरत्नगणीन्द्रो, गुणगणमणिनीरनिधिरन्यः ॥ ४४ ॥ २६ ॥
शिष्या मणिरत्नगुरो-स्ततो जगच्चन्द्रसूरयोऽभूवन् ।
भूतलविदिता नूतन-वैराग्याऽऽवेगभाजस्ते ॥ २७ ॥
श्रीचैत्रगणाम्भोधौ, विधूपमाद्देवभद्रगणिमिश्रात् ।
उपसंपन्नाश्चरणं, विधिना संवेगवन्तश्च ॥ २८ ॥
आचाम्लाऽऽख्यतपोऽभि-ग्रहवन्तो व्यधुर्विधूतमलाः ।
शरकरटितरणि-१२८५वर्षे, ख्यातस्ततः इति तपागच्छः ४५ ॥ २९ ॥
( विशेषकम् )
" तेषामुभौ विनेयौ, देवेन्द्रगणीन्द्रविजयचन्द्राऽऽह्वौ ४६ ।
श्रीदेवेन्द्रगुरोरपि, शिष्यौ द्वौ भूतलख्यातौ ॥ ३० ॥
श्रीविद्यानन्दगणी, प्रथमोऽन्यो धर्मघोषसूरिरिति ४७ ।
अथ सोमप्रभसूरिः ४८, तस्य विनेयास्तु चत्वारः ॥ ३१ ॥
श्रीविमलप्रभसूरिः (१), श्रीपरमानन्दसूरिगुरुराजः (२) ।
श्रीपद्मतिलकसूरि (३)-र्गणतिलकः सोमतिलकगुरुः ॥ ३२ ॥
श्रीसोमप्रभसूरेः, पट्टे श्रीसोमतिलकसूरीन्द्राः ४९ ।
तेषां त्रयो विनेया-स्तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथमः ॥ ३३ ॥
सूरिर्जयानन्दोऽन्य-स्तृतीयका देवसुन्दरा गुरवः ।
श्रीसोमतिलकसूरे-स्त एव पट्टाम्बराऽऽदित्याः ५० ॥ ३४ ॥
तेषां पञ्च च शिष्याः, प्रथमे श्रीज्ञानसागरा गुरवः ।
कुलमण्डना द्वितीयाः, श्रीगुणरत्नास्तृतीयाश्च ॥ ३५ ॥
तुर्या अहार्यवीर्याः, गुरवः श्रीसोमसुन्दरप्रभवः ।
साम्प्रतं च पञ्चमा अपि, गुरवः श्रीसाधुरत्नाऽऽह्वाः ॥ ३६ ॥
श्रीदेवसुन्दरगुरोः, पट्टे श्रीसोमसुन्दरगणीन्द्राः ।
अभवन् युगप्रधानाः ५१, शिष्यास्तेषां च पञ्चैते ॥ ३७ ॥
श्रीमुनिसुन्दरसूरिः, १, श्रीजयचन्द्रो गुरुर्महिमधाम २ ।
श्रीभुवनसुन्दरगुरु ३-र्जिनसुन्दर ४ सूरिजिनकीर्तिः ॥ ३८ ॥
श्रीसोमसुन्दरगुरोः, पट्टे मुनिसुन्दरो युगप्रवरः ५२ ।
तत्पट्टमुकुटरत्नं, रत्नशेखरो गुरूत्तमः ॥ ३९ ॥
श्राद्धविधिसूत्रवृत्त्या-द्यनेकसद्ग्रन्थनिर्मितिपटिष्ठः ५३ ।
लक्ष्मीसागरसूरि-स्तत्पट्टमण्डनमतिगरिष्ठः ५४ ॥ ४० ॥
आसीत्तदीयपट्टे, गुरुर्गुणी सुमतिसूरीन्द्रः ५५ ।
श्रीहेमविमलसूरि-स्तदीयपट्टे गुरुः समभूत् ५६ ॥ ४१ ॥
अथ तु पमोत्थदोषात्, प्रमादवशचेतसा ममत्वभृतः ।
अभवन्मुनयः प्रायः, स्वाचाराऽऽचरणशैथिल्याः ॥ ४२ ॥
किञ्चिन्निक्रियाण्यसमञ्जसं तत्
शास्त्रार्थशून्यैः प्रतिभोज्झितैश्च ।
लुब्धकाऽऽद्यनादेयमतान्धकूपेऽ-
प्यन्धैरिवोच्चैः पतितं प्रभूतैः ॥ ४३ ॥

इतश्च--

श्रीहेमविमलसूरि-र्दूरीकृतकल्मषः ससूरिगुणः ।
ज्ञात्वा योग्यं तूर्णं, धर्मस्याऽभ्युदयसंसिद्ध्यै ॥ ४४ ॥
सौभाग्यभाग्यपूर्णं संवेग-तरङ्गनीरनीरनिधिम् ।
आनन्दविमलसूरिं, निजपट्टे स्थापयामास ५७ ॥ ४५ ॥ (युग्मम्)
धन्या नागरसकाशा-त्तपोभिर्दुस्तपैर्भृशम् ।
स्थूलभद्रोपमाः सर्वे, प्रज्ञ-स्त्वर्ग्यगुणैरपि ॥ ४६ ॥

श्रीमदानन्दविमल-प्रभवः शासनाद् गुरो ।
शश्वत् शुद्धां क्रियां कर्तु-मकुर्वन्निश्चलं मनः ॥४७॥ (युग्मम्)
अथ कुमार्गपतज्जनतोद्धृतौ, विनयभावमवाप्य सहायकम्,
सविनयं नयनिर्मलमानसं, मुद्रमधाद्विशदां गुरुपुङ्गवः ॥४८॥
श्रीविनयभावसञ्ज्ञे, विद्वद्वरैः भयुताः सहायैस्ते ।
समनासहिता हित्वा, वस्त्राऽऽदिपरिग्रहे ममताम् ॥ ४९ ॥
श्रीविक्रमनृपकालात्, भुजगशरशशि १५८२ मिते गते वर्षे ।
चक्रुश्चरणोद्धरणं, शरणं संवेगवेगवताम् ॥ ५० ॥ (युग्मम्)
तदा च तेषां जगदुत्तमानां, संविग्नतासारसप्रसिक्तः ।
स्थानि गतोऽपीह चरित्रधर्म-कल्पद्रुमः पल्लवितो बभूव ॥५१॥
स गुरुर्गरिमौदार्य-स्थैर्याऽऽदिगुणसेवधिः ।
निर्ममत्वः शरीरेऽपि, तपस्तेपे सुदुस्तपम् ॥ ५२ ॥
अथ तच्चरितं किञ्चि-दालोच्य स्वरूपापकः ।
कृतवानुपवासाना-मशीत्यभ्यधिकं शतम् ॥ ५३ ॥
अर्हदादिपदध्याय, विंशतिस्थानकं तपः ।
निर्विकारश्चकारैव, चतुःशतचतुर्थकैः ॥ ५४ ॥
चक्रे पुनस्तपस्तद्वरिष्ठैः षष्ठैः चतुश्शतप्रमितैः ।
विंशतिषष्ठानि ततो, विहरज्जिनं समाश्रित्य ॥ ५५ ॥
तीर्थाधिपवीरविभोः, षष्ठानि नवेन्दुनेत्रकृत २२९ मितानि ॥
पाक्षिकमुखेषु पर्वसु, षष्ठानि बहूनि चान्यानि ॥५६॥
द्वादशानि प्रभुः पञ्च, चक्रे प्रथमकर्मणः ।
तानि पञ्चान्तरायस्य, नवैव दशमानि तु ॥ ५७ ॥
दर्शनाऽऽवरणस्यापि, मोहनीयस्य कर्मणः ।
अष्टाविंशतिमष्टमानि, विशिष्टाष्टमकानि च ॥ ५८ ॥ (युग्मम्)
अष्टमदशमान्येव, वेद्ये गोत्रे तथाऽऽयुषि बहूनि ।
कृतवान् भगवान्नाम्नो, न च जज्ञे कर्मणस्तु नगः ॥५९॥
तपोभिरेव विहितैरनेकै-रनुत्तरैः श्रीगुरुकुञ्जरोऽसौ ।
वपुः सुशोषाऽऽस्तसमस्तदोषः,सम समग्रैर्दुरितैः स्वकीयम् ॥६०॥
वदन्ति तस्येति जना निरीक्ष्य,
निरीहताज्ञानतपःक्रियाऽऽद्ब्यम् ।
अथातरत सर्वगुणैः किमेष-
श्रीमान् जगच्चन्द्रगुरुर्द्वितीयः ॥ ६१ ॥
मरुस्थला मालवगूर्जरत्राः, सौराष्ट्रमुख्येष्वपि मण्डलेषु ।
हरस्तमःपङ्कमपास्तदोषः, स सूरिभानुर्व्यहरच्चिराय ॥ ६२ ॥
क्षितितलसिलके श्रीम स्यहम्मदावादमङ्किते दुर्गे ।
विक्रमनृपतेः समति-क्रान्ते रसनवतिथि१५९६मितेऽब्दे॥६३॥
विधिना विहितानशनः, श्रीमानानन्दविमलसूरिः ।
...... .................. ..............................॥६४॥
............................,
किल गच्छनेता ।
श्रीमान् स सूरिस्तु बभूव सप्त-
त्रिंशः बृहद्गच्छपसर्वदेव ३७ ॥ ६५ ॥
तपोऽभिधाऽऽदिस्त्विह पञ्चचत्वा-
रिंशो ४५ जगच्चन्द्रमुनीन्द्रचन्द्र ।
नतः क्रियोद्धारकृतो मुनीन्द्रा-
स्त्रयोदशाः श्रीगुरवो बभूवु ५६ ॥ ६६ ॥
एवं श्रीवीरजिनः, सततिकृद् गच्छनाथगुरुगणने ।
आनन्दविमलगुरवः, श्रीमन्तः सप्तपञ्चाशाः ५७ ॥ ६७ ॥
आसंस्तदीयपट्टे, प्रभवश्रीविजयदानसूरीन्द्राः ।
सर्वत्र विजयवन्तो, नयवन्तः समयवन्तश्च ५८ ॥ ६८ ॥
तेषां पट्टे सम्प्रति, विजयन्ते सर्वसूरिपारीन्द्राः ।
सुविहितसमुप्रभवः, श्रीमन्तो हीरविजयाऽऽह्वाः ॥ ६९ ॥
सौभाग्यमद्भुततरं, भाग्यमसाधारणं सदा येषाम् ।
वैराग्यमुत्तमतमं, चारित्रमनुत्तरतमं च ॥ ७० ॥
येषां दोषांश्च गुणान्, शक्तौ खलसज्जनौ न जायेताम् ।
वर्णयितुमसद्भावा-दप्रमितेश्चापि पूज्यानाम् ॥ ७१ ॥
श्रीविजयसेनसूरि--प्रमुखैर्मुनिपुङ्गवैर्विगतदोषैः ।
सेवितपदारविन्दाः, श्रीगुरवस्ते जयन्ति तराम् ५९ ॥ ७२ ॥
तेषां श्रीसुगुरूणां, प्रसादमासाद्य सश्रुतानन्दः ।
वेदाग्निरसेन्दु १६३४ मिते, विक्रमभूपालतो वर्षे ॥ ७३ ॥
शिष्यो सूरिगुणानां, युगोत्तमाऽऽनन्दविमलसूरीणाम् ।
निर्मितवान् वृत्तिमिमा- मुपकारकृते विजयविमलः ॥ ७४ ॥
(युग्मम्)
कोविदविद्याविमलाः, विवेकविमलाभिधाश्च विद्वांसः ।
आनन्दविजयगणयो, विचिन्तयन्तो गुरौ भक्तिम् ॥ ७५ ॥
शोधनलिखनाऽऽदिविधा-वस्या वृत्ते-र्व्यधुः समुद्योगम् ।
स्युवाढमादरपराः, उपेततत्कृत्यदृक्तज्ञाः ॥ ७६ ॥ (युग्मम्)
प्रत्यक्षर गणनया, वृत्तेर्मानं समुन्नकम् ।
सहस्राः पञ्चसार्धानि, शतान्यष्टावनुष्टुभाम् ॥ ७७ ॥
यावन्महीतले मेरु-र्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
तावद्वृत्तिरियं धीरै--र्वाच्यमाना श्रुता जयेत् ॥ ७८ ॥" ग० ४ अधि० । अ० ।

पट्टिज्जंत-पाट्यमान-त्रि० । सिरिकिलत्तिकाऽऽदिवादनप्रकारेण वाद्यमाने, आ० चू० १ अ० ।

पट्टिया-पट्टिका-स्त्री० । धनुर्यष्टौ, औ० । "सरासणपट्टिआ ।" ज० ३ वक्ष० । वंशानामुपरि कम्बास्थानीयेऽर्थे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । रा० । ज० ।

पट्टिसंग-देशी-ककुदे, ताडुस्थाने, दे० ना० ६ वर्ग २३ गाथा ।

पट्टिस-पट्टिश-पुं० । प्रहरणविशेषे, उत्त० १६ अ० । प्रश्न० ।

पट्टुहिअ-क्षुब्ध-त्रि० । सकर्दमजले, "खउरिअ उच्चिच्चलय पट्टुहिअ जाण कलुसजलं ।" पाइ० ना० ८९ गाथा ।

पट्ठ-पृष्ठ-त्रि० शरीरावयवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । उपरितनभागे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । उपरितने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "तलिम पठ च तलं ।" पाइ० ना० १२२ गाथा ।

प्रष्ठ-त्रि० । वाग्मिनि,कुशले, जी० ३ प्रति० ४ उ० । कार्याणामविलम्बितकारिणि, रा० । प्रधाने, उपा० ७ अ० । अग्रसरे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । अग्रगामिनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

प्रश्न० । पुं० । प्रश्ने, स्था० ।

प्रश्नविभागमाह-

**छव्विहे पट्ठे पण्णत्ते । तं जहा-संसयपट्ठे,वुग्गहपट्ठे, अणुजोगी, अणुलोमे, तहणाणे, अतहणाणे ।**

(छव्विहेत्यादि) प्रच्छनं प्रश्नस्तत्र संशयः प्रश्नः क्वचिदर्थे मंशये सति यो विधीयते । यथा-" जइ तवसा वोदाणं, संजमओगो तवो त्ति ने कह णु । देवत्तं जंति जई, गुरुराह मरागसंजमओ ॥ १ ॥" इति । व्युद्ग्रहेण मिथ्याऽभिनिवेशेन,विप्रतिपत्त्येरर्थं । परपक्षदूषणार्थं यः क्रियते प्रश्नः स व्युद्ग्रहप्रश्नः ।

यथा-" सामन्नओ विसेसो, अन्नोणन्नो व्व होज्ज जइ अन्नो । सो नत्थि खपुप्फं पि व, णन्नो सामन्नमेव तय ॥ १ ॥" इति । अनुयोगीति । अनुयोगो व्याख्यान, प्ररूपणेति यावत् । स यत्राऽस्ति, तदर्थं य क्रियत इति प्राव । यथा-" चउहिं समएहिं लोगो । " इत्यादि प्ररूपणाय " कइहिं समएहिं " इत्यादि ग्रन्थकार एव प्रश्नयति । अनुलोमेऽनुलोमनार्थमनुकूलकरणाय परस्य यो विधीयते, यथा क्षेम भवतामित्यादि । ( तह नाणे त्ति ) यथा प्रच्छनीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञान तथैव प्रच्छकस्यापि ज्ञान यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानो, जानन्प्रश्न इत्यर्थः । स च गौतमाऽऽदेर्यथा-" केवइकालेण भते ! चमरचचा रायहाणी विरहिया उववाएण । " इत्यादिरिति । एतद्विपरीतस्त्वतथाज्ञानेऽजानन्प्रश्न इत्यर्थः । क्वचिद् " छव्विहे अट्ठे । " इति पाठस्तत्र सगयाऽऽदिभिरर्थो विशेषणीय इति । स्था० ७ ठा० ।

**पट्ठवण**-प्रस्थापन-न० । प्रारम्भे, "इम पुण पठवण पडुच्च । " इद पुन प्रस्तुत प्रस्थापन प्रारम्भ प्रतीत्य आश्रित्य । अनु० ।

**पट्ठवणा**-प्रस्थापना-स्त्री० । प्रायश्चित्तदाने, " पट्ठवणा नाम दाण ति । " व्य० १ उ० । प्रस्थापनाभेदा' ।

प्रस्थापनाया भेदानाह-

दुविहा पट्ठवणा खलु, एगमणेगा य होयऽणेगा य ।
तवतियपरियत्ततिगं, तेरस ऊ जाणिय पयाणि ॥

सा प्रायश्चित्तप्रस्थापना द्विविधा । तद्यथा-एका, अनेका च । तत्राऽसचयिता सा नियमात् षाण्मासिकीत्येकविधा । साऽपि स्वभेदचिन्तायां द्विधा-उद्घाता, अनुद्घाता च । अनेका पुनरिय भवति-यमित्यादि । तत्र पञ्चकाऽऽदिषु भिन्नमासान्तेषु परिहारतपो न भवति, किं तु मासाऽऽदिषु, ततो मासिकमेव तपः स्थानक द्वैमासिकाऽऽदि यावच्चातुर्मासिकमेतत् द्वितीय तप स्थानम् । पाञ्चमासिक षाण्मासिक च तृतीय तप स्थानम् । एतान्यपि प्रत्येक द्विविधानि । तद्यथा- उद्घातानि, अनुद्घातानि च । एतत्तपस्त्रिक ( परियत्ततिग ति ) प्रव्रज्यापर्यायस्य परावर्तस्तस्य त्रिक परिवर्तत्रिकम् । तच्च छेदत्रिक, मूलत्रिकमनवस्थाप्यत्रिक च । छेदो द्विधा-उद्घात , अनुद्घातो वा । पाराञ्चितमेकमेतानि यानि त्रयोदश पदानि एषा पाराञ्चितवर्जा अनेका प्रस्थापना । अथैतानि त्रयोदश पदानि प्रागेवाभिहितानि, किमर्थमिह पुनरुच्चार्यन्ते ? । उच्यते-स्मरणार्थम् । अथ वा-यस्तत्प्रस्थापितोऽपि प्रतिसेवते तत्कृत्स्नमनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा आरोप्यते, प्राकृतत्व त्वनुग्रहकृत्स्नेनैवाऽऽरोपितुमिति ज्ञापनार्थम् । व्य० १ उ० ।

प्रस्थापितिकाऽऽदिभेदचतुष्टय व्याख्यानयति-

पट्ठविनिया वहंते, वेयावच्चट्ठिया ठविनिया उ ।
कसिणा झोसविरहिया, जहिँ झोसो सा अकसिणा उ ॥

यदारोपित प्रायश्चित्त वहति तदा प्रस्थापितिका आरोपणाया वैयावृत्त्यकरणार्थमवस्थाप्य आचार्यप्रभृतीना वैयावृत्य कुर्वन् यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्याऽऽरोपितमपि न क्रियते, यावत् वैयावृत्त्यपरिसमाप्तिर्भवति । सो यो वेयावच्चकाल कर्तुमसमर्थ इति कृत्वा सा आरोपणा स्थापितिका । व्य० १ उ० ।

प्रथमतया वेदनारम्भे, पापकर्मप्रस्थारम्भ -

जीवा णं भंते ! पाव कम्म किं समायं पट्ठविंसु समायं णिट्ठविंसु १ । समायं पट्ठविंसु वि समायं णिट्ठविंसु २ । विसमायं पट्ठविंसु समायं णिट्ठविंसु ३ । विसमायं पट्ठविंसु विसमायं णिट्ठविंसु ४ ? । गोयमा ! अत्थेगया समाय पट्ठविंसु समायं णिट्ठविंसु० जाव अत्थेगइया विसमायं पट्ठविंसु विसमाय णिट्ठविंसु ४ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु समायं तं चेव ? । गोयमा ! जीवा चउव्विहा पन्नत्ता । तं जहा-अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा । तत्थ णं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु समायं णिट्ठविंसु; तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु विसमायं णिट्ठविंसु । तत्थ णं जे ते विसमाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्म विसमायं पट्ठविंसु समायं णिट्ठविंसु । तत्थ णं जे ते विसमाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं विसमायं पट्ठविंसु विसमाय णिट्ठविंसु; से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव । सलेस्सा णं भंते ! जीवा पावं कम्मं एवं चेव । एवं सव्वट्ठाणेसु वि० जाव अणगारोवउत्ता एते सव्वे वि पया एयाए वत्तव्वयाए जाणियव्वा । णेरइयाणं भंते ! पावं कम्मं किं समायं पट्ठविंसु समाय णिट्ठविंसु पुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु, एवं जहेव जीवाणं तहेव भाणियव्वं० जाव अणागारोवउत्ता । एवं० जाव वेमाणिया जस्स जं अत्थि तं एएणं कमेण जाणियव्वं, जहा पावेणं कम्मेणं दंडओ, एवं एएणं कमेण अट्ठसु वि कम्मपगडीसु अट्ठ दंडगा भाणियव्वा, जीवादिया वेमाणिया पज्जवसाणा ॥

(जीवा ण भते ! पावमित्यादि ) ( समाय ति ) समक बहवो जीवा युगपदित्यर्थः । ( पट्ठविंसु त्ति ) प्रस्थापितवन्तः प्रथमतया वेदयितुमारब्धवन्त । तथा समकमेव ( निट्ठविंसु त्ति ) निष्ठापितवन्तो निष्ठां नीतवन्त इत्येक' । तथा-समक प्रस्थापितवन्तो ( विसम ति ) विषम यथा भवति विषमतयेत्यर्थो निष्ठापितवन्त इति द्वितीय' । एवमन्यौ द्वौ ( अत्थेगइया समाउया इत्यादि ) चतुर्भङ्गी । तथा (समाउ त्ति) समायुष उदयापेक्षया समकालाऽऽयुष्कोदया इत्यथः । ( समोववन्नग त्ति ) विवक्षिताऽऽयुष. क्षये समकमेव भवान्तरे उपपन्नाः समोपपन्नका , ये चैवविधास्ते समकमेव प्रस्थापितवन्तः, समकमेव च निष्ठापितवन्त' । नन्वायु' कर्मैवाऽऽश्रित्यैवमुपपन्न भवति न तु पाप कर्म, नहि नाऽऽयुष्कादयापेक्ष प्रस्थाप्यते, निष्ठाप्यते वेति । नैवम् । यतो भवापेक्ष कर्मणामुदय' क्षयश्चेष्यते । उक्तञ्च-(उदयक्खयखओवसमेत्यादि) अत एवाऽऽह-( तत्थ ण जे ते समाउया समोववन्नगा ते ण पाव कम्म समाय पट्ठविंसु समाय निट्ठविंसु त्ति ) प्रथम' । तथा ( तत्थ ण जे ते समाउया विसमोववन्नग त्ति) समकालाऽऽयुष्कोदया' विषमतया परभवोत्पन्ना मरणकालवैषम्यात । ( ते समाय पट्ठविंसु त्ति ) आयुष्कविशेषोदयसम्पाद्यत्वात्पापकर्मवेदनाविशेषस्य

( विसमाय णिट्ठविंसु त्ति ) मरणवैषम्येण पापकर्मवेदनविशेषस्य विषमतया निष्ठासम्भवादिति द्वितीयः । तथा-( विसमाउया समोववन्नग त्ति ) विषमकालाऽऽयुष्कोदयाः समकालमवान्तरोत्पत्तयः ( ते ण पाव कम्म विसमाय पट्ठविंसु, समाय निट्ठविंसु त्ति ) तृतीयः । चतुर्थस्तु ज्ञान एवेति । इह चैतान् प्रश्नकान् प्राक्तनशतप्रश्नकांश्चाऽऽश्रित्य वृद्धैरुक्तम्-

" पढुवणसए किह णु हु. समाउउववण्णएसु चउभंगो ।
किह व समज्जिणणसए, गमणिज्जा अत्थओ भंगा ॥ १ ॥
पट्ठवणसए भगा, पुच्छा भगाणुलोमओ वच्चा ।"

यथा पृच्छाभङ्गाः समकप्रस्थापनाऽऽदयो न बाध्यन्ते, तथेह समाऽऽयुष्काऽऽदयोऽन्यत्र अन्यथा व्याख्याता अपि व्याख्येया इत्यर्थः । भ० २७ श० १ उ० ।

अणंतरोववन्नगाणं भंते ! णेरइयाणं पावं कम्मं किं समायं पट्ठविंसु,समायं णिट्ठविंसु पुच्छा ?।गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु समायं णिट्ठविंसु,अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु विसमायं णिट्ठविंसु । से केणट्ठेणं भंते!एवं वुच्चइ-अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु तं चेव ?।गोयमा ! अणंतरोववन्नगा णेरइया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा,अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा। तत्थ णं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु, समायं णिट्ठविंसु । तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु, विसमायं णिट्ठविंसु, से तेणट्ठेणं तं चेव । सलेस्सा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा णेरइया पावं कम्मं एवं चेव० जाव अणागारोवउत्ताए । एवं असुरकुमारा वि । एवं० जाव वेमाणिया, णवरं जं जस्स अत्थि त तस्स भाणियव्वं। एवं णाणावरणिज्जेण वि दंडओ । एवं णिरवसेसं०जाव अंतराइए णं से वं भंते!भंते त्ति०जाव विहरइ। एवं एएणं गमएणं २ जं चेव बंधिसए उद्देसगपरिवाडी सव्वा वि इह वि भाणियव्वा ०जाव अचरिमो त्ति। अणंतरउद्देसगाणं चउण्ह वि एगाए वत्तव्वया, सेसाणं सत्तण्हं एक्का वत्तव्वया ।

( अणतरोववन्नगाणमित्यादि ) द्वितीय. । तत्र चाऽनन्तरोपपन्नका द्विविधा-( समाउया समोववन्नग त्ति ) अनन्तरोपपन्नाना सम एव आयुरुदयो भवति, तद्वैषम्येऽनन्तरोपपन्नत्वमेव न स्यादायु.प्रथमसमयवर्तित्वाच्चेषाम् । ( समोववन्नग त्ति ) मरणाऽनन्तर परभवोत्पत्तिमाश्रित्य, ते च मरणकाले भूतपूर्वगत्याऽनन्तरोपपन्नका उच्यन्ते । (समाउया विसमोववन्नग त्ति) विषमोपपन्नकत्वमिहापि मरणवैषम्यादिति तृतीयचतुर्थौ भङ्गावनन्तरोपपन्नेषु न सम्भवतोऽनन्तरोपपन्नत्वादेवेति द्वितीय उद्देशक , एव शेषा अपि ( नवर अणतरोद्देसगाण चउण्ह वि त्ति ) अनन्तरोपपन्नानन्तरावगाढानन्तराऽऽहारकानन्तरपर्याप्तकोद्देशकानाम्-(कम्मपट्ठवणसय त्ति) कर्मप्रस्थापनाऽऽद्यर्थप्रतिपादनपर शतं कर्मप्रस्थापनशतमेकोनत्रिंश शत वृत्तित. समाप्तम् । भ० २९ श० २ उ० ।

पट्ठवय-प्रस्थापक-पु० । प्रारम्भके, " पट्ठवणओ अ दिवसो ।" ( ९ ) प्रस्थापनकश्च प्रारम्भकश्च दिवसः । आव० ६ अ० ।

पट्ठविय-प्रस्थापित-न० । प्रवर्तिते, नि० चू० १० उ० । स्थिरीकृते, भ० १२ श० ४ उ० । मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगाऽऽदेययशःकीर्तिनामसहोदयत्वेन व्यवस्थापिते, प्रज्ञा० २१ पद । भ० ।

पट्ठविया-प्रस्थापिता-स्त्री० । बहुष्वारोपितेषु षण्मासगुर्वादिप्रायश्चित्तप्रस्थापयति वोढुमारभते तदपेक्षयाऽसौ प्रस्थापिता । आरोपणाभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । "जं वहति पच्छित्त सा पट्ठवितिका भण्णति ।" नि० चू० २० उ० ।

पट्ठाविय-प्रस्थापित-त्रि० । " स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पा. " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति सूत्रेण स्थास्थाने ठेत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । प्रकर्षेण स्थापिते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

पट्ठि-पृष्ठि-स्त्री० । " स्वराणां स्वरा. प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८ । ४ । ३२९ ॥ इति सूत्रेण ऋकारस्य स्थानेऽकारः । प्रा० ४ पाद । आ० चू० । " द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः " ॥ ८ । २ । ९० ॥ द्वितीयतुर्ययोर्द्वित्वप्रसङ्गे उपरि पूर्वौ भवतः, द्वितीयस्योपरि प्रथमश्चतुर्थस्योपरि तृतीय इत्यर्थ. । इति ठकारोपरि टकार. । प्रा० २ पाद । प्राकृतत्वात् पृष्ठशब्दस्य ' पट्ठि ति ' आदेश. । " पीठ " इतिख्याते शरीरावयवे, उत्त० ३ अ० ।

पट्ठिअ-प्रस्थित-त्रि० । " स्थ. ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः" ॥८। ४ । १६ ॥ इति स्थास्थाने ठः. । प्रा० ४ पाद । प्रयाते, आ० म० १ अ० ।

पट्ठितून-पठित्वा-स्त्री० ।"क्त्व. तूनः" ॥ ८ । ४ । ३१२ ॥ इति पैशाच्यां क्त्वाप्रत्ययस्य तूनाऽऽदेश. । भणित्वेत्यर्थे,प्रा०४ पाद् ।

पड-पट-पुं० । उत्तरीयवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । पृथुलवस्त्रे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पडंचा-प्रत्यञ्चा-स्त्री० । प्रत्यञ्चायाम, " सित्थ नीवा गुणो पडंचा य ।" पाइ० ना० १२२ गाथा ।

पडंत-पतत्-त्रि० । भ्रश्यति, अनु० ।

पडंतरिय-पटकान्तर-न० । वस्त्रविशेषान्तरे, त० ।

पडंसुआ-प्रतिश्रुत्-स्त्री० । प्रतिरूप श्रृणुते श्रु-क्विप् । " पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा- बिभीतकेषु अत् ॥ ८ । १ । ८८ ॥ इति इकारस्यात्वम् । "वक्राऽऽदावन्त." । ८ । १ । २६ ॥ इत्यनुस्वारः । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति रलुक् । " शषो. स " ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति षस्य स. । "स्त्रियामादविद्युत." ॥ ८ । १ । १५ ॥ इति तस्य आ । "प्रत्यादौ ड " ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति तस्य ड. । प्रा० द्वु० १ पाद । ज्यायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १८ गाथा ।

पडकार-पटकार-पु० । तन्तुवाये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

पडच्चर-देशी-श्यासप्राये विदूषकाऽऽदौ,दे० ना०६ वर्ग२५गाथा ।

पडढ-देशी-धवले, दे० ना० ६ वर्ग १ गाथा ।

पडहंम-देशी-गिरिगह्वरे, दे० ना० ६ वर्ग २ गाथा ।

पडूग्घा-देशी-चरणाऽऽघाते, दे० ना० ६ वर्ग ८ गाथा ।

पमम्स-देशी-सुसयमिते, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा।

पमकुआ-देशी-चरणाऽऽघाते, दे० ना० ६ वर्ग ८ गाथा।

पमण-पतन-न०। पाते, नि० चू० १ उ०। "पडण त्ति वा उक्कमण त्ति वा एगट्ठ।" नि० चू० ४ उ०। बाह्वादेः खङ्गच्छेदाऽऽदिना पाते, त०। वर्णाऽऽदिविनाशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मरणभेदे, "पमण तु उप्पत्तिता।" (५०६ गा०।) उड्डु उप्पतित्ता जो पडइ वक्खेवने डिंगिमकवत् न पुण पमण।" नि० चू० ११ उ०। ('बालमरण' शब्दे विस्तरः)

पममंमव-पटमण्डप-पु०। पटमये मण्डपे, आ० क० १ अ०।

पममाण-पतत्-त्रि०। पतितुकामे, बृ० ६ उ०। आचा०।

पमयाणग-पटतानक-न०। पर्याणस्याधो दीयमाने अश्वोपकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

पडल-पटल-न०। सघे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। वृन्दे, अनु०। समानजातीयवृन्दे, आ० चू० ५ अ०। समूहे, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। ध०। भिक्षाऽवसरे पात्रप्रच्छादकेषु, प्रश्न० ५ सम्व० द्वार। यानि भिक्षां पर्यटद्भिः पात्रोपरि स्थाप्यन्ते। बृ० ३ उ०। नीवे, दे० ना० ६ वर्ग २ गाथा। पाइ० ना०।

पटलकानां प्रमाणमाह-

तिविहम्मि कालछेए, तिविहा पमला उ होंति पातस्स।
गिम्हसिसिरवासासुं, उक्कोसमज्झिमजहन्ना ॥२७७॥

त्रिविधे कालच्छेदे कालविभागे त्रिविधानि पटलकानि पात्रस्य भवन्ति। इदमेव व्याचष्टे-ग्रीष्मशिशिरवर्षासु प्रत्येकमुत्कृष्टानि मध्यमानि जघन्यानि च, तत्र यान्यत्यन्तदृढानि तानि।

इदमेव भावयति-

गिम्हासु तिन्नि पमला,चउरो हेमंते पंच वासासु।
उक्कोसगा उ एते, एत्तो वोच्छामि मज्झिमगा ॥२७८॥

ग्रीष्मेषु चतुर्षु मासेषु त्रीणि पटलानि भवन्ति, कालस्यात्यन्तस्निग्धत्वात्, चत्वारि हेमन्ते, पञ्च वर्षासु, पतान्युत्कृष्टानि मन्तव्यानि, अत ऊर्ध्वं मध्यमानि वक्ष्ये।

प्रतिज्ञातमेवाऽऽह-

गिम्हासु होंति चउरो, पंच य हेमंते छच्च वासासु।
मज्झिमगा खलु एते, एत्तो उ जहन्नए वोच्छं ॥२७९॥

ग्रीष्मेषु चत्वारि पटलकानि, हेमन्ते पञ्च, वर्षासु षट्, मनाक् जीर्णतया प्रभूततराणामेव स्वकार्यसाधनात, पतानि खलु मध्यमकानि मन्तव्यानि।

अत ऊर्ध्वं जघन्यानि वक्ष्ये-

गिम्हासु पंच पडला, हेमंते छच्च सत्त वासासु।
तिविहम्मि कालछेए,तिविहा पमला उ पातस्स ।२८१।

ग्रीष्मेषु पञ्च पटलकानि, हेमन्ते षट्, वर्षासु सप्त, पतानि जघन्यानि। एवं त्रिविधकालच्छेदे त्रिविधानि पटलकानि पात्रस्य भवन्ति। उक्तं पटलकानां गणनाप्रमाणम्।

अथ प्रमाणाप्रमाणं, तत्र च विशेषचूर्णिः-"एत्थ निगाया चउरसा पमला ज ताण मज्झिमए हेट्ठा अट्ठ अंगुलाइं लयति, ग छव्वासीए ज उग्गाहिए समाणे चउहिं अंगुलीहिं अतुए न पावति। अहवा-दाहत्ताणेण अड्ढाइज्जाहिं हत्थदत्तणेण दिवड्ढो हत्थो।" बृ० ३ उ०। नि० चू०। प्रव०। औ०। ध०। प० व०।

पमलग-पटलक-न०। पटलपुष्पभाजने, स्था० ७ ठा०।

पमवा-देशी-पटकुट्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा।

पमसाम्य-पटशाटक-पु०। पटरूपः शाटकः पटशाटकः। शाटको हि शटनकारकोऽप्युच्यते, इति तद्व्यवच्छेदार्थं पटग्रहणम्। अथवा-शाटको वस्त्रमात्रं, स च पृथुत्व. पटोऽभिधीयते पटशाटकः। भ० ६ श० ३३ उ०। परिधाने, बृ० १ उ० २ प्रक०। पटश्च शाटकश्च द्वन्द्व.। उत्तरीयपरिधानवस्त्रयोः, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

पमह-पटह-पु०। आतोद्यविशेषे, प्रज्ञा० ३३ पद। आडम्बरे, "ढोल" इतिख्याते, स्था० ७ ठा०। न०। आ० म०। विशे०। भाणकपटहे, "नगारा" इतिख्याते, औ०। भ०। स च किञ्चिदायत उपर्यधश्च समप्रमाणः। आ० म० १ अ०।

पमागा-पताका-स्त्री०। "प्रत्यादौ डः" ॥८।१।२०६॥ इति तस्य ड'। प्रा० १ पाद। 'चिंधाइं वेजयंतीओ, पडाया केउणो धया हुरुमा ॥" पाइ० ना० ६८ गाथा। चक्रसिंहाऽऽदिलाञ्छनापेते, भ० ६ श० ३३ उ०। गरुडसिंहाऽऽदिचिह्नरहिते, औ०। ध्वजलक्षणरहिते, प्रायो हस्तिनामुपरि वर्तिनि (ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०) तिर्यक्पटरूपे लोकप्रसिद्धेऽर्थे, रा०। प्रश्न०। ज्ञा०। आ० म०। विपा०। मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति०। ज्ञा०।

पमागाइपमागा-पताकातिपताका-स्त्री०। मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति०। "सपमागाइपमागमंडिए।" सह पताकया वर्तत इति सपताक, तच्च तदेका पताकामतिक्रम्य या पताका सा अतिपताका, तया मण्डित यत्तत्तया। प्रज्ञा० १ पद।

पडागाहरण-पताकाहरण-न०। पताकायाश्चारित्राऽऽराधनावैजयन्त्या हरणं ग्रहणं पताकाहरणम्। विजिगीषया पताकाग्रहणे, "एमा महव्वयच्चारणा पमागाहरणं।' लोके हि मल्ल युद्धाऽऽदिषु वस्त्राभरणं स्तम्भ वा ध्वजाग्रे बध्यते,तत्र यो येन युद्धाऽऽदिना गुणेन प्रकर्षवान् स रङ्गमध्ये पुरतो भूत्वा गृह्णातीति पताका हरतीत्युच्यते। एवमत्राऽपि पाक्षिकाऽऽदिषु महाव्रतोच्चारेण समुपजातचारित्रविशुद्धिप्रकर्षः साधु प्रवचनोक्ताया-श्चारित्राऽऽराधनापताकाया हरणं करोतीति। पा०। सथा०। ध०।

पडायाण-पर्याण-न०। "पर्याणे डा वा" ॥ ८। १। २५२॥ पर्याणे रस्य डा इत्यादेशो भवति वा। इति रस्य विशिष्टस्य डा। "पडायाणं। पल्लाणं।" प्रा० १ पाद।

पडाली-पटाली-स्त्री०। पटसमूहे, व्य०।

मुत्तूणं माधवं, तेण गहितो पतत्य म्मि।
हेट्ठा उवरिम्मि ठिते, सीसम्मि पमालिवत्थगे ॥१७५॥

माधूनामवकाशं मुक्त्वा तेन पूर्वस्वामिना शय्यान्तरेण वक्रयिक स्य शाटकं गृहीतं, गृहीत्वा च प्रोषित, तस्मिन्प्रोषिते अधस्तात् क्रयिकस्य शाटकमुपरि माले माधव। अथवा-अधस्तात् शाळायां स्थिताः साधव. उपरि माले वक्रयिकस्य द्रव्यम्, एतस्मिन्नमुत्य-

ते। एव मिश्रे स्थितानां यदा शालायां साधव उपरि माले वक्रयिकस्य भाण्डं तदा पडाली गच्छति भाण्डस्योपरीति न काचित्साधूनां हानिः । अथ-वक्रयिकस्य भाण्डमधस्तात् शालायामुपरि माले तिष्ठन्ति साधवः पडाली च गच्छति तदा वक्रयिकश्चिन्तयति उपरि माले पडाली गच्छति,तत्र साधूनां कष्टं, मम तु भाण्डमधस्तात् शालायां ततो विनश्यतीति एवं चिन्तयित्वा पडालीं न छादयति,तत्र यद्यन्योऽपि कश्चित् न छादयति तदा व्यवहारः कर्तव्यः, व्यवहारेण छादयितव्य इति । व्य० ७ उ० । वृ० । पक्षौ, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा ।

पडि-प्रति अव्य० । " प्रत्यादौ डः " ॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति तस्य डः । प्रतीपे,प्रातिकूल्ये भव० । आभिमुख्ये, ज० प्र० २० पाहु० । प्रतिषेधे, विशे० । आचा० । वीप्सायाम्, आ० म० १ अ० । प्रतिपाद्यार्थे, आ० चू० ४ अ० ।

पडिअ-देशी-विघाटिते, दे० ना० ६ वर्ग १२ गाथा ।

पडिअग्ग-अनुव्रज-धा० । अनुगमने, " अनुव्रजे पडिअग्गः " ॥८ । ४ । १०७॥ इति सूत्रेण'पडिअग्ग' आदेशः। 'पडिअग्गइ ।' अनुव्रजति । प्रा० ४ पाद ।

पडिअज्झअ-देशी-उपाध्याये, दे० ना० ६ वर्ग ३१ गाथा ।

पडिअमित्त-प्रत्यमित्र-पु० । यः पूर्वं मित्रं भूत्वा पश्चादमित्रो यातः तस्मिन् शत्रौ, आ० चू० १ अ० । जी० ।

पडिअर-देशी-चुल्लीमूले, दे० ना० ६ वर्ग १७ गाथा ।

पडिअली-देशी-त्वरिते, दे०ना० ६ वर्ग ७ गाथा ।

पडिआगय-प्रत्यागत-न० । प्रत्यागमने, आ० चू० १ अ० ।

पडिआयणियय-प्रत्यात्मनियत-त्रि० । आत्मानमात्मानं प्रतिनियतफलसंपादके, द्वा० ११ द्वा० ।

पडिआर-प्रतीकार-पु० । चिकित्सायाम्, आव० ४ अ० ।

पडिउत्तरण-प्रत्युत्तरण-न० । नालिकयाऽसकृत्तरणे, नि० चू० १ उ० ।

पडिएल्लिअ-देशी-कृतार्थे, दे० ना० ६ वर्ग ३२ गाथा ।

पडिकत्ता-प्रतिकर्तृ-त्रि० । चिकित्सके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पडिकप्पिय-परिकृप्त-त्रि० । कृतसन्नाहाऽऽदिसामग्रीके,विपा० १ श्रु० २ अ० । भ० ।

पडिकम्म-परि ( प्रति ) कर्मन्-न० । गुणान्तरोत्पादने, स्था० १ ठा० । वस्त्रपात्राऽऽदेश्छेदनसीवनाऽऽदौ,स्था० ५ ठा० २ उ० । सङ्कलनाऽऽदिके पाटीप्रसिद्धे,स्था० ४ ठा० ३ उ० । वसत्यादिसंरक्षणे, स्था० १० ठा० ।

पडिकम्मविसुद्धि-परि ( प्रति ) कर्मविशुद्धि-स्त्री० । परिकर्मणा वसत्यादिसंरक्षणलक्षणेन क्रियमाणेन संयमस्य विशुद्धौ, स्था० १० ठा० ।

पडिकम्मोवघाय-परि (प्रति) कर्मोपघात-पु० । वस्त्रपात्राऽऽदेश्छेदनसीवनाऽऽदिनाऽकल्पनायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पडिकय-प्रतिकृत-न० । प्रत्युपकारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पडिकिति-प्रतिकृति-स्त्री० । स्थापनायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । कृते कार्ये यः क्रियते विनयः स प्रतिकृतिरूपत्वात् प्रतिकृतिः । औपचारिकविनयभेदे, व्य० १ उ० ।

पडिकुट्ठ-प्रतिकुष्ट-त्रि० । निवारिते,पञ्चा० ४ विव० । नि०चू० । स्था० । निराकृते, दर्श० ४ तत्त्व । पिं० ।

पडिकुट्ठकुल-प्रतिकुष्टकुल-न० । हिरण्यनाथ निषिद्धकुले, प्रतिकुष्टकुल द्विविधम्-इत्वर,यावत्कथिकं च । इत्वरं सूतकयुक्तम् । यावत्कथिकमभोज्यम् । दश० ५ अ० १ उ० ।

पडिकुट्ठिल्लगदिअस-प्रतिकुष्टदिवस-पु० । इल्लप्रत्ययः प्राकृते स्वार्थे प्रतिकुष्टा एव प्रतिकुष्टेल्लकाः, ते च ते प्रतिकुष्टेल्लकदिवसाः । प्रतिषिद्धदिवसेषु, "पडिकुट्ठिल्लगदिवसे,वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं वा-रसिं च दोण्हं पि पक्खाणं ॥१॥" व्य० १ उ० । सेवाऽऽदित्वाद् वा द्वित्वम् । प्रा० २ पाद ।

पडिकूलग-प्रतिकूलक-त्रि० । सेवाऽऽदित्वात् वा द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । प्रतिपन्थिनि,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रत्यनीके,स्था० ३ ठा० ४ उ० । विपरीतवृत्तौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अनभिमते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० । द्वेषिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पडिकूलभासि ( ण् )-प्रतिकूलभाषिन्-त्रि० । प्रतिकूलं प्रतिलोमं भाषते वक्तीत्येवंशीलः प्रतिकूलभाषी । उत्त० १२ अ० । सम्मुखवादिनि, " अज्झावयाणं पडिकूलभासी, पभाससे किं तु सगासि अम्ह । " उत्त० १२ अ० ।

पडिकूलया-प्रतिकूलता-स्त्री० । विरोधितायाम्,द्वा० १४ द्वा० ।

पडिकूलवयण-प्रतिकूलवचन-न० । प्रस्तुतस्य मधुरवचोभिर्मार्गमप्रतिपाद्यमानस्वरनिष्ठुरभाषणे, दर्श० ४ तत्त्व ।

पडिकूलिय-प्रतिकूलित-त्रि० । प्रतिभाषिते, नि० १ श्रु० १ वर्ग ६ अ० ।

पडिकंत-प्रतिक्रान्त-त्रि० । निवृत्ते, आ० म० १ अ० । आ० चू० । सर्वातिचारप्रतिनिवृत्ते, पा० ।

पडिकंतव्व-प्रतिक्रान्तव्य-त्रि० । निवर्तितव्ये, मिथ्यादुष्कृतं दातव्ये, आ० म० १ अ० ।

पडिक्कमण-प्रतिक्रमण-न० । प्रतीत्ययमुपसर्गः प्रतिपाद्यर्थे वर्तते । 'क्रमु'पादविक्षेपेऽस्य ल्युडन्तस्य प्रतीपं प्रातिकूल्येन वा क्रमणं प्रतिक्रमणम् । एतदुक्तं भवति-शुभयोगेभ्योऽशुभान् संक्रान्तस्य शुभेष्वेव प्रतीपं प्रतिकूलं वा क्रमणं प्रतिक्रमणमिति ।

उक्तं च-

" स्वस्थानाद्यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ १ ॥
क्षायोपशमिकाद्भावा-दौदयिकस्य वशं गतः ।
तत्राऽपि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥ २ ॥ "

प्रति इति क्रमणं वा प्रतिक्रमणं,शुभयोगेषु प्रतिप्रतिवर्तनमित्यर्थः । उक्तं च-"प्रतिप्रतिवर्तनं वा,शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु । निःशल्यस्य यतेर्य-त्तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥१॥" शुभयोगेभ्योऽशुभायोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव योगेषु गमने,आव० ४ अ० । ध० ।

प्रतिनिवृत्तौ,उत्त० २६ अ० । स्था० । प्रा० मिथ्यादुष्कृतदाने, ग० १ अधि० । स्था० । प०सू० । दश० । पञ्चा० । प्रव० । भ० । प्रतिक्रामकप्रतिक्रान्तव्यौ । प्रतिक्रामकव्याख्या-"शुद्धमगद"स्तुतित्रयम् ।

(१) इह च यथा करणात् कर्मकर्त्रोः सिद्धिः तद्व्यतिरेकेण करणत्वानुपपत्तेः,एवं प्रतिक्रमणादपि प्रतिक्रामकप्रतिक्रान्तव्यसिद्धिरित्यतस्त्रितयमप्यभिधित्सुराह नियुक्तिकारः-

पडिक्कमणं पडिक्कमओ,पडिक्कमिअव्वं च आणुपुव्वीए ।
तीए पच्चुप्पन्ने, अणागए चेव कालम्मि ॥ १ ॥

प्रतिक्रमणं निरूपितशब्दार्थम्, तत्र प्रतिक्रमयतीति प्रतिक्रामकः कर्त्ता, प्रतिक्रमितव्यं च कर्म अशुभयोगलक्षणमानुपूर्व्या परिपाट्या अतीते अतिक्रान्ते प्रत्युत्पन्ने वर्त्तमानेऽनागते चैव एष्यते, काले प्रतिक्रमणाऽऽदि योज्यमिति वाक्यशेषः । आह-प्रतिक्रमणमतीतविषयम् । यत उक्तम्-"अतीतं पडिक्कमामि,पडुप्पन्नं संवरेमि,अणागयं पच्चक्खामि ।" इति । तत्कथमिह कालत्रये योज्यते इति ? । उच्यते-प्रतिक्रमणशब्दो ह्यशुभयोगविनिवृत्तिमात्रार्थः सामान्यशब्दः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेणाऽशुभयोगविनिवृत्तिरेव प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेणाऽशुभयोगनिवृत्तिरेव अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेणाऽशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ २ ॥

साम्प्रतं प्रतिक्रामकस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह-

जीवो उ पडिक्कमओ, असुहाणं पावकम्मजोगाणं ।
झाणपसत्था जोगा, जे तेन पडिक्कमे साहू ॥ २ ॥

जीवः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः । तत्र प्रतिक्रामतीति क्रामकः, तुशब्दो विशेषणार्थः । न सर्व एव जीवः प्रतिक्रामकः,किं तर्हि सम्यग्दृष्टिरुपयुक्तः । केषां प्रतिक्रामकः ?, अशुभानां पापयोगानामसुन्दराणां पापकर्मव्यापाराणामित्यर्थः । आह-पापकर्मयोगा अशुभा एव भवन्तीति विशेषणानर्थक्यम्, न, स्वरूपान्वाख्यानपरत्वादस्य, प्रशस्तौ च तौ योगौ च ध्यानं च प्रशस्तयोगौ च ध्यानप्रशस्तयोगा ये तानधिकृत्य न प्रतिक्रमेत न प्रतीपं वर्त्तेत साधुः, अपि तु तान् सेवेत, मनोयोगप्राधान्यख्यापनार्थं पृथग् ध्यानग्रहणं, प्रशस्तयोगोपादानाच्च ध्यानमपि धर्मशुक्लभेदं प्रशस्तमवगन्तव्यम् । आह-"यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायमुल्लङ्घ्य किमिति प्रतिक्रमणमनभिधाय प्रतिक्रामक उक्तः ? । तथाऽऽद्यगाथागतमानुपूर्वीग्रहणं चातिरिच्यत इति ? । उच्यते-प्रतिक्रामकस्याल्पवक्तव्यता तत्कर्त्रधीनत्वाच्च क्रियाया इत्यदोषः । इत्थमेवोपन्यासः कस्मान्न क्रियत इति चेत् ?, प्रतिक्रमणाध्ययनानामभिष्वष्टानिक्षेपप्रधानत्वात्तस्येत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः । उक्तः प्रतिक्रामकः । साम्प्रतं प्रतिक्रमणस्यावसरस्तच्छब्दार्थं पर्यायैर्व्याचिख्यासुराह-

पडिक्कमणं पडिचरणा,परिहरणा वारणा निअत्ती अ ।
निंदा गरिहा सोही, पडिक्कमणं अट्ठहा होइ ॥ ३ ॥

प्रतिक्रमणं तत्त्वतो निरूपितमेवाधुना भेदतो निरूप्यते, तत्पुनर्नामाऽऽदिभेदतः षोढा भवति । तथा चाऽऽह-

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे अ ।
एसो पडिक्कमणस्स य, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ४ ॥

तत्र नामस्थापने गतार्थे,द्रव्यप्रतिक्रमणमनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेर्लब्ध्यादिनिमित्तं वा उपयुक्तस्य निह्नवस्य पुस्तकाऽऽदि-न्यस्तं वा । क्षेत्रप्रतिक्रमणं यस्मिन् क्षेत्रे व्यावर्ण्यते क्रियते वा,यतो वा प्रतिक्रम्यते खलाऽऽदेरिति । कालप्रतिक्रमणं द्वेधा ध्रुवम,अध्रुवं च । तत्र ध्रुवं भरतैरावतेषु प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थेष्वपराधो भवतु वा मा वा ध्रुवमुभयकालं प्रतिक्रम्यते । मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु तु अध्रुवं कारणजाते प्रतिक्रमणमिति । भावप्रतिक्रमणं द्वेधा-प्रशस्त,चाप्रशस्तं च । अप्रशस्तं मिथ्यात्वाऽऽदेः,प्रशस्तं सम्यक्त्वाऽऽदेरिति । अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरिति प्रशस्तेनात्राऽधिकारः । प्रतिचरणा व्याख्यायते-' चर ' गतिभक्षणयोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य ल्युडन्तस्य प्रतिचरणेति भवति, प्रतीतेषु तेष्वर्थेषु चरणं गमनं तेन तेनाऽऽसेवनाप्रकारेणेति । आव० ४ अ० । आ० म० । ( प्रतिचरणाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने )

सम्प्रति विनेयानुग्रहाय प्रतिक्रमणाऽऽदिपदानां यथाक्रमं दृष्टान्तान् प्रतिपादयन्नाह-

अद्धाणे पासाए, दुद्धकाए विसभोअण तलाए ।
दो कन्नाओ पइमारि-आ य वत्थं अ अगए अ ॥१२॥

अध्वानं प्रासादः दुग्धकायः विषभोजनं तडागः द्वे कन्ये पतिमारिका च वस्त्रं चागदश्च । आव० ४ अ० ।

तत्र प्रतिक्रमणेऽध्वदृष्टान्तः -

" पुरे क्काऽपि नृपः कोऽपि, सौधं कर्त्तुमना बहिः ।
सूत्रमास्फोटयद्भव्ये, दिने न्यास्थच्च रक्षकान् ॥ १ ॥
क्षत्रे च यदि कोऽप्येत, प्रविशेन्मार्य एव सः ।
अपसर्पेत्पदैस्तैश्चे-त्तैरेव मोच्य पुमानसौ ॥ २ ॥
व्याक्षिप्ताना च तेषां द्वौ, ग्राम्यौ प्राविशतां नरौ ।
रक्षकैर्दूरगैर्दृष्टा-वुक्तौ तौ कम्पितास्त्रिनि ॥ ३ ॥
अरे ! प्रविष्टौ किमिह, धृष्ट एकोऽवदत्तयोः ।
दोषः कोऽत्रेति निस्त्रिंशै-र्नैश्यस्तत्र हतः स तैः ॥४॥
भीतो द्वितीयस्तेष्वेव, पदेष्वस्थाद्भणाए तान् ।
अजानन् प्राविशं मा मा, हतस्वाऽऽदेशकारिणम् ॥ ५ ॥
उक्तस्तैर्यदि तैरेव, पदैस्त्वमपसर्पसि ।
तन्मुक्तिस्तेऽथ भीतोऽसौ, तथाऽकार्षीदमोचि तैः ॥ ६ ॥
भोगभोगी स सञ्जज्ञे-ऽनाभोगी च परोऽभवत् ।
इय द्रव्यप्रतिक्रान्ति-र्भावे चोपनयः पुनः ॥ ७ ॥
राजा तीर्थकरोऽध्वा च, संयमो रक्ष्य इत्यवक् ।
प्रायेणैव व्यतिक्रान्तः, स एकेन कुसाधुना ॥ ८ ॥
सहतां रक्षकैः राग-द्वेषाऽऽद्यैः सुचिरं भवे ।
लप्स्यते दुर्मतिर्जन्म-मरणानि पुनः पुनः ॥ ९ ॥
यस्तु प्रमाददोषेण, जातव्यतिक्रान्तसंयमः ।
प्रतिक्रामति संसार-भीरुस्तैरेव दृग्रहकैः ॥ १० ॥
स निर्वाणसुखाऽऽभोगी, जायते मुनिपुङ्गवः ।
असौ प्रतिक्रमणायां, दृष्टान्तो दर्शितोऽधुना ॥ ११ ॥"

आ० क० ४ अ० ।

साम्प्रतं प्रत्यहं यथा श्रमणेनेयं शुद्धिः कर्त्तव्या तथा मालाकारदृष्टान्तं चेतसि निधाय प्रतिपादयन्नाह-

ओलोअणमालुंचण-निव्वाडीकरणं च भावसोही अ ।

आलोइअम्मि आरा-हणा अणालोइए भयणा ॥१५॥

अवलोकनमाकुञ्चनं विकटीकरणं च भावशुद्धिश्च, यथेह कश्चिन्निपुणमालाकारः स्वस्याऽऽरामस्य सदा द्विसन्ध्यमवलोकनं करोति-किं कुसुमानि सन्त्युत नेति दृष्ट्वा तेषामाकुञ्चनं करोति, ग्रहणमित्यर्थः। ततो विकटीकरणं विकसितमुकुलिताऽर्द्धमुकुलितानां भेदनं विभजनमित्यर्थः । चशब्दात् पश्चाद् ग्रन्थनं करोति, ततो ग्राहका गृह्णन्ति, ततोऽस्याभिलषितार्थलाभो भवति। भावशुद्धिश्च चित्तप्रसादलक्षणा, अस्या एव विवक्षितत्वात्,अन्यस्तु विपरीतकारी मालाकारस्तस्य न भवति,एवं साधुरपि कृतोपधिप्रत्युपेक्षणाऽऽदिव्यापारः उच्चाराऽऽदिभूमिप्रत्युपेक्षया घातविरहितः कायोत्सर्गस्थोऽनुप्रेक्षते,सूत्रे गुरौ तु स्थिते दैवसिकाऽऽवश्यकस्य मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणाऽऽदेः कायोत्सर्गस्तस्त्ववलोकनं करोति, पश्चादाकुञ्चनं स्वबुद्ध्याऽपराधग्रहणं, ततो विकटीकरणं गुरुलघूनामपराधानां विभञ्जनं, चशब्दादालोचनं प्रतिसेवनानुलोमेन ग्रन्थनं, ततो यथाक्रमं गुरोर्निवेदनं करोति, एवं कुर्वतः भावशुद्धिरुपजायते, औदयिकभावात् क्षायोपशमिकप्राप्तिरित्यर्थः । इत्थमुक्तेन प्रकारेणाऽऽलोचिते गुरोरपराधजाले निवेदिते आराधना मोक्षमार्गाऽऽखण्डना भवति, अनालोचिते अनिवेदिते भजना विकल्पना-कदाचिद् भवति, कदाचिन्न भवति।

तत्रेत्थं भवति-

" आलोयणापरिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासं।
जइ अंतरो उ कालं, करेज्ज आराहओ तह वि ॥ १६ ॥ "

एवं तु न भवति।

"इड्ढीए गारवेणं, बहुसुयमएण वा वि दुच्चरियं ।
जो न कहेइ गुरूणं, न हु सो आराहओ भणिओ ॥ १७ ॥ "

इति गाथार्थः।

इत्थं चाऽऽलोचनाऽऽदिना प्रकारेणोभयकालं नियमत एव प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे सातिचारेण निरतिचारेण वा साधुना शुद्धिः कर्तव्या, मध्यतीर्थकरतीर्थेषु पुनर्नैव किं त्वभिचारवत एव शुद्धिः क्रियते। आव० ४ अ०।

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥ १८ ॥

सप्रतिक्रमणो धर्मः कर्तव्यः, अस्य च जिनस्य तत्तीर्थे साधुना ईर्यापथ्यागतेन उच्चाराऽऽदिविवेके उभयकालं चापराधो भवतु वा, मा वा, नियमतः प्रतिक्रान्तव्यं, शठत्वात्प्रमादबहुलत्वाच्च। एतेष्वेव स्थानेषु मध्यमानां जिनानामजिताऽऽदीनां पार्श्वपर्यन्तानां कारणे जाते अपराधे एवोत्पन्ने सति क्रमणं तदैव भवत्यशठत्वात्, प्रमादरहितत्वाच्चेति गाथार्थः ॥ १७ ॥

तथा चाऽऽह ग्रन्थकारः-

जो जाहे आवन्नो, सो हु अन्नयरम्मि ठाणम्मि ।
सो ताहे पडिक्कमई, मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ १७ ॥

यः साधुरिति योगः यदा यस्मिन्काले पूर्वाह्णाऽऽदौ आपन्नः प्राप्तोऽन्यतरस्मिन्स्थाने प्राणातिपाताऽऽदौ स तदैव तस्य स्थानस्य एकाक्येव गुरुप्रत्यक्षं वा प्रतिक्रामति, मध्यमानां जिनवराणामिति गाथार्थः। आव० ४ अ० । जीत० । कल्प०। बृ० । प्रव०।

अथ प्रतिक्रमणद्वारमाह-

सपडिक्कमणो धम्मो,पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥३४७॥

सप्रतिक्रमण उभयकालं षड्विधाऽऽवश्यककरणयुक्तो धर्मः पूर्वस्य पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थे भवति, तत्तीर्थे साधूनां प्रमादबहुलत्वात् , शठत्वाच्च। मध्यमानां तु जिनानां तीर्थे कारणजाते तथाविधे अपराधे उत्पन्ने सति प्रतिक्रमणं भवति, तत्तीर्थसाधूनामशठत्वात् , प्रमादरहितत्वाच्च।

अथाऽस्यामेव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे-

गमणाऽऽगमणवियारे, सायं पाओ य पुरिमचरिमाणं ।
नियमेण पडिक्कमणं, अतिचारो होइ वा मा वा ॥३४८॥

गमनाऽऽगमनेषु चैत्यवन्दनाऽऽदिकार्येषु प्रतिश्रयाद्विनिर्गत्य हस्तशतात्परतो गत्वा भूयः प्रत्यागमने (वियारे त्ति ) हस्तशतमध्येऽप्युच्चाराऽऽदेः परिष्ठापने कृते तथा सायं सन्ध्यायां प्रातश्च प्रभाते पूर्वचरमाणां साधूनामतिचारो भवतु वा, मा वा, तथाऽपि नियमेनैतेषु प्रतिक्रमणं भवतीति ।

परः प्राऽऽह-

अतिचारस्स उ असती, णणु होति णिरत्थयं पडिक्कमणं ।
ण भवति एव चोदग !, तत्थ इमं होति णातं तु ॥३४९॥

अतिचारस्याऽसत्यभावे ननु निरर्थकं प्रतिक्रमणं भवति । सूरिराह-हे चोदक ! एवं त्वदुक्तं प्रतिक्रमणस्य निरर्थकत्वं न भवति न घटते, किं तु सार्थकं प्रतिक्रमणम् । तत्र च सार्थकत्वे इदं ज्ञातमुदाहरणं भवति ।

सति दोसे होऽगदो,जति दोसो णत्थि तो गदो होति ।
बितियस्स हणति दोसे, ण गुणं दोसं व तदभावा ॥३५०॥
दोसं हंतूण गुणं, करेति गुणमेव दोसरहिते वि ।
ततिय तिगिच्छकरस्स उ, रसायणं दंडियसुतस्स ॥३५१॥
जति दोसो तं छिंदति, असतदोसम्मि णिज्जरं कुणइ।
कुसलतिगिच्छरसायण-मुवणीयमिदं पडिक्कमणं ॥३५२॥

एगस्स रन्नो पुत्तो अईव वल्लहो। तेण वि नय अणागयं किं वि तहाविहं रसायणं करावेमि जेण मे पुत्तस्स कयाइ रोगो न होइ त्ति वेज्जा सद्दाविया। मम पुत्तस्स तिगिच्छं करेह। जेण निरुओ होइ। ते भणंति-करेमो। राया भणइ-केरिसाणि तुम्ह ओसहाणि?। एगो भणइ-मम आसहमेरिसं जइ रोगो अत्थि तो उवसामेइ, अह नत्थि तं चेव जीवंतं मारेइ। बिइओ भणइ-मम ओसहं जइ रोगो अत्थि तो उवसामेइ, अह नत्थि तो न गुणं न दोसं करेइ। तइओ भणइ-जइ रोगो अत्थि तो वण्णरूवजोव्वणलावण्णत्ताए परिणमइ,अपुव्वा य रोगो न पाउब्भवइ। एवमायण्णिऊण तइया वेज्जेण किरिया कारिया। एवं मम पि पडिक्कमणं जइ अइयारदोसो अत्थि तो तेमिं विसोहिं करोति । अह नत्थि अइयारो तो चारित्तं विसुद्धं करेइ। अजिनवकम्मसंगम्मं य आगमं निरुंभइ। अथाक्षरगमनिका-प्रथमवैद्यस्यौषधेन सति दोषे रोगसम्भवे उपयुज्यमाने अगदो नीरोगो भवति। यदि पुनर्दोषो नास्ति तत प्रत्युत गदो रोगो भवति। द्वितीयस्य तु वैद्यस्यौषधं रोगं हन्ति तदभावे दोषाभावे

गुणं न दोषं करोति । तृतीयस्तु दोषं हत्वा गुणं करोति, दोषरहितेऽपि च गुणमेव वर्णाऽऽदिपुष्टयभिनवरोगाभावाऽऽत्मकं करोति । ततस्तृतीयसमाधिकरस्य तृतीयस्य वैद्यस्य रसायनं द्विपरूकलुनस्य योग्यमिति कृत्वा राज्ञा कारितम् । एवं प्रतिक्रमणमपि यद्यतीचारलक्षणा दोषा भवन्ति ततस्तान् छिनत्ति, अथ नास्ति दोषः ततोऽसति दोषे महतीं कर्मनिर्जरां करोति; एवं कुशलचिकित्सस्य तृतीयवैद्यस्य रसायनेनोपनीतमुपनय प्रापितमिदं प्रतिक्रमणं मन्तव्यम् । गतं प्रतिक्रमणद्वारम् । बृ० ६ उ० ।

(२) पञ्चविधप्रतिक्रमणम्-

**पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते । तं जहा-आसवदारपडिक्कमणे, मिच्छत्तपडिक्कमणे, कसायपडिक्कमणे, जोगपडिक्कमणे, भावपडिक्कमणे ।**

इदं च विषयभेदात्पञ्चधेति । तत्राऽऽश्रवद्वाराणि प्राणातिपाताऽऽदीनि, तेभ्यः प्रतिक्रमणं निवर्त्तनं, पुनरकरणमित्यर्थः । आश्रवद्वारप्रतिक्रमणमसंयमप्रतिक्रमणमिति हृदयम् । मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं-यदाभोगानाभोगसहसाकारैर्मिथ्यात्वगमनं तन्निवृत्तिरेवं कषायप्रतिक्रमणम् । योगप्रतिक्रमणं तु यन्मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्त्तनमित्याश्रवद्वाराऽऽदिप्रतिक्रमणमेव विवक्षितविशेषं भावप्रतिक्रमणमिति । आह च-

" मिच्छत्ताइ न गच्छइ, न य गच्छावेइ नाणुजाणाइ ।
जं मणवइकाएहिं, तं भणियं भावपडिक्कमणं " ॥ १ ॥ इति ।

विशेषाविवक्षाया तूक्ता एव चत्वारो भेदाः । यदाह-

मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं ।
कसायाण पडिक्कमणं, जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥१॥ इति ।

स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

(३) षड्विधप्रतिक्रमणम्-

**छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते । तं जहा-उच्चारपडिक्कमणे, पासवणपडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए, जं किंचि मिच्छासोमणंतिए ।**

( छव्विहे पडिक्कमणेत्यादि ) । प्रतिक्रमणं द्वितीयप्रायश्चित्तभेदलक्षणं मिथ्यादुष्कृतकरणमितिभावः । तत्रोच्चारोत्सर्गं विधाय यदीर्यापथिका प्रतिक्रमणं तदुच्चारप्रतिक्रमणमेवं प्रश्रवणविषयमपीति । उक्तं च-

" उच्चारं पासवणं, भूमीए वोसिरित्तु उवउत्तो ।
ओसरिऊण तत्तो, इरियावहियं पडिक्कमइ ॥ १ ॥
वोसिरइ मत्तगेऽज्झइ, न पडिक्कमई य मत्तगं जो उ ।
साहू परिठवेई, नियमेण पडिक्कमे सो उ ॥ २ ॥ " इति ।

( इत्तरिय त्ति ) । इत्वरं स्वल्पकालिकं दैवसिकरात्रिकाऽऽदि ( आवकहिय त्ति ) । यावत्कथिकं यावज्जीविकं महाव्रतभक्तपरिज्ञाऽऽदिरूपं, प्रतिक्रमणत्वं चाऽस्य निवृत्तिलक्षणार्थयोगादिति । ( जं किंचि मिच्छाति ) खेलसिंघाणाविधिनिसर्गाऽऽभोगानाभोगसहसाकाराऽऽद्यसंयमस्वरूपं यत्किञ्चिन्मिथ्या असम्यक् तद्विषयं मिथ्येदमित्येवं प्रतिपत्तिपूर्वकं मिथ्यादुष्कृतकरणं यत् किञ्चिन्मिथ्याप्रतिक्रमणमिति । उक्तं च-

" संजमजोगे अब्भु-ट्ठियस्स जं किंचि वितहमायरियं ।
मिच्छा-एय ति वियाणि-ऊण मिच्छत्ति कायव्वं " ॥१॥ इति ।

स्था० ६ ठा० ।

तथा-

खेलं सिंघाणं वा, अप्पडिलेहापमज्जिउं तह य ।
वोसिरिय पडिक्कमई, तं पि य मिच्छाकडं देइ" ॥१॥ इत्यादि ।

तथा-( सोमणंतिए त्ति ) स्वापनान्तिकं स्वपनस्य सुप्तिक्रियाया अन्तेऽवसाने भवं स्वापनान्तिकम् । सुप्तोत्थिता हि ईर्यां प्रतिक्रामन्ति साधव इति । अथवा-स्वप्नो निद्रावशे विकल्पस्तस्याऽन्तो विभाग स्वप्नान्तस्तत्र भवं स्वाप्नान्तिकम् । स्वप्नविशेषे हि प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति साधवः । यदाह-" गमणागमणविहारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ । नावा नइसंतारे, इरियावहिआ पडिक्कमणं ॥ १ ॥ यत.-" आउलमाउलयाए मावणवत्तियाए" इत्यादि प्रतिक्रमणसूत्रम् । तथा स्वप्नकृतप्राणातिपाताऽऽदिव्यर्थंगत्या प्रतिक्रमणरूपया कायोत्सर्गलक्षणप्रतिक्रमणमेवमुक्तम्-" पाणिवहमुसावाए, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव । सयमेगं तु अणूणं, ऊसासाणं भवेज्जाहि । १॥ " स्था० ६ ठा० ।

(४) अधुना यदुक्तं सप्रतिक्रमणो धर्म इत्यादि तत्प्रतिक्रमणं दैवसिकाऽऽदिभेदेन निरूपयन्नाह-

**पडिक्कमणं देसिअं रा-इअं च इत्तरिअमावकहियं च ।
पक्खिअ चाउम्मासिअ-संवच्छरि उत्तमट्ठे अ ॥२१॥**

प्रतिक्रमणं प्राङ्निरूपितशब्दार्थं दैवसिकं दिवसनिर्वृत्तं, रात्रिकं रजनिनिर्वृत्तम्, इत्वरं स्वल्पकालिकं दैवसिकाऽऽद्येव, यावत्कथिकं यावज्जीविकं व्रताऽऽदिलक्षणं, पाक्षिकं पक्षातिचारनिर्वृत्तम् । दैवसिकेनैव शोधिते सत्यात्मनि पाक्षिकाऽऽदि किमर्थम् ? । उच्यते गृहदृष्टान्तोऽत्र-" जह गेहं पइदियहं, पि सोहियं तह वि पक्खसंधीए । सोहिज्जइ सविसेसं, एवं इहइं पि नायव्वं ॥१॥ " एवं चातुर्मासिकं सांवत्सरिकम्, एतानि हि प्रतीतान्येव, उत्तमार्थे च भक्तप्रत्याख्याने प्रतिक्रमणं भवति, निवृत्तिरूपत्वात्तस्येति गाथासमुदायार्थः ॥ २१ ॥ आव० ४ अ० ।

यावत्कथिकं प्रतिक्रमणम्-

**उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए पडिक्कमणं ।
आभोगमणाभोगे, सहसक्कारे पडिक्कमणं ॥ २४ ॥**

उच्चारे पुरीषे, प्रश्रवणे मूत्रे, खेले श्लेष्मणि, सिङ्घानके नासिकोद्भवे श्लेष्मणि व्युत्सृष्टे सति सामान्येन प्रतिक्रमणं भवति ॥ २४ ॥ आव० ४ अ० ।

**आभोगे जाणंते-ण जो अइआरो कओ पुणो तस्स ।
जायम्मि उ अणुतावे, पडिक्कमणमजाणणा इयरे ॥२८॥**

प्रत्युपेक्षिताऽऽदिविधिविवेके तु न ददाति, तथा आभोगे अनाभोगे सहसाकारे सति योऽतिचारस्तस्य प्रतिक्रमणम् । जानन्नपि "आभोगे जाणंते-ण जो अइयारो कओ पुणो तस्स । जायम्मि उ अणुतावे, पडिक्कमणमजाणया इयरे " ॥ २८ ॥ अनाभोग उ अणुतावे, पडिक्कमणमजाणया इयरे " सहसक्कारो इत्थ लक्खणो पुव्वं अपासिउं ण छुहइ पायम्मि जं पुणो पासे न य तरइ, नियत्ते तु पायं सहसाकरणमेत्तं ।" तस्मिन् सति प्रतिक्रमणम् । अयं गाथाऽक्षरार्थः । इह पुनः प्राकरणिकम्-"पडिलेहिओ पमज्जिय भत्तं पाणं च वोसिरेऊण । वसहीकयवरमेव उ नियमेण पडिक्कमे साहू । हत्थसया आगंतु च मुहुत्तगं जहिं चिट्ठे । पथे वा वच्चंतो, नदीसंतरणे पडिक्कमणं ॥१॥ " आव० ४ अ० ।

प्रतिक्रान्तव्यमुच्यते, तत्पुनरोघन· पञ्चधा भवतीत्याह निर्युक्तिकारः-

मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं ।
कसायाण पडिक्कमणं, जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥३२॥
संसारपडिक्कमणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।
भावपडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेअव्वं ॥३३॥

मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामो मिथ्यात्वं तस्य प्रतिक्रमणं तत्प्रतिक्रान्तव्यं वर्तते, यदा आभोगानाभोगसहसाकारैर्मिथ्यात्वं गतस्तस्य प्रतिक्रान्तव्यमित्यर्थः । तथैवासंयमे असंयमविषयं प्रतिक्रमणम् । असंयम· प्राणातिपाताऽऽदिलक्षणः प्रतिक्रान्तव्यो वर्तते,कषायाणां प्राङ्गिरूपितशब्दार्थानां क्रोधाऽऽदीनां प्रतिक्रमणं, कषायाः प्रतिक्रान्तव्याः, योगानां च मनोवाक्कायानामप्रशस्तानामशोभनानां प्रतिक्रमणम्, ते च प्रतिक्रान्तव्या इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ संसरणं संसारस्तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणास्तस्य प्रतिक्रमणं चतुर्विधं चतुष्प्रकारं भवत्यानुपूर्व्या परिपाट्या । एतदुक्तं भवति-नरकाऽऽयुषो ये हेतवो महाऽऽरम्भाऽऽदयः तेऽनाभोगानाभोगसहसाकारैर्यद्वर्तितमन्यथा वा प्ररूपितं तस्य प्रतिक्रान्तव्यम् । एवं तिर्यङ्नरामरेष्वपि विशेषो, नवरं शुभनरामराऽऽयुर्हेतुभ्यो मायाऽऽद्यनासेवनाऽऽदिलक्षणेभ्यो निराशंसैर्नैवापवर्गाभिलाषिणाऽपि न प्रतिक्रान्तव्यम्-"भावपडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेयव्वं ।" तदेतदनन्तरोदितं भावप्रतिक्रमणं पुनस्त्रिविधं त्रिविधेनैव नेतव्यं,पुनःशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । एतदुक्तं भवति-"मिच्छत्ताइ न गच्छति, न य गच्छावेति णाणुजाणाति । जं मणवयकाएहिं, तं भणियं भावपडिक्कमणं ॥ १ ॥" मनसा न गच्छति न चिन्तयति यथा शोभनः शाक्याऽऽदिधर्मः, वाचा नाभिधत्ते, कायेन न तैः सह निष्प्रयोजनं संसर्गं करोति, तथा न गच्छावेति, मनसा न चिन्तयति कथमेष तच्चनिकाऽऽदिः स्यात्, वाचा न प्रवर्तयति यथा तच्चनिकाऽऽदिर्न च कायेन न तच्चनिकाऽऽदीनामर्पयति । णाणुजाणाति कश्चित्तच्चनिकाऽऽदिर्भवति, न तद् मनसाऽनुमोदयति, तूष्णीं त्वास्ते, वाचा न सुष्ठारब्धं कृतं चेति भणति, कायेन न नखच्छोटिकाऽऽदि प्रयच्छति । एवमसंयमाऽऽदिष्वपि विभाषा कार्येति गाथार्थः ॥३३॥ इत्थं मिथ्यात्वाऽऽदिगोचरं भावप्रतिक्रमणमुक्तमिह च भवमूलाः कषायाः । तथा चोक्तम्-"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणा कसाया,सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स"॥१॥ अतः कषायप्रतिक्रमणं एव उदाहरणमुच्यते-"केई दो सजया संगारं काऊण देवलोगं गया इओ य एगम्मि नयरे एगस्स सेट्ठिस्स भारिया पुत्तनिमित्तं नागदेवयाए उववासेण ठिया । ताए भणियं होहिति ते पुत्तो देवलोयचुओ त्ति । तेसिमेगो चइत्ता तीए पुत्तो जाओ।"नागदत्तो"त्ति से नाम कयं,वावत्तरिकलाविसारओ जाओ,गधव्वं च से अतिपरिचियं, तेण गंधव्वनागदत्तो भण्णइ। तओ सो मित्तजणपरिवारिओ सोक्खमणुभवति, देवो य णं बहुसो बहुसो पडिबोहेति, सो न संबुज्झति, ताहे सो देवो अव्वत्तलिंगेण न नज्जए, जाहे से पच्चइयगो जेण से रजोहरणाइउवगरणं नत्थि, सप्पे चत्तारि करंडयहत्थो गहेऊण तस्स उज्जाणियगयस्स अदूरसामन्ते वीयीवयति,मित्तेहिं तस्स कहियं एस सप्पखेल्लावगो त्ति गतो तस्स मूलं, पुच्छइ-किमेत्थ ? । देवो भणइ-सप्पो । गंधव्वनागदत्तो भणइ-रमामो तुमं मम चएहिं अहं न तव चएहिं, देवो तस्सप्पएहिं रमइ, खइओ वि न मरइ । गंधव्वनागदत्तो अमरिसिओ भणइ-अहं पि रमामि तव संतिएहिं सप्पेहिं । देवो भणति-मरसि जइ खज्जसि, जाहे निब्बंधेण लग्गो ताहे मंडलं आलिहिय ठवेण, चउदिसिं पि करंडया ठविया, पच्छा से सव्वं मित्तसयणपरियणं मेलेऊणं तस्स समक्खं इमं भणइ ।

गंधव्वनागदत्तो, इच्छइ सप्पेहिँ खेल्लिउं इहयं ।
सो जइ कहिं वि खज्जइ,इत्थ हु दोसो न कायव्वो ॥३४॥

गन्धर्वनागदत्त इति नाम इच्छत्यभिलषति सर्पैः सार्द्धं क्रीडितुमत्र स खल्वयं यदि कथञ्चित्केनचित्प्रकारेण खाद्यते भक्ष्यते ( एत्थ हु ) अस्मिन्वृत्तान्ते दोषो न कर्त्तव्यो मम भवद्भिरिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

यथा चतसृष्वपि दिक्षु स्थापितानां सर्पाणां माहात्म्यमसावकथयत् तथा प्रतिपादयन्नाह-

तरुणदिवायरनयणो, विज्जुलयाचंचलग्गजीहालो ।
घोरमहाविसदाढो उक्का इव पज्जलिअरोसो ॥३५॥

तरुणदिवाकरवदचिरनवोदिताऽऽदित्यवन्नयने लोचने यस्य स तरुणदिवाकरनयनो, रक्ताक्ष इत्यर्थः· विद्युल्लतेव चञ्चला जिह्वा यस्य स विद्युल्लताचञ्चलाग्रजिह्वः, घोरा रौद्रा महाविषाः प्रधानविषयुक्ता दंष्ट्रा आस्यो यस्य स घोरमहाविषदंष्ट्रः । उल्केव निर्गतज्वालेव प्रज्वलितो रोषो यस्य स तथोच्यते इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

डक्को जेण मणुस्सो, कयमकयं वा न जाणइ बहुं पि ।
अदिस्समाणमच्चुं, कह गिज्झसि तं महानागं ॥ ३६ ॥

(डक्को) दष्टो येन सर्पेण मनुष्यः कृतं किञ्चिदकृतं वा न जानीते स बह्वपि अदृश्यमानोऽयं करण्डस्थो मृत्युर्वर्तते मृत्युहेतुत्वान्मृत्यु, यतश्चैवमतो कथं गृहीष्यसि त्वं महानागं प्रधानसर्पमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अयं च क्रोधसर्पः पुरुषेषु योजना स्वबुद्ध्या कार्या, क्रोधसमन्वितस्तरुणदिवाकरनयन एव भवतीत्यादि-

मेरुगिरितुंगसरिसो, अट्ठफणो जमलजुअलजीहालो ।
दाहिणपासम्मि ठिओ, माणेण विअट्टई नागो ॥३७॥

मेरुगिरेस्तुङ्गान्युच्छ्रितानि तैः सदृशः मेरुगिरितुङ्गसदृशः, उच्छ्रित इत्यर्थः । अष्टौ फणा यस्याऽसौ अष्टफणः, जातिकुलरूपबलाभबुद्धिवाल्लभ्यकश्रुतानि इष्टव्यानि, तत्त्वतः यमो मृत्युः मृत्युहेतुत्वात् । 'ला' आदाने यमं लातीति आददतीति यमला युग्मा जिह्वा यस्य स यमलयुग्मजिह्वः । करण्डकन्यासमधिकृत्याऽऽह-दक्षिणपार्श्वे स्थितः दक्षिणादिदन्यासस्तु दाक्षिण्यबल उपरोधवतो मानप्रवृत्तेरत एवाऽऽह-मानेन हेतुभूतेन व्यावर्तते नागः सर्प इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

डक्को जेण मणुस्सो, थद्धो न गणेइ देवरायमवि ।
तं मेरुपव्वयनिभं, कह गिज्झसि तं महानागं ॥३८॥

(डक्को) दष्टः येन सर्पेण मनुष्यः स्तब्धः सन् गणयति देवराजमपि इन्द्रमपि, तमित्थम्भूतं मेरुपर्वतमिव कथं ग्रहिष्यसि त्वं महानागं प्रधानसर्पमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ च मानसर्पः-

सललिअवेल्लहलगई, सत्थिअलंछणफणंकिअपडागा ।
मायामई अ नागी, निअडिकवडवंचणाकुसला ॥३९॥

सललिता मृद्वी वेल्लहला स्फीता गतिर्यस्याः सा सललितवेल्लहलगतिः स्वस्तिकलाञ्छनेनाङ्किता फणा पताका यस्याः सा स्वस्तिकलाञ्छनाङ्कितफणापताकेति वक्तव्ये गाथाभङ्गभयादन्यथा पाठः । मायाऽऽत्मिका नागी निकृतिकपटवञ्चनाकुशला निकृतिरान्तरो विकारः, कपटं वेषपरावर्तिताऽऽदि बाह्यः, आभ्यां या वञ्चना तस्यां कुशला निपुणेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

तं चऽसि वालग्गाही, अणोसहिबलो अ अपरिहत्थो य ।
सा य चिरसंचिअविसा, गहणम्मि वणे वसइ नागी ॥४०॥

इयमेवम्भूता नागी रौद्रा, त्वं च व्यालग्राही सर्पग्रहणशीलः, अनौषधिबलश्च औषधिबलरहितः, अपरिहतश्चादक्षश्च, सा च चिरसञ्चितविषा गहने सङ्कुले वने कार्यजाले वसति नागीति गाथार्थः ॥ ४० ॥

होही ते विणिवाओ, तीसे दाढंतरं उवगयस्स ।
अप्पोसहिमंतबलो, न हु अप्पाणं चिगिच्छिहिसि ॥४१॥

भविष्यति ते विनिपातः तस्या दंष्ट्रान्तरमुपागतस्य प्राप्तस्य अल्पं स्तोकमौषधिमन्त्रबलं यस्य सोऽल्पौषधिमन्त्रबलः यतश्चैवमतो नैवाऽऽत्मानं चिकित्सिष्यसीति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

इयं च मायानागी-

उत्थरमाणे सव्वं, महालओ पुन्नमेहनिग्घोसो ।
उत्तरपासम्मि ठिओ, लोभेण विअट्टई नागो ॥ ४२ ॥

(उत्थरमाणे त्ति) अभिभवन् सर्वं वस्तु, महानालयो यस्येति महालयः, सर्वत्रानिवारितत्वात् पूर्णः पुष्कलावर्तमेघस्येव निर्घोषो यस्य स तथोच्यते । करण्डकन्यासमधिकृत्याह-उत्तरपार्श्वस्थितः उत्तरदिग्न्यासस्तु सर्वोत्तरो लोभ इति ख्यापनार्थः । अत एवाऽऽह-लोभेन हेतुभूतेन ( वियट्टति त्ति ) व्यावर्तते रुष्यति वा नागः सर्प इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

दट्ठो जेण मणुस्सो, महसायरइवातिदुप्पूरं ।
सव्वविससमुदयं खलु, कह गेज्झसि त महानाग ॥४३॥

दष्टो येन मनुष्यो भवति महासागर इव स्वयम्भूरमण इव दुष्पूरस्तमित्थम्भूतं सर्वविषसमुदयं सर्वव्यसनैकराजपथं कथं ग्रहीष्यसि त्वं महानागं प्रधानसर्पमिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ च लोभसर्पः-

एए ते पावाऽऽही, चत्तारि वि कोहमाणमयालोहा ।
जेहिँ सया सतत्तं, जरियमिव जगं कलकलेइ ॥४४॥

एते ते पापाः अहयः पापसर्पाश्चत्वारोऽपि क्रोधमानमायालोभाः, यैः सदा सततं सत् ज्वरितमिव जगद् भुवनं कलकलायते ज्वजलधौ क्वथतीति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

एएहिँ जो उ खज्जइ, चउहिँ आसीविसेहिँ पावेहिँ ।
अवसस्स नरयपडणं, नत्थि से आलवणं किंचि ॥४५॥

एभिर्यः एव खादते भक्ष्यते चतुर्भिराशीविषैः भुजङ्गैः पापैरशोभनैस्तस्य वशस्य सतो नरकपतनं भवति, नास्ति न विद्यते (से) तस्य आलम्बनं किञ्चित् येन न पतन्तीति गाथार्थः ॥४५॥

एवमभिधाय ते मुक्ता -

एएहिँ अहं खइओ, चउहिँ वि आसीविसेहि घोरेहिं ।
विसनिग्घायणहेउं, चरामि विविहं तवोकम्मं ॥ ४६ ॥

सो खइओ पडिओ मओ य, पच्छा देवो भणति-किह जातं न ठाति वारिज्जंतो, पुव्वभणिया य तेण मित्ता अगदं छुहंति, ओसहाणि य न किंचि गुणं करेंति । पच्छा तस्स सयणो पायसु पडिओ जीवावेहि त्ति । देवो भणति-एत्थ चेव अहं पि खइओ, जइ परिसं चरियमणुचरइ तो जीवति, जति णाणुपालेति तो उज्जीवाविओ पुणो वि मरति, त च चरियं गाहाहिं कहेति । एभिरहं ( खतितो त्ति ) भक्षितः चतुर्भिराशीविषैर्भुजङ्गैर्घोरैरौद्रैर्विषनिर्घातहेतुं विषनिर्घातननिमित्तं चरामि आसेवयामि विविधं विचित्रं चतुर्थषष्ठाऽष्टमाऽऽदिभेदं तपःकर्म तपःक्रियामिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

सेवामि सेलकाणणसुमाणसुन्नघररुक्खमूलाइं ।
पावाहीणा तेसिं, खणमवि न उवेमि वीसंभं ॥ ४७ ॥
अच्चाहारो न सहइ, अइनिद्धेण विसया उइज्जंति ।
जायामायाहारो, तं पि पगामं न इच्छामि ॥ ४८ ॥
ओसन्नकयाहारो, अहवा विगईविवज्जिआहारो ।
जं किंचि कयाहारो, उवउज्जिअ थोवमाहारो ॥ ४९ ॥
थोवाहारो थोवं, भणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो अ ।
थोवोवहिउवगरणो, तस्स य देवा वि पणमंति ॥ ५० ॥
सिद्धे नमंसिऊणं, संसारत्था य जे महाविज्जा ।
वुच्छामि दंडकिरिअं, सव्वविसनिवारणिं विज्जं ॥ ५१ ॥
सव्वं पाणइवायं, पच्चक्खाइ त्ति अलिअवयणं च ।
सव्वमदिन्नादाणं, अव्वंभपरिग्गहं साहा ॥ ५२ ॥

सेवामि भजामि शैलकाननश्मशानशून्यगृहवृक्षमूलानि, शैलाः पर्वताः, काननानि दूरवर्तिवनानि, शैलाश्च काननानि चेत्याद्द्विन्द्वः क्रियते । पापाहीनां पापसर्पाणां तेषां क्षणमपि नोपैमि न यामि विश्रम्भं विश्वासमिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ अत्याहारः प्रभूताऽऽहारः न सहति प्राकृतशैलया न सहते न क्षमते, मम स्निग्धमल्पं च भोजनं भविष्यति इत्येतदपि नास्ति, यतः अतिस्निग्धेन मृद्वश्लक्ष्णप्रचुरेण विषयाः शब्दाऽऽदय उदीर्यन्ते उद्रेकावस्थां नीयन्ते, ततश्च यात्रामात्राऽऽहारः यावता संयमयात्रा सर्पते तावन्तं भक्षयामि तमपि, न प्रकामं पुनः पुनर्नेच्छामि इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ उत्सन्नं प्रायशः अकृताहारस्तिष्ठामीति क्रिया । अथवा विकृतिभिर्वर्जित आहारो यस्य मम सोऽहं विकृतिवर्जिताहारः यत्किञ्चिच्छोभनमशोभनं वौदनाऽऽदि कृतमाहारो येन मया सोऽहं तथाविधः । ( उवउज्जिय थोवमाहारो त्ति ) उपयुज्य स्तोकं स्वल्पं आहारो यस्य मम सोऽहम् उपयुज्य स्तोकाहार इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ एवं क्रियायुक्तस्य गुणानुपदर्शयन्ति-स्तोकाऽऽहारः स्तोकभणितश्च यो भवति स्तोकनिद्रश्च स्तोकोपध्युपकरणः उपधिरेवोपकरणं तस्य चेत्थम्भूतस्य देवा अपि प्रणमन्तीति गाथार्थः ॥ ५० ॥ एवं जइ अणुपालेति तो उट्ठेति, भणति परं, एवं पि जीवंतो पेच्छामो पुव्वाभिमुहो ठिओ

किरियं पओजिउकामो देवो भणति-सिद्धे गाहा । सिद्धान्मुक्तान्नमस्कृत्य मसारस्थाश्च ये महावैद्या केवलिचतुर्दशपूर्वविरप्रभृतयः, तांश्च नमस्कृत्य, वक्ष्ये दण्डक्रियां सर्वविषनिवारणीं विद्यामिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ सर्वं संपूर्णं प्राणातिपातं प्रत्याख्याति प्रत्याचष्टे एष महात्मेति, अनृतवचनं च, सर्वं चादत्ताऽऽदानम, अब्रह्मपरिग्रहं च प्रत्याचष्टे स्वाहेति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ एवं भणिओ उट्ठिओ अम्मापिईहिं से कहिय-न सद्दहति पच्छा पहाविओ पडिओ, पुणो वि तहेव देवेण उट्ठाविओ,पुणो वि पहाविओ, तो पडिओ, तइयाए वेलाए देवो नेच्छति, पासाइओ उट्ठाविओ, पडिस्सुय अम्मापियर पुच्छित्ता तेण समं पहाविओ,एगम्मि वणसंडे पुव्वभव कहेति, संबुद्धो पत्तेयबुद्धो जाओ । देवो वि पडिगओ। एवं सो ते कलाए सरीरकरंडए छोढूण कओ वि सचारिउं न देति, एवं सो औदयिकस्स भावस्स अकरणयाए अब्भुट्ठिओ पडिक्कंतो होइ, दीहेण सामन्नपरियाएण सिद्धो । एवं भावपडिक्कमण ।

## (५) प्रतिक्रमणनिमित्तम्-

आह-किं निमित्तं पुणो पुणो पडिक्कमिज्जइ, जहा मज्झिमाणं तहा कीस न कज्जे पडिक्कमिज्जइ ?। आइरिय आह एत्थ वेज्जेण दिट्ठंतो । एगस्स रन्नो पुत्तो अतीव पिओ, तेण चिंतिय-मा स रोगो भविस्सति, किरियं करावेमि। तेण वेज्जा सद्दाविया, मम पुत्तस्स तिगिच्छं करेह,जेण निरोगो होइ । ते भणति-करेमो। राया भणति-केरिसा तुज्झ जोगा । एगो भणति-जइ रोगो अत्थि ता उवसामेति,अह नत्थि तं चेव जीवंत मारेति । बितिओ भणति-जइ रोगो अत्थि उवसामेति, अन्नहा न गुणं न दोसं करेति ।ततिओ भणति -जइ रोगो अत्थि उवसामेति, अह नत्थि तो वण्णरूवजोव्वणलावण्णत्ताए परिणमति । बितिओ विही अणागयपरित्ताणे भाणियव्वो।ततिएण रन्ना कारिया किरिया एवमिमं पि पडिक्कमण, जति दोसा अत्थि ता विसोहिज्जति, जइ नत्थि तो सोहिचरित्तस्स सुद्धयरिया भवइ । उक्तं सप्रसङ्गं प्रतिक्रमणम् । अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः । स चाऽन्यत्र न्यक्षेण प्ररूपितत्वान्नेहाधिक्रियते । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप. । साम्प्रत सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्याऽवसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादिप्रपञ्चो वक्तव्य. । आव० ४ अ० । ध० । ध० र० ।

(६) प्रतिक्रमणविधिश्चैव प्रतिक्रमणहेतुगर्भोऽऽद्यौ उक्त.-साधुना श्रावकेणापि अनुयोगद्वारगत " तदर्पितकरणे " इति पदस्य करणानि-तत्साधकतमानि देहरजोहरणमुखवस्त्रिकाऽऽदीनि, तस्मिन्नेवाऽऽवश्यके यथोचितव्यापारनियोगनार्पितानि नियुक्तानि येन स तदर्पितकरणः सम्यग् यथाऽवस्थानन्यस्तोपकरण इत्यर्थ इति वृत्ति. । तथा " जो मुहपोत्तिअ अपडिलेहित्ता वदण देइ तो गुरुअ तस्स पच्छित्त।" इति व्यवहारसूत्रम् ।"पोसहसालाए ठवित्तु ठवणायरिअं मुहपुत्तिअ पमज्जता सीहो गिण्हइ पोसह । " इति विवाहचूलिका " पावरण मोत्तूण, गिण्हित्ता मुहपोत्तिअ । वत्थकायविसुद्धीए, करेई पोसहाइअ " ॥१॥ इति च व्यवहारचूर्णिरित्येवमादिग्रन्थप्रामाण्यात् मुखवस्त्रिकारजोहरणाऽऽदियुक्तेन द्विसंध्य विधिना प्रमार्जिताऽऽदौ स्थाने जातु तदभावेऽपि ससाक्षिक कृतमनुष्ठानमत्यन्त दृढ जायत इति गुरुसाक्षिक, तदभावे च नमस्कारपूर्वं स्थापनाऽऽचार्यं स्थापयित्वा पञ्चाऽऽचारविशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमण विधेयम्। अत्र ऽऽह कश्चित्-(ध०) तथा तत्रैव यदपरमुक्तम्-" चउसिरं तिगुत्त च दुपवेस एगनिक्खमण " इत्यादि। तदपि न युक्त भवेद् । यतश्चतु शीर्षत्व वन्दनकदातृनत्प्रतीच्छकसद्भावे सति भवति, न तु साक्षाद्गुर्वभावे स्थापनाचार्यस्याऽनभ्युपगमे च, एव द्विप्रवेशैकनिष्क्रमणे अपि दूरापास्ते एव, अवधिभूतगुरो· स्थापनाऽऽचार्यस्य वाऽभावात् । न च हृदयमध्य एव गुरुरस्तीति वाच्यं, तथा सति प्रवेशनिर्गमयोरविषयत्वादिति । तस्मात् " अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे अ चित्तकम्मे अ । सब्भावमसब्भावं, गुरुठवणा इत्तराऽऽवकह ॥१॥" इतिवचनप्रमाणाच्च साधुश्रावकाणां स्थापनाऽऽचार्यस्थापन समानमेवेति व्यवस्थितम्। पञ्चाऽऽचाराश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याऽऽचारा इति । तत्र सामायिकेन चारित्राऽऽचारस्य शुद्धि क्रियते १, चतुर्विंशतिस्तवेन दर्शनाऽऽचारस्य २ , वन्दनकेन ज्ञानाऽऽद्याचाराणाम् ३, प्रतिक्रमणेन तेषामतिचारापनयनरूपा ४ , प्रतिक्रमणेनाशुद्धाना तदतिचाराणां कायोत्सर्गेण ५ , तपआचारस्य प्रत्याख्यानेन ६ , वीर्याऽऽचारस्यैभिः सर्वैरपीति । यतश्चतु·शरणप्रकीर्णके-" चारित्तस्स विसोही, कीरइ सामाइएण इह किरय । " इत्यादि गाथाः प्रसिद्धा । तत्र चाऽऽवश्यकाऽऽरम्भे चैत्यवन्दनाधिकारोक्ताऽऽगमवचनप्रामाण्यात्-

" जइ गमणागमणाइं, आलोइअ निंदिऊण गरहित्ता ।
हा दुट्ठम्हेहिं कय, मिच्छादुक्कडमिअ भणित्ता ॥ १ ॥
तह काउस्सग्गेणं, तयणुरूवपच्छित्तमणुचरित्ता णं ।
जं आयहिअ चिइव-दणाइ गुहिज्ज तवजुत्तो ॥ २ ॥
तक्खणे पवित्ति, करेइ जइ काउ वज्झनणसुद्धिं ।
भावच्चण तु कुज्जा, तह इरिआए विमलचित्तो ॥ ३ ॥ "

इत्यादियुक्तेश्च पूर्वमीर्यापथिकीं प्रतिक्रामति । प्रतिक्रामता च तां मनसोपयोग दत्त्वा त्रीन् वारान् पदन्यासभूमिः प्रमार्जनीया, एव च तां प्रतिक्रम्य साधु· कृतसामायिकश्च श्रावक आदौ श्रीदेवगुरुवन्दन विधत्ते, सर्वमप्यनुष्ठानं श्रीदेवगुरुवन्दनविनयबहुमानाऽऽदि भक्तिपूर्वकं सफलं भवतीति ।

आह च-

" विणयाहीआ विज्जा, दिंति फलं इह परे अ लोगम्मि ।
न फलति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाणि ॥ १ ॥
भत्तीइ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।
आयरिअनमुक्कारेण,विज्जा मंता य सिज्झंति ॥ २ ॥ "

इति हेतोः-

विधिना देवान् वन्दित्वा चतुरादिक्षमाश्रमणैः श्रीगुरून् वन्दते। लोकेऽपि हि राज्ञः प्रधानाऽऽदीनां च बहुमानाऽऽदिना स्वसमीहितकार्यसिद्धिर्भवति। अत्र राजस्थानीयाः श्रीतीर्थकराः, प्रधानाऽऽदिस्थानीया आचार्याऽऽदय इति। श्राद्धस्तु तदनु "समस्तश्रावको वांदूं" इति भणति। ततः चारित्राऽऽचाराऽऽदिशुद्धिविधित्सुस्तत्सिद्धिमभिलषमाणश्चारित्राऽऽचाराऽऽद्याराधकान् सम्यक् प्रणिपत्यातीचारभारभरित इवावनतकायपूर्वार्द्धनिहितशिराः सकलातिचारबीजम्-"सव्वस्स वि देवसिअ" इत्यादि सूत्रं भणित्वा मिथ्यादुष्कृतं दत्ते। इदं च सकलप्रतिक्रमणबीजकभूतं ज्ञेयम्। अन्यत्राऽपि च ग्रन्थाऽऽदौ आदौ बीजस्य दर्शनात्। तत्र चतुर्थाय ज्ञानाऽऽदिषु चारित्रं गरिष्ठं, तस्य मुक्तेरनन्तरकारणत्वात्। ज्ञानाऽऽदेस्तु परम्पराकारणत्वात्। (ध०) इति हेतोरादौ चारित्राऽऽचारविशुद्ध्यर्थम्-" करेमि भंते ! सामाइअं " इत्यादिसूत्रत्रयं पठित्वा द्रव्यतो वपुषा भावतश्च शुद्धपरिणामेनोच्छ्रितोच्छ्रितं वक्ष्यमाणलक्षणं कायोत्सर्गं कुर्यात्, कायोत्सर्गे च साधुः प्रातस्त्यप्रतिलेखनायाः प्रभृति दिवसातिचारांश्चिन्तयति। यतः-" पाभाइअपडिक्कमणाण तरमुहपुत्तिपमुहकज्जेसु। जाव इमो उस्सग्गो, अइआर ताव चिंतेज्जा ॥१॥" इति मनसा सम्प्रधारयेच्च, " सयणासणे " इत्यादिगाथाचिन्तनं, ( ध० ) एतदतिचारचिन्तनं मनसा, सङ्कलनं च श्रीगुरुसमक्षमालोचनार्थम्, अन्यथा तत्सम्यग् न स्यात्। लोकेऽपि हि राजाऽऽदीनां किमपि विज्ञप्यं मनसा सम्प्रधार्य, कागदाऽऽदौ लिखित्वा वा विज्ञप्यते इति। ततश्च नमस्कारपूर्वं कायोत्सर्गं पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवं पठेत्, तदनु जानुपाश्चात्यभागपिण्डिकाऽऽदि प्रमृज्योपविश्य च श्रीगुरूणां वन्दनकदानार्थं मुखवस्त्रिकां कायं च द्वावपि प्रत्येकं पञ्चविंशतिधा प्रतिलिख्य पूर्वोक्तविधिना वन्दनके दद्यात्, एतद्वन्दनकं च कायोत्सर्गावधारितातीचाराऽऽलोचनार्थं, ततश्च सम्यगवनताङ्गः पूर्वं कायोत्सर्गे स्वमनोऽवधारितान् दैवसिकातीचारान्-" इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअं आलोएमि " इत्यादिसूत्रं चारित्रविशुद्धिहेतुकमुच्चरन् श्रीगुरुसमक्षमालोचयेत्। एवं दैवसिकातीचाराऽऽलोचनानन्तरं मनोवचनकायसकलातीचारसङ्ग्राहकम्-"सव्वस्स वि देवसिय" इत्यादि पठेत्, ' इच्छाकारेण संदिसह भगवन् " इत्यनेनानन्तराऽऽलोचितातीचारप्रायश्चित्तं च मार्गयेत्, गुरवश्च ' पडिक्कमह " इति प्रतिक्रमणरूपं दशविधप्रायश्चित्ते द्वितीयं प्रायश्चित्तमुपदिशन्ति। तच्च मिथ्यादुष्कृताऽऽदिरूपम्। (ध०) प्रथमप्रायश्चित्तं त्वालोचनारूपं प्राक् कृतमेव, गुरवः सकाशाऽऽदिना प्रायश्चित्तं ददते, न तु "पडिक्कमह" इति जानन्ते इत्युक्तं दिनचर्यायां, तथा च तद्गाथा-"गम्भीरिमगुणनिहिणो, मणवयकाएहिँ विहिअममभावा। पडिक्कमह त्ति न जपइ, जणंति त पइ गुरू रुट्ठा ॥ १ ॥" रुष्टा इव जानन्तीत्यर्थः। ततो विधिनोपविश्य समताऽवस्थितेन सम्यगुपयुक्तमनसाऽनवस्थाप्रसङ्गभीतेन पदे पदे संवेगमापद्यमानेन दशमशकाऽऽदीन् देहेऽगणयता श्राद्धेन सर्वं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारपूर्वं कर्म कर्त्तव्यमित्यादौ स पठ्यते, समभावस्थेन च प्रतिक्रमितव्यमित्यतः सामायिकसूत्रं भण्यते, तदनन्तरं दैवसिकाऽऽद्यतीचाराणामोघाऽऽलोचनार्थम्-" इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ अइयारो कओ " इत्यादि भण्यते, तदनु श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रं पठ्यते, यावत्-" तस्स धम्मस्स " इति। साधुस्तु सामायिकसूत्रानन्तरं मङ्गलार्थं " चत्तारि मंगलं " इत्यादि भणति, ततः ओघतोऽतिचाराऽऽलोचनार्थम्-" इच्छामि पडिक्कमिउं " इत्यादि, विभागाऽऽलोचनार्थं तु तदनु ईर्यापथिकीं, ततश्च शेषाशेषाऽतीचारप्रतिक्रमणार्थं मूलसाधुप्रतिक्रमणसूत्रं पठति, आचरणाऽऽदिनैव चैव भिन्ना रीतिः। प्रतिक्रमणसूत्रं च तथा भणनीयं, यथा स्वस्य परेषां शृण्वतां च परेषां संवेगभराद्रोमाञ्चो भवति। तदुक्तं दिनचर्यायाम्-" पभणंति तहा सुत्तं, न केवलं तेसि तह य अन्नेसिं। जह नयजलप्रवाहेण, पए पए हुंति रोमंचो ॥ १ ॥" इति। तदनु सकलातिचारनिवृत्त्याऽपगतभारो लघुभूत उत्तिष्ठति, एवं द्रव्यतो भावतश्चोत्थाय " अब्भुट्ठिओमि " इत्यादिसूत्रं प्रान्तं यावत्पठति। ततः प्रतिक्रान्तातीचारः श्रीगुरुषु स्वकृतापराधक्षमणार्थं वन्दनकं ददाति, प्रतिक्रमणे हि सामान्यतश्चत्वारि वन्दनकानि द्विकरूपाणि स्युः, तत्र प्रथममालोचनवन्दनकम् १, द्वितीयं क्षमणकवन्दनकम् २, तृतीयमाचार्याऽऽदिसर्वसङ्घस्य क्षमणकपूर्वमाश्रयणाय ३, चतुर्थं प्रत्याख्यानवन्दनकम् ४, इति। ततो गुरून् क्षमयति पूर्वोक्तविधिना, तत्र पञ्चकमध्ये तु ज्येष्ठमेवैकम्, आचीर्णाभिप्रायेणेदमुक्तम्, अन्यथा तु गुरुमादिं कृत्वा ज्येष्ठानुक्रमेण सर्वान् क्षमयेत्, पञ्चप्रभृतिषु सत्सु त्रीन् गुरुप्रभृतीन् क्षमयेत्. इदं च वन्दनकम्-" अब्भिआय गवंदण " इत्युच्यते, आचार्याऽऽदीनामाश्रयणायेत्यर्थः इत्युक्तं प्रवचनोद्धारवृत्तौ। ततश्च कायोत्सर्गकरणार्थम्-" पडिक्कमणे १ सज्झाए २, काउस्सग्गावराह ३-४ पाहुणए ५ " इत्यादिवचनाद्वन्दनकदानपूर्वकं भूमिं प्रमृज्य " जे मे केइ कसाया " इत्याद्यक्षरसूचितं कषायचतुष्टयात्प्रतीपं क्रमणमनुकुर्वन्निव पाश्चात्यपादैरवग्रहाद्बहिर्निःसृत्य " आयरिअ उवज्झाए " इत्यादि सूत्रं पठति। तत्राऽऽद्यश्चारित्रशुद्धये कायोत्सर्गो विधीयते। चारित्रं च कषायविरहेण शुद्धं भवति, तदभावे तस्याऽसारत्वात्। ( ध० ) ततश्च चारित्रप्रकर्षकृते कषायोपशमाय च " आयरियउवज्झाए " इत्यादिगाथात्रयं पठित्वा चारित्रातिचाराणां " पडिक्कमणासुद्धाणं " इति वचनात्, प्रतिक्रमणेनाशुद्धानां शुद्धिनिमित्तं कायोत्सर्गं चिकीर्षुः " करेमि भंते ! सामाइअं " इत्यादिसूत्रत्रयं च पठित्वा कायोत्सर्गं करोति। सामायिकसूत्रे च सर्वं धर्मानुष्ठानं समतापरिणामे स्थितस्य सफलम्, इति प्रतिक्रमणस्याऽऽदौ मध्येऽवसाने च पुनः पुनस्तत्स्मृत्यर्थमुच्चार्यमाणं गुणवृद्धये एव। आह च-

" आइमकाउस्सग्गे, पडिक्कमंतो अ काउँ सामइअं।
तो किं करेइ बीअं, तइअं च पुणो वि उस्सग्गे ॥ १ ॥
समभावम्मि ठिअप्पा, उस्सग्ग करिअ तो अ पडिक्कमइ।
एमेव य समभावे, ठिअस्स तइअ पि उस्सग्गे ॥ २ ॥
सज्झायझाणतवओ-सहेसु उवएसथुइपयाणेसु।
संतगुणकित्तणेसु य, न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ ३ ॥"

इति कायोत्सर्गे च-" चंदेसु निम्मलयरा " इत्यन्तं चतुर्विंशतिस्तवद्वयं चारित्राचारविशुद्ध्यर्थं चिन्तयति, पारयित्वा च कायोत्सर्गं, सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वाज्ज्ञानाद्दर्शनं गरिष्ठम्, इति ज्ञानाचारात्पूर्वं दर्शनाचारविशुद्ध्यर्थं भरतक्षेत्रेऽत्र सत्त्वेनासन्नोपकारित्वाच्छ्रीऋषभनादिस्तुतिरूपं चतुर्विंशतिस्तवम्, "सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इत्यादि सूत्रं च पठित्वा तदर्थमेव कायोत्सर्गमेकचतुर्विंशतिस्तवचिन्तनरूपं करोति। तं च तथैव पारयित्वा सामायिकादिचतुर्दशपूर्वपर्यन्तश्रुतज्ञानाचार-

विशुद्ध्यर्थं "पुक्खरवरदीवड्ढे" इत्यादि सूत्रम्, "सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं" इत्यादि च पठित्वैकचतुर्विंशतिस्तवचिन्तनरूपं कायोत्सर्गं कुर्यात् । पारयित्वा च तं ज्ञानदर्शनचारित्राचारनिरतिचारसमाचरणफलभूतानां सिद्धानां "सिद्धाण बुद्धाण" इति स्तवं पठति । इह च चतुर्विंशतिस्तवद्वयचिन्तनरूपो द्वितीयश्चारित्राचारविशुद्धिहेतुः कायोत्सर्गः । एकस्य चारित्राचारशुद्धिहेतुकस्य दिवसातिचारचिन्तनार्थं प्राक् कृतत्वात् । आहुरपि-"दुन्नि अ हुंति चरित्ते, दंसणनाणे अ इक्किक्को" इति वचनात् । अस्मिंश्च पूर्वोक्तयुक्त्या चारित्राचारस्य ज्ञानाद्याचारेभ्यो वैशिष्ट्यादिना चतुर्विंशतिस्तवद्वयचिन्तनं संभाव्यते ?। नाग्रेतनयोः तृतीयचतुर्थयोर्दर्शनाचारज्ञानाचारविशुद्धिहेतुकयोरिति स्थितम् । अथ सिद्धस्तवपठनानन्तरमासन्नोपकारित्वात् श्रीवीरं वन्दते । ततो महातीर्थत्वादिनोज्जयन्तालङ्करणं श्रीनेमिं, ततोऽपि चाष्टापदनन्दीश्वरादिबहुतीर्थनमस्काररूपाम्-"चत्तारि अट्ठ दस" इत्यादिगाथां पठति । एवं चारित्राद्याचाराणां शुद्धिं विधाय सकलधर्मानुष्ठानस्य श्रुतहेतुकत्वात्तस्य समृद्ध्यर्थम्-"सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ" इत्यादि च पठित्वा श्रुताधिष्ठातृदेवतायाः स्मर्तुं कर्मक्षयहेतुत्वेन * श्रुतदेवतायाः कायोत्सर्गं कुर्यात्, तत्र च नमस्कारं चिन्तयति । देवताद्याराधनस्य स्वल्पयत्नसाध्यत्वेनाष्टोच्छ्वासमानत्वाद् एतावन्मात्रकायोत्सर्गं इत्यादि हेतुः संभाव्यः । पारयित्वा च तं तस्याः स्तुतिं पठति-"सुअदेवया भगवई" इत्यादि, अन्येन दीयमानां वा शृणोति । एवं × क्षेत्रदेवताया अपि स्मृतिर्युक्तेति तस्याः कायोत्सर्गानन्तरं तस्या एव स्तुतिं भणति । यच्च प्रत्यहं क्षेत्रदेवतायाः स्मरणं, तत् तृतीये व्रतेऽभीक्ष्णावग्रहयाचनारूपभावनायाः सत्यापनार्थं संभाव्यते । ततः पञ्चमङ्गलभणनपूर्वं संदंशकप्रमृज्योपविशति । ततो मुखवस्त्रिकां कायं च प्रतिलिख्य श्रीगुरूणां वन्दनके दत्त्वा "इच्छामो अणुसट्ठिं" इति भणित्वा जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिर्नमोऽर्हत्सिद्धेति पूर्वकं स्तुतित्रयं पठति, इह च पूर्वोक्तवन्दनकदानं श्रीगुर्वाज्ञया कृतावश्यकस्य विनेयस्य मया युष्माकमाज्ञया प्रतिक्रान्तमिति विज्ञपनार्थम् । लोकेऽपि 'राजादीनामादेशं विधाय प्रणामपूर्वकं तेषामादेशकरणं निगद्यते,' एवमिहापि ज्ञेयम् । एतदर्थश्चायम्-इच्छाम अभिलषाम, अनुशास्ति गुर्वाज्ञां, प्रतिक्रमणं कार्यमित्येवं रूपां, तां च वयं कृतवन्तः स्वाभिलाषपूर्वकं न तु राजवेष्टयादिना । इत्थं संभावना विधानं च "इच्छामो अणुसट्ठिं" इति भणनानन्तरं श्रीगुरूणामादेशस्याऽऽप्यत्वात् । एवं च प्रतिक्रमणं संपूर्णं जातम् ।

नाससपूर्णीभवनात् सपतनिर्भरप्रमोदप्रसराकुलवर्द्धमानस्वरेण वर्द्धमानाक्षरं तीर्थनायकत्वात् श्रीवर्द्धमानस्य स्तुतित्रयं "नमोऽस्तु वर्द्धमानाय" इत्यादिरूपं, श्रीगुरुभिरेकस्यां स्तुतौ, पाक्षिकप्रतिक्रमणे तु श्रीगुरुवर्णोऽविशेषवर्द्धमानमूलनार्थं तिसृष्वपि स्तुतिषु भणितासु ततोऽपि सर्वे साधव- … मणे तु विशाललोचनेत्यादिस्थाने केचित्तु स्त्रीणां पूर्वाध्ययनेऽनधिकारित्वात्, नमोऽस्तु वर्द्धमानेत्यादीनां च पूर्वान्तरगतत्वेन संभाव्यमानत्वात्, न पठन्तीत्याहुः । यच्च श्रीगुरुकथनावसरे प्रतिस्तुतिप्रान्तम्-"नमो खमासमणाणं" इति गुरुनमस्कारः साध्वादिभिर्भण्यते । तन्नृपाद्यालापेषु प्रतिवार्ताप्रान्तं जीवेत्यादि भणनवत्, श्रीगुरुवचः प्रतीच्छादिरूपं संभाव्यते । स्तुतित्रयपाठानन्तरं शक्रस्तवपाठः । तत उदारस्वरेणैकः श्रीजिनस्तवं कथयति, अपरे च सर्वे सावधानमनसः कृताञ्जलयः शृण्वन्ति । स्तवनभणनानन्तरं च सर्वजिनस्तुतिरूपं वरकनकेत्यादि पठित्वा चतुर्भिः क्षमाश्रमणैः श्रीगुर्वादीन्वन्दते, अत्र च देवगुरुवन्दनं नमोऽर्हत्सिद्धेत्यादेरारभ्य चतुःक्षमाश्रमणप्रदानं यावत् ज्ञेयम् । श्राद्धस्य तु "अड्ढाइज्जेसु" इत्यादि भणनावधि ज्ञेयम् । इह च देवगुरुवन्दनं प्रतिक्रमणस्य प्रारम्भे अन्ते च कृतम् । "आद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणम्" इति न्यायात् सर्वत्राप्यवतरतीति । यथा-शक्रस्तवस्याद्यावन्ते "नमो" इति भणनम् । ततोऽपि "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति" इति न्यायेन पूर्वं चारित्राद्याचारशुद्ध्यर्थं कृतेष्वपि कायोत्सर्गेषु पुनः प्राणातिपातविरमणाद्यतिचाररूपदैवसिकप्रायश्चित्तविशोधनार्थं चतुश्चतुर्विंशतिस्तवचिन्तनरूपं कायोत्सर्गं कुरुते, अयं च कायोत्सर्गः सामाचारीवशेन कैश्चित्प्रतिक्रमणस्याऽऽदौ कैश्चिदन्ते क्रियते । तदनु तथैव पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवं च मङ्गलार्थं पठित्वा क्षमाश्रमणद्वयपूर्वं मण्डल्यामुपविश्य सावधानमनसा स्वाध्यायं कुरुते सूत्रविधिना । पौरुषी यावत्संपूर्णा स्यात् ।

अत्राह परः-ननु प्रतिक्रमणं पञ्चाचारविशुद्ध्यर्थं प्रागुक्तम्, अत्र तु ज्ञानदर्शनचारित्राचाराणामेव यथास्थानं शुद्धिरुक्ता, न च तपोवीर्याचारयोः, तथा च प्रतिज्ञाहानिरिति चेत् ?। नैवम्, एतच्छुद्धिर्ज्ञानाद्याचारानान्तरीयका इति प्रतिपादितैव । तथाहि-सायं साधोः कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्य श्राद्धस्यापि कृतान्यतरप्रत्याख्यानस्य तच्छुद्धिरिति । प्रातरपि षाण्मासिकप्रभृतिनमस्कारसहितान्तं प्रत्याख्यानं करोतीति स्फुटैव तप आचारशुद्धिः । यथाविधि यथाशक्ति च प्रतिक्रामतो वीर्याचारशुद्धिरपि प्रतीतैवेति ।

अविधिना च कृते प्रायश्चित्तम् । तथाहि-काले आवश्यकाऽकरणे चतुर्लघुः । मण्डल्यप्रतिक्रान्तौ कुशीलैः सह प्रतिक्रान्तौ च चतुर्लघु । निद्राप्रमादादिना प्रतिक्रमणे न मिलितः, तत्रैकस्मिन् कायोत्सर्गे मिलनाभ्यः । द्वयोर्लघुमासः । त्रिषु गुरुमासः । तथा गुरोरपारिते कायोत्सर्गे स्वयं पारणे गुरुमासः । सर्वेष्वपि कायोत्सर्गेषु चतुर्लघु । एवं वन्दनेष्वपि योज्यमिति व्यवहारसूत्रे । तथा सायं प्रतिक्रमणानन्तरं तथैवाऽपरमुहूर्तमात्रमासने, कदाचिन्निद्रालाभार्या अपूर्वा सामाचारीमपूर्वमर्थं वा प्ररूपयेद्गुरुरित्युक्तं प्रतियुक्तिवृत्तौ । इति दैवसिकप्रतिक्रमणविधिः । ध० २ अधि० ।

**अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू-सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।३।**

( करेमि भंते ! सामाइयं इत्यादि । जाव वोसिरामि त्ति ) अस्य व्याख्या । तल्लक्षण चेदम्-"संहिता च पदं चैव" इत्यादि । अधिकृतसूत्रस्य व्याख्यानलक्षणा योजना सामायिकवद् द्रष्टव्या । आह-स्वस्थान एव सामायिकाध्ययने उक्तं सूत्रं,पुनः किमभिधीयते ? । पुनरुक्तदोषप्रसङ्गात् । उच्यते-प्रतिषिद्धाऽऽसेविताऽऽदिसमभावस्थितेनैव प्रतिक्रान्तव्यमिति ज्ञापनार्थम् । अथवा-बहुविषघातार्थे मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति, तद्वद्रागविषघ्न पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ।

रागविषघ्नं चेदं यतश्च मङ्गलपूर्वकं प्रतिक्रान्तव्यम् । अतः सूत्रकार एव तदभिधित्सुराह-

(चत्तारि मंगलं) मङ्गलं प्राङ्निरूपितशब्दार्थम् । तत्र चत्वारः पदार्था मङ्गलमिति । क एते चत्वारः ? । तान् प्रदर्शयन्नाह-(अरहंता मंगलमित्यादि ) अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेऽर्हन्तो मङ्गलम् । सितं ध्मातं येषां ते सिद्धास्ते च सिद्धा मङ्गलम् । निर्वाणसाधकान् योगान् साधयन्तीति साधवस्ते च मङ्गलम् । साधुग्रहणाच्चाचार्योपाध्याया गृहीता एव द्रष्टव्याः,यतो न हि तेन साधवः । धारयतीति धर्मः । केवलमेषां विद्यत इति केवलिनः,केवलिभिः सर्वज्ञैः प्रज्ञप्तः प्ररूपितः केवलिप्रज्ञप्तः, कोऽसौ धर्मः श्रुतधर्मः, चारित्रधर्मश्च मङ्गलम् । अनेन कपिलादिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह । अर्हदादीनां च मङ्गलता ।

तेभ्य एव हितमङ्गलात्सुखप्राप्ते, अत एव च लोकोत्तमत्वात्तेषामिति, आह च-"चत्तारि लोगुत्तमा" । अथवा-कुतः पुनरर्हदादीनां मङ्गलता ?, लोकोत्तमत्वात् । तथा चाऽऽह-" चत्तारि लोगुत्तमा " चत्वारः खल्वनन्तरोक्ता वक्ष्यमाणा वा लोकस्य भावलोकादेरुत्तमा प्रधाना लोकोत्तमा । क एते चत्वारः ? । तान्प्रदर्शयन्नाह-( अरहंता लोगुत्तमा इत्यादि ) अर्हन्तः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः । लोकस्य भावलोकस्य उत्तमाः प्रधाना । तथा चोक्तम्-

" अरहंता ताव तहिं, तु उत्तमा होंति भावलोयस्स ।
कम्हा ज सव्वासिं, कम्मपगडीण सत्थाणं ॥ १ ॥
अणुभाव तु पडुच्च, वेयणियाउ य णामगोत्तस्स ।
भावस्सोदइयस्स, नियमा ते उत्तमा होंति ॥ २ ॥
एव चेव य सुत्तो, उत्तरपगतीविसेसणाविसिद्ध ।
भण्णइ हु उत्तमत्त, समासओ से निसामेह ॥ ३ ॥
सायमणुयाउ दोन्नी, उ नाम इगतीसिमा पसत्था उ ।
मणुयगतिपणिंदिजाइ-ओरालियतेयकम्म च ॥ ४ ॥
ओरालियंगुवंगा, समचउरंस तहेव संठाणं ।
वइरोसभसंघयणं, वण्णा रसगंधफासा य ॥ ५ ॥
अगुरुलहु उवघायं, परघाउस्सासविहगगतिपसत्था ।
तसबायरपज्जत्तग-पत्तेयथिराथिराइ च ॥ ६ ॥
सुभमसुभं जोय सुभगं, सूसर चाएज्ज तह य जसकित्ती ।
तत्तो णिम्मिणतित्थग-रणाम इगतीसमित्ताइ ॥ ७ ॥
तत्तो उच्चागोयं, चोत्तीसाहिं सह उदयभावेहिं ।
ते उत्तमा पहाणा, अणण्णतुल्ला भुवणीह ॥ ८ ॥
उवसमिओ पुण भावो, अरहंताणं न विज्जए सो हु ।
खाइगभावस्स पुणो, आवरणाणं दुवेण्ह ति ॥ ९ ॥
तह मोहअंतराइय-निस्सेसखय पडुच्च एतेसिं ।
भावखए लोयस्स उ, हवति ते उत्तमा नियमा ॥ १० ॥
हवइ पुण सन्निवाए, उदइयभावे हु जे भणिया ।
पुव्वं अरहंताणं, जे भणिया खाइया भावा ॥ ११ ॥
तेहिं सया जोगेणं, निप्पज्जइ सन्निवाइओ भावो ।
तस्स वि य भावलोग-स्स उत्तमा होंति नियमेणं ॥ १२ ॥"

सिद्धाः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः एव, तेऽपि च क्षेत्रलोकस्य क्षायिकभावलोकस्य चोत्तमाः प्रधाना लोकोत्तमाः ।

तथा चोक्तम्-

" लोउत्तमत्ति सिद्धा, ते उत्तमा होंति खेत्तलोयस्स ।
तेलोक्कमत्थयत्था, जं भणिय होंति ते नियमा ॥ १ ॥
निस्सेसकम्मपगती-ण वा वि जो होति खाइओ भावो ।
तस्स वि हु उत्तमा ते, सव्वपयडिविज्जिया जम्हा ॥ २ ॥"

साधवः प्राङ्निरूपितशब्दार्थाः एव, ते च दर्शनज्ञानचारित्रभावलोकस्य उत्तमाः प्रधाना लोकोत्तमाः । तथा चोक्तम्-
" लोगुत्तमत्ति साहू, पडुच्च ते भावलोयमेयं तु । दसणणाणचरित्ता-णि तिन्नि जिणइंदभणियाणि ॥ १ ॥ " केवलिप्रज्ञप्तो धर्मः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः । स च क्षायोपशमिकौपशमिकक्षायिकभावलोकस्योत्तमः प्रधानः लोकोत्तमः तथाचोक्तम्-"धम्मो सुयचरणो य, दुहा वि लोगुत्तमो त्ति नायव्वो । खयउवसमिओवसमिय-खइय च पडुच्च लोगं तु ॥ " यत एव लोकोत्तमाः ।

अत एव शरण्याः । तथा चाह-" चत्तारि सरणं पवज्जामि " अथवा-कथं पुनः लोकोत्तमत्वम् ? । आश्रयणीयत्वात् । आश्रयणीयत्वमुपदर्शयन्नाह-( चत्तारि सरणं पवज्जामि ) चतुरः संसारभयपरित्राणाय शरणं प्रपद्ये,आश्रयं गच्छामि । प्रदेन तानुपदर्शयन्नाह-( अरहंतेमित्यादि ) अर्हतः शरणं प्रपद्ये सांसारिकदुःखत्राणायार्हतः आश्रयं गच्छामि,भक्तिं करोमीत्यर्थः । एवं सिद्धान् शरणं प्रपद्ये । साधून् शरणं प्रपद्ये । केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ।

इत्थं कृतमङ्गलोपचारः । प्रकृतं प्रतिक्रमणसूत्रमाह-

**इच्छामि पडिक्कमिउं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो, नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए,तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।४।**

" इच्छामि पडिक्कमिउं " इत्यादि यावत् तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ति " इच्छामि प्रतिक्रमितुं यो मया दैवसिकः अतिचार कृत इत्येवं पदानि वक्तव्यानि । अधुना पदार्थः-इच्छामि अभिलषामि, प्रतिक्रमितुं निवर्तितुं, कस्य ?, यः, इत्यतिचारमाह-मयेत्यात्मनिर्देशो, दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिणामो वा दैवसिकः, अतिचरणमतिचारः, अतिक्रम्य गमनमित्यर्थः । कृतो निर्वर्तितस्तस्येति योगः, अनेन क्रियाकालमाह-" मिच्छा मे दुक्कडं " अनेन तु निष्ठाकालमिति भावना । स पुनरतिचार उपाधिभेदेनानेकधा भवत्यत आह-कायेन शरीरेण निर्वृत्तः का-

यिकः, कायकृत इत्यर्थः । वाचा निर्वृत्तो वाचिकः, वाक्कृत इत्यर्थः । मनसा निर्वृत्तो मानसः, स एव (मानसिओ त्ति) मानसिको, मनःकृत इत्यर्थः । ऊर्द्धं सूत्रादुत्सूत्रः, सूत्रानुक्त इत्यर्थः । मार्गः क्षायोपशमिको भाव ,ऊर्द्धं मार्गादुन्मार्गः, क्षायोपशमिकभावत्यागेनौदयिकभावसंक्रम इत्यर्थः । कल्पत इति कल्पः, न्याय्यः कल्पो विधिराचारश्चरणकरणव्यापारः न कल्पोऽकल्पः, अतद्रूप इत्यर्थः। करणीय. सामान्येन कर्तव्य., न करणीयोऽकरणीयः । हेतुहेतुमद्भावश्चात्र । यत एवोत्सूत्र अत एवोन्मार्गः इत्यादिरुक्तस्तावत्कायिको वाचिकश्च । अधुना मानसमाह- दुर्ध्यातो दुर्ध्यातः,आर्तरौद्रलक्षणः । एकाग्रचित्ततया, दुष्टो विचिन्तित' दुर्विचिन्तित , अशुभ एव चलचित्ततया । यत एव अशुभोऽत एवानाचार.,आचरणीय आचारो न आचार अनाचार , साधूनामनाचरणीयः । यत एवानाचरणीय अत एवानेष्टव्यः, मनागपि मनसापि न प्रार्थनीयः । यत एवेत्थंभूतोऽनेष्टव्य अत एवासावश्रमणप्रायोग्यो न श्रमणप्रायोग्य. अश्रमणप्रायोग्य , तपस्व्यनुचित इत्यर्थ. । किं विषयोऽयमतिचार. ?, इत्याह च- ( नाणे दंसणे चरित्ते ) ज्ञानदर्शनचारित्रविषयः । अधुना भेदेन व्याचष्टे-( सुए त्ति ) श्रुतविषय., सूत्रग्रहण मत्यादिज्ञानोपलक्षण, तत्र विपरीतप्ररूपणा अकालस्वाध्यायादिरतिचार' । ( सामाइए त्ति ) सामायिकविषय , सामायिकग्रहणात्सम्यक्त्वसामायिकचारित्रसामायिकग्रहणम । तत्र सम्यक्त्वसामायिकाऽतिचार., शङ्कादि. चारित्रसामायिकातिचार तु भेदेनाह-" तिण्ह गुत्तीण" इत्यादि । तिसृणां गुप्तीनां' तत्र प्रविचाराप्रविचाररूपा गुप्तय । चतुर्णां कषायाणां क्रोधमानमायालोभानां । पञ्चानां महाव्रतानां प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानां षण्णां जीवनिकायाना पृथ्वीकायिकादीनां । सप्तानां पिण्डैषणानामसंसृष्टादीनां । ताश्चेमा.-" संसट्ठमसंसट्ठा " इत्यादि । ( सप्त पिण्डैषणानां व्याख्या ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ७१ पृष्ठे द्रष्टव्या ) ( आव० ) एष खलु समासार्थ । व्यासार्थस्तु ग्रन्थान्तरादवसेय. । सप्तानां पानैषणाना, केचित्पठन्ति, ता अपि चैवम्भूता एव, नवरम्-चतुर्थ्यां नानात्व, तत्र ह्यायामसौवीरकादिनिर्लेप विज्ञेयमिति । अष्टानां प्रवचनमातृणां । ताश्चाष्टौ प्रवचनमातर., तिस्रो गुप्तयः, तथा पञ्च समितय. । तत्र प्रविचाराप्रविचाररूपा गुप्तय । समितयः प्रविचाररूपा एव । तथा चोक्तम्-"समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो । कुसल वइ मुदीरेंतो, ज वइ तिगुत्तो वि समिओ वि ॥१॥" नवानां ब्रह्मचर्यगुप्तीनां वसतिकथादीनाम्, आसां स्वरूपमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः । दशविधे दशप्रकारे, श्रमणधर्मे साधुधर्मे क्षान्त्यादिके, अस्यापि स्वरूपमुपरिष्टाद्वक्ष्याम. । अस्मिन् त्रिगुप्त्यादिषु च ये श्रामणा योगाः, श्रमणानामेते श्रामणास्तेषां श्रामणानां, योगानां व्यापाराणां सम्यक्प्रतिसेवनश्रद्धानप्ररूपणालक्षणानां,यत,खण्डित देशतो भग्न, यद्विराधित सुतरां भग्न,न पुनरेकान्ततोऽभावमापादित, तस्य खण्डनविराधनद्वारेणाऽऽयातस्य चारित्रातिचारस्यैव तद्वाचरस्य ज्ञानादिगोचरस्य च दैवसिकातिचारस्यैतावता क्रियाकालमाह-तस्यैव-" मिच्छा मे दुक्कड " ति । अनेन तु निष्ठाकालमाह-मिथ्येति प्रतिक्रमामीति दुष्कृतमेतदकर्तव्यमिदमित्यर्थः ।

अत्रेयं सूत्रस्पर्शिका गाथा-

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं ।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए य ॥

प्रतिषिद्धानां निवारितानामकालस्वाध्यायादीनामतिचाराणां, करणे निष्पादने आसेवन इत्यर्थः । किं ?प्रतिक्रमणमिति योगः । प्रतीप क्रमण प्रतिक्रमणमिति व्युत्पत्तेः । कृत्यानामासेवनीयानां कालस्वाध्यायादीना योगादीनामकरणे अनिष्पादने अनासेवने प्रतिक्रमणम्,अश्रद्धाने च तथा केवलिप्रणीतानां पदार्थानां प्रतिक्रमणमिति वर्त्तते,विपरीतप्ररूपणायां च अन्यथा पदार्थकथनायां च प्रतिक्रमणमित्यर्थः । अनया च गाथया यथायोग सर्वसूत्राण्यनुगन्तव्यानि । तद्यथा-सामायिकसूत्रे प्रतिषिद्धौ रागद्वेषौ तयो' करणे, कृत्यस्तु तन्निग्रह. तस्याकरणे, सामायिक मोक्षकारणमित्यश्रद्धाने, 'असमभावलक्षण सामायिक' इति विपरीतप्ररूपणायां च, प्रतिक्रमणमिति । एव मङ्गलादिसूत्रेष्वप्यायोज्यम् । चत्वारो मङ्गलमित्यत्र प्रतिषिद्धोऽमङ्गलाध्यवसायस्तत्करण इत्यादिना प्रकारेण । एवमोघातिचारस्य समासेन प्रतिक्रमणमुक्तम् ।

( ८ ) साम्प्रतमस्यैव विभागेनोच्यते,तत्रापि गमनाऽऽगमनातिचारमधिकृत्याह-" इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए " इत्यादि सव्याख्य प्रतिक्रमणसूत्रम्-(द्वितीयभागे 'इरियावहिया' शब्दे ६२० पृष्ठे द्रष्टव्यम ) इत्थ गमनाऽऽगमनातिचारप्रतिक्रमणमुक्तम् । आव० ४ अ० । ध० ।

( ९ ) अत्रैव प्रायश्चित्तम्-

इरियाए अपडिक्कंताए नत्तपाणाइयं आलोएज्जा पुरिमड्ढं । ससरक्खेहिं पाएहिं अप्पमज्जिएहिं इरिअं पडिक्कमेज्जा पुरिमड्ढं । इरियं पडिक्कमे,मिच्छाकारो तिन्नि वाराओ वा । चलणगाणं हेट्ठिमं सीसभागं ण पमज्जेज्जा णिव्विइगं । कण्णेट्ठियाए वा,मुहणंतगेण वा, विणा इरियं पडिक्कमे,मिच्छाकडं, पुरिमड्ढं वा । समुद्देसमंडलिं छिविऊणं दंडापुच्छणगं च दाविऊण इरियं ण पडिक्कमेज्जा णिव्विइयं । एवं इरियं पडिक्कमेत्तु दिवसावसेसियं ण संवरेज्जा आयामं । महा० १ चू० ।

प्रतिक्रमणे आलोचनानन्तर " ठाणे कमणे " इत्यादि कथयित्वा गमनागमनालोचनादेशो मार्ग्यते । तत्र केचित्कथयन्ति न मार्ग्यते । तदाश्रित्य यथा भवति तथा प्रसाद्यम् ?, तथा केचित्कथयन्ति हस्तशत'द्बहिर्गमने गमनागमनालोचनादेशो मार्ग्यते, केचिच्चाप्राञ्जित भूमिगमने इत्येवंद्वाभिरत्यापि यथोचित प्रसाद्यमिति ? । अत्रोत्तरम्-प्रतिक्रमणे आलोचनानन्तर "ठाणे कमणे" इत्यादि कथयित्वा गमनागमनालोचनादेशो मार्गणीयो ज्ञायते । तथा पौषधमध्ये स्थण्डिलादिकार्ये बहिर्गतस्य आगमनानन्तर गमनागमनालोचन ज्ञायत इति ॥ २२ ॥ ही०४प्रका० ।

(१०) अधुना त्वग्वर्तनस्थानातिचारप्रतिक्रमण प्रतिपादयन्नाह-

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए निगामसिज्जाए उव्वट्टणाए परियट्टणाए आउंटणपसारणाए छप्पइयसंघट्टणाए कूइए कक्कराइए छीए जंभाइए आमोसे ससरक्खामोसे आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए इत्थीविप्परियासियाए दिट्ठिविप्परियासियाए मणविप्परियासियाए पाणभोयणविप्परियासियाए जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ।

इच्छामि प्रतिक्रमितुं पूर्ववत्, कस्य ?, इत्याह-प्रकामशय्यया हेतुभूतया, यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतस्तस्येति योगः । अनेन क्रियाकालमाह-( मिच्छा मे दुक्कड ति ) अनेन तु निष्ठाकालमेवेति भावना । एवं सर्वत्र योजना कार्येति । ( आव० ) ('पगामसिज्जाए'इति व्याख्या 'पगामसज्जा ' शब्दे गतानुपदमेव ) तया हेतुभूतया स्वाध्यायाद्यकरणतश्चेहातिचारः । प्रतिदिवसं प्रकामशय्यैव निकामशय्योच्यते तया हेतुभूतया, अत्राप्यतिचारः पूर्ववत् । उद्वर्तनं तत्प्रथमतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तनमुद्वर्तनम्,उद्वर्तनमेवोद्वर्तना तया । परिवर्तनं पुनर्वामपार्श्वेनैव वर्तनं तदेव परिवर्तना तया,अत्राप्यप्रमृज्य कुर्वतोऽतिचारः । आकुञ्चनं गात्रसङ्कोचनलक्षणं तदेवाकुञ्चना तया, प्रसारणमङ्गानां विक्षेपः तदेव प्रसारणा तया, अत्र च कुक्कुटिदृष्टान्तप्रतिपादितविधिमकुर्वतोऽतिचारः ।

(११) तथा चोक्तम्-( कुक्कुटिदृष्टान्त. )

" कुक्कुडिपायपसारे, जह आगासे पुणो वि आउंटे ।
एव पसारिऊण, आगासे पुणो वि आउंटे ॥ १ ॥
अतिकुडियत्ति ताहे, जहिय पायस्स पच्छिमा ठाति ।
तहिय पमज्जिऊण, आगासेण तु नेऊण ॥ २ ॥
पाद ठावेतु तहिं, आगास एव पुणो वि आउंटे ।
एय विहिमकरेंतो, अतियारोतत्थ से होति ॥ ३ ॥"

षट्पदिकानां यूकानां सङ्घट्टनमविधिना स्पर्शनं षट्पदिकासङ्घट्टनं तदेव षट्पदिकासङ्घट्टना तया, तथा-( कूइए त्ति ) कूजिते सति योऽतिचारः, कूजितं कासितं तस्मिन्नविधिना मुखवस्त्रिकां करं वा मुखे नाऽऽधाय कृतं इत्यर्थः । विषमा धर्मवतीत्यादिशय्यादोषोच्चारणं कर्करायितमुच्यते तस्मिन्सति योऽतिचारः, इह चार्त्तध्यानजोऽतिचारः । क्षुते अविधिना जृम्भिते, ('आमोसे' 'ससरक्खा०'व्याख्या 'आमोस' शब्दे द्वितीयभागे २६२ पृष्ठे गता) एवं जाग्रतोऽतिचारसम्भवमधिकृत्योक्तम् । अधुना सुप्तस्योच्यते-( आउल० सोयण० इत्थीवि० एतेषां व्याख्या स्व २ शब्दे द्रष्टव्या ) स पुनर्मूलगुणोत्तरगुणविषयो भवत्यतो भेदेन तद्दर्शयन्नाह-(इत्थीविप्परियासियाए त्ति) स्त्रिया विपर्यासः स्त्रीविपर्यासः विपर्यासोऽब्रह्मसेवनं तस्मिन् भवा स्त्रीवैपर्यासिकी तया, स्त्रीदर्शनानुरागात तदवलोकनं दृष्टिविपर्यासः तस्मिन् भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तया, एवं मनसा अध्युपपातो मनोविपर्यासः तस्मिन् भवा मनोवैपर्यासिकी तया, एवं पानभोजनवैपर्यासिकया रात्रौ पानभोजनपरिभोग एव तद्विपर्यासः अनया हेतुभूतया, य इत्यतिचारमाह-मयेत्यात्मनिर्देशः, दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिमाणो वा दैवसिकः, अतिचरणमतिचारः, अतिक्रम इत्यर्थः, कृतो निर्वर्तितः । ( तस्स मिच्छा मे दुक्कडं ति ) पूर्ववत् । आह-दिवा शयनस्य निषिद्धत्वादसम्भव एवास्यातिचारस्य नापवादविषयत्वादस्य ?, तथाहि-अपवादत सुप्यत एव । दिवाध्वानखेदादाविदमेव वचनं ज्ञापकम् । आ० ध० ४ अ० ।

(१२) अत्र च त्रिपञ्चाधिकपञ्चशतीमितानां जीवानामेव मिथ्यादुष्कृतं दीयते, तद्भेदाश्च-अष्टादश लक्षाः चतुर्विंशतिसहस्रा एकं शतं विंशतिश्च १८२४१२० भवन्ति । तद्यथा-

नारकभेदाः पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदेन १४, भूजलज्वलनवायवनस्पतयः पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मबादरभेदैः २०, प्रत्येकवनस्पतिर्द्वित्रिचतुरिन्द्रियाश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति ८, जलस्थलखचरा उरोभुजपरिसर्पाश्च सञ्ज्यसञ्ज्ञिपर्याप्तापर्याप्तभेदात्२०, एवं तिर्यग्भेदाः ४८, कर्मभुवः १५ अकर्मभुवः ३० अन्तरद्वीपाः ५६। एवम् १०१, । एषां गर्भजानां पर्याप्ताऽपर्याप्ततया २०२, सम्मूर्च्छजत्वेन पुनः ३०३ मनुष्यभेदाः, भवनपतयः १०, व्यन्तराः १६, चरस्थिरभेदभिन्नज्योतिष्काः १०, कल्पजाः १२, ग्रैवेयकाः ६, अनुत्तरोपपातिनः ५, लोकान्तिकाः ९, किल्बिषिकाः ३, भरतैरावतवैताढ्यदशकस्था -" अन्ने १ पाणे २ सयणे ३, वत्थे ४ लेणे अ ५ पुप्फ ६ फल ७ विज्जा ८ । बहुफल ९ अवियत्तजुआ १०, जभगा दसविहा हुंति ॥ १ ॥ " त्ति । जृम्भकाः १०, परमाधार्मिकाः १५, सर्वे पर्याप्तापर्याप्तभेदात् १९८ देवभेदाः । सर्वे मिलिताः ५६३ जीवभेदाः ( चतुर्थभागे 'जीव' शब्दे १५३६ पृष्ठेऽप्युक्ताः) "अभिहयेत्यादि" १० पदगुणिताः ५६३०, रागद्वेषगुणिताः ११२६०, योगत्रयगुणिताः ३३७८०, कृतकारितानुमतिभिर्गुणिताः १०१३४० । एते च कालत्रयगुणिताः ३०४०२०, तेऽर्हत्सिद्धसाधुदेवगुर्वात्मसाक्षिभिर्गुणिताः १८२४१२० जाताः । एतदर्थाभिधायिन्यो गाथाः । यथा-

"चउदसपय अडचत्ता, तिगहिअतिसया सय च अडनउय ।
चउगइदसगुणमिच्छा, पणसहसा छसयतीसा य ॥ १ ॥
नेरइया सत्तविहा, पज्जअपज्जत्तणेण चउदसहा ।
अडचत्ताइ सखा, तिरिनरदेवाण पुण एव ॥ २ ॥
भूदगअग्गिवाउणता, वीस सेसतरुविगल अठेव ।
गब्भेअरपज्जेअर, जल१ थल२ नह३ उर४ भुआ५वीस ॥३॥
पनरसतीसछपन्ना, कम्माऽकम्मा तहंतरद्दीवा ।
गब्भयपज्जअपज्जा, मुच्छअपज्जा तिसयतिन्नि ॥ ४ ॥
भवणा परमा जंभय, वणयर दस पनर दस य सोलसगं ।
चरथिरजोइस दसगं, किब्बिस तिअ नव य लोगंता ॥ ५ ॥
कप्पा गविज्जऽणुत्तर, बारस नव पण पज्जअपज्जत्ता ।
अडनउअसय, अभिहय-वत्तिअमाईहिं दसगुणिआ ॥ ६ ॥"

एव च-

अभिहयपयाइदसगुण, पणसहसा छसयतीसया भेआ ।
ते रागदोसदुगुणा, इक्कारसदोसया सट्ठी ॥ ७ ॥
मणवयकाए गुणिआ, तित्तीससहस्ससत्तसयऽसीआ ।
कयकारणाणुमइए, लक्खसहस्सा तिसयचाला ॥ ८ ॥
कालतिगेण गुणिआ, तिलक्खचउसहस्सवीसअहिआ य ।
अरिहंतसिद्धसाहू, देवगुरुअप्पसक्खीहिं ॥ ९ ॥
अट्ठारस लक्खाइं, चउवीससहस्सएगवीसहिआ ।
इरिया मिच्छा दुक्कड-पमाणमेअं सुए भणिअं ॥ १० ॥"

अस्या च विश्रामाद्यकोल्लिङ्गनपदानि " इच्छा-गम-पाण-ओसा, जं मे एगिंदिअभिहया तस्स । अरु सपयथत्तीसं, पयाइ वन्नाण सहुसय ॥ १ ॥" ध० २ अधि० ।

(१३) एव त्वग्वर्तनस्थानातिचारप्रतिक्रमणमभिधायेदानीं गोचरातिचारप्रतिक्रमणं प्रतिपादनायाह-

पडिक्कमामि गोयरचरियाए भिक्खायरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए साणावच्छादारासंघट्टणाए मंडियापाहुडियाए बलिपाहुडियाए ठवणापाहुडियाए संकिए सहसागारे अणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए पच्छाकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्ठहडाए दगसंसट्ठहडाए रयसंसट्ठहडाए पारिसाडणियाए

पा।ऽऽवणियाए ओहासणभिक्खाए जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं पडिग्गाहियं परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

प्रतिक्रमामि निवर्तयामि, कस्यां ?, गोचरचर्यायां योऽतिचार इति गम्यते, तस्येति योगः । गोश्चरणं गोचरः चरणं चर्या गोचर इव चर्या तस्यां गोचरचर्यायां, कस्यां भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या तस्यां, तथाहि-लाभालाभनिरपेक्षः अदीनचित्तो मुनिरुत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्वनिष्टानिष्टेषु वस्तुषु रागद्वेषापगमेन भिक्षामटतीति । कथं पुनस्तस्यामतिचारः?, इत्याह-( उग्घाडकवाडुग्घाडणाए ) उद्घाटमदत्तार्गलमीषत्स्थगितं वा, किं तत् कपाटं तस्योद्घाटनं सुतरां प्रेरणमुद्घाटकपाटोद्घाटनमिदमेवोद्घाटकपाटोद्घाटना तया हेतुभूतया, इह चाप्रमार्जिताऽऽदिभ्योऽतिचारः । तथा श्ववत्सदारकसंघट्टनयेति प्रकटार्थम, मण्डीप्राभृतिकया, बलिप्राभृतकया,स्थापनाप्राभृतिकया,आसां स्वरूपम्-

“ मंडीपाहुडिया सा-हुंमि आगए अग्गकूरमंडी य ।
अन्नंमि भायणम्मि, काउ तो देइ साहुस्स ॥ १ ॥
तत्थ पवत्तणदोसो, न कप्पए तारिसाण सुविहियाण ।
बलिपाहुडिया भण्णइ, चउद्दिसिं काउं अच्चणियं ॥ २ ॥
अग्गिम्मि व छिविऊण, सित्थे तो देइ साहुणो भिक्खं ।
सा वि न कप्पइ ठवणा, जा भिक्खयराण ठविया उ ॥ ३ ॥ ”

आधाऽऽकर्मादीनामुद्गमाऽऽदिदोषाणामन्यतमेन संकिते गृहीते सति योऽतिचार । सहसाकारे वा सत्यकल्पनीये गृहीत इति अत्र च तदपरित्यजतोऽविधिना वा परित्यजतो योऽतिचारः, अनेन प्रकारेणानेषणया हेतुभूतया, तथा-( पाणभोयणाए त्ति ) प्राणिनो रसजादयः, भोजने दध्योदनादौ, संघट्यन्ते विराध्यन्ते व्यापाद्यन्ते वा यस्यां प्राभृतिकायां सा प्राणिभोजना तया, एतेषां च संघट्टनाऽऽदिदातृग्राहकप्रभव विज्ञेयमत एवातिचारः । एवं (बीयभोयणाए) बीजानि भोजने यस्यां सा बीजभोजना तया, एवं हरितभोजनया, ( पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए त्ति) पश्चात्कर्म यस्यां पश्चाज्जलोज्झनकर्म भवति, पुरः कर्म यस्यामादावेति,(अदिट्ठहडाए त्ति) अदृष्टाऽऽहृतया अदृष्टोत्क्षेपनिक्षेपमानीतयेत्यर्थः । तत्र च सत्त्वसंघट्टनाऽऽदिनाऽतिचारसंभवः। (दगसंसट्ठहडाए त्ति) उदकसंबद्धाऽऽनीतया,हस्तमात्रगतोदकसंसृष्टया वा भावना। एवं रजःसंसृष्टाऽऽहृतया । नवरम्-रजःपृथिवीरजोऽभिगृह्यते, (पारिसाडणीयाए त्ति) परिशाट उज्झनलक्षण प्रतीत एव तस्मिन् भवा पारिशाटनिका तया, (पारिट्ठावणियाए त्ति—( आव० ) अर्थोऽस्य 'पारिट्ठावणिया' शब्दे) (ओहासणभिक्खाए त्ति) विशिष्टद्रव्ययाचनं,समयपरिभाषया “ओहासण ति भण्णइ” तत्प्रधाना भिक्षा तया, कियदत्र भणिष्यामो भेदानामेवप्रकाराणां बहुत्वात्,ते च सर्वेऽपि यस्मादुद्गमोत्पादनैषणास्ववतरन्त्यत आह-(जं उग्गमेण इत्यादि) यत् किञ्चिदशनादि, उद्गमेनाऽऽधाकर्माऽऽदिलक्षणेन, उत्पादनया धात्र्यादिलक्षणया, एषणया शङ्काऽऽदिलक्षणया, अपरिशुद्धमयुक्तियुक्तं, प्रतिगृहीतं वा, परिभुक्तं वा,यन्न परिष्ठापितं, कथञ्चित्प्रतिगृहीतमपि यन्नोज्झितं, परिभुक्तमपि च भावतोऽपुनःकरणाऽऽदिना प्रकारेण नोज्झितं,एवमनेन प्रकारेण यो जातोऽतिचारः, “तस्स मिच्छामि दुक्कडं” इति पूर्ववत् । आव० ४ अ० ।

गोयरपविट्ठो कहं वा विकहं वा उभयकहं वा पत्थावेज्ज वा, उदीरेज्ज वा, कहेज्ज वा, निसामेज्ज वा कहं । गोयमा ! मओ य भत्तं वा, पाणं वा, भेसज्जं वा, जं जेण विचित्तियं, जं जहा य विचित्तियं, जहा य पडिग्गाहियं, तं तहा-सव्वं अणाऽऽलोएज्जा पुरिमड्ढं । महा० १ चू० ।

( १४ ) एवं गोचरातिचारप्रतिक्रमणमुक्तं, अधुना स्वाध्यायाद्यतिचारप्रतिक्रमणं प्रतिपादयन्नाह-

पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओ कालं भंडोवगरणस्स अपडिलेहणाए दुप्पडिलेहणाए अप्पमज्जणाए दुप्पमज्जणाए अइक्कमे वइक्कमे अइयारे अणायारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ । तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

प्रतिक्रमामि पूर्ववत् । कस्य चतुष्कालं,दिवसरजनीप्रथमचरमयामेष्वित्यर्थः । स्वाध्यायस्य सूत्रपौरुषीलक्षणस्याकरणया, अनासेवनया हेतुभूतयेत्यर्थः । यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तस्येति योगः, तथा उभयकालं प्रथमपश्चिमपौरुषीलक्षणं,भाण्डोपकरणस्य पात्रवस्त्रादेः, अप्रत्युपेक्षणया दुःप्रत्युपेक्षणया । तत्राऽप्रत्युपेक्षणा मूलत एव चक्षुषाऽनिरीक्षणा, दुःप्रत्युपेक्षणा दुर्निरीक्षणा तया, अप्रमार्जनया-दुःप्रमार्जनया-तत्राप्रमार्जना-मूलत एव रजोहरणाऽऽदिनाऽस्पर्शना, दुःप्रमार्जना तु अविधिना प्रमार्जनेति, तथा-अतिक्रमे, व्यतिक्रमे, अतिचारे,अनाचारे, यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तस्य मिथ्या दुष्कृतमित्येतत्प्राग्वत् । आव० ४ अ० । ध० । (अतिक्रमाऽऽदीनां स्वरूपं 'अइक्कम' शब्दे गतम् )

( १५ ) अयं चातिचारः सङ्क्षेपत एकविधः विस्तरतस्तु द्विविधस्त्रिविधो यावदसंख्येयविधः । सङ्क्षेपविस्तरतो पुनर्द्विविधं प्रति संक्षेपः, एकविधं प्रति विस्तरः, इत्येवमन्यत्रापि योज्यम् । विस्तरतस्त्वनन्तविधसूत्रे एकविधाऽऽदिभेदप्रतिक्रमणप्रतिपादनायाऽऽह-

पडिक्कमामि एगविहे-असंजमे । पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं-रागबंधणेणं,दोसबंधणेणं । पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं-मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं । पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं-मणगुत्तीए, वयगुत्तीए, कायगुत्तीए । पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं-मायासल्लेणं,णियाणसल्लेणं,मिच्छादंसणसल्लेणं । पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं-इड्ढीगारवेणं, रसगारवेणं, सायागारवेणं । पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं-नाणविराहणाए, दंसणविराहणाए, चरित्तविराहणाए ।

(पडिक्क० एगवि०) प्रतिक्रमामि पूर्ववत् । एकविधे एकप्रकारे असंयमेऽविरतिलक्षणे सति प्रतिषिद्धकरणाऽऽदिना यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते । तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति संबन्धः । वक्ष्यति च-( सज्झाए न सज्झाइय तस्स मिच्छामि दुक्कडं ) एवमन्यत्रापि योजना कार्या । आव० ४ अ० । ( एकविधाऽसंयमस्वरूपम्-' असंजम ' शब्दे प्रथमभागे ८२३ पृष्ठे गतम् । असंयमस्य बहवो भेदा अपि तत्रैव प्रतिपादिताः ) ( रागद्वेषभेदेन बन्धनद्विविधत्वम्-' बंधण ' शब्दे-वक्ष्यते । तत्र रागबन्धनव्युत्पत्तिः-' रागबंधण ' शब्दे द्रष्टव्या ।

द्वेषबन्धनव्युत्पत्तिः-' दोसबन्धण ' शब्दे चतुर्थभागे २६४१ पृष्ठे गता ) ( दण्डस्वरूपम्-' दण्ड ' शब्दे चतुर्थभागे २४२० पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम् । तत्र मनोदण्डः-' मणदंड ' शब्दे वक्ष्यते । वचोदण्डः-' वइदंड ' शब्दे, तत्रोदाहरणं चापि तत्रैव । कायदण्डः-' कायदंड ' शब्दे तृतीयभागे ४६२ पृष्ठे गतः ) ( गुप्तिशब्दार्थः-' गुत्ति ' शब्दे तृतीयभागे ६३३ पृष्ठे गतः । तत्र मनोगुप्तेस्त्रिविधत्वम्-' जोग ' शब्दे चतुर्थभागे १६२६ पृष्ठे गतम् । वाग्गुप्तिम्-' वइगुत्ति ' शब्दे सोदाहरणां व्याख्यास्यामि । कायगुप्तिः-' कायगुत्ति ' शब्दे तृतीयभागे ४४९ पृष्ठे प्रतिपादितैव ) ( शल्यभेदाः तद्व्युत्पत्तिश्च-' सल्ल ' शब्दे । तत्र मायाशल्यम्-' मायासल्ल ' शब्दे । निदानशल्यम्-' णियाणसल्ल ' शब्दे चतुर्थभागे २१०८ पृष्ठे गतम् । मिथ्यादर्शनशल्यम्-' मिच्छादंसणसल्ल ' शब्दे वक्ष्यते ) ( गौरवस्वरूपम्-' गारव ' शब्दे तृतीयभागे ८७० पृष्ठे गतम् । तत्र ऋद्धिगौरवव्युत्पत्तिः-'इड्डिगारव' शब्दे द्वितीयभागे ५८३ पृष्ठे गता । रसगौरवस्वरूपम्-'रसगारव' शब्दे । सातागौरवस्वरूपम्-' सायागारव ' शब्दे वक्ष्यते) (विराधनास्वरूपम्-'विराहणा' शब्दे वक्ष्यते । तत्र ज्ञानविराधना-'णाणविराहणा' शब्दे चतुर्थभागे १९६३ पृष्ठे गता । दर्शनविराधना-' दंसणविराहणा ' शब्दे चतुर्थभागे २४३५ पृष्ठे विशेषतोऽस्ति । चारित्रविराधना-' विराहणा ' शब्दे )

पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं-कोहकसाएणं, माणकसाएणं, मायाकसाएणं, लोभकसाएणं । पडिक्कमामि चउहिं सन्नाहिं-आहारसन्नाए, भयसन्नाए, मेहुणसन्नाए, परिग्गहसन्नाए । पडिक्कमामि चउहिं विगहाहिं-इत्थीकहाए, भत्तकहाए, देसकहाए, रायकहाए । पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं-अट्टेणं झाणेणं, रुद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं ।

-( कषायस्वरूपं तद्भेदाश्च-' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३९४ पृष्ठादारभ्य गताः । तत्र क्रोधकषायः-' कोहकसाय ' शब्दे तृतीयभागे ६८५ पृष्ठे प्रतिपादितः । मानकषायः-' माणकसाय ' शब्दे वक्ष्यते । मायाकषायः-' मायाकसाय ' शब्दे द्रष्टव्यः । लोभकषायः-' लोभकसाय ' शब्दे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यामि ) ( संज्ञास्वरूपम्-' सण्णा ' शब्दे । ' तत्राऽऽहारसंज्ञा-' ' आहारसण्णा ' शब्दे द्वितीयभागे ५२७ पृष्ठे गता । भयसंज्ञा-' भयसण्णा ' शब्दे द्रष्टव्या । मैथुनसंज्ञा-'मेहुणसण्णा' शब्दे । परिग्रहसंज्ञा 'परिग्गहसण्णा' शब्दे ) ( विकथास्वरूपम्-' विगहा ' शब्दे । तत्र स्त्रीविकथा-' इत्थिकहा ' शब्दे द्वितीयभागे ५८५ पृष्ठे द्रष्टव्या, तद्भेदाश्चापि तत्रैव । भक्तविकथा विस्तरतः-' भत्तकहा ' शब्दे । देशविकथा-' देसकहा ' शब्दे २६२७ पृष्ठे गता । राजविकथा-' रायकहा ' शब्दे ) ( ध्यानशब्दार्थः तद्भेदाः स्वरूपं च 'झाण' शब्दे चतुर्थभागे १९६१ पृष्ठे गताः । तत्रार्त्तध्यानस्य-'अट्टज्झाण' शब्दे प्रथमभागे २३५ पृष्ठे गतम् । रौद्रध्यानस्य-'रोद्दज्झाण' शब्दे । धर्मध्यानस्य च-' धम्मज्झाण ' शब्दे चतुर्थभागे २७१६ पृष्ठे गतम् । शुक्लध्यानस्य-' सुक्कज्झाण ' शब्दे वक्ष्यते )

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं० (आव०) पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं-सद्देणं, रूवेणं, रसेणं, गंधेणं, फासेणं । पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं-पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं । पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं-इरिआसमिईए, भासासमिईए, एसणासमिईए, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिईए, उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिईए । पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं-पुढवीकाएणं, आऊकाएणं, तेऊकाएणं, वाऊकाएणं, वणस्सइकाएणं, तसकाएणं । पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं-किण्हलेसाए, णीललेसाए, काऊलेसाए, तेऊलेसाए, पम्हलेसाए, सुक्कलेसाए ।

(क्रियाशब्दार्थः स्वरूपं तद्भेदाश्च-'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५३५ पृष्ठे, तत्प्रतिक्रमणं चाऽपि ५५० पृष्ठेऽस्ति । तत्र कायिकक्रिया-'काइकी' शब्दे तृतीयभागे ४०४ पृष्ठे गता । अधिकरणिक्रिया-'अहिगरणिया' शब्दे प्रथमभागे ८७५ पृष्ठे गतम् । प्राद्वेषिकक्रिया-'पाउसिया' शब्दे । पारितापनिक्रिया-' पारितावणिया ' शब्दे वक्ष्यते । प्राणातिपातिक्रिया-' पाणाइवायकिरिया ' शब्दे । ) ( कामगुणशब्दार्थः-' कामगुण ' शब्दे तृतीयभागे ४३४ पृष्ठे गतः । तत्र शब्दस्य-' सद्द ' शब्दे । रूपस्य-' रूव ' शब्दे । रसस्य ' रस ' शब्दे । गन्धस्वरूपम्-' गन्ध ' शब्दे तृतीयभागे ७६४ पृष्ठे गतम् । स्पर्शविस्तरः-' फास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ) ( पञ्चमहाव्रतशब्दार्थः-' पंचमहव्वय ' शब्दे । तत्र प्राणातिपातविरमणम्-' पाणाइवायवेरमण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते । मृषावादविरमणम्-' मुसावायवेरमण ' शब्दे । अदत्तादानविरमणम् ' अदत्तादाणवेरमण ' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे गतम् । मैथुनविरमणम्-' मेहुणवेरमण ' शब्दे । परिग्रहविरमणम्-'परिग्गहवेरमण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ) ( समितिशब्दार्थः-' समिइ ' शब्दे । तत्रेर्यासमितिस्वरूपम्-' इरियासमिइ ' शब्दे द्वितीयभागे ६३१ पृष्ठे गतम् । भाषासमितिव्युत्पत्तिस्तच्छब्दार्थस्तदुदाहरणं च-'भासासमिइ' शब्दे वक्ष्यते । एषणासमितेर्विस्तरः-' एसणासमिइ ' शब्दे तृतीयभागे ७२ पृष्ठे गतः । आदानभाण्डमात्रकनिक्षेपणासमितिव्याख्या- 'आदाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिइ' शब्दे द्वि० भा० २१६ पृष्ठेऽवलोकनीया । उच्चारप्रस्रवणखेलशिङ्घाणजल्लपारिष्ठापनिकासमितिव्याख्या ' उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिइ ' शब्दे द्वितीयभागे ७३३ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादिता ) (षड्जीवनिकायव्याख्या-' जीवणिगाय ' शब्दे चतुर्थभागे १५५२ पृष्ठे गता । तत्र पृथिवीकायिकस्य-' पुढवीकाइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते । अप्कायिकस्वरूपम् ' आउक्काय ' शब्दे द्वितीयभागे २० पृष्ठेऽस्ति । तत्र तेजस्कायिकविस्तरः-' तेउक्काइय ' शब्दे चतुर्थभागे २३४३ पृष्ठेऽस्ति । वायुकायिकभेदाः-' वाउक्काइय ' शब्दे द्रष्टव्याः । वनस्पतिकायिकः-'वणप्फइ' शब्दे । ' वणप्फइकाइय ' शब्दे च वक्ष्यते । त्रसकायिकशब्दार्थः-' तसकाय' शब्दे चतुर्थभागे २२१४ पृष्ठे गतः । ) ( लेश्याविस्तरः-' लेस्सा ' शब्दे । तत्र कृष्णलेश्याऽर्थः-' किण्हलेस्सा ' शब्दे । नीललेश्याव्याख्यानम्-'णीललेस्सा' शब्दे चतुर्थभागे २१५४ पृष्ठे गतम् । कापोतलेश्या च-' काऊलेस्सा ' शब्दे तृतीयभागे ४२८ पृष्ठे गता । तेजोलेश्याऽर्थविस्तरः-' तेऊलेस्सा ' शब्दे । पद्मलेश्या च-' पम्हलेस्सा ' शब्दे । शुक्ललेश्या च-' सुक्कलेस्सा' शब्दे ) ।

पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं । अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं । नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं । दसविहे समणधम्मे । इगारसहिं उवासगपडिमाहिं । बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं । तेरसहिं किरिआठाणेहिं । चउद्दसहिं भूअगामेहिं । पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं । सोलसहिं, गाहासोलसएहिं । सत्तरसविहे असंजमे । अट्ठारसविहे अबंभे । एगुणवीसाए णायज्झयणेहिं । वीसाए असमाहिट्ठाणेहिं । एगवीसाए सबलेहिं । बावीसाए परीसहेहिं । तेवीसाए सूअगडज्झयणेहिं । चउवीसाए देवेहिं । पणवीसाए भावणाहिं । छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं । सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं । अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं । एगुणतीसाए पावसुअप्पसंगेहिं । तीसाए मोहणिट्ठाणेहिं । एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं । बत्तीसाए जोगसंगहेहिं । तेत्तीसाए आसायणाए । अरिहंताणं आसायणाए० (आव०) सज्झाइए ण सज्झाइयं तस्स मिच्छामि दुक्कडं । (आव० ४ अ०)

( सप्तभयस्थानभेदाः-' भयट्ठाण ' शब्दे वक्ष्यन्ते) (अष्टौ मदस्थानभेदाः-'मयट्ठाण' शब्दे द्रष्टव्याः) (नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः-'बंभचेरगुत्ति ' शब्दे द्रष्टव्याः ) ( दशविधश्च श्रमणधर्मः-' समणधम्म ' शब्दे द्रष्टव्यः ) ( एकादशोपाशकप्रतिमानां भेदाः, स्वरूपं च-' उवासगपडिमा ' शब्दे द्वितीयभागे १०६५ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (द्वादशभिक्षुप्रतिमानां विशेषः-'भिक्खुपडिमा' शब्दे वक्ष्यते) (त्रयोदश क्रियास्थानानि-'किरियाट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ५५३ पृष्ठे गतानि) (चतुर्दश भूतग्रामाः-'भूयग्गाम' शब्दे वक्ष्यन्ते) (पञ्चदश परमाऽधार्मिकनिरूपणम्-' परमाहम्मिय ' शब्दे द्रष्टव्यम्) (षोडशभिः-गाथाषोडशैः सूत्रकृताङ्गाद्यश्रुतस्कन्धाध्ययनैः । तेषां स्वरूपम्-' गाहासोलसग ' शब्दे तृतीयभागे ८७४ पृष्ठे गतम् ।) ( सप्तदशाऽसंयमभेदाः-' असंजम ' शब्दे प्रथमभागे ८२३ पृष्ठे गताः) (अष्टादशविधमब्रह्म-'अबंभ' शब्दे प्रथमभागे ६७५ पृष्ठे गतम् ) ( एकोनविंशतिविधज्ञाताध्ययनविवरणम्-' णायज्झयण ' शब्दे चतुर्थभागे २००३ पृष्ठे गतम् ) ( विंशतिरसमाधिस्थानानि ' असमाहिट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ७४२ पृष्ठे द्रष्टव्यानि ) ( एकविंशतिः शबलपरीषहनामानि-' सबलपरीसह ' शब्दे द्रष्टव्यानि ) ( द्वाविंशतिपरीषहाः-' परिसह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यन्ते) ( त्रयोविंशतिः सूत्रकृताङ्गाध्ययननामानि-'सुयगड' शब्दे द्रष्टव्यानि ) ( चतुर्विंशतिर्देवभेदाः -'देव' शब्दे चतुर्थभागे २६१३ पृष्ठे गताः ) ( पञ्चविंशतिर्भावनाः-' भावणा ' शब्दे द्रष्टव्याः ) ( षड्विंशतिर्दशाकल्पव्यवहारोद्देशनकालाः-' उद्देसणकाल ' शब्दे द्वितीयभागे ८१४ पृष्ठे गताः ) ( सप्तविंशतिरनगारगुणाः-' अणगारगुण ' शब्दे प्रथमभागे २७८ पृष्ठे गताः ) ( अष्टाविंशतिविधमाचारप्रकल्पस्वरूपम्-' आयारपकप्प ' शब्दे द्वितीयभागे ३४६ पृष्ठे गतम् ) ( एकोनत्रिंशद्विधं पापश्रुतप्रसङ्गम्-' पावसुयप्पसंग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ) ( त्रिंशन्मोहनीयस्थानभेदाः-' मोहणिज्जट्ठाण ' शब्दे द्रष्टव्याः) ( एकत्रिंशत्सिद्धानामादिगुणाः-' सिद्धाइगुण ' शब्दे वक्ष्यन्ते) ( द्वात्रिंशद्योगसंग्रहाः-' जोगसंगह ' शब्दे चतुर्थभागे १६५० पृष्ठे गताः ) ( त्रयस्त्रिंशदाशातनाभेदाः-' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४७१-४७२ पृष्ठे, अर्हदादीनामाशातनास्वरूपं, तद्विवरणं च-तस्मिन्नेव शब्दे ४८३ पृष्ठे, तथा-असज्झाइए सज्झाइयं पाठोऽपि तस्मिन्नेव शब्देऽस्ति । विवरणं च-' असज्झाइय ' शब्दे प्रथमभागे ८२७ पृष्ठेऽस्ति ) तथा ( सज्झाइए ण सज्झाइयं ति ) तथा-स्वाध्यायिके अस्वाध्यायिकविपर्ययलक्षणे न स्वाध्यायितं, इत्थमाशातनाया योऽतिचारः कृतः, तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया पूर्ववत् ।

" एअं सुत्ताणिवद्धं, अत्थेण जं पि होइ विधीअं ।
तं पुण अव्वामोह-त्थमोहओ संपवक्खामि ॥ १२ ॥
तित्तीसाए उवरिं, चोत्तीसं बुद्धवयणअतिसेसा ।
पणतीसवयणअइसयं-छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ १३ ॥
एवं जह समवाए, जा सयभिसरिक्ख होइ सयतारं ।
(तथाचोक्तम्-"सतभिसया णक्खत्ते सतेगतारे तहेव पण्णत्ते ।)
इअ सखअसंखेहिं, तह य अणंतेहिं ठाणेहिं ॥ १४ ॥
संजमअसंजमस्स य, पडिसिद्धाइकरणाइआरस्स ।
होइ पडिक्कमणं तं, तेत्तीसेहिं तु ताइं पुणो ॥ १५ ॥
अवराहपदेसुं तु, अनगया होंति णियम सव्वे वि ।
सव्वो वि इआरगणो, दुगसंजोगादिओ एसो ॥ १६ ॥
एगविहस्साऽसंजम-स्स हवइ इह दीहपज्जवसमूहो ।
एवमिआरविसोहिं, काउ कुणंती णमोक्कारं ॥ १७ ॥ "
आव० ४ अ० ।

अथवा प्राक्तनाया अशुभाऽऽसेवनायाः प्रतिक्रान्तः अपुनःकरणाय प्रतिक्रामन् नमस्कारपूर्वकं प्रतिक्रमणं प्रतिक्रामयन्नाह ।

अत्र सूत्रम्-

**नमो चउव्वीसाए तित्थयराणं उसभाइ-महावीर-पज्जवसाणाणं, इणमेव निग्गंथं पावयणं-सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेयाउयं, संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, अवितह-मविसंधि सव्वदुक्ख-प्पहीणमग्गं ।**

( नमो चउव्वीसाए तित्थयराणं उसभाइमहावीरपज्जवसाणाणं ति ) नमश्चतुर्विंशतितीर्थङ्करेभ्य ऋषभादिमहावीरपर्यवसानेभ्यः, 'प्राकृते षष्ठी चतुर्थ्यर्थे एव भवति ।' तथा चोक्तम्-"बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठिविभत्तीएँ भण्णइ चउत्थी । जह हत्था तह पाया, नमोत्थु देवाहिदेवाणं ॥१॥" इत्थं नमस्कृत्य प्रस्तुतस्य गुणव्यावर्णनायाऽऽह-" इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरमित्यादि " इदमेवेति सामायिकाऽऽदिप्रत्याख्यानपर्यन्तं द्वादशाङ्गं वा गणिपिटकं, निर्ग्रन्था बाह्याऽभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यं, प्रावचनमिति प्रकर्षेणाभिविधिनोच्यन्ते जीवादयो यस्मिंस्तत्प्रावचनम् । इदमेव नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनं किम्?, अत आह-सतां हितं सत्यं, सन्तो मुनयो गुणाः पदार्था वा सद्भूतं वा सत्यमिति । नयदर्शनमपि स्वविषये सत्यं भवत्येव ?, अत आह-(अणुत्तरं ति) नास्त्यस्योत्तरं सिद्धान्तं विद्यत इत्यनुत्तरं, यथावस्थितसमस्तवस्तुप्रतिपादकत्वादुत्तममित्यर्थः । यदि नामेदमित्थंभूतमन्यदप्येवंभूतं भविष्यतीति ?, अत आह-(केवलियं ति) केवलमद्वितीयं, नापरमित्थंभूतमित्यर्थः । यदि नामेदमित्थंभूतं तथाऽप्यन्यस्याऽसम्भवात्तथाऽप्यपवर्गप्रापकैर्गुणैः प्रतिपूर्णं न भविष्यतीति ?, अत आह-(पडिपुण्णं ति) प्रति-

पूर्णमपवर्गप्रापकैर्गुणैर्भृतमित्यर्थः। भृतमपि * कदाचित् आत्मम्भरतया न तन्नयनशीलं भविष्यतीति ?, अत आह-( नेआउय त्ति ) नयनशील नैयायिक, मोक्षगमकमित्यर्थः। नैयायिकमप्यसंशुद्ध संकीर्णं नाऽऽक्षेपेण नैयायिक भविष्यतीति ?, अत आह-(संसुद्ध त्ति) सामस्त्येन शुद्ध संशुद्ध,एकान्ताकलङ्कमित्यर्थ ×। एवभूतमपि कथञ्चित्तथास्वाभाव्याभावात भवति,वन्धनविकृन्तनाय?, प्रविष्यतीत्यत आह-( सल्लगत्तण त्ति ) कृन्तनीति कर्त्तन शल्यानि मायाशल्याऽऽदीनि तेषां कर्त्तन शल्यकर्त्तन, भवनिबन्धनमायाशल्याद्युच्छेदकमित्यर्थ । परमतनिषेधार्थत्वाऽऽह-(सिद्धिमग्ग मुत्तिमग्ग) सेधन सिद्धि हितार्थप्राप्ति, सिद्धेर्मार्गो सिद्धिमार्गे । मोचन मुक्ति, अहितार्थकर्म्मविच्युतिस्तस्या मार्गो मुक्तिमार्ग इति । मुक्तिमार्गे-केवलज्ञान.दिहितार्थप्राप्तिद्वारेणाऽहितकर्म्मविच्युतिद्वारेण च मोक्षसाधकमिति भावना। अनेन च केवलज्ञानाऽऽदिविकला सकर्म्मकाश्च मुक्ता इति दुर्णयनिरासमाह-विप्रतिपत्तिनिरासार्थमेवाह-(णिज्जाणमग्ग, णिव्वाणमग्ग) याति तदिति यान, "कृत्यल्युटो बहुलम्" ॥३।३।११३॥ इति वचनात्, कर्मणि ल्युट्। निरुपम यान निर्याणम्। ईषत्प्राग्भाराऽऽख्य मोक्षपदमित्यर्थ । तस्य मार्गो निर्याणमार्ग इति। निर्याणमार्गे विशिष्टनिर्याणप्राप्तिकारणमित्यर्थ।अनेनानियतसिद्धिक्षेत्रप्रतिपादनपरदुर्णयनिरासमाह-( णिव्वाणमग्ग ति ) निर्वृतिर्निर्वाण, सकलकर्म्मक्षयजमात्यन्तिकसुखमित्यर्थ । निर्वाणस्य मार्गो निर्वाणमार्ग इति, निर्वाणमार्गे परमनिर्वृतिकारणमिति हृदयम् । अनेन च निस्सुखदुःखा मुक्तात्मान.,इति प्रतिपादनपरदुर्णयनिरासमाह-निगमयन्नाह-इद च ( अवितह-मविसन्धि सव्वदुक्खप्पहीणमग्ग) अवितथ सत्यम्, अविसन्धि अव्यवच्छिन्न, सर्वदाऽपरविदेहाऽऽदिषु भावात् । सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गे सर्वदुःखप्रक्षीणो मोक्ष , तत्कारणमित्यर्थ ।

साम्प्रत परार्थकरणद्वारेणास्य चिन्तामणित्वमुपदर्शयन्नाह-

इत्थं ठिआ जीवा, सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंत करंति । तं धम्मं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि । तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तियंतो, रोयंतो,फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो । तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स,अब्भुट्ठिओमि आराहणाए । विरओमि विराहणाए ।

(इत्थ ठिआ जीवा सिज्झति त्ति) अत्र नैर्ग्रन्थ्ये प्रावचने स्थिता जीवा ,सिध्यन्तीति,अणिमाऽऽदिसयमफल प्राप्नुवन्ति।(बुज्झति त्ति) बुध्यन्ते,केवलिनो भवन्ति।(मुच्चति त्ति)मुच्यन्ते,भवोपग्राहिकर्मणा।(परिणिव्वायति त्ति) परि समन्तान्निर्वान्ति।किमुक्त भवति-(सव्वदुक्खाणमत करेंति त्ति) सर्वदुःखाना शारीरमानसभेदानामन्त विनाश कुर्वन्ति निर्वर्त्तयन्ति। इत्थमभिधायाऽधुनाऽत्र चिन्तामणिकल्प कर्ममलप्रक्षालनसमर्थसलिलौघे त श्रद्धानमाविष्कुर्वन्नाह (त धम्म सद्दहामि त्ति) य एष नैर्ग्रन्थ्य प्रावचनलक्षणो धर्म उक्त.,त धर्मं श्रद्दधामहे सामान्येनैवमेवायमिति। (पत्तियामि त्ति ) प्रतिपद्यामहे, प्रीतिकरणद्वारेण। ( रोएमि त्ति) रोचयामि अभिलाषातिरेकेणाऽऽसेवनाभिमुखतया प्रीत्या अत्र प्रीतिः रुचिश्च भिन्न एव। यत -कश्चिद्दध्यादौ प्रीतिसद्भावेऽपि न सर्वदा रुचि.। ( फासेमि त्ति ) स्पृशामि, आसेवनाद्वारेणेति। (अणुपालेमि त्ति) अनुपालयामि पौनःपुन्यकरणेन। (त धम्म सद्दहंतो इत्यादि ) त धर्मं श्रद्दधानः, प्रतिपद्यमानो, रोचयन्, स्पृशन्, अनुपालयन्, ( तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए त्ति ) तस्य धर्मस्य प्रागुक्तस्य, अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायामाऽऽराधनाविषये, ( विरओमि विराहणाए त्ति ) विरतोऽस्मि निवृत्तोऽस्मि, विराधनायां विराधनाविषये ।

एतदेव भेदेनाह-

असंजमं परियाणामि । संजमं उवसंपज्जामि । अबंभं परियाणामि । बंभं उवसंपज्जामि । अकप्पं परियाणामि । कप्पं उवसंपज्जामि । अन्नाणं परियाणामि । नाणं उवसंपज्जामि । अकिरियं परियाणामि । किरियं उवसंपज्जामि । मिच्छत्तं परियाणामि । सम्मत्तं उवसंपज्जामि । अबोहिं परियाणामि । बोहिं उवसंपज्जामि । अमग्गं परियाणामि । मग्गं उवसंपज्जामि ।

( असयम परियाणामि, सजमं उवसंपज्जामि त्ति ) असंयम प्राणातिपाताऽऽदिरूप परिजानामीति, ज्ञपरिज्ञयाविज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञयाप्रत्याख्यामीत्यर्थ. । तथा-सयम प्रागुक्तस्वरूप उपसपद्यामहे प्रतिपद्यामहे इत्यर्थ । तथा-(अबभ परियाणामि, बभ उवसंपज्जामि) अब्रह्म तस्यानियमलक्षणस्य विपरीत ब्रह्म,शेष पूर्ववत्। प्रधानासयमाङ्गत्वाच्चाब्रह्मण इति वा। तत्परिहारार्थमनन्तरमिदमाह-असयमाङ्गत्वादेवाऽऽह-( अकप्प परियाणामि। कप्प उवसपज्जामि) अकल्पोऽकृत्यमाख्यायते, अयोग्य वा, कल्पस्तु कृत्यमिति। इदानीं द्वितीय बन्धकारणमाश्रित्याऽऽह-यत उक्तम्-" असयमो य एक्को, अन्नाण अविरती य दुविह तु" इत्यादि। (अन्नाण परियाणामि । णाण उवसपज्जामि ) अज्ञान सम्यग्ज्ञानादन्यत् ज्ञान तु भगवद्वचनजं तदज्ञानेतरपरिहरण.येवाऽऽह-( अकिरिय परियाणामि, किरिय उवसपज्जामि ) अक्रिया नास्तिकवाद, क्रिया सम्यग्वाद । तृतीय ब धकारणमाश्रित्याऽऽह-(मिच्छत्त परियाणामि, सम्मत्त उवसपज्जामि ) मिथ्यात्व पूर्वोक्त, सम्यक्त्वमपि एतदङ्गत्वादेवाऽऽह-(अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसपज्जामि) अबोधिर्मिथ्यात्वकार्यं, बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति । इदानीं सामान्येनाऽऽह-( अमग्ग परियाणामि, मग्ग उवसपज्जामि ) अमार्गो मिथ्यात्वादि ,मार्गस्तु सम्यग्दर्शनादिरिति।

इदानीं छद्मस्थत्वादशेषदोषशुद्ध्यर्थमाह-

जं संभरामि। जं च न संभरामि। जं पडिक्कमामि। जं च न पडिक्कमामि। तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स, पडिक्कमामि। समणोऽहं, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मो, अणियाणो,दिट्ठिसंपन्नो, माया-मोस-विवज्जिओ।

( ज संभरामि, ज च ण संभरामि ) यत्किञ्चित्स्मरामि, यच्च छद्मस्थत्वेऽनाभोगान्नेति । तथा-( ज पडिक्कमामि, ज च ण पडिक्कमामि ) यत्प्रतिक्रमाम्याऽऽभोगादित्वात् यद्विदित, यच्च न प्रतिक्रमामि सूक्ष्म यदविदितम् । अनेन प्रकारेण य क श्चिदतिचार कृत. ( तस्स सव्वस्स देवसियाइआरस्स

* भूतकोऽपीत्यपि पाठान्तरम् × एकान्ताऽकलङ्कमित्यर्थ इत्यपि पाठ.।

पडिक्कमामि त्ति ) कण्ठ्यम् । इत्थं प्रतिक्रम्य पुनरकुशलप्रवृत्तिपरिहारायाऽऽत्मानमालोचयन्नाह-( समणोऽहं, संजयविरय-पडिहय-पच्चक्खाय पावकम्मो,अनियाणो,दिट्ठिसंपन्नो, मायामोसविवज्जिओ त्ति) श्रमणोऽहं तत्रापि न चरकाऽऽदिः,किं तर्हि ?, संयत. सामस्त्येन यत., इदानीं विरतो निवृत्त , अतीतस्यैष्यस्य च निन्दा-संवरणद्वारेण । अत एवाऽऽह-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा प्रतिहतमिदानीमकरणतया,प्रत्याख्यातमतीतनिन्दया,एष्यमकरणतयेति,प्रधानोऽयं दोष इति कृत्वा । तच्छून्यतामात्मनो भेदेन प्रतिपादयन्नाह-(अनियाणो त्ति) निदानरहित, सकलगुणमूलभूतगुणयुक्ततां दर्शयन्नाह-दृष्टिसंपन्नः, सम्यग्दर्शनयुक्त इत्यर्थ. । वक्ष्यमाणद्रव्यवन्दनपरिहारायाऽऽह-मायामृषाविवर्जकः, मायागर्भमृषावादपरिहारीत्युक्त भवति ।

एवंभूत. सन् किम्-अत्र सूत्रम्-

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु ।
जावंत के वि साहू, रयहरण-गुच्छ-पडिग्गहधारा ॥१॥
पंचमहव्वयधारा,
अट्ठारससहस्ससीलंगधारा ।
अक्खयाऽऽयार-चरित्ता,
ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥२॥

अड्ढा० दीव० ( व्याख्या 'अड्ढाइज्जदीव' शब्दे प्रथमभागे २४८ पृष्ठे) पन्नरस० (व्याख्या 'कम्मभूमि' शब्दे तृतीयभागे ३४० पृष्ठे) यावन्त कचन साधवो रजोहरण-गोच्छ-प्रतिग्रहधारिण. । निह्नवाऽऽदिव्यवच्छेदायाऽऽह-पञ्चमहाव्रतधारिण , पञ्चमहाव्रतानि प्रतीतानि, अनस्तदेकाङ्गविकलप्रत्येकबुद्धाऽऽदिसंग्रहाय आह-अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः । तथाहि केचिद्भगवन्तो रजोहरणाऽऽदिधारिणो न भवन्त्यपि । तानि चाऽष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि दर्श्यन्ते-तत्रेय करणगाथा-'जोए करणे०' इति गाथा-('अट्ठारससीलंगसहस्स' शब्दे प्रथमभागे २५१ पृष्ठे सटीका गताऽस्ति) स्थापना त्वियम्-('गुरुकुलवास' शब्दे तृतीयभागे ९४० पृष्ठे समुपन्यस्ताऽस्ति ) इय तु भावना-

"मणेण ण करेइ आहारसण्णाविप्पजढो सोइंदियसंवुडो पुढवीकायसरक्खणओ खतिसंपन्नो १,"एवं आउक्कायसरक्खणओ खंतिसंपन्नो २, एव तेऊ ३ वाऊ-४ वणस्सइ-५ बि ६ ति-७ चउ ८ पचिंदिय-९ अजीवेसु दस १० भेदा । एते खतियममुयतेण लद्धा । एव मद्दवादिसु वि इक्किक्के दस २ लब्भति,एव सय १००, एव सोइंदियममुयतेण लद्धा १०० । एव चक्खुइंदियादिसु वि इक्किक्कसय । जाया पचसया ५०० । एते वि आहारसन्नाअपरिच्चागेण लद्धा । भयादिसन्नादिसु वि पत्तेय, एव पच २ सत, जाता दो सहस्सा २०००, एए (ण करेति त्ति) एतेण लद्धा । ण कारवेति एतेण वि दो सहस्सा २००० । करत णाऽणुजाणाति एतेण वि दो सहस्सा २०००,जाता छसहस्सा ६०००, एते मणेण लद्धा, वाया, काएहिं वि छसहस्स त्ति ( ६००० )( ६००० ) जाता अट्ठारस सहस्स त्ति १८००० ।" अक्षताऽऽचारचारित्रिण अक्षताऽऽचार एव चारित्रम्, तान् सर्वान् गच्छगत-निर्गताऽऽदिभेदान् शिरसोत्तमाङ्गेन, मनसाऽन्तःकरणेन, मस्तकेन वन्द इति वाचा ।

इत्थमभिवन्द्य साधून् पुनरोघत. सकलसत्त्वक्षामणमिति प्रदर्शनायाऽऽह-

खामेमि सव्वजीवे य, सव्वे जीवा खमतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥ १ ॥

निगदसिद्धा एवेयम् । नवरम्-(इति सटीका गाथा 'खामणा' शब्दे तृतीयभागे ७३७ पृष्ठे गता) "सव्वे जीवा खमतु मे त्ति" मा तेषामप्यक्षान्तिप्रत्यय. कर्मबन्धो भवत्विति करुणयेदमाह । समाप्तौ स्वरूपप्रदर्शनपुरस्सर मङ्गलमाह-

एवमहं आलोइय-निंदियगरहियदुगुंछियं सम्मं ।
तिविहेण पडिकंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥

निगदसिद्धा । एव दैवसिक प्रतिक्रमणमुक्तम् । रात्रिकमप्येवभूतमेव । नवरम्-यत्रैव दैवसिकाऽतिचारोऽभिहितस्तत्र तस्मिन् रात्रिकातिचारो वक्तव्यः । आह-यद्येवम्-" इच्छामि पडिक्कमिउं गोयरचरियाए " इत्यादिसूत्रं तत्रानर्थकं, रात्रावस्य सम्भवादिति ?, उच्यते-स्वप्नादौ सम्भवादित्यदोष इत्युक्तोऽनुगमः । नया. प्राग्वत् । इति शिष्यहितायां (वृत्तौ) प्रतिक्रमणाध्ययनम् । आव० ४ अ० । ध० । ( दैवसिक-प्रतिक्रमणवेला च तत्परिसमाप्तिदशोपकरणप्रत्युपेक्षणासमनन्तरभाविसूर्योदयपरिमेया । यतः-"आवस्सयस्स समए,णिद्दामुद्द चयति आयरिआ । तह त कुणति जह दस, पडिलेहाणतर सूरो ॥१॥ " इति । ध० ३ अधि० ।

(१६) रात्रिकप्रतिक्रमणविधिर्यथा-

पाश्चात्यनिशायामे पौषधशालायां गत्वा स्वस्थाने वा स्थापनाऽऽचार्यान् संस्थाप्य ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वं सामायिक कृत्वा क्षमाश्रमणपूर्वम्-" कुसुमिणदुस्सुमिणउहडावणिअ राइअपायच्छित्तविसोहणत्थं काउस्सग्ग करेमि " इत्यादि भणित्वा चतुर्विंशतिस्तवचतुष्कचिन्तनरूप शतोच्छ्वासमान, स्त्रीसेवाऽऽदिकुस्वप्नोपलम्भे तु अष्टशतोच्छ्वासमान कायोत्सर्गं कुर्यात् । रागाऽऽदिमय. कुस्वप्न ,द्वेषाऽऽदिमयो दु.स्वप्नः । एतद्विधिस्तु-नमस्कारेणावबोध इति प्रथमद्वार उक्त एव । इह च-सर्वं श्रीदेवगुरुवन्दनपूर्वं सफलमिति चैत्यवन्दनां विधाय क्षमाश्रमणद्वयपूर्वं स्वाध्याय विधत्ते, यावत्प्राभातिकप्रतिक्रमणवेला । तदनु चतुरादिक्षमाश्रमणै श्रीगुर्वादीन्वन्दित्वा क्षमाश्रमणपूर्वम्-" राइअपडिक्कमणइ ठाउ " इत्यादि भणित्वा भूनिहितशिरा -"सव्वस्स वि राइअ " इत्यादिसूत्र सकलरात्रिकातिचारबीजकभूत पठित्वा शक्रस्तव भणति । "प्राक्तन चैत्यवन्दन तु स्वाध्यायाऽऽदिधर्मकृत्यस्य प्रतिबद्ध, न तु रात्रिकाऽऽवश्यकस्येति ।" एतदारम्भे मङ्गलाद्यर्थं पुन शक्रस्तवेन संक्षेपदेववन्दन,ततो द्रव्यतो भावतश्चोत्थाय-"करेमि भंते ! सामाइअं " इत्यादिसूत्रपाठपूर्वं चारित्र-दर्शन-ज्ञानातिचारविशुद्ध्यर्थं कायोत्सर्गत्रय करोति । प्रथमे द्वितीये च कायोत्सर्गे चतुर्विंशतिस्तवमेक चिन्तयति । "साय स[illegible] गोसद्धमिति" वचनात् । तृतीये तु सान्ध्यप्रतिक्रमणान्त्यवर्द्धमानस्तुतित्रयात्प्रभृति निशातिचारांश्चिन्तयति । "यत -दिवसावस्सयअते, ज थुइतिअगतनिसाइआरे य । जाव ठिय उस्सग्ग, चिंतिज्जसु ताव अइयारे त्ति " इह च पूर्वोक्तयुक्त्या चारित्राऽऽचारस्य ज्ञानाद्याचारेभ्यो वैशिष्ट्येऽपि यदेकस्यैव चतुर्विंशतिस्तवस्य चिन्तन, तद्रात्रौ प्रायोऽल्पव्यापारत्वेन चारित्रातिचाराणा स्वल्पत्वाऽऽदिना सम्भाव्यते । तत कायोत्सर्ग पारयित्वा सिद्धस्तव पठित्वा सदंशकप्रमार्जनपूर्वमुपविशति । अत्र च प्राभातिकप्रतिक्रमणे प्रादोषिकप्रतिक्रमणवत्प्रथमे चारित्रातिचारविशुद्धिकायोत्सर्गे निशातिचारचिन्तन यन्न कृत, तन्निद्राभिभूतस्य सम्यग् स्मरण न स्यादिति ।

तृतीये कायोत्सर्गे च सावधानीभूतस्यालस्यम् स्यादिति । तत्र निशातिचारचिन्तनमिति हार्दम् । यत उक्तं समयविद्भिः-"नि-द्दामत्तो न सरइ, अइआरे मा य घट्टणं तुम्हे । किइअकरणे दोसा वा, गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥१॥" (एषा गाथा 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४२१ पृष्ठे सटीकाऽस्ति) इति ततः पूर्ववन्मु-खवस्त्रिकाप्रतिलेखनापूर्वं वन्दनाऽऽदिविधिं, प्रतिक्रमणसूत्रा-ऽनन्तरकायोत्सर्गं यावत् ज्ञेयः । पूर्वं चारित्राचाराद्याराध्यं प्र-त्येकं शुद्धये पृथक् कायोत्सर्गाणां कृतत्वेन सांप्रतं तेषां समुदितानां प्रतिक्रमणेनाप्यशुद्धानां शोधनायाऽयं कायोत्सर्गः समाधीयते, अत्र च कायोत्सर्गे श्रीवीरोक्तं षाण्मासिकं तपश्चि-न्तयति-हे जीव ! श्रीवीरेण षाण्मासिकमुत्कृष्टं तपः कृतं,तत् त्वं कर्तुं शक्नोषि न वेत्यादि ?, जीवो वक्ति न शक्नोमि । तर्हि ए-कदिनोनं षाण्मासिकं कर्तुं शक्नोषि ? न शक्नोमि । एवं द्वित्रि-चतुःपञ्चदिनैरून षाण्मासिकं कर्तुं शक्नोषि ?, पुनर्वक्ति न शक्नो-मि । तर्हि षट्सप्ताष्टनवदशदिनोनं षाण्मासिकं कर्तुं शक्नोषि ?, न शक्नोमि । एवमेकादशत. पञ्चपञ्चदिनवृद्ध्या क्रमेणैकोनत्रिं-शद्दिनानि यावच्चिन्तयति । एवं पञ्चमे, चतुर्थे, तृतीये, द्वितीये, मासेऽपि । प्रथमे तु-रे जीव ! त्वमेकमासिकं कर्तुं शक्नोषि ?,न शक्नोमि । तत एकदिनोनं कर्तुं शक्नोषि ?, न शक्नोमि । एवं याव-त्त्रयोदशदिनोनं कर्तुं शक्नोषि ?, न शक्नोमि,तर्हि चतुस्त्रिंशत्त-मं कर्तुं शक्नोषि?, न शक्नोमि । द्वात्रिंशत्तमं, त्रिंशत्तमं, अष्टाविं-शतितमं षड्विंशतितमं,चतुर्विंशतितमं, द्वाविंशतितमं, विंशति-तमं,अष्टादश,षोडश,चतुर्दश, द्वादश, दशम,अष्टम, षष्ठ, चतुर्थं, कर्तुं शक्नोषीत्यादि विचिन्त्य यत्तप. कृतं स्यात्तत् करणेच्छया करिष्य इति वक्ति । अन्यथा तु-शक्नोमि । परं नाऽस्य मनो वर्तत इति । एवमाचामाम्लनिर्विकृतिकै-काशनाऽऽदिषु यत्र मनो प्र-वर्तते तन्मनसि निधाय पारयित्वा च,कायोत्सर्गं मुखपोतिकाप्र-तिलेखनापूर्वं वन्दनके दत्त्वा मनश्चिन्तितप्रत्याख्यानं विधत्ते । यत उक्तं दिनचर्यायाम्-

" सामाइअवुस्समासन-मुस्सग्गुज्जोयमुत्तिवइणय ।
उस्सग्गचिंतियतवो-विहाणमऽह पच्चक्खाणेण ॥ १ ॥
इगपंचाइदिणूणं, पण मास चइत्तु तेर दिणऊणं ।
चत्तीसाइदिणूणं,चिंते नवकारसहिय जा ॥२॥" ध०२ अधि०।

( एष तपश्चिन्तनविधिः 'काउस्सग्ग' शब्दे ४२१ पृष्ठेऽप्यस्ति) तदनु " इच्छामो अणुसट्ठिं ति " प्रणिपत्योपविश्य स्तुतित्रया-ऽऽदिपाठपूर्वं चैत्यानि वन्दते । इदं च प्रतिक्रमणं मन्दस्वरेणैव कुर्यात् । अन्यथाऽऽरम्भिणां जागरणेनाऽऽरम्भप्रवृत्ते. । ततश्च साधु., कृतपौषधः श्रावको वा क्षमाश्रमणद्वयेन भगवन् ! "बहु-वेलं संदिसावेमि, बहुवेलं करेमि" इति भणति । बहुवेलासम-वीनि चोच्छ्वासाऽऽदीनि कार्याणि 'बहुवेल' इत्युच्यन्ते । ततश्च चतुर्भिः क्षमाश्रमणैः श्रीगुर्वादीन् वन्दते । श्राद्धस्तु "अड्ढाइज्जेसु" इत्यादि च पठति । इति रात्रिकप्रतिक्रमणविधिः । ध० २ अधि० ।

(१७) पाक्षिकाऽऽदिषु प्रतिक्रमणम्-तथा यः श्रावको नियमेन प्रत्यहं प्रतिक्रमणद्वयं कुर्वाणो भवति तस्य कालवेलायां स-न्ध्याप्रतिक्रमणविस्मरणे कियती रात्रिं यावत्तत्कल्पयतीति ? । अ-त्रोत्तरम्-कारणविशेषे विस्मृतौ वा, रात्रिप्रहरद्वयं यावत्तत्कर्तुं कल्पयतीति । ही० ४ प्रका० ।

अथ पाक्षिकाऽऽदिप्रतिक्रमणविधिः-

तानि च दैवसिक-रात्रिकाभ्यां शुद्धौ सत्यामपि सूक्ष्मबादरा-तिचारजातस्य विशेषेण शोधनार्थं युक्तान्येव । यतः-" जह गेहं पइदिवसं, पि सोहिअं तह वि पक्खसंधीसु सोहिज्जइ सविसेसं, एवं इहय पि नायव्वं ॥१॥ " अत्र पाक्षिके पूर्ववद्दैव-सप्रतिक्रमण प्रतिक्रमणसूत्रान्तं विधत्ते । ततः क्षमाश्रमणपूर्वम्-" देवसिअं आलोइअ पडिक्कंता इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! "पक्खी मुहपत्ती पडिलेहुं" इत्युक्त्वा तां कायं च प्रतिलिख्य वन्द-नके दत्त्वा संबुद्धान् श्रीगुर्वादीन् क्षमयितुं क्षमाप्रधानं च सर्वम-नुष्ठानं सफलमिति ज्ञापयितुम्-" अब्भुट्ठिओ मि संबुद्धाखामणेणं अब्भितरपक्खिअं खामेउं" इति प्रणित्वा "इच्छं खामेमि पक्खि-अं पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं, जं किंचि अपत्तिअं" (एतत् 'खामणा'सूत्रं तृतीयभागे ४२१ पृष्ठे गतमस्ति) इत्यादिना गुरुभिः स्थापनाचार्ये क्षमिते, शिष्यः श्राद्धो वा श्रीगु-र्वादीन् क्षमयति, त्रीन् पञ्च वा । यदि द्वौ शेषौ, तत उत्थाय " इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पक्खिअं आलोएमि ?, इच्छं आलोएमि, जो मे पक्खिओ " इत्यादिसूत्रं भणित्वा संक्षेपेण विस्तरेण वा पाक्षिकानतीचारानालोच्य " सव्वस्स वि प क्खिअ-" इत्यादि भणिते, गुरुराह-" पडिक्कमह " तत " इच्छं " प्रणिपत्य " चउत्थेणं " इत्यादिना गुरुदत्तमुपवासादि रूपं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । ततो वन्दनकदानपुरस्सरं प्रत्येकक्ष-मणकानि त्रिधातु गुरुरन्यो वा ज्येष्ठ पूर्वमुत्थायोर्द्धस्थित एव भणति-" देवसिअं आलोइअपडिक्कंता, इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओऽहं अब्भितरपक्खिअं खामेउं 'इच्छं' इच्छ-कारि अमुक तपोधन ! स भणति " मत्थएण वंदामि " क्षमा श्रमणपूर्वं । गुरुराह-" अब्भुट्ठिओ मि पत्तेअखामणेणं अब्भितर पक्खिअं खामेउं " सोऽपि " अहमवि खामेमि तुब्भे त्ति " भणित्वा भूमिनिहितशिरा. पुनर्भणति-" इच्छं खामेमि पक्खि अं, पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं" इत्यादि । गुरुस्तु "पन्नरसण्हं" इत्यादि "उच्चासणे समासणे" इति पदद्वयवर्जं भणति, एवं सर्वेऽपि साधव परस्परं क्षमयन्ति । लघुराचार्यस्तु चार्येण सह प्रतिक्रामतां साधूनां ज्येष्ठ. प्रथमं स्थापनाचार्यं क्षम यति,ततः सर्वेऽपि यथारत्नाधिकम् । गुर्वभावे तु सामान्यसाधव प्रथमं स्थापनाचार्यं क्षमयन्ति,यावद् द्वौ शेषौ । एवं श्रावका अपि । परं वृद्धश्रावकोऽमुकप्रमुखसमस्तश्रावकान् " वांदु वांदु " इति भणित्वा "अब्भुट्ठिओ मि प्रत्येकखामणेणं अब्भितरपक्खिअं खामेउं ति" (भणति) इतरे च भणन्ति-"अहमवि खामेमि तुब्भे" ततो वृद्ध इतरे चेति उभयेऽपि भणन्ति-" पन्नरसण्हं दिव साणं पन्नरसण्हं राईणं भण्यां भास्यां मिच्छा मि दुक्कडं" ततो वन्दनकदानपूर्वं " देवसिअं आलोइअपडिक्कंता इच्छा-कारेण संदिसह भगवन् ! पक्खिअं पडिक्कमावेह ?, " गुरुर्भ-णति-" सम्मं पडिक्कमह, " तत -" इच्छं ति " कथनपूर्वं सा-मायिकसूत्रम्-" इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ " इत्यादि भणित्वा क्षमाश्रमणपूर्वम्-" इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पक्खिअसुत्तं कड्ढेमि त्ति " उक्त्वा गुरुस्तदाऽऽदिष्टो-ऽन्यो वा साधु, सावधानमना त्र्यकारं नमस्कारत्रिकपू-र्वं पाक्षिकसूत्रं कथयति, इतरे च क्षमाश्रमणपूर्वं " सम-लेमि त्ति " प्रणिपत्य यथाशक्ति कायोत्सर्गोऽस्थौ स्थित्वा शृ-ण्वन्ति । पाक्षिकसूत्रभणनानन्तरम्-"सुअदेवया भगवई" इति स्तुतिं भणित्वोपविश्य पूर्वविधिना पाक्षिकप्रतिक्रमणसूत्र पठि-त्वोत्थाय च तच्छेषं कथयित्वा " करेमि भंते ! सामाइअं " इ-त्यादिसूत्रत्रयं पठित्वा च प्रतिक्रमणेनाऽशुद्धानामतीचाराणां

विशुद्ध्यर्थं द्वादशचतुर्विंशतिस्तवचिन्तनरूपं कायोत्सर्गं कुर्यात् । ततो मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनापूर्वं वन्दनकं दत्त्वा क्षमाश्रमणपूर्वं " इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओ मि समत्तखामणेणं अब्भिंतरपक्खिअं खामेउ " इत्यादि भणित्वा क्षामणकं विधत्ते । अत्र-पूर्वं सामान्यतो विशेषतश्च पाक्षिकाऽपराधे क्षमितेऽपि कायोत्सर्गे स्थितानां शुभैकाग्रमासमुपगतानां किञ्चिदपराधपदं स्मृतं भवेत्, तस्य क्षामणानिमित्तं पुनरपि क्षामणकरणं युक्तमेव । तत उत्थाय " इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पक्खीखामणां खामुं ? इच्छं " ततः साधवश्चतुर्भिः क्षमाश्रमणैः चत्वारि पाक्षिकक्षामणानि कुर्वन्ति । तत्र च राजानं यथा माणवका अतिक्रान्ते माङ्गल्यकार्ये बहु मन्यन्ते । यदुत अखण्डितबलस्य ते सुष्ठु कालो गतोऽन्योऽप्येवमेवोपस्थितः, एवं पाक्षिकं विनयोपचारम् । "इच्छामि खमासमणो पियं च मे " इत्यादिप्रथमक्षामणसूत्रेण तथास्थित एव साधुराचार्यस्य करोति । १ । ततो द्वितीये-क्षामणके चैत्यसाधुवन्दनं निवेदयितुकामः-" इच्छामि खमासमणो पुव्विं " इत्यादि भणति । २ । तदनु तृतीये-आत्मानं गुरून् निवेदयितुम्-" इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओ हं तुब्भण्हं " इत्यादि भणति । ३ । चतुर्थे तु-यच्छिक्षां ग्राहितस्तमनुग्रहं बहुमन्यमानः " इच्छामि खमासमणो अहमवि पुव्वाइं " इत्यादि वक्ति । ४ । ( एताश्चतस्रः क्षामणा मूल-पाठतः तृतीयभागे ४२१-४२२ पृष्ठे गताः सन्ति ) एतेषां चतुर्णां पाक्षिकक्षामणकानां प्रत्येकमन्ते "तुब्भेहिं समं १, अहमवि वंदामि चेइआइं २, आयरिअसंतिअं ३, नित्थारपारगा होह इति ४, " ( एतन्निरूपिका सव्याख्या गाथा तृतीयभागे ४२१ पृष्ठे गताऽस्ति) श्रीगुरूक्तौ शिष्यः-" इच्छं ति " भणति । श्रावकाः पुनरेकैकं नमस्कारं पठन्ति । ततः-" इच्छामो अणुसट्ठिं ति " भणित्वा वन्दनदैवसिकक्षामणकवन्दनाऽऽदि दैवसिकप्रतिक्रमणं कुर्यात् । श्रुतदेवतायाः पाक्षिकसूत्रान्ते स्मृतत्वेन तद्दिने तत्कायोत्सर्गस्थाने भवनदेवतायाः कायोत्सर्गः । क्षेत्रदेवतायाः प्रत्यहं स्मृतौ भवनस्य क्षेत्रान्तर्गतत्वेन तत्त्वतो भवनदेव्या अपि स्मृतिः कृतैव । तथाऽपि पर्वदिने तस्या अपि बहुमानार्हत्वात् कायोत्सर्गः साक्षात्क्रियते, स्तवस्थाने च मङ्गलार्थमजितशान्तिस्तवपाठ इति । अत्राऽपि पाक्षिकप्रतिक्रमणे पञ्चविधाऽऽचारविशुद्धिस्तत्तत्सूत्रानुसारेण स्वयमभ्यूह्या । सा चैवं समाभ्यते-ज्ञानाऽऽदिगुणवत्प्रतिपत्तिरूपत्वाद्वन्दनकानि संबुद्धक्षामणानि च ज्ञानाऽऽचारस्य, द्वादश "लोगस्स" कायोत्सर्गानन्तरं प्रकटचतुर्विंशतिस्तवकथनेन दर्शनाऽऽचारस्य, अतिचाराऽऽलोचनप्रत्येकक्षामणकवृहल्लघुपाक्षिकसूत्रकथनसमाप्तिपाक्षिकक्षामणकाऽऽदिभिश्चारित्राऽऽचारस्य, चतुर्थतपःप्रभृति द्वादश 'लोगस्स' कायोत्सर्गाऽऽदिभिर्बाह्याभ्यन्तरतपआचारस्य, सर्वैरप्येतैः सम्यगाराधितैर्वीर्याऽऽचारस्य शुद्धिः क्रियते । एतदनुसारेण चातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणयोरपि सम्भाव्यम् । इति पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रमः ।

(१८) चातुर्मासिकसांवत्सरिकयोरपि क्रम एष एव । नवरम्नाम्नि विशेषः । कायोत्सर्गेऽपि चातुर्मासिकप्रतिक्रमणे विंशतिचतुर्विंशतिस्तवचिन्तनं, सांवत्सरिकप्रतिक्रमणे च चत्वारिंशच्चतुर्विंशतिस्तवा , तदन्ते एको नमस्कारश्च चिन्त्यते । क्षामणके च " चउण्हं मासाणं, अट्ठण्हं पक्खाणं, इगसयवीसराइंदिआणं " तथा-" बारसण्हं मासाणं, चउवीसण्हं पक्खाणं, तिन्नि सयसट्ठिराइंदियाणं " इत्यादि वक्तव्यम् । साधवश्च-पाक्षिकचतुर्मासिकयोः पञ्चसांवत्सरिके च सप्तगुर्वाद्याः क्षम्याः, यदि-द्वौ शेषौ तिष्ठत इति चातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणक्रमः ।

(१९) एतद्विधिसंवादिन्यश्चेमाः पूर्वाऽऽचार्यप्रणीता गाथाः-

पंचविहाऽऽयारविसु-द्धिहेउमिह साहू सावगो वा वि ।
पडिकमणं सह गुरुणा, गुरुविरहे कुणइ इक्को वि ॥ १ ॥
वंदित्तु चेइयाइं, दाउं चउ राइए खमासमणे ।
भूनिहिअसिरो सयला-इआरमिच्छाक्कडं देइ ॥ २ ॥
सामाइअपुव्वमिच्छामि ठाउं काउस्सग्गमिच्चाइ ।
सुत्तं भणिअ पलंबिअ-भुअकुप्परधरिअपहिरणओ ॥ ३ ॥
घोडगमाइअदोसे-हिँ विरहिअं तो करेइ उस्सग्गं ।
नाहिअहो जाणुड्ढं, चउरंगुलठविअकडिपट्टो ॥ ४ ॥
तत्थ य धरेइ हियए, जहक्कमं दिणकए अ अइआरे ।
पारेत्तु नमोक्कारेणं, पढइ चउवीसत्थयं दंडं ॥ ५ ॥
संडासगे पमज्जिअ, उवविसिअ अलग्गविअयबाहुजुओ ।
मुहणंतगं च कायं, पेहए पंचवीस इइं ॥ ६ ॥
उट्ठिअठिओ सविणयं, विहिणा गुरुणो करेइ किइकम्मं ।
बत्तीसदोसरहिअं, पणवीसावस्सगविसुद्धं ॥ ७ ॥
अह सम्ममवणयंगो, करजुगविहिधरिअपुत्तियरहरणो ।
परिचिंतिअअइयारे, जहक्कमं गुरुपुरो विअडे ॥ ८ ॥
अह उवविसित्तु सुत्तं, सामाइअमाइअं पढिअपयओ ।
अब्भुट्ठिओ म्हि इच्चा-इ पढइ दुहओ ठिओ विहिणा ॥ ९ ॥
दाऊण वंदणं तो, पणगाइसु जइसु खामए तिन्नि ।
किइकम्म करिअ आयरिअ-माइगाहातिगं पढइ ॥ १० ॥
इअ सामाइअउस्स-ग्गसुत्तमुच्चरिअ काउस्सग्गठिओ ।
चिंतइ उज्जोअदुगं, चरित्तअइआरसुद्धिकए ॥ ११ ॥
विहिणा पारिअसम्म-त्तसुद्धिहेउं च पढइ उज्जोअं ।
तह सव्वलोअअरिह-तचेइआराहणुस्सग्गं ॥ १२ ॥
काउं उज्जोअगरं, चिंतिअ पारेइ सुद्धसम्मत्तो ।
पुक्खरवरदीवड्ढं, कड्ढइ सुअसोहणनिमित्तं ॥ १३ ॥
पुण पणवीसुस्सासं, उस्सग्गं कुणइ पारए विहिणा ।
तो सयलकुसलकिरिआ-फलाण सिद्धाण पढइ थयं ॥ १४ ॥
अह सुअसमिद्धिहेउं, सुअदेवीए करेइ उस्सग्गं ।
चिंतेइ नमोक्कारं, सुणइ व देइ व तीइ थुइं ॥ १५ ॥
एवं खित्तसुरीए, उस्सग्गं कुणइ सुणइ देइ थुइं ।
पढिऊण पंचमंगल-मुवविसइ पमज्ज संडासे ॥ १६ ॥
पुव्वविहिणेव पेहिअ, पुत्तिं दाऊण वंदणं गुरुणो ।
इच्छामो अणुसट्ठिं, ति भणिअ जाणूहिं तो ठाइ ॥ १७ ॥
गुरुथुइगहणे थुइ ति-न्नि वद्धमाणक्खरस्सरो पढइ ।
सक्कत्थयथवं पढिअ, कुणइ य पच्छित्तउस्सग्गं ॥ १८ ॥
एवं ता देवसिअं, राइअमवि एवमेव नवरि तहिं ।
पढमं दाउं मिच्छा-मि दुक्कडं पढइ सक्कथयं ॥ १९ ॥
उट्ठिअ करेइ विहिणा, उस्सग्गं चिंतए अ उज्जोअं ।
बीअं दंसणसुद्धी-ए चिंतए तत्थ इममेव ॥ २० ॥
तइए निसाइआरं, जहक्कमं चिंतिऊण पारेइ ।
सिद्धत्थयं पढित्ता, पमज्ज संडासमुवविसइ ॥ २१ ॥
पुव्वं व पुत्तिपेहण-वंदणमालोअसुत्तपढणं च ।
वंदणखामणवंदण-गाहातिगपढणमुस्सग्गो ॥ २२ ॥
तत्थ य चिंतइ संजम-जोगाण न होइ जेण मे हाणी ।
तं पडिवज्जामि तवं, छम्मासं ता न काउमलं ॥ २

एगाइइगुणतीसू-णय पि न सहो न पचमासमवि ।
एव चउ-ति-दुमास, न समत्थो एगमासमवि ॥ २४ ॥
जा त पि तेरसूण, चउतीसइमाइअ दुहाणीए ।
जा चउत्थ तो आय-बिलाइ जा पोरिसि नमो वा ॥ २५ ॥
ज सक्क त हिअए, धरेत्तु पारेइ पेहए पुत्तिं ।
दाउं वदणमसढो, त चिअ पच्चक्खए विहिणा ॥ २६ ॥
इच्छामो अणुसट्ठिं ति भणिअ उवविसिअ पढइ तिण्णि थुई ।
मिउसद्देण सक्क-त्थयाइ तो चेइए वदे ॥ २७ ॥
अह पक्खिअ चउद्दसि-दिणम्मि पुव्व व तत्थ देवसिअ ।
सुत्तत पडिकमिउ, तो सम्ममिम कम कुणइ ॥ २८ ॥
मुहपत्ती वदणय, सबुद्धा खामण तहाऽऽलोए ।
वदणपत्तेअखाम-ण च वदणयमह सुत्त ॥ २९ ॥
सुत्त अब्भुट्ठाण, उस्सग्गो पुत्तिवदण तह य ।
पज्जतिअखामणय, तह चउरो छोभवदणया ॥ ३० ॥
पुव्वविहिणेव सव्व, देवसिअ वदणाइ ता कुणइ ।
सेज्जसुरी उस्सग्गो, सतित्थयपढणे भेओ अ ॥ ३१ ॥
एव चिअ चउमासे, वरिसे अ जहक्कम विही णेओ ।
पक्खचउमासवरिसे-सु नवरि नाममि णाणत्त ॥ ३२ ॥
तह उस्सग्गुज्जोआ, बारस वीसा समगलग चत्ता ।
सबुद्धखामण तिप-णसत्तसाहूण जहसख ॥३३॥" ध०२अधि०।

(२०) पक्षान्तादिष्ववश्य प्रतिक्रमण कर्त्तव्यमिति सकारण सोदाहरण च प्रदर्शितम् ।

शिवशर्म्मैकनिमित्त, विघ्नौघविघातिन जिन नत्वा ।
वक्ष्यामि सुखविबोधा, पाक्षिकसूत्रस्य वृत्तिमहम् ॥ १ ॥
एतच्चूर्ण्यनुसाराद्, ग्रन्थान्तरविवरणानुसाराच्च ।
प्रायो विवरणमेत-द्विधीयते मन्दमतिनाऽपि ॥ २ ॥

तत्र चार्हत्प्रवचनानुसारिसाधव सकलपापमलमूलसावद्ययोगनिवृत्ता अपि सुविशुद्धमनोवाक्कायवृत्तयोऽप्यनाभोगप्रमादादेः सकाशात्प्रतिषिद्धकरणकृत्यकरणादिना समुत्पन्नस्य मूलोत्तरगुणगोचरस्य बादरेतरातिचारजातस्य विशोधनार्थं सदा दिवसनिशावसानेषु प्रतिक्रमण विदधाना अपि पक्षचतुर्मास-सवत्सरान्तेषु विशेषप्रतिक्रमण कुर्वन्ति, उत्तरकरणविधानार्थम । तथाहि-यथा कश्चित्पुरुषस्तैलामलकजलादिभिः कृतशरीरसस्कारोऽपि धूपनविलेपनभूषणवस्त्रादिभिरुत्तरकरण विधत्ते, एव साधवोऽपि प्रतिदिनप्रतिक्रमणेन विशुद्धचरणा अपि पाक्षिकाऽऽदिषु विशेषप्रतिक्रमणेनोत्तरकरण कुर्वन्ति । शुद्धिविशेष कुर्वन्तीत्यर्थ । किञ्च-" जह गेह पइदिवस, पि सोहिय तह वि पक्खसधीसु । सोहिज्जइ सविसेस, एव इहय पि नायव्व ॥ १ ॥ " तथा-नित्यप्रतिक्रमणे सूक्ष्मो बादरो वाऽतिचारोऽनाभोगादिना विस्मृतो भवेत । स्मृतो वा भयगौरवादिना गुरुसमक्ष न प्रतिक्रान्त. स्यात् । प्रतिक्रान्तोऽपि परिणाममान्द्यादसम्यक् प्रतिक्रान्त स्यात । अत. पाक्षिकादिषु त स्मृत्वा सञ्जातसवेगाः प्रतिक्रामन्ति । अथवा-पाक्षिकाऽऽदिषु विशेषप्रतिक्रमणेन प्रतिक्रामन्तो विस्मृतमप्यतिचार स्मरन्ति प्रायशः । अथवा-प्रथमचरमतीर्थङ्कराणा कालविशेषनियतोऽय विधि.,यदुत पाक्षिकाऽऽदिषु विशेषेण प्रतिक्रमितव्यम् । यथा-'सूत्रार्थ-पौरुषी-प्रत्युपेक्षणादीनि प्रतिनियतकालकर्तव्यान्यनुष्ठानानीति' । अथवा-अतिचाराऽभावेऽपि युक्त पाक्षिकाऽऽदिषु विशेषप्रतिक्रमण,तृतीयवैद्यौषधक्रियातुल्यत्वात् । यथा किल-धनधान्यसमृद्धबहुजनसमाकुले विविधसौधराजीरमणीये प्रचुरभासुरमन्दिरशिखरविराजिते क्षितिप्रतिष्ठिते नगरे,शौर्यादिगुणरत्नभारस्य सदाऽलङ्घितनीतिवेलावलयस्याऽसाधारणगाम्भीर्यशालिनोऽपूर्वलावण्यभाज. पायोनिधेरिव जितशत्रो राज्ञो, मनोरथशताऽऽप्तो बहुविधोपयाचितविधिलब्धः सकलान्त.पुरकमलवनराजहंसिकाया इव धारिणीदेव्या आत्मज' स्वजीवितव्यादप्यतिप्रिय कुमार समस्ति स्म । तेन च राज्ञा, मा मम पुत्रस्य कश्चनाऽपि रोगो भविष्यति, ततोऽनागतमेव केनाऽपि भिषजा क्रियां कारयामीति विचिन्त्य वैद्या. शब्दिता', भणिताश्च 'मम पुत्रस्य तथा क्रियां कुरुत यथा न कदाचनाऽपि रोगसम्भवो भवति' तैरप्युक्तम्-कुर्म. । ततो राज्ञाऽभिहित कथयत तर्हि,कस्य कीदृशी क्रियेति ?। तत्रैकेनाऽभिहितम्-मदीयौषधानि यद्यत्र रोगो भवति, ततस्तमाशु शमयन्ति । अथ नास्ति, ततस्त प्राणिनमकाण्ड एव मारयन्ति । ततो राज्ञोक्तमलमेतैरौषधै स्वहस्तोदरप्रमर्द्दनशूलव्यथोत्थापनन्यायतुल्यैः । द्वितीयेनोक्तम्-यद्यस्ति रोग. ततस्तमुपशमयन्ति । अथ नास्ति तत. प्रयुक्तानि प्राणिनो न दोष, नाऽपि कञ्चन गुण कुर्वन्तीति । राज्ञा चोक्तम्-एतैरपि भस्माऽऽहुतिकल्पै पर्याप्तम् । तृतीयेन च गदितम्-मदीयौषधानि यदि रोगे सति प्रयुज्यन्ते तदा त रोग निर्मूलकाष कषन्ति । अथ न विद्यते रोगस्तथाऽपि तस्य देहिनस्तानि प्रयुक्तानि बलवर्णरूप--यौवन- लावण्यतया परिणमन्ति । अनागतव्याधिप्रतिबन्धाय च जायन्ते । एव चोपश्रुत्य राज्ञा तृतीयभिषजा स्वपुत्रस्य क्रिया कारिता । जातश्च व्यङ्ग-वली-पलित-खलीत्यादिदोषवर्जितो निरामयकमनीयमूर्ति प्रकृष्टबुद्धिबलशाली नवनीरदोदारस्वरश्चेति । एवमिदमपि प्रतिक्रमण यद्यतिचारदोषा. सन्ति तत तान् शोधयति, यदि न सन्ति तनश्चारित्र शुद्धतर करोतीति । तत. स्थितमिदमतिचारो भवतु वा, मा वा, तथाऽपि प्रथमचरमतीर्थङ्करतीर्थेषु पक्षान्तादिषु प्रतिक्रमण कर्तव्यमेवेति ।

(२१) आवश्यक-पाक्षिकचूर्ण्यभिप्रायेण पाक्षिकादिप्रतिक्रमणविधि. ।

केन पुनर्विधिनेति चेत् ?। उच्यते-" इह किर साहुणो कयसयलवेयालियकरणिज्जा सूरत्थमणवेलाए सामाइयाइसु त कड्ढित्ता दिवसाइयाराचिंतणत्थ काउस्सग्ग करेंति । तत्थ य गोसमुहणतगाइय अहिगयचेट्ठा काउस्सग्गपज्जवसाण दिवसाइयार चिंतिन । तओ णमोक्कारेण पारित्ता चउवीसत्थय पढति । तओ संडासगे पडिलेहित्ता उक्कुडुयनिविट्ठा ससीसोवरियकाय पमज्जति । तओ परेण विणएण तिगरणविसुद्ध किइकम्म करेंति । एव वदित्ता उत्थाय उभयकरगहियरओहरणा अद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे जहा रायणियाए सजयभासाए जहा गुरू सुणति तहा पवड्ढमाणसवेगा मायामयविमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयति । जइ नत्थि अइयारो ताहे सीसेण सदिसह त्ति भणिए गुरूहिं पडिक्कमह त्ति भणिये, अह अइयारो तो पायच्छित्त पुरिमड्ढाइ दिति । तओ गुरुदिण्णपडिवण्णपायच्छित्ता विहिणा निसिइत्ता समभावट्ठिया सम्ममुवउत्ता अणवत्थपसगभीया पए पए सवेगमावज्जमाणा इसमसगाइ देहे अगणेमाणा पय पएण सामाइयमाइय पडिक्कमणसुत्त कड्ढति । जाव तस्स धम्मस्स त्ति पइ, तओ वड्ढिया अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए इच्चाइय जाव

'वंदामि जिणे चउव्वीसं' ति भणित्ता गुरू णिविसति। तओ साहू वंदित्ता *भणति-इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओ मि अ-ब्भिंतरपक्खिअं खामेउं। गुरू भणइ-अहमवि खामेमि तुब्भे-त्ति। ताहे साहू भणंति-"पन्नरसण्ह दिवसाण, पन्नरसण्ह रा-ईण ज किंचि अपत्तिय परपत्तिय" इत्यादि। एवं जइ एगा तिथि वा, पंच वा, चाउम्मासिए संवच्छरिए य सत्त, उ-क्कोसेण तिसु वि ठाणेसु सव्वे खामिज्जंति। एय संबुद्धाखा-मणं राइणियस्स भणियं। एत्थ कणिट्ठेण जेट्ठो खामेयव्वो त्ति वुत्त भवइ। तओ कयकिइकम्मा उट्ठिया पत्तेयखामणं करेंति। तत्थ य इमो विही-गुरू अन्नो वा जो गच्छमज्झे जे-ट्ठो पढममुट्ठेऊण उट्ठिओ चेव कणिट्ठं भणइ-अमुगनामधेया! अब्भिंतरपक्खियं खामेमो पन्नरसण्ह दिवसाण, पन्नरसण्ह राईण" इत्यादि। "इमो वि भूमिनिहियजाणुसिरो कयजली भणइ-भगवं! अहमवि खामेमि तुब्भे पन्नरसण्ह" इत्यादि। सीसो पुच्छइ-किं गुरू उट्ठेत्ता खामेइ?।"उच्यते-"सव्वजइज्जा-णावणत्थ जहा एस महप्पा मोत्तुमहंकारं जहा दव्वओ अब्भुट्ठि-ओ खामेइ,एव भावओ वि समुट्ठिओ खामेइ त्ति। किं च-जे गुरू-समीवाओ अन्नाइएहिं उत्तमतरा,मा ते चिंतिज्जा-'एस नीयतरो, अम्हे उत्तम त्ति काउं पणयसिरो खामेइ त्ति। एवं सेसा वि अहारायणियाए खामेंति० जाव दुचरिमो चरिमं ति। ताहे सव्वे कयकिइकम्मा भणंति-"देवसियं आलोएउं पडिक्कंता पक्खियं पडिक्कमामो?। गुरू भणइ-सम्म पडिक्कमह।" इति पा-क्षिकचूर्ण्यभिप्रायः। आवश्यकाभिप्रायस्तु-" गुरू उट्ठेऊण अहारायणियाए उट्ठिओ चेव खामेइ। इयरे वि अहाराय-णियाए सव्वे वि अवणयउत्तमगा भणंति-"देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं खामेमो पन्नरसण्हं दिवसाण" इत्यादि। एवं से-सा वि अहारायणियाए खामेंति, पच्छा वंदित्ता भणंति-दे-वसियं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह त्ति। तओ गुरू, गुरुसं-दिट्ठो वा पक्खियं पडिक्कमणं कड्ढइ। सेसगा जहासत्तिं काउस्सग्गाइसंठिया धम्मज्झाणोवगया सुणंति।"

तदेद सूत्रम्-

तित्थंकरे य तित्थे, अतित्थसिद्धे य तित्थसिद्धे य।
सिद्धे जिणे रिसी मह-रिसी य नाणं च वंदामि॥१॥पा०।

( २२ ) पाक्षिकं चतुर्दश्यामेव-

तत्रापि पाक्षिकं च चतुर्दश्यामेव, यदि पुनः पञ्चदश्यां स्या-त्तदा चतुर्दश्यां पाक्षिके चोपवासस्योक्तत्वात् पाक्षिकमपि षष्ठेन स्यात्। तथा च-"अट्ठम-छट्ठ-चउत्थ,संवच्छरचाउमासप-क्खेसु।" इत्याद्यागमविरोधः। तथा यत्र चतुर्दशी गृहीता न तत्र पाक्षिकं,यत्र च पाक्षिकं न तत्र चतुर्दशी। तथाहि-"अट्ठमी-चउद्दसीसु उववासकरणं।" इति पाक्षिकचूर्णौ। तथा-"सा-गरचंदो कमलामेला वि सामिसगासे धम्मं सोऊण गहिआऽ-णुव्वयाणि सावगाणि संवुत्ताणि, तओ सागरचंदो अट्ठमि-च-उद्दसीसु सुण्णघरेसु मसाणेसु एगराइअं पडिमं ठाइ त्ति सो अट्ठमि-चउद्दसीसु उववासं करेइ" इति। "अट्ठमिचउद्दसीसु अरहंता साहुणो अ वंदेअव्वा।" इति चाऽऽवश्यकचूर्णौ। तथा-"सते बरवीरिअपुरिसक्कारपरक्कमे अट्ठमि चउद्दसी णाण-पंचमी-पज्जोसवणा-चाउम्मासिए चउत्थछट्ठऽट्ठमे न करि-ज्जा, पच्छित्तं।' इति श्रीमहानिशीथे प्रथमेऽध्ययने।

इति पाक्षिककृत्योपलक्षितचतुर्दशीशब्दप्रतिपादकाक्षराणि। तथा-" चउत्थछट्ठऽट्ठमकरणे अट्ठमिपक्खचउमासवरिसेसु" इति व्यवहारभाष्यषष्ठोद्देशके च। तथा-" पक्खस्स अट्ठमी खलु, मासस्स य पक्खियं मुणेअव्वं।" इत्या-दिव्याख्यायां वृत्तौ चूर्णौ च पाक्षिकशब्देन चतुर्दश्येव व्याख्याता,ततश्चतुर्दशीपाक्षिकयोरैक्यमिति निश्चीयते,अन्यथा तु क्वचिदुभयोपादानमपि स्यादेव। चातुर्मासिकसांवत्सरिके तु पूर्वं पूर्णिमापञ्चम्योः क्रियमाणे अपि श्रीकालिकाऽऽचार्या-ऽऽचरणतश्चतुर्दशीचतुर्थ्योः क्रियेते। प्रामाणिकं चैतत्,सर्वसम्म-तत्वात्। उक्तं च कल्पभाष्ये-" असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केणई असावज्जं। न निवारिअमन्नेहिं, बहुजणमयमेयमायरि-अं॥१॥" इति। तथा ध्रुवाध्रुवभेदाद् द्विधा प्रतिक्रमणम्। तत्र ध्रुवं भरतैरवतेषु प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थेषु,अपराधो भवतु मा वा,परमुभयकालं प्रतिक्रमणं कर्तव्यम्। अध्रुवं मध्यमतीर्थ-करतीर्थेषु विदेहेषु च कारणे जाते प्रतिक्रमणम्। य दाह-"स-पडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। म-ज्झिमगाण जिणाणं,कारणजाए पडिक्कमणं॥१॥" ध०२अधि०। सम्प्रति तृतीयमधिकारं पाक्षिकविचारणलक्षणं गाथात्रयेणाऽऽह-

पक्खपडिक्कमणकए, विवयंती केइ णेय जाणंति।
णियधम्मधणं अम्हे, हारामो उन्नयट्ठा जेण॥१॥
सत्थभणियं पि जं नो, आयरियं पुव्वसूरिपवरेहिं।
तं नो जुज्जइ काउं, अणवत्था जेण तक्करणे॥२॥
जं पि ण हु पुव्वसूरी-हिँ णिच्छियं तं पि धम्मनिरयाण।
न हु णिच्छउं जुज्जइ, छउमत्थाणं विसेसेण॥३॥

पक्षप्रतिक्रमणकृते परस्पर विवदन्ते। तथाहि-केचित् पाक्षि-कातिचारप्रतिक्रमणं पञ्चदश्यां विधीयते, अन्ये तु चतु-र्दश्याम्, उभयेषामपि सुमतं, सूत्रोक्तत्वात्। केऽपि न सर्वे,नैव न च जानन्ति बुध्यन्ते निजधर्मधनं स्वकृत्यवित्तम् ( अम्हे त्ति ) वयं हारयाम तद्वृथा करणतः स्फोटयामः, उभय-था पञ्चदश्यपरिग्रहेण चतुर्दशीग्रहणेन च। येन यस्मात् का-रणात् शास्त्रभणितमपि, आस्तामभणितमित्यपिशब्दार्थः। शय-निकगणाऽऽदिकं यत्(नो) नैवाऽऽचरितं सेवित पूर्वसूरिभिश्चि-रन्तनाऽऽचार्यैस्तत्प्रतिक्रमणाऽऽदिकं (नो) नैव कर्तुं युज्यते, ता-दृशकरणे तु अनवस्था अप्रतिष्ठा,एतदन्यदन्यथा करिष्यतीत्येव-रूपा, येन यस्मात्तत्करणे पूर्वाऽऽचार्यानासेवितविधाने, भव-तीति क्रियाऽध्याहारो दृश्यः। यदपि (न हु) नैव पूर्वसूरिभिर्बहु-श्रुतचिरन्तनाऽऽचार्यैर्निश्चितं तदपि न केवलं स्वयमनिश्चितं न निश्चीयते इत्यपेरर्थः। धर्मनिरतानां प्रधानोपशमामृतरस-लम्पटानां (न हु) नैव निश्चेतुमवधारयितुं युज्यते, छद्मस्थानाम-तीन्द्रियज्ञानवर्जितानां, विशेषेणाऽऽदरेण। तथाहि-पञ्चदश्यां पाक्षिकं चतुर्दश्यां वा पाक्षिकमिति निर्धार्य नोक्तम्, पाक्षिकं तु प्रोक्तं सामान्येन तत्र दशाश्रुतस्कन्धे तावदित्थम्-"पक्खियपो-सहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं इमाइं दस चित्तस-माहिठाणाइं असमुप्पन्नपुव्वाइं समुप्पज्जेज्जा।" इद सूत्रम्। चूर्णिरस्य-" पक्खे भवं पक्खियं, पक्खिए पोसहो पक्खिय-पोसहो चाउद्दसिअट्ठमीसु वा। "समाहिपत्ताण त्ति" नाणे दंस-णे चरित्ते समाहिपत्ताणं ति नाणे वट्टमाणाणं झियायमा-णाणं इमाइं दस चित्तसमाहिट्ठाणाणि असमुप्पन्नपुव्वाणि स-

* क्वचित् पुस्तकेऽधिकः पाठः, स च ग्रन्थेऽवलोक्य,।

मुपव्वजेज्जा । " अत्र पाक्षिक भिन्नम्, चतुर्दशी अष्टमी च भिन्ने, इति केचिद् व्याचक्षते । पोषधशब्देन चतुर्दश्यष्टम्योः सम्बन्धकरणात् " चाउद्दसिअट्ठमीसु वा पोसहो " इत्येवं व्याख्याने पञ्चदश्यां पाक्षिकम् । अत्र तु पाक्षिकशब्देन सम्बन्धकरणात् चतुर्दश्यष्टम्योः " चाउद्दसि अट्ठमीसु वा पक्खियपोसहो " इति पाक्षिकं चतुर्दशीं कथयति । परमत्र मते चतुर्दशीग्रहण निरर्थक भवति, पाक्षिकशब्देनैव चतुर्दश्या ग्रहणात् " अट्ठमीए वा " इत्येतदेव भणितव्य स्यात् । पूर्वव्याख्याने तु पौषधप्रस्तावाच्चतुर्दश्यष्टमीपौषधमपि प्रतिपादितमित्यनिन्द्यम्, व्यवहारैर्वैद भणितम् । कारणेनाऽऽचार्य. पृथगेकाकी एकरात्रादिक वसतीत्येतस्मिन् प्रस्तावे—

" विज्जाण परिवाडी, पव्वे पव्वे य देंति आयरिया ।
मासद्धमासियाण, पव्व पुण होइ मज्झ तु ॥ १ ॥ "

पक्खा पव्वस्स वि मज्झ गाहा–

" पक्खस्स अट्ठमी खलु, मासस्स य पक्खिय मुणेयव्वं ।
अन्न पि होइ पव्व, उवरागो चंदसूराण ॥ १ ॥ "

पक्खपव्वस्स मज्झ- अट्ठमीबहुलाइया मास त्ति काउ मासस्स मज्झ पक्खिय किण्हचउद्दसीए विज्जासाहणोवयारो । "

आह--यद्येवम्–"एगरायगहण कायव्व दुराय तिराय वेति न वत्तव्व" अत उच्यते गाहा–"चाउद्दसिग्गहो हो--इ कोइ अहवा वि सोलसिग्गहण । वत्त तु अणज्जते,होइ दुराय तिराय वा ।१।" इय गाथा व्याख्यानार्हा, पर न व्याख्याता, कण्ठेत्युक्तम् । सर्वस्याप्येतस्य किञ्चिद्व्याख्यानस्याऽपि पूज्यै. कथितार्थः कथ्यते--विद्यानां देवताऽऽद्यधिष्ठितमन्त्राणां परिपाटिं परावर्तनं पर्वणि पर्वणि वक्ष्यमाणलक्षणे,चकारोऽवधारणे, स च व्यवहितो योज्य. ददत्येव, अनेकार्थत्वाद्धातूनां कुर्वन्ति, आचार्याः सूरय । पर्वस्वरूपमाह–मासार्द्धमासिकयो. पर्व पुनर्भवति मध्य वक्ष्यमाणम् । तुः पूरणे । तदेवाऽऽह–पक्षस्य प्रतीतस्य, अष्टमी तिथिलक्षणा, खलुरवधारणे सा च जिनगता । मासस्य पुन. प्रतीतस्य पाक्षिकमनिश्चितरूपम् यदि पुनरत्र चतुर्दशी पञ्चदशी वा भणिष्यते ततो निश्चित. स्यात् । यत्तूक्त चूर्णिकृता पाक्षिकव्याख्यान कुर्वता–"मासस्स मज्झ पक्खिय किण्हपक्खस्स चउद्दसीए विज्जसाहणोवयारो" तन्न सम्यग् नाऽवगम्यते । तथाहि–यदि कृष्णचतुर्दशी परिपाटी पाक्षिकमित्युच्यते ततो "विज्जासाहणोवयारो" अत्र उपचारशब्दो नावबुध्यते । न हि उपचारशब्देन परिपाटिर्भण्यते स्वसमयवादिभिः । किं चैव व्याख्याने शुक्लचतुर्दशीपाक्षिकशब्दव्याख्यान न स्यात्, भण्यते च तन्मते शुक्लचतुर्दश्यपि पाक्षिकम् । पूज्यास्तु वदन्ति-उपचारशब्देन पूर्वसेवाऽत्र भण्यते, ततः कृष्णचतुर्दश्यां पूर्वसेवा नूतनमन्त्रग्रहणजपलक्षणा क्रियते । पाक्षिके च पञ्चदशीलक्षणे परिपाटि' परावर्तन विधीयते,इत्थ व्याख्याने पौर्णमास्यपि पाक्षिक भवति,परिपाटीव पठने शुक्लचतुर्दश्यां तु पूर्वसेवा न क्रियते इति सर्वजनप्रतीनम् । कृष्णचतुर्दश्या चारुस्फुरो मन्त्रो भवत्यतस्तत्र पूर्वसेवा न क्रियते इति द्विरात्रसाधकगाथाया अपि पूज्यव्याख्यान चतुर्दश्यां कृष्णायां ग्रहोऽभिनवविद्याग्रहणाऽऽदिरूपो भवति जायते कोऽप्यनिर्दिष्टनामा,अथवा,अपीति विकल्पार्थः। षोडश्यां प्रतीतायां,ग्रहण भूयोऽपि रागलक्षण भवतीति सम्बध्यते । व्यक्त स्पष्ट, पञ्चदश्यां षोडश्यां वा ग्रहण जातमित्यज्ञायमानेऽनवबुध्यमाने द्विरात्रं त्रिरात्र वा भवति वसितव्यमाचार्यस्य । इत्थमभिप्राय - यदि कृष्णचतुर्दश्यां ततो ग्रहण न कृत भवति, तत पञ्चदशीषोडशीरूपं दिनद्वयम्, कृते तु ग्रहणे कृष्णचतुर्दशीसहित तदेव त्रयमज्ञात भवति । ज्ञाते तु यदि कृष्णचतुर्दश्यां ग्रहण पूर्वसेवालक्षण ततो दिनद्वय, कृते त्वेकमेवेत्यादि ग्रहणे तु ज्ञाते एक दिनमज्ञाते तु दिनद्वयम् । न हि शुक्लचतुर्दश्यां पूर्वसेवा भवति । ये तु चतुर्दश्यां पाक्षिक वदन्ति ते चन्द्रग्रहणदिनद्वय पौर्णिमाप्रतिपल्लक्षणमज्ञाते त्वेकमेव, शुक्लपक्षे परिवर्तन नेत्युभयोरपि मतत्वात् । आदित्यग्रहणे च ज्ञाते दिनद्वयमज्ञाते तु दिनत्रय भवति । किं च-यन्मते चतुर्दशीपाक्षिक तन्मते चतुर्दशीग्रहण " चाउद्दसिग्गहो होइ कोइ " इत्यत्र तन्निरर्थक स्यात्, चतुर्दश्या व्यवस्थितत्वात् किं न ग्रहणेन । अन्यच्च प्रज्ञा मत्रार्थं वदन्ति -यदा सांवत्सरिक पञ्चम्यामासीत् तदा पाक्षिकानि पञ्चदश्यां सर्वाण्यऽभूवन् । यत.-"इय सत्तरी जहन्ना" इत्येतत् पदमित्थं घटते । तथाहि-भाद्रपददिनानि दश, अश्वयुक्कार्तिकमासदिनषष्टिश्च, मीलिते च सप्ततिर्भवति । "अभिवड्ढियम्मि वीसा, इयरम्मि सवीसओ मासो ।" एतदपि युज्यते, यतः श्रावण. परिपूर्ण ,भाद्रपददिनानि च विंशतिर्मीलिते च पञ्चाशत् । एवमनभिवर्द्धिते, अभिवर्द्धिते तु विंशतिरेव श्रावणदिनरहिता । साम्प्रत चतुर्थ्यां पर्युषणा, ततश्चतुर्दश्यां पाक्षिकानि घटन्ते । यतो भाद्रपददिनान्येकादश, अश्वयुग्दिनानि त्रिंशत्, कार्तिकदिनान्येकोनत्रिंशत्, सर्वेषां मीलने सप्ततिः, सविंशतिमासश्च । एकमाषाढदिनं, श्रावणदिनानि त्रिंशत्,भाद्रस्य त्वेकोनत्रिंशत्,मीलिते च सविंशतिमासे भवति विंशतिश्च तथैव,परमेकदिन आषाढमासान्त्यक्षपणीयमिति । यच्चोच्यते एवं सति षष्ठं स्यात् पाक्षिके,भवतु मासस्तर्हि पाक्षिकषष्ठेन क्रियते इत्यस्माभिरुच्यते, किं तु चतुर्थेन, चतुर्दश्युपवासश्च पर्वणितपो विधानमते तन्न लगत्येतदप्यनिन्द्यम् । तथा–"दिवसो पोसहो पक्खो वइक्कंतो" इत्यादिपाक्षिकक्षामणकस्य चूर्ण्यां स्पष्टतरं व्याख्यानमिदम्–पौषधोऽष्टमीचतुर्दश्युपवासकरणम् । पौषधं तु प्रतीतमिति व्याख्यान्तरं स्यादपि व्याख्याने न चतुर्दशीव्यवस्थितमिति यदि चात्रापि,किं क्रियते तथा च तत्रोक्तम्-"पोसहो त्ति"अट्ठमिचउद्दसीसु तवउववासकरणं,सेसं कंठमिति । यदि तत्रापि किञ्चिद्व्याख्यान्तरं क्रियते तत. संदेहोऽपि स्यात् परतन्त्रमध्ये स्वाभितरसतृप्तानां न मनांसि प्रीणयति । एवमन्यशास्त्रान्तरोक्तं मध्यस्थैर्भूत्वा विचारणीयम् । तत्त्वं तु सर्वज्ञा विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्ति । श्रावकापेक्षया तु पञ्चदश्यपि विशेषेणोक्ता । तथा चाऽऽवश्यकचूर्णौ–"सव्वेसु कालपव्वेसु, विसिट्ठो जिणमए तवो जोगो । अट्ठमिपण्णरसीसुं, णियमेण हवेज्ज पोसहिओ ॥१॥ " सामान्यतस्तु तेषामपि भगवत्यादाविदमुक्तम्--" चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासीसु णं पडिपुण्णं पोसहं समणुपालेमाणे त्ति । " इति सप्रपञ्चभावनायुक्तगाथाऽर्थः ।

यद्येवं तत' किमित्याह–

तम्हा रे जीव ! तुमं, मन्नसु धम्मत्थमप्पणो एवं ।
तं कुण जं आयरियं, जस्सट्ठे तस्स सद्दहणं ॥४॥

तस्मात्कारणाद्रे जीव ! इत्यामन्त्रणे । त्वं भवान् मन्यस्व जानीहि धर्मार्थं क्षान्त्यादिनिमित्तमात्मनो जीवस्य एवं वक्ष्यमाणन्यायेन तत् कुरु विधेहि, यत् पाक्षिकयादि आचरितमासेवितं पूर्वाऽऽचार्यैरितिगम्यते । यत् शास्त्रे सिद्धान्ते तस्य शास्त्रोक्तार्थस्य श्रद्धानमेतदिति । अयमभिप्राय.–शास्त्रोक्तं निश्चितमपि यन्नासेवितं पूर्वपुरुषैः केनाचित् कारणेन

तदन्यथा न क्रियते, तदाचरणाभावात्: कृतं तु क्रियते । यथा बहुगुणं भवति तथा त एव जानते इति गाथार्थः । समर्थितस्तृतीयः पाक्षिकविचारणलक्षणोऽधिकारः । जीवा० ३ अधि० ।

जं य इमं गुणरयण—सायरमविराहिऊण तिस्संसारा ।
ते मंगलं करित्ता, अहमवि आराहणाभिमुहो ॥२॥

(जे य इमं इति) ये महामुनयः,चशब्दो मङ्गलान्तरसमुच्चयार्थः। इमं जैनशासनप्रसिद्धं (गुणरयणसायरं ति) गुणा महाव्रताऽऽदयस्त एव रत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात्सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि तान्येव बहुत्वात्सागर इव सागरः समुद्रो गुणरत्नसागरः,तम्। किमित्याह-अविराध्य अखण्डमनुपाल्य, तीर्णसंसारा लङ्घितभवोदधयो जातास्तान् परमात्मनो मङ्गलं कृत्वा,शुभमनोवाक्कायगोचरं समानीयेत्यर्थः। अहमपि,न केवलमुक्तन्यायेनाऽऽराधकत्वात् ते तीर्णभवार्णवाः, किं त्वहमपि संसारार्णवलङ्घनार्थमेवाऽऽराधनायाः संपूर्णमोक्षमार्गानुपालनाया अभिमुखः संमुखः, कृतोद्यम इत्यर्थः, आराधनाऽभिमुखः संजात इति ॥ २ ॥

तथा-

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुयं च धम्मो य ।
खंती गुत्ती मुत्ती, अज्जवया मद्दवं चेव ॥३॥

( मम इति ) मम मे, मङ्गलं श्रेयः कल्याणमिति यावत् । के पुनः ? इत्याह-( अरिहंत त्ति ) अशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थनायकाः । तथा-(सिद्ध त्ति ) सितं बद्धं कर्म ध्मातं येषां ते सिद्धाः, शुक्लध्यानानलनिर्दग्धकर्मेन्धना मुक्तिपदभाजो जीवाः । तथा-(साहु त्ति) निर्वाणसाधकान् योगान् साधयन्तीति साधवो मुनयस्तद्ग्रहणाच्चाऽऽचार्योपाध्याया अपि गृहीता एव द्रष्टव्याः । यतो न हि ते न साधवः । तथा-( सुयं च त्ति ) श्रूयत इति श्रुतम्, सामायिकाऽऽद्यागमः । चशब्दस्तद्गतभेदप्रदर्शनार्थः । तथा-(धम्मो य त्ति) धारयति दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानमिति धर्मश्चारित्रलक्षणः , चशब्दः स्वभेदप्रदर्शकः । तथा-क्षान्तिः क्रोधपरित्यागः, गुप्तिः संलीनता, मुक्तिर्निर्लोभता । क्वापि " अहिंसा खंती मुत्ती " इति पाठः, स च सुगम एव । आर्जवता मायावर्जनं, मार्दवं मानत्यागः,चः समुच्चये,एवशब्दः पूरणे, अनेनापि गाथाद्वयेन मङ्गलमुक्तम्, तत्प्रयोजनं च प्राग्वत् । न चात्र स्तोतव्यपदानां पौनरुक्त्यचिन्ता कार्या, स्तुतिषु पुनरुक्तदोषानभ्युपगमात् । आह च-"सज्झायज्झाणतवो-सहेसु उवएसथुइपयाणेसु । संतगुणकित्तणासु य, न होंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ २ ॥ "

तथाऽऽराधनाङ्गभूतामेव महाव्रतोच्चारणां कर्तुकाम इदमाह-

लोगम्मि संजया जं, करेंति परमरिसिदेसियमुयारं ।
अहमवि उवट्ठिओ तं, महव्वयउच्चारणं काउं ॥४॥

लोके तिर्यग्लोकलक्षणे, सम्यग्यताः संयताः साधवः, यां महाव्रतोच्चारणां प्रायः शुभभावार्थं विदधति....दिषु, कुर्वन्ति विदधति किंविशिष्टां महाव्रतोच्चारणाम् ? इत्याह-परमर्षिभिस्तीर्थकरगणधरादिभिर्देशिता दर्शिता परमर्षिदेशिता तां पुनः कथंभूताम् ?-उदारां विशिष्टकर्मक्षयकारणत्वात्प्रधानाम्, अत एव चाऽऽदावियमेव प्रतिज्ञाता.अन्यथा श्रुतकीर्त्तनाऽऽदेरप्यत्र करिष्यमाणत्वात् अहमपि न केवलमन्ये साधव इत्यपिशब्दार्थः । उपस्थितः प्रह्वीभूतोऽभ्युद्यत इति यावत् । तां पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टां महान्ति बृहन्ति तानि च तानि व्रतानि च नियमा महाव्रतानि, महत्त्वं चैतेषां सर्वजीवाऽऽदिविषयेन महाविषयत्वात् । उक्तं च-' पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं । सेसा महव्वया खलु, तदेकदेसेण दव्वाणं" ॥ १ ॥ इति (तदेक्कदेसेणं ति ) तेषां द्रव्याणामेकदेशेनेत्यर्थः । तथा यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेनेति प्रत्याख्यानरूपत्वाच्च तेषामिति, देशविरतापेक्षया महतो वा गुणिनो व्रतानि महाव्रतानीति, तेषामुच्चारणा समुत्कीर्तना महाव्रतोच्चारणा महद्व्रतोच्चारणा वा, तां कर्तुं विधातुमिति।

(२३) महाव्रतोच्चारणा-

तत्रेदमादिसूत्रम्-

से किं तं महव्वयउच्चारणा ?। महव्वयउच्चारणा पंचविहा पन्नत्ता राईभोयणविरमणछट्ठा ॥ ५ ॥

अथास्य सूत्रस्य कः प्रस्ताव इत्युच्यते प्रश्नसूत्रमिदं, एतत्त्वादावुपन्यस्यन्निदं ज्ञापयति, पृच्छतो मध्यस्थस्य बुद्धिमतोऽर्थिनो विनेयस्य भगवदर्हदुपदिष्टतत्त्वप्ररूपणा कार्या नान्यस्य । तथा चोक्तम्-" मध्यस्थो बुद्धिमानर्थी, श्रोता पात्रमिति स्मृतः।"इति । पात्रं योग्योऽर्होऽधिकारी चोच्यते, तस्मा इदमध्ययनं देयमिति । आह-शुभाध्ययनप्रदानाधिकारे समभावव्यवस्थितानां सर्वत्र सत्त्वहिताय चोद्यतानां महापुरुषाणां किं योग्यायोग्यविभागनिरीक्षणेन, न हि परहितार्थिनः महादानोद्यता महीयांसोऽर्थिगुणमपेक्ष्य दानक्रियायां प्रवर्तन्ते दयालव इति।अत्रोच्यते-ननु यत एव शुभाध्ययनप्रदानाधिकारे समभावव्यवस्थिताः सर्वसत्त्वहितोद्यताः महापुरुषाश्च गुरवोऽत एव योग्यायोग्यविभागनिरीक्षणं न्याय्यं, मा भूदयोग्यप्रदाने तत्सम्यग्नियोगाजमार्थिजनाऽनर्थ इति । न खलु तत्त्वतोऽनुचितप्रदानेन दुःखहेतुना विवेकिनमर्थिजनमनुयोजयन्तोऽप्यनवगतपरार्थसंपादनोपायाः पुरुषा भवन्ति दयालव इत्यवधेय मिथ्याभिमानमालोच्यतामेतदिति । आह-कस्तयोग्यप्रदाने दोष इति । उच्यते-स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमनेकभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपीदमयोग्यत्वाद्-वाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्यासावापादयति, ततो विधिसमासेवक इव कल्याणम् अविधिसमासेवको महदकल्याणमासादयतीति । उक्तं च-

' आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ ।
इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥ "

ततोऽयोग्यश्रुतप्रदाने दातृकृतमेव वस्तुतस्तस्य तदकल्याणमित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः -तत्र ' से ' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातोऽथशब्दार्थे द्रष्टव्य , स च वाक्योपन्यासार्थः , किमिति परप्रश्ने । ततश्चायं वाक्यार्थः-अथ किं तदस्तु महाव्रतोच्चारणा,प्राकृतशैल्या अभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायादेवं द्रष्टव्यम् । अथ का ... महाव्रतो-च्चारणेति ?, एवं सामान्येन केनचित्... न गुरु ... शिष्यवचनानुरोधेन ...

च्चार्योऽऽह-महाव्रतोच्चारणाऽभिहितस्वरूपा पञ्चविधा प- ञ्चप्रकारैव प्रज्ञप्ता प्ररूपिता, न चतुर्विधा, प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थयोः पञ्चानामेव महाव्रतानां भावात्। यदाह- " पंच जमा पढमंतिम-जिणाण सेसाण चत्तारि। " इति । अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतदाह-न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं, किं तर्हि ?। किञ्चिदेव, बाहुल्येन तु तद्‌दृब्धमेव । तथा चोक्तम्-" अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं। " इति। ततश्च यदा तीर्थकरगणधरा एव प्रज्ञप्तेत्येवमाहुस्तदाऽयमर्थोऽवसेयोऽन्यैरपि तीर्थङ्करगणधरैः प्ररूपितेति । यदा पुनरन्यः कश्चिदाचार्यस्तन्मतानुसारी प्रज्ञप्तेति प्राह-तदा तीर्थङ्करगणधरैरेव देशितेत्ययमर्थो द्रष्टव्यः। किं विशिष्टा सा ?, इत्याह-रात्रिभोजनविरमणं निशि जेमनवर्जनं षष्ठं यस्यां सा रात्रिभोजनविरमणषष्ठा ।

अथ रात्रिभोजनविरमणषष्ठं पञ्चविधत्वमुपदर्शयन्नाह-

**तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ३, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५, सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ६।**

तद्‌यथेत्युपदर्शनार्थं । सर्वस्मान्निरवशेषात्त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरभेदभिन्नात्कृतकारितानुमतिभेदाच्चेत्यर्थं । अथवा-द्रव्यतः षड्जीवनिकायविषयात्, क्षेत्रतस्त्रिलोकसम्भवात्, कालतोऽतीताऽऽदे रात्र्यादिप्रभवाद्वा, भावतो रागद्वेषसमुत्थात् प्राणानामिन्द्रियोच्छ्वासाऽऽयुरादीनामतिपात प्राणिन सकाशाद्विभ्रंश प्राणातिपात , प्राणिप्राणवियोजनमित्यर्थं । तस्माद्विरमणं सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं निवर्तनमिति ॥ १ ॥ तथा-सर्वस्मात्सद्भावप्रतिषेध१ऽसद्भावोद्भावन२ऽर्थान्तरोक्ति३गर्हा४भेदात्कृताऽऽदिभेदाच्च, अथवा-द्रव्यतः सर्वधर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्यविषयात्, क्षेत्रतः सर्वलोकालोकगोचरात्, कालतोऽतीताऽऽदे रात्र्यादिवर्तिनो वा, भावतः कषायनोकषायाऽऽदिप्रभवात् मृषाऽलीकं वदनं वादो मृषावादस्तस्माद् विरमणं विरतिरिति ॥२॥ तथा- सर्वस्मात्कृताऽऽदिभेदाद्, अथवा-द्रव्यत सचेतनाचेतनद्रव्यविषयात्, क्षेत्रतो ग्रामनगरारण्याऽऽदिसम्भवात् कालतोऽतीताऽऽदे रात्र्यादिप्रभवाद्वा, भावतो रागद्वेषमोहसमुत्थात् अदत्त स्वामिनाऽवितीर्णं तस्याऽऽदानं ग्रहणमदत्ताऽऽदानं तस्माद्विरमणमिति ॥ ३ ॥ तथा-सर्वस्मात्कृतकारितानुमतिभेदात्, अथवा-द्रव्यतो दिव्यमानुषतैरश्चभेदात् रूपरूपसहगतभेदाद्वा, क्षेत्रतस्त्रैलोक्यसंभवात्, कालतोऽतीताऽऽदे रात्र्यादिसमुत्थाद्वा भावतो रागद्वेषप्रभवात्, मिथुनं स्त्रीपुंसद्वन्द्वं, तस्य कर्म मैथुनं, तस्माद्विरमणमिति ॥ ४ ॥ तथा-सर्वस्मात् कृताऽऽदे , अथवा-द्रव्यत सर्वद्रव्यविषयात् क्षेत्रतो लोकसंभवात्, कालतोऽतीताऽऽदे रात्र्यादिप्रभवाद्वा, भावतो रागद्वेषविषयात् परिगृह्यते आदीयते परिग्रहणं वा परिग्रहस्तस्माद्विरमणमिति ॥ ५ ॥ तथा-सर्वस्मात्कृताऽऽदिरूपाद्दिवा गृहीतं दिवा भुक्तम् १ दिवा गृहीतं रात्रौ भुक्तम् २ रात्रौ गृहीत दिवा भुक्तम् ३, रात्रौ गृहीतं रात्रौ भुक्तमिति ४ चतुर्भङ्गरूपाच्चेत्यर्थं । अथवा-द्रव्यतश्चतुर्विधाऽऽहारविषयात् क्षेत्रत. समयक्षेत्रगोचरात्कालतो रात्र्यादिसंभवात्, भावतो रागद्वेषप्रभवात् रात्रिभोजनात् रजनीजेमनाद्विरमणमिति ॥६॥ एवं सामान्येन व्रतषट्कमभिहितम् ।

अथ विशेषतस्तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह-

**तत्थ खलु पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणामि ।**

तत्र तेषु षट्सु व्रतेषु मध्ये, खलुशब्दादन्येषु च मध्यमतीर्थकरप्रणीतेषु चतुर्यामेषु, वाक्यालङ्कारार्थो वा खलुशब्द , प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादाद्ये, " भंते त्ति " गुरोरामन्त्रणम्। अस्य च साधारणश्रुतित्वाद्भदन्त !, भवान्त, भयान्त इति वा संस्कारो विधेय., तत्र भदन्त. कल्याण सुखश्चोच्यते, तद्रूपत्वात्तद्धेतुत्वाद्वेति, तथा-भवस्य संसारस्यान्तो विनाशस्तेनाऽऽचार्येण समाश्रितसत्त्वानां क्रियत इति भवान्तकरत्वात् भवान्त., तथा-भयमिहपरलोकादानाकस्मादश्लोकाजीविकामरणभेदात्सप्तधा वक्ष्यमाणलक्षणम्, एतस्य सप्तविधभयस्य यमाचार्यं प्राप्यान्तो भवति स भयान्त इति। एतच्च गुर्वामन्त्रणं गुरुसाक्षिकैव व्रतप्रतिपत्ति. साध्वीति ज्ञापनार्थं सर्वशुभानुष्ठानगुरुतन्त्रताप्रतिपादनार्थं चेति । महच्च तद् व्रतं च तस्मिन्महाव्रते, महत्त्वं चास्य श्रावकसंम्बन्ध्यणुव्रतापेक्षयेति । अत्रान्तरे सप्तचत्वारिंशदधिकप्रत्याख्यानभङ्गशताधिकारः, तच्चोपरिष्टाद्वक्ष्याम । प्राणा इन्द्रियाऽऽदयस्तेषामतिपातो विनाश. प्राणातिपातो जीवस्य महादु खोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव, तस्माद्विरमणं सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनम्। भगवतोक्तमितिशेष । यतश्चैवमत उपादेयमेतदिति विनिश्चित्य सर्वं निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव, भदन्तेति गुर्वामन्त्रण, प्रतिपदमनुवृत्तिज्ञापनार्थं च पुनरस्यापन्यास, प्राणातिपातं जीवितविनाशं, प्रत्याख्यामि परिवर्जयामीत्यर्थं । अथवा-प्रत्याचक्षे संवृताऽऽत्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्याऽऽदरेणाभिधानं करोमीत्यर्थ.। अनेन व्रतार्थपरिज्ञानाऽऽदिगुणयुक्तो व्रतार्ह इत्यावेदयति । उक्तं च-

" पढिए कहिय अहिगय, परिहर उवठावणाए कप्पो त्ति ।
छक्कं तिहिं विसुद्धं, परिहर नवएण भेएण ॥ १ ॥
पडपासाउरमाई, दिट्ठंता हुंति वयसमारुहणे ।
जह मलिणाइसु दोसा, सुद्धाइसु नेयमिहइं पि ॥ २ ॥ "

एयासिं लेसओ विवरणं पढियाए सत्थपरिण्णाए छज्जीवणियाए वा, तीए चेव कहियाए गुरुणा वक्खायाए, अहिगयाए अत्थओ परिन्नायाए, सम्मं परिहरंतो उवट्ठावणाए कप्पो जोग्गो, परिहारमेव वक्खाणेइ-(छक्क ति) छज्जीवनिकाए, तिहिं मणवयकाएहिं, विसुद्धं परिहरइ नवएण भेएण पत्तेयं मणाइकयकारियाणुमइसरूवेण, सम्मं च परिक्खिऊण उवट्ठाविज्जइ नऽण्णहा, इमे य इत्थ दिट्ठंता। मइलो पडो न रंगिज्जइ, सोधिओ चेव रंगिज्जइ। असोहिए मूलपाए पासाओ न कीरइ, सोहिए चेव कीरइ। वमणाईहिं असोहिए आउरे ओसहं न दिज्जइ, सोहिए चेव दिज्जइ।

आइसद्दाओ असंठविए रयणे पडिवंधो न किज्जइ, संठविए चेव किज्जइ । एवं पढियकहियाइएहिं असोहिए सीसे न वयावरोवणं किज्जइ, सोहिए चेव किज्जइ । असोहिए य करणे गुरुणो दोसो,सोहियापालणे सीसस्स दोसो।"इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतमुच्यते-तत्र यदुक्तं सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि तदेतद्विशेषतोऽभिधित्सुराह-( से सुहुमं वेत्यादि ) 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धोऽथशब्दार्थः, स चोपन्यासे। तद्यथा-सूक्ष्मं वा वादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा । अत्र सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनासंभवात्, वादरोऽपि स्थूलो, वाशब्दौ परस्परापेक्षया समुच्चये,स चैकैको द्विधा-त्रसः, स्थावरश्च । तत्र सूक्ष्मस्त्रस कुन्थ्वादिः, स्थावरो वनस्पत्यादिः, वादरस्तु त्रसो गवादिः, स्थावरः पृथिव्यादिः । अत्रापि वाशब्दौ समुच्चये । एतान् पूर्वोक्तान् नैव स्वयमात्मना प्राणिनो जवान् (अइवाएज्ज त्ति)विभक्तिव्यत्ययादतिपातयामि विनाशयामि, मारयामीति यावत्, नैवान्यैरात्मव्यतिरिक्तजनैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान् परान्न समनुजानाम्यनुमोदयामि । पा० । ( विशेषतः प्राणातिपातस्वरूपं 'पाणाइवाय' शब्दे वक्ष्यते )

कथमित्याह-

**जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।**

( जावज्जीवाए इत्यादि ) " जावज्जीवाए त्ति " प्राकृतत्वाज्जीवनं जीवः प्राणधारणं यावज्जीवो यावज्जीवम्।"यावदियत्त्वे" ॥३।१।३१॥(सिद्धहै०) इत्यनेनाव्ययीभावसमासः। ततश्च यावज्जीवं प्राणधारणं यावत्।अथवा-अलाक्षणिकवर्णलोपाद्यावज्जीवं भावो यावज्जीवता, तया यावज्जीवतया आ प्राणोपरमादित्यर्थः। परतस्तु-न विधिर्नापि प्रतिषेधो,विधावाशंसादोषप्रसङ्गात्,प्रतिषेधे तु सुराऽऽदिषु अविरतेषूत्पन्नस्य भङ्गप्रसङ्गात्। किमित्याह-तिस्रो विधा यस्य, प्राणातिपातस्येति गम्यते । असौ त्रिविधस्तं त्रिविधेन, एतदेव दर्शयति-मनसाऽन्तः-करणेन,वाचा वचनेन,कायेन शरीरेण।अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणः प्राणातिपातः, तमपि वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैव दर्शयन्नाह-न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः,कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि नानुमन्येऽहमिति। अत्राऽऽह-किं पुन. कारणमुद्देशक्रममतिलङ्घ्य व्यत्ययेन निर्देशः कृतः ? इति । अत्रोच्यते-करणाऽऽयत्ता कृताऽऽदिरूपा क्रिया प्रवर्त्तेत इति दर्शनार्थम्।तथाहि-कृताऽऽदिरूपा क्रिया मनःप्रभृतिकरणवशा एव करणानां भावे क्रियाया अपि भावात् अभावे चाभावात्करणानामेव तथाक्रियारूपेण परिणतेरिति भावः । अपरस्त्वाह-न करोमि न कारयामि कुर्वन्तं न समनुजानामीत्येतावता ग्रन्थेन गतेऽपि अप्यन्यमित्यतिरिच्यते,तथा चातिरिक्तेन सूत्रेण नार्थ इति ?।अत्रोच्यते-साभिप्रायकमिदमनुक्तस्याप्यर्थस्य संग्रहार्थं, यस्मात्संभावनार्थोऽयमपिशब्द उभयपदमध्यस्थ एतदावेदयति-यथा कुर्वन्तं नानुजानामि, एवं कारयन्तमप्यन्यमनुज्ञापयन्तमप्यन्यं न समनुजानामीति तथा यथा वर्त्तमानकाले कुर्वन्तमन्यं न समनुजानामि, एवमपिशब्दादतीतकाले कृतवन्तमपि अनुज्ञापितवन्तमपि, एवमनागतकालेऽपीति, तथा न क्रियाक्रियावतोर्भेद एवातो न केवला क्रिया संभवतीति ख्यापनार्थमन्यग्रहणमिति । तथा तस्य त्रिकालभाविनोऽधिकृतप्राणातिपातस्य संबन्धिनमतीतमवयवं, न तु वर्त्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणत्वात् , भदन्तेति गुर्वामन्त्रणं प्राग्वत् , प्रतिक्रमामि मिथ्यादुष्कृतं तत्र प्रयच्छामीत्युक्तं भवति, तच्च द्रव्यतो भावतश्च संभवति ।



तत्राऽऽद्ये कुलालोदाहरणम्-

"किर एगया एगस्स कुंभगारस्स कुडीए साहुणो ठिया। तत्थेगो चिल्लगो चवलत्तणेण तस्स कुंभगारस्स कोलालाणि अंगुलियधणुगएणं पाहाणेहिं विंधेइ । कुंभगारेण पडिजग्गिओ दिट्ठो भणिओ-खुड्डगा ! कीस मे कोलालाणि काणेसि ?। खुड्डगो भणइ-मिच्छा मि दुक्कडं न पुणो विंधिस्सं मणागं पमायं गओ मि त्ति। एवं सो पुणो वि केलीकिलत्तणेण विंधेऊण चोइओ मिच्छा मि दुक्कडं देइ । पच्छा कुंभकारेण सढो त्ति नाऊण तस्स खुड्डगस्स कन्नामोडओ दिन्नो । सो भणइ-दुक्खविओऽहं । कुंभकारो भणइ मिच्छा मि दुक्कडं । एवं सो पुणो पुणो कन्नामोडयं दाऊण मिच्छा मि दुक्कडं करेइ । पच्छा चेल्लओ भणइ-अहो सुंदरं मिच्छा मि दुक्कडं ति । कुंभकारो भणइ-तुब्भ वि एरिसं चेव मिच्छा मि दुक्कडं ति । पच्छा ठिओ विंधेयव्वस्स ।" किं च-" जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव निसेवई पुणो पावं । पच्चक्खमुसावाई, मायानियडीपसंगो य ॥ १ ॥ " इदं द्रव्यप्रतिक्रमणम् ।

भावप्रतिक्रमणे तु मृगावत्युदाहरणम्-

" भगवं वद्धमाणसामी कोसंवीए समोसरिओ। तत्थ चंदसूरा भगवओ वंदगा सविमाणा ओइन्ना तत्थ मिगावई अज्जा उदयणमाया उ दिवसो त्ति काउं चिरं ठिया । सेसाओ साहुणीओ तित्थगरं वन्दिऊण पडिगयाओ, चन्दसूरा वि सट्ठाणं पत्ता । ताहे सिग्घमेव वियालीहूयं मिगावई वि संभत्ता गया सोवस्सयं, साहुणीओ वि कयावस्सयाओ अत्थंति । तओ मिगावई आलोएउं पवत्ता अज्जचंदणाए भन्नइ-कीस अज्जे चिरं ठियासि ?,जुत्तं नाम तुज्झ उत्तमकुलप्पसूयाए एगागिणीए एच्चिरं अत्थिउं ति ?। सा सब्भावेण मिच्छा मि दुक्कडं भणमाणी अज्जचंदणाए पाएसु निवडिया । अज्जचंदणाए वेतिन्निताए वेलाए संथारगगयाए निद्दा आगया, मिगावईए वि तिव्वसंवेगमावन्नाए पायवडियाए चेव केवलनाणं समुप्पन्नं । सप्पो य तेणं मग्गेणं समागओ, अज्जचंदणाए संथारगाओ हत्थो लंवइ । मिगावईए मा खज्जिहि त्ति सो हत्थो संथारगं चडाविओ । सा विवुद्धा भणइ-किमेयं ति, अज्ज वि तुमं अत्थासि त्ति ?। मिच्छा मि दुक्कडं,निद्दापमाएणं न उट्ठवियासि। मिगावई भणइ-एस सप्पो मा भे खाहिइ त्ति अओ हत्थो चडाविओ । भणइ-कहिं सो ?। सा दाएइ। अज्जचन्दणा अपेच्छमाणी भणइ-अज्जे ! किं ते अइसओ। सा भणइ-आमं। तो किं छाउमत्थिओ, केवलिओ त्ति। सा भणइ केवलिओ त्ति। पच्छा अज्जचंन्दणा मियावईए पाएसु पडिउं भणइ-मिच्छा मि दुक्कडं, केवली आसाइओ त्ति ।" इदं भावप्रतिक्रमणम् ।

किञ्च-" जइ य पडिक्कमियव्वं,अवस्स काऊण पावयं कम्मं। तं चेव न कायव्वं, तो होइ पए पडिक्कंतो ॥ १ ॥ " तथा-

( निंदामि गरिहामीति ) अत्राऽऽत्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा जुगुप्सोच्यते । निन्दाऽपि द्रव्यतो, भावतश्च संभवति । तत्र द्रव्यनिन्दा चित्रकरदारिकाया इव–

"सा किर चित्तगरदारिया ओवरयं पविसिऊणं कवाडाणि पिहिऊण चिराणए मणियए चीराणि य पुरओ काउं अप्पाणं निन्दियाइया जहा–' तुमं चित्तगरदारिया ! एयाणि ते पि इसंतियाणि चेलाणि आभरणगाणि य , इमा पुण पट्टंसुयरयणमाइया रायसिरी, अन्नाओ य उन्नयकुलपसूयाओ रायवरधूयाओ मोत्तुं राया तुमं अणुयत्तइ ता मा गव्वं करेसि त्ति । एसा दव्वनिंदा ।"

भावनिन्दा–

" साहुणा अप्पा निंदियव्वो–' जीव ! तए हिंडतेण नारयतिरियगईसु कह वि माणुसत्ते सम्मत्तनाणचरित्ताणि लद्धाणि, जेसिं पसाएण सव्वलोए माणणिज्जो पूयणिज्जो य, ता मा गव्वं काहिसि–जहाऽहं बहुस्सुओ, उत्तमचरित्तो व त्ति ।" तथा–" हा दुट्ठु कयं हा दुट्–ठु कारियं अणुमयं पि हा दुट्ठु । अंतो अंतो डज्झइ. सिरो व्व दुमो वणदवेणं" ॥१॥ इति ।

गर्हाऽपि द्रव्यतो भावतश्च भवति–तत्र द्रव्यगर्हायां मरुकउदाहरणम्–

" आणंदपुरे नयरे एगो मरुओ, सो सुण्हाए समं संवासं काऊण उवज्झायस्स कहेइ, जहा–सुविणए सुण्हाए समं संवासं गओ मि त्ति ।" भावगर्हायां तु साधुरुदाहरणम्–

" गंतूण गुरुसगासे, काऊण य अंजलिं विणयमूलं । जह अप्पणो तह परे, आणवणा एस गरिह त्ति ॥ १ ॥ " किं जुगुप्सा ?, इत्याह–आत्मानमतीतप्राणातिपातक्रियाकारिणमश्लाघ्यम्, तथा व्युत्सृजामीति विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि, अतीतप्राणातिपातमिति गम्यते । आह–यद्येवमतीतप्राणातिपातप्रतिक्रमणमात्रमस्य सूत्रस्यैदम्पर्यं, न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति । नैतदेवम्–"सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि ।" इत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति । अपरस्त्वाह–ननु सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामीत्युक्ते प्राणातिपातनिवृत्तिरभिधीयते, तदनन्तरं च व्युत्सृजामीतिशब्दप्रयोगे वैपरीत्यमापद्यते । तच्च । यस्मान्मांसाऽऽदिविरमणक्रियाऽनन्तरं व्युत्सृजामीतिप्रयुक्ते तद्विपक्षत्यागो मांसभक्षणनिवृत्तिरभिधीयते । एवं प्राणातिपातविरत्यनन्तरमपि प्रयुक्ते व्युत्सृजामीतिशब्दे तद्विपक्षत्यागोऽवगम्यत इति न कश्चिद्दोष इति । व्युत्सर्गोऽपि द्रव्यभावभेदाद् द्विधा । तत्रोदाहरणं प्रसन्नचन्द्रो यथा–

" खितिपइट्ठिए नयरे पसन्नचंदो राया । तत्थ य भगवं महावीरो समोसढो । तओ राया धम्मं सोऊण संजायसंवेगो पव्वइओ गीयत्थो जाओ । अन्नया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो सत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे मसाणे पडिमं पडिवन्नो । तत्थ भगवं महावीरो समोसढो । विरइयं देवेहिं समोसरणं । लोगो य वंदगो नीइ, दुवे य वाणियगा सुमुह–दुम्मुहनामाणो खिइपइट्ठियनगराओ तत्थेव आगया । पसन्नचन्दं पडिमट्ठियं पासिऊण सुमुहेण भणियं–एसो सो अम्हाणं सामी जो तहाविहं रायलच्छिं परिच्चइय तवसिरिं पडिवन्नो, अहो से धन्नया, अहो से कयपुन्नय त्ति । दुम्मुहेणं भणियं–कुतो एयस्स धन्नया?, जो असंजायबलं पुत्तं रज्जे ठविऊण पव्वइओ, सो तवस्सी दाएएहिं परिभविज्जइ, नगरं च उत्तमं सव्वं पडियन्नं, ता एवमणेण बहुलोगो दुक्खे ठविओ, ता सव्वहा अदट्ठव्वो एसो त्ति । ताहे तस्स रायरिसिणो कोवो जाओ, चिंतियं चाणेण–को मम पुत्तस्स अवकरेइ त्ति नूणममुगतो ता किं तेण एयावत्थं गओ वि णं वावाएमि । माणससंगामेण रोद्दज्झाणं पवन्नो । हत्थिणा हत्थिं आसेण आसं वावाए त्ति विभाग्ना । इत्थंतरे सेणिओ भगवओ वंदिउं निग्गच्छइ, तेण दिट्ठो वंदिओ य । तेण ईसिं पि न निज्झाइओ । तओ सेणिएण चिंतियं–सुक्कज्झाणोवगओ भगवं ता ईदिसम्मि झाणे कालगयस्स का गई भवइ त्ति भगवंतं पुच्छिस्सामि । तओ गओ वंदिऊण पुच्छिओ–अणेण भगवं! जम्मि झाणे ठिओ मए वंदिओ पसन्नचंद्रो तम्मि मयस्स कहिं उववाओ भवइ ?। भगवया भणियं–अहे सत्तमपुढवीए । तओ सेणिएण चिंतियं–हा किमेयं ति । पुणो वि पुच्छिस्सं । एत्थंतरम्मि पसन्नचंदस्स माणसे संगामे पहाणनायगेण सहावडियस्स असिसत्तिचक्ककप्पणीपमुहाइं खयं गयाइं पहरणाइं, तओ रोण सिरत्ताणेण वावएमि त्ति परामुसियमुत्तमंगं जाव लोयं कयं पासति तओ संवेगमावन्नो अच्चंतविसुज्झमाणपारिणामेण अत्ताणं निंदिउं पयट्टो समाहियमणेण पुणरवि सुक्कज्झाणं । एत्थंतरम्मि सेणिएण भगवं पुणो वि पुच्छिओ–जारिसे झाणे संपइ पसन्नचंदो वट्टइ तारिसे मयस्स कहिं उववाओ ?। भगवया भणियं–अणुत्तरसुरेसुं । तओ सेणिएण भणियं–पुव्वं किमन्नहा परूवियं उयाहु मया अन्नहाऽवहारियं ति । भगवया भणियं–नन्नहा परूवियं नावि तए अन्नहाऽवगयं । तओ सेणिएण भणियं–कहमेयंति । तओ भगवया सव्वो वुत्तंतो साहिओ । एत्थंतरम्मि पसन्नचंदमहरिसिणो समीवे दिव्वो देवदुंदुहिसणाहो महंतकलयलो ओट्ठाइओ । तओ सेणिएणं भणियं–भयवं ! किमेयं ति । भगवया भणियं–तस्सेव विसुज्झमाणपरिणामस्स केवलनाणं समुप्पण्णं । तओ देवो से महिमं करेति त्ति । ' एवं प्रसन्नचन्द्रो द्रव्यव्युत्सर्गभावव्युत्सर्गयोरुदाहरणं विज्ञेय इति । पा० । (प्रत्याख्यानभेदाः 'पच्चक्खाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६४ पृष्ठे गताः)

प्रकृतमुच्यते–इह च सूक्ष्मं वा बादरं वेत्यादिना द्रव्यप्राणातिपातोऽनेन चैकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायाच्चतुर्विधः प्राणातिपात उपलक्षित इत्यतस्तदभिधानायाऽऽह–

से पाणाइवाए चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा–दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं पाणाइवाए छसु जीवनिकाएसु, खेत्तओ णं पाणाइवाए सव्वलोए, कालओ णं पाणाइवाए दिया वा राओ वा, भावओ णं पाणाइवाए रागेण वा दोसेण वा ।

( से त्ति ) स पूर्वोक्तः प्राणातिपातः प्राणिप्राणवियोगः, चतुर्विधश्चतुःप्रकारः प्रज्ञप्तो जिनैरभिहितः । तद्यथा–द्रव्यतो द्रव्यप्रधानतामाश्रित्य क्षेत्रत क्षेत्रमङ्गीकृत्य, कालतः कालं प्रतीत्य, भावतः भावमुररीकृत्य । एतानेव व्याचष्टे–द्रव्यत इति व्याख्येयपदपरामर्शः, णमिति वाक्यालङ्कारे । प्राणातिपातः षट्सु षट्संख्येषु जीवनिकायेषु सूक्ष्माऽऽदिभेदभि-

ष्वेषु प्राणिगणेषु, संभवतीति शेषः । क्षेत्रतो, णमित्यलङ्कारे प्राणातिपातः सर्वलोके तिर्यग्लोकाऽऽदिभेदभिन्ने भुवने भवतीति । कालतो, णमिति प्राग्वत्, प्राणातिपातो दिवा वासरे, वा समुच्चये । रात्रौ रजन्यां, वा समुच्चय एव स्यादिति । भावतो, णमिति प्राग्वदेव, प्राणातिपातो रागेण मांसाऽऽदिभक्षणाऽऽद्यभिप्रायलक्षणेन, द्वेषेण शत्रुहननाऽऽदिपरिणामस्वरूपेण, वाशब्दौ समुच्चये, स्यादिति द्रव्यभावपदसमुत्था चतुर्भङ्गिका चात्र । तद्यथा-द्रव्यतो हिंसा भावतश्च १, तथा-द्रव्यतो न भावतः २, तथा-भावतो न द्रव्यतः ३, तथा-न द्रव्यतो न भावत इति ४ । तत्रायं भङ्गकभावार्थः-द्रव्यतो, भावतश्चेति । 'जह केइ पुरिसे मियवहाए परिणते मियं पासित्ता आयन्नायड्ढियकोदण्डजीवे सरं निसिरेज्जा, से य मिगे तेण सरेण विद्धे मए सिया, एसा दव्वओ हिंसा, भावओ वि ।' या पुनर्द्रव्यतो न भावतः सा खल्वीर्याऽऽदिसमितस्य साधोः कारणे गच्छत इति ।

उक्तं च-

" उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥ १ ॥
न उ तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जो उवओगे-ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥" इत्यादि ।

या पुनर्भावतो न द्रव्यतः सेयम्-' जहा केइ पुरिसे मंदमंदप्पगासे पएसे संठियं ईसिं वलियकायं रज्जुं पासित्ता एस अहि त्ति तव्व हणणपरिणामपरिणए निकड्डियासिपत्ते दुयं दुयं छिंदिज्जा, एसा भावओ हिंसा न दव्वओ । " चरमभङ्गस्तु शून्य इति ।

एवं प्राणातिपातं भेदतोऽभिधायाऽथ तस्यैवातीतकालविहितस्य सविशेषनिन्दाप्रतिपादकं सूत्रमाह--

**जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरन्नसोवन्नियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहियस्स निव्वियारस्स निवित्तीलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइयस्स संसारपारगामिस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिवद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगरुयाए चउकसाओवगएण पंचिंदियओवसट्टेणं पडुप्पन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इह वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु पाणाइवाओ कओ वा काराविओ वा कीरंतो वा परेहिं समणुन्नाओ । तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं ॥**

अत्र च यो मयाऽस्य धर्मस्य केवलिप्रज्ञप्ताऽऽदिद्वाविंशतिविशेषणविशेषितस्य पूर्वमज्ञानताऽऽदिभिश्चतुर्भिः प्रमादाऽऽदिभिश्चैकादशभिः कारणैः प्राणातिपातः कृतस्तं निन्दामीत्यादिसंबन्धो द्रष्टव्यः । (जं ति) विभक्तिव्यत्ययात् प्राणातिपात इति योगः । भाषामात्रे वा यदिति पदं व्याख्येयम् । मयेति प्रतिक्रामकसाधुरात्मानं निर्दिशति । अस्य स्वहृदयप्रत्यक्षस्य धर्मस्य एकमात्सर्वचारित्राऽऽत्मकस्य, अत्र च-" जं पि य मए इमस्स धम्मस्स " तथा " जं पि य इमं अम्हेहिं इमस्स धम्मस्स " इत्यादि पाठान्तराण्युक्तानुसारतः स्वयं व्याख्येयानीति । किंविशिष्टस्य ?, केवलिप्रज्ञप्तस्य सर्वज्ञोपदिष्टस्य । १ । तथा-अहिंसा प्राणिसंरक्षणं लक्षणं चिह्नं यस्यासौ अहिंसालक्षणः सत्त्वानुकम्पानुमेयसंभव इत्यर्थस्तस्य । २ । तथा-सत्येनावितथभाषणेनाधिष्ठितः समाश्रितः सत्याधिष्ठितः सत्यवचनव्याप्त इत्यर्थस्तस्य । ३ । तथा-विनयो विनीतता मूलं कारणं यस्यासौ विनयमूलो विनयप्रभव इत्यर्थस्तस्य । ४ । तथा-क्षान्तिः क्षमा प्रधाना सारभूता यस्यासौ क्षान्तिप्रधानस्तस्य । ५ । तथा हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशाऽऽदि, न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरण्यसौवर्णिकः, उपलक्षणत्वात्सर्वपरिग्रहरहित इत्यर्थस्तस्य । ६ । तथोपशम इन्द्रियनोइन्द्रियजयस्तस्मात्प्रभवो जन्मोत्पत्तिर्यस्यासौ उपशमप्रभव इन्द्रियमनोनिग्रहलभ्य इत्यर्थस्तस्य । ७ । तथा-नवब्रह्मचर्याणि गुप्तिशब्दलोपात् वसतिकथाऽऽद्या नवब्रह्मचर्यगुप्तयस्ताभिर्गुप्तः संरक्षितो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तस्तस्य । ८ । तथा-न विद्यन्ते पचमानाः पाचका यत्रासौ अपचमानः, पाकक्रियाविनिवृत्तसत्त्वासेवित इत्यर्थः । अथवा पचते पचमानो, न पचमानोऽपचमानो धर्मो, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात्, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ९ । अत एव भिक्षावृत्तेर्भिक्षया भक्षाऽऽदेः परतो याचनेन वृत्तिर्वर्तनं धर्मसाधककायपालनं यत्रासौ भिक्षावृत्तिस्तस्य । १० । तथा-कुक्षावेव बहिः सञ्चयाभावाज्जठर एव शम्बलं पाथेयं यत्रासौ कुक्षिशम्बलस्तस्य । ११ । तथा-निर्गतमग्नेः पावकाच्छरणं शीताऽऽदिपरित्राणं यत्र । अथवा-निर्गते स्वीकाराभावादग्निशरणे वह्निभवने यत्रासौ निरग्निशरणः । अथवा-निर्गतमग्नेः स्मरणं यत्रासौ निरग्निस्मरणस्तस्य । १२ । तथा-संप्रक्षालयति कर्ममलं शोधयतीत्येवंशीलः सम्प्रक्षाली, तस्य, कप्रत्ययोपादानाद्वा सम्प्रक्षालिकस्य, सम्प्रक्षालितस्य वा सर्वदोषमलरहितस्य । १३ । अथ-[ तथा ] त्यक्ता हानिं नीता अभावमापादिता इति यावद्दोषा मिथ्यात्वाज्ञानाऽऽदिदूषणानि येनासौ त्यक्तदोषः । अथवा-त्यक्तो द्वेषोऽप्रीतिलक्षणो यस्मिन्नसौ त्यक्तद्वेषस्तस्य । १४ । अत एव गुणग्राहिणो गुणग्रहणशीलस्य, कप्रत्ययविधानाद् गुणग्राहिकस्य वा पाठान्तरम् । तथाहि-प्रकृतधर्मचारिणो गुणवद्गुणोपबृंहणपरा एव भवन्त्यन्यथा धर्मस्यैवाभावप्रसङ्गात् । यदाह-" नो खलु अप्परिवडिए, निच्छयओ मइलिए व सम्मत्ते । होइ तओ परिणामो, जुत्तोणुववूहणाईया ॥ १ ॥ " । १५ । तथा-निर्गतो विकारः कामोन्मादलक्षणो यस्मादसौ निर्विकारस्तस्य । १६ । तथा-निवृत्तिलक्षणस्य सर्वसावद्ययोगोपरमस्वभावस्य । १७ । तथा-पञ्चमहाव्रतयुक्तस्येति प्रतीतं, नवरम्-अहिंसालक्षणस्येत्याद्यभिधानेऽप्यस्याभिधानं महाव्रतानां प्राधान्यख्यापनार्थमनुक्तमहाव्रतसंग्रहार्थं च । तथाहि-नादत्ताऽऽदानं कण्ठतः केनापि विशेषणेनाभिहितमतो युज्यते अस्य विशेषणस्योपन्यास इति । १८ । तथा-न विद्यते संनिधिर्मोदकोदककखज्जूरहरीतक्यादेः पर्युषित-

स्य सञ्चयो धारणं यत्रासावसंनिधिसञ्चयस्तस्य । १६ । तथा-अविसंवादिनो दृष्टेष्टाविरोधिनः। पाठान्तरे वा अविसंवादितस्य सद्भूतप्रमाणाबाधितस्येत्यर्थः ।२०। तथा-संसारपारं भवार्णवतीरं गमयति तदारूढप्राणिनः पोतवत्प्रापयतीति संसारपारगामी तस्य, कप्रत्ययोपादानात् संसारपारगामिकस्य वा । २१ । तथा-निर्वाणगमनं मुक्तिप्राप्तिः, पर्यवसाने आनुषङ्गिकसुरमनुजसुखानुभवपर्यन्ते, फलं कार्यं यस्यासौ निर्वाणगमनपर्यवसानफलस्तस्य । २२ । एवंविधस्य धर्मस्य पूर्वं प्रतिपत्तिकालात्प्राक् अज्ञानतया सामान्यतोऽवगमाभावेन । १ । तथाऽश्रवणतया प्रज्ञापकमुखादनाकर्णनभावेन । २ । अथवा-श्रवणेऽपि [ अबोहिए त्ति ] अबोध्या अबोधेन यथावद्धर्मस्वरूपापरिज्ञानेन । ३ । अथवा-व्यवहारतः श्रवणावगमसद्भावेऽपि [ अणभिगमेणं ति ] अनभिगमेन, सम्यगप्रतिपत्त्येत्यर्थः । अथवा-( अभिगमेण व त्ति ) विभक्तिव्यत्ययादभिगमे वा सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ वा प्रमादेन मद्यविषयाऽऽदिलक्षणेन । १ । तथा-रागद्वेषप्रतिबद्धतया रागद्वेषाऽऽकुलतयेत्यर्थः ।२। तथा-बालतया शिशुतया अपण्डिततया वा । ३ । तथा-मोहतया विचित्ततया मोहनीयकर्म्माऽऽयत्ततया वा ।४। तथा-मन्दतया कायजडतया, अलसतयेत्यर्थ । ५ । तथा-( किड्डयाए त्ति ) क्रीडतया केलीकिलतया, द्यूताऽऽदिक्रीडनपरतयेत्यर्थः।६। तथा-त्रिगौरवगुरुकतया ऋद्धिरससातलक्षणगौरवत्रिकभारिकतया । ७ । तथा-चतुःकषायोपगतेन क्रोधाऽऽद्युदयवशगमनेनेत्यर्थः ।८। तथा-पञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शनाऽऽदिद्वपीकाणामुप सामीप्येन वश आयत्तता, वर्णलोपात्पञ्चेन्द्रियोपवशस्तेन यदार्त्तमार्त्तध्यानं, विह्वलतेत्यर्थः, पञ्चेन्द्रियोपवशार्त्त, तेन । ९ । तथा-(पडुप्पन्नभारियाए त्ति ) इह प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानमुत्पन्नं वोच्यते, ततश्च प्रत्युत्पन्नश्चासौ भारश्च, कर्मणामिति गम्यते । प्रत्युत्पन्नभार, स विद्यते यस्यासौ प्रत्युत्पन्नभारी, तस्य भाव प्रत्युत्पन्नभारिता तया, कर्मगुरुतयेत्युक्तं भवति । पाठान्तरस्तु प्रतिपूर्णभारितया, भावार्थ पूर्ववत् । १० । तथा-सातात्सातवेदनीयकर्म्मणः सकाशात्सुखं शर्म सातसुखम्, अथवा-सातं च तत्सुखं च सातसुखमतिशयसुखं तदनुपालयता ऽनुभवता,सुखाऽऽसक्तमनसेत्यर्थः। पाठान्तरेण तु-सदा सर्वकालं सुखमनुपालयतेति व्यक्तम् ।११। ( इह व त्ति ) बिन्दुलोपात् इह वाऽस्मिन्ननुभूयमाने भवे मनुष्यजन्मनि,अन्येषु वा अस्माज्जन्मनोऽपरेषु भवग्रहणेषु जन्मोपादानेषु प्राणातिपात· कृतो वा स्वयं निर्वर्त्तितः, कारितो वाऽन्यैर्विधापितः, क्रियमाणो वा विधीयमानः परैरन्यै समनुज्ञातोऽनुमोदितस्तं प्राणातिपातं निन्दामि स्वप्रत्यक्षमेव जुगुप्से, तथा-गर्हामि गुरुसमक्षं जुगुप्से, त्रिविधं कृतकारितानुमतिभेदा- त्रिप्रकारं त्रिविधेन त्रिप्रकारेण करणेन । तदेवाऽऽह-मनसा वाचा कायेनेति प्रतीतमेव ॥

(२४)साम्प्रतं त्रैकालिकप्राणातिपातविरतिं प्रतिपादयन्नाह-

**अईयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं ।**

अतीतमतीतकालकृतं निन्दामि । तथा-प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानसमयसम्भविनं संवृणोमि, भवन्तं वारयामीत्यर्थ । तथा-अनागतं भविष्यत्कालविषयं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । किं तदित्याह-सर्वं समस्तं न पुनः परिस्थूरमेव प्राणातिपातं जीवितविनाशम्। इदमेवानागतप्रत्याख्यानं विशेषयन्नाह-

**जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणामि ।**

यावज्जीवं प्राणधारणं यावत् अनिश्रितोऽहम् इहपरलोकाशंसाविप्रमुक्तोऽहं ममेतो व्रतानुपालनात्किञ्चिदमरसुखं वा भूयादित्याकाङ्क्षारहित इत्यर्थः । नैव स्वयं प्राणानसून् ( अइवाएज्ज त्ति ) उक्तहेतोरतिपातयामि विनाशयामि, नैवान्यैः प्राणान् (अइवायावेज्ज त्ति ) अतिपातयामि, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, क्वापि ' नेव सयं " इत्यादि पदानि न दृश्यन्ते । कतिसाक्षिकं पुनरिदं प्रत्याख्यानमिति चेत् ?, उच्यते-अर्हदादिपञ्चकसाक्षिकम् ।

एतदेव दर्शयति-

**तं जहा-अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं ।**

तद्यथेत्युपदर्शनार्थः, अर्हन्तस्तीर्थकरास्ते साक्षिणः समक्षभाववर्त्तिनो यत्र तत् , " शेषाद्वा " । ।७।३।१७५। इति कप्रत्ययविधानादर्हत्साक्षिकं प्रत्याख्यानक्रियाविशेषणं चैतत्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। तथाहि-इहक्षेत्रवर्त्तिनोऽन्यक्षेत्रवर्त्तिनो वा तीर्थकरा केवलवरज्ञानप्रधानचक्षुषा ममेदं प्रत्याख्यानं पश्यन्तीत्यतस्तत्साक्षिकमुच्यते, एवं सिद्धा मुक्तिपद प्राप्ताः साक्षिणो दिव्यज्ञानभावेन समक्षभाववर्तिनो यत्र तत्सिद्धसाक्षिकम्। आह उभयप्रत्यक्षभावे लोके साक्षिकव्यवहारो रूढः, न चात्र प्रत्याख्यानकर्तुः सिद्धाः प्रत्यक्षाः, अतीन्द्रियज्ञानगोचरत्वात्तेषां, तत्कथं ते तस्य साक्षिणः ?। उच्यते-श्रुतवासितमतेस्तत्स्वरूपज्ञस्य तस्य ते भावकल्पनया प्रत्यक्षा इवेति कथं न साक्षिण इति ?। तथा-साधवो मुनयस्ते सातिशयज्ञानवन्त इतरे वा विरतिप्रतिपत्तिसमयसमीपवर्तिनः साक्षिणो यत्र तत्साधुसाक्षिकम्। तथा-देवा भवनपत्यादयस्ते जिनभवनाऽऽद्यधिष्ठायिनस्तिर्यग्लोकसञ्चारिण्यो वा विरतिप्रतिपत्तिक्रमभाविनश्चैत्यवन्दनाऽऽद्युपचारात्समीपमुपगताः स्वस्थानस्था वा कथञ्चिद्द्वीपसमुद्रान् प्रति प्रयुक्तावधयः साक्षिणो यत्र तद्देवसाक्षिकम्। यदाह चूर्णिकारः-" विरइपडिवत्तिकाले चिइवंदणाइणोवयारेण अवस्समहासंनिहिया देवया सन्निहाणम्मि भवइ अतो देवसक्खियं भणियं । अहवा-भवणवइजोइसवेमाणिया देवा सट्ठाणत्था चेव अहापवत्तोवहिणा दीवं दीवपज्जवेहिं समुद्दं समुद्दपज्जावेहिं बहवे नारयतिरियमणुयदेवे य विविहभावसंपउत्ते पेच्छमाणा साहुं पि पाणाइवायविरइं पडिवज्जमाणं पेच्छंति, विसेसओ तिरियजम्भगा दियराओ दिसिविदिसासुं चरंति त्ति । " तथाऽऽत्मा स्वजीव' स स्वसंवित्प्रत्यक्षविरतिपरिणामपरिणत· साक्षी यत्र तदात्मसाक्षिकम् । इह च ससाक्ष्यं कृतमनुष्ठानमत्यन्तदृढं जायत इति साक्षिणः प्रतिपादिता । पृथग्जनेऽपि प्रतीतमेवैतद्यदुत ससाक्षिको व्यवहारो निश्चलो भवतीति ।

एवं च कृते यत्संपद्यते तदाह-

**एवं हवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयप-**

**छक्कायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा।**

एवमिति प्रागुक्तप्रत्याख्याने संपन्ने सति, किमित्याह-भवति जायते, क इत्याह-भिक्षुर्वेति-आरम्भत्यागाद्धर्मकायपरिपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः। एवं भिक्षुक्यपि,पुरुषोत्तमो धर्म इति कृत्वा भिक्षुर्विशेष्यते। तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानीत्याह-संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा-तत्र सामस्त्येन तः संयतः सप्तदशप्रकारसंयमोपेतस्तथा विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतस्ततश्च संयतश्चासौ विरतश्च संयतविरत। तथा प्रतिहतं स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन विनाशितं प्रत्याख्यातं च हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन निराकृतं पापमशुभं कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि येन स तथाविधस्ततः पुनः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः। दिवा वा दिवसे वा, रात्रौ वा रजन्यां वा, एकको वा कारणिकावस्थायामसहायो वा, पर्षद्गतो वा साधुसंहतिमध्यवर्ती वा, सुप्तो वा रात्रिमध्ययामद्वये निद्रागतो वा, जाग्रद्वा निद्राविमुक्तो वेति।

साम्प्रतं प्राणातिपातविरतिमेव स्तुवन्नाह-

**एस खलु पाणाइवायस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावणयाए अणोद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिण्णे परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खयाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि।**

(एस त्ति) लिङ्गव्यत्ययादिदमधिकृतम्,खलु निश्चयेन,प्राणातिपातस्येति विभक्तिव्यत्ययात्प्राणातिपाताज्जीवहिंसाया (वेरमणे त्ति) विरमणं निवृत्तिर्वर्तते। किमित्याह-(हिए त्ति) हितं पथ्यं तत्कारित्वाद्धितं पथ्यभोजनवत्। तथा-सुखं शर्म तद्धेतुत्वात्सुखं पिपासितशीतलजलपानवत्। तथा-क्षमं युक्तं न्याय्यमुचितरूपमिति यावत्। तथा-(निस्सेसिए त्ति) प्राकृतत्वेन यकारलोपात् निःश्रेयसो मोक्षस्तत्कारणत्वान्निःश्रेयसं तदेव निःश्रेयसिकम्। तथा-आनुगामिकमनुगमनशीलं भवपरम्पराऽनुबन्धिसुखजनकमित्यर्थः। कथमिदमेवंविधमित्याह-सर्वेषां निःशेषाणां प्राणा इन्द्रियपञ्चकमनःप्रभृतित्रिबलोच्छ्वासनिःश्वासाऽऽयुर्लक्षणा अस्यां विद्यन्ते येषां तेऽतिशायनार्थमत्वर्थीयप्रत्ययविधानात्समग्रप्राणधारिणः प्राणाः पञ्चेन्द्रियप्राणिन इत्यर्थः। तेषाम्। तथा-सर्वेषां समस्तानामभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भूतानि पृथिवीजलज्वलनपवनवनस्पतयः कालत्रयेऽपि भवनात्सर्वदाऽवस्थितत्वात्तेषाम्। तथा-निरुपक्रमजीवितेन जीवन्तीति जीवा देवनारकाऽसंख्येयवर्षाऽऽयुष्कतिर्यङ्नरमनुष्या [illegible] यथोक्तनिरुपक्रमजीवितधर्मकत्वात्तेषाम्। तथा-सर्वेषां [illegible] सत्त्वाः [illegible] द्वित्रि-

चतुरिन्द्रियाश्च तेषाम्। क्वाप्यमीषां परस्परमेवं विशेषो दृश्यते। यथा-" प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ता ,भूतास्तु तरवः स्मृताः। जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः "॥ १ ॥ एकार्थिकानि चैतान्यत्यादरख्यापनाय नानादेशज्ञविनेयानुग्रहाय प्रयुक्तानीति। एतेषां च (अदुक्खणयाए त्ति) अदुःखनतया अदुःखोत्पादनेन, मानसिकासातानुदीरणेनेत्यर्थः। तथा-अशोचनतया शोकानुत्पादनेन। तथा-अजूरणतया शरीरजीर्णत्वाऽविधानेन, दृश्यन्ते चाऽऽरम्भिणो जना भारवाहनाऽऽहारनिरोधकशलताङ्कुशारानिपाताऽऽदिभिर्वृषभमहिषाश्वकरिकरभरासभाऽऽदीनां शरीराणि जूरयन्तोऽतस्तदकरणेनेति। तथा-अतेपनतया स्वेदलालाऽश्रुजलक्षरणकारणपरिवर्जनेन। तथा-अपीडनतया पादाऽऽद्यनवगाहनेन। तथा-अपरितापनतया समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारतः। तथा-अनवद्रावणतया उत्त्रासनकरणाभावेन, मारणपरिहरणेन वा। किं च-इदं प्राणातिपातविरमणपदं महार्थं महान् प्रभूतोऽर्थः फलस्वरूपाऽऽद्यभिधेयं यस्य तन्महार्थं महागोचरम्। तथा-महांश्चासौ गुणश्च महागुणः,सकलगुणाऽऽधारत्वान्महाव्रतानामिति। तथा-महानतिशायी अनुभावः स्वर्गापवर्गप्रदानाऽऽदिलक्षणं माहात्म्यं यस्य तन्महानुभावम्। तथा-महापुरुषैस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभिरुत्तमनरैरनुचीर्णमेकदाचिदनातपश्चादप्यासेवितं महापुरुषानुचीर्णम्। तथा-परमर्षिभिस्तीर्थकराऽऽदिभिरेव देशितं भव्योपकाराय कथितं परमर्षिदेशितम्। तथा-प्रशस्तमत्यन्तशुभं सकलकल्याणकलापकारणत्वात्, यतश्चैवमतस्तत्प्राणातिपातविरमणं दुःखक्षयाय शारीरमानसानेकक्लेशविलयाय, कर्मक्षयाय ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यष्टविधवियोगाय मोक्षाय,पाठान्तरतो मोक्षतायै,परमनिःश्रेयसायेत्यर्थः। बोधिलाभाय जन्मान्तरे सम्यक्त्वाऽऽदिसद्धर्मप्राप्तये, संसारोत्तारणाय महाभीमभवभ्रमणपारगमनाय, मे भविष्यतीति गम्यते, इति कृत्वा इति हेतोः, उपसंपद्य तदेव सामस्त्येनाङ्गीकृत्य,विहरामि मासकल्पाऽऽदिना सुसाधुविहारेण वर्त्ते, अन्यथा व्रतप्रतिपत्तेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति।

अथ व्रतप्रतिपत्तिं निगमयन्नाह—

**पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।**

प्रथमे भदन्त ! महाव्रते,किमित्याह-उप सामीप्येन तत्परिणामाऽऽपत्त्येत्यर्थः। स्थितोऽवस्थितोऽस्मि अहं,ततश्च इत आरभ्य मम सर्वस्मान्निःशेषात्प्राणातिपाताज्जीवहिंसाया विरमणं निवृत्तिरिति। अत्र च भदन्त ! इत्यनेन गुर्वामन्त्रणवचसाऽऽदिमध्यावसानेष्वप्यस्मिन् गुरुमनापृच्छ्य न किञ्चित्कर्त्तव्यं कृतं च तस्मै निवेदनीयमेवं तदाराधितं भवतीत्येतदाह। दोषाश्चेह प्राणातिपातकर्तृणां नरकगमनाल्पाऽऽयुष्कदुर्भगत्वकुरूपाऽऽद्या वाच्याः। इत्युक्तं प्रथमं महाव्रतम्।

इदानीं द्वितीयमाह-

**अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं,सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा १ लोहा वा २ भया वा ३ हासा वा ४,नेव सयं मुसं वएज्जा, ने-**

वन्नेहिं मुसं वायावेज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणामि,जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥

अथेति प्रथममहाव्रतानन्तरे अपरस्मिन्नन्यस्मिन् द्वितीये सूत्रक्रमप्रामाण्याद् द्विसङ्ख्ये, द्वितीयस्थानवर्त्तिनीत्यर्थः । भदन्त ! महाव्रते, किमित्याह-मृषावादादलीकभाषणाद्विरमणं सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वकं सर्वथा निवर्तनं, भगवतोक्तमिति वाक्यशेषः । स च मृषावादश्चतुर्विधः । तद्यथा सद्भावप्रतिषेधः १, असद्भावोद्भावनम् २, अर्थान्तराभिधानम् ३, गर्हावचनं च ४ । तत्र सद्भावप्रतिषेधो यथा-"नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं पापं वेत्यादि ।" मृषात्वं चास्याऽऽत्माऽऽद्यभावे दानध्यानाध्ययनाऽऽदिसर्वक्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, जगद्वैचित्र्याभावप्रसङ्गाच्च । असद्भावोद्भावनं यथा-"श्यामाकतन्दुलमात्र आत्मा ललाटस्थो, हृदयदेशस्थः, सर्वगतो वेत्यादि ।" अलीकता चास्य वचस श्यामाकतन्दुलमात्रे ललाटस्थे हृदयदेशस्थे वाऽऽत्मनि सर्वशरीरे सुखदुःखानुभवानुपपत्तेर्निरात्मनि वस्तुनि वेदनाया अभावात्, सर्वजगद्व्यापित्वे सर्वत्र शरीरोपलम्भः सुखदुःखानुभवश्चाविशेषेण स्यान्न चैवं दृश्यते तस्मादलीकतेति । अर्थान्तराभिधानम् " गामश्वं ब्रुवाणस्येत्यादि ' । गर्हावचनं तु-काणं काणमेव वदतः काणमपि वा काणमाह । एवमन्धकुब्जदासाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । अथवा-परलोकमङ्गीकृत्य गर्हाऽर्हं वचनं गर्हावचनम् । तच्च-"दम्यन्तां वलीवर्दाऽऽदय', प्रदीयतां कन्या वरायेत्यादि ।" यतश्चैवमत उपादेयमेतदिति विनिश्चित्य सर्वं समस्तं भदन्त ! मृषावादमनृतवचनं प्रत्याख्यामि । ( से त्ति ) तद्यथा-क्रोधाद्वा कोपात्, लोभाद्वा अभिष्वङ्गात् । आद्यन्तग्रहणाच्च मानमायापरिग्रहो वेदितव्यः । भयाद्वा भीतेः, हास्याद्वा हसनात्सकाशात्, अनेन तु प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानाऽऽदिपरिग्रहः । वाशब्दाः समुच्चये । अस्मात्किमित्याह -( नेव सयं मुसं वएज्ज त्ति ) नैव स्वयमात्मना, मृषा मिथ्या, वदामि वच्मि, नैवान्यैः परैर्मृषा वितथम्, ( वायावेज्ज त्ति ) वादयामि भाषयामि, मृषावदतोऽपि भाषमाणानप्यन्यानपरान् न नैव समनुजानामि अनुमोदयामि । कथमित्याह-यावज्जीवं यावत्प्राणधारणम्, त्रिविधं कृतकारितानुमतिभेदात् त्रिप्रकारं त्रिविधेन मनःप्रभृतिना त्रिप्रकारेण करणेन । तदेवाऽऽह-मनसा, वाचा, कायेनेति । अस्य च करणस्य कर्मोक्तलक्षणो मृषावादस्तमपि वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैव दर्शयन्नाह-न करोमि स्वयं,न कारयाम्यन्यैः,कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तथा तस्य त्रिकालभाविनोऽधिकृतमृषावादस्य संबन्धिनमतीतमवयवं भदन्त ! प्रतिक्रमामि भूतान्मृषावादान्निवर्त्तेऽहमित्युक्तं भवति । तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति । तथा निन्दामि गर्हामीति । अत्राऽऽत्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा । आह च -" मणसा मिच्छादुक्कडकरणं भावेण इह पडिक्कमणं । सचरित्तपच्छयावो, निंदा गरिहा गुरुसमक्खं ॥ १ ॥ " सचरित्रस्य स्वप्रत्यक्षमेव पश्चात्तापो निन्देति । किं जुगुप्से, इत्याह- आत्मानमतीतमृषावादभाषिणं स्वं, तथा व्युत्सृजामि भूतमृषावादं परित्यजामि, इह च क्रोधाद्वा भयाद्वेत्यादिना भावतो मृषावादोऽभिहितोऽनेन चैकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायाच्चतुर्विधो मृषावाद उपलक्षित इति । अतस्तदभिधानायाऽऽह-

से मुसावाए चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं मुसावाए सव्वदव्वेसु, खेत्तओ णं मुसावाए लोए वा अलोए वा, कालओ णं मुसावाए दिया वा राओ वा, भावओ णं मुसावाए रागेण वा दोसेण वा ॥

( से त्ति ) स पूर्वाभिहितो मृषावादश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-द्रव्यतो द्रव्यप्राधान्यमाश्रित्य १, क्षेत्रतः क्षेत्रमङ्गीकृत्य २, कालतः कालं प्रतीत्य ३, भावतो भावमधिकृत्य ४ । द्रव्यतो, णमित्यलङ्कारे, मृषावादः सर्वद्रव्येषु, अन्यथाप्ररूपणतो धर्माधर्माऽऽदिसमस्तपदार्थेषु । १ । क्षेत्रतो, णमिति सर्वत्रालङ्कारमात्रे मृषावादः लोके वा लोकविषये, अलोके वा अलोकविषये । २ । कालतो मृषावादो-दिवा वा दिवसे अधिकरणभूते विषयभूते वा, रात्रौ वा रजन्यामाधारभूतायां वा । ३ । भावतो मृषावादो-रागेण वा मायया लोभलक्षणेन वा, तत्र मायया अग्लानोऽपि ग्लानोऽहं ममानेन कार्यमिति चक्षि,भिक्षाऽऽटनपरिजिहीर्षया वा पादपीडा ममेति भाषते इत्यादि । लोभेन तु शोभनतराऽन्नलाभे सति प्रान्तस्यैषणीयत्वेऽप्यनेषणीयमिदमिति ब्रूते इत्यादि । द्वेषेण वा क्रोधमानस्वरूपेण,तत्र क्रोधेन वदति-त्वं दास इत्यादि । मानेन तु अबहुश्रुत एव बहुश्रुतोऽहमित्यादि । उपलक्षणत्वाद्भयहास्याऽऽदयोऽपीह द्रष्टव्याः । तत्र भयात्किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि भाषते । एवं हास्याऽऽदिष्वपि वाच्यमिति । ४ । द्रव्यभावपदप्रभवा चतुर्भङ्गिका चात्र द्रष्टव्या । सा पुनरियम्-"दव्वओ नामेगे मुसावाए, नो भावओ । भावओ नामेगे मुसावाए, नो दव्वओ । एगे दव्वओ वि, भावओ वि । एगे नो दव्वओ, नो भावओ । तत्थ कोइ कहिंचि सुज्जुओ भणइ इओ तए पसुमिगाइणो वोलिंतगा दिट्ठ त्ति ? । सो पुण दयाए दिट्ठेहिं वि भणइ- न दिट्ठ त्ति । एस दव्वओ मुसावाओ,न भावओ । अवरो मुसं भणिहामि त्ति परिणओ सहसा सच्चं भणइ एसो भावओ, न दव्वओ । अवरो मुसं भणिहामि त्ति परिणओ मुसं चेव भणइ, एस दव्वओ वि, भावओ वि । चरिमभंगो पुण सुन्नो त्ति " ॥

जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवन्नियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहियस्स निव्वियारस्स निव्वित्तीलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइस्स संसारपारगामिस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुययाए चउ-

कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडुप्पन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु मुसावाओ भासिओ वा भासाविओ वा भासिज्जंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं मुसावायं जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायावेज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणामि । तं जहा–अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं एवं हवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय–विरय–पडिहय–पच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, एस खलु मुसावायस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावणयाए अणोद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिण्णे परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥

एतत् सकलमपि सूत्रं मृषावादाभिलापेन प्राग्वत्समवसेयमिति, नवरमिह दोषाः मृषाभाषिणो जिह्वाच्छेदाविश्वासमूकत्वाऽऽदयो वाच्याः । इत्युक्तं द्वितीयं महाव्रतम् ।

साम्प्रतं तृतीयमाह–

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा अरण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हावेज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्नं न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि,न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि. तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

से अदिन्नादाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं अदिन्नादाणे गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु, खित्तओ णं अदिन्नादाणे गामे वा नगरे वा अरण्णे वा, कालओ णं अदिन्नादाणे दिया वा राओ वा, भावओ णं अदिन्नादाणे रागेण वा दोसेण वा। जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरन्नसोवन्नियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहियस्स निव्वियारस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइयस्स संसारपारगामिस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगरुययाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदियओवसट्टेणं पडुप्पन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु अदिन्नादाणं गहियं वा गाहावियं वा घेप्पंतं वा परेहिं समणुन्नायं तं निंदामि, गरिहामि, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि,अणागयं पच्चक्खामि, सव्वं अदिन्नादाणं जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्नं न समणुजाणामि । तं जहा–अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं एवं हवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा एस खलु अदिन्नादाणस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिण्णे परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं । पा० ।

( अदत्ताऽऽदानविरमणव्याख्या 'अदत्तादाणवेरमण' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे गता )

अधुना चतुर्थमाह–

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि. से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा,नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्नं न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥

अथापरस्मिन् चतुर्थे चतुःसङ्ख्ये भदन्त ! महाव्रते मैथुनाद्विरमणं जिनेनोक्तमतः सर्वं भदन्त ! मैथुनं मिथुनकर्म प्रत्याख्यामि । ( से त्ति ) तद्यथा-दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वेत्यनेन द्रव्यपरिग्रहः । तत्र देवानामिदं, दैवमप्सरोऽमरसंबन्धीति भावः । मनुष्याणामिदं मानुषं, स्त्रीपुरुषसत्कमित्यर्थः । तिर्यग्योनौ भवं तैर्यग्योनं, वडवाश्वाऽऽदिप्रभवमित्यर्थः । ( नेव सयमित्यादि ) गतार्थम् । अत्र च दैवं वेत्यादिना द्रव्यतो मैथुनमुक्तम्, अनेन च चतुर्विधं मैथुनमुपलक्षितमित्यतस्तदभिधित्सुकाम आह-

**से मेहुणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ ४ । दव्वओ णं मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा, खित्तओ णं मेहुणे उड्ढलोए वा अहोलोए वा तिरियलोए वा, कालओ णं मेहुणे दिया वा राओ, वा भावओ णं मेहुणे रागेण वा दोसेण वा ॥**

तन्मैथुनं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-द्रव्यत १, क्षेत्रत २, कालत ३, भावत ४ । तत्र द्रव्यतो मैथुनं रूपेषु वा रूपसहगतेषु वा द्रव्येषु भवति, तत्र रूपाणि निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि तु सजीवानि पुरुषाङ्गनाशरीराणि, भूषणसहितानि तु रूपसहगतानि । क्षेत्रतो मैथुनम्-ऊर्ध्वलोके वा मेरुवनखण्डसौधर्मैशानाऽऽदिषु संभवति, अधोलोके वा अधोग्रामभवनपतिभवनाऽऽदिषु, तिर्यग्लोके वा द्वीपसमुद्राचलाऽऽदिषु । (पा०) [ ऊर्ध्वलोकप्रमाणं स्थितिश्च ' उड्ढलोग ' शब्दे द्वितीयभागे ७५२ पृष्ठे प्रतिपादिता ] [ अधोलोकवक्तव्यता ' अहोलोय ' शब्दे प्रथमभागे ८६२ पृष्ठे गता ] [ तिर्यग्लोकवृत्तम् ' तिरियलोग ' शब्दे चतुर्थभागे २३२२ पृष्ठे गतम् ] प्रकृतमुच्यते-कालतो मैथुनं दिवा वा रात्रौ वा स्यात् । भावतो मैथुनं-रागेण वा मायया लोभलक्षणेन, द्वेषेण वा कोपमानलक्षणेन । तत्र मायया मैथुनसंभवो यथा-' एगो साहू एगाए अगारीए सज्जायसंबद्धो बाहुल्लयाए गच्छस्स परियारणाविरहमलहतो नियडीए गुरुं विन्नवेइ । जहा-' भयवं ! दुक्खइ मे गाढमुदरं, ता अणुजाणेह जेण पच्चासन्नगिहे गन्तूण अहापवत्तगिणा पयावेमि । गुरुणा वि अविन्नायपरमत्थेण विसज्जिओ गन्तूण अगारिं पडिसेवित्ता समागओ भणइ-' उवसंता मे वेयण त्ति । '

लोभेन तु मैथुनसम्भवोऽमुनोदाहरणेन भावनीयः-

'तगराए नयरीए अरिहमित्तो नाम आयरिओ विहरइ । तस्स य समीवे दत्तो नाम वाणियओ भद्दाए भारियाए पुत्तेण य अरहन्नएण सद्धिं पव्वइओ । सो तं खुड्डगं न कयावि भिक्खाए हिंडावेइ, पढमालियाईहिं पोसइ, एवं च सो सुकुमालो जाओ, साहूण य अप्पत्तियं, जं सो भिक्खाइसु न हिंडइ, परं खतोवरोहेण न तरंति किंचि भणिउं । अन्नया सो खन्तो कालगओ, तओ साहूहिं तस्स दो तिन्नि दिवसे भत्तं दाउं भिक्खाए ओयारिओ, सो सुकुमालसरीरो गिम्हे उवरिं हेट्ठा य डज्झतो पस्सेयजलकिलिन्नगत्तो अतीव तण्हाभिभूओ छायाए वीसमतो एगाए पउत्थवइयाए वणियमहिलाए नियभवणट्ठियाए दिट्ठो, ओरालसुकुमालसरीरो त्ति काउं तीसे तहिं अणुराओ जाओ । तओ चेडीए सद्दावित्ता पुच्छिओ-' किं मग्गासि त्ति । तेणुत्तं-' भिक्खति । ' तओ अणाए दवाविया से य मोयगा । तओ पुणो पुच्छिओ-' किं निमित्तं तुमं धम्ममिमं करेसि ?। सो भणइ ' सुहनिमित्तं । ' तओ तीए जंपियं- जइ एवं तो मए चेव सम।णं भोगे भुंजाहि, मा इत्थगयं सुहं परिच्चइऊण अणागयसद्दिद्धसुहासाए अप्पाणं किलेसेह त्ति । ' सो वि उदएण तज्जिओ उवसग्गिज्जंतो य पडिभग्गो पच्छन्ने ठिओ भोगे भुञ्जइ, साहूहिं य मग्गिओ, न दिट्ठो, पच्छा से माया उम्मत्तिया जाया पुत्तसोगेण, नयरं भमंती अरहन्नयं विलवंती जं जहिं पासइ तं तहिं सव्वं भणइ-अरहन्नओ दिट्ठो त्ति । एवं विलवमाणी भमइ, जावन्नया तेणालोयणगएण दिट्ठा, पच्चभिन्नाया । तओ ताहे चेव ओयरित्ता पाएसु पडिओ । सा वि तं पेच्छिऊण ताहे चेव सत्थचित्ता जाया । ताए भन्नइ-' पुत्तय ! पव्वयाहि ' मा तित्थयराणं माणं विराहिय दोग्गइं जाहिसि । ' सो भणइ-' अम्मो ! न तरामि दीहकालं संजमं परिवालिउं, जइ परं गहियसंजमो खिप्पमणसणविहिणा कालं करेमि । ' मायाए भणियं-' एवं करेहि । ' मा पुत्तय ! असंजओ भविय संसारसागरे निमज्जाहि" यतः-" वरं पवेट्ठुं जलियं हुयासणं, न यावि भग्गं चिरसंचियं वयं । वरं हि मच्चू सुविसुद्धकम्मुणो, न यावि सीलक्खलियस्स जीवियं ॥ १ ॥" इति । पच्छा सो गुरुसगासे आलोइय पडिक्कंतो । समारोवियपचमहव्वयभरो कयाणसणो भविय ताहे चेव तत्तसिलायले पाओवगमणं करेइ, मुहुत्तेण सुकुमालसरीरो त्ति नवणीयपिंडो व्व उण्हेण विलीणो त्ति ।

कोपेन पुनर्यथा-

"एगो साहू गामंतराओ, गुरुसमीवमागच्छतो अंतरा परिव्वाइयं संमुहमिंतिं पेच्छिय एयाए पवयणपच्चयाए वयं भजामि त्ति पदुट्ठचित्तो तत्थेव तं पडिसेवित्ता गुरुसगासमागओ कहेइ । जहा-' मए दुट्ठपरिव्वाइयाए वयं भग्गाति ।

मानेन पुनर्यथा-

एगम्मि गच्छे एगो तरुणसमणो मणोहरागिई, तं दट्ठूणेगा तरुणमहिला अज्झोववन्ना चिंतेइ-' अहो एयाणुवट्टणाइविभूसावियारीविरयस्स वि इमस्स साहुस्स लावन्नसिरि त्ति । ' तओ सा तं बहुसो ओभासेइ, न य सो तमभिलसइ, तओ अन्नया तीए भणियं, जहा-" फुडं तुमं नपुंसगो सि जो दढाणुरत्तचित्तं मणहरजोव्वणं पि मं न माणेसि । " तओ साहुणा वि संजायाहंकारेण सा दढं पडिसेविय त्ति । "

इह च वेदोदयप्रभवत्वान्मैथुनप्रवृत्तेर्वेदोदयसत्ता सर्वत्र समवसेयेति । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी पुनरियम्-" दव्वओ नामेगे मेहुणे, नो भावओ । भावओ नामेगे, नो दव्वओ । एगे दव्वओ वि, भावओ वि । एगे नो दव्वओ, नो भावओ । तत्थ अरत्तदुट्ठाए इत्थियाए बला परिभुज्जमाणीए दव्वओ मेहुणे, नो भावओ । मेहुणसन्नापरिणयस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ । एवं चेव संपत्तीए दव्वओ वि, भावओ वि । चउत्थो पुण सुन्नो त्ति ।

**जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवण्णियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स**

संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहियस्स निव्वियारस्स निवित्तीलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइस्स संसारपारगामिस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अवोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिवद्धयाए वालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदियवसट्टेणं पडुपन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु मेहुणं सेवियं वा सेवावियं वा सेविज्जंतं वा परेहिं समणुन्नायं, तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणामि । तं जहा-अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं एव हवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा एस खलु मेहुणस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए पारगामिए सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावणयाए अणोद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खाए वोहिलाभाए संसारुत्तारणाए ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥

एतत्सकलमपि सूत्रं गतार्थम्, दोषाश्चेहाब्रह्मसेविनां वधवन्धनायशःकीर्तिपण्डकत्ववन्ध्यावैधव्याऽऽदयो वाच्याः । इत्युक्तं चतुर्थं महाव्रतम् ।

अधुना पञ्चममाह-

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्नं न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥



अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते, किमित्याह-परिगृह्यते स्वीक्रियत इति परिग्रहो, धनधान्यहिरण्याऽऽदिः, तस्माद्विरमणं भगवतोक्तमत' सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि । ( से त्ति ) तद्यथा-अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वेत्यनेन द्रव्यपरिग्रहः । व्याख्या तु पूर्ववत् । " नेव सयं " इत्याद्यपि पूर्ववदेव । अत्र चाल्पं वेत्यादिना द्रव्यपरिग्रह उक्तः, अनेन चतुर्विधपरिग्रह उपलक्षित इत्यतस्तदभिधानायाऽऽह-

से परिग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ । दव्वओ णं परिग्गहे सचित्ताचित्तमीसेसु दव्वेसु, खेत्तओ णं परिग्गहे लोए वा अलोए वा, कालओ णं परिग्गहे दिया वा राओ वा, भावओ णं परिग्गहे अप्पग्घे वा महग्घे वा रागेण वा दोसेण वा ॥

स परिग्रहश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-द्रव्यतः ४। तत्र द्रव्यतः सर्वद्रव्येषु आकाशाऽऽदिसर्वपदार्थेषु। यदाह चूर्णिकार -"गामघरंगणाइपएसेसु ममीकरणाओ आगासपरिग्गहो, चंकमणपएसममीकारकरणाओ धम्मदव्वपरिग्गहो, ठाणनिसीयणतुयट्टणपएसममीकारकरणाओ अधम्मपरिग्गहो, मायापिइमाइएसु जीवेसु ममत्तकरणाओ जीवदव्वओ परिग्गहो, हिरण्णसुवन्नाइएसु दव्वेसु ममत्तकरणाओ पोग्गलदव्वपरिग्गहो, सीउण्हवरिसकालेसु रिउछक्के वा अन्नयरमुच्छियस्स कालपरिग्गहो त्ति।" क्षेत्रत· परिग्रहो-लोके वाऽलोके वा लोकालोकाऽऽकाशममत्वकरणादिति भावः। "सव्वलोए त्ति" क्वचित्पाठः। सङ्गतश्चायम् ग्रन्थान्तरैः सह संवादात्। कालत· परिग्रहो दिवा वा रात्रौ वा, दिनरात्र्यभिलापादित्यर्थः। पठ्यते च-" रयणिमभिसारियाओ, चोरा परदारिया य इच्छंति । तालायरा सुभिक्खं, बहुधन्ना केइ दुब्भिक्खं ॥१॥" दिनरात्र्यधिकरणविवक्षया वा कालपरिग्रहो भावनीयः । भावतः परिग्रहोऽल्पार्घे वाऽल्पमूल्ये महार्घे वा बहुमूल्ये द्रव्ये रागेण वाऽभिष्वङ्गलक्षणेन द्वेषेण वा अप्रीतिलक्षणेन, अन्यद्वेषेणेत्यर्थः । द्रव्याऽऽदिचतुर्भङ्गी पुनरियम्-"दव्वओ नामेगे परिग्गहे नो भावओ। भावओ नामेगे नो दव्वओ । एगे दव्वओ वि भावओ वि । एगे नो दव्वओ नो भावओ। तत्थ अरत्तदुट्ठस्स धम्मोवगरणं दव्वओ परिग्गहो नो भावओ, मुच्छियस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ । एवं चेव संपत्तीए दव्वओ वि भावओ वि। चरमभंगो पुण सुन्नो।"

जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवन्नियस्स उवसमप्पभवस्स नववंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खीसंवलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहिस्स निव्वियारस्स निवित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइस्स संसारपारगामिस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अवोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिवद्धयाए वालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए

तिगारवगरुययाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडुप्पन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु परिग्गहो गहिओ वा गहाविओ वा घिप्पंतो वा परेहिं समणुन्नाओ, तं निंदामि । गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि सव्वं परिग्गहं, जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हावेज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि । तं जहा-अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं, एव हवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा एस खलु परिग्गहस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए पारगामिए सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥

एतदपि सूत्रं पूर्ववद्व्याख्येयम् । दोषाश्चेह परिग्रहिणा वधबन्धनमारणदु खितत्वनरकगमनाऽऽदयो वाच्या । इत्युक्तं पञ्चमं महाव्रतम् ।

साम्प्रतं षष्ठं व्रतमाह-

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं,सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राई भुंजेज्जा, नेवऽन्नेहिं राई भुंजावेज्जा, राई भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते, किमित्याह-रात्रिभोजनात्-रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुङ्क्ते, रात्रौ गृह्णाति दिवा भुङ्क्ते, दिवा गृह्णाति रात्रौ भुङ्क्ते,दिवा गृह्णाति दिवा भुङ्क्ते संनिधिपरिभोगे, इत्येवंविधभङ्गचतुष्कस्वरूपान्निशाऽभ्यवहाराद्विरमणं भगवतोक्तमत सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि । तद्यथा-अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, इत्यनेन द्रव्यपरिग्रह । तत्राश्यत इत्यशनमोदनाऽऽदि,पीयते इति पानं मृद्वीकापानाऽऽदि, खाद्यत इति खाद्यं खर्जूराऽऽदि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं ताम्बूलाऽऽदि । एतच्च नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे नैवान्यै रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्न समनुजानामीत्येतत् यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । अत्राशनं वेत्यादिना द्रव्यतो रात्रिभोजनमुक्तम्, अनेन च चतुर्विधं रात्रिभोजनमुपलक्षितम्, इत्यतस्तदभिधातुमाह-

से राईभोयणे चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा-दव्वओ, खित्तओ कालओ, भावओ ४ । दव्वओ णं राईभोयणे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा, खित्तओ ण राईभोयणे समयक्खित्ते, कालओ ण राईभोयणे दिआ वा राओ वा, भावओ णं राईभोयणे तित्ते वा कडुए वा कसाए वा अंबिले वा महुरे वा लवणे वा रागेण वा दोसेण वा ॥

तद्रात्रिभोजनं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-द्रव्यत., क्षेत्रत., कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो रात्रिभोजनम्-अशने वा पाने वा खाद्ये वा स्वाद्ये वा, क्षेत्रतो रात्रिभोजनं-समयेन कालविशेषेणोपलक्षितं, क्षेत्रं समयक्षेत्रमर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणम् । तस्मिन् संभवति, न परतः, मनुष्यलोकप्रसिद्धदिनरजन्यभावात् । कालतो रात्रिभोजनं-दिवा वा, सन्निधिपरिभोग इत्यर्थ । रात्रौ वा रजन्या वा,भावतो रात्रिभोजन भवति,क्वेत्याह-तिक्ते वा चिर्भिटिकाऽऽदौ,कटुके वा आर्द्रकतेमनाऽऽदौ, कषाये वा वल्लाऽऽदौ,अम्ले वा तक्राऽऽरनालाऽऽदौ,मधुरे वा क्षीरदध्यादौ, लवणे वा प्रकृतिक्षारे तथाविधजलशाकाऽऽदौ, लवणोत्कटे वा अन्यस्मिन् द्रव्ये,रागेण वाऽभिष्वङ्गलक्षणेन, द्वेषेण वा अनभिष्वङ्गलक्षणेनेति । क्वापीदं पदद्वयं न दृश्यत एव । द्रव्याऽऽदिचतुर्भङ्गी पुनरियम्-" दव्वओ नामेगे राई भुंजई नो भावओ । भावओ नामेगे नो दव्वओ । एगे दव्वओ वि भावओ वि । एगे नो दव्वओ नो भावओ । तत्थ अणुग्गए सूरिए उग्गओ त्ति, अत्थमिए वा अणत्थमिओ त्ति अरत्तदुट्ठस्स, कारणओ रयणीए वा भुंजमाणस्स दव्वओ राईभोयणं नो भावओ । राईए भुंजामि त्ति मुच्छियस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ । एवं चेव संपत्तीए दव्वओ वि भावओ वि । चउत्थभंगो सुन्नो । "

जं मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठियस्स विणयमूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरन्नसोवन्नियस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खीसंबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालियस्स चत्तदोसस्स गुणग्गाहिस्स निव्वियारस्स निव्वित्तीलक्खणस्स पंचमहव्वयजुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइस्स संसारपारगामिस्स निव्वाणगमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अभिगमेण वा पमाएणं रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए मंदयाए किड्डयाए तिगारवगुरुययाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिओवसट्टेणं पडुप्पन्नभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु राईभोयणं भुंजियं वा भुंजावियं वा

भुंजंत वा परेहिं समणुन्नायं तं निंदामि, गरिहामि, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईयं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि सव्वं राईभोयणं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं राई भुंजेज्जा, नेवऽन्नेहिं राई भुंजावेज्जा, राई भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणामि। तं जहा-अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं एवं हवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे अ, एस खलु राईभोयणस्स वेरमणे हिए सुहे खमे निस्सेसिए आणुगामिए सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपीडणयाए अपरियावणयाए अणुद्दवणयाए महत्थे महागुणे महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने परमरिसिदेसिए पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए ति कट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ॥

एतत्सूत्रं सकलमपि प्राग्वत् । एतच्च रात्रिभोजनव्रतं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोः ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं, मध्यमतीर्थकरतीर्थे पुनः ऋजुप्राज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति । दोषाश्चेह रात्रिभोजिना पिपीलिकाशलभाऽऽदिसत्त्वविनाशाऽऽदयो वाच्याः। इत्युक्तं षष्ठं व्रतम् ।

अथ समस्तव्रताभ्युपगमख्यापनायाऽऽह-

इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोअणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ।

इत्येतान्यनन्तरोदितानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि,किमित्याह-( अत्तहियट्ठयाए त्ति ) आत्मने जीवाय हितो मोक्षस्तदर्थमात्महितार्थाय, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलापानुमत्या हिंसाऽऽदावनुमत्यादिभावात् । उप सामीप्येन संपद्याङ्गीकृत्योपसम्पद्य विहरामि सुसाधुविहारेण वर्तेऽहं, तदभावेऽङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावप्रसङ्गादिति कृता महाव्रतोच्चारणा ।

साम्प्रतं महाव्रतानामेव यथाक्रममतिचारानुपदर्शयितुमाह-

अप्पसत्था य जे जोगा, परिणामा य दारुणा ।
पाणाइवायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥१॥ रूपकम् ।

अप्रशस्ता हिंसाहेतुत्वादसुन्दराः, चशब्दो वक्ष्यमाणपदापेक्षया समुच्चयार्थः । ये केचन योगा अयतचङ्क्रमणभाषणाऽऽदयो व्यापाराः, परिणामश्च भूतघाताध्यवसाया , च पूर्वपदापेक्षया समुच्चये, दारुणा रौद्राः, प्राणातिपातस्य प्राणि( प्राण ) प्रहाणस्य , विरमणे निवृत्तिविषयेऽयमुक्तो भगवद्भिः प्रतिपादितोऽतिक्रमोऽतिचारः, इति मत्वा तान् परिहरेदिति भावः । एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या ।

द्वितीयव्रतमधिकृत्याऽऽह-

तिव्वरागा य जा भासा, तिव्वदोसा तहेव य ।
मुसावायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ २ ॥

तीव्ररागा उत्कटविषयानुबन्धा या काचिद्भाष्यत इति भाषा भारती, तीव्रद्वेषा उग्रमत्सरा,तथैव चेति समुच्चयपूरणार्थान्यव्ययानि, मृषावादस्य वितथभाषणस्य, विरमणे विरतिविषयेऽयम उक्तो जिनैर्गदितोऽतिक्रमो देशभङ्गः सर्वभङ्गो वेति भावः ।

तृतीयव्रतमाश्रित्याऽऽह-

उग्गहं च अजाइत्ता, अविदिन्ने य उग्गहे ।
अदिन्नादाणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ३ ॥

अवगृह्यत इत्यवग्रह आश्रय , तमयाचित्वा तस्मात् स्वामिन स्वामिसंदिष्टाद्वा सकाशादननुज्ञाप्य, तत्रैव यदवस्थानमिति गम्यते । तथा अविदत्ते वाऽवग्रहस्वामिनाऽवितीर्णेऽवग्रहे प्रतिनियताऽवग्रहमर्यादाया बहिरित्यर्थः । यच्चेष्टनमिति वाक्यशेषः । अदत्ताऽऽदानस्य विरमणे एष उक्तोऽतिक्रमो विराधनेत्यर्थः ।

चतुर्थव्रतमङ्गीकृत्याऽऽह-

सद्दारूवारसागंधा-फासाणं पवियारणा ।
मेहुणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ४ ॥

आकारस्येहाऽऽगमिकत्वात् शब्दाश्च प्रक्रमाद्वेणुवीणाकामिनीसमुत्थकलध्वनय ,एवं रूपाणि ललनाऽऽदिमनोहराऽऽकृतय. रसाश्च मधुराऽऽदिविशिष्टाऽऽस्वादाः,गन्धाश्च स्रक्चन्दनाऽऽदिदिव्यपरिमलाः, स्पर्शाश्च मृदुतूलीयोपिदङ्गाऽऽदिस्पर्शास्ते तथा, तेषां प्रविचारणा रागात्प्रतिसेवना, मैथुनस्याब्रह्मासेवनस्य, विरमणे एष उक्तोऽतिक्रमोऽतिचारः, तस्मादेतान्न कुर्यादिति हृदयमिति ।

परिग्रहव्रतमुररीकृत्याऽऽह-

इच्छा मुच्छा य गेही य, कखा लोभे य दारुणे ।
परिग्गहस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ५ ॥

इच्छा मूर्च्छा च गृद्धिश्च काङ्क्षा लोभश्च दारुण इत्येकार्थानि अबुधबोधनायोपन्यस्तानि । अथवा-इच्छा अनागताऽऽन्तरार्थप्रार्थना, मूर्च्छा च हृतातीतनष्टपदार्थशोचना, गृद्धिश्च विद्यमानपरिग्रहप्रतिबन्धः, अप्राप्तविविधार्थप्रार्थना काङ्क्षा,तद्रूपो लोभ काङ्क्षा लोभश्च, चशब्दाः समुच्चये,किंविशिष्टो ? । दारुणस्तीव्रः, परिग्रहस्य विरमणे एष उक्तोऽतिक्रम इति पूर्ववत् ।

षष्ठव्रतमुररीकृत्याऽऽह-

अइमत्ते य आहारे, सूरखेत्त य संकिए ।
राईभोयणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे ॥ ६ ॥

साधूनां हि कवलापेक्षया भोजनमानमिदम् । यदुक्त-"बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥ १ ॥" पञ्चभागकल्पितजठरापेक्षया चेदम्-" अद्धं असणस्स सवं. जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे । वाउपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणगं कुज्जा ॥ १ ॥" ततश्चास्मात्प्रमाणाद्भोजनमात्रादधिकोऽतिमा-

अश्च पूर्ववदाहारो भोजनं, भुक्त इति गम्यते। दिवाऽपि हि समधिकभोजने कृते रात्रौ भुक्तान्नगन्धोद्गाराः प्रजायन्ते,वमनं वा कदाचित्, तत्र च रात्रिभोजनदोषः,समुद्गिलितगलने च प्रभूततरा दोषा इति। सूरस्याऽऽदित्यस्य क्षेत्रम् उदयास्तलक्षणं नभःखण्डं सूरक्षेत्रं, तस्मिंश्च शङ्किते उदयक्षेत्रमागतो वा, न वा, अस्तदेशं प्राप्तो वा, न वा दिनकर इत्यारेकिते आहारो, भुक्त इति वर्त्तते। रात्रिभोजनस्य विरमणे उक्तोऽतिक्रम इति व्याख्यातमेव। दर्शिता महाव्रतेष्वतिचाराः।

साम्प्रतं यथा तान्येवातिचाररहितानि परिपालितानि भवन्ति तथा दर्शयितुमाह-

दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
पढमं वयमणुरक्खे, विरया मो पाणाइवायाओ ॥ १ ॥
दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
बीयं वयमणुरक्खे, विरया मो मुसावायाओ ॥ २ ॥
दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
तइयं वयमणुरक्खे, विरया मो अदिन्नदाणाओ ॥ ३ ॥
दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
चउत्थं वयमणुरक्खे, विरया मो मेहुणाओ य ॥ ४ ॥
दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
पंचमं वयमणुरक्खे, विरया मो परिग्गहाओ ॥ ५ ॥
दंसणनाणचरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समणधम्मे ।
छट्ठं वयमणुरक्खे विरया मो राइभोयणाओ ॥ ६ ॥

दर्शनं च सम्यग्दर्शनं, ज्ञानं चाऽऽभिनिबोधिकाऽऽदि, चारित्रं च सामायिकाऽऽदि दर्शनज्ञानचारित्राणि कर्मताऽऽपन्नानि अविराध्य अखण्डितानि परिपाल्य, विराधना च ज्ञानदर्शनयोः प्रत्यनीकताऽऽदिलक्षणा पञ्चविधा । यदाह-
" नाणपडिणीयनिन्हव-अच्चासायणतदतरायं च। कुणमाणस्सऽइयारो नाणविसंवायजोगं च ॥ १ ॥ " तत्र ज्ञानप्रत्यनीकता पञ्चविधज्ञाननिन्दया । तद्यथा आभिनिबोधिकज्ञानमशोभनं, यतस्तदवगतं ज्ञानं कदाचिदन्यथेति, श्रुतज्ञानमपि शीलविकलस्याकिञ्चित्करत्वादशोभनमेव, अवधिज्ञानमप्यरूपिद्रव्यगोचरत्वादसाधु, मन.पर्यायज्ञानमपि मनुष्यलोकावधिपरिच्छिन्नगोचरत्वादशोभनं, केवलज्ञानमपि समयभेदेन दर्शनज्ञानप्रवृत्तेरेकसमये अकेवलत्वादशोभनमिति । दर्शनप्रत्यनीकता तु क्षायिकदर्शनिनोऽपि श्रेणिकाऽऽदयो नरकमुपगता इत्यत. किं दर्शनेनेति निन्दया। निह्नवो व्यपलाप , स च ज्ञानस्यान्यसकाशे अधीतमन्यं व्यपदिशतो जायते, दर्शनस्यापि सम्मत्यादिदर्शनप्रभावकशास्त्राण्यधिकृत्यैवमेव द्रष्टव्यम्। अत्याशातना तु ज्ञानस्य
" काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य। मोक्खाहिगारियाणं,जोइसजोणीहि किं कज्जं ॥ १ ॥ " दर्शनस्य तु किमेभि सम्मत्यादिभि कलहशास्त्रैरिति। अन्तरायं द्वयोरपि कलहास्वाध्यायिकाऽऽदिभि करोति। ज्ञानविसंवादयोगोऽकालस्वाध्यायाऽऽदिना, दर्शनविसंवादयोगस्तु शङ्काकाङ्क्षाऽऽदिनेति। चारित्रविराधना पुन सावद्ययोगानुमत्यादिलक्षणा विचित्रेति । एतान्यविराध्य, किमित्याह-स्थितः समारूढः सन्, क्वेत्याह-श्रमणधर्मे श्रमणानां साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिलक्षण' समाचारः तस्मिन्, किं करोमीत्याह-प्रथममाद्यं व्रतं यमम् ( अणुरक्खे त्ति ) अनुरक्षामि सर्वातिचारविरहितं पालयामि. किंविशिष्ट इत्याह-( विरया मो त्ति ) वचनस्य व्यत्ययाद्विरतोऽस्मि निवृत्तोऽहं, कस्मात्प्राणातिपाताज्जीववधादिति। एवमन्यदपि द्वितीयाऽऽदिव्रताभिलापि सूत्रपञ्चकमेतदनुसारेण समवसेयमिति।

अथ प्रकारान्तरेणापि महाव्रतरक्षणमभिधातुमाह-

आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे ।
पढमं वयमणुरक्खे, विरया मो पाणाइवायाओ ॥ १ ॥
आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे ।
बीयं वयमणुरक्खे, विरया मो मुसावायाओ ॥ २ ॥
आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे।
तइयं वयमणुरक्खे, विरया मो अदिन्नदाणाओ ॥ ३ ॥
आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे ।
चउत्थं वयमणुरक्खे, विरया मो मेहुणाओ ॥ ४ ॥
आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे ।
पचमं वयमणुरक्खे, विरया मो परिग्गहाओ ॥ ५ ॥
आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे ।
छट्ठं वयमणुरक्खे, विरया मो राईभोयणाओ॥ ६ ॥
आलयविहारसमिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे।
तिविहेण अप्पमत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७ ॥

(आलए त्ति) सूचकत्वादालयवर्ती, सकलकलङ्कविकलनिलयनिषेवीत्यर्थ.। (एवं विहार त्ति) यथोक्तविहारेण विहरन्। तथा-ईर्याऽऽदिसमितिपञ्चकेन समितः। तथा-युक्तो नान्यास्नानभूशयनादन्तपवनशिरस्तुण्डमुण्डनभिक्षाभ्रमणक्षुत्पिपासाशीताऽऽतपाऽऽदिसहनगुरुकुलवसनाऽऽदिलक्षणैः श्रमणगुणै समन्वित.। तथा-गुप्तित्रयेण गुप्त , स्थितो व्यवस्थितः श्रमणधर्मे क्षान्त्यादिके यत्यनुष्ठाने,प्रथममाद्यं व्रतं यमम्, अनुरक्षामि सदातिचारविरहितं पालयामि, ( विरया मो त्ति ) वचनव्यत्ययाद्विरतोऽस्मि प्राणातिपातात्। इत्येवं शेषसूत्राण्यपि द्वितीयाऽऽदिव्रताभिलापेन नेतव्यानि, नवरं सप्तमसूत्रस्योत्तरार्द्धे विशेषो, यथा-त्रिविधेन मनोवाक्कायलक्षणेन करणेनाप्रमत्त. सुप्रणिहित , रक्षामि स्वजीवितमिवाऽऽदरेण पालयामि महाव्रतान्युक्तलक्षणानि पञ्चेति पञ्चसंख्यानीति ।

इदानीमेकाऽऽद्येकोत्तरवृद्धिकाना दशान्ताना शुभाशुभस्थानाना परिवर्जनाङ्गीकारकरणद्वारेण महाव्रतपरिरक्षणमभिधानायाऽऽह-

सावज्जजोगमेगं, मिच्छत्तं एगमेव अन्नाणं ।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पच ॥ १ ॥

अवद्यं पापं, सहावद्येन यो वर्त्तते स सावद्य , स चासौ योगश्च व्यापार ,तमेकमेकभेदं सकलनिन्द्यकर्मणा सावद्ययोगत्वाव्यभिचारादिति। तथा-मिथ्या इत्येतस्य भावा मिथ्यात्वं मोहनीयकर्मोदयजन्यो विपर्यस्ताध्यवसायरूपो जीवपरिणाम , तन्निमित्तलौकिकदेवताऽऽदिवन्दनाऽऽदिक्रिया च त

देकम आभिग्रहिकानाभिग्रहिकाभिनिवेशिकानाभोगिकसांशयिकभेदात्पञ्चविधमपि, उपाधिभेदतो बहुतरभेदमपि वा विपर्ययसामान्यादेकप्रकारम । तथा (एव त्ति) अनुस्वारलोपादेवम्, मिथ्यात्ववदेकविधमित्यर्थः । ( अन्नाणं ति ) नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं संशयविपर्ययानध्यवसायाऽऽत्मको ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणकर्मोदयप्रभवो जीवस्यावबोधपरिणामः, तत्प्रभवग्रन्थविशेषाश्च तदप्युक्तक्रमेणानेकविधमप्यबोधसामान्यादेकविधमिति । किमित्याह-परिवर्जयन् परिहरन्, गुप्तो मनोवचनशरीरैः संवृतः सन् रक्षामि सुविशुद्धानि परिपालयामि महाव्रतान्युक्तलक्षणानि पञ्चेति पञ्चसङ्ख्यानीति ।

तथा-

अणवज्जजोगमेगं, सम्मत्तं एगमेव नाणं तु ।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २ ॥

अनवद्ययोगं कुशलानुष्ठानम्, एकं सकलकुशलानुष्ठानानामनवद्ययोगत्वाव्यभिचारादेकप्रकारम् । तथा-सम्यक्त्वमिति । सम्यक्शब्दः प्रशंसार्थः, सम्यगित्येतस्य भावः सम्यक्त्वं, दर्शनमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमाऽऽविर्भूतो जिनोक्ततत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणामः, तच्चोपाधिभेदादनेकप्रकारमपि श्रद्धानसामान्यादेकमेव एकप्रकारमेव, एकजीवस्य चैकदैकस्यैव भावादिति । तथा-( नाणं तु त्ति ) तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् ज्ञानमप्येकविधमेव, तत्र ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानमावरणक्षयक्षयोपशमाऽऽदिसमुत्पन्नो मतिश्रुताऽऽदिविकल्पाऽऽत्मको जीवस्यावबोधपरिणामः, तच्चानेकमप्यवबोधसामान्यादेकमुपयोगापेक्षया वा । तथाहि-लब्धितो युगपत् बोधविशेषाणामेकदा संभवेऽप्युपयोगत एक एव सम्भवत्येकोपयोगत्वाज्जीवानामिति । नन्ववबोधसामान्यात्सम्यक्त्वज्ञानयोः कः प्रतिविशेषः ? । उच्यते-रुचिः सम्यक्त्वं, रुचिकारणं तु ज्ञानम् । यथोक्तम्-" नाणमवायधिईओ, दंसणमिट्ठं जओग्गहेहाओ । तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥ १ ॥ " एतानीत्याह-उपसम्पन्नः प्रतिपन्नः युक्तः श्रमणगुणैः रक्षामि पालयामि महाव्रतानि अणितरसरूपाणि पञ्चेति पञ्चसङ्ख्यापरिच्छिन्नानीति ।

नां वाऽसंप्रयोगचिन्तनम १ । एवं शूलशिरोरोगाऽऽदिवेदनाया अपि विप्रयोगप्रार्थनम् २ । इष्टशब्दाऽऽदिविषयाणां सातवेदनायाश्चाविप्रयोगसंप्रयोगप्रार्थनम् ३ । देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिसम्बन्ध्यृद्धिप्रार्थनं च ४ । शोकाऽऽक्रन्दनस्वदेहताडनविलपनाऽऽदिलक्षणलक्ष्यं तिर्य्यग्गतिगमनकारणं विज्ञेयम् । तथा-रोदयतीति रुद्र आत्मैव, तस्य कर्म रौद्रं, तदपि सत्त्वेषु वधवेधबन्धनदहनाङ्कनमारणाऽऽदिप्रणिधानम् १ । पैशुन्यासत्यासद्भूतभूतघाताऽऽदिवचनचिन्तनम् २ । तीव्रकोपलोभाऽऽकुलं भूतोपघातपरायणं परलोकापायनिरपेक्षं परद्रव्यहरणप्रणिधानम् ३ । सर्वाभिशङ्कनपरं परोपघातपरायणं शब्दाऽऽदिविषयसाधकद्रव्यसंरक्षणप्रणिधानम् ४ । उत्सन्नवधाऽऽदिगम्यं नरकगतिगमनकारणं समवसेयम् । एते च, किमित्याह-परिवर्जयन् गुप्तः सन् रक्षामि महाव्रतानि पञ्चेति ।

तथा-

दुविहं चरित्तधम्मं, दुन्नि य झाणाइ धम्मसुक्काइं ।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ४ ॥

द्विविधं देशसर्वचारित्रभेदाद् द्विप्रकारं, चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति, चर्यते वा गम्यतेऽनेन निर्वृताविति चरित्रम् । अथवा-चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणाच्चरित्रं निरुक्तन्यायादिति चारित्रमोहनीयक्षयाऽऽद्याविर्भूत आत्मनो विरतिरूपः परिणामस्तल्लक्षणो धर्मः श्रेयश्चारित्रधर्मस्तं, द्वे च द्विसंख्ये च ध्याने प्रणिधाने धर्म्यं शुक्लं च धर्म्यशुक्ले, तत्र श्रुतचरणधर्मादनपेतं धर्म्यं, तच्च सर्वज्ञाऽऽज्ञाऽनुचिन्तनम् १ । रागद्वेषकषायेन्द्रियवशजन्त्वपायविचिन्तनम् २ । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिशुभाशुभकर्मविपाकसंस्मरणम् ३ । क्षितिवलयद्वीपसमुद्रप्रभृतिवस्तुसंस्थानाऽऽदिधर्माऽऽलोचनाऽऽत्मकम् ४ । जिनप्रणीतभावश्रद्धानाऽऽदिचिह्नगम्यं देवगत्यादिफलसाधकं ज्ञातव्यम । तथा-शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा शोकं क्लमयत्यपनयतीति निरुक्तविधिना शुक्लम् । एतदपि पूर्वगतश्रुतानुसारिनानानयमतैकद्रव्यगतोत्पत्तिस्थितिभङ्गाऽऽदिपर्यायानुस्मरणाऽऽदिस्वरूपम अवधासंमोहाऽऽदिलिङ्गगम्यं मोक्षाऽऽदिफलप्रसाधकं विज्ञेयम् । शेषं प्राग्वद् ज्ञेयमिति ।

उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ६ ॥

(तेउ त्ति) तैजसीम् (पम्ह त्ति) पद्माम् (सुक्क त्ति) शुक्लां चे-त्येतास्तिस्त्रस्त्रिसंख्याः,चशब्दः प्राग्योजित एव । लेश्याः परि-णामविशेषाः, सुप्रशस्ताः शुभस्वरूपत्वात् शुभकर्मबन्धहेतु-त्वाच्चारित्राऽऽदिगुणलाभकारणत्वात् शुभगतिनिबन्धनत्वा-च्च सुन्दराः । किमित्याह-उपसंपन्न इत्यादि पूर्ववदिति । तत्र कृष्णा वर्णतः स्निग्धजीमूतगवलव्यालभ्रमराञ्जनाऽऽदिस-मानवर्णैः,रसतो रोहिणीपिचुमन्दकटुकतुम्बकाऽऽदिसमधि-कतमरसैः,गन्धतः कुथितगोकडेवराऽऽदिसमधिकतमगन्धैः स्पर्शतः क्रकचाऽऽदिसमधिकतमस्पर्शैः,सकलकर्मप्रकृतिनि-ष्यन्दभूतैः कृष्णद्रव्यैर्जनितत्वात्कृष्णाभिधाना । नीला तु वर्ण-तो नीलाशोकगुलिकावैडूर्येन्द्रनीलचापपिच्छाऽऽदिसमवर्णैः, रसतो मरिचपिप्पलीनागराऽऽदिसमधिकतररसैः, गन्धतो मृततुरगशरीराऽऽदिसमधिकतरगन्धैः, स्पर्शतो गोजिह्वाऽऽ-दिसमधिकतरकर्कशस्पर्शैः सकलप्रकृतिनिष्यन्दभूतैर्नीलद्र-व्यैर्जनितत्वान्नीलाभिधाना । कापोती तु वर्णतोऽतसीकुसु-मपारापतशिरोधराफलिनीकन्दलाऽऽदिधूम्रद्रव्यतुल्यवर्णैः, रसतः तरुणाम्रतालकपित्थाऽऽदिसमधिकरसैः, गन्धतः कुथि-तसर्पादिसमधिकगन्धैः, स्पर्शतः कठोरपलाशतरुपत्रा-दिसमधिकस्पर्शैः सकलप्रकृतिनिष्यन्दभूतैः कपोताऽऽभद्रव्यै-र्निष्पन्नत्वात्कापोती संज्ञा । तैजसी तु वर्णतो वह्निज्वालशुकमु-खकिंशुकतरुणार्कहिङ्गुलुकाऽऽदिलोहितद्रव्यसमानवर्णै, रसतः परिणताऽऽम्रसुपक्वकपित्थाऽऽदिसमधिकरसैः, गन्धतो विच-किलपाटलाऽऽदिसमधिकगन्धैः स्पर्शतः शाल्मलीफलतूलाऽऽ-दिसमधिकस्पर्शैः तेजोवर्णद्रव्यैर्निष्पन्नत्वात्तैजसी संज्ञा । पद्मा तु वर्णतो हरिद्राहरितालाऽऽदिपीतद्रव्यसमवर्णैः, रसतो वर-वारुणीमध्वादिसमधिकरसैः, गन्धतः शतपत्रिकापुटपाकगन्धा-ऽऽदिसमधिकतरगन्धैः, स्पर्शतो नवनीतरुताऽऽदिसमधि-कतरसुकुमारस्पर्शैः, पद्मगर्भाऽऽभद्रव्यैर्निष्पन्नत्वात्पद्माऽभि-धाना । शुक्ला तु वर्णतः शङ्खकुन्देन्दुहारक्षीररजताऽऽदिसद्द-शवर्णैः, रसतो मृद्वीकाखण्डक्षीरखर्जूरशर्कराऽऽदिसमधिक-तमशुभरसैः, गन्धतः-कर्पूरमालतीमाल्यादिसमधिकतमसुर-भिगन्धैः, स्पर्शतः शिरीषपुष्पाऽऽदिसमधिकतमसुकुमारस्पर्शैः शुक्लद्रव्यैर्जनितत्वाच्छुक्लाऽभिधाना । पा० । ( विशेषतो ले-श्याविस्तरः स्वस्वस्थाने )

मणसा मणसच्चविऊ, वायासच्चेण करणसच्चेण ।
तिविहेण वि सच्चविऊ, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७ ॥

अस्य प्राकृतचूर्ण्यनुसारिणी व्याख्येयम्-मनसा शुभस्वभाव रूपेण चेतसा करणभूतेन रक्षामि महाव्रतानि पञ्चेति सर्व-त्र योगः । किंविशिष्ट सन्नित्याह-( मणसच्चविउ त्ति ) मनसः सत्यं मनःसत्यं, मनःसंयम इत्यर्थः । स चाकुशलमनोनिरो-धकुशलमनःप्रवर्तनलक्षणः, तं वेत्ति सम्यगासेवातो जाना-मीति मनःसत्यविद्वान्, तथा-वाक्सत्येन कुशलाकुशलवच-नोदीरणानिरोधलक्षणेन वाक्संयमेन करणभूतेन, तथा-करण-सत्येन क्रियातथ्येन,कायसंयमेनेत्यर्थः । स च सति कार्ये उप-योगतो गमनाऽऽगमनाऽऽदिविधानं तदभावे तु संलीनकरच-रणाऽऽद्यवयवस्यावस्थानं यदिति । अनेन च भङ्गत्रयाभिधानेना-न्यदपि द्विकसंयोगभङ्गत्रयं सूचितम् । तद्यथा-मनोवाक्सत्ये-न, मनःकायसत्येन, वाक्कायसत्येन चेति । तथा-( तिविहेण वि सच्चविउ त्ति ) त्रिविधेनाऽपि मनोवाक्कायलक्षणेन कर-णेन सत्यविद्वान् संयमज्ञः, शुद्धसंयमपालक इत्यर्थः । अनेन च त्रिकसंयोगभङ्गः प्रदर्शित इत्येवं सत्यविकल्पेन संयमेन रक्षामि परिपालयामि, महाव्रतानि पञ्चेति ॥

तथा-

चत्तारि य दुहसेज्जा, चउरो सन्ना तहा कसाया य ।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ८ ॥

चतस्रश्चतु सङ्ख्याः, चशब्दोऽभ्युच्चये, शेरते आस्विति श-य्याः, दुःखदाः शय्याः दुःखशय्याः, ताश्च द्रव्यतोऽतथावि-धस्वरूपाः, भावतस्तु दुःस्थचित्ततया दुःश्रमणतास्वभावाः प्रवचनाश्रद्धान१परलाभप्रार्थन२कामाऽऽशंसन३स्नानाऽऽदि-प्रार्थनविशेषिता मन्तव्याः । ( पा० ) प्रथमा दुःखशय्या-प्रव-चनाश्रद्धानरूपा । तथा द्वितीया-परलाभप्रार्थनरूपा । तथा तृतीया-कामाऽऽशंसनरूपा । तथा चतुर्थी-स्नानाऽऽदिप्रार्थन-विशेषिता च । पा० । ( 'दुहसेज्जा' शब्दे चतुर्थभागे २६०३ पृष्ठे गता ) तथा-चतस्रश्चतु सङ्ख्याकाः का इत्याह-सञ्ज्ञानानि संज्ञा असातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्याश्चेतनाविशेषाः । ताश्चे-मा -आहारसंज्ञा १, भयसंज्ञा २, मैथुनसंज्ञा ३, परिग्रहसंज्ञा च ४ । ( पा० ) ( आहारसंज्ञा ' आहारसण्णा ' शब्दे द्वि-तीयभागे ५२७ पृष्ठे गता ) ( भयसंज्ञास्वरूपम् ' भयसण्णा ' शब्दे द्रष्टव्यम् ) ( मैथुनसंज्ञा ' मेहुणसण्णा ' शब्दे ) ( परिग्र-हसंज्ञा ' परिग्गहसण्णा ' शब्दे वक्ष्यते ) तथा-कषायाश्चेति । तेन चतुर्विधप्रकारेण कषायांश्च परिवर्जयामिति । तत्र कृष-न्ति विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुखदुःखफलयोग्यं कलुषयन्ति वा जी-वमिति निरुक्तविधिना कषायाः । उक्तं च- 'सुहदुक्खबहुसईयं, कम्मक्खेत्तं कसंति ते जम्हा । कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाय त्ति वुच्चंति ॥ १ ॥ " अथवा कषति हिंसन्ति देहिन इति कषः कर्म, भवो वा तस्याऽऽयः लाभहेतुत्वात्कषस्य वा आययन्ति गमयन्ति देहिन इति कषाऽऽयाः । उक्तं च-" कम्मं कसं भवो वा, कसमाओसिं जओ कसाया उ । कसमाययंति व जओ, गमयति कसं कसाय त्ति ॥१॥ " ते चेमे, क्रोधो, मानो, माया, लोभश्च । ( पा० ) ( क्रोधकषायः ' कसाय ' शब्दे तृतीयभागे ३६३ पृष्ठे गतः ) ( मानकषायः ' माणकसाय ' शब्दे वक्ष्यते, ' माण ' शब्दे च विस्तरः ) ( मायाकषायः ' मायाकसाय ' शब्दे, 'माया' शब्दे च वक्ष्यते ) ( लोभकषायः ' लोभ ' शब्दे द्रष्टव्यः ) " परिवज्जतो " इत्यादि पूर्ववत् ॥ ८ ॥

तथा-

चत्तारि य सुहसिज्जा, चउव्विहं संवरं समाहिं च ।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ९ ॥

चतस्रश्चतुःसङ्ख्याः । च. समुच्चये । का इत्याह-सुखदाः शय्याः सुखशय्याः । एता दुःखशय्याविपरीता प्रायः प्राणि-वावगन्तव्याः । ( पा० ) ( चत्वारोऽपि सुखशय्याः 'सुहसेज्जा' शब्दे वक्ष्यन्ते) तथा-चतुर्विधं चतुःप्रकारम् । किमित्याह-संव-रं संयमम् ( पा० ) ( संवरस्य बहवो भेदाः ' संजम ' शब्दे ' संवर ' शब्दे च वक्ष्यन्ते ) तथा-( समाहिं चेति ) समाधानं समाधिः प्रशस्तभावाविरोधलक्षणः, स च दर्शनज्ञानतपश्चारि-त्रविषयभेदाच्चतुर्विधः, दर्शनाऽऽदीनां समस्तानां वा अविरोध

इतिकृत्वा तमुपसंपन्न इत्यादि पूर्ववदिति । ( समाधि-भेदाः ' समाहि ' शब्दे वक्ष्यन्ते )

**पंचेव य कामगुणे, पंचेव य अण्हवे महादोसे ।**
**परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥१०॥**

पञ्चैव मनोज्ञशब्दरूपरसगन्धस्पर्शभेदात्पञ्चसंख्या एव, चशब्दोऽर्थान्तराभिधानसमुच्चयार्थः। के इत्याह-कामगुणे रागाऽऽतुरैः प्राणिभिरभिकाङ्क्ष्यन्त इति कामा अभिलषणीयपदार्थाः, त एवाऽऽत्मसंयमनैकहेतुत्वाद् गुणाः सूत्रतन्तवः,आत्मगुणोपघातकारणत्वाद्वा गुणाः कामगुणाः । अथवा-कामस्य मदनस्याभिलाषामात्रस्य वा संपादका गुणा धर्माः पुद्गलानां कामगुणाः, ते चानर्थहेतवः । ( पा० ) ( तेषामनर्थहेतुत्वं ' कामगुण ' शब्दे तृतीयभागे ४३४ पृष्ठे दर्शितम् ) तान् कामगुणान् परिवर्जयन्निति योगः । तथा-पञ्चैव प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहभेदात्पञ्चसंख्या एव,च समुच्चये । के इत्याह-आस्रवन्त्याद्रवन्ते कर्म यैस्ते आस्रवा आस्रवा इत्यर्थस्तान्, किंविधानित्याह-महान्तश्च ते दोषाश्च महादोषाः,दारुणदुःखहेतुत्वात्प्रकृष्टदूषणानि तान् । शेषं पूर्ववदिति ।

तथा-

**पंचिंदियसंवरणं, तहेव पंचविहमेव सज्झायं ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ ११ ॥**

तत्र इन्दनादिन्द्रो जीवः सर्वविषयोपलब्धिभोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्,तस्य लिङ्गमिति इन्द्रियं श्रोत्राऽऽदि । तच्च द्विविधम्-द्रव्येन्द्रियम्, भावेन्द्रियं च । ( पा० ) ( इन्द्रियस्य सर्वोऽप्यधिकारः, तद्भेदाश्च ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५४८ पृष्ठे गताः ) पञ्च च तानीन्द्रियाणि, तेषां संवरणं इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानानां निग्रहणं पञ्चेन्द्रियसंवरणं तदुपसंपन्नः । ( तहेव त्ति ) तथैव तेनैव प्रकारेण पञ्चविधमेव वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मकथाभेदात्पञ्चप्रकारमपि, तत्र वक्ति शिष्यस्य प्रति गुरोः प्रयोजकत्वभावो वाचना, पाठनमित्यर्थः । गृहीतवाचनेनापि संशयाऽऽद्युत्पत्तौ पुनः प्रष्टव्यमिति पूर्वाधीतस्य सूत्राऽऽदेः शङ्किताऽऽदौ प्रश्नः प्रच्छनेति । प्रच्छनाविशोधितस्य मा भूद्विस्मरणमिति परिवर्तना, सूत्रस्य गुणनमित्यर्थः । सूत्रवदर्थेऽपि समवति विस्मरणमतः सोऽपि परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा, चिन्तनिकेत्यर्थः । एवमभ्यस्तश्रुतेन धर्मकथा विधेयेति धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा व्याख्या धर्मकथेति । एवं पञ्चविधं किमित्याह-( सज्झायं ति ) शोभनमा मर्यादयाऽध्ययनं श्रुतस्याधिकमनुसरणं स्वाध्यायस्तमुपसंपन्न इत्यादि पूर्ववदिति ।

तथा-

**छज्जीवनिकायवहं, छप्पि य भासाउ अप्पसत्थाउ ।**
**परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १२ ॥**

षड्जीवनिकायानां पृथ्वीकायाप्कायतेजःकायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायलक्षणषड्विधप्राणिगणानां वधो विनाशः षड्जीवनिकायवधस्तं,तथा षडपि च अलीकाऽऽदिभेदात् षट्संख्याः, अपि च । काः ? इत्याह-भाष्यन्ते प्रोच्यन्ते इति भाषाः, वचनानीत्यर्थः । ताः किंविशिष्टा इत्याह-अप्रशस्ता गुरुकर्मबन्धहेतुत्वादसुन्दराः । ( पा० ) [ भाषाभेदाः 'भासा' शब्दे ] शेषं प्राग्वदिति ।

तथा-

**छव्विहमब्भिंतरयं, बज्झं पि य छव्विहं तवोकम्मं ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १३ ॥**

षड्विधं प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायध्यानोत्सर्गभेदात्षट्प्रकारम् । ( अब्भिंतरयं ति ) लौकिकैरनभिलक्ष्यत्वात्तन्त्रान्तरीयैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वान्मोक्षप्राप्त्यन्तरङ्गत्वाच्चाऽऽभ्यन्तरं, तदेवाऽऽभ्यन्तरकं, तपःकर्मेति योगः । ( पा० ) ( बज्झं पि य छव्विहं तवो कम्ममिति ) बाह्यमिव्यासेव्यमानस्य लौकिकैरपि तपस्तया ज्ञायमानत्वात्प्रायो बहिः शरीरतापकत्वाच्चेति बाह्यमपि चेति समुच्चये, षड्विधमनशनाऽवमौदरिकावृत्तिसङ्क्षेपरसपरित्यागकायक्लेशप्रतिसंलीनताभेदात्षट्प्रकारम् । किं तदित्याह-तपति दुनोति शरीरकर्माणीति तपस्तस्य कर्म क्रिया तपःकर्म, तपोऽनुष्ठानमित्यर्थः । तत्रानशनमभोजनमाहारत्याग इत्यर्थः । (पा०) । तपःकर्मविषये 'तवोकम्म' शब्दः चतुर्थभागे २२११ पृष्ठान्तर्गतो द्रष्टव्यः ) "उवसन्नो" इत्यादि पूर्ववदिति ।

तथा-

**सत्त भयट्ठाणाइं, सत्तविहं चेव नाणविब्भंगं ।**
**परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १४ ॥**

सप्तेहलोकाऽऽदिभयभेदात्सप्तसंख्यानि, भयं मोहनीयप्रकृतिसमुत्थ आत्मपरिणाम ,तस्य स्थानान्याश्रया भयस्थानानि । ( पा० ) ( भयस्थानभेदवक्तव्यता ' भयट्ठाण ' शब्दे वक्ष्यते ) तथा-सप्तविधमेव सप्तप्रकारमेव ( नाणविब्भंग ति ) पूर्वापरनिपातनाद्विभङ्गज्ञानं, तत्र विरुद्धो वितथो वा, अयथावस्तुविकल्पो यस्मिंस्तद्विभङ्गं, तच्च तज्ज्ञानं च साकारत्वादिति विभङ्गज्ञानं, मिथ्यात्वसहितावधिरित्यर्थः । ( पा० ) विभङ्गज्ञानवक्तव्यता "विब्भंगणाण" शब्दे ) ( परिवज्जंतो त्ति) विभङ्गज्ञानोपदर्शितार्थप्ररूपणां परिहरन्नित्यर्थः । " गुत्तो " इत्यादि पूर्ववदिति ।

तथा-

**पिंडेसण पाणेसण, उग्गह सत्तिकया महज्झयणा ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १५ ॥**

पिण्डः समयभाषया भक्तं,तस्यैषणा ग्रहणप्रकाराः पिण्डैषणाः । ( पा० ) ( पिण्डैषणाविस्तरः ' पिंडेसणा ' शब्दादवगन्तव्यः ) पानैषणा अप्येता एव, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वं, तत्र ह्यायामसौवीरकाऽऽदि निर्लेपं विज्ञेयमिति । (पानैषणाविषयः ' पाणेसणा' शब्दादवगन्तव्यः ) (उग्गह त्ति) सूचकत्वादवग्रहप्रतिमा- अवगृह्यत इत्यवग्रहो वसतिः तत्प्रतिमा अभिग्रहा अवग्रहप्रतिमा । ( पा० ) [सत्तिक्कय त्ति] सप्त सप्तैकका अनुद्देशकत्वेनैकसरत्वेनैकका अध्ययनविशेषा आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूडारूपा ,ते च समुदायतः सप्तेति कृत्वा सप्तैककाः अभिधीयन्ते, तेषामेकोऽपि सप्तैककः इति व्यपदिश्यते, तथैव नामत्वात् ( पा० ) [ सप्तैककानां वक्तव्यता ' सत्तिक्कय' शब्दे वक्ष्यते ] [ महज्झयण त्ति ] सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे महान्ति प्रथमश्रुतस्कन्धाध्ययनेभ्यः सकाशाद् ग्रन्थतो बृहन्त्यध्ययनानि ( पा० ) [ अत्र विस्तरः ' सूयगड ' शब्दे ) " उवसंपन्नो जुत्तो " इत्यादि सूत्रं तु प्राग्वदिति ।

**अट्ठ मयट्ठाणाइं, अट्ठ य कम्माइं तेसिं बंधं च ।**
**परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १६ ॥**

अष्टौ जातिकुलबलरूपतपऐश्वर्यश्रुतलाभभेदादष्टसंख्यानि मदस्थानानि मदभेदा, तत्र मातृकी विप्राऽऽदिका वा जातिः, पैतृकमुग्राऽऽदिकं वा कुलं, शक्तिर्बलं, शरीरसौन्दर्यं रूपम्। अनशनाऽऽदि तपः, सम्पदः प्रभुत्वम् ऐश्वर्यं, बहुशास्त्रज्ञता श्रुतम्, अभिलषितवस्तुप्राप्तिर्लाभः। अत्र च दोषः-" जात्यादिमदोन्मत्तः, पिशाचवद्भवति दुःखितश्चेह। जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥१॥" इति। अष्टौ च ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयमोहनीयाऽऽयुष्कनामगोत्रान्तरायमूलप्रकृतिभेदादष्टसंख्यानि कर्माणि, [ तेसिं बंधं च त्ति ] तेषामष्टविधकर्मणां बन्धोऽभिनवग्रहणं तं च, तद्वर्जनं च तद्धेतुपरिहारतः समवसेयं, परिवर्जयन्नित्यादि पूर्ववदिति। [ मदस्थानविस्तरः ' मयट्ठाण ' शब्दे वक्ष्यते ]

तथा-

**अट्ठ य पवयणमाया, दिट्ठा अट्ठविहनिट्ठियट्ठेहिं ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १७ ॥**

अष्टौ चेर्यासमित्यादिभेदादष्टसंख्या एव, का इत्याह-प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य मातर इव तत्प्रसूतिहेतुत्वान्मातरो जनन्यः प्रवचनमातरः। [ पा० ] [ ' पवयणमाया ' शब्दे विस्तरः ] दृष्टा उपलब्धाः, कैरित्याह-अष्टविधा अष्टप्रकारा निष्ठिताः क्षयं गता अर्थाः प्रक्रमात् ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिपदार्था येषां ते तथा तैरष्टविधनिष्ठितार्थैर्जिनैरित्यर्थः। " उवसंपन्नो जुत्तो " इत्यादि पूर्ववदिति।

**नव पावनियाणाइं, संसारत्था य नवविहा जीवा ।**
**परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १८ ॥**

तथा-(नव) नवसंख्यानि, पापानि पापनिबन्धनानि निदानानि भोगाऽऽदिप्रार्थनालक्षणानि पापनिदानानि, तानि परिवर्जयेन्निति योगः। [ पा० ] तथा-संसरन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः परिभ्रमन्ति यस्मिन्निति संसारः, तत्र तिष्ठन्तीति संसारस्थाः। चः समुच्चये, नवविधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदान्नवसंख्याः, के इत्याह-जीवाः प्राणिनः, तान् परिवर्जयन्नित्यादि पूर्ववदिति। [ पा० ] शेषं पूर्ववदिति।

**नवबंभचेरगुत्तो, दुनवविहं बंभचेरपरिसुद्धं ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ १९ ॥**

[ नवबंभचेर त्ति ] सूचकत्वान्नवब्रह्मचर्यगुप्तिभिस्तत्र ब्रह्मचर्यस्य मैथुनव्रतस्य गुप्तयो रक्षाप्रकाराः ब्रह्मचर्यगुप्तयो, नव च ता ब्रह्मचर्यगुप्तयस्ताभिर्गुप्तः सुसंवृतस्सन्निति ( पा० ) [ नव ब्रह्मचर्यगुप्तिविवरणम् ' बंभचेरगुत्ति ' शब्दे वक्ष्यते ] तथा— [ दुनवविहं बम्भचेरपरिसुद्धं ति ] द्विनवविधमष्टादशप्रकारमित्यर्थो, ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिं, परिशुद्धं निर्दोषं, तच्चौदारिकवैक्रियमैथुनस्य मनोवाक्काये करणकारणानुमतिवर्जनाज्जायते। पा०।

तथा-

**उवघायं च दसविहं, असंवरं तह य संकिलेसं च ।**
**परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २० ॥**

उपहननमुपघातस्तं च दशविधमुद्गमोपघाताऽऽदिभेदाद्दशप्रकारं वर्जयन् [ पा० ] [ उपघातस्य भेदाः ' उवघाय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८० पृष्ठे दर्शिताः ] [ असंवरं तह य त्ति ] संवरणं संवरः, न संवरोऽसंवरः, तम्। [ पा० ] ( संकिलेसं च त्ति ) संक्लेशोऽसमाधिः, तं च दशविधं, परिवर्जयन्नित्यादि पूर्ववत्। पा०। ( असमाधिभेदाः ' असमाहि ' शब्दे प्रथमभागे ८४२ पृष्ठे गताः )

तथा-

**सच्चसमाहिट्ठाणा, दस चेव दसाउ समणधम्मं च ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २१ ॥**

सन्तः प्राणिनः पदार्था मुनयो वा, तेभ्यो हितं सत्यं, तद्दशविधम्। ( पा० ) ( सत्यस्य बहवो भेदाः, ते च ' सच्च ' शब्दे दर्शयिष्यन्ते )( समाहिठाण त्ति ) समाधेः रागाऽऽदिरहितचित्तस्य स्थानान्याश्रया समाधिस्थानानि, तान्यपि दश। ( पा० ) (समाधिस्थानभेदाः 'समाहिट्ठाण' शब्दे दर्शयिष्यन्ते) क्वचित्तु-" चित्तसमाहिट्ठाण त्ति " पाठः, तत्राप्ययमेवार्थो, नवरं सत्यदशकं न व्याख्येयमिति। [ दस चेव दसाओ त्ति ] दशैव दशसंख्या एव दशाभिकाराभिधायकत्वाद्दशा इति बहुवचनान्तं स्त्रीलिङ्गं शास्त्रस्याभिधानमिति। ( पा० ) ( दश दशाः ' दसा ' शब्दे चतुर्थभागे २४८४ पृष्ठे दर्शिता ) ( समणधम्मं च त्ति ) श्राम्यन्तीति श्रमणाः साधवः, तेषां धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रमणधर्मस्तं च दशविधम्, उपसंपन्न इत्यादि पूर्ववत्। [ पा० ] शेषं प्राग्वदिति।

( २५ ) अथाऽऽशातनावर्जनतो महाव्रतलक्षणमाह-

**आसायणं च सव्वं, तिगुणं एक्कारसं विवज्जंतो ।**
**उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २२ ॥**

आयः ज्ञानाऽऽदिलाभः शातयत्याशातना, अर्हदादेरवहेलेत्यर्थः। तां विवर्जयन्निति योगः। किंविशिष्टाम् ?-सर्वां समस्तां सामान्येन, अथवा-( तिगुणं एक्कारसं ति ) चशब्दस्येहसम्बन्धात्त्रयो गुणा गुणकारका यस्य स त्रिगुणस्तमेकादश चैकादशकं, त्रयस्त्रिंशत्समाऽऽशातना इत्यर्थः। एकादशानां त्रिगुणितानां त्रयस्त्रिंशत्संख्योपपत्तेरिति भावना। अथवा-वचनव्यत्ययात् प्रक्रान्ताशातनाशब्दसंबन्धाच्च त्रिगुणा एकादश वाऽऽशातना कर्मताऽऽपन्ना विवर्जयन् परिहरन्, तथोपसंपन्नः प्रतिपन्नोऽनाशातनामिति सामर्थ्याद्गम्यते। तथा-युक्तः श्रमणगुणैः रक्षामि परिपालयामि महाव्रतानि पञ्चेति। (पा०) ( आशातनाया बहवो भेदाः ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४७७ पृष्ठे दर्शिताः ) एवमेकद्व्यादिशुभाऽशुभस्थानाङ्गीकारवर्जनद्वारेण कृता महाव्रतोच्चारणा।

साम्प्रतमनुक्तस्थानातिदेशं तस्ताः कर्तुमाह-

**एव तिदंडविरओ, तिगरणसुद्धो तिसल्लनीसल्लो ।**
**तिविहेण पडिक्कंतो, रक्खामि महव्वए पंच ॥ २३ ॥**

एवं प्रागुक्तैकाऽऽदिस्थानवत्त्रिदण्डविरतो, दण्ड्यते चारित्रैश्वर्यापहारतो निःसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डास्त्रयश्च ते दुष्प्रयुक्तमनोवाक्कायभेदा त्रिसंख्या दण्डास्तेभ्यो विरतो निवृत्तस्त्रिदण्डविरतः। उदाहरणानि चात्र मनोदण्डे कोङ्कणाऽऽर्यः-" सो किर एगया महावाए वायंते अच्छजाणू अहोसिरो चिंततो चिट्ठइ। साहुणो य अहो खंतो सुहज्झाणोवगओ त्ति वदति, न य किंचि पडिवयणं देइ, चिरेण महावे दूवमारद्धो। साहूहिं पुच्छिओ-किमेवं चिर कारयति ?। सो भणइ

संपयं खरतरो मारुओ वायइ,जइ ते मम पुत्ता इयाणिं वत्थाणि देत्ताणीत्यर्थः। पलीवेज्जा तओ तेसिं वासारत्ते सरसाए भूमीए सुबहू सालिसंपया होज्जा, एयं मए चिंतियं। तओ आयरिएहिं वारिओ ठिओ। एवमाइ जमसुहं मणेणं चिंतेइ सो मणदंडो।" (पा०) (वाग्दण्डः 'वइदंड' शब्दे वक्ष्यते) (कायदण्डः 'कायदंड' शब्दे द्वितीयभागे ४६२ पृष्ठे गतः) तथा-(तिगरणसुद्धो त्ति) त्रीणि च तानि करणानि च मनःप्रभृतीनि त्रिकरणानि, तैः शुद्धो निर्दोषस्त्रिकरणानि वा शुद्धानि सर्वदोषरहितानि यस्य स त्रिकरणशुद्धः।

आह-त्रिदण्डविरतस्त्रिकरणशुद्ध एव भवत्यत किं तद्ग्रहणेन ?। सत्यम्। सावद्ययोगनिवृत्तस्त्रिदण्डविरत उच्यते, निरवद्ययोगप्रवृत्तस्तु त्रिकरणशुद्धः। अथवा-करणरूपसावद्ययोगविरतो दण्डत्रयविरत उच्यते, करणकारणानुमतिरूपसावद्ययोगविरतस्तु त्रिकरणशुद्ध इति न दोषः, अन्यथा वाऽनयोर्बहुश्रुतैर्विशेषो भावनीयः, यतो गम्भीरमिदमार्षमिति। (पा०) ('तिसल्लनीसल्ल' पदव्याख्या 'तिसल्लनीसल्ल' शब्दे चतुर्थभागे २३३१ पृष्ठे गता) (तिविहेण पडिक्कंतो त्ति) त्रिविधेन त्रिप्रकारेण, करणेनेति गम्यते। प्रतिक्रान्तः सर्वातिचारप्रतिनिवृत्तो, रक्षामि महाव्रतानि पञ्चेति।

अथ महाव्रतोच्चारणं निगमयन्नाह-

इच्चेयं महव्वयउच्चारणं थिरत्तं सल्लुद्धरणं धिइबलयं ववसाओ साहणट्ठो पावनिवारणं निकायणा भावविसोही पडागाहरणं निज्जूहणा राहणा गुणाणं संवरजोगो पसत्थज्झाणोवउत्तया जुत्तया य नाणे परमट्ठो उत्तमट्ठो एस तित्थंकरेहिं रइरागदोसमहणेहिं देसिओ पवयणस्स सारो छज्जीवनिकायसंजमं उवएसियं तेल्लोक्कसक्कयं ठाणं अब्भुवगया ॥

इत्येतदनन्तरोक्तं महाव्रतोच्चारणं व्रतोत्कीर्तनं, कृतमिति शेषः। अत्र च को गुण इत्याह-(थिरत्तमित्यादि) अथवा-तत् कथंभूतमित्याह-(थिरत्त ति) महाव्रतेष्वेव धर्मे वा स्थैर्यहेतुत्वात् स्थिरत्वं निश्चलत्व, भवति चाऽऽसन्नसमाधेः सत्त्वविशेषस्य तत्करणश्रवणाऽऽदिभ्य. संवेगातिशयान्महाव्रतेषु धर्मे वा निष्प्रकम्पतेति। शल्यानां मायाशल्याऽऽदीनामुद्धरणकारणत्वाच्छल्योद्धरणमिदमिति। तथा-धृतेश्चित्तसमाधेर्बलमवष्टम्भो धृतिबलं, तत्कारणत्वान्महाव्रतोच्चारणमपि धृतिबलं, स्वार्थिककप्रत्ययोपादानाद् धृतिबलकम्। धीबलं वा धृतिपलं वा ददातीति धृतिबलद धीबलद वेत्युच्यते, जायते चासकृत्तद्वासितमतेर्धृतिबलमिति। एवमन्यत्रापि भावना कार्या। तद्यथा-व्यवसायो दुष्करकरणाध्यवसाय., तथा-(साहणट्ठो त्ति) साध्यतेऽनेन साध्यमिति साधन साधकतमकरणं. तल्लक्षणोऽर्थः पदार्थ. साधनार्थ', मोक्षाऽऽख्यपरमपुरुषार्थनिष्पत्त्युपाय इत्यर्थः, तथा-(पावनिवारणं ति) पापस्याऽशुभकर्मणो निवारण निषेधक पापनिवारणम्। तथा-(निकायण त्ति) निकाचनेव निकाचना, स्वव्रतप्रतिपत्तिदृढतरनिबन्ध इत्यर्थ.। शुभकर्मणां वा निकाचनाहेतुत्वान्निकाचनेदमुच्यते,न च सरागसंयमिनामयमर्थो न घटत इति। तथा-(भावविसोहि त्ति) भावस्याऽऽत्मपरिणामस्य जलमिव वस्त्रस्य विशोधिकारणत्वाद्भावविशोधिर्भावनिर्मलत्वहेतुरित्यर्थः। तथा-(पडागाहरण ति) पताकायाश्चारित्राऽऽराधनावैजयन्त्या हरणं ग्रहणं पताकाहरणमिदम्, लोके हि मल्लयुद्धाऽऽदिषु वस्त्रमाभरणं द्रव्यं वा ध्वजाग्रे बध्यते, तत्र यो येन युद्धाऽऽदिना गुणेन प्रकर्षवान् स रङ्गमध्ये पुरतो भूत्वा गृह्णातीति पताकां हरतीत्युच्यते। एवमत्रापि पाक्षिकाऽऽदिषु महाव्रतोच्चारणतः समुपजातचारित्रविशुद्धिप्रकर्षः साधुः प्रवचनोक्तायाश्चारित्राऽऽराधनापताकाया हरण करोतीति। तथा-(निज्जूहण त्ति) निर्जूहणा निष्काशना कर्मशत्रूणामात्मनगरान्निर्वासनेत्यर्थ। तथा-राधना अखण्डनिष्पादना। केषामित्याह-गुणाना मुक्तिप्रसाधकजीवव्यापाराणाम,तथा-(संवरजोग इति) नूतनकर्माऽऽगमनिरोधहेतु' संवरस्तद्रूपो योगो व्यापारः संवरयोगः। अथवा-संवरेण पञ्चाऽऽश्रवनिरोधलक्षणेन योग. संबन्ध. संवरयोग इति। तथा-(पसत्थज्झाणोवजुत्तय त्ति) प्रशस्तध्यानेन धर्मशुक्ललक्षणशुभाध्यवसानेनोपयुक्तता संपन्नता, प्रशस्तध्याने वोपयुक्तता प्रशस्तध्यानोपयुक्तता, महाव्रतोच्चारण कुर्वत शृण्वतो वा नियमादन्यतरशुभध्यानसम्भवादिति। तथा-(जुत्तया य नाणे त्ति) युक्तता च समन्वितता च, विभक्तिव्यत्ययात् ज्ञानेन तत्त्वावगमेन सद्बोधसंपन्नेत्यर्थः। महाव्रतप्रतिपत्ते. सम्यग्ज्ञानफलत्वादिति भावः। चूर्णौ तु-"जुत्तया य त्ति" पाठो व्याख्यात'। तत्र युक्तता चाष्टादशशीलाङ्गसहस्रैरिति द्रष्टव्यम्। तथा-(परमट्ठो त्ति) परमार्थ सद्भूतार्थ' अकृत्रिमपदार्थ इत्यर्थ इति, कश्चित्पदार्थ. परमार्थोऽपि परमाण्वादिवदुत्तमो न भवत्यत आह-उत्तमश्चासावर्थश्चोत्तमार्थ, प्रकृष्टपदार्थ', मोक्षफलप्रसाधकत्वेन महाव्रतानां सर्ववस्तुप्रधानत्वादिति भाव.। तथा-[एस त्ति] लिङ्गव्यत्ययादेतन्महाव्रतोच्चारण प्रवचनस्य सारो देशित इति संबन्ध। अथवा एष इत्यनेन सार इत्येतस्य लिङ्ग गृहीतमिति। कैरित्याह-तीर्थकरै प्रवचनगुरुभि'। किंविधैरित्याह-रतिश्चारित्रमोहनीयकर्मोदयजन्यस्तथाविधाऽऽनन्दरूपश्चित्तविकारः, रागश्च ममकारो, द्वेषश्चाहङ्कारो, रतिरागद्वेषास्तान्मथनन्ति व्यपनयन्तीति रतिरागद्वेषमथनाः। तैः किमित्याह-देशित. केवलाऽऽलोकेनोपलभ्य भव्येभ्य' प्रवेदित. प्रवचनस्य द्वादशाङ्गार्थस्य सारो निष्पन्द. महाव्रतानि तीर्थकरै प्रवचनार्थस्य सारभूतानि कथितानीत्यतो मुमुक्षुणा तेषु महानादरो विधेय इति भाव.। ते च भगवन्तस्तीर्थकराः षड्जीवनिकायसंजमं षट्सङ्ख्यपृथिव्यादिसत्त्वसंरक्षामुपलक्षणत्वान्मृषावादाऽऽदिपरिहारं चोपदिश्य भव्येभ्यः कथयित्वा उपलक्षणत्वात्स्वयं कृत्वा च त्रैलोक्यसत्कृत लोकत्रयपूजितं स्थानं प्रदेशं,सिद्धिक्षेत्रमित्यर्थ। अभ्युपगताः संप्राप्ता इत्यनेनापि महाव्रतानामत्यन्तोपादेयतां सूचयतीति।

अथ महाव्रतोत्कीर्तनापरिसमाप्तौ मङ्गलार्थं प्रत्यासन्नोपकारित्वाद् विशेषतो महावीरस्य स्तुतिमाह-

नमोऽत्थु ते सिद्ध बुद्ध मुत्त नीरय निस्संग माणमुरण गुणरयणसागर मऽणंत मऽप्पमेय असरीर ! नमोऽत्थु ते महइ महावीर वद्धमाण सामिस्स नमोऽत्थु ते अरहओ भगवओ तिकट्टु।

नमो नमस्कारोऽस्तु भवतु, कस्मै ते तुभ्य, हे वर्धमानस्वामिन्निति प्रक्रम.। किंविशिष्ट?, सिद्ध कृतार्थ बुद्ध केवलज्ञानेनावगतसमस्तवस्तुतत्त्व, मुक्त पूर्वबद्धकर्मबन्धनेभ्य-

क्त,नीरज. वध्यमानकर्मरहित !, अथवा-नीरय ! निर्गतौत्सुक्य, निःसङ्ग ! पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिसकलसंवन्धविकल ! ( मानमूरण त्ति) सर्वगर्वोद्दलन ! गुणरत्नसागर ! इति व्यक्तम्। तथा-अनन्तज्ञानाऽऽत्मकत्वादनन्तस्तस्याऽऽमन्त्रणम् अनन्त !, मकारः प्राकृतशैलीप्रभवः । अप्रमेय ! प्राकृतज्ञानापरिच्छेद्य, अशरीर ! जीवस्वरूपस्य छद्मस्थैः परिच्छेत्तुमशक्यत्वादिति । तथा- नमो नमस्कारोऽस्तु भवतु, कस्मै ?, ते तुभ्यम्, किंविशिष्टेत्याह-महतीति गरीयसि, प्रक्रमात् मोक्षे, कृतमते ! इति गम्यते । पुनरपि किंविशिष्टेत्याह-विशेषेणेरयति मोक्षं प्रति गच्छति गमयति वा प्राणिनः प्रेरयति वा कर्माणि निराकरोति, वीरयति वा रागाऽऽदिशत्रून् प्रति पराक्रमत इति वीरः, निरुक्तितो वा वीरः । यदाह " विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥ " इतरवीरापेक्षया महांश्चासौ वीरश्चेति महावीरस्तस्याऽऽमन्त्रण हे महावीर !, पुनरपि किंविशिष्ट ?, वर्धमान स्वकुलसमृद्धिहेतुतया पितृभ्यां कृतवर्धमानाभिधान ! कुतस्ते नमस्कारोऽस्त्वित्याह-( सामिस्स त्ति ) विभक्तिव्यत्ययादितिकृत्वेति प्रत्येकमभिसंवन्धाच्च स्वामीतिकृत्वा प्रभुरितिहेतोः, तथा नमो नमस्कारोऽस्तु ते इति । कुत इत्याह-( अरहओ त्ति)उक्तहेतुभ्यामशोकाऽऽद्यष्टमहाप्रातिहार्याऽऽदिरूपा पूजामर्हतीत्यर्हन्, स इति कृत्वा नमोऽस्तु ते । कुत इत्याह-( भगवतो त्ति ) भगवानिति कृत्वा भगवानिति हेतो. । तत्र भगः समग्रैश्वर्याऽऽदिलक्षण.। उक्तं च-"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य,रूपस्य यशस. श्रिय. । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, पण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥ " स विद्यते यस्येति भगवानिति । अथवा-" महइमह त्ति " रूढिवशादतिमहान्, स चासौ वीरश्चेति महावीरः, स चासौ वर्द्धमानश्चेति महावीरवर्धमान., स चासौ स्वामी, तस्मै । तथा-नमोऽस्तु तेऽर्हते, तथा-नमोऽस्तु ते भगवते इतिकृत्वा इतिहेतो. यतस्त्वमुक्तविशेषणोऽतस्ते नमोऽस्त्विति भाव. । अथवा-कथ नमोऽस्त्वित्याह-( तिकट्टु त्ति ) त्रि.कृत्व. त्रीन् वारानिति,प्रतिवाक्यं च नमस्क्रियाऽभिधान स्तुतिप्रस्तावाददुष्टमिति । यथा-महाव्रतोच्चारण कर्मक्षयाय तथा श्रुतोत्कीर्तनमपि कर्मविलयायेति ।

महाव्रतोत्कीर्तन निगमयन् श्रुतोत्कीर्तन कर्तुकाम इदमाह-

**एसा खलु महव्वयउच्चारणा कया इच्छामो सुयकित्तणं काउं ।**

एपाऽनन्तरोक्ता, खलुर्वाक्यालङ्कारमात्रे, महाव्रतोच्चारणा महाव्रतसंशब्दना, कृतोक्तन्यायेन विहिता, साम्प्रतम् इच्छामोऽभिलपाम., श्रुतकीर्तनामागमग्रन्थाभिधानसशब्दना, कर्तुं विधातुमिति । ( पा० ) ( तच्च श्रुतम् ' सुय ' शब्दे वक्ष्यते )

तत्र तावदल्पवक्तव्यत्वादावश्यकश्रुतसमुत्कीर्तनाय तदुपदेशकनमस्कारपूर्वकं सूत्रमाह-

**नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं छव्विहमावस्सय भगवंतं ।**

नमो नमस्कारोऽस्त्विति गम्यते, केभ्य ?,इत्याह-तेभ्य क्षमाश्रमणेभ्यः क्षमाऽऽदिगुणप्रधानमहाश्रमणेभ्य स्वगुरुभ्यस्तीर्थकरगणधराऽऽदिभ्यो वेति भाव। यैरिदं वक्ष्यमाणं वाचितम् . अस्मभ्यं प्रदत्तं, अथवा-वाचितं परिभाषितं,सूत्रार्थतया विरचितमित्यर्थः । पड्विधं पट्प्रकारमवश्यकरणादावश्यकं, गुणानां वाऽभिविधिना वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकं, किंविशिष्टम् ?,भगवत् सातिशयाभिधेयसमृद्ध्यादिगुणयुक्तम् ।

पड्विधत्वमेवोपदर्शयन्नाह-

**तं जहा-सामाइयं,चउवीसत्थओ,वंदणयं,पडिकमणं,काउस्सग्गो,पच्चक्खाणं; सव्वेहिं पि एयम्मि छव्विहे आवस्सए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणिए जे गुणा वा भावा वा अरहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा परूविया वा ते भावे सद्दहामो,पत्तियामो, रोएमो,फासेमो, पालेमो, अणुपालेमो ।**

तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः, सामायिकं सावद्ययोगविरतिप्रधानोऽध्ययनविशेष १,चतुर्विंशतिस्तव ऋषभाऽऽदिजिनगुणोत्कीर्तनाधिकारवानध्ययनविशेष. २, वन्दनकं गुणवत्प्रतिपत्तिप्रधानोऽध्ययनविशेष एव ३, प्रतिक्रमणं स्खलितनिन्दाप्रतिपादकोऽध्ययनविशेष एव ४, कायोत्सर्गो धर्मकायातिचारव्रणशोधकोऽध्ययनविशेष एव ५, प्रत्याख्यानं विरतिगुणकारकोऽध्ययनविशेष एव ६, सर्वस्मिन्नपि समस्तेऽप्येतस्मिन्ननन्तरोक्ते पड्विधे पड्भेदे, आवश्यके भणितस्वरूपे, भगवति समग्रैश्वर्याऽऽदिमति, सह सूत्रेण मूलतन्त्ररूपेण वर्तत इति ससूत्रं, तस्मिन्सहार्थेन तद्व्याख्यानरूपेण वर्तत इति सार्थं तस्मिन्, सह ग्रन्थेन सूत्रार्थोभयरूपेण वर्तत इति सग्रन्थं तस्मिन् , सह निर्युक्त्या प्रतीतरूपया वर्तत इति स निर्युक्तिकं तस्मिन्, सह सङ्ग्रहण्या निर्युक्त्यैव वह्वर्थसंग्रहणरूपया वर्तत इति ससङ्ग्रहणिकम्, तस्मिन,ये केचन गुणा विरतिजिनगुणोत्कीर्तनाऽऽद्यो धर्मा., वाशब्द उत्तरपदार्थापेक्षया समुच्चये,भावा. क्षायोपशमिकाऽऽदिपदार्था जीवाऽऽदिपदार्था वा,वाशब्द. पूर्वपदापेक्षया स मुच्चय एव, अर्हद्भिर्देवाऽऽदिकृतसपर्यार्हैर्भगवद्भिः समग्रैश्वर्याऽऽदिमद्भिः ,किमित्याह-प्रज्ञप्ताः सामान्येनोद्दिष्टा ,प्ररूपिता विशेषेण निर्दिष्टा । वाशब्दौ पूर्ववत् । तान् भावानुपलक्षणत्वाद् गुणांश्च ( सद्दहामो त्ति ) श्रद्दध्महे सामान्येनैदमेवैतत् इति श्रद्धाविषयीकुर्म्म. । ( पत्तियामो त्ति ) प्रतिपद्यामहे प्रीतिकरणद्वारेण, (रोएमो त्ति) अभिलापाऽतिरेकेण रोचयाम., आसेवनाभिमुखतया रुचिविपयीकुर्म्म इत्यर्थ । न च प्रीतिरुची न भिन्ने, यतः क्वचिद् दध्यादौ प्रीतिसद्भावेऽपि न सर्वदा रुचिरतो विभिन्नताऽनयोरिति । ( फासेमो त्ति ) स्पृशाम. आसेवनाद्वारेण छुपाम । " पालेमो त्ति " पाठोऽशुद्ध इव लक्ष्य , ( अणुपालेमो त्ति ) अनुपालयाम. पौन पुन्यकरणेन । यदि पुन प्रसिद्धत्वात् " पालेमो त्ति " पदमवश्यं व्याख्येयं, तदा पालयाम. पौन पुन्यकरणेन रक्षाम., एतच्च कतिपयदिनपालनेऽपि स्यादत.-अनुपालयाम. पालनादनु पश्चादाजन्मापीत्यर्थ पालयामोऽनुपालयाम. ।

तथा-

**ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तियंतेहिं रोयंतेहि फासंतेहिं पालंतेहिं अणुपालंतेहिं अंतो पक्खस्स जं वाइयं पढियं परियट्टियं पुच्छियं**

अणुपेहियं अणुपालियं त दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मोक्खाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि ।

तान् भावान् श्रद्दधानैरेवमेवैतदिति सामान्येन प्रतीतिं कुर्वाणैः, प्रतिपद्यमानैर्विशेषप्रीतिकरणद्वारेण मन्यमानैः, रोचयद्भिरभिलाषाऽऽतिरेकेण आसेवनाभिमुखतया रुचिविपर्यीकुर्वद्भिरित्यर्थः । स्पृशद्भिरासेवनाद्वारेण छुपद्भिः, पालयद्भिरिति पदमत्रापि न विद्मः,तदङ्गीकारे च पूर्ववदर्थविशेषो वाच्यः । अनुपालयद्भिः पौनःपुन्यकरणेन रक्षयद्भिः, अन्तर्मध्ये पक्षस्य चन्द्राभिधानार्द्धमासस्य, यत्किमपि, वाचितम्-अन्येभ्यः प्रदत्तं, पठितं स्वयमधीतं,परिवर्त्तितं सूत्रतो गुणितं,पृष्टं पूर्वाधीतस्य सूत्राऽऽदेः शङ्किताऽऽदौ प्रच्छनं,विहितमित्यर्थः, अनुप्रेक्षितमर्थविस्मरणभयाऽऽदिना चिन्तितम्, अनुपालितम् एभिरेव प्रकारैरनघमनुष्ठितं तद् दुःखक्षयाय शारीरमानसासातोच्छेदाय, कर्मक्षयाय ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यष्टप्रविनाशाय, मोक्षाय परमनिःश्रेयसाय, बोधिलाभाय प्रेत्य सद्धर्म्मावाप्तये, संसारोत्तारणाय भवभ्रमणपारगमनाय, अस्माकं भविष्यतीति गम्यते । इतिकृत्वा इतिहेतोरुपसंपद्याङ्गीकृत्य, विहरामीति वचनव्यत्ययाद्विहरामो मासकल्पाऽऽदिना साधुविहारेण वर्त्तामहे इति ।

तथा-

अंतो पक्खस्स जं न वाइय न पढियं न परियट्टियं न पुच्छियं नाणुपेहियं नाणुपालियं सते बले संते वीरिए संते पुरिसक्कारपरक्कमे तस्स आलोएमो, पडिक्कमामो, निंदामो, गरिहामो,विउट्टेमो,विसोहेमो,अकरणयाए अब्भुट्ठेमो, अहारिहं तवोकम्म पायच्छित्तं पडिवज्जामो, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अत्र नव्यविशेषितसूत्राणि पूर्ववद्व्याख्येयानि, कस्मिन् विद्यमानेऽपि वाचनाऽऽदि न कृतमित्याह-सति विद्यमाने बले शारीरे प्राणे, तथा सति विद्यमाने वीर्ये जीवप्रभवे प्राणे एव, तथा सति पुरुषकारपराक्रमे, तत्र पुरुषकारः पुरुषाभिमान, स एव निष्पादितफलः पराक्रम इति, (तस्स आलोएमो त्ति ) विभक्तिव्यत्ययात्तदवाचिताऽऽदिकमालोचयामो गुरवे निवेदयामः, तथा-( पडिक्कमामो त्ति ) प्रतिक्रमामः प्रतिक्रमणं कुर्मः, तथा-( निंदामो त्ति ) निन्दामः स्वसमक्षं जुगुप्सामहे । आह च-" सचरित्तपच्छतावो निंद त्ति " तथा-( गरहामो त्ति ) गर्हामो गुरुसमक्षं जुगुप्सामहे । आह च-" गरहा वि तहा जाइयमेव नवरं परप्पयासणय त्ति । " तथा-(विउट्टेमो त्ति) व्यावर्त्तयामः वित्रोटयामो, विकुट्टयामो वा अवाचनाऽऽद्यनुबन्धं व्यवच्छेदयाम इत्यर्थः । ( विसोहेमो त्ति ) विशोधयामः प्रकृतदोषपङ्कमलिनमात्मानं विमलीकुर्म्मः । तथा-अकरणतया पुनर्न करिष्याम इत्येवमभ्युत्तिष्ठामोऽभ्युपगच्छाम इति, यथार्हमपराधाऽऽद्यपेक्षया यथोचितं तपःकर्म निर्विकृतिकाऽऽदिकं, पापच्छेदकत्वात्पापच्छित्, प्रायश्चित्तविशोधकत्वाद्वा प्रायश्चित्तं, प्रतिपद्यामहे अभ्युपगच्छामः, तथा-तस्य यत्र वाचितमित्यादिरपराधस्य मिथ्यादुष्कृतं स्वदोषप्रतिपत्तिगर्भं पश्चात्तापानुसूचकं मिथ्यादुष्कृतमिति वाक्यं प्रयच्छाम इति । समुत्कीर्तितमावश्यकम् ।

इदानीं तद्व्यतिरिक्तस्यावसरः तदपि द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-कालिकं, चोत्कालिकं च । यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एवास्वाध्यायिकाभावे पठ्यते तत्कालेन निर्वृत्तं कालिकम्, (तच्च 'कालियसुय' शब्दे द्वि०भा० ४६६ पृष्ठे गतम् ) यत्पुनः कालवेलावर्जविधास्वाध्यायिकवर्ज्यं पठ्यते तदुत्कालिकम् । तत्र तावदुत्कालिकसमुत्कीर्तनायाऽऽह-

नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं अंगबाहिरं उक्कालियं भगवंतं । त जहा-दसवेयालियं, कप्पियाकप्पिय, चुल्लकप्पसुयं, महाकप्पसुयं, ओवाइयं, रायप्पसेणइयं, जीवाभिगमो, पन्नवणा, महापन्नवणा, नंदी, अनुओगदाराइं, देविंदत्थओ, तंदुलवेयालिय, चंदाविज्झयं, पमायप्पमायं, पोरिसिमंडलं, मंडलप्पवेसो, गणिविज्जा, विज्जाचरणविणिच्छओ, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, संलेहणासुयं, वीयरागसुयं, विहारकप्पो, चरणविही, आउरपच्चक्खाणं, महापच्चक्खाणं ।

' नमो ' नमस्कारोऽस्त्विति गम्यते, तेभ्यः क्षमाश्रमणेभ्यः, सूत्रार्थदातृभ्य इत्यर्थः । यैरिदं वक्ष्यमाणं, वाचितमस्मभ्यं प्रदत्तमङ्गबाह्यं प्रवचनपुरुषाङ्गेभ्यो बहिर्भवम्, उत्कालेन निर्वृत्तमुत्कालिकं, भगवत् महार्थत्वसमृद्ध्यादिगुणवत् । तद्यथा-( दसवेयालियं ति ) विकालेनापराह्णलक्षणेन निर्वृत्तं वैकालिकं, दशाध्ययननिर्माणं च तद्वैकालिकं च मध्यपदलोपाद् दशवैकालिकम् । ( पा० ) (दशवैकालिकवक्तव्यता ' दसवेयालिय ' शब्दे चतुर्थभागे २४८० पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या) (कप्पियाकप्पियं ति) कल्प्याकल्प्यप्रतिपादकं कल्प्याकल्प्यम् ('कप्पियाकप्पिय' शब्दस्य ग्रन्थविशेषप्रतिपादकत्वं 'कप्पियाकप्पिय' शब्दे तृतीयभागे २४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्) तथा-(चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं ति) कल्पनं कल्पः स्थविरकल्पाऽऽदिस्तत्प्रतिपादिकं श्रुतं कल्पश्रुतम् । तत्पुनर्द्विभेदमेकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च (अस्योत्कालिकश्रुतप्रतिपादकत्वम् चुल्लकप्पसुय' शब्दे तृतीयभागे ११६८ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ) द्वितीयं महाग्रन्थ, महार्थं च । [ " महाकप्पसुय " शब्देऽस्य विशेषो वक्ष्यते ] तथा-[ ओवाइयं ति ] प्राकृतत्वात् वर्णलोपे औपपातिकम्, उपपतनमुपपातो देवनारकजन्म, सिद्धिगमनं च, तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम् । [ अस्य वस्तुविस्तरः ' ओववाइय ' शब्दे द्वितीयभागे ६६ पृष्ठे गतः ] [ रायप्पसेणइयं ति ] ' राज्ञः प्रदेशिनाम्नः प्रश्नानि तान्युपलक्षणभूतान्यधिकृत्य प्रणीतमध्ययनं राजप्रश्नीयमिदमप्युपाङ्गं सूत्रकृताङ्गस्येति । [विस्तरः 'रायपसेणीय' शब्दे वक्ष्यते] तथा-(जीवाभिगमो त्ति) जीवानामुपलक्षणत्वादजीवानाञ्चाभिगमो ज्ञानं यत्र स जीवाभिगमो ग्रन्थः । [ पा० ] ( तद्वक्तव्यविशेषः 'जीवाभिगम' शब्दे च० भागे १५६३ पृष्ठे गत ] तथा-(पण्णवणा त्ति ] जीवाऽऽदीनां प्रज्ञापनं प्रज्ञापना [ सर्वा वक्तव्यता 'पण्णवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ] बृहत्तरा प्रज्ञापना महाप्रज्ञापना [ अत्र विशेषः ' महापण्णवणा ' शब्दे विलोकनीय ] एते च समवायाङ्गस्योपाङ्गे इति । तथा-[ नंदि त्ति ] नन्दनं नन्दी, नन्दयत्यनयेति वा भव्यप्राणिन इति नन्दी, पञ्चप्रकारज्ञानस्वरूपप्रतिपादकोऽध्ययनविशेष इति । [ नन्दिभङ्ग, नन्दिवृत्ती च ' णंदि ' शब्दे चतुर्थभागे १७७१

पृष्ठे प्रतिपादितम् ] तथा-[ अणुओगदाराइं ति] ' अनुयोगो व्याख्यानं, तस्य द्वाराण्युपक्रमाऽऽदीनि चत्वारि मुखान्यनुयोगद्वाराणि तत्स्वरूपप्रतिपादकोऽध्ययनविशेषः, अभेदोपचारादनुयोगद्वाराणीत्युच्यते । [ अनुयोगद्वारवक्तव्यता ' अणुओगदार ' शब्दे प्रथमभागे ३५८ पृष्ठे ' अणुओग ' शब्दे ३५५ पृष्ठे च गता ] तथा-[ देविंदत्थओ त्ति] देवेन्द्राणां चमरवैरोचनाऽऽदीनां स्तवनं भवनस्थित्यादिस्वरूपाऽऽदिवर्णनं यत्रासौ देवेन्द्रस्तव इति । [ अत्र देवेन्द्रस्तवग्रन्थो विलोकनीयः ] तथा-[ तंदुलवेयालियं ति ) तन्दुलानां वर्षशताऽऽयुष्कपुरुषप्रतिदिनभोग्याना संख्याविचारेणोपलक्षितो ग्रन्थविशेषः तन्दुलवैचारिकमिति । ( अत्र विस्तरः ' तंदुलवेयालिय ' शब्दे चतुर्थभागे २१६८ पृष्ठे द्रष्टव्य. ) । तथा-( चंदाविज्झयं ति ) इह चन्द्रो यन्त्रपुत्रिकाऽक्षिगोलको गृह्यते,तथा-आ मर्यादया विध्यत इति आवेध्यं,तदेवाऽऽवेध्यकं,चन्द्रलक्षणमावेध्यकं चन्द्राऽऽवेध्यकम्, राधावेध इत्यर्थः। तदुपमानमरणाऽऽराधनाप्रतिपादको ग्रन्थविशेषश्चन्द्राऽऽवेध्यकमिति ।(अत्र विशेषचिन्तायां'चंदाविज्झय'शब्दस्तृतीयभागस्थः १०१७ पृष्ठगतो विलोकनीयः ) तथा-(सूरपण्णत्ति त्ति) ( ' सूरपण्णत्ति ' शब्देऽत्र विशेष ) तथा- (पमायप्पमायं ति ) प्रमादाप्रमादस्वरूपभेदफलविपाकप्रतिपादकमध्ययनं प्रमादाप्रमादम् । ( तत्र प्रमादस्वरूपम् ' पमाय ' शब्दे वक्ष्यते ) प्रतिपक्षद्वारेणाप्रमादाऽऽदयो वाच्या इति ( पा० ) ( पोरिसिमंडलं ति ) पुरुषः शङ्कुः शरीरं वा तस्मान्निष्पन्ना पौरुषी । इयमत्र भावना-यदा सर्वस्य वस्तुनः स्वप्रमाणा छाया जायते तदा पौरुषी, इत्येतच्च पौरुषीमानमुत्तरायणान्ते दक्षिणायनाऽऽदौ चैकं दिनं भवति, तत ऊर्ध्वमङ्गुलस्याष्टावेकषष्टिभागा दक्षिणायने, वर्धन्ते उत्तरायणे च ह्रसन्तीति । एवं पौरुषी मण्डले २ अन्या २ प्रतिपाद्यते, तदध्ययनं पौरुषीमण्डलमिति । ( अत्र चूर्णिः ' पोरिसीमंडल ' शब्दे वक्ष्यते ) तथा-( मंडलप्पवेस इति ) यत्रेह चन्द्रसूर्ययोर्दक्षिणोत्तरेषु मण्डलप्रवेशो वर्ण्यते तदध्ययनं मण्डलप्रवेश इति । ( विलोकनीयश्चात्र ' मंडलप्पवेस ' शब्दः ) तथा-( गणिविज्ज त्ति ) गुणगणोऽस्यास्तीति गणी, स चाऽऽचार्यस्तस्य विद्या ज्ञानं गणिविद्या । ( पा० )-( अस्मिन् विषये ' गणिविज्जा ' शब्दस्तृतीयभागस्थ. ८२७ पृष्ठगतो विलोकनीय. ) तथा-( विज्जाचरणविणिच्छओ त्ति ) ( अत्र ' विज्जाचरणविणिच्छय ' शब्दो विलोकनीय ) तथा-( झाणविभत्ति त्ति) ध्यानान्यार्तध्यानाऽऽदीनि तेषा विभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा ध्यानविभक्तिः । ( अस्योत्कालिकश्रुतप्रतिपादकत्वम्-' झाणविभत्ति ' शब्दे चतुर्थभागे १६७६ पृष्ठे गतम् ) तथा-( मरणविभत्ति त्ति ) मरणानि प्राणत्यागलक्षणानि ( पा० ) मरणानां विभक्तिर्विभजनं विचारणं यस्या ग्रन्थपद्धतौ क्रियते सा मरणविभक्तिरिति । ( अत्र विशेष', भेदाश्च ' मरण ' शब्दे दर्शयिष्यन्ते ) तथा-( आयविसोहि त्ति ) आत्मनो जीवस्यालोचनाऽऽदिप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विशुद्धिः कर्मविगमलक्षणा प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनमात्मविशुद्धि । तथा-( सलेहणासुय ति ) द्रव्यभावसंलेखना प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनं संलेखनाश्रुतम् । तत्र द्रव्यसंलेखनोत्सर्गत " चत्तारि विचित्ताइं, विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि " इत्यादिका । भावसंलेखना तु क्रोधाऽऽदिकषायप्रतिपक्षाभ्यास इति । तथा-( वीयरायसुयं ति ) सरागव्यपोहेन वीतरागस्वरूपं प्रतिपाद्यते यत्राऽध्ययने त द्वीतरागश्रुतम् । तथा-( विहारकप्पो त्ति ) विहरणं विहारो वर्तनं तस्य कल्पो व्यवस्था स्थविरकल्पाऽऽदीनामुच्यते यत्र ग्रन्थेऽसौ विहारकल्पः । ( ग्रन्थविशेषप्रतिपादकत्वमस्येति ' विहारकप्प ' शब्दे वक्ष्यते ) तथा-( चरणविहि त्ति] चरणं व्रताऽऽदि । यथोक्तम्-"वयसमणधम्मसंजमवेयावच्चं च बंभगुत्तीओ । नाणाइतियं तवको-हनिग्गहा इय चरणमेयं ॥१॥" एतत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः । [अत्र बहुविस्तरः ' चरणविहि' शब्दे तृतीयभागे ११२८पृष्ठे दर्शित. ] तथा-[आउरपच्चक्खाणं ति ] आतुरः क्रियाऽतीतो ग्लानस्तस्य प्रत्याख्यानमातुरप्रत्याख्यानम्-[ चूर्णिकृतोक्तो विधि श्चाऽत्र ' आउरपच्चक्खाण ' शब्दे द्वितीयभागे ४१ पृष्ठे दर्शित. ] तथा-[ महापच्चक्खाणं ति ] महच्च तत्प्रत्याख्यानं चेति समास. । [ पा० ] एतदपि पूर्ववद्व्याख्येयम्। [ पा० ] [ अत्र विस्तरः ' महापच्चक्खाण ' शब्दे वक्ष्यते]

सव्वेहिं पि एयम्मि अंगबाहिरे उक्कालिए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणिए जे गुणा वा भावा वा अरहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा परूविया वा ते भावे सद्दहामो,पत्तियामो,रोएमो, फासेमो पालेमो, अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तियंतेहिं रोयंतेहिं फासतेहिं पालंतेहिं अणुपालंतेहिं अंतो पक्खस्स जं वाइय पढियं परियट्टियं पुच्छियं अणुपेहियं अणुपालियं त दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खाए बोहिलाभाए संसारुत्तारणाए तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतो पक्खस्स जं न वाइयं न पढियं न परियट्टियं न पुच्छियं नाणुपेहियं नाणुपालियं सते बले संते वीरिए सते पुरिसयारपरक्कमे तस्स आलोएमो, पडिक्कमामो, निंदामो, गरिहामो,विउट्टेमो, विसोहेमो, अकरणयाए अब्भुट्ठेमो, अहारिहं तवोकम्म पायच्छित्तं पडिवज्जामो, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

इदमपि सूत्रं प्राग्वत्समवसेयमिति । समुत्कीर्तितमुत्कालिकम् ।

अथ कालिकोत्कीर्तनायाऽऽह-

णमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इम वाइयं अंगबाहिर कालियं भगवंतं । तं जहा-उत्तरज्झयणाइ,दसाओ,कप्पो,ववहारो, इसिभासियाइ, निसीहं. महानिसीह,जंबूदीवपन्नत्ती, सूरपन्नत्ती, चदपन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती,खुड्डियाविमाणपविभत्ती, महल्लियाविमाणपविभत्ती, अंगचूलियाए, वंगचूलियाए, विवाहचूलियाए, अरुणोववाए,वरुणोववाए,गरुलोववाए,वेसमणोववाए, वेलंधरोववाए,देविंदोववाए, उट्ठाणसुए, समुट्ठाणसुएं,नागपरियावलियाण,निरयावलियाणं, कप्पियाणं,कप्पवडिसयाण,पुप्फियाण, पुप्फचूलियाणं, वण्हियाणं,वण्हिदसाण,आसीविसभावणाणं, दिट्ठीविसभाव-

णाणं चारणभावणाणं महासुमिणभावणाणं तेयगनिसग्गाणं सव्वेहिं पि एयम्मि अंगबाहिरे कालिए भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे संनिज्जुत्तिए ससंगहणिए जे गुणा वा भावा वा अरहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा, परूविया वा, ते भावे सद्दहामो, पत्तियामो, रोएमो,फासेमो, पालेमो, अणुपालेमो, ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तियंतेहिं फासंतेहिं पालितेहिं अणुपालितेहिं अंतो पक्खस्स जं वाइयं पढिय परियट्टियं पुच्छियं अणुपेहियं अणुपालियं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खाए वोहिलाभाए ससारुत्तारणाए त्तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । अंतो पक्खस्स जं न वाइयं न पढियं न परियट्टियं न पुच्छियं नाणुपेहियं नाणुपालियं संते बले संते वीरिए संते पुरिसयारपरक्कमे तस्स आलोएमो, पडिक्कमामो,निंदामो, गरिहामो, विउट्टेमो विसोहेमो, अकरणयाए अब्भुट्ठेमो, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जामो, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

एतदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरम्–" (उत्तरज्झयणाइं ति) उत्तराणि प्रधानान्यध्ययनानि, रूढिवशाद्विनयश्रुताऽऽदीन्येव षट्त्रिंशत् प्रथमाङ्गोपरि पाठाद्वोत्तराध्ययनानीति। पा०।(अत्र विशेषः ' उत्तरज्झयण ' शब्दे द्वितीयभागे ७६४ पृष्ठे प्रतिपादितः ) [दसाओ त्ति] दशाध्ययनाऽऽत्मको ग्रन्थविशेषो दशाः, दशाश्रुतस्कन्ध इति यः प्रतीत इति । [ दशाश्रुतस्कन्धविषये ' दसासुयक्खंध ' शब्दश्चतुर्थभागे २४८५ पृष्ठस्थोऽवलोकनीयः ] ( कप्पो त्ति ) कल्पः साध्वाचारः, स्थविरकल्पाऽऽदिर्वा तत्प्रतिपादकमध्ययनं कल्प इति ।[कल्पस्य सर्वो विषयः ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २२० पृष्ठे गतः । कल्पव्यवहारयोर्भेदः ' ववहार' शब्दे वक्ष्यते ] ( ववहारो त्ति ) प्रायश्चित्तगोचरव्यवहारप्रतिपादकमध्ययनं व्यवहार इति । [ व्यवहारविषये बहुवक्तव्यता, सा च ' ववहार ' शब्दे दर्शयिष्यते ] ( इसिभासियाइं ति ) इह ऋषयः प्रत्येकबुद्धसाधवः [पा०] तैर्भाषितानि पञ्चचत्वारिंशत्सङ्ख्यान्यध्ययनानि श्रवणाऽऽद्यधिकारवन्ति ऋषिभाषितानि । [पा०] [ वृद्धसंप्रदायश्चाऽत्र ' इसिभासिय ' शब्दे द्वितीयभागे ६३५ पृष्ठे गतः ] ( निसीहं ति ) निशीथो मध्यरात्रिस्तद्वद्रहोभूतं यदध्ययन तन्निशीथम्, आचाराङ्गपञ्चमचूडेत्यर्थः । [ निशीथवक्तव्यता ' णिसीह ' शब्दे चतुर्थभागे २१४० पृष्ठे गता ] अस्मादेव ग्रन्थार्थाभ्यां महत्तरं महानिशीथम् [महानिशीथवक्तव्यता 'महाणिसीह' शब्दे वक्ष्यते] (जंबुद्दीवपन्नत्ति त्ति) जम्बूद्वीपाऽऽदिस्वरूपप्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ।[ सर्वोऽप्यस्या विषयः ' जंबूदीवपण्णत्ति ' शब्दे चतुर्थभागे १३७६ पृष्ठे गतः ] (सूरपन्नत्ति त्ति) सूरचरितप्रज्ञापनं यस्यां सा सूरप्रज्ञप्तिः, केचिदेनामुत्कालिकमध्येऽधीयन्ते । तदपि युक्तम् । नन्द्यध्ययनेऽप्यस्या उत्कालिकमध्येऽधीतत्वादिति । [ अत्रार्थे ' सूरपण्णत्ति ' शब्दो विलोकनीयः ] (चंदपण्णत्ति त्ति ) चन्द्रचारविचारप्रतिपादको ग्रन्थश्चन्द्रप्रज्ञप्तिः ।[ चन्द्रप्रज्ञप्तिविषये चन्द्रप्रज्ञप्तिग्रन्थो विलोकनीयः ] ( दीवसागरपन्नत्ति त्ति ) द्वीपसागराणां प्रज्ञापनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः । [ द्वीपसागरप्रज्ञप्तिविषयेऽपि द्वीपसागरप्रज्ञप्तिग्रन्थो विलोकनीयः ] इह चाऽऽवलिकाप्रविष्टेतरविमानप्रविभजनं यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा विमानप्रविभक्तिः, सा चैकाऽल्पग्रन्थार्था, तथाऽन्या महाग्रन्थार्था, अतः क्षुल्लिका विमानप्रविभक्तिः, महती विमानप्रविभक्तिः । [अङ्गचूलिय त्ति] अङ्गस्याचाराऽऽदेश्चूलिका यथाऽऽचारस्यानेकविधा । इहोक्तानुक्तार्थसङ्ग्रहाऽऽत्मिका चूलिका [ ' अंगचूलिया ' प्रथमभागे ३७ पृष्ठे व्याख्याता ] (वग्गचूलिय त्ति) इह वर्गोऽध्ययनाऽऽदिसमूहः,यथाऽन्तकृ. शास्वष्टौ वर्गा इत्यादि,तस्य चूलिका वर्गचूलिका। [ वर्गचूलिकावक्तव्यता ' गोट्ठिल्ल ' शब्दे ६५० पृष्ठे गता ] ( विवाहचूलिय त्ति ) व्याख्या भगवती तस्याश्चूलिका व्याख्याचूलिका [ विशेषश्चात्र ' विवाहपण्णत्ति ' शब्दे दर्शयिष्यते ] [ अरुणोववाए त्ति ] इहारुणो नाम देवः तत्समयनिबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुररुणोपपातः। (पा०) [अरुणोपपातविशेषचिन्तायाम् ' अरुणोववाय ' शब्दः प्रथमभागे ७६६ पृष्ठस्थोऽवलोकनीयः ]* एवं वरुणोपपातः। [अत्रार्थे 'वरुणोववाय ' शब्दो विलोकनीय ] गरुडोपपातः [ अत्रार्थे ' गरुलोववाय ' शब्दस्तृतीयभागे ८५२ पृष्ठस्थो द्रष्टव्यः] वैश्रमणोपपातः [ वैश्रमणोपपातविषये ' वेसमणोववाय ' शब्दो द्रष्टव्यः] वेलंधरोपपात [विलंधरोपपातार्थे 'वेलंधरोववाय' शब्दे विलोकनीयः ] देवेन्द्रोपपातः [ अस्योत्कालिकश्रुतभेदत्वम् ' देविंदोववाय ' शब्दे चतुर्थभागे २६२७ पृष्ठे गतम् ] (उट्ठाणसुए त्ति ) उत्थानश्रुतमध्ययनम् । [ पा० ] अत्र चूर्णिः ' उट्ठाणसुय ' शब्दे द्वितीयभागे ७५० पृष्ठे गता ] [ समुट्ठाणसुए त्ति] समुत्थानश्रुतमध्ययनम् । "तं पुण समत्तकज्जे तस्सेव कुलस्स वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा से चेव समणे कय सङ्कप्पे तुट्ठे पसन्ने पसन्नलेस्से समसुहासणत्थे उवउत्ते समुट्ठाणसुयमज्झयणं परियट्टेइ एक्कं दोन्नि तिन्नि वा वारे, ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा पहट्ठचित्ते सुपसत्थमंगलकलयलं कुणमाणे मंदाए गईए सलीलयं आगच्छंते समुट्ठाइ, आवसइ त्ति वुत्तं भवइ । एवं कयसंकप्पस्स परियट्टंतस्स पुव्वुट्ठियं पि समुट्ठेइ । " इतः षष्ठ्यन्तानि श्रुताभिधानानि दृश्यन्ते, विभक्तिविपरिणामात्प्रथमान्तानि व्याख्येयानि । अथवा–णकारस्यालङ्कारार्थत्वात्प्रथमान्तान्येवामूनि द्रष्टव्यानि । अथवा-प्रथमान्तान्येवामूनि पठनीयानि, क्वापि तथैव दर्शनात् । नागपरिज्ञा (णागत्ति) नागो नागकुमारस्तत्समयनिबद्धमध्ययनम् । " तं जया समणे उवउत्ते परियट्टेइ तया अकयसंकप्पस्स वि ते नागकुमारा तत्थत्था चेव परियाणंति, वंदंति, नमंसंति, बहुमाणं च करेंति , संघमाइयकज्जेसु य वरदा भवंतीति ।" ( नागकुमाराणां स्थितिः 'ठिइ' शब्दे चतुर्थभागे १७१६ पृष्ठे गता ) ( उच्छ्वासनिःश्वासक्रिया च 'आण' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे दर्शिता) [आहारश्च 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०४ पृष्ठे दर्शितः ] [ एतेषामसुरकुमारसममाहारः ' सम ' शब्दे दर्शयिष्यते ] [ ' णागकुमार ' शब्दोऽप्यवलोकनीयः ] ( निरयावलिआओ त्ति ) निरयावलिकाः, यासु " आवलियापविट्ठा इयरे य निरया तग्गामिणो य नरतिरिया पसंगओ वन्निज्जंति ।" [ निरयावलिकावक्तव्यता ' णि-

* एवं वरुणोपपातगरुडोप०वैश्रमणोप०वेलंधरोप०देवेन्द्रोपपातेष्वपि वाच्यम् ।

स्याचलिया ' शब्दे चतुर्थभागे २१०६ पृष्ठे गता ] [ कप्पिया उ त्ति] सौधर्माऽऽदिकल्पगतवक्तव्यतागोचराः ग्रन्थपद्धतयः कल्पिका उच्यन्ते । [ कल्पिकावक्तव्यता ' कप्पिया ' शब्दे तृतीयभागे २४० पृष्ठे प्रतिपादिता ] [कप्पवडिंसियाउ त्ति] ' सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पप्पहाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि, तेसु य देवीओ जा जेण तवोविसेसेण उववन्नाओ, इड्ढिं च पत्ताओ, एवं जासु सवित्थरं वणिज्जइ, ताओ ' कल्पावतंसिकाः प्रोच्यन्त इति। [ अत्रार्थे तृतीयभागे २३५ पृष्ठस्थ ' कप्पवडिंसया ' शब्दो विलोकनीयः ] [ पुप्फियाओ त्ति ] इह यासु ग्रन्थपद्धतिषु गृहवासमुकुलपरित्यागेन प्राणिनः संयमभावपुष्पिताः सुखिताः, पुनः संयमभावपरित्यागतो दुःखावाप्तिमुकुलनेन मुकुलिताः, पुनस्तत्परित्यागादेव पुष्पिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुष्पिता उच्यन्ते । [ दशाध्ययनाऽऽत्मिका पुष्पिकेति 'पुप्फिया ' शब्दे प्रतिपादयिष्यते ] [ पुप्फचूलियाओ त्ति ] पूर्वोक्तार्थविशेषप्रतिपादिकाः पुष्पचूडा इति । [ ' पुप्फचूलिया ' शब्देऽत्रार्थे विचारो निरूपयिष्यते ] [ वण्हिदसाओ त्ति ] वृष्णिरन्धकवृष्णिनराधिपः, तद्वक्तव्यताविषया दशा वृष्णिदशा उच्यत इति । [ अस्या विषये बह्वी वक्तव्यता 'वण्हिदसा ' शब्दे ] [ आसीविसभावणाओ त्ति ] आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः । ते च द्विविधाः-जातितः, कर्मतश्च । [ पा० ] [ आशीविषभावना ' आसीविसभावणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४८८ पृष्ठे गता ] [ दिट्ठीविसभावणाओ त्ति ] दृष्टौ विषं येषां ते दृष्टिविषाः, तत्स्वरूपप्रतिपादिका दृष्टिविषभावना इति । [ अङ्गबाह्यकालिकश्रुतविशेषत्वम् ' दिट्ठिविसभावणा ' शब्दे चतुर्थभागे २५१६ पृष्ठे गतम् ] [चारणभावणाओ त्ति] अतिशयवहुगमनाऽऽगमनस्वरूपाच्चरणाच्चारणाः सातिशयगमनाऽऽगमनलब्धिसम्पन्नाः साधुविशेषाः, ते च द्विविधाः-विद्याचारणाः, जङ्घाचारणाश्च । [ पा० ] [ चारणभेदाः 'चारण ' शब्दे तृतीयभागे ११७३ पृष्ठे गताः ] [ महासुमिणभावणाओ त्ति ] महास्वप्नानि गजवृषभसिंहाऽऽदीनि भाव्यन्ते यासु ता महास्वप्नभावना इति । [ अत्र ' महासुमिणभावणा ' शब्दो विलोकनीयः ] [ तेयगनिसग्गाणं ति ] तैजसनिसर्गो वर्ण्यते यासु तास्तैजसनिसर्गा इति । अत्र चाऽऽशीविषभावनाऽऽदिग्रन्थपञ्चकस्वरूपं नामानुसारतो दर्शितं,विशेषसंप्रदायश्च न दृष्ट इति । एतान्यपि षट्त्रिंशदध्ययनान्युपलक्षणभूतानि द्रष्टव्यानि, यतो भगवतो वृषभस्वामिन आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिप्रकीर्णकसहस्राणि तथा मध्यमानामजिताऽऽदीनां पार्श्वपर्यन्तानां जिनवराणां संख्येयानि प्रकीर्णकसहस्राणि, यस्य यावन्तः शिष्यास्तस्य तावन्तीत्यर्थः । तथा चतुर्दशप्रकीर्णकसहस्राणि भगवतो वर्द्धमानस्वामिन आसन्निति । उक्तं कालिकं, तदभिधानाच्चाऽऽवश्यकव्यतिरिक्तं, तदभणनाच्चाङ्गबाह्यं श्रुतमुक्तम् ।

साम्प्रतमङ्गप्रविष्टश्रुतसमुत्कीर्त्तनायाऽऽह

नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं दुवालसंगं गणिपिडगं भगवंतं। त जहा-आयारो, सूयगडो, ठाणं,समवाओ,विवाहपन्नत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणं, विवागसुयं, दिट्ठीवाओ। सव्वंहिं पि एयम्मि दुवालसंगे गणिपिडगे भगवंते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणिए जे गुणा वा भावा वा अरहंतेहिं भगवंतेहिं पन्नत्ता वा, परूविया वा, ते भावे सद्दहामो, पत्तियामो, रोएमो, फासेमो, पालेमो, अणुपालेमो ते भावे सद्दहंतेहिं पत्तियंतेहिं रोयंतेहिं फासंतेहिं पालतेहिं अणुपालंतेहिं अतो पक्खस्स जं वाइयं पढियं परियट्टियं पुच्छियं अणुपेहियं अणुपालियं तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए मुक्खाए वोहिलाभाए संसारुत्तारणाए तिकट्टु उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, अतो पक्खस्स जं न वाइयं न पढियं न परियट्टियं न पुच्छियं नाणुपेहियं नाणुपालिय संते वले संते वीरिए संते पुरिसयारपरक्कमे तस्स आलोएमो, पडिक्कमामो, निंदामो, गरिहामो, विउट्टेमो विसोहेमो, अकरणयाए अब्भुट्ठेमो, अहारिहं तवोकम्म पायच्छित्तं पडिवज्जामो, तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

एतच्च प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं गणिपिटकम् आचार्यस्यार्थसारप्रधानभाजनमित्यर्थः । ( आयारो त्ति ) आचरणमाचारः, आचर्यत इति वाऽऽचार, शिष्टाऽऽचरितो ज्ञानाऽऽद्यासेवनविधिरित्यर्थः । तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते [ आचारभेदा ' आचार ' शब्दे द्वितीयभागे ३४० पृष्ठे दर्शिताः ] आचारप्रतिपादको ग्रन्थ ( तत्स्वरूपम् ' आयारंग ' शब्दे द्वितीयभागे ३४१ पृष्ठादारभ्य दर्शितम् ) [ सूयगडो त्ति ] ' सूच ' सूचायाम्, सूचनात्सूत्रं,सूत्रेण कृतं सूत्रकृतं, स्वपरसमयाऽऽदिसकलपदार्थसूचकं यदित्यर्थः । [ ' सूयगड ' वक्तव्यता ' सूयगड ' शब्दे दर्शयिष्यते ] [ठाणं ति] तिष्ठन्त्यासते वसन्ति यथावदभिधेयतयैकत्वाऽऽदिविशेषिता आत्माऽऽदयः पदार्था यस्मिंस्तत् स्थानम्,अथवा-स्थानशब्देनेहैकाऽऽदिकः सङ्ख्याभेदोऽभिधीयते, ततश्चाऽऽत्माऽऽद्यर्थगतानामेकाऽऽदिदशान्तानां स्थानानामभिधायकत्वेन स्थानमाचाराभिधायकत्वादाचारवदिति। [विशेषत स्थानशब्दार्थः। तत्प्रतिपादकग्रन्थवक्तव्यता च ' ठाणंग' शब्दे चतुर्थभागे १६१५ पृष्ठे दर्शिता ] [ समवाओ त्ति] समिति सम्यक् अवेत्याधिक ,अय जीवाऽऽदिपरिच्छेद समवायः,तद्धेतुश्च ग्रन्थोऽपि समवाय इति।[समवायशब्दार्थः 'समवाय' शब्दे,तत्प्रतिपादकग्रन्थवक्तव्यताऽपि तत्रैव प्रतिपादयिष्यते ] [ विवाहपण्णत्ति त्ति ] विशिष्टा वाहा अर्थप्रवाहास्तत्त्वार्थविचारपद्धतय इत्यर्थः ,तेषां प्रज्ञप्तिः प्रज्ञापनं व्याख्यानं यस्यां सा विवाहप्रज्ञप्तिः। पूज्यत्वेन नामान्तरतो भगवतीत्यपीयमुच्यते। [भगवत्या व्याख्या ' विवाहपण्णत्ति ' शब्दे करिष्यते ] [ नायाधम्मकहाओ त्ति ] ज्ञातान्युदाहरणानि, तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा। [ तद्वक्तव्यता 'णायाधम्मकहा' शब्दे चतुर्थभागे २००६ पृष्ठे गता ] [ उवासगदसाओ त्ति ] उपासकाः श्रावकास्तद्गतक्रियाकलापप्रतिवद्धा दशाध्ययनोपलक्षिता उपासकदशाः [ उपासकदशा-

इवक्तव्यता 'उवासगदसा' शब्दे द्वितीयभागे २०६४ पृष्ठे विस्तरतो गता ] [ अंतगडदसाओ त्ति ] अन्तो विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य कृतो यैस्ते अन्तकृतास्ते च तीर्थकराऽऽदयस्तेषां दशा· प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्संख्ययोपलक्षिता अन्तकृद्दशा इति । [ अन्तकृद्दशाव्याख्या, तद्वक्तव्यता च ' अंतगडदसा ' शब्दे प्रथमभागे ६१ पृष्ठे दर्शिता ] [ अणुत्तरोववाइयदसाओ त्ति ] उत्तर प्रधानो नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरः, उपपतनमुपपातो, जन्मेत्यर्थ , अनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः सर्वार्थसिद्धिविमानपञ्चकोपपातिन इत्यर्थ·, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशा इति । [ अनुत्तरोपपातिकदशाविचारः 'अणुत्तरोववाइय ' शब्दे प्रथमभागे ३६३ पृष्ठे वर्णितः ] [ पण्हावागरणं त्ति ] प्रश्नाश्च पृच्छा:, व्याकरणानि च निर्वचनानि, समाहारत्वात्प्रश्नव्याकरणं, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि प्रश्नव्याकरणमिति ।[प्रश्नव्याकरणस्वरूपविवरणम् 'पण्हावागरण' शब्दे दर्शयिष्यते ] [ विवागसुयं ति ] विपचनं विपाकः, शुभाशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतम् [ विपाकश्रुतवक्तव्यता ' विवागसुय ' शब्दे दर्शयिष्यते ] [ दिट्ठिवाओ त्ति ] दृष्टयो दर्शनानि, वदनं वाद·, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः,दृष्टीनां वा पातो यत्रासौ दृष्टिपातः, सर्वनयदृष्टयो यत्राऽऽख्यायन्ते समवतरन्ति चेति भावः । [ सर्वोऽपि दृष्टिवादविषयः 'दिट्ठिवाय ' शब्दे चतुर्थभागे २५१३ पृष्ठादारभ्य दर्शितः ] इत्युत्कीर्तितं सामान्यतोऽङ्गप्रविष्टश्रुतम् । [ अङ्गप्रविष्टश्रुतविषये चूर्णिः 'अंगपविट्ठ' शब्दे प्रथमभागे ३८ पृष्ठे दर्शिता]

साम्प्रतं श्रुतदातृपालकेभ्यो नमस्कारम्, आत्मीयप्रमादविषये मिथ्यादुष्कृतं चाऽऽह–

**नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं दुवालसंगं गणिपिडगं भगवंतं, सम्मं काएण फासंति, पालंति, पूरंति, तीरंति, किट्टंति, सम्मं आणाए आराहंति, अहं च नाराहेमि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।**

(नमो) नमस्कारोऽस्तु,तेभ्य क्षमाश्रमणेभ्यः क्षमाऽऽदिगुणगणप्रधानमहामुनिभ्य स्वगुरुभ्य· तीर्थकरगणधराऽऽदिभ्यो चेति भावः, यैरिदं प्रागुक्तं वाचितं प्रदत्तं, परिभाषितं वा सूत्रार्थत· प्रणीतमित्यर्थः, द्वादशाङ्गं द्वादशानामङ्गानां समाहारो द्वादशाङ्गम् । [ द्वादशाङ्ग्याः नित्यत्वम् 'बारसंगी' शब्दे दर्शयिष्यते ) किंविशिष्टमित्याह–( गणिपिडगं ति ) गुणगण· साधुगणो वास्याऽस्तीति गणी आचार्य·, तस्य पिटकमिव रत्नाऽऽदिककरण्डक इव पिटकं गणिपिटकं, सर्वार्थसारकोशभूतमित्यर्थ· । पुनरपि किंविशिष्टम्–( भयवंतं ति ) भगः समग्रैश्वर्याऽऽदिलक्षण· यदुक्तम्–"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशस· श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥" इङ्गना नाम,सा विद्यते यस्य तद्भगवत्,तलेह समग्रैश्वर्यं सातिशयाभिप्रेयविभूति· । यदवाचि–"सव्वनईणं जा होजवालुया सव्वउदहिजं सलिलं । एत्तो वि अणतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स ॥१॥ " रूपं च निर्दोषत्वसारवत्त्वहेतुयुक्तत्वालङ्कृतत्वाऽऽदिगुणगणसंपाद्यं यशश्च विश्वव्यापिनी कीर्तिः, श्रीश्च कमनीयता श्रुतिहृदयाऽऽनन्ददायितेत्यर्थः, धर्मश्चाभिधेयत्वेन सर्वोपाधिविशुद्धोऽहिंसाऽऽदिकः, प्रयत्नश्चाभिधेयतया सर्वप्रमादवर्जनरूप उद्यमः, अथवा–प्रयत्नो माहात्म्यं, प्रभावः सामर्थ्यमिति यावत् । सुप्रसिद्धश्चैतदागमस्वरूपवेदिनामिति । ये चेदं सम्यगवैपरीत्येन कायेन कायप्रवृत्त्या मनोमात्रेणेत्यर्थः, स्पृशन्ति ग्रहणकाले विधिना गृह्णन्ति, पालयन्ति पुनः पुनरभ्यासकरणेन रक्षन्ति, पूरयन्ति मात्राबिन्द्वक्षराऽऽदिभिरध्येतृदोषादपरिपूर्णं परिपूर्णं कुर्वन्ति तीरयन्ति अविस्मृतं जन्मपारं नयन्ति, कीर्त्तयन्ति स्वनामभिः स्वाध्यायकरणतो वा संशब्दयन्ति, सम्यगाज्ञया आराधयन्ति सम्यग्यथावत् आज्ञया तदुक्तार्थरूपया गुरुनियोगात्मिकया वा आराधयन्ति तदुक्तक्रियाकरण· त· फलदं कुर्वन्तीत्यर्थः, तेभ्योऽपि नम इति प्रक्रम· । ( अहं च नाराहेमि ) यच्चाहं नाराध्यामि प्रमादतो नानुपालयामि, ( तस्स त्ति ) षष्ठीसप्तम्योरभेदात्तस्मिन्नाराधनविषये ( मिच्छा मि दुक्कडं ति ) मिथ्या मे दुष्कृतमिति स्वदुश्चरितानुतापसूचकं स्वदोषप्रतिपत्तिसूचकं वा प्रतिक्रमणमिति परिभाषितं वाक्यं प्रयच्छामीत्यर्थः ।

साम्प्रतं प्रस्तुतसूत्रपरिसमाप्तौ श्रुतदेवतां विज्ञपयितुमाह–

**सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघायं ।**
**तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसायरे भत्ती ॥ १ ॥**

श्रुतमर्हत्प्रवचनं, श्रुताधिष्ठात्री देवता श्रुतदेवता, संभवति च श्रुताधिष्ठातृदेवता । यदुक्तं कल्पभाष्ये–" सव्वं च लक्खणोवेयं, समहिट्ठंति देवता । सुत्तं च लक्खणोवेयं, जेण सव्वण्णुभासियं ॥ १ ॥ " इति । भगवती पूज्या, ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसङ्घातं ज्ञानाऽऽशातनाया उद्भूतं [ ज्ञानघ्नं ] कर्मनिवहं तेषां प्राणिनां, क्षपयतु क्षयं नयतु, सततमनवरतं, येषां किमित्याह–श्रुतमेवातिगम्भीरतया अतिशयरत्नप्रचुरतया च सागरः समुद्र· श्रुतसागरस्तस्मिन् भक्तिर्बहुमानो विनयश्च, समस्तीति गम्यते । ननु श्रुतरूपदेवताया उक्तरूपविज्ञापना युक्ता, श्रुतभक्ते· कर्मक्षयकारणत्वेन सुप्रतीतत्वात्, श्रुताधिष्ठातृदेवतायास्तु व्यन्तराऽऽदिप्रकाराया न युक्ता, तस्याः परकर्मक्षयेऽसमर्थत्वादिति । तत्र । श्रुताधिष्ठातृदेवतागोचरशुभप्रणिधानस्यापि स्मर्तुः कर्मक्षयहेतुत्वेनाभिहितत्वात् । यदुक्तम्–" सुयदेवयाए जीए संभरणं कम्मखयकरं भणियं । नत्थि त्ति अकज्जकरी व, एवमासायणा तीए ॥१॥" इति । किञ्च–इहेदमव व्याख्यानं कर्तुमुचितं· येषा सततं श्रुत· सागरे भक्तिस्तेषां श्रुताधिष्ठातृदेवता ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मसङ्घातं क्षपयन्त्विति वाक्यार्थोपपत्ते·, व्याख्यानान्तरे तु श्रुतरूपदेवता श्रुते भक्तिमतां कर्म क्षपयत्विति सम्यगेवोपपद्यते, श्रुतस्तुते· प्राग्बहुशोऽभिहितत्वाच्चेति । तत· स्थितमिदमर्हत्पाक्षिकी श्रुतदेवतेह गृह्यते इति । पा० ।

(२६) साम्प्रतं शेषप्रतिक्रमणविधिरुच्यते–"नमो उवट्ठियपक्खपडिक्कमणसुत्तकित्तणावसाणे विहिणा निसिइत्ता 'करेमि भंते ! सामाइयं' इत्यादि सव्वं निव्विट्ठपडिक्कमणं कड्ढित्ता उट्ठिया तस्स धम्मस्सऽब्भुट्ठिओ मि त्ति एयमाइयं 'वंदामि जिणे चउव्वीसं ति' आलावगपज्जवसाणं सुत्त कड्ढति कड्ढिए य 'करेमि भंते ! सामाइय' इच्चाइ काउस्सग्गदडगुच्चा-

रणपुरस्सर उवट्ठिया चेव मूलुत्तरगुणेसु जं राइयं तस्स पायच्छित्तनिमित्तं उस्सासस्सयनिगपरिमाणं काउस्सग्गं करेंति । तत्थ य पारस उज्जोयगरे चिंतंति । पउमासिए पंचसउस्सासमाए उज्जोयगरे वीसं संवच्छरिए पञ्चकुस्सासहस्सुस्सासमाणं उज्जोयगरं चालीसं नमोकार चिंतंति, तओ विहिणा पारित्ता चउवीसत्थयं पढंति । पच्छा उवविट्ठा मुहणंतगं कायं च पडिलेहित्ता किइकम्मं करेंति, तओ ध रणियलनिहियजाणुकरयलुत्तमंगं खमगं भणंति"-

इच्छामि खमासमणो ! अब्भुट्ठिओ मि अब्भिंतरपक्खियं खामेउं पन्नरसएहं दिवसाणं पन्नरसएहं राईणं जं किंचि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । अहमवि तुब्भे खामामि ।

अस्यार्थ -इच्छाम्यभिलषामि, क्षमयितुमिति योगः । ( खमासमणो त्ति ) हे क्षमाश्रमण ! ओकारान्तत्वं च प्राकृतत्वात् । न केवलमिच्छाम्येव किं तु (अब्भुट्ठिओ मि त्ति) अभ्युत्थितोऽस्मि प्रारब्धोऽस्म्यहम् । अनेनाभिलापमात्रव्यपोहेन क्षमणक्रियाया प्रारम्भमाह-( अब्भिंतरपक्खियं ति ) पक्षाभ्यन्तरसंभवमतिचारमिति गम्यते । क्षमयितुं मर्षयितुमिति प्रस्तावना । क्षामणमेवाऽऽह ( पन्नरसएहं दिवसाणं ति ) पञ्चदशानां दिवसानां ( पन्नरसएहं ) पञ्चदशानां [ राईणं ति ] रात्रीणामभ्यन्तरमिति शेषः । ( जं किंचि त्ति ) यत्किञ्चित्सामान्यतो निरवशेषं वा । (अपत्तियं ति) प्राकृतशैल्या ऽप्रीतिकमप्रीतिमात्रम् । [ परपत्तिय ति ] प्रकृष्टमप्रीतिकं परप्रत्ययं वा परहेतुकमुपलक्षणत्वादस्याऽऽत्मप्रत्ययं चेति द्रष्टव्यम् । भवद्विषये मम जातं वा, मया जनितमिति शेषः । "तस्स मिच्छा मि दुक्कडमिति" संबन्धः । तत्र भक्ते भोजनविषये, पाने पानविषये, विनये अभ्युत्थानाऽऽदिरूपे, वैयावृत्त्ये औषधपथ्यदानाऽऽदिनोपष्टम्भकरणरूपे, आलापे सकृज्जल्पे, संलापे मिथःकथायाम् । "उच्चासणे समासणे चेति" व्यक्तम् । ( अंतरभासाए त्ति ) अन्तरभाषायामाराध्यस्य भाषमाणस्यान्तरालभाषणरूपायाम् , उपरिभाषायामाराध्यभाषणानन्तरमेव तत्तदधिकभाषणरूपायाम् । इह समुच्चयार्थश्चशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः । यत्किञ्चित्समस्तं सामान्यतो वा ( मज्झ त्ति ) मम विनयपरिहीणं शिक्षावियुतत्वमनौचित्यमित्यर्थः । संजातमिति शेषः । सामस्त्यं सामान्यरूपता वा विनयपरिहीणस्यैव दर्शयन्नाह-सूक्ष्मं वा, बादरं वा, वाशब्दौ द्वयोरपि मिथ्यादुष्कृतविषयतातुल्यतोद्भावनार्थौ, ( तुब्भे जाणह त्ति ) यूयं जानीथ, यत्किञ्चिदिति वर्तते । ( अहं न याणामि त्ति ) अहं पुनर्न जानामि, मूढत्वात् । यत्किञ्चिदिति वर्तते, अप्रीतिकविषये, विनयपरिहीणविषये च ( मिच्छा मि दुक्कडं ति ) मिथ्या मे दुष्कृतमिति । स्वदुश्चरितानुतापसूचकं स्वदोषप्रतिपत्तिसूचकं वा प्रतिक्रमणमिति परिभाषितं वाक्यं प्रयच्छामीति वाक्यशेषः । अथवा-[ तस्स त्ति ] विभक्तिपरिणामात्तदप्रीतिकं, विनयपरिहीणं च मिथ्या मोक्षसाधनविपर्ययभूतं वर्तते [ मे ] मम तथा दुष्कृतं पापमिति स्वदोषप्रतिपत्तिरूपमपराधक्षमणमिति । अत्राऽऽचार्यो भणति-[ अहमवि खामेमि तुब्भे त्ति ] प्रतीतार्थमेवेदमिति । अत्राऽऽह कश्चित्-"ननु पुव्वमेव खामणओ विणेयओ वि पडिक्कमणावसाणे खामणं कयं, ता किं पुणो इयाणिं पक्खियं खामेह ? । " उच्यते-" काउस्सग्गट्ठियाण सुभेणऽज्झवसायेणं किरियासमत्ती सुमरियं होज्जा, तस्स खामणनिमित्तं पुणो खामणं करेमो त्ति । अहवा-मज्झिमेहिं पच्छा पडिक्कमणपरिसमत्ती, तओ पुच्छिऊण खामणनंतरं जं किंचि पक्खियं जिणकिरियासग्गहणं समुप्पन्नं तमिह खामिज्जइ त्ति । अहवा विहीं चेव सो कम्मखवणहेऊ भयवया तस्संतस्सोवयोगसमिओ दरिसिओ, ता कायव्वमित्थ वि खामणं न कोइ पज्जणुजोगो कायव्वो, आणा चेवेह मागरई पमाणं ति । " ततो यथा राजानं पुष्यमाणका अतिक्रान्ते माङ्गल्यकार्ये बहु मन्यन्ते यदुत अखण्डितपराक्रम्य ते मुक्तु कालो गतोऽन्योऽप्येवमेवोपस्थितः, एवं पाक्षिकं विनयोपचारं द्वितीयक्षामणकसूत्रेण तथा स्थिता एव साधव आचार्यस्य कुर्वन्ति ।

तच्चेदम्-

इच्छामि खमासमणो ! पियं च मे जं भे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायंकाणं अभग्गजोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायरियउवज्झायाणं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं बहुसुभेणं भे दिवसो पोसहो पक्खो वइक्कंतो अन्नो अ भे कल्लाणेणं पज्जुवट्ठिओ सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ।

( इच्छामीत्यादि ) तत्रेच्छामि अभिलषामि वक्ष्यमाणं वस्तु, हे क्षमाश्रमण ! कुतोऽपि कारणादप्रियमपि किञ्चिदिष्यत इत्याह-प्रियमभिमतं चशब्दः समुच्चये । मे मम, किं तदित्याह-यद् ( भे ) भवतां, हृष्टानां रोगरहितानां तुष्टानां तोषवताम् । अथवेदं हर्षातिरेकप्रतिपादनार्थमेकार्थिकपदद्वयोपादानम्, अल्पाऽऽतङ्कानामल्पशब्दस्याभाववचनत्वात् सद्योघातिरोगवर्जितानां सामान्येन वा नीरोगाणां स्तोकरोगाणां वा, सर्वथा निरुजत्वस्यासंभवात् । (अभग्गजोगाणं ति) अभग्नसंयमयोगानां [सुसीलाणं सुव्वयाणं ति] व्यक्तम् । साऽऽचार्योपाध्यायानामनुयोगाऽऽद्याचार्योपाध्यायोपेतानां ज्ञानाऽऽदिना आत्मानं भावयतां बहुशुभेन अत्यर्थश्रेयसा ईषदूनशुभेन वा, सर्वथा शुभस्यासंभवात् । [ भे इति ] भो भगवन्तः ! दिवसो दिनं, किंविधः ?, पौषधः पर्वरूपः । तथा-पक्षोऽर्द्धमासरूपो व्यतिक्रान्तोऽतिलङ्घितः । अन्यश्च पक्ष इति वर्तते । [भे] भवतां कल्याणेन शुभेन, युक्त इति गम्यते । पर्युपस्थितः प्रक्रान्त इति । एवं पुष्यमाण इव मङ्गलवचनमभिधाय प्रमाणमाह-शिरसा मनसेति व्यक्तम्, चशब्दश्चेह समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । [मत्थएण वंदामि ] नमस्कारवचनमव्युत्पन्नं समयप्रसिद्धमतः शिरसेत्यभिधायाऽपि यन्मस्तकेनेत्युक्तं तददुष्टं, यथैषां वलीवर्द्दानामेष गोस्वामीति गोस्वामिन्शब्दस्य स्वामिपर्यायतया लोके रूढत्वादिति ।

अत्राऽऽचार्य आह-

तुब्भेहिं समं ति ।

युष्माभिः सार्द्धं सर्वमेतत्संपन्नमित्यर्थः ।

अथ चैत्यवन्दापनं,साधुवन्दापनं च निवेदयितुकामा भणन्ति-

इच्छामि-खमासमणो ! पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता नमंसित्ता

तुब्भएहं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदेवसिया साहुणो दिट्ठा समाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणा वा रायणिया संपुच्छंति, ओमरायणिया वंदंति, अज्जया वंदंति, अज्जियाओ वंदंति, सावया वंदंति,सावियाओ वंदंति, अहं पि निस्सल्लो निक्कसाओ तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि, अहमवि वंदावेमि चेइयाइं ।

इच्छाम्यभिलषामि चैत्यवन्दापनं साधुवन्दापनं च, भवतां निवेदयितुमिति वाक्यशेषः । [ खमासमणो ] इति व्यक्तम् । [ पुव्विं ति ] पूर्वकाले विहारकालात् [ चेइयाइं ति ] जिनप्रतिमाः [ वंदित्त त्ति ] स्तुतिभिः [ नमंसित्त त्ति ] प्रणामत , संघसत्कचैत्यवन्दना ह्येतदहं करोमीति प्रणिधानयोगात् । क्व वन्दित्वेत्याह-[ तुब्भएहं ति ] युष्माकं [ पादमूले त्ति ] चरणसन्निधौ, ततश्च [ विहरमाणेणं ति ] ग्रामानुग्रामं संचरता मया [ जे केइ त्ति ] ये केचन सामान्यतः [ बहुदेवसिया ] बहुदिवसपर्यायाः (साहुणो दिट्ठा) इति व्यक्तम् । किंविधास्त इत्याह-( समाणा व त्ति ) जङ्घाबलपरिक्षयात् वृद्धवासितया आश्रितक्षेत्रादवहिर्वर्तिनो ( वसमाणा व त्ति ) विहारवन्तो, विहारश्च तेषामृतुबद्धे मासकल्पेन, वर्षाकाले चतुर्मासकल्पेनेत्यत एवाऽऽह-(गामाणुगामं दूइज्जमाणा व त्ति ) ग्रामश्च प्रतीतोऽनुग्रामश्च तदनन्तर इति ग्रामानुग्रामं, तद्द्रवन्तो गच्छन्तः । अथवा-ग्रामाऽऽदिष्वेकरात्रिकं वसन्तः, आहिण्डका इत्यर्थः । वाशब्दाः समुच्चयार्थाः । इह स्थाने तेषु मध्ये इति वाक्यशेषो द्रष्टव्यः । [ रायणिय त्ति ] रात्निका भावरत्नव्यवहारिणः, बृहत्पर्याया आचार्या इत्यर्थः । [ संपुच्छंति त्ति ] मां प्रश्नयन्ति मया वन्दिताः सन्तो भवतां शरीरकुशलाऽऽदिवार्तामिति गम्यम् । [ ओमरायणिय त्ति ] अवमरात्निका भवत । प्रतीत्य लघुतरपर्याया आचार्या एव वन्दन्ते भवतः प्रणमन्ति। कुशलाऽऽदि तु । प्रश्नयन्त्येव. [ अज्जया वंदंति ] सामान्य साधवो वन्दन्ते, एवमार्यिकाऽऽदयोऽपि । तथाऽहमपि तान् यथादृष्टसाधून्निःशल्याऽऽदिविशेषणो वन्दे। शेषं प्राग्वत्,तथा-( अहमवि वंदावेमि चेइयाइं ति ) तान् यथादृष्टसाध्वादीन् वन्दापयामि चैत्यानि, यथा अमुत्र नगराऽऽदौ युष्मत्कृते चैत्यानि वन्दितानि, तानि च यूयं वन्दध्वमित्येवमिति । एवं शिष्येणोक्तः सन्नाचार्यः प्रत्युत्तरयति ।

यथा-

मत्थएण वंदामि अहं पि तेसिं ति ।

मस्तकेन वन्देऽहमपि तानिति । ये मम वार्तासंप्रच्छनाऽऽदि कुर्वन्तीति भावः । "अन्ने भणंति-अहमवि वंदावेमि त्ति" । तत आत्मान गुरूणां निवेदयन्ति तृतीयक्षामणकसूत्रेण ।

तच्चेदम्-

इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओ मि तुब्भएहं संतियं अहाकप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुंछणं वा अक्खरं वा पयं वा गाहं वा सिलोगं वा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं चियत्तेणं दिन्नं मए अविणएण पडिच्छियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ति ।

[ इच्छामि खमासमणो त्ति ] इह स्थाने आत्मानं निवेदयितुमिति वाक्यशेषो दृश्यः । [ उवट्ठिओ मि त्ति ] उपस्थितोऽस्मि, आत्मनिवेदनायेति शेषः । ( तुब्भएहं संतियं ) युष्माकं सत्कं युष्मदीयमिदं सर्वं यदस्मत्परिभोग्यम् । किंभूतं किं तदित्याह-( अहाकप्पं ति ) यथाकल्पं कल्पानतिक्रान्तं स्थविरकल्पोचितं कल्पनीयं चेत्यर्थः । वस्त्राऽऽदि प्रतीतं, नवरं (पडिग्गहं ति) पात्रम् ( पायपुंछणं ति ) पादप्रोञ्छनं रजोहरणम् (अट्ठं व त्ति) अर्थः सूत्राभिधेयः, प्राकृतत्वाच्च नपुंसकनिर्देशः ( पसिण व त्ति ) प्रश्नः, पण्डिताभिमानी परो माननिग्रहाय यत्प्रश्नयति (वागरण ति) व्याकरणं, तथैव परेण प्रश्निते यदुत्तरं दीयते, वाशब्दाः समुच्चयार्थाः । एवं वस्त्राऽऽदिनिवेदनद्वारेणाऽऽत्मानं गुरूणां निवेद्य युष्माभिरेवेदं वस्त्राऽऽदिकं मे दत्तम् । इत्यावेदने तद्ग्रहणे च संभविनमविनय क्षमयन्निदमाह-( तुब्भेहीत्यादि ) ( तुब्भेहिं ति ) युष्माभिः ( चियत्तेणं ति ) प्रीत्या दत्त, मया त्वविनयेन प्रतीच्छितम् । अत्र यदिति शेषो दृश्यः (तस्स त्ति) तत्र मिथ्यादुष्कृतमिति प्राग्वत् । एवमुक्ते आचार्यो ब्रूते-

आयरियसंतियं ति ।

पूर्वाऽऽचार्यसत्कमेतदिति किं ममात्रेति । अहङ्कारवर्जनार्थं, गुरुषु भक्तिख्यापनार्थं चैतदिति ।

अथ यच्छिक्षां ग्राहितास्तमनुग्रहं बहु मन्यमाना आहुः-

इच्छामि अहमपुव्वाइ खमासमणो । कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवगहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ चियत्ता मे पडिचोयणा उवट्ठिओऽहं तुब्भएहं तवसेयसिरीए इमाओ चाउरंतसंसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामि तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ।

( इच्छामि इत्यादि ) इच्छामि अभिलषामि, अहमपूर्वाण्यनागतकालीनानि, कृतिकर्म्माणीति योगः । कर्तुमिति वाक्यशेष. "खमासमणो" इति व्यक्तम् । तथा-कृतानि पूर्वकाले च. समुच्चये ।(मे त्ति) मया कृतिकर्म्माणि वैयावृत्त्यविशेषाः, भवतामिति गम्यते । तेषु च ( आयारमंतरे त्ति ) आचारान्तरे, क्वचित् ज्ञानाऽऽद्याचारविशेषे विषयभूते आचारव्यवधाने वा सति, ज्ञानाऽऽदिक्रियाया अकरणे सतीति भाव. । तथा-( विणयमंतरे त्ति ) विनयान्तरे आसनदानाऽऽदिविनयविशेषे विषयविभूते विनयविच्छेदे वा, तदकरणे इत्यर्थः, ( सेहिओ त्ति ) शिक्षितः स्वयमेव गुरुभि· शिक्षां ग्राहित इत्यर्थः। सेधितो निष्पादित आचारविशेषविनयविशेषेषु कुशलीकृत इत्यर्थः, (सेहाविओ त्ति) शिक्षापितः सेधापितो वा उपाध्यायाऽऽदिप्रयोजनत., तथा -(संगहिओ त्ति) संगृहीतः शिष्यत्वेनाऽऽश्रितः । तथा -( उवग्गहिओ त्ति ) उपगृहीतः, ज्ञानाऽऽदिभिर्वस्त्राऽऽदिभिश्चोपष्टम्भित., तथा-( सारिओ त्ति ) सारितो हिते प्रवर्तितः, कृत्यं वा स्मारित· । (वारिओ त्ति ) अहितान्निवारितः (चोइओ त्ति) संयमयोगेषु स्खलितः सद्युक्तमेतद्भवादृशां विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरित. । ( पडिचोइओ त्ति ) तथैव पुन· पुन. प्रेरित एव ( चियत्ता मे पडिचोयण त्ति ) चियत्ता प्रीतिविषया नत्वहङ्कारादप्रीतेति (मे) मम प्रति प्रेरणा भवद्भि· क्रियमाणेति । उपलक्षण चैत·

च्छिद्याऽऽदेरिति। ततश्च(उवट्ठिओऽह ति)उपस्थितोऽहमस्मि, प्रतिमेरितार्थसंपादनविषय कृतोद्यम इत्यर्थः । तथा-(तुब्भएहं तवतेयासिरीए) युष्माकं तपस्तेज'श्रिया भवदीयया तपःप्रभावसंपदा हेतुभूतया (इमाओ त्ति) प्रत्यक्षात् ( चाउरतसंसारकंताराओ त्ति) चतुरन्तं चतुर्विभागं नरकत्वाऽऽदिभेदेन, तदेव चातुरन्तं । तच्च तत्संसारकान्तारं च भवारण्यमिति समासः। तस्मात् (साहट्टु त्ति) संहृत्य कषायेन्द्रिययोगाऽऽदिभिर्विस्तीर्णमात्मानं संक्षिप्येत्यर्थः ।( नित्थरिस्सामि त्ति ) लङ्घयिष्यामि (इति कट्टु) इति कृत्वा इतिहेतोः। " मिरसा मणसा मत्थएण वदामि त्ति" प्राग्वत् । इह भगवन्तमिति वाक्यशेषः।

इहाऽऽचार्यवचनम्-

नित्थारगपारगा होह।

निस्तारकाः संसारसमुद्रात् प्राणिनां प्रतिशयाच्च पारगाः संसारसमुद्रतीरगामिनो भवत यूयमित्याशीर्वचनमिति । " पच्छा देवसियं पडिक्कमंति। तत्थ खामणानिमित्तं किइकम्मं करेत्ता भणंति-इच्छामि खमासमणो! अब्भुट्ठिओ मि अब्भिंतरदेवसियं खामेउं, जं किंचि अपत्तियमित्यादि। पच्छा साहुवग्गं खामेंति, तओ आयरियस्स य अल्लियावणनिमित्तं किइकम्मं करेंति, तओ दुरालोइयं वा होज्जा, दुप्पडिक्कंतं वा होज्जा, अणाभोगाइणा कारणेण, तओ पुणो वि कयसामाइयाइसुत्तुच्चारणा चारित्तविसोहणत्थमेव पंचासुस्सासपरिमाणं काउस्सग्गं करेंति। तओ नमोक्कारेण पारेत्ता विसुद्धचरित्ता विसुद्धचरित्तदेसयाए दंसणविसुद्धिनिमित्तं नामुकित्तणं करेंति " लोगस्सुज्जोयगरे " इत्यादि। तओ दंसणविसुद्धिनिमित्तं पणवीसूसासपरिमाणं काउस्सग्ग करेंति । तओ नमोक्कारेण पारित्ता नाणविसुद्धिनिमित्त सुयनाणत्थयं पढंति-" पुक्खरवरदीवड्ढे " इत्यादि । तओ सुयनाणविसुद्धिनिमित्तं पणुवीसूसासपरिमाण काउस्सग्गं करेंति, तओ नमोक्कारेण पारित्ता सिद्धत्थयं पढति-"सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यादि। "तओ सेज्जादेवयाए काउस्सग्ग करेंति। तत्थ य सत्तावीसूसासे पूरेंति।" इत्यावश्यकचूर्णौ। "आयरणओ अट्ठत्ति, तओ विहिणा निसिइत्ता मुहपोत्तियं ससीसोवरियं कायं च पडिलेहित्ता आयरियस्स वदणगं करेंति । त च जहा रन्नो मणूसा आणत्तियाए पेसिया पणामं काऊण गच्छंति। त च सुकयं काऊण पुणो पणामपुव्वग निवेदेंति। एव साहुणो वि गुरुसमाइट्ठा वदणपुव्वग चरित्ताइविसोहिं काऊण पुणो वि सुकयकिइकम्मा सता गुरुणो निवेदेंति। भयव! कय पेसण आयविसोहिकारगं ति 'निवेयणत्थ ति' त च काऊण पुणो उक्कुडुया आयरियाभिमुहा विणयरइयंजलिपुडा चिट्ठति, जावायरिया वड्ढमाणीओ सरेणं छंदसा वा तिन्नि थुईओ भणंति। इमे वि अंजलिमउलियग्गहत्था पक्खियाए समत्तीए नमोक्कार करेंति।" सवहुमान शिरसा प्रणमन्तीत्यर्थः। केचिदत्र- 'नमो खमासमणाण ति भणति। पच्छा सेसगा वि तिन्नि थुईओ तहेव भणति,त रयणि नेव सुत्तपोरिसी नेव अत्थपोरिसी थयथुईओ भणंति, जस्स जत्तियाओ इति त्ति। देवसिए पुण ताव चिट्ठंति जाव गुरुथुइगहण करेंति। तओ पढमथुइसमत्तीए थुइं कड्ढंति , विणओ त्ति, सेसाओ दोन्नि सहेव भणंति । " एप सूत्रोक्तः पाक्षिकप्रतिक्रमणविधिः ॥"चाउम्मासियसंवच्छरिए वि एस चेव विही । विसेसो खामणगकाउस्सग्गेसु,सो पुण लाघवत्थं दंसिओ चेव; तहा चाउम्मासियसंवच्छरिएसु मूलगुणउत्तरगुणाइयाराणं आलोयणं दाऊण पडिक्कमंति त्ति,खेत्तदेवयाए य उस्सग्गं करेंति, केइ पुण चाउम्मासिगे सेज्जादेवयाए वि उस्सग्गं करेंति। तहा आवस्सए कए निरइयारा वि पंचकल्लाणगं गेण्हंति, पुव्वगहिए य अभिग्गहे निवेदेंति। ते य सम्मं जइ नाणुपालिया तओ तव्विसुद्धिनिमित्तं उस्सग्गं करेंति, पुणो वि अन्ने गेण्हंति, निरभिग्गहाए य न वट्टइ अत्थिउं ति,संवच्छरिए य आवस्सगे कए पज्जोसवणाकप्पो कड्डिज्जइ। तत्थ दिवसओ कड्ढिउं चेव न कप्पइ,नावि संजइगिहत्थपासत्थाईणं पुरओ,जत्थ वि खेत्तं पढुच्च कड्ढिज्जइ। जहाऽऽणंदपुरे मूलचेइयघरे दिवसओ सव्वजणसमक्खं कड्ढिज्जइ ।तत्थ वि साहू नो कड्ढइ,पासत्थो कड्ढइ,तं साहू सुणेज्जा, न दोसो, पासत्थाए वा कड्ढगस्स अलाइ दंडिगेण सड्ढेहिं वा अब्भत्थिओ, ताहे दिवसओ वि कहइ। तत्थ इमो विही-अणागयं चेव पचरत्तेण अप्पणो उवस्सए पाओसिए आवस्सए कए कालं घेत्तुं काले सुद्धे असुद्धे वा पट्ठवेत्ता कड्ढिज्जइ। एवं चउसु राईसु पज्जोसवणाराईए पुण कड्ढिए सव्वे साहवो समप्पावणियं काउस्सग्गं करेंति, पज्जोसवणकप्पस्स समप्पावणियं करेंति काउस्सग्गं, जं खंडियं जं विराहियं जं च न पडिपूरियं सव्वो दंडओ कड्ढियव्वो० जाव वोसिरामि त्ति । "लोगस्सुज्जोयगरं" चिंतेऊण उस्सारेत्ता पुणो "लोगस्सुज्जोयगरं " कड्ढंता सव्वे साहवो निसीयंति, जेण कड्ढिओ सो ताहे कालस्स पडिकमइ, ताहे वरिसाकालट्ठवणा ठविज्जइ। तं जहा-ऊणोयरिया कायव्वा, विगइनवगपरिच्चाओ कायव्वो, जम्हा निद्धो कालो, बहुपाणा मेइणी, विज्जुगज्जियाईहि य मयणो दिप्पइ, पीढफलगाइसंथारगाण उच्चारपासवणखेलमल्लगाण य जयणाए परिभोगो कायव्वो, निच्चं लोओ कायव्वो, सेहो न दिक्खियव्वो, अभिणवो उवही न गहेयव्वो, दुगुणं वरिसोवग्गहोवगरण धरेयव्वं, पुव्वगहियाणं छारडगलाईणं परिच्चाओ कायव्वो, इयरेसिं धारणं कायव्वं, पुव्वावरेणं सकोसजोयणाओ परओ न गंतव्वं। " इत्यादि । किं च-" पक्खचाउम्मासंवच्छरियपव्वेसु जहक्कम चउत्थछट्ठट्ठमतवो चेइयवंदणपरिवाडी सड्ढाणं धम्मकहा य कायव्व त्ति॥ इयाणिं पसंगओ राइयविही भन्नइ-पढमं चिय सामाइयं कड्ढिऊण चरित्तविसुद्धिनिमित्तं पणवीसुस्सासपरिमाणं काउस्सग्गं करेंति, तओ नमोक्कारेण पारित्ता दंसणविसुद्धिनिमित्त चउवीसत्थयं पढंति, पणवीसुस्सासपरिमाणं काउस्सग्गं करिंति। एत्थ वि नमोक्कारेण पारेत्ता सुयनाणविसुद्धिनिमित्तं सुयनाणत्थयं कड्ढति। तत्थ य पाउसियथुइमाइयं अहिगयकाउस्सग्गपज्जंतमइयारं चिंतेति । आह-किंनिमित्तं पढमकाउस्सग्ग एव राइयाइयारं न चिंतेंति ?, किं वा-पढममेव तिन्नि काउस्सग्गे करेंति ?। उच्यते-निद्दाभिभूया न संभरंति, सुट्ठु अइयारं न चिंतति, मा य अंधयारे वदंताणं अन्नोन्नघट्टणं, अंधयारे वा अदंसणाओ मंदसद्धा न सम्मं वंदणगं देंति त्ति काउं पच्चूसे तइए निसाइयारं चिंतंति, आइए य तिन्नि काउस्सग्गा भवंति, न पुण पाओसिए जहा एको त्ति,तओ चिंतेऊणऽइयारं नमोक्कारेण पारेत्ता सिद्धाण थुइं काऊण पुव्वभणिएण विहिणा वंदित्ता आ-

लोयंति, तओ सामाइयपुव्वगं पडिक्कमंति, तओ वंदणपुव्वयं खामेंति. तओ कयकिइकम्मा सामाइयपुव्वयं काउस्सग्गं करेंति, तत्थ चिंतेति-कम्मि नियोगे निउत्ता वयं गुरूहिं तो तारिसं तवं पव्वज्जामो जारिसेणं तस्स हाणी न भवइ। तओ चिंतेति-छम्मासं खवणं करेमो न सक्केमो, एगदिवसेण ऊणं तहावि न सक्केमो, एवं जाव एगूणतीसाए ऊणं, एवं पंचमासे, तओ चत्तारि। तओ तिन्नि, तओ दोन्नि, तओ एकं, तओ एगेण दिणेण ऊणं० जाव चउदसहिं ऊणं न सक्केमो, तओ वत्तीसइमं। तीसइमं०जाव चउत्थं, आयंबिलं एगट्ठाणयं एकासणयं पुरिमड्ढं निव्विगइयं पोरिसिं नमोकारसहियं व त्ति। एवं जे समत्था तवं काउं तमसढभावा हियए करेंति, पच्छा वंदित्ता गुरुसक्खियं पव्वज्जंति, सव्वे य नमोक्कारचिंतगा समगं उट्ठेंति, वोसिरावेंति, निसीयंति य। एवं पोरिसिमाइसु विभासा। तओ तिन्न थुईओ जहा पुव्वं, नवरमप्पसद्दगं देंति, जहा घरकोइलाई सत्ता न उट्ठेंति। तओ देवे वंदेंति, तओ बहुवेलं संदिसावेंति। तओ मुहणंतगं पडिलेहित्ता रयहरणं पडिलेहिंति। पुणो ओहियं संदिसावेंति, पडिलेहिंति य, तओ वसहिं पमज्जिय कालं निवेदेंति। अन्ने भणंति-थुइसमणंतरं कालं निवेएंति एवं च पडिक्कमणकालं तुलेंति, जहा पडिक्कमताणं थुइअवसाणे चेव पडिलेहणवेला भवइ त्ति।" पा०।

## ( २७ ) श्रावकप्रतिक्रमणम्-

प्रतिक्रमणं तु सामान्यत ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणभणनेनैव सिद्धं, न च विचित्राभिग्रहवतां श्रावकाणां कथमेकेन प्रतिक्रमणसूत्रेण तदुपपद्यत इति वाच्यम्। प्रतिपन्नव्रतस्यातिचरणे प्रतिक्रमणं युक्तम्, अन्यस्य तु अश्रद्धानाऽऽदिविषयस्यैव प्रतिक्रमणसमाधानस्य सुलभत्वात्। ननु साधुप्रतिक्रमणाद्भिन्नं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमयुक्तं, निर्युक्तिभाष्यचूर्ण्यादिभिरतन्त्रितत्वेनानार्षत्वात्। नैवम्। आवश्यकाऽऽदिदशशास्त्रीव्यतिरेकेण निर्युक्तीनामभावेनौपपातिकाऽऽद्युपाङ्गानां च चूर्ण्यभावेनानार्षत्वप्रसङ्गात्, तत्प्रतिक्रमणमप्यस्ति तेषाम्। (ध०) तस्मात्साधुवच्छ्रावकेणापि श्रीसुधर्मस्वाम्यादिपरम्पराऽऽयातविधिना प्रतिक्रमणं कार्यमित्यलं प्रसङ्गेन। ध० २ अधि०।

## ( २८ ) श्रावकप्रतिक्रमणविधिः-

श्रावकप्रतिक्रमणस्येदानीमवसरः, तत्र कृतसामायिकेन प्रतिक्रमणमनुष्ठेयं, तस्य च सर्वातिचारविशोधकत्वेन विशिष्टश्रेयोभूतत्वान्मङ्गलाऽऽदिविधानार्थं प्रथमगाथामाह-

"वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावगधम्माइआरस्स॥ १॥"

वन्दित्वा नत्वा, सर्वं वस्तु विदन्ति सर्वेभ्यो हिता वेति सार्वास्तीर्थकृतः, सिद्ध्यन्ति स्म सर्वकर्मक्षयान्निष्ठितार्था भवन्ति स्मेति सिद्धाः, सार्वाश्च सिद्धाश्च सार्वसिद्धास्तान्। तथा-धर्माऽऽचार्यान् श्रुतचारित्रधर्माऽऽचारसाधून्, धर्मदातॄन् वा, चशब्दादुपाध्यायान् श्रुताध्यापकान्। तथा-सर्वसाधूंश्च स्थविरकल्पिकाऽऽदिभेदभिन्नान्मोक्षसाधकान् मुनीन्, च' समुच्चये। एवं च विघ्नव्रातोपशान्तये कृतपञ्चनमस्कार इदमाह-(इच्छामि) अभिलषामि प्रतिक्रमितुं निवर्तितुं, कस्मादित्याह-श्रावकधर्मातिचाराद्, जातावेकवचनं, पञ्चम्यर्थे षष्ठी, ततो ज्ञानाऽऽद्याचारपञ्चकस्य चतुर्विंशशतसंख्याऽतिचारेभ्यः प्रतिक्रमितुमिच्छामि। इति गाथार्थः॥ १॥

सामान्येन सर्वव्रतातिचारप्रतिक्रमणार्थमाह-

"जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
सुहुमो य वायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि॥ २॥"

य इति सामान्येन, 'मे' मम सर्वव्रतातिचारोऽणुव्रताऽऽदिमालिन्यरूपः पञ्चसप्ततिसंख्यः संजात इति शेषः। तथा-ज्ञाने ज्ञानाऽऽचारे कालविनयाऽऽद्यष्टप्रकारे वितथाऽऽचरणरूपः। तथा-दर्शने सम्यक्त्वे शङ्काऽऽदीनां पञ्चानामासेवनाद्वारेण, निःशङ्किताऽऽद्यष्टविधे च दर्शनाऽऽचारे अनासेवनाद्वारेण, तथा-चारित्रे समितिगुप्तिलक्षणेऽनुपयोगरूपोऽतीचारः, चशब्दात्तपोवीर्याऽऽचारयोः संलेखनायां च। तत्र बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदात्तपो द्वादशधा,वीर्ये मनोवाक्कायैस्त्रिधा,अतिचारता चानयोर्धर्मे स्वशक्तिगोपनात्, संलेखनायास्तु पञ्चातिचाराः। एवं चतुर्विंशत्यधिशतसंख्यातिचारमध्ये यः सूक्ष्मो वाऽनुपलक्ष्यः, बादरो वा व्यक्तः, तं निन्दामि मनसा. पश्चात्तापेन नं च गर्हे गुरुसमक्षमिति॥ २॥

प्रायोऽन्यव्रतातिचारा अपि परिग्रहात्प्रादुर्भवन्ति, अतः सामान्येन तत्प्रतिक्रमणायाऽऽह-

"दुविहे परिग्गहम्मी, सावज्जे बहुविहे य आरम्भे।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं॥ ३॥"

द्विविधे परिग्रहे सचित्ताचित्तरूपे, सावद्ये सपापे, बहुविधेऽनेकप्रकारे,आरम्भे प्राणातिपातरूपे कारणेऽन्यैर्विधापने,करणे स्वयं निवर्तने,चशब्दात् क्वचिदनुमतावपि, यो मेऽतिचारस्तमित्यनुवर्तते, तं निरवशेषं (देसिअं ति) आर्षत्वाद्दैवसिकम, एवं रात्रिकपाक्षिकाऽऽद्यपि स्वस्वप्रतिक्रमणे, अशुभभावात्प्रातिकूल्येन क्रमामि प्रतिक्रमामि। निवर्तेऽहमित्यर्थः। उक्त च-"स्वस्थानाद् यत्परस्थान, प्रमादस्य वशाद्गतः। तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते॥ १॥" इति।

अधुना ज्ञानातिचारानिन्दनायाऽऽह-

"जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिँ कसाएहिँ अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे त च गरिहामि॥ ४॥"

यद्बद्धं यत् कृतमशुभं कर्म, प्रस्तावाद्विरतिनिबन्धकाप्रशस्तेन्द्रियकषायवशगानां ज्ञानातिचारभूतम्। यदुक्तम्-"तद् ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः। तमसः कुतोऽस्ति शक्ति-र्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्॥१॥" इन्द्रियैः स्पर्शनेन्द्रियाऽऽदिभिः स्पर्शाऽऽदिविषयसंबद्धसंभूतसाधु-सौदासराज-प्राणप्रियकुमार-मथुरावणिक्-सुभद्राश्रेष्ठिन्यादिवत्। तथा-चतुर्भिः कषायैः क्रोधाऽऽदिभिरप्रशस्तैस्तीव्रौदयिकभावमुपगतैर्मरुद्गकक्षपक-परशुराम-धनश्री-मम्मणाऽऽदिवत्,रागेण दृष्टिरागाऽऽदिरूपेण गोविन्दवाचकोत्तराभ्यामिव, द्वेषेणाप्रीतिरूपेण गोष्ठामाहिलाऽऽदिवत्, वा शब्दौ विकल्पार्थौ (तं निंदे) इत्यादि प्राग्वत्॥ ४॥

साम्प्रतं सम्यग्दर्शनस्य,चक्षुर्दर्शनस्य च प्रतिक्रमणायाऽऽह-

"आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणेँ अणाभोगे।
अभिओगे अनियोगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं॥ ५॥"

आगमने मिथ्यादृष्टिरथयात्राऽऽदे संदर्शनार्थं कुतूहलेनाऽऽसमन्ताद्गमने,निर्गमने च, यद्बद्धमित्यनुवर्तते। तथा-स्थाने

मिथ्यादृष्टिदेवकुलाऽऽदावूर्ध्वस्थाने,चङ्क्रमणे च तत्रैवेतस्ततः परिष्वष्करणे, क सतीत्याह-अनाभोगे अनुपयोगे, अभियोगे राजाभियोगाऽऽदिके,नियोगे श्रेष्ठिपदाऽऽदिरूपे,शेषं पूर्ववत्॥५॥

साम्प्रतं सम्यक्त्वातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" संका १ कंख २ विगिंछा ३, पसंस ४ तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्सऽइयारे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ ६ ॥ "

तत्र तावद्दर्शनमोहनीयकर्मोपशमाऽऽदिसमुत्थोऽर्हदुक्ततत्त्वश्रद्धानरूपः शुभ आत्मपरिणामः सम्यक्त्वं, तस्मिंश्च सम्यक्त्वे श्रमणोपासकेन शङ्काऽऽदयः पञ्चातिचारा ज्ञातव्या, न समाचरितव्याः । ध० ।

इदानीं चारित्रातिचारप्रतिक्रमणमभिधित्सुः प्रथमं सामान्येनोऽऽरम्भनिन्दनार्थमाह-

" छक्कायसमारंभे, पयणे य पयावणे य जे दोसा ।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥ ७ ॥ "

षट्कायानां-भूदकाग्निवायुवनस्पतित्रसरूपाणां, समारम्भे परितापने,तुलादण्डन्यायात् संरम्भाऽऽरम्भयोश्च-सङ्कल्पापद्रावणलक्षणयो ,एतेषु सत्सु,ये दोषा. पापानि,न त्वतीचारा., अनङ्गीकृते मालिन्याभावात् , क सति ?,पचने च पाचने च, चशब्दादनुमतौ च । किमर्थमित्याह-आत्मार्थं स्वभोगार्थं, परार्थं प्राघूर्णकाऽऽद्यर्थम्,उभयार्थं स्वपरार्थं, चशब्दोऽनर्थकद्वेषाऽऽदिकृतदोषसूचकः,एवकार प्रकारैयत्ताप्रदर्शक । यद्वा-आत्मार्थं मुग्धमतित्वात् साध्वर्थमशने कृते मम पुण्यं भविष्यति, एवं परार्थोभयार्थावपि । अथवा-षट्कायसमारम्भाऽऽदिष्वयत्नेनापरिशुद्धजलाऽऽदिना ये दोषा कृतास्तांश्च निन्दामीति ॥ ७ ॥

साम्प्रतं सामान्येन चारित्रातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइयारे ।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ ८ ॥"

कण्ठ्या,नवरम्, अनु सम्यक्त्वप्रतिपत्ते पश्चात् ,अणूनि वा महाव्रतापेक्षया लघूनि,व्रतानि अणुव्रतानि.तानि पञ्चेति मूलगुणा.,तेषामेव विशेषगुणकारकाणि दिग्व्रताऽऽदीनि त्रीणि गुणव्रतानि, एतानि यावत्कथितानि, शिक्षाव्रतानि पुनरित्वरकालिकानि, शिक्षकस्य [illegible]पेव पुनः पुनरभ्यसनीयानि चत्वारि सामायिकाऽऽदीनि ॥ ८ ॥

अधुना प्रथममाह-

" पढमे अणुव्वयम्मी, थूलगपाणाइवायविरईओ ।
आयरियअप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥ ९ ॥ "

प्रथमे सर्वव्रतानां सारत्वादादिमे,अणुव्रतेऽनन्तरोक्तस्वरूपे, स्थूलको बादरैरुपलक्ष्यत्वाद्बादरो गत्यागत्यादिव्यक्तलिङ्गद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियजीवसम्बन्धिनां प्राणानामिन्द्रियाऽऽदीनामस्थ्याद्यर्थमतिपातो विनाशस्तस्य विरतिर्निवृत्तिस्तस्याः सकाशादतिचरितमतिक्रान्तम् , एतच्च सर्वविरतिसंक्रमेऽपि स्यात्। न च तत्प्रतिक्रमणार्हमत आह-अप्रशस्ते क्रोधाऽऽदिनौदयिकभावे सति ( इत्थ ति ) अत्रैव प्राणातिपाते प्रमादप्रसङ्गेन,प्रमादो मद्याऽऽदि पञ्चधा,तत्र प्रसञ्जन प्रकर्षेण प्रवर्तन प्रसङ्गस्तेन; एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणादाकुट्याऽऽदैरपि, यद्वा-विरतिमाश्रित्य यदाचरितं वक्ष्यमाणवधबन्धाऽऽदिकमसाध्वनुष्ठितमिति ॥ ९ ॥

तदेवाऽऽह-

"वह १ बंध २ छविच्छेए ३, अइभारे ४ भत्तपाणवोच्छेए ५॥
पढमवयस्सऽइयारे, पडिक्कमे देसियं सव्वं ॥ १० ॥ "

वधो द्विपदाऽऽदीनां निर्दयताडन,बन्धो रज्ज्वादिभि संयमन, छविच्छेदः कर्णाऽऽदिच्छेदनम् अतिभारः शक्त्यनपेक्ष गुरुभाराऽऽरोपण,भक्तपानव्यवच्छेदोऽन्नपाननिरोधः,सर्वत्र क्रोधादिति गम्यते। एतांश्च प्रथमव्रतातिचारानाश्रित्य यद्बद्धम्, शेषं प्राग्वत्। वधाऽऽदीनामतीचारता च प्रागतिचाराधिकारे भावितैव, अनाभोगातिक्रमाऽऽदिना वा सर्वत्रातिचारताऽवसेया ॥ १० ॥

द्वितीयव्रतमाह-

" बीए अणुव्वयम्मी, परिथूलगअलियवयणविरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं॥ ११ ॥ "

द्वितीये अणुव्रते,परीत्यतिशयेन स्थूलकमकीर्त्यादिहेतुरलीकवचनं कन्यालीकाऽऽदि पञ्चधा । तत्र द्वेषाऽऽदिभिरव्दिकन्यां विषकन्यामित्यादिवदतः कन्याऽलीकम् १। एवमल्पक्षीरां बहुक्षीरां गामित्यादिवदतो गवालीकम् २ । परसत्कां भूमिमात्मसत्कां वदतो भूम्यलीकम् ३। उपलक्षणानि चैतानि सर्वद्विपदचतुष्पदापदालीकानां,न्यासस्य धनधान्याऽऽदिस्थापनिकाया हरणमपलापो न्यासापहारः ४। अत्र पूर्वत्र चादत्ताऽऽदानत्वे सत्यपि वचनस्यैव प्राधान्यविवक्षणात् मृषावादत्व, लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्योत्कोचमत्सराऽऽद्यभिभूतस्य कूटसाक्षिदानात् कूटसाक्षित्वम् ५। अनयोश्च द्विपदाऽऽद्यलीकान्तर्भावेऽपि लोकेऽतिगर्हितत्वात्पृथगुपादानम्। एतस्य पञ्चविधाऽलीकस्य यद्वचनं भाषणं तस्य विरतेः, " आयरिए " इत्यादि प्राग्वत् ॥ ११ ॥

अस्यातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" सहसा रहस्सदारे, मोसुवएसे य कूडलेहे य ।
बीयवयस्सऽइयारे, पडिक्कमे देसियं सव्वं ॥ १२ ॥"

तत्र (सहस त्ति) सूचनात्सूत्रमिति सहसाऽनालोच्याभ्याख्यानमसद्दोषाधिरोपणं चौरोऽयमित्याद्यभिधान सहसाऽभ्याख्यानम् १। रहस्येकान्ते मन्त्रयमाणान् वीक्ष्येदं चेदं च राजविरुद्धाऽऽदिकमेते मन्त्रयन्ते इत्याद्यभ्याख्यानं रहोऽभ्याख्यानम् २ । स्वदाराणां विश्रब्धभाषितस्यान्यस्मै कथनं स्वदारमन्त्रभेद. । ततो द्वन्द्वं कृत्वा तस्मिन् ३। अज्ञातमन्त्रौषधाऽऽद्युपदेशनं मृषोपदेशस्तस्मिन् ४, अन्यमुद्राऽक्षरबिन्द्वादिना कूटस्यार्थस्य लेखनं कूटलेखस्तस्मिंश्च, शेषं प्राग्वत् ॥ १२ ॥

इदानीं तृतीयव्रतमाह-

" तइए अणुव्वयम्मि, थूलगपरदव्वहरणविरईओ ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥ १३ ॥"

तृतीये अणुव्रते स्थूलकं राजनिग्रहाऽऽदिहेतु परद्रव्यहरणं, तस्य विरतिरित्यादि प्राग्वत् ।

अस्यातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

"तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्धगमणे य ।
कूडतुलकूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १४ ॥"

स्तेनाश्चैरास्तैराहृतं देशान्तरादानीतं किञ्चित्कुङ्कुमाऽऽदि तत् समर्घमिति लोभात् काणक्रयेण गृह्णाति नत् स्तेनाऽऽहृतम्। (पओगि त्ति) सूचनात् तस्करप्रयोग , नवैव कुर्वन्नीति त-

स्कराश्चौराः। तेषामुद्यतकदानाऽऽदिना हरणक्रियायां प्रेरणं प्रयोगः २। (तप्पडिरूव त्ति) तस्य प्रस्तुतकुङ्कुमाऽऽदेः प्रतिरूपं सदृशं कुसुम्भाऽऽदि, कृत्रिमकुङ्कुमाऽऽदि वा तत् प्रक्षेपेण व्यवहारः तत्प्रतिरूपव्यवहारः ३। विरुद्धनृपयोः राज्यं विरुद्धराज्यं, तत्र ताभ्यामननुज्ञाते वाणिज्यार्थमतिक्रमणं गमनं विरुद्धगमनम् ४। कूटतुला कूटमानं, तद् न्यूनाधिकाभ्यां व्यवहरतः ५। यदाह-' उचियं मोत्तूण कलं, दव्वाइकमागयं च उक्करिसं । निवडियमवि जाणंतो, परस्स संतं न गिण्हिज्जा॥१॥" एतेषु क्रियमाणेषु यद् बद्धमित्यादि प्राग्वत् ॥१४॥

तुर्यव्रतमाह-

"चउत्थे अणुव्वयम्मी, निच्चं परदारगमणविरईओ ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाणप्पसंगेणं ॥ १५ ॥"

चतुर्थे अणुव्रते, नित्यं सदा, परे आत्मव्यतिरिक्ताः, तेषां दारा परिणीतसंगृहीतभेदभिन्नानि कलत्राणि तेषु गमनमासेवनं तस्य विरतेरित्यादि प्राग्वत् ॥ १५ ॥

अस्यातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" अपरिग्गहिआ इत्तर, अणंग वीवाह तिव्वअणुरागे ।
चउत्थवयस्सऽइयारे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १६ ॥ "

अपरिगृहीता विधवा तस्यां गमनमपरिगृहीतागमनम् । ( इत्तर त्ति ) इत्वरमल्पकालं भाटीप्रदानतः केनचित् स्ववशीकृता वेश्या, तस्यां गमनम् इत्वरपरिगृहीतागमनम् । (अणंग त्ति) अनङ्गः कामस्तत्प्रधाना क्रीडाऽधरदशनाऽऽलिङ्गनाऽऽद्या, तां परदारेषु कुर्वतोऽनङ्गक्रीडा, वात्स्यायनाऽऽद्युक्तचतुरशीतिकरणासेवनं वा ( वीवाह त्ति ) परकीयापत्यानां स्नेहाऽऽदिना विवाहस्य करणं परविवाहकरणं स्वापत्येष्वपि संख्याऽभिग्रहो न्याय्यः ४, ( तिव्वअणुरागे त्ति ) कामभोगतीव्रानुरागः-कामेषु शब्दाऽऽदिषु भोगेषु रसाऽऽदिषु, तीव्रानुरागोऽत्यन्तं तदध्यवसायः ५, स्वदारसन्तोषिणश्च त्रय एवान्त्या अतिचाराः, आद्यौ तु भङ्गावेव, स्त्रिया अपि तथैव, यद्वाऽतिक्रमाऽऽदिभिरतिचारता अवसेया, एतानाश्रित्य। यद् बद्धमित्यादि प्राग्वत् ॥ १६ ॥

पञ्चमाणुव्रतमाह-

" इत्तो अणुव्वए पं-चमम्मि आयरियमप्पसत्थम्मि ।
परिमाणपरिच्छेए, इत्थ पमाणप्पसंगेणं ॥ १७ ॥ "

इतस्तुर्यव्रतानन्तरं, धनधान्याऽऽदिनवविधपरिग्रहप्रमाणलक्षणे पञ्चमे अणुव्रते यदाचरितमप्रशस्ते भावे सति, क्व विषये ?, परिमाणपरिच्छेदे परिग्रहप्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोलङ्घने । अत्रेत्यादि प्राग्वत् ॥ १७ ॥

अस्यातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" धणधन्नखित्तवत्थु. रुप्पसुवन्ने य कुवियपरिमाणे ।
दुपए चउप्पयम्मी, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १८ ॥"

धनम्-गणिमाऽऽदि (ध०) धान्यं व्रीह्यादि ( ध० ) क्षेत्रम्सेतुकेतूभयाऽऽत्मकम्। (ध०) रूप्यम्, रजतम्। सुवर्णम्-कनकम् (ध०) कुपितं स्थालकच्चोलाऽऽदि (ध०) द्विपदम्-गन्त्रीदास्यादि। चतुष्पदम्-गवाश्वादि (ध०) शेषं प्राग्वत् ॥१८॥

साम्प्रतं त्रीणि गुणव्रतानि, तत्राऽऽद्यप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" गमणस्स य परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च ।
वुड्ढिसइअंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे ॥ १९ ॥ "

अत्र गमनस्य च परिमाणे गतेरियत्ताकरणे, चशब्दाद् यदतिक्रान्तं, क्व विषये ?, दिक्षु, तदेवाऽऽह- [ उड्ढं ति ] ऊर्ध्वम् [ ध० ] एवमधस्तिर्यग्दिशोः [ ध० ] [वुड्ढि त्ति] क्षेत्रवृद्धिं, कोऽर्थ ?, सर्वासु दिक्षु [ध०] [सइअंतरद्ध त्ति] स्मृत्यन्तर्द्धा, स्मृतेर्भ्रंश इत्यर्थः । [ध०] प्रथमे [ध०] गुणाय व्रतं तस्मिन् यदतिचरितमित्यादि प्राग्वत् ॥ १९ ॥

साम्प्रतं द्वितीयं गुणव्रतम्। तच्च द्विधा- भोगतः, कर्मतश्च। भोगोऽपि द्विधा- उपभोग-परिभोगभेदात्। तत्र उप इति सकृत् भोग आहारमाल्याऽऽदेरासेवनमुपभोगः, परीत्यसकृद्भोगो भवनाङ्गनाऽऽदीनामासेवनं परिभोगः। तत्र गाथामाह-

" मज्जम्मि य मंसम्मि य, पुप्फे य फले य गंध मल्ले य ।
उवभोगपरीभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २० ॥ "

श्रावकेण तावदुत्सर्गतः प्रासुकैषणीयाऽऽहारिणा भाव्यम्, असति सचित्तपरिहारिणा, तदसति बहुसावद्यमद्याऽऽदीन् वर्जयित्वा प्रत्येकमिश्राऽऽदीनां कृतप्रमाणेन भवितव्य, तत्र मद्यम्- मदिरा, मांसम्-पिशितं, चशब्दाच्छेषाभक्ष्यद्रव्याणामनन्तकायाऽऽदीनां च ग्रहः। तानि च प्रागुक्तानि पञ्चोदुम्बर्यादीनि, पुष्पाणि-करीरमधुकाऽऽदिकुसुमानि, चशब्दात्त्रससंसक्तपत्राऽऽदिपरिग्रहः। फलानि-जम्बूविल्वादीनि, एषु च मद्याऽऽदिषु राजव्यापाराऽऽदौ वर्तमानेन यत्किञ्चित्क्रियमाणाऽऽदि कृत तस्मिन्, एतैरन्तर्भोगः सूचितः, वहिस्त्वयम्-[ गध मल्ले त्ति ] गन्धा-वासाः, माल्यानि-पुष्पस्रजः, अत्रोपलक्षणत्वाच्छेषभोग्यवस्तुपरिग्रहः । तस्मिन्नुक्तरूपे, 'उपभोगपरिभोगे' 'भीमो भीमसेन ' इति न्यायादुपभोगपरिभोगपरिमाणाऽऽख्ये 'द्वितीये गुणव्रते' अनाभोगाऽऽदिना यदतिक्रान्तं, तन्निन्दामि ॥ २० ॥

अत्र भोगतोऽतिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" सच्चित्ते पडिबद्धे, अप्पोल दुप्पोलिए य आहारे ।
तुच्छोसहिभक्खणया, पडिक्कमे देसियं सव्वं ॥ २१ ॥ "

कृतसचित्तप्रत्याख्यानस्य, कृततत्परिमाणस्य वा सचित्तमतिरिक्तमनाभोगादिनाऽभ्यवहरतः सचित्ताऽऽहारोऽतिचारः १, एव वृक्षस्य गुन्दाऽऽदि राजादनाऽऽदि वा सास्थिकफलं मुखे प्रक्षिपत- सचित्तप्रतिबद्धाऽऽहारः २, एवमपक्वस्याग्निनाऽसंस्कृतस्यापरिणतकणिक्कादेः पिष्टस्य भक्षणमपक्वौषधिभक्षणता ३, एव दुष्पक्वस्य पृथुकादेर्दुष्पक्वौषधिभक्षणता ४। तुच्छा अतृप्तिहेतुत्वादसारा, औषधिः कोमलमुद्गशिम्बाऽऽदिका, तां भक्षयतस्तुच्छौषधिभक्षणता ५, एतद्विषये "पडिक्कमे" इत्यादि प्राग्वत् ।२१।

अत्र व्रते भोगोपभोगोत्पादकानि बहुसावद्यानि कर्मतोऽङ्गारकर्माऽऽदीनि पञ्चदश कर्माऽऽदानानि तीव्रकर्मोपादानानि श्रावकेण ज्ञेयानि, न तु समाचरणीयान्यतस्तेषु यदनाभोगाऽऽदिनाऽऽचरितं तत्प्रतिक्रमणाय गाथाद्वयमाह-

" इंगालीवणसाडी-भाडीफोडीसु वज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य द-तलक्खरसकेसविसविसयं ॥ २२ ॥
एवं खु जंतपीलण-कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥ २३ ॥ "

कर्मशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकं योज्यः, तेनाऽङ्गारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटककर्म, स्फोटकर्म चेति पञ्च कर्माणि। (ध०)

उत्तरार्द्धेन पञ्चवाणिज्यान्याह-[ वाणिज्ज इत्यादि ] विषयश-ब्दः प्रत्येक योज्यः, ततो दन्तविषय वाणिज्य दन्तवाणिज्य-म् । एव लाक्षाऽऽदिष्वपि [धo] पञ्चविध वाणिज्यम [धo] कर्म श्रावको वर्जयेदिति सटङ्क' । [ जतपीलण त्ति ] यन्त्रे-ऊलूखलाऽऽदौ पीडन-धान्यखण्डनाऽऽदि,तेन कर्म जीविका यन्त्र-पीडनकर्म, [ निल्लंछण त्ति ] नितरां लाञ्छनम्-अङ्गावयव-च्छेदस्तेन कर्म जीविका निर्लाञ्छनकर्म । [ दवदाण ति ] अ-रण्येऽग्निप्रज्वालनम ( सरदह इत्यादि ) सरोह्रदतटाकशोष-सारणीकर्षणेन,ततो जलनिष्कासनमित्यर्थः, (असईपोस ति) भृत्यर्थं दास्यादिदुःशीलजन्तुपोषण, चिह्नमतश्च, सूत्रे च एव-खलुशब्दौ गाथापर्यन्ते सम्बध्येते, तनश्चैवप्रकाराणि खरकर्मा-णि गुप्तिपालाऽऽदीनि च, 'खु' निश्चयेन, सुश्रावको वर्जयेदिति ॥ २२ ॥ २३ ॥

साम्प्रतमनर्थदण्डाऽऽख्य तृतीय गुणव्रतम् । तत्रार्थो देहस्वजना-ऽऽदीनां कार्यं, तदभावोऽनर्थः, ततः प्राणी निःप्रयोजन पुण्य-धनापहारेण दण्ड्यते,पापकर्मणा विलुप्यते येन सोऽपध्यानाऽऽ-चरिताऽऽदिकश्चतुर्धोऽनर्थदण्डस्तस्य मुहूर्ताऽऽदिकालावधिना निषेधोऽनर्थदण्डव्रत,तत्र चापध्यानाऽऽचरितपापोपदेशौ व्रता-धिकारव्याख्यानादेवावसेयौ । हिंस्रप्रदानप्रमादाऽऽचरिते तु बहुसावद्यत्वात् साक्षात्सूत्रकृदेव छिसूत्र्याऽऽह-

" सत्थग्गिमुसलजतग-तणकट्ठे मतमूलभेसज्जे ।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिय सव्व ॥ २४ ॥
ण्हाणुव्वट्टणवन्नग-विलेवणे सद्दरूवरसगंधे ।
वत्थासणआभरणे, पडिक्कमे देसिय सव्व ॥ २५ ॥"

शस्त्राग्निमुशलानि प्रतीतानि,यन्त्रकम्-गन्त्र्यादि, तृणम्-महार-ज्जुकरणाऽऽदिहेतुर्दर्भाऽऽदि वा व्रणकृमिशोधन बहुकरी वा,का-ष्ठम्-अरघट्टयष्ट्यादि,'मन्त्र.'विषापहाराऽऽदि',वशीकरणाऽऽदि-र्वा,मूलम्-नागदमन्यादि,ज्वराऽऽद्युपशामनमूलिका वा गर्भशा-तनाऽऽदि वा मूलकर्म,भेषजम् सांयोगिकद्रव्यमुच्चाटनाऽऽदिहे-तु , एतच्छस्त्राऽऽदिप्रभूतभूतसङ्घातघातहेतुभूत दाक्षिण्याऽऽद्य-भावेऽन्येभ्यो यद् दत्त दापित वा तस्य"पडिक्कमे"इत्यादि प्राग्व-त् ॥२४॥ स्नानम्-अभ्यङ्गपूर्वकमङ्गप्रक्षालन, तच्चायतनया ध-ससत्त्वभूम्यां सपातिमसत्त्वाऽऽकुले वाऽकाले वस्त्रापूतजलेन यत्कृतम्,उद्वर्तनम्-ससक्तचूर्णाऽऽदिभि उद्वर्तनिकाश्च न भ-स्मनि क्षिप्तास्ततस्ता. कीटिकाकुला श्वाऽऽदिभिर्भक्ष्यन्ते,पादै-र्वा मृद्यन्ते,वर्णक -कस्तूरिकाऽऽदि ,विलेपन कुङ्कुमचन्दनाऽऽदि, एते च सपातिमसत्त्वाऽऽद्ययतनया कृते,शब्दो वेणुवीणाऽऽदीनां कौतुकेन श्रुत शब्दो वा निद्रयुक्तैः स्वरेण कृतस्तत्र, " आउज्जो वणाविणए " इत्याद्यधिकरण यद्भूत, रूपाणि-नाटकाऽऽदौ निरीक्षितानि, रस --अन्येषामपि तद्गृद्धिहेतुर्वर्णित , एवम्-गन्धाऽऽदिष्वपि,अत्र विषयग्रहणात्तज्ञानीयमद्याऽऽदिप्रमादस्य पञ्चविधस्याऽपि ग्रह. । यद्वा-आलस्येन तैलाऽऽदिभाजनास्थ-गन प्रमादाऽऽचरित,तस्मिंश्च"पडिक्कमे"इत्यादि प्राग्वत् ॥२५॥

अत्रातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" कन्दप्पे कुक्कुइए, मोहरिअहिगरणभोगअइरित्ते ।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २६ ॥ "

कन्दर्पो मोहोद्दीपक हास्य १,कौकुच्य नेत्राऽऽदिविक्रियागर्भ हास्यजनक चेष्टितम् २,मौखर्यम्-असभ्यबहुप्रभाषित्वम् ३, (अहिगरण त्ति) मैथुनाधिकरणता तत्राधिक्रियते नरकाऽऽ-दिष्वात्माऽनेनेत्यधिकरण मुशलोदूखलाऽऽदि सयुक्तमर्थक्रिया-यां प्रगुणीकृत तच्च तदधिकरण च तद्भावः सयुक्ताधिकरणता। इह विवेकिना सयुक्त गन्धाऽऽदि न धरणीयम, तद् दृष्ट्वा जनो गृह्णन् निवारयितु शक्यते, विसयुक्ते तु स्वत एव निवारितः स्यात् ४, ( भोगअइरित्ते त्ति) उपभोगपरिभोगातिरिक्तता, त दाधिक्यकरणे ह्यन्येऽपि तत्तैलामलकाऽऽदि याचित्वा स्नानाऽऽ दौ प्रवर्तन्ते (दण्डम्मि अणट्ठाए त्ति) अनर्थदण्डाऽऽख्ये (तइअ-म्मि) इत्यादि प्राग्वत् ॥ २६ ॥

साम्प्रतं शिक्षाव्रतानि, तत्र प्रथम सामायिक, तत्स्वरूप च पू र्वमुक्तमेव, तस्यातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह--

"तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइविहूणे।
सामाइअ वितहकए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥ २७ ॥"

त्रिविध त्रिप्रकार ' दुष्प्रणिधान ' कृतसामायिकस्य मनोवाक्का यानां दुष्प्रयुक्तता, तत्र मनसा गृहाऽऽदिव्यापारचिन्तनम् १, वाचा सावद्यकर्कशाऽऽदिभाषणम् २, कायेनाप्रत्युपेक्षिताप्रमा-र्जितस्थण्डिलाऽऽदौ निषदनाऽऽदिविधानम् ३, अनवस्थानम्-सामायिककालावधेरपूरण यथा कथञ्चिद्वाऽनादृतस्य करणम् ४, तथा-स्मृतिविहीन निद्राऽऽदिप्रमादात् शून्यतयाऽनुष्ठितम् ५, एतानाश्रित्य सामायिके प्रथमे शिक्षाव्रते वितथाकृते सम्य गननुपालिते योऽतिचारस्त निन्द मीति ॥ २७ ॥

अधुना देशावकाशिक व्रतम्--तच्च पूर्व योजनशताऽऽदिना यावज्जीव गृहीतदिग्व्रतस्य तथाऽभीष्टकाल गृहशय्यास्थाना-ऽऽदेः परतो गमननिषेधरूपम्, सर्वव्रतसंक्षेपकरणरूप वा। अस्यातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह--

" आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे य पुग्गलक्खेवे ।
देसावगासियम्मी, बीए सिक्खावए निंदे ॥ २८ ॥ "

गृहाऽऽदौ कृतदेशावकाशिकस्य गृहाऽऽदेर्बहिस्तात् केनचित किञ्चिद्वस्त्वानयत आनयनप्रयोगः १, एव प्रस्थापयतः प्रेष्य-प्रयोगः २,गृहाऽऽदेर्बहि स्थस्य कस्यचित् काशिताऽऽदिना का-र्यकरणार्थमात्मानं ज्ञापयत. शब्दानुपात ३,एव स्वरूप दर्शयतो मालाऽऽद्यारुह्य पररूपाणि वा प्रेक्षमाणस्य रूपानुपात.४,निय-न्त्रितक्षेत्राद्बहि स्थितस्य कस्यचित् लेष्ट्वादिक्षेपणन स्वकार्य स्मारण पुद्गलक्षेपः५,''देसावगासियम्मि'' इत्यादि प्राग्वत् ।२८।

अधुना पोषधोपवासः-तत्र पोष पुष्टि प्रक्रमाद्धर्मस्य धत्त इति पोषध --अवश्यमष्टम्यादिपर्वदिनानुष्ठेयो व्रतविशेषः, तत्रो पवसन पोषधोपवास. । तद्भेदास्तु पौषधव्रते उक्तास्ततोऽव-सेया. । अत्र चातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह-

" सथारुच्चारविही-पमाय तह चेव भोयणाभोए ।
पोसहविहिविवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥ २९ ॥"

सस्तारक.-कम्बलाऽऽदिमय', उपलक्षणत्वाच्छय्यापीठफल-ऽऽकादि च,(उच्चार त्ति) उच्चारप्रश्रवणभूमयो द्वादश द्वादश विण्मूत्रस्थण्डिलानि, एषां विधौ प्रमादः, कोऽर्थ.?, शय्या-यां सस्तारके च चक्षुषा अप्रत्युपेक्षिते दुष्प्रत्युपेक्षिते वा-पवेशनाऽऽदि कुर्वन प्रथमोऽतिचार' १,एव रजोहरणाऽऽदिना अप्रमार्जिते दुष्प्रमार्जिते च द्वितीय. २,एवमुच्चाराऽऽदिभूमी नामपि द्वावतिचारौ, अतः प्रोच्यते-( तह चेव त्ति ) तथैव भवत्यनाभोगे अनुपयुक्ततया सत्यामित्यतिचारपञ्चकम् ५, तथा-' पौषधविधिविपरीतः '-पोषधविधेश्चतुर्विधस्यापि वि-परीतोऽसम्यक्पालनरूपः, यथा -कृतपोषधस्य क्षुधाऽऽर्तस्य

पौषधे पूर्णे श्व. स्वार्थमाहाराऽऽदि इत्थमित्थं कारयिष्ये इत्यादि ध्यायत. पञ्चमोऽतिचार. । पाठान्तर वा-( भोयणाभोय त्ति ) भोजने-आहारे,उपलक्षणत्वात् देहसत्काराऽऽदौ आभोग-उप भोग., कदा पौषधः पूर्णो भविष्यति येनाह भोद्ये इत्यादि तत्परतेति पञ्चमः ५ । एव पञ्चभिरतिचारैः पौषधविधि-विपरीते वैपरीत्ये सति " तइए " इत्यादि प्राग्वत् ॥ २९ ॥

साम्प्रतमतिथिसविभागाऽऽख्य तुर्यं शिक्षाव्रतम् । तत्र तिथि-पर्वाऽऽदिलौकिकव्यवहारस्त्यागाद्भोजनकालोपस्थायी श्रावक-स्यातिथि. साधुरुच्यते। तस्य सङ्गतो निर्दोषो न्यायाऽऽगतानां कल्पनीयान्नपानाऽऽदीनां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तः पश्चात्कर्माऽऽदिदोषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहबुद्ध्या दानमतिथिसविभाग । अत्र चाय विधि -कृतपौषधेन श्राद्धेन पारणकदिने साधुसद्भावेऽवश्यमतिथिसविभागव्रतमासेव्य पारयितव्यम्, अन्यदा त्वनियमः । यदाह- " पढम जईण दाऊण " इत्यादि । अत्रातिचारप्रतिक्रमणायाऽऽह—

"सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस मच्छरे चेव ।
कालाइक्कमदाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥ ३० ॥ "

देयस्यान्नाऽऽदेरदानबुद्ध्याऽतिक्रमाऽऽदिभिरनाभोगेन वा 'सचित्ते'पृथ्व्यादौ निक्षिपतः सचित्तनिक्षेपणतेति प्रथमोऽतिचारः १, एव सचित्तेन पिदधतः सचित्तपिधानता २, स्वकीयमपि परकीयमिदमित्यभिदधतः परव्यपदेश. ३, किमस्मादप्यह न्यून इति मात्सर्याद्ददतो मत्सरिता ४, साधुभिक्षावेलामतिक्रम्य निमन्त्रयमाणस्य कालातिक्रम. ५। शेष प्राग्वत् ॥ ३० ॥

साम्प्रतमत्र यद्रागाऽऽदिना दत्त तत्प्रतिक्रमणायाऽऽह—

" सुहिएसु य दुहिएसु य, जा मे अस्सजएसु अणुकपा ।
रागेण व दोसेण व, त निंदे त च गरिहामि ॥ ३१ ॥ "

साधुष्विति विशेष्य गम्य, सविभागव्रतप्रस्तावात्, ततः साधुषु कीदृक्षु ?,सुष्ठु हित ज्ञानाऽऽदित्रय येषां ते सुहितास्तेषु,पुन. कीदृक्षु ? दुःखितेषु रुजा तपसा वा क्लान्तेषु प्रान्तोपधिषु वा, पुनः किंविशिष्टेषु ? 'न ' स्वय स्वच्छन्देन यता उद्यता अस्वयतास्तेषु, गुर्वाज्ञया विहरत्सु इत्यर्थ. । ' या ' मया कृताऽनुकम्पा अन्नाऽऽदिदानरूपा भक्ति , अनुकम्पाशब्देनात्र भक्ति. सूचिता । यथोक्तम-" आयरिअऽणुकंपाए, गच्छो अणुकपिओ महाभागो । गच्छाणुकंपणाए, अव्वुच्छित्ती कया तित्थे ॥१॥" रागेण-पुत्राऽऽदिप्रेम्णा,न तु गुणवत्त्वबुद्ध्या,तथा-द्वेषेण-द्वेषोऽत्र साधुनिन्दाऽऽख्य',यथा-अदत्तदानाधनधान्याऽऽदिरहिता मलाऽऽविलसकलदेहा ज्ञातिजनपरित्यक्ता. क्षुधाऽऽर्ताः सर्वथा निर्गतिका अमी,अत उपष्टम्भार्हा इत्येव निन्दापूर्वक याऽनुकम्पा साऽपि निन्दार्हा,अशुभदीर्घाऽऽयुष्कहेतुत्वात् । यदागम.-"तहारूव समण वा माहण वा सजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्म हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता अमणुन्नेण अपीइकारगेणं असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभित्ता असुहदीहाउयत्ताए कम्म पकरेइ ।" यद्वा-सुखितेषु वा असंयतेषु पार्श्वस्थाऽऽदिषु,शेष तथैव। नवर ' द्वेषेण ' ' छगपाण पुप्फफल ' इत्यादि तद्गतदोषदर्शनान्मत्सरेण, अथवा-असयतेषु षड्विधजीववधकेषु कुलिङ्गिषु, रागेण एकग्रामोत्पत्त्यादिप्रीत्या,द्वेषेण-प्रवचनप्रत्यनीकताऽऽदिदर्शनोद्भवेन,तदेवंविध दान निन्दामि,गर्हे च,यत् पुनरौचित्यदान तन्न निन्दाऽऽर्हं जिनैरपि वार्षिक दान ददद्भिस्तस्य दर्शितत्वात्॥३१॥

सम्प्रति साधुषु यन्न दत्त तत्प्रतिक्रमितुमाह-

" साहूसु सविभागो, न कओ तवचरणकरणजुत्तेसु ।
सते फासुयदाणे, त निंदे त च गरिहामि ॥ ३२ ॥ "

कण्ठ्या, नवर-तपश्चरणकरणयुक्तेष्वित्यत्र तपस' पृथगुपादानमनेन निकाचितान्यपि कर्माणि क्षीयन्ते इति प्राधान्यख्यापनार्थम् ॥ ३२ ॥

सम्प्रति सलेखनातिचारान्परिजिहीर्षुराह-

" इहलोए परलोए, जीवियमरणे य आससपओगे ।
पंचविहो अइयारो, मा मज्झ हुज्ज मरण ते ॥ ३३ ॥ "

अत्राऽऽशसाप्रयोग इति सर्वत्र योज्य, तत्र प्रतिक्रामक प्रतीत्येहलोको नरलोकस्तत्राऽऽशंसा- राजा स्यामित्याद्यभिलाषस्तस्या. प्रयोगो व्यापार इहलोकाऽऽशसाप्रयोगः १, एव देवः स्यामित्यादिपरलोकाशसाप्रयोग. २, तथा कश्चित्कृतानशनः प्रभूतपौरजनव्रातविहितमहामहसततावलोकनात् प्रचुरवन्दारुवृन्दवन्दनसम्मर्ददर्शनात् अस्तोकविवेकिलोकसत्कृतश्लोकसमाकर्णनात् पुरतः सभूय भूयो भूयः सद्धार्मिकजनविधीयमानोपबृहणश्रवणात् अनघसमस्तसङ्घजनमध्यसमारब्धपुस्तकवाचनवस्त्रमाल्याऽऽदिसत्कारनिरीक्षणाच्चैव मन्यते-प्रतिपन्नानशनस्यापि मम जीवितमेव सुचिर श्रेय., यत एवविधा मदुद्देशेन विभूतिर्वर्तत इति जीविताऽऽशसाप्रयोग. ३,तथा-कश्चित् कर्कशक्षेत्रे कृतानशन प्रागुक्तपूजाऽऽद्यभावे क्षुधाऽऽद्यार्तो वा चिन्तयति-किमिति शीघ्र न म्रियेऽहमिति मरणाऽऽशसाप्रयोग ४,तथा-कामभोगाऽऽशसाप्रयोगः,तत्र कामौ शब्दरूपौ, भोगा.-गन्धरसस्पर्शा , यथा ममास्य तपसः प्रभावात् प्रेत्य सौभाग्याऽऽदि भूयादिति ५ । एष पञ्चविधोऽतिचारो मा मम भूयाद् मरणान्ते यावच्चरमोच्छ्वास इति ॥ ३३ ॥

सर्वोऽप्यतिचारो योगत्रयसभवोऽतस्तमुद्दिश्य तैरेव प्रतिक्रामन्नाह-

" काएण काइयस्सा, पडिक्कमे वाइयस्स वायाए ।
मणसा माणसियस्सा, सव्वस्स वयाइआरस्स ॥ ३४ ॥ "

कायेन वधाऽऽदिकारिणा शरीरेण कृत. कायिकस्तस्य,आर्षत्वादत्र दीर्घ ,कायेन तपःकायोत्सर्गाऽऽद्यनुष्ठानपरेण देहेन, एवं वाचा सहसाऽभ्याख्यानदानाऽऽदिरूपया कृतस्य वाचिकस्य वाचैव मिथ्यादुष्कृतकरणाऽऽदिलक्षणया, तथा-मनसा देवतत्वाऽऽदिषु शङ्काऽऽदिकलुषितेन कृतो मानसिकस्तस्य मनसैव हा दुष्ट कृतमित्याद्यात्मनिन्दापरेण सर्वस्य व्रतातिचारस्य प्रतिक्रमामीति सामान्येन योगत्रयप्रतिक्रमणमुक्तम् ॥ ३४ ॥

सम्प्रति विशेषतस्तदेवाऽऽह-

"वदणवयसिक्खागा-रवेसु सन्नाकसायदडेसु ।
गुत्तीसु समिईसु य, जो अइयारो तय निंदे ॥ ३५ ॥ "

वन्दनं चैत्यवन्दनम्(ध०)(तद्विधि 'चेइयवंदण'शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठादारभ्य दर्शित , ' वदण ' शब्दे च दर्शयिष्यते ) गुरुवन्दन च(ध०)( गुरुवन्दनविधि च'वदण'शब्दे दर्शयिष्यामि ) व्रतानि स्थूलप्राणातिपाताऽऽदीनि पौरुष्यादिप्रत्याख्यानरूपा नियमा वा, शिक्षा ग्रहणाऽऽसेवनरूपा द्विविधा,तत्र ग्रहणशिक्षा सामायिकाऽऽदिसूत्रार्थग्रहणरूपा। यदाह-"सावगस्स जहन्नेण अट्ठप्पवयणमायाओ, उक्कोसेण छज्जीवणिया सुत्तओ वि अत्थओ वि, पिंडेसणज्झयण न सुत्तओ, अत्थओ पुण उल्लावेणं सुणइ त्ति ।" आसेवनशिक्षा तु-नमस्कारेणावबोध

इत्यादि दिनकृत्यलक्षणा, गौरवाणि-जात्यादिमदस्थानानि, तानि प्रतीतानि, ऋद्ध्यादीनि वा, वन्दन च व्रतानि चेत्यादि द्वन्द्वस्तेषु, तथा-सञ्ज्ञाः आहार १ भय २ मैथुन ३ परिग्रह ४ रूपाश्चतस्र.। तथा पराः षट्सञ्ज्ञा.-क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४ लोक ५ ओघ ६ रूपाः, मीलिताश्च दश, पञ्चदश वा, ताश्च आहाराऽऽदि ४ क्रोधाऽऽदि ४ सुखदु.खमोहविचिकित्साशोकधर्मौघरूपाः, आसु च लोकसञ्ज्ञामीलने षोडशापि, तथा-कषः संसारस्तस्याऽऽयो लाभो येभ्यस्ते कषायाः क्रोधाऽऽदय., तथा-दण्ड्यते धर्मधनापहारेण प्राणी यैस्तेऽशुभमनोवाक्कायरूपा दण्डा, मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यरूपा वा, तेषु तथा गुप्तिषु अशुभयोगनिरोधरूपासु, तथा ईर्याऽऽदिषु पञ्चसु समितिषु, चशब्दाद्दर्शनप्रतिमाऽऽद्यशेषधर्मकृत्येषु च, निषिद्धकरणाऽऽदिना योऽतिचारस्तक निन्दामीति ॥ ३५ ॥

साम्प्रत सम्यग्दर्शनमाहात्म्योपदर्शनायाऽऽह-

"सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि ।
अप्पो सि होइ बधो, जेण न निद्धधस कुणइ ॥ ३६ ॥"

सम्यगविपरीता दृष्टिर्बोधो यस्य सम्यग्दृष्टिर्जीवो यद्यपि कथञ्चिदनिर्वहन् पापं कृष्याद्यारम्भ समाचरति, किञ्चित् स्तोक निर्वाहमात्रमित्यर्थ.। हुरत्र तथाऽपीत्यर्थे, ततस्तथाप्यल्प. पूर्वगुणस्थानापेक्षया स्तोक., (सि त्ति) तस्य श्रावकस्य भवति बन्धो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणा, कुत इत्याह-येनेति । यस्मान्न (निद्धधस ति) निर्दय क्रियाविशेषणमिद, कुरुते प्रवर्तते पशुवधनिबन्धनवाणिज्योद्यतचारुदत्तवदिति ॥ ३६ ॥ ध०।( चारुदत्तवृत्तम् 'चारुदत्त' शब्दे तृतीयभागे ११७६ पृष्ठे गतम् )

ननु स्तोकस्य विषस्य विषमा गतिरित्यल्पस्यापि बन्धस्य का गतिरित्यत आह-

"त पि हु सपडिक्कमण, सप्परिआवं सउत्तरगुण च ।
खिप्प उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥ ३७ ॥"

तदपि यत्सम्यग्दृष्टिना कृतमल्पं पाप सह प्रतिक्रमणेन षड्विधावश्यकेन वर्तत इति सप्रतिक्रमण सपरिताप पश्चात्तापानुगत, पकारस्य द्वित्वमार्षत्वात्, सोत्तरगुण च गुरूपदिष्टप्रायश्चित्तचरणान्वित, क्षिप्र शीघ्रमुपशमयति निष्प्रताप करोति क्षपयति वा श्रावक, हुरित्यस्यात्रैवार्थत्वात् निष्प्रताप करोत्येवेत्यर्थ., कमिव?, इत्याह-व्याधिमिव साध्यरोगमिव सुशिक्षितो वैद्य इति ॥ ३७ ॥

दृष्टान्तान्तरमाह-

"जहा विस कुट्ठगय, मतमूलविसारया ।
विज्जा हणति मतेहिं, तो त हवइ निव्विस ॥ ३८ ॥"

कण्ठ्या, नवर (विज्जा इति) वैद्या (त ति) तत्पाप यद्यप्यसौ विषाऽऽर्तस्तेषां मन्त्राक्षराणां न तथाविधमर्थमवबुध्यते तथाऽप्यचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीना प्रभाव इति तदक्षरश्रवणेऽपि गुण, सपनीपद्यते ॥ ३८ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह-

"एव अट्ठविह कम्म, रागदोससमज्जिय ।
आलोयतो य निंदतो, खिप्प हणइ सुसावओ ॥ ३९ ॥"

कण्ठ्या, नवर सुशब्द. पूजार्थ. स च " कयवयकम्मो " इत्यादिना पूर्वोक्तषट्स्थानयुक्तस्य भावश्रावकत्वस्य सूचक, एतमेवार्थं सविशेषमाह-

"कयपावो वि मणुस्सो, आलोइयनिंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरु व्व भारवहो ॥ ४० ॥"

सुबोधा। नवर मनुष्यग्रहणमेतेषामेव प्रतिक्रमार्हत्वख्यापनार्थम्, (आलोइअनिंदिओ त्ति) आलोचितनिन्दितः सम्यक्कृताऽऽलोचननिन्दाविधिरित्यर्थ, गुरुसकाशे इत्यनेन चाऽगुरोरगीतार्थाऽऽदेरन्तिके आत्मनैव वा क्रियमाणाया आलोचनायाः शुद्धभावो दर्शित., (ओहरिअभरु व्व ति) अपहृतभार इवेति ॥४०॥

संप्रति श्रावकस्य बह्वारम्भरतस्याप्यावश्यकेन दु.खान्तो भवतीति दर्शयितुमाह-

"आवस्सएण एए-ण सावओ जइ वि बहुरओ होइ ।
दुक्खाणमंतकिरिय, काही अचिरेण कालेण ॥ ४१ ॥"

आवश्यकेनैतेनेति षड्विधभावाऽऽवश्यकरूपेण, न तु दन्तधावनाऽऽदिना द्रव्याऽऽवश्यकेन श्रावको यद्यपि ब.रजा बहुबध्यमानकर्मा बहुरतो वा विविधसावद्याऽऽरम्भाऽऽसक्तो भवति तथाऽपीत्यध्याहाराद् दु.खानां शारीरमानसानाम् (अतकिरिय) अन्तक्रियां विनाश करिष्यत्यचिरेण स्तोकेनैव कालेन । अत्र चान्तक्रियाया अनन्तरहेतुर्यथाख्यातचारित्र तथाऽपि परम्पराहेतुरिदमपि जायते सुदर्शनाऽऽदेरिवेति ॥ ४१ ॥ ध०।( सुदर्शनवृत्तम् 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४२७ पृष्ठे दर्शितम्)

सप्रति विस्मृतातिचार प्रतिक्रमितुमाह-

"आलोयणा बहुविहा, न य सभरिया पडिक्कमणकाले ।
मूलगुणउत्तरगुणे, त निंदे त च गरिहामि ॥ ४२ ॥"

कण्ठ्या, नवरं आलोचना गुरुभ्यो निजदोषकथनम्, उपचारात्तत्कारणभूता प्रमादक्रियाऽप्यालोचना (पडिक्कमणकाले त्ति) आलोचनानिन्दागर्हाऽवसरे ॥ ४२ ॥

एव प्रतिक्रामको दुष्कृतनिन्दाऽऽदीन् विधाय विनयमूलधर्माऽऽराधनाय कायेनाभ्युत्थित. " तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स त्ति " भणित्वा मङ्गलगर्भमिदमाह—

" अब्भुट्ठिओ मि आरा—हणाइ विरओ विराहणाए अ ।
तिविहेण पडिक्कतो, वदामि जिणे चउव्वीस ॥ ४३ ॥"

तस्य गुरुपार्श्वे प्रतिपन्नस्य धर्मस्य श्रावकधर्मस्य केवलिप्रज्ञप्तस्य अभ्युत्थितोऽस्म्याराधनाय उद्यतोऽह सम्यग् पालनार्थं, विरतश्च विराधनाया निवृत्त. खण्डनायाः त्रिविधेनेत्यादि सुगमम् ॥ ४३ ॥

एव भावजिनान्नत्वा सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थं त्रिलोकगतस्थापनार्हद्वन्दनार्थमाह-

" जावति चेइयाइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ ।
सव्वाइँ ताइँ वदे, इह सतो तत्थ सताई ॥ ४४ ॥"

कण्ठ्या, नवर ( इह सतो त्ति ) इह स्थित.।

साम्प्रत सर्वसाधुवन्दनायाऽऽह-

" जावत के वि साहू, भरहेरवए महाविदेहे अ ।
सव्वेसिँ तेसि पणओ, तिविहेण तिदडविरयाण ॥ ४५ ॥"

यावन्त केचित्साधवो जिनस्थविरकल्पिकाऽऽदिभेदभिन्ना.उत्कर्षतो नवकोटिसहस्रसख्या, जघन्यतस्तु द्विकोटिसहस्रप्रमिता', भरतैरावतमहाविदेहेषु, चशब्दात्सहरणादिनाऽकर्मभूम्यादिषु च, सर्वेभ्यस्तेभ्य. प्रणतस्त्रिविधेनेत्यादि सुगमम् ॥४५॥

एवमसौ प्रतिक्रामक कृतसमस्तचैत्ययतिप्रणतिर्भविष्यत्कालेऽपि शुभभावमाशसन्नाह-

" चिरसचियपावपणा-सणीइ भवसयसहस्समहणीए ।

चउवीसजिणविणिग्गय-कहाइ वोलंतु मे दिअहा ॥ ४६ ॥"

कण्ठ्या, नवरं कथया तन्नामोच्चारणतद्गुणोत्कीर्तनतच्चरितवर्णनाऽऽदिकया वचनपद्धत्या, ( वोलंतु त्ति ) व्रजन्तु ॥४६॥

संप्रति मङ्गलपूर्वकं जन्मान्तरेऽपि समाधिबोध्याऽऽशंसामाह–

" मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो य ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥ ४७ ॥ "

मम मङ्गलमर्हन्तः, सिद्धाः, साधवः, श्रुतं च अङ्गोपाङ्गाऽऽद्यागमः, धर्मश्चारित्राऽऽत्मकः, चशब्दाल्लोकोत्तमाश्च, शरणं चैते इति द्रष्टव्यम् । "चत्तारि मंगलं" इत्यादौ चत्वार्येव मङ्गलान्युक्तानि, अत्र तु धर्मान्तर्गतत्वेऽपि श्रुतस्य पृथग्ग्रहणं ज्ञानक्रियाभ्यां समुदिताभ्यामेव मोक्ष इति ज्ञापनार्थम् । तथा–सम्यग्दृष्टयोऽर्हत्पाक्षिका देवाश्च देव्यश्चेत्येकशेषाद्देवा यक्षाम्बाप्रभृतयो ददतु प्रयच्छन्तु, समाधिं चित्तस्वास्थ्यं, बोधिं प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिरूपाम् । आह–ते देवाः समाधिदाने किं समर्थाः, न वा?, यद्यसमर्थास्तर्हि तत्प्रार्थनस्य वैयर्थ्यम् । यदि समर्थास्तर्हि दूरभव्याभव्येभ्यः किं न प्रयच्छन्ति ?। अथैवं मन्यते–योग्यानामेव ते समर्था नाऽयोग्यानां, तर्हि योग्यतैव प्रमाणं, किं तैरजागलस्तनकल्पैः ?। अत्रोच्यते—सर्वत्र योग्यतैव प्रमाणं, परं न वयं विचाराक्षमनियतिवाद्यादिवदेकान्तवादिनः, किं तु जिनमतानुयायिनः । तत्र सर्वनयसमूहाऽऽत्मकस्याद्वादमुद्रानतिभेदि, " सामग्री वै जनिका " इति वचनात् । तथाहि–घटनिष्पत्तौ मृदो योग्यतायामपि कुलालचक्रचीवरदवरकदण्डाऽऽदयोऽपि तत्र सहकारिकारणम् । एवमिहापि जीवयोग्यतायां सत्यामपि तथा तथा प्रत्यूहनिराकरणेन देवा अपि समाधिबोधिदाने समर्था भवन्ति, मेतार्याऽऽदेरिवेत्यतो न निरर्थका तत्प्रार्थनेति ॥ ४७ ॥

ननु स्वीकृतव्रतस्य प्रतिक्रमणं युक्तं, न त्वव्रतिनां, व्रताभावेनाऽतिचाराऽसंभवादितिचेत्, मैवम्, यतो नातिचारेष्वेव प्रतिक्रमणं, किं तु चतुर्षु स्थानेषु इति । येषु चतुर्षु स्थानेषु ... मणं भवति तद्दुपदर्शनायाह–

" पडिसिद्धाण करणे, किच्चाणमकरणे अ पडि... ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअपरूवणाए य ॥ ४८ ॥ "

प्रतिषिद्धानां सम्यक्त्वाणुव्रताऽऽदिमालिन्यहेतुशङ्काऽऽवधाऽऽदीनां करणे, कृत्यानां चाङ्गीकृतपूजाऽऽदिनियमानामकरणे अश्रद्धाने च निगोदाऽऽदिविचारविप्रत्यये, तथा–विपरीतप्ररूपणायाम्–उन्मार्गदेशनायाम, इयं हि चतुरन्तादभ्रभवभ्रमणहेतुर्मरीच्यादेरिव, तस्यां चानाभोगाऽऽदिना कृतायां प्रतिक्रमणं भवतीति ॥४८॥ ध० । (श्रावकस्य धर्मकथनेऽधिकारोऽस्ति ?, अथवा–नास्तीति प्रश्नोत्तरम्–' धम्मकहा ' शब्दे २७१४ पृष्ठे गतम् )

साम्प्रतमनादिसंसारसागराऽऽवर्तान्तर्गतानां ... नामन्योऽन्य वैरसम्भवात् तत्क्षमणायाऽऽह–

" खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ॥ ४९ ॥ "

क्षमयामि सर्वजीवानन्तभवेष्वप्यज्ञानमोहाऽऽवृतेन या तेषां कृता पीडा तयोरपगमाद् मर्षयामि, सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे दुश्चेष्टितम्, अत्र हेतुमाह–मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित्, कोऽर्थः ?, मोक्षाभहेतुभिस्तान् सर्वान् स्वशक्त्या सम्भयामि, न च केषाञ्चिदपकृतामपि विघाते वर्तेऽहमिति । वैरं हि भूरिभवपरम्पराऽनुयायि कमठरुद्रस्यादीनामिवेति ॥ ४९ ॥



साम्प्रतं प्रतिक्रमणाध्ययनमुपसंहरन्नवसानमङ्गलप्रदर्शनार्थमाह–

" एवमहं आलोइय, निंदिय गरहिय दुगुंछिअं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥ ५० ॥ "

कण्ठ्या । नवरं–(दुगुंछिअ त्ति) जुगुप्सित्वा–धिग् मां पापकारिणमित्यादिना, सम्यगिति च सर्वत्र योज्यम् । इत्येवमल्पमतिस्वबोधनाय श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रसंक्षेपार्थोऽत्र लिखितो, विस्तरार्थस्तु बृहद्वृत्तितश्चूर्णितश्चावसेयः ।

अत्र च प्रसङ्गतोऽन्यान्यपि शेषसूत्राणि व्याख्यायन्ते–

" आयरिए उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुले गणे य ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ "

आचार्ये उपाध्याये शिष्ये साधर्मिके कुले गणे च ये ( मे ) मया केऽपि कषायाः कृताः सन्ति, तान् सर्वान् अहं त्रिविधेन मनोवाक्काययोगेन क्षमयामि ॥ १ ॥

" सव्वस्स समणसंघ–स्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ २ ॥ "

सर्वस्य श्रमणसङ्घस्य भगवतः अञ्जलिं कृत्वा शीर्षे सर्वं क्षमयित्वा क्षाम्यामि सर्वस्य च अहमपि ॥ २ ॥

" सव्वस्स जीवरासि–स्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ ३ ॥ "

सर्वस्य जीवराशेर्भावतो धर्मे निहितं निजचित्तं येन स तथा ईदृशः सर्वं क्षमयित्वा क्षाम्यामि सर्वस्य अहमपि ।३। ध०२ अधि० । पाक्षिकप्रतिक्रमणे संबुद्धक्षामणाऽऽदौ कृते "इच्छकारि सुहपाखी सुखतपशरीरनिराबाधसुखसंजमयात्रानिर्वहो छो ।"इत्यादिवचनं कथनीयं न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–तथापाक्षिकप्रतिक्रमणे संबुद्धक्षामणाऽऽदौ कृते " इच्छकारि सुहपाखी " इत्यादिपठनमधिकं सम्भाव्यते, सामाचार्यादावदर्शनात् ४२ । ह्री० २ प्रका० । सद्दालपुत्रकुम्भकारकृतं प्रतिक्रमणसूत्रमिति प्रघोषः सत्यो, न वा, कस्य कृतिर्वा सा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्–श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रमार्षम् इतिपञ्चाशकवृत्तौ प्रोक्तमस्ति, कुम्भकारकृतमिति प्रघोषस्तु तथ्येतर इति ज्ञायते २८ । ह्री० १ प्रका० । द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणसमयेऽथवा–सामायिके कृते सति एकस्य हस्तादपरेण चरवलके पातिते उभयोर्मध्ये कस्येर्यापथिकी समायाति ?, किमुतावपि प्रतिक्रामतः, एको वेति प्रश्ने, उत्तरम्–द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणाऽऽदौ सावधानतयैकेन चरवलको गृहीतो भवति, अथ यदि द्वितीयहस्तलग्नेन हेतुना पतति तदा तस्येर्यापथिकी समायाति, यदि च गृहीतोऽप्यसावधानतयैव, तदोभयोरपीर्यापथिकी समायातीति १ ॥ ह्री० ४ प्रका० ।

( २५ ) विराधनायां प्रायश्चित्तानि–

जे णं पडिकमंतेइ वा वंदंतेइ वा सज्झायं करेंतेइ वा परिभमितेइ वा संचरतेइ वा गएइ वा ठिएइ वा पइट्ठलगेइ वा उट्ठियलग्गेइ वा तेउकाएण वा फुसियलग्गे भवेज्जा, से णं आयंबिलं न संवरेज्जा तओ चउत्थं ।(महा०) तेणं वा गिलाणेणं वा जइ णं कहिं वि केणइ कारणेणं जाएणं असई गीयत्थगुरुणो अणणुन्नाएणं सहसा कयादी पइट्टपडिकमणं कयं हवेज्जा, तओ मासं०जाव अवंदे चउमासे०जाव नूणं

वयं च जेणं पढमाए पोरिसीए अणइकंताए, तइयाए पोरिसीए अइकंताए भत्तं वा पाणं वा पडिगाहेज्जा वा, परिभुंजेज्जा वा, तस्स णं पुरिमड्ढं । महा० १ चू० ।

"सव्वसो चउत्थ ।" सर्वस्मिंस्तु प्रतिक्रमणे भग्ने चतुर्थम् । जीत० तथा प्रभातप्रतिक्रमणसमये प्रथमतः "कुसुमिणदुसुमिणओहडावणिय काउस्सग्ग" चतुर्लोकस्य मान करोति, तदा "चंदेसु निम्मलयरा" इति यावत् "सागरवरगंभीरा" इति यावद्वेति । तथा-प्रभातप्रतिक्रमणे प्रथमत. "कुसुमिणदुसुमिणकाउस्सग्ग," चैत्यवन्दनां च कृत्वा चत्वारि क्षमाश्रमणानि ददाति, ततः स्वाध्यायं करोत्युत स्वाध्यायं कृत्वा क्षमाश्रमणानि ददातीति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रभातप्रतिक्रमणसमये प्रथमतः "कुसुमिणदुसुमिणओहडावणिय काउस्सग्ग" चतुर्लोकस्य मान करोति, "तदा चंदेसु निम्मलयरा" इति यावत्सागरवरगम्भीरेति यावद्वेति । अत्र सामान्येन "चंदेसु निम्मलयरा" इति यावत्करोति, यदा पुनः स्वप्ने तुर्यव्रतातिचारो जातो भवति, तदा नमस्कारमेकमधिकं चिन्तयतीति ॥ २ ॥ तथा- प्रभातप्रतिक्रमणे प्रथमत. "कुसुमिणदुसुमिणकाउस्सग्गं," चैत्यवन्दनां च कृत्वा चत्वारि क्षमाश्रमणानि ददाति, ततः स्वाध्याय करोत्युत स्वाध्याय कृत्वा क्षमाश्रमणानि ददातीति । अत्र प्रभातप्रतिक्रमणे प्रथमतश्चतुर्लोकस्य मानं कायोत्सर्गं, चैत्यवन्दना च कृत्वा चत्वारि क्षमाश्रमणानि च दत्वा क्षमाश्रमणयुगेन स्वाध्यायं च कृत्वा प्रतिक्रमण करोति । यत उक्तम्-"इरिया कुसुमिणुस्सग्गो, जिणमुणिवंदण तहेव सज्झाओ । सव्वस्स वि सक्कथउ, तिन्नि य उस्सग्ग कायव्वा ॥ १ ॥" एषा गाथा श्रीसोमसुन्दरसूरिकृतसामाचारीमध्ये वर्तते, तथा श्रीविजयदानसूरयोऽपीत्थमेव कृतवन्तस्तच्छिक्षया च वयमपि तथैव कुर्म इति स्वाध्यायानन्तर चत्वारि क्षमाश्रमणानि देयानीति विधिः क्वापि ग्रन्थे वर्तते, तस्यापि प्रतिषेधो नास्ति, पर यथा वृद्धा. कृतवन्तस्तथैवेदानीं कुर्म इति ॥ ३ ॥ ह्री० ४ प्रका० । वर्षमध्ये कियन्ति प्रतिक्रमणानि-चतुर्मासक पूर्णिमायामचुसदा प्रतिक्रमणानि पञ्चविंशतिरष्टाविंशतिर्वा बभूवुः, तथा तानि शास्त्राक्षरबलेन विधीयमानानि परम्परातो वा, शास्त्राक्षरबलेन चेत्तर्हि तदभिधान प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र वर्षमध्ये प्रतिक्रमणानि पञ्चविंशतिरष्टाविंशतिर्वेति क्वापि ज्ञान नास्ति, शास्त्रमध्ये तु दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकलक्षणानि पञ्च प्रतिक्रमणानि प्रतिपादितानि सन्तीति । १५ । ह्री० ४ प्रका० । रात्रौ ये सुखभक्षिकां भक्षयन्ति तेषां सान्ध्यप्राभातिकप्रतिक्रान्तिः शुद्धिमती, अन्यथा वा इति प्रश्ने, उत्तरम्-रात्रौ ये सुखभक्षिकां भक्षयन्तीत्यत्र "अविहिकया वरमकय, उस्सुयवयणं कहति गीयत्था । पायच्छित्त जम्हा, अकए गुरुअं कए लहुअं ॥ १ ॥" इति प्रतिक्रमणहेतुगर्भगाथाऽनुसारेण प्रतिक्रमणकरणमेव सुन्दर प्रतिभाति १२ । ह्री० ३ प्रका० । पाक्षिकप्रतिक्रमणगताऽऽद्यैं क्षामणावसरे "नित्थारगपारगा होह" इति कथ्यते तदा श्रावकाऽऽदिभिरपि किमेतदेव कथनीयमुत-"इच्छामो अणुसट्ठिं" इति तत्र श्रावकाऽऽदिभिः "इच्छामोअणुसट्ठिं" इत्येव कथनीय, न तु "नित्थारगपारगा होह" इति १ । तथा-पाक्षिकप्रतिक्रमणपर्यन्ते गाथार्थस्य शान्तिकथनाऽऽदेशं वृद्धा इत्यादि । अत्र पाक्षिकप्रतिक्रमणप्रान्ते कथिता श्रमणचतुर्लोकस्य कायोत्सर्गे च, तत्प्रकटमेकं च कथिता शान्ति कथयति यथाप्रतीत शुध्यति, द्वितीयवार "पक्खमक्षोण स्स काउस्सग्गकरन" क्वापि विशेषो ज्ञातो नास्तीति १ । ह्री० ४ प्रका० । तथा-तैलाऽऽदिमानिताऽऽदेशप्रदानं शुध्यति, न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-तथा-तैलाऽऽदिमानमेन प्रतिक्रमणाऽऽपादेशप्रदान न सुविहिताऽऽचरितं, पर क्वापि तन्मात्रे जिनभवनाऽऽदिनिर्वाहासमर्थेन निवारयितुमशक्यमिति २१ । ह्री० ३ प्रका० । पाक्षिकाऽऽदिप्रतिक्रमणमध्ये चैत्यवन्दनादारभ्य किं सूत्रं यावत्पञ्चेन्द्रियच्छिन्नं निवार्यते ३४ । पाक्षिकाऽऽदिप्रतिक्रमणे क्रियमाणे छिक्कासद्भावे कुत स्थानात् स्थानं यावत्पुन प्रतिक्रमण क्रियते ३५ । इति प्रश्ने, उत्तरम्-पाक्षिकाऽऽदिप्रतिक्रमणमध्ये चैत्यवन्दनादारभ्य "इच्छामो अणुसट्ठिं" यावत्पञ्चेन्द्रियच्छिन्नं निवार्यमाण परम्परया दृश्यते, पर स्पष्टाक्षराणि नोपलभ्यन्ते ३४ । पाक्षिकप्रतिक्रमणे पाक्षिकातिचाराऽऽलोचनादर्वाग् यदि छिक्का जायते तदा सत्यवसरे चैत्यवन्दनाऽऽदि पुन. कर्तव्यमिति वृद्धसम्प्रदायः ॥ ३५ ॥ ह्री० २ प्रका० ।

(३०) प्रतिक्रमणफलम्-

पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पेहेइ, पिहियवयच्छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥ ११ ॥

हे भदन्त ! प्रतिक्रमणेन जीवः किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! प्रतिक्रमणेन अपराधेभ्य पश्चान्निवर्तनेन व्रतच्छिद्राणि पिदधाति, व्रतानां प्राणातिपातविरमणाऽऽदीनां छिद्राणि अतीचारान् स्थगयति रुणद्धि, पिहितव्रतच्छिद्र सन् पुनर्जीवो निरुद्धाऽऽश्रवो भवति, निरुद्धाऽऽश्रवश्च पुनरशबलचारित्रोऽष्टसु प्रवचनमातृषु उपयुक्तः सन् समितिगुप्तिषु सावधानः सन् अपृथक्त्वः संयमयोगेभ्योऽभिन्नः सन् सुप्रणिहितो विहरति, सुप्रणिहितानि असन्मार्गात् निषेध्य सन्मार्गे व्यवस्थापितानीन्द्रियाणि येन स सुप्रणिहितेन्द्रियः सन्मार्गप्रस्थापितेन्द्रियः साधु. स्वमार्गे विहरतीत्यर्थः ॥११॥ उत्त० २६ अ० । प्रतिक्रमणार्हप्रायश्चित्तभेदे, व्य० १ उ० । आव० । आ० चू० । आवश्यकान्तर्गते स्खलननिन्दाप्रतिपादकेऽध्ययनविशेषे, पा० ।

(३१) श्राद्धा. प्रतिक्रमणं कुर्वाणा वन्दनकदानावसरे किं मुखवस्त्रिकां शुद्धभूमौ मुञ्चन्ति, किमुत पादपुञ्छनोपरि मुखवस्त्रिकां मुक्त्वा वन्दनकाऽऽदि ददतीति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रतिक्रमणं कुर्वाणाः श्राद्धा वन्दनकदानावसरे मुखवस्त्रिकां शुद्धभूमौ रजोहरणोपरि वा मुञ्चन्ति । नान्यत्रेति विधिरिति ६७ । प्र० । सेन० १ उल्ला० । तथा-गुरुपादुकाग्रे प्रतिक्रमणाऽऽदिकं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-केवलदेववन्दनं विना सर्वं प्रतिक्रमणाऽऽदिकं शुद्ध्यतीति नवपादुकापुष्पाऽऽदिभिरर्च्यत इति प्रतिक्रमणाऽऽदि न शुद्ध्यतीति वाच्यं, पुष्पाऽऽद्यर्चितजिनप्रतिमानामग्रेऽपि प्रतिक्रमणाऽऽदिक्रियाया शुद्ध्यमानत्वादिति । ४४ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा-पाक्षिकप्रतिक्रमणमुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनानन्तरं पौषधिकं विना प्रतिक्रमणसूत्राऽऽदेशो दत्तो शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्या पौषधिकस्य दीयते, ईदृशं वृद्धवचोऽस्ति, परमेकान्तो ज्ञातो नास्तीति । १२०

प्र० । सेन०२ उल्ला०। तथा-पाक्षिकप्रतिक्रमणे क्षुत् कदा निवार्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्-चैत्यवन्दनाऽऽदित आरभ्य शान्ति यावत् क्षुन्निवार्यत इति परम्पराऽस्ति । १२१ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा-सन्ध्याप्रतिक्रमणे षडावश्यकसूत्राणि कानीति प्रश्ने, उत्तरम्- " नमो अरिहंताणं " इत्यादि संपूर्णनमस्कारः, " करेमि भंते ! सामाइअं " इत्यादितः " अप्पाणं वोसिरामि "इत्यन्तं प्रथमं सामयिकाध्ययनम् १। "लोगस्सुज्जोयगरे" इत्यादितः-" सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु " इत्यन्तं द्वितीयं चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनम २। "इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसिहीआए अणुजाणह मे मिउग्गहं" इत्यादि तृतीयं वन्दनकाध्ययनम् ३। "चत्तारि मंगल०इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ०" "इच्छामि पडि० " " इरियावहिआए० " " इच्छामि पडिक्क० " " पगामसिज्जाए०" इत्यादि चतुर्थं प्रतिक्रमणाध्ययनम् ४। "इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं० " " तस्स उत्तरीकरणेणं० " अन्नत्थ ऊससिएणं सव्वलोए अरिहंतचेइआणं० " " पुक्खरवरदीवड्ढे०" "सिद्धाणं बुद्धाणं" "वेयावच्चगराणं०" " इच्छामि खमासमणो ! अब्भुट्ठिओ मि अब्भिंतरदेवसिअं खामेउं० " "इच्छामि खमासमणो ! पिअं च मे जं मे" इत्यादि पञ्चमं कायोत्सर्गाध्ययनम् ५। "उग्गए सूरे नमुक्कारसहिअं पच्चक्खामि " इत्यादीनि सर्वाण्यपि प्रत्याख्यानसूत्राणि षष्ठं प्रत्याख्यानाध्ययनं च ६। इमानि प्रतिक्रमणे षडावश्यकसूत्राणि परम्परया ज्ञेयानीति।४१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-प्रतिक्रमणहेतुगर्भे रात्रिकप्रतिक्रमणविधौ रात्रिकप्रायश्चित्तकायोत्सर्गस्ततः चैत्यवन्दनं,ततः स्वाध्याय एव पश्चात्प्रतिक्रमणाऽऽदौ चत्वारि क्षमाश्रमणान्युक्तानि सन्तीति, एवं तु न क्रियते,तत्र किं बीजमिति प्रश्ने, उत्तरम्-यतिदिनचर्याऽऽदौ स्वाध्यायादनु चत्वारि क्षमाश्रमणानि प्रोक्तानि, श्राद्धदिनकृत्यवृत्तियन्त्राद्धवृत्त्यादौ तु स्वाध्यायादनु प्रतिक्रमणस्थापनमुक्तं,ततस्तानि स्वाध्यायं कुर्वन् क्षायते,अयं च विधिः-परम्परया बाहुल्येन क्रियमाणोऽस्ति,सामाचारीविशेषेण चोभयथाऽपि विरुद्धमेवेति। १६२ प्र० । सेन०३ उल्ला०। तथा-ऽऽगीयप्रतिक्रमणविधिः संपूर्णः क्व मूलसूत्रेऽस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-आवश्यकचूर्ण्यावश्यकचूर्ण्यादौ कियान् विधिरुपलभ्यते, कियांस्तु सामाचार्यादाविति । २०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-सांवत्सरिकप्रतिक्रमणकायोत्सर्गे चत्वारिंशल्लोकोद्योतकरान् पठयित्वा तत्प्रान्ते एको नमस्कारो वक्तव्य , पश्चात्कायोत्सर्गः पारणीयः कश्चिच्च, प्रान्ते नमस्कारं पठनव्यं, न पुनः तेन किं प्रमाणमिति प्रश्ने, उत्तरम्-सांवत्सरिकप्रतिक्रमणे चत्वारिंशल्लोकोद्योतकरोपरि नमस्कारोत्सर्गः प्रतिक्रमणहेतुगर्भाऽऽदावुपयोगोऽस्ति,पारम्पर्येणाऽपि तथैव क्रियते इति । २८४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-पाश्चात्यरात्रौ साधुसमीपे समागत्य यत् श्राद्धाः प्रतिक्रमणं कुर्वाणा दृश्यन्ते, तत्सत्यमस्ति कुत्र ग्रन्थे वर्तत इति प्रश्ने, उत्तरम्-सामाचार्यनुसारेण यथा पौषधव्रतस्य पाश्चात्यरात्रौ साधुसमीपागमनं दृश्यते, तथा प्रतिक्रमणार्थमपि, तदनुविशेषत ज्ञायत इति ३११ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा पाक्षिके प्रतिक्रमणे श्राद्धैरनेकातिचारास्तदा ऽऽचारातिचाराः साधुभिः श्रूयन्ते केवलसाधवः प्रतिक्रमणकरणेऽतिचाराः कथनीया न वा तदन्तरं ग्रन्थेऽदर्शितरूपावती-

ति प्रश्ने,उत्तरम् केवलसाधुभिः पाक्षिकप्रतिक्रमणे क्रियमाणे तपआचाराऽऽद्यतीचारा यथायान्ति तदा स्वयं कथनीयास्तत्प्रवृत्तिरपि दृष्टाऽस्तीति । ३३२ प्र० । सेन०३ उल्ला० । तथा-"देवसिअराइअपक्खिअ त्ति" कायोत्सर्गनिर्युक्तिगतचतुर्नवतितमगाथार्थो हारिभद्र्यां वृत्तौ व्याख्यातोऽस्ति, तत्रैकैकस्मिन् प्रतिक्रमणे त्रयो गमाः प्रतिपादिताः सन्ति,ते पञ्चस्वपि प्रतिक्रमणेषु यत् स्थाने यथा समाप्ता गमा भवन्ति तथा व्यक्ताः प्रसाद्या इति प्रश्ने, उत्तरम्-दैवसिकाऽऽदिषु पञ्चसु प्रतिक्रमणेषु प्रारम्भानन्तरं यत्प्रथमम्-"करेमि भंते !" इत्याद्युच्चारणं स प्रथमगमप्रारम्भस्तदनु प्रतिक्रमणसूत्रपाठनावसरे,यत्-"करेमि भंते !"इत्याद्युच्चारणम्,स द्वितीयागमप्रारम्भस्तस्योच्चारादर्वाक् प्रथमगमस्य समाप्तिः,तथा तृतीयवेलायां यत्" करेमि भंते ! " इत्याद्युच्चारणं स तृतीयगमस्य प्रारम्भस्तस्य पूर्वं तु द्वितीयगमस्य समाप्तिः, तृतीयगमसमाप्तिस्तु तत्तत्प्रतिक्रमणसमाप्तिं यावदिति श्रीआवश्यकवृहद्वृत्त्यनुसारेणावसीयते इति । ३८१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-संध्याप्रतिक्रमणवत्प्रातःप्रतिक्रमणे श्राद्धानां प्रतिक्रमणसूत्राऽऽदेशो न दीयते,तत्र को हेतुरिति प्रश्ने,उत्तरम्-प्रातः प्रतिक्रमणे बाढस्वरेण न कर्त्तव्यमित्यागमीया रीतिः, श्राद्धानामादेशदाने तु ते प्रतिक्रमणसूत्रश्रावणार्थं बाढस्वरेण कथयन्तीति तद्विलोप स्यादिति प्रात प्रतिक्रमणाऽऽदेशो न दीयते इति । ३६६प्र० । सेन०३ उल्ला० । तथा सायस्तनिकाऽऽदीनां प्रतिक्रमणकरणोदीरणा क्रियते,त्रिवारं सामायिकाऽऽदिदण्डकं चोच्चार्यते तद्युक्तमयुक्तं वेति प्रश्ने, उत्तरम्-सायस्तनिकाऽऽदीना प्रतिक्रमणकरणोदीरणाकरणं न युक्तं,यदि च ते स्वयं प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति पौषधाऽऽदिदण्डकं त्रिवारमुच्चरन्ति तदा द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेणानुकूलाऽऽदिगुणसंभव. स्यात्तदोच्चार्यते, यस्माच्छास्त्रेऽप्येवं दृश्यते-" तम्हा सव्वाणुण्णा. सव्वनिसेहो अ पवयणे नत्थि ।" इति । ४२१प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-साधुमण्डल्यां प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति तत्कथितं प्रतिक्रमणसूत्रं श्राद्धानां स्तवनाऽऽदिकं यतिनां च शुद्ध्यति, न वा,तथा-उपवासाऽऽदिप्रत्याख्याने ये कसेल्लकपानीयं पिबन्ति तेषामुपवासाऽऽदिकं कार्यते,न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण प्रश्नोत्तरद्वयमनुसंधेया इति ४२२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-प्रोञ्छनकस्योपरि स्थित्वा प्रतिक्रमण कृतं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तदुपरि कृतं न शुद्ध्यतीति प्रतिक्रमणसूत्राऽऽदिकथनवेलायां तु तथोपवेष्टव्यमिति । ४८७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-पट्टस्य विना स्थापनायै प्रतिक्रमणं क्रियते तदा सामाचारीविधिः कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-स्थापनार्थं प्रतिक्रमणकरणे प्रथमं स्थापनाऽऽचार्यस्य पश्चात्क्रमानुक्रमेण पतिद्वयस्य मुखवस्त्रिकायाः पट्टकस्य च प्रतिलेखनं क्रियते, यदि विना स्थापनाया पट्टेति । ४४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । तथा-आवश्यकनिर्युक्तिकारवाक्ये "कारणजाए पडिक्कमणं" इत्युक्तमस्ति मध्यमानां प्रतिक्रमणानां सर्वे किं नामकमिति प्रश्ने,उत्तरम्-"कारणजाए पडिक्कमणं " एतत्पाक्षिकाऽऽद्यपेक्षया प्राह न,उभयकालं प्रतिक्रमणं तु सर्वेषां भवतीति बोध्यम् । ६३ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । तथा-कार्त्तिकपूर्णिमा पाक्षिकदिने चतुर्मासकमानीतं तत्र प्रतिक्रमणानि कुत्राणि भवन्ति तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रतिक्रमणानां स्तूनं [illegible] कश्चित् [illegible] पूर्वा

चार्याणामाचरणमेवात्र प्रमाणं,यथा कल्पसूत्रस्य श्रावणं श्राद्धानां पूर्वाचार्याऽऽचरणयैव क्रियते इति। १११ प्र०। सेन०४ उल्ला०। संध्याप्रतिक्रमणे सामायिकोच्चारानन्तरं स्वाध्यायनमस्कारत्रयं कथयित्वा वन्दनकप्रत्याख्यानमुखवस्त्रिका प्रतिलिख्यते,सा क्षमाश्रमणं दत्त्वा प्रतिलिख्यते, किं वा क्षमाश्रमण विना?,तथा सा किं कथयित्वा प्रतिलिख्यते इति प्रश्ने,उत्तरम्सामायिकं कृत्वा " विसणि संदिसावुं " प्रमुखक्षमाश्रमणचतुष्टयं दत्त्वा नमस्कारत्रयं च कथयित्वा क्षमाश्रमणपूर्वकम् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं" इत्यादेश पूर्वं मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य वन्दनकद्वयं च दत्त्वा प्रत्याख्यानं कर्त्तव्यमिति। १६१ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

विषयसूची-



पडिक्कमणारिह-प्रतिक्रमणार्ह-न०। प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतं तदर्हम्। स्था०१० ठा०। व्य०। प्रतिक्रमणं दोषात् प्रतिनिवर्तनमपुनःकरणतया मिथ्यादुष्कृतप्रदानमित्यर्थः। तदर्हं प्रायश्चित्तमपि प्रतिक्रमणम्। किमुक्तं भवति?-प्रायश्चित्तं मिथ्यादुष्कृतमात्रेणैव शुद्धिमासादयति,न च गुरुसमक्षमालोच्यते। यथा-सहसाऽनुपयोगतः श्लेष्माऽऽदिप्रक्षेपादुपजातं प्रायश्चित्तम्। तथाहि-सहसाऽनुपयुक्ते यदि श्लेष्माऽऽदि प्रक्षिप्तं भवति। न च हिंसाऽऽदिकं दोषमापन्नस्तर्हि गुरुसमक्षमालोचनामन्तरेणाऽपि मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेण शुद्ध्यति। तत्प्रतिक्रमणार्हत्वात् प्रतिक्रमणम्। व्य० १ उ०। प्रव०। जीत०।

इदानीं प्रतिक्रमणार्हमभिधित्सुराह-

गुत्तीसु य समितीसु य, पडिरूवजोगे तहा पसत्थे य।
वइक्कमे अणाभोगे, पायच्छित्तं पडिक्कमणं ॥ ६० ॥

गुप्तयस्तिस्रः। तद्यथा-मनोगुप्तिः, वचनगुप्तिः, कायगुप्तिः। तासु समितयः पञ्च। तद्यथा-ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिः, उच्चारप्रश्रवणखेलसिङ्घाणजल्लपारिष्ठापनिकासमितिश्च। एतासु च सहसाकारतोऽनाभोगतो वा कथमपि प्रमादे सतीति वाक्यशेषः। प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतप्रदानलक्षणम्। इयमत्र भावना-सहसाकारतोऽनाभोगतो वा यदि मनसा दुश्चिन्तितं, तथा-वचसा दुर्भाषितं, कायेन दुश्चेष्टितं, तथा-ईर्यायां यदि कथां कथयन् व्रजेत्, भाषायामपि यदि गृहस्थभाषया ढड्ढरस्वरेण वा भाषेत, एषणाया भक्तपानगवेषणवेलायामनुपयुक्तो भाण्डोपकरणस्याऽऽदाने निक्षेपे वा प्रमार्जयिता प्रत्युपेक्षिते स्थण्डिले उच्चाराऽऽदीनां परिष्ठापयिता च न हिंसादोषमापन्न। उपलक्षणमेतत्, तेन यदि कन्दर्पो वा हासो वा स्त्रीभक्तचौरजनपदकथा वा, तथा-क्रोधमानमायालोभेषु गमनं, विषयेषु वा शब्दस्पर्शरसरूपगन्धलक्षणेष्वनुषङ्गः, सहसानाभोगतो वा कृतः स्यात्, तत एतेषु सर्वेषु स्थानेषु मिथ्यादुष्कृतप्रदानलक्षणं प्रायश्चित्तमिति। तथा-प्रतिरूपयोगे प्रतिरूपविनयाऽऽत्मके व्यापारे तथा प्रशस्ते यो यत्र करणीयो व्यापारः स तत्र प्रशस्तः, " इच्छामिच्छा " इत्यादिस्तस्मिन्नपि वा क्रियमाणे प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणम्। इह प्रतिरूपग्रहणं ज्ञानाऽऽदिविनयोपलक्षणम्। ततोऽयमर्थः-ज्ञानदर्शनचारित्रप्रतिरूपलक्षणप्रकारविनयाकरणे "इच्छामिच्छा, तथाकारा"ऽऽदिप्रशस्तयोगाकरणे, उपलक्षणमेतत्, आचार्याऽऽदिषु मनसा प्रद्वेषाऽऽदिकरणे वाचा अन्तरभाषाऽऽदिकृतौ कायेन पुरोगमनाऽऽदौ प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तम्। तथा-उत्तरगुणप्रतिसेवनायाम् "वइक्कम" इति मर्यादाकथनं, तेनातिक्रमे च प्राग्व्याख्यातस्वरूपे,तथा-अनाभोगादकृत्यप्रतिसेवने मिथ्यादुष्कृतप्रदानाऽऽत्मकं प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तम्। इति गाथासमासार्थः ॥ ६० ॥

व्यासार्थं तु भाष्यकृद्याचिख्यासुः प्रथमतो " गुत्तीसु य समिईसु य " इति व्याख्यानयति-

केवलमेव अगुत्तो, सहसाऽणाभोगओ व अप्पहिंसा।
तहियं तु पडिक्कमणं, आउट्टि तवो न वा दाणं ॥६१॥

एवकारो भिन्नक्रमः, अगुप्त एव गुप्तिरहित एव, 'केवलम्'

उपलक्षणमेतत्, तेन समितिरहित एव केवलमित्यपि द्रष्टव्यम्। केवलग्रहणमगुप्तत्वमसमितत्वं चैकं केवलं, न तु गुप्तत्वासमितत्वप्रत्ययं प्राणिव्यापादनमापन्न इति प्रतिपादनार्थम्। तथा चाऽऽह-[अप्पहिंसा] अल्पशब्दोऽभाववाची। अल्पा नैव काचन प्राणिनो हिंसा,भवेदिति शेषः। कथमगुप्तोऽसमितो वेत्यत आह-[सहसा] पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सहसाकारोऽनाभोगतो वा। तत्र सहसाकारो नाम- "पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पाए कुलिंगयं पासे। न य तरइ नियत्तेउं, जोगं सहसाकरणमेयं ॥१॥" इत्येवंरूपः। अनाभोगो विस्मृतिः। ( तर्हियं तु पडिक्कमणमिति ) तत्र सहसाकारतोऽनाभोगतो वा केवल एवागुप्तत्वे असमितत्वे च सति प्रायश्चित्तं 'पडिक्कमणं,' यदि पुनः ( आउट्टि त्ति ) उपेत्य अगुप्तत्वमसमितत्वं वा करोति तदा प्रायश्चित्तं तपोऽर्हं, न वा दानं, तपस इति गम्यते। कथमदानमिति भावत उच्यते- यदि स्थविरकल्पिका उपेत्यागुप्तत्वमसमितत्वं वा मनसा समापन्नास्ततस्तपोऽर्हं प्रायश्चित्तं तेषां न भवति, गच्छनिर्गतानां तु मनसाऽप्यापन्नानां चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमिति। तदेव गुप्तिषु समितिषु वेति व्याख्यातम् ॥ ६१॥

इदानीं प्रतिरूपयोगपदव्याख्यानार्थमाह-

पडिरूवग्गहणेणं, विणओ खलु सूइओ चउविगप्पो।
नाणे दंसणे चरणे, पडिरूवचउत्थओ होति ॥ ६२ ॥

प्रतिरूपशब्दोपादानेन चतुर्विकल्प चतुष्प्रकारः खलु विनयः सूचितः। चतुष्प्रकारतामेव दर्शयति-ज्ञाने ज्ञानविषयः, दर्शने दर्शनविषयः, चरणे चरणविषय, चतुर्थः प्रतिरूपको विनयो भवति। व्य० १ उ०।

संप्रति "गुत्तीसु य समिईसु य" इत्यादिगाथायां यदुक्तम्- "पसत्थे य" इति, तत्र प्रशस्तग्रहणव्यवच्छेद्यं दर्शयति-

तत्थ उ पसत्थगहणं, परिपिट्टणछेज्जमाइ वारेइ।
ओसन्नगिहत्थाण य, उट्ठाणाई य पुव्वुत्तो ॥६७॥

'जोगे तहा पसत्थे य' इत्यत्र यत्प्रशस्तग्रहणं कृतं तत् अप्रशस्तयोगपरिपिट्टनच्छेदाऽऽदिकं वारयति निराकरोति,न तदकरणे प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्त भवतीति भावः। तस्या-प्रशस्तत्वेन तत्करणस्यैव प्रायश्चित्तविषयत्वात्। तथा ये अवसन्नानाम्,उपलक्षणमेतत्, पार्श्वस्थकुशीलाऽऽदीनां च,तथा-गृहस्थानां,पूर्वोक्ता उत्थानाऽऽदयोऽभ्युत्थानाञ्जल्यासनप्रदानाऽऽदयस्तानपि वारयति,तेषामपि तान् प्रति अप्रशस्तत्वात्।

अत्रैव प्रायश्चित्तयोजनमाह-

जो जत्थ उ करणिज्जो, उट्ठाणाई उ अकरणे तस्स।
होइ पडिक्कमियव्वं, एमेव य वाएँ माणसिए ॥६८॥

यो योग उत्थानाऽऽदिरभ्युत्थानाञ्जालिप्रदानाऽऽदिको यत्र आचार्याऽऽदिविषये करणीय उक्तस्तस्य तत्राकरणे प्रतिक्रमितव्यं भवति, मिथ्यादुष्कृतं प्रायश्चित्त भवतीति भाव। तदेव तत्कायिकप्रतिरूपयोगविषये उक्तमेव, अनेनैव प्रकारेण वाचिके मानसिकेऽपि योगे प्रतिरूपे वक्तव्यम्। यथा-वाचिको मानसिकोऽपि य प्रतिरूपयोगो यथा यत्र करणीय उक्तस्तस्य तथा तत्राकरणे मिथ्यादुष्कृत प्रायश्चित्तमिति। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन इच्छामीत्यादिप्रशस्तयोगाकरणेऽपि मिथ्यादुष्कृत द्रष्टव्यम्।

संप्रति यद् मूलगाथायाम्-" अतिक्कमे अणाभोगे " इत्युपन्यस्तं, तद्व्याख्यानयन्नाह-

अवराहे अतिक्कमणे, वइक्कमे चेव तह अणाभोगा।
भयमाणे य अकिच्चं, पायच्छित्तं पडिक्कमणं ॥६९॥

अपराधे उत्तरगुणप्रतिसेवनरूपे अतिक्रमणे, तथा व्यतिक्रमे च, तथा अनाभोगतोऽकृत्यमिति मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनालक्षणं भजमाने प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतं प्रायश्चित्तम्। तदेवमुक्तं प्रतिक्रमणार्हं प्रायश्चित्तम्। व्य० १ उ०। स्था०। ग०।

पडिक्कमिउं-प्रतिक्रमितुम्-अव्य०। प्रतीपं क्रमितुमित्यर्थे, "इच्छामि पडिक्कमिउं।" ध० २ अधि०।

पडिक्कमित्तए-प्रतिक्रान्तुम्-अव्य०। प्रतिक्रमणं कर्तुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

पडिक्कमित्ता-प्रतिक्रम्य-अव्य०। प्रतिक्रमणं कृत्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ३ चू०।

पडिक्कमियव्व-प्रतिक्रान्त[illegible] त्रि०। मिथ्यादुष्कृतदानेन पापान्निवर्तितव्ये, आ० म० १ अ०।

पडिक्खर-देशी-पुं०। क्रूरे, दे० ना० ६ वर्ग २५ गाथा।

पडिक्खलण-प्रतिस्खलन-न०। स्थित्युष्टम्भकाभावात् पतने, आ० म० १ अ०।

पडिखंध-देशी-पुं०न०। जलवहने,जलवाहे च। दे०ना० ६ वर्ग २८ गाथा।

पडिखंधी-देशी-स्त्री०। जलवहने, जलवाहे च। दे० ना० ६ वर्ग २८ गाथा।

पडिगमण-प्रतिगमन-न०। व्रतभञ्जने,व्रतमोक्षे,व्य० १०उ०।

पडिगय-प्रतिगत-त्रि०। यत आगतस्तत्र गते, सू० प्र०१ पाहु० १ पाहु०पाहु०। रा०। स्वस्थानं गते, भ० १ श० १ उ०।

पडिग्गह-पतद्ग्रह-पुं०। आचेलकाऽऽधारे, है०। पतद् भक्तं पानं वा गृह्णाति इति पतद्ग्रहः। लोहाऽऽदित्वादच् प्रत्ययः। पात्रे, दशा०१० अ०। कल्प०। भ०। प्रश्न०। पा०। आचा०। भाण्डे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। वृ०। औ०। प्रव०। नि० चू०। दृष्टिवादस्य सिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे,स०१२ अङ्ग। व्य०।( पात्राधिकारः सर्वोऽपि 'पत्त' शब्दे वक्ष्यते ) पतद् ग्रह इव पतद्ग्रहः। सङ्क्रम्यमाणप्रकृत्याधारे, क० प्र०।

परिणमई जीसे तं, पग्गईएँ पडिग्गहो एसा। (२)

यस्यां प्रकृतौ आधारभूतायां तत् प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति आधारभूतप्रकृतिरूपतामापादयति, एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इत्युच्यते ॥ २ ॥ क० प्र० २ प्रक०। पं० सं०।

प्रतिग्रह-पुं०। प्रतिग्रहपतद्ग्रहौ पर्यायौ। है०।

पडिग्गहधारि ( ण् )-प्रतिग्रहधारिन्-त्रि०। पात्रधारिणि स्थविरकल्पिकाऽऽदौ,कल्प० ३ अधि० ९ क्षण। आचा०।

पडिग्गहेत्ता-परिगृह्य-अव्य०। स्वीकृत्येत्यर्थे, "पिंडवाय पडिग्गहेत्ता।" आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०।

**पडिघ**–प्रतिघ–त्रि० । प्रतिहते, अनु० ।

**पडिघात**–प्रतिघात–पुं०। निराकरणे, बृ०३ उ०। स्था०। प्रश्न०।

**पडिचंद**–प्रतिचन्द्र–पुं०। उत्पाताऽऽदिसूचके द्वितीये चन्द्रे, अनु० । भ० । जी० ।

**पडिचक्क**–प्रतिचक्र–न० । अनुरूपे चक्रे, समुदाये, नं० । प्रव०।

**पडिचरग**–प्रतिचरक–पुं० । हारिके, ये परराष्ट्राणि स्वयं प्रच्छन्नचारितया गवेषयन्ति । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

**पडिचरणा**–प्रतिचरणा–स्त्री० । प्रतिक्रमणभेदे, आव०४ अ० । ( अस्याः सर्वा वक्तव्यता 'पडियरणा' शब्दे वक्ष्यते )

**पडिचरिय**–प्रतिचर्य–अव्य०। विधिनाऽऽराध्येत्यर्थे, "गुरुमिह सययं पडिचरिय मुणी, जिणमयनिउणे।" दश०९ अ०३ उ०।

**पडिचार**–प्रतिचार–पुं० । चारो ज्योतिश्चारस्तद् विज्ञान प्रतिचारः। प्रतिकूलश्चारो ग्रहाणां वक्रागमनाऽऽदिस्तत्परिज्ञानम्। अथवा-प्रतिचरणं प्रतिचारो रोगिण' प्रतीकारकरणम्। जं० २ वक्ष० । द्विसप्ततिकलास्वेकोनपञ्चाशत्तमकलायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पडिचोअणा**–प्रतिचोदना–स्त्री० । प्रतिकूला चोदना प्रोत्साहना प्रतिचोदना। भ० १ श० १ उ० । पुनः पुनः स्खलितस्य निष्ठुरं शिक्षापणे, व्य० ४ उ० । असकृत्स्खलिताऽऽदौ धिक् ते जन्मेत्यादिनिष्ठुरवाक्यैर्गाढतरप्रेरणायाम्, ध० २ अधि० ।

**पडिचोइय**–प्रतिचोदित–त्रि० । तथैव पुनः पुनः प्रेरिते, पा० । ध० । पुनः पुनरेव कुर्वित्येवमभिहिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

**पडिचोएत्ता**–प्रतिचोदयितृ–त्रि०। उपदेष्टरि,स्था०३ ठा०३ उ०।

**पडिच्छअ**–देशी–पुं० ।समये, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा।

**पडिच्छंद**–देशी–पुं० ।मुखे, दे० ना० ६ वर्ग २४ गाथा।

**पडिच्छग**–प्रतीच्छक–त्रि० । गच्छान्तरादागत्य सूत्रार्थस्य वा प्रतीच्छनं प्रतीच्छा, तया चरति प्रतीच्छकः। व्य० १ उ० । परगणवर्तिनि सूत्रार्थतदुभयग्राहके, व्य० ३ उ० ।

> तं पुण पडिच्छमाणो, पडिच्छगो तस्स जो पुणो मूला ।
> गिण्हति एगतरितो, पडिच्छगपडिच्छगो सो उ ॥४३८॥

तेणस्स, तेणतेणस्स वा जो पडिच्छति स पडिच्छगो । पडिच्छगस्स जो पुणो अन्नो पडिच्छति स पडिच्छगपडिच्छगो भण्णति। इह संतरमेव एगंतरं नत्थि त्ति अन्ने भणति [गिण्हति एगतरिउ त्ति] तेणस्स पडिच्छमाणो तेणतेणपडिच्छओ, एक्केकेणं अंतरिता पडिच्छगा भवन्तीत्यर्थः । नि० चू० ११ उ० ।

**पडिच्छणा**–प्रतीच्छना–स्त्री०।अन्यगणे सूत्रार्थग्रहणे,नि०चू० १९ उ० । ( अन्ययूथिकगृहस्थपार्श्वस्थाऽऽदीन् प्रति प्रतीच्छति इति 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्र० भा०४७२ पृष्ठे उक्तम् )

**पडिच्छण्ण**–प्रतिच्छन्न–त्रि० । आच्छादिते, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । उपरि प्रावरणान्विते, उत्त० १ अ० । सम्पातिमसत्त्वजीवरक्षार्थं संवृते, पार्श्वतः कटकुड्याऽऽदिनाऽऽच्छादिते, उत्त० १ अ० ।

**पडिच्छमाण**–प्रतीच्छत्–त्रि० । गृह्णाति, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । सेवकाऽऽदिभिर्ग्राहयति, कल्प० १ अधि०५ क्षण ।

**पडिच्छयण**–प्रतिच्छदन–न० । आच्छादने, ज्ञा० १श्रु०१अ०।

**पडिच्छयपडिच्छय**–प्रतीच्छकप्रतीच्छक–पुं० । प्रतीच्छकस्यापि प्रतीच्छके, नि०चू० ११ उ० । "पडिच्छगस्स जो पुणो अन्नो पडिच्छइ सो पडिच्छगपडिच्छगो भण्णति।" नि०चू० ११ उ० । ( अत्र व्याख्या 'पडिच्छग' शब्देऽनुपदमेव गता )

**पडिच्छायण**–प्रतिच्छादन–न० । गुह्यप्रदेशस्य प्रच्छादने,आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

**पडिच्छिआ**–देशी–स्त्री०। प्रतीहारिणि,चिरप्रसूतायामपि। दे० ना० ६ वर्ग २१ गाथा।

**पडिच्छिऊण**–प्रतीच्छ्य–अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, "सुद्धं परिच्छिऊणं अपरिच्छेए। " नि० चू० २० उ० ।

**पडिच्छिय**–प्रतीष्ट–त्रि० । पुनःपुनरिष्टे भावतो वा प्रतिपन्ने, भ० १ श० ४ उ०। पतत्येव गृहीते, कल्प०१ अधि०१ क्षण।

प्रतीप्सित–त्रि० । गृहीते, " विमणेण पडिच्छियं। ' दश०५ अ० १ उ० । " आयरिओ भवउ तेहिं पडिच्छिउं । " आ० म० १ अ० ।

प्रतीच्छित–त्रि० स्वीकृते, व्य० ६ उ० ।

**पडिजागर**–प्रतिजागर–पुं० । अनुपालने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । जागरस्य प्रतिनिधिः प्रत्यवेक्षणाय गृहमवेक्ष्स्वेति नियोगे, वाच० ।

**पडिजागरग**–प्रतिजागरक–पुं० । " पियधम्मो पियवादी, पियागमो अप्पकोउहल्लो य । अज्जं गिलाणियं खलु पडिजग्गति एरिसो साहू ॥१॥" इत्येवंलक्षणलक्षिते ( बृ० ३ उ० ) साधुविशेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । आ० म० ।

**पडिजागरण**–प्रतिजागरण–न० । जागरणकरणे, " पडिजागरणं उभयकालम्मि । " व्य० ६ उ० ।

**पडिजागरमाण**–प्रतिजाग्रत्–त्रि० । अनुपालयति, भ० १२ श० १ उ० । स्त्रियाम् "पडिजागरमाणी।" भ० ११ श० ११ उ० ।

**पडिजायणा**–प्रतियातना–स्त्री० । प्रासानां चाधिसहने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

**पडिणिअंसण**–देशी–नैशिके परिधेयवस्त्रे, दे० ना० ६ वर्ग ३६ गाथा।

**पडिणिभ**–प्रतिनिभ–त्रि० । सदृशे, यत्रोपन्यासनये वादिनोपन्यस्तवस्तुन' सदृश वस्तूत्तरदानायोपनीयते स प्रतिनिभः । हेतुभेदे, स्था० । " पडिनिभे। " अस्य व्याख्या- यत्रोपन्यासोपनये वादिनोपन्यस्तवस्तुन सदृशं वस्तूत्तरदानायोपनीयते स प्रतिनिभः । यथा-कोऽपि प्रतिजानीते यदुत-यो मामपूर्वं श्रावयति तस्मै लक्षमूल्यमिदं करोटकं ददामीति, स च श्रावितोऽपि तन्नापूर्वमिति प्रतिपद्यते, तत एकेन सिद्धपुत्रेणोक्तम्–' तुज्झ पिया मज्झ पिउ, धारेइ अणूणयं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरय देहि ॥ १ ॥ " इति । प्रतिनिभता चास्य सर्वस्मिन्नप्युक्ते श्रुतपूर्वमेवेदं ममेत्येवमसत्यं वचो ब्रुवाणस्य परस्य

निग्रहाय-तव पिता मम पितुर्धारयति लक्षमित्येवंविधस्य ह्रि-पाशरज्जुकल्पस्यासत्यस्यैव वचस उपन्यस्तत्वादिति । अस्य चोपपत्तिमात्ररूपस्याप्यर्थज्ञापकतया ज्ञातव्यमुक्तमिति । अ-थवा यथा रूढमेव ज्ञातमेव । तथाहि-अत्रायं प्रयोगो-नास्त्य-श्रुतपूर्वं किञ्चित् श्लोकाऽऽदि ममेत्येवमभिमानधनं ब्रूमो व यम्, अस्ति तवाश्रुतपूर्वं वचनं-तव पिता मम पितुर्धा-रयत्यन्यूनं शतसहस्रमिति यथेति तथा । स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० ।

साम्प्रत प्रतिनिभमभिधित्सुराह-

तुज्झ पिया मज्झ पिऊ, धारइ अणूणयं पडिनिभं ति ।

तव पिता मम पितुर्धारयत्यन्यूनं, शतसहस्रमित्यादि ग-म्यते । प्रतिनिभमिति द्वारोपलक्षणम् । अयमक्षरार्थः । भा-वार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम् -" एगम्मि नगरे एगो परिव्वायगो सोवन्नएण खोरएण तहिं हिंडति । सो भणइ-जो मम अस्सुय सुणावेइ तस्स एयं देमि खोरयं । तत्थ एगो साव-ओ. तेण भणियं-"तुज्झ पिया मम पिउणो,धारेइ अणूणगं स-यसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देहि ।" इदं लौकिकम् । अनेन च लोकोत्तरमपि सूचितमवगन्तव्यम् । तत्र चरणकरणानुयोगे येषां सर्वथा हिंसायामधर्मस्तेषा विध्यनशनविपर्योद्रेकचित्तभङ्गादात्माहिंसायामप्यधर्म्म ए-वेति,तदकरण द्रव्यानुयोगे पुनरदुष्टं मद्वचनमिति मन्यमानो यः कश्चिदाह-अस्ति जीव इत्यत्र वद किञ्चिन्,स च वक्तव्यो-यद्यस्ति जीव एवं तर्हि कुटाऽऽदीनामप्यस्तित्वाज्जीवत्व-प्रसङ्ग इति गत प्रतिनिभम् । दश० १ अ० ।

पडिणिवेस-प्रतिनिवेस-पु० । गाढानुशये, विशे० ।

पडिणि (नि)व्वुइ-प्रतिनिर्वृति-स्त्री० । आगतौ स्था० १ ठा० ।

पडिणिहि-प्रतिनिधि-पुं० । प्रतिविम्बे, हैं० ।

पडिणीय-प्रत्यनीक-त्रि० । प्रतिकूले, आतु० । स्था० । उत्त० । आचा० । प्रतिकूलवृत्तौ, ज्ञा०१ श्रु०२ अ० पंचू० । नि०चू० । छिद्रान्वेषिणि, जी० ३ प्रति० ४ उ० । उत्त० ।

प्रत्यनीकाः-

रायगिहे नयरे० जाव एवं वयासी-गुरू णं भंते ! पडुच्च कइ पडिणीया पण्णत्ता ? । गोयमा ! तओ पडिणीया प-ण्णत्ता । तं जहा-आयरियपडिणीए, उवज्झायपडिणीए, थेरपडिणीए । गई णं भंते !-पडुच्च कइ पडिणीया पण्णत्ता ?। गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता । त जहा-इहलोगप-डिणीए, परलोगपडिणीए, दुहलोगपडिणीए । समूहं णं भंते ! पडुच्च कइ पडिणीया पण्णत्ता ? । गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता । तं जहा-कुलपडिणीए, गणपडिणीए, संघपडिणीए । अणुकंपं पडुच्च भंते ! कइ पडिणीया पु-च्छा ?। गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता। तं जहा-तव-स्सिपडिणीए, गिलाणपडिणीए, सेहपडिणीए । सुअं णं भंते ! पडुच्च पुच्छा ?। गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता। तं जहा-सुत्तपडिणीए, अत्थपडिणीए, तदुभयपडिणीए । भावं णं भंते ! पडुच्च पुच्छा ? । गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता । तं जहा-णाणपडिणीए, दंसणपडिणीए, चरि-त्तपडिणीए ॥

( रायगिहेत्यादि ) तत्र (गुरू णं ति) गुरून् तत्त्वोपदेशका-न्प्रतीत्याऽऽश्रित्य प्रत्यनीकमिव प्रतिसैन्यमिव प्रतिकूलतया ये ते प्रत्यनीकाः, तत्राऽऽचार्योऽर्थव्याख्याता, उपाध्यायः सूत्रदाता, स्थविरस्तु जातिश्रुतपर्यायै । तत्र जात्या षष्टि-वर्षजातः श्रुतस्थविरः समवायधरः, पर्यायस्थविरो विंश तिवर्षपर्यायः एतत्प्रत्यनीकता चैवम्-

"जच्चाईहि अवण्णं, विभसइ वट्टइ नयावि उववाए ।
अहिओ छिद्दप्पेही, पगासवाई अणणुलोमा ॥ १ ॥
अहवा वि वए एवं, उवएस परस्स दिंति एवं तु ।
दसविहवेयावच्चे, कायव्वं सयं न कुव्वंति ॥ २ ॥"

(गई णमित्यादि) गतिं मानुषत्वादिकां प्रतीत्य,तत्रेहलोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकू-लकारित्वात् पञ्चाग्नितपस्विवदिहलोकप्रत्यनीकः, परलोको जन्मान्तरं, तत्प्रत्यनीक इन्द्रियार्थतत्परो, द्विधालोकप्रत्य-नीकश्च चौर्याऽऽदिभिरिन्द्रियार्थसाधनपरः (समूहं णमित्या-दि) समूहं साधुसमुदायं प्रतीत्य, तत्र कुलं चन्द्राऽऽदिकं त-त्समूहो गणः, कौटिकाऽऽदिस्तत्समूहः सङ्घ, प्रत्यनीकता चैतेषामवर्णवादाऽऽदिभिरिति । कुलाऽऽदिलक्षणं चेदम्-

" एत्थ कुलं विण्णेयं, एगायरियस्स संतई जाओ ।
तिण्ह कुलाणमिहो पुण, सावेक्खाणं गणो होइ ॥ १ ॥
सव्वो वि नाणदंसण-चरणगुणविभूसियाण समणाणं ।
समुदाओ पुण संघो, गणसमुदाओ त्ति काऊणं ॥ २ ॥"

( अणुकंपमित्यादि ) अनुकम्पा भक्तपानाऽऽदिभिरुपष्टम्भ-स्तां प्रतीत्य, तत्र तपस्वी क्षपकः, ग्लानो रोगाऽऽदिभिरस-मर्थ , शैक्षोऽभिनवप्रव्रजित एते ह्यनुकम्पनीयाः भवन्ति, त-दकरणकरणाभ्या च प्रत्यनीकतेति । ( सुयं णमित्यादि ) श्रुतं सूत्राऽऽदि तत्र सूत्रं व्याख्येयं, अर्थस्तद्व्याख्यानं निर्युक्त्या-दि, तदुभयमेतद्द्वितयम् । तत्प्रत्यनीकता च-" काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य । मोक्खाहिगारियाणं, जोइसजोणीहि किं कज्जं ॥१॥" इत्यादि दूषणोद्भावनम् । (भा-वमित्यादि) भाव पर्यायः, स च जीवाजीवगत तत्र जीवस्य प्रशस्त',अप्रशस्तश्च तत्र प्रशस्त क्षायिकाऽऽदि',अप्रशस्त-विवक्षयौदयिकः । क्षायिकादि पुनर्ज्ञानाऽऽद्रिरूपोऽनो भावान् ज्ञानाऽऽदीन् प्रति प्रत्यनीकस्तेषा वितथप्ररूपणतो दूषणतो वा । यथा-" पायसुत्तनिबद्धं, को वा जाणइ पणीयकेणेयं । किं वा चरणेणत्तं, दाणेण विणा उ हवइ त्ति ॥ १ ॥ " एते च प्रत्यनीका अपुन करणेनाऽभ्युत्थिता शुद्धिमर्हन्ति, शु-द्धिश्च व्यवहारादिति । भ० ८ श० ८ उ० । स्था० । ( व्य-वहारवक्तव्यता-' ववहार ' शब्दे करिष्यते ) प्रतिकूलव-र्ती शिलाऽऽक्षेपककूलवालकश्रमणवत् दीपानीकं प्रति वर्तते इति प्रत्यनीक । उत्त० १ अ० । ( कूलवालककथा ' कूलवा-लग ' शब्दे तृतीयभागे ६३६ पृष्ठे दर्शिता )

पडिणीयता-प्रत्यनीकता-स्त्री० । कार्योपघातकतायाम्, भ० १२ श० ६ उ० । ज्ञानस्य विराधना ज्ञानस्य प्रत्यनीक-तादिलक्षणा । उक्त च-" नाणपडिणीय णिग्गहव " प्र-

त्यनीकता पञ्चविधा ज्ञानविषया । तद्यथा आभिनिबोधिकज्ञानमशोभनं, यतस्तदवगतं कदाचित्तथा भवति, कदाचिदन्यथेति । श्रुतज्ञानमपि शीलविकलपस्याऽकिञ्चित्करत्वादशोभनमेव । अवधिज्ञानमप्यरूपिद्रव्यागोचरत्वादसाधु । मन:पर्यायज्ञानमपि मनुष्यलोकावधिपरिच्छिन्नगोचरत्वादशोभनम् । केवलज्ञानमपि समयभेदेन दर्शनज्ञानप्रवृत्तेरेकसमये केवलत्वादशोभनमिति । आव० ४ अ० ।

पडिणीयत्तण-प्रत्यनीकत्व-न० । अनिष्टाऽऽचरणे, कर्म० १ कर्म० ।

पडिणीयवदण-प्रत्यनीकवन्दन-न० । " आहारस्स उ काले, णीहारुभयो य होइ पडिणीए ।" आहारस्य,नीहारस्य वा,उभयस्य मूत्रपुरीषलक्षणस्य काले यत्र वन्दते, तत् प्रत्यनीकम्, इति लक्षणलक्षिते सप्तमे वन्दनदोषे, बृ० ३ उ० । ध० । आ० चू० ।

पडिण्णत्त-प्रतिज्ञप्त-त्रि० । वैयावृत्यकरणाऽऽयर्थं परैरुक्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

पडिण्णा-प्रतिज्ञा-स्त्री० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकरूपाया प्रतिज्ञायाम्, सूत्र०१श्रु०१०अ० । प्रकरणोक्तेऽर्थे,यत् स्वयं प्रतिज्ञातं तदन्त्योच्छ्वास यावद्विधेयमिति । उक्त च-' लज्जा गुणौघजननीं जननीमिव स्वा-मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् । तेजस्विन: सुखमसूनपि संत्यजन्ति, सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

पडितंतसिद्धंत-प्रतितन्त्रसिद्धान्त-पुं० । स्वस्वशास्त्रसिद्धे परतन्त्राऽसिद्धे सिद्धान्तभेदे, बृ० ।

जो खलु सतंतसिद्धो, न य परततेसु सो तु पडितंतो ।
निच्चमनिच्चं सव्वं, निच्चानिच्चं च इच्चाइ ॥ १८५ ॥

यः खल्वर्थः स्वतन्त्रसिद्धो,न च परतन्त्रेषु स प्रतितन्त्रसिद्धान्त । यथा-सन्तीति नित्यं साख्याना, सर्वमनित्य क्षणिकवादिनां,सर्व नित्यानित्यमार्हतानामित्यादि । बृ० १ उ०१ प्रक० । यथा-साख्याना नाऽसत आत्मलाभो, न च सत. सर्वथा विनाश इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

पडितप्पण-प्रतितर्पण-न० । संविग्ने तप्यति अनुतपने, व्य० ७ उ० ।

पडितप्पिय-प्रतितर्पित-त्रि० । भक्तपानप्रदानाऽऽदिना सोपष्टम्भीकृते, व्य० १ उ० । विनयाऽऽहारोपध्याऽऽदिभि· प्रत्युपकृते, स० ३० सम० ।

पडितप्पियसाहु-प्रतितर्पितसाधु-त्रि० । प्रतितर्पिता भक्तपानप्रदानाऽऽदिना सोपष्टम्भीकृता साधवो येन स. । साधूपष्टम्भं कृतवति, औ० ।

पडिति-पतिति-स्त्री० । मरणे, व्य० ५ उ० ।

पडिथद्ध-प्रतिस्तब्ध-अनम्रे, उत्त० १२ अ० ।

पडिथिर-देशी-पु० । सदृशे, दे० ना० ६ वर्ग २० गाथा ।

पडिदिसा-प्रतिदिश्-स्त्री० । विदिशि, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पडिदुगुंछय-प्रतिजुगुप्सक-त्रि० । अप्रासुकोदकपरिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पडिदुवार-प्रतिद्वार-न० । स्थूलद्वारापान्तरालवर्तिनि लघुद्वारे, प्रश्न० २ पद । स० । द्वारं द्वारं प्रतीत्यर्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । रा० ।

पडिदुवारदेसभाग-प्रतिद्वारदेशभाग-पुं० । द्वारदेशभागं प्रतीत्यर्थे, औ० । रा० ।

पडिपंथ-प्रतिपन्थ-पुं० । प्रतिकूलत्वे,सूत्र० १ श्रु०३ अ० १उ० ।

पडिपक्ख-प्रतिपक्ष-पुं० । दृष्टान्तभूते पक्षे, स्था०४ ठा० १ उ० ।

पडिपह-प्रतिपथ-पुं० । प्रतिकूलः पन्थाः प्रतिपथः । अग्रेतनमार्गत्यागेन पश्चान्मार्गे, उत्त० २७ अ० । आचा० । निषिद्धपथि, यथा सचित्तपृथिव्यां गच्छति, नि० चू० १ उ० ।

पडिपाय-प्रतिपाद-पुं० । मूलपादानां प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादे, रा० ।

पडिपिंडिअ-देशी-न० । प्रवृद्धे, दे० ना० ६ वर्ग ३४ गाथा ।

पडिपुच्छण-प्रतिप्रच्छन-न० । शरीराऽऽदिवार्ताप्रश्ने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पूर्वाधीतश्रुतस्य पृच्छायाम् , नि० चू० १० उ० ।

पडिपुच्छणा-प्रतिपृच्छा-स्त्री० । पृच्छा प्रश्नस्तस्याः प्रतिवचनं प्रतिपृच्छा । बृ० ४ उ० । सूत्रार्थयो· शरीरवार्ताया वा प्रतिप्रच्छने, बृ० ४ उ० । उत्त० । स्था० ।
प्रतिपृच्छना-गुरो पुरत. सन्देहप्रच्छने, उत्त० २९ अ० । औ० । स्वाध्यायभेदे, उत्त० ।

अस्याः फलम्-अथ गृहीतवाचनेन पुनः संशयाऽऽदौ पुनः प्रच्छनं प्रतिपृच्छति अतस्तत्फलं प्रश्नपूर्वकमाह—

पडिपुच्छणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वुच्छिंदइ ॥ २० ॥

हे स्वामिन् ! प्रतिप्रच्छनया पूर्वाधीतस्य सूत्राऽऽदेः पुनः प्रच्छनेन जीव· किं जनयति ? । प्रतिप्रच्छनया सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति सूत्रार्थयो· संशयं निवार्य निर्मलत्वं विधत्ते । तथा काङ्क्षामोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति,काङ्क्षाशब्देन संदेह', काङ्क्षया सन्देहेन मोहन काङ्क्षामोहन, तत्र भवं काङ्क्षामोहनीयम्, एतत्कर्म विशेषेणाऽपनयति-इदमित्थं तत्त्वम् , अथवा इदमित्थं,नास्ति वा इद मम अध्ययनाय योग्यमित्यादि घटना काङ्क्षा वाञ्छा तद्रूपमेव मोहनीयं कर्म अनभिग्रहिकमिथ्यात्वरूपं तत् विनाशयति ॥२०॥ उत्त० २९ अ० । नं० । गुरुनियोगेऽपि पुनः प्रवृत्तिकाले गुरो प्रच्छना प्रतिप्रच्छना । सकृदादिष्टेनाऽपि कार्यकाले पुनर्गुरुप्रतिपृच्छारूपे सामाचारीभेदे, पञ्चा० ।

अथ प्रतिपृच्छामाह–

पडिपुच्छणा उ कज्जे, पुव्वणिउत्तस्स करणकालम्मि ।
कज्जंतरादिहेउं, णिद्दिट्ठा समयकेऊहिं ॥ ३० ॥

प्रतिपृच्छाया करणं प्रतिप्रच्छना पुन , तुशब्द पुनरर्थे , कार्ये प्रयोजने, पूर्वनियुक्तस्य पूर्वकाले गुरुभिर्व्यापारितस्य सत:, निर्दिष्टेति योग' । कदेत्याह-करणकाले विधानावसरे, कस्मादेतदेवमित्याह-कार्यान्तरं प्रागुपदिष्टकार्यादन्यत्

कार्यं तदादिर्यस्य तन्निषेधाऽऽदेः स तथा, स एव हेतुर्निमित्तं कार्यान्तराऽऽदिहेतु , तस्मात् कार्यान्तराऽऽदिहेतो , द्वितीयायाः पञ्चम्यर्थत्वात् । निर्दिष्टोपदिष्टा, समयकेतुभिः प्रकाशकतया प्रवचनचिह्नभूतैरिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

कार्यान्तराऽऽदिहेतूनेव दर्शयन्नाह–

कज्जंतरे ण कज्जं, तेणं कालंतरे व कज्जं ति ।
अण्णो वा तं काहिति, कयं व एमाइया हेऊ ॥ ३१ ॥

प्रतिपृच्छां कुर्वतः शिष्यस्य गुरुः कदाचित्कार्यान्तरं प्रागादिष्टकार्यादपरकार्यम् । अथवा–न कार्यं नास्ति प्रयोजनं, तेन यत्कार्यमादिष्टमासीत् । कालान्तरे वाऽवसरान्तरे वा, नाऽधुनैव कार्यं विधेयम् । वाशब्दो विकल्पार्थः । अन्यो वा आदिष्टादपरः साधुः, तत्प्रागादिष्टं कार्यम् , करिष्यति, कृतं वा विहितं वा तदन्येनेति त्वमास्स्वेत्यादिशेत् । एवमादय एवंप्रभृतयो गुरुविकल्पाः । आदिशब्दादधिकृतकार्यस्यैव विशेषो गृह्यते । हेतवः कारणानि भवन्ति ; प्रतिपृच्छायाः करण इति शेषः । इति गाथाऽर्थः ॥ ३१ ॥

अहवा वि पवित्तस्सा, तिवारखलणाएँ विहिपओगे वि ।
पडिपुच्छण त्ति नेया, तहिँ गमणं सउणवुड्ढीए ॥३२॥

अथवाऽपीति प्रतिपृच्छायां हेतोः प्रकारान्तरत्वसूचनार्थः । प्रवृत्तस्य चिकीर्षितकार्यकरणाय गमने व्यावृत्तस्य सतः साधोस्त्रिवारस्खलनायां त्रीन् वारान् यावत्तत्प्रतिहतौ सत्याम्, दुर्निमित्तादिति गम्यम् । विधिप्रयोगेऽपि दुर्निमित्तप्रतिघातविधिश्च प्रथमस्खलनायाम्–अष्टोच्छ्वासप्रमाणः कायोत्सर्गो, द्वितीयायां तु तद्द्विगुणः, तृतीयायां संघाटकज्येष्ठकरणपश्चात्करणमित्यादिलक्षण इति । प्रतिपृच्छना उक्तनिरुक्ता । इति एषा सामाचारी, ज्ञेयाऽवसेया । विधेयतयेति शेषः । प्रतिपृच्छोत्तरकालं च ( तर्हि ति ) तत्र विवक्षितकार्यसिद्धिस्थाने , गमनं गतिः, कार्यम् । शकुनवृद्ध्या सन्निमित्तवर्द्धनेन शुभशकुने सतीत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

प्रतिपृच्छायामेव मतान्तरमाह–

पुव्वणिसिद्धे अण्णे, पडिपुच्छा किल उवट्ठिए कज्जे ।
एवं पि नत्थि दोसो, उस्सग्गाईहिँ धम्मठिई ॥ ३३ ॥

पूर्वनिषिद्धे प्राक्कालनिवारिते गुरुणा क्वचिच्चिकीर्षितकार्ये विषयभूते, अन्ये अपरे सूरय', प्रतिपृच्छा कार्येत्याहु । किलेत्याप्तप्रवादसंसूचनार्थः । कदेत्याहुः ?, उपस्थिते प्राप्तकरणावसरे, कार्ये पूर्वनिवारितप्रयोजने, प्राग् निवारितमपि कथञ्चिदनुजानीयादिति कृत्वा । ननु यत् पूर्वमनुचितत्वेन निषिद्धं तदेव पुनरनुजानत. कथं न दोषोऽनौचित्यस्य नादवस्थ्यादित्याशङ्क्याऽऽह–एवमप्यनेनापि प्रकारेण निषिद्धस्यानुज्ञालक्षणेन,नास्ति न भवति,दोषोऽनुचितानुज्ञालक्षणः यत उत्सर्गाऽऽदिभिरुत्सर्गापवादाभ्याम् । आदिशब्दः स्वगतभेदसंसूचक इति बहुवचनं व्याख्यातम् । धर्मेस्थितिर्धर्मव्यवस्था । तथाहि–यदेवोत्सर्गतो निषिद्धं,तदेव तत्कालोत्पन्नकारणान्तरापेक्षयाऽपवादतो विधेयं स्यात् । आह च–' उत्पद्यते हि सा ऽवस्था,देशकालामयान् प्रति । कार्यं यस्यामकार्यं स्यात् ,कर्मकार्यं तु वर्जयेत् ॥१॥'' इति गाथार्थ ॥३३॥ उक्ता प्रतिपृच्छा । पञ्चा० १२ विव०। ल०। आ०चू०। ध० । उत्त०। अनु०।

पडिपुच्छणीय–प्रतिप्रच्छनीय–त्रि० । असकृत्प्रच्छनीये, रा० ।

पडिपुच्छमाण–प्रतिपृच्छत्–त्रि० । पुनः पुनः पृच्छति, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

पडिपुच्छा–प्रतिपृच्छा–स्त्री०। प्रति पुनरपि पृच्छा प्राग्नियुक्तेन कार्यकरणकाले प्राग्निषिद्धेन वा पुनः प्रयोजनतः कर्तुकामेन गुरोः प्रच्छनं प्रतिपृच्छा । पञ्चा०१२ विव० । जीत०। भ०। विशे०। पृच्छा प्रश्नस्तस्या' प्रतिवचनं प्रतिपृच्छा । व्य०२ उ० । स्था० । आ० म० । आदिष्टस्य कार्यस्य करणकाले पुनः प्रच्छने, बृ० १ उ० २ प्रक० । एष सामाचारीभेदः प्रतिपृच्छनाशब्देन दर्शितः । आ० म० १ अ० । शङ्कितस्य विस्मृतस्य गुरोः पुनः प्रतिपृच्छायाम्, एष स्वाध्यायभेदः । आ० चू० १ अ० ।

पडिपुण्ण–प्रतिपूर्ण–त्रि० । अन्यूने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । स० । नि० । स्वप्रमाणेनाहीने, जी० ३ प्रति० ४ उ० । अन्यूनातिरिक्तमाने, रा० । सर्वाऽवयवसंपन्ने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । " पडिपुण्णपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं । " प्रतिपूर्णस्य पाणिपादस्य सुकुमारकोमलानि अत्यन्तकोमलानि तलानि येषां ते । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । अत्र किरणावलीकारेण प्रतिपूर्णानां पाणिपादानाम् इति योगो लिखितः। स तु चिन्त्यः। "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ।" २ । ४ । २॥ इति सूत्रेणावश्यमेकवद्भावात् । सकलस्वांशयुक्ततयोत्पन्नत्वात् । भ० ६ श० ३१ उ० । स्वरूपतः पौर्णमासीचन्द्रवत् । स्था० ६ ठा० । दशा० । औ० । अंशेनापि स्वकीये समस्तकलोपेते, उत्त० ११ अ० । षोडशकलाभिर्युक्ते, उत्त० ११ अ० । विषयाऽऽदिभ्यो विरक्तत्वेनाऽखण्डे, उत्त० ३२ अ० । अपवर्गप्रापकगुणैर्भृते केवलज्ञाने, आव० ४ अ० । ध० । भ० । धनधान्याऽऽदिपदार्थभृते, उत्त० २ अ० । आव० । हीनाधिकाक्षराभावात् । आ० म० १ अ० । दश० । विशे० । सूत्रतो बिन्दुमात्राऽऽदिभिरन्यूने अर्थतोऽध्याहाराऽऽकाङ्क्षाऽऽदिरहिते गुणवत्सूत्रे,अनु०। अल्पग्रन्थत्वाऽऽदिभिः प्रवचनगुणैः संशुद्धे मार्गे, औ० । निरवयवतया सर्वविरत्याख्ये मोक्षगमनैकहेतौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " पडिपुण्णसव्वमंगलभेअसमागमे ।" प्रतिपूर्ण एव प्रतिपूर्णका न तु न्यूना एवंविधा ये सर्वमङ्गलभेदा मङ्गलप्रकारा. सकलकल्याणप्रकारा. तेषां समागमः सङ्केतस्थानमिव, यथा सङ्केतस्थाने सङ्केतकारिणो जना अवश्यं प्राप्यन्ते, तथा तस्मिन् कलशे दृष्टे अवश्य सर्वे मङ्गलभेदाः प्राप्यन्ते इति भावः। कल्प०१ अधि०३ क्षण।

पडिपुण्णघोस–प्रतिपूर्णघोष–न०।गुरुवत्सम्यगुदात्ताऽऽदिघोषैरविकले,ग० २ अधि० । आ० म० । तथाविधे गुणवत्सूत्रे,यद्धि उदात्ताऽऽदिघोषैः परावर्तनाऽऽदिकाले उच्चारयति । विशे० । अनु० ।

पडिपुण्णभासि( ण् )–प्रतिपूर्णभासिन्–त्रि० । अस्खलिताहीनाक्षरार्थवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

पडिपुण्णवीरिय–प्रतिपूर्णवीर्य–पुं० । वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् निःशेषवीर्यशालिनि तीर्थकृति, " से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।"(६)सूत्र०१श्रु०६अ० ।

पडिपुण्णेंदियया-प्रतिपूर्णेन्द्रियता-स्त्री० । अविकलेन्द्रियतारूपे शरीरोपसंपद्भेदे, व्य० १० उ० । बहुपरिपूर्णेन्द्रियतेति नामान्तरमस्या । दशा० ४ अ० ।

पडिपूइय-प्रतिपूजित-त्रि० । चन्दनाऽऽदिचर्चिते, ज्ञा०१श्रु०१अ० ।

पडिपूयग-प्रतिपूजक-त्रि० । पूजाकारिणि, स० ३० सम० ।

पडिपेहित्ता-प्रतिपिधाय-अव्य० । स्थगित्वेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । (नावं मृत्तिकाऽऽदिना प्रतिपिदधाति इति 'णईसंतार' शब्दे चतुर्थभागे १७४५ पृष्ठे उक्तम्)

पडिप्फद्धि (ण्)-प्रतिस्पर्धिन्-त्रि० । "अतः समृद्ध्यादौ वा" ॥ ८।१।४४॥ इति वा दीर्घः ।'पडिप्फद्धी। पाडिप्फद्धी।' परोत्कर्षाभिकाङ्क्षिणि शत्रौ, प्रा० १ पाद ।

पडिप्फलिअ-प्रतिस्फलित-त्रि० । स्खलिते, "खलिअं पडिप्फलिअं ।" पाइ० ना० २४५ गाथा ।

पडिबंध-प्रतिबन्ध-पुं० । प्रतिघातरूपे प्रमादे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० । विघाते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आसङ्गे, आव० ३ अ० । शय्यातराऽऽदिवस्तुषु, पञ्चा० १७ विव० । अभिष्वङ्गे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । प्रश्न० ।

नत्थि णं तस्स कत्थइ पडिबंधे । से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-अंडए इ वा, पोयए इ वा, उग्गहिए इ वा, पग्गहिए इ वा । जं णं जं णं दिसं इच्छइ तं णं तं णं दिसं अपडिबद्धे ।

(नत्थि इत्यादि) नास्ति तस्य भगवतो महापद्मस्यायं पक्षो यदुत कुत्राऽपि प्रतिबन्धः स्नेहो भविष्यतीति । (अंडए इ वत्ति) अण्डजो हंसाऽऽदिर्ममायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति । अथवा-अण्डकं मयूर्यादीनामिदं रमणकं मयूराऽऽदेः कारणमिति प्रतिबन्धः स्यादिति; अथवा-अण्डजं पट्टसूत्रजमिति वा । पोतजो हस्त्यादिरयमिति वा प्रतिबन्धः स्यात् । अथवा-पोतको बालक इति वा । अथवा-पोतकं वस्त्रमिति वा प्रतिबन्धः स्यात् । आहारेऽपि च विशुद्धे सरागसंयमवतः प्रतिबन्धः स्यादिति दर्शयति-(उग्गहिए व त्ति) अवगृहीतं परिवेषणार्थमुत्पाटितं, प्रगृहीतं भोजनार्थमुत्पाटितमिति । अथवा-अवग्रहिकमित्यवग्रहोऽस्यास्तीति वसतिपीठफलकाऽऽदि, औपग्रहिकं वा दण्डकाऽऽदिकमुपधिजातम् । तथा-प्रकर्षेण ग्रहोऽस्येति प्रग्रहिकमौधिकमुपकरणं पात्राऽऽदीति । अथवा-अण्डजे वा पोतजे वेत्यादि व्याख्येयम् । इकारस्त्वागमिक इति । (जं जं ति) या या दिशं, णमिति वाक्यालङ्कारे । तुशब्दो वाऽयं तदर्थ एव इच्छति तदा विहर्तुमिति शेषः । तां तां दिशं विहरिष्यतीति संबन्धः । स्था०९ ठा० । कल्प० । सूत्र० । व्याप्तौ, अविनाभावे, रत्ना० ६ परि० । वेष्टने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

पडिबंधणिराकरण-प्रतिबन्धनिराकरण-न० । सा शुशय्यातरयोर्योऽत्यन्तोपकारकभावेन स्नेहस्तन्निरासे, पञ्चा० १७ विव० ।

पडिबद्ध-प्रतिबद्ध-त्रि० । संरुद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । व्यवस्थिते पञ्चा० १३ विव० । संथा० ।

पडिबद्धया-प्रतिबद्धता-स्त्री० । गाढसंबन्धे, तं० ।

पडिबद्धसरीर-प्रतिबद्धशरीर-त्रि० । दृढावयवकाये यूनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पडिबद्धसिज्जा-प्रतिबद्धशय्या-स्त्री० । द्रव्यतो, भावतश्च प्रतिबद्धे उपाश्रये, बृ० ।

नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धसेज्जाए वत्थए ॥ ३१ ॥

अस्य संबन्धमाह-

इति ओहविभागेणं, सेज्जा सागारिका समक्खाया ।
तं चेव य सागरियं, जस्स अदूरे स पडिबद्धो ॥ ४४५ ॥

[इति] एवमोघेन विभागेन च सागारिका सागारिकयुक्ता शय्या प्रतिश्रयापरपर्याया समाख्याता, तदेव सागारिकं यस्योपाश्रयस्यादूरे आसन्ने, स प्रतिबद्ध उच्यते ॥४४५॥ तत्र निर्ग्रन्थानामवस्थानमनेन प्रतिषिध्यते अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्याऽस्य सूत्रस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थाना प्रतिबन्धशय्यायां द्रव्यतो, भावतश्च प्रतिबद्धे उपाश्रये वस्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

नामं ठवणा दविए, भावम्मि चउव्विहो उ पडिबद्धो ।
दव्वम्मि पट्ठिवंसो, भावम्मि चतुव्विहो भेदो ॥ ४४६ ॥

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदाच्चतुर्विधः प्रतिबद्धः । तत्र नामस्थापने गतार्थे । द्रव्यतः पुनरयम्-पृष्ठवंशो वलहरणं स यत्रोपाश्रये गृहस्थगृहेण सह संबद्धः स द्रव्यप्रतिबद्ध उच्यते । भावे तु चिन्त्यमाने चतुर्विधो भेदो भवति ।

तद्यथा-

पासवणठाणरूवे, सद्दे चेव य हवंति चत्तारि ।
दव्वेण य भावेण य, संजोगे होइ चउभंगो ॥ ४४७ ॥

प्रस्रवणे, स्थाने, रूपे शब्दे चेति चत्वारो भेदाः, तत्र यस्मिन् साधूना स्त्रीणां वा कायिका भूमिरेका सा प्रस्रवणप्रतिबद्धा । यत्र पुनरेकमेवोपवेशनस्थानं स स्थानप्रतिबद्धः । यत्र स्थितैर्भाषाभूषणरहस्यशब्दाः श्रूयन्ते, स शब्दप्रतिबद्धः । तत्र द्रव्येण च भावेन च संयोगे चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा-द्रव्यतो नामैकः प्रतिबद्धो, न भावतः १, भावतो नामैकः प्रतिबद्धो, न द्रव्यतः २, एको न द्रव्यतो, न भावतः ३, एको द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि ४ ।

एवं चतुर्भङ्ग्या विरचितायां विधिमाह-

चतुत्थपदं तु विदिन्नं, दव्वे लहुगा य दोस आणादी ।
संसद्देण विबुद्धे, अहिकरणं सुत्तपरिहाणी ॥ ४४८ ॥

चतुर्थपदमत्र वितीर्णमनुज्ञातं, चतुर्थभङ्गवर्तिनि प्रतिश्रये स्थातव्यमित्यर्थः । द्रव्यप्रतिबद्धे तिष्ठता चत्वारो लघुकाः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः । साधूनां सवन्धिना आवश्यकनैषेधिकीप्रभृतिना संशब्देन विबुद्धेषु गृहस्थेष्वधिकरणं भवति । अथाऽधिकरणभयान्निस्संचारास्तूष्णीकाश्चाऽऽसते, ततः सूत्रार्थपरिहाणि ।

अथाऽधिकरणपदं व्याख्यानयति-

आऊ जोवण वणिए, [illegible] कुम्मरिए ।

तेणे मालागारे, उब्भामगे पंथिए जंते ॥ ४४६ ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत्-साधूनां गृहस्थानां च सङ्घर्षं विना असंखडशब्देन विबुद्धा स्त्रिय (आउ त्ति)अप्कायाऽऽहरणार्थं व्रजन्ति। (जोवणं ति) रथकाराऽऽदयः शकटे गवादीन् योजयित्वा काष्ठाऽऽदिहेतोरटवीं गच्छेयुः। वणिजो घृतकुतुपाऽऽदिकं गृहीत्वा ग्रामान्तरं व्रजन्ति। (अगणि त्ति)लोहकाराऽऽदय उत्थिता अग्निप्रज्वालनाऽऽदिककर्मणि लगन्ति। कुटुम्बिनो हलाऽऽदीन् गृहीत्वा क्षेत्राणि गच्छन्ति।कुकर्मणो मत्स्यगन्धे वागुरिकाऽऽदयो मत्स्याऽर्थं गच्छन्ति। कुत्सितो मारणीयसत्त्वस्यातीव वेदनोत्पादकत्वाच्छिन्द्यो यो मारो मारणं स विद्यते येषां ते कुमारिका, सौकरिका इत्यर्थः। तेऽपि स्वकर्मणि लगन्ति। स्तेनः प्रभातमिति कृत्वा पन्थानं धावन् गच्छेत्। मालाकारः करण्डं गृहीत्वा आरामं गच्छति उद्भ्रामकः पारदारिकः स लब्धसंकेत उद्भ्रामिकां गृहीत्वा पलायेत्। पथिको बुद्धः पथि प्रवर्त्तते यान्त्रिका विबुद्धाः सन्तो यन्त्राणि वाहयन्ति। यस्मादेते दोषास्तस्मात्पुरुषेष्वपि न स्थातव्यम् ॥

अथाधिकरणभयात्तूष्णीकास्तिष्ठन्ति तत एते दोषाः-

आसज्ज निसीही वा,सज्झायं न करिंति मा हु बुज्झेज्जा ।
तेणासंकालग्गण, संजमआयाएँ भाणादी ॥४५०॥

मा गृहस्था विबुध्यन्तामिति कृत्वा "आसज्ज" इति शब्दं नोच्चरन्ति मासलघु, नैषेधिकीं वा न कुर्वन्ति पञ्चरात्रिन्दिवानि, स्वाध्यायं सूत्रपौरुषीं न कुर्वन्ति मासलघु, अर्थपौरुषीं न कुर्वन्ति मासगुरु, सूत्रं नाशयन्ति चतुर्लघु, अर्थं नाशयन्ति चतुर्गुरु। एतेन सूत्रपरिहाणिरिति पदं व्याख्यातम्। तथा-साधूनामावश्यकीशब्दं, पदनिपातशब्दं वा श्रुत्वा ते गृहस्थाः स्तेनोऽयमित्याशङ्कया साधुना समं युद्धाय लगेयुः, ततश्च युध्यमानयोः संयमाऽऽत्मभाजनानां विराधनाऽऽदयो दोषाः; यत एवमतो द्रव्यप्रतिबद्धायां वसतौ न स्थातव्यम्।

द्वितीयपदे तिष्ठेयुरपि-

अद्धाणनिग्गयादी, तिक्खुत्तो मग्गिऊण असईए ।
गीयत्था जयणाए, वसंति तो दव्वपडिबद्धे ॥४५१॥

अध्वनिर्गताऽऽदयः त्रिःकृत्वः त्रीन् वारान् द्रव्यतो भावतो वा प्रतिबद्धमुपाश्रयं मार्गयित्वा यदि न लभन्ते ततो गीतार्था यतनया द्रव्यप्रतिबद्धे वसन्ति ।

यतनामेवाऽऽह-

आपुच्छऊण आवासिय,आसज्ज निसीहि वा य जयणाए ।
वेरत्ती आवस्सग जो जाहे चिंधण दुगम्मि ॥४५२॥

यदा कोऽपि साधुः कायिकभूमौ गन्तुं गच्छति तदा द्वितीय साधुमापृच्छ्य निर्गच्छति,स च द्वितीयः स्पृष्टमात्रएवोत्थाय दण्डकहस्तो द्वारे तिष्ठति यावदसौ प्रत्यागच्छति, एषा आपृच्छयतना । आवश्यकीम् "आसज्ज" शब्दं, नैषेधकीं च यतनया यथा गृहस्था न शृण्वन्ति वैरात्रिकवेलायामपि य. पूर्वमुत्थितस्तेन द्वितीय' साधुर्यतनया हस्तेन स्पृष्ट्वा प्रतिबोधयितव्य , स च स्पृष्टमात्र एव तूष्णींभावेनोत्तिष्ठति । ततो द्वावपि कालभूमौ गत्वा वैरात्रिक यतनया गृह्णीतः । यथा-पार्श्वस्थितोऽपि न शृणोति आवश्यकं यो यदा यत्र स्थितो विबुध्यते स तदा तत्र स्थित एव करोति वन्दनकं, स्तुतीश्च हृदयेनैव प्रयच्छन्ति। यद्वा-यदा ते गृहस्थाः प्रभाते स्वयमेवोत्थिताः तदा आवश्यकं कुर्वन्ति । (चिंधण दुगम्मि त्ति ) परावर्तयतां यत्र सूत्रे अर्थे वा रात्रौ शङ्कितं तस्य चिह्नं तमभिज्ञानकरणम्-यथा अमुकस्मिन्नङ्गे श्रुतस्कन्धे अध्ययने उद्देशके वा इदं शङ्कितमस्तीति तत्सर्वं दिवा प्रश्नायित्वा निःशङ्कितं कुर्वन्ति।

तथा-

जणरहिए वुज्जाणे, जयणा भासाए किमुय पडिबद्धे ।
दढतरसरऽणुप्पेही, न य संघाडेण परिवत्ते ॥४५३॥

यदि तावज्जनरहितेऽप्युद्याने वसतां रात्रौ भाषायां यतनामात्रं चतुष्पदपक्षिशरीसृपाऽऽदयो जन्तवो विबुध्यन्तामितिकृत्वा, ततः किं पुनर्द्रव्यप्रतिबद्धे प्रतिश्रये, तत्र सुतरां यतना कर्तव्येति भावः यस्तु दृढतरस्वरो बृहता शब्देन भाषणशीलः स वै रात्रिकं स्वाध्यायमनुप्रेक्षया करोति, मनसैवेत्यर्थः। येऽपि च साधवो न दृढतरस्वरास्तेऽपि सङ्घाटकेन न परिवर्तयन्ति, किं तु पृथग्, गतः प्रथमो भङ्गः ।

अथ द्वितीयभङ्गभावतः प्रतिबद्धो न द्रव्यत इत्येवंलक्षणं निरूपयति-

भावम्मि उ पडिबद्धे,चउरो गुरुगा य दोस आणाऽऽदी ।
ते वि य पुरिसा दुविहा, भुत्तभोगी अभुत्ता य ॥४५४॥

भावे भावतः प्रतिबद्धे प्रतिश्रये तिष्ठतां चतुर्गुरुकम्,आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः। ये पुनस्ते भावप्रतिबद्धे वसन्ति ते पुरुषाः साधवो द्विविधाः । केचिद् भुक्तभोगिनो ये स्त्रीभोगान् भुक्त्वा प्रव्रजिता, केचित्तु अभुक्तभोगिनः कुमारप्रव्रजिता । एषा पुरातनी गाथा ।

अथास्या एव व्याख्यानमाह-

भावम्मि उ पडिबद्धे, पन्नरससु पदेसु चउगुरू होंति ।
एक्केकाउ पयाओ, हवंति आणाइणो दोसा ॥४५५॥

भावप्रतिबद्धे चतुर्भिः प्रश्रवणाऽऽदिभिः पदैः षोडश भङ्गाः कर्तव्याः। तद्यथा-प्रश्रवणप्रतिबद्धः, स्थानप्रतिबद्धो, रूपप्रतिबद्ध',शब्दप्रतिबद्धश्च * । इत्यादि । अत्र प्रथमभङ्गादारभ्य पञ्चदशसु पदेषु च चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम्। आदेशान्तरेण वा प्रथमे भङ्गे चत्वारः चतुर्गुरवः, चतुर्णामपि पदानां तत्राशुद्धत्वात्। द्वितीये भङ्गे त्रयश्चतुर्गुरवः,त्रयाणां पदानां तत्राऽशुद्धत्वात्। एवमनया दिशा यत्र भङ्गे यावन्ति पदान्यविशुद्धानि तत्र भवेयुश्चतुर्गुरवः,एकैकस्माच्च पदाद्भङ्गकादाज्ञाऽऽदयो दोषाः। यस्तु षोडशो भङ्ग स चतुर्ष्वपि पदेषु शुद्ध इति न तत्र प्रायश्चित्तम्।

प्रश्रवणाऽऽदीनामेवान्योऽन्यसंभवमाह-

ठाणे नियमा रूवं, भासासद्दो य भूसणा भइओ ।
काइयठाणं नत्थी, सद्दे रूवे य भय सेसे ॥४५६॥

यत्र साधूनां स्त्रीणां चैकमेवोपवेशनस्थान तत्र नियमात् परस्पर रूपमवलोक्यते भाषाशब्दश्च श्रूयते, भूषणशब्दस्तु भाज्यः साभरणानां स्त्रीणा भवति, इतरासा न भवतीत्यर्थः। कायिकी प्रस्रवण,तस्य स्थानं नास्ति,लोकजुगुप्सिततया कायिकीभूमावुपवेशनाभावात् भाषाभूषणशब्दरूपाणि तु भवन्तीतिभावः। शब्दरूपे च शेषाणि भज विकल्पय।

* पुस्तके पाठस्त्रुटितो विभाति ।

किमुक्तं भवति ?–शब्दे प्रश्रवणस्थानरूपाणि भवन्ति वा, न वा, रूपेऽपि प्रस्रवणस्थानशब्दा भवन्ति वा, न वेति ।

एतेष्वेव दोषानुपदर्शयति–

आयपरोभयदोसा, काइयभूमी य इच्छऽणिच्छंते ।
सकाए गमणे तू, वोच्छेद पदोसतो जं च ॥ ४५७ ॥

यत्र संयतानामविरतिकानां चैका कायिकी भूमिस्तत्राऽऽत्मपरोभयसमुत्था दोषाः। तत्र संयत एवाविरतिकां रहसि दृष्ट्वा यदाऽऽत्मना क्षुभ्यति एष आत्मसमुत्थो दोषः। यस्तु सा स्त्री तस्मिन् संयते क्षुभ्यति स परसमुत्थः। यत्तु साधुर्विरतिकायाविरतिकाऽपि साधौ क्षोभमुपगच्छति स उभयसमुत्थो दोषः। (इच्छऽणिच्छन्ति) यदि स्त्रिया प्रार्थितः साधुस्तां प्रतिसेवितुमिच्छति ततो व्रतभङ्ग', अथ नेच्छति ततः सा उड्डाहं कुर्यात् । (संक त्ति) अविरतिका कायिकीभूमौ प्रविष्टा पश्चात् संयतमपि तत्र गच्छन्तं दृष्ट्वा कोऽपि शङ्कां कुर्यात्, यदेवमद्य द्वावप्यत्र त्वरितं प्रविष्टौ तद् मैथुनार्थमिति । तत एकस्यानेकेषां वा साधूनां व्यवच्छेदं कुर्यात् ( पदोसतो जं च त्ति ) तदीया पतिदेवराऽऽदयः प्रद्वेषतो यद् ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदिकं करिष्यन्ति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

यत्राविरतिकानां साधूनां चैकमेवोपवेशनस्थानं तद्दोषानाह–

दुग्गूढाणं छण्हं, तदंसणे भुत्तभोगिसइकरणं ।
वेउव्वियमाईसु य, पडिबंधुड्डुचयाऽऽसका ॥ ४५८ ॥

दुर्गूढानां दुष्प्रावृतानां स्त्रीणा यानि षड्भागानि गण्डकुचोरःप्रभृतीनि,तेषां दर्शने भुक्तभोगिना तु स्मृतिकरणं कौतुकमुत्पद्यते,तथा वैक्रियं वाताऽऽदिविक्रियाविशेषान्महाप्रमाणं सागारिकम्,अथवा–विकुर्वितं नाम महाराष्ट्रविषये सागारिकं दृष्ट्वा तत्र विण्टकः प्रक्षिप्यते, सा चाविरतिका तादृशेङ्गनदाने प्रतिसेवितपूर्वा ततो वैक्रियं,विकुर्वितं वा । आदिग्रहणात्पैठिकं वा सागारिकं दृष्ट्वा सा स्त्री तत्र साधोः प्रतिबन्धं कुर्यात्,उड्डुश्चकं वा कश्चिदगारः कुर्यात् । आशङ्का वा लोकस्य भवति–एते श्रमणका न सुन्दरा येनैवं महेलाभिः सममासते ।

सर्वेष्वपि प्रस्रवणाऽऽदिस्थानेषु सामान्यत इमे दोषाः–

बभवयस्स अगुत्ती, लज्जाणासो य पीइपरिवुड्डी ।
साहु तवोवणवासो, निवारणं तत्थ परिहाणी ॥४५६॥

स्त्रीभिःसहैकत्र तिष्ठतां साधूनां ब्रह्मचर्यस्यागुप्तिर्लज्जानाशश्च भवति, परस्परमभीक्ष्णं संदर्शनाऽऽदिना प्रीतिपरिवृद्धिरुपजायते, लोकश्चोपहासोक्तिभङ्गया ब्रवीति अहो अमी साधवस्तपोवने वसन्ति । निवारणं च राजादयः कुर्वन्ति–मा एतेषां मध्ये कोऽपि प्रव्रज्यां गृह्णीत । ततश्च तीर्थपरिहाणिः तीर्थस्य व्यवच्छेदो भवति ।

रूपप्रतिबद्धे दोषानाह–

चंकमियं ठिय जंपिय, मोडिय विप्पेक्खियं च सविलासं ।
आगारे य बहुविहे,ददट्ठुं भुत्तेयरे दोसा ॥४६०॥

चङ्क्रमितुं राजहंसवत् सलीलं पदन्यास , स्थितं कटिस्तम्भेनोर्द्धस्थानं,मोटितं गात्रमोटनं विविधमर्थक्षिकटाक्षाऽऽदिभिर्भेदै प्रेक्षितं विप्रेक्षित, तच्च सविलास सविक्षेपसहित सविस्मितं सुखं च । एवमादीनाकारान् बहुविधान् दृष्ट्वा भुक्तानामितरेषां चाभुक्तानां स्मृतिकरणकौतुकाऽऽदयो दोषा

अविरतिकानां पुनर्नानादेशीयान् साधून् दृष्ट्वा इत्थमभ्युपपातो भवेत्–

जल्लमलपंकियाण वि, लावन्नसिरी जहेसिं साहूणं ।
सामन्नम्मि सरूवा, सयगुणिया आसि गिहवासे ॥४६१॥

जल्लं च कठिनीभूतं कफाऽऽदि मलः पुनरुद्वर्तितः सन्निर्गच्छति, जल्लेन मलेन च पंकितानामप्येषां साधूनां देहेषु अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानाविरहितेष्वपि यथा लावण्यश्रीः शोभालक्ष्मीः श्रामण्येपि सुरूपोपलभ्यते, तथा ज्ञायते नूनममीषां गृहस्थत्वे शतगुणिता लावण्यलक्ष्मीरासीत् ।

शब्दप्रतिबद्धे दोषानाह–

गीयाणि य पढियाणि य,हसियाणि य मंजुलुल्लावा ।
भूसणसद्दे राह–स्सिए अ सोऊण जे दोसा ॥ ४६२ ॥

स्त्रीणां संबन्धीनि भाषाशब्दरूपाणि यानि गीतानि च पठितानि च मञ्जुलाश्च माधुर्याऽऽदिगुणोपेता उल्लापाः, ये च वलयनूपुराऽऽदीनां भूषणानां शब्दाः, ये च रहसि भवा राहसिकाः पुरुषेण परिभुज्यमानायाः स्त्रियाः स्तनिताऽऽदयः शब्दा इत्यर्थः । तान् श्रुत्वा ये भुक्तसमुत्था दोषास्तन्निष्पन्नमाचार्यः प्रायश्चित्त तत्र भवे प्रतिबद्धे तिष्ठन् प्राप्नोति ।

अथ स्त्रियः साधूनां स्वाध्यायशब्दं श्रुत्वा यच्चिन्तयेयुस्तद्दर्शयति–

गंभीरमहुरफुडविस–यगाहओ सुस्सरो सरो जह सिं ।
सज्झायस्स मणहरो, गीयस्स णु केरिसो आसी ? ॥४६३॥

गम्भीरो नाम यत प्रतिशब्द उत्तिष्ठते मधुर कोमल स्फुटो व्यक्ताक्षरः, विषयग्राहकोऽर्थपरिच्छेदपटुः, सुस्वरो मालवकौशिक्यादिस्वरानुरञ्जित', एवंविध स्वरो यथा एषां साधूनां संबन्धी स्वाध्यायस्य मनोहर श्रूयते, यदा गृहवासे विश्वस्ता' संगीतमेते विहितवन्तस्तदानीं तस्य कीदृशो नाम शब्द आसीत् , किन्नरध्वनयस्तदानीमभूवन्निति भाव । उक्ताश्चतुर्ष्वपि प्रस्रवणाऽऽदिप्रतिबद्धेषु दोषा ।

अथ " ते पुण पुरिसा दुविहा " इत्यादि पश्चार्द्धं व्याख्यानयति–

पुरिसा य भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केइ निक्खंता ।
कोऊहल सइकरणे, भवेहिं दोसेहिंमं कुज्जा ॥४६४॥

ते पुन सञ्जातपुरुषा द्विविधाः-केचिद् भुक्तभोगिनः,केचित्तु अभुक्तभोगिनो निष्क्रान्ताश्च ते च तत्रोपाश्रये स्मृतिकरणकुतूहलोद्भवा दोषा ये उत्पद्यन्ते तैरिदं कुर्युः –

पडिगमणमन्नतित्थिग, सिद्धी संजइ सलिंग हत्थो य ।
अद्धाणवाससावय–तेणेसु च भावपडिबद्धे ॥४६५॥

प्रतिगमनं नाम भूयोऽपि गृहवासं गच्छेयुः । यद्वा–कश्चित्पार्श्वस्थाऽऽदिभ्यः समागतः स तेष्वेव व्रजेत्, अन्यतीर्थिकेषु वा गच्छेद्वा सिद्धपुत्रिकां वा संयतीं वा स्वलिङ्गस्थित प्रतिसेवेत, हस्तकर्म वा कुर्यात् । यत एते दोषा अतो न भावप्रतिबद्धे स्थातव्यं भवेत् । आवश्यके तत्राऽपि स्थातव्यं भवति । किं पुनस्तदित्याह–( अद्धाण इत्यादि ) अध्वप्रतिपन्नास्ते साधवो नवा वसतिं न लभन्ते, वर्षं वा निरन्तरं पतति चतुष्पदा' स्तेनाऽऽदयो ग्रामाऽऽद्रौ बहिरुपद्रवन्ति एतैः कारणैर्भावप्रतिबद्धे तिष्ठन्ति ।

एतदेव व्याचष्टे-

विहनिग्गया य जइउं, रुक्खे जोइपडिबद्ध उस्से वा ।
ठायंति अह व वासं, सावयतेणाइ तो भावे ॥४६६॥

"विह त्ति" अध्वा, ततो निर्गता स्वयं प्रतिपन्ना वा त्रिः कृत्वा शुद्धाया वसतेरन्वेषणाय यतित्वा यदि न लभन्ते ततो वृक्षस्याधस्ताद्वा ज्योतिर्युतायां द्रव्यप्रतिबद्धायां वा वसतौ तिष्ठन्ति। ( अह त्ति ) अथ पुनर्वृक्षस्याधस्तात् (उस्से व त्ति) अवश्यायो वा, वर्षं वा निपतति, श्वापदस्तेनाऽऽदयो वा तत्रोपद्रवन्ति, ततः ( भावे ) भावप्रतिबद्धायां वसन्ति ।

तत्र चेयं यतना-

भावम्मि ठायमाणे, पढमं ठाणं तु रूवपडिबद्धे ।
तहियं कडग चिलिमिली, तस्सऽसती ठंति पासवणे ॥४६७॥

भावप्रतिबद्धे तिष्ठन्ति, प्रथमं स्थानं तु रूपप्रतिबद्धे, तत्र चाऽपान्तराले कटकं चिलिमिलिकां वा प्रयच्छन्ति, तस्य रूपप्रतिबद्धस्याभावे प्रस्रवणप्रतिबद्धेऽपि तिष्ठन्ति । तत्राऽपि कायिकीं मात्रके व्युत्सृज्यान्यत्र परिष्ठापयन्ति ।

असई य मत्तगस्सा, निसिरणभूमीइ वावि असईए ।
वंदेण वोलकरणं, तासिं वेलं च वज्जिंति ॥ ४६८ ॥

मात्रकस्याऽसत्यभावे अन्यस्या वा कायिकीनिसर्जनभूमेरभावे वृन्देन त्रिचतुःप्रभृतिसाधुसहेन महता शब्देन बोलं कुर्वन्तस्तस्यामेव कायिकभूमौ प्रविशन्ति, तासां चागारीणां कायिकीव्युत्सर्जनवेलां वर्जयन्ति प्रस्रवण इति । बद्धस्याभावे शब्दाप्रतिबद्धेऽपि तिष्ठन्ति ।

तत्र-

भूसणभासासद्दे, सज्झायज्झाणनिच्चमुपओगो ।
उवगरणेण सयं वा, पेल्लण अन्नत्थ वा ठाणे ॥४६९॥

प्रथमं भूषणशब्दप्रतिबद्धे, तदभावे भाषाशब्दप्रतिबद्धेऽपि तिष्ठन्ति। तत्र चोभयत्राऽपि महता शब्देन समुदिताः सन्तः स्वाध्यायं कुर्वन्ति। ध्यानलब्धिमन्तो वा ध्यानं शुक्लाऽऽदिभेदभिन्नं ध्यायन्ति। एतयोरेव स्वाध्यायध्यानयोर्नित्यमुपयोगः कर्तव्यः । भूषणभाषाशब्दप्रतिबद्धालाभे स्थानप्रतिबद्धे तिष्ठन्ति। तत्रोपकरणेन स्वयं वा विप्रकीर्णाः सन्तः तथा मालयन्ति यथा तासां प्रेरणं भवति, अवकाशो न भवतीति भावः। अन्यत्र वा स्थाने गत्वा दिवसे तिष्ठन्ति, स्थानप्रतिबद्धस्याभावे रहस्यशब्दप्रतिबद्धे तिष्ठन्ति।

परियारसद्दजयणा, सद्दे वए चेव तिविह तिविहा य ।
उद्दाणपउत्थसाही-णभाइया जस्स जा गुरुगा ॥४७०॥

पुरुषेण स्त्री परिभुज्यमाना यं शब्दं करोति स परिचारशब्द उच्यते । तत्र यतना स्वाध्यायगुणनाऽऽदिका कर्तव्या। ( सद्दे वए चेव तिविह त्ति ) शब्दतो वयसा च सा स्त्री त्रिविधा। तद्यथा-मन्दशब्दा, मध्यमशब्दा, तीव्रशब्दा च । वयसा तु-स्थविरा मध्यमा तरुणी च । (तिविहा य त्ति) पुनरेकैका त्रिविधा अपद्रावणिभर्तृका, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीनभर्तृका चेति। तत्र पूर्वमपद्रावणभर्तृकायां स्थविरायां स्थातव्यम्। तदसंभवे प्रोषितभर्तृकाया स्थविरायाः, तदप्राप्तावपद्रावणप्रोषितभर्तृकयोरेव प्रथमं मध्यमयोस्ततस्तद्रूपिण्योरपि क्रमेण स्थातव्यम्। तत्र स्वाधीनभर्तृकाया स्थविरायां मन्दशब्दायां ततस्तस्यामेव मध्यमशब्दायां, ततस्तीव्रशब्दायां, तदभावे मध्यमतरुण्योरपि यथाक्रमं मन्दमध्यमतीव्रशब्दयोः स्थातव्यम्। अथवा-( जस्स जा गुरुग त्ति ) यस्य साध्योर्यो मन्दाऽऽदिकशब्दो रोचते तेन या युक्ता सा तस्य गुरुरागहेतुत्वात् गुरुका तेन च सर्वप्रयत्नेन तया गुरुकस्त्रिया प्रतिबद्धः प्रतिश्रयः परिहर्तव्यः ।



अथवाऽयमपरः क्रम उच्यते-

उद्दाण परिट्ठविया, पउत्थ कन्ना सभोइया चेव ।
थेरी मज्झिमतरुणी, सद्दकरी मंदसद्दा य ॥ ४७१ ॥

कन्याशब्दो वन्ध्यानुलोम्यान्मध्ये अभिहित आदौ कर्तव्यः। ततः पूर्वं कन्यायामपरिणीतायां, तदभावे अपद्रावणभर्तृकायां, ततो भर्तृपरिष्ठापितायां दौर्भाग्यात्पत्या परित्यक्तायां, तदलाभे प्रोषितभर्तृकायां स्थविरायां स्थातव्यं, तदप्राप्तावेव शब्दकरी मन्दशब्दा च । चशब्दान्मध्यमशब्दा, तीव्रशब्दा चेति त्रिधा। तत्र पूर्वं मन्दशब्दायां, ततो मध्यमशब्दायां, ततस्तीव्रशब्दयामपि स्थातव्यम्।

"सद्दे वए चेव तिविह तिविह त्ति" व्याख्यानयति-

थेरी मज्झिम तरुणी, वएण तिविह त्ति तत्थ एक्केक्का ।
तिव्वकरी मज्झकरी, मंदकरी चेव सद्देणं ॥ ४७२ ॥

स्थविरा, मध्यमा, तरुणी, चेति वयसा त्रिविधा स्त्री । तत्रैकैका त्रिविधा-तीव्रशब्दकरी, मध्यमशब्दकरी, मन्दशब्दकरी चेति शब्देन त्रिविधा।

अथ प्रस्रवणप्रतिबद्धाऽऽदिषु चतुर्ष्वपि या भाष्यकृता सविस्तरं यतना प्रोक्ता, तामेव निर्युक्तिकृदेकगाथया संगृह्याऽऽह-

पासवणमत्तएणं, ठाणे अन्नत्थ चिलिमिलीरूवे ।
सज्झाए झाणे वा, आवरणे सद्दकरणे वा ॥ ४७३ ॥

कायिकीप्रतिबद्धे स्वाध्यायो, ध्यानं वा, आवरणं वा कर्णयोः स्थगनं विधेयम्। तथापि शब्दे श्रूयमाणे शब्दकरणं तथा शब्दः कर्तव्यो यथा तयोः शब्द उपशाम्यति।

अथाऽस्याश्च पश्चार्द्धं व्याचष्टे-

वेरग्गकरं जं वा-वि परिजियं बाहिरं च इअरं वा ।
सो तं गुणेइ साहू, झाणसलद्धी उ झाएज्जा ॥४७४॥

वैराग्यकरमुत्तराध्ययनाऽऽदि। यद्वाऽपि परिजितमभ्यस्तं परावर्तमानमस्खलितमागच्छतीति भावः। तद्वाङ्गबाह्यं वा प्रज्ञापनाऽऽदि इतरद्वा-अङ्गप्रविष्टम् आचाराऽऽदि यद् यस्य साध्वो रागच्छति स तत्सूत्रं तथा गुणयति यथा परिचारणशब्दो न श्रूयते यस्तु ध्यानलब्धिसंपन्नः स ध्यानं ध्यायति।

दोसु वि अलद्धि कसो, ठवेइ तह वि सवणे करे सद्दं ।
जह लज्जियाण मोहो, नासइ जणगंतकरणं वा ॥४७५॥

द्वयोरपि स्वाध्यायध्यानयोर्यः साधुरलब्धिकः स्वकर्णौ स्थगयति, तथाऽपि शब्दश्रवणे शब्दं तथा कुर्यात् यथा तयोर्लज्जितयोर्मोहो नश्यति किमेवं भो न पश्यसि त्वमस्मानत्र स्थितान्, यदेवं चेष्टितानि कुरुषे ? । यद्येवमप्युक्तौ न तिष्ठन्ति ततो जनकान्तं कुर्वन्ति-यथा पश्यत पश्यत भो इन्द्रदत्त ! सोमशर्मन् ! अयमविगुप्त इत्थमस्माकं पुरतोऽनाचारं सेवते। गतो ह्रियभङ्गः ।

प्रतिमास्थायी, स्था० ५ ठा० १ उ० । भिक्षुप्रतिमाकारिणि, स्था० ७ ठा० । सू० ।

पडिमंगी-प्रतिमाङ्गी-स्त्री०।रचनायाम्, जिनप्रतिमानां सत्काऽङ्गीरचना क्रियमाणा दृश्यते, सा युक्तिमती,न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-यद्यपि लोहितसस्कारे किञ्चिदपावित्र्यं श्रूयते तथाऽपि नामग्राहं निषेधाक्षराद्यनुपलम्भादिदानींतनकाले स्थाने स्थाने तथा प्रवृत्तिदर्शनाद्,बहूनां पूजाकरणान्तरायप्रसङ्गाच्च सर्वथा न निषेधः । १५ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

पडिमा-प्रतिमा-स्त्री० । सद्भावस्थापनायाम्, दश० १ अ० । बिम्बे, आव० ३ अ० । "पडिमा पडिबिंबं ।" पाइ० ना० २१७ गाथा । "जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं ।" दश० १ अ० । (जिनप्रतिमाऽधिकारः सर्वोऽपि 'चेइय' शब्दे तृ० भा० १२०५ पृष्ठादारभ्योक्तः ) प्रतिपत्तौ, स्था० ।

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सुयसमाहिपडिमा चेव, उवहाणपडिमा चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विवेगपडिमा चेव, विउस्सग्गपडिमा चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-भद्दे चेव, सुभद्दे चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । त जहा-महाभद्दे चेव, सव्वतोभद्दे चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-खुड्डिया चेव मोयपडिमा, महल्लिया चेव मोयपडिमा । दो पडिमाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-जवमज्झे चेव चंदपडिमा, वइरमज्झे चेव चंदपडिमा ।

(दो पडिमा इत्यादि) प्रतिमा प्रतिपत्तिः, प्रतिज्ञेति यावत् । समाधानं समाधिः प्रशस्तभावलक्षणः,तस्य प्रतिमा समाधिप्रतिमा दशाश्रुतस्कन्धोक्ता द्विभेदा-श्रुतसमाधिप्रतिमा,सामायिकाऽऽदिश्चारित्रसमाधिप्रतिमा च । उपधानं तपस्तत्प्रतिमा उपधानप्रतिमा द्वादशभिक्षुप्रतिमा ( 'भिक्खुपडिमा' शब्देऽस्या व्याख्या ) एकादशोपासकप्रतिमाश्चेत्येवं रूपेति । विवेचनं विवेकस्त्यागः,स चाऽऽन्तराणां कषायाऽऽदीनां, बाह्यानां गणशरीरभक्तपानाऽऽदीनामनुचितानां तत्प्रतिपत्तिर्विवेकप्रतिमा, व्युत्सर्गप्रतिमा, कायोत्सर्गकरणमेवेति । भद्रा पूर्वाऽऽदिदिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयकायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्रद्वयमानेति। सुभद्राऽप्येवं प्रकारेणैव सम्भाव्यते, अदृष्टत्वेन तु नोक्तेति महाभद्राऽपि तथैव नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना सर्वतोभद्रा तु दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशकप्रमाणेति । ( क्षुद्रिका सर्वतोभद्रप्रतिमा 'खुड्डागसव्वओभद्दपडिमा' शब्दे तृतीयभागे ७५३ पृष्ठे गता ) मोकप्रतिमा प्रस्रवणप्रतिमा, सा च कालभेदेन क्षुद्रिका ( अस्यार्थः "खुड्डिया" शब्दे तृतीयभागे ७५३ पृष्ठे गत ) महती च भवतीति । यत उक्तं व्यवहारे-"खुड्डियाणं मोयपडिमापडिवन्नस्स ।" इत्यादि । इयं च द्रव्यतः प्रस्रवणविषया, क्षेत्रतो ग्रामाऽऽदेर्बहिः, कालतः शरदि निदाघे वा प्रतिपद्यते, भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते चतुर्दशभक्तेन समाप्यते, अभुक्त्वा तु षोडशभक्तेन, भावतस्तु दिव्याऽऽद्युपसर्गसहनमिति । एवं महत्यपि, नवरं भुक्त्वा चेत्प्रतिपद्यते षोडशभक्तेन समाप्यते अन्यथा त्वष्टादशभक्तेनेति।यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या, चन्द्र इव कलावृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमा । [स्था०] [यवमध्या चन्द्रप्रतिमा 'जवमज्झचंदपडिमा' शब्दे चतु० भा० १४३०पृष्ठे व्याख्याता] यस्यां तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्त्वा एकैकहान्या अमावास्यायामेकं, शुक्लप्रतिपदि चैकमेव, ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा, वज्रस्येव मध्यं यस्यास्तन्वित्यर्थः । सा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति स्था० २ ठा० ३ उ० । प्रतिज्ञायाम्, प्रव० ६७ द्वार । स्था० । अभिग्रहप्रकारे, यथा मासाऽऽद्या भिक्षुप्रतिमा । ओघ० । स० । दश० । ध० । स्था० । आचा० । उत्त० । ज्ञा० । व्य० ।

चत्तारि सेज्जपडिमाओ पण्णत्ताओ । चत्तारि वत्थपडिमाओ पण्णत्ताओ । चत्तारि पायपडिमाओ पण्णत्ताओ । चत्तारि ठाणपडिमाओ पण्णत्ताओ ।

स्था० ४ ठा० ३ उ० । ( पृथक् पृथगेषां व्याख्या )

तपोभेदाऽऽत्मिकाः प्रतिमा आह-

पंच पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वओभद्दा, भद्दुत्तरपडिमा ।

"पंच" इत्यादि व्यक्तं,नवरम्-भद्रा१,महाभद्रा३,सर्वतोभद्रा ४ च द्विचतुर्दशभिर्दिनैः क्रमेण भवतीत्युक्तं प्राक् । सुभद्रा त्वदृष्टत्वात् न लिखिता । सर्वतोभद्रा तु प्रकारान्तरेणोच्यते । द्विधेयम्-क्षुल्लिका, महती च । तत्राऽऽद्या चतुर्थाऽऽदिना द्वादशावसानेन पञ्चसप्ततिदिनप्रमाणेन तपसा भवति । अस्याश्च स्थापनोपायगाथा-"एगाई पंचंते, ठविउं मज्झे तु आइमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, जाण लहुं सव्वतोभद्दं ॥१॥" इति । पारणकदिनानि तु पञ्चविंशतिरिति स्थापना । महती तु चतुर्थाऽऽदिना षोडशावसानेन पञ्चनवत्यधिकदिनशतमानेन तपसा भवति । अस्या अपि स्थापनोपायगाथा-"एगाई सत्तंते, ठविउं मज्झे तु आदिमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, जाण महं सव्वओभद्दं ॥ १ ॥" इति । पारणकदिनान्येकोनपञ्चाशदिति २ स्थापना । भद्रोत्तरप्रतिमा द्विधा-क्षुल्लिका, महती च । तत्राऽऽद्या द्वादशदिनादिना विंशान्तेन पञ्चसप्तत्यधिकाऽऽदिशतप्रमाणेन तपसा भवति । अस्या स्थापनोपायगाथा-"पंचाई अ नवंते, ठविउं मज्झे तु आइमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, जाणह भद्दोत्तरं खुड्डं ॥ १ ॥" इति । पारणकदिनानि पञ्चविंशतिरिति ३ । महती तु द्वादशाऽऽदिना चतुर्विंशतितमान्तेन द्विनवत्यधिककदिनशतत्रयमानेन तपसा भवति । तत्र च गाथा-"पंचाइ ऽऽगारसंते, ठविउं मज्झे तु आइमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, महइं भद्दोत्तर जाण ॥१॥" इति । पारणकदिनान्येकोनपञ्चाशदिति। उक्तः कर्मणा निर्जरणहेतुस्तपोविशेषः। स्था० ५ ठा० १ उ० । "एगा अहम्मपडिमा ।" धर्मप्रतिपक्षभूतस्त्वधर्मः, तद्विषया प्रतिमा प्रतिज्ञा, अधर्मप्रधानशरीरा वा अधर्मप्रतिमा, सा एका । ( स्था० ) "एगा धम्मपडिमा ।" स्था० १ ठा० । संथा० । प्रव० । आव० । ध० । (एकादशोपासकप्रतिमाः 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वि० भा० १०६५ पृष्ठे प्रपञ्चिताः ) ( प्रकीर्णक विषयाः 'पडिमा' शब्दे वक्ष्यते )

अथ प्रतिमापालनरूपं जन्म संबन्ध्येव कृत्यं स्वातन्त्र्येणाऽऽह-

विधिना दर्शनाद् ध्यानात्, प्रतिमानां प्रपालनम् ।
यासु स्थितो गृहस्थोऽपि, विशुद्ध्यति विशेषतः ॥७०॥

(विधिना)दशाश्रुत॰ग्रन्थाऽऽद्यागमप्रतिपादनेन दर्शनं,सम्यक्त्वं, तत्प्रधाना, तेनोपलक्षिता वा प्रतिमाऽपि दर्शनं, सा आद्या प्रथमा यासां प्रतिमानां ता दर्शनाऽऽद्यास्तासाम्, एकादशसंख्यानामित्यर्थः । ( प्रतिमानाम् ) अभिग्रहविशेषाणाम् ( प्रपालनम् ) प्रकर्षेण पालनं, विशेषतो गृहिधर्मो भवतीति अन्वयः । आसां पालने किं भवतीत्याह-( यास्वित्यादि )यासु प्रतिमासु ( स्थितः ) निष्ठः (गृहस्थोऽपि) यतितामप्राप्नुवन्नपि, आस्तां कृतसर्वसङ्गत्यागोऽनगार इत्यपिशब्दार्थः । ( विशेषतः ) असंख्यगुणया गुणश्रेण्या ( विशुध्यति ) क्षीणपापो भवति। अथ पुनः काः प्रतिमा, यासु स्थितो गृहस्थोऽपि विशेषतः शुध्यति ?। उच्यते-

" दंसण १ वय २ सामाइअ, ३,
पोसह ४ पडिमा ५ अबम ६ सच्चित्ते ७ ।
आरंभ ८ पेस ९ उद्दि-
ट्ठ १० वज्जए समणभूए अ ॥ १ ॥ " इति ।

तत्र शङ्काऽऽदिदोषरहितं प्रशमाऽऽदिलिङ्गं स्थैर्याऽऽदिभूषणं मोक्षमार्गप्रासादपीठभूतं सम्यग्दर्शनं,भयलोभलज्जाऽऽदिभिरप्यतिचरन् मासमात्रं सम्यक्त्वमनुपालयतीत्येषा प्रथमा प्रतिमा १ । द्वौ मासौ यावदखण्डितान्यविराधितानि च पूर्वप्रतिमाऽनुष्ठानसहितानि द्वादशाऽपि व्रतानि पालयतीति द्वितीया २ । त्रीन् मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमाऽनुष्ठानसहितः सामायिकमनुपालयतीति तृतीया ३ । चतुरो मासांश्चतुष्पर्व्यां पूर्वप्रतिमाऽनुष्ठानसहितोऽखण्डितं पौषधं पालयतीति चतुर्थी ४ । पञ्चमासांश्चतुष्पर्व्यां गृहे तद्द्वारे चतुष्पथे वा परीषहोपसर्गाऽऽदिनिष्कम्पकायोत्सर्गः पूर्वोक्तप्रतिमाऽनुष्ठानं पालयन् सकलां रात्रिमास्त इति पञ्चमी ५ । एवं वक्ष्यमाणास्वपि प्रतिमासु पूर्वपूर्वप्रतिमाऽनुष्ठाननिष्ठताऽवसेया, नवरं षण्मासान् ब्रह्मचारी भवतीति षष्ठी ६ । सप्तमासान् सचित्ताऽऽहारान् परिहरतीति सप्तमी ७ । अष्टौ मासान् स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी ८ । नवमासान् प्रेष्यैरप्यारम्भं न कारयतीति नवमी ९ । दशमासानात्मार्थं निष्पन्नमाहारं न भुङ्क्ते इति दशमी १० । एकादशमासांस्त्यक्तसङ्गो रजोहरणाऽऽदिमुनिवेषधारी कृतकेशोत्पाटः स्वायत्तेषु गोकुलाऽऽदिषु वसन् प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्त इति वदन् धर्मलाभशब्दोच्चारणरहितं सुसाधुवत्समाचरतीत्येकादशी ११। उक्तं च-

" दंसणपडिमा नेया, सम्मत्तजुअस्स सा इहं बुंदी ।
कुग्गहकलंकरहिआ, मिच्छत्तखओवसमभावा ॥ १ ॥
बिइया पडिमा णेया, सुद्धाणुव्वयधारए ।
सामाइअपडिमा ऊ, सुद्धं सामाइअं पि अ ॥ २ ॥
अट्ठमीमाइपव्वेसु, सम्मं पोसहपालणं ।
सेसाणुट्ठाणजुत्तस्स, चउत्थी पडिमा इमा ॥ ३ ॥
निक्कंपो काउसग्गं तु, पुव्वुत्तगुणसजुओ ।
करेइ पव्वराईसुं, पंचमी पडिवन्नओ ॥ ४ ॥
असिणाणविअडभोई, मउलिउडो दिवसबंभयारी अ ।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमावज्जेसु दिअहेसु ॥ ५ ॥ "
टीका-( मउलिउड त्ति ) अबद्धकच्छ ॥ ५ ॥
" झायइ पडिमाइठिओ, तिलोगपुज्जे जिणे जिअकसाए ।
णिअदोसपच्चणीअं अगणं वा पंच जा मासा ॥ ६ ॥
छट्ठीए बंभयारी सो, फासुआऽऽहार सत्तमी ।
वज्जिज्जा वज्जमहारं, अट्ठमिं पडिवन्नओ ॥ ७ ॥ "

षष्ठ्यां पुनरयं विशेषः-

" पुव्वोइअगुणजुत्तो, विसेसओ विजिअमोहणिज्जो अ ।
वज्जइ अबंभमेगं-तओ अ राइं पि थिरचित्तो ॥ ८ ॥
सिंगारकहाविरओ, इत्थीएँ समं रहम्मि णो ठाइ ।
चयइ अ अतिप्पसंगं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥ ९ ॥
एव जा छम्मासा, एसोऽहिगओ इहरहा दिट्ठं ।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एअम्मि लोगम्मि ॥ १० ॥
अवरेण वि आरंभं, नवमीए नो करावए ।
दसमीए पुणो दिट्ठं, फासुअं पि न भुंजए ॥ ११ ॥
णिक्खित्तभरो पायं पुत्ताइसु अहव सेसपरिवारे ।
थोवममत्तो अ तहा, सव्वत्थ परिणओ नवरं ॥ १२ ॥
लोगववहारविरओ, बहुसो संवेगभाविअमई अ ।
पुव्वोइअगुणजुत्तो, णव मासा जाव विहिणा उ ॥ १३ ॥ "

दशम्यां पुनरयं विशेषोऽपि, यथा-

उद्दिट्ठकडं भत्तं, विवज्जए किमुअ सेसमारंभं ।
से होइ अ खुरमुंडो, सिहलिं वा धारई कोइ ॥ १४ ॥
जं णिहिअमत्थजायं, पुट्ठो णिअएहिँ णवरि सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहइ, अह णवि तो बेइ ण वि जाणे ॥ १५ ॥
जइ पज्जुवासणपरो, सुहुमपयत्थेसु णिच्चतल्लिच्छो ।
पुव्वोदिअगुणजुत्तो दस मासा कालमाणेण ॥ १६ ॥
एगारसीसु निस्संगो, धरे लिंगं पडिग्गहं ।
कयलोओ सुसाहु व्व, पुव्वुत्तगुणसायरो ॥ १७ ॥
पुव्वाउत्तं कप्पइ, पच्छाउत्तं तु ण खलु एअस्स ।
ओयणभिलिंगसूआ-इ सव्वमाहारजायं तु ॥ १८ ॥ " इति ॥

आवश्यकचूर्णौ त्वित्थम्-" राइभत्तपरिण्णा पंचमी, सचित्ताहारपरिण्णा" इति षष्ठी, "दिआ बंभचारी, राओ परिमाणकडे"त्ति सप्तमी । "दिया वि राओ वि बंभचारी असिणाणए वोसट्ठकेसमंसुरोमनहे" त्ति अष्टमी । "पेसारंभपरिण्णाए"त्ति दशमी, " उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणभूए " त्ति एकादशीति ॥ ७० ॥ ध० २ अधि० । ( अत्र बहुविस्तरः ' उवासगपडिमा ' शब्दे तृतीयभागस्थ १०६५ पृष्ठेऽवगन्तव्यः )

"उद्दिट्ठपेच्छसंगय-उज्झियधम्मे चउत्थए होइ ।" उद्दिष्टपात्रं प्रेक्षासंगतिकपात्रमुज्झितधर्मकं च चतुर्थमिति चतस्रः पात्रगवेषणे प्रतिमाः । वृ० १ उ० १ प्रक० । ( वस्त्रस्य गवेषणे प्रतिमा 'वत्थ' शब्दे ) ( प्रतिमाप्रतिपन्नस्योपाश्रयप्रत्युपेक्षण 'पडिलेहणा' शब्दे ) ( 'एगल्लविहारपडिमा' स्वस्थाने उक्ता) (सत्त्वभावनया पञ्च प्रतिमा भवन्ति इति'सत्तभावणा'शब्दे)

मोकप्रतिमा-" दो पडिमाओ * " इत्यादि-सूत्रद्वयम् । अस्य संबन्धमाह-

पडिमाहिगारेँ पगते, हवंति मोयपडिमा इमा दोण्णि ।
ता पुण गणम्मि वुत्ता इमा उ बाहिं पुराईणं ॥८७॥

प्रतिमाधिकारः प्रकृतस्तत इमे अपि द्वे मोकप्रतिमे इह भवत ,प्रतिमाप्रस्तावादिमे अपि प्रतिमे अत्रोपन्यस्ते इति भावः, केवलमयं विशेषः-ता अनन्तरोदिता प्रतिमा गणे स्थितस्योक्ता ,इमे पुनः पुराऽऽदीनां बहिः स्थितस्येति संबन्धः अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य(सूत्रस्य)व्याख्या-द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते, तद्यथा-

* सूत्रस्य पुस्तके नास्ति, नो व्याख्यातोऽयम् ।

प्रतिमास्थायी, स्था० ५ ठा० १ उ० । भिक्षुप्रतिमाकारिणि, स्था० ७ ठा० । सू० ।

पडिमंगी-प्रतिमाङ्गी-स्त्री०।रचनायाम्, जिनप्रतिमानां सत्काऽङ्गीरचना क्रियमाणा दृश्यते, सा युक्तिमती,न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-यद्यपि लोहितसस्कारे किञ्चिदपावित्र्यं श्रूयते तथाऽपि नामग्राहं निषेधाद्यक्षरानुपलम्भादिदानींतनकाले स्थाने स्थाने तथा प्रवृत्तिदर्शनाद्,बहूनां पूजाकरणान्तरायप्रसङ्गाच्च सर्वथा न निषेधः । १५ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

पडिमा-प्रतिमा-स्त्री० । सद्भावस्थापनायाम्, दश० १ अ० । बिम्बे, आव० ३ अ० । " पडिमा पडिबिंबं । " पाइ० ना० २१७ गाथा । " जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं । " दश० १ अ० । (जिनप्रतिमाऽधिकारः सर्वोऽपि 'चेइय' शब्दे तृ० भा० १२०५ पृष्ठादारभ्योक्तः) प्रतिपत्तौ, स्था० ।

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सुयसमाहिपडिमा चेव, उवहाणपडिमा चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विवेगपडिमा चेव, विउस्सग्गपडिमा चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-भद्दे चेव, सुभद्दे चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । त जहा-महाभद्दे चेव, सव्वतोभद्दे चेव । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-खुड्डिया चेव मोयपडिमा, महल्लिया चेव मोयपडिमा । दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-जवमज्झे चेव चंदपडिमा, वइरमज्झे चेव चंदपडिमा ।

(दो पडिमा इत्यादि) प्रतिमा प्रतिपत्तिः, प्रतिज्ञेति यावत् । समाधानं समाधिः प्रशस्तभावलक्षणः,तस्य प्रतिमा समाधिप्रतिमा दशाश्रुतस्कन्धोक्ता द्विभेदा-श्रुतसमाधिप्रतिमा,सामायिकाऽऽदिश्चारित्रसमाधिप्रतिमा च । उपधानं तपस्तत्प्रतिमा उपधानप्रतिमा द्वादशभिक्षुप्रतिमा ( ' भिक्खुपडिमा ' शब्देऽस्या व्याख्या ) एकादशोपासकप्रतिमाश्चेत्येवं रूपेति । विवेचनं विवेकस्त्यागः,स चाऽऽन्तराणां कषायाऽऽदीनां, बाह्यानां गणशरीरभक्तपानाऽऽदीनामनुचितानां तत्प्रतिपत्तिर्विवेकप्रतिमा, व्युत्सर्गप्रतिमा, कायोत्सर्गकरणमेवेति । भद्रा पूर्वाऽऽदिदिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयकायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्रद्वयमानेति । सुभद्राऽप्येवं प्रकारैव सम्भाव्यते, अदृष्टत्वेन तु नोक्तेति महाभद्राऽपि तथैव नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना सर्वतोभद्रा तु दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशकप्रमाणेति । ( क्षुद्रिका सर्वतोभद्रप्रतिमा ' खुड्डागसव्वओभद्दपडिमा ' शब्दे तृतीयभागे ७५३ पृष्ठे गता ) मोकप्रतिमा प्रस्रवणप्रतिमा, सा च कालभेदेन क्षुद्रिका ( अस्यार्थः " खुड्डिया " शब्दे तृतीयभागे ७५३ पृष्ठे गतः ) महती च भवतीति । यत उक्तं व्यवहारे-" खुड्डियाणं मोयपडिमापडिवन्नस्स । " इत्यादि । इयं च द्रव्यतः प्रस्रवणविषया, क्षेत्रतो ग्रामाऽऽदेर्बहिः, कालतः शरदि निदाघे वा प्रतिपद्यते, भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते चतुर्दशभक्तेन समाप्यते, अभुक्त्वा तु षोडशभक्तेन, भावतस्तु दिव्याऽऽद्युपसर्गसहनमिति । एवं महत्यपि, नवरं भुक्त्वा चेत्प्रतिपद्यते षोडशभक्तेन समाप्यते,अन्यथा त्वष्टादशभक्तेनेति । यवस्येव मध्यं यस्याः सा यवमध्या, चन्द्र इव कलावृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमा । [स्था०] [यवमध्या चन्द्रप्रतिमा 'जवमज्झचंदपडिमा' शब्दे चतु० भा० १४३०पृष्ठे व्याख्याता] यस्यां तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्त्वा एकैकहान्या अमावास्यायामेकं, शुक्लप्रतिपदि चैकमेव, ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा, वज्रस्येव मध्यं यस्यास्तन्वित्यर्थः । सा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति स्था० २ ठा० ३ उ० । प्रतिज्ञायाम्, प्रव० ६७ द्वार । स्था० । अभिग्रहप्रकारे, यथा मासाऽऽद्या भिक्षुप्रतिमा । ओघ० । स० । दश० । ध० । स्था० । आचा० । उत्त० । ज्ञा० । व्य० ।

चत्तारि सेज्जपडिमाओ पण्णत्ताओ । चत्तारि वत्थपडिमाओ पण्णत्ताओ । चत्तारि पायपडिमाओ पण्णत्ताओ । चत्तारि ठाणपडिमाओ पण्णत्ताओ ।

स्था० ४ ठा० ३ उ० । ( पृथक् पृथगेषां व्याख्या )

तपोभेदाऽऽत्मिकाः प्रतिमा आह-

पंच पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वओभद्दा, भद्दुत्तरपडिमा ।

"पंच" इत्यादि व्यक्तं,नवरम्-भद्रा१,महाभद्रा२,सर्वतोभद्रा ४ च द्विचतुर्दशभिर्दिनैः क्रमेण भवतीत्युक्तं प्राक् । सुभद्रा त्वदृष्टत्वात् न लिखिता । सर्वतोभद्रा तु प्रकारान्तरेणाप्युच्यते । द्विधेयम्-क्षुल्लिका, महती च । तत्राऽऽद्या चतुर्थाऽऽदिना द्वादशावसानेन पञ्चसप्ततिदिनप्रमाणेन तपसा भवति । अस्याश्च स्थापनोपायगाथा-" एगाई पंचंते, ठवियं मज्झे तु आइमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, जाण लहुं सव्वतोभद्दं ॥१॥" इति । पारणकदिनानि तु पञ्चविंशतिरिति स्थापना । महती तु चतुर्थाऽऽदिना षोडशावसानेन पण्णवत्यधिकदिनशतमानेन तपसा भवति । अस्या अपि स्थापनोपायगाथा-" एगाई सत्तंते, ठवियं मज्झे तु आदिमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, जाण महं सव्वओभद्दं ॥ १ ॥ " इति । पारणकदिनान्येकोनपञ्चाशदिति २ स्थापना । भद्रोत्तरप्रतिमा द्विधा-क्षुल्लिका, महती च । तत्राऽऽद्या द्वादशदिनाविंशान्तेन पञ्चसप्तत्यधिकाऽऽदिशतप्रमाणेन तपसा भवति । अस्याः स्थापनोपायगाथा-" पंचाई अ नवंते, ठवियं मज्झे तु आइमणुपति । उचियकमेण य सेसे, जाणह भद्दोत्तरं खुड्डं ॥ १ ॥ " इति । पारणकदिनानि पञ्चविंशतिरिति ३ । महती तु द्वादशाऽऽदिना चतुर्विंशतितमान्तेन द्विनवत्यधिकदिनशतत्रयमानेन तपसा भवति । तत्र च गाथा-" पंचाइऽऽगारसंते, ठवियं मज्झे तु आइमणुपंति । उचियकमेण य सेसे, महइं भद्दोत्तरं जाण ॥१॥ " इति । पारणकदिनान्येकोनपञ्चाशदिति । उक्तः कर्मणां निर्जरणहेतुस्तपोविशेषः । स्था० ५ ठा० १ उ० । " एगा अहम्मपडिमा । " धर्मप्रतिपक्षभूतस्त्वधर्मः, तद्विषया प्रतिमा प्रतिज्ञा, अधर्मप्रधानशरीरा वा अधर्मप्रतिमा, सा एका । ( स्था० ) " एगा धम्मपडिमा । " स्था० १ ठा० । सं० । प्रव० । आव० । ध० । ( एकादशोपासकप्रतिमाः 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वि० भा० १०६५ पृष्ठे प्रपञ्चिताः ) ( प्रकीर्णक विषयाः 'पडिमा' शब्दे वक्ष्यते )

अथ प्रतिमापालनरूपं जन्म संबन्ध्येव कृत्यं सातत्येणाऽऽह-

विधिना दर्शनाद् ध्यानात्, प्रतिमानां प्रपालनम् ।
यासु स्थितो गृहस्थोऽपि, विशुद्ध्यति विशेषतः ॥७०॥

(विधिना)दशाश्रुत-ग्रन्थाऽऽगमप्रतिपादनेन दर्शनं,सम्यक्त्व, तत्प्रधाना, तेनोपलक्षिता वा प्रतिमाऽपि दर्शनं, सा आद्या प्रथमा यासां प्रतिमानां ता दर्शनाऽऽद्यास्तासाम्, एकादशसंख्यानामित्यर्थः । ( प्रतिमानाम् ) अभिग्रहविशेषाणाम् ( प्रपालनम् ) प्रकर्षेण पालन, विशेषतो गृहिधर्मो भवतीति अन्वयः । आसां पालने किं भवतीत्याह-( यास्वित्यादि )यासु प्रतिमासु ( स्थितः ) निष्ठः (गृहस्थोऽपि) यतितामप्राप्नुवन्नपि, आस्तां कृतसर्वसङ्गत्यागोऽनगार इत्यपिशब्दार्थः । ( विशेषत. ) असंख्यगुणया गुणश्रेण्या ( विशुध्यति ) क्षीणपापो भवति। अथ पुनः काः प्रतिमा. यासु स्थितो गृहस्थोऽपि विशेषत शुध्यति ?। उच्यते-

" दंसण १ वय २ सामाइअ, ३,
पोसह ४ पडिमा ५ अवम ६ सच्चित्ते ७ ।
आरंभ ८ पेस ९ उद्दि-
ट्ठ १० वज्जए समणभूए अ ॥ १ ॥ " इति।

तत्र शङ्काऽऽदिदोषरहितं प्रशमाऽऽदिलिङ्गं स्थैर्याऽऽदिभूषणं मोक्षमार्गप्रासादपीठभूत सम्यग्दर्शनं,भयलोभलज्जाऽऽदिभिरप्यतिचरन् मासमात्र सम्यक्त्वमनुपालयतीत्येषा प्रथमा प्रतिमा १ । द्वौ मासौ यावदखण्डितान्यविराधितानि च पूर्वप्रतिमाऽनुष्ठानसहितानि द्वादशाऽपि व्रतानि पालयतीति द्वितीया २ । त्रीन् मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमाऽनुष्ठानसहितः सामायिकमनुपालयतीति तृतीया ३ । चतुरो मासाश्चतुष्पर्व्यां पूर्वप्रतिमाऽनुष्ठानसहितोऽखण्डितं पौषधं पालयतीति चतुर्थी ४ । पञ्चमासाँश्चतुष्पर्व्यां गृहे तद्द्वारे चतुष्पथे वा परीषहोपसर्गाऽऽदिनिष्कम्पकायोत्सर्गः पूर्वोक्तप्रतिमाऽनुष्ठानं पालयन् सकलां रात्रिमास्त इति पञ्चमी ५ । एवं वक्ष्यमाणास्वपि प्रतिमासु पूर्वपूर्वप्रतिमाऽनुष्ठाननिष्ठताऽवसेया, नवरं षण्मासान् ब्रह्मचारी भवतीति षष्ठी ६ । सप्तमासान् सचित्ताऽऽहारान् परिहरतीति सप्तमी ७ । अष्टौ मासान् स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी ८ । नवमासान् प्रेष्यैरप्यारम्भं न कारयतीति नवमी ९ । दशमासानात्मार्थं निष्पन्नमाहारं न भुङ्क्ते इति दशमी १० । एकादशमासाँस्त्यक्तसङ्गो रजोहरणाऽऽदिमुनिवेषधारी कृतकेशोत्पाटः स्वायत्तेषु गोकुलाऽऽदिषु वसन् प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्त इति वदन् धर्मलाभशब्दोच्चारणरहितं सुसाधुवदनुपालयतीत्येकादशी ११ । [illegible]

छट्ठीए वंभयारी सो, फासुआऽऽहार सत्तमी ।
वज्जिज्जा वज्जमहारं, अट्ठमिं पडिवन्नओ ॥ ७ ॥ "

षष्ठ्यां पुनरयं विशेषः-

" पुव्वोइअगुणजुत्तो, विसेसओ विजिअमोहणिज्जो अ ।
वज्जइ अबंभमेगं-तओ अ राई पि थिरचित्तो ॥ ८ ॥
सिंगारकहाविरओ, इत्थीए समं रहम्मि णो ठाइ ।
चयइ अ अतिप्पसंगं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥ ९ ॥
एव जा छम्मासा, एसोऽहिगओ इहरहा दिट्ठ ।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एअम्मि लोगम्मि ॥ १० ॥
अवरेण वि आरंभं, नवमीए नो करावए ।
दसमीए पुणो दिट्ठं, फासुअं पि न भुंजए ॥ ११ ॥
णिक्खित्तभरो पायं पुत्ताइसु अहव सेसपरिवारे ।
थोवममत्तो अ तहा, सव्वत्थ परिणओ नवरं ॥ १२ ॥
लोगववहारविरओ, बहुसो संवेगभाविअमई अ ।
पुव्वोइअगुणजुत्तो, णव मासा जाव विहिणा उ ॥ १३ ॥ "

दशम्यां पुनरयं विशेषोऽपि, यथा-

उद्दिट्ठकडं भत्तं, विवज्जए किमुअ सेसमारंभं ।
से होइ अ खुरमुंडो, सिहलिं वा धारई कोइ ॥ १४ ॥
जं णिहिअमत्थजायं, पुट्ठो णिअएहिं णवरि सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहइ, अह णवि नो वेइ ण वि जाणे ॥ १५ ॥
जइ पज्जुवासणपरो, सुहुमपयत्थेसु णिच्चतल्लिच्छो ।
पुव्वोदिअगुणजुत्तो दस मासा कालमाणेण ॥ १६ ॥
एगारसीसु निस्संगो, धरे लिंग पडिग्गहं ।
कयलोओ सुसाहु व्व, पुव्वुत्तगुणसायरो ॥ १७ ॥
पुव्वाउत्तं कप्पइ, पच्छाउत्तं तु ण खलु एअस्स ।
ओयणभिलिंगसूआ-इ सव्वमाहारजायं तु ॥ १८ ॥ " इति ॥

आवश्यकचूर्णौ त्वित्थम्-" राइभत्तपरिण्णा पंचमी, सचित्ताहारपरिण्णा" इति षष्ठी, "दिआ वंभचारी, राओ परिमाणकडे" त्ति सप्तमी।"दिया वि राओ वि वंभचारी असिणाणए वोसट्ठकेसमंसुरोमनहे" त्ति अष्टमी। "पेसारंभपरिण्णाए' त्ति दशमी, " उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणभूए " त्ति एकादशीति ॥ ७० ॥ ध० २ अधि० । ( अत्र बहुविस्तर ' उवासगपडिमा ' शब्दे तृतीयभागस्थ १०९५ पृष्ठेऽवगन्तव्यः )

"उद्दिट्ठपेच्छसंगय-उज्झियधम्मे चउत्थए होइ ।' उद्दिष्टपात्रं प्रेक्षासंगतिकपात्रमुज्झितधर्मकं च चतुर्थमिति चतस्र. पात्रगवेषणे प्रतिमा. । दृ० १ उ० १ प्रक० । ( वस्त्रस्य गवेषणे

क्षुल्लिका च मोकप्रतिमा, महती वा मोकप्रतिमा । मोकः कायि-
की तदप्युत्सर्गप्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमा, तत्र क्षुल्लिकां एमि-
ति प्राग्वत्। मोकप्रतिमां प्रपन्नस्यानगारस्य कल्पते (से) तस्य
प्रथमनिदाघकालसमये वा, चरमनिदाघकालसमये वा बहि-
र्ग्रामस्य वा, यावत्करणान्नगराऽऽदिपरिग्रहः । राजधान्यां वा
वने वा, एकजातीयद्रुमसंघातो वन, विदुर्गे नानाजातीयद्रुमसं-
घाते, पर्वते प्रतीते, पर्वतविदुर्गे अनेकपर्वतसंघातरूपे भुक्त्वा
यदि प्रतिमामारोहति प्रतिपद्यते, तदा चतुर्दशेन भक्तेन
पारयति समापयति, अथाभुक्त्वा आरोहति तदा षोडशकेन
भक्तेन पारयति, तेन च जातं मोकं कायिकी आपातव्या,
आगमने च दिवा आगच्छति, एव महत्या अपि प्रतिमाया.
सूत्र वाच्यं, विशेषोऽपि पाठसिद्ध एव । व्य० ६ उ० ।
( ' मोयपडिमा ' शब्दे विस्तरः )

यवमध्यचन्द्र[प्र]तिमा-" दो पडिमाओ पण्णत्ताओ । तं
जहा-जवमज्झा य, चंदपडिमा " इत्यादि ।

अस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

पगया अभिग्गहा खलु, एस उ दसमस्स होति संबंधो ।
सखा य समणुवत्तइ, आहारे वा वि अहिगारे ॥ १ ॥

प्रकृता. खलु नवमोद्देशके चरमसूत्रेष्वभिग्रहा., अत्रापि त
एवाभिग्रहाः प्रतिपाद्या इत्येष दशमस्य दशमोद्देशकाऽऽदिसू-
त्रस्य सबन्धः अथवा नवमोद्देशके चरमानन्तरसूत्रे आहारे
या अभिहिता संख्या सा अत्राप्यनुवर्तते - तत आहार-
विषयसंख्या प्रशस्ता वा दशमोद्देशकाऽऽदिसूत्रस्याधिकार-
प्रवृत्ति, सूत्राक्षराणि सामान्यत सुप्रतीतानि ।

विशेषं तु भाष्यकारो व्याख्यानयति-

जवमज्झ वइरमज्झा, वोसट्ठ चियत्त तिविह तीहिं तु ।
दुविहे च सहइ सम्मं, अण्णाओ तित्थनिक्खेवो ॥२॥

यवमध्येति पदं, वज्रमध्येतिपदं, तथा व्युत्सृष्ट इति, त्यक्त
इति त्रिविधमुपसर्गं, त्रिभिर्मनोवाक्कायैः सम्यक् सहते, यदि वा
द्विविधान् उपसर्गात् अनुलोमरूपात् त्रिभि. सम्यक् सहते,
तथा-अज्ञात नीर्थनिक्षेप इति व्याख्येयमेष द्वारगाथा-
सक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषु प्रथमतो यवमध्येति,
वज्रमध्येति च व्याख्यानयति-

उवमा जवेण चंदे-ण वा वि जवमज्झचंदपडिमाए ।
एमेव य विइयाए, वज्जं वइरं ति एगट्ठ ॥३॥

यवमध्यचन्द्रप्रतिमाया यवेनोपमा, चन्द्रेणेव यवस्येव
मध्यं यस्या सा यवमध्या, चन्द्राऽऽकारा प्रतिमा
चन्द्रप्रतिमेति व्युत्पत्ते । एवमेव द्वितीया अपि वक्तव्या
वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमाया वज्रेणोपमा चन्द्रेण च । वज्रस्येव
मध्य यस्या सा वज्रमध्या, चन्द्राऽऽकारा प्रतिमा
चन्द्रप्रतिमा, प्राकृतमधिकृत्य वज्रशब्दस्य पर्यायेण व्या-
ख्यानमाह-( वज्जं वइर ति एगट्ठ ) इयमत्र भावना-
शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि चन्द्रविमानस्य [illegible] अमा-
वास्या[illegible] एका कला दृश्यते, द्वितीयायां द्वे कले, तृतीयायां
तिस्र कला, एवं यावत् पञ्चदश्यां परिपूर्णा पञ्चदश क-
ला तता बहुलपक्षस्य प्रतिपदि एकैकया कलया ऊना
दृश्यते चतुर्दशकला. दृश्यन्ते, द्वितीयायां त्रयोदश, तृतीय

स्यां द्वादश, यावदमावास्यायामेकाऽपि न दृश्यते । तदेवम-
यं मास आदावूनो मध्ये संपूर्णोऽन्ते पुनरपि परिहीनो, य-
वोऽप्यादावन्ते च तनुको मध्ये विपुल. । एवं साधुरपि
भिक्षां गृह्णाति शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि एकां, द्वितीयस्यां द्वे, तृ-
तीयस्यां तिस्र., यावत्पञ्चदश्यां पञ्चदश । ततो बहुलपक्षस्य
प्रतिपदि पुनश्चतुर्दश द्वितीयायां त्रयोदश यावच्चतुर्दश्या-
मेकाममावस्यायामुपोषितः । ततश्चन्द्राऽऽकारतया चन्द्रप्र-
तिमा आदावन्ते च भिक्षायास्तनुत्वान्मध्ये विपुलत्वात्
यवमध्योपमितमध्यभागा । तथाऽमुमेव यवमध्यं चन्द्रप्र-
तिमामधिकृत्यान्यत्रोक्तम्-"एकैकां वर्द्धयेत् भिक्षां, शुक्ले कृष्णे
च ह्रापयेत्। भुञ्जीत नामावस्याया-मेष चान्द्रायणे विधिः॥१॥"
वज्रमध्यायां चन्द्रेण प्रतिमायां बहुलपक्ष आदौ क्रियते, तत
एवं भावना-बहुलपक्षस्य प्रतिपदि चन्द्रविमानस्य चतुर्द-
शकला दृश्यन्ते, द्वितीयस्यां त्रयोदश, यावच्चतुर्दश्यामेका, अ-
मावास्यायामेकाऽपि न, तत पुनरपि शुक्लपक्षस्य प्रति-
पदि चन्द्रविमानस्यैका कला दृश्यते, द्वितीयायां द्वे, याव-
त्पञ्चदश्या पञ्चदशाऽपि, तदयं मास आदावन्ते च पृथुलो,
मध्ये तनुको, वज्रमप्यादावन्ते च विपुलं, मध्ये तनुकमेवं
साधुरपि भिक्षां गृह्णाति बहुलपक्षस्य प्रतिपदि चतुर्दश. द्वि-
तीयस्या त्रयोदश, यावच्चतुर्दश्यामेकामेव, अमावास्यायामुपव-
सति । ततः पुनरपि शुक्लपक्षस्य यथैकां भिक्षां गृह्णाति. द्वि-
तीयस्यां द्वे, यावत्पञ्चदश्यां पञ्चदशेति । तत एषाऽपि चन्द्रा-
ऽऽकारतया चन्द्रप्रतिमा आदावन्ते च विपुलतया मध्ये च
तनुतया, वज्रमध्योपमितमध्यभागा वज्रमध्या ।

एतदेव यवमध्यचन्द्रप्रतिमामधिकृत्य सूचयन्नाह-

पण्णरसेव य काउं, भागे ससियं तु सुक्कपक्खस्स ।
जा वड्ढए य दत्ती, हावइ ता चेव कालेणं ॥४॥

शशिनं शशिविमानं पञ्चदश भागान् कृत्वा यथा शुक्लपक्ष-
स्याऽऽदित आरभ्य कला प्रतिदिवसं च संवर्द्धन्ते, एवं दत्त-
योऽपि प्रतिपदि आरभ्य यावद्वर्द्धयते, ता एव कालेन कृष्णेन
पक्षेण क्रमेण ह्रापयेत् । वृ० ।(दत्तयस्तु 'दत्ति' शब्दे चतुर्थभागे
२४४६ पृष्ठे प्रतिपादिता ) एवं विपरीतक्रमेण वज्रमध्यचन्द्र-
प्रतिमायामपि द्रष्टव्यम् ।

भत्तट्ठी खवओ वा, इयरदिणे तासि होइ पट्ठवओ ।
चरिमे असद्धव पुण, होइ अभत्तट्ठमुज्जवणं ॥ ५ ॥

तयोर्यवमध्यवज्रमध्यप्रतिमयोः प्रस्थापक आरम्भ इत-
रस्मिन्नारम्भदिवसात् पाश्चात्ये दिने भक्तार्थी वा भवति । क्ष-
पको वा चरमदिवसे पुनर्भक्तविषये अश्रद्धावान् श्रद्धामपि
न करोति । एतद् यवमध्यचन्द्रप्रतिमामधिकृत्योक्तं वेदित-
व्यम् । उद्यापनं पुनर्द्वयोरपि प्रतिमयोरभक्तार्थमवसेयम् ।

सघयणे परियाए सुत्ते अत्थे य जो भवे गणिओ ।
सो पडिमं पडिवज्जइ, जवमज्झं वइरमज्झं च ॥ ६ ॥

संहनने आद्यत्रयान्यतमस्मिन्पर्याये जघन्यतो [illegible]
[illegible] उत्कर्षतो देशोनाया पूर्वकोट्या, [illegible]
पर्यायेण जघन्यतो [illegible] वर्षेषु, उत्कर्षतो देशोनाया पू
र्वकोट्या, श्रुतमधि [illegible] जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमा-
चारवस्तु, उत्कर्षतः [illegible] पूर्वाणि [illegible] एवं संहन
[illegible] [illegible]

मां यवमध्यां, वज्रमध्यां च प्रतिपद्यते । तदेवं यवमध्य-वज्र-मध्येति गतम् । व्य०१० उ०।( व्युत्सृष्टकायाऽऽदिपदानामर्थं स्वस्वस्थाने, सप्तसप्ततिका भिक्षुप्रतिमा च स्वस्थाने) कायोत्सर्गे, आ०म०१ अ० । प्रव० । ग० । शरीरे, सू०१ उ०३ प्रक० । ( सागारिकोपाश्रये न स्थातव्यमिति सागारिकप्ररूपणाया प्रतिमाप्ररूपणं 'वसह' शब्दे वक्ष्यते ) जिनप्रतिमानां यथा भ्रूस्थाने कृष्णता क्रियते, तथैवोष्ठयोः रक्तता क्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-शाश्वतप्रतिमानुसारेण भ्रूस्थाने कृष्णताकरणवदोष्ठयोः रक्तताकरणमविरुद्धमिति । १४ प्रश्न० । सेन० २ उल्ला० ।

**पडिमागिह**-प्रतिमागृह-न० । चैत्यगृहे, नि० चू० १२ उ० ।

**पडिमाजुय**-प्रतिमायुत-त्रि० । सागारिकसहिते, नि० चू० १ उ० । वृ० ।

**पडिमाण**-प्रतिमान-न० । प्रतिरूपं सदृशं मानम् । गुञ्जाऽऽदौ, प्रतिमीयते तदिति प्रतिमानं गुञ्जाऽऽदिना मीयते । अनु० ।

अथ प्रतिमानप्रमाणं निरूपयितुमाह-

से किं तं पडिमाणे ?। पडिमाणे जं पडिमिणिज्जइ । तं जहा-गुंजा, कागणी, निप्फावो, कम्ममासओ, मंडलओ, सुवण्णो। पंच गुंजाओ कम्ममासओ, कागण्यपेक्षया चत्तारि कागणीओ कम्ममासओ, तिण्णि निप्फावा कम्ममासओ, एवं चउक्को कम्ममासओ, काकण्यपेक्षयेत्यर्थः । बारसकम्ममासया मंडलओ, एवं-अडयालीसं कागणीओ मंडलओ, सोलसकम्ममासया सुवण्णो, एवं चउसट्ठिकागणीओ सुवण्णो, एएणं पडिमाणप्पमाणेणं किं पओअणं ?। एएणं पडिमाणप्पमाणेणं सुवण्णरजतमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालादीणं दव्वाणं पडिमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ । से तं पडिमाणे ॥

वार्थः स एव । एतेन प्रतिमानप्रमाणेन किं प्रयोजनमित्यादि गतार्थम् । नवरं रजतं रूप्यं मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽदयः शिला-राजपट्टकः गन्धपट्ट इत्यन्ये, शेषं प्रतीतम् । यावत्तदेतत्प्रतिमानप्रमाणम् । अनु० । स्था० ।

**पडिमाधर**-प्रतिमाधर-पुं० । प्रतिमां प्रतिपन्ने श्राद्धे, प्रतिमाधराः श्राद्धाः पर्वदिवसपौषधान्, रात्रिकायोत्सर्गांश्च स्वाध्यायसंभवे कथं कुर्वन्तीति रीतिः प्रसाद्येति प्रश्ने, उत्तरम्-अस्वाध्यायसंभवे प्रतिमाधरश्राद्धा मौनेन कायोत्सर्गान्, पौषधाऽऽदिकं च कुर्वन्तीति वृद्धवादः । १६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । प्रतिमाधरः श्रावकः श्राविका वा चतुर्थीप्रतिमात आरभ्य चतुष्पर्वीपौषधं करोति, तदा पाक्षिकपूर्णिमाषष्ठकरणाभावे पाक्षिकं पौषधं विधायोपवासं करोति, पूर्णिमायां चैकाशनकं कृत्वा पौषधं करोति, तदा मुख्यवृत्त्या पाक्षिकपूर्णिमयोश्चतुर्विधाऽऽहारः षष्ठ एव कृतो युज्यते, कदाचिच्च यदि तथा शक्तिर्न भवति, तदा पूर्णिमायां चाम्लं निर्विकृतिकं वा क्रियते, एवंविधाक्षराणि सामाचारीग्रन्थे सन्ति, परमेकाशनकं शास्त्रे दृष्टं नास्तीति । ४२ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

**पडिमापडिमा**-प्रतिमाप्रतिमा-स्त्री० । प्रतिमा कायोत्सर्गः, सैव प्रतिमा प्रतिमाप्रतिमा । पञ्चा० १० विव० । पञ्चम्यामुपासकप्रतिमायाम्, पञ्चमासांश्चतुष्पर्व्यां गृहे तद्द्वारे च चतुष्पथे वा परिषहोपसर्गाऽऽदिर्निष्कम्पकायोत्सर्गं पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानं पालयन् सकलरात्रिमास्ते इति पञ्चमी । ध० २ अधि० । ("उवासगपडिमा" शब्दे द्वि०भा०६५ पृष्ठेऽस्याः स्वरूपमुक्तम्)

**पडिमापडिवण्ण**-प्रतिमाप्रतिपन्न-पुं० । प्रतिमा भिक्षुप्रतिमा द्वादशसमयप्रसिद्धास्ताः प्रतिपन्नोऽभ्युपगतवान् । भिक्षुप्रतिमां प्रतिपन्ने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

**पडिमापूयण**-प्रतिमापूजन-न० । पौषधिकः पट्टपट्टिकालिखितप्रतिमां पूजयति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पौषधिकः कारणं विना पट्टाऽऽदिकं न पूजयतीति ज्ञेयमिति । २४० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । आञ्जलिकप्रतिष्ठिता प्रतिमा पूज्या, न वेति [illegible]

कृतेति बोध्यम् । ४०५-४०६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ( 'दुवई' शब्दे चतुर्थभागे २५८७ पृष्ठे द्रौपदीकृत प्रतिमार्चन विस्तरतः प्रतिपादितम्) यवनधीवराऽऽदय आढ्या जातास्तेषां तीर्थकृत्प्रतिमापूजने लाभो न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-यदि शरीरस्य, तथा वस्त्राऽऽदीना च पावित्र्य स्यात्तदा निषेधो ज्ञातो नास्ति, पर तेषां प्रतिमापूजने लाभ एव ज्ञातोऽस्तीति । ४७१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । आचार्योपाध्यायप्रज्ञांशपादुका जिनगृहे स्थापिता सन्ति, जिनप्रतिमापूजार्थमानीतश्रीखण्डकेसरपुष्पाऽऽदिद्रव्यस्तासामर्चन क्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्योपाध्यायप्रज्ञांशपादुकाकरणविधि परम्परया ज्ञातो नास्ति, स्वर्गप्राप्ताऽऽचार्यस्य पादुकाकरणविधिरस्ति, ततो जिनपूजार्थं श्रीखण्डाऽऽदिभिस्तत्पादुका न पूज्यते, देवद्रव्यत्वात् । तथा श्रीखण्डादिक साधारण भवति, तेनापि प्रतिमा पूजयित्वा पादुका पूज्यते, पर पादुकामर्चयित्वा प्रतिमा नाऽर्च्यते, देवाऽऽशातनाभयादिति । १३० प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

**पडिमावंदण-प्रतिमावन्दन**-न० । चैत्यवन्दने, पूर्वनिष्पन्न जिनगृह कदाचित्किञ्चिद् जनस्तया तावन्मात्र द्रव्यक्षिप्तिद्रव्येण कृत, तत्र प्रतिमा वन्द्यन्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-तत्रस्थजिनप्रतिमावन्द्यत इति ज्ञायते । ८२ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । ( सर्वोऽपि प्रतिमावन्दनाधिकार 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२११ पृष्ठे द्रष्टव्यः ) ( वहव प्रतिमाशब्दार्थो इति 'पडिमा' शब्देऽनुपदमेव समर्थितम् ) ( वन्दनशब्दार्थ 'वदण' शब्दे वक्ष्यते )

**पडिमासयग-प्रतिमाशतक**-न० । प्रतिमाविषयशङ्कानिरासार्थके शतश्लोकीपरिमिते यशोविजयोपाध्यायकृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

" ऐन्द्रश्रेणिप्रणत-श्रीवीरवचोऽनुसारियुक्तिभृतः ।
प्रतिमाशतकग्रन्थ , प्रथयतु पुण्यानि भविकानाम् ॥ १ ॥
पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुद काश्यां प्रदत्त बुधै-
र्न्यायाऽऽचार्यपद तत कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ।
शिष्यप्रार्थनया नयाऽऽदिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशु ,
सोऽय ग्रन्थमिम यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥ २ ॥
अस्य प्रतिमाविषया नेकाऽऽशङ्काऽपहारनिपुणस्य ।
सविघ्नसमुदयस्य, प्रार्थनया तन्यते ग्रन्थ ॥ ३ ॥
व्याख्यानेऽस्मिन् गिरां देवि, विघ्नवृन्दमपाकुरु ।
व्याख्येय मङ्गलैरेव, मङ्गलान्यत्र जाग्रति ॥ ४ ॥ " प्रति० ।

(अस्य सर्वोऽपि विषय 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२०५ पृष्ठादारभ्योक्तः )

**पडिमिज्जमाण-प्रतिमीयमान**-त्रि० । परिगण्यमाने, ज्यो० २ पाहु० ।

**पडिमुंडणा-प्रतिमुण्डना**-स्त्री० । निषेधने, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

**बहुसो पुच्छिज्जंता, इच्छाकारं न ते मम करिंति ।**
**पडिमुंडणाएँ दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा ॥१०४७॥**

बहुशो भूयो भूय पृच्छ्यमाना अपि ते साधव कदापि ममेच्छाकार न कुर्वन्ति, अभ्यर्थ-अहमभ्यर्थितस्तत्र गतस्तैश्च प्रतिमुण्डितोऽपि निषिद्धोऽपि यथा पूर्णे भवतां वैयावृत्यकरणेनेति । एव प्रतिमुण्डनया महन्मानस दुःखमुत्पद्यते । इत्यादि । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

**पडिमोयग-प्रतिमोचक**-त्रि० । धर्मकथोपदेशदानाऽऽदिना संसारसागरापारके तीर्थकरगणधराऽऽदौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

**पडिय-पतित**-त्रि० । गते, आव० ४ अ० । हस्तात् परिभ्रष्टे, बृ० ३ उ० । ज्ञा० । पतने, भावे क्तप्रत्ययविधानात् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पडियच्च-प्रतीत्य**-अव्य० । परिच्छिद्य सम्यगवबुद्ध्येत्यर्थे, "अणाणियाण पडियच्च ठाण । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**पडियपिंडोवजीवि ( ण् )-पतितपिण्डोपजीविन्**-त्रि० । ग्रामपिण्डोलकाऽऽदिसदृशे जने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

**पडियरग-प्रतिचरक**-पु० । ग्लानव्यापारके, नि० चू० १ उ० । अपराधाऽऽपन्नस्य प्रायश्चित्ते दत्ते तपः कुर्वता ग्लायमानस्य वैयावृत्यकरे, व्य० १ उ० ।

**पडियरणा-प्रतिचरणा**-स्त्री० । 'चर' गतिभक्षणयो , इत्यस्य प्रतिपूर्वस्य ल्युडन्तस्य प्रतिचरणा इति भवति । प्रतीतेषु तेष्वर्थेषु चरण गमन तेन तेनाऽऽसेवनाप्रकारेणेति प्रतिचरणा । प्रतिक्रमणे, आव० ।

प्रतिचरणा षड्विधा । तथा चाऽऽह-

**नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे अ ।**
**एसो पडियरणाए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥५॥**

तत्र नामस्थापने गतार्थे । द्रव्यप्रतिचरणा-अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः तेषु तेष्वर्थेष्वाचरणीयेषु चरण गमन तेन तेन प्रकारेण यष्ट्यादिनिमित्त वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्य सचित्ताऽऽदिद्रव्यमेवेति । क्षेत्रप्रतिचरणा व्याख्यायते, क्षेत्रस्य वा प्रतिचरणा क्षेत्रप्रतिचरणा, यथा शालिगोपिकाऽऽद्या शालिक्षेत्राऽऽदीनि प्रतिचरन्ति । भावप्रतिचरणा द्वेधा प्रशस्ता, अप्रशस्ता च । मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिप्रतिचरणा अप्रशस्ता । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिचरणा प्रशस्ता । अथवा-ओघत एवोपयुक्तसम्यग्दृष्टिस्तयेहाधिकार , प्रतिक्रमणपर्यायता चास्या , यतः शुभयोगेषु प्रतिक्रमण वर्तन प्रतिक्रमणमुक्तम् । प्रतिचरणाऽप्येव भूतैव वस्तुन । आव० ४ अ० । अकार्यपरिहारे, कार्यप्रवृत्तौ, च । आ० चू० ४ अ० ।

इयाणि पडियरणाए पासाएण दिट्ठतो भवति—

"एगम्मि नगरे अत्थसमिद्धो वाणियओ, तस्स पासाओ रयणभरिओ । सो त भज्जाए उवनिक्खिविऊण दिसाजत्ताए गओ, सा अप्पेण लग्गिया मण्डणपसाहणे वावडा ण तस्स पासायस्स अवलोयण करेति । तओ तस्स एग खड पडिय । सा चिंतेति-किं एत्तिय करेहिति त्ति । अन्नया पिप्पलपायओ जाओ, किं पत्तिओ करेहि त्ति पावणीओ तीए तेण वड्डतेण पासाओ भग्गो वाणियओ आगओ, पेच्छति विणट्ठ पासाय, तेण सा निच्छूढा अन्नो पासाओ कारिओ । अन्ना य भज्जा आणीया, भणिया य-जइ एस पासाओ विणस्सति तो ते अह नत्थि । एव भणिऊण दिसाजत्ताए गओ सा से महिला त पासाय सव्वायरेण तिसझ अवलोएति, ज तत्थ किंचि कट्ठकम्मे लेप्पकम्मे चित्तकम्मे पासाए वा तुट्टियाणि पासति, त सठवेति किंचि दारुण

तओ सो पासाओ तारिसो चेव अत्थति। वाणियपण आगपण दिट्ठो, तुट्टेण सव्वस्स सामिणी कया, विउलभोगसमन्नागया जाया। इयरा असणवसणरहिया अच्चंत दुक्खभागिणी जाया। एसा दव्वपडिचरणा। भावे दिट्ठतस्स उवणओ-वाणियगथा-णीयेणाऽऽयरियेण पासायत्थाणीओ संजमो पडिचरियव्वो त्ति। आणातो एगेण साहुणा सायासोक्खबहुलेण ण परिचरिओ सो वाणिगिणीव संसारे दुक्खभायणं जाओ, जेण परिचरिओ अक्खओ संजमपासाओ धारिउ सो निव्वाणसुहभागी जाओ।" इति। आव० ४ अ०।

**पडियरिऊण-प्रतिचर्य**-अव्य०। सेवित्वेत्यर्थे, "पडियरिऊण जहाभूत णातं।" नि० चू० १ उ०।

**पडिया-प्रतिज्ञा**-स्त्री०। उद्देशे, "साहुवडियाए।" साधुमुद्दिश्येत्यर्थः। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

**पडियाइक्खिय-प्रत्याख्यात**-त्रि०। अतिस्थापिते, नि० चू० ६ उ०। निषिद्धे, नि० चू० १ उ०।

**पडियाणंद-प्रत्यानन्द**-पुं०। चित्ताऽऽह्लादे, औ०। सूत्र०।

**पडियार प्रतीकार**-पु०। प्रतिविधाने, विशे०। आचा०। पूर्वाऽऽचरितस्य कर्मणोऽनुभवे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

**प्रतिचार**-पु०। अङ्गव्यापारे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ०।

**पडियारकम्म-प्रतिचारकर्म (ण्)**-न०। प्रतिचारकत्वे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

**पडियारगत-प्रतीकारगत**-त्रि०। प्रतीकारः पूर्वाऽऽचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तमेके गता, प्राप्ता। स्वकृतकर्मभोगिनि, "पडियारगता एगे,जे एते एव जीविणो।" सूत्र०१ श्रु०३ अ०१ उ०।

**पडियारि (ण्)-प्रतिचारिन्**-त्रि०। प्रतिचारके, व्य० १ उ०।

**पडिरंजिअ-देशी**-न०। भग्ने, दे०ना० ६ वर्ग ३२ गाथा।

**पडिरह प्रतिरथ**-अव्य०। रथं रथं प्रतीत्यर्थे,ज० ७ वा०६ उ०।

**पडिरूव-प्रतिरूप**-त्रि०। प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं यस्य तत् प्रतिरूपम्। अथवा-प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्य तत् प्रतिरूपम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सुन्दररूपे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण। त०। प्रज्ञा०। रा०। औ०। ज्ञा०। च० प्र०। प्रति०। ज०। आ० म०। जी०। उपा०। नि०। द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति रमणीये, स०। औ०। ज्ञा०। स्था०। विपा०। सू० प्र०। प्रधाने रूपे, प्रति प्रतिबिम्बं चिरन्तनमुनीना यद्रूपं तत्तथा। उत्त० १ अ०। सुविहितप्राचीनमुनीनां रूपे, उत्त० १ अ०। सूत्र०। प्रतिबिम्बे, प्रतिनिधौ,सम्म० ३ काण्ड। रा०। अनन्यसदृशे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। सदृशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उचिते, भ० १५ श०। "अणुलोमपडिरूवकं।" अज्ञानविलम्बितमित्यर्थः। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। यथोचिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उचिते,दश० ६ अ० १ उ०। ज्ञा०। रा०। औत्तराहाणां भूतानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ०। प्रज्ञा०। विनयभेदे,व्य०।

सम्प्रति प्रतिरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह-

> पडिरूवो खलु विणओ, काय-वइ-मणे तहेव उवयारे।
> अट्ठ चउव्विह दुविहो, सत्तविह परूवणा तस्स ॥६६॥

प्रतिरूप उचित खलु विनयश्चतुष्प्रकारः। तद्यथा—काये कायनिमित्त, एव वाचि वाचिकः। मनसि मानसिकः। तथा उपचारे औपचारिकः (अट्ठचउव्विहेत्यादि) अत्र यथासंख्य पदघटना-कायिको विनयोऽष्टविधः। वाचिकश्चतुर्विधः। मानसिको द्विविधः। औपचारिकः सप्तविधः। (परूवणा तस्स त्ति) तस्य कायिकाऽऽदिभेदभिन्नस्य चतुष्प्रकारस्य प्रतिरूपविनयस्य प्ररूपणा। व्य० १ उ०। भूतभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

**पडिमारूव-प्रतिमारूप**-पु०। प्रतिमारूपे श्रावकधर्मे, तज्जिनवल्लभसूरिकृतप्राकृताऽऽलापकरूपदीपालिकाकल्पे लिखितमस्ति-"पडिमारूवो सावगधम्मो वुच्छिज्जिस्सइ।"इति।तेन तत्रत्यपुस्तकेऽयं पाठोऽस्ति,न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-जिनवल्लभसूरिकृताऽऽलापकरूपो दीपालिकाकल्पो दृष्टो नास्ति, जिनप्रभसूरिकृतस्त्वालापकरूप एव वर्त्तते। तत्र च-"पडिमारूवो सावगधम्मो वुच्छिज्जिस्सइ।" इत्यक्षराणि न सन्तीति। ४६ प्रश्न०। सेन०१ उल्ला०।

**पडिरूवजोगजुंजण-प्रतिरूपयोगयोजन**-न०। प्रतिरूपः खलु विनय कायिकाऽऽदिभेदतश्चतुर्धाऽभिहितस्तदनुगता योगा मनोवाक्कायाः, तेषां योजन व्यापारणमवश्यकरणमविभक्तविभागयोजनम्। व्य० ३ उ०। औपचारिकविनयभेदे, दश० ६ अ० १ उ०।

**पडिरूवया-प्रतिरूपता**-स्त्री०। प्रति. स्थविरकल्पिकमुनिसदृशं रूप वेषो यस्य स प्रतिरूपः, तस्य भाव. प्रतिरूपता। स्थविरकल्पिकसाधुयोग्यवेषधारित्वे,उत्त० २९ अ०।

अस्या फलम्-

> पडिरूवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?। पडिरूवयाए-णं लाघवं जणयइ, लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसमत्ते सत्तसमितिसम्मत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पपडिलेहे जिइंदिए विपुलतवसमितिसमन्नागए आवि विहरइ ॥ ४२ ॥

हे भगवन्! प्रतिरूपतया जीव किं फलं जनयति?, प्रतिरूपतायाः कोऽर्थः, प्रति इति स्थविरकल्पिसदृशं रूपं यस्य स प्रतिरूपः, तस्य भाव प्रतिरूपता, तया स्थविरकल्पिकसाधुवेषधारित्वेन जीव किं जनयति?, गुरुराह-हे शिष्य?, प्रतिरूपतया जीवो लघुत्वं जनयति, अधिकोपधित्यागे लघुत्वमुपार्जयतीत्यर्थः। द्रव्यतः उपध्यादिपरिग्रहत्यागेन, भावतस्तु अप्रतिबद्धविहारत्वेन लघुर्भवति, लघुभूतश्च जीवोऽप्रमत्तो भवति, तादृशः प्रकटलिङ्गः प्रकटः स्थविरकल्पाऽऽदिवेषेण स्फुटं लिङ्गं चिह्नं यस्य स प्रकटलिङ्ग, पुन प्रशस्तलिंगः प्रशस्त [illegible] चिकादिकं यस्य स प्रशस्तलिङ्गः। पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वो निर्मलसम्यक्त्वः, पुनः सत्त्वसमितिसम्पूर्णः सत्त्वं च समितयश्च सत्त्वसमितयस्ताभिः समाप्तः सम्पूर्णः, सत्त्वसमितियुक्त इत्यर्थः। ततः पुन सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु विश्वसनीयः विश्वासयोग्यो भवति। [illegible] प्रतिलेखः प्रतिलेखनं प्रतिलेख, अल्पः प्रतिलेखो यस्य सोऽल्पप्रतिलेख, अल्पोपकरणत्वात् अल्पप्रतिलेखनावान्, सर्वत्राल्पार्थः। पुन स जिते[illegible]

यो भवति, पुनर्विपुलतपःसमितिसमन्वागतश्चापि विहरति । विपुलानि विस्तीर्णानि तपांसि समितयश्च विपुलतपःसमितयस्ताभिरन्वागतः सहितः सन् विहरति, द्वादशविधेन तपसा समितिगुप्तिसहितो भूत्वा ग्रामनगरादौ विचरति ॥४२॥ उत्त० २९ अ० ।

**पडिरूवा-प्रतिरूपा**-स्त्री० । चतुर्थकुलकरस्याभिचन्द्रस्य भार्यायाम्, आ० म० १ अ० । स्था० । स० । आ० चू० । ( अभिचन्द्रकुलकरवक्तव्यता 'अभिचंद' शब्दे प्र० भा० ६१४ पृष्ठे गता ) ( अत्र विशेषवक्तव्यता 'कुलगर' शब्दे तृ० भा० ५६३ पृष्ठे गता )

**पडिलंभ-प्रतिलम्भ**-पुं० । प्राप्तौ, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

**पडिलंभिय-प्रतिलभ्य**-अव्य० । अवाप्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

**पडिलग्गल**-न० । देशी-वल्मीके, दे० ना० ६ वर्ग ३१ गाथा ।

**पडिलाभ-प्रतिलाभ**-पुं० । प्राप्तौ, तुर्यव्रतप्रत्याख्यानिश्रेष्ठिविजयश्रीविजययोः प्रतिलाभने चतुरशीतिसहस्रसाधुप्रतिलाभनपुण्यं भवतीत्यक्षराणि कस्मिन् ग्रन्थे सन्ति, कस्य तीर्थकरस्य वारके च तज्जातमिति व्यक्त्या प्रमाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अयं सबन्धः प्रघोषेण श्रुतोऽस्ति, प्रकारेण त्वेवं यथा-"वसन्तपुरे शिवकरश्रेष्ठी श्रीधर्मदासमूरिपार्श्वे हर्षेण भणति-मम लक्षसाधर्मिकभोजनप्रदाने मनोरथोऽस्ति, परं किं करोमि तथाविधं धनं नास्ति ?। गुरुभिर्भाणि-अहं भृगुकच्छे श्रीमुनिसुव्रतस्वामिवन्दनार्थं गत । तत्र जिनदासाभिधः श्राद्धो,भार्या सुहागदेवी,तया युतो वस्त्रभोजनाऽऽद्यलङ्करणीय तद्वात्सल्येन लक्षसाधर्मिकभोजनदानपुण्यं भविष्यति,अतस्तेन तथा कृतं,तदनु पृष्ट चतुष्पथे-भो जिनदास ! सुकृती कीदृशोऽस्ति, सत्यो वा, दाम्भिको वा ?। लोकाः कथयन्ति-शृणु-तेन सप्तवार्षिकं गुरुमुखात् शीलोपदेशमालाव्याख्या श्रुत्वा एकान्तरितब्रह्मव्रतं प्रतिपन्नम्, एवं सुहागदेव्याऽपि साध्वीपार्श्वे एकान्तरितशीलव्रतं प्रति पन्नं,भावितव्यवशात्परस्परं पाणिग्रहणं जातम् । ततो यस्मिन् दिने जिनदासस्य मुत्कळ तस्मिन् दिने सुहागदेव्या नियमः,यस्मिन् दिने तस्या मुत्कलं तस्मिन् दिने तस्याभिग्रहः । तदनु गुरुसमीपे यावज्जीवमेव ब्रह्मव्रतं प्रतिपन्नमित्युपदेशतरङ्गिणीग्रन्थानुसारेण उपदेशरत्नाकरग्रन्थानुसारेण च तत्प्रतिलाभने लक्षसाधर्मिकप्रतिलाभनपुण्यं भवति इत्यक्षराणि सन्ति । ४७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

**पडिलाभित्ता-प्रतिलाभयितृ**-त्रि० । लाभवन्तं करोतीत्येवंशीले, स्था० ३ ठा० १ उ० । श्रमणं वा ब्राह्मणं वा प्रासुकं प्रतिलाभ्य एकान्ततो निर्जरामप्रासुकं च प्रतिलाभ्य बहुतरां निर्जरामल्पं पापकर्म करोति । भ० ८ श०५ उ० । (" समणमाहणपडिलाभ' शब्दे, 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १३ पृष्ठे च समर्थितम्)

**पडिलेहग-प्रतिलेखक**-त्रि० । प्रतिलेखतीति प्रतिलेखकः । प्रवचनानुसारेण स्थानाऽऽदिनिरीक्षके साधौ, औ० ।

**पडिलेहणा-प्रतिलेखना**-स्त्री० । गोचराऽऽपन्नस्य शय्याऽऽदेश्चक्षुषा निरीक्षणे, आव० ६ अ० । प्रश्न० । आचा० । सम्म० । प्रत्युपेक्षणा-स्त्री० । प्रतिलेखनाशब्दार्थे, प्रतिलेखनाव्याख्या, तत्रैकार्थिकानि । ओघ० ।

प्रतिलेखनाद्वारव्याख्यानायाऽऽह-

आभोग मग्गण गवे-सणा य ईहा अपोह पडिलेहा ।
पिक्खण निरक्खणा वि य,आलोय पलोयणेगट्ठा ॥१८॥

आभोगनमाभोग, 'भुज' पालनाभ्यवहारयो , मर्यादयाऽभिविधिना वाऽऽभोगन पालनमाभोग. प्रतिलेखना भवति । मार्गण मार्गणा, 'मृग' अन्वेषणे, अशेषसत्त्वाऽऽभिमुख्या च यदन्वेषण सा मार्गणेत्युच्यते । गवेषण गवेषणा, अशेष दोषरहितवस्तुमार्गण गवेषणेत्युच्यते । ईहनमीहा, 'ईह' चेष्टायाम्, शुद्धवस्त्वन्वेषणरूपा चेष्टा ईहेत्युच्यते, सा च प्रतिलेखना भवति । अपोहनमपोहः, 'अपोह' पृथग् भाव उच्यते, तथा च चक्षुषा निरीक्ष्य यदि तत्र सत्त्वसंभवो भवति तत उद्धार करोति सत्त्वानामन्यत्राभे सति, स चापोहः प्रतिलेखना भवति, प्रतिलेखन प्रतिलेखना, प्रति आगमानुसारेण निरूपणमित्यर्थ । सा च प्रतिलेखना प्रेक्षण प्रेक्षणा प्रकर्षेण ईक्षण दर्शन प्रेक्षणेत्युच्यते,सा च निरीक्षण निरीक्षणा, निराधिक्ये 'ईक्ष' दर्शने, अधिक दर्शन निरीक्षणेत्युच्यते । अपिशब्दादन्योपसर्गयोगे चैकार्थिकसंभव । यथा-उपेक्षणेति । चशब्दादाभोगाऽऽदीनां ये पर्यायास्तेऽपि प्रतिलेखनाद्वारस्य पर्यायशब्दाः । आलोचनमालोकः मर्यादयाऽभिविधिना वाऽऽलोकनमित्यर्थ । प्रलोकन प्रलोकना, प्रकर्षेणाऽऽलोकनमित्यर्थ । (एगट्ठ त्ति) एकार्थिकान्यमूनि । अनन्तरोद्दिष्टानि भवन्ति, पुंलिङ्गता च प्राकृतलक्षणवशात् भवत्येव । यथा 'जसो, तवो, सरलो' इति नपुंसकलिङ्गा अपि शब्दाः पुंलिङ्गे प्रयुज्यन्ते । एवमत्रापीति । एवं व्याख्याते सत्याह परः-प्रतिलेखनं नपुंसकम्, अत्र तु कानिचिन्नपुंसकानि, कानिचित् स्त्रीलिङ्गानि, कानिचित्पुंल्लिङ्गानि । तत्र नपुंसकस्य नपुंसकान्येव वाच्यानि । तत्कथमिति ?। अत्रोच्यते-एव तावत्प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्य नपुंसकस्याऽपि स्त्रीलिङ्गपुंल्लिङ्गे पर्यायाभिधानमदुष्टं, तथाऽन्यत् प्रयोजनं संस्कृते चैकस्यैव शब्दस्य त्रयमपि भवति । यथा तट ,तटी, तटमिति भेदेऽत्र भिन्नलिङ्गाः शब्दा केन कारणेन पर्यायशब्दा भवन्तीति । प्रतिलेखनाग्रहणेन किं सैव केवला गृह्यते,किमन्यदपि ?। अन्यदपि । किं तत् 'पडिलेहय" इत्यादि । अथवा-का पुनरत्र प्ररूपणेति ?। तदर्थं ब्रवीति-

पडिलेहओ अ पडिले-हणा य पडिलेहियव्वयं चेव ।
कुंभादीसु जह तिय, परूवणा एवमिहयं पि ॥ १९ ॥

प्रतिलेखतीति प्रतिलेखकः, प्रतिवचनानुसारेण स्थानाऽऽदिनिरीक्षकः साधुरित्यर्थः । चशब्दः सकारणाऽऽदिस्वगतभेदानां समुच्चायकः । प्रतिलेखनं प्रतिलेखना " दुविहा खलु पडिलेहणा " इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्यमाणलक्षणा, चशब्दो भेदसूचकः । प्रतिलेख्यत इति प्रतिलेखितव्यम्, "ठाणे उवगरणे" इत्यादिना वक्ष्यमाणम् । चशब्दः पूर्ववत्, एवकारोऽवधारणे । नातस्त्रिकादतिरिक्तमस्ति । आह-कथं पुनः प्रतिलेखकप्रतिलेखितव्ययोरत्रुक्तयोः ग्रहणमिति ?। दण्डमध्यग्रहणन्यायात् । अथवा-ग्रन्थेनैवोच्यते,कुम्भाऽऽदिषु,कुम्भो,घटः, आदिशब्दात् कुटपटाऽऽदेर्ग्रहः यथा येन प्रकारेण त्रिकं त्रि-

तयं, त्रीणीत्यर्थः । ( परूवण त्ति ) प्ररूपणा ( एवं ति ) तथा तेन प्रकारेण, इहेति प्रतिलेखनायाम् । अपिशब्दः साधर्म्यदृष्टान्तप्रतिपादनार्थः । यथा-कर्त्ता कुलाल , करणं मृत्पिण्डदण्डाऽऽदि, कार्य घटः, परस्परापेक्षितया नैकमेकेनाऽपि विनेति । तथा प्रतिलेखना क्रिया, सा च कर्त्तारं प्रतिलेखकमपेक्षते, प्रतिलेखितव्याभावे चोभयोरभावः, तस्मात् त्रीण्येतानि प्रतिलेखकः, प्रतिलेखना, प्रतिलेखितव्यं चेति ।

इह च 'यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायमङ्गीकृत्य प्रतिलेखकः कर्तृत्वात्प्रधानश्चेत्यतस्तद्व्याख्यानार्थमाह-

एगो व अणेगा वा. दुविहा पडिलेहणा समासेणं ।
ते दुविहा नायव्वा, निक्कारणिया य कारणिया ॥२०॥

सुगमा । नवरम्-( निक्कारणिया य त्ति ) चशब्दाद्गच्छत्, तिष्ठद्विशेषणे चात्र द्रष्टव्ये इति । ओघ० । ( प्रतिलेखकस्याशिवाऽऽदिकारणैर्गमनविधि 'विहार' शब्दे वक्ष्यते )

इदानीमेषां श्रमणानां सर्वेषां मध्ये ये शुद्धास्तेष्वेव संवसनं करोति, नेतरेष्वित्यमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह-

जइ सुद्धा संवासा, होइ असुद्धाण दुविह पडिलेहा ।
अब्भितर बाहिरिया, दुविहा दव्वे य भावे य ॥ १६३॥

यदि शुद्धाः संवासा',शुद्धा' के अभिधीयन्ते ? । प्रशस्तश्रुतगुणाः, तथा प्रशस्ताज्ञातगुणाश्च । तथैवविधेषु सवासं संवसनं करोति । "होइ असुद्धाण दुविह पडिलेहा।" भवति अशुद्धानां द्विविधा प्रत्युपेक्षणा । तत्राशुद्धा अप्रशस्तश्रुतगुणाः, तथा-अप्रशस्तात्यन्तगुणा अशुद्धा अभिधीयन्ते, तद् द्विविधं प्रत्युपेक्षण भवति । कथम् ?-( अब्भितरबाहिरिया ) एका आभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणा, साभ्यन्तरेत्यर्थः । अपरा बाह्यप्रत्युपेक्षणा । ( दुविहा दव्वे य भावे य ) एकैका च प्रत्युपेक्षणा द्विविधा-( दव्वे य भावे य ) याऽसौ अभ्यन्तरा प्रत्युपेक्षणा सा द्रव्यतो, भावतश्च भवति, याऽपि बाह्या प्रत्युपेक्षणा साऽपि द्रव्यतो भावतश्चेति द्विविधैव ।

इदानीं बाह्यां प्रत्युपेक्षणां द्रव्यतः प्रतिपादयन्नाह-

घट्टाइ तलिय दंडग-पाउण संलग्गती अणुवओगो ।
दिसिपवणगामसूरिय-वितहं विच्छोलणं दव्वे ॥१६४॥

(घट्टाइ त्ति) घृष्टा जङ्घासु दत्तफेनकाः, आदिशब्दात्तु मट्टाऽऽदयो गृह्यन्ते । (तलिग त्ति) सोपानत्का उपानद्गूढपादाः [दंडग त्ति] वैत्रलग्ना दण्डकैः गृहीतैः । [ पाउणमिति ] प्रावृतं यथा संयत्यः प्रावृण्वन्ति इति कल्पं तथा तैः प्रावृतम् । (संलग्गइ त्ति) परस्परं हस्तावलगिकया व्रजन्ति । अथवा-(संलग्गइ त्ति) युगलिता व्रजन्ति ( अणुवओगो त्ति ) अत्र प्रयुक्ताः व्रजन्ति ईर्यायामनुपयुक्ताः । एवं बहिर्भुव गच्छन्तः प्रत्युपेक्षिताः, इदानीं संज्ञाभूमिं प्राप्तास्तान् संयतान् प्रत्युपेक्षेत (दिसि त्ति) आगमोक्तं दिग्विपर्यासेनोपविशन्ति ( पवण त्ति ) पवनस्य प्रतिकूलमुपवेष्टव्यं, ते तु आनुकूल्येन पवनस्योपविशन्ति । [ गाम त्ति ] ग्रामस्याभिमुख्येनोपवेष्टव्यं ते तु पृष्ठ दत्त्वोपविशन्ति [ सूरिय त्ति ] सूर्यस्याभिमुखेनोपवेष्टव्य, ते तु पृष्ठं दत्त्वोपविशन्ति । एवमुक्तेन प्रकारेण वितथं कुर्वन्ति [ उच्छोलणं ति ) पुरीषमुत्सृज्य प्रभूतेन पयसा क्षालनं कुर्वन्ति ( दव्वे त्ति ) द्वारपरामर्शः । इयं तावद् बाह्या द्रव्यतः प्रत्युपेक्षणा, तत आह-अनन्तरगाथायामभ्यन्तरायाः प्रत्युपेक्षणायाः प्रथममुपन्यासः कृतः, एव तावद् बाह्या प्रत्युपेक्षणा भवति । ततस्तामेव व्याख्यातु युक्तं, न तु बाह्यामित्युच्यते प्रथम तावद् बाह्यैव प्रत्युपेक्षणा भवति, पश्चादभ्यन्तरा, अतो बाह्यैव व्याख्यायते । आह-किमिति इत्थमेव नोपन्यासः कृतः । उच्यते -आभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणायाः प्राधान्यख्यापनार्थमादावुपन्यासः कृतः एवं तावद् बाह्या प्रत्युपेक्षणा द्रव्यतोऽभिहिता ।

इदानीं बाह्यां प्रत्युपेक्षणां भावतः प्रतिपादयन्नाह-

विकहा हसिओग्गाइय, भिन्नकहा चक्कवाल वलियकहा ।
माणुसातिरियावाए, दालण आरयणया भावे ॥ १६५ ॥

विकथा विरूपा कथा । अथवा-विकथां स्त्रीभक्तचौरजनपदकथां कुर्वन्तो व्रजन्ति । तथा हसन्त उद्गायन्तश्च व्रजन्ति [ भिन्नकह त्ति ] मैथुनसबद्धा राभसिका कथा तां कुर्वन्नो व्रजन्ति [ चक्कवाल त्ति ] मण्डलबन्धनस्थिता व्रजन्ति [ वलियकह त्ति ] षट्पदिका ग थाः पठन्तो गच्छन्ति [माणुसतिरियावाते त्ति ] मानुषाऽऽपाते तिर्यगापाते संज्ञां व्युत्सृजन्ति [दालण त्ति] परस्परस्याङ्गुल्या किमपि दर्शयन्ति । इयमेव आचरणता [ भावे त्ति ] द्वारपरामर्शः । इयं बाह्यभावमङ्गीकृत्य प्रत्युपेक्षणा, या अशुद्धानपि साधून् दृष्ट्वा प्रविशन्ति, कदाचित्ते गुरोरनादेशेनैव एवं कुर्वन्ति ।

एतदेव प्रतिपादयन्नाह-

बाहिं जइ वि असुद्धा,तह वि य गंतूण गुरुपरिक्खाओ ।
अहव विसुद्धा तह वि उ,अंतो दुविहा उ पडिलेहा।१६६।

बाह्यां प्रत्युपेक्षणामङ्गीकृत्य यद्यप्यशुद्धास्तथाऽपि प्रविश्य गुरोः परीक्षाः कर्तव्याः । अथवा-बाह्यप्रत्युपेक्षया विशुद्धा एव भवन्ति, तथाऽपि तु अन्तरत आभ्यन्तरतया प्रत्युपेक्षणामाश्रित्य द्विविधैव प्रत्युपेक्षणा भवति कर्तव्या द्रव्यतो, भावतश्च । इदानीमसौ आभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणामङ्गीकृत्य द्रव्यतः परीक्षां करोति साधर्म्मिकाऽऽसन्नेषु भिक्षाचर्यायां प्रविष्टः सन् ।

पविसतो निमित्तमणे-सणं च साहइ ण एरिसा समणा ।
अम्हं च ते कहती, कुक्कुड खरियाइठाणं च ॥ ६७ ॥

प्रविशन् भिक्षार्थं निमित्तं पृच्छ्यते गृहस्थैस्ततश्च न कथयति, अनेषणां क्रियमाणां गृहस्थेन निवारयति । ततः स गृहस्थः कथयति-(ण एरिसा समणा) नास्मदीया एवंविधाः श्रमणा अस्माकं हिते निमित्तं कथयन्ति, अनेषणायामपि गृह्णन्ति, एवमभिधीयते गृहस्थेन ( कुक्कुड त्ति ) कुक्कुटप्रायोऽयमिति एवं तावत् भिक्षामटता प्रत्युपेक्षणा कृता । इदानीं दूरस्थ एव उपाश्रयप्रत्युपेक्षणां करोति [ खरिया इत्यादि ] 'खरिया' द्व्यक्षरिका, तत्समीपे स्थानमुपाश्रय. । आदिशब्दाच्चरिकासमीपे वा । इय तावद्दव्यतोबाह्या प्रत्युपेक्षणा ।

इदानीमुपाश्रयाभ्यन्तरं द्रव्यप्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नाह-

दव्वम्मि ठाणफलए, सेज्जा संथार काय उच्चारे ।

द्रव्यमिति द्वारपरामर्शः [ ठाणफल त्ति ] स्थानमवस्थिति फलकानामवस्थितिं पश्यति,तानि हि वर्षाकाल एव गृह्यन्ते, न शेषकाले, स न प्रविष्ट शेषकालेऽपि फलकानि संगृहीतानि पश्यति [ सेज्जाउ त्ति] शेरतेऽस्यामिति शय्या आस्तरणं, तदास्तृतमेवाऽऽस्ते, संस्तारकस्तृणमय· प्रकीर्यते । अथ तृणानि स्वपद्भिः संस्तृतानि तत्र संस्तारके पश्यति [ काय त्ति ] कायिकीभूमिं गृहस्थसंबद्धां पश्यति, ( उच्चार त्ति ) गृहस्थैः सह पुरीषव्युत्सर्गं कुर्वन्ति । अथवा-[ उच्चार ति ] श्लेष्मणः परिष्ठापनमङ्गणे कुर्वन्ति, एवं स साधुः पश्यति । इयमभ्यन्तरा द्रव्यप्रत्युपेक्षणा ।

इदानीमभ्यन्तरां भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह-

**कंदप्पगीयविकहा, विग्गह किड्डा य भावम्मि ॥१६८॥**

[ कंदप्पगीयविगह त्ति ] कन्दर्पगीतविकथाः कुर्वन्ति । तथा—[ विग्गह त्ति ] विग्रह· कलहस्त कुर्वन्ति । ( किड्ड त्ति) पाशकपर्दकै· क्रीडन्ति [ भावम्मि ] भावविषया प्रत्युपेक्षणा । उक्ता अभ्यन्तरा भावप्रत्युपेक्षणा । ओघ० ।

पथिप्रत्युपेक्षणम्-

**सो चेव य निग्गमणे, विही य जो वण्णिओ उ एगस्स ।**
**दव्वे खेत्ते काले, भावे पंथं तु पडिलेहे ॥ २१९ ॥**

स एव विधिर्य एकस्य निर्गमने उक्त·, " वीसमण पउसे " इत्येवमादिको विधिरुक्तः । इदानीं पथि व्रजतो विधिरुच्यते, स चायम्-[ दव्वे खेत्ते काले भावे पंथं तु पडिलेहे त्ति ] द्रव्यत·, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च मार्गं प्रत्युपेक्षेत ।

इदानीमेतानेव द्रव्याऽऽदीन् व्याख्यानयन्नाह-

**कंटग तेणा वाला, पडणीया सावया य दव्वम्मि ।**
**समविसमउदयथंडिल-भिक्खायरियंतरा खेत्ते ॥२२०॥**

तत्र कण्टका·,स्तेना·,व्याला·,प्रत्यनीकाः, स्वापदानि, एतेषां पथि यत् प्रत्युपेक्षणं सा द्रव्यविषया प्रत्युपेक्षणा भवतीति शेषः । तथा-समविषमोदकस्थण्डिलभिक्षाचर्याऽऽदीनां - यान्तरे प्रत्युपेक्षणा सा क्षेत्रतः प्रत्युपेक्षणा ।

इदानीं कालप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह-

**दिय राउ पच्चवाओ, य जाणई सुगमदुग्गमे काले ।**
**भावे सपक्खपरप-क्खपेल्लणा निन्हवाईया ॥२२१॥**

दिवा प्रत्युपायो, रात्रौ वा प्रत्युपायो न कालप्रत्युपाय इत्येन· ज्जानाति । तथा-दिवाऽय पन्था· सुगमो दुर्गमो वा, रात्रौ वा सुगमो, दुर्गमो वा । एष यत्परिज्ञान· स कालत प्रत्युपेक्षणा भावत· प्रत्युपेक्षणा इय यदुत स विषय· स्वपक्षेण परपक्षेण वा आक्रान्तो व्याप्त, कश्चासौ स्वपक्ष, परपक्षश्च अत आह-( निन्हवाईया ) निह्नवकाऽऽदि स्वपक्ष, आदिग्रहणाच्चरकपरिव्राजिकाऽऽदि·, परपक्ष एभिरनवरत प्रार्थ्यमानो लोको न किञ्चिद्दातुमिच्छति इत्येव यद् निरूपण सा भावप्रत्युपेक्षणा । ओघ० । ( सार्थप्रत्यु·क्षणा 'विहार' शब्दे ) ( वसतिप्रत्युपेक्षण वसत्यां मार्गितायाम् ' वसहि ' शब्दे ) ( संस्तारका अवश्य प्रत्युपेक्ष्या इति 'संथार' शब्दे वक्ष्यते )

प्रतिलेखनाद्वारमाह-

**एत्तो पडिलेहा छउ- मत्थाण चेव केवलीणं च ।**
**अब्भिंतर बाहिरिया, दुविहा दव्वे य भावे य ॥४०६॥**

द्विविधा प्रत्युपेक्षणा भवति, कतमे ते द्वैविध्ये इत्यत आह- छद्मस्थानां सबन्धिनी, केवलिना सबन्धिनी च । सा चैकैका द्विविधा-आभ्यन्तरा, बाह्या च । या छद्मस्थानां साऽभ्यन्तरा बाह्या च, याऽपि केवलिनां साऽपि बाह्याऽऽभ्यन्तरा च । (दव्वे भावे य त्ति ) याऽसौ बाह्या प्रत्युपेक्षणा सा द्रव्यविषया, याऽप्यसौ अभ्यन्तरा सा भावविषया ।

तत्र केवलिन· प्रत्युपेक्षणा प्रतिपादयन्नाह-

**पाणेहि उ संसत्ता, पडिलेहा होइ केवलीणं तु ।**
**ससत्तमसंसत्ता, छउमत्थाणं च पडिलेहा ॥४०७॥**

प्राणिभि· सम्सक्त द्रव्य तद्विषया प्रत्युपेक्षणा भवति केवलिनाम् । (ससत्तमससत्त त्ति) ससक्तद्रव्यविषया, तथा असंसक्तद्रव्यविषया च छद्मस्थाना प्रत्युपेक्षणा भवतीति । आह- "यथा स्यास तथा निर्देश " इति न्यायात् प्रथम छद्मस्थानां व्याख्यान युक्त, पश्चात् केवलिनामिति ?। उच्यते- प्रधानत्वात् केवलिनां प्रथम व्याख्या कृता, पश्चाच्छद्मस्थानामिति । आह- तत्कथं प्रथममेवमुपन्यासो न कृत ?, उच्यते- तत्पूर्विका· केवलिनो भवन्तीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमिति ।

अनेनैव कारणेन केवलिन प्रत्युपेक्षण कुर्वन्तीति प्रदर्शयन्नाह-

**संसज्जइ धुवमेयं, अपेहियं तेण पुव्वमेव केवलिणो ।**
**पडिलेहियं तु संस-ज्जइ त्ति ससत्तमेव जिणा ॥४०८॥**

ससज्जते प्राणिभि· सह ससर्गमुपयाति ध्रुवमवश्यमेतद्वस्त्राऽऽदि अप्रत्युपेक्षित सत् तेन पूर्वमेव केवलिन प्रत्युपेक्षणा कुर्वन्ति, यदा तु पुनरेव साविद्रते * इदमिदानीं वस्त्राऽऽदि प्रत्युपेक्षितमपि उपभोगकाले ससज्जते, तदा ससक्तमेव ( जिण त्ति ) ससक्तमेव जिना· केवलिन प्रत्युपेक्षन्ते न त्वनागतानेव पलिमन्थदोषात् । उक्ता केवलिनो द्रव्यप्रत्युपेक्षणा ।

इदानीं केवलिन एव भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह-

**नाऊण वेयणिज्जं, अइपहुयं थोवगं च आउइयं ।**
**कम्मं पडिलेहेउ, वच्चंति जिणा समुग्घाय ॥४०९॥**

ज्ञात्वा वेदनीय कर्म अतिप्रभूतम्-पुष्कल च स्तोक च कर्म प्रत्युपेक्ष्य ज्ञात्वा इत्यर्थ· । इत्यत आह-(वच्चति जिणा समुग्घाय ति) जिना केवलिन· समुद्घात व्रजन्ति,अत्र च भाव कर्मण उदय·,औदयिको भाव इत्यर्थ । उक्ता केवलिनो भावप्रत्युपेक्षणा ।

इदानीं छद्मस्थद्रव्यप्रत्युपेक्षणामाह-

**संसत्तमसंसत्ता, छउमत्थाणं तु होइ पडिलेहा ।**
**चोदग पसायनासा, आरक्खा हिंडगा चेव ॥४१०॥**

( ससत्त त्ति ) ससक्तद्रव्यविषया । ( असमत्त त्ति ) असंसक्तद्रव्यविषया च, छद्मस्थानां भवति प्रत्युपेक्षणा । अत्र चोदक आह-युक्ते तावत्ससक्तवस्त्राऽऽदे· प्रत्युपेक्षणा कर्तुम्, असंसक्तस्य तु कस्मात्प्रत्युपेक्षणा क्रियते ? । आचार्य आह-यथा आरक्षकहिण्डकयोर्यथासङ्ख्यन प्रसादविनाशौ सजातौ । तथा अत्राऽपि द्रष्टव्यम्-" तत्थ किंचि नगर, तत्थ राया तेण चोरनिग्गहत्थ आरक्खिओ ठविओ सो पुण दिवस हिंडन्ति, एव हिंडंतो चोर न किंचि पासइ, ताहे ठिओ ति

* सविद्रते इति व्याकरणविरुद्धम् ।

छिन्नो, चोरेहिं आगमिय-जहा ओसत्थो जाओ आरक्खिओ, ताहे एगदिवसेण सव्व णगर मुठ ताहे पगे णागरा उवठिया मुहाओ। राया भणइ-वाहरह आरक्खियं तं वाहरित्ता पुच्छिओ, किं तुमे अज्ज हिंडियं णगरे?। ताहे सो भणइ-न हिंडियं। ताहे रुट्ठो राया भणइ-जइ णाम पत्तिए दिवसे चोरेहिं ण मुठ, सो ताण चेव गुणो, ता एएण पमायं कयं तो अणेण मुसाविय तओ सो निग्गहिओ राइणा। अन्नो ठविओ,सो पुण जइ वि न दिक्खइ चोरे, तह वि रत्तिं रत्तिं सयलं हिंडति। अह तत्थे-गदिवसे अतरत्थाए गय नाऊण चोरेहिं खत्त खयं, सो य णाग-रओ रायकुले उवठिओ, राइणा पुच्छिओ आरक्खिओ, जहा-तुमं किं हिंडसि?। सो भणइ-आमं हिंडामि। ताहे राइणा लोगो पुच्छिओ। भणइ-आम हिंडइ त्ति। ताहे सो णिद्दोसो कीरइ। एव चेव रायत्थाणीया तित्थयरा, आरक्खिट्ठाणीओ, साहू, उव-गरण नगरत्थाणीय कुथुकीडियत्थाणीया चोरा,नाणदंसणचरि-त्ताणि हारियत्थाणीयाणि, ससारो दण्डो। एवं केण वि आयरि-एहिं भणिओ सीसो वि दिवे दिवे पडिलेहेहि, जाव ण पेच्छइ ताहे ण पडिलेहति। एव तस्स अपडिलेहतस्स संसत्तो उवही, ण सक्को साहेउ ततो तेण तित्थगराणाभगो कओ, त चेव अपरिभोग जाय। एव अन्नो भणिओ, तेण य सव्व कालं तित्थगराऽऽणा कया, वत्थ च परिभोग जाय।"

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह-

**तित्थयरा रायाणो, साहू आरक्खि भंडगं च पुरं।**
**तेणसरिसा य पाणा, हारियं तिगरयणं भवो दंडो।४११।**

सुगमा। उक्ता छद्मस्थविषया द्रव्यप्रत्युपेक्षणा।

इदानीं भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह-

**किंकय किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं व न करेमि।**
**पुव्वावरत्तकाले, जागरओ भावपडिलेहा ॥ ४१२ ॥**

सुगमा। णवरं (पुव्वावरत्तकाले त्ति) पूर्वरात्रकाले रात्रि-प्रहरद्वयस्यान्तः, उपरिष्टादपररात्रकालं, तस्मिन् जा-ग्रतश्चिन्तयत। एवं उक्ता छद्मस्थविषया भावप्रत्युपेक्षणा। ओघ०।

देहप्रतिलेखना-

"दिट्ठिपडिलेह एगा, पप्फोडा तिन्नि तिन्नि अंतरिआ।
अक्खोडा पक्खोडा, नव नव मुहपुत्ति पणवीसा ॥ १ ॥
पायाहिणेण तिअ तिअ, बाहुसु सीसे मुहे अ हिअए अ।
पिट्ठीइ हुंति चउरो, छप्पाए देहे पणवीसा ॥ २ ॥"

एताश्च देहप्रतिलेखना पञ्चविंशति पुरुषानाश्रित्य ज्ञेया, स्त्रीणां तु गोप्यावयवगोपनाय हस्तद्वयवदनपादद्वयानां प्र-त्येकं तिस्र तिस्र प्रमार्जना इति पञ्चदशैव भवन्तीति प्रव-चनसारोद्धारवृत्तौ। तथा-मुखवस्त्रिकाकायप्रतिलेखनायां सुमनसः स्थिरीकरणार्थमेवं विचिन्तयेत्-

"सुत्तत्थतत्तदिट्ठी १, दंसणमोहतिगं च ४ रागतिगं ७।
देवाइतत्ततिगं १० तह य अदेवाइतत्ततिगं १३ ॥ १ ॥
नाणाइतिगं १६ तह तव्विराहणा १९ इतिगुत्ति २२ दंडतिगं २५।
इय मुहणंतगपडिले-हणाइ कमसो विचिंतिज्जा ॥ २ ॥
हासो रई अ अरई ३, भयसोगदुगुंछया य ६ वज्जिज्जा।
भुअजुअल पेहंता, सीसे अपसत्थलेसतिगं ९ ॥ ३ ॥
गारवतिगं च वयणे १२ उरि सल्लतिगं १५ पिट्ठायट्ठ पिंट्ठ १६।



पयजुगि छज्जीववहं २५, तणुपेहाए विजाणमिणं ॥ ४ ॥
जइ वि पडिलेहणाए, हेऊ जियरक्खणं जिणाऽऽणा य।
तह वि इमं मणमक्कड-नियंतणत्थं मुणी विंति ॥ ५ ॥"
ध० २ अधि०।

त्रिकालप्रत्युपेक्षणा। अथ विस्तरार्थं प्रकटयिषु "यथो-द्देशं निर्देशः" इति वचनप्रामाण्यात्प्रथमतः प्रत्युपेक्षणा द्वारमभिधातुकाम इमां प्रतिद्वारगाथामाह-

**पडिलेहणा उ काले, अप्पडिलेहदोसछसु वि काएसु।**
**पडिगहनिक्खेवणया,पडिलेहणया सपडिवक्खा ॥८२२॥**

प्रतिलेखना, तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च। काल एव कर्त-व्या, नो अकाले। (अपडिलेह त्ति) अप्रतिलेखने प्रायश्चित्त-म्-(दोस त्ति) दोषा आरभडाऽऽद्याः, तैर्दुष्टां प्रत्युपेक्षणां कु-र्वतः प्रायश्चित्तम्। (छसु वि काएसु त्ति) षड्जीवनिकायेषु स्वयं प्रतिष्ठित उपधिर्वा प्रतिष्ठित इति प्रतिग्रहनिक्षेपणं व-र्षासु विधेयं, प्रतिलेखना सप्रतिपक्षा साऽपवादा भवतीत्ये-तानि द्वाराणि वक्तव्यानीति समासार्थः ॥८२२॥

व्यासार्थं तु प्रतिद्वारमभिधित्सुराह-

**सूरुग्गए जिणाणं, पडिलेहणियाए आढवणकालो।**
**थेराणऽणुग्गयम्मी, उवहीणा सो तुलेयव्वो ॥ ८२३ ॥**

सूर्ये उद्गते सति जिनानां जिनकल्पिकानामेकग्रहणे त-ज्जातीयग्रहणमितिवचनादपरेषामपि गच्छनिर्गतानां प्र-तिलेखनाया आरम्भणकालो मन्तव्यः। स्थविराणां स्थवि-रकल्पिकानामनुद्गते सूर्ये प्रत्युपेक्षणाया आरम्भकाल, स चोपधिना तोलयितव्य। कथमिति चेत्?,उच्यते-इह प्राभा-तिकप्रतिलेखनायां भूयास आदेशा सन्ति, अतस्तत्प्रतिपा-दक पञ्चवस्तुकवृत्त्युक्तो वृद्धसंप्रदायो लिख्यते-"को पडि-लेहणाकालो, एगो भणइ-जया वायसा वासंति तया पडिले-हिज्जउ,तो पट्ठविता अ साइज्जउ। अन्नो भणइ-अरुणे उट्ठिए। अवरो भणइ-जाहे पगासं जायं। अन्नो पुण-जाहे पडिस्सए परोप्पर पव्वइयगा दीसंति। अन्ने भणंति-जाहे हत्थरेहाओ दीसंति। आयरिया भणंति-एए सव्वे वि अणाएसा,अपसि-द्धान्तत्वात्। जओ अंधकारे पडिस्सए हत्थरेहाओ उट्ठिए वि सूरे न दीसंति. वायसाइआएसेसु य अंधकारंमि पडिलेहणा न सुज्झइ। तम्हा इमो पडिलेहणाकालो आवस्सए कए-तिहिं थुईहिं दित्तियाहिं जहा पडिलेहणाकालो भवइ तहा आव-स्सयं कायव्वं,इमेहि य दसहिं पडिलेहिएहिं जहा सूरो उट्ठेइ-

"मुहपत्ती रयहरणं, दुन्नि निसिज्जा य चोलपट्टो य।
संथारुत्तरपट्टो तिन्नि विकप्पा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
जीवट्ठयट्ठं पेहा, एसो कालो इमीइ ता नेओ।
आवस्सगथुइअंते, दसपेहा उग्गए सूरे ॥ २ ॥"

चूर्णिकृत पुनराह-यथाऽऽवश्यके कृते एकादशभिर्वस्तु-भिर्यथा सूर्योऽभ्युद्गच्छति तथा प्रतिलेखनाया आरम्भकाल इति। एतदेव पुनरेकादश-"पंच अह जोअना, तिन्नि विकप्पा तेसि एगो उणिओ,दो सुत्तिया। संथारपट्टो, उत्तरपट्टो, दंडओ एगारसमो त्ति।' गतं प्रतिले-खनाकाल इति द्वारम्' बृ० १ उ० ३ प्रक०। "अन्ने भणंति एगारसमो दंडओ, तेसिं एगारसमो उत्ति सूरिए पडिले-हति। ततो सज्झायं पट्ठवेंति।' नि० चू० २ उ०।

इमो भाणपडिलेहणकालो–

चतुभागवसेसाए, पढमाए पोरिसीएँ भाणदुग ॥

पडिलेहणधारणता, भणिता चरिमाएँ सिक्खवणे ।६३१।

पढमचरमपोरिसीहिं, पडिलेहणयाएँ कालेसो ॥

पढमपहरचउभागावसेसा य चरिम त्ति भण्णति, तत्थ काले भाणदुगं पडिलेहिज्जति, सो भत्तट्ठी, इतरो वा। जति भत्तट्ठी तो अणिक्खित्तेहिं चेव पढति सुणति वा। अहाऽभत्तट्ठी तो णिक्खिवति,एस भयणा,एस उडुबद्धे वासासु वा विही। अण्णे भणंति–वासासु दो वि णिक्खिवति चरिमपोरिसीए पुण उग्गहो, तीए चेव पडिलेहिउं णिक्खिवति, ततो सेसोवकरणं, ततो सज्झाय पट्ठवेति। पढमगाहा–एस चरम पोरिसीसु कालो। काले त्ति दारं गतं। नि० चू० २ उ०।

आह–वेलायां न्यूनाधिकायां प्रत्युपेक्षणायां क्रियमाणायां दोष उक्तः, कस्यां पुनः वेलायां प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या ?, तत्र केचन आह–

अरुणाऽऽवस्सगपुव्वं, परोप्परं पाणिपडिलेहा ॥४३२॥

[ अरुणावस्सगपुव्वं ] अरुणाऽऽदावावश्यक पूर्वमेव कृत्वा ततः अरुणोद्गमसमये प्रभास्फुटनवेलाया प्रत्युपेक्षणा क्रियते । अपरे त्वाहुः–अरुणे उद्गते सति प्रभायां स्फुटितायां सत्याम्, आवश्यक प्रथमं पूर्वं कृत्वा ततः प्रत्युपेक्षणा क्रियते। अन्ये त्वाहुः–[ परोप्परं ति] परस्पर यदा मुखानि विभाव्यन्ते,तदा प्रत्युपेक्षणा क्रियते। अन्ये त्वाहु "पाणिपडिलेहा " यस्यां वेलायां पाणिरेखाः दृश्यन्ते, तस्यां वेलायां प्रत्युपेक्षणा क्रियते ॥ ४३२ ॥ [ ४३२ ओघ० ] । वेलायां च न्यूनायामधिकायां वा प्रत्युपेक्षणा न कार्येति भावः । कालं त्वङ्गीकृत्य–" कुक्कुडअरुणपगासं । " इत्यादिना गाथार्धमाह । अत्र वृद्धसंप्रदायः–" कालेण ऊणो जो पडिलेहणाकालो, तत्तो ऊणं पडिलेहेइ, तत्थ भण्णइ–को पडिलेहणाकालो ? । ताहे एगो भणइ–जाहे कुक्कुडो वासइ पडिक्कमित्ता ताहे पडिलेहावउ, तो पट्ठवित्ता पडिलेहउ । अण्णो भणइ–अरुणं सरीर भवइ । अण्णो–जाहे पगासंती पहाफुट्टणवेला । अवरो भणइ–परोप्परं अण्णोण्णं मुहाणि दीसंति । अण्णो भणइ–जत्थ हत्थरेहाओ दीसति त्ति । एतेषां विभ्रमे निमित्तमाह–

" देवसिआ पडिलेहा, जं चरिमाए त्ति विब्भमो एसो ।

कुक्कुडगाऽऽदेसिस्सा, तहिंधयारं ति तो सेसा ॥ १६ ॥"

दैवसिकी प्रत्युपेक्षणा वस्त्राऽऽदेः यस्माच्चरमायां,तदनु एव स्वाध्याय इति एषा भ्रान्तिः। कस्य ?, कुर्कुटाऽऽदेशिनश्चोदकस्य, तत्रान्धकारमिति कृत्वा। ततः शेषा अनादेशाः । ध० ३ अधि०।

एए उ अणाएसा, अंधारे उग्गए वि हु ण दीसे ।

मुह रय णिसिज्ज चोले,कप्पतिअ दुपट्ट थुइ सूरो ॥४३३॥

एते सर्वे एवमनादेशा असत्पक्षाः, यतः [ अंधारे उग्गते वि हु ण दीसे] अन्धकारे उद्गतेऽपि सूर्य एव वा न दृश्यते, तस्मादसत्पक्षोऽयं, शेषं पक्षत्रय सान्धकारत्वाद् दूषितमेव द्रष्टव्यम्। तत्कस्यां पुनर्वेलायां प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या इति ?,अत आह–[ " मुहरयणिसेज्जचोले कप्पतिग दुपट्टथुइसूरो ]। [ मुह इति ] मुखवस्त्रिका [रय इति] रजोहरणम्, "णिसेज्जा " रजोहरणस्य उपरितनपट्टः [ चोले त्ति ] चोलपट्टकः । [ कप्पतिग त्ति ] एक और्णिकः, द्वौ सूत्रिकौ [ दुपट्ट त्ति ] संस्तारकपट्टः, उत्तरपट्टकश्च [ थुति त्ति ] प्रतिक्रमणसमाप्तौ ज्ञानदर्शनचारित्रार्थं स्तुतित्रये दत्ते सति एतेषां मुखवस्त्रिकाऽऽदीनां प्रत्युपेक्षणासमाप्त्यनन्तरं यथा सूर्य उद्गच्छत्येव प्रत्युपेक्षणा काल इति । ओघ० । " एवं आयरिआ भणंति–सव्वे वि अणादेसा सच्छंदा अंधयारे पडिस्सए हत्थरेहाओ उग्गए वि सूरे ण दीसंति, इमो पडिलेहणाकालो आवस्सए कए तिहिं थुईहिं दिण्णिआहिं तहा पडिलेहणाकालो जहा एएहिं दसहिं पडिलेहिएहिं [ जहा ] सूरो उट्ठेइ, " मुहपोत्तीरयहरणं [ १ ] " इत्यादि काऽनुपदगता गाथा।

तस्याः फलितमाह–

"जीवदयट्ठा पेहा, एसो कालो इमीइ तो णेओ ।

आवस्सगाइ अंते, दसपेहा उट्ठई सूरो ॥ ३६ ॥ "

सुगमा । ध० ३ अधि० ।

गाहा–

तव्विवरीओ उ पुणो,णो होज्जा होति तु अकाले ।६३२।

तव्विवरीतो अकालो–पडिलेहणाए–जति पुण अद्धाणे वा असिवेण वा वाया य कारणेण पढमाए ण पडिलेहियं ताहे अकाले वि पडिलेहेति जाव चउत्थी ण उग्गाहति ताव पडिलेहियव्वं। जति वा पडिलेहियमेत्ते चेव चउत्थी ओगाहति नह वि पडिलेहियव्वं। अकाले त्ति दारं गतं। नि० चू० २ उ०।

अथ प्रत्युपेक्षणादोषद्वारं विवृणोति–

लहुगा लहुगो पणगं, उक्कोसादुवहि अपडिलेहाए ।

दोसेहि उ पेहंते, लहुओ भिन्नो य पणग च ॥८२४॥

उत्कृष्टाऽऽद्युपधीनामप्रत्युपेक्षणे प्रायश्चित्तं लघुकाः लघुकः पञ्चकं चेति। उत्कृष्टमुपधिं न प्रत्युपेक्षते चत्वारो लघुकाः, मध्यमं न प्रत्युपेक्षते मासलघु जघन्यं न प्रत्युपेक्षते पञ्चकम्।

अथ षट्सु कायेष्विति पदं व्याचष्टे–

काएसु अप्पणा वा, उवही च पइट्ठिओऽत्थ चउभंगो ।

मीससचित्तअणंतर–परोप्परपइट्ठिए चेव ॥ ८२५ ॥

प्रत्युपेक्षमाणः षट्सु कायेषु आत्मना प्रतिष्ठित उपधिर्वा तेषु प्रतिष्ठित इत्यर्थः, चतुर्भङ्गी। तद्यथा–स्वयं कायेषु प्रतिष्ठितो नोपधि , उपधि प्रतिष्ठितो न स्वयम्, स्वयमपि प्रतिष्ठित उपधिरपि प्रतिष्ठित , स्वयमप्यप्रतिष्ठित उपधिरप्यप्रतिष्ठित इति। एते च षट्काया मिश्रा वा भवेयु सचित्ता वा, एतेषु साधुरुपधिर्वा अनन्तरं वा परम्परं वा प्रतिष्ठितो भवेत्। अत्र च प्रायश्चित्तं " छक्कायचउसु लहुगा।' इत्यादिगाथाऽनुसारेणावगन्तव्यम् । यस्तु द्वाभ्यामप्यप्रतिष्ठितः स शुद्ध इति।

अथ दोषद्वारस्य वक्तव्यताशेषं, प्रतिग्रहनिक्षेपणपदं च व्याख्यानयति–

आयरिए य परिन्ना, गिलाण सरिसखमए य चतुगुरुगा ।

उडु बंधे मासलहुओ, बंधणधरणे य वासासु ॥८२६॥

[ आयरिए य त्ति ] षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदादाचार्यस्य

[ परिन्न त्ति ] मत्वर्थीयप्रत्ययलोपाद् परिज्ञा तपः कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य [ गिलाणसरिसखवय त्ति ] ग्लानस्य ग्लानसदृशश्च य. क्षपको विकृष्टतपस्वी,तस्य एतेषां चतुर्णामुपधिं यदि प्रत्युपेक्षते तदा चत्वारो गुरव । चशब्दात्प्राघूर्णकस्थविरशैक्षाणामग्लानोपमस्य च क्षपकस्योपधिमप्रत्युपेक्षमाणानां चतुर्लघव [ उउ इत्यादि पश्चार्द्धम् ] यदा सर्वाण्यपि वस्त्राणि प्रत्युपेक्षितानि भवन्ति तदा यान्यतिरिक्तानि भाजनानि तानि प्रत्युपेक्षन्ते, प्रतिग्रहमात्रक च यदि तदानीमेव प्रत्युपेक्षते तदा मासलघु, असामाचारीनिष्पन्नमिति भावः । अतः सूत्रपौरुषीं कृत्वा चतुर्भागावशेषायां पौरुष्यां प्रत्युपेक्ष्य द्वे अपि ऋतुबद्धे काले धारणीयेन निक्षेप्तव्य । अथ ऋतुबद्धे प्रतिग्रहं मात्रकं वा न धारयति उपकरणं वा दवरकेन न बध्नाति तदा मासलघु । अग्नि-स्तेन-दण्डिक-क्षोभाऽऽदयश्च ओघनिर्युक्तिप्रतिपादिता दोषाः । वर्षासु पुनरुपधिं न बध्नाति प्रतिग्रहमात्रकं च प्रत्युपेक्ष्य निक्षिपति, अथोपधिं बध्नाति भाजने वा धारयति तदा मासलघु । विशेषतश्चूर्णिकृता त्वस्या एकगाथायाः स्थाने गाथाद्वयं लिखितं यथा-

गुरु पच्चक्खाया लहु, गिलाण सरिसखमए य चउगुरुगा ।
पाहुणगा सह बाले, वुड्ढे खमए य चउलहुगा ॥८२७॥
चउभागवसेसाए, पडिग्गहं पच्चुवेक्ख न धरेइ ।
उडुबद्धे मासलहुं, वासासु धरिंति मासलहुं ॥ ८२८ ॥

इद च गाथाद्वयं भावितार्थमेव ।

अथ प्रतिलेखनिका सप्रतिपक्षेति पदं भावयति-

असिवे ओमोयरिए, सागारभए य रायगेलन्ने ।
जो जम्मि जया जुज्जइ, पडिवक्खे त जहा जोए ॥८२९॥

प्रतिपक्षो नाम द्वितीयपदम्, अशिवे अशिवगृहीतः सन्न शक्नोति प्रत्युपेक्षितुमवमौदर्ये तु प्रत्यूष एव भिक्षां हिण्डितुं प्रारब्धवन्तः,अतो नास्ति प्रत्युपेक्षणाया. कालः,सागारिको वा प्रेक्षमाणो मा तं सारमुपधिमद्राक्षीदिति कृत्वा, भये वा बोधिकस्तेनाऽऽदिसंबन्धिनि सारोपकरणहरणभयान्न प्रत्युपेक्षन्ते, राजा वा प्रत्यनीकस्तदाहर्निशमध्वनि वहन्तो न प्रत्युपेक्षेरन् ग्लानत्वे वा वर्तमान एकाकी तिष्ठन्न प्रत्युपेक्षते । एतैः कारणैर्न वा प्रत्युपेक्षेत, अनागतेऽतीते वा काले प्रत्युपेक्षेत, त्वरमाणैर्वा आरभडाऽऽदिभिर्वा दोषैर्दुष्टां प्रत्युपेक्षणा न कुर्वते असमर्थो वा गुर्वादीनामप्युपधिं न प्रत्युपेक्षेत, एवं यो यत्र शिवाऽऽदौ यदा यस्मिन्नवसरे प्रतिपक्षे प्रत्युपेक्षणाकाले प्रत्युपेक्षणाऽऽदिको युज्यते तं तथा तत्र योजयेदिति ।

अथ षट्सु कायेषु प्रत्युपेक्षमाणस्य प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थ , तत्र प्रत्युपेक्षणा न कर्तव्येति यदुक्तं, तदेव दर्शयति-

तसवीयरक्खणट्ठा, काएसु वि होज्ज कारणे पेहा ।
नदिहरण-पुत्तनायं, तणू य थूरे य पुत्तम्मि ॥ ८३० ॥

त्रसाश्च द्वीन्द्रियाऽऽदयः, बीजानि च शाल्याऽऽदीनि, तेषामस्थिरसहननाना रक्षार्थं कायेष्वपि पृथिव्यादिषु दृढसंहनने तु कारणत प्रत्युपेक्षणा भवति । न च प्रायश्चित्तम् । आह-तेषु तिष्ठतः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् संघट्टनाऽऽदिबाधनात् कथं न दोषभाग् भवतीति ?। उच्यते-नदीहरणोपलक्षितं पुत्र ज्ञातमत्र भवति । कथमित्याह-( तणू य थूरे य पुत्तम्मि त्ति ) यथा कस्यचित्पुरुषस्य द्वौ पुत्रौ तयोरेकस्तनुकः कृशशरीरः, द्वितीयस्तु स्थूलोऽतीव पीवरगात्र., स चान्यदा ताभ्यां सहितः कश्चित् ग्रामं गच्छन्नपान्तराले एकामपारगम्भीरां नदीमवतीर्णवान् स च नदीं प्लवनतया सुखेनैव स्वयं तां तरीतुं शक्तः, पर पुत्रावद्यापि तरणकलायामकोविदाविति कृत्वा तनुके स्थूले च पुत्रे उभयेऽपि तारयितुं प्राप्ते सति स किं करोतीत्याह-

जइ से हविज्ज ताओ, तारेज्ज तओ दुवग्गे वि ।
थूरो पुण तणुअतरं, अवलंबंतो वि बोलेइ ॥ ८३१ ॥

यदि ( से ) तस्य पितुः शक्तिः सामर्थ्यं भवेत् ततो ( दुवग्गे वि त्ति ) देशीवचनत्वात् द्वावपि पुत्रावुत्तारयेत् नैकमप्युपेक्षेत । अथ नास्ति तस्य तथाविधं सामर्थ्यं, ततो यस्तयोः कृशशरीरस्त तारयति, लघुभूतशरीरतया तस्य सुखेनैव तारणीयत्वात् । यस्तु स्थूरशरीरो जडः स तनुकतर स्तोकमात्रमप्यवलम्बमानो निजशरीरभारिकतयैवाऽऽत्मानं तं च नद्यां बोलयति अतस्तमुपेक्षते । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-पितृस्थानीयः साधु. पुत्रद्वयस्थानीयाः स्थिरशरीरसहननिन. पृथिवीकायाऽऽदय. । ततः साधुना प्रथमतो निर्विशेषं षट्कायाः स्थिरसंहननिनश्च रक्षणीयाः । अथान्यतरेषा विराधनामन्तरेणाध्वगमनाऽऽदिषु प्रत्युपेक्षणाऽऽदीनां प्रवृत्तिरेव न घटामञ्चति, ततः स्थिरसंहननिनां पृथिव्यादीनां विराधनामभ्युपेत्यास्थिरसंहननित्रसाऽऽदयो रक्षणीया इति ।

अस्यैवार्थस्य समर्थनाय द्वितीयं दृष्टान्तमाह-

अंगारखड्डपडियं, दट्ठूण सुयं सुयं विइयमन्नं ।
पवलित्ते नीणिंतो, किं पुत्ते ण य कुणइ पायं ॥८३२॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषस्तस्य पुत्रद्वयम्,अन्यदा च रात्रौ तद्गृहे प्रदीपनकं लग्नं, तद्वयादेकः पुत्रः पलायमान सहसैवाङ्गारभृतायां गर्तायां निपतितः, स च गृहपतिर्द्वितीयं पुत्रमादाय गृहान्निर्गतो यावत्पश्यति पुरतः स्वपुत्रमङ्गारगर्तायां पतितं पश्यति, तं सुतं तथाभूतं दृष्ट्वा द्वितीयमन्यं सुतं ( पवलित्ते नीणिंतो त्ति ) पञ्चम्यर्थे सप्तमी प्रदीप्ताद् गृहान्निष्काशयन् निजपारिणामिकमत्या विचार्य परिच्छेदकुशलः सन् किमङ्गारगर्तायां निपतितपूर्वे पुत्रे पादं न करोति, अपि तु करोत्येव, कृत्वा च तदुपरि पादं सुखेनैव तां लङ्घयतीति भावः ।

अथ तदुपरि पादं न दद्यात् स्वपुत्रं कथ पादेनाऽऽक्रमामीतिकृत्वा, तत. को दोष स्यादित्याह-

तं वा अणक्कमंता, चयइ सुयं त च अप्पगं चेव ।
निच्छिन्नो हुंतं पि हु, पुत्तं तारिज जो पडितो ॥८३३॥

वाशब्द. पातनायां, सा च कृतैव, ततो गर्तानिपतितं त पुत्रं पादेनानाक्रामन् स पिता त्यजति पुत्रं तं च, स्वहस्तगृहीतमात्मानं च, उभयोरप्यङ्गारगर्तापातेन विनाशसद्भावात् । अपि च स स्वयं निस्तीर्ण. सन् कदाचित्तमपि पुत्र तारयेत् य. पूर्वं गर्तायां पतित इति । एष द्वितीयो दृष्टान्त. ।

उपनययोजना तु प्रागुक्तोपनययोजनानुसारेण कर्तव्येति। गतं प्रत्युपेक्षणाद्वारम्। वृ० १ उ०।

इदानीं प्रत्युपेक्षणीयमुच्यते, तत्प्रतिपादनायाऽऽह–

ठाणे उवगरणे वा, थंडिले अवथभ मग्ग-पडिलेहा ।
किं आदी पडिलेहा, पुव्वण्हे चेव अवरण्हे ॥ ४१३ ॥

स्थानं कायोत्सर्गाऽऽदि त्रिविधं वक्ष्यति । तथा-उपकरणं पात्रकाऽऽदि,स्थण्डिलं यत्र कायिक्यादि क्रियते, अवष्टम्भः-अवष्टम्भनं, तत्प्रत्युपेक्षणा, मार्गे वर्त्म, यदेतत्परकमुपन्यस्तं, एतद्विषया प्रत्युपेक्षणा भवति (किं आदी पडिलेहा पुव्वण्हे) किमादिका प्रत्युपेक्षणा पूर्वाह्णे मुखवस्त्रिकाऽऽदिकेति, अपराह्णे किमादिका, तत्रापि मुखवस्त्रिकाऽऽदिकेति द्वारगाथेयम्।

इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति । तत्र सामान्येन सर्वाणि च द्वाराणि व्याख्यानयन्नाह–

ठाणनिसीयतुयट्टण-उवगरणाईण गहणनिक्खेवे ।
पुव्विं पडिलेहे च -क्खुणा उ पच्छा पमज्जेज्जा ॥४१४॥

स्थान कायोत्सर्ग', तं कुर्वन् चक्षुषा प्रथम प्रत्युपेक्षते, पश्चात् प्रमार्जयति । तथा-निषीदनमुपविशन, त्वग्वर्तनं स्वपनम्, तथा-उपकरणाऽऽदीनां ग्रहणनिक्षेपे च । आदिग्रहणात् स्थण्डिलमवष्टम्भश्च गृह्यते । एतानि सर्वाण्येव पूर्वं चक्षुषा प्रत्युपेक्ष्य, पश्चाद्रजोहरणेन प्रमृज्यन्ते । ओघ० । ( स्थानद्वारम् 'काउस्सग्ग' शब्दे तृतीयभागे ४१७ पृष्ठे विवृतम् )

इदानीमुपकरणद्वारप्रतिपादनायाऽऽह–

उवगरणादीयाणं, गहणे निक्खेवणे य संकमणे ।
ठाण निरिक्ख पमज्जण, काउं पडिलेहए उवहिं ॥४२०॥

उपकरणाऽऽदीनां ग्रहणे आदाने यत् स्थानं तद् निरीक्ष्य निरूप्य प्रमृज्य च, उपधि· प्रत्युपेक्षणीय इत्यत्र संबन्धः । तथा-उपकरणाऽऽदीना निक्षेपणे च यत् स्थानं तद् निरीक्ष्य प्रमृज्य च उपधिः प्रत्युपेक्षणीयः। तथा-उपकरणाऽऽदीनामेव यत् संक्रमणं स्थानान्तरसंक्रमणं तस्मिन् यत् स्थानान्तर निरीक्ष्य प्रमार्जनं कृत्वा उपधिं, प्रत्युपेक्षेत योऽयमादिशब्द· स उपधिप्रकारप्रतिपादकः, उपकरणाऽऽदेः गृहणनिक्षेपणसंक्रमणेषु यत् स्थानं तत्स्थाननिरीक्षणं प्रमार्जनमुक्तम्।

इदानीमुपकरणप्रत्युपेक्षणाप्रतिपादनायाऽऽह–

उवगरण वत्थ पायं, वत्थे पडिलेहणं तु वोच्छामि ।
पुव्वण्हे अवरण्हे, मुहणंतगमाइपडिलेहा ॥ ४२१ ॥

उपकरणप्रत्युपेक्षणा द्विविधा-(वत्थे पाए त्ति)वस्त्रविषया, पात्रविषया च प्रत्युपेक्षणा उच्यते, यतः प्रव्रजितस्य प्रथम वस्त्रोपकरणमेव दीयते, न पात्रोपकरणम् ,सा च वस्त्रप्रत्युपेक्षणा। सा च कस्मिन्काले भवतीत्यत आह-(पुव्वण्हे अवरण्हे) पूर्वाह्णे वस्त्रप्रत्युपेक्षणा भवत्यपराह्णे च। किमादिका पुन प्रत्युपेक्षणा भवतीत्यत आह-( मुहणंतगमादिपडिलेह त्ति ) मुखवस्त्रिका आदौ यस्या प्रत्युपेक्षणाया सा मुखवस्त्रिकाऽऽदिका प्रत्युपेक्षणा, कदा पूर्वाह्णे, अपराह्णे चेति ।

तत्र मुखवस्त्रिकाऽऽदिकवस्त्रप्रत्युपेक्षणायामयं विधिः–

उड्ढं थिरं अतुरियं, सव्वं वा वत्थ पुव्व पडिलेहे ।
तो वितियं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥४२२॥

तत्र वस्त्रोर्द्ध्वं कायोर्द्ध्वं च आचार्यमतेन भविष्यति, चोदकमतेन च वक्ष्यमाणम् , तत्र वस्त्रोर्द्ध्वं कायोर्द्ध्वं च यद्वा भवति तथा प्रत्युपेक्षेत [थिर ति] स्थिरं सुगृहीत कृत्वा प्रत्युपेक्षेत । [ अतुरियं ति ] अत्वरितं स्तिमितं प्रत्युपेक्षेत निरीक्षेत [ सव्वं ति ] सर्वं कृत्स्नं वस्त्रं तावत् पूर्वं प्रथमं प्रत्युपेक्षेत चक्षुषा निरीक्षेत, एवं तावदर्वाग्भाग· परभागोऽपि परावृत्य एवमेव चक्षुषा निरीक्षेत [ तो वितियं पप्फोडि त्ति ] ततः द्वितीयायां वारायां प्रस्फोटयेत् वस्त्रं, प्रस्फोटिमा कर्तव्या इत्यर्थ· [ तइयं च पुणो पमज्जेज्ज त्ति ] तृतीयायां वारायां हस्तगतान् प्राणान् प्रमार्जयेदिति।

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह–

वत्थे काए तम्मि य, परवयणं ठिओ गहाय दसियंते ।
तं न भवइ उक्कुडुओ, तिरियं पेहे जह विलित्ते ॥ ४२३ ॥

तत्रोर्ध्वं द्विविधा वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं, चेत्येते तस्मिन्नुक्ते [ परवयणं ति ] परश्चोदकस्तस्य वचनम्। किं तदित्याह– [ ठिओ गहाय दसियंत त्ति ] स्थितस्य ऊर्द्ध्वस्य गृहीत्वा दशान्तं वस्त्रं प्रस्फोटयति वस्त्रोर्द्ध्वं कायोर्द्ध्वं चेति भवति। एवमुक्ते सति आचार्य आह-[तं ण भवति त्ति] तदेतन्न भवति यच्चोदकेनाभिहितम्। कुत· ?,यस्मात् [ उक्कुडुओ तिरियं पेहे ] उत्कुटुक· स्थितः तिर्यक् प्रसार्य वस्त्रं प्रत्युपेक्षते, एतदेव वचनं वस्त्रोर्द्ध्वं कायोर्द्ध्वं वा नान्यत्। यथा चन्दनाऽऽदिना विलिप्ताङ्गः परस्परमङ्गानि न लगयति, एवं सोऽपि प्रत्युपेक्षते ततश्चैवम् उत्कुटुकस्य कायोर्द्ध्वं भवतीति, तिर्यक्प्रसारितस्य वस्त्रस्य वस्त्रोर्द्ध्वं भवतीति "उड्ढ ति"(४२२) भणितम्।

इदानीं स्थिराऽऽदीनि पदानि भाष्यकार एव व्याख्यानयन्नाह–

घेत्तुं थिरं अतुरियं, तिभागवुड्ढीए चक्खुणा पेहे ।
तो वितियं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥४२४॥

गृहीत्वा च स्थिरं निविडं दृढं वस्त्रं ततः प्रत्युपेक्षेत, अत्वरितं स्तिमितमूर्द्ध्वं वस्त्रं ततः प्रत्युपेक्षेत इति भाव । ( तिभागवुड्ढीए त्ति ) भागत्रयवृद्ध्येत्यर्थ चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत। तत· द्वितीयवारायां प्रस्फोटयेत्, तृतीयवारायां प्रमार्जयेत् पूर्ववत्।

इदानीं प्रत्युपेक्षणा कुर्वता इदं कर्तव्यम्–

अणच्चाविय अचलियं, अणाणुवंधिं अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा णव खोडा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥४२५॥

तत्र प्रत्युपेक्षणा कुर्वता वस्त्रमात्मा वा न नर्तयितव्य , तथाऽचलितं वस्त्रं शरीरं च कर्तव्यम्। (अणाणुवंधि त्ति)अनुबन्धः, सोऽस्मिन्नस्तीति अनुबन्धि,न अनुबन्धि अननुबन्धि, तत्प्रत्युपेक्षणा,न अनवरतं प्रस्फोटनाऽऽदि,कर्तव्य, किं तर्हि सान्तरं सविच्छेद इत्यर्थ । (अमोसलिं ति) न मोशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमोशलि प्रत्युपेक्षणं, यथा मुशलं कुट्टिते ऊर्द्ध्वं लगति , अधस्तिर्यक्, एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । किंतु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्द्ध्वं पीठिपु न

लगति, न च तिर्यक्, न भूमौ, तथा कर्तव्यम् ( छपुरिमा ) तत्र वस्त्रस्य चक्षुषा निरूप्यार्वाक्भाग त्रय पुरिमाः कर्तव्याः, तथा परावर्त्य अपरभागं निरूप्य पुनरपि त्रय पुरिमा कर्तव्याः । एवमेतेषु पुरिमा षड्वाराः, प्रस्फोटनानीत्यर्थः, नव च खोडकाः कर्तव्याः पाणेरुपरि (पाणी पाणे पमज्जणय त्ति) प्राणिनां कुन्थ्वादीनां पाणौ हस्ते प्रमार्जनं नवैव वाराः कर्तव्याः। इयं द्वारगाथा ।

इदानीं भाष्यकारः पूर्वार्द्धं व्याख्यानयन्नाह-

**वत्थे अप्पाणम्मि य,चउह अणच्चावियं अचलियं च ।**
**अणुबंध निरंतरया, तिरि उड्ढह घट्टणा मुसली ॥४२६॥**

वस्त्रे आत्मनि इत्यनेन पदद्वयेन भङ्गचतुष्टय सूचितं भवति । ततश्चानेन प्रकारेण अनर्तावित चतुर्द्धा भवति । कथम्?-"वत्थं अणच्चाविय अप्पा च अणच्चावियं एगो भंगो। तथा वत्थं अणच्चावियं, अप्पाणं णच्चावियं । तथा वत्थं णच्चावियं अप्पाणं ण णच्चावियं । तथा वत्थं पि नच्चावियं अप्पाणं वि णच्चावियं । एस चउत्थो । एत्थ पढमो भंगो सुद्धो।" एवम्-(अचालितं ति अचलितेऽपि चउरो भङ्गा यथा-वत्थं अचलितं अप्पाणं अचलिय । तथा-वत्थं चलिय अप्पाणं अचलियं । तथा-वत्थं अचलियं अप्पाणं चलियं। तथा वत्थं पि चलियं अप्पाणं पि चलियं। एत्थ पढमो भंगो सुद्धो । ( अणुबंधनिरंतरय त्ति ) अनुबन्धनिरन्तरता उच्यते, ततश्च न अनुबन्धेन नैरन्तर्येण प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । इदानीम् ' अमोसलिं ति " व्याख्यानयन्नाह--[ तिरि उड्ढह घट्टणा मुसलि त्ति ] त्रिविधा मुशली तिर्यक्घट्टना, ऊर्द्धं घट्टना, अधोघट्टना चेति । तत्र प्रत्युपेक्षणा कुर्वन् वस्त्रेण तिर्यक् कुड्यादि घट्टनि स्पृशति, ऊर्द्ध कुट्टिकाऽऽदिपटलानि घट्टयति, अधोभुवं घट्टयति । एवं मुशली, किं तु अमुशली न किञ्चित् प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् वस्त्रेण घट्टयति ।

इदं तावत् पूर्वोक्तमनर्तिताऽऽदि कर्त्तव्यम्,इद तु वक्ष्यमाणं न कर्तव्यं, किं तदित्याह-

**आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।**
**पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइय छ दोसा ॥४२७॥**

( आरभड त्ति ) आरभटा प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्या, (संमद्द त्ति संमर्दा, वर्जनीया च मौशली तृतीया, प्रस्फोटना च चतुर्थी, विक्षिप्ता पञ्चमी, वेदिका षष्ठी इति द्वारगाथेयम्।

इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति। तत्राऽऽद्यावयवं व्याचिख्यासुराह-

**वितहकरणे व तुरियं, अण्णं अण्णं च गेण्हणाऽऽरभडा ।**
**अतो व होज्ज कोणा, णिसियण तत्थेव संमद्दा ॥४२८॥**

वितथं विपरीतं यत्करणं तदारभटाशब्देनोच्यते। सा चाऽऽरभटा प्रत्युपेक्षणा न कर्तव्या इत्यर्थ ,वा विकल्पे,इयं चाऽऽरभटोच्यते, यदुत त्वरितमाकुलं यदन्यान्यवस्त्रग्रहण तदारभटाशब्देनोच्यत,सा च प्रत्युपेक्षणा न कर्तव्या। त्वरितमन्यान्यवस्त्रग्रहणं न कर्तव्यमित्यर्थः । आरभटेति गतम्। इदानीं संमर्दां व्याख्यायते। तत्राऽऽह-(अंतो व होज्ज कोणा णिसियण तत्थेव संमद्दा ) अन्तर्मध्यप्रदेशे वस्त्रस्य संवलिता कोणा यत्र भवन्ति सा समर्देत्यते सा प्रत्युपेक्षणा, तादृशी क्रिया न कर्तव्या। ( णिसीयणं तत्थेव त्ति ) तत्रैव अवधिकायामुपविश्य प्रत्युपेक्षणं करोति, सा वा समर्दोच्यते, सा च न कर्तव्या इति । " संमद्दत्ति भणियं । "



इदानीं मौशालीवर्जनप्रतिपादनायाऽऽह-

**मोसलि पुव्वुद्दिट्ठा, पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव ।**
**विक्खेवं तु विखेवे, वेइय पणग च छद्दोसा ॥ ४२९ ॥**

मौशली पूर्वमेवोद्दिष्टा, पूर्वमेव भणिता इत्यर्थ । " मोसलि त्ति " गता। इदानीं "पप्फोड त्ति" व्याख्यायते-तत्राऽऽह- ( पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव ) प्रकर्षेण धूननं प्रस्फोटनं, तद्रेणुगुण्डितस्यैव वस्त्रस्य करोति,यथाऽन्य कश्चित् गृहस्थो रेणुना गुण्डित सद् वस्त्रं प्रस्फोटयति, एवमसावपि, इयं च न कर्तव्या। " पप्फोडण त्ति " गतम्। इदानीं " विक्खित्त-त्ति" भण्यते। तत्राऽऽह-( विक्खेवं तु विखेवे ) विक्षेपं तु तं विद्धि यत्र वस्त्रस्यान्यत्र क्षेपणम्। एतदुक्तं भवति- प्रतिलिखयित्वा वस्त्रमन्यत्र जवनिकाऽऽदौ क्षिपति । अथवा-विक्षेपः वस्त्राञ्चलानामूर्द्ध्वं यत् क्षेपणं स उच्यते। स च प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्यः । " विक्खित्त त्ति " गतम् । इदानीं " वेइय त्ति ' व्याख्यायते-तत्राऽऽह-( वेइयपणगं च त्ति ) वेदिका पञ्चप्रकारा । " त जहा-उड्ढ वेइया, अधो वेइया, तिरियं वेइया, दुहतो वेइया, एगओ वेइया । तत्थ उड्ढवेइया- उवरिं जाणुगाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ । अधोवेइया अधोजाणुगाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ। तिरियवेइया-संडसगाणं मज्झं मज्झेण हत्थेणेत्तणं पडिलेहेति, दुहओ वेइया-बाहूणं अंतरे दो वि जाणुगा काऊण पडिलेहेइ, एगओ वेइया जाणुगं बाहाण अंतरे काऊण पडिलेहेइ ।" इद वेदिकापञ्चकं प्रत्युपेक्षणा कुर्वता न कर्तव्यम्। ( छद्दोस त्ति ) एते आरभटाऽऽदयः प्रत्युपेक्षणा कुर्वता न कर्तव्या इति। तथा एते च दोषा प्रत्युपेक्षणाया न कर्तव्याः।

**पसिढिल पलंबलोला, एगा मोसा अणेगरूव धुणे ।**
**कुणइ पमाणे पमायं, संकिएँ गणणोवगं कुज्जा ॥४३०॥**

(पसिढिलं) दृढं न गृहीतम् [ पलंब त्ति ] प्रलम्बमानाञ्चलं एकान्ते गृहीतं, ततश्च प्रलम्बते। [ लोला इति ]भूमौ लोलने हस्ते वा पुनर्लोलयति प्रत्युपेक्षयन्।" लोल त्ति गयं।" [ एगा मोस त्ति ] मज्झं गहेऊण हत्थेहिं वत्थं घसंतो तिभागावसेसं जाव णेति,दोहिं वि पासेहिं जाव गिण्हण इत्यर्थ। अहवा-तिहिं अंगुलीहिं घेत्तयंतो एक्काए चेव गेण्हइ। अहवा-णेगा मोसा ' इति केचित्पठन्ति। तत्र न एके आमर्षा अनेके स्पर्शा इत्यर्थ। [ अणेगरूव धुण त्ति ] " अणेगपगारं कंपेति । अथवा-अणेगाणि एगओ काऊण धुणइ । " तथा-[ कुणइ पमाणे पमाय त्ति ] पुरिमेषु खोटकेषु यत्प्रमाणमुक्तं भवति तान् पुरिमादीना न्यूनानधिकान वा करोति। (संकिए गणणोवगं कुज्ज त्ति, शङ्किता चाऽसौ गणना च शङ्कितगणना तामुपगच्छति या प्रत्युपेक्षणा सा शङ्कितगणनोपगता नाम एवं गुणविशिष्टां न कुर्यात। एतदुक्तं भवति-पुरिमाऽऽदय शङ्कितान जानाति कियन्तो गता इति,ततो गणनां करोति । तथा अनाभोगाच्छङ्किते सति गणनोपगा ... एगच्चरीति गणनोपगता गणनोपगा ... सर्वां करोति, पुरिमाऽऽदीन् गणयतीत्यर्थ । द्वारगाथा

इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह-

**पसिढिलमघणमणिसयं, विसमग्गहणे च कोणं च ।**
**भूमीकर-लोलणया, कत्तणगहणेग आमोसा ॥४३१॥**

(पसिढिल त्ति) प्रसिथिलमघनमदढ गृह्णाति। अतिशयं वा, अत्रुटितं वा प्रसिथिलमुच्यते। 'पसिढिल त्ति" गतम्। [पलव त्ति]भण्यते। विषमग्रहणे सति लम्बकोणं भवति वस्त्रम्। ["पलवं त्ति"गतम्।"लोला"भण्यते अत्राऽऽह[भूमीकरलोलणया] भूमौ लोलयति. करे हस्ते वा लोलयति प्रत्युपेक्षयन्। 'लोल त्ति" गतम्। [एगामोस त्ति]भण्यते। तत्राऽऽह-[कत्तणगहणेगआमोसा ] मध्ये च वस्त्रं गृहीत्वा तावदाकर्तनं करोति यावत् त्रिभागशेषग्रहणं जातम् । इयमेका मोसा, एकं घर्षणमित्यर्थः । अथवा-आकर्षणग्रहणे च अनेक आमोसा अनेकानि स्पर्शनानि तद्वस्त्रमनेकधा स्पृशति । " एकामोस त्ति " गतम् ।

' अणेगरूवधुण त्ति " [ ४३० गा० ] भण्यते-

**धुणणं तिण्ह परेणं, बहूणि वा घेत्तु एकओ धुणइ ।**
**खोडणपमज्जणासु य,संकिए गणणं करे पमाई च ।।४३२।।**

धूनना कम्पना त्रयाणां "पुरिमाणां" परत उपरिष्टाद्यत्तत्करोति । अत्र च त्रयाणां परत इति यदुक्तं तदेकवस्त्रापेक्षया बहूनि वा गृहीत्वा वस्त्राणि एकीकृत्य यौगपद्येनापि प्रस्फोटयति ' अणेगधुणे त्ति " भणियं । "कुणइ पमाणे पमायं ति" भण्यते। तथाऽऽह-[ खोडणपमज्जणासु य ]खोटनकेषु नवसु , प्रमार्जनासु च नवसु न प्रमादं करोति । " कुणइ पमाणे पमायं ति " गतम् । " संकिए गणणोवगं ति " भणइ। अत्राऽऽह-[संकिए गणणं करे पमादी य त्ति ] शङ्किते सति गणना करोति य. स प्रमादी भवति। एवमियमित्थंभूता प्रत्युपेक्षणा न कर्तव्या इति स्थितम् । ओघ० । ( प्रमादप्रतिलेखना ' पमायपडिलेहा ' शब्दे वक्ष्यते ) ( अप्रमादप्रतिलेखना ' अपमायपडिलेहा ' शब्दे प्रथमभागे ५६६ पृष्ठे गता )

अनतिरिक्ता कर्तव्या प्रत्युपेक्षणा, किंविशिष्टा पुनः कर्तव्येति ?। आह-

**अणुणाऽतिरित्तपडिलेहा, अविवज्जासाइ पढमओ सुद्धो ।**
**पढमं पय पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ ४३३ ॥**

अन्यूना अनतिरिक्ता अविपर्यासेन प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या। एभिः त्रिभि. पदै' अष्टौ भङ्गा. सूचिता.। तेषां चैषा स्थापना-

एतेषां प्रथमं पदं प्रशस्तं शेषाणि तु अप्रशस्तानि अनादेयानि ।

इदानीं भाष्यकारः शुद्धाशुद्धप्रदर्शनायाऽऽह-

**ण वि ऊणा णऽतिरित्ता,अविवच्चासा वि पढमओ सुद्धो ।**
**सेसा हुंति असुद्धा, उवरिल्ला संति जे भंगा ॥ ४३४ ॥**

नापि न्यूना, नाप्यतिरिक्ता, विपर्यासेन च, अत्र प्रथमो भङ्गक. शुद्धः, शेषं सुगमम् ।

इदानीं ये अशुद्धा' सप्त भङ्गका दर्शितास्ते एवं भवन्ति-

**खोडणपमज्जवेला -सु ण च ऊणाहिया मुणेयव्वा ।**
**अरुणावस्सगपुव्वं, परोप्परं पाणिपडिलेहा ॥ ४३५ ॥**

खोटका यदि ऊना अधिका वा क्रियन्ते, ततः-अशुद्धता भवति। प्रमार्जना च नवसंख्या यदि न्यूना अधिका वा क्रियते ततोऽशुद्धता भवति, वेलाया च न्यूनायामधिकायां वा प्रत्युपेक्षणायां क्रियमाणायामशुद्धा भङ्गका भवन्ति विज्ञेया. । उत्तरार्धव्याख्या तु पूर्वं गता । ओघ० ।

उपधिविपर्यासः । यदुक्तम्-

**पुरिसुपहिविवच्चासो, सागारिएँ करेज्ज उवहिवच्चासं ।**
**आपुच्छित्ता च गुरुं, पडुच्चमाणेतरे वितहं ॥ ४३७॥**

तत्र विपर्यासो द्विविध.-पुरुषविपर्यासः, उपधिविपर्यासश्च । तत्र उपधिविपर्यासप्रतिपादनायाऽऽह-( सागारिए करेज्ज उवहिवच्चासं ति)सागारिके स्तेनाऽऽदिके सत्यागते विपर्यास. क्रियते । प्रत्युपेक्षणाया प्रथमं पात्रकाणि प्रत्युपेक्षन्ते, पश्चाद्वस्त्राणि । एवमयं प्रत्युषसि विपर्यासः प्रत्युपेक्षणायाः। एवं विकालेऽपि सागारिकानागन्तुकान् ज्ञात्वा इदानीं पुरुषविपर्यास उच्यते। तत्राऽऽह-(आपुच्छित्ता च गुरुं,पडुच्चमाणे त्ति) आपृच्छ्य गुरुमात्मीयामुपधिं ग्लानसत्कां वा प्रत्युपेक्षणे पुरुषविपर्यास उच्यते। कदा ?,अत आह-(पडुच्चमाणे) यदा आभिग्रहिका उपधिप्रत्युपेक्षकाः ( पडुच्चं ति ) पर्याप्यन्ते तदैवं करोति। (इतरे वितहं ति ) इतरे आभिग्राहिका यदा न सन्ति तदा प्रथममात्मीयामुपधिं प्रत्युपेक्षमाणस्य वितथमनाचारो भवतीत्यर्थ ।

तत्र न केवलं प्रत्युपेक्षणाकाले उपधिविपर्यासं कुर्वतो वितथमनाचारो भवति ।

एवं च वितथं भवति-

**पडिलेहणं करेंतो, मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा ।**
**देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिलहइ वा ॥४३८॥**

प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् मिथ' कथां मैथुनसंबद्धां कथां करोति। जनपदकथा वा। प्रत्याख्यानं वा,श्रावकाऽऽदेर्ददाति,वाचयति किञ्चित्साधुं पाठयतीत्यर्थ' । ( सयं पडिलहइ वा ) स्वयं प्रतीच्छति-आत्मना वा आलापकं दीयमानं प्रतीच्छति गृह्णाति। एतच्च वक्ष्यमाणं कुर्वन् षण्णामपि जीवनिकायानां विराधको भवतीत्यर्थ ।

इत्यत आह-

**पुढवीआउक्काए-तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।**
**पडिलेहणापमत्तो, छण्हं तु विराहओ होई ॥ ४३६ ॥**

सुगमा ॥ ४३६ ॥

कथं पुन. षण्णामपि कायाना विराधकः ?,अत आह-

**घडगार पलुट्टणया, मट्टिय अगणी य कुंथुवीयाइ ।**
**उदगगया य तसेतर, उम्मुकसघट्ट झावणया ॥४४०॥**

स हि साधु. कुम्भकाराऽऽदिवसतौ प्रत्युपेक्षणा कुर्वन्नुपयुक्त तोयघटाऽऽदि प्रलोटयेत्। स च तोयभृतो घटः मृत्तिकाऽग्निबीजकुन्थ्वादीनां उपरि प्रलुठितः, ततश्चैतान् व्यापादयेत्, यत्राग्निस्तत्र वायुरप्यवश्यंभावी । अथवा-अनया भङ्ग्या पण्णा कायाना व्यापादका ( उदगगया य तसेतर त्ति ) ये त्रसा उदकघटे पूतरकाऽदय ( इतर त्ति ) वनस्पतिकायाश्च । तथा वस्त्रान्ते नवे उल्मुकं संघट्टयेत् चालयेत्, त-

तश्च-[झावणग्र त्ति] तेनोल्मुकेन चालितेन सता प्रदीपनकं सजातं, ततश्च संयमाऽऽत्मविराधना जातेति । अथोपयुक्तः प्रत्युपेक्षणां करोति, तत एतेषामेव षण्णां जीवनिकाया-नामाराधको भवति ।

एतदेवाऽऽह-

पुढवीआउक्काए-तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।
पडिलेहणमाउत्तो, छण्हं आराहओ होइ ॥ ४४१ ॥

सुगमा, णवर आराधकोऽविराधको भवति, न केवलं प्रत्युपेक्षणा, अन्योऽपि यः कश्चिद्व्यापारो भगवन्मते सम्यक् युज्यते, स एव दुःखक्षयाय भवति ।

तदेवाऽऽह-

जोगे जोगे जिणसा-सणम्मि दुक्खक्खयाएँ पउज्जंते ।
अन्नोन्नमबाहाए, असवत्तो होइ कायव्वो ॥ ४४२ ॥

योगे योग इति वीप्सा, ततश्च व्यापारः जिनशासने दुःखक्षयाय प्रयुज्यमानः । कथम् ?, अन्योन्याबाधया परस्परमपीडया । एतदुक्तं भवति-यथा क्रिया क्रियमाणा अन्येन क्रियान्तरेण न बाध्यत एवमन्योन्याबाधया प्रयुज्यमानः असपत्नोऽविरुद्धो भवति कर्तव्य इति ।

इदानीं फलं प्रदर्शयन्नाह-

जोगे जोगे जिणसा-सणम्मि दुक्खखयाएँ पउजंते ।
एकेकम्मि अणंता, वट्टंता केवली जाया ॥४४३॥

सुगमा । नवरम्-एकैकस्मिन् योगे व्यापारे वर्तमाना अनन्ता केवलिनो जाता इति ।

एवं पडिलेहित्ता, अईअकाले अणंतगा सिद्धा ।
चोयगवयणं सयय, पडिलेहामो जओ सिद्धा ॥४४४॥

एवं प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्तः-अतीतकाले अनन्ताः सिद्धाः । एवमाचार्येणोक्ते सति ( चोदगवयणं ) अत्र चोदकवचनं चोदकपक्षः । किं तदित्याह-[ सययं पडिलेहामो ] यद्येवं प्रत्युपेक्षणाप्रभावादनन्ताः सिद्धाः, तत सततमेव प्रत्युपेक्षणामेव कुर्मः, किमन्येन योगेनानुष्ठितेन, यतस्तत एव सिद्धिर्भवति ।

आचार्य आह-

सेसेसु अवट्टंतो, पडिलेहंतो वि देसमाराहे ।
जइ पुण सव्वाराहण-मिच्छसि तेणं निसामेहि ॥४४५॥

शेषेषु योगेषु अवर्तमान सम्यक् शास्त्रोक्तेन न्यायेन प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नपि देशत आराधक एवाऽसौ, न तु सर्वमाराधितं भवति । तेन यदि पुन. संपूर्णाऽऽराधनामिच्छसीत्यादि सुगमम् । ओघ० ।

गाहा-

पडिलेहणा तु तस्सा-ऽकाले सदोस णिद्दोसा ।
हीणऽतिरित्ता य तहा, उक्कमकमतो य णायव्वा ॥६२५॥

इदाणिं हीणतिरित्ते त्ति दारं पडिलेहणगाहा । (पडिलेहण पप्फोडण-पमज्जणा य त्ति) ततो अहीणमतिरित्ता कायव्वा । हीणातिरित्ते दार गतं । उक्कमकमतो त्ति दारं-उवधिपुरिसेतिसु । उवधिम्मि पच्चूसे पुव्वं मुहपोत्ती, ततो रयहरणं । ततो णिसज्जा, ततो बाहिरणिसेज्जा, चोलपट्टो, कप्प, उत्तरपट्टं, संथारं, पत्तं, दंडगो य एस कमो । अमहा उक्कमो पुरिसेसु पुव्वं आयरियस्स, पच्छा परिणीयतो गिलाणसेहादिय । ण अण्णहा उक्कमो । उक्कमे पडिलेहणाए य पच्छित्तं ।

इदाणिं पडिलेहणदारं गाहा-

पडिलेहण पप्फोडण, पमज्जणा चेव जा जहिं कमति ।
तिविहम्मि वि उवहिम्मी, तमहं वोच्छं समासेणं ।६२६।

चक्खुणा पडिलेहणा उक्कोडगप्पदाणं, पप्फोडणा मुहपोत्तियरयहरणगोच्छगेहिं पमज्जणा । एताओ तिविहोपकरणे जहण्णमज्झिमुक्कोसे जा जत्थ संभवति तं समासतो भणामि ।

गाहा-

पडिलेहणा य वत्थे, पाए य भवंति दोसा तु ।
पडिलेहणा पमज्जण, पातादीयाण दोसया होंति ॥६२७॥

वत्थे पडिलेहणपप्फोडणाओ दोसा भवंति पाणित्ति हत्थो, तत्थ पडिलेहणपमज्जणाओ दोसा भवंति अह णिविंडंति त्ति पप्फोडणा, सा अविधि त्ति काऊण भवति । पाते दण्डगे, आदिसद्दातो पीठफलगसंथारगसेज्जाए य पडिलेहणपमज्जणा दोसा भवति ।

पायवत्थेसु पप्फोडणप्रदर्शनार्थमाह-

रत्तिं पमज्जणं पुण, भणिता पडिलेहणा य णत्थि त्ति ।

पडिलेहगा केति आयरिया भणति-पडिलेहिए पाते जमंगुलीहिं आहिंडति सा पप्फोडणा, पडलवत्थेलु । गोच्छकपदेसे सरियाहिं णियमा पमज्जणा संभवति, न केषाञ्चिन्मतमित्यर्थः । इदाणिं पडिलेहणपमज्जणपप्फोडणादिवसतो का कत्थ संभवति त्ति भण्णति-(पडिलेहोगाहा*) पादादिए उवकरणे जहा संभवदिवसतो तिरिण वि संभवति । रात्रो य पप्फोडणपमज्जणा य दोसा भवंति पडिलेहणा ण संभवति अचक्खुविसयाओ । पडिहेण त्ति दारं गतं । नि० चू० २ उ० ।

गाहा-

चाउम्मासुक्कोसे, मासिय मज्झे य पंच य जहण्णे ।
तिविधम्मि वि उवधिम्मी, तिविधा आरोवणा भणिता ६३७

उक्कोसे चाउम्मासो । मज्झिमे मासो, जहन्ने पणगं । तिविधा जहण्णमज्झिमणुक्कोसा ।

गाहा-

इत्तरिओ पुण उवधी, जहण्णओ मज्झिमो य णातव्वो ।
सुत्तणिवातो मज्झिमे, तमपडिलेहेंति य आणादी ॥६३८॥

इत्तरगहणातो जहण्णमज्झिमे सुत्तणिवाओ, मज्झिमे तमपडिलेहंतस्स आणाइया दोसा इमे संजमदोसा ।

गाहा-

घणसंताणगपणगे, घरकोइलियादिपसवणं वा वि ।
हितणट्ठ जाणणट्ठा, विच्छयतह सेट्ठकारी य ॥६३९॥

घणसंताणगे त्ति । अपेहिए लूतापुडगं संवज्झति, पणगो उट्ठी अपेहिते भवति । गिहिकोइला पसवति । हियणट्ठं वा संभारियं भवति, गिम्हे विच्छुगसप्पादिया पविसंति, अपेहिते तेहिं वि आयविराहणा भवति । सेट्ठयारिया घणरियाहिं करेज्ज । जम्हा एते दोसा तम्हा सव्वोवधी दुसंझं पडिलेहियव्वो । ...युपक्षते ।

* सार्द्धगाथा पुस्तके नास्ति ।

कारणे पुण अपेहंतो वि अदोसो । इमे य ते कारणा–

आसिवे ओमोयरिए, गेलण्णेऽद्धाणसंभम भए वा ।
तेणयपउरे सागार–संजमहेतुं व वितियपए ॥६४०॥

असिवगहितो ण तरति, तप्पडियरगा वा वाउलत्तणओ,अवमे य पञ्चिय आराह्मा हिंडिउं पडिलेहणाए णत्थि कालो, गिलाणो ण तरति, एगागी अद्धाण सत्थवसो ण पेहे, अगिणिमादिसंभमा ण पेहे,वोहिगादिभए वा,ण पेहे तेणे य पउरे सारोवही य मा पेस्सिहिंति ण पेहे, कसिणोवहि त्ति सागारिए ण पेहेति, पाववंचगाए वा अग्गतो ण पेहेति, संजमहेउं वा महियाभिएणवाससचित्तपसु वितियपदेण अपेहिंतो वि सुद्धो इति । नि० चू० २ उ० ।

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगे सापायकंवलं ।
सिज्जामुच्चारभूमिं च, सथारं अदुवाऽऽसणं ॥ १७ ॥

तथा–ध्रुवं च नित्यं च यो यस्य काल उक्तोऽनागते परिभोगे च तस्मिन् प्रत्युपेक्षेत सिद्धान्तविधिना, योगे सति सति सामर्थ्ये, अन्यूनातिरिक्तम् । किं तदित्याह–पात्रकम्बलं,पात्रग्रहणादलाबुदारुमयाऽऽदिपरिग्रहः । कम्बलग्रहणादूर्णसूत्रमयपरिग्रहः । तथा–शय्यां वसतिं द्विकालं त्रिकालं च उच्चारभुवं चानापातवदादि थण्डिलं, तथा–संस्तारकं तृणमयाऽऽदिरूपम् । अथवा–असनमपवादगृहीतं पीठकाऽऽदि प्रत्युपेक्षेत । इति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाण जल्लियं ।
फासुयं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥१८॥

उच्चारं, प्रस्रवणं, श्लेष्मसिङ्घाणजल्लमिति प्रतीतानि । एतानि प्रासुकं प्रत्युपेक्ष्य, स्थण्डिलमिति वाक्यशेषः । परिष्ठापयेत् व्युत्सृजेत् संयत इति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० ।

पात्रप्रत्युपेक्षणाया कथं स चाऽऽराधको भवत्यत आह–

पंचिंदिएहिँ गुत्तो, मणमाइतिविहकरणमाउत्तो ।
तवनियमसंयमम्मि, जुत्तो आराहगो होइ ॥४४६॥

पञ्चभिरिन्द्रियैर्गुप्तः मानसाऽऽदिना त्रिविधेन करणेनाऽऽयुक्त यत्नवान्,तपसा द्वादशविधेन युक्तः,नियम इन्द्रियनियमो,नोइन्द्रियनियमश्च,तेन युक्तः,संयमः सप्तदशप्रकारः–"पुढविकाइओ, आउक्काओ, वाउक्काओ, वणस्सइकाओ, वेइंदिय–तेइंदिय–चउरिंदिय–अजीवकायसंजमो पेहेउ पेहा पमज्जण परिट्ठावण वणस्सइकाए ।" अत्र यः संयत स मोक्षस्य आराधको भवति, प्रव्रज्याया वा आराधकः । द्वारगाथा इयम् ।

इदानीं भाष्यकार एना गाथा प्रतिपदं व्याख्यानयति–तत्र "पंचिंदिएहिँ गुत्तो" इति प्रथमावयव व्याख्यानयन्नाह–

इंदियविसयनिरोहो, पत्तेसु य रागदोसनिग्गहणं ।
अकुसलजोगनिरोहो, कुसलोदय एगभावो वा ॥४४७॥

इन्द्रस्याऽमूनि इन्द्रियाणि,तेषा विषया शब्दाऽऽदयः,तेषां यो निरोध स पञ्चेन्द्रियगुप्तिरभिधीयते । अयमप्राप्ताना शब्दाऽऽदिविषयाणा निरोधः । तथा–(पत्तेसु य रागदोसनिग्गहणं ति) तथा–प्राप्ते गोचरमानतेष्वपि शब्दाऽऽदिषु विषयेषु रागद्वेषयोर्निग्रहण मनसा पञ्चेन्द्रियगुप्तता । नव शब्दाऽऽदिविषयप्राप्तौ रागं न गच्छति, अनिष्टशब्दाऽऽदिविषयप्राप्तौ द्वेषं न गच्छति । भणिता पञ्चेन्द्रियगुप्तता । इदानीम् 'मणमादितिविहकरणआउत्ता भण्णति ।' तत्राऽऽह–(अकुसलजोगनिरोहो) अकुशलानामशोभनाना मनोवाक्काययोगाना व्यापाराणा निरोधः—अकुशलयोगनिरोधः सः । त्रिविधकरणगुप्तता । तथा ( कुसलोदय त्ति ) कुशलाना प्रशस्ताना मनोवाक्कायव्यापाराणा य उदयः सः । त्रिविधकरणगुप्तानाम् । तथा ( एगभावो व त्ति ) न कुशलेषु योगेषु प्रवृत्तिर्नाऽप्यकुशलेषु योगेषु प्रवृत्तिर्या मध्यस्थिता सा च त्रिविधकरणगुप्तता भणिता । त्रिविधकरणगुप्त इदानीं भवति ।

अब्भिंतर–वाहिरिअं, तवोवहाणं दुवालसविहं पि ।
इंदियओ पुव्वुत्तो, नियमो कोहाइओ वीओ ॥ ४४८ ॥

अभ्यन्तरं, वाह्य च तप उपधानं तप उपदधातीत्युपधानम्, उपकरोतीत्यर्थः । तत्र उपधानं द्वादशविधमपि तप उच्यते । "तवो गतो" नियमो भण्णइ त्ति । स च द्विविधः–इन्द्रियनियमः, नोइन्द्रियनियमश्च । तत्र इन्द्रियतः इन्द्रियाण्यङ्गीकृत्य पूर्वोक्तो नियमः क्रोधाऽऽदिकः । आदिग्रहणान्मानमायालोभा गृह्यन्ते एतेषां नियमो निरोधः । "नियमे त्ति गयम् ।"

इदानीं "संजमो भण्णइ" स च सप्तदशप्रकारः । तत्राऽऽह–

पुढवि दग, अगणि मारुय,वणस्सइ वितिचउक्कपंचिंदी ।
अज्जीवपोत्थगाइसु, गहिए अस्संजमो जेणं ॥४४९॥

"पुढवीदगअगणिमारुयवणस्सइवेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेंदिया ।" तथा (अजीव त्ति) अजीवेषु पनकससक्तपुस्तकाऽऽदिषु गृहीतेषु असंयमो भवति । यत तत्र ग्राह्यम्, आदिशब्दात् "दूसपणगं तणपणगा, चम्मपणगं ।" एतेषु परिगृहीतेषु असंयम , परिहृतेषु च सयम ।

तथा–

पेहित्ता संजमो वुत्तो, उपेहित्ता वि संजमो ।
पमज्जेत्ता संजमो वी, परिठावित्ता वि संजमो ॥ ४५० ॥

प्रेक्ष्य संयमश्चक्षुषा यन्निरूपणं ततश्चैवं पूर्वं चक्षुषा निरूपयतः प्रेक्षासंयम उक्तः ( उवेहित्ता वि संजमो त्ति ) उपेक्षा द्विप्रकारा, तां कुर्वतः संयम उक्तः । ता च वदन्ति । ( पमज्जेत्ता संजमो त्ति ) प्रमार्जयत संजम उक्तः ( परिठावित्ता वि संजमो त्ति ) परिष्ठापयतः परित्यजतोऽपि पानकाति–रिक्तः संयम उक्तः । एवमेते चतुर्दश, मनोवाक्कायसंयमश्च त्रिविधः उक्त एव द्रष्टव्यः । इदानीं भाष्यकृद् व्याख्यानयति–प्रथमगाथार्द्धार्थं –एकाकि(करेणिक)गमनयतनाया उक्तः, अजीवपुस्तकाः दिसंयमोऽपि अचित्तवनस्पतिगमनयतनाया व्याख्यात एव द्रष्टव्यः ।

इदानीं यदुपन्यस्तम्–"अपेहित्ता वि संजमं" इत्यादि, तत् न क्वचिद् व्याख्यातमिति व्याख्यानयन्नाह–

ठाणाइ जत्थ चेते, पुव्वं पडिलेहिऊण चेइज्जा ।
संजयगिहिचोयणा उ, चोयण वावार उप्पेहा ॥४५१॥

स्थानमूर्ध्वस्थानं कायोत्सर्गाऽऽदि आदिग्रहणान्निषीदनस्थानं च गृह्यते । तत स्थानाऽऽदि यत्र चेतयते 'चिती' संज्ञाने, जानाति, चेष्टते, करोति, कर्तुमभिलषतीत्यर्थ । तत् पूर्वं प्रथमं प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा निरीक्षते, ततश्चेतयते, स्थान का-

योत्सर्गाऽऽदि । अयं प्रेक्षासंयमः । इदानीमुपेक्षासंयम उच्यते- सा चोपेक्षा द्विविधा-कथम् ?, संयतव्यापारोपेक्षा, गृहस्थव्यापारोपेक्षा च । तत्र यथासंख्य चोदना-चोदनविषयसंयतस्य चोदनविषया व्यापारोपेक्षा । एतदुक्तं भवतीति-साधुं विषीदन्तं दृष्ट्वा संयमव्यापारेषु चोदयत. संयमव्यापारोपेक्षा । उपेक्षाशब्दश्चात्र-'ईक्ष' दर्शने । उप सामीप्येन ईक्षा उपेक्षा, गृहस्थस्य च व्यापारोपेक्षा-गृहस्थम् अधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं दृष्ट्वा अधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं चोदयत. गृहस्थव्यापारोपेक्षोच्यते । उपेक्षाशब्दश्चात्र अवधारणायां वर्तत इति ।

इदानीं "परिट्ठविन्ता वि संजमो" व्याख्यायते, तत्राऽऽह-

उवगरणं अइरेगं, पाणाई वाऽवहट्टु संजमणा ।
सागारियअपमज्जण-संजमो सेसे पमज्जणया ॥ ४५२ ॥

उपकरणं वस्त्राऽऽदि यदतिरिक्तं गृहीत, तथा-[पाणाइ वा] तथा पानकाऽऽदि वा यदतिरिक्तं गृहीतं तत् [अवहट्टु त्ति] परित्यज्य, किम् ?.[संजमणा] संयमो भवतीति । आदिग्रहणाद्धक्तं वा परित्यक्तं, परित्यज्य संयमः । इदानीं "पमज्जेत्ता वि संजमो" व्याख्यायते-[सागारियअपमज्जणसंजमो] सागारिकाणामग्रत. पादप्रमार्जनम्, असावेव संयम । [सेसे पमज्जणय त्ति] शेषेषु सागारिकाऽऽद्यभावेषु प्रमार्जनेन च संयमः ।

इदानीं योगत्रयसंयमप्रतिपादनायाऽऽह-

जोगतिग पुव्वभणियं, समत्तपडिलेहणाएँ सज्झाओ ।
चरिमाए पोरिसिए, ताहे पडिलेहें पत्तदुगं ॥ ४५३ ॥

योगत्रयं पूर्वमेव व्याख्यातम्-"मणसाइतिविहकरणमाउत्तो" इत्यस्मिन् ग्रन्थे, अत्रापि तथैव द्रष्टव्यम् । उक्त. सप्तदशप्रकारः संयम । तत्प्रतिपादनाच्च उक्ताऽथ वस्त्रप्रत्युपेक्षणा । तत्समाप्तौ च किं कर्त्तव्यमित्यत आह-( समत्तपडिलेहणाएँ सज्झाओ ) समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्यायः कर्तव्यः, सूत्रपौरुषीत्यर्थः, पादोनप्रहरं यावत् । इदानीं पात्रप्रत्युपेक्षणामाह-(चरिमाए ) चरिमायां पादोनपौरुष्यां प्रत्युपेक्षेत [ ताहे त्ति ] तदा तस्मिन् काले स्वाध्यायानन्तरं पात्रकद्वितीयम् ।

इदानीमिदमुक्तं चरमपौरुष्यां पात्रकद्वितयं प्रत्युपेक्षणायां तत्र पौरुष्येव न ज्ञायते. किंप्रमाणा ?, तत्प्रतिपादनायाऽऽह-

पोरिसिपमाणकालो, निच्छयववहारिओ जिणक्खाओ ।
निच्छयओ करणजुओ, ववहारमओ पर वोच्छं ॥४५४॥

पौरुष्याः प्रमाणकालो द्विविधः-निश्चयतो, व्यवहारतश्च ज्ञातव्य. ।

तत्र निश्चयपौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाऽऽह-

अयणातीयदियगणे, अट्ठगुणेगट्ठिभाइए लद्धं ।
उत्तरदाहिणमादी, पोरिसिपयसोहि पक्खेवो ॥४५५॥

ओघ० । ( ' पोरुसी ' शब्दे व्याख्यास्यते )

एतस्यां चरमपौरुष्या पात्रकाणि प्रतिलिख्यन्ते, स च पात्रक प्रत्युपेक्षणसमये पूर्वमेनं व्यापारं करोति, अत आह-

उवउंजिऊण पुव्वं, तल्लेसो जइ करेइ उवओगं ।
सोएण चक्खुणा घा-णएण जीहाएँ फासेण ॥४६०॥

उपयुज्य उपयोगं दत्त्वा पूर्वमेव यदुत सर्वाण्यस्यां वेलायां पात्रकाणि प्रत्युपेक्षणीयानीत्येवमुपयुज्य पुनः तल्लेश्य एव प्रत्युपेक्षणाभिमुख एव यतिः प्रव्रजितः पात्रसमीपे उपविश्य उपयोगं करोति मतिं व्यापारयति । कथम् ?, श्रोत्रेन्द्रियेण पात्रके उपयोगं करोति, कदाचित्तत्र भ्रमराऽऽदि गुञ्जति पुनस्तं यतनयाऽपनीय तत् पात्रकं प्रत्युपेक्षते.तत्र वा चक्षुषा उपयोगं ददाति, कदाचित्तत्र मूषिकोत्कीर्णाऽऽदिरजो भवति ततस्तद् यतनया अपनयति, घ्राणेन्द्रियेण चोपयोगं करोति, कदाचित्तत्र सुरुडविकाऽऽदिर्मर्दितो भवति, पुनश्च घ्राणेन्द्रियेण ज्ञात्वा यतनया अपनयति, जिह्वया रसं च ज्ञात्वा यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि ,गन्धपुद्गलैरोष्ठो यदा घ्रातो भवति तदा जिह्वाया रसं जानातीति, स्पर्शनेन्द्रियेण चोपयोगं ददाति, कदाचित्तत्र मूषिकाऽऽदि प्रविष्टः सन्निःश्वासवायुश्च शरीरे लगति, ततश्चैवमुपयोगं दत्त्वा पात्रकाणि प्रत्युपेक्षते ।

इदानीं भाष्यकृत् किञ्चिद् व्याख्यानयन्नाह-

पडिलेहणियाकाले, फिडिए कल्लाणगं तु पच्छित्तं ।
पायस्स पासवेट्ठो, सोयादुवउत्त तल्लेस्सा ॥४६१॥

प्रत्युपेक्षणाकाले [फिडिए] अतिक्रान्ते, एककल्याणकं यतः प्रायश्चित्तं भवति, अतः पूर्वमुपयोगं प्रत्युपेक्षणाविषये करोति । किंविशिष्टोऽसौ उपयोगं करोतीत्यत आह-[ पायस्स पासवेट्ठो ] पात्रकस्य पार्श्वे उपविष्ट. श्रोत्राऽऽदिभिरुपयुक्तः तल्लेश्यः तच्चित्तो भवतीति ।

कथं पुनः पात्रप्रत्युपेक्षणां करोतीत्यत आह-

मुहणंतएण गोच्छं, गोच्छगगहियंगुलीहिँ पडलाइं ।
उक्कुडुयभाणवत्था, पलिमंथादीसु तेण भवे ॥४६२॥

रजोहरणमुखवस्त्रिकया गोच्छकं वक्ष्यमाणलक्षण प्रमार्जयति, पुनः तदेव गोच्छकमङ्गुलीभिर्गृहीत्वा पटलानि प्रमार्जयति । अत्राऽऽहः परः-[उक्कुडुयभाणवत्था] उत्कुट्टुकस्य भा. जनवस्त्राणि गोलकाऽऽदीनि प्रत्युपेक्षयन् ततो वस्त्रप्रत्युपेक्षणा उत्कुट्टुकेनैव कर्तव्या । आचार्य आह-[पलिमंथादीसु तेण भवे] तदेतत् भवति यच्चोदकेनोक्तं, यत. पलिमन्थ सूत्रार्थयोर्भवति कथम् ?, प्रथममसौ पादपुञ्छने निषीदति, पश्चात् पात्रकवस्त्रप्रत्युपेक्षणायाम् उत्कुट्टुको भवति, पुनः पात्रकप्रेक्षणायां पादपुञ्छने निषीदति, एवत्तस्य साधोश्चेन्तयतः सूत्रार्थयोः पलिमन्थो भवति, यत. अत. पादपुञ्छने निषण्णेनैव पात्रकवस्त्रप्रत्युपेक्षणा कर्तव्या इति ।

ततः किं करोतीत्यत आह-

चउकोणभाणकन्नं, पमज्ज पायकेसरिय तिउणं तु ।
भाणस्स पुप्फगाई, इमेहिँ कज्जेहिँ पडिलेहा ॥४६३॥

पटलानि प्रत्युपेक्ष्य पुनः गोच्छकं वामहस्तानामिकाङ्गुल्या गृह्णाति, तत पात्रककेसरिका पात्रमुखवस्त्रिका पात्रकस्थामेव गृह्णाति, [ चतुक्कोण त्ति ] चतु पात्रबन्धकोणान् सत उपस्थापितान् प्रमार्जयति, पुनर्भाजनस्य कर्णमपि प्रमार्जयति, पुनश्च पात्रक केसरिकमेव त्रिगुण तिस्र एव वारा बाह्यतः, अभ्यन्तरतश्च तिस्र एव वारा प्रमार्जयति तत भाण्डस्य पात्रकस्य पुष्पकं बुध्नं तत एतानि वक्ष्यमाणलक्षणानि कार्याणि यदि न भवन्ति तत. प्रथम बुध्नगन्धं पात्रकस्य प्रत्युपेक्षते ।

कानि पुनस्तानि कार्याणि, अत आह-

मूसियरयउक्केरे, घण संताणए ति य ।
उदए मट्टिया चेव, एमेव पडिवत्तिओ ॥४६४॥

कदाचित्तत्र मूषिकोत्कीर्णं रजो लग्नं भवति,ततस्तद् यतनयाऽपनीयते। तथा-(संताणए त्ति)कदाचित्तथा पुनः सन्तानको वा "कोलियतन्तुय लग्गं होति" तत् यतनयाऽपनीयते। तथा-( उदए त्ति ) कदाचिदुदकं लग्नं भवति, सार्द्रया भूमेरुन्मज्ज्य लगति, तत्र यतना वक्ष्यति ( मट्टिया चेव ) तथा कदाचित् मृत्तिका लगति, तत्र यतना वक्ष्यति । एवमेताः प्रतिपत्तयः प्रकाराः भेदा यदि न भवन्ति,ततः बुध्नं प्रत्युपेक्षते ।

कुतः पुनरुत्कीर्णाऽऽदिसंभव, इत्यत आह-

नवगपवेसे दूरा, उक्केरो मूसगेहिँ उक्किन्नो ।
निद्धमहिहरतणू वा, ठाणं भेत्तूण पविसे य ॥४६५॥

( णवग त्ति) नवकप्रवेशे यत्र ग्रामाऽऽदौ ते साधव आवासिता स नव अभिनवो निवेशः कदाचिद्भवति, तत्र च पात्रकसमीपे मूषकैरुत्कीर्णस्तेन रजसा पात्रकं गुण्डयते। "मूसगरयउक्किरणे त्ति भणियं "(णिद्धमहिहरतणू व त्ति) तथा स्निग्धाया सार्द्राया भुवि ( हरतणू व त्ति ) सलिलबिन्दव उन्मज्य लगन्ति,ततो भुव उन्मज्जत्पात्रकं स्थानकं भित्त्वा प्रविशेत्, स लग्नो भवेत्, तद्यतना वक्ष्यति-"उदए त्ति गयं।" इह कस्मादुदकमस्थान एवोक्तम् ?, उच्यते-पृथिवीकायस्य घनसन्तानस्य च तुल्ययतनाप्रतिपादनार्थम् ।

तथा-

कोत्थलगारिय घरगं-घणसंताणाइया व लग्गेज्जा ।
उक्केरं सट्टाणे, हरतणु चिट्ठिज्ज जा सुक्खे । ४६६॥

कोत्थलकारिका गृहकं लगति गृहिका गृहकं मृन्मयं करोति । तत्र यतना वक्ष्यति "मट्टिए त्ति भणितं ।" घनसन्तानिका च कदाचिल्लगति आदिशब्दात्तु दण्डकाऽऽदिः । इदानीं सर्वेषामेव तेषां यतनाप्रतिपादनायाऽऽह-( उक्केरं सट्ठाणे ) मूषिकोत्केरः स्वस्थानमुच्यते, यतनया मूषिकोत्केरः मध्य एव स्थाप्यते । ( हरतणू ) अथ हरतनू अधस्तात्सलिलबिन्दव उन्मृज्य लग्नास्ततस्तावत्प्रतिपादयति-यावदेते शोषमुपच्छन्ति, ततः पश्चात्पात्रं प्रत्युपेक्ष्यते । "उदए त्ति" गतम् ।

इयरेसु पोरिसितिगं, संवेक्खावेत्तु तत्तियं छड्डे ।
सव्वं वावि विगिंचइ, पोराणं मट्टियं ताहे ॥४६७॥

(इयरेसु त्ति) "कोत्थलकारियाघणसंताणमादियाण" (पोरिसितिगं संवेक्खावेत्तु त्ति ) प्रहरत्रयं यावत्पात्रके ( संवेक्खावेत्तु ) प्रतिपाल्य यदि तावत्या अपि वेलाया नापैति ततः पात्रस्थापनाऽऽदेः तावन्मात्रं स्थित्वा परित्यज्यते। (सव्वं वावि विगिंचइ) अन्येषां वा पात्रस्थापनाऽऽदीना सद्भावे सर्वमेव तत् पात्रस्थापनाऽऽदि परित्यजति ( पोराणं मट्टियं ताहे त्ति ) अथ तत्कोत्थलिकागृहकं न सचेतनया मृत्तिकया कृतं, किं तु पुराणमृत्तिकया, ततस्तां पुराणमृत्तिकाम् । ( ताहे त्ति ) तस्मिन्नेव प्रतिलेखनाकाले अपनयति, यदि तत्र न मूषिका प्रवेशिना इति ।

पत्तं पमज्जिऊणं, अंतो बाहिं सइत्तु पप्फोडे ।
केइ पुण तिन्नि वारे, चउरंगुलभूमिपडणभया ॥४६८॥

इदानीं तत्पात्रे केसरिकया पात्रकमुखवस्त्रिकया तिस्रो वारा बाह्यतः प्रमृज्य संपूर्णा, ततो हस्ते स्थापयित्वा अभ्यन्तरं तिस्रो वाराः पुनः समस्तं प्रमृज्यते, ततः [ सइत्तु पप्फोडे त्ति ] सकृदेकां वारामधः कृत्वा बुध्नं प्रस्फोटयेत्, एवं केचिदाचार्याः प्राप्नुवन्ते । केचित्पुनराचार्या एव भणन्ति-यदुत त्रयो वाराः प्रस्फोटनीयम् । एतदुक्तं भवति-एकां वारां प्रमृज्य पश्चादधोमुखं प्रस्फोटयते, पुनरपि प्रमृज्य प्रस्फोटयते । एवमेताः त्रयो वाराः प्रस्फोटनीयम् । तत्र पात्रकं भुव उपरि कियद्दूरे प्रत्युपेक्षणीयमिति ? । अत आह-[ चउरंगुलभूमि त्ति ] चतुर्भिरङ्गुलैर्भुव उपरि धारयित्वा प्रत्युपेक्षणीयं मा पतनभङ्गभयं स्यादिति । एवं तावत्प्रत्युपे वस्त्रपात्रप्रत्युपेक्षणा उक्ता ।

इदानीमुपधिपत्रकं च प्रत्युपेक्ष्य किमुपधेः कर्तव्यं, क्व च पात्रकं स्थापनीयमित्यत आह-

वेंटियबंधण धरणे, अगणितेणे य दंडियक्खोभे ।
उउवद्धधरणबंधण, वासासु अबंधणा ठवणा ॥ ४६९ ॥

उपधेर्विण्टिकाना बन्धनं कर्तव्यम् ( धरण त्ति ) पात्रकस्याऽऽत्मसमीपे आत्मोत्सङ्गे धरणं कार्यमनिक्षिप्तमित्यर्थः। किमर्थं पुनरेतदेवं क्रियते यदवधिना बाह्यत पात्रकमनिक्षिप्तं क्रियते इत्युच्यते-अग्निभयात्प्रदीपनकभयात्, स्तेनकभयात्, दण्डिकक्षोभाच्चैतदेवं क्रियते । कस्मिन् पुनः काले एतदेवं क्रियते, कस्मिन् पुनरेतदेवं न क्रियते ?, इत्यत आह-( उउबद्ध त्ति ) ऋतुबद्ध उच्यते-शीतकाले उष्णकाले च तस्मिन् पात्रके धरणमुपधेर्बन्धनं कर्तव्यम् ( वासासु त्ति ) वर्षाकाले ( अबधण त्ति ) उपधेरबन्धनं कर्तव्यम् उपधिर्न बध्यते ( ठवण त्ति ) पात्रकं च निक्षिप्यते एकदेशे स्थाप्यते, प्रयोजने उपधेरबन्धनं निक्षेपणं पात्रकस्य च वक्ष्यति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

रयताण भाणधरणं, उडुवद्धे निक्खिवेज्ज वासासु ।
अगणीतेणभएण व, रायक्खोभे विराहणया ॥४७०॥

रजस्त्राणस्य,भाजनस्य च धरणमनिक्षेपणं कर्तव्यं,कदा?,ऋतुबद्धे शीतोष्णकालयोर्वर्षासु पुनर्भाजनं निक्षिपेत् एकान्ते, किमर्थं पुनर्भाजनस्य उत्सङ्गे धरणं क्रियते ?,अत आह-(अगणी) अग्निभयेन स्तेनभयेन वा राजक्षोभेण वा मा भूदाकुलस्याग्रहत पलिमन्थेन आत्मविराधना, संयमविराधना च ।

परिगलमाणी गेण्हे-ज्ज डहण भेदो तहेव छक्काया ।
गुत्तो व सय डज्झे,हीरेज्ज व जं च तेण विणा ॥४७१॥

अग्न्यादिक्षोभे सति उपधिर्यावद् गृह्यते, (भेदो इति) आकुलस्य निर्गच्छतः अनशनं पात्रकं गृह्णत भेदो वा विनाशो भवेत्, ततश्च षट्कायस्याऽपि विराधना भवति। (गुत्तो व सयं डज्झे) संमूढो वा उपधिपात्रकग्रहणे स्वयं दह्यात्, स्तेनकर्मक्षोभे वा सति उपधिपात्रकग्रहणव्याक्षेपेण स्तेनकैर्म्लेच्छैरपह्रियते (जं च तेण विण त्ति) यच्च तेन उपधिपात्रकाऽऽदिना भवति आत्मविराधना,संयमविराधना च,तत्तदवस्थमेवेति ।

आह-किं पुनः कारणं वर्षासु उपधिर्न बध्यते, पात्रकाणि वा निक्षिप्यन्ते ? । उच्यते-

वासासु नत्थि अगणी.गेव य तेणा वि दंडिया सत्था ।
तेण अबंधण ठवणा, एवं पडिलेहणा पाए ॥ ४७२ ॥

वर्षासु नास्त्यग्निभयं,नाऽपि च स्तेनभयं,स्तेनाश्चात्र पल्लीपतिकाऽऽद्यो द्रष्टव्याः,यतस्त एव वर्षासु प्रव्यथिता नाऽऽगच्छन्तीति । दण्डिनश्च राजान वर्षासु स्वस्थास्तिष्ठन्ति, विग्रहस्य तस्मिन्कालेऽभावात् । अतस्तेन कारणेन ( अबंधण त्ति ) अबन्धनमुपधेः ( ठवण त्ति ) पात्रकं च पार्श्वनिक्षिप्त न ह्रियते,अपि तु स्थाप्यते मुच्यते । एवं प्रत्युपेक्षणा पात्रविषया प्रतिपादिता । ओघ० ।

मार्गप्रत्युपेक्षणा । इदानीं मार्गद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

पंथे तु वच्चमाणो, जुगंतरं चक्खुणा उ पडिलेहे ।
अइदूरचक्खुपासे, सुहुमतिरिच्छागए ण पेहे य ॥५१२॥

पथि व्रजन् युगान्तर चतुर्हस्तप्रमाणं तन्मात्रान्तरं च चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत,किं कारणम् ?,यत अतिदूरचक्षुषा प्रेक्षिते सति सूक्ष्मान् तिर्यगागतान् प्राणिनः न (पेहे) न पश्यति, दूरे प्रतिष्ठितत्वाच्चक्षुष ।

अच्चासन्ननिरोहे, दुक्खं दट्ठुं पि पादसाहरणं ।
छक्कायविऊरमणं, सरीरे तह भत्तपाणे य ॥ ५१३ ॥

अथ अत्यासन्ने ( निरोहे त्ति ) निरोधे चक्षुष. सत दृष्ट्वा प्राणिनं दु.खेन ( पादसाहरणं ) पादप्राणिनिपतन धारयतीत्यर्थः । अतिसन्निकृष्टत्वाच्चक्षुष ( छक्कायविऊरमण त्ति ) षट्कायविराधनां करोति, शरीरविराधना, तथा भक्तपानविराधनां च करोति ।

इदानीमस्या एव गाथायाः पश्चार्द्धं व्याख्यानयन्नाह-

उड्ढमुहो कहरत्तो, अवएक्खंतो विअक्खमाणो य ।
वायरकाए वहए, तसेतरे सजमे दोसा ॥ ५१४ ॥

ऊर्द्ध्वमुखो व्रजन् कथासु च रक्त सक्तः [अवएक्खंतो त्ति] पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयन् [ वियक्खमाण त्ति ] विविधं सर्वासु दिक्षु पश्यन् । स एवंविधः बादरकायानपि व्यापादयेत्, त्रसेतरांश्च पृथिव्यादीन् स्थावरकायाऽऽदीन्, ततश्च संयमे संयमविषया एते दोषा भवन्ति ।

इदानीं शरीरविराधनाप्रतिपादनायाऽऽह-

निरवेक्खो वच्चंतो, आवडिओ खाणुकंटविसमेसु ।
पंचण्ह इंदियाणं, अन्नयरं सो विराहेज्जा ॥ ५१५ ॥

निरपेक्षो व्रजन् आपतित सन् स्थाणुकण्टकाविषमेषु, विषमस्तु गर्त. तेष्वापतितः पञ्चानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनामन्यतरत् स विराधयेत् ।

इदानीम्-" भत्तपाणे य त्ति " अवयव व्याख्यानयन्नाह-

भत्ते वा पाणे वा, आवडिवडियस्स भिन्न भाणे वा ।
छक्कायविऊरमणं, उड्डाहो अप्पणो हाणी ॥ ५१६ ॥

आपतितश्चासौ पतितश्च तस्य साधोर्भग्ने भिन्ने पात्रके सति पत्रके वा, भक्ते, पानके, ततः षट्कायव्युपरमणं भवति, उड्डाहश्च भवत्यात्मनश्च हानिः क्षुधाबाधन भवति ।

कथं पुनः षट्कायव्युपरमणम्, उड्डाहश्च-

दहि घय तक्क पयमं बिलं च सत्थं तसेतरगण भवे ।
छक्कम्मिय जणवाओ,बहुफोडा जं च परिहाणी ॥५१७॥

तानि गृहीत्वा कदाचित् दधिघृततक्रपय.काञ्जिकानि भवन्ति, ततश्च तानि शस्त्रं,केषाम् ?,त्रसानामितरेषां च पृथिव्यादीनां भवेत् षट्कमिति प्रचुरे तस्मिन् भक्ते लोकेन दृष्टे सति जनापवादो भवति [ बहुफोड त्ति ] बहुभक्षका एते इति । या च आत्मपरितापनाऽऽदिका हानिः, सा च भवति ।

तथा पात्रविराधनायां यावन्तो दोष प्रदर्शयन्नाह-

पायं च मग्गमाणे, हवेज्ज पंथे विराहणा दुविहा ।
दुविहा य भवे तेणा, पडिकमे सुत्तपरिहाणी ॥५१८॥

पात्रं च अन्वेषति सति आगाऽऽदौ भवेत् पथि विराधना द्विविधा- आत्मविराधना, संयमविराधना चेति । पथि स्तेनाश्च द्विविधा भवन्ति-उपधिस्तेना , शरीरस्तेनाश्चेति । लब्धे कृच्छ्रात्पात्रे तत्परिकर्मयतः तद्व्यापारे लग्नस्य सूत्रार्थपरिहानिः ।

एस पडिलेहणविही, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता ।
संजमगुणड्ढाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥५१९॥

अयं च प्रत्युपेक्षणाविधि. कथितः (भे) भवताम् किंविशिष्टो ?,धीरपुरुषै. प्रज्ञप्तो गणधरैः प्ररूपितः संयमगुणैराढ्यानां निर्ग्रन्थानां महर्षीणां कथित इति ।

तथा-

एयं पडिलेहणविहिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता ।
साहू खवेंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं ॥५२०॥

एतं प्रत्युपेक्षणाविधि युञ्जन्त. कुर्वाणा चरणकरणयोगयुक्ता. सन्त साधव क्षपयन्ति कर्म,किंविशिष्टम् ?,अनेकभवसंचितमुपात्तम् । (अणंतं) अनन्तकर्मपुद्गलनिर्वृत्तत्वादनन्तम्, अनन्तानां वा भवाना हेतुर्यत्तदनन्त क्षपयन्तीति । ओघ० ।

आलोचनान्तरम्-

आलोएत्ता सव्वं, सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता ।
उड्ढमहे तिरियम्मि य, पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥७५२॥

एवमेषा मानसी आलोचना,वाचिकी चाऽऽलोचना उक्ता। ओघ० ।

संज्ञाया आगत्य चरमपौरुष्यां प्रत्युत्थाय, इदानीं सामाचारीति व्याख्यायते-

सन्नाउ आगओ चरि-मपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं ।
पडिलेहिय अप्पत्तं, णाऊण करेइ सज्झायं ॥६३४॥

एवं साधु. संज्ञां व्युत्सृज्य आगत. पुनश्चरमपौरुषीं चतुर्थप्रहरं ज्ञात्वा अवगाढमवतीर्णं । तत. किं करोतीत्यत आह-प्रत्युपेक्षणा करोति । अथाऽसौ चरमपौरुष्यामपि भवति तत. अप्राप्तां चरमपौरुषीं ज्ञात्वा स्वाध्यायं तावत्करोति यावच्चतुर्थी पौरुषी प्राप्ता ।

पुव्वुद्दिट्ठो य विही, इहइं पडिलेहणाइ सो चेव ।
ज एत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥६३५॥

अत्र च प्रत्युपेक्षणायां पूर्वोद्दिष्ट एव विधि मुखवस्त्रिको-

पधिप्रत्युपेक्षणा, एवमादि । तथा पात्रस्याऽपि सा चाऽहीना । "उवउत्ततल्लेसा" इत्येवमादि । इहाऽपि स एव प्रत्युपेक्षणायां विधिर्द्रष्टव्यः । यदत्र नानात्वं योऽतिरिक्तो विधिर्भवति, तं विधिमहं वक्ष्ये समासेन संक्षेपेण ।

**पडिलेहगा उ दुविहा, भत्तट्ठिय एयरा य णायव्वा ।**
**दोण्ह वि य आइ पडिले-हणा उ मुहणंतयसकायं ॥६३६॥**

तत्र ये तत्प्रत्युपेक्षकास्ते द्विविधा -भक्तार्थिका भुक्ताः, (एतरा य) इतरे च उपवासिकाश्च ज्ञातव्याः । तयोरपि भक्तार्थिकाभक्तार्थिकयोरादौ प्रथम प्रत्युपेक्षणा तुल्या इय चैव वेदितव्या ( मुहणंतसकाय त्ति ) मुखवस्त्रिकायां प्रत्युपेक्षते, ततः कायं शरीरं प्रत्युपेक्षते मुखवस्त्रिकया चैव, इयं तावद्भक्तार्थिकाभक्तार्थिकयो तुल्या ।

प्रत्युपेक्षणाविधिं प्रदर्शयति-

**तत्तो गुरू परिन्ना, गिलाण सेहाऽऽइ जे अभत्तट्ठी ।**
**संदिसह पायमुवहिं, च अप्पणो पट्टगं चरिमं ॥६३७॥**

ततः मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणानन्तरं [ गुरु त्ति ] गुरोः संबन्धिनीमवधिं प्रत्युपेक्षन्ते [परिन्न त्ति] परिज्ञा प्रत्याख्यानम् । ग्लानस्य एतदुक्तं भवति-अनशनस्थस्य संबन्धिनीमवधिं प्रत्युपेक्षन्ते । तथा-शिक्षकोऽभिनवप्रव्रजितः शिक्षणार्थमर्पितस्तदीयामुपधिं तस्यैवाग्रतः प्रत्युपेक्षन्ते । आदिग्रहणाद् वृद्धाऽऽदेः संबन्धिनीमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते,ये अभक्तार्थिनस्ततस्त एवमनेन क्रमेण कुर्वन्ति प्रत्युपेक्षणाम् । ततः गुरु संदिशापयित्वा " संदिसह इच्छाकारेण उवहिं पडिलेहामि । " एवं भणित्वा पात्रं पत्तद्ग्रहं प्रत्युपेक्षन्ते, ततश्च सकलामुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते तावद्यावच्चोलपट्टकं चरमम्, भूमिमपि प्रत्युपेक्षन्ते-" एस ताव अभत्तट्ठियाण पडिलेहणविही । " ओघ० । पं० व० । ध० । प्रति० । स्था० ।

प्रतिमाप्रतिपन्नानामुपासकानां प्रत्युपेक्षणा-

**पडिमापडिवन्नस्स णं अणगारस्स कप्पंति तओ उवस्सगं पडिलेहित्तए । तं जहा-अहे आगमणगिहंसि वा, अहे वियडगिहंसि वा,अहे रुक्खमूलगिहंसि वा । एवमणुन्नवेत्तए, उवाइणित्तए । पडिमापडिवन्नस्स णं अणगारस्स कप्पंति तओ संथारगा पडिलेहित्तए । तं जहा-पुढविसिला,कट्ठसिला, अहासंथडमेव । एवमणुण्णवित्तए, उवाइणित्तए ।**

प्रतिमा मासिक्यादिका भिक्षुप्रतिज्ञाविशेषलक्षणा प्रतिपन्नोऽभ्युपगतवान् यः स तथा, तस्यानगारस्य कल्पन्ते युज्यन्ते, त्रय उपाश्रीयन्ते भज्यन्ते शीताऽऽदित्राणार्थं ये ते उपाश्रया वसतयः, प्रत्युपेक्षितुमवस्थानार्थं निरीक्षितुमिति । [ अहे त्ति ] अथार्थे । अथशब्दश्चेह पदत्रयेऽपि त्रयाणामप्याश्रयाणां प्रतिमां प्रतिपन्नस्य साधोः कल्पनीयतया तुल्यताप्रतिपादनार्थं । वा विकल्पार्थे पथिकाऽऽदीनामागमनेनोपेत तदर्थं वा गृहमागमनगृहं सभाप्रपाऽऽदि । यदाह-"आगतुगो रत्थजणो जहिं तु, संठाइ जं वा गमणम्मि तेसिं । तं आगमो किं तु विदू वयति, सभापवादेउलमाइयं वा ॥ १ ॥ " इति । तस्मिन्नुपाश्रये यस्तदेकदेशभूत ,प्रत्युपेक्षितुं कल्पत इति प्रक्रम । तथा-[ वियडं ति ] विवृतमनावृतं, तच्च द्वेधा-अधः,ऊर्द्ध्वं च । तच्च पार्श्वत एकाऽऽदिदिक्ष्वनावृतमधो विवृतमनाच्छादितममालगृहं चोर्ध्वं विवृतं,तदेव गृहं विवृतगृहम् । उक्तञ्च-" अनाउडं जं तु चउद्दिसिं पि, दिसामहो तिण्णि दुवे य एका । अहे भवे नं वियड गिहं तु, उड्ढं अमालं च अतिच्छदं च ॥ १ ॥ " इति । तस्मिन्वा । वृक्षस्य करीराऽऽदेर्निर्गलस्य मूलमधोभागस्तदेव गृहं वृक्षमूलगृहम् । तस्मिन्वेति, प्रत्युपेक्षया चोपाश्रये शुद्धे गृहस्थं प्रति तदनुज्ञापन भवतीत्यनुज्ञापनासूत्रम् । (एवमिति) एतदेव " पडिमापडिवन्न " इत्याद्युच्चारणीयं, नवरं प्रत्युपेक्षणास्थाने अनुज्ञापनं वाच्यमिति । अनुज्ञाते च गृहिणा तस्योपादानमित्युपादानसूत्र, तदप्येवमेवेति । ( उवाइणित्तए त्ति ) उपादातु गृहीतुं, प्रवेष्टुमित्यर्थः एवं संस्तारकसूत्रत्रयमपि । नवरं पृथिवीशिला यः प्रसिद्ध काष्ठञ्चासौ शिलेवाऽऽयतिविस्तराभ्यां शिला, सा चेति काष्ठशिला, यथा संस्तृतमेवेति यत्तृणाऽऽदि यथोपभोगार्हं भवति, तथैव यल्लभ्यत इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

भुक्त्वा स्थण्डिलप्रत्युपेक्षणम् । इदानीं भुक्तानां विधिं प्रतिपादयन्नाह-

**पट्टग मत्तग सयमो-ग्गहाऽऽइ गुरुमाइया अणुन्नवणा ।**
**तो सेस भाणवत्थे, पायपुंछणगं च भत्तट्ठी ॥६३८॥**

मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्ष्य तथैव कायं प्रत्युपेक्षेत, ततः ( पट्टगं ति) चोलपट्टकं प्रत्युपेक्षन्ते । पुनश्च गोलको यः पात्रकस्योपरि दीयते । " पच्छा पडिलेहणीयं पत्तावधिपडलाइ रयत्ताणं च पत्तेयं चेव जइ मत्तओ अइरित्तो तो सो चेव पढम निक्खिपति । " पुनश्च मात्रकं निक्षिप्य स्वकीयमवग्रह पतद्ग्रह प्रत्युपेक्षन्ते,ततो गुरुप्रभृतीनाम् एका उपधयः प्रत्युपेक्षन्ते । भक्तार्थिकैः ( अणुण्णवणा त्ति ) ततो गुरुमनुज्ञापयन्ति, यदुत " संदिसह अवधिं पडिलेहामो त्ति । " ततः शेषाणि गच्छसाधारणानि पात्रकाणि वस्त्राणि च अपरिभोगानि यानि तानि प्रत्युपेक्षन्ते । ततः स्वकाय पादपुञ्छनक रजोहरण च प्रत्युपेक्षन्ते । भक्तार्थिका एवमनेन क्रमेण प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति ।

**जस्स जहा पडिलेहा, होइ कया सो तहा पढइ साहू ।**
**परियट्टेइ च पयओ, करेइ वा अन्नवावारं ॥६३९॥**

पुनश्च यस्य साधोः यथैव प्रत्युपेक्षणा भवति कृता परिनिष्ठिता स तथैव पठति परिवर्तयति वा गुणति, पूर्वपठितप्रयत्नेन तत्करोति वा अन्यः साधुना अभ्यर्थितः सन् व्यापारं किञ्चिदिति कर्म्म प्रयोग वा । यदि वा-अन्यथा व्यापार तूर्णनाऽऽदि करोति ।

**चउभागऽवसेसाए, चरिमाए पडिकमित्तु कालस्स ।**
**उच्चार पासवणे, ठाणे चउवीसयं पेहे ॥ ६४० ॥**

एवं स्वाध्यायाऽऽदि कृत्वा पुनश्चतुर्भागावशेषाया चरमपौरुष्या प्रतिक्रम्य कालस्य ततः स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षन्ते । किमर्थम् ?, उच्चारार्थं तथा प्रस्रवणार्थं च स्थानानि चतुर्विंशतिपरिमाणानि प्रत्युपेक्षन्ते ।

इदानीं च ता स्थण्डिलभूमयः प्रत्युपेक्षणीया इत्यत आह-

**अहियासियाउ अंतो, आसन्ने मज्झ दूर तिन्नि भवे ।**
**तिन्नेव अणहियासी, अंतो छ च्चेव बाहिरओ ॥६४१॥**

अधिकासिका भूमयः संज्ञावेगेनानुत्पीडित सुखेनैव गन्तुं शक्नोति,ता एवंविधा अन्तर्मध्ये अङ्गणस्य तिस्रः प्रत्युपेक्षणीयाः। कथम्?,एका स्थण्डिलभूमिर्वसतेरासन्ना,अन्या मध्ये,अन्या दूरे,एवमेतास्तिस्र स्थण्डिलभूमयो भवन्ति। तथा अन्यास्तिस्र एव तस्मिन्नेवाङ्गणे आसन्नतरे भवन्ति । अनधिकासिका. संज्ञावेगेनोत्पीडितः सन् याति,ता अपि तिस्र एव भवन्ति-एका वसतेरासन्नतरे प्रदेशे, अन्या मध्ये. अन्या दूरे। एवमेव अन्तर्मध्ये अङ्गणस्य षड् भवन्ति, तथा षट् च बाह्यत इति अङ्गणस्य बहिः षडेवमेव भवन्ति ।

एमेव य पासवणे, वारस चउवीसयं तु पेहित्ता ।

कालस्स य तिन्नि भवे, अह सूरो अत्थमुवयाइ ॥६४२॥

एवमेव प्रस्रवणे कायिकायां द्वादश भूमयः प्रत्युपेक्ष्यन्ते,षडङ्गणमध्ये, षडङ्गणबाह्यतो भवन्ति । एवमेताः सर्वा एव उच्चारे कायिका भूमयश्चतुर्विंशतिः,ताः प्रत्युपेक्ष्य पुनश्च कालस्यापि ग्रहणे तिस्र एव भूमय प्रत्युपेक्षणीया भवन्ति । ताश्च कालभूमयो जघन्येन हस्तान्तरिताः प्रत्युपेक्ष्यन्ते। एवमनेन प्रकारेण कृतेन अथ-यथा सूर्यः-अस्तमुपयाति तथा कर्त्तव्याः। ओघ० । वृ० ।

उच्चारप्रस्रवणभूमीनां प्रत्युपेक्षणासूत्रम्-

जे भिक्खू साणुप्पाए उच्चारपासवणभूमिं ण पडिलेहेइ, ण पडिलेहंतं वा साइज्जइ ॥ १३८ ॥

साणुप्पाओ णाम-चउभागावसेसचरिमाए उच्चारपासवणभूमीओ पडिलेहेयव्वाओ त्ति, ततो कालस्स पडिलेहेति एस साणुप्पाओ, जति ण पडिलेहेति तो मासलहुं, आणादिया दोसा।

गाहा-

पासवणुच्चारं जो, भूमी य अणुप्पदे ण पडिलेहे।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२६०॥

अपडिलेहिते इमे दोसा-

छकायाण विराधण, अहिविच्छुअखाणुमुत्तमादीसु ।

वोसिरणणिरोधेसुं, दोसालू संजमा यापि ॥ २६१ ॥

अपडिलेहिते जति वोसिरति ततो दव्वओ छक्कायविराहणा संभवति । भावतो पुण विराधित्ता एस संजमविराहणा । अपडिलेहिते-अहिविच्छुगादिणा खज्जति आयविराहणा । अपडिलेहिते मुत्तेण वा, पुरीसेण वा, आदिसद्दातो वंतपित्तादिणा पायं लेवाउज्ज, ततो उवकरणविणासो वा, सेहविपरिणामो वा । अपडिलेहियं वा थंडिलं ति णिरोहं करेति, ण वोसिरति। एवं च-" मुत्तणिरोहे चक्खुं, वच्चणिरोहे य जीवियं चयइ । " एत्थ वि आयविराहणा।

जम्हा एते दोसा तम्हा-

चतुभागऽवसेसाए, चरिमाए पोरिसीएँ तम्हा तु ।

पयतो पडिलेहिज्जा, पासवणुच्चारमादीणं ॥ २६२ ॥

चरिमा पच्छिमा, पयतो प्रयत्नवान् भवे ।

कारणे ण पडिलेहेज्जा वि-

गेलण्णे रायदुट्ठे, अद्धाणे संभमे भएगतरे ।



गामणुगाम वियाले, अणुपत्ते वा ण पडिलेहे ॥२६३ ॥

गिलाणो ण पडिलेहति । मासकप्पविहारे गामाओ गच्छतो अण्णे अणुकूलो गामो गामाणुगामो, तं वियाले अणुपत्तो ण पडिलेहे। एतेहिं कारणेहिं अप्पडिलेहेंतो सुद्धो ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू तओ उच्चारपासवणभूमीओ न पडिलेहेइ न पडिलेहंतं वा साइज्जइ ॥ १३६ ॥

तओ त्रयः सूचनात्सूत्रमिति द्वादशविकल्पप्रदर्शनार्थं त्रयो ग्रहणम्-अपडिलेहंतस्स मासलहुं,आणादिया य दोसा। पासवणुच्चारगाहा (२६०) अंतो णिवेसणस्स काइयभूमीओ, बहिं णिवेसणस्स। एवं चेव छक्काइयभूमीओ, एवं पासवणे वारस सण्णाभूमीओ, एवं च ता सव्वाओ चउव्वीसं जो एया ण पडिलेहति, तस्स आणादिया दोसा । सो आणा गाहा-( २६० ) छक्कायगाहा ( २६१ ) किं णिमित्तं तिण्णि तिण्णि पडिलेहिज्जंति ?, कयाति एक्कस्स वाघातो भवति, ततो वितियाऽऽदिसु परिट्ठविज्जति. पासवणे तणे अपहरणे चेल्लगओ दिट्ठंतो भाणियव्वो, अणधियासिकाणं कोवि अतीव उव्वाहितो जाव दूरं वच्चति ताव आयविराहणा भवे. तेण आसण्णे पेहे । वितियपदे गेलण्णगाहा ( २६३ ) " नि० चू० ४ उ० ।

कालग्रहणम्-

पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकंबलं ।

पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चइ ॥६॥

पडिलेहइ पमत्ते, किंचि हु निसामित्रा ।

गुरुं परिभावए निच्चं, पावसमणे त्ति वुच्चइ ॥ १० ॥

उत्त० १७ अ० । ( इति ' पापसमण ' शब्दे व्याख्यास्यते )

अविधिप्रत्युपेक्षणे प्रायश्चित्तम्-

दिया तुयट्टेज्जा दुवालसं पडिक्कमणं काउं गुरुपायमूलं वसहिं संदिस्सावेज्जा, ताण ण पच्चुप्पेहइ, चउत्थं वसहिं पच्चुप्पेहिऊणं ण संपवेएज्जा, छट्ठं वसहिं असपवित्ता णं रयहरणं पच्चुप्पेहिज्जा,पुरिमड्ढं रयहरणविहीए पच्चुप्पेहित्ता णं गुरुपायमूलं मुहणंतगं पच्चुप्पेहिय उवहिं संदिसावेज्जा, पुरिमड्ढं मुहणंतगं णं अपच्चुप्पेहिएणं उवहिं सदिस्सावेज्जा पुरिमड्ढं असंदिसावियं उवहिं पच्चुप्पेहेज्जा, पुरिमड्ढं अणुवउत्ता वसहिं वा पच्चुप्पेहिज्जा, दुवालसं अविहीए वसहिं वा अन्नयरं वा भंडमत्तोवगरणजायं किंचि अणुवउत्तमप्पगत्तो पच्चुप्पेहिज्जा, दुवालसं वसहिं वा उवहिं वा भंडमत्तोवगरणं च अपडिलेहियं वा दुप्पडिलेहियं वा परिभुंजेज्जा, दुवालसं वसहिं वा उवहिं वा भंडमत्तोवगरण वा ण पच्चुप्पेहिज्जा,उवट्ठावणं एवं वसहिं उवहिं पच्चुपेहित्ता णं जम्मि पएसे संथारय जम्मि उ पएसे उवहीए पच्चुप्पेहण कय, तं थामं निउणं लहुयलहुय तं दडापुंछणेण वा रयहरणेण वा साहरेत्ता ण तं च कयवरं पच्चुप्पेहितुं छप्पइयाओ ण प-

डिगाहिया दुवालस छप्पइयाओ पडिगाहित्ता ण त च कयवरं परिट्ठवेऊण इरियं णं पडिक्कमेज्जा, चउत्थं अपच्चुप्पेहियं कयवरं परिट्ठवेज्जा उवट्ठावणं जइ णं छप्पयाओ हवेज्जा,अहा णं नत्थि तओ दुवालसं। एवं वसहिं उवहिं पच्चुप्पेहिऊणं समाहिं खइरोल्लगं च ण परिट्ठवेज्जा, चतुत्थं अणुग्गए सूरिए समाहिं वा खयरोल्लगं वा परिट्ठवेज्जा, आयंबिलं हरियकायसंततेइ वा बीयकायसंततेइ वा तसकायेवंइंदियाइहिं वा संतते थंडिले समाहिं वा खइरोल्लगं वा परिट्ठवेज्जा, अन्नयरं वा उच्चाराइयं वोसिरिज्जा, पुरिमड्ढं एक्कासणगायंबिलमहक्कमेणं जइ णं णो उद्दवणं संभवेज्जा, अहा णं उद्दवणा संभाविया तओ खमणं तं च थंडिलं पुणरवि जागरिऊण नीसंकं काऊण पुणरवि आलोएत्ता णं जहाजोगं पायच्छित्तं ण पडिगेहेज्जा तओ उवट्ठावणं समाहिं परिट्ठवेमाणे सागारियणं संचिक्खीयए संचिक्खियमाणो वा परिट्ठवेज्जा,एवगं अपच्चुपेहिय थंडिल्ले जं किंचि वोसिरेज्जा, तत्थोवट्ठावणं। एवं वसहिं उवहिं पच्चुप्पेहित्ता णं समाही, खइरोल्लगं च परिट्ठवेत्ता णं एगग्गमणसो आउत्तो विहीए सुत्तत्यमणुसरेमाणो इरियं न पडिक्कमेज्जा, एक्कासणं मुहणंतगेणं विणा इरियं पडिक्कमेज्जा, वंदणपडिक्कमणं वा करेज्जा, जंभाएज्ज वा, सज्झायं वा करेज्जा वायणादी सव्वत्थ पुरिमड्ढं, एवं च इरियं पडिक्कमित्ता णं सुकुमालपम्हलअत्रोप्पडअविकिट्ठेणं अविद्धदंडेणं दंडापुंछणगेणं वसहिं ण पमज्जे एक्कासणगं बाहिरियाए वा वसहिमोहारिज्जा, उवट्ठावणं वसहीए दंडापुंछणगं दाऊणं कयवरं ण परिट्ठवेज्जा, चउत्थं अपच्चुप्पेहियं कयवरं परिट्ठवेज्जा दुवालसं जइ णं छप्पइयाओ ण हवेज्जा, अहा णं हवेज्जा तओ णं उवट्ठावणं वसहीसंतियं कयवरं पच्चुप्पेहमाणेण जाओ छप्पइयाओ,तत्थ अन्नेसिऊणं अन्नेसिऊणं समुच्चिणिय समुच्चिणिय पडिगाहिगा ताओ जइ णं ण सव्वेसिं भिक्खूणं संविभाविऊणं देज्जा तओ एक्कासणगं, जइ सयमेव अत्तणा ताओ छप्पइयाओ पडिगाहेज्जा, अह णं ण संविभाविउं दिज्जा,ण य अत्तणो पडिगाहेज्जा,तओ पारंचियं, एवं वसहिं दंडापुंछणगेणं विहीए य पमज्जिऊणं कयवरं पच्चुप्पेहेऊणं छप्पइयाओ संविभाविऊणं वयं च कयवरं ण परिट्ठवेज्जा, परिट्ठवित्ता णं दसमं विहीए अचंतोवउत्ता एगग्गमणे से पयंपएणं तु सुत्तत्थोभयं सरमाणे जे णं भिक्खू ण इरियं पडिक्कमेज्जा तस्स य आयंबिलखमणं पच्छित्तं निदिसिज्जा। महा० १ चू०।

प्रतिलेखनाविस्मारणे विस्मार्य प्रतिलेखना गुरूणामनिवेदने प्रेदेत जघन्यम्, मध्यमस्य, उत्कृष्टस्य च सर्वेस्मिन्नोपधौ विच्युतलब्धे विस्मारितप्रतिलेखने प्रतिलेखन इति गुरूणामनिवेदिते चाऽऽचामाम्लम्। इदं च मुखवस्त्रिकारजोहरणव्यतिरिक्तस्योपधेः प्रायश्चित्तं ज्ञेयम्। जीत०। मात्रकस्य भिक्षापात्रकस्य प्रमादेनाप्रतिलेखने पञ्चकल्याणकं प्रायश्चित्तम्। जीत०। ( यथाछन्द 'अहाछंद' शब्दे प्रथमभागे ८६४ पृष्ठे प्रतिलेखनाविषया शङ्कामकरोत् ) संध्याप्रतिलेखनाया पश्चाद्ध्वजप्रतिलेखनं विधीयते, प्रभातप्रतिलेखनायां च पूर्वं, तत्र को हेतुरिति प्रश्ने, उत्तरम्-ओघनिर्युक्तियतिदिनचर्याऽऽदिषु तथोक्तेरेव हेतुरिति। ८० प्र०। सेन० १ उल्ला०। श्रावकैः पौषधोपधानाऽऽदिषु संध्याप्रतिलेखनाया क्रियमाणाया "पडिलेहणा पडिलेहावउ" इत्यादेशमार्गणानन्तरं यतिकाजकोद्धारे उपधिमुखपोत्तिकाप्रतिलेखनानन्तरं उपधिप्रतिलेखने कृते तत्काजकोद्धार कृतो विलोक्यते,न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-पूर्वं काजकोद्धारे कृतेऽप्युपधिप्रतिलेखनानन्तरं तत्काजकोद्धार कृतो विलोक्यत इति। १८२ प्र०। सेन० २ उल्ला०। व्याख्यानवेलाया कृतसामायिकः श्राद्ध आदेशमार्गणपूर्वकं प्रतिलेखनां करोति, अन्यथा वेति प्रश्ने,उत्तरम्-सामायिकमध्ये प्रतिलेखनाऽऽदेशमार्गणं यौक्तिकमिति। १६७ प्र०। सेन० २ उल्ला०। मुत्कलश्राद्धः स्थापनाप्रतिलेखना करोति, तथा-" पडिलेहणा पडिलेहावूं" इत्यादेशं मार्गयित्वा प्रतिलिख्यान्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-मुत्कल श्राद्धः प्रतिलेखनाऽऽदेशं मार्गयित्वा मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य परिधानवस्त्रं परावृत्य च स्थापनाः प्रतिलिखति, परं पौषधसामायिकं विना " पडिलेहणा पडिलेहावू " इत्यादेशं न मार्गयतीति परम्पराऽस्तीति। ५४ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

**पडिलेहणासील**-प्रत्युपेक्षणाशील-त्रि०। प्रमार्जनाशीले, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

**पडिलेहणिया**-प्रतिलेखनिका-स्त्री०। प्रतिपूर्वकस्य 'लिख' अक्षरविन्यासे इत्यस्य भावे ल्युडन्तस्य प्रयोग। " उपर्गेण धात्वर्थो, बलादन्यत्र नीयते।" इति न्यायादागमानुसारेण क्षेत्राऽऽदेर्निरूपणायाम्, ध० ३ अधि०।

**पडिलेहित्तए**-प्रत्युपेक्षितुम्-अव्य०। निरीक्षितुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

**पडिलेहित्ता**-प्रत्युपेक्ष्य-अव्य०। दृष्ट्वा यथावदुपलभ्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ०७ उ०। पर्यालोच्याऽऽगम्येत्यर्थे,आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। सूत्र०। चक्षुषा प्रमृज्येत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ०। पौनःपुन्येन सम्यक् प्रमृज्येत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ०। चक्षुषा प्रमृज्येत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ०। आचा०।

**पडिलेहिय**-प्रत्युपेक्षित-त्रि०। पर्यालोचिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

**पडिलेहियव्व**-प्रतिलेखितव्य-त्रि०। परिहर्त्तव्यतया विचारणीये, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

**पडिलोम**-प्रतिलोम-त्रि०। प्रतिकूले, व्य० २ उ०। सूत्र०। पश्चान्मुखे, विशे०। उत्क्रविपरीते,उत्त० १ अ०। इन्द्रियमनसोरप्रह्लादकत्वात् अनुकूलगन्धाऽऽदित्वाद् विपरीतगन्धाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०। स्था०। यत्र प्रतिकू-

ल्यमुपदिश्यते तादृशे आहरणतद्देशभेदे, यथा-" शठ प्रति शठो भूयात् ।' स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अधुना प्रतिलोमद्वारावयवार्थव्याचिख्यासयाऽऽह-

पडिणोमे जह अभओ, पज्जोयं हरइ अवहिओ संतो ।
गोविंदवायगो वि य, जह परपक्खं नियत्तेइ ॥८१॥

प्रतिलोमे उदाहरणदोषे यथा अभयोऽभयकुमारः प्रद्योतं राजानं हृतवान्,अपहृतः सन्नित्येतत् ज्ञापकमिह च त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थो वर्तमाननिर्देश इत्यक्षरार्थः भावार्थ' कथानकादवसेय । तच्च यथाऽऽवश्यके शिक्षायां तथैव द्रष्टव्यमिति । एवं तावल्लौकिकं प्रतिलोमम् । लोकोत्तर तु द्रव्यानुयोगमधिकृत्य सूचयन्नाह-गोविन्देत्यादिगाथादलम् । अनेन च चरणकरणानुयोगमप्यधिकृत्य सूचितमवगन्तव्यम् । आद्यन्तग्रहणे तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेनैव ग्रहणात्तत्र चरणकरणे । " णो किंचि वि पडिकूलं, कातव्वं भवभएण मन्नेसिं । अविणीतसिक्खगाए उ, जयणाए जहोचियं कुज्जा ॥१॥" द्रव्यानुयोगे तु गोपेन्द्रवाचकोऽपि च यथा परपक्षं निवर्तयतीत्यर्थः । "सो य किर तव्वणिओ आसि, विणासणनिमित्तं पव्वइओ । पच्छा भावो जाओ । " महावादी जात इत्यर्थः । सूचकमिदमत्र-

" दव्वट्ठियस्स पज्जव-णयठियमेय तु होइ पडिलोमं ।
सुहदुक्खाइ अभावं, इतरेणियरस्स चोइज्जा ॥१॥
अन्ने उ दिट्ठवादि-म्मि किंचि बूया उ किल पडिकूलं ।
दोरासिपइन्नाए, तिन्नि जहापुच्छ पडिसेहो ॥२॥ "

उदाहरणदोषता त्वस्य प्रथमपक्षे साध्यार्थासिद्धेः, द्वितीयपक्षे तु शास्त्रविरुद्धभाषणादेव भावनीयेति गाथार्थः । दश० १ अ० । अपवादे, ओघ० ।

पडिलोमइत्ता-प्रतिलोमयित्वा-अव्य० । प्रतिलोमान् कृत्वा विवादाध्यक्षान् प्रतिपन्थिनो वा सर्वथा सामर्थ्येऽसति प्रतिलोमं कृत्वा विधीयमाने विवादभेदे, स्था० ६ ठा० ।

पडिलोमपरूवणा-प्रतिलोमप्ररूपणा-स्त्री० । पश्चादानुपूर्व्या प्ररूपणायाम्, नि० चू० १ उ० ।

पडिवंसय-प्रतिवंशक-पुं० । लघुवंशे, " लोहियक्खपडिवंसगा । " रा० ।

पडिवक्ख-प्रतिपक्ष-पुं० । प्रतिकूल पक्षः प्रतिपक्षः । विरोधिनि, स्था० । यथाऽबहुश्रुतस्य बहुश्रुत प्रतिपक्ष । नि० चू० १ उ० अन्यशब्दार्थे, व्य० ७ उ० । अभिहितार्थविपर्यये, आ० म० १ अ० । तुल्यपक्षे, ओघ० । द्वितीयपदे, बृ० १ उ०२ प्रक० द्वितीयपक्षदृष्टान्तभूते, स्था० ४ ठा० १ उ० । शत्रौ, "सत्तू अरी अमित्तो,रिऊ अराई य पडिवक्खो" पाइ० ना० ३५ गाथा ।

पडिवक्खदुगंछा-प्रतिपक्षजुगुप्सा-स्त्री० । मिथ्यात्वप्राणिवधाऽऽद्युद्वेगे, पञ्चा० १ विव० ।

पडिवक्खपय-प्रतिपक्षपद-न० । विवक्षितवस्तुधर्मस्य विपरीतो धर्मो विपरीतपक्षस्तद्वाचकं पद विवक्षितपदम् । विरुद्धार्थके पदे, अनु० ।

से किं तं पडिवक्खपएणं ? । पडिवक्खपएणं नवेसु गामागरणगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसंनिवेसेसु संनिविसमाणेसु असिवा सिवा अग्गी सीअलो विसं महुरं कल्लालघरेसु अंबिलं साउअं जे रत्तए से अलत्तए जे लाउए से अलाउए जे सुंभए से कुसुंभए आलवंते विवलीअभासए । से तं पडिवक्खपएणं ।

विवक्षितवस्तुधर्मस्य विपरीतो धर्मो विपक्षः तद्वाचकं पद विपक्षपद, तन्निष्पन्नं किञ्चिन्नाम भवति, यथा शृगाली अशिवाऽप्यमाङ्गलिकशब्दपरिहारार्थं शिवा भण्यते । किं सर्वदा ?, नेत्याह-(' नवेसु ' इत्यादि ) तत्र ग्रसते बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः प्रतीतः, आकरो-लोहाद्युत्पत्तिस्थानं, नगरं-करहितं, खेट-धूलीमयप्राकारोपेत, कर्बटं कुनगरं, मडम्बं सर्वतो दूरवर्ति सन्निवेशान्तरं, द्रोणमुख-जलपथस्थलपथोपेत, पत्तनं नानादेशाऽऽगतपण्यस्थानम् । तच्च द्विधा-जलपत्तनं, स्थलपत्तनं च । रत्नभूमिरित्यन्ये । आश्रमः-तापसाऽऽदिस्थानं, संवाधः-अतिबहुप्रकारलोकसङ्कीर्णस्थानविशेष , सन्निवेशो-घोषाऽऽदिः । अथवा-ग्रामाऽऽदीना द्वन्द्वे ते च ते सन्निवेशाश्चेत्येवं योज्यते, ततस्तेषु ग्रामाऽऽदिषु नूतनेषु निवेश्यमानेष्वशिवाऽपि सा मङ्गलार्थं शिवेत्युच्यते, अन्यदा त्वनियमः, तथा-कोऽपि कदाचित् केनाऽपि कारणवशेनाग्निं शीतो, विष मधुरमित्याद्याचष्टे, तथा-कल्पपालगृहेषु किलाऽऽम्लशब्दे समुच्चारिते सुरा विनश्यति । अतोऽनिष्टशब्दपरिहारार्थमम्लं स्वादूच्यते तदेवमेतानि शिवाऽऽदीनि विशेषविषयाणि दर्शितानि, साम्प्रतं त्वविशेषतो यानि सर्वदा प्रवर्तन्ते तान्याह-( जो अलत्तए इत्यादि ) यो रक्तो लाक्षारसेन, प्राकृतशैल्या कन्प्रत्ययः, स एव रश्रुतेर्लश्रुत्या अलक्तक उच्यते, तथा-यदेव लाति आदत्ते धरति प्रक्षिप्तं जलाऽऽदि वस्तु इति निरुक्तेर्लावु तदेव अलावु तुम्बकमभिधीयते, य एव, च सुम्भक शुभवर्णकारी स एव कुसुंभकः, ( आलवंते त्ति ) आलपन्-अत्यर्थ लपन्नसमञ्जसमिति गम्यते, स किमित्याह ( विवलीयभासए त्ति ) भाषकाद् विपरीतो विपरीतभाषक इति राजदन्ताऽऽदिवत् समास । अभाषक इत्यर्थ । तथा हि-सुवद्धसंवद्ध प्रलपन्त कञ्चिद् दृष्ट्वालोके वक्तारो भवन्ति-अभाषक एवाऽयं द्रष्टव्योऽसारवचनत्वादिति । प्रतिपक्षनामता यथायोग सर्वत्र भावनीया । ननु च नोगौणादिद न भिद्यते इति चेत्, नैतदेव, तस्य कुन्ताऽऽदिप्रवृत्तिनिमित्ताभावमात्रेणैवोक्तत्वाद्, अस्य तु प्रतिपक्षधर्मवाचकत्वसापेक्षत्वाद् इति विशेष । अनु० । अपवादे यथा शृगाली अशिवाऽप्यमाङ्गलिकशब्दपरिहारार्थं शिवा भण्यते, किं सर्वदा ?,नेत्याह-"नवेसु" इत्यादि । ओघ० ।

पडिवक्खवयण-प्रतिपक्षवचन-न० । उत्तरवचने,जी०१ प्रति० ।

पडिवक्खवाय-प्रतिपक्षवात-पुं० । शीतोष्णाऽऽदिके वाते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

पडिवज्जमाण-प्रतिपद्यमान-त्रि० । अङ्गीकुर्वति, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

पडिवज्जिउकाम-प्रतिपत्तुकाम-त्रि० । अभ्युपगन्तुमनसि, पञ्चा० १८ विव० ।

पडिवज्जिऊण-प्रतिपद्य-अव्य० । अङ्गीकृत्येत्यर्थे, आ० । दश० । गृहीत्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

पडिवज्जित्तए-प्रतिपत्तुम्-अव्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

पडिवज्जियव्व-प्रतिपत्तव्य-त्रि० । अङ्गीकर्तव्ये, उत्त० ३२ अ० ।

पडिवण्ण-प्रतिपन्न-त्रि० । आश्रिते, स्था० ७ ठा० । समाश्रिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । औ० । स्था० । जं० । आचा० । अभ्युपगतवति, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पडिवत्ति-प्रतिपत्ति-स्त्री० । प्रतिपदनं प्रतिपत्तिः । परिच्छित्तौ, आ० म० १ अ० । प्रकृतयोऽपि प्रतिपत्तिहेतुत्वात्प्रतिपत्तय इत्युच्यन्ते, प्रतिपद्यते यथावदवगम्यन्ते आभिरिति प्रतिपत्तयः । "लाभाऽऽदिभ्यः" इति करणे क्तिन्प्रत्ययः । आ० म० १ अ० । परमतरूपे (सू० प्र० १ पाहु० चं० प्र०) द्रव्याऽऽदिपदार्थाभ्युपगमे, नं० । पञ्चा० । प्रति० । स० । सम्यक्क्रियाऽभ्युपगमप्रतिपादने, विशे० । गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवाऽऽदिमार्गणायाम्, कर्म० १ कर्म० । प्रारम्भे, अङ्गीकारे, दश० ४ अ० । ल० । प्रतिवचनप्रदाने, वृ० ३ उ० । नि० चू० । परिपाट्याम्, आव० ४ अ० । भेदे, प्रकारे, आ० चू० १ अ० । "निच्छयत्थपडिवत्ति अववोहिति ।" आ० चू० १ अ० ।

पडिवत्तिसमास-प्रतिपत्तिसमास-पुं० । प्रतिपत्तिद्वारद्वयाऽऽदिमार्गणायाम्, कर्म० १ कर्म० ।

पडिवत्थूवमा-प्रतिवस्तूपमा-स्त्री० । दूरान्तरेऽपि यत्किञ्चित्सामान्येन भ्राम्यतामुपहासो व्यज्यते तद्व्यञ्जकेऽलङ्कारे, प्रति० । (स च 'चेइय' शब्दे तृ० भा० १२१३ पृष्ठे "काके" इत्यादिना श्लोकेन दर्शितः)

पडिवन्न-प्रतिपन्न-त्रि० । अभ्युपगते, "पडिवन्नं अब्भुवगय ।" पाइ० ना० १८८ गाथा ।

पडिवयण-प्रतिवचन-न० । आदेशे, विशे० । "देहि मे पडिवयणं तं तस्स वयणं ।" आ० म० १ अ० ।

पडिवयमाण-प्रतिपतत्-त्रि० । उच्चैर्गत्वा पुनः पतति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

प्रतिपद्यमान-त्रि० । प्रथमं प्राप्नुवति, "पडिवज्जमाणओ नाम जो तप्पढमताए आभिणिबोहियणाणं पडिवज्जति ।" आ० चू० १ अ० ।

पडिवया-प्रतिपत्-स्त्री० । पक्षस्य प्रथमतिथौ, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० ।

पडिवा-प्रतिपत्-स्त्री० । कृष्णप्रथमतिथौ, आ० क० १ अ० । चं० प्र० ।

पडिवाइ ( ण् )-प्रतिपातिन्-त्रि० । प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति । उत्कर्षेण लोकविषयं भूत्वा प्रतिपतति, स्था० ६ ठा० । प्रतिपतनशीले, नं० । विशे० । स्था० । आ० म० । प्रतिपातिसम्यग्दर्शनमौपशमिक क्षायोपशमिकमित्येतत्सम्यग्दर्शनभेदे, (व्याख्या 'दंसण' शब्दे चतुर्थभागे २४२६ पृष्ठे गता) कियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो ध्वंसगमनस्वभावे, आ० म० १ अ० । प्रदीप इव निर्मूलमेककालमुपगच्छति अवधिज्ञानभेदे, कर्म० १ कर्म० । आ० म० ।

से किं तं पडिवाइ ओहिनाणं ? । पडिवाइ ओहिनाणं जं णं जहणेणं अंगुलस्स असंखिज्जयभागं वा संखिज्जयभागं वा वालग्गं वा वालग्गपुहुत्तं वा लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा जूयं वा जूयपुहुत्तं वा जवं वा जवपुहुत्तं वा अंगुलं वा अंगुलपुहुत्तं वा पाउं वा पाउपुहुत्तं वा विहत्थिं वा विहत्थिपुहुत्तं वा रयणिं वा रयणिपुहुत्तं वा कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा धणुं वा धणुपुहुत्तं वा गाउयं वा गाउयपुहुत्तं वा जोयणं वा जोयणपुहुत्तं वा जोयणसयं वा जोयणसयपुहुत्तं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहुत्तं वा जोयणलक्खं वा जोयणलक्खपुहुत्तं वा जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहुत्तं वा जोयणकोडाकोडिं वा जोयणकोडाकोडिपुहुत्तं वा उक्कोसेणं लोगं वा पासित्ता णं पडिवएज्जा । से तं पडिवाइ ओहिणाणं ॥ ५ ॥

('से किं तं' इत्यादि) अथ किं तत्प्रतिपाति अवधिज्ञानम् ? । सूरिराह-प्रतिपात्यवधिज्ञानं यत् अवधिज्ञानं जघन्यतः सर्वस्तोकतया अङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागमात्रं वा सङ्ख्येयभागमात्रं वा वालाऽग्रं वा वालाग्रपृथक्त्वं वा लिक्षां वा वालाग्राष्टकप्रमाणा लिक्षापृथक्त्वं वा यूकां वा लिक्षाष्टकमाना यूकापृथक्त्वं वा यवं वा यूकाष्टकमानं वा यवपृथक्त्वं वाऽङ्गुलं वा अङ्गुलपृथक्त्वं वा, एतावदुत्कर्षेण सर्वप्रचुरतया लोकं दृष्ट्वा उपलभ्य प्रतिपतेत् प्रदीप इव नाशमुपयायात्, तस्य तथाविधक्षयोपशमजन्यत्वात् । तदेतत् प्रतिपात्यवधिज्ञानं, शेषं सुगमम् । नवरं कुक्षिर्द्विहस्तप्रमाणा, धनुश्चतुर्हस्तप्रमाणम् "पृथक्त्व, सर्वत्रापि द्विप्रभृतिरा नवभ्य" इति सैद्धान्तिक्या परिभाषया द्रष्टव्यम् । नं० ।

पडिवाइय-प्रतिपादित-त्रि० । प्रवेदिते, प्रकथिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । तीर्थकरगणधरैः कथिते, आव० ४ अ० ।

पडिवाय-प्रतिपात-पुं० । ध्वंसे, आ० म० १ अ० । विशे० । अधःपाते, "जइ उवसंतकसाओ, तहइ अणंतं पुणो वि पडिवाय ।" भ० २ श० १ उ० ।

प्रतिवाद-पुं० । उत्तरपक्षे अष्ट० ५ अष्ट० । परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचने, द्वा० २३ द्वा० ।

प्रतिवात-पुं० । आम्नायकविवक्षितपुरुषाणां प्रत्यभिमुखवायौ, आ० म० १ अ० ।

पडिवाल-प्रतिपाल-धा० । धातवोऽर्थान्तरेऽपि इति । प्रतीक्षणे, रक्षणे च । 'पडिवालइ ।' प्रतीक्षते, रक्षति वा । प्रा० ४ पाद ।

पडिवासुदेव-प्रतिवासुदेव-पुं० । वासुदेवाना प्रतिशत्रुषु तिलकाऽऽदिषु, ति० ।

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नव पडिसत्तू होत्था, तं जहा आसग्गीवे० जाव जरासंधे० जाव स चक्केहिं । स० ।

तथा-

"अस्सग्गीवे तारए, मेरए महुकेटभे निसुंभे य ।
बलि पहेराए तह रा-वणे य नवमे जरासंधे ॥ १ ॥ इति ।
एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाए वासुदेवाणं ।
सव्वे वि चक्कजोही,सव्वे वि हया सचक्केहिं ॥२॥"इति। स०। आ० म० । ति० । आ० चू० । प्रतिवासुदेवमाता कति स्वप्नान् पश्यतीति प्रश्ने, उत्तरम्-सा त्रीन् स्वप्नान् पश्यतीति । यदुक्तममितसिंहसूरिकृतशान्तिचरित्रे षष्ठप्रस्तावे- "प्रत्यर्थिचक्रिणां त्रींश्चा-न्येषामुत्तमजन्मिनाम् । एकैकमम्बिकाः स्वप्नं,पश्यन्त्येषां हि मध्यतः ॥१६॥" इति । तथा-सप्ततिशतस्थानकेऽपि । किं च-तान् गज १ कुम्भ २ वृषभा३ऽऽख्यान् पश्यतीति परम्परया ज्ञेयम् । ८१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । प्रतिवासुदेवस्य कियन्ति कानि च रत्नानि स्युरिति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रतिवासुदेवस्य रत्नसंख्यायां रत्नानां तु नियमः शास्त्रे दृष्टो नास्ति , तेन चक्राऽऽदीनि तानि यथासंभवं भविष्यन्तीति संभाव्यत इति । ३२६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

पडिवित्थरविहि-प्रतिविस्तरविधि-पुं० । परिकररूपे परिग्रहे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पडिविद्धंसण-प्रतिविध्वंसन-न० । विनाशने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पडिविरय-प्रतिविरत-त्रि० । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्ते प्रव्रजिते, स० ३० सम० । सूत्र० । "एगच्चाओ अबंभसमारंभाओ पडिविरओ ।" औ० ।

पडिविहाण-प्रतिविधान-न० । प्रतीकारे, विशे० । आक्षेपनिराकरणे, विशे० ।

पडिवूह-प्रतिव्यूह-पुं० । तत्प्रतिद्वन्द्विना तत्प्रतिभयोगोपायप्रवृत्तानां व्यूहे जं० २ वक्ष० । कलाभेदे, औ० ।

पडिवेस-प्रतिवेश-पुं० । प्रत्यासन्नगृहे, बृ० १ उ० २ प्रक० । प्रातिवेशिकनरेन्द्राः सीमातटवर्तिनः प्रत्यन्तराजानः । व्य० ४ उ० । विक्षेपे, दे० ना० ६ वर्ग २१ गाथा ।

पडिसंखविय-प्रतिसंक्षिप्य-अव्य० । मुष्टिग्रहणेन संक्षिप्येत्यर्थे, भ० १४ श० ७ उ० ।

पडिसंखा-प्रतिसंख्या-स्त्री० । व्यपदेशे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

पडिसंजलण-प्रतिसञ्ज्वलन-न० । क्रोधाग्निनाऽऽत्मन उद्दीपने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

पडिसंत-प्रतिश्रान्त-त्रि० । विश्रान्ते, बृ० १ उ० ३ प्रक० । प्रतिकूले, दे० ना० ६ वर्ग १८ गाथा।

पडिसंधाय-प्रतिसन्धाय-अव्य० । सह गन्त्रभावेनाऽऽनुकूल्यं प्रतिपद्येत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पडिसंलीण-प्रतिसंलीन-पुं० । क्रोधाऽऽदिकं वस्तु वस्तु प्रति सम्यग्लीने निरोधवति, स्था० ।

चत्तारि पडिसंलीणा पण्णत्ता । तं जहा-कोहपडिसंलीणे, माणपडिसंलीणे मायापडिसंलीणे,लोभपडिसंलीणे । स्था० ।

चत्तारि पडिसंलीणा पण्णत्ता । तं जहा-मणपडिसंलीणे, वइपडिसंलीणे, कायपडिसंलीणे, इंदियपडिसंलीणे ।

क्रोधाऽऽदिकं वस्तु वस्तु प्रति सम्यग् लीना निरोधवन्तः प्रतिसंलीनाः । तत्र क्रोधं प्रति उभयनिरोधेनोदयप्राप्तविफलीकरणेन प्रतिसंलीनः क्रोधप्रतिसंलीनः । उक्तं च-" उदयस्सेव निरोहो, उदय पत्ताण वाऽफलीकरणं । जं एत्थ कसायाणं, कसायसंलीणया एसा ॥ १ ॥" इति । कुशलमनउदीरणेनाकुशलमनोनिरोधेन च मनः प्रतिसंलीनं यस्य सः,मनसा वा प्रतिसंलीनो मनःप्रतिसंलीनः । एवं वाक्कायेन्द्रियेष्वपि, नवरं शब्दाऽऽदिषु मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु रागद्वेषपरिहारी इन्द्रियप्रतिसंलीन इति । स्था०४ठा० २उ० ।

पंच पडिसंलीणा पण्णत्ता । तं जहा-सोइंदियपडिसंलीणे, ०जाव फासिंदियपडिसंलीणे ।

प्रतिसंलीनेतरसूत्रयोः पुरुषो धर्मी उक्तः,संवरेतरसूत्रयोस्तु धर्म एवेति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पडिसंलीणया-प्रतिसंलीनता-स्त्री० । इन्द्रियकषाययोगविषयायां गुप्ततायाम्, विविक्तशयनाऽऽशनतायां च । स्था० ६ ठा० । पा० ।

प्रतिसंलीनताभेदाः-

से किं तं पडिसंलीणता ?। पडिसंलीणता चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-इंदियपडिसंलीणता,कसायपडिसंलीणता,जोगपडिसंलीणता,विवित्तसयणासणसेवणया । से किं तं इंदियपडिसंलीणता ?। इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-सोइंदियविसयप्पयारणिरोहो वा सोइंदियविसयप्पत्तेसु वा अत्थेसु रागदोसविणिग्गहो चक्खिंदियविसय० एवं० जाव फासिंदियप्पयारणिरोहो वा फासिंदियविसयप्पत्तेसु वा अत्थेसु रागदोसविणिग्गहो । से तं इंदियपडिसंलीणया । से किं तं कसायपडिसंलीणया ?। कसायपडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-कोहोदयणिरोहो वा उदयप्पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं,एवं०जाव लोभोदयणिरोहो वा उदयप्पत्तस्स लोभस्स विफलीकरणं । से तं कसायपडिसंलीणया । से किं तं जोगपडिसंलीणया ?। जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-अकुसलमणणिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा मणस्स वा एगत्तीभावकरणं । से किं तं वइपडिसंलीणया ?। वइपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-अकुसलवइणिरोहो वा कुसलवइउदीरणं वा वइए वा एगत्तीभावकरणं । से किं तं कायपडिसंलीणया ?। कायपडिसंलीणया जेणं सुसमाहियपसंतसाहरियपाणिपादे कुम्मो इव गुत्तिंदिए अल्लीणपल्लीणे चिट्ठइ । से तं कायपडिसंलीणया । से तं जोगपडिसंलीणया ।

श्रोत्रेन्द्रियस्य यो विषयेष्विष्टानिष्टशब्देषु प्रचारः श्रवणलक्षणा प्रवृत्तिः, तस्य यो निरोधो निषेधः स तथा, शब्दानां श्रवणवर्जनमित्यर्थः । ( सोइंदियविसयेत्यादि ) श्रोत्रेन्द्रिय-

विषयप्राप्तेषु चाऽर्थेषु इष्टानिष्टशब्देषु रागद्वेषविनिग्रहो रागद्वेषनिरोधः । ( मणस्स वा एगत्तीभावकरणं ) मनसो वा (एगत्ति त्ति) विशिष्टैकाग्रत्वेन एकता तद्रूपस्य भावस्य करणं एकताभावकरणम् , आत्मना वा सहैकतानिरालम्बनत्वं तद्रूपो भावस्तस्य करणं यत्तत्तथा। (वइए वा एगत्तीभावकरणं ति) वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेन एकतारूपभावकरणमिति । (सुसमाहियपसंतसाहरिअपाणिपाए त्ति )सुष्ठु समाधिप्राप्तो बहिर्वृत्त्या स चासौ प्रशान्तश्चान्तर्वृत्त्या यः स तथा । संहृतमविक्षिप्ततया धृतं पाणिपादं येन स तथा । ततः कर्मधारय.। ( कुम्मो इव गुत्तिंदिए त्ति ) गुप्तेन्द्रियो गुप्त इत्यर्थः ! क इव ?, कूर्म्म इव । कस्याञ्चिदवस्थायामिति । अत एवाऽऽह-( अल्लीणपल्लीणे त्ति ) आलीन ईषल्लीनः पूर्वं प्रलीनः पश्चात्प्रकर्षेण लीनः। ततः कर्म्मधारय.।भ० २५ श० ७ उ०। नि० चू०।

पडिसंवेयण-प्रतिसंवेदन-न०। अनुभवे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। आचा०।

पडिसंसाहणया-प्रतिसंसाधनता-स्त्री०। अनुव्रजने, भ० १४ श० ३ उ०।

पडिसंहार-प्रतिसंहार-पुं०। निवर्तने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । निरोधे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

पडिसत्तु-प्रतिशत्रु-पुं०। प्रतिकूले शत्रौ, "एए खलु पडिसत्तू, कित्तीपुरिसाण वासुदेवाणं।" स०।

पडिसत्थ-प्रतिसार्थ-पुं०। प्रतिकूलसार्थे, सार्थप्रतिकूले, नि० चू० ११ उ०।

पडिसद्दय-प्रतिशब्दक-पुं० । सेवके, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

पडिसरोम्मुयण-प्रतिसरोन्मोचन-न०। कङ्कणविमोचने,ध० २ अधि०। पञ्चा०।

पडिसलागा-प्रतिशलाका-स्त्री० । शलाकामहाशलाकामध्यशलाकायाम्, प्रतिशलाकाभिर्निष्पन्नत्वात् पल्योऽपि प्रतिशलाकेति । पल्योपमपरिज्ञानार्थपल्ये, कर्म० ४ कर्म० ।

पडिसा-शम्-धा०। उपशमे, "शमेः पडिसा-पडिसामौ" ॥८। ४।१६७॥ इति शमधातोः पडिसाऽऽदेशः ।"पडिसाइ। समइ।" शमयते, प्रा० ४ पाद ।

नश-धा० । अदर्शने, " नशेर्णिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहरा "॥८।४।१७८॥ इति नशे पडिसाऽऽदेशः। ' पडिसाइ।' नश्यति। प्रा० ४ पाद।

पडिसाअ-देशी- घर्घरकण्ठे, दे० ना० ६ वर्ग १७ गाथा।

पडिसाडणा-परिशाटना-स्त्री०।'शट' रुजायाम्, परिपूर्वः। परिशटति परिभ्रश्यति तमन्य प्रयुङ्क्ते, पूर्ववत् णिच् । परिशाट्यते इति परिशाटना। "णिवेस्यास०" ॥५।३।१११॥ इत्यादिना अनप्रत्यये,आप्।च्यवने,प्रकिरणे, "चवणं ति रोवणं ति य पकिरण पडिसेवणा य एगट्ठा।" व्य० १ उ०।

पडिसाम-शम-धा० । शान्तौ, " शमेः पडिसा-पडिसामौ।" ॥८।४।१६७॥ इत्यनेन पडिसामाऽऽदेशः । " पडिसामइ।" शमयति। प्रा० ४ पाद।

पडिसार-देशी पटुतायाम्, पटावित्यन्ये, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा।

पडिसारिअ-देशी-स्मृत्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ३३ गाथा।

पडिसाहण-प्रतिसाधन-न०। प्रतिकथने,सूत्र०१ श्रु०११ अ०।

पडिसाहरणा-प्रतिसंस्मरणा-स्त्री० । तन्मन.प्रतिकूलतया विस्मृतार्थस्मारणायाम, भ० १५ श०।

पडिसाहरिय-प्रतिसंहृत्य-अव्य० । विकीर्णनालान् बाहुना सगृह्येत्यर्थे, भ० १४ श० ७ उ०।

पडिसिद्ध-प्रतिषिद्ध-त्रि० । निवारिते, नि० चू० १ उ० । ' पडिसिद्धो वारिओ।" पाइ० ना० २६३ गाथा। पञ्चा०। आव० । जी०। विधेयतया निवारिते, पञ्चा० ६ विव० । निराकृते, पं० व० २ द्वार।

पडिसुइ-प्रतिश्रुति-पुं० ।भरतक्षेत्रजे द्वितीयकुलकरे, जं० २ वक्ष०। भविष्यति ऐरवतवर्षजे कुलकरभेदे, ति०। स०।

पडिसुणणा-स्त्री०। प्रतिश्रवण-न० । अङ्गीकरणे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। आचा० । आधाकर्मनिमन्त्रणान्तरं प्रतिश्रूयते अभ्युपगम्यते यत् आधाकर्म तत् प्रतिश्रवणम्। प्राकृतत्वात्स्त्रीत्वम्। दोषभेदे, पि०।

संप्रति प्रतिश्रवणस्य स्वरूपमाह-

उवओगम्मि य लाभं, कम्मगगाहिस्स चित्तरक्खट्ठा ।
आलोइए सुलद्धं, भणइ भणंतस्स पडिसुणणा ॥११६॥

इह यो गुरुरुपयोगकरणवेलायां कर्मग्राहिण आधाकर्मग्रहणाय प्रवृत्तस्य शिष्यस्य चित्तरक्षार्थं मनोऽन्यथाभावनिवारणार्थं दाक्षिण्याऽनुपेतो लाभं भणति लाभ इतिशब्दमुच्चारयति । तथा-आधाकर्मणि गृहस्थगृहादानीय आलोचिते श्राद्धिकयेदं करोटिकया दत्तमित्येवं निवेदिते ( सुलद्धं ) शोभन जातं यत् त्वयेदं लब्धमिति भणति । तस्य गुरोरित्थं भणतः प्रतिश्रवणं नाम दोष ।सूत्रे तु स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्। प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"लिङ्गं व्यभिचार्यपीति ।" प्रतिश्रवणं च नामाभ्युपगमः। पि०। वाचनां प्रयच्छतो गुरोः सूत्रग्रहणे, " पडिसुणणाए हक्कारो । " गुरौ वाचना प्रयच्छति सति सूत्रं गृह्यमाणेन तथाकार. कार्य इत्यर्थ.। ध० ३ अधि० । आ० म०।

पडिसुणमाण-प्रतिशृण्वत्-त्रि० । अभ्युपगच्छति, " आहाकम्मणिमंतण,पडिसुणमाणे अतिकमो होइ।" व्य० १ उ०। आचा०। ज्ञा० । औ०।

पडिसुत्ती-देशी-प्रतिकूले, दे० ना० ६ वर्ग १८ गाथा।

पडिसुय-प्रतिश्रुत-न०। गुरुवाक्याङ्गीकारे, उत्त० २६ अ०। जम्बूद्वीपे भरते वर्षे भविष्यति सप्तमे कुलकरे, स्था०१०ठा०।

पडिसुया-प्रतिश्रुता-स्त्री० । प्रव्रज्याभेदे, प० भा० ।

चतुरो तु गोणपाला, मत्था हीणं जंति तु अडवीए ।
पडिलाहेंति पइट्ठा, दोहिं दुगुंछाइयं तहियं ॥

दियलोगगता तत्तो, चइत्तु दुगुंछी दसन्ने दासत्तं ।
तत्तो मिगा य हंसा, सोवागा चित्तसा भूता ॥
अदुगुंछी तित्थयरं, पुच्छति किं सुलभदुलहबोहिऽम्हे ।
तित्थकर आह विग्घं, अम्मापितरो करेहिंति ॥
तो ओहिणा य याणसि, माहणपुत्तत्तणगमुसुगारे ।
सो माहणो अपुत्तो, पुच्छति णेमित्तिए य भत्ते ॥
ते काउ समणरूवं, उसुगारपुरम्मि आगता कहए ।
बहुजणतातादीणं, तो पुच्छे माहणो ते उ ॥
होज्जऽम्ह किंचऽवच्चं, पच्चाह भूया दिया तु होहिंति ।
दो जमलदारगा तू, कुमारगा पव्वइस्संति ॥
मा तेसिं करेज्जासी, विग्घमवस्सं च तेसि पव्वज्जा ।
होहिति वोत्तूण गता, चइत्तु उववन्नजातेसु ॥
बालत्ते अम्मपियरो, भणंति समणाण सरिसतवेणं ।
रक्खस माणुसखायग, भवंति दट्ठूण ते पुत्ता ! ॥
मा तेसि अल्लिएज्जह, दूरं दूरेण परिहरिज्जाहि ।
मा भक्खेज्जा ते भे, ते वि य तेसि पडिसुणेंति ॥
रत्थादि जत्थ पासं-ति संजते ते तओ पलायंति ।
अह अन्नया णगरबहिं, चेडे पासंति वंदंतो ॥
बेंति ते अम्मापियरो, दिट्ठाऽम्हे चेड वंदमाणा तु ।
ण वि समणरूवरक्ख-स भक्खंति य चेड रूपाइं ॥
चिंते तऽम्मापितरो, अतिवीसत्था इमे उ जायंति ।
मा पव्वएज्ज इहइं, अल्लियमाणा तु समणेणं ।
सउवज्झाया एते, वइयं निज्जंतु तत्थऽहिज्जंतु ।
इय संचिंतऊणं, वइयं णीता ततो तेहिं ॥
वइयाएँ समीवम्मी, मणोभिरामो तु अत्थि वडरुक्खो ।
अह अामदा कयाई, ते तु रमंते गता तहियं ।
सत्था हीणा य जती, तिसियकिलंता तु आगता तहियं ॥
एत्थ करेमो भिक्खं, वडहेट्ठं पट्ठिया तत्तो ।
तो ते भयाभिभूता, चेडविलग्गा तमेव वडरुक्खं ।
जतिणो वि य तस्साहो, ठातुं पविसंति भिक्खट्ठा ।
चरियं वत्तेति गुरू, तहियं अज्झयण णलिणगुम्म त्ति ।
तो ते सरंति जातिं, गुरुमित्थं वंदितुं वेंति ॥
अम्मापियरो पुच्छिय, पव्वज्जं अब्भुपेम मेसं तु ।
जह उसुगारज्झयणं, वक्खाणं सुत्तआलावे ।
एसा पडिसुता खलु, पव्वज्जा" । पं०भा०१ कप्प । पं०चू० ।

पडिसेज्जा-प्रतिशय्या-स्त्री० । उत्तरशय्यायाम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

पडिसेवग-प्रतिसेवक-पुं० । संयमप्रतिकूलार्थस्य संज्वलनकषायोदयात् सेवकः प्रतिसेवकः । संयमविराधके, भ० २५ श० ६ उ० । ध० । " णिक्कारणे वि भिक्खू, कारणे पडिसेवने य पंचा उ । " प्रतिसेवको नाम-यो भिक्षुः निष्कारणेऽपि कारणाभावेऽपि पञ्चकाऽऽदीनि प्रायश्चित्तस्थानानि प्रतिसेवते । व्य० ३ उ० । प्रतिपद्धं सेवते इति प्रतिसेवकः । प्रतिसेवनकारिणि, व्य० १ उ० ।

प्रतिसेवकद्वारम्-

पडिसेवओ उ साधू, पडिसेवण मूल उत्तरगुणा य ।
पडिसेवियव्वयं खलु, दव्वादि चतुव्विधं होति ॥७६॥

तत्थ पडिसेवगो त्ति दारं । पडिसेवणं पडिसेवा पडिसेवयतीति पडिसेवगो, सो य साहू, तुसद्दो अवधारणे, । पूरणे वा । तस्स पडिसेवगस्सिमे भेदा-पुरिसा, णपुंसगा, इत्थीओ ।

तत्थ पुरिसे ताव भणामि-

पुरिसा उक्कोस मज्झिम-जहण्णया ते चउव्विधा होंति ।
कप्पट्ठिता परिणता, कडजोगी चेव तरमाणा ॥ ७७ ॥

एसा भद्दबाहुस्सामिकता गाहा-पडिसेवगपुरिसा तिविहा-उक्कोस-मज्झिम-जहण्णा । एते वक्खमाणसरूवा जे उक्कोसादि ते चेव चउव्विहा होंति । कहं?, उच्यते-भंगविगप्पेण ।

सा य भंगरयणगाहा इमा-

संघयणे संपण्णा, धितिसंपण्णा य होंति तरमाणा ।
सेसेसु होति भयणा, संघयणधिती य इतरा य ॥ ७८ ॥

संघयणसंपण्णा, धितिसंपण्णा य होंति, एस पढमभंगो । तरमाणा गतिसंपण्णा सिग्घं त्ति ठुउ भणित्ता उ०जमणंतं सेसं होति पढमभंगो भणितो, सेसा तिण्णि भंगा, तेसु भयणा । भयणा णाम-सेवत्थे किं पुण तं भज्जं संघयणं धितियभंगं संघयणेण भयधितिवज्जिय कुड सो य इमो संघयणसंपण्णो, णो धितिसंपण्णो । बितीयत्ति तियभंगो धितिए भज्जो, णो संघयणभज्जो । सो य इमो णो संघयणसंपण्णो धितिसंपण्णो । इयर त्ति । इयरा णाम-संघयणधितिरहिता । सो चउत्थो भंगो इमो-णो संघयणसंपण्णो, णो धितिसंपण्णो । एवं एते भंगा रचिता । चोदगाह जति उक्कोसाऽऽदि पुरिसा तिगं तो भंगविगप्पिया चउरो ण भवंति अह चउरो, तिगं ण भवति एत्थ उत्तरगाह, जे इमे भंगविगप्पिया चउरो, एते चेव तओ भण्णंति ।

कह ?, भण्णति-

पुरिसा तिविहा संघयण-धितिजुया तत्थ होति उक्कोसा ।
एगतरजुत मज्झा, दोहि विजुता जहण्णा उ ॥७९॥

प्पिया चउरो पुरिसा, ते अणेण पच्छद्धभिहिएण चउविकप्पेण चिंतियव्वा । कप्पट्ठिता णाम-जहाभिहिए कप्पे ठिता, ते य जिणकप्पिया । तप्पडिवक्खा कप्पट्ठिता । पकप्पणा पकप्पो,भेदेत्यर्थः । तं संठिता पकप्पट्ठिता,अववादसहिते कप्पे ठिय त्ति भणिय भवति । परिणता णाम-सुत्तेण वएण य वत्ता । तप्पडिवक्खा णाम-अपरिणता । कडजोगी णाम-चउत्थादिनवे कतजोगी, तप्पडिवक्खा अकडजोगी, तरमाणा णाम जे जं तवोकम्मं आढवेंति तं नित्थरंति, तप्पडिवक्खा अतरमाणा, पच्छद्धसरूवं वक्खायं । इयाणिं चउभंगविगप्पिया पुरिसा कप्पा कप्पट्ठिता वा होज्जा । कप्पपकप्पा पुव्ववक्खाया एव । इयाणिं तरमाणा सएणासियं पदं समोयारिज्जति-कप्पे पकप्पे वा ठिता पढमभंगिल्ला णियमा तरमाणा कयकिच्चं पयं । इदाणिं कप्पपकप्पट्ठिता पत्तेगसो चिंतिज्जति, कप्पट्ठिता जिणकप्पिया, तुसद्दो पत्तेयणियमधारणे । परिणया सुत्तेणं वयसा य, णियमा कडजोगिणो तवे णियमा तरमाणगा ते णियमा कप्पट्ठिता गता, पकप्पट्ठिता भएणंति ।

अओ भएणति-

जे पुण ठिया पकप्पे, परिणत कडजोगि वावि ते भइया ।
तरमाणा पुण णियमा, जेणेउभएण ते वलिया ॥८१॥

जे इति णिद्देसे । पुण इति पादपूरणे । पकप्पे थेरकप्पे, परिणयकडजोगित्ते भइया, भयसद्दो पत्तेय । कहं भइया ?, जेणं थेरकप्पिया गीता अगीता य संति, वयसा सोलसवासारत्तो परतो य संति, तम्हा ते भज्जा, तरमाणा पुण णियमा । कम्हा ?। उच्यते-जेणेउ उभयेण ते वलियाओभयं णाम-संघयणधितिसामत्थाओ य ज तवोकम्मं आढवेंति, तं णित्थरति । गतो पढमभंगो ।

इयाणिं मज्झिमपुरिसा वितियभंगिल्ला भएणति-

मज्झा वितीय ततिया, नियम पकप्पट्ठिता तु णायव्वा ।
वितिया परिणत कडजो-गिताएँ भइया तरे किंचि ॥८२॥

(मज्झ त्ति) मज्झिमपुरिसा ( वितिय त्ति ) वितियभंगो ( ततिय त्ति ) ततियभंगो ( णियमा इति ) अवस्सं णियमसद्दाओ जिणकप्पवुदासो, पकप्पावधारणं पकप्पो थेरकप्पो, णायव्वं बोधव्वमिति । तु अवधारणे किमवधारयति इमं दोएह वि मज्झिल्लभंगाण सामएणमभिहियं । विसेसो भण्णति-(वितिया इति) वितियभंगिल्ला परिणयत्तेण कडजोगि त्ति भइया पूर्ववत् । (तरे किंचि त्ति) तरति शक्नोति किञ्चिदिति स्वल्पतरमिति ।

भएणति-

संघयणेण तु जुत्तो,अदढधिती ण खलु सव्वसोऽतर ति ।
देहस्सेव तु सगुणे-ण भज्जते जेण अप्पेणं ॥ ८३ ॥

संघयणेण य जुत्तो,संपन्न इत्यर्थः । अदढधिई धितिविरहित । ण इति पडिसेहे । खलु अवधारणे । सव्वसो सर्वप्रकारेण अतरः असमर्थः द्विप्रतिषेधः प्रकृतिं गमयति, तरत्येवेत्यर्थः । कहं धितिविरहितोवितरो भएणति, देहस्सेव उ सगुणो देह सरीर गुणो उवगारो पडिसेहे भज्जति विसायमुवगच्छति । जेणं यस्मात् कारणात्, अप्पेण स्तोकेनेत्यर्थः । गतो वितियभङ्गो ।

इयाणिं ततिओ-

ततिओ धितिसंपण्णो,पडिणय कडजोगि वावि सेवए भइतो।
एगे पुण तरमाणं, तमाहु मूलं धिती जम्हा ॥८४॥

( ततिउ त्ति ) ततियभंगो धितिसंपएणो धृतिसंयुक्तः संघयणविरहितः अविसहा किंचि तरति, धितिसंपएणत्वात् । पुव्वद्धस्स सेसं कंठं । (एगे त्ति) एगे आयरिया पुण विसेसेण ( तरमाणं ति ) समत्थ, तदिति तइयभंगिल्ल, आहुरिति उक्तवन्तः । कम्हा कारणा तरमाणं भणंति-भवस्य मूलं धिती जम्हा । कह पुण दुविहसंघयणुप्पत्ती भवति ।

भएणति—

णामुदया संघयणं, धिती तु मोहस्स उवसमे होति ।
तह वि सती संघयणा,जा होति धिती ण साहीणे ॥८५॥

णाम इति छुट्टी मूलकम्मपगडी तस्स वायालीसुत्तरभेएसु अट्ठमो संघयणभेओ णाम,तस्स पुक्खलुदया पुक्खलसरीरलक्खण भवति । (धिति त्ति) धितिसंघयणं, मोहो णाम-चउत्थी मूलकम्मप्पगडी,तस्स खओवसमा धिती भवति । विसेसओ चरित्तमोहक्खओवसमा । तत्थ विसेसओ णो कसायचरित्तमोहणीयखओवसमा, तत्थ विसेसओ अभरमाणगो कज्जति । जइ वि भिएणाणुप्पत्ती कारणाणि, तहा वि सति संघयणे सति विज्जमाणे संघयणे ( जा इति ) जारिसी होति धिती ण सा संघयणहीणे भवति । तम्हा तइयभगो अतरमाणगो,केइमतेणं पुणो तरमाण एव । गओ ततिओ भंगो ।

इयाणिं चउत्थो—

चरिमो परिणतकडजो-गिताएँ भइऊण सव्वसो अतरो ।
रातीभत्तविवज्जण-पोरिसिमादीहिं जं तरति ॥८६॥

चरिमो चउत्थभंगो,सेस पुव्वद्धस्स कंठ । जो धितिसरीरसंघयणविहीणो कह पुण सव्वसो अतरो ण भवति ?। उच्यते-(रातीभत्तेत्यादि) ज यस्मात्कारणात् एवमादि प्रत्याख्यान तरति, तम्हा ण सव्वसो अतरो । गओ चउत्थो भगो । गओ पुरिसपडिसेवगो ।

इदाणिं णपुंसगित्थिपडिसेवगा भण्णति-

पुरिसणपुंसा एमे-व होंति एमेव होंति इत्थीओ ।
णवरं पुण कप्पठिता, इत्थीवग्गेण कातव्वा ॥८७॥

णपुंसगा दुविहा-इत्थिणपुंसगा य,पुरिसपुंसगा य । इत्थिणपुंसगा अपव्वावणिज्जा, जे ते पुरिसणपुंसगा अप्पडिसेविणो छज्जणावधिविधियमतओसाहिउवहता ईमिमत्ता देवसत्ता । एते जहा पुरिसा चउरुसगादिचउसु भंगेसु कप्पठियादिविकप्पेहिं चिंतिता तहेव चिंतियव्वा । इत्थियाओ वि एत्थ चेव,णवरं जिणकप्पिया इत्थी ण भवति । वग्गो नाम कलापकः । पडिसेवगो त्ति दार गय । नि० चू० १ उ० ।

यदाचार्येण वक्तव्य तदाह-

वेसकरणं पमाणं, न होइ न इ मज्जणं नऽलंकारो ।
साइज्जिएण सेवी, अणणुमएणं असेवी उ ॥२०१॥

व्य० २ उ० । ( इय गाथा 'ओहावण' शब्दे तृतीयभागे १३४ पृष्ठे व्याख्याता )

**पडिसेवणा-प्रतिसेवना**-स्त्री० । प्रतिसेव्यते इति प्रतिसेवना । आधाकर्मोपजननहेतुविशेषे, पिं० । तत्र प्रथमतः प्रतिसेवनास्वरूपं वक्तव्यं, तत्राऽपि य आधाकर्म स्वयमानीय भुङ्क्ते स आधाकर्मप्रतिसेवी प्रतीत एव । केवलमिह ये परेणोपनीतमाधाकर्म भुञ्जानस्य न कश्चिद्दोष इति मन्यन्ते तन्मतविकुट्टनार्थं परेणोपनीतस्याऽऽधाकर्मणो भोजने प्रतिसेवनादोषमाह-

अन्नेणाऽऽहाकम्मं, उवणीयं असइ चोइओ भणइ ।
परहत्थेणंऽगारे, कड्ढंतो जह न डज्झइ हु ॥११४॥
एवं खु अहं सुद्धो, दोसो देंतस्स कूडउवमाए ।
समयत्थमजाणंतो, मूढो पडिसेवणं कुणइ ॥११५॥

अन्येन साधुना भक्ताऽऽदिकमाधाकर्म उपनीतं गृहस्थगृहादानीय समर्पितं, तद् योऽश्नाति स प्रतिसेवनां करोतीति सबन्ध । स चाधाकर्म भुञ्जानः केनाप्यपरेण साधुना धिग्गृहो महे यत्र भवान् विद्वानपि सयतोऽप्याधाकर्म भुञ्जीतेति चोदितो विक्षिप्तः सन् प्रत्युत्तरं भणति-यथा न मे कश्चिद्दोषः, स्वयं ग्रहणस्याभावात् । यो हि नाम स्वयमाधाकर्म गृहीत्वा भुङ्क्ते तस्य दोषो, यस्तु परेणोपनीतं भुङ्क्ते तस्य न कश्चित् । तथा चाऽत्र दृष्टान्तो यथा-परहस्तेनाङ्गारान् कर्षयन्न दह्यते, एवमहमप्याऽऽधाकर्मभोजी, (खु) निश्चितं शुद्ध एव, दोषः पुनर्ददतो, यथा परस्य स्वहस्तेनाङ्गारानाकर्षतः, एवं कूटया उपमया, अलीकेन दृष्टान्तेन, समयार्थं भगवत्प्रवचनोपनिषदम् । " जस्सट्ठा आरंभो, पाणिवहो होइ तस्स नियमेण । पाणिवहे वयभंगो, वयभंगे दुग्गई चेव ॥१॥" इत्यादिरूपमजानानोऽत एव मूढः प्रतिसेवनं कुरुते । तदेवमुक्तं प्रतिसेवनस्य स्वरूपम् । पिं० । प्रतीपं सेवना प्रतिसेवना । संयमानुष्ठानात् प्रतीपसंयमानुष्ठाने, ओघ० । प्रतिषिद्धस्य सेवना प्रतिसेवना । अकल्पसमाचरणे, व्य० १ उ० । चारित्रभ्रशनायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

प्रतिसेवनाभेदाः-

पडिसेवओ य पडिसे-वणा य पडिसेवियव्वयं चेव ।
एएसिं तु पयाणं, पत्तेयपरूवणं वुच्छं ॥ ३७ ॥

प्रतिषिद्धं सेवते इति प्रतिषेवकः, प्रतिसेवनक्रियाकारी । च. समुच्चये । प्रतिसेवना अकल्प्यसमाचरणम् । प्रतिसेवितव्यमकल्पनीयम् । एतेषां त्रयाणामपि पदानां प्रत्येकं प्ररूपणां वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

पडिसेवओ सेवंतो, पडिसेवण मूल उत्तरगुणे य ।
पडिसेवियव्व दव्वं, रूवि व्व सिया अरूवि व्व ॥३८॥

प्रतिसेवको नामाकल्प्यं सेवमानः, प्रतिषेवना अकल्प्यसमाचरणम् । सा च द्विधा-(मूल उत्तरगुणे य इति) गुणशब्दः प्रत्येकमपि सबध्यते । मूलगुणविषया, उत्तरगुणविषया च । यच्च कार्यं समाचर्यमाणं मूलगुणप्रतिघाति, उत्तरगुणप्रतिघाति वा तत्प्रतिसेवितव्यम् । तच्च द्रव्यं, पर्यायो वा । तत्र पर्याया द्रव्य एवान्तर्भूता विवक्षिताः, भेदाभावादिति द्रव्यं द्रष्टव्यम् । तथा चाऽऽह-द्रव्यं तच्च स्यात् कदाचिद्रूपि आधाकर्माऽऽद्योदनाऽऽदि, वा विकल्पे, अरूपि वा आकाशाऽऽदि, तदपि हि मृषावादाऽऽदिविषयतया भवति कदाचित्प्रतिसेवनीयम्, इह प्रतिसेवनामन्तरेण न प्रतिसेवकस्य सिद्धिः, नापि प्रतिसेवनीयस्य ।

ततः प्रतिसेवनाया विशेषतः प्ररूपणामाह-

पडिसेवणा उ भावो, सो पुण कुसलो य होज्जऽकुसलो वा ।
कुसलेण होइ कप्पो, अकुसलपरिणामओ दप्पो ॥३९॥

प्रतिसेवना द्विविधा-द्रव्यरूपा, भावरूपा च । प्रतिसेवनक्रियायाः कर्तृकर्मगतत्वात् तत्र या तस्य वस्तुनः प्रतिसेव्यमानता सा द्रव्यरूपा प्रतिसेवना । यस्तु जीवस्य तथा प्रतिसेवकत्वपरिणामः सा भावरूपा प्रतिसेवना, सैव चेह ग्राह्या, परिणामानुरूपतः प्रायश्चित्तविधिप्रवृत्तेः । तथा चाऽऽह-(पडिसेवणा उ भावो) प्रतिसेवना नाम, तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, भाव एव जीवस्याध्यवसाय एव नान्या । स च भावो द्विधा-कुशलोऽकुशलश्च । तत्र कुशलो ज्ञानाऽऽदिरूपोऽकुशलोऽविरत्यादिरूपः, तत्र या कुशलेन परिणामेन बाह्यवस्तुप्रतिसेवना, सा कल्पः, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्कल्पप्रतिसेवना, कल्पिका इति भावः । या पुनरकुशलपरिणामतः प्रतिसेवना, सा दर्पः-दर्पप्रतिसेवना, दर्पिका इत्यर्थः ।

आह-किमेषां त्रयाणामपि परस्परमेकत्वम्, अन्यत्वं वा ? । उच्यते-उभयमपि । कथमित्यत आह-

णाणी न विणा णाणं, नेयं पुण तेसऽणन्नमन्नं च ।
इय दोण्हमणाणत्तं, भइयं पुण सेवियव्वेण ॥४०॥

यथा ज्ञानं विना अन्तरेण ज्ञानी न भवति, ज्ञानपरिणामपरिणतस्यैव ज्ञानित्वव्यपदेशभावादिति । तयोर्ज्ञानज्ञानिनोरेकत्वम् । (इय दोण्हमणाणत्त ति) इति एवं ज्ञानिज्ञानगतेन प्रकारेण द्वयोः प्रतिसेवकप्रतिसेवनयोरनानात्वमेकत्वं, प्रतिसेवनामन्तरेण प्रतिसेवकस्याऽप्यभावात् प्रतिसेवनापरिणामपरिणतस्यैव प्रतिसेवकत्वव्यपदेशप्रवृत्तेः । (णेयं पुण तेसऽणन्नमन्नं च इति) पुनःशब्दो विशेषद्योतने । स चामुं विशेषं द्योतयति-न ज्ञानज्ञानिनोः परस्परमविशेषेणापि सदाय एकत्वं, किं तु ज्ञेयं, तयोर्ज्ञानज्ञानिनोरनन्यत् । तथाहि-यदा ज्ञानी आत्माऽऽलम्बनज्ञानपरिणामपरिणतस्तदा ज्ञानज्ञानिनोरेकत्वं, यदा त्वाऽऽत्मव्यतिरिक्तघटाद्यालम्बनज्ञानपरिणामपरिणतस्तदा ज्ञत्वमात्मनो घटाऽऽदीनामन्यत्वात् ज्ञानमपि यदाऽभिनिबोधिकाऽऽदिस्वरूपाऽऽलम्बनं तदा ज्ञानज्ञेययोरेकत्वम्, यदा तु स्वव्यतिरिक्तघटाऽऽद्यालम्बनं तदाऽन्यत्वं घटाऽऽदीनां ज्ञानात् मूर्तामूर्ततया पृथग् देशाऽऽदितया च भिन्नत्वात् । (भइयं पुण सेवियव्वेण इति) अत्रापि इतीत्यनुवर्तते, इति उक्तेन प्रकारेण प्रतिसेवकप्रतिसेवनयोरनानात्वं भक्तं विकल्पितं पुनर्नानात्वं सेवितव्येन प्रतिसेवितव्येन, कदाचिदनानात्वं, कदाचिन्नानात्वमित्यर्थः । तथाहि-यदा प्रतिसेवको हस्तकर्माऽऽदि प्रतिसेवते तदा प्रतिसेवकप्रतिसेवितव्ययोरेकत्वमित्यर्थः, यदा पुनः प्रथमतया कीटकाऽऽदिसत्त्वव्यापादनाऽऽदि प्रतिसेवते तदा नानात्वं कीटकाऽऽदिसत्त्वानां साधोः पृथग्भूतत्वात्प्रतिसेवनात् यदा प्रतिसेव्यमानता तदा सा प्रतिसेवितव्यादनन्यैवेति प्रतिसेवनाप्रतिसेवितव्ययोरेकत्वनानात्वचिन्ता नोपपद्यते । अथ प्रतिसेवनाप्रतिसेवकस्याध्यवसायः, स तर्हि यदात्मव्यापादनविषयस्तदा प्रतिसेवकत्वं, यदा तु बाह्यद्रव्यादिप्रतिसेवनाविषयः तदा नानात्वम्, द्रव्यादेः प्रतिसेवकादन्यत्वात् ।

संप्रति यत्प्राक् मूलोत्तरगुणविषयतया प्रतिसेवनाया द्वैविध्यमुक्तं तद्विभावयिषुराह-

मूलगुण उत्तरगुणे, दुविहा पडिसेवणा समासेणं ।

**मूलगुणे पंचविहा, पिंडविसोहाऽऽइया इयरा ॥ ४१ ॥**

प्रतिसेवना समासेन सङ्क्षेपेण द्विविधा । तद्यथा-मूलगुणविषया, उत्तरगुणविषया । तत्र मूलगुणविषया पञ्चविधा-प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहरूपा । इतरा उत्तरगुणविषया पिण्डविशुद्ध्यादिविषया अनेकविधा । अत्राऽऽदिशब्दात्समित्यादिपरिग्रहः । किमुक्तं भवति ? -मूलगुणेषु प्राणातिपातविरत्यादिषु, उत्तरगुणेषु पिण्डविशुद्ध्यादिषु यथाक्रमं प्रतिसेवना प्राणातिपाताऽऽदिलक्षणा पञ्चविधा । आधाकर्मोपभोगाऽऽदिलक्षणा अनेकविधेति । तत्र मूलगुणप्रतिसेवना संरम्भाऽऽदिभेदतस्त्रिधा, उत्तरगुणप्रतिसेवना त्वतिक्रमाऽऽदिभेदतः ।

तथा चाऽऽह-

**सा पुण अइक्कमे वइ-क्कमे य अइयारे तह अणायारे ।**
**सारंभे समारम्भे, आरंभे रागदोसाऽऽदी ॥ ४२ ॥**

सा उत्तरगुणप्रतिसेवना पुनरतिक्रमे, व्यतिक्रमे, अतीचारे, तथा अनाचारे भवति । एतदुक्तं भवति- सर्वाऽप्युत्तरगुणप्रतिसेवना अतिक्रमाऽऽदिभेदतश्चतुष्प्रकारा । मूलगुणप्रतिसेवना संरम्भे, समारम्भे, आरम्भे च संरम्भाऽऽदिभेदतस्त्रिप्रकारेति भावार्थः । ते च संरम्भाऽऽदयो रागद्वेषाऽऽदितः । रागतो, द्वेषतः, आदिशब्दादज्ञानतश्च । तत्र रागतो यथा चिलातीपुत्रस्य सुसुमावधः । द्वेषतो यथा सत्यकेर्द्वैपायनव्यापादनम् । अज्ञानतो ब्राह्मणाऽऽदीनां छागाऽऽदिवधः । ननु " यथोद्देशस्तथा निर्देश इति " प्रथमतो मूलगुणप्रतिसेवना व्याख्यातुमुचिता, पश्चादुत्तरगुणप्रतिसेवना । अत्र तु विपर्यय इति कथम् ?, उच्यते- इह प्रायः प्रथमतः किलाऽल्पसंक्लिष्टाध्यवसायः स उत्तरगुणप्रतिसेवनां कुरुते । पश्चादतिसंक्लिष्टाध्यवसायो मूलगुणप्रतिसेवनामिति ख्यापनार्थं विपर्ययेणोपन्यास इत्यदोषः । व्य० १ उ० १ प्रक० । मूलगुणे पञ्च प्रतिसेवनाः, अनाचारे चतुर्मासलघु । मूलगुणे पञ्चविधा प्रतिसेवनेति यदुक्तं, तत्र पञ्चविधत्वं दर्शयति-

**पाणिवह मुसावाए, अदत्ते मेहुण परिग्गहे चेव ।**
**मूलगुणे पंचविहा, परूवणा तस्सिमा होइ ॥४५॥**

व्य० १ उ० १ प्रक० । ( ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे व्याख्या)

साम्प्रतमस्यामेव " सा पुण अतिक्कमेत्यादिकाया गाथायां यद् मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनयोर्विपर्ययेणोपन्यसनमकारि, तत्र कारणमाक्षेपपुरस्सरमुपन्यस्यन्नाह-

**चोएइ किमुत्तरगुणा, पुव्वं बहु अ थोव लहुयं च ।**
**अतिसंकिलिट्ठभावो, मूलगुणे सेविते पच्छा ॥५१॥**

चोदयति प्रश्नयति शिष्यो, यथा-किमुत्तरगुणा उत्तरगुणप्रतिसेवना पूर्वमुक्ता ?, " यथोद्देशं निर्देश " इति न्यायाद्धि पूर्वं मूलगुणप्रतिसेवना वक्तुमुचितेति भावः । अत्रोत्तरमाह-बहव उत्तरगुणाः, स्तोका मूलगुणाः, तथा लघु शीघ्रम्, उत्तरगुणानां सेवकः प्रतिसेवकः, ततोऽतिसंक्लिष्टभावः सन् पश्चात् मूलगुणान्सेवते प्रतिसेवत इति ख्यापनार्थं विपर्ययेणोपन्यासः । इह प्रायश्चित्तमुक्तवृत्त्या चिन्तितं, तथा चाऽपराधविधाय विशुद्धमनसो गुरुसमक्षं वदन्ति-भगवन्मुक्तस्यास्य प्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तमिति, कदाचित्सेवनाऽप्युपचारात्प्रायश्चित्तम्, तथाऽपराधे कृते वक्तारो भवन्ति-समापितमस्माकमद्य प्रायश्चित्तमिति ।

तत्र यथोपचारतः प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तमुच्यते, तथोपपादयन्नाह-

**पडिसेवियम्मि दिज्जइ, पच्छित्तं इहरहा उ पडिसेहो ।**
**तेण पडिसेवण चिय, पच्छित्तं तं चिमं दसहा ॥५३॥**

प्रतिसेविते प्रतिषिद्धसेविते यस्मात् प्रायश्चित्तं दीयते, इतरथा प्रतिषिद्धासेवनमन्तरेण प्रतिषेधः प्रायश्चित्तस्य । ततः प्रतिसेवना प्रायश्चित्तस्य निमित्तमिति कारणे कार्योपचारात् प्रतिसेवनैव प्रायश्चित्तम् । व्य० १ उ० १ प्रक० ।

तत्र प्रतिसेवनाव्याख्यानार्थमाह-

**मूलुत्तर पडिसेवा, मूले पंचविह उत्तरे दसहा ।**
**एक्केका वि य दुविहा, दप्पे कप्पे य नायव्वा ॥३७॥**

प्रतिसेवा नाम प्रतिसेवना, सा च द्विधा ( मूलोत्तर त्ति ) " पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् " मूलगुणातिचारप्रतिसेवना, उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना च । तत्र ( मूले पंचविह त्ति ) मूले मूलगुणातिचारप्रतिसेवना पञ्चविधा पञ्चप्रकारा, मूलगुणातिचाराणां प्राणातिपाताऽऽदीनां पञ्चविधत्वात् । उत्तरे उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना दशधा दशप्रकारा, उत्तरगुणानां दशविधतया तदतिचाराणामपि दशविधत्वात् । ते च दशविधा उत्तरगुणा दशविधं प्रत्याख्यानम् । तद्यथा- अनागतमतिक्रान्तं कोटीसहितं नियन्त्रितम् । साकारमनाकारं, परिमाणकृतं निरवशेषं सांकेतिकमद्धाप्रत्याख्यानं च । अथवा-इमे दशविधा उत्तरगुणाः । तद्यथा-पिण्डविशोधिरेक उत्तरगुणः, पञ्च समितयः । पञ्च उत्तरगुणाः । एवं तयोर्बाह्यं षष्ठं भेदं सप्तमं उत्तरगुणः, अभ्यन्तरतपःप्रभेदमष्टमं, भिक्षुप्रतिमा द्वादश नवमं, अभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्ना दशमः । एतेषु दशविधेषूत्तरगुणेषु याऽतिचारप्रतिसेवना क्रियते सा दर्पिका, या पुनः कारणे सा कल्पिका ।

अत्र शिष्याः पृच्छन्ति-

**किह भिक्खू जयमाणो, आवज्जइ मासियं तु परिहारं ।**
**कंटगपहे व छलणा, भिक्खू वि तहा विहरमाणो ॥३९॥**

केन प्रकारेण भिक्षुर्यतमानः सूत्रोक्तनीत्या प्रयत्नपरो मासिकं परिहारं प्रायश्चित्तस्थानमापद्यते । नैवाऽऽपत्तिसंभवो, यतनया सर्वत्र प्रवृत्तेरिति भावः । आचार्य आह-( कंटगेत्यादि ) कण्टकाऽऽकीर्णे पन्थाः कण्टकपथस्तस्मिन्निव यतनयाऽपि वर्तमानस्य छलना भवति, ततो भिक्षुरपि तथा विहरन् यतमानो मासिकमापद्यते प्रायश्चित्तस्थानमिति ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह-

**तिक्खम्मि उदगवेगे, विसमम्मि विज्जलम्मि वच्चंतो ।**
**कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावए पडणं ॥४०॥**

तीक्ष्णेऽतिप्रबले शीघ्रे च उदकवेगे उदकरये यदि वा विषमे अतिदुर्गमे विज्जले सकर्दमस्थाने व्रजन् पुरुषः कुर्वन्नपि प्रयत्नमवशो यथा प्राप्नोति पतनम् ।

**इह समणसुविहियाणं, सव्वपयत्तेण वी जयंताणं ।**
**कम्मोदयपव्वइया, विराहणा कस्सइ हवेज्जा ॥ ४१ ॥**

इह श्रमणा लिङ्गमात्रधारिणोऽपि व्यवह्रियन्ते, शाक्याऽऽदयोऽपि च । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं सुविहितग्रहणं, शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, ते च श्रमणशब्देन सह विशेषणसमासः । तथा-प्रागुक्तदृष्टान्तप्रकारेण श्रमणसुवि-

हितानां सर्वप्रयत्नेन सर्वाऽऽत्मना स्वशक्त्यनतिक्रमेण । अपि शब्दो भिन्नक्रम ,स चैवं योजनीय.-यतमानानामपि मध्ये कस्याऽपि कर्मोदयप्रत्ययिका कर्मोदयहेतुका विराधना भवेत् । आह-किमेकान्तेनैव प्रतिसेवना कर्मोदयप्रत्ययिका,उतान्योऽपि कश्चित्प्रकार. प्रतिसेवनाया अस्ति? उच्यते-अस्तीति ब्रूम'।

तथा चाऽऽह-

**अन्ना वि हु पडिसेवा, सा उ न कम्मोदएण जा जयतो ।**
**सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाऽजयकम्मजणणी उ ॥४२॥**

कर्मोदयहेतुका या प्रतिसेवना सा तावदेकाऽस्त्येव. किं त्वन्याऽपि कर्मोदयहेतुकाया व्यतिरिक्ताऽपि प्रतिसेवा प्रतिसेवनाऽस्ति ।( सा उ न कम्मोदएण ति ) तुशब्दोऽव्ययत्वेनानेकार्थत्वात् हेतौ । ततोऽयमर्थः-यत साऽन्या प्रतिसेवना न कर्मोदयेन कर्मोदयहेतुका, कर्मोदयहेतुकत्वे अन्यथा योगात् । सा च कारणे, तत्राऽपि यतनया द्रष्टव्या । तत्र या कारणे ( जयतो त्ति ) यतमानस्य प्रतिसेवना सा कर्मक्षयकरणी-कर्मक्षयः क्रियतेऽनयेति कर्मक्षयकारिणी, करणे अनट्। सा हि नावश्यं सतः कर्मोदयहेतुका, किं तु सूत्रोक्तनीत्या कारणे यतनया यतमानस्य ततस्तत्राऽऽज्ञाविराधनात् सा कर्मक्षयकारिणी । या पुन प्रतिसेवना दर्पेण, या च कल्पेऽप्ययतनया सा कर्मजननी । तथा चाऽऽह-(दप्पा जयकम्मजणणी उ)या दर्पेण कारणेऽपि चायतमानस्य प्रतिसेवा कर्म जन्यते अनया कर्मजननी । तदेव यतो दर्पेण कल्पेऽपि चायतनया प्रतिसेवना कर्मजननी । तत इद सिद्धम्-

**पडिसेवणा उ कम्मो-दएण कम्ममवि तन्निमित्तागं ।**
**अन्नोन्नहेउसिद्धी, केसिं वीयंकुराणं व ॥ ४३ ॥**

प्रतिसेवना कर्मोदयेन । किमुक्त भवति ?-प्रतिसेवनाया हेतु. कर्मोदय' कर्माऽपि च तन्निमित्तक प्रतिसेवनानिमित्तकम् , कर्मणोऽपि हेतुः प्रतिसेवना इति भाव. । एव तेषां प्रतिसेवनाकर्मणामन्योन्य परस्पर हेतुसिद्धि हेतुभावसिद्धि । केषामिव परस्पर हेतुभावसिद्धिरित्यत आह-बीजाङ्कुरयोरिव, गाथाया द्वित्वेऽपि बहुवचन प्राकृतत्वात् । तथा बीजमङ्कुरस्य हेतुरङ्कुरोऽपि च बीजस्य हेतुरित्यनयो. परस्पर हेतुभाव , तथा कर्मप्रतिसेवनयोरपि ।

**दिट्ठा खलु पडिसेवा, सा उ कहं हुज्ज पुच्छिए एवं ।**
**भण्णइ अंतोवस्सए, बाहिं च वियारमादीसुं ॥ ४४ ॥**

परस्य चक्षुरादिप्रत्यक्षत. स्वस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण दृष्टा खलु प्रतिसेवा सा तु क्षेत्रतः क भवेत् इति एवममुना प्रकारेण पृष्टे सति भण्यते उत्तर दीयते । अन्त. मध्ये उपाश्रये उपाश्रयस्य, बहिर्वा विचाराऽऽदिषु विचाराऽऽदिनिमित्त बहिर्निर्गतस्य,उपलक्षणमेतत् । तेन कालत प्रश्ने दिवा रात्रौ वा, भावत प्रश्ने दर्पेण कल्पेन इत्यपि वक्तव्यमिति ।

**पडिसेविएँ दप्पेणं, कप्पेण वा वि अजयणाए उ ।**
**न वि णज्जइ वाघातो, कं वेलं होज्ज जीवस्स ॥ ४५ ॥**

दर्पेण कल्पेनाप्ययतनया प्रतिसेविते मासिकाऽऽदिकमतीचार प्राप्तेन सवगमुपगच्छता आलोचना प्रयोक्तव्या । एतच्च चिन्तयितव्य, नाऽपि नैव ज्ञायते-कां वेलां कस्या वेलायां व्याघातो, 'जीव' प्राणधारणे, जीवन जीवस्तस्य,जीवितस्येत्यर्थ.। व्याघातो भवेत् । अनालोचिते यदि म्रियते ततो दीर्घससारी भवति ।

तत एव तद् भण्यते -

**तं न खमं खु पमातो*, मुहुत्तमवि आसिउं ससल्लेण ।**
**आयरियपादमूले, गंतूण समुद्धरे सल्लं ॥ ४६ ॥**

यस्मादचिन्तित. पतति जीवितस्य व्याघातः, अनालोचिते च मृतस्य दीर्घसंसारिता, तस्मात् ( पमातो इति ) अत्र दकारस्य लोप. प्राकृतत्वात् । प्रमादवशेन सशल्येनातीचारशल्ययुक्तेन मुहूर्तमप्यासितु न क्षमम् । खलु निश्चित कृत्वाऽऽचार्यपादमूले गत्वा आलोचनाविधानेन प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या शल्यमतीचाररूप समुद्धरेत् विशोधयेत् ।

यस्मात्-

**न हु सुज्झई ससल्लो, जह भणियं सासणे जिणवराणं ।**
**उद्धरियसव्वसल्लो, सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥४७॥**

यथा भणित जिनवराणा भगवतामर्हतां शासने तथा ज्ञायते, जिनवचनतो ज्ञायते इत्यर्थ । ( न हु ) नैव, सशल्योऽतीचारशल्यपरिकलितस्तपश्चरणाऽऽदिक प्रभूतमपि कुर्वन् शुध्यति । " अविसुद्धस्स न वड्ढइ, गुणसेढी तत्तिया ठाइ ।" इति वचनात् । किं तर्हि ?.उद्धृतसर्वशल्य. सन् तपश्चरणाऽऽदिभावतो धुतक्लेशोऽपगमितसमस्तकर्मजालो जीवः शुध्यति मुक्ताऽऽत्मा भवतीति । व्य० १ उ० २ प्रक० ।

प्रतिसेवकस्य प्रायश्चित्तम्—सीसो पुच्छति—एय, पुण पच्छित्तं किं पुण पडिसेविणो, अपडिसेविणो जइ पडिसेविणो तो जुत्त, अह अपडिसेविणो तो सव्वे साहू सपायच्छित्ता, सपायच्छित्तिणो य चरणअसुद्धत्त, चरणासुद्धीओ य अमोक्खो, दिक्खादि णिरत्थया ।

गुरू भणइ-

**तं अइपसंगदोसा, णिसेवतो होति ण तु असेविस्स ।**
**पडिसेवए य सिद्धे, कत्तादि व सिज्झए तितयं ॥७२॥**

तदिति पूर्वप्रकृतापेक्ष अति अत्यर्थ । प्रसङ्गो नामअवश्यानिष्टप्राप्ति । जस्स अपडिसेवंतस्स पच्छित्त तस्सेसो अतिप्पसंगदोसो भवति । वय पुण णिसेवतो इच्छामो णो अणिसेवत ॥ अहवा-त पच्छित्तं, अति अच्चत्थे,पसंगो पाणाइवायाऽऽदिसु, दूसिज्जति जेण स दोसो , अतिपसंग एव दोसो अतिपसंगदोसो, तेण अतिपसंगदोसेण दुट्ठो णिसेवति त्ति, आचरतीत्यर्थ । होति भवति, प्रायश्चित्तमिति वाक्यशेष. । ण पडिसेहे, तु अवधारणे, असेविस्स अणाचरत., तुसद्दोऽवधारणे अपडिसेवणो न भवत्येव, पडिसेविणो विणिच्छिय भवति जो य सो पडिसेवति सो य पडिसेवगो, तम्मि सिद्धे पडिसेवणा, पडिसेवितव्व च सिद्ध भवति । स्यान्मतिः कहं पुण पडिसेवगसिद्धीओ पडिसेवणा पडिसेवियव्वा, ण सिद्धी, एत्थ दिट्ठतो भण्णति-कत्तादि व सिज्झते त्ति तितय जो करेति सो कत्ता, कत्ता आदी जेसिं ताणिमाणि कत्तादीणि । ताणि य करणकज्जाणि जहा कत्तरि सिद्धे कत्ता करण कज्जाणि सिद्धाणि भवति । कह ?, उच्यते-स कत्ता तक्करणेहिं पयत्त कुर्वाणो तदत्थ कज्जमभिणिप्पायति, इव ओवम्मे, एव जहा पडिसेवणाए पडिसेवियव्वेण य पडिसेवगो भवति, तस्सि-

* ' पमादतो ' इत्यस्य स्थाने प्राकृतत्वात् ' पमातो । '

ढीओ वाणि वि सिद्धाणि । एव सिज्झने तितयं ति । तितय णाम पडिसेवणाऽऽदि ।

त चिम-

**पडिसेवतो तु पडिसे-वणा य पडिसेवियव्वयं चेव ।**
**एतेसिं तिएहं वी, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ ७३ ॥**

पत्तेयमिति-पुढो पुढो पगरिसेण रूवण परूवण, स्वरूपकथनमित्यर्थः । सेस कठ । नि० चू० १ उ० ।

प्रतिसेवना भण्यते—

एवं पडिसेवणसिद्धीओ पडिसेवगपडिसेवियव्वाण वि सिद्धी । एव निसु वि सिद्धेसु चोदक आह-भगव ! जहा घडाऽऽदिवत्थूप्पत्तिकाले कत्ताकरणकज्जाणमचत विभत्ता दीसति, किमिह पडिसेवगपडिसेवणापडिसेवियव्वाण निभया भवति । पन्नवग आह-सिया एगत्त, सिय मणत्त । कह भवति-

**णाणी ण विणा णाणं, णेयं पुण तेसऽणाणमण्णं वा ।**
**इय दोएह अणाणत्तं, भइतं पुण सेवितव्वेणं ॥ ७५ ॥**

ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी,ण इति पडिसेहे, विना ऋते,अभावादित्यर्थ । ज्ञायते अनेनेति ज्ञान,ज्ञानी ज्ञानमन्तरेण न भवत्येवेत्यर्थ । ज्ञायते इति ज्ञेय,ज्ञानविषये इत्यर्थ. पुण विसेसणे । किं विसेसयति ?,इम तेसऽणाणमण्ण वा तेषामिति ज्ञानिज्ञानयो. अणाण, अभिन्न, अपृथगित्यर्थ. । अन्न भिन्न, पृथगित्यर्थ , वा पूरणे, समुच्चये वा । चोयग आह-कह ?,उच्यते-जया णाणी णाणेण णाणादियाण पज्जाए चिंतति, तदा तिण्ह वि एगत्त धम्माऽऽदिपरपज्जायचिंतणे अणत्त । अहवा भिण्णे वा णेये उवउत्तस्स उवओगा अणण्ण णेय, अणुवउत्तस्स अण्ण । एव दृष्टान्त । इयाणि नियोजना-इय एव (दोण्ह त्ति)पडिसेवगपडिसेवणाणं णाणाभावो णाणत्त, न णाणत्त अणाणत्त. एगत्तमिति वुत्त भवति । भइयं भज्ज-सिय एगत्त, सिय अण्णत्त ति वुत्त भवति । पुण त्ति सद्दोऽवधारणत्थे, सेवियव्व णाम-ज उवभुज्जति, तेण य सह पडिसेवगपडिसेवणाण य एगत्त भयणिज्ज । कह ? उच्यते-जदा करकम्म करेति तदा तिण्ह वि एगत्त, जदा बाहिरवत्थु पलवति पडिसेवति तदा अणत्त । अहवा ज पडिसेवति तब्भावपरिणते एगत्त, ज पुण णो सेवति तम्मि अपरिणयत्ताओ अणत्त । समासतोऽभिहियं पडिसेवगादि ततियसरूवस्स वित्थरणिमित्तं णिक्खेवणाविएणासो कज्जति । नि० चू० १ उ० । ( दशविधा दर्पप्रतिसेवना, चतुर्विंशतिविधा कल्पिकाप्रतिसेवना- ' ववहार ' शब्दे वक्ष्यते )

इदाणिं पडिसेवणेति दार-

**दप्पे सकारणम्मि य, दुविधा पडिसेवणा समासेणं ।**
**एकेका वि य दुविधा, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥ ८८ ॥**

तत्थ वयणं-"पडिसेवण मूल-उत्तरगुणे य त्ति ।" सा पडिसेवणा दुविहा-दप्पे, सकारणम्मि य । दप्प इति जो अणेगवायामजोग्गं वग्गणादिकिरियं करेति णिक्कारणे स दप्पो । (सकारणम्मि य त्ति)णाणदंसणाणि अहिकिच्चसंजमादिजोगेसु य असरमाणेसु पडिसेवति सो कप्पो ।(समासेण)संखेवेण । एक्केका वि त्ति वीप्सा । दप्पिया दुविहा -कप्पिया दुभेया, दप्पेणं जं पडिसेवति तं मूलगुणा वा उत्तरगुणा वा, कारणे वि जं पडिसेवति तं पडिसेवियव्वं । तं चिमं गाहापच्छद्धेण गहियं । नि० चू० १ उ० । (पूर्वगताऽऽदिश्रुतनिषिद्धवस्तूनां साधोर्यद्द्विधा प्रतिसेवा भवति तद्विधा प्रतिसेवा 'सहसक्कारपडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते ) ( मूलगुणप्रतिसेवनायाः सर्वोऽपि विषयः ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे वक्ष्यते )

इदाणिं उत्तरगुणपडिसेवणा भएणति ते उत्तरगुणा पिंडविसोहादि अणेगविहा, तत्थ पिंडे ताव दप्पिय, कप्पियं च पडिसेवणं भएणति ।

तत्थ दप्पिया इमेहिं दारेहिं अणुगंतव्वा-

**पिंडे उग्गम उप्पा-यणेसणा संजोयणा पमाणे य ।**
**इंगालधूमकारणे, अट्ठविहा पिंडणिज्जुत्ती ॥ ४५६ ॥**

एताए गाहाए वक्खाणं विदेसणिमित्तं भएणति ।

**पिंडस्स परूवणता, पच्छित्तं चेव जत्थ जं होति ।**
**आहारोवधिसेज्जा, एक्केकं अट्ठ ठाणाइं ॥ ४५७ ॥**

पिंडस्स परूवणा असेसा जहा पिंडणिज्जुत्तीए तहा कायव्वा, पच्छित्तं च जत्थ जत्थ अवराहे जं जं जहा कप्पपेढियाए वक्खमाणं तहा दट्ठव्वं । आहारो त्ति । एस आहारपिंडो एवं अट्ठहिं दारेहिं वक्खाणितो, एवं उवहीए सेज्जाए एक्केकं अट्ठ उग्गमादिदारा दट्ठव्वा ।

" उवहिंए उग्गम उप्पा-यणेसणा संजोयणा पमाणे य ।
इंगालधूमकारणे, अट्ठविहा उवहिणिज्जुत्ती ॥ १ ॥
सज्झाए उग्गमउप्पा-यणेसणे य संजोयणा पमाणे य ।
इंगालधूमकारणे, अट्ठविहा सेज्जणिज्जुत्ती ॥ २ ॥ "

एस दप्पियापडिसेवणा गता ।

इदाणीं कप्पिया भएणति-

**असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।**
**अद्धाण रोधए वा, कप्पिय तीसू वि जयणाए ॥४५८॥**

असिवं उद्दाइयाए अभिदुदुतं, ओमं दुब्भिक्खं, राया वा दुट्ठो, बोहिगादिभएण वा णट्ठा, गिलाणस्स वा, अद्धाणपडिवण्णगा वा, णगरादिउवरोहे वा ठिता, ( तीसू वि त्ति) आहारउवहिसेज्जासु (जयणाए इति)पणगहाणीए जाव चउगुरुएण वि गेण्हमाणाण कप्पिया पडिसेवणा भवतीत्यर्थ । चोदग आह-मूलगुणउत्तरगुणेसु पुव्वं पडिसेहो भणितो, ततो पच्छा कारणे पडिसेहस्सेव अणुण्णा भणिता, तो जा अणुण्णा सा किमंग तेण सेवणिज्जा उत नेति ।

आयरिय आह-

**कारणे पडिसेवा वि य, सावज्जा णिच्छए अकरणिज्जा ।**
**बहुसो विचारइत्ता, अधारणिज्जेसु अत्थेसु ॥४५९॥**

कारणं असिवाऽऽदी, तम्मि असिवाऽऽदिकारणे पत्ते जा कारणपडिसेवा सा सावज्जा णाम बंधात्मिका,सा णिच्छएण अकरणिज्जा,णिच्छओ णाम परमार्थः। परमत्थओ अकरणीया सा,अविशब्दात् किमंग ! पुण अकारणपडिसेवाए जं आयरियणाभिहिए । चोदग आह-जा सा अणुण्णा पडिसेवा णिच्छएण अकरणिज्जा तो तीए अणुण्णं प्रति नैरर्थक्यं प्राप्नोति । आचार्य आह-ण नैरर्थक्यं । कहं ?,भण्णति-बहुसो पच्छद्धं । बहुसो अणेगसो वियायरित्ता वियारेऊण अप्पबहुत्तं अधारणिज्जेसु अत्थेसु प्रवर्तितव्यमित्यर्थ । अहवा-धारिज्जंतीति

धारणिज्जा । के ते ?,भणति-अत्था, ते य णाणदंसणचरित्ता, तेसु अधारणिज्जेसु पत्तेसु अप्पवहुत्तं बहुसो विचारइत्ता प्रवर्तितव्यमित्यर्थः । पुनरप्याह चोदक -णाणकप्पियाए पडिसेवं अणुणाय असेवंतस्स आणाभंगो भवति ।

आचार्य आह-

जति वि य समणुणाता, तह वि य दोसो ण वज्जणे दिट्ठो।
दढधम्मता हु एवं, णाभिक्खणिसेव णिद्दयता ॥४६०॥

जइ वि अकप्पियपडिसेवणा अणुणाता, तहा वि वज्जणे आणाभंगदोसो न भवतीत्यर्थः । अणुणाय अपडिसेवंतस्स जं चान्यो गुणो दढधम्मया पच्छद्धं। ण य अभिक्खणिसेवण-दोसा भवंति, ण य जीवेसु णिद्दया भवंति, तम्हा कप्पियप-डिसेवा वि सहसा नेव णो पडिसेवेज्जा। सा पुण कतमेसु पडिसेवियव्वत्थेसु कप्पिया पडिसेवणा भवति ?। भणति-

गाहा—

जे सुत्ते अवराहा. पडिकुट्टा ओहओ य सुत्तत्थे ।
कप्पंति कप्पियपदे, मूलगुणे उत्तरगुणे य ॥४६१॥

"जे सुत्ते अवराहा पडिकुट्टा" अस्य व्याख्या-

हत्थादि वायणंतं, सुत्तं ओहो तु पेढिया होति ।
विधिसुत्तं वा ओहो, जं वा ओहे समोतरति ॥ ४६२ ॥

"जे भिक्खू हत्थकम्मं करेति, करेंतं वा सातिज्जति।" एयं हत्थकम्मसुत्तं भण्णति । एयं सुत्तं आदि काउं जाव ए-गूणवीसइमस्स अंते वायणासुत्तं, एतेसु सुत्तेसु जं पडि-सिद्धं । "ओहतो य सुत्तत्थे त्ति ।" अस्य व्याख्या-ओहतो पे-ढिया होति । ओहो णिसीहपेढिया, तत्थ जे गाहासुत्तेण वा अत्थेण वा अत्था पडिसेहिता । अहवा-विहिसुत्तं ओहो भण्णति,तं च सामइयादि विधिसुत्तं भण्णति । तत्थ जे अत्था पडिसिद्धा। अहवा-जं वा ओहे समोतरइ सो ओहो भवति । उस्सग्गो ओहो त्ति वुत्तं भवति । तत्थ सव्वं कालियसुत्तं ओयरति,तं सव्वं ओहो भण्णति। एयम्मि ओहे [illegible] सुत्तेण वा अत्थेण वा पडिकुट्टा णिवारिया इत्यर्थः। [illegible] कप्पियापदे, अववायपदे इत्यर्थः । अथवा [illegible] ते मूलगुणा वा उत्तरगुणा वा । दप्पकप्प [illegible] समासओ वक्खाणं भणियं ।

इदाणिं सभेया भण्णंति । तत्थ दप्पो ताव [illegible]

दप्प अकप्प णिरालं-व वियत्ते अप्पसत्थे वीसत्थ ।
अपरिच्छि अकडजोगी, अणाणुतावी य णिस्संके ।४६३।

एवं गाहा समोयरिज्जति।अहवाऽन्येन प्रकारेणावतारः-द-प्पिया कप्पिया पडिसेवणा भणति।अहवाऽन्नेण प्रकारेण दप्प-कप्पसेवणाविभागो भण्णति । नि०चू० १ उ०।("वायाम' ४६३ इत्यादिका दर्पविषया गाथा 'दप्प' शब्दे चतुर्थभागे २४५५ पृष्टे गता)अकप्पो त्ति दारं-कायापच्छद्धं।काय त्ति पुढवादी,ते अ-परिणयाणं गहणं करेंति. तेहिं वा काएहिं हत्थमत्तादी संस-ट्ठा, तेहिं हत्थमत्तेहिं अपरिणएहिं भिक्खं गेण्हति, जहा-उ-दउल्ला ससणिद्धा ससरक्खेत्यादि, एस कप्पो भण्णति । जं वा अगीयत्थेण आहारउवहिमेज्जादी उप्पादियं तं परिभुजं-तस्स अकप्पो भवति । अकप्पो गओ ।

"निरालंबेत्ते ।" अस्य व्याख्या-सालम्बसेवापरिज्ञाने सति निरालम्बसेवनाऽववोधो भवतीति कृत्वा सालम्बसेवा पूर्वं व्याख्यायते-

संसारगड्डपडितो, णाणाइ अवलंविउं समारुहति ।
मोक्ख तडं जध पुरिसो,वल्लिवितारोण विसमाओ ।४६५।

संसारो चउग्गतिओ, गड्डा खड्डा, दव्वे अगडादिभावे, संसार एव गड्डा संसारगड्डा, ताए पडितो णाणाइ अवलंविउ समुत्तरति । आदिग्गहणातो दंसणचरित्ता समारुहति, तडं उत्तरतीत्यर्थः । ( मोक्खो त्ति ) कृत्स्नकर्मक्षयात् मोक्षः,तडं तीरं जहा जेण पगारेण (वल्लि त्ति)कोसंववल्लिमादी. वियाणं णाम-अणेगाणं संघातो । अहवा-वल्लिरेव वियाणं, वित-णत इति वियाणं, तेण वल्लिवितारोण जहा पुरिसो विस-माओ सव्वं समुत्तरति,तहा णाणादि संसारगड्डातो मोक्ख-तड उत्तरतीत्यर्थः ।

ताणि नाणादीणि अवलंविउं अकप्पियं पडिसेवति, जतो भन्नति-

णाणादी परिवुड्ढी, ण भविस्सति मे अ सेवतो वितियं ।
तेसिं पसंधणट्ठा, सालंवणिसेवणा एसा ॥४६६॥

णाणदंसणचरित्ताण वुड्ढी फाती ण भविस्सत्ति मे तो तेसिं णाणादीणं संधणट्ठा, संधणा णाम गहण गुणानं, अतो सेवनादित्यर्थः। वितियं अववायपदं, तं सेवति । एसा सालं-वसेवना भवतीत्यर्थ. ।

णिक्कारणपडिसेवा, अपसत्थालंवणा य जा सेवा ।
अमुगेण वि आयरिअ, को दोसो वा णिरालंवा ॥४६७॥

अकारणे चेव पडिसेवति एसा निरालंवा । अप्पसत्थं वा आलंवणं काउ पडिसेवति, एसा वि णिरालंवा । किं पुण तं अप्पसत्थं आलंवणं ?,भण्णति, अमुगेण वि आयरि-यं, अहं आयरामि को दोसो त्ति वायणिऊण आसेवति जहा गंडं गिलागं वा परिपलेज्ज सुहुमाणं, एवं विराणवणित्थीसु दोसा । तत्थ कतो क्रिया, एवमादेया णिरालंवसेवेत्यर्थ. । "णिरालवसेवण त्ति गतं ।"

इदाणिं वियत्ते त्ति दारं-

जं सेवितं तु वितियं, गेलण्णादिसु असंथरंतेणं ।
हट्ठो वि पुणो तं चिय, वियत्तकिच्चो णिसेवंतो ॥४६८॥

जं वितियपदेण अववायपदेण णिसेवितं गिलाणाऽऽदिकार-णेण असंथरे वा पुणो त चेव हट्ठो समत्थो विउणं सेवंतो वियत्तकिच्चो भवति । किच्चं करणिज्जं,त्यक्तं कृत्यं येन स भ-वति त्यक्तकृत्यः, त्यक्तचारित्र इत्यर्थ "वियत्ते त्ति गतं ।"

" इयाणिं अप्पसत्थे " त्ति दारं। अप्पसत्थभावेण पडिसे-वति त्ति वुत्तं भवति, जहा-

वलवन्नरूवहेतुं, फासुयभोई वि हो[illegible]सत्थो ।
किं पुण जो अविसुद्धं, णिसेवंत वण्णमादिट्ठा॥ ४६९ ॥

वलं मम भविस्सति त्ति मलरसमादि आहारेति, सरीर-स्स वा वण्णो भविस्सतीति य ताणि पाणं करेति, वल-दगणेहिं रूव भवतीति एताण्येवाऽऽहारयति।हेऊ कारण फा-सुगं गयजीवियं अवि प्रत्यसंभावणे, किं संभावयति ?, एसो वि ताव फासुगभोई अपसत्थपडिसेवी भवति किं पुण ए-

ऋद्धं ।अविसुद्धं आहार कम्मादी वयणो, आदिग्गहणातो रूववत्याओ घेप्पंति । अप्पसत्थेति गतं ।

इदानीं वीसत्थेति दारं–

सेवतो तु अकिचं, लोए लोउत्तरम्मि वि विरुद्धं ।
परपक्खे सपक्खे वा, वीसत्या सेवणमलज्जे ॥४७०॥

सेवंतो प्रतिसेवंतो अकिच्चं पाणाऽऽदि वायाऽऽदि । अहवा– अकिच्चं ज लोकलोउत्तरविरुद्ध, तं पडिसेवंतो सपक्खपरपक्खातो ण लज्जति, सपक्खो सावगाऽऽदि, परपक्खो मिथ्यादृष्टयः । एसा वीसत्थसेवणा इत्यर्थः · वीसत्थेति गत ।

इदार्णि अपरिच्छिय त्ति दारं–

अपरीक्खिउमाय व्वए, णिसेवमाणे तु होति अपरिच्छं ।
तिगुणं जोगमकातुं, वितियासेवी अकडजोगी ॥४७१॥

अपरिक्खिउ पुव्वद्ध । अपरिक्खिउ अनालोच्य आयो लाभ., प्राप्तिरित्यर्थ व्ययो लब्धस्य प्रणाश, ते य आयव्वए अनालोचिते पडिसेवमाणस्स अपरिक्खपडिसेवणा भवतीत्यर्थः । "अपरिच्छ त्ति" गतं । अकडजोगि त्ति दार–तिगुणं पच्छद्धं । तिन्नि संखा तिण्णि गुणाओ तिगुण, असंथरातीसु तिन्नि वारा एसणियं संणिसिउ जाता, ततियवाराए वि ण लब्भति तदा चउत्थपरिवाडीए अणेसणियं घेतव्व, एवं तिगुणं जोगं काऊण, जोगो व्यापार', वितियवाराए चेव अणेसणीयं गेण्हति जो सो अकडजोगी भवति । 'अकडजोगि त्ति" गयं । ( अणाणुतावि त्ति दारं 'अणाणुतावि ( ण् )' शब्दे प्रथ० भा० ३०६ पृष्ठे गतम्)

णिस्संकेति दारं–

करणे भए य संका करणे कुव्वं ण संकइ कुतो वि ।
इहलोगस्स ण भायइ, परलोए वा भए एसा ॥४७३॥

संकणं सका अनिरपेक्षाध्यवसायेत्यर्थ· । णिग्गयसंको निस्संको, निरपेक्षेत्यर्थ । सा य निस्सका दुविहा–करणे भए य । सूचग आह–करणं क्रिया,ते कारेंतो णिस्संको । भयं णाम–अपायोद्वेगित्वं । संक त्ति । इह छंदोभंगभया णिगारलोवो द्रष्टव्य । करणणिस्संकताए वक्खाणं करेति । करणे कुव्वं ण संकति कुतो वि त्ति । कुतो वि न कस्य विदाशंकेत्यर्थ. । भयणिस्संकाए वक्खाणं करेति । इहलोगस्स पच्छद्ध । भए एस त्ति । एसा भए णिस्सकता इत्यर्थ । सेसं कंठं ।

इदाणि एतासु दससु वि असुद्धपडिसेवणासु पच्छित्तं भण्णइ–

मूलं दससु असुद्धे-सु जाण सोधिं च दससु सुद्धेसु ।
सुद्धमसुद्धवइकरे,

(दससु असुद्धेसु त्ति) दससु वि एतेसु पदेसु दप्पादिएसु असुद्धपएसु मूलं भवतीत्यर्थ अथवा–मूलं दससु,दससु दप्पादिसु मूलं भवतीत्यर्थ । असुद्धेत्ति एतेसु दप्पादिएसु दससु असुद्धपदेसु पडिसेविज्जमोणसु चारित्रमसुद्धं भवतीत्यर्थ. । एतेसु चेव दससु दप्पादिसु सुद्धेसु चारित्रविसुद्धिं जानीहि । कथं पुनरेषा सुद्धासुद्ध भवतीति ? । उच्यते–वर्त्तमानावर्त्तमानयोरित्यर्थ. । सुद्धमसुद्धवतिकरे त्ति । किंचि सुद्धं, किंचि असुद्धं । तेसिं सुद्धासुद्धाण मेलओ वतिकरो भण्णति ।

एत्थ वक्खाणगाहा–

सालंबो सावज्जं, णिसेवते णाणुतप्पते पच्छा ।
जं वा पमायसहिओ, एसा मीसा तु पडिसेवा ॥४७५॥

णाणादिय आलंबणं अवलंबमाणो सालंबो भण्णति, त पसत्थमालवणं अवलबमाणो सालंबो भण्णते । तं पसत्थमालंवणं आलंविऊण सावज्जं णिसेविऊण णाणुतप्पति पच्छा, सालंवपदं सुद्धं,सालंवित्वात् अणाणुतावी पदं असुद्धं,अपश्चात्तापित्वात्, एवं अण्णाण वि पदाण सुद्धासुद्धाण मीसा पडिसेवा भवतीत्यर्थ. । जं वा अन्नतरपमाएण पडिसेवितं त पच्छाणुतावजुत्तस्स असुद्धसुद्ध भवति एसा मीसा पडिसेवा भवतीत्यर्थ. ।

एसाए मीसाए पडिसेवणाए का आरोवणा ? । भण्णति–

पणट्ठ विदू तु अण्णतरे ॥ ४७४ ॥

पणट्ठविऊ उ अन्नतरे । पण्ण त्ति वा पण्णवण त्ति वा विन्नवण त्ति वा परूवण त्ति वा एगट्ठं । अट्ठो णाम–मीसियाए पडिसेवणाए पच्छित्तं । विदू नाम–ज्ञानी । अण्णतरे त्ति मीसपडिसेवणा वि कप्पेति, मीसपडिसेवणाए जे विदू ते पायच्छित्तं परूवयतीत्यर्थः ।

अथवा दसण्ह वि पदाण इमं पच्छित्तं–

दप्पेण होंति लहुया, सेसा काहेमि परिणते लहुओ ।
तब्भावपरिणतो पुण, जं सेवति तं समावज्जे ॥४७६॥

दप्पेण धावणादी करेमि त्ति परिणते चउलहुगा भवति । सेसा अकप्पादिया घेप्पंति,ते करेमि त्ति परिणते मासलहु भवति । एवं परिणामणिप्फण्णं जतो पुण तब्भावपरिणओ भवति । तस्य भावस्तद्भाव ,दप्पादिआण अप्पणो स्वरूपे प्रवर्त्तनमित्यर्थ. । पुनर्विशेषणे, पूर्वाभिहितप्रायश्चित्तादयं विशेषः । आयसंजमपवयणविराहणाणिप्फण्णं पच्छित्तं दट्ठव्वमिति ।

अहवा–मीसा पडिसेवणा इमा दसविहा भण्णति–

दप्पपमादऽणाभोगा, आतुरे आवतीसु तह चेव ।
तिंतिणे सहसकारे, भय-प्पदोसा य वीमंसा ॥४७७॥
दप्पपमादाणभोगा, सहसकारो य पुव्वभणिताओ ।
सेसाणं छण्हं पी, इमा विभासा तु विण्णेया ॥४७८॥

दप्पो, पमादो, अणाभोगो,सहसक्कारो य, एते इहेव आदीए पुव्वं वण्णिया भणिया, तो सेसाणं विभासा अर्थकथनम् ।

" आतुरे त्ति " अस्य व्याख्या–

पढमवितियदुते वा धितो व जं सेवे आतुरा एसा ।
दव्वादिअलाभे पुण, चतुव्विधा आवती होति ॥४७६॥

पढमो खुहापरीसहो, वितिओ पिवासापरीसहो, वाधितो जरसादिणा, एत्थ जयणाए पडिसेवमाणस्स सुद्धा परिसेवणा । अजयणाए तण्णिप्फन्नं पच्छित्तं भवति । "आवतीसु य" । अस्य व्याख्या–दव्वादिपच्छद्ध । दव्वादि,आदिसद्दातो खेत्तकालभावा घेप्पंति । दव्वतो फासुगं दव्वं ण लब्भति, खेत्तओ अद्धाणपडिवण्ण नाण आवती, कालतो दुब्भिक्खादिसु आवती, भावतो पुण गिलाणस्स आवती, एत्थ जेण एयाए चउव्विहाए आवतीए पडिसेवति तेण एसा सुद्धा पडिसेवणा, अजयणाए तण्णिप्फन्नं पच्छित्तं भवति ।

" आवईसु त्ति " गतं दारं ।

" तिंतिणे त्ति " अस्य व्याख्या–

दव्वे भावे तिंतिण, भयमभिओगेण सीहमादी उ ।
कोहादी तु पदोसा, वीमंसा सेहमादीणं ॥४८०॥

पाए तितिणो दुविहो-दव्वे, भावे य। दव्वे ते वरुयदारुयं अ-भिगमाहियं तिडितिडेति । भावे आहारादिसु अलब्भमाणेसु तिडितिडेति। असरिसे वा दव्वे लद्धे तिडितिडेति। तिंति णियत्तं दप्पेण करेमाणस्स पच्छित्तं। कारणे वइयाइसु सुद्धो। "तितिणेति गतं।" "भए त्ति।" अस्य व्याख्या-भयमसियोगे ण सीहमादी द्वितीयपादः। अभिओगो णाम-केणइ रायादि-णा अभिउत्तो पंथं दंसेहि, तद्भयाद्दर्शयति सीहभयाद्वा वृक्ष-मारूढः। एत्थ सुद्धो। अणाउत्ताविचेण पच्छित्तं भवति। 'पदो-स त्ति।" अस्य व्याख्या-कोहादी उ पओसे तृतीय पादः। कोधादिएहिं कसाएण पदोसेण पडिसेवमाणस्स असुद्धो भवति, मूलं से पच्छित्तं कसायणिप्फएण वा।" पदोसे त्ति गतं।" वीमंसा सेहमादीणं ति चतुर्थः पादः । वीमंसा प-रीक्षा, सेहं परिक्खमाणेण सचित्तगमणादिकिरिया कया होज्ज, किं सद्दहति, ण सद्दहति तो सुद्धो ।

अहवा इमे मीसियपडिसेवणापगारा-

देसच्चाई सव्वचाई, दुविधा पडिसेवणा मुणेयव्वा ।
अणुवीइ अणणुवीती, सइं च दुक्खुत्त बहुसो वा ॥४८१॥

चारित्तस्स देसं चयतीति देसचाती, सव्वं चयतीति स-व्वचाई, एसा दुविहा पडिसेवणा समासेण णायव्वा । अणुवीई चिंतेऊण गुणदोसं सेवति, अणणुवीई सहसा एव पडिसेवति। सति त्ति। एगसिं, दुक्खुत्तो दोवारा, बहुसो त्रिप्रभृति बहुत्वम्।

"देसच्चाइ त्ति" अस्य व्याख्या-

जेण ण पावति मूलं, णाणादीणं च जहि धरति किंचि।
उत्तरगुणावबादे, देसच्चाएतरा सव्वा ॥ ४८२ ॥

जेण अवराहेण पडिसेवति तेण मूलं पच्छित्तं ण पावति, सा देसच्चागी पडिसेवणा । जेण वा अवराहेण पडिसे वितेण णाणदंसणचरित्ताण किंचि धरति सा वि देसच्चा-गी पडिसेवणा। उत्तरगुणपडिसेवा वा देसच्चाई पडिसेव-णा। (इतरा सव्व त्ति) इतरा णाम जाए मूलं पावति,णाणा-दीण वा ण किंचि धरति, सा वि देसच्चागी पडिसेवणा। मूलगुणपडिसेवा वा एसा देससव्वच्चागी पडिसेवणा भवतीत्यर्थः ।

" अणणुवीइ त्ति ' स्य व्याख्या-

जा तु अकारणसेवी, सा सव्वा अणणुवीइतो होति ।
अणुवीई पुण णियमा, अप्पज्झे कारणा सेवा ॥४८३॥

पुव्वद्धे जा अकारणतो पडिसेवा गुणदोसे अचिंतेऊण सा "णणुवीती, पडिसेवापमाणतो एकसि दो तिण्णि वा पर "ां वा पडिसेवति। "अणुवीइ त्ति " अस्य व्याख्या-अणुवी- ' पुण पच्छद्धं । असिवादीकारणे आत्मवश. अपरायत्ते-त्यर्थ. । सो पुण गुणदोसे विचिंतिऊण जं जयणाए पडि-वति. एस से अणुवीती पडिसेवा भवतीत्यर्थ. । भणिया-मीसिया पडिसेवणा।

इदाणिं कप्पियापडिसेवणाभेया भण्णंति-

दंसणणाणचरित्ते, तवपवयणसमितिगुत्तिहेतुं वा ।
साधम्मियवच्छल्ले-ण वावि जयले गणस्सेव ॥४८४॥
संघस्साऽऽयरियस्स व, असहुस्स गिलाण बालवुड्ढस्स ।
उदयग्गिचोरसावय-फंताए वा सती वसणे ॥ ४८५॥

एताओ दो दारगाहाओ।

दंसणणाणचरणा तिण्णि वि एगगाहाए वक्खाणेति-

दंसणपभावगाणं, सत्थाऽऽद्वाएँ सेवती जं तु ।
णाणासु तत्थाणं, चरणेसण इत्थिदोसा य ॥ ४८६ ॥

दंसणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छियसंमति-मादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति ज-यणाए तत्थ सो सुद्धो। चरणे त्ति। जत्थ खेत्ते एसणादो-सा इत्थिदोसा वा ततो खेत्ताओ चारित्रार्थिना निर्गन्त-व्यं,ततो निग्गच्छमाणो जं किंचि अकप्पियं पडिसेवति जय-णाए तत्थ सुद्धो।

तवपवयणे दो वि दारा एगगाहाए वक्खाणेति-

गेहो दि तवं काहं,कते विकिट्ठे व लायतरणादी ।
अभिवादणाऽऽदि पवयण,विण्हुस्स विउव्वणा चेव ॥४८७॥

तवं काहामि त्ति घताऽऽदि णेहं पिवेज्ज,कते वा विकिट्ठतवे-परेण लायतरणादीए पिएज्ज। लाया णाम-वीहिया तम्मि-उ भट्ठे भुज्जित्ता ताण तंदुलेसु पेज्जा कज्जति, तं लायत-रण भण्णति। तं विकिट्ठतवपारणाए आहारकम्मियं पिएज्ज, मा अण्णेण दोसेण दव्वादिणा रोगो भवेज्ज। आदिग्गहणातो आमलगसक्करादयो गृह्यन्ते, जयणाए सुद्धो। " पवयणे त्ति " अस्य व्याख्या-अभिवादणपच्छद्धं। पवयणट्ठताए किंचि प-डिसेवंतो सुद्धो, जहा कोति राया भणेज्ज जहा धिज्जा-तीयाणं अभिवायण करेह, आदिग्गहणातो अतो वा मे वि-सयाओ णीहहा। एत्थ पवयणहियट्ठयाए पडिसेवंतो सुद्धो। जहा विण्हु अणगारो, तेण रुसिएण लक्खजोयणप्पमाणं वि-गुव्वियं रूव, लवणो किल आलोडितो चलणेण तेण । अ-हवा-जहा एगेण रण्णा साधवो भणिता-धिज्जाइयाण पाएसु पडह, सो य अणुसट्ठिमादीहिं ण ठाति, ताहे संघस मवातो कतो। तत्थ भणियं जस्स काइ पवयणुब्भावणस-त्ती अत्थि, सो त सावज्जं वा असावज्जं वा पउंजउ। तत्थेगेण साहुणा भणियं-अहं प्रयुंजामि, गतो संघो राइ-णो समीव, भणिओ य राया, जेसिं धिज्जाइयाणं अम्हेहिं पाएसु पडियव्वं तेसिं मम दानं देहि, तेसिं सयएह अम्हे पायेसु पडामो, णो य एगेगस्स, तेण रण्णा तेण ताहे कय-संघो एगपासे ठितो, सो अ अतिसयसाहू कणवीरलयं गहेऊण अभिमंतेऊण य तेसिं धिज्जातीयाणं सुहासणट्ठाणं तं कणवीरलयं वंदणाऽऽगारेण भमाडेति, तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातीयाणं सिराणि णिवडियाणि, ततो सो साहू रुट्ठो रायाणं अंतिय भणति, दुरात्मन्! जति णट्ठासि तो एवं ते सबलवाहणं चुण्णेमि, सो राया भीतो संघस्स पाएसु पडितो उवसंतो य । अण्णे भण्णंति-जहा सोवि राया तत्थेव चुण्णितो। एवं पवयणत्थं पडिसे-वंतो वि सुद्धो।

" समिति त्ति " अस्य व्याख्या-

इरियं ण सोधइस्सं, चक्खुणिभित्त किरिया तु इरियाए ।
खित्ता वितिया ततिया, कप्पेणऽद्धाणसीसकाए ॥४८८॥

विकलचक्खिदी इरियं ण सोहिस्सामीति काउं चक्खुणि-

मित्तं किरियं करेज्जा । क्रिया नाम-वैद्योपदेशात् औषधपानमित्यर्थः । एष पडिसेवणा इरियासमितिनिमित्तं । खित्तचित्तादिओ होउं विनियाए भासासमितीए असमत्तो तप्पसमणट्ठताए किंचि ओसहपाणं पडिसेवेज्ज । ततिय त्ति एसणा समिती, ताए अणेसणिज्जं पडिसेवेज्ज, अद्धाणपडिवणं वा अद्धाणकप्पं वा पडिसेवेज्ज । एसणादोसेसु वा दससु संकादिएसु गेण्हेज्ज ।

आदाणे चलहत्थो, पंचमिए काइभूमाऽऽदी ।

विगडाइ मणअगुत्ते, वइ काए खित्तचित्ताऽऽदी ॥४८६॥

आयाणे ति आयाणणिक्खेवसमिती गहिता,ताए चलहत्थो होउं किंचि पडिसेवेज्ज । चलहत्थो णाम-कपए वाउणा गहितो, सो अणुतो पमज्जति, अणुतो णिक्खेवं करोति, एसा पडिसेवणा तप्पसमणट्ठा वा ओसहं करेज्ज । पंचमिए त्ति परिट्ठवणासमिती गहिता । ताए किंचि कातियभूमीए वच्चमाणो विराहेज । आदिग्गहणातो सण्णाभूमीए वा सठविज्ज " तीए गुत्तिहेउं व त्ति " अस्य व्याख्या-विगडाइ पच्छद्ध । विगडं मज्जं, त कारणे पडिसेवियत्तेण पडिसेविएण मणसा अगुत्तो भवेज्ज, वायाए वा अगुत्तो हवेज्ज कायगुत्तिए वा अगुत्तो खित्तचित्तादिया हवेज्ज ।

साहम्मियवच्छल्लाइ आणं वालवुड्ढपज्जवसाणा णवण्हं दाराणं एस गाहाए वक्खाणं करेति-

वच्छल्ले असियमुंडो, अभिचारणिमित्तमादि कज्जेसु ।

आयरि ऽसाहु गिलाणे, जेण समाधी जुयलए य ॥४६०॥

साहम्मियवच्छल्लयं पडुच्च किंचि अकप्पं पडिसेवेज्ज, जहा-अज्जवइरसामिणा असियमुंडो णित्थारितो,तत्थ किं अकप्पियं ?, भण्णति-"तहेवासंजतं धीरो" सिलोगो कंठ्य । (कज्जेसु त्ति) कुलगणसंघकज्जेसु समुप्पन्नेसु अभिचारकं कायव्वं, अभिचारकं णाम-वसीकरणं, उच्चाटणं वा रण्णो वसीकरणमंतेण होमं कायव्वं । णिमित्तमादीणि वा पउत्तव्वा । आदिग्गहणातो सुभजोगा आयरियस्स असहिणो गिलाणस्स य जेण समाधी तत्कर्तव्यमिति वाक्यशेषम् । जुयलं वा जुयलं णाम-वालवुड्ढा, ताण वि जेण समाधी, तत्कर्तव्यमिति ।

सीसो पुच्छति-को असहू, कीसे वा जुयलं पडिसिद्ध दिक्खयं तेसिं वा जेण समाही तं काए जुयलो घेत्तुं दायव्व मिति आयरिओ भणति-

णिवदिक्खिताऽऽदि असहू, जुयलं पुण कज्जदिक्खितं ।

पणगादी पुण जतणा, पाओग्गड्ढाएँ सव्वेसिं ॥४६१॥

णिवो राया, आदिसद्दातो जुवरायसेट्ठिअमच्चपुरोहिया य, एते असहू पुरिसा भण्णंति । ते कीस असहू ? भण्णइ-अंतपंतादीहिं अभावितत्वात् । जुयलं वालवुड्ढा. ते य कारणे दिक्खिया होज्जा । जहा वइरसामी अज्जरक्खियपया य । जेण तेसिं समाधी भवति तं पाणगादि जयणाए घेत्तव्वं । प्रायोग्यं नाम-समाधिकारकं द्रव्यम् । सव्वेसिं ति आयरियअसहुगिलाणसवुड्ढाणं ति भणियं भवति । जयणाए अलब्भमाणे पच्छा जाव आहाकम्मेण वि समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः ।

इदाणिं उदयादीण वसणपज्जवसाणाणं अट्ठण्हं दाराणं एगगाहाए वक्खाणं करेति-

उदयग्गितेणसावय-भएसु थंभणि पलाउँ रुक्खं वा ।

कंतारे पलंवादी, वसणं पुण वाइ गीताऽऽदी ॥४६२॥

उदकवाहो पानीयस्रवेत्यर्थः । अग्गि त्ति, दवाग्निरागच्छतीत्यर्थः । चोरा दुविहा-उवकरणसरीराणं । सावएण वा उत्थितो सीहवग्घादिणा, भयं बोधिगाए समीवातो उप्पण्णं । एतेसिं अण्णतरे कारणे उप्पन्ने इमं कारणं पडिसेवणं करेज्जा थंभणिविज्जं मंतेऊणं थंभेज्ज । विज्जाभावे वा पलायति, गेडेन नश्यतीत्यर्थः । पलाउं वा असमत्थो श्रान्तो वा सच्चित्तं रुक्खं दुरुहेज्जा इत्यर्थः । चोरसावययोहियाए वा उवरिं रोसं करेज्ज । तथा रोसेण अण्णतरं परितावणादिविगप्पं पडिसेवेज्ज, तथाऽप्यदोष इत्यर्थः । "कंतारे ति" अस्य व्याख्या-कंतारे पलंवादी । कंतारं नाम-अध्वानं, जत्थ भत्तपाणं ण लब्भति, तत्थ जयणाए कयलगमादी पलंवा गेण्हेज्ज । आदिसद्दाओ उदगादी वा, आवती चउव्विहा दव्वखेत्तकालभावावती, चउरण्णतराए किंचि अकप्पियं पडिसेवेज्ज तत्थ वि सुद्धो । "वसणं ति ।" अस्य व्याख्या-वसणं पुण वाइगीतादी । वसणं णाम-तम्मि वसतीति वसण,तस्स वा वसे वट्टतीति वसण, सुअब्भत्थो वा अब्भासोवादाण भणति,पुण अवधारणे । वाइगं णाम-मज्जं तं कोति पुव्वभावितो धरेउं ण सक्केति, तस्स तं जयणाए आणेउं दिज्जति । गीता इति । कोइ चारणाऽऽदि दिक्खितो वसणतो गीओग्गार करेज्जा । आदिसद्दातो पुव्वभावितो कोपि पक्कतंवूलपत्तादि मुहे पक्खवेज्जा ।

एतऽण्णतराऽऽगाढे, सदंसणो णाणचरणसालंवो ।

पडिसेवितुं कडाई, होइ समत्थो पसत्थेसु ॥ ४६३ ॥

एतदिति यदेतद्व्याख्यानं दंसणाऽऽदि जाव वसणेति । एतेसिं अन्नतरे अगाढकारणे उप्पन्ने पडिसेवंतो वि सदंसणो भवति । सह दंसणेण सदंसणो । कह ?, यथोक्तश्रद्धानत्वात् । अहवाणाणचरणाणि सह दंसणेण आलंवणं काउं पडिसेवंतो । कहं पडिसेवतो ?, उच्यते- (कडाइ त्ति) कडाई नाम-कृतयोगी । तिक्खुत्तो कओ योगो अलाभे पणगहाणीतो गेण्हति, से एवं पणगहाणीए जयणाए पडिसेवेउं होति भवति, समत्थो त्ति पभु त्ति वुत्तं भवति । सो य पभू गीतार्थत्वात् भवति, केसु ?, उच्यते-पसत्थेसु, पसत्था तित्थकराणुण्णया जे कारणा, प्रत्युपेक्षादिका इत्यर्थः । अहवा-होति समत्थो पसत्थेसु । गीयत्थत्तणतो समत्थो भवति, अगीओ समत्थो ण भवति पसत्थेसु, तित्थकराणुण्णा, तेष्वित्यर्थः ।

एसा उ दप्पिया क-प्पिया य पडिसेवणा समासेणं ।

कहिया सुत्तत्थो पे-ढियाएँ देओ न वा कस्स ॥४६४॥

एसा दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा समासेणं संखेवेण कहिता इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० । ( मासिकाऽऽदिप्रायश्चित्तस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत् इत्यादि प्रायश्चित्तसूत्राणि 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३६ पृष्ठे गतानि ) ।

साम्प्रतं प्रतिसेवनास्वरूपं चतुर्थभेदं व्याचिख्यासुर्गाथोत्तरार्द्धमाह-

आसेवइ थिरभावो, आयंकुवसग्गसंगे वि (३६) ।

आसेवते,सम्यक् सेवते परिपालयति,स्थिरभावो निष्प्रकम्पमनाः, आतङ्को ज्वराऽऽदिरोगः, उपसर्गो दिव्यमानुषतैर्यग्योनिकाऽऽत्मसंवेदनीयभेदाच्चतुर्भेदः । ध०र०२ अधि०६लक्ष०।

पडिसेवणाकप्प-प्रतिसेवनाकल्प-पुं० । शुद्धाशुद्धप्रतिसेवनासामाचार्याम्, पं० भा० ।

इयाणिं पडिसेवणाकप्पो, तत्थ गाहा-

वोच्छं पडिसेवणाए कप्पं तु ।
जारिसयं सेविज्जति, सुद्धमसुद्धं समासेणं ॥
गहण-पडिसेवणाए, णिव्वाघाते तहेव वाघाते ।
वाघाते दुयगहणं, णिव्वाघाते तियगहणं ॥
पडिसेवणा उ दुविहा, गहणे परिभुंजणे य णायव्वा ।
एक्केक्का वि य दुविहा, णिव्वाघाते य वाघाते ॥
वाघातिमं च सुद्धं, गेण्हति असुद्धं च एतदुयगहणं ।
परिभुंजती वि एवं, णिव्वाघातम्मि वोच्छामि ॥
उग्गमादी सुद्धं गेण्हति, परिभुंजती य तियमेत्तं ।
अह को पुण वाघातो ? परूवणा तस्सिमा होति ॥
असिवे, ओमोदरिए, रायदुट्ठे, भए व आगाढे ।
छक्कायदुगमुवादा-य वाघाते णिव्वाघाते य ॥
सुद्धमसुद्धं वा जहिं, अहवा सच्चित्तमीसगं वा वि ।
एतेसिं दोण्हं तु, वाघाते गहण-भोगो य ॥
निव्वाघाए ठण्ह वि, अच्चित्ताणं तु गहणं ।
कायाणं गहियस्स य, परिभोगो तस्स होति कायव्वो ॥
परिभोगे वाघातो, गहिते पच्छा तु होज्ज तं णातं ।
जह अहाकम्मं ती, ताहे य तयं न परिभुंजे ॥
वाघाते सेवंतो, अकिच्चमेयं ति चिंतए साहू ।
होति तहा णिज्जरओ, जो पुण इणमो समायरति ॥
पूजारसपडिवद्धो, ओसण्णाणं च अणुयत्तीए ।
चरणकरणं णिगूहति, तं जाण अणुत्तियं समणं ॥
पूजारसहेउं वा, वेत्ती जह किच्चमेव एयं तु ।
मासेण देहिन्ति पुणो, जह एसो अकिच्चकारि त्ति ॥
अहवा उसण्णाणं, तु आणुयत्ती य पेतिको दोसो ।
आहाकम्मादीसुं, णवरं या कीरतु सयं तु ॥
सो गूहति चरणादी, एवं तुच्छं खु तस्स सामण्णं ।
तम्हा तु य रूवेज्जा, सुद्धं मणी तुऽकिंचणं ॥
णिस्साए पदं पीहिति,अण्णत्थ विहरंतयं ण रोएति ।
तं जाण मंदधम्मं, इहलोगगवेसगं समणं ॥
अहवा उम्मग्गो खलु, निस्साणं तं तु पीहए जो तु ।
तस्स तु च्छेदसुत्तत्थं, ण कहे दोसा इमे तहियं ॥
पंचमहव्वय (त) भेदो, छक्कायवहो य तेणऽणुण्णाओ ।
सुहसीलवियत्ताणं, कहे य जो पयणरहस्सं ॥
पडिसेवकप्प एसो ` ` ` ` ॥ पं० भा० ५ कल्प ।

'गहणपडिसेवणा' पडिसेवणा पुण दुविहा गहणे य भवइ, परिभुंजणे य पडिसेवणा भवइ; एक्केक्का दुविहा-निव्वाघाए य, वाघाए य । वाघाए दुविहं पि गेण्हन्ति,असिवाइम्मि सुद्धं च असुद्धं च । निव्वाघाए तिविहं पि सुद्धं गेण्हन्ति आहाराइ। उग्गमाईहिं तिहिं असुद्धं पि कयाइ गेण्हन्ति । को य पुण वाघाओ जत्थ असुद्धं घेप्पइ ? । गाहा—' असिवे ओमो ' असिवाइसु कारणेसु छक्काओ उप्पायणं पि करेइ, किमुक्तं भवति—छक्कायमुप्पायणं ति । सचित्तमीसयाणं वा वाघाए गहणं । निव्वाघाए पुण अचित्ताणं छण्हं पि कायाणं गहणं जोणिपाहुडियाइसु कुल-गणाइकज्जेणं, न पुण पडिसेवंतेण करिज्जं करेमि त्ति चिंतेयव्वं । कुल गण-संघ-चेइय-विणासाइसु कारणेसु, नाण-दरिसण-चरित्तट्ठा वा पडिसेवमाणा सुद्धा जयणाए । गाहा—'पूय-रस ' कोइ मंदधम्मो पूयासक्कारहेउं किच्चमेयं ति भासइ. रसहेउं वा मासे पुणो न दाहेंति , अहवा उसन्नाण अणुयत्ती पभणइ-को दोसो? आहाकम्माइसु उम्मग्गपडिवन्नो त्ति सो दट्ठव्वो,उम्मग्गो नाम नाणवइरित्तो चरणाइ निगूहइ । गाहा—' निस्साणपयं, सिद्धमेव । पंचमहव्वयभेओ छक्कायवहो य तेणऽणुण्णाओ । गाहा । एस पडिसेवणाकप्पो ।पं० चू० ५ कल्प ।

पडिसेवणाकुसील-प्रतिसेवनाकुशील-पुं० । " सम्यगाराधनविपरीता प्रतिगता वाऽऽसेवना प्रतिसेवना, सा पञ्चसु ज्ञानादिषु येषां ते प्रतिसेवनाकुशीला· । स्था० ५ ठा० ३ उ० । असम्यगाराधनाकुशीले, भ० २५ श० ६ उ० ।

पडिसेवणापायच्छित्त-प्रतिसेवनाप्रायश्चित्त-न० । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । ( प्रतिसेवनाप्रायश्चित्तं ' पच्छित्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३५ पृष्ठे गतम् )

पडिसेवणिज्ज-प्रतिसेवनीय-त्रि० । प्रतिसेवनाविषये, तच्च व्रतषट्कादीन्यष्टादश स्थानानि । तद्यथा-" वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहभायणं । पलियंक-णिसिज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं " जीत० ।

पडिसेवा-प्रतिसेवा-स्त्री० । प्रतिसेवनं प्रतिसेवा-संयमानुष्ठानविरुद्धाचरणे, ध० ३ अधि० ।

पडिसेवि-प्रतिसेविन्-त्रि० । अवश्यं प्रतिसेवके, ग० २ अधि० ।(मूलगुणप्रतिसेवया चारित्रभ्रंश इति मूलगुणप्रतिसेवी न वन्द्य इति कृतिकर्माधिकारे, कृतिकर्माधिकारश्च तृतीयभागे ५०६-५२५ पृष्ठे गतः )

पडिसेवित्ता-प्रतिसेवितृ-त्रि० । सावद्यप्रतिसेवके,स्था०७ठा०।

पडिसेविय-प्रतिसेवित-त्रि० । मैथुनादौ प्रतिसेवाकर्मणि, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

पडिसेवियव्व-प्रतिसेवितव्य-त्रि० । प्रतिसेवनाकर्मणि, व्य० १ उ० । ( तच्चतुर्विधं ' पडिसेवणा ' शब्दे दर्शितम् )

पडिसेह-प्रतिषेध-पुं० । निराकरणे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।चू० पं० चू० । निवर्तने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पडिसेहम्मि तु छक्कं ( ५ ) ॥

प्रतिषेधे प्रतिषेधविषयं षट्कं नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-लक्षणं निक्षेपणीयम् । तत्र नाम्न· प्रतिषेधो-न वक्तव्यममुकं नामेतिलक्षण· । यथा-

" अज्जए य पज्जए वा, वि ( व ? ) प्पो चुल्लपिउ त्ति य ।

माउला भायणिज्ज त्ति, पुत्ता नत्तुणिय त्ति य ॥ १ ॥
हे हो हल त्ति अन्ने त्ति, भट्टा सामि य गामिय।
हेलगो लवसु म ? त्ति, पुरिसं ते च मा लवे ॥ २ ॥ "

इत्यादि। स्थापना, आकारो, मूर्तिरिति पर्यायाः। तस्याः प्रतिषेधो यथा–" वितहं पि तहा मुत्तं, जो तहा भासए नरो। सो वि ता पुढो पावे-ण किं पुण जो मुसं वए ॥ " द्रव्यप्रतिषेधो-ज्ञशरीर- भव्यशरीरव्यतिरिक्तः पुनरयम्–"नो कप्पइ निग्गंथाण वा,निग्गंथीण वा आमे,ताल-पलंबे,अभिन्ने पडिगाहित्तए " त्ति। क्षेत्रप्रतिषेधो यथा–"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अद्धाणगमणं एत्तए " कालप्रतिषेधो यथा–"अत्थं गयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए आहारमइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए" भावप्रतिषेधः-औदयिकभावनिवारणरूपो यथा–" कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं, वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो " इत्यादि बृ० १ उ० २ प्रक० । विपक्षप्रतिषेधने–अनुमानवाक्यस्य दशमेऽवयवे, दश० १ अ० ।

प्रतिषेधं प्रकटयन्ति–

प्रतिषेधोऽसदंशः ॥ ५७ ॥

तादृशस्यैव वस्तुनो योऽयमसदंशोऽभावस्वभावः, स प्रतिषेध इति गीयते ॥ ५७ ॥

अस्यैव प्रकारानाहुः–

स चतुर्धा-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तूत्पत्तेरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरेतरस्मिन्नभावः, अत्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्राक्तनैर्नोचिरे, अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिदधिरे, रत्ना० ३ परि० । प्रतिषिध्यतेऽनेनेति प्रतिषेधः । वर्णे ।

पडिसेहे उ अकारो, मकारो नो अ तह नकारो ।
अतब्भावदुविहकाले, देसे संजोगमाइसु अ ॥ ११ ॥

प्रतिषिध्यतेऽनेनेति प्रतिषेधः, को ? वर्णः, स चतुर्द्धा–अकारः, मकारः, नोकारः, तथा नकारश्च। तत्र अकारस्तद्भावप्रतिषेधं करोति, मकारः पुनर्द्विविधकालविषयं प्रतिषेधम्, तद्यथा-प्रत्युत्पन्नविषयम्, अनागतविषयं च। नोकारो देशप्रतिषेधम् । नकारः पुनः संयोगादिषु संयोग-समवाय-सामान्य-विशेषचतुष्टयप्रतिषेधं करोति। बृ० १ उ० २ प्रक० । वितथाचरणे आ० चू० १ अ० । उत्सर्गावस्थायामाज्ञायाम्, " पडिसेहो णाम जा आणाउसग्गावत्थावण्णियं च सूत्रमित्यर्थः " नि० चू० २० उ० ।

पडिसोयगमणया–प्रतिश्रोतोगमनता–स्त्री० । प्रतिश्रोतसा गमनं प्रतिश्रोतोगमनं तद्भावस्तत्ता । प्रवाहप्रातिकूल्ये, भ० ६ श० ३३ उ० ।

पडिसोयचारि-प्रतिश्रोतश्चारिन्-त्रि० । दूरादारभ्य प्रतिश्रयाभिमुखचारिणि, स्था० ५ ठा० ३ उ०। नद्यादिप्रवाहविपरीतगामिनि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पडिसोयाणुग-प्रतिश्रोतोऽनुग-त्रि० । प्रतिश्रोतोऽनुगच्छति यः स प्रतिश्रोतोऽनुग । प्रतिलोमगामिनि,द्वा० १४ द्वा० ।

पडिस्सय–प्रतिश्रय–पुं० । प्रतिश्रीयते साधुभिरिति प्रतिश्रयः। वसतौ, बृ० २ उ० । " पडिस्सए ठाइऊण पच्छा आगतो " आ० म० १ अ० ।

पडिस्सुय-प्रतिश्रुत-त्रि० । अभ्युपगते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रतिज्ञाते, स्था० १० ठा० । प्रतिशब्दे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । नि० चू० ।

पडिस्सुया–प्रतिश्रुता–स्त्री० । प्रतिश्रुतात् प्रतिज्ञाताद् या सा प्रतिश्रुता, शालिभद्रभगिनीपतिधन्यकस्येव । प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा० ।

पडिहत्थ-त्रि०।देशी-प्रतिपूर्णे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । अतिरेकिते अतिप्रभूते, "पडिहत्था अतिरेकिता अतिप्रभूता" इत्यर्थः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । दे० ना० ।

पडिहय–प्रतिहत–त्रि० । निराकृते, औ० । प्रतिस्फलिते, आ० म० १ अ० । प्रस्खलिते, औ० । भ० । प्रतिस्खलिते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । प्रतिषेधिते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । अनु०। विघ्निते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

पडिहयपच्चक्खायपावकम्म–प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मन्–त्रि० । " प्रतिहतं स्थितिन्हासतो ग्रन्थिभेदेन, प्रत्याख्यातं हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन, पापं ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविधः " । पापकर्मप्रत्याख्यातवति, दश० ४ अ० । पा० ।

पडिहरंत–प्रतिहरत्–त्रि० । धातूनामर्थान्तरेऽपि वृत्तेः पुनः पूर्यमाण इत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

पडिहा–प्रतिभा–स्त्री० । नवनवोन्मेषशालिन्यां प्रज्ञायाम्, "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता " वाच० ।

पडिहाणव–प्रतिभानवत्–त्रि० । प्रतिभानमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुणसमन्वितत्वेनोत्पन्नप्रतिभत्वं विद्यते यस्याऽसौ प्रतिभानवान् । अपरेणाऽऽक्षिप्तत्वेऽनन्तरमुत्तरदानसमर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । उत्पन्नप्रतिभे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । उत्पन्नबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

पडिहार–प्रतिहार–पुं० । नियुक्तपुरुषे, प्रतिहार इव प्रतिहारः। सुरपतिनियुक्ते देवे, प्रव० ३८ द्वार ।

पडिहारय–प्रतिहारक–त्रि० । सर्वदोपविप्रमुक्ते, " अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं पडिहारयं णो अहावद्धं " आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

पडिहारी–प्रतिहारी–स्त्री० । प्रतिहारेऽग्रद्वारे दण्डकहस्ता तिष्ठति या सा तथा । द्वारपालिकायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक० । आ० म० ।

पडीण–प्रतीचीन–त्रि० । अपरदिग्भागे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । पश्चिमत इत्यर्थे, "पाईणपडीणायया" प्राचीनं पूर्वतः, प्रतीचीनं पश्चिमत, आयता दीर्घा प्राचीनप्रतीचीनायता । स० ६००० सम० ।

पडीणवाय-प्रतीचीनवात–पुं० । वायुकायभेदे, स्था० ७ ठा० ।

पडु ( अ )-पटु ( क )–त्रि० दक्षे, स्था० ८ ठा० । रा० । सूत्र० । पं० व० । " पडुपवणाहयचलियचवलपागडतरंगरंगंतभंगखोखुब्भमाणमोभंतनिम्मलुकडउम्मीसहसंबंधधावमाणावनियत्तभासुरतराभिरामं " कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पडुच्च-प्रतीत्य-अव्य० । आश्रित्य इत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । सम्म० । दशा० । स्था० । सूत्र० । पडुच्च त्ति पप्प त्ति वा, अहिकिच्च त्ति वा एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । आचा० । स्था० । उत्त० । अनु० । प्रतीत्य प्रकृत्य अधिकृत्य इत्यर्थे, अनु० ।

पडुच्चकरण-प्रतीत्यकरण-न० । किञ्चित्प्रतीत्य किञ्चित्करणे, "एसेव कमो नियमा, छज्जे लेवे य भूमिकम्मे य । तेसालचाउसालं, पडुच्च करणं जइ निस्सा ॥" "यथा त्रिशालगृहं कर्तुकामः साधून् प्रतीत्य चतुश्शालं करोति ।" बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पडुच्चमक्खिय-प्रतीत्यम्रक्षित-न० । अङ्गुल्या गृहीत्वा तैलेन वा, घृतेन म्रक्षिते, पं० व० २ द्वार ।

पडुच्चवयण-प्रतीत्यवचन-न० । समीक्षितार्थवचने, "प्रतीत्यवचनं समीक्षितार्थवचनं सर्वज्ञवचनमित्यर्थः" सम्म० ३ काण्ड ।

पडुच्चसच्च-प्रतीत्यसत्य-न० । प्रतीत्याऽऽश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्यं प्रतीत्यसत्यम् । सत्यभेदे, प्रज्ञा० ११ पद । यथा अनामिका कनिष्ठिकां प्रतीत्य दीर्घेत्युच्यते, सैव मध्यमां प्रतीत्य ह्रस्वेति । प्रश्न० २ सम्व० द्वार ।

सच्चा णं भंते ! भासापज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता, तं जहा—जणवयसच्चा, समुदितसच्चा, ठवणासच्चा, नामसच्चा, रूवसच्चा, पडुच्चसच्चा, ववहारसच्चा, भावसच्चा, जोगसच्चा, उवम्मसच्चा ।

('पडुच्चसच्चे' त्ति) प्रतीत्याऽऽश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्या प्रतीत्यसत्या । यथा अनामिकायाः कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्वम्, मध्यमामधिकृत्य ह्रस्वत्वम् । न च वाच्यं कथमेकस्या ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च तात्त्विकं परस्परविरोधादिति । यतो (?) भिन्ननिमित्तत्वे परस्परविरोधाभाव एव । यदि कनिष्ठां मध्यमां वा एकामङ्गुलिमङ्गीकृत्य ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च प्रतिपाद्येत ततो विरोधः संभवेत्, एकनिमित्तपरस्परविरुद्धकार्यद्वयासंभवात् । यदा त्वेकामधिकृत्य ह्रस्वत्वम्, अपरामधिकृत्य दीर्घत्वं, तदा सत्त्वा-ऽसत्त्वयोरिव भिन्ननिमित्तत्वात्परस्परमाविरोधः । अथ यदि तात्त्विके ह्रस्व-दीर्घत्वे, तत ऋजुत्व-वक्रत्वे इव कस्मात्ते परनिरपेक्षे न प्रतिभासेते ? । तस्मात्परोपाधिकत्वात् काल्पनिके इमे इति । तदयुक्तम् । द्विविधा हि वस्तुनो धर्माः-सहकारिव्यङ्ग्यस्वरूपाः, इतरे च । तत्र ये सहकारिव्यङ्ग्यस्वरूपास्ते सहकारिसम्पर्कवशात्प्रतीतिपथमायान्ति, यथा पृथिव्यां जलसम्पर्कतो गन्धः । इतरे त्वेवमेवापि, यथा-कर्पूरादिगन्धः ? । ह्रस्वत्व-दीर्घत्वे अपि च सहकारिव्यङ्ग्यस्वरूपे, ततस्ते तं सहकारिणमासद्याभिव्यक्तिमायात इत्यदोषः, प्रज्ञा० । ११ पद ।

पडुपडहवाइय-पटुपटहवादित-न० । पटुपटहस्य महति शब्दे, पञ्चा० १ अधि० १ प्रग० ।

पडुपवणाहय-पटुपवनाहत-त्रि० । अमन्देन पवनेनाऽऽस्फालिते, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पडुप्पण्ण-प्रत्युत्पन्न-त्रि० प्रति साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नम् । वर्त्तमाने, आ० म० १ अ० । पा० । स्था० । वर्त्तमानकालभाविनि आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । भ० । जं० । आतु० । वर्त्तमानकालीने, भ० ८ श० ५ उ० । वार्त्तमानिके, स्था० १०ठा० ।

पडुप्पण्णणंदि-प्रत्युत्पन्ननन्दि (न्)-पुं० । प्रत्युत्पन्नेन लब्धेन वस्त्र-शिष्यादिना, प्रत्युत्पन्नो वा जातः सन् शिष्याऽऽचार्यादिरूपेण नन्दति यः स प्रत्युत्पन्ननन्दी, नन्दनं नन्दिरानन्दः, प्रत्युत्पन्नेन नन्दिर्यस्य स प्रत्युत्पन्ननन्दिः । वर्त्तमाननन्दिके, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पडुप्पण्णदोस प्रत्युत्पन्नदोष-त्रि० । प्रत्युत्पन्नो वार्त्तमानिको ऽभूतपूर्व इत्यर्थः, दोषो गुणेतरः, स चातीतादिदोषसामान्यापेक्षया विशेषः, अथवा प्रत्युत्पन्ने सर्वथा वस्तुन्यभ्युपगते विशेषे दोषोऽकृताभ्यागम-कृतविप्रणाशादि, स दोषः सामान्यापेक्षया विशेष इति । विशेषभेदे, स्था० १० ठा० ।

पडुप्पण्णभारिया-प्रत्युत्पन्नभारिता-स्त्री० । प्रत्युत्पन्नं वर्त्तमानमुत्पन्नं वोच्यते, ततश्च प्रत्युत्पन्नश्चासौ भारश्च कर्मणामिति गम्यते प्रत्युत्पन्नभारः, स विद्यते यस्याऽसौ प्रत्युत्पन्नभारी, तस्य भावः प्रत्युत्पन्नभारिता । कर्मगुरुकतायाम्, पा० ।

पडुप्पण्णवयण-प्रत्युत्पन्नवचन-न० । वर्त्तमानवचने, यथा-"पडुप्पण्णवयणं" वर्त्तमानवचनं करोति । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । प्रज्ञा० ।

पडुप्पण्णविणास-प्रत्युत्पन्नविनाश-पुं० प्रत्युत्पन्नस्य वस्तुनो विनाशो विनाशनं तस्मिन्निति समासः । उदाहरणभेदे, दश० ।

अधुना प्रत्युत्पन्नविनाशद्वारमभिधातुकाम आह ।

होंति य पडुप्पन्नविणा-सणम्मि गंधव्विया उदाहरणं ।
सीसो वि कत्थइ जइ, अज्भोवज्जिज्ज तो गुरुणा ॥६८॥

भवन्ति प्रत्युत्पन्नविनाशे विचार्ये गान्धर्विका उदाहरणं लौकिकमिति । तत्र प्रत्युत्पन्नस्य वस्तुनो विनाशनं प्रत्युत्पन्नविनाशनम्, तस्मिन्निति समासः, गान्धर्विका उदाहरणमिति यदुक्तं तदिदम्-"जहा एगम्मि नगरे एगो वाणियओ, तस्स बहुयाओ भयणीओ, भाइणिज्जा य, तस्स घरस्स समीवे राउलया गंधव्वीया संगीयं करेंति । दिवसस्स तिन्नि वारे ताओ वणियमहिलाओ तेण संगीयसद्देण तेसु गंधव्विएसु अज्भोववन्नाओ । किंपि कम्मदाणं न करेंति । पच्छा तेण वाणियएण चिंतियं जहा-विणट्ठा एताउ त्ति । को उवाओ होज्जा, न विणस्संति त्ति काउं मित्तस्स कहियं । तेण भणति-अप्पणो घरस्स समीवे वाणमंतरं करावेहि । तेण कयं । ताहे पाडहियाण रूवए दाउं वायावेइ । जाहे गंधव्विया संगीययं आढवेंति ताहे ते पाडहिया पडहे दिंति, वंसादिगा य फुसंति, गायंति य । ताहे तेसिं गंधव्वियाण विग्घो जाओ, पडहसद्देण य ण सुव्वन्ति गीयसद्दो । तओ ते राउले उवट्ठिता । वाणिओ सद्दाविओ । किं विग्घं करे ? त्ति । भणति-मम घरे देवो, अहं तस्स तिन्नि वेला पडहे दवावेमि । ताहे ते भणिया-जाणह अन्नत्थ गायह । किं देवस्स दिव दिवे अंतराइयं कज्जति । एवं आयरिएण वि सीसेसु अणागीसु अन्नोववज्ज-माणेसु तारिसो उवाओ कायव्वो जहा तेसिं तस्स

तस्स णिवारणा हवति । मा ते चिंतादिएहिं णरयपडणादिए अवाए पावेहिति ।

उक्तं च-

" चिंतेइ, दट्ठुमिच्छइ, दीहं णीससइ, तह जरो, दाहो ।
भत्ताऽरोअग, मुच्छा, उम्मत्तो, ण याणई, मरणं ॥ १ ॥
पढमे सोयइ वेगे, दट्ठुं तं गच्छई वितियवेगे ।
नीससइ तइयवेगे, आरुहइ जरो चउत्थम्मि ॥ २ ॥
डज्झइ पंचमवेगे, छट्ठे भत्तं न रोयए वेगे ।
सत्तमियम्मि य मुच्छा, अट्ठमए होइ उम्मत्तो ॥ ३ ॥
णवमे ण याणई किंचि, दसमे पाणेहिं मुच्चइ मणुसो ।
एतेसिमवायाणं, सीसे रक्खंति आयरिया ॥ ४ ॥
परलोइया अवाया, भग्गपइएणा पडंति नरएसु ।
ण लहंति पुणो बोहिं, हिंडनि य भवसमुद्दम्मि ॥ ५ ॥ "

अमुमेवार्थं 'चेतस्यारोप्याऽऽह शिष्योऽपि विनेयोऽपि, क्वचिद्विलयादौ । यदीत्यभ्युपगमदर्शने । अभ्युपपद्येत अभिष्वङ्गं कुर्यादित्यर्थः' । तत्र गुरुणा आचार्येण ।

किं च-

वारेयव्वु उवाएणं, जइ वा वातूलिओ वदेज्जाहि ।
सव्वे वि नत्थि भावा, किं पुण जीवो स वोत्तव्वो ॥६९॥

वारयितव्यो निषेद्धव्यः, किं यथा कथंचित्? नेत्याह-उपायेन प्रवचनप्रतिपादितेन यथाऽसौ सम्यग् वर्तत इति भावार्थः । एवं तावल्लौकिकं चरणकरणानुयोगं चाऽधिकृत्य व्याख्यातं प्रत्युत्पन्नविनाशद्वारम् । अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्याह- यदि वा वातूलिको नास्तिको वदेत् किं सर्वेऽपि घट पटादयः ( णत्थि त्ति ) प्राकृतशैल्या न सन्ति भावाः पदार्थाः । किं पुनर्जीव -सुतरां नास्तीत्यभिप्रायः, स वक्तव्यः सोऽभिधातव्यः ।

किमित्याह-

जं भणसि नत्थि भावा, वयणेयं अत्थि नत्थि जइ अत्थि ।
एवं पइन्नाहाणी, असओ णु निसेहए को णु ? ॥ ७० ॥

यद्भणसि यद्ब्रवीषि न सन्ति भावाः न विद्यन्ते पदार्था इति । वचनमिदं भावप्रतिषेधकम्, अस्ति-नास्तीति विकल्पौ । किं चातः ? यद्यस्ति एवं प्रतिज्ञाहानि -प्रतिषेधवचनस्याऽपि भावत्वात्तस्य च सत्त्वादिति भावार्थः । द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह-( असतो णु त्ति ) अथाऽसन् निषेधते, को नु निषेधकः ? वचनस्यैवासत्त्वादित्ययमभिप्रायः । इति गाथात्रयार्थः ।

यदुक्तं किं पुनर्जीवः ? इत्यत्रापि प्रत्युत्पन्नविनाशमधिकृत्याऽऽह-

णो य विवक्खापुव्वो, सद्दोऽजीवुब्भवो मुणेयव्वो ।
न य सा वि अजीवस्स उ, सिद्धो पडिसेहओ जीवो ॥७१॥

चशब्दस्यैवकारार्थत्वेनाऽवधारणार्थत्वान्न च नैव विवक्षापूर्वो विवक्षाकारण इच्छाहेतुरित्यर्थः । शब्दो ध्वनिः, अजीवोद्भवोऽजीवप्रभव इत्यर्थः । विवक्षापूर्वकश्च जीवनिषेधकः शब्द इति मा भूद्विवक्षाया एव जीवधर्मत्वासिद्धिरित्यत आह-न च नैव, साऽपि विवक्षा यद्यस्मात्कारणादजीवस्य, घटादिष्वदर्शनात् । किंतु मनस्त्वपरिणतान्वितद्रव्यसाचिव्यतो जीवस्यैव । यतश्चैवमतः सिद्धः प्रतिष्ठितः, प्रतिषेधनिः, नास्ति जीव इति प्रतिषेधशब्दादेवेत्यर्थः । ततस्तज्जीवः, आत्मेत्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयात् । इति गाथार्थः ॥७१॥ व्याख्यातं प्रत्युत्पन्नविनाशद्वारम् । दश० १ अ० ।

पडुप्पण्णविणासि-प्रत्युत्पन्नविनाशिन्-त्रि० । प्रत्युत्पन्नं विनाशयतीत्येवंशीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि । अन्तरायकर्मभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पडुप्पण्णसेवि-प्रत्युत्पन्नसेविन्- ० । प्रत्युत्पन्नं यथालब्धं सेवते भजते नानुचिंतं विवेचयतीति प्रत्युत्पन्नसेवी, यथालब्धसेवके, पुरुषजाते स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पडुप्पएणएण-प्रत्युत्पन्नज्ञ-त्रि० । वर्त्तमानार्थज्ञायके ।

पडुप्पवाइय-पटुप्रवादित-त्रि० । पटुना दक्षपुरुषेण प्रवादितः । रा० । स्था० । निपुणपुरुषप्रवादिते, सू० प्र० १९ पाहु० प्रज्ञा० ।

पडुप्पाएमाण-प्रत्युत्पाद्यमान-त्रि० । गुणयमाने, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पड्डह-क्षुभ्-धा० । संचलने, " क्षुभेः खउरपड्डहौ " ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इत्यनेन क्षुभधातोः पड्डहादेशः । पड्डहइ । क्षुभ्यति । प्रा० ४ पाद ।

पडोयार-प्रत्यवतार-पुं० । प्रति सर्वतः सामस्त्येनाऽवतीर्यन्ते व्याप्यन्ते यैस्ते प्रत्यवताराः । घनोदध्यादिवलयेषु, प्रज्ञा० ३० पद । अवतरणे, जं० २ वक्ष० ।

प्रत्युपचार-पुं० । प्रतिकूले उपचारे, भ० १५ श० ।

प्रत्युपकार-पुं० । उपकारं प्रत्युपकारे, पिं० ।

पडोयारेउं-प्रत्युपचारयितुम्-अव्य० । प्रत्युपचारं करोतु, इत्यर्थे,

प्रत्युपकारयितुम्-अव्य० । प्रत्युपकारयत्वित्यर्थे, "धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेउ गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं" भ० १५ श० ।

पडोल-पटोल-पुं० । स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । ल० प्र० ।

पड्डिया-पड्डिका-स्त्री० । अभिनवप्रसूताया गवि, महिष्यां च । व्य० ३ उ० ।

पड्डी-स्त्री० । देशी-प्रथमप्रसूतायाम् " पड्डी पढमपसूआ ", दे० ना० ६ वर्ग १ गाथा ।

पढ-पठ-धा० । भणने, " ठो ढः " ॥ ८ । १ । १९९ ॥ इति ठस्य ढः । पढइ । पठति । प्रा० १ पाद ।

पढ(ढु)म-प्रथम-त्रि० । " मेथि-शिथिर-शिथिल प्रथमे थस्य ढः " ८ । १ । २१५ ॥ इति थस्य ढः । प्रा० १ पाद । आद्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अनु० । विपा० । " पढमं ति पहाणं, अहव पंचएहं पढमं पहाणतरयं व मंगलं पुव्वभणियत्थं " । विशे० । जीवादीनामर्थानां प्रथमाऽप्रथमत्वविचारपरायणे व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रस्य अष्टादशशतकप्रथमोद्देशे ।

तवस्या वक्तव्यता चैवम्-तत्र प्रथमोद्देशकार्थप्रतिपादनार्थमाह-

" तेणं कालेणं, तेणं समएणं रायगिहे० जाव एवं वयासी-जीवे णं भंते ! जीवभावेणं किं पढमे, अपढमे ?। गोयमा ! णो पढमे, अपढमे । एवं णेरइए जाव वेमाणिए। सिद्धे णं भंते ! सिद्धभावेणं किं पढमे, अपढमे ?। गोयमा ! पढमे, णो अपढमे । जीवा णं भंते ! जीवभावेणं किं पढमा, अपढमा ?। गोयमा ! णो पढमा, अपढमा । एवं जाव वेमाणिया । सिद्धाणं पुच्छा, गोयमा ! पढमा, णो अपढमा ।

('तेणं' इत्यादि) उद्देशकद्वारसंग्रहणी चेयं गाथा क्वचिद् दृश्यते-"जीवा-ऽऽहारग-भव-सरिण-लेसा-दिट्ठी य संजय-कसाए । नाणे जोगु-वओगे, वेए य सरीर-पज्जत्ती " ॥ १ ॥ अस्याश्चार्थ उद्देशकार्थाधिगमाधिगम्य' । तत्र प्रथमद्वाराभिधानाया्ऽऽह-(' जीवे णं भंते !' इत्यादि) जीवो भदन्त ! जीवभावेन जीवत्वेन, किं प्रथमः प्रथमताधर्मयुक्तः ?। अयमर्थः- किं जीवत्वमसत् प्रथमतया प्राप्तम्, उत (' अपढमे ' त्ति ) अप्रथमोऽनाद्यवस्थितजीवत्वः ? इत्यर्थः । अत्रोत्तरम्- ('नो पढमे, अपढमे ' त्ति ) इह च प्रथमत्वा-ऽप्रथमत्वयोर्लक्षणगाथा-" जो जेण पत्तपुव्वो, भावो सो तेणऽपढमओ होइ । जो जं अपत्तपुव्वं, पावइ सो तेण पढमो उ ॥ १ ॥ त्ति । ('एवं नेरइए' त्ति ) नारकोऽप्यप्रथमः, अनादिसंसारे नारकत्वस्य अनन्तशः प्राप्तपूर्वत्वादिति । ('सिद्धे णं भंते !' ) इत्यादौ ('पढमे' त्ति ) सिद्धेन सिद्धत्वस्य अप्राप्तपूर्वस्य प्राप्तत्वात्—तेनाऽसौ प्रथम इति । बहुत्वेऽप्येवमेवेति ।

आहारकद्वारे—

आहारए णं भंते ! जीवे आहारभावेणं किं पढमे, अपढमे ?। गोयमा ! णो पढमे, अपढमे । एवं जाव वेमाणिए । पोहत्तिए वि एवं चेव । अणाहारएणं भंते ! जीवे अणाहारभावेणं पुच्छा, गोयमा ! सिय पढमे, सिय अपढमे। णेरइए जाव वेमाणिए णो पढमे, अपढमे । सिद्धे पढमे, णो अपढमे । अणाहारगा णं भंते ! जीवा अणाहारगा पुच्छा, गोयमा ! पढमा वि, अपढमा वि । णेरइया जाव वेमाणिया णो पढमा, अपढमा । सिद्धा पढमा, णो अपढमा । एक्केक्के पुच्छा भाणियव्वा ।

('आहारए णं' इत्यादि) आहारकत्वेन नो प्रथम अनादिभवे अनन्तशः प्राप्तपूर्वत्वाद् आहारकत्वस्य । एवं नारकादिरपि। सिद्धस्तु आहारकत्वेन न पृच्छ्यते, अनाहारकत्वान्नस्येति। ('अणाहारए णं' ) इत्यादौ ( 'सिय पढमे' त्ति ) स्यादिति कश्चिज्जीवोऽनाहारकत्वेन प्रथमः यथा सिद्धः । कश्चिच्चाऽप्रथमः, यथा संसारी, संसारिणो विग्रहगतावनाहारकत्वस्य अनन्तशो भूतपूर्वत्वादिति । ('एक्केक्के पुच्छा भाणियव्व' त्ति ) यत्र किल पृच्छावाक्यमलिखितं तत्र एकैकस्मिन् पदे पृच्छावाक्यं वाच्यमित्यर्थः ।

भवद्वारे-

भवसिद्धिए एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए । एवं अभवसिद्धिए वि । णोभवसिद्धिअणोअभवसिद्धिए णं भंते ! जीवे णोभव० पुच्छा, गोयमा ! पढमे, णो अपढमे । णोभवसिद्धिणोअभवसिद्धिए णं भंते ! सिद्धे णोभव०, एवं पुहत्तेण वि दोराह वि ।

( ' भवसिद्धिए ' इत्यादि ) भवसिद्धिक एकत्वेन, बहुत्वेन च यथा आहारकोऽभिहित एवं वाच्यः-अप्रथम इत्यर्थः । यतो भव्यस्य भव्यत्वमनादिसिद्धम्, अतोऽसौ भव्यत्वेन न प्रथमः । एवमभवसिद्धिकोऽपि । ( ' नोभवसिद्धिअनोअभवसिद्धिए णं ' इत्यादि ) इह च जीवपदम्, सिद्धपदं च पञ्चविंशतिदण्डकमध्यात् संभवति, न तु नारकादीनि, नोभवसिद्धिकनोअभवसिद्धिकपदेन सिद्धस्यैवाऽभिधानात् । तयोश्चैकत्वे, पृथक्त्वे च प्रथमं वाच्यम् ।

संज्ञिद्वारे-

सरणी णं भंते ! जीवे सरिणभावेणं किं पढमे ? पुच्छा, गोयमा ! णो पढमे, अपढमे । एवं विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए । एवं पुहत्तेण वि । असरणी एवं चेव एगत्त-पुहत्तेणं, णवरं-जाव वाणमंतरा । णोसरणीणोअसरणी जीवे, मणुस्से, सिद्धे पढमे, णो अपढमे । एवं पुहत्तेण वि ।

( ' सरणी णं ' इत्यादि ) संज्ञी जीवः संज्ञिभावेन अप्रथमः, अनन्तशः संज्ञित्वलाभात् । ( ' विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए ' त्ति ) एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियान् वर्जयित्वा शेषा नारकादिवैमानिकान्ताः संज्ञिनोऽप्रथमतया वाच्या इत्यर्थः । एवमसंज्ञ्यपि । ( ' नवरं-जाव वाणमंतर ' त्ति ) असंज्ञित्वविशेषितानि जीव-नारकादीनि व्यन्तरान्तानि पदानि अप्रथमतया वाच्यानि, तेषु हि संज्ञिष्वपि भूतपूर्वगत्याऽसंज्ञित्वं लभ्यते, असंज्ञिनामुत्पादात् । पृथिव्यादयस्त्वसंज्ञिन एव, तेषां चाऽप्रथमत्वम्, अनन्तशस्तल्लाभादिति । उभयनिषेधकपदं च जीव मनुष्य-सिद्धेषु लभ्यते, तत्र च प्रथमत्वं वाच्यम्, अत एवोक्तम्-( ' नोसरणी ' इत्यादि )

लेश्याद्वारे-

सलेस्से णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहा आहारए, एवं पुहत्तेण वि । कराहलेस्से जाव सुक्कलेस्से एवं चेव । णवरं जस्स जा लेस्सा अत्थि । अलेस्से णं जीवा, मणुस्सा, सिद्धा, नोसण्णीणोअसण्णी ॥

( ' सलेस्से णं ' इत्यादि ) ( ' जहा आहारए ' त्ति ) अप्रथम इत्यर्थः, अनादित्वात् सलेश्यत्वस्य इति । ( ' णवरं जस्स जा लेस्सा अत्थि त्ति ) यस्य नारकादेर्या कृष्णादिलेश्याऽस्ति, सा तस्य वाच्या । इदं च प्रतीतमेव । अलेश्यपदं तु जीव मनुष्य सिद्धेष्वस्ति, तेषां च प्रथमत्वं वाच्यं नोसंज्ञिनोअसंज्ञिनामिवेति । एतदेवाऽऽह-( ' अलेस्से णं ' इत्यादि ) ।

दृष्टिद्वारे-

सम्मद्दिट्ठीए णं भंते ! जीवे सम्मद्दिट्ठिभावेणं किं पढमे ? पुच्छा, गोयमा ! सिय पढमे, सिय अपढमे । एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए । सिद्धे पढमे, णो अपढमे । पुहत्ते-

या जीवा पढमा वि, अपढमा वि, एवं जाव वेमाणिया । सिद्धा पढमा, णो अपढमा । मिच्छदिट्ठीए एगत्त-पुहत्ते-णं जहा आहारगा । सम्मामिच्छादिट्ठीए एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मदिट्ठी । णवरं-जस्स अत्थि सम्मामिच्छत्ते ।

( 'सम्मद्दिट्ठीए णं ' इत्यादि ) ( ' सिय पढमे, सिय अपढमे ' त्ति ) कश्चित् सम्यग्दृष्टिर्जीवः सम्यग्दृष्टितया प्रथमः, यस्य तत्प्रथमतया सम्यग्दर्शनलाभः । कश्चित्त्वाऽप्रथमः, येन प्रतिपतितं सम्यग्दर्शनं पुनर्लब्धमिति । ( एवं एगिंदियवज्जं ति ) एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्वं नास्ति, ततो नारकादिदण्डकचिन्तायामेकेन्द्रियान् वर्जयित्वा शेषः स्यात् प्रथमः, स्याद् अप्रथम इत्येवं वाच्यः, प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षया प्रथमः, द्वितीयादिलाभापेक्षया त्वप्रथमः । सिद्धस्तु प्रथम एव, सिद्धत्वाऽनुगतस्य सम्यक्त्वस्य तदानीमेव भावात् । ( ' मिच्छादिट्ठी ' इत्यादि ) (जहा आहारग ' त्ति) एकत्वे, पृथक्त्वे च मिथ्यादृष्टीनामप्रथमत्वमित्यर्थः , अनादित्वाद् मिथ्यादर्शनस्येति ।( ' सम्मामिच्छादिट्ठी ' इत्यादि ) ( जहा सम्मदिट्ठि ' त्ति ) स्यात् प्रथमः, स्याद् अप्रथमः प्रथमे-तरसम्यग्मिथ्यादर्शनलाभापेक्षया इति भाव । ( ' नवरं -जस्स अत्थि सम्मामिच्छत्तं ति ) दण्डकचिन्ताया यस्य नारकादेर्मिश्रदर्शनमस्ति स एवेह प्रथमा-ऽप्रथमचिन्तायामधिकर्तव्यः ।

संयतद्वारे-

संजते जीवे, मणुस्से य एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मदिट्ठी । असंजए जहा आहारए । संजयाऽसंजए जीवे पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्से एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मदि-ट्ठी । णोसंजए, णोअसंजए, णोसंजयाऽसंजए जीवे, सिद्धे य एगत्त-पुहत्तेणं पढमे, णो अपढमे ।

('संजए' इत्यादि) इह च जीवपदं मनुष्यपदं च-एते द्वे एव स्त.-तयोश्चैकत्वादिना यथा सम्यग्दृष्टिरुक्तः. तथाऽसौ वाच्य.-स्यात् प्रथमः, स्यादप्रथम इत्यर्थः । एतच्च संयमस्य प्रथमे-तरलाभापेक्षयाऽवसेयमिति । ('असंजए जहा आहारए ' त्ति ) अप्रथम इत्यर्थः, असंयतत्वस्य अनादित्वात् । ( 'संजयाऽसंजए ' इत्यादि ) संयताऽसंयतो जीवपदे, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पदे, मनुष्यपदे च भवति, इत्यत एतेषु एकत्वादिना सम्यग्दृष्टिवद् वाच्य.-स्यात् प्रथम , स्यादप्रथम इत्यर्थ. । प्रथमा-ऽप्रथमत्वं च प्रथमे-तरदेशविरतिलाभापेक्षयेति । ('नोसंजए, णोअसंजए' इत्यादि) निषिद्धसंयमा-ऽसंयम-मिश्रभावो जीव., सिद्धश्च स्यात् स च प्रथम एवेति ।

कषायद्वारे—

सकसायी कोहकसायी० जाव लोभकसायी एगत्तेणं, पुहत्तेणं जहा आहारए । अकसायी जीवे सिय पढमे, सिय अपढमे । एवं मणुस्से वि । सिद्धे पढमे, णो अपढमे । पुहत्तेणं जीवा, मणुस्सा पढमा वि, अपढमा वि । सिद्धा पढमा, णो अपढमा ।

( ' सकसायी ' इत्यादि ) कषायिण आहारकवदप्रथमाः अनादित्वात् कषायित्वस्येति । ( ' अकसायी ' इत्यादि ) अकषायो जीवः स्यात् प्रथमः, यथाख्यातचारित्रस्य प्रथमलाभे; स्याद् अप्रथमः, द्वितीयादिलाभे । एवं मनुष्योऽपि । सिद्धस्तु प्रथम एव सिद्धत्वानुगतस्याऽकषायभावस्य प्रथमत्वादिति ।

ज्ञानद्वारे—

णाणी एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मदिट्ठी । आभिणिबोहियणाणी जाव मणपज्जवनाणी एगत्त-पुहत्तेणं एवं चेव । णवरं जस्स जं अत्थि । केवलणाणी जीवे, मणुस्से, सिद्धे य एगत्त-पुहत्तेणं पढमा, णो अपढमा । अण्णाणी मइअण्णाणी, सुअअण्णाणी, विभंगणाणी एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए ।

( ' णाणी ' इत्यादि ) ( 'जहा सम्मदिट्ठि ' त्ति ) स्यात् प्रथमः, स्याद् अप्रथम इत्यर्थः । तत्र केवली प्रथमः, अकेवली तु प्रथमज्ञानलाभे प्रथमः,अन्यथा त्वप्रथम इति। ('नवरं-जं जस्स अत्थि ' त्ति ) जीवादिदण्डकचिन्तायां यद् मतिज्ञानादि यस्य जीव-नारकादेरस्ति तत् तस्य वाच्यमिति । तच्च प्रतीतमेव । ( ' केवलनाणी ' इत्यादि ) व्यक्तम् । [ ' अन्नाणी इत्यादि जहा आहारए ' त्ति] अप्रथम इत्यर्थः, अनादित्वेन अनन्तशोऽज्ञानस्य सभेदस्य लाभादिति ।

योगद्वारे—

सजोगी, मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए । णवरं-जस्स जो जोगो अत्थि । अजोगी जीव-मणुस्सा सिद्धा एगत्त-पुहत्तेणं पढमा, णो अपढमा ।

( ' सजोगी ' इत्यादि ] एतद् अपि आहारकवद् अप्रथम मित्यर्थ. । ( ' जस्स जो जोगो अत्थि ' त्ति ) जीव -नारकादिदण्डकचिन्तायां यस्य जीवादेर्यो मनोयोगादिरस्ति, स तस्य वाच्य , स च प्रतीत एवेति । ( ' अजोगी ' इत्यादि ) जीवो मनुष्यः सिद्धश्च अयोगी भवति, स च प्रथम एवेति ।

उपयोगद्वारे—

सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता एगत्त-पुहत्तेणं जहा अणाहारए ।

( ' सागार ' इत्यादि ) ( ' जहा अणाहारए' त्ति ) साकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयुक्ताश्च यथाऽनाहारकोऽभिहितस्तथा वाच्या., ते च जीवपदे स्यात् प्रथमा अनादित्वात् तल्लाभस्य । सिद्धपदे तु प्रथमा , नो अप्रथमाः, साकारा-ऽनाकारोपयोगविशेषितस्य सिद्धत्वस्य प्रथमत एव भावादिति ।

वेदद्वारे-

सवेदगो जाव णपुंसगवेदगो एगत्त-पुहत्तेणं जहा आहारए । णवरं जस्स जो वेदो अत्थि । अवेदओ एगत्त-पुहत्तेणं तिसु वि पदेसु जहा अकसाई ।

( ' सवेदग इत्यादि जहा आहारए ' त्ति ) अप्रथम एवेत्यर्थ. । ( ' नवरं-जस्स जो वेदो अत्थि ' त्ति ) जीवादिदण्डकचिन्ताया यस्य नारकादेर्यो नपुंसकादिर्वेदोऽस्ति स

तस्य वाच्य., स च प्रतीत एवेति । (' अवेयओ ' इत्यादि ) अवेदको यथा अकषायी तथा वाच्यस्त्रिष्वपि पदेषु जीव मनुष्य-सिद्धलक्षणेषु । तत्र च जीव-मनुष्य-पदयोः स्यात् प्रथमः, स्याद् अप्रथम , अवेदकत्वस्य प्रथमे-तरलाभापेक्षया। सिद्धस्तु प्रथम एवेति।

शरीरद्वारे-

ससरीरी जहा आहारए। एवं कम्मगसरीरी । जस्स जं अत्थि सरीरं । णवरं-आहारगसरीरी एगत्त-पुहत्तेणं जहा सम्मदिट्ठी । असरीरी जीवो, सिद्धो एगत्त-पुहत्तेणं पढमो, णो अपढमो ।

(' ससरीरी ' इत्यादि ) अयमपि आहारकवद् अप्रथम एवेति। (' नवरं-आहारगसरीरी ' इत्यादि जहा सम्मदिट्ठि' त्ति ) स्यात् प्रथमः, स्याद् अप्रथम एवेति।

पर्याप्तिद्वारे-

पंचहिँ पज्जत्तीहिं, पंचहिं अपज्जत्तीहि एगत-पुहत्तेणं जहा आहारए। णवरं-जस्स जा अत्थि, जाव वेमाणिया णो पढमा, अपढमा।

(' पंचहिं ' इत्यादि ) पञ्चभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तक', तथा पञ्चभिरपर्याप्तिभिरपर्याप्तक आहारकवद् अप्रथम इति । (' जस्स जा अत्थि ' त्ति ) दण्डकचिन्तायां यस्य याः पर्याप्तय. सन्ति तस्य ता वाच्या., ताश्च प्रतीता एवेति ।

अथ प्रथमा-ऽप्रथमलक्षणाभिधानाय
आह, इमा लक्खणगाहा-

जो जेण पत्तपुव्वो. भावो सो तेण अपढमो होइ ।
सेसेसु होइ पढमो, अपत्तपुव्वेसु भावेसु ॥ १ ॥

(' जो जेण ' गाहा ) यो भावो जीवत्वादि , येन जीवादिना कर्त्रा, प्राप्तपूर्वोऽवाप्तपूर्वो भाव पर्यायः, स जीवादिस्तेन भावेन अप्रथमको भवति । (' सेसेसु ' त्ति ) सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वात् शेषैः प्राप्तपूर्वभावव्यतिरिक्तैर्भवति प्रथमः, किंस्वरूपै. शेषै ? इत्याह—अप्राप्तपूर्वैर्भावैरिति गाथार्थः। भ० १८ श० १ उ० ।

पढमंगपरिमाण-प्रथमाङ्गपरिमाण-न० । प्रथमाङ्गसंख्यायाम्, प्रथमाङ्गस्याष्टादशसहस्रपदानि सन्ति,तत्रैकपदप्रमाणं कियत्? इति प्रश्ने, उत्तरम्-पढमं आयारंगं अट्ठारसपयसहस्सपरिमाणं एवं सेसंगा वि य.दुगुणा दुगुणपमाणाइं ॥१॥ एवमेकादशाङ्गाना त्रिकोटी,सप्तपष्टिलक्षा चत्वारिंशत्सहस्रपदानि भवन्ति। तत्रैकपदस्य ५१,०८,८६,८४० एतावन्त श्लोका अर्धाविंशत्यक्षराणि च भवन्ति, इत्यनुयोगद्वारवृत्ताविति ॥ ८३ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

पढमकरण-प्रथमकरण-न० । आद्यपरिणामविशेषे, पञ्चा० ३ विव० ।

पढमकसाय-प्रथमकषाय-पुं० । अनन्तानुबन्धिनि क्रोधादिकषायेषु, क० प्र० २ प्रक० । पं० सं० ।

पढमकेवलि-प्रथमकेवलिन्-पुं० । आद्यसर्वज्ञे ऋषभदेवे,जं० २ वक्ष० ।

पढमचंदजोग-प्रथमचन्द्रयोग-पुं० । प्रथमे प्रधाने चन्द्रयोगे कल्प० ३ अधि० ४ क्षण ।

पढमजिण-प्रथमजिन-पुं० । प्रथमे रागादीनां जेतरि,

" उसभे णामं अरिहा कोसलिए, पढमराया, पढमजिणे, पढमकेवली, पढमतित्थंकरे, पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था "।

प्रथमजिन प्रथमो रागादीनां जेता, यद्वा प्रथमो मन.पर्यवज्ञानात्, राज्यत्यागादनन्तरं द्रव्यत', भावतश्च साधुपदवर्तित्वेन, अत्राऽवसर्पिण्यामस्यैव भगवत. प्रथमतस्तद्भवनात्। जिनत्वं च अवधि-मनःपर्यव-केवलज्ञानिनां स्यात् इति सुप्रसिद्धम् । अवधिजिनत्वे तु व्याख्यायमानेऽक्रमबद्धसूत्रमिति श्रोतॄणां प्रति भायेत । जं० २ वक्ष० । कल्प० ।

पढमट्ठाणि-प्रथमस्थानिन्-त्रि० । ' पढमठाणि ' शब्दार्थे, पञ्चा० १६ विव० ।

पढमठाणि-प्रथमस्थानिन्- त्रि० । अव्युत्पन्नबुद्धौ, पञ्चा० १६ विव० ।

पढमतणुतिग-प्रथमतनुत्रिक-न० । प्रथमा आद्या यास्तनवः शरीराणि तासां त्रिकं त्रितयं तत्र-औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारकस्वरूपे आद्ये शरीरत्रये, कर्म० १ कर्म० ।

पढमतित्थंकर-प्रथमतीर्थङ्कर-पुं० । आद्ये चतुर्वर्णसंघसंस्थापके उदिततीर्थकृन्नामनि तीर्थकरे,ऋषभे जं०,२ वक्ष० । कल्प० ।

पढमदियह-प्र. थमदिवस-पुं० । आद्यदिने, यथा प्रतिष्ठोत्सवे अधिवासनादिनम् । पञ्चा० ८ विव० ।

पढमदिवस-प्रथमदिवस-पुं० । ' पढमदियह ' शब्दार्थे, पञ्चा० ८ विव० ।

पढमधम्मवरचक्कवट्टि-प्रथमधर्मवरचक्रवर्तिन्-पुं० । प्रथमो धर्मवरो धर्मप्रधानश्चक्रवर्ती । यथा चक्रवर्ती सर्वत्राऽप्रतिहतवीर्येण चक्रेण वर्तते तथाऽयमपीति भाव । प्रथमे धर्मनायके जं० २ वक्ष० ।

पढमपयावइ-प्रथमप्रजापति-पुं० । श्रीऋषभदेवे, इक्ष्वाकूणां महाराजे, स्था० ६ ठा० ।

पढमपाउस-प्रथमप्रावृष्-पुं० । आषाढे,प्रावृडृतौ. "आसाढो पढमपाउसो" " अहवा छण्हं उतूणं जेण पढमो पाउसो वणिज्जति तेण पढमपाउसो भण्णति "। नि० चू० १० उ० । स्था० । पुंस्त्व चाऽस्य " प्रावृट शरत्-तरणय' पुंसि " ॥ ८। १ । ३१ ॥ इति सिद्धहैमसूत्रेण । प्रा० १ पाद ।

पढमभिक्खा-प्रथमभिक्षा-स्त्री० । निष्क्रमणानन्तरं प्रथमलब्धभिक्षायाम्, यथा " संवच्छरेण भिक्खा, लद्धा उसभेण लोगनाहेण । सेसेहिँ बीयदिवसे लद्धाओ पढमभिक्खाओ।" आ० म० १ अ० ।

पढमभिक्खायर-प्रथमभिक्षाचर-पुं० । ऋषभदेवे, तेनैव प्रथमं भिक्षाया प्रवर्तितत्वात् । कल्प० १ अधि ७ क्षण।

पढमराय (याण)-प्रथमराज पुं० । ऋषभदेवे ह्यत्राऽवसर्पिण्या नाभिकुलकराऽऽदिष्टयुग्मिमनुजैः, शक्रेण च प्रथमाभिषिक्तत्वात् । जं० २ वक्ष० ।

पढमवय-प्रथमवयस्-पुं० । कुमारत्वे, आ० म० १ अ० । पुंस्त्वं चास्य " स्नमदाम-शिरो-नभ " ॥ ८ । १ । ३२ ॥ इति सिद्धहैमसूत्रेण । प्रा० १ पाद ।

पढमसमय-प्रथमसमय-त्रि० । प्रथमः समयः प्राप्तो यस्य स तथा । उत्पत्तिप्रथमसमये, स्था० ८ ठा० । नं० ।

पढमसमयउववरणग-प्रथमसमयोपपन्नक-त्रि० । प्रथमः समय उपपन्नानां येषां ते प्रथमसमयोपपन्नकाः । प्रथमसमयोपपत्तिकेषु, स्था० २ ठा० १ उ० । ( 'अपढमसमयउववरणग' शब्दे प्रथमभागे ५६६ पृष्ठे अस्य दण्डक उक्तः )

पढमसमयएगिंदिय-प्रथमसमयैकेन्द्रिय-त्रि० । प्रथमः समयो येषामेकेन्द्रियत्वस्य ते प्रथमसमयाः, ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः । एकेन्द्रियत्वप्रथमसमयवर्तिनि प्राणिनि, स्था० १० ठा० ।

पढमसमयएगिंदियणिव्वत्तिय-प्रथमसमयैकेन्द्रियनिर्वर्तित-पुं० । प्रथमः समयो येषामेकेन्द्रियत्वस्य ते तथा, ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति प्रथमसमयैकेन्द्रियास्तैः सद्भिर्ये निर्वर्तिता कर्मतयाऽऽपादिता अविशेषतो गृहीतास्ते तथा । प्रथमसमयैकेन्द्रियैः कर्मतामापादितेषु पुद्गलेषु, स्था० १० ठा० ।

पढमसमयचउरिंदिय-प्रथमसमयचतुरिन्द्रिय-त्रि० । चतुरिन्द्रियत्वस्य प्रथमसमये वर्तमाने प्राणिनि, स्था० १० ठा० ।

पढमसमयजिण-प्रथमसमयजिन-पुं० । प्रथमः समयो यस्य स तथा, स चाऽसौ जिनश्च सयोगिकेवली प्रथमसमयजिनः । प्रथमसमयकेवलिनि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पढमसमयणेरइय-प्रथमसमयनैरयिक-त्रि० । नैरयिकत्वस्य प्रथमसमये वर्तमाने प्राणिनि, स्था० १० ठा० ।

पढमसमयतेइंदिय-प्रथमसमयत्रीन्द्रिय-त्रि० । त्रीन्द्रियत्वप्रथमसमयवर्तिनि जीवे, स्था० १० ठा० ।

पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाण-प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान-न० । प्रथमसमये ( वर्तमानः ) सयोगी चाऽसौ भवस्थश्च प्रथमसमयसयोगिभवस्थः, तस्य केवलज्ञानम्, प्रथमसमयवर्तिसयोगिभवस्थसंबन्धिकेवलज्ञाने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

पढमसमयसिद्ध-प्रथमसमयसिद्ध-त्रि० । सिद्धत्वस्य प्रथमसमये वर्तमाने आत्मनि, स्था० ४ ठा० १ उ० । " पढमसमयसिद्धस्स णं चत्तारि कम्मंसा जुगवं खिज्जंति । तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, णामं, गोयं " स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पढमसमोसरण-प्रथमसमवसरण-न० । वर्षाकाले, " वितियसमोसरणं उदुबद्धं, तं पडुच्च वासावासोग्गहो पढमसमोसरणं भएणति " । ( द्वितीयसमवसरणमृतुबद्धम्, तत् प्रतीत्य वर्षावासावग्रहः प्रथमसमवसरणं भएयते ) नि० चू० १ उ० । वृ० । ( प्रथमसमवसरणे वस्त्रग्रहणं 'वत्थ' शब्दे ) " पढमसमवसरण, ठवणा, जेट्ठोग्गहो त्ति एते एगट्ठिया " नि० चू० १० उ० ।

पढमसरयकालसमय-प्रथमशरत्कालसमय-पुं० । मार्गशीर्षे, समयभाषया मार्गशीर्ष-पौषौ शरद् अभिधीयते, तत्र मार्गशीर्षस्य प्रथमत्वात् । भ० १५ श० ।

पढमा-प्रथमा स्त्री० । प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ, चं०प्र०१३ पाहु० । सू० प्र० । 'सि ( सु ) -औ-जस्' इति वचनत्रयात्मिकायां प्रथमाविभक्तौ । " णिद्देसे पढमा होइ " अनु० । स्था० ।

पढमाणुओग-प्रथमानुयोग-पुं० । तीर्थकरादिपूर्वभवादिव्याख्यानग्रन्थे, स्था० १० ठा० ।

पढमालिया-प्रथमालिका-स्त्री० । सर्वेभ्यः साधुभ्यः प्रथममेव किञ्चिद् भोजने, ध० ३ अधि० । विशुद्धपिण्डं गृहीत्वा त्रिभिः कारणैस्तत्र बहिरपि प्रथमालिकां करोतीत्याज्ञा । कारणानि च-उण्णकाल', संघाटकोऽसहिष्णु', क्षपकश्चेति । यतः-" पुरिसे, काले, खवगे, पढमालिश्र तीसु ठाणेसु " त्ति । तत्र चायं विधिः-अप्राप्तायां भिक्षावेलाया पर्युषितान्नं गृहीत्वा जघन्यतस्त्रिभिः, उत्कर्षतश्च पञ्चभिः कवलैर्भिक्षाभिर्वा अन्यपात्रे, एककरे वा कृत्वैकान्ते प्रथममालयति । गुर्वर्थे तु एकस्मिन् मात्रके भक्तम्, द्वितीये च संसक्तपानकं पूर्वमेव पृथक्कुर्यादिति । तत्राऽपि क्षेत्राद्यतिक्रान्तादिदूषणै रहितमेव भोक्तव्यम्,न पुनस्तद्दोषसहितम्, तस्य यतीनामकल्प्यत्वात् । तदुक्तम्-

" जमणुग्गए रविम्मि अ, ताव खित्तम्मि गहिअअसणाई ।
कप्पइ न तमुवभुत्तुं खित्ताइअं ति समओ त्ति ॥ १ ॥
असणाईअं कप्पइ, कोसदुगब्भंतराउ आणेउं ।
परओ आणिज्जंतं, मग्गाइअं ति तमकप्पं ॥ २ ॥
पढमप्पहराणीयं, असणाई जईण कप्पए भुत्तुं ।
जाव तिजामे उड्ढं, तमकप्पं कालइक्कंतं ॥ ३ ॥ इति । ध० ३ अधि० । वृ० । ओघ० ।

पढमावलिआ-प्रथमावलिका-स्त्री० । आद्यावलिकायाम्-" पढमाऽऽवलियाए एगमेगाए" प्रथमा उत्तरोत्तरावलिकापेक्षया आद्याश्रतस्र आवलिका यस्मिन् स प्रथमावलिकाक०, तत्र, अथवा प्रथमाद् मूलभूताद् विमानेन्द्रकाद् आरभ्य या चावलिका विमानानुपूर्वी, अथवा उत्तरोत्तरावलिकापेक्षया एकैकस्या दिशि या प्रथमा आद्या आवलिका । तस्याम्, स० ६२ सम० ।

पढमिल्लुग-प्रथमे ( मि ) ल्लुक-त्रि० । प्रथममेव प्रथमेल्लुकम्, देशीवचनत्वात्, विशे० । आद्ये, आव० ५ अ० । उत्त० । संथा० । पं० व० । "पढमिल्लुगम्मि ठाणे, दोहिं वि लहुगा" वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पढमिल्लुगसंघयण-प्रथमसंहनन-त्रि० । वज्रऋषभनाराचसंहननोपेते, पं० व ५ द्वार० ।

पढिअ पठित्वा-अव्य० । "क्त्व इअ-दूणौ" ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ इत्यनेन क्त्वाप्रत्ययस्य शौरसेन्यामिआदेश । 'भणित्वा' इत्यर्थे, शौरसेनीसत्कोऽयं शब्द । प्रा० ४ पाद ।

पढित्ता-पठित्वा-अव्य० । 'भणित्वा' इत्यर्थे, 'पठित्वा' इत्यत' संस्कृतरूपादेव निष्पन्नोऽयम् ' ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ सूत्रे चाऽस्य निर्देश । प्रा० ४ पाद ।

पढिदूण-पठित्वा-अव्य० । " क्त्व इअ-दूणौ " ॥ ८ । ४ । २७१ ॥ इत्यनेन क्त्वाप्रत्ययस्य दूणादेश. । 'भणित्वा' इत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

पढिमा-प्रतिमा-स्त्री० । " चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति सूत्रे निर्दिष्टोऽयं शब्दः । बिम्बे, प्रा० ४ पाद । अभिग्रहविशेषे, " तत्संवन्धिप्रतिष्ठितं जिनबिम्बं वन्द्यं तर्हि ते कथं न वन्द्या· ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-" पासत्थो उसन्नो कुसीलसंसत्तउ अहाछंदो। दुगदुगदुगेण तिविहा, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि " ॥ १ ॥ इत्यादिवचनात्तेषामवन्द्यत्वम्, प्रतिमानां त्वन्यतीर्थिकपरिगृहीतप्रतिमाव्यतिरेकाणान्यासां वन्द्यत्वमस्तीति । १३० प्र० । सेन० २ उल्ला० । अभिनिवेशमिथ्यादृक्प्रतिष्ठितं जिनबिम्बं वन्द्यतां प्राप्तं तत्र किं वीजम् ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-आत्मपूर्वसूरिभिस्तद्वन्दनादौ अनिवारणमेव वीजम्, किंच शास्त्रेऽभिनिवेशमिथ्यादृष्टित्वं निन्हवानां प्रोक्तम्, सांप्रतीना रक्तमतिनो दिगम्बरं विहाय निन्हवा इति न व्यवन्हियन्ते, तथैव गुर्वादीनामाज्ञासद्भावादिति । १३१ प्र० । सेन० २ उल्ला० । अप्रतिष्ठितजिनबिम्बमर्चयतः, पादादिनाऽऽशातयतो वा लाभालाभौ न वा ? इति । लाभश्चेत्तर्हि प्रतिष्ठायां किं प्रयोजनम् ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अप्रतिष्ठितप्रतिमानां वन्दने व्यवहारो नास्तीति कथं लाभ ? आशातनाकरणे तु प्रत्यवायो भवत्येव, तासु तीर्थकराकारोपलम्भादिति ॥ १३३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । श्राद्धविधिवृत्तौ प्रतिमायाः सृष्ट्या नवाङ्गतिलककरणमुक्तं तत्र प्रथमं किं वामपादे तत्कर्तव्यम्, अथवा दक्षिणपादे ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-जिनप्रतिमाया· पूजाकरणावसरे नवाङ्गेषु तिलकानि दक्षिणचरणादारभ्याऽङ्गसृष्ट्या विधेयानीति २१३ प्र०। सेन० २ उल्ला० । आचार्यादीनां प्रतिमास्तूप-प्रतिष्ठाऽक्षराणि कुत्र ग्रन्थे सन्ति ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-आचार्यमूर्ति स्तूपयो· स्थापनमन्त्रो यथा-"ॐनमो आयरियाणं, भगवंताणं, नाणीणं, पंचविहायारसुट्ठियाणं, इह भगवंतो आयरिआ अवयरंतु, साहु साहुणी-सावय-साविआपूयं पडिच्छंतु, सव्वसिद्धिं दिसंतु स्वाहा " अनेन मन्त्रेण वासक्षेपः । उपाध्याय-मूर्तिस्तूपयोः "ॐनमो उवज्झायाणं, भगवंताणं, वारसंगपढणपाढगाणं, सुअहराणं, सज्झायज्झाणसत्ताणं, इह उवज्झाया भगवंतो अवयरंतु, साहु-साहुणी सावय साविया पूअं पडिच्छंतु, सव्वसिद्धिं दिसंतु " अनेन मन्त्रेण वासक्षेपः। साधु-साध्वीमूर्ति स्तूपयोः-"ॐनमो सव्वसाहूणं, भगवंताणं, पंचमहव्वयधराणं, पंचसमियाणं, तिगुत्ताणं, तव-नियम णाण-दंसणजुत्ताणं, मुक्खसाहगाणं, साहुणो भगवंतो इह अवयरंतु भगवईउ साहुणीउ इह अवयरंतु, साहु-साहुणी सावय-साविआकयं पूअं पडिच्छंतु, सव्वसिद्धिं दिसंतु स्वाहा " अनेन मन्त्रेण वासक्षेप इत्याचारादिनकरे श्रीवर्द्धमानसूरिकृते, इत्यादिग्रन्थानुसारेण आचार्यादीनां प्रतिमास्तूपप्रतिष्ठापनाक्षराणि ज्ञेयानीति ॥ ७ प्र० । सेन० ३ उल्ला०। विक्रयकारिसमुच्छेदितनाम लाञ्छनानां प्रतिष्ठिताईत्प्रतिमानां पुनर्लक्ष्मादिकरणं शुद्ध्यति न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-तासामभिधान लक्ष्मादिकरणं प्रायो न शुद्ध्यति. कदाचित्कारणे यद्यावश्यकं कर्तव्यं स्यात् तदा तद्विधानानन्तरं प्रतिष्ठितवासक्षेपादिना शुद्धिर्भवतीति श्रीभगवत्पादानामनुशिष्टिरिति ॥ २५ प्र० । सेन०३ उल्ला० । प्रतिमाधरो यतिर्यदि परीषहादिना न क्षुभ्यति तदाऽवधिज्ञानादि प्राप्नोति, यदि च क्षुभ्यति तदोन्मत्तरोगातङ्कादि वा प्राप्नुयात् परं स कथं क्षुभ्यति ? यतः स्वयं पूर्वधरस्ततः पूर्वं दत्तोपयोगो भविष्यति, पूर्वधराऽऽज्ञया च प्रतिमां प्रतिपन्नोऽस्तीति प्रश्ने उत्तरम्-यथा प्रतिमाप्रतिपत्तुः स्वयं पूर्वधरत्वम्. तथाऽऽज्ञादातुरपि, तथाऽपि तयोश्छद्मस्थत्वे तस्मिन्समये श्रुतोपयोगाभावोऽपि भवति तेन स कथं क्षुभ्यति इत्याशङ्कानिरवकाशः इति। १४२ प्र०। सेन०३ उल्ला०। पञ्चशतधनुःप्रमाणायाः प्रतिमायाः पूजनं कया युक्त्या देवैर्विधीयते. किंच कुर्य्यादुत्प्लुत्य वा ? तत्र राजप्रश्नीयमध्ये महत्परिमाणशरीरं सूर्याभदेवेन कृतमित्युक्तम्, उत्प्लुत्य तु न शोभते, यथा भवति तथा प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रतिमानुसारेण देवाः शरीरं कृत्वा पूजां कुर्वन्ति, अनभिधाने त्वविवक्षैव वीजमिति संभाव्यते। १८३ प्र०। सेन०३ उल्ला०। जिनालये क्षेत्रपालप्रतिमाया मानने, पूजने, सिन्दूरचढापने च सम्यक्त्वस्य दूषणं लगति न वा? इति प्रश्ने, उत्तरम् क्षेत्रपालप्रतिमायाः क्षेत्ररक्षाकरत्वेन सिन्दूर-तैलचढापने दूषणं न लगति, मानने तु सम्यक्त्वस्य दूषणं लगतीति । २१७ प्र०। सेन०३ उल्ला० अष्टम्यां प्रतिमायां स्वयमारम्भकरणनिषेधोऽस्ति, तत्र सचित्तपुष्पादिभिः पूजां करोति न वा ? इति प्रश्ने उत्तरम्-तत्र पूजां करोति परं प्रयोगेण सचित्तपुष्पादिभिः कारयति, परं तत्र स्वयं सचित्तपुष्पादिभिः पूजां न करोतीति । २७६ प्र०। सेन०३ उल्ला०। पञ्चम्यां प्रतिमायां कच्छटिकावालनं निषिद्धमस्ति तदाश्रित्य कश्चिद्वक्ति-रात्रौ चतुर्दिक्षु कायोत्सर्गे एव कच्छटिका न वालनीयाऽन्यदा सर्वकालं कच्छटिका वालनीयैव तदाश्रित्य कथमस्ति? इति प्रश्ने, उत्तरम्-पञ्चमीप्रतिमातो वद्धकच्छ इत्येवं ग्रन्थे दृष्टमस्तीति कायोत्सर्गकाले एव कच्छटिका मोच्येति यो वक्ति स एवं प्रष्टव्य -एवंविधान्यक्षराणि क्व सन्ति ? इति । ३०७ प्र०। सेन०३उल्ला०। चन्दनवत्प्रतिमानां कस्तूरीलेपः क्रियते नवेति प्रश्ने. उत्तरम्-जिनप्रतिमानां कस्तूरीलेपो न क्रियत इत्यक्षराणि न सन्ति, प्रत्युत सामान्यतस्तत्करणाक्षराणि श्राद्धविध्यादौ सन्ति, यक्षकर्दममध्यगता तु कस्तूरी सांप्रतमपि जिनार्चने व्यापार्यमाणा दृश्यते इति । ३६५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । प्रतिष्ठितजिनप्रतिमाविक्रयकारिभिः समुच्छेदितनाम-लक्षणाः श्राद्धैर्द्रव्यव्ययेन गृहीताः सन्ति, तेन तन्नामोच्चारावसरे कस्य जिनस्येयं प्रतिमेति वक्तुं कथं शक्यते ? ततो यदि लक्ष्मादिकरणविधिर्भवति तर्हि तथा प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रतिष्ठितजिनप्रतिमानामभिधान लक्षणादि प्रायस्तु न कर्त्तव्यम् पुनः प्रतिष्ठाकर्तुरज्ञातत्वादिकारणेन यद्यावश्यकं कर्त्तव्यं भवति तदा तद्विधाय प्रतिष्ठितवासक्षेपादिना शुद्धिर्भवतीति ज्ञायते इति । ४१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । श्रावक, श्राविका वा चतुर्थपौषधप्रतिमां वहते, तस्य सामाचार्यनुसारेण चतुर्विधाहारपोषधः कर्त्तव्यः कथितोऽस्ति, तथा समवायाङ्गवृत्त्यनुसारेण तु त्रिविधाहारः संभवति, तस्मात्त्रिविधाहारपौषधं विहाय चतुर्थी प्रतिमा वहते, किं वा न ? इति प्रश्ने उत्तरम् प्रवचनसारोद्धारादिग्रन्थे श्राद्धचतुर्थप्रतिमायां चतुष्पर्वीदिने परिपूर्णश्चतुष्प्रकारपौषध कथितोऽस्ति, तदनुसारेणाऽष्टप्रहरपौषधश्चतुर्विधाहारोपवासः कर्त्तव्यो युज्यते, परं सामाचार्यनुसारेणैतावान् विशेषो ज्ञायते-यत्पाक्षिकायां षष्टकरणशक्तिर्न भवति तदा पूर्णिमाया-ममावस्यायां त्रिविधाहारोपवासस्तथाऽऽचाम्लशक्त्यभावे निर्विकृतिकमपि कर्त्तव्यम्, तत्र प्रथमोपवासस्तु शास्त्रानुसारेण चतुर्विधाहारोपवास· कर्त्तव्य इति ज्ञायते । समवायाङ्ग-

वृत्त्यनुसारेण तु त्रिविधाहारोपवासः कर्त्तव्य इति व्यक्तिर्न ज्ञायते । ४८ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । अष्टमप्रतिमा-नवमप्रतिमयोरारम्भवर्जनस्, दशमप्रतिमायां सावद्याहारवर्जनं च क्रियते,अन्यथा वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-अष्टमप्रतिमायामारम्भोऽष्टमासान् यावत् स्वकायेन त्यज्यते, नवम्यामप्यारम्भो नवमासान् यावत्परेण न कार्यते, दशम्यां च दशमासान् यावत्स्वार्थनिष्पन्नाऽऽहार-पानीयादिवस्तु न गृह्णाति, परार्थनिष्पन्नाऽऽहारादिकं तु गृह्णाति इति । १३२ प्र० । सेन०४ उल्ला० । परपक्षिणां प्रतिमास्थापनादिके प्रतिष्ठा अर्प्यते न वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-यदि ततस्तदाशातना न भवति तदा तत्प्रतिष्ठार्पणे न कार्या बाधेति । १३६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

प्रथिमन्-पुं० । पृथुत्वे ।

पढिय-पठित-त्रि० । अधीते, पञ्चा० ११ विव० ।

पढियव्व-पठितव्य-त्रि० । अन्वाख्यानविधिना अध्येतव्ये, पं० सू० १ सूत्र ।

पण-पण-न० । आनतादिषु विमानभेदे, स० १६ सम० ।

पञ्च-पञ्चसंख्यायाम् ।

पणअ-पनक-पुं० । देशी-पङ्के, दे० ना० ६ वर्ग ७ गाथा ।

पणअविअ-देशी-प्रकटिते, दे० ना० ६ वर्ग० ३० गाथा ।

पणअन्न-पञ्चाशत्-त्रि० । 'पंचावण' शब्दार्थे, ( अस्मिन्नेव भागे ५४ पृष्ठे अस्य साधना द्रष्टव्या )

पणइ-प्रणयिन्-त्रि० । स्नेहयुक्ते, " रमणो कंतो पणई, पाणसमो पियसमो दइओ " पाइ० ना० ६१ गाथा ।

पणग-पञ्चक-न० । पञ्चावयवे समुदाये । पञ्चरूपकमूल्ये, वृ० ३ उ० । 'पणग' त्ति समयभाषात्वात् पञ्चक-दशकप्रभृतिना क्रमेण प्रायश्चित्तवृद्धिर्वर्धनं यथा यथा विकटयतीति प्रकृतम्, इह च लघावऽतीचारे पञ्चकं नाम प्रायश्चित्त. म । ध० २ अधि० ।

पनक-पुं० । आगन्तुकप्रतनुद्रवरूपकर्दमे, वृ० ६ उ० । "आगंतूपयणुओ, दुओ पणओ " आगन्तुकप्रतनुको द्रुतश्च पनकः, वृ० ६ उ० । स्था० । प्रतले कर्दमविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० । पञ्चवर्णे साङ्कुरे, अनङ्कुरे वा अनन्तवनस्पतिविशेषे, वृ० ४ उ० । नि० चू० । काष्ठादौ उल्लीविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आव० । कल्प० । आ० चू० । पनक उल्लिरिति वनस्पतिविशेषः । दश० ८ अ० । नि० चू० । पिं० । प्रज्ञा० । दशा० ।

पणगजीव-पनकजीव-पुं० । पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवः, नं० । वनस्पतिविशेषे, विशे० । ( तस्य शरीरमानमतिसूक्ष्मस्, एतच्च 'ओहि' शब्दे प्रथमभागे १४६ पृष्ठेऽदर्शि ) ।

पणगमट्टिया-पनकमृत्तिका-स्त्री० । पृथ्वीकायभेदे,स च नद्यादिपूरप्लावितदेशे नद्यादिपूरेऽपगते यो भूमौ श्लक्ष्णमृदुरूपो जलमलाऽपरपर्यायः पङ्कः स पनकमृत्तिका, तदात्मका जीवा अपि अभेदोपचारात् पनकमृत्तिका । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

पणगसुहुम-पनकसूक्ष्म-न० । पनक उल्ली, स च प्रायः प्रावृट् काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यलीनो भवति स एव सूक्ष्मस् । स्था० ८ ठा० । सूक्ष्मभेदे, कल्प० ।

से किं तं पणगसुहुमे ? । पणगसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-किण्हे, नीले, लोहिए, हालिद्दे, सुकिल्ले । अत्थि पणगसुहुमे दव्वसमाणवण्णे नामं पण्णत्ते । जे छउमत्थेणं वा निग्गंथेणं वा, णिग्गंथीए वा जाव पडिलेहियव्वे भवइ । से त्तं पणग-सुहुमे ।

('से किं तं पणगसुहुमे')तत् क' सूक्ष्मः पनकः;गुरुराह-('पणगसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते') सूक्ष्मपनकः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः। ( तं जहा') तद्यथा-('किण्हे जाव सुकिल्ले') कृष्णः यावत् शुक्लः ( अत्थि पणगसुहुमे तद्दव्वसमाणवन्नए नामं पन्नत्ते' )अस्ति सूक्ष्मः पनकः, यत्रोत्पद्यते तद्द्रव्यसमानवर्णः प्रसिद्धः प्रज्ञप्तः । ( 'जे छउमत्थेणं निग्गंथेणं वा, निग्गंथीए वा जाव पडिलेहिअव्वे भवइ' ) यश्छद्मस्थेन साधुना, साध्व्या यावत् प्रतिलेखितव्यः भवति । पनक उल्ली, स च प्रायः प्रावृषि भूकाष्ठादिषु जायते, यत्रोत्पद्यते तद्द्रव्यसमवर्णश्च ( 'नामं पन्नत्ते') इत्यत्र नाम प्रसिद्धौ ( से त्तं पणगसुहुमे) स सूक्ष्मपनकः । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

पणगाइ-पञ्चकादि-न० । समयभाषात्वात् पञ्चक-दशकप्रभृतौ प्रायश्चित्ते, पञ्चा० १५ विव० ।

पणट्ठ-प्रनष्ट-त्रि० । प्रकर्षेण नष्टो दृष्टिगोचरतां गतः । उत्त० ४ अ० । अदृश्यतां गते, अपगते, सूत्र० १ श्रु० १ अ०२ उ० ।

पणट्ठजम्मणक्खत्त-प्रनष्टजन्मनक्षत्र-न० । अज्ञानजन्मभे, तत्परिज्ञानमधिकृत्य प्रवृत्ते ग्रन्थे । ज्यो० २० पाहु० ।

पणट्ठदीव-प्रनष्टदीप-त्रि० । प्रनष्टसम्यक्त्वे, उत्त० ४ अ० ।

पणट्ठपव्व-प्रनष्टपर्वन्-न० । क्षयपर्वणि, ज्यो०।

तच्चैवम्-अमावस्या पौर्णमासीप्रतिपादकैकोनविंशतितमात् प्राभृतादनन्तरं प्रनष्टपर्वप्रतिपादकं विंशतितमं यथानुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि, प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

जइ कोई पुच्छेज्जा, सूरे उट्ठितियम्मि अभियस्स ।
एका कला, पडिपुन्ना किं पव्वं का तिही होइ ? ।

कोऽपि शिष्यः पृच्छति यदि सूर्ये उत्तिष्ठति उदयमाने अभिजितो नक्षत्रस्य एका परिपूर्णा कला सप्तषष्टिभागरूपा चन्द्रमसा प्रतिपत्त्रा भुक्ता भवति तदा तस्मिन् दिवसे किं पर्व वर्तते,का वा तिथिः ? एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सति सूरिः शेषनक्षत्रदर्शनादिति विवक्षितं नष्टपर्व जानीयादिति ।

तद्विषयं करणमाह-

नक्खत्ताउ अभिजि-मुपादाय संखिवेऊण ।
इच्छिअकलूणकालम्मि, इणमो भवे करणं इसित्ता ॥

नक्षत्रात् पूर्वमभिजितमुपादाय याः कलास्ता एकत्र संक्षिपन् मीलने ततो या [ इसित्ता ] विवक्षिताः कलास्ताभिरूने काले सति इदं वक्ष्यमाणं भवति करणम् ।

तदेवाह-

छेऊण इच्छियं तेरसेहिं तिनउइपडितं तु ।
संगुणए अट्ठारस-हिं सएहिं तीसेहिं भइया ॥
तम्मि एगसट्ठीउ, विभत्ते जं लद्धा ते य होंति पक्खेवा ।

पन्नरसभागलद्धा, पव्वगा अंसगा य तिही ॥

छित्वा अपनीय, छेदमीप्सितकलारूपं यत् शेषं लभ्यते तत्र त्रयोदशभिः शतैस्त्रिनवत्यधिकैर्भजेत्, भक्ते च सति यत् शेषमवतिष्ठते तत्प्रतिराश्यते, प्रतिराश्य च तस्मिन्ने कषष्ट्या प्रविभक्ते च सति यल्लभ्यते ते प्रक्षिप्ताः प्रक्षेप णीया राशयो ज्ञातव्याः, तेषु च प्रतिक्षिप्तेषु प्रतिराशौ, तस्य पञ्चदशभिर्भागे हृते यल्लभ्यते तानि पर्वाणि द्रष्टव्यानि, अंशास्तु तिथयः एवं करणगाथाक्षरार्थः। संप्रति भावना क्रियते-तत्र यत्पृष्टम् उदयति सूर्ये अभिजित एका कला चन्द्रमसा भुक्ता स्यात् तत्तस्मिन् दिवसे किं पर्व वर्तते, का वा तिथिः ? इति । तत्र सा एका कला त्रयोदशभिः शतैस्त्रिनवतिअधिकैर्गुण्यते,जातानि त्रयोदश शतानि त्रिनवत्यधिकानि १३९३। तेषामष्टादशभिः शतैस्त्रिनवत्यधिकैर्भागो न लभ्यते इति शेषः करणविधिर्विधीयते। तत्र त्रयोदश शतानि त्रिनवत्यधिकानि प्रतिराश्यन्ते, प्रतिराश्य च मूलराशेरेकषष्ट्या भागो ह्रियते,लब्धा द्वाविंशतिः २२ सा प्रतिराशौ प्रतिक्षिप्यते, जातः प्रतिराशिश्चतुर्दश शतानि पञ्चदशोत्तराणि १४१५। तेषां यद् दशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा, चतुर्नवतिः ९४ शेषास्तिष्ठन्ति पञ्च, आगतं च पुनर्नवतितमे पर्वणि पञ्चम्यामुदयति सूर्य अभिजित कला चन्द्रमसा प्रतिपन्ना भवति तदा किं पर्व वर्तते का वा तिथिरिति । तत्राभिजितः कला एकविंशतिः,श्रवणनक्षत्रस्य सप्तषष्टिः, धनिष्ठाया एका कलेति। सर्वसंकलनेन जाता एकोननवतिः ८९ इत ईप्सिता धनिष्ठासत्का एका शोध्यते, स्थिता पश्चादष्टाशीतिः ८८ एवं राशिं त्रयोदशभिः शतैस्त्रिनवत्यधिकैर्गुणयेत् जातमेकं लक्षं त्रयोविंशतिसहस्राणि नव शतानि सप्तत्यधिकानि १२३९७७ तेषामष्टादशभिः शतैर्भागो ह्रियते, लब्धं त्यज्यते, स्थितानि शेषाणि त्रयोदश शतानि सप्तषष्ट्यधिकानि १३६७ तानि प्रतिराश्यन्ते १३६७ तत आदिमस्य राशेरेकषष्ट्या भागहरणं लब्धा द्वाविंशतिः सा प्रतिराशौ च प्रक्षिप्यते जातानि त्रयोदश शतानि नवाऽशीत्यधिकानि १३८९ तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा द्विनवतिः, शेषास्तिष्ठन्ति। तत आगतं द्विनवतितमे पर्वणि नवम्यामुदयति सूर्ये धनिष्ठाया एका कला चन्द्रमसा प्रतिपन्नेति,एवं सर्वत्रापि भावना भावनीया।

सम्प्रति प्रनष्टजन्मनक्षत्रपरिज्ञानार्थकरणमाह—

समइच्छिएसु वासेसु, कोइ पुच्छेज्ज जम्मनक्खत्तं ।
जायस्स वरिससंख पव्वाणि,तिहिं व ठाविज्जा छित्तूण॥
वरिससंखं पंचसु, सेसाणि कुणसु पव्वाणि ।
ततो उ वट्टमाणं, सोहेज्जा एवं तिहिरासिं ॥
अवसेसं साहितो, संपयकालमिव आणए व सव्वं ।
जं जं इच्छसि किंचि, अणागयं वा वि खेवेणं ॥

('समइच्छिएसु') समतिक्रान्तेषु वर्षेषु कोऽपि स्वकीयं जन्मनक्षत्रं पृच्छेत्, यथा किं मम जन्मकाले नक्षत्रमासीत् ? इति। एवं पृष्टे सति जातस्य सतस्तस्य या वर्षसंख्या अतिक्रान्ता ता पर्वाणि, तिथींश्च स्थापयेत्, स्थापयित्वा च वर्षसंख्यां पञ्चविषयां छिन्द्यात्, किमुक्तं भवति-पञ्चवर्षरूपा संख्या छेदं सहते तावतीं छिन्द्यात्, छित्वा च शेषाणि यानि वर्षाणि तिष्ठन्ति तानि पर्वाणि कुरु, कृत्वा च पर्वराशिमानः पर्वपुरुष संप्रदायात् चतुरशीतिसंख्यो वर्तमानः समस्तोऽपि एकत्र मील्यते, ततो वर्तमानं पर्वराशिम्,तिथिराशिरग्ररूपः, इत्थंभूतं च वर्तमानं पर्वराशिं तिथिराशिं च शोधयित्वा ये अवधिराशिं च प्रक्षिपेत् प्रक्षिप्य चाधिककपर्वराशेर्युगपर्वराशिं शोधयित्वा शेषं पूर्वोपदेशेन कुर्यात् एष करणगाथाक्षरार्थः । भावना त्वियम्-कस्यापि जातस्य नव वर्षाणि, त्रयो मासाः,एकः पक्षः,पञ्च दिवसाः एष जातस्य कालः। अत्र किं चन्द्रनक्षत्रम्, सूर्यनक्षत्रं वा ? । अत्र स्थापना प्रथमतः सर्वोपरि नव वर्षा ध्रियन्ते, तेषामधस्तात् ये मासाः,तेषां वाऽधस्तात् पञ्चमी। अत्र वर्षराशेः पञ्चसंज्ञितेन युगेन भागो ह्रियते, स्थितानि शेषाणि चत्वारि, तानि पर्वाणि कर्तव्यानि, तत्र वर्षे चतुर्विंशतिः पर्वाणि, ततश्चत्वारः चतुर्विंशत्या गुण्यते जाता षण्णवतिः, त्रिषु मासेसु षट् पर्वाणि, तान्यपि तत्र प्रक्षिप्यन्ते, चतुर्षु वर्षेष्वेकोऽधिको मासः संवृत्तस्तत्र च द्वे पर्वणी, ते अपि प्रक्षिप्ते यदि चैकं पर्व, तदपि तत्र प्रक्षिप्तम्,जातं सर्वसंख्यया पञ्चोत्तरं पर्वशतम्। अतो वर्तमानानि चतुरशीतिपर्वाणि शोध्यन्ते, स्थितानि शेषाणि एकविंशतिः पर्वाणि, पञ्चतोऽअष्टौ न शुध्यन्ति तत् एकविंशतेरेकं रूपमादाय पञ्चदश भागाः क्रियन्ते, ते च पञ्चदश पञ्चसु मध्ये प्रक्षिप्ता जाता विंशतिस्ततोऽष्टौ शुद्धाः स्थिता द्वादश, आगतं युगाऽऽदौ विंशतेः पर्वसु गतेषु द्वादश्यां चन्द्रगतं सूर्यगतं वा यत् नक्षत्रं तत् तस्य नक्षत्रमवसेयम्। यथायोगमन्यस्याऽपि जन्मनक्षत्रमानेतव्यम्, एवमनागतमपि जन्मनक्षत्रमानयितव्यमिति ॥ इतिश्रीमलयगिरिविरचितायां ज्योतिष्करण्डकटीकायां नष्टपर्वप्रतिपादकं विंशतितमं प्राभृतं समाप्तम् । ज्यो० २० पाहु०।

पणट्ठवाबाह-प्रनष्टव्याबाध-त्रि० । प्रकर्षेण नष्टाः क्षीणा व्याबाधा येषां ते तथा-सर्वव्याबाधवर्जितेषु, पं० सू० १ सूत्र ।

पणट्ठसंधि-प्रनष्टसन्धि-त्रि० । सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाणपत्राद्धद्वयसन्धौ, प्रव० ४ द्वार । प्रज्ञा० ।

पणतीस-पञ्चत्रिंशत्-स्त्री० । पञ्चाधिकत्रिंशत्संख्यायाम्, स० ६८ सम० ।

पणद्ध-प्रणद्ध-त्रि० । परिगते, औ० ।

पणपन्निय-पञ्चप्रज्ञप्तिक-पुं० । व्यन्तरभेदे, प्रव० १९४ द्वार ।

पणबंध-पणबन्ध-पुं० । प्रतिज्ञाबन्धे, आ० क० १ अ० । [ पणबन्धोदाहरणम् 'उप्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२७ पृष्ठे उदाहृतम् ] ग्लहे, (होड) नियमविशेषबन्धने, यदि भवानिदं कुर्यात् तर्हि इदमहं भवते दास्यामीति समयकरणं पणबन्धः । वाच० ।

पणमिऊण प्रणम्य-अव्य० । प्रकर्षेण भावपूर्वकं मनोवाक्कायैर्नत्वेत्यर्थे, ध० १ अधि० । आव० ।

पणमिच्छ-पञ्चमिथ्यात्व-न० । पञ्चप्रकारे मिथ्यात्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

पणमिय-प्रणमित-त्रि० । नन्तुमारब्धे,प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वात् । औप० । ज्ञा० । जं० ।

पणमुत्ति-पणमुक्ति-स्त्री० । राजकुले व्यवहारविशेषे, आ० म० १ अ० ।

पणय-प्रणत-त्रि० । निम्ने, रा० । जं० । प्रह्वीभूते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आचा० । प्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । खर्वे, स्था० ४ ठा० १ उ० । [अत्र चतुर्भङ्गी 'पुरिसजाय' शब्दे वक्ष्यते ]

प्रणय-पुं० । स्नेहे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

पणयखेइय-प्रणयखेदित-न० । प्रणयरोपणे, ज्ञा०१श्रु०६अ० ।

पणयभंग-प्रणयभङ्ग-पुं० । प्रार्थनाभङ्गे, बृ० ३ उ० ।

पणयासण-प्रणतासन-न० । निम्नासने, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० ।

पणव-पणव-पुं० । भाण्डपटहे, लघुपटहे च । जं० ३ वक्ष० । रा० । प्रश्न० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । पणवो भाण्डपटहो लघुपटह इत्यन्ये । औ० । नं० ।

पणस-पनस-पुं० । [ कटहर ] वृक्षभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० १३ अ० ।

पणसुन्न-पञ्चशून-न० । ' पंचसुणण 'शब्दार्थे, प्रव० ३५ द्वार ।

पणाम-प्रणाम-पुं० । नमस्कारे, आतु० । विनये, आव०२अ० । प्रणिपाते, स चोत्कृष्टतः पञ्चाङ्गो ज्ञातव्यः । संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । " तिन्नि चेव पणामा " संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० । [ पणामत्रिकम् 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे व्याख्यातम् ]

अर्पि-धा० । " अर्पेरल्लिवचंचुप्पपणामाः" ॥८।४। ३६॥ इति अर्पेर्ण्यन्तस्य पणामादेशः । पणामइ । अर्पयति । प्रा०४ पाद ।

पणामय प्रणामक-त्रि० । प्रणामयन्ति प्रापयन्ति, दुर्गतिमिति प्रणामकाः । शब्दादिविषयेषु,सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पणामहज्ज-प्रणामहार्य-त्रि० । उपलक्षणत्वात् प्रणामदानादिनाऽऽवर्जनीये, पिं० ।

पणामिअ-प्रणामित-त्रि० । नमस्कृते, " पणामिअं दिव्वसुवण्णीअं " पाइ० ना० १८४ गाथा ।

पणायग-प्रणायक-त्रि० । प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायके, व्य० १ उ० ।

पणालिया-प्रणालिका-स्त्री० । पारम्पर्ये, सूत्र० १ श्रु०१३अ० ।

पणास-प्रणाश-पुं० । अपनयने, आ० म० १ अ० । आव० । उच्छेदे, विशे० ।

पणिअ-देशी त्रि० । प्रकटे, दे० ना० ६ वर्ग ७ गाथा ।

पणिंदि-पञ्चेन्द्रिय-पुं० । पञ्चेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्ते, कर्म० २ कर्म० । प्रश्न० ।

पणिज्जंत-प्रणीयमान-त्रि० ।वश्ये,अधीने,कृतलौकिकसंस्कारे च, वाच० ।

पणिय-पणित-न० । भाण्डे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विक्रेये वस्तुनि रा० । द्यूतादिके व्यवहारे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

पणियगिह-पण्यगृह-न० । पण्याऽऽपणे आचा० २ श्रु०१ चू० २ अ० २ उ० । ' जत्थ भण्डं अच्छति तं पणियगिहं " नि० चू० १२ उ० ।

पणियघर-पण्यगृह-न० । ' पणियगिह ' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

पणियट्ठ-पणितार्थ-पुं० । पण्यवस्तुनि, दश० ७ अ० । प्राणिद्यूतप्रयोजने, दश० ७ अ० ।

पणियभंड -पाणितभाण्ड-न०। पणितं व्यवहारस्तदर्थं भाण्डम्, पणितं वा क्रयाणकं तद्रूपं भाण्डं न तु भाजनमिति पणितभाण्डम् । पणितार्थभाण्डे, भ० १५ श० ।

पणियभूमि-पणितभूमि-स्त्री० । भाण्डविश्रामणस्थाने, भ० १५ श० । वज्रभूम्याख्याऽनार्यदेशे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । तत्र हि वीरस्वामिनामेकं चातुर्मास्यं जातम् ।

तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलीपुत्तेणं सद्धिं पणियभूमीए छवासाइं लाभं, अलाभं, सुहं, दुक्खं, सक्कारं, असक्कारं पच्चणुभवमाणे अणिच्चजागरियं विहरित्था ।

पणितभूमेरारभ्य प्रणीतभूमौ विहृतवानिति योगः । भ० १५ श० ।

प्रणीतभूमि-स्त्री० । मनोज्ञभूमिः । भ० १५ श० ।

पणियसाला-प ( णित )ण्यशाला-स्त्री० । हट्टे, आचा० १ श्रु० ज्ञा० ६ अ० २ उ० । " पणियसाला जत्थ भायणाणि विक्कति वाणिय कुम्भकारो वा एसा पणियसाला । नि० चू० १६ उ० । आचा० । घट्टघशालायाम्, दश० १० अ० ।

कोलालियावणो खलु, पणिसाला ' ' ' ।

कौलालिकाः कुलालक्रयविक्रयिणस्तेषां आपण' पणितशाला मन्तव्या । किमुक्तं भवति-यत्र कुम्भकारा भाजनानि विक्रीणते, वणिजो वा कुम्भकारहस्ताद्भाजनानि क्रीत्वा यत्रापणे विक्रीणन्ति सा पणितशाला । बृ० २ उ० ।

पणिवइय-प्रणिपतित-त्रि० । नमस्कृते, नं० ।

पणिवाय प्रणिपात-पुं० । प्रणमने, पञ्चाङ्गः प्रणिपात । दर्श० १ तत्त्व । संघा० ।

पञ्चाङ्गप्रणिपातादीनां व्याख्यानायाऽऽह-

दो जाणू दोण्णि करा, पंचमगं होइ उत्तिमंगं तु ।
सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगपणिवाओ ॥ १८ ॥

द्वे जानुनी अष्ठीवन्तौ । द्वौ करौ हस्तौ, पञ्चममेव पञ्चमकं भवति वर्तते, उत्तमाङ्गं तु शिर एव इत्यनेन पञ्चाङ्ग इति व्याख्यातम् । अथ प्रणिपातव्याख्यानायाऽऽह-एतैरेव प ञ्चभिरङ्गैः सम्यग् भक्तितो भून्यासत यः स प्रणिपात' प्रणामोऽसौ ज्ञेयो ज्ञातव्य' । पञ्चाङ्गप्रणिपात पूर्वोक्तनिर्वचन इति गाथार्थ । पञ्चा० ३ विव० ।

पणिवायदंडय-प्रणिपातदण्डक-पुं० । " नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं ' इत्यादिके सूत्रे,ध० २ अधि० । (अत्राऽऽलापका. सम्पदश्च ' चेइयवंदण ' शब्दे तृतीयभागे १३१८ पृष्ठे व्याख्याता )

पणिहाण-प्रणिधान-न० । चेत स्वास्थ्ये, व्य० १ उ० । ग० । उत्त० । दश० । प्रव० । ऐकाग्र्ये, द्वा० ५ द्वा० । प्रशस्तावधाने, द्वा० २२ द्वा० । चित्तोपयोगे, पञ्चा० ३ विव० । पं० सू० ।

दृढाध्यवसाये, आव०४ अ० । अन्तःकरणवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पणिहाणं ति वा, अज्झवसाणं ति वा, चिट्टं ति वा एगट्ठा । नि० चू० १ उ० । प्रणिहितिः प्रणिधानम् । एकाग्रतायाम्, स्था० ।

त्रिधा प्रणिधानं प्रतिपादयति-

तिविहे पणिहाणे पण्णत्ते । तं जहा-मणपणिहाणे, वयपणिहाणे, कायपणिहाणे । एवं पंचेंदियाणं जाव वेमाणियाणं । तिविहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा-मणसुप्पणिहाणे, वयसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे ।

प्रणिहितिः प्रणिधानमेकाग्रता, तच्च मनःप्रभृतिसम्बन्धिभेदात् त्रिविधेति । तत्र मनसः प्रणिधानं मनःप्रणिधानम्, एवमितरे । तच्च चतुर्विंशतिदण्डके सर्वेषां पञ्चेन्द्रियाणां भवति,तदन्येषां तु नास्ति, योगानां सामस्त्येनाऽभावादिति । अत एवोक्तम्-( एवं पंचेंदिया-इत्यादीति ) । प्रणिधानं हि शुभाशुभभेदम् । अथ शुभमाह-( 'तिविहे' इत्यादि) सामान्यसूत्रम् । विशेषमाश्रित्य चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां मनुष्याणामेव, तत्राऽपि संयतानामेवेदं भवति, चारित्रपरिणामरूपत्वादस्येति । ( सुप्रणिधान-दुष्प्रणिधानस्वरूपं स्वस्वस्थाने ) स्था० ३ ठा० १ उ० ।

चतुर्धा प्रणिधानम्-

चउव्विहे पणिहाणे पण्णत्ते । तं जहा-मणपणिहाणे, वयपणिहाणे, कायपणिहाणे, उवगरणपणिहाणे । एवं नेरइयाणं । पंचेंदियाणं जाव वेमाणियाणं ।

प्रणिधिः प्रणिधानं प्रयोगः, तत्र मनसः प्रणिधानमार्त्त-रौद्रधर्मादिरूपतया प्रयोगो मनःप्रणिधानम् । एव वाक्काययोरपि । उपकरणस्य लौकिक-लोकोत्तररूपस्य वस्त्र-पात्रादेः संयमाऽसंयमोपकाराय प्रणिधानं प्रयोग उपकरणप्रणिधानम् । ( एवमिति ) यथा सामान्यतस्तथा नैरयिकाणामिति । तथा चतुर्विंशतिदण्डकपठितानां मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषामपि वैमानिकान्तानामेवमेवेति । स्था० ४ ठा० १ उ० । दश० । प्रयोगे, आव० ६ अ० ।

कइविहा णं भंते ! पणिहाणे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पणिहाणे पण्णत्ते । तं जहा-मणपणिहाणे, वइपणिहाणे, कायपणिहाणे । णेरइयाणं भंते ! कइविहे पणिहाणे पण्णत्ते ?। एवं चेव । एवं जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! एगे कायपणिहाणे पण्णत्ते, एवं जाव वणस्सइकाइयाणं वेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पणिहाणे पण्णत्ते । तं जहा-वइपणिहाणे य, का[illegible] य । एवं जाव चउरिंदियाणं । सेसाणं तिविहे [illegible] याणं । भ० १८ श० ७ उ० ।

(प्रणिधानलक्षणम् 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे [illegible])
( 'जय वीयराय ! जगगुरु ! होउ ममं'
'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३२० पृष्ठे ) ('पणि-
[illegible]' शब्दे चतुर्थभागे २१०५ [illegible] उक्त )



पणिहाणवं-प्रणिधानवत्-त्रि० । एकाग्रमनसि, उत्त० १६ अ० । "संकाठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं" उत्त० १६ अ० ।

पणिहाणजोगजुत्त-प्रणिधानयोगयुक्त-त्रि० । प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यम्, तत्प्रधाना योगा व्यापारास्तैर्युक्तः समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः । व्य० १ उ० । दश० । प्रणिधानं मनस शुभमैकाग्र्यं तद्रूपस्तत्प्रधानो वा योगो व्यापारस्तेन युक्तोऽन्वितः । अथवा-योगो मनोनिरोधस्ततश्च प्रणिधान-योगाभ्यां युक्तो यः स तथा । पञ्चा० १५ विव० । प्रणिधानरूपयोगैः, प्रणिधान-योगाभ्यां वा युक्ते । "पणिहाणजोगजुत्तो, पंचहिं समितीहिं तीहिं गुत्तीहिं" पंचा० १५ विव० । सम्म० ।

पणिहाणपुरस्सर-प्रणिधानपुरस्सर-पुं० । प्रणिधानमेकाग्र्यं तत्पुरस्सरम् । उपयोगप्रधाने, षो० ६ विव० ।

पणिहाय-प्रणिधाय-अव्य० । आश्रित्येत्यर्थे, भ० १५ श० । अपेक्ष्येत्यर्थे, ज्ञा० १ श्रु० १० अ० ।

पणिहि-प्रणिधि-पुं० । प्रणिधाने, मनसो विशिष्टैकाग्रत्वे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार० । आ०चू० । प्रणिधानमवधानं चरश्च । है० । दश० ।

प्रणिधिनिक्षेपः-

जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो ।
दुविहो य होइ पणिही, दव्वे, भावे य नायव्वो ॥५९॥

य पूर्वं क्षुल्लकाचारकथायामुद्दिष्टः आचारः सोऽहीनातिरिक्तस्तदवस्थ एवेहापि द्रष्टव्यः इति वाक्यशेषः । क्षुण्णत्वान्नाम-स्थापने अनादृत्य प्रणिधिमधिकृत्याऽऽह-द्विविधश्च भवति प्रणिधिः । कथम् ? इत्याह-द्रव्य इति द्रव्यविषयः । भाव इति भावविषयश्च ज्ञातव्यः । इति गाथार्थः ॥५९॥

तत्र-

दव्वे निहाणमाई, मायपउत्ताणि चेव दव्वाणि ।
भाविंदिय-नोइन्दिय, दुविहो उ पसत्थ अपसत्थो ॥६०॥

द्रव्य इति द्रव्यविषयः प्रणिधिर्निधानादि, प्रणिहितं निधानं निक्षिप्तमित्यर्थः । आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः । मायाप्रयुक्तानि चेह द्रव्याणि, द्रव्यप्रणिधिः पुरुषस्य स्त्रीवेषेण पलायनादिकरणम् । स्त्रिया वा पुरुषवेषेण चेत्यादि । तथा भाव इति । भावप्रणिधिर्द्विविधः-इन्द्रियप्रणिधिः, नोइन्द्रियप्रणिधिश्च । तत्र इन्द्रियप्रणिधिर्द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

प्रशस्तमिन्द्रियप्रणिधिमाह:-

सद्देसु य रूवेसु य, गंधेसु रसेसु, तह फासेसु ।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदिअप्पणि[illegible]ही ॥६१॥

शब्देषु च, रूपेषु च, गन्धेषु, रसेषु, तथा च स्पर्शेषु-एतेष्विन्द्रियार्थेष्विष्टाऽनिष्टेषु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्नाऽपि रज्यते, नाऽपि द्विष्यते । एष खलु माध्यस्थ्यलक्षणः इन्द्रियप्रणिधिः प्रशस्तः । इति गाथार्थः ।

अन्यथा त्वप्रशस्तः, तत्र दोषमाह-

सोइंदिअरस्सीहिं उ, मुक्काहिं सद्दमुच्छिओ जीवो ।

आइयइ अणाउत्तो, सद्दगुणसमुट्ठिए दोसे ॥६२॥

श्रोत्रेन्द्रियरश्मिभिः श्रोत्रेन्द्रियरज्जुभिः मुक्ताभिरुच्छृङ्खलाभिः । किमित्याह-शब्दमूर्च्छितः शब्दगृद्धो जीवः, आदत्ते गृह्णाति अनुपयुक्तः सन्, कान् ? इत्याह-शब्दगुणसमुत्थितान् दोषान्-शब्द एवेन्द्रियगुणस्तत्समुत्थितान् दोषान् बन्ध-वधादीन् श्रोत्रेन्द्रियरज्जुभिरादत्त इति गाथार्थः ।

शेषेन्द्रियातिदेशमाह-

जह एसो सद्देसुं, एसेव कमो उ सेसएहिं पि ।
चउहिं पि इंदिएहिं, रूवे, गंधे, रसे, फासे ॥ ६३ ॥

यथैष शब्देषु शब्दविषयः श्रोत्रेन्द्रियमधिकृत्य दोष उक्तः, एष एव क्रमः शेषैरपि चक्षुरादिभिश्चतुर्भिरपीन्द्रियैर्दोषाभिधाने द्रष्टव्यस्तद्यथा—" चक्खिंदियरस्सीहि उ "इत्यादि। अत एवाऽऽह—रूपे, गन्धे, रसे, स्पर्शे, रूपादिविषयः । इति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्ताभिधानेनाऽऽह-

जस्स खलु दुप्पणिहिया-णिंदियाइं तवं चरंतस्स ।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही वा तुरंगेहिं ॥ ६४ ॥

यस्य खल्विति—यस्याऽपि दुष्प्रणिहितानीन्द्रियाणि विश्रोतोगामीनि, तपश्चरत इति तपोऽपि कुर्वतः । स तथाभूतो ह्रियते अपनीयते, इन्द्रियैरेव निर्वाणहेतोश्चरणात् । दृष्टान्तमाह-अस्वाधीनैरस्ववशैः,सारथिरिव रथनेतेव, तुरङ्गैरश्वैरिति गाथार्थः । उक्त इन्द्रियप्रणिधिः ।

नोइन्द्रियप्रणिधिमाह-

कोहं, माणं, मायं, लोभं, च महब्भयाणि चत्तारि ।
जो रुंभइ सुद्धप्पा, एसो नोइंदिअप्पणिही ॥ ६५ ॥

क्रोधम्, मानम्, मायाम्, लोभं चेति; एषां स्वरूपमनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्नं पूर्ववत् । एत एव महाभयानि चत्वारि, सम्यग्दर्शनादिप्रतिबन्धरूपत्वात् । एतानि यो रुणद्धि शुद्धात्मा उदयनिरोधादिना; एष निरोद्धा क्रोधादिनिरोधपरिणामानन्यत्वात् नोइन्द्रियप्रणिधिः कुशलपरिणामत्वात् । इति गाथार्थः ।

एतदनिरोधे दोषमाह-

जस्स वि य दुप्पणिहिआ, होंति कसाया तवं चरंतस्स ।
सो बालतवस्सी विव, गयण्हाणपरिस्समं कुणइ ॥६६॥

यस्याऽपि कस्यचिद्व्यवहारतपस्विनः, दुष्प्रणिहिता अनिरुद्धा भवन्ति कषायाः क्रोधादयस्तपश्चरतः तपः कुर्वत इत्यर्थः। स बालतपस्वीव उपवासपारणकप्रभूततरारम्भको जीवो गजस्नानपरिश्रमं करोति; चतुर्थ-षष्ठादिनिमित्ताऽभिधानतः प्रभूततरकर्मबन्धोपपत्तेः । इति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह-

सामण्णमणुचरंत-स्स कसाया जस्स उक्कडा होंति ।
मन्नामि उच्छुफुल्लं, व निप्फलं तस्स सामन्नं ॥ ६७ ॥

श्रामण्यमनुचरतः श्रमणभावमपि द्रव्यत पालयतः इत्यर्थः. कषाया यस्योत्कटा भवन्ति क्रोधाऽऽदयः, मन्ये इक्षुपुष्पमिव निष्फलं निर्जराफलमधिकृत्य तस्य श्रामण्यम् । इति गाथार्थ. ।

उपसंहरन्नाह-

एसो दुविहो पणिही, सुद्धो जइ दोसु तस्स तेसिं च ।
एत्थो पसत्थमपसत्थ-लक्खणमज्झप्पनिप्फन्नं ॥ ६८ ॥

एषोऽनन्तरोदितो द्विविधः प्रणिधिः इन्द्रिय-नोइन्द्रियलक्षणः शुद्ध इति निर्दोषो भवति । यदि द्वयोर्बाह्याऽभ्यन्तरचेष्टयोः तस्येन्द्रिय-कषायवतस्तेषां चेन्द्रिय कषायाणां सम्यग् योगो भवति । एतदुक्तं भवति-यदि बाह्यचेष्टायामभ्यन्तरचेष्टायां च तस्य प्रणिधिमतः इन्द्रियाणां कषायाणां च निग्रहो भवति, ततः शुद्धः प्रणिधिः, इतरथा त्वशुद्धः; एवमपि तत्त्वनीत्याऽभ्यन्तरैव चेष्टेह गरीयसी इत्याह-अत एवमपि तत्त्वे प्रशस्तं चारु, तथाऽप्रशस्तमचारुलक्षणं प्रणिधेरध्यात्मनिष्पन्नमध्यवसानोद्भतम् । इति गाथार्थः ।

एतदेवाऽऽह—

माया-गारवसहिओ, इंदिय-नोइंदिएहिं अपसत्थो ।
धम्मत्था अ पसत्थो, इंदिअ-नोइंदिअप्पणिही ॥ ६९ ॥

माया-गौरवसहितः मातृस्थानयुक्तः,ऋद्ध्यादिगौरवयुक्तश्चेन्द्रिय-नोइन्द्रिययोर्निग्रहं करोति; मातृस्थानत ईर्यादिप्रत्युपेक्षणं द्रव्यक्षान्त्याद्यासेवनम्; तथा-ऋद्ध्यादिगौरवाद्धेत्यप्रशस्त इत्ययमप्रशस्तः प्रणिधिः। तथा धर्मार्थं प्रशस्त इति माया-गौरवरहितो धर्मार्थमेवेन्द्रिय—नोइन्द्रियनिग्रहं करोति यः स तदभेदोपचारात् प्रशस्तः सुन्दरः इन्द्रियनोइन्द्रियप्रणिधिर्निर्जराफलत्वाद् इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमप्रशस्ते-तरप्रणिधेर्दोष-गुणावाह-

अट्ठविहं कम्मरयं, बंधइ अपसत्थपणिहिमाउत्तो ।
तं चेव खवेइ पुणो, पसत्थपणिहीसमाउत्तो ॥ ७० ॥

अष्टविधं ज्ञानावरणीयादिभेदात्कर्मरजो बध्नाति आदत्ते । कः ? इत्याह-अप्रशस्तप्रणिधिसमायुक्तः अप्रशस्त-प्रणिधौ व्यवस्थित इत्यर्थः । तदेवाष्टविधं कर्मरजः क्षपयति पुनः । कदा ? इत्याह-प्रशस्तप्रणिधिसमायुक्त इति गाथार्थः ।

संयमार्थं च प्रणिधिः प्रयोक्तव्य इत्याह-

दंसण-नाण-चरित्ताणि संजमो तस्स साहणट्ठाए ।
पणिही पउंजिअव्वो, अणाययणाइं च वज्जाइं ॥७१॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि संयमः सम्पूर्णः। तस्य सम्पूर्णसंयमस्य साधनार्थं प्रणिधिः प्रशस्तः प्रयोक्तव्यः । तथा अनायतनानि च विरुद्धस्थानानि वर्जनीयानि । इति गाथार्थः ।

एवमकरणे दोषमाह-

दुप्पणिहिअजोगी, पुण लञ्छिज्जइ संजमं अयाणंतो ।
विद्धो निसट्ठंगो- व्व कंटइल्ले जह पडंतो ॥७२॥

दुष्प्रणिहितयोगी पुनः सुप्रणिधिरहित. प्रव्रजित इत्यर्थः । लञ्छ्यते खण्ड्यते संयममजानान-संयत एवेति । दृष्टान्तमाह विद्धो निसृष्टाङ्गस्तथा अयत्नपर कण्टकवति श्वभ्रादौ यथा पतन् कश्चिल्लञ्छ्यते तद्वदसौ संयमे । इति गाथार्थ. ।

व्यतिरेकमाह-

सुप्पणिहिअजोगी पुण, न लिप्पइ पुव्वभणिअदोसेहिं ।
निद्दहइ अ कम्माइं, सुक्कतणाइं जहा अग्गी ॥७३॥

सुप्रणिहितयोगी पुनः सुप्रणिहितः प्रव्रजितो न लिप्यते पूर्वभणितदोषैः कर्म्मबन्धादिभिः, संवृताश्रवद्वारत्वात् । निर्दहति च कर्म्माणि प्राक्तनानि तपःप्रणिधिभावेन । दृष्टान्तमाह-शुष्कतृणानि यथा अग्निर्निर्दहति तद्वदिति गाथार्थः ।

तम्हाओ अपसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं ।
पणिहाणम्मि पसत्थे, भणिओ आयारपणिहि त्ति ॥७४॥

यस्मादेवमप्रशस्तप्रणिधिर्दुःखदः, इतरस्तु सुखदः । तस्मादप्रशस्तं प्रणिधानमप्रशस्तं प्रणिधिमुज्झित्वा परित्यज्य, श्रमणेन साधुना, प्रणिधाने प्रणिधौ, प्रशस्ते कल्याणे यत्नः कार्य इति वाक्यशेषः । निगमयन्नाह भणित आचारप्रणिधिरिति गाथार्थः । दश०८ अ०। (आचारप्रणिधिः 'आयारपणिहि' शब्दे द्वितीयभागे ३४८ पृष्ठे उक्तः)

व्यवस्थापने, उत्त० २३ अ० । मायायाम्, सा च द्विधा-द्रव्यप्रणिधिः, भावप्रणिधिश्च ।

तत्र द्रव्यप्रणिधौ उदाहरणम्—

भरुअच्छे जिणदेवो, भयंतमित्ते कुणालभिक्खू अ ।
पइट्ठाण सालवाहण,गुग्गुल भगवं च नहवाणे ॥ २०३ ॥

भरुकच्छपुरेऽऽऽसीद्, भूपतिर्नरवाहनः ।
स समृद्ध्याऽऽत्मकोशस्य, श्रीदमप्यवमन्यते ॥ १ ॥
इतः प्रतिष्ठानपुरे, पार्थिवः शालवाहनः ।
बलेनाऽपि समृद्धः स, रुरोध नरवाहनम् ॥ २ ॥
आनयत्यरिशीर्षाणि यस्तस्याऽदान्महर्द्धिकः ।
लक्षं विपक्षं तत्तस्य, नित्यं निघ्नन्ति तद्भटाः ॥ ३ ॥
हा ! तस्याऽपि भटाः केऽप्याऽऽ-निन्युः सोऽदान्न किंचन ।
सोऽथ क्षीणजनो नंष्ट्वा, पुनरेति समांतरे ॥ ४ ॥
पुनर्नेष्ट्वा तथैवेति, नाभूत्तद्ग्रहणक्षमः ।
अथैको मायया हालं, सचिवो निरवासयत ॥ ५ ॥
स परंपरयाऽज्ञासी-द्भरुकच्छनराधिपः ।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि, निजामात्यस्ततः कृतः ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा विश्वस्तं सोऽवक् तं, राज्यं पुण्येन लभ्यते ।
तदन्यस्य भवस्यार्थे, पाथेयं कुरु पार्थिव ! ॥ ७ ॥
धर्मस्थानविधानाद्यै-र्द्रव्यमव्याययत्ततः ।
आगान्मन्त्रिगिरा हालः-पार्थिवोऽथाऽऽह मन्त्रिणम् ॥ ८ ॥
मिलितोऽसि किमस्य त्वं, सोऽवदन्न मिलाम्यहम् ।
अथान्तःपुरभूषादि-द्रविणैस्तं तदाऽक्षिपत् ॥ ९ ॥
हालेऽथ पुनरायाते, निर्द्रव्यत्वान्ननाश स ।
नगरं जगृहे हालो, द्रव्यप्रणधिरेषिका ॥ १० ॥
आचार्यो जिनदेवोऽभू-त्तत्रैव भृगुपत्तने ।
वादिनौ भ्रातरौ भिक्षू, भदन्तक कुणालकौ ॥ ११ ॥
वादितः पटहस्ताभ्यां, जिनदेवगुरुस्तदा ।
गतोऽभूद्वन्दितुं चैत्यं, श्रुत्वा तेन स वारितः ॥ १२ ॥
जातो राजकुले वाद—स्तौ द्वावपि विनिर्जितौ ।
दध्यतुस्तावमीषां न, सिद्धान्तावगमं विना ॥ १३ ॥
उत्तरं शक्यते दातुं, शाठ्याद्दोविन्दवत्ततः ।
व्रतं जगृहतुः पश्चात्पठतां भावतोऽभवत् ॥ १४ ॥ आक० ४ अ० । आ० चू० । आव० । मायाशल्ये, तत्र कार्यमिति योगसंग्रहत्वमस्य । स० ३२ सम० । दश० ।

पणिहिय-प्रणिहित-त्रि० । संवृते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार० । व्यवस्थिते. आव० ४ अ० ।

पणीय-प्रणीत-त्रि० । प्ररूपिते, अनु० । आख्याते, आव० ४ अ० । सूत्र० । प्रज्ञप्ते, आव० ३ अ० । अर्थकथनद्वारेण,प्ररूपिते. नं० । सम्यगाचीर्णे सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । शुभतया प्रकृष्टे, भ० ५ श० ४ उ० । स्निग्धे, औ० । गलत्स्नेहबिन्दुके भोक्तव्ये, प्रति० । आव० । भ० । दश० । स्था० । प्रणीतं नाम गूढस्नेहं घृतपूरादिकमार्द्रखज्जकम्, यद्वा बहिः स्नेहेन म्रक्षितमण्डकादि, अपरं वा स्नेहावगाढं कृशराऽऽदि प्रणीतमुच्यते । तथा चाह-"गूढसिणेहं उल्लं तु खज्जगं मक्खियं च जं बाहिं । नेहागाढं कुसरं तु एवमाई पणीयं तु " ॥ बृ०५उ० ।

पणीयभत्त-प्रणीतभक्त-न० । घृतदुग्धादिके, बृ० ५ उ० ।

पणीयभोयण-प्रणीतभोजन-न० । गलत्स्नेहभोजने, "जं पुण गलंतनेहं. पणीयमिति तं बुहा वेंति " यत्पुनर्गलत्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं बुधास्तीर्थकृदादयो ब्रुवते । पिं० ।

पणीयमाहार-प्रणीताहार-पुं० । गलत्स्नेहे आहार्य्यवस्तुनि, "आहार उब्भवो पुण, पणीयमाहारभोयणा होति । वाईकरणाहरणं. कल्लाणपुरोहउज्जाणे " उदाहरणमिदं ' हत्थकम्म ' शब्दे वक्ष्यते । नि० चू० १ उ० ।

पणीयरसपरिच्चाइ-प्रणीतरसपरित्यागिन्- त्रि० । गलद्घृतदुग्धादिबिन्दुभक्तपरित्यागाभिग्राहिणि, औ० ।

पणीयरसभोइ-प्रणीतरसभोगिन्-त्रि० । गलत्स्नेहबिन्दुभोक्तरि, स्था० ६ ठा० । " णो पणीअरसभोई सिया " इति चतुर्थे ब्रह्मचर्ये, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ० ।

प्रणीतरसभोजिन्-त्रि० । गलत्स्नेहबिन्दुभोक्तरि स्था०६ठा० ।

पणीयरसभोयण-प्रणीतरसभोजन-न० । गलत्स्नेहरसाभ्यवहारे, " विभूसा इत्थीसंसग्गो, पणीअं रसभोअणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥५७॥ " द० ८ अ० ।

पणुल्ल-प्रक्षिप्-धा० । प्रकर्षेण क्षेपणे, " क्षिपेर्गलत्था-ऽड्डक्ख-सोल्ल पेल्ल णोल्ल-छुह हुल्ल-परी घत्ताः " ॥ ८।४।१४३ ॥ इत्यनेन क्षिपेर्णोल्लादेशः । पणुल्लइ । पणोल्लइ । पणुल्लीअ । पणुल्लिस्सइ । पणुल्लंतो । पणुल्लिअं । प्रा०४पाद । ' कम्माइं पणुल्लयामो " प्रकर्षेण स्फेटयामः । उत्त० १२ अ० ।

पणेज्जय-प्रणीयक-पुं० । चन्द्रं गृह्णतो राहोरेकादशकृत्स्ने, कृष्णपुद्गले,चं० प्र० २० पाहु० ।

पणोल्ल-प्रक्षिप्य-अव्य० । 'प्रेर्य' इत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु०८ अ० ।

प्रणुद्य-अव्य० । 'प्रेर्य' इत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

पणोल्लणगइ-प्रक्षेपणगति-स्त्री० । बाणादीनामिव परप्रेरणाद् गतौ, स्था० ८ ठा० ।

प्रणोदनगति-स्त्री० । बाणादीनामिव परप्रेरणाद् गतौ, स्था० ८ ठा० ।

पणोल्लय-प्रक्षेपक-त्रि० । प्रेरके, " परिसहाणं पणोल्लए " आ०चा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

पणोदक-त्रि० । प्रेरके, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

पणोल्लि-प्रणोदिन्-पुं० । प्राजनकदण्डे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

पण्ण-प्रज्ञ-त्रि० । प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः । ज्ञानप्रभया श्रेष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । निर्मलावबोधे, उत्त० ८ अ० । प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वाद् जानातीति प्रज्ञः, स एव प्राज्ञः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । केवलज्ञानिनि, उत्त० ८ अ० । तीर्थकरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । गणधरे, नं० । अनु० । पण्डिते, द्वा० १७ द्वा० । सद्बोधयुते, स्था० ७ ठा० । अनु० ।

प्राज्ञ-त्रि० । निर्मलावबोधे सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रज्ञस्येदं प्राज्ञम्, गीतार्थेनोपात्ते सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

पर्ण-न० । दले, पत्रे, स्था० १० ठा० ।

पार्ण-त्रि० । पर्णाद् जाते, पर्णसंबन्धिनि वा अग्न्यादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

पन्न-त्रि० । पद्धातोः क्तप्रत्यये रूपम् । गते, वाच० ।

पण्य-न० । भाण्डे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

पण्णग-पन्नग-पुं० । सर्पे, जं० १ वक्ष० ।

पन्नगतिल-पन्नकतिल-पुं० । दुर्गन्धितिले, व्य० १ उ० ।

पण्णगद्ध-पन्नगार्द्ध-न० । पन्नगस्य सर्पस्याऽर्द्धे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।"अह पन्नगद्धरूवा पन्नगसंठाणसंठिया" जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० ।

पण्णगद्धरूव-पन्नगार्द्धरूप-त्रि० । सर्पार्द्धरूपे, यादृशं पन्नगस्योदराच्छिन्नस्य पुच्छत ऊर्ध्वीकृतमधमधोविस्तीर्णमुपर्युपरि चातिश्लक्ष्णं भवतीत्येवंरूपं येषां तानि तथा । भ० १५ श० ।

पण्णगभूय-पन्नगभूत-त्रि० । नागकल्पे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । भ० ।

पण्णगरिउ-पन्नगरिपु-पुं० । गरुडे, पक्षिराजे, वाच० । है० ।

पण्णगा-पन्नगा-स्त्री० । श्रीधर्मजिनस्य शासनदेव्याम् श्रीधर्मस्य पन्नगा देवी । मतान्तरेण कन्दर्पा, गौरवर्णा, मत्स्यवाहना चतुर्भुजा, उत्पला-ऽङ्कुशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया, पद्मा ऽभययुतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार ।

पन्नत्त-प्रज्ञप्त-त्रि० । प्ररूपिते, तीर्थकर- गणधरैः प्ररूपिते, नं० ।

प्रज्ञाऽऽप्त-त्रि० । प्रज्ञा बुद्धिस्तयाऽऽप्तं संप्राप्तं तीर्थकरगणधरैः । स्वप्रज्ञया प्राप्ते, नं० ।

प्राज्ञाऽऽप्त त्रि० । प्राज्ञात्तीर्थकरादाप्तं गणधरैः । तीर्थकरोपदेशादाप्ते, नं० । भ० । प्रणीते, आ० म० १ अ० ।.समुपादेयतया प्रकाशिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । पा० । सूत्र० । प्राज्ञैश्छेकैराप्तं प्राज्ञाप्तम् । छेकपुरुषपरिकर्मिते, रा० । विशे० । पञ्चा० । योग्यीकृते, " लट्ठपण्णत्तसेउसीमा " योग्यीकृता बीजवपनस्य सेतुसीमा यस्याः सा । औ० ।

प्रज्ञपित -त्रि० । कथिते, रा० । औ० ।

पण्णत्तगंडविब्बोयण-प्रज्ञाऽऽप्तगण्डविब्बोकन-त्रि० । प्रज्ञया विशिष्टपरिकर्मविषयया बुद्ध्याऽऽप्ते प्राप्ते अतीव सुष्ठु परिकर्मिते इति भावः, गण्डोपधानके, यत्र तत्तथा । चं० प्र० २० पाहु० । उपरि कर्मितगण्डोपधाने, भ० ११ श० ११ उ० ।

पण्णत्ति-प्रज्ञप्ति-स्त्री० । प्रज्ञाप्यन्ते प्रकर्षेण बोध्यन्ते अर्था यासु ताः प्रज्ञप्तयः । सूर्यप्रज्ञप्त्यादिषु, स्था० ।

प्रज्ञप्तयः-

तओ पन्नत्तीओ कालेणं अहिज्जंति-चंदपन्नत्ती, सूरपन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती ॥

( तओ इत्यादि ) कालेन प्रथमपश्चिमपौरुषीलक्षणेन हेतुभूतेनाऽधीयन्ते । व्याख्याप्रज्ञप्तिर्जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिश्च न विवक्षिता, त्रिस्थानकानुरोधादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अङ्गबाह्यप्रज्ञप्तयः-

चत्तारि पण्णत्तीओ अंगबाहिरियाओ पण्णत्ताओ,तं जहा-चंदपण्णत्ती, सूरपण्णत्ती, जंबुद्दीवपण्णत्ती,दीवसागरपण्णत्ती।

अङ्गान्याचारादीनि तेभ्यो बाह्या अङ्गबाह्या। व्याख्याप्रज्ञप्तिरस्ति पञ्चमी, केवलं साऽङ्गप्रविष्टेति एताश्चतस्र उक्ताः । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

नामादिनिक्षेपः-

प्रज्ञप्तिरपि नामादिभिश्चतुर्द्धा, तत्र प्रज्ञप्तिरिति नाम, यथा—प्रज्ञप्तिर्विद्यादेवी । स्थापनाप्रज्ञप्ति —प्रज्ञप्तिशब्दार्थप्रज्ञसाध्व्यादि । द्रव्यप्रज्ञप्तिर्द्विधा—आगमतः, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमत.-तदर्थज्ञानानुपयुक्तः । नोआगमतस्तु ज्ञशरीर- भव्यशरीरो-भयव्यतिरिक्तद्रव्यप्रज्ञप्तिभेदात्त्रिधा । तत्राद्यौ भेदौ सुबोधौ उभयव्यतिरिक्ता द्रव्यप्रज्ञप्तिर्द्विधा—लौकिकी, लोकोत्तरा च। एकैकाऽपि त्रिविधा-सचित्त- मिश्र- द्रव्यविषयभेदात् । तत्राऽऽद्या यथा-प्रियालोर्नृपस्य मन्दुरासमानीतहयज्ञापनम् । द्वितीया—तस्यैव रथज्ञापनम्, तृतीया—तस्यैव पर्याणादिपरिष्कृतहयज्ञापनम्, रथस्य वाऽश्वादियुक्तस्य ज्ञापनम् । लोकोत्तरा तु सचित्तविषया, यथा—प्रव्राजनाचार्यस्य नवप्रव्रजितं प्रति शाल्यादिसचित्तज्ञापनम्, सैव द्वितीया—शस्त्रपरिणतशाल्यादिज्ञापनम्, सैव तृतीया—दुष्पक्वशाल्यादिज्ञापनं चेति । अथ भावप्रज्ञप्तिरपि द्विधा—आगमत., नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतस्तदर्थज्ञानोपयुक्तः । नोआगमतस्तु भावप्रज्ञप्तिर्द्विधा—प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभावप्रज्ञप्तिभेदात् । तत्र अप्रशस्तभावप्रज्ञप्तिर्यथा—ग्राहयणा. स्नुषा प्रति जामातृभावनिवेदनम्, प्रशस्तभावप्रज्ञप्तिरियमेव—अर्थतोऽर्हता गणधरान् प्रति, सूत्रतो गणधराणां स्वशिष्यान् प्रति । जं० १ वक्ष० । नि० चू० । चं० प्र० । भगवतीसूत्रे, प्रति० । प्रज्ञप्तिलक्षणासु महाविद्यासु, आ० चू० १ अ० । कल्प० । आ० म० । संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापने, दश० ३ अ० । ध० । स्वसमय परसमयप्ररूपणायाम्, व्य० ३ उ० ।

पण्णत्तिकुसल-प्रज्ञप्तिकुशल-पुं० । कथाकुशले, व्य० ।

संप्रति प्रज्ञप्तिकुशलमाह-

लोगे, वेए, ससमए, तिवग्ग-सुत्त-ऽत्थगहियपेयालो ।
धम्म ऽत्थ काममीसग-कहासु कहणावित्थरसमत्थो ।१४३।
जीवाजीवं बंधे, मोक्खं गतिरागतं सुहं दुक्खं ।
पन्नत्तीकुसलविऊ-परवादिकुदंसणे महणो ॥ १४४ ॥

लोके, वेदे समये वाऽऽत्मीये प्रवचने यानि शास्त्राणि तेषु सूत्रार्थयोर्गृहीतं पेयालं परिमाणं येन स सूत्रार्थ-

गृहीतपेयालः । सम्यग्विनिश्चितसूत्रार्थ इति तात्पर्यार्थः । तथा धर्मकथासु, अर्थकथासु च द्विविसंयोगतो धर्मा-ऽर्थ-कामकथासु कथयितव्यासु ('कहणवित्थर' त्ति) विस्तरेण कथने समर्थः-धर्मा-ऽर्थ-काममिश्रकथासु विस्तरकथाकथनसमर्थः । तथा जीवस्, अजीवस्, धर्मस्, मोक्खस्, गतिस्, आगतिस्, सुखस्, दुःखमधिगत्य प्रज्ञप्तौ कुशलः । कुतः ? इत्याह-यतो विद् विद्वान्, एतदुक्तं भवति-यतो लोक-वेद-समया-ऽऽचाराणां सम्यग्वेत्ता ततो जीवानां नारकादीनाम्, अजीवानां धर्मास्तिकायादीनाम्, बन्धस्य मिथ्यात्वा-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगप्रत्ययकस्य, मोक्षस्य सकलकर्मांशाऽपगमरूपस्य, ज्ञान-दर्शन-चारित्रहेतुकस्य, तथा येन येन कर्मणा कृतेन नरक-तिर्यग्-देवभवेषूत्पत्तिर्भवति तद्रूपाया गतेः, येन च कर्मणा कृतेन मनुष्यभवे समुत्पत्तिस्तद्रूपाया आगतेः, तथा सुखं यथा प्राणिनामुपजायते तथाभूतस्य, यथा दुःखं तथा दुःखस्य प्ररूपणायां कुशलः । तथा परवादिनो यत् कुदर्शनं तस्मिन्मथनः, किमुक्तं भवति-परवादिनः प्रथमं भाषन्ते यथा युष्माभिः कुदर्शनमग्राहि, ततस्ते न सहमाना विप्रतिपद्यन्ते, ताँश्च विप्रतिपद्यमानान् युक्तिभिस्तथा मथ्नाति यथा स्वदर्शनपरित्यागं कुर्वन्तीति । एष इत्थंभूतः प्रज्ञप्तिकुशलः ।

साम्प्रतमत्रैव दृष्टान्तमाह-

पसत्तीकुसलो खलु, जह खुड्डगणी मुरुंडरायस्स ।
पुट्ठो कह न वि देवा,गयं पि कालं न याणंति ॥१४५॥
तो उट्ठितो गणिवरो, राया वि य उट्ठितो ससंभंतो ।
अह खीरासवलद्धी, कहेति सो खुड्डगगणी तो ॥१४६॥
जाहे य पहरमेत्तं, कहियं न य मुणइ कालमह राया ।
तो बेति खुड्डगगणी, रायाणं एव जाणाहि ॥१४७॥
जह उट्ठिएण वि तुमे,न विन्नाओ एत्तिओ इमो कालो ।
इय गीयवादियविमो-हिया उ देवा न याणंति ॥१४८॥
अब्भुवगयं च रराणा, कहणीए एरिसो भवे कुसलो ।
ससमयपरूवणाए, महेति सो कुसमए चेव ॥१४९॥

प्रज्ञप्तिकुशलो यथा क्षुल्लकाचार्यो मुरुण्डराजस्य, तथा चान्यदा तेन राज्ञा पृष्टः क्षुल्लकगणी-कथं नु देवा गतमपि कालं न जानन्ति ? । ततः एवं पृष्टः सन् गणिवरः सहसा आसनादुत्थितः । तमुत्थितं दृष्ट्वा राजाऽपि ससंभ्रान्तः समुत्थितः । ततोऽथाऽनन्तरं स क्षुल्लकगणी क्षीरमिवाऽऽश्रवति कथयन् यस्या लब्धेः सा क्षीराश्रवा,सा लब्धिर्यस्याऽसौ क्षीराश्रवलब्धिः । स इत्थंभूतः स्वसमयानुगतं किमपि कथयति ('जाहे य' इत्यादि) यदा च प्रहरमात्रं कालं यावत् कथितम्, अथ च तावन्तं कालं राजा गतमपि न जानाति । ततो राजानं ब्रूते क्षुल्लकगणी-एवमनेन प्रकारेण वक्ष्यमाणमपि जानीहि । तदेवाऽऽह-('जह उट्ठिएण वि' इत्यादि) यथा उत्थितेनाऽपि त्वया न विज्ञातोऽयमेतावान् कालो गतः कथारसप्रवृत्तेनेति । एवमनेन प्रकारेण गीत-वादित्रविमोहिता देवाः प्रभूतमपि गतं कालं न जानन्ति । एतच्च राज्ञा तथैवाऽभ्युपगतम् । जाता महती प्रतिपत्तिः ईदृशः खलु कथायाः कथनीयायाः प्रज्ञप्तेः कुशलः, स च तथाभूतः स्वसमयप्ररूपणाद् नियमतः कुसमयान्मथ्नात्येव, उक्तः प्रज्ञप्तिकुशलः । व्य० ३ उ० ।

पसत्तिक्खेवणी-प्रज्ञप्तिक्षेपणी-स्त्री० । कथाभेदे, (व्याख्या 'अक्खेवणी' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे गता) स्था०४ ठा०२ उ० ।

पराणत्तिपक्खेवणी-प्रज्ञप्तिप्रक्षेपणी-स्त्री० । कथाभेदे, (अस्याः वक्तव्यता 'अक्खेवणी' शब्दे प्रथमभागे १५२ पृष्ठे गता)

पसपत्तिया-प्रज्ञपत्तिका-स्त्री० । आर्य्यरोहणनिर्गतस्योद्देहगणस्य शाखायाम्, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

पसप्प-प्रज्ञाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनीये, प्रति० ।

पसरस-पञ्चदशन्-त्रि० । पञ्चाधिकेषु दशसु,सू० प्र० १ पाहु० ।

पसरसी-पञ्चदशी-स्त्री० । पौर्णमास्याम्,चं०प्र०२पाहु० । जं० । ['पुसमासी' शब्दे वक्तव्यता] ।

पसरह-पञ्चदशन्-त्रि० । पञ्चाधिकेषु दशसु, पञ्चदशशब्दे "पञ्चाशत्-पञ्चदश-दत्ते" ॥ ८ । २ । ४३ ॥ इत्यनेन ञ्च इत्यस्य णत्वे "दश-पाषाणे हः" ॥ ८ । १ । २६२ ॥ इत्यनेन श इत्यस्य हत्वे "संख्या गद्गदे रः" ॥ ८ । १ । २१९ ॥ इत्यनेन द इत्यस्य रत्वे च 'पराणरह' रूपनिष्पत्तिः ॥ प्रा० २ पाद ।

पराणवं-प्रज्ञावत्-त्रि० । प्राज्ञे, बुद्धिमति, दश० ७ अ० । "दुम्मए दुहए वा वि नेवं भासिज्ज पन्नवं" प्रज्ञा हेयो-पादेयविवेचनात्मिका मतिस्तद्वान् । विवेचके, उत्त० २ अ० ।

पराणवग-प्रज्ञापक-पुं० । यथावस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः । गुरौ, नं० । विशे० । आचार्ये, सूत्र० २ श्रु०४ अ० । भेदभणनतो बोधके, भ० ६ श० ३१ उ० । प्रज्ञापयति सूत्रार्थं प्ररूपयति शिष्येभ्य इति प्रज्ञापकः । व्याख्यातरि, आ० म० १ अ० । विशे० । अनु० ।

पराणवगदिसा-प्रज्ञापकदिशा-स्त्री० । प्रज्ञापको व्याख्याता, तदाश्रयेण या दिक् प्रज्ञापकदिक्, "पन्नवतो जयभिमुहो सा पुव्वा सेसिया पयाहिणतो । तस्सेवऽणुगंतव्वा अग्गेईया दिसा नियमा" इत्युक्तलक्षणे दिग्भेदे, प्रज्ञापको यस्या दिशोऽभिमुखस्तिष्ठति सा पूर्वा, शेषास्त्वाग्नेय्यादिका दिशो नियमात् तस्यैव प्रज्ञापकस्य प्रदक्षिणातः प्रदक्षिणेनानुगन्तव्याः इति गाथार्थः । आ० म० १ अ० । विशे० । आचा० (प्रज्ञापकदिग्भेदाः, तन्नामानि, तत्संख्या,तत्स्थितिश्च 'दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादिता । ज्ञानसंपत्तीच्छायां तस्याः प्रधानत्वात्)

पसवगपरूवग-प्रज्ञापकप्ररूपक-त्रि० । प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापकः प्रज्ञापकश्चासौ प्ररूपकश्चेति विग्रहः । अवबोधकप्ररूपके, दश० ३ अ० ।

पसवणा-प्रज्ञापना-स्त्री० । सामान्यविशेषरूपतः प्रज्ञापने स्था० १० ठा० । ज्ञा० । यथावस्थितार्थप्ररूपणायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अनु० । भेदेन कथने, प्रज्ञा० ।

तिविहा पराणवणा पसत्ता, तं जहा-णाणपन्नवणा, दंसणपन्नवणा, चरित्तपन्नवणा '

( तिविहा इत्यादि ) परं प्रज्ञापनाभेदाद्यभिधानम् । तत्र ज्ञानप्रज्ञापना आभिनिबोधिकादिपञ्चधा ज्ञानम् । एवं दर्शनं क्षायिकादि त्रिधा इत्यादि । स्था०३ ठा०४ उ० । सूत्र० । "पन्नत्ति वा, पन्नवण त्ति वा, विन्नत्ति वा परूवण त्ति वा एगट्ठा ।" नि०चू० १ उ० । म० । नि० । नं० । फलकथने, कल्प०३ अधि०६ क्षण । निदर्शनायाम्, सम्म०१काण्ड । प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थितीर्थकरासाध्येन यथावस्थितस्वरूपनिरूपणलक्षणेन ज्ञाप्यन्ते शिष्यबुद्धावाऽऽरोप्यन्ते जीवा-ऽजीवादय पदार्था अनयेति प्रज्ञापना हिता-ऽहितप्रवृत्ति निवृत्त्युपदेशयथावस्थितजीवादिपदार्थज्ञापनात्प्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । अनु० ।

"जयति नमदमरमुकुट-प्रतिबिम्बच्छद्मविहितबहुरूपः ।
उद्धर्तुमिव समस्तं, विश्वं भवपङ्कतो वीरः ॥ १ ॥
जिनवचनामृतजलधिं, वन्दे यद्विन्दुमात्रमादाय ।
अभवन्नूनं सत्त्वा, जन्मजराव्याधिपरिहीणा ॥ २ ॥
प्रणमत गुरुपदपङ्कज—मधरीकृतकामधेनुकल्पलतम् ।
यदुपास्तिवशान्निरुपम-मश्नुवते ब्रह्म तनुभाजः ॥ ३ ॥
जडमतिरपि गुरुचरणो-पास्तिसमुद्भूतविपुलमतिविभवः।
समयानुसारतोऽहं, विदधे प्रज्ञापनाविवृतिम् ॥ ४ ॥

अथ प्रज्ञापनेति कः शब्दार्थः ? उच्यते-प्रकर्षेण निःशेषकुतीर्थितीर्थकराऽसाध्येन यथावस्थितस्वरूपनिरूपणलक्षणेन ज्ञाप्यन्ते शिष्यबुद्धावाऽऽरोप्यन्ते जीवा-ऽजीवादयः पदार्था अनयेति प्रज्ञापना । इयं च समवायाख्यस्य चतुर्थाङ्गस्योपाङ्गं तदुक्तार्थप्रतिपादनार्थम् । उक्तप्रतिपादनमनर्थकमिति चेत्, न, उक्तानामपि विस्तरेणाऽभिधानस्य मन्दमतिविनेयजनानुग्रहार्थतया सार्थकत्वात् । इयं चोपाङ्गमपि प्रायः सकलजीवा-ऽजीवादिपदार्थशासनात् शास्त्रम्, शास्त्रस्य चादौ प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमवश्यं प्रयोजनादित्रितयम्, मङ्गलं च वक्तव्यम् । उक्तं च—"प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं, फलादित्रितयं स्फुटम् । मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ १ ॥" इति । प्रज्ञा० ।

ववगयजरमरणभए, सिद्धे अभिवंदिऊण तिविहेणं ।
वंदामि जिणवरिंदं, तेलोक्कगुरुं महावीरं ॥ १ ॥
सुयरयणनिहाणं जिण-वरेण भवियजणणिव्वुइकरेणं ।
उवदंसिया भगवया, पन्नवणा सव्वभावाणं ॥ २ ॥
वायगवरवंसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।
दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसयसमिद्धबुद्धीण ॥ ३ ॥
सुयसागरा विणेऊ-ण जेण सुयरयणमुत्तमं दिन्नं ।
सीसगणस्स भगवओ, तस्स णमो अज्जसामस्स ॥४॥
अज्झयणमिणं चित्तं, सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं ।
जह वण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि ॥५॥

सिद्धाश्च नामादिभेदतोऽनेकधा, ततो यथोक्तसिद्धप्रतिपत्त्यर्थं विशेषणमाह व्यपगतजरामरणभयान् । जरा वयोहानिलक्षणा, मरणं प्राणत्यागरूपम्, भयमिहलोकादिभेदात्सप्तप्रकारम्, उक्तं च-" इह-परलोगा-ऽऽदाण-मकम्हा आजीव मरण मसिलोए " इति । विशेषतोऽपुनर्भावरूपतया अपगतानि अपगतानि जरामरणभयानि येभ्यस्ते तथा तान्, त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन, अनेन योगत्रयव्यापारविकलं द्रव्यवन्दनमित्याह । अभिवन्द्य अभिमुखं वन्दित्वा प्रणम्येत्यर्थः । अनेन समानकर्तृकतया पूर्वकाले च क्त्वाप्रत्ययविधानाद् नित्यानित्यैकान्तपक्षव्यवच्छेदमाह, एकान्तनित्यानित्यपक्षे क्त्वाप्रत्ययस्याऽसम्भवात् । तथाहि अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यम्, तस्य कथं भिन्नकालक्रियाद्वयकर्तृत्वोपपत्ति ? आकालमेकस्वभावत्वेनैकस्या एव कस्याश्चित् क्रियायाः सदा भावप्रसङ्गात् । अनित्यमपि प्रकृत्यैकक्षणस्थितिधर्मकम्, ततस्तस्याऽपि भिन्नकालक्रियाद्वयकर्तृत्वाऽयोगः, अवस्थानाभावादित्यलं विस्तरेण, अन्यत्र सुचर्चितत्वात् । क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह ( वंदामि जिणवरिंदं इत्यादि ) 'शूर' 'वीर' विक्रान्तौ । वीरयति स्म कषायादिशत्रून् प्रति विक्रामति स्मेति वीरः । महांश्चासौ वीरश्च महावीरः । इदं च महावीर इति नाम न यादृच्छिकम्, किंतु यथावस्थितमनन्यसाधारणं परीषहोपसर्गादिविषयं वीरत्वमपेक्ष्य सुरासुरकृतम्, उक्तं च-" अयले भयभेरवाणं, खंतिखमे परीसहोवसग्गाणं देवेहिं कए महावीरे" इति । अनेनाऽपायापगमातिशयो ध्वन्यते । तं कथंभूतम् ? इत्याह जिनवरेन्द्रम्-जयन्ति रागादिशत्रूनभिभवन्ति जिनास्ते च चतुर्विधास्तद्यथा श्रुतजिनाः, अवधिजिनाः, मनःपर्यायजिनाः, केवलजिनाः । तत्र केवलिजिनत्वप्रतिपत्तये वरग्रहणम् । जिनानां वरा उत्तमा भूत भवद्भाविभावस्वभावावभासिकेवलज्ञानकलितत्वात् जिनवराः । ते चाऽतीर्थकरा अपि सन्तः सामान्यकेवलिनो भवन्ति, ततस्तीर्थकृत्त्वप्रतिपत्त्यर्थमिन्द्रग्रहणम् । जिनवराणामिन्द्रो जिनवरेन्द्रः प्रकृष्टपुण्यस्कन्धरूपतीर्थकरनामकर्मोदयात्तीर्थकर इत्यर्थः । अनेन ज्ञानातिशयम्, पूजातिशयं चाह । ज्ञानातिशयमन्तरेण जिनेषु मध्ये उत्तमत्वस्य, पूजातिशयमन्तरेण जिनवराणामपि मध्ये इन्द्रत्वस्याऽयोगात् । तं पुनः किम्भूतम् ? इत्याह-त्रैलोक्यगुरुम्-गृणाति यथावस्थितं प्रवचनार्थमिति गुरुः, त्रैलोक्यस्य गुरुस्त्रैलोक्यगुरुः, तथा च भगवान् अधोलोकनिवासिभवनपतिदेवेभ्यः, तिर्यग्लोकनिवासिव्यन्तर-नर-पशु-विद्याधर-ज्योतिष्केभ्यः, ऊर्ध्वलोकनिवासिवैमानिकदेवेभ्यश्च धर्मं दिदेश, तम्, अनेन वागतिशयमाह । एते चाऽपायापगमातिशयादयश्चत्वारोऽप्यतिशया देहसौगन्ध्यादीनामतिशयानामुपलक्षणम् तानन्तरेणैतेषामसम्भवात् । ततश्चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतं भगवन्तं महावीरं वन्दे इत्युक्तं द्रष्टव्यम् । आह-ननु ऋषभादीन् व्युदस्य किमर्थं भगवतो महावीरस्य वन्दनम् ? । उच्यते वर्त्तमानतीर्थाधिपतित्वेनाऽऽसन्नोपकारित्वात् । तदेव आसन्नोपकारित्वं दर्शयति- [सुयरयणं इत्यादि] अत्र प्रज्ञापनेति विशेष्यम् । शेषं सामानाधिकरण्येन, वैयधिकरण्येन च विशेषणम् । [जिणवरेणं ति] जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेषामपि वर उत्तमस्तीर्थकृत्त्वात् जिनवरस्तेन सामर्थ्याद् महावीरेण अन्यस्य वर्त्तमानतीर्थाधिपतित्वाभावात् । इह छद्मस्थवीतमोहजिनापेक्षया सामान्यकेवलिनोऽपि जिनवरा उच्यन्ते, ततस्तत्कल्पं मा ज्ञासीद्विनेयजन इति तीर्थकृत्त्वप्रतिपत्तये विशेषणान्तरमाह-भगवता भगः समग्रैश्वर्यादिरूपः । उक्तं च-'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याऽथप्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना" ॥१॥ भगोऽस्याऽस्तीति भगवान्, अतिशयेन

वतुप्रत्ययः। अतिशायी च भगो वर्द्धमानस्वामिनः शेषप्राणिगणापेक्षया त्रैलोक्याधिपतित्वात्। तेन भगवता परमार्हन्त्यमाहात्म्योपेतेनेत्यर्थः। पुनः कथंभूतेन ? इत्याह भव्यजननिर्वृतिकरेण भव्यस्तथाविधाऽनादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्यः,स चाऽसौ जनश्च भव्यजनः,निर्वृतिर्निर्वाणं सकलकर्ममलापगमनेन स्वस्वरूपलाभतः परमस्वास्थ्यम्, तद्धेतुः सम्यग्दर्शनाद्यपि "कारणे कार्योपचारात्" निर्वृतिस्तत्करणशीलो निर्वृतिकरः, भव्यजनस्य निर्वृतिकरो भव्यजननिर्वृतिकरस्तेन। आह-भव्यग्रहणमभव्यव्यवच्छेदार्थम्.अन्यथा तस्य नैरर्थक्यप्रसङ्गात्। तत इदमापतितं भव्यानामेव सम्यग्दर्शनादिकं करोति, नाऽभव्यानाम्। न चैतदुपपन्नं भगवतो वीतरागत्वेन पक्षपातासम्भवात्। नैतत्सारं सम्यग्वस्तुतत्त्वाऽपरिज्ञानात्। भगवान् हि सवितेव प्रकाशमविशेषेण प्रवचनार्थमातनोति,केवलमभव्यानां तथास्वाभाव्यादेव तामसखगकुलानामिव सूर्यप्रकाशो न प्रवचनार्थ उपदिश्यमानोऽपि उपकाराय प्रभवति। तथा चाह वादिमुख्यः-"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवाऽपि खिलान्यभूवन्। तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः" ॥१॥ ततो भव्यानामेव भगवद्वचनादुपकारो जायते इति भव्यजननिर्वृतिकरेणेत्युक्तम्। किम् ? इत्याह-( 'उवदंसिय' त्ति ) उप सामीप्येन यथा श्रोतॄणां झटिति यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधो भवति तथा स्फुटवचनैरित्यर्थः। दर्शिता श्रवणगोचरं नीता उपदिष्टा इत्यर्थः। काऽसौ ? प्रज्ञापना, प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते जीवादयो भावा अनया शब्दसंहत्या इति प्रज्ञापना, किंविशिष्टा ? इत्यत आह-श्रुतरत्ननिधानम्,इह रत्नानि द्विविधानि भवन्ति, तद्यथा-द्रव्यरत्नानि, भावरत्नानि। तत्र द्रव्यरत्नानि वैडूर्य-मरकतेन्द्रनीलादीनि, भावरत्नानि श्रुत-व्रतादीनि। तत्र द्रव्यरत्नानि न तात्त्विकानीति भावरत्नैरिहाऽधिकारः, तत एवं समासः-श्रुतान्येव रत्नानि श्रुतरत्नानि, न तु श्रुतानि च रत्नानि च, नाऽपि श्रुतानि रत्नानीवेति, कुतः ? इति चेत् उच्यते-प्रथमपक्षे श्रुतव्यतिरिक्तैर्द्रव्यरत्नैरिहाधिकाराभावात्, द्वितीयपक्षे तु श्रुतानामेव तात्त्विकरत्नत्वात् शेषरत्नैरुपमाया अयोगात्। निधानमिव निधानं श्रुतरत्नानां निधानं श्रुतरत्ननिधानम्। केषां प्रज्ञापना ? इत्यत आह-सर्वभावानाम्, सर्वे च ते भावाश्च सर्वभावा जीवाऽजीवा-ऽऽश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षाः। तथाहि-अस्यां प्रज्ञापनायां षट्त्रिंशत्पदानि; तत्र प्रज्ञापना-बहुवक्तव्य-विशेष-चरम-परिणाम-संज्ञेषु पञ्चसु पदेषु जीवा-ऽजीवानां प्रज्ञापना। प्रयोगपदे क्रियापदे चाऽऽश्रवस्य "काय वाङ्-मनःकर्मयोग आश्रवः" इति वचनात्। कर्मप्रकृतिपदे बन्धस्य प्ररूपणा। समुद्घातपदे केवलिसमुद्घातप्ररूपणायां संवर-निर्जरा-मोक्षाणां त्रयाणाम्। शेषेषु तु स्थानादिषु पदेषु क्वचित् कस्यचिदिति। अथवा-सर्वभावानामिति द्रव्य-क्षेत्र काल-भावानाम्। एतद्व्यतिरेकेणाऽन्यस्य प्रज्ञापनीयस्याऽभावात्। तत्र प्रज्ञापनापदे जीवा ऽजीवद्रव्याणां प्रज्ञापना। स्थानपदे जीवाऽऽधारस्य क्षेत्रस्य। स्थितिपदे नारकादिस्थितिनिरूपणात् कालस्य। शेषपदेषु संख्या-ज्ञानादिपर्याय-व्युत्क्रान्त्यु-च्छ्वासादीनां भावानामिति। अस्याश्च गाथायाः "अज्झयणमिदं चित्तं" इत्यनया सहाभिसम्बन्धः। केवलं येनेयं सत्त्वानुग्रहाय श्रुतसागरादुद्धृता असावप्यासन्नतरोपकारित्वादस्मद्विधानां नमस्कारार्ह इति तन्नमस्कारविषयमिदमपान्तराल एवान्यकर्तृकं गाथाद्वयम्-( वायगवरवंसाओ इत्यादि ) वाचकाः पूर्वविदः, वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधानाः, तेषां वंशः प्रवाहो वाचकवरवंशस्तस्मिन्, सूत्रे च पञ्चमीनिर्देशः प्राकृतत्वात्। प्राकृते हि सर्वासु विभक्तिष्वपि सर्वा विभक्तयो यथायोगं प्रवर्तन्ते। तथा चाह-पाणिनिः स्वप्राकृतव्याकरणे-" व्यत्ययोऽप्यासाम् " इति। त्रयोविंशतितमेन तथा च सुधर्मस्वामिन आरभ्य भगवानार्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव, किम्भूतेन ? धीरपुरुषेण, धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, धीरश्चासौ पुरुषश्च धीरपुरुषस्तेन, तथा दुर्द्धराणि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि पञ्च महाव्रतानि धारयतीति दुर्द्धरधरस्तेन, तथा मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिस्तेन, विशिष्टसंवित्समन्वितेनेत्यर्थः। पुनः कथंभूतेन ? इत्याह-पूर्वश्रुतसमृद्धबुद्धिना-पूर्वाणि च तत् श्रुतं च पूर्वश्रुतम्, तेन समृद्धा वृद्धिमुपगता बुद्धिर्यस्य स पूर्वश्रुतसमृद्धबुद्धिस्तेन। आह-यो वाचकवरवंशान्तर्गतः स पूर्वश्रुतसमृद्धबुद्धिरेव भवति,ततः किमनेन विशेषणेन ? सत्यमेतत्। किन्तु पूर्वविदोऽपि षट्स्थानकपतिता भवन्ति, तथा च चतुर्दशपूर्वविदामपि मतिमधिकृत्य षट्स्थानकं वक्ष्यति। तत आधिक्यप्रदर्शनार्थमिदं विशेषणमित्यदोषः। समिद्धबुद्धीण इत्यत्र 'णा' शब्दस्य ह्रस्वत्वम्, 'द्धि' शब्दस्य च दीर्घता आर्षत्वात्। तथा श्रुतमनर्वाक्पारत्वात् सुभाषितरत्नयुक्तत्वाच्च सागर इव श्रुतसागरः 'व्याघ्रादिभिर्गौणैस्तद्गुणानुक्तौ" इति समासः। तस्मात् 'चिणेऊण' त्ति। देशीवचनमेतत्। साम्प्रतकालीनपुरुषयोग्यं चीनयित्वा इत्यर्थः। येनेदं प्रज्ञापनारूपं श्रुतरत्नमुत्तमं प्रधानम्, प्राधान्यं च न शेषश्रुतरत्नापेक्षया किंतु स्वरूपतः। दत्तं शिष्यगणाय तस्मै भगवते ज्ञानैश्वर्यधर्मादिमते, आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः, स चासौ श्यामश्च आर्यश्यामस्तस्मै, सूत्रे च षष्ठी चतुर्थ्यर्थे द्रष्टव्या-' छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी" इति वचनात्। अधुनोक्तसंबन्धैवेयं गाथा। (अज्झयणं इत्यादि ) अध्ययनमिदं प्रज्ञापनाख्यम्, ननु यदीयमध्ययनं किमित्यस्याऽऽदावनुयोगादिद्वारोपन्यासो न क्रियते ?। उच्यते-नायं नियमो यदवश्यमध्ययनादावुपक्रमाद्युपन्यासः क्रियत इति। अनियमोऽपि कुतोऽवसीयते? इति चेत् उच्यते-नन्द्यध्ययनादिष्वदर्शनात्। तथा चित्रार्थाधिकारयुक्तत्वाच्चित्रम्, श्रुतमेव रत्नं श्रुतरत्नम्, दृष्टिवादस्य द्वादशस्याङ्गस्य निःष्यन्द इव दृष्टिवादनिःष्यन्दः, सूत्रे नपुंसकतानिर्देशः प्राकृतत्वात्। यथा वर्णितं भगवता श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना इन्द्रभूतिप्रभृतीनामध्ययनार्थस्य वर्णितत्वात्; अध्ययनं वर्णितमित्युक्तम्, अहमपि तथा वर्णयिष्यामि। आह कथमस्य छद्मस्थस्य तथा वर्णयितुं शक्ति ? नैष दोषः, सामान्येनाभिधेयपदार्थवर्णनमात्रमधिकृत्यैवमभिधानात्। तथा च अहमपि तथा वर्णयिष्यामीति। किमुक्तं भवति-तदनुसारेण वर्णयिष्यामि. न स्वमनीषिकयेति।

षट्त्रिंशत् पदानि-

पन्नवणा १ ठाणाइं २,
बहुवत्तव्वं ३ ठिई ४ विसेसा य ५ ।

वक्कंती ६ उस्सासो ७-
सण्णा ८ जोणी य ९ चरिमाइं १० ॥ १ ॥
भासा ११ सरीर १२ परिणाम १३,
कसाया १४ इंदिय १५ पयोगे य १६ ।
लेसा १७ कायट्ठिइया १८,
सम्मत्ते १९ अंतकिरिया य २० ॥ २ ॥
ओगाहणसंठाणा २१,
किरिया २२ कम्मे इयावरे २३ ।
(कम्मस्स) बन्धए २४ (कम्मस्स) वेय (ए) २५ वेयस्स,
बंधए २६ वेयवेयए २७ ॥ ३ ॥
आहारे २८ उवओगे २९,
पासणया ३० सण्णि ३१ संजमे ३२ चेव ।
ओही ३३ पवियारण ३४ वे-
यणा ३५ य तत्तो समुग्घाए ३६ ॥ ४ ॥

अस्यां च प्रज्ञापनायां षट्त्रिंशत्पदानि भवन्ति; पदम्, प्रकरणम्, अर्थाधिकार इति पर्यायाः । तानि च पदान्यमूनि- ( 'पन्नवणा' इत्यादि ) गाथाचतुष्टयम् । तत्र प्रथमं पदं प्रज्ञापनाविषयं प्रश्नमधिकृत्य प्रवृत्तत्वात् प्रज्ञापना । १ । एवं द्वितीयं स्थानानि । २ । तृतीयं बहुवक्तव्यम् । ३ । चतुर्थं स्थितिः । ४ । पञ्चमं विशेषः । ५ । षष्ठं व्युत्क्रान्तिः, व्युत्क्रान्तिलक्षणाधिकारयुक्तत्वात् । ६ । सप्तममुच्छ्वासः । ७ । अष्टमं सञ्ज्ञाः । ८ । नवमं योनिः । ९ । दशमं चरमाणि, चरमाणीति प्रश्नमुद्दिश्य प्रवृत्तत्वात् । १० । एकादशं भाषा ।११। द्वादशं शरीरम् । १२ । त्रयोदशं परिणामः । १३ । चतुर्दशं कषायाः । १४ । पञ्चदशमिन्द्रियम् । १५ । षोडशं प्रयोगः ।१६। सप्तदशं लेश्याः । १७ । अष्टादशं कायस्थितिः । १८ । एकोनविंशतितमं सम्यक्त्वम् ।१९। विंशतितममन्तक्रिया ।२०। एकविंशतितममवगाहनास्थानम् ।२१। द्वाविंशतितमं क्रिया ।२२। त्रयोविंशतितमं कर्म । २३ । चतुर्विंशतितमं कर्मणो बन्धकः, तस्मिन् हि यथा जीवः कर्मणो बन्धको भवति तथा प्ररूप्यत इति तत् तथानाम । २४ । एवं पञ्चविंशतितमं कर्मवेदकः । २५ । षड्विंशतितमं वेदस्य बन्धक इति वेदयतेऽनुभवतीति वेदस्तस्य बन्ध एव बन्धकः, किमुक्तं भवति- कति प्रकृतीर्वेदयमानस्य कतिप्रकृतीनां बन्धो भवति ? इति तत्र निरूप्यते ततस्तद्वेदस्य बन्ध इति नाम । २६ । एवं कां प्रकृतिं वेदयमानः कति प्रकृतीर्वेदयते इत्यर्थप्रतिपादकं वेदवेदको नाम सप्तविंशतितमम् । २७ । अष्टाविंशतितममाहारप्रतिपादकत्वादाहारः । २८ । एवमेकोनत्रिंशत्तममुपयोगः । २९ । त्रिंशत्तमं 'पासणय' त्ति दर्शनता । ३० । एकत्रिंशत्तमं सञ्ज्ञा । ३१ । द्वात्रिंशत्तमं संयमः । ३२ । त्रयस्त्रिंशत्तममवधिः । ३३ । चतुस्त्रिंशत्तमं प्रविचारणा । ३४ । पञ्चत्रिंशत्तमं वेदना । ३५ । षट्त्रिंशत्तमं समुद्घातः । ३६ । तदेवमुपन्यस्तानि पदानि ॥

साम्प्रतं यथाक्रमं पदगतानि सूत्राणि वक्तव्यानि, तत्र प्रथमपदगतमिदमादिमं सूत्रम्-

से किं तं पण्णवणा ? पण्णवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- जीवपण्णवणा य, अजीवपण्णवणा य ।

[ 'से किं तं पण्णवणा ?' इति ] अथाऽस्य सूत्रस्य कः प्रस्तावः ? उच्यते, प्रश्नसूत्रमिदम् । एतच्चादावुपन्यस्तमिदं ज्ञापयति- पृच्छतो मध्यस्थबुद्धिमतोऽर्थिनो भगवदर्हदुपदिष्टतत्त्वप्ररूपणा कार्या, न शेषस्य । तथा चोक्तम्- "मध्यस्थो बुद्धिमानर्थी, श्रोता पात्रमिति स्मृतः" । तत्र-से शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तत्र-शब्दार्थे । अथवा अथ-शब्दार्थे, स च वाक्योपन्यासार्थः । किं इति परप्रश्ने, (तं ति) तावदिति द्रष्टव्यम्, तच्च क्रमोद्द्योतने । तत एव समुदायार्थः- तिष्ठन्तु स्थानादीनि पदानि प्रष्टव्यानि वाचः क्रमवर्तित्वात्, प्रज्ञापनाऽनन्तरं च तेषामुपन्यस्तत्वात् । तत्र तावदेतावत् पृच्छामि- किं प्रज्ञापना ? इति । अथवा प्राकृतशैल्या अभिधेयवल्लिङ्गवचनानि योजनीयानि इति न्यायादेवं द्रष्टव्यम्-तत्र का तावत्प्रज्ञापना ? इति । एवं सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरुः शिष्यवचनानुरोधेनाऽऽदरार्थं किञ्चिच्छिष्योक्तं प्रत्युच्चार्याऽऽह- ( पन्नवणा दुविहा पन्नत्ता इति ) अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतदाचष्टे-न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्न-तीर्थकरनिर्वचनरूपम्, किंतु किञ्चिदन्यथाऽपि, बाहुल्येन तु तथारूपम् । यत उक्तम् "अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं" इत्यादि । तत्र प्रज्ञापना इति पूर्ववत् । द्विविधा द्विप्रकारा, प्रज्ञप्ता प्ररूपिता । यदा तीर्थकरा एव निर्वक्तारस्तदाऽयमर्थोऽवसेयो अन्यैरपि तीर्थकरैः" । यदा पुनरन्यः कश्चिदाचार्यस्तन्मतानुसारी तदा तीर्थकर-गणधरैरिति । द्वैविध्यमेवोपदर्शयति- (तं जहा- जीवपन्नवणा य, अजीवपन्नवणा य) तद्यथा इति वक्ष्यमाणभेदकथनप्रकाशनार्थः । जीवन्ति प्राणान् धारयन्तीति जीवाः । प्राणाश्च द्विधा-द्रव्यप्राणाः, भावप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियादयः, भावप्राणा ज्ञानादीनि । द्रव्यप्राणैरपि प्राणिनः संसारसमापन्ना नारकादयः । केवलभावप्राणैः प्राणिनो व्यपगतसमस्तकर्मसङ्गाः सिद्धाः । जीवानां प्रज्ञापना जीवप्रज्ञापना । न जीवा अजीवा जीवविपरीतस्वरूपाः, ते च धर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-पुद्गलास्तिकाया-ऽद्धासमयरूपाः, तेषां प्रज्ञापना अजीवप्रज्ञापना । चकारौ द्वयोरपि प्राधान्यख्यापनार्थौ । न खल्विहाऽन्यतरस्या प्रज्ञापनाया गुणभावः, एवं सर्वत्राप्यक्षरगमनिका कार्या । ( जीवाजीवप्रज्ञापनयोर्भेदा जीवाजीवभेदानां प्ररूपणया गतार्था इति ) । प्रज्ञा० १ पद ।

एतट्टीकाकारः-

नमत नयभङ्गकलितं, प्रमाणबहुलं विशुद्धसद्बोधम् ।
जिनवचनमन्यतीर्थिक कुमतनिरासैकदुर्ललितम् ॥१॥
जयति हरिभद्रसूरि-टीकाकृद्विवृतविषमभावार्थः ।
यद्वचनवशादहमपि, जातो लेशेन विवृतिकरः ॥ २ ॥
कृत्वा प्रज्ञापनाटीकां, पुण्यं यदवाप मलयगिरिरनघम् ।
तेन समस्तोऽपि जनो, लभतां जिनवचनसद्बोधम् ॥ ३ ॥

प्रज्ञा० ३६ पद । ( 'सुय' शब्दे निक्षेपः )

पण्णवणाजोग्ग-प्रज्ञापनायोग्य-त्रि० । प्रज्ञापनीये अभिलाप्ये, आ० म० १ अ० ।

पण्णवणिज्ज-प्रज्ञापनीय-त्रि० । प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते इति प्रज्ञापनीयाः । वचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरे, विशे० । अभिलाप्ये, विशे० । सुखावबोध्ये ध० २ अधि० । तदन्यो हि स्वाग्रहादकृत्यविषयान्निवर्त्तयितुं न शक्यते इति आलोचना-

प्रदानयोग्ये, पञ्चा० ११ विव० । कथंचिदनाभोगादन्यथा प्रवृत्तौ,तथाऽपि गीतार्थेन संबोधयितुं शक्ये, पञ्चा० ३ वि० ।

पन्नवणी-प्रज्ञापनी-स्त्री० । प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी । अर्थकथन्यां वक्तव्यायां भाषायाम्, भ० १० श० ३ उ० । विनीतविनेयजनस्योपदेशदाने, ध० ३ अधि० । भ० । प्रज्ञा० । प्रज्ञापनी यथा-हिंसादिप्रवृत्तौ दुःखितादिर्भवति । दश० ७ अ० । शिष्यस्योपदेशे हेतुरूपा भाषा । संथा० ।

पन्नविय-प्रज्ञापित-त्रि० । सामान्य विशेषपर्यायैर्व्यक्तीकरणेन प्रकटीकृते, उत्त० २९ अ० । सामान्यतो विनेयेभ्य कथिते, अनु० । प्रश्न० । ग० । नि० चू० ।

पण्णवेत्ता-प्रज्ञापयितृ-त्रि० । प्रज्ञापके, " इमं सावज्जं ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवइ " स्था० ७ ठा० ।

पण्णवेमाण-प्रज्ञापयत्-त्रि० । बोधयति, औ० ।

पन्नसमत्त-प्रज्ञासमाप्त-त्रि० । प्रज्ञायां समाप्तः प्रज्ञासमाप्तः, पटुप्रज्ञे, सूत्र० श्रु०२ अ० २ उ० ।

पन्नसमण्णिय-प्रज्ञासमन्वित-त्रि० । औत्पत्तिक्यादिबुद्धया समन्विते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पण्णरह पञ्चदश-त्रि० । ' पञ्चदश ' शब्दार्थे ।

पण्णा-प्रज्ञा-स्त्री० । प्रज्ञानं प्रज्ञा, विशिष्टक्षयोपशमजन्यायां प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्माऽऽलोचनरूपायां संविति,इयं चाभिनिबोधिकज्ञानविशेष एव । नं० । आ० म० प्र० । विशे० । स्वयं विमर्शपूर्वके वस्तुपरिच्छेदे, मतिज्ञानविशेषे, स० २२ सम० । उत्त० । स्वबुद्धयोत्प्रेक्षणे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । मतौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सूक्ष्मार्थविषयायां मतौ, भ० ११ श० ३ उ० । स्था० । ज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स ( एण ) त्ति वा, सइ त्ति वा, मति त्ति वा, पन्न त्ति वा एगट्ठा । नि० चू० १ उ० । आ० चू० । सूत्र० । विशिष्टपरिकर्मविषयायां बुद्धौ, चं० प्र० २० पाहु० । सूत्र० । प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, हेयोपादेयविवेचिकायां बुद्धौ, उत्त० ७ अ० । सूत्र० । बुद्धयतिशये आव० ४ अ० । क्रियासहिते ज्ञाने, उत्त० ७ अ० । सम्यक्त्वज्ञातौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । तीक्ष्णबुद्धौ,सूत्र १श्रु०१३अ० ।

से पन्नया अक्खय सागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे ।

असौ भगवान्, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, तया अक्षयो न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिहीयते, प्रतिहन्यते वा, तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च साधपर्यवसाना कालतः, द्रव्य-क्षेत्र-भावैरप्यनन्ता । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । केवलज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रज्ञा बुद्धिरीप्सितार्थसंपादनविषया कुटुम्बकाभिवृद्धिविषया च, तद्योगाद् दशाऽपि प्रज्ञा, प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञा दशदशानां पञ्चम्यां दशायाम्, स्था० १० ठा० । तं० । " पंचमीं उ दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो । इच्छियत्थं विचिंतेति, कुडुंबं वाऽभिकंखति ॥ ५ ॥ " दश० १ अ० । ( अस्या गाथाया अर्थः ' दसा ' शब्दे चतुर्थभागे २४८४ पृष्ठे मूलगाथायां प्रतिपादितः ) प्रकर्षेण ज्ञायते उत्सर्गाऽपवादतत्त्वमनयेति छेदश्रुतगर्भायां रहस्यवचनपद्धतौ, बृ० १ उ० १ प्रक० ।



पन्नाण-प्रज्ञान-न० । प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानम् । जीवाजीवपदार्थपरिच्छेत्तरि ज्ञाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । सदसद्विवेके, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । स० । बोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रज्ञायते येन तत्प्रज्ञानम्, यथावस्थितवस्तुग्राहिणि ज्ञाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । पदार्थाऽऽविर्भावके, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानम् । स्वपरावभासकत्वादागमे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । श्रुतज्ञाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । मत्यादिज्ञाने च, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

पन्नाणवं-प्रज्ञानवत्-त्रि० । प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं स्वपरावभासकत्वादागमः,तद्वन्तः प्रज्ञानवन्तः। आगमस्य वेत्तरि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । सश्रुतिके, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । प्रकृष्टं ज्ञानं जीवाजीवपरिच्छेत्तृ, तद् विद्यते यस्याऽसौ प्रज्ञानवान् । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । ज्ञानिनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

पण्णापरिसह-प्रज्ञापरिषह-पुं० । प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा बुद्धयतिशयः, स एव परीषहः प्रज्ञापरीषहः । प्रव० ८६ द्वार । प्रज्ञया गर्वाऽकरणे, प्रज्ञाया अभावे उद्वेगाऽकरणे, भ० ८ श० ८ उ० । मनोज्ञप्रज्ञाप्राग्भारप्राप्तौ, नो गर्वमुद्वहेत् । प्रज्ञाप्रतिपक्षेणाऽप्यऽबुद्धिकत्वेन परीषहो भवति-नाहं किञ्चिज्जाने, मूर्खोऽहं सर्वैः परिभूत इत्येवं परितापमुपागतस्य कर्मविपाकोऽयमिति मत्वा तदकरणात् परीषहजयः । प्रव० ८६ द्वार । " प्रज्ञां प्रज्ञावतां पश्यन्, आत्मन्यऽप्रज्ञतां विदन् । न विषीदेन्न वा माद्येत्, प्रज्ञोत्कर्षमुपागतः ॥ २० ॥ " ध० ३ अधि० ।

साम्प्रतमनन्तरोक्तपरीषहान् जयतोऽपि कस्यचिद् ज्ञानावरणापगमात्प्रज्ञाया उत्कर्षे, अपरस्य तु तदुदयादपकर्षे उत्सेक-वैक्लव्यसंभव इति प्रज्ञापरीषहमाह-

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा ।
जेणाऽहं नाऽभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुइ ॥ ४० ॥
अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽणाणफला कडा ।
एवमासासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागयं ॥ ४१ ॥

' से ' शब्दो मागधप्रसिद्धया अथ-शब्दार्थे उपन्यासे, नूनं निश्चितम्, ' मया ' इत्यात्मनिर्देशः । पूर्वं प्राक्, क्रियन्त इति कर्माणि, तानि च मोहनीयादीन्यपि संभवन्त्यत आह—अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि ज्ञानावरणरूपाणीत्यर्थः । कृतानि ज्ञाननिन्दादिभिरुपार्जितानि । यदुक्तम्-" ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दा प्रद्वेष-मत्सरैः । उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते " ॥ १ ॥ ' मया ' इत्यभिधानं च स्वयमकृतस्योपभोगाऽसंभवात् । उक्तं च-" शुभा-ऽशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः । स्वयमेवोपभुज्यन्ते, दुःखानि च सुखानि च ॥ १ ॥ " कुत एतत् ? इत्याह-येन हेतुना अहं नाभिजानामि नाभिमुख्येनाऽवबुध्ये पृष्टः केनचित्स्वयमजानता, जानता वा ( कण्हु त्ति ) सूत्रत्वात्कस्मिंश्चित्सूत्रादौ, वस्तुनि वा प्रगुणेऽपीत्यभिप्रायः, न हि स्वयं स्वच्छस्फटिकवदतिनिर्मलस्य प्रकाशरूपस्याऽऽत्मनोऽप्रकाशकत्वम्, किंतु ज्ञानावृतिवशत एव । उक्तं हि " तत्र ज्ञानावरणीयं, नाम कर्म भवति येनाऽस्य । तत्

पञ्चविधं ज्ञान-मावृतं रविरिव मेघैस्तथा ॥ १ ॥ " अथवा ( से णूणं ति ) 'से' शब्दः प्रतिवचनवाचिनोऽथशब्द-स्यार्थे । स हि केनचित्किंचित्पर्यनुयुक्तस्तथाविधविमर्शाभावेन स्वयमजानन् कुत एतन्ममाऽज्ञानमिति चिन्तयन् गुरुवचनमनुस्मृत्याऽऽत्मानमात्मनैव प्रतिवक्ति । ( से इति ) अथ नूनं निश्चितमेतत् । शेषं प्राग्वत् । आह-यदि पूर्वं कृतानि कर्माणि किं न तदैव वेदितानि ? उच्यते, अथेति वक्तव्यान्तरोपन्यासे, पश्चादबाधोत्तरकालमुदीर्यन्ते विपच्यन्ते कर्माण्यज्ञानफलानि कृतान्यलर्क * मूषिकविषविकारवत्, तथाविधद्रव्यसाचिव्यादेव तेषां विपाकदानात् । ततस्तद्विघातायैव यत्नो विधेयः,न तु विषादः । एवममुना प्रकारेणाऽऽश्वासय स्वस्थीकुरु. कम् ? आत्मानम्, मा वैक्लव्यं कृथा इत्यर्थः । उक्तमेव हेतुं निगमयन्नाह-ज्ञात्वा कर्मविपाकं कर्मणां कुत्सितविपाकम् । इत्थं प्रज्ञाऽपकर्षमाश्रित्य सूत्रद्वयं व्याख्यातम् । एतदेव तदुत्कर्षपक्ष एवं व्याख्यायते प्रज्ञोत्कर्षवतैवं परिभावनीयम्-' से ' इत्युपन्यासे. नूनं मया पूर्वं कर्मा-ण्यनुष्ठानानि ज्ञानप्रशंसादीनि, ज्ञानमिह विमर्शपूर्वको बोधः, तत्फलानि कृतानि. येनाऽहं ना, अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वान्नाऽपि पुरुषोऽभिजानामि, पृष्टः पर्यनुयुक्तः, केनाऽप्यविवक्षितविशेषेण सर्वेणापीत्यर्थः । कस्मिंश्चिद् यत्र तत्राऽपि वस्तुनि । अथ इत्युत्कर्षानन्तरम् (अपत्थ त्ति) अपथ्यानि आयतिकटुकानि कर्माण्यज्ञानफलानि (' उदिज्जंति ' त्ति ) सूत्रत्वात् तिङ्व्यत्ययेन उदेष्यन्ति " वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा " ॥३।३।१३१॥ (पाणि०) इत्यनेन वर्तमानसामीप्ये वा लटि उदीर्यन्ते सन्निहितकाल एवोदेष्यन्तीत्यर्थः । अयं वाऽऽशयः-उत्सेको हि ज्ञानावरणकारणम्, अवश्यवेद्यं च तत्, तदुदये च कुतो ज्ञानम् ? अनियते वाऽस्मिन् क उत्सेकः ? इत्येवमालोचयन्नाश्वासय-प्रज्ञावलेपाद्वलुप्तचेतनमात्मानं स्वस्थीकुरु, ज्ञात्वा कर्मविपाकम् । इह च तन्त्रन्यायेन युगपदर्थद्वयसंभवः । तन्त्रं च दैर्घ्यप्रसारितास्तन्तवः, ततो यथा तदेकम् अनेकस्य तिरश्चीनस्य तन्तोः संग्राहि, तथा यदेकेन अनेकार्थस्याऽभिधानं स तन्त्रन्याय इति सूत्रद्वयार्थः ॥ ४० ४१ ॥ उत्त० पाइटी० २ अ० ।

अस्मिंश्च प्रस्तुतसूत्रसूचितमुदाहरणमाह-

उज्जेणी कालखमणा, सागरखमणा सुवण्णभूमीए ।
इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥ १२० ॥

( ' उज्जेणी ' ) उज्जयनी, कालक्षपणाः, सागरक्षपणाः, सुवर्णभूमौ इन्द्र आयुष्कशेषं पृच्छति सादिव्यकरणं चेति गाथाक्षरार्थः ॥ १२० ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायाद् ज्ञातव्य । उत्त० पाइटी० २ अ० । स च ( ' अज्जरक्खिय ' शब्दे प्रथमभागे २१५ पृष्ठे आर्यरक्षितकथावदत्र भावनीय. ) अत्र प्रज्ञाऽपकर्षोपरि कालिकाचार्य-सागरचन्द्रयोः कथा-उज्जयनीत. कालिकाचार्याः प्रमादिनः स्वशिष्यान् मुक्त्वा सुवर्णकुले स्वशिष्यसागरचन्द्रस्य समीपे प्राप्ताः । सागरचन्द्रस्तु तानिकाकिनः समायातान् नोपलक्षयति । कालिकाचार्या अपि न किञ्चित्स्वस्वरूपोपलक्षणं दर्शयन्ति । अन्यदा सागरचन्द्रेण पर्षदि सिद्धान्तव्याख्यानं प्रारब्धम्, चमत्कृता लोकाः सागरचन्द्रव्याख्यानं प्रशंसन्ति । कालिकाचार्याणां सागरचन्द्रेण पृष्टम्-मद्व्याख्यानं कीदृशम् ? तैरुक्तम्-भव्यम् । तेन च आचार्यैः समं तर्कवादः प्रारब्धः । परं तुल्यतया वक्तुं न शक्नोति । भृशं चमत्कृतः । अथ शिष्यास्ततः शय्यातरेण तिरस्कृताः अपां प्राप्ता स्वगुरुं गवेषयन्तश्चलिताः ' कालिकाचार्याः समायान्ति ' इति प्रसिद्धिं कुर्वाणाः सुवर्णभूमौ प्राप्ताः । सागरचन्द्रः ' कालिकाचार्याः समायान्ति ' इति वृद्धस्य पुरः प्रोक्तवान् । वृद्ध प्राह-मया-पि श्रुतमस्ति । सागरचन्द्रस्तेषां सन्मुखमायातः । तस्य तैः पृष्टम् किमत्र कालिकाचार्याः समायातास्सन्ति न वा ? तेनोक्तम् एकोऽत्र वृद्धस्समायातोऽस्ति, नापरः कोऽपीति । तेऽप्युपाश्रयान्त समायाता उपलक्षिताः कालिकाचार्याः, प्रणतास्तैः, सागरचन्द्रेण पश्चादुपलक्ष्य तेषां मिथ्यादुष्कृतं दत्तम्-हा ! मया श्रुतलवगर्वाऽऽश्मातेन श्रुतनिधयो यूयमाशातिता इति च कथितम् । कालिकाचार्यैरुक्तम्-वत्स ! श्रुतगर्वो न कार्यः, यथा सागरचन्द्रेण श्रुतमदः कृतस्तथाऽपरैर्न श्रुतमदः कार्य । उत्त० २ अ० ।

पण्णापरिसहविजय-प्रज्ञापरिषहविजय-पुं० । अज्ञो-पाक्ष-पूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य तर्का-ऽध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादन्ये सर्वेऽपि भास्करस्य पुरः खद्योता इव निष्प्रभा इति ज्ञानानन्दस्य निरसने, आव० ४ अ० ।

पण्णामय-प्रज्ञामद-पुं० । तीक्ष्णबुद्ध्या अन्ये मदे. " पण्णामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

पण्णायरगुत्त-प्रज्ञाकरगुप्त-पुं० । स्वनामख्याते दार्शनिके, विदुषि, नं० ।

पण्णावंत-प्रज्ञावत्-त्रि० । क्रियासहितज्ञानयुक्ते, उत्त० ७ अ० ।

पण्णास-पञ्चाशत्-स्त्री० । पञ्चाऽऽवृत्तायां दशसंख्यायाम्, रा० ।

पण्णासग-पञ्चाशत्क-त्रि० । पञ्चाशद्वर्षजाते, " पण्णासगस्स चक्खुं हायइ " तं० ।

पण्णासा-पञ्चाशत्-स्त्री० । "पञ्चाश त्पञ्चदश-दत्ते"॥ ८।२। ४३ ॥ इति संयुक्तस्य णे पण्णासा । ' पण्णास ' इत्यर्थे, प्रा० २ पाद ।

पत्ती-पत्नी-स्त्री० । यज्ञसम्बन्धिन्यां भार्यायाम्, सामान्यभार्यायाम्, उत्त० २२ अ० ।

पण्ह-प्रश्न-पुं० । प्रश्न-नह्व । "सूक्ष्म श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्न-क्ष्णां ण्हः" ॥८।२।७५॥ इति श्नस्य ण्ह । प्रा० २ पाद । पृच्छायाम्, आगमोक्तरीत्योपस्थितस्य साधुक्रियाकथने, ध० ३ अधि० । अङ्गुष्ठ-बाहु-प्रश्नादिकासु मन्त्रविद्यासु, स० १० अङ्ग ।

पण्हअ-प्रस्नव-पुं० । स्तनस्तन्ये " आगयपण्हया " पुत्रस्नेहेन स्तनागतस्तन्या । अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० ।

पण्हवाहणय-प्रश्नवाहनक-न० । स्थविरसुस्थित सुप्रतिबुद्धाभ्यां निर्गतस्य कोटिकगणस्य चतुर्थे कुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । "सिरिपण्हवाहणकुलसम्भूओ हरिसउदीयगच्छालंकारभूओ अभयदेवसूरी " ती० ३८ कल्प ।

पण्हसमत्थ-प्रश्नसमर्थ-त्रि० । प्रश्नविषये प्रत्युत्तरदानसमर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

---
* अलर्क उन्मत्त श्वा ।

पण्हावागरण-प्रश्नव्याकरण-न० । प्रश्नाश्च पृच्छाः, व्याकरणानि च निर्वचनानि समाहारत्वात्प्रश्न व्याकरणम् । तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि प्रश्न व्याकरणम् । पा० । प्रश्ना अङ्गुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणम् । प्रवचनपुरुषस्य दशमेऽङ्गे । अयं च व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकालेऽभूत् । इदानीं त्वाश्रवपञ्चक संवरपञ्चकव्याकृतिरेवेहोपलभ्यते, अतिशयानां पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनानां पुष्टालम्बनप्रतिसेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति । अस्य च श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिसंबन्धी पञ्चमगणनायकः सुधर्मस्वामी सूत्रतो जम्बुस्वामिनं प्रति प्रणयनं चिकीर्षुः संबन्धा ऽभिधेय-प्रयोजनप्रतिपादनपरम् "जम्बू ! इणमो अण्हय संवरविणिच्छियं पवयणस्स । निस्संदं वोच्छामि, णिच्छयत्थं सुभासियत्थं महेसीहिं " ॥ प्रश्न० १ आश्र० द्वार । स० ।

प्रश्नव्याकरणदशा-

से किं तं पण्हावागरणाइं ? पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं, अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणाऽपसिणसयं । तं जहा-अंगुट्ठपसिणाइं,बाहुपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं; अन्ने वि चित्ता दिव्वा विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति । पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीउ, संखिज्जाओ संगहणीउ, संखिज्जाउ पडिवत्तीउ, से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ । से तं पण्हावागरणाइं ।१०।

अथ कानि प्रश्नव्याकरणानि ? प्रश्नः प्रतीत , तद्विषयं निर्वचनं व्याकरणम, तानि च बहूनि ततो बहुवचनान्तता, तेषु प्रश्नव्याकरणेषु अष्टोत्तरं प्रश्नशतम्, या विद्याः, मन्त्रा वा विधिना जप्यमानाः पृष्टा एव सन्त. शुभाऽशुभं कथयन्ति ते प्रश्नाः, तेपामष्टोत्तरं शतम् । याः पुनर्विद्याः, मन्त्रा वा विधिना जप्यमाना अपृष्टा एव शुभाऽशुभं कथयन्ति तेऽप्रश्नाः, तेपामष्टोत्तरं शतम् । तथा ये पृष्टा ,अपृष्टाश्च कथयन्ति ते प्रश्नाऽप्रश्नाः, तेपामष्टोत्तरं शतमाख्यायते । तथाऽन्येऽपि च विविधा विद्यातिशयाः कथ्यन्ते, तथा नागकुमारैः सुपर्णकुमारैः, अन्यैश्च भवनपतिभिः सह साधूनां दिव्याः संवादा जल्पविधयः कथ्यन्ते-यथा भवन्ति तथा कथ्यन्ते इत्यर्थः । शेषं निगदसिद्धम् । नवरम्-संख्येयानि पदसहस्राणि द्विनवतिलक्षा , षोडशसहस्रा इत्यर्थः । नं० । स० । अनु० ।

पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो, दस अज्झयणा एक्कसरगा, दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जंति, एकंतरसु आयंबिलेसु निरुद्धेसु आउत्तभत्तपाणएणं अंग जहा आयारस्स ।

इति श्रीप्रश्नव्याकरणं दशमाङ्गं समाप्तम् ।
" नमः श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नम ।
नमः श्रीसरस्वत्यै, सहायेभ्यो, नमो नमः ॥ १ ॥
इह हि गमनिकार्थं यन्मयाऽभ्यूह्ययोक्तं,
किमपि समयहीनं तद्विशोध्यं सुधीभिः ।
न हि भवति विधेया सर्वथाऽस्मिन्नुपेक्षा,
दयितजिनमतानां तायिनां चाऽङ्गिवर्गे. ॥ २ ॥
परेषां दुर्लक्षा भवति हि विवक्षा स्फुटमिदं,
विशेषाद्वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम् ।
निराम्नायाऽधीमि. पुनरतितरां मादृशजनै-
स्ततः शास्त्रार्थे मे वचनमनघं दुर्लभमिह ॥ ३ ॥
तत. सिद्धान्ततत्त्वज्ञै , स्वयमूह्यं स्वयत्नतः ।
न पुनरस्मदाख्यात एव ग्राह्यो नियोगतः ॥ ४ ॥
तथैवं माऽस्तु मे पापं, संघमत्युपजीवनात् ।
वृद्धन्यायानुसारित्वा-द्धितार्थं च प्रवृत्तितः ॥ ५ ॥
यो जैनाभिमतं प्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्,
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धादिसम्बन्धि तत् ।
नानावृत्तिकथाः कथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तप ,
नि.सम्बन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा ॥ ६ ॥
तस्याऽऽचार्यजिनेश्वरस्य,मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिन-
स्तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबद्धनिबद्धबन्धुरवच शब्दादिसल्लक्ष्मण ।
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥ ७ ॥
शिष्येणाऽभयदेवाख्य-सूरिणा विवृतिः कृता ।
प्रश्नव्याकरणाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासतः ॥ ८ ॥
निर्वृतिककुलनभस्तलचन्द्र-द्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ ९ ॥
प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

पण्हावागरणदसा-प्रश्नव्याकरणदशा-स्त्री० । प्रश्नानां विद्याविशेपाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा दशा दशाध्ययनप्रतिबद्धा ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशा । प्रश्न० १ आश्र० द्वार० । दशमे अङ्गे, पा० ।

पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं, महावीरभासियाइं, खोमगपसिणाइं, कोमलपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं ॥

प्रश्नव्याकरणदशा इहोक्तरूपा न, दृश्यमाना तु पञ्चाश्रव पञ्चसंवरात्मिका । इतीहोक्तानां तूपमादीनामध्ययनानामक्षरार्थः प्रतीयमान एवेति । नवरम्-(पसिणाइं ति)प्रश्नविद्या यकाभिः क्षौमकादिषु देवतावतार क्रियत इति । तत्र क्षौमकं वस्त्रम् (अद्दागो) आदर्शः,अङ्गुष्ठो हस्तावयव., बाहवो भुजा इति । स्था० १० ठा० ।

पण्हा-प्रश्न-पुं० । स्त्री० । पृच्छायाम्, " वेमाऽञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् " ॥ ८ । १ । ३५ ॥ इत्यनेन अञ्जल्यादिपाठात् वा स्त्रीत्वम् । प्रा० १ पाद ।

पण्हुय-प्रस्नुत-त्रि० । स्तनविशिलष्टपयसि,"सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्न-क्ष्णां ण्हः ॥ ८ । २ । ७५ ॥ इत्यनेन ण्हत्वम्, प्रा० २ पाद ।

पतण-पतन-न० । निपाते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पतणतणायंत-प्रतणतणायमान-त्रि० । प्रकर्षेण तणतण त्ति शब्दं कुवार्णे, गर्जति । भ० १५ श० । रा० ।

पतणु ( अ )-प्रतनु ( क )-त्रि० । अल्पे "पङ्को खलु चिक्खिल्लो, आगंतुग पतणुओ दवो पणओ" स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पतणुकरण-प्रतनुकरण-पुं० । संसारक्षयकारके, आ० म० २ अ० । " पतणुकरणो संसारं पगरिसेण तणुयं करेति " आ० चू० २ अ० ।

पताका-पताका-स्त्री० । "तदोस्तः" ॥ ८ । ४ । ३०७ ॥ इत्यनेन पैशाच्यां तकारस्य तकारविधानसामर्थ्यान्न तकारस्याऽऽदेशान्तरम् । ध्वजार्थे । प्रा० ४ पाद ।

पतिट्ठा-प्रतिष्ठा-स्त्री० । देवस्थापनायाम्,प्रतिष्ठायां प्रतिमायां नेत्रोन्मीलनेऽञ्जने मधु क्षिप्यते नवा? इति प्रश्ने,उत्तरम्-सांप्रतं प्रतिष्ठायामञ्जने, मधुशब्देन शर्कराऽभिधीयत इति सैव प्रक्षिप्यते । ३१६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । ( अत्र विस्तरः 'पइट्ठा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १ पृष्ठे गतः । प्रतिष्ठाविधिश्च ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे गतः । आचारदिनकरादिग्रन्थे प्रतिष्ठाक्षराणि लभ्यन्ते, तानि च ' पडिमा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३७७ पृष्ठे गतानि,प्रतिष्ठां कृत्वैव प्रतिमाः वन्दनीयाः, अस्मिन् विषयेऽपि ' पडिमा ' शब्दो विलोकनीयः ) ।

पतिट्ठाण-प्रतिष्ठान-न० । त्रिसोपानमूलप्रदेशे,रा० । आणकारणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ( अत्र विस्तरः 'पइट्ठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २ पृष्ठे गत )

पतिण्ण-प्रतीर्ण-त्रि० । निस्तीर्णे आजन्मपरिपालिते, प्रश्न० १ सम्व० द्वार ।

पति-पति-पुं० । पाति रक्षतीति पतिः-भर्त्तरि, नि० चू० ४ उ० ।

पतुण्ण-प्रतुन्न-न० । वल्कलतन्तुनिष्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

पतुन्न-प्रतुन्न-न० । ' पतुण्ण ' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

पतेरसवास-प्रत्रयोदशवर्ष-न० । प्रकर्षेण त्रयोदशे वर्षे,

> एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे ।
> राइं दिवं पि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ॥ ४ ॥

' एतेषु ' पूर्वोक्तेषु ' शयनेषु ' वसतिषु स ' मुनिः ' जगत्त्रयवेत्ता ऋतुबद्धेषु वर्षासु वा ' श्रमणः ' तपस्युद्युक्तः समना वाऽऽसीत् निश्चलमना इत्यर्थः, कियन्तं कालं यावत्? इति दर्शयति-( ' पतेरसवासे ' त्ति ) प्रकर्षेण त्रयोदशं वर्षं यावत्समस्तां रात्रिं दिनमपि यतमानः संयमानुष्ठानं उद्युक्तवान्, तथाऽप्रमत्तो-निद्रादिप्रमादरहितः ' समाहितमनाः ' विस्रोतसिकारहितो धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति ॥ ४ ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

पतेलसवास-प्रत्रयोदशवर्ष-न० । ' पतेरसवास ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

पतेस-प्रदेश-पुं० । " तदोस्तः " ॥ ८ । ४ । ३०७ ॥ पैशाच्यामिति सूत्रेण दकारस्य तकारः । प्रकृष्टावयवे, प्रा० ४ पाद । (अत्र विस्तरः 'पएस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २२-२६ पृष्ठे गतः) ।

पतोदय-पतदुदय-न० । पतितपताके स्थाने, भ० ३ श० ४ उ० ।

पत्त-पत्र-न० । पर्णे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । निम्बा-ऽश्वत्थादिपत्रजाते, रा० । प्रश्न० । दले, भ० १ श० १ उ० । दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए । उत्त० १० अ० । ज्ञा० । जी० । विशे० । दश० । लिखनाधारे,वाच० । पतन्ति गच्छन्ति तेनेति पत्रम् । पत्रपुटे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । वाहनमात्रे,वाच० । पत्रस्य चतुर्विधो निक्षेपो द्रुमस्येव वेदितव्यः । उत्त० १० अ० । ( कस्य वनस्पतेः पत्रं कियज्जीवम् ? इति ' अणंतजीव ' शब्दे प्रथमभागे २६२—२६४ पृष्ठे गतम् । ' पत्तेयजीव ' शब्दे च वक्ष्यते )

प्राप्त-त्रि० । प्राप्ते, अधिगते, वाच० ।

पात्र-न० । पतद्ग्रहादिभाजने, उत्त० ६ अ० । प्रश्न० ।

अथ पात्रस्य सर्वोऽधिकारः । पात्रनिक्षेपः-तच्च पात्रं चतुर्विधम् । तद्यथा-

> नामं ठवणा दविए, भावम्मि चउव्विहं भवे पायं ।
> एसो खलु पायस्स, निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥६१४॥

नामपात्रम्, स्थापनापात्रम्, द्रव्यपात्रम्, भावपात्रमिति चतुर्विधं पात्रम् । एष खलु पात्रस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवति । तत्र नाम-स्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्य-भावपात्रे प्रतिपादयति-

> दव्वे तिविहं एगिं-दिविगलं-पंचिंदिएहिं निप्फन्नं ।
> भावे आया पत्तं, जो सीलंगाण आहारो ॥६१५॥

द्रव्यविषयं त्रिविधं पात्रम् । तद्यथा एकेन्द्रियनिष्पन्नम् विकलेन्द्रियनिष्पन्नं च । एकेन्द्रियनिष्पन्नमपि अलाबुकादि, विकलेन्द्रियनिष्पन्नं शुक्ति शङ्खादि, पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नं कुतपदन्त शृङ्गपात्रादि । भावे भावविषयं पात्रम् आत्मा । किं सर्व एव एवम् ? इत्याह-यः पूर्वोक्तानामष्टादशसहस्रसंख्यानां शीलाऽङ्गानामाधार आश्रयः स आत्मा साधूनां सम्बन्धी भावपात्रम्-भाजनम्, आधार इति पर्यायवचनत्वात् । बृ० १ उ० १ प्रक० । आचा० ।

कारणे पात्रग्रहणम्-

> अतरंतबालवुड्ढा, सेहाऽऽदेसा गुरू असहुवग्गो ।
> साहारणोग्गहाऽल-द्धिकारणा पायगहणं तु ॥ १ ॥

(अतरंत त्ति) ग्लानाः,आदेशाः प्राघूर्णकाः (असहु त्ति) सुकुमारो राजपुत्रादिः प्रव्रजितः, साधारणावग्रहात्सामान्योपष्टम्भार्थम्, अलब्धिकार्थं चेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । आचा० ।

कप्पइ निग्गंथाणं वा, निग्गंथीणं वा, तओ पायाइं धा-

रित्तए वा, परिहरित्तए वा। तं जहा-लाउयपाए वा, दारुपाए वा, मट्टियापाए वा। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

अत्र पुनर्भावपात्रोपयोगिना द्रव्यपात्रेणाऽधिकारः, तदपि त्रिविधम्-

लाउय दारुअ मट्टिय, तिविहं उक्कोस-मज्झिम-जहन्नं।
एक्केक्कं पुण तिविहं, अहागडऽप्पं सपरिकम्मं ॥६५७॥

अलाबुमयम्, दारुमयम्, मृत्तिकामयं च। पुनरेकैकं त्रिविधम्-उत्कृष्टम्, मध्यमम्, जघन्यं वा। उत्कृष्टं प्रतिग्रहः, मध्यमं मात्रकम्, जघन्यं टोप्परिकाऽऽदि। एकैकं पुनस्त्रिधा-यथाकृतम्, अल्पपरिकर्म, सपरिकर्म च। बृ०१उ० १ प्रक०।

(२) पात्रस्य गणना-प्रमाणाऽऽदीनि द्वाराणि,पात्रैषणा-

एगं पायं जिणक-प्पियाण थेराण मत्तओ बीओ।
एयं गणणपमाणं,पमाणपमाणं अओ वोच्छं ॥१०००॥

एकमेव पात्रकं जिनकल्पिकानां भवति, स्थविरकल्पिकानां तु मात्रको द्वितीयो भवति। इदं तावदेकद्व्यादिकं गणनाप्रमाणम्, इत ऊर्ध्वं प्रमाणप्रमाणं वक्ष्ये।

तत्र पात्रकस्य प्रमाणप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह-

तिन्नि वितत्थी चउरं-गुलं तु भाणस्स मज्झिमपमाणं।
इत्तो हीण जहन्नं, अइरेगयरं तु उक्कोसं ॥ १००१ ॥

समचउरंसं वट्टं दोरएण मविज्जइ-तिरिच्छयं उड्ढमहो य। सो दोरओ तिन्नि वितत्थी चत्तारि अंगुलाणि जइ होइ तओ एयं भाणस्स मज्झिमं पमाणं। इतः अस्मात्प्रमाणात् यद्धीनं तद् जघन्यं प्रमाणं भवति, अथातिरिक्तं प्रमाणं मध्यमप्रमाणाद्भवति तदुत्कृष्टम्, उत्कृष्टप्रमाणमित्यर्थः।

तथा-इदमपरं प्रकारान्तरेण पात्रकस्य प्रमाणं भवति-

इणमन्नं तु पमाणं, नियगाहाराउ होइ निप्फन्नं।
कालप्पमाणसिद्धं, उदरपमाणेण य वयंति ॥१००२॥

इदमन्यत्प्रमाणं निजेनाऽऽहारेण निष्पन्नं वेदितव्यम्। एतदुक्तं भवति-काञ्जिकाऽऽदिद्रव्योपेतस्य चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूनं पात्रकम्, तत्साधोर्भक्षयतः यत्परिनिष्ठितं तत् तादृग्विधं मध्यमप्रमाणं पात्रम्, तथैवंविध कालप्रमाणेन ग्रीष्मकालप्रमाणसिद्धं पात्रकं भणन्ति, उदरप्रमाणेन च सिद्धम्। तदित्थं कालप्रमाणसिद्धं पात्रकम्, उदरप्रमाणसिद्धं च वदन्ति प्रतिपादयन्ति।

कालप्रमाणसिद्धं पात्रकम्, उदरप्रमाणसिद्धं च पात्रकं प्रतिपादयन्नाह-

उक्कोसतिसामासे, दुगाउमद्धाणमागओ साहू।
चउरंगुलूणभरियं, जं पज्जत्तं तु साहुस्स ॥ १००३ ॥

उत्कृष्टा तृट् पिपासा यस्मिन् काले स उत्कृष्टतृण्मासकालः, तस्मिन्नुत्कृष्टतृण्मासकाले द्विगव्यूतमात्रादागतः साधुश्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूनं भृतं यत् तत् पर्याप्तं साधोर्भवति तदित्थं कालप्रमाणोदरप्रमाणसिद्धं पात्रकं मध्यमं भवति।

एयं चेव पमाणं, सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं।
कंतारे दुब्भिक्खे, रोहगमाईसु भइयव्वं ॥ १००४ ॥

एतदेव पूर्वोक्तं प्रमाणं यदा सविशेषतरम् अतिरिक्ततरं भवति, तदा तदनुग्रहार्थं प्रवृत्तं भवति-वृहत्तरेण पात्रेण

अन्येभ्यो दानेनानुग्रह आत्मना क्रियते। तथ कान्तारे महतीमटवीमुत्तीर्य अन्येभ्योऽप्यर्थमनुग्रहाय भवति, येन बहूनां भवति। तथा दुर्भिक्षे अलभ्यमानायां भिक्षायां बहु अटित्वा बालाऽऽदिभ्यो ददाति। तच्चातिमात्रे भाजने सति भवति दानम्। तथा रोधके कोट्टोपरोधे जाते सति कश्चिद्भोजनं श्रद्धया दद्यात् तत्र तत् नीयते, येन बहूनां भवति। एतेषु भजनीयं सेवनीयं तदतिमात्रं पात्रकम्।

इदानीमेतदेव भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

वेयावच्चकरो वा, नंदीभाणं धरे उवग्गहियं।
सो खलु तस्स विसेसो,पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥१००५॥

ओघ०।(अत्र नन्दिभाजनसत्का सर्वा वक्तव्यता 'णंदिभायण' शब्दे चतुर्थभागे १७५७ पृष्ठे गता)

( ३ ) अथ पात्रविषयं तमेवाऽभिधित्सुराह-

दव्वपमाणं अतिरे-गे हीणे दोसा तहेव अववाए।
लक्खणमलक्खणं वा,तिविहं वुच्छेय आणाऽऽदी॥३१३॥
को पोरुसी य कालो, आगर चाउल जहन्नजयणाए।
चोदग असती असिव-प्पमाणउवओगछेयण मुहे य।३१४।

द्रव्यमिह पात्रं, तस्य यद्वृद्धयमाणं प्रमाणम् १। अतिरिक्ते, हीने च पात्रे दोषा वक्तव्याः। तथैवाऽपवादे कारणे हीनाऽतिरिक्तधारणलक्षणे २। पात्रस्य किं लक्षणम्, किं वा अलक्षणम् ३। त्रिविध उत्कृष्टाऽऽदिभेदाद्, तथा कृताऽऽदिभेदाद् वा त्रिप्रकार उपधिर्यथा गृह्यते ४। यथोक्तक्रमाद्य विपर्यस्तेन ग्रहणे प्रायश्चित्तम्, आज्ञाऽऽदयश्च दोषा ५॥ ३१३॥

तथा-(को त्ति) कः पात्रं गृह्णाति ६। ( पोरिसि त्ति ) बहुबन्धनबद्धं पात्रं धारयता सूत्रा-ऽर्थपौरुष्यौ द्वे अपि हापयित्वा अपर पात्रं गवेषणीयम् ७। ( कालो त्ति ) तस्य च गवेषणा नुकूलक्रियाकाल इति ८। आकरः कुत्रिकापणाऽऽदि, यत्र पात्रं गवेष्यमाणं लभ्यते ९ (चाउल त्ति)तन्दुलधावनेन, उपलक्षणत्वादुल्लोटकाऽऽदिना भावितं किं कल्पते, न वा इति १०। ( जहन्नजयण त्ति ) जघन्यं पञ्चकप्रायश्चित्तम्, जघन्यानि वा सर्षपाऽऽदीनि, तत्क्रमपि पात्र यतनया ग्रहीतव्यम् ११। चोदकः प्रेरयति-कथं बीजभूतमपि पात्रमनुज्ञायते ? १२। सूरिराह-यदेतद्बीजयुक्तपात्रग्रहणमनुज्ञातं तदसत्ताया पात्रकस्याऽभावे, यत्र वा भाजनानि लभ्यन्ते तत्राऽपान्तराले वा अशिवम् १३। ( पमाणउवओगछेयण त्ति ) यदि प्रमाणयुक्तं पात्रं न लभ्यते तत उपयोगपूर्वकं पात्रस्य छेदनं विधाय प्रमाणं विधेयम् १४। ( मुहे य त्ति ) अल्पसपरिकर्मकयोर्मुखकरणं भवति, न यथाकृते १५। एवमेतानि द्वाराणि प्ररूपणीयानि। इति द्वारगाथाद्वयसंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुराह-

पमाणऽतिरेगधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाऽऽइणो य दोसा,विराहणा संजमाऽऽयाए॥३१५॥

प्रमाणातिरिक्तपात्रस्य धारणे चत्वारो मासा उद्घातिका भवन्ति, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, विराधना च संयमाऽऽत्मविषया।

इदमेव भावयति-

गणणाएँ पमाणेण य, गणणाएँ समत्तओ पडिग्गहओ ।
पलिमंथ भरुव्वहरा, अतिप्पमाणे इमे दोसा ॥ ३१६ ॥

गणनया, प्रमाणेन च, पात्रस्य प्रमाणं द्विविधम्-तत्र गणनायां समात्रको मात्रकसहितः प्रतिग्रहो मन्तव्यः । अथेत ऊर्ध्वं तृतीयाऽऽदिकं पात्रं धारयति,ततः कर्मणि रञ्जनाऽऽदौ, प्रत्युपेक्षणाऽऽदिषु च महान् परिमन्थो भवति। अध्वनि बहूनि पात्राणि वहमानस्य भारः, बहूपकरणश्चो द्वहको जनोपहास्यो भवति-अहो ! भारवाहकोऽयमिति । अत्र चाऽतिप्रमाणे प्रमाणद्वयातिरिक्ते पात्रे एते दोषाः।

तद्यथा-

भारेण वेयणा वा, अभिहणमाई ण पेहए दोसा।
इरियादि संजमम्मि य, छक्काया भाणभेओ य ॥ ३१७॥

प्रभूतपात्रवहने भारेणाऽऽक्रान्तस्य वेदना (अभिहण त्ति)हस्तितुरङ्गमाऽऽदीनि अभिघातं प्रहारं प्रयच्छन्ति, त न पश्यति, आदिशब्दात् स्थाणुकण्टकाऽऽदीनि न प्रेक्षते, एवमात्मविराधनायामीर्याऽऽदिक न शोधयति, ततश्च षट्कायविराधना । अनुपयुक्तो वा प्रस्खलितो भाजनभेदमपि विदध्यात्, एते गणनातिरिक्ते दोषा उक्ता ।

प्रमाणातिरिक्ते तु पात्रे इमे दोषाः-

भाणऽप्पमाणगहणे.भुंजणे गेलण्णऽभुंजे उब्भमिगा ।
एसणपेल्लण भेदे, हाणि अडंते दुविह दोसा ॥ ३१८ ॥

( भाणऽप्पमाण त्ति ) अकारप्रश्लेषादप्रमाणस्याऽतिबृहत्तरप्रमाणस्य भाजनस्य ग्रहणे इमे दोषाः, तदातिबृहत्तर भाजनं परिपूर्णमपि भृत्वा यदि सर्वमपि भुङ्क्ते ततो ज्वराऽऽदिकं ग्लानत्वं भवेत्, अथ न भुङ्क्ते, तत उद्भामिका भवति। अतिबृहत्तरं च पात्रं यदा गृहिणाऽपि न पूर्यते तदा एषणाप्रेरणम्। पीडनं, कृत्वाऽपि विभृयात्, भरित वाऽतिभारेण प्रतिस्खलय भेदमुपगच्छेत्, ततो भाजनेन विरहिते आत्मनः कार्यपरिहाणिः,- तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। गुरुत्वेन वाऽऽत्मसंयमविराधनालक्षणा द्विविधा दोषा भवन्ति। तथाऽत्र आत्मविराधना ईर्यां पर्यटतोऽतिभारेण कटीस्कन्धाऽऽदिक परिताप्यते, संयमविराधनायामीर्यामशोधयन् षट्कायान् विराधयेत् । गतमतिरिक्तद्वारम्।

( ४ ) अथ हीनद्वारमाह-

हीणप्पमाणधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणाऽऽदिणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽताए ॥३१९॥

यत्प्रतिग्रहस्य, मात्रकस्य वा प्रमाणं वक्ष्यते, ततो हीनं यदि धारयति तदा चत्वारो मासा उद्घातिमा भवन्ति। एतच्च प्रतिग्रहे मन्तव्यम, मात्रके तु मासलघु। आह च निशीथचूर्णिकृत्-" पडिग्गहगे चउलहुं मत्तगे मासलहुं।" आज्ञाऽऽदयश्च दोषा., विराधना च संयमाऽऽत्मविषया।

इदमेव भावयति-

ऊणेण न पूरिस्सं, आकंठा तेण गिण्हते उभयं ।
मा लेवकडं ति पुणो, तत्थुवओगो न भूमीए ॥३२०॥

ऊनेन प्रमाणहीनेन, नोनेनाऽभरितेनाऽहमात्मानं पूरयिष्ये, तत आकण्ठात्तत्र भाजने उभयमपि कूरं, कूसणं च गृह्णाति, ततो मा पात्रबन्धो लेपकृतो भवेत्, तत्रैव पात्रकबन्धखरण्टने उपयोगो भवति, न पुनर्भूमौ ।

अनुपयुक्तस्य चेमे दोषाः-

खाणूकंटगविसमे, अभिहणमादी ण पेहए दोसा ।
इरियाएँ गलियतेणग-भायणभेए य छक्काया ॥ ३२१ ॥

ईर्यायामनुपयुक्तः स्थाणुना कण्टकेन वा विध्यते, विषमे वा भूभागे निपतेत, गवादिकृताभिघाताऽऽदींश्च दोषश्च प्रेक्षते, इयमात्मविराधना। संयमविराधना त्वेवम्-अनुपयुक्त ईर्यां न शोधयेत्, भाजनाच्च भक्तं पानकं वा परिगलेत्, तच्च प्रगलितं विलोक्य स्तेनाः परिपूर्णं भृतमिदं भाजनमस्तीति परिभाव्य प्रहरेयु । अथ कुत्रापि प्रस्खलितस्ततो भाजनभेदः, षट्कायविराधना वा भवेत् ।

गुरुपाहुणखमदुब्बले, बाले वुड्ढे गिलाणे सेहे य ।
लाभालाभऽद्धाणे, अणुकंपा लाभवोच्छेदो ॥ ३२२ ॥

प्रमाणहीनं भाजनं धारयता गुरुप्राघूर्णकक्षपकदुर्बलाः, बालः, वृद्धः, ग्लानः, शैक्षश्च परित्यक्ता मन्तव्याः । तथा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेषितस्तेनाऽल्पीयसा भाजनेन कथं लाभाऽलाभपरीक्षां करोतु। अध्वनि प्रपन्नानां संखडिर्भवेत्, तत्र पर्याप्ते लभ्यमाने लघौ भाजने किं नाम गृह्णातु,विधिनाऽध्वनि वा कश्चिद् दानश्रद्धालुरनुकम्पया प्रायच्छदुपस्थाप्यते तत्तद्भाजनं भरति। तत्र गच्छसाधारणं भाजनमुपस्थापयितव्यम्। हीनभाजने पुनरुपस्थाप्यमाने तस्य लाभस्य व्यवच्छेदो भवति, निर्जरायाश्च लाभो न भवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ॥ ३२२ ॥

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह-

गुरुगा य गुरुगिलाणे, पाहुणखमए य चउलहू होंति ।
सेहस्स होइ गुरुओ, दुब्बलजुगले य मासलहू ॥३२३॥

गुरूणां, ग्लानस्य चोपष्टम्भमकुर्वतश्चतुर्गुरुका., प्राघूर्णकस्य, क्षपकस्य चोपष्टम्भाऽकरणे चतुर्लघवो भवन्ति, शैक्षस्याऽदाने मासगुरुकः, दुर्बलयुगलस्य च बालवृद्धलक्षणस्याऽदाने मासलघुः ॥ ३२३ ॥

अप्पपरपरिच्चाओ, गुरुमाईणं अदिंतदिंतस्स ।
अपरिच्छिए य दोसा, वोच्छेओ निज्जरालाभे ॥३२४॥

लघुतरभाजनं गृहीतं गुर्वादीना यदि ददाति तत आत्मपरित्याग., अथ स्तोकमिति कृत्वा न ददाति ततो गुर्वादीनां परेषां परित्यागः कृतो भवति । तथा प्रमाणहीनं भाजनं गृहीत्वा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गतः कथं लाभाऽलाभं परीक्षेत ?। ततोऽपरीक्षिते क्षेत्रे ये दोषास्ते मन्दपरीक्षिते मन्तव्याः । अध्वनि प्रपन्नानां च संखडिर्भवेत् । दानश्राद्धो वा कश्चिदनुकम्पया प्रभूतं भक्तपान दद्यात् । यद्वा-स्वस्थानेऽपि घृताऽऽदिसाधारणद्रव्यं लभेत, तत्र लघुतरभाजने भक्तपानलाभस्य, निर्जरायाश्च व्यवच्छेदो भवति ॥ ३२४ ॥

अथ क्षुल्लकभाजनस्यैव दोषान्तराभिधानायाऽऽह-

लेवकडे वोसट्ठे, सुक्खे लग्गे य कोडिते सिहरे ।
एए हवंति दोसा, डहरे भाणे य उड्डाहे ॥ ३२५ ॥

तक्राऽऽदिना तदवमप्रमाणं भाजनमाकण्ठमापूरितं, ततः (वोसट्ट त्ति) प्रलुठिते तक्रे चैतद्भाजनं लेपकृतं क्रियते अथ

पात्रलेपनभयात् तत्र शुष्कमेव भक्तं गृह्णाति, ततस्तच्छुष्कं भुञ्जानस्य गलके, उदरे वा लगेत, लग्ने च तत्राऽजीर्णं भवेत् ( कोडिय त्ति ) गाढं चम्पितं चम्प्यमानं वा पात्रकं भज्येत, शिखरं वा पात्रस्योपरि भक्तस्य शिखां कुर्वन्तं दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्-अहो अतृप्ता बहुभक्षका अमी, एवमुड्डाहो भवेत् । एते डहरे भाजने दोषाः ॥ ३२५ ॥

अथैनामेव भावयति-

धुवणा-ऽधुवणे दोसा, वोसट्टंते य काय आयुसिणे ।
सुक्के लग्गाऽजीरणे, कोडिएँ सिहरे य उड्डाहो ॥३२६॥

अतिभृतत्वेन तक्र-तीमनाऽऽदीनि प्रलोठयति यत्पात्रकं लेपकृतं, तस्य धावनाऽधावनयोरुभयोरपि दोषाः । तत्र धावने प्लावनाऽऽदयः, अधावने तु रात्रिभोजनव्रतभङ्गः । ( वोसट्टंते य त्ति ) परिगलति भक्तपाने षण्णां कायानां विराधना । अथवा-तेनोष्णेन परिगलता दग्धशरीरस्याऽऽत्मविराधना । शुष्के च भक्ते अतिमात्रं भुज्यमाने गलके उदरे वा लग्ने अजीर्णं भवेत् । तत्र च ग्लानाऽऽरोपणा । कोडितं गाढं चम्पितं सत् पात्रकं भज्येत, शिखरे च भक्तस्योपरि शिखायां विधीयमानायामुड्डाहो भवति । यत एवमादयो दोषाः, ततः प्रमाणयुक्तमेव ग्रहीतव्यम् ॥ ३२६ ॥

कीदृशं पुनस्तत्प्रमाणम् ?, इत्याशङ्क्य प्रमाणमाह-

तिण्णि वितत्थी चउरं-गुलं च भाणस्स मज्झिमपमाणं ।
एत्तो हीण जहन्नं, अतिरेगयरं तु उक्कोसं * ॥३२७॥

पात्रस्य परिधिं दवरकेण मीयते, यदा स मानदवरकस्तिस्रो वितस्तयश्चत्वारि अङ्गुलानि च भवन्ति, तदा भाजनस्य पात्रकस्य तद् मध्यमप्रमाणम् । इतो मध्यमप्रमाणाद्धीनं यत् पात्रं तद् जघन्यम् । अतिरिक्ततरं तु मध्यमप्रमाणाद् बृहत्तरमुत्कृष्टम् ॥ ३२७ ॥

अथवा-

उक्कोसतिसामासे, दुगाउअद्धाणमागओ साहू ।
चउरंगुलवज्जं भ-त्तपाणपज्जत्तयं हेट्ठा * ॥३२८॥

उत्कृष्टस्तृण्मासः स उच्यते यस्मिन्नतीव प्रबला पिपासा समुल्लसति, स च ज्येष्ठ', आषाढो वा, तस्मिन्काले द्विगव्यूतप्रमाणादध्वन आगतो यः साधुः, तस्य ईदृशकालाध्वखिन्नस्य यच्चतुरङ्गुलवर्जमुपरितनैश्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूनमधस्तात् भक्तपानस्य भृतं सत्पर्याप्तं भवति, तन्निरर्थभूतं पात्रकस्य प्रमाणं मन्तव्यम् ॥ ३२८ ॥

एयं चेव पमाणं, सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं ।
कंतारे दुब्भिक्खे, रोहगमाईसु भइयव्वं *॥ ३२९ ॥

एतदेव प्रमाणं सविशेषतरं समधिकतरं यस्य भाजनस्य भवति तदनुग्रहप्रवृत्तं गच्छस्यानुग्रहार्थं प्रवर्तते । कथम् ?, इत्याह-( कंतारे ) महत्यामटव्यां वर्तमानस्य, तदुत्तीर्णस्य वा गच्छस्यानुग्रहार्थं तद् गृहीत्वा वैयावृत्त्यकरः पर्यटति । दुर्भिक्षेऽत्यल्पलभ्यमानायां भिक्षायां तद् गृहीत्वा चिरमटित्वा बालाऽऽदिभ्यो ददाति । एवं नगरस्य रोधके संजाते, कालिकत्वाद्वा अपरेषु च सर्वदिवसेषु कश्चिद् महद्धाकुलीयः ईश्वरोऽपि भद्रकः भाति, तावन्मधुरमपि भक्तपानं दद्यात्, तत्र महतोऽपि पात्रकं भक्तपाने गृहीतव्यम् ॥ ३२९ ॥

* वृ० ३ उ० ... ॥ ३२ ॥

अथाऽपवादद्वारमभिधित्सुर्यैः कारणैरधिकं हीनं वा धारयति तानि तावद् दर्शयति-

अन्नाणे गारवे लु-द्धे असंपत्तीएँ धारओ चेव ।
लहुओ लहुआ गुरुगा, चउत्थो सुद्धो उ जाणओ ॥३३०॥

यदज्ञानेन हीनाधिकप्रमाणं भाजनं धारयति ततो लघुमासः, गौरवेण धारयतश्चत्वारो लघवः । लोभनं- लुब्धं, लोभ इत्यर्थः । तेन धारयतश्चत्वारो गुरवः । असंप्राप्तिर्नाम-प्रमाणयुक्तस्य पात्रस्याऽप्राप्तिस्तस्यां यो हीनाऽतिरिक्तं धारयति स चतुर्थोऽप्राप्तिधारकः शुद्धः । तथा ज्ञायको नाम-पात्रलक्षणाऽलक्षणवेदी स लक्षणयुक्तं हीनाधिकप्रमाणमपि धारयति, ततः शुद्ध इति द्वारश्लोकसमासार्थः ॥३३०॥

अथैनामेव विवृणोति-

हीणाऽतिरेगदोसे, अजाणओ सो धरिज्ज हीणऽहियं ।
पगईएँ थोवभोई, सति लाभे वा करे तोसं ॥ ३३१ ॥

पात्रस्य ये हीनाऽतिरिक्तविषया दोषाः पूर्वमुक्तास्तान् यो यतिर्न जानीते स हीनाधिकप्रमाणं धारयेत् । तथा कश्चिद् ऋद्धिगौरवयुक्तः सत्यपि भक्तपानलाभे प्रकृत्यैव स्तोकभोजी स्वल्पाहारोऽयं महात्मेतिख्यापनार्थमयमं हीनप्रमाणं भोजनं करोति, सति पर्याप्ते लाभे संतोषं वा कुर्यात् ॥ ३३१ ॥

किं पुनस्तस्य ऋद्धिगौरवम् ?, इत्याह-

ईसरनिक्खंतो वा, आयरिओ वा वि एस डहरेणं ।
इति गारवेण ओमं, अतिप्पमाणं विमेहिं तु ॥ ३३२ ॥

ईश्वरनिष्क्रान्तो वा राजाऽऽदिमहर्द्धिकः प्रव्रजितः, आचार्यो वा एष साधुः, यदेवं डहरेण लघुना भाजनेन भिक्षां पर्यटति, इत्येवं गौरवेण यशःप्रवादलिप्सालक्षणेनाऽयमं भाजनं करोति । अतिप्रमाणं पुनः पात्रममुना कारणेन करोति ॥ ३३२ ॥

अणिगूहियबलविरिओ, वेयावच्चं करेति अह समणो ।
मम तुल्लो न य कोई, पसंसकामी महल्लेणं ॥ ३३३ ॥

अथेत्युपन्यासे । अहो अयं श्रमणः पुण्यात्माऽनिगूहितबलवीर्यो महता भाजनेन सकलस्याऽपि गच्छस्य वैयावृत्त्यं करोति, एवं प्रशंसाकामी, नास्ति कोऽपि मम बाहुबलमङ्गीकृत्य तुल्यः सदृश इति ख्यापनार्थमतिरिक्तं भाजनं करोति ॥ ३३३ ॥

अथ लुब्धपदं व्याचष्टे-

अंतं न होइ देयं, थोवासी एस देह से सुद्धं ।
उक्कोसस्स व लंभे, कहि घेत्थं महल्ललाभेणं ॥३३४॥

तुच्छकभाजनेन गृहाङ्गणस्थितं साधुं दृष्ट्वा गृहस्वामी भणति-स्तोकाऽऽशी स्तोकाऽऽहारोऽयं मुनिः, अतोऽस्य अन्तप्रान्तभक्तं न देयम्, किं तु शुद्धमुत्कृष्टं द्रव्यम् अस्य प्रयच्छ, एवं लुब्धतया हीनप्रमाणं करोति । तथा उत्कृष्टस्य शालिमुद्गदालयोदेर्द्रव्यस्य प्रभूतस्य लाभे सति चिन्तयति-अनेन प्रमाणोपेतभाजनेन पूर्णं सामान्यभक्तस्य भृतम् ... महल्लभाजनं गृह्णाति ॥ ३३४ ॥

अथासंप्राप्तिपदं व्याख्याति-

जुत्तपमाणस्सऽसती, हीणऽतिरित्तं चउद्दो धारेति ।

लक्खणजुएँ हीणऽहियं,नंदी गच्छट्ठ वा चरिमो ॥३३५॥

युक्तप्रमाणं यथोक्तप्रमाणोपेतं तदनेकशो गवेष्यमाणमपि न प्राप्यते,अतस्तस्याऽभावे हीनं वा अतिरिक्तं वा पात्रं चतुर्थः संग्रहगाथोक्तक्रमप्रामाण्यादप्राप्तिमान् धारयति। तथा यल्लक्षणयुक्तं लक्षणाऽलक्षणवेदी हीनाधिकप्रमाणमपि ज्ञानाऽऽदिवृद्धिनिमित्तं धारयति। तथा गच्छस्योपग्रहकरं यन्नन्दीभाजनं तद् गच्छार्थं चरमश्चरमद्वारवर्ती ज्ञायको धारयति ॥३३५॥ गतमपवादद्वारम्।

(५) अथ लक्षणद्वारमाह-

वट्टं समचउरंसं, होइ थिरं थावरं च वन्नड्डं ।
हुंडं वायाइद्धं, भिन्नं व अधारणिज्जाइं ॥ ३३६ ॥

वृत्तं वर्तुलम्, तदपि समचतुरस्रं युग्मपरिधिना, कुक्षिपरिधिना च तुल्यं, स्थिरं सुप्रतिष्ठानं दृढं वा, स्थावरमप्रातिहारिकम्, वर्णाढ्यं स्निग्धवर्णोपेतम्। पाठान्तरेण- 'धन्नं च त्ति।" एतैर्गुणैर्युक्तं धन्यं ज्ञातविधिना वदनमित्यर्थ। एवंविधं लक्षणयुक्तमुच्यते। तथा हुण्ड विषमस्थिति क्वचिदुन्नतं क्वचिदवनतमित्यर्थः । वाताऽऽविद्धं निष्पत्तिकालमन्तरेणाऽर्वागपि शुष्कम्, अत एव संकुचितं वलिभृतं च संजातम्। भिन्नं नाम-सच्छिद्रं, राजियुक्तं वा। एतान्यलक्षणतया अधारणीयानि॥ ३३६ ॥

अथ लक्षणाऽलक्षणयुक्तयोरेव गुणदोषानाह-

संठियम्मि भवे लाभो, पतिट्ठा सुपतिट्ठिए ।
निव्वणे कित्तिमारोग्गं, वण्णड्ढे नाणसंपया ॥३३७॥
हुंडे चरित्तभेओ, सबलम्मि य चित्तविब्भमं ।
दुप्पुए खीलसंठाणे, नत्थि ठाणं ति निद्दिसे ॥३३८॥
पउमप्पले अकुसलं, सव्वणे वणमाइसे ।
अंतो बाहिं च दड्ढे उ, मरणं तत्थ निद्दिसे ॥३३९॥

संस्थिते वृत्तसमचतुरस्रे पात्रे धार्यमाणे विपुलो भक्तपानाऽऽदिलाभो भवति। सुप्रतिष्ठिते स्थिरे पात्रे चारित्रे गणे आचार्याऽऽदिपदे वा प्रतिष्ठा स्थिरता संजायते। निर्व्रणे व्रणविकले कीर्तिरारोग्यं च भवति। वर्णाढ्ये स्निग्धवर्णोपेते ज्ञानसंपत् प्रस्तुतसूत्रार्थलाभरूपा भवति। हुण्डे विषमसंस्थिते चारित्रस्य भेदो, मूलोत्तरगुणविषयाश्चारित्रातिचारा इत्यर्थः। शबलं विचित्रवर्णम्,तत्र चित्ते विभ्रमं चित्तविप्लुतताऽऽदिरूपसम्भवं,त जानीयात् "दुप्पुयं" नाम-पुप्पकमूलेन प्रतिष्ठितं, कीलकसंस्थानं तु कूर्पराऽऽकार कीलकदीर्घम् ईदृशे पात्रे गणे चरणे वा स्थान नास्तीति निर्दिशेत्। पद्मोत्पलेऽधः पद्मोत्पलाऽऽकारपुष्पकयुक्ते साधूनामकुशलं भवति। सव्रणे व्रणमादिशेत्, पात्रकस्वामिनो व्रणो भवतीति भाव। अन्तर्बहिर्वा दग्धे सति पात्रके मरणं निर्दिशेत् ॥ ३३९ ॥

अथैवं प्रायश्चित्तमाह-

दड्ढे पुप्फगभिन्ने, पउमुप्पले सव्वणे य चउगुरुगा ।
सेसगभिन्ने लहुगा, हुंडादीएसु मासलहू ॥ ३४० ॥

अन्तर्बहिर्वा दग्धे पात्रे, तथा पुष्पकं पात्रकस्य नाभिः, तत्र भिन्नं तस्मिन्, तथा पद्मोत्पलाऽऽकारपुष्पकयुक्ते, सव्रणे च प्रत्येकं चतुर्गुरुकः। शेषेषु पुष्पकव्यतिरिक्तेषु कुक्ष्यादिस्थानेषु भिन्ने चतुर्लघुकाः। हुण्डे, आदिशब्दाद्वाताऽऽविद्धे, दुप्पुते, कीलकसंस्थाने, अवर्णाऽऽढ्ये, शबले च मासलघु ॥ ३४० ॥ गतं लक्षणाऽलक्षणद्वारम्।

(६) अथ त्रिविधोपधिद्वारमाह-

तिविहं च होइ पायं, अहाकडं अप्प सपरिकम्मं च ।
पुव्वमहाकडगहणं, तस्साऽसति कमेण दोन्नियरे ॥३४१॥

त्रिविधं च भवति पात्रम्-अलाबुमयम्, दारुमयम्, मृत्तिकामयम्। पुनरेकैकं त्रिविधम्-यथाकृतम्, अल्पपरिकर्म्म, सपरिकर्म च। पूर्वं यथाकृतस्य ग्रहणम्, तस्याभावे क्रमेण इतरे द्वे पात्रके ग्रहीतव्ये। प्रथममल्पपरिकर्म्म, तदप्राप्तौ बहुपरिकर्म्मापीत्यर्थः ॥ ३४१ ॥

विपर्यस्तद्वारमाह-

तिविहे परूवियम्मी, वोच्चत्थे गहणे लहुग आणाऽऽदी।
छेदणभेदणकरणे, जा जहिं आरोवणा भणिता ॥३४२॥

यथाकृताऽऽदिभेदात् त्रिविधे पात्रे प्ररूपिते सति,ततो विपर्यस्तग्रहणे चतुर्लघुकाऽऽख्यं प्रायश्चित्तम्,आज्ञाऽऽदयश्च दोषा वक्तव्या। तत्र यथाकृताऽऽदिप्ररूपणा तावद्विधीयते-यथाकृतं नाम-पूर्वकृतमुखं प्रदत्तलेपं च सर्वथा परिकर्मरहितम्। अल्पपरिकर्म तु पात्रं तदुच्यते यदर्द्धाङ्गुलं यावत् छिद्यते, अर्द्धाङ्गुलात्परतः छिद्यमानं बहुपरिकर्मकम्। पुनरेकैकं त्रिधा-उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात्। तत्रोत्कृष्टस्य यथाकृतस्योत्पादनाय निर्गतस्तस्य योगमकृत्वाऽल्पपरिकर्म गृह्णाति तदा चतुर्लघव। तथा यथाकृतं योगे कृतेऽपि न प्राप्यते तदाऽल्पपरिकर्म, अल्पपरिकर्म्मणो योगमकृत्वा बहुपरिकर्मग्रहणे चतुर्लघवः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः। एवं मध्यम-जघन्ययोरपि भावना कर्तव्या। नवरं मध्यमस्य विपर्यासेन ग्रहणे मासलघु, जघन्यविपर्यासग्रहणे पञ्चकम्। अपि च-सपरिकर्मणि पात्रे छेदन-भेदनाऽऽदि कुर्वतो या यत्राऽऽरोपणा पीठिकायां पात्रकल्पिकद्वारे भणिता, सैवेहाऽपि मन्तव्या ॥ ३४२ ॥

अथ 'कः' इति द्वारं विवृणोति-

को गिण्हति गीयत्थो, असतीए पायकप्पिओ जो उ ।
उस्सग्गऽववाएहिं, कहिज्जती पायगहणं से ॥ ३४३ ॥

कः संयतः पात्रं गृह्णाति ? । सूरिराह-गीतार्थः परिज्ञातसकलच्छेदश्रुतार्थः पात्रकं गृह्णाति । अथ नास्ति गीतार्थस्ततो यः पात्रकल्पिको गृहीतपात्रैषणासूत्रार्थः स गृह्णाति। तस्याप्यभावे यो मेधावी तस्य पात्रग्रहणमुत्सर्गतः, अपवादतश्च कथ्यते, ततोऽसौ पात्रं गृह्णीयात् ॥ ३४३ ॥

अथ पौरुषीद्वारमाह-

हुंडाऽऽदि एक्कबंधे, सुत्तत्थे करिंते मग्गणं कुज्जा ।
दुगतिगबंधे सुत्तं, तिण्हुवरिं दो वि वज्जेज्जा ॥ ३४४ ॥

यत्पात्रं हुण्डम्, आदिशब्दाद् दुप्पुतम्, कीलकसंस्थितम्, शबलं च यद्वा-एकबन्धम् एतानि परिभुञ्जानः सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि कुर्वन् यथाकृताऽऽदेः पात्रस्य मार्गणा कुर्यात्। द्विविधं त्रिविधं वा पात्रं परिभुज्यमानमस्ति ततस्तत्र पौरुषीं कृत्वाऽर्धपौरुषीं हापयित्वा मार्गयति । अथ त्रयाणां बन्धानामुपरि चतुःप्रभृतिस्थानेषु तत्पात्रं बद्धमस्ति, ततः

सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि वर्जयेत्, सूर्योदयादारभ्यैवाऽपरं पात्रकं मार्गयतीति ॥ ३४४ ॥

( ७ ) अथ कालद्वारमाह-

चत्तारि अहाकडए, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे ।
तेण पर मग्गियम्मि य, असती गहणं सपरिकम्मे ॥३४५॥

हुण्डशबलताऽऽद्यपलक्षणयुक्तं पात्रं धारयता चतुरो मासान् यथाकृतं मार्गयितव्यम्, चतुर्षु मासेषु पूर्णेष्वपि यदा यथाकृतं न प्राप्यते तदा द्वौ मासावल्पपरिकर्मगवेषणे भवतः, ततः परं मार्गितेऽप्यल्पपरिकर्मण्यप्राप्ते षण्मास्यां पूर्णायां सपरिकर्मणो ग्रहणं करोति ॥३४५॥

तच्च कियन्त कालं गवेषणीयम् ?, इत्याह-

पणयालीसं दिवसे, मग्गित्ता जो न लब्भए ततियं ।
तेण परेण न गिराहइ, मा तं पक्खेण रज्जेज्जा ॥ ३४६ ॥

पञ्चचत्वारिंशतं दिवसान् तृतीयं बहुपरिकर्म मार्गयित्वा यदि न लभ्यते, तत किम् ?, इत्याह-( तेण पर त्ति ) प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे तृतीया, ततः पञ्चचत्वारिंशतो दिवसेभ्य परं बहुपरिकर्म गृह्णाति, कुत इति चेत् ?. इत्युच्यते- यथाकृतगवेषणकालादारभ्य सार्द्धसप्तसु मासेषु गतेषु पञ्चदशभिर्दिवसैर्वर्षारात्रो भवति । तेन च पक्षमात्रेण कालेन मा तत्पात्रकं रज्येत, मा लिप्तं सत् प्रगुणीभवेत् । किमुक्तं भवति ?-वर्षाकाले पात्रस्य परिकर्म कर्तुं न लभ्यते, बहुपरिकर्मणि च पात्रे छेदनभेदनाऽऽदि प्रभूतं परिकर्म विधेयम्। तच्च पक्षमात्रेण न कर्तुं पार्यते, अतः पञ्चचत्वारिंशद्दिवसेभ्य. परतो न ग्रहीतव्यमिति ॥३४६॥ गतं कालद्वारम् ।

(८) अथाऽऽकरद्वारमाह-

कुत्तियसिद्धगनिराहव-पवंचपडिमाउवासगाईसु ।
कुत्तियवज्जं वितिय, आगरमाईसु वा दो वि ॥ ३४७ ॥

यथाकृतं पात्रकं कुत्रिकाऽऽपणे मार्गयितुं सिद्धपुत्रकस्य वा, निह्नवस्य वा, प्रपञ्चश्रमणस्य वा, एकादशीं प्रतिमां पूरयित्वा वा श्रमणोपासको गृहं प्रत्यागतस्तदादेर्वा पार्श्वे यथाकृतं पात्रं प्राप्यते, कुत्रिकाऽऽपणवर्जे शेषेषु सिद्धपुत्रकाऽऽदिषु द्वितीयमल्पपरिकर्म प्राप्यते । अथवा-आकराऽऽदिषु हि अल्पपरिकर्मणी प्राप्येते ॥३४७॥

तद्यथा-

आगर नई कुडंगे, वाहे तेणे य भिक्ख जंत विही ।
कय कारियं च कीतं.जइ कप्पइ घेप्पिउं अज्जो ! ॥३४८॥

आकरो भिल्लपल्ल्यादिर्यत्राऽलावूनि प्राप्यन्ते, नद्यो, यास्तुम्बकैस्तीर्यन्ते, कुडङ्गं नाम-यत्र च खण्डतुम्बकानि क्षाप्यन्ते ।( वाहे तेणय त्ति ) व्याधपल्ल्यां, स्तेनपल्ल्यां वाऽलावूनि लभ्यन्ते । ( भिक्ख त्ति ) ये भिक्षाचरा अलाबुकानि गृहीत्वा भिक्षां पर्यटन्ति । ( जंत त्ति ) यन्त्रशालासु गुडाऽऽदीनामुत्सेचनार्थमलावूनि धार्यन्ते । एतेषु स्थानेषु ( विहि त्ति ) विधिना पात्रकं ग्रहीतव्यम् । कः पुनर्विधिरिति चेत् ?, उच्यते-तत्राऽऽकराऽऽदिषु गत्वा च भाषणे कृते दायकेन दर्शिते प्रष्टव्यम्-कस्यार्थमेतत् कृतम् ?। ततस्तेऽभिदध्युः-युष्माकमर्थे कृतम् कारितम्, क्रीतं वा, यदि कल्पते तत. आर्य ! गृह्यताम् । एवमुक्ते सति न गृह्णातीति संग्रहगाथासमासार्थ. ॥३४८॥

अथैनामेव गाथाद्वयेन विवृणोति-

आगर पल्लीमाई, निच्चुदग नदी कुडंगमुस्सरणं ।
वाहे तेणे भिक्खे, जंते परिभोग संसत्तं ॥ ३४९ ॥
तुम्हऽट्ठाएँ कयमिणं, अन्नेसऽट्ठाएँ अहवण सयट्ठा ।
जो घेप्पइ च तदट्ठा, एमेव य कीयपामिच्चे ॥ ३५० ॥

आकरो नाम-भिल्लपल्ली, भिल्लकोट्टं वा । तत्र प्रायोऽलाबूनि प्रभूतानि प्राप्यन्ते । तथा नित्योदका अगाधजला महानद्यो यत्र ग्रामाऽऽदौ अलाबुभिस्तीर्यन्ते,तत्र पात्राणि प्राप्यन्ते । कुडङ्गं वृक्षगहनम्, तत्र तुम्बिकानामुत्सरणं वापनं क्रियते, यथा तासामेव नदीनां कूलेषु ये वृक्षकुडङ्गास्तेषु तुम्बिका अवाप्यन्ते । व्याधपल्ल्यां, स्तेनपल्ल्यां च तुम्बकेषु काञ्जिकपानीयाऽऽदीनि प्रक्षिप्यन्ते, तत्र कौलालभाजनाभावात् । भिक्षाचरा भिक्षार्थमलावूनि गृह्णन्ति । यन्त्रशालाऽऽदिषु च गुडोत्सेचनार्हतोरलाबूनि गृह्यन्ते । एतेष्वाकराऽऽदिषु यस्य प्रतिदिवसं परिभोग· क्रियमाणो विद्यते, तत्पात्रकं जन्तुभिरसंसक्तं भवतीति कृत्वा ग्रहीतव्यम् ॥३४९॥ पात्रे च दर्शिते कस्यार्थमेतत् कृतम् ?, इति पृष्टो दाता ब्रूयात्-युष्माकमर्थाय कृतमिदम् कारितं वा । अथवा-अन्येषां साधूनामर्थाय कृतम । " अहवण त्ति " निपातः यथार्थे स्वार्थमात्मनोऽर्थाय कृतमिदमस्माभिः । यद्वा-य एव भिक्षाचरो ग्रहीष्यति तस्यार्थाय कृतमिदं यावतिकमित्यर्थः । एवमेव च क्रीतप्रायमित्यादिकमपि वक्तव्यम । यच्चाऽऽत्मार्थं कृताऽऽदिकं तत्कल्पते, आधाकर्मिकाऽऽदिकं तु न कल्पते ॥ ३५० ॥ गतमाकरद्वारम् ।

( ९ ) अथ चाउलद्वारमाह-

चाउल उराहोदग तू-यरे य कुसणे तहेव तक्के य ।
जं होइ भावियं तं, कप्पति भइयव्वगं सेसं ॥ ३५१ ॥
उराहजलभावियं तं, अविगते सीओदगेण गेराहंति ।
मज्जवसतेल्लसप्पी-मधुमादी भावियं भतियं ॥ ३५२॥

( चाउलं ति ) तन्दुलधावनम्, उष्णोदकं प्रतीतम्, तुवरं कुसुम्भोदकाऽऽदिकम्, कुसणं मुद्गदाल्यादि, तस्य यदुदकं तदपि कुसणम्, तक्रं प्रतीतम् । एतैर्यद्भावितं तत्कल्पते । शेषमेतद्विपरीतजलभावित यत्पात्रम्, तदविगतेऽपरिणते शीतोदकेन गृह्णन्ति । मज्जा-वसातैलसर्पिर्मध्वादिभिस्तु भावित भक्तं विकल्पितम् । तथाहि-यदि तेषा मज्जाऽऽदीनामवयवा निःशेषा अपनेतुं शक्यन्ते, ततो गृह्णते । अथवा-विकटाऽऽदिभावित यत्र युगपदुज्झितं तत्र न गृह्णते, अनुज्झितं तु गृह्णते ॥ ३५२ ॥

पात्रग्रहण एवं विधिमाह-

ओभासणा य पुच्छा, दिट्ठी रिक्के मुहं वहंते य ।
संसट्ठे निक्खित्ते, सुक्खे य पगासे दट्ठूण ॥ ३५३ ॥
ओसत्य पाणमाई, पुच्छा मूलगुण-उत्तरगुणे य ।
तिट्ठाणे तिक्खुत्तो, मुद्दो ससिणिद्धमादीसु ॥ ३५४ ॥
दाहिणकरेण कोणं, घेत्तुं भाणस्स वाम मणिबंधे ।
घट्टेइ तिन्नि वारे, तिन्नि तले तिन्नि भूमीए ॥ ३५५ ॥

तसे वीयम्मि वि दिट्ठे, न गेएहती गेएहती तु अदिट्ठे।
गहणम्मि उ परिसुद्धे,कप्पति दिट्ठेहि वी बहुहिं ॥३५६॥

एताश्चतस्रोऽपि गाथा. पीठिकाया सविस्तरं व्याख्याता इति नेह भूयो व्याख्यायन्ते। गतं चाउलद्वारम्।

(१०) अथ जघन्ययतनाद्वारमाह–

पच्छित्तपण जहएणं, तेण उ तव्वुड्डिए य जयणाए।
जहन्ना व सस्सवादी,तेहि उ जयणेयर कलादी ॥३५७॥

जघन्यं प्रायश्चित्तपञ्चकं, तेन यतना जघन्ययतना। कथम्?, इत्याह–ते वृद्धाः पञ्चकाऽऽदिवृद्धिरूपया यतनया पात्रकाऽसत्तायां यतन्ते। अथवा-सर्षपाऽऽदीनि वीजानि जघन्यानि, सूक्ष्माणीत्यर्थः। तैर्युक्तं पात्रकं वक्ष्यमाणया षड्भागकरवृद्धियतनया गृह्णन्ति, इतराणि तु बादराणि वीजानि.कला(या)श्चणकास्तदादीनि, आदिशब्दाद् मसूराऽऽदीनि च ॥३५७॥

अमुमेवार्थं विवरीषुराह–

छब्भागकते हत्थे, सुहमेसु पढमपव्वे पणगं तु।
दस वितिए रायदिणा, अंगुलिमूलेसु पन्नरस ॥३५८॥

इह हस्त षड्भागः क्रियते, तत्र प्रथमपर्वस्थेको भागः, द्वितीयपर्वणि द्वितीयः, अङ्गुलिमूलानि तृतीयः, आयुषो रेखा चतुर्थः,अङ्गुष्ठवन्धः पञ्चमः अङ्गुष्ठमतिक्रम्य शेषः सर्वोऽपि षष्ठो भागः। एवं षड्भागीकृते हस्ते प्रथमपर्वमात्रे सूक्ष्मवीजे, पञ्चक पञ्चरात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तम्। द्वितीयपर्वमात्रेषु दश रात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तम्, अङ्गुलिमूलेषु पञ्च दश रात्रिन्दिवानि प्रायश्चित्तम् ॥३५८॥

वीसं तु आउलेहा, अगुट्ठंता य होति पणवीसा।
पसइम्मि होइ मासो, चाउम्मासो भवे चउसु ॥३५६॥

आयूरेखामात्रेषु विंशतिरात्रिन्दिवानि, अङ्गुष्ठान्तमात्रेषु पञ्चविंशती रात्रिन्दिवानि,प्रसृतिप्रमाणेषु मासलघु, चतुष्प्रसृतिप्रमाणेषु चत्वारो मासा लघव। एवं सूक्ष्मवीजेषु प्रायश्चित्तमुक्तम् ॥३५६॥

अथ बादरवीजेषु तदेवाऽतिदिशन्नाह–

एसेव कमो नियमा, मूलेसु वितियपव्वमारद्धो।
अंजलिचउक्क लहुगा, तच्चिय लहुगा अणंतेसु ॥३६०॥

एष एव क्रमो नियमाद् मूलेष्वपि चण काऽऽदिवीजेषु मन्तव्यः। नवरम्-द्वितीयपर्वाण्यादौ कृत्वाऽत्र प्रायश्चित्तक्रम. प्रारभ्यते–द्वितीयपर्वमात्रेषु बादरवीजेषु पञ्चकम्,अङ्गुलिमूलमात्रेषु दशकम्, आयूरेखामात्रेषु पञ्चदशकम् अङ्गुष्ठमूलमात्रेषु विंशतिः, प्रसृतिप्रमाणेषु भिन्नमासः, अङ्गुलिमात्रेषु मासलघु, अञ्जलिचतुष्कपरिमाणेषु चतुर्लघु। एतत्प्रत्येकवीजविषयं भणितम् अनन्तवीजेषु सूक्ष्मस्थूलेषु यथाक्रममेतान्येव प्रायश्चित्तानि गुरुकाणि कर्त्तव्यानि ॥३६०॥

निक्कारणम्मि एए, पच्छित्ता वन्निया उ वीएसु।
नायव्वा आणुपुव्वी, एसेव उ कारणे जयणा ॥३६१॥

एतानि प्रायश्चित्तानि निष्कारणे वीजेषु वीजयुक्ते पात्रे गृह्यमाणे वर्णितानि, कारणे तु पात्रकस्याऽसत्तालक्षणे आनुपूर्व्या प्रथमपर्वाऽऽदिरूपया एषैव पञ्चकाऽऽदिका यतना कर्त्तव्या। अथ यथाकृते प्रथमपर्वप्रमाणानि वीजानि,अल्पपरिकर्मकं च शुद्धं प्राप्यते, अनयोरेकतरत् गृहीतमुच्यते, यथाकृत ग्राह्यम्,नाऽल्पपरिकर्म। एवं द्वितीयपर्वाऽऽदिष्वपि वक्तव्यम्, यावदञ्जलिचतुष्कभृतमपि यथाकृत ग्राह्यम् ॥३६१॥

तथा चाऽऽह–

वोसट्ठं पि हु कप्पइ, वीयाईणं अहाकडं पायं।
न य अप्पसपरिकम्मा, तहेव अप्प न्परिकम्मा ॥३६२॥

आगन्तुकाना वीजाऽऽदीना ( वोसट्ठमपि ) आकण्ठभृतमपि यथाकृतं पात्रं कल्पते, न चाऽल्पपरिकर्म शुद्धमपि, तथैवमेवाल्पपरिकर्मकमागन्तुकवीजानां भृतमपि कल्पते,न च सपरिकर्मकं शुद्धमपि ॥३६२॥

अत्रैवैदम्पर्यमाह–

थूला वा सुहमा वा,अवहंते वा असंथरंतम्मि।
आगतुअ संकामिय, अप्पवहु असंथरंतम्मि ॥ ३६३ ॥

यथाकृते स्थूलानि वा चणकाऽऽदीनि वीजानि भवन्तु, सूक्ष्माणि वा सर्षपाऽऽदीनि, यदि तस्य प्राकृतं भाजनं, नवरं गत्वा तदवहमानकं,तेन वा भाजनेन न संस्तरति,सर्वथा वा भाजनं तस्य नास्ति। एवमसंस्तरतोऽल्पे बहुत्वं तोलयित्वा बहुगुणकरमिति कृत्वा यथाकृतमागन्तुकवीजाना भृतमपि वीजानि यतनयाऽन्यत्र संक्रमय्य ग्रहीतुं कल्पते ॥३६३॥ गतं जघन्ययतनाद्वारम्।

अथ " असई, " "असिव त्ति" द्वारद्वयमाह–

थूलसुहुमेसु वुत्त, पच्छित्तं तेसु चेव भरिओ वि।
जं कप्पइ त्ति भणियं, ण जुज्जई पुव्वमवरेणं ॥४६४॥

स्थूलसूक्ष्मेषु वीजेषु पूर्वं सप्रपञ्चं प्रायश्चित्तमुक्तम् संप्रति तैरेव वीजैर्भृतोऽपि यथाकृतप्रतिग्रहो ग्रहीतुं कल्पते, इत्येवं यद्भणितं, तदेतद् युष्माकं पूर्वमपरेण न युज्यते ॥३६४॥

गुरुराह–

चोयग! दुविहा असई,संताऽसंता य संत असिवाऽऽदी।
इयरा उ झामिताऽऽई,संते भणियाउ सा सोही ॥३६५॥

हे नोदक! द्विविधा असत्-सदसत्ता, असदसत्ता च। तत्र सत्ता नाम–यत्र ग्रामे नगरे वा भाजनानि सन्ति तत्राऽपान्तराले वा अशिवं,स्वग्रामे वा येषु कुलेषु लभ्यन्ते तेषु अशिवम्, आदिशब्दादवमौदर्याऽऽदीनि तत्राऽपान्तराले, वा विद्यन्ते, अथ वाऽस्ति भाजनं, परं नवरं गत्वा न तावद्वहति। यद्वा-तद्भाजनमतिलघुतरमतो न तेन संस्तीर्यते। इतरा–असदसत्ता। सा पुनरियम्–पात्रं ध्यामितं प्रदीपनकेन दग्धम्, आदिशब्दात् स्तेनैर्वाऽपहृतं, भग्नं वा। एवंविधयोरप्यसत्तयोर्यथाकृतमागन्तुकवीजाना भृतमपि कल्पते, न पुन शुद्धमल्पपरिकर्म, यत्पुनरस्माभि शोधि प्रायश्चित्तमुक्तम्, सा द्विविधाया असत्ताया अभावे सति पात्रं यो गृह्णाति, तद्विषया मन्तव्या ॥३६५॥

किं च–

जो उ गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोसमेव तं जाणे।
अगुणो वि होति उ गुणो,विणिच्छओ सुंदरो जस्स ।३६६।

यस्तु य. पुन गुणो दोषकर आत्मोपघाताऽऽदिदोषजनक, स परमार्थतो गुण एव न भवति, किन्तु दोषमेव तं जानीयात्, दोषकारणत्वात्। यस्य तु विनिश्चय सुन्दर, स कथञ्चिदगुणोऽपि परिणामसुन्दरतया गुण एव भवति, गुणकारणत्वात्। एवमिहापि यथाकृते यत्स्थापितान्यागन्तुकवीजानि यतनयाऽन्यत्र संक्रामयत स्वल्पसङ्घट्टनदो–

पः, न तत्र सूत्राऽर्थयोः परिमन्थः, न च छेदनभेदनाऽऽदिनाऽऽत्मोपघातः। अपि च-तद् गृहीतं सत् तस्यामेव वेलायां भक्तपानग्रहणे उपयुज्यते, एवं सद्दोषमपि तद् बहुगुणम्, अपरिकर्माऽऽदौ अपरिकर्म्यमाणे सूत्रार्थपरिमन्थः, छेदनाऽऽदिनाऽऽत्मोपघातः, इत्यादयो बहवो दोषाः ॥३६६॥

(११) अथ सगुणमपि तावद्बहुदोषतरम् " अपमाणउवओगछेयण त्ति " द्वारमाह-

असइ तिगे पुण जुत्ते, जोगे ओहोवही उवग्गहिए ।

छेयणभेयणकरणे, सुद्धो जं निज्जरा विउला ॥ ३६७ ॥

यथाकृत त्रीन् वारान् मार्गितं परं न लब्धम्, ततो वारत्रिकं योगे व्यापारे युक्ते कृतेऽपि यथाकृतस्याऽप्राप्तौ, पुन-शब्दोऽवधारणे। स चैतदवधारयति-वारत्रयात्परतोऽल्पपरिकर्मकमेव ग्रहीतव्यम्। अथ तदपि न प्राप्यते, ततो बहुपरिकर्माऽपि ग्राह्यम्। एष ओघोपधौ च सर्वस्मिन्नपि विधिरवसातव्यः। एवं च क्रमाऽऽगतमल्पपरिकर्माऽऽदि गृहीत्वा तत्रोपयुक्तो यः छेदन-भेदने करोति, स शुद्धो, न प्रायश्चित्तभाक्। कुतः ?, इत्याह-यद्यस्माद्यथोक्तमागतं विधिं विदधानस्य निर्जरा विपुला भवति ॥३६७॥

ननु चाऽल्पपरिकर्माऽऽदौ छेदनाऽऽदिपरिकर्मसम्भवादात्मसंयमोविराधना भवति, ततः कथं तस्य ग्रहणमनुज्ञायते ?, उच्यते-

चोयग ! एताए च्चिय, असईए अहाकडस्स दो इयरे ।

कप्पंति य छेयणे पुण, उवओगं मा दुवे दोसा ॥३६८॥

हे नोदक ! या पूर्वं त्रिविधा असत्ता प्ररूपिता, एतयैव यथाकृतस्याऽसत्तया द्वे इतरे अल्पपरिकर्म-सपरिकर्मणी कल्पेते प्रतिग्रहीतुम्, परं तयोः छेदनाऽऽदौ महता प्रयत्नेन य उपयोगं करोति स द्वौ संयमाऽऽत्मविराधनालक्षणौ दोषौ मा भूतामिति कृत्वा ॥ ३६८ ॥

अहवा वि कओऽणेणं, उवओगो न चेय लब्भती पढमं ।

हीणाधिकं च लब्भति, सपमाणे तेण दो इयरे ॥३६९॥

अथवा कृतोऽनेन साधुना उपयोगो मार्गणव्यापारः, परं न लभ्यते प्रथमं यथाकृतं पात्रम् । अथवा लभ्यते, परं स्वप्रमाणतो हीनाधिकम् तेन कारणेन द्वे इतरे-अल्पपरिकर्मसपरिकर्मणी यथाक्रमं गृह्णाति ॥ ३६९ ॥

कुत ?, इति चेदुच्यते-

जह सपरिकम्मलंभे, मग्गंते अहाकडं भवे विपुला ।

निज्जरमेवमलंभे, बितियस्सियरे भवे विउला ॥ ३७० ॥

यथा सपरिकर्मणोऽल्पपरिकर्मपात्रस्य लाभेऽपि यथाकृतं मार्गयतो विपुला निर्जरा भवति, तथा यथाकृताऽलाभे इतरस्मिन् बहुपरिकर्मणि लभ्यमानेऽपि द्वितीयस्याऽल्पपरिकर्मण, उपलक्षणत्वादपरिकर्मणोऽप्यलाभे बहुपरिकर्ममार्गेण विपुलैव निर्जरा द्रष्टव्या ॥ ३७० ॥

अथवा-

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।

सेहे चरित्त सावय-भए य ततियं पि गिण्हिज्जा ॥३७१॥

यत्र यथाकृतमल्पपरिकर्म वा भाजनं प्राप्यते, तत्राऽपान्तराले वाऽशिवमवमौदर्यं राजद्विष्टं भयं वा बोधिकस्तेनाऽऽदिसमुत्थं वर्तते, ग्लानत्वं वा तस्य साधोः संजातं, तत्प्रतिबन्धेन न शक्यते तत्र गन्तुम् । शैक्षस्य वा तत्र सागारिकचारित्रस्य वा चोरिकाऽऽद्युपसर्गसमुत्थो भेद श्वापदाः सिंहाऽऽदयस्तेषां वा भयम्, एवमादिभिः कारणैस्तृतीयमपि बहुपरिकर्म पात्रं स्वस्थाने गृह्णीयात् ॥ ३७१ ॥

उक्तमेवार्थं सिंहावलोकितेनाऽऽह-

आगंतुगाणि य जओ, चिरपरिकम्मे य सुत्तपरिहाणी ।

एएण कारणेणं, अहाकडे होंति गहणं तु ॥ ३७२ ॥

यथाकृते यानि बीजानि तान्यागन्तुकानि, चिरकालपरिकर्मणि च क्रियमाणे सूत्राऽर्थपरिहाणि । एतेन कारणेन यथाकृतस्य ग्रहणं कार्यम् नाऽल्पपरिकर्माऽऽदेः ॥३७२॥

(१२) अथ मुखद्वारमाह-

बिइय-तइएसु नियमा, मुहकरणं होज्ज तस्सिमं माणं ।

तं चिय तिविह पायं, करंडगं दीह वट्टं च ॥ ३७३ ॥

द्वितीयतृतीययोरल्पपरिकर्म-सपरिकर्मणोर्नियमात्तु मुखकरणं भवेत्। तस्य च मुखस्य इदं वक्ष्यमाणं मानम्-तत्र यस्य मुखं विचारयितव्यं तत् त्रिविधं करण्डकं करण्डकाऽऽकारम्-बहुपृथुत्वमल्पोच्छ्रयम्, दीर्घमल्पपृथुत्वं बहूच्छ्रयम्, वृत्तं चतुरस्रम् ॥३७३॥

एतेषां मुखप्रमाणमाह-

अकरंडम्मी भाणे, हत्थो उड्ढं जहा ण घट्टेति ।

एयं जहण्णगमुहं, वत्थुं पप्पा विसालतरं ॥ ३७४ ॥

अकरण्डके करण्डकाऽऽकाररहिते दीर्घे, समचतुरस्रे वा भाजने हस्तः प्रविशन् निर्गच्छन् वा यथा ऊर्ध्वं कर्णं न घट्टयते न स्पृशति, एतत्सर्वं जघन्यं मुखप्रमाणम्, अतः परं वस्तु बृहत्तरपात्राऽऽदिकं प्राप्य प्रतीत्य विशालतरं मुखं क्रियते, यत्पुनः करण्डकाऽऽकारं पात्रं तस्य विशालमेव मुखं कर्त्तव्यम्, अन्यथा तद् दुष्प्रत्युपेक्ष्यं भवति ॥३७४॥ एष प्रतिग्रहविधिरुक्तः, बृ० ३ उ० ।

से भिक्खू वा अभिकंखेज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पायं जाणेज्जा । तं जहा-अलाउयपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे० जाव थिरसंघयणे, से एगं पायं धारिज्जा, नो बिइयं ॥

स भिक्षुरभिकाङ्क्षेत् पात्रमन्वेष्टुम्, तत्पुनरेव जानीयात्। तद्यथा-अलाबुकाऽऽदिकम्। तत्र च य स्थिरसंहननाऽऽद्युपेत एकमेव पात्रं बिभृयाद्, न द्वितीयम् स च जिनकल्पिकाऽऽदिः। इतरस्तु मात्रकसद्वितीयं पात्रं धारयेत्, तत्र संघाटके सत्येकस्मिन् भक्तं द्वितीये पात्रे पानकं, मात्रकं त्वाचार्याऽऽदिप्रायोग्यकृतेऽशुद्धस्य वेति। आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ०।

( १३ ) अलाबुपात्रं गृह्णाति-

जे भिक्खू लाउपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा सयमेव परिघट्टेइ वा, संठवेइ वा, जमवेति वा, परिघट्टंतं वा संठवंतं वा जमवियंतं वा साइज्जइ ॥२४॥

इत्यादि। भाष्यं यथा प्रथमोद्देशके तथाऽत्र पि ।

लाउएँ दारुएँ पाए मट्टियपाए य तिविधमेक्केक्के ।

बहुअप्पअपरिकम्मे, एक्केक्क तं भवे कमसो ॥१६२॥

अद्धंगु १ पुव्व २ तिरिय वि ३ उक्कोस ४ तं चेव ५ भत्त ६ वट्टं ७ परिघट्ट ८ पडमा ६ एता गाहा नव ।

घट्टित संठवियाणं, पुव्विं जमिताण होतु गहणं तु ।
असती पुव्वकताणं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १६२ ॥

तत्र परकरणं प्रतिषिद्धम्, इह तु स्वयं करणं प्रतिषिध्यते । नि० चू० २ उ० ।

नायकमनायकं वा पात्रं याचते–

जे भिक्खू सणायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अणउवासग वा गामंतरंसि वा, गामपहंतरंसि वा पडिगाहं ओभासिय ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ॥४७॥

इमो सुत्तत्थो । गाहा–

जे भिक्खू णायगाई, पडिगामे अंतरा पडिपहे वा ।
ओभासेज्जा पायं, सो पावति आणमादीणि ॥ १६३ ॥

नायगो पुरसंथुतो, पच्छा संथुओ वा । पुव्वसंथुतो–माति-पितियाऽऽदिगो,पच्छा संथुओ-सासससुराऽऽदिगो, असंथुओ एयव्वइरित्तो, सणायगो अणायगो सव्वो वि एसो उवासगो, अणुवासगो त्ति ।

अस्य व्याख्या–

साधुं उवासमाणो, उवासओ सो वती व अवती वा ।
सो य सणायग इतरो, एवऽणुवासे वि दो भंगा ॥१६४॥

साधू चेइए वा पोसहं उवासेंतो उवासगो भवति,से उवासगो पुणो दुविहो–वती, अवती वा । अणुव्वया जेण गहिया सो वती,जो दंसणसावगो सो अव्वती,सो सणायगो इयर त्ति गतार्थं । जो वि अणुवासगो सो वि सणायगो,अणायगो वा, एते दो भंगा ।

पडिग्गामं अंतरपडिवंधस्स य इमं वक्खाणं । गाहा–

पडिगामो पडिवसभो, गामंतरे दोण्ह मज्झ खेत्तादी ।
गामपहो पुण मग्गो, जत्थ व अणत्थ गिहवज्जं ॥१६५॥

पडिवसभो अंतरपल्लिगो वा अण्णो वा पडिग्गामो भण्णति, दोण्हं गामाणं अंतरे मज्झे खेत्ते खलए वा पहं प्रति पडिपहो भण्णति । उज्झामाऽऽदि गतस्स वा अभिमुहो पहे मिलेज्जा, एस पडिपहो वा, वासहाओ गिहं वज्जेत्ता अण्णत्थ वा जत्थ परिसारत्थाऽऽदिसु मग्गइ, एवमादिसु ठाणेसु जति त सणायगादिपायं ओभासेज्जा, तो आणाऽऽदिया दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं ।

इमे य भद्दपत्तदोसा भवंति–

असती य भद्दओ पुण, उग्गमदोसे करेज्ज सव्वेहिं ।
पत्तो पेलवगहणं, अद्धाणे भासितो कुज्जा ॥ १६६ ॥

भद्दो चिंतेति–पयस्स साधुस्स अतीव आदरो दीसति, जेण अद्धाणगयं भासते भारियं, से किंचि कज्जं । सो भद्दगो असति पायस्स सोलसण्हं उग्गमदोसाणं अन्नतरेण दोसेण करेत्ता देज्जा,सव्वेहिं वा उग्गमदोसेहिं बहुपाए करेत्ता देज्ज । एगपाएसु सव्वुग्गमदोसा ण संभवन्तीत्यर्थ । पत्तो पुण अद्धाणे ओरुद्धो कतो, ममत्थ पायं ति पेलवग्गहणं करेज्ज । अणालोइयपुव्वाऽवक्खारिणो पेलवा एए त्ति ण देज्ज, अहवा अद्धाणेद्धो रुट्ठो संतं पि ण दिज्जा ।

गाहा–

अतिआतुरो सि दीसति, अद्धाणगयं पि जेण मग्गति ।
भद्दमदोसा एए, इतरो संतम्मि पुण देज्जा ॥ १६७ ॥

इयरो त्ति पत्तो । सेसं गतार्थम् ।

जम्हा एवमादी दोसा भवंति । गाहा–

तम्हा सट्ठाणगयं, नाऊणं पुच्छिऊण ओभासे ।
वितियपदे असिवादी, पडिवसभाऽऽदीसु जयणाए ।१६८।

सट्ठाणं घरे ठियं णाऊणं ति अत्थि पयस्स पायं दिट्ठं वा, तं पुच्छितं–कस्सेदं ति । अण्णेण कहियं अमुगस्स । ताहे ओभासियव्वं, अणाए अपुच्छिते वा पुव्वुत्ता दोसा भवंति । वितियपदेण अद्धाणगयं पि जयणाए ओभासेज्ज, जत्थ जहुत्तेण विधिणा पाया लब्भति तत्थ जति असिवाऽऽदिकारणा ताहे तत्थेव पडिवसभाइसु अद्धाणगयं पि जयणाए ओभासेज्ज ।

का जयणा ?, इम —

विप्पभिति घरादिट्ठे, गाढं वा विक्खुणं तहिं दट्ठुं ।
विंति घरे ण दिट्ठो, से किं कारण ताहे दीवेंति ॥१६९॥

जाहे णायं–णिस्संकियं पयस्स अत्थि पायं, दिट्ठं वा, ताहे अचिर त्ति गतो ओभासेज्जा,जइ ताहे दिण्णं तो लट्ठं । अह सो भणेज्ज–घरपती जाणति । ताहे सो घरट्ठितो ओभासिज्ज त्ति । अह ण दिट्ठो ताहे घरे भण्णति–अक्खेज्जह तस्स, जहा तुज्झ समीव पव्वइओ आगय त्ति । पुणो वितियदिणे एवं, ततिए वि एवं, ततो वा घरे अदिट्ठे, अहवा घरे दिट्ठो, तस्स पुण गाढं विक्खुणेति । किंचि घरकयव्वताए अतीव अक्खाणितो पि गतो, ण मग्गितो त्ति । अहवा गाढं विक्खुणं ति साहुस्स संबज्झति । गाढं अतीव विक्खुणं विसूरणं,जाहे अतीव साहू विस्तरन्तीत्यर्थः । ताहे अण्णत्थ वि अद्धाणठित दट्ठुं भणंति–अम्हे तुज्झ सगासं आगता घरे य तओ वारा गविट्ठो आसि, ताहे सो भणेज्ज–किं कज्जं ? । ताहे साहुणो तस्स कारणं दीवेंति । तुज्झ पायं अत्थि;तं देहि त्ति ।

गाहा–

ताहे च्चिय जति गंतुं, ददाति दिट्ठे च भणति एज्जाह ।
तो कप्पती चिरेण वि, अदिट्ठे तु उग्गमेकतरं ॥२००॥

जति तेहिं साहूहिं तं पायं ण दिट्ठं आसि, तो जति दोसा ता ताहे च्चिय तेहिं साहूहिं सहर गंतुं देति तदा कप्पति, अह भणति–पुणो एवज्जह, तो उग्गमदोसकरणाऽऽसंकाए ण कप्पति, पच्छा अह तं साहूहिं दिट्ठं पत्तं आसि, जति भणेज्ज–पुणो एज्जह, तो तं चेव पातं सुचिरेण वि देंतस्स कप्पति, अण्णं ण कप्पति ।

सुत्तं-

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणउवासगं वा परिसा मज्झा ओवट्टित्ता पडिगाहगं ओभासिय ओभासिय जीयइ, जीयंतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

गाहा-

जे भिक्खू णायगाइं, परिसामज्झाउ उट्ठवित्ता णं ।
ओभासेज्जा पायं, सो पावति आणमादीणि ॥ २०१ ॥

कंठा चउलहुं पच्छित्तं, आणाऽऽदिया य दोसा ।

इमे अरणे य दोसा-

दुपद-चउप्पदहरणे, डहणे वा संजणघरखलक्खेत्ते ।
तस्स अरी मित्ताण व, संकेगतरे उभयतो वा ॥२०२॥

जो सो परिसामज्झातो उट्ठितो, तस्स जे अरी अरीण वा जे मित्ता, तेसिं तद्दिवसं चेव अहासमावत्तीए दुपदं-दासो, दासी वा चउप्पदं वा अश्वादिगद्दं हरियं वा अडाडाए, तेसिं वा कोइ सयणो उद्दीवितो, घरं, खलथाए वा दड्ढं, खित्तं वा खयं, ते संकेज्ज, कल्लं पव्वइएण असुगो परिसामज्झातो ओसारिओ त्ति, तेसिं एगतरं संकेज्ज-साहुं उपवातं उस्सारितं । अहवा उभयं पि संकेज्ज । तत्थ संकाए चउगुरु, णिस्संकिए मूलं, जं वा ते रुट्ठा डहणहरणतावणाऽऽदी करेज्ज, तं णिप्फण्णं पावेज्जा । जम्हा एवमादी दोसा, तम्हा परिसमज्झाउ णायगादी णो कप्पति उस्सारेउ । कारणे पुण कप्पति ।

तं च इमं कारणं-

असिवे ओमोयरिए,रायदुट्ठे भए व गेलाणे ।
सेहे चरित्त सावय-भए व जयणाएँ ओभासे ॥२०३॥

कंठा, णवरं जयणाए ओभासेति ।

अस्य व्याख्या-

परिसाए मज्झम्मि वि, अट्ठाणोभासणे दुविह दोसा ।
तिप्पाभितितिगिहादिट्ठे, दीवणता उच्चसद्देणं ॥२०४॥
जत्थ न होज्जा संका, संकेज्जजणाउ जे वयणपंतो ।
सो पडियरइय तुरिओ, अएणेण व उट्ठवावे इ ॥२०५॥

जे अट्ठाणोभासणे दुविधा भद्दपंतदोसा भणिया, ते चेव परिसामज्झातो वि उट्ठविज्जंते दोसा भवंति । अह आगाढं विक्खणं ताहे भएणति-तिप्पभितितिगिहादिट्ठे इदाणिं तुज्झ सगासं आगता । किं कज्जं ?, ताहे साधू भणंति-इहेव भणेमो, किं वा एगतं भणामो । तेण अब्भणुएणा, तत्थेव भणेज्ज । एगंते ट्ठामो, ताहे एगंते ओसारिज्जति । तत्थ वा माहू बहुजणमज्झे मग्गंतो संकति । तत्थ सो साधू त पडिग्गहसामि सयमेव उट्ठितं पडियरइ त्ति, पडिक्खइ त्ति वुत्तं भवति । अह त्वरितो अएणेण परिसामज्झातो उट्ठवावेति, एस जयणा । नि० चू० १४ उ० ।

( १७ ) महाधनानि अयःपात्राऽऽदीनि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जाइं पुण पायाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं । तं जहा-अयपायाणि वा, तउपायाणि वा, तंबपायाणि वा, सीसगपायाणि वा, हिरएणपायाणि वा, सुवएणपायाणि वा, रीरिअपायाणि वा, हारपुडपायाणि वा, मणि-काय-कंसपायाणि वा, संख-सिंगपायाणि वा, दंतपायाणि वा, चेलपायाणि वा, सेलपायाणि वा, चम्मपायाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं पायाइं अफासुयाइं० जाव णो पडिग्गहेज्जा ।

"से भिक्खू वा" इत्यादीनि सूत्राणि सुगमानि, यावन्महार्घमूल्यानि पात्राणि लाभे सत्यऽप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयादिति, नवरम्-(हारपुडपाय त्ति) लोहपात्रमिति, एवमयोबन्धनाऽऽदिसूत्रमपि सुगमम् । आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

जे भिक्खू अयपायाणि वा, तंबपायाणि वा, तउयपायाणि वा, सीसपायाणि वा, कंसपायाणि वा, रुप्पपायाणि वा, सोवण्णपायाणि वा, जायरुप्पपायाणि वा, मणिपायाणि वा, दंतपायाणि वा, कणयपायाणि वा, सिंगपायाणि वा, चम्मपायाणि वा, चेलपायाणि वा, सेलपायाणि वा, कणयपायाणि वा, सिंगपायाणि वा, अंकपायाणि वा, संखपायाणि वा, वइरपायाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । १ । जे भिक्खू अयपायाणि वा० जाव वइरपायाणि धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । २ । जे भिक्खू अयपायाणि वा० जाव वइरपायाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ । ३ । जे भिक्खू अयबंधणाणि करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । ४ । जे भिक्खू अयबंधणाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । ५ । जे भिक्खू तउयबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ६ । जे भिक्खू सीसबंधणाणि करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । ७ । जे भिक्खू सीसबंधणाणि धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । ८ । जे भिक्खू सीसबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ९ । जे भिक्खू कंसबंधणाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । १० । एवं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । ११ । एवं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । १२ । जे भिक्खू रुप्पबंधणाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । १३ । एवं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । १४ । एवं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । १५ । जे भिक्खू सोवण्णबंधणाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । १६ । एवं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । १७ । एवं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । १८ । जे भिक्खू जायरुप्पबंधणाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । १९ । एवं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । २० । एवं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ । २१ । जे भिक्खू मणिबंधणाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । २२ । जे भिक्खू मणिबंधणाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । २३ । जे भिक्खू मणिबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । २४ । जे भिक्खू कणयबंधणाणि वा करेइ करेंतं वा साइज्जइ । २५ । जे भिक्खू कणयबंधणाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ । २६ । जे भिक्खू कणयबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । २७ । जे भिक्खू दंतबंधणाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । २८ ।

जे भिक्खू दंतबंधणाणि वा धरेइ, धरतं वा साइज्जइ। २९। जे भिक्खू दंतबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ३०। जे भिक्खू सिंगबंधणाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ। ३१। जे भिक्खू सिंगबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ३२। जे भिक्खू सिंगबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ३३। जे भिक्खू चम्मबंधणाणि वा कारेइ, करंतं वा साइज्जइ। ३४। जे भिक्खू चम्मबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ३५। जे भिक्खू चम्मबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ३६। जे भिक्खू चेलबंधणाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ। ३७। जे भिक्खू चेलबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ३८। जे भिक्खू चेलबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ३९। जे भिक्खू सिलबंधणाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ। ४०। जे भिक्खू सिलबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ४१। जे भिक्खू सिलबंधणाणि वा भुंजति, भुंजंतं वा साइज्जइ। ४२। जे भिक्खू अंकबंधणाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ। ४३। जे भिक्खू अंकबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ४४। जे भिक्खू अंकबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ४५। जे भिक्खू संखबंधणाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ। ४६। जे भिक्खू संखबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ४७। जे भिक्खू संखबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ४८। जे भिक्खू वइरबंधणाणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ। ४९। जे भिक्खू वइरबंधणाणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ। ५०। जे भिक्खू वइरबंधणाणि वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ। ५१।

अयमादिया कंठा। हारपुडं णाम-अयमाया. पात्रविशेषा.। मौक्तिकलताभिरुपशोभिता मणिमादिया कण्ठा। मुक्का शैलमयं चेलमयं वा, सप्पओ खलियं वा पुडियाकारं कज्जइ। प्रथमसूत्रे स्वयमेव करणं कज्जइ। द्वितीयसूत्रे अन्यकृतस्य धरणम्, तृतीयसूत्रे अयमादिभिः स्वयमेव बन्धं करोति। चतुर्थसूत्रे अन्येन अयमादिभिर्बद्ध धारयति।

गाहा-

अयमाई पाया खलु, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते।
तब्बंधणबद्धं वा, नाणि धरे तम्मि आणादी ॥ २ ॥

करणधरणे आणाअणवत्थमिच्छत्तविराहणा य भवइ, चउगुरुगं च से पच्छित्तं।

इमो य भावपडिसेहो भन्नति-

तिन्नऽट्ठारस वीसा, सतमड्ढाइज्ज पंच य सयाणि।
सहस्सं च दससहस्सा, पएणास तहा सयसहस्सा॥३॥

मासो लहुओ गुरुओ, चउमासा होंति लहुय गुरुगा य।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूल तह दुगं च ॥ ४ ॥

एगादिया० जाव तिन्नि कहावणा जस्स मुल्लं, एयं धरेंतस्स मासलहुं। चउरादिया० जाव अट्ठारकहावणाजस्स मोल्लं, एयं धरेंतस्स मासगुरुं। वीसाए चउलहुं इक्कवीसाइ० जाव सयं पूर, एत्थ चतुगुरुगा। एगुत्तरादियसयाउ० जाव अड्ढाइज्जा सया, एत्थ छल्लहुगं। एतुवरि एगुत्तरवुड्ढीए० जाव पंचसया, एत्थ छगुरुगा। एवं सहस्से छेदो। दससहस्सेसु मूलं। पन्नासाए सहस्सेसु अणवट्ठो। सयसहस्से पारंचियं। एक्केके ठाणे आणाइया दोसा।

इमे-आयसंजमविराधना दोसा-

भारो भय परितावण-मारण अधिकरण अहियकसिणम्मि।
पडिलेहऽऽणाए लोवो, मणसंतावो उवादाणं ॥ ५ ॥

पमाणातिरित्ते भारो भवति, अथवा-भारभया ण विहरति। भएण वा ण विहरइ-मा मे एयं उक्कोसे पत्ते हीरेज्ज, भारेण वा परिताविज्जइ, तेणगेहिं वा दिट्ठो गहिओ परिताविज्जइ, मा स चावर्ज्जं कहइ त्ति तेणगा वा मारेज्ज, तेणगेहि य गहिए पाए अहिकरण, अथवा अइरित्तं अनुपयोगित्वात् अधिकरण, एते गणणाधिके, पमाणाहिके, मुल्लाधिके य दोसा भणिया। मुल्लपमाणकसिण च जइ पडिलेहति तो तेणगा पहुया य त्ति, हरंति य ते, अतो-पडिलेहिए उवहिणिप्फरणं संजमविराहणा य, गणणाइरित्तं जइ पडिलेहेइ तो सुत्तत्थपलिमंथो, अप्पडिलेहिए उवहिणिप्फरणं संजमविराहणा य अतिरित्तगहणा अप्पडिलेहणाए, आणालोपो कओ भवति। कसिणेऽवराहे मणसतावो भवइ-परिसं तारिसं मज्झ पायं आसि त्ति, खेत्तादिए भवे कसिणं च, सहस्सउ णिक्खिवउकामस्स उवादाणं भवइ। जम्हा एते दोसा तम्हा महद्धणमोल्लाइं पायाइं ण धरे, किं तु अप्पाई।

गाथा-

वितियपदे गेलएणे, असतीएँ अभाविते व गच्छम्मि।
असिवादी परलिंगे, परिक्खणट्ठा विवेगो वा ॥६॥
अगदो महसंजोगो, तं पि य रजतादि अहव वज्जेट्ठा।
मल्लगमभावितम्मी, पइदिण दुलभे व रयमादी ॥७॥

अगदमाइया, ते वेज्जुवदेसेण गिलाणस्स ओसह ठविज्जति, महसंजोए वा वेज्जट्ठा वा घेप्पइ। राया रायमच्चो वा पव्वाविउ सिया, तस्स य कणगमाइया उवट्ठियस्स कंसभायणे मा छड्डो, गेलन्नं वा भवेज्ज, तेण कणगादि घेप्पेज्ज, असइत्ति लाउयमादियाऽभावे अयमादिय गेण्हिज्ज, तत्थ वि अप्पमुल्लं, गच्छे वा अभाविया अत्थि तेसिं अट्ठाए मल्लगं गिण्हेज्ज, मल्लगे य पतिदिणं अलभते दुल्लभे वा रयताऽदि घेप्पेज्ज।

गाथा-

गच्छे च करोडादी, पतावणट्ठा गिलाणमादीणं।
असिवे सपक्खपत्तं, रायदुट्ठे च परलिंगे ॥ ८ ॥

उवग्गहट्ठा वा करोडगाई गच्छे धरिज्जति, गिलाणस्स

वा किंचि ओसह छोढुं उगहे पयाविज्जइ । आदिगहणाओ ओमरायदुट्ठादिसु, कारणे वा परलिंगं करेंतो गेएहेज्जा ।

गाहा-

भुंजइ ण व त्ति सेहो, परिक्खणट्ठा व गेएह कम्मादी ।
विसरिसवेसनिमित्तं, होज्ज व पंडादिपव्वइए ॥ ६ ॥

सेहस्स वा परिक्खणनिमित्तं पाडिहारियं घेप्पेज्जा, अहवा-कोइ अवणिज्जो कारणेण पव्वाविओ, तस्स य विसरिसो वेसो कायव्वो,-कारणे समत्ते तस्स विवेगो कायव्वो । नि० चू० ११ उ० ।

( १५ ) परगवेषितं पात्रं धरति-

जे भिक्खू परगवेसियगं पडिग्गहकं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

( जे भिक्खू परगवेसित्यादि ) पर अस्वजनः, भङ्गचतुष्काऽऽदि, शेषं पूर्वसूत्रवत् द्रष्टव्यम् ।

गाहा-

संजतपरे गिहिपरे, उभयपरे चेव होंति बोधव्वे ।
एते तिरिण विकप्पा, णायव्वा होंति तु परम्मि ॥१६६॥
लज्जाएँ गारवेण व, काऊण समूहपेच्छितो वाति ।
भिंतेहिँ दावितो वा, णिस्सो लुद्धो विमं कुज्जा ॥२००॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलएणे ।
सेहे चरित्त सावय-भए व जयणा गवेसेज्ज ॥२०१॥
संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणो कुज्जा ।
तो पच्छा तु परेणं, जतणाएँ गवेसणं कारे ॥२०२॥
पुव्वं भट्ठमलद्धे, णियं परं वा वि पट्ठवेत्तूणं ।
पच्छा गंतुं जायति, समणुव्वूहं ति य गिही वि ॥२०३॥

सुत्तं-

जे भिक्खू वरगवेसियं पडिग्गहकं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥२८॥

" जे भिक्खू वरगविट्ठेत्यादि " ।

वरशब्दप्रतिपादनार्थमाह-

जो जत्थ अच्चितो खलु, पमाणपुरिसो व होइ जो जत्थ ।
जम्मी वरसद्दो खलु, से गामए रट्ठिताऽऽदी तु ॥२०४॥

जो पुरिसो जत्थ गामे णगराऽऽदिसु अर्च्यते, अर्चितो वा, खलुशब्द· अवधारणार्थे। गामणगरादिसु कारणेसु पमाणीकतो, तेसु वा गामादिसु धणकुलादिणा पहाणो पदिसि पुरिसे वरशब्दप्रयोग·, सो य इमो हवेज्ज ( गामए त्ति ) गाममहत्तर·, (रट्ठि त्ति) राष्ट्रमहत्तरः, आदिशब्दतो भोइयपुरिसो वा, शेषं पूर्ववत् । एत्तो (१६०) पच्छा (१६२) असिवे (१६४) इत्यादि गाहाओ ।

संताऽसंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणो कुज्जा ।
तो पच्छा जतणाए, परं गविट्ठं पि कारेज्जा ॥२०५॥

सुत्तं-

जे भिक्खू वलगवेसियं पडिग्गहकं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

(जे भिक्खू वलगविट्ठेत्यादि) वलं सारीरं, धनजनपदादि वा ।

गाहा-

जो जस्सुवरिं य पभू, वलियतरो वा वि जस्स जो उवरिं ।
एसो वलवं भणितो, सो गहवति सामि तेणाऽऽदी ॥२०६॥

(जो त्ति) यः पुरुषः यस्य पुरुषस्योपरि प्रभुत्वं करोति सो वलव भएणति, अहवा-अप्रभू वि जो वलवं सो वि वलवं भएणति, सो पुण गृहपतिः, गामसामिगो वा, तेणगादि वा । शेषं पूर्ववत् । एत्तो ( १६० ) पच्छा ( १६२ ) असिवे ( १६४ ) भिषे (१६५) इच्चाइ गाहाओ ।

संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणो कुज्जा ।
पच्छा तू वलवंते, जतणाएँ गवेसणं कारे ॥ २०७ ॥

सुत्तं-

जे भिक्खू लवगवेसियं पडिग्गहकं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

( जे भिक्खू लवगविट्ठेत्यादि ) दाणफलं लविऊणं पडिग्गहं मग्गति ।

दाणफलं लविऊणं, लावावेउ गिहिअणातित्थीहिं ।
जो पायं उप्पाए, लवगविट्ठं तु सो होति ॥२०८॥

दाणफलं अप्पणा कहेति, गिहिअण्णतित्थिएहिं वा कहावेत्ता जो पायं उप्पादेति, एयं लवगविट्ठं भणति । नि०चू०२उ० ।

( १६ ) निजगवेषितं पात्रम्-

जे भिक्खू णियगवेसियगं पडिग्गहकं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ इत्यादि ।

नियग· स्वजनः स साधुवचनाद् गवेषति, तेनाऽन्विष्टं याचितं, त गवेसितं गृएहतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ उदया वारस एक्केक (१७६) अद्धंगुलं (१६१) जं पुव्व०(१६२) पढम०(१६६) वितिय (२०१) घट्टि० (२००) पच्छा० (२०२) (नि० चू०१ उ०) एताओं चेव गाहाओ । एस सुत्तत्थो ।

अधुना निर्युक्तिविस्तरः-

संजतणिए गिहिणिए, उभयणिए चेव होइ बोधव्वे ।
एते तिरिण विकप्पा, णियगम्मी होंति णायव्वा ॥१८८॥

जो गिहत्थो पायं गवेसतिजति सो निजत्वेनाऽन्विष्यते, साधोर्यस्य च तत्पात्रमस्ति गृहिणः संजतणिए एगो गिहिणिए, एवं ठाणकमेण चउभंगो कायव्वो, चतुर्थः शून्यः, तृतियभंगे जइ वि संजयस्स णिओ, तहा वि गिहिणा मग्गावयति इमेहिं कारणेहिं-

आसएणतरो भयमा-ऽऽयति उवरोवकारिता चेव ।
इति णीयायारवं वी, णीएण गवेसए कोई ॥१८६॥

स्वजनत्वेनाऽऽसन्नतरो भजतु, इतरो वा, आयतिं वा स यस्य करोति उपकारप्रत्युपकरणे वा प्रतिबद्ध इति कारणोपदर्शने । परशब्द एष्यत्सूत्रस्पर्शने आचत्रयभङ्गप्रदर्शनार्थं ।

गाहा-

एत्तो एगतरेणं, णितिएण जो गवेसणं कारे ।
भिक्खू पडिग्गहम्मी, सो पावति आणमादीणि ॥१६०॥

तिएहं भंगाणं एगतरेणाऽवि जो पडिग्गह गवेसइ, सो पावति आणमादीणि ।

दातुमप्रियं, तथाऽप्येवं ददाति-

लज्जाए गारवेण व, कातूण समूहपेच्छितो वा वि ।
भित्तेहिँ दावितो वा, णिस्सो लुद्धो विमं कुज्जा ॥१६१॥

वहुजए मज्भे मग्गितो लज्जाए ददाति, जेण मग्गितो त-

स्स गारवेण देति, बहुजणमज्झे मग्गिओ, बहुजणेण वुत्तो देति मित्ताण पुरओ मग्गिओ, मित्तेहिं भणिओ देति, निस्सो दरिही, तम्मि वा भायणे लुद्धो इमं कुज्जा ।

पच्छाकम्मपवहणे, अचियत्ता संखडे पदोसे य ।

एगतर उभयतो वा, कुज्जा पच्छारतो जो त्ति ॥१६२॥

त दाउं अप्पणो विसूरंतो अन्नस्स भायणस्स मुहकरणं करोति, पच्छाकम्मं वा करेति, अन्नं वा अपरिभोगं पवाहिज्जा, संजए गिहत्थे वा अचियत्तं करेज्ज, अचियत्तेण जहासंभवं वित्तिवोच्छेदं करेज्ज, साहुणा गिहत्थेण वा सद्धिं दो विउव्वितो अ संखडं करेज्ज । साहुस्स, गिहत्थस्स वा ओभओ वा पओसेज्ज, पच्छारओ वा सव्वसाहूणं पदूसेज्ज, पत्थारओ वा डहण-घाय-मारणाऽऽदि सयं करेज्ज, कारये व ।

कारणओ पुण गिहिणा मग्गावेउं कप्पेज्ज-

संतासंतसतीए, थिर अपजत्त लब्भमाणे वा ।

पडिसेधणेसणिज्जे,असिवाऽऽदी संतओ असती ॥१६३॥

संतं विग्रमानं, असंतं अविग्रमान, संतेसु चेव विसूरति, असंतेसु वा विसूरेइ । तत्थ संतासती इमा-अत्थिर हुंडं अपज्जत्त वा,अत्थि वा गिहकुलेसु ण लब्भंति, रायादिणा वा पडिसेधिए ण लब्भंति । असिवादीहिं वा सतओ असती ।

असिवादी इमं-

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।

असती दुल्लह पडिसे-वओ य गहण भवे पाए ॥१६४॥

भाणभूमीए अंतरा वा असिव, एव ओमे रायदुट्ठे भए वा गिलाणो ण सक्केति पायभूमिं गंतुं, दुल्लभपत्ते वा देसे राइणा वा पडिसिद्धा, परिसाए संतासतीए गिहिगविट्ठस्स गहण भवे ।

असंतासती इमा-

भिण्णे व झामिते वा, पडिणीए साणतेणमादीसु ।

एएहिं कारणेहिं, णायव्व असंतओ असती ॥१६५॥

भिण्णं, झामिय दड्ढ पडिणीयसाणतेणमादीहिं हडं, अन्नं च णत्थि, एवं असतो असंताऽसती गया ।

दुविहाऽसतीए इम विधिं कुज्जा-

संतासंतसतीए, गवेसणं पुव्वमप्पणो कुज्जा ।

तो पच्छा जतणाए, णीएण गवेसणं कारे ॥१६६॥

दुविहासतीए पुव्वं अप्पणो कुज्जा, सयमलब्भमाणे पच्छा जयणाए णिएण गवेसावए ।

अहवा गविट्ठे अलद्धे इमा विही-

पुव्वं भट्ठमलद्धे, णियं परं वा वि पट्ठवेत्तूणं ।

पच्छा गंतुं जायति, समणुन्नूहंति य गिही वि ॥१६७॥

पुव्वं संजएण गविट्ठं ण लद्ध, ताहे संजतो णियं पर वा पुव्वं तत्थ पट्ठवेति. गच्छ तुम तो पच्छा अम्हे गमिस्सामो, तुज्झ य पुरतो त मग्गिस्सामो, तुमं उववूहेज्जासि, जतीण भत्तदाणेण महतो पुण्णखधा वज्झति उववूहिते जति ण लब्भसि पच्छा भगेआसु वि देहि ति । एवं पदोसादयो दोसा परिहरिया भवति । नि० चू० २ उ० ।

(१७) अयोबन्धनाऽऽदीनि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जाइं पुण पायाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणबंधणाइं । तं जहा-अयबंधणाणि वा० जाव चम्मबंधणाणि वा अन्नयराइं तहप्पगाराइं महद्धणबंधणाइं अफासुयाइं णो पडिगाहेज्जा ॥२॥

आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० १ उ० ।

सूत्रं-

जे भिक्खू पायं एगेणं बंधेण बंधति, बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

( जे भिक्खू पायं एगेण इत्यादि ) उस्सग्गेण ताव अबंधण पात्रं घेत्तव्वं, एगबंधणमपि करेतस्स ते चेव आदिणो दोषाः, शेषं सभाष्यं पूर्ववत् ।

जे भिक्खू पायं परं तिण्हं बंधाणं बंधति, बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

(जे भिक्खू पायं पर तिण्हं इत्यादि) उववाओसग्गियं सुत्तं, दोसा ते चेव, मासगुरुं च से पच्छित्तं ।

तिण्हं तू बंधाणं, परेण जे भिक्खु बंधती पायं ।

वि.हिणा वाऽविधिणा वा,सो पावति आणमाईणि॥२४१॥

संतासंतसतीए, अथिरअपज्जत्तलब्भमाणे वा ।

पडिसेधणेसणिज्जे, असिवादी संतओ असती ॥२४२॥

असिवे ॥२४३॥ सेहे ॥२४४॥ भिण्णे वा ॥२४५॥ इत्यादि पूर्ववत् ।

संतासंतसतीए, परेण तिण्हं ण बंधियव्व तु ।

एवंविधे असंते, परेण तिण्हं पि बंधिज्जा ॥ २४६ ॥

एवं ताव दिट्ठ अतिरेगबंधणं, तं पुण केवतियं कालं अलक्खणं धरेयव्वं । नि० चू० १ उ० । ग० ।

जे भिक्खू अतिरेगबंधणं पायं दिवड्ढाओ मासाओ परेणं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

( जे भिक्खू अतिरेगेत्यादि ) दिवड्ढमासातो परं धरंतस्स आणादिणो दोसा, मासगुरु च से पच्छित्तं, ण केवलमतिरेगबंधणमलक्खणं दिवड्ढातो परं ण धरेयव्वं, एगबंधेणाऽवि अलक्खण न धरेयव्व ।

अलक्खणेगबंधं, दुगतिगअतिरेगबंधणं वा वि ।

जो पायं परिवड्ढइ, परं दिवड्ढाओ मासाओ ॥२४७॥

कंठा ।

जो एगबंधणादि धरेति, तस्स इमे दोसा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।

पावति जम्हा तेणं, अन्नं पाय वि मग्गेज्ज ॥ २४८ ॥

नित्थगराणं आणाभंगो, अणवत्था एगेण धारितं अन्नो वि धरेति, मिच्छत्तं-ण जहा वादिणो तहा कारिणो, आयसंजमविराहणा वक्खमाणगाहाहिं अतिरेगबंधणमलक्खणेण अन्ने वि सूइता अलक्खणा ।

हुंडं सबलं वाता-इद्धं दुरूत खीलसंठितं चेव ।

पउमप्पलं च सवणं [illegible] दुम्मख ॥ २४९ ॥

[illegible]

स्स तं सवलं, अणिप्फरण वाताइद्ध टोप्पडयं ति वुचति। जं ठविज्जंतं उड्ढ ठायति, वालियं पुण पलोट्टति, तं दुप्फत्त। ज ठविज्जंत ण ठाति त खीलसठित । जस्स अहो णाभी पउमागिती, उप्पलागिती वा तं पउमुप्पलं। कठगाऽऽदिखयं सव्वण। एताणि अलक्खणाणि, दद्धदुव्वण्णाणि य-दद्ध अ-ग्गिणा, पंचवण्णोववेयं दुव्वर्ण, एकस्मिन्नपि न पततीत्यर्थः। अहवा-प्रवालाङ्कुरसंनिभं सुवर्णं, सेसा सव्वे दुव्वण्णा, अनिष्टा इत्यर्थः। अहवाऽलक्खणं एगवंधणाऽऽदि,जं वा एयवज्जं आगमे अणिव्वट्ट।

इमा चरित्तविराहणा-

हुंडे चरित्तभेदो, सवले चित्तविब्भमो।
दुप्पत्ते खीलसठाणे, गणे व चरणे व णो ठाणं ॥ २५० ॥
पउमुप्पले अकुसल, सव्वणे वणमादिसे।
अंतो वहिं च दड्ढे, मरणं तत्थ णिद्दिसे ॥ २५१ ॥
दुव्वण्णम्मि य पाए, णत्थि णाणस्स आगमो।
तम्हा एते ण धारेज्जा, मग्गणे य विधी इमो ॥ २५२ ॥

चरणविणासो णाण-दसण-चरित्तविराहणा, सरीरस्स जं पीडाभवणं तं सव्वमकुसलं भवति, सेसं कंठं।

अवलक्खणेगवंधे, सुत्तत्थ करेंतो मग्गणं कुज्जा।
दुगतिगवंधे सुत्तं, तिण्हुवरिं दो वि वज्जेज्जा ॥ २५३ ॥

हुंडादिलक्खणेगवधपत्तेण गहिएण सुत्तत्थपोरिसीओ करेंतो जहा भत्तपाणं गवेसति तहा सलक्खणमभिणं वा पायं उप्पाएति, दुगतिगवंधणे सुत्तपोरिसिं काउं अत्थपोरिसीवेलाए मिग्गति, भिक्खं च हिंडंतो तिण्ह जं परेण वद्ध, अतो वहिं वा दड्ढं, णाभिभिण्णं वा एतेसु सुत्तत्थपोरिसीओ वज्जेति, सूरगामाओ आढत्तो जाव भिक्खं पि हिंडंतो मग्गति,केरिसं पायं ?, केण वा कमेण तं केत्तियं वा कालं मग्गियव्वं ?।

चत्तारि अहाकडए, दो मासा होंति अप्पपरिकम्मे।
तिण्णि परं मग्गेज्जा, दिवड्ढमासं सपरिकम्मं ॥ २५४ ॥

चत्तारि मासा अहाकडं पायं मग्गियव्वं, जाहे तं चउहिं वि ण लद्धं, तदुपरि दो मासा अप्पपरिकम्मं मग्गियव्व, जाहे तं पि ण लब्भति ताहे वहुपरिकम्मं दिवड्ढमासं मग्गेज्जा। किं कारणं ?। जाव तं अद्धमासेण परिकम्मिज्जति ताव वासाकालो लग्गति, तम्मि परिकम्मणा णत्थि।

एवं वि मग्गमाणे, जति पायं तारिसं ण वि लभेज्जा।
तं चेवऽणुकड्ढेज्जा, जाव य णो लब्भती पायं ॥ २५५ ॥

जारिसं आगमे भणियं सलक्खणं, जति तारिसं न लभेज्जा तं चेव अणुकड्ढेज्जा। भणिया परिकम्मणा उस्सग्गेण, अववातेण य। नि० चू० १ उ०।

(१८) प्रतिमापात्रग्रहणे-

अह भिक्खू जाणेज्जा चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए,तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय २ पायं जाएज्ज। तं जहा-अलाउयपायं वा,दारुपायं वा, मट्टियापायं वा,तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा०जाव पडिग्गहेज्जा, पढमा पडिमा १। अहावरा दोचा पडिमा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पेहाए पायं जाएज्जा। तं जहा-गाहावइं वा० जाव कम्मकरिं वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा, आउसो त्ति वा भइणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं पायं। तं जहा-अलाउपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा० जाव पडिग्गहेज्जा, दोचा पडिमा। २। अहावरा तचा पडिमा-से भिक्खू वा भिक्खु० वा से जं पुण पायं जाणिज्जा तं जहा-सगतियं वा वेजयंतियं वा तहप्पगारं पायं सयं वा ०जाव पडिग्गहेज्जा, तचा पडिमा। ३। अहावरा चउत्था पडिमा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उज्झियधम्मियं पायं जाएज्जा, जावऽण्णे वहवे समणा माहणा० जाव वणीमगा णावकंखंति,तहप्पगारं पायं सयं वा जाएज्जा ०जाव पडिग्गहेज्जा. चउत्था पडिमा। इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अण्णयरं पडिमं, जहा पिंडेसणाए।

तथा प्रतिमाचतुष्टयसूत्राण्यपि वस्त्रैषणावन्नेयानीति, नवरम्-तृतीयप्रतिमाया ( संगइयं ति ) दातुः स्वाङ्गिकं परिभुक्तप्रायम्। ( वेजयंतियं ति ) द्वित्रेषु पात्रेषु पर्यायेणोपभुज्यमानं पात्रं याचेत। आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० २ उ०। वृ०।

(१९) अथ कतिभिः प्रतिमाभिः पात्रं गवेषणीयम् ?,उच्यते-

उद्दिट्ठ पेक्ख संगय, उज्झियधम्मे चउत्थए होइ।
सव्वे जहन्न एक्को, उस्सगाई जयं पुच्छे ॥६५९॥

उद्दिष्टपात्रम्, प्रेक्षापात्रम्, संगतिकपात्रम्, उज्झितधर्मकं च चतुर्थमिति चतस्रः पात्रगवेषणायां प्रतिमाः, गच्छवासिन प्रतिमाचतुष्टयेनाऽपि पात्रं गृह्णन्ति,जिनकल्पिकानामधस्तनाभ्यां द्वाभ्यामग्रहणम्-उपरितनयोर्द्वयोरेकतरस्यामभिग्रहः। अथ गौरवभयादतिदिशन्नाह-( सव्वे जहन्न एक्को त्ति) यद्यस्य नास्ति वस्त्रम् इत्यारभ्य सर्वे वा गीतार्थो निश्रा वा जघन्यत एको गीतार्थो निश्रा वा इतिपर्यन्तं यथा वस्त्रविषये भावितं तथा पात्रेऽपि सर्वं तदवस्थमेव भावनीयम्। नवरम्-पात्राऽभिलाप कर्त्तव्यः। ( उस्सग्गाइ त्ति ) कायोत्सर्गोऽऽदिकम्। " आवासतोहि अखलंत समग उस्सग्ग " इत्यादि गाथोक्तं प्रायश्चित्तं तथैव वक्तव्य ( जयं पुच्छ त्ति ) यत मानपूर्वोक्ता यतनां कुर्वन् पृच्छेत्। किमुक्तं भवति ?-श्रावकेषु नावभावितव्यम्. किं तर्हि भावितकुलेषु, तत्राऽपि पात्रे दर्शिते कस्येदम् ? किमासीत्, किं भविष्यति इति पृच्छाचतुष्टयं तथैव कर्त्तव्यम्, किं वहुना य एव वस्त्रस्य विधि-' एवं तु गविट्ठेसुं, आयरिया दिंति जस्स जं नत्थि। समभागेसु कएसु व,जह रायणियो भवे विइओ ॥१॥" इति पर्यन्तः,प्राय. स एव पात्रस्याऽपि द्रष्टव्यः,यस्तु विशेषः स उपरिष्टाद्दर्शयिष्यते।

संप्रति मासचतुष्कं विभावयिषुराह-

उद्दिट्ठ तिगेगयरं, पेहा पुण दट्ठु एरिसं भणइ।
दोण्हेगयरं संगइ, वाहअई वारएणं तु ॥६६०॥

त्रिकस्य जघन्याऽऽदिश्रयस्यैकतरं यद् गुरुसमक्ष प्रतिज्ञातं तदेव याच्यमानमुद्दिष्टपात्रमिति प्रथमा, प्रेक्षापात्रं पुनर्दृष्ट्वा अवलोक्य यदीदृशं प्रयच्छति भणति तत्प्रेक्षापूर्वकं याच्यमानत्वात् प्रेक्षापात्रमिति द्वितीया । अथ तृतीया-तस्याश्च स्वरूपमाचाराङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे षष्ठाऽध्ययने प्रथमोद्देशके इत्थमभिहितम्-"अहावरा तच्चा पडिमा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण पायं जाणेज्जा । तं जहा-संगइयं वा वेजयंतियं वा ।" अथ किमिदं सङ्गतिक, किं वा वैजयन्तिकमित्याह-(दोएहँगयरमित्यादि) इह कस्यचिदगारिणो द्वे पात्रे, स च तयोरेकतरदिने २ वारकेन वाहयति, तत्र यस्मिन् दिवसे यद्वाह्यते तत् संगतिकमभिधीयते, इतरत् वैजयन्तिकं, तयोरेकतरं यदभिग्रहविशेषेण गवेष्यते, सा तृतीया प्रतिमा ।

चतुर्थीं प्रतिपादयति—

दव्वाऽऽइ दव्वहीणा-हियं तु अमुग च मे न घेत्तव्वं ।
दोहि वि भावनिसिट्ठं, तमुज्झिउं भट्ट णोभट्ठं ॥९९१॥

उज्झितं चतुर्द्धा-द्रव्यक्षेत्रकालभावोज्झितभेदात् । तत्र द्रव्योज्झितं यथा-केनचिदगारिणा प्रतिज्ञातम्-इयत्प्रमाणात् हीनाधिकं पात्रममुकं वा कमठप्रतिग्रहाऽऽदिकं पात्रं मया न ग्रहीतव्यं, तदेव केनचिदुपनीत, तत प्रागुक्तयुक्त्या द्वाभ्यामपि भावतो निसृष्टं तदवभाषितमनवभाषितं वा दीयमानं द्रव्योज्झितम् ।

क्षेत्रोज्झितमाह-

अमुइच्चगं न धारे, उवणीयं त च केणई तस्स ।
जं तुज्झे भरहाई, सदेस बहुपत्तदेसे वा ॥ ९९२ ॥

अमुकदेशोद्भव पात्रं न धारयामि, तदेव च केनचिदुपनीतं तदुभाभ्यामपि पूर्वोक्तहेतो· परित्यक्तं क्षेत्रोज्झितम्, यद्वा—पात्रमुज्झेयुर्भरताऽऽदय', भरतो नट, आदिशब्दाचारणाऽऽदिपरिग्रह । स्वदेशं गताः सन्तो, बहुपात्रदेशे वा, तदपि क्षेत्रोज्झितम् ।

कालोज्झितमाह-

दगदोछिगाऽऽइ जं पु-व्वकालजुग्गं तदन्नहिं उज्झे ।
होहि तहेस्सइ काले, अजोग्गयमणागयं उज्झे ॥९९३॥

" दोछिग " तुम्बकं,दकस्य जलस्य यद्ध्रियते तुम्बकं,तदादिशब्दात्तक्रतुम्बकाऽऽदिकं च यत्पूर्वस्मिन् ग्रीष्माऽऽदौ काले योग्यं तदन्यस्मिन् वर्षाकालाऽऽदावुज्झेत, भविष्यति वा एष्यति कालेऽयोग्यमतोऽनागतमेव यदुज्झेत्, तदुभयथाऽपि कालोज्झितं ज्ञातव्यम् ।

भावोज्झितमाह-

लद्धूण अन्नपाए, स देइ अन्नस्स कस्सइ गिही वि ।
सो वि अनिच्छइ ताइं, भावुज्झिय एवमाईयं ॥९९४॥

लब्ध्वा अन्यान्यभिनवानि पात्राणि पुराणानि स गृही अन्यस्य कस्यचिद्ददाति, अपि च तानि दीयमानानि यदा नेच्छति तदा एवमादिकं भावोज्झितं द्रष्टव्यम् । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

( २० ) तच्च पात्रकं लक्षणोपेतं ग्राह्यं, नालक्षणोपेतम्, एतदेवाऽऽह-

पायस्स लक्खणमल-क्खणं च भुज्जो इमं वियाणित्ता ।
लक्खणजुत्तस्स गुणा, दोसा य अलक्खणस्सेमे ।१००७।

पात्रस्य लक्षणं ज्ञात्वा विज्ञाय अलक्षणं च बुद्धा भूय पुन· लक्षणोपेतं ग्राह्यं, यतो लक्षणोपेतस्याऽमी गुणा·, अलक्षणस्य चैवं दोपा वक्ष्यमाणा भवन्ति,तस्माल्लक्षणोपेत ग्राह्यम् ।

तच्चेदम्-

वट्टं समचउरंसं, होइ थिरं थावरं च वर्ण्णं च ।
हुंडं वाताइद्धं, भिन्नं च अधारणिज्जाई ॥१००८॥

वृत्तं वर्तुलं, तत्र वृत्तमपि कदाचित्समचतुरस्रं न भवतीत्यत आह-समचतुरस्रं सर्वत', तथा स्थिरं च यद्भवति सुप्रतिष्ठानं तत् गृह्यते नान्यत्, तथा स्थावर च यद्भवति न परकीयं परवत् याचितं कतिपयदिनस्थायि, तथा वर्ण्यं स्निग्धवर्णोपेतं यद्भवति तद्ग्राह्यं, नेतरत् । उक्तं लक्षणोपेतम । इदानीमलक्षणोपेतमुच्यते-हुण्ड क्वचिन्निम्नं क्वचिदुन्नत यत् तदधारणीयम् ( वाताइद्ध त्ति ) अकालेनैव शुष्कं संकुचितं वलिभृतं तदधारणीयं, तथा भिन्नं राजियुक्तं सच्छिद्रं वा, एतानि न धार्यन्ते, परित्यज्यन्त इत्यर्थ· ।

इदानीं लक्षणयुक्तस्य फलं प्रदर्शयन्नाह-

संठियम्मि भवे लाभो, पइट्ठा सुपइट्ठिए ।
निव्वणे कित्तिमारुग्गं, वन्नड्ढे नाणसंपया ॥ १००९ ॥

संस्थिते पात्रके वृत्तचतुरस्रे ध्रियमाणे लाभो भवति, प्रतिष्ठा गच्छे भवति सुप्रतिस्थिते स्थिरे पात्रके, निर्व्रणे क्षताऽऽदिरहिते कीर्ति· आरोग्यं भवति, वर्णाढ्ये ज्ञानसपद्भवति ।

इदानीमलक्षणयुक्तफलप्रदर्शनायाऽऽह-

हुडे चरित्तभेओ, सबलम्मि य चित्तविब्भमं जाणे ।
दुप्पए खीलसंठाणे,गणे व चरणे च णो ठाणं ॥१०१०॥

हुण्डे चारित्रस्य भेदो विनाशो भवति । शवले चित्रले विभ्रमो चित्तविप्लुतिर्भवति, दुष्पात्रे अधोभाग अप्रतिष्ठिते प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठानरहिते,तथा कीलसंस्थाने कीलकं दीर्घमुर्ध्वगतं तस्मिंश्च एवंविधे गणे स्वगच्छे चरणे चरित्रे वा न प्रतिष्ठानं भवति ।

पउमुप्पले अकुसलं, सव्वणे वणमाइसे ।
अंतो वहिं व दड्ढे, मरणं तत्थ निद्दिसे ॥१०११॥

पद्मोत्पललाञ्छिते स्थासगागारे पात्रके अकुशलं भवति, सव्रणे भवति पत्रकस्थायिन' । तथा-अन्त अभ्यन्तरे,वहिर्वा दग्धे सति मरण तत्र निर्दिशेत् ।

इदानीं मुखलक्षण प्रतिपादयन्नाह-

अकरंडगम्मि भाणे, हत्थो उड्ढं जहा न घट्टेइ ।
एयं जहन्नयमुहं, वत्थुं पप्पा विमालं तु ॥१०१२॥

करण्डक वसनग्रन्थिल समतलक· करण्डकस्येवाऽऽकारो यस्य तत्करण्डकं, न करण्डकमकरण्डकं वृत्तामसचतुरस्रमित्यर्थ' । तस्मिन् एवंविधे भाजने पात्रके मुख कियन्मात्र क्रियते ? । अत आह -हस्त प्रविशन् ऊर्द्ध करणे यथा न घट्टयति न स्पृशति एतज्जघन्यमुख पात्रकं भवति वस्तु प्राप्य वस्त्वाश्रित्य मुखनैव गृहस्थो ददाति इत्येवमाद्याश्रित्य विशालतरं मुखं क्रियत इति । ओघ० ।

दाना वदेत् तैलाऽऽदिना म्रक्षयेत्-

से णं एताए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो वइज्जा-आ-

उसंतो समणा ! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए, से णं परो णेता वदेज्जा—आउसो त्ति वा भइणीति वा आहरेयं पायं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेत्ता वा तहेव सिणाणाइ तहेव सीतोदगादिं कंदादिं तहेव, से णं परो णेता वदेज्जा—आउसंतो समणा! मुहुत्तगं जाव अत्थाहि ताव अम्हे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवकरेंसु वा उवक्खडेंसु वा तो ते वयं आउसो! सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहए दिन्ने समणस्स णो सुट्ठु साहु भवइ।

( से इत्यादि ) एतयाऽनन्तरोक्तया पात्रैषणया पात्रमन्वेषितं साधुं प्रेक्ष्य परो ब्रूयाद्भगिन्यादिकं,यथा तैलाऽऽदिनाऽभ्यज्य साधवे ददस्वेत्यादि सुगममिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

(२१) पात्रप्रयोजनम् । आह—कस्माद्भाजनग्रहणं क्रियते ?, आचार्यस्त्वाह—

छक्कायरक्खणट्ठा, पायग्गहणं जिणेहिँ पन्नत्तं ।
जे य गुणा संभोगे, हवंति ते पायगहणे वि । १०१३॥

षट्कायरक्षणार्थं पात्रकरहितः साधुः भोजनार्थं षडपि कायान् व्यापादयन्ति यस्मात्तत्पात्रग्रहणं जिनैः प्रज्ञप्तं प्ररूपितम्,ये च गुणाः मण्डलीसंभोगे व्यावर्णिता भवन्ति त एव गुणाः पात्रकग्रहणेऽपि भवन्ति,अतो ग्राह्यं पात्रमिति ।

के ते गुणाः ?,इत्यत आह—

अतरंतवालवुड्ढा, सेहा एस्सा गुरू असहुवग्गो ।
साहारणुग्गहाऽल—द्धिकारणा पायगहणं तु ॥१०१४॥

ग्लानकारणात् वालकारणात् वृद्धकारणात् शिष्यकारणात् प्राघूर्णककारणात् गुरुकारणात् असहिष्णु राजपुत्रः कश्चित्प्रव्रजितः तत्कारणात् साधोरवग्रहो अवष्टम्भः अनेन पात्रकेण क्रियते,एतेषां सर्वेषामत. साधारणावग्रहाद्धेतोः अलब्धिमान् कश्चिद्भवति,तस्याऽऽनीय दीयते एतच्च पात्रकेण विना दातु न शक्यते, अस्मात्कारणात् पात्रकग्रहणं भवति। उक्तं पात्रकप्रमाणम् । ओघ० । ध० । पं० च० । प्रव० ।

आधाकर्मिकाऽऽदिपात्राणि—

से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो त्ति वा भइणीति वा णो खलु मे कप्पइ आधाकम्मिए असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा भुत्तए वा पायए वा मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि से सेवं वयंतस्स परो असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवकरेत्ता उवक्खडेत्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं अफासुयं० जाव णो पडिग्गाहेज्जा, सिया से परो उवणित्ता पडिग्गहगं णिसिरेज्जा,से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो त्ति वा भइणी ति वा तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतो अंतेणं पडिलेहिस्सामि। केवली बूया—आयाणमेयं अंतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा, अह भिक्खु णं पुव्वोवदिट्ठा पतिण्णा, जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतो अंतेणं पडिलेहिज्जा,सअंडादिं सव्वे आलावगा भाणियव्वा,जहा वत्थेसणाए णाणत्तं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा सिणाणादि०जाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव आमज्जेज्जा,एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं सव्वट्ठेहिं सहितेहिं सया जएज्जा त्ति वेमि ॥ १५२ ॥

( तथा से णमित्यादि ) स नेता तं साधुमेवं ब्रूयात्—तथाऽतिरिक्तं पात्रं दातुं न वर्त्तत इति मुहूर्त्तकं तिष्ठ त्व, यावदशनाऽऽदिकं कृत्वा पात्रकं भृत्वा ददामीत्येवं कुर्वन्तं निषेधयेन्निषिद्धोऽपि यदि कुर्यात्ततः पात्रं न गृह्णीयादिति । यथा दीयमानं गृह्णीयात्तथाऽऽह—( से इत्यादि ) तेन दात्रा दीयमानं पात्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षेतेत्यादि वस्त्रवन्नेयमित्येतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० १ उ० ।

यदि पात्रार्थं योजनात्परं गच्छति—

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराए पायवडियाए गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ११० ॥

मूलवसभगामाओ जाव अद्धजोयणं ति मेरा भवइ, अद्धजोयणाओ परओ जइ जाइ,पायग्गहणं करेति,तो आणाइया य दोसा भवंति ।

गाहा—

परमद्धजोयणाओ, संथरमाणेसु णवसु खेत्तेसुं ।
जे भिक्खू पायं खलु, गवेसती आणमादीणि ॥ १० ॥

उस्सग्गेणं जाव उज्झामगखेत्तं, तम्मि पायं गवेसियव्वं, परतो आणादिया दोसा, तम्हा णो परतो उप्पाएज्जा ।

गाथा—

भिक्खू वसहीसुलहे, णवसु तह चेव पायवत्थादी ।
जोयणमद्धे चउगुरु, अद्धुट्ठेहिं भवे चरिमं ॥ ११ ॥
अंतरपल्ली लहुगा, परतो खलु अद्धजोयणे गुरुगा ।
ततियाएँ गवेसिज्जा, इतराहिं अट्ठहिं सपदं ॥ १२ ॥

उदुवद्धे अट्ठसु मासखेत्तेसु, वासाखेत्तेसु य एतेसु णवसु खेत्तेसु जह चेव भत्तपायमुप्पाए तहा पायवत्थादिए वि, जइ पुण संथरंतो परतो अद्धजोयणाओ आणेति, तो इमं पच्छित्तं, जइ अंतरपल्लिआओ आणेति तो चउलहुगा, अंतरपल्लिआओ परओ अद्धजोयणमेत्ताओ मूलं, वसतिगामाओ त च जोयणं, एत्थ चउगुरुगा, खेत्तवाहिं जोयणे छल्लहुं, दिवड्ढे छग्गुरू, दोहिं छेदो, अड्ढाइज्जेहिं मूलं, तिहिं अणवट्ठो अद्धुट्ठेहिं पारंचियं, आणाइया य दोसा । दुविहा य विराहणा, तत्थ आयविराहणा कंटकमाणुमाइया, संजमे छज्जायादिया तम्हा णेत्तवत्थेहिं ण गवेसियव्वं, खेत्ताओ अद्धजोयणमब्भंतरे गवेसंतो,कालतो सुत्तत्थपोरिसि काउं ततियाए पोरिसीए गवेसइ, जइ इतराहिं गवेसइ तो अभिक्खामेवाए चउलहुगा, अट्ठमा वा एए पारंचियं पावइ, खेत्तब्भंतरे अलब्भमाणे विहरंते चेव भायणभूमिं गंतव्वं ।

गाहा-

वितियपदं गेलस्से, वसही भिक्खुमंतरे ।
सज्झाय गुरूजोगे, सुणणे वत्तणाइणो ॥ १३ ॥

गेलन्नाइयाण इमा व्याख्या । गाहा-

दुहओ गेलसम्मी, वसही भिक्खू व दुल्लभं उभए ।
अंतर विगिट्ठ सज्झा–उ नत्थि गुरुणं च पाउग्गं ॥१४॥

दुहतो गेलन्नं–अप्पणो, परस्स वा । अहवा–अणागाढ गाढ त्ति । दुहत्तो त्ति । खेत्तकाले रुअतिक्कमं करेति, गिलाणकारणेण सयं गिलाणो गिलाणवावडो वा ण तरति गंतुं जत्थ भायणा उप्पज्जंति ताहे दूरातो वि भायणा:,अंतरपल्लियासु आणिज्जंति,अनंतरपोरिसीए वा गेण्हेज्जा । अथवा–भायणदोसा, भिक्खं दुल्लभ,वसही वा दुल्लभा, उभय वा दुल्लभं । अहवा उभये गिलाणस्स य भिक्खा, वसही य दुल्लभ । अहवा उभए सुत्तत्थपोरिसीतो वि अकाउं पादग्गहण करेति । अहवा–चालवुड्ढा उभयं,तेहिं आउलो गच्छो संकामेउं ण सक्कति गासंतराणि चाविगिट्ठाणि । अहवा तम्मि भायणादेसे सज्झातो न सुज्झति, गुरूण वा भत्तपाणादीयं पायोग्गं नत्थि, आगाढं जोग्गं वा वहंति ।

अणुओगो गाहा—अणुओगो पट्ठविउ त्ति अत्थं सुणेति त्ति वुत्तं भवति, अभिणवधारित वा सुत्तत्थं ण वत्तेति, भायणभूमीए वा मासकप्पपाउग्गा खेत्ता अप्पा, गच्छस्य आधारभूता न भवतीत्यर्थः । सबालवुड्ढस्स वा गच्छस्स वत्थपाओग्गं नत्थि ।

गाहा-

एएहिँ कारणेहिं, गच्छं आसज्ज तिन्नि चतुरो वा ।
गच्छंति निब्भयं भा–णभूमि वसहादिए सुलहं ॥१५॥

एवमादिएहिं कारणेहिं भायणभूमिं गच्छा ण गच्छति, गच्छमासज्जति,तिचउरो वा साहू णिब्भयं भाणभूमिं गच्छंति, ते य गीयत्था वसभा वच्चंति,तेसिं अप्पाणं सुलभ भत्तपाणवसहिमादी भवति,गणनाप्रमाणातिरिक्तमपि ग्रहीतव्य,कुत.?-

गाहा-

आलंवणे विसुद्धं, दुगुणं तिगुणं चउग्गुणं वा वि ।
खेत्ताकालादीऽऽओ, समणुस्साओ य कप्पम्मि ॥१६॥

विसुद्धे आलंवणे दुगुणो तिगुणो वा चउग्गुणो वा पादपट्ठो य घेतव्वो, अविसद्दातो वत्थादओ वि क्खेत्तातीओ अद्धजोयणातो परतो,कालातीतो वासासु गहणं करेति, दुमासं वा पूरेत्ता गहणं करेति,रातो वा, एतं सव्वं कारणे विसुद्धे अणुस्सायं,अप्पे पकप्पो गच्छवासो, अहवा णिसीहज्झयण । नि० चू० ११ उ० ।

( २२ ) यादृशं पात्रमादाय भिक्षार्थं गच्छेत्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठे समाणे पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहगं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ संजयामेव गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा,पविसेज्ज वा । केवली वूया–आउसो ! अंतो पडिग्गहगंसि पाणे वा वीए वा रए वा परियावज्जेज्जा, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा पतिण्णा जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं ततो संजयामेव गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा ॥

( से इत्यादि ) स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशन् पूर्वमेव भृशं प्रत्युपेक्ष्य पतद्ग्रह, तत्र च यदि प्राणिनः पश्येत्ततस्तानाहृत्य, निष्कृष्य त्यक्त्वेत्यर्थ. । तथा–प्रमृज्य च रजस्तत. संयत एव गृहपतिकुलं प्रविशेद्वा, निष्कामेद्वेत्ययेषोऽपि पात्रविधिरेव, यतोऽत्रापि पूर्वं पात्रं सम्यक् प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च पिण्डो ग्राह्य इति पात्रगतैव चिन्तेति किमिति पात्रं प्रत्युपेक्ष्य पिण्डो ग्राह्य इति ?, अप्रत्युपेक्षिते तु कर्मवन्धो भवतीत्याह–केवली ब्रूयाद्यथा कर्मोपादानमेतत् , यथा च कर्मोपादानं तथा दर्शयति–अन्तः मध्ये पतद्ग्रहकस्य प्राणिनो द्वीन्द्रियाऽऽदयः, तथा–वीजानि रजो वा पर्यापद्येरन् भवेयु', तथाभूते च पात्रे पिण्ड गृह्णत. कर्मोपादानं भवतीत्यर्थः । साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञाऽऽदिक यत्पूर्वमेव पात्रप्रत्युपेक्षणं कृत्वा तद्गतप्राणिनो रजश्चापनीय गृहपतिकुले प्रवेशो निष्क्रमण वा कार्यमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० २ उ० । ( अभिहृतव्याख्या 'अभिहड' शब्दे प्रथमभागे ७३३ पृष्ठे गता )

किञ्च पात्रे शीतोदकादि–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं० जाव समाणे सिया से परो आहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपादंसि वा अफासुयं० जाव णो पडिग्गाहेज्जा, से य आहच्च पडिग्गहिए सिया खिप्पामेव उदगंसि साहरेज्जा, से पडिग्गहमायाए पाणं परिट्ठवेज्जा,ससणिद्धाए वा भूमीए णियमेज्जा; से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उदउल्लं वा ससणिद्धं वा पडिग्गहं णो आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा । अह पुण एवं जाणेज्जा–वियडोदए मे पडिग्गहए छिण्णसिणेहे तहप्पगारं पडिग्गहं,ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा०जाव पयावेज्ज वा;से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पविसिउकामे सपडिग्गहमायाए गाहावइकुलं पिंडवातपडियाए पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा; एवं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा गामाणुग्गामं दूइज्जेज्जा, तिव्वदेसियाए जहा–वीइयाए वत्थेसणाए.णवरं–एत्थ पडिग्गहे,एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥ १५४ ॥

( से इत्यादि ) स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्ट सन् पानकं याचेत, तस्य च स्यात्कदाचित्स परो गृहस्थोऽनाभोगेन प्रत्यनीकतया तथाऽनुकम्पया विमर्षतया वा गृहान्त मध्य एवापरस्मिन् पतद्ग्रहे स्वकीये भाजने आहृत्य शीतोदकं परिभाज्य विभागीकृत्य ( णिहट्टु त्ति ) निस्सार्य दद्यात् , स साधु' तथाप्रकार शीतोदकं परहस्तगतं परपात्रगत वा अप्रासुकमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात् । तद्यथा–अकामेन विमनस्केन वा प्रतिगृहीतं स्यात्तत क्षिप्रमेव तस्यैव दातुरुदकभाजने प्रक्षिपेत् , अनि-

च्छन्' कूपाऽऽदौ समानजातीयोदके प्रतिष्ठापनविधिना प्रतिष्ठापनं कुर्यात्, तदभावेऽन्यत्र वा छायागर्ताऽऽदौ प्रक्षिपेत्सति चान्यस्मिन् भाजने तत्सभाजनमेव निरुपरोधिनि स्थाने मुञ्चेदिति । तथा-(से इत्यादि)स भिक्षुरुदकाऽऽर्द्राऽऽदेः पतद्ग्रहस्य मार्जनाऽऽदि न कुर्यादीषच्छुष्कस्य तु कुर्यादिति पिण्डार्थः । किञ्च-(से इत्यादि)स भिक्षुः कचिद् गृहपतिकुलाऽऽदौ गच्छन् सपतद्ग्रह एव गच्छेदित्यादि सुगमं; यावदेतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० २ उ० ।

( २३ ) प्रतिग्रहनिकाया ऋतुबद्धं वसति-

जे भिक्खू पडिग्गहणिस्साए उदुवद्धं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥ जे भिक्खू पडिग्गहगणीसाए वासावासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

अम्हे मासकप्पवासाजोग्गा खेत्ता, ते मोत्तु एत्थ पाए लभिस्सामो त्ति जे वसंति, एस पायणिस्सा भवति ।

एताए पायणिस्साए गाहा -

उडुबद्धे मासवासं, वासावासे तहेव चउमासं ।
पत्ताऽऽसाए भिक्खू, सो पावति आणमाईणि ॥२०६॥

जइ वि उडुबद्धे मासं वसति, वरिसाकाले य चउमासं, तहा वि पाताऽऽसाए कालतिक्कम अकरेंतस्स वि आणाऽऽदिया दोसा, चउलहु च से पच्छित्तं ।

अहवा तं उदुबद्ध वासावासं वा पायणिस्साए
वसंतो गिहिणं पुरतो इम भणाति—

पायणिमित्तं वसिमो, इहं व मो आगया तदट्ठाए ।
इति कहयंते सुत्तं, अध तीते ताणि तिय दोसा ॥२०७॥

जाणह हे सावग ! अम्हे पायणिमित्तं वसामो, इहं वा आगता वरं पाए लभिस्सामो, एवं कहेंतस्स चउलहु सुत्तणिवातो त्ति,अध मासकप्पातीतं वसति, वासातीतं वा वसति, तो मासलहू,चउलहू य, जे णिस्साए दोसा वण्णित्ता ते सव्वे आवज्जंति, तम्हा ण वसेज्जा । भयकारणत्तेण पायणिस्साए वि वसेज्जा ।

गाहा—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जयणाए तत्थ निवसेज्जा ॥ २०८ ॥

कंठा । णवर वसियव्वे ।

इमा जयणा गाहा-

गेलण्ण सुत्त जोए, इति लक्खेणं गिही परिविणंति ।
जा उब्भिण्णा पाया, णेतं पडिबंधमक्खंति ॥२०९॥

उडुबद्धं वासाकालं वा अतिरित्तं वसंता गिलाणलक्खेण वसंति, सुत्तग्गाहीण वा, इह सुत्तपाढो सरति गाढाणागाढजोगीण वा, इह जोगो सुज्झति, इति उवदसणे, एवमादीहिं लक्खेहिं ति प्रशस्तभावमायाकरणमित्यर्थः । गिही परिविणंति, जेसिं पाया अत्थि गिहीणं तेसिं समाणं परिचय करेंति जाव ते पाया उब्भिज्जंति, णिप्फण्णाणं अप्पणो चीयणिमित्तं उब्भेदं कुर्वनीत्यर्थ , ण य तेसिं गिहत्थाणं कहिंति, जहा—इह अम्हे पायणिमित्त ठिता नैतत्प्रतिबधं कथयन्ति । नि० चू० १४ उ० ।

प्रतिग्रहनिश्रया ऋतुबद्ध वसति--

जे भिक्खू अइरेगं पडिग्गाहं गणिं उद्दिसिय गणि समुद्दिसिय गणियं अणामंतिय अणमणमस्सेत्रिय परिइवियरइ, परिइवियरंतं वा साइज्जइ ॥५॥



अतिरेकज्ञापनार्थमिदमुच्यते-

दो पायाऽणुण्णाता, अतिरेगं तइयगं पमाणातो ।
छिण्णेसु व परिभणिया,सयं च गेण्हंति जा जोग्गा ॥५१॥

दो पायाणि तित्थकरेहिं अणुण्णाताणि-पडिग्गहो, मत्तगो य। जति ततियं पायं गेण्हति तो अतिरेयं भवति। अहवा जं पमाण भणियं ततो जति बहुतरं गेण्हति, एवं अतिरेग भवति. अहवा इमेण प्रकारेण अतिरेग हवेज्जा-ते साहू पायाणि मग्गामो त्ति संपट्ठित्ता आयरिएणं भणित्ता छिण्णाणि संदिट्ठाणि, जहा-वीसं आणेह अह ते वच्चंता अंतरा संभोइयसाहुणो पासंति, तेहिं पुच्छिता-कतो संपट्ठित्ता ? तेहिं कहिय- आयरिएण पयट्ठियामो वीसं पाए आणेहि त्ति। ताहे ते भणंति-जावतिया तुज्झे संदिट्ठा तावतिएहिं गहिएहिं जइ अण्णाणि लभेज्जह,तो गेण्हेह, अम्हे आयरियं अणुण्णातिस्सामो, एवं होउ त्ति ते गता, लद्धा य,अतिरेगलद्धा गहिया य, एवं अतिरेगपरिग्गहो हुज्जा, अहवा छिण्णेसु चेव पाउग्गाणि लब्भंति त्ति काउं बहूणि गहियाणि अप्पच्छंदेणं अणिद्दिट्ठे वि अतिरेगपरिग्गहो होज्जा । नि० चू० १४ उ० ।

( २४ ) अतिरिक्तपात्रम्-

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अतिरेगं पडिग्गहयं अण्णमण्णस्स अट्ठाए दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए वा, धारित्तए वा परिगहित्तए वा सो वा णं धारेस्सइ, अहं वा णं धरिस्सामि,अन्ने वा णं धारेस्सइ,णो से कप्पइ त अणापुच्छिय अणामंतिय अण्णमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पदाउ वा, कप्पति से तं आपुच्छिय आमंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ ११ ॥

अस्य सवन्धप्रतिपादनार्थमाह-

उवही दूरद्धाणे, साहम्मियतेणरक्खणे चेव ।
अणुवत्तंते उ इमं, अतिरेगपडिग्गहे सुत्तं ॥ २१० ॥

अनन्तरसूत्रे इदमुक्तं विस्मरणतः पतित उपधिर्दूराद्ध्वन आनेतव्य इत्युपदेशः कृतोऽन्येषां च विस्मरणेन पतितं गृहीत्वा दूरेऽपि येषां सत्कं तेषां दातव्योऽन्यथाऽदाने साधर्म्मिकाचोरिका स्यात्, तत उपधौ दूराध्वनि साधर्मिकस्तैन्यरक्षणे अनुवर्त्तमाने इदमन्यदपि कृतं सूत्रमतिरेकपतद्ग्रहविषयं दूराध्वाधिकारे विहितमित्येष सूत्रार्थः ॥२१०॥ अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य(११ सूत्रस्य) व्याख्या--कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अतिरेकमतिरिक्तं पतद्ग्रहम् अन्यस्य अर्थाय,इदमविशेषितं वचनं साधर्म्मिकस्यार्थायेति द्रष्टव्यम्। धारयितुं वा स्वयं वा परिग्रहीतुं स वा धारयिष्यति इदं विशेषितवचनम् अमुको गणी वा वाचकोऽन्यो वा विशेषनिर्दिष्टः साधुः, तस्य भविष्यतीति भाव । अहं वा एतं धारयिष्यामि ममैव भविष्यतीति भावः । अन्यो वा गणिनि सर्वत्र वाच्याऽलङ्कारे, धारयिष्यति यस्याऽयं दास्यामि न च ( से ) तस्य कल्पते यस्य विशेषतो निर्दिष्टममुकस्य दातव्यं, त

मनापृच्छ्य अनामन्त्र्य वा अन्येषां यदृच्छया दातुं वा अनु-
प्रदातुं वा, कल्पते ( से । तस्य तान् आपृच्छ्य आमन्त्र्य च
अन्येषां दातुं वा अनुप्रदातुं वा. एष सूत्राक्षरसंस्कारः ॥२१०॥
अधुना भाष्यकृत्सामान्यविशेषवचनरूपयोरुद्देशनिर्देशयोः
स्वरूपमाह-

साहम्मिय उद्देसो, निद्देसो होइ इत्थिपुरिसाणं ।
गणि वायग उद्देसो, अमुय गणी वायओ इयरो ॥२११॥

साधर्मिक इत्युद्देशो भवति स्त्रीणां पुरुषाणां वाऽभिधा-
नमिति निर्देशः । अथवा-गणी वाचक इत्युद्देशः, अमुको ग-
णी, अमुको वाचक इतीतरो निर्देशः ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

ऊणातिरित्तधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणाइणो य दोसा, संघट्टणमादि पलिमंथो ॥ २१२ ॥

गणनया प्रमाणेन च ऊनस्यातिरिक्तस्य वा उपकरणस्य
धरणे प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा उद्घाता लघवः, आज्ञाऽऽ-
दयश्च दोषाः । तथा पात्रपरिकर्म्मणा कुर्वन् तज्जातान्
प्राणान्संघट्टयति, आदिशब्दात्परितापयति, अपद्रावयति
वा, ततस्तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्तम् । तथा प्रति-
दिवसमुभयकाल पात्राणि अन्यच्चातिरिक्तमुपकरणं प्रत्युपे
क्षमाणस्य परिमन्थः सूत्रार्थव्याघातः, तस्मात् गणनया प्र-
माणेन सूत्रोक्तमुपकरणं धारयितव्यम् ।

तत्र पात्रमधिकृत्यातिरेकं व्याख्यानयति-

दो पायाऽणुण्णाया, अतिरेग तइययं पमाणातो ।
धारेंते य संघट्टण, भारे पडिलेह पडिमंथो ॥ २१३ ॥

द्वे पात्रे तीर्थकरैरनुज्ञाते, तद्यथा-पात्रममत्रं च । तत्र यदि
तृतीयं गृह्णाति तदा गणनयाऽतिरेकं भवति, यच्च प्रमाणं पा-
त्रस्योक्तं, ततो यदि बृहत्तरं गृह्णाति तदा प्रमाणतोऽ-
तिरेकम् । तत्र गणनया प्रमाणेन चातिरिक्तं पात्रं धारयति
कर्म्मणा तज्जातप्राणसंघट्टनम्, उपलक्षणमेतत्-प्राणाना
परितापनमपद्रावणं च । तथा-अध्वनि तद्वहने भारः, उभय-
कालं प्रतिदिवसं प्रतिलेखने परिमन्थः ।

अत्र पर प्रश्नमुपदर्शयति-

चोदेती अतिरेगे, जइ दोसा तो धरेउ ओमं तु ।
एक्कं बहूण कप्पइ, हिंडंतु य चक्कवालेणं ॥ २१४ ॥

अत्र परश्चोदयति-यद्यतिरेके पात्रे गृह्यमाणेऽनन्तरोक्त-
दोषास्ततोऽवमं गणनया हीनं पात्रं धारयतु, यथा यथा अ-
ल्पोपधिता तथा बहुबहुतरगुणसम्भवात् । कथं तथा हीनं
धारयन्त्वित्याह-एकं बहूनां पञ्चानां कल्पते, ते च पञ्चज-
नाश्चक्रवालेन एकस्मिन् दिने एको द्वितीय इत्यादिरूपेण
हिण्डन्ताम् ।

एतदेव स्पष्टयति-

पंचण्हमेगपाय, दसमेण एक एको पारेउ ।
संघट्टणाऽऽदि एवं,न होंति दुविहं च ओमम्मि ॥२१५॥

पञ्चानां जनानामेकं पात्रं भवतु, तेषां च मध्ये एकैकमे-
ण चक्रवालक्रमेण दशमेन पारयतु, यस्मिन् दिवसे पारण-
क तस्य, प्रथमतया हिण्डनमेवं च तेषां परिपाट्या दश-
मदशमातिक्रमे दिवसे वारको भवति । एवं च संघट्टनाऽऽद-
यो दोषा न भवन्ति । किं च-तेषां यद् द्विविधमवममवमौदर्यं
पञ्चानामेकस्य पात्रस्य भवेत्तदवमौदर्यं च दशमदशमाति-
क्रमेण वारकात् तद् गुणो भवति ।

एतदेवाऽऽह-

आहारे उवगरणे, दुविहं ओमं च होति तेसिं तु ।
सुत्ताभिहियं च कयं, वेहारियलक्खणं चेव ॥२१६॥

द्विविधं द्रव्यभावभेदतो द्विप्रकारमवमं भवति, तेषामाहारे
उपकरणे च आहारविषयं भावमुपकरणविषयं द्रव्यावम-
मित्यर्थः । सूत्रे चाभिहितं वैहारिकलक्षणं गच्छतामल्पो-
पधिताऽल्पाहारता च प्रकृतं भवति ।

एतदेवाऽऽह-

वेहारियाण मज्झे, जह सिं जल्लेण मइलियं अंगं ।
मइला य चोलपट्टा, एगं पायं च सव्वेसिं ॥२१७॥

मन्ये यथाऽमीषां वैहारिकाणां जल्लेन शरीरोच्छेदेन म-
लिनमङ्गं, यथा च मलिनाश्चोलपट्टास्तथा सर्वेषामेकं पात्रं
भवति । न एकपात्रग्रहणे विहारिकलक्षणं कृतं भवति ।

अत्राऽऽचार्य आह-

जेसिं एसुवदेसो, तित्थगराणं तु कोविया आणा ।
चउरो य अणुग्घाया, गेणे दोसा इमे होंति ॥२१८॥

येषामेष उपदेशस्तैस्तीर्थकराणामाज्ञा कोपिता, तीर्थकरैः
पात्रद्वयस्य प्रत्येकमनुज्ञानात्, तेषां च प्रायश्चित्तं चत्वारो मा-
सा अनुद्धाता गुरवः, यत इमे वक्ष्यमाणा अनेके दोषा
भवन्ति ।

तानेवाऽऽह-

अद्धाणे गेलन्ने, अप्पपर चयाई भिन्नमारियए ।
आदेसवालवुड्ढा, सेहा खमगा य परियत्ता ॥ २१९ ॥

अध्वनि ग्लानत्वेन च आत्मा परश्च तैस्त्यक्तः । इयमत्र
भावना-ये अध्वनिर्गता विस्मरणेन पतितोपधयः स्तेनापहृ-
तोपधयो वा भिन्नपात्रा वा तद्विषये आत्मा परो वा त्यक्तो
भवति, यदि तेषां पात्रं ददाति तदा आत्मा त्यक्तः, पात्रा-
भावे भिक्षाऽटनासंभवात् । अथ न ददाति अध्वनिर्गतस्य-
क्त्वा अपि बहूनामेषां पात्रमित्युक्तं तत एकेन पात्रेण य-
दानीतं न तेन बहवोऽध्वनिर्गता संस्तरेयुः तथा ग्लान-
विषयेऽप्यात्मा परो वा त्यक्तः स्यात् । तथाहि-यदि ग्लानस्य
ददाति तत्पात्रं तदात्मा त्यक्तोऽथ न ददाति तदा परो ग्लान
इति, अन्यस्याध्वनिर्गतानां ग्लानस्य वा तत्पात्रार्पणे स्वयं
कुलालभाण्डं यावतिक स्यात्तथाऽऽनीत, यदि कथमपि भिद्येत
तदा तन्मूल्यदापने कलहाऽऽदयो वा दोषाः स्युः । (चयाइं ति)
व्रतान्यपि च परित्यक्तानि स्युरेव. प्रत्येकपात्रग्रहणे एकत्र
संघाटक भक्तपानं वा गृहीत्वा प्रत्युपेक्षयान्यत्र प्रतिपत्ति, बहूना
त्वेकपात्राभ्यनुज्ञाने शीतोष्णानि संसक्तानि संसक्तपानानि गृह्णन्
प्राणानां विराधना । तथा च व्रतानि परित्यक्तानि, (भिन्न ति)
एकं पात्रं कदाचिद् भिन्नं स्यात् तदा कुलेऽन्यस्मिन्काले लभ्यते
अन्यत्र मार्गयन् स एव पलिमन्थदोषः । कुलालभाण्डग्रहणे
च प्रागुक्ता दोषास्तथा एकपात्रपरिग्रहे आचार्याः आदेशा प्रा-
घूर्णका बालवृद्धा शैक्षका क्षपकाश्च परित्यक्ताः, यत ए-

कपात्राऽऽनीतमेकस्यात्मनो भवति, आचार्याऽऽदीनां किं ददातु, कुत्र च तेषां प्रायोग्यं गृह्णातु ततस्ते एवं परित्यक्ताः।

अथ पूर्वार्द्धव्याख्यानार्थमाह–

दिंते तेसिं अप्पा,जढो उ आदाणेँ ते जढा जं च ।
कुज्जा कुलालगहणं, वया जढा पाणगहणम्मि ॥२२०॥

तेषामध्वनिर्गतानां ग्लानाना च ददति आत्मा परित्यक्तो भवति,अदाने ते अध्वनिर्गताऽऽदयः परित्यक्ताः,यच्च तेषां पात्रं दत्त्वा स्वय कुलालभाण्डग्रहणं कुर्यात् तत्राप्यनेके दोषाः, ते च प्रागेव भाविताः,व्रतानि परित्यक्तानि भवन्ति । पानग्रहणे, पानग्रहणं भक्तोपलक्षणं, संसक्तभक्तपानग्रहणे इत्यर्थः । भावना सर्वत्र प्रागेव कृता ।

पुनरपि परः प्रश्नयति–

जइ होंति दोस एवं, तम्हा एकेक्क धारए पत्तं ।
सुत्ते य एगभणियं, मत्तयउवदेसणा चेसिंह ॥२२१॥
दिन्नऽज्जरक्खिएहि, दसपुरनगरम्मि उच्छुघरनामे ।
वासावासठितेहिं, गुणनिप्फत्ती वहुं नाउं ॥२२२॥

एवमुक्तप्रकारेण बहूनामेकपात्राभ्यनुज्ञायां भवन्ति दोषाः,तस्मात् एकैकः,एकं पात्रं धारयेत्,न मात्रकं युक्तं पात्रमनुज्ञातम्।तथा चोक्तम्–" जे निग्गंथे तरुणे वलवं से एगं पायं धरेज्ज, नो वीयं " इति । ततो ज्ञायते नानुज्ञातं तीर्थकरैर्मात्रकग्रहणं केवलमिदानीमार्यरक्षितैराचार्यैर्दशपुरनगर इक्षुगृहनाम्नि उद्याने वर्षावासस्थितैर्बह्वीं गुणनिष्पत्तिं ज्ञात्वा मात्रकस्योपदेशना दत्ता कृता ।

सा च यैः कारणैः कृता तान्युपदर्शयति–

दूरे चिक्खल्लो वु–ट्ठिकायसज्झायझाणपलिमंथो ।
ता तेहिं एस दिन्नो, एस भणंतस्स चउ गुरुगा ॥२२३॥

ते आर्यरक्षिता आचार्या दशपुरनगरात् दूरे इक्षुगृहनाम्नि उद्याने वर्षारात्रं स्थिताः, मार्गे च कर्दमोऽतिप्रभूतो वृष्टिर्वर्ष,तदप्यतिशयेन प्रभूतं पतति,ततः प्रायोग्ये आचार्याऽऽदीनां लभ्यमाने यदि न गृह्यते तदा ते परित्यक्ता भवन्ति । अथ गृह्यते तर्हि कुत्र पानीयं भैक्षं वा गृह्यताम्।अथ नीत्वा प्रत्यागम्यते तदा कायानामप्कायहरितकायानां विराधना स्वाध्यायध्यानानां च परिमन्थो व्याघातः, ततस्तैरेतैः कारणैरेव मात्रकस्योपदेशो दत्त·।सूरिराह–यथोक्तकारणवशादार्यरक्षितैरेव मात्रकोऽनुज्ञातो न तीर्थकरैरिति।एवं भणतो वदतस्तत्र प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका·,तीर्थकरैरप्यनुज्ञानात्।एतच्चाऽग्रे दर्शयिष्यते।यदपि चोक्तम्–"जे निग्गंथे तरुणे वलवं से एगं पायं धरेज्जा नो वीयं।" इत्यादि सूत्रं, तदपि गच्छनिर्गतविषयं,न स्थविरकल्पाऽऽश्रित,न च तेन कारणे आनेनाऽऽर्यरक्षितैर्मात्रकानुज्ञा कृता, तदेवैकं केवलं, किं त्वन्यदपि मात्रकानुज्ञाया कारणकदम्बकमस्ति ।

तदेवाऽऽह–

पाणदयखमणकरणे, संघाडासतिविकप्पपरिहारी ।
खमणगामहु एगागी, गेण्हति ऊ मत्तए भत्त ॥२२४॥
थेराणेस विदिन्नो, ओहोवहिमत्तगो जिणवरेहिं ।
आयरियाईणऽट्ठा. तस्सुवभोगो न इहरा उ ॥२२५॥

प्राणिदयानिमित्तं कोऽपि साधु क्षपणं कुर्यात्,तस्य च संघाटक· स क्षपणं कर्तुं न शक्नोति, स च तस्याऽन्य· संघाटकः विद्यते, ततो यदि त्रयो जना संभूय भिक्षामटन्ति तदा जनानां विकल्पो भवति, तस्य परिहरणाय एकाकी हिण्डते, सद्वितीयस्य संघाटकवतः साधोः प्राणिदयार्थं क्षपणकरणे संघाटाभावे विकल्पपरिहारी क्षपणकरणासमर्थो भिक्षामेकाकी हिण्डमानः पतद्ग्रहे पानकं गृह्णाति, मात्रके भक्तम्। अनेन कारणेन स्थविराणामोघोपधिरूपो मात्रको जिनवरैर्वितीर्णोऽनुज्ञातः, ओघनिर्युक्तौ तथाऽभिधानात्। एतेन यदुक्तं तीर्थकरैर्नानुज्ञातो मात्रक इति तन्मिथ्येत्याविदितम्,अत एतस्यैवं ब्रुवतश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम्।तथा तस्य मात्रस्योपभोगे आचार्याऽऽदीनामाचार्यग्लानप्राघूर्णकबालवृद्धाऽऽदीनामर्थाय तत्प्रायोग्यग्रहणाय, उपलक्षणमेतत्–संसक्तभक्तपानशोधिकरणाय च प्रागुक्तकारणव्यतिरेकेण प्रायेणानुज्ञात·, इतरथा तूक्तकारणव्यतिरेकेण नानुज्ञातः, एतच्च परिभाव्य तत आर्यरक्षितैश्चिन्तितं प्राय· प्राणरक्षणाय संसक्तभक्तपानविशोधिकरणाय च मात्रक एकपरिभोगोऽनुज्ञातः, शेषकालं त्वलोभाऽऽग्रसङ्गनिवारणाय प्रतिषिद्धः ।

तथाऽऽह–

गुणनिप्फत्ती वहुगी, दगमासे होहिति त्ति वियरंति ।
लोभे पसज्जमाणे, वारेंति ततो पुणो मत्तं ॥२२६॥

गुणनिष्पत्तिर्बह्वी दकमासे वर्षारात्रे भविष्यतीति तत्प्रारम्भसमये भगवन्त आर्यरक्षिता मात्रकपरिभोगवन्त आर्यरक्षिता मात्रकपरिभोगं वितरन्त्यानुजानन्ति, ऋतुवद्धे तु काले आचार्याऽऽदिप्रायोग्यग्रहणलक्षण कारणमतिरिच्यान्यत्कारणं न समस्ति, केवलं लोभ एव प्रसज्जते । तथाहि–यत् यत् उत्कृष्टं तत्तत् लोभेन मात्रके गृह्णाति,तत इत्थं लोभे प्रसज्जति तन्निवारणायाऽऽचार्याऽऽदिप्रायोग्यग्रहणाभावे पुनर्मात्रकं तदा वारयन्ति ।

एवं सिद्धं गहणं, आयरियाईण कारणे भोगो ।
पाणदयट्ठुपभोगो, वितिओ पुण रक्खिअज्जाओ ॥२२७॥

एवमुक्तप्रकारेण मात्रस्य ग्रहणं सिद्धं, यत· सूत्रे ओघनिर्युक्त्यादौ आचार्याऽऽदीना कारणे आचार्याऽऽदिप्रायोग्यग्रहणलक्षणे मात्रकस्याभोगोऽनुज्ञातः, द्वितीय पुनरुपभोग आर्यरक्षितात् प्राणदयाऽर्थ प्रवृत्त । कारणाभावे तु मात्रकपरिभोगे प्रायश्चित्तम् ।

तदेवाऽऽह–

जत्तियमित्ता वारा, दिवसेण आणेइ तत्तिया लहुगा ।
अट्ठहिँ दिणेहिँ सपयं,निक्कारणेँ मत्तपरिभोगे ॥२२८॥

निष्कारणे कारणाऽभावे मात्रकस्य परिभोगे यावन्मात्रान् वारान् दिवसेनैकेन तेन मात्रेणाऽऽनयति भावतो लघुका मासास्तस्य प्रायश्चित्तमष्टभिर्दिनैः स्वपदं पुनर्व्रताऽऽरोपणं, मूललक्षणमष्टमं प्रायश्चित्तमिति भाव ।

जे वेंति न घेतव्वो, मत्तओ जे वा य तं न धारेंति ।
चउगुरुगा तेसि भवे, आणाऽऽदिविराहणा चेव ॥२२९॥

जे ब्रुवते–न ग्रहीतव्यो मात्रको, ये च तन्मात्रक न धारयन्ति, तेषां प्रत्येकं प्रायश्चित्तं भवन्ति चत्वारो गुरुका, आज्ञाऽऽदयश्च दोषा . प्राणविपत्तौ· संयमविराधना च ।

अन्यत्र–

लोए होइ दुगुंछा, विसागपाडिगमंमि उड्डाहो ।

**आयरियाई चत्ता, वारत्तथलीएँ दिट्ठंतो ॥२३०॥**

यदि येनैव पतद्ग्रहेण भिक्षामटति तेनैव विचारे विचारभूमौ गच्छति, तर्हि लोके जुगुप्सा जायते, तथा च सति भवति प्रवचनस्योड्डाहः, आचार्याऽऽदयश्च मात्रकापरिभोगे त्यक्ताः । अत्रार्थे वारत्तस्थल्या दृष्टान्तः ।

उपसंहारमाह-

**तम्हा उ धरेयव्वो, मत्तो य पडिग्गहो य दोण्णेते ।**
**गणणाएँ पमाणेण य, एवं दोसा न होंतेए ॥२३१॥**

यत एवं पात्रस्य मात्रकस्य वाऽधारणे दोषास्तस्मान्मात्रकं पतद्ग्रहश्च द्वावप्येतौ धारयितव्यौ । कथमित्याह-गणनामधिकृत्य एकैकं प्रमाणतः ओघनिर्युक्त्यभिहितप्रमाणेन एवं चैते अनन्तरोदिता दोषा न भवन्ति ।

( २५ ) नवपुराणपात्रग्रहणम्-

**जइ दोण्ह चेव गहणं, अइरेगपरिग्गहो न संभवति ।**
**अह देइ तत्थ एगं,हाणी उड्डाहमादीया ॥२३२॥**

यदि द्वयोरेव पात्रकमात्रकयोर्ग्रहणं ततोऽतिरिक्तः पतद्ग्रहो न संभवति, तदभावाच्च कथमध्वनिर्गताऽऽदीना पतद्ग्रहं ददाति,देयस्याभावात् । अथाऽऽत्मीयं तमेकं पतद्ग्रहमध्वगाऽऽदीनां प्रयच्छति,स्वयं तु केवलेन मात्रकेण सारयति । तत आह-अथ तयोः पात्रकमात्रकयोर्मध्ये एकं पतद्ग्रहं ददाति, तदा द्वितीयस्य हानिरिति,येनैव भिक्षामटति तेनैव विचारभूमावपि गच्छतीति लोके जुगुप्साप्रसङ्गतः प्रवचनस्योड्डाहः,आदिशब्दादाचार्याऽऽदयश्च तेन परित्यक्ता इति परिग्रहः । तस्मादफलं सूत्रमनवकाशादिति । आचार्यो ब्रवीति-सूत्रनिपातः खल्वयं कारणिकः ।

किं तत्कारणमिति चेदत आह-

**अतिरेग दुविह कारण, अभिणवगहणे पुराणगहणे य ।**
**अभिणवगहणे दुविहे, वावारिएँ अप्पछंदे य ॥२३३॥**

द्विविधेन प्रकारेण द्वाभ्यां कारणाभ्यामतरेकस्यातिरिक्तस्य पतद्ग्रहस्य संभवः । तद्यथा-अभिनवग्रहणेन पुराणग्रहणेन च । तत्र यत्तदभिनवग्रहणं तत् द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा-व्यापारिताश्च गृह्णन्ति, आत्मछन्दसा च । गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, प्राकृतत्वात् ।

तच्च द्विविधमप्यभिनवग्रहणमेभिः कारणैर्भवति-

**भिन्ने व झामिए वा, पडिणीए तेणसाणमादिहडे ।**
**सेहोवसंपयासु य, अभिनवगहणं तु पायस्स ॥२३४॥**

प्रमादतो भिन्न वाऽग्निना पात्रमग्निना वा ध्यामितं दग्धं प्रत्यनीकेन हृतमभिन्नं वा स्तेनैः श्वाऽऽदिभिर्वा हृतम्,आदिशब्देनात्र शृगालाऽऽदिपरिग्रहः,शैक्षका वा केचिदुपपन्नास्तेषु भाजनानि दातव्यानि,एतैः कारणैरभिनवस्य पात्रस्य ग्रहणं भवति ।

**देसे सव्वुवहिम्मि य, अभिग्गही तत्थ होंति सच्छंदा ।**
**तेसिं सति निज्जोए, जा जोग्गा दुविह उवहिम्मि ॥२३५॥**

तत्र तेषां व्यापारितानां स्वच्छन्दानां च मध्ये स्वच्छन्दसो भवन्ति अभिग्राहिणः अभिग्राहिकास्ते चाभिग्रहिका द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-देशे सर्वस्मिश्चोपध्यावुत्पाद्ये किमुक्तं भवतीति-एके एवमभिग्रहं प्रतिपन्नाः,यथा वयमिदेशं,पात्राऽऽदिकं वयमुत्पादयिष्याम । अपरे चैव प्रतिपन्नाः -सर्वमुपधिमुत्पादयिष्याम । ते चाभिग्रहिका भाजनैः कार्यमन्येन चोपधिः कार्यमिति कृत्वा तदुत्पादाय अव्यापारिता एव गच्छन्ति, अत एव ते आत्मच्छन्दस उच्यन्ते, आत्मनैव परप्रेरणाभावेनैव उपधेरानयनाय छन्दोऽभिप्रायो विद्यते येषां ते आत्मच्छन्दस इति व्युत्पत्तेः, तेषामसत्यभावे ये योग्याः समर्था द्विविधे औघिके औपग्राहिके चोपधावुत्पाद्ये, तानाचार्यो नियुङ्क्ते व्यापारयति ।

**दुविहा छिन्नमछिन्ना, भणंति लघुको य पडिसुणंते य ।**
**गुरुवयण दूरे तत्थ तु, गहिते गहणे य जं वुत्तं ॥२३६॥**

अभिग्रहिका अपि आचार्यमापृच्छ्य पात्राणामानयनाय गच्छन्ति । ये वा नियुक्ता ते द्विविधाः । तद्यथा-छिन्नाश्चाऽछिन्नाः । छिन्ना नाम- ये आचार्येण संदिष्टा यथा विंशतिः पात्राणि नेतव्यानि । अच्छिन्ना येषां न परिमाणनिरोधः,तत्र ये ताननियुक्तास्तेषां छिन्नानां विधिरुच्यते-तत्र छिन्नेषु त्रिभिः प्रकारैरतिरिक्तपतद्ग्रहसंभवः,तत्राऽऽद्येऽपि प्रकारे त्रय प्रकाराः । तद्यथा-एकः साधुः छिन्नानां संदेशं श्रुत्वा तत्रैव समक्षमाचार्यस्य ब्रूते-क्षमाश्रमणाः! अनुजानीत युष्माकं योग्येषु परिपूर्णेषु पतद्ग्रहेषु लब्धेषु यद्यन्येऽपि लभेरन् ततस्तान्यपि मम योग्यानि गृह्णन्तु एवं ब्रुवाणः शृणु । अत्रैवमाचार्ये नानुज्ञापयति,किं त्वेवमेव तान् व्रजतो ब्रूते, तर्हि तस्मिन्नेवं भणति प्रायश्चित्तं लघुको मासः, ते चेत् व्रजन्त. प्रतिशृण्वन्ति ग्रहीष्याम इति तदा तेषामपि प्रायश्चित्तं प्रत्येकं लघुको मासः, द्वितीयो व्रजतस्तान् सम्भोगिकान् दृष्ट्वा ब्रवीति-कं यूयं सम्प्रस्थितास्तैरवाचि-पात्राणामानयनायाऽऽचार्येण प्रेषिताः । ततस्तान् स ब्रूते-यावन्ति युष्माकं सदिष्टानि तावत्सु परिपूर्णेषु यद्यन्यानि यूयं लभध्वं ततोऽस्माकं कारणेन तान्यपि प्रतिगृह्णीत एवं भणति प्रायश्चित्तं लघुको मासः, तेऽपि यदि प्रतिशृण्वन्ति तदा तेषामपि प्रत्येकं प्रायश्चित्तं लघुको मासः । तृतीयो लज्जालुतया न शक्नोति स्वयमाचार्यान् विज्ञापयितुम् । अथवा कोऽपि शठत्वेन अन्येन ज्ञापयति । यथा कैते प्रेष्यन्ते, तान् ब्रूते -यूयमाचार्यान् भणत युष्माकं परिपूर्णेषु लब्धेषु यद्यन्यान्यपि लभध्वं तदा मम कारणेन प्रतिगृह्णीत, एवं भणति तस्मिन् प्रायश्चित्तं लघुको मासः । सोऽपि यदि शठत्वेन ज्ञापयति तस्य यदीच्छन्ति तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं मासलघु, तस्मात् तैनेष्टव्यम्, यथा न जानामीति लज्जालोर्वचनेन पुनराचार्यो भणन्ति तत्र यदा तत्समक्षमाचार्यो भणितः, आचार्येण च समनुज्ञातः, तदा यल्लभ्यते अतिरिक्तं लक्षणयुक्तमयुक्तं वा तत्तस्यैव दातव्यम् । द्वितीयप्रकारमाह-(गुरुवयणेत्यादि) कोऽपि पथि गच्छतो दृष्ट्वा ब्रूते, यथा-ममापि योग्यानि भाजनानि गृह्णीत, तत्र यदि प्रत्यासन्नस्तदा तद्वचनं प्रतिग्राह्यम् । किमुक्तं भवति ?-आसन्नप्रदेशात्प्रतिनिवृत्य गुरुं पृच्छति यो-यथा अमुकः साधुरेवं ब्रवीति- ममाप्यर्थाय भाजनानि प्रतिगृह्णीत । अथवा-तमेव प्रेषयन्ति,त्वमेवाऽऽचार्यं विज्ञपय,एवं कुर्वत्सु तेषु प्रायश्चित्तं लघुको मासः । अथ दूरे गतास्तान् साम्भोगिकान् दृष्ट्वा ब्रूयुरस्माकमपि योग्यानि भाजनानि गृह्णीत । ते ब्रूयुः -प्रतिगृहीष्याम .एवं तत्र प्रमाणं गुरुवचः । तथा चाऽऽह-तत्र दूरागतानां प्रार्थने सति गृह्णीयुः च तद्योग्ये पात्रे गुरवः प्रमाणीकर्त्तव्याः, तृतीयो विंशतेरधिकं लक्षणयुक्तं पात्रं दृष्ट्वा स्वयं गृह्णाति, एवं स्वयं ग्रहणवदुक्तसूत्रे तत्सम्भवाति, अतिरिक्तं पात्रं सम्भवतीति गाथार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह-

गिराहह वीसं पाते, तिरिण पगाराउ तत्थ अतिरेगे ।
तत्थेव भणइ एगो, मज्झ वि गेराहे जहा अज्जो ॥२३७॥

गृहीत विंशतिः पात्राणि इत्युक्ते तत्रातिरेके त्रय' प्रकारा भवन्ति,एकस्तत्रैवाऽऽचार्यमनुज्ञाप्य ब्रूते-ममापि योग्यान्यार्य भाजनानि गृह्णीत ।

आयरिएँ भणाहि तुमं, लज्जालुस्स न भणंति आयरिए ।
नाऊण व सढभावं, नेच्छंतिहरा भवे लहुगो ॥ २३८ ॥

अपरोऽन्य ब्रूते-स्वमाचार्यान् भण, यथा-अमी आचार्येणानुज्ञाता अधिकान्यपि भाजनानि प्रतिगृह्णन्ति, तत्र यो लज्जालुतया आचार्यान् विज्ञापयितु न शक्नोति, तस्य कारणे न भणन्ति वाऽऽचार्यान् , यदि च शठभाव तस्य ज्ञात्वाऽऽचार्यान् विज्ञपयितु नेच्छन्ति,इतरथा शठभावे विज्ञते यदि विज्ञपयति लघुको मास ।

जइ पुण आयरिएहिं, सयमेव पडिस्सुयं भवति तस्स ।
लक्खणमलक्खणजुयं, अतिरेगं जं तु तं तस्स ॥२३९॥

यदि पुनस्तस्य लज्जालो' कारणेनाऽऽचार्यास्तस्य समक्ष विज्ञप्ता आचार्यैश्च स्वयमेव तस्य लज्जालोरतिरिक्तपात्रग्रहण प्रतिश्रुतमङ्गीकृत, तदा यल्लभ्यते अतिरिक्त पात्र लक्षणयुक्तमलक्षणयुक्त वा तत्तस्य दातव्यम् । गत एक' प्रकार. ।

द्वितीयप्रकारमाह—

वितिओ पंथे भणती, आसन्नागं तु विन्नवेंति गुरु ।
तं चेव पेसवंती, दूरगयाणं इमा मेरा ॥ २४० ॥

द्वितीयस्तान् पथि दृष्ट्वा भणति-ममाऽपि योग्यानि भाजनानि प्रतिगृह्णीत । अथवा आसन्नस्थ गुरु विज्ञपयन्ति । अथवा-तमेव साधुमभ्यर्थमान प्रेषयन्ति, यथा—स्वमाचार्यं विज्ञापयेति तेषामेव कुर्वता तदा तेषां प्रायश्चित्त मासलघु, दूरगतानां पुनरिय वक्ष्यमाणा मर्यादा सामाचारी ।

तामेवाऽऽह—

गेराहामो अतिरेगं, तत्थ पुण वियाणगा गुरू अम्ह ।
देंति तदेवसं वा, साहारणमेव ठावेंति ॥२४१॥

दूरगतान् साभोगिक साधुरवलोक्य ब्रूते-अस्माकमपि योग्यं पात्रमादद्ध्व, ततस्तैर्वक्तव्यम्-अतिरिक्त पात्र ग्रहीष्यामस्तत्र पुनर्विज्ञायका अस्माक गुरवस्तदेव वा अतिरिक्त पात्र दास्यामि, अन्यद्वा को जानाति, कदाचिदतिरिक्त पात्र सुन्दरमिति ज्ञात्वा स्वय प्रतिगृह्णन्ति, यस्य वा इष्ट तस्मै ददति, एव साधारण स्थापयन्ति । उक्तो द्वितीयः प्रकारः ।

तृतीयमाह--

तइओ लक्खणजुत्तं, अहियं वीसाएँ ते सयं गेराहे ।
एए तिरिण विगप्पा, होंततिरेगस्स नायव्वा ॥२४२॥

तृतीय. प्रकारः पुनरयम्-ते प्रेषिताः साधवो विंशतेरधिक पात्र स्वयमेव गृह्णन्ति । एते त्रयो विकल्पा अतिरिक्तस्य पात्रस्य सभवाय ज्ञातव्याः। तदेव व्यापारितानां छिन्नानि गतानि ।

साम्प्रतमाभिग्रहिकाणां छिन्नानि प्रतिपादयितुमाह-

सच्छंद पडिन्नवणा, गहिते गहणे य तारिसं भणियं ।
अलथिरधुवधारणियं, सो वा अन्नो व णं धरए ॥२४३॥



स्वच्छन्दा नाम-अभिग्राहिकास्ते अव्यापारिता एवाऽऽचार्यानापृच्छय गतास्ते यदि छिन्नाः सदिष्टास्ततस्तेषामपि सैव सामाचारी या प्राक् व्यापारितानां छिन्नानामुक्ता । ( पडिन्नवण त्ति ) प्रतिज्ञापना नाम-विधिना पात्राऽऽदीनां मार्गणा कर्त्तव्येत्युपदेशदानम्, उद्गमाऽऽदिशुद्धानि पात्राऽऽदीनि प्रतिग्राह्याणीत्युपदेशदानमिति भाव. । तदा गृहीते ग्रहणे च यादृश कल्पाध्ययनपीठिकायां भणित तादृश कर्त्तव्य, तत्र यावन्ति सदिष्टान्याचार्येण तावन्ति गृहीतानि, यदि न केनचित् भणितपूर्वं, यथा ममापि योग्य पात्र ग्राह्यमिति तदा अल समर्थं स्थिर दृढं ध्रुवं चिरकालावस्थायि पात्रं धारणीयमितिन्यायमनुसृत्य, ते चिन्तयन्ति-प्रायोग्यमेतत्पात्र तस्मात् गृह्णीमो,गृहीते स एव ग्राहकश्चिन्तयति-अहमाचार्यानुज्ञात धारयिष्यामि, यदि वा स एवाऽऽचार्यो धारयिष्यति, अन्यो वा साधुर्धारयिष्यति, एवमतिरिक्तपतद्ग्रहसम्भवः ।

सम्प्रति ग्रहणे गृहीते च यद्भणित कल्पपीठिकायां तदेव विनेयजनानुग्रहाय दर्शयति-

ओमंथणमादीणं, गहणे उ विहिं तहि पउंजंति ।
गहिए य पगासमुहे, करेति पडिलेह दो काले ॥२४४॥

अवमन्थनमधोमुख कृत्वा प्राणाऽऽदीन् खोटनेन भूमौ यतनया पातयन्ति । अमु विधिं तत्र ग्रहणे प्रयुञ्जन्ति । गृहीते च तानि पात्राणि प्रकाशमुखानि करोति, तथा द्वौ कालौ प्रातरपराह्णे च प्रत्युपेक्षते ।

सम्प्रति तेषु पात्रेष्वानीतेषु विधिमाह-

आणीतेसु उ गुरुणा, दोसुं गहिएसु गया जहवुड्ढं ।
गेराहंति उग्गहे खलु, ओमादी मत्त सेसेवं ॥२४५॥

आनीतेषु तु भाजनेषु आचार्येण प्रधान सुलक्षण पात्र मात्रक च परिग्रहीतव्य ततो गुरुणा द्वयोर्गृहीतयो शेषाणि भाजनानि यावतां दातव्यानि तावन्तो भागा क्रियन्ते,ततो ये गतास्ते यथावृद्ध यथारत्नाधिकतया पतद्ग्रहान् गृह्णन्ति, तदनन्तर ये गतानामेवावमरत्नाधिकास्ते यथारत्नाधिकतया मात्रकाणि गृह्णन्ति,तदनन्तर ये. पतद्ग्रहा न गृहीतास्ते अवमरत्नाधिका ,शेषाश्च साधवो यथारत्नाधिकतया पतद्ग्रहान् मात्रकाणि च गृह्णन्ति । तदेव व्यापारितानां स्वच्छन्दसां च छिन्नानि ।

साम्प्रतमेषामेव द्वयानामच्छिन्नानि विभणिषुरिदमाह-

एमेव अछिन्नेसु वि, गहिए गहणे य मोत्तु अतिरेग ।
एत्तो पुराणगहणं, वोच्छामि इमेहि उ पदेहिं ॥२४६॥

एवमेव पूर्वोक्तेनैव प्रकारेणाच्छिन्नेषु अपि ग्रहीतव्येषु गृहीते च ग्रहणे च विधिरनुसरणीयो, मुक्त्वा अतिरेक भवति,अतिरिक्त' पतद्ग्रह एव न सम्भवति,परिमाणकारणादिति तत्सम्भवविधिर्न वक्तव्यः । सम्प्रति पुराणग्रहणमेभिर्वक्ष्यमाणै पदैर्वदयामि ।

तान्येव पदान्याह-

आगमगमकालगते, दुल्लभ तहि कारणेहि एएहिं ।
दुविहा एगमणेगा, अणेग णिद्दिट्ठऽनिद्दिट्ठा ॥ २४७ ॥

आगमद्वार गमद्वार,कालगतद्वार दुर्लभद्वारमेतै कारणैस्तत्र गच्छे पुराणग्रहणसम्भव । तत्र ये पात्राणि ददति ते द्विविधाः एको वा, अनेके वा; येपामपि ददाति तेऽपि द्विविधा-एको

वा, अनेके वा, दानं च निर्देशपूर्वकं, यथा अमुकस्य दास्यामि, तत्र यदा एकस्यापि ददाति तदा तन्निर्दिशति-अमुकस्य दास्यामि । ये त्वनेकेऽनिर्दिष्टा वा, अपरिमितसंख्याकतया निर्देशाकरणात् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतः आगमद्वारमाह-

**भायणदेसा एंतो, पाए घेत्तूण एति दाहं ति ।**

**दाऊणऽवरो गच्छइ, भायणदेसं तहिं घेत्तुं ॥ २४८ ॥**

भाजनदेशा नः यस्मिन् देशे भाजनानि संभवन्ति तस्मात् देशादानन्दपुराऽऽदावागच्छन् आगन्तुकामः पूर्वकृतानि गृहीत्वा समागच्छति, साधुभ्यो दास्यामीति बुद्ध्या । गतमागमद्वारम् । अधुना गमद्वारमाह-अपरः साधुरानन्दपुराऽऽदिकात् देशात् भाजनदेशं गन्तुकामस्तत्रान्यान्यपि पात्राणि ग्रहीष्यामि, सुलभत्वादिति पुराणानि पात्राणि दत्त्वा गच्छति । गतं गमद्वारम् ।

इदानीं कालद्वारमाह-

**कालगयम्मि सहाए, भग्गे वऽण्णस्स होइ अतिरेगं ।**

**पत्तो लंबतिरेगे, दुल्लभपाए विमे पंच ॥ २४९ ॥**

कस्यापि साधोः सहायः कालगतः, प्रतिभग्नो वा, ततस्तस्य पात्रमतिरिक्तं लभ्यते, इत्यन्यस्य द्वितीयस्य साधोरतिरिक्तं पुराणं पात्रं च भवति । गतं कालगतद्वारम् । अधुना दुर्लभद्वारमाह-दुर्लभानि पात्राणि यस्मिन् देशे स दुर्लभपात्रस्तस्मिन्नपि इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च भाजनानि धारयेत् । देशे पात्राणि दुर्लभानि, तत्रैमान्यतिरिक्तानि ध्रियन्ते । तद्यथा-नन्दीपतद्ग्रहो १, विपतद्ग्रहः २, कमठकम् ३, विमात्रकं ४, प्रश्रवणमात्रकं ५ च । तत्कार्यप्ररूपणा चैव कार्या-नन्दीपतद्ग्रहोऽतिशयितः महान्, तद्ग्रहस्ते चास्य मे अवमौदर्ये परचक्रावरोधे च प्रयोजनम् । तथा च कश्चित् ब्रूयात्-दिने दिने युष्माकमहमेकं पात्रं भरिष्यामि, ततस्तत्र नन्दीपात्रं धार्यते, एतेन कारणेन गच्छोपग्रहनिमित्तं धार्यते । विपतद्ग्रहः पतद्ग्रहात्किञ्चिदूनः । स एतदर्थं धार्यते, कदाचित्पतद्ग्रहो भिद्यते, अन्यच्च भाजनं तस्मिन् देशे दुर्लभं, तत एतेन कार्यं भविष्यति । कमठकं सागारिकरक्षणाय ध्रियते च, तथा कदाचिदेकाकी जायते, तत्र च भक्तपतद्ग्रहे गृहीतं, पानीयमात्रके, यत्र च भोजनकरणार्थमवतीर्णस्तत्र सागारिकास्ततो यत्रैव क्षुल्लके तत्र वसतिर्महती । तैरतिजुगुप्सा क्रियेत, ततस्तद्रक्षणाय कमठके भोजनं करोति । तथा विमात्रकं मात्रकात् मनाक् समधिकमूनतरो वा, तत्र मात्रकं कदाचित् भिद्येताऽन्यत्र देशे भोजनं दुर्लभं, तत एतेन प्रयोजनं भविष्यतीति स ध्रियते । अश्रवणमात्रकोऽपि सागारिकभयेन यतनाकरणाय ग्लानस्याऽऽचार्यस्य वाऽर्थे ध्रियते । एषा कार्यप्ररूपणा ।

सम्प्रति "दुविहा एगमणेगा" इत्यादिव्याख्यानार्थमाह-

**एगो निद्दिस एगं, एगे णेगा अणेग एगं वा ।**

**णेगाऽणेगे ते पुण, गणि वसभे भिक्खु खुड्डे य ॥ २५० ॥**

ये पात्राणि प्रयच्छन्ति ते द्विविधाः । तद्यथा-एको वा स्यादनेके वा, येभ्योऽपि ददति पात्राणि तेऽपि द्विविधाः-एको वा स्यादनेके वा, तत्रैको नियमतोऽनेके विकल्पिता निर्देशा भवन्ति । अत्र चतुर्भङ्गी-एको दाता एकं सम्प्रदानं निर्दिशति । आचार्यस्यामुकस्य वृषभस्य भिक्षोः क्षुल्लकस्य वा दास्यामि । एष प्रथमो भङ्गः । एकोऽनेकान्निर्दिशतीति द्वितीयः । अनेक एकमिति तृतीयः । अनेके अनेकानिति चतुर्थः । ते पुनर्निर्देश्याः । के? इत्याह-गणी, वृषभो, भिक्षुः, क्षुल्लकश्च । गणी द्विविधः आचार्य उपाध्यायश्च । एवमेते पञ्च भवन्ति यान् अपि स्त्रियो निर्दिशन्ति ता अपि पञ्च । तद्यथा-प्रवर्तिनी, अभिषेक्या, भिक्षुकी, स्थविरा, क्षुल्लिका च ।

तथा चाऽऽह-

**एमेव इत्थिवग्गे, पंच गमा अहव निद्दिसति मीसे ।**

**दाउं वच्चति पेसे, ति वावि नीते पुण विसेसो ॥ २५१ ॥**

एवमेव अनेनैव सद्यानन्तरोक्तेन प्रकारेण स्त्रीवर्गे निर्दिश्यमाने पञ्च गमा भवन्ति । अथवा-यत्रानेकान् निर्दिशति तत्र मिश्रान् निर्दिशति-संयतानपि निर्दिशति, संयतीरपि । तदेतदागमद्वारेऽभिहितम् । सम्प्रति गमद्वारे वक्तव्यं, तथापि तत्रैव नवरं दत्त्वा व्रजति, प्रेषयति च, अग्रे गतः, नीते पुनर्विशेषः । स चाऽयम्-नीतानि भाजनानि समाने निर्दिशति, असमाने वा । संयतस्य समानो वर्गः संयतवर्गोऽसमानः संयतीवर्गः । अत्र च एते एव चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा-संयतः संयतं निर्दिशति, संयता संयतम्, संयतः संयतान्, संयता संयतान् । एवं समाने निर्देशे चत्वारो भङ्गाः । एवमसमाननिर्देशेऽपि द्रष्टव्याः । तद्यथा-संयतः संयतीं निर्दिशति १, संयतः संयती २, संयता संयतीः ३, संयताः संयतीः ४ एवं कालगते प्रतिभग्ने वा सहाये दुर्लभद्वारे च द्रष्टव्यम् ।

**सच्छंदमणिद्दिट्ठे, दायणा निद्दिट्ठमंतरा देंति ।**

**चतुलहु आदेसो वा, लहुगा य इमेसि अदाणे ॥ २५२ ॥**

तत्र यदि न निर्दिष्टममुकस्यामुकानां वा दातव्यमिति तदा स्वच्छन्दो यस्मै रोचते तस्मै ददाति, यदि पुनर्निर्दिष्टं ततो यान्निर्दिशति एतमनेकानिमश्रत्वात्तेषां दातव्यम् । एतन्निर्दिष्टं प्रायणम् । अथ यस्य निर्दिष्टं सोऽन्यत्र गतः अपान्तराले अन्यस्य ददाति तदा तस्मिन् अन्यस्मै ददति प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, आदेशो वा अत्र विद्यते, मतान्तरमप्यस्तीति भावः । तदिदं केषाञ्चिन्मतेनान्यस्य दाने अनवस्थाप्य तेषां प्रायश्चित्तमिति । अमीषां वक्ष्यमाणानामदाने चत्वारो लघवः ।

केषामित्याह-

**अद्धाण वालवुड्ढे, गेलन्ने जुंगिए सरीरेणं ।**

**पायंऽच्छिन्नासकरक-न्नसंजतीणं पि एमेव ॥ २५३ ॥**

अध्वनि वर्त्तमानानामध्वनिर्गतानामित्यर्थः । उपलक्षणमेतत् तेन चावमौदर्यनिर्गतानामशिवनिर्गतानामन्तरा विस्मरणतः पतितोपधीनां, तथा वालस्य शरीरेण जुङ्गितस्य हीनस्य, केनाङ्गेन हीनस्येत्यत आह-पादेन, हस्तेन, नासया, करेण, कर्णेन वा, एवमेव संयतीनामप्यदाने प्रायश्चित्तम् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रति तामेव विवरीषुराह-

**अद्धाण ओम असिवे, उद्धढाणं वि न देंति जं पाए ।**

**बालस्सऽऽज्जुववातो, थेरस्सऽसतीए जं कुज्जा ॥ २५४ ॥**

अध्वनिर्गतानामवमौदर्यनिर्गतानामशिवनिर्गतानामरूढानामन्तरा विस्मरणतः पतितस्तेनापहृतोपधीनां यदि न ददाति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो लघवः । यत्र भाजनैर्विनाशमप्राप्स्यन्ति तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्तम् । तथा बालस्य उत्कृष्टमात्रकं दृष्ट्वा तद्विषये अभ्युपपात उत्कृष्टोऽभिलाषो भवति, ततः मात्रकं याचते स यद् याचते

तद् तस्य दातव्यम्, अदाने चत्वारो लघुकाः। एतस्तास्मिन्नदीयमाने रोदिति, अधृत्या च महती परितापनोपजायते, ततः शल्यचित्तो भवति, भूलेन चाग्रस्य तं वृद्धस्याप्यदाने चत्वारो लघवः। स हि भाजनानि याचितुं न शक्नोति, ततोऽदाने यत् अधृत्या प्राप्नोति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते। गतं बालद्वारं, वृद्धद्वारं च।

संप्रति ग्लानद्वारमाह–

अतरंतस्स अदेंते, तप्पडियरगस्स वावि जा हाणी।
जुंगितेँ पुव्वनिसिद्धो, जातिविदेसेतरो पच्छा ॥२५५॥

अतरतो ग्लानप्रतिचारकस्य च यदि न ददाति, तदा प्रायश्चित्तं तत एव चत्वारो लघव। तथा भाजनाभावे प्रतिचारकं वा विना ग्लानस्य हानिरतन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तम्। गतं ग्लानद्वारम्। जुङ्गितद्वारमाह–जुङ्गितो द्विविधो–जात्या, शरीरेण च। जात्या असांभोगिक इतरश्छिन्नपादो गतावक्रम इत्यादि। एष द्विविधोऽपि पूर्वमेव प्रतिषिद्धो यथा प्रव्राजयितुं न कल्पते, केवल यो जातिजुङ्गितः स विदेशे कथमप्यज्ञाततया प्रव्राजितः, इतरः शरीरेण जुङ्गितः प्रव्राजितः सन् पश्चात् स्यात्।

जातीएँ जुंगितो पुण, जत्थ न नज्जइ तहिँ तु से अत्थे।
असुगनिमित्त विगलो, इयरो जहिँ नज्जइ तहिँ तु ॥२५६॥

यो जात्या जुङ्गितो विदेशे कथमप्यज्ञायते तत्र तिष्ठति, इतरः प्रव्राजनानन्तरं पश्चात् शरीरेण जुङ्गितो यदमासुकनिमित्तमेष विकलो जात इति ज्ञायते तत्र तिष्ठति, अन्यत्र तिष्ठतो लोकानामप्रत्ययो भवति केचिदेवं मन्यन्ते–पारदारिकाऽऽदिभिरपराधैः प्रव्राजितो जुङ्गित इति।

जे हिंडंता काय–वहं ति जे वि य कारंति उड्डाहं।
किं तु हु गिहिसामन्ने, विजुंगितो लोकसंका उ ॥२५७॥

जे जुङ्गिता हिण्डमानाः पादाऽऽदिविकलतया कायान् पृथिवीकायप्रभृतीन् घ्नन्ति येऽपि च दृश्यमानाश्छिन्ननासिकाऽऽदयः प्रवचनस्योड्डाहं कुर्वन्ति, यांश्च दृष्ट्वा लोकस्य शङ्कोपजायते यथा किं–तु'हु'निश्चितम्। गृहिसामान्ये च गता अमी इति नेषां भाजनानि दातव्यानि, अदाने चत्वारो लघवः। तथा हिण्डमाना यत् कायान् घ्नन्ति, यच्च प्रवचनस्योड्डाहकरणं तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तम्।

तथा–

पायऽच्छिन्नासकरक–न्नजुंगिते जातिजुंगिते चेव।
वोच्चासे चउलहुगा, सरिसे पुव्वं तु समणीणं ॥२५८॥

शरीरे जुङ्गिताः पञ्च। तद्यथा–छिन्नपादः, अच्छिन्नाणो वा, छिन्ननासः, छिन्नकर, छिन्नकर्ण, षष्ठो जातिजुङ्गित। तत्र यदि षडपि जुङ्गिता, भाजनानि च दातव्यानि विद्यन्ते, तदा सर्वेषामपि दातव्यानि। अथ सर्वेषामपि भाजनानि न पूर्यन्ते तर्हि यावतां पूर्यन्ते तावतामुपन्यस्तक्रमेण दातव्यानि। विपर्यासे उत्क्रमव्यत्यासेन दाने प्रायश्चित्त चत्वारो लघव। यत्र संयता संयत्यश्च जुङ्गिताः सन्ति तत्र भाजनसम्भवे सर्वेषामप्यशेषेण दातव्यम्। अथ तावन्ति भाजनानि न पूर्यन्ते तत संयतीनामसुरावे छिन्नपादाऽऽदिक्रमेण दातव्यम्। अथ संयतोऽपि छिन्नपाद, संयत्यपि छिन्नपादा, एवं सर्वत्र विभाषा कर्तव्या। तथाऽऽह–सदृशे जुङ्गितत्वे पूर्वं श्रमणीनां दातव्यम् पश्चात्तदनन्तर सम्भवे संयतानाम्, अन्यथा विपर्यासे त एव चत्वारो लघव।

(२६) सम्प्रति निर्दिष्टस्य दाने विधिमाह–

अह एते उ न हुज्जा, ताहे निदिट्ठ पायमूलं तु।
गंतूण इच्छकारं, काउं तो तं निवेदेति ॥२५९॥

अथ एते अध्वनिर्गताऽऽदयः प्रायुक्ता न स्युस्ततो यस्य निर्दिष्टं तस्य पादमूलं गत्वा इदं पात्रं मया युष्मन्निमित्तमानीतमिच्छाकारेण गृह्णीत, एवमिच्छाकारं कृत्वा निवेदयति समर्पयति।

अदिट्ठे पुण तहिँ, पासे अहवा वि तस्य अप्पाहे।
अह उ न नज्जई ताहे, ओसरणे संतिसु विमग्गे ॥२६०॥

अथ स न दृष्टो यस्य निर्दिष्टं ततोऽन्यस्य हस्ते कृत्वा तत्र प्रेषयति, अथवा साधुं श्रावक वा तत्र व्रजन्त संदेशयति, यथा–तव योग्यं पात्रं मयाऽऽनीतम् इच्छाकारेणाऽऽगत्य गृह्णीत, प्रेषयत वा कमपि यो नयतीति। अथ पुनः स न ज्ञायते क्वापि तिष्ठतीति ततस्तेषु क्षुल्लकेषु समवसरणेषु मृगयेत। इयमत्र भावना–अज्ञायमाने समवसरणं साधुमेलापकरूपं गत्वा पृच्छति, यथा अमुकः कुत्र विद्यते, तत्र यदि स्वरूपतो न दृष्टो नापि वार्तयोपलब्धस्तथा द्वितीये समवसरणे पृच्छयते, तत्राप्यदृष्टे अनुपलब्धे वा तृतीये पृच्छ्यते। एवं त्रिषु क्षुल्लकेषु समवसरणेषु मध्ये यत्रैकतरस्मिन् दृष्टस्तत्र तथैव समर्पयति। अथ न दृष्टः केवलमुपलब्धवार्तया यथा अमुकस्थाने स तिष्ठतीति स तत्र स्वयं वा नयति, अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति।

अथ त्रिष्वपि समवसरणेषु न दृष्टो नाप्युपलब्धस्तदाऽऽह–

एते वि महंतम्मि उ, उग्घोसेऊण नाउ तेहि तहिं।
अह नत्थि पवत्ती से, ताहे इच्छा विवेगो वा ॥२६१॥

महति समवसरणे पुनरेकस्मिन्नपि कुत्रामुक इत्युद्घोषणां कृत्वा यदि स्वयं दृष्टस्तत इच्छाकारपुरस्सरं तथैव समर्पयति, अथ वार्त्तयोपलब्धस्तर्हि तत्र स्वयं नयति अन्यस्य वा प्रेषयति, संदेशयति वा, अथ तत्राऽपि न दृष्टो नाप्युपलब्धस्ततो द्वितीयं वारं महत् समवसरणं न गच्छति, किं तु इच्छया स्वयं तत्पात्रं धारयति, अन्यस्मै वा ददाति। (विवेगो वेति) परिष्ठापयति वा। अथ येषां ददतामेकस्थाने केषां वा सकाशात् ग्रहीतव्यं ते किं सांभोगिका उताऽसांभोगिका एवं प्रश्ने। कृते प्रथमत एकानेकप्ररूपणामाह–

एगे व पुव्वभणिए, कारण निकारणे दुविहभेदो।
आहिंडग ओहाणे, दुविहा ते हुंति एक्केका ॥ २६२ ॥

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणित। तद्यथा–कारणे निष्कारणे च। पुनः साधवो द्विविधाः–आहिण्डका अवधावन्ते च। ते एकैके द्विविधा भवन्ति वक्ष्यमाणभेदेनेति गाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह–

असिवादीकारणिया, निकारणिया य चक्कथूभाऽऽदी।
उवएस अणुवएसा, दुविहा आहिंडगा हुंति ॥२६३॥

अशिवाऽऽदिभिरादिशब्दादवमादर्यराजद्वेषाऽऽदिपरिग्रहः। कारणैकाकिनः कारणिकाः, चक्रस्तूपाऽऽदौ आदिशब्दात्प्रतिमा-

निष्क्रमणाऽऽदिपरिग्रहः । तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनः निष्कारणिका ये आहिण्डकास्ते द्विविधा भवन्ति । तद्यथा- उपदेशतोऽनुपदेशतश्च । तत्रोपदेशेन ये ते द्वादश संवत्सराणि सूत्रं गृहीत्वा द्वादश संवत्सराणि तस्यैव सूत्रस्यार्थं गृहीत्वा य आचार्यकं कर्तुकामः स द्वादश संवत्सराणि देशदर्शनं करोति,तस्य व्रजतो जघन्यो न संघाटको दातव्य उत्कर्षेणानियताः साधवो, ये अनुपदेशेन देशदर्शनं कुर्वन्ति,ते चैत्यानि वन्दिष्यामहे इत्यविधिं कृत्वा व्रजन्ति ।

ओहावेंता दुविहा, लिंगें विहारें य होंति नायव्वा ।
एगागी छप्पेते, विहारें तहिं दोसु समणुन्ना ।।२६४ ।।

अवधाविनो द्विविधा -लिङ्गेन,विहारेण च । लिङ्गेनोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेण विहर्तुकामा भवन्ति ज्ञातव्याः । षडप्येते कारणिकाः१,निष्कारणिका २, उपदेशिका ३, अनुपदेशकाः ४ लिङ्गेनावधाविनः ५,विहारेणावधाविनश्च ६ । प्रायेणैते एकाकिनो विहरन्ति, गच्छन्ति वा, उपदेशिका यद्यपि नियमतः ससहायास्तथापि येन गच्छान्निर्गतास्तेन एकाकिनो भण्यन्ते । इतरेऽपि पञ्च यद्यपि वृन्देन हिण्डन्ते तथापि गच्छान्निर्गता एकाकिनः प्रोच्यन्ते । तत उक्तं षडप्येते विहारेण एकाकिनः ( तहिं त्ति ) तेषु षट्सु मध्ये द्वयोः समनुज्ञातयोः साम्भोगिकाः । तद्यथा-अशिवाऽऽदिकारणिका उपदेशा हिण्डकाश्च,तैरानीतानि भाजनानि ग्रहीतव्यानि, शेषैरानीतानां भजना, कारणे गृह्णन्ते निष्कारणेनेति ।

निक्कारिणिए तुवदे-सिए य आपुच्छिऊण वच्चंते ।
अणुसासंति उ ताहे, वसहा उ तहिं इमेहिं तु ।।२६५।।

निष्कारणिकः अनौपदेशिकश्च यथाचार्यमापृच्छ्य व्रजति तदा तत्र व्रजते एभिर्वक्ष्यमाणैर्वचनैर्वृषभा अनुशासति ।

कैर्वचनैरित्याह-

एसेव चेइयाणं, भत्तिगतो जो तवम्मि उज्जमती ।
इइ अणुसट्ठे चिट्ठइ, असंभोगायारभंडं तु ।। २६६ ।।

एष एव चैत्यानां भक्तिगतो भक्तिमुपगतो यस्तपसि द्वादशप्रकारो यथाशक्ति उद्यच्छति,एवमनुशिष्यमाणे यदि तिष्ठति ततः सुन्दरम् , अथ न तिष्ठति यत्तस्य साम्भोगिकमुपकरणं तन्निवर्त्यते, इतरदसाम्भोगिकमाचारभाण्ड समर्प्यते ।

अथ कथमसाम्भोगिकमाचारभाण्डमुपजातमत आह-

खग्गूढेणोवहयं, अमणुन्ने सागयस्स वा जं तु ।
असंभोगियउवगरणं, इहरा गच्छे तगं नत्थि ।। २६७ ।।

यत उपकरणं खग्गूढेनोपहतं, यदि वा यत अमनोज्ञेभ्योऽसाम्भोगिकेभ्य आगतस्योपसंपन्नस्य संबन्धि तत आसाम्भोगिकमुपकरणमाचारभाण्डमितरथा प्रकारद्वयव्यतिरिक्तेनान्येन प्रकारेण तकत् असाम्भोगिकमुपकरणं गच्छे नास्ति न सम्भवति ।

तिट्ठाणे संवेगो, सावेक्खो नियत्तते दिवससुद्धो ।
मा सो रुड विवेचणं, तं चेवऽणुसट्ठिमादीणि ।। २६८ ।।

तस्य गच्छान्निर्गतस्य कदाचित् त्रिभिः स्थानैः संवेग स्यात्, गाथायां सप्तमी प्राकृतत्वात्,एकवचनं समाहारत्वात् । तद्यथा ज्ञानेन, दर्शनेन, चारित्रेण च । ततः संवेगसमापन्न सापेक्षः प्रतिनिवर्त्तते,स च यदि तस्मिन्नेव दिवसे गच्छं प्रत्यागतस्तर्हि रुपितस्तदा तदेव तदुपकरणस्य विवेचनं प्रायश्चित्तदानमनुशिष्ट्यादीनि च क्रियन्ते,आदिशब्दादुपबृंहणाऽऽदिपरिग्रहः ।

संप्रति स्थानत्रयेण संवेगभावनामाह-

अज्जेव पाडिपुच्छं, को दाहिइ संकियस्स मे उभए ।
दंसणकं उववूहे, कं थिर करे कस्स वच्छल्लं ।।२६९।।
सारेहिति सीयंतं, चरणे सोहिं च काहिती का मे ।
एव नियत्तणुलोमं, णाउं उवहिं च तं देंति ।।२७०।।

अद्यैव उभयस्मिन् सूत्रे अर्थे च शङ्कितस्य कः प्रतिपृच्छां दास्यति, एषा ज्ञाने चिन्ता । दर्शकमहमिदानीमुपबृंहिष्यामि, कं वा स्थिर करिष्यामि,कस्य वा वात्सल्यमधुना करिष्यामि, चारित्रे चिन्ता, सा चरणे सीदन्तमिदानीं कः सारयिष्यति, को वा मे प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्य शोधिं करिष्यति । एवं चिन्तयन्संवेगमापन्नः सम्प्रति निवर्तते, तस्य प्रतिनिवृत्तस्य गच्छं प्रत्यागतस्यानुलोमता कर्त्तव्या धन्योऽसि त्वं येनाऽऽत्मा प्रत्यभिज्ञातः, एवमनुलोमतां कृत्वा तस्य तमेवोपधिं प्रयच्छन्ति ।

संप्रत्यविधाविनमधिकृत्य प्रतिपिपादयिषुराह-

दुविहा इहावि वसभा, सारेंति भयाणि वा सि साहेंति ।
अट्ठारस ठाणाइं, हयरस्सिगयंकुसनिभाइं ।। २७१ ।।

द्विविधमप्यवधाविनमाचार्यमापृच्छ्य व्रजन्तं वृषभा सारयन्ति, शिक्षयन्ति, भयानि वा ( से ) तस्य साधयन्ति कथयन्ति, रतिवाक्यचूलिकाभिहितानि अष्टादशस्थानरूपाणि हयरस्मिगजाङ्कुशनिभानि । एतया अनुशिष्टया अनुशासितो यदि तिष्ठति ततः सुन्दरम् , अथ न तिष्ठति तर्हि यत् ख गूढेनोपहतमाचारभाण्ड, यद्वा असाम्भोगिकेभ्यः समागतस्योपसंपन्नस्य संबन्धि तस्य दीयते, अप्रेतनं तु साम्भोगिकमुपकरणं निवर्त्यते ।

संविग्गमसंविग्गे, सारूवियसिद्धपुत्तमणुसट्ठे ।
आगमणं आणयणं, तं वा घेत्तुं न इच्छंति ।। २७२ ।।

संविग्नाः साम्भोगिका असाम्भोगिका वा, उद्यतविहारिणः असंविग्नाः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाः, सारूपिकसिद्धपुत्रो नाम-मुण्डितशिरस्को रजोहरणरहितोऽलाबुपात्रेण भिक्षामटन् सभार्योऽभार्यो वा एतैरनुशिष्टस्य यदि आगमनं तत उपहतोपकरणस्य अनुपहतोपकरणस्य वा प्रायश्चित्तदानम् । ते वा संविग्नाऽऽदयो गृहीत्वा तस्याऽऽनयनं कुर्वन्ति, अथ स आनयनं नेच्छति तदा वक्ष्यमाणो विधिः । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव व्याचिख्यासुराह-

संविग्गाण सगासे वुत्थो तेहिं अणुसासियनियत्तो ।
लहुओ न चेव हम्मति, इयरे लहुगा उवहतो य ।।२७३।।

यदि संविग्नानां समीपे उषितः तैश्चानुशिष्टः प्रतिनिवृत्तो वसतिं समागत तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मास । न च तस्योपधिरुपहन्यते, यं चान्तरा लभते,गृह्णाति चोपधिं सोऽपि नोपहन्यते, संविग्नानां समीप उषितः संविग्नैः सहागमनाच्च, इतरे नाम असंविग्ना पार्श्वस्थाऽऽदयः सारूपिकसिद्धपुत्राश्च, तेषां समीपे यद्युषितास्तैश्चानुशिष्टः प्रतिनिवृ-

स्तस्याऽऽगतस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघवः। उपकरणं च तस्योपहन्यते यदा छन्दस्य सकाशे उषितस्य चतुर्गुरुकम् ।

साम्प्रतमागमनद्वारमाह-

संविग्गाऽऽदणुसिट्ठो, तद्दिवस नियचो जइ वि न मिलेज्जा ।
न य सज्जइ वइयादिसु, चिरेण वि हु तो न उवहम्मे ।२७४।

संविग्नैः,आदिशब्दादसंविग्नैश्चानुशिष्टो यदि तत्र नोषितः, किं तु तस्मिन्नेव दिने न मिलति, न च व्रजिकाऽऽदिषु सजति, ततश्चिरेणाप्यागच्छतो (हु) निश्चितं तस्योपकरणं नोपहन्यते, आनीयमानस्य तूपहन्यते ।

एतदेवाऽऽह-

एगागियस्स सुविणे, मासो उवहम्मते य से उवही ।
तेण परं चउलहुगो, आवज्जइ जं च तं सव्वं ॥२७५॥

बलादानीयमान एकाकी समागच्छन् यदि रात्रौ स्वपिति, तदा तस्यैकाकिनः स्वप्ने प्रायश्चित्तं लघुको मासः,उपधिश्च तस्योपहन्यते । अथ तस्माद्दिवसात्परमपि लगति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अथ व्रजिकाऽऽदिष्वपान्तराले सजति, यच्च तत्र प्राप्नोति, तन्निष्पन्नं सर्वं तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते ।

सम्प्रति " ते वा घेत्तुं नेच्छंतीति " द्वारव्याख्यानार्थमाह-

संविग्गेरणुसिट्ठो, भणेज्ज जइ अहं इहेव अत्थामि ।
भणति ते आपुच्छसु, अणिच्छ तेसिं निवेयंति ॥२७६॥
सो पुण पडिच्छतो वा, सीसे वा तस्स निग्गतो हुज्जा ।
सीसं समणुन्नायं, गेएहंतियरम्मि भयणा उ ॥२७७॥

संविग्नैरनुशिष्टो यदि ब्रूते-अहमिहैव युष्माकं समीपे तिष्ठामि, तदा स प्रष्टव्यो, येषां समीपात् त्वमागतस्तस्य-शिष्यो वा त्वं भवसि, प्रातीच्छिको वा? । तत्र यदि शिष्यस्तर्हि भण्यते-तान् आत्मधीन् आचार्यानापृच्छस्व, मुत्कलापय। अथ स आपृच्छनं नेच्छति, तर्हि तेषां निवेदयन्ति । यथा-यौष्माकीणस्याऽस्माकं पार्श्वे समागतो वर्तते,स बहुधाऽनुशिष्टः परं प्रतिनिवर्तितुं नेच्छति, किं तु ब्रूते-अहं युष्माकं पार्श्वे स्थास्यामि, एवं निवेदने कृते यदि ते समनुजानन्ति ततः प्रतीच्छन्ति, अथ नानुजानन्ति ततो न प्रतीच्छन्ति । इतरो नाम-प्रतीच्छिकस्तस्मिन् भजना ।

तामेव प्रतिपादयति-

उद्दिट्ठमणुद्दिट्ठे, उद्दिट्ठ समाणियम्मि पेसंति ।
वायंति समणुनायं, कडे पडिच्छंति उ पडिच्छं ॥२७८॥

तस्य प्रातीच्छिकस्य प्रथमतः प्रश्नेन परिभाव्यते-किमेतस्य श्रुतस्कन्धाऽऽदिकमुद्दिष्टमस्ति, किं वा नेति । तत्र यद्युद्दिष्टवपि वा परिसमापितं तदा न प्रतीच्छन्ति. किं तु तेषामेव समीपे प्रेषयन्ति. तत्र यदि समनुजानन्ति यूयमेवैन वाचयत तदा ते समनुज्ञातं वाचयन्ति,अन्यथा न प्रतीच्छन्ति। अथोद्दिष्टं श्रुतस्कन्धाऽऽदि परं कृतं समाप्तिं नीतं, तदा कृते श्रुतस्कन्धाऽऽदौ तं प्रतीच्छकं प्रतीच्छन्ति । अथ न किमप्युद्दिष्टमस्ति तदाऽऽपि तमागतं प्रतीच्छन्ति। एष विहारेणावधावी भणितः ।



संप्रति लिङ्गावधाविनमाह-

एवं ताव विहारे, लिंगोहावी वि होइ एमेव ।
सो किमु संकमसंकी, संकि विहारे य एगगमो ॥२७९॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विहारे विहारावधावी उक्तो, लिङ्गावधावी अन्योऽप्येवमेव भवति, स पुनर्लिङ्गावधावी द्विधा-शङ्की-अशङ्की च । शङ्की नाम-यस्यैवं संकल्पः यदि मम स्वजना जीविष्यन्ति, यदि वा तत्साधारणधनमविनष्टं स्यात्, यदि च मां ते वदिष्यन्ति,उन्निष्कामेति तदा उन्निष्कमामि। यदि पुनस्ते स्वजना मृता भवेयुस्तद्वा साधारणं विनष्टं,न वा कश्चिन्मां वदेत उन्निष्कामेति, तदा पार्श्वस्थाऽऽदिविहारमभ्युत्थास्यामि, एवं सङ्कल्पं कुर्वन् शङ्की । एवं रूपसङ्कल्पविकलोऽशङ्की । तत्र शङ्किनि लिङ्गावधाविनि विहारे च विहारावधाविनि एक एव गमः । किमुक्तं भवति ?-यत् विहारावधाविन्युक्तं तत् लिङ्गावधाविन्यपि शङ्किनि वक्तव्यमिति ।

संविग्गमसंविग्गे, संकमसंकीएँ परिणइ विवेगो ।-
पडिलेहण निक्खिवणं, अप्पणो अट्ठाएँ अन्नेसिं ॥२८०॥

सशङ्की अशङ्की वा पथि अनुशिष्यमाणो यदि संविग्ने असंविग्ने वा परिणतो भवति, वसति वा, तदा तस्योपकरणमुपहतमिति तस्य विवेकः कर्तव्यः । अथ स गतश्चिन्तयति-एतदुपकरणं तेषामेव दास्यते, मम वा भविष्यति, तदा निष्क्रामतो वा उभयकालं प्रतिलेखयतो यननया विनिक्षिपतस्तदुपकरणं नोपहन्यते, प्रत्यागच्छन्पुनर्यदि व्रजिकाऽऽदिषु सजति तत उपहन्यते,अथ न सजति नोपहन्यते। इतिगाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रत्यस्या एव विवरणमाह-

घेत्तूणऽगारलिंगं, वती व अवती व जो उ ओहावी ।
तस्स कडिपट्टदाणं, वत्थुं वाऽऽसज्ज जं जोग्गं ॥२८१॥

यो लिङ्गेनावधावी स द्विधा अगारलिङ्गं वा गृहीत्वा व्रजति, स्वलिङ्गसहितो वा अत्र योऽगारलिङ्गं गृहीत्वा अवधावति तस्यैव विधिः । पथि व्रजन् केनाप्यनुशिष्टो यदि निवर्तते, उपतिष्ठते च, मां प्रव्राजयेति तदा तस्य मूलं दीयते, स पुनरगारलिङ्गं गृहीत्वा संप्रस्थितो व्रती वा स्यादव्रती वा । अणुव्रतानि वा गृहीत्वा व्रजति, अव्रती वा सन् इत्यर्थः। तस्योभयस्यापि कटीपट्टको दातव्यो,वस्तु वाऽऽसाद्य यद्योग्यं तद्दातव्यम्।किमुक्तं भवति ?-मा प्रद्वेषं यायात् दारुणस्वभावो वा, तत उपरि प्रावरणमपि दीयते। अथवा राजाऽऽदिः प्रव्रजितस्तस्य सुन्दरे द्वे वस्त्रे दातव्ये । तदेवमगारलिङ्गावधावी भणितः ।

सम्प्रति स्वलिङ्गावधाविनमधिकृत्याऽऽह-

जइ जीविहिंति जइ वा,वित्तं धणं धरति जइ व वोच्छंति ।
लिंगं मोच्छिति संका, पविट्ठ वुच्छे व उवहम्मे ॥२८२॥

स्वलिङ्गेन योऽवधावति स द्विधा-शङ्की, अशङ्की च । तत्र शङ्की एव सङ्कल्पयति-यदि मम ते स्वजना जीविष्यन्ति, यदि वापि तत्साधारणं धनं धरते, वियते वा, मां वक्ष्यन्ति लिङ्गं मुञ्चेति, उन्निष्क्रामेति, तदा उन्निष्क्रमिष्यामि इत्येवं शङ्कावान् पथि केनाप्यनुशिष्टः सन् संविग्नानामसंविग्नानां वा उपाश्रये प्रविशति तदा तस्योपकरणमुपहन्यते, तदेवं सशङ्कलिङ्गावधावी उक्तः ।

सम्प्रति निःशङ्कलिङ्गावधावी भण्यते। निःशङ्को नाम-य एवं सङ्कल्पयति-अवश्यतया उन्निष्क्रमितव्यमिति। तस्य विधिमाह-

समुदाणचारिगाण व, भीतो गिहिपंततक्कराणं वा।
नेउवधिं सो तेणं, पविङ्ग वुच्छे वि न विहम्मे ॥२८३॥

समुदानं भैक्षं, तस्य भयेन। किमुक्तं भवति ?-यद्यहमिदानीं लिङ्गं मोचयामि ततो न कोऽपि मह्यं भिक्षां दास्यति, किं तु मामुपव्रजितुं दृष्ट्वा मध्येऽनिलीना भविष्यन्ति, ततः समुदानभयेन, चारिकास्तेषां वा भयेन अन्तरा गृहस्थप्रान्ताः संयतभद्रकाः, स्तेनास्तेषां वा भयेन, उपधिं नीत्वा तेनोपधिना युक्तः स संविग्नानामसंविग्नानामुपाश्रये उपविष्ट उषितो वा, तथाऽपि प्रत्यागच्छतोऽस्योपधिर्नोपहन्यते तेनाप्युपधिना समन्वितः स भावतो गृहस्थ इति कृत्वा।

नीसक्को वऽणुसिट्ठो, नेहुवहिमह अह खु ओहामि।
सविग्गाण य गहणं, इयरेहिं विजाणगा गेण्हे ॥ २८४ ॥

वाशब्दो विकल्पान्तरे, निःशङ्को व्रजन् संविग्नैरसंविग्नैर्वा अनुशिष्टो, यथा-यदि त्वमु निष्क्रमिष्यसि, किमुपधिं नयसि? ततः स ब्रूते-अमुमुपधिं तेषां समीपं नयत, अहं (खु) निश्चितमवधाविष्यामि तत्र यदि संविग्नाना हस्ते प्रेषयति तदा तैरानीतस्य ग्रहणम्। अथागीतार्थाना हस्ते प्रेषयति तदा तैरितरैरानीतं, यदि सर्वे गीतार्थास्ततो गृह्णन्ति, परिभुञ्जते च। अथागीतार्थमिश्रास्तदा कारणिकानामेकाकिना व्रजता दत्तं परिष्ठापयन्ति वा।

नीसंकितो वि गंतू-ण दोहि वग्गेहिं चोदितो एति।
तक्खण निंत न हम्मे, तहि परिणय वत्थु उवहम्मे ॥२८५॥

निःशङ्कितोऽपि गत्वा यदि द्वाभ्यां वर्गाभ्यां, संविग्नैरसंविग्नैर्वा इत्यर्थः। चोदितोऽनुशिष्टः सन् तेषामुपाश्रयात् यदि तत्क्षणमेव निर्गच्छति, तदा तस्योपधिर्नोपहन्यते। अथ तत्क्षणं न निर्गच्छति, वसतिं वा तदा उपहन्यते। अथवा-यदि तस्यैवं परिणामो जायते-अत्रैव तिष्ठामि तदापि तस्योपधेर्वात, ततस्तस्योपधि कथमप्यागत इति कृत्वा-परिष्ठाप्यते।

सम्प्रति "पडिलेहणनिक्खवणमप्पणोऽट्ठाए अन्नेसिं" इत्यस्य व्याख्यानमाह-

अत्तट्ठ परट्ठा वा, पडिलेहिय रक्खितो वि उ न हम्मे।
पावंतस्स उ नवरिं, पवेस वइयासु वा भयणा ॥२८६॥

स गतः सन् यदि चिन्तयति तेषामेवमुपकरणं दास्यते। अथवा-मम भविष्यति, एवमात्मार्थं वा उभयकालं प्रत्युपेक्षितो निरुपद्रवस्थाननिक्षेपेण च रक्षितोऽपि विशुद्ध प्रयुक्तापेक्षया समुच्चय तुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च। नैव हन्यते, नवरं केवलं प्रत्यागच्छतो व्रजिकाऽऽदिषु प्रवेशनजना, किमुक्तं भवति ? स प्रत्यागच्छन् यदि व्रजिकाऽऽदिषु सजति तदोपहन्यते। अथ न सजति नोपहन्यते।

अह पुण तेणुवजीवी, तो सारूवियसिद्धपुत्तलिंगीणं।
केइ भणंतुवहम्मति, चरणाभावे तु तत्थ भवे ॥२८७॥

अथ नो कुशिष्टोऽपि न प्रतिनिवृत्तः किन्तु तेन लिङ्गेनोपजीवति भिक्षाऽऽदिनिमित्तं शीलमुपजीवी, सारूपिकत्वेन, सिद्धपुत्रत्वेन वा स्थित इत्यर्थः। सारूपिको शिरोमुण्डो रजोहरणरहितोऽलाबुपात्रेण भिक्षामटति, सभार्योऽभार्यो वा सिद्धपुत्रो नाम सकेशो भिक्षामटति वा, न वा, वराटकैर्विटलकं करोति, यष्टिं धारयति, तस्य प्रत्युत्थितस्य यः पूर्वउपधिर्यच्च सारूपिकत्वेन सिद्धपुत्रत्वेन वा तिष्ठता यदुत्पादितं, तदुपहन्यते, न वा ?। तत आह कश्चिद्भणति, सारूपिकसिद्धपुत्रलिङ्गिनामुपकरणमुपहन्यते, तत्र भवति। कुत इत्याह-चरणाभावादुपहननमनुपहननं वा चरणवतामुपधिर्न च सारूपिकसिद्धपुत्रलिङ्गिनश्चरणवतः।

सो पुण पच्चुट्ठितो जइ, तस्स उवहयं तु उवगरणं।
असती य वती अन्नं, उग्गावेंतेति गीयत्थो ॥२८८॥

स पुनः प्रत्युत्थितो यदि तस्योपकरणमुपहतम्। अथवानास्ति तर्हि गीतार्थोऽन्यमुपधिमुद्गमयन् एति आगच्छति।

कुत्र कुत्र स्थाने उत्पादयन् आगच्छतीत्याह-

संजयभावियखेत्ते, तस्स असतीए उ चक्खुवेतिहयं।
तस्सऽसति वेंटलहए, उप्पाएंतो तु सो एइ ॥२८९॥

संयमभावितं क्षेत्रं नाम-यत्र क्षेत्रे संयतत्वेन स्थितस्तस्मिन्संयतभावितक्षेत्रे उत्पादयन् तस्यासत्यभावे चक्षुर्व्यति हते दृष्ट्या परिचिते तस्याप्यभावे विण्टलहते। विण्टलहतं नाम-यत्र पूर्वं विण्टलैराहारोपधिशय्या उत्पादितास्तस्मिन् उत्पादयन् गच्छति।

जाणंति एसणं वा. सावग दिट्ठीउ पुव्वकुसिया वा।
विंटलभाविय तेसिंह, किं धम्मो न होइ गेण्हेज्जा ॥२९०॥

स च उत्पादयति उत्पादनैषणादोषैर्विशुद्ध, तांश्च दोषान् तेभ्यः कथयति। यदि वा-यत्र संयतत्वेन विहृतो, दृष्ट्या वा पूर्वं कुपिताः परिचितास्ते श्रावकाः, ते च स्वत एव दोषान् जानन्ति, ततो दोषविशुद्धं प्रयच्छन्ति। यत्र विण्टलक्षेत्रं तत्र गीतार्थो यदि उत्पादयति तदाऽऽदितः प्रतिब्रूते-नाहमिदानीं वेण्टल करिष्यामि, यद्येवमेव ददध्वे ततः प्रतिगृह्णामि, एवमुक्ते यदि ते ब्रुवते-किं युष्माकं मुधा दत्ते न भवति, तस्माद्धर्म इति दत्तस्ततो गृह्णाति।

एवं उप्पाएउं, इयरं च विगिंचिऊण तो एति।
असतीएँ जहालाभं, विगिंचमाणे इमा जयणा ॥२९१॥

वक्ष्यमाणा यतना कर्तव्या। किमुक्तं भवति ?-यत् यत् सांभोगिकं लभ्यते तस्य यत्सदृशमसांभोगिकं तत्परिष्ठाप्यते।

एतदेवाऽऽह-

उवहयउग्गहलंभे, उग्गहणं विविंच मत्तए भत्तं।
अपजत्ते तत्थ दवं, उग्गहभत्तं गिहिदवेणं ॥२९२॥
अपहुच्चंते काले, दुल्लभदवभाविते व खेत्तम्मि।
मत्तगदवेण धोवइ, मत्तगलंभे वि एमेव ॥२९३॥

उपहतस्य असांभोगिकस्यावग्रहणस्य अवग्रहलाभे विवेचनं परिष्ठापनं कर्तव्यम्। एवं च तस्य पतद्ग्रहः सांभोगिको, मात्रकमसांभोगिकं, तत्र यदसांभोगिकं तस्मिन् भक्तं ग्राह्यं, यत्र सांभोगिकं तत्र पानीयं, ततो मात्रके तेन भक्तं ग्राह्यं पतद्ग्रहपानीयेन तस्य कल्पो दातव्यः, यदि मात्रके गृहीतेन

भक्तेन संस्तरणं तत्र मात्रके द्रव गृह्णाति अवग्रहे पतद्ग्रहे भक्तं, तत्र भुक्त्वा गृहस्थभाजनेन पानीयमानीय पतद्ग्रहस्य कल्पो देयः। अथ यावता कालेन गृहस्थात्पानीयमानीयते तावान् कालो न प्राप्यते दुर्लभं तत्र द्रव, न तेनेयतस्ततो गृहस्थेभ्यो द्रवं लभ्यते। यदि वा-तत् क्षेत्रमभावितं संयतैरतो गृहस्था न ददति भाजनं. यत्र पानीयं गृह्यते तदा मात्रकगृहीतेनैव पानीयेन पतद्ग्रहो धाव्यते प्रक्षाल्यते, तथाऽपि स नोपहन्यते एवमेव अनेनैव प्रकारेण मात्रकस्यापि सांभोगिकस्य लाभे असांभोगिकस्य परिष्ठाप्यते, पतद्ग्रहे वा सांभोगिके विभाषा कर्तव्या। तद्यथा-पतद्ग्रहे भक्तं ग्राह्यं, मात्रके पानीयम् अथ मात्रके संसक्तं भक्तं पानं वा गृहीतमाचार्याऽऽदिप्रायोग्यं वा पतद्ग्रहे च पानीयं तदा गृहस्थभाजनेन पानीयमात्रकस्य प्रक्षालनं कर्तव्यम्। अथ कालो न प्राप्यते दुर्लभं वा द्रवमभावितं वा तत् क्षेत्रं, तदा पतद्ग्रहपानीयेनैव मात्रकं प्रक्षाल्यते नोपहन्यते, इति।

अत्र पर प्रश्नमाह-

चोएइ सुद्धऽसुद्धे, संफासेणं तु तं तु उवहम्मे।
भन्नइ संफासेणं, जेसुवहम्मे न सिं सोही ॥२६४॥

परश्चोदयति-तत् शुद्धं भक्तं पानीयं वा अशुद्धे मात्रके, पतद्ग्रहे वा प्रक्षिप्तं संस्पर्शेनोपहन्यते, ततः कथं शुद्धिरिति?। आचार्य आह-भण्यते उत्तरं दीयते। येषां संस्पर्शेनोपहन्यते तेषां न कदाचनापि शोधिः।

एतदेव भावयति-

लेवाडहत्थछिक्के, सहस अणाभोगतो व पक्खित्ते।
अविसुद्धगहणम्मि वि,असुद्ध सुद्धेज इयरं वा ॥२६५॥

यदि तव मतेनैवमुपघातस्तर्हि असांभोगिके भाजने यद् गृहीतं भक्तं पानं वा, तेन लिप्ताभ्यां यत्सांभोगिकं भाजनं स्पृश्यते, तदप्यसांभोगिकं जातं,तत्संस्पर्शतोऽन्यान्यपि,न च तत्कालं सर्वाण्यपि परिष्ठापयितुं शक्यन्ते। न चान्यानि तावन्ति लभ्यन्ते,ततो न कदाचनाविशुद्धिः, तथा सहसा नामयत्त्वरमाणोऽसांभोगिकात् सांभोगिक• प्रक्षिपति तदप्यसांभोगिकमुपजायते। अनाभोगो नाम-एकान्तविस्मरणं, तेनाप्यसांभोगिक जायते। ( अविसुद्ध ति ) कथञ्चिदनाभोगतोऽविशुद्धस्योद्गमाऽऽद्यतमदोषदुष्टस्य ग्रहणे तद् भाजनमशुद्धं स्यात्, न च तदिष्यते,तस्माच्च संस्पर्शमात्रेणोपहननम्। अन्यच्च यथाऽशुद्धेन संस्पर्शतोऽशुद्धं भवति, तथा इतरदशुद्धं शुद्धेन संस्पर्शात् शुद्ध्येत शुद्धीभूयात् न्यायस्योभयत्रापि समानत्वात्। न चैतदस्ति, तस्मात् यत्किञ्चिदेतत्। व्य० ८ उ०।

( २७ ) प्रतिग्रहमनलमस्थिरं धारयते-

जे भिक्खू पडिग्गहगं अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं ण धरेइ, ण धरंतं वा साइज्जइ ॥९॥

इमो सुत्तत्थो

अणलमपज्जत्तं खलु, अथिरमदढं तु होति णायव्वं।
अधुवं च पाडिहारिय, अलक्खणमधारणिज्ज तु ॥१५२॥

कंठा।

अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं-

एतेसिं तु पदाणं, भयणा पन्नरसिया तु कायव्वा।
एत्तो एगतरेणं, गेण्हताऽऽणादिया दोसा ॥ १५३ ॥

एतेसिं चउण्ह पदाणं भंगा सोलस कायव्वा। अंतिमो सुद्धो, सेसा पण्णरस, तेसिं पण्णरसण्हं अण्णतरेण वि गेण्हंतस्स आणादिया दोसा।

तेसु पण्णरससु असुद्धेसु इमं पच्छित्तं-

पढमे भंगे चउरो, लहुगा सेसेसु होति भयणा तु।
जो पन्नरसो भंगो, एतेसुत्तंतिमो सुद्धो ॥ १५४ ॥

पढमभंगे चत्तारि वि पदा असुद्धा सेसपदेसु भयण त्ति। जत्थ भंगपदे जति पदा असुद्धा तत्थ तत्तिया चउलहु दायव्वा। पढमभंगातो आरब्भ जाव पण्णरसमो भंगो, एतेसु सुत्तणिवातो अंतिमो पुण सुद्धत्तणतो अपच्छित्ती।

अणलादियाणं इमे दोसा-

अद्धाणादी अनले, अदेंत देंतस्स उभयओ हाणी।
अथिरत्ते मग्गंते सुत्तत्थे बधणे चरणं ॥ १५५ ॥

अद्धाणपडिवण्णाऽऽदियाण अणलपादे अप्पज्जियं भत्तमिति काउं ण देज्ज अह देति तो अप्पणो हाणी,एवं अणले उभयहा वि दोसा। अथिर अदढं तम्मि भग्गे अण्णं मग्गेतस्स सुत्तत्थाए हाणी। अलभंते वा एसणाघातं करेज्ज अधुवं पाडिहारियं तम्मि गहिते अण्णं मग्गंतस्स सुत्तत्थहाणी,अलभंतो वा एसणाघातं करेज्ज, अह भग्ग बधति, एगदुगतिगबंधणे चरणभेदो भवति।

पुणरवि अधुवे दोसो भण्णति-

अधुवम्मि भिक्खकाले, गहियागहितम्मि मग्गणे जं तु।
दुविहा विराहणा पुण,अधारणिज्जम्मि पुव्वुत्ता ॥१५६॥

अधुवं पाडिहारियं, ते घेत्तुं भिक्खाकाले भिक्खंते तत्थ भिक्खाए गहियाए अगहिताए वा पुव्वसामिणा मग्गितं, तस्स तं देति, तो अप्पणो परिहाणी, अह ण देति, तो पुव्वसामी रुसति, रुट्ठो य जं तु काहिति, चमढेतो दिया रातो वा आसियावेज्जा, तस्स वा दव्वस्स अण्णस्स वा वोच्छेदं करेज्ज, असब्भवयणेहिं वा आओसेज्ज, अधारणिज्जं अलक्खणजुत्त, तम्मि धरिज्जते दुविधा विराहणा भवति आयसंजमेसु। सा य पुव्वुत्ता ओहणिज्जुत्तीए-"हुंडे चरित्तभेदो, सबलम्मि य चित्तविब्भम। दुप्पत्ते खीलसंठाणे, णत्थि ट्ठाणं तु णिद्दिसे ॥१॥"( पु० ३ उ० ३३८ गाथा ) जम्हा एवमादी दोसा तम्हा अलं थिरं धुवं धारणिज्जं धारेयव्वं।

अववादतो अणलादिया वि घेत्तव्वा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
सेहे चरित्त सावय-भए य जयणाएँ गेण्हेज्जा ॥ १५७ ॥

एते असिवाऽऽदिया कारणा उप्पण्णे होज्ज, अंतरा वा, जयणाए गेण्हिज्जति। का जयणा? इमा-चत्तारि मासे अणलदं गवेसेज्जा, ततो अणलं पण्णरसिव्वसे, पडुपण्णिव्वसे दिवसे त्ति।

म्प्रति निःशङ्कलिङ्गावधावी भण्यते। निःशङ्को नाम-य एवं सङ्कल्पयति-अवश्यतया उन्निष्क्रमितव्यमिति। तस्य विधिमाह-

समुदाणचारिगाण व, भीतो गिहिपंततक्कराणं वा ।
नेउवधिं सो तेणा, पविड वुच्छे वि न विहम्मे ॥२८३॥

समुदानं भैक्ष, तस्य भयेन। किमुक्तं भवति?-यद्यहमिदानीं लिङ्गं मोदयामि ततो न कोऽपि मह्यं भिक्षां दास्यति, किं तु मामुपप्रजितुं दृष्ट्वा मध्येऽस्तिलीना भविष्यन्ति, ततः समुदानभयेन, चारिकास्तेषां वा भयेन अन्तरा गृहस्थप्रान्ताः सयतभद्रका, स्तेनास्तेषां वा भयेन, उपधिं नीत्वा तेनोपधिना गुरुः स संविग्नानामसंविग्नानामुपाश्रये उपविष्ट उषितो वा, तथापि प्रत्यागच्छतोऽस्योपधिर्नोपहन्यते तेनाप्युपधिना समन्वितः स भावतो गृहस्थ इति कृत्वा।

नीसको वऽणुसिट्ठो, नेहुवहिमह अह खु ओहामि ।
सविग्गाण य गहणा, इयरेहिं विजाणगा गेण्हे ॥ २८४ ॥

वाशब्दो विकल्पान्तरे, निःशङ्को व्रजन् संविग्नैरसंविग्नैर्वा अनुशिष्टो, यथा-यदि त्वमु निष्क्रमिष्यसि, किमुपधिं नयसि? ततः स ब्रूते-अमुमुपधिं तेषां समीपं नयन्, अहं (खु) निश्चितमवधाविष्यामि तत्र यदि संविग्नाना हस्ते प्रेषयति तदा तैर्गनीतस्य ग्रहणम्। अथागीतार्थाना हस्ते प्रेषयति तदा तैरितरैरानीतं, यदि सर्वे गीतार्थास्ततो गृह्णन्ति परिभुञ्जते च । अथागीतार्थमिश्रास्तदा कारणिकानामेकाकिनां व्रजतां ददति परिष्ठापयन्ति वा।

नीसंकितो वि गंतू-ण दोहि वग्गेहिं चोदितो एति।
तक्खण नित न हम्मे, तहि परिणय वत्थु उवहम्मे ॥२८५॥

निःशङ्कितोऽपि गत्वा यदि द्वाभ्यां वर्गाभ्यां, संविग्नैरसंविग्नैर्वा इत्यर्थः। चोदितोऽनुशिष्टः सन् तेषामुपाश्रयात् यदि तत्क्षणमेव निर्गच्छति, तदा तस्योपधिर्नोपहन्यते। अथ तत्क्षणं न निर्गच्छति, वसति वा तदा उपहन्यते। अथवा-यदि तस्यैवं परिणामो जायते-अत्रैव तिष्ठामि तदापि तस्योपधेर्घात, ततस्तस्योपधिं कथमप्यागत इति कृत्वा-परिष्ठाप्यते।

सम्प्रति "पडिलेहणनिक्खवणमप्पणोऽट्ठाए अक्खेसिं" इत्यस्य व्याख्यानमाह-

अत्तट्ठ परट्ठा वा, पडिलेहिय रक्खितो वि उ न हम्मे।
पावंतस्स उ नवरिं, पवेस वइयासु वा भयणा ॥२८६॥

स गतः सन् यदि चिन्तयति तेषामेवमुपकरणं दास्यते। अथवा-मम भविष्यति, एवमात्मार्थं वा उभयकालं प्रत्युपेक्षितो निरुपद्रवस्थाननिक्षेपेण च रक्षितोऽविशुद्धः प्रयुक्तापेक्षया समुच्चय तुरवधारणे, भिन्नक्रमश्च। नैव हन्यते, नवरं केवलं प्रत्यागच्छतो व्रजिकाऽऽदिषु प्रवेशे भजना, किमुक्तं भवति? स प्रत्यागच्छन् यदि व्रजिकाऽऽदिषु सजति तदोपहन्यते। अथ न सजति नोपहन्यते।

अह पुण तेणुवजीवी, तो सारूवियमिद्दपुत्तलिंगीणं ।
केऽभगुरुइ-न्पनि, चरणाभावे तु तत्थ भवे ॥२८७॥

अथ स्तोऽनुशिष्टोऽपि न प्रतिनिवृत्तः किन्तु तेन लिङ्गेनोपजीवति भिक्षाऽऽदिनिमित्तं शीलमुपजीवी, सारूपिकत्वेन, सिद्धपुत्रत्वेन वा स्थित इत्यर्थः। सारूपिको शिरोमुण्डो रजोहरणरहितोऽलाबुपात्रेण भिक्षामटति, सभार्योऽभार्यो वा सिद्धपुत्रो नाम सकेशो भिक्षामटति वा, न वा, वराटकैर्विंटलकं करोति, यष्टिं धारयति, तस्य प्रत्युत्थितस्य यः पूर्वं उपधिर्यच्च सारूपिकत्वेन सिद्धपुत्रत्वेन वा तिष्ठता यदुत्पादितं, तदुपहन्यते, न वा?। तत आह कश्चिद्भणति, सारूपिकसिद्धपुत्रलिङ्गिनामुपकरणमुपहन्यते, तत्र भवति। कुत इत्याह-चरणाभावादुपहननमनुपहननं वा चरणवतामुपधिर्न च सारूपिकसिद्धपुत्रलिङ्गिनश्चरणवतः।

सो पुण पच्चुट्ठितो जइ, तस्स उवहयं तु उवगरणं ।
असती य वती अन्नं, उग्गावेंतेति गीयत्थो ॥२८८॥

स पुनः प्रत्युत्थितो यदि तस्योपकरणमुपहतम्। अथवा-नास्ति तर्हि गीतार्थोऽन्यमुपधिमुद्गमयन् एति आगच्छति।

कुत्र कुत्र स्थाने उत्पादयन् आगच्छतीत्याह-

संजयभावियखेत्ते, तस्स असतीए उ चक्खुवेतिहयं ।
तस्सऽसति वेंटलहए, उप्पाएंतो तु सो एइ ॥२८९॥

संयमभावितं क्षेत्रं नाम-यत्र क्षेत्रे संयतत्वेन स्थितस्तस्मिन्संयतमावितक्षेत्रे उत्पादयन् तस्यासत्यभावे चक्षुर्व्यतिहते दृष्ट्वा परिचिते तस्याप्यभावे विण्टलहते। विण्टलहतं नाम-यत्र पूर्वं विण्टलैराहारोपधिशय्या उत्पादितास्तस्मिन् उत्पादयन् गच्छति।

जाणंति एसणं वा, सावग दिट्ठीउ पुव्वफुसिया वा ।
विंटलभाविय तेरिंह, किं धम्मो न होइ गेण्हेज्जा ॥२९०॥

स च उत्पादयति उत्पादनैषणादोषैर्विशुद्धं, तांश्च दोषान् तेभ्यः कथयति। यदि वा-यत्र संयतत्वेन विहृतो, दृष्ट्वा वा पूर्वं स्पृष्टाः परिचितास्ते श्रावकाः, ते च स्वत एव दोषान् जानन्ति, ततो दोषविशुद्धं प्रयच्छन्ति। यत्र विण्टलक्षेत्रं तत्र गीतार्थो यदि उत्पादयति तदाऽऽदितः प्रतिब्रूते-नाहमिदानीं वेण्टलं करिष्यामि, यद्येवमेव दद्ध्वे ततः प्रतिगृह्णामि, एवमुक्ते यदि ते ब्रुवते-किं युष्माकं मुधा दत्ते न भवति, तस्माद्धर्म इति दत्तस्ततो गृह्णाति।

एवं उप्पाएउं, इयरं च विगिंचिऊण तो एति ।
असतीएँ जहालाभं, विगिंचमाणे इमा जयणा ॥२९१॥

वक्ष्यमाणा यतना कर्तव्या। किमुक्तं भवति?-यत् यत् सांभोगिकं लभ्यते तस्य यत्सदृशमसांभोगिकं तत्परिष्ठाप्यते।

एतदेवाऽऽह-

उवहयउग्गहलंभे, उग्गहणं विविंच मत्तए भत्तं ।
अपजत्ते तत्थ दवं, उग्गहभत्तं गिहिदवेणं ॥२९२॥
अपहुच्चंते काले, दुल्लभदवभाविते व खेत्तम्मि ।
मत्तगदवेण धोवइ, मत्तगलंभे वि एमेव ॥२९३॥

उपहतस्य असांभोगिकस्यावग्रहणस्य अवग्रहलाभे विवेचनं परिष्ठापनं कर्तव्यम्। एवं च तस्य पतद्ग्रहः सांभोगिको, मात्रकमसांभोगिकं, तत्र यदसांभोगिकं तस्मिन भक्तं प्राह्यं, यच्च सांभोगिकं तत्र पानीयं, ततो मात्रके तेन भक्तं प्राह्यं पतद्ग्रहपानीयेन तस्य कल्पो दातव्यः, यदि मात्रके गृहीतेन

भक्तेन सस्तरणं तत्र मात्रके द्रव गृह्णाति.अवग्रहे पतद्ग्रहे भक्तं, तत्र भुक्त्वा गृहस्थभाजनेन पानीयमानीय पतद्ग्रहस्य कल्पो देयः । अथ यावता कालेन गृहस्थात्पानीयमानीयते तावान् कालो न प्राप्यते दुर्लभं तत्र द्रव, न तेनेयतस्ततो गृहस्थेभ्यो द्रवं लभ्यते । यदि वा-तत् क्षेत्रमभावितं संयतैरतो गृहस्था न ददति भाजनं. यत्र पानीयं गृह्यते तदा मात्रकगृहीतेनैव पानीयेन पतद्ग्रहो धाव्यते प्रक्षाल्यते, तथाऽपि स नोपहन्यते एवमेव अनेनैव प्रकारेण मात्रकस्यापि सांभोगिकस्य लाभे असांभोगिकस्य परिष्ठाप्यते, पतद्ग्रहे वा सांभोगिके विभाषा कर्तव्या । तद्यथा-पतद्ग्रहे भक्तं ग्राह्यं, मात्रके पानीयम् अथ मात्रके संसक्तं भक्तं पानं वा गृहीतमाचार्याऽऽदिप्रायोग्यं वा पतद्ग्रहे च पानीयं तदा गृहस्थभाजनेन पानीयमात्रकस्य प्रक्षालनं कर्तव्यम् । अथ कालो न प्राप्यते दुर्लभं वा द्रवमभावितं वा तत् क्षेत्रं, तदा पतद्ग्रहपानीयेनैव मात्रकं प्रक्षाल्यते नोपहन्यते, इति ।

अत्र पर प्रश्नमाह-

चोएइ सुद्धऽसुद्धे, संफासेणं तु तं तु उवहम्मे ।
भणइ संफासेणं, जेसुवहम्मे न सिं सोही ॥२६४॥

परश्चोदयति-तत् शुद्धं भक्तं पानीयं वा अशुद्धे मात्रके. पतद्ग्रहे वा प्रक्षिप्तं संस्पर्शेनोपहन्यते, ततः कथं शुद्धिरिति ? । आचार्य आह-भण्यते उत्तरं दीयते । येषां संस्पर्शेनोपहन्यते तेषां न कदाचनापि शोधिः ।

एतदेव भावयति-

लेवाडहत्थछिक्के, सहस अणाभोगतो व पक्खित्ते ।
अविसुद्धग्गहणम्मि वि,असुद्ध सुद्धेज्ज इयरं वा ॥२६५॥

यदि तव मतेनैवमुपघातस्तर्हि असांभोगिके भाजने यद् गृहीतं भक्तं पानं वा. तेन लिप्ताभ्यां यत्सांभोगिकं भाजनं स्पृश्यते, तदप्यसांभोगिकं जातं,तत्संस्पर्शतोऽन्यान्यपि,न च तत्कालं सर्वाण्यपि परिष्ठापयितुं शक्यन्ते । न चान्यानि तावन्ति लभ्यन्ते,ततो न कदाचनाविशुद्धिः, तथा सहसा नामयत्त्वरमाणोऽसांभोगिकात् सांभोगिकः प्रक्षिपति तदप्यसाभोगिकमुपजायते । अनाभोगो नाम-एकान्तविस्मरणं, तेनाप्यसांभोगिकं जायते । ( अविसुद्धं ति ) कथञ्चिदनाभोगतोऽविशुद्धस्योद्गमाऽऽद्यतमदोषदुष्टस्य ग्रहणे तद् भाजनमशुद्धं स्यात्. न च तदिष्यते,तस्मान्न संस्पर्शमात्रेणोपहननम् । अन्यच्च यथाऽशुद्धेन संस्पर्शतोऽशुद्धं भवति, तथा इतरदशुद्धं शुद्धेन संस्पर्शत' शुद्धयेत शुद्धीभूयात् न्यायस्योभयत्रापि समानत्वात् । न चैतदस्ति, तस्मात् यत्किञ्चिदेतत् । व्य० ८ उ० ।

( २७ ) प्रतिग्रहमनलमस्थिर धारयते-

जे भिक्खू पडिग्गहगं अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं ण धरेइ, ण धरंतं वा साइज्जइ ॥६॥

इमो सुत्तत्थो

अणलमपज्जत्तं खलु, अथिरमदढं तु होति णायव्वं ।
अधुवं च पाडिहारिय, अलक्खणमधारणिज्जं तु ॥१५२॥

कंठा ।

अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं-

एतेसिं तु पदाणं, भयणा पण्णरसिया तु कायव्वा ।
एत्तो एगतरेणं, गेएहताऽऽणादिया दोसा ॥ १५३ ॥

एतेसिं चउरण पदाणं भंगा सोलस कायव्वा । अंतिमो सुद्धो, सेसा पण्णरस, तेसिं पण्णरसण्हं अण्णतरेण वि गेण्हंतस्स आणादिया दोसा ।

तेसु पएणरससु असुद्धेसु इमं पच्छित्तं-

पढमे भंगे चउरो, लहुगा सेसेसु होति भयणा तु ।
जो पण्णरसो भंगो, एतेसुत्तंतिमो सुद्धो ॥ १५४ ॥

पढमभंगे चत्तारि वि पदा असुद्धा सेसपदेसु भयण त्ति ।जत्थ भंगपदे जति पदा असुद्धा तत्थ तत्तिया चउलहु दायव्वा। पढमभंगातो आरब्भ जाव पएणरसमो भंगो, एतेसु सुत्तणिवातो अंतिमो पुण सुद्धत्तणतो अपच्छित्ती ।

अणलादियाणं इमे दोसा-

अद्धाणादी अनले, अदेंत देंतस्स उभयओ हाणी ।
अथिरत्ते मग्गंते सुत्तत्थे बंधणे चरणं ॥ १५५ ॥

अद्धाणपडिवरणाऽऽदियाण अणलपादं अप्पज्जियं भत्तमिति काउं ण देज्ज अह देति तो अप्पणो हाणी,एवं अणले उभयहावि दोसा । अथिर अदढं तम्मि भग्गे अण्णं मग्गंतस्स सुत्तत्थाए हाणी । अलभंते वा एसणाघातं करेज्ज अधुवं पाडिहारियं तम्मि गहिते अण्णं मग्गंतस्स सुत्तत्थहाणी,अलभंतो वा एसणाघातं करेज्ज, अह भग्गं बंधति, पगाढुगतिगबंधणे चरणभेदो भवति ।

पुणरवि अधुवे दोसो भएणति-

अधुवम्मि भिक्खकाले, गहियागहितम्मि मग्गणे जं तु ।
दुविहा विराहणा पुण,अधारणिज्जम्मि पुव्वुत्ता ॥१५६॥

अधुवं पाडिहारियं, ते घेत्तुं भिक्खाकाले भिक्खंते तत्थ भिक्खाए गहियाए अगहिताए वा पुव्वसामिणा मग्गितं, तस्स तं देति, तो अप्पणो परिहाणी, अह ण देति, तो पुव्वसामी रूसति, रुट्ठो य जं तु काहिति, वसहीतो दिवा रातो वा आसियावेज्जा, तस्स वा दव्वस्स अण्णस्स वा वोच्छेदं करेज्ज, अलब्भवयणेहिं वा आओसेज्ज, अधारणिज्जं अलक्खणजुत्त. तम्मि धरिज्जते दुविधा विराहणा भवति आयसंजमेसु । सा य पुव्वुत्ता ओहणिज्जुत्तीए-"हुंडे चरित्तभेदो, सबलम्मि य वित्तविब्भम । दुप्पत्ते खीलसंठुणे, णत्थि ट्ठाणं तु णिद्दिसे ॥ १ ॥ "( वृ० ३ उ० ३३८ गाथा ) जम्हा एवमादी दोसा तम्हा अलं थिर धुवं धारणिज्जं धारेयव्वं ।

अववादतो अणलादिया वि धरेयव्वा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
सेहे चरित्त सावय-भए य जयणाएँ गेण्हेज्जा ॥ १५७ ॥

एते असिवाऽऽदिया भायणभूमीए होज्ज, अंतरा वा, जयणाए गेण्हिज्जंति । का जयणा ?, इमा-चत्तारि मासे अहाकडं गवेसेज्जा, दोमासे अप्पपरिकम्मं, बहुपरिकम्म दिवड्ढं वि ।

वर्णमत्पात्रमवर्णं करोति—

जे भिक्खू वएणमंतं पडिग्गहं विवएणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१०॥ जे भिक्खू विवएणं पडिग्गहं वएणमंतं करेइ,करंतं वा साइज्जइ ॥११॥ जे भिक्खू णवए मे पडिग्गहे लब्भे ति कट्टु तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाएज्ज वा, मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥१२॥ जे भिक्खू णवए मे पडिग्गहं लब्भे त्ति कट्टु लोद्धेण वा ककेण वा रहाणेण वा चुरोण वा वएणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उच्छोलेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उच्छोलतं वा साइज्जइ ॥१३॥

इमो सुत्तत्थो—

पंचएहं वएणाणं, अन्नयरं जं तु पात दुव्वएणं ।
दुव्वएणं च सुवएणं, जो कुज्जा आणमादीणि ॥१५८॥

सुभवएणं दुव्वएणं करेति, दुव्वएणं पातं सुवएणं करेति, जो एवं करेति तस्स आणादिया दोसा भवंति ।

गाहा—

वएणविवच्चासं पुण, आलेवे पायधोणाऽऽदीणि ।
दुग्गंधं च सुगंधं, जो कुज्जा आणमादीणि १५९॥

पढमपादेण वएणविवच्चाससुत्तं गहियं, वितियपादेण णो णवं पादं लद्धमिति धोवणादी करेज्ज,एयं सुत्तं गहियं, ततियपाएण णो सुब्भिगंधं पादं लद्धमिति सीतोदगादीहिं धोवइ, एयं सुत्तगहियं। एसा भद्दवाहुसामिकया गाहा। एतीए तिरिण वि सुत्ता फासियव्वा। कहं पुण वएणविवच्चासो ?। भण्णति—उएहो तु उएणोदगेण पुणो पुणो धोव्वमाणं छगणादीहि य आलिप्पमाणं विवएणं भवति, तेल्लादिणा मंखिज्जंतं खदिरवीयकक्कादीहि य पुणो पुणो धोव्वमाणं मंखेऊण य धूमट्ठाणे कज्जति। एवमादिएहिं विवएणस्स वएणो भवति ।

कीस पुण वएणहं विवएण करेति ?। भएणइ—

मा णं परो हरिस्सति, तेणाहडगं च सामि मा जाणे ।
वएणं कुणति विवएणं, हरणे नवरि संभवो णत्थि ॥१६०॥

वएणुज्जलं मा मे परो हरीहि त्ति तेण विवएणं करेति। अहवा तं पातं तेणाहडं, मा मे एयं पुव्वसामी जाणिस्सति, तेण घा विवएणं करेति । विवएणं पि तेणाहडं ति काउं सो पुव्वसामी जाणिस्सइ, तेण वन्नड्ढं करेति । अहवा—वएणड्ढं करेति रागेण चउगुरु, विवएणकरणे हरणसंभवो णत्थि ।

णिरत्थे परिकम्मणे इमे दोसा—

घंसणे आतुवघातो, तदुब्भवाऽऽगंतु संजमे पाणा ।
धुवणे संपातिमवहो, उप्पीलग चेव भूमिगते ॥१६१॥

धोवणे ककादिणा य आघंसणे आतोवघातो हत्थकंडगं भवति, परिस्समो वा। किं च—तदुब्भवा वा पाणा,आगंतुगा घा पाणा विराहिज्जंति, एस संजमविराहणा। संपातिमा य विवज्जंति, अतिउच्छोलणधोवणेण जे भूमिगता पाणा तेइ उप्पीलाविज्जंति ।

जम्हा एवमादिया दोसा—

तम्हा तु अपरिकम्मं, पातमहालद्ध परिहरे भिक्खू ।
परिभोगमपाओग्गं, सप्परिकम्मे य वितियपदं ॥१६२॥

उस्सग्गेण अपरिकम्मं पायं घेत्तव्वं, अहालद्धस्स य पादस्स परिहारो अतिपरिभोगो भिक्खुणा कायव्वा इमं वितियपदं—(परीभोगमपाओग्ग त्ति) विसेण वा गरेण वा मज्जेण भावियं तस्स धोवणादी करेज्ज, छगणमट्टियादीहिं वा णिरवारेज्ज । अहवा—अप्पबहुपरिकम्मं लद्धं, तस्स णियमा धोवणए घंसणादि कायव्वं ।

गाहा—

वएणड्ढमवि य पायं, मा हरिही तस्सऽवएणकरणे य ।
जे तुस्सग्गे दोसा, कारणे ते चेव जयणाए ॥१६३॥

वएणविवच्चासकरणे जे उस्सग्गे दोसा भणिता, कारणगहियं वएणड्ढं मा हारिद्द त्ति विवएणं करेंतो जयणाए सुद्धो ।

अथवा—

कारिणे हंसित मा सिं—गणा तु मुच्छा च उज्जते जत्थ ।
तत्थ विवएणयकरणं, अज्झोवाए य बालस्स ॥१६४॥

तं वएणड्ढं पायं सलक्खणं णाणगच्छवुड्ढिणिमित्तं हसितं ति इड्डमित्यर्थः । मा तस्स पुव्वसामी सिंगणं करिस्सति त्ति, अतो तस्स वएणविवज्जयं करेति । अहवा—त वएणड्ढं दट्ठुं पुणो पुणो मुच्छा उप्पज्जति, तत्थ वा विवएणं कज्जति, अणुप्पज्जंतो सीहो वा अजाणंतो करेज्जा, बालस्स वा अधिकं अज्झोववातो, वएणड्ढं कीरति त्ति, एवं कीरेज्ज ।

नवप्रतिग्रहमुच्छोलयेत्—

जे भिक्खू णवए मे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू णवए मे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसीएणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे भिक्खू णवए मे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसिएण लोद्धेण वा ककेण वा एहाणेण वा पोउमचुरोण वा वएणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू णवए मे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु बहुदिवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा उच्छोलंत वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू सुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु दुब्भिगंधं करेइ करंतं वा साइज्जइ ।१८। जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु सुब्भिगंधे करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू सुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ।२०।

जे भिक्खू सुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा चुएणेण वा वएणेण वा उल्लोलेज्ज वा,उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू सुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोल्लेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू सुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु बहुदिवसिएणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा,मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू सुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु बहुदिवसिएणं लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा चुएणेण वा वएणेण वा उल्लोलेज्ज वा,उव्वट्टेज्ज वा,उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू गंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु बहुदिवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा,पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ २५॥ जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा,मंखंत वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥२६॥जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा चुएणेण वा वएणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं उवट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण उच्छोलेज्ज वा,पधोवेज्ज वा,उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ॥२८॥ जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु बहुदिवसिएण तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा, मंखंत वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु बहुदिवसिएण लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू दुब्भिगंधे पडिग्गहे लद्धे ति कट्टु बहुदिवसिएणं सीओ दगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा,पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

इमो सुत्तत्थो-

एमेव य अणवे वी. वियडे बहुदेसि कक बहुदेसी।
सुत्ता चउरो एए, एमेव य चउरो दुगंधे ॥ १६५ ॥

णो एवं अणवं जुएणं, सीयदगं सीतोदगं अतो वि य वियडं ति व्यपगतजीव उसिणे ति नावितं,त चेव ववगयजीवं,एक्सि धोवणं पुणो पुणो पधोवणं । वितियसुत्ते एसेवत्थो, णवर बहुदिवसेहिं सीओदओसिणोदएहिं वत्तव्वं । ततियसुत्ते कक्को, सो दव्वं संजोगेण वा असंजोगेण वा भवति, लोद्दो रुक्खो तरूणं छल्ली लोद्द भएणति । वएणो पुण हिंगुलगादी तेल्लमोद्दतो, चुएणो पुण गंमुणिगाऽऽदिफला चुन्नीकता । एतेहिं एक्कंसि आघंसणं, पुणो पुणो पघंसणं । चउत्थसुत्ते कक्कादिएहिं चेव बहुदेवसिएहिं, सेसं तं चेव, एयस्स पुण अणवस्स पातस्स एते धोवणादिया पगारा करेति, वरं मे णवाकारं भविस्सति त्ति । जहा अणवपाते चउरो सुत्ता भणिता तहा दुग्गंधे वि चउरो सुत्ता भाणियव्वा, णवरं तत्थ दुग्गंधे मे पातं सुगंधं भविस्सति त्ति धोवणादिपयारे करेति त्ति ।

गाहा-

उच्छोल दोसु आघं-से दोसु आणादि होंति दोसा तु ।
किं पुण बहुदेसीयं, भएणति इणमो निसामेहि ॥१६६॥

अणवपाए जे चउरो सुत्ता, तेसु जे आदिल्ला दो सुत्ता,एसु उच्छोलणपधोवणा भएणति । पच्छिमा पुण दो सुत्ता, तेसु आघंसणपघंसणाऽऽदि भएणति । सेसं कंठं ।

गाहा-

दगकक्कादीहि नवेहिं, बहुदेवसितेहिं तु जे पातं ।
एमेव य दुग्गंधं, धुवणुव्वट्टेंत आणादी ॥१६७॥
दोसा नामं पसती, तिप्पभिति परेण वा वि बहुदोसा ।
कक्कादि अणाहारे-ण वा वि बहुदिवसवुत्थेणं ॥१६८॥

सुत्ते पातो बहुदेवसितेण वा एक्को पसती, दो वा तिरिण वा पसती. तो दोसा भएणति, तेएहं परेण बहुदोसा भएणति, अणाहारादि कक्केण वा संवासितेण पत्थपगरादिसंवासितं, तं पि बहुदेवसियं भएइ । अणाहारियगहणं अणाहारिमे चउलहु, आहारिमे पुण चउगुरु भवति ।

इमे दोसा-

घंसणे आतुवघातो, तदुब्भवाऽऽगंतु संजमे पाणे ।
धुवणे संपातिमवहो, उप्पीलणे चेव भूमिगते ॥१६९॥

पूर्ववद् वक्तव्या ।

जम्हा एते दोसा-

तम्हा उ अपरिकम्मं, पादगहा लद्ध धारए भिक्खू ।
परिभोगमपरिभोगे, पाओग्गं जं सपरिकम्मं ॥१७०॥

पूर्ववत् कएठा ।

इमो बहुदेवसियस्स अववाते वितियपदं-

अभिओगे विमकए वा, बहुरएं मज्जादिदुब्भिगंधे वा ।
कक्कादीहि दवेण व, कुज्जा बहुदेसिएणं पि ॥१७१॥

पातं वसीकरणजोगेण भावित, विसेण वा भावितं, बहुरएण वा घट्ठ, अचन्थ मलिनमित्यर्थः । मज्जादि दुग्गधदव्वेण वा भावित, दुग्गंधं तं एवमादिएहिं कारणेहिं बहुदेवसिएणं दवेण वा कक्केण वा धोवति वा, आघंसिज्जति वा, मा मज्जाऽऽदिगंधेण उड्डाहो भविस्सतीत्यर्थः ।

(२८) पृथिव्यां प्रतिग्रहमातापयेत्-

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए पडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावतं वा साइज्जइ

॥ ३२ ॥ जे भिक्खू सरक्खाए पुढवीए पडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू ससणिद्धाए पुढवीए पडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कालोवासंसि दारुए०जाव पइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्सेसउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए पडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू थूणंसि वा गिहलेलुयंसि वा उसकालंसि वा कामजालंसि वा पडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ जे भिक्खू कुलियसि वा भिंत्तिंसि वा सेलंसि वा लेलुंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा जं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥ जे भिक्खू खद्धंसि वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा दुबद्धे पनिक्खित्ते पडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥ जे भिक्खू खंधंसि वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा सपडिग्गहगं आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा, आयावंतं वा पयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

जे एते सुत्तपदा जहा तेरसमे उद्देसगे तहा वक्खाणेयव्वा णवरं तत्थ ठाणादी भणिया, इह पुण पातस्स आतावणाऽऽदी वत्तव्वा ।

इमा सुत्तफासिता गाहा–

पुढवीमादी थूणा–दीएँ सुकलियादिखंभमादीसु ।
जो पातं आतावे, सो पावति आणमादीणि ॥ १७२ ॥
पुढवीमादीएसुं, विराहणा णवरि संजमे होति ।
संजमेँ आतविराहण, पातम्मि य सेसगपदेसु ॥१७३॥

अणंतरहिताऽऽदिएसु जाव संताणए त्ति, एतेसु पातं आतावेंतस्स पाओ संजमविराहणाए भवति, सेसा जे थूणादिया पदा तेसु पायावेंतस्स आयविराहणा. संजमविराहणा, पायविराहणा य भवति । संजमविराहणा पुढवादिसु कायणिप्फणं जत्थ आयविराहणा तत्थ चउगुरुं,पातविराहणा चउलहुं।

थूणादिसु इमे दोसा–

थूणादि दुट्ठिएसुं, रुंभंते लट्ठि रज्जुदुब्बद्धे ।
पतणे भवंति दोसा, भूमीए कूडमादीसु ॥ १७४ ॥

थूणादिसु दुट्ठिएसु रज्जुब्वेहमादिसु वा दुब्बद्धेसु च लट्ठियस्स अ रुंभंतस्स उत्तारेंतस्स य भेदो पायस्स भवति, उयहडंति आउभणेन्तरणे जे मालोहडे दोसा भणिता ते इह पयावणे भवंति । भूमीए कूडमुहादिसु वा ठविज्जंते ते दोसा ण भवंतीत्यर्थः ।

सव्वेसु सुत्तपदेसु इमं गाहा–

वितियपदमणप्पज्झे, आतंवि विकोविते व अप्पज्झे ।
पच्चवाते उ वा से, असती आगाढे जाणमवि ॥१७५॥

पुव्वद्धं कंठं भूमीए जइ ठविज्जति तो गोणमादिएहिं पच्चवातो भवति, समभूमीए वा अवगासो णत्थि, आगाढे वा रायदुट्ठातिगो अपागडो अत्थंतो जाणंतो वि थूणादिसु विलएज्जा ।

गोणे गाहा–

गोणेण साणमादी, कप्पट्ठगहरण खेलणट्ठाए ।
ससणिद्ध हरितपाणा–दिएसु पालंब जयणाए ॥१७६॥

समभूमीए ठवितं गोणेणं भज्जति, साणे वा हरति। कप्पट्ठगेण व हरिज्जेज्जा सावासगभूमी, कप्पट्ठगाणं खेलणट्ठाएं सा वासभूमी आउक्कायससणिद्धा हरिया वा उट्ठिता कुंथुमादिएहिं वा पाणेहिं संसत्ता, एवमादिएहिं कारणेहिं जहा आयसंजमपायविराहणा ण भवति तहा जयणाए ओगाहिय परेण विहासे लंवेति ।

तसपाणजातादि–

जे भिक्खू पडिग्गहाओ तसपाणजायं णीहरइ, णीहरावेइ, णीहरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहएइ पडिग्गहंतं वा साइज्जइ॥ ४५ ॥

अहिणवपातग्गहणे तसपाणजाय जो णीहरित्ता गेण्हति, तस्स चउलहु, तसपाणा वेइंदियादिणो चउव्विधा भवंति ।

अहवा–तसा दुभेदा–

आगंतुग तज्जाता, दुविधा पाणा हवंति पातम्मि ।
आगंतुगप्पवेसो, परप्पओगा सयं वा वि ॥ १७६ ॥

आयंतुगा पिपीलिगाऽऽदी, तत्थेव जाव तज्जाया, ते य घुणकुंथुगादी, आगंतुगाणं पवेसो सयं वा भवति, परेण वा पवेसिता ।

गाहा–

एएसामण्णतरं, तसपाणं तिविह जोगकरणेणं ।
जे भिक्खू णीहट्टू, पडिच्छए आणमादीणि ॥१७७॥

तिविधजोगकरणं, जोगो तिविधो मणमादि,सयं करणादि, करणंतं पि तिविधं, एत्थ वारणविधीए णव भेदा, तेसु णीहरिज्जमाणेसु संघट्टणादिआवत्ते सट्टाणपडिच्छत्तं विच्छुगादिणा वा आयविराहणा, परेण वा णीहट्टु दिज्जमाणे जो पडिच्छति तस्स आणादी दोसा ।

इमं वितियपदं–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
आगंतुका उ दुविहा, सुहुमा थूला य नायव्वा ॥१७८॥

एते असिवाऽऽदिया भायणदेसे वा,अंतरे वा,तत्थ अगच्छंतो इहेव जाणि य तसपाणजाई णीहट्टु लब्भंति, ताणि गिण्हंतो सुद्धो, गहिते वा पच्छा दिट्ठो तं नीहरंतो सुद्धो ।

सुत्तं-

जे भिक्खू पडिग्गहाओ ओसहवीयाइं णीहरइ, णीहरावेइ, णीहरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ, पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

आगंतु गाहा ( १७६ ) आगंतुगा सरिसवादी, तदुत्था तस्सेव कणगा,पुणो आगंतुगा दुविधा-सण्हा,थूला य। सण्हा सरिसवाई सुरिमादी, थूला वदरणिप्फावादी।

सीसो पुच्छति-काओ ओसहीओ, को वा वीय त्ति अतो भण्णति-

सणसत्तरसा धण्णा, ओसहिगहणेण होंति गहिताओ ।
वीयगहणम्मि करणे, एते चेव विराधणसमत्था ॥१७८॥

जवगोधूमसालिवीहिकोद्दवरालगोतिलमुग्गमासअयसीचणगादिणिप्फावमसूरचवलगतुवरिकुलत्था, सणो सत्तरसमो। सेसं कंठं।

गाहा-

एएसामण्णतरं, जो वीयं तिविहजोगकरणेणं ।
णीहरिऊण पडिच्छति, सो पावति आणमादीणि ॥१७९॥

पूर्ववत्कण्ठा।

इमं वितियपदं-

आसिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
सीहे चरित्तसावय, पुव्वागहिए य जयणाए ॥ १८० ॥

कंठा णवरं ( पुव्वगहिए त्ति ) गहणकाले सुद्धो, जइ पच्छा परिकम्मणकाले वितिया दीसंति तो इमा जयणा-

गाहा-

जति पुण पुव्वं सुद्धे, कारिज्जंतम्मि वितिय ततिए वा ।
तिय पंच सत्त वीया, दीसंति तहा वि तं सुद्धं ॥१८१॥

वितियं अपरिकम्मं, ततियं बहुपरिकम्मं, तेसु जति विपरिकम्मणकाले तिण्णि वा वीया, पंच वा, सत्त वा वीयकणा दीसंति, तहा वि तं सुद्धं चेव विहिगहणातो।

चोदगाऽऽह-गहणकालातो पच्छा वीएसु दिट्ठेसु कहं सुद्धं भवति ?। आचार्य्याऽऽह-

जह भत्ते आहचति, पाणाऽऽदिजुतम्मि भोयणे गहिते ।
दस वितिए रातिदिणाणि, अंगुलिमूलेसु पण्णरसा ॥१८२॥

जहा भत्तं पाणं वा सुयविहितविहाणेण उवउत्तेण गहियं आहच्चति सहसा तुरियगहणं, एवं पाणादिजुत्ते गहिए भत्तपाणे आलोगति, भायणे पडियमेत्तो चेव आलेगितो, निरीक्षित इत्यर्थः। तत्थ गहणकालातो पच्छा तसवीयादिट्ठा, ते य जइ विसोहेउं सक्केति, तो विसोहित्ता तं भत्तपाणं भुंजति,ण दोसो। अह ते पाणिणो विसोधेउं ण सक्कंति,ताहे तं भत्तपाणं विगिंचंति। जहा भत्ते, तहा पाने वि दट्ठव्वं, ण दोष इत्यर्थ.। एस तदुत्थेसु विधी भणितो।

इमो आगंतुगेसु-"तत्थ पुण"*गाहा-जं अहाकडं पायं तत्थ जइ गिहीहिं आगंतुगा वीया अहाभावेण छूढा होज्ज, तं तारिस वीयसहियं लब्भति, अण्णं च अप्पपरिकम्मं सव्वदोसविरहियं सुद्धं लब्भति, कयरं गेण्हतु, उस्सग्गओ सुद्धं लब्भति, अप्पपरिकम्मं गेण्हति, अह णिक्कारणे आगंतुगवीयसहितं गेण्हति तत्थ पच्छित्तमग्गणा।

कमो इमो-"छब्भाग *" गाहा-अंगुलीणं अग्गपव्वा पढमो भागो, वितिओ मज्झवारे भागो, ततितो अंगुलिमूले भागो। आउरेहाए चउत्थो भागो, अंगुट्ठगस्स अब्भंतरकोडीए पंचमो भागो, सेसो छट्ठो भागो। एवं छब्भागेसु कप्पितेसु जति णिक्कारणे पढमपोरपमाणमेत्तेसु पादे दीसमाणेसु गेण्हति तो पंचराइंदियाणि पच्छित्तं, वितियपव्वमेत्तेसु दसराइंदिया, ततियपव्वमेत्ते पन्नरस राइंदिया।

गाहा-

वीसं तु आउलेहा, अंगुट्ठंऽते तु होंति पणुवीसा ।
संतम्मि होति मासो, चाउम्मासो भवे चतुसु ॥१८३॥

चउत्थे आउलेहप्पमाणमेत्तेसु वीसं राइंदिया. पंचमे अगुट्ठमूलप्पमाणमेत्तेसु भिण्णमासो, छट्ठेण भागेणं पसती चेव पूरति, पसतिमेत्ते मासलहुं, वितियपसतीए वितिओ मासो, ततियपसतीए ततियमासो, चउत्थपसतीए चउत्थमासो, एवं चउलहुगं जातं, अतो परं दुगुणेण पारंचियं पावेयव्वं, सुहुमेसु पच्छित्तं भणियं।

इदाणिं थूलादि गाहा-

एसेव गमो नियमा, थूलेसु वितियपव्वमारद्धो ।
अंजलि चउक्क लहुगा, ते च्चिय गुरुगा अणंतेसु ॥१८४॥

थूलवेयाणं वितियपव्वमेत्तेसु पणगं, अंगुलिथूले दस, आउरेहाए पण्णरस अंगुट्ठते वीसं, पसतीए भिण्णमासो, अंजलीत्यर्थ.। वितियंजलीए वितिओ मासो,ततियाए ततिओ, चउत्थंजलीए चउत्थो मासो। एवं चउत्थं लहुजातं। अतो परं दुगुणवुड्ढीए पारंचितं पावेयव्वं। अण्णे भणति-दो दो छब्भाए विवड्ढंति, वारससु मासलहुं कायव्वं, स एवांजलिरविरुद्ध इत्यर्थः। चउसु अंजलीसु चउलहुं। एवं परित्तेसु पच्छित्तं अणंतेसु वि एतेण चेव, करछब्भागक्कमेण एते चेव पणगादिया पच्छित्ता, णवरं गुरुगा कायव्वा।

गाहा-

णिक्कारणम्मि पाए, पच्छित्ता वण्णिया य वीएसु ।
नायव्व आणुपुव्वी,एसेव तु कारणे जयणा ॥ १८५ ॥

पुव्वद्धं कंठं, कारणे पुण पत्ते जया आगंतुकवीयसहितं गेण्हति तदा एतेण चेव पणगा वि पच्छित्ताणुलोमेण गेण्हंतो सुद्धो,जयणा, एसेव पणगादिगा इत्यर्थः। अह कारणे वि पणगादिभेदतो वोच्चत्थं गेण्हइ, तो चउलहुं भवति।

जहा कारणे करछब्भागादिएसु वीएसु दिट्ठेसु विकप्पं तहा इमं गाहा-

वोसट्ठं पि हु कप्पति, वीयाऽऽदीणं अहाकडं पायं ।
ण य अप्पसपरिकम्मा,बहु वा अप्पं सपरिकम्मा ॥१८६॥

वोसट्ठं भरितं जति अहाकडं पादं भरियं वीयाणं लब्भति, तहा वि तं चेव अहाकडं घेत्तव्वं, ण य बहुपरिकम्मं सुद्धं, अप्पपरिकम्मस्स असति बहुपरिकम्ममेव वोसट्ठं पि वीए अवणेत्ता गेण्हतीत्यर्थः।

चोदगो भणति-पुव्वं सोही सति कप्पं भणिऊण इदाणिं

* इय गाथा पूर्वग्रन्थे विलोक्या।

* इय गाथा पूर्वग्रन्थे विलोक्या।

भणइ वोसट्ठं पि कप्पइ त्ति पुव्वावरविरुद्धं ?। आचार्याऽऽह-इमे कारणे अवलंवंतो ण दोसो-भामिएसु, संतासंतसतीए वा वालवुड्ढेसु सीदंतेसु जाव ते अप्पबहुपरिकम्मा परिकम्मिज्जिहंति तो बहुपरिहाणी अहाकडं पुण तक्खणादेव परिभुञ्जति अवि य वीएसु संघट्टण चेव कवलं, दोसो वि जो बहुगुणो स घित्तव्वो गुणो वि जो बहुदोसो स परित्याज्य इत्यर्थः ।

सुत्तं-

जे भिक्खू पडिग्गहाओ कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुष्फाणि वा फलाणि वा वीयाणि वा हरियाणि वा णीहरइ, णीहरावेइ, णीहरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ, पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥४३॥

जं भूमीए अवगाढतस्स जाव मूलं फुट्टति ताव कंदो भण्णति, भूमीओ उवरिं जाव डाली ण फुट्टति ताव खंधो भवति, सा डाली भण्णति, सालातो जं फुट्टति तं पवालं भवति । सेसा पदा कंठा ।

सुत्तं-

जे भिक्खू पडिग्गहाओ पुढवीकायं णीहरेइ, णीहरावेइ, णीहरियमाहट्टु दिज्जमाणं वा पडिग्गहेइ, पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू पडिग्गहाओ आउकायं णीहरति, णीहरावेइ, णीहरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ, पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥ जे भिक्खू पडिग्गहाओ तेउकायं णीहरइ, णीहरावेइ, णीहरियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ, पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

एतेसिं सुत्ताण इमो अत्थो-

वीएसुं जो उ गमो, नियमा कंदाऽऽदिएसु सो चेव ।
पुढवीमादीएसुं, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ १०७ ॥

णवर अणंतेसु कदाऽऽदिएसु गुरुग पच्छित्तं भाणियव्वं । सेसं सव्वं उस्सग्गऽववातेणं जहा वीएसु तहा भाणियव्वं । नि० चू० १४ उ० । ( पात्रस्य निष्कोरणम्-' णिक्कोरण ' शब्दे चतु० भा० २०२२ पृष्ठे गतम् ) । ( निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया न भवितव्यमिति ' अपाइया ' शब्दे प्रथ० भा० ६०५ पृष्ठे उक्तम् ) ( पात्रस्य लेपकरणम् ' लेव ' शब्दे वक्ष्यते ) ( पात्रसीवनार्थं सूचीपाचनम् ' सूई ' शब्दे ) योग्ये पारिणामके, व्य०१० उ० । अधिकारिणि, "पत्तं ति वा जोग्गो त्ति वा एगट्ठं" दशा०४ अ० । आ०चू० । पत्तं नाम-सुत्तत्थ तदुभयस्स गहणधारणशक्तिरित्यर्थः । नि०चू०१ उ० । अष्ट० । विपा० । (२६) पारिणामिकाऽपारिणामिकातिपारिणामिकभेदात्त्रिविधं पात्रम् । ध० र० ३ अधि० २ लक्ष० । साधुभिः, पौषधिकश्राद्धैश्च मात्रकाणि पात्रकाणीव हि प्रतिलेख्यान्युत व्यापारणावसरे एव व्यापारणीयानीति प्रश्ने, उत्तरम् साधुभिः, पौषधिकश्राद्धैश्च मुख्यतो मात्रकाण्यपि पात्राणि इव हि प्रतिलेख्यानि, व्यापारणावसरे च प्रमृज्य व्यापारणीयानीति ।२५ प्र० । सेन० २ उल्ला० । विहृतपात्रकाणि पुनर्लेपितानि चतुर्मासके विहृतानि कल्पन्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पूर्वविहृतपात्रकाणि पुनर्लेपितानि चतुर्मासके विहृतानि कल्पन्ते इति । ७५ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

प्राप्त-त्रि० । उपगते आ० २ श्रु० १ वर्ग १ अ० । उपार्जिते, प्राप्तिमुपगते, विपा० २ श्रु० १ अ० । गृहीते, भ० ५ श० ४ उ० । परिच्छिन्ने, भ० ५ श० ४ उ० । लब्धे, " पत्तभवजलतीरं । " प्राप्तो लब्धो भवः संसारोऽर्णवः समुद्रो भवार्णवस्तस्य तीरं पर्यन्तो येन तम् । दर्श० १ तत्त्व ।

विषयसूची-



पत्तइय-पत्रकित-त्रि० संजातकुत्सिततालपत्रे, ज्ञा०१श्रु०७अ० ।

पत्तकप्पिय-पत्रकल्पिक-पु० । पात्रग्रहणादिसामाचारीके, बृ० १ उ० ।

सम्प्रति पात्रमिति । पात्रकल्पिकद्वारम्-

अप्पत्ते-अकहित्ता, अणहिगया परिच्छणे य चतुगुरुगा ।
दोहिँ गुरू तवगुरुगा, कालगुरू दोहिँ वी लहुगा ॥४७९॥

इयं गाथा तथैव द्रष्टव्या नवरमिह सूत्रमाचारान्तर्गत पात्रैषणाध्ययनं, तस्याप्राप्ते यदि पात्राऽऽमयनाय प्रेषयति तदा

प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। द्वाभ्यामपि गुरवः-तपसा, कालेन च । अथ सूत्रं प्राप्तं परं नाद्यापि तस्यार्थः कथितः तदा चत्वारो लघुकाः, तपसा गुरवः । अथ काथितोऽर्थः परं नाद्यापि सम्यगधिगतः तदाऽपि चत्वारो लघुका , कालेन गुरवः। अथाऽप्यधिगतोऽर्थः,श्रद्धानविषयीकृतश्च,परं नाद्यापि परीक्षितः तदाऽपि चतुर्लघवः, तपसा कालेन च लघुकाः। अतः सूत्रं पाठयित्वा तस्यार्थं कथयित्वा सम्यगधिगते चार्थे पात्राय परीक्ष्य प्रेषणीय इति । वृ० १ उ० ।

( पात्रनिक्षेपः 'पत्त' शब्देऽनुपदमेव गतः )

अत्र वैपरीत्यकरणे प्रायश्चित्तमाह-

वोच्चत्थे चउ लहुआ, आणाइविराहणा य दुविहा उ ।
छेयणभेयणकरणे,जा जहिँ आरोवणा भणिया ॥६६३॥

विपर्यस्तेन ग्रहणे करणे वा चतुर्लघुका , उपलक्षणत्वाल्लघुमासरात्रिन्दिवपञ्चके अपि। इदमुक्तं भवति-उत्कृष्टस्य यथाकृतस्यापात्रे पात्रस्योत्पादनाय निर्गतः, तस्य योगमकृत्वाऽल्पपरिकर्मोत्कृष्टमेव गृह्णाति चतुर्लघु, परिकर्म वा प्रथमतयाऽवगृह्णाति चतुर्लघु;यदा यथाकृतं योगे कृतेऽपि न लभ्यते तदाऽल्पपरिकर्म गवेषणीयम् , तस्योत्पादनाय निर्गतः प्रथमत एव सपरिकर्मं गृह्णाति चतुर्लघु, इति त्रीणि चतुर्लघुकानि। एवं मध्यमस्यापि त्रिषु स्थानेषु त्रीणि मासिकानि। जघन्यस्य स्थानकत्रयेऽपि त्रीणि रात्रिन्दिवपञ्चकानि। यथा यथाकृताऽऽदिविपर्यस्तग्रहणे प्रायश्चित्तमुक्तं, तथोत्कृष्टाऽऽदीनामपि परस्परं विपर्यस्तग्रहणे प्रायश्चित्तमवसातव्यम्। तद्यथा-उत्कृष्टस्य प्रतिग्रहस्यार्थाय निर्गतो मध्यमं मात्रकं गृह्णाति मासिकं, जघन्यं टोप्परिकाऽऽदि गृह्णाति पञ्चकं,मध्यमस्य निर्गते तूत्कृष्टं गृह्णाति चतुर्लघु, जघन्यं गृह्णाति पञ्चकं, जघन्यस्य निर्गत उत्कृष्टं गृह्णाति चतुर्लघु, मध्यमं गृह्णाति मासिकम्। तदेवं विपर्यस्तग्रहणे प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

सम्प्रति विपर्यस्तकरणेऽभिधीयते-उत्कृष्टं भङ्क्त्वा मध्यमं करोति पञ्चकं, मध्ये संयोज्योत्कृष्टं करोति चतुर्लघु, तदेव भङ्क्त्वा जघन्यं करोति पञ्चकं,जघन्ये संयोज्योत्कृष्टं करोति चतुर्लघु, मध्यमं करोति मासिकम् आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, विराधना च। विराधना च द्विविधा-संयमे,आत्मनि च । तथा चाऽऽह-पात्रस्य छेदनं भेदनं वा कुर्वत आत्मविराधना परितापमहादुःखाऽऽदिका,संयमविराधना तु तद्गता घुणाऽऽदयो विनाशमश्नुवते,ततो या यस्यां संयमविराधनायामात्मविराधनाया वा आत्मव्यपरोपणा भणिता सा तस्यामभिधातव्या, तत्राऽऽत्मविराधनायां चा सामान्यतश्चतुर्गुरु, संयमविराधनायां "छक्कायचउसलहुगा" इत्यादिका कायनिष्पन्ना। यत एवं ततो न विधेयं विपर्यस्तकरणम्। वृ० १ उ० १ प्रक०।

अथ पात्रस्यैव विशेषविधिं विभणिपुराह-

ओभासणा य पुच्छा, दिट्ठे रित्ते मुहे वहंते य ।
संसट्ठे उक्खित्ते, सुक्के अ पगास दट्ठूणं ॥६६५॥

पात्रस्योत्पादनायामवभाषणं कर्त्तव्यं, तत्र पृच्छति शिष्यः-किं दृष्टं पात्रं प्रशस्तमुताऽदृष्टम्?, एवं रिक्तम्, अरिक्तं वा?, कृतमुखमकृतमुखं वा?, वहमानकमवहमानकं वा?,संसृष्टमसंसृष्टं वा?;उत्क्षिप्तं निक्षिप्तं वा?,शुष्कमार्द्रं वा? प्रकाशमुखमप्रकाशमुखं वा?। इत्यष्टौ पृच्छाः। आसां निर्वचनं स्वयमेव सूरिरभिधास्यति। तथा-(दट्ठूणं ति) दृष्ट्वा चक्षुषा निरीक्ष्य पात्रं यदि निर्दोषं तदा गृह्णाति।

अथैनामेव गाथां विवरीपुः प्रथमद्वितीयपृच्छयोरेकगाथया परिहारमाह-

दिट्ठमदिट्ठे दिट्ठं, खमतरमियरे न दीसए काया ।
दहिमाईहिँ अरिक्कं, वरं तु इयरे सिया पाणा ॥६६६॥

दृष्टादृष्टयोः पात्रयोर्मध्ये दृष्टं क्षमतरं क्षमशब्द इह युक्तार्थः,ततश्च क्षमतरमदृष्टादतिशयेन गृहीतुं युक्तम्। कुत इत्याह-इतरस्मिन्नदृष्टे(न दीसयन्ति)प्राकृतत्वादेकवचनम्,न दृश्यन्ते, काया पृथिवीकायाऽऽदयः, तथा दध्यादिभिरित्यादिग्रहणेन्मोदकाऽऽदिपरिग्रह। तैरतिरिक्तं पूर्णं वरम् इतरस्मिन् रिक्ते स्युर्भवेयुः कदाचित् प्राणाः कुन्थुप्रभृतयो जीवाः।यदि पुनर्न तत्र प्राणसंभवस्तदाऽपि सम्यगुपयुज्य गृह्णतां न दोषः।

अथ कृतमुखाऽकृतमुखयोः किं कृतमुखं ग्राह्यमुताकृतमुखम्?। उच्यते-

अकयमुहे दुप्पस्सा, वीयाई छेयणाऽऽइ दोसा वा ।
कुंथूमादवहंते, फासुवहंतं अओ धन्नं ॥ ६६७ ॥

अकृतमुखे भाजने दुर्दर्शया अप्रत्युपेक्ष्या वीजाऽऽदयो जीवाः,तत्र बीजानि तत्तुत्थानि,आदिशब्दात्त्रसाऽऽदिपरिग्रहः,छेदनभेदनयोर्वा दोषास्तत्र भवेयु , यत एवं ततोऽकृतमुखं परिहर्त्तव्यम्। अथ वहमानकावहमानकयोः कतरत् श्रेष्ठमित्याह-कुन्थ्वादयः सत्त्वा अवहमानके प्रायः सम्भवन्ति, अतः प्रासुकेन वस्त्राऽऽदिना वहमानकं व्याप्रियमाणं यत्तत्पात्रं धनाय हितमिति धन्यं, संयमधनोपकारकमित्यर्थः।

अथ संसृष्टाऽऽदिपृच्छात्रयं प्रतिविधत्ते-

एमेव य संसट्ठं, फासुएण पसत्थ नाह पडिकुट्ठं ।
उक्खित्तं च खमतरं, जं चोल्लं फासुगदवेणं ॥ ६६८ ॥

एवमेव यथा वहमानकं तथा संसृष्टमपि यत्प्रासुकेन भक्ताऽऽदिना संसृष्टं खरण्टितं तत्प्रशस्यमप्राशुकेन पुनः संसृष्टं प्रतिकुष्टं निषिद्धम्, उत्क्षिप्तनिक्षिप्तयोर्मध्ये यदा प्रयोगेणैव गृहिणा पात्रमुत्क्षिप्तं तन्निक्षिप्तात् क्षमतरं युक्ततरम्। यच्चार्द्रं प्रासुकं द्रव्येण तक्राऽऽदिना तत्पात्रं श्रेयः, अर्थादापन्नमप्राशुकेनार्द्रं परिहार्यम्।

अथ किं प्रकाशमुखं गृह्यतामप्रकाशमुखं वा-

जं होइ पगासमुहं, जोग्गयरं तं तु अप्पगासा तु ।
तसवीयाइ अदट्ठुं, इमं तु जयणं पुणो कुणइ ॥६६९॥

यद्भवति प्रकाशमुखम्, तत्तु योग्यतरं संयमाऽऽत्मविराधनाया अभावाद्विशेषेण योग्यमप्रकाशमुखभाजनात्, इत्थं पात्रस्य प्रशस्याप्रशस्यरूपतामुपवर्ण्य तस्यैव विधिशेषमभिधातुमुपक्रमते-"तसवीया" इत्यादि पश्चार्द्धम्। तत्पात्रं चक्षुपा प्रत्युपेक्ष्य यदि त्रसजीवाऽऽदिकं जन्तुजातं किञ्चित् न पश्यति तद् दृष्ट्वा इमां वक्ष्यमाणां यतनां पुनः करोति।

तामेवाऽऽह-

ओमंथपाणमाई, पुच्छा मूलगुण उत्तरगुणे य ।

तिहाणे तिक्खुत्तो, सुद्धो ससिणिद्धमाईसु ॥६७०॥

( ओमंथ त्ति ) तत्पात्रमवाङ्मुखं कृत्वा त्रीणि स्थानानि समाहितानि त्रिस्थान मणिवधहस्ततलभूमिकालक्षणं, तत्र त्रि:कृत्वः त्रीन् वारान् प्रत्येक प्रस्फोटयेत्, ततः प्राणास्त्रसाः, आदिशब्दाद्वीजानि वा दृष्ट्वा न गृह्णाति, पृच्छा मूलगुणोत्तरगुणे । यदि शिष्य पृच्छति-के मूलगुणाः, के चोत्तरगुणा: ?। अत्र निर्वचनमग्रे वक्ष्यते ।( सुद्धो ससिणिद्धमाईसु त्ति ) यत्राप्कायः प्रक्षिप्यमाण आसीत् तदधुनाऽपनीताप्कायतया कदाचित् सस्निग्ध भवेत्, तच्च यदि त्रिःकृत्वः प्रस्फोटनाऽऽदिविधिं कुर्वता न परिभावितं तथाऽपि श्रुतज्ञानप्रामाण्यबलेन शुद्धः आदिशब्दाद्वीजकायपरिग्रहः।

एतदेव भावयति-

दाहिणकरेण कोणं, घेत्तुत्ताणेण वाम मणिबंधे ।
फोडेइ तिन्निवारे, तिन्नि तले तिन्नि भूमीए ॥६७१॥

दक्षिणेन करेणोत्तानेन पात्रस्य कोणं कर्णं गृहीत्वा पात्रमवाङ्मुखं कृत्वा वामहस्तस्य मणिबन्धे त्रीन् वारान् प्रस्फोटयति , ततस्त्रीन् वारान् हस्ततले, त्रीन् भूमिकायामिति ।

तसवीयाइ तु दिट्ठे, न गिण्हई गिण्हती य अदिट्ठे ।
गहणम्मि उ परिसुद्धे, कप्पइ दिट्ठेहिं वि बहूहिं ॥६७२॥

नवकृत्व' प्रस्फोटिते सति त्रसबीजाऽऽदिजन्तुजातं तं यदि दृष्टं तदा न गृह्णाति, अथ न दृष्टं ततो गृह्णाति । अथ महताऽपि प्रयत्नेन प्रत्युपेक्ष्यमाणानि तदा बीजाऽऽदीनि सन्त्यपि शुषिरत्वान्न दृष्टानि, ततः परिशुद्धं निर्दोषमिति मत्वा पात्रस्य ग्रहणं कृतं, तत उपाश्रयमागतैस्तानि दृष्टानि तत. को विधिरित्याह-कल्पते बहुभिरपि बीजाऽऽदिभिः पश्चात् दृष्टैरिति । किमुक्तं भवति ?-तत्पात्रमप्रासुकमिति मत्वा न भूयोऽगारिणः प्रत्यर्प्यते,न वा परिष्ठाप्यते, श्रुतप्रामाण्येन गृहीतत्वात्, किं त्वेकान्ते बहुप्रासुके प्रदेशे तानि बीजानि यतनया परिष्ठापयेत् ।

अथ " पुच्छा मूलउत्तरगुणे त्ति" अस्य निर्वचनमाह-

मुहकरणं मूलगुणा, पाए निकोरणं च इयरे उ ।
गुरुगा गुरुगा लहुगा, विसेसिया चरिमए सुद्धो ॥६७३॥

पात्रस्य यत् मुखकरण तन्मूलगुणा' यत्पुनर्मुखकरणानन्तरं तदभ्यन्तर्वर्तिनो गिरस्योत्किरणं तन्निष्कोरणमित्यभिधीयते, तदितरे उत्तरगुणा । अत्र चतुर्भङ्गी संयतार्थं कृतमुखं संयतार्थमेव चोत्कीर्णमिति प्रथमो भङ्ग । संयतार्थं कृतमुखं स्वार्थमुत्कीर्णमिति द्वितीय.। स्वार्थं कृतमुखं संयतार्थमेवोत्कीर्णमिति तृतीय.। स्वार्थं कृतमुख स्वार्थमेवोत्कीर्णमिति चतुर्थ. । अत्र त्रिषु भङ्गेषु प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-प्रथमे भङ्गे चत्वारो गुरुका., तपसा कालेन च गुरव., द्वितीयेऽपि चतुर्गुरुकाः, तपसा गुरव', कालेन लघव । तृतीये चतुर्लघुका., कालेन गुरवः तपसा लघव. । चरमे चतुर्थे भङ्गे शुद्ध., उभयस्यापि स्वार्थत्वादिति । व्याख्यात. पात्रकल्पिक. । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पत्तकयवर पत्रकचवर-पुं० । पत्राण्येव कचवर । पत्रस्वरूपे कचवरे, जं० २ वक्ष० ।

पत्तकारि ( ण् )-प्राप्तकारिन्-त्रि० । प्राप्यकारिणि,स्पृष्टार्थग्राहिणि, विशे० । ( इन्द्रियाणां प्राप्याऽप्राप्यकारित्वम् 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५५७ पृष्ठे उक्तम् ) स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वीरः प्रतिमया स्थित.,तत्रैव शून्यागारे स्कन्दो नाम ग्रामकूटपुत्रो दास्या सह रेमे । आ० म० १ अ० । आ०चू० । आलम्भिकाया नगर्या बहिःस्थे चैत्ये, "तत्थ णं जे से पंचमे पउट्टपरिहारे,से णं आलम्भियाए णयरीए बाहिया पत्तकालंसि चेइयंसि रोहस्स सरीरगं विप्पजहामि । " भ० १५ श० ।

पत्तग-पात्रक-न० । पिठरिकाविशेषे, भ० १५ श० ।

पत्रक-न० । लेखे, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पत्तगधुवण-पात्रकधावन-न० । पात्रमलाऽऽदिप्रक्षालने, पं० व० २ द्वार ।

पत्तचारण-पात्रचारण-पुं० । नानाद्रुमफलान्युपादाय फलाऽऽश्रयप्राण्यविरोधेन फलतले पादोत्क्षेपनिक्षेपकुशले, ग० २ अधि० ।

पत्तच्छन्न-पत्रच्छन्न-त्रि० । पत्रैर्व्याप्ते, रा० ।

पत्तच्छेज्ज-पत्रच्छेद्य-न० । अष्टोत्तरशतपत्राणां मध्ये विवक्षितसंख्याकपत्रच्छेदने हस्तलाघवे, जं० २ वक्ष० । औ० । कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० ।

पत्तच्छेज्जकम्म ( ण् )-पत्रच्छेद्यकर्मन्-न० । पत्रच्छेद्यनिष्पादिते वस्तुनि, आचा० २ श्रु० २ चू० २ अ० ।

पत्तट्ठ-प्राप्तार्थ-त्रि० । अधिकृतकर्मणि निष्ठाङ्गते, भ० १४ श० १ उ० । बहुशिक्षिते, सुन्दरे च । दे० ना० ६ वर्ग ६८ गाथा । अनु० । " चउरा निउणा कुसला, छेआ विउसा बुधा य पत्तट्ठा । " पाइ० ना० ६० गाथा । कृतप्रयोजने, उपा० ७ अ० ।

पत्तण-पत्तन-न० । नानादेशाऽऽगतपण्यस्थाने,अनु० । बाणफलपुङ्खयोः, दे०ना० ६ वर्ग ६४ गाथा । ( ' पट्टण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५५ पृष्ठे सर्वमुक्तम् )

पत्तणा-प्रापणा-स्त्री० । सूत्रस्यापरिवर्त्तनायाम्, प० चू० ४ कल्प ।

पत्तणिव्वाण-प्राप्तनिर्वाण-त्रि० । प्राप्तं कषायाऽऽदिशमनेन निर्वाणं शीतीभावो येन स प्राप्तनिर्वाणः । उपशान्तकषाये, उत्त० २५ अ० ।

पत्ततिलभंडगसगडिया-पात्रतिलभाण्डकशकटिका-स्त्री० । पात्रयुक्ततिलाना भाण्डकानां च मृण्मयभाजनाना भृतायां गन्त्र्याम् , भ० २ श० ५ उ० ।

पत्तपडिमा-पात्रप्रतिमा-स्त्री० । 'पायपडिमा' शब्दार्थे, स्था०४ ठा० १ उ० ।

पत्तपल्लव-पत्रपल्लव-पुं० । अत्यभिनवपत्रगुच्छे, ज्ञा०१श्रु०१अ० ।

पत्तभार-पत्रभार-पुं० । दलचये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "नवकहरियभिसंतपत्तभारंधकारगम्भीरदरिसणिज्जा।" रा० । औ० ।

पत्तय-पत्रक-न० । तलताल्यादिसम्बन्धिनि, ( अनु० ) गन्धद्रव्यविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । गेयभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पत्तरह-पत्ररथ-पुं० । पक्षिविशेषे, " सउणा खगा सउंता पत्तरहा अंडया विहगा य ।" पाइ० ना० ४१ गाथा ।

पत्तल-पत्रल-न० । " विद्युत्पत्रपीतान्धाल्लः " ८ । १ । १७३ । इति स्वार्थे लः । प्रा० २ पाद । पत्रशब्दार्थे, पत्रसमृद्धे । त्रि० । " पत्तसमिद्धं ।" स्कन्धपत्रलमिति वचनात् । रा० । पद्मवति, जं० २ वक्ष० । चं० प्र० । श्रा० म० । " घणपत्तलछाया-बहुल-फुल्लइ जाम्ब कयम्बु" प्रा० ४ पाद । तीक्ष्णे, "पत्तसमिद्धं पत्तलं ।" पाइ० ना १३६ गाथा । दे० ना० ।

पत्तविच्छुया-पत्रवृश्चिक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

पत्तवेंटिय-पत्रवृन्तक-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पत्तसगडिया-पात्रशकटिका-स्त्री० । पलाशाऽऽदिभृतायां गन्त्र्याम्, भ० २ श १ उ० ।

पत्तसमिद्ध-पत्रसमृद्ध-त्रि० । " पत्तसमिद्धं पत्तलं । " पाइ० ना० १४० गा० ।

पत्तसमुग्ग-पात्रसमुद्ग-पुं० । पात्रभृतसमुद्गे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पत्तहार-पत्तहार-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

पत्ताबंध पात्रबन्ध-पुं० । औघिकोपधिभेदे, येन वस्त्रखण्डेन चतुरस्रेण पात्रकं धार्यते । बृ० ३ उ० । औ० । ध० । पं०व० ।

अथ पात्रकबन्धाऽऽदीनां प्रमाणनिरूपणायाऽऽह-

पत्ताबंधपमाणं, भाणपमाणेण होइ कायव्वं ।
चतुरंगुलं कमंता, पत्ताबंधस्स कोणा उ ॥

पात्रकबन्धप्रमाणं भाजनप्रमाणेन कर्त्तव्यं भवति । यदि मध्यमं जघन्यं वा पात्रं भवति तदा पात्रकबन्धोऽपि तदनुसारेण करणीयः । अथोत्कृष्टं प्रमाणं पात्रं तदा सोऽपि गुरुतरः कार्यः । किं बहुना ?-यथा ग्रन्थौ कृते सति पात्रकस्य बन्धस्य कोणाश्चतुरङ्गुलमूर्ध्वं क्रामन्तो भवन्ति ग्रन्थेरतिरिक्ताश्चतुरङ्गुला अञ्चला यथा भवन्तीति भावः, तथा पात्रकबन्धमाविधेयम् ।

रयताणस्स पमाणं, भाणपमाणेण होति कायव्वं ।
पायाहिणं करिंतं, मज्झे चतुरंगुलं कमति ॥

रजस्त्राणस्य प्रमाणं भाजनप्रमाणेन कर्त्तव्य भवति । कथमित्याह प्रादक्षिण्येन वेष्टनं कुर्वन् पात्रस्य मध्ये यं चतुरङ्गुलं चत्वार्यङ्गुलानि रजस्त्राणमतिक्रामति तथा रजस्त्राणप्रमाण विधेयम् । बृ० ३ उ० । " पत्ताबंधस्स णं गंठी उच्छोडिज्जाए साहेज्जा चउत्थं ।" महा० १ चू० ।

पत्तामोड-पत्राऽऽमोट-पुं० । तरुशाखामोटितपत्रे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । भ० ।

पत्तासव-पत्राऽऽसव-पुं० । धातकीपत्ररससारे आसवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० ।

पत्ताहार पत्राऽऽहार-पुं० । पत्रकाऽऽहारे वानप्रस्थे, औ० ।

पत्ति(ण्)-पत्रिन्-पुं० । पत्रं पक्ष अस्त्यस्य इनि । पक्षिणि, शरे, श्येने, रथिनि, पर्वते, ताले च पर्णयुते, त्रि० । वाच० ।

प्राप्ति-स्त्री० । लाभे, अनु० । सूत्र० । आ० चू० ।

पात्री-स्त्री० । जलाऽऽद्याधारे भोजनयोग्ये अमत्रे, वाच० । जं० २ वक्ष० ।

पत्तिय-प्रीतिक-त्रि० । प्रीतिरेव प्रीतिकं, स्वार्थिककप्रत्ययोपादानेऽपि रूढेर्नपुंसकतेति । प्रीतौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रीतिसमुत्पादके वचने, उत्त० १ उ० । प्रीतिकरे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

प्रतीत-त्रि० । उपपत्तिभिः प्रतीते, स्था० ६ ठा० ।

पत्रित-त्रि० । संजातपत्रे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

प्रातीतिक-न० । प्रतीतिः प्रयोजनमस्येति प्रातीतिकम् । प्राकृतत्वाद्रूपनिष्पत्तिः । शपथाऽऽदौ, उत्त० १ अ० ।

पत्तियमाण-प्रतीयमान-त्रि० । रोचयति, " तं सद्दमाणेहिं पत्तियमाणेहिं रोयमाणेहिं ।" एकार्थाश्चैते । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

पत्तिया-पत्रिका-स्त्री० । सुरभिपत्रे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

पत्तिसमिद्ध-देशी-न० । तीक्ष्णार्थे, दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा ।

पत्ती-पत्नी-स्त्री० । भार्यायाम्, " जाया पत्ती दारा, घरिणी भज्जा पुरंधी य ।" पाइ० ना० ५६ गाथा ।

पत्तेय-प्रत्येक-न० । एकं प्रति प्रत्येकम् । अत्राऽऽभिमुख्ये प्रतिशब्दो, न वीप्सायाम् । एकं प्रतीत्यर्थे, "पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ ।" जी० ३ प्रति० ४ अधि० । वीप्सायामव्ययीभावः । एकमेकं प्रतीत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । पाइ० ना० । एकैकस्मिन्, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । प्रज्ञा० । पृथक्पृथगित्यर्थे, दश० १ चू० । विशे० । पत्तेयं पुढो पुढो । नि० चू० १ उ० । प्रश्न० । सूत्र० । औ० । आचा० ।

पत्तेयजीव-प्रत्येकजीव-त्रि० । प्रत्येको जीवो येषां ते तथा । असाधारणशरीरेषु, आचा० १ श्रु० ४ अ० ५ उ० । ( ' वणप्फइ ' शब्दे विवेकः )

पत्तेयणाम(ण)-प्रत्येकनामन्-न० । नामकर्मभेदे, कर्म० ।

पत्तेय तणू पत्ते-उदएण दतअट्ठिमाइ थिर ॥४६॥

प्रत्येकोदयेन प्रत्येकनामकर्मोदयवशाज्जन्तूनां प्रत्येकं तनुः पृथक् पृथक् शरीर भवति । यदुदयादेकैकस्य जन्तोरेकैकं शरीरमौदारिकं, वैक्रियं वा भवति, तत्प्रत्येकनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प०सं० । " पत्तेयथिर सुभं च नायव्वं (८) ।" यदुदयाज्जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरमुपजायते तत् प्रत्येकनाम, तस्योदयः प्रत्येकशरीरिणा, प्रत्येकशरीरिणश्च नारकामरमनुष्यद्वीन्द्रियाऽऽदयः पृथिव्यादयः कपित्थाऽऽदितरवश्च । ननु यदि प्रत्येकनाम्न उदयः कपित्थाऽऽदिवृक्षाऽऽदीनामिष्यते तर्हि तेषां जीवं जीवं प्रति भिन्नं शरीरं भवेत्, न च तद् भवति, यतः कपित्थाश्वत्थपीलुलेल्वादीनां मूलस्कन्धत्वक्शाखाऽऽदयः प्रत्येकसंख्येयजीवा इष्यन्ते । यत उक्तं प्रज्ञापनायामेकास्थिकबहुबीजवृक्षप्ररूपणाऽवसरे-" एएसिं मूला असंखिज्जजीविया कंदा वि खंदा वि तया वि साला वि पवाला वि पत्ता पत्तेयजीविया ।" इत्यादि मूलाऽऽदयश्च फलपर्यन्ताः सर्वेऽप्येकशरीराऽऽकारा उपलभ्यन्ते, देवदत्तशरीरवत्, यथाहि देवदत्तशरीरमखण्डमेकरूपमुपलभ्यते, तद्वत् मूलाऽऽदयोऽपि, तत एकशरीराऽऽत्मकाः कपित्थाऽऽदयस्ते चासं-

त्येयजीवास्ततः कथं ते प्रत्येकशरीरिणः ? । उच्यते-प्रत्येकशरीरिण एव ते, तेषां मूलाऽऽदिष्वसंख्येयानामपि जीवानां भिन्नभिन्नशरीरसम्भवात्, केवलं श्लेषद्रव्यविमिश्रितसकलसर्षपवर्त्तेरिव प्रबलरागद्वेषोपचिततथारूपप्रत्येकनामकर्मपुद्गलोदयतस्ते, तथा परस्परविमिश्रशरीरा जायन्ते । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायामेव-

" जह सगलसरिसवाणं, सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी ।
पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया ॥ १ ॥
जह वा तिलपप्पडिया, बहुएहिँ तिलेहिँ मीसिया संती ।
पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया ॥ २ ॥ "

गाथाद्वयस्याप्ययमक्षरार्थः-यथा सकलसर्षपाणां श्लेषद्रव्येण मिश्रीकृतनां वर्तिता वलिता वर्त्तिः, यथा वा बहुभिस्तिलैर्विमिश्रिता सती तिलपर्पटिका भवति, तथा प्रत्येकशरीराणां शरीरसंघाताः । इयमत्र भावना-यथा तस्यां वर्त्तौ सकलसर्षपाः परस्परं भिन्नाः नान्योन्यानुवेधमाजस्तथा अदर्शनात्, अत एव सकलग्रहणं, येन स्पष्टमेवान्योन्यानुवेधाभावः प्रतीयते । एवं वृक्षाऽऽदावपि मूलाऽऽदिषु प्रत्येकमसंख्येया अपि जीवाः परस्परं विमिश्रशरीराः, यथा च ते सर्षपाः श्लेषद्रव्यसंपर्कमाहात्म्यात्परस्परं विमिश्रा जातास्तथा प्रत्येकशरीरिणोऽपि प्रत्येकनामकर्मपुद्गलोदयतः परस्परसहता जाता इति । प० सं० ३ द्वार ।

**पत्तेयदुक्ख**-प्रत्येकैकदुःख-त्रि० । प्रत्येकमेकं दुःखं प्रत्येकैकदुःखम् । एकैकस्यासाधारणदुःखे, "पत्तेयदुक्खे जीवाणं," प्रत्येकैकदुःखं जीवाना, स्वकृतकर्मफलभोगित्वात् । स्था० १ ठा० ।

**पत्तेयबुद्ध**-प्रत्येकबुद्ध-पुं० । प्रतीत्यैकं किञ्चिद् वृषभाऽऽदिकमनित्यताऽऽदिभावनाकारणं वस्तु बुद्धाः बुद्धवन्त. परमार्थमिति प्रत्येकबुद्धाः । प्रत्येकपरमार्थवस्तु तेषु, (करकण्ड्वादीनां कथा करकण्डुवादि शब्देषु)('णमि' शब्दे चतुर्थभागे १८०७ पृष्ठे मीलकः) स्वयंबुद्धप्रत्येकबुद्धाना च बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेष । तथाहि-स्वयंबुद्धानां बाह्यनिमित्तमन्तरेणावबोधिः, प्रत्येकबुद्धाना तु तदपेक्षया करकण्ड्वादीनामिवेति उपधिः । स्वयं बुद्धानां पात्राऽऽदि द्वादशविधः । ( स्था० ) प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्जं इति । स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीते श्रुते अनियमः, प्रत्येकबुद्धाना तु नियमतो भवत्येव लिङ्गप्रतिपत्ति. । स्वयं बुद्धानामाचार्यसन्निधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धाना तु देवता प्रयच्छतीति । स्था० १ ठा० । न० । आ० चू० । गुरुसन्निधौ वा गत्वा ( लिङ्गं ) प्रतिपद्यते, यदि च एकाकी चरणसमये, इच्छा च तस्य तथारूपा जायते, तत एकाकी विहरति, अन्यथा गच्छवासे अवतिष्ठते । अथ पूर्वाधीतं श्रुतं तस्य न भवति तर्हि गच्छं चाऽऽवश्यं न मुञ्चति । तथा चोक्तं चूर्णौ-' पुव्वाहीयं सुयं से हवइ वा, जइ से नत्थि तो लिंगं नियमा गुरुसन्निहे पडिवज्जइ, गच्छे विहरइ इति । अह पुव्वाहीयसुयसम्भवो अत्थि, तो से लिंगं देवया पयच्छइ, गुरुसन्निहे वा पडिवज्जइ, जइ य एगविहारविहरणसमत्थो, इच्छा च से, तो एक्को चेव विहरइ, अन्नहा गच्छे विहरइ " इति । प्रत्येकबुद्धाना तु पूर्वाधीतं श्रुतं नियमतो भवति । तच्च जघन्यत एकादशाङ्गानि, उत्कर्षत किञ्चिन्न्यूनानि दशपूर्वाणि, तथा लिङ्गं तस्मै देवता प्रयच्छति, लिङ्गरहितो वा कदाचिद् भवति । तथा चोक्तम्-"पत्तेयबुद्धाणं पुव्वाहीयं सुयं नियमा हवइ, जहन्नेणं एक्कारस अंगा, उक्कोसेणं भिन्नदसपुव्वी, लिंगं च से देवया पयच्छइ, लिंगवज्जिओ वा भवइ, जतो भणियं- 'रुप्पं पत्तेयबुद्धा इति ।" आ० म० १ अ० ।

**पत्तेयबुद्धसिद्ध**-प्रत्येकबुद्धसिद्ध-पुं० । प्रत्येकबुद्धत्वे सिद्धे, स्था० १ ठा० । पा० । ये हि प्रत्येकबुद्धा सन्त. सिद्धाः । ध० २ अधि० । प्रज्ञा० ।

**पत्तेयरस**-प्रत्येकरस-पुं० । एकमेकं प्रति भिन्नो रसो येषां ते प्रत्येकरसाः । अतुल्यरसे, " चत्तारि समुद्दा पत्तेयरसा पन्नत्ता । तं जहा-लवणोदए, वारुणोदए, खीरोदए, घओदए ।" स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**पत्तेयसरीर**-प्रत्येकशरीर-पुं० । प्रत्येकनामकर्म्मोदये वर्त्तमाने, न च नारकाऽमरमनुष्यद्वीन्द्रियाऽऽदयः पृथिव्यादयः कपित्थाऽऽदितरवश्च व्याख्याताः । प० सं० ३ द्वार । (वणप्फइ शब्दे व्याख्या)

सम्प्रति प्रत्येकवनस्पतिजीवप्रमाणमाह-

पत्तेया पज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमित्ताओ ।
लोगा असंख अपज-त्तयाण साहरणमणंता ॥२३॥

पर्याप्ताः प्रत्येकवनस्पतिजीवाः घनीकृतस्य लोकस्य सम्बन्धिनः प्रतरस्य असङ्ख्यतमे भागे यावत् आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणा भवन्ति । अपर्याप्तानां पुन. प्रत्येकतरुजीवानामसङ्ख्येया लोकाः परिमाण. पर्याप्तापर्याप्तानां च साधारणजीवानामनन्तलोकाः । प्रज्ञा० १ पद ।

द्वीन्द्रियाऽऽदीनां प्रत्येकशरीरवत्त्वम्-

"बेइंदियमागासे, पाणवहे उववए य परमाणू ।
अंतरबंधे भूमी, चारण सोवक्कमा जीवा ॥१॥ "

रायगिहे० जाव एवं वयासी-सिय भंते ! ० जाव चत्तारि पंच बेइंदिया एगयओ साहरणसरीरं बंधंति, बंधंतित्ता तओ पच्छा आहारेंति वा, परिणामेंति वा, सरीर वा बंधंति ? । णो इणट्ठे समट्ठे, बेइंदिया णं पत्तेयाहारा पत्तेयपरिणामा पत्तेयसरीरं बंधंति, बंधंतित्ता तओ पच्छा आहारेंति वा, परिणामेंति वा, सरीरं वा बंधंति । तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! तओ लेस्साओ पण्णत्ताओ । तं जहा-कण्हलेस्सा, णीललेस्सा, काउलेस्सा । एव जहा एगूणवीसइमे सए तेउकाइयाणं० जाव उव्वट्टंति, णवरं सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, णोसम्मामिच्छादिट्ठी, दो णाणा, दो अण्णाणा, णियमं, णो मणजोगी, वइजोगी वि, कायजोगी वि, आहारो णियमं छद्दिसिं । तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सण्णाइ वा, पण्णाइ वा, मणेइ वा, वईति वा, अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे रसे, इट्ठाणिट्ठे फासे, पडिसंवेदेमो ? । णो इणट्ठे समट्ठे, पडिसंवेदेंति पुण ते, ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं, सेसं तं चेव । एवं तेइंदियाणए वि, एवं चउरिंदियाणए वि णाणत्तं इंदिएसु ठितीए य, सेसं तं चेव, ठिती जहा पण्णवणाए । सिय

भंते !० जाव चत्तारि पंच पंचिंदिया, एगयत्रो साहारणस-रीरं, एवं जहा बेइंदियाणं, णवरं छ ल्लेस्सा तिविहा दिट्ठी चत्तारि णाणा तिन्नि अण्णाणा भयणाए तिविहा जोगा। तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सण्णाइ वा पण्णाइ वा० जाव वईइ वा अम्हे णं आहारमाहारेमो ?। गोयमा ! अत्थेगइयाणं एवं सण्णाइ वा पण्णाइ वा मणेइ वा वईइ वा अम्हे णं आहा-रमाहारेमो, अत्थेगइयाण णो एवं सण्णाइ वा० जाव वईइ वा अम्हे णं आहारमाहारेमो, आहारेंति पुण ते। तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सण्णाइ वा०जाव वईइ वा अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे सद्दे इट्ठाणिट्ठे रूवे इट्ठाणिट्ठे गंधे इट्ठाणिट्ठे रसे इट्ठा-णिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो ?। गोयमा ! अत्थेगइयाणं एवं-सण्णाइ वा० जाव वईइ वा अम्हे ण इट्ठाणिट्ठे सद्दे० जाव इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो, अत्थेगइयाणं णो एवं सण्णा-ति वा पण्णाति वा०जाव वईति वा, अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे सद्दे ०जाव इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो, पडिसंवेदेंति पुण ते। तेणं भंते ! जीवा किं पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति पुच्छा ?। गो-यमा ! अत्थेगइया पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति० जाव मि-च्छादंसणसल्ले वि उवक्खाइज्जंति, अत्थेगइया णो पाणा-इवाए उवक्खाइज्जंति, णो मुसावाए उवक्खाइज्जंति० जाव णो मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति। जेसिं पि य णं जीवाणं ते जीवा एवमाहिज्जंति तेसिं पि णं जीवाणं अ-त्थेगइयाण विण्णाते णाणत्ते, अत्थेगइयाणं णो विण्णाए णाणत्ते, उववाओ सव्वओ० जाव सव्वट्ठसिद्धाओ. ठिती जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीस सागरोवमाइं, छ समुग्घाया केवलवज्जा, उव्वट्टणा सव्वत्थ गच्छंति० जाव सव्वट्ठसिद्ध त्ति, सेसं जहा बेइंदियाणं।

( रायगिहेत्यादि ) ( सिय त्ति ) स्यात्कदाचिन्न सर्वदा (ए-गाओ त्ति ) एकत एकीभूय संयुज्येत्यर्थः। ( साहारणसरीर बंधंति त्ति ) साधारणशरीरमनेकजीवसामान्यं बध्नन्ति प्रथ-मतया तत्प्रायोग्यपुद्गलग्रहणतः। (ठिई जहा पण्णवणाए त्ति ) तत्र त्रीन्द्रियाणामुत्कृष्टा एकोनपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि, चतुरि-न्द्रियाणां तु परमासा, जघन्या तूभयेषामप्यन्तर्मुहूर्तम् (चत्ता-रि नाए त्ति)पञ्चेन्द्रियाणा चत्वारि मत्यादीनि ज्ञानानि भव न्ति, केवलं त्वनिन्द्रियाणामेवेति। ( अत्थेगइयाण त्ति ) सं-ज्ञिनामित्यर्थः। ( अत्थेगइया पाणाइवाए उवक्खाइज्जति त्ति ) असंयताः ( अत्थेगइया नो पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति त्ति) संयताः (जेसिं पि णं जीवाणमित्यादि) येषामपि जीवा-नां सम्बन्धिना प्राणातिपाताऽऽदिना ते पञ्चेन्द्रिया जीवा ए-वमाख्यायन्ते–यथा प्राणातिपाताऽऽदिमन्त एत इति तेषामपि जीवानाम् अस्त्ययमर्थो यदुतैकेषां सञ्ज्ञिनामित्यर्थो विज्ञातं नानात्वं भेदो यदुतैते वय वध्यादय., एते तु वधकाऽऽदय इति, अस्त्येकेपामसञ्ज्ञिनामित्यर्थ', नो विज्ञातं नाना-त्वमुक्तरूपमिति ॥ भ० २० श० १ उ०।

पत्तेयसरीरिदव्ववग्गणा–प्रत्येकशरीरीद्रव्यवर्गणा–स्त्री०। प्र-त्येकशरीरिणां यथासंभवमौदारिकवैक्रियाहारकतैजसका-र्मणेषु शरीरनामकर्मसु प्रत्येकं विस्रसापरिणामेनोपचयमा-पन्नेषु सर्वजीवानन्तगुणेषु पुद्गलेषु, पं० सं०।

" पत्तेय वग्गणा इह, पत्तेयाणं तु उरलमाईणं।
पचएइ लसरीराणं, तणु कम्मपएसगा जे उ ॥ १ ॥
तत्थेकेक्कपएसे. वीससपरिणामउवचिया होंति।
सव्वजियाऽणंतगुणा पत्तेया वग्गणा ताओ ॥ २ ॥ "

न त एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया प्रत्येकशरीरिद्र-व्यवर्गणा, एवमेकैकं परमाण्वधिकस्कन्धरूपाः प्रत्येकशरी-रिद्रव्यवर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टप्रत्येकशरीरिद्रव्यवर्ग-णाः। प० सं० ५ द्वार।

पत्तोवग–पत्रोपग–त्रि०। पत्राएयुपगच्छतीति पत्रोपगः। बह-लपत्रे, स्था० ४ ठा० ३ उ०। पत्रप्राप्ते, स्था० ३ ठा० १ उ०। पत्रोपेते, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

पत्थ -पथ्य–न०। पथि मोक्षमार्गे हित पथ्यम। क्षपकश्रेण्या गुणत्रये, " पत्थं सेयं णिव्वुई णिव्वाणं सिवकरं चेव " इ-त्येते एकार्थाः। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। स्था०। रोगोपशमहे-तौ, भ० १ श० ८ उ०। हिते, संथा०। जी०। भ०। आरोग्य-करे, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। आव०।

प्रस्थ–पुं०। कुडवचतुष्टयपरिमिते मागधतुलामाने, "चत्तारि चेव कुडवा, पत्थो पुण मागहो होइ।" चत्वारश्च कुडवा एकल पिण्डिता एक. प्रस्थो मागधो भवति, सोऽपि च धरिमप्रमाण-चिन्तायां सार्धानि द्वादश पलान्यवगन्तव्यः। ज्यो० २पाहु०। "दो असईओ पसई, दो पसईओ सेइया, चत्तारि सेइया कुडओ, च-त्तारि कुडवा पत्थो, चत्तारि पत्था आढगं।" (दो असईओ पसई इत्यादि) धान्यभृतोऽवाङ्मुखीकृतो हस्तोऽसतीत्युच्यते। द्वा-भ्यामसतीभ्यां प्रसृतिः। द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां सेतिका भवति। चतसृभि सेतिकाभिः कुडव.। चतुर्भि कुडवै. प्रस्थः। चतुर्भि. प्रस्थैराढक इति क्रम.। ज्यो० ३ उ०। औ०। अनु०। सूत्र०।

प्रार्थ–पु०। भावे णिजन्तादच्प्रत्ययः। प्रार्थने, रा०।

पत्थकामुय–पत्थ्यकामुक–त्रि०। पथ्यमिव पथ्यमानन्दकारण वस्तु। भ० १५ श०। पथ्यं दु.खत्राणं तत्कामयते य. स तथा। कृपया परेषां सुखदु'खप्राप्तिपरिहारेच्छौ, भ० १५ श०। प्रति०।

पत्थग–प्रस्थक–पु०। काष्ठघटिते मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमान-विशेषे, अनु०। विशे०। ज्ञा०। ( 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८७९ पृष्ठे प्रस्थकदृष्टान्तप्ररूपणा कृता )

प्रस्थकमानम्–

दुव्वलीए कंडियाणं वलियाए छंडियाणं खयरमुसलपच्चाह-याणं ववगयतुसकणियाणं अखंडियाणं अफुडियाणं फ-लगसरिसयाणं एक्किक्कवीयाणं अद्धतेरसपलियाणं पत्थए णं। से वि य णं पत्थए मागहए, कल्लं पत्थो १, सायं पत्थो २, चउसट्ठिसाहस्सीओ मागहओ पत्थो।

दुर्वलिकया स्त्रिया कण्टितानां बलवत्पराक्रमवत्या छटितानां सूर्पादिना खदिरमुशलप्रत्याहतानां व्यपगततुषकणिकानामखण्डाना संपूर्णावयवानामस्फुटितानां राजिरहितानां (फलगसरिसयाणं) फलकवीनितानां कर्करादिकर्षणेन,एकैकबीजानां वीननार्थं पृथक् २ कृतानामित्यर्थः, एवंविधाना सार्द्धद्वादशपलानां तन्दुलानां प्रस्थको भवति णं वाक्यालङ्कारे । पलाऽऽदिमान यथा पञ्चभिर्गुञ्जाभिर्माषः, षोडशमाषः कर्षः, अशीतिगुञ्जाप्रमाण इत्यर्थः । स यदि कनकस्य तदा सुवर्णसंज्ञः, नान्यस्य रजताऽऽदेरिति । चतुर्भिः कर्षैः पलमिति, विंशत्यधिकशतत्रयगुञ्जाप्रमाणमित्यर्थः ३२० । सोऽपि च प्रस्थक मगधे भवो मागध इत्युच्यते । (कल्लं ति) स्वः प्रातःकाल इत्यर्थः । प्रस्थो भवति भोजनायेति ( सायमिति ) संध्याया प्रस्थो भोजनायेति २ । एकस्मिन्मागधप्रस्थके कति तन्दुला भवन्ति ?, इत्याह-(चउसट्ठि त्ति) चतुःषष्टितन्दुलसाहस्रिको मागधप्रस्थो भवत्येकः। तं० ।"पत्थगा जे पुरा आसी, हीणमाणा उ तेऽधुणा । माणभंडाणि धन्नाणि, सो हि जाण तहेव य ॥ १ ॥ व्य० १ उ० । पल्ये, विशे० ।

पार्थक-त्रि० । समीहके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पत्थगद्ध-प्रस्थकार्द्ध-न० । कुडवद्वयमितमगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा० ।

पत्थड-प्रस्तट-पुं० । प्रस्तरे, रा० । प्रस्तारे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रचनाविशेषवत्समूहे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सू० प्र० । प्रतरे, स० । भवनानामपान्तराले, प्रज्ञा० २ पद । विमानप्रस्तटा अन्यत्र । स० ६२ सम० ।

पत्थडोदय-प्रस्तृतोदक-त्रि० । समजले, भ० ६ श० ८ उ० ।

पत्थण-प्रार्थन-न० । अभिलषितस्य चिन्तने,उत्त० ३२ अ० । अनुमतौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

पत्थणया-प्रार्थनता-स्त्री० । स्वार्थे तल् । परं प्रति इष्टार्थयाच्ञायाम्, भ० १२ श० ५ उ० ।

पत्थणा-प्रार्थना-स्त्री० । अभिलाषे, आव० ४ अ० । पं० सू० । आशंसायाम्, पञ्चा० ४ विव० । ( "तित्थयरा मे पसीयंतु" इति मोक्षप्रार्थनावाक्यानि 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १३१६ पृष्ठे व्याख्यातानि ) ( "आरोग्गं बोहिलाहं,समाहिवरमुत्तमं दिंतु ।" इति "णियाण" शब्दे चतुर्थभागे २१०६ पृष्ठे व्याख्यातम् )

पत्थणामइय-प्रार्थनाऽऽत्मक-त्रि० । याच्ञामये, "देविंदचक्कवट्टि-त्तणाइगुणरिद्धिपत्थणामइयं ।" आव० ४ अ० ।

पत्थयण-पथ्यदन-न० । शम्बले, सथा० । ज्ञा० । " पत्थयणं संवलं च पाहिज्जं । " पाइ० ना० १५५ गाथा ।

पत्थर-प्रस्तर-पुं० । " स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे । " ॥८।२।४५॥ इति स्तस्य थः । प्रा० २ पाद । प्रतरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पाषाणे, व्य० १ उ० । आ० म० ।

पत्थरंतर-प्रस्थरान्तर-न० । पाषाणान्तरे, स्था० ४ ठा० १उ० ।

पत्थरण-प्रस्तरण-न० । आस्तरणे, (विछौना) "पत्थरणं तत्थ वा फलगा घेप्पंति ।" नि० चू० २ उ० ।

पत्थरमलिअ-देशी-कोलाहलकरणे, दे०ना०६ वर्ग ३६ गाथा ।

पत्थरसीया प्रस्तरसीता-स्त्री० । प्रस्तराऽऽकुले क्षेत्रे, वृ० १ उ० १ प्रक० ।

पत्थरिअ-प्रस्तृत-त्रि० । विस्तृते, "पत्थरिअं अत्थुअं । " पाइ० ना० २१४ गाथा ।

पत्थरेत्ता-प्रस्तीर्य-अव्य० । प्रस्तृतान् विधायेत्यर्थः । स्था० ६ ठा० ।

पत्थव-प्रस्ताव-पुं० । प्र-स्तु-घञ् । "घञ्वृद्धेर्वा" ॥८।१।६८॥ इति सूत्रेण वैकल्पिकाऽऽकारः । प्रा० १ पाद । अवसरे, देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० १ अ० । दश० । विशे० ।

पत्था-प्र-स्था-धा० । प्रस्थाने, अवस्थितौ, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

पत्थाण-प्रस्थान-न० । प्रयाणे, " पएसुं अत्थाणं, पत्थाणं ठाणाय च कायव्वं ।" द० प० । परलोकसाधनमार्गे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० । भ० ।

पत्थार-प्रस्तार-पुं० । स्थापनायाम्, अनु० । प्रायश्चित्तरचनाविशेषे, वृ० ।

पद् कल्पस्य प्रस्तारा । सूत्रम्-

छ कप्पस्स पत्थारा पण्णत्ता । तं जहा-पाणाइवायस्स वायं वयमाणे १, मुसावायस्स वायं वयमाणे, २ अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे ३, अविरइयावायं वयमाणे ४, अपुरिसवायं वयमाणे ५, दासवायं वयमाणे ६, इच्चेवं कप्पस्स छ पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं अपडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया ॥ २ ॥

अस्य सूत्रस्य सम्बन्धमाह-

तुल्लऽहिकरणे संखा, तुल्लहिगारो वि वाइओ दोसो ।
अहवा अयमधिगारो, सा आवत्ती इहं दाणं ॥ ६६ ॥

द्वयोरप्यनन्तरप्रस्तुतसूत्रयोस्तुल्याधिकरणमसंख्यासमान पदसंख्यालक्षणोऽधिकार इत्यर्थः । यद्वाचिको दोष तुल्याधिकारः, उभयोरपि सूत्रयोर्वचनदोषोऽधिकृत इति भावः । अथवा अयमपरोऽधिकार उच्यते-सा पूर्वसूत्रोक्ता शोधिरापत्तिषु या, इह तु तस्या एव शोधेर्दानमधिक्रियते । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य (२ सूत्रस्य) व्याख्या-कल्पः साधुसमाचारः, तस्य संवन्धिनस्तद्विशुद्धिकारणत्वात्प्रस्ताराः प्रायश्चित्तरचनाविशेषाः, षट् प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-प्राणातिपातस्य वादं वार्ता वाच च वदति साधोः प्रायश्चित्तप्रस्तारोऽधिकार उच्यते एक । एवं मृषावादस्य वादं वदति द्वितीयः । अदत्तादानस्य वादं वदति तृतीयः । अविरतिव्रते. यद्वा-न विद्यते विरतिरस्या सा अविरतिका स्त्री, तद्वाद वदति चतुर्थः । अपुरुषो नपुंसकस्तद्वादं वदति पञ्चमः । दासवाद वदति षष्ठ । इतीत्युपदर्शने एवंप्रकारानेतान् षट् कल्पस्य प्रस्तारान् प्रायश्चित्तरचनाविशेषान् प्रस्तीर्य अभ्युपगमत आत्मनि प्रस्तुता. स्वधिया प्रस्तारयिता अभ्याख्यानदाता साधुः सम्यगप्रतिपूरयन् अभ्याख्येयार्थस्यासद्भूततया अभ्याख्यानसमर्थनं कर्तुमशक्नुवत् तस्यैव प्राणातिपाताऽऽदिकर्तुरिव स्थान प्राप्तं तत्स्थानप्राप्तः स्यात्, प्राणातिपाताऽऽदिका-

री च दण्डनीयो भवेदिति भावः । अथवा प्रस्तारान् प्रस्तीर्य चिरन्तनस्याचाऽऽर्येणाभ्याख्यानदाता अप्रतिपूरयन् अपरापरप्रत्ययवचने समर्थं सत्यमकुर्वन् तत्स्थानप्राप्तः, कर्तव्य इति शेषः । यत्र प्रायश्चित्तपदे विवदमानोऽवतिष्ठते, न यदीतरमारभते,तत्पदं प्रापणीय इति भावः । एष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यकारो विषमपदव्याख्यामाह-

पत्थारो उ विरचणा, स जोतिसछंदगणितपच्छित्ते ।
पच्छित्तेण तु पगयं, तस्स तु भेदा बहुविगप्पा ॥७०॥

प्रस्तारो नाम-विरचना, स्थापना इत्यर्थः । स च चतुर्द्धा-ज्योतिषप्रस्तारः, छन्द प्रस्तारो, गणितप्रस्तारः, प्रायश्चित्तप्रस्तारश्चेति । अत्र प्रायश्चित्तप्रस्तारेण प्रकृतं,तस्य च प्रायश्चित्तस्यामी बहुविकल्पा अनेकप्रकारा भेदा भवन्ति ।

तद्यथा-

उग्घातमणुग्घाते, मीसे य पसंगि अप्पसंगी य ।
आवज्जणदाणाई, पडुच्च वत्थुं दुपक्खे वि ॥ ७१ ॥

इह प्रायश्चित्तं द्विधा-उद्घातम्, अनुद्घातं वा । उद्घातं लघुक,तच्च लघुमासाऽऽदि । अनुद्घातिकं गुरुकं, तच्च गुरुमासाऽऽदि। तदुभयमपि द्विधा-मिश्रं, चशब्दादमिश्रं च। मिश्रं नाम-लघुमासाऽऽदिकं, तपःकालयोरेकतरेण द्वाभ्यां वा गुरुकं, गुरुमासाऽऽदिकं वा, तपसा/कालेन वा द्वाभ्यां वा लघुकम् । अमिश्रं तु लघुमासाऽऽदिकं तपःकालाभ्यां द्वाभ्यामपि लघुकं गुरुमासाऽऽदिकम्, द्वाभ्यामपि गुरुकम । उभयमपि च तपःकालविशेषरहितं पुनरपि द्विधा-प्रसङ्गि,अप्रसङ्गि च। प्रसङ्गि नाम-यदभीक्ष्णप्रतिसेवारूपेण शङ्काभोजिकाघाटिकाऽऽदिपरम्परारूपेण वा प्रसङ्गेन युक्तम्। तद्विपरीतमप्रसङ्गि । भूयोऽप्येतदेकैकं द्विधा-आपत्तिप्रायश्चित्तं,दानप्रायश्चित्तं च । एतत्सर्वमपि प्रायश्चित्तं च द्विपक्षेऽपि-श्रवणपक्षे, श्रमणीपक्षे च वस्तु प्रतीत्य मन्तव्यः । वस्तु नाम-आचार्याऽऽदिकं,प्रवर्तिनीप्रभृतिकं च । ततो यस्य वस्तुनो यत्प्रायश्चित्तं योग्यं तत्तस्य भवतीति भावः । एष प्रायश्चित्तप्रस्तार उच्यते ।

" सम्म अपडिपूरेमाणे त्ति " पदं व्याचष्टे-

जारिसएणऽभिसत्तो, स चाधिकारी ण तस्स सगणस्स ।
सम्मं अपूरयंतो, पच्चंगिरमप्पणो कुणति ॥ ७२ ॥

यादृशेन दर्दुरमारणाऽऽदिना अभ्याख्यानेन स साधुरभिशप्तोऽभ्याख्यातः स तस्य स्थानस्य नाधिकारी न योग्यः, अप्रमत्तत्वात् । अतोऽभ्याख्यानं दत्त्वा सम्यगप्रतिपूरयन् अनिर्वाहयन् आत्मनः प्रत्यङ्गिरां करोति, तं दोषमात्मनो लगयतीत्यर्थः । कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

छच्चेव य पत्थारा, पाणवहे मुसे अदत्तदाणे अ ।
अविरति अपुरिसवादे, दासे वादं व वदमाणे ॥७३॥

षडेव प्रस्तारा भवन्ति। तद्यथा-प्राणवधवादं,मृषावादवादमदत्ताऽऽदानवाद-मविरतिकावाद-मपुरुषवादं, दासवादं च वदन्निति । इति ।

तत्र प्राणवधवादे प्रस्तारं तावदभिधित्सुराह-

दद्दुर सुणए सप्पे, मूसग पाणातिवादुदाहरणा ।
एतेसिं पत्थारं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥७४॥

प्राणातिपाते एतान्युदाहरणानि निदर्शनानि भवन्ति-दर्दुरः, शुनकः, सर्पो, मूषकश्चेति । एतेषामेतद्विषयमित्यर्थः। प्रस्तारं प्रायश्चित्तरचनाविशेषं यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि ।

तत्र दर्दुरविषयं तावदाह-

ओमो चोदिज्जंतो, दुपेहियाऽऽदीसु संपसारेति ।
अहमवि णं चोदिस्सं, ण य लभति तारिसं छिद्दं ॥७५॥

अवमोऽवमरात्निको रात्निकेन दुःप्रत्युपेक्षिताऽऽदिषु स्खलितेषु भूयो भूयो चोद्यमानः संप्रसारयति मनसि पर्यालोचयति। ( अहमवि णं ) एनं रात्निकं नोदयिष्यामि, एवं पर्यालोच्य प्रयत्नेन गवेषयतोऽपि तादृशं छिद्रं रात्निकस्य न लभते ।

अन्नेण घातिए द-द्दुरम्मि दट्ठु चलणं कतं ओमो ।
उद्दवितो एस तुमे-ण वत्ति वितियं पि ते णत्थि ॥७६॥

अन्यदा च भिक्षाऽऽदिपर्यटते अन्येन केनाऽपि दर्दुरे घातिते रात्निकेन तस्योपरि चरणं पादं कृतं दृष्ट्वा अवमो ब्रवीति-एष दर्दुरस्त्वया अपद्रावितः । रात्निको वक्ति-न मया अपद्रावितं, द्वितीयमपि मृषावादव्रतं ते तव नास्ति ।

एवं भणतस्तस्येयं प्रायश्चित्तरचना—

वच्चति भणाति आलो-य निकाए पुच्छिते णिसिद्धे य ।
साहु गिहिं मिलिय सव्वे,पत्थारो जाव वयमाणे ॥७७॥
मासो लहुओ गुरुओ,चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥७८॥

स एव मुक्त्वा ततो निवृत्याऽऽचार्यसकाशं व्रजति मासलघु, आगत्य भणति-यथा तेन दर्दुरो मारितः, एवं भणतो मासगुरु। योऽवमाभ्याख्याता स गुरूणां सकाशमागतः, आचार्यैश्चोक्तम्—( आलोय त्ति ) सम्यगालोचय किमयं भवता दर्दुरो मारितः । स प्राह-न मारयामि । एवमुक्ते प्रत्याख्यानदातुश्चतुर्लघु (निकाय त्ति) इतरो निकाचयति। रात्निकस्तु भूयोऽपि तावदेव भणति, तदा चतुर्गुरु । अवमरात्निको भणति-यदि न प्रत्ययस्तत' तत्र गृहस्थाः सन्ति, ते पृच्छ्यन्तां, ततो वृषभा गत्वा पृच्छन्ति, पृष्टे च सति षड्लघु । गृहस्थाः पृष्टाः सन्तः(निसिद्धे त्ति) निषेधं कुर्वन्ति,नास्माभिर्दर्दुरव्यपरोपणं कुर्वन् दृष्ट इति षड्गुरु । ( साहु त्ति ) ते साधवः समागताः आलोचयन्ति नापद्रावित इति तदा च्छेदः । ( गिहि त्ति ) अथैवमभ्याख्यानदाता भणति-गृहस्था असंयता यत्प्रतिनाम चैतदलीकं सत्यं वा ब्रुवते, एव भणतो मूलम् । अथासौ भणति ( मिलिय त्ति ) गृहस्थाश्च यूयं चैकत मिलिता अहं पुनरेक इति ब्रुवते अनवस्थाप्यम्। सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराञ्चिकम्। एवमुत्तरोत्तरं वदत' पाराञ्चिक यावत्प्रायश्चित्तप्रास्तरो भवति ।

अथेदमेव भावयति-

किं आगओऽसि णाहं, अडामि पाणवहकारिणा सद्धिं ।
सम्मं आलोएत्ति य, जा तिण्णि तमेव वियडेति ॥७९॥

रात्निकं विना स एकाकी समायातः । गुरुभिरुक्तः-किमेकको त्वमागतोऽसि?। स प्राऽऽह-नाहं प्राणवधकारिणा सार्द्धमटामि। एवमुक्ते रात्निक आगतः। गुरुभिरुक्तः-सम्यगालोचय कोऽपि प्राणी त्वया व्यपरोपितो,न वेति। स प्राह-न व्यपरोपितः। एवं त्रीन् वारान् यावदालोचाप्यते, यदि त्रिष्वपि वारेषु तदेव विकटयति आलोचयति, तदा परिस्फुटमेव कथ्यते।

तुमए किर दद्दुरओ,हओ त्ति सो वि य भणाति ण मए त्ति ।
तेण परं तु पसंगो, धावति एके य वितिए वा ॥८०॥

किलेति द्वितीयस्य साधोर्मुखादस्माभिः श्रुतं-त्वया दर्दुरो हतो विनाशितः। स प्राऽऽह-न मया हत इति। तत परमेवंभणानान्तरं प्रसङ्ग प्रायश्चित्तवृद्धिरूप एकस्मिन् रात्निके द्वितीये वा अवमरात्निके धावति। किमुक्तं भवति?-यदि तेन रात्निकेन सत्यमेव दर्दुरो व्यपरोपितस्ततो यदि सम्यगालोचयति भण्यमानो भूयो भूयो निहुते तदा तस्य प्रायश्चित्तवृद्धिः। अथ तेन न व्यपरोपितस्तत इतरस्याभ्याख्यानं निकाचयतः प्रायश्चित्तं वर्द्धते।

इदमेव भावयति-

एकस्स मुसावादो, काउं निण्हाइणो दुवे दोसा ।
तत्थ वि य अप्पसंगी, भवति एको व अन्नो वा ॥८१॥

एकस्याभ्याख्यानदातुरेक एव मृषावादलक्षणो दोषः, यस्तु दर्दुरवधं कृत्वा निहुते तस्य द्वौ दोषौ । एक प्राणातिपातदोषो,द्वितीयो मृषावाददोष इति। तत्राऽपि चाभ्याख्याने, प्राणातिपाते च कृतेऽप्येकोऽन्यो वाऽवमरात्निको यद्यप्रसंगी भवति तदा न प्रायश्चित्तवृद्धिः। किमुक्तं भवति? यद्यवमरात्निकोऽभ्याख्यानं दत्त्वा न निकाचयति, यो वा अभ्याख्यातः सोऽपि न रुष्यति, तदा न प्रायश्चित्तवृद्धिः। अथाभ्याख्यातो भूयो भूय समर्थयति, इतरोऽपि भूयो रुष्यति, तदा प्रायश्चित्तवृद्धि । एवं दर्दुरविषय प्रस्तारो भवति। शुनकसर्पमूषकविषया अपि प्रस्तारा एवमेव भावनीया । गत प्राणातिपातप्रस्तारः।

सम्प्रति मृषावादाऽदत्ताऽऽदानयो प्रस्तारमाह-

मोसम्मि संखडीए, मोयगगहणं अदत्तदाणम्मि ।
आरोवणपत्थारो, तं चेव इमं तु णाणत्तं ॥ ८२ ॥

मृषावादे संखडीविषयं दर्शनम्, अदत्तादाने मोदकग्रहणम्, एतयोर्द्वयोरप्यारोपणाया प्रायश्चित्तस्य प्रस्तारः स एव मन्तव्य। इदं तु नानात्व विशेषः-

दीणकलुणेहि जायति, पडिसिद्धो विसति एसणं वहति ।
जंपति मुहप्पियाणि य, जोगतिगिच्छानिमित्ताइं ॥८३॥

कस्यामपि संखड्यामकालत्वात्प्रतिसिद्ध साधू अन्यत्र गतै, ततो मुहूर्तान्तरे रत्नाधिकेनोक्तम्-व्रजाम संखड्यामिदानीं भोजनकाल सम्भाव्यते। अवमो भणति-प्रतिपिद्धोऽहं न व्रजामि। ततोऽसौ निवृत्याऽऽचार्यायेदमालोचयति-यथाऽयं दीनकरुणवचनैर्याचते, प्रतिषिद्धोऽपि च प्रविशति, एपणा वहति प्रेरयति । अथवा एष गृहं प्रविष्टो मुखप्रियाणि योगचिकित्सानिमित्तानि जल्पति । एवंविधमृषावादवाद वदत प्रायश्चित्तप्रस्तारो भवति ।

स चाऽयम्-

वच्चइ भाणइ आलो-यय णिकाए पुच्छिए णिसिद्धे य।
साहु गिहिम्मि य सव्वे,पत्थारो जाव वदमाणे ॥८४॥
मासो लहुओ गुरुओ, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च ॥८५॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम् ।

अथादत्ताऽऽदाने मोदकग्रहणदृष्टान्त भावयति-

जा फुसति भाणमेगो, वितिओ अन्नत्थ लड्डुए ताव ।
लद्धूण णीति इयरो, तदिस्स इमं कुणति कोइ ॥८६॥

एकत्र गृहे भिक्षा लब्धा, साऽवमेन गृहीता, यावदसौ एकोऽवमरात्निको भाजन स्पृशति सम्यगाविष्ट तावत् द्वितीयो रत्नाधिकोऽन्यत्र सखड्यां लड्डुकान् लब्ध्वा च निर्गच्छति, इतरः पुनरवमस्तान् मोदकान् दृष्ट्वा कश्चिदीर्ष्यालुरिद करोति "वच्चइ" गाहा (८४) "मासो लहुओ" गाहा (८५) (वच्चइ त्ति) सन्निवृत्य गुरुसकाश व्रजति, आगम्य च भणति आलोचयेति, रत्नाधिकेनादत्ता मोदका गृहीता इति। शेष प्राग्वत्।

अथाऽविरतिवादे प्रस्तारमाह-

रातिणियवातितेणं, खलियमिलियपेल्लएण उदएणं ।
देवउले मेहुणम्मि य, अक्खाणं वा कुडंगे वा ॥८७॥

कश्चिदवमरात्निको रत्नाधिकेनाभीक्ष्ण शिष्यमाण चिन्तयति-एष रत्नाधिकवातेन रत्नाधिकोऽहमिति गर्वेण मा दशविधचक्रवालसामाचार्यामस्खलितमपि कषायोदयेन तर्जयति। यथा हे दुष्ट! शिष्यक! स्खलितोऽसीति तथा मां भिन्नतरमपि पदपदेन विच्छिन्न सूत्रमुच्चारयन्त हा दुष्ट शैक्ष किमिति मिलितमुच्चारयन्नाति तर्जयति। तथा(पिल्लण त्ति)अन्यै साधुभिर्वार्यमाणोऽपि कषायोदयतो मा हस्तेन प्रेरयति । अथवैषा सामाचारी-रत्नाधिकस्य सर्वं क्षन्तव्यमिति, ततस्तथा करोमि,यथैष मरुलघुको भवति, ततोऽन्यदा द्वावपि भिक्षाचर्यायै गतौ तृषितौ बुभुक्षितौ चेत्येवं चिन्तितवन्तौ यदस्मिन्नार्यादेवकुले कुञ्जे वा वृक्षाविषमे प्रथमालिका कृत्वा पानीय पास्याम इति । एवं चिन्तयित्वा तौ सुखं स्थितौ । अत्रान्तरे अवमरत्नाधिक परिव्राजिकामेकां तदभिमुखमागच्छन्तीं दृष्टा स्थितो, लब्ध एव इदानीमिति चिन्तयित्वा त रत्नाधिक वदति-अहो ज्येष्ठाऽऽर्य! कुरु त्व प्रथमालिकां,पानीय वा, अह पुन सञ्ज्ञां व्युत्सृक्ष्यामि। एवमुक्त्वा त्वरित वसतावगत्य मैथुने अभ्याख्यातु दातु यथाऽऽलोचयति, तथा दर्शयति-

जेट्ठज्जेण अकज्जं, सज्जं अज्जाघरे कयं अज्जं ।
उवजीवितोऽत्थ भंते !, मए वि संसट्ठकप्पोऽत्थ ॥८८॥

ज्येष्ठाऽऽर्येणाद्य सद्य इदानीमार्यागृहे कृतमकार्यं मैथुनसेवालक्षण, ततो यदत्र तत्संसर्गतो मयाऽपि ससृष्टकल्पो मैथुनप्रतिसेवनेऽस्मिन् प्रस्तावे उपजीवित । अत्राऽप्यय प्रायश्चित्तप्रस्तारः--(" वच्चति भणाति गाहा " (८४) (" मासो लहुओ गाहा " (८५) अवमरात्निको निवृत्य गुरुसकाश व्रजति लघुमास । आगम्य च ( गुरूत्तण त्ति ) ज्येष्ठाऽऽर्येण मयावाऽकृत्यमासेवितमतो मम तावन्महाव्रतान्यारोपयत, एव रत्ना-

त्रिकस्य लघूनयनानि प्रायेण भणतो गुरुमासस्ततोऽधिक आगत । सूरिणा भणित -किं त्वया सलूष्टकल्प आसेवितः ?। स प्राऽऽह-नाऽऽसेवित ,ततश्चतुर्लघु,इतरो निकाचयति चतुर्गुरु, इत्यादि प्राग्वद्रूष्टव्यम् । गतोऽविरतिकावादः ।

अथापुरुषवादमाह-

तइउ त्ति कधं जाणासि, दिट्ठा णियया से ँ तेहिँ मे वुत्तो ।
वट्टति ततिओ तुब्भं, पव्वावेतुं मम वि संका ॥८९॥
दीसति य पाडिरूवं, थितचंकमितसरीरभासाहिं ।
बहुसो अपुरिसवयणे, सवित्थराऽऽरोवणं कुज्जा ॥९०॥

कोऽपि साधुस्तथैव छिद्रान्वेषी भिक्षातो निवृत्य रत्नाधिकमुद्दिश्याऽऽचार्यं भणति-एष साधुस्तृतीयस्त्रैराशिकः। आचार्यः प्राऽऽह-कथं जानासि ?। प्राऽऽह-मयैतस्य निजका दृष्टा।तैरहमुक्तः-वर्त्तते युष्माक तृतीयः प्रव्राजयितुम्। ततो ममाऽपि हृदये शङ्का जाता । अपि च-अस्य साधोः प्रतिरूप नपुंसकाऽनुरूप स्थितचङ्क्रमितशरीरभाषाऽऽदिभिर्लक्षणैर्दृश्यते, एवं बहुश अपुरुषवचने नपुंसकवादे वर्त्तमानस्य सविस्तरामारोपणां कुर्यात। तद्यथा-" वच्चति भणति गाहा " ( ८४ ) " मासो लहुओ गाहा " ( ८५ ) । स निवृत्य एकाकी प्रतिश्रय व्रजति लघुमासः, आगतो गुरून् भणति एष साधुस्त्रैराशिक एतदीयस ज्ञातकैरुक्त, अतो गुरुमास । शेषं प्राग्वत् ।

अथ दासवादमाह-

खरउ त्ति कहं जाणसि, देहाऽऽयारा कधेंति से हंदी ।
छिक्कोवण दुब्भंडो, णीयाऽऽसी दारुणसभावो ॥९१॥

कोऽपि साधुस्तथैव रत्नाधिकमुद्दिश्याऽऽचार्यं भणति-अय साधु खरको दास इति । आचार्य आह-कथ जानासि ?। इतर. प्राऽऽह-एतदीयनिजकैर्मम कथितम् । तथा देहाऽऽकारा. कुब्जताऽऽदय (से)नस्य। हन्दीत्युपदर्शने । दासत्व कथयन्ति । तथा (छिक्कोवण त्ति)शीघ्रकोपनोऽयम् । "दुब्भंडो"नाम-असवृतपरिधानाऽऽदि., नीचाऽऽसी नीचतरे आसने उपवेशनशील ,दारुणस्वभाव इति प्रकटार्थ ।

" अथ देहाऽऽकार त्ति " पद व्याख्याति-

देहेण वा विरूवो, खुज्जो वडभो य बाहिरप्पादो ।
फुडमेव से ँ आयारा,कधेंति जह एस खरउ त्ति ॥९२॥

स प्राऽऽह--देहेनाप्यय विरूप । तद्यथा-कुब्जो,वडभो,बाह्यपादो वा।एवमादयस्तस्याऽऽकारा स्फुटमेव कथयन्ति यथा खरको दास इति।

अथाऽऽचार्य आह-

केइ सुरूव दुरूवा, खुज्जा वडभा य बाहिरप्पाया ।
न हु ते परिभवियव्वा,वयणं च अणारियं वोत्तुं ॥९३॥

इह नामकर्मोदयवैचित्र्यत केचिन्नीचकुलोत्पन्ना अपि दासाऽऽदय सुरूपा भवन्ति; केचित्तु राजकुलोत्पन्ना अपि कुरूपा कुब्जा वडभा बाह्यपादा अपि भवन्ति, अतो ( न हु ) नैव ते परिभवितव्या , अनार्यं च वचन दासोऽयमित्यादिक वक्तु न योग्य । अत्रापि प्रायश्चित्तप्रस्तार --"वच्चति भणति गाहा" (८४) । " मासो लहुओ " गाहा ( ८५ ) । गतो दासवाद. ।

अथ द्वितीयपदमाह-

बिइयपयमणाभोगे, सहसा वोत्तूण वा समाउट्टो ।
जाणंतो वा वि पुणो, विविंचणट्ठा वदे जाहिं ॥ ९४ ॥

द्वितीयपदे अनाभोगेन सहसा वा प्राणवधाऽऽदिविषय वाद-मुक्त्वा भूयः समावर्त्तिते प्रत्यावर्त्तिते मिथ्यादुष्कृत न पुनः करणेन दद्यादित्यर्थः । अथवा-जानन्नपि पुन शब्दो विशेषणे । स चैतद्विशिनष्टि-योऽयोग्य स हि प्रव्राजितस्तस्य विवेचनार्थं प्राणातिपाताऽऽदिवादमपि वदेत् , यतमो बुद्धे जिनो गणे निर्गच्छति (?) । बृ० ६ उ० । स्था० । सग्रहाऽऽदिके नयराशौ, प्रस्तार्यते येनेति प्रस्तार. । सम्म० १ काण्ड । " तित्थयरवयणसगहविसेसमूलवागरणी । " विस्तारे, नि० चू० १ उ० । प्रस्तार्यत इति प्रस्तार । कटे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । (" पत्थारो अतो बाहिं, अतो बधाहिँ चिलिमिलिं उवरिं । " [ २०१ ] इत्यादि गाथा 'वसहि' शब्दे ) कटकमर्दे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

**पत्थारपसग**-प्रस्तारप्रसङ्ग-पु० । प्रस्तार. प्रस्तरण, प्रसङ्ग उत्तरोत्तरवृ.द्धसम्भव इत्यर्थ । प्रस्तारप्रसङ्गेन, नि० चू० ४ उ० ।

**पत्थारी**-देशी-स्त्री० । निकरे.प्रस्तरे च । दे०ना०६ वर्ग ६६गाथा । सस्तारके, " पत्थारी सथरओ ।" पाइ० ना० १५३ गाथा ।

**पत्थाव**-प्रस्ताव-पु० । समये, पाइ० ना० ६७ गाथा ।

**पत्थावाय**-पथ्यावात-पु० । वनस्पत्यादिहिते वायौ, भ० ५ श० २ उ० ।

**पत्थिअ**-प्रार्थित-पु० । प्रार्थन प्रार्थो,णिजन्तादच्। प्रार्थः सजातोऽस्मिन्निति प्रार्थित । अभिलाषाऽऽत्मके ( जी० ३ प्रति० ४ अधि० । नि० । ) प्रार्थनारूपेऽर्थे, विपा० १ श्रु० १ अ० । भ० । भगवदुत्तरप्रार्थनाविषये, विपा० १ श्रु० १ अ० । अभिलषिते, दशा०१ अ० । कल्प० । ज्ञा० । लब्धु वाञ्छिते,भ०११ श०९ उ० । लब्धुमाशसिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चिन्तिते, औ० । "चिंतिए कप्पिए पत्थिए मणोगए सकप्पे ।" एकार्था । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

**प्रस्थित**-त्रि० । "स्थ.ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पा." ॥ ८ । ४ । १६॥ इति बाहुलकत्वान्न ठत्वम । प्रा० ४ पाद । प्रवृत्ते, "पत्थाणे पत्थिय ।" ( पत्थाणे त्ति ) प्रस्थाने परलोकसाधनमार्गे प्रस्थित प्रवृत्त फलाऽऽद्याहारणार्थं, गमने वा प्रवृत्तम । भ० ११ श० ९ उ० । शीघ्र इत्यर्थे, दे० ना० ६ वर्ग १० गाथा ।

**पत्थिया**-प्रस्थिका-स्त्री० । पिटके, वशमयभाजनविशेषे, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

**पत्थिव**-पार्थिव-त्रि० । पृथिवीविकारेऽर्थे,यथा पार्थिव शस्त्र पृथिवीविकारनिष्पन्न शस्त्रम । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । पृथिवीश्वरे राजनि, ज० ।

३६ नृपगुणा. षट्त्रिंशताऽधिकप्रशस्तै. पार्थिवगुणैर्युक्त. ।

ते चेमे-

" अव्यङ्ग १ लक्षणपूर्ण २-रूपसपत्ति ३ भृत्तनु. ।
अमन्दो ४ जगदोजस्वी ५, यशस्वी ६ च कृपालुहृत् ७ ॥ १ ॥
कलासु कृतकर्मा ८ च, शुद्धराजकुलोद्भव ९ ।
वृद्धानुग १० स्त्रिशक्ति ११ श्च, प्रजारागी १२ प्रजागुरु.१३ ॥२॥
समर्थन पुमर्थाना, त्रयाणा समभावया १४ ।
कोशवान् १५सत्यलक्ष्य १६, चरदृग् १७ दूरमन्त्रदृग्१८ ॥३॥

असिद्धकर्मोद्योगी १६ च, प्रवीणः शस्त्र २० शास्त्रयोः २१। निग्रहा १२ ऽनुग्रहपरो २३, निलज्जो दुष्टशिष्टयो. २४ ॥ ४ ॥ उपायार्जितराज्यश्री २५-दानशौण्डो २६ ध्रुव जयी २७। न्यायप्रियो २८ न्यायवेत्ता २६,व्यसनानां व्यपासक ३० ॥५॥ अक्षार्यवीर्यो ३१ गाम्भीर्यौ ३२-दार्य ३३ चातुर्यभूषित ३४। प्रणामावधिकक्रोध३५-स्तात्विक सात्विको ३६ नृप' ॥६॥" एते पाठसिद्धार्थाः । जं० ३ वक्ष० । "नरनाहो पत्थिवो निवो राया।" पाइ० ना० १०० गाथा।

**पत्थीण**-देशी-न०। स्थूलवस्त्रे, दे० ना० ६ वर्ग ११ गाथा।

**पत्थुय**-प्रस्तुत-त्रि०। अधिकृते, पंचा० १७ विव०। आव०। अनु०। विशे०। सूत्र०।

**पत्थेमाण**-प्रार्थयमान-त्रि०। अभिलषति, "अन्न पि य से नाम, कामा रोग त्ति पकिया विंति। कामे पत्थेमाणे,रोगे पत्थेइ खलु जतू ॥१॥" दश० २ अ०।

**पद**-पद-न०। पद्यते इति पदम्। अर्थपरिसमाप्तियुक्ते शब्दे, पं० चू० १ कल्प। "अत्थुवलद्धी जत्थ तु, तं होति पदं ति।" पं० भा० १ कल्प। भ०। ('पय' प्रकरणे विस्तरं वक्ष्यामि)।

**पदअ**-गम्-धा०। गतौ, "गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्ज-सोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छंद णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पद-अ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहाव-हराः" ॥ ८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमधातोः 'पदअ' आदेशः। पदअइ। गच्छति। प्रा० ४ पाद।

**पदग**-पदक-पु०। पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

**पदग्ग**-पदाग्र-न०। पदानामग्रं पदाग्रम्। पदपरिमाणे, नि० चू० १ उ०। स०। पदप्रमाणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

**पदट्ठवणा**-पदस्थापना-स्त्री०। गणिवाचनाऽऽचार्याऽऽदिपदप्रतिष्ठापने, ध० २ अधि०।

**पदबद्ध**-पदबद्ध-न०। गेयपदैर्निबद्धे, स्था० ७ ठा०।

**पदमग्ग**-पदमार्ग-पु० पदानां मार्गे सोपाने, पदमार्गे संक्रामति, "जे भिक्खू पदमग्गं वा संकमं वा अवलंवणं वा अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंत वा साइज्जइ" ।११। नि० चू० १ उ०। ('अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४८८ पृष्ठे व्याख्यातमिदम्-११ सूत्रम्)

**पदविग्गह**-पदविग्रह-पु०। पदपृथक्करणे, आ० म० १ अ०।

**पदसम**-पदसम-न०। पदं गेयपदं नासिकाऽऽदिकमन्यतरबन्धनेन बद्धं यत्र स्वरेऽनुयाति भवति तत्तत्रैव यत्र गीते गीयते तादृशे गेयगुणे, स्था० ७ ठा०।

**पदाण**-प्रदान-न०। वितरणे, आव० ४ अ०।

**पदाहिण**-प्रदक्षिण-पु०। प्रकर्षेण दक्षिणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**पदाहिणावट्ट**-प्रदक्षिणावर्त्त-पुं०। प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां चन्द्रादीनां दक्षिणमेव मेरुर्भवति यस्मिन्नावर्त्तमण्डलपरिभ्रमणरूपे स प्रदक्षिणः, प्रदक्षिण आवर्त्तो येषां मण्डलानां तानि प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तानि। मेरुदक्षिणत आवर्ते, जी० ३ प्रति ४ अधि०।

**पदित्त**-प्रदीप्त-त्रि०। प्रकर्षेण दीप्तः प्रदीप्तः। अत्यन्तदीप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अन्त०।

**पदिसा**-प्रदिश्-स्त्री०। प्रगता दिक् प्रदिक्। विदिशि, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

**पदिस्स**-प्रदृश्य-अव्य०। प्रकर्षेण दृष्ट्वेत्यर्थे, "पदिस्सा य दिस्सा वयमाणा।" भ० १८ श० ८ उ०।

**पदीव**-प्रदीप-पुं०। प्रदीपयतीति प्रदीपः। विशे०। ज्वलितोज्ज्वले, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। दीपे प्रकाशवत्यर्थे, विशे०।

**पदीविय**-प्रदीपित-त्रि०। उज्ज्वालिते, को०।

**पदुक्खेव**-प्रत्युत्क्षेप-पुं०। मुरजकंसिकाघातोत्थानध्वनौ, स्था० ७ ठा०।

प्रतिक्षेप-पु०। मुरजकंसिकाघातोत्थानध्वनौ,स्था० ७ ठा०।

**पदुट्ठ**-प्रदुष्ट-त्रि०। प्रद्वेषमापन्ने, बृ० ३ उ०। प्रद्वेषं गते, उत्त० ३२ अ०।

**पदुब्भेइय**-पदोद्भेदक-न०। पदविभागपदार्थमात्रकथनपरे पारायणे, व्य० ३ उ०।

**पदूमिय**-प्रदून-त्रि०। प्रकर्षेण क्लेशिते, बृ० ३ उ०।

**पदेस**-प्रदेश-पु०। धर्मास्तिकायाऽऽदीनां परमनिकृष्टेंऽशे, उत्त० १ अ०।

**पदेसयंत**-प्रदेशयत्-त्रि०। प्ररूपयति, विशे०।

**पदेससंजोग**-प्रदेशसंयोग-पुं०। प्रदेशानामितरेतरसंयोगाऽऽख्ये संयोगभेदे, उत्त० १ अ०। ('संजोग' शब्दे विवृतिः)

**पदोस**-प्रद्वेष-पुं०। अतिमाने, नि० चू० १ उ०। "पदोसेण पडिसेवमाणस्स असुद्धो भवति।" नि०चू० १ उ०। सूत्र०।

प्रदोष-पुं०। दिवसाऽवसाने, पञ्चा० २ विव०।

**पद्द**-पद्र-न०। लघुग्रामे, "गामहडं खेडयं पद्दं।" पाइ० ना० १५२ गाथा। ग्रामस्थाने, दे० ना० ६ वर्ग १ गाथा।

**पद्धइ**-पद्धति-स्त्री०। प्रक्रियायाम्, प्रति०। पङ्क्तौ, स्था० २ ठा० ४ उ०। परिपाट्याम्, आ० म० १ अ०।

**पद्धंसाभाव**-प्रध्वंसाभाव-पु०। नाशाऽपरपर्यायसंसर्गाभावे, रत्ना०।

प्रध्वंसाभावं प्राऽऽहुः-

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन, अन्यथाऽतिप्रसङ्गाद्, विपत्तिर्विघटनम्, सोऽस्य कार्यस्य प्रध्वंसाऽभावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

उदाहरन्ति-

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥ रत्ना० ३ परि०।

**पद्धर**-देशी-ऋजौ, दे० ना० ६ वर्ग १० गाथा।

पद्दार-देशी- छिन्नलाङ्गूले, दे० ना० ६ वर्ग १३ गाथा ।

पधाविय-प्रधावित-त्रि० । इतस्ततः प्रकर्षेण गते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । विगतगतौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पधूविय-प्रधूपित-त्रि० । धूपाऽऽदिना धूपिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

पधोवण-प्रधावन-न० । प्रकर्षेण हस्ताऽऽदेर्धावने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । शीतोदकाऽऽदिना पुनः पुनर्धावने, नि० चू० १ उ० । ( अङ्गादान धावतीति ' अगादाण ' शब्दे प्रथमभागे ४० पृष्ठे उक्तम् ) ( पादानामुच्छोलना-प्रधावनम् ' अणायार ' शब्दे प्रथमभागे ३१४ पृष्ठे उक्तम् ) ( ' अएणउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४८० पृष्ठे तैर्गृहस्थैश्च पदानां प्रधावनमुक्तम् )

पन्थ-पथि-पुं० । " वर्गेऽन्त्यो वा " ॥ ८ । १ । ३० ॥ इति सूत्रेणानुस्वारस्य नकारः । मार्गे, प्रा० १ पाद ।

पन्धव-बान्धव-पुं० । स्वार्थे अण् । " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति बस्य पकारः । भ्रातरि, प्रा० ४ पाद ।

पन्नय-पन्नग-पुं० । सर्पे, " उरओ अही भुवंगो, भुवंगमो पन्नओ फणी भुअओ । " पाइ० ना० २६ गाथा ।

पन्नयरिउ-पन्नगरिपु-पुं० । गरुडे, " विणयसुओ खयराओ, तक्खो पन्नयरिऊ गरुलो । " पाइ० ना० २५ गाथा ।

पन्नाड-मृद्-धा० । क्षोदे, " मृदो मलमढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नाडाः " ॥ ८ । ४ । १२६ ॥ इति सूत्रेण ' पन्नाड ' आदेशः । ' पन्नाडइ ।' मृद्नाति । प्रा० ४ पाद ।

पन्नाडिअय-मर्दित-त्रि० । चूर्णिते, " पन्नाडिअयं परिहट्टिअं । " पाइ० ना० १७८ गाथा ।

पपिआमह-प्रपितामह-पुं० । ब्रह्मणि, आ० म० १ अ० ।

पपोत्त-प्रपौत्र-पु० । पुत्रपुत्रे, विशे० ।

पप्प-प्राप्य-अव्य० । आश्रित्येत्यर्थे, भ० १६ श० ८ उ० । आसाद्येत्यर्थे, दश० ३ अ० । " पडुच्च त्ति वा पप्प त्ति वा अहिकिच्च त्ति वा एगट्ठा ।" आ० चू० १ अ० ।

पप्पग-पर्पक-पुं० । वनस्पतिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । नवतृणे गृहे, वाच० ।

पप्पड-पर्पट-पुं० । पर्प-अटन् । मुद्गचणकाऽऽदिपिष्टकृते वृत्ताऽऽकृतौ अग्नितापसहकृतभक्ष्यपाके "पापड" इति ख्याते पदार्थे, प्रव० ३७ द्वार । नि० चू० । प्रज्ञा० । जी० । सौराष्ट्रमृत्तिकायाम्, उत्तरदेशभवे सुगन्धद्रव्ये च । स्त्री० । गौ० ङीष् । वाच० । जं० २ वक्ष० । पर्पटाऽऽकृतौ शुष्कमृत्खण्डे, "पप्पडगो णामसरियाए उभयतडेसु पाणिएण जरेल्लिया भूमी, सा तम्मि पाणे ओहट्टमाणे तावेया होउं उवट्टेण छिन्ना पप्पडी भवति ।" नि० चू० १ उ० । जं० ।

पप्पडिया-पर्पटिका-स्त्री० । शष्कुलिकायाम्, " तिलपप्पडिया । " तिलशष्कुलिका । प्रज्ञा० १ पद ।

पप्पीअ-देशी-पुं० । चातके, दे० ना० ६ वर्ग १२ गाथा ।

पप्पुय-प्रप्लुत त्रि० । जलार्द्रे, " पप्पुयलोयणा ओससियरोमकूवा ।" (आ० म० १ अ० । ज्ञा० । प्रश्न० ।) प्रप्लुतलोचना पुत्रदर्शनप्रवर्तितानन्दजलेन । भ० ६ श० ३३ उ० ।

पप्फंदण-प्रस्पन्दन-न० । प्रचलने,सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

पप्फाडा-देशी-अग्निभेदे, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा

पप्फिडिअ-देशी-न०। प्रतिफलिते. दे० ना०६ वर्ग २२ गाथा ।

पप्फुअ-देशी- न०। दीर्घे उड्डीयमाने च । दे०ना०६ वर्ग ६४ गाथा ।

पप्फुल्ल-प्रफुल्ल-त्रि० । विकसिते, "पफुल्लकेसरोवचिया ।" प्रफुल्लैर्विकसितैः केसरैरिति, केसरोपलक्षितैरुपचिता । उपचितशोभाके, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

पप्फोडण-प्रस्फोटन-न० । प्रकर्षेण स्फोटनं प्रस्फोटनम् । झाटने, ध० ३ अधि० । उत्त० । प्रश्न० । स्था० । आस्फोटने, सकृदीषद् वा स्फोटनम्, अतोऽन्यत्प्रस्फोटनम् । दश०४ अ० । प्रश्न० । प्रकर्षेण रेणुगुण्डितस्येव वस्त्रस्य धूनने,स्था० ६ ठा० । ( आचार्यपादप्रस्फोटनम् ' अइसेस ' शब्दे प्रथमभागे १२ पृष्ठे उक्तम् )

पप्फोडिअ-प्रस्फोटित-त्रि० । ' पप्फोडिय ' शब्दार्थे, " पप्फोडियं च पक्खोडिअं । " पाइ० ना० २४३ गाथा ।

पप्फोडिय-प्रस्फोटित-त्रि० । प्रकर्षेण विदारिते, ध० २ अधि० । निर्झाटिते, चूर्णिते, दे० ना० २७ गाथा । आ० म० ।

पप्फोडियमोहजाल-प्रस्फोटितमोहजाल-पुं० । प्रकर्षेण स्फोटितं मोहजालं मिथ्यात्वाऽऽदि येन सः । ध० २ अधि० । संथा० । विवेकिनां मोहजालविलयाऽऽपादके श्रुतधर्मे, ल० ।

पप्फोडेमाण प्रस्फोटयत्-त्रि०। प्रस्फोटनं कारयति झाटयति, " पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा णाइक्कमइ । " स्था०६ ठा०।

पबंध-प्रबन्ध-पुं० । प्रकृष्टोऽन्यबन्धेभ्यो विलक्षणः पूर्वावस्थापरित्यागेनोत्तरोत्तरावस्थारूपतया परिणामेन यो बन्धः स प्रबन्धः । अनेकक्षणेषु एकद्रव्यताऽऽपादके बन्धे, अने० १ अधि० । उपाङ्गोक्तप्रपञ्चनपरे ग्रन्थे,नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

पबंधण-प्रबन्धन-न० । प्रबन्धेन करणे, " कहाए अ पबंधणे ।" स० १२ सम० ।

पबंधवित्ति-प्रबन्धवृत्ति-त्रि० । प्रकृष्टोऽन्यबन्धेभ्यो विलक्षणः पूर्वाऽवस्थापरित्यागेनोत्तरोत्तरावस्थारूपतया परिणामेन यो बन्ध स प्रबन्ध इत्युच्यते । तेन वृत्तिर्वर्त्तनं स्वभावलाभो यः पदार्थानां सर्वक्षणेषु एकद्रव्यानुवृत्तौ । त्रिकालकोटिस्पर्शिन्यां नित्यतायाम्, अने० १ अधि० ।

पवाल-प्रवाल-पु० । नवाङ्कुरे, स्था० ४ ठा०४ उ० । ईषदुन्मीलितपत्रभवे पल्लवे, प्रवालाः ईषदुन्मीलितपत्रभवाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० । विद्रुमे,ज्ञा०१ श्रु०१७ अ०। रा०। प्रश्न० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० । भ० । रत्नविशेषे, आ० म०१ अ० ।

पवालंकुर-प्रवालाङ्कुर-पु० । रत्नविशेषस्य प्रवालाभिधानस्याङ्कुरे, आ० म० १ अ० ।

पवालमंत-प्रवालवत्-त्रि० । विशिष्टप्रवालाङ्कुरोपेते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पवालि ( ण् )–प्रवालिन्–पुं० । प्रवालवैशिष्ट्यशालिनि वृत्ते, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

पवाह–प्रवाध–पुं० । प्रकृष्टायां पीडायाम्, विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० ।

पवुद्ध–प्रवुद्ध–त्रि० । प्रकर्षेण यथैव तीर्थकृदाह तथैवावगततत्त्वे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

पवोधण–प्रवोधन–न० । विज्ञप्तौ, प्रकर्षेण बोधने, विशे० ।

पवोहण–प्रवोधन–न० । 'पवोधण' शब्दार्थे, विशे० ।

पब्भट्ठ–प्रभ्रष्ट–त्रि० । प्रकर्षेण स्खलिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आव० । प्रश्न० । "पिअपब्भट्ठवगोरडी ।" प्रा० ४ पाद ।

पब्भार–प्राग्भार–पुं० । ईषदवनतपर्वतभागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ईषदवनते गिरिदेशे, भ० ५ श० ७ उ० । ईषदवनते वस्तुमात्रे, स्था० १० ठा० । अनु० । ज्ञा० । तं० । भ० । यत्कटसुपरि कुब्जाग्रवत् कुब्जं तत्प्राग्भारम् । यद्वा–यत्पर्वतस्योपरि हस्तिकुम्भाऽऽकृति कुब्जं विनिर्गतं तत्प्राग्भारम् । न० । पुद्गलानचये, ज्ञा० । समूहे, गिरिगुहायां च । दे० ना० ६ वर्ग ६६ गाथा ।

पब्भारगइ–प्राग्भारगति–स्त्री० । द्रव्यान्तराऽऽक्रान्तस्य गतिभेदे, यथा नावादेरधोगति' । स्था० ८ ठा० ।

पब्भारा–प्राग्भारा–स्त्री० । प्राग्भारमीषदवनतमुच्यते । तदेवंभूतं गात्रं यस्या भवति सा प्राग्भारा । पुरुषस्य सप्ततिवर्षादूर्ध्वमशीतिवर्षपर्यन्तं दशवर्षाऽऽत्मिकायां दशायाम्, "संकुचियवलियचम्मो, संपत्तो अट्ठमिं दसं । नारीणमणभिप्पेओ, जराए परिणामिओ ॥ १ ॥ " स्था० १० ठा० । नं० । दश० ।

पब्भोअ–देशी भोगे, दे० ना० ६ वर्ग १० गाथा ।

पभ–प्रभ–पुं० । हरिकान्तहरिसिंहयोर्भवनपतीन्द्रयोः प्रथमे लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० । स्वनामख्याते चित्रकरे, आ० चू० ४ अ० । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ देवे, द्वी० ।

पभंकर–प्रभङ्कर–पुं० । सप्ततितमे महाग्रहे, " दो पभंकरा । " स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । सौधर्मदेवलोकस्थविमानभेदे, स० ३ सम० । पञ्चमदेवलोकस्थविमानभेदे, स० ८ सम० । दक्षिणयो कृष्णराज्योर्मध्ये शुभङ्करापरपर्यायलोकान्तिकविमाने, स्था० ८ ठा० ।

पभंकरा–प्रभङ्करा–स्त्री० । चन्द्रस्य सूर्यस्य च चतुर्थ्यामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । जी० । जं० । सू० प्र० । ज्ञा० । स्था० । ( अनयोः पूर्वोत्तरभवकथा ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७२ पृष्ठे उक्ता ) वत्सकावतीविजयक्षेत्रयुगलराजधानीयुगले, " दो पभंकराओ ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । "वच्छगावईविजए पभंकरा रायहाणी,पमत्तजला णई ।" जं० ४ वक्ष० ।

पभंकरावई–प्रभङ्करावती–स्त्री० । वत्सकावतीविजयराजधान्याम्, यत्र ऋषभस्वामी पूर्वभवे केशवो नाम जात । प्रभङ्करैव प्रभङ्करावती । आ० चू० १ अ० ।

पभंगुर–प्रभङ्गुर–त्रि० । प्रकृष्टविनशनशीले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

पभंजण–प्रभञ्जन–पुं० । ऋषभदेवस्य शततमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । मानुषोत्तरपर्वतस्य प्रभञ्जनकूटाधिपतिदेवे, द्वी० । औत्तराहाणां वायुकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । भ० । " पभंजणस्स णं वाउकुमारिंदस्स वायालीसं भवणावाससयसहस्सा । " स० ४६ सम० । लवणसमुद्रे ईश्वराऽऽख्यमहापातालाधिपतिदेवे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पभकंत–प्रभकान्त–पुं० । विद्युत्कुमारेन्द्रयोर्हरिकान्तहरिसिंहयोर्लोकपाले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पभव–प्रभव–पुं० । पराक्रमे, है० । प्रभवन प्रभवः । प्रसूतौ, उद्गमे, पञ्चा० १३ विव० । उत्पत्तौ, स्था० ६ ठा० । " पभवो पसू इति पगट्ठा । " पं० भा० ५ कल्प । उत्त० । विशे० । सम्भवे, आव० ५ अ० । प्रभवन्ति सर्वाणि शास्त्राणि अस्मादिति प्रभवः । प्रथमे उत्पत्तिकारणे, नं० । विशे० । नि० चू० । आर्यजम्बूनाम्नः काश्यपगोत्रस्य प्रभवनामशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । ( स च चौरपतित्वे पूर्वं जम्बूस्वामिना प्रतिबोधित इति ' जंबू ' शब्दे चतुर्थभागे १३७१ पृष्ठे उक्तम् ) " सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं । पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥ १ ॥ " नं० ।

पभवसिरी–प्रभवश्री–पुं० । श्रीवीरजिनात्सप्तपञ्चाशदानन्दविमलगुरोः शिष्ये, ग० ३ अधि० ।

पभा–प्रभा–स्त्री० । प्रकाशने, स्वरूपेणावस्थाने, अनु० । कान्तौ, रा० । औ० । नं० । प्रकाशे, स० । दीप्तौ, औ० । स० । प्रज्ञा० । अर्काऽऽभायाम्, द्वा० २० द्वा० । ( व्याख्यातैषा ' जोगदिट्ठि ' शब्दे चतुर्थभागे १६३६ पृष्ठे ) वर्णे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० । आत्मानुभवे, द्वा० २४ द्वा० ।

पभागर–प्रभाकर–पुं० । श्रीऋषभदेवस्यैकोनसप्ततितमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

पभाचंदसूरि–प्रभाचन्द्रसूरि–पुं० । चान्द्रकुलीये चन्द्रप्रभसूरिशिष्ये, येन प्रभावकचरित्रनामा ग्रन्थो रचितः । स च वैक्रमीये सं० १३३४ मिते विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

पभाय–प्रभात–पुं० । उषःकाले, औ० । स्था० । अनु० ।

पभायतारगा–प्रभाततारका–स्त्री० । प्रभातसमयर्क्षे, " पभायतारग त्ति वा एवमेव ध्रुवस्स लोयणा ।" प्रभातसमये तारका ज्योति , ऋक्षमित्यर्थः, सा हि स्तोकतेजोमयी भवतीति तया लोचनमुपमितमिति । अणु० ३ वर्ग १ अ० ।

पभाव–प्रभाव–पुं० । माहात्म्ये, पञ्चा० ४ विव० । ज्ञा० । सामर्थ्ये, ध० २ अधि० । प्रश्न० । पञ्चम्यां गौणानुज्ञायाम्, नं० ।

पभावई–प्रभावती–स्त्री० । चेटकमहाराजदुहितरि वीतभयनगरराजोदायनभार्यायाम् आ० चू० ४ अ० । आव० । आ० क० । नि० चू० । ग० । भ० । ( ' उदायण ' शब्दे द्वितीयभागे ७८६ पृष्ठे वक्तव्यता ) पार्श्वनाथभार्यायां कुशस्थलेशप्रसेनजिन्नृपपुत्र्याम्, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । मल्लिजिनमातरि कुम्भकराजभार्यायाम्, ती० १८ कल्प । ज्ञा० । स० । ति० । प्रव० । स्था० । बलदेवपुत्रस्य निषधस्य

भार्य्यायाम्, आ० चू० १ अ० । सागरचन्द्रमातरि, आव० १ अ०। हस्तिनापुरनगरराज्ञो बलस्य भार्यायां महाबलकुमारस्य मातरि, भ० ११ श० ११ उ० । ( कथा 'उदायण' शब्दे द्वितीयभागे ७८८ पृष्ठे । 'दसउर' शब्दे चतुर्थभागे २४७७ पृष्ठे च गता )

पभावग-प्रभावक-पुं० । दर्शनोद्भावके, प्रव० । " अट्ठ पभावग त्ति " विवरीषुराह—

पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जा सिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥६४८॥

प्रवचनं द्वादशाङ्गं, तदस्यास्त्यतिशयवदिति प्रावचनी युगप्रधानाऽऽगमः, धर्मकथा प्रशस्याऽस्याऽस्तीति धर्मकथी, यः क्षीराऽऽश्रवाऽऽदिलब्धिसंपन्नः सजलजलधरध्वानानुकारिणा नादिनाऽऽक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीलक्षणां चतुर्विधां जनितजनमनःप्रमोदप्रथां धर्म्मकथां कथयति,वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतिरूपायां चतुरङ्गायां परिषदि प्रतिपक्षप्रतिक्षेपपूर्वकं स्वपक्षस्थापनार्थमवश्यं वदतीति वादी,निरुपमवादलब्धिसंपन्नत्वेन वावदूकवादिवृन्दारकवृन्दैरप्यमन्दीकृतवाग्विभव इति भावः । निमित्तं त्रैकालिकलाभालाभप्रतिपादकं शास्त्रं, तद्वेत्त्यधीते वा स नैमित्तिकः, सुनिश्चितातीताऽऽदिनिमित्तवेदीत्यर्थः । विप्रकृष्टमष्टमप्रभृतिकं दुस्तपं तपोऽस्यास्तीति तपस्वी । ( विज्ज त्ति ) मतुप्प्रत्ययलोपात् विद्यावान्, विद्याः प्रज्ञप्त्यादयः शासनदेवतास्ताः सहायके यस्य स विद्यावान्, वज्रस्वामिवत् । अञ्जनपादलेपतिलकगुटिकासकलभूताऽऽकर्षणवैक्रियत्वप्रभृतय सिद्धयः ताभिः सिद्ध्यति स्मेति सिद्धः । " कवते नवनवभङ्गीवैदग्ध्यदिग्धैः पाकातिरेकरसनीयरसरहस्याऽऽस्वादमेदुरितसहृदयहृदयाऽऽनन्दैर्निःशेषभाषावैशारद्यवैदग्ध्यहृद्यैर्गद्यपद्यप्रबन्धैर्वर्णनं करोतीति कविः । एते प्रवचन्यादयोऽष्टौ प्रभावयन्ति स्वत प्रकाशकस्वभावमेव देशकालाऽऽद्यौचित्येन सहायकरणात्प्रवचनं प्रकाशयन्तीति प्रभावकाः कथिताः,तेषा च कर्म्म प्रभावना, सा च सम्यक्त्वं निर्मलीकरोतीति । अन्यत्र पुनरन्यथाऽष्टौ प्रभावका उक्ताः । तथाहि—

" अइसेस इड्ढि १ धम्मकहि, २
वाई ३ आयरिय ४ खवग ५ नेमित्ती ६ ।
विज्जा ७ य रायगणसं-
मया य ८ तित्थं पभावेंति ॥ १ ॥ "

अस्य व्याख्या—तत्र अतिशेषा अवधिमनःपर्यायज्ञानाऽऽमर्षौषध्यादयोऽतिशयास्तैस्तैर्वा ऋद्धिर्यस्यासौ अतिशेषर्द्धिः, राजसंमता नृपवल्लभाः, गणसंमता महाजनाऽऽदिबहुमता इति ॥ ६४८ ॥ प्रव० २३ द्वार । जीवा० । संथा० । ध० ।

अइसेसइड्ढि धम्मकहि, वादी आयरिय खमग णेमित्ती ।
विज्जा रायागणसं-मता य तित्थं पभावेंति ॥ ३३ ॥

(अइसेस त्ति) अतिसयसंपण्णो, सो य अतिसओ मणोहिअइसया अज्झयणा य । ( इड्ढि त्ति ) इड्ढिदिक्खिता रायाऽऽमच्चपुरोहितादि । ( धम्मकहि त्ति ) जे अक्खेवणिविक्खेवणिणिव्वेयणिसंवेयणिए धम्ममातिक्खंति । वादी—वायद्धिसंपण्णो अजेओ । आयरिओ सपरसिद्धंतपरूवगो । खमगो मासियाऽऽदि । नेमित्ती अट्ठंगणिमित्तसंपण्णो । विज्जासिद्धो जहा—अज्जखउडो । रायसंमतो रायवल्लभेत्यर्थ । गणा पुरवाउविज्जादि, तेसिं सम्मतो । एते अट्ठ वि पुरिसा तित्थं पगासेंति, परपक्खे ओभावेंति । भणिया दिट्ठंता । नि० चू० १ उ० । ( अत्र प्रभावनमकुर्वतां प्रायश्चित्तं 'दंसणायारातियारपायच्छित्त' शब्दे चतुर्थभागे २४३७ पृष्ठे प्रतिपादितम् )

दर्शनप्रभावकाऽऽचार्यनिन्दा—

केण वि गुणेण दंसण-पभावगं पिच्छिऊण आयरियं ।
केई कसायनडिया, तं पि हु हीलंति मूढमई ॥ ७५ ॥

केनाऽपि अनिर्दिष्टनाम्ना गुणेन जीवस्य निर्म्मलीकरणस्वभावेन दर्शनप्रभावकं, सर्वज्ञशासनप्रकाशकं प्रेक्ष्याऽऽचार्य सूरिं केऽपि, न सर्व्वे, कषायनटिताः क्रोधाऽऽद्यभिहतास्तमपि दर्शनकवलमित्यपिशब्दार्थः । हीलयन्ति तिरस्कुर्वन्ति मूढमतयः कुबोधत्वाऽऽदिबाधितधिषणा इति गाथार्थः ।

अमुमेवार्थं सिद्धान्तभणित्या निवारयन्निदमाह—

कप्पम्मि वि भणियमिणं, सूरिणाऽऽसायगा इमे भणिया ।
जे सयलजणसमक्खं, भणंति एवं अहम्माणी ॥ ७६ ॥

कल्पेऽपि छेदग्रन्थे न केवलं शेषशासने इत्यपिशब्दार्थः । भणितमुक्तमिदं पूर्वोक्तम् । कथमित्याह—सूरीणामाचार्याणामाशातका अवज्ञाकारका इमे वक्ष्यमाणा भणिताः प्रतिपादिताः, ये अनिर्दिष्टनामानः साध्वादयः सकलजनसमक्षं समस्तलोकप्रकटं भणन्ति गदन्त्येवं वक्ष्यमाणनीत्या, अहंमानिन आत्मोत्सेकिन इति गाथार्थः ।

कल्पोक्तमेवाऽऽह—

इड्ढिरससायगरुया, परोवएसुज्जया जहा मंखा ।
अत्तट्ठपोसणरया, पोसंति दिया व अप्पाणं ॥ ७७ ॥

परोपदेशोद्यता अन्यधर्म्मकथननियुक्ता मङ्खा इव विचित्रफलकग्राहिनरविशेषा इव, यथाशब्द उपमानार्थः, स च योजितः, एवमभिप्रायः—मङ्खो हि परेभ्यः कथयति, स्वयं च न करोत्येवमेतेऽपि आत्मार्थं पोषणरताः स्वकार्यप्रतिपादनासक्ताः, पोषयन्ति उपचिन्वन्ति द्विजा इव ब्राह्मणा इवाऽऽत्मानं स्वमेवं वदन्त आचार्याऽऽशातका इति हृदयमिति कल्पगाथार्थः ।

अत्रैवार्थे सूत्रेणैव ससंबन्धां किञ्चिद् न्यूनां गाथामाह—

अन्नं च एत्थ दोसो, लोयविरुद्धं हविज्ज इय वयणं ।
रीढा जणपुज्जाणं, वयणाउ

अन्यच्चेत्यभ्युच्चये । अत्राऽऽचार्यावर्णवादकरणे दोषो दूषण लोकविरुद्ध जननिन्द्यं भवेज्जायेतेति वचनमेवं प्रतिपादनम् । कस्मात् ?, रीढा अवज्ञा जनपूज्यानां लोकमान्यानां वचनात् पञ्चाशकभणनात् । तत्र हि लोकविरुद्धानि प्रतिपादयता भणितम्—" बहुधम्मचरणहसणं, रीढा जणपूयणिज्जाणं । " इति किञ्चिदूनगाथार्थः ॥ ४ ॥

एवं स्थिते जीवोपदेशं साधिकगाथया प्राह—

ता तुमं जीव ॥ ७८ ॥
मा मा कुणसु अवन्नं, सया वि खलु तेसिं कसाय नडिओ वि ।
जेण भवपंजराओ, मुच्चसि निस्ससयं भ त्ति ॥७९॥

तस्मात्त्वं जीव ॥७८॥ मा कुरु अवज्ञां सदाऽपि तेषां दर्शनप्रभावकाऽऽचार्याणां कषायनटितोऽपि, येन भवपञ्जरात् मुच्यते निस्संशयं झगितीति गाथाऽक्षरार्थ । दर्शनप्रभावकाऽऽचार्यनि-

न्दाविचारवर्णनस्त्रयोदशोऽधिकारः । जीवा० १३ अधि० । दश० । नि० चू० । संथ० । ध० ।

पभावणा-प्रभावना-स्त्री० । जिनशासनोद्भावनायाम्, पञ्चा० ६ विव० । स्वतीर्थोन्नतिकरणे,उत्त० २८ अ० । धर्मकथाऽऽदिभिस्तीर्थख्यापनायाम्, ध० १ अधि० । प्रभाव्यते विशेषतः प्रकाश्यते इति प्रभावनाव्युत्पत्तेः णिच्। "एयासश्रन्थो०॥३ ॥३॥ १०७ ॥ इत्यादिना (पाणि०) भावेऽनप्रत्ययः । स चार्थात्प्रवचनस्य । व्य० १ उ० । वृ० । प्रभावना धर्मकथा प्रतिवादिनिर्जयदुष्करतपश्चरणाऽऽदिभिर्जिनवचनप्रकाशनं, यद्यपि च प्रवचनं शाश्वतत्वात्तीर्थकरभाषितत्वाद्वा सुरासुरनमस्कृतत्वाद्वा स्वयमेव दीप्यते, तथाऽपि दर्शनशुद्धिमात्मनोऽभीप्सुर्यो येन गुणेनाधिकः स तेन तत्प्रवचनं प्रभावयति, यथा भगवदार्यवज्रस्वामिप्रभृतिक इति । प्रव० ६ द्वार । जिनशासनस्योत्सर्पणाकरणे, ध० ३ अधि० । प्रभवति जैनेन्द्रं शासनं, तस्य प्रभवतः प्रयोजकत्वे, ध० २ अधि० । धर्मकथाऽऽदिभिरर्थख्यापनायाम्, "पभावणाए उदाहरणं ते चेव अज्जवइरा, जहा तेहिं अग्गिसिहाओ सुहुमकाइयाइं आणेऊण सासणस्स उब्भावणा कता, एवमक्खाणयं जहा आवस्सए तहा कहेयव्वं।"(तत्राऽऽख्यानकम् 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१८ पृष्ठे विस्तरत उक्तम्) "एवं साहुणा वि सव्वपयत्तेण सासणं उब्भावियव्वं।" दश० ३ अ० । ग० । संथा० । जीत० । नि० चू० ।

"चोदग आह णणु जिणाण पवयणं सभावसिद्धं ण इयाणि साहियव्वं ?। गुरू भणइ-

कामं सभावसिद्धं, तु पवयणं दिप्पते सयं चेव ।
तह वि य जो जेणऽहिओ,सो तेण पभावए तं तु ॥३१॥

कामसद्दोऽभिधारियत्थे, अणुमयत्थे वा । इह तु अणुमयत्थे दट्ठव्वो । सो भावी सभावो सहजभाव, आदित्यतेजोवन्न परकृतेत्यर्थः । तेन स्वभावेन सिद्धं प्रख्यातं, प्रथितमित्यर्थः । तुः पूरणे । 'प्र' इत्ययमुपसर्ग, वुच्चति जं तं वयणं, पावयणं पवयणं, पहाणं वा वयणं पवयणं, पगतं वा वयणं,पसत्थं वा वयणं पवयणं,दीप्यते भासते सोभते इति भणियं भवति । सयमिति अप्पाणेण, चसद्दो अत्थाणुकरिसणे । एवसद्दो अवधारणे । (तह वि य त्ति) जइ वि य एवस द्देणावधारियं पवयणं सय पसिद्धं तह वि य पभावणा भण्णति, चशब्दो जहासम्भवं योज्जो, जोगारेण अणिद्दिट्ठो पुरिसो, जेण त्ति अणिद्दिट्ठेण अतिसएण अधिको प्रबलो । जो गारुद्दिट्ठस्स सोगारो णिद्देसे, तेगारो वि जेगारस्स णिद्देसे । प्रख्यापयति तदिति प्रवचनम् । अमूढदिट्ठिउववूहथिरीकरणवच्छल्लपभावणाणं सरूवया भणिता । नि०चू० १उ० । तीर्थप्रभावनानिमित्तं प्रतिवर्षमेकैकशोऽपि गुरुप्रवेशोत्सवः सघपरिधापनिका प्रभावनाऽऽदि च कार्यम् । ध० २ अधि० । धर्मार्थिना भावशुद्धिर्विधेयेत्युपशमतामिच्छता शासनमालिन्यं सर्वथा रक्षणीयम् । अन्यथा महाननर्थ इति दर्शयन्नाह-

यः शासनस्य मालिन्ये-ऽनाभोगेनाऽपि वर्तते ।
स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वा-दन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥१॥

बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम् ।
विपाकदारुणं घोरं, सर्वानर्थविवर्धनम् ॥२॥

यः कोऽपि श्रमणाऽऽदिः शासनस्य जिनप्रवचनस्य मालिन्ये लोकविरुद्धाऽऽचरणेनोपघाते । आह च-"छक्कायदयावंतो, वि संजओ दुल्लभं कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे अ ॥ १ ॥" अनाभोगेनापि अज्ञानेनापि,किं पुनराभोगेनाऽपि, व्याप्रियते स प्राणी तेन जिनशासनमालिन्येन करणभूतेन मिथ्यात्वहेतुर्विपर्ययबोधजनकस्तन्मिथ्यात्वहेतुः, तद्भावस्तत्त्वम । अथवा-तस्मिन् जिनशासनविषये मिथ्यात्वहेतुत्वं मिथ्यात्वभावजनकत्वम्-तन्मिथ्यात्वहेतुत्वं, तस्मात्तन्मिथ्यात्वहेतुत्वात्, केषां मिथ्यात्वहेतुत्वादित्याह-अन्येषामात्मव्यतिरिक्तानां, ये हि तस्यासदाचारेण जिनशासनं हीलयन्ति तेषां, प्राणिनां जीवानां, ध्रुवमवश्यन्तया । बध्नात्यपि स्वात्मप्रदेशेषु संबन्धयत्यपि न केवलं तेषां तज्जनयति, तदेव मिथ्यात्वमोहनीयकर्मैव यदन्यप्राणिनां जनितं,न त्वन्यच्छुभं कर्मान्तरम्,अलमत्यर्थं निकाचनाऽऽदिरूपेण,परं प्रकृष्टं, संसारकारणं भवहेतुं, विपाकदारुणं दारुणविपाकं, घोरं भयानकं,सर्वाऽनर्थविवर्धनम्-निखिलप्रत्यूहहेतुम् । ननु सम्यग्दृष्टिर्न मिथ्यात्वं बध्नाति, मिथ्यात्वहेतुकत्वान्मिथ्यात्वप्रकृते?। अत्रोच्यते-शासनमालिन्योत्पादनाऽवसरे मिथ्यात्वोदयात् मिथ्यादृष्टिरेवाऽसावतो मिथ्यात्वबन्ध इति ॥ १॥२॥

उक्तविपर्यये गुणप्रतिपादनायाऽऽह-

यस्तून्नतौ यथाशक्ति, सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् ।
अन्येषां प्रतिपद्येह, तदेवाऽऽप्नोत्यनुत्तरम् ॥३॥

यस्तु यः पुनः प्राणी, उन्नतौ प्रभावनायां, शासनस्य इति वर्तते । यथाशक्ति सामर्थ्यानुरूपं, वर्तत इत्यनु वर्तते । तत्र साधुः प्रावचनिकत्वाऽऽदिना शासनोन्नतौ वर्तते । यदाह-"पावयणी धम्मकही" (६४८ गाथा प्रव० २३ द्वार 'पभावग' शब्दे सार्थो दर्शिता) श्रावकस्तु कार्पण्यपरिहारतो विधिमता जिनबिम्बस्थापनयात्राकरणेन जिनभवनगमनजिनपूजनाऽऽदिना साधुसाधर्मिकक्षपणाऽऽद्युचितकरणपुरस्सरभोजना चेति । सोऽपि शासनप्रभावकः प्राणी,न केवलं शासनमालिन्यकारी स्वव्यापारानुरूप फलमासादयति, शासनप्रभावकोऽपि स्वव्यापारानुरूपमेव फलमवाप्नोतीत्यपिशब्दार्थः । सम्यक्त्वहेतुता शासनोन्नतिकरणेन सम्यग्दर्शनलाभस्य निमित्तभावम्,अन्येषामात्मव्यतिरिक्तप्राणिनां समुपजनितशासनपक्षपातानां, प्रतिपद्य स्वीकृत्य, इहेत्यस्मिन् जन्मनि, तदेव सम्यक्त्वं, न तु मिथ्यात्वम्, आप्नोत्यासादयति, अनुत्तरम्-सर्वोत्तममक्षायिकमित्यर्थ इति ॥ ३ ॥

सम्यक्त्वस्वरूपमाह-

प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशं, प्रशमाऽऽदिगुणान्वितम् ।
निमित्तं सर्वसौख्यानां, तथा सिद्धिसुखाऽऽवहम् ॥ ४ ॥

प्रक्षीणो निःसत्ताकता गतस्तीव्र उत्कटः संक्लेशोऽनन्ताऽनुबन्धिकषायोदयलक्षणो यस्मिंस्तत्तथा । यतोऽनन्तानुबन्ध्युदये तन्न भवतीति । यदाह-"पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं । सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धी यावि न लहंति ॥ १ ॥" प्रशमाऽऽदिगुणान्वितं प्रशम-

संवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणगुणसंगतम् । यदाह- 'उवसम संवेगो वि य निव्वेओ तह य होइ अणुकंपा अत्थिक्कं चीयराए भवंति सम्मत्तलिंगाइं ॥ १ ॥" भवन्ति सम्यग्दृष्टेः सद्बोधसामर्थ्यात् प्रशमाऽऽदयो गुणाः, विशिष्टक्रोधाऽऽदीनामभावात् । आह च-"तन्नास्य विषयतृष्णा प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः अरुचिर्न धर्मपथ्ये न च पापक्रोधकण्डूतिः ॥१॥ आदिशब्दादन्येषामपि जिनशासनकुशलताऽऽदिगुणानां परिग्रहः । तथाहि-" जिणसासणे कुसलया, पभावणा य णयसेवणा थिरया । भत्ती य गुणा सम्म-त्तदीवगा उत्तमा पंच ॥१॥" इति । तथा निमित्तं कारणं, सर्वसौख्यानां समस्तनरामरभवसंभवाऽऽनन्दविशेषाणाम् । आह च-' सम्मत्तम्मि उ लद्धे, ठइयाइं नरयतिरियदाराइं । दिव्वाणि माणुसाणि य, मोक्खसुहाइ सहीणाइं ॥१॥" तथेति समुच्चये । सिद्धिसुखाऽऽवहं निर्वाणसौख्यप्रापकम् । ननु मोक्षसुखं न सम्यक्त्वमात्राद्भवत्यपि तु सम्यग्दर्शनाऽऽदित्रयात् । यदाह-" सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।" तत कथं सम्यक्त्वं सिद्धिसुखाऽऽवहमिति । अत्रोच्यते-सत्यमस्य सम्यग्दर्शनस्य सिद्धिसुखसाधकत्वात् सामग्र्यन्तर्भावेन तदावहता न विरुद्धा, बीजाऽऽदिसामग्र्यन्तर्भाविनो वर्षस्येवाङ्कुरहेतुतेति ॥ ४ ॥

अथ पूर्वोक्तस्य प्रवचनमालिन्यस्य वर्जनमुपदिशन्नाह—

अतः सर्वप्रयत्नेन, मालिन्यं शासनस्य तु ।
प्रेक्षावता न कर्तव्यं, प्रधानं पापसाधनम् ॥ ५ ॥

अनाभोगविहितमपि शासनमालिन्यं घोरसंसारकारणमिथ्यात्व कर्मनिबन्धनं भवति । अत एतस्मात् कारणात् सर्वप्रयत्नेन सर्वाऽऽदरेण मालिन्यं दूषणं, शासनस्य प्रवचनस्य, तुशब्दोऽवधारणार्थः तस्य च प्रयोगं दर्शयिष्यामः । प्रेक्षावता बुद्धिमता, न कर्तव्यम् नैव विधातव्यम् । कुत इत्याह-प्रधानमुत्कृष्टं, पापसाधनमशुभकर्मनिबन्धनं, यत इति गम्यमिति ॥५॥

कुत एतदेवमित्याह-

अस्माच्छासनमालिन्या-ज्जातौ जातौ विगर्हितम् ।
प्रधानभावादात्मानं, सदा दूरीकरोत्यलम् ॥ ६ ॥

अस्मादनन्तरोदितमिथ्यात्वबन्धफलाच्छासनमालिन्यात्प्रवचनाऽपभ्राजनात्, जातौ जातौ भवे भवे, वीप्सावचनेन मालिन्यकारिणोऽनन्तं भवसन्तानं दर्शयति । विगर्हितं जात्यादिहीनतयोत्पत्तेर्विशेषेण निन्दितम् । आत्मानमिति योग । प्रधानभावात्प्रभुत्वादात्मानं स्वं, सदा सर्वकालं, दूरीकरोति अनासन्नं विदधाति, अप्राप्तव्यप्रभुत्वं करोतीत्यर्थः । अलमतिशयेनेति ।

शासनस्य मालिन्यं वर्जनीयमित्युपदिश्य तस्यैव यद्विधेयं तदुपदिशन्नाह-

कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां, शक्ताविह नियोगतः ।
अवन्ध्यं कारणं ह्येषा, तत्त्वतः सर्वसंपदाम् ॥७॥

न केवलं शासनस्य मालिन्यं वर्जनीयं, कर्तव्या च विधेया चोन्नतिः प्रभावना, सत्यां विद्यमानायां शक्तौ सामर्थ्ये, इहेति प्रक्रान्ते जिनशासने, नियोगतो नियमेन, कस्मादेवमित्याह-अवन्ध्यं फलसाधकं बीजमिव कारणम्, एषा शासनप्रभावना, हि यस्मात्कारणात्तत्त्वत परमार्थतः, सर्वसंपदां समस्तश्रियामिति ॥ ७ ॥

कथमित्याह-

अत उन्नतिमाप्नोति, जातौ जातौ हितोदयम् ।
क्षयं नयति मालिन्यं, नियमात्सर्ववस्तुषु ॥८॥

अत एतस्माज्जिनशासनोन्नतिकरणादुन्नतिं जातिकुलरूपविभवाऽऽदिगुणैरुन्नतित्वमाप्नोत्यासादयति, जातौ जातौ भवे भवे, हितः शुभानुबन्ध उदय उद्गमो यस्याः सा तथा तां हितोदयां, कल्याणानुबन्धिनीमित्यर्थः । एतेनार्थप्राप्तिकारित्वमुक्तम् । शासनोन्नतिकरणस्याथानर्थप्रतिघातकत्वमाह-क्षयमपुनर्भावेन विनाशं नयति प्रापयति, मालिन्यं दूषणभावमात्मन इति गम्यते । नियमादवश्यन्तया, सर्ववस्तुषु जातिकुलबुद्ध्यादिसमस्तभावविषये, अतः कर्तव्योन्नतिरिति ॥८॥ द्वा० २३ अष्ट० ।

अन्ये तु चतुर्थाऽऽदीनां श्लोकानां स्थाने सूत्रपञ्चश्लोकान् पठन्ति । यः शासनस्योन्नतौ प्रवर्तते सोऽन्येषां जीवानां सम्यक्त्वहेतुतां प्रतिपद्य तदेव सम्यक्त्वमनुत्तरमवाप्नोतीति तृतीयश्लोकेऽभिहितमथ यथाऽसौ सम्यक्त्वहेतुतां प्रतिपद्यते तथा दर्शयन्नाह-

तत्तथा शोभनं दृष्ट्वा, साधु शासनमित्यदः ।
प्रतिपद्यन्ते तदैवैके, बीजमन्येऽस्य शोभनम् ॥ ४ ॥

तदिति प्रवचनोन्नतिहेतुभूतं पूजाऽऽद्यनुष्ठानं, तथा तेन विशिष्टौदार्याऽऽदिना प्रकारेण, शोभनं शासनान्तरासंभविस्वेन प्रधानं, दृष्ट्वा अवलोक्य, साधु प्रधानं, शासनमार्हतप्रवचनं यत्रैवंविधमत्युदारमनवद्यमनुष्ठानम्, इति एवं प्रस्तुतबोधादित्यर्थः । अद एतदनन्तरश्लोकोपात्तं सम्यक्त्वं, प्रतिपद्यन्ते समाश्रयन्ते, तदैव तस्मिन्नेव काले, यदा जिनशासनं प्रति पक्षपात उत्पद्यते, एके केचन भव्याः, बीजमिव बीजं कारणं शासनपक्षपातरूपं प्रतिपद्यन्त एवेति । अन्ये सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तृभ्योऽपरेऽस्य सम्यग्दर्शनस्य, शोभनमवन्ध्य, कालान्तरे अवश्यं सम्यग्दर्शनफलजननादिति ॥ ४ ॥

अथ सम्यक्त्वबीजस्य हेतुतां प्रतिपद्यमानः कथं सम्यक्त्वहेतुतां प्रतिपद्यते इत्यभिधीयते इति ? अत्रोच्यते-बीजस्य कालान्तरे सम्यक्त्वजननादेनदेवाह-

सामान्येनापि नियमाद्, वर्णवादोऽत्र शासने ।
कालान्तरेण सम्यक्त्व-हेतुतां प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

सामान्येनाऽपि अविशेषेणाऽपि, जिनशासनमपि साध्वित्येवंपरिणाम आस्तां पुनर्विशेषेण जिनशासनमेव साध्वित्येवंशासनान्तरव्यपोहेनाऽपि, नियमादवश्यंभावेन, वर्णवादः श्लाघा, सम्यग्दर्शनबीजमित्यर्थः । अत्रेति प्रत्यक्षे प्रत्यासन्ने जैन इत्यर्थः । लोके वा शासने प्रवचने, कालान्तरेण वर्णवादकरणकालादन्यः कालः कालान्तरं तेन, कियताऽप्यागामिकालेनेत्यर्थः । सम्यक्त्वहेतुतां सम्यग्दर्शननिमित्ततां, प्रतिपद्यते भजते, सम्यक्त्वं जनयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

एतदेव दृष्टान्तेन भावयन्नाह-

चौरोदाहरणादेवं, प्रतिपत्तव्यमित्यदः ।
कौशाम्ब्यां स वणिग् भूत्वा, बुद्ध एकोऽपरो न तु ॥६॥

चौरोदाहरणात् स्तेनयोर्ज्ञातात्, एवमनेन प्रकारेण कालान्तरसम्यक्त्वहेतुतालक्षणेन, प्रतिपत्तव्यं प्रत्येतव्यम्, इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्तौ, वक्ष्यमाणदृष्टान्तार्थोपदर्शनार्थो वा । अद एतद्वर्णवादरूपबीजस्वरूपम् । चौरोदाहरणं भावयन्नाह-कौशाम्ब्यां नगर्यां, स शासनवर्णवादकारी चौर., वणिक् वाणिजको, भूत्वा उत्पद्य, बुद्धो बोधिं प्राप्त एकः, अपरोऽन्यो, न तु नैवेत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकगम्यः । त-

थेदम्-कौशाम्ब्यां नगर्यां धनयज्ञाऽभिधानश्रेष्ठिनो धर्मपाल-वस्तुपालाऽभिधानावन्योऽन्यमतिस्नेहवन्तौ स्नेहवशादेव प्रायः समचित्तौ समशीलौ समधनौ सुतावभवताम्। अन्यदा श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामी तत्र विहरन्नाजगाम। ततोऽसावमरवरविनिर्मितस्य रत्नाऽऽदिप्रभापटलविपुलजलमध्यगतस्य विचित्रपत्रपङ्क्तित्रयोपेतसहस्रपत्रोपमस्य रजततपनीयमणिमयविशालशालवलयत्रयस्य मध्यगतः केशरनिकराऽऽकारकायो मधुकरनिकरकल्पाशोकानोकहनिरुद्धगगनाऽऽभोग' गगनतलोपनिपतत्कलहंसयुगलकल्पोपमीयमाननिर्मलधवलचामरयुगो मत्तमधुकरनिकरझङ्काररवरम्यतममहाध्वनिः जगज्जननियन्त्रकमोहवरत्रात्रटत्त्रोटनपटीयांसं सुरनिवहसंकुलसंसदि सद्धर्मोकुण्ठकुठारमुपदिशति स्म। तत' तत्रत्यो नरपतिः समवगतपारगताऽऽगमनवार्तोऽन्तःपुरपुरजनाऽऽदिपरिवृतो भक्तिभराविर्जितमानसो जिनान्तिकमाजगाम। तावपि नैगमनायकतनयौ भक्तिकौतुकाभ्यां तत्राऽऽगतौ। ततो भगवताऽभिहिते जन्तुसन्तानस्य कर्मबन्धहेतौ, वर्णिते मुक्तिकारणे, दर्शिते भवनैर्गुण्ये, प्रकटिते निर्वाणसुखानन्त्ये, मोहनिद्राविद्रावणेन दिनकरकरनिकरैरिवाम्भोजराजयो भगवद्वचनैः प्रतिबुद्धा भूयांसो भव्यजन्तव, ततस्तयोरपि वणिग्वरनन्दनयोर्ज्येष्ठस्य संपन्ना बोधिर्द्वितीयस्य तु वज्रतन्दुलस्येव दुर्भेदत्वेन बोधिर्नाभवत्। ततो ज्येष्ठस्य हर्षोऽजनि-अहो धन्योऽहं येन मयाऽनर्वाग्पारभवजलनिधिनिमग्नेन सद्धर्मयानपात्रमेवंविधमवासम् इतरस्य तु क्लिष्टकर्मणो माध्यस्थ्यमेवाभवत्। तत' परस्परस्याभिप्रायमवगतवन्तौ-यथाऽऽवयोर्धर्मपरिणतिविशेषे भेदोऽभूत्। ततो ज्येष्ठो भगवन्तं पप्रच्छ। यदुत- भगवंस्तुल्यस्नेहयोरावयोस्तुल्य एव विभूतिरूपविनयाऽऽदिसंबन्धोऽभवद्, अधुना पुनर्मुक्तिफलकल्पतरुकल्पसम्यक्त्वविभूतिप्राप्तावतुल्यता जाता मम मित्रस्य तद्विकलत्वात्, तत्किमत्र कारणम्?। ततो भगवानुवाच-भो भद्र ! भवन्तौ जन्मान्तरे ग्राममहत्तरसुतावभूताम्, ततो व्यसनोपहतौ चौर्यपरायणावभवताम् अन्यदा ग्रामान्तरं गत्वा गा' अपहृतवन्तौ, ततस्ताः स्वस्थानं नयन्तौ दण्डपाशिकान् पश्चाल्लग्नान् विज्ञाय तद्भयात् पलायमानौ गिरिगह्वरे प्राविशताम्, शैलगुहायां चाऽऽतापयन्त महातपस्विनमपश्यताम्, ततस्त्वं संवेगमागतोऽवोच'-यथा सुलब्धमस्य जन्म, योऽयं परित्यक्तसकलपुत्रकलत्रमित्राऽऽदिसंबन्ध' सन्तोषसुखसागरावगाढो धर्मनिरतचित्तो विषयविरतः स्वर्गापवर्गसंसर्गाय तपस्यति। मादृशास्त्वधन्या उभयलोकगर्हितमनर्थफलं, क्लेशबहुफल च चौर्यमाश्रिता इत्येवंविधा साधुप्रशंसा भवतो बोधिबीजमजनि, इतरस्य तु यतिद्वेषो बोधिबीजदाही संजात, इद भवतोर्वोधेर्भावाभावकारणमिति॥ ६॥

उपसंहरन्नाह—

इति सर्वप्रयत्नेन, मालिन्यं शासनस्य तु।
प्रेक्षावता न कर्तव्य-मात्मनो हितमिच्छता॥ ७॥

स्पष्ट' ॥७॥

कर्तव्यं च किमित्याह—

कर्तव्या चोन्नतिः * सत्यां, शक्ताविह नियोगतः।
प्रधानं कारणं ह्येषा, तीर्थकृन्नामकर्मणः॥ ८॥

हा० २३ अष्ट०। संवत्सरवासरे पूगीफलसहितनाणकप्रभावना लान्ति,न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-पूगीफलाऽऽदिसहिता तया रहिता वा प्रभावना लान्ति,पश्चाद् यस्मिन् ग्रामे या रीतिस्तदनुसारेण प्रवर्तितव्यमिति॥ १५२ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

* वर्त्तति, प्रभावना।

**पभावाल-प्रभावाल**-पु०। तरुविशेषे, जं० २ वक्ष०।

**पभास-प्रभास**-पु०। श्रीवीरजिनस्यैकादशे गणधरे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। आ० चू०। स च निर्वाणविषयसंदेहयुतो वीरान्तिकमागत्य छिन्नसंशय' प्रवव्राज गणधरो जात। ('गणहर' शब्दे तृतीयभागे ८१७—८१८ पृष्ठे तन्मातापित्रादयो दर्शिता.) ('णिव्वाण' शब्दे चतुर्थभागे २१२१ पृष्ठे वक्तव्यता)" एकादशो गणधर', श्रीवीरस्य गणेशितु'। प्रभासो नाम पावित्र्यं, यस्य चक्रे स्वजन्मना॥ २४॥" ती० १० कल्प। वैभारगिरेः ऐरण्यवतवर्षीयविकटाऽऽवृत्तवैताढ्यपर्वतराजदेवे,स्था० ४ ठा० ३ उ०। "दो पभासा।" स्था० २ ठा० ३ उ०। साकेतराजस्य महाबलस्य चित्रकरे, आव० ४ अ०। श्रीप्रभनृपोपदेशके साधुगुरौ, ध० ३ अधि०। स्वनामख्याते भरतवर्षस्य पश्चिमदिग्भागस्थे तीर्थभेदे,ती० ४१ कल्प।आ०क०।भरते हि पूर्वाऽऽदिक्रमेण"मागहे वरदामे पभासे त्ति" त्रीणि तीर्थानि। जं० ६ वक्ष०। संथा०। स्था०। आ० म०। बृ०। तत्र पाण्डववंश्यराजपुत्रयोर्मतिसुमत्यो' प्रवहणे औत्पातिकेन भाज्यमाने स्कन्दरुद्राऽऽदिदैवस्मरणेनानुपशान्तौ सुस्थितेन लवणाधिपेन महिम्नि कृते तत्र तीर्थत्वेन जातम्, इति धृतिमतित्वे उदाहृतम्। आव० ४ अ०। आ० चू०।

**पभासचित्तगर-प्रभासचित्रकर**-पु०। स्वनामख्याते चित्रकरे,

तत्कथा—

"विलसंतनागपुंना-गसंगयं पुरमिहऽत्थि साएयं।
कइलाससिहरसिहरं, व किं नु बहुरुद्दरधवलहर॥ १॥
राया महाबलो रिउ-रुक्खाण महाबलु व्व तत्थऽत्थि।
सो अत्थाणुवविट्ठो, अन्नदिणे पुच्छए दूयं॥ २॥
भो मम रायंतरभा-विरायलीलोचियं न किं अत्थि।
सो भणइ सामि! सव्व पि अत्थि मुत्तूण चित्तसहं॥ ३॥
नयणमणोहारिविचि-त्तचित्तअवलोयणेण रायाणो।
जं किर तीए वि फुडं, कुणंति चंकमणलीलाओ॥ ४॥
इय आयन्निय रन्ना, महल्लकोहल्लपूरियमणेण।
आइट्ठो वरमंती, तुरियं कारेसु चित्तसहं॥ ५॥
दीहरविसालसाला, बहुखउणालंकिया सुहच्छाया।
उज्जाणमहि व्व लहुं, महासहा तेण निम्माविया॥ ६॥
आहूया नरवइणा चित्तयरा चित्तकम्मकयकरणा।
विमलपहासमिहाणा, तत्तो तुरियं पुरपहाणा॥ ७॥
अद्धद्धविभाएणं, विभइत्ता अप्पिया सहा तेसिं।
दाविंतु अंतरा जव णियं च वुत्ता निवेणेवं॥ ८॥
भो तुब्भेहिं कम्मं कया वि न हु पिच्छियव्वमन्नुन्नं।
नियनियमईइ निउणं, इह चित्त चित्तियव्वं च॥ ९॥
विद्दी न मन्नियव्वा, जइविन्नाणं काहिइ पसाओ।
अद्धमद्धमिगाइ तत्तो,' सम्मं कम्मं कुणंति इमे॥ १०॥
जाव गया छम्मासा, तो पुट्ठा उस्सुएण ते रन्ना।

विमलेण तओ भणियं, निप्फन्नो देव ! मह भागो ॥ ११ ॥
मेरु व्व तयं भाग. सुवन्नरुइरं विचित्तभूभागं ।
पिच्छित्तु निवो तुट्ठो, महापसायं कुणइ तस्स ॥ १२ ॥
पुट्ठो भणइ पहासो, चित्ताऽऽरंभं पि देव ! न करेमि ।
जं अज्ज वि मे विहियं, भूमीए चेव परिकम्मं ॥ १३ ॥
तं भूकम्मं नणु के-रिसं ति भूवेण अवणिया जवणी ।
ताव सविसेसरम्मं, सुचित्तकम्मं तहिं दिट्ठं ॥ १४ ॥
तो भणिओ सो रन्ना, रे ! किं अम्हे वि विप्पयारेसि ।
अन्नो वि न वंचिज्जइ, किं पुण सामि त्ति सो आह ॥ १५ ॥
पडिबिंबसंकमो दे-व ! एस इय भणिय तेण परियच्छी ।
दिन्ना तओ निवेणं, सा दिट्ठा केवला भूमी ॥ १६ ॥
अह विम्हिएण रन्ना, पुट्ठं कीरइ किमेरिसा भूमी ? ।
सो भणइ देव ! परिस-महीपं चित्तं हवइ सुथिरं ॥ १७ ॥
वन्नाण फुरइ कंती, अहियं सोहं धरति रूवाइं ।
पिच्छंताण जणाणं, भावुल्लासो भिस होइ ॥ १८ ॥
तं सुणिउं तस्स विवे-गराइणाऽऽइणा पहिट्ठेण ।
निउणो कओ पसाओ, सपसायं पभणियं च इमं ॥१९॥
एमेव इमं चिट्ठउ, चित्तसहा मे चलंतचित्तजुया ।
होउ अपुव्वपसिद्धि, त्ति एस पुण उवणओ इत्थ ॥२०॥
सायरं संसारो, राया सूरी सहा य मणुयगई ।
चित्तयरो भवियजिओ, चित्तसहाभूसमो अप्पा ॥ २१ ॥
भूपरिकम्मंसु गुणा, चित्त धम्मो वयाई रूवाई ।
वन्नसमा इह नियमा जियविरिय भावउल्लासो ॥ २२ ॥
एवं प्रभासाभिधचित्रकृद्वद्,
कार्याऽऽत्मभूमिर्विबुधैर्विशुद्धा ।
येनोज्ज्वलां धर्मविचित्रचित्रां,
शोभामनन्यप्रतिमां दधीत ॥ २३ ॥ "
इति प्रभासकथा ( ३१ गाथा ) ध० र० १ अधि० ।

**पभासण** प्रभासन-न० । प्रकर्षेण द्योतने,स्था० २ ठा० २ उ० । प्रभासनं च चन्द्राणामेव ।"चंदा य पभासिंसु ।"चन्द्राणां सौम्यदीतिकत्वात् वस्तुप्रभासनमुक्तमादित्यानां तु खररश्मित्वात् । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

**पभासतित्थ**-प्रभासतीर्थ-न० । स्वनामख्याते भारतवर्षस्य पश्चिमदिक्तीर्थे, यत्र सिन्धुनदी समुद्रं प्रविशति । तत्र भरतदिग्जययात्रायां तु, " उत्तरपच्चच्छिम दिसिं पभासतित्थाभिमुहे पयाते यावि होत्था । " जं० ३ वक्ष० । आ० चू० ।

**पभासतित्थकुमार**-प्रभासतीर्थकुमार-पुं० । प्रभासतीर्थदेवे, आ० चू० १ अ० ।

**पभासमाण**-प्रभासमान-त्रि० । दीप्यमाने, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

**पभासयंत**-प्रभासयत्-न० । लोकप्रसिद्धस्याऽऽकाशस्यापि शिखर स्वकान्त्या शोभयन्तमित्यर्थः, कल्प० १ अधि०३क्षण ।

**पभासा**-प्रभासा-स्त्री० । प्रभ्मसनिबन्धनत्वादेकोनपष्टितमगौणाहिंसायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

**पभासिय**-प्रभाषित-त्रि० । प्रकर्षेण भाषिते, " वइजोगेण पभासिय-मणेगजोगंगधराण साहूणं । " ( १६ ) प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितः । गणधराणाम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**पभासेमाण**-प्रभासयत्-त्रि० । सूक्ष्मवस्तूपदर्शनतः ( स्था० ८ ठा० ) शोभयति, भ० २ श० ५ उ० । जी० । औ० ।

**पभिइ**-प्रभृति-अव्य० । आदौ,स्था० ६ ठा० । औ० । चं०प्र० । उत्त० । अनु० ।

**पभीय**-प्रभीत-त्रि० । प्रकर्षेण त्रस्ते, उत्त० ५ अ० ।

**पभु**-प्रभु-त्रि० । समर्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । भ० । प्रभविष्णौ, भ० १५ श० । वश्येन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । शक्ते, भ० १ श० १ उ० । सूत्र० । स्वामिनि, आ० म० १ अ० । उपाश्रयस्वामिनि, बृ० २ उ० । स्वगृहमात्रनायके, प्रव० ६७ द्वार । गृहपतौ, नि० चू० २ उ० । राजनि, "पभू राया, अणुप्पभू जुवराया ।" नि० चू० २ उ० । "पभु त्ति वा जोग्गो त्ति वा एगट्ठा । " नि० चू० २० उ० ।

**पभुत्त**-प्रभुत्व-न० । सामर्थ्ये. बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

**पभूतदंसि (ण्)**-प्रभूतदर्शिन्-त्रि० । प्रभूतं प्रमादविपाकाऽऽदिकमतीतानागतवर्त्तमानं वा कर्मविपाकं द्रष्टुं शीलमस्येति प्रभूतदर्शी । साम्प्रतेक्षिततया । न यत्किञ्चनकारिणि आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

**पभूतपरिण्णाण**-प्रभूतपरिज्ञान-त्रि० । प्रभूतं स्वत्वरक्षणोपायपरिज्ञानं संसारमोक्षकारणपरिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञानः । यथाऽवस्थितसंसारस्वरूपदर्शिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

**पभूतसंभार**-प्रभूतसंभार-पुं० । प्रभूतवस्तुसामग्र्याम्, " पभूतसंभारसंमिता पोसमासससतभिसयजोगट्ठनिन्ना । " जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**पभूय**-प्रभूत-त्रि० । अतिप्रचुरे, आ० म० १ अ० । रा० । प्रचुरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । स्था० । बहुशब्दार्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० । अनेकशब्दार्थे अनु० ।

**पभूयग्ग**-प्रभूताग्र-न० । कस्यचिदपेक्षया प्रभूते, यथा-" जीवा पोग्गलसमया, दव्वा य पज्जवा चेव । " आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

**पभूयतरय**-प्रभूततरक-न० । बहुतरके, आ० म० १ अ० ।

**पभूयरयण**-प्रभूतरत्न-त्रि० । प्रभूतानि रत्नानि मरकताऽऽदीनि प्रवरगजाश्वाऽऽदिरूपाणि वा यस्यासौ प्रभूतरत्नः । उत्त० ४ अ० । प्रचुरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुखपदार्थधारिणि, उत्त० ४ अ० ।

**पमक्खण**-प्रमूक्षण-न० । अभ्यञ्जने, भ० ११ श० ११ उ० ।

**पमज्जण**-प्रमार्जन-न० । प्रतिलेखन चक्षुषा निरीक्षणम्, प्रमार्जनं च रजोहरणाऽऽदिभि । ध० ३ अधि० पुनः पुनर्मार्जने, नि० चू० ३ उ० । भूमिशुद्धौ, पञ्चा० ६ विव० । प्रकर्षेण शोधने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । संमार्जने, नि० चू० ३ उ० । पं० व० । ( आचार्यपादप्रमार्जनम् ' अइसय ' शब्दे प्रथमभागे १३ पृष्ठे ३० पृष्ठे च उक्तम् ) ( वर्षासु उपाश्रयाः प्रमार्जनीया. ' पज्जुसवणाकप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४६ पृष्ठे उक्तम् ) (शरीराङ्गानां हस्तपादाऽऽदीनामामार्जनप्रमार्जने अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१४ पृष्ठे, अण्णमण्णकिरिया' शब्दे ४८० पृष्ठे च उक्ते ) मूलत एव रजोहरणाऽऽदिनाऽस्पर्शनाया-

म्, ध० ३ अधि० । रजोहरणाऽऽदिव्यापाररूपे, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

प्रमार्जनविधिः-वसतिं प्रमार्जयेत् । यदुक्तं पञ्चवस्तुके-

" पडिलेहिऊण वसहिं, गोसम्मि पमज्जणा उ वसहीए ।
अवरण्हे पुण पढमं, पमज्जणा पच्छ पडिलेहा ॥१॥ "

यतिदिनचर्यायामपि-

" सिज्जा पमज्जिअव्वा, पभायसमयम्मि सव्वओ पच्छा ।
पुत्तीतणुपडिलेहा, समणंतरमेव मज्झण्हे ॥१॥ "

इत्थं च जीवसंसक्तिरहितायामपि वसतौ ऋतुबद्धे वारद्वयं, वर्षासु च वारत्रयं, जीवसंसक्तौ च बहुशोऽपि वसतिं प्रमार्जयेदित्यवसेयम्, तथापि बहुजीवोपमर्दे त्यजेदपि तदुक्तं दिनचर्यायाम्-" दुन्नि पडिलेहणाओ, उउम्मि वासासु तइअं मज्झण्हे । वसहिं बहुसो पमज्जइ, अइसंघट्टे त ( ऽन्न ) हिं गच्छे ॥ १ ॥ " वसतिप्रमार्जनं च यतनानिमित्तं, सा चान्धकारे न स्यादित्युपधिप्रतिलेखनाऽनन्तरमेव प्रातस्तच्छ्रेयः । तदुक्तं तत्रैव-" को हेऊ ?, जिणआणा, एसा जयणा निमित्तमहवा वि । रविकिरहयंधयारे, वसहीइ पमज्जणं सेअं ॥ १ ॥ " इति । तच्चाव्याक्षिप्तेनोपयुक्तेन च गीतार्थेन विधेयं, न तु विपरीतेन, अविध्यादिदोषात् । यदुक्तं पञ्चवस्तुके-" वसही पमज्जिअव्वा विक्खेवविवज्जिएण गीएणं । उवउत्तेण विवक्खे, णायव्वो होइ अविही उ ॥ १ ॥ " इति । तेनापि सदा पद्मलेन मृदुना प्रमाणोपेतेनाविद्धदण्डकेन च दण्डकप्रमार्जनेन प्रमार्जनीया वसतिः, न तु कचवरशोधनाऽऽदिना । यतस्तत्रैव-" सइ पम्हलेण मिउणा, चोप्पडमाइरहिएण जुत्तेणं । आविद्धदंडगेणं दंडगपुच्छेण णाऽणेणं ॥ १ ॥ " इति । यतना च वसतिं प्रमार्ज्य पिण्डीभूतरेणुपुञ्जमुद्धरेत्, तत्र चैवं विधिर्यतिदिनचर्यायाम्-

" अह उग्गयम्मि सूरे, वसहिं सुपमज्जिऊण जयणाए ।
उद्धरिअ रेणुपुंजं छायाए विकिरेऊण ॥ १ ॥
संगहिअ छप्पयाओ, पत्राए कीडाए लहइ तो संखं ।
पुव्वं च लेइ भूइं, वोसिरिआ नवं च गिण्हंति ॥ २ ॥
जो तं पुंजं छंडइ, इरिआवहिआ हवेइ निअमेणं ।
संसत्तगवसहीए तह हवइ पमज्जमाणस्स ॥ ३ ॥ "

अत्र च आभिग्रहिकोऽनाभिग्रहिको वा साधुर्दण्डान् प्रमार्जयेत्, ततस्तदुपरितनभूमिं च । यत -" आभिग्गहिओ अणभिग-हिओ व दंडे पमज्जए साहू । पडिलेहिज्जइ कमसो, दंडो कुड्डोवरिं भूमिं ॥ १ ॥ " प्रतिलेखनं चक्षुषा निरीक्षणं, प्रमार्जनं च रजोहरणाऽऽदिभिरिति विवेकः । यतस्तत्रैव-"चक्खूहि णिरिक्खिज्जइ जं किर पडिलेहणा भवे एसा । रयहरणमाइएहिं, पमज्जणं बिंति गीअत्था ॥१॥ " ध० ३ अधि० ।

पमज्जणया-प्रमार्जनता-स्त्री० । मूलत एव रजोहरणाऽऽदिना स्पर्शनायाम्, ध० ३ अधि० ।

पमज्जणिया-प्रमार्जनिका-स्त्री० । शलाकाऽऽदीनां दवरके, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

पमज्जणी-प्रमार्जनी-स्त्री० । वसतेर्दण्डकपुञ्छने, प० व० ३ द्वार । वसतेः शुद्धिकरण्याम्, ध० ३ अधि० । आचा० ।

पमज्जेमाण-प्रमार्जयत्-त्रि० । प्रमार्जनं कारयति, स्था० ७ ठा० ।

पमत्त-प्रमत्त-पुं० । प्रमाद्यन्ति स्म मोहनीयाऽऽदिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राऽऽद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदन्ति स्मेति प्रमत्ताः, कर्त्तरि क्तप्रत्ययः । नं० । पञ्चानां प्रमादानामन्यतरेण प्रमादेन युक्तेषु, व्य० ३ उ० । आचा० । विषयमूर्च्छितेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । ( 'पारंचिय ' शब्दे व्याख्यास्यामि) विकथाऽऽदिप्रमादसहिते, ज्ञा० १६ अ० । आचा० । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । मद्याऽऽदिप्रमादवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । विषयाऽऽदिभिः प्रमादैर्धर्माद् व्यवस्थिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । प्रमदनं प्रमत्तं प्रमादः, स च मदिराविषयकषायनिद्राविकथानामन्यतमे सर्वथा प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्तः । प्रमादवति, कर्म० २ कर्म० ।

पमत्तभाव-प्रमत्तभाव-पुं० । प्रकर्षेण मत्तभावः । उन्मत्तभावे, तं० ।

पमत्तसंजय-प्रमत्तसंयत-पुं० । संयच्छति स्म सम्यगुपरमति स्म संयतः । "गत्यर्थाकर्म" ॥५।१।११॥ (हैम०) इति क्तः । प्रमाद्यन्ति स्म संयमयोगेषु सीदन्ति स्म, प्राग्वत् कर्तरि क्तः प्रमत्ताः । यद्वा-प्रमदनं प्रमादः, स च मदिराविषयकषायनिद्राविकथानामन्यतमः । सर्वथा प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्तः प्रमादवान् "अभ्राऽऽदिभ्यः" ॥७।२।४६॥ (हैम०) इत्यप्रत्ययः । प्रमत्तश्चासौ संयतश्चप्रमत्तसंयतः । कर्म० २ कर्म० । पं० सं० । दर्श० । किञ्चित्प्रमादवति सर्वविरते, स० १४ सम० । षष्ठगुणस्थानवर्तिनि, पञ्चा० १६ विव० ।

पमत्तसंजयस्स णं भंते ! पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं पमत्तद्धा कालओ केव चिरं होइ ?। मंडिया ! एगं जीवं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी, णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धा ।

( पमत्तेत्यादि ) (सव्वा वि य णं पमत्तद्ध त्ति) सर्वाऽपि च सर्वकालसम्भवाऽऽपि च प्रमत्ताद्धा प्रमत्तगुणस्थानककालः कालतः प्रमत्ताद्धा समूहलक्षणं कालमाश्रित्य कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवतीति प्रश्नः । ननु कालत इति न वाच्यम् , कियच्चिरमित्यनेनैव गतार्थत्वात्, नैव क्षेत्रत इत्यस्य व्यवच्छेद्यत्वात् । भवति हि क्षेत्रतः कियच्चिरमित्यपि प्रश्नो यथावधिज्ञानं क्षेत्रतः कियच्चिरं भवति, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, कालतस्तु सातिरेका षट्षष्टिरिति । (एक्कं समयं ति ) कथम् ? । उच्यते-प्रमत्तसंयमप्रतिपत्तिसमयसमनन्तरमेव मरणात् । ( देसूणा पुव्वकोडि त्ति ) किल प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणे एव प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके, ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्वकोटिं यावत् उत्कर्षेण भवत । संयमवतो हि पूर्वकोटिरेव परमायुः, स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते, महान्ति चाप्रमत्तान्तर्मुहूर्त्तापेक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्तानि कल्प्यन्ते । एवं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मीलनेन देशोना पूर्वकोटी कालमानं भवति । अन्ये त्वाहुः-अष्टवर्षोना पूर्वकोटी यावदुत्कर्षतः प्रमत्तसंयतता स्यादिति । भ० ३ श० ३ उ० ।

पमत्तसंजयगुणट्ठाण-प्रमत्तसंयतगुणस्थान-नं० । प्रमत्तसंयतस्य गुणस्थानम् । षष्ठे गुणस्थानके, कर्म० । विशुद्ध्यविशुद्धि-

प्रकर्षाप्रकर्षकृतः स्वरूपभेदः । तथाहि-देशविरतिगुणापेक्षया एतद्गुणानां विशुद्धिप्रकर्षोऽविशुद्ध्यप्रकर्षश्च । अप्रमत्तसंयतापेक्षया तु विपर्ययः। एवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु पूर्वोत्तरापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाप्रकर्षयोजना द्रष्टव्या । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० ।

**पमद्द-प्रमर्द-पुं०** । संमर्दे, परस्परसंघर्षे, " चंदेण सह जोयं जोएंति ।" चन्द्रेण सह प्रमर्दरूपं योगं युञ्जन्ति । सू०प्र० १० पाहु० ११ पाहु० पाहु० । चन्द्रेण सार्द्धं प्रमर्दे चन्द्रो मध्येन तेषां गच्छतीत्येवंलक्षणं योगं संबन्धं योजयन्ति । स०८ सम० ।

**पमद्दण-प्रमर्दन-न०** । कठिनस्याऽपि वस्तुनश्चूर्णनकरणे, रा० । जी० ।

**पमद्दमाणी-प्रमृद्नती-स्त्री०** । रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वन्त्याम्, " पमद्दमाणी य ।" ( ५७४ गाथा ) पिं० ।

**पमयवण-प्रमदवन-न०** । हस्तिनापुरनगरे मल्लिदत्तकुमारस्वामिके उद्याने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आ० म० । तेतलिपुरनगरोद्याने, " तेतलिपुरं नाम नगरं,पमयवणे उज्जाणे ।" ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । आ० म० ।

**पमया-प्रमदा-स्त्री०** । स्त्रियाम्, बृ० ४ उ० ।

**पमयाकम्मकरण-प्रमदाकर्मकरण-पु०** । प्रमदाः स्त्रियस्तासां यत्कर्म तत्स्वयमेव करोतीति प्रमदाकर्मकरणः ।" कृद् बहुलम् " इति वचनात्कर्त्तरि अनट्प्रत्ययः । स्त्रीणां कण्डनदलनपरिवेषणोदकाऽऽहरणप्रमार्जनाऽऽदिकरणशीले नपुंसके, बृ० ४ उ० ।

**पमह-प्रमथ-पुं०** । शिवसेवके, पाइ० ना० २६६ गाथा ।

**पमाइ-प्रमातृ-पुं०** । प्रमाकर्तरि, रत्ना० ।

तल्लक्षणम्-तदित्थं प्रमाणनयतत्त्वं व्यवस्थाप्य संप्रति तेषां तत्र कथञ्चिदविष्वग्भावेनावस्थितेरखिलप्रमाणनयानां व्यापकं प्रमातारं स्वरूपतो व्यवस्थापयन्ति-

प्रमाता प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥

प्रमिणोतीति प्रमाता । किंभूतः क इत्याह-प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्धः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणप्रतीतः, अतत्यपरापरपर्यायान् सततं गच्छतीत्यात्मा जीव. । रत्ना० ७ परि० । ( प्रमातृनित्यत्वसिद्धिः ' आता ' शब्दे द्वितीयभागे १६५ पृष्ठादारभ्य दर्शिता )

प्रमादिन्-पु० । विकथामद्याऽऽदिप्रमादवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । द्वा० ।

**पमाण-प्रमाण-न०** । प्रकर्षेण संशयाऽऽद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । रत्ना०१ परि० । आ०म० । विशे० । उत्त० । प्रमितिः प्रमाणम् । हेयोपादेयप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपतया पदार्थपरिच्छित्तिकरणे, सूत्र० १ श्रु०१२अ० । ज्ञा० ।

( १ ) अथ प्रमाणस्याऽऽदौ लक्षणं व्याचक्षते-

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥ २ ॥

अत्र चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधेयम् इति विप्रतिपन्नानाश्रित्य स्वपरेत्यादिकम्, अव्युत्पन्नान् प्रति प्रमाणम्, प्रमाणप्रमेयापलापिनस्तूद्दिश्य द्वयमपि विधेयम्, शेषं पुनरनुवाद्यम् । तत्र प्रमाणमिति प्राग्वत् । स्वमात्मा ज्ञानस्य स्वरूपम्; पर स्वस्मादन्यः, अर्थ इति यावत् । तौ विशेषेण यथाऽवस्थितस्वरूपेण, अवस्यति निश्चिनोतीत्येवंशीलं यत् तत् स्वपरव्यवसायि । ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम् । एतच्च विशेषणम्-अज्ञानरूपस्य व्यवहारधुराधौरेयतामनादधानस्य सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य, सन्निकर्षाऽऽदेश्चाऽचेतनस्य नैयायिकाऽऽदिकल्पितस्य प्रमाण्यपराकरणार्थम् । तस्याऽपि च प्रत्यक्षरूपस्य शाक्यैर्निर्विकल्पकतया प्रामाण्येन जल्पितस्य, संशयविपर्ययानध्यवसायानां च प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थं व्यवसायीति । स्पष्टनिष्टङ्क्यमानपारमार्थिकपदार्थसार्थलुण्टाकज्ञानाद्वैताऽऽदिवादिमतमत्यसितुं परेति । नित्यपरोक्षबुद्धिवादिनां मीमांसकानाम्,एकाऽऽत्मसमवायिज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां यौगानाम्, अचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च कदाग्रहग्रहं निग्रहीतुं स्वेति । समग्रलक्षणवाक्यं तु परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेतुत्वाऽऽदेः प्रमाणलक्षणत्वप्रतिक्षेपार्थम् । तथाहि-अर्थोपलब्धेरनन्तरहेतुः, परम्पराहेतुर्वा विवक्षाञ्चक्रे ?। परम्पराहेतुश्चेत् । तर्हि, इन्द्रियवदञ्जनाऽऽदेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गः । अथाऽनन्तरहेतुरिन्द्रियमेव प्रमाणम्, तत् किं द्रव्येन्द्रियम् भावेन्द्रियं वा ? । द्रव्येन्द्रियमप्युपकरणरूपम्, निर्वृत्तिरूपं वा ? । न प्रथमम्, तस्य निर्वृत्तीन्द्रियोपष्टम्भमात्रे चरितार्थत्वात् । नाऽपि द्वितीयम्, तस्य भावेन्द्रियेणाऽर्थोपलब्धौ व्यवधानादानन्तर्याऽसिद्धेः । भावेन्द्रियमपि लब्धिलक्षणम्, उपयोगलक्षणं वा ? । न पौरस्त्यम्; तस्यार्थग्रहणशक्तिरूपस्यार्थग्रहणव्यापाररूपेण तेन व्यवधानात् । उदीचीनस्य तु प्रमाणत्वेऽस्मल्लक्षितमेव लक्षणमक्षरान्तरैराख्यातं स्यात् । न च नास्त्येवामूदृशमिन्द्रियमिति भौतिकमेव तत् तत्रानन्तरो हेतुरिति वक्तव्यम्, व्यापारमन्तरेणाऽऽत्मनः स्वार्थसंवित्फलस्यानुपपत्तेः । न ह्यव्यापृत आत्मा स्पर्शाऽऽदिप्रकाशकः, सुषुप्त्यवस्थायामपि प्रकाशप्रसङ्गात् । न च तदानीमिन्द्रियं नास्ति, यतस्तदभावः स्यात् । अथ नेन्द्रियं सत्तामात्रेण तद्धेतुः किन्तु मनसाऽर्थेन च सन्निकृष्टमिति चेत् । ननु सुषुप्त्यऽवस्थायामपि तत्तादृशमस्त्येव, मनस. शरीरव्यापिन स्पर्शनाऽऽदीन्द्रियेण, स्पर्शनाऽऽदेश्च तूलिकाऽऽदिना सन्निकर्षसद्भावात् । न चाऽणुपरिमाणत्वाद् मनसः शरीरव्यापित्वमसिद्धमिति वाच्यम् तत्र तस्य प्रमाणेन प्रतिहतत्वात् । तथाहि-मनोऽणुपरिमाण न भवति, इन्द्रियत्वाद् नयनवत् । न च शरीरव्यापित्वे युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः, तादृक्क्षयोपशमविशेषेणैव तस्य कृतोत्तरत्वात् । इति नैतत्प्रमाणलक्षणमक्षूणम् । आचख्महि च मतपरीक्षापञ्चाशति-

" अर्थस्य प्रमितौ प्रसाधनपटु प्रोचुः प्रमाणं परे,
तेषामञ्जनभोजनाऽऽद्यपि भवेद् वस्तु प्रमाणं स्फुटम् ।
आसन्नस्य तु मानता यदि तदा संवेदनस्यैव सा
स्यादित्यन्धभुजङ्गरन्ध्रगमवत् तीर्थैः श्रितं त्वन्मतम् ॥१॥"

इति । "अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्" इत्यपि प्रमाणलक्षणं न मीमांसकस्य मीमांसामांसलतां सूचयति, प्रत्यभिज्ञानस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् अथात्रापूर्वोऽप्यर्थः प्रथते,"इदानीन्तनमस्तित्वं, न हि पूर्वधियाऽऽगतम् ।" इति चेत् । इदमन्यत्रापि तुल्यम् उत्तरक्षणसत्त्वस्य प्राक्क्षणवर्तिसंवेदनेनाऽवेदनात् । पूर्वोत्तरक्षणयोः सत्त्वस्यैक्यात् कथं तेन तस्याऽऽवेदनम् ?,

इति चेत् । प्रत्यभिज्ञागोचरेऽपि तुल्यमेतत्, " रजतं गृह्यमाणं हि, चिरस्थायीति गृह्यते ।" इति वचनात्, प्रागेव तद्वेदने च तदिदानीमस्ति ?,न वा ?,कीदृक् वाऽस्ति ? इति तदनन्तरं न कोऽपि संदिहीत ? । ततोऽपार्थकमेवानधिगतेति विशेषणम्, व्यवच्छेद्याभावात् ।

न चाऽव्यापकत्वदोषः प्रकृतलक्षणे, प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणव्यक्तिव्यापकत्वात् । नाप्यतिव्यापकत्वकलङ्कः, संशयाऽऽद्यप्रमाणविशेषेष्ववर्त्तनात् । नाप्यसंभवसम्भवः, प्रमाणं स्वपरव्यवसायि ज्ञानम्, प्रमाणत्वान्यथाऽनुपपत्तेः, इत्यतस्तत्र स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वसिद्धेः ।

अत्र चायं कण्टकोद्धारप्रकारः । तथाहि-न तावदत्र पक्षप्रतिक्षेपदक्षदोषसंश्लेषः । अयं हि भवन् किं प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणत्वम्, अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणता,निराकृतसाध्यधर्मविशेषणत्वं वा भवेत ?, इति भेदत्रयी तिवलीव तरलाक्षीणामुन्मीलति । तत्र न तावत् प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणत्वमत्राऽऽख्यायमानं संख्यावतां ख्यातये, यतः प्रसिद्धमेव साध्यं साधयतामेतदुन्मज्जति,आपो द्रवा इत्यादिवत्; न चैतत् प्रमाणलक्षणमद्यापि परेषां प्रसिद्धिकोटिमाटीकिष्ट । नाऽप्यत्राऽनमीप्सितसाध्यधर्मविशेषणता भाषणीया, सा हि स्वानभिप्रेत साध्यं साधयतामधीमतां धावति, शौद्धोदनस्य नित्यत्वसाधनवत्, न चाऽऽर्हतानामेवत् प्रमाणलक्षणमनाकाङ्क्षितम् । नाऽपि निराकृतसाध्यधर्मविशेषणत्वमत्रोपपत्तिपद्धतिप्रतिबद्धता दधाति,तद्धि प्रत्यक्षेणाऽनुमानेनाऽऽगमेन वा साध्यस्य निराकरणाद् भवेत् । न चैतदनुष्णस्तेजोऽवयवी, नाऽस्ति सर्वज्ञो, जैनेन रजनिभोजनं भजनीयमित्यादिवत् प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाऽऽदिभिर्बाधासंबन्धवैधुर्यं दधानमीक्ष्यते । तस्मान्नात्र दोषः पक्षस्य सूक्ष्मोऽप्युत्प्रेक्षितुं पार्यते ।

नाऽपि हेतोः;स खल्वसिद्धता,विरुद्धता,व्यभिचारो वा भवेत्? यदि तावदसिद्धता, तदाऽपि किमन्यतरासिद्धिः, उभयासिद्धिर्वा भवेत्? अन्यतरासिद्धिश्चेत्,तदाऽपि वादिनः प्रतिवादिनो वाऽन्यतरस्येयमसिद्धि स्यात् ? यदि वादिनः, तदा किं स्वरूपद्वारेण,आश्रयद्वारेण,भिन्नाधिकरणताद्वारेण, पक्षैकदेशद्वारेण, प्रतिज्ञार्थैकदेशद्वारेण वाऽसौ स्यात् ? । स्वरूपद्वारेण चेत् । तत्किं हेतुस्वरूपे विप्रविपत्तेः, अप्रतिपत्तेः, संदेहाद्वा ? । न प्राच्यः प्रकारः सारः, प्रमाणत्वाऽऽख्यहेतुस्वरूपे समस्तप्रामाणिकपरिषदामविवादात् । नापि द्वितीयः प्रमाणस्वरूपमप्रतिपद्यमानस्य वादिनोऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः, सर्वथैवानिर्णीतप्रमाणस्वरूपस्य प्रतिपत्तुस्तत्र संदेहानुत्पादात्, न खलु सकलकालमनाकलितस्थाणुत्वस्य स्थाणुत्वपुरुषत्वोल्लेखी संदेहः कस्याऽपि संपद्यते, तत्स्वरूपप्रतिपत्तौ वा क्वचित्कथं सर्वथा प्रमाणस्वरूपे संशयः स्याद् ?। आश्रयासिद्धिव्यधिकरणासिद्धी तु वादिनो जैनस्य दोषावेव न संमतौ; अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वाद्, उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयाद्, इत्यादेर्गमकत्वेन स्वीकृतत्वात् । संमतत्वे वा न तयोरत्रावकाशशङ्काशङ्कुसंकथा,प्रमाणस्य धर्मिणः सकलवादिनामविवादाऽऽस्पदत्वात्, प्रमाणत्वहेतोस्तत्र वृत्तिनिर्णयाच्च । पक्षैकदेशासिद्धताऽपि नात्र साधीयस्तां दधाति, सा हि संपूर्णपक्षाव्यापकत्वे सति संभविनी, सचेतनास्तरव स्वापात्; इत्यादिवत्,न चैतदत्रास्ति । नाऽप्यनित्यः शब्दोऽनित्यत्वाऽऽदित्यादिवत् प्रतिज्ञाऽर्थैकदेशासिद्धताऽभिधानीया,तस्यास्तत्त्वतः स्वरूपासिद्धिरूपत्वाद्; अन्यथा धर्मिणोऽपि हेतुत्वे तत्प्रसङ्गात् ; स्वरूपासिद्धिश्चात्र न यथा स्थेमानमास्तिघ्नुते, तथाऽनन्तरमेव न्यरूपि, इति न वादिनः साधनमसिद्धमेतत् । नापि प्रतिवादिनः, तत्राप्येवंप्रकार * प्रकारकल्पनाप्रबन्धस्य प्रायः समानत्वात् । अत एव वादिप्रतिवाद्युभयस्याऽपि नासिद्धमिदम् । एवं च कथमिदं साधनमसिद्धिसंबन्ध दधीत ? । नापि विरुद्धताबन्धकीसंपर्ककलङ्कितमेतत्; विपक्षाद् व्यावृत्तत्वात् । नापि व्यभिचारपिशाचसंचारदुःसंचरं, यतो निर्णीतविपक्षवृत्तित्वेन, संदिग्धविपक्षवृत्तित्वेन वाऽत्र व्यभिचारः प्रोच्येत ? । न तावदाद्येन, अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादित्यादिवद्विपक्षे वृत्तिनिर्णयाभावात्,स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य हि विपक्षः संशयाऽऽदिघटाऽऽदिश्च,न च तत्र कदाचन प्रमाणता वरिवर्ति । नापि द्वितीयेन,विवादाऽऽपन्नः पुमान् सर्वज्ञो न भवति,वक्तृत्वाद्,इत्यादिवद्विपक्षे वृत्तिसंदेहस्यासंभवात्; संशयघटाऽऽदिभ्यः प्रमाणत्वव्यावृत्तेर्निर्णीतत्वात् । तत्रानैकान्तिकत्वलक्षणमपि दूषणमत्रोपढौकते । इति न हेतोरपि कलङ्ककलिकाऽपि प्रोन्मीलति । निदर्शन पुनर्नोपदर्शितमेवाऽत्र,इति न तद्दोषोद्धारसंरम्भः । भवतु वा तदपि व्यतिरेकरूपं संशयघटाऽऽदि,न चात्र कश्चिद् दूषणकणः । स खल्वसिद्धसाध्यव्यतिरेकः, असिद्धसाधनव्यतिरेकः, असिद्धोभयव्यतिरेक ,संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः,संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, संदिग्धोभयव्यतिरेक , अव्यतिरेक , अप्रदर्शितव्यतिरेकः,विपरीतव्यतिरेको वा स्यात् ? । तत्र न तावदाद्याः षट्, घटाऽऽदौ साध्यसाधनव्यतिरेकस्य स्पष्टनिष्टङ्कनात् । नाऽपि सप्तमः, व्याप्त्याऽत्र व्यतिरेकनिर्णयात् । नाऽप्यष्टमनवमौ, यत्र न स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं न तत्र प्रमाणत्वमिति व्यतिरेकोपदर्शनाद्, इत्यतो निष्कलङ्कादनुमानात्तल्लक्षणसिद्धेरनवद्यमिदं लक्षणम् ॥२॥

( २ ) अथात्रैव ज्ञानमिति विशेषणं समर्थयन्ते-

**अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम्, अतो ज्ञानमेवेदम् ॥ ३ ॥**

अभिमतमुपादेयम्, अनभिमतं हेयम् । तद् द्वयमपि द्वेधा-मुख्य गौणं च । तत्र मुख्यम्-सुखं, दुःखं च । गौणं पुनस्तयोः कारणं कुसुमकुङ्कुमकामिनीकटाक्षाऽऽदिकं,खलकलहकालकूटकण्टकाऽऽदिकं च । एवंविधयोरभिमतानभिमतवस्तुनोर्यौ स्वीकारतिरस्कारौ प्राप्तिपरिहारौ, तयोः क्षमं समर्थं, प्रापकं परिहारकं चेत्यर्थः । अनयोरुपलक्षणत्वादेतदुभयाभावस्वभाव उपेक्षणीयोऽप्यत्रार्थो लक्षयितव्य । तद्रागगोचरः खल्वभिमतो, द्वेषविषयोऽनभिमत , रागद्वेषद्वितयानालम्बनं तु तृणाऽऽदिरुपेक्षणीयः । तस्य चोपेक्षकं प्रमाणं तदुपेक्षाया समर्थमित्यर्थ । हिर्यस्मादर्थे, यस्मादभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं प्रमाणम्, अन इद ज्ञानमेव भवितुमर्हति, नाऽज्ञानरूप सन्निकर्षाऽऽदिकम् । प्रयोगश्च-प्रमाणं ज्ञानमेव, अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमत्वात्,यत्तु नैवं न तदेवं, यथा स्तम्भः, तथा चेदम्, तस्मात्तथा ॥ ३ ॥

* प्रकारो विकल्प ।

उपपत्त्यन्तरं प्रकटयन्ति–

न वै सन्निकर्षाऽऽदेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नम्, तस्यार्थान्तरस्येव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ॥ ४ ॥

अयमर्थः–यथा सम्प्रतिपन्नस्य पटाऽऽदेरर्थान्तरस्याज्ञानरूपस्य स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वाभावात् प्रामाण्यं नोपपत्तिश्रियमशिश्रियत्, तथा सन्निकर्षाऽऽदेरपि । प्रयोगः–संनिकर्षाऽऽदिर्न प्रमाणव्यवहारभाक्, स्वार्थव्यवसितावसाधकतमत्वाद्, यदेव तदेवम्, यथा–पटः, तथा चायम्, तस्मात्तथा ॥ ४ ॥

( ३ ) [ सन्निकर्षोपरि विचारः ] अथाऽस्य साधनस्यासिद्धिसंबन्धवैधुर्यं व्यञ्जयन्तः सूत्रद्वयं ब्रुवते–

न खल्वस्य स्वनिर्णीतौ करणत्वं, स्तम्भाऽऽदेरिवाऽचेतनत्वात्, नाऽप्यर्थनिश्चितौ, स्वनिश्चितावकरणस्य कुम्भाऽऽदेरिव तत्राऽप्यकरणत्वात् ॥ ५ ॥

अस्येति संनिकर्षाऽऽदेः,करणत्वं साधकतमत्वम् । नाऽप्यर्थनिश्चिताविति, अस्य करणत्वमिति योगः । तत्राऽपीति, अर्थनिश्चितावपीत्यर्थः। शेषमशेषमुत्तानार्थम्। प्रयोगौ तु–सन्निकर्षाऽऽदिः स्वनिर्णीतौ करणं न भवति, अचेतनत्वात्,य इत्थं स इत्थम्, यथा स्तम्भ ,तथा चायम्,तस्मात्तथा । सन्निकर्षाऽऽदिरर्थनिश्चितौ करणं न भवति, स्वनिश्चितावकरणत्वात्, य एव स एवम्, यथा स्तम्भ , यथोक्तसाधनसंपन्नश्चायम्, तस्माद्यथोक्तसाध्यः ।

अत्र केचिद्यौगाः संगिरन्ते–

"संनिकर्षाऽऽदिर्न प्रमाणव्यवहारभाग्" इत्यादि यदवादि,तत्राऽऽदिशब्दसूचितकारकसाकल्याऽऽदेः काममप्रामाण्यमस्तु,सन्निकर्षस्य तु प्रामाण्यापकर्षो नोऽमर्षप्रकर्षसिद्धये,तस्यार्थोपलब्धौ साधकतमत्वावधारणेन स्वार्थव्यवसितावसाधकतमत्वादित्यत्र हेत्वेकदेशस्य सिद्धेः । यत्तु तत्सिद्धौ साधनमधुनैवाभ्यधुः, तदसाधीयः, प्रदीपेन व्यभिचारात्, तस्य स्वनिश्चितावकरणस्याप्यर्थनिश्चितौ करणत्वादिति । तदेतत् त्रपापात्रम् अर्थोपलब्धौ संनिकर्षस्य साधकतमत्वासिद्धेः। यत्र हि प्रमात्रा व्यापारिते सत्यवश्यं कार्यस्योत्पत्तिः, अन्यथा पुनरनुत्पत्तिरेव, तत्तत्र साधकतमम्, यथा छिदायां दात्रम्, न च नमसि नयनसंनिकर्षसंभवेऽपि प्रमोत्पत्तिः । रूपस्य सहकारिणोऽभावात् तत्र तदनुत्पत्तिरिति चेत् । कथमसौ रूपेऽपि स्यात् ?, न हि रूपे रूपमस्ति, निर्गुणत्वाद् गुणानाम् । नाऽपि तदाधारभूते द्रव्ये रूपाऽन्तरमस्ति, यावद्द्रव्यभाविसजातीयगुणद्वयस्य युगपदेकत्र त्वयाऽनभ्युपगमात् । अवयवगतं रूपमवयविरूपोपलब्धौ सहकारि समस्त्येवेति चेत् । कथं त्र्यणुकाऽवयविरूपोपलम्भो भवेत् ?, न हि द्व्यणुकलक्षणाऽवयवतद्वयवर्त्तिरूपमुपलभ्यते, येन सहकारि स्यात् । अनुपलभ्यमानमपि तत्तत्र सहकारीति चेत्, तर्हि कथं न तप्तपाथसि पावकोपलम्भसंभवः ?, तदवयवेष्वनुपलभ्यमानस्य रूपस्य भावात् । यदि च रूपं सहकारि कल्पते, तदा समाकलितसकलनेत्रगोलकस्य दूराऽऽसन्नतिमिररोगावयविनः कथं नोपलब्धिः ? । अथाऽत्यन्ताऽऽसत्त्यभावोऽपि सहकारी, न चाऽसौ तिमिरेऽस्तीति चेत् । नन्वियमासत्तिरात्मापेक्षया, शरीरापेक्षया, लोचनापेक्षया, तदधिष्ठानापेक्षया वा विवक्षांचक्रे प्रेक्षादक्षेण ?। आद्ये कल्पे, कथं कस्याऽपि पदार्थस्योपलब्धि ?, व्यापकस्याऽऽत्मनः सर्वभावैरासत्तिसम्भवात् । द्वितीये,कथं करतलतुलितमातुलिङ्गाऽऽदेरुपलम्भः ?। तृतीये, कथं क्वाऽपि चाक्षुषप्रत्यक्षमुन्मज्जेत् ?,चक्षुष प्राप्यकारित्वकक्षीकारेण सर्वत्र स्वगोचरेणाऽऽसत्तिसद्भावात् । तुरीये, कथमधिष्ठानसंयुक्ताञ्जनशलाकायाः समुपलब्धिः ?। अथ येनांशेन तस्यास्तत्र संसर्गः स नोपलभ्यत एव । नैवम्, अवयविनो निरंशत्वेन स्वीकारात् । अपि च–कथमुदीर्चीं प्रति व्यापारितनेत्रस्य प्रमातुर्न काञ्चन काञ्चनाचलोपलब्धिमनुभवामः ?। न च दवीयस्त्वान्न तत्र नेत्ररश्मयः प्रसर्तुं शक्ताः, तेषां शशाङ्केऽपि प्रसरणाभावाऽऽपत्तेः। अथ तदालोकमिलितास्ते वर्द्धन्ते, तर्हि खरतरकरनिकरनिरन्तराऽऽपूरितविष्टपोदरे मरीचिमालिनि सति सुतरां सुराद्रिमभिसर्पेतां तेषां वृद्धिर्भवेत् । न च दिनकरमरीचीनां नितरां कठोरत्वेन तैस्तेषां प्रतिघातः, तदाऽऽलोककलापाऽऽकलितकलशकुलिशाऽऽदिपदार्थानामप्यनुपलम्भाऽऽपत्तेः। ततो न सन्निकर्षसद्भावेऽप्यवश्यं संवेदनोदयोऽस्ति । नापि तदभावेऽभाव एव,प्रातिभप्रत्यक्षाणामार्षसंवेदनविशेषाणां च तत्कालाविद्यमानवस्तुविषयतया संनिकर्षाभावेऽपि समुद्भवात् । तन्न सन्निकर्षस्य साधकतमत्वं साधुत्वसौधाध्यासधैर्यमार्जिजत् । यं च प्रदीपेन व्यभिचारमुदचीचरः, सोऽपि न चतुरचेतश्चमत्कारचञ्चुः, प्रदीपस्य मुख्यवृत्त्या करणत्वानुपपत्तेः, नेत्रसहकारितया करणत्वोपचारात् । यथा चोपचारादर्थव्यवसितौ करणमयं, तथा स्वव्यवसितावपि, न हि प्रदीपोपलम्भे प्रदीपान्तरान्वेषणमस्ति । किं त्वात्मनैवाऽऽत्मानमयं प्रकाशयतीति क्व व्यभिचारः ?। तन्न सन्निकर्षस्यार्थव्यवसितावसाधकतमत्वमसिद्धम् । अनयैव दिशा कारकसाकल्याऽऽदेरप्यर्थव्यवसितावसाधकतमत्वं समर्थनीयम् । इति न हेत्वेकदेशासिद्धिः । रत्ना० १ परि० ।

( ४ ) नायनरश्मिविचारः–

अथ यद्यपि नायना रश्मयोऽध्यक्षतो न प्रतीयन्ते, तथाऽप्यनुमानतः प्रतीयन्ते । अनुमानं च तेजोरश्मिवत् चक्षुः,रूपाऽऽदीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्, प्रदीपकलिकावदिति तद्रश्मिसत्त्वप्रतिपादकं,नैवं भास्करकरसत्त्वप्रतिपादकं क्षपायामनुमानमस्ति, न निशायां बहुलान्धकारायां वृषदंशचक्षुर्बाह्याऽऽलोकसव्यपेक्षम्,अप्रकाशकचाक्षुषत्वात्,दिवा पुरुषचक्षुर्वदित्यस्याऽनुमानस्य रात्रौ तत्सत्त्वप्रतिपादकस्य भावात् । अथ वृषदंशाऽऽदेश्चाक्षुषं तेजोऽस्तीत्यर्थसिद्धेर्न किञ्चित् भास्करज्योतिषा अनुद्भूतरूपेण प्रकल्पितेन, तर्हि मनुष्याऽऽदीनामपि तदस्तीति किमुद्भूतरूपेण बाह्यतेजसा तेषां कृत्यम् ?। अथ यद्यथा दृश्यते तत्तथाऽभ्युपगम्यत इति तु दिवा नायनं सौर्यं भवेदेवं यदि तथा दर्शनं स्यात् यावता यथा रात्रौ भास्करकराऽदर्शनं तथा दिवा चाक्षुषरश्म्यदर्शनं,यथा वा दिवा भास्करावभासनं तथा क्षपायां वृषदर्शने लोकावलोकनम् । विशेषस्त्वयम्–एकदा भास्कररश्मयोऽन्यदा नायनास्तेऽनुमेया इति । अथान्धकारावष्टब्धनिशीथिनीसमयेऽपि भास्करकरसंभवे नक्तञ्चराणामिव रूपदर्शनं स्यात्, न,संतोऽपि

तदा तत्करा न नराणां रूपदर्शनजननप्रकृताः यथा त एव वा-
सरे उलूकाऽऽदीनाम्, भावशक्तीनां विचित्रत्वात्, तस्मादनुप-
लम्भात् क्षपायां यथा न भास्करकरास्तथा नायना रश्मयोऽ-
प्यवेति स्थितम्। यदपि परेण प्रोक्तम्-दूरस्थितकुड्याऽऽदिप्र-
तिफलितानामन्तराले गच्छतां प्रदीपरश्मीनां सतामप्यनुपल-
म्भदर्शनान्नानुपलम्भात् तदभावसिद्धिरिति,तदप्यनेनैव निर-
स्तम्। रविरश्मीनामपि क्षपायामभावासिद्धिप्रसङ्गः। किं च-
योगिन आत्ममन संयोगो यदा सदसद्वर्गाऽऽलम्बनमेकं ज्ञानं
जनयति तदा सकलसदसद्वर्गं तस्य चेत्सहकारी तदर्थवत्
प्रमाणमित्यत्रार्थः सहकारी, यस्य विशिष्टप्रमितौ प्रमातृप्रमे-
याभ्यामर्थान्तरं तदर्थवत्प्रमाणमिति विरुध्यते। सहकारी चे-
दसौ देशाऽऽद्यन्तरितोऽपि तर्हि तत्कुड्याऽऽदेः प्रभासुरत-
योत्पत्तौ प्रदीपो देशव्यवहितोऽपि सहकारीति नान्तराले तद्र-
श्मिसिद्धिः। ततो न तैरनुपलम्भव्यभिचारः। अत एव ताप्य-
मानमुदकं तेज उष्णाऽऽदिव्यवहितमप्युष्णस्पर्शं जनयिष्यती-
ति नोदके उष्णस्पर्शोपलम्भादनुद्भूतभास्वररूपस्य तेजस सि-
द्धिः। यदपि चक्षुः स्वरश्मिसंबद्धार्थप्रकाशकं,तैजसत्वात् प्रदी-
पवदित्यनुमानम्,अनेन किं चक्षुषो रश्मयः साध्यन्ते, उतान्य-
तः सिद्धाना ग्राह्यार्थसंबन्धस्तेषां साध्यत इति?। आद्ये पक्षे
तरुणनारीनयनाना दुग्धधवलत्तया भासुररश्मिरहिताना-
मध्यक्षतः प्रतीतेरध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशान्तरप्रयुक्तत्वेन का-
लात्ययापदिष्टो हेतुः। अथ यदध्यक्षग्रहणयोग्यसाध्यमध्यक्षत
एव तत्र नोपलभ्यते तत्र तद्बाध. कर्मणः। यथा-अनुष्णोऽ
ग्निः,सत्त्वादिति, न चाध्यक्षग्रहणयोग्या नायना रश्मयः, सदा
तेषामदृश्यत्वात्,न। पृथिव्यादिद्रव्येऽप्येतेषां साध्यप्रसङ्गः(?)
तथाहि-रश्मिवन्तो भूम्यादय., सत्त्वात्प्रदीपवदित्यप्येवमातुं
शक्यत्वात्। यथैव हि तैजसत्वं प्रदीपे रश्मिवत्तया व्या-
प्तिमुपलब्धं, तथा सत्त्वमप्यस्यान्यथाऽपि सम्भवेन तैजस-
त्वस्येति कुतो विभागः?। अथ भूम्यादेस्तत्साधनेऽध्यक्षबा-
धः। न। दुग्धधवलत्तावलालोचनानामपि तत्साधने तद्विरोधः
समानः। अथ वृषदंशचक्षुषोऽध्यक्षतो वीक्ष्यन्ते रश्मय इति
कथं तद्विरोधः?। ननु यदि तत्र ईक्षन्तेऽन्यत्र किमायातम्. त
एवान्यत्र तत्साधने हेम्नि पीतत्वप्रतीतौ रजते पीतत्वप्रसङ्ग.।
प्रमाणसाधनमुभयत्र तुल्यम्। अथ तत्र तत्प्रतीयन्ते नान्यत्र
सत्त्वेन ते साध्यन्ते,अपि च अनुमानतस्तत्तु दृष्टान्तमात्रम्, न
न्वत्र नेत्रत्वादिति यदि हेतु', तैजसत्वादित्यस्याऽऽनर्थक्यम्।
अत एव प्रकृतासिद्धेरध्यक्षबाधा चात्रापि तदवस्थितैव, तै-
जसत्वादित्यस्य हेतुत्वे प्रदीपदृष्टान्तेनैवार्थसिद्धेः वृषदंशनेत्र-
निदर्शनमनर्थकम्,न च तस्य तैजसत्वं प्रतिसिद्धमिति तत्सा-
धनविकल्पनात् तदपेक्षया दृष्टान्तदोष. न च रश्मिवत्त्वाद्बि-
डाललोचनस्य तैजसत्वं सिद्धं मण्यादीनामपि तत्प्रसङ्ग.। न
च रश्मिवत्त्वान्मण्यादीनामपि तैजसत्वम्,उष्णप्रभाया एव तै-
जसत्वात्। अन्यथा तरुणतरुकिशलयानामपि तैजसत्वं स्यात्
न च नारीनयनाना तैजसत्वं सिद्धमिति सिद्धो हेतु.। न च र-
श्मिवत्त्वादेव तेषा तत्साध्यते इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गः,सिद्धे
भास्वरप्रभावत्त्वे तैजसत्वसिद्धिस्ततश्च भास्वरप्रभावत्त्वे च त-
त्सिद्धिरिति कथं नेतरेतराश्रयदोष. ।अथ तैजसत्वं चक्षुषः,
रूपाऽऽदीनां मध्य रूपस्यैवप्रकाशकत्वात्प्रदीपवदित्यतोऽनु-
मानात् तैजसत्वसिद्धेर्नेतरेतराऽऽश्रयदोष । नन्वत्र भास्व-
ररूपोष्णस्पर्शतेजोद्रव्यसमवेतगोलकस्य भावकार्यद्रव्यं यदि
शब्दवाच्यं तदा तस्य तैजसत्वसाधने अध्यक्षविरोध, त-
द्विपरीतरूपस्पर्शाऽऽधाररूपतया अध्यक्षतः प्रतिपत्ते ।
तथा हि-अवलापारावतबलीवर्दाऽऽदीनां चक्षुषो धवल-
लोहितनीलरूपतयोष्णस्पर्शविकलतया चाऽऽध्यक्षतः प्रति-
पत्तिः सिद्धेव। न च गोलकव्यतिरिक्तं चक्षुः तद्ग्राहकप्र-
माणाभावात् सिद्धमित्याश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिस्तरूप-
स्यैव प्रकाशकत्वादिति हेतुरनैकान्तिकश्च। तुहिनकरनि-
करेण तस्य रूपस्यैव प्रकाशकत्वेऽप्यतैजसत्वात्। न। त-
स्यापि पक्षीकरणाद्दोष व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणादे-
कान्तिकत्वे सर्वत्रानैकान्तिकहेत्वभावप्रसङ्गः। न चैवं, ज-
लानलयोः विशेषगुणशङ्करादभेदसिद्धे.। न च तन्निकरान्त-
र्गतं तेजस्तत्रापि रूपप्रकाशकमिति न व्यभिचारः, प्रदीपेऽ-
प्यन्यस्य तदन्तर्गतस्य तत्प्रकाशकस्य प्रकल्पनात् दृष्टान्ता-
सिद्धिप्रसङ्गे प्रत्यक्षबाधोभयत्र च रूपसम्बन्धेन रूपस्यैव प्र-
काशकेन च व्यभिचारः, न चाऽसौ रसाऽऽदेरपि प्रकाशक
इन्द्रियान्तरपरिकल्पनानिष्फलप्रसङ्गः। रूपप्रकाशकत्वं च रू-
पज्ञानकत्वं, तच्च नीलरूपे विद्यते, अन्यथाऽर्थवत्प्रमाणमित्य-
त्रार्थसहकारित्वं तस्य न स्यादिति तेन व्यभिचार.। अथ द्र-
व्यत्वे सति तैजसत्वं करणस्य चक्षुषो रूपादीनां मध्ये रूपस्यै-
व प्रकाशकत्वादिति विशेषणान्न सम्बन्धरूपाऽऽभासनमने-
कान्तः। ननु यथा सम्बन्धाऽऽदेरद्रव्यादेरप्यतैजसस्य रूपज्ञा-
नजननं तथा चक्षुषोऽपि किं स्यात्। न चादर्शनादित्युत्तरं
समर्थम्, दर्शने निवृत्तेऽनिवर्त्तकत्वात्प्रदीपवदिति दृष्टान्त-
स्याऽपि रूपप्रकाशकत्वासिद्धेः साधनविकलता दृष्टान्तस्य।
न च प्रदीपे सति प्रतिनियतप्राणिनां रूपदर्शनसम्भवात्तस्य
रूपप्रकाशकत्वमञ्जनाऽऽदिसंस्कृतचक्षुषां तदभावेऽपि रूप-
दर्शनसद्भावात्। न च यदन्तरेणापि यद् भवति न तत्का
र्यमितरत् तत्कारणम्, अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनत्वात् तद्भा-
वस्य। अथ प्रदीपे सति यद् दर्शनं तत्तदभावे न भवति यत्तु
तदभावे भवति न तत्तथाऽपि तत्सदृशम्,न चान्यस्य च व्य-
भिचारे अन्यस्यासौ अतिप्रसङ्गात्। असदेतत् यतो यादृशमेव
रूपदर्शनमालोके संस्कृतचक्षुषा तदभावेऽपि तादृशमेव तत्,
भेदानवधारणात् । तथाहि-तद्भेदकल्पने न किञ्चित् कस्य-
चिद्वस्तुनः सदृशमिति सौगतमतानुप्रवेशः स्यात्, रूपप्रदी-
पयोश्च सहोत्पन्नयोर्युगपद्दर्शने प्रदीपवद्रूपस्याऽपि प्रदीपप्र-
काशकत्वाद् रूपं तैजसं भवेत्, अन्यथा न प्रदीपोऽपि तैजसः
स्यात्,तज्जनकत्वाविशेषात्तयो'। न चान्यदा प्रकाशकत्वोपल
ब्धिसिद्ध एव तदाऽपि प्रकाशकः,अन्यदाऽप्यञ्जनाऽऽदिसंस्कृ-
तचक्षुषां तदभावेऽपि रूपदर्शनसद्भावात् तस्य तत्प्रकाशक-
त्वासिद्धे. अथ तस्मिन् सति कदाचित्कस्यचिद्रूपदर्शनात्तस्य
तत्प्रदर्शकत्वं तर्हि नक्तञ्चराणां संतमसे रूपदर्शनात्, तदभावे
तदभावात् हेतुफलभावस्य सर्वत्र तन्निबन्धनत्वात् तमोऽपि
रूपप्रकाशत्वात्प्रदीपवत्तैजसं भवेत् अन्यथा हेतोरनेनैव व्य-
भिचार. स्यात्। आलोकाभाव एव तम इति चेत्,न,आलोक-
स्याऽपि तमोऽभावरूपताप्रसङ्ग'। आलोकस्य तरतमादिरूप-
तयोपलम्भात् नाभावरूपतेति चेत्,न,तमस्यप्यस्य समानत्वा
त्। यथा चाऽऽलोकः प्रतिभासविषयस्तथा तद्विषयः। न चा-
ऽऽलोकप्रतिभासाभाव एव तमःप्रतिभासः,इतरत्राप्यस्य स-
मानत्वात् न च चक्षुर्व्यापाराभावेऽपि तत्प्रतिभाससंवेदनादा-

लोकप्रतिभासाभाव एव तमःप्रतिभासः, प्रतिनियतसामग्रीभवविज्ञानावभासित्वात् प्रतिनियतभावानां तमसः तदतत्प्रभवविज्ञानावभासित्वात् ,आलोकस्य च तद्विपर्ययात्। यद्वाऽऽलोकस्याप्यचक्षुष्ट्वे सत्यपिस्वप्नज्ञाने प्रतिभासनात्तमोज्ञानाभावरूपता भवेत्। अथाऽऽलोकस्य रूपप्रतिपत्तौ हेतुभावाच्च भावरूपता तर्हि तमसोऽपि नक्तञ्चररूपप्रतिपत्तौ हेतुभावो विद्यत इति नाभावरूपता भवेत्, तदेवमालोकस्य वस्तुत्वे तमसोऽपि तदस्त्विवति तेन हेतोर्व्यभिचारः। भवतु वाऽऽलोकाभाव एव तमः, तथाऽपि न व्यभिचारापरिहारः, तदभावस्य तैजस्यापि तत्प्रकाशकत्वात्। अथ तमोऽभावेऽपि रूपदर्शनाच्च तस्य तत्प्रकाशकत्वं, तर्हि नक्तञ्चराणामालोकाभावेऽपि रूपदर्शनादालोकस्यापि न तत्प्रकाशकत्वं भवेत्। अथास्मदादीनां किमालोकाभावे रूपदर्शनं न भवति, भवत्येव, कथमन्यथाऽन्धकारसाक्षात्करणम्;घटरूपदर्शनं किं नेति चेत्, बहलतमोव्यवधानात्, तीव्राऽऽलोकतिरोहितालपरूपवत्, प्रदीपोपादानं तु तस्य व्यवच्छेदार्थम्। अत एवान्यत्रोक्तम्–" तमोनिरोधे वीक्ष्यन्ते, तमसाऽनावृतं परम्। घटाऽऽदिमित्यादि।" प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधायकतमोऽपनेतृत्वे तैजसं चक्षुः रूपाऽऽदीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्,प्रदीपवदिति साधनविकलत्वात् दृष्टान्तस्य निरस्तं द्रष्टव्यम्। न चान्यत एव तस्य रश्मयः सिद्धाः, केवलमनेन प्राप्तार्थप्रकाशकत्वे तेषां साध्यत इति वक्तव्यम्, तत्सद्भावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याभावात्। अथ यद्यप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुरविशेषेण सर्वं प्रकाशयेत्, तन्न, अर्थानां नियतशक्तित्वात् ,यतो य एव तत्र योग्यः स एव तत्प्रकाशयति, अन्यथा संयुक्तसमवायाविशेषाच्चक्षुर्यथा कुवलयरूपं प्रकाशयति तथा तद्गन्धमपि प्रकाशयेत्, तथा चेन्द्रियान्तरवैफल्यम्। अथ योग्यताऽभावान्न तत्तद्गन्धमवभासयति तर्हि योग्याताभावात् प्राप्त्यभावेऽपि नातिव्यवहितमिति सन्निकृष्टं वा तद्रूपं प्रकाशयतीति सर्वत्र योग्यतैवाऽऽश्रयणीया नापरसंबन्धप्रकल्पनेन कृत्यम्,रश्मयो वा कुतो न लोकान्तरमुपयान्तीति प्रेरणायां परेणाप्ययोग्यतैव तत्रेतरत्र तु योग्यता प्रतिविधानत्वेन वक्तव्या; तथा यस्य कारणाद् भिन्नमेव कार्यं तस्य भेदाविशेषात् सर्वं सर्वस्मात् कुतो नोत्पद्यत इति चोद्ये योग्यतातो नापरमुत्तरमिति सैवात्राप्यभ्युपगमनीया। किं च–यदि प्राप्तार्थप्रकाशकं, चक्षुः स्फटिकाऽऽद्यन्तरित वस्तुप्रकाशकं न स्यात्, तद्रश्मीनां विषयं प्रति गच्छतां स्फटिकाऽऽदिना प्रतिबन्धात्। न च तैस्तस्य ध्वस्तत्वादयं न दोषः, तद्व्यहितदर्शनसमये स्फटिकाऽऽदिव्यवधायकस्यादर्शनप्रसङ्गात्, तदुपरि व्यवस्थापितस्य चाऽऽधारविनाशोत्पातप्रसङ्गश्च न हि परमाणवो दृश्याः कस्यचिदाधारभूता वा,अवयविकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गः;अन्यस्यावयविन आशूत्पत्तेरदोषश्चेत्, न, तदा तद्व्यवहितस्यादर्शनप्रसङ्गः। तथा च यदा व्यवधायकदर्शनं न तदा व्यवहितदर्शनं, यदा च व्यवहितदर्शनं न तदा व्यवधायकदर्शनमिति प्रसज्येत, न चैवम्, युगपद् द्वयोर्दर्शनात्। अथाशूत्पत्तेर्निरन्तरव्यवहितप्रतिपत्तिविभ्रमः, तर्हि तदभावस्याऽपि आशूत्पत्तेरभावप्रतिपत्तिविभ्रमस्तथा किं न भवेत्, भावपक्षस्य बलीयस्त्वादिति चेन्न भावाभावयोः परस्परस्वकार्यकरणाविशेषात्। किं च–कलुषजलाऽऽद्यावृतस्यार्थस्य किं न ते प्रकाशकाः,स्फटिकाऽऽदेरिव जलाऽऽदेरपि भेदे तेषां सामर्थ्यप्रतिघातात्, न जलेन ते प्रतिहन्यन्ते। स्वच्छजलेनाऽपि तेषां प्रतिघातात्, तद्व्यवहितस्याऽप्यप्रकाशनप्रसङ्गात्, अथ तेषां तत्र प्रकाशनयोग्यता तर्हि तत एतेऽप्राप्तमप्यर्थं प्रकाशयिष्यन्तीति व्यर्थं संयुक्तसमवायाऽऽदिसन्निकर्षप्रकल्पनम्। अपि च–समवायसंबन्धिनिषेधे चक्षुषो घटरूपेण संयुक्तसमवायप्रतिबन्धस्याऽभावात् तद्रूपाप्रकाशकत्वात् कथं नाऽसिद्धो हेतुः, रूपाऽऽदीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वादिति। अथेह तन्तुषु पट इति बुद्धिः संबन्धनिबन्धनत्वादिह कुण्डे दधीति बुद्धिवदित्यतोऽनुमानात् समवायसिद्धेः, न, संयुक्तसमवायसंबन्धाभावः नेह बुध्या संबन्धमात्रसाधने, घटतद्रूपयोः कथञ्चित्तादात्म्यसंबन्धाभ्युपगमात् सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात्। अथ कथञ्चित्तादात्म्यसंबन्धः तद्बुद्धिनिमित्तत्वेन प्रतिपन्न इति कथञ्चित् तादात्म्यसंबन्धे विरोधो नेष्यते, तर्हि भावाभावयोः कथञ्चित्तादात्म्यभावे समवायाऽऽदेरसंभवादसंबन्धः स्यात्। तथा चाभावे न अक्षाणां सन्निकर्षाभावाद् नाऽक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात्, विशेषणविशेष्यभावस्य भावाऽभावयोः संबन्धस्य भावात् नाऽयं दोष इति चेत्। न। भावाऽभावाभ्यां तस्यानर्थान्तरत्वे तावेव स एव वा स्यात्, अर्थान्तरत्वे भावाभावयोः तद्भावेऽपि न विशेषणविशेष्यरूपता, ताभ्यां तस्याऽसंबन्धात्, संबन्धे वाऽऽभ्यां तस्य परेण संबन्धनिमित्तेन विशेषणविशेष्यभावेन भवितव्यं, तस्याऽपि संबन्धनिमित्तेनापरेण तेनेत्यनवस्था भवेत्, तस्मात्कथञ्चित्तयोः तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा भावस्याध्यक्षप्रमाणग्राह्यता न भवेत्, तदेवं समवायासिद्धेर्नाक्षस्य रूपेण संबन्ध इति न तेन तस्य ग्रहणं परपक्षे भवेदिति चक्षुषो घटेन संयोग एव, अयुतसिद्धत्वात्, द्रव्यसमवेतानां गुणाऽऽदीनां संयुक्तसमवाय एवेत्यादिषोढाः सन्निकर्षप्रतिपादनमयुक्तम्, संयोगसमवायविशेषणविशेष्यभावसंबन्धानामभावेन तदनुपपत्तेः संयोगाऽऽदेश्चाभावः प्रतिपादितो यथाऽवसरमिति न पुनः प्रतिपाद्यते। अथवा–अस्माकं चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं, प्रमाणाऽभावान्न सिद्धं, तथा भवतोऽप्यप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्य तत एव न सिद्धमिति कथं "रूपं पुणपासाई अपुट्ठं तु" इत्यभिधान युक्तिसङ्गतम्। न, तस्याप्राप्तार्थप्रकाशने अनुमानसद्भावात्। तथाहि–अप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुरित्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वात्, यत्पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यासन्नप्रकाशकमुपलब्धं, यथा श्रोत्रमत्यासन्नेऽर्थेऽप्रकाशकं च चक्षुस्तस्मादप्राप्तार्थप्रकाशकमिति व्यतिरेकी हेतुः। न चायमसिद्धो हेतुर्गोलकस्थस्य कामलाऽऽदेः पक्ष्मपुटगतस्य वाञ्जनाऽऽदेस्तेना प्रकाशनात्, कथमन्यथा दर्पणाऽऽदेः परोपदेशस्य वा तत्प्रतिपत्त्यर्थमुपादानं भवेत् अथ साध्यनिवृत्तौ नियमेन तत् निवर्त्तमानऽत्यासन्नार्थप्रकाशकत्वं नियमेन व्यावर्तते, चक्षुष इव तस्याप्यत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वात्ततो नायं व्यतिरेकी हेतुः, न कर्णशष्कुलीप्रविष्टमशकाऽऽदिशब्दस्य तेन प्रकाशनात्, स्पर्शनाऽऽदौ त्वविवाद एव, चक्षुःश्रोत्रमनसामप्राप्तार्थकारित्वमिति च नादप्राप्तार्थाप्रकाशकं श्रोत्रमिति न साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिस्तद् नायं व्यतिरेकी हेतुरिति सौगतः। यथा सर्वगताऽऽत्मपक्षे साऽऽत्मकं जीवच्छरीरं, प्राणाऽऽदिमत्वादितिहेतुः, न, प्राप्तकारित्वे श्रोत्रस्य चक्षुष इवात्यासन्नविषयप्रकाशकत्व न स्यादिति मशकादिशब्दस्य प्राप्तस्याप्रत्यक्षतः

प्रकाशकत्वेन प्रतीयमानस्याप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्याध्यक्ष-बाधितम्, अग्नावनुष्णत्ववत्। अथ दूरे शब्दो निकटे शब्द इति प्रतीतेः प्राप्तार्थप्रकाशकं श्रोत्रमिष्यते, न सदेतत्,यतः साकारज्ञानपक्षेऽनाकारज्ञानपक्षे वाऽयमभ्युपगम इति वाच्यम्। न तावत्प्रथमः पक्षः शब्दाऽऽकारस्य ज्ञानगतस्याज्ञानावभासे दूरनिकटव्यवहारानुपपत्तेः। अन्यथा स्वसंवेदनाऽऽकारेऽपि तत्प्रसक्तिर्भवेदिति सर्वत्राऽऽसन्नदूरव्यवहारे घटमाने व्यावर्त्यः कः स्यात्। आकाराऽऽधायकस्याऽऽसन्नाऽऽदित्वात् तद्व्यवहारस्तर्हि परपक्षेऽप्येतदुत्तरं समानं भवेदिति किं तत्प्रतिक्षेपः, सक्यं हि परिणामेप्येवमभिधातुं, कर्णशष्कुल्यनुप्रविष्टस्य शब्दस्य ग्रहणेऽपि तत् प्रथमकारणस्य दूरत्वात् दूरव्यवहारो, विपर्ययाच्च विपर्यय इति। द्वितीयपक्षस्तु न युक्तः, सौगतस्यानभिमतत्वात्। अथ परापेक्षया प्राप्तार्थप्रकाशकं श्रोत्रमित्यभिधीयते दूराऽऽदिव्यवहारात् ते तद्विषये चक्षुर्वदिति नैवं परसिद्धेनानुमानेन प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थाऽऽदेश्चार्वाकस्योत्पत्त्यनित्यत्वाऽऽदिना सुखाऽऽदेरचेतनत्वप्रसाधनं साङ्ख्यस्य वा निषिद्धं भवेत्। बौद्धाभ्युपगतेनानुमानेनोत्पत्त्यादिना च तेनापि स्वाभिप्रेतसाध्यस्य साधयितुं शक्यत्वात्। यश्च घ्राताऽऽदेरागतस्य ग्रहणेऽपि दूराद्यद् व्यवहारं प्रतिपद्यते परः स कथं तत एव त्वदीय साध्यं प्रतिपद्येत। यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव श्रोत्रेण गृह्येत नाऽऽगतस्तर्हि कथमनुवाते शब्दस्य तद्देशोत्पत्तिकस्यैव श्रवणं, शब्दाविनाशे अनुकूलवाते श्रवणं, मन्दवाते मनाक् श्रवणं भवेत् न च प्रतिकूलवाते शब्दस्य नाशितत्वात् श्रोत्रस्य वाऽभिहतत्वान्न श्रवणं, शब्दविनाशे अनुकूलवातस्थस्यापि तथा श्रवणप्रसक्तेः, शब्दस्य विनष्टत्वाद्व्यवहितदेशस्थस्य च तस्य श्रोत्राभिघातहेतुत्वानुपपत्तेः, अन्यथा भस्त्राऽऽदिव्यवस्थितस्यापि तस्य तदुपघातकत्वं स्यादनुकूलवातेन तस्य तत्प्रतिप्रेरणात्तेन तत्श्रवणे प्राप्तः शब्दः श्रूयत इति प्राप्तं, तथाऽपि तत्र दूराऽऽदिव्यवहारे श्रोत्रमप्राप्तप्रकाशकमतः सिद्ध्यतीति कथं न व्यतिरेकी हेतुः। न च चक्षुःशब्देन नायनरश्म्यभिधानादत्यासन्नप्रकाशकत्वाद्य तेषामऽत्यासन्नाप्रकाशकत्वादिति हेतुरसिद्धः, तेषां प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणाविषयत्वेन सद्भावासिद्धेरिति प्रतिपादनात् तदसिद्धताऽऽदिदोषवैकल्याच्च हेतोरप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं चक्षुषः सिद्धमिति "रूपं पुण पासइ अपुट्ठं तु" इति न युक्तिविकलं वचः, तदेवमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं प्रत्यक्षस्यासिद्धम्। यदपि तत्त्वतः करणेन्द्रियसम्बन्धस्य सुखाऽऽदिज्ञानोत्पत्तावसम्भवेन तस्याव्यापकत्वादभिधानमिति। तदप्यसम्बद्धम्। यथाहीन्द्रियार्थसन्निकर्षो यथोक्तन्यायेन रूपिज्ञानोत्पत्तौ न संभवीति न प्रत्यक्षलक्षणं तथाऽन्तःकरणेन्द्रियसवन्धोऽप्यन्तःकरणस्य परिकल्पितस्यासिद्धत्वात्तत्संबद्धस्य दूरापास्तत्वात्। यथा चान्तःकरणस्यासिद्धिः तथा स्वनिर्णयं ज्ञानस्य साधयद्भिः प्रदर्शितम्। यदप्यव्यभिचाराऽऽदिकार्यविशेषणोपादानमन्तरेण सन्निकर्षस्य साधुत्वं ज्ञातुं न शक्यत इति अभिधानं, तदप्यसङ्गतम्। परपक्षे अव्यभिचाराऽऽदिधर्मोपेतस्य ज्ञानकार्यस्यैवासिद्धेः कथं ततः सन्निकर्षस्य साधुत्वावगमः, कार्यत्वानवगमश्च। स्वसंविदितत्वानभ्युपगमे ज्ञानान्तरप्रत्यक्षतायामनवस्थाऽऽदिदोषोपपत्तेः प्राक् प्रतिपादनात्। यच्चार्थग्रहणं स्मृतिफलसन्निकर्षनिवृत्त्यर्थमित्युक्तम्। तदप्यसंगतम्। स्मृतिवत् ज्ञानस्याप्यर्थजन्यत्वासिद्धेस्तज्जन्यत्वात् तस्य तद्ग्राहकत्वे समये चिरातीतानागतार्थग्राहकत्वं तस्य न स्यात्, तथाभूतस्यार्थस्य तत्प्रत्ययजनकत्वात्, तथा च सर्वज्ञज्ञानं सकलपदार्थग्राहकं न भवेदिति प्राक् प्रतिपादितम्। यदपि ज्ञानग्रहणं सुखाऽऽदिनिवृत्त्यर्थमिति प्रतिपादितम्। तदप्यसङ्गतम्। सुखाऽऽदेर्ज्ञानरूपत्वानतिक्रमात्। अन्यथा-ह्लादाऽऽद्यनुभवो न स्यात्, तत्तद्ग्राहकस्यापरस्यानुभवस्यानवस्थाऽऽदिदोषतो निषिद्धत्वात्। यदपि भिन्नहेतुकत्वं सुखाऽऽदेः प्रतिपादितं, तदपि सुखाऽऽदेः सामान्यस्यासिद्धिरसङ्गतम्। यश्च प्रत्यक्षविरोधः प्रतिपादितो ज्ञानसुखयोरेकत्वे ज्ञानमर्थावबोधस्वभावं सुखाऽऽदिकमाह्लादाऽऽदिस्वभावं ततो भिन्नमध्यक्षतोऽनुभूयत इति। सोऽप्यनुपपन्नः। यत स्वावबोध एव विज्ञाने अव्यभिचरितो धर्मस्मरणाऽऽदिज्ञानरूपतायामप्यर्थावबोधरूपताया अभावात्। एतच्चार्थोपलब्धिरिति विशेषणमुपपादयता प्रमाणे परेणाप्यभ्युपगमे च स्वावबोधरूपताऽनुज्ञानाव्यभिचरिता सुखाऽऽदावप्यस्ति। अन्यथा तस्याऽनुभव एव न स्यादिति प्रतिपादितम्। ततश्चासुखाऽऽदेर्ज्ञानरूपतायां कथमध्यक्षविरोधः, अदृष्टविशेषप्रभवत्वेन च सुखाऽऽदेर्भेदे सुरूपज्ञानस्य विरूपज्ञानात् ज्ञानरूपतया भेदो भवेत्, अदृष्टविशेषजन्यताया अविशेषात्। तत्र सुखाऽऽदिव्यवच्छेदार्थं ज्ञानपदोपादानं युक्तम्। अव्यपदेश्यपदोपादानमप्यनर्थकम्। व्यवच्छेद्याभावात्। अथोभयजं ज्ञानं व्यवच्छेद्यमिति चेत्। न। तस्याध्यक्षतायां दोषाभावात्। अथ शब्दजन्यत्वात्तस्य शब्देऽन्तर्भावः,नन्वक्षजत्वादध्यक्षे किमिति नान्तर्भावः ?। शब्दस्य तत्र प्राधान्याच्छाब्दं तदिति चेत्। न। अध्यक्षलिङ्गातिक्रान्त एव शब्दस्य प्राधान्येन व्यापारोपगमात् अथोभयजज्ञानविषयस्यापि तदतिक्रान्तत्वं तर्ह्यव्यपदेश्यपदोपादानमन्तरेणापि शाब्द एव तस्यान्तर्भावो भविष्यतीति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यपदेश्यपदोपादानमनर्थकम्। अथोभयजत्वादस्य प्रमाणान्तरत्वं स्यादसत्यव्यपदेश्यग्रहणेनाक्षप्राधान्ये प्रत्यक्षता, शब्दप्राधान्ये तु शाब्दतेति कथं प्रमाणान्तरता। न चोभयोरपि प्राधान्य, सामग्र्यामेकस्यैव साधकतमत्वात्तेनैव च व्यपदेशप्राप्तेः। यदपि व्यभिचारज्ञाननिवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदमुपात्तम्। तदप्ययुक्तम्। तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य परमतेनासङ्गतेः। तथाहि-अदुष्टकारणप्रभवत्वं बाधारहितत्वं वा अव्यभिचारित्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यावगमव्यतिरेकेण न ज्ञातुं शक्यमिति स्वतः प्रामाण्यनिराकरणप्रस्तावे प्रतिपादितमिति प्रवृत्तिसामर्थ्यमेवाव्यभिचारित्वं, तच्च विषयप्राप्त्या विज्ञानस्याव्यभिचारित्वं ज्ञायमानं किं प्रतिभातविषयप्राप्त्याऽवगम्यते, आहोस्विदप्रतिभातविषयप्राप्त्या ?, तदोदकज्ञाने किमुदकावयवी प्रतिभातः प्राप्यते, उत तत्सामान्यमाहोस्विदुभयमिति पक्षाः तत्र यद्यवयवी प्रतिभात प्राप्यत इति पक्षः, स न युक्तः, अवयविनोऽसत्त्वे प्रतिभासं प्रति विषयताऽसम्भवात्, सत्त्वेऽपि न तस्य पराभ्युपगमेन प्रतिभातस्य प्राप्तिः,कृष्यादिविवर्तनाभिघातोपजातावयवक्रियाऽऽदिक्रमेण ध्वंससम्भवात् अथावस्थितव्यूहैरवयवैरारब्धस्य तस्य तज्जातीयतया प्रतिभातस्यैव प्राप्तिः, नन्वेवमप्यन्यः प्रतिभातोऽन्यश्च प्राप्यत इति कथं तदवभासिनो ज्ञानस्याव्यभिचारिता। न ह्यन्यप्रतिभासनेऽ-

न्यत्र प्राप्तावव्यभिचारिता । अन्यथा मरीचिकाजलप्रतिभासे दैवात् सत्यजलप्राप्तौ तदवभासिनस्तस्याव्यभिचारिता भवेत् । न च तद्देशजलप्रापकस्याव्यभिचारितेति नायं दोषः, यतो देशस्यापि भास्करकरानुप्रवेशाऽऽदिनाऽवयवक्रियाक्रमेण नाशात् तत्त्वानुपपत्तिः,न चैवं व्यभिचारवादिनः चन्द्रार्काऽऽदिज्ञानं विनाऽस्य तदवस्थपदार्थोत्पादितत्वात् तदव्यभिचारि भवेत् । अथ प्रतिभातोदकसामान्यतदव्यभिचारीति पक्षः । सोऽप्ययुक्तः । एकान्ततो व्यक्तितो भिन्नस्य वा सामान्यस्यासत्त्वेन प्रतिभासप्राप्त्यालम्बनत्वायोगात्, सत्त्वेऽपि तस्य नित्यतया स्वप्रतिभासज्ञानजनकत्वायोगाद्,अजनकस्य च परेण ज्ञानविषयत्वानभ्युपगमात्, ज्ञानविषयत्वेन तस्य पानावगाहनाऽऽद्यर्थक्रियानिवर्त्तकत्वाच्चार्थक्रियार्थिनां तद्ज्ञानात् जलाऽऽनुपादानार्था प्रवृत्तिर्भवेत् । न च समवायात्सामान्यावगमेऽपि व्यक्ता व्यक्त्यर्थज्ञानार्थिनां प्रवृत्तिः,अन्यप्रतिभासे अन्यत्र प्रवृत्तियोगात्,योगे वाऽतिप्रवृत्त्ययोगात्,योगे वाऽतिप्रसङ्गात् । न च समवायस्यातिसूक्ष्मतया जातिव्यक्त्योरेकलोलीभावेन जातिप्रतिपत्तावपि भ्रान्त्या व्यक्तौ प्रवृत्तिः, तत्ज्ञानस्यातस्मिंस्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तिरूपत्वादव्यभिचारित्वायोगात् । न च समवायेऽपि जातेर्व्यक्तौ सम्भवति, संभवेऽपि तस्य व्यापितया सर्वत्रैकस्य प्रतिनियतव्यक्तिनिमित्तत्वानुपपत्तिः । न च नित्यस्य तस्य ज्ञानजनकत्वमपि संभवीति स्वग्राहिणि ज्ञाने अप्रतिभासमानस्य कथं भ्रान्तिहेतुताऽपि तस्य संभवति, प्रतिभासनेऽपि स्वरूपेण प्रतिभासनात् कथं भ्रान्तिनिमित्तता ?। न च सामान्यस्य प्रतिपत्तौ सामान्यसाध्यार्थक्रियार्थितया तदर्थिनां प्रवृत्तिः, ज्ञानाभिधानलक्षणायास्तदर्थक्रियायास्तदैव निष्पत्तेः व्यापकत्वाच्च सामान्यस्य न प्रतिनियतदेशकालप्रवृत्तिविषयतेति प्रवृत्त्यभावात् तत्सामर्थ्ये तदभावात् न तदवभासिनो ज्ञानस्याऽव्यभिचारिताऽवगतिः । अथ प्रतिभाततद्वदर्थप्राप्त्या तदव्यभिचारित्वमिति पक्षः,सोऽप्यसंगतः।अवयविसामान्ययोरभावे तद्वत् पक्षस्य दूरापास्तत्वात् । अथ प्रतिभातार्थप्राप्त्या व्यभिचारिता, न. अवयवानामपि द्व्यणुकं यावदवयवित्वात् परमाणूनां चार्वाग्दर्शने अप्रतिभासनान्न कथं चित्प्रतिभातार्थप्राप्त्या ज्ञानस्याव्यभिचारितासम्भवः । किं च-प्रवृत्तिसामर्थ्येनाव्यभिचारिता पूर्वोदितज्ञानस्य किं लिङ्गभूतेन ज्ञायते, उताध्यक्षरूपेण ?। यद्याद्यः पक्षः,स न युक्तः । तेन सह संबन्धानवगतेः,अवगतौ वा न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रयोजनम् । अथ द्वितीयः, सोऽपि न युक्तः। ध्वस्तेन पूर्वज्ञानेन सह इन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात्तद्विषयज्ञानस्याध्यक्षफलतानुपपत्तेः केशोन्दुकाऽऽदिज्ञानवत्तस्य निरालम्बनत्वाच्च कथमव्यभिचारिताव्यवस्थापकत्वम् । न चाविद्यमानस्य कथञ्चिदविषयभावः सम्भवति, जनकत्वाकारार्थकत्वमहत्त्वाऽऽदिधर्मोपेतत्वसद्भावात् सत्त्वं पात्राऽऽदीनां विषयहेतुत्वेन परिकल्पितानामसति सर्वेषामभावात् । अथात्माऽन्तःकरणसम्बन्धिनं व्यभिचारिताविशिष्टं ज्ञानमुत्पन्नं गृह्यत इति तदव्यभिचारताऽवगमः । नन्वत्राप्यव्यभिचारित्वं किं ज्ञानधर्म उत तत्स्वरूपम् ?। यदि तद्धर्मस्तदा न नित्यसामान्यनिरूपणेनापादितत्वात्,अनित्योऽपि यदि ज्ञानात् प्रागुत्पन्नस्तदा न तद्धर्मो, धर्मिणमन्तरेण तस्य तद्धर्मत्वात् सहोत्पादेऽपि तादात्म्यात्तदुत्पत्तिसमवायाऽऽदिसंबन्धाभावे तस्य धर्म इति व्यपदेशानुपपत्तिः।पश्चादुत्पादे पूर्वं व्यभिचारि तद् ज्ञानं स्यात् । किं वा व्यभिचारिताऽऽदिको धर्मो ज्ञानाद् व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा ?। यदि व्यतिरिक्तस्तदा तस्य ज्ञानेन सह सम्बन्धो वाच्यः स न समवायलक्षणः,तस्याऽसिद्धेः सिद्धावपि ज्ञानस्य धर्मतया अव्यभिचारिताऽऽदिधर्माधिकरणयोगात् धर्माणां धर्माधिकरणता त्विष्यत एव । अन्यथा ज्ञाने व्यभिचारीत्यादिव्यपदेशानुपपत्तिर्भवेत्, न ह्यव्यभिचारिताऽऽदीनामपि धर्माणां सत्त्वप्रमेयत्वज्ञेयत्वाऽऽद्यनेकधर्माधिकरणतया धर्मिरूपतैव प्रसक्तिरिति कस्यचिद्धर्मस्यापरधर्मस्यानधिकरणस्याभावात् धर्माभाविनो धर्मिणोऽप्यभावप्रसक्तिः । नाऽपि विशेषणविशेष्यभावलक्षणोऽसौ, तस्याप्यपरसंबन्धकल्पनया सम्बन्धित्वेऽनवस्थाप्रसक्तेः, असंबद्धत्वे तत्सम्बन्धा इति व्यपदेशानुपपत्तेः । नाऽप्यसावेकार्थसमवायः, आत्मन्येवाव्यभिचारिताऽऽदयो धर्माऽर्थान्तरस्वरसप्रसक्तेः । न च समवायाभावे एकार्थसमवायः संभवी, न चान्यः सम्बन्धो न परैरभ्युपगम्यते । किञ्च-यदि अव्यभिचारिताऽऽदयो धर्मा अर्थान्तरभूता ज्ञानस्य विशेषणत्वेनोपेयन्ते, तदैकविशेषणावच्छिन्नज्ञानप्रतिपत्तिकाले परविशेषणावच्छिन्नस्य तस्य प्रतिपत्तिरित्यशेषविशेषणानवच्छिन्नं तत्सामग्र्या व्यवच्छेदकं भवेद्,अपरविशेषणावच्छिन्नतत्प्रतिपत्तिकाले ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधितया तस्याऽसत्त्वात् । अथ निर्विकल्पकयुगपदनेकविशेषणावच्छिन्नस्य तस्य प्रतिभासान्नायं दोषः, तर्हि व्यवसायाऽऽत्मकमिति पदमध्यक्षलक्षणेनोपादेयम्, अनिश्चयाऽऽत्मकस्याप्यध्यक्षफलत्वेनाऽभ्युपगमात् अथ विशेषजनितं व्यवसायाऽऽत्मकम्,नन्वेवं सामान्यजनित विशेषणं ज्ञानमध्यक्षफलं न भवेत्, यदि वाऽनेकविशेषविच्छिन्नैकज्ञानाधिगतिरेकं ज्ञानं, कथमेकानेकरूपवस्तुनाऽभ्युपगतं भवेत् । अथाव्यतिरिक्तस्तर्हि ज्ञानमेव नाव्यभिचारिताऽऽदि,तदेव वा तदज्ञानमित्यन्यतरादिवसात् तत्सामग्रीव्यवच्छेदस्ततो भवेत् । अथ व्यभिचारिताऽऽदिज्ञानस्वरूपमेव,तदा विपर्ययज्ञानेऽप्यव्यभिचारिताप्रसक्ति । अथ विशिष्टं ज्ञानमव्यभिचारिताऽऽदिस्वभावम् । ननु विशेषणमन्तरेण विशिष्टता कथमनुपपत्तिमती,विशेषणस्य चैकान्ततो भेदे सैव संबन्धासिद्धेरभेदेन विशिष्टता, कथञ्चित् भेदे परपक्षसिद्धिः। तन्नाव्यभिचारितापदोपादानमर्थवत् इतोऽप्यपार्थकम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनैव तद्व्यावर्त्तस्यापोदितवत्, तथा मरीच्युदकज्ञानव्यवच्छेदायाव्यभिचारिपदोपादानं,तत्ज्ञाने च उदकं प्रतिभाति । न च नेन्द्रियसम्बन्धः अविद्यमानेन सह संबन्धानुपपत्तेः। विद्यमानत्वे वा न तद्विषयज्ञानस्य व्यभिचारिता,विद्यमानार्थज्ञानवत्। अथ प्रतिभासमानोदकसम्बन्धाभावेऽपि मरीचिभिः सम्बन्धादिन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षप्रभवं तत् । अत एव मरीचीना तदालम्बनत्वं, तस्य तदान्वयव्यतिरेकानुविधानात्, तद्देशं प्रति प्रवृत्तेश्च, मिथ्यात्वमपि तत् ज्ञानस्योत्पादालम्बनमन्यत् प्रभातीति कृत्वा,नन्वप्रतिभासमान कथमालम्बनम् । यदि ज्ञानजनकत्वादिन्द्रियाऽऽदेरप्यालम्बनत्वप्रसक्तेरव्यापकत्वम् , तदधिकरणत्वादिकं त्वालम्बन त्वपरस्याभिमतम्,तस्मात्तदवभासित्वमेव आलम्बनत्वं च मरीच्युदकज्ञाने मरीचयः प्रतिभान्ति अथोदकाऽऽकारतया ता एव तत्र प्रतिभान्ति ननु तान्युदकाऽऽकारता यद्यव्यतिरिक्ता,परमार्थसती च तदा प्रतिपत्तेर्न व्यभिचारित्वम् । अथाऽपरमार्थसती,तदा ताभामप्यपरमार्थत्वप्रसक्तिः किंच-

पारमार्थिकोदकनादात्म्ये मरीचीनां तदुदकज्ञानवत् मरीचिज्ञानमपि वितथं भवेत्। न च उदकाऽऽकार एकस्मिन् प्रतीयमाने मरीचयः प्रतीयन्त इति वक्तुं शक्यम्। अतिप्रसङ्गात्। अथ व्यतिरिक्ता ताभ्य उदकाऽऽकारता, तर्हि तत्प्रतिपत्तौ कथं मरीचयः प्रतिभान्ति, अन्यप्रतिभासेऽप्यन्यप्रतिभासाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्। किञ्च-केशोन्दुकज्ञाने किमालम्बनं, किं वा प्रतिभातीति वक्तव्यम्। अथ केशोन्दुकाऽऽदिकमेवाऽऽलम्बनं, प्रतिभाति च तदेव तत्र, तर्हि मरीच्युदकज्ञानेऽपि तदेवाऽऽलम्बनं, तदेव प्रतिभातीति किं न भवेत्। न च तज्ज्ञानस्य प्रतीयमानाभ्यालम्बनत्वे मिथ्यात्वम्, अपि तु प्रतिभासमानस्याऽसत्यत्वेन, अन्यथा केशोन्दुकज्ञानस्य मिथ्यात्वं न भवेत्, न मरीचिदेशं प्रति प्रवृत्तिः, मरीचिव्यालम्बनत्वं तद्देशस्यैवमालम्बनत्वप्रसक्तेः। न च प्रतिभासमानान्यार्थसन्निकर्षजत्व न तज्ज्ञानस्य सत्योदकज्ञाने अस्यादृष्टेः, न वा प्रतीयमानसन्निकर्षजन्यस्य तस्य तज्जत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्, अन्यथाऽनुमेयदहनज्ञानस्याऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व स्यात्। अथ मन एव तत्रेन्द्रियं, तस्य च दहनेन सह प्रतीयमानेन नास्ति सम्बन्धः, इहापि तर्हि प्रतीयमानेनोदकेन न सम्बन्धः, चक्षुषो मरीचीनां तु न प्रतीयमानत्वमिति ताभिरपि कथं तस्य सम्बन्धः? यच्च सामान्योपक्रमं विशेषपर्यवसानमिदमुदकमित्येकं ज्ञानं तस्य सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षो जनकः तिरस्कृतस्वाऽऽकारस्य परिगृहीताऽऽकारान्तरस्य सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनो जनकत्वे तथाविधस्येन्द्रियेण सम्बन्धोपपत्तेः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजो विपर्यय इति तदन्यतरसम्बद्धं, पराभ्युपगमेनास्याऽनुपपत्तेः। तथाहि-सामान्योपक्रममिति यदि सामान्यविषयमिति ज्ञानं तथा मरीच्युदकयोः साधारणमेकं सामान्यमिदमिति ज्ञानस्य विषयो वक्तव्यः। न चैकान्ततो व्यतिभिन्नमभिन्नं वा सामान्यं संभवति, सम्भवेऽपि सत्यद्रव्यत्वव्यतिरिक्तस्य मरीच्युदकसाधारणस्य तस्य न सद्भावः, सत्यद्रव्यत्वाऽऽदेश्च ज्वलनाऽऽदावपि सद्भाव इति न मरीच्युदकसाधारणत्वम्, तातरङ्गायमाणत्वं भयसाधारणं सामान्यं पराभ्युपगमेन न संभवत्येव, सत्त्वेऽपि न तस्य तदुभयनियतत्वम्, अन्यत्राऽपि सद्भावोपपत्तेः। विशेषपर्यवसानमित्येतदपि यदि विशेषग्राहिकं तदा सामान्यग्राहकानुपपत्तिः। न हीदमित्येतस्य ज्ञानस्य विशेषग्राहिताऽनुभूयते, नन्वेवं सामान्यविषयो भिन्नस्वरूपत्वात् कथं सामान्यग्राहिता अस्य। अथोदकमिति ज्ञानविशेषग्राहि, तर्हि भिन्नावभासमिदमुदकमिति ज्ञानद्वयं प्रसक्तं, प्रतिभासभेदस्याऽन्यत्रापि भेदनिबन्धनत्वात्, तस्य चाऽत्रापि भावात्, ज्ञानद्वये भेदमिति सामान्यावभासि सत्यार्थविषयं सन्निकर्षप्रभवम्, उदकमिति त्वविद्यमानविशेषावभासि न तत्सन्निकर्षप्रभव, यदसत्यार्थं न तद् व्यभिचारिपदोपादानव्यवच्छेद्यं युक्तसन्निकर्षोत्पन्नपदेनैवापोहितत्वात्। यच्च सन्निकर्षजं सामान्यज्ञानं तद्व्यभिचारि न भवतीति नाव्यभिचारिपदव्यवच्छेद्यम्। अथैवमुदकमित्युल्लेखद्वययुक्तमेकज्ञानं तर्हि सामान्ये तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं च विशेषे अनध्यक्षमप्रमाणं चेति कथमेकं ज्ञानमध्यक्षानध्यक्षरूपं प्रमाणाऽप्रमाणरूपं च नाभ्युपगतं भवेत्। अथ सामान्येऽप्यध्यक्षं प्रमाणं चेदमभ्युपगम्यते, तर्हीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभावादस्य नाऽव्यभिचारिपदापोह्यता विशेषेऽप्यस्य प्रामाण्येऽध्यक्षत्वे वाऽव्यभिचारिपदमपार्थकम्। अपोह्याभावात्। यदि च-सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षोऽस्य जनकः कथमस्य विपर्ययस्तता, विद्यमानविशेषविषयत्वात्। अथ स्मृत्युपस्थापितत्वाद्विशेषस्य, अविद्यमानविशेषत्वे विषयतया तस्य विपर्यस्तता, न तु तत्राऽविद्यमान स्मृत्युपस्थापितो विशेषः कथं तज्जनको, येन सामान्यवानर्थस्तदपेक्षस्तज्जनकः परिगीयेत, तथाऽपि तज्जनकत्वे इन्द्रियस्य स्वदेशकालासन्निहितार्थापेक्षस्य ज्ञानजनकत्वादर्थेन सन्निकर्षकल्पनात् तस्य प्रमाणस्य चार्थवत्त्वकल्पना विशीर्येत। तथा चेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यर्थवत्प्रमाणमिति च न वक्तव्यं स्यात्। अथ जनकस्य तत्र न प्रतिभास इति स्मृत्युपस्थापितस्य तस्य न जनकता, तर्ह्यविद्यमानस्य न जनकत्वमिति विद्यमानविशेषविषयत्वेन तज्ज्ञानस्याऽपि पर्यस्तत्वे तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारिपदोपादानमनर्थकं भवेत्। सामान्यवतोऽर्थस्य केवलस्य तज्जनकत्वे तस्यैव तत्र प्रतिभासः स्यात्। यदपि तिरस्कृतस्वाऽऽकारस्य परिगृहीताऽऽकारान्तरस्य तस्य तज्जनकत्व तत्राऽपि वस्तुनः स्वाऽऽकारतिरस्कारे वस्तुत्वमेव न स्यादिति कथं तस्य सामान्यविशिष्टता। तथाहि-मरीचीनां मरीच्याकारतापरित्यागे वस्तुत्वमेव परित्यक्तं भवेत्, स्वाऽऽकारलक्षणत्वाद्वस्तुनः। न चाऽऽकारान्तरस्य परिग्रहः सम्भवति, वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तराऽऽपत्तिरूपत्वात्। तदापत्तिरूपत्वे वा मरीचय उदकरूपतामापन्ना इति तत्प्रतिभासज्ञानं सत्योदकज्ञानवदविपर्यस्तमिति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारिपदोपादानं कार्यं भवेत्, सामान्यविशिष्टस्य च वस्तुन इन्द्रियसम्बद्धविपर्ययज्ञानजनकत्वे यत्रांशे तस्येन्द्रियसम्बन्धोत्पाद्यत्व तत्राध्यक्षता, प्रमाणता चान्यत्र तद्विपर्यय इत्येकज्ञानमध्यक्षं प्रमाणं, तद्विपर्ययरूपं च भवेदित्युक्तम्। यदपि यत्सन्निधाने यो दृष्ट इत्यादि। तदप्ययुक्तम्। शब्दावच्छेदेनोदकमिति ज्ञानस्यानुत्पत्तेः। न ह्युदकवच्छेषोऽप्यत्र ज्ञाने विशेषणभूतो ग्राह्यतया प्रतिभाति, तथा प्रतीतेरभावात्। शब्दविशिष्टोदकप्रतिभासाभ्युपगमेऽपि यदि शब्दस्मरणाद्यन्तरेण नार्थनिश्चयस्तदाऽनवस्थादोषप्रतिपादनात् न तद्ध्वनिस्मृतिर्भवेत्। अथ शब्दस्मरणाऽऽद्यन्तरेणाऽप्युदकाऽऽदेर्निश्चयस्तदा जैनमतानुप्रवेशान्न दोषासक्तिः काचित्। एवं संशयज्ञानव्यवच्छेदार्थं व्यवसायाऽऽत्मकपदोपादानमपि न कर्त्तव्यम्-इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नपदेनैव तस्यापि निरस्तत्वात्। न हि पराभ्युपगमेन स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयज्ञानमेकमुभयोल्लेखीन्द्रियार्थसन्निकर्षजं सम्भवति, असम्भवप्रकारश्च पूर्ववदनुस्मृत्या आपि वक्तव्यः, सविकल्पकाध्यक्षप्रसाधनप्रकारश्चैकान्तात्क्षणिकपक्षे न सम्भवत्येव। यः प्राग् जनको बुद्धेरित्यादेर्दूषणस्य तत्राविचलितस्वरूपत्वात्। यथा वा क्षणिकैकान्ते सहकार्यपेक्षा न सम्भवति भावाना, तथा प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते यदपि संशयज्ञानव्यवच्छेदार्थं व्यवसायाऽऽत्मकपदमित्यभिधानम्, तत्र सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च किंस्विदित्यनवधारणाऽऽत्मकप्रत्ययसन्देहो व्यवच्छेद्यतयाऽभिमत। तत्र च किं प्रतिभाति-धर्मिमात्रं, धर्मो वा ?। यदि धर्मी वस्तु सन् प्रतिभाति, तदा नास्यापनेयता, सम्यग् ज्ञानत्वात्। अथावस्तु सन् सर्वत्र प्रतिभाति, तदाऽव्यभिचारिपदव्यावर्तितत्वान्न त-

व्यावर्त्तनाय व्यवसायपदोपादानमर्थवत् अथ सन् धर्मः प्रतिभाति, तदाऽत्रापि वक्तव्यं, किमसौ स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरन्यतरः, उभयं वा? यदि स्थाणुत्वलक्षणो वस्तु सत्कथमस्य ज्ञानस्य व्यवच्छेद्यता. सम्यग् ज्ञानत्वादिति । अथाऽपारमार्थिकोऽसौ तत्र प्रतिभाति, तथाप्यव्यभिचारिपदापोह्यतैव, मिथ्याज्ञानत्वात्। एवं पुरुषलक्षणप्रतिभासेऽप्येतदेव दूषणं वाच्यम्। उभयस्याऽपि तात्त्विकस्य प्रतिभासेन तत्ज्ञानस्य सन्देहरूपतेति नाऽपोह्यता, उभयस्याप्यतात्त्विकस्य प्रतिभासे तद्विषयज्ञानस्य विपर्ययरूपता न संदेहात्मकतेत्यव्यभिचारिपदापोह्यतैव।अथैकस्य धर्मस्य तात्त्विकत्वमपरस्यतात्त्विकत्वमेवमपि तात्त्विकधर्मावभासित्वात्तज्ज्ञानमव्यभिचारितात्त्विकधर्मावभासित्वाच्च तदेव व्यभिचारीति एकमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणप्रसक्तम्। न च संदिग्धाऽऽकारप्रतिभासित्वात् सन्देहज्ञानमिति वाच्यम्, यतो यदि संदिग्धाऽऽकारता परमार्थतोऽर्थे विद्यते, तथा बाधितार्थगृहीतरूपत्वान्न सन्देहज्ञानता, सत्यार्थज्ञानवत् । अथ न विद्यते तदा अव्यभिचारिपदेन तद्ग्राहिज्ञानस्यापोदितत्वद्व्यवसायग्रहणं तद्व्यवच्छेदायोपादीयमानं निरर्थकम् । अथ न किञ्चिदपि तत्र प्रतिभाति, न तर्हि तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वमिति,न तद्व्यवच्छेदाय व्यवसायाऽऽत्मकपदोपादानमर्थवत्। तन्न। तदपि प्रत्यक्षलक्षणे उपादेयम्।यदपि स्वफलस्वरूपसामग्रीविशेषणत्वेनासम्भवात् नेदं लक्षणमिति। तदयुक्तमेवाभिहितम्। अस्य पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वात्। यदपि यत इत्यध्याहारात्फलविशेषणपक्षाऽऽश्रयणम्। तदप्यसङ्गतम्। यतोऽपरिच्छेदस्वरूपस्याध्यक्षप्रमाणताविशिष्टप्रमितिजनक तत्कृत्यप्रत्यक्षमिति विशेषणात् प्रमाणप्रमेयव्यतिरिक्तस्य प्रमाणतासन्निकर्षाऽऽदिप्रमाणत्वाभिमतव्यतिरिक्तस्य तज्जनकस्य प्रमाणतेत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । न च सामग्र्यस्य, सन्निकर्षस्य वा साधकतमत्वात् प्रमाणता, साधकतमत्वस्य प्रमाणसामान्यलक्षणप्रस्तावे निरस्तत्वात्। यदपीन्द्रियाऽऽदेरचेतनस्य प्रमाणत्वं प्रतिपादितम्। तदप्यतिप्रसङ्गतोऽघटमानकम्। यदि ज्ञानसद्भावेन काचित्तज्जन्या विषयाधिगतिः, अक्षाऽऽदिसद्भावे तु विषयाऽधिगतिभिन्नोपजायते इत्यक्षाऽऽदेरेवाधिगतिजनकस्य प्रमाणतेति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम्। ज्ञानस्यैव यथास्थितार्थाधिगतिस्वभावतया प्रमाणत्वात्, परिणामफलाभेदाविरोधस्य च प्रतिपादितत्वात्, प्रत्यक्षाऽऽदिसद्भावे तु विषयाधिगतेरसिद्धत्वात्। तथाहि-व्यापारवदक्षाऽदिसद्भावेऽपि व्यासक्तचेतसो न विषयाधिगतिः। सत्यस्वप्नज्ञाने त्वक्षाऽऽदिव्यापाराभावेऽपि यथावस्थिताधिगतिरुपलभ्यत इति न साऽक्षाऽऽदिकार्या, नचासावभिमतः, अक्षकार्यापरपरिकल्पितमनोऽक्षस्य प्रागेव निषिद्धत्वात्। अत एव चक्षुषाऽधिगतमिति तस्य साधकतमत्वाभिमानो न साधकतमताव्यवस्थापकः. तदभावेऽपि विषयाधिगतिसद्भावात्। ज्ञानेनाधिगत इत्यभिमानस्तु ज्ञानस्य साधकतमताव्यवस्थापक एव, ज्ञानाभावे तदधिगतेरभावात्, परम्परया तूपचरितमर्थाधिगतौ साधकतमत्वमक्षाऽऽदेर्न प्रतिषिध्यते, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्स्वार्थाधिगतिस्वभावस्याक्षाऽऽदिप्रभवत्वात् तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमितिवचनात्। एतेन प्रातिभस्यानक्षप्रभवस्याऽपि स्वार्थावगतिरूपस्य विशदतयाऽध्यक्षप्रमाणता प्रतिपादिता द्रष्टव्या। तेन यच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभावप्रतिपादनेन मीमांसकैः दूषणमभ्यधायि, यच्च नैयायिकैर्मनोऽक्षार्थजत्वसमर्थनेनोत्तरं प्रतिपादितम्। तदुभयमप्ययुक्ततया व्यवस्थितं। शेषं त्वत्र यथास्थानं प्रतिविहितत्वान्न तत् प्रत्युच्चार्य दूष्यते। तन्नैकान्तवादिप्रकल्पितमध्यक्षलक्षणमनवद्यम्। किं पुनस्तदनवद्यम्। "स्वार्थसंवेदनं स्पष्ट-मध्यक्षं मुख्यगौणतः।" इत्येतत्। अत्र च मुनीन्द्रियज्ञानमशेषविशेषाऽऽलम्बनमध्यक्षसर्वज्ञसिद्धौ प्रतिपादितम्, गौणं तु संव्यवहारनिमित्तमसर्वपर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवमस्मदाऽऽद्यध्यक्षं विज्ञानमुच्यते। अस्य च स्वयोग्योऽर्थः स्वार्थः, तस्य संवेदनं विशदतया निर्णयस्वरूपं, तेन संशयविपर्ययानध्यवसायलक्षणस्याज्ञानस्य संव्यवहारानिमित्तस्य नाध्यक्षताप्रसक्तिः, नाऽप्यज्ञानरूपस्येन्द्रियाऽऽदेरविकल्पजाऽसौ, परिकल्पितस्येन्द्रियजमानसयोगिज्ञानस्वसंवेदनरूपस्य स्वं चार्थश्च स्वार्थौ, तयोः संवेदनं स्वार्थसंवेदनमित्यस्यापि समासाऽऽश्रयणादर्थसंवेदनस्यैव जैमिनीयवैशेषिकाः देपरिकल्पितस्य परोक्षस्य तदेकार्थसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यस्यास्वसंविदितस्वभावस्याध्यक्षताव्युदासः। विज्ञानवादिपरिकल्पितस्य च स्वरूपमात्रग्राहकस्य प्रमाणप्रमेयस्वरूपस्य च सकलस्य क्रमाक्रमभाव्यनेकधर्माऽऽक्रान्तस्यैकरूपस्य वस्तुनः सद्भावेऽध्यक्षप्रमाणस्यैकस्य क्रमवर्त्तिपर्यायवशात् तथाव्यपदेशमासादयतश्चातुर्विध्यमवग्रहेहावायधारणारूपतयोपपन्नम् । तत्र विषयविषयिसंनिपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। विषयस्य द्रव्यपर्यायाऽऽत्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्ध्युपयोगस्वभावस्य भावेन्द्रियस्य विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्यार्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं, तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभाव दर्शनमुत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्परूपं प्रतिपाद्यम्। अवग्रहः पुनरवगृहीतविषयाकाङ्क्षणम्। ईहा तदनन्तरं तदीहितविशेषनिर्णयः। वायोऽचेतनविषयस्मृतिर्हेतुः। तदनन्तरं धारणा अत्र च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणता,उत्तरोत्तरस्य प्रमाणफलतेत्येकस्यापि मतिज्ञानस्य चातुर्विध्यम्, कथञ्चित्प्रमाणभेदश्चोपपन्नः। सम्म० २ काण्ड।

(५) निर्विकल्पकज्ञानप्रामाण्यवादिनः प्रतिपादनम् । अथ व्यवसायीति विशेषणसमर्थनार्थमाहुः-

**तद् व्यवसायस्वभावं,समारोपपरिपन्थित्वात्,प्रमाणत्वाद्वा।६।**

तत्प्रमाणत्वेन संमतं ज्ञानं, व्यवसायस्वभावं निश्चयाऽऽत्मकमित्यर्थः, समारोप. संशयविपर्ययानध्यवसायस्वरूपोऽनन्तरमेव निरूपयिष्यमाणः, तत्परिपन्थित्वं तद्विरुद्धत्वं, यथाऽवस्थितवस्तुग्राहकत्वमिति यावत् । प्रमाणत्वाद्वा तत्तथाविधं, वाशब्दो विकल्पार्थः, तेन प्रत्येकमेवामू हेतू प्रमाणत्वाभिमतज्ञानस्य व्यवसायस्वभावत्वसिद्धौ समर्थावित्यर्थः। प्रयोगौ तु-प्रमाणत्वाभिमतं ज्ञानं व्यवसायस्वभावं, समारोपपरिपन्थित्वात्, प्रमाणत्वाद्वा, यत् पुनर्नैवं न तदेवं, यथा-घटः, प्रोक्तसाधनद्वयाधिकरणं चेदं, तस्माद् व्यवसायस्वभावमिति।

अत्रैकदेशेन पक्षस्य प्रत्यक्षप्रतिक्षेपमाचक्षते भिक्षव.। तथाहि-संहृतसकलविकल्पावस्थायां नीलाऽऽदिदर्शनस्य व्यवसायवन्ध्यस्यैवानुभवात् पक्षीकृतप्रमाणैकदेशस्य प्रत्यक्षस्य व्यवसायस्वभावत्वसाधनमसाधीयः। तदसाधिष्ठम्। यत केन प्रत्यक्षेण तादृक्षस्य तस्यानुभवोऽभिधीयते ?, ऐन्द्रियेण,

मानसेन, योगिसत्केन,स्वसंवेदनेन वा ?। नाऽऽद्येन, तत्रेन्द्रियकुटुम्बकस्य व्यापारपराङ्मुखत्वात् । न च द्वितीयेन, तस्येन्द्रियज्ञानपरिच्छिन्नपदार्थानन्तरक्षणसाक्षात्कारदक्षत्वात्। न तृतीयेन अस्मादृशां योगिप्रत्यक्षस्पर्शशून्यत्वात्। योगी तु तथा जानातीति कोशपानप्रत्यायनीयम् । नापि तुर्येण, यतः-तत्स्वरूपोपदर्शनादेव प्रमाणं स्यात्, अनुरूपविकल्पोत्पादकत्वाद्वा ?। आद्ये पक्षे, प्रत्यक्षं क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्याऽऽदावपि प्रमाणतामास्कन्देत द्वितीयपक्षोऽप्यक्षमः, संहृतसकलविकल्पाऽवस्थाभाविनीलाऽऽदिदर्शनानन्तरं नीलाऽऽदिरयमित्यर्थोल्लिखशेखरस्यैव विकल्पस्य प्रायेणानुभवात्। यत्राऽपि नीलाऽऽदिज्ञानं ममोत्पन्नमिति ज्ञानोल्लेखी विकल्पः, तत्राऽपि ज्ञानमात्रोल्लेखित्वादस्य तत्रैव दर्शनस्य प्रामाण्यं स्यात् , न तु तन्निर्विकल्पकत्वे । अपि च, विकल्पस्यापि कथं सिद्धिः ?। स्वसंवेदनप्रत्यक्षादिति चेत् । तस्याऽपि स्वरूपोपदर्शनमात्रात् प्रामाण्ये तदेव दूषणम्। विकल्पान्तरोपजननात् पुनरनवस्था। तथा च-कथं स्वसंवेदनस्य प्रामाण्यसिद्धिः ?, यतस्तेन वाधा पक्षांशे स्यात् । अथ यन्न निर्विकल्पकं तन्नैव विकल्पेन सहोत्पद्यते, यथा-विकल्पो विकल्पान्तरेण, विकल्पेनाऽपि सहोत्पद्यते च प्रत्यक्षम् । न चेदं न निषेधसाधनं, गन्धर्वविकल्पदशायामपि गोसाक्षात्करणाद् , अन्यथा समयान्तरे तत्स्मरणानुत्पत्तिप्रसङ्गाद् , इत्यनुमानवाधितः पक्षैकदेश इति चेत् । तदपि कवलितं कालेन। कालान्तरे स्मरणसद्भावात् व्यवसायाऽऽत्मकस्यैव प्रत्यक्षस्य प्रसिद्धेर्निर्विकल्पकस्य संस्कारकारणत्वविरोधात्, क्षणिकत्वाऽऽदिवत् । अथाऽभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्वेभ्यो निर्विकल्पकादपि प्रत्यक्षाद् , गवादौ संस्कारः स्मरणं च समस्ति। न तु क्षणक्षयाऽऽदौ, तदभावादिति चेत्। तदप्यल्पीयः। भूयोदर्शनलक्षणस्याभ्यासस्य क्षणक्षयाऽऽदावक्षोदीयसः सद्भावात्; पुनः पुनर्विकल्पोत्पादरूपस्य चाभ्यासस्य परं प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, तत्रैव विवादात्। क्षणभिदेलिमभावाभिधानवेलायां क्षणिकप्रकरणस्याऽपि भावात्। बुद्धिपाटवस्य क्षणिकत्वाऽऽदौ नीलाऽऽदौ च समानत्वात् , तत्प्रत्यक्षस्य निरंशत्वेन कक्षीकाराद्, अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासेन तस्य भेदाऽऽपत्तेः। अर्थित्वस्याऽपि जिज्ञासितत्वलक्षणस्य क्षणिकवादिनः क्षणिकत्वे सुतरां सद्भावान्नीलाऽऽदिवत्। अभिलषितत्वरूपस्य तु तस्य व्यवसायजननं प्रत्यनिमित्तत्वाद्, अनभिलषितेऽपि वस्तुनि कस्यापि व्यवसायसम्भवात्। ततो नानंशवस्तुवादिनः क्वचिदेव स्मरणं समस्ति। तथाच-यद्व्यवसायशून्यं ज्ञानं न तत् स्मृतिहेतुः, यथा क्षणिकत्वाऽऽदिदर्शनं, तथा चाऽश्वविकल्पकाले गोदर्शनमिति प्रसङ्गः, तथा च तत् स्मृतिहेतुर्न स्यात्, भवति च पुनर्विकल्पयतस्तदनुस्मरणं, तस्मात्तद्व्यवसायाऽऽत्मकमिति प्रसङ्गविपर्ययः। एवं च स्मरणात्तस्य व्यवसायाऽऽत्मकस्यैव सिद्धेर्व्यवसायस्य च व्यवसायान्तरेण समानकालत्वाभावाद्विकल्पेनाऽपि सहोत्पद्यमानत्वादिति हेतुरसिद्धिवन्धकीसम्बन्धवाधित इति सिद्धम् । अथ न व्यवसायस्वभावत्वेन समारोपपरिपन्थित्वप्रमाणत्वहेत्वोर्व्याप्तिरूपाऽपादि, तदभावेऽपि व्यवसायजनकत्वमात्रेण तयोः क्वचिद्भावाविरोधात्। अनुमानं हि व्यवसायस्वभावं सत्समारोपपरिपन्थि, प्रमाणं च, प्रत्यक्षं तु व्यवसायजनकमिति को विरोधः ?, इति चेत् , इह तावत् प्रमाणत्वहेतोर्व्याप्तिरुपदर्श्यते-प्रमाणं खल्वविसंवादकमवादिषुः सौगताः, अविसंवादकत्वं चाऽर्थप्रापकत्वेन व्याप्तम्, अर्थाप्रापकस्याविसंवादित्वाभावात् निर्विषयज्ञानवत्, तदपि प्रवर्त्तकत्वं न व्यापि, अप्रवर्तकस्यार्थाप्रापकत्वात् , तद्वदेव। तदपि विषयोपदर्शनकत्वेन व्यानशे, स्वविषयमुपदर्शयतः प्रवर्त्तकत्वव्यवहारविषयत्वसिद्धेः, न हि पुरुषं हस्ते गृहीत्वा ज्ञानं प्रवर्त्तयति, स्वविषयं तूपदर्शयत् प्रवर्त्तकमुच्यतेऽर्थप्रापकं चेति।

तत्रेदं चर्च्यते-किं दर्शनस्य व्यवसायोत्पत्तौ सत्यां विषयोपदर्शकत्वं संजायेत ?, समुत्पन्नमात्रस्यैव वा संभवेत् ?। प्राचिकविकल्पे, विकल्पकाले दर्शनस्यैव विनाशात् क नाम विषयोपदर्शकत्वं व्यवतिष्ठेत् ?। द्वितीयकल्पनायां पुनः किमनेन कृतक्षौरनक्षत्रपरीक्षाप्रायेण पश्चात् प्रोल्लसता नीलाऽऽदिविकल्पेनापेक्षितेन कर्त्तव्यं ?, तमन्तरेणाऽपि विषयोपदर्शकत्वस्य सिद्धत्वात् । तथा च-" यत्रैव जनयेदेनां, तत्रैवास्य प्रमाणता । " इति राद्धान्तविरोधः, व्यवसायं विनैव विषयोपदर्शकत्वसद्भावे प्रामाण्यस्यापि त विनैव भावात् , तन्मात्रनिमित्तत्वात्तस्य। कथं चैवं क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादावपि दर्शनस्य विषयोपदर्शकत्वं न प्रसज्यते ?। अथाध्यवसानपर्यवसानो व्यापारो दर्शनस्य, इत्यध्यवसायव्यापारवत एवाऽस्य विषयोपदर्शकत्वमवतिष्ठते, न पुनस्तमन्तरेणेति चेत् तदप्यल्पम्, निर्विकल्पककार्यत्वेन व्यवसायस्य ततो भिन्नकालत्वात्तेन तस्य व्यापारवत्त्वानुपपत्तेः। अस्तु वैतत्, तथाऽपि तद्व्यापारभूतोऽसौ व्यवसायो दर्शनगोचरस्योपदर्शकः, अनुपदर्शको वा स्यात् ?। यद्युपदर्शकः, तदा स एव तत्र प्रवर्त्तकः, प्रापकश्च स्यात्, ततोऽपि संवादकत्वात्प्रमाणं, न पुनस्तत्कारणीभूयमभिजानं दर्शनम्। अथानुपदर्शक , कथं दर्शनं, तज्जननात् स्वविषयोपदर्शकम्, अतिप्रसङ्गात्-संशयविपर्ययकारणस्याऽपि तस्य स्वविषयोपदर्शकत्वाऽऽपत्ते । दर्शनविषयसामान्यव्यवसायित्वाद्विकल्पस्य तज्जनकं दर्शन स्वविषयोपदर्शकं, नेतरदिति चेत्, तदशस्यस्, दर्शनविषयसामान्यापोहलक्षणस्यावस्तुत्वात्, तद्विषयव्यवसायजनकस्य वस्तूपदर्शकत्वविरोधात्। अथ दृश्यविकल्प्ययोरेकीकरणाद् वस्तूपदर्शक एव व्यवसाय इति चेत्, नन्वेकीकरणमेकरूपताऽऽपादनम्,एकत्वाध्यवसायो वा ?। प्राचि पक्षेऽन्यतरस्यैव स तत्त्वं स्यात्। द्वितीये तु उपचरितमेवानयोरैक्यम्, तथा च कथमेष व्यवसायो विषयोपदर्शकः स्यात् ?, न हि षण्डः कुण्डोध्नीत्वेनोपचरितोऽपि पयसा पात्रीं पूरयति । किं च-तदेकत्वाध्यवसायो दर्शनेन विकल्पेन, ज्ञानान्तरेण वा भवेत् ?। नाऽऽद्येन, दर्शनश्रोत्रियस्याध्यवसायश्वपाकसंस्पर्शासंभवात् , न च तस्य विकल्प्यं विषयतामेति । न द्वितीयेन, विकल्पकौणपस्य दृश्यदाशरथिं गोचरयितुमपर्याप्तत्वात् । नापि तृतीयेन, निर्विकल्पकसविकल्पकविकल्पयुगलातिक्रमेण दृश्यविकल्प्यद्वयविषयत्वविरोधात्। न च तदुभयागोचरं ज्ञान तदुभयैक्यमाकलयितुं कौशलमालम्बते। तथाहि-यद्यन्न गोचरयति न तत्तदैक्यमाकलयितु कुशलम्, यथा-कलशज्ञान मृदन्वींशिशपात्वयोः, तथा प्रकृतमिति । तन्न व्यवसायजननात् प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपपादकम् । कथं चैतत् क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादाव

प्यनुरूपं विकल्पं कदा चिन्नोत्पादयति । स्वविकल्पवासनाबल-समुज्जृम्भमाणात्क्षणिकत्वाऽऽदिसमारोपानुप्रवेशादिति चेत् । तदपेशलम्, नीलाऽऽदावपि तद्विपरीतसमारोपप्रसक्तेः, कथमन्यथा विरुद्धधर्माध्यासात्तद्दर्शनभेदो न भवेत् ?, न ह्येकं दर्शनं क्वचित्समारोपाऽऽक्रान्तं, क्वचिन्नेति वक्तुं युक्तम् । अथ तत्तद्व्यावृत्तिवशादनंशस्यापि दर्शनस्य तथा परिकल्पनाददोषः,समारोपाऽऽक्रान्तिभ्यो हि व्यावृत्तमसमारोपाऽऽक्रान्तम्, असमारोपाऽऽक्रान्तिभ्यस्तु व्यावृत्तं समारोपाऽऽक्रान्तं तदुच्यते इति । तदप्यसूपपादम् । यतो व्यावृत्तिरपि वस्त्वंशं कञ्चिदाश्रित्य कल्प्येत,अन्यथा वा ?। अन्यथा चेत्, चित्रभानुरप्यचन्द्रव्यावृत्तिकल्पनया चन्द्रतामाद्रियेत । वस्त्वंशाऽऽश्रयणपक्षे तु, सिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः।तथाहि-तद्दर्शनं येन स्वभावेन समारोपाऽऽक्रान्तिभ्योऽपि व्यावर्त्तेत, न तेनैवासमारोपाऽऽक्रान्तिभ्योऽपि,येन चामीभ्यो व्यावर्त्तेत न तेनैव तेभ्योऽपि, तयोर्द्वयोरपि व्यावृत्त्योरैक्यापत्तेः । यदि पुनः स्वभावभेदोऽपि वस्तुनोऽतत्स्वभावव्यावृत्त्या कल्पित एवेति मतम्, तदा कल्पितस्वभावान्तरकल्पनायामनवस्था स्थेमानमास्तिघ्नुवीत । ततो न व्यवसायजननादस्य प्रामाण्यमनुगुणं, किं तु व्यवसायस्वभावत्वादेव । एवं प्रामाण्यसहचरं समारोपपरिपन्थित्वमपि वाच्यम् ॥६॥

समारोपपरिपन्थित्वादित्युक्तमिति समारोपं प्ररूपयन्ति-

**अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः ॥ ७ ॥**

अतत्प्रकारे पदार्थे तत्प्रकारतानिर्णयः समारोप इत्यर्थः ॥७॥

अथैनं प्रकारतः प्रकटयन्ति-

**सविपर्ययसंशयानध्यवसायभेदात्त्रेधा ॥८॥**

उत्तानार्थमदः ॥ ८ ॥

अथोद्देशानुसारेण विपर्ययस्वरूपं तावत् प्ररूपयन्ति-

**विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः ॥ ९ ॥**

विपरीताया अन्यथा स्थिताया एकस्या एव कोटेर्वस्त्वंशस्य निष्टङ्कनं निश्चयनं विपर्यय इति ॥ ९ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

**यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ॥ १० ॥**

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, अग्रेऽपि सर्वत्र । शुक्तिकायामरजताऽऽकारायामिदं रजतमिति रजताकाऽऽरतया ज्ञानं विपर्ययो विपरीतख्यातिरित्यर्थः । इतिशब्द उल्लेखार्थः, अग्रेऽपि । उदाहरणसूत्रं चेदम्-अन्येषामपि प्रत्यक्षयोग्यविषयविपर्ययाणां पीतशङ्खज्ञानाऽऽदीनां, तदितरप्रमाणयोग्यविषयविपर्ययाणां हेत्वाभासाऽऽदिसमुत्थज्ञानानां चोपलक्षणार्थम् ।

अत्र विवेकाख्यातिवादी वदति-विवादाऽऽस्पदमिदं रजतमिति प्रत्ययो न वैपरीत्येन स्वीकर्त्तव्यः, तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वात्, यद्यथा विचार्यमाणं नोपपद्यते,न तत् तथा स्वीकर्त्तव्यं, यथा स्तम्भः कुम्भरूपतयेति । न चेदं साधनमसिद्धिमधारयत् । रत्ना० १ परि० । ( साकारानाकारद्वयाऽऽत्मके उपयोगप्रमाणमिति ' उवओग ' शब्दे द्वितीयभागे ८६० पृष्ठे व्याख्यातम् )

अथ प्रमाणलक्षणसूत्रोपात्तं परशब्दं व्याख्यान्ति-

**ज्ञानादन्योऽर्थः परः ॥ १५ ॥**



ज्ञानाद् ग्राहकात्सकाशात्, अन्यो ग्राह्यतया पृथग्भूतोऽचेतनः, सचेतनो वा, अर्थोऽर्थक्रियार्थिभिरर्थ्यमानः, परः परशब्दवाच्यः । रत्ना० १ परि० । ( ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वविचारः 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९६६ पृष्ठादारभ्य कृतः )

( ६ ) ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतः, परतश्चाप्रामाण्यम् । अथोत्पत्तौ स्वनिश्चये च ज्ञानानां स्वत एव प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं तु परत एव यज्जैमिनीया जगुः, तन्निराकुर्वन्ति-

**तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः, परतश्च ॥२०॥**

अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी, परं स्व चाऽपेक्ष्येत्यर्थः, ज्ञानस्य हि प्रामाण्यमप्रामाण्यं च द्वितयमपि ज्ञानकारणगतगुणदोषरूपं परमपेक्ष्योत्पद्यते । निश्चीयते त्वभ्यासदशायां स्वतः, अनभ्यासदशायां तु परत इति । तत्र ज्ञानस्याभ्यासदशायां प्रमेयाव्यभिचारि, तदितरत्वास्मीति प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयः संवादकबाधकज्ञानमनपेक्ष्य प्रादुर्भवन् स्वतो भवतीत्यभिधीयते, अनभ्यासदशायां तु तदपेक्ष्य जायमानोऽसौ परत इति ।

अत्रैव मीमांसका मीमांसामांसलतां दर्शयन्ति-स्वत एव सर्वथा प्रमाणानां प्रामाण्यं प्रतीतिकोटिमाटीकते । तथाहि-तदुत्पत्तिप्रगुणा गुणाः प्रत्यक्षेण, अनुमानेन वा प्रमीयेरन् ?। यदि प्रत्यक्षेण, तत् किमैन्द्रियेण, अतीन्द्रियेण वा ?। नैन्द्रियेण, अतीन्द्रियेन्द्रियाश्रिकरणत्वेन तेषां तद्ग्रहणायोग्यत्वात् । नाप्यतीन्द्रियेण, तस्य चारुविचारगोचरचरिष्णुत्वाभावात् । अनुमानेन तान् निर्णेष्यामहीति चेत् । कुतस्तत्र नियमनिर्णयः स्यात् ?, प्रत्यक्षाद् गुणेषु तत्प्रवृत्तेः परास्तत्वात् । तथा च-"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्ति-नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयस्वरूपग्रहणे, सति सम्बन्धवेदनम् ॥ १ ॥" नाप्यनुमानान्, तत एव तन्निश्चिताऽनिश्चितेतराऽऽश्रयस्यं, तदन्तरात् पुनरनवस्थायाः प्रसक्तेः । ततो न गुणाः सन्ति केचिदिति स्वरूपावस्थेभ्य एव कारणेभ्यो जायमानं तत् कथमुत्पत्तौ परतः स्यात् ?। निश्चयस्तु तस्य परतः कारणगुणज्ञानाद्, बाधकाभावज्ञानात्, संवादिवेदनाद्वा स्यात् ?। तत्र प्राच्यः प्रकारः प्रागेव प्रास्थाम, गुणग्रहणप्रवीणप्रमाणपराकरणात् । द्वितीये तु, तात्कालिकस्य, कालान्तरभाविनो वा बाधकस्याभावज्ञानं तन्निश्चायकं स्यात् ?। पौरस्त्यं तावत् कूटहाटकनिष्टङ्कनेऽपि स्पष्टमस्त्येव । द्वितीयं तु न चर्मचक्षुषा संभवति । संवादिवेदनं तु सहकारिरूपं सत्तन्निश्चयं विरचयेद्, ग्राहकं वा ?। नाद्यभिद्, भिन्नकालत्वेन तस्य सहकारित्वासंभवात् द्वितीयपक्षे तु, तस्यैव ग्राहकं सत्, तद्विषयस्य, विषयान्तरस्य वा ?। न प्रथमः पक्षः, प्रवर्त्तकज्ञानस्य सुदूरतरत्वेन ग्राह्यत्वायोगात् । द्वितीये तु, एकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा तत् स्यात् ?। पक्षद्वयेऽपि, तैमिरिकाऽऽलोक्यमानमृगाङ्कमण्डलद्वयदर्शिदर्शनेन व्यभिचारः । तद्धि चैत्रस्य पुनः पुनर्मैत्रस्य चोत्पद्यत एव । तृतीये पुनः, अर्थक्रियाज्ञानम्, अन्यद्वा तद् भवेत् ?। न पौरस्त्यं, प्रवर्त्तकस्य प्रामाण्यानिश्चये प्रवृत्त्यभावेनार्थक्रियाया एवाऽभावात् । निश्चितप्रामाण्यात्तु प्रवर्तकज्ञानात् प्रवृत्तौ चक्रकम् निश्चितप्रामाण्यात्प्रवर्त्तकात् प्रवृत्तिः, प्रवृत्तेरर्थक्रियाज्ञानं, तस्माच्च प्रवर्त्तकज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चय इति । कथं चार्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यनिश्चयः ?। अन्यस्मादर्थक्रियाज्ञानाच्चेद्; अनवस्था । प्रवर्तकज्ञानाच्चेद्, अन्योन्याऽऽश्रयो दोषः । स्वतश्चेत्, प्रवर्त्तकज्ञानस्यापि तथैवास्तु । अन्यदपि विज्ञानमेक-

सन्तानं, भिन्नसन्तानं वा ?। द्वयमपि चैतदेकजातीयं, भिन्नजातीयं वा ?। चतुष्टयमपि चैतद्व्यभिचाराव्यभिचारं तु सचरम्। तथा हि—एकसन्तानं भिन्नसन्तानं चैकजातीयमपि तरत्तरङ्गतुङ्गत्तरङ्गतरङ्गिणीतोयज्ञानं, भिन्नजातीयं च कुम्भाम्भोरुहाऽऽदिज्ञानं मरुवसुन्धराचारिचतुरतातरणिकिरणश्रेणिसंगिसलिलसंवेदनस्य न संवादकमिति न ज्ञप्तावपि तत्परतः। अप्रामाण्यं तूत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात्, ज्ञप्तौ तु बाधकापेक्षत्वात् परत एवेति। अत्राभिदध्महे—यत्तावद् गुणाः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा मीयेरन्नित्यादि न्यगादि। तदखिलं न खलु न दोषप्रसरेऽपि प्रेरयितुं पार्यते। अथाध्यक्षेणैव चक्षुरादिस्थान् दोषान्निश्चिन्वन्ति परे लोकाः। किं न नैर्मल्याऽऽदीन् गुणानपि ?। अथ तिमिराऽऽदिदोषाभावमात्रमेव नैर्मल्याऽऽदि, न तु गुणरूपमिति कथमध्यक्षेण गुणनिश्चयः स्यात् ?। एवं तर्हि नैर्मल्याऽऽदिगुणाभावमात्रमेव तिमिराऽऽदि, न तु दोषरूपमिति विपर्ययकल्पना किं न स्यात् ?। अस्तु वा दोषाभावमात्रमेव गुणः, तथापि नायं तुच्छः कश्चित् संगच्छते, "भावान्तरविनिर्मुक्तो, भावोऽत्रानुपलम्भवत्। अभावः सम्मतस्तस्य, हेतोः किं न समुद्भवः ॥ १ ॥" इति स्वयं भट्टेन प्रकटनात्। तदपेक्षायामपि च कथं न परतः प्रामाण्योत्पत्तिः ?। अथाऽऽसन्नां नैर्मल्याऽऽदयो गुणास्तथाऽप्यधिष्ठानप्रतिष्ठानेव तान् प्रत्यक्षं साक्षात् करोति, न करणस्थान्, तेषां परोक्षत्वात्। तर्हि तत एव दोषानपि तत्स्थानेव तत्साक्षात्कुर्यादिति कथं दोषा अपि प्रत्यक्षग्राह्याः स्युः ?। अथाप्रामाण्यं विज्ञानमात्रोत्पादककारणकलापातिरिक्तकारकोत्पाद्यं, विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि व्यावर्तमानत्वात्, यदनुवृत्तावपि यद्व्यावर्तते तत् तन्मात्रोत्पादककारणकलापातिरिक्तकारकोत्पाद्यम्, यथा पाथःपृथ्वीपवनाऽऽतपानुवृत्तावपि व्यावर्तमानः कोद्रवाङ्कुरस्तदतिरिक्तकोद्रवोत्पाद्यः, इत्यनुमानाद् दोषप्रसिद्धिरिति चेत्। चिरं नन्दतादयं, इदमेव ह्यनुमानमप्रामाण्यपदं निरस्य प्रामाण्यपदं च प्रक्षिप्य गुणसिद्धावपि विदध्याद्, इति कथं न दोषवद् गुणा अपि सिध्येयुः ?, यतो नोत्पत्तौ परतः प्रामाण्यं स्यात्। प्रतिबन्धश्च यथा दोषानुमाने तथा गुणानुमानेऽपि निर्णेयः। कथं वाऽऽदित्यगत्यनुमाने तन्निर्णयः ?। दृष्टान्ते तु यथाऽत्र साध्यसाधनसम्बन्धोद्बोधोऽस्ति तथा गुणानुमानेऽपि। यच्चात्रावाचि—निश्चयस्तु तस्य परतः इत्यादि। तत्र संवादिवेदनादिति ब्रूमः। कारणगुणज्ञानबाधकाभावज्ञानयोरपि च संवादकज्ञानरूपत्वं प्रतिपद्यामहे—यादृशोऽर्थः पूर्वज्ञाने प्रथापथमवतीर्णस्तादृश एवाऽसौ येन विज्ञानेन व्यवस्थाप्यते तत्संवादकमित्येतावन्मात्रमिह तल्लक्षणमाचचक्षिरे धीराः। यस्तु गुणग्रहणप्रवणप्रमाणपराकरणपरायणातिदेशप्रयासः, प्रयास एव केवलमयमत्रभवतः, दोषसंदोहवद्गुणगणेऽपि प्रमाणप्रवृत्तेरनिवारणात्। यत्तु बाधकाभावज्ञानपक्षे विकल्पितं तात्कालिकस्य कालान्तरभाविनो वेत्यादि। तत्राऽऽद्यविकल्पपरिकल्पनाऽल्पीयसी, न खलु साधननिर्भासिसंवेदनोदयकाले काऽपि कस्याऽपि बाधकस्योदयः संभवी, उपयोगयौगपद्यासम्भवात्, भविष्यत्कालस्य तु बाधकस्याभावज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चयो निरवद्य एव। न च चर्मचक्षुषां तदभावो भवितुमर्हति, यदुद्भवसमग्रसामग्रीसंपाद्यसंवेदनं न तत्र भाविबाधकावकाश इत्येव तन्निश्चयात्। यदि च भाविवस्तुसंवेदनमस्मादृशां न स्यादेव, तदा कथं कृत्तिकोदयात् शकटोदयानुमानं नास्तमियात् ?। यत्पुनरवादि—संवादिवेदनमित्यादि। तत्र संवादिवेदनात्साधननिर्भासिप्रतिभासविषयस्य, विषयान्तरस्य वा ग्राहकात् प्रामाण्यनिर्णय इति ब्रूमः। भवति हि तिमिरनिकुरम्बकरम्बिताऽऽलोकसहकारिकुम्भाऽवभासस्य तत्रैवैकसन्तानं भिन्नसन्तानं च निरन्तराऽऽलोकसहकारिसामर्थ्यसमुद्भूतं संवेदनं संवादकम्। न च तैमिरिकाऽऽदिवेदनेऽपि तत्प्रसङ्गः, तत्र परतो बाधकात्। स्वतः सिद्धप्रामाण्यादुत्तरस्याप्रामाण्यनिर्णयात् विषयान्तरग्राहकमपि संवादकमेव, यथार्थक्रियाज्ञानम्। न चात्र चक्रकावकाशः, प्रवर्तकप्रमाणप्रामाण्यनिश्चयाऽऽदिप्रयोजनायाः प्रथमप्रवृत्तेः संशयादपि भावात्। अर्थक्रियाज्ञानस्य तु स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः, अभ्यासदशाऽऽपन्नत्वेन दृढतरस्यैवास्योत्पादात्। न च साधननिर्भासिनोऽपि तथैवायमस्त्विति वाच्यं, तस्य तद्विलक्षणत्वात्। अन्यदप्येकसन्तानं भिन्नसन्तानं चैकजातीयं च यथैकदुग्धदर्शनं दुग्धान्तरदर्शनस्य, भिन्नजातीयं च यथा निशीथे तथाविधरसाऽऽस्वादनं तथाभूतरूपस्य संवादकं भवत्येव। न च मिथ्यापाथःप्रथाया पाथोन्तरे कुम्भाऽऽदौ वा संवेदनं संवादनं प्रसज्यते, यतो न खलु निखिलं प्रागुक्तं संवेदनं संवादकं संगिरामहे, किं तर्हि ?, यत्र पूर्वोत्तरज्ञानगोचरयोरव्यभिचारस्तत्रैव। किं च—स्वत एव प्रामाण्यनिर्णयवर्णनसकर्णेनानेन स्वशब्द आत्मार्थः, आत्मीयार्थो वा कथ्येत ?। नाऽऽद्यः पक्षः, स्वावबोधविधानेऽप्यन्धया बुद्ध्या स्वधर्मस्य प्रामाण्यस्य निर्णेतुमशक्तेः। द्वितीये तु, प्रकटकपटनाटकघटनपाटवं प्राचीकटत्, प्रकारान्तरेणास्मन्मताऽऽश्रयणात्—अस्माभिरपि आत्मीयेनैव ग्राहकेण प्रामाण्यनिश्चयस्य स्वीकृतत्वात्। अथ येनैव ज्ञानमात्रं निर्णीयते तेनैव तत्प्रामाण्यमपि, इति स्वतः प्रामाण्यनिर्णयो वर्ण्यते। नन्वर्थप्राकट्योत्थापितार्थापत्तेः सकाशात् त्वया ज्ञाननिर्णीतिस्तावदभीप्सामासे। अर्थप्राकट्यं च यथार्थत्वविशेषणविशिष्टं, निर्विशेषणं वा अर्थापत्तिमुत्थापयेत् ?। प्राचिपक्षे, तस्य तद्विशेषणग्रहणं प्रथमप्रमाणात्, अन्यस्मात्, स्वतो वा भवेत् ?। प्रथमपक्षे, परस्पराऽऽश्रयप्रसङ्गः निश्चितप्रामाण्याद्धि प्रथमप्रमाणाद्यथार्थत्वविशिष्टार्थप्राकट्यग्रहणं, तस्माच्च प्रथमप्रमाणे प्रामाण्यनिर्णय इति। द्वितीयविकल्पे तु, अनवस्था—अन्यस्मिन्नपि हि प्रमाणे प्रामाण्यनिर्णायकार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थप्राकट्यस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणमन्यस्मात्प्रमाणादिति। अथ स्वतस्तद्विशेषणग्रहणम्। तथाहि—स्वसंविदितमर्थप्राकट्यं तथाऽऽत्मानं निर्णयमानं स्वधर्मभूतं यथार्थत्वमपि निर्णयते, तथा च—ततोऽनुमीयमाने ज्ञाने स्वतः प्रामाण्यप्रसिद्धिरिति। तदेतदनवदातम्। एवं सत्यप्रामाण्यस्यापि स्वतो ज्ञप्तिप्रसक्तेः। स्वतो निश्चितवैतथ्यविशेषणादर्थप्राकट्याद्विज्ञानमनुमीयमानमाक्रन्दिता प्रामाण्यमेवानुमीयते। ततः कथं प्रामाण्यवदप्रामाण्यस्याऽपि स्वतो निर्णीतिर्न स्यात् ?। अथ तत्र बाधकादेवाप्रामाण्यनिर्णयो न पुनर्ज्ञाननिर्णायिकाद्, एवं तर्हि संवादकादेव प्रामाण्यस्यापि निर्णयोऽस्तु, इति तदपि कथं स्वतो निर्णीतं स्यात् ?। निर्विशेषणं चेत् तदर्थप्राकट्यमर्थापत्त्युत्थापकं, तर्ह्यप्रमाणेऽपि प्रामाण्यनिर्णायकार्थापत्त्युत्थापनाऽऽपत्तिः, अर्थप्राकट्यमात्रस्य तत्रापि सद्भावात्। इति सूत्रोक्तैव व्यवस्था सिद्धिसौधमध्यमध्यरुक्षत्। २०। रत्ना० १ परि०।

(७) विशेषतो मीमांसकमतनिराकरणम्—अत्राऽऽहुर्मीमांसकाः—अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणं, तस्यार्थतथात्वप्रकाशकत्वं प्रामाण्यम्। तच्च स्वतः उत्पत्तौ, स्व-

कार्ये यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे, स्वज्ञाने च । विज्ञानोत्पादकसामग्रीव्यतिरिक्तगुणाऽऽदिसामग्र्यन्तर-प्रमाणान्तरस्वसंवेदनग्रहणाऽनपेक्षत्वात्। अपेक्षात्रयरहितं च प्रामाण्यं स्वतः उच्यते। अत्र च प्रयोगः-ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तत्स्वरूपनियताः, यथाऽविकला कारणसामग्र्यङ्कुरोत्पादने, अनपेक्षं च प्रामाण्यमुत्पत्तौ, स्वकार्ये, ज्ञप्तौ चेति।

अत्र परतः प्रामाण्यवादिनः प्रेरयन्ति-अनपेक्षत्वमसिद्धम्। तथा हि-उत्पत्तौ तावत्प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणाऽऽदिकारणान्तरसापेक्षम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। तथा च प्रयोगः-यच्चक्षुराद्यतिरिक्तभावाभावानुविधायि, तत्तत्सापेक्षम्, यथाऽप्रामाण्यं, चक्षुराद्यतिरिक्तभावाभावानुविधायि च प्रामाण्यमिति स्वभावहेतुः, तस्मादुत्पत्तौ परतः। तथा स्वकार्ये च सापेक्षत्वात्परतः। तथाहि-ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदया न ते स्वतो व्यवस्थितधर्मकाः, यथाऽप्रामाण्याऽऽदयः। प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयं च प्रामाण्यं तत्रेति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः। तथा ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वात्परतः। तथाहि-ये संदेहविपर्ययाध्यासिततनवस्ते परतो निश्चितयथावस्थितस्वरूपाः, यथा स्थाण्वादयः, तथा च संदेहविपर्ययाध्यासितस्वभावं केषाञ्चित्प्रत्ययानां प्रामाण्यमिति स्वभावहेतुः।

अत्र यत्तावदुक्तम्—प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणाऽऽदिकारणसव्यपेक्षमुत्पत्तौ, तदसत्, तेषामसत्त्वात्। तदसत्त्वं च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः। तथाहि-न तावत् प्रत्यक्षं चक्षुरादीन्द्रियगतान् गुणान् ग्रहीतुं समर्थम्। अतीन्द्रियत्वेनेन्द्रियाणाम्, तद्गुणानामपि प्रतिपत्तुमशक्तेः। अथाऽनुमानमिन्द्रियगुणान् प्रतिपद्यते। तदप्यसम्यक्। अनुमानस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चयबलेनोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिबन्धश्च किं प्रत्यक्षेणेन्द्रियगतगुणैः सह गृह्यते लिङ्गस्य, आहोस्विदनुमानेनेति वक्तव्यम्। तत्र यदि प्रत्यक्षमिन्द्रियाऽऽश्रितगुणैः सह लिङ्गसम्बन्धग्राहकमभ्युपगम्यते। तदयुक्तम्। इन्द्रियगुणानामप्रत्यक्षत्वे तद्गतसम्बन्धस्याऽप्यप्रत्यक्षत्वात्। "द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्।" इति वचनात्। अथानुमानेन प्रकृतसम्बन्धः प्रतीयते। तदप्ययुक्तम्। यतस्तदप्यनुमानं किं गृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवम्, उताऽगृहीतसंबन्धलिङ्गसमुत्थम्?। तत्र यद्यगृहीतसम्बन्धलिङ्गप्रभवं, तदा किं प्रमाणम् उताऽप्रमाणम्?। यद्यप्रमाणं, नातः संबन्धप्रतीतिः। अथ प्रमाणम्, तदपि न प्रत्यक्षम्, अनुमानस्य बाह्यार्थाविषयत्वेन प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात्, प्रत्यक्षपक्षोक्तदोषाच्च। किं तु अनुमानम्, तच्चानवगतसम्बन्धं न प्रवर्त्तत इत्यादि वक्तव्यम्। अथाऽवगतसम्बन्धम्, तस्याऽपि सम्बन्धः किं तेनैवानुमानेन गृह्येत, उताऽन्येन?। यदि तेनैव गृह्यत इत्यभ्युपगमः। स न युक्तः। इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-गृहीतप्रतिबन्धं तत्स्वसाध्यप्रतिबन्धग्रहणाय प्रवर्त्तते, तत्प्रवृत्तौ च स्वोत्पादकप्रतिबन्धग्रह इत्यन्योऽन्यासंश्रयो व्यक्तः। अथाऽन्येनानुमानेन प्रतिबन्धग्रहाभ्युपगमः। सोऽपि न युक्तः। अनवस्थाप्रसङ्गात्। तथाहि-तदप्यनुमानमनुमानप्रतिबन्धग्राहकमनुमानान्तराद् गृहीतप्रतिबन्धमुदयमासादयति, तदप्यन्यतोऽनुमानाद् गृहीतप्रतिबन्धमित्यनवस्था। किं च-तदनुमानं स्वभावहेतुप्रभावितं, कार्यहेतुसमुत्थम्, अनुपलब्धिलिङ्गप्रभवं वा प्रतिबन्धग्राहकं स्यात्। अन्यस्य साध्यनिश्चायकत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात्। तदुक्तम्-" त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि, अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं च।" इति। "त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिविज्ञानमनुमानम्।" इति च। तत्र स्वभावहेतुः प्रत्यक्षगृहीतेऽर्थे व्यवहारमात्रप्रवर्तनफलः, यथा शिंशपात्वाऽऽदि-र्वृक्षाऽऽदिव्यवहारप्रवर्त्तनफलः। न चाऽक्षाऽऽश्रितगुणलिङ्गसंबन्धः प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नो, येन स्वभावहेतुप्रभवमनुमानं तत्संबन्धव्यवहारमारचयति। नापि कार्यहेतुसमुत्थम्, अक्षाऽऽश्रितगुणलिङ्गसंबन्धग्राहकत्वेन तत्प्रभवति। कार्यहेतोः,सिद्धे कार्यकारणभावे, कारणप्रतिपत्तिहेतुत्वेनाभ्युपगमात्। कार्यकारणभावस्य च सिद्धिः प्रत्यक्षानुपलम्भप्रमाणसंपाद्या। न च लोचनाऽऽदिगतगुणाऽऽश्रितलिङ्गसम्बन्धग्राहकत्वेन प्रत्यक्षप्रवृत्तिः,येन तत्कार्यत्वेन कस्यचिल्लिङ्गस्य प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तिः स्यात्। तन्न कार्यहेतोरपि प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः॥ अनुपलब्धेस्त्वेवंविधे विषये प्रवृत्तिरेव न सम्भवति, तस्या अभावसाधकत्वेन व्यापाराभ्युपगमात्। न चान्यल्लिङ्गमभ्युपगम्यत इत्युक्तम्। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरमिति नेन्द्रियगतगुणप्रतिपत्तिः। यन्न क्वचिदपि प्रमाणेन प्रतिभाति, न तत्सद्व्यवहारावतारि, यथा शशशृङ्गम्, न प्रतिभान्ति च क्वचिदपि प्रमाणेनाऽतीन्द्रियेन्द्रियगुणा भवदभ्युगता इति कुतस्तेषां विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तानां प्रामाण्योत्पादकत्वम्?। अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगमः। तदप्ययुक्तम्। यथार्थत्वायथार्थत्वे विहाय यदि कार्यस्य उपलब्ध्याख्यस्वरूपं निश्चितं भवेत्, तदा यथार्थत्वलक्षणः कार्यस्य विशेषः पूर्वस्मात्कारणकलापादनिष्पद्यमानो गुणाऽऽख्यं स्वोत्पत्तौ कारणान्तरं परिकल्पयति। यदा तु यथार्थैवोपलब्धिः स्वोत्पादककारणकलापानुमापिका, तदा कथमुत्पादकव्यतिरेकिगुणसद्भावः। अयथार्थत्वं तूपलब्धेः कार्यस्य विशेषः पूर्वस्मात्कारणसमुदायादनुपपद्यमानः स्वोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरं कल्पयति; अत एव परतोऽप्रामाण्यमुच्यते,तस्योत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात्। न चेन्द्रियनैर्मल्याऽऽदिगुणत्वेन वक्तुं शक्यम्। नैर्मल्यं हि तत्स्वरूपमेव, न पुनरौपाधिको गुणः। तथाव्यपदेशस्तु दोषाभावनिबन्धनः। तथाहि--कामलाऽऽदिदोषासत्त्वान्निर्मलमिन्द्रियमुच्यते,तत्सत्त्वे सदोषम्। मनसोऽपि मिद्धाऽऽद्यभावः स्वरूपम्, तत्सद्भावस्तु दोषः। विषयस्यापि निश्चलत्वाऽऽदिस्वभावः, चलत्वाऽऽदिकस्तु दोषः। प्रमातुरपि क्षुदाद्यभावः स्वरूपम्, तत्सद्भावस्तु दोषः। तदुक्तम्-"इयती च सामग्री प्रमाणोत्पादिका।" तदुत्पद्यमानमपि प्रमाणं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात् स्वत उच्यते। नाप्येतद्वक्तव्यम्, तज्जनकानां स्वरूपमयथार्थोपलब्ध्या समधिगतं, यथार्थत्वं तु पूर्वस्मात्कार्यावगतात्कारकस्वरूपादनिष्पद्यमानं किमिति गुणाऽऽख्यं सामग्र्यन्तरं न कल्पयति?,प्रक्रियाया विपर्ययेणाऽपि कल्पयितुं शक्यत्वात्। यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञानात्स्वरूपस्य कारणमप्यनुमिनोति, किं तु सम्यग्ज्ञानात्। तथाविधे च कारकानुमानेऽशक्यप्रतिषेधा पूर्वोक्तप्रक्रिया। नाऽपि तृतीयं यथार्थत्वाऽयथार्थत्वे विहाय कार्यमस्तीत्युक्तम्। अपि च-अर्थतथाभावप्रकाशनरूपं प्रामाण्यम्, तस्य चक्षुरादिकारणसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पत्त्यभ्युपगमे विज्ञानस्य किं स्वरूपं भवद्भिरपरमभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम्?। न च तद्रूपव्यतिरेकेण विज्ञानस्वरूपं प्रमाणतेन संभवति, येन प्रामाण्यं तत्र विज्ञानोत्पत्तावप्यनुत्पन्नमुत्तरकालं तत्रैवोत्पत्तिमदभ्युपगम्येत, भित्ताविव चित्रम्। किं च-यदि

स्वसामग्रीतो विज्ञानोत्पत्तावपि न प्रामाण्यं समुत्पद्यते, किं तु तद्व्यतिरिक्तसामग्रीतः पश्चाद्भवति, तदा विरुद्धधर्माध्यासात्, कारणभेदाच्च भेदः स्यात्। अन्यथा-"अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा, यदुत विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्च, स चेन्न भेदको विश्वमेकं स्यात्।" इति वचः परिप्लवेत। तस्माद्यत एव गुणविकलसामग्रीलक्षणात्कारणाद्विज्ञानमुत्पद्यते तत एव प्रामाण्यमपीति गुणवच्चक्षुरादिभावानुविधायित्वादित्यसिद्धो हेतुः। अत एवोत्पत्तौ सामग्र्यन्तरानपेक्षत्वं नासिद्धम्। अनपेक्षत्वविरुद्धस्य सापेक्षत्वस्य विपक्षे सद्भावात्। ततो व्यावर्त्तमानो हेतुः स्वसाध्येन व्याप्यते इति विरुद्धानैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतोः स्वसाध्यसिद्धिः। अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यम्। शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति, नोत्पादककारणकलापाधीनाः। तदुक्तम्-"स्वतः सर्वप्रमाणानां,प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः,कर्तुमन्येन पार्यते ॥ १ ॥" एतच्च नैव सत्कार्यदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते, किं तु यः कार्यधर्मः कारणकलापेऽस्ति स एव कारणकलापादुपजायमाने कार्ये तत एवोदयमासादयति; यथा मृत्पिण्डे विद्यमाना रूपाऽऽदयो, घटेऽपि मृत्पिण्डादुपजायमाने मृत्पिण्डरूपाऽऽदिद्वारेणोपजायन्ते। ये पुनः कार्यधर्माः कारणेऽविद्यमाना न ते कारणेभ्यः कार्ये उदयमासादयन्ति, न तत एव प्रादुर्भवन्ति, किं तु स्वतः। यथा घटस्यैवोदकाऽऽहरणशक्तिः, तथा विज्ञानेऽप्यर्थतथात्वपरिच्छेदे शक्तिः चक्षुरादिषु विज्ञानकारणेष्वविद्यमाना न तत एव भवति, किं तु स्वत एव प्रादुर्भवति। किं चोक्तम्-"आत्मलाभे हि भावानां, कारणापेक्षिता भवेत्। लब्धाऽऽत्मनां स्वकार्येषु, प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥ १ ॥" तथाहि-"मृत्पिण्डदण्डचक्राऽऽदि, घटो जन्मन्यपेक्षते। उदकाऽऽहरणे तस्य, तदपेक्षा न विद्यते ॥ १ ॥" इति। अथ चक्षुरादेर्विज्ञानकारणादुपजायमानत्वात्प्रामाण्यं परत उपजायत इति यदभिधीयते, तदभ्युपगम्यत एव। प्रेरणाबुद्धेरपि अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायाः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्षाल्लिङ्गादुपजायमाना तत एव गृहीतप्रामाण्योपजायत इति सर्वत्र विज्ञानकारणकलापव्यतिरिक्तकारणान्तरानपेक्षमुपजायमानं प्रामाण्यं स्वत उत्पद्यत इति नोत्पत्तौ परतः प्रामाण्यम् ॥ नापि स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तमानं प्रमाणं स्वोत्पादककारणव्यतिरिक्तनिमित्तापेक्षं प्रवर्त्तत इत्यभिधातुं शक्यम्। यतस्तन्निमित्तान्तरमपेक्ष्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं किं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रवर्त्तते, आहोस्वित्स्वोत्पादककारणगुणानपेक्ष्य प्रवर्त्तते?, इति विकल्पद्वयम्। तत्र यद्याद्यो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तदा चक्रकलक्षणं दूषणमापतति। तथाहि-प्रमाणस्य स्वकार्ये प्रवृत्तौ सत्यामर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ चार्थक्रियाज्ञानोत्पत्तिलक्षणः संवादः, तं च संवादमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्येऽर्थतथाभावपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तत इति यावत्प्रमाणस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः, तामन्तरेण नार्थक्रियाज्ञानसंवादः, तत्सद्भावं विना प्रमाणस्य तदपेक्षस्य स्वकार्ये न प्रवृत्तिरिति स्पष्टं चक्रकलक्षणं दूषणमिति। न च भाविनं संवादप्रत्ययमपेक्ष्य प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तत इति शक्यमभिधातुम्। भाविनोऽसत्त्वेन विज्ञानस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वासम्भवात्। अथ द्वितीयः, तत्रापि किं गृहीताः स्वोत्पादककारणगुणाः सन्तः प्रमाणस्य स्वकार्ये प्रवर्त्तमानस्य सहकारित्वं प्रपद्यन्ते, आहोस्विदगृहीता इत्यत्राऽपि विकल्पद्वयम्। तत्र यद्यगृहीता इति पक्षः। स न युक्तः। अगृहीतानां सत्त्वस्यैवासिद्धेः सहकारित्वं दूरोत्सारितमेव। अथ द्वितीयः। सोऽपि न युक्तः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। तथाहि-गृहीतस्वकारणगुणापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्तते, स्वकारणगुणज्ञानमपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षं प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्तते, तदपि स्वकारणगुणज्ञानापेक्षमित्यनवस्थासमवतारो दुर्निवार इति। अथ प्रमाणकारणगुणज्ञानं स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षमेव प्रमाणकारणगुणपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तर्हि प्रमाणमपि स्वकारणगुणज्ञानानपेक्षमेवार्थपरिच्छेदलक्षणे स्वकार्ये प्रवर्तिष्यत इति व्यर्थं प्रमाणस्य स्वकारणगुणज्ञानापेक्षणमिति न स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं प्रमाणमन्यापेक्षम्। तदुक्तम्-

"जातेऽपि यदि विज्ञाने, तावन्नार्थोऽवधार्यते।
यावत्कारणशुद्धत्वं, न प्रमाणान्तराद्गतम् ॥ १ ॥
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः, प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात्।
यावद्धि न परिच्छिन्ना, शुद्धिस्तावदसत्समा ॥ २ ॥
तस्याऽपि कारणाशुद्धे-र्न ज्ञानस्य प्रमाणता।
तस्याप्येवमितीच्छँस्तु, न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥ ३ ॥" इति।

तेन "ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः" इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः, तस्मात्स्वसामग्रीत उपजायमानं प्रमाणमर्थयाथात्म्यपरिच्छेदशक्तियुक्तमेवोपजायत इति स्वकार्येऽपि प्रवृत्तिः स्वत इति स्थितम्। नापि प्रमाणं प्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्। तद्ध्यपेक्षमाणं किं स्वकारणगुणानपेक्षते, आहोस्वित्संवादमिति विकल्पद्वयम्। तत्र यदि स्वकारणगुणानपेक्षते इति पक्षः कक्षीक्रियते। सोऽसङ्गतः। स्वकारणगुणानां प्रत्यक्षतत्पूर्वकानुमानाग्राह्यत्वेनाऽसत्त्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात्। अथाभिधीयते—यो यः कार्यविशेषः स स गुणवत्कारणविशेषपूर्वको, यथा प्रासादाऽऽदिविशेषः। कार्यविशेषश्च यथावस्थितार्थपरिच्छेद इति स्वभावहेतुरिति। एतदसंबद्धम्। परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वासिद्धेः। तथाहि-परिच्छेदस्य यथावस्थितपरिच्छेदत्वं किं शुद्धकारकजन्यत्वेन, उत संवादित्वेनाहोस्विद्बाधारहितत्वेन, उतास्विदर्थतथात्वेनेति विकल्पाः। तत्र यदि गुणवत्कारणजन्यत्वेनेति पक्षः। स न युक्तः। इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-गुणवत्कारणजन्यत्वेन परिच्छेदस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं, तत्परिच्छेदत्वाच्च गुणवत्कारणजन्यत्वमिति परिस्फुटमितरेतराऽऽश्रयत्वम्। अथ संवादित्वेन ज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वं विज्ञायते। एतदप्यचारु। चक्रकप्रसङ्गस्यात्र पक्षे दुर्निवारत्वात्। तथाहि-न यावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषः सिध्यति, न तावत्तत्पूर्विका प्रवृत्तिः, संवादार्थिनां यावच्च न प्रवृत्तिर्न तावदर्थक्रियासंवादः, यावच्च न संवादो न तावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदत्वासिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्गः प्रागेव प्रतिपादितः ॥ अथ बाधारहितत्वेन विज्ञानस्य यथार्थपरिच्छेदत्वमध्यवसीयते। तदप्यसङ्गतम्। स्वाभ्युपगमविरोधात्। तदभ्युपगमविरोधश्च बाधाविरहस्य तुच्छस्वभावस्य सत्त्वेन, ज्ञापकत्वेन वाऽनङ्गीकरणात्। पर्युदासवृत्त्या तदन्यज्ञानलक्षणस्य तु विज्ञानपरिच्छेदविशेषाविषयत्वेन तद्व्यवस्थापकत्वानुपपत्तेः॥ अर्थतथात्वेन यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषो विज्ञानस्य

व्यवस्थाप्यते। सोऽपि न युक्तः। इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथा हि- सिद्धेऽर्थतथाभावे तद्विज्ञानस्यार्थतथाभावपरिच्छेदकत्वसिद्धिः,तत्सिद्धेश्चार्थतथाभावसिद्धिरिति परिस्फुटमितरेतराऽऽश्रयत्वम्। तन्न कारणगुणापेक्षा प्रामाण्यज्ञप्तिः । अथ संवादापेक्षः प्रामाण्यविनिश्चयः। सोऽपि न युक्तः । यतः संवादकं ज्ञानं किं समानजातीयमभ्युपगम्यते, आहोस्विद्विजातीयमिति पुनरपि विकल्पद्वयम्?। तत्र यदि समानजातीयं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम् । किमेकसन्तानप्रभव, भिन्नसन्तानप्रभवं वा ?। यदि भिन्नसन्तानप्रभवं समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमित्यभ्युपगमः। अयमप्यनुपपन्न , अतिप्रसङ्गात्। अतिप्रसङ्गश्च देवदत्तघटविज्ञानं प्रति यज्ञदत्तघटान्तरविज्ञानस्याऽपि संवादकत्वप्रसक्तेः। अथ समानसन्तानप्रभवं समानजातीयं ज्ञानान्तरं संवादकमभ्युपगम्यते, तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-किं तत् पूर्वप्रमाणाभिमतविज्ञानगृहीतार्थविषयम्, उत भिन्नविषयमिति ?। तत्र यद्येकार्थविषयमिति पक्षः। सोऽनुपपन्न । एकार्थविषयत्वे संवाद्यसंवादकयोरविशेषात्। तथा हि-एकविषयत्वे सति यथा प्राक्तनमुत्तरकालभाविनो विज्ञानस्यैकसन्तानप्रभवस्य समानजातीयस्य न संवादकम्, तथोत्तरकालभाव्यपि न स्यात्। किं च-तदुत्तरकालभावि समानजातीयमेकविषयं कुतः प्रमाणमेव सिद्धं, येन प्रथमस्य प्रामाण्यं निश्चाययति । तदुत्तरकालभाविनोऽन्यस्मात्तथाविधादेवेति चेत्, तर्हि तस्याप्यन्यस्मात्तथाविधादेवेत्यनवस्था । अथोत्तरकालभाविनस्तथाविधस्य प्रथमप्रमाणात्प्रामाण्यनिश्चयः, तर्हि प्रथमस्योत्तरकालभाविनः प्रमाणात्तन्निश्चयः, उत्तरकालभाविनोऽपि प्रथमप्रमाणादिति तदेवेतरेतराऽऽश्रयत्वम् । अथ प्रथमोत्तरयोरेकविषयत्वसमानजातीयत्वैकसन्तानत्वाविशेषेऽप्यस्त्यन्यो विशेषः, यतो विशेषादुत्तरं प्रथमस्य प्रामाण्यं निश्चाययति, न पुनः प्रथममुत्तरस्य। स च विशेष उत्तरस्य कारणशुद्धिपरिज्ञानानन्तरभावित्वम्। ननु कारणशुद्धिपरिज्ञानमर्थक्रियापरिज्ञानमन्तरेण न सम्भवति, तत्र च चक्रकदोषः प्राक् प्रतिपादित इति नार्थक्रियाज्ञानसंभवः। संभवे वा तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य संजातत्वात् व्यर्थमुत्तरकालभाविनः कारणशुद्धिज्ञानविशेषसमन्वितस्य पूर्वप्रामाण्यावगमहेतुत्वकल्पनम् । तन्न समानजातीयमेकसन्तानप्रभवमेकार्थमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्। अथ भिन्नार्थं तत् ज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्। तदप्ययुक्तम्। एवं सति शुक्तिकाया रजतज्ञानस्य तथाभूतं शुक्तिकाज्ञानं प्रामाण्यनिश्चायकं स्यात्। तन्न समानजातीयमुत्तरज्ञानं पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चायकम् । अथ भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति पक्ष । तत्राऽपि वक्तव्यम्। किमर्थक्रियाज्ञानमुतान्यत्?। तत्रान्यदिति न वक्तव्यम् । घटज्ञानस्यापि पटज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकत्वप्रसङ्गात्। अथार्थक्रियाज्ञानं संवादकमित्यभ्युपगम.।अयमपि न युक्त.।अर्थक्रियाज्ञानस्यैव प्रामाण्यनिश्चयाभावे प्रवृत्त्याद्यभावतश्चक्रकदोषेणासंभवात्। अथ प्रामाण्यनिश्चयाभावेऽपि संशयादपि प्रवृत्तिसंभवान्नार्थक्रियाज्ञानस्यासम्भव' तर्हि प्रामाण्यनिश्चयो व्यर्थ । तथाहि-प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेण प्रवृत्तो विसंवादभाक् मा भूवमित्यर्थक्रियार्थी प्रामाण्यनिश्चयमन्वेषते, सा च प्रवृत्तिस्तन्निश्चयमन्तरेणापि संजातेति व्यर्थः प्रामाण्यनिश्चयप्रयासः। किं च-अर्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यनिश्चायकत्वेनाऽभ्युपगम्यमानस्य कुतः प्रामाण्यनिश्चयः?। तदन्यार्थक्रियाज्ञानादिति चेत्,अनवस्था।पूर्वप्रमाणादिति चेदन्योन्याऽऽश्रयदोषः प्राक् प्रदर्शितोऽत्रापि। अथार्थक्रियाज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः। प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः?। तदुक्तम्-



" यथैव प्रथमं ज्ञानं, तत्संवादमपेक्षते ।
संवादेनापि संवादः, पुनर्मृग्यस्तथैव हि ॥ १ ॥
कस्यचित्तु यदीष्येत, स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे, प्रद्वेषः केन हेतुना ? ॥ २ ॥
संवादस्याऽथ पूर्वेण, संवादित्वात्प्रमाणता ।
अन्योऽन्याऽऽश्रयभावेन,न प्रामाण्यं प्रकल्पते ॥३॥" इति ।

अथापि स्यादर्थक्रियाज्ञानमर्थाभावे न दृष्टमिति न तत्स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षं, साधनज्ञानं त्वर्थाभावेऽपि दृष्टमिति तत्प्रामाण्यनिश्चयेऽर्थक्रियाज्ञानापेक्षमिति। एतदप्यसङ्गतम्' अर्थक्रियाज्ञानस्याप्यर्थमन्तरेण स्वप्नदशायां दर्शनात्, न च स्वप्नजाग्रद्दशाऽवस्थायाः कश्चिद्विशेषः प्रतिपादयितुं शक्यः। अथार्थक्रियाज्ञानं फलावाप्तिरूपत्वान्न स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षं, साधनविनिर्भासि पुनर्ज्ञानं नार्थक्रियाऽवाप्तिरूप भवति तत्स्वप्रामाण्यनिश्चयेऽन्यापेक्षम्। तथाहि-जलावभासिनि ज्ञाने समुत्पन्ने पानावगाऽऽहनाद्यर्थिनः किमेतत् ज्ञानविभासि जलमभिमतफल साधयिष्यति, उत नेति जाताऽऽशङ्कास्तत्प्रामाण्यविचारं प्रत्याद्रियन्ते। पानावगाहनार्थावाप्तिज्ञाने तु समुत्पन्नेऽवाप्तफलत्वान्न तत्प्रामाण्यविचारणाय मनः प्रणिदधति । नैतत्सारम् । अवाप्तफलत्वादित्यस्यानुत्तरत्वात् । तथाहि-यथा ते विचारकत्वाज्जलज्ञानावभासिनो जलस्य किं सत्त्वमुतासत्त्वमिति विचारणायां प्रवृत्तास्तथा फलज्ञाननिर्भासिनोऽप्यर्थस्य सत्त्वासत्त्वविचारणायां प्रवर्त्तन्ते । अन्यथा तदप्रवृत्तौ तदवभासिनोऽर्थस्यासत्त्वाऽऽशङ्कया तज्ज्ञानस्याऽवस्तुविषयत्वेनाप्रमाणतया शङ्क्यमानस्य न तज्जलावभासिप्रवर्त्तकज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकत्वम् । ततश्चान्यस्य तत्समानरूपतया प्रामाण्यनिश्चयाभावात्कथमर्थक्रियार्थी प्रवृत्तिर्निश्चितप्रामाण्यात् ज्ञानादित्यभ्युपगमः शोभनः। किं च-भिन्नजातीयं संवादकज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायकमभ्युपगम्यमानमेकार्थं, भिन्नार्थं वा ?। यद्येकार्थमित्यभ्युपगमः। स न युक्त. । भवन्मतेनाघटमानत्वात् । तथाहि-रूपज्ञानाद्भिन्नजातीयं स्पर्शाऽऽदिज्ञानं,तत्र च स्पर्शाऽऽदिकमाभाति न रूपम्, रूपज्ञाने तु रूपं, न स्पर्शाऽऽदिकमाभाति, रूपस्पर्शयोश्च परस्परं भेद., न चावयवी रूपस्पर्शज्ञानयोरेको विषयतयाऽभ्युपगम्यते,येनैकविषयं भिन्नजातीयं पूर्वज्ञानप्रामाण्यव्यवस्थापकं भवेत्। अपि च-एकविषयत्वेऽपि किं येन स्वरूपेण व्यवस्थाप्ये ज्ञाने सोऽर्थः प्रतिभाति, किं तेनैव व्यवस्थापके,उतान्येन?। तत्र यदि तेनैवेत्यभ्युपगम.।स न युक्त.। व्यवस्थापकस्य तावद्धर्मार्थविषयत्वेन स्मृतिवदप्रमाणत्वेन व्यवस्थापकत्वासंभवात्। अथ रूपान्तरेण सोऽर्थस्तत्र विज्ञाने प्रतिभाति। नन्वेवं संवाद्यसंवादकयोरेकविषयत्वं न स्यादिति द्वितीय एव पक्षोऽभ्युपगत स्यात्। स चाऽयुक्त.। पूर्वस्याऽपि भिन्नविषयस्यैकसन्तानप्रभवस्य विजातीयस्य प्रामा-

एयव्यवस्थापकत्वप्रसङ्गात्। तथा किं तत्समानकालमर्थक्रियाज्ञानं पूर्वज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकमाहोस्विद्भिन्नकालम् ? । यदि समानकालं,किं साधननिर्भासिज्ञानग्राहि,उत तदग्राहीति पुनरपि विकल्पद्वयम् ?। यदि तद्ग्राहि । तदसत् । ज्ञानान्तरस्य चक्षुरादिज्ञानेऽप्रतिभासनात् प्रतिनियतरूपाऽऽदिविषयत्वेन चक्षुरादिज्ञानानामभ्युपगमात्। अथ तदग्राहि, न तर्हि तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चायकम्। तदग्रहे तद्गतधर्माणामप्यग्रहात् । अथ भिन्नकालम्। तदप्ययुक्तम् । पूर्वज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नाशादुत्तरकालभाविविज्ञानेऽप्रतिभासनात् । भासने चोत्तरविज्ञानस्यासद्विषयत्वेनाप्रामाण्यप्रसक्तेस्तद्ग्राहकत्वेन न तत्प्रामाण्यनिश्चायकत्वम्। तदग्राहकं तु भिन्नकालं सुतरां न तन्निश्चायकमिति न भिन्नकालमप्येकसन्तानजं भिन्नजातीयं प्रामाण्यनिश्चायकमिति न संवादापेक्षः पूर्वप्रमाणप्रामाण्यनिश्चयः। तेन प्रस्तावपि "ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः," इति प्रयोगे हेतोर्नासिद्धिः। व्याप्तिस्तु साध्यविपक्षाऽतन्नियतत्वव्यापकात्सापेक्षत्वान्निवर्तमानमनपेक्षत्वं तन्नियतत्वेन व्याप्यते इति प्रमाणसिद्धैव। यतश्च न पूर्वोक्तेन प्रकारेण परतः प्रामाण्यनिश्चयः संभवति, ततो "ये संदेहविपर्ययविषयीकृताऽऽत्मतत्त्वा" इति प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धि, हेतोश्चासिद्धता। सर्वप्रमाणभूतां प्रामाण्यसन्देहविपर्ययाभावात्। तथा हि-ज्ञाने समुत्पन्ने सर्वेषामयमर्थ इति निश्चयो भवति। न च प्रामाण्यस्य संदेहे विपर्यये वा सत्येष युक्तः। तदुक्तम्-" प्रामाण्यग्रहणात्पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम्। निरपेक्षं स्वकार्ये च, " इति स्वार्थनिश्चयो हि प्रमाणकार्यं, न च तत्र प्रमाणान्तरग्रहणं चापेक्षत इति गम्यते। न चैतत्संशयविपर्ययविषयत्वे सम्भवतीति अथ प्रमाणाप्रमाणयोरुत्पत्तौ तुल्यं रूपमिति न संवादविसंवादावन्तरेण तयोः प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्निश्चयः। तदसत्। अप्रमाणे तदुत्तरकालमवश्यंभाविनौ बाधककारणदोषप्रत्ययौ, तेन तत्राप्रामाण्यनिश्चयः। प्रमाणे तु तयोरभावः कुतोऽप्रामाण्याऽऽशङ्का। अथ तत्तुल्यरूपे तयोर्दर्शनात्तत्राऽपि तदाशङ्का। साऽपि न युक्ता। त्रिचतुरज्ञानापेक्षामात्रतस्तत्र तस्या निवृत्तेः। न च तदपेक्षातः स्वतः प्रामाण्यव्याहतिरनवस्था वेत्याशङ्कनीयम्। संवादकज्ञानस्याप्रामाण्याऽऽशङ्काव्यवच्छेदे एव व्यापारादपरज्ञानानपेक्षणाच्च। तथा हि-अनुत्पन्नबाधके ज्ञाने परत्र बाध्यमानप्रत्ययसाधर्म्यादप्रामाण्याऽऽशङ्का तस्यां सत्यां तृतीयज्ञानापेक्षा, तच्चोत्पन्नं यदि प्रथमज्ञानसंवादि, तदा तेन न प्रथमज्ञानप्रामाण्यनिश्चयः क्रियते, किं तु द्वितीयज्ञानेन यत्तस्याप्रामाण्यमाशङ्कितं तदेव तेनापाक्रियते; प्रथमस्य तु स्वत एव प्रामाण्यमिति एवं तृतीयेऽपि कथञ्चित् संशयोत्पत्तौ चतुर्थज्ञानापेक्षायामयमेव न्यायः। तदुक्तम्-" एवं त्रिचतुरज्ञान-जन्मनो नाधिका मतिः। प्रार्थ्यते तावतैवैकं, स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥१॥ " इति। यत्र च दुष्टं कारणं, यत्र च बाधकप्रत्ययः स एव मिथ्याप्रत्यय इत्यस्याप्ययमेव विषयः। चतुर्थज्ञानापेक्षा त्वर्थज्ञानापेक्षाऽभ्युपगमवादत उक्ता, न तु तदपेक्षाऽपि भावतो विद्यते । अथ तृतीयज्ञानं द्वितीयज्ञानसंवादि, तदा प्रथमस्याप्रामाण्यनिश्चयः, स तु तत्कृतोऽभ्युपगम्यत एव किं तु द्वितीयस्य यदप्रामाण्यमाशङ्कितं तत्तेनापाक्रियते, न पुनस्तस्य द्वितीयप्रामाण्यनिश्चायकत्वे व्यापारः। यत्र त्वभ्यस्ते विषयेऽर्थतथात्वशङ्का नोपजायते तत्र बलादुत्पाद्यमाना शङ्का तत्कर्तुरनर्थकारिणीत्यावेदितं वार्तिककृता-" आशङ्केत हि यो मोहादजातमपि बाधकम्। स सर्वव्यवहारेषु, संशयाऽऽत्मा क्षयं व्रजेत् ॥ १ ॥ " इति। न चैतदभिशापमात्रम्। यतोऽशङ्कनीयेऽपि विषयेऽभिशङ्किनां सर्वत्रार्थानर्थप्राप्तिपरिहारार्थिनामिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसमर्थप्रवृत्त्यादिव्यवहारासंभवान्न्यायप्राप्त एव क्षयः। क्वचोत्प्रेक्षितनिमित्तनिबन्धनाया आशङ्कायाः सर्वत्र भावात्। प्रेरणाजनिता तु बुद्धिरपौरुषेयत्वेन दोषरहितात्प्रेरणालक्षणाच्छब्दादुपजायमाना लिङ्गाऽऽप्तोक्ताक्षबुद्धिवत् प्रमाणं सर्वत्र स्वतः। तदुक्तम्-"चोदनाजनिता बुद्धिः, प्रमाणं दोषवर्जिते । कारणैर्जन्यमानत्वा-ल्लिङ्गाऽऽप्तोक्ताक्षबुद्धिवत् ॥ १ ॥ " इति। तस्मात्स्वतः प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं परत इति व्यवस्थितम्। अतः सर्वप्रमाणानां स्वतः सिद्धत्वादयुक्तमुक्तं स्वतः सिद्धं शासनं नातः प्रकरणात्प्रामाण्येन प्रतिष्ठाप्यम्।

इदं त्वयुक्तम्-जिनानामिति *। जिनानामसत्त्वेन शासनस्य तत्कृतत्वानुपपत्ते। उपपत्तावपि परतः प्रामाण्यस्य निषिद्धत्वादिति । अत्र प्रतिविधीयते यत्तावदुक्तम्, अर्थतथाभावप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्। तदयुक्तम् । पराभ्युपगतज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेन निषेत्स्यमानत्वात्। यदप्यन्यदभ्यधायि, तस्य यथार्थप्रकाशकत्वं प्रामाण्यं, तच्चोत्पत्तौ स्वतः। विज्ञानकारणचक्षुरादिव्यतिरिक्तगुणानपेक्षत्वात्। तत्र प्रामाण्यस्योत्पत्तिरविद्यमानस्याऽऽत्मलाभः। सा चेन्निर्हेतुका, देशकालस्वभावनियमो न स्यादित्यन्यत्र प्रतिपादितम्। किं च-गुणवच्चक्षुरादिसद्भावे सति यथावस्थितार्थप्रतिपत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टेति तद्धेतुका व्यवस्थाप्यते अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनत्वादन्यत्राऽपि हेतुफलभावस्य। अन्यथा दोषवच्चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी मिथ्याप्रतिपत्तिरपि स्वतः स्यात्। तथाऽभ्युपगमे "वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र, सम्भवो दुष्टकारणाद्।" इति वचो व्याहतमनुषज्येत । यदपि, " अत्यक्षाऽऽश्रितगुणसद्भावे प्रत्यक्षाप्रवृत्तेः तत्पूर्वकानुमानस्यापि तद्ग्राहकत्वेनाव्यापारात् चक्षुरादिगतगुणानामसत्त्वात्सदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं प्रामाण्यस्योत्पत्तावयुक्तम्, " इत्युक्तम्। तदप्यसंगतम्। अप्रामाण्योत्पत्तावप्यस्य दोषस्य समानत्वात्। तथा हि-अतीन्द्रियलोचनाऽऽद्याश्रिता दोषाः किं प्रत्यक्षेण प्रतीयन्ते,उतानुमानेन ?। न तावत्प्रत्यक्षेण। इन्द्रियाऽऽदीनामतीन्द्रियत्वेन तद्गतदोषाणामप्यतीन्द्रियत्वेन तेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः । नाप्यनुमानेन। अनुमानस्य गृहीतप्रतिबद्धलिङ्गप्रभवत्वाभ्युपगमात्। लिङ्गप्रतिबन्धग्राहकस्य च प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चाऽत्र विषयेऽसम्भवात्, प्रमाणान्तरस्य चाऽत्रान्तर्भूतस्यासत्त्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वाद्, इत्यादि सर्वमप्रामाण्योत्पत्तिकारणभूतेषु लोचनाऽऽद्याश्रितेषु दोषेष्वपि समानमिति तेषामप्यसत्त्वात्सदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धत्वादप्रामाण्यमप्युत्पत्तौ स्वतः स्यात्। यदपि—" अथ कार्येण यथार्थोपलब्ध्यात्मकेन तेषामधिगमः " इत्यादि। "यतो न लोकः प्रायशो विपर्ययज्ञानादुत्पादकं कारणमात्रमनुमिनोति, किं तु सम्यग्ज्ञानाद्, इत्यन्तमभ्यधायि । तदप्य-

* सिद्ध सिद्धत्थाण, ठाणमणोवमसुह उवगयाण । कुसमयविसासण सासण जिणाण भवजिणाण ॥ १ ॥ इतिगाथाया व्याख्येयम्।

सङ्गतम् । यतो यदि लोकव्यवहारसमाश्रयणेन प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थाप्येते, तदाऽप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमपि परतो व्यवस्थापनीयम् । तथाहि-लोको यथा मिथ्याज्ञानं दोषवच्चक्षुरादिप्रभवमभिदधाति, तथा सम्यग्ज्ञानमपि गुणवच्चक्षुरादिसमुत्थमिति तदभिप्रायादप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमप्युत्पत्तौ परत कथं न स्यात् । तथाहि-तिमिराऽऽदिदोषावष्टब्धचक्षुष्को विशिष्टौषधोपयोगावाप्ताक्षिनैर्मल्यगुणः केनचित्सुहृदा कीदृशे भवतो लोचने वर्त्तेते इति पृष्टः सन् प्राऽऽह-प्राक् सदोषे अभूतामिदानीं समासादितगुणे संजाते इति । न च नैर्मल्यं दोषाभावमेव लोको व्यपदिशतीति शक्यमभिधातुम्, तिमिराऽऽदेरपि गुणाभावरूपत्वव्यपदेशप्राप्तेः। तथा चाऽप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत्स्वतः स्यात् । यदप्यभ्यधायि, "न च तृतीयं कार्यमस्ति" इति । तदप्यसम्यक्। तृतीयकार्याभावेऽपि पूर्वोक्तन्यायेन प्रामाण्यस्योत्पत्तौ परतः सिद्धत्वात् । यच्च " अपि चाऽर्थतथाभावप्रकाशनलक्षणं प्रामाण्यम् " इत्यादि, "विश्वमेकं स्यादिति वचः परिस्रवेत" इति पर्यवसानमभिहितम् । तदपि अविदितपराभिप्रायेण । यतो न परस्योभयमभ्युपगमो विज्ञानस्य चक्षुरादिसामग्रीत उत्पत्तावप्यर्थतथाभावप्रकाशनलक्षणस्य प्रामाण्यस्य नैर्मल्याऽऽदिसामग्र्यन्तरात्पश्चादुत्पत्तिः, किन्तु गुणवच्चक्षुरादिसामग्रीत उपजायमानं विज्ञानमागृहीतप्रामाण्यस्वरूपमेवोपजायते इति ज्ञानवत्तदव्यतिरिक्तस्वभावं प्रामाण्यमपि परत इति गुणवच्चक्षुरादिसामग्र्यपेक्षत्वादुत्पत्तौ प्रामाण्यस्यानपेक्षत्वलक्षणस्वभावहेतुरसिद्धोऽनपेक्षत्वस्वरूप इति " तस्माद्यत एव गुणविकलसामग्रीलक्षणाद् " इत्याद्ययुक्तमभिहितम् । "अर्थतथात्वपरिच्छेदरूपा च शक्तिः प्रामाण्यं, शक्तयश्च सर्वभावानां स्वत एव भवन्ति " इत्यादि यदभिधानम् । तदप्यसमीचीनम् । एवमभिधाने अयथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तेरप्यप्रामाण्यरूपाया असत्याः केनचित्कर्त्तुमशक्तेस्तदपि स्वतः स्यात् । यदपि " एतच्च नैव सत्कार्यप्रदर्शनसमाश्रयणादभिधीयते " इत्यादि " तदपेक्षा न विद्यते " इति पर्यन्तमभिहितम् । तदपि प्रलापमात्रम् । यतोऽनेन न्यायेनाप्रामाण्यमपि प्रामाण्यवत् स्वत एव स्यात् । तदपि हि विपरीतार्थपरिच्छेदशक्तिलक्षणं न तिमिराऽऽदिदोषसङ्गतिमत्सु लोचनाऽऽदिषु अस्तीति। अपि च-ज्ञानरूपतामात्मन्यसतीमाविर्भावयन्तीन्द्रियाऽऽदयो न पुनर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तिमिति न किञ्चिन्निमित्तमुत्पश्यामः । कुतश्चैतदैश्वर्यं शक्तिभिः प्राप्तम्, यत इमाः स्वत एवोदयं प्रत्यासादितमाहात्म्या न पुनस्तदाधाराभिमता भावविशेषा इति । न च तास्तेभ्यः प्राप्तव्यतिरेकाः । यतः स्वाऽऽधाराभिमतभावकारणेभ्यो भावस्योत्पत्तावपि, न तेभ्य एवोत्पत्तिमनुभवेयुः, व्यतिरेके, स्वाश्रयैस्ततोऽभवन्त्यो न संबन्धमाप्नुयुः । भिन्नानां कार्यकारणभावव्यतिरेकेणापरस्य संबन्धस्याभावादाश्रयाऽऽश्रयिसंबन्धस्यापि जन्यजनकभावभावेऽतिप्रसङ्गतो निषेत्स्यमानत्वात् । धर्मत्वाच्छक्तेराश्रय इत्यप्ययुक्तम् । असति पारतन्त्र्ये, परमार्थतस्तदयोगात् । पारतन्त्र्यमपि न सतः सर्वनिराशम् । सत्त्वात् । असतोऽपि व्योमकुसुमस्येव न, तत्त्वादेव । अनिमित्ताश्चेमा न देशकालद्रव्यनियमं प्रतिपद्येरन् । तद्धि किञ्चित् क्वचित्कुपलीयेत, न वा ?। यद्यत्र कथञ्चिदायत्तमनायत्तं वा । सर्वत्र प्रतिबन्धविवेकिन्यश्चेच्छक्तयो नेमाः कस्यचित्कदाचिद्विरमेयुरिति प्रतिनियतशक्तियोगिता भावानां प्रमाणप्रमिता न स्यात् व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षस्तु शक्तीनां विरोधानवस्थोभयपक्षोक्तदोषाऽऽदिपरिहाराद् विनाऽनुद्धोष्यः । अनुभयपक्षस्तु न युक्त । परस्परपरिहारस्थितरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वात् । न च विहितस्य पुनस्तस्यैव निषेधः। विधिप्रतिषेधयोरेकत्र विरोधात् । ये त्वाहुः-उत्तरकालभाविनः संवादप्रत्ययान्न जन्म प्रतिपद्यते शक्तिलक्षणं प्रामाण्यमिति स्वत उच्यते, न पुनर्विज्ञानकारणान्नोपजायत इति। तेऽपि न सम्यक् प्रचक्षते । सिद्धसाध्यनादोषात् । अप्रामाण्यमपि चैवं स्वतः स्यात् , न हि तदप्युत्पन्ने ज्ञाने विसंवादप्रत्ययादुत्तरकालभाविनः तत्रोत्पद्यत इति कस्यचिदभ्युपगमः । यदा च गुणवत्कारणजन्यता प्रामाण्यस्य शक्तिरूपस्य प्राक्तनन्यायादवस्थिता, तदा कथमौत्सर्गिकत्वम् । तस्य दुष्टकारणप्रभवेषु मिथ्याप्रत्ययेष्वभावात् । परस्परव्यवच्छेदरूपाणामेकत्रासम्भवात् । तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावादप्रामाण्यद्वयासत्त्वेनोत्सर्गोऽनपोहित एवाऽऽस्त इति वचः परिफल्गुप्रायम् । इतश्चैतद्वचोऽयुक्तम् । विपर्ययेणाप्यस्योद्घोषयितुं शक्यत्वात् । तथाहि-दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावात्प्रामाण्यद्वयासत्त्वेनाप्रामाण्यमौत्सर्गिकमास्त इति ब्रुवतो न वक्त्रं वक्रीभवति । किं च-गुणेभ्यो दोषाणामभाव इति न तुच्छरूपो दोषाभावो गुणव्यापारनिष्पाद्यः । तत्र व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पद्वारेण कारकव्यापारस्यासंभवात्, भवद्भिरनभ्युपगमाच्च । तुच्छाभावस्याभ्युपगमे वा-"भावान्तरविनिर्मुक्तो, भावोऽत्रानुलम्भवत् । अभावः सम्मतस्तस्य, हेतोः किं न समुद्भवः ॥१॥" इति वचो न शोभेत । तस्मात्पर्युदासवृत्त्या प्रतियोगिगुणाऽऽत्मक एव दोषाभावोऽभिप्रेतस्ततश्च गुणेभ्यो दोषाभाव इति ब्रुवता गुणेभ्यो गुणा इत्युक्तं भवति । न च गुणेभ्यो गुणाः कारणानामात्मभूता उपजायन्त इति । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वकारणेभ्यो गुणोत्पत्तिसद्भावाच्च । तदभावादप्रामाण्यद्वयासत्त्वमपि प्रामाण्यमभिधीयते । ततश्च गुणेभ्यः प्रामाण्यमुत्पद्यत इति अभ्युपगमात् परत प्रामाण्यमुत्पद्यत इति प्राप्तम् । ततश्च स्वार्थावबोधशक्तिरूपप्रामाण्याऽऽत्मलाभे चेत् कारणापेक्षा, काऽन्या स्वकार्ये प्रवृत्तिर्या स्वयमेव स्यात् । तेनायुक्तमुक्तम्-" लब्धाऽऽत्मनां स्वकार्येषु, प्रवृत्तिः स्वयमेव तु । " इति । घटस्य जलोद्वहनव्यापारात्पूर्वं रूपान्तरेण स्वहेतोरुत्पत्तेर्युक्तं मृदादिकारणनिरपेक्षस्य स्वकार्ये प्रवृत्तिरित्यतो विसदृशमुदाहरणम् । उत्पत्त्यनन्तरमेव च विज्ञानस्य नाशोपगमात्कुतो लब्धाऽऽत्मनः प्रवृत्तिः स्वयमेव । तदुक्तम्-

" न हि तत्क्षणमप्यास्ते, जायते वाऽप्रमाऽऽत्मकम् ।
येनार्थग्रहणे पश्चाद्, व्याप्रियेतेन्द्रियाऽऽदिवत् ॥ १ ॥
तेन जन्मैव विषये, बुद्धेर्व्यापार उच्यते ।
तदेव च प्रमारूपं, तद्वती करणं च धीः ॥ २ ॥ " इति ।

तस्माज्जन्मव्यतिरेकेण बुद्धेर्व्यापाराभावात्तत्र च ज्ञानानां सगुणेषु कारणेष्वपेक्षावचनात्कुत स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिरिति किं तज्ज्ञानस्य कार्यं ?, यत्र लब्धाऽऽत्मन प्रवृत्तिः स्वयमेवेत्युच्यते । स्वार्थपरिच्छेदश्चेन्न । ज्ञानपर्यायत्वात् तस्याऽऽत्मानमेव करोतीत्युक्तं स्यात् । तच्चायुक्तम् । प्रमाणमेतदित्यनन्तरं निश्चयश्चेन्न । भ्रान्तिकारणसद्भावेन

क्वचिदनिश्चयाद्विपर्ययदर्शनाच्च। तस्माज्जन्मापेक्षया गुणवच्चक्षुरादिकारणप्रभवं प्रामाण्यं परत सिद्धमिति " अथ चक्षुरादिज्ञानकारण " इत्याद्ययुक्ततया स्थितम्। अपौरुषेयविधिवाक्यप्रभवायास्तु बुद्धेः स्वतः प्रामाण्योत्पत्त्यभ्युपगमो न युक्तः। अपौरुषेयत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणतद्ग्राहकप्रमाणाविषयत्वेनासत्त्वात्। सत्त्वेऽपि भवन्नीत्या तस्यैव गुणत्वात्। तथाभूतप्रेरणाप्रभवाया बुद्धेः कथं न परतः प्रामाण्यम्?। किं च-अपौरुषेयत्वे प्रेरणावचसो, गुणवत्पुरुषप्रणीतलौकिकवाक्येषु तत्त्वेन निश्चितप्रामाण्यं, गुणाऽऽश्रयपुरुषप्रणीततत्त्वव्यावृत्त्या तत्तत्र न स्यात्। तथा च-

" प्रेरणाजनिता बुद्धि', प्रमाणं दोषवर्जित. ।
कारणैर्जन्यमानत्वा-ल्लिङ्गाऽऽप्तोक्ताक्षबुद्धिवत् ॥१॥ " इति ।

अयं श्लोक एवं पठितव्य'-

" प्रेरणाजनिता बुद्धि-रप्रमा गुणवर्जितै' ।
कारणैर्जन्यमानत्वा-ल्लिङ्गाऽऽप्तोक्तबुद्धिवत् ॥ १ ॥ "

अथ प्रेरणावाक्यस्यापौरुषेयत्वे पुरुषप्रणीतत्वाऽऽश्रया यथा गुणा व्यावृत्तास्तथा तदाश्रिता दोषा अपि । ततश्च तद्व्यावृत्तावप्रामाण्यस्याऽपि प्रेरणाया व्यावृत्तत्वात्स्वत सिद्धमुत्पत्तौ प्रामाण्यम्॥ नन्वेव सति गुणदोषाऽऽश्रयपुरुषप्रणीतव्यावृत्तौ प्रेरणायां प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यावृत्तत्वात्प्रेरणाजनिता बुद्धिः प्रामाण्याप्रामाण्यरहिता प्राप्नोति । ततश्च -

" प्रेरणाजनिता बुद्धि-र्न प्रमाणं न चाऽप्रमा ।
गुणदोषविनिर्मुक्त-कारणेभ्यः समुद्भवात् ॥ १ ॥ "

इत्येवमपि प्राक्तन. श्लोकः पठितव्यः, अत एव यथा-

" दोषाः सन्ति न सन्तीति, पौरुषेयेषु चिन्त्यते ।
वेदे कर्तुरभावात्तु, दोषाऽऽशङ्कैव नास्ति न. ॥ १ ॥ "

इत्ययं श्लोक एवं पठित. तथैवमपि पठनीय.-

" गुणाः सन्ति न सन्तीति, पौरुषेयेषु चिन्त्यते ।
वेदे कर्तुरभावात्तु, गुणाऽऽशङ्कैव नास्ति न' ॥ १ ॥

न च यत्रापि गुणाः प्रामाण्यहेतुत्वेनाऽऽशङ्क्यन्ते तत्राऽपि गुणेभ्यो दोषाभाव इत्यादि वक्तव्यम्। विहितोत्तरत्वात्। अपि च-अपौरुषेयत्वेऽपि प्रेरणाया न स्वतः स्वविषयप्रतीतिजनकव्यापार.। सदा सन्निहितत्वेन ततोऽनवरतप्रतीतिप्रसङ्गात्। किं तु पुरुषाभिव्यक्तार्थप्रतिपादकसमयाऽऽविर्भूतविशिष्टसंस्कारसव्यपेक्षायाः। ते च पुरुषाः सर्वे रागाऽऽदिदोषाभिभूता एव भवताऽभ्युपगताः। तत्कृतश्च संस्कारो न यथार्थ.। अन्यथा पौरुषेयमपि वचो यथार्थं स्यात्। अतोऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमेऽपि समयकर्तृपुरुषदोषकृताऽप्रामाण्यसद्भावात् प्रेरणायामपौरुषेयत्वाभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति। तदुक्तम्-"असंस्कार्यतया पुंभि., सर्वेषां स्यान्निरर्थता। संस्कारोपगमे व्यक्तं. गजस्नानमिदं भवेत् ॥ १ ॥ " यदप्यभापि- 'तथाऽनुमानबुद्धिरपि गृहीताविनाभावानन्यापेक्षा " इत्यादि । तदप्यचारु। अविनाभावविनिश्चयस्यैव गुणत्वात्, तदनिश्चयस्य. विपरीतनिश्चयस्य च दोषत्वात्। तदेवमुत्पत्तौ प्रामाण्य गुणापेक्षत्वात्परत इति स्थितम्। यदप्युक्तम्-"नापि स्वकार्ये प्रवर्त्तमानं प्रमाण निमित्तान्तरापेक्षम।" इति। तदप्यसङ्गतम्। यतो यदि कार्योत्पादनसामग्रीव्यतिरिक्तनिमित्तानपेक्षं प्रमाणमित्युच्यते, तदा सिद्धसाधनम्। अथ सामग्र्येकदेशलक्षणं प्रमाणं निमित्तान्तरानपेक्षम्। तदप्यचारु। एकस्य जनकत्वासंभवात्। "न ह्येकं किञ्चिज्जनकं,सामग्री वै जनिका' इति न्यायस्यान्यत्र व्यवस्थापितत्वात्। किं च-नार्थपरिच्छेदमात्रं प्रमाणकार्यम्। अप्रमाणेऽपि तस्य भावात्। किं तर्हि?। अर्थतथात्वपरिच्छेदः। स च ज्ञानस्वरूपकार्यो, भ्रान्तज्ञानेऽपि स्वरूपस्य भावात्, तत्रापि सम्यगर्थपरिच्छेद' स्यात्। अथ स्वरूपविशेषकार्यो यथाऽवस्थितार्थपरिच्छेद इति नातिप्रसङ्ग'। तर्हि स स्वरूपविशेषो वक्तव्यः-किमपूर्वार्थविज्ञानत्वम्, उत निश्चितत्वम्, आहोस्विद् बाधारहितत्वम्, उतस्विददुष्टकारणाऽऽरब्धत्वम्, किं वा संवादित्वमिति?। तत्र यद्यपूर्वार्थविज्ञानत्वं विशेषः। स न युक्त'। तैमिरिकज्ञानेऽपि तस्य भावात्। अथ निश्चितत्वम्। सोऽप्ययुक्त.। परोक्षज्ञानवादिनो भवतोऽभिप्रायेणासम्भवात्। अथ बाधारहितत्व विशेषः। सोऽपि न युक्त'। यतो बाधाविरहस्तत्कालभावी विशेष, उत्तरकालभावी वा?। न तावत्तत्कालभावी। मिथ्याज्ञानेऽपि तत्कालभाविनो बाधाविरहस्य भावात्। अथोत्तरकालभावी। तत्राऽपि वक्तव्यम्-किं ज्ञातः स विशेष., "ज्ञात'?। तत्र नाज्ञातः। अज्ञातस्य तत्त्वेनाप्यसिद्धत्वात्। अथ ज्ञातोऽसौ विशेषः। तत्रापि वक्तव्यम्-उत्तरकालभावी बाधाविरह किं पूर्वज्ञाने न ज्ञायते, आहोस्विदुत्तरकालभाविना?। तत्र न तावत्पूर्वज्ञानेनोत्तरकालभावी बाधाविरहो ज्ञातुं शक्यः। तद्धि स्वसमानकाल सन्निहितं नीलाऽऽदिकमवभासयतु, न पुनरुत्तरकालमप्यत्र बाधकप्रत्ययो न प्रवर्त्तिष्यत इत्यवगमयितुं शक्नोति पूर्वमनुत्पन्नबाधकानामप्युत्तरकालबाध्यत्वदर्शनात्। अथोत्तरज्ञानेन ज्ञायते। ज्ञायताम्, किं तूत्तरकालभावी बाधविरह. कथं पूर्वज्ञानस्य विनष्टस्य विशेषः। भिन्नकालस्य विनष्टं प्रति विशेषत्वायोगात्। किं च-ज्ञायमानत्वेऽपि केशोण्डकाऽऽदेरसत्यत्वदर्शनात्, बाधाभावस्य ज्ञायमानत्वेऽपि कथ सत्यत्वम्?। तज्ज्ञानस्य सत्यत्वादिति चेत्तस्य कुतः सत्यत्वम्?। तत्प्रमेयसत्यत्वाद्, इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गात्। अपरबाधाभावज्ञानादिति चेत्, तत्राप्यपरबाधाभावज्ञानादित्यनवस्था। अथ संवादादुत्तरकालभावी बाधाविरहः सत्यत्वेन ज्ञायते, तर्हि संवादस्याप्यपरसंवादज्ञानात्सत्यत्वसिद्धि, तस्यापरसंवादज्ञानादित्यनवस्था। किं च-यदि संवादप्रत्ययादुत्तरकालभावी बाधाभावो ज्ञायमानो विशेषः पूर्वज्ञानस्याभ्युपगम्यते, तर्हि ज्ञायमानस्वविशेषापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये यथाऽवस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे प्रवर्त्तत इति कथमनपेक्षत्वात्तत्र स्वत. प्रामाण्यम्?। अपि च-बाधाविरहस्य भवदभ्युपगमेन पर्युदासवृत्त्या संवादरूपत्वम्। बाधावर्जितं च ज्ञानं स्वकार्ये अन्यानपेक्षं प्रवर्त्तत इति ब्रुवता संवादापेक्ष तत्तत्र प्रवर्त्तत इत्युक्त भवति। किं च-किं विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यते, आहोस्वित्प्रमेयम्, उताऽर्थक्रियेति विकल्पत्रयम्?। तत्र यदि विज्ञानस्य स्वरूपं बाध्यत इति पक्ष, स न युक्त., विकल्पद्वयानतिवृत्तेः। तथाहि-विज्ञानं बाध्यमानं किं स्वसत्ताकाले बाध्यते, उत उत्तरकालम्?। तत्र यदि स्वसत्ताकाले बाध्यत इति पक्षः। स न युक्त.। तदा विज्ञानस्य परिस्फुटरूपेण प्रतिभासनात्। न च विज्ञानस्य परिस्फुटप्रतिभासिनोऽभावस्तदैवेति वक्तुं शक्यम्। सत्याभिमतविज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गात्। अथोत्तर-

कालं बाध्यत इति पक्षः । सोऽपि न युक्तः । उत्तरकालं तस्य स्वत एव नाशाभ्युपगमान्न तत्र बाधकव्यापारः सफलः, दैवरक्ता हि किंशुकाः । अथ प्रमेयं बाध्यते इत्यभ्युपगमः । सोऽप्ययुक्तः । यतः प्रमेयं बाध्यमानं किं प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते, उताऽप्रतिभासमानरूपसहचारिणा स्पर्शाऽऽदिलक्षणेनेति विकल्पनाद्वयम् ?। तत्र यदि प्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते इति मतम् । तदयुक्तम् । प्रतिभासमानस्य रूपस्यासत्त्वासंभवात् । अन्यथा सम्यग्ज्ञानावभासिनोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः । अथाप्रतिभासमानेन रूपेण बाध्यते इति मतम् । तदप्ययुक्तम् । अप्रतिभासमानस्य रूपस्य प्रतिभासमानरूपादन्यत्वात् । न चान्यस्याभावेऽन्यस्याभावः । अतिप्रसङ्गात् । अथार्थक्रिया बाध्यते । ननु साऽपि किमुत्पन्ना बाध्यते उतानुत्पन्ना ?। यद्युत्पन्ना, न तर्हि बाध्यते तस्याः सत्त्वात् । अथानुत्पन्ना । साऽपि न बाध्या । अनुत्पन्नत्वादेव । किं च-अर्थक्रियाऽपि पदार्थादन्या । ततश्च तस्या अभावे कथमन्यस्यासत्त्वम् ?। अतिप्रसङ्गादेव । व्यवच्छेद्यासम्भवे च बाधावर्जितमिति विशेषणस्याप्ययुक्तत्वात्, न बाधाविरहोऽपि विज्ञानस्य विशेषः । अथादुष्टकारणाऽऽरब्धत्वं विशेषः । सोऽपि न युक्तः । यतस्तस्याप्यज्ञातस्य विशेषत्वमसिद्धम् । ज्ञातत्वे वा कुतोऽदुष्टकारणाऽऽरब्धत्वं ज्ञायते । अन्यस्माददुष्टकारणाऽऽरब्धाद्विज्ञानादिति चेत्, अनवस्था । संवादादिति चेत् । ननु संवादप्रत्ययस्याप्यदुष्टकारणाऽऽरब्धत्वं विशेषोऽन्यस्माददुष्टकारणाऽऽरब्धात् संवादप्रत्ययाद्विज्ञायत इति सैवानवस्था भवतः संपद्यत इति । किं च-ज्ञानस्यापेक्षमदुष्टकारणाऽऽरब्धत्वविशेषमपेक्ष्य स्वकार्ये ज्ञानं प्रवर्त्तमानं कथं न तत्र परतः प्रवृत्तं भवति । तथा कारणदोषाभावः पर्युदासवृत्त्या भवदभिप्रायेण गुणः । ततश्चाऽदुष्टकारणाऽऽरब्धमिति वदता गुणवत्कारणाऽऽरब्धमित्युक्तं भवति । कारणगुणाश्च प्रमाणेन स्वकार्ये प्रवर्त्तमानेनापेक्ष्यमाणा निश्चायकप्रमाणापेक्षा अपेक्ष्यन्ते, तदपि प्रमाणं स्वकारणगुणनिश्चायकं स्वकारणगुणनिश्चयापेक्षं स्वकार्ये प्रवर्त्तेत इत्यनवस्थादूषणं " जातेऽपि यदि विज्ञाने, तावन्नार्थोऽवधार्यते ।" इत्यादिना ग्रन्थेन परपक्षे आसञ्ज्यमानं स्ववधाय कृत्योत्थापनं भवतः प्रसक्तम् । अथादुष्टकारणजनितत्वनिश्चयमन्तरेणाऽपि ज्ञानं स्वार्थनिश्चये स्वकार्ये प्रवर्त्तिष्यते । तदसत् । संशयाऽऽदिविषयीकृतस्य प्रमाणस्य स्वार्थनिश्चायकत्वासंभवात् । अन्यथाऽप्रमाणस्यापि स्वार्थनिश्चायकत्वं स्यात् । तन्नादुष्टकारणाऽऽरब्धत्वमपि विशेषो भवन्नीत्या संभवति । अथ संवादित्वं विशेषः । सोऽभ्युपगम्यत एव । किं तु संवादप्रत्ययोत्पत्तिनिश्चयमन्तरेण स न ज्ञातुं शक्यत इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्, तदपेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तेत इति तत्तत्र परतः स्यात् । अत एव निरपेक्षत्वस्यासिद्धत्वात्पूर्वोक्तन्यायेन " ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदयाः " इति प्रयोगेनासिद्धो हेतुः । एतेनैव यदुक्तम्-" तत्रापूर्वार्थविज्ञानं,निश्चितं बाधवर्जितम् । अदुष्टकारणाऽऽरब्धं, प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥ १ ॥" इति । तदपि निरस्तम् । यच्चोक्तम्-यदि संवादापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तते तदा चक्रकप्रसङ्गः । तदसङ्गतम् । यथावस्थितपरिच्छेदस्वभावमेतत्प्रमाणमित्येवंनिश्चयलक्षणे स्वकार्ये यथा संवादापेक्षं प्रमाणं प्रवर्त्तते, न च चक्रकदोषः, तथा प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । यदपि "अथ गृहीताः कारणगुणाः" इत्याद्यभिधानम् । तदपि परसमयानभिज्ञतां भवतः ख्यापयति । कारणगुणग्रहणापेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तेत इति परस्यानभ्युपगमात् । यच्चोक्तम्-" उपजायमानं प्रमाणमर्थपरिच्छेदशक्तियुक्तम्, " इति । तत्राविसंवादित्वमेव अर्थतथात्वपरिच्छेदशक्तिः, तच्च परतो ज्ञायते, तदपेक्षं प्रमाणं स्वकार्ये प्रवर्त्तेत इति तत्तत्र परतः स्थितम् । "नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽप्यपेक्षम् ।" इत्युक्तं यत् । तदप्यसत् । यतो निश्चयस्तत्र भवन् किं निर्निमित्तः, उत सनिमित्त इति कल्पनाद्वयम् ?। तत्र न तावन्निर्निमित्तः । प्रतिनियतदेशकालस्वभावाभावप्रसङ्गात् । सनिमित्तत्वेऽपि किं स्वनिमित्तः,उत स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः ?। न तावत्स्वनिमित्तः । स्वसंविदितप्रमाणानभ्युपगमात् मीमांसकस्य । अथ स्वव्यतिरिक्तनिमित्तः । तत्रापि वक्तव्यम्-तन्निमित्तं किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम् ?। अन्यस्य तन्निश्चायकस्यासम्भवात् । तत्र यदि प्रत्यक्षम् । तदयुक्तम् । प्रत्यक्षस्य तत्र व्यापारायोगात् । तद्धीन्द्रियसंयुक्ते विषये तद्व्यापारादुदयमासादयत्प्रत्यक्षव्यपदेशं लभते । न चेन्द्रियाणामर्थापरोक्षतालक्षणेन फलेन तत्संवेदनरूपेण वा संप्रयोगः, येन तयोर्यथार्थत्वस्वभावं प्रामाण्यमिन्द्रियव्यापारजनितेन प्रत्यक्षेण निश्चीयते । नाऽपि मनोव्यापारजेन प्रत्यक्षेण । एवंविधस्यानुभवस्याभावात् । नापि तयोरुत्पादकस्य ज्ञातृव्यापाराऽऽख्यस्य यथार्थत्वनिश्चायकत्वं प्रामाण्यं बाह्येन्द्रियजन्येन मनोजन्येन वा प्रत्यक्षेण निश्चीयते । तेन सहेन्द्रियाणां संबन्धाभावात् । न चेन्द्रियासंबद्धे विषये ज्ञानमुपजायमानं प्रत्यक्षव्यपदेशमासादयतीत्युक्तम् । नाऽप्यनुमानतः प्रामाण्यनिश्चयः । पूर्वोक्तस्य फलद्वयस्य यथावस्थितार्थत्वलक्षणप्रामाण्यनिश्चये लिङ्गाभावात् । ज्ञातृव्यापारस्य तु पूर्वोक्तफलद्वयस्वभावस्वकार्यलिङ्गसम्भवेऽपि न यथार्थनिश्चायकत्वलक्षणप्रामाण्यनिश्चायकत्वम् । यतस्तल्लिङ्गं संवेदनाऽऽख्यं, यथार्थत्वविशिष्टं तन्निश्चये व्याप्रियेत, निर्विशेषणं वा ?। प्रथमपक्षे तस्य यथार्थत्वविशेषणग्रहणे प्रमाणं वक्तव्यम्, तच्च न संभवतीति प्रतिपादितम् । निर्विशेषणस्य फलस्य प्रामाण्यप्रतिपादकत्वे , मिथ्याज्ञाने फलमपि प्रामाण्यनिश्चायकं स्यादित्यतिप्रसङ्गः । तच्चैतत्स्यात् पूर्वोक्तं फलद्वयमर्थसंवेदनार्थप्रकटतालक्षणम् अनुभवान्निश्चीयते यथा तस्य स्वतः पूर्वोक्तस्वरूपनिश्चयः, तथा यथार्थत्वस्याऽपि । यथा हि तत्संवेद्यमानं नीलं संवेदनतया संवेद्यते, तथा यथार्थत्वविशिष्टस्यैव तस्य संवित्तिः । न हि नीलसंवेदनादन्या यथार्थत्वसंवित्तिः । यद्येवम् शुक्तिकाया रजतज्ञानेऽपि अर्थसंवेदनस्वभावत्वाद्यथार्थत्वप्रसक्तिः । स्मृतिप्रमोषाऽऽदयस्तु निषेत्स्यन्ते इति नानुमानादपि तत्प्रामाण्यनिश्चयः । किञ्च-प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यनिश्चयनिमित्तत्वेऽभ्युपगम्यमाने, स्वतः प्रामाण्यनिश्चयव्याहतिप्रसङ्गः, तत्रान्यनिमित्तोऽपि प्रामाण्यनिश्चयः । यदुक्तम्-" नापि प्रामाण्यं स्वनिश्चयेऽप्यपेक्षं, तद्ध्यपेक्षमाणं किं कारणगुणानपेक्षते " इत्यादि । तदनभ्युपगमोपालम्भमात्रम् । न ह्यसदभ्युपगमः, यदुत स्वकारणगुणज्ञानात् प्रामाण्यं विज्ञायते कारणगुणा संवादप्रत्ययमन्तरेण ज्ञातुमशक्यत्वात् संवादप्रत्ययात् कारणगुणपरिज्ञानाभ्युपगमे, तत एव प्रामाण्यनिश्चयस्याऽपि सिद्धत्वात् व्यर्थं गुणनिश्चयपरिकल्पनम् । प्रामाण्यनिश्चयोत्तरकालं

गुणज्ञानस्य भावात्तन्निश्चयस्य प्रामाण्यनिश्चये ऽनुपयोगाच्च । नाप्येकदा संवादाद् गुणान्निश्चित्य अन्यदा संवादमन्तरेणाऽपि गुणनिश्चयादेव तत्प्रभवस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चय इति वक्तुं शक्यम्। अत्यन्तपरोक्षेषु चक्षुरादिषु कालान्तरेऽपि निश्चितप्रामाण्यस्वकार्यदर्शनमन्तरेण गुणानुवृत्तेर्निश्चेतुमशक्यत्वात्। न च क्षणक्षयिषु भावेषु गुणानुवृत्तिरेकरूपैव संभति। अपरापरसहकारिभेदेन भिन्नरूपत्वात् । सवादप्रत्ययाच्चार्थक्रियाज्ञानलक्षणात् प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगम्यत एव। "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" इति प्रमाणलक्षणाभिधानात्। न च संवादित्वलक्षणं प्रामाण्य स्वत एव ज्ञायते इति शक्यमभिधातुम्। यतः संवादित्व संवादप्रत्ययजननशक्तिः प्रमाणस्य न च कार्यदर्शनमन्तरेण कारणशक्तिर्निश्चेतुं शक्या। यदाह-" न ह्यप्रत्यक्षे कार्ये कारणभावगतिः " इति । तस्मादुत्तरसंवादप्रत्ययात्पूर्वस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते न च संवादप्रत्ययात्पूर्वस्य प्रामाण्यावगमे संवादप्रत्ययस्याप्यपरसंवादात् प्रामाण्यावगम इत्यनवस्थाप्रसङ्गात् प्रामाण्यावगमाभाव इति वक्तु युक्तम्। संवादप्रत्ययस्य संवादरूपत्वेनापरसंवादापेक्षाभावतोऽनवस्थाऽनवतारात्। न च प्रथमस्याऽपि संवादापेक्षा मा भूदिति वक्तव्यम्। यतस्तस्य संवादजनकत्वमेव प्रामाण्य तदभावे तस्य तदेव न स्यात्। अर्थक्रियाज्ञानं तु साक्षादविसंवादि। अर्थक्रियाऽऽलम्बनत्वात् तस्य स्वविषये संवेदनमेव प्रामाण्यम्। तच्च स्वतः सिद्धमिति नान्यापेक्षा। तेन "कस्यचित्तु यदीष्येत" इत्यादि परस्य प्रलापमात्रम। न चार्थक्रियाज्ञानस्याप्यवस्तुवृत्तिशङ्कायामन्यप्रमाणापेक्षयाऽनवस्थाऽवतार इति वक्तव्यम्। अर्थक्रियाज्ञानस्यार्थक्रियाऽनुभवस्वभावत्वेनार्थक्रियामात्रार्थिना भिन्नार्थक्रियात एतज्ज्ञानमुत्पन्नम्, उत तद्व्यतिरेकेणेत्येवंभूतायाश्चिन्ताया निष्प्रयोजनत्वात्। तथाहि--यथाऽर्थक्रिया किमवयवव्यतिरिक्तेनावयविनाऽर्थेन निष्पादिता, उताव्यतिरिक्तेन, आहोस्विदुभयरूपेण, अथाऽनुभयरूपेण,किं वा त्रिगुणाऽऽत्मकेन, परमाणुसमूहात्मकेन वा, अथ ज्ञानरूपेण आहोस्वित्संवित्तिरूपेणेत्यादिचिन्ताऽर्थक्रियामात्रार्थिना निष्प्रयोजना, निष्पन्नत्वाद्वाञ्छितफलस्य, तथेयमपि किं वस्तुसत्यामर्थक्रियाया तत्संवेदनज्ञानमुपजायते, आहोस्विदवस्तुसत्यामिति । तृड्दाहविच्छेदाऽऽदिक हि फलमभिवाञ्छितम्। तच्चाभिनिष्पन्नं तद्वियोगज्ञानस्य स्वसंविदितस्योदये इति तच्चिन्ताया निष्फलत्वम्, अवस्तुनि ज्ञानद्वयासंभवाच्च । यत्र हि साधनज्ञानपूर्वकमर्थक्रियाज्ञानमुत्पद्यते तत्राऽवस्तुशङ्का नैवास्ति। न ह्यनग्नावग्निज्ञाने संजाते प्रवृत्तस्य दाहपाकाऽऽद्यर्थक्रियाज्ञानस्य संभव इत्यागोपालाङ्गनाप्रसिद्धमेतत्। न च स्वप्नार्थक्रियाज्ञानमर्थक्रियाऽभावेऽपि दृष्टमिति जाग्रदर्थक्रियाज्ञानमपि तथाऽऽशङ्काविषय. । तस्य तद्विपरीतत्वत्। तथाहि--स्वप्नार्थक्रियाज्ञानम्, अप्रवृत्तिपूर्वं व्याकुलमस्थिर च,तद्विपरीतं तज्जाग्रद्दशाभावि, कुतस्तेन व्यभिचार. ? यदि चार्थक्रियाज्ञानमप्यर्थमन्तरेण जाग्रद्दशाया भवेत् कतरदन्यज्ञानमर्थाव्यभिचारि स्यात्, यद्बलेनार्थव्यवस्थाक्रियेत । परत. प्रामाण्यवादिनो बौद्धस्य प्रतिकूलमाचरामीत्यभिप्रायवता तस्याऽनुकूलमेवाऽऽचरितम्। स हि निरालम्बनाः सर्वे प्रत्यया प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदित्यभ्युपगच्छत्येव। भवता तु जाग्रद्दशास्वप्नदशयोरभेदं प्रतिपादयता तत्साहाय्यमेवाऽऽचरितम्। न हि तद्व्यतिरिक्तः प्रत्ययोऽस्ति यस्यार्थसंसर्गः। न चावस्थाद्वयतुल्यताप्रतिपादनं त्वया क्रियमाणं प्रकृतोपयोगि। तथाहि–सांव्यवहारिकस्य प्रमाणस्य लक्षणमिदमभिधीयते–" प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् " इति । तच्च साव्यवहारिकं जाग्रद्दशाज्ञानमेव। तत्रैव सर्वव्यवहाराणां लोके परमार्थतः सिद्धत्वात्। स्वप्नप्रत्ययाना तु निर्विषयतया, लोके प्रसिद्धाना प्रमाणतया, व्यवहाराभावात् किं स्वत. प्रामाण्यमुत परत इति चिन्ताया अनवसरत्वात्। तच्च जाग्रत्ज्ञाने द्वितीयदर्शनार्तिक प्रमाणं, किं वाऽप्रमाणम्; तथा किं स्वत. प्रमाणं, किं वा परत इति चिन्तायाः । पूर्वोक्तलक्षणे जाग्रत्प्रत्ययत्वे सतीति विशेषणाभिधाने स्वप्नप्रत्ययेन व्यभिचारचोदनं प्रस्तावानभिज्ञतां परस्य सूचयति। अपि च-अर्थक्रियाऽधिगतिलक्षणफलविशेषहेतुर्ज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणे, तत्फलं नैवं प्रमाणलक्षणानुगतमिति कथं तस्यापि प्रामाण्यमवर्णीयत इति चोद्यानुपपत्तिः। यथाऽङ्कुरहेतुर्बीजमिति बीजलक्षणे नाङ्कुरस्यापि बीजरूपताप्रसक्ति. ततो न विदुषामेवं प्रश्न., कथमङ्कुरे बीजरूपता निश्चीयत इति। यथा चाङ्कुरदर्शनाद्बीजस्य बीजरूपता निश्चीयते, तत्राप्यर्थक्रियाफलदर्शनात्साधनज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयः। न चाऽर्थक्रियाज्ञानस्याप्यन्यत' प्रामाण्यनिश्चयादनवस्था। अर्थक्रियाज्ञानस्य तद्रूपतया स्वत एव सिद्धत्वात् । तदुक्तम्–" स्वरूपस्य स्वतो गति. " इति। न च स्वरूपज्ञानस्य भ्रान्तय. संभवन्ति। स्वरूपाभावे स्वसंवित्तेरप्यभेदेनाभावप्रसङ्गात्। व्यतिरिक्तविषयमेव हि प्रमाणमधिकृत्योक्तम्-" प्रमाणमविसंवादि-ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनम् " इति । तथा- "प्रामाण्यं व्यवहारेणा–र्थक्रियालक्षणेन च" इति च। तस्माद्यत्प्रमाणस्याऽऽत्मभूतमर्थक्रियालक्षणपुरुषार्थाभिधानं फलं, यदर्थोऽयं प्रेक्षावता प्रयास , तेन स्वत सिद्धेन फलान्तर प्रत्यनङ्गीकृतसाधनान्तराऽऽत्मतया "प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् " इति प्रमाणलक्षणविरहिणा साधननिर्भासिज्ञानस्यानुत्क्रान्तरूपफलप्रापणशक्तिस्वरूपस्य प्रामाण्याधिगमेऽनवस्थाप्रेरणा क्रियमाणा परस्यासङ्गतैव लक्ष्यते। यदुक्तम्-अनिश्चितप्रामाण्यादपि साधनज्ञानात्प्रवृत्तावर्थक्रियाज्ञानोत्पत्त्यावाप्तफला अपि प्रेक्षावन्तो यथा साधनज्ञानप्रामाण्यविचारणाया मनः प्रणिदधति,अन्यथा तत्समानरूपापरसाधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चयपूर्विकाऽन्यदा प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथाऽर्थक्रियाज्ञानस्यापि प्रामाण्यविचारणायां प्रेक्षावत्तयैव ते आद्रियन्ते, अन्यथाऽसिद्धप्रामाण्यादर्थक्रियाज्ञानात्पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चय एव न स्यादित्यवाप्तफलत्वमनर्थकमिति। तदप्ययुक्तम्। अर्थक्रियाज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यं, साधनस्य तु तज्जनकत्वेन प्रामाण्यमिति प्रतिपादितत्वात्। यदप्यधायि–यदि संवादात्पूर्वस्य प्रामाण्यं निश्चीयते तदा " श्रोत्रधीरप्रमाणं स्या–दितराभिरसंगतेः " इति । तदप्ययुक्तम्। गीताऽऽदिविषयाया श्रोत्रबुद्धेरर्थक्रियाऽनुभवरूपत्वेन स्वत एव प्रामाण्यसिद्धे. । तथा चित्रगतबुद्धेरपि स्वत एव प्रामाण्यसिद्धिः। अर्थक्रियाऽनुभवरूपत्वात्। गन्धस्पर्शरसबुद्धीना त्वर्थक्रियाऽनुभवरूपत्वं सुप्रसिद्धमेव । यदप्युक्तम्—किमेकविषयं, भिन्नविषयं वा संवादज्ञानं पूर्वस्य प्रामाण्यनिश्चायकमित्यादि। तत्रैकसंघातवर्त्तिनो विषयद्वयस्य रूपस्पर्शाऽऽदिलक्षणस्यैकसामग्र्य-

धीनतया परस्परमव्यभिचारात् , स्पर्शाऽऽदिज्ञानं जाग्रदवस्थायामभिवाञ्छितरूपर्शाऽऽदिव्यतिरेकेणासंभवद्भिन्नविषयमपि स्वविषयाभावेऽप्याशङ्क्यमानरूपज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चाययतीति न तत्सङ्गतमेवम् । अत एव रूपाऽऽद्यर्थाविनाभावित्वाद् ध्वनीनां तद्विशेषशङ्कायां क्वचिद्वीणाऽऽदिरूपप्रतिपत्तौ तद्विशेषशङ्काव्यावृत्तेस्तद्रूपदर्शनसंवादादपि प्रामाण्यनिश्चयः सिद्धो भवति । यच्चोक्तम्-किं संवादज्ञानं साधनज्ञानविषयं तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, उत भिन्नविषयमित्यादि । तदप्यविदितपराभिप्रायस्याऽभिधानम् । न हि संवादज्ञानं तद्ग्राहकत्वेन, तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयति, किं तु तत्कार्यविशेषत्वेन, यथा धूमोऽग्निमिति पराभ्युपगमः । यच्च संवादज्ञानात्साधनज्ञानप्रामाण्यनिश्चये चक्रकदूषणमभ्यधायि । तदप्यसङ्गतम् । यदि हि प्रथममेव संवादज्ञानात् साधनस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्तेत तदा स्यात्तद्दूषणं, यदा तु वह्निरूपदर्शने सत्येकदा शीतपीडितोऽन्यार्थं तद्देशमुपसर्पंस्तत्स्पर्शमनुभवति, कृपालुना वा केनचित्तद्देशं वह्नेरानयने, तदाऽसौ वह्निरूपदर्शनस्पर्शनज्ञानयोः संबन्धमवगच्छति, एवंस्वरूपो भाव एवंभूतप्रयोजननिर्वर्त्तक इति । सोऽवगतसंबन्धोऽन्यदाऽनभ्यासदशायामनुमानान्ममाऽयं रूपप्रतिभासोऽभिमतार्थक्रियासाधनः, एवंरूपप्रतिभासत्वात् , पूर्वोत्पन्नैवंरूपप्रतिभासवत् ,इत्यस्मात्साधननिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तेत इति, कुतश्चक्रकचोद्यावतारः ? । अभ्यासदशायामपि साधनज्ञानस्यानुमानात्प्रामाण्यं निश्चित्य प्रवर्त्तत इत्येके । न च तद्दशायामन्वयव्यतिरेकव्यापारस्यासंवेदनान्नानुमानव्यापार इत्यभिधातुं शक्यम् । अनुपलक्ष्यमाणस्याऽपि तद्व्यापारस्याऽभ्युपगमनीयत्वात् , अकस्माद्धूमदर्शनात्परोक्षाग्निप्रतिपत्ताविव । अन्यथा गृहीतविस्मृतप्रतिबन्धस्यापि तद्दर्शनादकस्मात् प्रतिपत्तिः स्यात् । न चाध्यक्षेत्र साधनस्य फलसाधनशक्तिरिति कथमध्यक्षेऽनुमानप्रवृत्तिरिति चोद्यम् । दृश्यमानप्रदेशपरोक्षाऽग्निसङ्गतेरिव तज्जननशक्तेरप्रत्यक्षत्वेन, अनुमानप्रवृत्तिमन्तरेण निश्चेतुमशक्यत्वात् । तदुक्तम्-" तद्दृष्टावेव दृष्टेषु, संवित्सामर्थ्यभाविनः । स्मरणादभिलापेण, व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥ " इति । अपरे तु मन्यन्ते-अभ्यासावस्थायामनुमानमन्तरेणाऽपि प्रवृत्तिः संभवति । अथानुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा, तदभावे न दृष्टेत्यनुमानकार्या सा । नन्वेवं सत्यभ्यासदशायां विकल्पस्वरूपानुमानव्यतिरेकेणाऽपि प्रत्यक्षात् तत्प्रवृत्तिर्दृश्यते इति तदा तत्कार्या सा कस्मान्न भवति ? । तथाहि-प्रतिपादोद्धारं न विकल्परूपानुमानव्यापारः संवेद्यते, अथ च पुरः प्रतिभासमाने वस्तुनि प्रवृत्तिः संपद्यत इति । अथाऽऽदावनुमानात्प्रवृत्तिर्दृष्टेति तदन्तरेण सा पश्चात्कथं भवति ? । नन्वेवमादौ पर्यालोचनाद्व्यवहारो दृष्टः, पश्चात्पर्यालोचनमन्तरेण कथं पुरःस्थितवस्तुदर्शनमात्राद्भवतीति वाच्यम् । यदि पुनरनुमानव्यतिरेकेण सर्वदा प्रवृत्तिर्न भवतीति प्रवर्त्तकमनुमानमेवेत्यभ्युपगमः । तथा सति प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाभावात्तत्राप्यनुमानमेव तन्निश्चयव्यवहारकारणं, तदप्यपरलिङ्गनिश्चयव्यतिरेकेण नोदयमासादयतीत्यनवस्थाप्रसङ्गतोऽनुमानस्यैवाप्रवृत्तेर्न क्वचित्प्रवृत्तिलक्षणो व्यवहार इत्यभ्यासावस्थायां प्रत्यक्षं स्वत एव व्यवहारकृत् अभ्युपेयम् । अनुमाने तु तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धलिङ्गनिश्चयबलेन स्वसाध्यादुपजायमानत्वादेव तत्प्रापणशक्तियुक्तं संवादप्रत्ययोदयात्प्रागेव प्रमाणाऽऽभासविवेकेन निश्चीयतेऽतः स्वत एव । तथाहि-यद्यत उपजायते नत्तत्प्रापणशक्तियुक्तम् । तद्यथा-प्रत्यक्षं स्वार्थस्य । अनुमेयादुत्पन्नं चेदं प्रतिबद्धलिङ्गदर्शनद्वाराऽऽयातं लिङ्गिज्ञानमिति तत्प्रापणशक्तियुक्तं निश्चीयत इति मूढं प्रति विषयदर्शनेन विषयी व्यवहारोऽत्र साध्यते । सङ्केतविषयख्यापनेन समये प्रवर्त्तनात् । तथाहि-प्रत्यक्षेऽप्यर्थाव्यभिचारनिबन्धन एवानेन प्रामाण्यव्यवहारः प्रतिपन्नः । अव्यभिचारश्च नान्यस्तदुत्पत्तेः । सैव च ज्ञानस्य प्रापणशक्तिरुच्यते । तदुक्तम्-" अर्थस्यासंभवेऽभावा-त्प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता । प्रतिबद्धस्वभावस्य, तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ॥ १ ॥ " इति । तस्मात् मूढं प्रति परतः प्रामाण्यव्यवहारः साध्यते । अनुमाने प्रामाण्यस्य प्रतिबद्धलिङ्गनिश्चयानन्तरं स्वसाध्याव्यभिचारलक्षणस्य तत उत्पन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, न परतः प्रामाण्यनिश्चये चक्रकचोद्यस्यावतारः । प्रत्यक्षे तु संवादात्प्रागर्थादुत्पत्तिरशक्यनिश्चयेति संवादापेक्षैवानभ्यासदशायां तस्य प्रामाण्याध्यवसितिर्युक्ता । अत उत्पत्तौ,स्वकार्ये, ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वस्य प्रतिपादितत्वात् "ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः " इति प्रयोगे हेतोरसिद्धिः । यतश्च संदेहविपर्ययविषयप्रत्ययप्रामाण्यस्य परतो निश्चयो व्यवस्थितोऽतो "ये संदेहविपर्ययाध्यासिततनवः " इति प्रयोगे न व्याप्त्यसिद्धिः । यदप्युक्तम-सर्वप्राणभृतां प्रामाण्यं प्रति संदेहविपर्ययाभावादसिद्धो हेतुरित्यादि । तदप्यसत् । यतः प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रमाणाऽप्रमाणचिन्तायामधिक्रियन्ते नेतरे । ते च कासाञ्चित् ज्ञानव्यक्तीनां विसंवाददर्शनाज्जाताऽऽशङ्का न ज्ञानमात्रादेवमेवायमर्थ इति निश्चिन्वन्ति, नापि तद्गुज्ञानस्य प्रामाण्यमध्यवस्यन्ति । अन्यथैषां प्रेक्षावत्तैव हीयेत इति संदेहविषये कथं न संदेहः । तथा कामलाऽऽदिदोषप्रभवे ज्ञाने विपर्ययरूपताऽप्यस्तीति तद्बलाद्विपर्ययकल्पनाऽन्यज्ञानेऽपि संगतैवेति प्रकृते प्रयोगे नासिद्धो हेतुरिति भवत्यतो हेतोः परतः प्रामाण्यसिद्धिः । यदपि प्रमाणतदाभासयोस्तुल्यं रूपमित्याद्याशङ्क्याऽप्रमाणे अवश्यंभावी बाधकप्रत्यय , कारणदोषज्ञानं च इत्यादिना परिहृतम् । तदपि न चारु । यतो बाधककारणदोषज्ञानं मिथ्याप्रत्ययेऽवश्यभावि,सम्यक्प्रत्यये तदभावो विशेपः प्रदर्शित । स तु किं बाधकाग्रहणे, तदभावनिश्चये वा ? । पूर्वस्मिन् पक्षे भ्रान्तदशस्तद्भावेऽपि तदग्रहणं दृष्टं कञ्चित्कालम्,एवमत्रापि तदग्रहणं स्यात् । तत्रैतत् स्याद् भ्रान्तदृशः किञ्चित्कालं तदग्रहेऽपि कालान्तरे बाधकग्रहणम् । सम्यग्दृष्टौ तु कालान्तरेऽपि तदग्रह । नन्वेतत्सर्वविदा विषयो नार्वाग्दृशां व्यवहारिणामस्मादृशाम् । बाधकाभावनिश्चयोऽपि सम्यग्ज्ञाने किं प्रवृत्तेः प्राक् भवति, उत प्रवृत्त्युत्तरकालम् ? । यदि पूर्वः पक्ष । स न युक्तः । भ्रान्तज्ञानेऽपि तस्य सम्भवात् प्रमाणत्वप्रसक्तिः स्यात् । अथ प्रवृत्त्युत्तरकालं बाधकाभावनिश्चय । सोऽपि न युक्तः । बाधकाभावनिश्चयमन्तरेणैव प्रवृत्तेरुत्पन्नत्वेन तन्निश्चयस्याकिञ्चित्करत्वात् । न च बाधकाभावनिश्चये प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनि किञ्चिन्निमित्तमस्ति । अनुपलब्धिर्निमित्तमिति चेन्न । तस्या असम्भवात् । तथाहि-बाधकानुपलब्धिः किं प्रवृत्तेः प्राग्भाविनी बाधकाभावनिश्चयस्य प्रवृत्त्युत्तरकाल-

भाविनो निमित्तम्, अथ प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनीति विकल्पद्वयम् ? । तत्र यदि पूर्वः पक्षः स न युक्तः । पूर्वकालाया बाधकानुपलब्धेः प्रवृत्त्युत्तरकालभावनिश्चयनिमित्तत्वासम्भवात् । न ह्यन्यकालानुपलब्धिरन्यकालमभावनिश्चयं विदधाति । अतिप्रसङ्गात् । नापि प्रवृत्त्युत्तरकालभाविनी बाधकानुपलब्धिस्तन्निश्चयनिमित्तम् । प्राक् प्रवृत्तेरुत्तरकालं बाधकोपलब्धिर्न भविष्यतीत्यर्वाग्दर्शिना निश्चेतुमशक्यत्वेन, तस्या असिद्धत्वात् । नापि प्रवृत्त्युत्तरकालभाविन्यनुपलब्धिस्तदैव निश्चीयमाना तत्कालभाविबाधकाभावनिश्चयस्य निमित्तं भविष्यतीति वक्तुं शक्यम् । तत्कालभाविनो निश्चयस्याऽकिञ्चित्करत्वप्रतिपादनात् । किं च-बाधकानुपलब्धिः सर्वसंबन्धिनी किं तन्निश्चयहेतुः, उताऽऽत्मसंबन्धिनीति पुनरपि पक्षद्वयम् ? । यदि सर्वसंबन्धिनीति पक्षः । स न युक्तः । तस्या असिद्धत्वात् । न हि सर्वे प्रमातारो बाधकं नोपलभन्त इति अर्वाग्दर्शिना निश्चेतुं शक्यम् । अथाऽऽत्मसंबन्धिनीत्ययमभ्युपगमः । सोऽप्ययुक्तः । आत्मसंबन्धिन्या अनुपलब्धेः परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्तन्न बाधाभावनिश्चयेऽनुपलब्धिर्निमित्तं, नापि संवादो निमित्तम् । भवदभ्युपगमेनानवस्थाप्रसङ्गस्य प्रतिपादितत्वात् । न च बाधाऽभावो विशेषः सम्यक्प्रत्ययस्य सम्भवतीति प्रागेव प्रतिपादितम् । कारणदोषाभावेऽप्ययमेव न्यायो वक्तव्य इति नासावपि तस्य विशेषः । किं च-कारणदोषबाधकाभावयोर्भवदभ्युपगमेन कारणगुणसंवादकप्रत्ययरूपत्वस्य प्रतिपादनात् तन्निश्चये तस्य विशेषेऽभ्युपगम्यमाने परत प्रामाण्यनिश्चयोऽभ्युपगत एव स्यात् । न च सोऽपि युक्तः । अनवस्थादोषस्य भवदभिप्रायेण प्राक् प्रतिपादितत्वात् । यदप्युक्तम्-" एवं त्रिचतुरज्ञान " इत्यादि । तत्रैकस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं, पुनरप्रामाण्यं, पुनः प्रामाण्यम्, इत्यवस्थात्रयदर्शनाद्बाधके, तद्बाधकाऽऽदौ वाऽवस्थात्रयमाशङ्कमानस्य कथं परीक्षकस्य नापरापेक्षा, येनानवस्था न स्यात् ? । यदप्युक्तम्-' अपेक्षात. ' इत्यादि । तदप्यसङ्गतम् । यतो नाऽयं छलव्यवहारः प्रस्तुतो, येन कतिपयप्रत्ययमात्रं निरूप्यते । न हि प्रमाणमन्तरेण बाधकाऽऽशङ्कानिवृत्तिः । न चाऽऽशङ्काव्यावर्तकं प्रमाणं भवदभिप्रायेण संभवतीत्युक्तम् । तथा कारणदोषज्ञानेऽपि पूर्वेण जाताऽऽशङ्कस्य कारणदोषज्ञानान्तरापेक्षाया कथमनवस्थानिवृत्तिः ? । कारणदोषज्ञानस्य तत्कारणदोषग्राहकज्ञानाभावमात्रतः प्रमाणत्वान्नात्राऽनवस्था । यदाह-' यदा स्वतः प्रमाणत्वं, तदाऽन्यन्नैव मृग्यते । निवर्तते हि मिथ्यात्वं, दोषाज्ञानादयत्नतः ॥ १ ॥ " इति । एतच्चानुद्घोष्यम् । प्रागेव विहितोत्तरत्वात् । न च दोषाज्ञानाद्दोषाभावः । सत्स्वपि दोषेषु तदज्ञानस्य संभवात् । सम्यग्ज्ञानोत्पादनशक्तिवैपरीत्येन मिथ्याप्रत्ययोत्पादनयोग्यं हि रूपं तिमिराऽऽदिनिमित्तमिन्द्रियदोषः । स चातीन्द्रियत्वात्सन्नपि नोपलक्ष्यते । न च दोषा ज्ञानेन व्याप्ता, येन तन्निवृत्त्या निवर्त्तेरन् । दोषाभावज्ञाने तु संवादाऽऽद्यपेक्षाया सैवाऽनवस्था प्राक् प्रतिपादिता । एतेनैतदपि निराकृतम् । यदुक्तं भट्टेन-

" तस्मात्स्वतः प्रमाणत्वं, सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम् ।
बाधकारणदुष्टत्व-ज्ञानाभ्यां तदपोद्यते ॥ १ ॥
पराधीनेऽपि चैतस्मि-न्नानवस्था प्रसज्यते ।
प्रमाणाधीनमेतद्धि, स्वतस्तच्च प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
प्रमाणं हि प्रमाणेन, यथा नान्येन साध्यते ।
न सिध्यत्यप्रमाणत्व-मप्रमाणात्तथैव हि ॥ ३ ॥" इति स्वान्मतम् ।

यदप्यन्यानपेक्षप्रमितिभावो बाधकप्रत्ययः, तथाऽप्यबाधकतया प्रतीत एवान्यस्याप्रमाणतामाधातु क्षमो नान्यथेति । सोऽयमदोषः । यतः-

" बाधकप्रत्ययस्तावद्-दर्थान्यत्वावधारणम् ।
सोऽनपेक्षप्रमाणत्वात्, पूर्वज्ञानमपोहते ॥ १ ॥
तत्राऽपि त्वपवादस्य, स्यादपेक्षा क्वचित्पुनः ।
जाताऽऽशङ्कस्य पूर्वेण, साऽप्यन्येन निवर्त्तते ॥ २ ॥
बाधकान्तरमुत्पन्नं, यद्यस्यान्विच्छतोऽपरम् ।
ततो मध्यमबाधेन, पूर्वस्यैव प्रमाणता ॥ ३ ॥
अथान्यदप्रयत्नेन, सम्यगन्वेषणे कृते ।
मूलाभावान्न विज्ञानं, भवेद् बाधकबाधनम् ॥ ४ ॥
ततो निरपवादत्वा-त्तेनैवाऽऽद्यं बलीयसा ।
बाध्यते तेन तस्यैव, प्रमाणत्वमपोद्यते ॥ ५ ॥
एवं परीक्षकज्ञान-त्रितयं नातिवर्त्तते ।
ततश्चाजातबाधेन, नाऽऽशङ्क्यं बाधकं पुनः ॥६॥" इति ।

तथाहि-एतेन सर्वेणापि ग्रन्थेन स्वतः प्रामाण्यव्याहतिः परिहृता, परीक्षकज्ञानत्रितयाधिकज्ञानानपेक्षयोऽनवस्था च । एतद् द्वितयमपि परपक्षे प्रदर्शितं प्राक्तनन्यायेन । यच्चान्यत् पूर्वपक्षे परतः प्रामाण्ये दूषणमभिहितम्, तच्चाऽनभ्युपगमेन निरस्तमिति न प्रतिपदमुच्चार्य दूष्यते । प्रेरणाबुद्धेस्तु प्रामाण्यं न साधननिर्भासि प्रत्यक्षस्येव संवादात्तस्य तस्यामभावात् । नाप्यव्यभिचारिलिङ्गनिश्चयबलात्स्वसाध्यादुपजायमानत्वादनुमानस्येव । किं च-प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं स्वतः प्रामाण्यप्रसाधनप्रयासोऽयं भवताम् । चोदनाप्रभवस्य च ज्ञानस्य न केवलं प्रामाण्यं न सिद्ध्यति, किं त्वप्रामाण्यनिश्चयोऽपि तव न्यायेन संपद्यते । तथाहि-यद् दुष्टकारणजनितं ज्ञानं न तत्प्रमाणम् यथा तिमिराऽऽद्युपद्रवोपहतचक्षुरादिप्रभवं ज्ञानम्, दोषवत्प्रेरणावाक्यजनितं च-" अग्निहोत्रं जुहुयाद् " इत्यादिवाक्यप्रभवं ज्ञानमिति कारणविरुद्धोपलब्धिः । न चासिद्धो हेतुः । भवदभिप्रायेण प्रेरणाया गुणवतो वक्तुरभावे, तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वस्य प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने सिद्धत्वात् । अथ स्यादयं दोषो यदि वक्तृगुणैरेव प्रामाण्यापवादकदोषाणां निराकरणमभ्युपगम्यते । यावता वक्तुरभावेनाऽपि निराश्रयाणां दोषाणामसद्भावोऽभ्युपगम्यत एव । तदुक्तम्-

" शब्दे दोषोद्भवस्तावद्, वक्त्रधीन इति स्थितम् ।
तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ १ ॥
तद्गुणैरपकृष्टाना, शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया ॥ २ ॥ " इति ।

भवेदप्येवं, यद्यपौरुषेयत्वं कुतश्चित्प्रामाण्यात्सिद्धं स्यात् । तच्च न सिद्धम् । तत्प्रतिपादकप्रमाणस्य निषेत्स्यमानत्वात् । अत एव चेदमप्यनुद्घोष्यम्-" तत्रापवादनिर्मुक्ति-र्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्वं, नाऽऽशङ्कामपि गच्छति ॥ १ ॥ " तेन गुणवतो वक्तुरनभ्युपगमाद्भवद्भिः, अपौरुषे

थत्वस्य चासम्भवात्,अनिराकृतैर्दोषैर्जन्यमानत्वं हेतुः प्रेरणाप्रभवस्य चेतसः सिद्धः। दोषजन्यत्वाप्रामाण्ययोरविनाभावस्याऽपि मिथ्याज्ञानेऽन्यत्र निश्चितत्वात्, तद्विरुद्धत्वानैकान्तिकत्वयोरप्यभाव इति भवत्यतो हेतो प्रेरणाप्रभवे ज्ञाने प्रामाण्याभावसिद्धिः। किं च-प्रामाण्ये सिद्धे सति,किं, तत् प्रामाण्यं स्वतः, परतो वेति चिन्ता युक्तिमती। भवदभ्युपगमेन तु तदेव न संभवति। तथाहि-ज्ञातृव्यापारः प्रमाणं भवताऽभ्युपगम्यते,न चाऽसौ युक्तः।तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। तथाहि-प्रत्यक्षं वा तद्ग्राहकम्, अनुमानम्, अन्यद्वा प्रमाणान्तरम् ?। तत्र यदि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकमभ्युपगम्येत,तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-स्वसंवेदनं,बाह्येन्द्रियजं, मनःप्रभवं वा ?। न तावत्स्वसंवेदनं तद्ग्राहकम्। भवता तद्ग्राह्यत्वानभ्युपगमात्तस्य। नाऽपि बाह्येन्द्रियजम् । इन्द्रियाणां स्वसंबद्धेऽर्थे ज्ञानजनकत्वाभ्युपगमात् । न च ज्ञातृव्यापारेण सह तेषां संबन्धः। प्रतिनियतरूपाऽऽदिविषयत्वात् । नापि मनोजन्यं प्रत्यक्षं ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणग्राहकम्। तथाप्रतीत्यभावात्, अनभ्युपगमाच्च। अथानुमानं तद्ग्राहकमभ्युपगम्यते । तदप्ययुक्तम् । यतोऽनुमानमपि ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरित्येवं लक्षणमभ्युपगम्यते। संबन्धश्चान्यसंबन्धव्युदासेन नियमलक्षणोऽभ्युपगम्यते। यत उक्तम्- "संबन्धो हि न तादात्म्यलक्षणो गम्यगमकभावनिबन्धनम्।" ययोर्हि तादात्म्यं, न तयो गम्यगमकभावः तस्य भेदनिबन्धनत्वात्। अभेदे वा, साधनप्रतिपत्तिकाल एव साध्यस्याऽपि प्रतिपन्नत्वात् कथं गम्यगमकभावः ?। अप्रतिपत्तौ वा, यस्मिन् प्रतीयमाने यन्न प्रतीयते तत्ततो भिन्नं, यथा घटे प्रतीयमानेऽप्रतीयमान पटः। न प्रतीयते चेत्साधनप्रतीतिकाले साध्यं, तदा तत्ततो भिन्नमिति कथं तयोस्तादात्म्यम् ?। किं च-यदि तादात्म्याद्गम्यगमकभावोऽभ्युपगम्यते, तदा तादात्म्याविशेषाद्यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वस्य गमकम्, तथाऽनित्यत्वमपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्य गमकं स्यात्। अथ प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव अनित्यत्वनियतत्वेन निश्चितं, नाऽनित्यत्वं तन्नियतत्वेन, निश्चयापेक्षश्च गम्यगमकभाव इति, तर्हि-" यस्मिन्निश्चीयमाने यन्न निश्चीयते।" इत्यादि पूर्वोक्तमेव दूषणं पुनरापतति। अपि च-प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव अनित्यत्वनियतत्वेन निश्चितमिति वदता स एवास्मदभ्युपगतो नियमलक्षणः संबन्धोऽभ्युपगतो भवति। नाऽपि तदुत्पत्तिलक्षणः संबन्धो गम्यगमकभावनिबन्धनम्। तथाऽभ्युपगमे वक्तृत्वाऽऽदेरप्यसर्वज्ञत्वं प्रति गमकत्वं स्यात्। अथ सर्वज्ञत्वे,वक्तृत्वाऽऽदेर्बाधकप्रमाणाभावात्सर्वज्ञत्वादिभ्यो वक्तृत्वाऽऽदेर्व्यावृत्तिः संदिग्धेति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वान्नायं गमकः, तर्हि धूमस्याप्यनग्नौ बाधकप्रमाणाभावात्ततो व्यावृत्तिः संदिग्धेति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादग्निं प्रति गमकत्वं न स्यात् । अथ " कार्यं धूमो हुतभुजः, कार्यधर्मानुवृत्तितः । स तदभावेऽपि भवन्, कार्यमेव न स्यात्।" इत्यनग्नौ धूमस्य सद्भावबाधकं प्रमाणं विद्यत इति नाऽसौ संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः, तर्ह्येतत् प्रकृतेऽपि वक्तृत्वाऽऽदौ समानमिति तस्याऽप्यसर्वज्ञत्वं प्रति गमकत्वं स्यात्। किं च-कार्यत्वे सत्यपि वक्तृत्वाऽऽदे, संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनासर्वज्ञत्व प्रत्यनियतत्वात् यद्यगमकत्वं, तर्हि स एवास्मदभ्युपगतो नियमलक्षण संबन्धोऽभ्युपगतो भवति। अपि च-तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणसंबन्धाभावेऽपि नियमलक्षणसंबन्धप्रसादात्, कृत्तिकोदयचन्द्रोद्गमनाद्यतनसवित्रुद्गमगृहीताण्डपिपीलिकोत्सर्पणैकाम्रफलोपलभ्यमानमधुररसस्वरूपाणां हेतूनां, यथाक्रमं भाविशकटोदयसमानसमयसमुद्रवृद्धिश्वस्तनभानूदयभाविवृष्टितत्समानकालसिन्दूरारुणरूपस्वभावेषु साध्येषु, गमकत्वं सुप्रसिद्धम्। संयोगाऽऽदिलक्षणस्तु संबन्धो भवतैव साध्यप्रतिपादनाङ्गत्वेन निरस्त इति तं प्रति न प्रयस्यते।

" एवं परोक्तसंबन्ध-प्रत्याख्याने कृते सति।
नियमो नाम संबन्धः, स्वमतेनोच्यतेऽधुना ॥ १ ॥
कार्यकारणभावाऽऽदि-संबन्धानां द्वयी गतिः।
नियमानियमाभ्यां स्या-दनियमादतद्गता ॥ २ ॥
सर्वेऽप्यनियमा ह्येते, नानुमोत्पत्तिकारणम्।
नियमात्केवलादेव, न किञ्चिन्नानुमीयते ॥ ३ ॥ " इत्यादि।

स च संबन्धः किमन्वयनिश्चयद्वारेण प्रतीयते, उत व्यतिरेकनिश्चयद्वारेणेति विकल्पद्वयम् ?। तत्र यदि प्रथमो विकल्पोऽभ्युपगम्यते, तत्रापि वक्तव्यम् किं प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः, उतानुमानेनेति ?। न तावत्प्रत्यक्षेणान्वयनिश्चयः। अन्वयस्य हि रूपं तद्भावे एव भावः। न च ज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्य प्रत्यक्षेण सद्भावः शक्यते ग्रहीतुम्। तद्ग्राहकत्वेन प्रत्यक्षस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्, त्वयाऽनभ्युपगमाच्च । नाऽपि ज्ञातृव्यापारसद्भावे एवार्थप्रकाशनलक्षणस्य हेतोः सद्भावः प्रत्यक्षेण ज्ञातुं शक्यः । तस्याऽपीन्द्रियव्यापारजेन प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्तेः। तदशक्तिश्च, अक्षाणां तेन सह संबन्धाभावात्। नाऽपि स्वसंवेदनलक्षणेन प्रत्यक्षेण पूर्वोक्तस्य हेतोः सद्भावः शक्यो निश्चेतुम्। भवदभिप्रायेण तत्र तस्याव्यापारात्। तन्न प्रत्यक्षेण साध्यसद्भावे एव हेतुसद्भावलक्षणोऽन्वयो निश्चेतुं शक्यः। नाप्यनुमानेन तन्निश्चयः। अनुमानस्य निश्चितान्वयहेतुप्रभवत्वाभ्युपगमात्। न च तस्याऽन्वयः प्रत्यक्षसमधिगम्य। पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्। अनुमानात्तन्निश्चयेऽनवस्थेतरेतराऽऽश्रयदोषावनुषज्येते इति प्रागेव प्रतिपादितम्। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं सम्भवति। तन्न अन्वयनिश्चयद्वारेण ज्ञातृव्यापारे साध्ये पूर्वोक्तस्य हेतोर्नियमलक्षणः संबन्धो निश्चेतुं शक्यः। नाऽपि व्यतिरेकनिश्चयद्वारेण। यतो व्यतिरेकः साध्याभावे हेतोरभाव एवेत्येवंस्वरूप। न च प्रकृतस्य साध्यस्याभावः प्रत्यक्षेण समधिगम्यः। तस्याऽभावविषयत्वविरोधादनभ्युपगमात्, अभावप्रमाणवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। नाऽप्यनुमानाऽऽदिसद्भावग्राहकप्रमाणनिश्चेयः। अत एव दोषात्। अथादर्शननिश्चेय इति पक्षः। सोऽपि न युक्तः। यतोऽदर्शनं किमनुपलम्भरूपम् आहोस्विदभावप्रमाणस्वरूपमिति वक्तव्यम् ?। तत्र यद्याद्यः पक्षः। स न युक्तः यतोऽत्राऽपि वक्तव्यम्। अनुपलम्भ किं दृश्यानुपलम्भोऽभिप्रेतः,आहोस्विददृश्यानुपलम्भ इति ?। तत्र यद्यदृश्यानुपलम्भः प्रकृतसाध्याभावनिश्चायकोऽभिप्रेत। तदाऽत्राऽपि कल्पनाद्वयम्-किं स्वसंबन्ध्यनुपलम्भस्तन्निश्चायकः, उत सर्वसंबन्धी ?। यद्यात्मसंबन्धी तन्निश्चायकः। स न युक्तः। परचेतोवृत्तिविशेषैस्तस्याऽनैकान्तिकत्वात्। अथ सर्वसंबन्धी अनुपलम्भस्तन्निश्चायक इत्यभ्युपगम। अ-

पक्ष । स न युक्तः। अनवस्थाप्रसङ्गात्। तथाहि-अभावप्रमा-
णस्याऽभावप्रमाणान्निश्चितस्याऽभावनिश्चायकत्वं, तस्या-
प्यन्याभावप्रमाणादित्यनवस्था । अथ प्रमेयाभावात्तन्निश्च-
यः। सोऽपि न युक्तः। इतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्गात्। तथाहि-
प्रमेयाभावनिश्चयात् प्रमाणाभावनिश्चयः, सोऽपि प्रमाणाभा-
वनिश्चयादिति इतरेतराश्रयत्वम्। नाऽपि स्वसंवेदनात्प्रमाणा-
भावनिश्चयः। तस्य भवताऽनभ्युपगमात् तन्न अभावाऽऽख्यं
प्रमाणं सम्भवति। सम्भवेऽपि न तत्प्रमाणचिन्ताऽर्हमिति प्र-
तिपादितम्। प्रतिपादयिष्यते च प्रमाणचिन्ताऽवसरे अत्रैव।
तन्नाभावप्रमाणादपि विपक्षे साधनाभावनिश्चयः। अतो न अ-
दर्शननिमित्तोऽपि प्रकृतव्यतिरेकनिश्चयः । तदभावात् न प्र-
कृतसाध्ये प्रकृतहेतोर्नियमलक्षणसम्बन्धनिश्चयः। न चान्व-
यव्यतिरेकनिश्चयव्यतिरेकेणान्यत. कुतश्चित् तन्निश्चय ।
नियमलक्षणस्य संबन्धस्य यथोक्तान्वयव्यतिरेकव्यतिरेकेणा-
सम्भवात्। तथाहि-य एव साधनस्य साध्यसद्भावे एव भावः,
अयमेव तस्य साध्ये नियमः। साध्याभावे साधनस्यावश्यं-
तयाऽभाव एव यः, अयमेव वा तस्य तत्र नियम.। अतो
यदेवान्वयव्यतिरेकयोर्यथोक्तलक्षणयोर्निश्चायकं प्रमाणं त-
देव नियमस्वरूपसम्बन्धनिश्चायकम्। तन्निश्चायकं च
प्रकृतसाध्यसाधने हेतोर्न सम्भवतीति प्रतिपादितम्। त-
न्नानुमानादपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणसिद्धिः । अथाऽपि
स्याद्, बाह्येषु कारकेषु व्यापारवत्सु फलं दृष्टम्, अन्यथा
सिद्धिस्वभावाना कारकाणामेकं धात्वर्थं साध्यमनङ्गीकृत्य
कः परस्परसम्बन्धः, अतस्तदन्तरालवर्त्तिनी सकलकारक-
निष्पाद्याऽभिमतफलजनिका व्यापारस्वरूपा क्रियाऽभ्युपग-
न्तव्या इति प्रकृतेऽपि व्यापारसिद्धिरिति। एतदसम्बद्धम्।
विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-व्यापारोऽभ्युपगम्यमानः, किं
कारकजन्योऽभ्युपगम्यते, आहोस्वित् अजन्य इति विकल्प-
द्वयम्?। तत्र यद्यजन्य इति पक्ष.। सोऽयुक्तः। यतोऽजन्योऽ-
पि किं भावरूपोऽभ्युपगम्यते, आहोस्विद् अभावरूप.?।
यद्यभावरूप इत्यभ्युपगमः। सोऽप्ययुक्त.। यतोऽभावरूपत्वे
तस्यार्थप्रकाशलक्षणफलजनकत्वं न स्यात्। तस्य फलजनक-
त्वविरोधात्। अविरोधे वा, फलार्थिनः कारकान्वेषणं व्यर्थं
स्यात्। तत एवाभिमतफलनिष्पत्तेर्विश्वमदरिद्रं च स्यात्।
तन्नाभावरूपो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्य. अथ भावरूपोऽभ्युप
गमविषय.। तदाऽत्राऽपि वक्तव्यम्। किमसौ नित्यः, आ-
होस्वित् अनित्य इति?। तत्र यदि नित्य इति पक्ष। सोऽस-
ङ्गत.। नित्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमेऽन्धाऽऽदीनामप्यर्थद-
र्शनप्रसङ्ग., सुप्ताऽऽद्यभावः, सर्वसर्वज्ञताभावप्रसङ्गश्च। का-
रकान्वेषणवैयर्थ्यं तु व्यक्तम्। अथाऽनित्य इत्यभ्युपगमः। सो-
ऽप्यलौकिक.। अजन्यस्य भावस्याऽनित्यत्वेन केनचिदभ्यु-
पगमात्। अथ वदेन्मयैवाभ्युपगतः। तत्रापि वक्तव्यम्-किं
कालान्तरस्थायी, उत क्षणिक.?। यदि कालान्तरस्थायी,
तदा "क्षणिका हि सा न कालान्तरमवतिष्ठते" इति वच. प
रिसवेत। कारकान्वेषणं चात्राऽपि पक्षे, फलार्थिनामसङ्गतम्।
कियत्कालस्थाय्यजन्यभावरूपव्यापाराभ्युपगमे, तत्कालं या-
वत्तत्फलस्याऽपि निष्पत्ते., आव्यापारविनाशमर्थप्रकाशलक्ष-
णकार्यसद्भावादन्धत्वमूर्च्छाऽऽदीनामभाव स्यात्। अथ क्षणि-
क इति पक्ष.। सोऽपि न युक्त. क्षणानन्तरं व्यापाराऽसत्त्वेना-
र्थप्रतिभासाभावात्। अपगतार्थप्रतिभासं सर्वं जगत् स्यात्।

अथ स्वत एव द्वितीयाऽऽदिक्षणेषु व्यापारोत्पत्तेर्नायं दोषः।
अजन्यत्वं तु तस्यापरकारकजन्यत्वाभावेन। नैतदस्ति। कार-
कानायत्तस्य देशकालस्वरूपप्रतिनियमाभावस्वभावतायाः
प्रतिपादनात्। किं च-अनवरतक्षणिकाजन्यव्यापाराभ्युप-
गमे, तज्जन्यार्थप्रतिभासस्यापि तथैव भावात् सुप्ताऽद्यभाव
दोषस्तदवस्थः। तन्नाजन्यव्यापाराभ्युपगमः श्रेयान्। अथ
जन्यो व्यापार इति पक्षः कक्षीक्रियते। तदाऽत्रापि विकल्प-
द्वयम्-किमसौ जन्यो व्यापारः क्रियाऽऽत्मकः, उत तदना-
त्मक इति?। तत्र यदि प्रथमः पक्ष। स न युक्तः। अत्रापि विक-
ल्पद्वयानतिवृत्ते. तथाहि साऽपि क्रिया किं स्पन्दाऽऽत्मिका,
उत अस्पन्दाऽऽत्मिका?। यदि स्पन्दाऽऽत्मिका। तदाऽऽत्मनो
निश्चलत्वादन्येषां कारकाणां व्यापारसद्भावेऽपि व्यापारो न
स्यात्, यदर्थोऽयं प्रयास, तदेवेत्युक्तं भवतैवमभ्युपगच्छता।
अथापरिस्पन्दात्मिका क्रिया व्यापारस्वभावा। न। तथाभूता-
या. परिस्पन्दाभावरूपतया फलजनकत्वायोगात्, अभावस्य
जनकत्वविरोधात्। न च क्रिया कारणफलापान्तरालवर्त्तिनी प-
रिस्पन्दस्वभावा, तद्विपरीतस्वभावा वा प्रमाणगोचरचारिणी-
ति न तस्याः सद्व्यवहारविषयत्वमभ्युपगन्तुं युक्तमिति न क्रि-
यात्मको व्यापारः। नापि तदनात्मको व्यापारोऽङ्गीकर्त्तुं युक्त.।
तत्राऽपि विकल्पद्वयप्रवृत्तेः । तथाहि-किमसावक्रियात्मको
व्यापारो बोधस्वरूप., अबोधस्वभावो वा?। यदि बोधस्वरूप.,
प्रमातृवन्न प्रमाणान्तरगम्यताऽभ्युपगन्तुं युक्ता। अथाबोध-
स्वभावः नायमपि पक्ष.। बोधाऽऽत्मकज्ञातृव्यापारस्याबोधा-
ऽऽत्मकत्वासंभवात्। न हि चिद्रूपस्याचिद्रूपो व्यापारो युक्तः।
जानातीति च ज्ञातृव्यापारस्य बोधाऽऽत्मकस्यैवाभिधानात्।
तन्न अबोधस्वभावोऽपि व्यापार.। किं च-असौ ज्ञातृव्यापा-
रो धर्मिस्वभावः, उत धर्मस्वभाव इति पुनरपि कल्पना
द्वयम्?। धर्मिस्वरूपत्वे, ज्ञातृवन्न प्रमाणान्तरगम्यत्वमित्यु-
क्तम्। धर्म्मस्वभावत्वेऽपि, धर्मिणो ज्ञातुर्व्यतिरिक्तो व्यापार.,
अव्यतिरिक्त, उभयम्, अनुभयम् इति चत्वारो विकल्पाः।
न तावद्व्यतिरिक्तः। तत्त्वे, संबन्धाभावेन ज्ञातुर्व्यापार
इति व्यपदेशायोगात्। अव्यतिरिक्ते, ज्ञातैव, तत्स्वरूपव
न्नापरो व्यापार। उभयपक्षस्तु, विरोधमपरिहृत्य नाभ्युप-
गमनीय.। अनुभयपक्षस्तु, अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकवि-
धानेनापरनिषेधादयुक्त इति प्रतिपादितम्। किं च-व्यापारस्य
कारकजन्यत्वाभ्युपगमे, तज्जनने प्रवर्त्तमानानि कारकाणि कि-
मपरव्यापारभाञ्जि प्रवर्त्तन्ते, उत तन्निरपेक्षाणीति विकल्पद्व-
यम्। यद्याद्यो विकल्पः, तदा तद्व्यापारजननेऽपि, तैरपरव्या-
पारभाग्भि. प्रवर्तितव्यम्; तज्जननेऽप्यपरव्यापारयुग्भि. प्रव-
र्त्तितव्यमित्यनवस्थितेर्न फलजननव्यापारोद्भूतिरिति तत्फ-
लस्याप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् न व्यापारपरिकल्पनं श्रेय.। अथ
अपरव्यापारमन्तरेणाऽपि फलजनकव्यापारजनने प्रवर्त्तन्ते,
नाय दोष., तर्हि प्रकृतव्यापारमन्तरेणाऽपि फलजनने प्रव-
र्त्तिष्यन्त इति किमनुपलक्ष्यमानव्यापारकल्पनप्रयासेन?। किं
च-असौ व्यापारः फलजनने प्रवर्त्तमान किमपरव्यापारस-
व्यपेक्ष, अथ निरपेक्ष इत्यत्रापि कल्पनाद्वयम्?। तत्र यद्याद्या
कल्पना। सा न युक्ता। अपरापरव्यापारजननक्षीणशक्तित्वेन
व्यापारस्याऽपि फलजनकत्वायोगात्। अथ व्यापारान्तरान-
पेक्ष एव फलजनने प्रवर्त्तते, तर्हि कारकाणामपि व्यापार-
जनननिरपेक्षाणां फलजनने प्रवृत्तौ, न कश्चिद्विशेषः।

सम्भाव्यते । अथ व्यापारस्य व्यापारस्वरूपत्वान्नापरव्यापारापेक्षा; कारकाणां त्वव्यापाररूपत्वात्तदपेक्षा । का पुनरियं व्यापारस्य व्यापारस्वभावता ?। यदि फलजनकत्वं; तर्हि हि-तप्रतिक्रियम् । अथ कारकाऽऽश्रितत्वम् । तदपि भिन्नस्य, सम्बन्धस्य विहाय, न सम्भवतीत्युक्तम् । अथ कारकपरतन्त्रत्वम् । तदपि न । अनुत्पन्नस्याऽसत्त्वात् । नाऽप्युत्पन्नस्य । अन्यानपेक्षत्वात् । तथाऽपि तत्परतन्त्रत्वे, कारकाणामपि व्यापारपरतन्त्रता स्यात् । अथैवं पर्यनुयोगः सर्वभावप्रतिनियतस्वभावव्यावर्तक इत्ययुक्तः । तथाहि-एवमपि पर्यनुयोगः सम्भवति; वह्नेर्दाहकस्वभावत्वे आकाशस्याऽपि स स्यात्; इतरथा वह्नेरपि स न स्यादिति । स्यादेतद्यदि प्रत्यक्षसिद्धो व्यापारस्वभावो भवेत् ; स च न तथेति प्रतिपादितम् । तत एवोक्तम्-" स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे, यदि पर्यनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं युक्तं, न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥ १ ॥ " न च तत्र व्यापारो नाम कश्चिद् यथाऽभ्युपगतः परैः । अथानुमानग्राह्यत्वे स्यादयं दोषः; अत एवार्थापत्तिसमधिगम्यता तस्याऽभ्युपगता । ननु दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टकल्पनाऽर्थापत्तिः; तत्र कः पुनरसौ भावो व्यापारव्यतिरेकेण नोपपद्यते, यो व्यापारं कल्पयति ?। अर्थ इति चेत् । का पुनरस्य तेन विनाऽनुपपद्यमानता ?। नोत्पत्तिः, स्वहेतुतस्तस्या भावात् । किं च-असावर्थः किमेकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं कल्पयति, उत सर्वज्ञातृव्यापारमन्तरेणेति वक्तव्यम् ?। तत्र यदि सकलज्ञातृव्यापारमन्तरेणेति पक्षः । तदन्धानामपि रूपदर्शनं स्यात्, तद्व्यापारमन्तरेणार्थाभावात् सर्वज्ञताप्रसङ्गश्च । अथैकज्ञातृव्यापारमन्तरेणानुपपत्तिः, तर्हि यावदर्थसद्भावस्तावत्तस्यार्थदर्शनमिति सुप्ताऽऽद्यभावः । अथार्थधर्मोऽर्थप्रकाशनालक्षणो व्यापारमन्तरेणानुपपद्यमानस्तं कल्पयति । ननु साऽप्यर्थप्रकाशताऽर्थधर्मो, यद्यर्थ एव;तदाऽर्थपक्षोक्तो दोषः । अथ तद्व्यतिरिक्तः । तदा तस्य स्वरूपं वक्तव्यम् ?। तस्याऽनुभूयमानता सा इति चेत्; न । पर्यायमात्रमेतत्, न तत्स्वरूपप्रतिपत्तिः, इति स एव प्रश्नः । किं च-प्रकाशोऽनुभवश्च ज्ञानमेव; तदनवगमे तत्कर्मतायाः सुतरामनवगम इत्यर्थप्रकाशताऽनुभूयमानते स्वरूपेणानवगते, कथं ज्ञातृव्यापारपरिकल्पिके ?। किं च-अर्थप्रकाशनालक्षणोऽर्थधर्मोऽन्यथाऽनुपपन्नत्वेनानिश्चितस्तं कल्पयति, अहोस्विन्निश्चित इति ?। तत्र यद्याद्यः कल्पः । स न युक्तः । अतिप्रसङ्गात् । तथाहि-यद्यनिश्चितोऽपि तथात्वेन स तं परिकल्पयति, तथा येन विनाऽपि स उपपद्यते तमपि किं न कल्पयति ?। विशेषाभावात् । अथाऽनिश्चितोऽपि तेन विनाऽनुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स तं परिकल्पयति, तर्हि लिङ्गस्याऽपि नियतत्वेनानिश्चितस्याऽपि स्वसाध्यगमकत्वं स्यात् । तथा चार्थापत्तिरेव परोक्षार्थनिश्चायिका, नाऽनुमानमिति षट्प्रमाणवादाभ्युपगमो विशीर्येत । अथान्यथाऽनुपपद्यमानत्वेन निश्चितः स धर्मस्तं परिकल्पयति, तदा वक्तव्यम्-क तस्याऽन्यथाऽनुपपन्नत्वनिश्चयः ?। यदि दृष्टान्तधर्मिणि, तदा लिङ्गस्याऽपि तत्र नियतत्वनिश्चयोऽस्तीत्यनुमानमेवार्थापत्तिः स्यात् । एवं चार्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भूतेति पुनरपि प्रमाणषट्काभ्युपगमो विशीर्येत । अथ साध्यधर्मिणि, तन्निश्चयश्चानुमानात्पृथगर्थापत्तिः । तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-कुतः प्रमाणात्तस्य तन्निश्चयः ?। यदि विपक्षेऽनुपलम्भात् । तन्न युक्तम् । सर्वसंबन्धितोऽनुपलम्भस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात्; आत्मसम्बन्धिनस्तु, अनैकान्तिकत्वादिति नाऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चयः । किं च-अर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थानुभूयमानतालक्षणस्यार्थधर्मस्य य एव स्वप्रकल्प्यार्थाभावेऽवश्यन्तयाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चयः, स एव स्वप्रकल्प्यार्थसद्भाव एवोपपद्यमानत्वनिश्चय इत्यर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य, स्वसाध्यानुमापकस्य च लिङ्गस्य, न कश्चिद्विशेष इत्यनुमाननिरासेऽर्थापत्तेरपि निरासः कृत एवेति नार्थापत्तेरपि ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणनिश्चायकत्वम् । येऽपि संवित्याख्यं फलं ज्ञातृव्यापारसद्भावे सामान्यतो दृष्टं लिङ्गमाहुः । तन्मतमप्यसम्यक् । यतः संवेदनाऽऽख्यस्य लिङ्गस्य किमर्थप्रतिभासस्वभावत्वम्, उत तद्विपरीतत्वमिति कल्पनाद्वयम् ?। तत्राऽर्थप्रतिभासस्वभावत्वेऽपि, किमपरेण ज्ञातृव्यापारेण कल्पितेन, इति वक्तव्यम् । तदुत्पत्तिस्तेन विना न सम्भवतीति चेन्न । इन्द्रियाऽऽदेस्तदुत्पादकस्य सद्भावात्किमर्थं तत्परिकल्पनम् । क्रियामन्तरेण कारककलापात्फलाऽनिष्पत्तेः तत्कल्पनेति चेत् । नन्विन्द्रियाऽऽदिसामग्र्यस्य क व्यापार इति वक्तव्यम् ?। क्रियोत्पत्ताविति चेत् । साऽपि क्रिया, क्रियान्तरमन्तरेण कथं कारककलापादुपजायते इति पुनरपि तदेव चोद्यम् । क्रियान्तरकल्पनेऽनवस्था प्राक् प्रतिपादितैव । तत्रार्थप्रतिभासस्वभावत्वेऽन्यो व्यापारः कल्पनीयः । निष्प्रयोजनत्वात् । अथ द्वितीया कल्पनाऽभ्युपगम्यते । साऽपि न युक्ता । यतोऽर्थस्य संवेदनं तद्भवज्ज्ञातृव्यापारलिङ्गतां समासादयति । सा च तदसंवेदनस्वभावस्य कथं सङ्गता ?। शेषं तु पूर्वमेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते । किं च-अर्थप्रतिभासस्वभावं संवेदनं ज्ञानं, ज्ञाता, तद्व्यापारश्च बोधाऽऽत्मकः, नैतत्त्रितयं क्वचिदपि प्रतिभाति । अथ घटमहं जानामीति प्रतिपत्तिरस्ति, न चैषा निह्नोतुं शक्या, नाऽप्यस्याः किञ्चिद्बाधकमुपलभ्यते; तत्कथं न त्रितयसद्भावः ?। तथाहि-अहमिति ज्ञातुः प्रतिभासो, जानामीति संवेदनस्य, घटमिति प्रत्यक्षस्यार्थस्य, व्यापारस्य त्वपरस्य प्रमाणान्तरतः प्रतिपत्तिरित्यभ्युपगमः । अयुक्तमेतत् । यतः कल्पनोद्भूतशब्दमात्रमेतत्, न पुनरेष वस्तुत्रयप्रतिभासः । अत एवोक्तमाचार्येण-" एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाऽऽकारविवर्तं समुत्पश्यामस्तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम् " । किं च-व्यापारनिमित्ते कारकसंबन्धे विकल्पद्वयम्-किं पूर्वं व्यापारः, पश्चात् संबन्धः, उत पूर्वं संबन्धः, पश्चाद्व्यापारः ?। पूर्वस्मिन् पक्षे न व्यापारार्थः संबन्धः । पूर्वमेव व्यापारसद्भावात् । उत्तरस्मिन् पुनर्विकल्पद्वयम्-संबन्धे सति किं परस्परसापेक्षाणां स्वव्यापारकर्तृत्वम्, उत निरपेक्षाणाम् ?। सापेक्षत्वे स्वव्यापारकर्तृत्वानुपपत्तिः । अनेकजन्यत्वात्तस्य । निरपेक्षत्वे किं मीलनेन, ततश्च सर्गावस्थायामपि स्वव्यापारकरणादनवरतफलसिद्धिः । न चैतत् दृष्टमिष्टं वा । तन्न युक्तं व्यापारस्याप्रतीयमानस्य कल्पनम् । कोऽह्यन्यथा सम्भवति फलेऽप्रतीयमानकल्पनेनाऽऽत्मानमायासयति ?। अन्यथा सन्नपि च, इन्द्रियाऽऽदिषु सत्सु फलस्य प्रागेव दर्शितः । इन्द्रियाऽऽदेस्तथाभ्युपगमनीयत्वात् । इतोऽपि संवेदनाऽऽख्यं फलमपरोक्षं व्यापाराऽनुमापकमयुक्तम् । स्वदर्शनव्याघातप्रसक्तेः । तथाहि-भवता शून्यवादपरतन्त्रप्रामाण्यप्रसक्तिभयात् स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगतः । विपरीतख्यातौ, तयोरवश्यंभावित्वात् । तथाहि-तस्यामन्यदेशकालोऽर्थस्तद्देशकालयोरसन् प्रतिभाति । न च तद्देशाऽऽद्यस्तत्वस्यानन्तासत्वस्य चा-

ऽसत्प्रतिभासे कश्चिद्विशेषः । यथाऽन्यदेशाऽऽद्यवस्थितमाकारं कुतश्चिद् भ्रमनिमित्तात् ज्ञानं दर्शयति, तथाऽविद्यावशादत्यन्तासन्तमपि किन्न दर्शयति ?। तथा च कथं शून्यवादान्मुक्तिः ?। तथा परतः प्रामाण्यमपि मिथ्यात्वाऽऽशङ्कया कस्यचित् ज्ञानस्य बाधकाभावान्वेषणादुक्तम्यम् । तदन्वेषणे च सापेक्षत्वं प्रमाणानामपरिहार्यं विपरीतख्यातौ । ततो न कस्यचित् ज्ञानस्य मिथ्यात्वं; तदभावादन्यदेशकालाकारार्थप्रतिभासो, नाऽपि बाधकाभावापेक्षा । भ्रान्ताभिमतेषु तु तथा व्यपदेशः, स्मृतिप्रमोषात् । तथाहि-इदं रजतमिति प्रतीताविदमिति पुरो व्यवस्थितार्थप्रतिभासः, रजतमिति पूर्वावगतरजतस्मरणं, सादृश्याऽऽदेः कुतश्चिन्निमित्तात्, तच्च स्मरणमपि, स्वरूपेण नाऽवभासते इति स्मृतिप्रमोष उच्यते । यत्र स्मरामीतिप्रत्ययस्तत्र स्मृतेरप्रमोषः, यत्र स्मृतित्वेऽपि स्मरामीति रूपाप्रवेदनं कुतश्चिद् कारणात्, स्मृतिप्रमोषोऽभिधीयते । अस्मिन्मते रजतमिति यत्फलसंवेदनं, तत्किं प्रत्यक्षफलस्य सतः, किं वा स्मृतेः ?। यदि प्रत्यक्षफलस्य, तदा यथेदमिति प्रत्यक्षफलं प्रतिभाति, तथा रजतमित्यपि, तदृश्च तुल्ये प्रतिभासे, एकं प्रत्यक्षम्, अपरं स्मरणमिति किं कृतो विशेषः ?। अथोक्तं स्मरणस्याऽपि सतस्तद्रूपानवगमात्तेनाऽऽकारेणावगमः । तत्किं रजतमित्यत्राप्रतिपत्तिरेव, तस्यां चाऽभ्युपगम्यमानायां कथं स्मृतिप्रमोषः ?। अन्यथा मूर्च्छाद्यवस्थायामपि स्यात् । अथेदमिति तत्र प्रत्ययाभावान्नाऽसौ । नन्विदमित्यत्राऽपि वक्तव्यं, किमाभाति ?। पुरोऽवस्थितं शुक्तिशकलमिति चेत् । ननु किं प्रतिभासमानत्वेन तत्तत्र प्रतिभाति, उत सन्निहितत्वेन ?। प्रतिभासमानत्वेन तथाभ्युपगमे, न स्मृतिप्रमोषः । शुक्तिकाशकले हि स्वगतधर्मविशिष्टे प्रतिभासमाने, कुतो रजतस्मरणसंभावना ?। न हि घटग्रहणे पटस्मरणसंभवः । अथ शुक्तिकारजतयोः सादृश्यात् शुक्तिप्रतिभासे रजतस्मरणम् । न । तस्य विद्यमानत्वेऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । यदाऽसाधारणधर्माध्यासितं शुक्तिस्वरूपं प्रतिभाति, तदा कथं सदृशवस्तुस्मरणम् ?। अन्यथा सर्वत्र स्यात् । सामान्यमात्रग्रहणे हि तत्कदाचिद्भवेदपि, नासाधारणस्वरूपप्रतिभासे । तन्नेदमित्यत्र शुक्तिकाशकलस्य प्रतिभासनात्तथाव्यपदेशः । सन्निहितत्वेनाप्रतिभासमानस्याऽपि तद्विषयत्वाभ्युपगमे, इन्द्रियसंबद्धानां तद्देशवर्तिनामणुकादीनामपि प्रतिभासः स्यात् । न चाऽप्रतिभासमानामिन्द्रियाऽऽदीनामिव प्रतीतिजनकानामपि तद्विषयता सङ्गच्छते । तन्नेदमित्यत्र शुक्तिकाशकलप्रतिभासः । नापि रजतमित्यत्र स्मृतित्वेऽपि तस्याः स्वरूपेणाऽनवगमात्प्रमोषाभ्युपगमो युक्तः । अथ स्मृतिरप्यनुभवत्वेन प्रतिभातीति तत्प्रमोषोऽभ्युपगम्यते । नन्वेवं सैव शून्यवादपरतःप्रामाण्यभयादनभ्युपगम्यमाना विपरीतख्यातिरापतिता । न चात्राऽप्रतिपत्तिरेव । रजतमित्येव स्मरणस्यानुभवस्य वा प्रतिभासनात् ॥ इदमत्रैदम्पर्यम्-अर्थसंवेदनमपरोक्षं सामान्यतो दृष्टं लिङ्गं यदि ज्ञातृव्यापारानुमापकमभ्युपगम्यते, तदा स्मृतिप्रमोषे रजतमित्यत्र संवेदनं, उतासंवेदनम् ?। प्रतिभासोत्पत्तेः संवेदनेऽपि, रजतमनुभूयमानतया न संवेद्यते । स्मृतिप्रमोषाभावप्रसङ्गात् । नाऽपि स्मर्यमाणतया । प्रमोषानभ्युपगमात् । विपरीतख्यातिस्तु नाभ्युपगम्यते । तद्रजतमित्यत्र संवेदनस्यापरोक्षत्वाभ्युपगमेऽपि, प्रतिभासाभावः प्रसक्तः । किं च-स्मृतिप्रमोषः पूर्वोक्तदोषद्वयभयादभ्युपगतः, तच्च तदभ्युपगमेऽपि समानम् ।

तथाहि-सम्यग्रजतप्रतिभासेऽपि आशङ्कोत्पद्यते-किमेष स्मृतावपि स्मृतिप्रमोषः, उत सम्यगनुभव इति सापेक्षत्वाद्बाधकान्वेषणे परतः प्रमाण्यम् ?। तत्र च भवन्मतेनानवस्था प्रदर्शितैव । यत्र हि स्मृतिप्रमोषस्तत्रोत्तरकालभावी बाधकप्रत्ययो, यत्र तु तदभावस्तत्र स्मृतिप्रमोषासंभव इति कथं न बाधकाभावापेक्षायां परतःप्रामाण्यदोषभयस्यावकाशः ?। शून्यवाददोषभयमपि स्मृतिप्रमोषाभ्युपगमेऽवश्यभावि । तथा हि-स्वप्नश्रीहर्षाऽऽद्याकारोऽनुत्पन्नशङ्खचक्रवर्त्याद्याकारश्च ज्ञाने यः प्रतिभाति, सोऽवश्यं ज्ञानरचितोऽसत्प्रतिभाति । रजताऽऽदिस्मृतेरप्यसन्निहितरजताऽऽकारप्रतिभासस्वभावत्वात्तत्समर्थनमुत्पन्नावसन्निहितं नोपयुज्यते इति असदर्थविषयत्वे ज्ञानस्य, कथं शून्यवादभयाद् भवतः स्मृतिप्रमोषवादिनो मुक्तिः ?; तन्न स्मृतिप्रमोषः । कश्चायं स्मृतिप्रमोषः-किं स्मृतेरभावः, उतान्यावभासः, आहोस्वित् अन्याऽऽकारवेदित्वमिति विकल्पाः ?। तत्र नासौ स्मृतेरभावः । प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् । अथान्यावभासोऽसौ । तदाऽत्राऽपि वक्तव्यम्-किं तत्कालोऽन्यावभासोऽसौ, अथोत्तरकालभावी ?। यदि तत्कालभावी अन्यावभासः स्मृतेः प्रमोषः, तदा घटाऽऽदिज्ञानं तत्कालभावि तस्याः प्रमोषः स्यात् । अथोत्तरकालभाव्यसौ तस्याः प्रमोषः । तदप्ययुक्तम् । अतिप्रसङ्गात् । यदि नामोत्तरकालमन्यावभासः समुत्पन्नः पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वेनाभ्युपगतस्य, तत्र किमायातम् ?। अन्यथा सर्वस्य पूर्वज्ञानस्य स्मृतिप्रमोषत्वप्रसङ्गः । अथान्याऽऽकारवेदित्वं तस्या असौ; तदा विपरीतख्यातिः स्यात् ?-न स्मृतिप्रमोषः । कश्चाऽसौ विपरीत आकारस्तस्याः । यदि स्फुटार्थावभासित्वं, तदाऽसौ प्रत्यक्षस्याऽऽकारः, कथं स्मृतिसंबन्धी ?। तत्संबन्धित्वे वा तस्याः प्रत्यक्षरूपतैव स्यात्, न स्मृतिरूपता । अत एव शुक्तिकायां रजतप्रतिभासस्य न स्मृतिरूपता तत्प्रतिभासेन व्यवस्थाप्यते । तस्य प्रत्यक्षरूपतया प्रतिभासनात् । नाऽपि बाधकप्रत्ययेन तस्याः स्मृतिरूपता व्यवस्थाप्यते । यतो बाधकप्रत्ययः तत्प्रतिभातस्यार्थस्यासद्रूपत्वमावेदयति, न पुनस्तद्ज्ञानस्य स्मृतिरूपताम् । तथाहि-बाधकप्रत्यय एव प्रवर्तते-नेदं रजतं, न पुना रजतप्रतिभासकमनः स्मृतिरिति । तन्न स्मृतिप्रमोषरूपता भ्रान्तदशामभ्युपगन्तुं युक्ता । अतो नायमपि सत्पक्षः । तत्रार्थसंवेदनस्वरूपमप्यपरोक्षं सामान्यतो दृष्टं लिङ्गं प्राभाकरैरभ्युपगम्यमानं, ज्ञातृव्यापारलक्षणप्रमाणानुमापकमिति, मीमांसकमते प्रमाणस्यैवाऽसिद्धत्वात्कथं यथावस्थितार्थपरिच्छेदशक्तिस्वभावस्य प्रामाण्यस्य स्वतः सिद्धिः ?। न हि धर्मिणोऽसिद्धौ तद्धर्मस्य सिद्धिर्युक्ता, अतो न सर्वत्र स्वतः प्रामाण्यसिद्धिरिति स्थितम् । सम्म० १ काण्ड । (साऽऽकारं ज्ञानं प्रमाणम् । निराकारज्ञानवादी 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १६५६ पृष्ठे निरस्तः) (मीमांसकानां ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम् इति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९६३ पृष्ठे उक्तम्) (अनधिगताधिगन्तृत्वं प्रमाणम्, इति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६३ पृष्ठे दर्शितम्) (सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् सौगतानामिति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६४ पृष्ठे उक्तम्) (अव्यभिचारिविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्, इति 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १९६५ पृष्ठे उक्तम्)

(८) द्रव्यादि चतुर्विधं प्रमाणम्-

से किं तं पमाणे णं ? । पमाणे णं चउव्विहे पण्णत्ते । तं

**जहा-नामप्पमाणे, ठवणप्पमाणे, दव्वप्पमाणे, भावप्पमाणे ॥**

( पमाणे चउव्विहे इत्यादि ) प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु निश्चीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । नाम-स्थापना-द्रव्य-भावस्वरूपं चतुर्विधम् । अनु० । ( नामप्रमाणव्याख्या 'णामप्पमाण' शब्दे चतुर्थभागे २००१ पृष्ठे गता ) ( स्थापनाप्रमाणव्याख्या 'ठवणप्पमाण' शब्दे चतुर्थभागे १६७६ पृष्ठे समुक्ता )

**से किं तं दव्वप्पमाणे ?। दव्वप्पमाणे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए । से तं दव्वप्पमाणे ।**

अयमत्र भावार्थः-धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय इत्यादीनि षड् द्रव्यविषयाणि नामानि द्रव्यमेव प्रमाण तेन निष्पन्नानि द्रव्यप्रमाणनामानि, धर्मास्तिकायाऽऽदिद्रव्य विहाय न कदाचिदन्यत्र वर्तन्त इति तद्धेतुकान्युच्यन्त इति तात्पर्यम् । अनादिसिद्धान्तनामत्वेनैवैतानि प्रागुक्तानीति चेत्, उच्यतां, को दोष ?, अनन्तधर्माऽऽत्मके वस्तुनि तत्तद्धर्मापेक्षयाऽनेकव्यपदेशताया अदुष्टत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासम्भव वाच्यमिति । अनु० । ( धर्मास्तिकायव्याख्या तदेकार्थिकानि च 'धम्मत्थिकाय' शब्दे चतुर्थभागे २७१८ पृष्ठे व्याख्यातानि ) ( अधर्मास्तिकायव्याख्या 'अधम्मत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे ५६७ पृष्ठे गता ) । ( अद्धासमयव्याख्या 'अद्धासमय' शब्दे प्रथमभागे ५६५ पृष्ठे गता )

**से किं तं पमाणे ?। पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे ॥२३१॥ अनु०।**

तत्र प्रमितिः प्रमीयते वा परिच्छिद्यते येनार्थस्तत्प्रमाण, तत्र द्रव्यमेव प्रमाण दण्डाऽऽदिद्रव्येण वा धनुरादिना शरीराऽऽदेर्द्रव्यैर्वा दण्डहस्ताङ्गुलाऽऽदिभिर्निर्द्रव्यस्य वा, जीवाऽऽदेर्द्रव्याणां वा, जीवधर्माधर्माऽऽदीनां, द्रव्ये वा परमाण्वादौ पर्यायाणां द्रव्येषु वा तेष्वेव तेषामेव प्रमाण द्रव्यप्रमाणम् । एव यथायोग सर्वत्र विग्रह कार्यः । तत्र द्रव्यप्रमाण द्वेधा-प्रदेशनिष्पन्न, विभागनिष्पन्न च । तत्राऽऽद्य परमाण्वाद्यनन्तप्रदेशिकान्त विभागनिष्पन्न पञ्चधा मानाऽऽदि । तत्र मान धान्यमान सेतिकाऽऽदि । रसमान कर्षाऽऽदि १, उन्मान तुलाकर्षाऽऽदि २, अवमान हस्ताऽऽदि ३, गणितमेकाऽऽदि ४, प्रतिमान गुञ्जावल्लाऽऽदीति ५ । क्षेत्रमाकाश तस्य प्रमाण द्विधा प्रदेशनिष्पन्नाऽऽदि । तत्र प्रदेशनिष्पन्नमेकप्रदेशावगाढाऽऽदि असङ्ख्येयप्रदेशावगाढान्तम् । विभागनिष्पन्नमङ्गुलाऽऽदि, काल' समयस्तन्मान द्विधा-प्रदेशनिष्पन्नमेकसमयस्थित्यादि असङ्ख्येयसमयस्थित्यन्तम् । विभागनिष्पन्न समयावलिकेत्याऽऽदि । क्षेत्रकालयोर्द्रव्यत्वे सत्यपि भेदनिर्देशो जीवाऽऽदिद्रव्यविशेषकत्वेनानयोस्तत्पर्यायताऽपीति द्रव्याद्विशिष्टताख्यापनार्थं । भाव एव भावानां वा प्रमाण भावप्रमाण गुणनयसङ्ख्याभेदभिन्न, तत्र गुणा जीवस्य ज्ञानदर्शनचारित्राणि । तत्र ज्ञान प्रत्यक्षानुमानोपमानाऽऽगमरूप प्रमाणमिति नया नैगमाऽऽदय', सङ्ख्या एकाऽऽदिकेति । स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० । दर्श० । नि० चू० । सूत्र० । आ० म० । व्य० । विशे० । उत्त० । ( 'से किं त पमाणे' इत्यादि ) प्रमीयते-परिच्छिद्यते धान्यद्रव्याऽऽद्यनेनेति प्रमाणम्-असतिप्रसृत्यादि, अथवा इद चेद च स्वरूपमस्य भवतीत्येव प्रतिनियतस्वरूपतया प्रत्येकं प्रमीयते-परिच्छिद्यते यत्तत्प्रमाण-यथोक्तमेव, यदि वा धान्यद्रव्याऽऽदेरेव प्रमिति.-परिच्छेदः स्वरूपावगम प्रमाणम्, अत्र पक्षेऽसतिप्रसृत्यादेस्तद्धेतुत्वात् प्रमाणता, तच्च प्रमाण द्रव्याऽऽदिप्रमेयवशाच्चतुर्विधम् । तद्यथा-द्रव्यविषय प्रमाणं द्रव्यप्रमाणम् । अनु० ।

**से किं त दव्वप्पमाणे ?। दव्वप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पएसनिप्फण्णे अ, विभागनिप्फण्णे अ । से किं तं पएसनिप्फण्णे ?। पएसनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-परमाणुपोग्गले दुपएसिए० जाव दसपएसिए संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए । से तं पएसनिप्फण्णे । से किं तं विभागनिप्फण्णे ? । विभागनिप्फण्णे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-माणे, उम्माणे, अवमाणे, गणिमे, पडिमाणे ।**

तत्र द्रव्यप्रमाण द्विविधम्-प्रदेशनिष्पन्न विभागनिष्पन्न च । तत्र प्रदेशा-एकद्व्यादयो ऽणवस्तैर्निष्पन्न प्रदेशनिष्पन्न, तत्रैकप्रदेशनिष्पन्न परमाणु., द्विप्रदेशनिर्वृत्तो द्विप्रदेशिक., प्रदेशत्रयघटितस्त्रिप्रदेशिक, एव यावदनन्तैः प्रदेशै. सम्पन्नोऽनन्तप्रदेशिक. । नन्विदं परमाण्वादिकमनन्तप्रदेशिकस्कन्धपर्यन्त द्रव्यमेव, ततस्तस्य प्रमेयत्वात् प्रमाणता न युक्तेति चेत्, नैवम्, प्रमेयस्यापि द्रव्याऽऽदे' प्रमाणतया रूढत्वात् । तथाहि-प्रस्थकाऽऽदिप्रमाणेन मित्वा पुञ्जीकृत धान्याऽऽदि द्रव्यमालोक्य लोके वक्तारो भवन्ति-प्रस्थकाऽऽदिरय पुञ्जीकृतस्तिष्ठतीति, ततश्चैकद्व्यादिप्रदेशनिष्पन्नत्वलक्षणेन स्वस्वरूपेणैव प्रमीयमाणत्वात्परमाण्वादिद्रव्यस्यापि कर्मसाधनप्रमाणशब्दवाच्यताऽदुष्टैव, करणसाधनपक्षे त्वेकद्व्यादिप्रदेशनिष्पन्नत्वलक्षण स्वरूपमेव मुख्यतया प्रमाणमुच्यते, द्रव्य तु तत्स्वरूपयोगादुपचारत., भावसाधनतायां तु प्रमितेः प्रमाणप्रमेयाधीनत्वादुपचारादेव प्रमाणप्रमेययो प्रमाणताऽवगन्तव्या, तदेव कर्मसाधनपक्षे परमाण्वादि द्रव्य मुख्यतया प्रमाणमुच्यते, करणभावसाधनपक्षयोस्तूपचारत इत्यदोष । इद च यथोक्तरमव्यान्यसङ्ख्योपेतैः स्वगतैरेव प्रदेशैर्निष्पन्नत्वात् प्रदेशनिष्पन्नमुक्त, द्वितीय तु स्वगतप्रदेशान् विहायापरो विविधो विशिष्टो वा भागो भङ्गो विकल्प. प्रकार इति यावत्तेन निष्पन्न विभागनिष्पन्नम् । तथाहि-न धान्यमानाऽऽदे. स्वगतप्रदेशाऽऽश्रयणेन स्वरूप निरूपयिष्यते । अपि तु-" दो असईओ पसई " इत्यादिको यो विशिष्ट प्रकारस्तेनेति । तच्च पञ्चविध, तद्यथा-मानम् , उन्मानम् , अवमान, गणिम, प्रतिमानम् । अनु० । ( परमाणुपुद्गलव्याख्या 'परमाणुपोग्गल' शब्दे वक्ष्यते ) ( मानस्वरूपम् 'माण' शब्दे वक्ष्यते ) ( उन्मानव्याख्या 'उम्माण' शब्दे द्वितीयभागे ८४७ पृष्ठे गता ) ( अवमानव्याख्या 'ओमाण' शब्दे तृतीयभागे ५० पृष्ठे गता ) ( गणिमव्याख्या 'गणिम' शब्दे तृतीयभागे ८२४ पृष्ठे प्रतिपादिता ) ( प्रतिमानव्याख्या 'पडिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३३५ पृष्ठे गता) (क्षेत्रप्रमाणव्याख्या 'खेत्तपमाण' शब्दे तृतीयभागे ७७० पृष्ठे गता)

**से किं तं कालप्पमाणे ?। कालप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पएसणिप्फण्णे, विभागणिप्फण्णे अ ॥१३५॥**

गतार्थमेव ॥ १३५ ॥

से किं तं पएसणिप्फण्णे ?। पएसणिप्फण्णे एगसमयट्ठिईए, दुसमयट्ठिईए, तिसमयट्ठिईए० जाव दससमयट्ठिईए, असंखिज्जसमयट्ठिईए । से तं पएसनिप्फण्णे ॥१३६॥

नवरमिह प्रदेशाः कालस्य निर्विभागा भागाः, तैर्निष्पन्नं प्रदेशनिष्पन्नं, तत्रैकसमयस्थितिकः परमाणुः स्कन्धो वा एकेन कालप्रदेशेन निष्पन्नो, द्विसमयस्थितिकस्तु द्वाभ्याम्, एवं यावदसङ्ख्येयसमयस्थितिकोऽसङ्ख्येयैः कालप्रदेशैर्निर्वृत्तः, परतस्त्वेकेन रूपेण पुद्गलानां स्थितिरेव नास्ति, प्रमाणता चेह प्रदेशनिष्पन्नद्रव्यप्रमाणवद्भावनीया ॥ १३६ ॥

से किं तं विभागनिप्फण्णे ?। विभागणिप्फण्णे—अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—

" समयावलिअमुहुत्ता, दिवसअहोरत्तपक्खमासा य ।
संवच्छरजुगपलिआ, सागरओसप्पिपरिअट्टा " ॥१३७॥

विभागनिष्पन्नं तु समयाऽऽदि । तथा चाऽऽह—समयाऽऽवलियगाहा ॥ १३७ ॥ अनु० ।

भावप्रमाणम्—

से किं तं भावप्पमाणे ?। भावप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—गुणप्पमाणे, नयप्पमाणे, संखप्पमाणे ॥ १४६ ॥

भवनं भावो वस्तुनः परिणामो ज्ञानाऽऽदिर्वर्णाऽऽदिश्च, प्रमितिः प्रमीयते अनेन प्रमीयते स वा इति प्रमाणम्, भाव एव प्रमाणं भावप्रमाणम् । भावस्तावत्पक्षे प्रमितिः वस्तुपरिच्छेदस्तद्धेतुत्वाद्भावस्य प्रमाणताऽवसेया । तच्च भावप्रमाणं त्रिविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—' गुणप्रमाणमित्यादि । ' गुणो ज्ञानाऽऽदिः', स एव प्रमाणं गुणप्रमाणं, प्रमीयन्ते च गुणैर्द्रव्य, गुणाश्च गुणरूपतया प्रमीयन्तेऽतः प्रमाणता ॥ १४६ ॥ अनु० । ( नयप्रमाणस्वरूपम् ' णय ' शब्दे चतुर्थभागे १८७६ पृष्ठे उक्तम् ) संख्यानं संख्या, सैव प्रमाणं संख्याप्रमाणम् । अनु० ।

से किं तं गुणप्पमाणे ? । गुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—जीवगुणप्पमाणे, अजीवगुणप्पमाणे य ॥

तत्र गुणप्रमाणं द्विधा—जीवगुणप्रमाणं च, अजीवगुणप्रमाणं च ।

तत्राऽल्पवक्तव्यत्वादजीवगुणप्रमाणमेव तावदाह—

से किं तं अजीवगुणप्पमाणे ?। अजीवगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—वण्णगुणप्पमाणे, गंधगुणप्पमाणे, रसगुणप्पमाणे, फासगुणप्पमाणे, संठाणगुणप्पमाणे ।

( से किं तं अजीवगुणप्पमाणे ' इत्यादि ) एतत्सर्वमपि पाठसिद्धम् ।

से किं तं वण्णगुणप्पमाणे ?। वण्णगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—कालवण्णगुणप्पमाणे० जाव सुकिल्लवण्णगुणप्पमाणे । से तं वण्णगुणप्पमाणे । से किं तं गंधगुणप्पमाणे ?। गंधगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सुरभिगंधगुणप्पमाणे, दुरभिगंधगुणप्पमाणे य । से तं गंधगुणप्पमाणे । से किं तं रसगुणप्पमाणे ? । रसगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—तित्तरसगुणप्पमाणे० जाव महुररसगुणप्पमाणे । से तं रसगुणप्पमाणे । से किं तं फासगुणप्पमाणे ? । फासगुणप्पमाणे अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा—कक्खडफासगुणप्पमाणे० जाव लुक्खफासगुणप्पमाणे । से तं फासगुणप्पमाणे । से किं तं संठाणगुणप्पमाणे ?। संठाणगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—परिमंडलसंठाणगुणप्पमाणे, वट्टसंठाणगुणप्पमाणे, तंससंठाणगुणप्पमाणे, चउरंससंठाणगुणप्पमाणे, आयसंठाणगुणप्पमाणे । से तं संठाणगुणप्पमाणे । से तं अजीवगुणप्पमाणे ।

( परिमंडलेति ) नवरं परिमण्डलसंस्थानं वलयाऽऽदिवत्, वृत्तमयोगोलकवत्, त्र्यस्रं त्रिकोणं शृङ्गाटकफलवत्, चतुरस्रं समचतुष्कोणम्, आयत—दीर्घमिति ।

से किं तं जीवगुणप्पमाणे ?। जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—णाणगुणप्पमाणे, दंसणगुणप्पमाणे, चरित्तगुणप्पमाणे ॥

जीवस्य गुणा ज्ञानाऽऽदयस्तद्रूपं प्रमाणं जीवगुणप्रमाणं, तच्च ज्ञानदर्शनचारित्रगुणभेदात्त्रिधा ।

से किं तं णाणगुणप्पमाणे ?। णाणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे ॥

तत्र ज्ञानरूपो यो गुणस्तद्रूपं प्रमाणं चतुर्विधम् । तद्यथा—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, उपमानम्, आगमः । तत्र ' अशू ' व्याप्तौ इत्यस्य धातोरश्नुते—ज्ञानाऽऽत्मना अर्थान् व्याप्नोतीति अक्षो जीवः । ' अश ' भोजने इत्यस्य वा अश्नाति—भुङ्क्ते पालयति वा सर्वार्थानित्यक्षो— जीव एव । प्रतिगतम्—आश्रितमक्षं प्रत्यक्षमिति, "अत्यादय क्रान्ताऽऽद्यर्थे द्वितीयया ।"(का०सू०४३०) इति समासः । जीवस्यार्थसाक्षात्कारित्वेन यद् ज्ञानं वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः, अन्ये त्वक्षमक्षं प्रति वर्तत इत्यव्ययीभावसमासं विदधति, तच्च न युज्यते, अव्ययीभावस्य नपुंसकलिङ्गत्वात् प्रत्यक्षशब्दस्य त्रिलिङ्गता न स्यात्, दृश्यते चेयं, प्रत्यक्षा बुद्धिः, प्रत्यक्षो बोधः, प्रत्यक्षं ज्ञानमिति दर्शनात्, ततो यथादर्शितस्तत्पुरुष एवायम् । अनु० । (प्रत्यक्षप्रमाणम् ' पच्चक्ख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो गतम् ) ( अनुमानगुणप्रमाणस्वरूपम् ' अणुमाण ' शब्दे प्रथमभागे ४०३ पृष्ठे गतम् ) अथ ( उप ) मानप्रमाणस्वरूपनिरूपणम् ' ओमाण ' शब्दे तृतीयभागे ९० पृष्ठे दर्शितम् ) ( आगमप्रमाणनिरूपणम् ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ५२ पृष्ठे कृतम् ) ( दर्शनगुणप्रमाणम् ' दंसणगुणप्पमाण ' शब्दे चतुर्थभागे २४-२८ पृष्ठे दर्शितम् ) ( चरित्रगुणप्रमाणम् ' चरित्तगुणप्पमाण ' शब्दे तृतीयभागे ११४७ पृष्ठे दर्शितम् ) यथार्थहिंसाऽऽदिनिषेधकमेव शासनम् । भ० ५ श० ४ उ० ।

(६) अनन्तर वादा उक्तास्तेषां च मध्ये मुख्यवृत्त्या धर्मवाद एव विधेय इति तद्विषयमुपदर्शयन्नाह—

विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्र्यपेक्षया ।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षणः ॥ १ ॥

विषयो गोचरो, धर्मसाधनलक्षण इति योगः। कस्य ?-धर्मवादस्योक्तलक्षणस्य, कथमित्याह-तस्य तस्येति वीप्सायां द्विर्वचनम्। तन्त्रस्य शास्त्रस्य पष्टितन्त्राऽऽदेर्विशिष्टाऽपेक्षा निश्रा तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षा, तया यद्यद्दर्शनं प्रति वादी समाश्रितस्तत्तदपेक्षयेत्यर्थः । किं यावांस्तदभ्युपगतदर्शनार्थोऽभिधीयते तावदपेक्षोऽसौ धर्मवादविषयः ?, नैवमित्याह प्रस्तुतार्थो मुमुक्षूणां मोक्षार्थ एव,तत्रोपयोगः प्रयोजनभावो यस्याऽस्ति स प्रस्तुतार्थोपयोगी, स एव नान्योऽपि धर्मवादविषयः। कश्चासावित्याह-धर्मस्य कर्मानुपादाननिर्जरणलक्षणस्य साधनानि हेतवोऽहिंसाऽऽदीनि, तानि लक्षणं स्वभावो यस्य स तथेति ॥ १ ॥

धर्मसाधनान्येवाऽऽह-

पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥२॥

पञ्चेति सङ्ख्या, एतानि वक्ष्यमाणानि पवित्राणि पावनानि, सर्वसंमतत्वात्तेषाम्। सर्वेषां समस्तानां जैनसाङ्ख्यबौद्धवैशेषिकाऽऽदीनां, धर्मचारिणां धार्मिकाणाम् । कानि तानीत्याह-अहिंसा-प्राणवधविरतिः । सत्यम्-ऋतम्। अस्तेयम्- अचौर्यम् । त्यागः -सर्वसङ्गत्यजनम् । मैथुनवर्जनम् -अब्रह्मविरतिरिति । सर्वसमतत्वं चैषामेवम्--जैनैस्तावदेतानि महाव्रतान्यभिधीयन्ते, साङ्ख्यैर्व्यासमतानुसारिभिश्च यमाः । यस्ते आहुः -" पञ्च यमाः, पञ्च नियमाः।" तत्र यमाः "अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमव्यवहारश्चेति" ।नियमास्तु- 'अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम् ।अप्रमादश्चेति । " पाशुपतैस्तु धर्मशब्देनोक्तानि। यतस्ते दश धर्मानाहुः ।तद्यथा-

" अहिंसा सत्यवचन-मस्तैन्यं चाप्यकल्पना ।
ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो, ह्यार्जवं शौचमेव च ॥ १ ॥
संतोषो गुरुशुश्रूषा, इत्येते दश कीर्तिताः।"

भागवतैस्तु व्रतशब्देनोच्यन्ते-यदाहुस्ते-"पञ्च व्रतानि पञ्चोपव्रतानि।" तत्र व्रतानि-यमाः । उपव्रतानि तु--नियमाः। बौद्धैः पुनरेतानि कुशलधर्मा उक्ताः । यदाहुस्ते"-दश कुशलानि" । तानि च "हिंसा स्तैन्यंऽन्यथाकामं, पैशुन्यं परुषानृतम् ।
संभिन्नाऽऽलापं व्यापाद- मभिध्या दृग्विपर्ययम् ॥ १ ॥
पापकर्मेति दशधा, कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ।"

अत्र च ' अथान्यथाकामं" पारदार्यम्, संभिन्नाऽऽलापोऽसवद्धभाषणं, व्यापादः परपीडाचिन्तनम्, अभिध्या धनाऽऽदिष्वसन्तोषः, परिग्रह इति तात्पर्यम् । दृग्विपर्ययो मिथ्याभिनिवेशः, एतद्विपर्ययाश्च दश कुशलधर्मा भवन्तीति । वैदिकैस्तु ब्रह्मशब्देनैतान्यभिहितानीति ॥२॥

यद्येतानि पवित्राणि तत किमित्याह-

क खल्वेतानि युज्यन्ते, मुख्यवृत्त्या क वा न हि ।
तन्त्रे तत्तन्त्रनीत्यैव, विचार्यं तत्त्वतो ह्यदः ॥ ३ ॥
धर्मार्थिभिः प्रमाणाऽऽदे-र्लक्षणं न तु युक्तिमत् ।
प्रयोजनाऽऽद्यभावेन, तथा चाऽऽह महामतिः ॥ ४ ॥

क कस्मिंस्तन्त्रे इति योगः । खलुर्वाक्यालङ्कारे । एतान्यनन्तरोदितान्यहिंसाऽऽदीनि, युज्यन्ते घटन्ते,मुख्यवृत्त्याऽनुपचारेण, क वा कस्मिन्वा तन्त्रे ( न हि ) नैव युज्यन्ते इत्यनुवर्तते । तन्त्रे बौद्धादिसिद्धान्ते कथं युज्यन्ते कथं वा न युज्यन्त इत्याह-तस्यैव बौद्धादेस्तन्त्रस्य शास्त्रस्य नीतिरात्मादिपदार्थानां सत्त्वासत्त्वनित्यानित्यत्वादिका व्यवस्था तत्तन्त्रनीतिः,तयैव न तु शास्त्रान्तरनीत्या,एकशास्त्रोक्तप्रकाराणां ह्यहिंसाऽऽदीनामन्यशास्त्रन्यायेनायुज्यमानतायाः स्फुटमेव प्रतीयमानत्वादिति । किमित्याह-हिशब्दस्यैवकारार्थत्वात् अदः एव, एतदेवानन्तरोक्तं विचार्यं विचारणीयं, तत्त्वतः परमार्थेन, वस्त्वन्तरविचारणे धर्मवादाभावप्रसङ्गात् । कैर्विचार्यमित्याह-धर्मार्थिभिर्धार्मिकैः । उक्तविपर्ययमाह-प्रमाणस्य प्रत्यक्षाऽऽदेः , आदिशब्दात्प्रमेयस्य आत्माऽऽदेः लक्षणं तदन्यव्यवच्छेदकं स्वरूपम् । यथा-'स्वपराभासि ज्ञानं प्रमाणम् ।' इत्यादि तुशब्दः पुनरर्थे ,न नैव, युक्तिमत् उपपत्युपेतं, विचार्यमाणमिति शेषः । केन हेतुनेत्याह -प्रयोजनं फलं तदादिर्यस्योपायाऽऽदेः प्रयोजनाऽऽदिस्तस्याऽभावोऽसत्ता प्रयोजनाऽऽद्यभावस्तेन, प्रमाणलक्षणविचारणस्य प्रयोजनाऽऽद्यभावेन हेतुनेत्यर्थः । प्रयोगश्चात्रैवम्-प्रमाणाऽऽदिलक्षणविचारणं न युक्तिमत्,प्रयोजनाऽऽद्यभावात्,यद्यत्प्रयोजनाऽऽदिरहितं तत्तन्न विचारणक्षमम्, प्रयोजनाऽऽदिरहितं च प्रमाणादिलक्षणविचारणमिति तन्न युक्तिमदिति । न चायमसिद्धो हेतुः, सिद्धसेनसूरिवचनप्रतिष्ठितत्वादस्य । एतदेवाह-तथा चाऽऽह महामतिः'-तथा च तेनैव प्रकारेण निष्प्रयोजनत्वेन, 'आह' ब्रूते, इह तत्कालापेक्षो वर्तमाननिर्देशः । कोऽसावित्याह-महामतिः-अतिशयवत्प्रज्ञः सिद्धसेनाऽऽचार्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥४॥

एतदेवाऽऽह-

प्रसिद्धानि प्रमाणानि, व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ, ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ ५ ॥

प्रसिद्धानि लोके स्वत एव रूढानि न तु प्रमाणलक्षणप्रमातृवचनप्रसाधनीयानि,प्रमाणानि प्रत्यक्षाऽऽदीनि । तथा-व्यवहरणं व्यवहारः स्नानपानदानदहनपाचनाऽऽदिका क्रिया। चशब्दः प्रसिद्धत्वसमुच्चयार्थः । तत्कृतः प्रमाणप्रसाध्यः, प्रमाणलक्षणप्रवीणानामपि गोपालबालाऽऽदीनां तथाव्यवहारदर्शनात् । ततश्चैवं सति प्रमाणलक्षणस्य विसंवादिज्ञानं प्रमाणमित्यादि उक्तौ प्रतिपादने, ज्ञायते उपलभ्यते ( न ) नैव, प्रयोजनं फलम्, उपलम्भार्हं सत् यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीत्यभिप्रायः । इह च नास्तीति मुख्यवृत्त्या वक्तव्ये सत्यपि यत् ज्ञायते नेत्युक्तमाचार्येण तदनि वचनपारुष्यपरिहारार्थमिति ॥ ५ ॥

एवं तावत् प्रमाणलक्षणप्रतिपादने प्रयोजनाभाव उक्तोऽथ तत्रैवोपायाभावप्रतिपादनायाऽऽह-

प्रमाणेन विनिश्चित्य, तदुच्येत न वा ननु ।
अलक्षितात् कथं युक्ता, न्यायतोऽस्य विनिश्चितिः ॥६॥

नन्विति प्रमाणलक्षणप्रणायकमनाशङ्कायाम्, ततश्चाऽऽह-प्रमाणलक्षणम् प्रमाणेन प्रत्यक्षादिना विनिश्चित्य निर्णीय,तत् प्रमाणलक्षणमुच्येताभिधीयेत त्वया न वेति अन्यथा वा ?। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा यत्तत्प्रमाणलक्षणनिश्चायकं प्रमाणं तल्लक्षणतो निश्चितमनिश्चितं वा स्यात् ?। यदि निश्चितं तत्तदा किं तेनैवाधिकृतप्रमाणेन,प्रमाणान्तरेण वा तत्र यदि तेनैव तदेतरेतराऽऽश्रयः। तथाहि-प्रमाणात्तल्लक्षणनिश्चयः ,तल्लक्षणनिश्चये च तत्प्रमाणमिति यावत् तल्लक्षणं न निश्चितं न तावत् प्रमाणस्य प्रामाण्यं,यावच्च न प्रमाणस्य प्रामाण्यं न तावल्लक्षणनिश्चय इति । नापि प्रमाणान्तरेण तल्लक्षणनिश्चयः ,अनवस्थापत्तेः ,तथाहि-यत्तत्प्रमाणान्तरं तन्निश्चिततल्लक्षणम्, अन्यथा वा ?। अन्यथा वक्ष्यमाणदोषापत्तेः। नाऽपि निश्चितलक्षणं,यतः

स्तल्लक्षणनिश्चय किं तेनैव,उतान्येन ? । यदि तेनैव,तदा पूर्ववदितरेतराऽऽश्रय । अथ प्रमाणान्तरेण,तदा तदपि निश्चितलक्षणम्, अन्यथा चेत्यनवस्था । तन्न निश्चितलक्षणमिति पक्ष । नाप्यनिश्चितलक्षणमिति वाच्यम् । यत आह–अलक्षितात्अनिर्णीतिलक्षणात्प्रमाणलक्षणनिश्चायकात्प्रमाणात्, कथं केन प्रकारेण,न कथञ्चिदित्यर्थः । युक्ता सङ्गता, न्यायतो नीत्याऽस्य प्रमाणलक्षणस्य,विनिश्चितिर्निर्णीति । अयमभिप्राय –निश्चितलक्षणेन प्रमाणेन विनिश्चित्य प्रमाणलक्षणं वक्तव्यं भवतीति न्याय । न च विवक्षितं प्रमाणव्युत्पादकशास्त्रं विना प्रमाणलक्षणविनिश्चायकप्रमाणस्य लक्षणनिश्चय , नतश्चानिश्चितलक्षणमेव तदित्यलक्षितात् प्रमाणान्न युक्ता तल्लक्षणविनिश्चितिरिति ॥ ६ ॥

अथानिश्चितलक्षणादपि प्रमाणात्प्रमाणलक्षणनिश्चितिर्भविष्यतीत्यस्यामाशङ्कायामाह–

सत्यां चास्यां तदुक्त्या किं, तद्वद्विषयनिश्चिते ।
तत एवाविनिश्चित्य, तस्योक्तिर्ध्यान्ध्यमेव हि ॥ ७ ॥

सत्यां भवन्त्या,चशब्द पुनरर्थे । अस्यामनन्तरोक्तायाम्,अनिर्णीतलक्षणात्प्रमाणात्प्रमाणलक्षणनिश्चितौ,तदुक्त्या प्रमाणलक्षणप्रतिपादनेन किं ? न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थ । कुत इत्याह–तद्वत्प्रमाणलक्षणवद्विषयनिश्चिते प्रमेयपरिच्छेदात् । यथाहि–अनिर्णीतलक्षणेनापि प्रमाणेन प्रमाणलक्षणं निश्चीयते, एवं विवक्षितलक्षणेन प्रमाणेन प्रमेयस्याऽपि निश्चितिप्रसङ्गाद्व्यर्थं प्रमाणलक्षणप्रणयनमिति भाव । तदेवं 'प्रमाणेन विनिश्चित्य तदुच्येतेति पक्षो निराकृत । अथानिश्चित्येतिपक्षस्य दूषणायाऽऽह–तत एवेति, यत एव प्रमाणेनविनिश्चित्य प्रमाणलक्षणप्रतिपादनमुक्तयुक्त्या मोहरूपं वर्तते तत एवाविनिश्चित्य प्रमाणेनाविनिर्णीय तदुक्ति प्रमाणलक्षणप्रतिपादनम् । किमित्याह–धिया बुद्धेरान्ध्यमन्धत्वं संमोहो ध्यान्ध्यं तदेव वर्तते प्रमाणलक्षणप्रतिपादयितुर्मूढतैव, निष्फलाऽऽयासनिबन्धनत्वात्तस्या इति भावना । हिशब्दो यस्मादर्थे । तस्याश्चोत्तरश्लोके तस्मादित्यनेन सबन्ध इति ॥७॥

एवं प्रमाणलक्षणविचारस्य निष्प्रयोजनतामनुपायता चोपदर्श्योपसंहारत प्रक्रान्ता धर्मवादस्यैव विधेयता दर्शयन्नाह–

तस्माद्यथोदितं वस्तु, विचार्यं रागवर्जितैः ।
धर्मार्थिभिः प्रयत्नेन, तत इष्टार्थसिद्धितः ॥ ८ ॥

यस्मात्प्रमाणाऽऽदिलक्षणविचारः प्रयोजनाऽऽदिविरहितस्तस्माद्धेतोर्यथोदितं पूर्वोक्तवस्तुनोऽनतिवृत्त क एवैतानि युज्यन्त इत्यादिरूप, वस्तु धर्मसाधनस्वरूपमर्थजातं, विचार्यं विवेचनीय किंविधै कैरित्याह–रागवर्जितै स्वदर्शनपक्षपातरहितै उपलक्षणत्वाच्चाऽस्य परदर्शनद्वेषविमुक्तैरित्यपि द्रष्टव्यम् । धर्मार्थिभिर्धर्मप्रयोजनिभि ,तदन्यैस्तु वस्त्वन्तरमपि विचारणीयं स्यादिति विशेषणफलम् । कथम् ? प्रयत्नेनाऽऽदरेण । किमित्येवमित्याह ततो धर्मसाधनविषयविचारात्, इष्टार्थसिद्धितो धर्मलक्षणवाञ्छितार्थप्राप्ते कारणादिति ॥८॥ द्वा० १३ अष्ट० ।

( १० ) प्रमाणसंख्या । एवं प्रमाणस्य स्वरूप प्रतिपाद्य सख्यासमाख्यान्ति–

तद् द्विभेदम्–प्रत्यक्षं परोक्षं, चेति ॥ १ ॥

रत्ना० २ परि० । ( अस्य सूत्रस्य व्याख्या ' पच्चक्ख ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता )

से किं तं पमाणे ? । पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवमे, आगमे जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं पमाणं० जाव तेण परं णो अत्ताऽऽगमे, णो अणंतरागमे, परंपरागमे । भ० ५ श० ४ उ० ।

ननु कथमेतद् द्वैतमुपपद्यते ?,यावता प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमिति चार्वाकोऽवोचत्, अपरे तु प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमोपमानार्थापत्त्यभावसंभवैतिह्यप्रातिभस्वभावान् भूयसो भेदान् प्रमाणस्य प्रोचु , तत्कथमेतत् ?, इति चेत् । उच्यते–समर्थयिष्यमाणप्रमाणभावेनानुमानेन तावच्चार्वाकस्तिरस्करणीयः । अपरे तु सम्भवत्प्रमाणभावानामत्रैवान्तर्भावेन बोधनीयाः । तत्राऽनुमानागमौ परोक्षप्रकारावेव व्याख्यास्येते, उपमानं तु नैयायिकमते तावत् कश्चित्प्रेष्य प्रभुणा प्रेषयाञ्चक्रे गवयमानयेति । स गवयशब्दवाच्यार्थमजानान कञ्चन वनचरं पुरुषमप्राक्षीत् कीदृग् गवय इति ? । स प्राऽऽह–यादृग् गौस्तादृग् गवय इति । ततस्तस्य प्रेष्यपुरुषस्यारण्यानीं प्राप्तस्याऽऽप्तातिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारि गोसदृशगवयपिण्डज्ञानम् 'अयं स गवयशब्दवाच्याऽर्थ ' इति प्रतिपत्तिं फलरूपामुत्पादयत्प्रमाणमिति । मीमांसकमते तु यत् प्रतिपत्त्रा गौरुपलब्धो न गवयो, न चाऽतिदेशवाक्यं ' गोरिव गवयः ' इति श्रुतं, तस्य विकटाटवीपर्यटनलम्पटस्य गवयदर्शने प्रथमे समुत्पन्ने सति यत् परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानमुन्मज्जति–' अनेन सदृश स गौ ' इति, ' तस्य गोरनेन सादृश्यम् ' इति वा तदुपमानम्–"तस्माद्यत् स्मर्यते तत्स्यात्–सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य, सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ १ ॥ " इति वचनादिति । तदुच्यते–एतच्च परोक्षभेदरूपाया प्रत्यभिज्ञाया मेवान्तर्भावयिष्यते अर्थापत्तिरपि–" प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थोऽनन्यथाभवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥ " इत्येवंलक्षणाऽनुमानान्तर्गतैव । तथाहि–अर्थापत्त्युत्थापकोऽर्थोऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वेनानवगत, अवगतो वा दृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तं स्यात् ? । न तावदनवगत , अतिप्रसङ्गात् । अथावगत , तर्ह्यन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमोऽर्थापत्तेरेव,प्रमाणान्तराद्वा ? । प्राच्यप्रकारे परस्पराऽऽश्रय । तथाहि–अन्यथाऽनुपपद्यमानत्वेन प्रतिपन्नादर्थादर्थापत्तिप्रवृत्ति , तत्प्रवृत्तेश्चास्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वप्रतिपत्तिरिति । प्रमाणान्तरं तु भूयोदर्शनं, विपक्षेऽनुपलम्भो वा ? । भूयोदर्शनमपि साध्यधर्मिणि, दृष्टान्तधर्मिणि वा ? । यदि साध्यधर्मिणि, तदा भूयोदर्शनेनैव साध्यस्याऽपि प्रतिपन्नत्वादर्थापत्तेर्वैयर्थ्यम् । अथ दृष्टान्तधर्मिणि, तर्हि तत्र प्रवृत्तं भूयोदर्शनं साध्यधर्मिण्यन्यथाऽनुपपद्यमानत्वं निश्चाययति, तत्रैव वा ? । तत्रोत्तर पक्षोऽसन् , न खलु दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थ साध्यधर्मिणि तथात्वेनानिश्चित स्वसाध्य गमयति, अतिप्रसङ्गात् । प्रथमपक्षे तु लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकार्थयोर्भेदाभाव । विपक्षेऽनुपलम्भाद् तदवगम इति चेत् । नन्वसावनुपलम्भमात्ररूपोऽनिश्चितो, निश्चितो वा तदवगमयेत् ? । प्रथमपक्षे, तत्पुत्रत्वाऽऽदेरपि गमकत्वाऽऽपत्ति । निश्चितश्चेत् ,तर्ह्यनुमानमेवार्थापत्तिरापन्ना, निश्चितान्यथाऽ

नुपपत्तेरनुमानरूपत्वात् । न च सपक्षसद्भावासद्भावकृतोऽनुमानार्थापत्त्योर्भेदः, पक्षधर्म्मत्वासहितादनुमानात्तद्रहितस्य प्रमाणान्तरत्वानुषङ्गात् । न च पक्षधर्म्मत्वव्यन्यमनुमानमेव नास्तीति वाच्यम्–" पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन, पुत्रब्राह्मणताऽनुमा । सर्वलोकप्रसिद्धा न, पक्षधर्म्ममपेक्षते ॥१॥ " इति भट्टेन स्वयमेवाभिधानात्। रत्ना० २ परि० । भगवतीपञ्चमशतके चत्वारि प्रमाणान्युक्तानि, रत्नावतारिकायां तु द्वे कथम् ?, इति प्रश्ने उत्तरम्–रत्नावतारिकायां तु परोक्षप्रमाणेऽनुमानोपमानाऽऽगमलक्षणप्रमाणत्रयस्यान्तर्भावविवक्षया प्रमाणद्वयमुक्तमस्तीति बोध्यम्॥१२॥ही०२प्रका०।

प्रत्यक्षानन्तरं परोक्षं लक्षयन्ति–

**अस्पष्टं परोक्षम् ॥ १ ॥**

प्राक्सूत्रितस्पष्टत्वाभावभ्राजिष्णु यत् प्रमाणं तत्परोक्षं लक्षयितव्यम् ।

अथैतत् प्रकारतः प्रकटयन्ति–

**स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत्पञ्चप्रकारम् ॥२॥**

स्पष्टम्॥ २ ॥ रत्ना० ३ परि० । सम्म० । सूत्र० ।

(११) प्रमाणफलम्–एवं प्रमाणस्य लक्षणसंख्याविषयानाख्याय फलं स्फुटयन्ति–

**यत्प्रमाणेन साध्यते तदस्य फलम् ॥ १ ॥**

यद् वक्ष्यमाणमज्ञाननिवृत्त्यादिकं प्रत्यक्षाऽऽदिना प्रमाणेन साधकतमेन साध्यते,तदस्य प्रमाणस्य फलमवगन्तव्यम्॥१॥

अथैतत्प्रकारतो दर्शयन्ति–

**तद् द्विविधम्–आनन्तर्येण, पारम्पर्येण च ॥ २ ॥**

तत्राऽऽद्यभेदमादर्शयन्ति–

**तत्राऽऽनन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥३॥**

अज्ञानस्य विपर्ययाऽऽदेर्निवृत्तिः प्रध्वंसः स्वपरव्यवसितिरूपा फलं बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

अथापरप्रकारं प्रकाशयन्ति–

**पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् ॥ ४ ॥**

औदासीन्यं साक्षात्समस्तार्थानुभवेऽपि हानोपादानेच्छाविरहान्माध्यस्थ्यमुपेक्षेत्यर्थः । कुत इति चेत् । उच्यते–सिद्धप्रयोजनत्वात् केवलिना सर्वत्रौदासीन्यमेव भवति, हेयस्य संसारतत्कारणस्य हानादुपादेयस्य मोक्षतत्कारणस्योपादानात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम् ॥ ४ ॥

अथ केवलव्यतिरिक्तप्रमाणानां परम्पराफलं प्रकटयन्ति–

**शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः ॥ ५ ॥**

पारम्पर्येण फलमिति संबन्धनीयम् । तत्र उपादेये कुङ्कुमकामिनीकर्पूराऽऽद्यर्थे ग्रहणबुद्धिः, हेये हिमकराङ्गाराऽऽदौ परित्यागबुद्धिः, उपेक्षणीये ऽर्थानर्थाप्रसाधकत्वेनोपादानहानानर्हे जरत्तृणादौ वस्तुन्युपेक्षाबुद्धिः पारम्पर्येण फलमिति ॥५॥

प्रमाणात्फलस्य भेदाभेदैकान्तवादिनो यौगसौगतान्निराकर्तुं स्वमतं च व्यवस्थापयितुं प्रमाणयन्ति–

**तत्प्रमाणतः स्याद् भिन्नमभिन्नं च प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेः ॥ ६ ॥**

तदिति प्रकृतं फलं परामृश्यते ॥ ६ ॥

अथात्राऽऽशङ्क्य व्यभिचारमपसारयन्ति–

**उपादानबुद्ध्यादिना प्रमाणाद्भिन्नेन व्यवहितफलेन हेतोर्व्यभिचार इति न विभावनीयम् ॥ ७ ॥**

प्रमाणफलं च भविष्यति, प्रमाणात् सर्वथा भिन्नं च भविष्यति, यथोपादानबुद्ध्यादिकमिति न परामर्शनीयं यौगैरित्यर्थः ॥ ७ ॥

अत्र हेतुः–

**तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणादभेदव्यवस्थितेः ॥८॥**

एकप्रमातृतादात्म्यमपि कुतः सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽहुः–

**प्रमाणतया परिणतस्यैवाऽऽत्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः ॥ ९ ॥**

यस्यैवाऽऽत्मनः प्रमाणाऽऽकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः ॥९॥

एतदेव भावयन्ति–

**यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वसंव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् ॥ १० ॥**

न खल्वन्यः प्रमाता प्रमाणपर्यायतया परिणमतेऽन्यश्चोपादानहानोपेक्षाबुद्धिपर्यायस्वभावतयेति कस्याऽपि सचेतसोऽनुभवः समस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

यथोक्तार्थानभ्युपगमे दूषणमाहुः–

**इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत ॥११॥**

इतरथेत्येकस्यैव प्रमातुः प्रमाणफलतादात्म्यानङ्गीकारे इमे प्रमाणफले स्वकीये, इमे च परकीये इति नैयत्यं न स्यादिति भावः । तदित्थमुपादानाऽऽदौ व्यवहिते फले प्रमाणादभेदस्याऽपि प्रसिद्धेर्न तेन प्रकृतहेतोर्व्यभिचार इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

अथ व्यभिचारान्तरं पराकुर्वन्ति–

**अज्ञाननिवृत्तिस्वरूपेण प्रमाणादभिन्नेन साक्षात्फलेन साधनस्यानेकान्त इति नाऽऽशङ्कनीयम् ॥ १२ ॥**

प्रमाणफलं च स्यात्, प्रमाणात् सर्वथाऽप्यभिन्नं च स्यादयथाऽज्ञाननिवृत्तिरित्यनयोर्नैकान्तिकत्वं प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्हेतोरिति न शङ्कनीयं शाक्यैः ॥ १२ ॥

कुत इत्याह -

**कथञ्चित्तस्याऽपि प्रमाणाद्भेदेन व्यवस्थानात् ॥ १३ ॥**

कथञ्चिदिति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण ॥ १३ ॥

तमेव प्रकारं प्रकाशयन्ति–

**साध्यसाधनभावेन प्रमाणफलयोः प्रतीयमानत्वात् ।१४।**

ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयेते । ते परस्परं भिद्येते, यथा कुठारच्छिदे, साध्यसाधनभावेन प्रतीयेते च प्रमाणाऽज्ञाननिवृत्त्याख्यफले ॥ १४ ॥

अस्यैव हेतोरसिद्धतां परिजिहीर्षवः प्रमाणस्य साधनतां तावत्समर्थयन्ते–

**प्रमाणं हि करणाऽऽख्यं साधनं, स्वपरव्यवसितौ साधकतमत्वात् ॥ १५ ॥**

यत् खलु क्रियायां साधकतमं, तत्करणाऽऽख्यं साधनं, यथा परश्वधः, साधकतमं च स्वपरव्यवसितौ प्रमाणमिति ॥१५॥

अथ फलस्य साध्यत्वं समर्थयन्ते—

**स्वपरव्यवसितिक्रियारूपाऽज्ञाननिवृत्त्याख्यं फलं तु साध्यं प्रमाणनिष्पाद्यत्वात् ॥ १६ ॥**

यत्प्रमाणनिष्पाद्यं,तत्साध्यम् ,यथोपादानबुद्ध्यादिकं,प्रमाणनिष्पाद्यं च प्रकृतं फलमिति । तत्र प्रमाणादेकान्तेन फलस्याभेदः साधीयान् । सर्वथा तादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था,तद्भावविरोधात् । न हि सारूप्यमस्य प्रमाणम्, अधिगतिः फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति,अतिप्रसक्तेः । ननु प्रमाणस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्याऽपि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत् । नैवम् । स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्याप्यनुपपत्तेः । कथं च प्रमाणस्याप्रमाणफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत्प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्या अप्रमाणत्वस्याऽफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात् ? इति ॥ १६ ॥

अथ प्रसङ्गतः कर्त्तुरपि सकाशात्प्रस्तुतफलस्य भेदं समर्थयन्ते—

**प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद् भेदः ॥१७॥**

कर्तुरात्मनः किं पुन प्रमाणादित्यपिशब्दार्थः ॥ १७ ॥

अत्र हेतुमाहुः—

**कर्तृक्रिययोः साध्यसाधकभावेनोपलम्भात् ॥ १८ ॥**

ये साध्यसाधकभावेनोपलभ्येते, ते भिन्ने, यथा देवदत्तदारुच्छिदिक्रिये, साधसाधकभावेनोपलभ्येते च प्रमातृस्वपरव्यवसितिलक्षणक्रिये ॥ १८ ॥

एतद्धेत्वसिद्धतां प्रतिषेधन्ति—

**कर्त्ता हि साधकः, स्वतन्त्रत्वात्; क्रिया तु साध्या, कर्तृनिर्वर्त्यत्वात् ॥ १९ ॥**

स्वमात्मा तन्त्रं प्रधानमस्येति स्वतन्त्रस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मात् । य. क्रियायां स्वतन्त्रः स साधको, यथा दारुच्छिदायां व्रश्चन., स्वतन्त्रश्च स्वपरव्यवसितिक्रियायां प्रमातेति । स्वतन्त्रत्वं कर्त्तुं कुतः सिद्धम् ? इति चेत् । क्रियासिद्धावपरायत्ततया प्राधान्येन विवक्षितत्वात् । स्वपरव्यवसितिलक्षणा क्रिया पुन. साध्या, कर्तृनिर्वर्त्यत्वात् , या कर्तृनिर्वर्त्या क्रिया, सा साध्येतिव्यवहारयोग्या, यथा सम्प्रतिपन्ना, तथा च स्वपरव्यवसितिक्रियेति । तदेवं कर्तृक्रिययो साध्यसाधकभावेन प्रतीयमानत्वादुपपन्न कथञ्चिद्भेद. ॥१९॥

एतमेवार्थं द्रढयन्ति—

**न च क्रिया क्रियावतः सकाशादभिन्नैव, भिन्नैव वा, प्रतिनियतक्रियाक्रियावद्भावभङ्गप्रसङ्गात् ॥ २० ॥**

अभिन्नैवेत्यनेन सौगतस्वीकृतमभेदैकान्तं, भिन्नैवेत्यनेन तु वैशेषिकाऽऽद्यभिमतं भेदैकान्तं प्रतिक्षिपन्ति—क्रियाया. क्रियावत एकान्तेनाभेदे हि क्रियावन्मात्रमेव तात्त्विकं स्यात् , न तु द्वयम् , अभेदप्रतिज्ञाविरोधात् । एकान्तभेदे तु क्रियाक्रियावतोर्विवक्षितपदार्थस्यैवेयं क्रियेति संबन्धावधारणं न स्यात् । भेदाविशेषादशेषवस्तूनामप्यसौ किं न भवेत् ? । न च समवायोऽत्र नियामकतया वक्तुं युक्त', तस्याऽपि व्यापकत्वेन तन्नियामकतायामपर्याप्तत्वात् । तस्माद्भेदाभेदैकान्तपक्षयो प्रतिनियतक्रियावद्भावभङ्गप्रसङ्गः सुव्यक्त इति कथञ्चिदविष्वग्भूतैव क्रिया क्रियावत. सकाशादङ्गीकर्तुमुचिता ॥ २० ॥

कश्चिदाह—कल्पनाशिल्पिनिर्मिता सर्वोऽपि प्रमाणफलव्यवहृतिरिति विफल एवाय प्रमाणफलाऽऽलम्बन स्याद्वादिनां भेदाभेदप्रतिष्ठोपक्रम इति तन्मतमिदानीमपाकुर्वन्ति—

**संवृत्या प्रमाणफलव्यवहार इत्यप्रामाणिकप्रलापाः, परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधात् ॥ २१ ॥**

अयमर्थः—सांवृतप्रमाणफलव्यवहारवादिनाऽपि सांवृतत्वं प्रमाणफलयो' परमार्थवृत्त्या तावदेष्टव्यम् । तच्चाऽसौ प्रमाणादभिमन्यते,अप्रमाणाद्वा ?,न तावदप्रमाणात् , तस्याकिञ्चित्करत्वात् । अथ प्रमाणात् । तत्र । यत. सावृतत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतम् , असावृतं वा स्यात् ? । यदि सावृतम् । कथं तस्मादपारमार्थिकात्पारमार्थिकस्य सकलप्रमाणव्यवहारसावृतत्वस्य सिद्धिः ? । तथा च पारमार्थिक एव समस्तोऽपि प्रमाणफलव्यवहारः प्राप्तः । अथ प्रमाणफलसांवृतत्वग्राहक प्रमाणं स्वयमसांवृतमिष्यते, तर्हि क्षीणा सकलप्रमाणफलव्यवहारसांवृतत्वप्रतिज्ञा, अनेनैव व्यभिचारात् । तदेवं सांवृतसकलप्रमाणफलव्यवहारवादिनो व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोध इति ॥ २१ ॥

प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्ति—

**ततः पारमार्थिक एव प्रमाणफलव्यवहारः सकलपुरुषार्थसिद्धिहेतुः स्वीकर्त्तव्यः ॥२२॥** रत्ना० ६ परि० । स्या० ।

(१२) इदानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहु., ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति ब्रुवते, तन्मतस्य विचार्यमाणत्वे विशरारुतामाहु'—

**न तुल्यकालः फलहेतुभावो, हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।**
**न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवि- द्विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥१६॥**

बौद्धा किल प्रमाणात्तत्फलमेकान्तेनाऽभिन्नं मन्यन्ते । तथा च तत्सिद्धान्त —" उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् । " अस्य व्याख्या—( उभयत्रेति ) प्रत्यक्षेऽनुमाने च, तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षाऽनुमानलक्षणं फलं कार्यम् । कुत ? अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथाहि-परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यत् ज्ञानफलम् , अभिन्नाऽधिकरणत्वात् । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्या भिन्नं फलमस्तीति । एतच्च न समीचीनम् । यतो यद्यस्मादेकान्तेनाऽभिन्नं, तत्तेन सहैवोत्पद्यते, यथा घटेन घटत्वम् । तैश्च प्रमाणफलयो कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते-प्रमाणं कारणं, फलं कार्यमिति । स चैकान्ताऽभेदे न घटते । न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयो सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्त., नियतप्राक्कालभावित्वात्कारणस्य, नियतोत्तरकालभावित्वात्कार्यस्य । एतदेवाऽऽह—"न तुल्यकाल फलहेतुभाव. " इति । फलं कार्यं, हेतु कारणम् , तयोर्भाव. स्वरूपं, कार्यकारणभाव स तुल्यकाल. समानकालो न युज्यत इत्यर्थ. । अथ क्षणान्तरितत्वात्तयोः क्रमभावित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—" हेतौ विलीने न फलस्य भाव. "

इति । हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव निरन्वयं विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भाव' सत्ता, निर्मूलत्वात् । विद्यमाने हि फलहेतावस्येद फलमिति प्रतीयते, नान्यथा,अतिप्रसङ्गात् । किं च-हेतुफलभाव. संवन्धः, स च द्विष्ठ एव स्यात् । न चाऽनयोः क्षणक्षयैकदीक्षितो भवान् संवन्धं क्षमते । ततः कथमद्य हेतुरिद फलमिति प्रतिनियता प्रतीतिः, एकस्य ग्रहणेऽप्यन्यस्याग्रहणे तदसम्भवात् ?, " द्विष्ठसंवन्धसंविति-र्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयो. स्वरूपग्रहणे, सति संवन्धवेदनम् ॥ १ ॥" इति वचनात् । यदपि धर्मोत्तरेण-" अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धे' " इति न्यायविन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितम्-" नीलनिर्भासं हि विज्ञानं, यतः तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते । येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तत् ज्ञान नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुं, नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते । न चाऽत्र जन्यजनकभावनिवन्धन' साध्यसाधन भावो येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोध' स्यात्, अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन, तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित्प्रमाणफलं न विरुध्यते, व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्य तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्य च नीलसंवेदनरूपम् " इत्यादि । तदप्यसारम्, एकस्य निरंशस्य ज्ञानलक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयायोगात् , व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्याऽपि च संवन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्न सम्भवात् । किं च-अर्थसारूप्यमर्थाऽऽकारता । तच्च निश्चयरूपमनिश्चयरूपं वा ? । निश्चयरूपं चेत्तदेव व्यवस्थापकमस्तु, किमुभयकल्पनया ?। अनिश्चितं चेत्, स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलाऽऽदिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम् ?। अपि च-केयमर्थाऽऽकारता ?,किमर्थग्रहणपरिणामः, आहोस्विदर्थाऽऽकारधारित्वम् ?। नाऽऽद्य',सिद्धसाधनात् । द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाऽऽकारानुकरणात् जडत्वोपपत्त्यादिदोषाऽऽघ्रात । तन्न प्रमाणादेकान्तेन फलस्याभेद' साधीयान् । सर्वथा तादात्म्ये हि पमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात् । न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिद्ध्यति, अतिप्रसङ्गात् । ननु प्रमाणस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्याऽपि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत् । नैवम् । स्वभावभेदमन्तरेणाऽन्यव्यावृत्तिभेदस्याप्यनुपपत्ते.। कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाऽप्रमाणाफलव्यावृत्त्याऽप्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याऽप्यप्रमाणत्वस्याऽफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्, विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुन. ? । तस्मात्प्रमाणात् फल कथञ्चिद्भिन्नमेवैष्टव्यं, साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात् । ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयेते ते परस्परं भिद्येते, यथा-कुठारच्छिदिक्रिये इति । एवं योगाभिप्रेत' प्रमाणात्फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्त्तव्य', तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणात् कथञ्चिद् भेदव्यवस्थिते , प्रमाणतया परिणतस्यैवाऽऽत्मन फलतया परिणतिप्रतीते य प्रमिमीते स एवोपादत्ते, परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् . इतरथा स्वपरयो प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लव प्रसज्यते इत्यलम् ।

अथवा पूर्वार्द्धमिदमन्यथा व्याख्येयम्-सौगताः किलेत्थं प्रमाणयन्ति-सर्व सत् क्षणिकं, यतः सर्व तावत् घटाऽऽदिकं वस्तु मुद्गराऽऽदिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते । तत्र येन स्वरूपेणाऽन्त्यावस्थायां घटाऽऽदिकं विनश्यति तच्चेत् स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यमिति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् । स्या० । सम्म० । स्था० । समस्तनयविषयीकृतानेकान्तवस्तुग्राहकत्वेन प्रकृष्टं मानं प्रमाणम् । इतरांशव्यपेक्षस्वांशग्राहिणि नये, सम्म० १ काण्ड । भक्तपानाभ्यवहारोपध्यादेर्नियोजने, स० १२ अङ्ग । मानमनतिक्रम्येत्यर्थे, ध० ३ अधि० । प० व० । पञ्चा० । " पमाणाइरित्ते चउलहु । " पं० व० १ द्वार । पुरुषस्याष्टोत्तरशताङ्गुलोच्छ्रये. " माणुम्माणपमाणपत्ते । " विपा० १ श्रु० २ अ० । नि० । जं० । न० । रा० । कल्प० । ज्ञा० । प्रव० । औ० । भ० । युक्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रकृष्टं मानं प्रमाणम् । सूक्ष्ममाने, भ० ५ श० ६ उ० । तीर्थकृत्सम्मतं सर्वेषां प्रमाणम् । व्य० ३ उ० । ' परमरहस्समिसीणं, सम्मत्तगणिपिडगभरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंवमाणाणं ॥१॥ " भ० ६ श० ८ उ० । प्रमत्तषष्ठगुणस्थानकवर्तिसाधूनां "मज्जं विसयकसाया" इति गाथोक्त' पञ्चविधः प्रमाद. कथं संभवतीति प्रश्ने,उत्तरम्-प्रमत्तषष्ठगुणस्थानकवर्तिसाधूना " मज्जं विसयकसाया " इत्यादिगाथोक्तः पञ्चविधः प्रमादो मद्यस्य सदैवाभक्ष्यत्वेनाऽकल्प्यत्वाद् सभवतीति । १३३ । प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

विषयसूची–



पमाणंगुल–प्रमाणाङ्गुल–न० । सहस्रगुणितादुत्सेधाङ्गुल- प्रमाणाज्जातं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा-परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम् । अङ्गुलप्रमाणभेदे अनु० । ("अंगुल शब्दे प्रथमभागे ४४ पृष्ठे स्वरूपमुक्तम् )

पमाणकाल–प्रमाणकाल–पुं० । प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशताऽऽदि तत्प्रमाणम् । स चासौ कालश्चेति प्रमाण-

कालः । प्रमाणं वा परिच्छेदनं । वर्षाऽऽदिस्तत्प्रधान तदर्थो वा कालः प्रमाणकाल । कालभेदे, भ० ।

तत्स्वरूपम्—

से किं तं पमाणकाले ?। पमाणकाले दुविहे पएणत्ते । तं जहा—दिवसप्पमाणकाले य,रत्तिप्पमाणकाले य । चउपोरिसीए दिवसे, चउपोरिसीए राई भवइ । उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा, राईए वा पोरिसी भवइ । जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ । जया णं भंते ! उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ, तया णं कइभागमुहुत्तभागेणं परिहायमाणी परिहायमणी जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ । जया णं जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ, तदा णं कइभागमुहुत्तभागेणं परिवड्ढमाणी परिवड्ढमाणी उक्कोसिया अद्धपचममुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिमी भवइ ?। सुदंसणा ! जदा णं उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरसी भवइ, तदा णं वावीससयभागमुहुत्तभागेणं परिहायमाणी परिहायमाणी जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ । जया णं जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ, तदा णं वावीससयभागमुहुत्तभागेणं परिवड्ढमाणी परिवड्ढमाणी उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ । कया णं भंते ! उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ, कदा णं जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ ?। सुदंसणा ! जया णं उक्कोसिए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ जहरिणया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, तया णं उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स वा पोरिसी भवइ, जहरिणया तिमुहुत्ता राईए पोरिसी भवइ । जया वा उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहरणए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ, तया णं उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता राईए पोरिसी भवइ, जहरिणया तिमुहुत्ता दिवसस्स पोरिसी भवइ । कया णं भंते ! उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहरिणया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ, कया वा उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहरणए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ ?। सुदंसणा ! आसाढपुरिणमाए णं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, जहरिणया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ । पोसपुरिणमाए णं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ, जहरणए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ । अत्थि णं भंते ! दिवसा य राईओ य समा चेव भवति ?। हंता अत्थि । कया णं भंते ! दिवसा य, राईओ य समा चेव भवंति ? । सुदंसणा ! चित्तासोयपुरिणमासु णं दिवसा य राईओ य समा चेव भवंति, पएणरसमुहुत्ते दिवसे पएणरसमुहुत्ता राई भवइ, चउभागमुहुत्तभागूणा चउमुहुत्ता दिवसस्स वा राईए वा पोरिसी भवइ । से तं पमाणकाले ।

अनन्तरं चतुःपौरुषीको दिवसश्चतुःपौरुषीका च रात्रिर्भवतीत्युक्तम् । अथ पौरुषीमेव प्ररूपयन्नाह—( उक्कोसियेत्यादि ) ( अद्धपंचममुहुत्त त्ति ) अष्टादशमुहूर्त्तस्य दिवसस्य रात्रेर्वा, चतुर्थो भागो यस्मादर्द्धपञ्चममुहूर्तो, नवघटिका इत्यर्थः । ततोऽर्द्धपञ्चमा मुहूर्त्ता यस्याः सा तथा । ( तिमुहुत्त त्ति ) द्वादशमुहूर्तस्य दिवसाऽऽदेश्चतुर्थो भागस्त्रिमुहूर्त्तो भवति । अतस्त्रयो मुहूर्त्ताः षट्घटिका यस्यां सा तथा । ( कइभागमुहुत्तभागेणं ति ) कतिभागः कतिथभागस्तद्रूपो मुहूर्त्तभाग कतिभागमुहूर्त्तभागस्तेन कतिथेन मुहूर्त्तांशेनेत्यर्थः । ( वावीससयभागमुहुत्तभागेणं ति ) इह अर्द्धपञ्चमानां त्रयाणां च मुहूर्त्तानां विशेषः सार्द्धो मुहूर्त्तः । स च त्र्यशीत्यधिकेन दिवसशतेन वर्द्धते हीयते च, स च सार्द्धो मुहूर्त्तः त्र्यशीत्यधिकशतभागतया व्यवस्थाप्यते, तत्र च मुहूर्त्ते द्वाविंशत्यधिकं भागशतं भवत्यतोऽभिधीयते—( वावीसं इत्यादि ) द्वाविंशत्यधिकशततमभागरूपेण मुहूर्त्तभागेनेत्यर्थः । ( आसाढपुरिणमाए इत्यादि ) इहाऽऽषाढपौर्णमास्यामिति यदुक्तं तत्पञ्चसांवत्सरिकयुगस्यान्तिमवर्षापेक्षयाऽवसेयं, यतस्तत्रैवाऽऽषाढपौर्णमास्यामष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवत्यर्द्धपञ्चममुहूर्त्ता च तत्पौरुषी भवति, वर्षान्तरे तु यत्र दिवसे कर्कसंक्रान्तिर्जायते तत्रैवाऽसौ भवतीति समवसेयमिति । एवं पौषपौर्णमास्यामप्यौचित्येन वाच्यमिति । अनन्तर रात्रिदिवसयोर्वैषम्यमभिहितमथ तयोरेव समतां दर्शयन्नाह—( अत्थि णमित्यादि ) इह च—( चेत्तासोयपुरिणमासु णमित्यादि ) यदुच्यते तद्व्यवहारनयापेक्षं, निश्चयतस्तु कर्कमकरसंक्रान्तिदिनादारभ्य यद् द्विनवतितममहोरात्रं तस्यार्द्धे समा दिनरात्रिप्रमाणेनेति । तत्र च पञ्चदशमुहूर्ते दिने रात्रौ वा, पौरुषीप्रमाणं त्रयो मुहूर्त्तास्त्रयश्च मुहूर्त्तचतुर्भागा भवन्ति,दिनचतुर्भागरूपत्वात्तस्याः । एतदेवाऽऽह—( चउभागे त्यादि ) चतुर्भागरूपो यो मुहूर्त्तभागस्तेनोना चतुर्भागमुहूर्त्तभागोना चत्वारो मुहूर्त्ता यस्या पौरुष्या सा तथेति । भ० ११ श० ११ उ० । आ० चू० । आ० म० । विशे० ।

पमाणजुत्त—प्रमाणयुक्त—त्रि० । स्वप्रमाणोपेते, औ० ।

पमाणणयतत्त—प्रमाणनयतत्त्व—न० । प्रकर्षेण संशयाऽद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् । नीयते गम्यते श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नार्थैकदेशोऽनेनेति नय । ततो द्वयोरपि द्वन्द्वे बह्वच्त्वेऽपि प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वेन "लक्षणहेत्वोः—" इत्यादिवदल्पाचतरादपि नयशब्दात्प्रागुपादानम् । तत प्रमाणनययोस्तत्त्वम् । प्रमाणनययोरसाधारणस्वरूपे, रत्ना० १ परि० ।

पमाणदोस—प्रमाणदोष—पुं० । द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणातिरिक्त-

माहारमाहारयतः ग्रासैषणादोषे. आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । यावता यस्योदरं पूर्यते तावद् वा प्रमाण,तदति रिक्तभोजनदोषे, जीत० ।

पमाणपक्ख–प्रमाणपक्ष–पुं० । वर्षमासाऽऽदिप्रमाणकारिणि शुक्ले कृष्णे वा पक्षे, कल्प० । [ पमाणपक्खतरायलेहं ति । ] प्रमाणपक्षौ वर्षमासाऽऽदिमानकारिणौ यौ पक्षौ शुक्लकृष्णपक्षौ, तयोः ( अत त्ति ) अन्तर्मध्ये पूर्णिमाया- मित्यर्थः । तत्र ( राय त्ति ) राजन्त्यः शोभमानाः ( लेहं ति ) लेखा कलाः यस्य स तथा । कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पमाणपत्त–प्रमाणप्राप्त–त्रि० । अन्यूनातिरिक्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । द्वात्रिंशत्कवलमात्राऽऽहारिणि,भ० ।"बत्तीस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारमाणे पमाणपत्ते ।" भ० ५ श० ७ उ० ।

पमाणसंवच्छर–प्रमाणसंवत्सर–पुं० । प्रमाणं परिमाणं दिवसाऽऽदीनां, तेनोपलक्षितो नक्षत्रसंवत्सराऽऽदिः प्रमाणसवत्सरः । संवत्सरभेदे, स्था० ।

पमाणसंवच्छरे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–णक्खत्ते १, चंदे २, उऊ ३, आइच्चे ४, अभिवड्डिए ५ ॥

प्रमाणसंवत्सरः पञ्चविधः । तत्र नक्षत्र इति नक्षत्रसंवत्सर , स च उक्तलक्षण., केवलं तत्र नक्षत्रमण्डलस्य चन्द्रभागमात्रं विवक्षितमिह तु दिनभागाऽऽदिप्रमाणमिति । तथा चन्द्राभिवर्द्धितावप्युक्तलक्षणाविव किं तु तत्र युगावयवतामात्रमिह तु प्रमाणमिति विशेषः । ( उऊ इति ) ऋतुसंवत्सरस्त्रिंशदहोरात्रप्रमाणैर्द्वादशभिर्ऋतुमासैः सावनमासकर्ममासपर्यायैर्निष्पन्न• षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयमान इति ३६० । ( आइच्चेति ) आदित्यसंवत्सरः, स च त्रिंशद्दिनान्यर्द्धं चेत्येवंविधमासद्वादशकनिष्पन्न• षट्षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयमान इति ३६६ ॥ स्था० ५ ठा० ३ उ० । जं० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

पमाणसोभंत–प्रमाणशोभमान–त्रि० । यथोक्तमानेन शोभमाने . कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

पमाणाभाव–प्रमाणाभाव–पुं० । प्रमाणानुत्पत्तौ, "प्रत्यक्षाऽऽदेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।" सम्म० २ काण्ड ।

पमाणाभास–प्रमाणाऽऽभास–पुं० । प्रमाणस्य स्वरूपाऽऽभासे, रत्ना० ।

प्रमाणस्य स्वरूपाऽऽदिचतुष्टयाद्विपरीतं तदाभासम् ॥२३॥

पूर्वपरिच्छेदप्रतिपादितात्प्रमाणसंबन्धिन• स्वरूपाऽऽदिचतुष्टयात्स्वरूपसंख्याविषयफललक्षणाद्विपरीतमपरं स्वरूपाऽऽदिचतुष्टयाऽऽभासं स्वरूपाऽऽभासं.संख्याऽऽभासं विषयाऽऽभासं, फलाऽऽभासं चेत्यर्थ । तद्वदाभासत इति कृत्वा ॥ २३ ॥

तत्र स्वरूपाऽऽभासं तावदाहु –

अज्ञानाऽऽत्मकानात्मप्रकाशकस्वमात्रावभासकानिर्विकल्पकसमारोपाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः ॥ २४ ॥

अज्ञानाऽऽत्मकं च, अनात्मप्रकाशकं च, स्वमात्रावभासकं च, निर्विकल्पकं च, समारोपश्चेति प्रमाणसंबन्धिन स्वरूपाऽऽभासा. प्रमाणाऽऽभासा प्रत्येया. ॥ २४ ॥

अथ क्रमेण दृष्टान्तमाचक्षते-

यथा सन्निकर्षाद्यस्वसंविदितपरानवभासकज्ञानदर्शनाविपर्ययसंशयानध्यवसायाः ॥ २५ ॥

अत्र सन्निकर्षाऽऽदिकमज्ञानाऽऽत्मकस्य दृष्टान्तः,अस्वसंविदितज्ञानमनात्मप्रकाशकस्य, परानवभासकज्ञानं बाह्यार्थाऽऽपलापिज्ञानस्य, दर्शनं निर्विकल्पकस्य, विपर्ययाऽऽदयस्तु समारोपस्येति ॥ २५ ॥

कथमेषां तत्स्वरूपाऽऽभासता ? इत्यत्र हेतुमाहुः–

तेभ्यः स्वपरव्यवसायस्यानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

यथा चैतेभ्य• स्वपरव्यवसायो नोपपद्यते, तथा प्रागुपदर्शितमेव ॥२६॥ रत्ना० ६ परि० ।

पमाणीकय–प्रमाणीकृत–त्रि० । प्रमाणत्वेनाभ्युपगते, प्रति० ।

पमाय–प्रमाद–पुं० । प्रकर्षेण माद्यन्त्यनेनेति प्रमादः । उत्त० ४ अ० । सूत्र० । प्रमादतायाम् , स्या० । विषयक्रीडाभिष्वङ्गे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । प्रमादोऽयत्न इति, आरब्धेऽप्यनुत्थानशीलता । द्वा० १६ द्वा० । उत्त० । प्रचुरकर्मेन्धनप्रभवनिरन्तराविध्मातशारीरमानसानेकदुःखहुतवहज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसारवासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति च तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदयसाचिव्यजनितात्परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमविगणय्य विशिष्टपरलोकक्रियाविमुख एवाऽऽस्ते जीव• स खलु प्रमादः । तस्य च प्रमादस्य ये हेतवो मद्याऽऽदयस्तेऽपि प्रमादाः । तत्कारणत्वात् । उक्तं च–"मज्जं विसयकसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया । एए पंच पमाया, जीवं पाडेंति संसारे ॥ १ ॥ " एतस्य च पञ्चप्रकारस्यापि प्रमादस्य फलं दारुणो विपाकः ।

उक्तं च–

" श्रेयो विषमुपभोक्तुं, क्षमं भवेत् क्रीडितुं हुताशेन ।
संसारबन्धनगतै–र्न तु प्रमाद क्षमः कर्तुम् ॥ १ ॥
अस्यामेव हि जातौ, नरमुपहन्याद्विषं हुताशो वा ।
आसेवितः प्रमादो, हन्याज्जन्मान्तरशतानि ॥ २ ॥
यन्न प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनिपातम् ।
तत्र निमित्तमनार्य., प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥ ३ ॥
संसारबन्धनगतो, जातिजराव्याधिमरणदुःखार्त्तः ।
यन्नोद्विजते सत्त्वः, सोऽप्यपराध. प्रमादस्य ॥ ४ ॥
आज्ञाप्यते यदवश–स्तुल्योदरपाणिपादवदनेन ।
कर्म्म च करोति बहुविध–मेतदपि फलं प्रमादस्य ॥ ५ ॥
इह हि प्रमत्तमनसः, सोन्मादवदनिभृतेन्द्रियाश्चपला. ।
यत्कृत्यं तदकृत्वा, सततमकार्येष्वभिपतन्ति ॥ ६ ॥
तेषामभिपतिनाना–मुद्भ्रान्तानां प्रमत्तहृदयानाम् ।
वर्द्धन्त एव दोषा , वनतरवश्चाम्बुसेकेन ॥ ७ ॥
दृष्ट्वाऽप्यालोकं नैव विश्रम्भितव्य,
तीरं नीता भ्राम्यते वायुना नौ• ।
लब्ध्वा वैराग्य भ्रष्टयोगप्रमादाद्,
भूयो भूय• संसृतौ बम्भ्रमन्ति ॥ ८ ॥ " इति ।

नं० । आव० । आचा० । उत्त० । सूत्र० । पा० । ध० । पञ्चा० । जीवा० । औ० । आतु० । आलस्ये, औ० ।

श्लाघतायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार । प्रमदनं प्रमादः । प्रमत्ततायाम्, सदुपयोगाभावे, स्था० ।

छव्विहे पमाए पएणत्ते । तं जहा-मज्जपमाए, णिद्दापमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए ।

षड्विधः षट्प्रकारः प्रमदनं प्रमादः, प्रमत्तता सदुपयोगाभाव इत्यर्थः । प्रज्ञप्तः । तद्यथा-मद्यं सुराऽऽदिस्तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादो मद्यप्रमादः । स्था० । ( तद्दोषः ' मज्ज ' शब्दे दर्शयिष्यते ) निद्रा प्रतीता । ( तद्दोषश्च 'णिद्दापमाय' शब्दे चतुर्थभागे २०७२ पृष्ठे दर्शितः ) विषयाः शब्दाऽऽदयस्तेषां चैवं प्रमादता ( ताम् ' विसयपमाय ' शब्दे वक्ष्यामि ) कषायाः क्रोधाऽऽदय, तेषामप्येवं प्रमादता " चित्तरत्नमसंक्लिष्ट-मान्तरं धनमुच्यते । यस्य तन्मुषितं दोषैः-स्तस्य शिष्टा विपत्तय ॥ १ ॥ " इति । द्यूतं प्रतीतं, तदपि प्रमाद एव । ( तद्दोषः ' जूयप्पमाय ' शब्दे चतुर्थभागे १५८४ पृष्ठे दर्शितः ) तथा-प्रत्युपेक्षणं प्रत्युपेक्षणा, सा च द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्द्धा । तत्र द्रव्यप्रत्युपेक्षणा-वस्त्रपात्राऽऽद्युपकरणानामशनपानाऽऽद्याहाराणां चक्षुर्निरीक्षणरूपा । क्षेत्रप्रत्युपेक्षणा-कायोत्सर्गनिषदनशयनस्थानस्य स्थण्डिलानां मार्गस्य विहारक्षेत्रस्य च निरूपणा । कालप्रत्युपेक्षणा धर्मजागरिकाऽऽदिरूपा । यथा-" किं कय किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं च न करेमि । पुव्वावरत्तकाले, जागरओ भावपडिलेहा ॥ ४१२ ॥ " इति । ( अस्या गाथाया अर्थः ' पडिलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४१ पृष्ठे गतः ) तत्र प्रत्युपेक्षणायां प्रमादः शैथिल्यमाज्ञाऽतिक्रमो वा प्रत्युपेक्षणाप्रमादः । अनेन च प्रमार्जनाभिक्षाचर्याऽऽदिषु इच्छाकारमिथ्याकाराऽऽदिषु च दशविधसामाचारीरूपव्यापारेषु यः प्रमादोऽसावुपलक्षितः, तस्याऽपि सामाचारीगतत्वेन षष्ठप्रमादलक्षणाव्यभिचारित्वादिति । स्था० ६ ठा० ।

अष्ट प्रमादाः-सम्प्रति " अट्ठहा पमाय त्ति " सप्तोत्तरद्विशततमं द्वारमाह-

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ ।
अन्नाणं१संसओ चेव२,मिच्छानाणं३ तहेव य ॥१२२२॥
रागो ४ दोसो ५ सइब्भंसो ६, धम्मम्मि य अणायरो ७ ।
जोगाणं दुप्पणीहाणं ८, अट्ठहा वज्जियव्वओ॥ १२२३ ॥

प्रमाद्यति मोक्षमार्गं प्रति शिथिलोद्यमो भवत्यनेन प्राणीति प्रमादः । स च मुनीन्द्रैः तीर्थकृद्भिर्भणितः प्रतिपादितो भवत्यष्टभेदोऽष्टप्रकारः । तद्यथा-अज्ञानं मूढता, संशय किमिदमेवं स्यादुतान्यथेति संदेहः, मिथ्याज्ञानं विपर्यस्तताप्रतिपत्तिः, रागोऽभिष्वङ्गः, द्वेषोऽप्रीतिः, स्मृतिभ्रंशो विस्मरणशीलता, धर्मे चार्हत्प्रणीतेऽनादरोऽनुद्यमः, योगानां मनोवाक्कायानां दुष्प्रणिधानं दुष्टताकरणम्, अयं चाष्टविधोऽपि प्रमादः कर्मबन्धहेतुत्वाच्छ्रेयोऽर्थिभिः परिहर्तव्य इति । प्रव० २०७ द्वार । उत्त० । ध० । पञ्चा० । 'मा उणह पमायं ।' 'अमानोनाः प्रतिषेधे ' मा कुर्वीथाः कषाययोगाऽऽदिभिः प्रमादम् । पं० चू० २ कल्प ।

अप्रमादप्रतनिक्षेपमभिधातुमाह-

निक्खेवो अपमाए, चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नो आगमतो य सो तिविहो ॥५०४॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइतिरित्ते अमित्तमाईसु ।
भावे अन्नाणअसं-वराईसु होइ णायव्वो ॥ ५०५ ॥

( अमित्तमाईसु त्ति ) अमित्रः शत्रुः, आदिशब्दाद्व्यालाऽऽदिपरिग्रहः । तेषु योऽप्रमादः स नज्ञतिरिक्तोऽप्रमाद उच्यते । द्रव्यत्वं चाऽस्य तथाविधाप्रमादकार्यप्रसाधकत्वात् द्रव्यविषयत्वाद्वा ( भावे इति ) भावे विचार्ये अज्ञानं मिथ्याज्ञानमसंवरोऽनिरुद्धाऽऽश्रवता, आदिशब्दात्कषायाऽऽदिपरिग्रहः । एतेषु प्रक्रमादप्रमादः-एतज्जयं प्रति सदा सावधानतारूपो भवति ज्ञातव्यः । उत्त० २६ अ० । " निद्दापमायमाईसु सइं तु खलियस्स सारणा होइ । नणु कहियं ते पमाया,मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥ ४६६ ॥ " बृ० १ उ० २ प्रक० ।

तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलयाचंचलं मणुस्सत्तं ।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥

तत् मानुषत्वं तथा पूर्वोक्तप्रकारेण दुर्लभलाभं दुष्प्रापलाभं विद्युल्लताचञ्चलं लब्ध्वा य प्रमाद्यति प्रमादं करोति स कापुरुषो, न सत्पुरुषः । आ० म० १ अ० । उत्त० ।

प्रमादस्यैव विशेषतोऽपायहेतुतामाह-

पव्वज्जं विज्जं पिव, साहंतो होइ जो पमाइल्लो ।
तस्स न सिज्झइ एसा,करेइ गरुयं च अवगारं ॥१११॥

प्रव्रज्या जिनदीक्षा विद्यामिव स्त्रीदेवताऽधिष्ठितामिव साधयन् भवति यः ( पमाइल्लो त्ति ) प्रमादवान्, " आल्विल्लोल्लाल-वंत-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इतिवचनात् । तस्य प्रमादवतो न सिद्ध्यति न फलदानाय संपद्यते, एषा पारमेश्वरी दीक्षा विद्येव । चकारस्य भिन्नक्रमत्वात्, करोति च गुरुं महान्तमपकारमनर्थमिति । भावार्थः पुनरयम्-यथा अत्र प्रमादवतः साधकस्य विद्या फलदा न भवति, ग्रहसंक्रमाऽऽदिकमनर्थं च संपादयति, तथा शीतलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिसंपत्तये न भवति, किं तु दुर्गतिदीर्घभवभ्रमणापायं च विदधाति, आर्यमङ्गोरिव । उक्तं च-

" सीयलविहारओ खलु, भगवंताऽऽसायणानिओएण ।
पत्तो भवो सुदीहो किलेसबहुलो जओ भणियं ॥ १ ॥
तित्थयरपवयणसुयं आयरियं गणहरं महिड्ढीयं ।
आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥२॥ " इति ।

तस्मादप्रमादिना साधुना भवितव्यमिति । ध० र० ३ अधि० ४ लक्ष० । ( आर्यमङ्गुकथा ' अज्जमंगु ' शब्दे प्रथमभागे २११ पृष्ठे गता )

प्रमादस्यैव युक्त्यन्तरेण निषेधमाह-

पडिलेहणाइ चिट्ठा, छक्कायविघाइणी पमत्तस्स ।
भणिया सुयम्मि तम्हा, अपमाई सुविहिओ हुज्जा ॥११२॥

प्रत्युपेक्षणा प्रतिलेखना, आदिशब्दात्प्रमार्जनाऽऽदिपरिग्रहः । चेष्टा क्रिया व्यापार इत्येकार्थाः । षड्कायविघातिनी प्रमत्तस्य सार्वैर्भणितोक्ता श्रुते सिद्धान्ते । तद्यथा-

" पडिलेहणं कुणंतो, मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा ।
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ ४३८ ॥

पुढवीआउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥ ४३६ ॥
घडगारपलुट्टणया, मट्टी अगणी य कुंथुवीयाई ।
उदगगया य तसेयर-उम्मुयनंघट्टझावणया ॥ ४४० ॥ "
( ओघ० । आसां गाथानामर्थोऽस्मिन्नेव भागे 'पडिलेहणा' शब्दे ३४६ पृष्ठे गतः )

" इय दव्वओ वि छण्हं, विराहओ भावओ इहरहा वि ।
उवउत्तो पुण साहू, संपत्तीए अवहओ उ ॥१॥ " इत्यादि ।
तस्मात्सर्वव्यापारेष्वप्रमादी सुविहितः शोभनं विहितमनुष्ठानं यस्य स सुविहितो भवेज्ज्ञायतेति ।

अथ कीदृक् प्रमादी स्यादित्याह—

रक्खइ वएसु खलियं, उवउत्तो होइ समिइगुत्तीसु ।
वज्जेइ अवज्जहेउं, पमायचरियं सुथिरचित्तो ॥ ११३ ॥

रक्षत्यकरणबुद्ध्या परिहरति व्रतेषु विषयभूतेषु स्खलितमतिचारं, तत्र प्राणातिपातविरतौ त्रसस्थावरजन्तूनां संघट्टनपरितापनोपद्रावणानि न करोति मृषावादविरतौ सूक्ष्ममनाभोगाऽऽदिना बादरं वचनाभिसंधिनाऽलीकं न भाषते, अदत्ताऽऽदानविरतौ सूक्ष्म स्थानाऽऽद्यननुज्ञाप्य न करोति. बादरं तीर्थङ्करगुरुभिरननुज्ञात नाऽऽदत्ते, नापि परिभुङ्क्ते चतुर्थव्रते, " वसहि १ कह २ निसिज्जि ३ दिय ४ कुड्डुतर ५ पुव्वकीलिय ६ पणीए ७। अपमायाऽऽहार ८ विभूसणाई ६ नव बंभगुत्तीओ ॥ १ ॥ " इति नवगुप्तिपालनार्थं ब्रह्मचर्यं प्रतिपालयति । पञ्चमव्रते-सूक्ष्मं वालाऽऽदिममत्वं न करोति, बादरमनेषणीयाऽऽहाराऽऽदि न गृह्णाति, "परिग्गहोऽणेसणग्गहणे।"इत्याप्तवचनात्। उपकरणं वा न मूर्च्छया समधिक धारयति, " मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।" इति वचनात् । रात्रिभक्तविरतौ-सूक्ष्म शुष्कसंनिधिमपि न रक्षति, बादरं तु-" दिवा गहियं दिवा भुत्तं १। दिवा गहियं राओ भुत्तं २। राओ गहियं दिवा भुत्तं ३ । राओ गहियं राओ भुत्तं ४। इति चतुर्विधमपि रात्रिभुक्तं न करोति । एवं सर्वव्रतेषु स्खलितं रक्षति । तथोपयुक्तो दत्तावधानो भवति समितिषु प्रतीचाररूपासु । उक्तं च-

" समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भइयव्वो ।
कुसलवइमुदीरंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ॥१॥" इति ।
गुप्तिष्वप्रतीचाररूपासु,उपयुक्तता चासु प्रवचनमाताध्ययनोक्तविधिना विज्ञेया । किं बहुना-वर्जयत्यवद्यहेतुं परिहरति पापकारणं,प्रमादचरितं सुस्थिरचित्त इति स्पष्टार्थमेवेति ॥११३॥

तथा-

कालम्मि अणूणऽहियं, किरियंतरविरहिओ जहा सुत्तं ।
आयरइ सव्वकिरियं, अपमाई जो इह चरित्ती ॥११४॥

कालेऽवसरे यो यस्या प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियायाः प्रस्तावस्तस्मिन्नित्यर्थः । कालमन्तरेण कृष्याद्योऽपि नेष्टसिद्धये स्युरित्यत काले, सर्व करोतीति योग । कथंभूतामन्यूनाधिका-न प्रमादातिशयादूना, नापि ग्रन्यचित्ततया समधिका, करोति । अव्वसच्वताप्रसङ्गात्। यदाहु श्रीभद्रस्वामिपादाः - "आवस्सयाइयाइ, न करे अहवा वि हीणमहियाइं। गुरुवयणवलाइ तहा,भणिओ एसो हु ओसन्नो॥१॥ 'तथा क्रियान्तरविरहित इति-एकस्या क्रियाया द्वितीया क्रिया क्रियान्तर, तेन विरहितः प्रत्युपेक्षणाऽऽदि कुर्वन्न स्वाध्यायं करोति, स्वाध्यायं कुर्वंश्च वस्त्रपात्राऽऽदिपरिकर्म गमनाऽऽदि चेति । अत्र प्रवोक्तमार्षे- " इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा । तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्तेरियं रिए ॥ १ ॥ " तथा— यथासूत्रमिति सूत्रस्यानतिक्रमेण यथासूत्रं तत् पुन- " सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च । सुयकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुव्विणा रइयं ॥ १ ॥ " इत्येषां च निश्चयतः सम्यग्दृष्टित्वेन सद्भूतार्थवादित्वादन्यग्रथितमपि तदनुयायि प्रमाणमेव-न पुनः शेषमिति । आचरति सर्वक्रियाम्, अप्रमादी य इह चारित्रीति सुगममेवेति । इत्युक्तं क्रियास्वप्रमाद इति । ध० र० ३ अधि० ५ लक्ष० । रमणाद्यप्राप्त्यर्थमेव सर्वाऽऽरम्भेषु प्रवर्त्तनरूपे असंप्राप्तकामभेदे, प्रव० १६६ द्वार । दश० ।

**पमायकय**-प्रमादकृत-त्रि० । प्रमादजनिते, दश० ३ अ० ।

**पमायक्खलिय**-प्रमादस्खलित-त्रि० । प्रमादात्सकाशाद् दुश्चेष्टिते, प० व १ द्वार ।

**पमायट्ठाण**-प्रमादस्थान-न० । द्वात्रिंशे उत्तराध्ययने, स० २ अङ्ग ।

नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधानायाऽऽह निर्युक्तिकृत्-

निक्खेवो उ पमाए,चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो,नोआगमतो य सो तिविहो ॥११९॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते अ मज्जमाईसु ।
निद्दाविकहकसाया, विसएसु भावओ पमाओ ॥१२०॥
नामं ठवणा दविए, खित्तद्धा उड्ढ उवरई वसही ।
संजमपग्गहजोहे, अयलगणणसंधणा भावे ॥१२१॥

" णिक्खेवो " इत्यादिगाथात्रितयं सुगमा एव,नवरं (मज्जमाईसु त्ति) मकारोऽलाक्षणिकः । मदयतीति मद्यं-काष्ठपिष्टनिष्पन्नम्,आदिशब्दादासवाऽऽदिपरिग्रहः । एतानि,सुपूव्यत्ययाच्च प्रथमार्थे सप्तमी,भावप्रमादहेतुत्वाद् द्रव्यप्रमाद , 'निद्राविकथाकषाया. ' उक्तरूपा. ( विसएसु त्ति ) प्राग्वद्विपर्यासश्च ' भावत. ' भावमाश्रित्य प्रमाद । तथा स्थाननिक्षेपे प्रस्तावात्स्थानशब्दो नामाऽऽदिभि. प्रत्येकं योज्यते,तत्र च द्रव्यस्थान-नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यत्सचित्ताऽऽदिद्रव्याणामाश्रय । क्षेत्रस्थानं-भरताऽऽदिक्षेत्रमूर्ध्वलोकाऽऽदि वा । यत्र वा क्षेत्रे स्थानं विचार्यते,अद्धा -काल , सैव तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमद्धास्थानम्, तच्च पृथिव्यादीनां भवस्थित्यादि,समयावलिकाऽऽदि वा । ऊर्ध्वस्थानं-कायोत्सर्गाऽऽदि । उपरति -विरतिस्तत्स्थानं यत्रासौ गृह्यते । वसति.-उपाश्रयस्तत्स्थानं ग्रामाऽऽरामाऽऽदि । संयम -सामायिकाऽऽदिस्तस्य स्थानं प्रकर्षापकर्षवदध्यवसायरूप यत्र संयमस्यावस्थानं, तच्चासंख्येयभेदभिन्नम्। तथाहि सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकाना प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणानि संयमस्थानानि सूक्ष्मसम्परायस्त्वान्तर्मौहूर्त्तिक इत्यन्तर्मुहूर्त्तसमयपरिमाणानि तत्स्थानानि, यथाख्यातसंयमस्तु प्रकर्षापकर्षरहित एकरूप एवेत्येकमेव तत्स्थानम् । एवं च सामायिकाऽऽदीनामसंख्येयभेदत्वात्समुदायाऽऽत्मकस्य संयमस्थानस्याऽप्यसंख्येयभेदता, केवलमिह बृहत्तरमसंख्येय गृ

ह्यते। असंख्यातानामसंख्यातभेदत्वात्। प्रग्रहस्थानं तु-प्रकर्षेण गृह्यतेऽस्य वचनमिति प्रग्रहः-उपादेयवाक्यो‌ऽधिपतित्वेन स्थापितः,स च लौकिको,लोकोत्तरश्च;तस्य स्थानम्। तत्र लौकिकं पञ्चधा-राजयुवराजमहत्तरामात्यकुमारभेदात्। लोकोत्तरमपि पञ्चधैव-आचार्योपाध्यायप्रवृत्तिस्थविरगणावच्छेदकभेदात्। 'योधस्थानम्' आलीढाऽऽदि। अचलस्थानं-निश्चलस्थितिरूपं,तत्र सादिसपर्यवसिताऽऽदि परमाणवादीनाम्। गणनास्थानम्-एककाऽऽदि। सन्धानस्थानम्-द्रव्यतः कञ्चुकाऽऽदिगतम्। भावस्थानम्-औदयिकाऽऽदिको भावस्तिष्ठन्त्यत्र जन्तव इति कृत्वेति गाथात्रयार्थः।

सम्प्रति येनात्र प्रकृतं तदुपदर्शयन्नुपदेशसर्वस्वमाह-

भावप्पमायपगयं, संखाजुत्ते अ भावठाणम्मि ।
चइऊण इय पमायं, जइयव्वं अप्पमायम्मि ॥ ५२२ ॥

भावप्रमादेन उक्तरूपेण प्रकृतम्-अधिकारः,तथा(संख त्ति)सङ्ख्यास्थानं,नपुंसकेन,चस्य भिन्नक्रमत्वाद्भावस्थानेन च।कोऽर्थः ?,संख्यास्थानेन भावस्थानेन च,सर्वत्र सुव्यत्ययेन सप्तमी। अत्र हि गुरुवृद्धसेवाऽऽद्यभिधानतः, प्रकामभोजनाऽऽदिनिषेधतश्च भावप्रमादा निद्राऽऽदयोऽर्थतःपरिहर्त्तव्यत्वेनोच्यन्ते, ते चैकाऽऽदिसंख्यायोगिन औदयिकभावरूपाश्चेति भावः। त्यक्त्वा विहाय,इतीत्येवंप्रकारं प्रमादम्। किमित्याह-"यतितव्यं" यत्नो विधेयः, क्व ?-'अप्रमादे' प्रमादप्रतियोगिनि, धर्मे प्रत्युद्यम इति गाथार्थः।

अस्यैवार्थस्य दृढीकरणार्थमुत्तमनिदर्शनमाह-

वाससहस्सं उग्गं, तवमाइगरस्स आयरंतस्स ।
जो किर पमायकालो, अहोरत्तं तु संकलिअं ॥५२३॥
बारसवासे अहिए, तवं चरंतस्स वद्धमाणस्स ।
जो किर पमायकालो, अंतमुहुत्तं तु संकलिअं ॥५२४॥

वर्षसहस्रमिति कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया। ततश्च वर्षसहस्रप्रमाणं कालं यावत् उग्रम्' उत्कटं 'तपः' अनशनाऽऽदि 'आदिकरस्य' ऋषभनाम्नो भगवत आचरतो य किलेति परोक्षाऽऽप्तवादसूचकः। 'प्रमादकालः' यत्र प्रमादोऽभूत्, यत्तदोरभिसंबन्धात् सोऽहोरात्रं 'तु' अवधारणे। ततोऽहोरात्रमेव, किमयमेकावस्थाभाविनः प्रमादस्य कालः उतान्यथेत्याशङ्क्याऽऽह-सङ्कलितः।किमुक्तं भवति?-अप्रमादगुणस्थानस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनानेकशो पि प्रमादप्राप्तौ तदवस्थितविषयभूतस्यान्तर्मुहूर्त्तस्यासंख्येयभेदत्वात्तेषामतिसूक्ष्मतया सर्वसङ्कलनायामप्यहोरात्रमेवाभूत्। तथा द्वादशवर्षाण्यधिकानि तपश्चरतो वर्द्धमानस्य य किल प्रमादकालः प्राग्वत्सोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव सङ्कलितः, इहाप्यन्तर्मुहूर्त्तो नामसंख्येयभेदत्वात् प्रमादस्थितिविषयान्तर्मुहूर्त्तानां सूक्ष्मत्वं, सङ्कलनान्तर्मुहूर्त्तस्य च बृहत्तरत्वमिति भावनीयम्। अन्ये त्वेतदनुपपत्तिभीत्या निद्राप्रमाद एवायं विवक्षित इति व्याचक्षत इति गाथाद्वयार्थः।

इत्थमुत्तमनिदर्शनेनाप्रमादानुष्ठाने दार्ढ्यमापाद्य विपर्यये दोषदर्शनद्वारेण पुनस्तदेवाऽऽपादयितुमिदमाह-

जेसिं तु पमाएणं, गच्छइ कालो निरत्थओ धम्मे ।
ते संसारमणंतं, हिंडंति पमायदोसेणं ॥ ५२५ ॥

'येषां' प्राणिनां, 'तुः' पूरणे, प्रमादेनोपलक्षितानां 'गच्छति' व्रजति, कालः 'निरर्थकः' निष्प्रयोजनः, क्व ?-'धर्मे' धर्मविषये, धर्मप्रयोजनरहित इत्यर्थः। प्रमादतो हि नश्यन्त्येव धर्मप्रयोजनानि। ते, किमित्याह-संसारम् 'अनन्तम्' अपर्यवसितं, 'हिण्डन्ते' भ्राम्यन्ति, 'प्रमाददोषेण' हेतुनेति गाथार्थः।

यतश्चैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-

तम्हा खलु प्पमायं, चइऊणं पंडिएण पुरिसेणं ।
दंसणनाणचरित्ते, कायव्वो अप्पमाओ उ ॥ ५२६ ॥

तस्मात् 'खलु' निश्चयेन, प्रमादं त्यक्त्वा, 'पण्डितेन' बुद्धिमता पुरुषेण, उपलक्षणत्वात् स्त्र्यादिना च। दर्शने च ज्ञाने च चारित्रे चेति समाहारस्तस्मिन् मुक्तिमार्गतया प्रागभिहिते, 'कर्त्तव्यः' विधेयः, 'अप्रमादः' उद्यमः, 'तुः' अवधारणार्थे इत्यप्रमाद एव, न तु कदाचित्प्रमादः, तस्यैवं दोषदुष्टत्वादिति गाथार्थः। इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् तच्चेदम्-

अच्चंतकालस्स समूलयस्स,
सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।
तं भासओ मे पडिपुन्नचित्ता,
सुणेह एगग्गहियं हियत्थं ॥ १ ॥

अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, वस्तुनश्च द्वावन्तौ-आरम्भक्षणः, समाप्तिक्षणश्च। तथा चान्यैरप्युच्यते-" उभयान्ता परिच्छिन्ना वस्तुसत्ता नित्यतेति।" तत्रेहाऽऽरम्भलक्षणान्त परिगृह्यते, तथा चात्यन्तः अनादिः कालो यस्य सोऽयमन्त्यन्तकालस्तस्य, सह मूलेन-कषायाऽऽद्यविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलकः प्राग्वत्तस्य। उक्तं हि-" मूलं संसारस्स उ, हुंति कसाया अविरती य।" 'सर्वस्य' निरवशेषस्य, दुःखयतीति दुःखं संसारस्तस्य, अस्यात चेह दुःखं गृह्यते, अत्र च पक्षे मूलं रागद्वेषौ य. प्रकर्षेण मोचयति-मोचयतीति प्रमोक्षः-आत्मनो दुःखापगमहेतुः, पूर्वत्र तुशब्दस्यावधारणार्थस्येह सबन्धात् प्रमोक्ष एव। तं 'भाषमाणस्य' प्रतिपादयतः, यदि वा-प्रमोक्षम् अपगमस्त भाषमाणस्येति। कोऽर्थः ?-यथाऽसौ भवति तथा ब्रुवाणस्य ( मे ) मम प्रतिपूर्णं विषयान्तराऽगमनेनाखण्डितं चित्तं चिन्ता वा येषां ते प्रतिपूर्णचित्ताः, प्रतिपूर्णचिन्ता वा। 'शृणुत' आकर्णयत, एकाग्रस्य एकाऽऽलम्बनस्यार्थोक्षितस्तो भाव एकाग्र्यं ध्यानं, तत्र प्रक्रमाद्धर्म्याऽऽदि,तस्मै हितमेकाग्रहितं,पाठान्तरत एकान्तहितं वा, हितं तत्त्वतो मोक्ष एव, तदर्थमिति सूत्रार्थः।

यथा प्रतिज्ञातमाह-

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसुक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २ ॥

ज्ञानस्य आभिनिबोधिकाऽऽदेः,सर्वस्य निरवशेषस्य, पाठान्तरतः-'सत्यस्य वा, अवितथस्य, 'प्रकाशनया' इति । प्रभासनया,निर्मलीकरणेनेत्यर्थः। अनेन ज्ञानाऽऽत्मको मोक्षहेतुरुक्तः। तथा अज्ञानं-मत्यज्ञानाऽऽदि, मोहो-दर्शनमोहनीयम् । अनयोः समाहारेऽज्ञानमोहं तस्य विवर्जना परिहारो, मिथ्याश्रुतश्रवणकुदृष्टिसङ्गपरित्यागाऽऽदिना तया,अनेन स एव सम्यग्दर्शनाऽऽत्मकोऽभिहितः। तथा ' रागस्य द्वेषस्य च ' उक्तरूपस्य, ' संक्षयेण ' विनाशेन, एतेन तस्यैव चारित्राऽऽत्मकस्याभिधानम्, रागद्वेषयोरेव कषायरूपत्वेन तदुपघातकत्वाभिधानात्। ततश्चायमर्थः-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः 'एकान्तसौख्यं' दुःखलेशाकलङ्कितसुखं, समुपैति ' मोक्षम् ' अपवर्गम्। अयं च दुःखप्रमोक्षाविनाभावीत्यतः स एवोपलक्षित इति सूत्रार्थः।

नन्वस्तु ज्ञानाऽऽदिभिर्दुःखप्रमोक्षः, अमीषां तु कः प्राप्तिहेतुः ?, उच्यते-

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगंतनिवेसणा य,
सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य ॥ ३ ॥

तस्येति योऽयमनन्तरमोक्षोपाय उक्तः ' एष ' अनन्तरवक्ष्यमाणः ' मार्गः ' पन्थाः प्राप्तिहेतुः, यदुत गुरवो-यथावच्छास्त्राभिधायकाः, वृद्धाश्च श्रुतपर्यायाऽऽदिवृद्धाः, तेषां सेवा-पर्युपासना गुरुवृद्धसेवा, इयं च गुरुकुलवासोपलक्षणं, तत्र च सुप्रापाण्येव ज्ञानाऽऽदीनि । यदुक्तम्-"णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥" इति । सत्यपि च गुरुकुलवासे कुसंसर्गतो न स्यादेव तत्प्राप्तिरित्याह-' विवर्जना ' विशेषेण परिहारः ' बालजनस्य ' पार्श्वस्थाऽऽदेः ' दूरात् ' दूरेण, तत्सङ्गस्याल्पीयसोऽपि महादोषनिबन्धनत्वेनाभिहितत्वात्। तत्परिहारेऽपि च न स्वाध्यायतत्परतां विना ज्ञानाऽऽद्यवाप्तिरित्याह-स्वाध्याये-उक्तरूपे, एकान्तेन-इतरव्यासङ्गपरिहाराऽऽत्मकेन,निवेशना-स्थापना स्वाध्यायैकान्तनिवेशना । सा च मनोवाक्कायानामिति गम्यते। पठन्ति च-" सज्झायएगंतणिसेवणा य' इति । स्वाध्यायस्यैकान्तनिषेवणा-निश्चयेनानुष्ठानं स्वाध्यायैकान्तनिषेवणा, सा च तत्रापि ' वृथा श्रुतमचिन्तितम्' इति कृत्वा अनुप्रेक्षैव प्रधानेत्यभिप्रायेणाऽऽह-सूत्रस्यार्थः-अभिधेयः सूत्रार्थस्तस्य (संचिंतणय त्ति)सूत्रत्वात् संचिन्तना सूत्रार्थसंचिन्तना, अस्यामपि न चित्तस्वास्थ्यं विना ज्ञानाऽऽदिलाभ इत्याह-' धृतिश्च ' चित्तस्वास्थ्यमनुद्विग्नत्वमित्यर्थः इति सूत्रार्थः।

यतश्चैवंविधो ज्ञानाऽऽदिमार्गस्तत एतान्यभिलषता प्राक् किंविधेयमित्याह-

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छिज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ ४ ॥

'आहारम्' अशनाऽऽदिकम् ' इच्छेत् ' अभिलषेत्,मितमेषणीयम् , अपेर्गम्यमानत्वादिच्छेदप्येवंविधमेव, आदानभोजने तु दूरोत्सारिते एव, अनेवंविधस्य एवंविधाहार एव ज्ञानन्तरोक्तं गुरुवृद्धसेवाऽऽदि ज्ञानाऽऽदिकारणमाराधयितुं क्षमः। तथा-'सहायं' सहचरमिच्छेद्गच्छान्तर्वर्ती सन्निति गम्यते, निपुणा-कुशला, अर्थेषु-जीवाऽऽदिषु बुद्धिः मतिरस्येति निपुणार्थबुद्धिस्तम्। पठ्यते च-( णिउणेहबुद्धिं ) तत्र निपुणा-सुनिरूपिता, ईहा-चेष्टा बुद्धिश्च यस्य स तथा । अनीदृशो हि सहायः स्वाच्छन्द्योपदेशाऽऽदिना ज्ञानाऽऽदिकारणगुरुवृद्धसेवाऽऽदिभ्रंशमेव कुर्यादिति । तथा-'निकेतम्' आश्रयमिच्छेद् विवेकः पृथग्भाव ,स्त्र्यादिसंसर्गाभाव इति यावत्। तस्मै योग्यम् उचितं, तदापाताऽऽद्यसम्भवेन विवेकयोग्यम्। अविविक्ताऽऽश्रये हि स्त्र्यादिसंसर्गाच्चित्तविप्लवोत्पत्तौ कुतो गुरुवृद्धसेवाऽऽदि ज्ञानाऽऽदिकारणं सम्भवेत्?। समाधिं कामयते-अभिलषति समाधिकाम ,अत्र च समाधिर्द्रव्यभावभेदाद् द्विभेदः,तत्र द्रव्यसमाधिः क्षीरशर्कराऽऽदिद्रव्याणां परस्परमविरोधेनावस्थानम्। भावसमाधिस्तु ज्ञानाऽऽदीनां परस्परमबाधयाऽवस्थान तदनन्यत्वाच्च ज्ञानाऽऽदीनाम्,अयमेवेह गृह्यते। तथा च ज्ञानाऽऽद्यवाप्तुकाम इत्युक्तं भवति, श्रमणस्तपस्वीति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

कालाऽऽदिदोषत एवंविधसहायाप्राप्तौ यत्कृत्यं तदाह-

न वा लभिज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइँ विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ५ ॥

' न ' निषेधे, वाशब्दश्चेदर्थे, ततश्च न चेत् ' लभेत् ' प्राप्नुयात् ' निपुणम् ' इति निपुणबुद्धिं ' सहायं ' गुणैः ज्ञानाऽऽदिभिरधिकम् अर्गलं गुणाधिकं वा ' गुणत ' इति ज्ञानाऽऽदिगुणानाश्रित्य 'सम वा' तुल्यमुभयत्राऽऽत्मन इति गम्यते। ' वेति ' विकल्पे। तत किमित्याह-' एकोऽपि ' असहायोऽपि ' पापानि ' पापहेतुभूतान्यनुष्ठानानि, ' विवर्जयन् ' विशेषेण परिहरन् । पठ्यते च-" अणायरंतो त्ति।" अनाचरन्।' विहरेत्' संयमाध्वनि यायात्, ' कामेषु ' विषयेषु ' असजन् ' प्रतिबन्धमकुर्वन् , तथाविधगीतार्थयतिविषयं चैतत्, अन्यथैकाकिविहारस्याऽऽगमे निषिद्धत्वात्। एतदभिधाने च -" मध्यग्रहणे आद्यन्तयोरपि ग्रहणं भवति " इति न्यायादाहारवसतिविषयोऽप्यपवाद उक्त एव भवतीति मन्तव्यम् । इत्थं सप्रसङ्गं ज्ञानाऽऽदीनां दुःखप्रमोक्षोपायत्वमुक्तम्।

इदानीं तेषामपि मोहाऽऽदित्रयनिबन्धनत्वात्तत्त्रयस्यैवं प्राधान्येन दुःखप्रमोक्षहेतुत्वख्यापनार्थम्,यथा तेषां संभवो यथा दुःखहेतुत्वं यथा च दुःखस्य प्रसङ्गतस्तेषां चाभावस्तथाऽभिधातुमाह-

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाऽऽययणं खु तण्हं,
मोहं च तण्हाऽऽययणं वयंति ॥ ६ ॥

यथा चेति येनैव प्रकारेण, अण्डं-प्रतीतं, ततः प्रभव उत्पत्तिर्यस्याः साऽण्डप्रभवा, ' बलाका ' पक्षिविशेषः, अण्डं व-

साकात प्रभवतीति बलाकाप्रभवम्,यथा च,किमुक्तं भवति ?- यथाऽनयोः परम्परमुत्पत्तिस्थानता 'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण, मोहयति- मूढतां नयत्यात्मानमिति मोहः-अज्ञानम्। तच्चेह मिथ्यात्वदोषदुष्टं ज्ञानमेव गृह्यते । उक्तं हि-" जह दुव्वयणमवयणं " इत्यादि । आयतनम् उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा मोहाऽऽयतना, ता, 'खुः' अवधारणे, ततो मोहाऽऽयतनामेव ( तण्हं ति ) तृष्णां, वदन्तीति सम्बन्धः। यथोक्तमोहाभावे ह्यवश्यम्भावी तृष्णाक्षय इति । मोहं च तृष्णाऽऽयतनं यस्यासौ तृष्णायतनस्तं वदन्ति । तृष्णा हि सती मूर्च्छा, सा चात्यन्तदुस्त्यजा रागप्रधाना, ततस्तया, राग उपलक्षिते सति च तत्र द्वेषोऽपि संभवतीति सोऽप्यनयैवाऽऽक्षिप्यते । ततस्तृष्णाग्रहणेन रागद्वेषावुक्तौ, एतयोश्चानन्तानुबन्धिकषायरूपयो सत्तायामवश्यम्भावी मिथ्यात्वोदयः, अत एवोपशान्तकषायवीतरागस्याऽपि मिथ्यात्वगमनम्। तत्र च सिद्ध एवाज्ञानरूपो मोहः, एतेन च परस्परं हेतुहेतुमद्भावाभिधानेन यथा रागाऽऽदीनां सम्भवस्तथोक्तम् ॥ ६ ॥

सम्प्रति यथैतेषां दु:खहेतुत्वं तथा वक्तुमाह-

> रागो य दोसो वि य कम्मवीयं,
> कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
> कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
> दुःखं च जाईमरणं वयंति ॥ ७ ॥

'रागश्च' मायालोभाऽऽत्मकः 'द्वेषोऽपि च, क्रोधमानाऽऽत्मकः ,कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि तस्य बीजं कारणं कर्मबीजम्,कर्म, चस्य भिन्नक्रमत्वान्मोहात्प्रभवतीति मोहप्रभवं च--मोहकारणं वदन्ति । 'चः' सर्वत्र समुच्चये । 'कर्म च' इति कर्म पुनः,जातयश्च मरणानि च जातिमरणं तस्य 'मूल' कारणम्,'दु:खं' संसारम्,असातपक्षे तु दु खयतीति दुःखं, कोऽर्थः ?--दु:खहेतुं, चस्य पुनरर्थस्य भिन्नक्रमत्वात् जातिमरणं पुनर्वदन्ति, तीर्थकराऽऽदय इति गम्यते। जातिमरणस्यैवातिशयदुःखोत्पादकत्वात् । उक्तं हि-" *मरमाणस्स जं दुःखं*, जायमाणस्स जंतुणो । तेण दुक्खेण संतत्तो, न सरति जातिमप्पणो ॥ १ ॥ " ॥ ७ ॥

यतश्चैवमत किं स्थितमित्याह--

> दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
> मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
> तण्हा हया जस्स न होइ लोभो,
> लोभो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ ८ ॥

'दुःखम्' उक्तरूप, हतमिव हत, केनेत्याह- यस्य 'न भवति' न विद्यते, कोऽसौ ?-मोह. अस्यैव तन्मूलकारणत्वात्। ततो हि कर्म कर्मणश्च दु:खमित्यनन्तरमेवोक्त, हतमिव हतमिति च व्याख्यातं,तद्धयेऽपि नारकाऽऽदिगतौ स्वतत्त्वभावनापरस्यापि कियतोऽपि दु:खस्य सम्भवात्, यदि दु:खहनन मोहाभावात्, असावपि कुत इत्याह--मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा । कोऽर्थः ?--तृष्णाया अभावान्मोहाभावः, तदायतनत्वेन तस्या अभिधानात् । तृष्णाया अपि कुतो हननमित्याह--तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः । किमुक्तं भवति?--लोभाभावात्तृष्णाऽभावः, तृष्णाग्रहणेनोक्तनीत्या रागद्वेषयोरुक्तत्वात्तयोश्च लोभक्षये सर्वथैवाभावात्, अत एव प्राधान्याल्लोभस्य रागान्तर्गतत्वेऽपि पृथगुपादानम् । दृश्यते हि प्रधानस्य सामान्योक्तावपि विशेषतोऽभिधानं, यथा ब्राह्मणा आयाताः, वसिष्ठोऽप्यायात इति । स तर्हि केन हत इत्याह--लोभो हतो यस्य न किञ्चनानि,द्रव्याणि सन्तीति गम्यते। सत्सु हि तेषु संभवत्यभिकाङ्क्षा, तद्रूप एव च लोभः। यत्तु तत्सद्भावेऽपि लोभहननं भरताऽऽदीनां तत्कादाचित्कमित्यविवक्षितमेव, पठ्यते च--यस्य न किञ्चनास्ति--न किञ्चिद्विद्यते, द्रव्याऽऽदिकमिति गम्यत इति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

सन्त्येवं दुःखस्य मोहाऽऽदयो हेतवो, हननोपायास्तेषां किमयमेव, उतान्योऽप्यस्ति ?, इत्याशङ्क्य सविस्तर तदुन्मूलनोपायं विवक्षुः प्रस्तावमारचयति--

> रागं च दोसं च तहेव मोहं,
> उद्धत्तुकामेण समूलजालं ।
> जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा,
> ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥ ९ ॥

स्पष्टम् । नवर यदिह रागस्य प्रथममुपादानं, पूर्वं तु मोहस्य,तत् मोहस्य रागद्वेषयोश्च परस्पराऽऽयत्तत्वेन पूर्वापर भावस्यानियमात् । तथा 'उद्धर्तुकामेन इति ।' उन्मूलयितुमिच्छता,सह मूलानामिव मूलाना--तीव्रकषायोदयाऽऽदीनां मोहप्रकृतीना, जालेन--समूहेन, वर्त्तत इति समूलजालस्तम्, एतच्च रागाऽऽदीनां प्रत्येकं विशेषणम्, 'उपायाः' तदुद्धरणहेतव 'प्रतिपत्तव्या.' अङ्गीकर्त्तव्याः, कर्तुमिति गम्यते। पठ्यते च--" अपाया परिवज्जियव्वा " इति । 'अपायाः' तदुद्धरणप्रवृत्ताना विघ्नकारिणोऽर्थाः 'परिवर्जयितव्याः' परिहर्त्तव्या इति सूत्रावयवार्थः ।

यथाप्रतिज्ञातमेवाऽऽह--

> रसा पगामं न हु सेवियव्वा,
> पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
> दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
> दुमं जहा सादुफलं च पक्खी ॥ १० ॥

'रसाः' क्षीराऽऽदिविकृतय 'प्रकामम्' अत्यर्थं 'न निषेवितव्या' नोपभोक्तव्या, प्रकामग्रहणं तु वाताऽऽदिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव, निष्कारणनिषेवणस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम् । उक्तं च-- "अच्चाहारो न सहइ, अनिनिद्धेण विसया उदिज्जंति । जायामायाहारो, त पि पगामं ण भुंजामि ॥ १ ॥ " किमित्येवमुपदिश्यते ?,इत्याह- 'प्राय' बाहुल्येन रसा, निषेव्यमाणा इति गम्यते । दीप्ति--धातूद्रेकस्तत्करणशीला दीप्तिकरा, दृप्तकरा वा पाठान्तरत । इह च भावे क्तप्रत्यय इति दृप्तं उच्यते। दृप्यन्त एवं हि कुर्वता दमत्वममीषा प्राणिनामिति । यदि वा दीप्तं दीपन, मोहानलज्वलनमित्यर्थः तत्करणशीला दीप्तकरा । केषाम्?--नराणाम् । उपलक्षणत्वात् स्त्र्यादीनां च,उद्दीपयन्ति हि ते उपभुक्तास्तेषां मोहानलमिति । उक्तं हि--'विग-

ई परिणइधम्मो मोहो अणुदिज्जए उदिएणे य । सुट्टु वि विसजयपरो कहं अकज्जे ण वहिहिई ? ॥ १ ॥" एवं च को दोषः?, इत्याह-रसं यदि वा दीप्तं, नरमिति प्रक्रम ।' चः ' पुनरर्थे, जातिविवक्षया च बहुवचनप्रक्रमेऽप्येकवचनं, कामाः विषयाः ' समभिद्रवन्ति ' अभिभवन्ति, तथाविधस्य रूपाद्यभिलषणीयत्वात्सुखाभिभावनीयत्वाच्चेति भाव । कमिव क इवेत्याह-द्रुमं वृक्षं, यथेत्यौपम्ये. ' स्वादुफलं ' मधुरफलान्वितं, च इति भिन्नक्रमः । ततश्च ( पक्खि व्व त्ति ) पक्षिण इव । इह च द्रुमोपमः पुरुषाऽऽदिः, स्वादुफलतातुल्यं च रसत्वं,दीप्तत्वं वा, पक्षिसदृशाश्च कामा इति । अनेन रसप्रकामभोजने दोष उक्तः ।

सम्प्रति सामान्येनैव प्रकामभोजने दोषमाह-

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ॥
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥ ११ ॥

यथा दवाग्निः' दावानलः, प्रचुरेन्धने ' वने ' अरण्ये, एतदुपादानं च वसनौ, कश्चिद्विध्यापकोऽपि स्यादिति । ' समारुतः ' सवायुः ' नोपसमं ' न उपशमं विध्यापनम्, 'उपैनि' प्राप्नोति, ' एवम् ' इति दवाग्निवत् नोपशमभाग् भवति । ( इंदियग्गि त्ति ) इन्द्रियशब्देनेन्द्रियजनितो राग एवोक्तः, तस्यैवानर्थहेतुत्वनेह चिन्त्यमानत्वात् । सोऽग्निरिव धर्मवनदाहकत्वाद् इन्द्रियाग्निः, सोऽपि ' प्रकामभोजिनः ' अतिमात्राऽऽहारस्य प्रकाममोजनस्य पवनप्रायत्वेनातीव तदुदीरकत्वाद्, अतश्चाय न ब्रह्मचारिणः ' हिताय ' हितनिमित्तं, ब्रह्मचर्यविघातकत्वेन कस्यचिद् अतिसुस्थितस्याऽपि, तदनेन प्रकामभोजनस्य काका परिहार्यत्वमुक्तम् ।

इत्थं रागमुद्धर्त्तुकामेन यत्परिहर्त्तव्यं तदभिधाय यदतियत्नेन कर्त्तव्य तदाह-

विवित्तसिज्जाऽऽसणजंतियाणं,
ओमासणाणं दमिइंदियाणं ॥
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२ ॥

विविक्ता स्त्र्यादिविकला शय्या-वसति', तस्यामासनम् अवस्थानम्, तेन यन्त्रिता नियन्त्रिता विविक्तशय्याऽऽसनयन्त्रितास्तेपाम् ' अवमाशनानाम् ' न्यूनभोजनानाम । पठन्ति च—( ओमासणाए त्ति ) अवमं-न्यूनमशनम्-आहारो येषा तेऽमी अवमाशनास्तद्भावोऽवमाशनता-अवमौदर्यरूपा, तया, दमितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि यैस्ते तथा तेषा दमितेन्द्रियाणां पठ्यते च-" ओमासणाईदमिइंदियाणं ति ।" अवममशनं यत्र तपसि तदवमाशनं तदादिभिस्तपोभेदैर्दमितानीन्द्रियाणि यैस्ते तथा तेषा, न नैव राग शत्रुरिवाभिभवहेतुत्वाद्रागशत्रुः ' धर्षयति ' पराभवति, किं तत् ?-चित्त, किं तु स एवेत्थं पराधृष्यत इति भाव । क इव ?-' पराजित ' पराभूत. ' व्याधिरिव ' कुष्ठाऽऽदिः ' औषधै. ' गुडूच्यादिभिर्देहमिति गम्यते । अनेनापि विविक्तशय्याऽऽसनाऽऽदीना काका विधेयत्वमुक्तम् ।

इदानीं तु विविक्तशयनाऽऽसने यत्नाऽऽधानाय विपर्यये दोपमाह-

जहा विरालाऽऽवसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥

यथा विडाला मार्जारास्तेपामावसथः-आश्रयो विडालाऽऽवसथस्तस्य ' मूले ' समीपे न मूषकाणां वसतिः ' प्रशस्ता ' शोभना, अवश्यं तत्र तदपायसम्भवात्, एवमेव स्त्रीणां युवतीनां,पण्डकाऽऽद्युपलक्षणमेतत् । निलयो-निवासः स्त्रीनिलयस्तस्य ' मध्ये ' अन्तर्न ब्रह्मचारिणः ' क्षमः ' युक्तः, कोऽसौ ?-निवासः-वसतिः, तत्र ब्रह्मचर्यबाधासम्भवादिति भावः ।

विविक्तशय्याऽवस्थितावपि कदाचित्स्त्रीसंपाते यत्कर्तव्यं तदाह-

न रूपलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगियं पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥

' न ' नैव रूप-सुसंस्थानता, लावण्यं-नयनमनसामाह्लादको गुणो, विलासा विशिष्टनेपथ्यरचनाऽऽदयो, हास.-कपोलविकाशाऽऽदिरेषा समाहारे रूपलावण्यविलासहासं, न जल्पितं-मन्मथोल्लापाऽऽदि ( इंगिय त्ति ) विन्दुलोपाद् 'इङ्गितम् ' अङ्गभङ्गाऽऽदि 'वीक्षितं' कटाक्षवीक्षिताऽऽदि ' वा ' समुच्चये । स्त्रीणा सम्बन्धि ( ' चित्तंसि ' त्ति ) ' चित्ते ' मनसि ' निवेश्य '-अहो ! सुन्दरमिदं चेति विकल्पत. स्थापयित्वा. ' द्रष्टुम् ' इन्द्रियविषयता नेतुं ' व्यवस्येत् 'अध्यवस्येत्, श्रमणस्तपस्वीति प्राग्वत् । चित्ते निवेशयेत्यनेन च रागाऽऽद्यभिसन्धि विनैतद्दर्शनमपि न दोषायेति ख्याप्यते । उक्तं हि-" न सक्कं रूवमद्दट्ठुं " इत्यादि,निवेश्येति च समानकालत्वेऽपि क्त्वाप्रत्ययः । अक्षिणी निर्मील्य हसती-त्यादिवत् ।

किमित्येवमुपदिश्यते ?, इत्याह-

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥ १५ ॥

' अदर्शनम् ' इन्द्रियाविषयीकरणं, ' च. ' समुच्चये । ' एव ' अवधारणे अदर्शनमेव च ' अप्रार्थनं च ' अनभिलषणम् ' अचिन्तनं चैव ' रूपाऽऽद्यपरिभावनम् ' अकीर्तनं च ' असंशब्दनं, तच्च नामतो गुणतो वा स्त्रीजनस्य, आर्यध्यानं धर्माऽऽदि,तस्य योग्यं-तद्धेतुत्वेनोचितमार्यध्यानयोग्यं,'हितं' पथ्यं, ' सदा ' सर्वकालं, ब्रह्मव्रते । पाठान्तरतो ब्रह्मचर्ये ' रतानाम् ' आसक्तानाम् । ततः स्थितमेतत्-स्त्रीणा रूपाऽऽदि मनसि निवेश्य द्रष्टुं व्यवस्येत् ।

ननु " विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतांसि त ए-

च धीराः । " तत्किमिति रागमुद्धर्तुकामेन विविक्तशयनाऽऽसनता विधेयेत्युच्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह–

कामं तु देवीहिँ वि भूसियाहिँ,
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा,
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥

( कामं तु त्ति ) अनुमतमेवैतद् यदुत ( देवीहिँ वि त्ति ) 'देवीभिरपि' अप्सरोभिरप्यास्तां मानुषीभिरस्त्यपिशब्दार्थः । 'भूषिताभि' अलङ्कृताभिः ( न ) नैव (चाइय त्ति) शक्ता. 'क्षोभयितुं' चालयितुं, संयमादिति गम्यते । 'तिसृभि.' मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्ताः, अर्थान्मुनय . 'तथाऽपि ' यद्यप्येवंविधाश्चालयितुं न शक्यन्ते तदप्येकान्तहितमेतदिति ज्ञात्वा । किमुक्तं भवति ?–सम्भवन्ति हि केचिदभ्यस्तयोगिनोऽपि ये तत्सङ्गतः क्षुभ्यन्ति, येऽपि न क्षुभ्यन्ति, तेऽपि स्त्रीसंसक्तवसतिवासे 'साहु तवोवणवासो " इत्याद्यवर्णाऽऽदिदोषभाजो भवेयुरिति परिभाव्य 'विविक्तवासो विविक्तशय्याऽऽसनाऽऽत्मको मुनीनां प्रशस्त इत्यन्तर्भाविनण्यर्थतया 'प्रशंसित' ' गणधराऽऽदिभिः श्लाघित इत्यर्थ. अतः स एवाऽऽश्रयणीय इतिभाव. ।

एतत्समर्थनार्थमेव स्त्रीणा दुरतिक्रमत्वमाह–

मुक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहत्थिओ वालमणोहराओ ॥ १७ ॥

'मोक्षाभिकाङ्क्षिणोऽपि ", मुक्त्यभिलाषिणोऽपि मानवस्य संसारात्–चतुर्गतिरूपाद्भयनशीलो भीरुः संसारभीरु', अपेरिहापि सम्बन्धनात्तस्याऽपि–तथा स्थितस्याऽपि ' धर्मे ' श्रुतधर्माऽऽदौ ( न ) नैव ' एतादृशम् ' ईदृशम् , दुस्तरं–दुरतिक्रमम् , ' अस्ति ' विद्यते, ' लोके ' जगति यथा ' स्त्रिय ' युवतय. ' वालमनोहरा. ' निर्विवेकचित्ताऽऽक्षेपिण्यो दुस्तरा । दुस्तरत्वे च वालमनोहरत्वं हेतु, अतश्चातिदुस्तरत्वात्तासा परिहार्यत्वेन विविक्तशय्याऽऽसनमेव श्रेय इति भावः ।

नन्वेवं स्त्रीसङ्गातिक्रमार्थमयमुपाय उपदिष्टस्तथा शेषसङ्गातिक्रमार्थमपि किं न कश्चनोपाय उपदिश्यते ?। इत्याह– यदि वा स्त्रीसङ्गातिक्रमे गुणमाह–

एए य संगा समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव हवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १८ ॥

एताश्च ' सङ्गान् ' सम्बन्धान् , प्रक्रमात् स्त्रीविषयान् , ' समतिक्रम्य ' उल्लङ्घ्य ' सुखोत्तराश्चैव ' अकृच्छ्रोल्लङ्घ्याश्चैव भवन्ति ' शेषा. ' द्रव्याऽऽदिसङ्गा , सर्वसङ्गाना रागरूपत्वे समानेऽपि स्त्रीसङ्गानामेवैतेषु प्रधानत्वादिति भाव. । दृष्टान्तमाह–यथा ' महासागर ' स्वयम्भूरमणमुत्तीर्य ' नदी ' सरित् ' भवेत् ' स्यात्सुखोत्तरैवेति प्रक्रम । वीर्यातिशययोगत इति भावः । ( अवि गंगासमानेति ) गङ्गा किल महानदी, तत्समानाऽपि–तत्सदृशाऽपि, आस्तामितरा–क्षुद्रनदीत्यपिशब्दार्थः ।

यदुक्तम्–" विवित्तसेज्जाऽऽसणजंतियाणं " इत्यत्र विविक्ताधसथमर्थतो व्याख्याय " ओमासणाणं दमिइंदियाणं " इत्यनावमाशनत्वमनन्तरमेव प्रकामभोजननिषेधेन समर्थितं, दमितेन्द्रियत्वं तूत्तरत्र वक्ष्यत इत्युभयमुपेक्ष्य " न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं " इत्यत्र किमिति रागपराजयं प्रत्येवमुपदिश्यते ?, इत्याशङ्क्य रागस्य दुःखहेतुत्वं दर्शयितुमाह–

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतयं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥

कामा'–विषयास्तेष्वनुगृद्धि'–सततामिकाङ्क्षा, अनुभावानुवन्ध इत्यादिष्वनो सातत्येऽपि दर्शनात् । तस्याः प्रभवो यस्य तत्कामानुगृद्धिप्रभवम् ( खु त्ति ) खुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्कामानुगृद्धिप्रभवमेव, किं तत् ?–' दुःखम् ' असातं, सर्वस्य लोकस्य–प्राणिगणस्य, कदाचिद्देवानां विशिष्टानुभाववत्त्वेनैवं न स्यादत आह–' सदेवकस्य ' देवैः समन्वितस्य, कतरत्तद् दुःखमित्याह–यत् ' कायिकं ' रोगाऽऽदि, ' मानसिकं च ' इष्टवियोगाऽऽदिजन्यं ' किञ्चित् ' स्वल्पमपि, कदाचिदेतदभावेऽप्येतत्स्याद् अत आह–तस्य द्विविधस्याऽपि दुःखस्यान्तमेव अन्तकं–पर्यन्तं गच्छति ' वीतरागः ' विगतकामानुगृद्धिरित्यर्थ ।

ननु कामाः सुखरूपतयैवानुभूयन्ते तत्कथं कामानुगृद्धिप्रभवमेव दुःखम् ?, उच्यते–

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुद्दए जीविएँ पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥

' यथा च ' इति यथैव, किम्पाको–वृक्षविशेषस्तत्फलानि, अपेर्गम्यमानत्वात् ' मनोरमाण्यपि ' हृदयङ्गमान्यपि, रसेन ' आस्वादेन, ' वर्णेन च ' रुचिररक्ताऽऽदिना, चशब्दाद् गन्धाऽऽदिना च, ' भुज्यमानानि ' उपभुज्यमानानि ( ते ) इति ' तानि ' लोकप्रतीतानि, क्षोदयितुम् अध्यवसानाऽऽदिभिरुपक्रमकारणैर्विनाशयितुं शक्यत इति क्षुद्रं, तद्देवानुकम्प्यतया क्षुद्रकं, सोपक्रममित्यर्थ', तस्मिन् , जीविते–आयुषि पच्यमानानि–विपाकाऽवस्थाप्राप्तानि । मरणान्तदु खदायीनीति शेष. । प्राग्वच्च लिङ्गव्यत्यय. । पठ्यते च– ' ते जीवियं खुंदति पच्चमाणे " त्ति । तानि किम्पाकफलानि, जीवितम् आयु , ' खुन्दति ' आर्षत्वात् ' क्षोदयन्ति ' विनाशयन्ति, विपच्यमानानि ' एतदुपमा ' किम्पाकफलतुल्या . कामगुणाः ' विपाके ' फलप्रदानकाले । किमुक्तं भवति ?–यथा किम्पाकफलान्युपभुज्यमानानि मनोरमाणि, विपाकावस्थायां तु सोपक्रमाऽऽयुषा मरणहेतुतयाऽतिदारुणानि, एवं कामगुणा अपि उपभुज्यमाना मनोरमा , विपाकावस्थायां तु नरकाऽऽदिदुर्गतिदु खदायितयाऽत्यन्तदारुणा एव, ततः

सुखरूपतया प्रतिभासनं सुखहेतुत्वेनैकान्तिकमेव किम्पाकफलानां मनोरमत्वेन सुखप्रतिभासेऽप्यन्यथाभावादिति ।

इत्थं बहूत्तरगुणस्थानानुयायित्वेन रागस्य प्राधान्यात्केवलस्यैवोद्धरणोपायमभिधाय सम्प्रति तस्यैव द्वेषसहितस्य तमभिधित्सुर्दमितेन्द्रियत्वं च सिंहावलोकितन्यायाऽऽश्रयणेन व्याचिख्यासुरिदमाह-

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ २१ ॥

ये ' इन्द्रियाणां ' चक्षुरादीनां 'विषयाः' रूपाऽऽदयः 'मनोज्ञा'मनोरमाः न 'तेषु विषयेषु ' भावम् 'अभिसन्धिम् अपेर्गम्यमानत्वाद्भावमपि.प्रस्तावादिन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुं, किं पुनस्तत्प्रवर्त्तनमित्यपिशब्दार्थः, ' निसृजेत् ' कुर्यात् ' कदाचित् ' कस्मिंश्चित्काले, ' न च ' नैव ' अमनोज्ञेषु ' अमनोरमेषु ' मनोऽपि ' चित्तमपि, अत्रापीन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुम् अपिशब्दार्थश्च प्राग्वत् । ' कुर्यात् ' विदध्यात्, अनेन वाक्यद्वयेनापीन्द्रियदम उक्तः, समाधिः चित्तैकाग्र्यं, स च रागद्वेषाभाव एवेति, स एवानेनोपलक्ष्यते, ततस्तत्कामो रागद्वेषोद्धरणाभिलाषी, श्रमणस्तपस्वीति च प्राग्वत् । नन्वेवमुभयोद्धरणहेतुत्वेनेन्द्रियदमस्य किमिति रागोद्धरणहेतुत्वाभिधानम् ?,उच्यते, हेतुप्रक्रमात् । न चोभयोद्धरणहेतुतयैकोद्धरणहेतुता विरुध्यते, यदि वा-तत्राऽपि रागस्य,द्वेषोपलक्षणत्वादुभयोद्धरणोपायेनैव विवक्षिता,किं तु तत्र विविक्तशय्यासामान्येनैकान्तशय्या गृह्यते, तदवस्थानस्य च प्रतीतैव तदुद्धरणोपायता, एवं प्रकामभोजिन एव दर्पतो द्वेषसम्भवादवमाशनत्वस्याप्यसौ भावनीयेत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः । इत्थं रागद्वेषोद्धरणैषिणो विषयेभ्यो निवर्त्तनमिन्द्रियाणामुपदिष्टम् ।

अधुना त्वेतेषु तत्प्रवर्त्तने रागद्वेषानुद्धरणे च यो दोषस्तं प्रत्येकमिन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गतो मनश्चाऽऽश्रित्य दर्शयितुमाह-

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो उ जो तेसु स वीयरागो ॥ २२ ॥

' चक्षुषः चक्षुरिन्द्रियस्य , रूप्यत इति रूपं वर्णः, संस्थानं वा, गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणं, कोऽर्थः-आक्षेपकं, विशिष्टेन हि रूपेण चक्षुराक्षिप्यते । तद् ' वदन्ति ' अभिदधति, तीर्थकृदादय इति गम्यते । ततः किमित्याह-' तद् ' इति रूपं, रागः-अभिष्वङ्गस्तद्धेतु -तदुत्पादक ' तुः ' पूरणे, मनोज्ञमाहुः। तथा-' तद् ' इति रूपमेव दोषो द्वेषस्तद्धेतुममनोज्ञमाहुः । ततस्तयोश्चक्षुः प्रवर्त्तने रागद्वेषसम्भवात्तदुद्धरणाशक्तिलक्षणो दोष इति भावः । आह-एवं न कश्चित् सति रूपे वीतराग स्यादत आह-अरक्तद्विष्टतया तुल्यः पुनर्यः ' तयोः ' मनोज्ञेतररूपयोः सः, ' वीतराग ' इति । तथाविधरागभावतो वीतरागस्तदविनाभावित्वाद् द्वेषस्य,तथैव वीतद्वेषश्च। इदमाकूतम्-यस्यैव रागद्वेषौ स्तस्तस्यैव तदुदीरकत्वेनानयोस्तज्जनकत्वमुच्यते, न तु यः सम एव, तथा च न तावच्चक्षुस्तयोः प्रवर्त्तयेत्, कथञ्चित् प्रवर्त्तने वा समतामेवाऽऽलम्बेतेत्युक्तं भवति ।

ननु यद्येवं रूपमेव रागद्वेषजनकं ततस्तदुद्धरणार्थिनस्तद्गतैव चिन्ताऽस्तु, रूपे चक्षुर्न प्रवर्त्तयेदित्येवं तु न युक्तैव चक्षुषश्चिन्ता, इत्याशङ्क्याऽऽह-

रूवस्स चक्खू गहणं वयंति,
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ॥
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ २३ ॥

रूपस्य चक्षुः गृह्णातीति ग्रहणं, बहुलवचनात्कर्त्तरि ल्युट्, तद्वदन्ति, तथा चक्षुषो रूपं गृह्यत इति प्राग्वल्ल्युटि ग्रहणं ग्राह्यं तद्वदन्ति, अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहकभाव उक्तः तथा च न ग्राहकं विना ग्राह्यत्व नाऽपि ग्राह्यं विना ग्राहकत्वमित्यनयोः परस्परमुपकार्योपकारकभाव उक्तो भवति । एतेन त्वनयो रागद्वेषजनने सहकारिभावः ख्याप्यते । तथा च यथा रूपं रागद्वेषकारणं तथा चक्षुरपि,अत एवाऽऽह-रागस्य हेतुं-कारणं, प्रक्रमाच्चक्षुः सह मनोज्ञेन ग्राह्येण रूपेण वर्त्तते इति समनोज्ञं, मनोज्ञरूपविषयमित्युक्तं भवति । ' आहुः ' ब्रुवते, यत्र तु " हेउ तमणुण्णं " इति पाठः । तत्र (तं ति) तच्चक्षुर्मनोज्ञं मनोज्ञरूपविषयत्वेन ततो दोषो द्वेषः । उक्तं हि-" ईर्ष्या रोषो द्वेषः " इत्यादि । तस्य हेतुममनोज्ञम् अमनोज्ञरूपम् । पाठान्तरतश्च हेतुं तदमनोज्ञमाहुः, उभयप्रक्रमेऽपि चक्षुष एव विशेष्यत्वेनोपदर्शनं रूपस्य पूर्वसूत्रेणैव । एवं च रूपचक्षुषोः सहितयोरेव रागद्वेषजनकत्वाद् युक्तमुक्तं तावुद्धर्त्तुकामो रूपे चक्षुर्न प्रवर्त्तयेत्, यदा तु पाश्चात्यपादलयं पूर्ववत् पठ्यते तदा पूर्वसूत्रे चक्षुगो रूपग्रहणं-ग्राह्यमिति व्याख्येयम् । ततश्चेहापि ग्राह्यग्राहकभाव उक्त , तत्र चोक्त एवाभिप्राय , तथा यदि चक्षू रागद्वेषकारणं न कश्चिद्वीतरागः स्यादत आह-समश्चेत्यादि, शेषं सुगमम् ।

आह-अस्त्वयं रागद्वेषोद्धरणोपाय', एतदनुद्धरणे च को दोष., ? येन तदुद्धरणार्थमित्थमुपादिश्यत इत्याह-

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ सो विणासं ।
रागाऽऽउरे से जह वा पयगे,
आलोअलोले समुवेइ मच्चु ॥ २४ ॥

रूपेषु यो ' गृद्धिं ' गार्ध्यं, रागमित्यर्थः । उक्तं हि वाचकै -" इच्छा मूर्च्छा कामः, स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः । अभिलाप इत्यनेका-नि रागपर्यायवचनानि ॥ १ ॥ " ' उपैति ' गच्छति ' तीव्राम् ' उत्कटां गृद्धेर्विशेषणं, स किमित्याह-अकाले भवम् आकालिकं-यथास्थित्या गुरूपक्रमादर्वागेव प्राप्नोति स ' विनाशं ' घातं, पाठान्तरतः ' क्लेशं वा' मरणान्तबाधाऽऽत्मकं,रागेणाऽऽतुरो-विह्वलो रागाऽऽतुर. सन् ( से ) इति स लोकप्रतीतः, ' यथा वा ' इति वाश-

श्चस्यैवकारार्थत्वात् "यथैव" येनैव प्रकारेण 'पतङ्गः' शलभः, आलोकः-अतिस्निग्धदीपशिखाऽऽदिदर्शनं, तस्मिन् लोलो लम्पट आलोकलोलः समुपैति 'मृत्यु' प्राणत्यागं, तस्यापि गृद्धाऽऽलोकलोलत्वं राग एवेति भावः।

जे यावि दोसं समुवेइ निच्चं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥ २५ ॥

'यश्च' इति यस्तु, अपीति च तस्मिन्नित्यनेन योज्यते। 'दोषं' द्वेषं ( समुवेइ त्ति ) वचनव्यत्ययात् 'समुपैति' समुपगच्छति, रूपेष्विति प्रक्रमः। 'नित्यं' सदा, न तु कदाचित्, स किमित्याह-तस्मिन्नपि 'क्षणे' प्रस्तावे यस्मिन् द्वेष उत्पन्नः 'से' इति सः 'तुः' पूरणे उपैति 'दुःखं' शारीराऽऽदि, द्विष्टो हि किमिदमनिष्टं मया दृष्टमिति मनसा व्याकुलीभवति, परितप्यते च देहेन, न तु यथारागमुपगच्छंस्तत्काले मनोज्ञविषयावलोकनजनितं सुखमभिमन्यते, उत्तरकालमेव तु दुःखमिति। पठन्ति च-" समुवेति सव्वं ति।" स्पष्टम्। यदि वा रूपदर्शनाद् द्वेषमुपगच्छन् दुःखमुपैति ततस्तथाविधरूपदोषेणैवास्य दुःखावाप्तिरिति प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह-दुष्टं दमनं दुर्दान्तं, तच्च प्रक्रमाच्चक्षुपस्तदेव दोषो दुर्दान्तदोषस्तेन, 'स्वकेन', आत्मीयेन 'जन्तु' प्राणी, न 'किञ्चित्' स्वल्पमपि, रूपं प्रक्रमादमनोज्ञम्, 'अपराध्यति' दुष्यति ( से ) तस्य, यदि हि रूपमेवापराध्येत्त कस्यचिद् द्वेषाभाव स्यात्, तथा च मुक्त्यभावाऽऽदयो दोषा इति भाव.।

इत्थं रागद्वेषयोर्द्वयोरप्यनर्थहेतुत्वमुक्तमिदानी तु द्वेषस्यापि रागहेतुकत्वाद्राग एव महानर्थमूलमिति दर्शयंस्तस्य विशेषतः परिहर्त्तव्यता ख्यापयितुमाह-

एगंतरत्तो रुइरंसि रूवे,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पते तेण मुणी विरागे ॥ २६ ॥

'एकान्तरक्तो' यो न कथञ्चिद्विरागं याति, 'रुचिरे' मनोरमे रूपे, किमित्याह-(अतालिसे त्ति) मागधदेशीभाषया 'अतादृशे' अन्यादृशे। तथा च तल्लक्षणं-'रशयोर्लसौ' मागधिकाया ( से इति ) स करोति 'प्रद्वेषं' द्वेषं, सुन्दरीनन्द इव सुरसुन्दरीरागत. सुन्दर्या, तथा च दु.खस्य 'संपीडं' संघातं, यद्वा-समिति भृश. पीडा दुःखकृता बाधा संपीडा, तामुपैति 'बाल' अज्ञ। उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह-न लिप्यत इव लिप्यते, श्लिष्यत इत्यर्थ., 'तेन' द्वेषकृतदुःखेन, मुनि. 'विराग' रागविरहित., तस्यैव तन्मूलत्वादिति भाव'।

सम्प्रति रागस्यैव पापकर्मोपचयलक्षणमहानर्थहेतुतां ख्यापयितुं हिंसाऽऽद्याश्रवनिमित्तता पुनरिहैव तद्द्वारेण दुःखजनकत्वं च सूत्रषट्केनाऽऽह-

रूवाणुआसाऽणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ २७ ॥

रूपं प्रस्तावान्मनोज्ञमनुगच्छति रूपानुगा, सा चासावाशा च रूपानुगाऽऽशा, रूपविषयोऽभिलाष इति योऽर्थ, तदनुगतश्च जीवः। पठन्ति च-" रूवाणुवायाणुगए य जीवे "इति। तत्र रूपाणां-मनोज्ञानामुपायैः-उपार्जनहेतुभिरनुगतो युक्त उपायानुगतः, स च प्राणी जीवान् 'चराचरान्' त्रसस्थावरान् 'हिनस्ति' विनाशयति 'अनेकरूपान्' जात्यादिभेदतोऽनेकविधान्, कांश्चित्तु 'चित्रैः' अनेकप्रकारैः, स्वकायपरकायशस्त्राऽऽदिभिरुपायैरिति गम्यते। सुब्व्यत्ययाद् यथासंभवं चित्तेषु वा। तानिति-चराचरजीवान्, परीति सर्वतस्तापयति दुःखयति परितापयति, बाल इव बालः-विवेकविकलतयाऽपरांश्च पीडयति, एकदेशदुःखोत्पादनेनाऽऽत्मार्थे गुरुः स्वप्रयोजननिष्ठः 'क्लिष्टः' रागबाधितः।

अन्यच्च-

रूवाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ? ॥ २८ ॥

रूपानुपातो-रूपविषयोऽनुपात. अनुगमनमनुराग इति यावत्। तस्मिंश्च सति 'परिग्रहेण' मूर्च्छाऽऽत्मकेन हेतुना, 'उत्पादने' उपार्जने, रक्षणे च-अपायविनिवारणे, सन्नियोगश्च स्वपरप्रयोजनेषु सम्यग् व्यापारणं, रक्षणसन्नियोगं. तस्मिन् ( वए त्ति ) व्यये विनाशे 'वियोगे' विरहे सतोऽप्यनेककारणजनिते. सर्वत्र रूपस्येति प्रक्रमः। क्व सुखं ?, न क्वचित्, किं तु सर्वत्र दुःखमेवेति भाव.। ( से इति ) तस्य जन्तो.। इयमत्र भावना-रूपमूर्च्छितो हि रूपवत्करितुरङ्गमकलत्राऽऽदीनामुत्पादनरक्षणार्थं तेषु तेषु क्लेशहेतुषूपायेषु जन्तु प्रवर्त्तते, तथा नियोज्याऽपि तथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ रूपवत्कलत्राऽऽदि तदपायशङ्कया पुन पुनः परितप्यत एवेति सिद्धमेवारयोत्पादनरक्षणसंनियोगेषु दु.खम्। एवं व्ययवियोगयोरपि भावनीयम्। अन्ये तु पठन्ति- 'रूवाणुरागेण परिग्गहेणं' इति। तत्र रूपानुरागेण हेतुना यः परिग्रहस्तेन, शेषं प्राग्वत्। स्यादेतत् मा भूदुत्पादनाऽऽदिषु रूपस्य सुखं, सम्भोगकाले तु भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-'सम्भोगकाले च' उपभोगप्रस्तावे च ( अतित्तलाभे त्ति ) तर्पणं तृप्तं, तृप्तिरिति यावत्। तस्य लाभ -प्राप्तिस्तृप्तलाभो न तथाऽतृप्तलाभ। किमुक्तं भवति ?-बहुधाऽपि रूपदर्शने रागिणा न तृप्तिरस्ति यतोऽर्थ रप्युक्तम्-" न जातु काम. कामाना-मुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते ॥१॥" तथा 'यथाऽभ्यासं विवर्द्धन्ते, विषयाः कौशलानि च। इन्द्रियाणाम्" इति। तस्मिन् सति क्व सुखमिति सम्बन्ध। उत्तरोत्तरेच्छया हि परितप्यत एव जन्तुरिति। पठन्ति च-(अतित्तिलाभे त्ति) तृप्तिप्राप्त्यभावे।

आह-एवं परिग्रहाद् दुःखमनुभवतस्तन्द्धीतया ततो निवृत्तिर्दोषान्तरानारम्भणं वा किमस्य सम्भवतीत्य,शङ्क्याऽऽह-

रूवे अतित्ते अपरिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ॥

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स-
लोभाऽऽविले आययई अदत्तं ॥ २९ ॥

रूपेऽतृमश्च, परिग्रहे च तद्विषयमूर्च्छाऽऽत्मके सक्तः-सामान्येनैवाऽऽसक्तिमान, उपसक्तश्च-गाढमासक्तः,ततः सक्तश्च पूर्वमुपसक्तश्च पश्चात् सक्तोपसक्तः, ' नोपैति ' नोपगच्छति, ' तुष्टिं ' परितोषं, सन्तोषमिति यावत् । तथा चातुष्टिरेव दोषोऽतुष्टिदोषस्तेन दुःखी-यदि ममेदमिदं च रूपवद्वस्तु स्यादित्याकाङ्क्षातोऽतिशयदुःखवान्, स किं कुरुते?, इत्याह-' परस्य ' अन्यस्य, सम्बन्धि रूपवद्वस्त्विति गम्यते । ' लोभाऽऽविल. ' लोभकलुष., यद्वा-परेषां स्वं परस्वं, प्रक्रमाद् यद्रूपवद्वस्तु,तस्मिन् लोभो-गार्ध्य, तेनाऽऽविल परस्वलोभाऽऽविल , ' आदत्ते गृह्णाति, ' अदत्तम् ' अनिसृष्टं परकीयमेव, रूपवद्वस्त्विति गम्यते । अनेन रागस्यातिदुष्टतां ख्यापयितुं परिग्रहाद्दोषदर्शनेऽपि विशेषतस्तत्राऽऽसक्तिदोषान्तराऽऽरम्भण चाभिहितम् ।

तत्किमस्यैतावानेव दोष उतान्योऽपि ? इत्याशङ्क्योक्तदोषानुवादेन दोषान्तरमप्याह—

तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ॥
मायामुसं वड्डइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चइ से ॥ ३० ॥

' तृष्णाभिभूतस्य ' लोभाभिभूतस्य, तत एवाऽदत्त हरति गृह्णातीत्येवंशीलोऽदत्तहारी तस्य, तथा रूपे-रूपविषये य परिग्रहस्तस्मिन्नितिचिन्ति योग । चस्य भिन्नक्रमत्वाद्, अतृप्तस्य च तत्राऽसन्तुष्टस्य, मायाप्रधानं ( मोस त्ति ) मृषाऽलीकभाषण मायामृषा, ' वर्द्धते ' वृद्धि याति कुत पुनरिदमित्थमित्याह-' लोभदोषात् ' लोभापराधात्, लुब्धो हि परस्वमादत्ते, आदाय च तद्गोपनपरो मायामृषा वक्ति, तदनेन लोभ एव सर्वाऽऽश्रवाणामपि मुख्यो हेतुरित्युक्त, तथा रागप्रक्रमेऽपि सर्वत्र लोभाऽभिधानं रागेऽपि लोभांशस्यैवातिदुष्टताऽऽवेदनार्थम् । तत्राऽपि को दोष ?, इत्याह-' तत्रापि मृषाभाषणेऽपि ' दु गात् अमानात् ' न विमुच्यते न विमुक्तिमाप्नोति स , किं तु दुःखभाजनमेव भवतीति भावार्थ. ॥

दुःखाविमुक्तिमेव भावयति-

तदेवं मृषाहारेणादत्ताऽऽदानस्य दुःखहेतुत्वमुक्तम् । यद्वा च ( मोसस्स त्ति ) ' मोषस्य ' स्तेयस्येति व्याख्या, तदा साक्षादेव तस्य दुःखहेतुत्वाभिधानम । उपसंहारमाह—' एवम् ' अमुनोक्तप्रकारेणादत्तानि ' समाददानः ' गृह्णन्, रूपेऽतृप्तः सन् दुःखितो भवति । कीदृश सन ?, इत्याह-' अतिश्र ' दोषवत्तया सर्वजनेभ्योऽरणीय इति कृत्वा तथाविधसहायविकलत्वान्निश्रारहित. मैथुनरूपाऽऽश्रवोपलक्षणं चैतत् अतिप्रसिद्धत्वाच्च रागिणा तस्य साक्षादनभिधानम् । यद्वा-रूपसम्भोगोऽपि मिथुनकर्मकत्वाद् देवानामिव मैथुनमेव तथा च रागिवचनम्-" आलोएं च्चिय सा तेण णिगमा रोइ निब्भरमणेणं । आभासियव्व अवगू-हियव्व रमियव्व पीयव्व ॥ १ ॥ " इति । स च प्रक्रान्तः, एवमुत्तरत्राऽपि स्त्रीगतशब्दाऽऽदिसम्भोगानां मैथुनत्वं सम्भावनीयम् ।

उक्तमेवार्थं निगमयितुमाह-

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं हुज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगेऽवि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ ३२ ॥

रूपानुरक्तस्य नरस्य ' एवम् ' अनन्तरसूत्रकदम्बकोक्तप्रकारेण, कुत. सुखं भवेत् ? कदाचित्किञ्चित्, सर्वदा दुःखमेवेति भाव । किमित्येवं ?, यत. ' तत्र ' रूपानुरागे ' उपभोगेऽपि ' उपभोगावस्थायामपि ' क्लेशदुःखम् ' अतृप्तलाभलक्षणबाधाजनितमस्वास्थ्यम्, उपभोगमेव विशिनष्टि—निर्वर्तयति उत्पादयति, यस्य इत्युपभोगस्य कृते यदर्थ, ' णं ' इति वाक्यालङ्कारे, ' दुःखं ' कृच्छ्रमात्मन इति गम्यते । उपभोगार्थं हि जन्तु क्लिश्यति, तत्र सुखं स्यादिति, यदा च तदपि दुःखं तदा कुतोऽन्यदा सुखसम्भव इति भाव ।

इत्थं रागस्यानर्थहेतुतामभिधाय द्वेषस्याऽपि तामतिदे-

न लिप्पई भवमज्झेऽवि संतो,
जलेण वा पुक्खरिणीपलासं ॥ ३४ ॥

रूपे विरक्तः, उपलक्षणत्वादाद्विष्टश्च 'मनुजः' मनुष्यः 'विशोकः' शोकरहित संस्तन्निबन्धनयो रागद्वेषयोरभावात् । 'एतेन' अनन्तरमुपदर्शितेन (दुक्खोहपरंपरेणं ति) दुःखानाम्-असातानामोघाः सङ्घातास्तेषां परम्परा-सन्ततिर्दुःखौघपरम्परा, तया, 'न लिप्यते' न स्पृश्यते, भवमध्येऽपि 'सन्' भवन्, संसारान्तरवर्त्यपीत्यर्थः। दृष्टान्तमाह जलेनेव, वाशब्दस्योपमार्थत्वात्, पुष्करिणीपलासं'पद्मिनीपत्रं, जलमध्येऽपि सदिति शेष. ॥ ३४ ॥ इत्थं चक्षुराश्रित्य त्रयोदश सूत्राणि व्याख्यातानि । एतदनुसारेणैव शेषेन्द्रियाणां मनसश्च स्वविषयप्रवृत्तौ रागद्वेषानुद्धरणदोषाभिधायकानि त्रयोदश सूत्राणि व्याख्येयानि।

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो अ जो तेसु स वीयरागो ॥ ३५ ॥
सद्दस्स सोयं गहणं वयंति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ॥
रागस्स हेउं तु मणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ ३६ ॥
सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिउ व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते स वेइ मच्चुं ॥ ३७ ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥ ३८ ॥
एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ वाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ३९ ॥
सद्दाणुगाऽऽसाऽणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहिँ ते परितावेइ वाले,
पीलेइ अत्तट्ठ गुरू किलिट्ठे ॥ ४० ॥
सद्दाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ? ॥ ४१ ॥
सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाऽऽविले आययई अदत्तं ॥ ४२ ॥
तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ४३ ॥
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ४४ ॥
सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥ ४५ ॥
एमेव सद्दम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ४६ ॥
सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेणं ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ४७ ॥
घाणस्स गंधं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ४८ ॥
गंधस्स घाणं गहणं वयंति,
घाणस्स गंधं गहण वयंति ।
रागस्स हेउं तु मणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ४९ ॥
गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥ ५० ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि गंधं अवरज्झई से ॥ ५१ ॥
एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे,

अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ वाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ५२ ॥
गंधाणुगाऽऽसाऽणुगए य जीवे,
चराचरं हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परितावेइ वाले,
पीलेइ अत्तट्ठ गुरू किलिट्ठे ॥ ५३ ॥
गंधाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कह सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ?॥ ५४ ॥
गंधे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाऽऽविले आययई अदत्तं ॥ ५५ ॥
तण्हाऽऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
गंधे अतितस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ५६ ॥
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ५७ ॥
गंधाणुरत्तस्स नरस्स एव,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥ ५८ ॥
एमेव गंधम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ५९ ॥
गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ६० ॥
जीहाए रसं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ६१ ॥
रसस्स जीहं गहणं वयंति,
जीहाए रसं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ६२ ॥
रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥ ६३ ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि रसं अवरज्झई से ॥ ६४ ॥
एगंतरत्ते रुइरंसि रसे,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ वाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ६५ ॥
रसाणुगाऽऽसाऽणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परितावेइ वाले,
पीलेइ अत्तट्ठ गुरू किलिट्ठे ॥ ६६ ॥
रसाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ? ॥ ६७ ॥
रसे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाऽऽविले आययई अदत्तं ॥ ६८ ॥
तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मयामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ६९ ॥
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ७० ॥
रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥ ७१ ॥
रसम्मि एमेव गओ पओसं,

उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ७२ ॥
रसे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ७३ ॥
कायस्स फासं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ७४ ॥
फासस्स कायं गहणं वयंति,
कायस्स फासं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ७५ ॥
फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे वऽरन्ने ॥ ७६ ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि फासं अवरज्झई से ॥ ७७ ॥
एगंतरत्ते रुइरंसि फासे,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ७८ ॥
फासाणुगाऽऽसाऽणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहिँ ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठ गुरू किलिट्ठे ॥ ७९ ॥
फासाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ? ॥ ८० ॥
फासे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाऽऽविले आययई अदत्तं ॥ ८१ ॥
तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ८२ ॥
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ८३ ॥
फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥ ८४ ॥
एमेव फासम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ८५ ॥
फासे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ८६ ॥
मणस्स भावं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ८७ ॥
भावस्स मणं गहणं वयंति,
मणस्स भावं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ८८ ॥
भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणुमग्गावहिए व्व नागे ॥ ८९ ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥ ९० ॥
एगंतरत्ते रुइरंसि भावे,
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ९१ ॥
भावाणुगाऽऽसाऽणुगए य जीवे,

चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहिँ ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठ गुरू किलिट्ठे ॥ ६२ ॥
भावाणुवाएण परिग्गहेणं,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तलाभे ? ॥ ६३ ॥
भावे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाऽऽविले आययई अदत्तं ॥ ६४ ॥
तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ६५ ॥
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ६६ ॥
भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥ ६७ ॥
एमेव भावम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ६८ ॥
भावे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ६९ ॥

नवरं 'श्रोत्रस्येति' श्रोत्रेन्द्रियस्य,शब्यत इति शब्दो-ध्वनिस्तं, 'मनोज्ञं' काकलीगीताऽऽदि, अमनोज्ञं' खरकर्कशाऽऽदि, तथा ( हरिणमिय व्व मुद्धे त्ति ) मृगः सर्वोऽपि पशुरुच्यते, यदुक्तम्-" मृगशीर्षे हस्तिजातौ, मृगः पशुकुरङ्गयोः।" इति। हरिणस्तु कुरङ्ग एवेति तेन विशेष्यते, हरिणश्चासौ मृगश्च हरिणमृगः, 'मुग्धः' अनभिज्ञः सन्, 'शब्दे' गौरिगीताऽऽत्मकेऽतृप्त.-तदाकृष्टचित्ततया तत्रातृप्तिमान् । 'घ्राणस्य' इति । घ्राणेन्द्रियस्य, गन्ध्यते घ्रायत इति गन्धस्तं 'मनोज्ञं' सुरभिम्, 'अमनोज्ञम्' असुरभिम्,तथौषधयो-नागदमन्यादिकास्तासा गन्धस्तत्र गृद्धो-गृद्धिमानौषधिगन्धगृद्ध सन्, ( सप्पे बिलाओ विव त्ति ) इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्सर्प इव बिलान्निष्क्रामन्, स हत्यन्तमियतया तद्गन्ध सोढुमशक्नुवन् बिलान्निष्क्रामति ३। 'जिह्वायाः' जिह्वेन्द्रियस्य, रस्यते आस्वाद्यत इति रसस्तं 'मनोज्ञं' मधुराऽऽदि, 'अमनोज्ञं' कटुकाऽऽदि, तथा वडिशं प्रान्तन्यस्ताऽऽमिषो लोहकीलकस्तेन विभिन्नकायो-विदारितशरीरो वडिशविभिन्नकाय., 'मत्स्य.' मीनो यथाऽऽमिषस्य मांसाऽऽदेर्भोगः अभ्यवहारस्तत्र गृद्ध आमिषभोगगृद्धः ४। काय इह स्पर्शेनेन्द्रियं,सर्वशरीरगतत्वकृख्यापनार्थं वाऽस्यैवमुक्तं, तस्य,स्पृश्यत इति स्पर्शस्तं 'मनोज्ञं' मृदुप्रभृति, 'अमनोज्ञं' कर्कशाऽऽदि,शीनं शीतस्पर्शवज्जलं- पानीयं,तत्रावसन्न अवमग्नः शीतजलावसन्नो, ग्राहैः-जलचरविशेषैर्गृहीतः--क्रोडीकृतो ग्राहगृहीतो महीप इवारण्ये, वसतौ हि कदाचित्केनचिदुन्मोच्येतापीत्यरण्यग्रहणम् ५। 'मनस.' चेतसो भावः अभिप्रायः स चेह स्मृतिगोचरस्तं. 'ग्रहणं' ग्राह्यं वदन्तीन्द्रियाविषयत्वात्तस्य। 'मनोज्ञं' मनोज्ञरूपाऽऽदिविषयम् 'अमनोज्ञं' तद्विपरीतविषयम्। एवमुत्तरग्रन्थोऽपि भावविषयरूपाऽऽद्यपेक्षया व्याख्येयः। यद्वा स्वप्नकामदशाऽऽदिषु भावोपस्थापितो रूपाऽऽदिरपि भाव उक्तः,स मनसो ग्राह्यः स्वप्नकामदशाऽऽदिषु हि मनस एव केवलस्य व्यापार इति।'कामगुणेषु' मनोज्ञरूपाऽऽदिषु 'गृद्धः' आसक्तः ( करेणुमग्गावहिए व णागे इति ) इवार्थस्य चस्य भिन्नक्रमत्वात् करेणवा करिण्या, मार्गेण--निजपथेनापहृतः- आकृष्टः करेणुमार्गापहृतः, 'नाग इव' हस्तीव। स हि मदान्धोऽप्यदूरवर्तिनीं करेणुमुपदर्श्य तद्रूपाऽऽदिमोहितस्तन्मार्गानुगामितया च गृह्यते संग्रामाऽऽदिषु च प्रवेश्यते,तथा च विनाशमाप्नोतीति दृष्टान्तत्वेनोक्तः। आह-एवं चक्षुरादीन्द्रियवशादेव गजस्य प्रवृत्तिरिति कथमस्याऽत्र दृष्टान्तत्वेनाभिधानम् ?। उच्यते, एवमेतत्, मनःप्राधान्यविवक्षया त्वेतन्नेयम्। यदि वा--तथाविधकामदशाया चक्षुरादीन्द्रियव्यापाराभावेऽपि मनस प्रवृत्तिरिति न दोषः। इह चानानुपूर्व्यपि निर्देशाङ्गमितीन्द्रियाणामित्थमुपन्यास इत्यष्टसप्ततिसूत्रावयवार्थ.।

उक्तमेवार्थं सङ्क्षेपत उपसंहारव्याजेनाऽऽह-

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करिंति किंचि ॥ १०० ॥

एवम् उक्तन्यायेन, 'इन्द्रियार्थाः' चक्षुरादिविषया रूपाऽऽदय.,चशब्दो भिन्नक्रमः। ततो मनसोऽर्थाश्च उक्तरूपा., उपलक्षणत्वादिन्द्रियमनांसि च दु खस्य ( हेउं ति ) हेतवो मनुजस्य रागिण , उपलक्षणत्वाद् द्वेषिणश्च। विपर्यये गुणमाह-'ते चैव' इन्द्रियमनोऽर्था. 'स्तोकमपि' स्वल्पमपि, कदाचिद् दु.खं ( न ) नैव वीतरागस्य, उपलक्षणत्वाद्वीतद्वेषस्य, कुर्वन्ति 'किञ्चिदिति' शारीरं मानसं चेति सूत्रार्थः।

ननु न कश्चन कामभोगेषु सत्सु वीतराग संभवति, तत्कथमस्य दुःखाभाव ?, उच्यते-

न कामभोगा समयं उविंति,
न यावि भोगा विगइं उविंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥ १०१ ॥

(न) नैव 'कामभोगाः' उक्तरूपाः, 'समतां' रागद्वेषाभावरूपाम् 'उपयान्ति' उपगच्छन्ति, हेतुत्वेनेति गम्यते। तद्धेतुत्वे हि तेषां न कश्चिद्रागद्वेषवान् भवेत्। न चाऽपि 'भोगा' भुज्यमानतया सामान्येन शब्दाऽऽद्य 'विकृतिं' क्रोधाऽऽदिरूपाम्, इहापि हेतुत्वेनोपयन्तीत्यन्यथा न कश्चन रागद्वेषरहितः स्यात्। कोऽनयोस्तर्हि हेतुः?, इत्याह-यः 'तत्प्रद्वेषी च' तेषु विषयेषु प्रद्वेषवान् 'परिग्रही च' परिग्रहबुद्धिमान्, तेष्वेव रागीत्युक्तं भवति, स 'तेषु' विषयेषु, 'मोहात्' रागद्वेषाऽऽत्मकात् मोहनीयात् विकृतिमुपैति, रागद्वेषरहितस्तु समतामित्यर्थादुक्तम्। उक्तं हि पूर्वं- सतोरेव रागद्वेषयोरुदीरकत्वेन शब्दाऽऽद्यो हेतवः' इति। आह- "समो य जो तेसु स वीयरागो" इत्यनेनैव गतार्थमेतत्, सत्य, तस्यैव त्वयं प्रपञ्चः। उक्तं हि-'त एव विषयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्चोच्यते।' इति सूत्रार्थः।

किंस्वरूपा पुनरसौ विकृतिर्यो रागद्वेषवशादुपैतीत्याह-

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं दुगंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं,
नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥ १०२ ॥
आवज्जई एवमणेग रूवे,
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे,
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्सो ॥ १०३ ॥

क्रोध च मानं च तथैव मायां लोभं-चतुष्टयमप्युक्तरूपं, 'जुगुप्सां' विचिकित्साम्, 'अरतिम्' अस्वास्थ्यं, 'रतिं च' विषयाऽऽसक्तिरूपां, 'हास च' वक्त्रविकाशलक्षणं, 'भयं' साध्वसं, शोकपुंस्त्रीवेदमिति समाहारनिर्देशः। ततः शोकं-प्रियविप्रयोजं मनोदुःखाऽऽत्मकं, पुवेदं-स्त्रीविषयाभिलाषं, स्त्रीवेद-पुरुषाभिष्वङ्गं, (नपुंसवेय त्ति) नपुंसकवेदम्-उभयाभिलाषं, 'विविधांश्च' नानाविधान् 'भावान्' हर्षविषादाऽऽदीनभिप्रायान् 'आपद्यते' प्राप्नोति, 'एवम्' अमुना रागद्वेषवत्तालक्षणेन प्रकारेण 'अनेकरूपान्' बहुभेदाननन्तानुबन्ध्यादिभेदेन तारतम्यभेदेन च 'एवंविधान्' उक्तप्रकारान्, विकारानिति गम्यते, 'कामगुणेषु' शब्दाऽऽदिषु 'सक्तः' अभिष्वङ्गवान्, उपलक्षणत्वाद् द्विष्टश्च, अन्यांश्च 'एतत्प्रभवान्' क्रोधाऽऽदिजनितान् विशेषान्' परितापदुर्गतिपाताऽऽदीन्, कीदृशः सन्? इत्याह-कारुण्याऽऽस्पदीभूतो दीन कारुण्यदीनो, मध्यपदलोपीसमासः। अत्यन्तदीन इत्यर्थः। (हिरिमे त्ति) 'ह्रीवान्' लज्जावान्, कोपाऽऽद्यापन्नो हि प्रीतिविनाशाऽऽदिकमिहैवानुभवन् परत्र च तद्विपाकमतिकटुकं विभावयन् प्राप्नोति, दैन्यं लज्जां च भजते, तथा (वइस्स त्ति) आर्षत्वात् 'द्वेष्य' तत्तद्दोषदुष्टत्वात्सर्वस्याप्रीतिभाजनमिति सूत्रद्वयार्थ।

यतश्चैवं रागद्वेषावेव दुःखमूलमत प्रकारान्तरेणाऽपि तयोरुद्धरणोपायाभिधानार्थं तद्विपर्यये दोषदर्शनार्थं चेदमाह-

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू,
पच्छाणुतावे य तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे,
आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥ १०४ ॥

कल्पते-स्वाध्यायाऽऽदिक्रियासु समर्थो भवतीति कल्पो-योग्यस्तम्, अपेर्गम्यमानत्वात्कल्पमपि, किं पुनरकल्पम्?, शिष्याऽऽदीति गम्यते, 'नेच्छेत' नाभिलषेत् (सहायलिच्छु त्ति) बिन्दोरलाक्षणिकत्वात् 'सहायं लिप्सुः' ममाऽसौ शरीरसंबाधनाऽऽदि साहाय्यं करिष्यतीत्यभिलाषुकः सन्, तथा पश्चादिति-प्रस्तावाद् व्रतस्य तपसो वाऽङ्गीकारादुत्तरकालमनुतापः-किमेतावन्मया कष्टमङ्गीकृतमिति चित्तबाधाऽऽत्मको यस्य स तथाविधः, चशब्दादन्यादृशश्च सम्भूतयतिवद् भवान्तरे भोगस्पृहयालुः, तपःप्रभावं, प्रक्रमाच्छेद्, यथा न शक्यमङ्गीकृतं त्यक्तुं, परं यद्यस्य व्रतस्य तपसो वा फलमस्ति तत् एतस्मादिहैवामर्षौषध्यादिलब्धिरस्तु तदन्यादृशापेक्षया तु भवान्तरे शक्रचक्रिविभूत्यादि भूयादिति किमेवं निषिध्यते? इत्याह-'एवम्' अमुना प्रकारेण, 'विकारान्' दोषान्, 'अमितप्रकारान्' अपरिमितभेदान् 'आपद्यते प्राप्नोति, इन्द्रियाणि चौरा इव धर्मसर्वस्वापहरणाद् इन्द्रियचौरा, तद्वश्यः-तदायत्त। उक्तविशेषणविशिष्टस्य हि कल्पतपःप्रभाववाञ्छारूपेण स्पर्शनाऽऽदीन्द्रियवश्यता अवश्यसंभाविनी, ततश्चोत्तरोत्तरविशेषानभिलषतः संयमं प्रति चित्तविप्लुत्यवधावनाऽऽदिदोषा अपि सम्भवन्त्येवेति। एव च ब्रुवतोऽयमाशयः-तदनुग्रहबुद्ध्या कल्पं, पुष्टाऽऽलम्बनेन च तपःप्रभावं च वाञ्छतोऽपि न दोषः। अथवा-कल्पमुक्तरूप नेच्छेत्सहायलिप्सुं यदि कथञ्चनामी मम धर्मसहाया भवन्तीत्येवमभिलाषुकमपि, आस्तामन्यमिति भावः, जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्, एतेन च रागस्य हेतुद्वयपरिहरणमुद्धरणोपाय उक्तः, उपलक्षणं चैतदीदृशामन्येषामपि रागहेतूना च परिहारस्य, ततः सिद्ध द्वयोरप्युद्धरणोपायानां तद्विपर्यये च दोषाणामभिसन्धानमिति सूत्रार्थः॥

अनन्तरं रागद्वेषोद्धरणोपायविपर्यये यो दोष उक्तस्तमेव दोषान्तरहेतुताऽभिधानद्वारेण समर्थयितुमाह—

तओ से जायंति पओअणाइं,
निमज्जिउं मोहमहण्णवंसि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा,
तप्पच्चया उज्जमए अ रागी ॥ १०५ ॥

'ततः' इति विकाराऽऽपत्तेरनन्तरं (से) तस्य 'जायन्ते' उत्पद्यन्ते 'प्रयोजनानि' विषयसेवनप्राणिहिंसाऽऽदीनि, 'निमज्जितुं' इत्यन्तर्भावितण्यर्थत्वान्निमज्जयितुमिव निमज्जयितुं, प्रक्रमात्तमेवं जन्तुं, मोहो महार्णव इवातिदुस्तरतया मोहमहार्णवस्तस्मिन्। किमुक्तं भवति?-यैर्मोहमहार्णवनिमग्न इव जन्तुः क्रियते, स हि उत्पन्नविकारतया मूढ एवाऽऽसीत्, विषयाऽऽसेवनाऽऽदिभिश्च प्रयोजनैः सुतरां मुह्यतीति। कीदृशस्य पुनरस्य किमर्थं चैवंविधप्रयोजनानि जायन्ते?। इत्याह-'सुखैषिणः' सुखाभिलषणशीलस्य 'दुःखविनोदार्थं' दुःखपरिहारार्थं, पाठान्तरतो-दुःखविमोचनार्थं

वा, सुखैषितायां हि दुःखपरिहाराय विषयसेवनाऽऽदिप्रयोजनसम्भव इति भावः। कदाचिदेवंविधप्रयोजनोत्पत्तावपि तत्रायमुदासीन एव स्यात् ?, अत्रोच्यते 'तत्प्रत्ययम्' उक्तरूपप्रयोजननिमित्तं, पाठान्तरतः-तत्प्रत्ययायुद्यच्छति, चशब्दस्यैवकारार्थत्वादुद्यच्छत्येव, कोऽर्थः ? तत्प्रवृत्त्यादुत्सहत एव, 'रागी' रागवान्, उपलक्षणत्वाद् द्वेषी च सन्, रागद्वेषयोरेव सकलानर्थपरम्पराकारणत्वादिति सूत्रार्थः॥

किमिति रागद्वेषवत एव सकलाऽप्यनर्थपरम्परोच्यते ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा,
निव्वत्तयंती अमणुन्नय वा॥ १०६॥

विरज्यमानस्येति, उपलक्षणत्वाद् द्विषतश्च, 'चः' पुनरर्थे, ततो विरज्यमानस्य द्विषतश्च पुनः, 'इन्द्रियार्थाः' शब्दाऽऽदिकाः। पाठान्तरतो वर्णाऽऽदिका वा। तावन्त इति यावन्तो लोके प्रतीताः प्रकाराः खरमधुराऽऽदिभेदा येषां ते तावत्प्रकाराः, बहुप्रभेदा इत्यर्थः। न 'तस्य' इति मनुजस्य, 'सर्वेऽपि' समस्ता अपि, मनोज्ञतां वा 'निर्वर्त्तयन्ति' जनयन्त्यमनोज्ञतां वा निर्वर्त्तयन्ति। किन्तु रागद्वेषवत एव स्वरूपेण हि रूपाऽऽदयो न मनाज्ञतामनोज्ञतां वा कर्तुमात्मनः क्षमाः, किं तु रक्तेतरप्रतिपत्त्रध्यवसायवशात्। उच्यते चान्यैरपि-" परिव्राट्कामुकशुना-मेकस्यां प्रमदातनौ। कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पना॥ १॥" ततो वीतरागस्य तन्निर्वर्त्तनहेत्वभावात् कथममी मनोज्ञतामनोज्ञतां वा निर्वर्त्तयेयुः ?, तदभावे च कथं विषयसेवनाऽऽक्रोशदानाऽऽदिप्रयोजनोत्पत्तिः ?, इति पूर्वं सति मनोज्ञत्वेऽमनोज्ञत्वे च सम्यक् रूपाऽऽदीनामाक्षिप्तकरत्वमुक्तम्, इह तु मनोज्ञत्वामनोज्ञत्वे अपि तादृशस्य न भवत एवेत्युच्यत इति पूर्वस्माद्विशेष इति सूत्रगर्भार्थः।

तदेवं यदा "जे जे उपाया पडिवज्जियव्वा" इति प्रतिज्ञा तदा रागद्वेषयोर्मोहस्य च परस्पराऽऽयतनत्वेऽपि रागद्वेषयोरतिदुष्टत्वात्साक्षात् मोहस्य च तदायतनत्वात्तद्द्वारेणोद्धरणोपायान् प्रतिपत्तव्यानुरूप्य, यदा तु " जे जे अवाया परिवज्जिया " इति पाठः तदा रसानिषेवणाऽऽदीनपायानुक्त्वाऽऽयतोऽभिधायोपसंहरन्नाह-

एवं ससंकप्पविकप्पणासु,
संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से,
पहीयए कामगुणेसु तण्हा॥ १०७॥

'एवम्' उक्तप्रकारेण, स्वस्य-आत्मनः, सङ्कल्पाः-प्रक्रमाद्रागद्वेषमोहरूपाध्यवसायाः, तेषां विकल्पनाः-सकलदोषमूलत्वाऽऽदिपरिभावनाः स्वसङ्कल्पविकल्पना तासूपस्थितस्य-उद्यतस्येति सम्बन्धः। किमित्याह-'संजायते' समुत्पद्यते, (समय त्ति) आर्षत्वात् 'समता' माध्यस्थ्यम्, अर्थान्-इन्द्रियार्थान्, रूपाऽऽदींश्चान्यत्र निष्क्रमत्वात्, सङ्कल्पयतश्च यथा नैवैतेऽपायहेतवः, किं तु रागाऽऽदय एवेत्युक्तनीत्या चिन्तयतः, यदि वा-समता-परस्परमध्यवसायतुल्यता, सा चाऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान एव, एतत्प्रतिपत्तॄणां हि बहूनामप्येकरूप एवाध्यवसाय इत्यनयैतदुपलक्ष्यते। तथा-'अर्थान्' जीवाऽऽदीन् 'सङ्कल्पयतश्च' शुक्लध्यानविषयतयाऽध्यवस्यतः; 'ततः' इति समतायाः (से) तस्य जन्तोः (साधोः) 'प्रहीयते' प्रकर्षेण हानिं याति, काऽसौ ? 'कामगुणेषु' रूपाऽऽदिषु 'तृष्णा' अभिलाषो, लोभ इति यावत्। समतायां हि द्विविधायामपि प्राप्तायामुत्तरोत्तरगुणस्थानावाप्त्या क्षीयत एव लोभ इति। अथवा-'एवम्' उक्तप्रकारेण, 'समकम्' एककालम्, 'उपस्थितस्य' उद्यतस्य, रागाऽऽद्युद्धरणोपायेष्विति प्रक्रमः। यदि वा-'समयम्' एतदभिधायकम्, सिद्धान्तं प्रति इति शेषः। 'उपस्थितस्य' तदुक्तार्थानुष्ठानोद्यतस्येत्यर्थः। किमित्याह-स्वसङ्कल्पानाम् आत्मसम्बन्धिनां रागाऽऽद्यध्यवसायानां विकल्पना-विशेषेण छेदनं स्वसङ्कल्पविकल्पना, दृश्यते हि छेदनार्थेऽपि कल्पशब्दः। यथोक्तम्-"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा। औपम्ये चाऽधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः॥ १॥" (आसु त्ति) 'आशु' शीघ्रं संजायते भवति। पठन्ति-" ससंकप्पविकप्पणासो " त्ति। तथा " अत्थे असंकप्पयतो " त्ति। तत्र च स्वस्य-आत्मनः सङ्कल्पः अध्यवसायस्तस्य विकल्पा-रागाऽऽदयो भेदास्तेषां नाशः अभावः स्वसङ्कल्पविकल्पनाशः, तथा च को गुणः ?, इत्याह-'अर्थान्' रूपाऽऽदीन् असङ्कल्पयतः रागाऽऽदिविषयतयाऽनध्यवस्यतः 'ततः' इति स्वसङ्कल्पविकल्पनातः स्वसङ्कल्पविकल्पनाशाद्वा (से) तस्य प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णेति सूत्रार्थः।

ततः स कीदृशः सन् किं विधत्ते ?, इत्याह-

सो वीयरागो कयसव्वकिच्चो,
खवेइ नाणाऽऽवरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ,
जं चंतरायं पकरेइ कम्मं॥ १०८॥

'सः' इति हीनतृष्णो 'वीतरागः' विगतरागद्वेषो भवति, तृष्णा हि लोभः, तत्क्षये च क्षीणकषायगुणस्थानावाप्तिरिति, तथा कृतसर्वकृत्य इव कृतसर्वकृत्यः, प्राप्तप्रायत्वादेतेन मुक्तेः। 'क्षपयति' क्षयं नयति 'ज्ञानाऽऽवरणं' वक्ष्यमाणस्वरूपं 'क्षणेन' समयेन, तथैव यद् 'दर्शनं' चक्षुर्दर्शनाऽऽदि 'आवृणोति' स्थगयति, दर्शनाऽऽवरणमित्यर्थः, यच्च 'अन्तरायं' दानाऽऽदिलब्धिविघ्नं प्रकरोति 'कर्म' अन्तरायनामकमित्युक्तं भवति, स हि क्षपितमोहनीयस्तीर्णमहासागर इव श्रमोपेतो विश्रम्यान्तर्मुहूर्त्तं तद् द्विचरमसमये निद्राप्रचले देवगत्यादिनामप्रकृतीश्च क्षपयति, चरमसमये च ज्ञानाऽऽवरणादित्रयमिति सूत्रार्थः।

ननु तत्क्षयाच्च कं गुणमवाप्नोति ?, इत्याह-

सव्वं तओ जाणइ पासई य,
अमोहणो होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्तो,
आउक्खए मुक्खमुवेइ सुद्धे॥ १०९॥

'सर्वं' निरवशेषं, 'ततः' ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिक्षयात् 'जानाति' विशेषरूपतयाऽवगच्छति, पश्यति च सामान्यरूपतया, 'चः' समुच्चयार्थः, तत एतत् भेदविषयत्वात् समुच्चयस्य

पृथगुपयोगत्वमनयोः सूच्यते। ततश्च यदुक्तं युगपदुपयोगवादिना-"मणपज्जवणाण नो,णाणस्स य दसणस्स य विसेसो। केवलणाण पुण द-सण ति नाण ति य समाण ॥१॥ ' इति। तन्निराकृत भवति। तथा च प्रज्ञप्त्यामभिहितम्-" जं समय जाणति णो त समयं पासति।" तथा-" केवली ण भंते! इम रयणप्पभ पुढविं आगारेहिं पमाणेहिं हेऊहिं संठाणेहिं परिवारेहिं ज समय जाणइ, नो तं समय पासति ? । हता गोयमा! केवली ण" इत्यादि। न चात्र केवलिशब्देन छद्मस्थ एव श्रुतकेवल्यादिर्विवक्षित इति वाच्य, यत इहाऽऽद्यसूत्रे स्नातक एव प्रस्तुत, स च घातिकर्मक्षयादेव भवतीति न तस्य छद्मस्थतासम्भव। द्वितीयसूत्रे तु परमाणुदर्शमेव प्रक्रान्त, तस्य च केवलं विना परमावधेस्ततो वा किञ्चिन्न्यूनस्यैव सम्भव, तत्र च तौ व्यवच्छेदितावित्ति केवलमेवावशिष्यते। उक्तं च पूज्यैः-" ते दोऽवि विसेसेउ, अन्नो छउमत्थ केवली को सो ? । जो पासइ परमाणु, गहणमिह जस्स होज्जाहि ॥ १ ॥" न चैवमप्यस्मिन् विशेषवति सूत्रे परवक्तव्यतैवेयमित्यपगन्तुमुचितम्। यतः उक्त हि-" एव विसेसियम्मि वि, परमयमेगतरोवओगो त्ति। ण पुण उभओवओगो, परवत्तव्व त्ति का युक्ती ? ॥ १ ॥" इत्यादि कृत प्रसङ्गेन। प्रकृतमुच्यते-तथा चाऽमोहन -मोहरहितो भवति,तथा निष्क्रान्तोऽन्तरायात् निरन्तराय, अनाश्रव प्राग्वत्, ध्यान शुक्लध्यान, तेन समाधि परमस्वास्थ्य, तेन युक्त, सहितो ध्यानसमाधियुक्तः, आयुषः, उपलक्षणत्वान्नामगोत्रवेद्याना च क्षय आयुःक्षयस्तस्मिन् सति मोक्षम ' उपैति ' प्राप्नोति, ' शुद्ध ' विगतकर्ममल इति सूत्रार्थ।

मोक्षगतश्च यादृशो भवति तदाह-

**सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं।**
**दीहामयव्विप्पमुक्को पसत्थो,तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो।११०**

'सः' इति मोक्षप्राप्तो जन्तु 'तस्मात्' इति जातिजरामरणरूपत्वेन प्रतिपादितात् ' सर्वस्मात् ' निरवशेषाद् दुःखात्; सर्वत्र सुव्यत्ययेन षष्ठी। ' मुक्तः' पृथग्भूत। यत् कीदृगित्याह-' यद् ' दु ख ' बाधते ' पीडयति, ' सततम् ' अनवरत, ' जन्तु ' प्राणिनम् , ' एत ' प्रत्यक्षमनुभवोपदर्शनमेतत्, दीर्घाणि यानि, स्थितित प्रक्रमात्कर्माणि, तान्यामया इव रोगा इव विविधबाधाविधायितया दीर्घामया , तेभ्यो विप्रमुक्तो दीर्घाऽऽमयविप्रमुक्तः,अत एव ' प्रशस्त ' प्रशसार्ह। ततः किमित्याह-(तो) इति ' तत ' दीर्घाऽऽमयविप्रमोक्षाद् भवति जायतेऽत्यन्तम्-अतिक्रान्तपर्यन्त, सुख शर्म, तदस्यास्तीत्यत्यन्तसुखी,तत एव च ' कृतार्थः ' कृतसकलकृत्य इति सूत्रार्थः।

सकलाध्ययनार्थं निगमयितुमाह-

**अणाइकालप्पभवस्स एसो,**
**सव्वस्स दुक्खस्स पमुक्खमग्गो।**
**वियाहिओ जं समुवेच्च सत्ता,**
**कमेण अच्चंतसुही भवंति ॥ १११ ॥ त्ति बेमि ॥**

अनादिकालप्रभवस्य अनादिकालोद्भवस्य, ' एष ' अनन्तरोक्त, सर्वस्य दुःखस्य ' प्रमोक्षमार्ग ' प्रमोक्षोपायः, पाठान्तरतश्च-संसारचक्रस्य विमोक्षमार्गो, व्याख्यात, यः, कीदृशः ?, इत्याह-' य ' दुःखप्रमोक्षमार्गं ' समुपेत्य ' सम्यक् प्रतिपद्य, ' सत्त्वाः ' प्राणिन , ' क्रमेण ' उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिरूपेणात्यन्तसुखिनो भवन्तीति सूत्रार्थः। इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्। अवसितोऽनुगमो, नयाश्च प्राग्वत्। उत्त० पाई० ३२ अ०।

**पमायपच्चइय-प्रमादप्रत्यय-पुं०।** प्रमादलक्षणकारणे, भ० ८ श० ए उ०।

**पमायपडिलेहा-प्रमादप्रत्युपेक्षणा-स्त्री०।** शैथिल्येनाऽऽक्षातिक्रमलक्षणेन वा प्रमादेन प्रत्युपेक्षणायाम्, स्था०।

**छव्विहा पमायपडिलेहा पणत्ता। तं जहा-( स्था० )-**
**"आरभडा संमद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।**
**पप्फोडणा चउत्थी,विक्खित्ता वेइया छट्ठी॥४२७॥"ओघ०।**

( अस्या गाथाया विशेषतो व्याख्या ' पडिलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४५ पृष्ठे गता) षष्ठी प्रमादप्रत्युपेक्षणेति प्रक्रमः। इह गाथे-

" वितहकरणम्मि तुरियं, अन्न अन्न च गेण्ह आरभडा।
अंतो व्व होज्ज कोणा, निसियण तत्थेव सम्मद्दा ॥ ४२८ ॥
मोसलि पुव्वुद्दिट्ठा, पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव।
विक्खेव तुक्खेवो, वेइयपणग च छद्दोसा ॥ ४२९ ॥ " इति। ( ओघ० ) स्था० ६ ठा०। ( आसां गाथानामर्थ ' पडिलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४५ पृष्ठे गत )

**पमायपडिसेवणा-प्रमादप्रतिसेवणा-स्त्री०।** परिहासविकथाऽऽदिभिरासेवनायाम्, स्था० १० ठा०। ( प्रमादप्रतिसेवनाया सर्वो विषय 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते )

**पमायपर-प्रमादपर-त्रि०।** प्रमादनिष्ठे, आव० ४ अ०।

**पमायपरिहार-प्रमादपरिहार-पुं०।** प्रागुक्ताष्टविधप्रमादत्यागे, ध० ४ अधि०। " प्रमादपरिहाराय, महात्मानमर्थ्यस्मभे। कृतार्थानां निरपेक्षो, यतिधर्मोऽतिसुन्दर ॥ १ ॥ " ध० ४ अधि०।

**पमायप्पमाय-प्रमादाप्रमाद-न०।** प्रागुक्तप्रमादाप्रमादस्वरूपभेदफलविपाकप्रतिपादकेऽध्ययने, तच्चोत्कालिकम्। न०। पा०।

**पमायमइरागत्थ-प्रमादमदिराग्रस्त-त्रि०।** प्रमादो निद्राविकथाऽऽदिरूपः, स एव मदिरा वारुणी प्रमादमदिरा, तया ग्रस्त। तथाविधतत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अधि०।

**पमायवसग-प्रमादवशग-त्रि०।** प्रमादपरवशे, ग० १ अधि०।

**पमायसंग-प्रमादसङ्ग-पुं०।** मद्यविषयाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

**पमायसुत्त-प्रमादसूत्र-न०।** प्रमादप्रतिपादके सूत्रे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०।

**पमायायरिय-प्रमादाऽऽचरित-न०।** प्रमादो मद्यविषयकषायनिद्राविकथालक्षण, तेन तस्य वाऽऽचरितमनुष्ठानं प्रमादाऽऽचरितम्। मद्याऽऽदिना कृत्यानुष्ठाने, आत्मस्वोपहतकृत्ये, "पमायाऽऽयरिएहिं सप्पयाणपावोवएसे अ।" (२३ गाथा) इह छन्दोभङ्गभयात् " पमयाऽऽयरिए " इत्युक्तम् (पञ्चा०) अय चानर्थदण्डभेद, तत्त्वं च-अस्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्ध्या द्रष्टव्यम्। अथवा-प्रमादाऽऽचरितमात्मस्योपहतकृत्यम्। तच्चाभिनतैलघृतभाजनधारणाऽऽदि सत्त्वोपघातहेतुभूतमिति। पञ्चा० १ विव०। उपा०। ध०। आव०।

**पमायायरण-प्रमादाऽऽचरण**-न०। प्रमादेन प्रमादस्य वाऽऽचरणे, ध०२ अधि० ।(प्रमादश्च पञ्चविध 'पमाय'शब्देऽनुपदमेव गत )

**पमार-प्रमार**-पुं०। मूर्च्छाविशेषे मारणस्थाने, स्था० ५ ठा० १ उ० । मरणक्रियाप्रारम्भे, भ० १५ श० ।

**पमारणा-प्रमारणा**-स्त्री० । कुमारणमारणायाम्, व्य० ३ उ० ।

**पमिइ-प्रमिति**-स्त्री० । प्रमाणफले, स्या० ।

**पमिलाण-प्रम्लान**-त्रि०। वर्णाऽऽदिना हीने,स्था० ३ ठा०१उ०।

**पमिल्लंत-प्रमीलत्**-त्रि० । " प्राऽऽत्मीले " ॥ ८ । ४ । २३२ ॥ इति लद्वित्वम् । प्रसङ्कुच्यमाने, प्रा० ४ पाद ।

**पमुइय-प्रमुदित**-त्रि० । प्रमोदकारणवस्तूनां सद्भावात् (ज्ञा० १ श्रु० १ अ०) हर्षं गते, ज० १ वक्ष० । ज्ञा० । प्रमोदवति, सू० प्र० १ पाहु० । रा० । तं० । भ० । नि० । सुभिक्षाऽऽदिना हृष्टे,कल्प० १ अधि० ४ क्षण । औ० ।

**पमुइयजणजाणवया-प्रमुदितजनजानपदा**-स्त्री०। नगरीविशेषे, प्रमुदिता प्रमोदवन्तः,तत्र प्रमोदहेतुवस्तुसद्भावात् । जना नगरीवास्तव्या लोका , जानपदा जनपदोद्भवास्तत्र प्रयोजनवशादायाता' सन्तो यत्र सा प्रमुदितजनजानपदा । रा०। औ०।

**पमुइयपकीलिया-प्रमुदितप्रक्रीडिता**-स्त्री० । प्रमुदितजनयोगात्प्रमुदिता, प्रक्रीडितजनयोगात्प्रक्रीडिता, ततः कर्मधारयः। प्रमुदितप्रक्रीडिता । भ० ११ श०११ उ० । प्रमुदिताश्च ते तोषवन्तः प्रक्रीडिताश्च प्रकृष्टक्रीडा प्रमुदितप्रक्रीडिता । ज० १ श०८ उ०।

**पमुइयवरतुरगसीहवरवट्टियकडी-प्रमुदितवरतुरगसिंहवरवर्तितकटी**-स्त्री० । प्रमुदितो रोगशोकाऽऽद्यभावेन पुष्टो यौवन प्राप्त इति गम्यते । वर प्रधानो यस्तुरगोऽश्व , सिंहवरः प्रधानसिंहः तद्वत् वर्तिता कटी नितम्बप्रदेशो यासा ता. । सूक्ष्मकक्ष्यां स्त्रियाम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**पमुंचमाण-प्रमुञ्चत्**-त्रि० । क्षिपति, " जालासहस्साइं पमुचमाणाइ ।" स्था० ८ ठा० ।

**पमुक्क-प्रमुक्त**-त्रि० । प्रकर्षेण मुक्तः । " समासे वा " ॥ ८ । २ । ९७ ॥ इति कस्य द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । नि सङ्गे, निष्किञ्चने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

**पमुह-प्रमुख**-पुं० । प्रगत मुख यस्य स तथा । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । स्था० । पञ्चाशत्तमे महाग्रहे, " दो पमुहा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । चं० प्र० । आपाते, " आवायो पमुह वरो " । पाइ० ना० १६२ गाथा ।

**पमुहत्त**-देशी वृक्षे, दे० ना० ६ वर्ग २७ गाथा ।

**पमेज्ज-प्रमेय** त्रि० परिच्छेद्ये, बाह्येऽर्थे,स्या० । प्रमेयमपि तैः-आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु खाऽपवर्गभेदाद् द्वादशविधमुक्तम् । तच्च न सम्यग् । यत -शरीरेन्द्रियबुद्धिमन.प्रवृत्तिदोषफलदुःखानामात्मन्येवान्तर्भावो युक्त , संसारिण आत्मन. कथञ्चित्तदविष्वग्भूतत्वात । आत्मा च प्रमेय एव न भवति, तस्य प्रमातृत्वात् । इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वादप्रमेयत्वाभाव. । दोषास्तु राग-द्वेष-मोहा , ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति; वाङ्मन कायव्यापारस्य शुभाऽशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात, रागाऽऽदिदोषाणां च मनोव्यापाराऽऽत्मकत्वात् । दुःखस्य, शब्दाऽऽदीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भाव', " प्रवृत्तिदोषजनित सुखदु खाऽऽत्मक मुख्य फल, तत्साधन तु गौणम् ।" इति जयन्तवचनात् । प्रेत्यभावाऽपवर्गयो. पुनरात्मन एव परिणामान्तराऽऽपत्तिरूपत्वान्न पार्थक्यमात्मन. सकाशादुचितम्,तदेव द्वादशविध प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम् । ' द्रव्यपर्यायाऽऽत्मकं वस्तु प्रमेयम् " इति तु समीचीन लक्षणम्, सर्वसङ्ग्राहकत्वात् । एव संशयाऽऽदीनामपि तत्त्वाऽऽभासत्व प्रेक्षावद्भिरनुप्रेक्षणीयम् ;अत्र तु प्रतीतत्वाद्ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम् । (१० श्लोक) स्या० । सूत्र० । विशे० ।

**पमेज्जरयणकोस-प्रमेयरत्नकोश**-पुं० । स्वनामख्याते प्रमाणग्रन्थे, जै० इ० ।

**पमेज्जरयणमंजूसा-प्रमेयरत्नमञ्जूषा**-स्त्री० । विजयदेवसूरिवाचकविरचितजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीकायाम्, जं० ।

" जयति जिन सिद्धार्थः, सिद्धार्थनरेन्द्रनन्दनो विजयी ।
अनुपहतज्ञानवचा., सुरेन्द्रशतसेव्यमानो य ॥ १ ॥
सर्वप्रयोगसिद्धान्, वृद्धान् प्रणि ध्महे महिमऋद्धान् ।
प्रवचनकाञ्चननिकषान्, सूरीन् श्रीगन्धहस्तिमुखान् ॥ २ ॥
यज्जातवृत्तिमलयज -राजिजिनाऽऽगमरहस्यरसनिवह ।
संशयतापमपोहति, जयति स सत्यो मलयगिरि' ॥ ३ ॥
श्रीमद्गुरोर्विजयदानसहस्रनाम्नो ,
सिद्धान्तधामधरणात् समवाप्तदीप्ति. ।
यो ऽ पमारजानजातमपास्यपार,
प्राणाशयश्चरनचूमिगत तमिस्रम् ॥ ४ ॥
दीप स्व रत्नमय एव परानपेक्ष,
प्रोद्दीपयन् विशदयन् स्वपर स्वभाभि' ।
गौरैर्गुणैरिह निदर्शितपूर्वसूरि ,
श्रीसूरिहीरविजयो विजयाय वोऽस्तु ॥ ५ ॥
यत्प्रभावादश्मनोऽपि, मम वाणी रसोऽभवत् ।
ते श्रीसकलचन्द्राऽऽख्या , जीयासुर्वाचकोत्तमा. ॥ ६ ॥
जम्बूद्वीपाऽऽदिप्रज्ञप्ते--र्दृष्टशास्त्रानुसारत' ।
प्रमेयरत्नमञ्जूषा--नाम्ना वृत्तिर्विधीयते ॥७॥"

इह तावद्विकटभवाटवीपर्यटनसमापतितशारीराऽऽद्यनेकदुःखार्दितो देही अकामनिर्जरायोगत सजातकर्मलाघवस्तज्जिहासया सकलकर्मक्षयलक्षण परमपदमाकाङ्क्षति,तच्च परमपुरुषार्थत्वेन सम्यग्ज्ञानाऽऽदिरत्नत्रयगोचरपरमपुरुषकारोपार्जनीयम्,स च प्रसाधनतःजाज्ञानजन्य , तथाऽऽप्तोपदेशमूलकम्,आप्तश्च परम केवलाऽऽलोकावलोकितलोकालोकनिष्कारणपरोपकारैकप्रवृत्त्यनुभूयमानतीर्थकृन्नामकर्मा पुरुष एव, तदुपदेशश्च गणधरस्थविराऽऽदिभिरङ्गोपाङ्गाऽऽदिशास्त्रेषु प्रपञ्चित । जं० । (कस्याङ्गस्य किमुपाङ्गमिति 'उवंग' शब्दे द्वितीयभागे ८६७ पृष्ठे गतम्) अत्र चोपाङ्गक्रमे सामाचार्यादौ कश्चिद्भेदोऽप्यस्ति । अङ्गानां च मध्ये द्वे आद्ये अङ्गे श्रीशीलाङ्काऽऽचार्यैर्विवृते स्त , शेषाणि नवाङ्गानि श्रीअभयदेवसूरिपादैर्विवृतानि सन्ति । दृष्टिवादस्तु श्रीवीरनिर्वाणात् वर्षसहस्रे व्यवच्छिन्न इति न तद्विवरणप्रयोजनम् । जं० ।(उपाङ्गानि केन विवृतानीति 'उवंग' शब्दे द्वितीयभागे ८६६ पृष्ठे गतम् ) तत्र प्रस्तुतोपाङ्गस्य वृत्ति श्रीमलयगिरिकृताऽपि सप्रति कालदोषेण व्यवच्छिन्ना, इद च गम्भीरार्थतयाऽतिगहन, तेनाऽनुयोगरहित मुद्रितराजकीयकमनीयकोशगृहमिव न तदर्थार्थिना ह-

स्तानुयोगार्पितसिद्धिकं सञ्जायत इति कल्पितार्थकल्पनकल्प-
द्रुमायमाणयुगप्रधानसमानसम्प्रतिविजयमानगच्छनायकपरमगुरु-
श्रीहीरविजयसूरीश्वरनिदेशेन कोशाध्यक्षाऽऽज्ञया प्रेष्येणेव उ-
न्मुद्रणमिव मया तदनुयोग प्रारभ्यते । स च-चतुर्द्धा- धर्मक-
थानुयोग उत्तराध्ययनाऽऽदिक , गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्त्या-
दिक , द्रव्यानुयोगः पूर्वाणि,सम्मत्यादिकश्च, चरणकरणानुयो-
गश्चाऽऽचाराङ्गाऽऽदिक । प्रस्तुतशास्त्रस्य क्षेत्रप्ररूपणाऽऽत्मकत्वा-
त्, तस्याश्च गणितसाध्यत्वाद् गणितानुयोगेऽन्तर्भावः। नन्वेव
चरणकरणाऽऽत्मकाऽऽचाराऽऽदिशास्त्राणामिव नाऽस्य मु-
ख्यङ्गता । साक्षात् मोक्षमार्गभूतरत्नत्रयानुपदेशकत्वात्, इति
चेन्न । साक्षादुपदेशकत्वाभावेऽपि तदुपकारितया शेषाणाम-
पि त्रयाणामनुयोगानां मुक्त्यङ्गत्वाविरोधात् । तथा चोक्तम्-

" चरणपडिवत्तिहेऊ, धम्मकहा कालदिक्खमादीया ।
दविए दंसणसोही, दंसणसुद्धस्स चरण तु ॥ १ ॥ "

अत्र व्याख्या-अत्र वृत्तावनिर्देशोक्तसमयुक्तग्रन्थयोर्दुर्गमपद-
व्याख्याने अपरिसमाप्तिरत्र व्याख्या इति सङ्केतो बोध्यः । चरण-
प्रतिपत्तिहेतुर्धर्मकथाऽनुयोगः,काले गणितानुयोगे दीक्षाऽऽदीनि
प्रशस्तानि, कोऽर्थः ?-शुद्धगणितसिद्धे प्रशस्ते काले गृहीतानि प्र-
शस्तफलानि स्युः,कालश्च ज्योतिश्चक्राधीनः, स च जम्बूद्वीपा-
ऽऽदिक्षेत्राधीनव्यवस्थः, तेनाय कालापरपर्यायो गणितानुयोग
इति । द्रव्ये द्रव्यानुयोगशुद्धे दर्शनशुद्धिर्भवति । कोऽर्थः ?-धर्मा-
स्तिकायाऽऽदिद्रव्याणां द्रव्यानुयोगत सिद्धौ सत्यां तदास्तिक्ये
प्रतिपन्ने दर्शनशुद्धिर्भवतीति;दर्शनशुद्धस्य चरणानुयोगो भवति।

इह यद्यपि श्रीमलयगिरिपादाना क्व परकृताऽऽक्षेपपरिहारप्रव-
णिष्णु वचनरचनाचातुर्य, क्व च तथाविधसम्प्रदायसाचिव्य, क्व
च तत्तच्छिव-धव-धुरतानैपुण्य,क्व कुश अस्मत्प्रतिमाविभवश्च,
क्व च मे तत्तत्पूर्वपक्षोत्तरपक्षरचनास्वकुशलत्व, क्व च
तादृक्सम्प्रदायराहित्य, क्व चाऽकठोरग्रन्थग्रन्थनकर्मण्यकर्म-
ठत्व, क्व च मुग्धाग्रमतित्वमिति महति हेतिसहतिविभेदे
राभसिकी प्रवृत्तिरिव महतो वृत्ति करटिकठिनकुम्भकुण्ठ-
नजहठमह इत्युपहासपात्रतामात्रफलतया चन्द्राऽऽकर्षकमृ-
गेन्द्रानुयायिता शृगालस्येव ममानौचितीमञ्चति, तथाऽपि लो-
हशालाविकीर्णानां लोहसारकणानां चुम्बकाश्मप्रयोगेणेव मह-
ता प्रयत्नेन प्रायस्तत्तत्प्राचीनजीवाभिगमाऽऽदिवृत्तिषु दृष्टाना-
मेव व्याख्यालवानामेकत्र मीलनमनुविचिन्त्य अन्वाख्यानरू-
पमेवेद व्याख्यान विधीयत इति नानौचितीतिशोऽपीति स-
र्वं सुस्थम् । इति शास्त्रप्रस्तावना, तस्य चानुयोगस्य फला-
ऽऽदिद्वारप्ररूपणात प्रवृत्तिर्भवति । यत उक्तम्-

"तस्स फलजोगमंगल-समुदायत्था तहेव दाराइं । तब्भेय-
निरुत्तिक्कम-पओयणाइं च वच्चाइं ॥१॥ " इति। तत्र प्रेक्षावता
प्रवृत्तये तस्यानुयोगस्य फलमवश्य वाच्यम् । अन्यथाऽस्य नि-
ष्फलत्वमाकलय्य व्याख्यातारः श्रोतारश्च कण्टकशाखामर्दन
इव नाऽत्र प्रवर्त्तेरन्निति । तच्च द्विधा-कर्त्तु, श्रोतुश्च । एकैकम-
पि द्विधा-अनन्तर, परम्पर च । तत्र कर्तुरनन्तर द्वीपसमुद्रा-
ऽऽदिसंस्थानपरिज्ञानेऽतिपरिकर्मितमतिकत्वेन स्पष्टतया यथा-
स्नात्र संस्मरणात् स्वाऽऽत्मन सुखेनैव विजयाभिधानधर्मध्या-
नसमवाप्तिर्मन्दमेधसामनुग्रहश्च, श्रोतु पुनर्जम्बूद्वीपवर्त्तिपदा-
र्थपरिज्ञानम्, परम्पर तु द्वयोरपि मुक्त्यवाप्ति । यदाह-
" सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, य सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥ १ ॥ "
तथा—
" सम्यग्ज्ञानपरिज्ञाना-द्विरक्ता भवतो जनाः ।
क्रियाऽऽसक्ता ह्यविघ्नेन, गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥ "
तथा योग सम्बन्धो वाच्य,तेन हि ज्ञातेन [illegible]
शङ्कमाना प्रेक्षावन्त प्रवर्त्तन्त इति । स द्विधा [illegible]
क्षणो,गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च । तत्राऽऽद्यस्तर्कानुसारिण प्रति,
योग उपायोऽर्थावगमाऽऽदि चोपेयम् । स च [illegible]
निहित । अन्यश्च केवलश्रद्धाऽनुसारिणः प्रति,स चैवमर्थतो भ-
गवता वर्द्धमानस्वामिना जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरुक्ता,सूत्रतो गणधरैर्द्वा-
दशाङ्ग्यामुपनिबद्धा, ततोऽपि मन्दमेधसामनुग्रहाय सातिशय-
श्रुतधारिभिः षष्ठाद्दङ्गादाकृष्य पृथगध्ययनत्वेन व्यवस्थापिता ।
अमुमेव च सबन्धमनुविचिन्त्य सूत्रकृदुपोद्घातमाधास्यति ।
अथवा शास्त्रकर्तृ प्रामाण्ये शास्त्रप्रामाण्यमिति आप्तसम्बन्ध-
स्यैव प्रामाण्यप्रदार्थमपरसम्बन्धनिरूपणम् । न हि विदितपरम-
तत्त्वा सत्त्वानुग्रहैकप्रवृत्तिमन्तो भगवन्तो आनुपूर्व्यानुपयोगि
भाषन्ते, भगवत्ताभङ्गादिति । अथवा-योगोऽवसरः, तत प्र-
स्तुतोपाङ्गस्य दाने कोऽवसर ?, इत्युच्यते,उपाङ्गस्याङ्गार्थानु-
वादकतयाऽङ्गस्य सामीप्येन वर्त्तनाद् य एवैतदीयाङ्गस्याऽवसरः
स एवाऽस्यापीति तत्राऽवसरसूचिका इमा गाथाः-

"तिवरिसपरियायस्स उ, आयारपकप्पनाममज्झयण ।
चउवरिसस्स य सम्म, सूअगड नाम अग ति ॥ १ ॥
दस कप्पव्ववहारा, संवच्छरपणगदिक्खियस्सेव ।
ठाण समवाओ वि य, अंगेते अट्ठवासस्स ॥ २ ॥
दसवासस्स विवाहो, एगारसवासगस्स य इमे उ ।
खुड्डियविमाणमाई, अज्झयणा पंच नायव्वा ॥ ३ ॥
बारसवासस्स तहा, अरुणोववायाइ पंच अज्झयणा ।
तेरसवासस्स तहा, उट्ठाणसुयाइया चउरो ॥ ४ ॥
चउदसवासस्स तहा, आसीविसभावण जिणा बिंति ।
पन्नरसवासगस्स य, दिट्ठीविसभावणं पुणो तह य ॥ ५ ॥
सोलसवासाईसु य, एगुत्तरवुड्डिएसु जहसंख ।
चारणभावणमह सुविण-भावणा तेअगनिसग्गा ॥ ६ ॥
एगुणवीसगस्स उ, दिट्ठीवाओ दुवालस अंग ।
संपुण्णवीसवरिसो, अणुवाई सव्वसुत्तस्स ॥ ७ ॥ " इति।

अत्र पञ्चवस्तुकसूत्रे दशवर्षपर्यायस्य साधो भगवत्यङ्गप्रदा-
नेऽवसरस्य प्रतिपादनात् षष्ठाङ्गतया ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य
प्रदाने तदनन्तरमवसर, कारणविशेषे गुर्वाज्ञावशादर्वागपि,
ततस्तदुपाङ्गत्वादस्य तदनन्तरमवसर इति सभाव्यते, यो-
गविधानसामाचार्यामपि अङ्गयोगोद्वहनानन्तरमेवोपाङ्गयोगो-
द्वहनस्य विधिप्राप्तत्वादिति । तथेदमुपाङ्गमपि प्रायः सकलज-
म्बूद्वीपवर्तिपदार्थानुशासनाच्छास्त्र, तस्य च सम्यग्ज्ञानद्वारा
परमपदप्रापकत्वेन श्रेयोभूतता, अतो मा भूदत्र विघ्न इति तद-
पोहाय मङ्गलमुपदर्शनीयम् । यत -" बहुविग्घाइ सेया-इँ तेण
कयमगलोवयारेहिं । घेत्तव्वो सो सुमहा-निहि व्व जह वा
महाविज्जा ॥ १ ॥ " इति । तच्च त्रिविधमादिमध्यावसानभेदा-
त् । तत्राऽऽदिमङ्गलम्-"णमो अरिहंताणं" इत्यविघ्नतया शास्त्र-
स्य परिसमाप्त्यर्थम् । मध्यमङ्गलम्-" जया ण एकमेक्के चक्कव-
ट्टिविजए भगवतो तित्थगरा समुप्पज्जति ।" इति तस्यैव
स्थैर्याय, अस्य च द्वितीयाधिकाराऽऽदिसूत्रस्य त्रिभुवनोत्स-
वभूतजिनजन्मकल्याणकसूचकत्वेन परममङ्गलत्वात् । अ-

न्त्यमङ्गलं तु "समणे भगवं महावीरे मिहिलाए णगरीए।" इत्यादिनिगमनसूत्रे श्रीमहावीरनामग्रहणमिति। तस्यैव शिष्य-प्रशिष्याऽऽदिपरम्पराया अव्यवच्छेदार्थम्,नन्विदं सम्यग्ज्ञान-रूपत्वेन निर्जरार्थत्वात्, अथवा-"जो ज पसत्थमत्थं, पुच्छइ तस्स ऽत्थसंपत्ती।" इति निमित्तशास्त्रे द्वीपसमुद्राभिधानग्रह-णस्य परममङ्गलत्वेन निवेदनादस्य द्वीपप्ररूपणाऽऽत्मकत्वात् स्वयमेव सर्वाऽऽत्मना मङ्गलं, किं मङ्गलान्तरोपन्यासेन ?, अनवस्था-प्रसङ्गात्, मैवम्। मङ्गलतया हि परिगृहीतं शास्त्रं मङ्गलमिति व्यवह्रियते,फलदं च भवति साधुवत्, अन्यथोपहासनमस्कारा ऽऽदेरपि मङ्गलत्वं स्यात्। न हि लोकेऽपि स्वरूपसतां दधिदूर्वा-ऽऽदीनां द्रव्यमङ्गलत्वं, किं तु मङ्गलाभिप्रायेण प्रयुक्तानाम्। अ-न्यथा तद्विषयकदर्शनस्पर्शनाऽऽदीनां निर्मूलकताऽऽपातात्। इहाऽस्य शास्त्रस्य फलाऽऽदि निरूपितं,तदनुयोगस्य द्रष्टव्यम्, तयोः कथञ्चिद् भेदादिति ॥ ३॥ अथेदानीं समुदायार्थश्चिन्त्यते-तत्र समुदायः सामान्यतः शास्त्रसंग्रहणाय पिण्डरूपोऽर्थो व-क्तव्यः। किमुक्तं भवति ?-अवयवविभागानिरपेक्षतया शास्त्रगत-प्रमेयं प्रकटनीयं, तच्च वर्द्धमानाऽऽदिवद्यथार्थनामतो भवति, तत्रैव समुदायार्थपरिसमाप्तेः, न तु पलाशाऽऽदिवदयथार्थना-मतः,डित्थाऽऽदिवदर्थशून्यनामतश्च;प्रस्तुते च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-रिति नाम्नः कः शब्दार्थः ?, इत्युच्यते-जम्ब्वा सुदर्शनापरना-म्न्याऽनादृतदेवाऽऽवासभूतयोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः।(जं०) (अतोऽग्रे 'जंबूदीवपण्णत्ति' शब्दे चतुर्थभागे १३७६ पृष्ठे उ-क्तम्) अथवा जम्बूद्वीपं प्राप्तिं पूरयन्ति स्वस्थित्येति ज-म्बूद्वीपप्राः जगतीवर्षवर्षधराऽऽद्याः,तेषां ज्ञप्तिर्यस्याः सकाशा-त् सा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरिति सान्वर्थशास्त्रनामप्रतिपादनेन ज-म्बूद्वीपप्रज्ञप्त्याः पिण्डार्थो दर्शितः; अत एवाभिधेयशून्यता-माकलयन्तः शान्ता अत्र प्रवृत्तौ मा मन्दायन्तामित्यभिधेयसू-चाऽपि कृतैव। नामनिक्षेपचिन्ता तु द्वितीयानुयोगयोजनायां करिष्यत इति समुदायार्थः ॥ ४ ॥ जं० १ वक्ष०। इति सा-तिशयधर्मदेशनारससमुल्लासविस्मयमानपेदयुगीनराधिपति-चक्रवर्तिनमान-श्रीअकब्बरसुरत्राणप्रदत्तषाण्मासिकसर्वजन्तुजा-ताऽभयप्रदानशत्रुञ्जयाऽऽदिकरमोचनस्फुरन्मानप्रदानप्रभृति-बहुमानयुगप्रधानापमान-साम्प्रत-विजयमानश्रीमत्तपागच्छा-धिराज-श्रीहीरविजयसूरीश्वर--पदपद्मोपासनाप्रवणमहोपा--ध्याय-श्रीसकलचन्द्रगणि-शिष्योपाध्यायश्रीशान्तिचन्द्र-ग-णिविरचितायां जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्तौ प्रमेयरत्नमञ्जूषानाम्न्यां ज्यो-तिष्काऽधिकारवर्णनो नाम सप्तमो वक्षस्कारः समाप्तः, तत्समाप्तौ च समाप्तेयं श्रीजम्बूद्वीप-प्रज्ञप्त्युपाङ्गवृत्तिः।

"श्रेयःश्रीप्रतिभूप्रभूततपसा यो मोहराजं रिपुं,
दध्वंसे सहसाऽऽश्रितो गतमलज्ञानं च यः केवलम्।
यो जुष्टश्च सदा त्रिविष्टपसदोवृन्दैस्तथा तथ्यवाक्,
यस्तीर्थाऽधिपतिः श्रियं स ददता श्रीवीरदेवः सताम् ॥ १ ॥
अर्हत्स्वित्रवात्र निखिलेषु गणाधिपेषु,
नाभेयदेव इव यो विदितो जगत्याम्।
आदेयनाम दधदद्भुतलब्धिधाम,
श्रीगौतमोऽस्तु मम पूरितसिद्धिकामः ॥ २ ॥
यः पञ्चमः प्रथमतोऽपि स्तोपयेमे,
श्रीवीर-पट्ट-पटु-लक्ष्मि-सरोरुहाक्षाः।
तदाऽङ्कितेषु गणभृत्सु सुधर्मनामा,
भूयादयं सुजनतानिधिरिष्टसिद्ध्यै ॥ ३ ॥
तस्य प्रभोः क्रमविरूढपरम्परायां,
तन्नोल्लसत्कुलगणाऽऽदिविसम्नवायाम्।
जातः क्रमाद्वटगणेन्द्रतपस्विसूरे,
श्रीमांस्तपागण इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ४ ॥
पद्मावतीवचनतोऽभ्युदयं विभाव्य,
यत्सूरिसत्तवनसप्तशतीं स्वकीयाम्।
सूरिर्जिनप्रभ उपप्रदे (?) प्रथायै,
सोऽयं सतां तपगणो न कथं प्रशस्यः ? ॥ ५ ॥
तत्राऽनेके बभूवुः सुविहितगुरवः श्रीजगच्चन्द्रमुख्याः,
दोषायां वा दिवा वा सदसि रहसि वा स्वक्रियास्वेकभावाः।
आद्यैर्ये वैरिवोर्वी वृजिनभरगता दुःप्रमादावमग्ना,
येरुद्दध्रे वितन्द्रैः स्वपरहितकृते सत्क्रियासत्क्रियाऽर्हाः ॥ ६ ॥
प्रदुष्य वैदुष्यं चरणगुणवैदुष्यसहितं,
प्रमादाद्वैमुख्यं प्रवचनविधेः सत्कथकता।
गुणौघो यस्येत्थं न खलु खलदुर्वाक्यविषयः,
क्रमादासीदस्मिन् परमगुरुरानन्दविमलः ॥ ७ ॥
अन्तर्बाह्यमिति द्विधाऽपि कुमतं श्रद्धावतां स्वागतं,
निःश्रद्धैस्तु यथाशयप्रकटितं विध्वस्यतेऽस्य प्रभोः।
बाह्यध्वान्तविभेदिनो दिनमणेः साम्यं न रम्यं न वा,
ध्वान्तद्वैतभिदोऽपि मन्दिरमणेः संदृश्यतेऽधस्तमः ॥ ८ ॥
स्वगच्छे स्वस्मिंश्च प्रथयतितरां स्म प्रथमत-
स्तथा साधोश्चर्यां ध्रुवसमय एव प्रस्तुतरसे।
यथा सैतत्पट्टाऽधिपतिपुरुषे संयतगणे,
क्रमादुर्वी गुर्वी प्रजनितयशस्का तु ववृते (?) ॥ ९ ॥
तत्पट्ट-भूषणमणिः सुगुरूत्तधर्म-
बीज-प्रवर्द्धन-पटुर्भरतक्षमायाः।
सूरीश्वरो विजयदानगुरुर्बभूव,
के वादिनो विजयदा न बभूवुरस्य ॥ १० ॥
नालीकनीर-निधि-निर्जर-सिन्धु-सेवां,
चक्रुश्चतुर्भुज-चतुर्मुखचन्द्रचूडाः।
यस्य प्रताप-परिताप-भृतो न भीता
एते जडाऽऽश्रयिण इत्यपवादतोऽपि ॥ ११ ॥
तत्पट्टं गुरुवर्यहीरविजयो विभ्राजयामासिवान्,
जाग्रद्भाग्यनिधिः प्रियाऽऽगमविधिश्चारित्रिणां चार्चितः।
यं संप्राप्य जगत्त्रयैकसुभगं मुक्तो मिथो मत्सरः,
श्रीवाग्भ्यामिव दीर्घकालजनितो ज्ञानक्रियाभ्यामपि ॥
सौभाग्यं यस्य नाम्नो नृपसदसि गुणिप्वादिनां ...
सौभाग्यं देशनाया अकबरनृपतिः पादयोः पादुका...
सौभाग्यं यस्य पाणेरुपपदविजयः सेनसूरिः ...
सौभाग्यं दर्शनस्य त्वहमहमिकया ...
इदानीं तत्पट्टे गुरु-विजयसेनो विजयते,
कलौ काले मूर्तः सुविहितजनाऽऽचार...
विरेजे राजन्वान् शशधरगणो येन विभुना,
गुणग्रामो यस्माद् भवति विनयेनैव ...
खलास्तेजोराशिं चरणगुण-राशिं ...
विनेयाश्छिद्राशिं प्रतिवचन-राशिं ...
कविः कीर्त्तेः राशिं वर-विनय-राशिं ...
विदुः स्थाने जाने शुचिसुकृतराशिं ...
गुरोरस्य श्रुत्वा श्रवणमधुरं ...

स्वगन्धर्वोद्गीतं शुचिगुणगणोपार्जनभवम् ।
चमत्कारोत्कर्षात् ससलिलसहस्राऽनिमिषदृक्-
पटक्लेदक्लेशं सुबहु सहते गिर्यसहनः ॥ १६ ॥
तेषां गणे गुणवतां धुरि गण्यमानः,
श्रीवाचकः सकलचन्द्रगुरुर्बभूव ।
मेधाविषु प्रथमतः प्रथमानकीर्त्तिः,
स्फूर्त्तिर्यदीयशुभकर्मणि सुप्रसिद्धा ॥ १७ ॥
पुनः पुनः संस्मृतिमीयुषीणा,
प्रतिक्रियेयं यदुपक्रियाणाम् ।
पुनः पुनर्लोचनसार्द्रभावः,
पुनः पुनर्विःश्वसनस्वभावः ॥ १८ ॥
तेषां शिष्याऽणुतेय गुरुजन-विहिताऽनुग्रहादेव जम्बू-
द्वीपप्रज्ञप्तिवृत्तिः स्व-पर हितकृते शान्तिचन्द्रेण चक्रे ।
वर्षे श्रीविक्रमार्काद्विधु शर शर-भू-चक्रधात्रा प्रमाणे,
राज्ये प्राज्ये श्रिया श्रीअकबरनृपतेः पुण्यकारुण्यसिन्धोः१६
अस्योपाङ्गस्य गाम्भीर्यान्मदीयमतिमान्द्यतः ।
संप्रदायव्यपायाच्च, पूर्ववृत्तिनिवृत्तितः ॥ २० ॥
विरुद्धमागमाऽऽदिभ्यो, यदत्र लिखितं मया ।
धीलोचनैस्तदालोच्य, शोध्यं साऽनुग्रहैर्मयि ॥ २१ ॥
तुष्यन्तु साधवः सर्वे मा रुष्यन्तु खला मयि ।
नमस्करोमि निःशेषान् प्रीत्या भीत्या क्रमादिमान् ॥२२॥
गम्भीरमिदमुपाङ्गं यथामति विवृण्वताऽविशदमतिना ।
यदवापि मया कुशलं, कुशाग्रमतयो भवन्तु जनाः ॥ २३ ॥
अये यावल्लोकौकसिनभसि नक्षत्रकुसुम-
स्रजं राज्ञः श्यामाऽभिगमसमये पूरिततरम् ।
मृजाकारः सूर्यः करवहुकरैरेणोपनयति,
ध्रुवं तावद्भूयादियमखिललोकैः परिचिता ॥ २४ ॥
अथ शोधनसमयगता, पुरोऽनुसन्धीयते प्रशस्तिरियम् ।
तपगणसाम्राज्यरमां, श्रयति श्रीविजयसेनगुरौ ॥ २५ ॥
यत्सौभाग्यमनुत्तरं गुणगणो येषां वचोगोचरा-
तीतः कोऽप्यभव पुराऽपि विनयाऽऽधारः सता पूजितः ।
हित्वा येन पतिंवरावदवरान् यानेव सच्चातुरी-
युक्ताऽऽचार्यपदव्युदाररचितान् सौवश्रियोऽशिश्रियन् ॥२६॥
यद्रूपं मदनं सदा विमदनं निर्म्माति रम्यश्रिया,
यत्कीर्त्तिश्च पदातिकं वितनुते कान्त्या निशानायकम् ।
चित्रं संचिनुते च चेतसि सतां यद्देशनावाक् सुधा,
देश्या शासनदीसिकृच्च सत्तपो यद्ध्यानमत्यद्भुतम् ॥२७॥
ते श्रीअकब्बरमहाधरदत्तमान-
विख्यातिमद्विजयसेनगणप्रधानाः ।
नन्दन्ति पट्टयुवराजपदं दधानाः,
श्रीसूरयो विजयदेवयतिप्रधानाः ॥ २८ ॥
श्रीविजयसेनसूरी-श्वरगणनायकनिदेशकरणचणाः ।
चत्वारोऽस्या वृत्तेः, शुद्धिकृते संगता निपुणाः ॥ २६ ॥
तथाहि-
श्रीसूरेर्विजयाऽऽदिदानसुगुरोः श्रीवीरसूरेरपि,
प्राप्ता वाङ्मयतत्त्वमद्भुततरं ये संप्रदायाऽऽगतम् ।
ये जैनाऽऽगमसिन्धुतारणविधौ सत्कर्णधारायिताः,
ये ख्याताः क्षितिमण्डले च गणितग्रन्थैकरेखाभृतः ॥ ३० ॥
लुम्पाक-मुख्य-कुमतैकतमःप्रपञ्चे
रोचिष्णुचण्डरुचयः प्रतिभासमानाः ।
श्रीवाचका विमलहर्षवराऽभिधाना-
स्तेऽत्राऽऽदिमा गुणगणेषु कृताऽवधानाः ॥ ३१ ॥
ये संविग्नधुरन्धराः समभवन्नाबालकालादपि,
प्रज्ञावत्स्वपि ये च बन्धुरतराः प्रापुः प्रसिद्धिं पराम् ।
श्रीथारैगणधारिगौतम इव श्रीहीरसूरौ गुरौ,
ये राजर्षिनयास्तदाननसुधामानो पपुर्वाक्सुधाम् ॥ ३२ ॥
सत्तर्कलक्षणविशालजिनाऽऽगमाऽऽदि,
शास्त्राऽवगाहनकलाकुशलाऽद्वितीयाः ।
श्रीसोमयुग्विजयवाचकनामधेयाः,
ते सद्गुरोरपि परैर्ध्रुवमप्रमेयाः ॥ ३३ ॥
किंच-
ये वैराग्निकताऽऽदिकैर्वरगुणैः संप्राप्तसद्गौरवाः,
सर्वाऽऽदेयागरः कलावपि युगे साम्नायजैनाऽऽगमाः ।
जग्मुः श्रीवरवानरर्षिविबुधास्तच्छिष्यमुख्याश्च ये,
ते तन्मूर्त्तिरिवाऽपरेऽप्यभिमतास्तैस्तैर्गुणैर्धीमताम् ॥३४॥
प्रज्ञागुणगुरुगेहं परिभावितभूरिशास्त्रवरतत्त्वाः ।
श्रीआनन्दविजयबुध-पुङ्गवास्ते वै तृतीयास्तु ॥ ३५ ॥
अपि च—
यद्दृष्टैतस्मृतयः कुशाऽग्रधिषणाः सल्लक्षणाऽम्भोधयः,
छन्दोऽलङ्कृतिकाव्यवाङ्मयमहाभ्यासे भृशं विश्रुताः ।
सिद्धान्तोपनिषत्प्रकाशनपरा विश्वावतंसायिता-
स्तत्तन्नूतनशास्त्रशुद्धिकरणे पारीणतां संश्रिताः ॥३६॥
श्रीकल्याणविजयवर-वाचकशिष्येषु मुख्यतां प्राप्ताः ।
श्रीलाभविजयविबुधा-स्ते तुर्या इह बहुश्रुताः ॥ ३७ ॥
एतेषां प्रतिभाविशेषविलसत्तीर्थे प्रथामागते,
नानाशास्त्रविचारसारसलिलाऽऽपूर्णे चतुर्णामपि ।
तत्तद्वाचक-वाच्यदूषणमलाद् मुक्ता सुवर्णाऽञ्चिता,
सत्यश्रीरजनिष्ट शिष्टजनताकाम्येव वृत्तिः कृता ॥ ३८ ॥
श्रीमद्विक्रमभूपतोऽम्बरगुणदमाखण्डदाक्षायणी-
प्राणेशाङ्कितवत्सरेऽतिरुचिरे पुष्येन्दुभूवासरे ।
राधे शुद्धतिथौ तथा रसमिते श्रीराजधन्ये पुरे,
पार्श्वे श्रीविजयाऽऽदिसेनसुगुरोः शुद्धा समग्राऽभवत् ॥३९॥
श्रीशान्तिचन्द्राऽभिधवाचकेन्द्र-
शिष्येष्वनेकेषु मणीयमानाः ।
ध्वस्ताऽन्तरध्वान्तजिनेन्द्रचन्द्रा,
राद्धान्तरम्यस्मृतिलब्धमाना ॥ ४० ॥
अस्यामनेकशो लिख-नशुद्धिगणनाऽऽदिविधिषु साहाय्यम् ।
गुरुभक्ताः कृतवन्तः, श्रीमन्तस्तेजचन्द्रबुधाः ॥ ४१ ॥
दैवादिन्द्राऽतिथितां, गतेष्विदंवृत्तिसूत्रधारेषु ।
तन्मन्त्रिनिजमनीषा-विशेषमिव वीक्षितुं व्यक्तम् ॥ ४२ ॥
तेषां ध्रुवन्तिषदा-मखिलशिष्यसमुदायमुख्यतां दधताम् ।
गुरुकार्ये धुर्याणां, पण्डितवररत्नचन्द्राणाम् ॥४३॥
श्रीतपगणपूर्वगिरिसूरैः, श्रीविजयसेनसूरिवरैः ।
निजहस्तेन वितीर्णा, प्रवर्त्तनायै प्रसादपरैः ॥ ४४ ॥
बहुभिः स्वसंमतेयं, कृता तदा विदितसमयतत्त्वार्थैः ।
श्रीविजयदेवसूरि श्रीवाचकमुख्यगीतार्थैः ॥ ४५ ॥
रत्नानिव प्रमेयानि, नानाशास्त्रखनीनि चेत् ।
भूयांसि लिप्सवो यूयं, विद्वद्रत्नवणिग्वराः ॥ ४६ ॥
श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्ते-रुपाङ्गस्य सविस्तरा ।
प्रमेयरत्नमञ्जूषा वृत्तिरेषा तदेक्ष्यताम् ॥ ४७ ॥
श्रीशान्तिचन्द्रवाचक-शिष्यवरो विबुधरत्नचन्द्रगणिः ।

अस्या बहादर्शनलिखद् हृदि भक्तियुक्तमनाः ॥ ४८ ॥
वाच्यमानाः श्रूयमाणाः, गीतार्थैः श्रावकोत्तमैः ।
शोध्यमाना लख्यमाना, जीयासुन्ते चिराद् भुवि ॥ ४९ ॥
तच्छिष्यो धनचन्द्रः, कुशाऽग्रधीर्लिपिकलाबहुलक्षः ।
अकरोत् प्रथमाऽऽदर्शं, सूत्रार्थविवेचने चतुरः " ॥ ५० ॥
इति श्रीशान्तिचन्द्रगणिवाचकविरचितायाः श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्तेः प्रशस्तिः । जं० ७ वक्ख० ।

पमेयल्ल–प्रमेदस्विन् त्रि० । प्रकर्षेण मेदःसंपन्ने, दश० ७ अ० ।

पमेह–प्रमेह–पुं० । रोगभेदे, नि० चू० १ उ० । प्रमेहाणां विंशतिर्भेदाः, तत्राऽस्याऽसाध्यत्वेनोपन्यासः, तत्र सर्वे एव प्रमेहाः प्रायशः सर्वदोषोत्थास्तथाऽपि वाताऽऽद्युत्कटभेदाद्विंशतिर्भेदा भवन्ति, तत्र कफाद्दश, षट् पित्तात्, वातजाश्चत्वार इति । सर्वेऽपि चैतेऽसाध्याऽवस्थायां मधुमेहत्वमुपयान्तीति । उक्तञ्च–" सर्व एव प्रमेहास्तु, कालेनाऽप्रतिकारिणः । मधुमेहत्वमायन्ति, तदाऽसाध्या भवन्ति ते ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

पमेहकणिया–प्रमेधकर्णिका–स्त्री० । सरजस्काधिराजे, व्य० ।

पमेहकणियातो य, सरक्खं पाहु सूरओ ।
सो उ दोसकरो वुत्तो, तं च कज्जं न साहए ॥ ६५ ॥

प्रमेधकर्णिकाः सरजस्कं, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्सरजस्काऽधिराजं प्राऽऽहुः सूरयः, स च सरजस्काधिराज आपीयमानो दोषकर उक्तः, तच्च कार्यं रोगविमुक्तिलक्षणं न साधयति, ततः सोऽपि न पीयते ।

बहुगी होइ मत्ताओ, आइल्लेसु दिणेसु उ ।
कमेण हीयमाणीओ, अंतिमे होइ वा न वा ॥ ६६ ॥

आदिमेषु दिनेषु कायिकी मात्रातो बह्वी भवति, ततः क्रमेण हीयमाना अन्तिमे दिने भवति वा, न वा ।

पडिणीयऽणुकंपा वा, मोयं वट्टेति गुज्झग केइ ।
बीयाऽऽदिजुयं तं वा, विवरीयं उज्झइ सव्वं ॥ ६७ ॥

प्रत्यनीका अनुकम्प्यन्त इत्यनुकम्प्या वा केचित् गुह्यकं मोकं कायिकीं वर्द्धयन्ति, यद्वा, बीजाऽऽदिषु तं कुर्वन्ति–सर्वमेतत् स्वाभाविकं न भवति, किन्तु विपरीतम् अतस्त्यजन्ति । व्य० ६ उ० ।

पमातो–प्रमादतस्–अव्य० । दकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् । प्रमादवशेनेत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

पमोक्ख–प्रमोक्ष–पुं० । प्रकर्षेणापुनर्भावेन कर्मबन्धनान्मुक्तिः प्रमोक्षः । निर्वाणे, स्था० । सूत्र० ।

पमोय प्रमोद–पुं० । हर्षे, नं० । आ० म० । नमनप्रसादाऽऽदिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानान्तर्भक्तावनुरागे, ध० १ अधि० । ' अपास्ताऽशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वाऽवलोकिनाम् । गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥ " अष्ट० १६ अष्ट० । माल्यविधानदे कल्पवृक्षे, " आमोएसु य वज्जं, मल्लविहाओ पमोएसु । " ति० ।

पमोयमास–प्रमोदमास–पुं० । प्रमोदहेतुर्मासः प्रमोदमासः । यस्मिन् मासे गृहीततत्ताऽऽदिकप्रायश्चित्तः शुद्धः सन् प्रमोदं कृत्वा स्वजनैः सह भुङ्क्ते, पारिहारिको वा समाप्तपरिहारः साधुभिः सहैकत्र भुङ्क्ते तस्मिन्, व्य० २ उ० ।

पम्ह–पद्म–न० । " पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः " ॥ ८ । २ । ७४ ॥ इति सूत्रेण मकाराऽऽक्रान्तो हकाराऽऽदेशः । प्रा० २ पाद । पा० । पद्मगर्भे, "कणगपुलगनिघसपम्हगोरे । " विपा० १ श्रु० १ अ० । ज्ञा० । केसरे, भ० १ श० १ उ० । जं० । ब्रह्मलोकस्थविमानभेदे, स० ६ सम० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे चक्रवर्त्तिविजये, स्था० ८ ठा० ।

पद्म–न० । शतपत्रसहस्रपत्रप्रभृतिसरोजे, चं०प्र० २० पाहु० । दीर्घदशानां दशमाध्ययनोक्तप्रतिबद्धवक्तव्यताके पुरुषे, तत्कथा सम्प्रदायाभावादिदानीमप्रकटा । स्था० ६ ठा० । " कंपणीओ पम्हाइं । " पाइ० ना० २५० गाथा ।

पम्हंतर–पक्ष्मान्तर–न० । विशिष्टसौकुमार्याऽऽदिभिः पक्ष्मणोऽन्तरे, स्था० ६ ठा० ।

पम्हकूड–पद्मकूट–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वशीताया महानद्या उत्तरकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० ८ ठा० । जम्बूद्वीपे विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० ६ ठा० । केषाञ्चिद्दीर्घवैताढ्यपर्वतानां द्वितीयकूटेषु, स्था० ६ ठा० । जं० ।

पम्हगंध–पद्मगन्ध–पुं० । पद्मसमगन्धौ सुषमसुषमामनुष्ये, भ० ६ श० ७ उ० । जं० ।

पम्हगावई–पद्मावती–स्त्री० । विजयपुरनगरीप्रतिबद्धविजयक्षेत्रयुगले, "पम्हगावई विजए, विजयपुरा रायहाणी असोआ महाणई । " पद्मावती विजयो, विजयपुरी राजधानी, शीतस्रोता महानदी । जं० ४ वक्ख० । "दो पम्हगावई । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पम्हगोर–पद्मगौर–त्रि० । पद्मगर्भवद्गौरवर्णे, भ० १ श० ३ उ० । विपा० ।

पम्हट्ठ–प्रस्मृत–त्रि० । विस्मृते, बृ० ३ उ० । प्रश्न० । ज्ञा० । नि० चू० । पतिते, "पम्हट्टं ति वा परिट्ठवियं ति वा एगट्ठं । " व्य० १ उ० ।

पम्हय–पद्मज–न० । हंसगर्भाऽऽदौ कार्पासाऽऽदौ वा सूत्रे, " पम्हयहंसगब्भाई, अहवा कप्पासाइयं मुणेयव्वं । " पं०भा० १ कल्प । पं० चू० ।

पम्हर–देशी–अपमृत्यौ, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा ।

पम्हल–पक्ष्म–त्रि० । पक्ष्मवति, औ० । ज्ञा० । "पम्हलसुकुमालाए । " पक्ष्मवत्या सुकुमालतया चेत्यर्थः । भ० ६ श० ३३ उ० । किञ्जल्के, दे० ना० ६ वर्ग १३ गाथा । प० व० ।

पम्हलय–पक्ष्मल–न० । रोमशे, पाइ० ना० २४६ गाथा ।

पम्हवण्ण–पद्मवर्ण–न० । ब्रह्मलोकस्थे विमानभेदे स० ६ सम० । " एवं जे देवा पम्हं सुपम्हं पम्हावत्तं पम्हप्पभं पम्हकंतं पम्हवण्णं पम्हलेस्सं पम्हज्झयं पम्हसिंगं पम्हसिद्धं पम्हकूडं पम्हुत्तरवडिंसगं । " इत्येते ब्रह्मलोकविमानविशेषवाचकाः । स० ६ सम० ।

पम्हवियडणाभ पद्मविकटनाभ–त्रि० । पद्मवद्विस्तीर्णनाभौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० ।

पम्हुह-स्मृ-धा० । आध्याने, अधिगतविषयके संस्कारजज्ञाने "स्मरेर्भर-झूर-भरम-भल-लढ-विम्हर सुमर-पयर-पम्हुहाः" ॥ ८।४ ७४ ॥ इति सूत्रेण 'पम्हुह' आदेशः । पम्हुहइ । स्मरति । प्रा० ४ पाद ।

पम्हा-पद्मा-स्त्री० । पद्मलेश्यायाम्, उत्त० ३४ अ० । अश्वपुराऽऽख्य पुरीयुगलविभूषिते विजयक्षेत्रयुगले, "दो पम्हाओ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पम्हार-देशी-अपमृत्यौ, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा ।

पम्हावई-पद्मावती-स्त्री० । शीतोदाया महानद्या दक्षिणे तटे चक्रवर्तिविजयराजधान्याम्, स्था० ८ ठा० । "दो पम्हावई ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । रम्यकाऽऽख्यविजयक्षेत्रवर्तिपुरीयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पम्हुट्ठ-प्रस्मृत-त्रि० । "क्तेनाप्फुण्णाऽऽदयः" ॥८।४।२५८॥ इति निपातनम् । प्रा० ४ पाद । विस्मृते, 'पम्हुट्ठदिसाभाए।" ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

प्रमृष्ट-त्रि० । स्वच्छे पाइ० ना० १६० गाथा ।

पम्हुस-विस्मृ-धा० । तथाविधसंस्कारानुदयादनुद्धमूर्वार्थविगते, 'विस्मुः पम्हुस विम्हर-वीसरा' ॥८।४।७५॥ इति सूत्रेण विपूर्वकस्य स्मृधातोः पम्हुसाऽऽदेशः । पम्हुसइ । विस्मरति । प्रा० ४ पाद ।

प्रमृश-धा० । प्रमर्शने, "प्रात्मृशमुषो म्हुसः" ॥८।४।१८४॥ इति सूत्रेण पम्हुसाऽऽदेशः । पम्हुसइ । प्रमृशति । प्रा०४पाद ।

प्रमुष्-धा० । प्रमोषे प्रमुष्णाति । प्रा० ४ पाद ।

पय-पद-न० । पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदम् । विशे० । अभिधाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । परिच्छेद्यवाचके शब्दे नि० चू० १ उ० । रत्ना० ।

**वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदं, पादानां तु वाक्यमिति ॥ १० ॥**

वर्णौ च वर्णाश्चेत्येकशेषाद् ब्रह्मसम्बोधने क इत्यादौ द्वयोः, गौरित्यादौ बहूनां च वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां पदार्थे प्रतिपत्तौ कर्तव्यायां परस्परं सहकारितया स्थितानाम् । निरपेक्षा, पदान्तरवर्त्तिवर्णनिर्वर्तितोपकारपराङ्मुखी, संहतिः मेलकः, पदमभिधीयते, पद्यते गम्यते स्वयोग्योऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः । प्रायिकत्वाच्च वर्णद्वयाऽऽदेरेव पदत्वं लक्षितम् । यावतो विष्णुवाचकैकाक्षराऽऽकाराऽऽदिकमपि पदान्तरवर्त्तिवर्णनिर्वर्त्तितोपकारपराङ्मुखत्वरूपेण निरपेक्षत्वलक्षणेन पदत्वेन लक्षितं द्रष्टव्यम् । पदानां पुनः स्वोचितवाक्यार्थप्रत्यायने विधेयेऽन्योन्यनिर्मितोपकारमनुसरतां वाक्यान्तरस्थपदाऽपेक्षारहिता संहतिर्वाक्यमभिधीयते, उच्यते स्वसमुचितोऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः ॥ रत्ना० ४ परि० ।

पदावयवमधिकृत्याऽऽह-

**णामपयं ठवणपयं, दव्वपयं चेव होइ भावपयं ।**
**एक्केकं पि य एत्तो-ऽणेगविहं होइ नायव्वं ॥१७२॥**

नामपदं, स्थापनापदं, द्रव्यपदं चैव भवति भावपदम्, एकैकमपि चाऽत एतेभ्योऽनेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः ।

अवयवार्थे तु नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यपदमभिधित्सुराह-

**आकुट्टिम उक्किन्नं, उणेज्जं पीलिमं च रंगं च ।**
**गंथिय वेढिमपूरिम-वाइम संघाइमं छेज्जं ॥ १७३ ॥**

"आकुट्टिम जहा रूवओ हेट्ठा वि उवरिं पि मुहं काऊण आउट्टिज्जति।" उत्कीर्णं शिलाऽऽदिषु नामकाऽऽदि। "तहा चउलाऽऽदिपुप्फसठाणाणि चिक्खल्लमयपडिबिंबगाणि काउं पच्चंति, तओ तेसु चग्घारित्ता मयणं छुब्भति, तओ मयणमया पुप्फा हवंति ।" एतदुपनेयम् । पीडावच्च संवेष्टितवस्त्रभङ्गावलीरूपम् । "रत्तावयवछ्चविचित्तरूवं रंगं ।" च समुच्चये । ग्रथितं मालाऽऽदि । वेष्टिमं पुष्पमयमुकुटरूपम् । चिक्खल्लमयं कुण्डिकारूपम् अश्रेणच्छिद्र पुष्पथामं पूरिमम् । वातव्यं कुविन्दैर्वस्त्रविनिर्मितमश्वाऽऽदि । संघात्य कञ्चुकाऽऽदि । छेद्यं पत्रच्छेद्याऽऽदि । पदता चाऽस्य पद्यतेऽनेनेत्यर्थयोगात्, द्रव्यता च तद्रूपत्वादिति गाथाऽर्थः । उक्तं द्रव्यपदम् ।

अधुना भावपदमाह-

**भावपयं पि य दुविहं, अवराहपयं च नो य अवराहं ।**
**णोअवराहं दुविहं, माउग नोमाउगं चेव ॥ १७४ ॥**

भावपदमपि च द्विविधम् । द्वैविध्यमेव दर्शयति-अपराधहेतुभूतं पदम् अपराधपदमिन्द्रियाऽऽदि वस्तु, चशब्दः स्वगताऽनेकभेदसमुच्चयार्थः । ( णो अवराहं ति ) चशब्दस्य व्यवहितोपन्यासान्नोअपराधपदम् । च पूर्ववत् । (नोअपराधमिति) नोअपराधपदं द्विविधम् । (माउअ णोमाउअं चेव त्ति) मातृकापदं, नोमातृकापद च । तत्र मातृकापद मातृकाऽऽक्षराणि, मातृकाभूतं वा पदं मातृकापदं, यथा दृष्टिवादे उपन्नेति वेत्यादि । नोमातृकापदं त्वनन्तरगाथया वक्ष्यतीति गाथाऽर्थः ।

**नोमाउगं पि दुविहं, गहियं च पइन्नगं च बोधव्वं ।**
**गहियं चउप्पयारं, पइन्नगं होइऽणेगविहं ॥ १७५ ॥**

( णो माउयं पि त्ति ) नोमातृकापदमपि द्विविधम् । कथमित्याह-ग्रथितं च, प्रकीर्णकं च बोधव्यम् । ग्रथितं, रचितं बद्धमित्यनर्थान्तरम् । अतोऽन्यत् प्रकीर्णकं प्रकीर्णककथोपयोगिज्ञानपदमित्यर्थः । ग्रथितं चतुः प्रकारं गद्याऽऽदिभेदात् । प्रकीर्णकं भवत्यनेकविधम् उत्कलक्षणत्वादेवेति गाथाऽर्थः । दश० २अ० । ( गद्यपदम् 'गज्ज' शब्दे तृतीयभागे ८१२ पृष्ठे व्याख्यातम् ) (पद्यपदम् 'पज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१० पृष्ठे गतम्) (गेयपदव्याख्या 'गेय' शब्दे तृतीयभागे ६४८ पृष्ठे गता) (चौर्णपदव्याख्या 'चुण्ण' शब्दे तृतीयभागे ११६५ पृष्ठे गता ) उक्तं ग्रथितपदम् । प्रकीर्णकपदं लोकादवसेयम् । उक्तं नोअपराधपदम् । दश० २ अ० । ( अपराधपदम् 'अवराहपय' शब्दे प्रथमभागे ७६८ पृष्ठे व्याख्यातम )

**नामनिवाउवसग्गं, अक्खाइय मिस्सयं च नायव्वं ।**
**पंचविहं होइ पयं, लक्खणकारेहिँ निद्दिट्ठं ॥ ३२६ ॥**

पञ्चविधं पञ्चप्रकारं पदं लक्षणकारैः पदलक्षणविज्ञैर्निर्दिष्टं व्याख्यातम् । तद्यथा अश्व इति नामिकम् । खल्विति नैपातिकम्, परीत्यौपसर्गिकम्, पचतीत्याख्यातिकम् । संयत इति मिश्रम् । सू० १ उ० १ प्रक० । विशे० । आ० म० । आ०चू० । पा० । नामाऽऽख्यातनिपातोपसर्गवक्षितसमासस-

न्धिपदहेतुयौगिकौणाऽऽदिक्रियाविधानधातुस्वरविभक्तिवर्ण- युक्तम् । प्रश्न० २ संव० द्वार । सूत्र० । पदं द्विविधं भवत्य- र्थस्य वाचकं, द्योतकं च । विशे० ।

पयमत्थवायगं जो-यगं च तं नामियाई पंचविहं ।
कारगसमासतद्धिय निरुत्तवच्चो वि य पयत्थो ॥१००३॥

पदं द्विविधं भवति-अर्थस्य वाचकं, द्योतकं च । तत्र वृक्षः तिष्ठतीत्यादि वाचकम् । प्रादिकं, चादिकं च द्योतकम् । तथा पुनरपि पदं सामान्येन पञ्चविधम्-नामिकाऽऽदि । तत्र अश्वः इति नामिकं, खल्विति नैपातिकं, परीत्यौपसर्गिकम्, धावतीत्याख्यातिकं, संयत इति मिश्रम् । एवम्भूतानां पदानां विच्छेदो द्वितीयं व्याख्यानाङ्गम् । विशे० । पञ्चा० । आचा० । पद्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम् । सूत्रे, उत्त० १८ अ० । शास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । औ० । सूत्रावयवे, कर्म० । पदं तु अर्थपरि- समाप्तिः पदमित्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित्पदेनाष्टादशप दसहस्राऽऽदिप्रमाणा आचाराऽऽदिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृ- ह्यते । तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदा- नामेव चेह प्रस्तुतत्वात्, तस्य च पदस्य तथाविधाऽऽम्नाया भावात्प्रमाणं न ज्ञायते, तत्रैकं पद पदमुच्यते ॥ ५ ॥ ( ७ गाथा ) कर्म० १ कर्म० । गाथादिचतुर्थांशे अनु० 'सुप्तिङन्तं पदम्'' ॥ १।४।१४॥ इति प्रतिपादिते सुबन्ते तिङन्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । निमित्तकारणे आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदम । संख्यास्थाने स्था० ४ ठा० २ उ० । स्थाने आचा० २ श्रु० ४ चू० उत्त० । प्रति० । सूत्र० ।
पयस्-न० । जले, पाइ० ना० २७ गाथा । दुग्धे, पाइ० ना० १२३ गाथा
पाद-पुं० । 'वाऽव्ययोत्खाताऽऽदावदातः'' ॥ ८ । १ । ६७ ॥ इति आकारस्याऽकारः । प्रा० १ पाद । ज्ञा० । चरणे ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । प्रव० । एकोनविंशगौणानुज्ञायाम् नं० ।
पयअ-प्रयत-त्रि० । प्रकर्षेण यत प्रयत । आव० ५ अ० । प्रयत्नवति, उत्त० ११ अ० । आ० चू० ।
पयइ-प्रकृति-स्त्री० । स्वभावे न० । विशे० । अनु० । अष्टसु कर्मप्रकृतिषु, आव० १ अ० ।
पयंग-पतङ्ग-पुं० । शलभे, उत्त० ३ अ० । चतुरिन्द्रियजीव- विशेषे उत्त० ३२ अ० । प्रज्ञा० । " मुच्छितो पयंगो । " आ० म० १ अ० । सूर्ये, " अक्को तरणी मित्तो, मत्तंडो दिणमणी पयंगो य । अहिमयरो पच्चूहो, दियसयरो अंसुमाली य ॥ ४ ॥ " पाइ० ना० ४ गाथा । शलभे, " पयंगो सलहो " पाइ० ना० १३२ गाथा । आचा० । व्यन्तरभेदे, प्रज्ञा० २ पद । प्रव० । दाक्षिणात्याना पतङ्गानामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।
पयंगवीथिया-पतङ्गवीथिका-स्त्री० । पतङ्गः शलभस्तस्य वी- थिका उड्डयनं पतङ्गवीथिका तत्सदृशी गोचरभूमिका । ध० ३ अधि० । स्था० । दश० । गोचरचर्यायै शलभवद् ग- मने अर्द्धवितर्दे, पञ्चा० १८ विव० । " पयंगवीहिया अणि- यया पगड्डाणखारिसा । " प० व० २ द्वार । यस्या तु त्रिचतुरा- ऽऽदीनि गृहाणि विमुच्याग्रतः पर्यटन्ति सा पतङ्गवीथिका । पतङ्गः शलभस्तस्येव या वीथिका पर्यटनमार्गः सा पतङ्ग- वीथिका । पतङ्गो हि गच्छन्नुत्प्लुत्य नियतया गत्या गच्छ- ति, एवं गोचरभूमिरपि या पतङ्गोड्डयनाऽऽकारा सा पत- ङ्गवीथिकेति । वृ० १ उ० २ प्रक० । ध० । ग० ।
पयंगसेणा-पतङ्गसेना-स्त्री० । शलभसमूहे, उत्त० १२ अ० ।
पयंजलि-पतञ्जलि-पुं० । स्वनामख्याते सर्वप्रधाने योगा- ऽऽचार्ये, द्वा० २३ द्वा० ।
पयंड-प्रचण्ड-त्रि० । रौद्रे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । तीव्र- रोषे, व्य० १ उ० ।
प्रकाण्ड-त्रि० । उत्कटे, स० । ' पयंडदंडप्पयारा ।'' प्रचण्डः प्रकाण्डो वा दुःसाध्यसाधकत्वाद्दण्डप्रचारः सैन्यविचरणं, दण्डप्रकारो वा आज्ञाविशेषो येषां ते तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । "पयंडघोरवीहणगदारुणाए ।'' प्रचण्डाः शीघ्रं शरी- रव्यापिकाः, प्रचण्डाऽपरिवर्तितत्वाद्वा प्रचण्डा घोरा झगि- ति जीवितक्षयकारिणी औदारिकवर्ता परिजीवितानपेक्षा वा ये ते, तथा घोरास्तत्प्रवृत्तित्वात् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
पयंडचंड-प्रकाण्डचण्ड-त्रि० । अत्यर्थं रौद्रे, स० ११ अङ्ग ।
पयंत-पचत्-त्रि० । विक्लित्यनुकूलव्यापारजनककृतिमति, "न पयइ न पयावेइ पयंतं नाणुजाणइ, पयंतो पयावंतो, एतेसु सव्वेसु पत्तेगं संघवज्जो ।" महा० १ चू० । स्था० । ' अंबरं व कत्थइ पयंतं । '' क्वचित्प्रदेशे अम्बरमाकाशं पचन्तमिवाभ्रं- लिहत्वेन आकाशपचनसमर्थमिवेत्यर्थः । कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।
पयकाय-पदकाय-पुं० । पदसमूहे, पदसंघाते आव० ५ अ० ।
पयक्खेम-पदक्षेम-न० । शिवे "कुव्वइ सो पयक्खेममप्पणो ।" ( ६ गाथा ) दश० ६ अ० ४ उ० ।
पयग-पतग-पुं० । व्यन्तरभेदे, तेषामिन्द्रे च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।
पयगवइ-पतगपति-स्त्री० । पतगव्यन्तराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।
पयग्ग-पदाग्र-न० । पदपरिमाणे, नं० ।
पयचुल्ल-पुं० । मत्स्यबन्धनविशेषे, विशे० ।
पयच्छिऊण-प्रदाय-अव्य० । दत्त्वेत्यर्थे स० ११ अङ्ग । सूत्र० ।
पयट्ट-प्रवृत्त-त्रि० । कृतप्रवृत्तिके, " भरहो सव्विड्ढिए भगवंतं पदओ पयट्टो । " आ० म० १ अ० ।
पयट्टचक्क-प्रवृत्तचक्र-पुं० । प्रवृत्तराज्यनुष्ठानसमूहे,"एवंविध- मिह चित्तं, भवति प्राय प्रवृत्तचक्रस्य । " षो० १४ विव० ।
पयट्टणी-देशी-प्रतिहारिण्याम्, आकृष्टौ, महिष्या च । दे० ना० ६ वर्ग ७२ गाथा ।
पयट्टमाण-प्रवर्तमान-त्रि० । व्याप्रियमाणे पञ्चा० २ विव० ।
पयट्टय-प्रवृत्तक-त्रि० । चलिते, पाइ० ना० २३६ गाथा ।
पयट्टियव्व-प्रवर्तितव्य-न० । विधेयानां प्रवृत्तौ, षो० १६ वि- व० । प्रवर्तितव्ये, पञ्चा० ६ विव० ।
पयड-प्रकट-त्रि० । प्रकाशे, " एसा य परा आणा, पयडा जं गुरुकुलं ण मोत्तव्वं । " एषा वक्ष्यमाणा परा प्रकृष्टा प्रकृष्टा- र्थसाधकेनोपायेदर्शकत्वात् प्रकटा प्रकाशा यद् गुरुकुलं न मोक्तव्यम । पञ्चा० ११ विव० । व्यक्तार्थे, पञ्चा० २ विव० । "वियसाओ विसुओ पयडो । " पाइ० ना० १०८ गाथा ।

पयडत्थ-प्रकटार्थ-त्रि० । स्फुटाभिधेये पञ्चा० १८ विव०

पयडहरिभद्दसूरिवयण प्रकटहरिभद्रसूरिवचन-न० प्रकटार्थ-हरिभद्राभिधानाऽऽचार्यभणने, जी० १३ प्रति० ।

पयडि-प्रकृति-स्त्री० । भेदे, विशे० । पं० सं० । यथा कर्मण ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदय., तेषा मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदयश्च प्रज्ञा० २३ पद । आ० म० । कर्मणा ज्ञानाऽऽवरकत्वाऽऽदिलक्षणे स्वभावे, पं० सं० ५ द्वार ।

पयडिणिक्खेव-प्रकृतिनिक्षेप-पुं० । मूलप्रकृत्यादिरूपे कर्मणि, उत्त० ३३ अ० ।

पयडिभेय-प्रकृतिभेद-पुं० । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां भेदेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

पयड्डअ प्रकर्षक-त्रि० । प्रवर्त्तके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पयण-पचन-न० । पाके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आहाराऽऽदिपाके उत्त० १२ अ० । आहारनिष्पादने, उत्त० १२ अ० । भक्तस्येव शरीरस्यं वचनरूपे दण्डे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अधिकरणे ल्युट् । कडिल्लकाऽऽकृतिभाण्डे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

पयणसाला-पचनशाला-स्त्री० । पाकस्थाने, यत्र पाकस्थाने वर्षासु भाजनानि पच्यन्ते बृ० २ उ० ।

पयणु-प्रतनु-त्रि० । अल्पे, पं० चू० २ कल्प । अतिमन्दीभूते, 'पयणुकोहमाणमायामोहा " प्रतनवः अतिमन्दीभूता क्रोधमानमायालोभा येषा ते तथा । जं० २ वक्ष० । " पयणुए मंससोणिए " भ० ३ श० ४ उ० ।

पयत-प्रयत-त्रि० । प्रकृष्टसंयमयुक्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रयत्नवति प्रमादरहिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० ।

पयत्त-प्रयत्न पुं० प्रयतनं प्रयत्न. सर्वेष्वपि विहितानुष्ठानेष्वप्रमादे.विशे० । आदरे,जी० १प्रति० । पाइ० ना० । समुद्यमे, पञ्चा० १६ विव० । ताल्वादिव्यापारविषये यत्ने, विशे० । सम्यक्त्वव्रतग्रहणोत्तरकाल तदनुस्मरणाऽऽदौ अन्त०१ श्रु० ८ वर्ग १ अ० ।

प्रात्त-त्रि० । प्रगृहीते, ' पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं ।" अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग १ अ० ।

प्रदत्त-त्रि० । गुरुभिरनुज्ञाते, अणु० ३ वर्ग १ अ० ।

पयत्तकड-प्रयत्नकृत-त्रि० प्रयत्नपूर्वके निष्पादिते, "सावज्जकडे त्ति वा पयत्तकडे त्ति वा भद्दयं भद्दए त्ति वा ऊसढं ऊसढे त्ति वा रसियं रसिए त्ति वा मणुण्णं मणुण्णे त्ति वा तहप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासेज्जा।"आचा०२श्रु०१ चू०४ अ०२ उ०।

पयत्तपक्क प्रयत्नपक्व-त्रि० । यत्नपूर्वकपक्वे, ' पयत्तपक्कं ति य पक्कमालवे, पयत्तछिन्नं ति य छिन्नमालवे । " (४२ गाथा ) दश०७ अ० ।

पयत्थ-पदार्थ-पुं० । ६ त० । पदवाच्येऽर्थे निशे० । भावे, " भावो वत्थु पयत्थो।' पाइ० ना० १५५ गाथा ।

" " , ' पयत्थो ॥ १००३ ॥

परवोहहिओ वऽत्थो, किरियाकारगविहाणओ वचो ।
पज्जायवयणओ वि य, तह भूयत्थाभिहाणेणं ॥१००४॥
पच्चक्खओऽहवा सो-ऽणुमाणओ लेसओ च सुत्तस्स ।
वचो व जहासंभव-मागमओ हेउओ चेव ॥ १००५॥

तृतीयं तु व्याख्यानाङ्गं पदार्थ । स च कारकवाच्याऽऽदिभेदाच्चतुर्विधः । तत्र कारकेणोच्यत इति कारकवाच्यः, कारकविषय इत्यर्थ । यथा-' पचतीति पाचक ' इत्यादि । समासेनोच्यते समासवाच्य', ' राज्ञ पुरुषो राजपुरुषः ' इत्यादि । तद्धितेनोच्यते तद्धितवाच्यः, ' वसुदेवस्यापत्यं वासुदेव इत्यादि । निरुक्तेनोच्यते निरुक्तवाच्यः- भ्रमति च रौति च भ्रमर ' इत्यादि । तदेवं पदार्थस्य चातुर्विध्यमुक्तम् ॥ १००३ ॥ अथ प्रकारान्तरेण त्रिविधोऽप्येष सम्भवतीति दर्शयति-( परवोहेत्यादि ) वा इत्यथवा, परेषां श्रोतृणां बोध परबोध तत्र कर्त्तव्ये हितो योऽर्थ पदार्थ.,स त्रिविधोऽपि वाच्य । तद्यथा-क्रियाकारकविधानतः पर्यायवचनतः भूतार्थाऽभिधानेन च । तत्र क्रियाकारकभेदेन यथा ' घट ' चेष्टायाम्, घटतेऽसाविति घटः । पर्यायवचनैर्यथा-घटः, कुट , कुम्भ , कलश इत्यादि । भूत सद्भूतो यथावस्थितोऽर्थस्तदभिधानतस्तत्प्ररूपणेन च पदार्थो वाच्य । तद्यथा य ऊर्द्धकुण्डलोष्ठ आयतवृत्तग्रीव पृथुबुध्नोदर. स घट उच्यत इत्यादि ।

अथवा-पदर्थ. सूत्रस्यार्थस्त्रिविधो वाच्य । तद्यथा-प्रत्यक्षत', अनुमानत , लेशतश्च । अत्र प्रत्यक्षेणैव यादृशं पुस्तकाऽऽदिलिखितमुपलभ्यते, गुरुमुखाद्वा यादृश श्रूयते,तादृशमेव साक्षात्तत्र प्ररूप्यते, स प्रत्यक्षत पदार्थ उच्यते । यथा-"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग " इति गुरुमुखाऽऽदेः श्रवणाऽऽदिप्रत्यक्षेणोपलभ्य सम्यग्दर्शनाऽऽदीना मोक्षमार्गत्वं प्ररूपयति । अनुमानं त्विहार्थाऽऽपत्तिरूपं गृह्यते, तस्मादन्यथा नुपपन्नार्थादतीन्द्रियस्य साध्यार्थस्याऽनुमीयमानत्वात् । तत्र प्रत्यक्षोपलब्ध पदार्थोऽयमर्थापत्तिलब्धमर्थं कथयति सो नुमानत पदार्थ उच्यते,यथा कथयन्ति मिथ्यादर्शनाऽऽदीन् पुनर्मोक्षमार्गो न भवतीत्यर्थादेव गम्यत इति । तथा-लेशतः पदार्थो भवति. तत्र-' लिश ' श्लेषणे, लेशः श्लेष । श्लिष्टं समस्तमिति यावत् । तन्निर्देशात् पदार्थो गम्यते । यथा -सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि इति त्रयाणामपि समस्ताना निर्देशात्समुदितानामेव मोक्षमार्गत्वं, नैकैकश इति गम्यते । ततोऽसौ लेशेन श्लेषेण सूचितो लेशत. पदार्थोऽभिधीयते तदेवं प्रकारान्तरेणाऽप्युक्तस्त्रिविध. पदार्थ. ।

अथवा यथासम्भवमागमतो, हेतुतश्च द्विविध पदार्थो वाच्यः तत्र भव्याऽभव्यनिगोदाऽऽदिप्रतिपादकपदानामागमत आज्ञामात्रेणैवार्थ प्रतिपाद्यते । न हि भव्याऽभव्याऽऽदिभावप्ररूपणे आगमं विहाय प्राय. प्रमाणान्तरं प्रवर्त्तते । अतो यमागमत. पदार्थ उच्यते । यत्र च हेतु सम्भवति, तत्र हेतुत. पदार्थोऽभिधीयते । यथा-कायप्रमाण आत्मा, न सर्वगत., कर्तृत्वात्,कुलालाऽऽदिवत्, इत्यादि । ननु मूर्त आत्मा कर्तृत्वात्कुलालाऽऽदिवत्,इत्येवं मूर्तिमत्त्वमप्यात्मनोऽनेन हेतुना सिद्ध्यतीति चेत् । सत्यम् इष्यते एव संसार्यात्मनो मूर्त्तत्वमपीति न किञ्चिन्न दूष्यते । इति हेतुतोऽयं पदार्थोऽभिधीयते । तदनेन " आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो । दिट्ठंतिओ दिट्ठंता कहणविहिविराहणा इहरा " ॥ १ ॥ इत्ययमर्थ. समर्थितो भवतीति । तदेवमुक्तो विस्तरत. पदार्थ ॥१००३॥ १००४॥१००५॥ विशे० । द्रव्याऽऽदि चतुर्धा ।

अधुना पदार्थद्वारमाह-

**होइ पयत्थो चउहा, सामासिय तद्धिओ उ धाउकओ ।**
**नेरुत्तिओ चउत्थो, तिएह पयाणं पुरिल्लाणं ॥ ३३० ॥**

त्रयाणां पूर्वाणां पदानां नामनिपातौपसर्गिकाणां चतुर्विधः पदार्थो भवति । तद्यथा-सामासिकः, तद्धितो, धातुकृतो, नैरुक्तश्च चतुर्थः ।

तत्र सामासिकः सप्तधा-

**दंदे य बहुव्वीही, कम्मधारय दिगू य एमेव ।**
**तप्पुरिस अव्वईभा-व एगसेसे य सत्तमए ॥ ३३१ ॥**

तत्र द्वन्द्वो यथा-दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम् । बहुव्रीहिर्यथा-"फुल्ला इमम्मि गिरिम्मि कुडयकयंबा सो इमो गिरी फुल्लकुडयकयंबो ।" कर्मधारयः-श्वेतपटः । द्विगुः-त्रीणि मधुराणि त्रिमधुरम् । तत्पुरुषः-वने हस्ती वनहस्ती । अव्ययीभावः-गङ्गायाः समीपम् उपगङ्गम् । एकशेषो यथा-पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषाः । एवं-वृक्षा इत्यादि । उक्तः सामासिकः ।

संप्रति तद्धित उच्यते, सोऽष्टप्रकारः । उक्तं च-

**कम्मे सिप्पे सिलोगे, संजोगे समीवओ य संजूहे ।**
**ईसरियाऽवच्चेण य, तद्धियअत्थो तु अट्ठविहो ॥३३२॥**

तत्र कर्मतो यथा-तृणहारकः । शिल्पतो यथा-तन्तुवायः । श्लोकतः श्लाघातो यथा-श्रमणः, संयत इत्यादि । संयोगतो यथा राज्ञः श्वशुरः । समीपे यथा-गिरिसमीपे नगरम् । संव्यूहतो यथा -मलयवतीकार इत्यादि । ऐश्वर्यतो यथा-राजा युवराज इत्यादि । अपत्यत -तीर्थकरमाता, चक्रवर्तिमाता इत्यादि । उक्तस्तद्धितः । सम्प्रति धातुकृत उच्यते-भू सत्तायां परस्मैभाषा इत्यादि । नैरुक्तो-मह्यां शेते महिष इत्यादि. आद्यानां त्रयाणां पदानामेष पदार्थः ।

सम्प्रत्याख्यातिकपदस्य, मिश्रपदस्य च पदार्थमाह-

**कारगकओ चउत्थे, मिस्सपदे मिस्सओ चउत्थो उ ।**
**सामासिओ सत्तविहो, हवइ पयत्थो उ नायव्वो ।३३३।**

चतुर्थे आख्यातिकपदे पदार्थः कारककृतः क्रियाकृतः। मिश्रपदे मिश्रपदार्थः, तत्र यः सामासिकः स पदार्थ. सप्तविधो ज्ञातव्य । स च प्रागेवोपदर्शितः । बृ० १ उ० १ प्रक० । अनु० । आ० म० । तथाहि नैयायिकदर्शनेन तावत्प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानीत्येते षोडश पदार्था अभिहिताः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आ० म० ( कथ पुनश्चतुश्चत्वारिंशं शतं पृच्छानां भवति इति प्रश्ने,'तेरासिय' शब्दे चतुर्थभागे २३६५ पृष्ठे पदार्थनिरूपणपरा " भूजल० " ( २४६० ) इत्यादिगाथा उक्ताः )

तथाहि-द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽऽख्याः षडेव पदार्थाः, न्यूनाधिकप्रतिपदार्थादेकप्रमाणाभावे परस्परवक्ष्यमाणरूपषट्पदार्थव्यवस्थापकप्रमाणविषयत्वात् । उभयाभिमतघटाऽऽदिषट्पदार्थवत् । ( द्रव्यस्वरूपम् 'दव्व' शब्दे चतुर्थभागे २४६६ पृष्ठे उक्तम् गुणस्वरूपं ' गुण ' शब्दे तृतीयभागे ६०१ पृष्ठे विवृतम् ) न चैवं उत्क्षेपणाऽऽदीनि पञ्चकर्माणि,परापरभेदाभिन्नं द्विविधं सामान्यम् अनुगतज्ञानकारणं, नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतव., अयुतसिद्धाना कार्याऽऽधारभूतानामिहेतिप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्ध. समवायो व्यापकश्च । अत्र च पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च केचिन्नित्या एव,कर्मनित्यमेव,सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति पदार्थव्यवस्था । ततश्चैनच्छास्त्रं तथापि मिथ्यात्वम्,तत्प्रदर्शितपदार्थषट्कस्य प्रमाणबाधितत्वात् । यतश्चतुःसंख्यं पृथिव्यादि द्रव्यं परमाणुरूप यन्नित्यमुपवर्णितम्,तदसंगतम् । एकान्ताक्षणिकत्वे क्रमयौगपद्यभावार्थक्रियाविरोधात् । तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्त्तते, ततश्चासत्त्वमेव तस्य । यदि च स्थूलकार्यद्रव्यकारणभूतानामणूनां तज्जनकैकस्वभावता तदा तत्कार्याणां सकृदेव सर्वेषामुत्पत्तिप्रसक्तिः , अविकलकारणत्वात् । तथा च प्रयोगः-येऽविकलकारणास्ते सकृदेवोत्पद्यन्ते , यथा समानोत्पन्ना बहवोऽङ्कुरा., अविकलकारणाश्च परमाणुकार्यत्वेनाभिमता भावा इति स्वभावहेतुः । अविकलकारणस्याप्यनुत्पादे सर्वदा अनुत्पत्तिप्रसक्तिः, विशेषाभावादिति पर्याये बाधकं प्रमाणं स्यात् । एतत् सम्वाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् त्रिविधं कारणम् । यत्र हि कार्यं समवैति तत् समवायिकारणं,यथा द्व्यणुकस्याणुद्वयम्,यच्च कार्यैकार्थसमवेतं कार्यं कारणैकार्थसमवेतं वा कार्यमुत्पादयति तदसमवायिकारण,यथा पटावयविद्रव्याऽऽरम्भे तन्तुसंयोगः, पटसमये तद्रूपाऽऽद्यारम्भे पटोत्पादकं तन्तुरूपाऽऽदि च । शेषं तूत्पादकं निमित्तकारणं,यथाऽदृष्टाऽऽकाशादि । तत्र संयोगाऽऽदेरपेक्षणीयस्यासन्निधेरविकलकारणत्वमसिद्धम् । असदेतत् संयोगाऽऽदिनाऽनाधेयातिशयत्वान्नित्यतया अणूनां तदपेक्षत्वायोगात् । न च तन्तुकारणाऽऽदीनां कार्याणां सकृत्प्रादुर्भाव उपलभ्यते तस्माद्विपर्यय । तथा च प्रयोग -ये कर्मवत्कार्यहेतवस्तेऽनित्याः यथा क्रमवदङ्कुराऽऽदीनि,वर्त्तिकाबीजाव यवस्तथा परमाणव इति स्वभावहेतु । यद्यप्यविरुद्धकारणोक्तमणूनां नित्यत्वसाधकं प्रमाणं परमाणूत्पादकाऽभिमतकारणं सधर्मोपेतं न भवति,सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाविषयत्वात्,शशश्रृङ्गवदिति,तत्र कुविन्दाऽऽदेरणूत्पादककारणस्य सत्त्वप्रतिपादकप्रमाणविषयत्वाद्दसिद्धो हेतु । यथा च पटाऽऽदय. परमाण्वात्मकाः कुविन्दोत्पाद्यास्तथा प्रदर्शयिष्याम । देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां च भावाना सदुपलम्भकप्रमाणातिवृत्तावपि सत्त्वाविरोधात् अनैकान्तिकश्च हेतु ,ततो नाणवनित्यत्वप्रसाधकाऽनुमानप्रतिज्ञाया अनुमानबाधा । न च यत एव प्रमाणात्परमाणवः प्रसिद्धास्तत एव नित्यत्वधर्मोपेता अपि त इति तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात्तदनित्यत्वप्रसाधकानुमान स्यानुत्थानं प्रमाणतोऽप्रसिद्धौ चाणूनामाश्रयासिद्धतया तदिति वाच्यं, सर्वस्य प्रमाणविषयस्यानित्यत्वधर्मोपेतस्यैन तद्विषयत्वात् अन्यथाभूतस्य तज्जनकत्वेन तद्विषयत्वानुपपत्ते. नाकारणं विषय इति प्रसाधितत्वात् । नित्यस्य चाकारणत्वान्न चतु संख्यं परमाण्वात्मकं नित्यद्रव्यं सम्भवति.नाऽपि तदारब्धमवयवि द्रव्यं सम्भवति, गुणावयवव्यतिरिक्तस्य तस्यानुपलम्भात् । न हि शुक्ला दिगुणेभ्यस्तन्त्वाद्यवयवेभ्यश्चार्थान्तरभूतपटाऽऽदि द्रव्यं चक्षुरादिज्ञाने अवभासते,न चावयविनो अणुकाऽऽदेरनुपलम्भे परमाणूनां विविक्तस्वरूपाणामुपलम्भाविषयत्वात् प्रतिभासाभावप्रसक्तेराश्रयासिद्धतयाऽवयव्यादिनिषेधकं प्रसङ्गसाधनप्रयोगाऽनुपपत्तिरिति वक्तव्यम्,परमाणूनामेव विशिष्टाऽऽकारतयोत्पन्नानां प्रतिभासविषयतयाऽऽश्रयासिद्धताऽद्यनुपपत्तेर्न प्रयोगानुपप-

त्तिः। एवं च यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सत् यत्र नोपलभ्यते तत्त-
त्र नास्ति, यथा क्वचित्प्रदेशविशेषे घटाऽऽदिरनुपलम्भविषयः
गुणावयवार्थान्तरभूतो गुण्यवयवी च दृश्यत्वेनाभिमतः नोप-
लभ्यते च तत्रैव देश इति स्वभावानुपलब्धिः। न च हेतोर्विशे
षणमसिद्धं, महदनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपाऽऽदिमत्त्वात् चोपलब्धिरि
ति वचनात् तयोर्दृश्यत्वेनाभ्युपगमात्। ननु गुणव्यतिरिक्तो
गुण्युपलभ्यत एव, तद्रूपाऽऽदिगुणाग्रहणेऽपि तस्य ग्रहणात्।
तथाहि-मन्दमन्दप्रकाशे तद्गतशिताऽऽदिरूपानुपलम्भेऽप्युपल
भ्यते, बलाकाऽऽदिखगतशुक्लगुणाग्रहणेऽपि च तन्निहितोपधा
नाव थानायां गृह्यते स्फटिकोपलः। तथा प्रदीपनकञ्चुकावच्छ
न्नशरीरपुंसां तद्गतश्यामाऽऽदिरूपाप्रतिभासेऽपि पुमानिति
प्रत्ययोपपत्तेः। प्रतिभात्येव कुङ्कुमाऽऽदिरक्तं च वस्त्रं, तद्रूपस्प
र्शं, स्वरूपेणाभिभूतस्याप्रकाशेऽपि प्रकाशात एव वस्त्रमिति
प्रत्ययोत्पत्तेरध्यक्षत एव गुणगुणिनोर्भेदः सिद्धः। तथाऽनुमा-
नतोऽपि तयोर्भेदः तथाहि-यद्यद् व्यवच्छेदकत्वेन प्रतीयते त-
त् ततो भिन्न, यथा देवदत्ताऽऽदेश्च गुणिव्यवच्छेदकत्वेन प्रती-
यन्ते नीलोत्पलस्य रूपाऽऽदय इति। तथा पृथिव्यप्तेजोवायवो
द्रव्याणि रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भिन्नानि, एकवचनबहुवच
नविषयत्वात्। यथाऽऽर्द्रामलकाणीति, तथा च पृथिवीत्येक-
वचनं, रूपरसगन्धस्पर्शा बहुवचनमुपलभ्यत इति तयोर्भेदः।

अथावयवावयविनोरप्यनुमानतः सिद्धो भेदः। तथाहि-
तन्तुवायाविकरणेभ्यस्तन्तुभ्यो भिन्नः पटः, भिन्नकर्तृकत्वात्,
घटाऽऽदिवत्, भिन्नशक्तिकत्वाद्वा विषागदवत्, पूर्वोत्तरकालभा
वित्वाद्वा पितापुत्रवत् विभिन्नपरिमाणत्वाद्वा कुवलयबिल्व
वदिति, विरुद्धधर्माध्यासनिबन्धनो ह्यन्यत्रापि भावाना भेदः,
स चाऽत्राऽप्यस्तीति कथं न भेदः?। यदि चावयवेभ्यो भिन्नो
न भवेत् स्थूलप्रतिभासो न स्यात्, परमाणूनां सूक्ष्मत्वात्; न
चान्यादृग्भूतः प्रतिभासोऽन्यादृगर्थव्यवस्थापकः, अतिप्रस-
ङ्गात्। न च स्थूलो भावः परमाणुरिति विषयदेशोऽपि संभवी
स्थूलपिण्डित्वाद् गुरुत्वस्येत्युद्द्योतकराऽऽदयः। अत्र प्रतिविधी-
यते यदुक्तं खगतगुणानुपलम्भेऽपि बलाकास्फटिकाऽऽदयः उ-
पलभ्यन्त इति। तदसङ्गतम्। तज्ज्ञानस्यायथार्थत्वे उद्भ्रान्तत-
या निर्विषयत्वात्। तथाहि बलाकाऽऽदयः शुक्लाः सन्तः श्यामा-
ऽऽदिरूपतयोपलभ्यन्ते। न च तेषां तद्रूपं तात्त्विकमस्ति तद्रूपा-
ग्रहणेऽपि तेषां ग्रहणमित्यभ्युपगमप्रसक्तेः। न च तदा श्यामा
ऽऽदिरूपाद् व्यतिरिक्तोऽपरस्फटिकाऽऽदिस्वभाव उपलभ्यते,
श्यामाऽऽदिरूपस्यैवोपलम्भात्। न चातद्रूपा अपि बलाकाऽऽद-
यः श्यामाऽऽदिरूपेणोपलभ्यन्ते, यत आकारवशेन प्रतिनिय-
तार्थज्ञानस्य व्यवस्था अन्याकारस्यापि नस्यान्यार्थतायां रूप
ज्ञानस्यापि रसविषयताप्रसक्तेरविशेषात्। न चान्याऽऽकारस्या
न्यविषयव्यवस्थापकत्वेऽपि तस्य परस्येष्टसिद्धिः यतः शुक्लाऽऽ
दय एव श्यामाऽऽदिरूपेण प्रतिभान्ति, तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वान्न
पुनस्तद्व्यतिरिक्तस्य गुणिनस्ततः सिद्धिर्भवेत्। यच्च कञ्चुका-
वच्छिन्ने पुंसि पुमानिति ज्ञानमध्यक्षमवयविव्यवस्थापकमुक्तम्।
तदध्यक्षमेव न भवति। शब्दानुविद्धत्वादस्पष्टाऽऽकारत्वाच्च।
अपि तु रूपाविसंवादमात्रलक्षणपुरुषविषयमनुमानमेतदिति
नातोऽवयविसिद्धिः। तथा-हि रूपाऽऽदिमत्ययाऽऽत्मकपुरुषहे-
तुक कञ्चुकसन्निवेशः उपलभ्यमानस्वकारणमनुमापयति,
धूम इवाग्निं। यच्च कुङ्कुमाऽऽदिरक्ते वस्त्रे तद्रूपाप्रतिपत्तावपि व-
स्त्रमिति ज्ञानं तत्प्राक्तनशुक्लरूपविनाशे सामग्र्यन्तरोपजा-
तरूपान्तरस्याध्यक्षेण ग्रहणे सत्युत्तरकालतत्पृष्ठभाविसम-
यवशाद्वस्त्रमिति समुदायविषयं सांवृतपरमार्थतो निर्विषय-
मेव प्रत्यक्षमर्थेशानामित्यामिक्रमस्य प्रत्यक्षत्वं, न चैतदनु-
मानं, पूर्वाध्यक्षगृहीतविषयत्वात् अलिङ्गिकत्वात् समुदाय-
विषयं सांवृतपरमार्थतो निर्विषयमेव। न चाभिभू-
तवस्तुरूपस्य तदवस्थायामभावे, धौतवस्त्रावस्थायां पुनः
शुक्लरूपानुपलब्धिः स्यादिति वक्तव्यम्। यतोऽग्न्यादि-
सामग्रीप्रादुर्भूतभास्वररूपस्य लोहाऽऽदेः पुनः श्यामाऽऽदि-
रूपान्तरोत्पत्तिवत् तत्रापि सामग्र्यन्तरात् शुक्लरू-
पोत्पत्तेरविरोधात्। न च प्राक्तनमेव रूपमभिभूतत्वात् त-
त्रानुपलब्धं, पश्चादभिभवाभावादुपलभ्यत इत्यस्य प्रतिषेधेन
रूपान्तरमेव प्राक्तनरूपविनाशेनोपजातमत्रोपलभ्यत इति भ-
वतोऽपि किं प्रमाणमितिवक्तव्यम्, अनुमानस्य सद्भावात्।
तथाहि- यदपरित्यक्तानभिभूतस्वभाव तस्य न परेणाभिभवः,
यथा पूर्वावस्थाया तस्यैवापरित्यक्त न हि भूतस्वभावं भेदासं
भवावस्थाया रूपमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। परित्यक्तान-
भिभूतस्वभावत्वाभ्युपगमे पि सिद्धस्यान्यत्वं, स्वभावभेदस्य
भावभेदलक्षणत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। न च स्वतन्त्रेच्छा-
मात्रभाविवषष्ठीवचनभेदादेव वाह्यवस्तुगतभेदाव्यभिचारि-
त्व येन ततो गुणगुणिनो भेदसिद्धिः स्यात्, तेन यदुपदव-
च्छिन्नमित्यादिप्रयोगानुपपत्तिर्यदि न वस्तुगतभेदमन्तरेण प-
ष्ठ्यादिवृत्तिर्न भवेत्, न स्वस्वभावः, षण्णां पदार्थानामस्तित्वं,
दाराः शिकता इत्यादौ षष्ठ्यादेर्वृत्तिर्न स्याद्भावादेरत्र व्यति-
रिक्तस्य भावे षण्णामेतन्निबन्धनस्याभावात्। अथ सदुपलम्भ-
कप्रमाणविषयत्वं धर्मान्तरं षण्णामस्तित्वमिष्यत इति न हेतो-
र्व्यभिचारः। सप्तमपदार्थप्रसक्तेः षट्पदार्थाभ्युपगमो, हीयते,
अथ षट्पदार्थव्यतिरिक्तानामपि षण्णामभ्युपगमान्नायं दोषः,
तेषां च पदार्थप्रवेशके ग्रन्थ एव धर्मैर्येना धर्मिणामुद्देश कृत
इति। असदेतत्। तैस्तेषां संबन्धानुपपत्तेः। तदन्तरेण च धर्म-
धर्मिभावायोगात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। न च संयोगलक्षणोऽ-
न्यसंबन्धः, संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्येष्वेव भावात् नापि समवा-
यस्वरूप, स तावत्तस्य सर्वत्रैकत्वाभ्युपगमात्, समवायेन च
सह समवायसंबन्धे द्वितीयसमवायाभ्युपगम स्यात्। तत्र
चानवस्था। न च षड्भिः पदार्थैर्धर्मिणामुत्पादनात् तेषां त इति
व्यपदेश, तथाऽभ्युपगमे वदराऽऽदयोऽपि कुण्डाऽऽदिसंबन्धि-
नस्तथैव स्युरिति संयोगसमवायाऽऽख्यसंबन्धान्तरकल्पना-
वैयर्थ्यप्रसक्तिर्भवतु वा षण्णामस्तित्वं धर्मान्तर, तथाऽपि व्यभि-
चार एव, तदास्तित्वे अपरास्तित्वाऽऽद्यभावेऽपि तदस्तित्व-
स्यास्तित्वप्रमेयत्वाभिधेयत्वानीति षष्ठ्यादिप्रवृत्ते। अथ तत्रा-
पि परास्तित्वाभ्युपगमः तदाऽनवस्थाप्रसक्तिः। न चेष्टत्वाददोष,
सर्वेषामप्युत्तरोत्तरधर्माऽऽधारत्वाद् धर्मित्वप्रसक्तेः षडेव धर्मि-
भिण प्रोक्ताः, इत्येतस्यानुपपत्तिः, षट्पदार्थव्यतिरिक्तानामन्ये-
षामपि वा धर्मिणामस्तित्वाऽऽदीना विशिष्टधर्माऽऽधाराणां सं-
भावत्। न च धर्मिरूपा एव ये ते एव षट्केनावधारिता इति व
क्तव्यं गुणाऽऽदीनामपि निर्देशप्रसङ्गात् न हि गुणाऽऽदीना धर्मि
रूपतैव, किं तु द्रव्याश्रितत्वाद् धर्मरूपत्वम्। यस्त्वाह-सदुपल-
म्भप्रमाणगम्यत्वं षण्णामस्तित्वमभिधीयते, तच्च षट्पदार्थविष-
यज्ञानं तस्मिन्सति सदिति व्यवहारप्रवृत्तेः। एवं ज्ञानजनितं ज्ञा-
नज्ञेयत्वमभिधानजनितमभिधेयत्वमित्येवं व्यतिरेकनिबन्धना
षष्ठी सिद्धा। न चाऽनवस्था न च षट्पदार्थव्यतिरिक्तपदार्था-

न्तरप्रसक्तेः ज्ञानस्य गुणपदार्थेऽन्तर्भावात्। सोऽप्ययुक्तवादी। एवमप्यस्तित्वाऽऽदेः षट् पदार्थाः व्यतिरेके व्यभिचारस्य तद्वस्थत्वाच्च व्यतिरेके सप्तमपदार्थप्रसक्तेः न्यायप्राप्तत्वात्। किं च यदि षण्णां पदार्थानामर्थक्रियासमर्थपदार्थस्वरूप स्वत एव न स्यात् तदा शशशृङ्गरूपता तेषां भवेत् अर्थक्रियासामर्थ्यात्। ततश्च कथं सदुपलम्भप्रमाणगम्यता तेषाम्। अथार्थक्रियासमर्थं रूपं तेषां विद्यते, तदा ते तद्रूपा एव, भेदान्तरप्रतिक्षेपमात्रजिज्ञासायां तेषामस्तित्वमित्येवं यदि व्यपदेशव्यतिरेकविभक्त्या समासादयन्ति तदा न कश्चिद्विरोधः। न हि तदव्यतिरिक्तमपि स्वरूप बुद्ध्याऽपकृष्य ततो व्यतिरिक्तमिवाभिधीयमानं विरोधभाग् भवति, इच्छामात्रानुविधायित्वाद्वाच उत्पाद्यकथास्वायाति, सुन्दरपदार्थवचनवत्। सम्म० ३ काण्ड। आचा०। स्था०। जीवादीनि नव तत्त्वानीति। स्या०।

**पयत्थदोस-पदार्थदोष**-पुं० । सूत्रदोषभेदे, यत्र वस्तुपर्यायोऽपि सन् पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते, यथा सतो भावः सत्ता इति कृत्वा वस्तुपर्याय एव सत्ता, सा च वैशेषिकैः पदषु पदार्थेषु मध्ये पदार्थान्तरत्वेन कल्प्यते। एतच्चायुक्तम्। वस्तूनामनन्तपर्यायत्वेन पदार्थानन्त्यप्रसङ्गादिति। विशे०।

**पयत्थरसिग-पदार्थरसिक**-पुं० । आगमोक्तदेवतत्त्वगुरुतत्त्वाऽऽगमतत्त्वजीवाऽऽदिभावप्रीतियुक्ते, पञ्चा० २ विव०।

**पयदोस-पददोष**-पुं०। तथाविधे सूत्रदोषे,यत्र स्याऽऽद्यन्ते तिवाऽऽद्यन्तं तिवाऽऽद्यन्ते स्याद्यन्तं करोति। बृ०१ उ०१ प्रक०।

**पयवद्ध-पदवद्ध**-न० । एकाक्षराऽऽदिपदवद्धे गेये, ज० १ वक्ष०। जी०। रा०।

**पयभूमि-पदभूमि**-स्त्री० । निजचरणन्यासभूमौ, "एगं भूमिगमङ्गणं च तिक्खुत्तो।" संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

**पयमग्ग-पदमार्ग**-पुं०। प्रचारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

**पयय-प्रयत**-त्रि० प्रयत्नपरे, नं०। व्य०। अनिशमित्यर्थे, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा। प्रकृष्टयत्नवति, अणु० ३ वर्ग १ अ०। अतिशयप्रयत्नवति, दश० २ चू० । पं० व० । व्यन्तरभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

**पययमण प्रयतमनस्**-न०। आदरपूर्वचेतसि, स० ११ अङ्ग।

**पयर-स्मृ**-धा०। चिन्तायाम् "स्मरे: झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः" ॥८।४।७४॥ इति सूत्रेण स्मृधातोः पयराऽऽदेश । 'पयरइ।' स्मरति। प्रा०४पाद।

**प्रकर**-पु०। शरे, प्रदरशब्दभवे, दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा। समूहे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। पाइ० ना०।

**प्रतर**-पुं०। अघने, 'पतरा' इतिलोके, स्था० १ ठा०। लोकाऽऽकाशप्रतरा। कर्म० ५ कर्म०।

अधुना प्रतरं प्ररूपयितुमाह—प्रतरश्च । प्रतरः पुनः क इत्याह—तद्वर्ग', तस्याः शूचिस्वरूपाया श्रेणेर्वर्गः गुण्या' शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्गः । कोऽर्थः ?-शूच्या शूचेर्गुणनं प्रतर उच्यते । तद्यथा-इहासंख्येययोजनकोटीकोटीदीर्घाऽपि श्रेणिरसत्कल्पनया त्रिप्रदेशप्रमाणा द्रष्टव्या-⁝। तस्याश्च तयैव गुणने प्रतरो नवप्रदेशाऽऽत्मको भवति । स्थापना-⁝⁝⁝। इति। ( ९७ गाथा ) कर्म० १ कर्म०। अथ तृतीयसमये प्रतरं कुर्वन्ति । तत्सामयिकश्च कार्मणकाययोगो भवति अथ प्रतरमिति कोऽर्थः ? प्रतरमिव प्रतरकम् उपमानार्थं यथा-घननिचितनिरन्तरप्रविततावयवसंस्थितापरिवृत्तस्थालकफलकं लोकेः प्रतरमित्युच्यते। तथाऽऽकाशमपि परस्परप्रदेशसंसर्गाविच्छेदपरिवृत्तपर्यायेणावस्थितं प्रतरमिति प्रसिद्धम् । अथ तृतीयसमये प्रतरपूरकाणां को विधिरिति प्रश्ने ? प्रतिब्रूमहे ततो द्वितीयसमये निर्गताऽऽत्मप्रदेशसकाशात् योऽसंख्येयभागो विशिष्टोऽवतिष्ठत इत्युक्तम् ,असावपि बुद्ध्या पुनरसंख्येयभागाः कृता। ततः तृतीयसमये प्रतरकाणामसंख्येयभागाद् निःक्रामन्ति असंख्येयभागोऽवतिष्ठते तैरसंख्येयैर्भागैर्निर्गतैरेतैः प्रतर पूरयन्ति । तत्र ये निष्क्रान्ताऽऽत्मप्रदेशसकाशादसंख्येयगुणहीनाः ततश्चतुर्थसमये कार्मणकाययोगस्थान एव आकाशप्रदेशान्निष्कुटसंस्थानसंस्थितान् लोकव्यपदेशभाज पूरितान् पूरयन्तीति लोकपूरकाः । आ० चू० १ अ०। विशे०। ( 'केवलिसमुग्धाय' शब्दे तृतीयभागे ६५६ पृष्ठादारभ्य व्याख्यातम्) ( खुड्डगपयर' शब्दे तृतीयभागे ७४६ पृष्ठे क्षुल्लकप्रतरः समर्थितः ) वृत्तप्रतरे, स्वर्णाऽऽदिमये पत्रिकाऽऽभिधाने आभरणविशेषे, औ०। ज्ञा०। जं०। "पयरगमंडिया।" सुवर्णप्रतरकमण्डितानि । जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

**पयरण-प्रतरण**-न०। प्रथमदातव्यभिक्षायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०। नि० चू०।

**पयरणवयण-प्रकरणवचन**-न० । अर्वाचीनसाधुविरचितवचने जीवा० २५ अधि०।

**पयरतव प्रतरतपस्**-न०। श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतरः, तदुपलक्षितं तपः प्रतरतपः । तपोभेदे । इह सुबोधार्थं चतुर्थषष्ठाष्टमदशमाख्यपदचतुष्टयाऽऽत्मिका श्रेणिर्विवक्षिता। सा च चतुर्भिर्गुणिता षोडशपदाऽऽत्मकं प्रतराऽऽख्यं तपो भवति तत् प्रतरतप. षोडशपदाऽऽत्मकमेव। उत्त० ३० अ०।

**पयरभेय प्रतरभेद**-पु० । अभ्रपटलभूर्जपत्राऽऽदिवत् द्रव्यभेदे, प्रज्ञा० ११ पद। स्था०।

**पयरवट्ट-प्रतरवृत्त**-न०। घनभिन्ने वृत्तसंस्थाने, भ०२श०१उ०।

**पयल-देशी**-नीडे, दे० ना० ६ वर्ग ७ गाथा।

**पयलमाण-प्रचलायमान**-त्रि० ईषत्स्वपति, आव० ५ अ०। "पवडेज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पगडमाणे वा हत्थं वा पायं वा।" आचा० १ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

**पयला-प्रचला**-स्त्री०। प्रचलति पूर्णयति यस्यां स्वापावस्थायां सा प्रचला। प्रज्ञा० २३ पद। उत्त०। पं० स०। कर्म०। प्रचलायमानस्य स्वापावस्थाभेदे, प्रव० २१६ द्वार। स्था०। नि० चू०। प्रज्ञा०। सा च स्थितस्योर्ध्वस्थानेन उपविष्टस्याऽऽसीनस्य भवति। कर्म० १ कर्म०। निद्राप्रचलयोस्त्वयं विशेषः 'सुहपडिबोहा णिद्दा, दुहपडिबोहा य पयलया होइ।" सुखप्रबोधा स्वापावस्था निद्रा ऊर्ध्वस्थितस्यापि, या पुनश्चैतन्यमस्फुटीकुर्वती समुपजायते निद्रा सा प्रचला । जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ०। पञ्चा०। वृ०। ('दंसणावरण' शब्दे चतुर्थभागे २४५२ पृष्ठे प्रचला निरूपिता) तद्विपाकवेद्यायां कर्मप्रकृतौ, स० ६ सम०।

पयलाइया-प्रचलापिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

पयलापयला-प्रचलाप्रचला-स्त्री० । प्रचलातोऽतिशायिन्यां स्वापावस्थायाम्, स्था० ६ ठा० । "पयलापयला य चंकमओ । जो पुण गतिपरिणओ णिद्दा से भवति सा य पयलापयला भण्णति ।" नि० चू० १ उ० । चङ्क्रमतश्चङ्क्रमणमपि कुर्वतो जन्तोरुपतिष्ठते, अतः स्थानस्थितस्य प्रचलामपेक्ष्यातिशायिनीत्वमस्याः । तद्विपाकवेद्यायां कर्मप्रकृतौ च । कर्म० १ कर्म० । उत्त० । पं० सं० । स० ।

पयलाय-प्रचलाय-न० । धा० । प्रचलावत्त्वेन भवने, व्यर्थविवक्षाया निद्राऽऽदिभ्यो धर्मिणि, क्यप् ' पयलायइ ।' प्रचलायते प्रचलायमानो भवति । जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ० ।

पयलायंत-प्रचलायमान-त्रि० । ईषत्स्वपति, आव० ५ अ० ।

पयलायण-प्रचलायन-न० । निषण्णस्य सुप्तजागरावस्थायाम्, बृ० ३ उ० ।

पयलायभत्ता-देशी-मयूरे, दे० ना० ६ वर्ग ३६ गाथा ।

पयलिय-प्रचलित-त्रि० । प्रस्खलिते, आतु० । किणकिणायमाने, औ० । " पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडले । " प्रचलितानि वराणि कटकानि कलाचिकाऽऽभरणानि त्रुटितानि बाहुरक्षका. केयूराणि बाह्वाभरणविशेषरूपाणि मुकुटो मौलिभूषणं कुण्डले कर्णाऽऽभरणे यस्य स प्रचलितवरकटकत्रुटितकेयूरमुकुटकुण्डलः । रा० । प्रचलिताऽऽस्फोटिता । कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पयलियसण्ण-प्रचलितसञ्ज्ञ-स्त्री० । प्रचलिता प्रस्खलिता विषयकषायाऽऽदिसन्मार्गात्परिभ्रष्टा संज्ञा बुद्धिर्येषां ते प्रचलितसंज्ञाः । आतु० ।

पयल्ल-प्रसृत-धा० । प्रसरणे, " प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ " ॥ ८ । ४ । ७७ ॥ इति सूत्रेण प्रपूर्वकस्य सरतेः पयल्लाऽऽदेश. । "पयल्लइ ।" प्रा० ४ पाद । विस्तृते, पाइ० ना० १८६ गाथा ।

कृ-धा० । शैथिल्यकरणे, लम्बनकरणे च । " शैथिल्यलम्बने पयल्ल. " ॥ ८ । ४ । ७० ॥ इति शैथिल्यविषयस्य लम्बनविषयस्य च कृगः 'पयल्ल'इत्यादेशः । 'पयल्लइ ।' करोति । शिथीलीकरोति, लम्बते वा । प्रा० ४ पाद ।

पयवई-देशी-सेनायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा ।

पयविग्गह-पदविग्रह-पु० । अनेकपदानामेकत्वाऽऽपादनविषयसमासे, यथा सामायिकसूत्रे भयस्यान्तो भयान्त. । अनु० । विशे० ।

अथ पदविग्रहमाह-

पायं पयविच्छेओ, समासविसओ तयत्थनियमत्थं ।
पयविग्गहो त्ति भण्णइ, सो सुद्धपए न संभवइ ॥१००६॥

इह प्रायेण य. समासविषय पदयो. पदाना वा अनेकार्थसंभवे सतीष्टपदार्थे नियमाय विच्छेद क्रियते स पदविग्रहः । यथा-राज्ञ पुरुषो राजपुरुष., श्वेत पटोऽस्येति श्वेतपट., मत्ता बहवो मातङ्गा यस्मिन्वने तन्मत्तबहुमातङ्गं वनमित्यादि । स च शुद्ध एकस्मिन्पदे न संभवति, अतः पदयोः, पदानां चेत्युच्यते । इह कश्चित्पदविच्छेदोऽपि समासविषयो न भवति. क्वचित्समासनिषेधात् । यथा व्यासः पाराशर्य. रामो जामदग्न्य इत्यादि । अतः प्रायोग्रहणमिति ॥१००६॥ विशे० ।

पयविभागसामायारी-पदविभागसामाचारी-स्त्री० । पदयोरुत्सर्गापवादयोर्विभागो यथास्थानं निवेशस्तेन युक्ता सामाचारी छेदसूत्ररूपा पदविभागसामाचारीति । ध० ३ अधि० । कल्पव्यवहाररूपाया सामाचार्याम्, ध० ।

भेदः पदविभागस्तु, स्यादुत्सर्गोऽपवादयोः ॥ ३४ ॥

पदविभागसामाचार्याः प्रस्ताव. । सा च कल्पव्यवहाररूपा बहुविस्तरा, स्वरूपमात्रं तु प्रदर्श्यते-" भेद " इत्यादि श्लोकोत्तरार्द्धम्-उत्सर्गापवादयोरुक्तलक्षणयोर्यो भेद. स पदविभागः स्यात्, पदयोरुत्सर्गापवादयोर्विभागो विभजनमिति व्युत्पत्ते. । तुर्विशेषणार्थः । तद्विवेकश्च कल्पव्यवहाराऽऽदौ प्रसिद्ध इति तत एव ज्ञेय । इह च सम्यगुत्सर्गापवादभेदनियोगरूपा पदविभागसामाचारीत्यर्थ. । तन्निमित्तमालोचना शुद्ध्याऽऽदिकं चोपस्थापनाधिकारानन्तरं प्रदर्शयिष्यत इति । ( ३४ गाथा ) ध० ३ अधि० ।

"सामाचारी तिविहा, ओहे दसहा पयविभागे ॥ ६६५ ॥"
पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणीति । ( आव० ) पदविभागसामाचार्यपि छेदसूत्रलक्षणान्नवमपूर्वादेव निर्यूढेति । आव० १ अ० । कुत इयं निर्यूढा ?, पदविभागसामाचारी छेदग्रन्थगतसूत्ररूपा नवमपूर्वादेव निर्यूढा । विशे० ।

पयवी-पदवी-स्त्री० । "मग्गो पंथो सरणी, अद्धाणं वत्तिणी पहो पयवी ।" पाइ० ना० ५२ गाथा ।

पयसमास-पदसमास-पु० । द्व्यादिपदसमुदाये कर्म०१ कर्म० ।

पयसमूह-पदसमूह-पु० । पदसङ्घाते, आव० ५ अ० ।

पयहीण-पदहीन-त्रि० । त्यक्तपदे, ध० ३ अधि० । पादेनैव हीने, आव० ४ अ० ।

पया-प्रजा-स्त्री० । प्रजायन्त इति प्रजाः । स्थावरजङ्गमेषु जन्तुषु, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आचा० । प्राणिषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । उत्त० । प० व० । लोके, जने, नं० । स्था० । प्रजायन्तेऽस्यामिति प्रजा । अपत्यवत्यां स्त्रियाम्, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । सूत्र० । क्षुल्लया च । व्य० ६ उ० ।

पयाग-प्रयाग-पुं० । गङ्गायमुनासङ्गमस्थाने, आ० क० ।

तदुत्पत्ति.-

" मृत्वाऽगादवनौ षष्ठ्यामुदायी पार्थिवोऽजनि ।
तस्याधृतिरभूदत्र, नगरे मत्पिताऽभवत् ॥ ६४ ॥
ततो न्यन्नगरं कर्त्तुं, तज्ज्ञै स्थानं व्यमार्गयत् ।
तदा व्यात्तमुखश्चाष. प्रैक्षि तै. पाटलीतरौ ॥ ६५ ॥
प्राविशन्न मुखे तस्य स्वयमेत्यैत्य कीटकम् ।
उच्यते पाटलीवृक्ष-मभवन्मथुराद्वयम् ॥ ६६ ॥
दक्षिणा चोत्तरा चेति, ततोऽगाद्वणिगोत्तमः ।
दक्षिणायां मथुरायां, व्यवहर्त्तु महर्द्धिक ॥ ६७ ॥

श्रेष्ठिनैकेन तस्याभू-त्तत्र मैत्र्यमथान्यदा ।
भुञ्जानेन गृहे तस्य,गृहीतव्यञ्जनाः पुरः ॥ ६८ ॥
आपादमस्तकं तेन, दृष्टा तस्य स्वसाऽम्बिका ।
तद्रक्तोऽमार्गयत्तां स तान्यूचुर्यदि तिष्ठसि ॥ ६९ ॥
अपत्यजन्म यावत्त- द्दत्ते स स्वीचकार तत् ।
उदूढा सा स्थितस्तत्रा ऽऽपन्नसत्त्वाऽथ साऽभवत् ॥ ७० ॥
अथान्यदा पितुर्लेख-स्तस्याऽऽयातोऽभिवाच्य तम् ।
मुञ्चन्नश्रूणि पृष्टः स, कान्तयाऽऽख्यन्न किञ्चन ॥ ७१ ॥
साऽथ स्वयं तदादाय, वाचयामास तद्यथा ।
तवाऽदर्शनतोऽस्माक-मान्ध्यं जज्ञेऽश्रुभिर्दृशोः ॥ ७२ ॥
जीवन्तौ प्रेक्षसे चेन्नौ तदेयाः लेखदर्शनात् ।
तद् ज्ञात्वातमथो च सा, मा स्म प्राणेश ! खिद्यथाः ॥ ७३ ॥
तया स्वपित्रोराख्यातं, ताभ्यां स सप्रियोऽप्यथ ।
विसृष्टोऽर्द्धपथे याते, सूते स्म सुतमम्बिका ॥ ७४ ॥
दास्यतः पितरौ नाम त्वमुक्तोऽसावन्निकासुतः ।
यातानां तत्र कालेना- ऽदातांऽतन्नाम तावपि ॥ ७५ ॥
शैशवातिक्रमे सोऽथ. त्यक्तभोगेऽग्रहीद्व्रतम् ।
वार्द्धके विहरन् गङ्गा-तटेऽस्थान् सपरिच्छदः ॥ ७६ ॥
पुष्पभद्रपुरेऽथासी-त्पुष्पकेतुश्च तत्र राट् ।
तस्य पुष्पवती भार्या-ऽपत्ययुग्मं च युग्मजम् ॥ ७७ ॥
पुष्पचूलः पुष्पचूला, चात्यन्योन्यानुरागभाक् ।
दध्यौ राजा वियोगो हि, मृत्यु- स्यादनयोस्ततः ॥ ७८ ॥
मिथो विवाहयाम्येता विति पप्रच्छ नागरान् ।
यदन्तोत्पद्यते रत्नं, तद्वशे कस्य जायते ? ॥ ७९ ॥
ऊचुस्ते त्वद्वशे देव !, पुष्पकेतुस्ततो मिथः ।
राज्ञ्या निषिध्यमानोऽपि, परिणाययति स्म तौ ॥ ८० ॥
देवी निर्वेदतस्तस्मा-त्प्रव्रज्य त्रिदिवं ययौ ।
मृते राज्ञि तयोरेवा भूद्राज्यं पुष्पचूलयोः ॥ ८१ ॥
मातृदेव सुतां ज्ञात्वा-ऽधिकस्नेहां प्रियेऽवधेः ।
मा गान्नरकमेवेति, स्वप्नान्तस्तानदर्शयत् ॥ ८२ ॥
भीता साऽकथयद्राज्ञः स्वेन पापिष्ठलोऽखिलाः ।
पृष्टा प्रभाते नरक-स्वरूपं ते न्यवेदयन् ॥ ८३ ॥
तेषां सर्वं विसंवाद्य-थान्निकापुत्रसूरयः ।
तत्पृष्टानरकानाख्यन् सोचे स्वप्नेऽथ वोऽप्यभूत् ॥ ८४ ॥
जिनोपदेशमाहुस्ते-ऽन्यदा सा स्वर्गमैक्षत ।
तमप्यन्येऽन्यथा चख्यु-र्यथावत्ते तु सूरयः ॥ ८५ ॥
सोचे प्राप्या कथममी, न गतिर्नरके कथम् ? ।
साधुधर्ममथाऽऽख्यंस्ते साऽथ बुद्धाऽवदन्नृपम् ॥ ८६ ॥
व्रतं गृह्णामि सोऽवादी द्व्रतस्था मद्गृहेऽशनम् ।
चेद्दास्य तदाऽऽदत्स्व, प्राव्राजीत्तमथ सा ॥ ८७ ॥
जङ्घाबलपरिक्षीणा-स्तत्राऽऽस्थुस्तेऽथ सूरयः ।
कृत्वाऽऽवार्य गणोऽन्यत्र, विहर्तुं प्रेषितोऽखिलः ॥ ८८ ॥
सदुज्जां साऽऽनयत्तेषां, भिक्षामन्तःपुरात्ततः ।
अन्यदा सा शुभध्याना-त्केवलज्ञानमासदत् ॥ ८९ ॥
पूर्वं प्रवृत्तं विनयं, केवली न भनक्ति यत् ।
तदिष्टं भक्तमानिन्ये-ऽवर्षत्यप्यन्यदाऽम्बुदे ॥ ९० ॥
तेऽप्यूचुः कथमानिन्ये, वर्षत्यार्ये त्वयाऽशनम् ।
सोचेऽचित्तं जलं यत्रा-पतत्तेनाध्वनाऽऽगमम् ॥ ९१ ॥
गुरुरूचे कथं वेत्सि ?, वेद्मि ज्ञातिकसंविदा ।

तां ततोऽक्षमयच्चक्रे, खेदं च परमं गुरुः ॥ ९२ ॥
साप्यूचे मा स्म खिद्यध्वं, केवलं वोऽप्यदूरगम् ।
गङ्गामुत्तरतां भावि तच्छ्रुत्वाऽऽशूत्थित प्रभुः ॥ ९३ ॥
गङ्गाया नावमारूढो, यत्र यत्राकृत स्थितिम् ।
ततस्ततो मज्जति नौ-र्मध्ये सर्वोऽपि मज्जति ॥ ९४ ॥
लोकैः सोऽथाऽम्भसि क्षिप्त-स्तस्य कोऽप्यमरस्तदा ।
तत्राऽऽसीत्प्राग्भवाऽरातिः, स त्रिशूलमधो दधौ ॥ ९५ ॥
तद्विद्धो विषहन् पीडा, केवलं प्राप्य निर्वृतः ।
देवैश्च महिमा चक्रे, गङ्गाऽथ प्राप तीर्थताम् ॥ ९६ ॥ "
आ० क० ४ अ० । आव० । संथा० । आ० चू० ।(अत्र विशेषः 'अणियाउत्त' शब्दे प्रथमभागे ४६५ पृष्ठे गतः)

**पयाण**-प्रतान-पुं० । प्रतननं प्रतानः । विस्तारे, तद्रूपे याथातथ्ये तदस्मिन् वा स्वप्ने भ० १६ श० ६ उ० ।

प्रदान-न० । प्रवितरणे, प्रदानलक्षणमिदम्- ' यः सम्प्राप्तो धनोत्सर्गे, उत्तमाधममध्यमः । प्रतिदानं तथा तस्य, गृहीतस्याऽनुमोदनम् ॥१॥ " स्था० ३ ठा० ३ उ० । आव० । उपा० ।

प्रयाण-न० । गमने, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

**पयाणकाल**-प्रदानकाल-पुं० । साधुदानावसरे, प्रश्ना० १३ विव० ।

प्रयाणकाल-पुं० । अन्तसमये, वाच० ।

**पयाणुकंपि (ण्)**-प्रजानुकम्पिन्-त्रि० । प्रजायन्ते इति प्रजाः जन्तवस्तदनुकम्पी । जन्तूनां संसारे पर्यटतामनुकम्पनशीले, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

**पयाणुसारि [ण्]** पदानुसारिन्-पुं० । पदेन सूत्रावयवेनैकेनोपलब्धेन तदनुकूलानि पदशतान्यनुसरतीति पदानुसारी । औ० । ये गुरुमुखादेकसूत्रपदमनुसृत्य शेषमपि भूयस्तरपदनिकुरम्बमवगाहन्ते तेषु, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

जो सुत्तपएण बहुं, सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो [१५१७]

योऽप्यापकादेकेनापि सूत्रपदेनाधीतेन बह्वपि सूत्रं स्वप्रज्ञयाऽभ्यूह्य तदवस्थमेव गृह्णाति, स पदानुसारी लब्धिमान् । (१५१७ गाथा ) प्रव० २७० द्वार । पा० । औ० । नं० । ग० । (पदानुसारिण 'लद्धि' शब्दे दर्शयिष्यन्ते ) ' पयाणुसारिं नमंसामि " इति गाथा 'अज्जवइर' शब्दे प्रथमभागे २१८ पृष्ठे गता )

**पयाणुसारिणी**-पदानुसारिणी-स्त्री० । बुद्धिभेदे, या पुनरेकमपि सूत्रपदमवधार्य शेषमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा पदानुसारिणी । प्रज्ञा० २१ पद । नं० ।

**पयाम**-देशी-आनुपूर्व्ये, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा । पाइ० ना० ।

**पयायंत**-प्रजायमान-न० । प्रसवं कुर्वाणे, तं० ।

**पयायसाल** प्रजातसाल-त्रि० । प्रजातशाखे उत्पन्नडाले, दश० ७ अ० ।

**पयार**-प्रकार-पुं० । भेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनु० ।

प्रचार-पुं० । प्रकर्षगमने, दश० १ अ० ।

**पयारित**-प्रतारित-त्रि० । छलिते, पाइ० ना० १८७ गाथा ।

पयाल–पलाल–पुं० । धान्यतुषे, " किं ताए पढियाए, पयाल-भूयाएँ पुव्वकोडीए । जत्थित्तियं ण णायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

पयावइ–प्रजापति–पुं० । प्रथमवासुदेवपितरि. आव० १ अ० । स च स्वदुहितरि त्रिपृष्ठं नाम वासुदेवमजीजनत् । अतो वेदेऽप्युक्तम्–"प्रजापतिः स्वां दुहितरमकामयत् ।" अत एव च प्रजाया दुहितुः पतित्वात्प्रजापतिरिति नामाऽस्य पप्रथे । आ० म० १ अ० । आव० । आ० चू० । स० । " पुत्तो पयावइस्सा, मियावईकुच्छिसंभवो भयवं । नामेण तिविट्ठु त्ति । " ति० । " दो पयावई । " स्था० २ ठा० ३ उ० । ब्रह्म-नामके देवे रोहिणीनक्षत्राधिपे, अनु० । ती० । जं० । जगन्नियन्तरि, दश० १ अ० । पौराणिकसंमतेषु दक्षाऽऽदिषु कुलकरकल्पेषु पुरुषेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । राजनि च । आ० क० १ अ० । ब्रह्मणि, पाइ० ना० २ गाथा ।

पयावइत्तए–प्रतापयितुम्–अव्य० । पुनः पुनरातपे दातुमित्यर्थे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

पयावण–पाचन–न० । ओदनाऽऽदेर्विक्लृत्यापादने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । आचा० ।

प्रतापन–न० । असकृदनीषदवतापने, दश० ४ अ० । आचा० । शरीराऽऽद्यवयवस्य वाताऽऽद्यपनयनार्थे प्रकृष्टे तापने, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

पयावरुद्द–प्रतापरुद्र–पुं० । स्वनामख्याते काकतीये राजनि, ती० ४६ कल्प ।

पयावसंधि–प्रतापसन्धि–पुं० प्रकृष्टस्ताप ऊष्मा येषु एवंविधाः सन्धयो यस्य तत्प्रतापसन्धि । सोष्मसन्धिषु, प्रव० ४ द्वार ।

पयास–प्रयास–पुं० । प्रयत्ने, पञ्चा० ६ विव० ।

प्रकाश–पुं० । उद्द्योते, "चदाऽऽइच्चगहाणं, पहा पयासेइ परिमियं खेत्तं । केवलियनाणलंभो, लोयालोयं पयासेइ ॥१॥" जै० गा० । पाइ० ना० ।

पयासक्खेत्त–प्रकाशक्षेत्र–न० । तापक्षेत्रे, मण्ड० ।

पयासण–प्रकाशन–न० । प्रकाशकरणे, उद्द्योतकरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

पयासाला–प्रपाशाला–स्त्री० । पानदानशालायाम्, "पयासालाइ वा विडिमसालाइ वा ।" आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० २उ० ।

पयाहिण–प्रदक्षिण–पुं० । परितो भ्राम्यतो दक्षिणे, भ० १ श० १ उ० । आ० म० । उत्त० ।

पयाहिणा–प्रदक्षिणा–स्त्री० । प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां दक्षिणमात्मनो दक्षिणाङ्गभागवर्तिमूलविम्बज्ञानाऽऽदिक्रियाऽऽनुकूल्यकृते यत्र प्रतिपत्ति तस्याम्, संघा० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

पयाहिणावट्ट–प्रदक्षिणाऽऽवर्त्त–पुं० । यस्य हि प्रदक्षिणा आवर्ता तस्मिन्, " पयाहिणावट्टमुद्धसिरयं । " प्रदक्षिणाऽऽवर्ताश्च प्रतीता मूर्द्धनि मस्तके शिरोजा वाला यस्य सः । औ० । भ० । व्य० ।

पयाहिय–प्रजाहित–न० । प्रजाऽर्थे, "तिन्नि वि पयाहियाए उवदिसइ ।" प्रजाहिताय भगवानुपदिशति स्म । कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

पर–पर–त्रि० । प्रकृष्टे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । सूत्र० । प्रकर्षप्राप्ते, विशे० । सूत्र० । स० । आचा० । भ० । पो० । प्रकर्षगत्यापन्ने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । प्रधाने, आचा १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आव० । विशे० । सूत्र० । " नाऽऽर्हतः परमो देवो, न मुक्तेः परमं पदम् । न श्रीशत्रुञ्जयात्तीर्थं, श्रीकल्पात्र परं श्रुतम् ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० १ क्षण । उत्त० । आत्मव्यतिरिक्ते, उत्त० १ अ० । सूत्र० । रत्ना० । अस्वजने, नि० चू० २ उ० । शत्रौ, विशे० । उत्त० । सूत्र० । आ० म० । स्था० । दूरे, आरतः परतश्चेति लौकिकी युक्तिः–'उरे परे ।' इति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० । " तेण परं ति । " ततश्चतुर्थकल्पात्परत । परशब्दोऽत्र आरवार्थी । नि० चू० १ उ० ।

परनिक्षेपः–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तदन्नमन्ने य ।
आएसकमवहुपहा–णभावओ परो होइ ॥ ३८२ ॥

नामपर, स्थापनापरो द्रव्यपरः, क्षेत्रपरः, कालपरः । एते च द्रव्यपराऽऽदय. प्रत्येकं द्विविधाः । तद्यथा–( तदन्नमन्ने य त्ति) तद्द्रव्यान्यश्च तद्द्रव्यपरोऽन्यद्रव्यपरश्चेत्यर्थः । एवं तत्क्षेत्रपरोऽन्यक्षेत्रपरश्च । तत्कालपरोऽन्यकालपरश्च । तथा आदेशपरः, क्रमपरो, बहुपरः, प्रधानपरः, भावपरश्चेति दशधा मूलभेदापेक्षया परनिक्षेपो भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः । अथास्या एव गाथाया भाष्यकारो व्याख्या कर्तुकामो नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यपरं तावदाह–

परमाणुपुग्गलो खलु, तद्दव्वपरो भवे अणुस्सेव ।
अन्नद्दव्वपरा खलु, दुपएसियमाइणो तस्स ॥ ३८३ ॥

द्रव्यपरो द्विधा । तद्यथा–तद्द्रव्यपरोऽन्यद्रव्यपरश्च । तत्राऽणो' परमाणुपुद्गलस्यापरः, परमाणुपुद्गल परतया चिन्त्यमानस्तद्द्रव्यपरः, तस्यैव परमाणुपुद्गलस्य द्विप्रदेशिकाऽऽदयः स्कन्धाः परतया चिन्त्यमाना अन्यद्रव्यपराः ।

एमेव य खंधाऽणु वि, तद्दव्वपरा उ तुल्लसंघाया ।
जे तु अतुल्लपएसा, अणुया सव्वेऽन्नदव्वपरा ॥३८४॥

एवमेव द्व्यणुकप्रभृतीनां स्कन्धानामपि ये तुल्यसघाताः परस्परं समानप्रदेशसंख्याकाः स्कन्धास्ते तद्द्रव्यपराः, ये पुनरतुल्यप्रदेशाऽऽदिसदृशप्रदेशसंख्याकाः स्कन्धा अणवश्च एकाणुकाः ते सर्वेऽप्येकद्रव्यपरा भवन्ति । तद्यथा–द्व्यणुकस्कन्धो द्व्यणुकस्कन्धस्य तद्द्रव्यपरस्य द्व्यणुकाऽऽदयस्तु स्कन्धाः परमाणवश्च त्रसाश्च तद्द्रव्यपराः । एवं त्र्यणुकाऽऽदयोऽप्यनन्ताणुकपर्यन्ता स्कन्धा परस्परं तुल्यप्रदेशसंख्याकास्तद्द्रव्यपराः, विसदृशप्रदेशसंख्याकास्तु अन्यद्रव्यपरा मन्तव्या, यावत्सर्वोत्कृष्टाणुको महास्कन्ध ।

अथ क्षेत्रकालपरौ प्रतिपादयति–

एगपएसोगाढा, खेत्ते एमेव जा असंखेज्जा ।
एगसमयाइठिइणो, कालम्मि वि जा असंखेज्जा ॥३८५॥

क्षेत्रे क्षेत्रविषयेऽपि परद्वारे चिन्त्यमाने एवमेव तत्क्षेत्रपरान्यक्षेत्रपरभेदेन एकप्रदेशावगाढाऽऽदयोऽसंख्येयप्रदेशावगाढं यावद् द्रष्टव्याः। तद्यथा-एकप्रदेशावगाढः परमाणुः स्कन्धो वा एकप्रदेशावगाढः स्यात् तत्क्षेत्रपरः। द्वित्रिप्रदेशावगाढादयः पुनः स्थान्यक्षेत्रपराः। तथाहि-प्रदेशावगाढस्य स्कन्धस्य तत् क्षेत्रपरस्तस्या एकः,द्व्यादिप्रदेशावगाढास्तु तस्यान्यक्षेत्रपरः। एवं विस्तरेण सर्वावगाहना द्रष्टव्या। कालेऽप्येकसमयाऽऽदिस्थितयः पुद्गला यावदसंख्येयसमयस्थितयस्तावत् कालपरान्यकालपरभेदाद्वक्तव्याः तत्रैकसमयस्थितिकानां पुद्गलानाम् एकसमयस्थितिकास्तत्कालपराः, द्वित्र्यादिसमयस्थितिकाः पुनरन्यकालपराः। एवं यावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीगतानां संख्येयसमयस्थितिकानां पुद्गलानां तावत्संख्याकसमयस्थितिका एव तत्कालपराः, शेषास्तु एकसमयस्थितिकाऽऽदयः सर्वेऽप्यन्यकालपरा अवसातव्याः।

अथाऽऽदेशपरं व्याचष्टे-

भोअणपेसणमादी-सु एगखेत्तट्ठियं तु जं पच्छा।
आदिसइ भुज कुणसु य, आएसपरो हवइ एसो ॥३८६॥

भोजनं प्रतीतं, प्रेषणं व्यापारणं, तदादिषु कार्येषु य कञ्चन पुरुषमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितमपि पश्चात्पर्यन्ते आदिशति, यथा-त्वं भोजनं विधेहि, कुरु वा कृष्यादि कर्म्म, एष आदेशपरो भवति, आदेश आज्ञपनं, तदाश्रित्य परः पाश्चात्य आदेशपर इति व्युत्पत्तेः।

अथ क्रमपरमाह-

दव्वाइकमो चउहा, दव्वे परमाणुमाइ जाऽणंतं।
एगुत्तरवुड्ढीए, वड्ढीयाणं परं होई ॥ ३८७ ॥

क्रमः परिपाटिरित्येकोऽर्थः। तमाश्रित्य परः क्रमपरः, स तु चतुर्थ्यां द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्। तत्र द्रव्यतः परमाणुमादौ कृत्वा अनन्तप्रादेशिकस्कन्धं यावदेकोत्तरप्रदेशवृद्ध्या वर्द्धितानां पुद्गलद्रव्याणां यो यदपेक्षया परः तस्माद्व्यपरात् क्रमपरो भवति। तद्यथा-परमाणुपुद्गलात् द्विप्रदेशैकस्कन्धो, द्विप्रदेशिकस्कन्धात् त्रिप्रदेशिकस्कन्धः, एवं यावदसंख्येयप्रदेशिकस्कन्धो द्रव्यक्रमपरः। क्षेत्रक्रमपरोऽप्येवमेव, नवरमेकप्रदेशाऽवगाढात् द्विप्रदेशावगाढः द्विप्रदेशावगाढात्, त्रिप्रदेशावगाढः। एवं यावत् संख्येयप्रदेशावगाढादसंख्येयप्रदेशावगाढः क्षेत्रक्रमपरः। कालक्रमपरस्त्वेवम्-एकसमयस्थितिकात् द्विसमयस्थितिको, द्विसमयस्थितिकात् त्रिसमयस्थितिकः, एवं यावत् संख्येयसमयस्थितिकादसंख्येयसमयस्थितिकः कालक्रमपरः। भावक्रमपर पुनरेवम्-एकगुणकालाद् द्विगुणकालकौ द्विगुणकालकाद् त्रिगुणकालकः, एवं यावत्संख्येयगुणकालादनन्तगुणकालको भावक्रमपरः। एवं काललोहितहारिद्रशुक्लरूपेषु शेषेष्वपि चतुर्षु वर्णेषु,सुरभिदुरभिलक्षणे च गन्धद्वये, तिक्तकटुकषायाम्लमधुराऽऽत्मकेरसपञ्चके, गुरुलघुमृदुकठिनस्निग्धरूक्षशीतोष्णलक्षणे च स्पर्शाष्टके यथाक्रमं भावपरता भावनीया।

अथ बहुपरं भावयति-

जीवा १ पोग्गल २ समया ३,
दव्व ४ पएसा य ५ पज्जवा चेव ६।
थोवाऽणंता १-२ णंता ३,
विसेसमहिया ४ दुवेऽणंता ५-६ ॥३८८॥

इह पूर्वार्द्धपश्चार्द्धपदानां यथाक्रमं योजना कार्या। तद्यथा-जीवाः सांसारिकमुक्तभेदभिन्नाः, ते सर्वस्तोकाः, जीवेभ्यः पुद्गला अनन्तगुणाः, पुद्गलेभ्यः समया अनन्तगुणाः, समयेभ्यो द्रव्याणि विशेषाधिकानि, द्रव्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणाः प्रदेशेभ्यः पर्याया अनन्तगुणाः। उक्तं च व्याख्याप्रज्ञप्तौ-"एएसि णं भंते! जीवाणं पोग्गलाणं अद्धासमयाणं सव्वदव्वाण सव्वपएसाणं सव्वपज्जवाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणंतगुणा अद्धासमया अणंतगुणा सव्वदव्वा विसेसाहिया सव्वपएसा अणंतगुणा सव्वपज्जवा अणंतगुणा।" अत्रामीषामित्थमल्पबहुत्वे हेतुभावना भगवतीटीकायां वृद्धैरुपदर्शितास्ते, अतस्तदर्थिना सैवावलोकनीया।

अथ प्रधानपरमाह-

दव्वे सचित्तमादी, सचित्तदुपएसु होइ तित्थयरो।
सीहो चउप्पएसुं, अपयपहाणा बहुविहा उ॥ ३८९ ॥

प्रधान एव परः प्रधानपरः, स च द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्ये द्रव्यतस्त्रिधा-सचित्ताऽऽदि"। आदिशब्दान्मिश्रोऽचित्तश्च। तत्र सचित्तप्रधानस्त्रिधा- द्विपदचतुष्पदापदभेदात्। तत्र द्विपदेषु तीर्थकरः प्रधानो भवति, चतुष्पदेषु सिंहः, अपदेषु बहुविधाः सुदर्शनाभिधानजम्बूवृक्षप्रभृतयः, पनसाऽऽदयोऽप्रधानाः। प्रधानपरोऽनेकधा। तद्यथा-धातुषु सुवर्णं,वस्त्रेषु चीनांशुकं, गन्धद्रव्येषु गोशीर्षचन्दनमित्यादि। मिश्रप्रधानपराणि तु सुवर्णकटकाऽऽद्यलंकृतविग्रहाणि तीर्थकराऽऽदि द्रव्याण्येव द्रष्टव्यानि।

भावप्रधानपरमाह-

वण्णरसगंधफासे-सु उत्तमा जे उ भूदगवणेसु।
मणिखीरोदगमादी, पुप्फफलादी य रुक्खेसु ॥ ३९० ॥

( वण्णरसगंधफासेसु त्ति ) तृतीयाऽर्थे सप्तमी। वर्णेन रसेन गन्धेन स्पर्शेन वा ये भूदकवनेषु पृथिवीकायाप्कायवनस्पतिकायेषूत्तमास्ते भावप्रधानपराः। तानेव पश्चार्द्धेनोदाहरति-( मणिखीरोदग इत्यादि ) पृथिवीकायेषु पद्मरागवज्रवैडूर्याऽऽदिमणयः प्रधानाः, अप्कायेषु क्षीरोदकाऽऽदिपानीयानि, वृक्षेषु पुष्पफलाऽऽदीनि। गतः प्रधानपरः। वृ० १ उ० ३ प्रक०। आचा०।

भ्रम्-धा०। भ्रमणे, "भ्रमेः टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः" ॥ ८ । ४ । १६१ ॥ इति सूत्रेण भ्रमधातोः 'पर' आदेशः। 'परइ।' भ्रमति। प्रा०४ पाद।

परइ-देशी-धा०। भ्रमतीत्यर्थे, दे० ना० ६ वर्ग ४ गाथा।

परउत्थिय-परयूथिक-पुं०। शाक्यपरिव्राजकाऽऽदौ, वृ० १ उ० २ प्रक०।

परओवेइ ( ण )-परतोवेदिन्-पुं०। गणधराऽऽदिके स्वतोवेदितीर्थकृदुपदेशेन ज्ञातरि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

परंतकर-परान्तकर-पुं०। परस्य भवान्तं करोति मार्गप्रवर्त्तनेन परान्तकरः। मोचके, स्था० ४ ठा० २ उ०।

परंतंकर-परतन्त्रकर-पुं०। परतन्त्रः सत्कार्याणि करोतीति परतन्त्रकरः। भिक्षौ, स हि आचार्याऽऽदितन्त्र एव कार्याणि करोति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

**परंतम**–परतम–पुं०। परं शिष्याऽऽदिकं तमयतीति परतमः। प्राकृतत्वादनुस्वारः। परस्मिन् तमोऽज्ञानं क्रोधो वा यस्य सः। परग्लायके पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

**परंदम**–परन्दम पुं०। परं दमयति शमवन्तं करोति शिक्षयति वा परन्दमः। शिष्यस्याऽश्वाऽऽदेर्वा दमके, स्था० ४ ठा० २ उ०। परानन्यान् दमयन्ति न्यक्कृत्याभिमतकृत्येषु प्रवर्तयन्तीति परन्दमाः। उत्त० पाइ० ७ अ०। परपीडाकारके, आत्मार्थपरजीवोपघातके, उत्त० ७ अ०।

**परंपर**–परम्पर–त्रि०। परे च परे चेति वीप्सायाम्–"पृषोदराऽऽदय." ॥ ८।४।६३॥ (हैम०) इति परम्परशब्दनिष्पत्तिः। परेषु परेषु, नं०।

**परंपरखेत्तोवगाढ**–परम्परक्षेत्रावगाढ–पुं०। आत्मक्षेत्रान्तरक्षेत्राद् यत्परं क्षेत्रं तत्रावगाढे नैरयिकाऽऽदौ वैमानिकपर्यन्ते, भ० ६ श० १० उ०।

**परंपरखेदोववन्नग**–परम्परखेदोपपन्नक–पुं०। द्वित्रादिसमयता खेदेनोपपन्न उत्पादो येषां ते परम्परखेदोपपन्नकाः। खेदप्रधानोत्पत्तिद्वितीयाऽऽदिसमयवर्तिषु नैरयिकाऽऽदिषु, भ० १४ श० १ उ०।

**परंपरगय**–परम्परगत–पुं०। परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिविरताविरतप्रमत्तनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्तक्षीणमोहसयोग्ययोगिगुणस्थानभेदभिन्नया गता मोक्षं प्राप्ताः। ल०। पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमा-तिपथ्युपायपुरस्करत्वेन सिद्धेषु, औ०। आ० म०। मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानकाना मनुष्याऽऽदिसुगतीना च पारम्पर्येण भवाम्भोधिपारं प्राप्ते, भ० २ श० १ उ०।

**परंपरपज्जत्त**–परम्परापर्याप्त–पुं०। द्व्यादिसमयपर्याप्तके, स्था० १० ठा०।

**परंपरय**–परम्परक–न०। पारम्पर्ये, आ० म० १ अ०। परम्परको द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यपरम्परक इष्टकानां पुरुषपारम्पर्येणाऽऽनयनम्। (आव०) भावपरम्परका त्वियमेव उपोद्घातनिर्युक्तिरेव। (आव०) ननु द्रव्यस्य इष्टकालक्षणस्य युक्तं पारम्पर्येण आगमनं, भावस्य तु श्रुतपर्यायत्वात् वस्त्वन्तरसंक्रमणाभावात् पारम्पर्येणाऽऽगमनाऽनुपपत्तिरिति। न च तद्बीजभूतस्य अर्हद्वचनधरशब्दस्याऽऽगमनमस्ति. तस्य श्रुत्यनन्तरमेवोपरमादिति। अत्रोच्यते–उपचाराददोष. यथा कार्षापणाद् घृतमागतं, घटाऽऽदिभ्यो वा रूपाऽऽदिविज्ञानमिति। (८७ गाथा) आव० १ अ०।

तत्र द्रव्यपरम्परक इदमुदाहरणम्–

"साकेयं नाम नगरं, तस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सुरप्पिओ नामगो जक्खो तस्साययणं। सो य सुरप्पिओ जक्खो सन्निहियपाडिहेरो, सो वरिसे वरिसे चित्तिज्जइ, महो य से परमो किज्जइ, सो य चितितो समाणो तं चेव चित्तगरं मारेइ, अह न चित्तिज्जइ तो पभूयजणमारिं करेइ, ततो चित्तगरा सव्वे पलाइउमारद्धा। पच्छा रण्णा नायं–जइ सव्वे पलाइस्संति तो एस जक्खो अचित्तिज्जंतो अम्ह वहाए भविस्सइ। ततो तेण चित्तकरा सव्वे संकलियबद्धा पाडुडिएहिं कया, तेसिं सव्वेसिं नामाइं पत्तए लिहिऊण घडए छूढाणि। ततो वरिसे वरिसे जस्स नामं बालएण अयाणमाणेण कड्ढिज्जमाणं निग्गच्छइ तेण चित्तेयव्वो। एवं कालो वच्चइ। अन्नया कयाइ कोसंबिओ चित्तकरदारको घरातो पलाइउं तत्थाऽऽगतो सिक्खगो, सो भमंतो सागेयस्स चित्तगरस्स घरं अल्लीणो, सो वि एगपुत्तगो थेरीपुत्तगो, सो से मित्तो जातो। एवं तस्स तत्थ अच्छंतस्स कालो वच्चइ। अह तम्मि वरिसे तस्स थेरीपुत्तस्स वारओ जातो, पच्छा सा थेरी बहुप्पगारं कलुणं रुयइ त रुयमाणिं थेरिं दट्ठूण कोसंबको जातकरुणो भणइ–किं अम्मो! रुयसि?। ताहे कहियं–जहा पुत्तस्स वारओ जातो। सो भणइ–मा रुयह, अहं एयं जक्खं चित्तिस्सामि ताहे सा भणइ–तुमं मे पुत्तो किं न होहिसि? तेण भणियं–सच्चं तव पुत्तोऽहं, तहा वि अहं चित्तेमि, अच्छह तुब्भे असोगाओ। ततो तेण छट्ठभत्तं काऊण अहतं वत्थजुयलं परिहित्ता अट्ठगुणाए पोत्तीए मुहं बंधिऊण चोक्खेण पयत्तेण सुइभूएण नवएहिं कलसेहिं ण्हाविता नवगेहिं कुच्चेहिं नवगेहिं मल्लसपुडेहिं अलत्तेहिं वन्नेहिं चित्तिऊण पायवडिओ भणइ–खमह मए अवरद्धं। ततो तुट्ठो जक्खो भणइ–वरेहि वरं। सो भणइ–एयं चेव मम वरं देहि मा लोगं मारेह। जक्खो भणइ–एयं ताव ठियमेव जं तुमं न मारिओ, एवमन्ने वि न मारेमि। अन्नं भण। सो भणइ–जस्स एगदेसमवि पासामि दुपयस्स वा. चउप्पयस्स वा, अपयस्स वा, तस्स तयणुरूवं रूवं निव्वत्तेमि। एवं होउ त्ति दिण्णो वरो। ततो सो लद्धवरो रण्णा सक्कारितो समाणो गतो कोसंबिं नगरिं। तत्थ सयाणीतो नाम राया, सो अन्नया कयाइ सुहासणगतो दूयं पुच्छइ–किं मम नत्थि, जं अन्नराईणं अत्थि?। तेण भणियं चित्तसभा नत्थि, "मणसा देवाणं वायाए पत्थिवाणं ति" तक्खणमेत्तमेव आणत्ता चित्तगरा, तेहिं सभाओ वासा विभइत्ता पचित्तिया। तस्स वरदिन्नगस्स जो रन्नो अंतउरे किड्डापदेसो सो दिन्नो। तेण तत्थ तयाणुरूवेसु निम्मिएसु कयाइ मिगावईए जालकडगंतरेण पायं पुट्ठतो दिट्ठो, उवमाणेण नायं, जहा–एसा मियावई। तेण पायंगुट्ठाणुसारेण देवीए रूवं निव्वत्तियं, तीसे चक्खुम्मि उम्मिल्लिज्जंत एगो मसिबिन्दू ऊरुअन्तरे पडितो, तेण फुसिओ पुणो वि जातो, एवं तिन्नि वारा; पच्छा तेण नायं–एएण एव होयव्वमेव। ततो चित्तसभा निम्मिया। ततो राया चित्तसभं पलोयंतो तं पएसं पत्तो जत्थ सा देवी, तेण सो बिंदू दिट्ठो, तं दट्ठूण रुट्ठो. एएण मम पत्ती धरिसिया इति काऊण। ततो वज्झो आणत्तो। चित्तगरसेणी उट्ठिया–सामि! एस वरलद्धो त्ति ततो से खुज्जाए मुहं दाइयं, तेण तयाणुरूवं निव्वत्तियं, तहावि तेण संडासओ छिंदावितो निव्विसओ आणतो। सो पुणो जक्खस्स उववासेण ठितो, भणितो य–वामेण चित्तिहिसि सयाणीयस्स पदोसं गतो। तेण चिंतियं–पज्जोतो एयस्स अप्पीहं ठवेज्जा। ततोऽणेण मिगावतीए चित्तफलए रूवं चित्तेऊण पज्जोयस्स उवट्ठियं, तेण दिट्ठं, पुच्छितो य तेण कहियं सविसेस, ततो पज्जोएण सयाणीयस्स दूतो पेसिओ, मिगावई देविं सिग्घं पट्ठवेह, जइ न पट्ठवेसि ततो सव्वसामग्गीए

पहामि। गतो दूतो, तेण असक्कारितो निद्धमणेण निच्छूढो। तेण कहियं पज्जोतस्स। पज्जोतो वि य दूयवयणेण आसुरुत्तो सव्वबलेण कोसंबिं एइ। तं आगच्छंतं सोउं सयाणीओ अप्पबलो चित्ते खुहितो अतिसारेण पंचत्तमुवगतो। ताहे मिगावतीए चिंतियं-मा इमो बालो मम पुत्तो विणिस्सिहिति। एस खरेण न सक्कए, पच्छा दूतो पट्ठवितो, भणितो य-एस कुमारो बालो अम्हेहिं गएहिं मा सीमंतराइणा केणइ अन्नेण पिल्लिज्जिहिइ। सो भणइ-को ममं धरमाणे पेल्लिहिइ। सा भणइ ओसीसए सप्पो जोयणसए विज्जो किं कीरहिइ त्ति नगरिं दढं करेह। सो भणइ-आमं करेमि। सा भणइ-उज्जेणीए इट्टगाओ बलियाओ तार्हि कीरतु। आमं ति। तस्स य चउद्दस राइणो वसवत्तिणो। तेण ते सबला ठाविया। पुरिसपरंपरएण तेहिं इट्टगा आणीया, नो कयं नगरं दढं। ताहे ताए भण्णइ-इयाणिं धन्नस्स भरेहिं नगरिं। ततो तेण भरिया। जाहे न नगरी रोहगअसज्झा जाया ताहे सा विसंवइया। चिंतियं च णाए-धन्ना ण ते गामागरनगरपट्टणमडंबसन्निवेसा जत्थ सामी विहरइ। पव्वज्जामि जइ सामी एज्ज। ततो भगवं समोसढो। तत्थ सव्ववेरा पसमंति। मिगावती निग्गया। धम्मे कहिज्जमाणे एगो पुरिसो एस सव्वन्नु त्ति काउ पच्छन्नं मणसा पुच्छइ। ततो सामिणा भणितो-वायाए पुच्छ देवाणुप्पिया! वरं बहवे सत्ता संबुज्झंति त्ति एवमवि भणिए तेण भणियं-भयवं! जा सा सा सा?। तत्थ भगवया आमं ति भणितो। ततो गोतमसामिणा भणियं-भगवं! किं एएण जा सा सा स त्ति भणियं?। तत्थ तीसे उट्ठाणपरियावणियं सव्वं भगवं परिकहेइ-तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था। तत्थ एगो सुवण्णगारो इत्थीलोलो, सो पंच पंच सुवण्णसयाणि दाऊण जा पहाणा कन्ना तं परिणेइ। एवं तेण पंचसया पिंडिया। एक्केक्काए तिलगचोद्दसगं अलंकारं करेइ, जद्दिवसं जाए समं भोगे भुंजइ तद्दिवसं देइ अलंकारं, सेसकालं न देइ। सोइस्सालुगो त घरं न कयाइ मुयइ, न वा अन्नस्स अलियावं देइ। सो अन्नया मित्तस्स पगते मित्तेण वाहिओ अणिच्छंतो वि बला जेमेउं नीतो। सो तहिं गउ त्ति नाऊण ताहिं चिंतियं-किं अम्हं एएणं सुवण्णएणं ति?। अज्ज पहरिकं एहामो, समालभामो, आविंधामो। एहायाओ पहरिक्कमज्जियव्वयविहीए तिलगचोद्दसगेण अलंकारेण अलंकरेऊण अद्दागं गहाय पेहमाणीओ चिट्ठंति। सो य ततो आगतो तं दट्ठूण आसुरुत्तो तेण एक्का महिला ताव पिट्टिया जाव मय त्ति। ततो अन्नाओ भणंति-एवं अम्हे वि एक्केका निहंतव्वा, तम्हा एवं एत्थेव अद्दागपुंजं करेमो। तत्थ एगूणेहिं पंचहिं महिलासएहिं पंच एगूणाइं अद्दागसयाइं जमगसमगं पक्खित्ताइं। तत्थ सो अद्दागपुंजो जातो। पच्छा पुणो वि तासिं पच्छातावो जातो-का गई अम्हं पइमारिगाणं भविस्सइ?, लोए य उद्धंसणाओ सहियव्वाओ। ताहे ताहिं घणकवाडाइं निरंतरं निच्छिड्डाइं दाराइं ठवेऊण अग्गी दिन्नो सव्वओ समंतओ तेण पच्छाणुतावेण साणुक्कोसयाए य ताए अकामनिज्जराए मणूसेसु उववन्ना पंच वि सया चोरा जाया, एगम्मि पव्वए परिवसंति। सो वि सुवण्णगारो कालमुवगतो तिरिक्खेसु उववन्नो। तत्थ जा सा पढमं मारिया सा एक्कं भवं तिरिएसु, पच्छा एक्कम्मि बंभणकुले चेडो आयातो। सो य पंचवरिसो जातो। सो य सुवण्णगारजीवो तिरिक्खेसु उव्वट्टिऊण तम्मि कुले दारिया जाया। सो चेडो तीसे बालग्गहो। सा य निच्चमेव रोयइ। तेण उदरपोप्पयं करेंतेण किह वि जोणिद्दारे हत्थेण आहया तहा चेव ठिया रोइउं। तेण नायं-लद्धो मए उवाउ त्ति। एवं सो निच्चकालं करेइ। सो तेहिं मायापिईहिं नातो। ताहे हणिऊण धाडिओ। सा वि अ पइप्पन्ना चेव कामा उरेण विणट्ठा। सो चेडो पलायमाणो चिरनगरविणट्ठदुस्सीलायारो जातो। गतो एगं चोरपल्लिं, जत्थ ताणि एगूणाणि पंच चोरसयाणि परिवसंति। सा वि विणट्ठसीला पहरिकं हिंडंती एगं गामं गया। सो गामो तहिं चोरेहिं पेल्लिओ। सा अन्नेहिं गहिया। सा तेहिं पंचहिं वि चोरसएहिं परिभुत्ता। तेसिं चिंता जाया-अहो! इमा वरागी एत्तियाणं सुक्खदणं सहइ, जइ अन्ना से बिइज्जिया लभेज्जा तो से विस्सामो होज्जा। ततो तेहिं अन्नया कयाइ तीसे बिइज्जिया आणीया, जं चेव दिवसं आणिया तद्दिवसं तीसे छिद्दाणि सा मग्गइ, केण उवाएण मारेज्जा?। ते य अन्नया धाडिं घेत्तुं पहाविया। ताए सा भणिया-पेच्छ कूवे किं पि दीसइ?। सा दट्ठुमारद्धा। ताए तत्थेव छूढा ते आगया पुच्छंति। ताए भण्णइ-अप्पणो महिलं कीस न सारवेह। तेहिं नायं जहा एयाए मारिया, ततो तस्स बंभणचेडगस्स हियए ठियं-जहा एसा मम पावकम्मा भगिणि त्ति। सुव्वइ य जहा भयव महावीरो सव्वन्नू सव्वदरिसी य। ततो एस समोसरणे पुच्छइ। ततो सामी भणइ-सा चेव सा तव भगिणी। एवं कहिए-सो संवेगमावन्नो पव्वइओ। एवं सोऊण सव्वा सा परिसा पयणुरागा जाया। ततो मिगावई जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ,नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-जं नवरं पज्जोयं आपुच्छामि, तओ तुज्झ सगासे पव्वयामि त्ति भणिऊण पज्जोयं आपुच्छइ। ततो पज्जोतो तीसे महइमहालियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए लज्जाए ण तरइ वारेउं ताहे विसज्जेइ। ततो मिगावई पज्जोयस्स उदयणं कुमारं निक्खेवगनिक्खित्तं काऊणं पव्वइया। पज्जोयस्स वि अट्ठ अंगारवईपमुहाओ देवीओ पव्वइयाओ। ताणि वि पंच चोरसयाणि तेण गंतूणं संबोहियाणि। एयं पसंगेण भणियं। एत्थ इट्ठगापरंपरगेणाहिगारो। एस दव्वपरंपरगो। (८७ गाथा आव०) आ० म० १ अ०। आ० चू०।

परंपरसमाण-परम्परसमान-न०। दृष्टिवादस्य सूत्रभेदे, स० १२ अङ्ग।

परंपरसमुदाणकिरिया-परम्परसमुदानक्रिया-स्त्री०। क्रियाभेदे, स्था०। ( अर्थस्तु 'समुदाणकिरिया' शब्दे वक्ष्यते )

परंपरसिद्ध-परम्परसिद्ध-पुं०। परम्परे च ते सिद्धाश्च परम्परसिद्धाः। सिद्धत्वसमयाद् द्वयाऽऽदिसमयवर्तिषु. प्रज्ञा०।

अथ का सा परम्पसिद्धाऽसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ?, सूरिराऽऽह-

से किं तं परंपरसिद्धअसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा ?। परं-

परसिद्ध असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-अपढमसमयसिद्धा, दुसमयसिद्धा, तिसमयसिद्धा. चउसमयसिद्धा०जाव संखेज्जसमयसिद्धा, असंखेज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा । सेत्तं परंपरसिद्ध असंसारसमावण्णजीवपण्णवणा ।

परम्परसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना अनेकविधा प्रज्ञप्ता, परम्परसिद्धानामनेकविधत्वात्। तदेवाऽनेकविधत्वमाह-(त जहेत्यादि) तद्यथेत्यनेकविधत्वोपदर्शने, अप्रथमसमयसिद्धा इति-न प्रथमसमयसिद्धा अप्रथमसमयसिद्धाः, परम्परसिद्धविशेषणप्रथमसमयवर्त्तिनः सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः । द्व्यादिषु तु समयेषु द्वितीयसमयसिद्धाऽऽदय उच्यन्ते। यद्वा-सामान्यतः प्रथमसमयसिद्धा इत्युक्तम्, तत एतद्विशेषतो व्याचष्टे-द्विसमयसिद्धास्त्रिसमयसिद्धाश्चतु'समयसिद्धा इत्यादि. यावच्छब्दकरणात् पञ्चसमयसिद्धाऽऽदयः परिगृह्यन्ते । प्रज्ञा० १ पद ।

परंपरसिद्धणाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-एक्कपरंपरसिद्धणाणे चेव, अणेक्कपरंपरसिद्धणाणे चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

परंपरा-परम्परा-स्त्री० । प्रवाहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । निरन्तरतायाम् , भ० ६ श० १ उ० ।

परंपरागम-परम्पराऽऽगम-पु० । गणधरशिष्याणामागमे आत्माऽऽगमो हि तीर्थकृताम्, अनन्तराऽऽगमो गणधराणाम्, परम्पराऽऽगमस्तच्छिष्याणाम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परंपराघाय-परम्पराघात-पु० । परम्परा निरन्तरता, तत्प्रधानो घातस्ताडनं परम्पराघातः । उपर्युपरि घाते, भ० ६ श० १ उ० ।

परंपराहारग-परम्पराऽऽहारक-पुं० । ये पूर्वव्यवहितान् सत पुद्गलान् स्वक्षेत्रमागतानाहारयन्ति तेषु नैरयिकाऽऽदिवैमानिकपर्यन्तेषु स्था० १० ठा० ।

परंपरोगाढ-परम्परावगाढ-पु० । द्वितीयाऽऽदिसमयावगाढे नैरयिकाऽऽदौ वैमानिकपर्यन्ते, स्था० १० ठा० ।

परंपरोवणिहा-परम्परोपनिधा-स्त्री० । परम्परया उपनिधा मार्गणं परम्परोपनिधा । परम्परयाऽल्पबहुत्वाऽऽदिमार्गणे, क० प्र० १ प्रक० । पं० सं० ।

परंपरोववण्णग-परम्परोपपन्नक-पुं० । परम्परया उपपन्नका परम्परोपपन्नका । "णेरइया दुविहा पण्णत्ता। त जहा-अणंतरोववण्णगा चेव, परंपरोववण्णगा चेव० जाव वेमाणिया ।" स्था० २ ठा० २ उ० । उत्पत्तिसमयापेक्षया द्व्यादिसमयेषु वर्त्तमानेषु, भ० १३ श० १ उ० ।

परंभरि-परम्भरि-पु० । परं बिभर्तीति परम्भरि । परोदरपूरके स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

परंमुह-पराङ्मुख-त्रि० । पृष्ठतो मुखे, दश० ६ अ० ३ उ० ।

परकड-परकृत-त्रि० । परेण गृहिणाऽन्यार्थं परार्थं वा कृतं निर्वर्तितं परकृतम् । उत्त० १ अ० । परनिष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । गृहस्थैः पक्के, नि० चू० १ उ० ।

परकायप्पवेस-परकायप्रवेश-पु० । तथाविधसंयमाज्जीवतो मृतस्य वा शरीरे प्रवेशे द्वा० ।

बन्धकारणशैथिल्यात्, प्रचारस्य च वेदनात् ।
चित्तस्य स्यात्परपुर-प्रवेशो योगसेविनः ॥ १२ ॥

(बन्धेति) व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोर्भोग्यभोक्तृभावेन यत्संवेदनमुपजायते स शरीरबन्ध इत्युच्यते। ततो बन्धस्य शरीरबन्धस्य यत्कारणं धर्माधर्माऽऽख्यं कर्म,तस्य शैथिल्यात् तानवात्। प्रचारस्य च चित्तस्य हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाऽऽभिमुख्येन प्रसरस्य च वेदनात् ज्ञानात्' इयं चित्तवहा नाडी,अनया चित्तं वहति इयं रसप्राणाऽऽदिवहाभ्यो विलक्षणा।"इति स्वपरशरीरसंचारपरिच्छेदादित्यर्थः। योगसेविनो योगाऽऽराधकस्य चित्तस्य परपुरे मृते जीवति वा परकीयशरीरे प्रवेश स्यात्। चित्तं च परशरीरं प्रविशदिन्द्रियाण्यनुवर्त्तन्ते,मधुकरराजमिव मक्षिका। ततः परशरीरं प्रविष्टो योगी ईश्वरवत्तेन व्यवहरति,यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसंकोचकारणं कर्माभूत्, तच्चेत्समाधिना क्षितं तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिरिति तदुक्तम्-" बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीराऽऽवेश इति । " (३-३८) ॥१२॥ द्वा० २६ द्वा० ।

परकिरिया-परक्रिया-स्त्री० । परेषा सम्बन्धिन्यां क्रियायाम्, परैः क्रियमाणायां सेवायाम्, आचा० ।

तत्र परशब्दस्य षड्विधं निक्षेपं दर्शयितुं
निर्युक्तिकारो गाथार्द्धमाह-

छक्कं परइक्किक्कं, त-दन्न-माएसकमबहु पहाणे ॥(३३५)॥

षट्कं 'पर' इति परशब्दविषये नामाऽऽदि. षड्विधो निक्षेप, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे,द्रव्याऽऽदिपरमेकैकं षड्विधं भवतीति दर्शयति । तद्यथा-तत्परम् १, अन्यपरम् २, आदेशपरं ३, क्रमपरं ४. बहुपरं ५, प्रधानपरमिति ६ । तत्र द्रव्यपरं तावत्तद्रूपतयैव वर्त्तमान-परमन्यत्तत्परं यथा परमाणोः पर पर माणु १, अन्यपरं त्वन्यरूपतया परमन्यत् यथा एकाणुकाद् द्व्यणुकत्र्यणुकाऽऽदि, एवं द्व्यणुकादेकाणुकत्र्यणुकाऽऽदि २, 'आदेशपरम् 'आदिश्यते-आज्ञाप्यत इत्यादेश-य. कस्याञ्चित्क्रियाया नियोज्यते कर्मकराऽऽदि स चासौ परश्चाऽऽदेशपर इति ३। क्रमपरं तु द्रव्याऽऽदि चतुर्द्धा तत्र द्रव्यत. क्रमपरमेकप्रदेशिकद्रव्याद् द्विप्रदेशिकद्रव्यम्, एवं द्व्यणुकात् त्र्यणुकमित्यादि। क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढमित्यादि। कालत एकसमयस्थितिकाद् द्विसमयस्थितिकमित्यादि। भावत क्रमपरमेकगुणकृष्णाद् द्विगुणकृष्णमित्यादि ४। बहुपर बहुत्वेन परं बहुपरं यद्यस्माद्बहु तद्बहुपरम्। तद्यथा-" जीवा पुग्गल समया दव्व पएसा य पज्जवा चेव। थोवाऽणंताऽणंता विसेसअहिया दुवेऽणंता ॥१॥ " (अस्या व्याख्या )-तत्र जीवा स्तोका, तेभ्य पुद्गला अनन्तगुणा इत्यादि ५। प्रधानपर तु प्रधानत्वेन परः. द्विपदाना तीर्थकर., चतुष्पदाना सिंहाऽऽदि ,अपदानामर्जुनसुवर्णपनसाऽऽदि ,६। एवं क्षेत्रकालभावपराण्यपि तत्पराऽऽदिषड्विधत्वेन क्षेत्राऽऽदिप्राधान्यतया पूर्ववत्स्वधिया योज्यानीति, सामान्येन तु जम्बूद्वीपक्षेत्रात्पुष्कराऽऽदिकं क्षेत्रं परं, कालपरं तु प्रावृट्का-

सांवत्सरत्कालः. भावपरमौदयिकादौपशमिकाऽऽदिः। साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्।

तच्चेदम्-

परकिरियं अज्झत्थियं संसेसियं णो तं सायए णो तं णियमे,से सिया परो पाए आमज्जेज्ज वा,पमज्जेज्ज वा,णो त सायए णो त णियमे। से सिया परो पायाइं संवाहेज्ज वा,पलिमद्देज्ज वा,णो तं सायए णो तं णियमे। से सिया परो पायाइं फुसिज्ज वा रइज्ज वा नो तं सायए, नो तं णियमे। से सिया परो पादाइं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो पायाइं लोद्देण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलिंवेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो पादाइं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो पादाइं अण्णयरेण विलेवणजातेण आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो पादाइं अण्णयरेण धूवणजाएण धूवेज्ज वा,पधूवेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो पादाओ खाणुं वा कटयं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो पादाओ पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा,णो तं सातिए णो त णियमे(९७२)से सिया परो कायं आमज्जेज्ज वा,पमज्जेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायं लोद्देण वा संवाहेज्ज वा,पलिमद्देज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा,अब्भंगेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायं लोद्देण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा,उव्वलेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पहोएज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायं अण्णयरेणं विलेवणजातेणं आलिंपेज्ज वा,विलिंपेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायं अण्णयरेणं धूवणजातेण धूवेज्ज वा,पधूवेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे (९७३) से सिया परो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं लोद्देण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं वा गंडं वा अरइं वा पुलयं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं सत्थजातेणं अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो अण्णयरेणं सत्थजातेणं अच्छिंदित्ता वा विच्छिंदित्ता पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे (९७४) से सिया परो कायंसि गंडं वा अरतिं वा पुलयं वा भगंदलं वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं गंडं वा अरतिं वा पुलयं वा भगंदलं वा संवाहेज्ज वा,पलिमद्देज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि गंडं वा०जाव भगंदलं वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा,भिलिंगेज्ज वा,णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं गंडं वा०जाव भगंदलं वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं गंडं वा०जाव भगंदलं वा लोद्देण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं गंडं वा०जाव भगंदलं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा,पधोवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे। से सिया परो कायंसि वणं गंडं वा०जाव भगंदलं वा अण्णयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा, अण्णयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदित्ता वा विच्छिंदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे (९७५) से सिया परो कायाओ सेयं वा जल्लं वा णीहरेज्ज वा,विसोधेज्ज वा,णो तं सातिए णो त णियमे(९७६) से सिया परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरेज्ज वा,विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे ( ९७७ ) से सिया परो दीहाइं वालाइं दीहाइं रोमाइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइ कक्खरोमाइं दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे ( ९७८ ) से सिया परो सीसाओ लिक्खं वा जूयं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो त णियमे (९७९) से सिया परो अंकंसि वा पलियंसि वा तुयट्टावेज्ज वा, पादाइ आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, एवं हेट्ठिमो गमो पायादि भाणियव्वो। से सिया परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता हारं वा अद्धाहारं वा उरत्थं वा गेवेयं वा मउडं वा पालंबं वा सुवण्णसुत्तं वा आविधेज्ज वा पिणिधेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे (९८०) से सिया परो आ-

रामंसि वा उज्जाणंसि वा णिहरित्ता वा विसोहित्ता वा पायाइं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे (९८१) एवं णेतव्वा अण्णमण्णकिरिया वि (९८२) से सिया परो सुद्धेणं वा असुद्धेणं वा वतिवलेणं तेइच्छं आउट्टे से सिया परो असुद्धेणं वइवलेण तेइच्छं आउट्टे से सिया परो गिलाणस्स सचित्ताइं कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि वा हरियाणि वा खणेत्तु वा कड्ढेत्तु वा कड्ढावेत्तु वा तेइच्छं आउट्टाविज्जा णो तं सातिए णो तं णियमे ( ९८३ ) कडुवेयणा पाणभूतजीवसत्ता वयणं वेदेंति ( ९८४ ) एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिते समिते सदा जए सेयमिणं मण्णेज्जासि त्ति वेमि । ( ९८५ )

( परकिरियमित्यादि ) पर-आत्मनो व्यतिरिक्तोऽन्यस्तस्य क्रिया चेष्टा कायव्यापाररूपा तां परक्रियाम् । 'आध्यात्मिकीम्' आत्मनि क्रियमाणां, पुनरपि विशिनष्टि-'सांश्लेषिकीं' कर्मसंश्लेषजननीं ( नो ) नैव,'आसादयेद्' अभिलषेत्, मनसा न तत्राऽभिलाषं कुर्यादित्यर्थः । तथा न तां परक्रियां 'नियमयेत्' कारयेद्वाचा, नाऽपि कायेनेति । ता च परक्रियां विशेषतो दर्शयति-( से ) तस्य साधोर्निष्प्रतिकर्मशरीरस्य सः 'परः' अन्यो धर्मश्रद्धया पादौ रजोऽवगुण्ठितौ आमृज्यात्कर्पटाऽऽदिना,वाशब्दस्तूत्तरपक्षापेक्षः,तथाऽऽस्वादयेन्नाऽपि नियमयेदिति । एवं स साधुस्तं परं पादौ संबाधयन्तं मर्दयन्तं वा स्पर्शयन्तं-रञ्जयन्तम्,तथा-तैलाऽऽदिना म्रक्षयन्तमभ्यञ्जयन्तं वा,तथा-लोध्राऽऽदिना उद्वर्तनाऽऽदि कुर्वन्तं,तथा-शीतोदकाऽऽदिना उच्छोलनाऽऽदि कुर्वाणं,तथाऽन्यतरेण,सुगन्धिद्रव्येणालिम्पन्तं,तथा-विशिष्टधूपेन धूपयन्तं, तथा-पादात्कण्टकाऽऽदिकमुद्धरन्तम्,एवं शोणिताऽऽदिकं निस्सारयन्तं 'नाऽऽस्वादयेत्'मनसा नाभिलषेन्नाऽपि नियमयेत्-कारयेद्वाचा कायेनेति । शेषाणि कायव्रणगताऽऽदीनि अरामप्रवेशनिष्क्रमणप्रमार्जनसूत्रं यावदुत्तानार्थानि । एवममुमेवार्थमुत्तरसप्तकेऽपि तुल्यत्वात् संक्षेपरुचिः सूत्रकारोऽतिदिशति-( एवमिति ) या पूर्वोक्ताः क्रिया -रज:प्रमार्जनाऽऽदिकाः ता: 'अन्योऽन्यं' परस्परत साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योऽन्योन्यक्रियासप्तैकक इति । किञ्च-( से ) तस्य साधोः स परः शुद्धेनाऽशुद्धेन वा, वाग्बलेन मन्त्राऽऽदिसामर्थ्येन,चिकित्सां व्याध्युपशमम् ( आउट्टे त्ति) कर्तुमभिलषेत् । तथा-स परः ग्लानस्य साधोश्चिकित्सार्थं सचित्तानि कन्दमूलाऽऽदीनि खनित्वा समाकृष्य स्वतोऽन्येन वा खानयित्वा चिकित्सां कर्तुमभिलषेत् । तच्च नाऽऽस्वादयेत् नाभिलषेन्मनसा, एतच्च भावयेत्-इह पूर्वकृतकर्मफलेश्वरा जीवा कर्मविपाककृतकटुकवेदना. कृत्वा परेषा शारीरमानसा वेदना स्वत. प्राणिभूतजीवसत्त्वास्तत्कर्मविपाकजा वेदनामनुभवन्तीति। उक्तं च-' पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तवाऽयं, न खलु भवति नाशः कर्मणा सञ्चितानाम् । इति सह गणयित्वा यद्यदायाति सम्यक्, सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूय: कुतस्ते ? ॥ १ ॥ " शेषमुक्तार्थं यावदध्ययनपरिसमाप्तिरिति । आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० ।

जे भिक्खू अप्पणो पाए तिल्लेण वा घएण वा वसाएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अप्पणो पाए सीओदगावियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

सीतमुदगं सीतोदगं, वियड त्ति व्यपगतजीवं, उसिणमुदगं उसिणोदग, तेण अप्पणो पादे एक्कसि उच्छोलणा, पुणो पुणो पधोवणा, एवं सव्वे सुत्ता उच्चारेयव्वा। अब्भंगो थोवेण,बहुणा मक्खणं, अहवा-एक्कसिं, बहुसो वा।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो पाए लोद्देण वा ककेण वा पोउमचुस्रेण वा उल्लोलेज्ज वा,उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

कक्कासि प्रथमोद्देशके अगादाणगमेण णेयं ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो पाए फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

अलत्तयरंग पादेसु लाएउं पच्छा फूमति, तं जो रयणि वा फूमति वा ।

एतेसिं पंचण्हं सुत्ताणं संगहगाहा-

संवाहणा पधोयण, कक्कादीणुव्वलण मंखे वा ।
फुसणं व राइणं वा, जो कुज्जा अप्पणो पादे ॥ ५७ ॥

संवाहण त्ति विस्सामणं त सीतोदगाइणा पधावणं कक्काइणा उव्वलणं, तेल्लाइणा मक्खणं, अलत्तगाइणा रंगणं करेति,तस्स आणाइया दोसा ।

गाहा-

एतेसिं पढमपदा, सईं तु वितिया तु बहुसो वा ।
बहुणा संवाहणे तू, चतुधा फूमंत रागो सो ॥ ५८ ॥

एतेसिं सुत्ताणं पढमपदा संवाहणाऽऽदि सकृत्कारणे द्रष्टव्याः वितियपदा परिमद्दणादि बहुवारकरणे, बहुणा वा करणे दट्ठव्वा। संवाहणचउव्विहा उक्ता। अलक्तकरंगो फूमिज्जंतो लग्गति ।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तम्हा, एतेसु पदे विवज्जेज्जा ॥ ५९ ॥

सव्वेसु जहासंभवं विराहणा भाणियव्वा, गाढसवाहणा पंचमं अवणेज्ज, अट्ठिभंगं च करेज्ज, एवं उव्वलणे वि, पधोवणे एवं चेव उप्पिलादयो। सा य अब्भंगे वि मच्छिगातिसंपातिमवहो ।

गाहा-

आतपरमोहुदीरण, पाउसदोसा य सुत्तपरिहाणी ।
सपातिमादिघातो, विवज्जओ लोगपरिवाओ ॥ ६० ॥

रगे पधोवणाऽऽदिसु य आयपरमोहोदीरणं करेति, पाउसदोसो य भवति, सुत्तत्थाणं च परिहाणी भवति। साधुक्रियाया:, साधुरूपस्य वा विपर्ययो विपरीतता भवति। साधु-

श्रावके, मिथ्यादृष्टिलोके वा परिवादो, पादाभ्यङ्गकरणेन प-रिज्ञायते, न साधुरिति ।

कारणतो करेज्ज-

वितियपदं गेलएणे, श्रद्धाणुवातवायवासासुं ।
आदी पंचपदा ऊ, मोहतिगिच्छाएँ दोसियरे ॥ ६१ ॥

गिलाणस्स श्रद्धाणे वाउवायस्स वा तेणेव माहियस्स वासासु वा । (आइ त्ति) गिलाणपयं तम्मि संपाहादी पंच वि पया पउत्तव्वाश्रो । वेज्जोवदेसेण पायतलरोगिणो ममदंति-यादिलेवेण श्रणेण रंगो कायव्वो । सेसेसु श्रद्धाणादिसु-जहासंभवं मोहतिगिच्छाए रयण फूमणं वादो वि कायव्वा । अहवा-संवाहादियाण पंचरह पदाणं श्रादिल्ला चउरो पदा गिलाणाइसु संभवंति । दो फूमणरयणपदा मोहतिगिच्छाए संभवंति । चोदगाऽऽह-एणु फूमणरयणे मोहवुड्ढी भवति ? । आयरियाऽऽह-सातिसश्रोवदेसेण जस्स तहा कज्जंते य उव-समो भवति तस्स कज्जति । कितिगादिश्रासिवणे वा श्र-द्धाणसवाहणाऽऽदी जहासंभवं । एवं वाते वि संवाहसेयश्र-ब्भंगणाति । वासासु कद्दमलित्ताण धोवणेति श्रगुंलिमंतरा य कुहिया कोद्दवपलालधूमेण रज्जंति ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू श्रप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

एवं कायाभिलावेण छ सुत्ता भाणियव्वा ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो काय संवाहेज्ज वा, परिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायं तिल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायं लोद्देण वा कक्केण वा पोउमचुएणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंत वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोद-गवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

एए छ सुत्ता पूर्ववत् ।

इमो श्रइदेसगंथो-

पादेसुं जो तु गमो, णियमा कायम्मि होति सच्चेव ।
णायव्वो तु मतिमता, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥६२॥

जो पायसुत्तेसु गमो कायसुत्तेसु वि छसु सो चेव दट्ठव्वो । केण नायव्वो ?, मतिमता मतिरस्यास्तीति मतिमान् । पुव्व उस्सग्गपदं, अवर अववातपदं ।

सूत्राणि-

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं तिल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिं-गतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं लोद्देण वा कक्केण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, सीतोदग-वियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधो-एज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

एव वणाभिलावेण ते च छ सुत्ता वत्तव्वा ।

गाहा-

दुविधं कायम्मि वणो, तदुब्भवाऽऽगंतु पत्तुणा तच्चो ।
तद्दोसाऽऽदि तदुब्भवो, सत्थादागंतुश्रो भणिश्रो ॥६३॥

कायवणो दुविधो-तत्थेव काए उब्भवो जस्स सो तदुब्भवो । आगंतुएण सत्थादिणा कश्रो जो सो आगंतुगो । इमो तदुब्भवो तद्दोसो कुट्ठं किडिभं दद्दू विचच्चिका पा-मा गंडादिया य । आगंतुगो सत्थेण खग्गातिणा केटकेण वा खाणुता ता सिसवेधा वा दीहेण वा सुणहडक्को वा ।

गाहा-

एतेसामएणतरं, जो तु वणं मीसयं करे भिक्खू ।
मज्जणमादी तु पदे, सो पावति आणमादीणि ॥६४॥

एतेसिं श्रणतरेण जो पमज्जणादिपदे करेज्ज, तस्स आणादी दोसा, मासलहुं च पच्छित्त ।

सीस आह-वेयणट्टेण किं कायव्वं ? । आयरिय आह-

णच्चुप्पइतं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अद्दीणो अव्विभितो, तं दुक्खऽहियासए सम्मं ॥६५॥

( णच्च त्ति ) ज्ञात्वा । किं ज्ञात्वा ? । दु:खमुत्पन्नं, वेद्यत इति वेदना, तिव्वाए वेयणाए सव्वं सरीरं व्याप्तमित्यर्थः । ण दीणो अदीणो, पसरणमणो, स्वभावस्थ इत्यर्थ. । णवा ओहयम-णसंकप्पे श्रहवा-हा माते ! हा पिते ! एवमादि ण भासते जो सो अदीणो । ण वेयणट्टो अप्पणो सिरोरुकुट्टणादि करेति । अथवा णवेयणट्टो चिंतेति-अप्पाणं सारेमि त्ति । तं दुक्खं पत्तं सम्मं अहिश्रासेयव्वं इत्यर्थः ।

कारणे पुण आमज्जणाऽऽदि करेज्ज-

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठी वा समाहिहेतुं वा ।
मज्जणमादी तु पदे, जयणाएँ समायरे भिक्खू ॥६६॥

सुत्तत्थाणं अव्वोच्छित्तिं करिस्सामि त्ति, जीवितट्ठी वा जीवंतो संजमं करिस्सामो, चउत्थाइणा वा तवेण अप्पाणं भावेस्सामि, णाणदंसणचरित्तसमाहिसाहणट्ठा वा । अथवा-समाहिमरणेण वा मरिस्सामि त्ति आमज्जणादिपदे जयणा-ए समायरेज्ज । जयणा जहा जीवोवघातो ण भवतीत्यर्थः ।

सूत्राणि-

जे भिक्खू अप्पणो कायं सि गंडं वा पलियं वा अरियं

वा अंसियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा, अच्छिंदंतं वा विच्छिंदंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा अंसियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएण अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा नीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, नीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

गच्छतीति गंडं तं गंडमाला, जं च अण्ण सुपादगं तं गंडं, अरती तं जं ण पच्चति, असी अरिसा ऽऽदी य अहीणाणासाए वणेसु वा भवंति । पलिगा सियलिया, भगदर अप्पएणप्पत्तो अधिट्ठाणे खतं किमियजालसपण्ण भवति । बहुसत्थसंभवे अण्णतरेण निक्खं साहेणधारम्, जातमिति प्रकारप्रदर्शनार्थे । एक्कसि ईषद्वा आच्छिंदण, बहुवारं सुट्ठु वा छिंदण विच्छिंदणं।

गाहा-

गंडं च अरइयंसिं, विगलं व भगंदलं व कायंसि ।
सत्थेणऽण्णतरेणं, जो तं अच्छिंदए भिक्खू ॥ ६७ ॥

गतार्थो । पुव्वसुत्त सव्वं उच्चारेऊण इमे अहरित्ता आलावगा । पुव्वं वा पक्कं सोणियं पुव्वं भणति । रुचिरं सभावत्थ सोणिय भण्णति । णीहरति णाम णिग्गलति, अवसेसावयवा फडणविसोहण भण्णति ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलिय वा अरियं वा अंसियं वा भगंदल वा अण्णयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएणं अच्छिंदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरित्ता वा विसोहित्ता वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू दो वि पुव्वसुत्तअलावगे भणिउं इमे तइयसुत्तआलावगा । सीओदगवियडं गतार्थम् ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा अंसियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएण अच्छिंदित्ता वा विच्छिंदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, अन्नयरेण वा आलेवणजाएण आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा, आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू तिण्ह वि सुत्ताणालावए वोत्तुं चउत्थसुत्ताइरित्ता इमे आलावगा । बहु आलेवसंभवे अण्णतरं गहणं आलिम्पनेऽनेनेत्यालेप' । जातग्रहणं प्रकारप्रदर्शनार्थे । सो आलावो तिविधो-वेदनाप्रशमकारी, पाककारी, वणाऽऽदिणीहरणकारी ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा अंसियं वा भगंदलं वा अन्नयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएणं आछिंदित्ता वा विसोहित्ता वा अन्नयरेण वा आलेवणजाएणं अब्भिंगेज्ज वा, मंखेज्ज वा, अब्भिंगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

चउरो वि सुत्तालापगे वोत्तुं इमे पंचमसुत्तारित्ता आलावगा । तेल्लेण वा गतार्थम् ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अंसियं वा भगंदलं वा अन्नयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएणं छिंदित्ता वा० जाव विसोहित्ता वा धूवणजाएण धूवेज्ज वा, पधूवेज्ज वा, धूवंतं वा पधूवंतं वा साइज्जइ ॥३७॥

जे भिक्खू अप्पणो कायसि गंडं वा जो अच्छिंदित्ता पूअं वा सोणियं वा णीहरित्ता विसोधित्ता सीतोदगं० जाव पहोवित्ता अण्णतरेण वा आलेवणजाएण० जाव विलिंपित्ता तेल्लेण०जाव मंखित्ता अण्णतरेणं० जाव धूवंतं वा सातिज्जति छट्ठ सुत्तं ।

एतेसिं इमा संगहणिगाहा-

णीणेज्ज पूयरुधिरं, उच्छोले सीतवीयडउसिणेणं ।
लेवेण व आलिंपति, मंखे धूवे व आणादी ॥ ६८ ॥

णीणेज्ज पूयातीतो उच्छोलेति, ततो आलिंपति, ततो मखेति, ततो धूवेति । एवं जो करेति सो आणादिदोसे पावति, आयविराहणासु थाती भवति, संजमे आउक्कायादिविराहणा । एवं ता जिणकप्पे, गच्छवासीण वि णिक्कारणे एवं चेव ।

जतो भण्णति-

णिक्कारणा ण कप्पति, गंडादीएसु छेय धुवणादी ।
आसज्ज कारणं पुण, सो चेव गमो हवति तत्थ ॥ ६९ ॥

पुव्वद्धं कंठं, कारणे पुण आसज्ज एसेव कमो सत्थादिणा । अछिंदति, जइ ण पउणप्पइ, तो पूयादिणीहारेति । एवं अप्पणप्पते उत्तरोत्तरपयकरणं णच्चप्पइयं गाहा-अव्वोगाहा ।

सूत्राणि-

जे भिक्खू अप्पणो पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अप्पणो अंगुलीए निवेसिय णिवेसिय णीहरइ, णीहरंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

पालु अपान, तम्मि किमिया समुच्छंति, कुक्खीए किमिया कुक्खिकिमिया, ते पज्जमा भवंति, ते जति सयणं वोसिरउ पाणब्भंतरे थेक्केज्जंतो ते पालुकिमिए अंगुलिए णिवेसिय प्रवेश्य, अप्पणो णीहरति, परित्यज्यतीत्यर्थः । इमा णिज्जुत्ती-

गंडादिएसु किमिए, पालुकिमिए व कुच्छिकिमिए वा ।
जो भिक्खू णीहरती, सो पावति आणमादीणि ॥ ७० ॥

गंडादिएसु वणेसु पालओ वा कुच्छिकिमिए वा जो भिक्खू णीहरति सो अणाऽऽदिदोसे पावति ।

णीहरणकप्पोवदरिसणत्थं भण्णति-

णिक्कारणे सकारणे, अवधी विधि कट्ठमादिणा अविधी ।
अंगुलमादीउ विधी, कारणे अविधी तु सुत्तं तु ॥ ७१ ॥

णिक्कारणे अविधीए निक्कारणे विहीए, कारणे अविधीए कारणे विधीए, कट्ठमादिएहिं जति णीहरति तो अविधी, अङ्गुलिमादिएहिं विधी भवति। ततियभंगे सुत्तं, चरिमो सुद्धो, दोसु आइल्लेसु चउलहुं। उस्सग्गेणं विधीए अविधीए वा ण णीहरियव्वा, तेसु विराहिज्जंतेसु संजमविराहणा, खेत्ते आयविराहणा, तत्थ गिलाणादिआरोवणा, तम्हा अ- धियासेयव्वं।

गाहा-

णच्चुप्पइतं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए।
अदीणो अव्विमितो, तं दुक्खऽहियासए सम्मं ॥७२॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीवट्ठाए समाधिहेतुं वा।
गंडादीसुं किमिए, जतणाए णीहरे भिक्खू ॥ ७३ ॥

तेसिं णीहरणे का जयणा ?, पोमे पउमे वा अल्लचम्मे वा। सेसं पूर्ववत्।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पेज्ज वा,संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं जंघारोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा सं- ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइजइ ॥ ४२ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं समसू- रोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं कक्खरो- माइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइ- ज्जइ ॥ ४४ ॥ एवं नासिकारोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा०जाव साइज्जइ ॥ ४५ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं चक्खूरोमाइं कप्पेज्ज वा,संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥४६॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं मंसूरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खू अप्पणो दंते आघंसेज्ज वा, पघंसेज्ज वा, आघंसंतं वा पघंसंतं वा साइज्जइ ॥४८॥ जे भिक्खू अप्पणो दंते सी- ओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दंते फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥५२॥ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे तिल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मं- खंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे कक्केण वा लोद्देण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्व- ट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे सीतोदगवियडेण वा उसि- णोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छो- लंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥ जे भिक्खू अ- प्पणो उट्ठे फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥ जे भिक्खू अ- प्पणो दीहाइं उत्तरउट्ठाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं अच्छिपत्ताइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥ जे भिक्खू अप्पणो अ- च्छिणी आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ५९ ॥ जे भिक्खू अप्पणो अ- च्छिणी संवाहिज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलि- मद्दंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥ जे भिक्खू अप्पणो अ- च्छिणी तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाए वा णवणी- एण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंत वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ ६१ ॥ जे भिक्खू अप्पणो अच्छिणी कक्केण वा लोद्देण वा उल्लोलेज्ज वा,उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्व- ट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ६२ ॥ जे भिक्खू अप्पणो अच्छिणी सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ ६३ ॥ जे भिक्खू अप्पणो अच्छिणी फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ६४ ॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं भुमगरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥६५॥ जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा, संठवे- ज्ज वा, कप्पंतं वा संठवंतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥ जे भिक्खू अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥

तेरस सुत्ता उच्चारेयव्वा, सुत्तत्थो णिज्जुत्ती य लाघवत्थं जुगवं वक्खाणिज्जंति।

गाहा-

जे भिक्खू णहसिहाओ, कप्पेज्जा अधव संठवेज्जा वा।
दीहं च रोमराइं, मंसूकेसे तु उत्तरोट्ठे वा ॥ ७४ ॥

णहाणं सिहा णहसिहा, नखा इत्यर्थः। कल्पयति छिंदति, संठवेति तीक्ष्णे करोति, चन्द्रार्द्धे सुकतुंडे वा करेति, रोमराई पोट्टे भवति, ते दीहे कप्पेति, संठवेति-सुविहिते अधोमुहे ओलिहति, मंसू चिबुके जंघासु गुज्झदेसे वा छिं?-

ति, संठवेति । केस त्ति सिरजादि छिंदति, संठवेति वा, उत्तरोट्ठरोमा दाढियाओ, ता छिंदति । संठवेति वा ।

गाहा-

भमुहाउ दंतसोधण, अच्छीण पमज्जणाइगाइं वा ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ७५ ॥

एवं णासिगाभमुगरोमे वि दंतेसु अङ्गुलीए सकृदामज्जणं, पुणो पमज्जणं दंतधावण । दंत कट्ठं अचित्ते सुतंतेण एक्कदिणं आघसणं, दिणे दिणे पघंसणं, दंते फूमति रयति वा पादसूत्रवत् । अच्छीणि वा आमज्जति णाम अक्खिपत्तरोमे संठवेति, पुणो पुणो करेंतस्स पमज्जणा । अहवा-वीयकणगादीए सकृत् अवणयणे आमज्जणा, पुणो पुणो पमज्जणा । आदिसद्दातो जे अच्छीणि पधोवति उसिणाइणा पउंछति णाम अंजणेणं अंजेति, अच्छीणि फुमणरयणा पूर्ववत् । विसेसो कणगादिसु फुवणं संभवति । एवं करेंतस्स आणाविराहणादिया दोसा ।

गाहा-

आमज्जण सइ असइं, पमज्जणं धोवणं तु ऽणेगविधिं ।
पादादीण पमज्जण, फूमणपसइंऽजणे रागो ॥ ७६ ॥

उक्तार्थौ । पसयमिति पसती चुलुगो भण्णति, दव्वसंभारकयं तं चुलुगे छोढुं तत्थ णिच्छुढं अच्छि धरेति, ततो उच्छुढं फूमति, रागो लगति, अंजियं वा फूमनि, रागो लग्गति । अहवा-पसयमिति दोहिं तिहिं ठाणापूरेहिं अच्छि धोवति, ततो अंजेति, ततो फूमनि रागो लग्गति ।

इमे दोसा-

आतपरमोहुदीरण, पाउसदोसा य सुत्तपरिहाणी ।
संपातिमादिघाते, विवज्जते लोगपरिवाओ ॥ ७७ ॥

पूर्ववत् ।

गाहा-

वितियपदं सामण्णं, सव्वेसु पदेसु होज्जऽणाभोगो ।
मोहतिगिच्छाए पुण, एत्तो तु विसेसियं वोच्छं ॥७८॥

णहसियादि ततो सव्वे सुत्तपडिसिद्धे अत्थे अणाभोगतो करेज्ज, मोहे तिगिच्छाए वा करेज्ज अतो परं तेरसपयाण वहसेसियं वितियपद भण्णति ।

गाहा-

चकम्मणमावडणो, लेवो देहखत असुइ णक्खेसु ।
वणगंडरती अंसिय, भगंदलादीसु रोमाइं ॥ ७९ ॥

चंकमंतो पायणहा उपले खणुगादिसु अ फिडंति पडिलोमो वा भज्जति, हत्थणहा वा भायणलेवं विणासंति, देह शरीर, तत्थ खयं करेज्ज, ताहे लोगो भणेज्ज-एस कामी, अविरयाए से णहपया दिण्णति, पयदोसपरिहरणत्थं छिंदंतो सुद्धो, संठवणं कमेतादिणा घसति । लोगो य भणति-दीहणहंतरे सद्धा चिट्ठति, असुइणो एते । अवि य पायणहेसु दीहेसुं अंतरंतरे रेणू चिट्ठति । तीए चक्खू उवहम्मति अणगडं अरइयंसि भगंदरातिसु रोमा उवधायं करेंति, लवं वा अंतरेति, अतो छिंदंति, संठवेति वा ।

गाहा-

दंताऽऽमय दंतेसु, णगणायं आमया तु णयणेसु ।
भुमया अच्छिणिमित्तं, केसा पुण पव्वयंतस्स ॥ ८० ॥

दंतेसु दंतामयो दंतरोगो, तत्थ दंतवणादिणा आघंसंति, एवं णयणामए वि णयणे धोवति, रयति, फूमति वा, भुमगरोमा वा अनिदीहा अइमहइत्तणेण य अच्छीसु पडंते छिंदति, संठवेति वा, पव्वयंतस्स अनिदीहा केसा लोयं काउं ण सक्कति, सिररोगिणो वा केसे कप्पिज्जंति ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मल्लं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥ ६८ ॥

सेयो प्रस्वेदः, स्वच्छमलच्छिणगलं जल्लो भणति, स एव प्रस्वेदः पंको भण्णति, अण्णो वा जो कद्दमो लग्गो, मलो पुण उत्तरमाणो अच्छी रेणू वा सकृत उव्वट्टणं, पुणो पुणो पव्वट्टण कक्काइणा वा ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥ ६९ ॥

अच्छिमलो दूसिकादि, कण्णमलो कण्णगूधादि, दंतकिणो दंतमलो, णहमलो णहविच्चरेणू णीहरति, अवणेति असेस विसोहणं ।

गाहा-

सेयं वा जल्लं वा, जे भिक्खू णीहरिज्ज कायातो ।
कण्णच्छिदंतणहमल, सो पावति आणमादीणि ॥ ८१ ॥

पढमसुत्तत्थो पुव्वद्धेन, वितियसुत्तत्थो पच्छद्धेण, आणादिया दोसा । आयविराहणा । एतदेवता छलेज्ज, अप्परुत्तीए वा पाउसदोसा भवन्ति, सुत्तेसु य पलिमंथो ।

गाहा-

जल्लो तु होति कमढं, मलो तु हत्थादिघट्टितो सडति ।
पंको पुण सेउल्लो, विक्खेवो वा वि जो लग्गो ॥८२॥

खरंटो उ जो मलो तं कमढं भणति, सेसं कंठं ।

गाहा-

वितियपदमणप्पज्झे, णयणवणे ओसधामए चेव ।
मोहतिगिच्छाए पुण, णीहरमाणे णातिकमति ॥ ८३ ॥

अणप्पज्झो खित्तचित्तादि, सव्वे उव्वट्टणातिपदे करेज्ज, णयणे वा दूसिओवद्धा अच्छि रोगेण वा किंचि अच्छीओ उद्धरियव्व, सरीरे वा धूणो, तस्स अ सासे मलादि फोडिज्जति, मा तेण वणो दुक्खिहिति । अहवा खज्जू दद्दू किडिमं अग्गो वा कोवि ओम, आस ओसहेहिं उव्वट्टिज्जति, मोहतिगिच्छाए वा पुणो विसेसेण अण्णहा मोहो णोवसमति त्ति । एवं विशेषे इत्ति एवं करेंतो धम्मापरिआणं वा णातिक्कमति । नि० चू०३ उ० । (अन्ययूथिकैरात्मन. न पादप्रमार्जना कर्तव्यता 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४६६ पृष्ठे 'अण्णमण्णकिरिया' शब्दे च तस्मिन्नेव भागे ४८० पृष्ठे उक्ता) ( 'कंटयाइउद्धरण' शब्दे तृतीयभागे १६६ पृष्ठे निर्ग्रन्थाना कण्टकोद्धरणं व्याख्यातम्) सुविशुद्धलेश्ये "मेहावी, परकिरियं, च वज्जए नाणी, मण-

सा वयसा काएण।" ( २१ गाथा ) मेधावी मर्यादावर्ती, परस्मै रुग्यादिपदार्थो क्रिया परक्रिया, तां च ज्ञानी विदितवेद्यो, वर्जयेत् परिहरेत् । एतदुक्तं भवति-विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यान्नाऽप्यात्मनः क्रिया पादधावनाऽऽदिकमपि कारयेत् । एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्। तथाहि-औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति,नान्यं गमयति, गच्छन्तमपरं नानुजानीते। एवं वाचा, कायेन च सर्वेऽप्यौदारिके नव नव भेदाः। एवं दिव्येऽपि। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। परसत्कस्य ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मणि, पिं०।

**परकिरियासत्तिक्कय**—परक्रियासप्तैकक—पुं०। परक्रियाप्रतिपादके आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्तैककानां षष्ठे एककेऽध्ययने, स्था० ७ ठा०।

**परक्क**—पराक्य—त्रि०। परकीये, विशे०। "द्वे वाससी प्रवरयोपिदपायशुद्धा, शय्याऽऽसनं करिवरस्तुरगो रथो वा। काले भिषङ् नियमिताऽऽसनमानमात्रा, राज्ञः पराक्यमिव सर्वम वेहि शेषम् ॥ १ ॥" आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

**परकंत**—पराक्रान्त—न०। तपोऽध्ययनयमनियमाऽऽदावनुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

**परक्कम**—पराक्रम—पुं०। परेषामाक्रमः पराक्रमः। परपराजये, परोच्छेदे, आ० म० १ अ०। ते च परे कषायाऽऽदयः। आ० चू० ६ अ०। आचा०। परेषां क्रोधाऽऽदिशत्रूणां क्रमणं विक्षेपणं पराक्रमः। विशे०। वीर्ये, "वीरियं ति वा बल त्ति वा सामत्थं ति वा परक्कमो त्ति वा थामो त्ति वा एगट्ठा।" नि चू० १ उ०। योगः, पराक्रम, स्थाम इत्येते एकार्थाः। पं० सं० ५ द्वार। विशे०। सूत्र०। सामर्थ्ये उत्साहे, चेष्टायाम्, "उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा सत्ती सामत्थं ति य जोगस्स हवंति पज्जाया।" आ० चू० १ अ०। आ० म०। आचा०। साधितस्वाभिमतप्रयोजने पुरुषकारे, सू० प्र० २० पाहु०। निष्पादितस्वविषये अभिमानविशेषे बलवीर्ययोर्व्यापारणे, स्था० ३ ठा० ३ उ०। परेषां वा शत्रूणामाक्रमणं, तत्तस्योन्नतत्वमप्रतिहतत्वेन शोभनविषयत्वेन चेति उन्नतविपर्ययः। सर्वत्र प्रणतत्वभावनीये, स्था० ४ ठा० १ उ०। ज्ञा०। विपा०। नि० चू०। बलं शारीर सामर्थ्यं, वीर्यं जीवशक्ति',तदुभयमपि दर्शनस्य फलं पराक्रम.। वृ० ६ उ०। शत्रुविनाशनशक्तौ, जं० ३ वक्ष०। संयमानुष्ठाने उद्योगे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सामर्थ्ये विवक्षितदेशगमने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

**परक्कमणु**—पराक्रमज्ञ—त्रि०। विवक्षितदेशगमनज्ञे, सामर्थ्यज्ञे, आत्मज्ञे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

**परक्कममाण**—पराक्रममाण—त्रि०। परानिन्द्रियकर्मरिपून् आक्रममाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। नि०।

**परक्कमियव्व**—पराक्रान्तव्य—न०। शक्तिक्षयेऽपि तत्पालने,विधेये उत्साहातिरेके, स्था० ८ ठा०। कर्तव्ये सिद्धिफले, पुरुषत्वाभिमाने, भ० ६ श० ३३ उ०।

**परक्कम्म**—पराक्रम्य—अव्य०। समीपमागत्य शीलस्खनयोग्यतापस्याऽभिपूयेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आसेव्येत्यर्थे, दश० ८ अ०।

**परग**—परग—न०। तृणवनस्पतिभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आचा०। येन तृणविशेषेण पुष्पाग्राणि ग्रथ्यन्ते। आचा० १ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ०।

**परगणिच्चिया**—परगणीया—स्त्री०। परगणसत्कायां निर्ग्रन्थ्याम्,स्था० ५ ठा० २ उ०। परगणे या साध्वी सा परसिस्सिणी परगच्छे णातव्वा परगणिच्चिया। नि० चू० ८ उ०।

**परगरिहंझाण**—परगर्हाध्यान—न०। परस्य गर्हा परसमक्षं दोषोद्घट्टनं, तस्या ध्यानम्। संघसमक्षं दुर्बलिकापुष्पमित्रं गर्हमाणस्य गोष्ठामाहिलस्येव दुर्ध्याने, आतु०।

**परगरिहा**—परगर्हा—स्त्री०। ६ त०। परसमक्षं दोषोद्घट्टने, आतु०।

**परगेह**—परगेह—न०। गृहस्थगृहे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

**परघरप्पवेस**—परगृहप्रवेश—पुं०। गृहान्तरप्रवेशे, ध०र०।

तत्र प्रवेशनिषेधमाह—

संप्रति द्वितीयं परगृहप्रवेशवर्जनरूपं भेदमभिधित्सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह—

**परगिहगमणं पि कलं—कपंकमूलं सुसीलाणं । (३६)**

परगृहगमनमन्यमन्दिरगमनम् अपिशब्द उपरि योक्ष्यते, कलङ्कोऽभ्याख्यानम्। स एव शुद्धस्वरूपस्य पुरुषस्य मलिनत्वोत्पादकत्वात्पङ्क, कर्दमः, तस्य मूलं निबन्धनम्-कलङ्कपङ्कमूलम्,अभ्याख्यानप्राप्तिमूलमित्यर्थः। सुशीलानामपि सुदृढशीलानामपि, धनमित्रस्येव।इत्थं सामाचारी-"सावगो जइ वि चियत्तं तेउरपरधरप्पवेसो वज्जिज्जइ, तहावि तेण एगागिणा असहायएण परगिहे न पविसियव्वं, कज्जे वि परिणयवओ सहाओ घित्तव्वे त्ति।" ध०र० २ अधि० २ लक्ष०। ( अत्र धनमित्रोदाहरणम् 'धणमित्त' शब्दे चतुर्थभागे २६५५ पृष्ठे गतम् )

**परचक्क**—परचक्र—न०। अपरसैन्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०। आव०।

**परचक्करज्ज**—परचक्रराज्य—न०। अपरसैन्यनृपतौ, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

**परचित्तणाण**—परचित्तज्ञान—न०। परचित्तसाक्षात्करणे, "प्रत्यये परचेतस.।" प्रत्यये परकीयचित्ते केनचिन्मुखरागाऽऽदिना लिङ्गेन गृहीते परचेतसो धीर्भवति,तथा संयमवान् सरागस्य चित्तं वीतरागं चेति परचित्तगतान् सर्वानेव धर्मान् जानातीत्यर्थः। तदुक्तम्—"प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।" ( ३-१६ ) "न च सालम्बनं,तस्याविषयीभूतत्वादिति। (३२) लिङ्गाच्चित्तमात्रमवगतं, न तु नीलविषयं पीतविषयं वा तदिति, अज्ञाते आलम्बने संयमस्य कर्तुमशक्यत्वात्तदनवगतिः। सालम्बनचित्तप्रणिधानोत्थसंयमे तु तदवगतिरपि भवत्येवेति भोजः। द्वा० २६ द्वा०।

**परच्छंद**—परच्छन्द—त्रि०। पराभिप्राये, स्था० ४ ठा० ४ उ०। पराधीने, पाइ० ना० १८ गाथा।

परच्छंदाणुवत्तिअ-परच्छन्दाऽनुवृत्तिक-न०। परच्छन्दस्य पराभिप्रायस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तना यत्र तत्परच्छन्दानुवृत्तिकम्। पराभिप्रायजनके, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

परच्छंदाणुवत्तित्त-परच्छन्दानुवर्तित्व-न०। परस्याऽऽराध्यस्य छन्दोऽभिप्रायस्तमनुवर्त्तयतीत्येव शीलः परानुवर्ती, तद्भावः परच्छन्दानुवर्तित्वम्। भ० २५ श० ७ उ०। पराभिप्रायानुवर्तित्वे, स्था० ७ ठा०।

परजोइ (स्)-परज्योतिष्-न०। आत्मरूपे तत्त्वे, द्वा०२४ द्वा०।

परज्झ-देशी-परवशे, रागद्वेषग्रहग्रस्तमानसे, उत्त०४ अ०। परवशीकृते, बृ०४ उ०। परतन्त्रतायाम्, स्था० १० ठा०।

परट्ट-परावर्त्त-पुं०। पुद्गलपरावर्त्ते, कर्म० १ कर्म०।

परट्ठ-परार्थ-पु०। परोपकारे,परेषामुपदेशदानेन सम्यक्त्वादिगुणप्रापणे, ध० ३ अधि०। परनिमित्ते, दश०६ अ०।आचा०।

परट्ठकरण-परार्थकरण-न०। परार्थः परोपकारः परेषामुपदेशदानेन सम्यक्त्वाऽऽदिगुणप्रापणमित्यर्थः, तस्य करणं सम्पादनम्। परेषामुपदेशे, "सापेक्षयतिधर्मोऽयं, परार्थकरणाऽऽदिना। तीर्थप्रवृत्तिहेतुत्वाद्, वर्णितः शिवसौख्यदः॥१॥" ध० ३ अधि०।

परट्ठरसिय-परार्थरसिक-पुं०। परोपकारबद्धचित्ते, द्वा० १५ द्वा०। यो० विं०।

परट्ठाणंतर-परस्थानान्तर-न०। परमाणोर्यत्परस्थाने द्व्यणुकाऽऽदावन्तर्भूतस्यान्तरं चलनव्यवधानं तत्परस्थानान्तरम्। अन्यस्थानाऽन्तर्भूतत्वेन क्रियायाम्, भ० २५ श० ४ उ०।

परट्ठाणसण्णिगास-परस्थानसन्निकर्ष-पुं०। विजातीययोगाऽऽश्रयणे, भ० २५ श० ६ उ०।

परट्ठुज्जय-परार्थोद्यत-त्रि०। परहितकरणोद्यमवति, द्वा० ३१ अष्ट०।

परडड-परडड-न०। दशगुणिनमध्ये, कल्प०१ अधि० ७ क्षण।

परडा-देशी-सर्पविशेषे, दे० ना० ६ वर्ग ५ गाथा।

परणिंदज्झाण-परनिन्दाध्यान-न०। परस्य निन्दा परनिन्दा, तस्या ध्यानम्। कूरगडुकं प्रति क्षपकाणामिव दुर्ध्याने, आतु०।

परणिंदऽप्पुक्करिसविप्पमुक्तत्त-परनिन्दाऽऽत्मोत्कर्षविप्रमुक्तत्व-न०। परगर्हाऽऽत्मप्रशंसाराहित्यरूपे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम०। रा०।

परणिंदा-परनिन्दा-स्त्री०। परेषां गर्हणे, सूत्र०।

साम्प्रतं परनिन्दादोषमधिकृत्याऽऽह-

जे परिभवई परं जणं, संसारे परिवट्टई महं।
अदु इंखिणिया उ पातिया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

(जे परिभवइ इत्यादि) यः कश्चिदविवेकी परिभवत्यवज्ञयति, परं जनमन्यं लोकमात्मव्यतिरिक्तम्, स तत्कृतेन कर्मणा संसारे चतुर्गतिलक्षणे भवोदधौ अरघट्टघटीन्यायेन परिवर्तते भ्रमति,महदत्यर्थं, महान्तं वा कालम्। क्वचित् चिरमिति पाठः। (अदु त्ति) अथशब्दो निपातः, निपातानामनेकार्थत्वात् अत इत्यस्यार्थे वर्तते। यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः (इंखिणिया) परनिन्दा। तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् पापिकैव दोषवत्येव। अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिका। नत्वेह जन्मनि सुकरो दृष्टान्तः। परलोकेऽपि पुरोहितस्यापि श्वाऽऽदिषूत्पत्तिः, (इतिरिति) इत्येवं संख्याय परनिन्दां दोषवतीं ज्ञात्वा मुनिर्जात्यादिभिर्यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः श्रुतवान् तपस्वी भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥२॥ सूत्र०१ श्रु०२ अ०२ उ०।

परणिवाय-परनिपात-पु०। परस्मिन् देशे स्थापने, परनिपातपूर्वनिपातशब्दौ व्याकरणे प्राय उपलभ्येते। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०।

परतंत-परतन्त्र-त्रि०। पराधीनवृत्तौ, विशे०। पराऽऽयत्ते पराभिप्रायगते, व्य० १ उ०।

परतत्त-परतत्त्व-न०। परब्रह्मणि परमाऽऽत्मनि, षो०।

अत्र षोडशकम्। किं पुनस्तत्र ध्याने ध्येयमित्याह-

सर्वजगद्धितमनुपम-मतिशयसन्दोहमृद्धिसंयुक्तम्।
ध्येयं जिनेन्द्ररूपं, सदसि गदत्तत्परं चैव ॥१॥

(सर्वेत्यादि) सर्वजगत्प्राणिलोकोऽभिधीयते, तस्मै हितं, हितकारित्वात्। हितकारित्वं च सदुपदेशदानात्। न विद्यते उपमा शरीरसन्निवेशसौन्दर्याऽऽदिभिर्गुणैर्यस्य तदनुपमम्,अतिशयात् संदुग्धे प्रपूरयति यस्तदतिशयसन्दोहम्। यद्वा-अतिशयसमूहमपश्चिमिनि यावत्। ऋद्धिसंयुक्तम्, ऋद्धयो नानाप्रकारा आमर्षौषध्यादयो ह्यभ्रयस्ताभिः संयुक्तं समन्वितं, ध्येयं ध्यातव्यं,जिनेन्द्ररूपं जिनेन्द्रस्वरूपं,सदसि सभायां समवसरणे,गदद् व्याकुर्वाणं सर्वसत्त्वस्वभाषापरिणामिन्या भाषया,तत्परं चैव तस्माद्रुक्तलक्षणाज्जिनेन्द्ररूपात्परं मुक्तिस्थं धर्मकायावस्थानान्तरभावि तत्त्वकायावस्थास्वभावं, चैव ध्येयं भवति ॥१॥

तथाऽऽद्यं जिनेन्द्ररूपमधिकृत्य कीदृशं तद्ध्येयमित्याह-

सिंहाऽऽसनोपविष्टं, छत्रत्रयकल्पपादपस्याधः।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्तं, देशनया कान्तमत्यन्तम् ॥२॥

(सिंहासनेत्यादि) सिंहोपलक्षितमासनं सिंहाऽऽसनं देवनिर्मितं, तत्रोपविष्टं, सिंहस्य मृगाधिपतेरासनमवस्थानविशेषरूपमूर्जितमनाकुलं च, तेनोपविष्टमिति वा। आतपं छादयतीति छत्रं, तेषां त्रयमुपर्युपरिष्टात्, कल्पपादपः कल्पद्रुमः, छत्रत्रयं च कल्पपादपश्च, तस्याऽधोऽवस्तात्, सत्त्वाः प्राणिनस्तेषामर्थ उपकारस्तस्मिन्, सम्यक् प्रवृत्तं स्वगतपरिश्रमपरिहारेण, देशनया धर्मकथया कान्तं कमनीयं मनोज्ञमत्यन्तमतिशयेन ध्येयमिति सम्बन्धः ॥२॥

पुनरपि कीदृक् तद्रूपमित्याह-

आधीनां परमौषध-मव्याहतमखिलसंपदां बीजम्।
चक्राऽऽदिलक्षणयुतं, सर्वोत्तमपुण्यनिर्माणम् ॥३॥

(आधीनामित्यादि) आधीनां शारीरमानसानां पीडाविशेषाणां, परमौषधं प्रधानौषधकल्पं, तदपनेतृत्वेनाव्याहतमनुपहतम्, अखिलसम्पदां सर्वसम्पत्तीनां, बीजं कारणं, चक्राऽऽदीनि यानि लक्षणानि चक्रस्वस्तिककमलकुलिशाऽऽदीनि, तैर्युतं समन्वितं, सर्वोत्तमं च तत् पुण्यं च निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणं सर्वोत्तमं पुण्यनिर्माणं यस्येति सर्वोत्तमपुण्यनिर्मितमित्यर्थः ॥३॥

तदेव विशिनष्टि-

**निर्वाणसाधनं भुवि, भव्यानामग्र्यमतुलमाहात्म्यम् ।**
**सुरसिद्धयोगिवन्द्यं, वरेण्यशब्दाऽभिधेयं च ॥ ४ ॥**

( निर्वाणेत्यादि ) निर्वाणसाधनं परमपदप्रापकं सुखसाधनं वा भुवि पृथिव्यां,भव्यानां योग्यानामग्र्यं प्रधानम् अतुलमाहात्म्यमसाधारणप्रभावं,सुरा देवाः सिद्धा विद्यामन्त्रसिद्धाऽऽदयो योगिनो योगवलसंपन्नाः,तैर्वन्द्यं वन्दनीयं स्तुत्यं, वरेण्यशब्देनाभिधेयं वाच्यं वरेण्यशब्दाभिधेयं च, जिनेन्द्ररूपं ध्येयमित्यभिसंबध्यते ॥ ४ ॥

एवमाद्यं सालम्बनध्यानमभिधाय तत्फलमभिधित्सुराह-

**परिणत एतस्मिन् सति,सद्ध्याने क्षीणकिल्बिषो जीवः ।**
**निर्वाणपदाऽऽसन्नः, शुक्लाऽऽभोगो विगतमोहः ॥ ५ ॥**

( परिणत इत्यादि ) परिणते सात्मीभूते एतस्मिन् सति प्रस्तुते, सद्ध्याने शोभनध्याने, क्षीणकिल्बिषः क्षीणपापो, जीव आत्मा,निर्वाणपदस्याऽऽसन्नः प्रत्यासत्तिमान्, शुक्लाऽऽभोगः शुक्लज्ञानोपयोगो, विगतमोहोऽपगतमोहनीयः ॥ ५ ॥

**चरमावञ्चकयोगा-त्प्रातिभसंजाततत्त्वसंदृष्टिः ।**
**इदमपरं तत्त्वं तद्, यद्वशतस्त्वस्त्यतोऽप्यन्यत् ॥ ६ ॥**

( चरमेत्यादि ) चरमावञ्चकयोगात् फलावञ्चकयोगात् प्रागुक्तात् प्रतिभा मतिस्तत्र भवं प्रातिभं, प्रतिभैव वा प्रातिभं, तेन संजाता तत्त्वसंदृष्टिस्तत्त्वसंदर्शनं यस्य स प्रातिभसंजाततत्त्वसंदृष्टिः,परिणत एतस्मिन् भवतीत्यवसेयम् । इदमिति प्रत्यक्षीकृतं सालम्बनध्यानद्वारेण जिनेन्द्ररूपम्, अपरमर्वाग्भागवर्ति परस्मादन्यत्,तत्त्वं परमार्थरूपं, ध्येयं तद्वर्त्तते । यद्वशतस्तु यद्वशादेव, यत्सामर्थ्यादपरतत्त्वसामर्थ्यादित्यर्थः । अस्ति भवत्यतोऽप्यपरतत्त्वादन्यत्परतत्त्वं मुक्तिस्थम् । इदमुक्तं भवति-सर्वस्याऽपि ध्यानपरस्य योगिनोऽपरतत्त्ववशात्परं तत्त्वमाविर्भवतीति ॥ ६ ॥

कस्मात्पुनः परं तत्त्वमेव संस्तूयत इत्याह-

**तस्मिन् दृष्टे दृष्टं, तद्भूतं तत्परं मतं ब्रह्म ।**
**तद्योगादस्याऽपि, ह्येषा त्रैलोक्यसुन्दरता ॥ ७ ॥**

(तस्मिन्नित्यादि) तस्मिन्परतत्त्वे सिद्धस्वरूपे, दृष्टे समुपलब्धे, दृष्टं सर्वमेव वस्तु भवति,जीवाऽऽद्यमूर्त्तवस्त्वालम्बनस्य बोधस्य सर्वविषयत्वात् । तद्भूतं तदेव सिद्धस्वरूपं भूतं सत्यं संसारिजीवस्वरूपस्य ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्माऽऽवृतस्य सद्भूतत्वावियोगात् । कर्ममलमलिनस्य ह्यात्मनो न भूतं रूपमुपलभ्यते,तद्विकारैरुपप्लूयमाणत्वात्,सिद्धस्वरूपस्य तु निरुपद्रवत्वात् भूतमेव स्वरूपं सर्वदा समुपलभ्यते,नेतरत्,तदेव परमात्मस्वरूपं,परं प्रकृष्टं मतमभिप्रेतं, ब्रह्म महत्,बृहत्तमं न ततोऽन्यदस्ति, तद्योगात् परतत्त्वयोगात् , अस्याऽपि हि परतत्त्वविषयध्यानविशेषस्यानालम्बनयोगस्य, एषा लोके लोकोत्तरे च प्रसिद्धा, त्रैलोक्यसुन्दरता त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्नपि जगति विशेषवस्तुनः सुन्दरता शोभनता ॥ ७ ॥

कः पुनर्निरालम्बनयोगः कियन्तं कालं भवतीत्याह-

**सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिदृक्षेत्यसङ्गशक्त्याढ्या ।**
**साऽनालम्बनयोगः, प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् ॥ ८ ॥**

सामर्थ्ययोगतः शास्त्रोक्तत्वात् क्षपकश्रेणीद्वितीयाऽपूर्वकरणभाविनः सकाशात् । सामर्थ्ययोगस्वरूपं चेदम्-" शास्त्रसन्दर्शितोपाय-स्तदतिक्रान्तगोचरः । शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याऽऽख्योऽयमुत्तमः ॥१॥ " या तत्र परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा, इत्येवंस्वरूपाऽसङ्गा चाऽसौ शक्तिश्च निरभिष्वङ्गाऽनवरतप्रवृत्तिस्तयाऽऽढ्या परिपूर्णा दिदृक्षा,। सा परमाऽऽत्मविषयदर्शनेच्छा, अनालम्बनयोगः प्रोक्तस्तद्वेदिभिस्तस्य परतत्त्वस्य दर्शनमुपलम्भस्तद्यावत् । परमात्मस्वरूपदर्शने तु केवलज्ञानेन अनालम्बनयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् ॥ ८ ॥

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह--

**तत्राऽप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र ।**
**सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥ ९ ॥**

तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽलब्धप्रतिष्ठः ,अयमनालम्बनो,यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तत्त्वतो वस्तुतस्तत्र परतत्त्वे, सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागनन्तरवर्त्ती, तेन कारणेनानाऽलम्बनो, गीतः कथितः ॥ ९ ॥

किं पुनरनालम्बनाद्भवतीत्याह--

**द्रागस्मात्तद्दर्शन-मिषुपातज्ञातमात्रतो ज्ञेयम् ।**
**एतच्च केवलं तज्-ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥**

(द्रागित्यादि) द्राक् शीघ्रमस्मात्प्रस्तुतादनालम्बनात्, तद्दर्शनं परतत्त्वदर्शनमिषोः पातस्तद्विषयं ज्ञातमुदाहरणं तन्मात्रादिषुपातज्ञातमात्रतो, ज्ञेयं दर्शनम् । एतच्च परतत्त्वदर्शनं, केवलं संपूर्णं,तदिति तत्प्रसिद्धं,ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्तत्केवलज्ञानं, परं प्रकृष्टं, ज्योतिः प्रकाशरूपम् । इषुपातोदाहरणं च,यथा-केनचिद् धनुर्द्धरेण लक्ष्याभिमुखे बाणे तदविसंवादिनि प्रकल्पिते यावत्तस्य बाणस्य न विमोचनं तावत्तत्प्रगुणतामात्रेण तदविसंवादित्वेन च समानोऽनालम्बनो योगो, यदा तु तस्य बाणस्य विमोचनं लक्ष्याविसंवादिपतनमात्रादेव लक्ष्यवेधकं तदाऽऽलम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः सालम्बनः केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यमङ्गीकृत्य निदर्शनम् ॥ १० ॥

कीदृशं पुनस्तत्केवलज्ञानमित्याह-

**आत्मस्थं त्रैलोक्य-प्रकाशकं निष्क्रियं परानन्दम् ।**
**तीताऽऽदिपरिच्छेदक-मलं ध्रुवं चेति समयज्ञाः ॥११॥**

( आत्मस्थमित्यादि ) आत्मनि तिष्ठतीत्यात्मस्थं जीवस्थं सत् त्रैलोक्यस्य त्रिलोकीव्यवस्थितस्य ज्ञेयस्य जीवाजीवस्वरूपस्य, प्रकाशकमवबोधकमात्मनः परेषां च पदार्थानां स्वरूपज्ञापकं वा, निष्क्रियं गमनाऽऽदिक्रियारहितं, परः आनन्दोऽस्मिन्निति परानन्दम् । पाठान्तरं वा-परैरानन्द्यमभिनन्दनीयं तत्प्राप्त्यर्थिभिः श्लाघनीयं,रोचनीयमिति यावत् । तीताऽऽदिपरिच्छेदकम् अतीतशब्दस्यार्थेऽतीतशब्दो वर्त्तते, सिद्धविनिश्चयाऽऽदिग्रन्थेषु दर्शनात् । इताऽऽदिपरिच्छेदकं वा,इतं गतमतिक्रान्तम् अतीतवर्त्तमानानागतानां कालत्रयविषयाणां पदार्थानां,परिच्छेदकं परिच्छेत्तृ,ज्ञातृस्वभावम्,अलं समर्थं,ध्रुवं चेति शाश्वतं चेति,समयज्ञा आगमज्ञा इत्थमभिदधति । कथं पुनरतीताऽऽदिपरिच्छेदकत्वं केवलज्ञानस्य यावताऽतीतानागतयोर्विचार्यमाणयोर्वस्तुत्वमेव न घटां प्राञ्चति, विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वादसतश्च ज्ञानविषयत्वविरोधादिति । अत्रोच्यते-न वर्त्तमानकालविषयैकपर्यायप्रतिबद्धस्वभावं वस्तु,तस्य क्षणमात्रवृत्तित्वा-

त्र । वस्तुनस्तु सकलातीतानागतनानाद्यनन्तपर्यायराशिसमनुगते- काऽऽकाररूपत्वात्,तत्र च वर्त्तमानपर्यायवत् खलक्षणप्राविना- मतीतानागतपर्यायाणामपि प्रमाणेनोपलब्धेर्वस्तुसत्त्वाऽन्यथा स्मृत्याविज्ञानविषयत्वमतीताऽऽदिपर्यायाणां न भवेत्, दृश्यते च तस्मात्तेऽपि वस्तुसन्तः, तैर्विना वस्तुन एवाखाकारूपस्याभ- वत्वात्तेषां सद्रूपत्वात्तद्विषयं ज्ञानं परिच्छेद्यत्वेन सम्भवती- ति निरवद्यम् ॥ ११ ॥

एवं केवलज्ञानस्वरूपमभिधाय परतत्त्वयोजनायाऽऽह-

**एतद्योगफलं तत्, परापरं दृश्यते परमनेन ।**
**तत्तत्त्वं यद् दृष्ट्वा, निवर्तते दर्शनाऽऽकाङ्क्षा ॥ १२ ॥**

( एतदित्यादि ) एतत्प्रस्तुतं केवलज्ञानं, तद्योगफलं परापर- परयोगस्यापरयोगस्य च फलभूतं,नान्यद् दृश्यते समुपलभ्यते साक्षात्परमनेन केवलज्ञानेन तत्तत्त्वं परमात्मस्वरूपं यद् दृष्ट्वा यत्सिद्धस्वरूपमुपलभ्य, निवर्त्तते व्यावर्त्तते,दर्शनाऽऽकाङ्क्षा द- र्शनवाञ्छा, सर्वस्य वस्तुनो दृष्टत्वात् ॥ १२ ॥

अधुना परतत्त्वमेव स्वरूपेण कारिकाचतुष्टयेन निरूपयन्निद- माह-

**तनुकरणाऽऽदिविरहितं, तच्चाचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम् ।**
**त्रैलोक्यमस्तकस्थं, निवृत्तजन्माऽऽदिसंक्लेशम् ॥ १३ ॥**

( तनुकरणेत्यादि ) तनुः शरीरं, करणं द्विधा-अन्तःकरणं, बहिष्करणं च । अन्तःकरणं मनो बहिष्करणं पञ्चेन्द्रियाण्या- दिशब्दाद् योगाध्यवसायस्थानपरिग्रहस्तैर्विरहितं वियुक्तं, तच्च परं तत्त्वमचिन्त्यो गुणसमुदयो ज्ञानाऽऽदिसमुदयो यस्य तद- चिन्त्यगुणसमुदयं,सूक्ष्मं सूक्ष्मस्वभावमदृश्यत्वात्केवलविरहेण त्रैलोक्यस्य मस्तकं सर्वोपरिवर्त्ती सिद्धिक्षेत्रविभागः,तस्मिंस्ति- ष्ठतीति त्रैलोक्यमस्तकस्थं, निवृत्ता जन्माऽऽदयः सक्लेशा य- स्मात्तन्निवृत्तजन्माऽऽदिसंक्लेशम् ॥ १३ ॥

**ज्योतिः परं परस्ता-त्तमसो यद् गीयते महामुनिभिः ।**
**आदित्यवर्णममलं, ब्रह्माऽऽद्यैरक्षरं ब्रह्म ॥ १४ ॥**

( ज्योतिरित्यादि ) ज्योतिः प्रकाशस्वभावं प्रधानं परस्तात्त- मसो द्रव्यभावरूपादन्धकारात् यद्गीयते यत्सशब्द्यते, म- हामुनिभिर्ज्ञानसपन्नैः, आदित्यवर्णममलं निदर्शनमात्राङ्गीकर- णेन भास्वररूपं,न पुनः परमार्थतस्तस्य पुद्गलाऽऽत्मकः परिणामो- ऽस्ति,ब्रह्माऽऽद्यैरिति विशेष्यपदं, महामुनिभिरित्यनेनाभिसबध्य- ते । न क्षरतीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रच्यवत इति कृत्वाऽक्षरं परं तत्त्वं,तथा ब्रह्म महत् " बृहत्वाद्बृंहकत्वाच्च,ब्रह्मेति परिकी- र्त्तितम् ।"इत्यभिधानात् । अथवाऽक्षरं ब्रह्म तत् परं तत्त्वम् ॥१४॥

**नित्यं प्रकृतिवियुक्तं, लोकालोकावलोकनाऽऽभोगम् ॥**
**स्तिमिततरङ्गोदधिसम-मवर्णमस्पर्शमगुरुलघु ॥१५॥**

(नित्यमित्यादि) नित्यं ध्रुवं, प्रकृतिवियुक्तं स्वनन्त्रपरिभाषया सकलज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिमूलोत्तरभेदप्रकृतिवियुक्तं,परतन्त्रप- रिभाषया सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरित्यनया वि- युक्तं, सांसारिकसर्वप्रकारैर्वा लोकालोकयोः समयप्रसिद्धयो- रवलोकनं आभोग उपयोगोऽस्येति लोकालोकावलोकनाऽऽ- भोगं स्तिमिततरङ्गश्चासावुदधिश्च तेन समं निस्तरङ्गमहो- दधिकल्पं, न विद्यते वर्णः पञ्चविधः सिताऽऽदिरस्येत्यवर्णं, न विद्यते स्पर्शोऽष्टप्रकारो मृदुकर्कशाऽऽदिरस्येत्यस्पर्शं,न विद्येते गुरुलघुनी यस्मिंस्तत्तथाऽगुरुलघुपरिणामोपेतममूर्त्तद्रव्यत्वा- दगुरुलघु परं तत्त्वम् ।

**सर्वाऽऽबाधारहितं, परमाऽऽनन्दसुखसङ्गतमसङ्गम् ।**
**निःशेषकलातीतं, सदाशिवाऽऽद्यादिपदवाच्यम् ॥१६॥**

(सर्वेत्यादि) सर्वाऽऽबाधारहितं शारीरमानसाऽऽबाधावियुक्तं, परमः आनन्दो यस्मिन् सुखे तेन सङ्गतं युक्तमनेन परपरिक- ल्पितनिःसुखदुःखमोक्षव्यवच्छेदमाह । न विद्यते सङ्गो यस्मि- न्नित्यसङ्गमसङ्गतायुक्तम् । तल्लक्षणं चेदम्-"भये च हर्षे च मते- रविक्रिया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च निर्विकारता । स्तुतौ च नि- न्दासु च तुल्यशीलता वदन्ति ता तत्त्वविदोऽसङ्गताम् ॥१॥" निःशेषा याः कलास्ताभ्योऽतीतं तथाभव्यत्वाऽऽत्मस्वभावचु- तांशातिक्रान्तं भव्यत्वासिद्धत्वयोगसहवर्तिक्षायिकचारित्राऽऽ- यत्तनावात् । सदा शिवमस्येति सदाशिवं, न हि परतत्त्वमशिवं कदाचिद्भवति । आद्यो भवमाद्यं प्रधानं सन्तत्या अनादिकाल- माश्रित्याऽऽदिभावेनावस्थितं वा । आदिशब्दाशिरञ्जनाऽऽदि- ग्रहः । सदाशिवाऽऽद्यादिभिः पदैर्वाच्यमभिधेयं परं तत्त्वं सर्व- त्राऽभिसबन्धनीयम् ॥ १६ ॥ षो० १५ विव० ।

**परतत्तवावड**-परतत्त्वव्यापृत-त्रि० । परकृत्यचिन्तनाद्यणिकेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**परतत्ति**-परतप्ति-स्त्री० । परकृत्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**परतत्तिपवित्त**-परतप्तिप्रवृत्त-त्रि० । गृहस्थप्रयोजनेषु करणका- रणानुमतिभिः प्रवृत्ते, व्य० १ उ० । आव० ।

**परतारग**-परतारक-पुं० । परं तारयन्तीति परतारकाः । तप कर्त्तुं- मसमर्थेषु आचार्याऽऽदीनां वैयावृत्त्यकारकेषु, व्य० १ उ० ।

**परतित्थिय**-परतीर्थिक-पुं० । कपिलकणभक्षाक्षपादसुगताऽऽ- दिमतावलम्बिषु अन्ययूथिकेषु, न० । सूत्र० । स्था० । (मिश्रपक्षो धर्माधर्मसमाश्रयणेन,अनयोरन्तर्वर्त्ती भवतीति 'मिस्स' शब्दा- द्वगन्तव्यम् ) ( परतीर्थिकाणां सर्वा वक्तव्यता ' अण्णउ- त्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४४५ पृष्ठादारभ्योक्ता )

**एते जिया भो न सरणं, बाला पंडियमाणिणो ।**
**हिचा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा ॥ १ ॥**

(एत इति) पञ्चभूतैकाऽऽत्मतज्जीवतच्छरीराऽऽदिवादिनः कृ- तवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणश्च त्रैराशिकाश्च जिता अ- भिभूता रागद्वेषाऽऽदिभिः ,शब्दाऽऽदिविषयैश्च,तथा प्रबलमहा- मोहोत्थज्ञानेन च । भो इति विनेयाऽऽमन्त्रणम् । एवं त्वं गृ- हाण-यथैते तीर्थिका असम्यगुपदेशप्रवृत्तत्वान्न कस्यचिच्छरणं भवितुमर्हन्ति, न कथञ्चित्त्रातुं समर्था इत्यर्थः । किमित्येवं ?- यतस्ते बाला इव बालाः । यथा शिशवः सदसद्विवेकवैक- ल्याद्यत्किञ्चनकारिणो भाषिणश्च, तथैतेऽपि स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति । एवंभूता अपि च सन्तः पण्डितमानिन इति । क्वचित्पाठः-" जत्थ बालोऽवसीयइ त्ति । " यत्राज्ञाने बालोऽज्ञो सन् सम्यवसीदति तत्र ते व्यवस्थिता , यतस्ते न कस्यचित्त्राणायेति । यच्च तैर्विरूपमाचरितं तदुपसंहारेन दर्श- यति-हित्वा त्यक्त्वा, णमिति वाक्यालङ्कारे, पूर्वसंयोगो धन- धान्यस्वजनाऽऽदिभिः सयोगस्तं त्यक्त्वा किञ्च वयं निःसङ्गाः

प्रव्रजिता इत्युत्थाय पुनः सिना वद्धाः परिग्रहेच्छाऽऽरम्भेष्वासक्ताः, ते गृहस्थास्तेषां कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणाऽऽदिको भूतोपमर्दकारी व्यापारः, तस्योपदेशः, त गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः;कृत्योपदेशका वा । यदि वा-( सिया इति ) आर्षत्वाद्बहुवचनेन व्याख्यायते-स्युर्भवेयुः, कृत्य कर्तव्य साधद्यानुष्ठान, तत्प्रधानाः कृत्या गृहस्थाः,तेषामुपदेशः सरम्भसमारम्भाऽऽरम्भरूपः स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः प्रव्रजिता अपि सन्त. कर्तव्यैर्गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पञ्चसूनाव्यापारोपेता इत्यर्थ ॥ १ ॥

एवंभूतेषु च तीर्थिकेषु सत्सु भिक्षुणा यत्कर्तव्य तद्दर्शयितुमाह-

**तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तेसु ण मुच्छए ।**
**अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ॥ २ ॥**

( तं च भिक्खू इत्यादि ) त पाखण्डिलोकमसदुपदेशदानामिरत परिज्ञाय सम्यगवगम्य-यथैते मिथ्यात्वोपहतान्तराऽऽत्मानः सद्विवेकशून्या नाऽऽत्मने हितायाऽन्यस्मै इत्येव पर्यालोच्य, भावभिक्षुः संयतो विद्वान् विदितवेद्यस्तेषु न मूर्च्छयेत् न गार्ध्यं विदध्यात्, न तैः सह सपर्कमपि कुर्यादित्यर्थः । किं पुनः कर्तव्यमिति पश्चार्धेन दर्शयति-अनुत्कर्षवानित्यष्टमदस्थानानामन्यतमेनाऽप्युत्सेकमकुर्वन् । तथा-अप्रलीनोऽसम्बद्धस्तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थाऽऽदिषु वा सश्लेषमकुर्वन् मध्येन रागद्वेषयोरन्तरालेन संचरन् मुनिर्जगत्त्रयवेदी, यापयेदात्मान वर्तयेत् । इदमुक्तं भवति-तीर्थिकाऽऽदिभिः सह सत्यपि कथञ्चित्सम्बन्धे त्यक्ताहङ्कारेण तथाभावतस्तेष्वप्रलीयमानेनारक्तद्विष्टेन तेषु निन्दामात्मनश्च प्रशंसां परिहरता मुनिनाऽऽत्मा यापयितव्य इति ॥ २ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ( अन्यतीर्थिकाः सारम्भाः, तस्मात्त्राणाय न स्युरिति ' आरम्भ ' शब्दे द्वितीयभागे ३७० पृष्ठे गतम् )

परत्त-परत्व-न० । इदमस्मात्परमिति प्रत्ययहेतौ नैयायिकसमतगुणभेदे, सम्म० । इद परम, इदमपरमिति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतस्तद् यथाक्रम परत्वमपरत्व च सिद्धम् । प्रयोगश्चात्र-योऽय परमपरमिति च प्रत्ययः स घटाऽऽदिव्यतिरिक्तार्थान्तरनिबन्धनः,तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, सुखाऽऽदिप्रत्ययवत् । तथा हि-एकस्यां दिशि स्थितयोः पिण्डयो परमपरमिति च प्रत्ययोत्पत्तेर्न तावदय युक्तयोः परमपरमिति च प्रत्ययो देशनिबन्धनो, नाप्यय कालनिबन्धन ,तदविशेषेऽपि प्रत्ययविशेषात् । न चान्यदस्य निबन्धनमभिधातु शक्य, तस्मात्तन्निबन्धनोऽय प्रत्ययस्तत्परत्वमपरत्वं चाभ्युपगन्तव्यम् । एतच्च द्वितयमपि दिक्कृत, कालकृत च । दिक्कृतस्य तावदियमुत्पत्तिः-एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरेकस्य द्रष्टु सन्निकृष्टमवधिं कृत्वैतस्माद्विप्रकृष्टोऽयमिति परत्वाऽऽधारे बुद्धिरुत्पद्यते,ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, विप्रकृष्ट चावधिं कृत्वैतस्मात्सन्निकृष्टोऽयमित्यपरत्वाऽऽधारे बुद्धिरुत्पद्यते, तामपेक्ष्यापरेण दिक्प्रदेशेन योगादपरत्वस्योत्पत्तिः । कालकृतयोस्त्वयमुत्पत्तिक्रमः । तथाहि-वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयोर्मध्ये यस्य वलीपलितश्मश्रुनाऽऽदिनाऽनुमितमादित्योदयानां भूयस्त्व । तत्रैकस्य द्रष्टुर्युवा, तमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते, तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेन योगात्परत्वस्योत्पत्तिः । स्थविर चावधिं कृत्वा यस्याऽऽरूढश्मश्रुनाऽऽदिनाऽनुमितमादित्योदयानामल्पत्वम् । तत्र यूनि सन्निकृष्टबुद्धिरुत्पद्यते,तामपेक्ष्य परेण कालप्रदेशेन योगादपरस्येोत्पत्तिरिति । अत्र परत्वापरत्वसाधनमनैकान्तिक, साध्यविपक्षेऽपि हेतोर्वृत्तेः । तथाहि-यथा क्रमेणोत्पादाद्यौगपद्याऽऽदिषु कालोपाधिक्रमेण च व्यवस्थानाद्, दिगुपाधिश्च परं नीलमपर चेति प्रत्ययोत्पत्तिरसत्यपि परत्वापरत्वलक्षणे, गुणानां निर्गुणत्वात् तथा रूपाऽऽदिष्वपि भविष्यतीति । गुणार्थान्तरनिमित्तत्वमात्रं परेणह साधयितुमिष्टं,तदा कथ नानैकान्तिकता हेतो । अथ नित्यदिक्कालपदार्थहेतुगुणविशेषनिबन्धनत्व प्रकृतप्रत्ययस्य,तदा दृष्टान्ताभावोऽनुमानबाधा च प्रतिज्ञाया । तथाहि-यः परापरादिप्रत्यय' स परपरिकल्पितगुणरहितार्थमात्रकृतक्रमोत्पादनिबन्धनः, परापरप्रत्ययत्वात् रूपादिषु परापरप्रत्ययवत्,परापरप्रत्ययश्चाय घटादिष्विति स्वभावहेतुः न च नीलादिकेष्वेकार्थसमवायादुपचरितोऽय परत्वाऽऽदिप्रत्यय इत्यनैकान्तिकता भवत्प्रयुक्तस्याऽपि हेतोः पारम्पर्येण । न च नीलाऽऽदिष्वपि परत्वाऽऽदेर्निमित्ताभावोपगमात् साध्यविकलता दृष्टान्तस्येति वक्तव्यम्, अस्खलद्वृत्तित्वेनास्योपचरितत्वाभावात्, स्वाश्रयेऽपि च तयोरुपलब्ध्यभावात् न तद्बलेन प्रत्ययो युक्त इति कुतो रूपाऽऽदिषु तन्निबन्धनतो भविष्यति,सुखाऽऽदिषु वा पूर्वोत्तरकालभाविषु तन्निबन्धनोऽय भवेत्,तत्रैकार्थसमवायाऽऽदिस्तन्निबन्धनस्याभावात् । किं च-दिक्कालयोः पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वात् तद्धेतुकयोः परत्वापरत्वयोरभाव इति कुतस्तन्निमित्तत्वाऽऽशङ्का, यतो हेतोरनैकान्तिकता स्यात् । न च परमार्थतो दिक्कालयोः प्रदेशाः सन्ति,यतस्तत्संयोगादपेक्षाबुद्धिसहिताद्युत्पत्तिस्तयोर्भवेत्, दिक्कालयोरेकाऽऽत्मकत्वेन निरवयवत्वात् । न चाऽर्थक्रियानिबन्ध उपचरितोऽवयवभेदो युक्तः, यथोक्तार्थक्रियावस्तुस्वभावप्रतिषिद्धत्वादुपचारस्य चापारमार्थिकत्वात्, तत् कुतोऽनैकान्तिकता प्रकृतहेतोः । सम्म० ३ काण्ड ।

परतीर-परतीर-न० । पारे, पाइ० ना० २२६ गाथा ।

परत्थ-परत्र-अव्य० । जन्मान्तरे इत्यर्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । विशे० । उत्त० । सूत्र० ।

परार्थ-पु० । परो मोक्षस्तदर्थः । आ० चू० १ अ० । मोक्षार्थे, विशे० ।

परत्थकरण-परार्थकरण-न० । परस्यार्थे उपकारस्तत्करणम् । परोपकारकरणे, षो० ।

परार्थकरणमाह-

**विहितानुष्ठानपर-स्य तत्त्वतो योगशुद्धिसचिवस्य ।**
**भिक्षाऽटनाऽऽदि सर्वं, परार्थकरणं, यतेर्ज्ञेयम् ॥ ५ ॥**

( विहितेत्यादि ) विहितानुष्ठानपरस्य शास्त्रविहिताऽऽसेवनपरस्य, तत्त्वत परमार्थेन,योगशुद्धिसचिवस्य मनोवाक्कायविशुद्धिसहितस्य, भिक्षाऽटनाऽऽदि भिक्षाऽटनवस्त्रपात्रैषणाऽऽदि, सर्वमनुष्ठानं, परार्थकरणं परोपकारकरणं, यतेः साधोर्ज्ञेयं ज्ञातव्यम् भवत्याहारवस्त्रपात्राऽऽदि यतिना गृह्यमाणस्य दातॄणां पुण्यबन्धनिमित्तत्वात्तस्य च साधुहेतुकत्वादिति ॥ ५ ॥ षो० १३ विव० । ध० ।

परत्थका-परार्थता-स्त्री० । परप्रत्यायकत्वे, विशे० ।

**परत्थकामोवभोगि ( ण् )**-परत्रकामोपभोगिन्-त्रि० । विरक्त्याऽस्वार्थं कामभोगेषु प्रवृत्तिमति, ध० र० ।
सम्प्रति परार्थकामोपभोगीति षोडशं भेदमभिधित्सुराह-

संसारविरत्तमणो, भोगुवभोगो न तित्तिहेउ त्ति ।
नाउं पराणुरोहा, पवत्तए कामभोगेसु ॥ ७५ ॥

संसारोऽनेकदुःखाऽऽश्रयोऽयम् यतः-
" दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनु स्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्याः! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥१॥
इति । तस्माद्विरक्तमनाः । अपी भोगा -" सइ भुज्जइ त्ति भोगो,
सो पुण आहारपुप्फमाईओ । उवभोगो य पुणो पुण, उवभुज्जइ
भवणविलयाइ ॥ १ ॥ " इत्येवमागमप्रनीतास्ते न तृप्तिहेतवो
भवन्ति प्राणिनामिति ज्ञात्वाऽवधार्य्य परानुरोधादन्यजनदाक्षिण्याऽऽदिना प्रवर्तते कामेषु शब्दरूपेषु भोगेषु गन्धरसस्पर्शेषु भावश्रावक, पृथिवीचन्द्रनरेन्द्रवत् । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० । ( तत्कथा ' पुहवीचंद ' शब्दे वक्ष्यते )

**परत्थकारि ( ण् )**-परार्थकारिन्-त्रि० । परोपकारकरणैकशीले, षो० १३ विव० ।

**परत्थणियय**-परार्थनियत-त्रि० । परोपकारनियतवृत्तौ, षो० १४ विव० ।

**परदत्तभोइ ( ण् )**-परदत्तभोजिन-पुं० । परैर्गृहस्थैरात्मार्थं निर्वर्तितमाहारजातं तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । स्वतः पचनपाचनाऽऽदिक्रियारहितत्वात् गृहस्थैः स्वार्थं निष्पाद्य दत्तस्याऽऽहारस्य भोजिनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० ।

**परदव्व**-परद्रव्य-न० । परकीयद्रव्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। सूत्र० ।

**परदव्वहर**-परद्रव्यहर-पुं० । परस्वामिकद्रव्यहारके चौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

**परदार**-परदार-पुं० । " परदारस्स य ।" ( १५ गाथा ) परे आत्मव्यतिरिक्ताः पुरुषास्तथा मनुष्यजात्यपेक्षया देवास्तिर्यञ्चश्च, तेषां दारा परिणीतसंगृहीतभेदानि कलत्राणि देव्यः तिरश्च्यश्चेति परदाराः । परकलत्रेषु, यद्यपि अपरिगृहीतदेव्यस्तिरश्च्यश्च काश्चित्संग्रहीतुः परिणेतुश्चाभावाद् वेश्याकल्पा भवन्ति, तथाऽपि प्रायः परजातीयभोग्यत्वात्परदारा एव ताः । पञ्चा० १ विव० । आतु० ।

**परदारगमण**-परदारगमन-न० । आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परः, तस्य दाराः कलत्रम् परदारास्तत्र गमनम् । परकलत्राऽऽसेवायाम्, आव० ।

परदारगमणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ । से अ परदारगमणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा-ओरालिअपरदारगमणे, वेउव्विअपरदारगमणे अ ।

आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परः, तस्य दाराः -कलत्रं परदाराः, तत्र गमनं परदारगमनं, गमनमासेवनारूपतया दृष्टव्यम् । स श्रमणोपासकः, प्रत्याख्यातीति पूर्ववत् । स्वकीया दाराः स्वकलत्रमित्यर्थः । तेषु वा सन्तोषः स्वदारसन्तोषस्तं वा प्रतिपद्यते । इयमत्र भावना-परदारगमनप्रत्याख्याता यास्वेव परदारशब्दः प्रवर्तते ताभ्य एव निवर्तते, स्वदारसन्तुष्टस्त्वेकानेकस्वदारव्यतिरिक्ताभ्यः सर्वाभ्य एवेति । 'से' शब्दः पूर्ववत्, तच्च परदारगमनं द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथेति पूर्ववत् । औदारिकपरदारगमनं स्त्र्यादिगमनं, वैक्रियपरदारगमनं देवाङ्गनागमनम् । " तत्थ चउत्थे अणुव्वए सामन्नेण अनियत्तस्स दोसा मातरमवि गच्छेज्जा । उदाहरणं-गिरिणगरे तिन्नि वयंसियाओ, ताओ उज्जेतं गयाओ, चोरेहिं गहिताओ, नेतुं पारसकूले विक्कियाओ, ताण पुत्ता डहरगा घरेसु उज्झियगा, ते वि मित्ता जाया, माउसिगेहेण वाणिजेणं गया पारसकूलं, ताओ य गणियाओ सहदेसियाओ त्ति भाडिं देंति, ते वि संपत्तीए सयाहिं गया, एगो सावगो ताहिं अप्पप्पणियाहिं मातमासियाहिं समं वुच्छा । सड्ढो नेच्छति, महिला अणिच्छंतं नाउं तुरिहक्का अत्थइ । सड्ढो भणइ-कओ तुब्भे आणीया ? । ताए सिट्ठं । तेण भणियं-अम्हे चेव ते तुब्भ पुत्ता, इयरेसिं सिट्ठं, मोइया पव्वइया । एते अणिविचाणं दोसा । विइयं धूयाए वि समं वसेज्जा । जहा गुव्विणीए भज्जाए संदिसावनं पेसिओ, जहा ते धूया जाया, सो जाव ववहरइ ताव जोव्वणं पत्ता, अन्ननगरे दिन्ना, सो न याणइ जहा दिन्न त्ति, सो पडिएंतो तम्मि नगरे मा भंडं विणिस्सिहिति त्ति वरिसारत्तं ठिओ । तस्स तीए धूयाए समं वडियं, तह वि न याणइ, वत्ते वासारत्ते गतो सनगरं, धूयागमणं दट्ठूण विलियाणि य । ताए अप्पा मारिओ । इयरो वि पव्वइओ । ततियं गोट्ठीए समं चेडो अत्थइ, तस्स माता हिंडइ । सुण्हा से नियगपइणा साहइ-पती, से न पत्तियइ । सा तस्स माता देवकुले ठियाहिं धुत्तेहिं गच्छंती दिट्ठा तेहिं परिभुत्ता, माया पुत्ताणं पोत्ताणि परियत्तियाणि । तीए भन्नइ महिलाए-कस्स एय उवरिल्लं पोत्तं गहियं ? । हा पाव ! किं ते कयं ? । सो नट्ठो पव्वइओ । चउत्थ-जमलाणि गणियाए उज्झियाणि, पत्तेयं मित्तेहिं गहियाणि वड्ढंति, तेसिं पुव्वसंथुइओ संजोगो कओ । अन्नया सो दारगो ताए गणियाए पुव्वमायाए सह लग्गो, सा गणिया धम्मं सोउं पव्वइया, ओहिनाणं समुप्पन्नं, गणिया घरं गया, तेण गणियाए पुत्तो जाओ, अज्जा गहाय परिवदइ कहं पुत्तोऽसि मे भतिज्जोऽसि मे दारगदेवरो सि मे भायरो सि मे, जो तुब्भ पिया सो मज्झ पिया, पती य ससुरो य भाआ य मे, जा तुज्झ माया सा मे माया भाउज्जाइया सा वत्तिणी सासू य । एवं नाऊण दोसे वज्जेयव्वं । एए इह लोगे दोसा । परलोगे पुण नपुंसगत्तविरूवत्तपियविप्पओगाऽऽदिया दोसा हवंति, नियत्तस्स इहलोए परलोए य गुणा, इहलोए कच्छे कुलपुत्तगाणि सड्ढाणि, आनंदपुरे एगो य धिज्जाइओ दरिद्दो, सो सूलेसरे उववासेण वरं मग्गइ । को वरो ? । चाउव्वेज्ज,भत्तस्स मोल्लं देहि,जा पुन्नं करेमि । तेण चाणमंतरेण भणितं-कच्छे सावगाणि कुलपुत्ताणि भज्जप्पइयाणि, एताणं भत्तं करेहि,ते से महप्फलं होहिइ, दोन्नि वारे भणिओ,गओ कच्छं, दिन्नं दाणं सावयाणं भत्तं दक्खिणं च, भणइ-साहह किं तुब्भं तवच्चरणं,जेण तुब्भे देवस्स पुज्जाणि ? ।

तेहि भणियं-अम्हे बालभावे एगंतरं मेहुणं पच्चक्खायं,अन्नया अम्हाणं कह वि संजोगो जाओ, तं च विवरीयं समावडियं, थद्दिवसं एगस्स बंभचेरपोसहो तद्दिवसं बीयस्स पारणगं, एवं अम्हे जर गयाणि चेव कुमारगाणि चेव । धिज्जाइओ संबुद्धो। एए इहलोए गुणा, परलोए पहाणपुरिसत्तं, देवत्ते पहाणाओ अच्छराओ, मणुयत्ते पहाणाओ माणुसीओ, विउला य पंचलक्खणा भोगा य पियसंपओगा य, आसण्णसिद्धिगमणं चेति । " इदं चातिचाररहितमनुपालनीयम् ॥ ३॥

तथा चाऽऽह-

सदारसंतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, ण समायरियव्वा । तं जहा-इत्तरियपरिग्गहियागमणे १, अपरिग्गहियागमणं २,अणंगकीडा ३, परवीवाहकरणे ४, कामभोगतिव्वाभिलासे ५ ॥ ४ ॥

स्वदारसंतोषस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः । तद्यथा-इत्वरपरिगृहीतागमनं १,अपरिगृहितागमनं २, अनङ्गक्रीडा ३, परविवाहकरणम् ४, कामभोगतीव्राभिलाषः । आव० ६ अ० । पञ्चा० ४ विव० । आ० चू० । ध० । ( अपरिगृहीतागमनम् ' अपरिग्गहियागमण ' शब्दे प्रथमभागे ६०० पृष्ठे गतम् ) इत्वरपरिगृहीतागमनम् ' इत्तरपरिग्गहियागमण ' शब्दे द्वितीयभागे ५८४ पृष्ठे व्याख्यातम् ) ( अनङ्गक्रीडावर्जनम् ' अणंगकिड्डा ' शब्दे प्रथमभागे २५६ पृष्ठे दर्शितम् ) ( परविवाहकरणस्वरूपं, तद्वर्जनं च ' परविवाहकरण ' शब्दादवगन्तव्यम् ) ( " कामभोगतिव्वाभिलास " शब्दे तृतीयभागे ४४३ पृष्ठे तत्पदव्याख्यानं गतम् )

मैथुनदोषमुक्त्वाऽऽह-

तारिसो विणिविचिंसो, परदारस्स जइ करे ।
सावगधम्मं च पालेइ, गइं पावेइ मज्झिमं ॥
भयवं ! सदारसंतोसे, जइ भवे मज्झिमं गई ।
ता सरीरे वि होमंतो, कीस सुद्धिं ण पावइ ? ॥
सदारं परदारं वा, इत्थी पुरिसो व गोयमा ! ।
रमंतो बंधए पावं, णो णं भवइ अबंधगे ॥
सावगधम्मं जहुत्तं जो, पाले परदारगं चए ।
जावजीवं तिविहेणं, तमणुभावेण सा गई ॥
णवरं नियमविहूणस्स, परदारगमणस्स उ ।
अणियत्तस्स भवे बंध, णिवित्तीए महाफलं ॥
घेत्तूण णं पि निवित्तिं, जो मणसा वि विराहए ।
सो मओ दुग्गइं गच्छे, मेघमाला जहऽज्जिया ॥
मेघमालऽज्जिया नाहं, जाणिमो भुवणबंधव ! ।
मणसा वि अणुनिवित्तिं जा, खंडितुं दुग्गइं गया ॥
वासुपुज्जस्स तित्थम्मि, भोलाकालगच्छे वि ।
मेघमालऽज्जिया आसी, गोयमा ! मणदुव्वला ॥
सा नियमा सपक्खं, दातुं तिक्खा य निग्गया ।
अन्नओ णत्थि नीसारं, मंदिरोवरि संठिया ॥
आसन्नमंदिरं अन्नं, लंधित्ता गंतुमिच्छुगा ।
मणसा पि तहेव जा-ता व पज्जलिया दुवे ॥
नियमभंगतियं सुहमं, तीए तत्थ ण निंदियं ।
तन्नियमभंगदोसेणं, डुब्भेत्ता पढमियं गया ॥
एयं नायं सुदुमं पि, नियमं मा विराहिह ।
जं छिज्जा अक्खयं सोक्खं, अणंतं च अणोवमं ॥
तवसंजमे वएसुं च, नियमा दंडमागया ।
तमेव खंडमाणस्स, ण वए णोवसंजमे ॥
आजम्मेणं तु जं पाव, बंधिज्जा मिच्छबंधगा ।
वयभंगं काउमाणस्स, तं चेवऽट्ठगुणं मुणे ॥
सयसहस्सं सलद्धीए, जोवसामित्तु निक्खमे ।
वयतियमखंडंतो, जं सो तं पुन्नमज्जिणे ॥
पवित्ती य नियत्ती य, गारत्थीसंजमे तवे ।
जमणुट्ठिया तयं लाभं, जाव दिक्खा ण गिण्हिया ॥
ताव साहुणिवग्गेणं, विन्नायव्वमिह गोयमा ! ।
जेसिं मोत्तूण ऊसासं, नीसासं नाणुजाणियं ॥
तमवि जयणाए ण सव्वहा-
अजयणाए ऊससंतस्स,कओ धम्मो कओ तवो ॥
भयवं ! जावइयं दिट्ठं, तावइयं कह णु पालिया ।
जे भवे अविइयपरमत्थे, किचाकिच्चमयाणगे ॥
एगंतेणं हियं वयणं, गोयम ! दिस्संति केवली ।
णो बलवोडीइ कारेंति, हत्थे घेत्तूण जंतुणो ॥
तित्थयरभासिए वयणे, जे तह त्ति अणुवालिया ।
सैंदा देवगणा तस्स, पाएहि य णमंति हरिसिया ॥
जे अविइयपरमत्थे, किचाकिच्चमजाणगे ।
अंधो अंधीए तेसि समं, जलथलंगड्डिकुरं (?) ॥
गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ ।
समणुन्नाओ सुसाहूणं, नत्थि तइयं वियप्पणं ॥
गीयत्थे जे सुसंविग्गे, अणालसी दढव्वए ।
अखलियचारित्ते सययं, रागदोसविवज्जिए ॥
निट्ठविय अट्ठमयट्ठाणे, समयकसाए जिइंदिए ।
विहरिज्जा तेसि सद्धिं तु, ते छउमत्थे वि केवली ॥
सुहुमस्स पुढविजीवस्स, जत्थेगस्स किलामणा ।
अप्पारंभं तयं बिंति, गोयमा ! सव्वकेवली ॥
सुहुमस्स पुढविजीवस्स, वावत्ती जत्थ संभवे ।
महारंभं तयं बिंति, गोयमा ! सव्वकेवली ॥
पुढविकाइयं एक्कं, दरमले तस्स गोयमा ! ।
आसाय कम्मबंधे, दुहुव्विमोक्खे समुल्लिए ॥
एवं च आउ तेऊ, वाऊ तह वणस्सई ।

तसकायं मेहुणे तह य, विकयं चिणइ पावगं ॥
तम्हा मेहुणसंकप्पं, पुढवादीण विराहणं ।
जावज्जीवं दुरंतफलं, तिविहं तिविहेण वज्जिए ॥
ता जे अविदियपरमत्थे, गोयमा ! णो णं मुणे ।
तम्हा ते विवज्जेज्जा, दोग्गईपंथदायगे ॥ महा० ६ अ० ।
( गीतार्थवचनमेव कर्तव्यं नान्यत्किमपीति ' गीयत्थ ' शब्दे तृतीयभागे ६०२ पृष्ठे गतम् )

परदारवेरमण-परदारविरमण-न० । परदारगमनविरतौ, चतुर्थेऽणुव्रते, ध० २ अधि० ।

परदूसण-परदूषण-न० । परस्यानपराधिनोऽप्यात्मकृतदोषचटापने, आतु० ।

परदूसणज्झाण-परदूषणध्यान-न० । परस्यानपराधिनोऽप्यात्मकृतदोषचटापनं परदूषणम् । अङ्गऋषिं प्रति ज्योतिर्यशा अनेन हता इति स्वदोषं चटापयतो रुद्रकस्येव दुर्ध्याने, आतु० ।

परदेसियत्त-परदेशिकत्व-न० । परेषां मार्गोपदेशकत्वे, बृ० ।
अथ परदेशकत्वद्वारमाह-
आयपरसमुत्तारो, आणा वच्छल्ल दीवणा भत्ती ।
होंति परदेसियत्ते, अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥२७१॥
पठितः सन् परेषां देशकत्वं मार्गदेशकत्वं करोति, तस्मिन् आत्मनः परस्य च समुत्तारो भवति । तथाहि-स साधुरनधीतसाधूनध्यापयन्नात्मनो ज्ञानाऽऽवरणीयं कर्मोपहन्ति, ते च साधवो ज्ञातोपदेशेना चिरादेवापारसंसारमहोदधेरुत्तरन्ति । एवं च कुर्वता तीर्थकृनामाज्ञा, अथात्मनः साधूनां च वात्सल्यं, तथा दीपना प्रभावना, भक्तिश्च परमेश्वरप्रवचनस्य, एतानि कृतानि भवन्ति, तीर्थस्य चाव्यवच्छित्तिरासूत्रिता भवति, एते गुणाः परदेशकृते भवन्तीति । गतं परदेशिकत्वद्वारम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । ( परदेशिकत्वद्वारे वर्णिताः- आत्मसमुत्तारः, परसमुत्तारः, तीर्थकृतामाज्ञा, तस्याऽऽज्ञाया भेदाः ' आणा ' शब्दे द्वितीयभागे ११५ पृष्ठादारभ्य विस्तरतो दर्शिताः ) । (तथा वात्सल्यस्वरूपं ' वच्छल्ल ' शब्दे वक्ष्यते ) तथा-दीपना प्रभावना (सा च ' पभावणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४३८ पृष्ठे गता) तथा-(भक्तिः ' भत्ति ' शब्दादवगन्तव्या ) ( तथा-अव्यवच्छित्तिश्च ' अव्वोच्छित्ति ' शब्दे प्रथमभागे ८१८ पृष्ठे गता )

परदोस-परदोष-पु० । परस्य दूषणे. प्रश्न० ३ संव० द्वार ।
परद्वेष-पु० । पराऽप्रीतौ, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

परदोसपगासय-परदोषप्रकाशक-त्रि० । अन्यदोषप्रकटकारके, तं० ।

परदोसवत्तिय-परदोषप्रत्ययिक-न० । परदोषान् दृष्ट्वाऽऽत्मसमुत्कर्षनिबन्धने मानप्रत्ययिकाऽपरनामके नवमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

परद्ध-त्रि० । पीडिते, पाइ० ना० १६० गाथा । पतिते, भीरौ च । दे० ना० ६ वर्ग ७० गाथा ।

परधण-परधन-न० । परद्रव्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " परधणम्मि गेही " परधने गृद्धिः । सप्तमं गौणादत्ताऽऽदानम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

परधणपरिवज्जण-परधनपरिवर्जन-न० । परे आत्मव्यतिरिक्तजनास्तेषां धनं वित्तं परधनम् , तस्य परि समन्तात् वर्जनं परिहरणं परधनपरिवर्जनम् । परादत्ताऽऽदानविरतौ, दर्श० २ तत्त्व ।

परपइट्ठिय-परप्रतिष्ठित-त्रि० । क्रोधभेदे, स्था० २ ठा० २ उ० । ( 'कोह' शब्दे तृतीयभागे ६८३ पृष्ठे व्याख्या )

परपओग-परप्रयोग-पुं० । स्वव्यतिरिक्तजनव्यापारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

परपओगोदीरणा-परप्रयोगोदीरणा-स्त्री० । स्वव्यतिरिक्तजनव्यापारदुःखोत्पादनायाम् , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

परपंडिय-परपण्डित-पुं० । परः प्रकृष्टः पण्डितः परपण्डितः बहुशास्त्रज्ञे, परो वा मित्राऽऽदिः पण्डितो यस्य स तथा । पण्डितमित्रे, स निपुणसंसर्गान्निपुणो भवति वैद्यकृष्णकवदिति नैपुणिकत्व तस्य । स्था० ६ ठा० ।

परपक्ख-परपक्ष-पुं० । वैधर्मिकलोके, ध० २ अधि० । मिथ्यादृष्टौ, नि० चू० १ उ० । चरकपरिव्राजकाऽऽदिषु, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

परपक्खिय-परपाक्षिक-पु० । वैधर्मिकपक्षसमाश्रिते, ह्री० । महोपाध्यायश्रीविमलर्षिगणिकृतप्रश्नः-परपाक्षिकसंपादितस्तोत्राऽऽदिकं मातङ्गतुरुष्कसंपादितरसवतीवदनादेयमेव, कश्चिद्विशेषो वा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्- परपाक्षिकसंपादितस्तोत्राऽऽदीनां मातङ्गतुरुष्काऽऽदिसंपादितरसवत्युपमान सता वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन ॥१३॥ ह्री० १ प्रका० ।

परपच्चयकारण-परप्रत्ययकारण-न० । परेषां प्रत्ययोत्पादने, व्य० ४ उ० ।

परपज्जव-परपर्याय-पु० । वर्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूतभविष्यपर्यायेषु, सम्म० ३ काण्ड ।

परपत्त-परपात्र-न० । परपतद्ग्रहे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

परपत्तिय-परप्रत्यय-त्रि० । परहेतुके, ध० २ अधि० ।

परपरिग्गहिय-परपरिगृहीत-त्रि० । अन्यवंशीयैरधिष्ठितेषु, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

परपरिभवकारण-परपरिभवकारण-न० । अपमाननाहेतौ, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

परपरिवाइय-परपरिवादिक-त्रि० । परेषां परिवादोऽस्ति येषां ते परपरिवादिकाः । परदोषविकत्थकेषु, औ० ।

परपरिवाय-परपरिवाद-पुं० । काक्वा परदोषाऽऽपादने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० विकत्थने, " एगे परिपरिवाए । " स्था० १ ठा० । प्रश्न० । प्रव० । परदोषपरिकीर्त्तने, स्था० ४ ठा० ४ उ० विप्रकीर्णपरकीयगुणदोषप्रकटने, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । दशा० । परेषामपवदने, भ० १२ श० ५ उ० । परेषां सद्गुणनाशने, प० चू० ।

परपरिपात-पुं० । परेषां गुणेभ्यः परिपातने, भ० १२ श० ५ उ० । मानकषायभेदे, स० ५२ सम० ।

परपरिवायज्झाण-परपरिवादध्यान-न० । परं प्रत्यसद्भूतदोषाऽऽविष्करणं परपरिवादः तस्य ध्यानं, सुभद्रां प्रति तच्छ्वश्रूननान्दृणामिव परदोषध्याने, आतु० ।

**परपरिवायप्पिय**–परपरिवादप्रिय–त्रि० । इष्टान्यदूषणाभिधाने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**परपासंड**–परपाखण्ड–पुं० । सर्वज्ञप्रणीतपाखण्डव्यतिरिक्ते, आव० ६ अ० ।

परपाखण्डानां–सर्वज्ञप्रणीतपाखण्डव्यतिरिक्तानाम् ( आव० ) ओघतस्त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि भवन्ति । यत उक्तम्–

" असिइसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीति ।
अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च वत्तीसं ॥ १ ॥ "

इयमपि गाथा विनेयजनानुग्रहार्थं ग्रन्थान्तरप्रतिबद्धाऽपि लेशतो व्याख्यायते–( असिइसयं किरियाणं ति ) अशीत्युत्तरं शतं क्रियावादिनां, तत्र न कर्त्तारं विना क्रिया सम्भवति, तामात्मसमवायिनीं वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते क्रियावादिनः । ते पुनरात्माऽऽद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अनेनोपायेनाशीत्यधिकशतसङ्ख्या विज्ञेया.–जीवाजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षाऽऽख्यान् नव पदार्थान् विरच्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याध स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वराऽऽत्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः । पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः–अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः । विकल्पार्थश्चायम्–विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः कालवादिनः, उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरवादिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः " पुरुष एवेदं सर्वम् " इत्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थो विकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः, एवं स्वत इत्यत्यजता लब्धाः पञ्च विकल्पाः । परत इत्यनेनाऽपि पञ्चैव लभ्यन्ते । नित्यत्वाऽपरित्यागेन चैते दश विकल्पाः । एवमनित्यत्वेनाऽपि दशैव एकत्र विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः, अजीवाऽऽदिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानामतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति । ( अकिरियाणं च भवति चुलसीति त्ति ) अक्रियावादिनां च भवति चतुरशीतिर्भेदा इति । न हि कस्यचिदवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भाव एवावस्थितेरभावादित्येव वादिनोऽक्रियावादिनः । तथा चाऽऽहुरेके–" क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया ? । भूतिर्येषां क्रिया सैव,कारकं सैव चोच्यते ॥ १ ॥ " इत्यादि । एते चाऽऽत्माऽऽदिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिर्द्रष्टव्या', एतेषां हि, पुण्यापुण्यवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव जीवस्याधः स्वपरविकल्पभेदद्वयोपन्यास.. असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यभेदौ न स्त'. कालाऽऽदीनां तु पञ्चानां षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, पश्चाद्विकल्पभेदाभिलाप', नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्प. । एवमीश्वराऽऽदिभिरपि यदृच्छावसाने सर्वे च षड् विकल्पा',तथा नास्ति जीव. परतः कालत इति षडेव विकल्पा',एकत्र द्वादश । एवमजीवाऽऽदिष्वपि षट्सु प्रतिपदं द्वादश विकल्पा.,एकत्र सप्त द्वादशगुणाश्चतुरशीतिर्विकल्पा नास्तिकानामिति । ( अण्णाणिय सत्तट्ठि त्ति ) अज्ञानिकाना सप्तषष्टिर्भेदा इति । तत्र कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं, तदेषामस्तीति अज्ञानिका । नन्वेवं लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राक् बहुव्रीहिणा भवितव्यं, ततश्चाज्ञाना इति स्यात् । नैष दोषः, ज्ञानान्तरमेवाज्ञानं, मिथ्यादर्शनसहचारित्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वात् गौरखरवदरण्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति । अथवा–अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिकाः–असंचिन्त्य कृतवैफल्याऽऽदिप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन सप्तषष्टिर्ज्ञातव्याः । तत्र जीवाऽऽदिनवपदार्थान् पूर्ववत् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदादय उपन्यसनीया ,सत्त्वमसत्त्वं, सदसत्त्वम्,अवाच्यत्वं,सदवाच्यत्वम्, असदवाच्यत्वं सदसदवाच्यत्वमिति चैकैकस्य जीवाऽऽदेः सप्त सप्त विकल्पाः,एते नव सप्तका त्रिषष्टिः, उत्पत्तेस्तु चत्वार एवाऽऽद्या विकल्पाः । तद्यथा सत्त्वमसत्त्वं,सदसत्त्वम्,अवाच्यत्वं चेति त्रिषष्टिमध्ये क्षिप्ताः सप्तषष्टिर्भवन्ति, को जानाति जीवः सन्नित्येको विकल्प , ज्ञातेन वा किम् ?। एवमसदादयोऽपि वाच्याः। उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः, सदसतोऽवाच्यस्येति को जानातीति ?, एतत्र कश्चिदपीत्यभिप्रायः । ( वेणइयाणं च वत्तीस त्ति ) वैनयिकानां च द्वात्रिंशद् भेदाः,विनयेन चरन्ति विनयो वा प्रयोजनमेषामिति वैनयिकाः, एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन द्वात्रिंशदवगन्तव्याः–सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितॄणां प्रत्येकं कायेन वचसा मनसा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य. इत्येते चत्वारो भेदाः सुराऽऽदिष्वष्टसु स्थानकेषु, एकत्र मिलिता द्वात्रिंशदिति,सर्वसङ्ख्या पुनरेतेषां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि । न चैतत् स्वमनीषिकाव्याख्यानम् । यस्मादन्यैरप्युक्तम्–

"आस्तिकमतमात्माऽऽद्याः,नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः ।
कालनियतिस्वभावे-श्वराऽऽत्मकृतकाः स्वपरसंस्थाः ॥१॥
कालयदृच्छानियती- श्वरस्वभावात्मऽऽनश्चतुरशीतिः ।
नास्तिकवादिगणमतं, न सन्ति भावाः स्वपरसंस्थाः ॥ २ ॥
अज्ञानिकवादिमतं, नव जीवाऽऽदीन् सदादिसप्तविधान् ।
भावोत्पत्तिं सदसद्-द्वैतावाच्यां च को वेत्ति ? ॥ ३ ॥
वैनयिकमतं विनयश्चेतोवाक्कायदानतः कार्यः ।
सुरनृपतियतिज्ञाति -स्थविराधममातृपितृषु सदा ॥ ४ ॥ "

इत्यलं प्रसङ्गेन । आव० ६ अ० ।

**परपासंडपडिमा**–परपाखण्डप्रतिमा–स्त्री० । परपाखण्डलिङ्गे, व्य० १ उ० । ( परपाखण्डप्रतिमाकरणम् ' उवसंपया ' शब्दे द्वितीयभागे १००५ पृष्ठे गतम् )

**परपासंडपसंसा**–परपाखण्डप्रशंसा–स्त्री० । परपाखण्डानां सर्वज्ञप्रणीतपाखण्डव्यतिरिक्ताना प्रशंसा, प्रशंसनं प्रशंसा, स्तुतिरित्यर्थ. । आव० ६ अ० । परदर्शनिनां गुणोत्कीर्त्तने, उत्त० २ अ० ।

परपासंडपसंसा, सक्काइणामिह वन्नवाओ उ ॥ ( ८८ )
परपाखण्डानां सर्वज्ञप्रणीतव्यतिरिक्तानां प्रशंसेति समासः । प्रशंसनं प्रशंसा, स्तुतिरित्यर्थ । तथा चाऽऽह–शाक्याऽऽदीनामिह वर्णवादस्तु । शाक्या रक्तभिक्षव., आदिशब्दात्परिव्राजकाऽऽदिपरिग्रह । वर्णवाद प्रशंसोच्यते–पुण्यभाज एते, सुलब्धमेभिर्मानुषं जन्म, दयालव एत इत्यादि । ( ८८ श्रा० ) अत्र चोदाहरणम्–" पाडलिपुत्ते चाणक्को, चंदगुत्तेणं भिक्खुगाणं वित्ती हृरिता, ते तस्स धम्मं कहेंति, राया तूसति, चाणक्क पलोएति, ण य पसंसति, ण देति, तेण चाणक्कभज्जा ओ-

लग्गिता, तीए सो करणं गाहितो, तेहिं कथिते भणितं तेण-सुभासिय ति । रखा त अथं च दिग्णं, चितियदिवसे चाणक्को रायाणं भणति-कीस दिग्नं ? । राया भणइ-तुज्झेहिं पसंसितं । सो भणइ-ण मे पससितं, अहो सव्वारंभपवित्ता कहं लोगं पत्तियाविंति त्ति ? । पच्छा ठितो, केत्तिया एरिसा, तम्हा ण कायव्वा । " आव० ६ अ० ।

तहा य जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा पासडीणं पसंसं करेज्जा, जे यावि णं निरहगाणं पसंस करेज्जा, जे ण णिरहगाणं अणुकूलं भासेज्जा, जे णं णिरहगाणं आयरणं पविसिज्जा, जे णं निरहगाणं गंथसत्थपयक्खर वा परूवेज्जा, जे णं निरहगाणं संतिए कायकिलेसाइए तवेइ वा, संजमेइ वा,जाणेइ वा,विन्नाणेइ वा, सुएइ वा, पडिच्चेइ वा, अभिमुहमुद्धपरिसामज्झ णिए सलाहेज्जा,से वि णं परमाहम्मिएसु उववज्जेज्जा, जहा सुमती । महा० ४ अ० ।

परपासंडसंथव-परपाखण्डसंस्तव-पुं० । परपाखण्डैः सह संवासजनिते परिचये, आव० ६ अ० ।

परपासंडपसंसा, सक्काइणमिह वण्णवाओ उ ।
तेहिं सह परिचओ जो, स संथओ होइ नायव्वो ॥८८॥

( गाथापूर्वार्द्धम् ' परपासंडपसंसा ' शब्दे ५२६ पृष्ठे व्याख्यातम् ) तैः परपाखण्डैरनन्तरोदितैः सह परिचयो यः स संस्तवो भवति ज्ञातव्यः, परपाखण्डसंस्तव इत्यर्थः । संस्तव इह संवासजनितः परिचयः संवसनभोजनाऽऽलापाऽऽदिलक्षणः परिगृह्यते, न स्तवरूप , तथा च लोके प्रतीत एव संपूर्वः स्तौतिः परिचय इति । " असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु । " ( किरा० ३ सर्गे ) इत्यादौ इति ॥ ८८ ॥ ( श्रा० )-अयमपि च न समाचरणीयः । तथाहि-एकत्र संवासे तत्प्रक्रियाऽऽश्रयणात्, तत्क्रियादर्शनाच्च तस्यासकृदभ्यस्तत्वाद्वयात्सहकारिकारणात् मिथ्यात्वोदयतो दृष्टिभेदः संजायते, अतोऽनिचारहेतुत्वान्न समाचरणीयोऽयमिति । आव० ६ अ० । अत्र चोदाहरणम्-" सोरट्ठसड्ढगो पुव्वभणितो । सो दुब्भिक्खे भिक्खुएहिं समं पट्ठो, भत्तं से देंति अन्नया विसूइयाए मओ, चीवरेण पच्छाइओ, अविसुद्धोहिणा पासणं भिक्खुगाणं, वाहाए आहारदाणं, सावगाणं खिसा, जुगप हाणाण कहणं-विराहियगुण त्ति, आलोयणं नमोक्कारपढणं, पडियोहो, केत्तिया एरिसं ति " । ८८ गाथा । श्रा० ।

परपासंडि (ण्)-परपाखण्डिन्-पुं० । मिथ्यादृष्टौ, परपाखण्डिलक्षणम्- 'जो आणाणं मिच्छत्तं कुव्वंतो कुतित्थिए वा पति जिणवयणं च ण गच्छइ, सो परपासंडी । जो पुण गिही अण्णतित्थिओ वा इमेरिसो । " नि० चू० १६ उ० ।

परपुट्ठ-परपुष्ट-पुं० । कोकिले स्था० १० ठा० । जी० । जं० । रा० ।

परपुर-परपुर-न० । शत्रुनगरे, आव० ५ अ० ।

परप्पवाइ ( ण् )-परप्रवादिन्-पुं० । परतीर्थिके,सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परप्पवित्तिदोस-परप्रवृत्तिदोष-पुं० । सूत्रदोषभेदे, यत्र सुबहुमप्यर्थं वर्णयित्वा निदर्शनं करोति । वृ० १ उ० १ प्रक० ।

परबंभ-परब्रह्मन्-न० । ज्ञानामृतसमुद्ररूपे परमात्मनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

परभव-परभव-पुं० । जन्मान्तरे, दशा० १० अ० । सूत्र० । आ० म० । ( आत्मनः ' आता ' शब्दे द्वितीयभागे १७८ पृष्ठे परलोकयायित्वमभिहितम् )

यालविज्ञानस्य विज्ञानान्तरपूर्वकत्वसाधनेन परभवसिद्धिः-

विण्णाणंतरपुव्वं, वालण्णाणमिह णाणभावाओ ।
जह वालनाणपुव्वं, जुवनाणं तं च देहहिअं ॥१६६१॥

अन्यविज्ञानपूर्वकमिदं वालविज्ञानम्, विज्ञानत्वात् , इह यद् विज्ञानं तदन्यविज्ञानपूर्वकं दृष्टम्, यथा-वालविज्ञानपूर्वकं युवविज्ञानम्, यद्विज्ञानपूर्वकं चेदं वालविज्ञानं तच्छरीरादन्यदेव, पूर्वशरीरत्यागेऽपीहत्यविज्ञानकारणत्वात्, तस्य च विज्ञानस्य गुणत्वेन गुणिनमात्मानमन्तरेणासम्भवात्, तच्छरीरव्यतिरिक्तमात्मानं व्यवस्यामः, न तु शरीरमेवाऽऽत्मेति । विज्ञानत्वादिति प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धो हेतुरिति चेत् । न । विशेषस्य पक्षीकृतत्वात् । भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्यं हेतुः, यथाऽनित्यो वर्णाऽऽत्मक शब्दः, शब्दत्वात्, मेघशब्दवत् । एवमिहापि वालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकमिति विशेषः पक्षीकृतः, न तु सामान्यविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकमिति पक्षीकृतं, येन विज्ञानत्वादिति प्रतिज्ञार्थैकदेशः स्यात्, यथाऽनित्यः शब्दः, शब्दत्वादित्यादि ॥ १६६१ ॥

अथान्यदनुमानम्-

पढमो थणाहिलासो, अण्णाऽऽहाराहिलासपुव्वोऽयं ।
जह संपयाहिलासो-ऽणुभूइओ सो य देहहिओ १६६२॥

गौतम ! आद्यः स्तनाभिलाषो वालस्यायमन्याभिलाषपूर्वकः, अनुभूते -अनुभवाऽऽत्मकत्वात्, साम्प्रताभिलापवदिति । अथ वा-'अभिलाषत्वात्' इत्ययमनुक्तोऽपि हेतुर्द्रष्टव्य । इह योऽभिलापः सोऽन्याभिलाषपूर्वको दृष्टः,यथा साम्प्रताऽभिलाषः, यदभिलाषपूर्वकश्चायमाद्यः स्तनाभिलाष, स शरीरादन्य एव, पूर्वशरीरपरित्यागेऽपीहत्याभिलाषकारणत्वात् । ज्ञानगुणश्चाभिलापो न गुणिनमन्तरेण संभवति । अतो यस्तस्याऽऽश्रयभूतो गुणी स शरीरातिरिक्त आत्मेति ।

आह-नन्वनैकान्तिकोऽयम् , सर्वस्याऽन्याभिलाषपूर्वकत्वानुपपत्तेः । न हि मोक्षाभिलाषो मोक्षाभिलाषपूर्वको घटते । तदयुक्तम् । अभिप्रायापरिज्ञानात्, यो हि स्तनाभिलाष स सामान्येनैवाभिलाषपूर्वक इत्येतदेवास्माभिरुच्यते, न पुनः, विशेषेण ब्रूमः-' स्तनाभिलाषोऽन्यस्तनाभिलाषपूर्वकः' इति । एवं च सामान्योक्तौ मोक्षाभिलाषपक्षेऽपि घटत एव, मोक्षाभिलाषस्याऽपि सामान्येनाऽन्याभिलाषपूर्वकत्वादिति ॥ १६६२ ॥

अनुमानान्तरमाह

वालसरीरं देहं-तरपुव्वं इंदियाइमत्ताओ ।
जुवदेहो वालादिव, स जस्स देहो स देहि त्ति ।१६६३।

वालशरीरं शरीरान्तरपूर्वकम्, इन्द्रियाऽऽदिमत्त्वात् इह यदिन्द्रियाऽऽदिमत्, तदन्यदेहपूर्वकं दृष्टम्, यथा युवशरीर बा-

न्तदेहपूर्वकम्, यत्पूर्वकं चेदं बालशरीरं तदस्मात् शरीरादर्थान्तरम्, तदत्यये ऽपीहत्यशरीरोपादानात्, यस्य च तच्छरीरं स भवान्तरयायी शरीरादर्थान्तरभूतो देहवानस्त्यात्मा, न पुनः शरीरमेवाऽऽत्मेति सिद्धमिति ॥ १६६३ ॥

अनुमानान्तरमाह-

अन्नसुहदुक्खपुव्वं, सुहाइ बालस्स संपइसुहं व ।
अणुभूइमयत्तणओ, अणुभूइमओ य जीवो त्ति ।१६६४।

अन्यसुखपूर्वकमिदमाद्यं बालसुखम्, अनुभवाऽऽत्मकत्वात्, साम्प्रतसुखवत्, यत्सुखपूर्वकं चेदमाद्यं सुखम्, तच्छरीरादन्यदेव, तदत्यये ऽपीहत्यसुखकारणत्वात् । गुणश्चायम्, स च गुणिनमन्तरेण न संभवति, अतो यस्तस्याऽऽश्रयभूतो गुणी स देहादर्थान्तरम्, इति सुखानुभूतिमयो जीव इति सिद्धम् । एवं दुःख-राग-द्वेष-भय-शोकाऽऽदयोऽप्यायोजनीया इति ॥ १६६४ ॥

अथ प्राग् जीवकर्मसिद्धावुक्तान्यप्यनुमानान्यत्राऽपि जीवसिद्धिप्रस्तावाद् मन्दस्मृत्यनुग्रहार्थं पुनरप्याह-

संताणोऽणाई उ, परोप्परं हेउ-हेउभावाओ ।
देहस्स य कम्मस्स य, गोयम! बीयंऽकुराणं व ।१६६५।

यदि नाम देह-कर्मणोरनादिः सन्तानः, तर्हि जीवसिद्धौ किमायातम् ?, इत्याह-

तो कम्म-सरीराणं, कत्तारं करण-कज्जभावाओ ।
पडिवज्ज तदब्भहिअं, दंड-घडाणं कुलालं व ।१६६६।
अत्थि सरीरविहाया, पइनियायागारओ घटस्सेव ।
अक्खाणं च करणओ, दंडाईणं कुलालो व्व ।१६६७।
अत्थिंदियविसयाणं, आयाणाऽऽदेयभावओऽवस्सं ।
कम्मार इवादाया, लोए संडास-लोहाणं ॥ १६६८ ॥
भोत्ता देहाईणं, भोज्जत्तणओ नरो व्व भत्तस्स ।
संघायाइत्तणओ, अत्थि य अत्थी घरस्सेव ॥१६६९॥
जो कत्ताइ स जीवो, सज्झविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा ।
मुत्ताइपसंगाओ, तं नो संसारिणो दोसो ॥ १६७० ॥

आसां व्याख्या पूर्ववदेवेति ॥ १६६६ ॥ १६६७ ॥ १६६८ ॥ १६६९ ॥ १६७० ॥

अथ सुगतमतानुसारी कश्चिदाह-ननु सर्वपदार्थानां क्षणनश्वरत्वाज्जीवस्याऽपि क्षणिकतया शरीरेण सहैव विनष्टत्वाद् वस्तुतः शरीरात् तस्यानर्थान्तरतैव, इति किं तद्व्यतिरिक्तत्वसाधनप्रयासेन ?, इत्यत्राऽऽह-

जाइस्सरो न विगओ, सरणाओ बालजाइसरणो व्व ।
जह वा सदेसवत्तं, नरो सरंतो विदेसम्मि ॥ १६७१ ॥

इह यो जातिस्मरो जीवः स प्राग्भविकशरीरविगमेऽपि सति न विगत इति प्रतिज्ञा । ( सरणाउ त्ति ) स्मरणादिति हेतुः । यथा-बालजातौ बालजन्मनि वृत्तं स्मरतीति बालजातिस्मरणो वृद्ध इति दृष्टान्तः । यथा वा-स्वदेशे मालवकमध्यदेशाऽऽदौ वृत्तं विदेशेऽपि गतो नरः स्मरन् न विगतः । इदमुक्तं भवति-योऽन्यदेशकालाऽऽद्यनुभूतमर्थं स्मरति सोऽविनष्टो दृष्टः, यथा बालकालानुभूतानामर्थानामनुस्मर्त्ता वृद्धाऽऽद्यवस्थायां देवदत्तः । यस्तु विनष्टो नासौ किञ्चिदनुस्मरति, यथा जन्मानन्तरमेवोपरतः । न च पूर्वपूर्वक्षणानुभूतमाहितसंस्कारा उत्तरोत्तरक्षणा स्मरन्तीति वक्तव्यम्, पूर्वपूर्वक्षणानां निरन्वयविनाशेन सर्वथा विनष्टत्वात्, उत्तरोत्तरक्षणानां सर्वथाऽन्यत्वात् । न चान्यानुभूतमन्योऽनुस्मरति, देवदत्तानुभूतस्य यज्ञदत्तानुस्मरणप्रसङ्गादिति ॥ १६७१ ॥

अथ पराभिप्रायमाशङ्क्य प्रतिविधातुमाह-

अह मन्नसि खणिओ वि हु, सुमरइ विन्नाणसंतइगुणाओ ।
तह वि सरीरादन्नो, सिद्धो विन्नाणसंताणो ॥१६७२॥

अथैवं मन्यसे त्वम्-क्षणिकोऽपि क्षणभङ्गुरोऽपि जीवः पूर्ववृत्तान्तं स्मरत्येव । कुतः ?, इत्याह-विज्ञानानां विज्ञानक्षणानां सन्ततिः सन्तानस्तस्या गुणस्तत्सामर्थ्यरूपस्तस्मादिति, क्षणसन्तानस्यावस्थितत्वात् क्षणनश्वरोऽपि स्मरतीत्यर्थः । अत्रोत्तरमाह-ननु तथाऽप्येवमपि सति ज्ञानलक्षणसन्तानस्याग्रेतनशरीरसंक्रान्तेर्भवान्तरसद्भावः सिद्ध्यति, सर्वशरीरेभ्यश्च विज्ञानसन्तानस्येत्थमर्थान्तरता साधिता भवति, अविच्छिन्नविज्ञानसन्तानाऽऽत्मकश्चैवं शरीरादर्थान्तरभूत आत्मा सिद्धो भवतीति । तदेवं परभवमङ्गीकृत्याविनष्टस्मरणमावेदितम् ॥ १६७२ ॥ विशे० ।

अदृष्टपूर्वकपरलोकसिद्धिः । तथाहि-नास्तिकस्तावन्नादृष्टमिष्टवान् । स प्रष्टव्यः-किमाश्रयस्य परलोकिनोऽभावात्, अप्रत्यक्षत्वात्, विचाराऽक्षमत्वात्, साधकाभावाद्वाऽदृष्टाभावो भवेत् ? । न तावत्प्रथमात्, परलोकिनः प्राक् प्रसाधितत्वात् । नाप्यप्रत्यक्षत्वात्, यतस्तवाऽप्रत्यक्षं तत्, सर्वप्रमातॄणां वा ? । प्रथमपक्षे त्वत्पितामहाऽऽदेरप्यभावो भवेच्चिराऽतीतत्वेन तस्य तवाप्रत्यक्षत्वात्; तदभावे भवतोऽप्यभावो भवेदित्यहो नवीना वादवैदग्धी । द्वितीयकल्पोऽप्यल्पीयान्, सर्वप्रमातृ-प्रत्यक्षमदृष्टनिष्टङ्कनिष्णातं न भवतीति वादिना प्रत्येतुमशक्तेः, प्रतिवादिना तु तदाऽऽकलनकुशलः केवली कक्षीकृत एव । विचाराक्षमत्वमप्यक्षमं, कर्कशतर्कैस्तर्क्यमाणस्य तस्य घटनात् । ननु कथं घटते ? । तथाहि-तदनिमित्तं, सनिमित्तं वा भवेत् ? । न तावदनिमित्तं, सदा सत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गात् । "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।" यदि पुनः सनिमित्तं, तदाऽपि तन्निमित्तमदृष्टान्तरमेव, रागद्वेषाऽऽदि-कषाय कालुष्यं, हिंसाऽऽदिक्रिया वा ? । प्रथमे पक्षेऽनवस्थाव्यवस्था । द्वितीये तु न कदाऽपि कस्यापि कर्माऽभावो भवेत् । तद्धेतोः रागद्वेषाऽऽदिकषाय-कालुष्यस्य सर्वसंसारिणां भावात् । तृतीयपक्षोऽप्यनुपपादः, पाप-पुण्य हेतुत्व-संमतयोर्हिंसाऽर्हत्पूजाऽऽदि-क्रिययोर्व्यभिचार-दर्शनात्-कृपण-पशुपरम्पराप्राणप्रहाणकारिणां कपट-घटना-पटीयसां पितृमातृ-मित्रपुत्राऽऽदिद्रोहिणामपि केषाञ्चिच्चपलचारुचामर-श्वेताऽऽपपत्र-पात्रपार्थिवश्रीदर्शनात् । जिनपति-पदपङ्कज-पूजा-परायणानां निखिलप्राणिपरम्पराऽपारकरुणाऽऽ-कूपाराणामपि केषाञ्चिदनेकोपद्रवदारिद्र्य-मुद्राऽऽक्रान्तत्वाऽऽलोकनादिति । अत्र ब्रूम-पक्षत्रयमप्येतत्कक्षीक्रियत एव । प्राच्याऽदृष्टान्तरवशगो हि प्राणी राग-द्वेषाऽऽदिना प्राणव्यपरोपणाऽऽदि कुर्वाणः कर्मणा बध्यते । न च प्रथमपक्षेऽनवस्था दौस्थ्याय, मूलक्षयकरत्वाभावात्, बीजाङ्कुराऽऽदिस्व

न्तानवत् तत्सन्तानस्याऽनादित्वेनेष्टत्वात् । द्वितीयेऽपि यदि कस्यापि कर्म्मणोऽभावो न भवेन्मा भूत्सिद्धं तावददृष्टम् । मुक्तिवादे तदभावोऽपि प्रसाधयिष्यते । तृतीये तु या हिंसावतोऽपि समृद्धिः, अर्हत्पूजावतोऽपि दारिद्र्याऽऽप्तिः, सा क्रमेण प्राग्नुपात्तस्य पापाऽनुबन्धिनः पुण्यस्य, पुण्याऽनुबन्धिनः पापस्य च फलम् । तत्क्रियोपात्तं तु कर्म्म जन्मान्तरे फलिष्यतीति नात्र नियतकार्यकारणभावव्यभिचारः । साधकाभावादपि नादृष्टाभावः, प्राक् प्रसाधितप्रामाण्ययोरागमाऽनुमानयोस्तत्प्रसाधकयोर्भावात् । तथा च शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्येत्यागमः । अनुमानं तु-तुल्यसाधनानां कार्य्ये विशेषः सहेतुकः, कार्यत्वात् कुम्भवत् । " दृष्टश्च साध्वीसुतयो-र्यमयोस्तुल्यजन्मनोः । विशेषो धीर्यविज्ञान वैराग्याऽऽरोग्यसंपदाम् ॥ १ ॥ " न चाऽयं विशेषो विशिष्टमदृष्टकारणमन्तरेण । यदूचुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमिश्राः- " जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं । कज्जत्तणओ गोयम !, घड व्व हेऊ य से कम्मं ॥ १ ॥ " अथ यथैकप्रदेशसम्भवानामपि बदरीकण्टकानां कौटिल्याऽऽर्जवाऽऽदिर्विशेषः, यथा चैकसरसीसम्भूतानामपि पङ्कजानां नील-धवल-पाटल-पीत-शतपत्र-सहस्रपत्राऽऽदिर्भेदः, तथा शरीरिणामपि स्वभावादेवाऽयं विशेषो भविष्यति । तदशस्यम् । कण्टकपङ्कजानाऽऽदीनामपि प्राणित्वेन परेषां प्रसिद्धेस्तद्दृष्टान्ताऽवष्टम्भस्य दुष्टत्वात्, आहार-क्षतरोह दोहदाऽऽदीनां वनस्पतीनामपि प्राणित्वेन तैः प्रसाधनात् । अथ गगनपरिसरे मकर-करितुरङ्गकुरङ्गशृङ्गाराऽङ्गाराऽऽद्याकारानेकप्रकारान् विभ्रत्यभ्राणि, न च तान्यपि चेतनानि च संमतानि । तद्वत्तनुभाजोऽपि राजरङ्काऽऽदयः सन्त्विति चेत् । तदसत् । तेषामपि जगददृष्टवशादेव देवपदवीपरिसरे विचरतां विचित्राऽऽकारस्वीकारात् । कश्चायं स्वभावो यद्वशाज्जगद्वैचित्र्यमुच्यते ? । किं निर्हेतुकत्वं, स्वाऽऽत्महेतुकत्वं, वस्तुधर्मो, वस्तुविशेषो वा ? । आद्ये पक्षे सदा सत्त्वस्याऽसत्त्वस्य वा प्रसङ्गः । द्वितीये आत्माऽऽश्रयत्वं दोषः, अविद्यमानो हि भावाऽऽत्माकथं हेतुः स्यात् ?, विद्यमानोऽपि विद्यमानत्वादेव कथं स्वोत्पाद्यः स्यात् ? । वस्तुधर्मोऽपि दृश्यः कश्चिददृश्यो वा ? । दृश्यस्तावदनुपलम्भबाधितः । अदृश्यस्तु कथ सत्त्वेन वक्तुं शक्यः ? । अनुमानात्तु तन्निर्णयेऽदृष्टानुमानमेव श्रेयः । वस्तुविशेषश्चेत् स्वभावो भूताऽतिरिक्तो, भूतस्वरूपो वा ?, प्रथमे मूर्तोऽमूर्तो वा ? । मूर्तोऽपि दृश्योऽदृश्यो वा ? । दृश्यस्तावत् दृश्याऽनुपलम्भबाधितः । अदृश्यस्त्वदृष्टमेव स्वभावभाषया बभाषे । अमूर्तः पुनः परः परलोकिनः को नामास्तु ? । न चादृष्टविघटितस्य तस्य परलोकस्वीकारः, इत्यतोऽप्यदृष्टं स्पष्टं निष्टङ्क्यते । भूतस्वरूपस्तु स्वभावो नरेन्द्रदरिद्रिताऽऽदिवैसदृश्यभाजोर्यमलजातयोरुत्पादकस्तुल्य एव विलोक्यते, इति कौतस्कुतस्तयोर्विशेषः स्यात् ? । तद्दर्शनात्तथाऽदृष्टमूलविशेषाऽनुमानेन नामान्तरतिरोहितमदृष्टमेवाऽनुमितमिति सिद्धं दृष्टम्, इतोऽपि बालशरीरं शरीरान्तरपूर्वकमिन्द्रियाऽऽदिमत्त्वात्तरुणशरीरवत् । न च प्राचीनभवातीतनतनुपूर्वकमेवेदं तस्य तद्भवाऽवसान एव पटु पवन-प्रेरिताति ताम्रशिखिना-ज्वलन-ज्वालाकलापप्लुष्टतया भस्मसाद्भावादपान्तरालगतावभावेन तत्पूर्वकत्वाऽनुपपत्तेः । न चाशरीरिणो नियत-गर्भदेश-स्थान-प्राप्तिपूर्वकः शरीरग्रहो युज्यते, नियामककारणाभावात् । स्वभावस्य तु नियामकत्वं प्रागेव व्यपास्तम् । ततो यच्छरीरपूर्वकं बालशरीरं तत्कर्ममयमिति । पौद्गलिकं चैतत् द्रष्टमेष्टव्यम्, आत्मनः पारतन्त्र्यमिति तस्याभिगडाऽऽदिवत् । क्रोधाऽऽदिना व्यभिचार इति चेन्न, तस्याऽऽत्मपरिणामरूपस्य पारतन्त्र्य-स्वभावत्वात्, तन्निमित्तभूतस्य तु कर्मणः पौद्गलिकत्वात् । एवं सीधुस्वादनोद्भवचित्तवैकल्यमपि पारतन्त्र्यमेव, तद्धेतुस्तु सीधु पौद्गलिकमेवेति नैतेनाऽपि व्यभिचारः । ततो यदन्तैरात्मविशेषगुणलक्षणं, कापिलैः प्रकृतिविकारस्वरूपं, सौगतैर्वासनास्वभावं, ब्रह्मवादिभिरविद्यास्वरूपं, चाऽदृष्टमवादि । तदपास्तम् । विशेषतः पुनरमीषां निषेधो विस्तराय स्यादिति न कृतः । रत्ना० ७ परि० ।

विस्तरतश्चैतत्सम्मतिग्रन्थे प्रतिपादितम्-

अत्र बृहस्पतिमताऽनुसारिणः स्वभावसंसिद्धज्ञानाऽऽदिप्रमेकलापाध्यासितस्य स्थाणोरभावप्रतिपादनं जैनेन कुर्वताऽस्माकं साहाय्यमनुष्ठितमिति मन्यमाना प्राहुः । युक्तमुक्तं यत् स्वभावसंसिद्धज्ञानाऽऽदिसंपत्समन्वितस्येश्वरस्याभावः । नारक-तिर्यङ्नराऽमर-रूपपरिणतिस्वभावतया उत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्नित्येतदयुक्तमभिहितम् । परलोकसद्भावे प्रमाणाभावात् । तथाहि-परलोकसद्भावाऽऽवेदकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमो वा जैनेनाभ्युपगमनीयः । अन्यस्य प्रमाणत्वेन तेनाऽनिष्टेः । न चात्रैतद्वक्तव्यम् । भवतोऽपि किं तत्प्रतिक्षेपकं प्रमाणम्, यतो नाऽस्माभिस्तत्प्रतिक्षेपकप्रमाणसद्भावः प्रतिपाद्यते, किं तु परोपन्यस्तप्रमाणपर्यनुयोगमात्रमेव क्रियते । अत एव ' सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः" इति चार्वाकैरभिहितम् । स च परोपन्यस्तप्रमाणपर्यनुयोगः, तदभ्युपगमस्य प्रश्नाऽऽदिद्वारेण विचारणा, न पुनः स्वसिद्धप्रमाणोपन्यासः । येनातीन्द्रियार्थप्रतिक्षेपकत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रमाणमाश्रयासिद्धत्वाऽऽदिदोषदुष्टत्वेन कथं प्रवर्तेत इत्यस्मान्प्रति भवताऽपि पर्यनुयोगः क्रियेत । अत एव परलोकप्रसाधकप्रमाणाऽभ्युपगमं परेण ग्राहयित्वा तदभ्युपगमस्याऽनेन प्रकारेण विचारः क्रियते । तत्र न तावत्परलोकप्रतिपादकत्वेन चक्षुरादिकरणव्यापारसमासादिताऽऽत्मलाभं सन्निहितप्रतिनियतरूपाऽऽदिविषयत्वात्प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते । नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षं तत्र प्रवर्तेत इति वक्तुं शक्यम् । परलोकाऽऽदिवत्तस्याप्यसिद्धेः । नाप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं तत्र प्रवृत्तिमासादयति । प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्याऽनुमानस्यापि तत्राप्रवृत्तेः । अथ यद्यपि प्रत्यक्षाऽवगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवमनुमानं न तत्र प्रवर्त्तते, तथाऽपि सामान्यतो दृष्टं तत्र प्रवर्तिष्यते । तदपि न युक्तम् । यतस्तदपि सामान्यतो दृष्टमवगतप्रतिबन्धलिङ्गाद्भवम्, आहोस्विद् अनवगतप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थम् । यद्यनवगतप्रतिबन्धलिङ्गोद्भवमिति पक्षः । स न युक्तः । तथाभूतलिङ्गप्रभवस्य स्वविषयव्यभिचारिणश्च दर्शनान्नरेन्द्रभूतराज्याधाभिविकल्पस्येवाप्रमाणत्वात् । अथ प्रतिपन्नसंबन्धलिङ्गप्रभवं तत्तत्र प्रवर्त्तत इति पक्षः । सोऽपि न युक्तः । प्रतिबन्धावगमस्यैव तत्र लिङ्गस्यासम्भवात् । तथाहि प्रत्यक्षस्य तत्र लिङ्गसंबन्धावगमनिमित्तस्याभावेऽनुमानं लिङ्गसंबन्धग्राहकमभ्युपगन्तव्यम् । तत्र यदि तदेव परलोकस

आवाऽऽवेदकमनुमानं स्वविषयाऽभिमतेनार्थेनाऽऽत्मोत्पादकलिङ्गसंबन्धग्राहकं, तदेतदितरेतराऽऽश्रयत्वदोषः । अथाऽनुमानान्तराद् गृहीतप्रतिबन्धाल्लिङ्गादुपजायमानं तद्विषयं तदभ्युपगम्यते, तदाऽनवस्था; तथा सर्वमप्यनुमानमप्रमाणमिदम् । तथाहि-बृहस्पतिसूत्रम्-" अनुमानमप्रमाणमिति ।" अनेन प्रतिज्ञाप्रतिपादनं कृतम् । अनिश्चिताऽर्थप्रतिपादकत्वाद्, असिद्धप्रमाणाऽऽभासवदिति हेतुदृष्टान्तावभ्यूह्यौ । विषयविचारेण वाऽनुमानप्रामाण्यमयुक्तम् । धर्मिधर्म्मोभयस्वतन्त्रसाधने सिद्धसाध्यता यतः । अतो विशेषणविशेष्यभावः साध्यः प्रमेय विशेष-विषयां प्रमां कुर्वत्प्रमाणं प्रमाणतामश्नुते । इतरेतराऽपेक्षिप्रश्च समुदायोऽत्र प्रमेयः,तदपेक्षया च पक्षधर्मताऽऽदीनामन्यतमस्याऽपि रूपस्याप्रसिद्धिः । न हि समुदायधर्म्मता हेतोः । नापि समुदायेनान्वयो व्यतिरेको वा, धर्म्मिमात्राऽपेक्षया पक्षधर्मत्वे साध्यधर्माऽपेक्षया च व्याप्ती गौणतेति । उक्तं च-"प्रमाणस्याऽगौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः" इति; धर्मिधर्मताग्रहणेऽपि न गौणतापरिहारः । प्रतीयमानापेक्षया गौणमुख्यव्यवहारस्य चिन्त्यत्वात्; समुदायश्च प्रतीयते । एकदेशाऽऽश्रयणेनापि त्रैरूप्यमयुक्तम् । व्याप्त्यसिद्धेः । न हि सत्तामात्रेणाऽविनाभावो गमकः; अपि त्ववगतः । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । स च सकलसपक्षविपक्षाऽप्रत्यक्षीकरणे दुर्विज्ञानोऽसर्ववेदिना । न चात्र भूयोदर्शनं शरणम् । सहस्रशोऽपि दृष्टसाहचर्यस्य व्यभिचारात् । अत एव दर्शनादर्शनमपि । तदुक्तम्-" गोमानित्येव मर्त्येन, भाव्यमश्वयताऽपि किम् ? ।" इति । देशकालाऽवस्थाभेदेन च भावानां नानात्वावगमादनाश्वासः । तदुक्तम्-" अवस्थादेशकालानां, भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु । भावानामनुमानेन, प्रतीतिरतिदुर्लभा ॥ १ ॥" इत्यादि । आह च-अविनाभावसंबन्धस्य प्रतीतुमशक्यत्वात् । यच्च सामान्यस्य तद्विषयस्याऽभावात् स्वार्थपरार्थभेदासम्भवात् , विरुद्धानुमानविरोधयोः सर्वत्र संभवात्; क्वचिच्च विरुद्धाव्यभिचारित्व इत्यादि दूषणजालम् । तदनुदर्शनीयमेव । यताऽनिश्चितार्थ-प्रतिपादकत्वादनुमानमप्रमाणमित्यनुमानाऽप्रमाणता-प्रतिपादने एते शेषदूषणजालस्य कृतमारणकरणत्वात् । ततोऽनुमानस्याप्रमाणत्वादतीन्द्रियपरलोकसत्ताप्रतिपादने कुतस्तस्य प्रवृत्तिः ? । अथेदमेव जन्म पूर्वजन्मान्तरमन्तरेण न युक्तमिति जन्मान्तरलक्षणस्य परलोकस्य सिद्धिरिष्यते, सोऽर्थापत्तेः, यथाऽनुमानं वा ? । न तावदर्थापत्तिः, तल्लक्षणाऽभावात् । " दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते ।" इति हि तस्या लक्षणं विचारचतुरैः [illegible], न तु जन्मान्तरमन्तरेण नोपपन्नमिदं जन्मेति सिद्धम् । मातापितृशरीरमात्रेणैव तदुपपत्तेः तस्माद्धेतुक[illegible] [illegible] । अथ प्रज्ञामेधाऽऽदयो ज्ञाना [illegible] पूर्वका दृष्टाः [illegible] पूर्वका यथेतु न य- [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible] । न हि [illegible] [illegible] [illegible]



सिद्ध इति कुतस्तेन दृष्टान्तेन जन्मान्तरलक्षणपरलोकसाधनम् । तस्मात्केचित्प्रज्ञामेधाऽऽदयस्तथाभूताभ्यासपूर्वकाः, केचिन्मातापितृशरीरपूर्वका इति । न च प्रज्ञाऽऽदयः शरीरतो व्यतिरिच्यमानस्वभावाः संवेदन विषयतामुपयान्ति । शरीरञ्च तदन्वयव्यतिरेकानुवृत्तिमेव दृष्टमिति कथमन्यथा व्यवस्थामर्हन्ति ?। अथ पूर्वोपादानदृष्टमन्तरेण कथं माता पितृ-विलक्षणं शरीरम्, न त्वेतेनैव व्यभिचारो दृश्यते । न हि सर्वदा कारणाऽनुरूपमेव कार्यम् । तेन विलक्षणादपि मातापितृशरीरादपि प्रज्ञामेधाऽऽदिभिर्विलक्षणं तदपत्यस्य शरीरमुपजायेत, कदाचित्तदाकारानुकारि तत्कथं वाऽत्र विरोधः । यथा कश्चिच्छालूकादेव शालूकः, कश्चिद्गोमयात्,तथा कश्चिदुपदेशाद्विकल्प', कश्चित्तदाकारपदार्थदर्शनात् । अथ दर्शनादपि विकल्प' पूर्वविकल्प-वासनामन्तरेण कथं भवेत्, तर्हि गोमयादपि शालूक कथं शालूकमन्तरेणेति एतदपि प्रष्टव्यम् । तस्मात्कार्यकारणभावमात्रमेव तत् । तत्र च नियमाभावाद्विज्ञानादपि मातापितृशरीरादिज्ञानमुपजायताम् । अथवा-यथा विकल्पाद्व्यवहितादपि विकल्प उपजायते, तथा व्यवहितादपि मातापितृशरीरत एवेति न भेदं पश्यामः । यथा चैकमातापितृशरीरादनेकापत्योत्पत्तिस्तथैकस्मादेव प्रज्ञाणः प्रजोत्पत्तिरिति न जात्यन्तरपरिग्रहः कस्यचिदिति न परलोकसिद्धिः।न हि मातापितृसंबन्धमात्रमेव परलोक' तथेष्टावभ्युपगमविरोधात् । अथानाद्यनन्त आत्माऽस्ति,तमाऽऽश्रित्य परलोकः साध्यते । न ह्येकानुभवितृव्यतिरेकेणाऽनुसंधानं सम्भवति । भिन्नाऽनुभवितर्यनुसन्धानादृष्टेः । तदयुक्तम् । "परलोकिनोऽभावात्,परलोकाऽभाव." इति वचनात् । न ह्यनाद्यनन्त आत्मा प्रत्यक्षप्रमाणप्रसिद्ध';अनुमानेन चेतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसङ्ग' । सिद्धे आत्मन्येकरूपेणाऽनुसंधानविकल्पस्याऽविनाभूतत्वे आत्मसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चाऽनुसंधानस्य तदविनाभूतत्वसिद्धिरितीतरेतराऽऽश्रयसङ्गाच्चैकस्यापि सिद्धिः;न चाऽसिद्धमसिद्धेन साध्यते । किञ्च-दर्शनाऽनुसंधानयोः पूर्वाऽपरभाविनो. कार्यकारणभावः प्रत्यक्षसिद्धस्तत्कुतोऽनुसंधानस्मरणादात्मसिद्धि.। अपि च-शरीरान्तर्गतस्य ज्ञानस्याऽमूर्त्तत्वेन कथं जन्मान्तरशरीरसंचारः ।अथान्तराभवशरीरसन्तत्या संचरणमुच्यते, तदपि परलोकान्न विशिष्यते । सञ्चरंश्च न दृष्टो जीवन इह जन्मनि, मरणसमये भविष्यतीति दुरधिगमं तत्र परलोकसिद्धिः।अथवा सिद्धेऽपि परलोके प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धाऽसिद्धेर्व्यर्थमेवाऽनुमानेन परलोकास्तित्वसाधनम् । अथाऽऽगमात्प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धसिद्धिः । तथा सति परलोकास्तित्वमप्यागमादेव सिद्धमिति किमनुमानप्रयासेन ?। न चाऽऽगमादपि परलोकसिद्धिः। तस्य प्रामाण्यासिद्धेः । न चाऽप्रमाणसिद्धं परलोकाऽऽदिकमभ्युपगन्तुं युक्तम् । तदभावस्यापि तथाऽभ्युपगमप्रसङ्गात् । तत्र परलोकसाधकप्रमाणप्रतिपादनमकृत्वा भवशब्दव्युत्पत्तिरर्थसंस्पर्शिन्यभिधातुं युक्ता डित्थाऽऽदि शब्दव्युत्पत्तितुल्या तु यदि क्रियेत,तदा नाऽस्माभिरपि तत्प्रतिपादकप्रमाणपर्यनुयोगे मनः प्रणिधीयत इति पूर्वपक्ष । अत्रोच्यते-यदुक्तं पर्यनुयोगमात्रमस्माभि. क्रियत इति । तत्र वक्तव्यम्-पर्यनुयोगोऽपि क्रियमाणः किं प्रमाणतः क्रियते,उताऽप्रमाणत?। यदि प्रमाणतः तदयुक्तम्।यतस्तत्पर्यनुयोगकार्येऽपि प्रमाणं किं प्रत्यक्षं,उतानुमानाऽऽदि?।

यदि प्रत्यक्षम् । तदयुक्तम् । प्रत्यक्षस्याऽविचारकत्वेन पर्यनुयोगस्वरूपविचाररचनाऽचतुरत्वात् । न च प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणत्वं युक्तम् । भवदभ्युपगमेन तल्लक्षणाऽसंभवात् । तदसंभवश्च, स्वरूपव्यवस्थापकधर्मस्य लक्षणत्वात् । तत्र प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यस्वरूपव्यवस्थापको धर्मोऽविसंवादित्वलक्षणोऽभ्युपगन्तव्यः । तथाऽविसंवादित्वं प्रत्यक्षप्रामाण्येनाऽविनाभूतमभ्युपगम्यम । अन्यथाभूतात्ततः प्रत्यक्षप्रामाण्याऽसिद्धेः । सिद्धौ वा यतः कुतश्चिद्यत्किञ्चिदनभिमतमपि सिद्ध्येदित्यतिप्रसङ्गः । स चाऽविनाभावस्तस्य कुतश्चित्प्रमाणादवगन्तव्यः । अनवगतप्रतिबन्धादर्थान्तरप्रतिपत्तौ नालिकेरद्वीपवासिनोऽप्यनवगतप्रतिबन्धात् धूमात् धूमध्वजप्रतिपत्तिः स्यात् । अविनाभावावगमश्चाखिलदेशकालव्याप्त्या प्रमाणताऽभ्युपगमनीयः । अन्यथा यस्यामेव प्रत्यक्षव्यक्तौ संवादित्वप्रामाण्ययोरसाववगतस्तस्यामेवाविसंवादित्वात्तत्सिद्ध्येत् न व्यक्त्यन्तरे । तत्र तस्यानवगमात् । न चावगतलक्ष्यलक्षणसंबन्धा व्यक्तिर्देशकालान्तरमनुवर्त्तते । तस्याः प्रत्यक्षव्यक्तेस्तत्रैव ध्वंसात्, व्यक्त्यन्तराननुगमात् । अनुगमे वा व्यक्तिरूपताविरहाऽनुगतस्य सामान्यरूपत्वात्, तस्य च भवताऽनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा न सामान्यलक्षणाऽनुमानविषयाऽभावप्रतिपादनेन तत्प्रतिक्षेपो युक्तः । स च प्रमाणतः प्रत्यक्षे लक्ष्यलक्षणयोर्व्याप्त्याऽविनाभावावगमो यदि प्रत्यक्षादभ्युपगम्यते । तदयुक्तम् । प्रत्यक्षस्य सन्निहितस्वविषयप्रतिभासमात्र एव भवता व्यापाराऽभ्युपगमात् । अथैकत्र व्यक्तौ प्रत्यक्षेण तयोरविसंवादित्वप्रामाण्ययोरविनाभावाऽवगमादन्यत्राऽप्येवंभूतं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति प्रत्यक्षेणाऽपि लक्ष्यलक्षणयोर्व्याप्त्या प्रतिबन्धाऽवगमः, तर्ह्यन्यत्राऽप्येवभूतं ज्ञानलक्षणं कार्यमेवंभूतज्ञानकार्यप्रभवमिति तेनैव कथं न सर्वोपसंहारेण कार्यलक्षणहेतोः स्वसाध्याऽविनाभावाऽवगमः ? । येनाऽनुमानमप्रमाणमविनाभावसम्बन्धस्य व्याप्त्या ग्रहीतुमशक्यत्वादिति दूषणमनुमानवादिनं प्रति भवता सज्यमानं शोभते । किञ्च-अविसंवादित्वलक्षणो धर्म्मः प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्यव्यवस्थापकः प्रत्यक्षप्रतिबद्धत्वेन निश्चेयः । अन्यथा तत्रैव ततः प्रामाण्यलक्षणलक्ष्यव्यवस्था न स्यात् । असंबद्धस्य केनचित्सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाऽभावात्, तदन्यत्राऽपि ततस्तद्व्यवस्थाप्रसङ्गः । तथाऽभ्युपगमे च यथा संवादित्वलक्षणो धर्मो लक्ष्यानवगमेऽपि प्रत्यक्षधर्मिसंबन्धित्वेनाऽवगम्यते, तथा धूमोऽपि पर्वतैकदेशे अनलानवगतावपि प्रदेशसंबन्धितयाऽवगम्यत इति कथं समुदायः साध्यः, तदपेक्षया च पक्षधर्मत्वं हेतोरवगन्तव्यम् । न च पक्षधर्मत्वाऽप्रतिपत्तौ साध्यधर्मानलविशिष्टतत्प्रदेशप्रतिपत्तिः । प्रतिपत्तौ वा पक्षधर्मत्वाऽऽद्यनुसरणं व्यर्थम् । तत्प्रतिपत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तेः । समुदायस्य साध्यत्वेनोपचारात्तदेकदेशधर्मिधर्मत्वावगमेऽपि पक्षधर्मत्वाऽवगमाददोषे उपचरितं पक्षधर्मत्वं हेतोः स्यादित्यनुमानस्य गौणत्वाऽऽपत्तेः प्रमाणस्याऽगौणत्वादनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभ इति चोद्यावसरः । प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणेऽपि क्रियमाणेऽस्य सर्वस्य समानत्वेन प्रतिपादितत्वात् । यदा चाविसंवादित्वलक्षणप्रत्यक्षप्रामाण्यलक्ष्ययोः सर्वोपसंहारेण व्याप्तिरभ्युपगम्यते; अविसंवादित्वलक्षणश्च प्रामाण्यव्यवस्थापको धर्मिस्तत्राङ्गीक्रियते पूर्वोक्तन्यायेन तदा कथमनुमानं नाऽभ्युपगम्यते प्रमाणतया ? । तथाहि-यत्किञ्चित् दृष्टं, तस्य यत्राऽविनाभावस्तच्चिह्नस्तस्य तद्गमकं तत्रैत्येतावन्मात्रमेवाऽनुमानस्याऽपि लक्षणम् । तच्च प्रत्यक्षप्रामाण्यलक्षणमभ्युपगच्छताऽभ्युपगम्यते देवानां प्रियेण । तथा-प्रामाण्यमप्यनुमानस्याभ्युपगतमेव, यतो यदेवाविसंवादित्वलक्षणं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं, अनुमानस्याऽपि तदेव । तदुक्तम्-" अर्थस्याऽसम्भवेऽभावात्, प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता । प्रतिबद्धस्वभावस्य, तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ॥ १ ॥ " इति । अर्थाऽसंभवेऽभावः प्रत्यक्षस्य संवादस्वभावः प्रामाण्यनिमित्तम् । स च साध्याऽर्थाऽभावेऽभाविनो लिङ्गादुपजायमानस्यानुमानस्यापि समान इति कथं न तस्यापि प्रामाण्याऽभ्युपगमः । किञ्च-अयं चार्वाकः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी यदि परेभ्यः प्रत्यक्षलक्षणमनवबुध्यमानेभ्यस्तत्प्रतिपादयति, तदा तेषां ज्ञानसंबन्धित्वं कुतः प्रमाणादवगच्छति ? । न तावत्प्रत्यक्षात् परचेतोवृत्तीनां प्रत्यक्षतो ज्ञातुमशक्यत्वात्, किं तर्हि स्वाऽऽत्मनि ज्ञानपूर्वको व्यापारव्याहारो प्रमाणतो निश्चित्य परेष्वपि तथाभूतात्तद्दर्शनात्तत्संबन्धित्वलक्षणमवबुध्यते, ततस्तेभ्यस्तत्प्रतिपादयति । तथाऽभ्युपगमे च व्यापारव्याहाराऽऽदेर्लिङ्गस्य ज्ञानसंबन्धित्वलक्षणस्वसाध्याऽव्यभिचारित्वं पक्षधर्मत्वं चाऽभ्युपगतं भवतीति कथमनुमानोत्थापकस्याऽर्थस्य त्रैरूप्यमसिद्धं, येन नाऽस्माभिरनुमानप्रतिक्षेपः क्रियते, किं तु त्रिलक्षणं यदनुमानवादिभिर्लिङ्गमभ्युपगतं, तत्र लक्षणमाभयतीति प्रतिपाद्यत इति वचः शोभामनुभवति । प्रत्यक्षलक्षणप्रतिपादनार्थं परचेतोवृत्तिपरिज्ञानाऽभ्युपगमे,त्रिलक्षणहेत्वभ्युपगमस्याऽवश्यंभावित्वप्रतिपादनात् । अथ नाऽस्माभिः प्रत्यक्षमपि प्रमाणत्वेनाऽभ्युपगम्यते; येन तल्लक्षणप्रणयनेऽवश्यंभाव्यनुमान-प्रामाण्याऽभ्युपगम इत्यस्मान्प्रति भवद्भिः प्रतिपाद्येत । यत्तु प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति वचनं तत्तान्त्रिकलक्षणालक्षितलोकसंव्यवहारिप्रत्यक्षाऽपेक्षया । अत एव लक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकाऽनुमानस्य, अनुमानमप्रमाणमित्यादिग्रन्थसंदर्भेणाऽप्रामाण्यप्रतिपादनं विधीयते, न पुनर्गोपालाऽऽद्यबललोकव्यवहाररचनाचतुरस्य धूमदर्शनमात्राऽऽविर्भूताऽनलप्रतिपत्तिरूपस्य । नैतच्चारु । तस्यापि महानसाऽऽदिदृष्टान्त-धर्मिप्रवृत्तप्रमाणाऽवगतस्वसाध्यप्रतिबन्धनिश्चितसाध्यधर्मिधर्मधूमबलोद्भूतत्वेन तान्त्रिकलक्षणलक्षितप्रत्यक्षपूर्वकत्वस्य वस्तुतः प्रदर्शितत्वात् । एतत्पक्षधर्मत्वमियं चाऽस्य धूमस्य व्याप्तिरिति साङ्केतिकव्यवहारस्य गोपालाऽऽदिमूर्खलोकाऽसम्भविनोऽकिञ्चित्करत्वात् । प्रत्यक्षस्य चाऽविसंवादित्वं प्रामाण्यलक्षणं तद्यथा सम्भवति, तथा परतः प्रामाण्यं व्यवस्थापयद्भिः " सिद्धं " इत्येतत्पदव्याख्याया दर्शितं, न पुनरुच्यते । तत् स्थितमेतत् प्रत्यक्षस्य भवदभिप्रायेण प्रामाण्यव्यवस्थापकलक्षणसंभवः । तदभावे चाऽनुमानस्यापि प्रामाण्यप्रसिद्धिरिति न प्रत्यक्षं पर्यनुयोगविधायि । नाप्यनुमानाऽऽदिकं पर्यनुयोगकारि । अनुमानाऽऽदेः प्रमाणत्वेनाऽनभ्युपगमात् अथाऽस्माभिर्यद्यप्यनुमानाऽऽदिकं न प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते, तथापि परेण तत्प्रमाणतयाऽभ्युपगतमिति तत्प्रसिद्धेन तेन परस्य पर्यनुयोगो विधीयते । ननु परस्य

तत्प्रमाणतः प्रामाण्याऽभ्युपगमविषयः, अथाऽप्रमाणतः ?। यदि प्रमाणतः, तदा भवतोऽपि प्रमाणविषयस्तत्स्यात्। न हि प्रमाणतोऽभ्युपगमः कस्यचिद्भवति,कस्यचिन्नेति युक्तम्। अथाऽप्रमाणतोऽनुमानाऽऽदिकं प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते परेण, तदाऽप्रमाणेन न तेन पर्यनुयोगो युक्तः। अप्रमाणस्य परलोकसाधनवत्तत्साधकप्रमाणपर्यनुयोगेऽप्यसामर्थ्यात्। अथ तेन प्रमाणलक्षणाऽपरिज्ञानात्तत्प्रामाण्यमभ्युपगतमिति तत्सिद्धेर्नैव तेन परलोकाऽऽदिसाधनाभिमतप्रमाणपर्यनुयोगः क्रियते। नन्वज्ञानात्तत्परस्य प्रमाणत्वेनाऽभिमतं; न चाऽज्ञानादन्यथात्वेनाऽभिमन्यमानं वस्तु तत्साध्यामर्थक्रियां निर्वर्त्तयति । अन्यथा विषत्वेनाऽऽज्ञैर्मन्यमानं महौषधाऽऽदिकमपि तान्मारयितुकामेन दीयमानं स्वकार्यकरणक्षमं स्यात्। अथ नाऽस्माभिः परलोकप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगोऽनुमानाऽऽदिना स्वतन्त्रप्रसिद्धप्रामाण्येन,पराभ्युपगमावगतप्रामाण्येन वा क्रियते; किं तर्हि यदि परलोकाऽऽदिकोऽतीन्द्रियोऽर्थः परेणाभ्युपगम्यते, तदा तत्प्रतिपादकं प्रमाणं वक्तव्यम्। प्रमाणनिबन्धना हि प्रमेयव्यवस्थितिः। तस्य च प्रमाणस्य तल्लक्षणाऽऽद्यसम्भवेन तद्विषयाभिमतस्याप्यभाव इति, एवं विचारणालक्षणः पर्यनुयोगः क्रियते इति न स्वतन्त्राऽनुमानोपन्यासपक्षधर्म्यसिद्ध्यादिलक्षणदोषाऽवकाशो बृहस्पतिमताऽनुसारिणाम्। नन्वेवमप्यनया भङ्ग्या भवता परलोकाऽऽद्यतीन्द्रियार्थप्रसाधकप्रमाणपर्यनुयोगे प्रसङ्गसाधनाऽऽख्यमनुमानं, तद्विपर्ययस्वरूपं च स्ववाचैव प्रतिपादितं भवति। तथाहि-प्रमाणनिबन्धना प्रमेयव्यवस्थितिरिति एवं वदता प्रमेयव्यवस्था प्रमाणनिमित्तैव प्रतिपादिता भवति। एतच्च प्रसङ्गसाधनम्। तच्च व्याप्यव्यापकभावे सिद्धे यत्र व्याप्याऽभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः प्रदर्श्यत इत्येवंलक्षणम्। तेन प्रमेयव्यवस्था प्रमाणप्रवृत्त्या व्याप्ता प्रमाणतो भवता प्रदर्शनीया। अन्यथा प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेणापि प्रमेयव्यवस्था स्यात्। ततश्च कथं परलोकाऽऽदिसाधकप्रमाणपर्यनुयोगेऽपि परलोकव्यवस्था न भवेत् ?। व्याप्यव्यापकभावग्राहकप्रमाणाऽभ्युपगमे च कथं कार्यहेतोः स्वभावहेतोर्वा परलोकाऽऽदिप्रसाधकत्वेन प्रवर्त्तमानस्य प्रतिक्षेपः ?। व्याप्तिप्रसाधकप्रमाणसद्भावेऽनुमानप्रवृत्तेरनायाससिद्धत्वात्। प्रमाणाभावे तन्निबन्धनायाः प्रमेयव्यवस्थाया अप्यभाव इति प्रसङ्गविपर्ययः। स च व्यापकाऽभावे व्याप्यस्याऽप्यभाव इति एवम्भूतव्यापकाऽनुपलब्धिसमुद्भूताऽनुमानस्वरूपम्। एतदपि प्रसङ्गविपर्ययरूपमनुमानं प्रमाणतो व्याप्यव्यापकसिद्धौ प्रवर्त्तेत इति व्याप्तिप्रसाधकस्य प्रमाणस्य तत्प्रसादलभ्यस्य चाऽनुमानस्य प्रामाण्ये स्ववाचैव भवता दत्तः स्वहस्त इति नानुमानाऽऽदिप्रामाण्यप्रतिपादनेऽस्माभिः प्रयस्यते। अतो यदुक्तम्-" सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पते " इति। तदभिधेयशून्यमिव लक्ष्यते। उक्तन्यायात्। यच्चोक्तम्-प्रत्यक्षं सन्निहितविषयत्वेन चक्षुरादिप्रभवं परलोकाऽऽदिग्राहकत्वेन न प्रवर्त्तते। तत्र सिद्धसाधनम्। यच्चोक्तम्-नाप्यतीन्द्रियं योगिप्रत्यक्षं, परलोकवत्तस्याऽसिद्धेरिति । तद्विस्मरणशीलस्य भवतो वचनम्। अतीन्द्रियार्थप्रवृत्तिप्रवणस्य योगिप्रत्यक्षस्यानन्तरमेव प्रतिपादितत्वात् । यत् पुनरिदमुच्यते-नाऽपि प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं तदभावे प्रवर्त्तते। तदसङ्गतम्। प्रत्यक्षेण हि संबन्धग्रहणपूर्वं परोक्षे पावकाऽऽदौ यथाऽनुमानं प्रवर्त्तमानमुपलभ्यते, स एव न्यायः परलोकसाधनेऽप्यनुमानस्य किमित्यदृष्टो, दृष्टो वा ?। तथाहि-यत्कार्यं तत्कार्यान्तरोद्भूतं, यथा पटाऽऽदिलक्षणं कार्यं, कार्यं चेदं जन्म इति भवत्यतो हेतोः परलोकसिद्धिः। तथाहि-" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्याऽनपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ " इति न तावत्कार्यत्वमिह जन्मनो न सिद्धम्। अकार्यत्वे हेतुनिरपेक्षस्य नित्यं सत्त्वाऽसत्त्वप्रसङ्गात्। अथ स्वभावत एव कादाचित्कत्वं पदार्थानां भविष्यति। न हि कार्यस्य कारणभावपूर्वकत्वं प्रत्यक्षत उपलब्धं, येन तदऽभावान्निवर्तेत, प्रत्यक्षतः कार्यकारणभावस्यैवाऽसिद्धेः। यद्येवं बाह्येनाप्यर्थेन सह कार्यकारणभावस्याऽसिद्धेः, स्वसंवेदनमात्रत्वे सत्यद्वैतं, विचारतस्तस्याऽप्यभावे सर्वेऽशून्यत्वमिति सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । तस्माद्यथा प्रत्यक्षेण बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वमात्मनः प्रतीयते, अन्यथेहलोकस्याप्यप्रसिद्धेः, प्रत्यक्षतस्तज्जन्यस्वभावत्वानवगमे तस्य तद्ग्राहकत्वाऽसंभवात्, तथा चेहलोकसाधनार्थमङ्गीकर्तव्यं प्रत्यक्षं स्वार्थेनाऽऽत्मनः प्रतिबन्धसाधकम्, तथा परलोकसाधनार्थमपि तदेव साधनमिति सिद्धः परलोकोऽनुमानतः । यथा च बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वं प्रत्यक्षस्य कादाचित्कत्वेन साध्यते, धूमस्यापि वह्निप्रतिबद्धत्वम् , तथेहजन्मनोऽपि कादाचित्कत्वेन जन्माऽन्तरप्रतिबद्धत्वमपि। ततोऽनलबाह्यार्थवत्परलोकेऽपि सिद्धमनुमानम् । अथेहजन्माऽऽदिभूतमाताऽपितृसामग्रीमात्रादप्युत्पत्तेः कादाचित्कत्वं युक्तमेवेहजन्मनः। नन्वेवं प्रदेशसमनन्तरप्रत्ययमात्रसामग्रीविशेषादेव धूमप्रत्यक्षसंवेदनयोः कादाचित्कत्वमिति न सिद्ध्यति वह्निबाह्यार्थप्रतीतिरिति सकलव्यवहाराऽभावः। अथाऽऽकारविशेषादेवानन्यथात्वसंभविनोऽनलबाह्यार्थसिद्धिः, तर्हि इहजन्मनोऽपि प्रज्ञामेधाऽऽद्याकारविशेषत एव मातापितृव्यतिरिक्तनिजजन्मान्तरसिद्धिः। तथा-यथाऽऽकारविशेष एवाऽयं तैमिरिकाऽऽदिज्ञानव्यावृत्तः प्रत्यक्षस्य बाह्यार्थमन्तरेण न भवतीति निश्चीयते, अन्यथा बाह्यार्थासिद्धेर्बौद्धाऽभिमतसंवेदनाऽद्वैतमेवेति पुनरपि व्यवहाराऽभावः, तथेहजन्माऽऽदिभूतप्रज्ञाविशेषाऽऽदिजन्मविशेषाऽऽकारो निजजन्मान्तरप्रतिबद्ध इति निश्चीयतामनुमानतः। अथ प्रत्यक्षमेव सविकल्पकं परमार्थतः प्रतिपत्तुः "ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैः" इत्यादि मीमांसकाऽऽदिप्रसिद्धं साधकं वह्निबाह्यार्थपूर्वकत्वस्य धूमजाग्रत्पुरोवृत्तिस्तम्भाऽऽदिप्रत्ययस्याऽत्राभ्युपगमे, परलोकवादिनः स्वपक्षमनायाससिद्धमेव मन्यन्ते। "न हि दृष्टेऽनुपपन्नम्" इति न्यायात्। यथैव हि निश्चयरूपा मातृपितृजन्मप्रतिबद्धत्वसिद्धिः, तथैवेहजन्मसंस्कारव्यावृत्ताऽऽदिजन्मप्रज्ञाऽऽद्याकारविशेषान्निजजन्मान्तरप्रतिबद्धत्वसिद्धिरपि प्रत्यक्षनिश्चिता स्यादिति न परलोकक्षतिः। न च निश्चयप्रत्ययोऽनभ्यासदशायामनुमानतामतिक्रामति, " पूर्वरूपसाधर्म्यात्तत्तथाप्रसाधितं नाऽनुमेयतामतिपतति" इतिन्यायात्, अन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मताऽनुसरणस्याऽनभ्यासदशायामुपलब्धेः। अभ्यासदशायां च पक्षधर्मताऽऽद्यनुसरणस्याऽन्यत्राप्यसंवेदनात्, सिद्धमनुमानप्रतीतत्वं परलोकस्य। अथेतरेतराऽऽश्रयदोषादनुमानं नास्त्येवैवंविधे विषय इत्युच्येत। नन्वेवं सति सर्वभेदाभावतो व्यवहारोच्छेद इति तदुच्छेदमनभ्युपगच्छता व्यवहारार्थिनाऽवश्यमनुमानमभ्युपगन्तव्यम्। एतेन प्रत्यक्ष-

पूर्वकत्वाभावेऽप्यनुमानस्य प्रामाण्यं प्रतिपादितम्। न चानुमानपूर्वकत्वेऽपीतरेतराऽऽश्रयदोषानुषङ्गः । तस्यैवेतरेतराऽऽश्रयदोषस्य व्यवहारप्रवृत्तितो निराकरणात्। यदप्युक्तम्-अनुमानपूर्वकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्नानुमानप्रवृत्तिरिति । तदप्यसङ्गतम्। एवं हि सति प्रत्यक्षगृहीतेऽप्यर्थे विप्रतिपत्तिविषये नानुमानप्रवृत्तिमन्तरेण तन्निरास इति बाह्येऽर्थे प्रत्यक्षस्याव्यापारात्पुनरप्यद्वैताऽऽपत्तेः,शून्यताऽऽपत्तेर्वा व्यवहारोच्छेद इति व्यवहारबलात्सैवानवस्था परिह्रियत इत्यभ्युपगमवादेन चैतदुक्तम्। अन्यथा बाह्यार्थव्यवस्थापनाय प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते,तथा प्रदर्शितहेतोर्व्याप्तिप्रसाधनार्थं केषाञ्चिन्मतेन निर्विकल्पकम्, अन्येषां तु सविकल्पकं चक्षुरादिकरणव्यापारजन्यम्, अपरेषां मानसं, केषाञ्चिद्व्यावृत्तिग्रहणोपयोगि ज्ञानम्, अन्येषां प्रत्यक्षानुपलम्भबलोद्भूतालिङ्गजोहाऽऽख्यं परोक्षं प्रमाणं तत्र व्याप्रियत इति कथमनुमानेन प्रतिबन्धग्रहणेऽनवस्थेतरेतराऽऽश्रयदोषप्रसक्तिः परलोकवादिनः प्रति भवता प्रेर्येत ?। यदप्युक्तम्—सर्वमप्यनुमानमस्मान्प्रति प्रमाणत्वेनासिद्धमित्यादि । तदप्यसङ्गतम्। यतः किमनुमानमात्रस्याप्रामाण्यं भवता प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्, अनुमानमप्रमाणमित्यादिप्रन्थेन; अथ तान्त्रिकलक्षणक्षेपोऽतीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपो वा ?। न तावदनुमानमात्रप्रतिषेधो युक्तः। लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। यतः प्रतियन्ति कोविदाः कस्यचिदर्थस्य दर्शने नियमतः किञ्चिदर्थान्तरं, न तु सर्वस्मात्सर्वस्यावगमः । उक्तं चान्येन-" सगृह्णान्निर्गतो भूयो, न तदाऽऽगन्तुमर्हति ।" अतः किञ्चिद् दृष्ट्वा कस्यचिदवगमे निमित्तं कल्पनीयम्। तच्च नियतसाहचर्यमविनाभावशब्दवाच्यं नैयायिकाऽऽदिभिः परिकल्पितम्। तदवगमश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसहायमानसप्रत्यक्षतः प्रतीयते। सामान्यद्वारेण प्रतिबन्धावगमाद्देशाऽऽदिव्यभिचारो न बाधकः। नाऽपि व्यक्त्यानन्त्यम्। उभयत्रापि सामान्यस्यैकत्वात्। सामान्याऽऽकृष्टाशेषव्यक्तिप्रतिभानं च मानसे प्रत्यक्षे, यथा शतसंख्याऽवच्छेदेन शतमिति प्रत्यये विशेषणाऽऽकृष्टानां पूर्वगृहीतानां शतसंख्याविषयपदार्थानाम् । तथाहि—एते शतमिति प्रत्ययो भवत्येव । सामान्यस्य च सत्त्वमनुगताऽबाधितप्रत्ययविषयत्वेन व्यवस्थापितं, तदेव नियतसाहचर्यमर्थमर्थान्तरं प्रतिपादयदुपलब्धं सत्प्रतिपादयति । उपलम्भाश्चावश्यं क्वचित्स्थितस्य, सैव पक्षधर्मता। ततः सम्बन्धानुस्मृतौ ततः साध्यावगमः । यस्तु प्रतिबन्धं नोपैति, तस्याऽपि कथं न सर्वस्मात्सर्वप्रतिपत्तिः। अभ्युपगमे चाऽप्रतिपन्नेऽपि संबन्धे प्रतिपत्तिप्रसङ्गः । प्रमातृसंस्कारकारकाणां पूर्वदर्शनानामभावादित्यनुत्तरम् । संबन्धाप्रतिपत्तौ प्रमातृसंस्कारानुपपत्तेः । दर्शनजः संस्कारोऽप्यनभिव्यक्तः सत्तामात्रेण न प्रतिपत्त्युपयोगी । न च स्मृतिमन्तरेण तत्सद्भावोऽपि । न चानुभवप्रध्वंसनिबन्धना स्मृतिः। क्वचिद्विषये संस्कारमन्तरेण तदनुपपत्तेः। प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकतासंभवात्। यत्राप्यभ्यस्ते विषये वस्त्वन्तरदर्शनादव्यवधानेन वस्त्वन्तरप्रतिपत्तिः,तत्राऽपि प्राक्तनक्रमाऽऽश्रयेण वस्त्वन्तरावगमः। इयांस्तु विशेषः—एकत्रानभ्यस्तत्वादन्तराले स्मृतिसंवेदनम्,अन्यत्राऽभ्यासाद्विद्यमानाया अप्यसंवित्तिः। केचित्तु योगिप्रत्यक्षं संबन्धग्राहकमाहुः। व्याप्तेः सकलाऽऽक्षेपेणावगमात्। तथा च यत्र यत्रेति देशकालविशिष्टानां व्यक्तीनामनवभासेऽनुपपत्तिः। अत एकत्र क्षणे योगित्वं प्रतिबन्धग्राहिणः, एतत्पूर्वस्माद्विशिष्टं, तल्लोके अर्थान्तरदर्शनात् । अर्थान्तरस्तुदृष्टप्रतीतौ तार्किकाणां निमित्तचिन्तायां पक्षधर्मत्वाऽऽद्यभिधानम्,अतो न तान्त्रिकलक्षणप्रतिक्षेपोऽपि। उत्पन्नप्रतीतीनामस्तु प्रामाण्यम्। उत्पाद्यप्रतीतीनां तु अतीन्द्रियार्थपरलोकसर्वज्ञाऽऽद्यनुमानानां प्रतिक्षेप इति चेत्। तदसत्। यद्यनवगतसंबन्धान् प्रतिपत्तीनभिप्रेत्यैतदुच्यते,तदा धूमाऽऽदिष्वपि तुल्यम्। अथ गृहीताविनाभावानामप्यतीन्द्रियपरलोकाऽऽदिप्रतिभासानुत्पत्तेरेवमुच्यते । तदसत्। ये हि कार्यविशेषस्य तद्विशेषेण गृहीताविनाभावास्ते तस्मात्परलोकाऽऽद्यवगच्छन्त्येव। अतो न ज्ञायते केन विशेषेणातीन्द्रियार्थानुमानप्रतिक्षेपः। साहचर्याविशेषेऽपि व्याप्यगता नियतता प्रयोजिका,न व्यापकगता। अतः सम्यक्प्रासिकानामपि व्याप्यमुखेनैव प्रतिपत्तिः नियतताऽवगमे चार्थान्तरप्रतिपत्तौ न बाधा, न प्रतिबन्धः । एकस्य रूपभेदानुपपत्तेः, ततो न विशेषविरुद्धसम्भवः, नाऽपि विरुद्धाव्यभिचारिण इति। यदुक्तम्-विरुद्धाऽनुमानविरोधयोः सर्वत्र सम्भवात्, क्वचिच्च विरुद्धाव्यभिचारिण इति । एतदप्यपास्तम्। अविनाभावसंबन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। अवस्थादेशकालाऽऽदिभेदादित्यादेश्च पूर्वनीत्याऽनुमानप्रमाणत्वेऽनुपपत्तिः। परोक्षस्यार्थस्य सामान्याऽऽकारेणाऽप्यतः प्रतिपत्तौ लोकप्रतीतायां बौद्धैस्तु कार्यकारणभावाऽऽदिलक्षणः प्रतिबन्धस्तन्निमित्तत्वेन कल्पितः। तदुक्तम्-

"कार्यकारणभावाद्वा, स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमो, दर्शनान्न न दर्शनात् ॥ १ ॥ " इत्यादि ।

तथा-

" अवश्यभावनियमः, कः परस्यान्यथा परैः ।
अर्थान्तरनिमित्तो वा,धर्मो वाससि रागवत् ॥१॥"इति च।

तथाहि-क्वचित्पर्वताऽऽदिदेशे धूम उपलभ्यमानो यद्यग्निमन्तरेणैव स्यात्तदा पावकधर्मानुवृत्तितस्तस्य तत्कार्यत्वं यन्निश्चितं विशिष्टप्रत्यक्षाऽनुपलम्भाभ्या तदेव न स्यादित्यहेतोस्तस्याऽसत्त्वात् क्वचिदप्युपलम्भो न स्यात्, सर्वदा सर्वत्र सर्वाऽऽकारेण वोपलम्भ स्यात्। अहेतोः सर्वदा सत्त्वात्। स्वभावश्च यदि भावव्यतिरेकेण स्यात्, ततो भावस्य निःस्वभावत्वाऽऽपत्तेः स्वभावस्याप्यभावाऽऽपत्तिः। तत्प्रतिबन्धसाधकं च प्रमाणं कार्यहेतोर्विशिष्टप्रत्यक्षानुपलम्भशब्दवाच्यं प्रत्यक्षमेव,सर्वज्ञसाधकहेतुप्रतिबन्धनिश्चयप्रस्तावे प्रदर्शितम्। स्वभावहेतोस्तु कस्यचिद्विपर्यये बाधक प्रमाणं व्यापकानुपलब्धिस्वरूपं, कस्यचित्तु विशिष्टं प्रत्यक्षमभ्युपगतम् । सर्वथा सामान्यद्वारेण व्यक्तीनामतद्रूपपरावृत्तव्यक्तिरूपेण वा तासां प्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः । अन्यथा प्रतिबद्धादन्यतोऽन्यप्रतिपत्तावतिप्रसङ्गात्। प्रतिबन्धप्रसाधकं च प्रमाणमवश्यमभ्युपगमनीयम् । अन्यथाऽगृहीतप्रतिबन्धत्वादन्यतोऽन्यप्रतिपत्तावपि प्रसङ्गस्तदवस्थ एव यत्र। गृहीतप्रतिबन्धोऽसावर्थ उपलभ्यमानः साध्यसिद्धिं विदधाति, तद्धर्मता तस्य पक्षधर्मत्वस्वरूपा, तद्ग्राहकं च प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानं वा ?। तदुक्तं धर्मकीर्तिना-" पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा " अतो लोकप्रसिद्धतान्त्रिकलक्षणलक्षि-

तानुमानयोर्भेदाभावादतीन्द्रियपरलोकाऽऽद्यर्थसाधकत्वमपि तस्यैवेति तत्प्रामाण्याऽनभ्युपगमे इहलोकस्यापि अभ्युपगमाभावप्रसङ्गः । न च किमत्र निर्विकल्पकं मानसं योगिप्रत्यक्षमूहो वा प्रतिबन्धनिश्चायकं, प्रतिबन्धोऽपि नियतसाहचर्यलक्षणः, कार्यकारणभावाऽऽदिर्वेति चिन्ताऽत्रोपयोगिनी। धूमादग्निप्रतिपत्तिवत्प्रज्ञामेधाऽऽदिविज्ञानकार्यविशेषाभिजजन्मान्तरविज्ञानस्वभावपरलोकप्रतिपत्तिसिद्धेः । अतोऽनुमानाऽप्रामाण्यप्रतिपादनाय पूर्वपक्षवादिना यद्युक्तिजालमुपन्यस्तं, तन्निरस्तं द्रष्टव्यम् । प्रतिपदमुच्चार्य न दूष्यते, ग्रन्थगौरवभयात् । यदप्युक्तम्-परलोके प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेरर्थाऽऽपत्तिरेवेयमिहजन्मान्यथाऽनुपपत्त्या परलोकसद्भाव इति । तदपि न सम्यक् । पूर्वानुसारेण सर्वस्य नियतप्रत्ययस्य प्रवृत्तेरनुमानत्वप्रतिपादनात् । अविनाभावसम्बन्धस्य ग्रहीतुमशक्यत्वान्नात्रानुमानमिति चेत् , नन्वेवं तदेवाद्वैतं शून्यत्वं वा कस्य केन दोषाऽभिधानम् । तस्मात्संव्यवहारकारिणा प्रत्यक्षेणोहेन वा प्रतिबन्धसिद्धिरिति कथं नानुमानात्परलोकसिद्धिः ?। यदप्युक्तम्-मातापितृसामग्रीमात्रेणेहजन्मसम्भवान्न तज्जन्मव्यतिरिक्तभूतपरलोकसाधनं युक्तमिति । तदपि प्रतिविहितमेव । समनन्तरप्रत्यक्षस्य भावात् । स्वप्नाऽऽदिप्रत्ययवन्न प्रत्यक्षाद् बाह्यार्थसिद्धिरपीति बौद्धाभिमतपक्षसिद्धिप्रसङ्गः । अतस्तत्स्थात् । यदपि प्रतिपादितम्-सन्निहितमात्रविषयत्वात् प्रत्यक्षस्य देशकालव्याप्त्या प्रतिबन्धग्रहणाऽसामर्थ्यमिति । तदपि न किञ्चित् । एवं सति अतिसन्निहितविषयत्वेन प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्र एव प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति तदेव बौद्धाऽऽद्यभिमतं स्वसंवेदनमात्रं सर्वव्यवहारोच्छेदकारि प्रसक्तमिति प्रतिपादितत्वात् । तस्माल्लोकव्यवहारप्रवर्तनक्षमसविकल्पकप्रत्यक्षबलादूहाऽऽख्यप्रमाणाद्वा देशकालव्याप्त्या यथोक्तलक्षणस्य हेतोः प्रतिबन्धग्रहणे प्रवृत्तिरनुमानस्येति न व्याहतिः प्रकृतस्येति । एतदपि निरस्तम् । केचित्प्रज्ञाऽऽदय इति इत्यादि । न च प्रज्ञामेधाऽऽद्यः शरीरस्वभावान्तर्गता इत्यादि चोद्यं युक्तम् । तदन्तर्गतत्वेऽपि परिहारसम्भवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां मातापित्रोः पितृशरीरजन्यत्वस्य पितृशरीर तर्हि हेतुभेदान्न भेदो मातापितृशरीरादपत्यप्रज्ञाऽऽदीनाम् । अयमपरो बृहस्पतिमतानुसारिण एव दोषोऽस्तु, यः कार्यभेदेऽपि कारणभेद नेच्छति। अस्माकं तु हर्षविषादाऽऽद्यनेकविरुद्धधर्माऽऽक्रान्तस्य विज्ञानस्यान्तर्मुखाऽऽकारतया वेद्यस्य रूपरसगन्धस्पर्शाऽऽदियुगपद्भाविबालकुमारयौवनवृद्धावस्थाऽऽद्यनेकक्रमभाविविरुद्धधर्माध्यासिततच्छरीराऽऽदेर्वाह्येन्द्रियप्रभवविज्ञानसमधिगम्याद्भेदः सिद्ध एव। विरुद्धधर्माध्यासः,कारणभेदश्च पदार्थानां भेदकः । स च जलाऽनलयोरिवशरीरविज्ञानयोर्विद्यत एवेति कथ न तयोर्भेदः ?। तद्भेदादप्यभेदे ब्रह्माद्वैतवादाऽऽपत्तेस्तदवस्थ एव पृथिव्यादितत्त्वचतुष्टयाभावाऽऽपत्त्या व्यवहारोच्छेदः । अथवा मातापितृपूर्वजन्मैकसामग्रीजन्यमेतत्कार्यम् । एतत् न दोषो व्यतिरिक्तपक्षेऽपि विज्ञानशरीरयोः । पूर्वमप्युक्तं विलक्षणादप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मातापितृशरीराद्विज्ञानमुपजायता ; न हि कारणाऽऽकारमेव सकलं कार्यमिति । तदप्यसत् । यतो न हि कारणाविलक्षण कार्यं न भवतीत्युच्यते, अपि तु तदन्वयव्यतिरेकाऽनुविधानात् तत्कार्यत्वम् । तथाहि-यद् यद् विकारान्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तत् कार्यमिति व्यवस्थाप्यते । यथाऽगुरुकर्पूरोर्णाऽऽदिदाह्यदाहकपावकगतसुरभिगन्धाऽऽद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी धूमस्तत्कार्यतया व्यवस्थितः । एकसन्तत्यनुपतितशास्त्रसंस्काराऽऽदिसंस्कृतप्राक्तनविज्ञानधर्मान्वयव्यतिरेकाऽनुविधायि च प्रज्ञामेधाऽऽद्युत्तरविज्ञानमिति कथं न तत्कार्यमभ्युपगम्यते ?। तदनभ्युपगमे धूमाऽऽदेरपि प्रसिद्धवह्न्यादिकार्यस्य तत्कार्यत्वाप्रसिद्धिरिति पुनरपि सकलव्यवहारोच्छेदः । "तस्माद्यस्यैव संस्कार, नियमेनाऽनुवर्त्तते । तन्नान्तरीयकं चित्त-मतश्चित्तसमाश्रितम्" ॥१॥ प्रतिपादितश्च प्रमाणतः प्रतिनियत कार्यकारण भावः सर्वज्ञसाधने "कुसमयविसासणं" इति पदव्याख्यां कुर्वद्भिर्न पुनरिहोच्यते । योऽपि शालूकदृष्टान्तेन व्यभिचारः । यथा गोमयादपि शालूकः, कश्चित्समानजातीयादपि शालूकादेव; तथा केचित्प्रज्ञामेधाऽऽदयस्तदभ्यासात् ; कोचत्तु रसायनोपयोगात् , अपरे मातापितृशुक्रशोणितविशेषादेवेति । सोऽपि न सम्यक् । तत्राऽपि समानजातीयपूर्वाऽभ्याससम्भवात्' अन्यथा समानेऽपि रसायनाऽऽद्युपयोगे यमलकयोः कस्यचित् काऽपि प्रज्ञामेधाऽऽदिकमिति प्रतिनियमो न स्यात् । रसायनाऽऽद्युपयोगस्य साधारणत्वादिति । न च प्रज्ञाऽऽदीनां जन्माऽऽदौ,रसायनाभ्यासे च विशेषः। शालूकगोमयजन्यस्य तु शालूकाऽऽदेस्तदन्यस्माद्विशेषो दृश्यते,क्वचिज्जातिस्मरणं च दर्शनमिति न युक्ता दृष्टकारणादेव मातापितृशरीरात्प्रज्ञामेधाऽऽदिकार्यविशेषोत्पत्तिः । न च गोमयशालूकाऽऽदेर्व्यभिचारविषयत्वेन प्रतिपादितस्यात्यन्तवैलक्षण्यम् । रूपरसगन्धस्पर्शवत्पुद्गलपरिणामत्वेन द्वयोरपि अवैलक्षण्यात् । विज्ञानशरीरयोश्चान्तर्वहिर्मुखाऽऽकारविज्ञानग्राह्यतया स्वपरसवेद्यतया स्वसंवेदनवाह्यकरणाऽऽदिजन्यप्रत्ययाऽनुभूयमानतया च परस्पराऽननुयाय्यनेकविरुद्धधर्माध्यासतोऽत्यन्तवैलक्षण्यस्य प्रतिपादितत्वात् , नोपादानोपादेयभावो युक्तः । शरीरवृद्ध्यादेश्चैतन्यवृद्ध्यादिलक्षणं उपादानोपादेयभावधर्मोपलम्भः प्रतिपद्यते । असौ महाकायस्यापि मातङ्गाजगराऽऽदेश्चैतन्याल्पत्वेन व्यभिचारीति न तद्भावसाधकः । यस्तु शरीरविकाराच्चैतन्यविकारोपलम्भलक्षणस्तद्धर्मभावः प्रतिपाद्यतेऽसावपि सात्त्विकसत्त्वानामन्यगतचित्तानां वा छेदाऽऽदिलक्षणशरीरविकारसद्भावेऽपि तच्चित्तविकारानुपलब्धेरसिद्धः । दृश्यते च सहकारिविशेषादपि जलभूम्यादिलक्षणाद्बीजोपादानस्याङ्कुराऽऽदेर्विशेष इति सहकारिकारणत्वेऽपि शरीराऽऽदेर्विशिष्टाऽऽहाराऽऽद्युपयोगाऽऽदौ, यौवनावस्थायां वा शास्त्राऽऽदिसंस्कारोपात्तविशेषपूर्वज्ञानोपादानस्य विज्ञानस्य विवृद्धिलक्षणो विशेषो नाऽसंभवी । यदप्युक्तम्—अनादिमातापितृपरम्परायां तथाभूतस्यापि बोधस्य व्यवहितमातापितृगतस्य सद्भावात्ततो वासनाप्रबोधेन युक्त एव प्रज्ञामेधाऽऽदिविशेषस्य संभव इति । तदप्ययुक्तम् । अनन्तरस्यापि मातापितृपाण्डित्यस्य प्रायः प्रबोधसंभवात् । ततश्चक्षुरादिकरणजनितस्य स्वरूपसंवेदनस्य चक्षुरादिज्ञानस्य वा युगपत्क्रमेण चोत्पत्तौ मयैवोपलब्धमेतदिति प्रत्यभिज्ञानं सन्तानान्तरतदपत्यज्ञानानामपि स्यात् । न च मातापितृज्ञानोपलब्धेः तदपत्याऽऽदेः कस्यचित्प्रत्यभिज्ञानमुपलभ्यते । अनेनैकस्माद् ब्रह्मणः प्रजोत्पत्ति प्रत्युक्ता । एकप्रभवत्वे हि सर्वप्राणिनां परस्परं प्रत्यभिज्ञाप्रसङ्गः । एकसन्तानोद्भूतदर्शनस्पर्शनप्रत्यययो-

रिव । सम्म० १ काण्ड । ( अग्रे ' परलोग ' शब्दो वीक्ष्य ) ( यादृश एवेहलोके तादृश एव परलोके, अन्यथा वेति ' इह-भव ' शब्दे द्वितीयभागे ६४७ पृष्ठे गतम् )

परभवविणिवाय-परभवविनिपात-पुं० । पराभिभवसपर्के, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

परभवसंकमकारअ-परभवसंक्रमकारक-पुं० । प्राणातिपाते, प्राणवियोजितस्यैव परभवे संक्रान्तिसद्भावात् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

परभवियाउय-परभविकाऽऽयुष्-न० । परभवो विद्यते यस्मिंस्तत्परभविकम् । तच्च तदायुश्चेति परभविकाऽऽयुः । स्था० ।

णेरइया छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति । एवमसुरकुमारा वि० जाव थणियकुमारा । असंखेज्जवासाउया सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति । असंखेज्जवासाउया सन्निमणुस्सा णियमं०जाव पगरेंति । वाणमंतरजोइसिया वेमाणिया जहा णेरइया ॥

(नियमं ति) अवश्यभावादित्यर्थः । (छम्मासावसेसाउय त्ति) षण्मासा अवशेषा अवशिष्टा यस्य तत्तथा तदायुर्येषां ते षण्मासावशेषाऽऽयुष्काः । परभवो विद्यते यस्मिंस्तत्परभविकं, तच्च तदायुश्चेति परभविकाऽऽयुः, प्रकुर्वन्ति बध्नन्ति । असंख्येयानि वर्षाण्यायुर्येषां ते तथा, ते च ते संज्ञिनश्च समनस्काः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चेत्यसंख्येयवर्षाऽऽयुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका. । इह च संज्ञिग्रहणमसंख्येयवर्षाऽऽयुष्काः संज्ञिन एव भवन्तीति नियमदर्शनार्थं,न त्वसंख्येयवर्षाऽऽयुषामसंज्ञिनाम्,व्यवच्छेदार्थं तेषामसंभवादिति । इह च गाथे-

" निरइ सुर असंखाऊ, तिरि मणुया सेसए उ छम्मासे ।
इग विगला निरुवक्कम, तिरि मणुया आउयतिभागे ॥ १ ॥
अवसेसा सोवक्कम, तिभागनवभागसत्तवीस इमे ।
बंधंति परभवाऊ, नियपभवे सव्वजीवावो ॥ २ ॥ " इति ।

इदमेवान्यैरित्थमुक्तमिह-तिर्यग्मनुष्या आत्मीयाऽऽयुषस्तृतीयत्रिभागे परभवायुःऽऽषो बन्धयोग्या भवन्ति । देवनारकाः पुनः षण्मासे शेषे, तत्र तिर्यग्मनुष्यैर्यदि तृतीयत्रिभागे आयुर्न बद्धं, ततः पुनः तृतीयत्रिभागस्य तृतीयत्रिभागे शेषे बध्नन्ति । एवं तावत् संक्षिपन्त्यायुर्यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकालः, उत्तरकालश्च शेषस्तिष्ठति । इह तिर्यग्मनुष्या आयुर्बध्नन्ति अयं वा संक्षेपकाल उच्यते । तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषे आयुर्न बद्ध तत आत्मीयस्याऽऽयुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते, इहपरभवाऽऽयुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकालः । स्था० ६ ठा० । पूर्वभववद्धे परभवप्रायोग्ये आयुषि, परभवप्रायोग्यं यद् वर्तमानभवे नियद्धं तच्च परभवे गतो यदावेदयति तदा व्यपदिश्यते । भ० ५ श० ३ उ० ।

परभाअ-देशी-सुरते, दे० ना० ६ वर्ग २७ गाथा ।

परभाववंकणया-परभाववङ्कनता-स्त्री० । परभावस्य वङ्कनता वञ्चनता या कूटलेखकरणाऽऽदिभि' सा परभाववङ्कनता । कूटलेखकरणाऽऽदिना परवञ्चने,मायाप्रत्ययिक्याः क्रियाया भेदे, " तं तं भावमायरइ, जेण परो वंचिज्जइ कूडलेहकरणाईहिं ।" इति वृद्धव्याख्यानात् स्था० २ ठा० १ उ० ।

परभोयण-परभोजन-न० । पराऽऽहारे,सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

परम परम-त्रि० । उत्कृष्टे,द्वा० १७ द्वा० । प्रकृष्टे,पञ्चा० १८ विव० । सूत्र० । उत्त० । जीत० । प्रधाने, दश० १ अ० आचा० । विशे० । प्रधानभूते मोक्षे, संयमे च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

परमत्थे परमउलं, परमाययणं ति परमकप्पो त्ति ।
परमुत्तमतित्थयरो, परमगई परमसिद्धि त्ति ॥ १७ ॥

परमार्थे मोक्षे परं प्रकृष्टमतुलं तुलनाऽतिक्रान्तं सांसारिकलक्षणं कारणं (परमाययणं ति) परममायतनं स्थानं ज्ञानाऽऽदीनामेतदित्यर्थः । ( परमकप्पो त्ति ) स्थविराऽऽदीनामेष प्रधानकल्पः पर्यन्तकृत्यविधि संस्तारक इत्यर्थः ।(परमुत्तमतित्थयरो परमगई परमसिद्धि त्ति ) पूर्ववत् ॥१७॥ संथा० ।

परमंग-परमाङ्ग-न० । मानुष्यधर्मश्रद्धाधर्मश्रुतिसंवेगलक्षणेषु मोक्षाङ्गेषु, ध० र० १ अधि० १८ गुण । ( ' चउरंग ' शब्दे तृतीयभागे १०५ पृष्ठे व्याख्याऽपि )

परमगुण-परमगुण-पुं० । प्रधाने गुणे, पं० व० १ द्वार ।

परमगुरु-परमगुरु-पुं० । तीर्थकृति, पं० व० ४ द्वार ।

परमग्गसूर-परमाग्रशूर-पुं० । दानसंग्रामशूरापेक्षया प्रधानशूरे जितेन्द्रिये, दश० ६ अ० ३ उ० ।

परमघोर-परमघोर-न० । क्लीवैर्दुरनुचरे, संथा० ।

परमचक्खु-परमचक्षुष्-न० । परमं ज्ञानं चक्षुर्यस्याऽसौ परमचक्षु. । मोक्षैकदृष्टौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

परमचरणपुरिस-परमचरणपुरुष पुं० । प्रधानचारित्रलक्षणनरे, पञ्चा० १६ विव० ।

परमट्ठ-परमार्थ-पुं० । सद्भूतार्थे अकृत्रिमपदार्थे, पा० । " परमट्ठणिट्ठिअत्था ।" परमार्थेन न कल्पनामात्रेण निष्ठिता अर्था येषां ते तथा । ध० २ अधि० । मोक्षे, उत्त० २१ अ० । सारे, आव० ४ अ० । ब्रह्मणि आ० म० १ अ० ।

परमट्ठपय परमार्थपद-न० । परमार्थस्य मोक्षस्य पदानि स्थानानि परमार्थपदानि । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, उत्त० १८ अ० ।

परमट्ठभेयग-परमार्थभेदक-त्रि० । मोक्षप्रतिघातके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

परमट्ठसंथव-परमार्थसंस्तव-पुं० । परमार्था जीवाऽऽदयस्तेषां संस्तवः परिचयः । ध० १ अधि० । जीवाऽऽदिभावानां स्वरूपज्ञानुत्पन्नपरिचये, उत्त० २८ अ० ।

परमट्ठाणुगामिय-परमार्थानुगामुक-पुं० । परमः प्रधानभूतो मोक्षः संयमो वा तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुक. । सम्यग्दर्शनाऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

परमट्ठि ( ण् )-परमार्थिन्-त्रि० । कल्याणकटकनगरराजे " पुव्वं किर कल्लाणकडए नयरे परमट्ठी नाम राया रज्जं करेइ । तेण जिणभत्तेण तत्थ पासाए चंदकंतमणिबिंबं सोऊण

चिंतियं-अहमेयं बिम्बं नियघरे आणिऊण देवयावसरे पूइस्सामि।" ती० २७ कल्प।

परमणाणि (ण्)-परमज्ञानिन्-पुं० । सर्वेभ्योऽधिकज्ञाने, यस्मात्परो ज्ञानी नास्ति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

परमणिरुद्ध-परमनिरुद्ध-त्रि०। परमनिकृष्टे, ज्यो० १ पाहु०।

परमण्ण-परमान्न-न० ।पायसे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पञ्चा०। आ० म०। क्षैरेय्याम्, भ० १५ श०।

परमतिलोगणाह-परमत्रिलोकनाथ-पुं०। परमाश्च ते दुर्गतिभयसंरक्षणेन त्रिलोकनाथाश्च। अत्र त्रिलोकवासिनो देवाऽऽद्य परिगृह्यन्ते, तन्नाथाश्च उपदेशदानेन तीर्थकृत्सु, पं० सं० १ द्वार।

परमत्थ-परमार्थ-न० । तथ्ये, पाइ० ना० २६० गाथा।

परमत्थसंथव-परमार्थसंस्तव-पुं०। 'परमट्ठसंथव' शब्दार्थे, ध० १ अधि०।

परमदंसि (ण्)-परमदर्शिन्-पुं०। परमो मोक्षस्तत्कारणं वा संयमस्तं द्रष्टुं शीलमस्येति परमदर्शी । मोक्षकारणद्रष्टरि, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

परमदुच्चरिय-परमदुश्चर-त्रि०। अत्यन्तदुष्करे, दश० ६ अ०।

परमपय-परमपद-न०। मोक्षे, पं० व० १ द्वार।पाइ० ना०। आचा०।

मोक्ष एवान्यैः परमपदसंज्ञयाऽभिहित इति तल्लक्षणमाह-

यन्न दुःखेन संभिन्नं, न च भ्रष्टमनन्तरम्।

अभिलाषापनीतं च, तज्ज्ञेयं परमं पदम् ॥ २ ॥

यत् पदं न नैव दुःखेनासुखेन संभिन्नं व्यामिश्रं, न च नैव च भ्रष्टं क्षीणम्,अनन्तरमुत्पत्तिलक्षणानन्तरम्। अथवा-अनन्तरमव्यवच्छिन्नम् । तथा-अभिलाषेभ्यो विविधवाञ्छाभ्योऽपनीतमपेतमभिलाषापनीतं यत् पदं तदिति तदेव ज्ञेयं ज्ञातव्यं परमं सर्वोत्तमं पदमास्पदं सर्वगुणानामिति गम्यम्। द्वा० ३२ अष्ट०।

परमपयबीय-परमपदबीज-न०। निर्वाणहेतौ,पञ्चा०१४ विव०।

परमपसाहग-परमप्रसाधक-त्रि० । मुक्तिनिर्वर्तके, पञ्चा० ४ विव०।

परमप्पय-परमाऽऽत्मन्-पुं० ।केवलज्ञानभाजिनि ध्यानभाव्ये वा आत्मनि, द्वा० २० द्वा०।

परमफल-परमफल-न०। प्रकृष्टफले, षो० ७ विव०।

परमबंधु-परमबन्धु-पुं० । परमोपकारिणि, आव० २ अ० । "जो बोहेइ सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधू।" सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

परमवल्लभ-परमवल्लभ-पुं०। सर्वार्थसंप्राप्तिकारके, तं०।

परमभाव-परमभाव-पुं०। ज्ञानाऽऽदिपरमतत्त्वभावे, द्रव्या० २ अध्या०।

परमभूसणतव-परमभूषणतपस्-न०। परमाण्युत्तमानि भूषणान्याभरणानि यतोऽसौ परमभूषणः। पञ्चा० १६ विव०। स चाऽसौ तपश्चेति। जिनाय तिलकाऽऽद्याभरणदानसारे चित्रतपसि। पञ्चा० १६ विव०। प्रव०।

परमभूषणतपः प्राऽऽह-

सो परमभूसणो हो-इ जम्मि आयंबिलाणि बत्तीसं।

अंतरपारणयाइं, भूसणदाणं च देवस्स ॥ १५६० ॥

परमाणि शक्रचक्रवर्त्याद्युचितानि प्रकृष्टानि हारकेयूरकुण्डलाऽऽदीनि भूषणान्याभरणानि यस्मादसौ परमभूषणः तस्मिन् द्वात्रिंशदाचाम्लानि पारणकान्तरितानि शक्तिसद्भावे निरन्तराणि वा करोति तत्समाप्तौ च देवस्य मुकुटतिलकाऽऽद्याभरणवितरणं यथाशक्ति यतिदानाऽऽदिकं च कर्त्तव्यमिति ॥ १५६० ॥ प्रव० २७१ द्वार।

परममंगल-परममङ्गल-न०। प्रधानमङ्गले, दश० १ अ०।

परममुत्ति-परममुक्ति-स्त्री०। सकलकर्मांशप्रहाणौ, पञ्चा० २ विव०।

परमरहस्स-परमरहस्य-न० । प्रधानतत्त्वे, "परमरहस्समिसीणं, संमत्त गणिपिडगतत्तसाराणं। परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलम्बमाणाणं ॥ ८१ ॥" जी० १४ अधि०।

परमरिसि-परमर्षि-पुं०। तीर्थकरे, गणधरे च। पा०।

परमरिसिदेसिय-परमर्षिदेशित-पुं०। परमर्षिभिस्तीर्थकराऽऽदिभिरेव देशितं भव्योपकाराय कथितम्। पा० । तीर्थकराऽऽदिकथिते, "इमस्स धम्मस्स परमरिसिदेसियस्स।" ध० ३ अधि०।

परमरुद्द-परमरुद्र-त्रि०। अत्यर्थदारुणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

परमवच्छल्ल-परमवात्सल्य-न०। प्रधानगौरवे,पञ्चा० ८ विव०।

परमसिद्धि-परमसिद्धि-स्त्री०। अणिमाऽऽदिसिद्ध्यपेक्षया प्रधाना पुरुषार्थनिष्पत्तिः। निर्वाणे, पञ्चा० ३ विव०। संथा०।

परमसुइभूय-परमशुचिभूत-त्रि०। अत्यन्तं शुचिभूते, विपा० १ श्रु० ६ अ०। औ०। भ०। अत्यर्थं शुचीकृते, औ०। रा०।

परमसुक्किय-परमशौक्लिक-न० । परमशुक्लप्रधानध्याने, संथा०।

परमसुहसाहग-परमसुखसाधक-त्रि०। पारम्पर्येण निर्वाणाऽऽवहे पं० सू० १ सूत्र०।

परमसोमणस्सिय-परमसौमनस्यित-त्रि० । शोभनं मनो यस्य सुमनास्तस्य भावः सौमनस्यं, परमं च सौमनस्यं च परमसौमनस्यम् । तत्सञ्जातमस्येति परमसौमनस्यितः। रा०। कल्प०।

परमसौमनस्यिक-त्रि०। परमसौमनस्य तद्वाऽस्येति परमसौमनस्यिकः। औ०। भ०। दशा०। सन्तुष्टचित्ततां गते,कल्प० १ अधि० १ क्षण।

परमहंस-परमहंस-पुं० । वानप्रस्थभेदे , ये नदीपुलिनसमागमप्रदेशेषु वसन्ति चीरकौपीनकुशांश्च त्यक्त्वा प्राणान् परित्यजन्ति । औ०।

परमहम्म परमधर्मन्-त्रि०। परमं सुखं तद्धर्मा । सुखधर्मणि - सुखाभिलाषिणि, दश० ४ अ०।

परमाउ-परमायुष्-न० । संपूर्णाऽऽयुषि, " अट्ठाइज्जाइं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता ।" विपा० १ श्रु० १ अ० ।

परमाणंद-परमाऽऽनन्द-पुं० । प्रकृष्टाऽऽह्लादे,-" परमाऽऽनन्दरूपं तद् गीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः ।" प्रकृष्टाऽऽह्लादस्वभावं तदिति मोक्षसुखं गीयतेऽभिधीयते अन्यैराहतैः परैर्विचक्षणैः पण्डितैः । द्वा० ३२ अष्ट० । द्वा० । " परमाऽऽनन्द इति यामाहु " यां समरसापत्तिं परमाऽऽनन्द इत्यनेन शब्देन ब्रुवते वेदान्तवादिनः । षो० १५ विव० ।

परमाणंदकंदभू-परमाऽऽनन्दकन्दभू-स्त्री० । परमाऽऽनन्दरूपस्य कन्दस्योत्पत्तिस्थाने, द्वा० ८ द्वा० ।

परमाणंदचच्चा-परमाऽऽनन्दचर्चा-स्त्री० । महोदयमीमांसायाम्, द्वा० ३२ द्वा० ।

परमाणंदसुहसंगय-परमाऽऽनन्दसुखसङ्गत-न० । परम आनन्दो यस्मिन् सुखे तेन सङ्गतं युक्तम् । निर्वाणे,षो०१५ विव० ।

परमाणंदसूरि-परमानन्दसूरि-पुं० । विक्रमसंवत्सराणां त्रयोदशशतके जाते सोमप्रभसूरिशिष्ये, ग०३ अधि० । परमानन्दसूरिरभयदेवसूरिशिष्यो गङ्गाचार्यकृतकर्मविपाकटीकाकृत् । जै० इ० ।

परमाणु-परमाणु-पुं० । परमश्चासावात्यन्तिकोऽणुश्च सूक्ष्मः परमाणुः । द्व्यणुकाऽऽदिस्कन्धानां कारणभूते अप्रदेशे पुद्गले, " एगे परमाणू । " परमाणुः स्वरूपत एक एवाऽन्यथा परमाणुरेवासौ न स्यादिति । अथवा-प्रत्येकमनन्तानामपि तुल्यरूपापेक्षयैकत्वम् । स्था० १ ठा० । केषाञ्चिन्नानाऽऽदिके संबन्धात्परमाणोरप्येकता असंगतैवाऽऽह वाऽऽचार्यः-" षट्केन युगपद्योगा-त्परमाणोः षडंशता । " सम्म० १ काण्ड ।

परमाणुर्द्विविधः-सूक्ष्मो, व्यावहारिकश्च-

से किं तं परमाणू ?, परमाणू दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुहुमे अ, ववहारिए अ । तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे, तत्थ णं जे से ववहारिए से णं अणंताणंताणं सुहुमपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निष्फज्जइ । से णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ? । हंता ओगाहेज्जा । से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा, भिज्जेज्ज वा ? । णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ । से णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा ? । हंता वीइवएज्जा । से णं भंते ! तत्थ डहेज्जा ? । णो इणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । से णं भंते ! पुक्खरसंवट्टगस्स महामेहस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा ? । हंता वीइवएज्जा । से णं तत्थ उदउल्ले सिआ ? । नो इणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । से णं भंते ! गंगाए महाणईए पडिसोयं हव्वमागच्छेज्जा ? । हंता हव्वमागच्छेज्जा । से णं तत्थ विणिघायमावज्जेज्जा ? । नो इणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । से णं भंते ! उदगावत्तं वा उदगबिंदुं वा ओगाहेज्जा ? । हंता ओगाहेज्जा, से णं तत्थ कुच्छेज्ज वा, परियावज्जेज्ज वा ? । णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ, सत्थेण सुतिक्खेण वि छित्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का तं परमाणुं सिद्धा वयंति ।

परमाणुर्द्विविधः प्रज्ञप्तः-सूक्ष्मो, व्यावहारिकश्च । तत्र सूक्ष्मस्तत्स्वरूपाऽऽख्यानं प्रति स्थाप्यः, अनधिकृत इत्यर्थः । ( से किं तं ववहारिए इत्यादि ) ननु कियद्भिः सूक्ष्मैर्नैश्चयिकपरमाणुभिरेको व्यावहारिकः परमाणुर्निष्पद्यते ? । अत्रोत्तरम्-( अणंताणमित्यादि ) अनन्तानां सूक्ष्मपरमाणुपुद्गलानां संबन्धिनो ये समुदायाः द्व्यादिसमुदायाऽऽत्मकानि वृन्दानि तेषां याः समितयो बहूनि मीलनानि तासां समागमः-संयोग एकीभवनं समुदयसमितिसमागमः, तेन व्यावहारिकपरमाणुपुद्गल एको निष्पद्यते । इदमुक्तं भवति-निश्चयनयः-" कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" इत्यादिलक्षणसिद्धं निर्विभागमेव परमाणुमिच्छति । यस्त्वेतैरनेकैर्जायते तं सांशत्वात् स्कन्धमेव व्यपदिशति, व्यवहारस्तु तदनेकतानिष्पन्नोऽपि यः शस्त्रच्छेदाग्निदाहाऽऽदिविषयो न भवति तमद्यापि तथाविधस्थूलताप्रतिपत्तेः परमाणुत्वेन व्यवहरति, ततोऽसौ निश्चयतः स्कन्धोऽपि व्यवहारनयमतेन व्यवहारिकः परमाणुरुक्तः, न च वक्तव्यम्-अयं तर्हि शस्त्रच्छेदाऽऽदिविषयो भवति, यतस्तन्निषेधार्थमेव प्रश्नमुत्पादयति-( से णं भंते ! इत्यादि ) स भदन्त ! व्यावहारिकः परमाणुः कदाचिदसिः खड्गं, तद्धारां वा, क्षुरो नापितोपकरणं तद्धारां वा अवगाहेत आक्रामेत् ? । अत्रोत्तरम्-( हंतावगाहेतेति ) हन्तेति कोमलाऽऽमन्त्रणे । अभ्युपगमद्योतने वा । ( अवगाहेतेति ) शिष्यपृष्टार्थस्याभ्युपगमवचनम् । पुनः पृच्छति-स तत्रावगाढः संश्छिद्येत वा द्विधा क्रियेत भिद्येत वा-अनेकधा विदार्येत, सूच्यादिना वक्षाऽऽदिवद्वा सच्छिद्रः क्रियते ? । उत्तरमाह-नायमर्थः समर्थः, नैतदेवमिति भावः । अत्रोपपत्तिमाह-न खलु तत्र शस्त्रं क्रामति । इदमुक्तं भवति-यद्यप्यनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नः काष्ठाऽऽदिः शस्त्रच्छेदाऽऽदिविषया दृष्टास्तथाऽप्यनन्तकस्यानन्तभेदत्वात्तावत्प्रमाणेनैव परमाण्वनन्तकेन निष्पन्नोऽसौ व्यावहारिकः परमाणुर्ग्राह्यो यावत्प्रमाणेन निष्पन्नोऽद्यापि सूक्ष्मत्वान्न शस्त्रच्छेदाऽऽदिविषयतामासादयतीति भावः । पुनरप्याह-स भदन्त ! अग्निकायस्य वह्नेर्मध्यं मध्येनान्तरे व्यतिव्रजेद्गच्छेत् ? । हन्तेत्याद्युत्तरं पूर्ववत्, नवरं शस्त्रमिहाग्निशस्त्रं ग्राह्यम् । पुनः पृच्छति-( से णं भंते ! पुक्खरेत्यादि ) इदमपि सूत्रं पूर्ववद्भावनीयं, नवरं पुष्करसंवर्तस्य महामेघस्येयं प्ररूपणा-इहोत्सर्पिण्यामेकविंशतिवर्षसहस्रमाने दुःषमदुःषमालक्षणे प्रथमारकेऽतिक्रान्ते द्वितीयस्याऽऽदौ सकलजनस्याभ्युदयार्थं क्रमेणामी पञ्च महामेघाः प्रादुर्भविष्यन्ति, तद्यथा-पुष्करसंवर्तक उदकरसः प्रथमः, द्वितीयः क्षीरोदः, तृतीयो घृतोदः, चतुर्थोऽमृतोदः, पञ्चमो रसोदः । तत्र पुष्करसंवर्तोऽस्य भरतक्षेत्रस्य पुष्करं प्रचुरमपि सर्वमशुभमनुभावं भूमिरूक्षतादाहाऽऽदिकं प्रशस्तोदकेन संवर्तयति नाशयति । एवं शेषमेघव्यापारोऽपि प्रथमानुयोगादवगन्तव्यः, ( उदए उल्ले सिय त्ति ) उदकेनाऽऽर्द्रः स्यादित्यर्थः । शस्त्रता चात्रोदकस्यावसेया । ( से णं भंते ! गंगाए इत्यादि )

गङ्गाया महानद्याः प्रतिस्रोतः, 'हव्व' शीघ्रमागच्छेत्, पूर्वाऽऽभिमुखे गङ्गाप्रवाहे वहति सति पश्चिमाऽऽभिमुख स आगच्छेत् तन्मध्येनेति भावः । ( विणिहायमित्यादि ) विनिघातः-तत्स्रोतसि प्रतिस्खलनं, तमापद्येत प्राप्नुयात् । शेषं पूर्ववत् । ( से णं भंते ! उदगावत्तमित्यादि) उदकाऽऽवर्तोदकविन्दोर्मध्ये अवगाह्य तिष्ठेदित्यर्थः। स च तत्रोदकसंपर्कात् कुथ्येद्वा-पूतिभावं यायात् पर्यापद्येत वा जलरूपतया परिणमेदित्यर्थः। शेषं तथैव । पूर्वोक्तमेवार्थं संक्षेपतः प्राह-"सत्थेण गाहा ।" गतार्था, नवरं लक्षणमेवास्येदमभिधीयते, न पुनस्तं कोऽपि छेत्तुं भेत्तुमारभते इत्येतत्किलशब्देन सूचयति, ( सिद्ध त्ति ) ज्ञानसिद्धा केवलिनो न तु सिद्धाः सिद्धिगताः,तेषां वदनस्यासम्भवादिति । अनु० । जी० । ज्यो० । प्रव० । स्था० । " कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ " स्था० १ ठा० । जी० । भ० । उत्त० । विशे० । ( परमाणूनां चलनम् 'चरमंत' शब्दे तृतीयभागे ११४० पृष्ठे गतम् ) गमनसामर्थ्यं परमाणोस्तथास्वभावत्वाद् मन्तव्यमिति । भ० १६ श० ८ उ० । आचा० । परमाणुना प्रत्यक्षविषयत्वम्-न च चक्षुरादिविज्ञाने परमाणवो नावभासन्ते, तेषां तुल्यातुल्यरूपत्वात्, तुल्यरूपस्य च चक्षुरादिविज्ञाने प्रतिभासनात्, न च तुल्यं रूपं नास्त्येव, तदभावे खल्वेकपरमाणुव्यतिरेकेणान्येषामणुत्वाभावप्रसङ्गात् । न च तदन्यव्यावृत्तिमात्रं परिकल्पितमेव, स्वरूपाभावेऽन्यव्यावृत्तिमात्रतायां तस्य खपुष्पकल्पत्वप्रसङ्गात्, तथा चाशेषपदार्थव्यावृत्तमपि खपुष्पं स्वरूपाभावान्न सत्ता धारयति, न च तद्रूपमेव सजातीयेतरासाधारणं तदन्यव्यावृत्तिः,तस्य तेभ्यः स्वभावभेदेन व्यावृत्तेः, स्वभावभेदानभ्युपगमे च सजातीयेतरभेदानुपपत्तेः, सजातीयैकान्तव्यावृत्तौ च विजातीयव्यावृत्तावनणुत्ववदणुत्वाभावप्रसङ्गः, भावे च तुल्यरूपसिद्धिरिति,न चेयमनिमित्ता तुल्यबुद्धिः, देशाऽऽदिनियमेनोत्पत्ते , न च स्वप्नबुद्ध्या व्यभिचारः, तस्या अप्यनेकविधिनिमित्तबलेनैव भावात् । आह च भाष्यकार.-"अणुभूय दिट्ठ चिंतिय, सुय पयइवियार देवयाऽणूया। सुमिणस्स निमित्ताइ,पुन्नं पावं च नाभावो ॥१॥ " ॥६१२॥ आव० १ अ० । उत्त० । आ० क० । (मानुषत्वदौर्लभ्ये परमाणुदृष्टान्तो 'माणुसत्त' शब्दे द्रष्टव्यः)

परमाणुपोग्गल-परमाणुपुद्गल-पुं० । परमाश्च तेऽणवश्च परमाणवः निर्विभागद्रव्यरूपास्ते च ते पुद्गलाश्च परमाणुपुद्गलाः । स्कन्धत्वभावमनापन्नेषु केवलेषु परमाणुषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । भ० । सूत्र० ।

कइविहे णं भंते ! परमाणुपोग्गले पण्णत्ते ? । गोयमा ! चउव्विहे परमाणुपोग्गले पएणत्ते । तं जहा-दव्वपरमाणू खेत्तपरमाणू कालपरमाणू भावपरमाणू ४ । दव्वपरमाणू णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-अच्छेज्जे, अभेज्जे, अडज्झे, अगेज्झे । खेत्तपरमाणू णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! चउव्विहे पएणत्ते । तं जहा-अणद्धे, अमज्झे, अपएसे, अविभागे । कालपरमाणू पुच्छा ? । गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-अवण्णे, अगंधे, अरसे, अफासे । भावपरमाणू णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-वण्णमंते, गंधमंते, रसमंते, फासमंते ।

( कइ इत्यादि ) तत्र द्रव्यरूपः परमाणुर्द्रव्यपरमाणुरेकोऽणुर्वर्णाऽऽदिभावानामविवक्षणाद् द्रव्यत्वस्यैव च विवक्षणादिति । एवं क्षेत्रपरमाणुराकाशप्रदेशः कालपरमाणुः समयः, भावपरमाणुः परमाणुरेव, वर्णाऽऽदिभावानां प्राधान्यविवक्षणात्सर्वजघन्यकालत्वाऽऽदिर्वा (चउव्विहे त्ति) एकोऽपि द्रव्यपरमाणुर्विवक्षया चतुःस्वभावः । ( अच्छेज्ज त्ति ) छेद्यः शस्त्राऽऽदिना लताऽऽदिवत्, तन्निषेधादच्छेद्यः । (अभेज्ज त्ति) भेद्यः सूच्यादिना चर्म्मवत्तन्निषेधादभेद्यः (अडज्झे त्ति)अदाह्योऽग्निना सूक्ष्मत्वात्,अत एवाग्राह्यो हस्ताऽऽदिना । (अणद्धे त्ति ) समसङ्ख्याऽवयवाभावात् ( अमज्झे त्ति ) विषमसंख्याऽवयवाभावात् ( अपएसे त्ति ) निरंशोऽवयवाभावात् । ( अविभाइमे त्ति ) अविभागेन निर्वृत्तो अविभागिमः, एकरूप इत्यर्थः। विभाजयितुमशक्यो वेति । भ० २० श० ५ उ० । (" चलमाणे चलिए " इति 'कम्म' शब्दे चिन्तितम् । 'अराणउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४५० पृष्ठे तद्विप्रतिपत्तिरुक्ता )

परमाणुवग्गणा-परमाणुवर्गणा-स्त्री० । असंख्यातानामनन्तानां च परमाणूना समुदाये, क० प्र० १ प्रक० । पं० सं० ।

परमाणुसंजोग-परमाणुसंयोग-पुं० । परमाणूनामितरेतरसंयोगे, उत्त० १ अ० । ( ' संजोग ' शब्देऽस्य व्याख्या दर्शयिष्यते )

परमार-परमार-पुं० । क्षत्रियजातिविशेषे, " महाद्रेरस्य नेतारः, परमारनरेश्वराः । पुरी चन्द्रावती तेषां,राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ १ ॥ " ती० ७ कल्प ।

परमाराम-परमाऽऽराम-पुं० । आरामयतीत्यारामः, परमश्चासावारामश्च परमाऽऽरामः । ज्ञाततत्त्वस्य जनस्य हासविलासापाङ्गनिरीक्षणाऽऽदिभिर्विब्बोकैर्मोहके स्त्रीजने, ब्रह्माऽऽनन्दे च । आचा० १ श्रु० ४ अ० ५ उ० ।

परमाहम्मिय-परमाधार्मिक-पुं० । परमाश्च ते अधार्म्मिकाश्च संक्लिष्टपरिणामत्वात् परमाधार्मिकाः। असुरविशेषेषु,ये तिसृषु पृथिवीषु नारकान् कदर्थयन्ति । स० १५ सम० । भ० ।

तेसिं वा जमकाइयाणं देवाणं सक्कस्स जमस्स इमे देवा अहावच्चा अभिण्णाया होत्था । तं जहा-

" अंबे १ अंबरिसे चेव २, सामे ३ सबले त्ति यावरे ४ ।
रुद्दे ५ वरुद्दे ६ काले य ७, महाकाले त्ति यावरे ८ ॥१॥
असिपत्ते ९ धणू १० कुम्भे ११, वालुया १२ वेयरणी त्ति
य १३ । खरस्सरे १४ महाघोसे १५, एमे पण्णरसाहिया ॥२॥

अम्ब इत्यादयः पञ्चदशाऽसुरनिकायान्तर्वर्तिनः परमाधार्मिकनिकायाः, तत्र यो देवो नारकानम्बरतले नीत्वा विमुञ्चत्यसावम्ब इत्यभिधीयते १। ( एमे पण्णरसाहिय त्ति ) एवमुक्तन्यायेन एते यमापत्यदेवाः पञ्चदश आख्याता इति। भ० ३ श० ७ उ० । प्रव० । उत्त० । आव० ।

( अम्बाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थानेषु ) तथा परमाधार्मिका भव्या एव, इति प्रघोषः सत्योऽसत्यो वेति ? । अत्र असत्य एवेति ज्ञेयम् । उभयथाऽपि तेषामविरोधात् । न च जन्मान्तरीयकृतदुष्कृतोक्तिपूर्वकं ते नारकान् कदर्थयन्तीति अभव्यानां तत्कथं संगच्छते इति वाच्यम्, यतस्तेऽपि स्वर्गकामास्तपस्यां कुर्वाणा आगमे श्रूयन्ते इति। ह्री०३ प्रका०। भ०। सूत्र०।

**परमाहोहिय**-परमाधोऽवधिक-पु० । परमाधोवधिकज्ञानिनि, परमे नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानयुक्ते भ० ।

अयं च चरमशरीर एव भवतीत्यत आह-

परमाहोहिए णं भंते ! मणूसे, जे भविए तेण चेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए०जाव अंतं करित्तए। से णूणं भंते! से खीणभोगी, सेसं जहा छउमत्थस्स। भ० ७ श० ७ उ०।

**परमिट्ठि ( ण् )**-परमेष्ठिन्-पुं० । ब्रह्मणि, अर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसर्वसाधुषु पञ्चसु, पाइ० ना० २ गाथा ।

**परमेसर**-परमेश्वर-पुं०। जगदीश्वरे,सर्वस्यापि त्रिजगद् गतस्य वस्तुनः परिभोगाच्च जीवे, विशे० ।

**परमोदारिय** -परमौदारिक-न० । केवलिशरीरे,ठा० ३० ठा० ।

**परमोहि**-परमावधि-पु० । परमश्चासावधिश्च परमावधिः । उत्कृष्टावधौ, " एगपएसोगाढं,परमोही लहइ कम्मगसरीरं । लहइ य अगुरुलहुयं, तेय सरीरे भवपुहुत्तं ॥६७५॥" विशे० । आ० चू० ।

**परम्मुह**-पराङ्मुख-त्रि० । निवृत्ते,अष्ट० ७ अष्ट० । आ० म० । मार्गपराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

**परयत्त**-परायत्त-त्रि० । पराधीने, पाइ० ना० १०८ गाथा ।

**परलाभ**-परलाभ-पु० । परस्माद् द्रव्याऽऽगमे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

**परलिंग**-परलिङ्ग-न० । असाधुलिङ्गे, तच्चेह द्विधा-गृहलिङ्गं, परतीर्थलिङ्गं च । व्य० ४ उ० । जीत० । ( परलिङ्गधारणं कृत्वा कालक्षेपं कुर्यात् इत्यादि ' उवसंपया ' शब्दे द्वितीयभागे १०५ पृष्ठादारभ्योक्तम् )

**परलोग**-परलोक-पु० । जन्मान्तरे, दश० ६ अ० । पञ्चा० । भ० । प्रश्न० । स्था० । उत्त० । आत्मव्यतिरिक्ते लोके, संथा० । इहास्मिन्प्रज्ञापकमनुष्यापेक्षया मानुषत्वपर्याये यो वर्तते लोकः प्राणिवर्गः स इहवर्गः स इहलोक, तद्व्यतिरिक्तस्तु परलोक । स्था० १० ठा० । भवान्तरगतौ, आ० म० १ अ० । प्रव० । ( अदृष्टसाधनपूर्वकपरलोकसिद्धिः प्रतिपादिता ' इहभव ' शब्दे द्वितीयभागे ६४७ पृष्ठे )

इह तत्रानुक्तोऽर्थः प्रदर्श्यते। अथ दशमगणधरवक्तव्यतामाह-

ते पव्वइए सोउं, मेअज्जो आगच्छई जिणसयासं ।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ १६४९ ॥

मेतार्यनामा दशमो द्विजोपाध्याय श्रीमज्जिनसकाशमागच्छति, शेषं गतार्थमिति ॥ १६४९ ॥

ततः किमित्याह-

आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१६५०॥

सव्याख्याना तथैव ॥ १६५० ॥

आभाष्य ततः किमुक्तोऽसौ ?, इत्याह-

किं मन्ने परलोओ, अत्थि नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं,न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१६५१॥

आयुष्मन् मेतार्य ! त्वमेवं मन्यसे-किं भवान्तरगमनलक्षणः परलोकोऽस्ति, नाऽस्ति वेति ? । अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनो वर्तते । तानि च " विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः " इत्यादीनि प्रथमगणधरोक्तानि द्रष्टव्यानि । तेषां चार्थं न जानासि इत्यादि तथैवेति ॥१६५१॥

यथा च युक्त्या मेतार्यः परलोकनास्तित्वं मन्यते, तां भगवान् व्यक्तीकुर्वन्नाह-

मण्णसि जइ चेयण्णं, मज्जंगमउ व्व भूयधम्मो त्ति।
तो नत्थि य परलोगो, तन्नासे जेण तन्नासो ॥१६५२॥

सौम्य ! त्वमेवं मन्यसे-यदि तावच्चैतन्यं पृथिव्यादिभूतधर्मः —भूतेभ्योऽनर्थान्तरमित्यर्थः, यथा गुडधातक्यादिमद्याङ्गेभ्योऽनर्थान्तरं मदधर्मः, तर्हि नास्त्यवान्तर—गमनलक्षणः परलोक , येन तन्नाशे भूतनाशे तस्याऽपि चैतन्यस्य नाशो ध्वंसो जायते । यो हि यदनर्थान्तरभूतो धर्मः स तद्विनाशे नश्यत्येव, यथा पटाऽऽदिधर्मः शुक्लत्वाऽऽदि,ततो भूतैरेव सह प्रागेव नष्टस्य चैतन्यस्य कुतो भवान्तरगमनमिति ॥ १६५२ ॥

अथ भूतेभ्योऽर्थान्तरं चैतन्यं,तथाऽपि न परलोक इत्याह-

अह वि तदत्थंतरया, न य निच्चत्तणमओ वि तदवत्थं ।
अनलस्स वाऽरणीओ,भिन्नस्स विणासधम्मस्स॥१६५३॥

अथाऽपि तदर्थान्तरता भूतेभ्योऽर्थान्तरता चैतन्यस्याऽभ्युपगम्यते, नन्वतोऽपि तदवस्थं भवान्तरगामित्वाभावलक्षणं दूषणं, चशब्दो यस्मादर्थे, यतोऽर्थान्तरभूतस्याऽपि चैतन्यस्य न नित्यत्वम् । कथम्भूतस्योत्पत्तिमत्त्वेन विनाशधर्मकस्य । कस्य यथा अनित्यत्वम् ?, इत्याह-अनलस्य । कथंभूतस्य ?—भिन्नस्य । कस्य ?-अरणीतोऽरणेः । इदमुक्तम्भवति-भूतेभ्योऽर्थान्तरत्वेऽप्यनित्यं चैतन्यम्,उत्पत्तिधर्मकत्वाद्, अरणिकाष्ठोत्पन्नतद्भिन्नानलवदिति, यच्चानित्यं तत्किमपि कालं स्थित्वाऽनलवदत्रापि ध्वंसते, इति न तस्य भवान्तरयायित्वम्, अत इत्थमपि न परलोकसिद्धिरिति ॥१६५३॥

अथ प्रतिपिण्डं भिन्नानि भूतधर्मरूपाणि बहूनि चैतन्यानि नेष्यन्ते, किं त्वेक एव समस्तचैतन्याऽऽश्रयः सर्वत्रिभुवनगतो निष्क्रियश्चाऽऽत्माऽभ्युपगम्यते । यत उक्तम्-"एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ "

ननु तथाऽपि न परलोकसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

अह एगो सव्वगओ,निक्किरिओ तह वि नत्थि परलोओ।
संसरणाभावाओ, वोमस्स व सव्वपिंडेसु ॥ १६५४ ॥

अथैकः सर्वगतो निष्क्रियश्चाऽऽत्माऽभ्युपगम्यते,ननु तथाऽपि

न परलोकगमनसिद्धिः, तस्याऽऽत्मन सर्वेषु गोमनुष्या ऽऽदिपिण्डेषु सर्वगतत्वेन निष्क्रियत्वेन च संसरणाभावात्, व्योमवदिति ॥ १६५४ ॥

इतोऽपि च परलोकाऽऽशङ्का, कुतः ?, इत्याह–

इहलोगाओ व परो, सुराइलोगो न सो वि पच्चक्खो ।
एवं पि न परलोगो, सुव्वइ य सुईसु तो संका ॥१६५५॥

अथवा–इहलोकापेक्षया सुरनारकाऽऽदिभव परलोक उच्यते स च न प्रत्यक्षो दृश्यते.अत एवमपि न परलोकः सिद्ध्यति. श्रूयते चाऽसौ श्रुतिषु शास्त्रेषु, ततस्तच्छङ्का–किमस्ति, नास्ति वा ?. इति दर्शित. पूर्वपक्षः ॥ १६५५ ॥

अत्र प्रतिविधीयते–यदुक्तम्–भूतधर्म्मश्चैतन्यं, तत्राऽऽह–

भूइंदियाइरित्त–स्स चेयणा सो य दव्वओ निच्चो ।
जाइस्सरणाईहिं, पडिवज्जसु वाउभूइ व्व ॥ १६५६ ॥

इह भूतेन्द्रियातिरिक्तस्य पूर्वमभिहितानुमानाऽऽदिप्रमाणसिद्धस्याऽऽत्मन एव संबन्धिनी चेतना मन्तव्या, न तु भूतधर्म्मः । स चाऽऽत्मा जातिस्मरणाऽऽदिहेतुर्द्रव्यतो नित्य इति वायुभूतिरिव प्रतिपद्यस्व, अतोऽनैकान्तानित्यत्वपक्षोक्तो दोषः, पर्यायत एवास्याऽनित्यत्वादिति भाव· ॥ १६५६ ॥

अथैकः सर्वगतो निष्क्रियश्चाऽऽत्मा कस्मान्नेष्यते ?,इत्याह–

न य एगो सव्वगओ, निक्किरिओ लक्खणाइभेआओ ।
कुंभादउ व्व बहवो, पडिवज्ज तमिंदभूइ व्व ॥ १६५७ ॥

न चास्माभिरेक आत्मा इष्यते, किं तु बहवोऽनन्ताः । कुतः ?–लक्षणभेदात् उपयोगलक्षणो हि जीव·, स चोपयोगो रागद्वेषकषायविषयाऽध्यवसायाऽऽदिभिर्भिद्यमान उपाधिभेदादानन्त्यं प्रतिपद्यत इत्यनन्ता जीवाः, लक्षणभेदात्, घटाऽऽदिवदिति । तथा–न सर्वगत आत्मा, किं तु शरीरमात्रव्यापक·, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेरित्यादिशब्दोपात्तो हेतुः, स्पर्शनवदिति दृष्टान्तश्च । एवं न निष्क्रिय आत्मा, भोक्तृत्वाद्देवदत्तवदिति । तदेतदिन्द्रभूतिप्रथमगणधरवत्प्रतिपद्यस्वेति ॥ १६५७ ॥

यदुक्तम्–"देवनारकाणा प्रत्यक्षाऽविषयत्वात्संदिग्धः परलोकः ।" इति । तदयुक्तम्, मौर्याऽकम्पितवादयोर्देवनारकाणां साधितत्वात् इति दर्शयन्नाह–

इहलोगाओ य परो, सोम्म ! सुरा नारगा य परलोओ ।
पडिवज्ज मोरियाऽकं–पिउ व्व विहियप्पमाणाओ ।१६५८।

गतार्था ॥ १६५८ ॥

अथ प्रेरक· प्राह–

जीवो विण्णाणमओ, तं चाणिच्चं ति तो न परलोगो ।
अह विण्णाणादण्णो, तो अणभिण्णो जहाऽऽगासं ॥१६५९॥
इत्तो च्चिय न स कत्ता.भोत्ता अ अओ वि नत्थि परलोगो ।
जं च न संसारी सो, अण्णाणाऽमुत्तिओ खं व ॥१६६०॥

जीवो विज्ञानमयस्तावदुष्माभिरिष्यते, विज्ञानादभिन्न इत्यर्थ । तच्च विज्ञानमनित्यं विनश्वरम् एतस्तदभिन्नस्य जीवस्याऽपि विनश्वरत्वान्न भवान्तरगमनलक्षण परलोक । अथ विज्ञानादन्यो जीवस्ततोऽनन्ये विज्ञाने जीवाद्भिन्ने सति स्वयं नित्योऽसाविति न परलोकाभावः । यद्येवं, तर्हि अनभिज्ञो जीव·, विज्ञानादन्यत्वाद्, आकाशवत्, काष्ठाऽऽदिवद्वा । अत एव च नित्यत्वाद्वेवाऽसौ जीवो न कर्त्ता,नाऽपि भोक्ता,नित्यस्य कर्तृत्वाऽऽद्यभ्युपगमे हि सर्वदैव तद्भावप्रसङ्गः, तस्य सदैवैकरूपत्वात् । कर्तृत्वाभावे च न परलोकः, अकृतस्य तस्याऽभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गात्, भोक्तृत्वाभावेऽपि न परलोकः, अभोक्तुः परलोकहेतुभूतकर्म्मभोगायोगात् । इतोऽपि च न परलोकः । कुतः ?, इत्याह–( जं चेत्यादि ) यस्माच्च नाऽसौ संसारी, नाऽस्य ज्ञानाद्भिन्नस्य जीवस्य भवाद्भवान्तरगमनलक्षणं संसरणमस्तीत्यर्थः । कुत· ?, इत्याह–स्वयमज्ञानत्वात्काष्ठखण्डवत् । तथा–अमूर्तत्वाद् आकाशवदिति ॥ १६५९ ॥ १६६० ॥

अत्रोत्तरमाह–

मन्नसि विणासि चेओ, उप्पत्तिमदादिओ जहा कुंभो ।
नणु एवं चिय साहण–मविणासित्ते वि से सोम्म ! ।१६६१।

ननु "जीवो विण्णाणमओ तं चाणिच्चं" इति ब्रुवाणो नूनं त्वमेवं मन्यसे–विनाशि विनश्वर चेतश्चेतना चैतन्यं विज्ञानमिति यावत् । उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतुः । यथा कुम्भइति दृष्टान्त· । आदिशब्दात्पर्यायत्वाद् इत्यादिकोऽपि हेतुर्वक्तव्यः। यो हि पर्याय· स सर्वोऽप्यनित्यः,यथा स्तम्भाऽऽदीनां नवपुराणाऽऽदिपर्यायः । ततश्चाऽनित्याच्चैतन्यादभिन्नत्वे जीवस्याप्यनित्यत्वात्परलोकाभाव इति तवाऽभिप्रायः । न चाऽयं युक्त·, यतो हन्त नैकान्तेन विज्ञानमनित्यं, यतोऽविनाशित्वेऽपि ( से ) तस्य विज्ञानस्य एतदेव सौम्य ! त्वदुक्तं साधन प्रमाणं वर्त्तते । ततोऽनैकान्तिकस्त्वदुक्तो हेतुरिति भावः । इदमुक्तम्भवति–उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकं वस्तु । ततश्च यथोत्पत्तिमत्त्वाद्विनाशित्वं सिद्ध्यति, तथा ध्रौव्याऽऽत्मकत्वाद्वस्तुन· कथञ्चिन्नित्यत्वमपि सिद्ध्यति।ततश्चेदमपि शक्यते वक्तुम्–नित्यं विज्ञानम्, उत्पत्तिमत्त्वाद्, घटवत् । ततश्च कथञ्चिन्नित्याद् विज्ञानादभिन्नस्य जीवस्य नित्यत्वान्न परलोकाभाव इति ॥ १६६१ ॥

अथवा–विरुद्धाव्यभिचार्यप्ययमुत्पत्तिमत्त्वरूपो हेतु, प्रत्यनुमानसद्भावात् । किं पुनस्तत्प्रत्यनुमानम् ?. इत्याह–

अहवा वत्थुत्तणओ, विणासि चेओ न होइ कुंभो व्व ।
उप्पत्तिमदादित्ते, कहमविणासी घडो बुद्धी ? ॥१६६२॥

एकान्तेन विनाशि विनश्वर चेतो विज्ञानं न भवति, वस्तुत्वात्. कुम्भवत् । ततोऽस्य प्रत्यनुमानस्योपस्थानाद्विरुद्धाव्यभिचार्यप्युत्पत्तिमत्त्वलक्षणो हेतु । यदुक्तम्–' नणु एवं चिय साहणमविणासित्ते वि " इत्यादि, तत्र परस्येयं बुद्धिः स्यात् । कथंभूता बुद्धिरित्याह–कथमुत्पत्तिमत्त्वात् दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तो घटोऽविनाशी सिद्ध्यति ?–न कथञ्चित्, घटस्य विनाशित्वेन सुप्रतीतत्वात् । ततश्च दृष्टान्ते अविनाशित्वस्यासिद्धेर्दार्ष्टान्तिके विज्ञाने तन्न सिद्ध्यतीति परस्याऽभिप्राय इति ॥ १६६२ ॥

अत्रोत्तरमाह–

रूवरसगंधफासा, संखा संठाणदव्वसत्तीओ ।
कुंभो त्ति जओ ताओ,पभुइविगच्छित्तिधुवधम्मा ।१६६३।

इह रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणो गुणसमुदाय', एकलक्षणा संख्या,पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकारलक्षणं संस्थानं,मृद्द्रव्यं, जलाऽऽहरणाऽऽदिशक्तिश्चेत्येतानि समुदितानि यतः कुम्भ इत्युच्यते, ताश्च रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यासंस्थानद्रव्यशक्तयः प्रसूतिविच्छित्तिध्रौव्यधर्मिण्य उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपास्तत उत्पत्तिमत्त्वादविनाश्यपि घटः सिद्ध्यतीति ॥ १६६३ ॥

एतदेव विस्तरतो भावयन्नाह-

इह पिंडो पिंडाऽऽगा-रसत्तिपज्जायविलयसमकालं ।
उप्पज्जइ कुम्भाऽऽगा-रसत्तिपज्जायरूवेण ॥ १६६४ ॥
रूवाइं दव्वयाए, न जाइ न य वेइ तेण सो निच्चो ।
एवं उप्पायव्वय-धुवस्सहावं मयं सव्वं ॥ १६६५ ॥

इह मृत्पिण्डः कर्ता । योऽयं वृत्तसंस्थानरूप' स्वकीयो मृत्पिण्डाऽऽकारः,शक्तिश्च या काचिदात्मीया, एतदुभयलक्षणो यः पर्याय' तस्य यो विलयो विनाशस्तत्समकालमेवाऽसावुत्पद्यते,मृत्पिण्डः । केन ?। इत्याह-पृथुबुध्नोदराऽऽदिको यः कुम्भाऽऽकार', तच्छक्तिश्च या जलाऽऽहरणाऽऽदिविषया, एतदुभयलक्षणो य' पर्यायस्तेनोत्पद्यते । रूपरसगन्धस्पर्शरूपतया मृद्द्रव्यरूपतया चाऽसौ मृत्पिण्डो न जायते, नाऽपि व्येति विनश्यति । ततस्तद्रूपतया नित्योऽयमुच्यते, तेन रूपेण तस्य सदैवावस्थितत्वात् । तदेवं मृत्पिण्डो निजाऽऽकारस्वशक्तिरूपतया विनश्यति, घटाऽऽकारतच्छक्तिरूपतयोत्पद्यते,रूपाऽऽदिभावेन मृद्द्रव्यरूपतया चावतिष्ठते, इत्युत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावोऽयमुच्यते । एवं घटोऽपि पूर्वपर्यायेण विनश्यति,घटाऽऽकारतया तूत्पद्यते,रूपाऽऽदित्वेन मृद्द्रव्यतया चावतिष्ठत इत्यसावप्युत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावः । एवमन्यदपि यदस्ति वस्तु तत्सर्वमप्युत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावमेवाभिमतं तीर्थकृताम् । ततश्च यथोत्पत्तिमत्त्वाद्विनाशित्वं घटे सिध्यति तथा अविनाशित्वमपि । तथा च सति साध्यधर्मिणि चैतन्येऽपि तत्सिद्धिरिति । तदेवं चैतन्याद्व्यतिरिक्तो जीवः कथञ्चिन्नित्य एव ॥ १६६४ ॥ १६६५ ॥

ततश्च न परलोकाभाव इति दर्शयन्नाह-

घडचेयणया नासो, पडचेयणया समुब्भवो समयं ।
संताणेणावत्था, तहेहपरलोयजीवाणं ॥ १६६६ ॥
मणुएहलोगनासो, सुराइपरलोगसंभवो समयं ।
जीवतयाऽवत्थाणं, नेहभवो नेय परलोओ ॥ १६६७ ॥

घटविषयं विज्ञानं घटचेतनोच्यते,पटविषयं तु विज्ञानं पटचेतना । यदा च घटविज्ञानानन्तरं पटविज्ञानमुपजायते जीवस्य, तदा घटचेतनया घटविज्ञानरूपेण तस्य नाश उच्यते, पटचेतनया तु पटविज्ञानरूपेण ( समयं ) युगपदेव समुद्भव उत्पाद', अनादिकालप्रवृत्तेन तु चेतनासन्तानेन निर्विशेषणेन जीवत्वमात्रेणावस्थानमिति । एवं च यथेहभवेऽपि तिष्ठतो जीवस्योत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावत्रयं दर्शितं,तथा परलोकं गता जीवाः परलोकजीवास्तेषामप्येतत्स्वभावत्रयं द्रष्टव्यम्, तद्यथा-यदा मनुष्यो मृत्वा सुरलोकऽऽकादावुत्पद्यते तदा मनुष्यरूप इहलोको मनुष्येहलोकस्तस्य नाशस्तत्समकालमेव च सुराऽऽदिपरलोकस्य संभव उत्पाद', जीवतया त्ववस्थानम् । तस्या च जीवत्वावस्थाया विवक्षितायां नेहभवो विवद्यते, नापि सुराऽऽदिपरलोको विवद्यते, किं तु निष्पर्यायं जीवद्रव्यमात्रमेव विवद्यते । तदेवमुत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावत्वे जीवस्य न परलोकाभाव इति ॥ १६६६ ॥ १६६७ ॥

आह-ननु कथं सर्वस्याऽपि वस्तुन इयं त्रिस्वभावता ?, इत्यत्र युक्तिमाह-

असओ नत्थि पसूई, होज्ज व जइ होउ खरविसाणस्स ।
न य सव्वहा विणासो, सव्वुच्छेयप्पसंगाओ ॥ १६६८ ॥
तोऽवत्थियस्स केण वि, विलओ धम्मेण भवणमन्नेण ।
सव्वुच्छेओ न मओ, संववहारोवरोहाओ ॥ १६६९ ॥

इहैकान्तेन सर्वथाऽसतो वस्तुनः प्रसूतिरुत्पत्तिर्नास्ति न घटते । अथ भवति, तर्हि खरविषाणस्यापि भवतु, असत्त्वाविशेषात् । तस्मात्केनापि रूपेण सदेवोत्पद्यते । न च सतः सर्वथा विनाश', क्रमश सर्वस्याऽपि नारकतिर्यगादेरुच्छेदप्रसङ्गात् । ततस्तस्मात्तस्यावस्थितस्य जीवाऽऽदेरस्ति केनापि मनुष्याऽऽदिधर्मेण विलयो विनाशः,अन्येन तु सुराऽऽदिरूपेण भवनमुत्पादः, सर्वोच्छेदस्तु न मतस्तीर्थकृता. संव्यवहारोपरोधात्, अन्यथा व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादित्यर्थ' । तथाहि-राजपुत्र्या क्रीडाहेतुभूतं सौवर्णकलशकं भङ्क्त्वा राजतनयस्य क्रीडार्थमेव कन्दुको घटितः, ततो राजपुत्र्या शोक', कुमारस्य तु हर्ष , सुवर्णस्वामिनश्च नृपतेरौदासीन्य, सुवर्णस्योभयावस्थायामप्यविनष्टत्वाद्, इत्यादिको योऽसौ लोकव्यवहारस्तस्य सर्वस्याप्युत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकवस्त्वनभ्युपगमे समुच्छेद' स्यात् । तस्मात्कथञ्चिदवस्थितत्वे जीवस्य न परलोकाभाव इति ॥ १६६८ ॥ १६६९ ॥

किं च-स्वर्गाऽऽदिपरलोकाभावेऽग्निहोत्रदानाऽऽदीनामानर्थक्यं स्यादिति दर्शयन्नाह-

असइ व परम्मि लोए, जमग्गिहोत्ताइं सग्गकामस्स ।
तदसंबद्धं सव्वं, दाणाइफलं च लोयम्मि ॥ १६७० ॥

गतार्थो ॥ १६७० ॥

तदेवं छिन्नस्तस्यापि संशयः । ततः किं कृतवानसौ ?, इत्याह-

छिन्नम्मि संसयम्मी, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ,तिहिं ओसह खंडियसएहिं ॥ १६७१ ॥

अर्थः स एव । विशे० । ध० । सूत्र० । आ०म० । (' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे ११३३ पृष्ठादारभ्य पूर्वभवव्याख्यावसरे श्रेयांसेन स्वभवपरम्परावर्णनावसरे स्वयंबुद्धसंवादेऽस्योऽर्थ साधित' ) स्वर्गाऽऽदौ, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० । " संदिग्धे परलोकेऽपि, त्याज्यमेवाशुभं बुधैः । यदि नास्ति ततः किं स्या-दस्ति चेन्नास्तिको हतः " ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

परलोगणिप्पिवास-परलोकनिष्पिपास-त्रि० । जन्मान्तरनिराकाङ्क्षे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

परलोगपडिबद्ध-परलोकप्रतिबद्ध-त्रि० । स्था० ३ ठा० ३ उ० । ( अर्थस्तु ' पव्वज्जा ' शब्दे )

परलोगभय-परलोकभय-न० । विजातीयादन्यस्मात्तिर्यग्देवाऽऽदे सकाशान्मनुष्याऽऽदीना भये, स्था० ७ ठा० । आव० । यथा मनुजाऽऽदीना सिंहाऽऽदिभ्य । दर्श० १ तत्त्व । स० । स्था० ।

**परलोगमग्ग**-परलोकमार्ग-पुं०। स्वर्गाऽऽदिवीथ्याम्, जीवा० १ अधि०।

**परलोगविरुद्ध**-परलोकविरुद्ध-न०। खरकर्माऽऽदौ, तद्यथा- "बहुधा खरकर्मित्वं, सीरपतित्वं च शुक्लपालत्वम्। विरतिं विनाऽपि सुकृती, करोति नैवंप्रकारमकार्यम्॥ १॥" ध० र० १ अधि० ४ गुण।

**परलोगवेरि ( ण् )**-परलोकवैरिन्-पुं०। अन्यजन्मशत्रौ, पं० व० ३ द्वार।

**परलोगसमावन्न**-परलोकसमापन्न-त्रि०। समापन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

**परलोगहिय**-परलोकहित-न०। जन्मान्तराय प्रधानजन्मने वा पथ्ये, पञ्चा० १ विव०।

**परलोगासंसापओग**-परलोकाऽऽशंसाप्रयोग-पुं०। देवोऽहं स्यामित्यादिरूपे परलोकविषयकाऽऽशंसालक्षणे अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाऽऽराधनाजोषणाऽतिचारे, उपा० १ अ०। श्रा०। आव०।

**परवंचण**-परवञ्चन-न०। परच्छलने, ध०। तद्वर्ज्यता चैवम्-कूटतुलामान-न्यूनाधिकवाणिज्य-रसमेला-वस्तुमेलानुचित-मूल्यवृद्ध्यनुचितकलान्तरग्रहणलञ्चाप्रदानग्रहणकूटकरकर्षणकूटद्रम्मनाणकाऽऽद्यर्पणपरकीयक्रयविक्रयभञ्जनपरकीयग्राहकव्युद्ग्राहणवर्णिकान्तरदर्शनसान्धकारस्थानवस्त्राऽऽदिवाणिज्यमपीभेदाऽऽदिभिः सर्वथा परवञ्चनं वर्ज्यम्। यतः- "विधाय माया विविधैरुपायैः, परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति। ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्ग-सुखान्यहो मोहविजृम्भितानि॥१॥" ध० २ अधि०।

**परवक**-न०। देशी-अल्पचेतसि, दे० ना० ६ वर्ग ८ गाथा।

**परवक्ख**-परपक्ष-पुं०। अपरवर्गे भिक्षाचरे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

**परवडिया**-परप्रतिज्ञा-स्त्री०। पराऽऽनीतस्याशनाऽऽदेर्दानप्रतिज्ञायाम्, "णो चेव णं परवडियाए ओगिज्झिय ओगिज्झिय उवणिमंतेज्जा।" आचा०२ श्रु०१ चू० ७ अ० १ उ०।

**परवत्थ**-परवस्त्र-न०। साध्वपेक्षया गृहस्थस्य वस्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। प्रधानवस्त्रे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

**परवयण**-परवचन-न०। परश्चोदकस्तस्य वचनम्। प्रच्छकवचने, नि० चू० २ उ०।

**परववएस**-परव्यपदेश-पुं०। परस्याऽऽत्मव्यतिरिक्तस्य व्यपदेशः-परकीयमिदमन्नाऽऽदिकमित्येवमदित्सावतः साधुसमक्षं भणनं परव्यपदेशः। पञ्चा० १ विव०। जानन्तु साधवो यस्यैतद् भक्ताऽऽदिकं भवेत् तदा कथमस्मभ्यं न दद्यादिति साधुसंप्रत्ययार्थं परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति साधुसमक्षं भणने, अस्माद्दानान्ममाऽम्बाऽऽदेः पुण्यमस्त्विति वा भणने, एष यथासंविभागस्य चतुर्थोऽतिचारः। उपा० १ अ०। ध०। आव०।

**परवस**-परवश-त्रि०। पराऽऽयत्ते, "परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते।" उत्त० १ अ०। अस्वतन्त्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।



**परवाइपमद्दण**-परवादिप्रमर्दन-त्रि०। वादिनां मतप्रमर्दनात् ध्वंसने, औ०।

**परवागरण**-परव्याकरण-न०। परस्तीर्थकृत्तस्य तेन वा व्याकरणं यथाऽवस्थितार्थप्रज्ञापनमागमः परव्याकरणम्। सर्वज्ञप्रवचने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

**परवादिवयण**-परवादिवचन-न०। मिथ्यादृष्टीनां परेषां वादिनामुक्तौ, तच्च सूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धे तृतीयाऽध्ययने तृतीयोद्देशे द्वितीयार्थाऽधिकारत्वेनोक्तम्। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

इदानीं परवादिवचनं द्वितीयमर्थाधिकारमाधिकृत्याऽऽह-

तमेगे परिभासंति, भिक्खुयं साहुजीविणं।
जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए॥ ८॥

( तमेगे इत्यादि ) तमिति साधुम्, एके ये परस्परोपकाररहितं दर्शनमापन्ना अयःशलाकाकल्पाः, ते च गोशालकमतानुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा, त एवं वक्ष्यमाण, परि-समन्ताद्भाषन्ते। तं भिक्षुकं साध्वाचारं, साधुशोभन परोपकारपूर्वकं जीवितुं शीलमस्य स साधुजीविनमिति, 'ये' तेऽपुष्टधर्माणः ( एवं ) वक्ष्यमाणं 'परिभाषन्ते' साध्वाचारनिन्दां विदधति, त एवम्भूता अन्तके पर्यन्ते दूरे 'समाधेः' मोक्षाऽऽख्यात्सम्यग् ध्यानात्सदनुष्ठानात् वा वर्तन्त इति॥ ८॥

यत्ते प्रभाषन्ते तद्दर्शयितुमाह-

संबद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया।
पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य॥ ९॥

'सम्' एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्रकलत्राऽऽदिस्नेहपाशैः संबद्धाः-गृहस्थास्तैः समः तुल्यः कल्पो-व्यवहारोऽनुष्ठानं येषां ते संबद्धसमकल्पाः, गृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठाना इत्यर्थः। तथाहि-यथा गृहस्थाः परस्परोपकारेण माता पुत्रे पुत्रोऽपि मात्रादावित्येवं मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः, एवं भवन्तोऽप्यन्योन्यं परस्परतः शिष्याऽऽचार्योऽऽद्युपकारक्रियाकल्पनया मूर्च्छिताः। तथाहि-गृहस्थानामयं न्यायो यदुत-परस्मै दानाऽऽदिनोपकार इति, न तु यतीनां, कथमन्योन्यं मूर्च्छिता इति दर्शयति- 'पिण्डपातं' भैक्ष्यं, ग्लानस्य अपरस्य रोगिणः साधोः, यत्-यस्मात् ( सारेह त्ति ) अन्वेषयन्ते। तथा-( दलाह य त्ति ) ग्लानयोग्यमाहारमन्विष्य तदुपकारार्थं दद्ध्वं च-शब्दादाचार्याऽऽदेः वैयावृत्त्यकरणाऽऽद्युपकारेण वर्तध्वं, ततो गृहस्थसमकल्पा इति॥ ९॥

साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन दोषदर्शनायाऽऽह-

एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा।
नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा॥ १०॥

( एवमित्यादि ) ( एवं ) परस्परोपकाराऽऽदिना यूयं गृहस्था इव सरागस्थाः-सह रागेण वर्त्तत इति सरागः-स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठन्तीति ते तथा, 'अन्योऽन्यं' परस्परतो वशमुपगताः-परस्पराऽऽयत्ताः, यतयो हि निःसङ्गतया न कस्यचिदायत्ता भवन्ति, यतो गृहस्थानामयं न्याय इति। त-

था नष्ट'-अपगतः, सत्पथ -सद्भाव-सन्मार्गः परमार्थो ये भ्यस्ते तथा । एवंभूताश्च यूयं संसारस्य' चतुर्गतिभ्रमणलक्षणस्य अपारगाः' अतीरगामिन इति ॥ १० ॥

अयं तावत् पूर्वपक्षः, अस्य च दूषणायाऽऽह-

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खू मोक्खविसारए ।
एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥ ११ ॥

( अह ते परिभासेज्जा इत्यादि ) 'अथ' अनन्तरं 'तान्' एवं प्रतिकूलत्वेनोपस्थितान् भिक्षुः 'परिभाषेत' ब्रूयात्, किंभूतः ?– 'मोक्षविशारद '–मोक्षमार्गस्य-सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्य प्ररूपकः, 'एवम्' अनन्तरोक्तं यूयं प्रभाषमाणाः सन्त दुष्टः पक्षो दुष्पक्षोऽसत्प्रतिज्ञाऽभ्युपगमः तमेव सेवध्वं यूयम् । यदि वा-रागद्वेषाऽऽत्मकं पक्षद्वयं सेवध्व यूयम् । तथाहि-सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्रागो, निष्कलङ्कस्याप्यस्मदभ्युपगमस्य दूषणाद् द्वेष , अथवा पक्षद्वयं सेवध्वं यूयम् । तद्यथा-वक्ष्यमाणनीत्या वीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद् गृहस्था यतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताश्चत्येव पक्षद्वयाऽऽसेवनं भवतामिति । यदि वा-स्वतोऽसदनुष्ठानमपरं च सदनुष्ठायिना निन्दनमिति भाव ॥ ११ ॥

आजीविकाऽऽदीना परतीर्थिकाना दिगम्बराणा वा सदाचारनिरूपणायाऽऽह-

तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडम्मि य ।
तं च बीओदगं भोच्चा, तमु दिस्सादि जं कडं ॥ १२ ॥

( तुब्भे भुंजह इत्यादि ) किल वयमपरिग्रहतया निष्किञ्चना एवमभ्युपगम कृत्वा यूयं भुङ्ध्वं 'पात्रेषु' कांस्यपाच्यादिषु गृहस्थभाजनेषु तत्परिभोगाच्च तत्परिग्रहोऽवश्यंभावी, तथा-आहाराऽऽदिषु मूर्च्छा कुरुध्वमित्यतः कथं निष्परिग्रहाभ्युपगमो भवतामकलङ्क इति । अन्यच्च-ग्लानस्य भिक्षाऽटनं कर्तुमसमर्थस्य यदपरैर्गृहस्थैरभ्याहृत कार्यते भवद्भिः, यतेरानयनाधिकाराभावाद् गृहस्थाऽऽनयने च यो दोषसद्भावः स भवतामवश्यंभावीति तमेव दर्शयति-यच्च गृहस्थैर्बीजोदकाऽऽद्युपमर्देनाऽऽपादितमाहारं भुक्त्वा तं ग्लानमुद्दिश्योद्देशकाऽऽदि 'यत्कृतं' यन्निष्पादित तदवश्यं युष्मत्परिभोगायावतिष्ठते । तदेवं गृहस्थगृहे तद्भाजनाऽऽदिषु भुञ्जानास्तथा ग्लानस्य च गृहस्थैरेव वैयावृत्त्यं कारयन्तो यूयमवश्यं बीजोदकाऽऽदिभोजिन उद्देशिकाऽऽदिकृतभोजिनश्चेति ॥ १२ ॥

किञ्चान्यत्-

लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिआ असमाहिया ।
नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥ १३ ॥

योऽयं षड्जीवनिकायविराधनयोद्दिष्टभोजित्वेनाभिगृहीतमिथ्यादृष्टितया च साधुपरिभाषणेन च तीव्रोऽभितापः-कर्मबन्धरूपस्तेनोपलिता -संवेष्टितास्तथा (उज्झिय त्ति) सद्विवेकशून्या भिक्षापात्राऽऽदित्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकाऽऽदिभोजित्वात् । तथा-'असमाहिताः' शुभाध्यवसायरहिता सत्साधुप्रद्वेषित्वात् । साम्प्रतं दृष्टान्तद्वारेण पुनरपि तद्दोषाभिधित्सयाऽऽह-यथा 'अरुष ' व्रणस्यातिकण्डूयितं नखैर्विलेखनं न श्रेयो-न शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति, एवं भवन्तोऽपि सद्विवेकरहिता वयं किल निष्किञ्चना इत्येवं निष्परिग्रहतया षड्जीवनिकायरक्षणभूतं भिक्षापात्राऽऽदिकमपि संयमोपकरण परिहृतवन्तः, तदभावाच्चावश्यंभावी अशुद्धाऽऽहारपरिभोग इत्येवं द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्षणेन नातिकण्डूयितं श्रेयो भवतीति भावः ॥ १३ ॥

अपि च-

तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥ १४ ॥

'तत्त्वेन' परमार्थेन मौनीन्द्राभिप्रायेण यथावस्थितार्थप्ररूपणया ते गोशालकमतानुसारिण आजीविकाऽऽदयः, वाटिका वा 'अनुशासिताः' तदभ्युपगमदोषदर्शनद्वारेण शिक्षा ग्राहिता , केन ?। 'अप्रतिज्ञेन' नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो-रागद्वेषरहितः साधुस्तेन 'जानता' हेयोपादेयपदार्थपरिच्छेदकेनेत्यर्थः, कथमनुशासिता इत्याह योऽयं भवद्भिरभ्युपगतो मार्गो यथा यतीना निष्किञ्चनतयोपकरणाभावात् परस्परत उपकार्योपकारकभाव इत्येष न नियतो न निश्चितो न युक्तिसङ्गतः, अतो येयं वाग् यथा-ये पिण्डपात ग्लानस्याऽऽनीय ददति ते गृहस्थकल्पा इत्येषा असमीक्ष्याभिहिता अपर्यालोच्योक्ता, तथा 'कृतिः' करणमपि भवदीयमसमीक्षितमेव, यथा चाऽपर्यालोचितकरणता भवति भवदनुष्ठानस्य तथा नातिकण्डूयित श्रेय इत्यनेन प्राग्लेशतः प्रतिपादितं, पुनरपि सदृष्टान्त तदेव प्रतिपादयति ॥ १४ ॥

यथाप्रतिज्ञानमाह-

एरिसा जावई एसा, अग्गवेणु व्व करिसिता ।
गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं न तु भिक्खुणं ॥ १५ ॥

येयमीदृक्षा वाक् यथा यतिना ग्लानस्याऽऽनीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवत्-वंशवत्कर्षिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्बलेत्यर्थ । तामेव वाचं दर्शयति-' गृहिणाम् ' गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्भोक्तुं 'श्रेयः' श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां संबन्धीति, अग्रे तनुत्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यम्-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीना तूद्गमाऽऽदिदोषरहितमिति ॥ १५ ॥

किञ्च-

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभा ण विसोहिआ ।
ण उ एयाहिँ दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पगप्पियं ॥ १६ ॥

धर्मस्य प्रज्ञापना देशना, यथा-यतीना दानाऽऽदिनोपकर्तव्यमित्येवम्भूता या सा 'सारम्भाणा' गृहस्थानां विशोधिका, यतयस्तु स्वाऽनुष्ठानेनैव विशुध्यन्ति, न तु तेषां दानाधिकारोऽस्तीत्येतद् दूषयितुं प्रक्रमते-'न तु' नैवताभिर्यथा गृहस्थेनैव पिण्डदानाऽऽदिना यतेर्ग्लानाऽऽद्यवस्थायामुपकर्त्तव्यम् , न तु यतिभिरेव परस्परमित्येवंभूताभिर्युष्मदीयाभिः 'दृष्टिभिः' धर्मप्रज्ञापनाऽऽदिभि 'पूर्वम्' आदौ सर्वज्ञैः 'प्रकल्पितं' प्ररूपित प्रख्यापितमासीऽऽदिति, यतो न हि सर्वज्ञा एवंभूतं परिफल्गुप्रायमर्थं प्ररूपयन्ति यथा असंयतैरेषणाऽऽद्यनुपयुक्तैर्ग्लानाऽऽदेर्वैयावृत्त्यं विधेय, न तूपयुक्तेन संयतेनेति । अपि च भवद्भिरपि ग्लानोपकारोऽभ्युपगत ए-

च, गृहस्थप्रेरणादनुमोदनाच्च, ततो भवन्तस्तत्कारिणस्त-त्प्रद्वेषिणश्चेत्यापन्नमिति ॥ १६ ॥

अपि च-

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए ।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जो वि पगब्भिया ॥ १७ ॥

ते गोशालकमतानुसारिणो, दिगम्बरा वा सर्वाभिरर्थानुगता भिर्युक्तिभि, सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्नुवन्त स्वपक्षे आत्मान यापयितु सस्थापयितु 'तत ' तस्माद्युक्तिभि प्रतिपादयितु सामर्थ्याभावात् ' वाद निराकृत्य ' सम्यग्हेतुदृष्टान्तैर्यो वादो-जल्पस्त परित्यज्य ते तीर्थिका भूय. पुनरपि वादपरित्यागे सत्यपि प्रगल्भिता धृष्टतां गता इदमूचु, तद्यथा-" पुराण मानवो धर्म , साङ्गो वेदश्चिकित्सितम । आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभि ॥ १ ॥ " अन्यच्च-किमनया बहिरङ्गया युक्त्याऽनुमानाऽऽदिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्त्तव्यमस्ति, यत प्रत्यक्ष एव बहुजनसमतत्वेन राजाऽऽद्याश्रयणाद्वायमेवास्मदभिप्रेतो धर्म. श्रेयान्नापर इत्येव विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम्-न ह्यत्र ज्ञानाऽऽदिसाररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति ।

उक्त च-

" एरण्डकट्ठरासी, जहा य गोसीसचन्दणपलस्स ।
मोल्ले न होज्ज सरिसो, कित्तियमेत्तो गणिज्जतो ॥ १ ॥
तह वि गणणातिरेगो, जह रासी सो न चदनसरिच्छो ।
तह निव्विण्णाणमहा-जणो वि मोल्ले विसवयति ॥ २ ॥
एक्को सचक्खुगो जह, अधलयाण सएहिं बहुएहिं ।
होइ वर दट्ठव्वो, न हु ते बहुगा अपेच्छता ॥ ३ ॥
एव बहुगा वि मूढा, ण पमाण जे गइ ण याणति ।
ससारगमणगुविल, णिउणस्स य बधमोक्खस्स ॥ ४ ॥ "

इत्यादि ।

अपि च-

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता ।
आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥ १८ ॥

रागश्च प्रीतिलक्षणो,द्वेषश्च-तद्विपरीतलक्षण ,ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकाना ते तथा, ' मिथ्यात्वेन,' विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाऽध्यवसायरूपेण ' अभिद्रुता ' व्याप्ता सद्युक्तिभिर्वाद कर्तुमसमर्था क्रोधानुगा 'आक्रोशान् असभ्यवचनरूपास्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापार 'यन्ति' आश्रयन्ते । अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्य दृष्टान्तमाह यथा 'टङ्कणा.' म्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना स्वानीकाऽऽदिनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरायुधैर्योद्धुमसमर्था सन्त. पर्वत शरणमाश्रयन्ति,एव 'तेऽपि ' कुतीर्थिका वादपराजिता क्रोधाऽऽधुपहतदृष्टय आक्रोशाऽऽदिक शरणमाश्रयन्ते, न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्या , तद्यथा-" अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भसाण बालसुलभाण । लाभ मन्नइ धीरो, जहुत्तराण अभावम्मि ॥ १ ॥ " ॥ १८ ॥

किञ्चान्यत्-

बहुगुणप्पगप्पाई, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥ १९ ॥

' बहवो गुणा ' स्वपक्षसिद्धिपरपक्षदोषोद्भावनाऽऽदयो माध्यस्थ्याऽऽदयो वा प्रकल्पन्ते -प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु तानि बहुगुणप्रकल्पानि-प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनाऽऽदीनि माध्यस्थ्यवचनप्रकाराणि वा अनुष्ठानानि साधुर्वादकाले अन्यदा वा ' कुर्यात् ' विदध्यात्, स एव विशिष्यते- आत्मनः समाधिश्चित्तस्वास्थ्य यस्य स भवत्यात्मसमाधिक । एतदुक्तं भवति-येन येनोपन्यस्तेन हेतुदृष्टान्ताऽऽदिना आत्मसमाधि. स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्यवचनाऽऽदिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत तत् कुर्यादिति, तथा येनाऽनुष्ठितेन वा भाषितेन वा. अन्यतीर्थिको धर्मश्रवणाऽऽदौ वाऽन्य प्रवृत्तो ' न विरुध्येत ' न विरोध गच्छेत्, तेन पराविरोधकरणेन तत्तदविरुद्धमनुष्ठान वचन वा ' समाचरेत् ' कुर्यादिति ॥ १९ ॥

तदेव परमत निराकृत्योपसंहारद्वारेण स्वमतस्थापनायाऽऽह-

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥ २० ॥

( इम चेत्यादि ) इममिति वक्ष्यमाण दुर्गतिधारणाद्धर्मम्, ' आदाय ' उपादाय आचार्योपदेशेन गृहीत्वा, काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नदिव्यज्ञानेन सदेवमनुजायां पर्षदि प्रकर्षेण-यथाऽवस्थितार्थनिरूपणद्वारेण वेदित प्रवेदित, चशब्दात्परमत च निराकृत्य, भिक्षणशीलो भिक्षुः ग्लानस्य अपटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्याऽऽदिक कुर्यात्, कथ कुर्यादेतदेव विशिनष्टि-स्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति ' समाहितः ' समाधिं प्राप्त इति । इदमुक्त भवति-यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते न तत्करणेन अपाटवसंभवात् योगा विषीदन्तीति, तथा यथा तस्य च ग्लानस्य समाधिरुत्पद्यते तथा-पिण्डपाताऽऽदिक विधेयमिति ॥ २० ॥

किं कृत्वैतद्विधेयमिति दर्शयितुमाह-

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वए ॥ २१ ॥

( सखाय इत्यादि ) संख्याय-ज्ञात्वा, क ?-' धर्म ' सर्वज्ञप्रणीत श्रुतचारित्राऽऽख्यभेदभिन्न ' पेशलम ' इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसाऽऽदिप्रवृत्त्या प्रीतिकारण, किंभूतमिति दर्शयति-दर्शन दृष्टि' सद्भूतपदार्थगता सम्यग्दर्शनमित्यर्थः, सा विद्यते यस्याऽसौ दृष्टिमान् यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदवानित्यर्थ , तथा-परिनिर्वृतो रागद्वेषविरहाच्छान्तीभूतस्तदेव धर्म पेशल परिसंख्याय दृष्टिमान् परिनिर्वृत उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्नियम्य संयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमञ्जस विदध्यादित्येवम ' आमोक्षाय ' अशेषकर्मक्षयप्राप्ति यावत्, परि-समन्तात् अजेत्संयमानुष्ठानेनोद्युक्तो भवेत्, परिव्रजेत् ॥ २१ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

**परवाय** परवाद-पुं० । मिथ्यादृष्टीना मतवादे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

**परविम्हावग**-परविस्मापक-पुं० । परचित्तविभ्रमकारके, बृ० ।

अथ परविस्मापकमाह-

सुरजालमाइएहिं, तु विम्हियं कुणइ तव्विहजणस्स ।
तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्टकुहेडएहिं वा ॥ ५०३ ॥

सुरजालमिन्द्रजालम, आदिशब्दादपरकौतुकपरिग्रह', तै-स्तथा आहर्ता. प्रहेलिका., कुहेटका' चक्रोक्तिविशेषरूपा., तैश्च तथाविधजनस्य तादृशस्य बालिशप्रायलोकस्य विस्मय वि-स्मयिभ्रम करोति, स्वय पुनस्तेषु न विस्मयते। एष परविस्मा-पक'। बृ० १ उ० २ प्रक०।

परवियालण-परविचालन-न०। परविषयोत्खनने, सम्म० १ काण्ड।

परविवाहकरण-परविवाहकरण-न०। परेषां स्वापत्यव्यतिरिक्ता-नां जनाना विवाहकरण कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धाऽऽ-दिना वा परिणयनविधान परविवाहकरणम्। पञ्चा० १ वि-व०। परकीयापत्यानां स्नेहाऽऽदिना परिणायने, ध० २ अधि०। आव०। इद च स्वदारसन्तोषस्याऽतिचारः। अयमभिप्रा-यः-स्वदारसन्तोषिणो हि न युक्त परेषां विवाहाऽऽदिकरणेन मैथुननियोगोऽनर्थको, विशिष्टविरतियुक्तत्वादित्येवमनाकलयन् परार्थकरणोद्यतयाऽतिचारोऽयमिति। उपा०१ अ०। पञ्चा०।

परविसय-परविषय-पु०। परदेशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

परवेयावच्चकर-परवैयावृत्यकर-पु०। स्वार्थनिरपेक्षे परेषां वैयावृत्यकरे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

परसंतिग-परसत्क-त्रि०। परकीये, "परसंतिगाभिज्झालोभमूम्र कालविसयसंस्थिय।" परसत्के धने योऽभिध्यालोभो रौद्रध्याना-न्विता मूर्च्छा, स मूल निबन्धन यस्याऽदत्ताऽऽदानस्य तत्तथा तच्चेति कर्मधारयः। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

परसंसट्ठ-परसंसृष्ट-न०। गृहस्थाऽऽदिपरिवेषणनिमित्ते हस्ते, मात्रके वा। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

परसमय-परसमय-पुं०। कपिलाऽऽद्यभिप्रायानुवर्तिग्रन्थरूपे, उत्त० १ अ०। परतीर्थिकसिद्धान्ते, विशे०। स्था०। अपरिशब्दन-यवादे, "जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवा-या। जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥१॥" स-म्म० ३ काण्ड।

परसमयण्णु-परसमयज्ञ-त्रि०। शास्त्रान्तरज्ञे, परसमयज्ञताया. प्रयोजनम् ग्रीष्ममध्याह्नतीव्रतरतरणिकरनिकरावलीढगलत्-स्वेदविन्दुक' क्लिन्नवपुष्कस्साधु केनचित् द्विजातिनाऽभिहि-त.-किमिति भवता सर्वजनाऽऽचीर्णं स्नान न सम्मतमिति ?। स आह-प्राय सर्वेषामेव यतीनां कामाङ्गत्वात् जलस्नान प्र-तिषिद्धम्। "स्नान मददर्पकर, कामाङ्ग प्रथम स्मृतम्। त-स्मात्काम परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रता ॥१॥" आ-चा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

परसमुत्तार-परसमुत्तार-पु०। परस्य मोक्षप्रापकत्वे, बृ० १ उ० २ प्रक०। (व्याख्या 'परदेसियत्त' शब्दे ५२८ पृष्ठे गता)

परसमुत्थ-परसमुत्थ-त्रि०। परस्माज्जाते, आव० ४ अ०।

परसरीर-परशरीर-न०। परकीयशरीरे, मृतकशरीरे च। स्था० ४ ठा० २ उ०।

परसरीरअणवकंखवत्तिया-परशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया-स्त्री०। परशरीरक्षतिकराणि कुर्वत्याम्, स्था० २ ठा० १ उ०।

परसामण्ण-परसामान्य-न०। महासामान्ये सत्तायाम्, द्रव्यत्वा-ऽऽद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात् सत्तायाः। स्या०।

परसु-परशु-पु०। कुठारे, आ० १ श्रु० ९ अ०। बृ०। अनु०। "परसु गहाय दतमासियगइंदसतपमाणो।" आ० म० १ अ०।

परसुणियत्त-परशुनिकृत्त-त्रि०। परशुच्छिन्ने, प्र० १ श० ३३ उ०।

परसुराम-परशुराम-पु०। यमदग्निसुते परशुधारके, स च यमदग्ने रेणुकाया जात' क्षत्रियात्परशुविद्यां प्राप्य स्वगोदार-कस्य कृतवीर्यस्य वध कृत्वा तत' स्वपितृहन्तार कार्तवीर्य हत्वा महाक्रोधपरीत. त्रि ससकृत्वो नि क्षत्रिया पृथिवीं व्यधा-त्। आ० क० ४ अ०। आ० म०। आ० चू०।

परसुहुत-देशी-पु०। वृक्षे, ६ वर्ग ९६ गाथा।

परस्सर-पराशर-पु०। गण्डे, 'गैंडा' इतिख्याते (प्रश्न०११ पद। जी०।) आरण्यजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। भ०। स्त्रि-याम्-"परस्सरी।" प्रज्ञा०११ पद।

परहत्थ-परहस्त-पुं०। दातृहस्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

परहत्थपारियावणिया-परहस्तपारितापनिका-स्त्री०। परहस्ते न तथैव तत् कार्यते. परहस्तपारितापनिकी। तस्याम्, स्था० २ ठा० १ उ०।

परहिय-परहित-न०। परोपकारे, ध० २ अधि०। पञ्चा०। "ते तावत्कृतिन. परार्थघटका' स्वार्थस्य नाशेन ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यतधियः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसा. परकृतिर्यैर्हन्यते स्वार्थतो,
ये निघ्नन्ति निरर्थक परकृत ते के न जानीमहे? ॥१॥"
सङ्घा०१ अधि० १ प्रस्ता०।

परहियट्ठकारि (ण्)-परहितार्थकारिन्-पु०। परेषामन्येषां हितानर्थान् प्रयोजनानि कर्तुं शील यस्य स परहितार्थकारी। स्वत एव परप्रयोजनप्रसाधनप्रवणे, द० २ अष्ट। ध०। ध० र०। प्रव०। गुणवच्छ्रावके, ध० र०।

तत्फलम्। सम्प्रति विंशतितमगुण परहितार्थकारी; तत्स्वरूप नामत एव सुगमम्, तस्य धर्मप्राप्तौ फलमाह-

परहियनिरओ धन्नो, सम्मं विन्नायधम्मसब्भावो।
अन्ने वि ठवइ मग्गे, निरीहचित्तो महासत्तो ॥ ९७॥

यो हि प्रकृत्यैव परेषा हितकरणे नितरा रतो भवति स धन्यो धर्मधनार्हत्वात् सम्यग् विज्ञातधर्मसद्भावो यथावद् बुद्धधर्मत-त्त्वो, गीतार्थीभूत इति यावत्। अनेनाऽगीतार्थस्य परहितमपि चिकीर्षतस्तदसम्भवमाह। तथा चाऽऽगम -"किं इत्तो कट्ठयर, ज सम्ममना य समयसब्भावो। अन्न कुदेसणाए, कट्ठयरागम्मि पाडेइ ॥१॥" इति। अन्यानपि अविज्ञातधर्मान् सद्गुरुपा-र्श्वसमाकर्णिताऽऽगमवचनरचनाप्रपञ्चैः स्थापयति प्रवर्तयति ज्ञातधर्मांश्च सीदत स्थिरीकरोति मार्गे शुद्धधर्मे। आम-कुमारवत्। अनेन यतिश्रावकसाधारणेन परहितगुणव्याख्यान-पदेन साधोरिव श्रावकस्याऽपि स्वभूमिकाऽनुसारेण देशना यशतकपञ्चमोद्देशके-"तहारूव णं भंते! समण वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा ?। गोयमा! सवण-

फला। से ण भंते! सवणे किं फले?। नाणफले। से ण भंते! नाणे किं फले?। विन्नाणफले। से ण भंते! विन्नाणे किं फले?। पच्चक्खाणफले। से ण भंते! पच्चक्खाणे किं फले?। संजमफले। से णं भंते! संजमे किं फले?। अणण्हयफले। एवं अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले। से ण भंते! अकिरिया किं फला?। सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा!। गाहा-"सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे। अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया चेव ॥ १ ॥"

अस्य सूत्रस्य वृत्तिः-(तहारूवं इत्यादि) तथारूपमुचितस्वभावं, कञ्चन पुरुषं श्रमणं वा तपोयुक्तम्, उपलक्षणत्वादस्योत्तरगुणवन्तमित्यर्थः। माहन वा स्वयं हननिवृत्तत्वात् परं प्रति मा हनेति वादिनम्, उपलक्षणत्वादेव मूलगुणयुक्तमिति भावः। वाशब्दोऽत्र समुच्चये। अथवा श्रमणः साधु, माहनः श्रावकः, श्रवणफलेति सिद्धान्तश्रवणफला-(नाणफले त्ति) श्रुतज्ञानफलं, श्रवणाद्धि श्रुतज्ञानमवाप्यते। (विन्नाणफले त्ति) विशिष्टज्ञानफलं, श्रुतज्ञानाद्धि हेयोपादेयविवेककारि विज्ञानमुत्पद्यते एव। (पच्चक्खाण त्ति) विनिवृत्तिफलं, विशिष्टज्ञानो हि पापं प्रत्याख्याति। (संजमफले त्ति) कृतप्रत्याख्यानस्य हि संयमो भवत्येव। (अणण्हयफले त्ति) अनाश्रवफलः संयमवान् किल नवं कर्म नोपादत्ते। (तवफले त्ति) अनाश्रवो हि लघुकर्मत्वात्तपस्यतीति। (वोदाणफले त्ति) व्यवदानं कर्मनिर्जरणं, तपसा हि पुरातनं कर्म निर्जरयति। (अकिरियाफले त्ति) योगनिरोधफलं, कर्मनिर्जरातो हि योगनिरोधं कुरुते। (सिद्धिपज्जवसाणफले त्ति) सिद्धिलक्षणं पर्यवसानफलं, सकलफलपर्यन्तवर्ति फलं यस्याः सा तथा। (गाहा त्ति) संग्रहगाथा। एतल्लक्षणम्-विषमाक्षरपादं चेत्यादि छन्दःशास्त्रप्रसिद्धमिति। श्रीधर्मदासगणिपूज्यैरुपदेशमालायामप्युक्तम्-"वंदइ पडिपुच्छइ पज्जुवासए साहुणो य सययमेव। पढइ सुणेइ गुणेइ य, जणस्स धम्मं परिकहेइ ॥ १ ॥" इति।

किंविशिष्टं सन्नित्याह-निरीहचित्तो निःस्पृहमनाः, सस्पृहो हि शुद्धमार्गोपदेष्टाऽपि न प्रशस्यते। तथा चोक्तम्-"परलोकातिगं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम्। तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥ १ ॥" किंभूत्येवंविध इत्याह-महासत्त्व इति कृत्वा, यतः सत्त्ववताममी गुणाः सम्भवन्ति। तथाहि-"परोपकारैकरतिर्निरीहता, विनीतता सत्यमतुच्छचित्तता। विद्याविनोदोऽनुदिनं न दीनता, गुणा इमे सत्त्ववतां भवन्ति ॥१॥" ध०र० १ अधि० २० गुण। (भीमकुमारकथा 'भीमकुमार' शब्दे वक्ष्यते)

**परहियणिरय-परहितनिरत**-त्रि०। परोपकारनिरते, षो० ५ विव०।

**परहियरय-परहितरत**-त्रि०। परे आत्मव्यतिरिक्ता जीवास्तेषां हितं सम्यक्त्वाऽऽदिगुणाऽऽधानं, तत्र रतः आऽऽसक्तः। परोपदेशाऽऽसक्ते, जी० १ प्रति० १ अधि०।

**परहुअ-परभृत**-पुं०। परेण स्वपितृव्यतिरिक्तेन भृत पोषितः। "उद्गत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋकारस्योकारः। प्रा० १ पाद। भस्य हः। कोकिले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। पाइ० ना०। ज्ञा०। ज०।

**परा-परा**-स्त्री०। योगदृष्टिभेदे, द्वा०।

समाधिनिष्ठा तु परा, तदासङ्गविवर्जिता।

सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च, तदुत्तीर्णाऽऽशयेति च ॥ २६ ॥

(समाधीति) परा तु दृष्टिः समाधिनिष्ठा वक्ष्यमाणलक्षणसमाध्यासक्ता, तदासङ्गेन समाध्यासङ्गेन विवर्जिता, सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च सर्वाङ्गीणैकत्वपरिणतप्रवृत्तिश्च, चन्दनगन्धन्यायेन। तदुत्तीर्णाऽऽशयेति च सर्वथा विशुद्ध्या प्रवृत्तिवासकचित्ताभावेन ॥ २६ ॥ द्वा० २४ द्वा०।

**पराअ-पराग**-पुं०। रजसि, "रेणू पसू रओ पराओ य।" पाइ० ना० १३७ गाथा।

**पराइय-पराजित**-त्रि०। पराभग्ने, स्था०। आ० म०। सूत्र०। निराकृते, स्था० १० ठा०।

**पराइयसत्तु-पराजितशत्रु**-त्रि०। पराभग्नशत्रौ, यद्विध्यविजयवत्वात् (स्था० ६ ठा०) तद्विधराज्योपार्जने कृतसम्भावनात्ज्ञान् शत्रूनकृत। औ०। सूत्र०। रा०।

**परागम-पराऽऽगम**-पुं०। उत्कृष्टाऽऽगमे, जैनशास्त्रे, परावर्ये कापिलाऽऽदिशास्त्रे च। अष्ट० १६ अष्ट०।

**परागार-परागार**-न०। परगृहे, दश० ८ अ०।

**पराघाय-पराऽऽघात**-पुं०। गलपाताऽऽदिसमुत्थे दुःखे, स्था० ७ ठा०।

**पराघायणाम (ण्)-पराघातनामन्**-न०। नामकर्मभेदे, यदुदयात् परेषामुपघातको भवति जीवः। स० ४२ सम०। प्रव०। उत्त०। "परघाउदया पाणी, परेसिं बलिणं पि होइ दुद्धरिसो। (४३)" परानाहन्ति परिभवति, परैर्वा न हन्यते नाभिभूयते इति पराघातः, तन्निबन्धनं नाम पराघातनाम। ततः पराघातोदयात्पराघातनामकर्मविपाकात्प्राणी जन्तुः परेषामन्येषां बलिनामपि बलवतामपि, आस्तां दुर्बलानामित्यपिशब्दार्थः। भवति जायते दुर्धर्षोऽभिभवनीयमूर्त्तिः। अयमर्थः-यदुदयात्परेषां दुष्प्रधर्षो महौजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महाभूपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति, प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघातं च करोति तत्पराघातनामेत्यर्थः। कर्म० १ कर्म०। पं० सं०। आ०।

**पराजय-पराजय**-पुं०। अभिभवे, विजये, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। नि०। विशे०।

**पराजिणित्तए-पराजित्य**-अव्य०। परानभिभवितुमित्यर्थे, भ० ७ श० ९ उ०।

**पराजिणित्ता-पराजित्य**-अव्य०। भृशं जित्वेत्यर्थे, परिभूय प्राप्येत्यर्थे च। स्था० ३ ठा० २ उ०। आ० म०। पराजेतृरिपुबलाद् जय्यमाने, स्था० ४ ठा० २ उ०।

**पराजिय-पराजित**-त्रि०। पराभिभूते, उत्त० १३ अ०। वशीकृते, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। सूत्र०। अग्रनाथाय प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ०। अपराजित इति नाम सम्भाव्यते। स०।

**पराणंद-पराऽऽनन्द**-न०। परः आनन्दोऽस्मिन्निति पराऽऽनन्दम्। परब्रह्मणि, षो० १५ विव०।

**पराऽऽनन्द्य**-न०। परैरानन्द्यमभिनन्दनीयं तत्प्रार्थिभिः श्लाघनीयं, रोचनीयमित्ति यावत्। परब्रह्मणि, षो० १५ विव०।

**पराणीय-परानीक**-न० । शत्रुसैन्ये, त० ।

**पराणुकंपय-परानुकम्पक**-पुं० । निष्ठितार्थतया परमात्रानुकम्पक तीर्थकरे, आत्मानपेक्षे च । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**पराणुवत्ति-परानुवृत्ति**-स्त्री० । आत्मव्यतिरिक्तप्रधानाऽऽवृत्तौ, दशा० ६ अ० १ उ० ।

**पराभय पराभव**-पुं० । पराजये, अनादरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

**पराभिसित्त-पराभिषिक्त**-पुं० । परेण पित्रादिना राज्येऽभिषिक्ते राजनि, यथा भरतेनाभिषिक्त आदित्ययशो । व्य० ५ उ० ।

**परामरिस-परामर्श**-पुं० । " शर्षेतप्तवज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति सूत्रेण शपूर्वमकार । विचारे, प्रा० २ पाद ।

**परामुट्ठ-परामृष्ट**-त्रि० । " उदृत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋकारस्योकार' । प्रा० १ पाद । गृहीते, प्रश्न०३ आश्र० द्वार । " अणेण पाणिणा परामुट्ठो । " आ० म० १ अ० । विषयाभिलाषविषयतया स्पृष्ट, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

**परामुसिअ-परामृष्ट**-त्रि० । आश्लिष्टे, " आलुंखिअ आलिद्ध, भिक्क छित्त परामुसिअ । " पाइ० ना० ८५ गाथा ।

**परायग-परकीय**-त्रि० । परसम्बन्धिनि, " सय भंड अणुगवेसइ । नो परायग भंड अणुगवेसयइ । " भ० ८ श० ५ उ० ।

**परायण-परायण**-त्रि० । धर्मध्यानतत्पर, उत्त० १४ अ० । धर्मैकनिष्ठे, उत्त० १८ अ० । उद्युक्ते, आव० ४ अ० ।

**परायत्त-पराऽऽयत्त**-त्रि० । अन्यस्याधीने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

**परारि-परारि**-अव्य० । विगतवर्षे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**परावत्तमाणा-परावर्त्तमाना**-स्त्री० । या' प्रकृतयोऽन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभय वा विनिवार्य स्वकीय बन्धमुदयमुभय वा दर्शयन्ति । तासु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

साम्प्रत परावर्त्तमानप्रकृतीराह-

**तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।**
**तसवीसा उ परित्ता, खित्त विवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥**

( तन्वष्टकव्याख्या ' तणुअट्ठ ' शब्दे चतुर्थभागे २१७८ पृष्ठे गता ) वेदा. स्त्रीपुनपुंसकरूपास्त्रय , त्रियुगल हास्यरत्यरतिशोकरूपम, कषाया षोडश, ( उज्जोयगोयदुग ति ) द्विकशब्दस्य प्रत्येक संबन्धादुद्द्योतद्विकम् " उज्जोयायवेति " वचनादुद्योताऽऽतपाऽऽख्यम । ( द्विगोत्रव्याख्या ' दुगोय ' शब्दे चतुर्थभागे २५५४ पृष्ठे गता ) निद्रापञ्चकं , त्रसविंशतित्रसदशकस्थावरदशकरूपा' , आयूषि चत्वारि इत्येता एकनवतिप्रकृतय. । ( परित्त त्ति । प्राकृतत्वात्परिवृत्ता परावर्त्तमाना भवन्तीति शेष । तत्र षोडश कषाया , निद्रापञ्चक च । यद्यप्येता एकविंशतिप्रकृतयो ध्रुवबन्धित्वाद् बन्ध प्रति परोपरोध न कुर्वन्ति, तथाऽपि स्वोदये स्वजातीयप्रकृत्युदयनिरोधात्परावर्त्तमाना भवन्ति । स्थिरशुभास्थिराशुभप्रकृतयश्चतस्रश्च यद्यप्युदय प्रति न विरुद्धास्तथापि बन्ध प्रतिपरावर्त्तमाना , शेषाश्त्र गतिचतुष्कजातिपञ्चकशरीरत्रिकाङ्गोपाङ्गत्रिकसस्थानषट्कसहननषट्काऽऽनुपूर्वीचतुष्काऽऽतपोद्द्योतविहायोगतिद्विकत्रसाऽऽदिविंशतिवर्जत्रिकद्वास्यरत्यरतिशोकवेदत्रयनामानसातगोत्रनीचाऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणा षट्षष्टि प्रकृतयो बन्धोदयाभ्यामपि परस्परं विरुद्धा अत परावर्त्तमाना उच्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

**परावयाद-परापवाद**-पुं० । परेषां दोषोद्भावने, नि० चू० ११ उ० । असतामेव दोषाणामुद्घोषणे परापवाद', न च वस्तुस्वरूपाऽऽविर्भावने परापवाद , " कुज्ञानकुश्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान्, सम्यग् विचारयति कोऽत्र परापवाद ? । " सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

**परावेक्खा-परापेक्षा**-स्त्री० । स्वातिरिक्तहेत्वपेक्षायाम्, द्वा० १७ द्वा० । पराऽऽश्रयतायाम्, पराधीनतायाम्, अष्ट० १७ अष्ट० ।

**परासर-परासर**-पुं० । शरभे, आटव्यपशुविशेषे, भ० ३ श० ५ उ० । ज्ञा० । आचा० । स्वनामख्याते ब्राह्मणपरिव्राजके, औ० । प्रति० ।

**परासु-परासु**-त्रि० । मृते, आ० क० १ अ० । ज्ञा० ।

**पराहिगरणि (न्)-पराधिकरणिन्**-पुं० । परान् परेषामधिकरणे प्रवर्त्तनेनाधिकरणी पराधिकरणी । परेषामधिकरणप्रवर्त्तके, भ० १६ श० १ उ० ।

**पराहीण-पराधीन**-त्रि० । गुर्वाद्यायत्ते, विशे० ।

**पराहुत्त-पराङ्मुख**-त्रि० । अन्यतो मुखे, प्र० ७० २ द्वार । आव० । आ० म० । सूत्र० ।

**पराहूअ पराभूत**-त्रि० । अभिभूते, " परिहूअ अहिलिअ पराहूअ । " पाइ० ना० १११ गाथा ।

**परि-परि**-अव्य० । सामस्त्ये, रा० । सर्वतो भावे, आ० म० १ अ० । स्था० । समन्तादर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । आतु० । सर्वप्रकारे, उत्त० १ अ० । अभ्यावृत्तौ, आव० ६ अ० । सर्वत इत्यर्थे, वर्जने, व्याधौ, शेषे, कश्चित् प्रकार प्राप्ते, निरसने, पूजायाम् , भूषणे, उपरमे, शोके, सन्तोषभाषणे, अतिशये, त्यागे, नियमे च । वाच० ।

**परिअट्ट**-पुं० । देशी-रजके, दे० ना० ६ वर्ग १५ गाथा ।

**परिअट्ठलिअ**-देशी-परिच्छिन्ने, दे० ना० ६ वर्ग ३८ गाथा ।

**परिअडी**-देशी वृतिमूर्खयो , दे० ना० ६ वर्ग ७२ गाथा ।

**परिअंत-श्लिष्**-धा० । श्लेषणे, " श्लिषेः सामग्गावयासपरिअन्ताः " ॥ ८ ॥ ४ ॥ १९० ॥ इति श्लिषे परिअन्ताऽऽदेश. । ' परिअन्तइ ।' श्लिष्यति । प्रा० ४ पाद ।

**परिअत्तणा-परिवर्त्तना**-स्त्री० । सूत्रस्य घोषाऽऽदिविशुद्धगुणेन प्रश्न० ६ द्वार । पुन सूत्रार्थाभ्यासे, अनु० । औ० । विशे० ।

**परिअड्ढय-परिवर्द्धक**-त्रि० । वृद्धिकारिणि, " समणगणिवरपरिअडूए ।" औ० ।

**परिकर्षक**-त्रि० । अग्रे गामिनि, औ० ।

**परिअर**-देशी-लीने, दे० ना० ६ वर्ग २४ गाथा ।

**परिअरबंध-परिकरबन्ध**-पुं० । विशिष्टनेपथ्यरचनायाम्, प्रश्नु० ।

**परिअल (ल्ल)-गम्**-धा० । गतौ, " गमे अई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड पच्छन्द-णिम्मह णी णीण-णीलुक्क पदअ-रम्भ परिअल्ल-वाल-परिअल-णिरिणास णिवहावसेहाव

हरः " ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इति सूत्रेण गमधातोः परिअल-परिअल्ल' आदेशौ भवतः । 'परिअलइ । परिअल्लइ ।' गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

**परिअली**–स्त्री० । देशी स्थाले, भोजनभाजनमिति यावत् । दे० ना० ६ वर्ग १२ गाथा ।

**परिआइत्ता-पर्यादाय**–अव्य० । समन्तात् गृहीत्वेत्यर्थे, स्था० १ ठा० ।

**परिआल-वेष्टि**–धा० । " वेष्टेः परिआलः " ॥ ८ । ४ । ५१ ॥ इति सूत्रेण 'परिआल' आदेशः । वेष्टने, प्रा० ४ पाद ।

**परिउत्था**–स्त्री० । देशी-प्रोषिते, दे० ना० ६ वर्ग १३ गाथा ।

**परिएसिज्जमाण-परिवेष्यमाण**–त्रि० । दीयमानाऽऽहारेण भोज्यमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

**परिकंखिय-परिकाङ्क्षित**–त्रि० । प्रतीक्षिते, उत्त० ७ अ० । परिगृहीते, ग० । इष्टे, उत्त० ७ अ० ।

**परिकड्ढलिय-परिकर्षित**–त्रि० । एकत्र पिण्डीकृते, पिं० ।

**परिकड्ढिऊण-पर्याकृष्य**–अव्य० । प्रारम्भ कृत्वेत्यर्थे, "परिकड्ढिऊण पडिकमणं ।" पं० व० २ द्वार ।

**परिकड्ढेमाण-परिकर्षत्**–त्रि० । पार्श्वभागे समाकर्षति, न० ।

**परिकप्पिय-परिकल्पित**–त्रि० । कल्पनामात्रनिर्मितशरीरे, ग० १६ विव० । समन्तान्निष्पादिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

**परिकप्पियगमंग-परिकल्पिताङ्गोपाङ्ग**–त्रि० । छिन्नावयवे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

**परिकम्म ( ण् )-परिकर्मन्**–न० । द्रव्यस्य गुणविशेषपरिणामकरणे आ० म० १ अ० । व्य० । स्था० । अवस्थितस्यैव वस्तुनो गुणविशेषाऽऽधाने, आतु० । " परिकम्मं किरियाए, वत्थूणं गुणविसेसपरिणामो ॥ " ( ९२३ ) परिकर्मोच्यते, किम् ?, इत्याह–क्रियया क्रियाविशेषेण यो वस्तूना गुणविशेषपरिणामो गुणविशेषाऽऽधानमित्यर्थं । विशे० । (अत्र विशेषः 'उवक्कम' शब्दे द्वितीयभागे ८७० पृष्ठादारभ्य दर्शित') (" पाणिपडिग्गहेण य, सचेल निच्चेलओ जहा भविया । " इति पाणिप्रतिग्रहविषयं परिकर्म 'जिणकप्प' शब्दे चतुर्थभागे १४७१ पृष्ठे व्याख्यातम् ) योग्यताऽऽपादने तद्धेतौ शास्त्रे च । पूर्वगतानुयोगसूत्रार्थपरिकर्मग्रहणयोग्यतासंपादनसमर्थानि परिकर्माणि । यथा–गणितशास्त्रे संकलनाऽऽद्यादीनि । नं० । ( 'दिट्ठिवाय ' शब्दे चतुर्थभागे २५१५ पृष्ठे परिकर्मप्ररूपकाणि सूत्राणयुक्तानि ) संकलिताऽऽद्यनेकविधे गणितज्ञप्रसिद्धे गणिते, तेन संख्येयस्य परिगणने च । स्था० १० ठा० । तुलनायाम्, भावनायाम्, विशे० । ( शिष्यपरिकर्म 'पव्वज्जाविहाण' शब्दे तृतीयभागे २३ पृष्ठे उक्तम् ) अङ्गादीनां शिक्षापणे नि० चू० १ उ० । सीवने, नि० चू० ३ उ० । नि० चू० ।

**परिकम्मणा-परिकर्मणा**–स्त्री० । उपधेः प्रमाणेन संयमप्रायोग्यकरणे, नि० चू० ५ उ० ।

**परिकम्मसंखाण परिकर्मसंख्यान**–न० । परिकर्म सङ्कलिताऽऽद्यनेकविधं गणितमभिहितं तेन यत्संख्येयस्य संख्यानं परिगणनम् । संख्यानभेदे, स्था० १० ठा० ।

**परिकम्मिज्जमाण-परिकर्म्यमाण**–त्रि० । क्रियमाणशोधनार्थोपक्रमे, भ० ६ श० ३ उ० ।

**परिकम्मिय परिकर्मित**–त्रि० । सुष्ठुकृतपरिकर्मणि, व्य० १ उ० ज्ञा० । आहितसंस्कारे विशे० । " परिकम्मियजच्चकमलकोमलमाइयसोहंतलट्ठउट्ठं ।" परिकर्मितं कृतपरिकर्म यज्जात्यकमलं तद्वत् कोमलौ मालिकौ प्रमाणोपपन्नौ शोभमानानां मध्ये लष्टौ मनोज्ञौ ओष्ठौ दशनच्छदौ यस्य स तथा तम् । भ० ११ श० ११ उ० ।

**परिकम्मोवघाय-परिकर्मोपघात**–पुं० । परिकर्म वस्त्रपात्राऽऽदिसमारचनं, तेनोपघातः । स्वाध्यायस्य श्रमाऽऽदिना शरीरस्य संयमस्य वोपघातः परिकर्मोपघातः । उपघातभेदे, स्था० १० ठा० ।

**परिकर-परिकर**–पुं० । सन्नाहे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

**परिकल्ल-परिकल्य**–न० । अलाञ्छितमुद्रिते, " परिकल्लाइँ कारेत्ता, किलिंजकडएहिँ पिहिताइं ।" ( परिकल्लाइ ति ) यानि नापि लाञ्छितानि नापि मुद्रितानि किं तु तदुभयप्रकारवाह्यानि कृत्वा विवक्षितप्रदेशे स्थापयित्वा किलिञ्जकटैरेवमेव स्थगितानि तानि पिहितान्युच्यन्ते । बृ० २ उ० ।

**परिकहणा-परिकथना**–स्त्री० । प्रज्ञापनायाम्, नि० चू० १ उ० । समन्तात् कथनायाम्, आ० म० १ अ० ।

**परिकिण्ण-परिकीर्ण**–त्रि० । परिवृत्ते, उत्त० ११ अ० । व्याप्ते, आ० म० १ अ० ।

**परिकिलेस-परिक्लेश**–पुं० । वाधोत्पादने, औ० । उपतापने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । परितापने, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । " परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झं ।" परिक्लेशेन महामानसाऽऽयासेन कृच्छ्रदुःखेन च गाढशरीराऽऽयासेन ये साध्यन्ते वशीक्रियन्ते तथा । भ० ६ श० ३३ उ० ।

**परिकुठिय-परिकुण्ठित**–त्रि० । जडीभूते विशे० ।

**परिकुविय-परिकुपित**–त्रि० । समन्तात्दर्शितकोपविकारे, भ० ७ श० ६ उ० । सर्वथा क्रुद्धे, स्था० १० ठा० ।

**परिक्खण-परीक्षण**–न० । द्रम्माऽऽदीनां परीक्षायाम्, प्रव० ३८ द्वार ।

**परिक्खभासि ( ण् )-परीक्ष्य भाषिन्**–त्रि० । आलोचितवक्तरि, दश० ७ अ० ।

**परिक्खा-परीक्षा**–स्त्री० । विचारणायाम्, पं० व० ४ द्वार । नि० चू० । विशे० । युक्तिविचारणायाम्, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । पणभास्माऽऽदिकालमानविनयाऽऽदिभिस्तद्योग्यतानिरूपणायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

**परिक्खाविहिदुव्वियड्ढ-परीक्षाविधिदुर्विदग्ध**–त्रि० । अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्ध पण्डितंमन्ये, स्या० ।

**परिक्खित्त-परिक्षिप्त**–त्रि० । परि सामस्त्येन क्षिप्त यत् परिक्षिप्तम् । आ० म० १ अ० । सर्वतो व्याप्ते, रा० । औ० । वेष्टिते प्रा० १ श्रु० १६ अ० । विपा० । औ० । कृतपरिवेशे, " कयपरिवेसं परिक्खित्ते ।' पाइ० ना० १६ गाथा ।

**परिक्खेव-परिक्षेप**–पुं० । परिरये, जी० ३ प्रति० ५

अधि० । मिच्यादेः परिधौ, नगरपरिखाऽऽदौ च । अनु० । संक्षेपे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

अथ परिक्षेपपदं निक्षिपन्नाह-

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ परिक्खेवे, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ३१६ ॥

नामपरिक्षेप ,स्थापनापरिक्षेपो, द्रव्यपरिक्षेपः, क्षेत्रपरिक्षेपः, कालपरिक्षेपो, भावपरिक्षेपः। एष परिक्षेपे निक्षेपः षड्विधो भवति, तत्र नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्यपरिक्षेपं प्रतिपादयति-

सचित्ताऽऽदी दव्वे, सचित्तो दुपयमादिगो तिविहो ।
मीसो देसचिताऽऽदी, अचित्तो होइमो तत्थ ॥ ३१७ ॥

द्रव्यपरिक्षेपस्त्रिविधः सचित्ताऽऽदिः-सचित्तः, अचित्तो, मिश्रश्चेत्यर्थः। सचित्तस्त्रिविधो-द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । तत्र ग्रामनगराऽऽदेर्यन्मनुष्यैः परिवेष्टितं स द्विपदपरिक्षेप', यत्र तुरङ्गमहस्त्यादिभिः स चतुष्पदपरिक्षेपः । यत्पुनर्वृक्षैः सोऽपदपरिक्षेपः। मिश्रोऽप्येवमेव त्रिविधः। परं ( देसचिताऽऽदि त्ति) देशे एकदेशे उपचितः सचेतन ,आदिशब्दाद्देशे अपचितो व्यपगतचैतन्यः। किमुक्तं भवति ? यथैके मनुष्याश्च हस्त्यादयो जीवन्ति, अपरे तु मृता., परं ग्रामाऽऽदिकं परिक्षिप्य व्यवस्थिताः। स मिश्रपरिक्षेपस्तस्य भवति ।

तमेवाह-

पासाणिट्टगमट्टिय-खोडगकडगकंटिगा भवे दव्वे ।
खाइयसरनइअगडा, पव्वयदुग्गाणि खेत्तम्मि ॥३१८॥

पाषाणमय प्राकारो यथा द्वारिकायां , इष्टकामयः प्राकारो यथा नन्दपुरे, मृत्तिकामयो यथा सुमनःसुखनगरे (?) (खोड त्ति) काष्ठमय. प्राकार कस्यापि नगराऽऽदेर्भवति, कटको वंशदलाऽऽदिमयः. कण्टिका वब्बुलाऽऽदिसंबन्धिन्यः, तन्मयो वा परिक्षेपो ग्रामाऽऽदेर्भवति एष सर्वोऽपि द्रव्यपरिक्षेप., तथा खातिका वा सरो वा नदी वा गर्ता वा पर्वतो वा दुर्गाणि वा जलदुर्गाऽऽदीनि. पर्वता एव दुर्गाणि वा । एतानि नगराऽऽदिकं परिक्षिप्य ० वस्थितानि क्षेत्रपरिक्षेप उच्यते ।

कालपरिक्षेपमाह-

वासारत्ते अइपा-णियं ति गिम्हे अपाणियं नच्चा ।
कालेन परिक्खित्तं, तेण तमन्ने परिहरंति ॥ ६१६ ॥

वर्षारात्रे अतिपानीयमिति कृत्वा,ग्रीष्मे उष्णकाले अपानीयमिति कृत्वा रोद्धुं न शक्यते इति ज्ञात्वा तेन कारणेन तन्नगरादिकमन्ये परराष्ट्रराजान परिहरन्ति तत्कालपरिक्षिप्तम् ।

भावपरिक्षेपमाह-

नच्चा नरवइणो स-त्तसारबुद्धीपरक्कमविसेसे ।
भावेण परिक्खित्तं, तेण तमन्ने परिहरंति ॥६२०॥

सत्त्वं धैर्यं सारो द्विधा-बाह्य , आभ्यन्तरश्च । बाह्यो बलवाहनाऽऽदि आभ्यन्तरो रत्नतुर्यगाऽऽदि । बुद्धिरौत्पत्तिक्याद्भिेदाच्चतुर्विधा, यथा अभयकुमारस्य । पराक्रम औरसबलाऽऽत्मक । एतान् सत्त्वसारबुद्धिपराक्रमविशेषान , शिबहितनरपते· संबन्धिनो ज्ञात्वा, यदनेन सार्द्ध विग्रहमारभ्स्यामह तत उत्पन्निष्यन्तं सपुत्रगोत्राणामस्माकमनेन फन्दा

इति परिभाव्य तदीयं नगरं यदन्ये राजानः परिहरन्ति तत्तदीयेन सत्त्वसाराऽऽदिना भावेन परिक्षिप्तं प्रतिपत्तव्यम् । व्याख्यातं परिक्षेपपदम् । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

परिगमण-परिगमन-न० । परि समन्ताद् गमनम् । गृहभावगमने, नि० चू० ३ उ० ।

परिगय-परिगत-त्रि० । व्याप्ते, उत्त० २ अ० । परिवेष्टिते,औ० ।

परिगलंत-परिगलत्-त्रि० । क्षरति, " परिगलंतसोया " । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

परिगालण-परिगालन न० । शुक्तिशङ्खमत्स्याऽऽदिग्रहणार्थे जलनिःसारणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

परिगिज्झिय-परिगृह्य-अव्य० । अङ्गीकृत्वेत्यर्थे,उत्त० ५ अ० ।

परिगिलायमाण-परिग्लायत्-त्रि० । ग्लायति, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

परिगुवंत-परिगुप्यत्-त्रि० । व्याकुलीभवति सततं भ्रमति, परि-गु-यत् । ' गुङ् ' धातो· शब्दार्थत्वात् । संशब्दमाने, स्था० १० ठा० ।

परिग्गह-परिग्रह-पु० । परिगृह्यते आदीयतेऽस्मादिति परिग्रह· । परिग्रहणं वा परिग्रह· । प्रव० ६३ द्वार । धनधान्याऽऽदिस्वीकारे, औ० । प्रश्न० । सूत्र० । द्विपदचतुष्पदधनधान्याऽऽदिके, सूत्र०२ श्रु०६ अ० । आन्तरममरूपत्वे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । धन्यधान्याऽऽदिद्विपदचतुष्पदाऽऽदिसंग्रहे सूत्र० १ श्रु०५ अ० । साधुमर्यादाऽतिक्रमेण ग्रहे, आ०चू०४अ० । स च बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदाद् द्विधा । तत्र बाह्यो धर्मसाधनव्यतिरेकधनधान्यभेदादनेकधा आभ्यन्तरस्तु मिथ्याविरतिकषायप्रमादाऽऽदिरनेकधा । परिग्रहणं वा परिग्रहो, मूर्च्छेत्यर्थः । स्था० १ ठा० । प्रश्न० । उत्त० । आचा० । व्य० । धर्मसाधनव्यतिरेकेण धनधान्याऽऽदौ, स्था० २ ठा० १ उ० । पं० व० । आचा० । सूत्र० । परिगृह्यत इति परिग्रह ,तस्य, कीदृशस्य ? कृत्स्नस्य, नवविधस्येत्यर्थ' । स चायम्-धनं १, धान्यं २, क्षेत्रं ३ वास्तु ४ रूप्यं ५, सुवर्णं ६, कुप्य ७, द्विपदः ८, चतुष्पदश्च इति अतिचाराधिकारे व्याख्यास्यमान' । श्रीभद्रबाहुस्वामिकृतदशवैकालिकनिर्युक्तौ तु-गृहिणामर्थपरिग्रहो धान्य १-रत्न २-स्थावर ३-द्विपद ४-चतुष्पद ५-कुप्य ६-भेदात् सामान्येन षड्विधोऽपि तत् प्रभेदैश्चतु ष ष्टिविध प्रोक्त । ( ध० ) ( धान्यानि चतुर्विंशति· ' धण्ण' शब्दे चतुर्थभागे २६५६ पृष्ठे गतानि )

रत्नानि चतुर्विंशतिर्यथा-

" रयणाइँ चउव्वीसं,
सुवन्न १ तउ २ तंब ३ रयय ४ लोहाइं ५ ।
सीसग ६ हिरण्ण ७ पासा-
ण ८ वइर ९ मणि १० मोत्तिअ ११ पवालं १२ ॥ १ ॥
सखा १३ तिणिसा १४ ऽगुरु १५ चं-
दणाणि १६ वत्था १७ ऽमिलाणि कट्ठाइं १९ ।
तह चम्म २० दंत २१ वाला २२,
गन्धा २३ दव्वोसहाइ २४ च ॥ २ ॥"

एमिदान्यमूनि. नयर रजतं रूप्यं हिरण्य रूपकाऽऽदि, पाषाणा विजातिरत्नानि, मणयो जात्यानि विविधं मणि·

शेयः। अमिलान्यूर्णावस्त्राणि काष्ठानि श्रीपर्णाऽऽदिफलकाऽऽदीनि,चर्माणि सिंहाऽऽदीनां, दन्ता गजाऽऽदीनां, वालाश्चमर्यादीनां द्रव्यौषधानि पिप्पलपादीनि। (स्थावरम् 'थावर' शब्दे चतुर्थभागे २४०८ पृष्ठे गतम्) (द्विपदं 'दुपय' शब्दे चतुर्थभागे २५६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (चतुष्पदम् 'चउप्पद' शब्दे तृतीयभागे १०५० पृष्ठे गतम्) (कुप्यस्वरूपम् 'कुप्प' शब्दे तृतीयभागे ५८६ पृष्ठे गतम्) नानाविधमपि कुप्यमेकमेव, यथा-"णाणाविहोवगरणं, णेगविहं कुप्पलक्खणं होइ। एसो अत्थो भणिओ, छव्विह चउसट्ठिभेओ उ ॥ १ ॥" चतुःषष्टिभेदोऽप्येष नवविधपरिग्रहेऽन्तर्भवति। ध०२ अधि०। प्रव०। नं०। आतु०। आचा०। सू०। (परिग्गहं अममायमाणे) परिगृह्यत इति परिग्रहः-संयमातिरिक्तमुपकरणाऽऽदिः, तमममीकुर्वन्-अस्वीकुर्वन्मनसाऽप्यनाददान इति यावत्। स एवंविधो भिक्षुः कालज्ञो बलज्ञो मात्रज्ञः, क्षेत्रज्ञः, खेदज्ञः, क्षणज्ञो, विनयज्ञः समयज्ञो, भावज्ञः, परिग्रहमममीकुर्वाणश्च। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। "बहुं पि लद्धुं ण णिहे ति।" (६० सूत्र) (बहुं पि) बह्वपि लब्ध्वा (न निहे त्ति) न स्थापयेन्न सन्निधिं कुर्यात्, स्तोकं तावन्न सन्निधीयत एव, बह्वपि न सन्निदध्यादित्यपिशब्दार्थः न केवलमाहारसन्निधिं न कुर्याद्, अपरमपि वस्त्रपात्राऽऽदिकं संयमोपकरणातिरिक्तं न बिभृयादित्याह-परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरणं, तस्मादात्मानमपष्वष्केदपसर्पयेद्, अथवा-संयमोपकरणमपि मूर्च्छया परिग्रहो भवति, 'मूर्च्छा परिग्रहः।" (तत्त्वा० अ० ८सूत्र०) इति वचनात्, तत आत्मानं परिग्रहादपसर्पयन्नुपकरणे तुरगवद् मूर्च्छां न कुर्यात्। आचा० १ श्रु० ९ अ० ५ उ०। (धर्मोपकरणं न परिग्रहे गृहीतमिति 'धम्मोवगरण' शब्दे चतुर्थभागे २७६३ पृष्ठे गतम्)

कर्मशरीरभाण्डपरिग्रहोः-

कइविहे णं भंते! परिग्गहे?। गोयमा! तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते। तं जहा-कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तोवगरणपरिग्गहे। णेरइयाणं भंते! एवं जहा उवहिणा दो दंडगा भणिया तहेव परिग्गहेण वि दो दंडगा भाणियव्वा।

(परिग्गहे त्ति) परिगृह्यत इति परिग्रहः। अथैतस्योपधेश्च को भेदः?। उच्यते-उपकारकः, उपधिर्ममत्वबुद्ध्या परिगृह्यमाणस्तु परिग्रह इति। भ० १८ श० ७ उ०।

तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते। तं जहा कम्मपरिग्गहे,सरीरपरिग्गहे,बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे। एवमसुरकुमाराणं। एवं एगिंदियनेरइयवज्जं०जाव वेमाणियाणं। अहवा-तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते। तं जहा-सचित्ते,अचित्ते, मीसए। एवं नेरइयाणं निरतरं० जाव वेमाणियाणं।

परिगृह्यते स्वीक्रियत इति परिग्रहो मूर्च्छाविषय इति। इह चैषामयमिति व्यपदेशभागो ग्राह्यः। स च नारकैकेन्द्रियाणां कर्माऽऽदिरेव संभवति, न भाण्डाऽऽदिरिति। स्था० ३ ठा० १ उ०। दश०। द्रव्याऽऽदिचतुर्विधपरिग्रहेषु जघन्यतोऽतिचारे सत्येकाशनम्,मध्ये आचाम्लम्,उत्कृष्टे क्षपणम्। जीत०।"विभूसावत्तियए वा परिग्गहं सुहुमं वा बायरं वा।तत्थ सुहुमं कम्मट्ठगरक्खणसमत्थो, बादरं हिरण्णमादीणं गहणे धारणे वा।" प्रवृत्तः चारित्रकुशीलो भवति। महा० ३ अ०। "जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमादिविविहउवगरणं। परिभुंजइ साहूहिं, तं गोयम! केरिसं गच्छं? ॥१॥" महा० ५ अ०।

परिग्रहः-

अत्थेगे गोयमा! पाणी, जे णो चयइ परिग्गहं।
जावइयं गोयमा! तस्स, सचित्ताचित्तमीसगं॥
पभूयं वाणुजीवस्स, भवेज्जा उ परिग्गहं।
तावइएणं तु सो पाणी, ससंगो मुक्खसाहणं॥
णाणातिगं ण आराहे, तम्हा वज्जे परिग्गहं।
अत्थेगे गोयमा! पाणी, जे य हित्ताएँ परिग्गहं॥
आरंभं नो विवज्जेज्जा,जंतिय भवपरंपरं। महा० २ अ०।

जंबू! एत्तो परिग्गहो पंचमो नियमा णाणामणिकणगरयणमहरिहपरिमलसपुत्तदारपरिजणदासीदासभयगप्पेसहयगयगोमहिसउट्टखरअयगवेलगसिबियासगडरहजाणजुग्गसंदणसयणाऽऽसणवाहणकुवियधणधण्णपाणभोयणाच्छायणगंधमल्लभायणभवणविहिं चेव बहुविहियं भरहं नगनगरनिगमजणवयपुरवरदोणमुहखेडकब्बडमडंबसंबाहपट्टणसहस्समंडियं थिमियमेयणीयं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं अपरिमियमणंततण्हमणुगयमहिच्छासारनिरयमूलो लोभकलिकसायमहाखधो चिंताऽऽयाससनिचियविपुलसालो गारवपविरेल्लियग्गविडवो नियडितया पत्तपल्लवधरो पुप्फफलं जस्स कामभोगा आयासविसूरणाकलहपकंपियग्गसिहरो नरवइसंपूजिओ बहुजणस्स हिययदइओ इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स फलिहभूओ चीरमं अहम्मदारं॥

(जंबू! इत्यादि) जम्बूरिति शिष्याऽऽमन्त्रणम्। (एत्तो त्ति) इतश्चतुर्थाऽऽश्रवद्वारादनन्तरं परिग्रहणं परिगृह्यत इति परिग्रहः। इह च परिग्रहशब्दोपादानेऽपि वक्ष्यमाणविशेषणाऽन्यथाऽनुपपत्त्या परिग्रहतरुरिति द्रष्टव्यम्। पञ्चमस्तु पञ्चमः पुनराश्रवो भवतीति गम्यते। पञ्चमत्वं चाऽस्य तत्र क्रमाऽऽश्रयणात् नियमान्निश्चयेन नान्यः पञ्चमत्वमाश्रवाणां लभते, मध्ये कथम्भूतोऽसावित्याह-(नानामणी यादि) तत्र नानामण्यादिविधे भारत वसुधां च भुक्त्वाऽपि या अपरिमितानन्ततृष्णा अनुगता च महेच्छा सैव मूलं यस्य परिग्रहतरोः स तथेति सम्बन्धः। तत्र नानाविधा ये मणयः चन्द्रकान्ताऽऽद्याः,कनकं च सुवर्ण रत्नानि च कर्केतनाऽऽदीनि,महार्हपरिमला महार्हसुगन्धद्रव्याऽऽमोदा ये सपुत्रदाराः सुतयुक्तकलत्राणि, ते च परिजनश्च परिवारः दासीदासाश्च चेटीचेटाः, भृतकाश्चिरा, प्रेष्याश्च प्रयोजनेषु प्रेषणीया हयगजगोमहिषोष्ट्रखराजगवेलकाश्च प्रतीताः। शिबिकाश्च कूटाऽऽच्छादितजम्पानविशेषाः शकटानि च गन्त्र्यः, रथाश्च प्रतीताः, यानानि च गन्त्रीविशेषाः, युग्यानि च वाहनानि गोल्लदेशप्रसिद्धजम्पानविशेषा वा स्यन्दनाश्च रथविशेषाः, शयनाऽऽसनानि च प्रतीतानि, वाहनानि यानपा-

त्राणि । ( कुविय त्ति ) कुप्यानि च गृहोपस्काराः खट्वा तुलाऽदयः, धनानि च गणिमाऽऽदीनि, धान्यपानभोजनाऽऽच्छादनगन्धमाल्यभाजनभ नानि च प्रतीतानि इति द्वन्द्वः । ततस्तेषां विधेः कार्यसाध्यमिति तत्पुरुषः । अतस्तं चैव बहुविधिकमनेकप्रकारं, तथा भरत क्षेत्रविशेषो, नगाः पर्वताः, नगराणि करवर्जितानि निगमा वणिजा स्थानानि, जनपदा देशाः, पुरवराणि नगरैकदेशभूतानि, द्रोणमुखानि जल स्थलपथोपेतानि, खेटानि धूलीप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडम्बानि दूरस्थितसीमान्तराणि, संवाहाः स्थापन्यः पत्तनानि जलस्थलपथयोरन्यतरयुक्तानि, तेषां यानि सहस्राणि तैर्मण्डितं यत्तत्तथा, स्तिमितमेदिनीकं निर्भय मेदिनीनिवासिजनम्, एकच्छत्रम् एकराजकमित्यर्थः ।ससागरं समुद्रान्तमित्यर्थ । भुक्त्वा परिभुज्य, तथा वसुधां पृथ्वीं भरतैकदेशभूतां च भुक्त्वा, एतद्भोगेऽपीत्यर्थः । ( अपरिमितमणंततण्हमणुगयमहिच्छासारनिरयमूलो त्ति ) अपरिमितानन्ता अत्यन्तानन्ता तृष्णा प्राप्तार्थसंरक्षणरूपा या चानुगता सतती महती चेच्छा अप्राप्तार्थाभिलाषरूपा ते एव साराणि अक्षय्याणि निरया निर्गतशुभफलानि मूलानि जटा यस्य परिग्रहतरो । अथवा-अपरिमिता अनन्ततृष्णाया या अनुगता महेच्छासारा निरया च नरकहेतुर्विशिष्टवेगा वा सैव मूलं यस्य स तथा । इह च मकारौ प्राकृतशैलीप्रभवौ चैवावधसमासश्चेति । लोभः प्रतीतः, कलिः संग्रामः, कषायक्रोधमानमाया एत एव महान् स्कन्धो यस्य स तथा । इह च कषायग्रहणेऽपि यल्लोभग्रहणं तत्तस्य प्रधानत्वापेक्षम् । तथा चिन्ताश्च चिन्तनानि आयासाश्च मन प्रभृतीना खेदाः त एव । पाठान्तरेण-चिन्ताशतान्येव विनिचिता निरन्तरा विपुला विस्तीर्णा शाला शाखा यस्य स तथा । तथा ( गारव त्ति ) गौरवाणि ऋद्ध्यादिनाऽऽदरकरणानि, तान्येव ( पविरल्लिय त्ति ) विस्तारवत् अग्रविटपं शाखामध्यभागाग्रं विस्तारं ग्रीवा यस्य स तथा । पाठान्तरे-गौरवप्रविरेल्लिनाग्रशिखर । तथा ( नियडियतया पत्तपल्लवधरो ) निकृततया ऽभ्युपचारकरणेन वचनानि मायाकर्माऽऽच्छादनार्थानि वा मायाऽन्तराणि ता एव त्वक्पत्रपल्लवास्तान् धारयति य स तथा पल्लवं स्नेहकोमलं पत्रम् । तथा पुष्पं फलं यस्य ( कामभोग त्ति ) प्रतीतमेव । तथा ( आयासविसूरणा कलहपकम्पियग्गसिहरो ) आयासः शरीरखेद, विसूरणा चित्तखेदः, कलहो वचनभण्डनम् । एत एव प्रकम्पित प्रकम्पमानमग्रशिखरं शिखराग्रं यस्य स तथा । नरपतिसंपूजितो, बहुजनस्य हृदयदयित इति प्रतीतम् । अस्य प्रत्यक्षस्य मोक्षवरस्य भावमोक्षस्य मुक्तिरेव निर्लोभतैव मार्ग उपायो मोक्षवरमुक्तिमार्गस्तस्य परिघोपमो, विघातक इति यावत् । चरमसधर्म द्वारम्, इति व्यक्तम् । अनेन च यादृश इति द्वारमुक्तम् ।

यन्नामेत्युच्यते-

तस्स य नामाणि इमाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-परिग्गहो १ संचयो २ चयो ३ उवचयो ४ निहाणं ५ संभारो ६ संकरो ७ एवं आयारो ८ पिंडो ९ दव्वसारो १० तहा महिच्छा ११ पडिबंधो १२ लोहप्पा १३ महिद्दी १४ उवकरणं १५ संरक्खणा य १६ भारो १७ संपायुप्पायको १८ कलिकरंडो १९ पवित्थरो २० अणत्थो २१ संथवो २२ अगुत्ती २३ आयासो २४ अविओगो २५ अमुत्ती २६ तण्हा २७ अणत्थको २८ आसत्ती २९ असतोसे त्ति वि य ३० । तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं ॥

तस्य च नामानि गौणानि भवन्ति त्रिंशत् । तद्यथा-परिगृह्यत इति परिग्रह शरीरोपध्यादिः, परिग्रहणं वा परिग्रहः स्वीकारः १, संचीयत इति सञ्चय २, एवं चय ३, उपचयो ४, निधान ५, संभ्रियते धार्यते सम्भरण वा धारणं संभारः ६, सङ्कीर्यते सम्पिण्ड्यते संकरणं वा सम्पिण्डनं वा संकरः ७, एवमादरः ८, पिण्डः पिण्डनीय पिण्डनं वा ९, द्रव्यलक्षण सारः । तथा-महेच्छा अपरिमितवाञ्छा ११, प्रतिबन्धोऽभिष्वङ्गः १२, लोभाऽऽत्मा लोभस्वभाव १३, महती इच्छा । क्वचित् " महिद्दी " इतिपाठस्तत्र-" अर्द " गतौ याचने चेति वचनादर्दियाञ्चा महती ज्ञानोपष्टम्भाऽऽदि कारणविकलत्वादपरिमाणा अर्दिर्महार्दिः १४, उपकरणम् उपधिः १५, संरक्षणाचाभिष्वङ्गवशाच्छरीराऽऽदिरक्षणं १६, भारो गुरुताकारणं १७, संपातानामनर्थमीलकानामुत्पादकः सम्पातोत्पादकः १८, कलीना कलहाना करण्ड इव भाजनविशेष इव कलिकरण्डम् १९, प्रविस्तरो धनधान्याऽऽदिप्रविस्तारः २०, अनर्थोऽनर्थहेतुत्वात् २१, संस्तव परिचयः, स चाऽभिष्वङ्गहेतुत्वात् परिग्रह २२, अगुप्तिरिच्छाया अगोपनम् २३, आयासः खेद, तद्धेतुत्वात्परिग्रहोऽप्यायास उक्तः । आह च-" वहबंधणमारणगाहा । " २४, अवियोगो धनाऽऽदेरत्यजनम् २५, अमुक्तिः सलोभता २६, तृष्णा धनाऽऽद्याकाङ्क्षा २७, अनर्थकः परमार्थावृत्त्या निरर्थक २८, आसक्तिर्मनाऽऽद्यावासङ्गः २९, असन्तोषः ३०, इत्यपि च, तस्य परिग्रहस्य एतानि प्रत्यक्षाणि एवमादीनि उक्तप्रकारवन्ति नामधेयानि भवन्ति त्रिंशदिति ।

अथ ये परिग्रहं कुर्वन्ति, तानाह-

तं च पुण परिग्गह ममायंति लोभघत्था भवणवरविमाणवासिणो परिग्गहरुई परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवनिकाया य असुरभुयगगरुलविज्जुजलणदीवउदहिदिसिपवणथणियअणपन्नियपणपन्नियइसिवाइयभूयवाइयकंदियमहाकंदियकुहंडपतगदेवा पिसायभूयजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसमहोरगगंधव्वा य तिरियवासी पंचविहा जोइसिया य देवा वहस्सती चंदसूरसुक्कसणिच्छरा राहू धूमकेऊ बुधा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणगवण्णा जे य गहा जोइसियम्मि चारं चरंति, केऊ य गतिरतिया अट्ठावीसतिविहा य नक्खत्तदेवगणा णाणासंठाणसंठियाओ य ताराओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साममंडलगती उवरिचरा उड्ढलोगवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतकमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणच्चुया कप्प-

वरविमाणवासिणो सुरगणा गेवेज्जा अणुत्तरा य दुविहा कप्पातीया विमाणवासी महिड्ढीया उत्तमा सुरवरा एवं चेते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति भवणवाहणजाणविमाणसयणासणाणि य णाणाविहवत्थभूसणाणि य पवरपहरणाणि य णाणामणिपंचवण्णदिव्वं च भायणविहिं णाणाविहकामरूववेउव्वियअच्छरगणसंघाए दीवसमुद्दे दिसाओ चेइयाणि य वणसंडे पव्वते गामनगराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य कूवसरतला य वाविदीहा य देवकुलसभप्पवावसहिमाइयाइं बहुयाइं कित्तणाणि य परिगिण्हित्ता परिग्गहं विपुलदव्वसारं देवा वि सइंदगा न तत्तिं न तुट्ठिं उवलभंति अच्चंतविपुललोभाभिभूयसन्ना वासहरइक्खुगारवट्टपव्वयकुंडलरुयगवरमाणुसुत्तरकालोदधिलवणसलिलदहपतिरतिकरअंजणकसेलदहिमुहउववउप्पायकंचणकविचित्तजमकवरसिहरिकूडवासी वक्खारअकम्मभूमीसु सुविभत्तभागदेसासु कम्मभूमीसु जे वि य नरा चाउरंतचक्कवट्टी वासुदेवा बलदेवा मंडलिया इस्सरा तलवरा सेणावई इब्भा सेट्ठीया पुरोहिया कुमारा दंडणायगा माडंबिया सत्थवाहा कुडुंबिया अमच्चा एए अन्ने य एवमादी परिग्गहं संचिणंति अणंतमसरणं दुरंतं अधुवमणिच्चं असासयं पावकम्मनेमं अवकिरियव्वं विणासमूलं वहबंधपरिकिलेसबहुलमणंतसंकिलेसकरणं ते तं धणकणगरयणनिचयपिंडिया चेव लोभघत्था संसारं अतिवयंति सव्वदुक्खसंनिलयणं परिग्गहस्सेव य अट्ठाए सिप्पसयं सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिसु निपुणाओ लेहादियाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ चउसट्ठिं च महिलागुणे रतिजणणे सिप्पसेवं असिमसिकिसिवाणिज्जं ववहारं अत्थसत्थं इसुसत्थं च्छरुप्पगयं विविहाओ य जोगजुंजणाओ य अन्नेसु य एवमादिएसु बहुकारणसएसु जावज्जीवं नडिज्जए संचिणंति मंदबुद्धी परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करेंति पाणाण वहकरणं अलियनियडिसातिसंपओगे परदव्वअभिज्झा सपरदारगमणसेवणाए आयासविसूरणं कलहभंडणवेराणि य अवमाणविमाणणाओ इच्छमहिच्छप्पिवाससततितिसिया तण्हगेहिलोभघत्था अत्ताणअनिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोभे अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव हुंति नियमा सल्ला दंडा य गारवा य कसाया सन्ना य कामगुणअण्हगा य इंदियलेसाओ सयणसंपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइं दव्वाइं अणंतकाइं इच्छंति परिघेत्तुं सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोभपरिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाण सव्वलोए परलोगम्मि य नट्ठा तमपविट्ठा महया मोहमोहियमती तमिसंधकारे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग० जाव परियट्टंति दीहमद्धं० जीवा लोभवससन्निविट्ठा एसो सो परिग्गहस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो वरवीरनामधेज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फलविवागं एसो सो परिग्गहो पंचमो नियमा णाणामणिकणगरयणमहरिह० जाव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिमं अहम्मदारं सम्मत्तं ।

"एएहिं पंचहिं असं-वरेहिं रयमाचिणुत्तु अणुसमयं ।
चउविहगतिपेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारं ॥ १ ॥
सव्वगतीपक्खंदे, काहिंति अणंतगे अकयपुण्णा ।
जे य न सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति ॥ २ ॥
अणुसिट्ठं पि बहुविहं,मिच्छदिट्ठिया जे नरा अबुद्धीया ।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न य करेंति ॥ ३ ॥
किं सक्का काउं जे, जं नेच्छइ ओसहं मुहा पाउं ।
जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं ॥ ४ ॥
पंचेव य उज्झिऊणं, पंचेव य रक्खिऊण भावेणं ।
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिवरमणुत्तरं जंति ॥५॥ "

पदमात्रार्थप्रदर्शिनीने टीकोपेक्षिता । " किं सक्का गाहा "-किं शक्यं कर्तुं, न शक्यमित्यर्थः । ज इति पादपूरणे । यत् यस्मान्नेच्छति नेच्छथ औषधं मुधा प्रत्युपकारानपेक्षितया, दीयमानमिति गम्यम् । पातुम गातुम् । किंरूपमित्याह-जिनवचन गुणमधुरं,विरेचनं त्यागकारि सर्वदुःखानाम् ॥४॥ 'पंचेव य गाह "-पञ्चैव प्राणातिपाताऽऽश्रवद्वाराणि उज्झित्वा त्यक्त्वा पञ्चैव प्राणातिपातविरमणाऽऽदिसंवरान् रक्षित्वा पालयित्वा भावेनान्तःकरणवृत्त्या कर्मरजोविप्रमुक्ता इति प्रतीतम् । सिद्धानां मध्ये वरा सिद्धिवरा, सकलकर्मक्षयलभ्या भावसिद्धिरित्यर्थः । ताम्, अत एव अनुत्तरां सर्वोत्तमां यान्ति गच्छन्ति । प्रश्न० ५ आ०अ० द्वार ।
बहुपरिग्रहो गच्छ० । अथ गाथात्रयेण हिरण्यसुवर्णाऽऽद्यधिकृत्य प्रस्तुतमेव द्रढयति-

जत्थ हिरण्णसुवण्णे, धणधन्ने कंसतंवफलिहाणं ।
सयणाण आसणाण य, झुसिराणं चेव परिभोगो ॥८८॥
जत्थ य वारडियाणं, तत्तडियाणं च तह य परिभोगो ।
मुत्तुं सुक्किलवत्थं, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ८९ ॥

अनयोर्व्याख्या-यत्र गणे ( हिरण्णसुवण्णे त्ति ) विभक्तिव्यत्ययात् हिरण्यसुवर्णयो ,तत्र हिरण्यं रूप्यम्, अघटितसुवर्ण वा, सुवर्णं च सामान्येन स्वर्णं, घटितस्वर्णं वा । तथा विभक्तिव्यत्ययादेव धनधान्ययोस्तत्र धनं नाणकमाणिक्याऽऽदि । धान्यं सचित्तं यवाऽऽदि चतुर्विंशतिधा ( ग० ) ( धान्यानि 'धण्ण' शब्दे चतुर्थभागे २६५६ पृष्ठे गतानि )

त्राणि । ( कुविय त्ति ) कुप्यानि च गृहोपस्कारा· खट्वा तुला-ऽऽदयः, धनानि च गणिमाऽऽदीनि, धान्यपानभोजनाऽऽच्छादनगन्धमाल्यभाजनभवनानि च प्रतीतानि इति द्वन्द्वः । ततस्तेषां विधेः कार्थसाध्यमिति तत्पुरुषः । अतस्तं चैव बहुविधिकमनेकप्रकारं, तथा भरत क्षेत्रविशेषो, नगाः पर्वताः, नगराणि करवर्जितानि निगमा वणिजा स्थानानि, जनपदा देशाः, पुरवराणि नगरैकदेशभूतानि, द्रोणमुखानि जलस्थलपथोपेतानि, खेटानि धूलीप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडम्बानि दूरस्थितसीमान्तराणि, संवाहा· स्थापन्यः पत्तनानि जलस्थलपथयोरन्यतरयुक्तानि, तेषां यानि सहस्राणि तैर्मण्डितं यत्तत्तथा, स्तिमितमेदिनीकं निर्भय· मेदिनीनिवासिजनम्, एकच्छत्रम् एकराजकमित्यर्थ· । ससागरं समुद्रान्तामित्यर्थ· । भुक्त्वा परिभुज्य, तथा वसुधा पृथ्वीं भरतैकदेशभूतां च भुक्त्वा, एतद्भोगेऽपीत्यर्थः । ( अपरिमितमणततण्हमणुगयमहिच्छासारनिरयमूलो त्ति ) अपरिमितानन्ता अत्यन्तानन्ता तृष्णा प्राप्तार्थसंरक्षणरूपा या चानुगता सततं महती चेच्छा अप्राप्तार्थाभिलाषरूपा ते एव साराणि अक्षय्याणि निरया निर्गतशुभफलानि मूलानि जटा यस्य परिग्रहतरो । अथवा-अपरिमिता अनन्ततृष्णाया या अनुगता महेच्छासारा निरया च नरकहेतुर्विशिष्टवेगा वा सैव मूलं यस्य स तथा । इह च मकारौ प्राकृतशैलीप्रभवौ चैवंविधसमासश्चेति । लोभ· प्रतीत·, कलि· संग्राम·, कषायक्रोधमानमाया एत एव महान् स्कन्धो यस्य स तथा । इह च कषायग्रहणेऽपि यल्लोभग्रहणं तत्तस्य प्रधानत्वापेक्षम् । तथा चिन्ताश्च चिन्तनानि आयासाश्च मन प्रभृतीना खेदा· त एव । पाठान्तरेण-चिन्ताशतान्येव विनिचिता निरन्तरा विपुला विस्तीर्णा शाला शाखा यस्य स तथा । तथा ( गारव त्ति ) गौरवाणि ऋद्ध्यादिनाऽऽदरकरणानि, तान्येव ( पविरल्लिय त्ति ) विस्तारवत् अग्रविटपं शाखामध्यभागाग्रं विस्तारं ग्रीवा यस्य स तथा । पाठान्तरे-गौरवप्रविरेल्लिताग्रशिखर· । तथा ( नियडियतया पत्तपल्लवधरो ) निकृततयाऽभ्युपचारकरणेन वचनानि मायाकर्माऽऽच्छादनार्थानि वा मायाऽन्तराणि ता एव त्वक्पत्रपल्लवास्तान् धारयति य स तथा पल्लवं स्नेहकोमलं पत्रम् । तथा पुष्पं फलं यस्य ( कामभोग त्ति ) प्रतीतमेव । तथा ( आयासविसूरणकलहपकंपियग्गसिहरो ) आयास· शरीरखेद , विसूरणा चित्तखेद , कलहो वचनभण्डनम् । एत एव प्रकम्पितं प्रकम्पमानमग्रशिखरं शिखराग्रं यस्य स तथा । नरपतिसंपूजितो, बहुजनस्य हृदयदयित इति प्रतीतम् । अस्य प्रत्यक्षस्य मोक्षवरस्य भावमोक्षस्य मुक्तिरेव निर्लोभतैव मार्ग उपायो मोक्षवरमुक्तिमार्गस्तस्य परिघोपमो, विघातक इति यावत् । चरमसमधर्मद्वारम्, इति व्यक्तम् । अनेन च यादृश इति द्वारमुक्तम् ।

यन्नामेत्युच्यते-

तस्स य नामाणि इमाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-परिग्गहो १ संचयो २ चयो ३ उवचयो ४ निहाणं ५ संभारो ६ संकरो ७ एवं आयारो ८ पिंडो ९ दव्वसारो १० तहा महिच्छा ११ पडिबंधो १२ लोहप्पा १३ महिद्दी १४ उवकरणं १५ संरक्खणा य १६ भारो १७ संपायुप्पायको १८ कलिकरंडो १९ पवित्थरो २० अणत्थो २१ संथवो २२ अगुत्ती २३ आयासो २४ अविओगो २५ अमुत्ती २६ तण्हा २७ अणत्थको २८ आसत्ती २९ असतोसे त्ति वि य ३० । तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं ॥

तस्य च नामानि गौणानि भवन्ति त्रिंशत् । तद्यथा-परिगृह्यत इति परिग्रहः शरीरोपध्यादि·, परिग्रहणं वा परिग्रहः स्वीकारः १, संचीयत इति सञ्चय· २, एवं चय ३, उपचयो ४, निधान ५, संभ्रियते धार्यते सम्भरण वा धारणं संभारः ६, सङ्कीर्यते सम्पिण्ड्यते संकरणं वा सम्पिण्डनं वा संकरः ७, एवमादर· ८, पिण्डः पिण्डनीय पिण्डनं वा ९, द्रव्यलक्षण· सारः । तथा-महेच्छा अपरिमितवाञ्छा ११, प्रतिबन्धोऽभिष्वङ्गः १२, लोभाऽऽत्मा लोभस्वभाव १३, महती इच्छा । क्वचित् " महिद्दी " इतिपाठस्तत्र-' अर्द ' गतौ याचने चेति वचनादर्दिर्याच्ञा महती ज्ञानोपष्टम्भाऽऽदिकारणविकलत्वादपरिमाणा अर्दिर्महार्दि· १४, उपकरणम् उपधि· १५, संरक्षणात्राभिष्वङ्गवशाच्छरीराऽऽदिरक्षणं १६, भारो गुरुताकारण १७, संपातानामनर्थमीलकानामुत्पादका सम्पातोत्पादक १८, कलीनां कलहाना करण्ड इव भाजनविशेष इव कलिकरण्डम् १९, प्रविस्तरो धनधान्याऽऽदिप्रविस्तार· २०, अनर्थोऽनर्थहेतुत्वात् २१, संस्तव· परिचयः, स चाऽभिष्वङ्गहेतुत्वात् परिग्रह २२, अगुप्तिरिच्छाया अगोपनम् २३, आयास· खेद , तद्धेतुत्वात्परिग्रहोऽप्यायास उक्त· । आह च-" वहयंवणमाहणगाहा । " २४, अवियोगो धनाऽऽदेरत्यजनम् २५, अमुक्ति· सलोभता २६, तृष्णा धनाऽऽद्याकाङ्क्षा २७, अनर्थक· परमार्थावृत्त्या निरर्थक २८, आशक्तिर्धनाऽऽद्यासक्ति २९, असन्तोष· ३०, इत्यपि च, तस्य परिग्रहस्य एतानि प्रत्यक्षाणि एवमादीनि उक्तप्रकारवन्ति नामधेयानि भवन्ति त्रिंशदिति ।

अथ ये परिग्रहं कुर्वन्ति, तानाह-

तं च पुण परिग्गह ममायंति लोभघत्था भवणवरविमाणवासिणो परिग्गहरुई परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवनिकाया य असुरभुयगगरुलविज्जुजलणदीवउदहिदिसिपवणथणियअणपन्नियपणपन्नियइसिवाइयभूयवाइयकंदियमहाकंदियकुहंडपतगदेवा पिसायभूयजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसमहोरगगंधव्वा य तिरियवासी पंचविहा जोइसिया य देवा बहस्सती चंदसूरसुक्कसणिच्छरा राहू धूमकेऊ बुधा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणगवण्णा जे य गहा जोइसियम्मि चारं चरंति, केऊ य गतिरतिया अट्ठावीसतिविहा य नक्खत्तदेवगणा णाणासंठाणसंठियाओ य ताराओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साममंडलगती उवरिचरा उड्ढलोगवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणच्चुया कप्प-

वरविमाणवासिणो सुरगणा गेवेज्जा अणुत्तरा य दुविहा कप्पातीया विमाणवासी महिड्ढीया उत्तमा सुरवरा एवं चेते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति भवणवाहणजाणविमाणसयणासणाणि य णाणाविहवत्थभूसणाणि य पवरपहरणाणि य णाणामणिपंचवण्णदिव्वं च भायणविहिं णाणाविहकामरूववेउव्वियअच्छरगणसंघाए दीवसमुद्दे दिसाओ चेइयाणि य वणसंडे पव्वते गामनगराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य कूवसरतला य वाविदीहा य देवकुलसभप्पवावसहिमाइयाइं बहुयाइं कित्तणाणि य परिगिण्हित्ता परिग्गहं विपुलदव्वसारं देवा वि सइंदगा न तित्तिं न तुट्ठिं उवलभंति अच्चंतविपुललोभाभिभूयासन्ना वासहरइक्खुगारवट्टपव्वयकुंडलरुयगवरमाणुसुत्तरकालोदधिलवणसलिलदहपतिरतिकरअजणकसेलदहिमुहउवउप्पायकंचणकविचित्तजमकवरसिहरिकूडवासी वक्खारअकम्मभूमीसु सुविभत्तभागदेसासु कम्मभूमीसु जे वि य नरा चाउरंतचक्कवट्टी वासुदेवा बलदेवा मंडलिया इस्सरा तलवरा सेणावई इब्भा सेट्ठीया पुरोहिया कुमारा दंडणायगा माडंबिया सत्थवाहा कुडुंबिया अमच्चा एए अन्ने य एवमादी परिग्गहं संचिणंति अणंतमसरणं दुरंतं अधुवमणिच्चं असासयं पावकम्मनेमं अवकिरियव्वं विणासमूलं वहबंधपरिकिलेसबहुलमणंतसंकिलेसकरणं ते तं धणकणगरयणनिचयपिंडिया चेव लोभघत्था संसारं अतिवयंति सव्वदुक्खसंनिलयणं परिग्गहस्सेव य अट्ठाए सिप्पसयं सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिसु निपुणाओ लेहादियाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ चउसट्ठिं च महिलागुणे रतिजणणे सिप्पसेवं असिमसिकिसिवाणिज्जं ववहारं अत्थसत्थं इसुसत्थं च्छरुप्पगयं विविहाओ य जोगजुंजणाओ य अन्नेसु य एवमादिएसु बहुकारणसएसु जावज्जीवं नडिज्जए संचिणंति मंदबुद्धी परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करेंति पाणाण वहकरणं अलियनियडिसातिसंपओगे परदव्वअभिज्झा सपरदारगमणसेवणाए आयासविसूरणं कलहभंडणवेराणि य अवमाणविमाणणाओ इच्छमहिच्छप्पिवाससततितिसिया तण्हगेहिलोभघत्था अत्ताणअनिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोभे अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव हुंति नियमा सल्ला दंडा य गारवा य कसाया सन्ना य कामगुणअण्हगा य इंदियलेसाओ सयणसंपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइं दव्वाइं अणंतकाइं इच्छंति परिघेत्तुं सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोभपरिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए परलोगम्मि य नट्ठा तमपविट्ठा महया मोहमोहियमती तामिसंधकारे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग० जाव परियट्टंति दीहमद्धं० जीवा लोभवससन्निविट्ठा एसो सो परिग्गहस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो वरवीरनामधेज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फलविवागं एसो सो परिग्गहो पंचमो नियमा णाणामणिकणगरयणमहरिह० जाव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिमं अहम्मदारं सम्मत्तं ।

"एएहिं पंचहिं असं-वरेहिं रयमाचिणुत्तु अणुसमयं ।
चउविहगतिपेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारं ॥ १ ॥
सव्वगतीपक्खंदे, काहिंति अणंतगे अकयपुण्णा ।
जे य न सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति ॥ २ ॥
अणुसिट्ठं वि बहुविहं, मिच्छदिट्ठिया जे नरा अबुद्धीया ।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न य करेंति ॥ ३ ॥
किं सक्का काउं जे, जं नेच्छइ ओसहं मुहा पाउं ।
जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं ॥ ४ ॥
पंचेव य उज्झिऊणं, पंचेव य रक्खिऊण भावेणं ।
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिवरमणुत्तरं जंति ॥५॥"

पदमात्रार्थप्रदर्शिनीने टीकोपेक्षिता । " किं सक्का गाहा "–किं शक्यं कर्तुं, न शक्यमित्यर्थः । ज इति पादपूरणे । यत् यस्मान्नेच्छथ नेच्छत औषधं मुधा प्रत्युपकारानपेक्षितया, दीयमानमिति गम्यम् । पातुमपातुम् । किंरूपमित्याह–जिनवचनं गुणमधुरं, विरेचनं त्यागकारि सर्वदुःखानाम् ॥४॥ 'पंचेव य गाह "–पञ्चैव प्राणातिपाताऽऽश्रवद्वाराणि उज्झित्वा त्यक्त्वा पञ्च प्राणातिपातविरमणाऽऽदिसंवरान् रक्षित्वा पालयित्वा भावेनान्तःकरणवृत्त्या कर्मरजोविप्रमुक्ता इति प्रतीतम् । सिद्धानां मध्ये वरा सिद्धिवरा, सकलकर्मक्षयलभ्या भावसिद्धिरित्यर्थः । ताम्, अत एव अनुत्तरा सर्वोत्तमां यान्ति गच्छन्ति । प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

बहुपरिग्रहो गच्छः । अथ गाथात्रयेण हिरण्यसुवर्णाऽऽद्यधिकृत्य प्रस्तुतमेव द्रढयति–

जत्थ हिरण्णसुवण्णे, धणधन्ने कंसतंवफलिहाणं ।
सयणाण आसणाण य, झुसिराणं चेव परिभोगो ॥८८॥
जत्थ य वारडियाणं, तत्तडियाणं च तह य परिभोगो ।
मुत्तुं सुक्किलवत्थं, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ८९ ॥

अनयोर्व्याख्या–यत्र गच्छे ( हिरण्णसुवण्णे त्ति ) विभक्तिव्यत्ययात् हिरण्यसुवर्णयोः, तत्र हिरण्यं रूप्यम्, अघटितसुवर्ण वा, सुवर्णं च सामान्येन स्वर्णं, घटितस्वर्णं वा । तथा विभक्तिव्यत्ययादेव धनधान्ययोस्तत्र धनं नाणकमाणिक्याऽऽदि । धान्यं सप्तिर्विधा यवाऽऽदि चतुर्विंशतिविधा ( ग० ) ( धान्यानि 'धण्ण' शब्दे चतुर्थभागे २६५६ पृष्ठे गतानि )

तथा कांस्यं च स्थालकचोलकाऽऽदिरूपं. ताम्रं च कमण्डलुकलशिकाऽऽदिरूपं, स्फटिकरत्नमयभाजनाऽऽदीति द्वन्द्वः, तेषामुपलक्षणत्वात् काचकपर्दिकादन्ताऽऽदिपात्राणां काष्ठपात्रेऽपि पित्तल काऽऽदिबन्धनाना च । ( ग० ) चैवशब्दात् तथाविधाना तूलिकागुलवरकर्णप्रपिधानीगल्लमसूरिकाचफलकगद्दिकाऽऽदीनां परिग्रह । परिभोगो व्यापारणं, क्रियत इति शेष । तथा यत्र च गच्छे ( वारडियाणं ति ) रक्तवस्त्राणाम् ( तत्तडियाण ति ) नीलपीताऽऽदिरञ्जितवस्त्राणा च परिभोगः क्रियते, किं कृत्वेत्याह मुक्त्वा परित्यज्य, किम् ?, शुक्लवस्त्रं यतियोग्यं वस्त्रमित्यर्थः, तत्र ( का मेर त्ति ) का मर्यादा न काचिदपीति ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

वस्त्राऽऽदिभ्यः स्वर्णाऽऽदिकं बहनर्थ-
कारीत्यतस्तद्विशेषयन्नाह-

जत्थ हिरण सुवण्णं, हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे ।
कारणसमप्पियं पि हु, निमिसखणद्धं पि तं गच्छं ।९०।

यत्र गच्छे हिरण्यसुवर्णे ( पराणगं पि त्ति ) अपेरेवकारार्थत्वात् परकीये एव न त्वात्मीये, यतेस्तयोरसम्भवात् । कथम्भूते ( कारणसमप्पियं पि हु त्ति ) हु निश्चितं, कारणे ग्लानत्वविषग्रस्तत्वाऽऽदिकेनापि नागारिणा समर्पिते अपि, किं पुनरसमर्पिते इत्यपिशब्दार्थ । अस्ति च साधोरपि कारणे हिरण्यसुवर्णयोर्ग्रहणसम्भव यत उक्तं निशीथपीठे परिग्रहप्रतिसेवनाऽधिकारे-" यद्वा गिलाणभंगीकिच्च वेज्जट्ठयाए हिरण्णं पि गेण्हेज्ज, उरालस्यापवाद -" विसे कणगंते " विषग्रस्तस्य कनकं सुवर्णं तं घेत्तुं घसिऊण विसणिग्घायणट्ठा तस्स पाणं दिज्जति, अतो गिलाणट्ठा ओरालियग्गहणं भवेज्ज त्ति,एवंविधे अपि ते साधु ,(निमिसखणद्धं पि त्ति) निमेषस्य क्षणोऽवसरो वेलेति यावत् । तस्यार्द्धं निमेषक्षणार्द्धं, निमेषक्षणार्द्धं निमेषवेलार्द्धमित्यर्थ । तदपि यावत्कार्यकरणानन्तरं कौतुकमोहाऽऽदिना हस्तेन करेण न स्पृशेत् । ( तं गच्छ त्ति ) हे गौतम ! स गच्छ स्यादितिः । ग० २ अधि० । ( परिग्रहविषया दर्पिका कल्पिका च प्रतिसेवना 'मूलगुण पडिसेवणा' शब्दे वक्ष्यते ) अपरिग्रहाभ्यासवतश्च जन्मन उपस्थितिः-' कोऽहमासं, कीदृशः, किं कार्यकारी " इति जिज्ञासाया सर्वमेव सम्यग् जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहः, किं तु आत्मन शरीरपरिग्रहोऽपि तथा, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य,तस्मिन् सति रागानुबन्धाद् बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भाव । यदा पुन शरीराऽऽदिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागाऽऽदित्यागात् सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसंबोध इति । तदाह-" अपरिग्रहस्थैर्ये-जन्मकथन्तासंबोध इति । (२-३९) ॥६॥ द्वा० २ द्वा० । न चैहिकसुखैषिणा दासीदासधनधान्याऽऽदिपरिग्रहवता धर्मध्यान भवतीति । तथा चोक्तम्-" ग्रामक्षेत्रगृहाऽऽदीना गृहक्षेत्रजनस्य च । यस्मिन्परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुत शुभम् ? ॥१॥" सूत्र०१ श्रु०११ अ०

इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले,परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे (८)

'स्त्रीषु' रमणीषु आसक्त अध्युपपन्न पृथक् पृथक् तद्भाषितहसितबिब्बोकशरीरावयवचेष्टिते । बालवद् 'बाल' अज्ञ सदसद्विवेकविकलस्तद्वशक्ततया च नान्यथा-द्रव्यमन्तरेण तत्सम्प्राप्तिर्भवतीत्यतो येन केनचिदुपायभूतं परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाणः पापं कर्म समुच्चिनोतीति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

परिग्रहग्रह एव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति । तथा
चोक्तम्-

" ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः,
कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः ।
यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः,
परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते " ॥ १ ॥

तथा च-

" द्वेषस्याऽऽयतनं धृतेरपचयः, क्षान्तेः प्रतीपो विधि-
र्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवन ध्यानस्य कष्टो रिपुः ।
दुःखस्य प्रभव सुखस्य निधनं, पापस्य वासो निजः,
प्राज्ञस्याऽपि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥ २ ॥"

सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( परिग्रहदोषा अन्यत्राप्यव्ययथिकनिन्दाऽऽवसरे ) ।

परिग्रहत्यागाष्टकम्-

न परावर्तते राशे-र्वक्रतां जातु नोज्झति ।
परिग्रहो ग्रहः कोऽयं, विडम्बितजगत्त्रयः ? ॥ १ ॥
परिग्रहग्रहाऽऽवेशाद्, दुर्भाषितरजःकिराः ।
श्रूयन्ते विकृताः किन्न, प्रलापा लिङ्गिनामपि ? ॥ २ ॥
यस्त्यक्त्वा तृणवद्बाह्य-मान्तरं च परिग्रहम् ।
उदास्ते तत्पदाम्भोजं, पर्युपास्ते जगत्त्रयी ॥ ३ ॥
चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने, बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य, भुजगो न हि निर्विषः ॥ ४ ॥
त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः ।
पालित्यागे क्षणादेव, सरसः सलिलं यथा ॥ ५ ॥
त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, मूर्च्छामुक्तस्य योगिनः ।
चिन्मात्रप्रतिबन्धस्य, का पुद्गलनियन्त्रणा ? ॥ ६ ॥
चिन्मात्रदीपको गच्छेत्, निर्वातस्थानसन्निभैः ।
निःपरिग्रहतास्थैर्यं, धर्मोपकरणैरपि ॥ ७ ॥
मूर्च्छाच्छिन्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः ।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवाऽपरिग्रहः ॥ ८ ॥

अष्ट० २५ अष्ट० ।

( नैरयिकाः किं साऽऽरम्भाः सपरिग्रहा इति 'आरंभ' शब्दे द्वितीयभागे ३६३ पृष्ठे उक्तम् )

परिग्गहकिरिया-परिग्रहक्रिया-स्त्री० । परिग्रहिकया क्रियायाम् आ० चू० ४ अ० ।

परिग्गहज्झाण-परिग्रहध्यान-न० । परिग्रहो धनधान्याऽऽदिरूपस्तस्य ध्यानम् । गतविभवस्य विभवार्थं चारुदत्तस्येव मुनिपतिप्रतिनिरुन्धनकुञ्चिकस्येव दुर्ध्याने, आतु० । ( चारुदत्तकथा ' चारुदत्त ' शब्दे तृतीयभागे ११७६ पृष्ठे गता )

परिग्गहणिविट्ठ-परिग्रहनिविष्ट-त्रि० । परि समन्ताद् गृह्यते इति परिग्रहो द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णाऽऽदिषु मे-

मीकारः, तत्र निविष्टः। परिग्रहेषु ममत्वाभिनिविष्टे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

**परिग्गहरुइ** परिग्रहरुचि–त्रि०। परिग्रहो रोचते यस्य सः। परिग्रहविषयकरुचिशालिनि, प्रश्न० १ सम्व० द्वार।

**परिग्गहविरइ**–परिग्रहविरति–स्त्री०। परिग्रहाद् विरमणे, "परिग्गहविरइए पंचिंदियनिग्गहं विहिणा उज्जमियव्वं।" महा० १ चू०।

**परिग्गहविरयाविरय** परिग्रहविरताविरत–पुं०। अनन्तात्परिग्रहाद् विरते यावत् आकारस्ततोऽविरते, आ०चू०६ अ०।

**परिग्गहवेरमण**–परिग्रहविरमण–न०। परिग्रहाद् विरतौ, परिग्रहस्य ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया त्यागे, तच्चाणुमहद्भेदेन द्विविधम्। तत्र–अणु श्रावकाणाम् इच्छापरिमाणाऽऽख्यम्। पं० व० ४ द्वार। ('इच्छापरिमाण' शब्दे द्वितीयभागे ५७७ पृष्ठादारभ्य सातिचारं व्याख्यातम्) "एगे परिग्गहवेरमणे।" स्था० १ ठा०। आ०चू०। ध० २०। आ०। आव०।

तयाऽणंतरं च णं इच्छापरिमाणं करेइ, हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं करेइ। णऽण्णत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं णिहाणपउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं, चउहिं वित्थरपउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्णसुवण्णविहिं पच्चक्खामि। तयाऽणंतरं च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ। णऽण्णत्थ चउहिं वएहिं दसगोसाहस्सिएणं वएणं अवसेसं सव्वं चउप्पयविहिं पच्चक्खामि। तयाऽणंतरं च णं खेत्तवत्थुपरिमाणं करेइ णऽण्णत्थ पंचहिं हलसएहिं णियत्तणसइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुं पच्चक्खामि। तयाऽणंतरं च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ। णऽण्णत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसाजत्तिएहिं पंचहिं सगडीसएहिं संवहणिएहिं अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि। तयाऽणंतरं च णं वाहणविहिपरिमाणं करेइ। णऽण्णत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसाजत्तिएहिं चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि। उपा० १ अ०।

महन्महाव्रतिनां साधूनां सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम्। स्था० १० ठा०। "परिग्रहस्य सर्वस्य, सर्वथा परिवर्जनम्। आकिञ्चन्यव्रतं प्रोक्तं–मर्हद्भिर्हितकाङ्क्षिभिः॥ १॥" ध० २ अधि०। दश०। पा०।

अस्य प्रश्नव्याकरणोक्तदशानां पञ्चमेऽध्ययने इत्थं प्रतिपादनम्–

जंबू! अपरिग्गहे संवुडे य समणे आरंभपरिग्गहाओ विरते, विरते कोहमाणमायालोभा।

जम्बूरित्यामन्त्रणे, अपरिग्रहो धर्मोपकरणवर्जपरिग्राह्यवस्तुधर्मोपकरणमूर्च्छापरिवर्जितं, तथा संवृतश्चेन्द्रियकषायसम्वरेण यः स तथा, स च श्रमणो भवति। चकाराद् ब्रह्मचर्याऽऽदिगुणयुक्तश्चेति। एतदेव प्रपञ्चयन्नाह–आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः। परिग्रहो द्विधा–बाह्य., आभ्यन्तर-

श्च। तत्र बाह्यो–धर्मसाधनवर्ज्यो धर्मोपकरणमूर्च्छा च। आन्तरस्तु–मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रमाददुष्टयोगरूपः। आह च "पुढवाइसु आरम्भो, परिग्गहो धम्मसाहणं मोत्तुं। मुच्छा य तत्थ बज्झो, इयरो मिच्छत्तमाईओ॥ १॥" इति। अनयोश्च समाहारद्वन्द्वः। अतः तस्माद्विरतो निवृत्तो यः सः, श्रमण इति वर्तते। तथा विरतो निवृत्तः क्रोधमानमायालोभात्। इह समाहारद्वन्द्वत्वादेकवचनम्।

अथ मिथ्यात्वलक्षणाऽऽन्तरपरिग्रहविरतत्वं प्रपञ्चयन्नाह–

एगे असंजमे, दो चेव रागदोसा, तिण्णि य दंडा, गारवा य, गुत्तीओ तिण्णि, तिण्णि य विराहणाओ, चत्तारि कसाया, झाणसण्णा विगहा तहा य हुंति चउरो, पंच किरियाओ समितिइंदियमहव्वयाइं य ५, छज्जीवनिकाया छच्च लेसाओ, सत्त भया, अट्ठ मया नव चेव य बंभचेरगुत्ती, दसप्पकारे य समणधम्मे, एकारस उवासगा णं, बारस य भिक्खुपडिमा. तेरस किरियाट्ठाणाए, चउद्दस भूयगामा १४, पन्नरस परमाधम्मिया १५, सोलस गाहासोलसा य १६, असंजम १७ अबंभ १८ णाय १९ असमाहिट्ठाणा २० सबला य २१ परीसहा य २२ सूयगडज्झयणा २३ देव २४ भावणा २५ उद्देस २६ गुण २७ कप्प २८ पावसुय २९ मोहणिज्जे ३० सिद्धातिगुणा य ३१ जोगसंगह ३२ तित्तीसाऽऽसायणा ३३ सुरिंदा, आदि एकाइयं करेत्ता एगुत्तरियाए वुड्डिएसु तीसाओ जाव य भवे तिकाहिका विरतीपणिहिसु य अविरतीसु य अण्णेसु य एवमादिएसु बहुसु ठाणेसु जिणपसत्थेसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु संकं कंखं निराकरित्ता सद्दहति सासणं भगवंतो अणियाणे अगारवे अलद्धे अमूढे मणवयणकायगुत्ते।

अपरिग्रहसंवृतः श्रमण इत्युक्तम्। अधुनाऽपरिग्रहत्वमेव प्रक्रान्ताध्ययनाभिधेयं वर्णयन्नाह–

जो सो वीरवरवयणविरतिपवित्थरबहुविहप्पगारो सम्मत्तविसुद्धबद्धमूलो धितिकंदो विणयवेइओ निग्गयतेल्लोक्कविपुलजसनिचियपीणपीवरसुजायखंधो पंचमहव्वयविसालसालो भावणातयंतज्झाणसुभजोगनाणपल्लववरंकुरधरो बहुगुणकुसुमसमिद्धो सीलसुगंधो अणण्हयफलो पुणो य मोक्खवरबीयसारो मंदरगिरिसिहरचूलिया इव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ संवरवरपायवो चरिमं संवरदारं।

(जो सो त्ति) योऽयं वक्ष्यमाणविशेषणः सम्वरवरपादप, चरमसंवरद्वारमिति योग। किंभूत सम्वरवरपादपः?–इत्याह वीरवरस्य श्रीमन्महावीरस्य यद्वचनमाज्ञा ततः सकाशाद् या विरतिः परिग्रहान्निवृत्तिः. सैव प्रविस्तारो यस्य सम्वरपादपस्य स तथा. बहुविधोऽनेकप्रकार स्वरूपविशेषो यस्य स तथा, तत्र सम्वरपक्षे बहुविधप्रकारत्वं विवि–

अविषयापेक्षया,क्षयोपशमाऽद्यपेक्षया च;पादपपक्षे च मूलकन्दाऽऽदिविशेषापेक्षयेति। तत पदद्वयस्य कर्मधारयः । सम्यक्त्वमेव सम्यग्दर्शनमेव विशुद्धं निर्दोषं वद्धं मूलं कन्दस्याऽधोवर्ति यस्य स तथा। धृति चित्तस्वास्थ्यं सैव कन्दः स्कन्दाधोभागरूपो यस्य स तथा । विनय एव वेदिका पार्श्वत परिकररूपा यस्य स तथा। ( निग्गयतेल्लोक त्ति ) प्राकृतत्वात्त्रैलोक्ये निर्गतं त्रैलोक्यनिगतं भुवनत्रयव्यापकमत एव विपुलं विस्तीर्णं यद्यशः ख्यातिस्तदेव निचितो निविडः पीनं स्थूलं पीवरो महान् सुजातः सुनिष्पन्न स्कन्धो यस्य स तथा। पञ्चमहाव्रतान्येव विशाला विस्तीर्णा शालाः शाखा यस्य स तथा। भावनैवानित्यत्वाऽऽदिचिन्ता त्वक् वल्कलं यस्य वाचनान्तरे-भावनैव त्वगन्तो वल्कज्ञावसानं यस्य स तथा। ध्यानं च धर्मध्यानाऽऽदि शुभयोगाश्च सद्व्यापारा ज्ञानं च बोधविशेष तान्येव पल्लववराङ्कुराः प्रवालप्रवरप्ररोहाः तानि धारयति य स तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारय । बहवो ये गुणा उत्तरगुणा शुभफलरूपा त एव कुसुमानि तै समृद्धो जातिसमृद्धिर्यस्य स तथा। शीलमैहिकफलानपेक्षप्रवृत्ति स्वसमाधानमेव वा सुगन्धः सद्गन्धो यत्र स तथा। ( अणण्हवफलो त्ति ) अनाश्रवो नवकर्मानुपादान स एव फलं यस्य स तथा। पुनश्च पुनरपि मोक्ष एव कर्मबीजभागे मिञ्जालक्षण सारो यस्य स तथा। मन्दरगिरिशिखरे मेरुधराधरशिखरे या चूलिका चूडा सा तथा सा इव, अस्य प्रत्यक्षस्य, मोक्षवरे वरमोक्षे भावमोक्षे सकलकर्मक्षयलक्षणे गन्तव्ये, मुक्तिरेव निर्लोभतैव मार्गे पन्था मोक्षवरमुक्तिमार्गस्तस्य शिखरभूत शेखरकल्प। कोऽसावित्याह-सम्वर एवाऽऽश्रवनिरोध एव वरपादप प्रधानद्रुम सम्वरवरपादप , पञ्चप्रकारस्यापि संवरस्य उक्तस्वरूपे सत्यपि प्रकृताध्ययनमनुसरन्नाह चरमं पञ्चमं सम्वरद्वारम्।

आश्रवनिरोधमुखमिति पुनर्विशेषयन्नाह-

जत्थ न कप्पइ गामाऽऽगरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणाऽऽसमगयं वा किंचि अप्पं वा बहु वा अणु वा थूलं वा तसथावरकायदव्वजायं मणसा वि परिघेत्तूण हिरण्णसुवण्णखेत्तवत्थू न दासीदासभयकपेसहयगयगवेलगं वा ण जाणजुगसयणासणाइ न छत्तकं न कोंडिका न उवाणहे, न पेहुणवीयणतालियंटका ण यावि अयतउयतंवसीसकंसरययजायरूवमणिमुत्ताधारपुडकसंखदंतमणिसिंगसेलकाचवरवेलचम्मपत्ताइं महारिहाइ परस्स अज्झोववायलोभजणणाइं परियट्टिउं (१) ।

अत्र चरमसंवरद्वारे परिग्रहविरमणलक्षणे सति,न कल्पते न युज्यते, परिगृहीतुमिति सम्बन्ध । किं तदित्याह-ग्रामाऽऽकरनगरखेटकर्वटमडम्बद्रोणमुखपत्तनाऽऽश्रमगतं वा। ग्रामाऽऽदिव्याख्यानं पूर्ववत्। वाशब्द उत्तरपदापेक्षया विकल्पार्थे। किञ्चिदित्यानिर्दिष्टस्वरूपं सामान्य सर्वमेवेत्यर्थ । अल्प वा स्वल्पत बहु वा मूल्यत। एवं ( अणु वा ) स्तोकं प्रमाणत , स्थूलं वा महत्प्रमाणत। ( तसथावरकायदव्वजायं ति) त्रसकायरूपं शङ्खाऽऽदि सचेतनमचेतन वा। एवं स्थावरकायरूप रत्नाऽऽदि द्रव्यजातं वस्तुसामान्यं मनसाऽपि चेतसाऽपि आस्तां कायेन,परिग्रहीतुं स्वीकर्तुम्। एतदेव विशेषेणाऽऽह-न हिरण्यसुवर्णक्षेत्रवस्तु,परिकल्पते परिगृहीतुमिति प्रक्रम । न दासीदासभृतकप्रेष्यहयगजगवेलकं वा। दास्यादय प्रतीताः। न यानयुग्यशयनाऽऽसनानि,यानं रथाऽऽदिकं,युग्यं वाहनमात्रं, गोल्लकदेशप्रसिद्धो वा जम्पानविशेष । न छत्रकमातपवारणं,न कुण्डिका कमण्डलू, नोपानहौ प्रतीतौ, न पेहुणव्यजनतालवृन्तकानि पेहुणं मयूरपिच्छं, व्यजनं वंशाऽऽदिमयं तालवृन्तकं व्यजनविशेष एव न चापि च अयो लोहं,त्रपुकं वङ्गं, ताम्रं शुल्वं सीसकं नागं कांस्यं त्रपुकताम्रसंयोगजं,रजतं रूप्यं,जातरूपं सुवर्णं,मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्याः, मुक्ताऽऽधारपुटकं शुक्तिसंपुटं,शङ्खः कम्बू ,दन्तमणिः प्रधानदन्तो हस्तिप्रभृतीनां, दन्तजो वा मणिः, शृङ्गं विषाणं,शैल पाषाणः। पाठान्तरेण-" लेस त्ति " तत्र श्लेषः श्लेषद्रव्यं, काचवरः प्रधानकाचः, चेलं वस्त्रं, चर्माजिनमेतेषां द्वन्द्वः। तत एषा सक्तानि यानि पात्राणि भाजनानि तानि, तथा महार्हाणि महार्घाणि, बहुमूल्यानीत्यर्थ परस्याऽन्यस्याध्युपपातं च ग्रहणे कामचित्तता लोभं च मूर्च्छां जनयन्ति यानि तानि अध्युपपातलोभजनानि ( परियट्टिउं ति ) परिकर्षयितुं वा, परिपालयितुमित्यर्थ। न कल्पन्त इति योग ( १ )।

गुणवओ न यावि पुप्फफलकंदमूलाऽऽदिकाइं सणसत्तरसाइं सव्वधण्णाइं तिहिं वि जोगेहिं परिघेत्तुं ओसहभेसज्जभोयणट्ठयाए संजएणं ( २ )।

किं कारणं अपरिमियणाणदंसणधरेहिं सीलगुणविणयतवसंजमनायकेहिं तित्थकरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा, न कप्पइ जोणीसमुच्छेदो त्ति तेण वज्जंति समणसीहा। जं पि य ओदणकुम्मासगजतप्पणमंथुभुंजियपललसूपसक्कुलिवेढिमवरसंखचुण्णकोसगपिंडसिहरणीवट्टगमोयकखीरदहिसप्पिनवणीयतेल्लगुडखंडमच्छंडियमधुमज्जममखज्जकवंजणविहिमाइकं पणीतं उवस्सए परघरे वऽरण्णे न कप्पइ तं पि संनिहिं काऊण सुविहियाणं ( ३ )।

(गुणवउ त्ति)गुणवतो मूलगुणाऽऽदिसम्पन्नस्येत्यर्थ। न चाऽपि पुष्पफलकन्दमूलाऽऽदिकानि सण सप्तदशो येषां व्रीह्यादीना तानि तथा सणसप्तदशकानि, सर्वधान्यानि, त्रिभिरपि योगै मन प्रभृतिभि,परिग्रहीतुं कल्पन्ते इति प्रकृतमेव। किमर्थमित्याह-औषधभेषज्यभोजनार्थाय-तत्रौषधमेकाङ्गं,भैषज्यं द्रव्यसंयोगरूपं, भोजनं प्रतीतमेव। ( संजएणं ति ) विमुक्तिपरिणामात् संयतस्य साधो ( २ )। किं कारण को हेतुरकल्पने?। उच्यते-अपरिमितज्ञानदर्शनधरै सर्वविद्भि शीलं समाधानं,गुणा मूलगुणाऽऽदयो, विनयोऽभ्युत्थानाऽऽदिक ,तप -संयमौ प्रतीतौ, तान्नयन्ति वृद्धिं प्रापयन्ति ये ते तथा तैस्तीर्थकरै शासनप्रवर्त्तकै सर्वजगज्जीववत्सलै सर्वैस्त्रैलोक्यमहितैर्जिनाश्छद्मस्थवीतरागा तेषां वरा केवलिनस्तेषामिन्द्रास्तीर्थकरनामकर्मोदयवर्तित्वाद्ये ते तथा, तै, एषा पुष्पफलधान्यरूपा, योनिरुत्पत्तिस्थानं जगतां जङ्गमाना त्रसानामित्यर्थ । दृष्टोपलब्धा केवलज्ञानेन, तञ्च न कल्पते न सङ्गच्छते, योनिसमुच्छेदो योनिध्वंस, कर्तुमिति गम्यते। परिग्रहे औषधाऽऽद्युपयोगे च तेषा

सोऽवश्यं भवतीति। इति-शब्द उपदर्शने,येनैवं तेन वर्जयन्ति परिहरन्ति,पुष्पफलधान्यग्रहणभोजनाऽऽदिकम्। के? श्रमणसिंहा मुनिपुङ्गवाः। यदपि च ओदनाऽऽदि तदपि न कल्पते संनिधीकर्तुं सुविहितानामिति सम्बन्धः। तत्र ओदनः कूरं, कुल्माषा माषाः,ईषत् स्विन्ना मुद्गाऽऽदय इत्यन्ये। (गंज त्ति) भोज्यविशेषः तर्पणाः शक्तवः (मंथु त्ति) वदराऽऽदिचूर्णं (भुंजिय त्ति) धानाः (पलल त्ति) तिलपिष्टं, सूपो मुद्गाऽऽदिविकारः शष्कुली तिलपर्पटिका, वेष्टिमा च प्रतीता। वरशब्दानि चूर्णकोशकानि च रूढिगम्यानि। पिण्डा गुडपिण्डा शिखरिणी गुडमिश्रं दधि, वट्ट त्ति) घनीभूतं तीमनः,मोदका लड्डुकाः। क्षीरं दधि च व्यक्तम्। सर्पिः घृतं नवनीतं म्रक्षणम् तैलं गुडं खण्डं च कंठ्यानि। मत्स्यण्डिका खण्डविशेष मधुमद्यमांसानि प्रतीतानि, खाद्यकानि प्रतीतानि व्यञ्जनानि तक्राऽऽदीनि शालकानि वा तेषां ये विधयः प्रकारास्तेषामनेकव्यञ्जनविधयस्तत एतेषामोदनाऽऽदीनां द्वन्द्वः। तत एते आदिर्यस्य तत्तथा। प्रणीतं प्रापितं उपाश्रये, वसतौ, परगृहे वा, अरण्ये अटव्यां, न कल्पते न सङ्गच्छते तदपि सन्निधीकर्तुं सञ्चयीकर्तुं सुविहितानां परिग्रहपरिवर्जनेन शोभनानुष्ठानानां सुसाधूनामित्यर्थः। आह च विडमुब्भे (?) इमं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं। ण ते संनिहिमिच्छंति, नायपुत्तवयरआ " ॥ १ ॥ इति। ( ३ )।

जं पि य उद्दिट्ठठवियरचितकपज्जवजातपक्किण्णाउकरणपामिच्चं मीसं कीयकडं पाहुडं वा दाणट्ठं पुण्णपगड समणवणीवगट्ठयाए वा कयं पच्छाकम्मं पुरेकम्म नितिकमुदकमक्खियं अइरितं मोहरं सयं गाहमाहडं मट्टिओवलित्तं अच्छिज्जं चेव अणिसिट्ठं जं तं तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य अंतो वा बहिं वा होज्ज समणट्ठयाए ठवियं हिंसासावज्जसंपउत्तं न कप्पइ तं पि य परिघेत्तुं ( ४ )।

दित उपस्कृतम्। आह च-" पढमं चिय गिहिसंजय-मीसोवक्खडाइ मीसं तु। " ( कीयगड त्ति ) क्रीतेन क्रयेण कृतं साधुदानाय क्रीतकृतम्। आह च-" दव्वाइपउच्चाहिं किणणं साहूणट्ठाए कीयं तु पाहुडं वा। " प्राभृतिकेत्यर्थः। तल्लक्षणं चेदम्-" सुहुमेयरमुस्सक्कण-मवसक्कण सो य पाहुडिया। " तत पदत्रयस्य समाहारद्वन्द्वः। चशब्दः पूर्वापेक्षया विकल्पार्थः। दानमर्थो यस्य तद्दानार्थं पुण्यार्थं प्रकृतं साधितं पुण्यप्रकृतम्। पदद्वयस्य द्वन्द्वः। तथा श्रमणाः पञ्चविधाः-" निग्गंथसक्कतापस-गेरुय-आजीव पंचहा समणा। " वनीपकाश्च तर्ककास्तत एतदर्थं प्रयोजनं यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्ता तया। वा विकल्पार्थः। कृतं निष्पादितम्। इह कश्चिद्दाता दानमेवाऽऽलम्बते दातव्यं मयेति. अन्यस्तु पुण्यं मम भूयादित्येवम् अन्यस्तु श्रमणान् अन्यस्तु वनीपकानिति चत्वारोऽपि औद्देशिकस्य भेदा एते उक्ता इति। ( पच्छाकम्मं ति ) पश्चाद्दानानन्तरं कर्म भाजनधावनाऽऽदि यत्राशनाऽऽदौ तत्पश्चात्कर्म ( पुरेकम्मं ति ) पुरो दानात्पूर्वं कर्म हस्तधावनाऽऽदि यत् तत्पुरःकर्म ( णित्तियं ति ) नैत्यिकं सार्वदिकमवस्थितं मनुष्यपोषाऽऽदिप्रमाणम्। (उदकमक्खियं ति ) उदकाऽऽदिना संसृष्टम्। यदाह-" मक्खियमुदगाइणा उ जं जुत्तं। " अयमेषणादोष उक्तः। ( अतिरित्त ति ) " बत्तीसं किर कवला, आहारो कुक्खिपूरओ भणिओ। पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥ १ ॥ " एतत्प्रमाणातिक्रान्तमतिरिक्तम्। अयं च मण्डलीदोष उक्तः। ( मोहरं ति ) मौखर्येण पूर्वं संस्तव पश्चात् संस्तवाऽऽदिना बहुभाषित्वेन यल्लभ्यते तन्मौखर्यम्, अयमुत्पादनादोष उक्तः ( सयं गाहं ति ) स्वयमात्मना दत्तं गृह्यते यत् तत् स्वयंग्राहम् अयमपरिणताऽभिधानदोष उक्तः, दायकस्य दाने अपरिणतत्वादिति। ( आहडं ति ) स्वग्रामाऽऽदेः साध्वर्थमानीतमाहृतम्। आह च-" सग्गामपरग्गाममाणीयं, आहडं ततं होइ। " ( मट्टिउवलित्तं ति ) उपलक्षणत्वान्मृतिकाग्रहणस्य मृत्तिकाजतुगोमयाऽऽदिना उपलिप्तं सत् यदुद्भिद्य ददाति तं मृत्तिकोपलितम्, उद्भिन्नमित्यर्थः। आह-" छगणाइणोवलित्तं, उब्भिदिय जं तमुब्भिन्नं। " ( अच्छिज्जं चेव ति ) आच्छेद्यं यदाच्छिद्य भृत्याऽऽदिभ्यः स्वामी ददाति। आह च-" अच्छिज्जं अच्छिदिय. जं सामी भिच्चमाईणं। " अनिसृष्टं बहुसाधारणं सत् एकेक एव ददाति। आह च-"अणिसट्ठं सामण्णं, गोट्ठिगभत्ताइ ददउ एगस्स।" एतेपूद्दिष्टाऽऽदिषु यत् प्रायः उद्गमदोषा उक्ताः। तथा यः नियततिथिषु मदनत्रयोदश्यादिषु,यज्ञेषु नागाऽऽदिपूजासूत्सवेषु च शक्रोत्सवाऽऽदिषु अन्तर्बहिर्वा उपाश्रयात् भवेत् श्रमणार्थं स्थापितं दानायोपस्थापितं हिंसासावद्यं यत् सावद्यं तत्सम्प्रयुक्तं न कल्पते तदपि च परिग्रहीतुम् (४)।

अह केरिसयं पुणा तं कप्पति ?। जं तं एक्कारसपिंडवायसुद्धं किणणहणणपयणकयकारियाणुमोयणनवकोडीहिं सुपरिसुद्धं दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं उग्गमउप्पायणेसणाए सुद्धं ववगयचुयचवियचत्तदेहं च फासुयं च ववगयसंजोगमणिंगालं विगयधूमं छट्ठाणनिमित्तं छक्कायपरिरक्खणट्ठा हणिं हणिं फासुएण भिक्खेण वट्टियव्वं (५)।

अथेति परप्रश्ने । कीदृशं किंविधं ( पुणो इति ) पुनः तत् कल्पते संगच्छते परिगृहीतमोदनाऽऽदीनि प्रकृतम् ?। उच्यते- यत्तदेकादशपिण्डपानशुद्धम्-आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धप्रथमाध्ययनस्यैकादशभिः पिण्डपाताभिधायिकैरुद्देशैर्विशुद्धं तदुक्तदोषविमुक्तं यत्तत्तथा । तथा क्रयणं मूल्येन ग्रहणं, हननं विनाशनं,पचनं चाग्निना पाक इति द्वन्द्वः। एषा यानि कृतकारितानुमोदनानि स्वयंकरणकारणानुमतयः तानि तथा, ता एव नवकोट्यो विभागा इति समासः; ताभिः सुपरिशुद्ध निर्दोषम्।दशभिश्च दोषैर्विप्रमुक्तम्;ते च शङ्किताऽऽदय एषणादोषा ।उद्गम आधाकर्माऽऽदिषोडशविधः उत्पादना धात्र्यादिषोडशविधैव,एतत् द्वयम्,एषणा गवेषणाऽभिधाना उद्गमोत्पादनैषणा, तया शुद्धम् । ( ववगयचुयचइयचत्तदेहं च त्ति) व्यपगतमोघतश्चेतनापर्यायादचेतनत्वं प्राप्तं,च्युतं जीवनाऽऽदिक्रियाभ्यो भ्रष्टं,च्यावितं तेभ्य एव आयुःक्षयेण भ्रंशितं,त्यक्तदेहं च त्यक्तजीवसंसर्गसमुत्थशक्तिजनिताऽऽहाराऽऽदिपरिणामप्रभवापचयं यत्तत्तथा, चः समुच्चये, प्रासुकं च निर्जीवमित्येतत्पूर्वोक्तस्यैव व्याख्यानम्। कल्पते ग्रहीतुमिति प्रक्रमः। तथा व्यपगतसंयोगमनङ्गारं विगतधूमं चेति पूर्ववत्।षट् स्थानकानि निमित्तं यस्य भैक्ष्यवर्त्तनस्य तत्तथा। तानि चामूनि- "वेयण १ वेयावच्चे, २ इरियट्ठाए य ३ संजमट्ठाए ४। तह पाणवत्तियाए ५ छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥१॥" इति । षट्कायपरिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्-(दिणे दिणे त्ति) अहनि २, प्रतिदिन, सर्वदाऽपीत्यर्थः । प्रासुकेन भैक्ष्येण भिक्षासमूहेन, वर्तितव्यं वृत्तिः कार्या ( ५ )।

जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगाऽऽयंके बहुप्पगारम्मि समुप्पन्ने वायाहिकपित्तसिंभअइरित्तकुवियतहसंण्णिवायजाते तह उदयपत्ते उज्जलबलविउलकक्खडपगाढदुक्खे असुहकडुयफरुसचंडफलविवागे महब्भए जीवियंतकरणे सव्वसरीरपरितावणकरणे न कप्पइ तारिसे वि तह अप्पणो परस्स व ओसहभेसज्जभत्तपाणं च तं पि सन्निहिकयं (६)।

तथा-यदपि च औषधाऽऽदि, तदपि संनिधिकृतं न कल्पत इत्यक्षरघटना। कस्य न कल्पते ?, इत्याह-श्रमणस्य साधोः सुविहितस्य पार्श्वस्थाऽऽदेः, तुर्वाक्यालङ्कारे। कस्मिन् सतीत्याह-रोगाऽऽतङ्के रोगो ज्वराऽऽदिः, स चासावातङ्कश्च कृच्छ्रजीवितकारी रोगाऽऽतङ्कः, तत्र, बहुप्रकारे विविधे, समुत्पन्ने जाते, तथा ( वायाहिक त्ति ) वाताऽऽधिक्यम् ( पित्तसिंभाइरित्तकुविय त्ति ) पित्तसिंभयोर्मायुश्लेष्मणोरतिरिक्तकुपितमतिरेककोप पित्तसिंभातिरिक्तकुपितम्। तथेति तथाप्रकार औषधाऽऽदिविषयो यः सन्निपातो वाताऽऽदित्रयसंयोग ,जातः स तथा। ततः पदत्रयस्य द्वन्द्वैकत्वम्। ततस्तत्र वा सति । अनेन च रोगाऽऽतङ्कनिदानमुक्तम् । तथा उदयप्राते उदिते सति। केत्याह-उज्ज्वलं सुखलेशमलवर्जितं बलं बलवत् कष्टोपक्रमणीयं विपुल विपुलकालवेद्यं, त्रितुलं वा त्रीन् मन प्रभृतीन् तुलयति तुलामारोपयति कष्टावस्था करोतीति त्रितुल कर्कश कर्कशद्रव्यमिवानिष्टं,प्रगाढ प्रकर्षवत् यत् दुःखमसुख तत्तथा तत्र । किंभूते ?,इत्याह-अशुभः असुखो वा कटुक , कटुकद्रव्यमिवानिष्ट , परुषः परुषस्पर्शद्रव्यमिवानिष्ट , एवं चण्डो दारुण फलविपाक कार्यनिष्ठो दुःखानुबन्धलक्षणो यस्य तत्तथा तत्र, महद्भयं यस्मात्तन्महाभयं तत्र,जीवितान्तकरणे;सर्वशरीरपरितापनकरणे,न कल्पते न युज्यते,तादृशेऽपि रोगाऽऽतङ्काऽऽदौ,यादृशो न सोढुं शक्यते (तह त्ति) तेन प्रकारेण पुष्टाऽऽलम्बनम्;विनाशाऽऽलम्बनस्य पुनः कल्पत एव। यतः-" काहिं अतित्तिं,अदुवा अहीहं, (?) तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं । गणं च नीईए उ सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥ १ ॥" आत्मने परस्मै वा निमित्तम्, औषध भेषजं,भक्तं पानं च,तदपि सन्निधिकृतं सञ्चयीकृतम् , परिग्रहविरतत्वात् ( ६ )।

जं पि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवइ भायणभंडोवहिउवकरणपडिग्गहो पायबंधणपायकेसरियापायट्ठवणं च पडलाइं तिण्णि च रयत्ताणं गोच्छओ तिण्णि य पच्छगा रओहरणचोलपट्टकमुहणंतकमादीयं ( ७ )। एयं पि य संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायाऽऽयवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएण णिच्चं ( ८ ) ।

यदपि च श्रमणस्य सुविहितस्य, तुशब्दो भाषामात्रे,पतद्ग्रहधारिणः सपात्रस्य सम्भवति,भाजनं च पात्रं,भाण्डं मृन्मयं तदेव,उपधिश्च औपधिक ,उपकरण चौपग्रहिकम्। अथवा-भाजनं च भाण्ड चोपधिश्चेत्येवंरूपमुपकरणं भाजनभाण्डोपध्युपकरणम् ,तदेवाऽऽह-पतद्ग्रह पात्रं, पात्रबन्धन पात्रबन्धः पात्रकेशरिका पात्रप्रमार्जनपोत्तिका,पात्रस्थापनं यत्र कम्बलखण्डे पात्रं निधीयते,पटलानि भिक्षाऽवसरे पात्रप्रच्छादकानि वस्त्रखण्डानि। तानि च यदि सर्वस्तोकानि तदा त्रीणि भवन्ति अन्यथा पञ्च सप्त वेति। रजस्त्राण च पात्रवेष्टनं चीवरं, गोच्छकः पात्रवस्त्रप्रमार्जनहेतुः कम्बलशकलरूपः, त्रय एव प्रच्छदाः द्वौ सौत्रिकौ,तृतीय और्णिकः,रजोहरणं प्रतीतं, चोलट्टकः परिधानवस्त्रं मुखानन्तकं मुखवस्त्रिका। एषां द्वन्द्वः। तत एतान्यादिर्यस्य तत्तथा ( ७ )। एतदपि च संयमस्योपबृंहणार्थमुपष्टम्भार्थं, न परिग्रहबुद्ध्या। आह च " जं पि व त्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेंती परिहरंति य ॥ १ ॥" परिभुञ्जत इत्यर्थः। "न य सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ १ ॥" अस्मद्गुरुणेत्यर्थः । तथा वाताऽऽतपदंशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणं रजोहरणाऽऽदिकं रागद्वेषरहितं यथा भवतीत्येवं परिवोढव्यं परिभोक्तव्यं संयतेन नित्यम् ( ८ )।

पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेणं हुंति सययं निक्खिवियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिं उवकरणं । एवं से संजए विमुत्ते निस्संगे निप्परिग्गहरुई निम्ममे निसिनेहबंधणे सव्वपावविरए वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिमुत्तलेट्ठुकंचणसमे समे य माणावमाणणाए समियरए समियरागदोसे समिते समिइसु सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणे सुयधारए उज्जुए संजए सुमाहू सरणं सव्वभूयाणं सव्वजगवच्छले सच्चभासके य संसारंते वि ते य संसारसमुच्छिन्ने

सयं मरणाणं पारए पारके य सव्वेसिं संसयाणं पवय-णमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्मगंठीविमोयके अट्ठमयमहणे स-समयकुसले य भवइ ( ६ ) ।

एवमपरिग्रहताऽस्य भवति । आह च- "अज्झत्तविसोहीए. उवकरणं बाहिरं परिहरंतो । अपरिग्गहो त्ति भणितो जिणे-हिँ तेलोक्कदंसीहिं ॥१॥" तथा-प्रत्युपेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणं, प्रस्फोटनम् आस्फोटनम्, आभ्यां सह या प्रमार्जना रजोहरणा-ऽऽदिक्रिया सा तथा, तस्याम् । (अहो य राओ य त्ति) रात्रिन्दिवम् अप्रमत्तेनाप्रमादिना भवन्ति सततं निक्षेप्तव्यं च मोक्तव्यं, ग्रहीतव्यं चेति । किं तदित्याह- "भायणभंडोवहिउवकरणं ।" एवमनेन न्यायेन संयतः संयमी. विमुक्तत्यक्तधनाऽऽदिनिःस-ङ्गोऽभिष्वङ्गवर्जितः, निर्गता परिग्रहरुचिर्यस्य स तथा नि-र्ममो ममेतिशब्दवर्जी, निःस्नेहबन्धनश्च यः स तथा, सर्व-पापविरतः, वास्यामपकारिकायां चन्दने चोपकारके समान-स्तुल्यः समाचारी विकल्पो वा यस्य स तथा, द्वेषरागविर-हित इत्यर्थः। समा उपेक्षणीयत्वेन तृणमणिमुक्ता यस्य स तथा, लोष्टे च काञ्चने च सम उपेक्षकत्वेन तुल्यो यः स तथा तत. कर्मधारयः समश्च हर्षदैन्याभावात्, मानेन पूजया सहापमानना न्यक्कारो मानापमानना तस्यां शमितमुपशमितं रजः पापं रतं वा रतिर्विषयेषु रयो वौत्सुक्यं येन स शमित-रजः,शमितरयो वा शमितरागद्वेष ,समित' समितिषु पञ्चसु, सम्यग्दृष्टिः सम्यग्दर्शनी,समश्च यः सर्वप्राणिभूतेषु, तत्र प्रा-णा द्वीन्द्रियाऽऽदित्रसा. भूतानि स्थावरा (स हु समणे त्ति)स एव श्रमण इति वाक्यनिष्ठा । किंभूतोऽसावित्याह-श्रुतधारकः, ऋजुकोऽवक्र , उद्यतो वाऽनलसः. संयतः संयमी, सुसाधुः सुष्ठु निर्वाणसाधनपरः,शरणं त्राण सर्वभूताना पृथिव्यादीनां रक्षणाऽऽदिना, सर्वजगद्वत्सलो वात्सल्यकर्ता हित इत्यर्थः । सत्यभाषकश्च. संसारान्ते स्थितश्च ( संसारसमुच्छिन्ने त्ति ) समुच्छिन्नसंसारः. सततं सदा मरणानां पारगः सर्वदैव त-स्य न बालाऽऽदिमरणानि भविष्यन्तीत्यर्थः । पारगश्च सर्वेषां संशयानां, छेदक इत्यर्थः। प्रवचनमातृभिरष्टभिः समितिपञ्च-कगुप्तित्रयरूपाभिः करणभूताभिरष्टकर्मरूपो यो ग्रन्थिस्त-स्या विमोचकोऽष्टमदमथनोऽष्टमदस्थाननाशकः, स्वसमय-कुशलश्च स्वसिद्धान्तनिपुणश्च भवति ( ६ ) ।

सुहदुहनिव्विसेसे अब्भिंतरबाहिरम्मि सदा तवोवहाण-म्मि य सुट्ठुज्जुए खंते दंते य हियनिरए इरियासमिए भा-सासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणगु-त्ते वइगुत्ते कायगुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी चाई लज्जू-धण्णे तवस्सी खंतिखमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अवहिलेस्से अममे अकिंचणे छिन्नगंथे निरुवलेवे सुवि-मलवरकंसभायणं चेव मुक्कतोए संखे विव निरंजणे विग-यरागदोसमोहे कुम्मो इव इंदिएसु गुत्ते जच्चकणगं व जा-यरूवे पुक्खरपत्तं व निरुवलेवे चंदो इव सोम्मभावयाए सूरो व्व दित्ततेए अचले जह मंदरे गिरिवरे अक्खोभे सागरो व्व थिमिये पुढवी वि य सव्वफासविसहे तवसाइ य भासरासिछन्नेव जाततेए जलियहुयासणो विव तेयसा जलंते गोसीसचंदणं पि व सीयले सुगंधी य हदए विव समियभावे उग्घसियसुनिम्मलं आयंसमंडलतलं व पा-गडभावेण सुद्धभावे सोंडीरो कुंजरो व्व वसभो व जाय-थामे सीहो व्व जहा मिगाहिवे इइ होइ दुप्पधरिसे ( १० ) ।

सुखदुःखनिर्विशेषो, हर्षाऽऽदिरहित इत्यर्थः । (अब्भिंतरबा-हिरे त्ति) आभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य कार्मणलक्षणस्य तापक-त्वादभ्यन्तर प्रायश्चित्ताऽऽदिषड्विधं, बाह्यस्याप्यौदारिकल-क्षणस्य शरीरस्य तापकत्वाद्बाह्यमशनाऽऽदि षड्विधम् अन-योश्च द्वन्द्वः तत आभ्यन्तरबाह्ये सदा नित्यं तप एव उप-धानश्च गुणोपष्टम्भकारि तप उपधानं तत्र च सुष्ठूद्युक्तः अ-तिशयेनोद्यतः, क्षान्त क्षमावान्, दान्तश्च इन्द्रियदमेन ( हि-यनिरए त्ति ) आत्मनः परेषां च हितकारीत्यर्थः । पाठान्तरे-धृतिनिरतः । " इरिए " इत्यादीनि दश पदानि पूर्वोक्तार्थप्र-पञ्चरूपाणि प्रतीतार्थान्येव । तथा त्यागी सर्वसङ्गत्यागात्, संविग्नमनोज्ञसाधुदानाद्वा । (लज्जु त्ति) रज्जुरिव रज्जुः,सर-लत्वात् धन्यो धनलाभयोग्यत्वात् तपस्वी प्रशस्ततपोयुक्त-त्वात् । क्षान्त्या क्षमते न त्वसामर्थ्यादिति क्षान्तिक्षमः. जितेन्द्रिय इति व्यक्तम् । शोभितो गुणयोगात्, शोधितो वा शुद्धकारी,सुहृद् वा सर्वप्राणिमित्रम् । अनिदानो निदानपरि-हारी संयमात् अवहिर्लेश्याऽन्तःकरणवृत्तिर्यस्य सोऽवहिर्ले-श्यः, अममो ममकारवर्जितः, अकिञ्चनो निर्द्रव्यः,छिन्नग्रन्थिः त्रुटितस्नेहः । पाठान्तरतः-" छिन्नसोय त्ति " छिन्नशोको अथवा छिन्नश्रोता', तत्र श्रोतो द्विविधम्-द्रव्यश्रोतो, भाव-श्रोतश्च । तत्र द्रव्यश्रोतो नद्यादिप्रवाहः । भावश्रोतश्च संसारसमुद्रपातयशुभो लोकव्यवहारः, स छिन्नो येन स तथा। निरुपलेपोऽविद्यमानकर्मानुलेपः, एतच्च विशेषणं भा-विनि भूतवदुपचारमाश्रित्योच्यते। सुविमलवरकांस्यभाजन-मिव विमुक्ततोयः,श्रमणपक्षे तोयमिव तोयं सम्बन्धहेतु स्ने-हः (संखे विव त्ति) शङ्ख इव निरञ्जनः, साधुपक्षे रञ्जनं जीवस्व-रूपोपरञ्जनकारि रागाऽऽदिकं वस्तु अत एवाऽऽह-वीतराग-द्वेषमोह ,कूर्म इव इन्द्रियेषु गुप्त । यथा हि कच्छपः ग्रीवापञ्च-मैश्चतुर्भिः पादैः कदाचिद् गुप्तो भवतीत्येवं साधुरपीन्द्रियैः स्विन्द्रियाण्याश्रित्येत्यर्थः। जात्यकाञ्चनमिव जातरूप रागा-ऽऽदिकुद्रव्यापोहाल्लब्धस्वस्वरूप इत्यर्थः, पुष्करपत्रमिव पद्म-दलमिव निरुपलेपो भोगगृद्धिलेपापेक्षया,चन्द्र इव सौम्यतया, पाठान्तरेण-सौम्यभावतया सौम्यपरिणामेन अनुपतापकत-या, सूर इव दीप्ततेजाः, तपस्तेज प्रतीत्य, अचलो निश्चल. परीषहाऽऽदिभिः, यथा मन्दरो गिरिवरो, मेरुरित्यर्थः । अ-क्षोभः क्षोभवर्जितः, सागर इव स्तिमित भावकल्लोलरहितः। तथा-पृथिवीव सर्वस्पर्शविषह , शुभाशुभस्पर्शेषु समचित्त इत्यर्थ । (तवसा इय त्ति) तपसा अपि च हेतुभूतेन भस्मराशि-छन्न इव जाततेजा वह्निभावेन यथा भस्मच्छन्नो वह्निरन्त-र्ज्वलति बहिर्म्लानो भवतीत्येवं श्रमणः शरीरमाश्रित्य तप-सा म्लानो भवति अन्तस्तु शुभलेश्यया दीप्यत इति ज्वलि-तहुताशन इव तेजसा ज्वलन, साधुपक्षे-तेजो ज्ञान, भावत-मोविनाशकत्वात्. गोशीर्षचन्दनमिव शीतलो मनःसन्ता-पोपशमनात्, सुगन्धिश्च शीलसौगन्ध्यात्, ह्रदक इव नद इव

सम एव समिक' समभावो यस्य स तथा। यथाहि वाताभावे ह्रदः समो भवति अनिम्नोन्नतजलोपरिभाग इत्यर्थ । तथा-साधुः सत्कारन्यत्कारयो' अनुन्नतानिम्नभावतया समा भवतीति । उद्घृष्टस्तुनिर्मलमिवाऽऽदर्शमण्डलतल, प्रकटभावेन निर्मायितया अनिगूहितभावेन सुस्वभावः शोभनस्वरूप , शुद्धभावो वेति। शौण्डीरश्चाऽऽरभट' कुञ्जर इव परीषहसैन्यापेक्षया वृषभ इव जातस्थामा अङ्गीकृतमहाव्रतभारोद्वहने जातसामर्थ्यः सिंह इव यथा मृगाधिप , इति स्वरूपविशेषणं भवति, दु प्रधृष्टः अपरिभवनीयो मृगाणामेवं साधुः परीषहाणामिति ॥१०॥

सारयसलिलं व सुद्धहियए भारंडे चेव अप्पमत्ते खग्गिविसाणं व एगजाए खाणू विव उड्ढकाए सुण्णागारे व्व अप्पडिकम्मे सुन्नागाराऽऽवणस्संऽतो निवापसरणपदीवज्झाणमिव निप्पकंपे जहा खुरे चेव एगधारे जहा अही चेव एगदिट्ठी आगासं विव णिरालंबे विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के कयपरनिलए जहा चेव उरए अपडिबद्धो अनिलो व्व जीवो व्व अपडिहयगई गामे गामे य एगराय नगरे णगरे पंचरायं दूइज्जंते य (११) ।

शारदसलिलमिव शुद्धहृदयो, यथा शारदजलं शुद्धं भवतीत्येवमयं शुद्धहृदय इति भावना भारण्ड इव अप्रमत्त., यथा भारण्डाभिधान पक्षी अप्रमत्तश्चकितो भवतीत्येवमयमपीति खड्गि. आटव्य चतुष्पदविशेष ,स ह्येकशृङ्गो भवतीत्युच्यते, खड्गिविषाणमिवैकजातो रागाऽऽदिसहायवैकल्यादेकीभूत इत्यर्थ.। स्थाणुरिवोर्द्धकाय. कायोत्सर्गकाले,शून्यागारमिवाप्रतिकर्मा इति व्यक्तम्। ( सुन्नागाराऽऽवणस्संतो त्ति) शून्यागारस्य शून्याऽऽपणस्य चान्तर्मध्ये वर्त्तमान.। किमिवकिम्विध इत्याह-निर्वात शरणप्रदीपध्यानमिव वातवर्जितगृहदीपज्वलनमिव नि.प्रकम्पो दिव्याऽऽद्युपसर्गसंसर्गेऽपि शुभध्याननिश्चल ( जहा खुरे चेव एगधारे त्ति ) चेवशब्द. समुच्चये। यथा क्षुर एकधार एवं साधुरुत्सर्गलक्षणैकधार.। (जहा अही चेव एगदिट्ठि त्ति) यथा अहिरेकदृष्टिर्बद्धलक्ष ,एवं साधुर्मोक्षसाधनैकदृष्टि । (आगासे चेव निरालंबे त्ति ) आकाशमिव निरालम्बो, यथाऽऽकाशमनालम्बन तथा साधु न किञ्चिदालम्बते एवं साधुर्ग्रामदेशकुलाऽऽद्यालम्बनरहित इत्यर्थ। विहग इव सर्वतो विप्रमुक्त ,नि.परिग्रह इत्यर्थ । तथा परकृतो निलयो वसतिर्यस्य स परकृतनिलयो यथोरग. सर्प , तथाऽप्रतिबद्ध प्रतिबन्धरहितोऽनिल इव वायुरिव,जीव इव अप्रतिहतगति अप्रतिहतविहार इत्यर्थ । ग्रामे ग्रामे चैकरात्रिं यावत्,नगरे नगरे च पञ्चरात्रिम्। (दूइज्जते इति) विहरश्चेत्यर्थ एतच्च भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्नसाध्वपेक्षया सूत्रमवगन्तव्यम् ( ११ )।

कुत एवंविधोऽसावित्याह-

जिइंदिए जियपरिसहे जओ निब्भए विऊ सचित्ताचित्तमीसकेहिं दव्वेहिं विरागयं गए संचयत्तो विरए मुत्ते लहुके निरवकंखे जीवियमरणाऽऽसाविप्पमुक्के निस्संधं निव्वणं चरित्तं धीरे काएण फासयते सयय अज्झप्पज्झाणजुत्ते निहुके एगे चरेज्ज धम्मं । इमं च परिग्गहवेरमणपरिरक्खणट्टयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभाविकं आगमेसि भद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं (१२) ।

जितेन्द्रियो जितपरीषहो यत इति निर्भयो भयरहितः(विउ त्ति) विद्वान् गीतार्थ.। पाठान्तरेण-विशुद्धो निरतिचारः। सचित्ताचित्तमिश्रकेषु द्रव्येषु विरागता गतः संचयाद्विरतः, मुक्त इव मुक्त , लघुकः गौरवत्रयत्यागात् ,निरवकाङ्क्षः आकाङ्क्षावर्जित .जीवितमरणयोराशया वाञ्छया विप्रमुक्तो य स तथा, निःसन्धि चारित्रपरिणामव्यवच्छेदाभावेन नि सन्निधान निर्व्रणं निरतिचारं चारित्रं संयमं धीरो बुद्धिमान्, अक्षोभो वा, कायेन कायक्रियया, न मनोरथमात्रेण स्पृशन्, सततमनवरतमध्यात्मना शुभमनसा ध्यानं यत्तेन युक्तो यः स तथा निभृत उपशान्त', एको रागाऽऽदिसहायाभावात्, चरेदनुपालयेद्धर्म्मं चारित्रलक्षणमिति ॥१२॥

भावना-

तस्स इमा पंच भावणाओ चरिमस्स वयस्स हुंति(अ)परिग्गहवेरमणरक्खणट्ठयाए। पढमं सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं मणुन्नभद्दगाइं,किं ते वरमुरयमुइंगपणवदद्दुरकच्छभिवीणविपंचिवल्लयिवद्धीसकसुघोसणंदीसूसरपरिवादिणिवंसतूणकपवायतंतीतलतालतुडियनिग्घोसगीयवाइयाइं णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठिकवेलंबककहकपवकलासआइक्खककलखमंखतूणइल्लतुंबवीणियतालायरपकरणाणि य बहूणि महुरसरगीयसुस्सराइं कंचीमेहलाकलावगपतरकपतरेकपायजालकघंटियखिंखिणिरयणोरुजालयछुद्दियनेउरचलणमालियकणगनियलजालकभूसणसद्दाणि लीलाचंकम्ममाणाणुदीरियाइं तरुणीजणहसियभणियकलरिभियमंजुलाइं गुणवयणाणि य बहूणि महुरजणभासियाइं अन्नेसु य एवमाइएसु सद्देसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं न रज्जियव्वं न गिज्झियव्वं न मुच्छियव्वं न विनिघायं आवज्जियव्वं न लुभियव्वं न तुसियव्वं न हसियव्वं न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा। पुणरवि य सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं अमणुन्नपावकाइं, किं ते?, अक्कोसफरुसखिंसणअवमाणणतज्जणनिब्भत्थणदित्तवयणतासणउक्कूजियरुण्णरडियकंदियनिग्घुट्ठरसियकलुणविलवियाइं अन्नेसु य एवमाइएसु सद्देसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेणं रुसियव्व न हीलियव्वं न निंदियव्वं न खिंसियव्वं न छिंदियव्वं न भिंदियव्वं न वहेयव्वं न दुगुंछावत्तिया वि लब्भा उप्पाएउं। एवं सोइंदियभावणाभाविओ भवइ अंतरप्पा मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसे पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहिइंदिए चरेज्ज धम्मं १ (१३)।

( इमा पञ्चेत्यादि ) " रक्खणट्ठयाए " इत्येतदन्तं सुगमम्,

नवरम् अपरिग्रहरूपं विरमणं यत्तत्तथा ( पढमं ति ) पञ्चा- नां मध्ये प्रथमं भावनावस्तु शब्दनिस्पृहत्वं नाम। तच्चैवम्- श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा शब्दान् मनोज्ञाः सन्तो ये भद्रकास्ते मनोज्ञभद्रकास्तान्। ( किं ते त्ति ) तद्यथा-वरमुरजा महाम- र्द्दला, मृदङ्गा मर्दला एव, पणवा लघुपटहाः, ( दद्दुर त्ति ) दर्दुरकः चर्मावनद्धमुखः कलशः, कच्छभी वाद्यविशेषः, वी- णा विपञ्ची वल्लकी च वीणाविशेषा। वद्धीशकं वाद्यविशेष एव, सुघोषा घण्टाविशेष, नन्दी द्वादशतूर्यनिर्घोषः। तानि चामूनि-" भंभा मउद मद्दल, डुडुक तिलिला य करड कंसा- ला। काहल वीणा वंसो, संखो पणवो य बारसमो ॥ १ ॥" तथा-सुलरपरिवादिनी वीणाविशेष एव, वंशो वेणुः, तूणको वाद्यविशेषः, पवाकोऽप्येवम्, तन्त्री वीणाविशेष एव, तला हस्ता, ताला कंसिकाः, तलताला वा हस्ततालाः एतान्येव तूर्याणि वाद्यानि, एषां यो निर्घोषो नादः, तथा गीतं गेयं, वादित च वाद्यं सामान्यमिति द्वन्द्वः। ततः श्रुत्वेति योगाद् द्वितीया। तथा नटनर्त्तकजल्लमल्लमौष्टिकविडम्बककथकप्लवक- लाशकाऽऽख्यायकलङ्खमङ्खतूणइल्लतुम्बवीणकतालाचरैः पूर्वं व्याख्यातैः प्रक्रियन्ते विधीयन्ते यानि तानि नटाऽऽदिप्र- करणानि तानि च। कानि तानीत्याह-बहूनि अनेकानि, म- धुरस्वराणां कलध्वनीना गायकाना यानि गीतानि सुख- स्वराणि, तानि श्रुत्वा तेषु श्रमणेन न सक्तव्यमिति सम्ब- न्धः। तथा काञ्ची कट्याभरणविशेष, मेखलाऽपि तद्विशेष एव, कलापको ग्रीवाऽऽभरणं, प्रतरकाणि प्रतरेकश्चाऽऽभरण- विशेषः, पादजालक पादाऽऽभरणं, घण्टिका प्रतीता, किङ्- किण्यः क्षुद्रघण्टिकास्तत्प्रधानम्, ( रयण त्ति ) रत्नसम्ब- न्धि ऊर्वोर्वृद्धजङ्घयोर्जालकं यत्तत्तथा। (छुद्दिय त्ति) क्षुद्रिका- ऽऽभरणविशेषः, नूपुरं पादाऽऽभरणं, चलनमालिकाऽपि त- थैव, कनकनिगडानि जालकं चाऽऽभरणविशेष। एता- न्येव भूषणानि तेषां ये शब्दास्ते तथा। किंभूतानीत्या- ह-लीलाचङ्क्रम्यमाणानां हेलया कुटिलगमन कुर्वाणा- नामुदीरितान् संजातान्, लीलासंचलनसंजनितानीत्यर्थः । तथा तरुणीजनस्य यानि हसितानि भणितानि च कला- नि माधुर्यविशिष्टध्वनिविशेषरूपाणि रिभितानि स्वरघो- लनान्यतिमञ्जुलानि च मधुराणि तानि तथा, गुणवच- नानि च स्तुतिवादाश्च, बहूनि प्रचुराणि मधुरजनभाषि- तान्यमत्सरलोकभणितानि श्रुत्वा । किमित्याह-तेष्वित्यु- त्तरस्येह संबन्धात् तेषु अन्येषु चैवमादिकेष्वेवप्रकारेषु शब्देषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेष्विति योजितमेव, श्रमणेन न सक्तव्यमिति सम्बन्धः। काऽपि न रक्तव्यं न रागः कार्यः, न गर्द्धितव्यम् अप्राप्तेष्वाकाङ्क्षा न कार्या. न मोहितव्यं त- द्विपाकपर्यालोचनाया न मूढेन भाव्यम्, न विनिघातं तदर्थ- मात्मनः परेषां वा विनिहननम् आपतव्यं प्राप्तव्यं, न लो- ब्धव्यं सामान्येन लोभो न विधेयः, न तोष्टव्यं प्राप्तौ न तोषो विधेयः. न हसितव्यं प्राप्तौ विस्मयेन हासो न विधे- यः, न स्मृतिं वा स्मरणं मतिं वा तद्विषयं ज्ञानं ( तत्थ त्ति ) तेषु शब्देषु कुर्यात्।"पुनरपि चेति शब्दगतं प्रकारा- न्तरं पुनरन्यदपि चोच्यत इत्यर्थः। श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा श- ब्दान् अमनोज्ञा सन्तो ये पापकास्ते अमनोज्ञपापका तान्। ( किं ते त्ति ) तद्यथा-आक्रोशो म्रियस्वेत्यादि वचनं, परुष

रे मुण्ड! इत्यादि, खिंसनं निन्दावचनम् अशीलोऽसावित्या- दिकम्, अपमाननमपूजावचनं-यूयमित्यादि वाच्ये त्वमि- त्यादि, तथा तर्जनं ज्ञास्यसि रे! इत्यादि वचनं निर्भर्त्स- नम् अपसर मे दृष्टिमार्गादित्याऽऽदिकं, दीप्तवचनं कुपित- वचनं, त्रासनं फेत्काराऽऽदिकं भयकारि, उत्कूजितम् अव्य- क्तमहाध्वनिकरणं, रुदितम् अश्रुविमोचनयुक्तं शब्दित, रटि- तमारटीरूपं, क्रन्दितमाक्रन्दि- इष्टवियोगाऽऽदाविव, निर्घुष्टं निर्घोषरूप, रसितं शूकराऽऽदिशब्दितमिव, करुणं, करुणोत्पा- दकं, विलपितमार्तस्वररूपमिति। एषां द्वन्द्वः। ततस्तानि श्रुत्वा, तेष्विति सम्बन्धात् तथाऽऽक्रोशाऽऽदिशब्देषु अन्येषु चैवमा- दिषु शब्देष्वमनोज्ञपापकेषु न तेष्विति योजितमेव, श्रमणेन रोषितव्य. न हीलितव्यं नावज्ञा कार्या, न निन्दितव्यं निन्दा न कार्या, न खिंसितव्य लोकसमक्षं निन्दा न कार्या न छेत्तव्यम् अमनोज्ञहेतुतो द्रव्यस्य छेदो न कार्यः, न भेत्तव्यं तस्यैव भे- दो न विधेयः। ( न वहेयव्वं ति ) न वधो विधेयः, न जुगु- प्सा वृत्तिका वा जुगुप्सावर्त्तन, लभ्या उचितोत्पादयितु ज- नयितुं स्वस्य परस्य वा। प्रथमभावननिगमनार्थमाह-एव मुक्तनीत्या श्रोत्रेन्द्रियविषया भावना श्रोत्रेन्द्रियं निरोद्धव्यम- न्यथाऽनर्थ इत्येवंरूपा परिभावना आलोचना, तया भावितो वासितो, भवति जायतेऽन्तरात्मा, ततश्च मनोज्ञाऽमनोज्ञ- त्वाभ्यां ये ( सुब्भिदुब्भि त्ति ) शुभाऽशुभाः, शब्दा इति ग- म्यते, तेषु क्रमेण यो रागद्वेषो तयोर्विषये प्रणिहितः संवृत आत्मा यस्य स तथा, साधुर्निर्वाणसाधनपरः, मनोवचनका- यगुप्त, संवृतः संवरवान्, पिहितेन्द्रियो निरुद्धहृषीकः, प्रणि हितेन्द्रियो वा तथाभूतः सन्, चरेदनुचरेदनुपालयेद्धर्मं चा- रित्रम। प्रश्न० ५ सं० द्वार।

अहावरं पंचमं भंते! महव्वयं सव्वं परिग्गहं पच्चक्खा - मि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतम- चित्तं वा णेव सयं परिग्गहं गिण्हेज्जा, णेवऽण्णेहिं परिग्गहं गिण्हावेज्जा, अण्णं पि परिग्गहं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा० जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थि- मा पढमा भावणा-सोयओ णं जीवे मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं सुणेइ, मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुच्छेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो वि- णिग्घायमावज्जेज्जा, केवली बूया-णिग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णे- हिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे० जाव विणिग्घायमावज्जमा- णे संति भेया संति विभंगा संति केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, "ण सक्का णं सोउं सद्दा, सोयविसयमागया। रा- गद्दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू पडि वज्जए॥१॥" सोयओ जीवे मणुण्णामणुण्णाई सद्दाइं सुणेति पढमा भावणा॥ १॥ आचा० २ श्रु० ३ चू०।

विइयं चक्खुइंदिएण पासिय रूवाणि मणुण्णभद्दकाइं सचित्ताचित्तमीसकाइं, कट्ठे पोत्थे य चित्तकम्मे लेप्पकम्मे सेले य दंतकम्मे पंचहिं वण्णेहिं अणेगसंठाणसंठियाइं गं- थिमवेढिमपूरिमसंघाइमाणि मल्लाइं बहुविहाणि य अहियं

नयणमणसुहकराइं वणसंडे पव्वए य गामाऽऽगरनगराणि य खुड्डियपुक्खरणिवावीदीहियगुंजालियसरसरपंतिसागरत्रिलपंतियखातियनदीसरतलागवप्पीणि फुल्लुप्पलपउमपरिमंडियाभिरामे अणेगसउणिगणमिहुणविचरिते वरमंडवविविहभवणतोरणचेइयदेवकुलसभापवाऽऽवसहसुकयसयणाऽऽसणसीयरहसगडजाणजुग्गसदणनरनारीगणे य सोम्मपडिरूवदरिसणिज्जे अलंकियविभूसिए पुव्वकयतवप्पभावसोहग्गसंपउत्ते नडनडगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबककहकपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियतालायरपकरणाणि य बहूणि सुकरणाणि अन्नेसु य एवमाइएसु रूवेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं, न रज्जियव्वं, न गिज्झियव्वं, न मुज्झियव्वं, न विनिग्घायमावज्जियव्वं, न लुभियव्वं, न रुसियव्वं, न हसियव्वं, न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा ।' पुणरवि चक्खिंदिएण पासिय रूवाणि अमणुन्नपावकाइं; किं ते ?, गंडिकोढिकुणिउदरिकच्छुल्लपइल्लकुज्जपंगुलवामणअंधिल्लगएगचक्खुविणिहयसपिसल्लगवाहिरोगपीलियं विगताणि य मतककलेवराणि सकिमिणकुहियं च दव्वरासिं अन्नेसु य एवमाइसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेण रुसियव्वं० जाव न दुगुंछावत्तिया वि लब्भा उप्पाएउं, एवं च चक्खिंदियभावणाभावितो भवइ अंतरप्पा मणुन्नामणुन्नेसु सुब्भिदुब्भिरागदोसपणिहिअप्पा साहुमणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहिंदिए चरेज्ज धम्मं (१४) ।

( बिइयं ति ) द्वितीयं भावनावस्तु चक्षुरिन्द्रियसंवरो नाम । तच्चैवम्-चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि नरयुग्माऽऽदीनि मनोज्ञभद्रकाणि सचित्ताचित्तमिश्रकाणि । केष्वाह-काष्ठे फलकाऽऽदौ, पुस्ते च वस्त्रे, चित्रकर्मणि प्रतीते, लेप्ये मृत्तिकाऽऽदिविशेषे, शैले च पाषाणे दन्तकर्मणि-च गजविषाणविषयाया रूपनिर्माणक्रियायां, पञ्चभिर्वर्णैर्युक्तानीति गम्यते । तथा अनेकसंस्थानसंस्थितानि ग्रन्थिमं ग्रन्थनेन निष्पन्नं मालावत्, वेष्टिमं वेष्टनेन निर्वृत्तं पुष्पगेन्दुकवत्, पूरिमं पूरणेन निवृत्तं पुष्पपूरितवंशपञ्जरकरूपशेखरकवत्, संघातिमं सङ्घातेन निष्पन्नम् इतरेतरनिवेशितजालपुष्पमालावत्, एषां द्वन्द्वः । कानि चैतानीत्याह-माल्यानि मालासु साधूनि, पुष्पाणीत्यर्थः । बहुविधानि चाऽधिकमत्यर्थं नयनमनसां सुखकराणि यानि तानि तथा । तथा वनखण्डान् पर्वतांश्च ग्रामाऽऽकरनगराणि च प्रतीतानि । क्षुद्रिका जलाऽऽशयविशेषः, पुष्करिणी पुष्करवती वर्तुला वा, वापी चतुष्कोणा, दीर्घिका ऋजुसारणी, गुञ्जालिका वक्रसारणी सरःपङ्क्तिका यत्रैकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन् अन्यस्मादन्यत्र सञ्चारकपाटकेनोदकं सञ्चरति सा सरःसरःपङ्क्तिका, सागरः समुद्रः, बिलपङ्क्तिका धातुखनिपद्धतिः । ( खाइय त्ति ) खातवलयं, नदी निम्नगा, सरः स्वभावजो जलाऽऽश्रयविशेषः, तडागः कृतकः, ( वप्पिण त्ति ) केदाराः, एतेषां द्वन्द्वः । ततस्तान् दृष्ट्वेति प्रकृतम् । किम्भूतान् ? फुल्लैर्विकसितैरुत्पलैर्नीलोत्पलाऽऽदिभिः, पद्मैः सामान्यैः पुण्डरीकाऽऽदिभिः, परिमण्डिता ये अभिरामाश्च रम्यास्ते तथा तान्, अनेकशकुनिगणानां मिथुनानि विचरितानि सञ्चरितानि येषु ते तथा तान्, तथा वरमण्डपाः प्रतीताः, विविधानि भवनानि गृहाणि, तोरणानि प्रतीतानि, चैत्यानि प्रतिमाः, देवकुलानि प्रतीतानि, सभा बहुजनोपवेशनस्थानं, प्रपा जलदानस्थानम्, आवसथः परिव्राजकवसतिः, सुकृतानि शयनानि शय्याः, आसनानि च सिंहाऽऽसनाऽऽदीनि, शिबिका जम्पानविशेषः पार्श्वतो वेदिका उपरि च कूटाऽऽकृतिः, रथः प्रतीतः, शकटं गन्त्री, यानं गन्त्रीविशेष एव, युग्यं वाहनं, गोल्लदेशप्रसिद्धं वा जम्पानं, स्यन्दनो रथविशेषः, नरनारीगणश्चेति द्वन्द्वस्तांश्च, किम्भूतान् ?, सौम्या अरौद्राः प्रतिरूपा द्रष्टारं प्रति रूपं येषां ते, दर्शनीयाश्च मनोज्ञा ये ते तथा तान्, अलङ्कृतविभूषितान् क्रमेण मुकुटाऽऽदिभिर्वस्त्राऽऽदिभ्यश्च, पूर्वकृतस्य तपसः प्रभावेन यत् सौभाग्यं जनाऽऽदेयत्वं तेन सम्प्रयुक्ता ये ते तथा तान्, तथा नटनर्त्तकजल्लमल्लमौष्टिकविडम्बककथकप्लवकलासकाऽऽख्यायकलङ्खमङ्खतूणइल्लतुम्बवीणिकतालाचरैः पूर्वव्याख्यातैः प्रक्रियन्ते यानि तानि तथा । तानि च कानीत्याह-बहूनि सुकरणानि शोभनकर्माणि, दृष्ट्वेति प्रकृतम्, तेष्विति सम्बन्धात्तेषु अन्येषु चैवमादिकेषु रूपेषु मनोज्ञभद्रकेषु न श्रमणेन सक्तव्यं, न रक्तव्यं, यावत्करणात् गर्द्धितव्यमित्यादीनि षट्पदानि दृश्यानि, न स्मृतिं वा मतिं वा तत्र तेषु रूपेषु कुर्यात् । पुनरपि चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि अमनोज्ञपापकानि ( किंते त्ति ) तद्यथा-( गंडीत्यादि ) वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजं चतुर्द्धा गण्डं, तदस्यास्तीति गण्डी गण्डमालावान्; कुष्ठमष्टादशभेदमस्यास्तीति कुष्ठी । तत्र सप्त महाकुष्ठानि । तद्यथा-अरुणा-१ दुम्बर २ रिश्यजिह्व ३ कापाल ४ काकन ५ पौण्डरीक ६ दद्रु ७ कुष्ठानीति । महत्त्वं चैषां सर्वधात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वाच्चेति । एकादश क्षुद्राणि । तद्यथा-स्थूलारुष्कमहाकुष्ठैककुष्ठा ३ चर्मदलविसर्पपरिसर्प ६ विचर्चिका ७ सिध्म ८ किटिभ ९ पामा १० शतारुक ११ संज्ञानीति । सर्वाण्यप्यष्टादश सामान्यतः; कुष्ठं सर्वसन्निपातजमपि वाताऽऽदिदोषोत्कटतया भेदभाग्भवतीति । ( कुणि त्ति ) गर्भाऽऽधानदोषात् हस्वैकपादो न्यूनैकपाणिर्वा कुणिः कुण्ट इत्यर्थः । ( उदरि त्ति ) जलोदरी तत्राष्टावुदराणि तेषां मध्ये जलोदरमसाध्यमिति तदिह निर्दिष्टम् । शेषाणि त्वचिरोत्थानि साध्यानि, तानि चाऽष्टाविव पृथक् पृथक् समस्तैरपि चाऽनिलाऽऽद्यैः ४ प्लीहोदरं ५ बद्धगुदं तथैव आगन्तुकं सप्तममष्टमं जलोदरं चेति भवन्ति यानि ( कच्छुल्ल त्ति ) कण्डूतिमान् ( पइल्ल त्ति ) पदं श्लीपदं, पादादौ काठिन्यम्, यदुक्तम्-प्रकुपिता वातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना वंक्षणोरुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शनैः शोफमुपजनयन्ति यत् तत् श्लीपदमाचक्षते ।

' पुराणोदकभूयिष्ठाः, सर्वर्त्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ १ ॥
पादयोर्हस्तयोश्चाऽपि, जायते श्लीपदं नृणाम् ।
कर्णोष्ठनासास्वपि च, कश्चिदिच्छन्ति तद्विदः ॥२॥ "

कुब्जः पृष्ठाऽऽदौ कुब्जयोगात्, पङ्गुलः पङ्गुः, चङ्क्रमणासमर्थः, वामनः खर्वशरीरः । एते च मातापितृशोणितशुक्रदोषेण गर्भस्य दोषोद्भवात् कुब्जवामनकाऽऽदयो भवन्ति । उक्तं च-

"गर्भे वातप्रकोपेण दोहदे वाऽपमानिते। भवेत्कुब्जः कुणिः पङ्गु-मूको मन्मन एव वा ॥१॥" (अंधेल्लग त्ति) अन्ध एवाऽन्धिल्लको जात्यन्ध , (एगचक्खु त्ति) काणः। एतच्च दोषद्वयं गर्भगतस्योत्पद्यते,जातस्य च तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धत्वं करोति, तदेवाऽक्षिगतं काणत्वं विधत्ते, तदेव रक्ताऽनुगतं रक्ताक्षि, पित्ताऽनुगतं पिङ्गाक्षं श्लेष्माऽनुगतं शुक्लाक्षमिति ।'( विणिहय त्ति ) विनिहतचक्षुरित्यर्थ । तत्र पथा तस्य चक्षुर्विनिहननेनान्धकत्वं काणत्वं वा तदनेन दर्शितमिति । ( सपिसल्लग त्ति ) सह पिसल्लकेन पिशाचकेन वर्त्तते यत्स तथा,ग्रहग्रहीत इत्यर्थ । अथवा-सर्पतीति सर्पि, स च गर्भदोषात्कर्मदोषाद्वा भवति स किल पाणिगृहीतकाष्ठः सर्पतीति। शल्यकः शल्यवान्, शूलाऽऽदिशल्यभिन्न इत्यर्थः। व्याधिना विशिष्टचित्तपीडया, चिरस्थायिगदेन वा, रोगेण रुजया, सद्योघातिगदेन वा पीडितो य. स तथा। सतो गण्ड्यादिपदानामेकत्वद्वन्द्वः। तद् दृष्ट्वेति प्रकृतम्। विकृतानि च मृतककडेवराणि ( सकिमिणकुहियं व त्ति ) सह कृमिभिर्यः कुथितश्च स तथा. तं वा द्रव्यराशिं पुरीषाऽऽदिद्रव्यसमूह,दृष्ट्वेति प्रकृतम, तेष्विति सम्बन्धात् तेषु गण्ड्यादिषु रूपेषु अमनोज्ञपापकेषु न श्रमणेन रोषितव्यं, यावत्करणान्न हीलितव्यमित्यादीनि पद्पदानि दृश्यानि. न जुगुप्सा वृत्तिका अपि लभ्या उचिता योग्येत्यर्थः, उत्पादयितुं निगमयन्नाह-एवं चक्षुरिन्द्रियभावनाभावितो भवति अन्तरात्मेत्यादिव्यक्तमेव । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

अहावरा दोच्चा भावणा चक्खूओ जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासइ, मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे० जाव विणिघायमावज्जमाणे सति भेया० जाव भंसेज्जा- " ण सक्का रूवमदट्ठुं, चक्खूविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥" चक्खूओ जीवा मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति, दोच्चा भावणा। आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

तइयं घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाइं मणुण्णभद्दगाइ, किं ते ?-जलयथलयसरसपुप्फफलपाणभोयणकोट्ठतगरपत्तचोयदमणकमरुयएलारसपक्कमंसिगोसीससरसचंदणकप्पूरलवंगअगरकुंकुमकक्कोलउसीरसेयचंदणसुगंधसारंगजुत्तिवरधूववासेसु उउयपिंडिमणीहारिमगंधेसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु मणुण्णभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं० जाव न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा,पुणरवि घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाणि अमणुण्णपावकाइ, किं ते ?, अहिमडअस्समडहत्थिमडगोमडविगसुणगसियालमणुधमज्जारसीहदीविमयकुहियविणट्ठकिमिणबहुदुरभिगंधेसु अण्णेसु य एवमाइएसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं न हीलियव्वं० जाव पणिहियपचिंदिए चरेज्ज धम्मं ।

( तइयं ति ) तृतीयं भावनावस्तु सुगन्धसंवृतत्वम् । तच्चैवम्-घ्राणेन्द्रियेणाऽऽघ्राय गन्धान् मनोज्ञभद्रकान् ( किं ते त्ति ) तद्यथा-जलजस्थलजसरसपुष्पाणि फलपानभोजनानि प्रतीतानि, कुष्ठमुत्पलकुष्ठं (तगर त्ति) गन्धद्रव्यविशेषः, पत्रं तमालपत्राऽऽदि, (चोय त्ति) गन्धद्रव्यविशेषः, दमनकः पुष्पजातिविशेषः, मरुकः प्रतीत', एलारसः सुगन्धिफलविशेषरसः । ( पक्कमंसि त्ति ) पक्वा संस्कृता मासीति गन्धद्रव्यविशेषः, गोशीर्षाऽभिधानं सरसं यच्चन्दनं तत्तथा. कर्पूरो घनसारः, लवङ्गानि फलविशेषा. अगुरुर्दारुविशेषः, कुङ्कुमं काश्मीरजं कक्कोलानि फलविशेषा , उशीर वारणीमूलं.श्वेतचन्दनं श्रीखण्डं, श्वेदो वा स्यन्दश्चन्दनं मलयज. सुगन्धाना सद्गन्धानां साराङ्गानां प्रधानदलानां युक्तिर्योजनं येषु वरधूपवासेषु तत्तथा, ते च ते वरधूपवासाश्चेति समासः । ततस्तानाघ्राय तेष्विति योगात्तेषु। ( उउयपिंडिमनीहारिमगंधिएसु त्ति ) ऋतुजः कालोचित इति भाव.। पिण्डिमो वहलः, निर्हारिमो दूरनिर्यायी, यो गन्धः स विद्यते येषु ते तथा, तेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु मनोज्ञभद्रकेषु न श्रमणेन सक्तव्यमित्यादि ।' किं ते " इत्येतदन्तं पूर्ववत् । तथा-अहिमृताऽऽदीन्येकादश प्रतीतानि,नवरं वृक ईहामृगः, द्वीपी चित्रक एषां चाऽऽहिमृतकाऽऽदीनां द्वन्द्वः। द्वितीयाबहुवचन दृश्यं, तत आघ्रायेति क्रिया योजनीया। नतस्तेष्विति योगात्तेषु किम्विधेष्वित्याह-मृतानि जीवविमुक्तानि कुथितानि कोथमुपगतानि विनष्टानि पूर्वाऽऽकारविनाशेन ( किमिण त्ति ) कृमिवन्ति बहुदुरभिगन्धानि चात्यन्तामनोज्ञगन्धानि यानि तानि तथा तेषु, अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु अमनोज्ञपापकेषु न श्रमणेन रोषितव्यमित्यादि पूर्ववत् । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा-घाणओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घाइ, मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा०जाव णो विणिघायमावज्जेज्जा। केवली बूया-मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे० जाव विणिघायमावज्जमाणे संति भेदा संति विभंगा० जाव भंसेज्जा " णो सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं । रागदोसाउ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥" घाणओ जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायइ त्ति तच्चा भावणा । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

( चतुर्थजिह्वेन्द्रियसंवरविषयकं प्रश्नव्याकरणमूलं 'जिब्भिदियसंवर ' शब्दे चतुर्थभागे १५१० पृष्ठे गतम् ) तन्मूलव्याख्या त्विहोच्यते ( चउत्थं ति ) चतुर्थं भावनावस्तु जिह्वेन्द्रियसम्वरः। तच्चैवम्-जिह्वेन्द्रियेणाऽऽस्वाद्य रसांश्च मनोज्ञभद्रकान् (किं भूते त्ति) तद्यथा-अवगाहः स्नेहवोलनं, तेन पाकतो निर्वृत्तमवगाहिमं पक्वान्नं खण्डखाद्याऽऽदि, विविधं पानं द्राक्षापानकाऽऽदि,भोजनं ओदनाऽऽदि, गुडकृतं गुडसंस्कृतं, खण्डकृतं खण्डसंस्कृतं, लड्डुकाऽऽदि, तैलघृतकृतपूपाऽऽदि आस्वाद्येति प्रकृतम्, तेष्विति सम्बन्धात् तेषु भक्ष्येषु शष्कुलिकाप्रभृतिषु,बहुविधेषु विचित्रेषु लवणरससंयुक्तेषु तथा मधुमासे प्रतीते. बहुप्रकारा मज्जिका, निष्टानकं प्रकृष्टमूल्यनिष्पादितम् । यदाह-" णिट्ठाणं जा सयसहस्सं ।" दालिकाम्लमिद्दुग्धिकाऽऽदि,सैन्धाम्लं सैन्धानेनाऽऽम्लीकृतमाम्लकाऽऽदि, दुग्धं दधि च प्रतीते, सरको गुड-

घातकीसिद्धं मद्यं, वरवारुणी मदिरा, सीधुकापिशायने मद्यविशेषौ, तथा शाकमष्टादशं यत्राऽऽहारे स शाकाष्टाऽऽदशः, ततः एषां द्वन्द्व ,ततस्ते च ते बहुप्रकाराश्चेति कर्मधारयः, ततस्तेषु । शाकाष्टादशता चैवमाहारस्य-

" सूर्पा १-दणो २ य जावण ३,
तिन्नि य मंसाइं ६ गोरसो ७ जूसो ८ ।
भक्खो ६ गुललावणिया १०,
मूलफला ११ हरितय १२ डागो १३ ॥ १ ॥
होइ रसालू य १४ तहा,
पाणं १५ पाणीय २ पाणग ३ चेव ।
अट्ठारसमो सागो,
निरुवहओ लोइओ पिंडो ॥ २ ॥ " इति ।

अनयोर्गाथयोर्व्याख्या-

( तिन्नि य मंसाइं त्ति) जलचराऽऽदिसत्कानि (जूसो त्ति) मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डाऽऽदिरसः ( भक्ख त्ति ) खण्डखाद्यानि (गुललावणिय त्ति) गुलपर्पटिका लोकप्रसिद्धा,गुडधाना वा । मूलफलान्येकमेव पदम्।(हरितगं ति)जीरकाऽऽदिहरित, (डागो त्ति)वस्तुलाऽऽदिभर्जिका ॥१॥ (रसालु त्ति) मज्जिका (पाणं ति) मद्यं (पाणीयं ति) जलम् (पाणगं ति)द्राक्षापानकाऽऽदि ( सागो त्ति ) तक्रसिद्धशाक इति ॥ २ ॥ तथा भोजनेषु च विविधेषु शालनकेषु मनोज्ञवर्णगन्धरसस्पर्शानि च तानि बहुद्रव्यैः संभृतानि चोपस्कृतानि तानि तथा तेषु, अन्येषु चैवमादिकेषु रसेषु मनोज्ञभद्रकेषु श्रमणेन न रक्तव्यमित्यादि पूर्ववत् । तथा पुनरपि जिह्वेन्द्रियेणाऽऽस्वाद्य रसान् अमनोज्ञपापकान् ( किं ते त्ति ) तद्यथा अरसानि अविद्यमानाऽऽद्यार्थरसानि हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतानीत्यर्थः । विरसानि पुराणत्वेन विगतरसानि शीतानि अनौचित्येन शीतलानि, रूक्षाणि निस्नेहानि, ( निज्जंप त्ति ) निर्याप्यानि च निर्यानकारकाणि निर्बलानीत्यर्थः । यानि पानभोजनानि तानि तथा ( दोसीणं ति ) दोषान्न रात्रिपर्युषितं व्यापन्नं विनष्टवर्णं कुथितं कोथवत् पूतिकमपवित्रं कुथितपूतिकं वाऽत्यन्तकुथितम्, अत एवामोज्ञमसुन्दरं विनष्टमत्यन्तविकृताऽवस्थाप्राप्तं,ततः प्रसूतः बहुदुरभिगन्धो येन तत्तथा तत एतेषां द्वन्द्वोऽस्तीति । तथा तिक्तं च निम्बवत्, कटुकं च शुण्ठ्यादिवत्,कषायं च विभीतकवत्,आम्लरसं च तक्रवत् लिङ्गं च सशैवलपुराणजलवत् नीरसं च विगतरसमिति द्वन्द्व । अतस्तानि आस्वाद्य, तेष्विति योगात्तेष्वन्येषु चैव मादिकेषु रसेष्वमनोज्ञपापकेषु न श्रमणेन रोषितव्यमित्यादि पूर्ववत् प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

अहावरा चउत्था भावणा-जिब्भाओ जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सादेति,मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा० जाव णो विणिघायमावज्जेज्जा, केवली बूया-णिग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे० जाव विणिघायमावज्जमाणे संति भेदा० जाव भंसेज्जा-" णो सक्का रसमस्सातुं, जीहाविसयमागतं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥" जीहाओ जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्साएइ त्ति चउत्था भावणा । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

पंचमगं फासिंदिएणं फासिय फासाइं मणुण्णभद्दकाइं, किं ते ?-दगमंडवहारसेयचंदणसीयलविमलजलविविहकुसुमसत्थरउसीरमुत्तियमुणालदोसिणा पेहुणउक्खेवगतालियंटवीयणगजणियसुहसीयले य पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य बहूणि सयणाणि य पाउरणगुणे य सिसिरकाले अंगारपतावणा य आयवनिद्धमउयसीयउसिणलहुया य जे उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुति करा ते अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु मणुण्णभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं न रज्जियव्वं न गिज्झियव्वं न मुच्छियव्वं न विनिग्घायमावज्जियव्वं न लुभियव्वं न तुसियव्वं न हसियव्वं न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि फासिंदिएण फासिय फासाइं अमणुण्णपावकाइं,किं ते ?-अणेगवंधवहतालणाकणअइभारारोहणअंगभंजणसूईनखप्पवेसगायपच्छणणलक्खारसखारतेल्लकलकलतउयसीसककाललोहसिंचणहडीबंधणरज्जूणिगलसंकलहत्थंदुयकुंभिपागदहणसीहपुंछणउव्वंधणसूलभेयगयचलणमलणकरचरणकन्नासोट्ठसीसच्छेयणजिब्भच्छेयणविसणनयणहिययंतदंतभजणजोत्तलयकसप्पहारपादपण्हिजाणुपत्थरनिवायपीलणकविकच्छुअगणिविच्छुयडक्कवायाऽऽतवदंसमसकखिवाए दुट्ठणिसज्जदुन्निसीहिया कक्खडगुरुसीयउसिणलुक्खेसु बहुविहेसु अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रुसियव्वं ण हीलियव्वं न णिंदियव्वं न खिंसियव्वं ण छिंदियव्वं ण भिंदियव्वं न वहेयव्वं न दुगुंछावत्तियव्वं लब्भा उप्पाएउं, एवं फासिंदियभावणाभाविओ भवइ अंतरप्पा मणुण्णामणुण्णसुब्भिदुब्भिरागदोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहिइंदिए चरेज्ज धम्मं ॥ ५ ॥

( पचमगं ति ) पञ्चमकं भावनावस्तु स्पर्शनेन्द्रियसंवरः । तच्चैवम्-स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृष्ट्वा स्पर्शान् मनोज्ञभद्रकान् ( किं ते त्ति ) तद्यथा-( दगमंडव त्ति ) उदकमण्डपा उदकक्षरणयुक्ता हारा प्रतीताः, श्वेतचन्दन श्रीखण्डं शीतलं विमल च जलं पानीयं विविधाः कुसुमानां स्रस्तराः शयनानि उशीरं वीरणीमूलं, मौक्तिकानि मुक्ताफलानि, मृणालं पद्मनाल, (दोसिण त्ति) ज्योत्स्ना चेति द्वन्द्वोऽतस्तान् । तथा पेहुणानि मयूराङ्गानि य उत्क्षेपक सन् तालवृन्तं वीजनकं चैतानि वायूदीरकाणि वस्तूनि, तैर्जनिता सुखा, सुखहेतव शीतलाश्च शीता ये ते तथा ताश्च पवनान् वायून्, क्व ? ग्रीष्मकाले, तथा सुखस्पर्शानि च बहूनि शयनानि आसनानि च प्रावरणगुणाश्च शीताऽपहारकत्वात् , शिशिरकाले शीतकाले चाङ्गारेषु प्रतापना शरीरस्याङ्गारप्रतापनाश्च, आतप सूर्यताप , स्निग्धमृदुकशीतोष्णलघुकाश्च ये ऋतुसुखा हेमन्ताऽऽदिकालविशेषेषु सुखकराः स्पर्शाः, अङ्गसुखं च निर्वृतिं च मनःस्वास्थ्यं कुर्वन्ति ये ते तथा । ( ते त्ति ) तान्

स्पृष्ट्वा इति प्रकृतं, तेष्विति सम्बन्धात् तेषु अन्येषु चैवमादिकेषु स्पर्शेषु मनोज्ञभद्रकेषु न श्रमणेन सक्तव्यमित्यादि पूर्ववत्। तथा पुनरपि स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृष्ट्वा स्पर्शान् अमनोज्ञपापकान् ( किं ते त्ति ) तद्यथा-अनेको बहुविधो बन्धो रज्ज्वादिभिः संयमनं, वधो विनाशः, ताडनं चपेटाऽऽदिना, अङ्कनं तप्ताऽयःशलाकयाऽङ्ककरणम्, अतिभाराऽऽरोहणम्, अङ्गभञ्जनं शरीरावयवप्रमोटनं शूचीनां नखेषु प्रवेशो यः स तथा, गात्रस्य शरीरस्य प्रक्षणनं चीरण गात्रप्रक्षणन. तथा लाक्षारसेन क्षारतैलेन तथा ( कलकल त्ति ) कलकलशब्दं करोति यत्तत्कलकलम्, अतितप्तमित्यर्थः। तेन त्रपुणा सीसकेन काललोहेन च यत्सेचनमभिषेचनं तत्तथा, हडीबन्धनं खोटकक्षेपः, रज्ज्वा निगडैः सङ्कलेन हस्तान्दुकेन च यानि बन्धनानि तानि तच्छब्देनोक्तानि, तथा कुम्भ्यां भाजनविशेषे पाकः पचन, दहनमग्निना सिंहपुच्छनं मेपस्फोटनम्, उद्बन्धनमुल्लम्बन शूलभेदः, शूलिकाप्रपतन, गजचरणमलनं. करचरणकर्णनासौष्ठशीर्षच्छेदन प्रतीतम्, जिह्वाछेदनं जिह्वाकर्षणं. वृषणनयनहृदयान्त्रदन्तानां यदुद्भञ्जनमामर्दन तत्तथा, योक्त्रं यूपे वृषभसंयमन, लताकं च कशा वध्रैः, एषां ये प्रहारास्ते तथा। पदपार्ष्णि जानु अष्ठीवत् प्रस्तराः पाषाणा एषां यो निपात. पतनं स तथा पीडनं यन्त्रपीडनं, कपिकच्छूस्तीव्रकण्डूतिकारकः फलविशेषः, अग्निर्वह्निः ( विच्छुयडक्क त्ति ) वृश्चिकदंशः. वाताऽऽतपदंशमशकानिपातश्चेति द्वन्द्वः। ततस्तान् स्पृष्ट्वा, दुष्टनिषद्या दुरासनानि दुर्निषधिका कष्टस्वाध्यायभूमीः स्पृष्ट्वा, तेष्विति सम्बन्धात् तेषु कर्कशगुरुशीतोष्णरूक्षेषु बहुविधेषु अन्येषु चैवमादिकेषु स्पर्शेष्वमनोज्ञकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यमित्यादि पञ्चमभावनानिगमनं पूर्ववत्। इह पञ्चमसंवरे शब्दाऽऽदिषु रागद्वेषनिरोधन यद्भावनात्वेनोक्तं तत्तेषु तदनिरोधो परिग्रहः स्यादिति मन्तव्यम् तद्विरत एव चाऽपरिग्रहो भवतीति। आह च-" जे सद्दरूवरसगंधमागए फासए य संपप्प मणुण्णपावए नेहीए ओसन्नं करेज्ज पंडिए. से होति दंते विरए अकिंचणे त्ति। " प्रश्न० ५ सव० द्वार।

अहावरा पंचमा भावणा-फासओ जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा, णो मुच्छेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो विणिघायमावज्जेज्जा। केवली बूया-णिग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे० जाव विणिघायमावज्जमाणे संति भेदा संति विभंगा संति केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा-" णो सक्का फासमवेएउं, फासाविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥१॥" फासओ जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति पंचमा भावणा एतावया पचमे महव्वते सम्मं अवट्ठिते आणाए आराधिते यावि भवति, पंचमं भंते! महव्वयं। इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहि य भावणाहिं संपन्ने अणगारे अहासुयं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आणाए आराहित्ता यावि भवति। आचा० २ श्रु० ३ चू०।

निगमनम्-

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होति सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणं तं च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ। एवं पंचमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तिरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवति। एवं नायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धिवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं। पंचमं संवरदारं सम्मत्तं त्ति बेमि॥१०॥

(एवमिणमित्यादि) पञ्चमं संवराध्ययननिगमनं पूर्ववदिति। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

परिग्गहसण्णा-परिग्रहसंज्ञा-स्त्री०। लोभोदयात्प्रधानभवकारणाभिष्वङ्गपूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादानक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति परिग्रहसंज्ञा। भ०७ श०८ उ०। स्था०। प्रज्ञा०। तीव्रलोभोदयात्परिग्रहाभिलाषे,ध०३ अधि०। लोभविपाकोदयसमुत्थमूर्च्छापरिणामे,जी० १ प्रति०। आव०। आ० चू०। चारित्रमोहोदयजनितपरिग्रहाभिलाषे,स्था० ४ ठा० ४ उ०।

चउहिं ठाणेहिं परिग्गहसन्ना समुप्पज्जइ। तं जहा-अविमुत्तयाए लोभवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं।

अविमुक्ततया सपरिग्रहतया मत्या सचेतनाऽऽदिपरिग्रहदर्शनाऽऽदिजनितबुद्ध्या, तदर्थोपयोगेन परिग्रहानुचिन्तनेनेति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आव०।

परिग्गहावत-परिग्रहवत्-त्रि०। परिग्रहयुक्ते, आचा०।

अविरतवादी परिग्रहवानिति यदुक्तं तत्प्रतिपादयन्नाह-

आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एतेसु परिग्गहावती, एतदेव एगेसिं महब्भय भवति, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अविजाणओ॥ १४६॥

( आवंतीत्यादि ) यावन्त. केचन लोके परिग्रहवन्त' परिग्रहयुक्ता. स्युस्तत्र, एवंभूतपरिग्रहसद्भावादित्याह-( से अप्पं वा इत्यादि ) तद् द्रव्यं यत्परिगृह्यते तदल्प वा स्तोकं वा स्यात्कपर्दकाऽऽदि, बहु वा स्यात् धनधान्यहिरण्यग्रामजनपदाऽऽदि, अणु वा स्यात् मूल्यतस्तृणकाष्ठाऽऽदि, प्रमाणतो वज्राऽऽदि, स्थूल वा स्यात् मूल्यतः प्रमाणतश्च हस्त्यश्वाऽऽदि। एतच्च चित्तवद्वा स्यादचित्तवद्वेति। एतेन च परिग्रहेण परिग्रहवन्त. सन्त एतेष्वेव परिग्रहवत्सु गृहस्थेष्वन्तर्वर्त्तिनो व्रतिनोऽपि स्युः, यदि वैतेष्वेव षट्सु जीवनिकायेषु विषयभूतेष्वल्पाऽऽदिषु वा द्रव्येषु मूर्च्छां कुर्वन्तः परिग्रहवन्तो भवन्ति, तथा चाविरतो विरतिवादं वदन्नल्पादपि परिग्रहात् परिग्रहवान् भवति, एवं शेषेष्वपि व्रतेष्वायोज्यम्, एकदेशापराधेऽपि सर्वापराधिनासम्भव., अनिवारिताऽऽश्रवत्वात्। यद्येवमल्पेनापि परिग्रहेण परिग्रह-

वस्त्वमत-पाणिपुटभोजिनो दिगम्बरा सरजस्कबोटिकाऽऽद-योऽपरिग्रहाः स्युः, तेषां तदभावात्, नैतदास्त तदभावादित्य-सिद्धो हेतुः । तथाहि-सरजस्कानामस्थ्यादिपरिग्रहाद्बोटिकानामपि पिच्छिकाऽऽदिपरिग्रहादन्ततश्च शरीराऽऽहाराऽऽदिपरिग्रहसद्भावात्, धर्मोपष्टम्भकत्वाददोष इति चेत् तदितरत्राऽपि समानं किं दिगम्बराऽऽग्रहग्रहेणेति । एतच्चाल्पाऽऽदिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमपरिग्रहाभिमानिनां चाऽऽहारशरीराऽऽदिकं महते अनर्थायेति दर्शयन्नाह-(एतदेवेत्यादि ) एतदेव-अल्पबहुत्वाऽऽदिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमेकेषां परिग्रहवता नरकाऽऽदिगमनहेतुत्वात् सर्वस्याविश्वासकारणाद्वा महाभय भवति, प्रकृतिरियं परिग्रहस्य, यदुत तद्वान् सर्वस्माच्च कति, यदि चैतदेव शरीराऽऽहाराऽऽदिकमपरस्याल्पस्यापि पात्रत्वबल्काणाऽऽदेर्द्धर्मोपकरणस्याभावात् गृहिगृहे सम्यगुपायाभावादविधिनाऽशुद्धमाहाराऽऽदिकं भुञ्जानस्य कर्मबन्धजनितमहाभयहेतुत्वात् महाभयं, तथैतद् धर्मशरीरं समस्ताऽऽच्छादनाभावाद्बीभत्सं परेषां महाभयं, तन्निरवद्यविधिपालनाभावाच्च महाभयमिति । यत परिग्रहो महाभयमतोऽपदिश्यते-( लोगं इत्यादि ) लोकस्यासंयतलोकस्य वित्तं द्रव्यमल्पाऽऽदिविशेषणविशिष्टं. चशब्द- पुन शब्दार्थे, णमिति, वाक्यालङ्कारे, लोकवित्तं लोकवृत्तं वा आहारभयमैथुनपरिग्रहोत्कटसंज्ञाऽऽत्मकं महते भयाय पुनरुत्प्रेक्ष्य ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा, प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । तत्परिहर्तुश्च यत्स्यात्तदाह-( एए संगेत्यादि ) एतान् अल्पाऽऽदि द्रव्यपरिग्रहसङ्गान् शरीराऽऽहाराऽऽदिसङ्गान् वा आवजानतोऽकुर्वाणस्य वा तत्परिग्रहजनित महाभयं न स्यात् ।

किञ्च—

से सुपडिबद्धं सूवणीयं ति णच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एतेसु चेव बंभचेरं ति बेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे-बंधपमोक्खो अज्झत्थेव, एत्थ विरते अणगारे दीहरायं तितिक्खए,पमत्ते वहिया पास, अपमत्तो परिव्वए, एतं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १५० ॥

(से) तस्य परिग्रहपरिहर्तुः सुष्ठु प्रतिबद्धं सुप्रतिबद्धं,सुष्ठूपनीतं सूपनीतं ज्ञानाऽऽदि इत्येतत् ज्ञात्वा हे पुरुष ! हे मानव ! परमं ज्ञानं चक्षुर्यस्याऽसौ परमचक्षुर्मोक्षैकदृष्टिर्वा सन् विविधं तपोऽनुष्ठानविधिना संयमे कर्मणि वा पराक्रमस्वेति । अथ किमर्थं पराक्रमणोपदेश इत्यत आह-( एतेसु चेव इत्यादि ) य इमे परिग्रहविरताः परमचक्षुषश्चैतेष्वेव परमार्थतो ब्रह्मचर्यं नाऽन्येषु नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्यभावात् यदि वा ब्रह्मचर्याऽऽख्योऽयं श्रुतस्कन्ध ,एतद्वाच्यमपि ब्रह्मचर्यं तदेतेष्वेवापरिग्रहवत्सु,इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीम्यहम्, यदुक्तं वक्ष्यमाणं च सर्वज्ञोपदेशादित्याह-' से सुअं च मे " इत्यादि तद्यत् कथितं यच्च कथयिष्यामि तच्छ्रुत च मया तीर्थकरसकाशात्, तथा आत्मन्यधि अध्यात्मं ममैतच्चेतसि व्यवस्थितं किं तदध्यात्मनि स्थितमिति दर्शयति-बन्धात्सकाशात्प्रमोक्ष बन्धप्रमोक्षस्तथा ' अध्यात्मन्येव ' ब्रह्मचर्ये व्यवस्थितस्यैवेति । किं च-' इत्थ ' इत्यादि, ' अत्र ' अस्मिन् परिग्रहे जिघृक्षिते विरत., कोऽसौ ?-नास्यागारं गृह विद्यत इत्यनगार , स एवम्भूतो ' दीर्घरात्रं ' यावज्जीवं परिग्रहाभावात् यत् क्षुत्पिपासाऽऽदिकमागच्छति तत् ' तितिक्षेत ' सहेत । पुनरप्युपदेशदानायाऽऽह-' पमत्ते ' इत्यादि, प्रमत्तान्-विषयाऽऽदिभिः प्रमादैर्बहिर्द्धर्माद्व्यवस्थितान् पश्य गृहस्थतीर्थिकाऽऽदीन् । दृष्ट्वा च किं कुर्यादिति दर्शयति-अप्रमत्तः सन् संयमाऽनुष्ठाने परिव्रजेदिति । किं च-' एय ' मित्यादि, ' एतत् ' पूर्वोक्तं संयमाऽष्ठानं मुनेरिदं मौनं-सर्वज्ञोक्तं सम्यग् ' अनुवासयेः ' प्रतिपालये ' इति ' अधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

परिग्गहि ( ण् )- परिग्रहिन्-त्रि० । परिग्रहयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

परिग्गहिय-परिगृहीत-त्रि० । परिवेष्टिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्वीकृते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आत्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । वृ० । नि०चू० ।( परिगृहीतं ग्रहणम् 'पसंग' शब्दे वक्ष्यते)

परिग्गहिया-परिग्रहिका-स्त्री० । परिग्रहो धर्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकारो. धर्मोपकरणमूर्छा च, स प्रयोजनं यस्याः सा पारिग्रहिकी भ० १ श० २ उ० । स्था० । क्रियाभेदे, सा च " जीवे परिगिण्हइ अजीवे परिगिण्हइ । " आ० चू० १ अ० । नि० चू० ।

परिघट्टण-परिघट्टन-न० । बहिरन्तो वा निर्माणे, नि० चू० १ उ० ।

परिघट्टिया-परिघट्टिता-स्त्री० । संस्पृष्टायां (वीणायाम्) जी०३ प्रति० ४ अधि० ।

परिघट्ठ परिघृष्ट-त्रि० । खरशाणयेव पाषाणप्रतिमावत् कृतपरिघर्षे, रा० । जी० ।

परिघाय-परिघात-पु० । निर्घातने, प्रव० ६५ द्वार ।

परिघासिय-परिघर्षित-त्रि० । कृतपरिघर्षे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० ।

परिघासेउं-परिघासयितुम्-अव्य० । साधुभोजनार्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

परिघेत्तव्व परिग्राह्य-त्रि० । परिग्रहीतव्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

परिघोलन-परिघोलन -न० । विचारे, नं० । आ० म० ।

परिघोलेमाण परिघूर्णत्-त्रि० । परिभ्रमति, न० ।

परिचत्त-परित्यक्त-त्रि० । परिहृते, पञ्चा० १० विव० । विमुक्ते, पञ्चा० ११ विव० । औ० । " तेण य परिचत्तेण संजमोवहिओ । " नि० चू० ११ उ० । " परिचत्तणिस्सीलकुसीला । " नि शीला गृहस्थाः कुशीलास्त्वन्यतीर्थिका पार्श्वस्थाऽऽदयो वा ते परित्यक्ता येन साधुना स परित्यक्तनि शीलकुशील । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परिचिंतिय परिचिन्तित-पु० । मनसेप्सिते, विशे० ।

परिचिय परिचित-त्रि० । अभ्यस्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । साकृतिके, स्था० ४ ठा० ३ उ० । व्य० । आव० । अभ्यस्तं, व्य० १ उ० । पुन पुन. कृते, औ० । " जो उ गंधव्वं च संअतिपारोचयं ।" आव० ४ अ० । "सगनामं व परिचियं, उक्क-

म कमतो बहूहिँ वि गमेहिं।" यस्य श्रुतम् उत्क्रमतः क्रमेण च,तथा क्रमेण उत्क्रमेण वा 'एकैकपदाऽऽसावनेन' इत्यादिभिरपि बहुभिर्गमैः स्वनामेव स्वाभिधानमिव परिचितं स प रिचितः। व्य० १० उ०। आ० म०।

परिचियपुव्वसुत-परिचितपूर्वश्रुत पुं०। परिचितं पूर्वस्मिन् पूर्वपर्याये श्रुतं यस्य स परिचितपूर्वश्रुत। यदि वा-प्रत्याख्यानगतस्यापि स्वाभिधानमिव परिचितं पूर्वश्रुतं पूर्वपठितं यस्य स तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। अभ्यस्तपूर्वाधीते, व्य० ३ उ०।

परिचियसुत्त-परिचितसूत्र-त्रि०। उत्क्रमक्रमवाचनाऽऽदिभिः स्थिरसूत्रे, उत्त०१ अ० दशा०।

परिचियसुत्तया-परिचितसूत्रता-स्त्री०। उत्क्रमक्रमवाचनाऽऽदिभिः स्थिरसूत्रतायाम्, उत्त० १ अ०। श्रुतसंपद्भेदे, व्य० १ उ०।

परिचियसुय-परिचितश्रुत-पुं०। परिचितमत्यन्तमभ्यस्तं स्वीकृतं श्रुतं येन स परिचितश्रुतः। अभ्यस्तश्रुते, व्य० १ उ०।

परिचइऊण-परित्यज्य-अव्य०। परित्यागं कृत्वेत्यर्थे. "लोगसारीणि परिचइऊण पव्वइया।" दश० २ अ०।

परिच्चज्ज-परित्यज्य-अव्य०। परित्यागं कृत्वेत्यर्थे, 'हासं परिचज्ज अलीणगुत्तो परिव्वए।' आचा०१ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

परिचयंत-परित्यजत्-त्रि०। अनाददाति, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०।

परिचाय-परित्याग-पुं०। दाने, अनु०। विमोचने, पञ्चा० ११ विव०। उत्त०। संयमे, आचा० २ श्रु० १ चू० १अ० १ उ०।

परिच्छण्ण-परिच्छन्न-पुं०। परिवारोपेते, व्य० ४ उ०। परिच्छन्नः द्रव्यपरिच्छदोपेतः, परिवारसहित इत्यर्थः। भावपरिच्छेदेन पुनर्द्वयोरपि परिच्छदोऽस्ति। शिष्याऽऽचार्ययोः, (व्य० ४ उ०) नैपत्येन व्यवस्थापिते, विशे०। आच्छादिते, रा०।

परिच्छद-परिच्छद-पुं०। शिष्याऽऽदिपरिवारे, व्य० ३ उ०। उपकरणे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। वस्त्रविशेषे, औ०।

परिच्छिदिय-परिच्छिद्य-अव्य०। ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

परिच्छिण्ण परिच्छिन्न-त्रि०। गृहीते आ० म० १ अ०। ज्ञाते, आव० ४ अ०।

परिच्छित्ति परिच्छित्ति-स्त्री०। विज्ञप्तौ, विशे०।

परिच्छूढ-देशी-उत्क्षिप्ते, दे० ना० ६ वर्ग २५ गाथा।

परिच्छेज्ज-परिच्छेद्य-न०। परिच्छेदव्यवहार्थे, ज्ञा०। यद् गुणत परिच्छिद्यते परीक्ष्यते, यथा-वज्रमण्यादि। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। आ० चू०।

परिच्छेय-परिच्छेक-त्रि०। लघुनि, औ०। ज्ञा०। ज्ञानधर्मे, आ० म० १ अ०। ग्रहणप्रकारे, आ० चू० १ अ०। स्था०।

परिजण-परिजन-पुं०। दासीदासाऽऽदिवृन्दे,विपा० १ श्रु० ३ अ०। नि० चू० दासाऽऽदिपरिकरे, औ०। प्रश्न०। शिष्यवर्गे, स्था० ८ ठा०। "मया परिजनस्यार्थे. कृतं कर्म सुदारुणम्।" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। ज्ञाः।

परिजविय-परिजल्प्य-अव्य०। परेण सार्द्धं भृशमुल्लापं कृत्वेत्यर्थे आचा० १ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०। नि० चू०। परिविच्य अव्य०। पृथक् कृत्वेत्यर्थे, "परिजविय परिजविय हता० जाव उवक्खाइत्ता भवइ।" सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

परिजाणंत-परिजानत्-त्रि०। अनुभवति प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

परिजिय परिजित-न०। परि समन्तात्सर्वप्रकारैर्जितं परिजितम्। परावर्तनं कुर्वतो यत्क्रमेणोत्क्रमेण वा समागच्छति तादृशे आवश्यकाऽऽदौ,अनु०। विशे०। आ० म०। पं० चू०। आ० चू०।

परिजुण्ण परिजीर्ण त्रि०। असारे, व्य०।

सम्प्रति परिजीर्णशब्दार्थमाह-

परिजुण्णो उ दरिद्दो, दव्वे धणरयणसारपरिहीणो।
भावे नाणाऽऽदीहिं, परिजुण्णो एस लोगो उ ॥ ३ ॥

परिजीर्णोऽपि चतुर्विधः। तद्यथा-नामपरिजीर्णः स्थापनापरिजीर्णो, द्रव्यपरिजीर्णो, भावपरिजीर्णश्च। तत्र नामस्थापने प्रतीते। द्रव्ये द्रव्यत. परिजीर्णो नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धनरत्नसारपरिहीनो दरिद्रः। भावे भावत. परिजीर्णो ज्ञानाऽऽदिभिः परिहीन एष समस्तोऽपि लोकः। व्य० ४ उ०। स्फटितवस्त्रे "परिजुण्णे मे वत्थे।" आचा० १ श्रु०६ अ०३ उ०। उत्त०। दारिद्र्ये,स्था०१० ठा०। अपरिपेलवे निःसारे, "अट्टे लोए परिजुण्णे।" आचा०१ श्रु०१ अ०२ उ०। परि न-त्रि०। असारे, व्य०। (एतत्सूत्रगतपरिद्यून-शब्दार्थः 'पुढवीकाय' शब्दे वक्ष्यते)

परिजुण्णा परिद्यूना-स्त्री०। परिद्यूनाद् दारिद्र्यात्काष्ठाऽऽहारकस्येव या सा परिद्यूना। प्रव्रज्याभेदे, स्था० १० ठा०। "परिजुण्णेहिं सा भणिता।" पं० भा० १ कल्प। पं० चू०। परिजुण्णाए स दमओ सावएण पव्वाविओ धम्मं सुणेइ साहुण सगासे भद्दया ते दीसंति।" पं०चू० १ कल्प।

परिजूरिअ-परिजीर्ण-त्रि०। परिपक्वे, "परिजूरिअपेरंतचलंतविंटं।' परिजीर्णं पर्यन्तं स्वपरिपाकत एव प्रचलद् वृन्तं वृक्षात्पतद् भ्रश्यत् प्रसववन्धनं यस्य तत् पत्रम्। अनु०।

परिज्झामिय परिध्यामित-त्रि०। कृष्णीकृते कृतप्रभाभ्रंशे, नि० चू० १ उ०।

परिजुसियसंपन्न-पर्युषितसंपन्न-पुं०। पर्युषितं रात्रिपरिवसनं तेन संपन्न पर्युषितसंपन्नः। इड्डरिकाऽऽदौ आहारभेदे ता हि पर्युषितकलनीकृता आम्लरसा. भवन्ति,आरमनास्थिरताऽऽम्रफलाऽऽदि वेति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

परिजूसिय-परिजूषित-त्रि०। सेविते, प्रीते च। "परिजूसियकामभोगसंपओगसंपउत्ते।" 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् सेवित प्रीता वा य. कामभोगः शब्दाऽऽदिभोगा मदनसेवा वा तत्सप्रयोगसंप्रयुक्तः। भ० २५ श० ७ उ०। निषेविते, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

पर्युषित-न०। रात्रिपरिवसने, स्था० ४ ठा०२ उ०।

परिट्ठवणा-परिष्ठापना-स्त्री० । परि सर्वैः प्रकारैः स्थापनं परिष्ठापना । अपुनर्ग्रहणतया न्यासे, आव० ४ अ० । परित्यागे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

( " उच्चारं १८ " इत्यादि ( दश० ८ अ० ) गाथा ' पडिलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४८ पृष्ठे व्याख्याता )

( १ ) परिष्ठापनाविधि -

पारिट्ठावणियविहिं, वोच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं ।
जं णाऊण सुविहिया, पवयणसारं उवलहंति ॥१॥

परित' सर्वैः प्रकारैः स्थापन परिस्थापनम्, अपुनर्ग्रहणतया न्यास इत्यर्थः । तेन निर्वृत्ता पारिस्थापनिका, तस्या विधिः प्रकारः पारिस्थापनिकाविधिः, तं 'वक्ष्ये' अभिधास्ये । किं स्वबुद्ध्योत्प्रेक्ष्य ?, नेत्याह-' धीरपुरुषप्रज्ञप्तम् ' अर्थसूत्राभ्यां तीर्थकरगणधरप्ररूपितमित्यर्थः । तत्रैकान्ततो वीर्यान्तरायापगमाद्धीरपुरुषः-तीर्थकरो गणधरस्तु धी' बुद्धिस्तया राजत इति धीरः । आह-यद्ययं पारिस्थापनिकाविधिर्धीरपुरुषाभ्यां प्ररूपित एव, किमर्थं प्रतिपाद्यत इति ? । उच्यते-धीरपुरुषाभ्यां प्रपञ्चेन प्रज्ञप्त , स एव संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहायेह संक्षेपेणोच्यत इत्यदोषः । किंविशिष्टं विधिमत आह-य ' ज्ञात्वा ' विज्ञाय ' सुविहिताः ' शोभनं विहितम् अनुष्ठानं येषा ते सुविहिता , साधव इत्यर्थः । किं ? प्रवचनस्य सारः प्रवचनसन्दोहस्तम् ' उपलभन्ति ' जानन्तीत्यर्थः ।

सा पुनः पारिस्थापनिक्योघत एकेन्द्रियनोएकेन्द्रियपरिस्थाप्यवस्तुभेदेन द्विधा भवति आह—

एगिंदिय नोएगिंदियपरिठावणियसमासओ दुविहा ।
एएसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥२॥

एकेन्द्रियाः पृथिव्यादय , नोएकेन्द्रिया -त्रसाऽऽदयः, तेषां पारिस्थापनिकी एकेन्द्रियनोएकेन्द्रियपारिस्थापनिकी. समासत. संक्षेपेण 'द्विधा' द्विप्रकारा प्रज्ञप्तोक्ता अनेनैव प्रकारेण, " एएसिं तु पयाण, पत्तेय परूवण वोच्छं । " अनयो पदयोरेकेन्द्रियनोएकेन्द्रियलक्षणयो प्रत्येकं पृथक् पृथक् प्ररूपणा' स्वरूपकथना. वक्ष्ये' अभिधास्ये. इति गाथार्थः ॥ २ ॥

तत्रैकेन्द्रियपारिस्थापनिकीप्रतिपिपादयिषया तत्स्वरूपमेवाऽऽदौ प्रतिपादयन्नाह-

पुढवी आउकाए, तेऊ वाऊ वणस्सई चेव ।
एगिंदिय पंचविहा, तज्जाय य तहा अतज्जाया ॥३॥

पृथिव्यप्कायस्तेजो वायुर्वनस्पतिश्चैव, एवमेकेन्द्रिया पञ्चविधा. एकं त्वागिन्द्रियं येषा ते एकेन्द्रिया ' पञ्चविधा पञ्चप्रकारा., एतेषा चैकेन्द्रियाणा पारिस्थापनिकी द्विविधा भवति । कथमित्याह "तज्जाय तहा अतज्जाया " तज्जातपारिस्थापनिकी, अतज्जातपारिस्थापनिकी च । अनयोर्भावार्थमुपरिष्टाद्वक्ष्यतीति गाथार्थ ॥ ३ ॥

आह-सति ग्रहणसम्भवेऽतिरिक्तस्य परिस्थापनं भवति,तत्र पृथिव्यादीना कथं ग्रहणमित्यत आह

दुविहं च होइ गहणं आयसमुत्थं च परसमुत्थं च ।
एक्केक्कं पि य दुविहं, आभोगे तह अणाभोगे ॥४॥

' द्विविध तु ' द्विप्रकारं च भवति ' ग्रहणं ' पृथिव्यादीनां, कथम् ?-' आत्मसमुत्थं परसमुत्थं च । 'आत्मसमुत्थं च स्वयमेव गृह्णत परसमुत्थ परस्माद् गृह्णत । पुनरेकैकमपि द्विविधं भवति कथमित्याह- आभोए तह अणाभोए । " आभोगनम् आभोग उपयोगविशेष इत्यर्थः. तस्मिन्नाभोगे सति, तथाऽनाभोगे अनुपयोग इत्यर्थ , अयं गाथाऽक्षरार्थः ॥ ४ ॥

अयं पुनर्भावार्थो वर्तत-

" तत्थ ताव आयसमुत्थं कहं च आभोएण होज्ज ? । साहू अहिणा खइओ, विसं वा खइय, विसप्फोडिया वा उट्ठिया, तत्थ जो अचित्तो पुढविकाओ केणइ आणीओ सो मग्गिज्जइ, णत्थि अ णिल्लओ ताहे अप्पणा वि आणिज्जइ तत्थ वि ण होज्ज अचित्तो ताहे मीसो अंतो हलखणणकुड्डमाईसु आणिज्जइ, ण होज्ज ताहे अडवीओ पंथ वम्मिए वा दवदड्डए वा ण होज्ज पच्छा सचित्तो वि घेप्पइ आसुकारी वा कज्जं होज्जा, जो लद्धो सो आणिज्जइ, एवं लोणं पि जाणंतो अणाभोइएण तेण लोणं मग्गियं अचित्तं ति काऊण मीसं सचित्तं वा घेत्तूण आगओ, पच्छा णायं, तत्थेव छड्डेयव्वं खंडे वा मग्गिए एयं खंड ति लाए दिन्न तं पि तहिं चेव विगिंचियव्वं, ण देज्ज ताहे तं अप्पणा विगिंचियव्वं, एयं आयसमुत्थं दुविहं पि । परसमुत्थ आभोगेण ताव सचित्तदेसमट्टिया लोणं वा कज्जनिमित्तेण दिण्णं, मग्गिएण अणाभोगेणं खंडं मग्गियं लोणं देज्ज, तस्सेव दायव्वं, नेच्छेज्ज, ताहे पुच्छिज्जइ-कओ तुब्भेहिं आणीयं ? । जत्थ साहइ तत्थ विगिंचिज्जइ, न साहेज्ज न जाणामो त्ति वा भणेज्जा ताहे उवलक्खेयव्वं वण्णगंधरसफासेहिं, तत्थ आगरे परिट्ठविज्जइ, नत्थि आगरा, पंथ वा वट्टति, विगालो वा जाओ ताहे सुक्कगं मट्टगं कप्पर मग्गिज्जइ, ण होज्ज कप्परं, ताहे वडपत्ते पिप्पलपत्ते वा काऊण परिट्ठविज्जइ ॥१॥ आउक्काए दुविहं गहण-आयाए णाय अणायं च । एवं परेण वि णायं, अणायं च । आयाए जाणंतस्स विसकुम्भो हणिअव्वो, विसफोडिया वा सिंचियव्वा विसं वा खइय मुच्छाए वा पडिओ, गिलाणो वा, एवमाइसु कज्जेसु पुव्वमवित्तं पच्छा मीसं, अहुणा धोयं तंदुलादियाइ आउरे कज्जे सचित्तं पि, कए कज्जे सेसं तत्थेव परिट्ठविज्जइ न देज्ज ताहे पुच्छिज्जइ कओ आणीय ? । जइ साहेइ, तत्थ परिठवेयव्वं आगरे, न साहेज्जा न वा जाणेज्जा, पच्छा वण्णाईहिं उवलक्खेउं तत्थ परिट्ठवेइ । अणाभोगा कोंकणेसु पाणियं अंबिलं च एगत्थ वेइयाए अत्थइ, अविरइया मग्गिया भणइ-एत्तो गिण्हाहि, तेण अंबिलं ति पाणियं गहियं, णाए तत्थेव छुभेज्जा, अह ण देइ ताहे आगरे, एवं अणाभोगा आयसमुत्थं. परसमुत्थ जाणंती अणुकंपाए देइ, ण एते भगवंतो पाणियस्स रसं जाणंति हद्दोदगं देज्जा, पडिणीययाए वा देज्जा, वयाणि से वयाणि भज्जउ त्ति णाए तत्थेव साहरियव्वं न देज्ज जओ आणियं तं ठाणं पुच्छिउज्जइ, तत्थ नेउं परिट्ठविज्जइ, न जाणेज्जा वण्णाईहिं लक्खिज्जइ, ताहे णइपाणियं णईए विगिंचेज्जा, एवं तलागपाणियं तलाए, अगडवाविसरमाइसु मट्टएसु विगिंचिज्जइ, जइ सुक्कं तडागपाणियं वडपत्तं पिप्पलपत्तं वा अंईऊण सणियं विगिंचइ, जइ उज्जरा न जायंति, एत्ताए असईए भायणस्स कण्ठा जाव हेट्ठा भाणियं उदगं अल्लियाविज्जइ ताहे विगिंचिज्जइ, अह कूओदयं ताहे अह कूवतडा उल्ला

तत्थ सणियं निसिरइ, अणुन्नासिओ सुक्कतडा होज्जा उल्लगं च ठाणं नत्थि. तहि भाणं नक्कएण जडिज्जइ, मूले दोरो बज्झइ, उसक्कविउं पाणियं ईसिमसंपत्तं मूलदोरो उक्खिप्पइ, ताहे पलोट्टइ, नत्थि कूवो, दूरे वा, तेणसावयभयं होज्जा. तहि सीयलए महुररुक्खस्स वा हेट्ठा सपडिग्गहं वोसिरइ, न होज्ज पायं, ता उल्लियं पुहविकाय मग्गित्ता तेण परिट्ठवेइ असइ सुक्कं पि उदउल्लेण उल्लेता पच्छा परिट्ठविज्जइ निव्वाघाए विक्खल्ले खड्डं खणऊण पत्तपणालेण विगिंचइ, सोहिं च करेंति, एसा विही, जं पडिनयणाए आउक्काएण मीसेउं दिएणं तं विगिंचेइ, जं संजयस्स पुव्वगहिए पाणिए आउक्काओ अणाभोगेण दिएणो जइ परिणओ भुंजइ, न वि परिणमइ जेण कालेण थंडिलं पावइ विगिंचियव्वं जत्थ हरतणुया पडेज्जा तं कालं पडिच्छिऊणा विगिंचिज्जइ ॥२॥ तेउक्काओ तहेव आयसमुत्थो आहोएण संजयस्स अगणिक्काएण कज्जं जायं-अहिडक्को वा डंभिज्जइ, फोडिया वा वायगंठी वा अन्तवृद्धिर्वा वसहीए दीहजाईओ पविट्ठो, पाट्टसूल वा तावियव्वं एवमाईहि आणिए कज्जे कए तत्थेव पडिलुब्भइ, ण देंति तो तेहि कट्ठेहिं जो अगणी तज्जाइओ तत्थेव विगिंचिज्जइ न होज्ज, सोवि न देज्ज वा ताहे तज्जाएण छारेण उच्छाइज्जइ, पच्छा अगणजाइएण वि. दीवएसु नेहं गालिज्जइ वत्तो य निप्पीलिज्जइ, मल्लगसंपुडए कीरइ पच्छा अहाउग पालेइ भत्तपच्चक्खायगाइसु मल्लगसंपुडए काऊण अत्थत्ति, सारक्खिज्जइ. कए कज्जे तहेव विवेगो अणाभोगेण खेलमल्लगालोयच्छाराऽऽदिसु, तहेव परो आभोएण छारेण दिज्ज वसहीए अगणिं जोइक्खं वा करेज्ज, तहेव विवेगो अणाभोएण वि, एए चेव पूयलियं वा सइगालं देज्जा, तहेव विवेगो ॥ ३ ॥ वाउक्काए आयसमुत्थं आभोएण, कहं ? वत्थिणा दिइएण वा कज्जं, सो कयाइ सचित्तो अचित्तो वा मीसो वा भवइ । कालो दुविहो-निद्धो, लुक्खो य । णिद्धो तिविहो-उक्कोसाइ । लुक्खो वि तिविहो-उक्कोसाऽऽइ उक्कोसए सीए जाहे धंतो भवइ ताहे जाव पढमपोरिसी ताव अचित्तो बितियाए मीसो, ततियाए सचित्तो, मज्झिमए सीए बितियाए आरद्धो, चउत्थीए सचित्तो भवइ मंदसीए तइयाए आरद्धो पंचमाए पोरिसीए सचित्तो उएहकाले मंदउएहे मज्झ उक्कोसे दिवसा नवरि दो तिण्णि पंच य, एवं वत्थिस्स दइयस्स पुव्वद्धंतस्स एसेव कालविभागो, जो पुण ताहे चेव धमित्ता पाणियं उत्तारिज्जइ, तत्थ य पढमे हत्थसए अचित्तो बितिए मीसो, तइए सचित्तो, कालविभागो नत्थि जेण पाणियं पगतीए सीयलं, पुव्वं अचित्तो मग्गिज्जइ, पच्छा मीसो, पच्छा सचित्तो त्ति । अणाभोएण एस आवत्तो त्ति मीसगसचित्ता गहिया, परो वि एवं चेव जाणंतो वा देज्जा. अजाणंतो वा णाए तस्सेव अणिच्छंते उव्वरगं सकवाडं पविसित्ता सणियं मुंचइ, पच्छा सालाए वि, पच्छा वणणिगुंजे महुरे पच्छा संघाडियाओ वि जयणाए. एवं दइयस्स वि, सचित्तो वा अचित्ता वा मीसो वा होउ सव्वस्स वि एस विही, मा अष विराहेहि त्ति ॥ ४ ॥ वणस्सइकाइयस्स वि आयसमुत्थं आभाएण गिलाणाइकज्जे मूलाईण गहणं होज्जा, अणाभोएण गहियं भत्ते वा लोट्टो पडिओ, पिट्ठगं वा कुक्कुला वा, सो चेव पोरिसिविभागो दुक्कुट्टिओ चिरं पि होज्जा, परो अन्नेण मिस्सियगं चवलगमीसियाणि वा पीलूणि कुरओडियाए वा अंतो छोढूणं करमद्दएहिं वा समं कंजिओ अन्नयरो बीयकाओ पडिओ होज्जा, तिलाए वा एवं गहणं होज्जा, निंबं तिलमाइसु होज्जा, जइ आभोगगहियं आभोगेण वा दिन्नं विवेगो अणाभोगगहिए अणाभोगदिन्ने वा जइ तरइ विगिंचिउं पढमं परपाए सपाए संथारए लट्ठीए वा पणओ हवेज्जा, ताहे उएहं सीयं व णाऊण विगिंचणा एसो वि वणस्सइकाओ पच्छा अंतोकाए एसिं विगिंचणाविही, अन्नग अन्नगखेत्ते. सेसाणि आगरे, असइ आगरस्स निव्वाघाए महुराए भूमीए, अंतो वा कप्परे वा पत्ते वा एस विहि त्ति । "

अत्र तज्जातातज्जातपारिस्थापनिकी प्रत्येकं पृथिव्यादीनां प्रदर्शितैव, भाष्यकारः सामान्येन तल्लक्षणप्रतिपादनायाऽऽह-

**तज्जायपरिट्ठवणा, आगरमाईसु होइ बोद्धव्वा ।**
**अतज्जायपरिट्ठवणा, कप्परमाईसु बोद्धव्वा ॥२०५॥**

तज्जाते तुल्यजातीये पारिस्थापनिका २ सा आकराऽऽदिषु परिस्थापनं कुर्वतो भवति ज्ञातव्या, आकरा'-पृथिव्याद्याकरा प्रदर्शिता एव, अतज्जातीये-भिन्नजातीये परिस्थापनिका २ सा पुन कर्पराऽऽदिषु यथायोगं परिस्थापनं कुर्वतो बोद्धव्येति गाथार्थः । गतैकेन्द्रियपरिस्थापनिका ।

अधुना नोएकेन्द्रियपारिस्थापनिकां प्रतिपादयन्नाह-

**णोएगिंदिएहिं जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।**
**तसपाणेहिं सुविहिया !, नायव्वा नोतसेहिं च ॥ ५ ॥**

एकेन्द्रिया न भवन्तीति नोएकेन्द्रिया त्रसाऽऽदयस्तैः करणभूतैरिति तृतीया । अथवा-तेषु सत्सु, तद्विषया वेति सप्तमी । एवमन्यत्रापि योज्यम् । याऽसौ पारिस्थापनिका सा द्विविधा' द्विप्रकारा 'भवति 'आनुपूर्व्या ' परिपाट्या । द्वैविध्यमेव दर्शयति (तसपाणेहिं सुविहिया णायव्वा णोतसेहिं च) त्रसन्तीति त्रसा. त्रसाश्च ते प्राणिनश्चेति समासस्तैः करणभूतैः सुविहितेति सुशिष्याऽऽमन्त्रणम्, अनेन कुशिष्याय न देयमिति दर्शयति, ज्ञातव्या विज्ञेया (नोतसेहिं च) त्रसा न भवन्तीति नोत्रसा आहाराऽऽदयस्तैः करणभूतैरिति गाथाऽर्थः ॥ ५ ॥

**तसपाणेहिं जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।**
**विगलिंदियतसेहिं, जाण पंचिंदिएहिं च ॥ ६ ॥**

त्रसप्राणिभिर्याऽसौ सा द्विविधा भवति आनुपूर्व्या, ' विकलेन्द्रियाः ' द्वीन्द्रियाऽऽदयश्चतुरिन्द्रियपर्यन्तास्तैस्त्रसैश्च, ( जाण त्ति ) जानीहि पञ्चेन्द्रियैश्चेति गाथाऽर्थ. ॥ ६ ॥

**विगलिंदिएहिं जा सा, सा तिविहा होइ आणुपुव्वीए ।**
**बियतियचउरो यावि य, तज्जाया तह अतज्जाया ॥७॥**

विकलेन्द्रियैर्याऽसौ सा त्रिविधा भवति आनुपूर्व्या, (बियतियचउरो यावि य ) द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियांश्चाधिकृत्य, सा च प्रत्येकं द्विभेदा, तथा चाऽऽह-( तज्जाया तह अतज्जाया ) तज्जाते तुल्यजातीये या क्रियते सा तज्जाता, तथा अतज्जाता-अतज्जाते या क्रियत इति गाथाऽर्थः ॥७॥

भावार्थस्त्वयम्-

"बेइंदियाण आयसमुत्थं जलोगा गंडाइसु कज्जेसु गहिया तत्थेव विगिंचिज्जइ, सत्तुया वा आलेवणनिमित्तं ऊरणियासंसत्ता गहिया विसोहित्ता आयरे विगिंचेति असइ आगरस्स सत्तुएहिं समं निव्वाघाए, संसत्तदेसे वा कत्थइ होज्ज अणाभोगगहणं तं देसं चेव न गंतव्वं, असिवाईहिं गमेज्जा जत्थ सत्तुया तत्थ कूरं मग्गइ न लहइ तहेवक्खिए सत्तुए मग्गइ, अलद्धे बितिए जाव ततिए, असइ पडिलेहिय २ गिण्हइ, वेला वा अइक्कमइ, अद्धाण वा, संकिया वा भत्ते घेप्पति बाहिं उज्जाणे देउले पडिसयस्स वा बाहिं रयत्ताणं पत्थरिऊणं उवरि पक्कं घणमसिणं पडलं तत्थ पक्खिप्पंति तिन्नि ऊरणयपडिलेहणाओ, नत्थि जइ ताहे पुणो पडिलेहणाओ तिण्णि मुट्ठिओ गहाय जइ सुद्धा परिभुज्जंति, एगम्मि दिट्ठे पुणो वि मूलाओ पडिलेहिज्जंति, जे जत्थ पाणा ते मल्लए सत्तुएहिं समं ठाविज्जति, आगराइसु विगिंचइ, नत्थि बीयराहिएसु विगिंचइ, एव जत्थ पाणयं पि बीयपाए पडिलेहित्ता उग्गाहिए छुब्भइ, संसत्तं जायं रसएहिं ताहे सपडिग्गहं वोसिरउ, नत्थि पायं ताहे अंबिलिं पाडिहारियं मग्गउ, णो लहेज्ज सुक्कय अंबिलिं उल्लिऊणं असइ अएणम्मि वि अंबिलिबीयाणि छोढूण विगिंचइ, नत्थि बीयराहएसु विगिंचइ, पच्छा पडिस्सए पाडिहारिए वा अपाडिहारियं वा तिकालं पाडलेहेइ दिणे दिणे, जया परिणय तहा विगिंचइ, भायणं च पडिअप्पिज्जइ, नत्थि भायण ताहे अडवीए अणागमणपहे छाहीए जो विक्खल्लो तत्थ खड्डुं खणिऊण चिक्खिल्लं लिंपित्ता पत्तसालेणं जयणाए छुब्भइ, एक्कसि पाणएणं भमाडेइ, तं पि तत्थेव छुब्भइ, एवं तिन्नि वारे, पच्छा कप्पेइ सण्हकट्ठेहि य मालं करेंति चिक्खिल्लेणं लिंपइ. कंटयछु याए य उच्छाएइ, तेण य भायणं सीयलपाणयं ण लयइ अवसावसेण कूरेण य भाविज्जइ, एवं दो तिण्णि वा दिवसे, संसत्तगं च पाणय असंसत्तगं च एगो न धरे.गंधेण विसंखिज्जइ,संसत्तं च गहाय न हिंडिज्जइ, विराहणा होज्ज, संसत्तं गहाय न समुद्दिसिज्जइ, जइ परिस्संता जे ण हिंडंति ते लिंति, जे य पाणा दिट्ठा ते मया होज्जा, एगेण पडिलेहियं बीएण ततिएण सुद्धं परिभुंजंति एवं चेव महियस्स वि गालियदहियस्स नवणीयस्स य का विही ?। महीए एगा उट्टी छुब्भइ, तत्थ तत्थ दीसति, असइ महियस्स का विही ?। गोरसधोवणे, पच्छा उण्होदयं सियलाविज्जइ, पच्छा महुरे चाउलोदए तेसु सुद्ध परिभुज्जइ, असुद्ध तहेव विवेगो दहियस्स, पच्छओ उयन्ता णियत्ते पडिलेहिज्जइ तीराए सुत्तेसु वि एस विही परो वि आभोगणाभोयाए ताणि दिज्जा। तेइंदियाण गहणं सत्तुयपाणाण पुव्वभणिओ विही तिलकीडया वि तहेव दहिए वा रज्जा तहेव छगणकिमिओ वि तहेव संथारगो वा गहिओ घुणाहणा णाए तहेव तारिसए कट्ठे संकामिज्जइ, उद्देहियाहिं गहिए पेत्ति णत्थि तस्स विगिंचणया, ताहे तेसिं वि लोढाइज्जइ, तत्थ अइंति लोए, छप्पइयाउ विस्सामिज्जति सत्तदिवसे, कारणगमणं ताहे सीयलए निव्वाघाए। एवमाईणं तहेव आगरे निव्वाघाए विवेगो कीडियाहिं संसत्ते पाणए जइ जीवति खिप्पं गलिज्जइ, अहे पडिया लवाडेणेव हत्थेण उद्धरेयव्वा, अलेवडयं चेव पाणयं होइ, एवं मक्खिया वि, संघाडएण पुण एगो भत्तं गेण्हइ, मा चेव छुब्भइ बीआ पाणय, इत्था अलेवाडओ चेव, जइ वि कीडियाउ मइयाउ तह वि गालिज्जंति इहरहा मेहं उवहसति, मच्छियाहिं वमी हवइ जइ तंदुलोयगमाइसु पूयरओ ताहे एगासे भायणे छुहित्ता पोत्तेण दद्दरओ कीरइ, ताहे कोसएणं खोरएण वा उकड्ढिज्जइ, थेवएण पाणएण समं विगिंचिज्जइ, आउकायं गमित्ता कट्ठेण गहाय उदयस्स ढोइज्जइ, ताहे अप्पणा चेव तत्थ पडइ, एवमाइ तेइंदियाण, पूयलिया कीडियाहिं संसत्तिया होज्जा, सुक्कओ वा कूरो, ताहे कुसिरे विकिरिज्जइ तहेव तत्थ ताओ पविसंति. मुहुत्तयं च रक्खिज्जइ जाव विप्पसरियाओ। चउरिंदियाणं असमक्खिया मक्खिया मक्खिया उकड्डिज्जइ त्ति घेप्पइ, परहत्थे भत्ते पाणए वा जइ मक्खिया तं अणेसणिज्जं. संजयहत्थे उद्धरिज्जइ, नेहं पडिया छारेण गुंडिज्जइ, कोत्थलगारिया वा वत्थत्थे पाए वा घरं करेज्जा सव्वविवेगो, असइ छिंदित्ता अह अन्नम्मि य घरए संकामिज्जति. संथारए मंकुणाणं पुव्वगहिए तहेव घेप्पमाणे पायपुंछणे वा जइ तिन्नि वेलाउ पडिलेहिज्जंतो दिवसे २ संसज्जइ, ताहे तारिसएहिं चेव कट्ठेहिं संकामिज्जंति, दंडए एवं चेव, भमरस्स वि तहेव विवेगो, समंडए सकडस्स विवेगो, पूतरयस्स पुव्वभणिओ विवगो, एवमाइ जहासंभव विभासा कायव्वा।" गता विकलेन्द्रियअसपरिस्थापनिका। आव० ४ अ०। (अशुद्धस्य गृहीतस्याऽऽहारस्य परिष्ठाप्यत्व 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ९९९ पृष्ठे उक्तम्)

(२) उदकससक्तस्याऽऽहारस्य परिष्ठापनिका। तत्र सूत्रम्-

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि दगे वा दगरए वा दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा, से य उसिणे भोयणजाते भोत्तव्वे सिया, से य सीए भोयणजाते, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता, पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ १२ ॥

अस्य संबन्धमाह-

आहारविही वुत्तो, अयमन्नो पाणगस्स आरंभो।
कायचउक्काऽऽहारे, कायचउक्कं च पाणम्मि ॥ २१७ ॥

आहारविधिः पूर्वसूत्रे उक्तः। अथ पुनरन्य' पानकस्य विधिप्रतिपादनाय सूत्राऽऽरम्भ' क्रियते। तथा आहारेऽनन्तरसूत्रे प्राणग्रहणेन त्रसा. बीजग्रहणेन वनस्पतिकायो, रजोग्रहणेन पृथिव्यग्निकायाविति कायचतुष्कमुक्तम्। इहापि पानककायचतुष्कमुच्यते-तत्र शीतोदकमप्काय ,उष्णोदकमग्निकायो नालिकेरपानकाऽऽदि वनस्पतिकायो दुग्धं त्रसकाय ,एवं चत्वारोऽपि काया अत्राऽपि संभवन्तीति। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-निर्ग्रन्थस्य गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टस्यान्त प्रतिग्रहे भक्तपानमध्योदकं वा प्रभूताप्कायस्य,दकरजो वा,उदके बिन्दुकस्य शतं वा, उदकशीकरा' पर्यापतेयुः. तत्रोष्णं भोजनजातं ततो भोक्तव्यम्। अथ शीत तत् भोजनजातं ततस्तन्नाऽऽत्मना भुञ्जीत नान्येभ्यो प्रदद्यात्। एकान्ते बहुप्रासुके प्रदेशे परिष्ठापयितव्य स्यादिति सूत्रार्थ.।

अथ भाष्यम्-

परिमाणे णाणत्तं, दगबिंदु दगरयं वियाणाहि ।
सीभरमो दगफुसितं, सेसं तु दगं दव खरं वा ॥२१८॥

दकरजःप्रभृतीना परिमाणकृतं नानात्वम्। तथाहि-यस्तावद्दकबिन्दुस्तं दकरजो विजानीहि । ये तु सीभरा॰ पानीये अन्यत्र क्षिप्यमाणे उदकशीकरा आगत्य प्रपतन्ति ते दकस्पर्शितम्।शेषं तु यत्प्रभृतमुदकं तद्दकमिति भण्यते । तच्च द्रवं वा, खरं वा भवतीति विषमपदव्याख्यानं भाष्यकृता कृतम्।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

एमेव वितियसुत्ते, पलोगण गिराहणे य गहिते य ।
अणभोगा अणुकंपा, पंतत्ता वा दगं देज्जा ॥ २१६ ॥

अधस्तनाऽऽहारसूत्रादिव द्वितीयसूत्रमुच्यते। तत्र द्वितीयसूत्रेऽप्येवमेव विधिर्द्रष्टव्यः। ग्रहणे,ग्रहीते च, पानके प्रलोकना प्रत्युपेक्षणा पिण्डस्येव मन्तव्या। तच्चोदकं त्रिभिः कारणैर्दद्यात् । तद्यथा-( अणभोगा इत्यादि ) अनाभोगेन काचिद् गारी एकत्रैव काञ्जिकं पानीयं नास्तीतिकृत्वा काञ्जिकं दास्यामीति बुद्धयाऽपि स्मृतिवशात् शीतलं जलं दद्यात्। अनुकम्पया वा ग्रीष्मसमये तृषाऽऽक्रान्तं साधुं दृष्ट्वा शीतलं जलं पिबेदिति बुद्धया काचिदुदकं दद्यात्। प्रान्ततया प्रत्यनीकतया वा काचित् भिक्षुकाऽऽद्युपासिका एतेषामुदकं न कल्पते,अतो व्रतभङ्गं करोमीति बुद्ध्या साधूनामुदकं दद्यात्।

अथात्रैव विधिमाह-

सुद्धम्मि य गहियम्मी, पच्छा णाते विगिंचए विहिणा ।
मीसे परूविते उ-एहसीतसंजोगे चउभंगो ॥ २२० ॥

यदि तदुदकं शुद्धे रिक्ते प्रतिग्रहे गृहीतं पश्चाद् ज्ञात्वा ग्रहणानन्तरं ज्ञात-यथोदकमिदं,ततो विधिमवेक्ष्यमाणेन विविच्यात् परिष्ठापयेत् । ( मीसे त्ति ) यत्र प्रतिग्रहे पूर्वमन्यद्द्रव्यं गृहीतं पश्चात् तु पानीयं पतितम् ,एतन्मिश्रमुच्यते । तत्र मिश्रे उष्णशीतसंयोगे चतुर्भङ्गया॰ प्ररूपणा कर्त्तव्या ।

तत्र रिक्ते प्रतिगृहे यद् गृहीतं तस्याऽयं परिष्ठापनविधि॰-

तत्थेव भायणम्मी, अलब्भमाणे व आगरसमीवे ।
सपडिग्गहं विगिंचइ, अपरिस्सएँ उल्लभाणे वा ॥२२१॥

यतो भाजनादविरतिकया दत्तं तत्रैवेदमुदकं प्रक्षिपति । अथ सा तत्र प्रक्षेप्तुं न ददाति, तत एवमलभ्यमाने सा पृच्छते-कुतस्त्वयेदमानीतम् ?, ततो यस्मात् कूपसर:प्रभृतेराकरसमीपात् नीतं तस्य समीपे गत्वा परिष्ठापनिकानिर्युक्तिभणितेन विधिना परिष्ठापयेत् । अथवा-सप्रतिग्रहमपि क्षीरद्रुमस्य छायायामेकान्ते स्थापयति । अथ प्रतिग्रहोऽन्यो न विद्यते ततो यदपरिश्रावि घट्यादिकमार्द्रजलभावितं तत्र प्रक्षिपति ।

अथ पूर्वगान्यद्रव्ये गृहीते पतितं तत इयं चतुर्भङ्गी-

दव्वं तु उएहसीतं, सीतुएहं चेव दो वि उएहाइं ।
दोरिण वि सीताइं चा-उलोद तह चंदणघते य ॥२२२॥

इह द्रव्यं चतुर्द्धा। तद्यथा-किञ्चिदुष्णं शीतपरिणाम् १,अपरं शीतमुष्णपरिणामम् २, अन्यदुष्णमुष्णपरिणामम् ३, अपरं शीतंशीतपरिणामम् ४ । अथाऽऽसन्नत्वात्प्रथमं चतुर्थभङ्गं व्याख्याति-( चाउलोदक इत्यादि ) तन्दुलोदकं चन्दनघृताऽऽदीनि द्रव्याणि शीतानि शीतपरिणामानि ।



तृतीयभङ्गमाह—

आचामंअंबकंजिय,जति उसिणाणुसिणेँ तो विपागे वी ।
उसिणोदगपेज्जाऽऽदी, उसिणा वि तणू गता सीता ।२२३।

आचामाऽऽम्लकाञ्जिकाऽऽदीनि द्रव्याणि यद्युष्णानि ततो विपाके परिणामेऽपि तान्युष्णान्येव भवन्तीति कृत्वा तृतीयो भङ्ग॰ ।यानि पुनरुष्णोदकपेयाऽऽदीनि द्रव्याणि तान्युष्णान्यपि तनुं शरीरं गतानि शीतानि भवन्तीत्यनेन प्रथमो भङ्गो व्याख्यातः ।

अथ द्वितीयभङ्गं व्याचष्टे—

सुत्ताऽऽइ अंब कंजिय, घणोदसी तेल्ललोणगुलमादी ।
सीता वि होंति उसिणा,दुहतो उएहा व ते होंति ॥२२४॥

सुत्तं मदिराखोलो, देशविशेषप्रसिद्धो वा कश्चित् द्रव्यविशेषः, तदादीनि यानि द्रव्याणि, यच्चाऽऽम्लं काञ्जिकं मस्ता च घनविकृतिरम्लं चोदश्वित्तक्रं यच्च तैलं लवणं गुडो वा, एवमादीनि द्रव्याणि शीतान्यपि परिणामत उष्णानि भवन्तीति द्वितीयभङ्गे अवतरन्ति । अथ तान्युष्णानि, तत उष्णान्युष्णपरिणामानीति तृतीये भङ्गे प्रतिपत्तव्यानीति ।

आह-कतिविधः पुन परिणाम इति ?, उच्यते-

परिणामो खलु दुविहो, कायगतो बाहिरो य दव्वाणं ।
सीउसिणत्तणं पि य, आगंतु तदुब्भवं तेसिं ॥ २२५ ॥

द्रव्याणां परिणामो द्विविध -कायगतो बाह्यगतश्च । तत्र कायेन शरीरेणाऽऽहारितानां द्रव्याणां य शीताऽऽदिक परिणाम॰ स कायगत । पुनरनाहारितानां स बाह्य परिणाम॰ शीतो वा स्यादुष्णो वा, तदपि च शीतोष्णत्व च तेषां द्रव्याणां द्विधा-आगन्तुक, तदुद्भवं च ।

उभयमपि व्याचष्टे-

साभाविया च परिणा- मिया च सीताऽऽदओ तु दव्वाणं ।
असरिससमागमेण उ,णियमा परिणामओ तेसिं ॥२२६॥

स्वाभाविका वा परिणामिका वा शीताऽऽदय पर्यायाः द्रव्याणा भवन्ति । तत्र स्वाभाविका यथा हिम स्वभावशीतलम्,तापोदक स्वभावादेवोष्णम्। परिणामिकास्तु पर्याया द्रव्यान्तराऽऽदिबाह्यकारणजनिता ।तथा चाऽऽह-(असरिस इत्यादि) असदृशेन वस्तुना सह य समागमो मीलकस्तेन नियमात्तेषां द्रव्याणा परिणाम॰ पर्यायान्तरगमन भवति । यथोदकाऽऽदेः शीतलस्याग्नितापेनाऽऽदित्यरश्मितापेन वा उष्णतागमनम्।

तदेव सुव्यक्तमाह-

सीया वि होंति उसिणा,उसिणा वि य सीयगं पुणरुवेंति ।
दव्वंतरसंजोगं, कालसभावं व आसज्ज ॥ २२७ ॥

द्रव्यान्तरेणाग्निजलाऽऽदिना सयोग सबन्ध,कालस्य च ग्रीष्महेमन्ताऽऽदे स्वभावमासाद्य,शीतान्यपि द्रव्याण्युष्णानि भवन्ति, उष्णान्यपि च शीततां पुनरुपयन्ति । अथमागन्तुकपरिणामो मन्तव्य॰ ।

अथ पुनस्तदुद्भव -

तावोदगं तु उसिणं, सीया मीसे य सेसगा आऊ ।
एमेव सेसगाइं, रूवीदव्वाइँ सव्वाइं ॥ २२८ ॥

तापोदक स्वभावादेवोष्ण, शेषा आपोऽप्काय्द्रव्याणि शीतानि, मिश्राणि वा शीतोष्णोभ स्वभावानि मन्तव्यानि । एवमेव शेषाप्यप्कायविरहितानि यानि यानि सर्वाण्यपि रूपिद्रव्याणि तानि कानिचिदुष्णानि,यथाऽग्नि., कानिचित् शीतानि, यथा हिम, कानिचित्तु शीतोष्णानि, यथा पृथिवी ।

एएण सुत्त न गतं, जो कायगताण होइ परिणामो ।
सीतोदगमिस्सियम्मि उ,दव्वम्मि उ मग्गणा होति ।२२९।

य एष कायगतानामाहारितानां द्रव्याणां परिणाम उक्तो, नैतेन सूत्र गत, किं तु शीतोदकमिश्रितेन सचित्तोदकमिश्रेण द्रव्येणेहाधिकार. ।

तत्र चेय मार्गणा भवति-

दुहतो थोवं एके-क्कएण अंतम्मि दोहि वी वहुगं ।
भावुगमभावुगं पि य,फासाऽऽदिविसेसितं जाण ॥२३०॥

इह पूर्वगृहीते द्रव्ये यथा शीतोदकं पतति तदेयं चतुर्भङ्गी- ( दुहतो थोव ति ) स्तोक पतितमिति प्रथमो भङ्ग । (एक्किक्कएण वि ) स्तोके वहुक पतितमिति द्वितीय । वहुके स्तोक पतितमिति तृतीय । ( अतम्मि दोहि वी वहुगं ति ) वहुके बहु पतितामिति चतुर्थ. । यद् द्रव्य पतति यत्र वा पतति तद्भावुकमभावुक वा स्पर्शाऽऽदिविशेषित जानीयात् । किमुक्त भवति ?-स्पर्शरसगन्धैरुत्कटमयानि यदपराणि द्रव्याणि स्पर्शाऽऽदिभि. भावयति परिणामयति तद्भावुकम्, तद्विपरीतमभावुकम् । ये च स्तोकवहुपदाभ्यां चत्वारो भङ्गा कृतास्तेषु प्रत्येकममी चत्वारो भङ्गा भवन्ति-उष्णमुष्ण पतितम् १, उष्णे शीत पतित २, शीते उष्ण पतित ३, शीते शीत पतितम् ४ ।

एतेषु विधिमाह-

चरिमे विगिंचियव्वं,दोसु तु मज्झिल्ल पडिएँ भयणा उ ।
खिप्पं विगिंचियव्वं, मायविमुक्केण समणेणं ॥ २३१ ॥

चरम नाम यत् शीते शीत पतित तत्पुन स्तोके चाऽस्तोक पतित, बहुल पतित भवेत्, उभयमपि क्षिप्रं विवेक्तव्य परिष्ठापयितव्यम् । द्वयोस्तु मध्यमयोर्भङ्गयोरुष्णे शीत पतितं,शीते उष्ण पतितमिति लक्षणयोर्वक्ष्यमाणा भजना भवति । य· पुनरुष्णे उष्ण पतितमिति प्रथमो भङ्ग, तत्र तत्क्षणादेव सचित्तभावो नापगच्छतीतिकृत्वा क्षिप्रमेव मायाविमुक्तेन श्रमणेन तत् विवेचनीयम । मायाविमुक्तग्रहणेनेद ज्ञापयति-शीघ्र परिष्ठापयितुकामोऽपि यावत् स्थण्डिल गच्छति तावत्तत् अचित्तीभूत, तत परिभुङ्क्ते, न परिष्ठापयति । अथ मातृस्थानेन मन्द मन्द गच्छति, चिन्तयति च तिष्ठतु तावत्पश्चात्परिणत परित्यक्ष्ये, एव मायां कुर्वत स्थण्डिलादर्वाक् परिणतमपि न कुरुते ।

अथ मध्यमभङ्गद्वयभजनामाह-

थोवं वहुम्मि पडियं, उसिणे सीतोदकं ण उज्झंती ।
हंदि हु जाव विगिंवति,भावेज्जति तावती तेणं ॥२३२॥

वहुके पूर्वगृहीते स्तोक पतितमित्यत्र यदुष्णे वहुके शीतोदग स्तोक पतित तदा नोज्झति कुत इत्याह-हन्दीत्युपदर्शने, यावत विविनक्ति तावत्तत् स्तोक शीतोदक तेन वहुकेनोष्णेन भाव्यते परिणामित क्रियते, तद परिभोक्तव्य तदिति भाव ।

जं पुण दुहतो उभियो, सममतिरेगं च तक्खणा वेव ।
मज्झिल्लभंगएसुं, चिरं पि चिट्ठे वहुं थूढं ॥ २३३ ॥

यत्पुनर्द्विधाऽप्युष्ण, उष्णे उष्णं पतितमित्यर्थः । तत्परिमाणतः परस्पर सम तुल्यं भवेत । अतिरिक्त वा द्वयोरेकतरमधिकतरं, तत्राऽपि तत्क्षणादेव, सचित्तभावो नापगच्छतीति वाक्यशेषः । यौ तु मध्यमौ द्वौ भङ्गावुष्णे शीत पतित, शीते वा उष्ण पतितमिति लक्षणौ, तयोः स्तोक वहु प्रक्षिप्त चिरमपि सचित्त तिष्ठेत्, ततस्तदपि क्षिप्र चिरेण वा विवेचनीयम ।

अथोदकस्यैव परिणमनलक्षणमाह-

वण्णरसगंधफासा,महदव्वे जम्मि उक्कडा होंति ।
तह तह चिरं न चिट्ठइ,असुभेसु सुभेसु कालेणं ॥२३४॥

यस्मिन् द्रव्ये यथा वर्णगन्धरसस्पर्शा उत्कटतरा भवन्ति, तथा तथा तेन द्रव्येण सह मिश्रितमुदक चिर न तिष्ठति, क्षिप्र क्षिप्रतर परिणमतीति भाव. । किमविशेषेणेत्याह-ये अशुभा वर्णाऽऽदय उत्कटास्तेष्वेव क्षिप्र परिणमति,ये तु शुभा वर्णाऽऽदयस्तेषूत्कटेषु कालेन परिणमति, चिरादित्यर्थ. ।

अत्रेद निदर्शनम्-

जो चंदणे कडुरसो, संसट्ठजले य दूसणा जा तु ।
सा खलु दगस्स सत्थं, फासो उ उवग्गहं कुणति २३५॥

इह तन्दुलोदक चन्दनेन क्वाऽपि मिश्रित, तत्र चन्दनस्य य· कटुको रसः स तन्दुलोदकस्य शस्त्रं, पर यस्तदीय· स्पर्शः शीतल· स जलस्योपग्रह करोतीति कृत्वा चिरेण परिणमति, एव संसृष्टजलस्याऽपि या दूषणा अम्लरसता,सा उदकस्य शस्त्र, स्पर्शस्तु शीतलत्वादुपग्रहकारी, अतश्चिरेण परिणमत ।

घयकिट्टविस्सगंधो, दगसत्थं मधुरसीतलं ण घतं ।
कालंतरमप्पुसा, अंविलया चाउलोदगस्स ॥ २३६ ॥

घृतस्य सबन्धी यः किट्टरसेन यश्च विस्रोगन्धस्तावुदकस्य शस्त्र, यत्तु रसेन मधुर स्पर्शेन च शीतल घृत, तदुपग्रह करोतीति शस्त्र न भवति । अतश्चिरात्परिणमति, तथा कुकुरभिगुञ्जिकैस्तन्दुलोदकस्योष्णता यत्कालान्तरेणोत्पन्ना साऽप्युदकस्य शस्त्र भवति ।

अव्वुक्कंते जति चा-उलोदए छुब्भते जलं अण्णं ।
दोण्णि वि चिरपरिणामा,भवंति एमेव सेसा वि ॥२३७॥

अव्युत्क्रान्ते अपरिणते तन्दुलोदके ऽन्यदपर सचित्त जल प्रक्षिप्यते, ततो द्वे अप्युदके चिरपरिणामे भवत·, शेषाण्यपि यानि संसृष्टपानके (?) पानकाऽऽदीनि तेष्वपि सचित्तोदक यदि प्रक्षिप्यते, तत एवमेव तान्यपि चिरात्परिणमन्तीति ।

अथ द्वितीयपदमाह-

थंडिल्लस्स अलंभे, अद्धाणोमअसिवे गिलाणे य ।
सुद्धा अविगिंचिता आ-उट्टिया गेण्हमाणा वा ॥२३८॥

स्थण्डिलस्यालाभे अपरिणतपानकमपरिष्ठापयन्तोऽपि शुद्धाः । अध्वावमाशिवग्लानाऽऽदिकारणेषु पानकस्य दुर्लभतायामविविञ्चयन्तोऽपरिष्ठापयन्त आकुट्टिकया वा जानन्तोऽपि गृह्णन्तः शुद्धा । बृ० ४ उ० ।

अधुना पञ्चेन्द्रियत्रसपारिस्थापनिकाविधिमाह-

पंचिंदिएहिँ जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।

मणुएहिं च सुविहिया !, नायव्वा नो य मणुएहिं ॥ ८ ॥

पञ्च-पञ्चसङ्ख्यानीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः मनुष्याऽऽदयस्ते करणभूतैस्तेषु वा सत्सु तद्विषयाऽसौ पारिस्थापनिका सा द्विविधा भवत्यानुपूर्व्या-मनुष्यैस्तु सुविहिताः ! ज्ञातव्या, 'नोमनुष्यैश्च' तिर्यग्भिः, चशब्दस्य व्यवहित' सम्बन्धः। इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ८ ॥ भावार्थं तूपरिष्टाद्वक्ष्यामः।

मणुएहिं खलु जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
संजयमणुएहि तह, नायव्वाऽसंजएहिं च ॥ ९ ॥

मनुष्यैः खलु याऽसौ सा द्विविधा भवति आनुपूर्व्या-संयतमनुष्यैः,तथा ज्ञातव्याऽसंयतैश्चेति गाथाऽर्थः ॥९॥ भावार्थं तूपरिष्टाद्वक्ष्याम ।

संजयमणुएहिँ जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
सच्चित्तेहिँ सुविहिया !, अच्चित्तेहिं च नायव्वा ॥१०॥

'संयतमनुष्यैः' साधुभिः करणभूतैर्याऽसौ पारिस्थापनिका सा द्विविधा भवत्यानुपूर्व्या-सह चित्तेन वर्तन्त इति सचित्तास्तैः, जीवद्भिरित्यर्थः। सुविहितेति पूर्ववत् । 'अचित्तेहिं च नायव्व त्ति।" अविद्यमानचित्तैश्च,मृतैरित्यर्थः। ज्ञातव्या विज्ञेयेति गाथाऽक्षरार्थः ॥ १० ॥

इत्थं तावदुद्देशः कृतः । अधुना भावार्थं प्रतिपाद्यते,तत्र यथा सचित्तसंयतानां ग्रहणपरिस्थापनिकासम्भवस्तथा प्रतिपादयन्नाह-

अणभोग कारणेण व,नपुंसमाईसु होइ सच्चित्ता ।
वोसिरणं तु नपुंसे, सेसे कालं पडिक्खिज्जा ॥११॥

आभोगनमाभोगः उपयोगविशेषः, न आभोगः अनाभोगस्तेन, 'कारणेन वा' अशिवाऽऽदिलक्षणेन, 'नपुंसकाऽऽदिषु' दीक्षितेषु सत्सु, भवति 'सचित्ता' इति व्यवहारतः सचित्तमनुष्यसंयतपरिस्थापनिकेति भावना। आदिशब्दाज्जड्डाऽऽदिपरिग्रहः ।तत्रायं विधिः- योऽनाभोगेन दीक्षितः स आभोगित्वे सति व्युत्सृज्यते, तथा चाऽऽह-" वोसिरणं तु नपुंसे त्ति।" व्युत्सृजनं परित्यागरूपं नपुंसके, कर्तव्यमिति वाक्यशेषः । तुशब्दोऽनाभोगदीक्षित इति विशेषयति, " सेसे कालं पडिक्खिज्ज त्ति " शेषे कारणदीक्षिते. जड्डाऽऽदिर्वा. तत्र " कालं ति " यावता कालेन कारणसमाप्तिर्भवत्येतावन्तं कालं जड्डाऽऽदौ वक्ष्यमाणं च प्रतीक्षेत, न तावद् व्युत्सृजेत् । इति गाथाऽक्षरार्थः ॥११॥

पुनः किं तत्कारणं येनासौ दीक्ष्यत इति ?, तदनेकभेदं कारणमुपदर्शयन्नाह-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलन्ने उत्तिमट्ठे, नाणे तवदंसणचरित्ते ॥ १२ ॥

'अशिवे' इति व्यन्तरकृतोपद्रवे, 'अवमौदर्ये' दुर्भिक्षे, 'राजद्विष्टे' राजा द्विष्ट इति, भये प्रत्यनीकेभ्यः, 'आगाढे' भृशम्, अयं चाऽऽगाढशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते अशिवाऽऽदिषु । 'ग्लानत्वे' ग्लानत्वे, 'उत्तमार्थे' कालधर्मे, 'ज्ञाने' ग्रन्थाऽऽदौ, तथा 'दर्शने' तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणे, 'चारित्रे' प्रतीतम्, एतेष्वशिवाऽऽदिकारणेषु यो नपुंसकाऽऽदिरसौ दीक्ष्यत इति ।

कथं च-

"असिवादिकारणेसु तस्स वाऽभिगहणं ।

वेज्जो व सय तस्स व, तप्पिस्सइ वा गिलाणस्स ॥ १ ॥
गुरुणो व अप्पणो वा, णाणाई गिण्हमाणि तप्पिहिई ।
चरणदेसा णिते, तप्पे ओमासिवेहिँ वा ॥ २ ॥
एएहिँ कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे ।
पण्णवणं सोऽणमय, कए उ कज्जे विगिंचणया ॥ ३ ॥"

जो सो असिवाइकारणेहिं पव्वाविज्जइ नपुंसगो सो दुविहो-जाणओ य, अजाणओ य, जाणओ जाणइ जह साहूणं न वट्टइ नपुंसओ पव्वावेउं, अयाणओ न जाणइ, तत्थ जाणओ पण्णविज्जइ-जह ण वट्टइ तुज्झ पव्वज्जा, णाणाइमग्गविराहणा ते भविस्सइ, ता घरत्थो चेव साहूण वट्टसु, तो ते विउला निज्जरा भविस्सइ, जइ इच्छइ लट्ठं, अह न इच्छइ, तो तस्स, अयाणयस्स य कारणे पव्वाविज्जमाणाण इमा जयणा कीरइ-

कडिपट्टए य छिहली, कत्तरिया भंडु लोय पाढे य ।
धम्मकहसन्निराउल, ववहारविकिंचणं कुज्जा ॥ १३ ॥

कटिपट्टकं चास्य कुर्यात्, शिखां चानिच्छतः कर्तरिकया केशापनयनं ( भंडु त्ति ) मुण्डनं वा, लोचं वा, पाठं च विपरीतं धर्मकथां संज्ञिनः कथयेत् , राजकुले व्यवहारम्,इत्थं विगिञ्चनं कुर्यादिति गाथाऽक्षरार्थः ॥१३॥ भावार्थस्त्वयम्-"पव्वयंतस्स कडिपट्टओ से कीरइ, भणइ य-अम्हाण पव्वयंताण एव चेव कय, सिहली नाम सिहा, सा न मुण्डिज्जइ, लोओ ण कीरइ, कत्तरीए से केसा कप्पिज्जंति, छुरेण वा मुंडिज्जइ, नेच्छमाणे लोओ वि कीरइ, जो नज्जइ जणेण जहा एस नपुंसगो. अनज्जंते वि एवं चेव कीरइ जणपच्चयनिमित्तं, वर जणा जाणंतो जहा एस गिहत्थो चेव । पाढग्गहणेण दुविहा सिक्खा-गहणसिक्खा, आसेवणसिक्खा य, तत्थ गहणसिक्खाए भिक्खुमाईण सयाइ सिक्खाविज्जंति, अणिच्छमाणे जाणि ससमए परतित्थियसयाइ ताणि पाढिज्जंति, त पि अणिच्छंते ससमयवत्तव्वयाए वि असाभिहाणेहिं अत्थविसंवायणाणि पाढिज्जंति. अहवा कमेण उक्कत्थपल्हत्था से आलावगा दिज्जंति, एसा गहणसिक्खा, आसेवणसिक्खाए चरणकरण ण गाहिज्जइ, किं तु—

" घायारगोयरे थेर-सजुओ रत्तिं दूरे तरुणाणं ।
गाहेइ सम पि तओ, थेरा गाहिंति जत्तेण ॥ १ ॥
वेरग्गकहा विसया-ण य णिंदा उट्ठणिसियणे गुत्ता ।
चुक्कखलिए य बहुसो, सरोसमिव तज्जए तरुणा ॥ २ ॥"

सराम नडिज्जइ पर विप्परिणमतो-" धम्मकहा पाढिज्जइ, कयकज्जा या से धम्ममक्खंति । मा हण परं पि लोय, अणुव्वया दिक्खणो तुज्झ ॥ १ ॥ " सन्नि त्ति दारं । एवं पन्नविओ जाहे नेच्छइ, ताहे-" सन्निरक्खियथा वा, सेसिति कओ इहेस सगिणो ? । निरसढे वा त्तिक्खिओ, एएहिं पगारेहिं पडिसेहो ॥ १ ॥' सन्नी-सारओ खरकम्मिओ अह भद्दओ या पुरगामिओ तं भणेइ-कओ एस तुज्झ सद्धे नपुंसगो ? सिग्घं नासउ, मा ण रायरोवहाणा त्ति, साहूणो वि त नपुंसग वयंति-हे ! एस अणारिया मा ववरोविज्जाहिंति, सिग्घ नस्ससु, जइ गहो सहं, अह पयाइ सो रायदुत्तं ज्ञगड़ावेज्जा-एए मम दिक्खिऊण धाडंति एय, सो य ववहारं करेज्जा 'कम्हा' इति तत्र रायउलेण न नायं एएहिं नेव दिक्खिओ अम्हे या उत्तिमवा गहिय ताहे न-

छइ-न एस समणो, पेच्छह से नेवत्थ चोलपट्टकाऽऽइ, किं अम्ह एरिस नेवत्थ त्ति ? । अह तेण पुव्व चेव ताणि नेच्छियाणि ताहे भगणइ-एम्न सव गिहीतलिंगी । ताहे सो भणइ-

अज्झाविओ मि एए-हि चेव पडिसेहो किं च ही तंतो ।
छालियकहाइं कड्डइ, कत्थ जई कत्थ छालियाइं ? ॥ १४ ॥
पुव्वावरसंजुत्तं, वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं ।
पोराणमद्धमागह-भासानियय हवइ सुत्तं ॥ १५ ॥
जे सुत्तगुणा वुत्ता, तव्विवरीयाणि गाहए पुव्विं ।
निच्छिएणकारणाणं, सा चेव विगिंचणे जयणा ॥ १६ ॥

गाथात्रय सूत्रसिद्ध, अह कयाइ सो वहुसयणो रायवल्लहो वा न सक्कइ विगिंचिउं, तत्थ इमा जयणा-

कावालिए सरक्खे, तव्वण्णियवसहलिंगरूवेणं ।
वेडुंबगपव्वइए, कायव्व विहीएँ वोसिरणं ॥ १७ ॥

( कावालिए त्ति ) वृथाभागात्यर्थ. । कापालिकलिङ्गरूपेण तेन सह भवति, ( सरक्खो त्ति ) सरजस्कलिङ्गरूपेण, भौतलिङ्गरूपेणेत्यर्थः । ( तव्वण्णिए त्ति ) रक्तपटलिङ्गरूपेण इत्थ (वेडुबगपव्वइए ) नरेन्द्राऽऽदिविशिष्टकुलोद्भतो वेडुम्बगो भण्यते, तस्मिन् प्रव्रजिते सति कर्त्तव्य 'विधिना' उक्तलक्षणेन व्युत्सृजन परित्याग इति गाथाऽर्थ ॥ १७ ॥

भावार्थस्त्वयम-

निववल्लभबहुपक्खम्मि वावि-तरुणवसहामिणं बेंति ।
भिन्नकहाओ भट्ठा-ण घडइ इह वच्च परतित्थी ॥ ८॥
तुमए समगं आमं-ति निग्गओ भिक्खमाइलक्खेणं ।
नासइ भिक्खुकमाइसु, छोढूण तओ वि विपलाइ ॥१६॥

गाथाद्वय निगदसिद्धम् । एसा नपुंसगविगिंचणा भणिया ।
( जड्डभेदा. ' जड्ड ' शब्दे चतुर्थभागे १३०२ पृष्ठे गता )

( ३ ) जड्डो दीक्षाऽनर्हः -

एसो वि न दिक्खिज्जइ,उस्सग्गेणमह दिक्खिओ होज्जा ।
कारणगएण केणइ, तत्थ विहिं उवरि वोच्छामि ॥२८॥

गाथा निगदसिद्धा ।

तत्थ जो सो मम्मणो, सो पव्वाविज्जइ । तत्थ विही भणइ-

मोत्तुं गिलाणकज्जं, दुम्मेहं पडियरइ जाव छम्मासा ।
एक्केके छम्मासा, जस्स व दड्ढुं विगिंचणया ॥ २६ ॥

एक्केके कुले गणे संघे छम्मासा पडिचरिज्जइ, जस्स व दट्ठु विगिंचणया जड्डुस्स भवइ, तस्सेव सो । अहवा जस्सेव दट्ठु लट्ठो भवइ तस्स सो होइ,न होइ तओ विगिंचणया। सरीरजड्डो जावज्जीव पि परियरिज्जइ।

जो पुण करणे जड्डो, उक्कोसं तस्स होंति छम्मासा ।
कुलगणसंघनिवेयण, एवं तु विहिं तहिं कुज्जा॥३०॥

इय प्रकटार्थैव, एसा सचित्तमणुयसंजयविगिंचणया ।
इयाणिं अचित्तसंजयाण पारिट्ठावणविही भण्णइ, ते पुण एव होज्जा-

आसुकार गिलाणे, पच्चक्खाए व आणुपुव्वीए ।
अचित्तसंजयाणं, वोच्छामि विहीइ वोसिरणं॥ ३१ ॥

करण कार', अचित्तीकरण गृह्यते, आशु शीघ्र कार आशुकार',तद्धेतुत्वाद्दहिविषविशूचिकाऽऽदयो गृह्यन्ते,तैर्य सदचित्तीभूत. । (गिलाणे त्ति) ग्लान मन्दश्च सन् य इति । प्रत्याख्याते वाऽनुपूर्व्या कारणशरीरपरिकर्मकरणानुक्रमेण भक्ते वा प्रत्याख्याते सति योऽचित्तीभूत इति भावार्थ । एतेषामचित्तसयतानां, ' वक्ष्ये ' अभिधास्ये, ' विधिना ' जिनोक्तेन प्रकारेण, ' व्युत्सृजन ' परित्यागमिति गाथार्थ ॥ ३१ ॥

एव य कालगयम्मी, मुणिणा सुत्तत्थगहियसारेणं ।
न हु कायव्व विसाओ, कायव्व विहीएँ वोसिरणं ॥३२॥

एव च एतेन प्रकारेण, ' कालगते ' साधौ मृते सति, ' मुनिना ' अन्येन साधुना, किम्भूतेन ?, सूत्रार्थगृहीतसारेण, गीतार्थेनेत्यर्थ । ' नहु ' नैव, कर्त्तव्य ' विषाद ' स्नेहाऽऽदिसमुत्थ' सम्मोह इत्यर्थ.। कर्त्तव्य किन्तु 'विधिना' प्रवचनोक्तेन प्रकारेण ' व्युत्सृजनं ' परित्यागरूपमिति गाथाऽर्थ ॥३२॥ आव०४अ०।

(४) कालगतसाधुपरिष्ठापनिका-

भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभिज्जा,तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्खू इच्छिज्जा एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवित्तए, अत्थि याइं केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारिकडं गहाय तं सरीरगं एगंते वहुफासुए पएसे परिट्ठवित्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया ॥ २४ ॥

अस्य सम्बन्धमाह-

तिहिँ कारणेहिँ अण्णं,आयरियं उद्दिसिज्ज तहिँ दुण्णि।
मुत्तुं तइए पगयं, वीसुंभणसुत्तजोगोऽयं ॥ ५६७ ॥

त्रिभि कारणैरवसन्नताऽऽदिभिरन्यमाचार्यमुद्दिशेदित्युक्तं, तत्राऽऽद्ये द्वे अवसन्नावधावितलक्षणे मुक्त्वा तृतीयेन कालगतरूपेण कारणेन प्रकृत,तद्विषया विधिरनेनाभिधीयते इति भावः । एष विष्वग्भवनसूत्रस्य योग. सम्बन्ध ।

अहवा संजमजीविय-भवगहणे जीविया उ विगए वा ।
अण्णुद्देसो वुत्तो, इमं तु सुत्तं भवच्चाए ॥ ५६८ ॥

अथवा सयमजीवितभवग्रहणे, जीविताद्वा विगते,अन्यस्याऽऽचार्यस्योद्देश पूर्वसूत्रे उक्त, इद तु सूत्र भवस्य जीवितस्य परित्यागविषयमारभ्यते ।

अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य ( २४ सूत्रस्य ) व्याख्या-भिक्षु ,चशब्दादाचार्योपाध्यायौ च,रात्रौ वा, विकाले वा (आहच्च)कदाचिद्विष्वग्भूतश्चेत् जीव. शरीरात् पृथग्भावमाप्नुयाद्, म्रियते इत्यर्थ । तत्र शरीरक कश्चिद्वैयावृत्यकरो भिक्षुरिच्छेदेकान्ते विविक्ते बहुप्राशुके कीटकाऽऽदिसत्त्वरहिते प्रदेशे परिष्ठापयितुम् । अस्ति चात्र किञ्चित्सागारिकसत्कमचित्तमजीव परिहरणार्ह परिभोगयोग्यमुपकरणजात, वहनकाष्ठमित्यर्थ' । कल्पते ( से ) तस्य भिक्षो सत्काष्ठ सागारिककृतम्, सागारिकस्यैव सत्कमिद नास्माकमित्येव गृहीत्वा तच्छरीरमेकान्ते बहुप्राशुके प्रदेशे परिष्ठापयितु, तत्र परिष्ठाप्य-ते गृहीतसत्काष्ठ तत्रैवोपनिक्षेप्तव्य स्यादिति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तर -

पुव्वं दव्वाऽऽलोयण, नियमा गच्छे उवक्कमनिमित्तं ।

भत्तं परिणगेलरण, पुव्वगहो थंडलिस्सेव ॥ ५९९ ॥

यत्र साधवो मासकल्प वर्षावास वा कर्त्तुकामास्तत्र पूर्वमेव तिष्ठतो कस्यस्य वहनकाष्ठाऽऽदेरवलोकन नियमात्कुर्वन्त्रासिन कुर्वन्ति । किमित्याह--उपक्रमो मरण,तत्कस्याऽपि सयतस्य भवेदित्येवमर्थः । तच्च मरणं कदाचित् भक्तपरिज्ञानतो भवेत्, कदाचित्तु ग्लानस्य । उपलक्षणमिदम्--तेनाऽऽशुकारेण वा मरण भवेत । तत पूर्वमेव महास्थण्डिलस्य, वहनकाष्ठाऽऽदेश्चावग्रहः प्रत्युपेक्षण विधेयम् ।

अधुनाऽधिकृतविधिप्रतिपादनाय निर्युक्तिकारो द्वारगाथात्रयमाह—

पडिलेहणा दिसा णं-तए य काले दिया य राते य ।
जग्गण वंधण छेदण, एतं तु विधिं तहिं कुज्जा ॥६००॥
कुसपडिमाए णियत्तण-मत्तग मीसे तणाइँ उवकरणे ।
काउस्सग्गपदाहिण, अब्भुट्ठाणे य वाहरणा ॥ ६०१ ॥
काउस्सग्गे य सज्झा-इए य खमणस्स मग्गणा होति ।
वोसिरणे ओलोयण-सुभासुभं ठावती निमित्तट्ठा ॥६०२॥

(दिस त्ति) दिग्भागो निरूपणीय. । (णतपय त्ति) औपग्राहिकानन्तक मृतच्छेदनार्थं गच्छे सदैव धारणीयम् । जातिप्रधानश्चाय निर्देशः, ततो जघन्यतोऽपि त्राणि वस्त्राणि धारणीयानि ।(काले दिया य राम्रो अ त्ति) दिवा रात्रौ वा कालगते विषादो न विधेयः रात्रौ च स्थाप्यमाने मृतके जागरण बन्धन छेदन च कर्त्तव्यम् । एवं विधि तत्र कुर्यात् । तथा-नक्षत्र विलोक्य कुशप्रतिमाया एकस्या द्वयोर्वा करणमकरण वा ( नियत्तण त्ति ) येन प्रथमतो गता न तेनैव पथा निवर्त्तनीयम् । मात्रके पानक गृहीत्वा पुरत एकेन साधुना गन्तव्यं, यस्यां दिशि ग्रामस्तत. शीर्षं कर्त्तव्य, तृणानि समानि प्रस्तरणीयानि, उपकरण रजोहरणाऽऽदिक तस्य पार्श्वे धारणीयम्, अविधिपरिष्ठापनायाः कायोत्सर्गः स्थण्डिले स्थितैर्न कर्त्तव्य. । निवर्त्तमानैः प्रादक्षिण्य न विधेयम् । शवस्य चाभ्युत्थानेन वसत्यादिक परित्यजनीयम् । यस्य च सयतस्य व्याहरण नामग्रहण स करोति तस्य लोचः कर्त्तव्य, गुरुसकाशमागतैः कायोत्सर्गो विधेयः, स्वाध्यायिकस्य च मार्गणा कर्त्तव्या । उच्चाराऽऽदिमात्रकाणां व्युत्सर्जन कर्त्तव्यम् , अपरे अह्नि तस्यावलोकन, शुभाशुभगतिज्ञानार्थं निमित्तग्रहणार्थं च विधेयमिति द्वारगाथात्रयसमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह-

जं दव्वं घणमसिणं, वावारजुयमवहमाणए वलियं ।
वेणुमय दारुगं वा, तं वहणट्ठा पलोयंति ॥ ६०३ ॥

यद् द्रव्य वेणुमयं दारुक वा घनमसृण व्यापारयुक्तमवहमानकं मलं यो इतरतर सागारिकस्य गृहे तिष्ठति तत्कालगतस्य वहनार्थं प्रथममेव प्रलोकयन्ति, महास्थण्डिल च प्रत्युपेक्षणीयम् ।

अथ न प्रत्युपेक्षन्ते तत इमे दोषा.-

अतथंडिलम्मि काया, पवयणघाओ य होइ आसण्णे ।
उड्डवणे गहणाई, परुग्गहे तेण पेहिज्जा ॥ ६०४ ॥

अस्थण्डिले परिष्ठापयन् षट्कायान् विराधयति,प्रवचनघातश्च ग्रामाऽऽदेरासन्ने परिष्ठापयतो भवति, परावग्रहे च परिष्ठापयतश्छर्दापन भवेत् । छर्दापन नाम ते छद्मादपि साधुपार्श्वादन्यत्र मृतं शव परित्यजेयु., ततो ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदयो भवेयु । ततो महास्थण्डिलमवश्य प्रागेव प्रत्युपेक्षेत । गत प्रत्युपेक्षणाद्वारम् ।



(५) अथ दिग्द्वारमाह-

दिसि अवरदक्खिणा द-क्खिणा य अवरा य दक्खिणा पुव्वा।
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ६०५ ॥

प्रथममपरदक्षिणा नैर्ऋत्या दिग् निरीक्षणीया, तदभावे दक्षिणा, तस्या अभावे अपरा दिक्,तदप्राप्तौ दक्षिणपूर्वा आग्नेयी,तदलाभे अपरोत्तरा वा । एव तस्या अभावे पूर्वा, तदभावे उत्तरा, तदभावे उत्तरपूर्वा ।

सम्प्रति प्रथमायां दिशि सत्यां शेषदिक्षु परिष्ठापने दोषानाह-

समाही न भत्तपाणे, उवकरणे तुमंतुमा य कलहो य ।
भेदो गेलन्नो वा, चरिमा पुण कढए अन्नं ॥ ६०६ ॥

प्रथमाया दिशि शवस्य परिष्ठापने चतुरान्नपानवस्त्रपात्रलाभतः समाधिर्भवति, तस्यां सत्यां यदि दक्षिणस्यां परिष्ठापयन्ति तदा भक्तपान न लभन्ते, अपरस्यामुपकरण न प्राप्नुवन्ति, दक्षिणपूर्वस्यां 'तुमतुमा' परस्पर साधूनां भवति । अपरोत्तरस्यां कलह संयतगृहस्थान्यतीर्थिकै. सम भवति; पूर्वस्यां गणभेदश्चारित्रभेदो वा भवेत, उत्तरस्या ग्लानत्वम्;चरमा पूर्वोत्तरा, सा कृतमृतकपरिष्ठापना अन्य साधुमाकर्षति, मारयतीत्यर्थः ।

आसन्नमज्झदूरे, वाघातट्ठा, तु थंडिले तिण्णि ।
खेत्तुदगहरियपाणा-णिविट्ठमादी व वाघाए ॥ ६०७ ॥

प्रथमायामपि दिशि त्रीणि स्थण्डिलानि प्रत्यवेक्षणीयानि,ग्रामाऽऽदेरासन्ने मध्ये दूरे वा । किमर्थं पुनस्त्रीणि प्रत्यवेक्षन्ते ?, इत्याह-व्याघातार्थं,व्याघात कदाचिद्भवेदित्यर्थः । स चायम्-क्षेत्र तत्र प्रदेशे कृष्टम, उदकेन वा भावित, हरितकायाद् वा जात., त्रसप्राणिभिर्वा ससक्त समजनि,ग्रामो वा निविष्ट.,आदिग्रहणेन सार्थो वा आवासित', एवमादिको व्याघातो यद्यासन्ने स्थण्डिले भवति तदा मध्ये परिष्ठापयन्ति, तत्रापि व्याघाते दूरे परिष्ठापयन्ति, अथ प्रथमायां दिशि विद्यमानाया द्वितीयाया तृतीयाया वा प्रत्यवेक्षन्ते ततश्चतुर्गुरुका. ।

एते च दोषा -

एसण पेल्लण जोगा-ण व हाणी भिण्ण मासकप्पो वा ।
भत्तोवधी अभावे, इति दोसा तेण पढमम्मि ॥ ६०८ ॥

भक्तपानलोभादुपधेरलाभाद् वा प्रेरण कुर्यु. । अथैषणा न प्रेरयेयुस्ततो योगानामावश्यकव्यापाराणां हानिः, अपर वा क्षेत्रं गच्छतां मासकल्पो भिन्नो वा भवेत । एवमादयो दोषा भक्तोपध्यादेरभावे भवन्ति, तत. प्रथमे दिग्भागे महास्थण्डिल प्रत्यवेक्षणीयम् ।

एमेव सेसियासु वि, तुमंतुमा कलह भेदमरणं वा ।
जं पावंति सुविहिया, गणाहिवो पावे तिविहं तु ॥६०९॥

यथा द्वितीयाया तृतीयाया च दोषा उक्ता , एव शेषेष्वपि चतुर्थ्यादिषु, यत्तुमतुमा कलह गणभेद मरण वा सुविहिता. प्राप्नुवन्ति, तद्गणाधिप. सर्वमपि प्राप्स्यति अथ प्रथमायां व्याघातस्ततो द्वितीयायामपि प्रत्यवेक्षणीय,तस्यां च स एव भक्तपानलक्षणो गुणो भवति य प्रथमायामुक्त. । अथ द्वितीयस्या विद्यमानाया तृतीयाया प्रत्यवेक्षन्ते । ततः स एव प्रागुक्तो दोष । एवमष्टम्यां दिशि यावन्नेतव्यम् । द्वितीयस्या व्याघातस्ततः तृतीयस्यां प्रत्यवेक्षणीय, तस्या च स एव गुणो भवति । एवमुत्तरोत्तरदिक्ष्वपि भावनीयम् । गत दिग्द्वारम् ।

(६) अथ गणनद्वारमाह-

वित्थाराऽऽयामेणं, जं वत्थं लब्भती समतिरेगं ।
चोक्ख सुचिगं च सेतं, उवक्कमट्ठा धरेयव्वं ॥ ६१० ॥

विस्तारेण, आयामेन च यद्वस्त्रप्रमाणम् अर्द्धतृतीयहस्ताऽऽदिक तृतीयोद्देशके भणितं, ततो यद्वस्त्र समतिरेक लभ्यते, कथम्भूतम् ?, (चोक्ख) धवलित,शुचिक नाम सुगन्धि,श्वेतं पाण्डुरम् । एवंविध जीविलोपक्रमार्थं गच्छे धारयितव्यम् ।

गणनाप्रमाणेन तु तानि त्रीणि भवन्ति । तद्यथा-

अत्थरणट्ठा एगं, बिइयं छोढुं उवरि घणं बंधे ।
उक्किट्ठयरं उवरि, बंधाऽऽदिच्छादणट्ठाए ॥ ६११ ॥

एक तस्य मृतस्याध आस्तरणार्थं,द्वितीय पुन प्रक्षिप्योपरि घन बध्नीयात् । किमुक्त भवति ?-द्वितीयेन त मृतक प्रावृत्योपरि दवरकेण घन बध्यते । तृतीयमुत्कृष्टतरमतीवोज्ज्वल बन्धाऽऽदिच्छादनार्थं तदुपरि स्थापनीयम् । एव जघन्यतस्त्रीणि वस्त्राणि ग्रहीतव्यानि, उत्कर्षतस्तु गच्छ ज्ञात्वा बहून्यपि गृह्यन्ते ।

एतेसिं अग्गहणे, चउगुरु दिवसम्मि वण्णिया दोसा ।
रत्तिं च पडिच्छंते, गुरुगा उट्ठाणमादीया ॥ ६१२ ॥

एतेषामेवंविधानां त्रयाणां वस्त्राणामग्रहणे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त, मलिनवस्त्रप्रावृते च तस्मिन् वसतौ नीयमाने दोषा अपर्णवादाऽऽदयो वर्णिता । अथैतद्दोषभयाद्रात्रौ परिष्ठापयिष्यामीति बुद्ध्या मृतक प्रतीक्षापयति ततश्चतुर्गुरुका , उत्थानोऽऽदयश्च दोषा ।

कथ पुनरवर्णवादाऽऽदयो दोषा ?, इत्याह-

उज्झाइए अवण्णो, दुविह णियत्ती य मइलवसणाणं ।
तम्हा तु अहतकसिणं,धरेति पक्खस्स पडिलेहा ।६१३।

( उज्झाइए ) मलिनकुचेले तस्मिन्नीयमाने अवर्णो भवति-अहो अमी वराका मृता अपि शोभा न लभन्ते । मलिनवस्त्राणां च दर्शने द्विविधा निवृत्तिर्भवति । सम्यक्त्व प्रव्रज्यां च गृहीतुकामा प्रतिनिवर्तन्ते । शुचि श्वेतवस्त्रदर्शने तु लोक प्रशसति—अहो शोभनो धर्म इति , यत एव तस्मादहतमपरिभुक्त कृत्स्न प्रमाणात प्रतिपूर्णं वस्त्रत्रिक धारणीयम् । पक्षस्यान्ते तस्य प्रत्यवेक्षणा कर्तव्या । दिवसे दिवसे प्रत्यवेक्षमाण हि मलिनीभवेत् । गत गणनद्वारम् । बृ० ४ उ० ।

( ७ ) इयाणिं णोमणुयपरिट्ठावणिया भण्णइ-

णोमणुएहिं जा सा,तिरिएहिं सा य होइ दुविहा उ ।
सचित्तेहि सुविहिया !, अचित्तेहिं च नायव्वा ॥ ६९ ॥

निगदसिद्धा ।

दुविह पि एगगाहाए भण्णइ-

चाउलोयगमाईहिं, जलचरमाईण होइ सचित्ता ।
जलथलखहकालगए, अचित्ते विगिंचणं कुज्जा ॥ ७० ॥

इमीए वक्खाणं-णोमणुस्सा दुविहा-सचित्ता अचित्ता य । सचित्ता चाउलोदयमाइसु,चाउलोदयगहणं जहा ओघनिज्जुत्तीए तत्थ निवुड्डो आसि मंडुक्को मंडुक्कलिया वा,त चेव तेण चेवेण पाणिएण सह निज्जइ, पाणियमंडुक्को पाणिय दट्ठूण छड्डेइ, मंडुक्को वला जुंभइ, आइग्गहणेण ससत्तुपाणएण वा गोरसकुडए वा तल्लभायणे वा एव सचित्ता । अचित्ता-अणिमिसमाई केणइ आणीओ पक्खिणा पडिणीएण वा,थलयरो उंदुरो घरकोइलो एवमाई. खहचरो हंसवायसमयूराऽऽई, जत्थ सदोस तत्थ विवेगो अप्पसागारिए वोसिरण वा,निद्दोसे जाहे रुच्चइ ताहे विगिंचइ । तम्मणुपारिट्ठावणिया गया ।

इयाणिं णोतसपाणपरिट्ठावणिया भण्णइ-

णोतसपाणेहिं जा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
आहारम्मि सुविहिया !,नायव्वा नो अ आहारे ॥७१॥

( णोतसमी ) निगदसिद्धा, नवर नोआहारो उवगरणाइ, तत्थ-

आहारम्मि उ जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
जाया चेव सुविहिया !, नायव्वा तह अजाया य ॥७२॥

' आहारे ' आहारविषये याऽसौ पारिस्थापनिका सा ' द्विविधा ' द्विप्रकारा भवति ' आनुपूर्व्या ' परिपाट्या द्वैविध्य दर्शयति, ' जाया चेव सुविहिया ! णायव्वा तह अजाया य ।' तत्र दोषात् परित्यागार्हाऽऽहारविषया या सा जाता, ततश्च जाता चैव ' सुविहिता !' इत्यामन्त्रण प्राग्वत्, ज्ञातव्या, तथाऽजाता च, तद्व्यतिरिक्तनिरवद्याऽऽहारपरित्यागविषयाऽजातो च्यत इति गाथार्थ ॥ ७२ ॥

तत्र जाता स्वयमेव प्रतिपादयन्नाह-

आहाकम्मे य तहा, लोहविसे आभिओगिए गहिए ।
एएण होइ जाया, वोच्छं से विहीएँ वोसिरणं ॥७३॥

आधाकर्म प्रतीत, तस्मिन्नाधाकर्मणि च तथा ( लोहविसे आभिओगिए गहिए त्ति ) लोभाद् गृहीत ( विसे त्ति ) विषकृते गृहीते ( आभिओगिए त्ति ) वशीकरणाय मन्त्राभिसंस्कृते गृहीते सति कथञ्चिन्मतिकाव्यापत्तिचेतोऽन्यथात्वाऽऽदिलिङ्गतश्च ज्ञाते सति ' एतेन ' आधाकर्माऽऽदिनादोषेण भवति ' जाता ' पारिस्थापनिका दोषात्परित्यागार्हाऽऽहारविषयेत्यर्थ । ( वोच्छं से विहीऍ वोसिरणं ति ) वक्ष्येऽस्या विधिना जिनोक्तेन व्युत्सर्जनं परित्यागमित्यर्थ ।

एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।
छारेण अक्कमित्ता, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ७४ ॥

एकान्ते ' अनापाते ' स्त्र्याद्यापातरहिते ' अचेतने ' चेतनाविकले स्थण्डिले ' भूभागे ' गुरूपदिष्टे ' गुरुणा व्याख्याते, अनेनाविधिज्ञेन परिस्थापनं न कार्यमिति दर्शयति-( छारेण अक्कमित्ता ) भस्मना सम्मिश्रय ( तिट्ठाण सावण कुज्ज त्ति ) सामान्येन तिस्रो वारा श्रावणं कुर्यात्-अमुकदोषदुष्टमिदं व्युत्सृजामि एवं. विशेषतस्तु विषकृता भियोगिकाऽऽदेरपकारकस्यैव विधि.,न त्वाधाकर्माऽऽदे , तदत्र प्रसङ्गेनैव भणिष्याम इति गाथार्थ ॥७४॥

अजातपारिस्थापनिकीं प्रतिपादयन्नाह-

आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसलाहे ।
एसा खलु अजाया, वोच्छं से विहीएँ वोसिरणं ॥७५॥

आचार्ये सत्यधिक गृहीतं किञ्चिद्, एव ग्लाने प्राघूर्णके दुर्लभे वा विशिष्टद्रव्ये सति सहसलाभे-विशिष्टस्य कथञ्चिल्लाभे सति अतिरिक्तग्रहणसम्भव , तस्य च या पारिस्थापनिका एषा खलु 'अजाता' अदुष्टाधिकाऽऽहारपरित्यागविषयेत्यर्थ. । ( वोच्छं से विहीएँ वोसिरणं ) प्राग्वदिति गाथार्थ. ॥ ७५ ॥

एगंतमणावाए, अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे ।
आलोएँ तिन्नि पुंजे, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ७६ ॥
पूर्वार्द्धं प्राग्वत् । ( आलोए त्ति ) प्रकाशे त्रीन् पुञ्जान् कुर्यात् अत एव मूलगुणदुष्टे त्वेकमुत्तरगुणदुष्टे तु द्वाविति प्रसङ्गः तथा ( तिट्ठाणं सावण कुज्ज त्ति ) पूर्ववदयं गाथाऽर्थः ॥ ७६ ॥ गता आहारपरिस्थापनिका । आव० ४ अ० ।

( ८ ) अथ दिवा रात्रौ कालगत इति द्वारमाह-
आसुकार गिलाणे, पच्चक्खाए व आणुपुव्वीए ।
दिवसस्स व रत्तीइ उ, एगतरे होज्जऽवक्कमणं ॥ ६१४ ॥
आशु शीघ्रं जीवस्य निर्जीवकरणत्वादहिविषविशूचिकाऽऽदयोऽप्याशुकारा उच्यन्ते, तैरपक्रमणं मरणं कस्याऽपि भवेत् , ग्लानत्वेन वा मान्द्येन कोऽपि म्रियते, आनुपूर्व्या वा शरीरपरिकर्मणा क्रमेण भक्ते प्रत्याख्याते सति कश्चित्काल धर्मं गच्छेत्, एवं दिवसरजन्योरेकतरस्मिन् काले जीवितापक्रमणं भवेत् ।
एवं कालगयम्मी, मुणिणा सुत्तत्थगहितसारेणं ।
न हु मंतव्वो विसाओ, कायव्वो विहीएँ वोसिरणं ।६१५।
एवमेतेन प्रकारेण कालगते सति साधौ सूत्रार्थगृहीतसारेण मुनिना न विषादो मन्तव्यः, किं तु कर्त्तव्य तस्य कालगतस्य विधिभाव्युत्सर्जनम् ।
कथमित्याह-
आयरिओ गीतो वा, जो व कडाई तहिं भवे साहू ।
कायव्वो अखिलविही, न तु सोगभया व सीदेज्जा ॥६१६॥
यत्सूत्राऽऽचार्योऽपरो वा गीतार्थो यो वा अगीतार्थोऽपि कृताऽऽदिरीदृशे कार्ये कृतकरण०, आदिशब्दाद्धैर्याऽऽदिगुणोपेतः साधुर्भवति, तेनाखिलोऽपि विधि कर्त्तव्यो, न पुनः शोकाद् भयाद्वा तत्र सीदेत् यथोक्तविधिविधाने प्रमाद न कुर्यात् ।
किमालम्ब्य शोकभयौ न कर्त्तव्यौ ?, इत्याह-
सव्वे वि मरणधम्मा, संसारी तेण कासि मा सोगं ।
जं चऽप्पणो वि होहिति, किं तत्थ भयं परगयम्मि ? ।६१७।
सर्वेऽपि संसारिणो जीवा मरणधर्म्माण इत्यालम्ब्य शोकं मा कार्षीः, यच्च मरणमात्मनोऽपि कालक्रमेण भविष्यति, तत्र परस्य गते परस्य संजाते किं नाम भय विधीयते, न किञ्चिदित्यर्थः गतं दिवा रात्रौ चेति द्वारम् ।

( ९ ) अथ जागरणबन्धनच्छेदनद्वारमाह-
जं वेलं कालगतो, निक्कारण कारणा भवे निरोधो य ।
जगण बंधण छे-दण एतं तु विहिं तहि कुज्जा ॥६१८॥
दिवा रजन्या वा यस्या वेलाया कालगतस्तस्यामेव वेलायां निष्काशनीय० । एवं निष्कारण उक्तम् । कारणे तु निरोधो नाम कियन्तमपि कालं प्रतीक्ष्यते । तत्र च जागरणं, बन्धनं, छेदनम्, एतमेवमादकं विधिं वक्ष्यमाणनीत्या कुर्यात् ।
कै० पुनः कारणै० स प्रतीक्ष्यते ?, इत्याह-
हिमतेणसावयभया, पिहितद्दारो महाणिणादो वा ।
ठवणा णियगा व तहिं, आयरिय महातवस्सी वा ।६१९।
रात्रौ दुरधिसह हिम पतति, स्तेनभयात् स्वापदभयाद्वा न निर्गन्तुं शक्यते, नगरद्वाराणि वा तदानीं पिहितानि, महानिनादो महाजनजात०, शब्दः तत्र ग्रामे नगरे वा, स्थापना वा तत्र ग्रामाऽऽदावीदृशी व्यवस्था, यथा रात्रौ मृतकं न निष्काशनीयं, निजका वा स्वज्ञातिकास्तत्र सन्ति ते भणन्ति-अस्माकमनापृच्छया न निष्काशनीयः, आचार्यो वा स तत्र नगरे अतीवलोकविख्यातः, महातपस्वी वा प्रभूतकालपालितानशनो, रागाऽऽदिक्षपको वा, एतै० कारणै० रजन्यां प्रतीक्ष्यते, दिवा पुनरेतै० कारणैः प्रतीक्षापयेत् ।
णंतग असती राया, व नीति संतेउरो पुरवती तु ।
णीति व जणणिवहेणं, दाराणिरुद्धाणि णिसि तेणं ॥६२०॥
णन्तकाना शुचिश्वेतवस्त्राणामभावे० दिवा न निष्काश्यते, राजा वा सान्त पुर० पुरपतिर्वा नगरमतियाति प्रविशति जननिवहेन वा महता नरलोलिकाऽऽदिवृन्देन नगरान्निर्गच्छति, तद्द्वारातो निरुद्धानि तेन निशि न निष्काश्यते । एवं दिवाऽपि प्रतीक्षापण भवेत् ।
अत्र चाऽयं विधि -
वातेण अणक्कंते, अभिणवमुक्कस्स हत्थपादे उ ।
कुव्वंति ते पणिहिते, मुहणयणाण च संपुडणं ॥६२१॥
वातेन यावदद्यापि शरीरकमाक्रान्तं स्तब्ध न भवति तावदभिनवजीवितमुक्तस्य हस्तपादान् यथाप्रणिहितान् प्रगुणतयाऽलम्बमानान् कुर्वन्ति, मुखनयनाना च संपुटनं संमीलनं कुर्वन्ति ।
जागराऽऽदिविधिमाह-
जितणिद्दुवायकुसला, ओरस्सबली य सत्तजुत्ता य ।
कतकरण अप्पमादी, अभीरुगा जागरंति तहिं ॥६२२॥
जितनिद्रा , उपायकुशला०, औरसबलिनो महापराक्रमा , सत्त्वयुक्ताः धैर्यसंपन्ना०, कृतकरणा अप्रमादिन० अभीरुकाश्च ये साधवस्ते तत्र तदा जाग्रति ।
जागरणट्ठाएँ तहिं, अण्णेसिं वा वि तत्थ धम्मकहा ।
सुत्तं धम्मकहं वा, मधुरगिरो उच्चसद्देणं ॥ ६२३ ॥
जागरणार्थं तत्र तैरन्योऽन्यमन्येषां वा श्राद्धाऽऽदीना धर्म्मकथा कर्त्तव्या । स्वयं वा सूत्रं धर्मकथां वा धर्मप्रतिबद्धामाख्यायिका मधुरगिर उच्चशब्देन गुणयन्ति ।
बन्धनच्छेदनपदे व्याख्याति-
करपायंऽगुट्ठे दो-रकेण बंधिउ पुत्तीमुहं छाए ।
अक्खयदेहे खणणं, अंगुलिविच्चे ण वाहिरओ ॥६२४॥
करपादाङ्गुष्ठान् कराङ्गुष्ठद्वयान् पादाङ्गुष्ठद्वयं च दवरकेण बद्ध्वा मुखपोत्तिकया मुखं छादयेदेतद्बन्धनमुच्यते । तथा अक्षतदेहे तस्मिन् । ( अगुलीविच्चे ) अङ्गुलिमध्ये चीरके खननम् ईषत्फलनं क्रियते, न बाह्यतः, एतच्छेदनं मन्तव्यम् ।
अण्णाइट्ठसरीरे, पंता वा देव तत्थ उट्ठिज्जा ।
परिणामि डव्वहत्थे-ण वुज्झ गुज्झ व मा मुज्झ ॥६२५॥
एवमपि क्रियमाणे यद्यन्याऽऽविष्टशरीरा० सामान्येन व्यन्तराधिष्ठितदेह , प्रान्ता वा प्रत्यनीका काचिद्देवताऽत्रावसरे तत्कलेवरमनुप्रविश्योत्तिष्ठेत्, तत० परिणामिनीं कायिकीम् ( डव्वहत्थेण त्ति ) वामहस्तेन, गृहीत्वा तत्कडेवरं सेवनीयं ,

इदं च वक्तव्यम्-बुध्यस्व बुध्यस्व गुह्यक ! मा मुह्य मा प्रमादीः संस्तारकान्मोत्तिष्ठेति भावः ।

वित्तासेज रसेज व, भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा ।
अभिएण सुविहिएणं, कायव्व विहीएँ वोसिरणं ॥६२६॥

अन्याधिष्ठितं तत्कडेवरं वित्रासयेत् विकरालरूपं दर्शयित्वा भापयेत् रसेद्वा आरटिं मुञ्चेत्, भीमं वा रोमहर्षजनकमट्टहासं मुञ्चेत्, तथाऽपि तत्राऽभीतेन सुविहितेन विधिना पूर्वोक्तेन,वक्ष्यमाणेन च व्युत्सर्जनं कर्तव्यम् । गतं जागरणाऽऽदिद्वारम् ।

(१०) अथ कुशप्रतिमाद्वारमाह-

दोण्णि जदि सड्ढखेत्ते, दब्भमया पुत्तगा तु कायव्वा ।
समखेत्तम्मि य एक्को, अवड्ढ अत्तिई ण कायव्वो ॥६२७॥

कालगते सति संयते नक्षत्रं विलोकयति ततश्चतुर्गुरु, ततो नक्षत्रे विलोकिते यदि सार्द्धक्षेत्रं तदानीं नक्षत्रं, सार्द्धक्षेत्रं नाम-पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तभोग्यं, सार्द्ध, दिनभोग्यमिति यावत् । तदा दर्भमयौ द्वौ पुत्तलकौ कर्त्तव्यौ,यदि न करोति तदाऽऽश्वपरं साधुद्वयमाकर्षति, तानि च सार्द्धक्षेत्राणि नक्षत्राणि षट् भवन्ति । तद्यथा-उत्तराफाल्गुन्य., उत्तराषाढा, उत्तराभद्रपदाः, पुनर्वसु,रोहिणी, विशाखा चेति । अथ समक्षेत्रं त्रिंशन्मुहूर्त्तभोग्यं यदा नक्षत्रं तत एक, पुत्तलकः कर्त्तव्यः, एष ते द्वितीय इति वक्तव्यम् । अकरणे अपरमेकमाकर्षति । समक्षेत्राणि चामूनि पञ्चदश-अश्विनी,कृत्तिका, मृगशिर., पुष्यो, मघाः, पूर्वाफाल्गुन्यो, हस्त., चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवणो धनिष्ठा, पूर्वभद्रपदा, रेवती चेति । अथापार्द्धक्षेत्रं पञ्चदशमुहूर्त्तभोग्यं तन्नक्षत्रम् अभीचिर्वा तत एकोऽपि पुत्तलको न कर्त्तव्य. । अपार्द्धक्षेत्राणि चामूनि-षट् शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, अश्लेषा स्वाति, ज्येष्ठा चेति ।

(११) अथ निवर्त्तनद्वारमाह-

थंडिलवाघाएणं, अहवा वि अनिच्छिए अणाभोगा ।
भमिऊण उवागच्छे, तेणेव पहेण न नियत्ते ॥६२८॥

यत्र मृते नीयमाने स्थण्डिलास्याऽऽढकहरिताऽऽदिभिर्व्याघातो भवेत् अनाभोगेन वा स्थण्डिलमतिक्रान्तं भवेत्, ततो भ्रमित्वा प्रदक्षिणं कुर्वाणा उपागच्छेयु., तेनैव पथा न निवर्त्तेरन् "जइ तेणेव मग्गेणं, नियत्तंति ततो असमायारी कया उट्टेज्जा,सो य जओ चेव उट्ठेइ,तओ.चेव उट्ठइ, तओ चेव पहावइ, तत्थ जओ गामो तओ धाविज्जा ।" तत एवं कर्त्तव्यम्-

वाघायम्मि ठवेउं, पुव्वं च अपेहियम्मि थंडिल्ले ।
तह णीति जह से कमा, ण होंति गामस्स पडिहुत्ता ।६२९।

स्थण्डिलस्य व्याघाते पूर्वं वा स्थण्डिलं न प्रत्यवेक्षितं ततस्तत् मृतकमेकान्ते स्थापयित्वा स्थण्डिलं च प्रत्युपेक्ष्य तथा च भ्रमयित्वा नयति यथा मृतस्य क्रमौ पादौ ग्रामाभिमुखौ न भवत ।

(१२) अथ मात्रकद्वारमाह-

सुत्तत्थतदुभयविऊ, पुरतो घेत्तूण पाणग कुसे य ।
गच्छति जइ सागारिय, परिट्ठवेऊण आयमणं ॥६३०॥

सूत्रार्थतदुभयवेदी मात्रके असंसृष्टपानकं कुशांश्च दर्भान् समच्छेदान् परस्परमसंबद्धान् हस्तचतुरङ्गुलप्रमाणान् गृहीत्वा पृष्ठतोऽनवेक्षमाण. पुरतोऽग्रत. स्थण्डिलाभिमुखो गच्छति,दर्भाणामभावे चूर्णानि केशराणि वा गृह्णन्ते,यदि सागारिकं ततः शवं परिष्ठाप्याऽऽचमनं हस्तपादशौचाऽऽदिकं कर्त्तव्यम्, आचमनग्रहणेनेदं ज्ञापयति-यथा यथा प्रवचनोड्डाहो न भवति तथा तथा अपरमपि विधेयम् ।

( १३ ) अथ शीर्षद्वारमाह-

जत्तो दिसाएँ गामो, तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं ।
उट्ठंतरक्खणट्ठा, अमंगलं लोगगरिहा य ॥ ६३१ ॥

यस्या दिशि ग्रामस्तत. शीर्षं शवस्य प्रतिश्रयाद् नीयमानस्य परिष्ठाप्यमानस्य च कर्त्तव्यम् । किमर्थमित्याह-उत्तिष्ठतो रक्षणार्थं, यदि नाम कथञ्चिदुत्तिष्ठते तथापि प्रतिश्रयाभिमुखं नागच्छतीति भावः । अपि च-यस्या दिशि ग्रामस्तदभिमुखं पादयोः क्रियमाणयोरमङ्गलं भवति, लोकश्च गर्हां कुर्यात्-अहो अमी श्रमणका एतदपि न जानन्ति, यद् ग्रामाभिमुखं शवं न क्रियते ।

(१४) अथ तृणाऽऽदिद्वारमाह-

कुसमुट्ठिए एक्केणं, अव्वोच्छिन्नाए तत्थ धाराए ।
संथार संथरेज्जा, सव्वत्थ समो य कायव्वो ॥ ६३२ ॥

यदा स्थण्डिलं प्रमार्जितं भवति तदा कुशमुष्टिनैकेनाव्युच्छिन्नया धारया संस्तारकं संस्तरेत्, स च सर्वत्र समः कर्त्तव्य ।

विषमे एते दोषा-

विसमा जदि होज्ज तणा, उवरिं मज्झे तहेव हेट्ठे य ।
मरणं गेलण्णं वा, तिण्हं पि उ णिद्दिसे तत्थ ॥६३३॥

विषमाणि तृणानि यदि तस्मिन् संस्तारके. उपरि वा मध्ये वा अधस्ताद्वा भवेयु., तदा त्रयाणामपि मरणं ग्लानत्वं वा निर्दिशेत् ।

केषां त्रयाणामित्याह-

उवरिं आयरियाणं, मज्झे वसभाण हेट्ठे भिक्खूणं ।
तिण्हं पि रक्खणट्ठा,सव्वत्थ समा य कायव्वा ॥६३४॥

उपरि विषमेषु तृणेषु आचार्याणां मध्ये वृषभाणामधस्ताद्भिक्षूणां मरणं ग्लानत्वं वा भवेत् । अतस्त्रयाणामपि रक्षणार्थं सर्वत्र समानि तृणानि कर्त्तव्यानि ।

जत्थ य नत्थि तिणाइं, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा ।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकार च बंधिज्जा ॥ ६३५ ॥

यत्र तृणानि न सन्ति तत्र चूर्णैर्वा नागकेशरैर्वा अव्युच्छिन्नया धारया ककार कर्त्तव्य.,तस्य चाधस्तात्तकार च बध्नीयात् क्त इत्यर्थ, चूर्णाना केशराणाना चाभावे प्रलेपकाऽऽदिरपि क्रियते ।

(१४) अथोपकरणद्वारमाह-

चिंधट्ठा उवगरणं, दोसा तु भवे अचिंधकरणम्मि ।
मिच्छत्तं सो व राया,कुणंति गामाण वहकरणं ॥६३६॥

परिष्ठाप्यमाने चिह्नार्थं यथाजातमुपकरणं पार्श्वे स्थापनीयम् । तद्यथा-रजोहरणं, मुखपोत्तिका, चोलपट्टका, यतस्तत्र स्थापयन्ति ततश्चतुर्गुरु,आज्ञाऽऽदयश्च दोषा चिह्नस्याकरणे भवन्ति । स च कालगतो मिथ्यात्वं गच्छेत् राजा वा

जनपरम्परया तं ज्ञात्वा कश्चिन्मनुष्योऽमीभिरपद्रावित इति बुद्ध्या कुपितः प्रत्यासन्नवर्तिनां द्वित्र्यादीनां ग्रामाणां वधं कुर्यात्।

अथैतदेव भावयति-

उवगरणमहाजाते, अकरणे उज्जेणिभिक्खुदिट्ठंतो।
लिंगं अपेच्छमाणे, काले वइरं तु पाडेति ॥ ६३७ ॥

यथाजातमुपकरणं यदि तस्य पार्श्वे न कुर्वन्ति ततोऽसौ देवलोकगतः प्रयुक्तावधेरहमनेन गृहिलिङ्गेन, परलिङ्गेन वा देवो जात इति मिथ्यात्वं गच्छेत् । उज्जयिनीभिक्षुदृष्टान्तश्चात्र भवति,स चाऽऽवश्यकटीकातोऽवगन्तव्यः ।(५३ गाथा. आव० ४ अ०) यस्य वा ग्रामस्य पार्श्वे परिष्ठापितस्तत्र तत्पार्श्वे लिङ्गमपश्यन् लोको राजानं विज्ञापयेत्, स च केनाऽप्यपद्रावितोऽयमिति मत्वा काले नयति वैरं पातयति, वैरं निर्यातीति भावः।

(१६) कायोत्सर्गद्वारमाह-

उट्ठाणाऽऽई दोसा, हवंति तत्थेव काउसग्गम्मि।
आगम्मुवस्सयं गुरु-समीव अविहीएँ उस्सग्गे ॥६३८॥

तत्रैव परिष्ठापनभूमिकायां कायोत्सर्गे क्रियमाणे उत्थानाऽऽदयो दोषा भवन्ति, अत उपाश्रयमागम्य गुरुसमीपे अविधिपरिष्ठापनिकाकायोत्सर्गः कर्त्तव्यः।

(१७) प्रादक्षिण्यद्वारमाह-

जो जहियं सो तत्तो, णियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं।
उट्ठाणाऽऽदी दोसा, विराहणा बालवुड्ढाणं ॥ ६३९ ॥

शवं परिष्ठाप्य यो यत्र भवति ततो निवर्तते, प्रादक्षिण्यं न कर्तव्यं, यदि कुर्वन्ति तत उत्थानाऽऽदयो दोषाः, बालवृद्धानां च विराधना भवति।

(१८) अथाऽभ्युत्थानद्वारमाह-

जइ पुण अणीणिओ वा,णीणिज्जंतो विविंचिओ वा वि।
उट्ठेज्ज समाइट्ठो, तत्थ इमा मग्गणा होति ॥ ६४० ॥

यदि पुनः स कालगतोऽनिष्काशितो वा निष्काश्यमानो वा विविक्तो वा परिष्ठापितो व्यन्तरसमाविष्टः तिष्ठेत्, ततस्तत्रेयं मार्गणा भवति-

वसहि निवेसण साहीएँ, गाममज्झे य गामदारे य।
अंतर उज्जाणंतर-णिसीहिया उट्ठितो वोच्छं ॥६४१॥

वसतौ वा स उत्तिष्ठेत्, निवेशने वा पाटके, साहिकायां वा गृहपङ्क्तिरूपायां, ग्राममध्ये वा,ग्रामद्वारे वा, ग्रामोद्यानयोरन्तरे वा, उद्याननैषेधिक्योरन्तरा वा, नैषेधिक्यां शवपरिष्ठापनभूम्यामेतेषूत्थिते यो विधिस्तं च वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव करोति-

उवसय निविसण साही, तामज्झे दारे गाम मोत्तव्वो।
मंडल खंड देसे, णिसीहियाए य रज्जं तु ॥ ६४२ ॥

तत्कडेवरं नीयमानं यदि वसतावुत्तिष्ठति तत उपाश्रयो मोक्तव्यः। अथ निवेशने उत्तिष्ठति ततो निवेशनं मोक्तव्यं, साहिकायामुत्थिते साहिका, ग्राममध्ये उत्थिते ग्रामार्द्ध, ग्रामद्वारे उत्थिते ग्रामो मोक्तव्यः। ग्रामस्य चोद्यानस्य चान्तरा यद्युत्तिष्ठति तदा विषयमण्डलं मोक्तव्यम्। उद्याने उत्थिते खण्डं देशखण्डं मण्डलाद् बृहत्तरं परित्यक्तव्यम्। उद्यानस्य नैषेधिक्यां चान्तराले उत्तिष्ठति देशः परिहर्तव्य, नैषेधिक्यामुत्थिते राज्यं परिहरणीयम्। एवं तावन्नीयमानस्योत्थाने विधिरुक्तः। परिष्ठापिते च तस्मिन् गीतार्थो एकस्मिन् पार्श्वे मुहूर्त्तं प्रतीक्षन्ते, कदाचित्परिष्ठापितोऽप्युत्तिष्ठेत्।

तत्र चाऽयं विधिः-

वच्चंतो जो उ कमो, कलेवरठावणम्मि वोचत्थो।
नवरं पुण णाणत्तं, गामद्दारे निवोद्धव्वं ॥ ६४३ ॥

व्रजता निर्गच्छता कडेवरोत्थाने यः क्रमो भणितः, स एव विपर्यस्तः कडेवरस्य-परिष्ठापितस्य भूयः प्रविशने विज्ञेयो, नवरं पुनरत्र नानात्वं ग्रामद्वारे बोद्धव्यं, तत्र वैपरीत्यं न भवति किं तु तुल्यतैवेति भावः। तथा चात्र वृद्धसंप्रदायः-" निसीहियाए परिट्ठविउ जइ उट्ठेत्ता तत्थेव पडिज्जा ताहे उवस्सओ मोत्तव्वो, निसीहियाए उज्जाणस्स य अंतरा पडइ निवेसणं मोत्तव्वं, उज्जाणे पडइ साही मोत्तव्वा, उज्जाणस्स य अंतरा पडइ गामद्धं मोत्तव्वं, गामद्दारे पडइ गामो मोत्तव्वो, गाममज्झे पडइ मंडलं मोत्तव्वं, साहीए पडइ देसखंडं मोत्तव्वं, निवेसणे पडइ देसो मोत्तव्वो, उवस्सए पडइ रज्जं मोत्तव्वं।" अत्र निर्गमने प्रवेशने च ग्रामद्वारस्थाने ग्रामत्याग एवोक्त इति ग्रामद्वारे तुल्यतैव भवति, न वैपरीत्यम्।

अथ परिष्ठापितो द्व्यादिवारान् वसतिं प्रविशति ततोऽयं विधिः-

बिइयं वसहिमिंति ते, तग्गं च अण्णं च पुव्वतो रज्जं।
तिप्पभितिमिंति सैव उ, मुयंति रज्जाइं पविसंते ॥६४४॥

निर्ग्रन्थो यदि द्वितीयं वारं वसतिं प्रविशति तदा तद्धान्यच्च राज्यं मुच्यते, राज्यद्वयमित्यर्थः। अथ त्रीन् चतुरो बहुशो वारान् वसतिं प्रविशति तदा त्रीण्येव राज्यानि मुञ्चति।

असिवाई बहिया का-रणेहिँ तत्थेव वसंति जो उ तवो।
अभिगहियाणभिगहितो,सा तस्स उ जोगपरिवुड्ढी ।६४५।

यदि बहिरशिवाऽऽदिभिः कारणैर्न निर्गच्छन्ति, ततस्तत्रैव वसन्ति,यस्य यत्तपो अभिग्रहीतमनभिगृहीतं वा,तेन तस्य वृद्धिः कर्तव्या, सा च योगपरिवृद्धिरभिधीयते। किमुक्तं भवति ?-ये नमस्कारप्रत्याख्यायिनस्ते पौरुषीं कुर्वन्ति,पौरुषीप्रत्याख्यायिनः पूर्वार्द्धं कृत्वा शक्तौ सत्यामाचाम्लं पारयन्ति, शक्तेरभावे निर्विकृतिकमेकाशनकं यावदशनकमपि। यदाह चूर्णिकृत्-"सइ सामत्थे आयं-बिलं च पारेंति,असइ निव्वीयं। एकासणयं अलणयमसमत्था सवीइयं पि त्ति ॥१॥" एवं पूर्वार्द्धप्रत्याख्यायिनश्चतुर्थं, चतुर्थप्रत्याख्यातारः षष्ठं, षष्ठप्रत्याख्यायिनोऽष्टमम्। एवं विस्तरेण विभाषा कर्तव्या।

एवं योगपरिवृद्धिं-कुर्वतामपि यदि कदाचिदुत्थाय आगच्छेत्, तदाऽयं विधिः-

अण्णट्ठसरीरं, पंता वा देव तत्थ उट्ठेज्जा।
काइयं डव्वहत्थेण, भणेज्ज मा गुज्झया! गुज्झा ॥६४६॥
गनार्थो।

( १९ ) अथ ग्लानद्वारमाह-

गिलइ गामं एग-स्स होए अहा नि होज्ज मव्वेसिं ।
खिणं तु लोयकरणं, परिणा गणभेद वारसमं ॥६४७॥

एकस्य, द्वयो, सर्वेषां वा ग्लानो नाम गृह्णन्ति भवेत् तदा विवृत्यैवं, तदा तेषां क्षिप्रं लोच. कर्तव्य. (परिणा त्ति) प्रत्याख्यानं तत्र स्तत्र द्वादशमुपवासपञ्चकरूपं ते कारापणीया । अथ द्वादशं कर्तुं कश्चिदसहिष्णुर्न शक्नोति, ततो दशमनष्टमं षष्ठ चतुर्थं वा कारप्यते गणभेदश्च क्रियते, गच्छाद्विनिर्गम्यते, पृथग्भवन्तीति भाव ।

( २० ) अथ कायोत्सर्गद्वारमाह-

चेइघरुवस्सए वा, हायनीओ थुइइ ते विति ।
मा० ० व मंगलं, करेति सव्वं समहियालो ॥६४८॥

अविहिपरिट्ठवणाए, काउस्सग्गो य गुरुसमीवम्मि ।
मंगलसंतिनिमित्त, थओ तओ अजियसंतीणं ॥६४९॥

चैत्यगृहे उपाश्रये वा एगस्थीयमाना. स्तुतीस्ते ब्रुवते भणन्ति, यावच्च ते श्रद्यापि नाऽऽगच्छन्ति तावत्क्षतिपालो वसते. सारवणं प्रमार्जनं तदादिकं सर्वमपि कृत्यं करोति । अविधिपरिष्ठापनानिमित्तं च गुरुसमीपे कायोत्सर्ग कर्तव्य , ततो मङ्गलार्थं शान्तिनिमित्तं चाऽजितशान्तिस्तवो भणनीय. । अत्र चूर्णि -" ते साहुणो चेइयघरे उ. उवस्सए वा ठिया होजा जइ चेइयघरे ता पडिहायंतीहिं थुईहिं चेइयाइं वंदित्ता आयरियसगासे इरियावहिय पडिक्कमित्ता अविहिपरिट्ठावणियाए काउस्सग्गं करेंति,नहि मंगल संतिनिमित्तं अजियसंतित्थओ आलवेतिदि चेवपडायन्ते कड्ढेति र लावए वि एवं नेव चेइयवंदणवज्जं।' विशेषचूर्णि पुनरित्थम्- तओ आगया चेइयघरं गच्छति चेइयाइं वंदित्ता संतिनिमित्तं अजियसंतिथुई परियट्टिज्जइ तिन्नि थुईओ परिहायंतीओ कड्ढिज्जंति,तओ आगंतु अविहिपरिट्ठावणियाए काउस्सग्गो कीरइ।"

(२१) अथ क्षपणस्वाध्यायमार्गणाद्वारमाह-

खमणे य असज्झाए,रातिणिय महाणिणाय णिए वा ।
सेसेसु नत्थि खमणं, णेव असज्झाइयं होइ ॥ ६५० ॥

यदि रात्निक आचार्योऽऽदिरपरो वा महानिनादो लोकविश्रुत. कालगतो भवति, निजका वा स्वज्ञातिकास्तत्र सन्ति, ते महतीं न धृतिं कुर्वन्ति, तत एतेषु क्षपणकं स्वाध्यायिक च कर्तव्यं शेषेषु तु क्षुल्लकादिषु कालगतेषु क्षपणक नास्ति, स्वाध्यायिक न च भवति ।

(२२) व्युत्सर्जनद्वारमाह-

उच्चारपासवणमत्त-गा य अत्थरणकुसपलालाऽऽदी ।
संथारया बहुविहा, उज्झंति अणणगेलण्णे ॥ ६५१ ॥

यानि तस्योच्चारप्रस्रवणखेलमात्रकाणि, ये चाऽऽस्तरणार्थं कुशपलालाऽऽदिरूपा बहुविधा संस्तारकास्तान् सर्वानप्युज्झन्ति ( अणणगेलण्ण त्ति ) यद्यन्यस्य ग्लानस्य नास्ति, अथाऽपरोऽपि ग्लान कश्चिदस्ति,ततस्तदर्थं तानि मात्रकाऽऽदीनि ध्रियन्ते इति भाव ।

अहिगरणं मा होही, करइ संथारगे विकरणं आसु ।
उग्गहि गिगिंचती जो, छेवइ तस्सा विज्जेइओ ॥६५२॥

अशिवगृहीत. स यदि मृतस्तदा येन संस्तारकेन स नीत- स्तं विकरणं कुर्वन्ति परस्परा कृत्वा परिष्ठापयन्तीत्यर्थ । कुत इत्याह-अधिकरणं गृहस्थेन गृहीते प्रान्तदेवतया वा पुनरप्यानीतं भवेत्, तन्माभूदिति कृत्वा विकरणं क्रियते यश्च तदीय उपधिरपरो वा तेन स्ववपुषा तुसस्तं सर्वमपि परिष्ठापयन्ति ।

असिवम्मि णत्थि खमणं,जोगविवड्ढी य णेव उस्सग्गो।
उवओगट्ठ तोले णेव, अहाजाय करणं तु ॥ ६५३ ॥

अशिवे मृतस्य क्षपणं न कर्त्तव्यं, योगवृद्धिस्तु क्रियते, नैव साधुभिः परिष्ठापनायाः कायोत्सर्गः क्रियते ( उपओगट्ठं नि ) मुहूर्त्तमात्रं तोलयित्वा यथाजातं तस्य नैव कर्त्तव्यम्। किमुक्तम्भवति ?-अशिवे मृतस्य समीपे यथाजात न स्थाप्यते अतो देवलोकं गतो यावदुपयुक्तो भवति तावत्तदीयं वपुः प्रतिश्रय एव प्रतीक्षाप्यते, येन प्रतिश्रयस्थितं स्ववपुर्दृष्ट्वा संयतोऽहमिति जानीते ।

( २३ ) अथाऽवलोकनद्वारमाह-

अवरज्जुगस्स तत्तो, सुत्तत्थविसारएहिं थेरेहिं ।
अवलोयणा कायव्वं, सुभासुभगतीनिमित्तट्ठा ॥ ६५४ ॥

तस्य कालगतस्य अपरेद्युर्द्वितीये दिवसे सूत्रार्थविशारदै स्थविरै. शुभाशुभगतिनिमित्तज्ञानार्थमवलोकनं कर्त्तव्यम् ।

कथमित्याह-

जं दिसि विगिट्ठितो खलु, देहेण अक्खुएण संचिट्ठे ।
तं दिसि सिवं वदंती, सुत्तत्थविसारया धीरा ॥६५५॥

यस्या दिशि शिवाऽऽदिभिराकर्षितोऽक्षतेन देहेन संतिष्ठेत्, तस्या दिशि सूत्रार्थविशारदा धीरा' शिवं सुभिक्षं सुखविहारं च वदन्ति ।

जति दिवसे संचिट्ठति, तति वरिसे धातगं च खेमं च।
विवरीए विवरीतं, अकड्ढिए सव्वहिं उदितं ॥ ६५६ ॥

यति यावतो दिवसान् यस्या दिशि अक्षतदेहस्तिष्ठति तति तावन्ति वर्षाणि तस्या दिशि भ्रातं च क्षेमं च भवति । अथ क्षतदेह संजात ततो विपरीते क्षतदेहे विपरीतं मन्तव्यं,यस्यां दिशि क्षतदेहो नीतस्तस्या दुर्भिक्षाऽऽदिकं भवतीति भाव । अथ नान्यत्राकृष्ट. किं तु तत्रैवाक्षतस्तिष्ठति तत सर्वत्रोदितं सुभिक्षं, सुखविहारं च द्रष्टव्यम्।

एतन्निमित्तं कस्य गृह्यते ?, इत्याह-

खमगस्साऽऽयरियस्सा, दीहपरिण्णस्स वा निमित्तं तू।
सेसे तधऽण्णथा वा, ववहारवसा इमा य गती ॥६५७॥

क्षपकस्याऽऽचार्यस्य वा दीर्घपरिज्ञानिनो वा प्रभूतकालपालितानशनस्येदं निमित्तं ग्रहीतव्यम्। शेष एतद्व्यतिरिक्त. तथा वा अन्यथा वा भवेत् । न कोऽपि नियम व्यवहारवशाच्चेय गति प्रतिपत्तव्या ।

थलकरणा वेमाणिओ, जोतिसिओवाणमंतर समम्मि।
गड्डाएँ भवणवामी, एस गती से समासेणं ॥ ६५८ ॥

यदि तस्य शरीरक स्थले कृत शिवाऽऽदिभिरारोपितं तदा वैमानिक संजात इति मन्तव्यम्।समभूभागे नीतस्य ज्योतिष्केषु व्यन्तरेषु वा उपपातो ज्ञेय । गर्तायां नीते भवनवासि-

षु गत इत्ययमर्थोऽवगन्तव्यम् । एषा गाथा समासेन तस्याभिहिता । व्याख्यानाभ्तिस्रोऽपि द्वारगाथाः ।

अथात्रैव प्रायश्चित्तमाह-

एक्केक्कम्मि उ ठाणे, हुंति विवच्चासकारणे गुरुगा ।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए ॥६५६॥

एषां प्रत्युपेक्षणाऽऽदीनामेकैकस्मिन् स्थाने विपर्यासं कुर्वतां चत्वारो गुरुकाः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, संयमाऽऽत्मविराधना च द्रष्टव्या ।

एतेन सुत्त न गतं, सुत्तनिवातो उ दव्वसारे उ ।
उट्टणम्मि नि चउलहुगा, छड्डण लहुगा अभिगमे ॥६६०॥

यदेतद् द्वारकदम्बकमनन्तरं व्याख्यातम्, एतेन सूत्रं न गतं, किं तु सामाचारीज्ञापनार्थं सर्वमेतदुक्तम् । किं पुनस्तत्र सूत्रे प्रकृतमित्याह-सूत्रनिपातः पुनः सागारिकसत्के वहनकाष्ठलक्षणे द्रव्ये भवति, रात्रौ कालगते यदि वहनकाष्ठमुत्थापनाय सागारिकमुत्थापयति तदा चतुर्लघु अरहट्टयोजनाऽऽदयश्च दोषाः, तस्मान्नोत्थापयितव्यः, किं तु यद्येवं कोऽपि कश्चित् वैयावृत्त्यकरः समर्थस्तद्वोढुं ततस्तत्काष्ठं न गृह्यते, अथासमर्थस्ततो यावन्तः शक्नुवन्ति तावन्तस्तेन काष्ठेन वहन्ति, अथ वहनकाष्ठं तत्रैव परिष्ठाप्याऽऽगच्छन्ति तदाऽपि चतुर्लघु, अपरेण च गृहीते अधिकरणं सागारिको वा तदपश्यत्, परैः शठैर्वहनार्थं काष्ठं नीत्वा तत्रैव परित्यक्तमिति मत्वा प्रतिष्ठाव्यवच्छेदक गर्हाऽऽदिकं कुर्यात्, तस्मादानेतव्यं, यदि पुनरानीते गृहीतेनैव अभिगमनं प्रवेशं कुर्वन्ति तदाऽपि चतुर्लघु ।

एते च दोषाः-

मिच्छत्तऽदिण्णदाणं, समलाऽवण्णो जुगुच्छितं चेव ।
दिव रातो अभियावण, वोच्छेओ होति वसहीए ॥६६१॥

सागारिकस्तत्काष्ठं प्रवेश्यमानं दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, एते भणन्ति-अस्माकमदत्तस्याऽऽदानं न कल्पते, यथैतदलीकं तथाऽन्यदप्यलीकमेव । अथवा ब्रूयात्-समला अमी अस्थिसरजस्कानामनुपरिवर्तिनः, एवमवर्णो भूयात्, जुगुप्सितं वा जुगुप्सामपि कुर्यात्-मृतक हतका मम गृहमानयन्ति, ततः यदि दिवा रात्रौ वा साधूनाम् (अभियावणं) निष्काशनं कुर्यात्, वसतेश्च व्यवच्छेदनाऽतः परं ददानीत्येकस्यानेकेषां वा कुर्यात् ।

यत एते दोषा अतोऽयं विधिः-

अइगमणं एगेणं, अणाए पति ठवंति तत्थेव ।
णाए अणुतोसण त,स्स वयणवितियउट्ठाणमसिवे वा ६६२

एकेन साधुना तत्स्थानमतिगमनं, यदि सागारिको नाद्याप्युत्तिष्ठते तत स एतेनाज्ञाते काष्ठमानीय यतो गृहीतं तत्रैव प्रतिष्ठापयन्ति । अथ सागारिक उत्थितस्तस्याग्रे निवेद्यते-यूयं प्रसुप्ता इति कृत्वा नाऽस्माभिरुत्थापिताः, रात्रौ साधुः कालगतः युष्मदीयकाष्ठेन निष्काशितः । साम्प्रतं तदानीयतामुपनीय परिष्ठाप्यतामेवमुक्ते यदसौ भणति तत प्रमाणम् । अथ स्थापिते सागारिकेन कथमपि ज्ञातं, तत कुपितस्यानुतोषणं विधेयम् । अथवा ज्ञाते कुपितस्यापि तस्य वक्ष्यमाणं वचनं भवति, तदा गुरुभिः स साधुर्निष्काशनीय इति शेषः । द्वितीयपदे उत्थितोऽसौ ततः अशिवादीनो वा ऽसौ ततस्तत्रैव परिष्ठापयेत् । न स सागारिकस्य प्रत्यर्पयेत् ।

अथ सागारिकवचनं दर्शयति

जइ नीयमणापुच्छा, आणिज्जंति किं एगो घरं मज्झं ? ।
दुगुणा एसऽवराधो, ण एस गाणाऽऽलओ भगवं ! ॥६६३॥

यद्यस्माकमनापृच्छ्य नीतं, ततः किमर्थमिदानीं पुनरपि मदीयगृहमानीयते, एष वृद्धिगुणोऽपराधः, न चैष भगवन् ! मदीय आवास पाणाना मानज्ञानामालयो, यदेव मृतकोपकरणमानीयते । अन्यथा द्वारमादीनानिमानीनम् ।

एवमुक्ते गुरुभिर्वक्तव्यम्-

निदिष्ट सिट्ठम्मि गुरू, एगतो तस्सेव णिच्छुभंति तं तु ।
अनिजाणणाग कय, अम्ह वि अम्ह त्रि ण वेति ॥६६४॥

किमिदं वृत्तान्तज्ञानमभूत्, ततः शेषसाधुभिः शय्यातरेण वा गुरूणां शिष्टम्-अमुकेन साधुना अनापृच्छया काष्ठं नीतम्, ततः गुरवस्तस्यैव शय्यातरस्य पुरतस्तं साधुं किमनापृच्छया नयसीति निर्भर्त्स्य कैतवेन निष्काशयन्ति । अन्येऽपि साधवो ब्रुवते-अस्माकमप्यविज्ञानतामेवमनेन कृतम् । अन्यथा जानन्तो न कर्तुं दद्म इति ।

वारेंते अणुछुभणं, इहरा अणाए ठंति वसहीए ।
मम णीतो निच्छु भई.कइतव कलहेण ण वितिओ ॥६६५॥

यदि सागारिको वारयति मा निष्काशयेति नैवं भूयः करिष्यति, ततोऽनिष्काशनं निष्काश्यते इतरथा अवारयति सागारिकेऽन्यस्या वसतौ तिष्ठति, द्वितीयश्च साधुः कैतवेन मातृस्थानेन भणति-मम निजको यदि निष्काश्यते ततोऽहमपि गच्छामि, सागारिकेण वा समं कोऽपि कलहयति, ततः सोऽपि निष्काश्यते, स च तस्य द्वितीया भवति । बृ० ४उ०।

(२३) असंजतपरिस्थापना। साम्प्रत तस्मिन्नेव द्वारगाथाद्विनये यो विधिरुक्तः, स सर्वः किं कर्तव्यः, किं वा न कर्तव्यः?, इति प्रतिपादयन्नाह-

एसा उ विही सव्वा, कायव्वा सिवम्मि जो जहिं वसइ ।
असिवे खमण विवड्ढी, काउस्सग्गं च वज्जेज्जा ॥ ६३ ॥

(एस त्ति) " अणंतरवक्खायाविही मेरा सीमा आयरणा इति एगट्ठा । (कायव्वा) करेयव्वा, तुशब्दोऽवधारणे, ववहियसम्बन्धश्चो कायव्वो एवं, कम्मि ?, (सिवम्मि त्ति) प्रान्तदेवताकृतोपसर्गवर्जिते, काले, ' जो ' साहू ' जहिं ' खेत्ते वसइ, असिवे कहं ?, असिवे खमण निवज्जइ, किं पुण ?, जोगविवड्ढी कीरइ, ' काउस्सग्गं च वज्जेज्जा ' काउस्सग्गो य न कीरइ । "

साम्प्रतमुक्तार्थोपसंहारार्थं गाथामाह-

एसो दिसाविभागो, नायव्वो दुविहदव्वहरणं च ।
वोसिरणं अवलोयण, सुहासुहगइविसेसो य ॥ ६५ ॥

(एसो इति) अणंतरदारगाहादुगस्सऽत्थो, किं ?,-दिसाविभागो णायव्वो ' दिसिविभागो नाम अचित्तसंजयपरिट्ठावणियविहि पइ दिसिप्पदरिसणं संखेवेण दिसिपडिवज्जायणं ति भणियं होइ । अहवा-दिसिविभागो मूलदारगहणं, सेसदारोवलक्खणं चेयं दट्ठव्वं, अचित्तसंजयपरिट्ठावणियं पइ एसो दारविवेओ णायव्वो त्ति भणियं होइ । ( दुविहदव्वहरणे चेति ) दुविहदव्वं णाम-पुव्वकालगहियं कुसा-

इ णायव्वमिति अणुवट्टए, ( वोसिरणं ति ) संजयसरीरस्स परिट्ठवणं, 'अवलोयणं' बिइयदिणे निरिक्खणं ति।(सुहासुहगतीविसेसो य त्ति ) सुहासुहगतिविसेसो वंतराइसु उववायभेया यत्ति भणियं होइ । एसा अचित्तसंजयपारिट्ठावणिया भणिया ।

इयाणिं असंजयमणुस्साणं भण्णइ । तत्थ गाहा-

असंजयमणुएहिं, जा सा दुविहा य आणुपुव्वीए ।
सच्चित्तेहिं सुविहिया !, अच्चित्तेहिं च नायव्वा ॥६६॥

इयं निगदसिद्धैव । तत्थ सच्चित्तेहिं भण्णइ ।

कहं पुण तीए संभवो त्ति ?। आह-

कप्पट्ठगरूयस्स उ, वोसिरणं संजयाण वसहीए ।
उदयपह वहुसमा-गम विपजहाऽऽलोयणं कुज्जा ॥६७॥

काइ अविरइया संजयाण वसहीए कप्पट्ठगरूवं साहरेज्जा, सा तिहिं कारणेहिं छुब्भेज्जा, किं ?-एएसिं उड्डाहो भवउ त्ति छुहेज्जा पडिणीययाए, काइ साहम्मिणी लिंगत्थी एएहिं मम लिंग हरियं ति एएण पडिणिवेसेण कप्पट्ठगरूवं पडियस्सयसमीवे साहरेज्जा । अहवा-चरिया तव्वणिणगिणी घोडिगिणी पाहुडिया वा मा अम्हाणं अजसो भविस्सइ, तओ संजओवस्सगसमीवे ठवेज्जा, एएसिं उड्डाहो होउ त्ति, अणुकंपाए काइ दुक्काले दारयरूवं छड्डिउकामा चिंतेइ-एए भगवंतो सत्तहियट्ठाए उवट्ठिया, एतेसिं वसहीए साहरामि. एए सिं भत्तं पाणं वा दाहिंति । अहवा-कहिं वि सेज्जायरेसु वा इयरघरेसु वा छुभिस्संति,अओ साहुवस्सए परिट्ठवेज्जा, भएण काइ य रंडा पउत्थवइया साहरेज्जा, एए अणुकंपिहिंति; तत्थ का विही ?, दिवसे २ वसही वसहेहिं चत्तारि धारा परियंचियव्वा, पच्चूसे पओसे अवरण्हे अड्ढरत्ते, मा मा एए दोसा होहिंति, जइ विगिंचंती दिट्ठा ताहे बोलो कीरइ-एसा इत्थिया दारयरूव छड्डेऊण पलाइया,ताहे लोगो एइ, पेच्छइ य तं, ताहे सो लोगो जं जाणउ तं करेउ, अह न दिट्ठा ताहे विगिंचिज्जइ, उदयपहे जणो वा जत्थ पएसे एए निग्गओ अत्थइ, तत्थ ठवेत्ता पडिचरइ, अण्णओमुहो जहा लोगो न जाणइ, जहा किंचि पडिक्खंतो अत्थइ, जहा तं सुणएण काएण वा मज्जारेण वा न मारिज्जइ, जाहे केणइ दिट्ठं ताहे सो ओसरइ । सच्चित्तासंजयमणुयपरिट्ठावणिया गया ।

इयाणिं अचित्तासंजयमणुयपरिट्ठावणिया भण्णइ-

पडिणीयसरीरछुहणे, वणीवगाईसु होइ अचित्ता ।
तोऽवेक्ख कालकरणं, विप्पजहविगिंचणं कुज्जा ॥६८॥

पडिणीओ कोइ वणीमवसरीरं छुहेज्ज जहा एएसिं उड्डाहो भवउ त्ति, वणीवगो वा तत्थागंतूण मओ, केणइ वा मारेऊण एत्थ निद्दोसं ति छड्डिओ, अविरइयाए मणुस्सेण वा उक्कलंबियं होज्जा, तत्थ तहेव बोलं करेंति, लोगस्स कहिज्जइ-एसो एट्ठो त्ति, उक्कलंबिए निव्विणेण वारेंताणं रडंताणं मारिओ अप्पा होज्जा ताहे दिट्ठे ण कालक्खेवो कायव्वो, पडिलेहिऊण जइ कोइ नत्थि ताहे तत्थ कम्मइ निवेसणं न होइ तत्थ विगिंचिज्जइ उपेक्खेज्ज वा, पओसो वट्टइ संचरइ लोगो ताहे निस्संचरे विवेगो जहा एत्थ आएसे ण उवेक्खेयव्वो ताहे चेव विगिंचिज्जइ,अइएवहाए संचिक्खावेत्ता अप्पसागारिए विगिंचिज्जइ, जइ नत्थि कोइ पडियरइ, अह कोइ पडियरइ तस्सेव उवरिं छुब्भइ, एवं विप्पजहणा, विगिंचणा णामं-जं तत्थ तस्स भंडोवगरणं तस्स विवेगो, जइ रुहिरं ताहे न छड्डेज्जइ, एक्कहा वा विहा धा मग्गो नज्जिहि त्ति, ताहे बोलकरणविभासा । अचित्तासंजयमणुयपारिट्ठावणिया गया । आव० ४ अ० ।

(२४) भोजनजातं परिगृह्य सुरभिं भुङ्क्ते, दुरभिं परिष्ठापयति, तस्य प्रायश्चित्तम्-

जे भिक्खू अण्णयरं भोयणजायं पडिग्गहित्ता सुब्भिं भुंजइ, दुब्भिं परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

सुभं सुब्भी, असुभं दुब्भी, शेषं पूर्ववत् ।

वण्णेण य गंधेण य, रसेण फासेण जं तु उववेतं ।
तं भोयणं तु सुब्भि, तव्विवरीतं भवे दुब्भिं ॥ ३२२ ॥

जं भोयणं वण्णगंधरसफासेहिं उववेत तं सुब्भिं भण्णति, इतरं दुब्भिं ।

अहवा-

रसालमवि दुग्गंधिं, भोयण तु न पूजियं ।
सुगंधिमरसालं पि, पूइयं तेण सुब्भि तु ॥ ३२३ ॥

रसेण उववेयं पि भोयणं दुब्भिगंधे ण पूजितं, दुब्भिमित्यर्थः । अरसालं पि भोयणं सुभगंधजुतं पूजितमित्यर्थ ।

घेत्तूण भोयणदुगं, पत्तेयं अहव एक्कतो चेव ।
जे सुब्भिं भुंजित्ता, दुब्भिं तु विगिंचणं कुज्जा ॥ ३२४ ॥

सुब्भिं दुब्भिं च भोयणं एक्कतो पत्तेयं वा घेत्तुं जो साहू सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं परिट्ठवेति, तस्स मासलहु ।

इमे य दोसा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, दुब्भि पुव्वेतरं पच्छा ॥ ३२५ ॥

कंठा ।

इमे य दोसा-

रसगेहि अधिकखाए, अविधिखइंगालुपकमे माया ।
लोभे एसणवाघातो, दिट्ठंतो अज्जमंगूहिं ॥ ३२६ ॥

रसेसु गेही भवति, अण्णसाहूहिंतो अहिगं खायति-भोयणपमाणातो अहिगं खायति,एगओ गद्धियस्स उवरिं सुभं खायति, इतरं छड्डेति,कागसियालगखइयं । कारगगाहा। एवं अविही भवति. इंगालदोसो य भवति, रसगिद्धो गच्छे अधिति अलभंतो गच्छा उपक्कमति. अपक्रमतीत्यर्थः । मायी मंडलीए रसालं अलभंतो भिक्खागओ रसालं भोत्तुमागच्छति, भद्दकं भद्दग भोच्चा विवण्णं विरसमाहारेत्यादि रसमोयणे लुद्धो। एसणं पि पेल्लेति। एत्थ दिट्ठतो-"अज्जमंगू"। जहा अज्जमंगू आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा मधुरं (पुरिं) आगता, तत्थ सड्ढेहिं धरिज्जंति, ता कालंतरेण ओसण्णा जाना, कालं काऊण भवणवासीसु उववण्णो, सो बहुपडिबोहणट्ठा आगओ सरीरमहिमाए अच्छुकंताए जीहं णिल्लालेति।पुच्छिओ-को भवं ? भणाति-अज्जमंगूह साधू सड्ढा य अणुसासिउ गतो। एते दोसा पडिपक्खे अज्जसमुद्दा, ते रसगेहीभीता एक्कतो सव्वं मेलेउं भुंजति. त च अरसं विरसं वावि सव्वं भुंजे ण छड्डए । सूत्राभिहितं च कृतं भवाते ।

" रसगेहि त्ति " अस्य व्याख्या-

सुब्भीदङ्कगजीहो, ऐच्छति छातो वि भुंजितुं इतरं ।
आवस्सयपरिहाणी, गोयरदीहो उ उज्झिमिया ॥ ३२७ ॥

इतरं दुब्भि ति लभंतो वि सुब्भि भत्तणिमित्तं दीहं भिक्खाऽऽयरियं अडति, सुत्तत्थमादिएसु आवस्सएसु परिहाणी भवति, दुब्भियस्स उज्झिमिया परिट्ठावणिया ।

' अधिक्खाए त्ति " अस्य व्याख्या-

मणुसं भोयणजायं, भुंजंताण तु एकतो ।
अधिकं खादए जो तु, अधिक्खाए स वुच्चति ॥ ३२८ ॥

मनसो रुचितं मनोज्ञं भोअणं जातमिति प्रकारवाचकः, साधुभिः सार्द्धं भुञ्जतां जो अधिकतरं खाए सो अधिक्खाओ भएणइ ।

जम्हा एते दोसा-

तम्हा विधीएँ भुंजे, दिएणम्मि गुरूण सेस रातिणिए ।
भुंजति करम्बिऊणं, एवं समता तु सव्वेसिं ॥ ३२९ ॥

का पुण विही ?, जाए आयरियगिलाणबालवुड्ढआदेसमादियाणं उक्किट्ठिय पत्तेयगहियं वा दिएणं, सेसं मंडलिरातिणिओ सुब्भिदुब्भिदव्वाऽविराहेण करं वेत्तु मंडलीए भुंजति,एवं सव्वेसिं समता भवति । एवं पुव्वुत्ता दोसा परिहरिया भवंति ।

कारणओ परिट्ठवेज्जा-

वितियपदे दोण्णि वि बहू, मीसे च विगिंचणारिहं होज्जा ।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्ज गिलाणमायरिए ॥ ३३० ॥

पूर्ववत् कंठं ।

जं होज अभोज्जं जं, वऽणेसियत्तं विगिंचणारिहं च ।
विसकयमंतकयं वा, दव्वविरुद्धं कयं वा वि ॥ ३३१ ॥

पूर्ववत् ।

( २५ ) मनोज्ञं भोजनं परिगृह्य तद् बह्वपि ।
साधर्मिकेभ्योऽदत्वा परिष्ठापयति-

जे भिक्खू मणुण्णभोयणजायं पडिग्गाहित्ता बहु परियावणं अदूरे तत्थ साहम्मिया संभोइया से समणुण्णा अपरिहारिया संता परिवसइ, जे अणापुच्छित्ता अणणिमंतियं परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जं चेव सुब्भिसुत्ते सुब्भि भोयणं वुत्तं तं चेव मणुएणं । अहवा-भुक्खत्तस्स पंतं पि मणुणं भवति । अट्ठमछट्ठचउत्थआयंबिलेगासणिआएउमच्छगपरिहाणीए हिंडंताणं असड्ढण जहा विधीए स्वग्रामे वा संभुजंते जे, ते संभोइया, समणुणा उज्जयविहारी । चोदगाऽऽह संभोइयगहणातो चेव अपरिहारिगहणं सिद्धं, किं पुण अपरिहारिगहणं ? । आचार्य्योऽऽह-चउभंगे द्वितीयभंगे सातिचरिपारहरणार्थं, संत इति विद्यमानः ।

जं चेव सुब्भिसुत्ते, वुत्तं तं भोयणं मणुणं तु ।
अहवा वि परिज्झुसिए, समणुणं होति पंतं पि ॥ ३३२ ॥

परिझूसितो बुभुक्षित०, शेषं गतार्थम् ।

आचार्यो विधिमाह-

जावतियं उवउज्जति, जत्तियमेत्ते तु भोयणे गहणं ।
अतिरेगमणट्ठाए, गहणे आणाऽऽदिणो दोसा ॥ ३३३ ॥

परिमाणतो जावतियं उवउज्जति तप्पमाणं घेत्तव्वं, अतिरेग गिरहन्तो लोभदोसो, परिट्ठावणियदोसो य, आणाइणो य दोसा, संजमे पिपीलियादी मरंती, आयाए अतिबहुए भुत्ते विसूचियादी, तम्हा अतिप्पमाणं ण घेत्तव्वं ।

चोदगाऽऽह-

तम्हा पमाणगहणे, परियावणं णिरत्थयं होति ।
अथवा परियावणं, पमाणगहणं ततो अजुतं ॥ ३३४ ॥

तस्मादिति जति पमाणजुत्तं घेत्तव्वं तो परियावणगहणं णो भवति जुत्तं णिरत्थयं, अह परियावणगहणं तो पमाणगहणमजुत्तं, अत्थो णिरत्थओ ।

अह दोएह वि गहणं-

एवं उभयविरोधे, दो वि पया तू णिरत्थया होंति ।
जह हुंति ते सयत्था, तह सुण वोच्छं समासेणं ॥ ३३५ ॥

अहवा दो वि पदा णिरत्थया । आचार्य्योऽऽह पच्छद्धं ।

आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लभे सह अदाणे ।
पुव्वगहिते व पच्छा, अभत्तछंदो भवेज्जाहि ॥ ३३६ ॥

जत्थ सड्ढाइठवणाकुला णत्थि तत्थ पत्तेयं सव्वसंघाडिया आयरियस्स गेएहंति, तत्थ य आयरिओ एगसंघाडगाणीतं गेएहति, सेसं परिट्ठावणियं भवति । एवं गिलाणस्स वि सव्वे संदिट्ठा सव्वेहिं गहियं, एवं पाहुणे वि । अहवा कोइ संघाडओ दुल्लभदव्वखीराऽऽदिणा णिमंतिओ सहसा दातारेण महंतं भायणं भरियं, एवं अतिरित्तं । अहवा भत्ते गहिए पच्छा अभत्तछंदो जातो वा, एवं वा अतिरेगं होज्ज ।

एतेहिँ कारणेहिं. अतिरेगं होज पज्जयावणं ।
तमणालोएत्ता णं, परिट्ठवे तम्मि आणाऽऽदी ॥ ३३७ ॥

जं तुब्भे चोइयं पज्जत्तावएण तमेतेहिं कारणेहिं हवेज्ज,तमेवं पज्जत्तावएणं अणालोएत्ता अणिमंतेत्ता परिट्ठवेति, तस्स आणादी, मासलहु च पच्छित्तं ।

इमे य परिचत्ता-

बाला वुड्ढा सेहा, खमग गिलाणा महोदराऽऽएसा ।
सव्वे वि परिचत्ता, परिट्ठवंतेण ऽणापुच्छ ॥ ३३८ ॥

बाला वुड्ढा य तिक्खछुहा पुणो वि जेमेज्जा, सेहा वा अभाविता पुणो वि जेमेज्जा, खमगो वा पारणगे पुणो जेमेज्जा, गेलाणस्स वा तं पाउग्गं, महोदरा वा मंडलीएण उवट्ठा जेमेज्जा, आदेसा वा तेसिं आगता होज्जा, अद्धाणखिन्ना, वा ण जिमिता, पुणो जेमेज्जा, तत्थ अणापुच्छा परिट्ठावेंतो एते सव्वे परिच्चयति ।

इमं पच्छित्तं-

आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमगपाहुणए ।
गुरुगो य बालवुड्ढे, सेहे य महोयरे लहुओ ॥ ३३९ ॥

जति तेण भत्तेण विणा आयरियगिलाणाण विराहणा भवति तो आणितस्स अणापुच्छा परिट्ठवेंतस्स चउगरुगा, खमए पाहुणए य चउलहुगा, बाले वुड्ढे गुरुगो, सेहे महोदरे लहुओ ।

चोदगाऽऽह-

जदि तेण विणा आबा-धा होज्जा तो भवे वेत्ता ।

ण ते वत्थुपरिभोगो, भत्तो तम्हा ऊणगतो ॥३४० ॥

…ति हरिसि आहरियाऽऽहार तेण भत्त … विणा पारिट्ठावणा-ऽऽदी गीला … तेतो … जति … परिभाग. स्यात् … पारि… तमपि स्यात्, तस्मादनेकान्तव्यापित्वमानी यमानेनाऽवश्यं … इत्यर्थः ।

आचार्याऽऽह-

भुंजंतु मा व समणा, आतविसुद्धीए णिज्जरा विउला ।
तम्हा छउमत्थेणं, णेय अतिसंकिए भवणा ॥ ३४१ ॥

अभुक्तेऽपि साधुभिः आत्मविशुद्ध्या नयत विपुलो निर्जरालाभो भवत्येव, छद्मानि स्थितः छद्मस्थः, अनतिशयी, तेनावश्यं नेयं। मातिसई पुण जाणित्ता जति भुंजइ ता णेति, अन्नहा ण णेति ।

चोदगाऽऽह-आयविसुद्धीए अपरिभुंजंते कहं निर्जरा?। आचार्यो दृष्टान्तमाह-

आतविसुद्धीऍ जती, अवहिंसापरिणए जदि वधेति ।
सुज्झति जतणाजुत्तो, अवधेंतो वि हु लग्गति पमत्तो॥३४२॥

यथा आत्मविशुद्ध्या यति प्रव्रजितः न हिंसा अहिंसा तद्भावपरिणत यद्यपि प्राणिना वाधयति तथाऽपि प्राणा-निपातफलेन न युज्यत, यतनायुक्तत्वात् । पमत्तो पुण भाव-स्सऽविशुद्धत्वात् अवहंतो वि पाणातिपातफले लग्गतित्ति ।

दिट्ठन्तोवसंहारमाह-

एमेव अगहितम्मि वि, णिज्जरलाभो तु होति समणस्स।
अलसस्स सो ण जायति,तम्हा णेज्जा सति वलम्मि ।३४३।

अगहिते वि भत्तपाणे आयसुद्धीओ णेंतस्स णिज्जरा विउला भवति। जो पुण अलसदोसजुत्तो अविशुद्धमणो, तस्स सो णिज्जरालाभो ण भवति । तस्मान्निर्जरालाभा-र्थिना सति वले णेयं।

नतिथमो कमो भण्णति-

तम्हा आलोएज्जा, सक्खेत्ते सालए इतरे पच्छा ।
खेत्तंते अण्णगामे, खेत्तवहिं वा अवोचत्थं ॥ ३४४ ॥

आलाणति कहयति स्वक्षेत्रे स्वग्रामे सालए स्वप्रतिश्र-य जेट्ठिया संभोतिया ते भणाति-इमं भत्त जइ अट्ठो भे तो गेण्हउ जइ ते णेच्छति ताहे अणे भणाति, इतरे पच्छा स्वगामे वा अणप्रतिश्रये, जति ते वि णेच्छंति ताहे सखेत्त अण्णगामे जति ते वि णेच्छंति ताहे खेत्तवहिं अण्णगामे कारणतो णिज्जति, एवं अवोचत्थं णेति. कारणे अण्ण भोगिए स चेव कमो उत्क्रमकरणप्रतिषेधार्थम्।

आसण्णवरणए मोत्तुं, दूरट्ठाणं तु जो णए ।
तस्स सचेव वालादी-पच्चायविराधणा ॥ ३४५ ॥

आसरणं मोत्तुं जो दूरत्थाण पक्खवाएण णेति, तस्स सा चेव वालातिविराहणा पुव्वुत्ता

स्वजनममीकारप्रतिषेधार्थम्-

ण पमाणं गणो एत्थ, सीसो णेव ण वा सओ ।
समणुण्णता पमाणं तु, कारणे वा विवज्जओ ॥३४६॥

मूलभेदो गणो, गच्छो वा गणो, सो अत्र प्रमाणं ण भवति, मम शिष्यो स्वजन इत्यपि प्रमाणं ण भवति। समणुण्णता सं-भोगा, सो अत्र प्रमाणं, कारणं पुण आसण्ण मोत्तुं दूरे णेति,सं भोतिए वा मोत्तुं अण्णसंभोइयाण वि णेति, त पुण गिलाणा-ऽऽदिकारणं बहुविध ।

अवचायएण आणेंतो सुद्धो-

वितियपद होज्जमप्पं, दूरद्वाणे सपच्चवाए य ।
कालो वा अत्थमती, सुब्भी जं भे व तं दुब्भी॥३४७॥

अप्पं स्तोकं अणेणेंतो विसुद्धो, दूर वा अद्धाणं, दूरे आसन्ने वा सपच्चवाए ण णेति, जाव णेति ताव आदिच्चो अत्थमेति, तहिं वा सुब्भि लद्धं, तं च पारिट्ठावणियं दुब्भि, एवमादि-कारणेहिं आणेंतो वि सुद्धो अपच्छित्ती। नि० चू० २ उ०।

(२६) अधुना नोआहारपारिस्थापनिकां प्रतिपादयति-

णोआहारम्मी जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
उवगरणम्मि सुविहिया!, नायव्वा नो य उवगरणे ।७७।

निगदसिद्धा, नवरं नोउपकरणं श्लेष्माऽऽदि गृह्यते।

उवगरणम्मि उ जा सा, सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए ।
जाया चेव सुविहिया!, नायव्वा तह अजाया य ।७८।

निगदसिद्धेव, नवरमुपकरणं वस्त्राऽऽदि।

जाया य वत्थपाए, वंका पाए य चीवरं कुज्जा ।
अज्जाय वत्थपाए, वोचत्थे तुच्छपाए य ॥ १ ॥ (प्र०)

जाता च वस्त्रे पात्रे च वक्रतया, चोदनाऽभिप्रायस्तावद्वल मूलगुणाऽऽदिदुष्टे वस्त्राणि पात्रे च चीवरं कुर्यात् अजाता च वक्रतया-वस्त्रे पात्रे च ( वोच्चत्थे तुच्छपाए य ) चो-दनाऽभिप्रायो वस्त्र विपर्यस्तं-ऋजु स्थाप्यत पात्रं च ऋजु स्थाप्यत इति, सिद्धान्त तु वक्ष्यामः, एष तावद् गाथाऽर्थः । इय चान्यकर्तृकी गाथा-

दुविहा जायमजाया, अभिओगविसे य सुद्धऽसुद्धा य ।
एगं च दोण्णि तिण्णि य, मूलुत्तरसुद्धजाणह्वा ॥ ७९ ॥

द्विविधा जाता अजाता पारिस्थापनिका-आभियोगिकी विषे च अशुद्धा शुद्धा च, तत्र शुद्धा अजाता भविष्य-ति, अयं च प्राक्निर्दिष्ट सिद्धान्तः-"एगं च दोण्णि ति-ण्णि य, मूलुत्तरसुद्धि जाणाहि।" मूलगुणाऽशुद्ध एको ग्र-न्थि, पात्रे च रेखा, उत्तरगुणाशुद्धे द्वौ शुद्धे त्रय इति गाथाऽर्थः ।अत्रयवार्थस्तु गाथाद्वयस्याप्ययम्-सामाचार्यभि-ज्ञैर्गीत इति-उवगरणे णोउवगरणे य। उवगरणे जाया अ जाया य, जाया वत्थे पाए य, अजाया वि वत्थे पत्त य, जाया णाम-वत्थपाय मूलगुणअसुद्धं उत्तरगुणअसुद्धं वा अभिओ-गेण वा विसेण वा, जइ विसेण आभिओगियं वा वत्थं पा-यं या खंडाखंडि काऊण विगिंचियव्वं, सावणा य तहेव जा-णि अइरित्ताणि वत्थपायाणि कालगए वा पडिभग्गे वा साहारणगहिए वा आपज्ज वत्थ का विगिंचणविही ? चो-यओ भणइ-आभिओगविसाणं तहेव खंडाखंडि काऊण विगिंचणं मूलगुणअसुद्धवत्थस्स एकं वक कीरइ, उत्तर-गुणअसुद्धस्स दोण्णि वंकाणि, सुद्धं उज्जुयं विगिंचिज्जइ, पाए मूलगुणअसुद्धे एगं चीरं दिज्जइ, उत्तरगुणअसुद्धे दोण्णि चीरखंडाणि पाए छुब्भंति, सुद्धं तुच्छं कीरइ-रित्तय ति भणि-यं होइ। आयरिया भणंति-एवं सुद्धं पि असुद्धं भवइ, क हं ?-उज्जुयं ठविय, एगेण वंकेण मूलगुणअसुद्धं जायं, दोहिं

उत्तरगुणअसुद्धं एक्कवंकं दुवंकं वा होज्जा, दुवंकं एक्कवंकं वा होज्जा, एवं मूलगुणे उत्तरगुणा होज्जा, उत्तरगुणे वा मूलगुणे होज्जा एव चेव गाए वि होज्जा, एगं चीवर निग्गयं मूलगुणासुद्ध जागं, तेहिं विगिंच्चियव्वं सुद्धं जाइ, जे य तेहिं वत्थपाएहिं परिभुंजिएहिं दोसा तेसिं आवत्ती भवइ, तम्हा जं भणियं ते त न जुत्तं, तम्हा कहं दाउं विगिंचियव्वं ?। आयरिया भणंति-मूलगुणे असुद्धे वत्थे एगो गंठी करिइ, उत्तरगुणअसुद्धे दोण्णि सुद्धे तिण्णि, एवं वत्थे, पाए मूलगुणअसुद्धं अंतो अट्ठए एगलणिहया रेहा कीरइ. उत्तरगुणअसुद्ध दोण्णि, सुद्धे तिण्णि रेहाओ, एवं णायं होइ, जाणएण कायव्वाणि, कहिं परिट्ठवेयव्वाणि ?-एगंतमणावाए सइ पत्तादंधरयत्ताणेण, असइ पडिलेहणियाए दोरेण मुहे वज्झइ, उद्धमुहाणि ठविज्जंति, असइ ठाणस्स पासल्लियं ठविज्जइ, जओ वा आगमो तओ पुष्फयं कीरइ, एयाए विहीए विगिंचिज्जइ, जइ कोइ आगारो पावइ तहा वि वोसट्ठा ऽहिगरणा सुद्धा साहुणो जेहिं अण्णेहिं साहूहि गहियाणि जइ कारणे गहियाणि ताणि य सुद्धा जावज्जीवाए परिभुंजंति, मूलगुणउत्तरगुणेसु उप्पण्णे ते विगिंचइ । गतोपकरणपारिस्थापनिका।

अधुना नोउपकरणपारिस्थापनिका प्रतिपाद्यते आह च-

नोउवगरणे जा सा, चउव्विहा होइ आणुपुव्वीए ।
उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए चेव ॥ ८० ॥

व्याख्या निगदसिद्धैव ।

विधिं भणति-

उच्चारं कुव्वंतो, छायं तसपाणरक्खणट्ठाए ।
कायदुयदिसाभि-ग्गहे य दो चेव अभिगिण्हे ॥ ८१ ॥
पुढविं तसपाणसमु-ट्ठिएहिं एत्थं तु होइ चउभंगो ।
पढमपयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ ८२ ॥

इमीणं वक्खाणं-जस्स गहणी संसज्जइ तेण छायाए वोसिरियव्व, केरिसियाए छायाए ?-जो ताव लोगस्स उवभोगरुक्खो तत्थ न वोसिरिज्जइ, निरुवभोगे वोसिरिज्जइ, तत्थ वि जा सयाओ पमाणाओ निग्गया तत्थेव वोसिरिज्जइ, असइ पुण निग्गयाए तत्थेव वोसिरिज्जइ, असति रुक्खाण काएणं छाया कीरइ, तेसु परिणएसु वच्चइ, काया दोण्णि-तसकाओ, थावरकाओ य । जइ पडिलेहेइ वि पमज्जइऽवि तो एगिंदिया वि रक्खिया तसा वि, अह पडिलेहेइ न पमज्जइ तो थावरा रक्खिया तसा परिच्चत्ता, अह न पडिलेहेइ पमज्जइ थावरा परिच्चत्ता तसा रक्खिया, इयरत्थ दोवि परिचत्ता, सुप्पडिलेहियसुप्पमज्जिएसु वि पढम पयं पसत्थं, विइयतइए एक्केक्केण चउत्थं दोहि वि अप्पसत्थ, पढमं आयरियव्व, सेसा परिहरियव्वा। दिसाभिग्गहे-"उभे मूत्रपुरीषे च दिवा कुर्यादुदङ्मुखः । रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तस्य चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १ ॥" दो चेव एयाउ अभिगेण्हति, डगलगहणं तहेव चउभंगो, सूरिए गामे एवमाइ विभासा कायव्वा जहासंभव ।

अधुना शिष्यानुशास्तिपरा परिसमाप्तिगाथामाह-

गुरुमूले वि वसंता, अनुकूला जे न होंति उ गुरूणं ।
एएसिं तु पयाणं, दूरं दूरेण ते होंति ॥ ८३ ॥

'गुरुमूल' गुर्वन्तिकेऽपि 'वसन्तः' निवसन्तः अनुकूला ये न भवन्त्येव गुरूणाम, 'एतेषां' पदानाम्' उक्तलक्षणानां, तुशब्दादन्येषां च, दूरं दूरेण ते भवन्ति अविनीतत्वात्तपः शुनारिणेवेति गाथार्थः । आव० ४ अ० ।

( २७ ) गृहवर्त्यादिषु उच्चारप्रश्रवणे परिष्ठापयति-

जे भिक्खू गिहंसि वा गिहमुहंसि वा गिहदुवारंसि वा गिहपडिदुवारंसि वा गिहलोयंसि वा गिहंऽगणंसि वा गिहवच्चंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥

थंडिल्लं उवघाती, गिह तस अगणीए पुढविसंबद्धं ।
आऊवणस्सतीए, विभासितव्वं जहा सुत्ते ॥ ९३ ॥

थंडिल तिविहोवघातियं आयपवयणे संजमगिहे आऊवघाओ, तसअगणिपुढविआउवणस्सतिसंबद्धं संजमोवघातियं, विभासा विस्तारेण कर्त्तव्या, जहा सुत्ते आयारवितिगस्सुतक्खंधे थंडिलसत्तिकए ।

इमो सुत्तत्थो-

अंतोगिहं खलु गिहं, कोट्टग सुविधी व गिहमुहं होंति ।
अंगण मंडवथाणं, अग्गद्दारं दुवारं तु ॥ ९४ ॥
गिहवच्चं पेरंता, पुरोहडं वा वि जत्थ वा वच्चं ।

घरस्स अंतो गिहं भणति, गिहगहणेण वा सव्वं चेव घर घेप्पति। कोट्ठओ अग्गिमालिंदओ सुविही छदारुआलिंदो, एते दो वि गिहमुहं गिहस्स अग्गतो अब्भावगासं, मंडवथाणं अंगणं भण्णति, अग्गदार पावेसिनं तं गिह दुवार भण्णति, गिहस्स, समंततो वच्चं भण्णति, पुरोहड वा वच्च पच्छंतं ति वुत्तं भवति, जं वा वच्चं करेंति तं वच्चं समोभूमी भण्णति ।

जे भिक्खू मडगगिहंसि वा मडगच्छारियंसि वा मडगथूभियंसि वा मडगसुयंसि वा मडगलेणंसि वा मडगथंडिलंसि वा मडगवच्चंसि वा उच्चारं वा पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥

इमो सुत्तत्थो-

मडगगिहं मेच्छाणं, थूभा पुण विच्चगा होंति ॥ ९५ ॥
छारो तु अपुंजकडो, छारचितावि रहितं तु थंडिल्लं ।
वच पुण पेरता, सीताणं वावि सव्व तु ॥ ९६ ॥

मडगगिह णाम मेच्छाणं घरब्भंतरे मतयं छोढु विज्जति, न डज्झति, तं मंडगगिहं, अभिणवडड्ढं अपुंजकयं छारो भण्णति, इट्टगाऽऽदिठिया विच्चा थूभो भण्णति, मडाण आश्रयो मडाऽऽश्रयः, स्थानमित्यर्थः । मसाणाऽऽसण्णे अणंतुं मडयं जत्थ सुव्वति तं मडासयं, मडयस्स उवरिं ज देवकुल त लेणं भण्णति, छारचिदावज्जितं केवलं मडयं दड्ढट्ठाणं थंडिलं भण्णति, मडयं पेरतं वच्चं भण्णति, सव्वं वा सीवाणं सीताणस्स वा पेरत वच्चं भण्णति। नि० चू० ३ उ० ।

(२८) रात्रौ विकाले वा उच्चारं कृत्वा पात्रे स्थापयित्वा प्रातः परिष्ठापयन्ति-

जे भिक्खू सगपायंसि वा परपायंसि वा दिया वा राओ वा वियाले वा उव्वाहिज्जमाणे सपाय गहाय परपायं

जायइ, जाइत्ता उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवित्ता अणुग्गए सूरिए पाडेइ, पाडंतं वा साइज्जइ ॥ ८१ ॥

राउत्ति निसा, वियालो त्ति संझावगमो, उत्थावल्येन वाधा उब्बाहा, अप्पणिओ सण्णामत्तओ सगपायं भण्णति, अप्पणियस्स अभावे परपाते वा जाइत्ता वोसिरइ, परं अजाइओ वोसिरंतस्स मासलहुं. अणुग्गए सूरिए छड्डेति मासलहुं, मत्तगे णिक्कारणे वोसिरति मासलहुं ।

णिज्जुत्ती-

णो कप्पति भिक्खुस्सा, णियमत्ते तह परायए वा वि ।
वोसिरिऊ णुच्चारं, वोसिरमाणे इमे दोसा ॥ १०४ ॥

णिअयमत्तए, परायत्तए वा णो कप्पति भिक्खुस्स वोसिरिउ । जो वोसिरति तस्स इमे दोसा ।

सेहाऽऽदीण दुगुंछा, णिसिरेज्ज तं व दिस्स ऽगारीणं ।
उड्डाहभाणभेयण-तिसुपावणमादिपलिमंथो ॥ १०५ ॥

सेहा गंधेणं वा दट्ठूण वा विपरिणमेज्ज, दुगुंछं करेज्ज, इमेहिं हड्डसरक्खा वि जिता अगारिणो वा णिसिरिज्जंतं दट्ठुं उड्डाहं करेज्ज-" अहो इमे असुइणो सव्वलोगं विट्टालेंति । " भाणभेयं करेज्ज, उब्भेदिते आइच्चे जाव परिट्ठवेति तिसुआवेति त्ति जाव उव्ववेति जाव सुत्तत्थे पलिमंथो भवति; आदिसद्दातो परेण दिट्ठे संकाभोतिगाऽऽदिपसंगो ।

चोदगाऽऽह-

एयं सुत्तं अफलं, अत्था वा दो वि वा विरोहेणं ।
चोदग दो वि असत्था, जह होंति तहा णिसामेहि ॥ १०६ ॥

सुत्ते वोसिरणं न पडिसिद्धं तुमं पुण अत्थेण पडिसेहसि, एवं एगतरेण अफलेण भवितव्वं, दो वि वा परोप्परं विरोधेन ठिता । आयरिआऽऽह-चोदग पच्छद्धं कंठं ।

सुत्तं कारणीयं, के ते कारणा ? । इमे-

गेलण्णमुत्तमट्ठे, रोहग अद्धाण सावए तेणे ।
मेहे दुविधरुयाए, कहगदुग अभिग्गहाऽऽसण्णे ॥ १०७ ॥

गिलाणो काइयसण्णाभूमी गंतुं ण तरति, अणासगमुत्तिमट्ठ, तं पडिवण्णो ण तरति गंतुं, रोधगे काइयसण्णाभूमी णत्थि, सागारियपडिवद्धा वा, अद्धाणे सचित्तादी पुढवी, राओ वा, वसहीओ णिग्गच्छंतस्स सावयभयं पि य,मेहे मुत्तसुक्काए य एयाए दुविधरुजाए पुणो पुणो वोसिरति, अणिओगकहणे धम्मकहणे य, अभिग्गहे मोहपडिमं पडिवण्णो, भावाऽऽसण्णो वा काइयसण्णाभूमी गंतु ण तरति ।

अप्पे संसत्तम्मि य, सागरऽवियत्तभावपडिवद्धे ।
पाणिदयाएँ मणो वा, वोसिरणं मत्तए भणियं ॥ १०८ ॥

अप्पा काइयभूमी, संसत्ता वा काइयभूमी, साधुस्स वा बाहिरे सण्णायगादि सागारिय, सेज्जायरस्स वा अंतो वोसिरिज्जमाणे अवियत्तं इत्थीहिं वा समं भावपडिवद्धा काइयभूमी, पाणिदयट्ठा वा वासमिहियासु पडंतीसु विज्जाए उवयारो काइयाए आयमियव्वं काउं, एतेहिं कारणेहिं मत्तए वोसिरिउं वाहिं जयणाए उदिते सूरिए पट्ठवेंति ।

अभिग्गह अप्पदाराणं इमा दोण्ह वि व्याख्या-

अभिग्गहिय त्ति कए, कहणं पुण होति मोहपडिमाए ।
अप्पो त्ति अप्प मोहं, मोदमभी भवति अप्पा ॥ १०९ ॥

पुव्वद्धं कंठ, अप्पमिति मोहं अप्प पुणो भवति, काइयभूमी वा अप्पा, तेण मत्तए वोसिरति ।

एतेहिँ कारणेहिं, वोसिरणं दिवसतो व रत्तीं वा ।
पगतं तु ण होति दिवा, अधिकारो, रत्तिवोसट्ठे ॥ ११० ॥

इह सूत्रे दिवसतो णाधिकारो, रातो वोसिरितेणाहिकारो ।

सगपातम्मि य रातो, अधवा परपायगंसि जो भिक्खू ।
उच्चारमायरित्ता, सूरम्मि अणुग्गए राओ ॥ १११ ॥

उच्चारो सण्णा, पासवणं काइया, जो राओ वोसिरिउं अणुग्गए सूरिए परिट्ठवेति, तस्सेयमुत्तम् ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, सूरम्मि उग्गए राओ ॥ ११२ ॥

कंठ ।

रातो परिट्ठवेंतस्य इमे दोसा-

तेणाऽऽरक्खिय सावय-पडणीयणपुंसइत्थितेरिच्छा ।
ओहाणपेहि पेहा-णासे य वाले य मुच्छा य ॥ ११३ ॥

राओ णिग्गओ तेणाऽऽरक्खिएहिं घेप्पेज्ज, सीहमाइणो वा सावया, तेहिं स खज्जेज्जा पडिणीओ वा पडियरिउ राओ असागारिते पतावेज्ज, पडिणीओ वा भणेज्ज एस चोरोपारदारिओ, जेण राओ णिग्गच्छति, णपुंसगो वा रातो बला गेण्हेज्ज, इत्थी वा गेण्हेज्जा । अहवा-अहभावेण साधू इत्थी य जुगवं णिग्गता, तत्थ संकाइया दोसा, एवं महासद्दियादितिरिक्खीए वि संकेज्ज, अधवा णपुंसकइत्थीतिरिच्छीए वा कोवि अणायारं सेविज्ज, ओहाणपेही वा दिवसतो छिद्दं अलभमाणो रातो समाहिपरिट्ठवणलक्खेण ओहावेज्जा, एवं वेहाणसं पि करेज्जा, सप्पाऽऽदिणा वा वालेण खइतो ण तरति अक्खाउं, मुच्छा वा से होज्ज । जम्हा एते दोसा तम्हा ण परिट्ठवेयव्वो ।

समाहिमत्तओ अणुग्गए वि परिट्ठवेति-

बितियपदे सागारो, संसत्तप्पेच्छणाय हेतुं वा ।
एतेहिँ कारणेहिं, सूरम्मि अणुग्गए राओ ॥ ११४ ॥

उग्गए सूरिए परिट्ठवेज्जमाणे सागारिय भवति, अंतो वा कायभूमी, अप्पा संसत्तो वा, ताहे दिवसतो वि मत्तए वोसिरिउं राओ अप्पसागारिए, परिट्ठविज्जति, उग्गते सूरिए जाव परिट्ठवेति वि सुवावेति वा सुत्तपरिमंथो महंतो भवति त्ति अणुग्गए सूरिए परिट्ठवेति, परिट्ठवेंतो सुद्धो भवतीत्यर्थः । नि० चू० ३ उ० ।

(२६) अङ्गारदाहाऽऽदिषु स्थण्डिलेषु उच्चारप्रश्रवणे करोति-

जे भिक्खू इंगालदाहंसि वा खारदाहंसि वा भुसदाहंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥

इमो सुत्तत्थो-

इंगालखारदाहे, खदिरादी वत्थुलादिया होंति ।
गोमाऽऽदिरोगसमणो, दहंति गच्छे तहिं जासिं ॥ ६७ ॥

खहरा ऽऽदी इंगाला,वत्थुलमादी खारो,जरा ऽऽदिरोगमरताणं गोरुश्राणं रोगपसमणत्थं जत्थ गाश्रो डब्भंति तं गायदाहं भणति कुंभकारा जत्थ बाहिरश्रो तुसे डहंति तं तुसडाहट्ठाणं, प्रतिवर्षे खलगट्ठाणे श्रोसख जत्थ भुसं डहंति तं भुसडाहट्ठाणं।

जे भिक्खू णवासु गोलेहणियासु वा, णवियासु वा मट्टियाखाणीसु वा, परिभुंजमाणियासु वा, अपरिभुंजमाणियासु वा, उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥

इमो सुत्तत्थो–

ऊसच्छाणे गाश्रो, लिहंति भुंजंति अभिणवा सा तु।
अचियत्तमरणलेहण, एमेव य मट्टियाखाणी ॥६८॥

जत्थ गावो ऊसच्छाणा लिहंति, सा भुज्जमाणी णिरुद्धा नवा भरणति, तत्थ दोसा सचित्तमीसो पुढविकायो, अचियत्तं गोसामियस्स वा णवा, तत्थ गावो लेहवेंति, अंतरायदोसो, अरणत्थ वा लेहवेति पुढविवहो, मट्टियाखाणीए वि सचित्तमीसा पुढवी जणवयस्स अचियत्तं अरणं वा खाणिं पवत्तेंति।

जे भिक्खू से आययणंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा, उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७५॥

इमो सुतत्थो–

पंको पुण चिक्खल्लो, पणगो पुण जत्थ मुच्छते ठाणे।
सोश्रो कद्दमबहुलो, आवयणं तस्स णिका तू ॥ ६६ ॥

सचित्ताचित्तविसेसणे पुणसद्दो, आयतनमिति स्थानं,पणश्रो उ लीसो जत्थट्ठाणे संमुच्छति, तं पणगट्ठाणं, कद्दमबहुलं पाणीयं सोश्रो भरणति, तस्स आययणं णिका।

जे भिक्खू उंबरवच्चंसि वा, नग्गोहवच्चंसि वा,आसत्थवच्चंसि वा पिलक्खुवच्चंसि वा, पिप्पलीवच्चंसि वा, डागवच्चंसि वा उच्चार पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ।७७।

उंबरस्स फला जत्थ किरिवडे उब्भविज्जंति तं उंबरवच्चं भरणति, एवं णग्गोहो वडो, आसत्थो पिप्पलो, पिलक्खू पिप्पलभेदो, सो पुण इत्थियाभिहाणा पिप्परी भरणति, डागो पत्रसागो; एतेसा सुक्कंति फला जहिं चेव।

एतेसामरणतरे, थंडिल्ले जो तु वोसिरे भिक्खू।
पासवणुच्चारं वा, सो पावति आणमादीणि ॥१००॥

कंठा।

सूत्रम्–

जे भिक्खू इच्छुवणंसि वा, सालिवणंसि वा, कुसुंभवणंसि वा, कप्पासवणंसि वा, उच्चार पासवण वा, परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥ जे भिक्खू मडगवच्चंसि वा, सागवच्चंसि वा, मूलयवच्चंसि वा, कोत्थंभरिवच्चंसि वा, खारवच्चंसि वा, जीरियवच्चंसि वा, दमणयवच्चंसि वा, मरुगवच्चंसि वा, उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ परिट्ठवंतं वा, साइज्जइ ॥ ७६ ॥ जे भिक्खू असोगवणंसि वा, संतिवरणवणंसि वा, चंपगवणंसि वा, चूयवणंसि वा, अरणयरेसु तहप्पगारेसु पत्तोवएसु पुप्फोवएसु फलोवएसु छाउवएसु उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ८० ॥

देसाऽऽहिंडकेन जनपदप्रसिद्धा ज्ञेया।

एते पुण सव्वे वि थंडिला तिविधे उवघाए पडंति–

आया संजम पवयण, तिविधं उवघाइयं तु णायव्वं।
गिहमादिंगालाऽऽदी, सुसाणमादी जहा कमसो ॥१०१॥

गिहे आउवाघातो,तं गिहं अपरिग्गहमितरं वा अपरिग्गहे मासलहुं, सपरिग्गहे चउलहु, गेण्हणकड्ढणाऽऽदयो दोसा,एवं मडगाऽऽदिएसु वि सुसाणमादिएसु पवयणोवघातो–असुतिट्ठाणसेविणो एते कापालिका इव चउलहु अविसेसा प्रायसो संजमोवघातिणो उवउज्ज अप्पणा जो जत्थ उवघातो स तत्थ वत्तव्वो।

इमे दोसा–

छड्डावण पंतावण, तत्थेव य पाडणाऽऽदयो दिट्ठे।
अदिट्ठे अरणकरणे, काया कायाण वा उवरिं ॥१०२॥

गिहाऽऽदिविरुद्धट्ठाणे वोसिरंतो छडविज्जति, पंतावेज्जति वा, तत्थ वा पाडेइ, एते दिट्ठे दोसा अदिट्ठे पुण अरणं इंगालादीदाहरुट्ठाणं करेंति, कायविराहणा भवति, तं वा सरणं कायाण उवरिं छड्डेति।

वितियपदमणप्पज्झे, श्रोसरणाऽऽईण रोहणट्ठाणे।
दुव्वलगहणि गिलाणे, जयणाए वोसिरेज्जाहि ॥१०३॥

अणप्पज्झे खित्ताऽऽदीए श्रोसरणमिति चिरायण अपरिभोगट्ठाणं आइरणं आयरियं सव्वो जणो जत्थ वोसिरति रोहगे वा अरणं थंडिलं णत्थि, अद्धाणपडिवरणो वा वोसिरति, दुब्बलगहणी वा अरण थंडिलं गतुं न सक्केति, गिलाणो वा जं अप्पदोसतरं तत्थ वोसिरति। एस जयणा। अथवा–अरणो अवलोएति, अरणो वोसिरति, पउरदवेणं कुरुकुयं करोति। नि० चू० ३ उ०।

( ३० ) आगन्तारेषु परिष्ठापयति–

जे भिक्खू आगंतारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७०॥

इच्चाइसुत्ता उच्चारेयव्वा जाव महाकुलेसु वा महागिहेसु वा उच्चार पासवण परिट्ठवेति। सुत्तत्थो जहा अट्ठमउद्देसगे, इह णवरं उच्चारपासवण त्ति वत्तव्वं।

एतेसु ठाणेसु उच्चारमादीणि वोसिरंतस्स गाहा–

आगंतारादि ठाणा, जेत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते।
तेसुच्चाराऽऽदीणि, आयरमाणम्मि आणाऽऽदी ॥२६२॥

कंठा।

एतेसु ठाणेसु आयरंतस्स इमे दोसा–

अयसो पवयणहाणी, विप्परिणामो तहेव य दुगुंछा।
आगंतरादीसुं, उच्चाराऽऽदीणि आयरतो ॥ २६३ ॥

असुइसमायारो लोगाऽऽयारबाहिरा, अलमगावि सलसगा लोगोवभोगट्ठाणाणि असुईणि भुंजमाणा विहरंति, एवमादि अयसो लोगाववादेण य अयसोवहएसु ण कोइ पव्वजति त्ति पवयणहाणी दंडिगादि वा णिवारेज्ज,तारिसगं वा समायारं दट्ठुं अहिणवधम्मा सड्ढगाऽऽदिविपरिणवेज्ज,सेहे वा विपरिणवेज्ज, मिच्छत्तं वा थिरीकरेज्ज अमुई एते त्ति महाजणमज्झे दुगुंछेज्ज, दुगुंछाए वा तं काएसु परिट्ठविज्जा, तम्हा ण कप्पति आयरिउ।

इमो अववातो–

त्रितियपदमणप्पज्झे, ओसम्माईण रोहगद्धाणे ।
दुब्बल गहणि गिलाणे,वोसरिणं होति जयणाए ॥२६४॥

एतीए गाहाए इमा वक्खाणसिद्धट्ठाणेसु अणप्पज्झो आयरेज्जा ।

उस्सण्णाऽपरिभोगा, आइण्णो जत्थ असमच्छेहिं ।
अद्धाणे वडिवज्जति, महाणिवेसे व सत्थम्मि ॥२६५॥

लोग अपरिभोगं ओसएणं भएणइ जहिं अएणमएणो जणो बहु वोसिरइ तं आइएण तं वा ठाण रोधगे अणुएणातं अद्धा णपवएणा वा वोसिरंति. छड्डेति वा । अहवा–महल्लसत्थेण अद्धाणं पवण्णा,तं सत्थणिवेसं जाव वोलेउं जति एंति य,ताव महंतो कालो गच्छति, अतो तत्थेव वोसिरंति ।

दुब्वलगहणिगिलाणे, अतिसारमादी व थंडिल्लं ।
गतुं नवातिदं पुण, सिदिज्जति अत्थं समतिरेगं ॥२६६॥

दुब्वलगहणी ण सक्केत्ति थंडिलं गंतुं.गिलाणो वा वोसिरेज्जा, अतिसारेण वा गहिओ किन्चिए वारे गमिस्सति, एवमादिकारणेहिं थंडिलं गंतुमसमत्थो वोसिरइ,जयणाए एगो सागारिओ णिरिक्खति,एगो वोसिरइ । अथवा–सागारियं हवेज्जा तो से अत्थं बहु दव दिज्जति, अचित्तपुढवीकुरुकुयं करेति ।

जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा उज्जाणसालंसि वा निज्जाणंसि वा निज्जाणसालंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥ जे भिक्खू अट्टंसि वा अट्टालयंसि वा वरियंसि वा दारगंसि वा गोपुजरगंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७२॥ जे भिक्खू दगंसि वा दगमग्गंसि वा दगपहंसि वा दगतीरंसि वा दगठाणंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ॥७३॥ जे भिक्खू सुण्णगिहंसि वा सुण्णसालंसि वा भिण्णगिहंसि वा भिण्णसालंसि वा कूडागारगिहंसि वा कूडागारसालंसि वा कोट्ठागारंसि वा कोट्ठागारगिहंसि वा कोट्ठागारसालंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७४॥ जे भिक्खू तणगिहंसि वा तणसालंसि वा तुसगिहंसि वा तुससालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७५॥ जे भिक्खू जाणगिहंसि वा जाणसालंसि वा जुग्गगिहंसि वा जुग्गसालंसि वा बुसगिहंसि वा बुससालंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७६॥ जे भिक्खू पणियगिहंसि वा पणियसालंसि वा कुवियगिहंसि वा कुवियसालंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ।७७। जे भिक्खू गोणगिहंसि वा गोणसालंसि वा महाकुलंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥७८॥

गाहा–

उज्जाणट्ठाणादिसु, उदगपहसुण्णघरमादिएसुं च ।
जाणसालाऽऽदीसुं, महाकुलेसुं च एस गमो ॥२६७॥

एसा गाहा कंठा । नि० चू० १५ उ० ।

(३१) अनन्तरहितायां पृथिव्यामुच्चारप्रश्रवणं परिष्ठापयति–

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू ससणिद्धाए पुढवीए उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए० जाव पइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥४६॥ जे भिक्खू थूणंसि वा गिहएलुयंसि वा उसुकालंसि वा कामजलंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ परिट्ठवंतं,वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खू कुलियंसि वा भित्तिंसि वा लेलुंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ । ४८ । जे भिक्खू खंधंसि वा थंभंसि वा दुबद्धे दुनिक्खित्ते चलाचलं उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ,परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥४९॥ जे भिक्खू खंधंसि वा थभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

ते सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ णिसीहे अज्झयणे सोलसमो उद्देसो संमत्तो ॥१६॥

एवं ससणिद्धादि उच्चारेयव्वा गाहा–

पुढवीमादी कुलमा–दिएसु थूणाऽऽदि खंधमादीसु ।
तेसूक्करादीणि, परिट्ठवंतम्मि आणादी ॥ ७८० ॥

आदिसद्दातो ससणिद्धससरक्खाऽऽदी जे सुत्तपदा भणिता तेसु उच्चारं पासवणं परिट्ठवेंतस्स आयसंजमविराहणा भवति. आणाऽऽदिया य दोसा । चउलहु पच्छित्तं । एते पुढवादी पदा जहा तेरसमे उद्देसगे वक्खाया तहा भाणियव्वा; णवरं तत्थ ठाणाऽऽदी भणिया इह उच्चारपासवणं भाणियव्वं ।

इमो अववातो–

बितियपदमणप्पज्झे. ओसण्णाईणि रोहगद्धाणे ।
दुब्बलगहणगिलाणे. वोसिरणं होति जयणाए ॥७८१॥

अणवज्झो खित्तचित्ताऽऽदी, ओसण्णं ति विरायण अपरिभागं आइण्णं, जणोवि तत्थ वोसिरति रोहगे वा तं अणुण्णायं, दुब्बलो वा साधू, गहणिदुब्बलो वा थंडिलं गंतु न समत्थो. गिलाणो वा असमत्थो, एते वोसिरंति, जयणाए वोसिरति, जहा आयसंजमविराहणा ण भवतीत्यर्थ. । " देहडो सीहथो राया, ततो जेट्ठा सच्चरा । कणिट्ठा देउलोऽणएणो, सत्तमो य अतिज्जगो " ॥ १ ॥ एतेसिं मज्झिमो जो ओमं देवी तेण वितिया । नि० चू० १६ उ० । दश० । स्था० । ( उदकतीरे उच्चारप्रश्रवणं न परिष्ठापयेदिति 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे २४४१ पृ

छे उक्तम्) (आचार्य उपाध्यायो वाऽन्तरुपाश्रये उच्चारप्रश्रवणे परिष्ठापयन्नातिक्रामतीति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १२ पृष्ठे १७ पृष्ठे च उक्तम्) "सहसा पडिलुच्छं पडिग्गासियंतं तक्खणपरिग्गासियंतं तक्खणाणं परिट्ठवेति निरुवहवे थंडिले खवणं।" महा०१ चू०।(सचित्तवृक्षमूले स्थित्वा परिस्थापना 'सचित्तरुक्ख' शब्दे वक्ष्यते)

जे भिक्खू वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अलं थिरं धुवं धारणिज्जं पलिच्छिंदिय पलिच्छिंदिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं साइज्जइ ॥ ६८ ॥

ख्यामियकप्पासादि वत्थं, उएिणयकप्पासादि कंबलं रयहरणं पायपुंछणं उवग्गहियं वा पलिच्छिंदिय शस्त्राऽऽदिना।

जे भिक्खू दंडगं वा जाव० वेणुसुयं वा पलिभंजिय पलिभंजिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥

हत्थेहिं आमोडणं पलिभंजणं।

गाहा-

पायम्मि य जो उ गमो, णियमा वत्थम्मि होति सो चेव।
दंडगमादीसु जहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ २६५ ॥

नि० चू० ५ उ०।

अप्रत्युपेक्षिते स्थण्डिले-

दिया थंडिलेहिं एगओसन्नं वोसिरिज्जा समाहीए वा एगासणं गिलाणस्स अन्नेसिं तु छट्ठमेव जईणं दिया णं थंडिलं पच्चुप्पेहियं णो णं समाही संजमिया अपच्चुपेहिए थंडिले पेहिया चेव समाहीए रयणीए मत्तं वा काइयं वा वोसिरिज्जा एगासणं गिलाणस्स (महा० १ चू०) अपच्चुप्पेहिय थंडिले उच्चार वा पासवणं वा सिंघाणं परिट्ठवेज्जा निव्विगइयं। महा० १ चू०।

(३२) अविधिपरिष्ठापने दोषाः-

जे भिक्खू खुड्डगंसि थंडिलंसि उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ॥ १४० ॥

रयणिपमाणनो जं आरतो तं खुड्डं, तत्थ जो वोसिरति, तस्स मासलहुं, आणाऽऽदिया दोसा।

वित्थाराऽऽयामेणं, थंडिल्लं जं भवे रयणिमेत्तं।
चतुरंगुलमोगाढं, जहण्णयं तं तु वित्थिण्णं ॥२६४॥

वित्थारो मोहच्चं, आयामो दिग्घत्तणं रयणी हत्थो तम्माणे ठितं रयणिमेतं, जस्स थंडिलस्स चत्तारि अंगुला अहे सचित्ता, त चउरंगुलोवगाढ, एयप्पमाणं जहण्णय वित्थिण्णं।

एत्तो हीणतरागं, खुड्डागं तं तु होति णातव्वं।
अतिरेगतर पत्तो, वित्थिण्णं तं तु णायव्वं ॥ २६५ ॥

सव्वुक्कोसं वित्थिण्ण वारसजोयणं त च जत्थ चक्कवट्टिखंधावारो ठिओ।

पासवणुच्चारं वा, खुड्डाए थंडिलम्मि जो भिक्खू।
जति वोसिरती पावति, आणा अणवत्थमादीणि ।२६६।
छक्कायाण विराधण, उभएणं भावणा तसाणं च।
जीवितचक्खुविणासो, उभयणिरोहेण खुड्डाए ॥२६७॥

आसण्णे छक्काया, ते उभएण काइयसण्णाए भावति, तसाणं च भावणा खुड्डयं काऊण वोसिरति जीवियचक्खुविणासो भवति।

वितियपदं-

थंडिल्लअसतिअद्धाण, रोधए संभमे भयासण्णे।
दुब्बलगहणि गिलाणे,वोसिरणं होति जतणाए ॥२६८॥

असति पमाणजुत्तस्स थंडिलस्स, चोरसावयभया पमाणजुत्तं ण गच्छति, आसएणे त्ति अणधियासओ पमाणजुत्तं गंतुं ण सक्कति, दुब्बलगहणी वा ण तरति गंतुं. इमा जयणा, एत्थ सएणं वोसिरति, काइयं अण्णत्थ, अह काइयं पि, ताहे काइयं मत्तए पडिच्छति।

जे भिक्खू उच्चारं वा पासवणं वा अविहीए परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ॥ १४१ ॥

थंडिलसामायारी ण करेति, एस अविधीए वोसिरति, तस्स मासलहुं - आणाऽऽदिया य दोसा।

पासवणुच्चारं वा, जे भिक्खू वोसिरेज्ज अविधीए।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२६६॥

इमा विधी-

पडिलेहणा दिसाणं, पाए य पमज्जणट्ठ कायदुवे।
भयणा छाया दिसऽभि -ग्गहे य जतणा इमा तत्थ ।३००।
दिसि पवण गाम सूरिय,छाया य पमज्जितूण तिक्खुत्तो।
जस्सोग्गहो त्ति कुज्जा, राउ दिए पमज्जणा जतणा।३०१।

सागारियसंरक्खणट्ठा उड्ढमहो तिरियं च दिसावलोगो कायव्वो अह ण करेति तो दव्वकप्पकलुसादिएहिं उड्डाहो भवति. पढमं पदं जत्थ वोसिरिउ कामो तट्ठाणस्स पासे संडासगं पादे य पमज्जति, अह ण पमज्जति तो रयाऽऽदिविणासणा भवति, असमायरी य; चसद्दातो थंडिल च, वितियपदं (कायदुवे भयण त्ति) भयणसद्दो उभयपदीपकः, इय कायभंगभयणा कज्जति, जति पडिलेहेति ण पमज्जति। एत्थ थावरं रक्खति, ण तसे, अध ण पडिलेहेति, पमज्जति, एत्थऽत्थ वा रमसे रक्खति, पडिलेहेति, ण पमज्जति एत्थ वि दोवि काए रक्खति, ण पडिलेहेति, ण पमज्जति, एत्थ दोवि ण रक्खति, अहवा इमा चउव्विहा भयणा-थंडिलं तसपाणविरहियं,थंडिलं तसपाणसहितं. अथंडिलं तसपाणविरहियं, अथंडिलं तसपाणसहियं एवं ततियपयं (भयणा छाय त्ति) असंसत्तगहणी उण्हे वोसिरति, संसत्तगहणी छायाए वोसिरति, तो चउलहु, एयं चउत्थपद. दिसाभिग्गहो-दिवसे उत्तराहुत्तो राओ दक्खिणाहुत्तो। अह अण्णत्तो सुहो वसह ततो मासलहु, दिवसपवणगामसूरियादी य सव्वं अविवरीयं कायव्वं विवरीए मासलहुं।

वितियपदे-

संकाऽऽगार अद्दं, गरहमसंसत्त असति दोसे य।
पंचसु वि पदेसु एते, अवरपदा होंति णातव्वा ॥३०२॥

दिसालोअं णं करेज्ज, तत्थ गामे तेणभयं, दिसालोअं करेंतो संकिज्जति, एस तेणो चारिओ वा पादे वि ण पमज्जेज्जा सागारिय त्ति काउं, अद्दमिति अद्दं थंडिलं ण पमज्जति, अधवा-त थंडिलं गरहणिज्जं तेण ण पमज्जति, असंसत्त गहणी, तेण ण छायाए वोसिरति, असति दोसाणं दिसाभिग्गहणं ण करेज्जा, वट्टियसण्णो डगलगं पि ण गेण्हेज्जा, गामसूरियादीण वि पिट्ठिं देज्जा, जत्थ लोगो दोसं ण गेण्ह-

ति । पचसु वि पएसु एते अवरपदा भणिता । नि० चू० ४ उ० । ग० ।

विषयसूची–

(१) परिष्ठापनाविधिः ।
(२) उदकसंसक्तस्याऽऽहारस्य परिष्ठापनिका ।
(३) जड्डो दीक्षाऽनर्हः ।
(४) कालगतसाधुपरिष्ठापनिका ।
(५) दिग्द्वारम् ।
(६) णंतकद्वारम् ।
(७) णोमणुयपरिट्ठावणिया ।
(८) दिवा रात्रौ कालगत इति द्वारम् ।
(९) जागरणबन्धनच्छेदनद्वारम् ।
(१०) कुशप्रतिमाद्वारम् ।
(११) निवर्तनद्वारम् ।
(१२) मात्रकद्वारम् ।
(१३) शीर्षद्वारम् ।
(१४) तृणाऽऽदिद्वारम् ।
(१५) उपकरणद्वारम् ।
(१६) कायोत्सर्गद्वारम् ।
(१७) प्रादक्षिण्यद्वारम् ।
(१८) अभ्युत्थानद्वारम् ।
(१९) व्याहरणद्वारम् ।
(२०) कायोत्सर्गद्वारम् । तत्र स्तुतित्रयम् ।
(२१) क्षपणस्वाध्यायमार्गणाद्वारम् ।
(२२) व्युत्सर्जनद्वारम् ।
(२३) अवलोकनद्वारम् । असंजतपरिट्ठवणा च ।
(२४) भोजनजातं परिगृह्य सुरभि भुङ्क्ते दुरभि परिष्ठापयति तत्र प्रायश्चित्तम् ।
(२५) मनोज्ञं भोजनं परिगृह्य तद् बह्वपि साधर्मिकेभ्योऽदत्त्वा परिष्ठापयति ।
(२६) नोआहारपरिस्थापनिका ।
(२७) गृहवर्चादिषु उच्चार-प्रश्रवणे परिष्ठापयति ।
(२८) रात्रौ विकाले वा उच्चारं कृत्वा पात्रे स्थापयित्वा प्रात. परिष्ठापयन्ति ।
(२९) अङ्गारदाहादिषु स्थण्डिलेषु उच्चार-प्रश्रवणे ।
(३०) आगन्तारेषु परिष्ठापना ।
(३१) अनन्तरहिताया पृथिव्यामुच्चारप्रश्रवणपरिष्ठापना ।
(३२) अविधिपरिष्ठापने दोषाः ।

परिट्ठवणियसमिइ–पारिष्ठापनासमिति–स्त्री० । समितिभेदे, सम्प्रति परिष्ठापनसमितिमाह–

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वाऽवि तहाविहं ॥१५॥

उच्चारं पुरीष, प्रश्रवणं मूत्र, खेल मुखविनिर्गतं श्लेष्माणम्,( सिंघाण ति ) नासिकानिष्क्रान्तं तमेव, (जल्लियं ति ) आर्षत्वात् जल्लो मलस्तम्, आहारमशनाऽऽदिमुपधि वर्षाकल्पाऽऽदि,देह शरीरम् अन्यद्वा कारणतो गृहीतं गोमयाऽऽदि, अपि पूरणे, तथाविधं परिष्ठापनाऽर्हं, प्रक्रमात् स्थण्डिले व्युत्सृजेदित्युत्तरेण संबन्ध. । उत्त० २४ अ० । नि० चू० ।

परिट्ठवणिया–पारिष्ठापनिकी–स्त्री० । परिष्ठापनं प्रदानभाजनगतद्रव्यान्तरोज्झनलक्षणम्, तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिकी आव० ४ अ० । त्यागे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । अपुनर्ग्रहणतया न्यासेन निर्वृत्तक्रियायाम्, आव० ४ अ० ।

परिट्ठविअ–परिष्ठापित–त्रि० । त्यक्तपूर्वे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

परिट्ठविज्जमाण–परिष्ठाप्यमान–त्रि० । त्यज्यमाने, क्षिप्यमाणे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० ।

परिट्ठा–प्रतिष्ठा–स्त्री० । " निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा ।" ॥८।१।३८॥ इति सूत्रेण प्रते. परिः। सद्गुणस्थापने,प्रा०१पाद।

परिट्ठावियव्व–परिष्ठापितव्य त्रि० । साधुना सम्यग्विधाय परित्यक्तव्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

परिट्ठिय–प्रतिष्ठित–त्रि० । 'निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा ।" ॥ ८ । १ । ३८ ॥ इति सूत्रेण प्रते. पर्यादेशः । उपरि स्थिते, प्रा० १ पाद । " उअ णिच्चल णिप्पंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाया । णिम्मलमरगअभायण-परिट्ठिआ संखसुत्ति व्व " ॥ १ ॥ प्रा० २ पाद ।

परिणइ–परिणति स्त्री० । परिणमने, परिणामे, विशे० ।

परिणइमंजुल–परिणतिमञ्जुल–न० । परिणतौ मञ्जुलम् । परिणामसुन्दरे, दर्श० ३ तत्त्व ।

परिणद्ध–परिणद्ध–त्रि० । परिगते, ज्ञा० १श्रु० ९ अ० । वेष्टिते, नपुंसके क्त. । परिणहने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

परिणममाण–परिणमत्–त्रि० । पूर्यमाणे, परिपूर्णप्राये, "अट्ठमभत्तंसि परिणममाणे ।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । परिणामान्तराणि गच्छन्ति । भ० ७ श० १० उ० ।

परिणय–परिणत–त्रि० । अवस्थान्तरमापन्ने, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० । परिणतिं गते, भ० १ श० १ उ० । स्वकायपरकायशस्त्राऽऽदिना परिणामान्तरमापादिते अचित्तीभूते, स्था० २ ठा० १ उ० । आचा० । परिणतमुदकदायकावस्थां प्राप्तम्, स्था० ३ ठा० ३ उ० । " परिणयजलदलविसुद्धिरूवा ।" परिणत प्रासुकं तज्जलं पानीयं,दलं च दूर्वाऽऽदि तयोर्या विशुद्धिरनवद्यता, दोषरहितत्वाऽऽदिलक्षणा, सैव रूपं स्वभावो यस्या. सा परिणतजलदलविशुद्धिरूपा । पञ्चा० ७ विव० । परिपक्वे, पाइ० ना० १४३ गाथा ।

परिणयण–परिणयन–न० । विवाहे भगवता ऋषभेण युगलधर्मव्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता, बाहुबलिना सह जाता सुन्दरी भरताय दत्ता, तत आरभ्य प्रायो लोकेऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्तम् । आ० म० १ अ० ।

परिणयवय–परिणतवयस्–पु० । स्त्री० । संपन्नावस्थाविशेषे, तरुणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अतिक्रान्तयौवने, मध्यम वय प्राप्ते, बृ० १ उ० ३ प्रक० । स्थविरक्रियाम्, बृ० १ उ० २ प्रक० । त्रि० । विगतयौवने, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० ।

परिणाम–परिणाम–पु० । परि समन्तान्नमनं परिणामः। सुदीर्घकालपूर्वापरपर्यालोचनजन्ये आत्मनो धर्मविशेषे, नं० । स्था० । परीति सर्वप्रकारं नमन जीवानामजीवानां च जीवत्वाऽऽदिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं, उत्त० १ अ० । परिणमन परिणाम ,कथञ्चिदवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थाप-

रित्यागेनोत्तरावस्थागमने, " परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्त-द्विदामिष्टः ॥ १ ॥ " प० सं० २ द्वार। स०। पतञ्जलिटीकाकारोऽप्याह-" अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः। " स्था०। कथञ्चित् पूर्वरूपत्यागेनोत्तररूपाऽऽपत्तौ, आ० म० १ अ०। ध०। अनं०। स्या०। स्था०। षो०। पर्यायान्तराऽऽपत्तौ,दश०८ अ०। तत्तद्भावगमने, स्था० १० ठा०। द्रव्यस्य तेन तेन रूपेण वर्त्तने, अनु०। विपरिवर्त्तने, विशे०। आचा०। तत्थ सव्वदव्वपरिणामो णामं, दव्वं दुविहं भवति-तं जीवदव्वं, अजीवदव्वं च,तस्स दुविहस्स वि दव्वस्स जो उप्पायट्ठितिभंगेहिं पज्जायभावो सो दव्वपरिणामो भण्णति, तत्थ खेत्तग्गहणेण आगासत्थिकायस्स गहणं कयं, तस्स खेत्तस्स परिणामो परपच्चइओ पोग्गलत्थिकायादिणो दव्वे पडुच्च भवति त्ति। तत्थ कालपरिणामो णाम-समयावलियमुहुत्ताऽऽदी अणेगभेदो हवइ। भावपरिणामो नाम-एगगुणकालगादी अणेगभेदो मुट्ठव्वो त्ति। एतेसिं चउण्हं वि दव्वखेत्तकालभावाणं जो परिणामो तस्स सव्वपरिणामस्स विण्णत्तिकारणं अणंतं केवलणाणं भवति त्ति। आचू० १ अ०। आ० म०।

(१) जीवाजीवपरिणामाः-

कइविहे णं भंते ! परिणामे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे परिणामे पण्णत्ते। तं जहा-जीवपरिणामे य, अजीवपरिणामे य ॥ १८१ ॥

(कइविहे णं भंते! परिणामे पण्णत्ते इत्यादि) कतिविधः कतिप्रकारो,णमिति वाक्यालङ्कारे,भदन्त ! परिणामः प्रज्ञप्तः,परिणमनं परिणामः,"अकर्त्तरि०" ॥३।३।१९॥(पाणि०) इति भावे घञ्प्रत्ययः,परिणमनं च नयभेदेन विचित्रं,नयाश्च नैगमाऽऽदयोऽनेके तेषां च समस्तानामपि संग्राहकौ प्रवचने द्वौ नयौ। तद्यथा-द्रव्याऽऽस्तिकनयः,पर्यायाऽऽस्तिकनयश्च। तथा चाहुः श्रीमल्लवादिनः-" तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जव-नओ य सेसा वियप्पा सिं* ॥१॥" तत्र द्रव्यास्तिकनयमतेन परिणमनं नाम यत् कथंचित्सदेवोत्तरपर्यायरूपं धर्मान्तरमधिगच्छति, न च पूर्वपर्यायस्यापि सर्वथाऽवस्थानं नाऽप्येकान्तेन विनाशः, तथा चोक्तम्-"परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥" पर्यायाऽऽस्तिकनयमतेन पुनः परिणमनं पूर्वसत्पर्यायापेक्षया विनाश उत्तरेण चासता पर्यायेण प्रादुर्भाव, तथा चामुमेव नयमधिकृत्यान्यत्रोक्तम्-"सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसतोऽथ पर्ययतः। द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्यवनयस्य ॥ १ ॥" भगवानाह गौतम ! द्विविधः परिणामः प्रज्ञप्तः। तद्यथा- जीवपरिणामश्चाऽजीवपरिणामश्च, तत्र जीवस्य परिणामो जीवपरिणामः, स प्रायोगिकः, अजीवस्य परिणामः अजीवपरिणामः,स वैश्रसिकः, चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ, तांश्च भेदान् अग्रे सूत्रकृदेव वक्ष्यति ॥ १८१ ॥

(जीवपरिणामस्य दशविधत्वे सूत्रम्-(१८२) 'जीवपरिणाम' शब्दे चतुर्थभागे १५५७ पृष्ठे गतम्)तद्व्याख्या चेत्थम्-(जीवपरिणामे णं भंते ! इत्यादि ) दशविधो जीवपरिणामः। तद्यथा-गतिपरिणाम इत्यादि, तत्र गम्यते नैरयिकाऽऽदिगतिकर्मोदयवशादवाप्यत इति गतिः-नैरयिकत्वाऽऽदिपर्यायपरिणतिः गतिरेव परिणामो गतिपरिणामः १, तथा इन्दनादिन्द्रः-आत्मा ज्ञानलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्येदम्-इन्द्रियमिति निपाननादिन्द्रशब्दादियप्रत्ययः,इन्द्रियाण्येव परिणाम इन्द्रियपरिणामः २, तथा कषन्ति-हिंसन्ति परस्परं प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः-संसारस्तमयन्ते-अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् गमयन्ति प्रापयन्ति ये ते कषायाः। "कर्मणोऽण्" ॥५।१।७२॥ (सिद्ध०)इत्यण्प्रत्ययः,कषाया एव परिणामः कषायपरिणामः ३, लेश्याऽऽदिशब्दार्थो वक्ष्यमाणः लेश्या एव परिणामः लेश्यापरिणामः ४,योग एव परिणामो योगपरिणामः ५,उपयोग एव परिणाम उपयोगपरिणामः ६,एवं ज्ञानपरिणाम ७ दर्शनपरिणाम ८ चारित्रपरिणाम ९ वेदपरिणामेष्वपि भावनीयम् १०।

(२) गतिपरिणामः-

गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-नेरइयगतिपरिणामे, तिरियगतिपरिणामे, मणुयगतिपरिणामे, देवगतिपरिणामे १। इंदियपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-सोइंदियपरिणामे, चक्खिंदियपरिणामे, घाणिंदियपरिणामे, जिब्भिंदियपरिणामे, फासिंदियपरिणामे २। कसायपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-कोहकसायपरिणामे, माणकसायपरिणामे, मायाकसायपरिणामे, लोभकसायपरिणामे ३। लेस्सापरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-कण्हलेसापरिणामे, नीललेसापरिणामे, काउलेसापरिणामे, तेउलेसापरिणामे, पम्हलेसापरिणामे, सुक्कलेसापरिणामे ४। जोगपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-मणजोगपरिणामे, वइजोगपरिणामे, कायजोगपरिणामे ५। उवओगपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सागारोवओगपरिणामे य,अणागारोवओगपरिणामे य ६। नाणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-आभिणिबोहियनाणपरिणामे सुयनाणपरिणामे,ओहिनाणपरिणामे मणपज्जवनाणपरिणामे,केवलनाणपरिणामे। अन्नाणपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-मतिअन्नाणपरिणामे,सुयअन्नाणपरिणामे,विभंगनाणपरिणामे ७। दंसणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-सम्मद्दंसणपरिणामे, मिच्छादंसणपरिणामे, सम्मामिच्छादंसणपरिणामे ८। चारित्तपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-सामाइअचारित्तपरिणामे,छेदोवट्ठावणियचारित्तपरिणामे,परिहार-

* तीर्थंकरवचनसामान्यविशेषप्ररूपणामूलव्याकर्तारौ। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, शेषा भेदा अनयोः ॥ १ ॥

विसुद्धियचारित्तपरिणामे, सुहुमसंपरायचारित्तपरिणामे, अहक्खायचारित्तपरिणामे ६। वेदपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पएणत्ते ?। गोयमा ! तिविहे पएणत्ते। तं जहा-इत्थिवेदपरिणामे, पुरिसवेदपरिणामे, नपुंसगवेदपरिणामे १०।

नेरइया गतिपरिणामेणं निरयगतिया, इंदियपरिणामेणं पंचिंदिया, कसायपरिणामेणं कोहकसाई वि० जाव लोभकसाई वि लेस्सापरिणामेणं कएहलेस्सा वि नीललेस्सा वि काउलेस्सा वि, जोगपरिणामेणं मणजोगी वि वइजोगी वि कायजोगी वि। उवओगपरिणामेणं सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि, नाणपरिणामेणं आभिणिबोहियनाणी वि सुयनाणी वि ओहिनाणी वि, अन्नाणपरिणामेणं मतिअन्नाणी वि सुयअन्नाणी वि विभंगनाणी वि दंसणपरिणामेणं सम्मादिट्ठी वि मिच्छादिट्ठी वि सम्मामिच्छादिट्ठी वि, चरित्तपरिणामेणं नो चरित्ती नो चरित्ताचरित्ती अचरित्ती, वेदपरिणामेणं नोइत्थीवेदगा नो पुरिसवेदगा नपुंसगवेदगा। असुरकुमारा वि एवं चेव, नवरं देवगतिया कएहलेस्सा वि० जाव तेउलेस्सा वि। वेदपरिणामेणं इत्थीवेदगा वि पुरिसवेदगा वि नो नपुंसवेदगा, सेसं तं चेव, एवं० जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइया गतिपरिणामेणं तिरियगतिया इंदियपरिणामेणं एगिंदिया, सेसं जहा नेरइयाणं, नवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेस्सा वि, जोगपरिणामेणं कायजोगी, नाणपरिणामे नत्थि, अन्नाणपरिणामेण मइअन्नाणी सुयअन्नाणी, दंसणपरिणामेणं मिच्छादिट्ठी सेसं तं चेव। एवं आउवणप्फइकाइया वि, तेऊ वाऊ वि एवं चेव, नवरं लेस्सापरिणामेणं जहा नेरइया, वेइंदिया गतिपरिणामेणं तिरियगतिया, इंदियपरिणामेणं वेइंदिया, सेसं जहा नेरइयाणं, नवरं जोगपरिणामेणं वयजोगी कायजोगी, नाणपरिणामेणं आभिणिवेहियणाणी वि सुयणाणी वि, अन्नाणपरिणामेणं मतिअन्नाणी वि, सुयअन्नाणी वि णो विभंगणाणी, दंसणपरिणामेणं सम्मादिट्ठी वि मिच्छादिट्ठी वि नो सम्मामिच्छादिट्ठी वि, सेसं तं चेव, एवं० जाव चउरिंदिया, नवरं इंदियपरिवुड्ढी कायव्वा। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया गइपरिणामेणं तिरियगतिया, सेसं जहा नेरइयाणं, नवरं लेस्सापरिणामेणं० जाव सुक्कलेस्सा वि, चारित्तपरिणामेणं नो चरित्ती अचरित्ती वि चरित्ताचरित्ती वि, वेदपरिणामेणं इत्थीवेदगा वि पुरिसवेदगा वि नपुंसगवेदगा वि। मणुस्सा गतिपरिणामेणं मणुयगतिया, इंदियपरिणामेणं पंचिंदिया अणिंदिया वि, कसायपरिणामेणं कोहकसाई वि० जाव अकसाई वि, लेस्सापरिणामेणं कएहलेस्सा वि० जाव अलेस्सा वि, जोगपरिणामेणं मणजोगी वि० जाव अजोगी वि, उवओगपरिणामेणं जहा नेरइया, नाणपरिणामेणं आभिणिबोहियनाणी वि० जाव केवलनाणी वि। अन्नाणपरिणामेणं तिणि वि अन्नाणा, दंसणपरिणामेणं तिणि वि दंसणा, चरित्तपरिणामेणं चरित्ती वि अचरित्ती वि चरित्ताचरित्ती वि। वेदपरिणामेणं इत्थीवेदगा वि पुरिसवेदगा वि नपुंसगवेदगा वि अवेदगा वि, वाणमंतरा गतिपरिणामेणं देवगतिया, जहा असुरकुमारा, एवं जोइसिया वि, नवरं तेउलेस्सा। वेमाणिया वि एवं चेव, नवरं लेस्सापरिणामेणं तेउलेस्सा वि पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सा वि। सेत्तं जीवपरिणामे ॥ १८३ ॥

"गइपरिणामे णं भंते ! कइविहे" इत्यादि पाठसिद्धम्। संप्रति नैरयिकाऽऽदयो ये. परिणामविशेषैर्विशिष्टास्तांस्तथा प्रतिपादयति-"नेरइया इत्यादि" सुगम, नवरं नैरयिकाणां कृष्णनीलकापोतरूपा तिस्र एव लेश्या न शेषा., ता अपि तिस्र पृथिवीक्रमेणैवम्-आद्ययोर्द्वयो पृथिव्यो. कापोतलेश्या, तृतीयस्यां कापोतलेश्या नीललेश्या च, चतुर्थ्यां नीललेश्या, पञ्चम्यां नीललेश्या कृष्णलेश्या च, षष्ठीसप्तम्यो कृष्णलेश्यैव। तत उक्तम्-" कएहलेस्सा वि नीललेस्सा वि काउलेस्सा वि।" तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यतिरेकेणान्यत्र चारित्रपरिणामः सर्वथा न भवति, भवस्वाभाव्यात्, ततः कृतश्चारित्रपरिणामनिषेध , वेदपरिणामचिन्तायां च नैरयिका नपुंसका एव न स्त्रियो, नापि पुरुषाः। "नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि" (तत्त्वा० अ०२ सूत्रम् ५०) इति वचनात् एवमसुरकुमाराणामपि, नवरं गतिमधिकृत्य देवगतिका स्तेषां च महर्द्धिकाना तेजोलेश्याऽपि भवति, तत उक्तम्-" तेउलेस्सा वि " इति । वेदपरिणामचिन्तायां स्त्रियः पुरुषा वा न नपुंसका , देवानां नपुंसकत्वस्याऽसंभवात् । तथा पृथिवीकायिकसूत्रे, नवरं (लेस्सापरिणामे णं इत्यादि) इह पृथिव्यम्बुवनस्पतीनां तेजोलेश्याऽपि सम्भवति, येन सौधर्मेशानपर्यन्तानां देवानामेतेषूत्पादसंभवात् । तत उक्तम्-" तेउलेस्सावि त्ति "। एतेषां च पृथिव्यादीनां पञ्चानामपि सासादनसम्यक्त्वमपि न भवति, आगमे निषेधात् ततो ज्ञाननिषेध. सम्यक्त्वनिषेधश्च कृत', सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव भवति, न शेषाणामतस्तन्निषेध, द्वीन्द्रियाऽऽदीना पुन केषाञ्चित् करणापर्याप्तावस्थाना सासादनसम्यक्त्वमवाप्यते, ततस्ते ज्ञानपरिणता अपि सम्यग्दृष्टयोऽप्युक्ता., तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा च षडपि लेश्या सम्भवन्ति। तत सूत्रे उक्तम्-"०जाव सुक्कलेस्सा वि इति" तथा देशतश्चारित्रपरिणामोऽपि तेषामुल्लसति। तत उक्तम्-" चरित्ताचरित्ती वि इति।" तथा ज्योतिष्काणा तेजोलेश्यैव केवला, न शेषा लेश्या। ततोऽभिहितम्-" लेस्सापरिणामे णं तेउलेस्स त्ति।"

( ३ ) अजीवपरिणाम'-

अजीवपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते। तं जहा-बंधणपरिणामे १ गइपरिणामे २, संठाणपरिणामे ३, भेदपरिणामे ४, वण्णपरिणामे ५,

गंधपरिणामे ६, रसपरिणामे ७, फासपरिणामे ८, अगुरुलहुयपरिणामे ६, सद्दपरिणामे १० ॥ १८४ ॥

बंधणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-णिद्धबंधणपरिणामे य, लुक्खबंधणपरिणामे य ।

"समणिद्धयाएँ बंधो, न होइ समलुक्खयाएँ वि ण होइ।
वेमाणियद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥ १ ॥
णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं,
लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो,
जहन्नवज्जो विसमो समो वा ॥ २ ॥"

गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-फुसमाणगतिपरिणामे य, अफुसमाणगतिपरिणामे य १। अहवा-दीहगइपरिणामे य, हस्सगइपरिणामे य २ । संठाणपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-परिमंडलसंठाणपरिणामे० जाव आयतसंठाणपरिणामे ३। भेदपरिणामे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-खंडभेदपरिणामे० जाव उक्करियाभेदपरिणामे ४ । वन्नपरिणामे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-कालवन्नपरिणामे० जाव सुकिलवन्नपरिणामे ५। गंधपरिणामे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते । गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुब्भिगंधपरिणामे य, दुब्भिगंधपरिणामे य ६। रसपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-तित्तरसपरिणामे० जाव महुररसपरिणामे ७ । फासपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते । गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा-कक्खडफासपरिणामे य० जाव लुक्खफासपरिणामे य ८ । अगुरुलहुयपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ६। सद्दपरिणामे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सुब्भिसद्दपरिणामे य, दुब्भिसद्दपरिणामे य १०। सेत्तं अजीवपरिणामे ॥ १८५ ॥

( बंधणपरिणामे णं भंते ! इत्यादि ) स्निग्धबन्धनपरिणामो रूक्षबन्धनपरिणामश्च । तत्र स्निग्धस्य सतो बन्धन. परिणामः स्निग्धबन्धनपरिणामः। तथा रूक्षस्य सतो बन्धनपरिणामः रूक्षबन्धनपरिणामः । चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । अथ कथं स्निग्धस्य सतो बन्धनपरिणामो भवति, कथं वा रूक्षस्य सत इति बन्धनपरिणामस्य लक्षणमाह-( समनिद्धयाए इत्यादि ) परस्परं समस्निग्धतायां समगुणस्निग्धतायाम्, तथा परस्पर समरूक्षतायां समगुणरूक्षतायां बन्धो न भवति, किं तु यदि परस्पर स्निग्धत्वस्य रूक्षत्वस्य च विषममात्रा भवति तदा बन्ध. स्कन्धानामुपजायते । इयमत्र भावना-समगुणस्निग्धस्य परमाण्वादेः समगुणस्निग्धेन परमाण्वादिना सह सम्बन्धो न भवति, तथा समगुणरूक्षस्यापि परमाण्वादेः समगुणरूक्षेण परमाण्वादिना सह संबन्धो न भवति, किं तु यदि स्निग्धः स्निग्धेन रूक्ष. रूक्षेण सह विषमगुणो भवति तदा विषममात्रत्वाद्भवति तेषां परस्परं सम्बन्धः । विषममात्रया बन्धो भवतीत्युक्तम्, ततो विषममात्रानिरूपणार्थमाह-( णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणेत्यादि ) यदि स्निग्धस्य परमाण्वादेः स्निग्धगुणेनैव सह परमाण्वादिना बन्धो भवितुमर्हति तदा नियमाद् द्व्यादिकाधिकगुणेनैव, परमाण्वादिनेति भावः, रूक्षगुणस्यापि परमाण्वादेः रूक्षगुणेन परमाण्वादिना सह यदि बन्धो भवति तदा तस्याऽपि तेन द्व्याद्यधिकादिगुणेनैव नान्यथा, यदा पुनः स्निग्धरूक्षयोः बन्धस्तदा कथमिति चेदत आह-( निद्धस्स लुक्खेणेत्यादि ) स्निग्धस्य रूक्षेण सह बन्ध उपैति उपपद्यते जघन्यवर्जो विषमः समो वा । किमुक्तं भवति ?-एकगुणस्निग्धमेकगुणरूक्षं च मुक्त्वा शेषस्य द्विगुणस्निग्धाऽऽदि द्विगुणरूक्षाऽऽदिना सर्वेण बन्धो भवतीति । उक्तो बन्धनपरिणामः अधुना गतिपरिणाममाह-(गइपरिणामे णं भंते ! इत्यादि ) द्विविधो गतिपरिणामः । तद्यथा-स्पृशद्गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामश्च । तत्र वस्त्वन्तरं स्पृशतो यो गतिपरिणाम. स स्पृशद्गतिपरिणामो,यथा-ठिक्करिकाया जलस्योपरि यत्नेन तिर्यग् प्रक्षिप्तायाः । सा हि तथा प्रक्षिप्ता सती अपान्तरालेजलं स्पृशन्ती २ गच्छति, बालजनप्रसिद्धमेतत्; तथा अस्पृशतो गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामः, यद्वस्तु न केनापि सहापान्तराले संस्पर्शनमनुभवति तस्यास्पृशद्गतिपरिणाम इति भावः । अन्ये तु व्याचक्षते-स्पृशद्गतिपरिणामो नाम येन प्रयत्नविशेषात् क्षेत्रप्रदेशान् स्पृशन् गच्छति, अस्पृशद्गतिपरिणामो येन क्षेत्रप्रदेशान् अस्पृशन्नेव गच्छति,तन्न बुद्ध्यामहे,नभसः सर्वव्यापितया तत्प्रदेशसंस्पर्शव्यतिरेकेण गतेरसम्भवात् । बहुश्रुतेभ्यो वा परिभावनीयम् । अत्रैव प्रकारान्तरमाह-( अहवा दीहगतिपरिणामे य, हस्सगतिपरिणामे य इति) अथवेति प्रकारान्तरे। अन्यथा वा गतिपरिणामो द्विविध । तद्यथा-दीर्घगतिपरिणामो, ह्रस्वगतिपरिणामश्च । तत्र विप्रकृष्टदेशान्तरप्राप्तिपरिणामो दीर्घगतिपरिणामस्तद्विपरीतो ह्रस्वगतिपरिणामः २, परिमण्डलाऽऽदिसंस्थानविशेषाः खण्डभेदाऽऽदयश्च प्रागेव व्याख्याता इति न भूयो व्याख्यायन्ते ३, अगुरुलघुपरिणामो भाषाऽऽदिपुद्गलाना "कम्मगमणभासाइं, एयाइं अगुरुलहुयाइं।" इति वचनात् । तथा अमूर्तद्रव्याणां चाऽऽकाशाऽऽदीनाम्, अगुरुलघुपरिणामग्रहणमुपलक्षण, तेन गुरुलघुपरिणामोऽपि द्रष्टव्य', स चौदारिकाऽऽदिद्रव्याणां तैजसद्रव्यपर्यन्तानामवसेयः, "ओरालिय वेउव्विय-आहारग तेय गुरुलहू दव्वा," इति वचनात् । ( सुब्भिसद्दे इति ) शुभशब्दः ( दुब्भिसद्द इति ) अशुभशब्द. । प्रज्ञा० १३ पद । स्था० । आ० म० । सूत्र० । आ० चू० ।

( ४ ) स्कन्धाः पुद्गलाश्च परिणामवन्तः-

एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खीसमयं अलुक्खीसमयं लुक्खी वा अलुक्खी वा पुव्विं च णं

करणेणं अणेगवएणं अणेगरूवं परिणामं परिणमइ,अहे से परिणामे णिज्जिणे भवइ. तओ पच्छा एगवएणे एगरूवे सिया?। हंता गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतं तं चेव० जाव एगरूवे सिया। एस णं भंते ! पडुप्पएणं सासयं समयं एवं चेव। एवं अणागयमणंतं पि। एस णं भंते ! खंधे तीतमणंतं एवं चेव। खंधे वि जहा पोग्गले। एस णं भंते ! जीवे तीतमणंतं सासयं समयं दुक्खीसमयं अदुक्खीसमयं दुक्खी वा अदुक्खी वा पुव्विं च णं करणेणं अणेगभावं अणेगभूतं परिणामं परिणमइ। अहे से वेय णिज्जिणे भवइ, तओ पच्छा एगभावे एगभूते सिया?। हंता गोयमा ! एस णं जीवे० जाव एगभूए सिया। एवं पडुप्पएणं सासयं समयं, एवं अणागयमणंतं सासयं समयं। परमाणुपोग्गले णं भंते ! सासए असासए?। गोयमा ! सिय सासए, सिय असासए। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय सासए, सिय असासए?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वएणपज्जवेहिं० जाव फासपज्जवेहिं असासए. से तेणट्ठेणं० जाव सिय असासए ॥

" पोग्गल १ खंधे २ जीवे ३. परमाणू सासए य ४ चरमे य ५। दुविहे खलु परिणामे, अजीवाणं च जीवाणं ॥६॥ "

अस्याश्चार्थ उद्देशकार्थाधिगमावगम्य एवेति। ( पुग्गले त्ति) पुद्गल. परमाणु स्कन्धरूपश्च। (तीतमणंतं सासयं समयं ति) विभक्तिपरिणामादतीते अनन्ते अपरिणामत्वात् शाश्वते अक्षयत्वात् समये काले। ( समयं लुक्खी ति ) समयमेकं यावत् रूक्षस्पर्शसद्भावाद् रूक्षी। तथा-(समयं अलुक्खी ति) समयमेकं यावदरूक्षस्पर्शसद्भावादरूक्षी, स्निग्धस्पर्शवान् बभूव। इदं च पदद्वयं परमाणौ स्कन्धे च सम्भवति। तथा ( समयं लुक्खी वा अलुक्खी व त्ति ) समयमेव रूक्षश्चारूक्षश्च, रूक्षस्निग्धलक्षणस्पर्शद्वयोपेतो बभूव। इदं च स्कन्धापेक्षं,यतो द्व्यणुकाऽऽदिस्कन्धे देशो रूक्षो,देशश्चारूक्षो भवतीति। एवं युगपद्रूक्षस्निग्धस्पर्शसम्भवो, वाशब्दौ चेह समुच्चयार्थौ,एवरूपश्च सन्नसौ किमनेकवर्णाऽऽदिपरिणाम परिणमति। पुनश्चैकवर्णाऽऽदिपरिणाम. स्यादिति पृच्छन्नाह-( पुव्विं च णं करणेणं अणेगवएणं अणेगरूवं परिणामं परिणमइ इत्यादि ) पूर्वं च एकवर्णाऽऽदिपरिणामात्प्रागेव करणेन प्रयोगकरणेन विस्रसाकरणेन वा, अनेकवर्णं कालनीलाऽऽदिवर्णभेदेन अनेकरूपं, गन्धरसस्पर्शसंस्थानभेदेन परिणामं पर्यायम्। ( परिणमइ ति ) अतीतकालविषयत्वादस्य परिणतवानिति द्रष्टव्यम्। पुद्गल इति प्रकृतम् स च यदि परमाणुस्तदा समयभेदेनानेकवर्णाऽऽदित्व परिणतवान्,यदि च स्कन्धस्तदा यौगपद्येनापीति ( अह से त्ति ) अथ अनन्तरं स एष परमाणोः स्कन्धस्य चानेकवर्णाऽऽदिपरिणामो निर्जीर्णः क्षीणो भवति, परिणामान्तराऽऽधायककारणोपनिपातवशात्त. त पश्चान्निर्जरणानन्तरम् एकवर्णोपेतवर्णान्तरत्वादेकरूपो विवक्षितगन्धाऽऽदिपर्यायापेक्षयाऽपरपर्यायाणामपेतत्वात् । (सि य त्ति ) बभूव, अतीतकालविषयत्वादस्येति प्रश्न । इहोत्तरमेतदेवेति-अनेन च परिणामिता पुद्गलद्रव्यस्य प्रतिपादितेति। ( एस णमित्यादि ) वर्तमानकालसूत्रं, तत्र च ( पडुप्पएणं ति ) विभक्तिपरिणामात्प्रत्युत्पन्ने वर्तमाने शाश्वते सदैव तस्य भावात्समयं कालमात्रं। (एवं चेव त्ति) करणात्पूर्वसूत्रोक्तमिदं दृश्यम्-(समयं लुक्खी समयं अलुक्खी समयं लुक्खी वाऽलुक्खी वेत्यादि) यच्चानन्तमिति नाधीतं तद्वर्तमानसमयस्यानन्तत्वासम्भवात् अतीतानागतसूत्रयोस्तु अनन्तमित्यधीत तयोरनन्तत्वासम्भवात। अनन्तरं पुद्गलस्वरूपं निरूपितं, पुद्गलश्च स्कन्धो भवतीति। पुद्गलभेदभूतस्य स्कन्धस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह-( एस णं भंते ! खंधे इत्यादि ) स्कन्धश्च सप्रदेशापेक्षया जीवोऽपि स्यादितीत्थमेव जीवस्वरूपं निरूपयन्नाह-( एस णं भंते ! जीवे इत्यादि ) एष प्रत्यक्षो जीवोऽतीतेऽनन्ते शाश्वते समये समयमेकं दुःखी,दुःखहेतुयोगात्समयं चादुःखी,सुखहेतुयोगाद्बभूव समयमेव च दुःखी वा,अदुःखी वा,वाशब्दयोः समुच्चयार्थत्वात्-दुःखी च सुखी च तद्धेतुयोगात् पुनरेकदा तु समुत्पन्नमस्त्येकोपयोगत्वाज्जीवस्येति। एवंरूपश्च सन्नसौ स्वहेतुतः किमनेकभावपरिणामं परिणमति , पुनश्चैकभावपरिणाम स्यादिति पृच्छन्नाह-( पुव्विं च णं करणेणं अणेगभावं अणेगभूयं परिणामं परिणमइत्यादि ) पूर्वं च एकभावपरिणामात्प्रागेव करणेन कालस्वभावाऽऽदिकारणसंवलितया शुभाशुभकर्मबन्धहेतुभूतया क्रियया अनेको भावः पर्यायो दुःखित्वाऽऽदिरूपो यस्मिन् स तथा. तमनेकभावपरिणाममिति योग । ( अणेगभूयं ति ) अनेकभावत्वादेवानेकरूप परिणामं स्वभावम्। ( परिणमइ त्ति ) अतीतकालविषयत्वादस्य परिणतवान् प्राप्तवान् इति । ( अहे स त्ति ) अथ तद्वेदनीयं दुःखित्वाऽऽद्यनेकभावहेतुभूतम्। ( वियणिज्जे त्ति ) वेदनीयं कर्म,उपलक्षणत्वाच्चास्य ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि च निर्जीर्ण क्षीणं भवति, ततः पश्चात्। ( एकभावे त्ति) एको भाव. सांसारिकसुखविपर्ययात्स्वाभाविकसुखरूपो यस्यासावेकभावोऽत एव च एकभूत एकत्व प्राप्त । ( सिय त्ति ) बभूव, कर्मकृतधर्मान्तररहितादिति प्रश्न । इहोत्तरमेतदेव, एव प्रत्युत्पन्नाऽऽगतसूत्रे अपीति। पूर्वं स्कन्ध उक्त , स च स्कन्धरूपत्यागाच्छिन्नांशो भवति, एव परमाणुरपि स्यान्न वेत्याशङ्कायामाह-( परमाणु इत्यादि ) ( परमाणुपोग्गलेण ति ) पुद्गल स्कन्धोऽपि स्यादत परमाणुग्रहणम् ( सासए त्ति ) शश्वद्भवनाच्छाश्वतो नित्य,, अशाश्वतस्त्वनित्य । ( सिय सासए त्ति ) कथञ्चिच्छाश्वत । ( दव्वट्ठयाए त्ति ) द्रव्यमनुपेक्षितपर्याय वस्तु,तदेवार्थो द्रव्यार्थस्तद्भावस्तत्ता तया द्रव्यार्थतया, शाश्वत , स्कन्धान्तर्भावेऽपि परमाणुत्वस्याविनष्टत्वात्प्रदेशलक्षणव्यपदेशान्तरव्यपदेश्यत्वात् । ( वएणपज्जवेहिं ति ) परि सामस्त्येनावन्ति गच्छन्ति ये ते पर्यवा विशेषा धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । ते च वर्णाऽऽदिभेदादनेकधेत्यतो विशिष्यते-वर्णस्य पर्यवा वर्णपर्यवा अतस्तै ( असासए त्ति ) विनाशी पर्यवाणां पर्यवत्वेनैव विनश्वरत्वादिति भ० १४ श० ४ उ० । ( देवो बाह्यपुद्गलानादाय परिणामयितुं शक्त इति ' विउव्वणा ' शब्दे वक्ष्यते ) ( लेश्याना परस्परपरिणाम ' लेस्सा ' शब्दे वक्ष्यते )

( ५ ) पुद्गलपरिणाम -

कइविहे णं भंते ! पोग्गलपरिणामे पएणत्ते?। गोयमा ! पं-

चविहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते। तं जहा-वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे, संठाणपरिणामे। वण्णपरिणामे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-कालवण्णपरिणामे० जाव सुक्किल्लवण्णपरिणामे। एवं एएणं अभिलावेणं गंधपरिणामे दुविहे, रसपरिणामे पंचविहे। फासपरिणामे अट्ठविहे। संठाणपरिणामे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-परिमंडलसंठाणपरिणामे० जाव आययसंठाणपरिणामे ॥

(परिमंडलसंठाणपरिणामे त्ति) इह परिमण्डलसंस्थानं वलयाऽऽकारं। यावत्करणाच्च-" वट्टसंठाणपरिणामे, तंससंठाणपरिणामे, चउरंससंठाणपरिणामे," त्ति दृश्यम्। भ० ८ श० १० उ०।

(६) वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानपरिणताः पुद्गलाः-

(से किं तं रूविअजीवपण्णवणा इत्यादि 'अजीवपण्णवणा' शब्दे प्रथमभागे २०६ पृष्ठे "संठाणपरिणया" इत्यन्तं गतम्)

जे वण्णपरिणया ते पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा-कालवण्णपरिणया नीलवण्णपरिणया लोहियवण्णपरिणया हालिद्दवण्णपरिणया सुक्किल्लवण्णपरिणया। जे गंधपरिणया ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-सुब्भिगंधपरिणया य, दुब्भिगंधपरिणया य। जे रसपरिणया ते पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा-तित्तरसपरिणया कडुयरसपरिणया कसायरसपरिणया अंबिलरसपरिणया महुररसपरिणया। जे फासपरिणया ते अट्ठविहा पण्णत्ता। तं जहा-कक्खडफासपरिणया मउयफासपरिणया गुरुयफासपरिणया लहुयफासपरिणया सीयफासपरिणया उसिणफासपरिणया णिद्धफासपरिणया लुक्खफासपरिणया। जे संठाणपरिणया ते पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा-परिमंडलसंठाणपरिणया वट्टसंठाणपरिणया तंससंठाणपरिणया चउरंससंठाणपरिणया आयतसंठाणपरिणया ॥

(जे वण्णपरिणया इत्यादि) ये वर्णपरिणतास्ते पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-कृष्णवर्णपरिणताः कज्जलाऽऽदिवत्, नीलवर्णपरिणताः नील्यादिवत्, लोहितवर्णपरिणताः हिङ्गुलकाऽऽदिवत्, हारिद्रवर्णपरिणता हरिद्राऽऽदिवत्, शुक्लवर्णपरिणताः शङ्खाऽऽदिवत्। ये गन्धपरिणतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-सुरभिगन्धपरिणताश्च, दुरभिगन्धपरिणताश्च। चशब्दौ परिणामभवनं प्रति विशेषाभावख्यापनार्थौ। तथाहि-यथा कथञ्चिदवस्थिताः सामग्रीवशतः सुरभिगन्धपरिणामं भजन्ते तथा कथञ्चिदवस्थिता एव सामग्रीवशतो दुरभिगन्धपरिणाममपीति, सुरभिगन्धपरिणताश्च यथा श्रीखण्डाऽऽदयः, दुरभिगन्धपरिणता लशुनाऽऽदिवत्। ये रसपरिणतास्ते पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-तिक्तरसपरिणताः कोशातक्यादिवत्, कटुकरसपरिणता शुण्ठ्यादिवत्, कषायरसपरिणता अपक्वकपित्थाऽऽदिवत्, अम्लरसपरिणता अम्लवेतसाऽऽदिवत्, मधुररसपरिणताः शर्कराऽऽदिवत्। ये स्पर्शपरिणतास्तेऽष्टविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-कर्कशस्पर्शपरिणताः पाषाणाऽऽदिवत्, मृदुस्पर्शपरिणता हंसरुताऽऽदिवत्, गुरुकस्पर्शपरिणता वज्राऽऽदिवत्, लघुकस्पर्शपरिणता अर्कतूलाऽऽदिवत्, शीतस्पर्शपरिणता मृणालाऽऽदिवत्, उष्णस्पर्शपरिणता वह्न्यादिवत्, स्निग्धस्पर्शपरिणता घृताऽऽदिवत्, रूक्षस्पर्शपरिणता भस्माऽऽदिवत्। ये संस्थानपरिणतास्ते पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-परिमण्डलसंस्थानपरिणता वलयवत्, वृत्तसंस्थानपरिणताः कुलालचक्राऽऽदिवत्, त्र्यस्रसंस्थानपरिणताः शृङ्गाटकाऽऽदिवत्, चतुरस्रसंस्थानपरिणताः कुम्भिकाऽऽदिवत्, आयतसंस्थानपरिणता दण्डाऽऽदिवत्। एतानि च परिमण्डलाऽऽदीनि संस्थानानि घनप्रतरभेदेन द्विविधानि भवन्ति, पुनः परिमण्डलमपहाय शेषाणि ओजःप्रदेशजनितानि युग्मप्रदेशजनितानीति द्विधा। तत्रोत्कृष्टं परिमण्डलाऽऽदिसर्वमनन्ताणुनिष्पन्नमसंख्येयप्रदेशावगाढं चेति प्रतीतमेव, जघन्यं तु प्रतिनियतसंख्यपरमाण्वात्मकम्, अतो नानिर्दिष्टं ज्ञातुं शक्यते इति विनेयजनानुग्रहाय तदुपदर्श्यते-तत्रौजःप्रदेशप्रतरवृत्तं पञ्चपरमाणुनिष्पन्नं पञ्चाऽऽकाशप्रदेशावगाढं च। तद्यथा-एकः परमाणुर्मध्ये स्थाप्यते, चत्वारः क्रमेण पूर्वाऽऽदिषु चतसृषु दिक्षु। स्थापना-

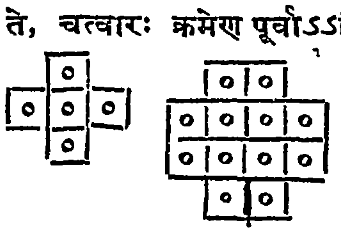

२, युग्मप्रदेशप्रतरवृत्तं द्वादशपरमाण्वात्मकं द्वादशप्रदेशावगाढं च, तत्र निरन्तरं चत्वारः परमाणवश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु रुचकाऽऽकारेण व्यवस्थाप्यन्ते ततस्तत्परिक्षेपेण शेषा अष्टौ ३, ओजःप्रदेशं घनवृत्तं सप्तप्रदेशं सप्तप्रदेशावगाढं च। तच्चैवम्-तत्रैव पञ्चप्रदेशे प्रतरवृत्ते मध्यस्थितस्य परमाणोरुपरिष्टादधस्ताच्च एकैकोऽणुरवस्थाप्यते, तत एवं सप्तप्रदेशं भवति ३, युग्मप्रदेशं घनवृत्तं द्वात्रिंशत्प्रदेशं द्वात्रिंशत्प्रदेशावगाढं च। तच्चैवम्-पूर्वोक्तद्वादशप्रदेशाऽऽत्मकस्य प्रतरवृत्तस्योपरि द्वादश, तत उपरिष्टादधश्चान्ये चत्वारश्चत्वारः परमाणव इति ४, १। ओजःप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं त्रिप्रदेशं त्रिप्रदेशावगाढं च। तच्चैवम्-पूर्वं तिर्यगणुद्वयं न्यस्यते, तत आद्यस्याध एकोऽणुः। स्थापना-

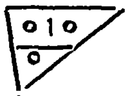

२, युग्मप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं षट्परमाणुनिष्पन्नं षट्प्रदेशावगाढं च। तत्र तिर्यग्निरन्तरं त्रयः परमाणवः स्थाप्यन्ते, तत आद्यस्याधउपर्यधोभावेनाणुद्वयं द्वितीयस्याध एकोऽणुः। स्थापना-

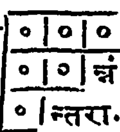

३, ओजःप्रदेशं घनत्र्यस्रं पञ्चत्रिंशत्परमाणुनिष्पन्नं पञ्चत्रिंशत्प्रदेशावगाढं च। तच्चैवम्-तिर्यग्निरन्तरा पञ्च परमाणवः स्थाप्यन्ते, तेषां चाधोऽधः क्रमेण तिर्यगेव चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चेति पञ्चदशात्मकः प्रतरो जातः। स्था०

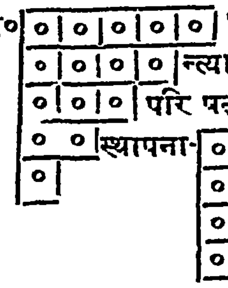

अस्यैव च प्रतरस्योपरि सर्वपङ्क्तिष्वन्त्यान्त्यपरित्यागेन दश १०, तथैव तदुपर्युपरि षट् त्रय एकश्चेति क्रमेणाणव स्थाप्यन्ते। स्थापना-

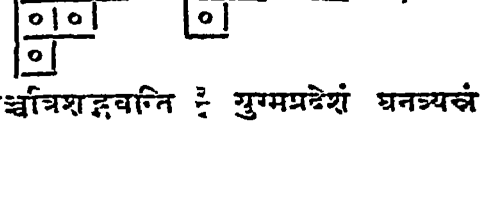

एते मीलिता पञ्चत्रिंशद्भवन्ति ४, युग्मप्रदेशं घनत्र्यस्रं

चतुष्परमाणवात्मकं चतुष्प्रदेशावगाढ च प्रतरत्र्यस्रस्यैव त्रिप्रदेशाऽऽत्मकस्य सम्बन्धिन एकस्याणोरुपर्येकोऽणु' स्थाप्यते, ततो मीलिताश्चत्वारो भवन्ति ३/१. ओजःप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं नवपरमाणवात्मकं नवप्रदेशावगाढ च, तत्र तिर्यग्निरन्तरं त्रिप्रदेशास्तिस्रः पङ्क्तयः स्थाप्यन्ते। स्थापना- 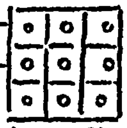 ३/१, युग्मप्रदेशं प्रतरचतुरस्रं चतुष्परमाणवात्मकं चतुष्प्रदेशावगाढञ्च.तत्र तिर्यग्द्विप्रदेशे द्वे पङ्क्ती स्थाप्येते। स्थापना- 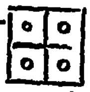 ३/१, ओज.प्रदेशं घनचतुरस्रं सप्तविंशतिपरमाणवात्मकं सप्तविंशतिप्रदेशावगाढं च। तत्र नवप्रदेशाऽऽत्मकस्यैव पूर्वोक्तस्य प्रतरस्याध उपरि च नव नव प्रदेशाः स्थाप्यन्ते-ततः सप्तविंशतिप्रदेशाऽऽत्मकमोजःप्रदेशं घनचतुरस्रं भवति ३/१,अस्यैव युग्मप्रदेश घनचतुरस्रमष्टपरमाणवात्मकमष्टप्रदेशावगाढ च। तच्चैवम्-चतुष्प्रदेशाऽऽत्मकस्य पूर्वोक्तस्य प्रतरस्योपरि चत्वारोऽन्ये परमाणवः स्थाप्यन्ते ३/१, ३। ओज.प्रदेशं श्रेण्यायतं त्रिपरमाणु त्रिप्रदेशाऽवगाढं च, तत्र तिर्यग्निरन्तरं त्रयः स्थाप्यन्ते- 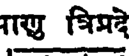 ४/१, युग्मप्रदेशं श्रेण्यायतं द्विपरमाणु द्विप्रदेशाऽवगाढ च, तथैवाणुद्वयं स्थाप्यते- ४/१, ओजःप्रदेशं प्रतराऽऽयतं पञ्चदशपरमाणवात्मकं पञ्चदशप्रदेशावगाढ च, तत्र पञ्चप्रदेशाऽऽत्मिकास्तिस्रः पङ्क्तयः तिर्यक् स्थाप्यन्ते- 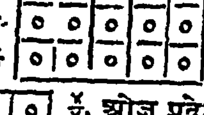 ४/१,युग्मप्रदेशं प्रतराऽऽयतं षट्परमाणवात्मकं षट्प्रदेशावगाढं च, तत्र त्रिप्रदेशं पङ्क्तिद्वयं स्थाप्यते। स्थापना— 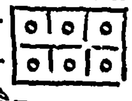 ४/१, ओज प्रदेशं घनाऽऽयतं पञ्चचत्वारिंशत्परमाणवात्मकं तावत्प्रदेशावगाढ च, तत्र पूर्वोक्तस्यैव प्रतराऽऽयतस्य पञ्चदशप्रदेशाऽऽत्मकस्याध उपरि तथैव पञ्चदश परमाणवः स्थाप्यन्ते-४/१ युग्मप्रदेशं घनाऽऽयतं द्वादशपरमाणवात्मकं द्वादशप्रदेशाऽवगाढं च, तत्र प्रागुक्तस्य षट्प्रदेशस्य प्रतराऽऽयतस्योपरि तथैव तावन्त. परमाणवः स्थाप्यन्ते ४/१, ४। प्रतरपरिमण्डलं विंशतिपरमाणवात्मकं विंशतिप्रदेशावगाढं च, तच्चैवम्. प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारोऽणवः स्थाप्यन्ते, विदिक्षु च प्रत्येकमेकैकोऽणु. स्थाप्यते ३/१। प्रज्ञा० १ पद। परिमण्डलमुक्तन्यायतो द्विभेदमेव, तत्र प्रतर परिमण्डल विंशतिप्रदेशं विंशतिप्रदेशावगाढ च, तत्र च प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु चत्वारश्चत्वारो. विदिक्षु चैकैकः स्थाप्य', मीलिताश्चैते विंशतिर्भवन्ति। स्थापना-१,

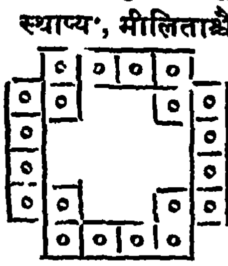

उत्त० १ अ०। घनपरिमण्डल चत्वारिंशत्प्रदेशावगाढं चत्वारिंशत्परमाणवात्मकं च,तत्र तस्या एव विंशतेरुपरि तथैवान्या विंशतिरेव स्थाप्यते ३/१ ५॥ प्रज्ञा०। विंशतिश्च द्विगुणा चत्वारिंशद्भवन्ति उत्त० १ अ०।

इत्थं चैषां प्ररूपणमितोऽपि न्यूनप्रदेशतायां यथोक्तसंस्थानाभावात्, एतत्सङ्ग्राहिकाश्चेमा उत्तराध्ययन (प्रथमाऽध्ययन) निर्युक्तिगाथा.—

"परिमंडले य वट्टे. तंसे चउरंसे आयए चेव।
घणपयर पढमवज्जं, ओजपएसे य जुम्मे य ॥ ३८॥
पंचग बारसगं खलु, सत्तग बत्तीसगं च वट्टम्मि।
तिय छक्कग पणतीसा, चत्तारि य होंति तंसम्मि ॥ ३९॥
नव चेव तहा चउरो, सत्तावीसा य अट्ठ चउरंसे।
तिगदुगपन्नरसेव य, छच्चेव य आयए होंति ॥ ४०॥
पणयालीसा बारस, छब्भेया आययम्मि संठाणे।
वीसा चत्तालीसा, परिमंडलए य संठाणे ॥४१॥" इत्यादि।

( ७ ) संप्रत्येतेषामेव वर्णाऽऽदीनां परस्परं संवेधमाह-

जे वण्णओ कालवण्णपरिणया ते गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि, दुब्भिगंधपरिणया वि। रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणया वि। फासओ-कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि। संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणता वि वट्टसंठाणपरिणता वि तंससंठाणपरिणता वि चउरंससंठाणपरिणता वि आयतसंठाणपरिणता वि २०। जे वण्णओ नीलवण्णपरिणता ते गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि। रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणता वि वट्टसंठाणपरिणता वि तंससंठाणपरिणता वि चउरंससंठाणपरिणता वि आयतसंठाणपरिणता वि २०। जे वण्णओ लोहियवण्णपरिणता ते गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि,संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणता वि वट्टसंठाणपरिणता वि तंससंठाणपरिणता वि चउरंससंठाणपरिणता वि आयतसंठाणपरिणता वि २०। जे वण्णओ हालिद्दवण्णपरिणया ते गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीयफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि

लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणप- रिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २०, जे वस्रओ सुकिल्लवस्रपरिणता ते गंधओ सुब्भिगंधपरिण- ता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि क- डुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिण- या वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरि- णता वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि ल- हुयफासपरिणता वि सीयफासपरिणता वि उसिणफासप- रिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमडलसंठाणपरिणता वि वट्टसंठाणपरिणता वि तंससंठाणपरिणता वि चउरंससंठाणपरिणता वि आयतसंठाणपरिणता वि २०, १०० । जे गंधओ सुब्भि- गंधपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणता वि नी- लवरणपरिणता वि लोहितवरणपरिणता वि हालिद्दव- रणपरिणया वि सुकिल्लवरणपरिणता वि, रसओ तित्तर- सपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ क- क्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफास- परिणता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफास- परिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणता वि वट्टसं- ठाणपरिणता वि तंससंठाणपरिणता वि चउरंससंठाणपरि- णता वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे गंधओ दुब्भिगं- धपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणता वि नीलवराप रिणता वि लोहितवरणपरिणता वि हालिद्दवस्रपरिणता वि सुकिल्लवस्रपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयर- सपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणया वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउ- यफासपरिणता वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफासपरिण- ता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणया वि, णिद्ध- फासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परि- मंडलसंठाणपरिणता वि वट्टसंठाणपरिणता वि, तंससंठाण- परिणता वि चउरंससंठाणपरिणता वि आयतसंठाणपरिण- ता वि २६, ४६ । जे रसओ तित्तरसपरिणता ते वरुणओ कालवस्रपरिणता वि नीलवस्रपरिणता वि लोहियवस्रपरि- णता वि हालिद्दवस्रपरिणता वि सुकिल्लवस्रपरिणता वि, गं- धओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफास- परिणता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्ख- फासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणता वि वट्टसंठाणपरिणता वि तंससंठाणपरिणता वि चउरंससंठा- परिणता वि आयतसंठाणपरिणता वि २०, जे रसओ कडु- यरसपरिणता ते वस्रओ कालवस्रपरिणता वि नीलवरणप- रिणता वि लोहितवरणपरिणता वि हालिद्दवरणपरिणता वि सुकिल्लवरणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दु- ब्भिगंधपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउ- यफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिण- या वि सीयफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्ध- फासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परि- मंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणप- रिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरि- णता वि २०, जे रसओ कसायरसपरिणता ते वस्रओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितव- रणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुकिल्लवरणप- रिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिण- ता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरि- णया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सी- यफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासप- रिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडल- संठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरि- णया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणया वि २०, जे रसओ अंबिलरसपरिणया ते वस्रओ काल- वरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहियवरणपरि- णया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुकिल्लवरणपरिणया वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणया वि, फास- ओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुय- फासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिण- या वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लु- क्खफासपरिणया वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंसस- ठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणया वि २०, जे रसओ महुररसपरिणता ते वरणओ कालवस्रपरिणया वि नीलवस्र- परिणया वि लोहियवस्रपरिणया वि हालिद्दवस्रपरिणया वि सुकिल्लवस्रपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भि- गंधपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउय- फासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफा- सपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडल- संठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिण- या वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणया वि

२०, १०० । जे फासओ कक्खडफासपरिणया ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहियवराण परिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणया वि, फासओ गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ मउयफासपरिणया ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणता वि सुक्किल्लवराणपरिणया वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ गुरुयफासपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि सीयफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ लहुयफासपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि । गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ सीतफासपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि । गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि । फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि । संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ उसिणफासपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि । रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३,जे फासओ णिद्धफासपरिणया ते वराणओ कालवराणपरिणता वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीयफासपरिणया वि उसिणफासपरिणता वि संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणया वि २३, जे फासओ लुक्खफासपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुक्किल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणया वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरि-

णया वि महुररसपरिणता वि,फासओ कक्खडफासपरिण-
या वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहु-
यफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासप-
रिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसं-
ठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरि-
णया वि आयतसंठाणपरिणया वि २३, १८४। जे संठा-
णओ परिमंडलसंठाणपरिणता ते वण्णओ कालवण्णप-
रिणया वि नीलवण्णपरिणया वि लोहितवण्णपरिणया वि
हालिद्दवण्णपरिणया वि सुक्किल्लवण्णपरिणता वि, गंधओ
सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणया वि, रसओ तित्त-
रसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि
अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ क-
क्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासप-
रिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उ-
सिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासप-
रिणता वि २०। जे संठाणओ वट्टसंठाणपरिणया ते वण्णओ
कालवण्णपरिणया वि नीलवण्णपरिणता वि लोहियवण्णपरि-
णता वि हालिद्दवण्णपरिणता वि सुक्किल्लवण्णपरिणता वि,
गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि,
रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि क-
सायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसप-
रिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउय-
फासपरिणता वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफास-
परिणया वि सीयफासपरिणया वि उसिणफासपरिण-
या वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि २०।
जे संठाणओ तंससंठाणपरिणता ते वण्णओ का-
लवण्णपरिणया वि नीलवण्णपरिणया वि लोहितवण्णप-
रिणता वि हालिद्दवण्णपरिणता वि सुक्किल्लवण्णपरिणता वि,
गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रस-
ओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरस-
परिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि,
फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि
गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासप-
रिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया
वि लुक्खफासपरिणया वि २०। जे संठाणओ
चउरंससंठाणपरिणता ते वण्णओ कालवण्णपरिणता
वि नीलवण्णपरिणता वि लोहियवण्णपरिणता वि हालिद्द-
वण्णपरिणता वि सुक्किल्लवण्णपरिणता वि, गंधओ सुब्भि-
गंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसप-
रिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणया वि अं-
बिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्ख-

फासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफासपरिण-
ता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिण-
फासपरिणता वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणया
वि २०। जे संठाणओ आयतसंठाणपरिणता ते वण्णओ
कालवण्णपरिणया वि नीलवण्णपरिणया वि लोहियवण्णपरि-
णया वि हालिद्दवण्णपरिणया वि सुक्किल्लवण्णपरिणता वि,गं-
धओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि,रसओ
तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिण-
या वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणया वि,फासओ
कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफास-
परिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि
उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफास-
परिणया वि २०, १००।

( जे वन्नतो इत्यादि ) ये स्कन्धाऽऽदयो वर्णतो वर्णमाश्रि-
त्य कालवर्णपरिणता अपि भवन्ति, ते गन्धतो गन्धमा-
श्रित्य सुरभिगन्धपरिणता अपि भवन्ति, दुरभिगन्धपरि-
णता अपि। किमुक्तं भवति ?-गन्धमधिकृत्य ते भाज्याः,
केचित्सुरभिगन्धपरिणता भवन्ति, केचिद् दुरभिगन्धपरिण-
ताः, न तु प्रतिनियतैकगन्धपरिणामपरिणता एवेति। एवं
च रसत स्पर्शतः संस्थानतश्च वाच्याः, तत्र द्वौ गन्धौ,
पञ्च रसाः, अष्टौ स्पर्शाः पञ्च संस्थानानि। एते च मीलि-
ता विंशतिरिति कृष्णवर्णपरिणता एतावतो भङ्गान् लभ-
न्ते २०, एव नीलवर्णपरिणता अपि २०, लोहितवर्णपरिण-
ता अपि २०, हारिद्रवर्णपरिणता अपि २०, शुक्लवर्णप-
रिणता अपि २०, एवं पञ्चभिर्वर्णैर्लब्धं शतम् १००। ग-
न्धमधिकृत्याऽऽह-( जे गधओ इत्यादि ) ये गन्धतो गन्धम-
धिकृत्य सुरभिगन्धपरिणामपरिणतास्ते वर्णतः कालवर्णप-
रिणता अपि नीलवर्णपरिणता अपि लोहितवर्णपरिणता
अपि हारिद्रवर्णपरिणता अपि शुक्लवर्णपरिणता अपि ५,
एवं रसत ५, स्पर्शत ८, संस्थानतः ५। एते च मीलि-
तास्त्रयोविंशतिः २३, इति सुरभिगन्धपरिणतास्त्रयोविंशति-
भङ्गान् लभन्ते, एवं दुरभिगन्धपरिणता अपि २३, ततो ग-
न्धपदेन लब्धा भङ्गाना षट्चत्वारिंशत् ४६। रसमधिकृ-
त्याऽऽह-ये रसतो रसमधिकृत्य तिक्तरसपरिणतास्ते वर्णतः
५, गन्धत २, स्पर्शत. ८, संस्थानतः ५। एते सर्वेऽपि ए-
कत्र मीलिता विंशतिरिति तिक्तरसपरिणता विंशतिभङ्गा-
ल्लभन्ते २०, एवं कटुकरसपरिणता २०, कषायरसपरि-
णता २०, अम्लरसपरिणताः २०, मधुररसपरिणताश्च
२०। एव रसपञ्चकसंयोगे लब्धं भङ्गकाना शतम्-१००।
( इत्यादि ) स्पर्शमधिकृत्याऽऽह-( जे फासतो कक्खडफासप-
रिणया इत्यादि ) ये स्पर्शतः कर्कशस्पर्शपरिणतास्ते वर्णत.
५, गन्धत. २, रसत ५, स्पर्शत ६, प्रतिपक्षस्पर्शयोगाभा-
वात् संस्थानत. ५। एते सर्वेऽप्येकत्र मीलितास्त्रयोविंश
ति २३, एतावतो भङ्गान् कर्कशस्पर्शपरिणता लभन्ते
२३,एतावत एव मृदुस्पर्शपरिणता २३ गुरुस्पर्शपरिणता २३,
लघुस्पर्शपरिणता. २३, शीतस्पर्शपरिणता २३, उष्णस्प-

२०, १०० । जे फासओ कक्खडफासपरिणया ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहियवरण परिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुरसपरिणया वि, फासओ गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ मउयफासपरिणया ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणता वि सुक्किल्लवरणपरिणया वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ गुरुयफासपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि सीयफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ लहुयफासपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि । गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ सीतफासपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि । गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि । फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि । संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ उसिणफासपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि । रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणता वि २३, जे फासओ णिद्धफासपरिणया ते वरणओ कालवरणपरिणता वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीयफासपरिणया वि उसिणफासपरिणता वि संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणया वि २३, जे फासओ लुक्खफासपरिणता ते वरणओ कालवरणपरिणया वि नीलवरणपरिणया वि लोहितवरणपरिणया वि हालिद्दवरणपरिणया वि सुक्किल्लवरणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणया वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरि-

णया वि महुररसपरिणता वि,फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणता वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टसंठाणपरिणया वि तंससंठाणपरिणया वि चउरंससंठाणपरिणया वि आयतसंठाणपरिणया वि २३, १८४। जे संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुकिल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणया वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणता वि २०। जे संठाणओ वट्टसंठाणपरिणया ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणता वि लोहियवराणपरिणता वि हालिद्दवराणपरिणता वि सुकिल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफासपरिणया वि सीयफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणता वि लुक्खफासपरिणता वि २०। जे संठाणओ तंससंठाणपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहितवराणपरिणता वि हालिद्दवराणपरिणता वि सुकिल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणता वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणया वि २०। जे संठाणओ चउरंससंठाणपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणता वि नीलवराणपरिणता वि लोहियवराणपरिणता वि हालिद्दवराणपरिणता वि सुकिल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणता वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणता वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणता वि महुररसपरिणता वि, फासओ कक्खडफासपरिणता वि मउयफासपरिणता वि गुरुयफासपरिणता वि लहुयफासपरिणता वि सीतफासपरिणता वि उसिणफासपरिणता वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणया वि २०। जे संठाणओ आयतसंठाणपरिणता ते वराणओ कालवराणपरिणया वि नीलवराणपरिणया वि लोहियवराणपरिणया वि हालिद्दवराणपरिणया वि सुकिल्लवराणपरिणता वि, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया वि दुब्भिगंधपरिणता वि, रसओ तित्तरसपरिणता वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणया वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि मउयफासपरिणया वि गुरुयफासपरिणया वि लहुयफासपरिणया वि सीतफासपरिणया वि उसिणफासपरिणया वि णिद्धफासपरिणया वि लुक्खफासपरिणया वि २०, १००।

( जे वन्नतो इत्यादि ) ये स्कन्धाऽऽदयो वर्णतो वर्णमाश्रित्य कालवर्णपरिणता अपि भवन्ति, ते गन्धतो गन्धमाश्रित्य सुरभिगन्धपरिणता अपि भवन्ति, दुरभिगन्धपरिणता अपि। किमुक्तं भवति ?–गन्धमधिकृत्य ते भाज्याः, केचित्सुरभिगन्धपरिणता भवन्ति, केचिद् दुरभिगन्धपरिणताः, न तु प्रतिनियतैकगन्धपरिणामपरिणता एवेति। एवं च रसत स्पर्शतः संस्थानतश्च वाच्याः, तत्र द्वौ गन्धौ, पञ्च रसाः, अष्टौ स्पर्शाः पञ्च संस्थानानि। एते च मीलिता विंशतिरिति कृष्णवर्णपरिणता एतावतो भङ्गान् लभन्ते २०, एवं नीलवर्णपरिणता अपि २०, लोहितवर्णपरिणता अपि २०, हारिद्रवर्णपरिणता अपि २०, शुक्लवर्णपरिणता अपि २०, एवं पञ्चभिर्वर्णैर्लब्धं शतम् १००। गन्धमधिकृत्याऽऽह–( जे गंधओ इत्यादि ) ये गन्धतो गन्धमधिकृत्य सुरभिगन्धपरिणामपरिणतास्ते वर्णतः कालवर्णपरिणता अपि नीलवर्णपरिणता अपि लोहितवर्णपरिणता अपि हारिद्रवर्णपरिणता अपि शुक्लवर्णपरिणता अपि ५, एवं रसतः ५, स्पर्शतः ८, संस्थानतः ५। एते च मीलितास्त्रयोविंशतिः २३, इति सुरभिगन्धपरिणतास्त्रयोविंशतिभङ्गान् लभन्ते, एवं दुरभिगन्धपरिणता अपि २३, ततो गन्धपदेन लब्धा भङ्गानां षट्चत्वारिंशत् ४६। रसमधिकृत्याऽऽह–ये रसतो रसमधिकृत्य तिक्तरसपरिणतास्ते वर्णतः ५, गन्धतः २, स्पर्शतः ८, संस्थानतः ५। एते सर्वेऽपि एकत्र मीलिता विंशतिरिति तिक्तरसपरिणता विंशतिभङ्गाँल्लभन्ते २०, एवं कटुकरसपरिणताः २०, कषायरसपरिणता २०, अम्लरसपरिणताः २०, मधुररसपरिणताश्च २०। एवं रसपञ्चकसंयोगे लब्धं भङ्गकानां शतम्–१००। ( इत्यादि ) स्पर्शमधिकृत्याऽऽह–( जे फासतो कक्खडफासपरिणया इत्यादि ) ये स्पर्शतः कर्कशस्पर्शपरिणतास्ते वर्णतः ५, गन्धतः २, रसतः ५, स्पर्शतः ६, प्रतिपक्षस्पर्शयोगाभावात् संस्थानतः ५। एते सर्वेऽप्येकत्र मीलितास्त्रयोविंशतिः २३, एतावतो भङ्गान् कर्कशस्पर्शपरिणता लभन्ते २३, एतावत एव मृदुस्पर्शपरिणता २३ गुरुस्पर्शपरिणताः २३, लघुस्पर्शपरिणताः २३, शीतस्पर्शपरिणता २३, उष्णस्प-

र्शपरिणताः २३, स्निग्धस्पर्शपरिणताः २३, रूक्षस्पर्शपरिणताः २३। एतेषामेकत्र मीलने जातं भङ्गकानां चतुरशीत्यधिकं शतम्-१८४। ( इत्यादि ) संस्थानमधिकृत्याऽऽह-(जे संठाणश्रो परिमंडलसंठाणपरिणया इत्यादि ) ये संस्थानतः परिमण्डलसंस्थानपरिणतास्ते वर्णतः ५ गन्धतः २ रसतः ५ स्पर्शतः ८; एते सर्वेऽप्येकत्र मीलिता विंशतिः २०, एतावतो भङ्गान् परिमण्डलसंस्थानपरिणता लभन्ते । एवं वृत्तसंस्थानपरिणता २० त्र्यस्रसंस्थानपरिणताः २० चतुरस्रसंस्थानपरिणताः २० आयतसंस्थानपरिणताः २० अमीषां चैकत्र मीलने लब्धं भङ्गकानां शतम्। एतेषां च वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानानां सकलभङ्गसङ्कलने जातानि पञ्चशतानि त्रिंशदधिकानि ५३०। इह यद्यपि बादरेषु स्कन्धेषु पञ्चापि वर्णा द्वावपि गन्धौ पञ्चापि रसाः प्राप्यन्ते, ततोऽवधिकृतवर्णाऽऽदिव्यतिरेकेण शेषवर्णाऽऽदिभिरपि भङ्गाः सम्भवन्ति, तथाऽपि तेष्वेव बादरेषु स्कन्धेषु ये व्यवहारतः केवलकृष्णवर्णाऽऽद्युपेता अपान्तरालस्कन्धा यथा देहस्कन्ध एव लोचनस्कन्ध· कृष्णस्तदन्तर्गत एव कश्चिल्लोहितोऽन्यस्तदन्तर्गत एव शुक्ल इत्यादि ते इह विवक्ष्यन्ते, तेषां चान्यद्वर्णान्तराऽऽदि न सम्भवति, स्पर्शचिन्तायां त्ववधिकृतस्पर्शं प्रति प्रतिपक्षव्यतिरेकेणाऽन्ये स्पर्शा लोकेऽप्यविरोधिनो दृश्यन्ते, ततो यथोक्तैव भङ्गसंख्या, साऽपि च परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्याभिहिता, अन्यथा प्रत्येकमप्येषां तारतम्येनानन्तत्वात् अनन्ता भङ्गाः सम्भवन्ति, एतेषां च वर्णाऽऽदिपरिणामानां जघन्यतोऽवस्थानमेकं समयमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालम्। प्रज्ञा० १ पद ।

( ८ ) द्वीपसमुद्राणां पुद्गलपरिणामत्वात्तेषां च पुद्गलाना विशिष्टपरिणामपरिणतानामिन्द्रियग्राह्यत्वादतीन्द्रियविषयपुद्गलपरिणाममाह-

कतिविहे णं भंते ! इंदियविसए पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पंचविहे इंदियविसए पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियविसए० जाव फासिंदियविसए । सोइंदियविसए णं भंते ! पोग्गलपरिणामे कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सुब्भिसद्दपरिणामे य, दुब्भिसद्दपरिणामे य । एवं चक्खिंदियविसएहिं वि सुरूवपरिणामे य, दुरूवपरिणामे य । एवं सुब्भिगंधपरिणामे य, दुब्भिगंधपरिणामे य । एवं सुरसपरिणामे य, दुरसपरिणामे य । एवं सुफासपरिणामे य, दुफासपरिणामे य । से णूणं भंते ! उच्चावएसु सद्दपरिणामेसु उच्चावएसु रूवपरिणामेसु, एवं गंधपरिणामेसु रसपरिणामेसु य, फासपरिणामेसु परिणममाणा पोग्गला परिणमतीति वत्तव्वं सिया ?। हंता गोयमा ! उच्चावएसु सद्दपरिणामेसु परिणममाणा पोग्गला परिणमंतीति वत्तव्वं सिया। से णूणं भंते ! सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वा पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति ?। हंता गोयमा ! सुब्भिसद्दा दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति । से नूणं भंते ! सुरूवा पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति, दुरूवा पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति ?। हंता गोयमा !। एवं सुब्भिगंधा पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति, दुब्भिगंधा पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति ?। हंता गोयमा !। एवं सुरसा दुरसत्ताए, दुरसा सुरसत्ताए ?। हंता गोयमा !। एवं सुफासा दुफासत्ताए, दुफासा सुफासत्ताए ?। हंता गोयमा !। ते चेव णं भंते ! सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति ?। हंता गोयमा !। एवं सुरूवा दुरूवत्ताए, एवं गंधा रसा वि फासा वि, तं चेव णं सुफासा दुफासत्ताए परिणमंति । हंता गोयमा !० जाव परिणमंति ।

( कइविहे णं भंते ! इति ) कतिविधो भदन्त ! इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह-गौतम ! पञ्चविधः इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः प्रज्ञप्त· । तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियविषय इत्यादि सुगमम् । ( सुब्भिसद्दपरिणामे इति ) शुभः शब्दपरिणामः ( दुब्भिसद्दपरिणाम इति ) अशुभ· शब्दपरिणामः (से णूणं भंते ! इत्यादि) अथ नूनं निश्चितमेतत् भदन्त ! उच्चावचैरुत्तमाधमैः शब्दपरिणामैर्यावत् स्पर्शपरिणामैः परिणमन्तः पुद्गलाः परिणमन्तीति वक्तव्यं स्यात् परिणमन्तीति ते वक्तव्या भवेयुरित्यर्थः । भगवानाह-( हंता गोयमा ! इत्यादि ) हन्तेति प्रत्यवधारणे, स्यादेव वक्तव्यमिति भावः, परिणामस्य यथावस्थितस्य भावात्, तथा द्रव्यक्षेत्रसामग्रीवशतस्तद्रूपाऽऽस्कन्दनं हि परिणाम·,स च तत्राऽस्तीति न कश्चित्तथाऽभिधाने दोषः। ( से णूण भंते ! इत्यादि ) अथ नून निश्चितमेतद्भदन्त ! शुभशब्दरूपाः पुद्गला अशुभशब्दतया परिणमन्ति, अशुभशब्दरूपा वा पुद्गला शुभशब्दतया । भगवानाह-(हंता गोतमेत्यादि) सुप्रतीतमेतेन सान्वयपरिणाममाहान्यथा तदयोगात् असतः सत्ताऽनुपपत्तेरतिप्रसङ्गात्। एवं रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि आत्मीयात्मीयाभिलापेन द्वौ द्वावालापकौ वक्तव्यौ। जी० ४ प्रति० १ उ०। विस्रसोभयजन्येषूत्पादाऽऽदिषु, नं०।

( ९ ) प्रयोग-मिश्र-विश्रसा परिणताः पुद्गलाः-

रायगिहे०जाव एवं वयासी-कइविहा णं भंते ! पोग्गला पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पोग्गला पण्णत्ता। तं जहा-पओगपरिणया· मीसपरिणया, वीससापरिणया य ।

( पओगपरिणय त्ति ) जीवव्यापारेण शरीराऽऽदितया परिणताः ( मीसपरिणय त्ति ) मिश्रकपरिणता·-प्रयोगविस्रसाभ्यां परिणताः, प्रयोगपरिणाममत्यजन्तो विस्रसया स्वभावान्तरमापादिता मुक्तकलेवराऽऽदिरूपा । अथ वौदारिकाऽऽदिवर्गणारूपा विस्रसया निष्पादिता सन्तो ये जीवप्रयोगेणैकेन्द्रियाऽऽदिशरीरप्रभृतिपरिणामान्तरमापादितास्ते मिश्रपरिणता । ननु प्रयोगपरिणामोऽप्येवंविध एव तत क एषां विशेष·?। सत्यम्, किन्तु प्रयोगपरिणतेषु विस्रसा सत्यपि न विवक्षितेति ( वीससापरिणय त्ति ) स्वभावपरिणताः ।

अथ-"पयोगपरिणताणं" इत्यादिना ग्रन्थेन नवभिर्दण्डकैः प्रयोगपरिणतपुद्गलान्निरूपयति-

पओगपरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा-एगिंदियपओगपरिणया, बेइंदियपओगपरिणया० जाव पंचिंदियपओगपरिणया य। एगिंदियपओगपरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियपओगपरिणया । पुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया य, बादरपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया य । आउकाइयएगिंदियपओगपरिणया वि एवं चेव । एवं दुयओ भेओ० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियपओगपरिणया । बेइंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणेगविहा पण्णत्ता । एवं तेइंदियपओगपरिणया, चउरिंदियपओगपरिणया वि । पंचिंदियपओगपरिणया णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइयपंचिंदियपओगपरिणया, तिरिक्खपंचिंदियपओगपरिणया, एवं मणुस्सदेवपंचिंदियपओगपरिणया य । नेरइयपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियपओगपरिणया य० जाव अहे सत्तमपुढविनेरइयपंचिंदियपओगपरिणया य । तिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-जलचरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया, थलचरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया, खहयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य । जलचरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सम्मुच्छिमजलचरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य, गब्भवक्कंतियजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य । थलचरतिरिक्खपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियपओगपरिणया य, परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियपओगपरिणया य । चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया, गब्भवक्कंतियथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य । एवं एएणं अभिलावेणं परिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य, भुयपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य । उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया, गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य । एवं भुयपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि । एवं खहयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि । मणुस्सपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिममणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया, गब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया । देवपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-भवणवासीदेवपंचिंदियपओगपरिणया, एवं०जाव वेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया । भवणवासीदेवपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा-असुरकुमारदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव थणियकुमारदेवपंचिंदियपओगपरिणया । एवं एएणं अभिलावेणं अट्ठविहा वाणमंतरदेवपंचिंदियपओगपरिणया, पिसायदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव गंधव्वदेवपंचिंदियपओगपरिणया य । जोइसियदेवपंचिंदियपओगपरिणया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा चंदविमाणजोइसियदेवपंचिंदियपयोगपरिणया० जाव ताराविमाणजोइसियदेवपंचिंदियपओगपरिणया । वेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-कप्पोववण्णवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया, कप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया, कप्पोववण्णगवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया दुवालसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सोहम्मकप्पोववण्णगवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया, एवं०जाव अच्चुयकप्पोववण्णगवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया। कप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-गेवेज्जगकप्पातीयदेवपंचिंदियपओगपरिणया, अणुत्तरोववाइयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया । गेवेज्जगकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया णवविहा पण्णत्ता । तं जहा-हिट्ठिमगेवेज्जगकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव उवरिमगेवेज्जगकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया । अणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणयाणं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-विजयअणुत्तरोववाइयकप्पा-

तीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया य १ ॥

तत्र चैकेन्द्रियाऽऽदिसर्वार्थसिद्धदेवान्तजीवभेदविशेषितप्रयोगपरिणतानां पुद्गलानां प्रथमो दण्डकः । तत्र च-( आउकाइय एगिंदिय एवं चेव त्ति ) पृथिवीकायिकैकेन्द्रियप्रयोगपरिणता इव अप्कायिकैकेन्द्रियप्रयोगपरिणता वाच्या इत्यर्थः । ( एवं दुयओ त्ति ) पृथिव्यप्कायप्रयोगपरिणतेष्विव द्विको द्विपरिमाणो द्विपदो वा भेदः सूक्ष्मबादरविशेषणकृतस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियप्रयोगपरिणताऽऽदिषु वाच्य इत्यर्थः । (अणेगविह त्ति) पुलाककृमिकाऽऽदिभेदत्वाद् द्वीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियप्रयोगपरिणता अप्यनेकविधाः कुन्थुपिपीलिकाऽऽदिभेदत्वात्तेषां चतुरिन्द्रियप्रयोगपरिणता अप्यनेकविधा एव मक्षिकामशकाऽऽदिभेदत्वात्तेषामेतदेव सूचयन्नाह-(एवं तेइंदीत्यादि)

अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मबादरविशेषणेन-

सुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-केइ अपज्जत्तगं पढमं भणंति पच्छा पज्जत्तगं । पज्जत्तसुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया । बादरपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया वि एवं चेव । एवं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियपओगपरिणया एक्केका दुविहा-सुहुमा य, बादरा य, पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य भाणियव्वा । बेइंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगबेइंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगबेइंदियपओगपरिणया य । एवं तेइंदियपओगपरिणया वि एवं चउरिंदियपओगपरिणया वि । रयणप्पभापुढविणेरइयपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगरयणप्पभापुढविणेरइयपंचिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगरयणप्पभापुढविणेरइयपंचिंदियपओगपरिणया । एवं० जाव अहे सत्तमपुढविणेरइयपंचिंदियपओगपरिणया । सम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगसम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगसम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया य । एवं गब्भवक्कंतियजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि । सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि एवं चेव । एवं गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि । एवं० जाव संमुच्छिमखहयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि, गब्भवक्कंतियखहयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया वि । एक्केके पज्जत्तगा य । अपज्जत्तगा य भाणियव्वा । सम्मुच्छिमम्मणुस्सपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगसम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया अपज्जत्तगसम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया य । गब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया य । असुरकुमारभवणवासीदेवपंचिंदियपओगपरिणयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगअसुरकुमारदेवपंचिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगअसुरकुमारदेवपंचिंदियपओगपरिणया य । एवं० जाव पज्जत्तगथणियकुमारदेवपंचिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगथणियकुमारदेवपंचिंदियपओगपरिणया य । एवं एएणं अभिलावेणं दुयएणं भेएणं पिसाया य० जाव गंधव्वदेवपंचिंदियपओगपरिणया य । एवं पज्जत्तापज्जत्तगचंदजोइसियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव पज्जत्तापज्जत्तगताराविमानदेवपंचिंदियपओगपरिणया य । पज्जत्तगसोहम्मकप्पोववण्णगदेवपंचिंदियपओगपरिणया, अपज्जत्तगसोहम्मकप्पोववण्णगदेवपंचिंदियपओगपरिणया एवं० जाव पज्जत्तापज्जत्तगअच्चुअकप्पोववण्णगदेवपंचिंदियपओगपरिणया वि । पज्जत्तापज्जत्तगहेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जगकप्पातीयदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव पज्जत्तापज्जत्तगउवरिमउवरिमगेवेज्जकप्पातीयदेवपंचिंदियपओगपरिणया वि । एवं चेव पज्जत्तापज्जत्तगविजयअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव पज्जत्तापज्जत्तगसव्वट्ठसिद्धाणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया य २ ॥ जे अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया ते ओरालियतेयाकम्मासरीरप्पओगपरिणया, जे पज्जत्तगसुहुमपुढविकाइयएगिंदियप्पओगपरिणया ते ओरालियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया, एवं० जाव पज्जत्तगचउरिंदियप्पओगपरिणया । नवरं, जे पज्जत्तगबादरवाउकाइयएगिंदियप्पओगपरिणया ते ओरालियवेउव्वियतेयाकम्मासरीरप्पओगपरिणया, सेसं तं चेव, जे अपज्जत्तगरयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियप्पओगपरिणया ते वेउव्वियतेयाकम्मासरीरप्पओगपरिणया, एवं पज्जत्तगरयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियप्पओगपरिणया वि, एवं० जाव अहे जे पज्जत्तापज्जत्तगसत्तमापुढविनेरइयपंचिंदियप्पओगपरिणया ते वेउव्वियतेयाकम्मसरीरप्पओगपरिणया । जे अपज्जत्तगसंमुच्छिमजलयरपंचिंदियप्पओगपरिणया ते ओरालियतेयाकम्मसरीरप्पओगपरिणया, एवं जे पज्जत्तगसंमुच्छिमजलयरपंचिंदियप्पओगपरिणया ते ओरालियतेयाकम्म-

सरीरप्पओगपरिणया । एवं चेव अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियप्पओगपरिणया वि,पज्जत्तगगब्भवक्कंतिया वि एवं चेव, नवरं सरीरगाणि चत्तारि जहा बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं । एवं जहा जलचरेसु चत्तारि आलावगा भणिया तहा चउप्पयउरपरिसप्पभुयपरिसप्पखहयरेसु वि चत्तारि आलावगा भाणियव्वा । जे संमुच्छिममणुस्सपंचिंदियप्पओगपरिणया ते ओरालियतेयाकम्मसरीरप्पओगपरिणया, एवं गब्भवक्कंतिया वि । अपज्जत्तगपज्जत्तगा वि एवं चेव, नवरं सरीरगाणि पंच भाणियव्वाणि, जे अपज्जत्ता असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियपओगपरिणया जहा णेरइयपंचिंदियपओगपरिणया वि तहेव, एवं पज्जत्तगा वि,एवं दुपएणं भेएणं० जाव थणियकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियपओगपरिणया । एवं पिसायदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव गंधव्वदेवपंचिंदियपओगपरिणया। चंदविमाणजोइसियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव ताराविमाणजोइसियदेवपंचिंदियपओगपरिणया, एवं सोहम्मकप्पोवत्रणवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव अच्चुअकप्पोववणवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया । एवं हेट्ठिमगेवेज्जगकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया०जाव उवरिमगेवेज्जगकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया । एवं विजयअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया एक्केक्के दुयभेया भाणियव्वा० जाव जे य पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया ते वेउव्वियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया दंडओ ३ ॥ जे अपज्जत्तगा सुहुमपुढवीकाइयएगिंदियपओगपरिणया ते फासिंदियपओगपरिणया; जे पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया एवं चेव। जे अपज्जत्ता बादरपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया एवं चेव,एवं पज्जत्तगा वि,एवं चउक्कभेएणं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियपओगपरिणया । जे अपज्जत्ता बेइंदियपओगपरिणया ते जिब्भिदियफासिंदियपओगपरिणया, जे पज्जत्ता बेइंदियपओगपरिणया एवं चेव, एवं० जाव चउरिंदियपओगपरिणया, नवरं एक्केक्कं इंदियं वड्ढेयव्वं । जे अपज्जत्ता रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियपओगपरिणया ते सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियपओगपरिणया। एवं पज्जत्तगा वि, एवं सव्वे भाणियव्वा। तिरिक्खजोणियपंचिंदियपओगपरिणया मणुस्सपंचिंदियपओगपरिणया देवपंचिंदियपओगपरिणया० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया ४॥ जे अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया ते फासिंदियपओगपरिणया जे पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया एवं चेव,अपज्जत्ता बादरपुढविकाइयएगिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया एवं चेव, एवं पज्जत्त ॥ वि, एवं एएणं अभिलावेणं जस्स जइ इंदियाणि सरीराणि य ताणि भाणियव्वाणि०जाव जे अपज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया ते सोइंदियघाणिंदियचक्खिंदियजिब्भिंदियफासिंदियपओगपरिणया ५ ॥ जे अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया णीलवण्णपरिणया लोहियवण्णपरिणया हालिद्दवण्णपरिणया सुक्किल्लवण्णपरिणया, गंधओ सुब्भिगंधपरिणया दुब्भिगंधपरिणया वि, रसओ तित्तरसपरिणया वि कडुयरसपरिणया वि कसायरसपरिणया वि अंबिलरसपरिणया वि महुररसपरिणया वि, फासओ कक्खडफासपरिणया वि०जाव लुक्खफासपरिणया वि, संठाणओ परिमंडलसंठाणपरिणया वि वट्टतंसचउरंसआयतसंठाणपरिणया वि । जे पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियपओगपरिणया वि एवं चेव जहाणुपुव्वीए णेयव्वं० जाव जे पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि० जाव आयतसंठाणपरिणया वि ६ ॥ जे अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि० जाव आयतसंठाणपरिणया वि, जे पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया एवं चेव । एवं जहाणुपुव्वीए जस्स जइ सरीराणि०जाव जे पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियतेयाकम्मासरीरपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि०जाव आयतसंठाणपरिणया वि ७ ॥ जे अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियफासिंदियपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया०जाव आयतसंठाणपरिणया वि। जे पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियफासिंदियपओगपरिणया एवं चेव.एवं जहाणुपुव्वीए जस्स जइ इंदियाणि तस्स तत्तियाणि भाणियव्वाणि०जाव जे पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियसोइंदिय०जाव फासिंदियपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि०जाव आ-

यतसंठाणपरिणया वि ८ । जे अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयए-गिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरफासिंदियपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया०जाव आयतसंठाणपरिणया, जे पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयएगिंदियओरालियतेयाकम्मासरीरफासिंदियपओगपरिणया एव चेव, एवं जहाणुपुव्वीए जस्स जइ सरीराणि इंदियाणि य तस्स तत्तियाणि भाणियव्वाणि०जाव जे पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियकम्मासरीररसोइंदिय० जाव फासिंदियपओगपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया० जाव आयतसंठाणपरिणया वि, एए नव दंडगा ९ ॥

( सुहुमपुढविकाइयेत्यादि ) सर्वार्थसिद्धदेवान्तःपर्याप्तकापर्याप्तकविशेषणो द्वितीयो दण्डकस्तत्र ( एक्केक्केत्यादि ) एकैकस्मिन्निकाये सूक्ष्मबादरभेदाद् द्विविधा पुद्गला वाच्याः, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात्पुनर्द्विविधा वाच्या इत्यर्थः । ( जे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीत्यादि ) औदारिकाऽऽदिशरीरविशेषणस्तृतीयो दण्डकस्तत्र च ( ओरालियतेयाकम्मसरीरपओगपरिणय त्ति ) औदारिकतैजसकार्मणशरीराणां यः प्रयोगस्तेन परिणता ये ते तथा । पृथिव्यादीनां हि एतदेव शरीरत्रयं भवतीति कृत्वा तत्प्रयोगपरिणता एव ते भवन्ति, बादरपर्याप्तकवायूनां त्वाहारकवर्जं शरीरचतुष्टयं भवतीति कृत्वाऽऽह-( नवरं जे पज्जत्तेत्यादि ) ( एवं गब्भवक्कंतिया वि अपज्जत्तगि,त्ति ) वैक्रियाऽऽहारकशरीराभावाद्गर्भव्युत्क्रान्तिका अप्यपर्याप्तका मनुष्यास्त्रिशरीरा एवेत्यर्थः ( जे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीत्यादि ) इन्द्रियविशेषणश्चतुर्थो दण्डकः । (जे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीत्यादि) औदारिकाऽऽदिशरीरस्पर्शाऽऽदीन्द्रियविशेषणः पञ्चमः । (जे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीत्यादि ) वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानविशेषणः षष्ठः । एवमौदारिकाऽऽदिशरीरवर्णाऽऽदिभावविशेषणः सप्तमः । इन्द्रियवर्णाऽऽदिविशेषणोऽष्टमः । शरीरेन्द्रियवर्णादिविशेषणो नवम इति । अत एवाह-एते नव दण्डकाः ।

अथ मिश्रपरिणतपुद्गलांश्चिन्तयति-

मीसापरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदियमीसापरिणया० जाव पंचिंदियमीसापरिणया । एगिंदियमीसापरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ? । एवं जहा पओगपरिणएहिं नव दंडगा भणिया, एवं मीसापरिणएहिं नव दंडगा भाणियव्वा, तहेव सव्वं निरवसेसं, नवरं अभिलावो मीसापरिणया भाणियव्वो, सेसं तं चेव०जाव जे पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव आयतसंठाणपरिणया ।

मिश्रपरिणतेष्वप्येत एव नव दण्डका इति ।

अथ विस्रसापरिणतपुद्गलाँश्चिन्तयति-

वीससापरिणया णं भंते ! पोग्गला कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-वण्णपरिणया गंधपरिणया रसपरिणया फासपरिणया संठाणपरिणया । जे वण्णपरिणया ते पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-कालवण्णपरिणया० जाव सुक्किल्लवण्णपरिणया । जे गंधपरिणया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुगंधपरिणया, दुगंधपरिणया वि । एवं जहा पण्णवणाए तहेव निरवसेसं०जाव संठाणओ आयतसंठाणपरिणया ते वण्णओ कालवण्णपरिणया वि०जाव लुक्खफासपरिणया वि ।

( विस्ससापरिणयाणमित्यादि । ) ( एवं जहा पन्नवणाए त्ति ) तत्रैवमिदं सूत्रम्-' जे रसपरिणया ते पंचविहा पन्नत्ता । तं जहा-तित्तरसपरिणया, एवं कडुयकसायअंबिलमहुररसपरिणया, जे फासपरिणया ते अट्ठविहा पन्नत्ता । तं जहा-कक्खडफासपरिणया, एवं मउयगरुयलहुयसीयउसिणनिद्धलुक्खफासपरिणया य । " इत्यादि ।

अथैकं पुद्गलद्रव्यमाश्रित्य परिणामाँश्चिन्तयन्नाह-

एगे भंते ! दव्वे किं पयोगपरिणए, मीसापरिणए, वीससापरिणए ?। गोयमा ! पओगपरिणए वा, मीसापरिणए वा, वीससापरिणए वा । जइ पओगपरिणए किं मणपओगपरिणए, वइपओगपरिणए, कायपओगपरिणए ?। गोयमा ! मणप्पओगपरिणए वा, वयप्पओगपरिणए वा, कायप्पओगपरिणए वा । जइ मणप्पओगपरिणए किं सच्चमणप्पओगपरिणए, मोसमणप्पओगपरिणए, सच्चमोसमणप्पओगपरिणए, असच्चामोसमणप्पओगपरिणए ?। गोयमा ! सच्चमणप्पओगपरिणए वा, मीसमणप्पओगपरिणए वा, सच्चामोसमणप्पओगपरिणए वा, असच्चामोसमणप्पओगपरिणए वा । जइ सच्चमणप्पओगपरिणए किं आरंभसच्चमणप्पओगपरिणए, अणारंभसच्चमणप्पओगपरिणए, सारंभसच्चमणप्पओगपरिणए, असारंभसच्चमणप्पओगपरिणए, समारंभसच्चमणप्पओगपरिणए असमारंभसच्चमणप्पओगपरिणए ?। गोयमा ! आरंभसच्चमणप्पओगपरिणए वा० जाव असमारंभसच्चमणप्पओगपरिणए वा । जइ मोसमणप्पओगपरिणए किं आरंभमोसमणप्पओगपरिणए वा, एव जहा सच्चेण तहा मोसेण वि; एवं असच्चामोसमणप्पओगेण वि । जइ वइप्पओगपरिणए किं सच्चवइप्पओगपरिणए, मोसवइप्पओगपरिणए ? । एवं जहा मणप्पओगपरिणए तहा वइप्पओगपरिणए० जाव असमारंभवइप्पओगपरिणए वा । जइ कायप्पओगपरिणए किं ओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए ओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए, वेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए वेउव्वियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए, आहारगसरीरकायप्पओगपरिणए, आहारगमीसासरीरकायप्पओगपरिणए, कम्मासरीरकायप्पओगपरिणए ?। गोयमा ! ओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए वा,

०जाव कम्मासरीरकायप्पओगपरिणए वा। जइ ओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए, एवं ०जाव पंचिंदियओरालिय०जाव परिणए ?। गोयमा ! एगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए वा, बेइंदिय० जाव परिणए वा, पंचिंदिय० जाव परिणए वा । जइ एगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए किं पुढविकाइयएगिंदिय०जाव परिणए वा०जाव वणस्सइकाइयएगिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए ?। गोयमा ! पुढविकाइयएगिंदिय० जाव पओगपरिणए वा ०जाव वणस्सइकाइयएगिंदिय०जाव परिणए वा । जइ पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीर० जाव परिणए किं सुहुमपुढविकाइय० जाव परिणए, बादरपुढविकाइयएगिंदिय०जाव परिणए ?। गोयमा ! सुहुमपुढविकाइयएगिंदिय० जाव परिणए वा, बादरपुढविकाइय० जाव परिणए वा । जइ सुहुमपुढविकाइय०जाव परिणए किं पज्जत्तसुहुमपुढविकाइय० जाव परिणए, अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइय० जाव परिणए ?। गोयमा ! पज्जत्तासुहुमपुढविकाइय० जाव परिणए वा, अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइय०जाव परिणए वा । एवं बादरा वि, एवं० जाव वणस्सइकाइयाणं चउक्कभेदो, बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं दुयओ भेदो--पज्जत्तगा, अपज्जत्तगा य । जइ पंचिंदियओरालियकायप्पओगपरिणए किं तिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरकायप्पओगपरिणए, मणुस्सपंचिंदिय०जाव परिणए ?। गोयमा ! तिरिक्खजोणिय० जाव परिणए वा, मणुस्सपंचिंदिय०जाव परिणए वा । जइ तिरिक्खजोणिय० जाव परिणए किं जलचरतिरिक्खजोणिय० जाव परिणए, थलचरखहचर० जाव परिणए ? । एवं चउक्कभेदो० जाव खहयराणं । जइ मणुस्सपंचिंदिय० जाव परिणए किं सम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदिय० जाव परिणए, गब्भवक्कंतियमणुस्स० जाव परिणए ?। गोयमा ! दोसु वि । जइ गब्भवक्कंतियमणुस्स ०जाव परिणए किं पज्जत्तगगब्भवक्कंतिय० जाव परिणए, अपज्जत्तगगब्भवक्कंतिय०जाव परिणए ?। गोयमा ! पज्जत्तगगब्भवक्कंतिय० जाव परिणए वा, अपज्जत्तगगब्भवक्कंतिय ० जाव परिणए वा । जइ ओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए, बेइंदिय० जाव परिणए० जाव पंचिंदियओरालिय० जाव परिणए ? । गोयमा ! एगिंदियओरालिय० जाव परिणए । एवं जहा ओरालियसरीरकायप्पओगपरिणएण आलावगो भणिओ तहा ओरालियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए वि आलावगो भाणियव्वो, नवरं बादरवाउकाइयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियगब्भवक्कंतियमणुस्साण य, एएसिं पज्जत्तापज्जत्तगाणं सेसाणं अपज्जत्तगाणं । जइ वेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियवेउव्वियसरीर० जाव परिणए, पंचिंदियवेउव्वियसरीर० जाव परिणए ?। गोयमा ! एगिंदिय० जाव परिणए वा, पंचिंदिय० जाव परिणए वा । जइ एगिंदिय ०जाव परिणए किं वाउकाइयएगिंदिय० जाव परिणए, अहवा अवाउकाइयएगिंदिय०जाव परिणए ?। गोयमा ! वाउकाइयएगिंदिय० जाव परिणए, नोअवाउकाइय० जाव परिणए । एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओगाहणसंठाणे वेउव्वियसरीरं भणियं तहा इह भाणियव्वं० जाव पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए वा, अपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव परिणए। जइ वेउव्वियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियमीसासरीर०जाव परिणए,० जाव पंचिंदियमीसासरीर० जाव परिणए । एवं जहा वेउव्वियं तहा वेउव्वियमीसगं पि, णवरं देवनेरइयाणं अपज्जत्तगाण सेसाणं पज्जत्तगाणं तहेव० जाव नोपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव परिणए, अपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयदेवपंचिंदियवेउव्वियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए । जइ आहारगसरीरकायप्पओगपरिणए किं मणुस्साहारगसरीरकायप्पओगपरिणए, अमणुस्साहारग० जाव परिणए ?। एवं जहा ओगाहणसंठाणे०जाव इड्डिपत्तपमत्तसजयसम्मद्दिट्ठीपज्जत्तासंखेज्जवासाउय० जाव परिणए, नोअणड्डिपत्त० जाव परिणए । जइ आहारगमीसासरीरकायप्पओगपरिणए किं मणुस्सआहारगमीसासरीर० जाव परिणए ?। एवं जहा आहारगं तहेव मीसगं पि निरवसेसं भाणियव्वं। जइ कम्मासरीरकायप्पओगपरिणए किं एगिंदियकम्मासरीरकायप्पओगपरिणए०जाव पंचिंदियकम्मासरीर०जाव परिणए ?। गोयमा ! एगिंदियकम्मासरीर०जाव परिणए। एवं जहा ओगाहणसंठाणे कम्मगस्स भेदो तहेव इह वि ० जाव पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियकम्मासरीरकायप्पओगपरिणए वा, अपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव परिणए वा। जइ मीसापरिणए किं मणमीसापरिणए, वयमीसापरिणए, कायमीसापरिणए ?। गोयमा ! मणमीसापरिणए वा, वयमीसापरिणए वा, कायमीसापरिणए वा । जइ मणमीसापरिणए वा किं सच्चमणमीसापरिणए वा, मोसमणमीसापरिणए वा ?, जहा पओगपरिणए तहा मीसापरिणए वि भाणियव्वं,

निरवसेसं० जाव पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव देवपंचिंदियकम्मासरीरमीसापरिणए वा, अपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव कम्मासरीरमीसापरिणए वा। जइ वीससापरिणए किं वण्णपरिणए, गंधपरिणए, रसपरिणए, फासपरिणए, संठाणपरिणए ?। गोयमा ! वण्णपरिणए वा० जाव संठाणपरिणए वा । जइ वण्णपरिणए किं कालवण्णपरिणए, नीलवण्ण० जाव सुक्किल्लवण्णपरिणए ?। गोयमा ! कालवण्णपरिणए वा० जाव सुक्किल्लवण्णपरिणए वा । जइ गंधपरिणए किं सुब्भिगंधपरिणए, दुब्भिगंधपरिणए ?। गोयमा ! सुब्भिगंधपरिणए वा, दुब्भिगंधपरिणए वा । जइ रसपरिणए किं तित्तरसपरिणए पुच्छा ?। गोयमा ! तित्तरसपरिणए० जाव महुररसपरिणए वा । जइ फासपरिणए किं कक्खडफासपरिणए० जाव लुक्खफासपरिणए ?। गोयमा ! कक्खडफासपरिणए वा० जाव लुक्खफासपरिणए वा । जइ संठाणपरिणए पुच्छा ?। गोयमा ! परिमंडलसंठाणपरिणए० जाव आययसंठाणपरिणए वा ।

( एगेत्यादि ) ( मणपओगपरिणए त्ति ) मनस्तया परिणतमित्यर्थः । ( वयपओगपरिणए त्ति ) भाषाद्रव्यं काययोगेन गृहीत्वा वाग्योगेन निसृज्यमानं वाक्प्रयोगपरिणतमित्युच्यते। (कायपओगपरिणए त्ति)। औदारिकाऽऽदिकाययोगेन गृहीतमौदारिकाऽऽदिवर्गणाद्रव्यमौदारिकाऽऽदिकायतया परिणतं कायप्रयोगपरिणतमित्युच्यते । (सच्चमणेत्यादि ) सद्भूतार्थचिन्तननिबन्धनस्य मनसः प्रयोगः सत्यमनःप्रयोग उच्यते । एवमन्येऽपि, नवरं मृषा असद्भूतोऽर्थः सत्यमृषामिश्रो यथा पञ्चसु दारकेषु जातेषु दश दारका जाता इति असत्यमृषास्त्वमृषास्वरूपमतिक्रान्तो यथा देहीत्यादि । ( आरम्भसच्चेत्यादि ) आरम्भो जीवोपघातस्तद्विषयं सत्यमारम्भसत्यं तद्विषयो यो मनःप्रयोगस्तेन परिणतं यत्तत्तथा, एवमुत्तरत्रापि, नवरमनारम्भो जीवानुपघातः। ( सारंभ त्ति ) संरम्भो वधसङ्कल्पः, समारम्भस्तु परितापः इति । ( ओरालियेत्यादि )। औदारिकशरीरमेव पुद्गलस्कन्धरूपत्वेनोपचीयमानत्वात् काय औदारिकशरीरकायस्तस्य यः प्रयोग औदारिकशरीरस्य वा यः कायप्रयोगः स तथा, अयं च पर्याप्तकस्यैव वेदितव्यस्तेन यत्परिणतं तत्तथा । ( ओरालियमिस्सासरीरकायप्पओगपरिणए त्ति )। औदारिकमुत्पत्तिकाले असंपूर्णं सत् मिश्रं कार्म्मणेनेति औदारिकमिश्रं, तदेवौदारिकमिश्रकं, तल्लक्षणं शरीरमौदारिकमिश्रकशरीरं, तदेव कायस्तस्य यः प्रयोग औदारिकमिश्रकशरीरस्य वा यः कायप्रयोगः स औदारिकमिश्रकशरीरकायप्रयोगस्तेन परिणतं यत्तथा, अयं पुनरौदारिकमिश्रकशरीरकायप्रयोगो पर्याप्तकस्यैव वेदितव्यो, यत आह-" जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥ " एवं तावत् कार्मणौदारिकशरीरस्य मिश्रतोत्पत्तिमाश्रित्य तस्य प्रधानत्वात्, यदा पुनरौदारिकशरीरो वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः, पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिककाययोग एव वर्त्तमानः प्रदेशान्विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या न पर्याप्तिं गच्छति तावद्वैक्रियेणौदारिकशरीरस्य मिश्रतामारम्भकत्वेन तस्य प्रधानत्वादेवमाहारकेणाप्यौदारिकशरीरस्य मिश्रता वेदितव्येति । ( वेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए त्ति )। इह वैक्रियशरीरकायप्रयोगो वैक्रियपर्याप्तकस्येति ( वेउव्वियमीसासरीरकायप्पओगपरिणए त्ति ) । इह वैक्रियमिश्रकशरीरकायप्रयोगो देवनारकेषूत्पद्यमानस्यापर्याप्तकस्य, मिश्रता चेह वैक्रियशरीरस्य कार्मणेनैव, लब्धिवैक्रियपरित्यागे त्वौदारिकप्रवेशाद्धायामौदारिकोपादानाय प्रवृत्ते वैक्रियप्राधान्यादौदारिकेणापि वैक्रियस्य मिश्रतेति । ( आहारगसरीरकायप्पओगपरिणए त्ति ) इहाऽऽहारकशरीरकायप्रयोग आहारकशरीरनिर्वृत्तौ सत्यां तदानीं तस्यैव प्रधानत्वात्। (आहारगमीसाशरीरकायप्पओगपरिणए त्ति ) इहाऽऽहारकमिश्रकशरीरकायप्रयोग आहारकस्यौदारिकेण मिश्रतायां, सा च आहारकत्यागेनौदारिकग्रहणाभिमुखस्य । एतदुक्तं भवति-यदाहारकशरीरीभूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदाहारकस्य प्रधानत्वादौदारिकप्रवेशं प्रति व्यापारभावात् परित्यजति यावत्सर्वथैवाऽऽहारकं तावदौदारिकेण सह मिश्रतेति । ननु न तत्तेन सर्वथा मुक्तं पूर्वनिर्वर्तितं तिष्ठत्येव ततः कथं गृह्णाति ?। सत्यं तिष्ठति तत् तथाप्यौदारिकशरीरोपादानार्थं प्रवृत्त इति गृह्णात्येवेत्युच्यत इति । ( कम्मासरीरकायप्पओगपरिणए त्ति ) इह कार्मणशरीरकायप्रयोगो विग्रहे समुद्घातगतस्य च केवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भवति । उक्तं च-" कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च " इति। एवं प्रज्ञापनाटीकाऽनुसारेणौदारिकशरीरकायप्रयोगाऽऽदीनां व्याख्या शतकटीकाऽनुसारतः पुनर्मिश्रकायप्रयोगाणामेवम् औदारिकमिश्र औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते, तद् द्वाभ्यामपरिपूर्णत्वादेवमौदारिकं मिश्रं कार्म्मणेन नौदारिकतया नापि कार्म्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यमपरिपूर्णत्वादिति तस्यौदारिकमिश्रव्यपदेशः । एवं वैक्रियाऽऽहारकमिश्रावपीति, नवरम् (वाउकाइय इत्यादि ) यथौदारिकशरीरकायप्रयोगपरिणतसूक्ष्मपृथिवीकायिकाऽऽदिप्रतीत्यालापकोऽधीतस्तथौदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगपरिणतेऽपि वाच्यो नवरमयं विशेषः तत्र सर्वेऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाऽऽद्यः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणा अधीता इह तु बादरवायुकायिका गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याश्च पर्याप्तकापर्याप्तकविशेषणा अध्येतव्याः शेषास्त्वपर्याप्तकविशेषणा एव यतो बादरवायुकायिकाऽऽदीनां पर्याप्तकावस्थायामपि वैक्रियाऽऽरम्भणत औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगो लभ्यते, शेषाणां पुनरपर्याप्तकाऽवस्थायामेवेति । ( जहा ओगाहणसंठाणे त्ति ) प्रज्ञापनायाः एकविंशतितमे पदे तत्र चैवमिदं सूत्रम्- जइ वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए किं सुहुमवाउकाइयएगिंदिय० जाव परिणए ? बादरवाउकाइयएगिंदिय० जाव परिणए ? गोयमा ! नो सुहुम० जाव परिणए, बादर० जाव परिणए [illegible] इत्यादीति । ( एवं जहा ओगाहणसंठाणे त्ति ) तत्र चेदमिदं सूत्रम्-' गोयमा ! नो अणुत्तरोववाइय [illegible]

गपरिणए मणुस्साहारगसरीरकायप्पओगपरिणए इत्यादि )( एवं जहा ओगाहणसंठाणे कम्मगस्स भेओ त्ति ) स चायं भेदः-" बेइंदियकम्मासरीरकायप्पओगपरिणए वा, एवं तेइंदियचउरिंदिय० " इत्यादिरिति।

अथ द्रव्यद्वयं चिन्तयन्नाह-

दो भंते ! दव्वा किं पओगपरिणया, मीसापरिणया, वीससापरिणया ?। गोयमा ! पओगपरिणया वा, मीसापरिणया वा, वीससापरिणया वा। अहवा-एगे पओगपरिणए, एगे मीसापरिणए। अहवा-एगे पओगपरिणए, एगे वीससापरिणए। अहवा एगे मीसापरिणए, एगे वीससापरिणए। जइ पओगपरिणया किं मणप्पओगपरिणया, वयप्पओगपरिणया, कायप्पओगपरिणया ?। गोयमा ! मणप्पओगपरिणया वा, वयप्पओगपरिणया वा, कायप्पओगपरिणया वा। अहवा-एगे मणप्पओगपरिणए, एगे वयप्पओगपरिणए। अहवा एगे मणप्पओगपरिणए, एगे कायप्पओगपरिणए वा। अहवा-एगे वयप्पओगपरिणए, एगे कायप्पओगपरिणए। जइ मणप्पओगपरिणया किं सच्चमणप्पओगपरिणया, किं असच्चमणप्पओगपरिणया, किं सच्चमोसमणप्पओगपरिणया, किं असच्चामोसमणप्पओगपरिणया ?। गोयमा ! सच्चमणप्पओगपरिणया वा ०जाव असच्चामोसमणप्पओगपरिणया वा। अहवा-एगे सच्चमणप्पओगपरिणए, एगे मोसमणप्पओगपरिणए। अहवा-एगे सच्चमणप्पओगपरिणए, एगे सच्चामोसमणप्पओगपरिणए। अहवा-एगे सच्चमणप्पओगपरिणए, एगे असच्चामोसमणप्पओगपरिणए। अहवा-एगे मोसमणप्पओगपरिणए, एगे सच्चामोसमणप्पओगपरिणए। अहवा-एगे मोसमणप्पओगपरिणए, एगे असच्चामोसमणप्पओगपरिणए। अहवा एगे सच्चमोसमणप्पओगपरिणए, एगे असच्चामोसमणप्पओगपरिणए १०। जइ सच्चमणप्पओगपरिणया किं आरंभसच्चमणप्पओगपरिणया० जाव असमारंभसच्चमणप्पओगपरिणया ?। गोयमा ! आरंभसच्चमणप्पओगपरिणया वा० जाव असमारंभसच्चमणप्पओगपरिणया वा। अहवा-एगे आरंभसच्चमणप्पओगपरिणए, एगे अणारंभसच्चमणप्पओगपरिणए वा, एवं एएणं गमएणं दुयसंजोगो नेयव्वो, सव्वे संजोगा जत्थ जत्तिया उट्ठंति ते भाणियव्वा० जाव सव्वट्ठसिद्धग त्ति। जइ मीसा परिणया किं मणमीसापरिणया ?। एवं मीसापरिणया वि। जइ वीससापरिणया किं वण्णपरिणया, गंधपरिणया ?। एवं वीससापरिणया वि० जाव अहवा एगे चउरंससंठाणपरिणए, एगे आययसंठाणपरिणए वा। तिण्णि भंते ! दव्वा किं पओगपरिणया, मीसापरिणया, वीससापरिणया ?। गोयमा ! पओगपरिणया, मीसापरिणया, वीससापरिणया। अहवा-एगे पओगपरिणए, दो मीसापरिणया १। अहवा-एगे पओगपरिणए, दो वीससापरिणया २। अहवा-दो पओगपरिणया, एगे मीसापरिणए ३। अहवा-दो पओगपरिणया, एगे वीससापरिणए ४। अहवा-एगे मीसापरिणए, दो वीससापरिणया ५। अहवा-दो मीसापरिणया, एगे वीससापरिणए ६। अहवा-एगे पओगपरिणए, एगे मीसापरिणए, एगे वीससापरिणए। जइ पओगपरिणया किं मणप्पओगपरिणया, वयप्पओगपरिणया, कायप्पओगपरिणया ?। गोयमा ! मणप्पओगपरिणया वि, एवं एक्कासंजोगो, दुय संजोगो, तियसंजोगो य भाणियव्वो। जइ मणप्पओगपरिणया किं सच्चमणप्पओगपरिणया ?। गोयमा ! सच्चमणप्पओगपरिणया ०जाव असच्चामोसमणप्पओगपरिणया वा। अहवा-एगे सच्चमणप्पओगपरिणए, दो मोसमणप्पओगपरिणया। एवं दुयसंजोगो तियसंजोगो य भाणियव्वो; एत्थ वि तहेव० जाव अहवा-एगे तंससंठाणपरिणए, एगे चउरंससंठाणपरिणए, एगे आययसंठाणपरिणए वा। चत्तारि भंते ! दव्वा किं पओगपरिणया ?। गोयमा ! पओगपरिणया वा, मीसापरिणया वा, वीससापरिणया वा। अहवा-एगे पओगपरिणए, तिण्णि वि मीसापरिणया। अहवा-एगे पओगपरिणए, तिण्णि वि वीससापरिणया। अहवा-दो पओगपरिणया, दो मीसापरिणया। अहवा-दो पओगपरिणया, दो वीससापरिणया। अहवा-तिण्णि पओगपरिणया, एगे मीसापरिणए। अहवा-तिण्णि पओगपरिणया, एगे वीससापरिणए। अहवा-एगे मीसापरिणए, तिण्णि वीससापरिणया। अहवा-दो मीसापरिणया, दो वीससापरिणया। अहवा-तिण्णि मीसापरिणया, एगे वीससापरिणए। अहवा-एगे पओगपरिणए, एगे मीसापरिणए दो वीससापरिणया। अहवा-एगे पओगपरिणए, दो मीसापरिणया, एगे वीससापरिणए। अहवा-दो पओगपरिणया, एगे मीसापरिणए, एगे वीससापरिणए।

इह प्रयोगपरिणताऽऽदिपदत्रये एकत्वे त्रयो विकल्पाः। द्विकयोगेऽपि त्रय एवेत्येवं षट्। एवं मनःप्रयोगाऽऽदित्रयेऽपि। सत्यमनःप्रयोगपरिणताऽऽदीनि तु चत्वारि पदानि, तेष्वेकत्वे चत्वारः, द्विकयोगे तु षट्, एवं सर्वेऽपि दश। आरम्भसत्यमनःप्रयोगपरिणताऽऽदीनि तु षट् पदानि, तेष्वेकत्वे षट्, द्विकयोगे तु पञ्चदश सर्वेऽप्येकविंशतिः। सूत्रे च-( अहवा एगे आरंभसच्चमणप्पओगपरिणए इत्यादि ) नेह द्विकयोगे प्रथम एव भङ्गको दर्शितः, शेषास्त्वतिदेशेन पुनर्दर्शयन्नोक्तम्-( एवं एएणं गमएणमित्यादि ) एत्र-

मेतेन गमेनाऽऽरम्भसत्यमनःप्रयोगाऽऽदिपदप्रदर्शितेन द्विक संयोगेन नेतव्यं समस्तं द्रव्यत्रयसूत्रम्, द्विकसयोगस्य चैकत्वविकल्पाभिधानपूर्वकत्वादेकत्वैर्विकल्पैश्चेति दृश्यम् तत्र च यत्राऽऽरम्भसत्यमनःप्रयोगाऽऽदिपदसमूहे यावन्तो द्विकसंयोगा उत्तिष्ठन्ते सर्वे ते तत्र भणितव्याः। तत्र चाऽऽरम्भसत्यमनःप्रयोगाऽऽदिषु प्रदर्शिता एव, आरम्भाऽऽदिपदषट्कविशेषितेषु पुनरित्थमेव त्रिषु मृषामन प्रयोगाऽऽदिषु चतुर्षु च सत्यवाक्प्रयोगाऽऽदिषु प्रत्येकमेकत्वे षट् षट् विकल्पा· द्विकसंयोगे तु पञ्चदशेत्येवं प्रत्येकमेव सर्वेष्वप्येकविंशतिरौदारिकशरीरकायप्रयोगाऽऽदिषु तु सप्तसु पदेष्वेकत्वे सप्तद्विकयोगे त्वेकविंशतिरित्येवमष्टाविंशतिरित्येवमेकेन्द्रियाऽऽदिपृथिव्यादिपदप्रभृतिभिः पूर्वोक्तक्रमेणौदारिकाऽऽदिकायप्रयोगपरिणतद्रव्यद्वयं प्रपञ्चनीयम्। कियद्दूर यावदित्याह-(जाव सव्वट्ठसिद्धग त्ति) एतच्चैवम्-" जइ सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियकम्मासरीरकायप्पओगपरिणया किं पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्ध॰ जाव परिणया, अपज्जत्ता सव्वट्ठसिद्ध॰ जाव परिणया वा ?। गोयमा ! पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्ध॰ जाव परिणया वा, अपज्जत्ता सव्वट्ठसिद्ध॰ जाव परिणया वा । अहवेगे पज्जत्ता सव्वट्ठसिद्ध॰ जाव परिणए, एगे अपज्जत्ता सव्वट्ठसिद्ध॰ जाव परिणए त्ति । " ( एवं वीससापरिणया वि त्ति ) एवमिति प्रयोगपरिणतद्रव्यद्वयवत्प्रत्येकविकल्पैर्द्विकसंयोगैश्च विस्रसापरिणते अपि द्रव्ये वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानेषु पञ्चाऽऽदिभेदेषु वाच्ये । कियद्दूर यावदित्याह-( जाव अहवेगे इत्यादि ) अयं च पञ्चभेदसंस्थानस्य दशाना द्विकसयोगाना दशम इति । अथ द्रव्यत्रयं चिन्तयन्नाह-( तिन्नीत्यादि ) इह प्रयोगपरिणताऽऽदिपदत्रये एकत्वे त्रयो विकल्पाः, द्विकसंयोगे तु षट्। कथमाद्यस्यैकत्वे शेषयो क्रमेण द्वित्वे द्वौ, तथाऽऽद्यस्य द्वित्वे शेषयो क्रमेणैकत्वेऽन्यौ द्वौ तथा द्वितीयस्यैकत्वे तृतीयस्य च द्वित्वेऽन्यः,तथा द्वितीयस्य द्वित्वे तृतीयस्य चैकत्वेऽन्य·, इत्येवं षट्, त्रिकयोगे त्वेक एवेत्येवं सर्वे दश । एवं मन प्रयोगाऽऽदिपदत्रयेऽपि । अत एवाऽऽह-(एवमेक्कासंजोगो इत्यादि ) सत्यमन प्रयोगाऽऽदीनि तु चत्वारि पदानि इत्यत एकत्वे चत्वारो, द्विकसंयोगे तु द्वादश, कथमाद्यस्यैकत्वेन शेषाणा त्रयाणा क्रमेणानेकत्वेन त्रयो लब्धा , पुनरन्ये त्रय आद्यस्यानेकत्वेन शेषाणा क्रमेणैवैकत्वेन, तथा द्वितीयस्यैकत्वेन शेषयो· क्रमेणानेकत्वेन द्वौ,पुनर्द्वितीयस्यानेकत्वेन शेषयो· क्रमेणैवैकत्वेन द्वावेव, तृतीयचतुर्थयोरेकत्वानेकत्वाभ्यामेक·, पुनर्विपर्ययेणैक इत्येवं द्वादश । त्रिकयोगे तु चत्वार·, इत्येवं सर्वेऽपि विंशतिरिति । सूत्रे तु कॉश्चिदुपदर्श्य शेषानतिदेशत आह-(एवं दुयासंयोगो इत्यादि ) ( इत्थ वि तहेव त्ति ) अत्रापि द्रव्यत्रयाधिकारे तथैव वाच्यं सूत्रं, यथा द्रव्यद्वयाधिकारे उक्तम् । तत्र च मनोवाक्कायभदतो य प्रयोगपरिणामो मिश्रनापरिणामो वर्णाऽऽदिभेदतश्च विस्रसापरिणाम उक्त स इहाऽपि वाच्य इति भाव । किमन्तं तत्सूत्रं वाच्यमित्याह-(जावेत्यादि) इह च परिमण्डलाऽऽदीनि पञ्च पदानि,तेषु चैकत्वे पञ्च विकल्पा· द्विकसंयोगे तु विंशति·,कथमाद्यस्यैकत्वे शेषाणा च क्रमेणानेकत्वे तथा आद्यस्यानेकत्वे,शेषाणा तु क्रमेणैवैकत्वेऽष्टौ । एवं द्वितीयस्यैकत्वे अनेकत्वे च शेषत्रयस्य चानेकत्वे एकत्वे च षट्, तथा तृतीयस्यैकत्वेऽनेकत्वे च द्वयोश्चानेकत्वे एकत्वे च चत्वार· । तथा चतुर्थस्यैकत्वेऽनेकत्वे च पञ्चमस्य चानेकत्वे एकत्वे च द्वावित्येवं सर्वेऽपि विंशतिस्त्रिकयोगे तु दश । तत्र च " अहवा एगे तंससंठाणे" इत्यादिना त्रिकयोगाना दशमो दर्शित इति। अथ द्रव्यचतुष्कमाश्रित्याऽऽह -( चत्तारि भंते ! इत्यादि ) इह च प्रयोगपरिणताऽऽदित्रये एकत्वे त्रयो, द्विकयोगे तु नव। कथमाद्यस्यैकत्वे द्वयोश्च क्रमेण त्रित्वे द्वौ, तथाऽऽद्यस्य द्वित्वे द्वयोरपि क्रमेणैव द्वित्वेऽन्यौ द्वौ, तथाऽऽद्यस्य त्रित्वे द्वयोश्च क्रमेणैकत्वेऽन्यौ द्वौ तथा द्वितीयस्यैकत्वेऽन्यस्य त्रित्वे,तथा द्वयोरपि द्वित्वे तथा द्वितीयस्य त्रित्वेऽन्यस्य चैकत्वे त्रयोऽन्ये इत्येवं सर्वेऽपि नव । त्रययोगे तु त्रय एव भवन्तीत्येवं सर्वेऽपि पञ्चदशेति । ' जइ पओगपरिणया किं मणपओग " इत्यादिना चोक्तशेषं द्रव्यचतुष्कप्रकरणमुपलक्षितम्। तच्च पूर्वोक्तानुसारेण संस्थानसूत्रान्तमुचितभङ्गकोपेतं समस्तमध्येयमिति ।

(१०) अथ पञ्चाऽऽदिद्रव्यप्रकरणान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह-

**एवं एएणं कमेणं पंच छ सत्त॰ जाव दस संखेज्ज असंखेज्ज अणंता दव्वा भाणियव्वा । दुया संजोएणं तिया संजोएणं॰ जाव दससंजोएणं बारससंजोएणं उवउंजिऊणं जत्थ जइया संजोगा ते सव्वे भाणियव्वा । एए पुण जहा नवमसए पवेसणए भणिहामि तहा उवउंजिऊण भाणियव्वा॰ जाव असंखेज्जा अणंता एवं चेव, नवरं एकं पदं अब्भहियं॰ जाव अहवा अणंता परिमंडलसठाण परिणया॰ जाव अणंता आययसंठाणपरिणया ।**

( एवं एएणमित्यादि ) एवं चाऽभिलाप·-"पंच भंते ! दव्वा किं पओगपरिणया ?। गोयमा, पओगपरिणया वा ३ । अहवा· एगे पओगपरिणए,चत्तारि मीसापरिणया" इत्यादि । इह च द्विकसंयोगे विकल्पा द्वादश । कथम् ?-एकं चत्वारि च १ । द्वे त्रीणि च २। त्रीणि द्वे च ३। चत्वार्येकं चेत्येवं चत्वारो विकल्पा द्रव्यपञ्चकमाश्रित्यैकत्र द्विकसंयोगे पदत्रयस्य त्रयो द्विकसंयोगा । ते च चतुर्भिर्गुणिता द्वादशेति। त्रिकयोगे तु षट्। कथम्-त्रीण्येकमेकं च १, एकं त्रीण्येकं च २, एकमेकं त्रीणि च ३ द्वे द्वे एकं च ४,द्वे एकं द्वे च ५,एकं द्वे द्वे चेत्येवं षट्। ( जाव दस संजोएणं ति ) इह यावत्करणाच्चतुष्काऽऽदिसंयोगा· सूचिता , तत्र च द्रव्यपञ्चकापेक्षया सत्यमन·प्रयोगाऽऽदिषु चतुर्षु पदेषु द्विकत्रिकचतुष्कसंयोगा भवन्ति। तत्र च द्विकसंयोगाश्चतुर्विंशति । कथम् ?-चतुर्णा पदाना षट् द्विकसंयोगा , तत्र चैकैकस्मिन् पूर्वोक्तक्रमेण चत्वारो विकल्पा , षण्णां च चतुर्भिर्गुणने चतुर्विंशतिरिति। त्रिकसंयोगा अपि चतुर्विंशति । कथम् ?-चतुर्णा पदाना त्रिकसंयोगाश्चत्वार एकैकस्मिंश्च पूर्वोक्तक्रमेण षड्विकल्पाश्च। चतुर्णां च षड्भिर्गुणने चतुर्विंशतिरिति । चतुष्कसंयोगे तु चत्वार । कथम् ?-आदौ द्वे त्रिषु चैकैकं १, तथा द्वितीयस्थाने द्वे शेषेषु चैकैकं २, तथा तृतीयस्थाने द्वे शेषेषु चैकैकं ३, तथा चतुर्थे द्वे शेषेषु चैकैकमित्येव चत्वार इति। एकेन्द्रियाऽऽदिषु तु पञ्चसु पदेषु द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसयोगा भवन्ति । तत्र च

द्विकसंयोगाश्चत्वारिंशत्। कथम्?-पञ्चानां पदानां दशद्विकसंयोगाः, एकैकस्मिंश्च द्विकसंयोगे पूर्वोक्तक्रमेण चत्वारो विकल्पा, दशानां च चतुर्भिर्गुणने चत्वारिंशदिति। त्रिकसंयोगे तु षष्टिः। कथम्?-पञ्चानां पदानां दश त्रिकसंयोगाः, एकैकस्मिंश्च त्रिकसंयोगे पूर्वोक्तक्रमेण षड्विकल्पा, दशानां च षड्भिर्गुणने षष्टिरिति। चतुष्कसंयोगास्तु विंशतिः। कथम्?-पञ्चानां पदानां तु चतुष्कसंयोगे पञ्च विकल्पाः, एकैकस्मिंश्च पूर्वोक्तक्रमेण चत्वारो भङ्गाः पञ्चानां च चतुर्भिर्गुणने विंशतिरिति। पञ्चकसंयोगे त्वेक एवेति। एवं षट्काऽऽदिसंयोगा अपि वाच्याः, नवरं षट्कसंयोग आरम्भसत्यमनःप्रयोगाऽऽदिपदान्याश्रित्य सप्तकसंयोगस्त्वौदारिकाऽऽदिकायप्रयोगमाश्रित्य। अष्टकसंयोगस्तु व्यन्तरभेदान्, नवकसंयोगस्तु ग्रैवेयकदेवभेदान्, दशकसंयोगस्तु भवनपतिभेदानाश्रित्य वैक्रियशरीरकायप्रयोगापेक्षया समवसेयः। एकादशसंयोगस्तु सूत्रे नोक्तः, पूर्वोक्तपदेषु तस्यासम्भवात्। द्वादशसंयोगस्तु कल्पोपपन्नदेवभेदानाश्रित्य वैक्रियशरीरकायप्रयोगापेक्षयैवेति। (पवेसणए त्ति) नवमशतसत्कद्वात्रिंशोद्देशके गाङ्गेयाभिधानानगारकृतनरकाऽऽदिगतिप्रवेशनविचारे कियन्ति तदनुसारेण द्रव्याणि वाच्यानीत्याह-(जाव असंखेज्ज त्ति) असङ्ख्यातान्तनारकाऽऽदिवक्तव्यताऽऽश्रयं हि तत् सूत्रम्। इह तु यो विशेषस्तमाह (अणंता इत्यादि) एतदेवाभिलापतो दर्शयन्नाह—(जाव अणंतेत्यादि)

अथैतेषामेवाऽल्पबहुत्वं चिन्तयन्नाह-

**एएसि णं भंते! पोग्गलाणं पओगपरिणयाणं मीसापरिणयाणं वीससापरिणयाणय कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा?। गोयमा! सव्वत्थोवा पोग्गला पओगपरिणता मीसापरिणता अणंतगुणा वीससापरिणता अणंतगुणा। सेवं भंते! भंते! त्ति।**

(एएसि णमित्यादि) (सव्वत्थोवा पोग्गला पओगपरिणय त्ति) कायाऽऽदिरूपतया जीवपुद्गलसम्बन्धकालस्य स्तोकत्वात्। (मीसपरिणया अणंतगुण त्ति) कायाऽऽदिप्रयोगपरिणतेभ्यः सकाशान्मिश्रकपरिणता अनन्तगुणाः। यतः प्रयोगकृतमाकारमपरित्यज्य जन्तो विस्रसया ये परिणामान्तरमुपागता मुक्तकलेवराऽऽद्यवयवरूपास्तेऽनन्ताः। विस्रसापरिणतास्तु तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः, परमाण्वादीना जीवग्रहणप्रायोग्याणामप्यनन्तानन्तत्वादिति। भ० ८ श० १ उ०।

**अह भंते! पाणाइवाए, मुसावाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले पाणाइवायवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे उप्पत्तिया० जाव पारिणामिया उग्गहे० जाव धारणा उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे णेरइयत्ते असुरकुमारत्ते० जाव वेमाणियत्ते णाणावरणिज्जे० जाव अंतराइए कण्हलेस्सा० जाव सुक्कलेस्सा सम्मादिट्ठीए ३। चक्खुदंसणे ४। आभिणिबोहियणाणे० जाव विभंगणाणे आहारसण्णाए ४। ओरालियसरीरे ५। मणजोगे ३। सागारोवओगे अणागारोवओगे, जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते णण्णत्थ आताए परिणमंति?। हंता गोयमा! पाणाइवाए० जाव सव्वे ते णण्णत्थ आताए परिणमंति। जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे कइवण्णे, कइगंधे?। एवं जहा बारसमए पंचमुद्देसए० जाव कम्मओ णं जए णो अकम्मतो विभत्तिभावं परिणए। सेवं भंते! भंते! त्ति।**

(अहेत्यादि) (णण्णत्थ आयाए परिणमंति त्ति) नान्यत्रात्मनः परिणमन्त्यात्मानं वर्जयित्वा नान्यत्रैते वर्तन्ते, आत्मपर्यायत्वादेषां पर्यायाणां च पर्यायिणा सह कथञ्चिदेकत्वादात्मरूपाः सर्वे एवैते नाऽऽत्मनो भिन्नत्वेन परिणमन्तीति भावः। अनन्तरं प्राणातिपाताऽऽदयो जीवधर्मोश्चिन्तिताः। अथ कथञ्चित्तद्धर्म्मा एव वर्णाऽऽदयश्चिन्त्यन्ते-(जीवे णमित्यादि)। जीवो हि गर्भे उत्पद्यमानस्तैजसकार्मणशरीरसहित औदारिकशरीरग्रहणं करोति, शरीराणि च वर्णाऽऽदियुक्तानि। तदव्यतिरिक्तश्च कथञ्चिज्जीवोऽत उच्यते-(कतिवण्णमित्यादि) "एवं जहा' इत्यादिना चेदं सूचितम्-"कतिरस कतिफासं परिणामं परिणमंति?। गोयमा! पंचवण्णं पंचरसं दुगंधं अट्ठफासं च परिणामं परिणमंति।" इत्यादि। व्याख्या चाऽऽस्य पूर्ववदेवेति। भ० २ श० ३ उ०। "उप्पज्जंति चयंति य, परिणमंति य गुणा न दव्वाइं।" आ० चू० १ अ०। परिणमनं परिणामः। णिजन्ताद् घञ्प्रत्ययः। परिणामाऽऽपादने, क०प्र० १ प्रक०। कर्म०। 'कवोयपरिणामे।' कपोतस्येव परिणाम आहारपाको यस्य स तथा। कपोतस्य हि पाषाणलवानपि जठराग्निर्जरयति केवलश्रुतिः। औ०। "दोहिं ठाणेहिं आया परिणामेइ-देसेण वि सव्वेण वि।" परिणमयति परिणाम नयति खलरसविभागेन भक्ताऽऽश्रयदेशस्य प्लीहाऽऽदिना रुद्धत्वात् देशतः, अन्यथा सर्वतः। स्था० २ ठा० २ उ०।

(११) जीवोऽकर्मतो विभक्तिभाव परिणमति-

**कम्मओ णं भंते! जीवे णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभाव परिणमइ?। हंता गोयमा! कम्मओ णं तं चेव० जाव परिणमइ, णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, सेवं भंते! भंते! त्ति।**

कर्मतः सकाशात्, नो अकर्मतः न कर्माणि विना जीवो विभक्तिभावं विभागरूपं नारकतिर्यग्मनुष्यामरभवेषु नानारूपं परिणाममित्यर्थः। परिणमति गच्छति। तथा-(कम्मओ णं जए त्ति) गच्छति तांस्तान्नारकाऽऽदिभावानिति जगत् जीवसमूहो जीवद्रव्यस्यैव वा विशेषो जङ्गमाभिधानः, "जगन्ति जङ्गमान्याहुः।" इति वचनादिति। भ०१२ श०५ उ०। (द्रव्याणां शीतोष्णपरिणाम 'पट्ठिवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७३ पृष्ठे उदकसंसृष्टाऽऽहारपरिष्ठापनाप्रस्तावे प्रतिपादित) (निर्ग्रन्थाना परिणामद्वारम् 'णियंठ' शब्दे चतुर्थभागे २०४० पृष्ठे गतम्) (संयतानां च परिणामद्वारम् 'संजय' शब्दे वक्ष्यते) (मूलप्रकृतेर्महदादिक्रमेण परिणाम 'संख' शब्दे परीक्षिष्यते) स्वभावे, परिणाम पर्याय स्वभावो धर्म इति यावत्। स्था० ६ ठा०। अध्यवसाने, स० ११ अङ्ग। क० प्र०। पञ्चा०। अध्यवसायविशेषे, विशे०। भावे, व्य० ६ उ०। चित्तभावे, द्वा० ७ द्वा०।

( १२ ) परिणामानुसारेण कर्मबन्ध –

**अज्झत्थविसोहीए, जीवनिकाएहिं संथडे लोए ।**
**देसियमहिंसयत्तं, जिणेहिँ तेलुक्कदंसीहिं ॥ ७० ॥**

नन्विदमुक्तमेव यदुताध्यात्मविशुद्धया सत्यप्युपकरणे निर्ग्रन्था' साधव । किं च–यदध्यात्मविशुद्धिर्निष्पद्यते तत ( जीवनिकाएहिँ संथडे लोए त्ति ) जीवनिकायैः जीवसंघातैरयं लोकः संसृतो वर्त्तते । ततश्च जीवनिकायैः संसृते व्याप्ते लोके कथं नन्नकश्चङ्क्रमन् वधको न भवति यदध्यात्मशुद्धिर्निष्पद्यते तस्मादध्यात्मविशुद्धया देशितमहिंसकत्वं जिनैस्त्रैलोक्यदर्शिभिरिति ।

क्व प्रदर्शितं तदित्यत आह–

**उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।**
**वाविज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्जतं जोगमासज्ज ॥ ७१ ॥**

उच्चालिते उत्पाटिते पादे सति ईर्यासमितस्य साधोः संक्रमार्थम् उत्पाटिते पादे इत्यत्र संबन्धः । व्यापद्येत संघट्टनाऽऽदिना परिताप्येत । कः ?,कुलिङ्गी कुत्सितानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्याऽसौ कुलिङ्गी द्वीन्द्रियादिः स परितप्येत । उत्पाटितपादे सति म्रियेत वाऽसौ कुलिङ्गी तद्व्यापादनयोगमासाद्य प्राप्य ।

**न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।**
**अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जयउ ॥ ७२ ॥**

न तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये सिद्धान्ते ?, किं कारणं, यतः अनवद्योऽसौ साधुस्तेन व्यापादनव्यापारेण, कथम्?, सर्वभावेन सर्वाऽऽत्मना मनोवाक्कायकर्मभिरनवद्योऽसौ यस्मात् न सूक्ष्मोऽपि तस्य बन्ध इति ।

किं च–

**णाणी कम्मस्स खय–मुट्ठिओ नो ठिओ उ हिंसाए ।**
**जयइ असढं अहिंस–त्थमुट्ठिओ अवहओ सो उ ॥७३॥**

ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी, सम्यग्ज्ञानेन युक्त इत्यर्थः । कर्मणः क्षयार्थं चोत्थित उद्यत इत्यर्थः, तथा हिंसायै न स्थित । प्राणिव्यपरोपणे न व्यवस्थित इत्यर्थः । तथा जयति कर्मक्षपणं प्रयत्नं करोतीत्यर्थः । ( असढं ति ) शठभावरहितो यत्नं करोति, न मिथ्याज्ञानेन, सम्यग्ज्ञानयुक्त इत्यर्थः । तथा–( अहिंसत्थमुट्ठिय त्ति ) अहिंसार्थमुत्थित उद्युक्तः, किं तु सहसा कथमपि, प्रयत्नं कुर्वतोऽपि प्राणिवध सञ्जातः । स एवंविध अवधक एव साधुरिति । तत्राऽनया गाथया भङ्गकाष्टौ सूचिता । तद्यथा- 'नाणी कम्मस्स खयट्ठं उट्ठिओ, हिंसाए य ण वि ठिओ १ नाणी कम्मस्स खयट्ठ उट्ठिओ हिंसाए य ठिओ २ । नाणी कम्मस्स खयट्ठ नो ठिओ, हिंसाए पुण पमत्तो वि न ठिओ, दैवजोगेण कहवि तप्परो पाणिणो नासी । एस तइओ भंगो य ३। एत्थ नाणी कम्मस्स खयट्ठ नो ठिओ, हिंसाए य ठिओ ४। "तथा-' अनाणी ' मिथ्याज्ञानयुक्त इत्यर्थः । " कम्मस्स खयट्ठमुट्ठिओ, हिंसाए न ठिओ ५ । अनाणी कम्मस्स खयट्ठ उट्ठिओ, हिंसाए य ठिओ ६ । अन्नाणी कम्मक्खयट्ठ नो ठिओ, हिंसाए य न ठिओ ७ । अन्नाणी कम्मक्खयट्ठ नो ठिओ, हिंसाए य ठिओ ८ । एस अट्ठमो ।" तत्र गाथाप्रथमार्द्धेन शुद्धः प्रथमो भङ्गकः कथितः, पश्चार्द्धेन च द्वितीयो भङ्गकः कथितः । कथं ?–( जयइ त्ति ) कर्मक्षपणोद्यतः । ( असढं ति ) सम्यग्ज्ञानसंपन्नः ( अहिंसत्थमुट्ठिओ त्ति ) अहिंसायामुत्थितः अभ्युद्यतः किं तु सहसा प्रयत्नं कुर्वतोऽपि प्राणिवधः संजातः, स चैवंविधोऽवधकः, शुद्धभावत्वात् ।

**तस्स असंचेअयओ, संचेअयओ य जाइँ सत्ताइं ।**
**जोगं पप्प विणस्सं–ति नत्थि हिंसाफलं तस्स ॥ ७४ ॥**

तस्यैवंप्रकारस्य ज्ञानिनः कर्मक्षयार्थमभ्युद्यतस्य असंचेतयतोऽजानानस्य, किं ?, सत्त्वानि कथमपि ?, प्रयत्नवतोऽपि न दृष्टः प्राणी व्यापादितश्च । तथा संचेतयतो जानानस्य, कथम्?, अस्त्यत्र प्राणी ज्ञातो दृष्टश्च, न च प्रयत्नं कुर्वता पि रक्षितुं पारित, ततश्च तस्यैवंविधस्य यानि सत्त्वानि योगं कायाऽऽदि प्राप्य विनश्यन्ति तस्य साधोः हिंसाफलं सांपरायिकसंसारजनन, दुःखजननमित्यर्थः । यदि परमैर्यापथप्रत्ययं कर्म भवति तच्च एकस्मिन् समये बद्धमन्यस्मिन् समये क्षपयति ।

**जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता ।**
**वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ ॥ ७५ ॥**

यश्च प्रमत्तः पुरुषः तस्यैवंविधस्य संबन्धिनं योगं कायाऽऽदिकं प्रतीत्य प्राप्य ये सत्त्वा व्यापाद्यन्ते तेषां सत्त्वानां नियमादवश्यं स पुरुषः हिंसको भवति, तस्मात्प्रमत्तभाजितानि कर्मबन्धकारणानि ।

**जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ ।**
**सावज्जो उवओगे–ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥ ७६ ॥**

येऽपि सत्त्वा न व्यापाद्यन्ते तेषामप्यसौ नियमात् हिंसको भवति । कथं ? (सावज्जो उवओगेण) सह अवद्येन वर्त्तते इति सावद्य , सपाप इत्यर्थः । ततश्च सावद्यो यतः प्रयोगे कायाऽऽदिना सर्वभावेन सर्वैः कायवाङ्मनोभिरतः अव्यापादयन्नपि व्यापादकः स प्रमत्तोऽसौ पुरुषः, स पापयोगत्वादिति ।

यतश्चैवमत –

**आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एसो ।**
**जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥ ७७ ॥**

आत्मैवाहिंसा, आत्मैव हिंसेति इत्ययं निश्चय , परमार्थ इत्यर्थः । कथं चाऽसौ अहिंसक , कथं वा हिंसक ? इत्यत आह- ( जो होइ अप्पमत्तो त्ति ) यो भवति अप्रमत्त , प्रयत्नवानित्यर्थः । स एवंविधः अहिंसको भवति ( हिंसओ इयरो त्ति ) इतरः प्रमत्तो यः स हिंसको भवतीत्ययं परमार्थ इति । अथवा–नयाभिप्रायेणेयं गाथा व्याख्यायते–तत्र नैगमस्य जीवेषु अजीवेषु च हिंसा, तथा च वक्तारो लोके दृष्टा यतो जीवोऽनेन हिंसितो विनाशितः ततश्च हिंसा शब्दानुगमाज्जीवेष्वजीवेषु च हिंसा नैगमस्य, अहिंसाऽप्येवंभवति । संग्रहव्यवहारयोः षट्सु जीवनिकायेषु हिंसा, संग्रहश्चाय देशग्राही द्रव्य ,सामान्यतत्पक्ष नैगमान्नभावी । व्यवहारश्च स्थूलविशेषग्राही, लोकव्यवहारप्रशीलश्चायम्, तथा च लोको बाहुल्येन षट्स्वेव जीवनिकायेषु हिंसामिच्छतीति । ऋजुसूत्रश्च प्रत्येक जीवहिंसामिच्छतीति शब्दसमभिरूढएवंभूतनयाश्चात्मैव अहिंसा नितः एतदभिप्रायेणाह–' आया चेव अहिंसा इत्यादि- आत्मैव अहिंसा इत्ययं निश्चयनयाभिप्राय । कुतः ?–यो भवति अप्रमत्तो जीव

ए खल्वहिंसकः, इतरश्च प्रमत्त, ततश्च स एव हिंसको भवति, तस्मात् आत्मैव अहिंसा, आत्मैव हिंसा, अयं निश्चयपरमार्थ इति।

इदानीं प्रकारान्तरेण तथाविधविशेषात् हिंसाविशेषं प्रतिपादयन्नाह-

जो य पओगं जुंजइ, हिंसत्थं जो य अन्नभावेणं।
अमणो य जो पउंजइ, एत्थ विसेसो महं वुत्तो ॥७८॥

यश्च जीवः प्रयोगं मनोवाक्कायकर्मभिः हिंसार्थं युनक्ति प्रयुङ्क्ते,यश्चान्यभावेन। एतदुक्तं भवति-लुब्धकविन्धनार्थं काण्डं क्षिप्तं, यावता अन्यस्य मृगाऽऽदेर्लग्नं, ततश्चान्यभावेन यः प्रयोगं प्रयुङ्क्ते, तस्मादनन्तरोक्तात् पुरुषविशेषात् महान्विशेषः। तथा अमनस्कः मनरहितः सन् मूर्च्छित इत्यर्थः। स चायम्-प्रायोग्यं कायाऽऽदिकं प्रयुङ्क्ते, अत्र विशेषो महानुक्तः। एतदुक्तं भवति-यो जीवः मनोवाक्कायकर्मभिः हिंसार्थं प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्य महान्कर्म्मबन्धो भवति यश्चान्यभावेन प्रयुङ्क्ते तस्याल्पतरः कर्म्मबन्धः, यश्चामनस्कः प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्याल्पतरतमः कर्म्मबन्धः, ततश्चात्र विशेषो महान् दृष्ट इति।

एतदेव व्याख्यानयन्नाह-

हिंसत्थं जुंजंतो, सुमहं दोसो अणंतरं इयरो।
अमणो य अप्पदोसो, जोगनिमित्तं च विन्नेओ ॥७९॥

हिंसार्थं प्रयोगं युञ्जतः सुमहान् दोषो भवति, इतरश्च योऽन्यभावेन प्रयुङ्क्ते तस्य मन्दतरो दोषो भवति, अल्पतर इत्यर्थः। तथा अमनस्कश्च सन्मूर्च्छितः प्रयोगं युञ्जन् अल्पतरतमो दोषो भवति,अतो योगनिमित्तं जोगकरणिकः कर्म्मबन्धो विज्ञेय इति।

किं च-

रत्तो वा दुट्ठो वा, मूढो वा जं पउंजइ पओगं।
हिंसा वि तत्थ जायइ, तम्हा सो हिंसओ चेव ॥८०॥

रक्तः आहाराऽऽद्यर्थं सिंहाऽऽदि द्विष्टः सर्पाऽऽदि मूढो वेधिकाऽऽदि,य एवंविधः रक्तो वा द्विष्टो वा मूढो वा य प्रयोगं कायाऽऽदिकं प्रयुङ्क्ते तत्र हिंसाऽपि जायते अपिशब्दादनृताऽऽदि वा जायते। अथवा हिंसाऽप्येवं रक्ताऽऽदिभावेन उपजायते,न तु हिंसामात्रेणेति वर्त्तते तस्मात्स हिंसको भवति। यो रक्ताऽऽदिभावयुक्तः। इह न च हिंसयैव हिंसका भवति।

तथा चाऽऽह-

न य हिंसामित्तेणं, सावज्जेणा वि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं ॥८१॥

न च हिंसामात्रेण सावद्येनापि हिंसको भवति, कुतः?-शुद्धस्य पुरुषस्य कर्म्मसंप्राप्तिरफला भणिता जिनवरैरिति।

किं च-

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥८२॥

या विराधना यतमानस्य भवेत् किंविशिष्टस्य सतः? सूत्रविधिना समग्रस्य युक्तस्य, गीतार्थस्य इत्यर्थः। तस्यैवंविधस्य या भवति विराधना सा निर्जराफला भवति। एतदुक्तं भवति-एकस्मिन्समये बद्धं कर्म्म अन्यस्मिन्समये क्षपयति इति। किंविधस्य?, अध्यात्मविशोधियुक्तस्य, विशुद्धभावस्य इत्यर्थः।

किं च-

परमरहस्समिसीणं, समग्गगणिपिडगभरियसाराणं।
परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं ॥८३॥

परमं प्रधानमिदं रहस्यं तत्त्वं,केषाम्?, ऋषीणां सुविहितानां, समग्रं च तत् गणिपिटकं च समग्रगणिपिटकं तस्य क्षरितः पतितः सार प्राधान्यं यैस्ते समग्रगणिपिटकक्षरितसारास्तेषामिदं रहस्यं-यदुत पारिणामिकं प्रमाणं-परिणामे भवं पारिणामिकः, शुद्धोऽशुद्धश्च परिणाम इत्यर्थः। किंविशिष्टानां सतां पारिणामिकं प्रमाणं?, निश्चयमवलम्बमानानां यतः शब्दाऽऽदिनिश्चयनयानामिदमेव दर्शनं यदुत पारिणामिकमिच्छन्ति।

आह-यद्येवं निश्चयस्ततोऽयमवलम्ब्य किं न[illegible]?

उच्यते-

निच्छयमवलंबंता, निच्छयओ निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केइ ॥८४॥

निश्चयमवलम्बमाना पुरुषा निश्चयतः परमार्थतः निश्चयमजानानाः सन्तः नाशयन्ति चरणकरणं। कथं?, करणालसा बाह्यं वैयावृत्त्याऽऽदिकरणं तत्र अलसाः प्रयत्नरहिताः सन्तः चरणकरणं नाशयन्ति केचन इदं चाङ्गीकुर्वन्ति-यदुत परिशुद्धः परिणाम एव प्रधानो न तु बाह्यक्रियारहितः एतच्चानाङ्गीकर्त्तव्यम्, परिणाम एव बाह्यक्रियारहितः शुद्धो न भवति, ततश्च निश्चयव्यवहारमतम् उभयस्वरूपमेवाङ्गीकर्त्तव्यमिति। उक्तमुपधिद्वारम्।

इदानीमायतनद्वारव्याचिख्यासया सबन्धं प्रतिपादयन्नाह-

एवमिणं उवगरणं, धारेमाणो विहीसु परिसुद्धो।
हवइ गुणाणाययणं, अविहियसुद्धे अणाययणं ॥८५॥

एवमुक्तन्यायेन उपकरणं धारयन् विधिना परिशुद्धः दोषवर्जितः, किं भवति?-गुणानामायतनं भवति। अथ पूर्वोक्तविपरीतं क्रियते-यदुत अविधिना धारयति, अविशुद्धं तदुपकरणं, तत अविधिना अशुद्धं ध्रियमाणं तदेवोपकरणम नायतनमस्थानं भवतीति। ओघ०। नं०। द्वा०। आ०। ७०। दर्श० आ० म०। प्रति०। पञ्चा०। परिणामश्चाऽऽकारबोधक्रियाभेदात्त्रिधा। ( अत्र पुरुषजातसूत्राणि, 'पुरिसजाय' शब्दे ) ( अभिनिर्वगडाया वसतौ शुभोऽशुभो वा भाव उपजायते इति 'वसहि' शब्दे वक्ष्यते ) थंभा कोहा अणाभोगा, अणापुच्छा असंतई। परिणामाउ असुद्धो, भावो तम्हा वि उ पमाण ॥ ३५ ॥ ( 'पच्चक्खाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०२ पृष्ठे व्याख्याता ) ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽऽशंसायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

विषयसूची-

( ५ ) पुद्गलपरिणाम ।
( ६ ) वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानपरिणताः पुद्गलाः ।
( ७ ) वर्णादीना परस्परं संवेध ।
( ८ ) अतीन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणामः ।
( ९ ) प्रयोग-मिश्र-विश्रसा-परिणता. पुद्गलाः ।
( १० ) पञ्चादिद्रव्यप्रकरणानि ।
( ११ ) जीवोऽकर्मतो विभक्तिभावं परिणमति ।
( १२ ) परिणामाऽनुसारेण कर्मबन्ध. ।

**परिणामकड-परिणामकृत**-न० । दध्यादिकृतपरिणामे, आ० चू० १ अ० ।

**परिणामग-परिणामक**-पु० । यथास्थानमपवादपदपरिणमन शीले बृ० ।

परिणामकस्वरूपम् । अथ भावत परिणामकातिपरिणाम- कौ व्याख्येयाविति चेतसि व्यवस्थाप्य सूरिरिमा निर्युक्ति- गाथामाह-

परिणामे अइपरिणा-म परूवणा पडिसेह चारिमदुगे ।
अंबाई दिट्ठंतो, कहणा य इमेहिँ ठाणेहिं ॥ ८०१ ॥

परिणामकातिपरिणामकानां प्ररूपणा कर्त्तव्या, प्रतिषेध- श्चरमाद्विकस्यापरिणामकस्य युगलस्य कर्त्तव्य । अनयोश्छे- दश्रुतं न दातव्यमिति भाव. । एषा च त्रयाणामपि परिज्ञार्थ माम्राऽऽदिदृष्टान्तो वक्तव्य । आदिशब्दात्वृक्षबीजपरिग्रह । तया च परीक्षया तेषामभिप्राये गृहीते सति कथना प्रतिव- चनमेभिर्वक्ष्यमाणै. स्थानै. प्रकारैराचार्येण कर्त्तव्येति ।

अथैनामेव गाथाया विवृणोति-

जो दव्वखित्तकयका-लभावओ जं जहा जिणऽक्खायं ।
तं तह सद्दहमाणं, जाणसु परिणामय साधु ॥ ८०२ ॥

अत्र तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायेन कृतशब्दो मध्येऽभिहितो- ऽपि सर्वत्रापि संवध्यते । य. कश्चित् द्रव्यकृतं क्षेत्रकृतं काल- कृतं भावकृतं, द्रव्याऽऽदिभि भेदैः सूत्रे विहितमित्यर्थ । यद्व- स्तु यथा येनोत्सर्गापवादरूपेण प्रकारेण जिनैराख्यातं तत्तथा श्रद्धाति, तमेवं श्रद्धानं रोचयन्तं जानीहि परिणामकं सा धुम् । इयमत्र भावना-द्रव्यत. सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्या- णि यादृशे कार्ये कल्पन्ते, न वा क्षेत्रतोऽध्वनि वा जनपदे वा यद्यथाऽध्वकल्पाऽदिकमाचरणीयं, कालतो दुर्भिक्षसुभिक्षा- ऽदौ यो यादृश. कल्पः, भावतो ग्लानाऽऽदिष्वागाढानागा- ढाऽऽदिको यादृक् विधिस्तदेवं सर्वमपि श्रद्धानो यथाऽवसरं ' गुज्ञानश्च परिणामको ज्ञातव्य । बृ० १ उ० १ प्रक० । पं० व० । व्य० । नि० चू० । ( अस्य सदृष्टान्तप्ररूपणा ' अइपरि- णामग ' शब्दे प्रथमभागे ४ पृष्ठे गता )

परिणामओ जं भणियं, जिणेहिँ अह कारणं न जाणामि ।
दिट्ठंते परिणामेण, परिवाडी उक्कमकमाण ॥७०॥

अथ यदुक्तं जिनै. परिणामत संसारिणामिन्द्रियविभाग- स्तत्र कारणं न जानामि । एवं तेनोक्तेन दृष्टान्तेन परिणामम- धिकृत्य कचिदुत्क्रमपरिपाटी कचित्क्रमपरिपाटी वक्तव्या ।

एतदेव सविस्तरं भावयति-

चरिएण कप्पिएण व, दिट्ठंतेण व तहा तयं अत्थं ।
उवणेइ जहा णु परो, पत्तियइ अजोग्गरूवमवि ॥ ७१ ॥

चरितेन कल्पितेन वा दृष्टान्तेन तथा तं विवक्षितमर्थमुप- नयति । यथा परः अयोग्यरूपमपि प्रत्येति ।

दिट्ठंता परिणामे, कहिज्जते उक्कमेण वि कयाइ ।
जह ऊ एगिंदीण. वणस्सई कत्थई पुव्व ॥ ७२ ॥

दृष्टान्तात्परिणामयतीति परिणामस्तस्मिन् दृष्टान्तपरिणा मके इत्यर्थ. । कदाचिद् बोधोत्पादानुगुण्येन उत्क्रमेणाऽपि कथ्यते, यथा शस्त्रपरिज्ञायामेकेन्द्रियाणां जीवत्वप्रसाधन विधौ पूर्वं प्रथमोद्देशके वनस्पति. कथ्यते, अन्तिमे चोद्देश- के वायुकायिक. ।

तत्र प्रथम उत्क्रमेण वनस्पतीनां जीवत्वख्यापनार्थमाह-

पत्तंति पुप्फंति फलं वदंती,
कालं वियाणंति तहिंदियत्थे ।
जाती य बुड्डी य जरा य जेसिं,
कहं न जीवा उ भवंति ते ऊ ? ॥७३॥

ये पत्रयन्ति पत्राणि मुञ्चन्ति पुष्पभाजो भवन्ति, पुष्पं च ददति, कालं च तत्र पत्रपुष्पफलानिमित्तं जानन्ति, इन्द्रियार्थी- श्च गीताऽऽदीन् ये विजानन्ति. बकुलाऽऽदीनां तथा दर्शनात् । तथा तेषां जातिर्वृद्धिर्जरा च ते कथं न जीवा भवन्ति, भ- वन्त्येवेति भाव. । पुरुषाऽऽदिधर्माणा सर्वेषामपि तत्रोपल भ्यमानत्वात् । प्रयोगश्च वनस्पतयो जीवाः, जातिजराबृ- द्ध्याद्युपेतत्वात्, मनुष्यवत् ।

जाहे ते सद्दहिया, ताहेँ कहिंजंति पुढविकाईया ।
जह वा पेलगलोणा, उवलगिरीणं च परिवुड्डी ॥७४॥

यदा ते वनस्पतयो जीवत्वेन श्रद्धिता भवन्ति, तदा पृथि- वीकायिका जीवाः कथ्यन्ते ( ? ) प्रचोलाऽऽदिषु परि- वृद्धिदर्शनात् ।

कललऽडरसाऽऽदीया, जह जीव तहेव आउजीवा विं ।
जोइंगण जह जीवो, हवई तह तेउजीवा वि ॥ ७५ ॥

यथा कललं गर्भप्रथमावस्थारूपमण्डरस इत्येवमादयो जी- वास्तथैवाप्कायजीवा अपि प्रतिपत्तव्या । प्रयोग अप्कायिका जीवाः, अनुपहतत्वे सति द्रवत्वात्. कललाण्डरसाऽऽदिव- त् तथा । यथा ज्योतिरिङ्गणो जीवस्तथा तेजस्कायिका. अपि । प्रयोगस्त्वेवम्-तेजस्कायिका जीवा स्वभावात् आ- काशे गमनात् ज्योतिरिङ्गणवत् ज्योतिरिङ्गण. खद्योतक । यथा वा ज्वरितो ऊष्मेति सजीवस्तथा तेजोजीवा अपि । प्रयोगभावनात्वेवम्-तेजस्कायिका जीवा असूर्यकिरणत्वे सत्यूष्मधर्म्मोपेतत्वात् ।

जह सद्दहिते तेऊ, वाऊ जीवा तहा य मीसंति ।
सत्थपरिणाए वि य, उक्कमकरणं तु एयट्ठा ॥ ७६ ॥

यदा तेजस्कायिकान् जीवत्वेन श्रद्धानि, तदा तथा वायवो जीवा शिष्यन्ते, तथा वायवो जीवा अपरप्रेरितत्वे सति तिर्यग्गतिगमनात् , गवादिवत् । शस्त्रपरिज्ञायामप्यु- त्क्रमकरणं पूर्ववनस्पत्युद्देशस्यान्ते वायुकायिकोद्देशस्य कर- णमित्यर्थ । व्य० १० उ० ।

**परिणामट्ठाण-परिणामस्थान**-न० । अध्यवसाने, "संजमट्ठाणं ति वा अज्झवसाणं ति वा परिणामट्ठाणं ति वा एगट्ठं" नि० चू० २० उ० ।

**परिणामणया**-स्त्री० । परिणामन्-न० । परिणत्युत्पादने, प्रज्ञा० ३४ पद ।

**परिणामित्तए-परिणामयितुम्**-अव्य० । परिणामं कारयितुमित्यर्थे, भ० ३ श० ४ उ० ।

**परिणामविहिण्णु-परिणामविधिज्ञ**-पुं० । पुद्गलानां परिणामविधिं जानातीति परिणामविधिज्ञः । बृ० ३ उ० ।

**परिणामालंबणगहणसाहण-परिणामाऽऽलम्बनग्रहणसाधन**-न० । परिणमनं परिणामः, अन्तर्भूतणिजर्थात् व्यञ्जनात् घञ् ५-३-१३२ इति घञ् प्रत्यय । परिणामाऽऽपादनमित्यर्थः । आलम्ब्यत इत्यालम्बनम्, भावेऽनट्प्रत्ययः । गृह्णातीति ग्रहणम्, तेषां साधनम्-साध्यतेऽनेनेति साधनम् । योगसंधिवीर्यम् "करणाऽऽधारे" (५ । ३ । १२६) इत्यनट्प्रत्यय । वीर्ये, कर्म ५ कर्म० ('जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६१४ पृष्ठे व्याख्यातम् )

**परिणामि ( ण् )-परिणामिन्** त्रि० । अन्यथा चान्यथा च भवतोऽप्यन्वयित्वं परिणामः, स विद्यते यस्य स परिणामी । षो० १६ विव० । परिणमनं प्रतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमन परिणाम. । स नित्यमस्यास्तीति परिणामी । परिणामस्वभावे, यथा-जैनसम्मत आत्मा । रत्ना० ७ परि । परिणन्तुं प्रवर्तितुं शीलं यस्य तत् । आविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामशालिनि,यथा सुवर्णे कटकाऽऽदिरूपेण । स्था० १० ठा० ।

**परिणामिय-परिणामित**-त्रि० । परिणामान्तरमापादिते, भ० १२ श० ४ उ० । अचित्तीकृते, कल्प ३ अधि० ६ क्षण । शस्त्रपरिणामितानि-शस्त्रेण स्वकायपरकायाऽऽदिना निर्जीवीकृतं वर्णगन्धरसाऽऽदिभिश्च परिणमितं हिंसाप्राप्तम् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आतु० ।

**परिणामिक**-पुं० । परिणमनं द्रव्यस्य तेन तेन रूपेण वर्तनं भवनं परिणामः, स एव पारिणामिक., तत्र भवस्तेन वा निर्वृत्त इति वा पारिणामिक । अनु० । अपरित्यक्तपूर्वावस्थस्यैव तद्भावगमनलक्षणे तन्निर्वृत्तलक्षणे वा भावभेदे, स च साधनाऽऽदिभेदेन द्विविध., तत्र सादिर्जीर्णघृताऽऽदिना तद्भावस्य सादित्वात् । अनादिपारिणामिकस्तु धर्मास्तिकायाऽऽदीनाम्, तद्भावस्य तेषामनादित्वात् । स्था० ५ ठा० । भ० । अनु० । स च द्विविध-सादिरनादिश्च । तत्र धर्मास्तिकायाऽऽद्यरूपिद्रव्याणामनादिः परिणाम., अनादिकालात्तद्द्रव्यत्वेन तेषा परिणतत्वाद्, रूपिद्रव्याणा तु सादि परिणाम. । अनु० ।

से किं तं पारिणामिए ? । पारिणामिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सादिपारिणामिए अ, अणादिपारिणामिए अ । से किं तं सादिपारिणामिए ? । साइपारिणामिए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-

" जुण्णसुरा जुण्णगुलो, जुण्णघयं जुण्णतंदुला चेव ।
अब्भा य अब्भरुक्खा, संझा गंधव्वणगरा य ॥ १ ॥"

उक्कावाया दिसादाहा गज्जियं विज्जू णिग्घाया जूवया जक्खादित्ता धूमिया महिआ रयुग्घाया चंदोवरागा सूरोवरागा चंदपरिवेसा सूरपरिवेसा पडिचंदा पडिसूरा इंदधणू उदगमच्छा कविहसिआ अमोहा वासा वासधरा गामा णगरा घरा पव्वता पाताला भवणा निरया रयणप्पहा सकरप्पहा वालुअप्पहा पंकप्पहा धूमप्पहा तमप्पहा तमतमप्पहा सोहम्मे० जाव अच्चुते गवेज्जे अणुत्तरे इसिप्पभारा परमाणुपोग्गले दुपएसिए० जाव अणंतपएसिए । से तं साइपारिणामिए । से किं तं अणाइपारिणामिए ? । अणाइपारिणामिए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मात्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमए, लोके, अलोके, भवसिद्धिआ, अभवसिद्धिआ । से तं अणादिपारिणामिए । से तं पारिणामिए ।

( से किं तं इत्यादि ) सर्वथा अपरित्यक्तपूर्वावस्थस्य यद्रूपान्तरेण भवनं परिणमनं स परिणामः । तदुक्तम्-" परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाश., परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥ " इति । स एव तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिक । सोऽपि द्विविधः-सादिरनादिश्च । तत्र सादिपारिणामिको ( जुण्णसुरेत्यादि ) जीर्णसुराऽऽदीनां जीर्णत्वपरिणामस्य सादित्वात् सादिपारिणामिकता । इह चोभयावस्थयोरप्यनुगतस्य सुराद्रव्यस्य नव्यतानिवृत्तौ जीर्णतारूपेण भवनं परिणाम इत्येवं सुख प्रतिपत्त्यर्थं जीर्णानां सुराऽऽदीना ग्रहणम्, अन्यथा सुरेष्वपि तेषु सादिपारिणामिकता अस्त्येव, कारणद्रव्यस्यैव नूतनसुराऽऽदिरूपेण परिणतेः, अन्यथा कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गाद्, अत्र वहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, स्थानान्तरवक्तव्यत्वादस्यार्थस्येति । अभ्राणि सामान्येन प्रतीतान्येव, अभ्रवृक्षास्तु तान्येव वृक्षाऽऽकारपरिणतानि, सन्ध्या-कालनीलाऽऽद्यभ्रपरिणतिरूपा प्रतीतैव, गन्धर्वनगराण्यपि सुरप्रभ्रप्रासादोपशोभितनगराऽऽकारतया तथाविधनभःपरिणतपुद्गलराशिरूपाणि प्रतीतान्येव । उल्कापाता अपि व्योमसंमूर्च्छितज्वलनपतनरूपाः प्रसिद्धा एव, दिग्दाहास्त्वन्यतरस्या दिशि छिन्नमूलज्वलनज्वालाकरालिताम्बरप्रतिभासरूपाः प्रतिपत्तव्या , गर्जितविद्युन्निर्घाता. प्रतीताः । यूपकास्तु-" सझाछेयावरणो, य जूयओ सुक्क दिण तिन्नि ।" इति गाथादलप्रतिपादितस्वरूपा आवश्यकादवसेया, यक्षादीप्तकानि नभोदृश्यमानाग्निपिशाचा , धूमिका रूक्षा प्रविरला धूमाभा प्रतिपत्तव्या, महिका तु स्निग्धा घना, स्निग्धत्वादेव भूमौ पतिता सार्द्रतृणाऽऽदिदर्शनद्वारेण लक्ष्यते, रजउद्घातो रजस्वला दिश· चन्द्रसूर्योपरागा राहुग्रहणानि, वहुवचनं चाऽत्रार्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रवर्तिचन्द्रार्काणा युगपदुपरागभावात् मन्तव्यमिति चूर्णिकार । चन्द्रसूर्यपरिवेषाश्चन्द्राऽऽदित्ययो· परितो वलयाऽऽकारपुद्गलपरिणतिरूपा सुप्रतीता एव, प्रतिचन्द्र उत्पाताऽऽदिसूचको द्वितीयश्चन्द्र ,एवं प्रतिसूर्योऽपि । इन्द्रधनु प्रसिद्धमेव, उदकमत्स्यास्त्विन्द्रधनुःखण्डान्येव,कपिहसितान्यकस्मान्नभ-

सि ज्वलद्भीमशब्दरूपाणि, अगोचरा सूर्यबिम्बान्यथ कदाचि-दुपलभ्यमानशकटोर्द्धिसंस्थितश्यामाऽऽदिरेखा. वर्षाणि भ-रताऽऽदीनि, वर्षधरास्तु हिमवदादय, पातालाः पातालकल-शा., शेषास्तु ग्रामाऽऽदय प्रसिद्धा एव। अत्राऽऽह-ननु वर्ष-धराऽऽदयः शाश्वतत्वात् न [illegible] चित्तद्भावं मुञ्चन्ति तत्कथं सादिपारिणामिकभाववर्तित्वं तेषाम्?, नैतदेवम्, तदाकार-मात्रतयैव तेऽवतिष्ठमाना शाश्वता उच्यन्ते, पुद्गलास्तु सं-ख्येयकालादूर्द्ध्वं न तेष्वेवावतिष्ठन्ते, किं त्वपरापरे तद्गतं ग परिणमन्ति, तावत्कालादूर्द्ध्वं पुद्गलानामेकपरिणामेनाऽव-स्थितेः प्रागेव निषिद्धत्वादिति सादिपारिणामिकता न विरु-ध्यते, अनादिपारिणामिके तु धर्मास्तिकायाऽऽदय., तेषां तद्रू-पतया अनादिकालात्परिणतेः यच्चान्यान्तरारयपि सर्वाण्यु-क्तानुसारत भावनीयानि । ( से तं इत्यादि ) निगमनद्वयम्। अनु० । आभ्यन्तरनिमित्ते, " परिणामिय पमाण, णिच्छ-यमवलंबमाणाणं (८२) ।" पं० व० १४ अधि० ।

परिणामिया-पारिणामिकी-स्त्री० । परि समन्तान्नमनं परि-णाम । सुदीर्घकालपूर्वापरपर्यालोचनजन्य आत्मनो धर्म-विशेष स प्रयोजनमस्या पारिणामिकी । नं० । परिणामजन्ये बुद्धिभेदे आ० म० १ अ० ।

सम्प्रति पारिणामिक्या लक्षणमाह-

अणुमाणहेउदिट्टं-तसाहिया वयविवागपरिणामा ।
हियनिस्सेसफलवई, बुद्धी परिणामिया नाम ॥ ११ ॥

" अणुमाण " इत्यादि। लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं, तच्च स्वार्थानुमानमिह द्रष्टव्यम्, अन्यथा हेतुग्रहणस्य नैरर्थक्या ऽऽपत्तेः अनुमानप्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थानुमानमित्यर्थः। अथवा-ज्ञापकमनुमानं कारकं हेतु, दृष्टान्त प्रतीत । आह अनुमानग्रहणेन दृष्टान्तस्य गतत्वादलमस्योपन्यास । न अनु-मानस्य क्वचित् दृष्टान्तमन्तरेणाऽन्यथानुपपत्तिग्राहकप्र-माणबलतप्रवृत्तेः । यथा सात्मकजीवच्छरीर प्राणाऽऽदि-मत्त्वान्यथानुपपत्तेः, न च दृष्टान्तोऽनुमानस्याङ्गम । यत उक्तम्-" अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं तत्र पृथग्दृष्टान्तस्योपादानम् । " तत्र साध्यस्योपमाभूतो दृष्टान्त । तथा चोक्तम्-" य साध्यस्योपमाभूत स दृष्टा-न्त इति कथ्यते । ' अनुमानहेतुदृष्टान्तै. साध्यमर्थं सा-धयतीति अनुमानहेतुदृष्टान्तसाधिका। तथा कालकृतो दे-हावस्थाविशेषो वय, तद्विपाके परिणाम पुष्टता यस्या सा वयोविपाकपरिणामा। तथा हितमभ्युदयो नि श्रेयस मो-क्ष ताभ्या फलवती, ते द्वे अपि तस्याः फले इत्यर्थ । बुद्धि पारिणामिकी नाम । नं० । ( आव० १ अ० ९४८ गाथा ) ।

अस्या अपि शिष्यगणहितायोदाहरणै स्वरूप प्रकटयति-" अभये " इत्यादि गाथा त्रयम्-

अभए सेट्ठि कुमारे, देवी उदिओदए हवइ राया ।
साहू य नंदिसेणे, धणदत्ते सावय अमच्चे ॥ १२ ॥
खमए अमच्चपुत्ते, चाणक्के चेव थूलिभद्दे य ।
नासिकसुंदरीनं-दे वइरे परिणामिया बुद्धी ॥ १३ ॥
चलणाहए आमडे, मणी य सप्पे य खग्गि थूभिंदे ।
परिणामियबुद्धीए, एवमाई उदाहरणा ॥ १४ ॥ नं० ।

( अभए त्ति ) [illegible] प्रद्योत [illegible] रोग, [illegible] नीतवा नित्यादि सा पारिणामिकी बुद्धि । ( सेट्ठि त्ति , [illegible] यत [illegible] पनिकरणं, यथ पुत्र राज्यमहुत्सा [illegible] नुमासकाल न्तरं [illegible] कुर्वन् पुत्रसमक्ष [illegible] ताया [illegible] आरक्ष [illegible] ग्रामान्तरं प्रति चलित तत कथमहं भविष्यामीति वक्ष्यन्त, प्रवचन [illegible] यदि [illegible] तो दे-वैर्विनिर्गच्छतु, तो चेदुदरभित्त्या [illegible] नं सा पारिणामिकी बुद्धि । (कुमार त्ति) [illegible] कु-मारस्य प्रथमे वयसि वर्त्तमानस्य कदाचित् [illegible] गतस्य प्रचुराऽऽदिभि सह यथेच्छं मोदकान् भोजनवता जीर्णत्वं गमादुर्भावाद [illegible] समजनि, या उद्भूता [illegible] । यथा [illegible] आहाराऽऽदीनि द्रव्याणि शरीरसम्पर्कमात्रात् [illegible] यानि सञ्जातानि तस्मा त् धिग् इदम् अशुचि शरीर, [illegible] शरीरस्य कृत जन्तु पापान्यारभते इत्यादिरूपा या पारिणा-मिकी बुद्धी तत ऊर्द्ध्वं तस्य शुभशुभतरा [illegible] तराध्यवसायं तदनन्तरं केवलज्ञानोत्पत्ति । (देवी त्ति) देव्या पुष्पवत्यभि-धानाया प्रव्रज्या परिपालन देवत्वं [illegible] यत्पुष्पचूला-ऽभिधानाया स्वपुत्र्या. स्वप्न नरकस्वर्गकरणेन प्रबोध-करणं सा पारिणामिकी बुद्धि । (उदिओदए त्ति) उदितोदयस्य राज्ञः श्रीकान्तपते पुरिमतालपुरे राज्यमनुशासत. श्रीका-न्तानिमित्तं वाराणसीवास्तव्येन धर्मरुचिना राज्ञा सर्वब-लेन समागत्य निरुद्धस्य प्रभूतजनपरिक्षयभयेन यत् वैश्रवण-मुपवासं कृत्वा समाहूय सनगरस्याऽऽत्मनोऽन्यत्र सङ्क्रामण सा पारिणामिकी बुद्धि । ( साहू य नंदिसेणे त्ति ) साधोः श्रेणिकपुत्रस्य नन्दिषेणस्य स्वशिष्यस्य व्रतमुज्झितुकामस्य स्थिरीकरणाय भगवद्वर्द्धमानस्वामिवन्दननिमित्तचलितमु-क्ताऽऽभरणश्वेताम्बरपरिधानरूपपरमशोभाकविनिर्जितामर-सुन्दरीकस्वान्त पुरदर्शनं कृतं सा पारिणामिकी बुद्धि , स हि नन्दिषेणस्य तादृशमन्त पुरं नन्दिषेणपरित्यक्तं दृष्ट्वा दृढतरं संयमे स्थिरो बभूव । ( धणदत्ते त्ति ) धनदत्तस्य सुसुमाया निजपुत्र्याश्चिलातीपुत्रेण मारितायाः कालमपेक्ष्य तन्मांसभ-क्षणं सा पारिणामिकी बुद्धि । ( सावगे त्ति ) कोऽपि श्राव-क प्रत्याख्यातपरस्त्रीसम्भोग कदाचिन्निजजायासखीमवलो क्य तामतीवाध्युपपन्न , तं च तादृश दृष्ट्वा तद्भार्याऽचिन्त-यत्, नूनमेव यदि कथञ्चित्संक्लिष्टाध्यवसाने वर्त्तमानो म्रिय-ते तर्हि नरकगतिं तिर्यग्गतिं वा याति, तस्मात्करोमि किञ्चि-दुपायमिति। तत एवं चिन्तयित्वा स्वपतिमभाणीत् मा त्वमातुरी भव अहमेना विकालवेलायामानयिष्यामि,तेन प्रति-पन्नं तत विकालवेलायामीषदन्धकारे जगति प्रसरति स्व-सख्या वस्त्राण्याभरणानि च परिधाय सा स्वसखीरूपेण रह-सि तमुपासृपत्। स च सेयं मद्भार्यासखीत्यवगम्य ता परि-भुक्तवान्, परिभोगे च कृते अपगतकामाध्यवसायोऽसमञ्ज-साय गृहीतं व्रतं, ततो व्रतभङ्गो मे समुदपादीति खेदं कर्तुं प्र-वृत्त , ततस्तद्भार्या तस्मै यथावस्थितं निवेदयामास ततो स नाकं स्वस्थीबभूव गुरुपादमूले च गत्वा दुष्टमन संकल्पनिमि-त्तव्रतभङ्गशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवान्, श्राविकाया पारि-

जइ एयाणि एवं मरंति तो नरयतिरिएसु उववज्जिहिंति सुविणए सो तम्मि नेरइए दरिसेइ, सा भीया पुच्छइ पासंडिणो, ते न याणंति. अन्नियपुत्ता तत्थ आयरिया ते सद्दाविया, ताहे सुत्तं कहंति। सा भणइ-किं तुम्हेहिं वि सुविणओ दिट्ठो ? सो भणइ-सुत्ते अम्ह एरिस दिट्ठ पुणोऽवि देवलोए दरिसेइ, तेऽवि से अन्नियापुत्तेहिं कहिया, पव्वइया, देवस्स पारिणामिया बुद्धी, ४ ॥ ' उदिओदए " पुरिमयाले णयरे ओदिओदओ राया सिरिकंता देवी, सावगाणि दोरिण वि, परिवाइया पराजिया दासीहिं मुहमक्कडियाहिं वेलविया निच्छूढा पओसमावरणा, वाणारसीए धम्मरुई राया, तत्थ गया, फलयपट्टियाए सिरिकंताए रूवं लिहिऊण दाएइ धम्मरुइस्स रएणो, सो अज्झोववन्नो, दूयं विसज्जेइ, पडिहओ अवमाणिओ निच्छूढो, ताहे सव्वबलेणागओ, णयर रोहेइ, उदिओदओ चिंतेइ-किं एवइ्डेण जणक्खएण कएण ?, उववासं करेइ, वेसमणेण देवेण सणयर साहरिओ । उदिओदयस्स पारिणामिया बुद्धी, ५ ॥ " साहू य नंदिसेणे " त्ति। सेणियपुत्तो नंदिसेणो, सीसो तस्स ओहाणुप्पेही, तस्स चिंता ( जाया )-भगवं जइ रायगिहं जाएज्जा तो देवीओ अन्ने य पिच्छिऊण साहसए जइ थिरो होज्ज त्ति, भट्टारओ य गओ, सेणीओ उण णीति सते पुरो अन्ने य कुमारा सअंतेउरा, णंदिसेणस्स अंतेउर सेतंवरवसणं पउमिणिमज्झे हंसीओ वा मुक्काभरणाओ सव्वासिं छाय हरनि. सो ताओ दट्ठूण चिंतेइ-जइ भट्टारएण मम आयरिएण परिसियाओ मुक्काओ किमंग पुण मज्झ मंदपुन्नस्स असताए परिच्चइयं ?, तव्वियाणइ, णिव्वेयमावन्नो आलोइयपडिक्कंतो थिरो जाओ। दोएह वि परिणामिगी बुद्धी, ६॥ धणदत्तो सुसुमाए पिया परिणामेइ-जइ एयं न खामो तो अंतरा मरामो त्ति,तस्स पारिणामिगीबुद्धी, ७॥ सावओ मुच्छिओ अज्झोववरणो साविगाए वयंसियाए,तीसे परिणामो-मा मरिहि त्ति अट्टवसट्टो नरएसु तिरिएसु वा (मा) उववज्जिहि त्ति तीसे आभरणेहिं विणीओ.संवेगो कहणं च, तीए पारिणामिया बुद्धी, ८॥ आमच्चो-वरधणुपिया जउघरे कए चिंतेइ-मा मारिओ होइ एस कुमारो, कहिं पि रक्खिज्जइ, सुरंगाए नीणिओ, पलाओ, एयस्स वि परिणामिया बुद्धी, ६॥ अन्ने भणंति-एगो राया देवी से अइप्पिया कालगया, सो य मुद्धो, सो तीए विओगदुक्खिओ न स सरीरठिइ करेइ, मंतीहिं भणिओ-देव ! एरिसी संसारट्ठिइ त्ति किं कीरइ ?। सो भणइ-नाहं देवीए सरीरट्ठिइ अकरेंतीए करेमि, मंतीहि परिचिंतयं-न अन्नो उवाओ त्ति। पच्छा भणियं-देव ! देवी सग्गं गया न तत्थ ट्ठिइयाए चेव से सव्वं पेसिज्जउ, लद्धकयदेवीट्ठिईपउत्तीए पच्छा करेज्जसु त्ति, रन्ना पडिसुयं, माइट्ठाणेण एगो पेसिओ, रएणो आगंतूण साहइ-कया सरीरट्ठिई देवीए, पच्छा राया करेइ, एव पइदिणं करेंताण कालो वच्चइ, देवीपेसणवच्छलेण बहु कडिसुत्तगाइ खज्जइ राया, एगेण चिंतियं अह पि खत्ति करेमि, पच्छा राया दिट्ठो, तेण भणिओ कुतो तुमं ?। भणइ देव ! सग्गाओ, रएणा भणियं देवी दिट्ठ त्ति, सो भणइ-तीए चेव पेसिओ कडिसुत्तगाइनिमित्त त्ति, दवाविय से जहिच्छियं किं पि ण सपडइ, रएणा भणियं कया गमिस्ससि ?, तेण भणियं-कल्लं, रन्ना भणियं-कल्लं ते संपाडेस्सं, मंती आदिट्ठा-सिग्घं संपाडेह, तेहिं चिंतियं-विनट्ठं कज्जं, को एत्थ उवाओ त्ति विसरणा, एगेण भणियं-धीरा होह अहं भलिस्सामि, तेण त संपाडिऊण राया भणिओ-देव ! एस कह जाहि त्ति ?। रएणा भणियं-अन्ने कह जंतगा ?, तेण भणियं-अम्हे ज पट्ठवेंता त जलणप्पवेसेणं, न अरणहा सग्गं गमिस्सइ, रन्ना भणिय-तहेव पेसेह. तहा आढत्ता, सो विसरणो, अन्नो य धुत्तो वायालो रन्नो समक्खं बहुं उवहसइ जहा-देविं भणिज्जसि-सिणेहवंतो ते राया, पुणो वि जं कज्जं तं संदिसेज्जासि, अरणं च इमं च बहुविहं भणेज्जासि, तेण भणियं-देव ! णाहमेत्तिगं अविगलं भणिउं जाणामि, एसो चेव लट्ठो पेसिज्जउ, रएणा पडिसुयं, सो तहेव णिज्जिउमाढत्तो, यरो मुक्को, अवरस्स माणुसाणि, से विसरणाणि पलवंति-हा ! देव ! अम्हेहिं किं करेज्जामो ?, तेण भणियं नियतुंडं रक्खेज्जह, पच्छा मंतीहिं खरंडियमुक्को, मडगं दड्ढं, मंतिस्स पारिणामिया, ६ ॥ " खमए " त्ति. खमओ चेल्लएण समं भिक्खं हिंडइ, तेण मंडुक्कलिया मारिया, आलोयणवेलाए णालोएइ, खुड्डएणं भणियं-आलोएहि त्ति, रुट्ठो आहणामि त्ति थंभे अब्भडिओ मओ, एगत्थ विराहियसामरणाणं कुले दिट्ठीविसो सप्पो जाओ, जाणंति परोप्परं, रत्तिं चरंति मा जीवे मारेहामि त्ति, फासुगं आहारेमि त्ति। अरणया रएणो पुत्तो अहिणा खइओ मओ य, राया पओसमावन्नो, जो सप्प मारेइ तस्स दीणार देइ, अरणया आहिंडिएणं ताण रेक्काओ दिट्ठाओ, तं बिलं ओसहीहिं धमति, सीसाणि णिताणि छिंदइ, सो अभिमुहो न णीइ, मा मारेहामि किंचि त्ति जाइस्सरणत्तणेण, तं निग्गयं छिंदइ, तेण पच्छा रायाए उवणीयाणि, सो राया णागदेवयाए बोहिज्जइ, वरो दिन्नो-कुमारो होहि त्ति, सो खमगसप्पो मओ समाणो तत्थ राणियाए णागदत्तो पुत्तो जाओ, उम्मुक्कबालभावो साहु दट्ठुं जाइं संभरित्ता पव्वइओ। सो य छुहालुगो अभिग्गह गेरहइ-मए ण रूसियव्वं ति,दोसीणस्स हिंडइ, तस्स य आयरियस्स गच्छे चत्तारि खमग्गा, मासिओ दोमासिओ तिमासिओ चउमासिओ, रत्तिं देवया आगया, ते सव्वे खमए अइक्कमित्ता खुड्डयं वंदइ खमएण निग्गच्छंती हत्थे गहिया, भणिया य-कडगपूयणे ! एयं तिकालभोइयं वंदसि, इमे महातवस्सी न वदसि त्ति, सा भणइ-भावखमगं वंदामि न दव्वखमए त्ति, गया, पभाए दोसीणगस्स गओ, निमंते ति, एगेण गहाय पाए खेलो छूढो, भणइ-' मिच्छा मि दुक्कडं ' खेलमल्लो तुब्भं णोवणीओ, एवं सेसेहि वि जे भेउमाग्ढो, तेहिं वारिओ निव्वेगमावरणो. एचवि सिद्धा, विभासा, सव्वेसिं पारिणामियाबुद्धी, १० ॥ अमच्चपुत्तो वरधणू, तस्स तेसु तेसु पओयणेसु पारिणामिआ, जहा माया मोयाविया, सो पलाइओ, एवमाइ सव्व विभासियव्वं। अन्ने भणंति-एगो मंतिपुत्तो कप्पडियरायकुमारेण समं हिंडइ, अरणया निमित्तिओ घडिओ, रत्तिं देवकुंडिसंठियाणं सिवा रडइ, कुमारेण नेमित्तिओ पुच्छिओ किं एसा भणइ त्ति, तेण भणिय-इम भणइ-इमंसि नइनित्थम्मि पुराणिय कलेवर चिट्ठइ, एयस्स कडीए सतं पायकाण कुमार ! तुम गिरहाहि, तुज्झ पायंका मम य कडे वर त्ति, मुदिय पुण न सक्कुणोमि त्ति, कुमारस्स कोउं जाय, ते घत्तिय एगागी गओ,

तहेव जायं. पायंके घेत्तूण पच्चागओ. पुणो रडइ, पुणो पुच्छिओ सो भणइ, चप्फलिगाइयं कहेइ, एसा भणइ कुमार! तुज्झ वि पायंकसयं जायं मज्झ वि कलेवर त्ति. कुमारो तुसिणीओ जाओ, अमच्चपुत्तेण चिंतियं- पेच्छामि से सत्तं किं किवणत्तणेण गहियं आउ सोंडीरयाए?। जइ किवणत्तणेण कयं न एयस्स रज्जंति नियत्तामि। पच्चूसे भणइ-वच्चह तुब्भे, मम पुण सूलं कज्जइ न सक्कुणामि गंतुं, कुमारेण भणियं-न जुत्तं तुमं मोत्तूण गंतुं, किं तु मा कोइ एत्थ मे जाणेहि त्ति तेण वच्चामो. पच्छा कुलपुत्तगघरं णीओ समप्पिओ, तं च सव्वं पेज्जामोल्लं दिन्नं, मंतिपुत्तस्स उवगयं जहा-सोंडीरयाए त्ति, भणियं चऽणेण-अत्थि मे विसेसो अओ गच्छामि, पच्छा गओ, कुमारेण रज्जं पत्तं, भोगा वि से दिण्णा, एयस्स पारिणामिगी बुद्धी ११॥ चाणक्को, गोल्लविसए चणयग्गामो, तत्थ य चाणग्गो माहणो, सो य सावओ, तस्स घरे साहू ठिया, पुत्तो से जाओ सह दाढाहिं, साहूण पाएसु पाडिओ, कहियं च- राया भविस्सइ त्ति, मा दुग्गइं जाइस्सइ त्ति दंता घट्ठा, पुणोऽवि आयरियाणं कहियं, भणइ, किं कज्जउ?, एत्ताहे विंबंतरिओ भविस्सइ, उम्मुक्कबालभावेण चोद्दसविज्जाठाणाणि आगमियाणि, सो य सावओ संतुट्ठो, एगाओ भद्दमाहणकुलाओ भज्जा से आणिया। अण्णया कम्हि वि कोउते माइघर भज्जा से गया, केइ भणंति-भाइविवाहे गया, तीसे य भगिणीओ अण्णेसिं खद्धादाणियाणं दिण्णेल्लियाओ, ताओ अलंकियविभूसियाओ आगयाओ, सव्वोऽवि परियणो ताहिं समं संलवए त्ति, सा एगंते अत्थइ, अद्धिई जाया, घरं आगया, ससोगा, निब्बंधे सिट्ठं, तेण चिंतियं-नंदो पाडलिपुत्ते देइ तत्थ वच्चामि, तओ कत्तियपुण्णिमाए पुव्वण्णत्थे आसणे पढमे णिसण्णो, तं च तस्स सन्नीपतियस्स सया ठविज्जइ, सिद्धपुत्तो य णंदेण समं तत्थ आगओ भणइ एस बंभणो णंदवंसस्स छाय अक्कमिऊण ठिओ, भणिओ दासीए-भगवं! वितीए आसणे णिवेसाहि, अत्थु, वितिए आसणे कुंडियं ठवेइ, एवं ततिए दंडयं, चउत्थे गणित्तिय, पंचमे जण्णोवइयं, धिट्ठो त्ति निच्छूढो, पाओ उक्खित्तो, अण्णया य भण्णइ-" कोशेन भृत्यैश्च निबद्धमूलं, पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम्। उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि, महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेग. ॥ १ ॥" निग्गओ मग्गइ पुरिसं, सुयं चऽणेण बिंबंतरिओ राओ होहामि त्ति. नंदस्स मोरपोसगा, तेसिं गामं गओ परिव्वायगलिंगेण, तेसिं च महत्तरधूयाए चंदपियणे दोहलो, सो समुदाणितो गओ, पुच्छंति, सो भणइ जइ इमं मे दारगं देह तो णं पाएमि चंदं, पडिसुणेंति, पडमंडवे कए तद्दिवसं पुण्णिमा, मज्झे छिड्डं कयं, मज्झगए चंदे सव्वरसालूहिं दव्वेहिं संजोएत्ता दुद्धस्स थाल भरियं, सद्दाविया पेच्छइ पिबइ य, उवरिं पुरिसो अच्छाडेइ, अवणीए जाओ पुत्तो चंदगुत्तो से नाम कयं, सोऽवि ताव संवड्ढइ चाणक्को य धाउविलाणि मग्गइ। सो य दारगेहिं समं रमइ रायणीईए, विभासा, चाणक्को पडिएइ, पेच्छइ तेण वि मग्गिओ-अम्ह वि दिज्जउ, भणइ गावीओ लएहिं. मा मारेज्जा कोई, भणइ-' वीरभोज्जा पुहवी." णातं जहा विण्णाणं पि से अत्थि, पुच्छिओ कस्स त्ति?, दारएहिं कहियं परिव्वायगपुत्तो एसो, अहं सो परिव्वायगो, जामु जा ते रायाणं करेमि, पलाओ, लोगो मिलिओ, पाडलिपुत्तं रोहियं। णंदेण भग्गो परिव्वायगो, आसेहिं पिट्ठीओ लग्गो. चंदगुत्तो पउमसरे निब्बुडो इमो उपस्पृशति, सण्णाए भणइ वोलीणो त्ति। अन्ने भणंति -चंदगुत्तं पउमिणिसरे छुभित्ता रयओ जाओ, पच्छा एगेण जच्चबल्हीककिसोरगएण आसवारेण पुच्छिओ भणइ-एस पउमसरे निविट्ठो, तओ आसवारेण दिट्ठो. तओऽणेण घोडगो चाणक्कस्स अल्लितो, खग्गं मुक्कं, जाव निगुडिउं जलोयरणट्ठयाए कंचुगं मिल्लइ, तावऽणेण खग्गं घेत्तूण दुहाकओ, पच्छा चंदगुत्तो हक्कारिय चडाविओ. पुणो पलाया, पुच्छिओऽणेण चंदगुत्तो -जं वेलं तंसि सिट्ठो तं वेलं किं तुमे चिंतियं?। तेण भाणयं धुवं एवमेव सोहणं भवइ, अज्जो चेव जाणइ त्ति, तओऽणेण चिंतियं-जोगो एस न विपरिणमइ त्ति। पच्छा चंदगुत्तो छुहाइओ चाणक्को तं ठवेत्ता भत्तस्स अइगओ, वीहेइ य-मा एत्थ नज्जेज्जा मोडोइस्स वाहिं निग्गयस्स पोट्टं फालियं. दहिकूरं गहाय गओ, जिमिओ दारओ। अण्णया अण्णत्थ गामे रत्तिं समुयाणेइ, थेरीए पुत्तगभंडाणं विलेवी वट्टिया, एक्केण मज्झे हत्थो छूढो, दड्ढो रोयइ, ताए भण्णइ-चाणक्कमंगलयं, पुच्छियं, भणइ- पासाणि पढमं घेप्पंति, गओ हिमवंतकूडं, पव्वइओ राया, तेण समं मित्तया जाया, भणइ- समं समेण विभजामो रज्जं, उपवेंताणं एगत्थ णयर न पडइ, पविट्ठो तिदंडी. वत्थूणि जोएइ, इंदकुमारियाओ दिट्ठाओ, तासिं तणएण ण पडइ, मायाए णीणावियाओ, पडियं नयरं पाडलिपुत्तं रोहिय नंदो धम्मवारं मग्गइ, एगेण रहेण जं तरसि तं नीणाहि, दो भज्जाओ एगा कण्णा दव्वं च णीणेइ, कण्णा चंदगुत्तं पलोएइ, भणिया -जाहि त्ति, ताहे विलग्गंतीए चंदगुत्तरहे णव अरगा भग्गा, तिदंडी भणइ- मा वारेहि, नवपुरिसजुगाणि तुज्झ वंसो होहि त्ति, अइयओ, दोभागीकयं रज्जं । एगा कण्णगा विसभाविया, तत्थ पव्वयगस्स इच्छा जाया, सा तस्स दिण्णा अग्गिपरियंचणे विसपरिगओ मारेउमारद्धो भणइ--वयंस! मरिज्जइ, चंदगुत्तो रुभामि त्ति ववसिओ, चाणक्केण भिउडी कया, णियत्तो. दोवि रज्जाणि तस्स जायाणि। नंदमणुस्सा चोरियाए जीवंति. चोरग्गाहं मग्गइ, तिदंडी वाहिरियाए नलदामं मुइंगमारणे दट्ठु आगओ, रण्णा सद्दाविओ, आरक्खं दिण्णं, वीसत्था कया, भत्तदाणेण सकुडुंबा मारिया। आणाए-वंसीहिं अंबगा परिक्खित्ता, विवरीए रुट्ठो, पलीविओ सव्वो गामो, तेहिं गामिल्लएहिं कप्पडियत्ते भत्तं न दिण्णं ति काउं। कोससन्निमित्तं पारिणामिया बुद्धी -जूयं रमइ कूडपासएहिं, सोवण्णं थालं दीणाराणं भरियं, जो जिणइ तस्स एयं, अहं जीणामि एगो दीणारो दायव्वो । अइचिरं ति अन्नं उवायं चिंतेइ, णागराण भत्तं देउ मज्जपाणं च, मत्तेसु पणच्चिओ, भणइ-"दो मज्झ धाउरत्ता, कंचणकुंडिया तिदंडं च. राया वि य वसवत्ती, एत्थ वि ता मे होलं वाएहिं। अण्णो असहमाणो भणति गयपोययस्स मत्तस्स उप्पइयस्स जोअणसहस्सं पए पए सयसहस्सं एत्थ वि ता मे होलं वाएहिं। अन्नो भणइ-तिलआढयस्स वुत्तस्स निप्फण्णस्स बहुसइयस्स तिले तिले सयसहस्सं ता मे होलं वाएहिं। अण्णो भणइ-नवपाउसम्मि पुण्णाए गिरिणईयाए सिग्घवेगाए एगाहम-

हियमेत्तेण नवणीएण पालिं बंधामि पत्थ वि ता मे होलं वाएहि । अन्नो भणइ जच्चाण नवकिसोराण तद्दिवसेण जायमेत्ताण केसेहिं नहं छाएमि पत्थ वि ता मे होलं वाएहि । अन्नो भणइ-दो गब्भ अत्थि रयणा सालि पत्ता य गद्दभिया य छिन्ना छिन्ना वि रुहंति पत्थ वि ता मे होलं वाएहि । अन्नो भणइ-सयसुक्किलनिच्चसुयंधो भज्ज अणुव्वय नत्थि पवासो निरिणो य दुपंचसओ पत्थ वि ता मे होल वाएहि । एवं णाऊण रयणाणि मग्गिऊण कोट्ठागारे सालीण भरियाणि गद्दभियाए पुच्छिआ छिन्ना छिन्नाणि २ पुणो पुणो जायंति, आसा एगाहजाया मग्गिया एगदिवसिय णवणीयं, एस पारिणामिया चाणक्कस्स बुद्धी १३ ॥ थूलभद्दस्स पारिणामिया पियम्मि मारिए णंदेण भणिओ-अमच्चो होहि त्ति असोगवणियाए चिंतेइ-केरिसा भोगा वाउलाणं ति पव्वइओ । राया भणिया-पेच्छइ मा कवडेण गणियाघरं जाइज्जा, तस्स मग्गागमडेण वावरणेण णासं ण गेण्हइ पुरिसेहिं [illegible] कहियं, विरत्तभोगो त्ति सिरिओ ठविओ, थूलभद्दसामिस्स पारिणामिया रण्णो य १४ ॥ णासिक्कं णयरं, णंदो वाणियगो, सुन्दरी से भज्जा, सुंदरिनंदो से नामं कयं, तस्स भाया पव्वइयओ, सो सुणइ-जहा सो [illegible] अज्झोववन्नो, पाहुणओ आगओ, पडिलाभिओ, भाण [illegible] गहियं इह पत्थ वेयउ त्ति उज्जाणं नीओ, लोगेण य भण्णइ [illegible] दिट्ठा तओ णं उवहसंति [illegible] सुंदरिनंदो, तओ सो तहवि न गो उज्जाणं, साहुणा से वेभणा [illegible] उक्कडरागो त्ति न तीरइ सम्मं लाइउ [illegible] वियपत्तिम्मि [illegible] नओऽणेण चिंतियं न [illegible] उवाओ त्ति अणियव्वेण उवलेभित्ति, पच्छा मेरु [illegible] विओ, [illegible] आविओ [illegible] महुस्सत्त आणे [illegible] सरिसा, मक्कडरूवं विउव्वियं । अन्ने भणंति-[illegible] सामुणा [illegible] सुंदरि वानरीओ य [illegible] ? । सो भणइ-भगवं ! मक्कडो नत्थि व्व मेरुवयस्स [illegible] विज्जाहरमिहुणं दिट्ठं तत्थ पुच्छिओ भणइ [illegible] चव, तओ देवमिहुणं दिट्ठं, तत्थ वि पुच्छिओ भणति-भगवं ! पत्थ अण्णं वानरी सुंदरि त्ति, साहुणा भणियं थोवेण धम्मेण पसा पाविज्जइ त्ति, तओ से उवगय पच्छा पव्वइओ । साहुस्स पारिणामिया बुद्धी १४ । वइरस्स मित्तस्स पारिणामिया-माया णाणुवत्तिया, मा संघो अवमाणिज्जिहित्ति त्ति, पुणो देवेहिं उज्जेणीए वेउव्वियलद्धी दिन्ना पाडलिपुत्ते मा परिभविहि त्ति वेउव्वियं कयं, पुरियाए परवयणाओ तयणा मा होहिंति त्ति सव्वं कहेयव्वं १५ ॥ चलणाहए राया तरुणेहिं वुग्गाहिज्जइ, जहा थेरा कुमारमच्चा अवणिज्जंतु, सो तेसिं परिक्खणणिमित्तं भणइ-जो राय सीसे पाएण आहणइ तस्स को दंडो ? । तरुणा भणंति, तिल तिल छिंदियव्वओ, थेरा पुच्छिया-चिंतेमो त्ति ओसरिया । चिंतेति नूणं देवीए को अण्णो आहणइ त्ति आगया भणंति सक्कारेयव्वा । रण्णो तेसिं च पारिणामिया १६ ॥ ( आमंडे त्ति ) आमलगं, कित्तिमं पगेण णाय अइकढिणं अकाले विंचो होइ त्ति । तस्स वि पारिणामिया १७ ॥ (मणि त्ति) * गतम् १८ ॥ सप्पो चंडकोसिओ चिंतेइ-धम्मो महप्पा इच्चाइविभासा, पयस्स पारिणामिगी १९ ॥ " खग्गी त्ति " सावगपुत्तो जोव्वणबलुम्मत्तो धम्मं न गिण्हइ, मरिऊण खग्गिसु उववण्णो, पिट्ठिस्स ओरेणं वि पासेहिं जहा पक्खरा तहा चम्माणि लंबंति अडवीए चउप्पहे जणं मारेइ, साहुणो य तेणेव पहेण अइक्कमंति, वेगेण आगओ, तेण ण तरइ अल्लिउं, चिंतेइ,-जाई संभरिया, पच्चक्खाए, देवलोगगमणं । पयस्स पारिणामिगी २० ॥ थूभे-वेसालीए णयरीए णाभीए मुणिसुव्वयस्स थूभो, तस्स गुणेण कूणियस्स ण पडइ, देवया आगासे कूणियं भणइ-" समणो जइ कूलवालए मागहियं गणियं लभिस्सति । लाया य असोगचंदए, वेसालिं नगरिं गहेस्सइ ॥ १ ॥ " सो मग्गिज्जइ । तस्स का उप्पत्ती ?-एगस्स आयरियस्स चेल्लओ अविणीओ, तं आयरिओ अबाडेइ, सो वेरं वहइ । अन्नया आयरिया सिद्धसिल तेण समं वंदगा विलग्गा उत्तरंताण वधाए सिला मुक्का दिट्ठा आयरिएण, पाया ओसारिया इहरा मारिओ होतो, सावो दिन्नो दुरात्मन् ! इत्थीओ विणस्सिहिसि त्ति, मिच्छावाई पसो भउ त्ति काउ तावसाऽऽसमे अत्थइ, नईए कूले आयावेइ, पंथव्भासे जो सत्थो एइ तओ आहारो होइ, णईए कूले आयावेमाणस्स सा णई अन्नओ पवूढा, तेण कूलवारओ नामं जाय, तत्थ अत्थंतो आगमिओ, गणियाओ सद्दावियाओ, एगा भणइ-अहं आणेमि कवडसाविया जाया, सत्थेण गया, वंदइ उद्दाणे होइयम्मि चेइयाइं वंदामि तुब्भे य सुया, आगयामि, पारणगे मोदगा संजोइया दिन्ना, अइसारो जाओ, पओगेण ठविओ, उव्वत्तणाईहिं संभिन्नं चित्तं, ओणिओ, भणिओ-एओ वयण करेहि, कहं ?, जहा वेसाली घेप्पइ, थूभो नीणाविओ, गहिया । गणिया फलजालगाणं होइ वि पारिणामिगी २१ ॥ इयपाउयाओ चाणक्केण पुव्वभणियाओ, पसा पारिणामिया २२ ॥ आव० १ अ० । परिणामज्ञायाम्, "परिणामिय परिणामं, जा जाणइ पुग्गलाणं तु । " पुद्गलानां विचित्रं परिणामं जानाति सा पारिणामिकी । व्य० ५ उ० ।



**परिणाह** परिणाह-पुं० । परिघौ, स्था० २ ठा० ३ उ० । शरीरविस्तरे, स्था० ८ ठा० । नातिस्थौल्ये नातिदुर्बलतायाम्, बृ० १ उ० २ प्रक० । विस्तारे, पाइ० ना० १६८ गाथा ।

**परिणिज्जमाण** परिणीयमान-त्रि० । दु खं प्राप्यमाणे, " एगे रूवे सुगिद्धे परिणीयमाणे । " आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

**परिणिट्ठा**-परिनिष्ठा-स्त्री० । संपूर्तौ, सिद्धौ, " परिणिट्ठसत्तमए " सप्तमे श्रवणे परिनिष्ठा भवति । एतदुक्तं भवति-गुरुवदनुभाषत एव सप्तमे श्रवणे । विशे० । आ० म० ।

**परिणिट्ठाण**-परिनिष्ठान-न० । अवसाने, विशे० ।

**परिणिट्ठिय**-परिनिष्ठित-त्रि० । संपूर्णे सिद्धे, उत्त० २ अ० । आव० । परि समन्तान्निष्ठा गत. परिनिष्ठित । ज्ञाननिष्ठा गते, आ० म० । एकुच्च निट्ठं गतो परिणिट्ठितो । " आ० चू० १ अ० । "परिणिट्ठितो, परिव्वाओ । " परिनिष्ठितो नाम-यथायोगं विधेयतया सम्यक् परिज्ञात । व्य० १० अ० । निष्पन्नरूपे, असाधनीये सिद्धे, विशे० ।

**परिणिट्ठिया-परिनिष्ठिता**-स्त्री० । द्विस्त्रिर्वा तृणाऽऽदिशोधनेन कृषिभेदे, पुनः पुनरतिचाराऽऽलोचनेन प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**परिणिव्वप्पवायणया-परिनिर्वाप्यवाचनता**-स्त्री० । परीति सर्वप्रकारं निर्वापयतो निरो निर्द्धन्धाऽऽदिषु भृशार्थस्यापि दर्शनात् भृशं गमयतः पूर्वदत्ताऽऽलापकाऽऽदि सर्वाऽऽत्मना स्वाऽऽत्मनि परिणामयतः शिष्यस्य सूत्रगताशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचनता । पूर्वदत्ताऽऽलापकानधिगमय्य शिष्याय पुनः सूत्रदाने, स्था० ८ ठा० । वाचनासंपद्भेदे, उत्त० १ अ० ।

परिनिव्वविय वायणा, जेत्तिय मेत्तं तु तरइ उग्घेउं ।
जोहगदिट्ठंतेणं, परिचिते ताव तमुद्दिसति ॥

परिनिर्वाप्य वाचयति, किमुक्तं भवति? जोहकदृष्टान्तेन यावन्मात्रमवग्रहीतुं शक्नोति तावन्मात्रमग्रेतनपरिचिते तामुद्दिशति । एषा परिनिर्वाप्य वाचना । व्य० १० उ० ।

**परिणिव्वयंत-परिनिर्व्रजत्**-त्रि० । परि समन्ताद् व्रजत् । संयमानुष्ठानोद्युक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

**परिणिव्वाण-परिनिर्वाण**-न० । परि समन्तान्निर्वातीति निर्वाणम् । सकलकर्मकृतविकारनिराकरणतः स्वस्थीभवनं परिनिर्वाणम् । स्था० १ ठा० । अनिवृत्तिरूपे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । सर्वकर्मक्षयरूपे ( संथा० ) सुखे, आचा० १ श्रु०१ अ०६ उ० । सर्वदुःखानामन्ते, पं०सू० ४ सूत्र । कल्प० । मोक्षगमने, आव० ४ अ० । स्वस्थीभवने, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । "एगे परिणिव्वाणे ।"-परिनिर्वाणम् एकमेकदा तस्य संभवे पुनरभावादिति । स्था० १ ठा० । कर्मकृतसन्तापाभावेन शीतीभवने, औ० । उपरतौ, मरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**परिणिव्वाणचरियणिबद्ध-परिनिर्वाणचरितनिबद्ध**-न० । तीर्थप्रवर्तनचरमपरिनिर्वाणनिबद्धे नाट्यविधौ, रा० ।

**परिणिव्वाणपुर-परिनिर्वाणपुर**-न० । सिद्धिपत्तने, आव० ४ अ० ।

**परिणिव्वाणमग्ग-परिनिर्वाणमार्ग**-पुं० । कर्माभावप्रभवसुखोपाये, उत्त० २ अ० । निर्वृत्तिनगरीपथे, स्था० ६ ठा० ।

**परिणिव्वाणवत्तिय-परिनिर्वाणप्रत्ययिक**-पुं० । परिनिर्वाणं मरणं, तत्र यच्छरीरस्य परिष्ठापनं तदपि परिनिर्वाणमेव, तदेव प्रत्ययो हेतुर्यस्य सः । मृतपरिष्ठापननिमित्तके कायोत्सर्गे, " तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगार कालगयं जाणित्ता परिणिव्वाणवत्तिय काउस्सग्गं करेइ " भ० २ श० १ उ० ।

**परिणिव्वुइ-परिनिर्वृति**-स्त्री० । परिनिर्वाणे, आनन्दसुखावाप्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

**परिणिव्वुय-परिनिर्वृत**-त्रि० । परि समन्तान्निर्वृत । अशेषकर्मक्षयं कृतवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । कर्मकृतविकारविरहात् स्वस्थीभूते, स्था० १ ठा० । निर्वाणं गते, पञ्चा० १६ विव० । स्था० । जं० । कर्मक्षयमिद्धे, सर्वत शारीरमानसास्वास्थ्यविरहिते, " एगे परिणिव्वुए । " परिनिर्वृत एकः, द्रव्यार्थनया परिनिर्वृतशब्दाभिधेयत्वसाम्यात् वा । अन्यथा त्वनन्ता । स्था० १ ठा० । कषायोपशमाच्छीतीभूते, परिनिर्वृत ( सिद्ध ) कल्पे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । आचा० । रागद्वेषविरहाच्छान्तीभूते, सूत्र० १ श्रु० ३ उ० । स्वास्थ्यातिरेकात् ( ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ) सर्वसन्तापवर्जिते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । परि समन्तात्सर्वप्रकारैर्निर्वृतः । सकलसमीहितार्थलाभप्रकर्षप्राप्तत्वात् शीतीभूते, अनु० ।

**परिणीआ-परिणीता**-स्त्री० । विवाहितकुमारिकायाम्, पाइ० ना० २२२ गाथा ।

**परिण्ण-परिज्ञ**-त्रि० । परि समन्ताद् विशेषतो जानातीति परिज्ञः । ज्ञानयुक्ते, " ण इत्थी ण पुरिसे ण अन्नहा परिण्णे । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

**परिण्णचारि ( ण् )-परिज्ञाचारिन्**-त्रि० । परिज्ञानं परिज्ञा सदसद् विवेकः, तया चरितुं शीलमस्येति परिज्ञाचारी । ज्ञानपूर्वक्रियाकारिणि, "तहा विमुक्कस्स परिण्णचारिणो, धितीमतो दुक्खखमस्स भिक्खुणो ।" आचा०२ श्रु०४ चू० १ अ० ।

**परिण्णा-परिज्ञा**-स्त्री० । परिज्ञानं परिज्ञा । अवबोधे, पो० ५ विव० । ज्ञाने, स्था० ८ ठा० । सदसद्विवेके, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० । सूत्र० । ध० ८० । आव० । केवलेन मनसा पर्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ज्ञानपूर्वके प्रत्याख्याने, स्था० ६ ठा० ।

परिज्ञानिक्षेपः-

णामं ठवणपरिन्ना, दव्वे भावे य होइ नायव्वा ।
दव्वपरिन्ना तिविहा, भावपरिन्ना भवे दुविहा ॥ १० ॥

( णाममित्यादि ) तत्र नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्परिज्ञा चतुर्धा । तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यपरिज्ञां प्रतिपादयन् गाथापरार्द्धमाह-द्रव्यपरिज्ञेति । द्रव्यस्य द्रव्येण वा परिज्ञा द्रव्यपरिज्ञा, सा च परिच्छेद्यद्रव्यप्राधान्यात्तस्य च सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रैविध्यात्त्रिविधेति । भावपरिज्ञाऽपि ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यानपरिज्ञाभेदेन द्विविधेति, शेषस्त्वागम-नोआगम-ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्ताऽऽदिको विचारः शस्त्रपरिज्ञावद् द्रष्टव्यः । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

परिज्ञा चतुर्धेत्याह-

दव्वं जाणण पच्च-क्खाणे दविए सरीर उवगरणे ।
भावपरिण्णा जाणण, पच्चक्खाणं च भावेणं ॥ ३७ ॥
(दव्वे सच्चित्ताऽऽदी,भावे अणुभवण जाणणा सण्णा य ।
मति होई जाणणा पुण, अणुभवणा कम्मसंजुत्ता ॥ ३८ ॥
आहारभयपरिग्गह- मेहुणसुहदुक्खमोहवितिगिच्छा ।
कोहमाणमायलोभे, सोगे लोगे य धम्मोहे ॥ ३९ ॥ *)

तत्र द्रव्यपरिज्ञा द्विधा-ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । ज्ञपरिज्ञा आगमनोआगमभेदाद् द्विधा, आगमतो ज्ञातानुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिधा तत्र व्यतिरिक्ता द्रव्यपरिज्ञा यो यत् द्रव्यं जानीते सचित्ताऽऽदि सा परिच्छेद्यद्रव्यप्राधान्यात् द्रव्यपरिज्ञेति, प्रत्याख्यानपरिज्ञाऽप्येवमेव, तत्र व्यतिरिक्ता द्र-

* एकस्मिन् मुद्रितपुस्तके इमे गाथे न स्तः ।

ज्ञप्रत्याख्यानपरिज्ञा देहोपकरणपरिज्ञानम् , उपकरणं च रजोहरणाऽऽदि, साधकतमत्वात्, भावपरिज्ञाऽपि द्विधैव-ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्राऽऽगमतो ज्ञातोपयुक्तश्च, नोआगमतस्त्विदमेवाऽध्ययनं ज्ञानक्रियारूपम् , नोशब्दस्य मिश्रवाचित्वात् , प्रत्याख्यानभावपरिज्ञाऽपि तथैव, आगमतः पूर्ववत्, नोआगमतस्तु प्राणातिपातनिवृत्तिरूपा मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभेदाऽऽत्मिका ज्ञेयेति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । म० । आ० चू० ।

तत्थ खलु भगवया परिराणा पवेइया ॥ १० ॥

तत्र कर्मणि व्यापारेऽकार्षमहङ्करोमि करिष्यामीत्यात्मपरिणतिस्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना परिज्ञानं परिज्ञा, सा प्रकर्षेण प्रशस्ताऽऽदौ वा वेदिता प्रवेदिता । एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनाम्ने कथयति । सा च द्विधा-ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवतीत्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सावद्ययोगा बन्धहेतवः प्रत्याख्येया इत्येवंरूपा चेति ।

अमुमेवार्थं निर्युक्तिरुदाह-

तत्थ अकारि करिस्सं--ति बंधचिंता कया पुणो होइ ।
सहसम्मइया जाणइ, कोइ पुण हेतुजुत्तीए ॥ ६७ ॥

तत्र कर्मणि क्रियाविशेषे, किम्भूत इत्याह-( अकारि करिस्संति ) अकारीति कृतवान् ( करिस्संति ) करिष्यामीत्यनेनातीतानागतोपादानेन तन्मध्यवर्त्तिनो वर्त्तमानस्य कारितानुमत्योश्चोपसंग्रहाद्यावपि भेदा आत्मपरिणामत्वेन योगरूपा उपात्ता द्रष्टव्याः । तत्रानेनाऽऽत्मपरिणामरूपेण क्रियाविशेषेण 'बन्धचिन्ता कृता भवति' बन्धस्योपादानमुपात्तं भवति. 'कर्मयोगनिमित्तं' बध्यते इति वचनात् एतच्च कश्चिज्जानाति आत्मना सह या सन्मति स्वमतिर्वाऽवधिमन पर्यायकेवलजातिस्मरणरूपा तया जानाति, कश्चिच्च पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणया हेतुयुक्त्येति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

श्रुताध्ययने परिज्ञारूपो गुणो भवति-

सज्झायं जाणंतो, पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य ।
होति य एगग्गमणो, विणएण समाहितो साहू ॥

अत्र च ' सज्झायं जाणंतो " इत्यनेन ज्ञपरिज्ञया, 'पंचिंदियसंवुडो " इत्यादिना तु प्रत्याख्यानपरिज्ञाऽभिहितेति द्रष्टव्यम् । वृ० १ उ० २ प्रक० । परि समन्तात् ज्ञान पापपरित्यागेन परिज्ञा । सामायिके, विशे० । ( तत्र कथानकमिलापुत्रस्य, तच्च ' इलापुत्त ' शब्दे द्वितीयभागे ६३२ पृष्ठे गतम् )

गाथोच्यते-

परिजाणिऊण जीवे, अज्जीवे जाणणापरिन्नाए ।
सावज्जजोगकरणं, पडिजाणइ सो इलापुत्तो ॥

परिज्ञाय जीवान् अजीवांश्च ( जाणणापरिएणाए इति) ज्ञपरिज्ञया, सावद्ययोगकरणं सावद्ययोगक्रियाम् ( परिजाणइत्ति ) प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिजानाति, स इलापुत्रः । गतं परिज्ञाद्वारम् । आ० म० १ अ० । आ० चू० । भक्तप्रत्याख्याने, बृ० १ उ० ३ प्रक० । अनशने, नि० चू० १ उ० ।

परिज्ञामाह-

पंचविहा परिन्ना पएणत्ता । तं जहा-उवहिपरिन्ना, उवस्सयपरिन्ना, कसायपरिन्ना, जोगपरिन्ना, भत्तपाणपरिन्ना ।

( पंचविहेत्यादि ) सुगमम् । नवरं, परिज्ञानं परिज्ञा-वस्तुस्वरूपस्य ज्ञानं, तत्पूर्वकं प्रत्याख्यानम् इयं च द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतोऽनुपयुक्तस्य भावतस्तूपयुक्तस्येति, आह च-" भावपरिन्ना जाणण पच्चक्खाणं च भावेणं । " इति तत्रोपधौ रजोहरणाऽऽदिस्तस्यातिरिक्तस्याशुद्धस्य सर्वस्य वा परिज्ञा उपधिपरिज्ञा एवं शेषपदान्यपि, नवरम् उपाश्रीयते सेव्यते संयमाऽऽत्मपालनायेत्युपाश्रय. । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

परिणाण - परिज्ञान-न० । परि समन्तात् ज्ञानम् । घटपटशब्दाऽऽदिविषये ज्ञाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अयमेवंविध इतिज्ञाने, आ० १ श्रु० १ अ० ।

परिणाय -परिज्ञात-त्रि० । परीति सर्वप्रकारं ज्ञातः परिज्ञात.। ज्ञपरिज्ञयेह परत्र च महानर्थतया विदिते प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याने, उत्त० १३ अ० । आचा० ।

परिणाय-अव्य० । सम्यगवबुध्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । परिच्छिद्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । सूत्र० । हेयोपादेयतया बुद्ध्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

परिणायकम्म-परिज्ञातकर्मन्-त्रि० । परि समन्ताज्ज्ञातं कर्म स्वरूपतो विपाकतस्तदुपादानतश्च येन स परिज्ञातकर्मा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सावद्यकरणकारणानुमतिनिवृत्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । परिज्ञातानि ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽवगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृतानि कर्माणि कृष्यादीनि येन स परिज्ञातकर्मा । परिज्ञातकृष्यादिसावद्यव्यापारे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

परिणायकिरिय-परिज्ञातक्रिय-पु० । परिज्ञातकर्मणि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परिणायगिहावास-परिज्ञातगृहाऽऽवास-पु० । परिज्ञातो निःसारतया गृहवासो येन स तथा । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रव्रजिते, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

परिणायसंग-परिज्ञातसङ्ग-पु० । परिज्ञात' सङ्ग सम्बन्ध स बाह्याभ्यन्तरो येन स. । गृहसङ्गान्निर्गते । प्रव्रजिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

परिणायसएण-परिज्ञातसंज्ञ-त्रि० । परिज्ञाता. संज्ञा आहारसंज्ञाऽऽद्या येन स परिज्ञातसंज्ञ । त्यक्तसञ्ज्ञे, स्था०४ ठा०३ उ० ।

परिणाविवेग-परिज्ञाविवेक-पु० । परिज्ञाविशिष्टतायाम् अध्यवसायविशेषे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

परिणासमय-परिज्ञासमय-पु० । सम्यग्ज्ञानविषये, "सि हु प्परिन्नासमयम्मि वट्टइ, णिरासते उवरयमेहुणे चरे । भुजंगमे जुण्णतयं जहा जहे, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे ॥ ६ ॥ " आचा० २ श्रु० ४ चू० ।

परिणोवचिय-परिज्ञोपचित-न० । केवलमनोव्यापारेण केवलकायक्रियोच्छेदेन वोपचिते हिंसाकर्मणि सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ( परिज्ञोपचितं कर्म न बध्यते भिक्षुसमये इति ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३३१ पृष्ठे चिन्तितम् )

परितंत-परितान्त-त्रि० । सर्वतः खिन्ने ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । विपा० । निर्विणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । विशे० । ज्ञा० । नि० । विश्रान्ते, अणु० ३ वर्ग १ अ० ।

परितप्पमाण-परितप्यमान-त्रि० । परि समन्तात् तप्यमानः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनिष्टं येन पीड्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । "मम्मण" वणिग्वदार्तध्यायिनि, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । ('मम्मण' शब्दे कथां वक्ष्यामि )

परितलिय-परितलित-न० । सुकुमालिकाऽऽदिके तैलाऽऽदिनलिते, औ० ।

परिताव-परिताप-पुं० । परि समन्तात्तापः परितापः । उत्त० पाई० २ अ० । गाढोष्मणि, उत्त०२ अ० । परितस्तापोत्पादने, ध० ३ अधि० । सूत्र० । आचा० । अन्तर्दाहे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । शोचे, पश्चात्तापे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०४ उ० । आचा० ।

तिहिं ठाणेहिं देवे परितप्पेज्जा । तं जहा-अहो णं मए संते बले संते वीरिए संते पुरिसकारपरक्कमे खेमंसि सुभिक्खंसि आयरियउवज्झाएहिं विज्जमाणेहिं कल्लसरीरेणं णो बहुए सुए अहीए ॥ १ ॥ अहो णं मए इहलोगपडिबद्धेणं परलोगपरंमुहेणं विसयतिसिएणं णो दीहे सामन्नपरियाए अणुपालिए ॥२॥ अहो णं मए इड्ढिरससायगुरुएणं भोगासंसगिद्धेणं णो विसुद्धे चरित्ते फासिए ॥३॥ स्था०३ठा०३उ० ।

टीका सुगमा ।

परितावकर-परितापकर-त्रि० । परमार्थेन दुःखानुभवकरे, पो० १६ विव० । प्राणिनामुपतापहेतौ, ग० १ अधि० । औ० ।

परितावण-परितापन-त्रि० । परिताप्यतेऽत्र । प्रश्न० १ आ० श्र० द्वार । सर्वतः पीडने, ग० २ अधि० ।

परितावणकर-परितापनकर-पुं० । प्राणिनामुपतापनहेतौ, अप्रशस्तमनोविनये, औ० ।

परितावणकरी-परितापनकरी-स्त्री० । प्राणिना दुःखकृद्भाषायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

परितावणास्सव-परितापनाऽऽश्रव-पुं० । परितापनपूर्वके आश्रवे हिंसायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

परिताविय-परितापित-त्रि० । सर्वतः पीडिते, ध० २ अधि० । भ० ।

परितावेत-परितापयत्-त्रि० । समन्ताज्ज्ञानसन्तापं भ० ८ श० ७ उ० ।

परितावेयव्व-परितापयितव्य-त्रि० । शारीरमानसपीडोत्पादनतो-पद्रावयितव्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सूत्र० ।

परितोस-परितोष-पुं० । आनन्दे, पञ्चा० ७ विव० । प्रीतिविशेषे, पञ्चा० ९ विव० ।

परित्त-परीत-पुं० । परि समन्तादितो गतः । प्रश्न० मव० ? १०६ प० । परप्रदेशिकः येन विष्कम्भाभावेन परिमित, भ० १८ श० ? उ० । नं० । नियतप्रमाणे, भ० ४ श० ६ उ० । ' पासेण' ? ? पुरिसाण ? सामण पन्ति । " भ० ४ श० ६ उ० । प्रत्येकशरीरिणि परीतो ? संसार च जी चे, विशे० । स्था० । वृ० । नि० चू० । ( द्रव्यतः परीतलक्षणम् ' अणंतजीव ' शब्दे प्रथमभागे २६५ पृष्ठे उक्तम् ) ।

परित्तकायसंजुत्त-परीतकायसंयुक्त-त्रि० । परीतकायेन वनस्पतिना युक्ते, नि० चू० ।

सुत्तं-

जे भिक्खू परित्तकायसंजुत्तं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ । ४ ।

परित्तवणस्सइकाइएणं संजुत्तं जो असणाइ भुंजइ, तस्स चउलहुं, आणाइणो य दोसा भवति ।

गाहा-

जे भिक्खू असणाऽऽदी, भुंजेज्ज परित्तकायसंजुत्तं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १६ ॥

कंठा ।

इमा संजमविराहणा-

तं काय परिच्चयती, तेण य चत्तेण संजमं चयते ।
अतिखाइ अणुचितेण य, विसूइगादीणि आताए ॥१७॥

तं ति परित्तं कायं परिच्चयइ, न रक्खति, व्ययतीत्यर्थः । तेण य परिचत्तेण संजमो चइओ, विराहिओ त्ति वुत्तं भवति । एसा संजमविराहणा, तेण य तिगडुयसंजुत्तेण अइप्पमाणेण भुत्तेण, अणुचिएण य अजिन्नं, विसूइयाए आयविराहणा ।

तत्थ इमे उदाहरणा-

भूतणगादीणि असणे, पाणे सहकारपाडलादीणि ।
खाइमे फलसुत्तादी, साइमे तंबोले पंचजुयं ॥ १८ ॥

भूतणं अज्जगो भन्नइ, तेण संजुत्तं असणं भुंजइ, आइसद्दाओ करमद्दियाऽऽदिफला, मूलगपत्तं, आसुरिपत्तं च, अन्ने य बहुपत्तपुप्फफला देसंतरपसिद्धा, पाणगं सहगारपाडला, नीलुप्पलाईहि संजुत्तं पिवइ, खाइमे सुत्ते अंबफला पसिद्धाइं तेहिं स खायइ, कविट्ठचिंचाइ वा लोणसहियं साइमे जाइफलं कक्कोलयं कप्पूर लवंगं पूगफलं । एते पंच दव्वा तंबोलपत्तसहिया खायइ एत्थ तिन्नि अच्चित्ता । अहवा-पूगफलं सचित्तवत्, त न गणिज्जइ, वीयपूरगतया पत्तमा लुब्भइ । सा दुविहा-चित्ताचित्ता संभवइ । अहवा-सचित्तसुत्तं, पूगफलं खइरो, कप्पूर जाइपत्तिया । एते पंच अचित्ता । एतेहिं सहिय तंबोलपत्तं साइमे ।

कारणे परित्त सहियं भुंजेज्जा-

वितियपदं गेलण्णे, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि ।
एएहिं कारणेहिं, जयणा इमा तत्थ कायव्वा ॥१९॥

गेलण्णे वेज्जोवएसा अद्धाणे असंथरे अलब्भंते ओमे असंथरंता एयमाइकारणेहिं इमा जयणा कायव्वा ।

गाहा-

ओमे तिभागपद्धे, तिभागमायंबिले चउत्थाई ।
निम्मिस्से मिस्से वा, परित्तकायम्मि जा जयणा ॥२०॥

निम्मिस्सं तुच्छ मिस्सं परित्तकायसंजुत्तं, सेसं जहा पेढे तहा वत्तव्वं नि० चू० १२ उ० ।

परित्तजीव-परीतजीव-पुं० । प्रत्येकजीवे, " जस्स जीवस्स भग्गस्स, समो भंगो य दिस्सए। परित्तजीओ से मूले, जेयावन्ने तहाविहे ॥ १ ॥ " चू० १ उ० २ प्रक० ।

परित्तजोणि-परीतयोनि-पुं० । परीता योनिर्यस्य स परीतयोनिः । प्रत्येकजीवे, नि० चू० १ उ०।

परित्ततिग-परीतत्रिक-न० । प्रत्येकस्थिरशुभाऽऽख्ये प्रत्येकत्रिके, कर्म० २ कर्म० ।

परित्तमीसिया-परीतमिश्रिका-स्त्री० । प्रत्येकवनस्पतिवनस्पतिसंघातमनन्तकायिकेन सह राशीकृतमवलोक्य प्रत्येकवनस्पतिरयं सर्वोऽपि वदति । भाषायाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।

परित्तसंसारिय-परीतसंसारिक-पुं० परीतः परिमित स चासौ संसारः परीतसंसारः, सोऽस्यास्तीति परीतसांसारिकः। " अतोऽनेकस्वरात् " ॥ ७ । २ । ६ ॥ ( हैम० ) इतीकणप्रत्ययः। सान्तसंसारे, परिमितसंसारे प्रति० । " दुविहा नेरइया पएणत्ता। तं जहापरित्तसंसारिया चेव, अपरित्तसंसारिया चेव"। स्था० २ ठा० २ उ० ।

परिदेवणता-परिदेवनता-स्त्री० । पुनः पुनः क्लिष्टभाषणे. स्था० ४ ठा० १ उ० । आर्तध्यानलक्षणे, द०।

परिदेविअ परिदेवित-त्रि०। विलपिते, पाइ० ना० १६६ गाथा।

परिपासअ-परियार्भक-पुं० । रात्रिक्षेत्ररक्षके, " परिपासउ त्ति छेत्ते, जो पुरिसो सुअइ राईए ।" पाइ० ना० २१६ गाथा।

परिपिंडिय-परिपिण्डित-त्रि० । ऐक्यमापादितेषु बहुषु वस्तुषु, आव० ३ अ० । वन्दनदोषभेदे, न०। "परिपिंडिअं वयणकरणओ वावि।" परिपिण्डितं प्रभूतानां युगपद्वन्दनम्। यद्वा-कुक्ष्योरुपरि हस्तौ व्यवस्थाप्य परिपिण्डितकरचरणस्याव्यक्तसूत्रोच्चारणपुरस्सरं वन्दनम्। ध० २ अधि०। आ० चू०।

परिपिहित्ता-परिपिधाय-अव्य० । छादयित्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

परिपीलिअ-परिपीडित-त्रि० । दुःखिते, निर्गलिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

परिपीलिअ-परिपीड्य-अव्य० । यूपरुधिराऽऽदिकं निर्गाल्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

परिपुरण-परिपूर्ण-त्रि० । अनुपहते, उत्त० १ अ० ।

परिपुरिणदियया-परिपूर्णेन्द्रियता-स्त्री०। अनुपहतचक्षुरादिकरणतारूपे शरीरसंपद्भेदे, स्था० ८ ठा०।

परिपूणग-परिपूणक-पुं० । घृतक्षीरगालने, सुगृहाभिधानचटकाकुलालये, न० । आ० म० । विशे० । सुगृहाचटिकाविरचिते नीडविशेषे, विशे० । आ० क० ।

परिपूय-परिपूत-त्रि०। गालिते, 'दूसपट्टपरिपूय " वस्त्रपट्टगालितमित्यर्थ । त० । ज्यो० । औ० । कल्प० ।

परिपेलव-परिपेलव-त्रि० । असारे, निःसारे, वराके, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

परिपोसिज्जंत-परिपोष्यमाण-त्रि० । उपचीयमाने, प० सू० १ सूत्र ।

परिप्पवंत परिप्लवत्-त्रि० । परिप्लवने, पाइ० ना० २६७ गाथा ।

परिप्पुय-परिप्लुत-त्रि० । आप्लुते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

परिप्पुया-परिप्लुता-स्त्री० । घृताऽऽदिभिः परिप्लुतभोजनः परिप्लुत एव त कृत्वा परिप्लुतयित्वा सुहस्तिनो रक्षवत् या सा तथोच्यते । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

परिप्फंद-परिस्पन्द-पुं०। देशाद् देशान्तरप्राप्तिलक्षणे क्रियाभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परिफग्गु-परिफल्गु-त्रि० । निष्फले, वृ० ३ उ० । आ० म० ।

परिफासिय-परिस्पृष्ट-त्रि० । व्याप्ते, दश० ५ अ० १ उ० ।

परिब्भट्ठ-परिभ्रष्ट-त्रि० । संसारगर्त्तायां पतिते, उत्त० ७ अ० ।

परिब्भत-देशी-निषिद्धे, भीरौ, च । दे० ना० ६ वर्ग ७२ गाथा ।

परिब्भमंत-परिभ्रमत्-त्रि० । पर्यटति, "एत्थ परिब्भमंतो दु चेप्पं ।" प्रा० ४ पाद ।

परिब्भमिय-परिभ्रान्त-त्रि० पर्यटिते, " अणंतखुत्तो समणुभूओ ।" सङ्था० १ अधि० १ प्रस्ता० ।

परिभव-परिभव-पुं० । जुगुप्सायाम्, गर्हायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

परिभवण-परिभवन-न० । आभाव्यार्थपरिहारेण न्यक्कियायाम्, औ० ।

परिभवणिज्ज-परिभवनीय-त्रि० । अनभ्युत्थानाऽऽदिभिः। ( ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ) अवज्ञायमाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

परिभवविणिवाय-परिभवविनिपात-पुं० । पराभिभवसंपर्के, औ० ।

परिभुसियसंपन्न-पर्युषितसंपन्न-पुं० पर्युषितं रात्रिपरिवसनं तेन संपन्नः पर्युषितसंपन्नः । इडुरिकाऽऽदौ आहारभेदे, ता हि पर्युषितकलनीकृता आम्लरसा भवन्ति, आरमनाश्रिताऽऽम्रफलाऽऽदि चेति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

परिभाइंत-परिभाजयत्-त्रि० । विभज्य ददति, " परिभुंजंताणि वा परिभाइंताणि विच्छड्डमाणाणि वा । " आचा० २ श्रु० २ चू० ११ अ० । नि० चू० । ज्ञा० ।

परिभाइज्जमाण-परिभाज्यमान-त्रि० । पार्श्ववर्तिभ्यो मनाग्मनाग् दीयमाने, रा० । आचा० । जी० ।

परिभाइत्ता-परिभाज्य-अव्य० । विभागैर्दत्त्वेत्यर्थे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

परिभाव्य-अव्य० । आलोच्येत्यर्थे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

परिभाइय-परिभाजित-त्रि० । पूर्वमेव परेभ्य परिकल्पिते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

परिभाएउं-परिभाजयितुम्-अव्य० । दायाऽऽदिषु विभज्य दातुमित्यर्थे, "पकामं दाउं परिभाएउं ।" परिभाजयितुं दायाऽऽ

दीनां प्रकामं दानाऽऽदिषु यावत् चापि देयमलं तावद्दस्तीति हृदयम् । भ० ६ श० ३३ उ० ।

**परिभाएत्ता**-परिभाज्य-अव्य० । विभागीकृत्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ६ अ० २ उ० ।

**परिभाएमाण**-परिभाजयत्-त्रि० । परस्परं यच्छति, कल्प० ? अधि० ५ क्षण । ददति, भ० १२ श० १ उ० । आचा० ।

**परिभाएमाणी**-परिभाजयन्ती-स्त्री० । ददत्याम्, विपा० १ श्रु० २ अ० । आचा० ।

**परिभायंतिया**-परिभाजयन्तिका-स्त्री० । पर्वदिनेषु स्वजनगृहेषु खण्डखाद्याऽऽदे परिभाजनकारिकायाम्, ज्ञा०१श्रु०७अ० ।

**परिभायण**-परिभाजन-न० । दाने, अनुप्रदाने च । व्य० २ उ० । नि० चू० । परिवेषणे नि० चू० १ उ० ।

**परिभावइत्ता**-परिभावयितृ-त्रि० । प्रभावके, स्था०४ठा०४उ० ।

**परिभावणीय**-परिभावनीय-त्रि० । पर्यालोचनीये, पञ्चा० ४ विव० ।

**परिभासण**-परिभाषण-न० । परि समन्तात् भाषणम् । प्रतिपादने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । वचने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । साध्वाचारनिन्दाया विधाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

**परिभासा**-परिभाषा-स्त्री० । परिभाषणं परिभाषा । अपराधिनं प्रति कोपाऽऽविष्कारेण मा यासीरित्यभिधाने, स्था० ७ ठा० । परिभाष्यतेऽध्यनयेति परिभाषा । चूर्णौ, नि०चू०२०उ० ।

**परिभासि( ण् )**-परिभाषिन्-त्रि० । परिभवकारिणि, स० २० सम० ।

**परिभुंजंत**-परिभुञ्जान-त्रि० । अभ्यवहरति, नि० चू० १ उ० । "असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभाइंताणि वा ।" आचा०२ श्रु०२ चू०४ अ० । नि० चू० । अभ्यवहारं कुर्वति, नि० चू० १ उ० ।

**परिभुंजेमाण**-परिभुञ्जान-त्रि० । परिभोगं कुर्वाणे, भ० ३ श० १ उ० ।

**परिभुज्जमाण**-परिभुज्यमान-त्रि० । परिभोगायोपयुज्यमाने, जं० १ वक्ष० । "अग्गपिंडं परिभुज्जमाणं ।" आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ५ उ० ।

**परिभुत्त**-परिभुक्त-त्रि० । कृतपरिभोगे आसेविते, ' परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा ।" आचा० २ श्रु०१ चू०१ अ०१ उ० । स्था० ।

**परिभुत्तपुव्व**-परिभुक्तपूर्व-त्रि० । पूर्वपरिभुक्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

**परिभूय**-परिभूत-त्रि० । तिरस्कृते, स्था० ८ ठा० । प्रश्न० ।

**परिभोग**-परिभोग-पु० । परिभुज्यते इति परिभोगः । पुन पुनर्वस्त्वादेर्भोगे, परिशब्दस्याभ्यावृत्तौ वर्त्तमानत्वात् । वसनालङ्कारोऽऽदेर्बहिर्भोगे च । परिशब्दस्य बहिर्वाचकत्वात् । आव०६ अ० । ध० । स्था० । "पुणो पुणो परिभोगो वत्थाऽऽभरणाऽऽदीणं पुप्फतंबोलाईणं ।" आ० चू० ६ अ० । उपा० । आसेवने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पञ्चा० । स्ववेलाया वस्त्राऽऽदेः परिभोगे, बृ०३ उ० । परिभुज्यत इति परिभोगः । पुनः पुनर्भोज्ये गृहाङ्गनाऽऽदिके, आतु० । ( 'एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां परिभोगः ' पिंड ' शब्दे वक्ष्यते)

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे ०जाव भगवं गोयमे एवं वयसी-अह भंते ! पाणाइवाए मुसावाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले पाणाइवाए वेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्ले वेरमणे पुढविकाइए० जाव वणस्सइकाइए धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवे असरीरपडिबद्धे परमाणुपोग्गले सेलेसिपडिवण्णए अणगारे सव्वे य बादरबोंदिधरा कडेवरा एएणं दुविहा जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य । जीवदव्वाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ? । गोयमा ! पाणाइवाए० जाव एएणं दुविहा जीवदव्वा य अजीवदव्वा य, अत्थेगइया जीवाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अत्थेगइया जीवाणं० जाव णो हव्वमागच्छंति । से केणट्ठेणं पाणाइवाए०जाव णो हव्वमागच्छन्ति ? । गोयमा ! पाणाइवाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले पुढवीकाइए० जाव वणस्सइकाइए सव्वे य बादरबोंदिधरा कडेवरा एएणं दुविहा जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य, जीवाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । पाणाइवायवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए०जाव परमाणुपोग्गले सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे एएणं दुविहा जीवदव्वा य, अजीवदव्वा य जीवाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । से तेणट्ठेणं० जाव णो हव्वमागच्छंति ।

( तेणमित्यादि ) (जीवे असरीरपडिबद्धे त्ति) त्यक्तसर्वशरीरो जीवः । (बादरबोंदिधरा कलेवर त्ति) स्थूलाऽऽकारधराणि न सूक्ष्माणि कडेवराणि निश्चेतना देहाः, अथवा, बादरबोंदिधरा बादराऽऽकारधारिणः कडेवराव्यतिरेकात्कडेवरात् द्वीन्द्रियाऽऽदयो जीवाः (एएणमित्यादि) एतानि प्राणातिपाताऽऽदीनि सामान्यतो द्विविधानि, न प्रत्येकं, तत्र पृथिवीकायाऽऽदयो जीवद्रव्याणि, प्राणातिपाताऽऽदयस्तु न जीवद्रव्याणि अपि तु तद्धर्मा इति न जीवद्रव्याण्यजीवद्रव्याणि, धर्मास्तिकायाऽऽदयस्तु अजीवरूपाणि द्रव्याणीतिकृत्वाऽजीवद्रव्याणीति जीवाना परिभोग्यत्वायाऽऽगच्छन्ति, जीवैः परिभुज्यन्त इत्यर्थः तत्र प्राणातिपाताऽऽदीन् यदा करोति तदा तान् सेवते, प्रवृत्तिरूपत्वात्तेषामित्येव तत्परिभोगः । अथवा-चारित्रमोहनीयकर्मदलिकभोगहेतुत्वात्तेषां चारित्रमोहाणुभोगः प्राणातिपाताऽऽदिपरिभोग उच्यते, पृथिव्यादीना तु परिभोगो गमनशौचनाऽऽदिभिः प्रतीत एव, प्राणातिपातविरमणाऽऽदीना तु न परिभोगोऽस्ति, वधाऽऽदिविरतिरूपत्वेन जीवस्वरूपत्वात्तेषां, धर्मास्तिकायाऽऽदीना तु चतुर्णाममूर्तत्वेन परमाणोः सूक्ष्मत्वेन शैलेशीप्रतिपन्नाऽनगारस्य च प्रेषणाऽऽद्यविषयत्वेनानुपयोगित्वान्न परिभोग इति । भ० १८ श० ३ उ० ।

**परिभोगेसणा**-परिभोगैषणा-स्त्री० । ग्रासैषणायाम्, उत्त० २४ अ० ।

परिभोत्तुं परिभोक्तुम्-अव्य०। पानाऽऽदिपरिभोग कर्तुमित्यर्थे, 'सिया य गोयरग्गगओ इच्छेज्जा परिभोत्तुं य। पकोट्ठग भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ॥८२॥' दश०५अ०१ उ०।

परिमंडण परिमण्डन-न०। भूषायाम्, प्रश्न०१ आश्र० द्वार।

परिमंडल-परिमण्डल-न०। वहिस्ताद् वृत्ताऽऽकारं मध्ये सुषिरे वलयस्येव संस्थानभेदे, भ०१४ श०७ उ०। प्रज्ञा०। स्था०। "एगे परिमंडले।" परिमण्डलं संस्थान वलयाऽऽकारं प्रतरघनभेदाद् द्विविधमिति तदैक्यं परिमण्डलत्वसाम्यात्। स्था० १ ठा०। वृत्तभावे, औ०। गोलाऽऽकारे, "पेढाल-निअक्कल-वट्टुलाई परिमंडलत्थम्मि।" पाइ० ना० ८४ गाथा।

परिमंडलसंठाण-परिमण्डलसंस्थान-न०। वलयाऽऽकारे, भ० ८ श० १० उ० अनु०।

परिमंडिय-परिमण्डित त्रि०। परि सामस्त्येन मण्डितम्। भूषिते, औ०। रा०।

परिमद्दण-परिमर्दन-न०। पृष्ठाऽऽदेर्मलनमात्रे, परिशब्दस्य धात्वर्थमात्रवृत्तित्वात्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। औ०।

परिमल-परिमल-पुं०। सुगन्धे, पाइ० ना० १४७ गाथा।

परिमाइय-परिमात्रिक-त्रि०। सर्वतो मात्रावति, भ० ३ श० ६ उ०।

परिमाण-परिमाण-न०। संख्याने, स्था० १० ठा०। इयत्तायाम्, सूत्र० १ श्रु०१ अ०४ उ०। तच्च महदणु दीर्घं ह्रस्वमिति चतुर्विधं व्यवहारकरणम्। सम्म०३ काण्ड। (निर्ग्रन्थाना परिमाणद्वारम् 'निग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०४४ पृष्ठे गतम्) (संयताना च 'संजय' शब्दे वक्ष्यते)

परिमाणकड-परिमाणकृत-न०। परिमाणं संख्यानं दत्तिकवलगृहभिक्षाऽऽदीना कृतं यस्मिस्तत् परिमाणकृतम्, इत्यादिभि. कृतपरिमाणे, भ० ८ श० २ उ०। स्था०। ल० प्र०। ध०। कृतपरिमाणे, "रत्तिं परिमाणकडे।" मैथुनसेवनं प्रति कृतयोषिद्भोगपरिमाणे, पञ्चा० १० विव०। आव०।

दत्तीहि व कवलेहि व, घरेहिँ भिक्खाहिँ अहव दव्वेहिं।
जो भत्तपरिच्चायं, करेइ परिमाणकडमेयं ॥ १५७६ ॥

दत्तिभिर्वा कवलैर्वा गृहैर्भिक्षाभि। अथवा-द्रव्यैरोदनाऽऽदिभिराहाराऽऽयामिनमानैर्यो भक्तपरित्यागं करोति (परिमाणकडमेयं ति) कृतपरिमाणमेतदिति गाथासमासार्थः ॥१५७६॥ "अवयवत्थो पुण-दत्तीहिं अज्ज मए एगा दत्ती दो वा ३-४-५ दत्ती, किं वा दत्तीए परिमाणं? चच्चगं (सित्थगं पि) एक्कसिं छुब्भइ एगा दत्ती, डोवलित्थं पि जत्तियाओ धाराओ पडंति ताइयाओ ताओ दत्तीओ। एवं कवले एक्केग० जाव वत्तीसं दोहिँ ऊणिया कवलेहिं, घरेहिं एक्कादेयाई २ ३ ४। भिक्खाओ एक्काइगाओ २ ३ ४। दव्वं अमुगं ओदणे खज्जगविही वा आयंबिल वा अमुगं वा कुसण एवमाइ विभासा" गतं कृतपरिणामद्वारम्। आव० ६ अ०।

परिमाणसंखा-परिमाणसंख्या-स्त्री०। संख्याभेदे, अनु०।

से किं तं परिमाणसंखा?। परिमाणसंखा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-कालिअसुअपरिमाणसंखा, दिट्ठिवायसुअपरिमाणसंखा य। से किं तं कालिअसुअपरिमाणसंखा?। कालिअसुअपरिमाणसंखा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-पज्जवसंखा अक्खरसंखा संघायसंखा पयसंखा पायसंखा गाहासंखा सिलोगसंखा वेढसंखा निज्जुत्तिसंखा अणुओगदारसंखा. उद्देसगसंखा अज्झयणसंखा सुअखंधसंखा अंगसंखा। से तं कालिअसुअपरिमाणसंखा। से किं तं दिट्ठिवायसुअपरिमाणसंखा?। दिट्ठिवायसुअपरिमाणसंखा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-पज्जवसंखा० जाव अणुओगदारसंखा पाहुडसंखा पाहुडिआसंखा पाहुडपाहुडियासंखा वत्थुसंखा। से तं दिट्ठिवायसुअपरिमाणसंखा। से तं परिमाणसंखा।

संख्यायते अनयेति संख्या, परिमाण पर्यवाऽऽदि तद्रूपा संख्या परिमाणसंख्या, सा च कालिकश्रुतदृष्टिवादविषयत्वेन द्विविधा, तत्र कालिकसूत्रपरिमाणसंख्याया पर्यवसंख्या इत्यादि पर्यवाऽऽदिरूपेण-परिमाणविशेषेण कालिकश्रुतं संख्यायत इति भाव। तत्र-पर्यवा पर्याया धर्मा इति यावत्। तद्रूपा संख्या पर्यवसंख्या। सा च कालिकश्रुते अनन्तपर्यायाऽऽत्मिका द्रष्टव्या एकैकस्याप्यकाराऽऽद्यक्षरस्य तदभिधेयस्य च जीवाऽऽदिवस्तुन प्रत्येकमनन्तपर्यायत्वात् एवमन्यत्रापि भावना कार्या नवरं संख्येयान्यकाराऽऽद्यक्षराणि,द्याद्यक्षरसंयोगरूपाः संख्येया संघाता., सुप्तिङन्तानि समयप्रसिद्धानि वा संख्येयानि पदानि गाथाऽऽदिचतुर्थांशरूपा. संख्येया पादा., संख्येया गाथा संख्येयाश्च श्लोका प्रतीता, एवं छन्दोविशेषरूपाः संख्येयावेष्टका निक्षेपनिर्युक्त्युपोद्घातनिर्युक्तिसूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिलक्षणा त्रिविधा निर्युक्ति व्याख्योपायभूतानि सत्पदप्ररूपणताऽऽदीन्युपक्रमाऽऽदीनि वा संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि संख्येया उद्देशा ,संख्येयान्यध्ययनानि, संख्येया श्रुतस्कन्धा. संख्येयान्यङ्गानि। एषा कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या। एवं दृष्टिवादेऽपि भावना कार्या, नवरं प्राभृताऽऽदयः पूर्वान्तर्गता श्रुताधिकारविशेषा.। (सेत्तमित्यादि) निगमनद्वयम्। अनु०।

परिमास-परिमर्श-पुं०। जलधिजलस्पर्शे, नाविकप्रसिद्धे च नौगतकाष्ठविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

परिमिय-परिमित-त्रि०। परिमाणतो मिते आ०म० १ अ०।

परिमियपिंडवाइय-परिमितपिण्डपातिक पुं०। परिमितो द्रव्याऽऽदि परिमाणत पिण्डपातो भक्ताऽऽदिलाभो यस्याऽस्ति स परिमितपिण्डपातिक। स्था० ५ ठा० १ उ०। अर्द्धयोगाऽऽदिलाभं प्रति कृतपरिमाणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

परिमियभत्तदाण-परिमितभक्तदान न०। परिमिताना भक्तकभेदिर्दानव्यभिति निश्चये, व्य० ६ उ०।

परिमोक्ख-परिमोक्ष-पुं०। परित्यागे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। समन्तान्मोक्षे " अणुवस्या अविज्जाए परिमोक्खमाहु।" आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रतिमोक्षे पुं०। अपनोदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

परियंत-पर्यन्त-पुं० । सकलान्तिमे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

परियाच्छिय-परिकलित-त्रि० । परिगृहीते , आ० म०१ अ०।

परियट्ट-परावर्त्त-पुं० । पुद्गलपरावर्ते, विशे० । आ० म० । पं० चू० । पं० भा० । ( तस्य चन्द्राऽऽदिभेदभिन्नस्य प्ररूपणा 'पोग्गलपरियट्ट' शब्दे वक्ष्यते ) पुनः पुनः स्थापनेन परिवर्तने ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

परियट्टग-परिवर्तक-पुं० । वस्त्रपरावर्तग्राहके, नि० चू० १० उ० ।

परियट्टण-परिवर्त्तन-न० । परिपालने, व्य० ६ उ० । द्विगुणत्रिगुणाऽऽदिभेदे, वर्तने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । वामपार्श्वेन वर्तने, स्वार्थेऽनट् । आव० ४ अ० ।

परियट्टणा परिवर्त्तना-स्त्री० । पुनः पुनर्भवने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्रपाठस्य मुहुर्मुहुर्गुणने, उत्त० २९ अ० । सूत्रस्य गुणने, स्था०५ ठा०३ उ० । पूर्वाधीतस्यैव सूत्राऽऽदेरविस्मरणनिर्जरार्थं अभ्यासे स्था० ५ ठा० ३ उ० । आव० । "परियट्टणा नाम परियट्टणं ति अब्भसणं ति गुणणं ति वा एगट्ठा ।" दश० १ अ० । आ० चू० । आ० म० । एष स्वाध्यायभेदः । स्था०५ ठा० ३ उ० । उत्त० ।

परिवर्त्तनाविधिरेवम्-

" इरिय सुपडिक्कंतो, कडसामइओ व सुद्दु पिहियमुहो ।
सुत्तं दोसविमुक्कं, सपयच्छेयं गुणइ सड्ढो ॥ १ ॥" इति ।

ध० र० २ अधि० ३ लक्ष० ।

परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । परियट्टणयाए णं वंजणाइं जणयइ वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥ २१ ॥

हे पूज्य हे स्वामिन् ! परिवर्त्तनया शास्त्रस्य गुणनेन जीवः किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! परिवर्त्तनया जीवो व्यञ्जनानि अक्षराणि जनयति, विस्मृतान्यक्षराण्यानयति, तथाविधकर्मक्षयोपशमात् व्यञ्जनलब्धिं व्यञ्जनसमुदायरूपां पदलब्धिं पदानुसारिणीं लब्धिं जनयति ॥ २१ ॥ उत्त० २९ अ० ।

परियट्टतिग-परिवर्तत्रिक-न० । प्रव्रज्यापर्यायपरिवर्त्तत्रिके, तच्च-छेदत्रिकं, मूलत्रिकमनवस्थाप्यत्रिकं च । व्य० १ उ० ।

परियट्टिय-परावर्तित-न० । साधुनिमित्तं कृतपरावर्ते, पिं० । आचा० । यदि प्रविवेशिकगृहे परिवर्त्य ददाति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । ग० । ध० । पं० सू० । पं० भा० । अत्र संभवति दशमे उद्गमदोषे, पिं० ।

अधुना परिवर्तितद्वारमभिधित्सुराह-

परियट्टियं पि दुविहं, लोइय लोगुत्तरं समासेणं ।
एक्केक्कं पि य दुविहं, तद्दव्वे अन्नदव्वे य ॥ ३२३ ॥

परिवर्तितमप्युक्तशब्दार्थं समासेन संक्षेपेण द्विविधम् । तद्यथा-लौकिकं, लोकोत्तरं च । एकैकमपि द्विविधम् । तद्यथा-तद्द्रव्ये तद्द्रव्यविषयं, अन्यद्रव्येऽन्यद्रव्यविषयं च । तत्र तद्द्रव्यविषयं यथा कुथितं घृतं दत्त्वा साधुनिमित्तं सुगन्धि घृतं गृह्णाति इत्यादि । अन्यद्रव्यविषयं यथा कोद्रवकूरं समर्पयित्वा साधुनिमित्तं शाल्योदनं गृह्णातीत्यादि । इदं च लौकिकम् । एवं लोकोत्तरमपि भावनीयम् ।

संप्रति लौकिकस्योदाहरणं गाथात्रयेणाऽऽह-

अवरोप्परसज्झिलगा, संजुत्ता दो वि अन्नमन्नेणं ।
पोग्गलिय सजयट्ठा, परियट्टण संखडे बोही ॥ ३२४ ॥
अणुकंप भगिणिगेहे, दरिद्द परियट्टणा य कूरस्स ।
पुच्छा कोद्दवकूरे, मच्छर णाइक्ख पंतावे ॥ ३२५ ॥
इयरो वि य पंतावे, निसि ओसवियाण तेसि दिक्खा य ।
तम्हा उ न घेत्तव्वं, कइ वा जे ओसमेंहिंति ? ॥३२६॥

वसन्तपुरे नगरे निलयो नाम श्रेष्ठी, तस्य सुदर्शना नाम भार्या, तस्या द्वौ पुत्रौ । तद्यथा क्षेमङ्करो, देवदत्तश्च लक्ष्मीनाम च दुहिता, तत्रैव वसन्तपुरे तिलको नाम श्रेष्ठी, सुन्दरी नाम तस्य महेला, तस्या धनदत्त पुत्रो, बन्धुमती दुहिता, तत्र क्षेमङ्कर समितिसूरीणामुपकण्ठे दीक्षा गृहीतवान्, देवदत्तेन च बन्धुमती धनदत्तेन च लक्ष्मीः परिणीता अन्यदा च कर्मवशतो धनदत्तस्य दारिद्र्यमुपतस्थे, ततः स प्रायः कोद्रवकूरं भुङ्क्ते, देवदत्तश्चेश्वरः, ततः स सर्वदैव शाल्योदन भुङ्क्ते, अन्यदा च स क्षेमङ्करः साधुर्यथा विहारक्रमं तत्राऽऽजगाम । स च चिन्तयामास-यदि देवदत्तस्य भ्रातुर्गृहे गमिष्यामि ततो मे भगिनी दारिद्र्येणाहमाभिभूता ततो न मम गृहे साधुरपि भ्राता समुत्तीर्ण इति परिभवं मंस्यते इति । ततोऽनुकम्पया तस्या एव गृहे प्रविवेश भिक्षावेलायां च तया लक्ष्म्या चिन्तितम्-यथा एकं तावदयं भ्राता द्वितीयं साधुः तृतीयं प्राघूर्णकः, मम च गृहे कोद्रवकूरः, ततः कथमसावस्मै दीयते शाल्योदनश्च मम गृहे न विद्यते ततो भ्रातृजायाया बन्धुमत्याः सकाशात् कोद्रवौदनपरावर्त्तेन शाल्योदनमादाय ददामीति तथैव कृतम् । अत्रान्तरे च देवदत्तो भोजनार्थं स्वगृहमागतः, बन्धुमत्या च पप्रच्छे-यथाऽद्य कोद्रवौदनो जेमितव्यः, तेन चाविज्ञातपरिवर्त्तनवृत्तान्तेन चिन्तितम् यथाऽनया कृपणतया कोद्रवौदनो राद्धो न शाल्योदनः, ततस्तां ताडयितुमारेभे, सा च ताड्यमाना प्राह-किं मा ताडयसि, तवैव भगिनी कोद्रवौदनं मुक्त्वा शाल्योदनं नीतवती धनदत्तस्याऽपि च भोजनार्थमुपविष्टस्य तः शाल्योदनं क्षेमङ्करस्य दीयमानमुद्धरितः स गौरवेण लक्ष्म्या परिवेषितः, ततस्तेन सा पृष्टा-कुतोऽयं शाल्योदनः ? । ततः कथितः सर्वोऽपि तया वृत्तान्तः, श्रुत्वा च तं वृत्तान्तं चुकोप धनदत्तो यथा हा पापे ! किमिति तथा मानमेकं शालेः पक्त्वा साधवे शाल्योदनो न दत्तो यत्परगृहादानयनेन मालिन्यमापादितः, ततस्तेनापि सा ताडिता, साधुना चायं वृत्तान्तो गृहद्वयवर्त्ती सर्वोऽपि जनपरम्परातः शुश्रुवे, ततो निशि सर्वाण्यपि तानि प्रतिबोधितानि, यथेत्थमस्माकं न कल्पते, परमजानता मया गृहीतम् । अत एव च कलहाऽऽदिदोषसंभवात् भगवता प्रतिषिद्धं ततो जिनप्रणीतं धर्मं सविस्तरं कथितवान् जातः सर्वेषामपि संवेगो, दत्ता च दीक्षा तेषां सर्वेषामिति । सूत्रं सुगमम्, नवरम्-( अवरोप्परसज्झिलगा इति ) लक्ष्मीदेवदत्तौ बन्धुमतीधनदत्तौ परस्परं सज्झिलगौ भ्रातरौ, ते च द्वे अपि लक्ष्मीबन्धुमत्यौ । ( अन्नमन्नेण त्ति ) अन्योन्यमपि संबद्धे, देवदत्तस्य भगिनी लक्ष्मीर्धनदत्तेन, धनदत्तस्यापि भगिनी बन्धुमती देवदत्तेन परिणीता इत्यर्थः । ( पोग्गलिय त्ति ) पौद्गलिकस्य शाल्योदनस्य, संय-

सार्थं क्षेमङ्करसाधुनिमित्तं, परिवर्त्तनं कृतं, ततः 'संखड' कल ह·,ततो 'बोधिः' प्रव्रज्या ॥३२४॥ अस्या एव गाथाया विवर णभूतमुत्तर गाथाद्वयम्, तदपि च सुगमं,नवरम् (मच्छर त्ति) विमाक्लिलोपात् मत्सरेण (णाहक्ख त्ति) परिवर्त्तने अकथिते ( पंतावे ) अताडयत् । ( ओसवियाण त्ति ) उपशमितानां, ननु परिवर्त्तनमपीदं प्रव्रज्यायाः कारणं बभूव ततो विशेषतः साधुभिरिदमाचरणीयमत आह-( कइ व त्ति ) कति वा कि- यन्तो वा क्षेमङ्करसाधुसदृशा भविष्यन्ति । ये इत्थं परिवर्त्त- नसमुत्थं कलहमपनीय प्रव्रज्या ग्राहयिष्यन्ति, तस्मान्नैवेद- माचरणीयम् । उक्तं लौकिकं परिवर्त्तनम् । अथ लोकोत्तरं तद् वक्तव्यं, तत्र यत्साधु· साधुना सह वस्त्राऽऽदिपरिवर्त्तनं करोति तल्लोकोत्तर परिवर्त्तनम् ।

तत्र दोषानुपदर्शयति-

ऊणाऽहिय दुब्बलं वा, खर गुरु छिन्न मइलं असीयसहं ।
दुव्वन्नं वा नाउं, विपरिणामे अन्नभणिओ वा ॥ ३२७ ॥

वस्त्रपरिवर्तने कृते सति इदं न्यून, यत्तु मदीयं वस्त्रं बभूव तत् मानयुक्तं प्रमाणोपपन्नम् । यद्वा-इदमधिकं मदीयं पुनर्मा नयुक्तम् । एवं सर्वत्र भावना । नवरं दुर्बलं जीर्णप्रायं, खरं क- र्कशस्पर्शं, गुरु स्थूलसूत्रनिष्पन्नतया भारयुक्तं, छिन्नं निपुण्प- कं, मलिनं मलाऽऽविलम्, अशीतसहं शीतरक्षणाक्षमं, दुर्व- र्णं विरूपच्छायम्, इत्थंभूतं स्वयमेव ज्ञात्वा विपरिणमेत् । धृष्टोऽहमिति विचिन्तयेत् । यद्वा-अन्येन साधुना स्वगूढेन भणित उत्प्रासितो विपरिणमेत् ।

अत्रैवापवादमाह-

एगस्स माणजुत्तं, न उ बिइए एवमाइ कज्जेसु ।
गुरुपामूले ठवणं, सो दलयइ अन्नहा कलहो ॥ ३२८ ॥

एकस्य साधोर्यस्य सत्कं तं न भवति तस्य मानयुक्तं प्रमा- णोपपन्नं वस्त्राऽऽदि, न द्वितीये द्वितीयस्य साधोर्यस्य सत्कं तस्य मानयुक्तं, किं तु ?-न्यूनमधिकं वा तत एवमादिषु कार्येषु समुत्पन्नेषु परिवर्तनस्य संभवो भवति, तत्र परिव- र्तनस्य संभवे यस्य सत्कं तत् वस्त्राऽऽदि तेन गुरुपादमूले तस्य वस्त्राऽऽदेः स्थापनं कर्तव्यं, गुरुपादमूले मोक्तव्यमित्य- र्थः । ततो वृत्तान्तः कथनीयो वृत्तान्ते च कथिते सति स गु- रुर्ददाति अन्यथा गुरुपादमूलस्थापनाऽऽद्यभावे कलह पर स्परं राटि· संभवतीति । उक्तं परिवर्तितद्वारम् ॥३२८॥ पिं० ।

सुत्तं-

जे भिक्खू परिग्गाहं परियट्टेइ,परियट्टावेइ, परियट्टियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

अप्पणिज्जं देति, परसंतियं गेण्हति त्ति परियट्टिस्सं, एत्थ चउलहुं । नि० चू० १४ उ० ।

परियडण-पर्यटन-न० । इतश्चेतश्च गमने, विशे० ।

परियण-परिजन-पुं० । स्वजनवर्गे, उत्त० ६ अ० ।

परियंतजुग-पर्यन्तयुग-न० । सकलयुगान्तिमयुगे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

परियत्तण-परिवर्तन-न० । इतरस्यां दिशि स्थापने, सू० ३ उ० नि० चू० ।

परियत्तणा-परिवर्तना-स्त्री० । घोषादिशुद्धगुणने,ध० ३अधि० ।

परियत्तमाणा-परावर्तमाना-स्त्री० । तदा तदा प्रतिबन्धोदय- संभवे यथायोगं स्वबन्धोदयहेतुसन्निधानतो बन्धमुदयं वा- ऽऽश्रित्य परावर्तन्ते, न भूयो भवन्तीति परावर्तमानाः । प० सं० ३ द्वार । अपरावर्तिनीषु कर्मप्रकृतिषु प० सं० ३ द्वार । ( एतासां स्वरूपम् ' परावत्तमाणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५० पृष्ठे उपदर्शितम् )

परियत्तिय-परिवर्तित-त्रि० । परावृत्ते, " वालिअयं परिवत्ति- अं । " दे० ना० २६५ गाथा ।

परियत्तेउं-परावर्त्य -अव्य० । परावर्तं कृत्वेत्यर्थे, तं० ।

परियर-परिकर-पुं० । परिवारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । रा० ।

परियाइत्तकंडकलाव-पर्यात्तकाण्डकलाप -त्रि० । विचित्रका- ण्डकलापयोगात् संपूर्णकाण्डकलापे, रा० । जी० ।

परियाइत्ता-पर्यादाय-अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, स्था० ७ ठा० ।

परियाइयण-पर्यायान-न० । अङ्गप्रत्यङ्गैः समन्ताद् याने, स० ।

पर्यादान-न० । शरीरनिष्पत्तेरारभ्य यथायोगमङ्गप्रत्यङ्गैर्लो- माहाराऽऽदीनां समन्तत पुद्गलदाने, प्रज्ञा० ३४ पद । भ० ।

परिआईय-पर्यायातीत-त्रि० । विवक्षितपर्यायमतीते, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पर्याप्त-त्रि० । सामस्त्यगृहीते, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

परियागत-पर्यायाऽऽगत-त्रि० । सर्वतो निष्पन्नतां गते आ० १ श्रु० ७ अ० ।

परियाण-परियान-न० । परि-या ल्युट् । "अधिपरी अनर्थकौ" ॥१।४।६३॥ इति (पा०) कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया उपसर्गसंज्ञा निषेधान्न णत्वम् । देशान्तरगमने स्था० १० ठा० । तिर्यग्लो- कावतरणाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । परियायते गम्यते येनेति परियानम् । परियानकरणे, स्था० ८ ठा० ।

परित्राण-न० । परित्रायत इति परित्राणम् । रक्षणीये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

परियाणियविमाण-परियानिकविमान-न० । परियायते गम्य- ते यैस्तानि परियानानि तान्येव परियानिकानि । परियानं वा गमनं प्रयोजनं येषां तानि परियानिकानि, तानि च विमा- नानि । यानकारकाभियोगिकपालकाऽऽदिदेवकृतेषु पालका- ऽऽदिषु स्था० ।

एएसु णं अट्ठसु कप्पेसु अट्ठ इंदा पण्णत्ता । तं जहा-सक्के० जाव सहस्सारे । एएसिं अट्ठण्ह इंदाणं अट्ठ परियाणिया विमाणा पण्णत्ता । तं जहा-पालए,पुप्फए,सोमणसे, सिरिव- च्छे,णंदियावत्ते,कामकमे, पीइमणे, विमले । स्था० ८ ठा० ।

परियाय-पर्याय-पुं० । कथञ्चिदागमस्यात्मनो भावस्थान्तरा- ऽऽपत्तौ, आ० म० १ अ० । ( वस्तुन. स्वपर्याया परपर्यायाश्च ' अक्खर ' शब्द प्रथमभागे १४२ पृष्ठे गता ) " परियाओ दुविहो-जम्मणओ, पव्वज्जाए य । ' नि० चू० १९ उ० । पर्या- यो द्विधा-जन्मन , प्रव्रज्यया च । जन्मना जन्मपर्याय , प्र- व्रज्यया प्रव्रज्यापर्याय इति । तत्र जन्मपर्याय जन्मप्रभृ-

वः जन्मकाल. । स्था० ६ ठा० । प्रव्रज्याप्रतिपत्तिलक्षणः। आ० म० १ अ० । स्था० । आचा० । संयमानुष्ठानलक्षणो वा। आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अधुना पर्यायद्वारमाह–

**गिहि सामन्ने य तहा, परियाओ दुविह होइ नायव्वो ।**
**इगुतीसा वीसा य, जहन्न उक्कोस कोडूणा ॥**

पर्यायो भवति द्विधा ज्ञातव्य । तद्यथा–गृहे गृहविषय । जन्मन आरभ्येत्यर्थः । तथा श्रामण्ये श्रामण्यविषय । श्रमणभावप्रतिपत्तेरारभ्य इति भाव । इयमत्र भावना द्विविधः पर्यायः। तद्यथा–जन्मपर्यायो, दीक्षापर्यायश्च । इगुतीसा वीसा य जहण्ण त्ति ) यथासंख्येन योजना–जन्मपर्यायो जघन्यतो जन्मन एकोनत्रिंशद्वर्षाणि विज्ञेय । दीक्षापर्यायो विंशतिवर्षाणि उत्कर्षत उभयत्रापि देशोना पूर्वकोटि। उक्तं च–"परियाओ दुविहो–जम्मपरियातो य, दिक्खापरियातो य । जम्मपरियातो जहन्नेण इगुणतीसं वास, उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी । दिक्खापरियातो जहण्णेणं वीसं वासा, उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी" । गतं पर्यायद्वारम् । व्य० १ उ० । आ० म० । ब्रह्मचर्ये, आव० ४ अ० । अभिप्राये, युक्तिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । द्रव्यस्य क्रमभाविनि धर्मे, रत्ना० ५ परि० । ( 'पज्जव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २११ पृष्ठादारभ्य सर्वा वक्तव्यतोक्ता )

**परियायंतकडभूमि–पर्यायान्तकृद्भूमि–**स्त्री० । तीर्थकरस्य केवलित्वकालमाश्रित्यान्तकरभूमौ, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । ज्ञा० । ( कस्य तीर्थकृतोऽन्तकृद्भूमय. कियत्य इति 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२७१ पृष्ठे उक्तम )

**परियायजिट्ठ–पर्यायज्येष्ठ–**पुं० । चिरप्रव्रजिते, दश० १० अ० ।

**परियायथेर–पर्यायस्थविर–**पुं० । प्रव्रज्यानः स्थविरे वृद्धे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

**परियायसंगइय–पर्यायसाङ्गतिक–**पुं० । तापसपर्यायवर्तिनि मित्रे, भ० ७ श० ६ उ० ।

**परियायाय–पर्यायायात–**त्रि० । पर्यायाऽऽगते, अवस्थान्तरं प्राप्ते, भ० १४ श० ७ उ० ।

**परियारग–परिचारक–**त्रि० । परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः। स्था० २ ठा० ४ उ० । मैथुनाभिष्वङ्गकर्तरि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रोगिपरिचारकारके वैद्ये, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**परियारणया परिचारणता–**स्त्री० । यथायोग शब्दाऽऽदिविषयोपभोगे, प्रज्ञा० ३४ पद ।

**परियारणा–परिचारणा–**स्त्री० । देवमैथुनसेवायाम, स्था० ।

**तिविहा परियारणा पन्नत्ता । तं जहा–एगे देवे अन्ने देवे अन्नेसिं देवाणं देवीओ य अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ । अप्पणिज्जिताओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ । अप्पाणमेव अप्पाणं विउव्विअ विउव्विअ परियारेइ । एगे देवे णो अन्ने देवे णो अन्नेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ । अप्पणिज्जिताओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ । अप्पाणमेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेइ । एगे देवे णो अन्ने देवे णो अन्नेसिं देवाणं देवीओ णो अप्पणिज्जियाओ अप्पाणमेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेइ ॥**

परिचारणा देवमैथुनसेवेति । एक कश्चिद्देवो, न सर्वोऽप्येवमिति किम् (अन्ने देवे त्ति) अन्यान्देवानल्पर्द्धिकान् तथाऽन्येषां देवाना सत्का देवीश्चाभियुज्याऽभियुज्याश्लिष्याश्लिष्य वशीकृत्य वा परिचारयति परिभुङ्क्ते वेदबाधोपशमायेति । न च न सम्भवति देवस्य देवसेवा पुरुषवेनेत्याशङ्कनीयम्, मनुष्येष्वपि तथाऽऽश्रयणात् । न चात्रार्थे नरामरयोः प्रायो विशेषोऽस्तीत्येक एवाय प्रकारो देवदेवीनामन्यत्वसामान्यात् । अत एव द्वयोरपि पदयोरेक. क्रियाभिसंबन्ध इति । एवमात्मीया देवी. परिचारयतीति द्वितीय , तथाऽऽत्मनमेव परिचारयति, कथम्?, आत्मना विकृत्य विकृत्य, परिचारणायोग्य विधायेति तृतीय । एवं प्रकारत्रयरूपाऽप्येकैव परिचारणा, प्रभविष्णूत्कटकामैकपरिचारकवशादिति । अथान्यो देव आद्यप्रकारपरिहारेणान्यप्रकारद्वयेन परिचारयतीति द्वितीयेयमप्रभविष्ण्वल्पकामपरिचारकदेवविशेषात् । तथाऽन्यो देव आद्यप्रकारद्वयवर्जनेनान्यप्रकारेण परिचारयतीति तृतीयाऽनुत्कटकामाल्पर्द्धिकदेवविशेषस्वामिकत्वादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सम्प्रति परिचारणा प्रतिपादयिषुरिदमाह–

**देवा णं भंते ! किं सदेवीया सपरियारा, सदेवीया अपरियारा, अदेवीया सपरियारा, अदेवीया अपरियारा ? । गोयमा ! अत्थेगतिया देवा सदेवीया सपरियारा, अत्थेगतिया देवा अदेवीया सपरियारा, अत्थेगतिया देवा अदेवीया अपरियारा । नो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–अत्थेगतिया देवा सदेवीया सपरियारा तं चेव० जाव नो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा ? । गोयमा ! भवणवइवाणमंतरजोइससोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा सदेवीया सपरियारा । सणंकुमारमाहिंदबंभलोगलंतगमहासुकसहस्सारआणयपाणयआरणच्चुएसु कप्पेसु अदेवीया सपरियारा । गेविज्जाणुत्तरोववाइया देवा अदेवीया अपरिचारा नो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–अत्थेगतिया देवा सदेवीया सपरियारा तं चेव नो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा ।**

सुगम, नवरं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानकल्पेषु देवा सदेवीका., देवीनां तत्रोत्पादात् । अत एव सपरिचारा· परिचारणासहिता , देवीनां तत्परिग्रहे यथायोग भावतः कायप्रवीचारभावात् । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्ब्रह्मलोकलान्तकयोर्महाशुक्रसहस्रारयोरानताऽऽदिचतुर्षु कल्पेषु देवाश्चादेवीका , तत्र देवीनामुत्पादाभावात् । अथ च परिचारणासहिता , सौधर्मेशानगतदेवीभि· सह यथाक्रम स्पर्शरूपशब्दमन·प्रवी·

चारभावात् । ग्रैवेयकानुत्तरोपपातिनो देवा अदेवीका, देवीनां तत्रोत्पादाभावात् । अपरिचारा अप्रवीचाराः, अत्यन्तमन्दपुरुषवेदोदयतया मनसाऽपि प्रवीचारासम्भवात्, न पुनस्ते देवा सदेवीका अपरिचारा, तथाभवस्वाभाव्यात् । ( से तेणमित्यादि ) निगमनवाक्यम् । प्रज्ञा० ३४ पद । वेदोदयप्रतीकारे, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

देवा सदेवीकाः सपरिचारा इत्युक्तं, तत्र परिचारणामेव जिज्ञासुः पृच्छति-

कतिविहा णं भंते ! परियारणा पसत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पसत्ता । तं जहा-कायपरियारणा, फासपरियारणा, रूवपरियारणा, सद्दपरियारणता, मणपरियारणता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-पंचविहा परियारणता पसत्ता । तं जहा-कायपरियारणया० जाव मणपरियारणता ?। गोयमा ! भवणवइवाणमंतरजोइससोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा, सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा, बंभलोयलंतगेसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा, महासुक्कसहस्सारेसु देवा सद्दपरियारगा, आणयपाणयआरणाच्चुएसु कप्पेसु देवा मणपरियारगा, गेविज्जाणुत्तरोववाइया देवा अपरियारगा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव० जाव मणपरियारगा ।

(कतिविहा णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(गोयमेत्यादि) गतार्थम्; नवरम् (कायपरिचारगा इति) कायेन शरीरेण मनुष्यस्त्रीपुंसानामिव परिचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते कायपरिचारकाः । किमुक्तं भवति ? भवनपत्यादय ईशानदेवलोकपर्यन्ता संक्लिष्टोदयपुरुषवेदकर्मप्रभावतो मनुष्यवत् मैथुनसुखप्रतीयमाना सर्वाङ्गीणं कायक्लेशजं संस्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिमासादयन्ति, नान्यथेति । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोर्देवा स्पर्शपरिचारकाः, स्पर्शेन स्तनभुजोरुजघनाऽऽदिगात्रसंस्पर्शेन परिचारः प्रवीचारो येषां ते तथा । ते हि यदा प्रवीचारमभिलषन्ति तदा प्रवीचाराभिलाषुकतया प्रत्यासन्नीभूतानां देवीनां स्तनाऽऽद्यवयवान् संस्पृशन्ति, तावन्मात्रेणैव तेषां कायप्रवीचारादनन्तगुणसुखवेदोपशान्तिश्चोपजायते । ब्रह्मलोकलान्तकयोः कल्पयोर्देवा रूपपरिचारकाः रूपेण रूपमात्रदर्शनेन परिचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते तथा । ते हि सुरसुन्दरीणां मनोभवराजस्थानीयं दिव्यमुन्मादजनकं रूपमुपलभ्य कायप्रवीचारादनन्तगुणं सुरतसुखमामादयन्ति, तावन्मात्रेणैव चोपशान्तवेदा उपजायन्ते । महाशुक्रसहस्रारेषु कल्पेषु देवा शब्दपरिचारकाः शब्देन शब्दमात्रश्रवणेन परिचारो येषां ते तथा । ते हि इच्छाविषयीकृतदेवीस्तनगीतहसितसविकारभाषितनूपुराऽऽदिध्वनिश्रवणमात्रत एव कायप्रवीचारादनन्तगुणं सुखमुपभुञ्जते, तावन्मात्रेणैव च तेषां वेद उपशान्तिमेति । आनतप्राणतारणाच्युतेषु कल्पेषु देवा मनःपरिचारकाः मनसा मनोभवविकारोपष्टम्भितपरस्परोच्चावचमनःसङ्कल्पेन परिचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते तथा । ते हि परस्परोच्चावचमनःसङ्कल्पमात्रेणैव कायप्रवीचारादनन्तगुणं सुखमाप्नुवन्ति, तृप्ताश्च तावन्मात्रेणैवोपजायन्ते । ग्रैवेयकानुत्तरोपपन्नदेवा अपरिचारका न विद्यते परिचारो मिथुनोपसेवनं मनसाऽपि येषां ते तथा, तेषां प्रतनुमोहोदयतया प्रशमसुखान्तर्लीनत्वात्, यद्येवं कथं न ते ब्रह्मचारिणः ?, उच्यते-चारित्रपरिणामाभावात् । "से तेणट्ठेणं" इत्यादि निगमनवाक्यम् ।

तत्र ये कायपरिचारका देवास्तेषां कायपरिचारं विभावयिषुरिदमाह-

तत्थ णं जे ते कायपरियारगा देवा, तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ, इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारं करेत्तए; तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसी कए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ उरालाइं सिंगाराइं मणुन्नाइं मणोहराइं मणोरमाइं उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वंतित्ता तेसिं देवाणं अंतियं पाउब्भवंति । तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारणं करेंति, करेंतित्ता से जहानामए सीता पोग्गला सीतं पप्प सीतं चेव अइवइत्ता णं चिट्ठंति, उसिणा वा पोग्गला उसिणं चेव अइवइत्ता णं चिट्ठंति । एवमेव तेहिं देवेहिं ताहिं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारणे कए समाणे इच्छामणे खिप्पामेवावेति । अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं सुक्कपुग्गला ? हंता अत्थि । ते णं भंते ! तासिं अच्छराणं कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?। गोयमा ! सोइंदियत्ताए चक्खिंदियत्ताए घाणिंदियत्ताए रसिंदियत्ताए फासिंदियत्ताए इट्ठत्ताए कंतत्ताए मणुन्नत्ताए मणामत्ताए सुभगत्ताए सोभग्गरूवजोव्वणगुणलावण्णत्ताए ते तासिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति । तत्थ णं जे ते फासपरियारगा देवा तेसि णं इच्छा मणे समुप्पज्जइ; एवं जहेव परियारगा तहेव निरवसेसं भाणियव्वं । तत्थ णं जे ते रूवपरियारगा देवा तेसि णं इच्छा मणे समुप्पज्जइ-इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं रूवपरियारणं करेत्तए; तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसी कए समाणे तहेव० जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वंतित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा ताइं उरालाइं० जाव मणोरमाइं उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं उवदंसेमाणी उवदंसेमाणी उवचिट्ठंति । तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं रूवपरियारणं करेंति, सेसं तं चेव० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति । तत्थ णं जे ते सद्दपरियारगा देवा तेसिं इच्छा मणे समुप्पज्जइ-इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारणं करित्तए; तए णं तेहिं देवेहिं मणसी कए समाणे तहेव० जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति विउव्वित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा उच्चावयाइं सद्दाइं समुदीरेमाणीओ समुदीरेमाणीओ चिट्ठंति । तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारं करें-

ति, सेसं तं चेव० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति । तत्थ णं जे ते मणपरियारगा देवा, तेसिं इच्छामणे समुप्पज्जइ-इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेत्तए, तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसी कए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ तत्थ गयाओ चेव समाणीओ अणुत्तराइं उच्चावयाइं मणाइं पहारेमाणीओ पहारेमाणीओ चिट्ठंति, तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेंति, सेसं निरवसेसं० जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

(तत्थ णमित्यादि) तत्र तेषु कायपरिचारकाऽऽदिषु देवेषु मध्ये ये ते पूर्वमुक्ताः कायपरिचारका भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवास्तेषाम्। णमिति वाक्यालङ्कारे, इच्छामनः कायपरिचारेच्छाप्रधानं मनः समुत्पद्यते। केनोल्लेखेन समुत्पद्यते ?। इच्छामोऽभिलषामो; णमिति पूर्ववत्, अप्सरोभिः सार्द्धं कायचारं कर्तुमिति । ( तए णमित्यादि ) ततस्तैर्देवैरेवं मुक्तेन प्रकारेण कायपरिचारे मनसि कृते सति क्षिप्रमेव शीघ्रमेव ता अप्सरसः स्वस्योपभोगयोग्यदेवाभिप्रायमुपेत्य परिचाराभिलाषुकतया उत्तरवैक्रियाणि रूपाणि, विकुर्वन्तीति सम्बन्धः। कथम्भूतानीत्यत आह-उदाराणि, स्फाराणि, न तु हीनावयवानि, तान्यपि शृङ्गाराणि शृङ्गारो विभूषणाऽऽदिभिर्मण्डनं स विद्यते येषां तानि शृङ्गाराणि । "अभ्राऽऽदिभ्यः" ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इति अप्रत्ययः । विभूषणाऽऽदिकृतोदारशृङ्गाराणीत्यर्थः । तानि च कदाचित्कस्यचिदमनोज्ञानि भवेयुः । अत आह-मनोज्ञानि स्वस्वोपभोग्यदेवमनोविषयभावपेशलानि, तानि लेशतो भवन्ति, तत् मनोहराणि स्वस्वोपभोग्यस्य देवस्य मनो हरन्ति आत्मवशं नयन्तीति मनोहराणि । लिहाऽऽदित्वादच् । ततः स्वमनोहरत्वं प्रथमसमयापातमात्रभाव्यपि भवति, तत आह-मनोरमाणि मनः स्वस्वोपभोग्यदेवसम्बन्धि रमयन्ति क्रीडयन्ति प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरानुरागसम्पृक्तं जनयन्तीति मनोरमाणि, तानि इत्थम्भूतानि उत्तरवैक्रियाणि रूपाणि विकुर्वित्वा तेषां देवानामन्तिकं समीपं प्रादुर्भवन्ति । ( तए णमित्यादि ) ततो, णमिति पूर्ववत् । ते देवास्ताभिरप्सरोभिः सार्द्धं कायपरिचारणं मनुष्या इव मनुष्यस्त्रीभिः सर्वाङ्गीणकायक्लेशपूर्वकं मैथुनोपसेवनं कुर्वन्ति । एवमेव तेषां वेदोपशान्तिभावात् । तथा चामुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति-( से जहा नामए इत्यादि ) ( से इति ) अथ शब्दार्थे, स चात्र वाक्योपन्यासे, यथा नाम ते विवक्षिताः शीताः पुद्गलाः शीतं शीतयोनिकं प्राणिनं प्राप्य शीतमेव शीतत्वमेवातिमात्रमतिशयेन गत्वा तिष्ठन्ति । किमुक्तं भवति ?-विशेषतः शीतीभूतस्य शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्ते, उष्णा वा पुद्गला उष्णयोनिकं प्राणिनं प्राप्य उष्णमेव उष्णत्वमेवातिमात्रमतिशयेन गत्वा तिष्ठन्ति । विशेषतः स्वरूपलाभसम्पत्त्या तस्य सुखित्वायोपतिष्ठन्ति इति भावः । एवम्-अनेनैव प्रकारेण ते देवास्ताभिरप्सरोभिः सार्द्धं यथोक्तरूपे कायपरिचारणे कृते सति इच्छामनः-कामविषये प्रधानं मनः क्षिप्रमेवातितृप्तिभावात् शीतीभवति । इयमत्र भावना यथा शीतपुद्गलाः शीतयोनिकस्य प्राणिनः संस्पर्शे शीतत्वं विशेषत आसादयन्तस्तस्य सुखित्वायोपकल्पन्ते । उष्णपुद्गला वा उष्णयोनिकस्य प्राणिनः संस्पर्शे उष्णत्वमिति प्रभूतमासादयन्ते सुखाय घटन्ते । तथा देवीशरीरपुद्गला देवशरीरपुद्गला अपि देवीशरीरमवाप्य परस्परं तद्गुणतां भजमानाः परस्परं सुखित्वायोपकल्पन्ते । ततः सुखमुपजायते, आहोस्विदन्यथेति संशयानो देवानां शुक्रपुद्गलास्तित्वं पृच्छति-( अत्थि णमित्यादि ) अस्तीति निपातोऽत्र बह्वर्थे, णमिति पूर्ववत्, भदन्त ! तेषां देवानां शुक्रपुद्गला यत् सम्पर्कतो देवीनां सुखमुपजायते । भगवानाह-( हंता ! अत्थि गौतम ! ) सन्ति केवलं वैक्रियशरीरान्तर्गता इति, न गर्भाऽऽधानहेतवः । ( ते णं भंते ! इत्यादि ) शुक्रपुद्गला णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! तासामप्सरसां कीदृक् स्वरूपतया भूयो भूयो यदा क्षरन्ति तदा तदा इत्यर्थः । परिणमन्ति ?। भगवानाह-( गोयमेत्यादि ) श्रोत्रेन्द्रियं यावत् स्पर्शनेन्द्रियतया तेऽपि कदाचिदनिष्टतया परिणमन्तः सम्भाव्यन्ते । तत आह-इष्टतः सौभाग्याय सौभाग्यहेतवे रूपयौवनलावण्यरूपा गुणा यस्य तत्सौभाग्यरूपयौवनलावण्यगुणं, तद्भावस्तत्ता, तथा, तत्र रूपसौन्दर्यवती आकृतिर्यौवनं परमस्तरुणिमा लावण्यमतिशयमनोभवविकारहेतुः परिणतिविशेषो, यतः सौभाग्यहेतुरूपाऽऽदिगुणनिबन्धनतया परिणमन्ति ततः सुभगतया परिणमन्तीत्युच्यते । एवं ते शुक्रपुद्गलास्तासामप्सरसां भूयो भूयः परिणमन्ति । तदेवं कायपरिचार उक्तः । सम्प्रति-"भंते ! तासिं अच्छराणं कीसत्ताए भुज्जो २ परिणमन्ति ?। गोयमा ! सोइंदियत्ताए इट्ठत्ताए कंतत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।" अस्यापि पातनिकाव्याख्या प्राग्वत् । नवरमस्मिन् स्पर्शशुक्रपुद्गलक्रमो दिव्यप्रभावादवसेयः । एवं रूपपरिचाराऽऽदावपि भावनीयम् । तदेवमुक्ताः स्पर्शपरिचारकाः । सम्प्रति रूपपरिचारणां विभावयिषुराह-(तत्थ णमित्यादि) सुगमम् । यावत्तावद्विकुर्वित्वा । (जेणामेव त्ति) यत्रैव देवलोके विमाने प्रदेशे च ते देवाः सन्ति तत्रैव स्थाने ता अप्सरस उपागच्छन्ति, उपागम्य च तेषां देवानाम् ( अदूरसामंते इति ) अदूरसमीपे स्थित्वा तानि पूर्वं विकुर्वितानि उदाराणि यावदुत्तरवैक्रियाणि रूपाणि उपदर्शयन्त्यस्तिष्ठन्ति । ततस्ते देवास्ताभिरप्सरोभिः सार्द्धं रूपपरिचारणां परस्परसविलासदृष्टिविक्षेपां प्रत्यङ्गनिरीक्षणनिजनिजानुरागप्रदर्शनप्रतिष्ठचेष्टाप्रकटनाऽऽदिरूपां कुर्वन्ति । ( सेसं तं चेव त्ति ) शेषम् (से जहानामए इत्यादि ) तदेव यावत् ( भुज्जो भुज्जो परिणमंति ) वाक्यम् । तदेवं भाविता रूपपरिचारणा । सम्प्रति शब्दपरिचारणां भावयितुकाम आह-( तत्थ णमित्यादि ) कण्ठ्यम् । नवरमदूरसमीपे स्थित्वा अनुत्तरान् सर्वमनःप्रह्लादजनकतया अनन्यसदृशान् उच्चावचान् प्रबलप्रबलतरमन्मथोद्दीपकमभ्यासत्यरूपान् शब्दान्, नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात् । समुदीरयन्त्यस्तिष्ठन्ति । शेषं तथैव । ( एवं तत्थ णमित्यादि ) मनःपरिचारकसूत्रमपि तथैव यावन्मनःपरिचारे मनसि कृते सति क्षिप्रमेव ता अप्सरसस्तत्र स्थिता एव सौधर्मेशानदेवलोकान्तर्गतस्वस्वविमानस्थिता एव सत्योऽनुत्तराणि परमसन्तोषजनकतया अनन्यसदृशानि उच्चावचानि कामानुषक्तसत्यासभ्यरूपाणि मनांसि प्रवीचारयन्त्यस्तिष्ठन्ति । इह ( तत्थ गया चेव समाणीओ ) इति वदता देव्यः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति, न परत इत्यावेदितं द्रष्टव्यम् । तथा चाह संग्रहणिमूलटीकाकारो हरिभद्रसूरिः-सनत्कुमाराऽऽदिदेवानां दे-

ताभिलाषे सति देव्यः स्वल्पपरिगृहीता सहस्रार यावद्गच्छन्तीति । तथा स एव प्रदेशान्तरे आह-" इह सोहम्मे कप्पे जासिं देवीण पलिओवमाओ गताओ तद्देवाण चेव हवंति, जासिं पुण पलिओवमाइसमयाहिया ठिई दुसमयतिसमयसंखेज्जा असंखेज्जसमयाहिया० जाव दसपलिया सोहम्मगदेवीओ ताओ सणंकुमाराण गच्छति, एव दसपलियोवरि जासिं समाहिया ठिई० जाव वीस पलिया ताओ बंभलोगगयाण गच्छंति, एव वीसपलिओवरि जासिं समयाहिया ठिई० जाव तीसं पलिया ताओ महासुक्कदेवाण गच्छंति, एव तीस पलिओवरि जासिं समयाहिया ठिई० जाव चत्तालीस पलिया ताओ आणयदेवाण तत्थ ठिया चेव भाणालवण हुंति, एव चत्तालीसं पलिओवरि जासिं समयाहिया ठिई० जाव पचासपलिया ताओ आरणदेवाणं, तत्थ ठिया चेव भाणालवणं हुंति, तथा ईसाणे जासिं देवीण पलिओवममहियमाउयं ताओ तद्देवाणं चेव हवंति, जासिं पुण अहियपलिओवमाइ समयाहिया ठिई दुसमयतिसमयसंखिज्जा असंखेज्जसमयाहिया० जाव पनरसपलिया ताओ माहिंदेदेवाणं गच्छंति, एवं पनरस पलिओवरि समयाहिया ठिई० जाव पणवीसपलिया ताओ लंतगदेवाणं, जासिं पुण पणवीसपलिओवरि समयाहिया ठिई० जाव पंचतीस पलिया ताओ सहस्सारदेवाण, जासिं पुण पंचतीसपलिओवरि समयाहिया ठिई० जाव पणयालीसं ताओ पाणयदेवाणं, तत्थ ठियाओ चेव भाणालवणे हुंति, जासिं पुण पणयालीस पलिओवरि समयाहिया ठिई० जाव पणपन्नपलिया ताओ अच्चुयदेवाण तत्थ ठियाओ चेव भाणालवणे हुंति इति । " ( तए णमित्यादि ) ततो णमिति पूर्ववत्, ते देवा. ताभिरप्सरोभिः सा. मनःपरिचारणसुरतानुबन्धि परस्परसम्भाषणमन.सङ्कल्पकरणरूप कुर्वन्ति । (सेसमित्यादि) शेषम् (से जहानामए सीया पोग्गला इत्यादि) । निरवशेष तावद्वक्तव्य यावत् "भुज्जो भुज्जो परिणमतीति" सर्वान्तिम वाक्यम् । व्याख्या चास्य प्राग्वत् । तत ऊर्द्ध तु ग्रैवेयकदेवा मनसाऽपि योषितो न प्रार्थयन्ते, प्रतनुवेदोदयत्वात् । यथोत्तर वा तेऽनन्तगुणसुखम ज । तथाहि -कायप्रवीचारेभ्योऽनन्तगुणसुखा स्पर्शपरिचारका., तेभ्योऽनन्तगुणसुखा रूपपरिचारका , तेभ्योऽप्यनन्तगुणसुखा मनःपरिचारका.,तेभ्योऽपि अपरिचारका. ।

साम्प्रतमेतेषामेव परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

**एएसि णं भंते ! देवाणं कायपरियारगाणं० जाव मणपरियारगाणं अपरियारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा अपरियारगा, मणपरियारगा संखिज्जगुणा.सद्दपरियारगा असंखिज्जगुणा, रूवपरियारगा असंखिज्जगुणा, फरिसपरियारगा असंखिज्जगुणा, कायपरियारगा असंखिज्जगुणा ।**

सर्वस्तोका देवा अपरिचारका:, ते हि ग्रैवेयकानुत्तरोपपातिन., ते च सर्वसङ्ख्यया क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागवर्त्तिन. प्रदेशराशिप्रमाणा इति, तेभ्योऽपि मन परिचारका देवाः सङ्ख्येयगुणा:,तेषामानताऽऽदिकल्पचतुष्टयवर्त्तित्वात्, तद्वर्त्तिनां च पूर्वदेवापेक्षया सङ्ख्येयगुणक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागगताऽऽकाशप्रदेशराशिपरिमाणत्वात्, तेभ्यः शब्दपरिचारका असङ्ख्येयगुणाः,ते हि महाशुक्रसहस्रारकल्पवासिन , ते च घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्या. श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः,तेभ्योऽपि रूपपरिचारका देवा असङ्ख्येयगुणा ,ते हि ब्रह्मलोकलान्तककल्पनिवासिन , ते च पूर्वदेवानधिकृत्यासङ्ख्येयगुणश्रेण्यासङ्ख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणा.,तेभ्योऽपि स्पर्शपरिचारका देवा असङ्ख्येयगुणा , तेषां सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पवर्त्तित्वात्, तद्वर्त्तिनां च ब्रह्मलोकलान्तकदेवानपेक्ष्यासङ्ख्येयगुणश्रेण्या सङ्ख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशपरिमाणतयाऽधीतत्वात् तेभ्य कायपरिचारका देवा असङ्ख्येयगुणा भवनपत्यादीनामीशानान्तानां सर्वेषां कायपरिचारकत्वात्, तेषां सर्वसङ्ख्यया प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वादिति । प्रज्ञा० ३४ पद । क्रिया बलात्कारेणोपभोगे, व्य० ४ उ० । " दोहिं ठाणेहिं आया ओभासेइ देसेण वि, सव्वेण वि । " ( परिचारय त्ति ) मैथुन सेवते देशेन मनोयोगाऽऽदीनामन्यतमेन,सर्वेण योगत्रयेणापि । स्था०२ ठा० २,उ० । आसेवनायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

**परियारणासद्द–परिचारणाशब्द**–न० । पुरुषेण भुज्यमाना स्त्री य शब्दं करोति तस्मिन्, ' परियारणसद्द वा ' । पुरिसेणित्थी परिभुज्जमाणा ज सद्द करेति एस परियारणासद्दो भण्णति । नि० चू० १ उ० ।

**परियारणिड्ढि–परिचारणर्द्धि**–स्त्री० । अन्यान् देवानन्यसत्का देवीरभियुज्याऽऽत्मान च विकृत्य परिचारयन्तीत्येव लक्षणायां देवानां कामसेवर्द्धौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

**परियारसद्द–परिचारशब्द**–पु० । पुरुषेण परिभुज्यमानायाः शब्दे, सू० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

**परियारेमाण–परिचारयत्**–त्रि० । परकीयदेवीनां भोग कर्तुकामे, भ० ३ श० २ उ० । कामक्रीडां कुर्वति, भ० १२ श०६उ० ।

**परियाल–परिवार**–पु० । वृत्तौ, खड्गाऽऽदिकोशे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शिष्याऽऽदिवर्गे, स्था० ६ ठा० ।

**परियालिय–परिचालित**–त्रि० । वेष्टिते, " वेढिअयं परियालियं । " पाइ० ना० १६६ गाथा ।

**परियालोयण–पर्यालोचन**–न० । अनुचिन्तने, आव० ४ अ० ।

**परियावज्जणा**–स्त्री० । **पर्यापादन**–न० । पर्यापत्तौ, आसेवायाम्, " तिविहा परियावज्जणा पण्णत्ता । तं जहा–जाणू अजाणू, वितिगिच्छा । " तत्र जानतो जाणू, अजानतोऽजाणू, संशयवतो विचिकित्सा । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

**परियावण–परितापन**–न० । ताडनाऽऽदिदुःखविशेषे, स्था० २ ठा० १ उ० । पीडोत्पादने, आचा० २ श्रु० ३ उ० ।

**परियावणा**–स्त्री० । **परियापन**–न० । वृत्तौ, स्थितौ, " एगविहा अविसेसमणाणत्ता सव्वलोए परियावणा । " भ० ३४ श० २ उ० ।

**परियावण्ण–पर्यायापन्न**–स्त्री० । विस्मृते, सू० ३ उ० । कुपर्यायमाते, " जहा रुहिर चेव पूयपरिणामेण ठित । " नि० चू० ११ उ० । आव० । आ० चू० ।

परियावत्ति-पर्यापत्ति-स्त्री० । सम्मूर्छने, दुःखाभिभूताया मूर्छाया आपत्तौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । पर्यापादने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

परियावसह-पर्यावसथ-पुं० । ये गृहपर्यायं त्यक्त्वा प्रवज्यापर्यायेण स्थितास्तेषामावसथः पर्यावसथः । नि० चू० ३ उ० । भिक्षुकाऽऽदिमठे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

परियाविज्जमाण-परिताप्यमान-त्रि० । अग्न्यादौ समन्ततः पीड्यमाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

परियाविय-परितापित-त्रि० । समन्ततः पीडिते, आव०४अ० ।

परियास-पर्यास-पुं० । परिक्षेपे, अरघट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणे सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

परिरंभण-परिरम्भण-न० । आलिङ्गने, " परिरंभणमवरुंडणं ।" पाइ० ना० १६८ गाथा ।

परिरक्खण-परिरक्षण-न० । पालने, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

परिरय-पारेरय-पुं० । पर्यये, आ० चू० १ अ० । पर्याहारे, परिधौ व्य०१ उ० । "पज्जाहारो त्ति वा परिरउ त्ति वा एगट्ठं ।" परिरयो भवति गिरिनद्यादीनां विषये । इयमत्र भावना-यद् गिरिनदीनामाऽऽदिशब्दात् समुद्रवीचिपरिग्रह । व्य० १ उ० ।

परिरयपरिहरणा-परिरयपरिहरणा-स्त्री० । गिरि परिरयपरिहरणायाम्, आव० ३ अ० । व्य० ।

परिलिअ-देशी-लीने, दे० ना० ६ वर्ग २४ गाथा ।

परिलिंत-परिलीयमान-त्रि० । लयं याति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० ।

परिली-परिली-स्त्री० । आतोद्यभेदे, आ० चू० १ अ० ।

परिलीण-परिलीन-त्रि० । निलीने, " परिलीणं च निलीणं ।" पाइ० ना० १६६ गाथा ।

परिलीयमाण-परिलीयमान-त्रि० । अन्यत आगत्याऽऽगत्याऽऽश्रयति लयं याति, " परिलीयमानमत्तछप्पयकुसुमाऽऽसवलोलमहुरगुमगुमायमाणगुंजंतदेसभाया ।" परिलीयमाना अन्यत आगत्याऽऽश्रयन्तो मत्ताः षट्पदा कुसुमाऽऽसवलोलाः किंजल्कपानलम्पटाः मधुरगुमगुमायमाना गुञ्जन्तश्च शब्दविशेषं च विदधाना देशभागेषु तस्मिन् तस्मिन् देशभागे येषां ते परिलीयमानमत्तषट्पदकुसुमाऽऽसवलोलमधुरगुमगुमायमानगुञ्जद्देशभागा । गमकत्वादेवमपि समास । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज्ञा० । औ० । रा० ।

परिल्ल-पर-त्रि० । "स्वार्थे इल्लः ।" "चरमे परिणिव्वाणं परिल्लाणं ।" आव० ४ अ० ।

परिल्लवास-देशी-अज्ञातगतौ, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा ।

परिवइत्ता-परिव्रजत्-त्रि० । परिव्रजितुं शक्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

परिवंदण-परिवन्दन-न० । परिसंस्तवे आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । प्रशंसायाम् आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परिवच्छि-देशी-निर्णये, 'परिवच्छि त्ति' देशीशब्दोऽयं निर्णये वर्तते । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।



परिवच्छिय-परिपाच्छित-त्रि० । परिगृहीते, परिवृते ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

परिवज्जत-परिवर्जयत्-त्रि० । परिहरति पा० ।

परिवज्जण-परिवर्जन-न० । परि समन्ताद् वर्जनं परिवर्जनम् । दर्श० १ तत्त्व । परित्यागे, आव० ६ अ० । आचा० । सूत्र० ।

परिवज्जयंत-परिवर्जयत्-त्रि० । परकृतान् दोषान् परिहरति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

परिवज्जिय-परिवर्ज्य-अव्य० । अपमानमविगणय्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

परिवट्टण-परिवर्त्तन-न० । पुनः पुनर्देहोद्वर्त्तने, नि० चू० १ उ० ।

परिवट्टिअ-देशी-प्रवर्तिते, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा ।

परिवट्टिय-परिवर्तित-न० । साधुनिमित्ते कृतपरावर्ते उद्गमदोषभेदे, प्रव० ६७ द्वार ।

परिवडिय-प्रतिपतित-त्रि० । भ्रष्टे, " सुहं अणुट्ठाणं परिवडियं ।" प्रतिपतितं तथाविधकर्मदोषाद् भ्रष्टम् । पञ्चा० ४ विव० ।

परिवत्त-परिवर्त्त-पुं० । मत्स्याऽऽदीनां परिवर्तने, अनेकधा सञ्चरणे, स० ११ अङ्ग । औ० । भ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

परिवत्तयंत परिवर्त्तयत्-त्रि० । उत्तानमवाङ्मुखान् वा कुर्वंति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

परिवद्धमाणय-परिवर्धमानक-त्रि० । समन्ताद् वर्धमाने, नं० ।

परिवयंत-परिवदत्-त्रि० । निन्दति, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । आचा० । समन्ताद् वदति, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

परिवसण-परिवसन-न० । आवासे, जं० २ वक्ष० ।

परिवसणा-परिवसना-स्त्री० । परि समन्ताद् वसन्त्यत्र परिवसना । पर्युषणायाम्, वर्षावासे, नि० चू० । "जम्हा उदुबद्धिया दव्वखेत्तकालभावपज्जाया एत्थ परि समंताओ सविज्जंति परित्यज्यंतीत्यर्थः, अण्णे य दव्वादिया पुरिमकालपाओग्गा घेत्तुं आयरिज्जंति, तम्हा एगखेत्ते चत्तारि मासा परिवसंतीति तम्हा परिवसणा भण्णति ।" नि० चू० १० उ० ।

परिवहण-परिवहन-न० । पृष्ठ्याऽऽरोपणपुरस्सरं नयने, स्था० ३ ठा० १ उ० । नि चू० ।

परिवाग-परिपाक-पुं० । निष्पत्तौ, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

परिवाड-घट-धा० । चेष्टायाम्, "घटेः परिवाड " ॥८।४।५०॥ इति सूत्रेण घटधातोः परिवाडाऽऽदेश । 'परिवाडइ ।' घटते, प्रा० ४ पाद ।

परिवाडी-परिपाटी-स्त्री० । पद्धतौ, बृ० १ उ० ३ प्रक० । आ० म० । प्रज्ञा० । आ० क० । विशे० श्रेण्याम् संथा० । आ० म० परिपाटी वर्गणा वर्गो राशिरिति पर्याया । आ० म० १ अ० । आनुपूर्व्याम् विशे० । गृहपङ्क्तौ, उत्त० १ अ० । "अणुपुव्वि परंपरा उ परिवाडी ।" पाइ० ना० १६६ गाथा ।

परिवादिणी-परिवादिनी-स्त्री० । वीणाविशेषे, प्रश्न० ५ सं० द्वार । रा० ।

परिवाय-परिवाद-पु० । परिवदनं परिवादः । अयशोगुण-कीर्त्तने, नि० चू० १० उ० । विकत्थने, स्था० १ ठा० । दोष परिकीर्त्तने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । असद्भूतदोषाऽऽविष्करणे आतु० । दस्युरेष पिशुनो वेत्येवं मर्मोद्घट्टने, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

परिवार-परिवार-पुं० । दासीकर्मकराऽऽदिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । रा० । आ० म० । "परिवारपूयहेउ पासत्थाणं च आणुवत्तीए ।" परिवार आत्मव्यतिरिक्तः, ततः परिवारेण पूजा परिवारस्य वा पूजा । व्हस्वत्वं प्राकृतप्रभवं, तस्या हेतुर्निमित्तम् । दर्श० ३ तत्त्व । खड्गनिवासचर्ममयगृहे, "कलहं परिवारं ।" पाइ० ना० २३४ गाथा ।

परिवारण-परिवारण-न० । निराकरणे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार ।

परिवारिअ-देशी-घटिते, दे० ना० ६ वर्ग ३० गाथा ।

परिवारिय-परिवारित-त्रि० । परिवारः परिकरः संजातोऽस्येति परिवारित । उत्त० ११ अ० । समन्ततो वेष्टिते, प्रज्ञा० २ पद । परिकरिते, स० । "सव्वओ परिवारिओ ।" सर्वतः परिवृत इत्यर्थः । उत्त० ११ अ० ।

परिवार्य-अव्य० । वेष्टयित्वेत्यर्थे सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

परिवालिय-परिपाल्य-अव्य० । सूत्रोक्तेन विधिना परिपालनं कृत्वेत्यर्थे, पं० व० ५ द्वार ।

परिवाविया-परिवापिता-स्त्री० । द्विस्त्रिर्वा उत्पाद्य स्थानान्तराऽऽरोपणतः परिवपनवती शालिकृषिवत् कृषिभेदे, महाव्रताऽऽरोपणेन निरतिचारस्य सातिचारस्य वा मूलप्रायश्चित्तदानतः प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

परिवास-देशी-चौरशायिनि, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा ।

परिवासिय-परिवाहक-पु० । पृष्ठ्यारोपके, स्था० ३ ठा०१ उ० ।

परिवाह-देशी दुर्विनये, दे० ना० ६ वर्ग २३ गाथा ।

परिविच्छय-परिविक्षत-त्रि० । परि समन्तात् अनेकप्रकारं हते, छिन्ने च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । "मायापुत्तं न याणाइ जेण परिविच्छए ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

परिविट्ठ-परिवेषित-त्रि० । भोजिते, "ते मुग्गडा हराविआ, जे परिविट्ठा ताहं । अवरोप्परु जोअंता-ह सामिउ गंजिउ जाहं ।" प्रा० ४ पाद । ये तेषां परिवेषितास्ते मुधा हारिता मुधा जाता येषां परस्परं युध्यतां स्वामी गञ्जितः पीडित इत्यर्थः । ढुं० ४ पाद ।

परिवित्तसन-परिवित्रसन-न० । उद्वेगपूर्वकभये, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

परिवीलिय-परिपीड्य-अव्य० । पुनः पुनः पीडयित्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

परिवुड-परिवृत-त्रि० । संयुक्ते, उत्त० २२ अ० । रा० । परिकरिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० । भ० । अत्यन्तरैः परिकरिते, भ० १ श० ६ उ० । परिवारिते, औ० ।

परिवुसिय-पर्युषित-त्रि० । संयमे, उद्युक्तविहारिणि, "जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । व्यवस्थिते, "तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए ।" आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

परिवूढ-परिवृद्ध-त्रि० । युद्धाऽऽदौ समर्थे, उत्त०२४ अ० । प्रभौ, उपचितमांसशोणिततया तत्तत्क्रियासमर्थे उत्त० ७ अ० । आचा० ।

परिवूहण-परिबृंहण-न० । उपचये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

परिवेढिय-परिवेष्टित-त्रि० । असकृद्वेष्टिते, स्था० १० ठा० । प्रश्न० । भ० । पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्च वेष्टिते, नि० चू० १ उ० । जं० ।

परिवेष्ट्य-अव्य० । पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतश्च वेष्टिते । "असणं पाणं खाइमं साइमं अणुवित्तिय परिवेढिय परिवेढिय जायइ ।" नि० चू० १ उ० ।

परिवेवमाण-परिवेपमान-त्रि० । असकृत्कम्पमाने, "भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणं गायं तं उवसंकमित्तु गाहावती बूया ।" आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

परिवेस-परिवेष-पु० । चन्द्राऽऽदित्ययोः परितो वलयाऽऽकारायां पुद्गलपरिणतौ, अनु० ।

परिवेसण-परिवेषण-त्रि० । परिविष्यते तत् भोजनं दीयते यस्मै स परिवेषणः । भुञ्जाने, पिं० ।

परिवेसयंतिया-परिवेषयन्तिका-स्त्री० । भोजनपरिवेषणकारिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ उ० ।

परिव्वयंत-परिव्रजत्-त्रि० । परि समन्तात् व्रजत् गच्छत् परिव्रजत् । गुरूपदेशाऽऽदिना संयमयोगेषु वर्त्तमाने, दश० २ अ० । संयमानुष्ठायिनि सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आचा० । उद्यच्छति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । सूत्र० । समन्तात् मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० ।

परिव्वाइया-परिव्राजिका-स्त्री० । व्रतिनीविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । आ० म० । आचा० ।

परिव्वायग-परिव्राजक-पु० । परि समन्तात् पापवर्जनेन व्रजति गच्छतीति परिव्राजकः दश० २ अ० । पापवर्जिते श्रमणे, दश० १० अ० । ज्ञा० । आव० । आचा० । आ० म० ।

लौकिकपरिव्राजकानामाचारः-

से जे इमे० जाव सन्निवेसेसु परिव्वायगा भवंति । तं जहा-संखा जोई कविला भिउच्चा हंसा परमहंसा बहुउदया कुडिव्वया कण्हपरिव्वायगा । तत्थ खलु इमे अट्ठ माहणपरिव्वायगा भवंति । तं जहा-"कण्हे अ करकंडे य, अंबडे य परासरे । कण्हे दीवायणे चेव, देवगुत्ते य णारए ॥ १ ॥" तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तिअपरिव्वायगा भवंति । त जहा-"सीलई ससिहारे य, णग्गई भग्गई ति अ । विदेहे राया-राया, राया रामे बले ति अ ॥ १ ॥" ते णं परिव्वायगा रिउव्वेदजजुव्वेदसामवेदअहव्वणवेदइतिहासपंचमाणं णिघंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउ-

एहं वेदाणं सारगा पारगा धारका वारका सडंगवी सट्ठितंतविसारदा संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे णिरुत्ते जोतिसामयणे अन्नेसु य बंभण्णएसु अ सत्थेसु सुपरिणिट्ठिनाया-वि हुत्था। ते णं परिव्वायगा दाणधम्मं च सोअधम्मं च तित्थाभिसेअं च आघवेमाणा पण्णवेमाणा परूवेमाणा विहरंति। ज णं अम्हे किंचि असुई भवति तं णं उदएण य मट्टिआए अ पक्खालिअं सुई भवति,एवं खलु अम्हे चोक्खा चोक्खायारा सुई सुइसमायारा भवेत्ता अभिसेअजलपूअऽप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो, तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगडं वा तलायं वा णईं वा वाविं वा पुक्खरिणिं वा दीहियं वा गुंजालिअं वा सरं वा सागरं वा ओगाहित्तए, णण्णऽत्थ अद्धाणगमणे, णो कप्पइ सगडं वा० जाव संदमाणिअं वा दुरूहित्ता णं गच्छित्तए,तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणिं वा महिसं वा खरं वा दुरूहित्ता णं गमित्तए. तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ नडपेच्छाइ वा० जाव मागहपेच्छाइ वा पिच्छित्तए,तेसिं परिव्वायगाणं णो कप्पइ हरिआणं लेसणया वा घट्टणया वा थंभणया वा लूसणया वा उप्पाडया वा करित्तए,तेसिं परिव्वायगाणं णो कप्पइ इत्थिकहाइ वा भत्तकहाइ वा देसकहाइ वा रायकहाइ वा चोर कहाइ वा जणवयकहाइ वा अणत्थदंडं करित्तए, तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अयपायाइ वा तउअपायाणि वा तंबपायाणि वा जसदपायाणि वा सीसगपायाणि वा रुप्पपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि वा धारित्तए, णण्णत्थ लाउपाएण वा दारुपाएण वा मट्टिआपाएण वा, तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अयबंधणाणि वा तउअबंधणाणि वा तंबबंधणाणि० जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए, तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ णाणाविहवण्णरागरत्ताइं वत्थाइं धारित्तए. णण्णत्थ एकाए धाउरत्ताए,तेसि णं परिवायगाणं णो कप्पइ हारं वा अद्धहारं वा एकावलिं वा मुत्तावलिं वा कणगावलिं वा रयणावलिं वा मुरविं वा कंठमुरविं वा पालंबं वा तिसरयं वा कडिसुत्तं वा दसमुद्दिआणंतकं वा कडयाणि वा तुडियाणि वा अंगयाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा मउडं वा चूलामणिं वा पिणद्धित्तए. णण्णत्थ एकेण तंबिएणं पवित्तएणं, तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ गंथिमवेढिमपूरिमसंघातिमे चउव्विहे मल्ले धारित्तए, णण्णत्थ एगेण कण्णपूरेणं, तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगलुएण वा चंदणेण वा कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए, णण्णत्थ एकाए गंगामट्टिआए. तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए पत्थए जलस्स पडिगाहित्तए, सेऽवि य वहमाणे णो चेव णं अवहमाणे सेऽवि य थिमिओदए णो चेव णं कद्दमोदए,सेऽवि अ बहुपसण्णे णो चेव णं अबहुपसण्णे,सेऽवि अ परिपूते णो चेव णं अपरिपूते.सेऽवि अ णं दिण्णे णो चेव णं अदिण्णे,सेऽवि अ पिवित्तए णो चेव णं हत्थपायचरुचमसपक्खालणट्ठाए सिणाइत्तए वा, तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, सेऽवि य वहमाणे णो चेव णं अवहमाणे० जाव णो चेव णं अदिण्णे, सेऽवि य हत्थपायचरुचमसपक्खालणट्ठयाए णो चेव णं पिवित्तए सिणाइत्तए वा,ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति, बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तहिं तेसिं गई तहिं तेसिं ठिई दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, सेसं तं चेव ॥ १२ ॥

( परिव्वायग त्ति ) मस्करिणः। (संख त्ति) सांख्याः-बुद्ध्यहङ्काराऽऽदिकार्यग्रामवादिनः प्रकृतीश्वरयोः जगत्कारणत्वमभ्युपगताः । ( जोइ त्ति ) योगिनः-अध्यात्मशास्त्रानुष्ठायिनः ( कविल त्ति ) कपिलो देवता येषां ते कापिलाः, सांख्या एव निरीश्वरा इत्यर्थः । ( भिउच्च त्ति ) भृगुः लोकप्रसिद्ध ऋषिविशेषः, तस्यैते शिष्या इति भार्गवाः । " हंसा परमहंसा बहुउदगा कुडिव्वया " इत्येते चत्वारोऽपि परिव्राजकमते यतिविशेषाः । तत्र हंसा—ये पर्वतकुहरपथाऽऽश्रमदेवकुलाऽऽरामवासिनो भिक्षार्थं च ग्रामं प्रविशन्ति। परमहंसास्तु-ये नदीपुलिनसमागमप्रदेशेषु वसन्ति चीरकौपीनकुशांश्च त्यक्त्वा प्राणान् परित्यजन्ति । बहूदकास्तु-ग्रामे एकरात्रिका नगरे पञ्चरात्रिकाः प्राप्तभोगांश्च ये भुञ्जन्त इति । कुटीव्रताः-कुटीचराः । ते च गृहे वर्त्तमाना व्यपगतक्रोधलोभमोहा अहङ्कारं वर्जयन्तीति । ( कण्हपरिव्वायग त्ति ) कृष्णपरिव्राजकाः परिव्राजकविशेषा एव, नारायणभक्तिका इति केचित्। कण्हवादयः षोडश परिव्राजका लोकतोऽवसेयाः । ( रिउव्वेदजजुव्वेदसामवेदअहव्वणवेद त्ति ) इह षष्ठीबहुवचनलोपदर्शनात् ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदानामिति दृश्यम् । ( इतिहासपंचमाणं ति ) इतिहासः पुराणमुच्यते । ( निघंटुछट्ठाणं ति ) निघण्टु नाम कोशः । ( संगोवंगाणं ति ) अङ्गानि शिक्षाऽऽदीनि,उपाङ्गानि तदुक्तप्रपञ्चनपराः प्रबन्धाः । ( सरहस्साणं ति ) ऐदम्पर्ययुक्तानामित्यर्थः । "चउण्हं वेयाण त्ति " व्यक्तम् । ( सारय त्ति ) अध्यापनद्वारेण प्रवर्त्तकाः स्मारका वा अन्येषां विस्मृतस्य स्मारणात् । (पारय त्ति ) पर्यन्तगामिनः ( धारय त्ति ) धारयितुं क्षमाः ( सडंगवी त्ति ) षडङ्गविदः शिक्षाऽऽदिविचारकाः । ( सट्ठितंतविसारय त्ति ) कापिलीयतन्त्रपण्डिताः । ( संखाणे त्ति ) संख्याने गणितस्कन्धेषु, परिनिष्ठिता इति योगः । अथ षडङ्गानि दर्शयन्नाह-( सिक्खाकप्पे त्ति ) शिक्षा च अक्षरस्वरूपनिरूपकं शास्त्रं कल्पश्च तथाविधसमाचारनिरूपकं शास्त्रमेवेति शिक्षाकल्पस्तत्र । ( वागरणे त्ति ) शब्दलक्ष-

णशास्त्रे [ छंदे त्ति ] पद्यवचनलक्षणशास्त्रे ( निरुत्ते त्ति ) शब्दनिरुक्तिप्रतिपादके ( जोइसामयणे त्ति ) ज्योतिषामयने ज्योतिःशास्त्रे, अन्येषु च बहुषु ( बंभरापसु य त्ति ) ब्राह्मणकेषु च वेदव्याख्यानरूपेषु ब्राह्मणसम्बन्धिशास्त्रेष्वागमेषु वा, वाचनाऽन्तरे-" परिव्वायपसु य नपसु त्ति " परिव्राजकसम्बन्धिषु च नयेषु न्यायेषु ( सुपरिनिट्ठिया यावि होत्थ त्ति ) सुपरिनिष्णाताश्चाप्यभूवन्निति । ( आघवेमाणे त्ति ) आख्यायन्त -कथयन्त । ( पराणवेमाण त्ति ) बोधयन्तः ( परूवेमाण त्ति ) उपपत्तिभिः स्थापयन्तः । ( चोक्खा चोक्खायार त्ति ) चोक्षा-विमलदेहनेपथ्या., चोक्षाऽऽचारा निरवद्यव्यवहाराः । किमुक्तं भवतीत्याह-( सुई सुइसमायर त्ति ) ( अभिसेयजलपूयप्पाणो त्ति ) अभिषिक्तो जलेन [ पूय त्ति ] पवित्रित आत्मा यैस्ते तथा ( अविग्घेणं त्ति ) विघ्नाभावेन, ( अगडं व त्ति ) अवटं कूपं ( वाविं व त्ति ) वापीवतुरस्रजलाऽऽशयविशेषः । ( पुक्खरिणिं व त्ति ) पुष्करिणी वर्त्तुलः स एव, पुष्करयुक्तो वा । ( दीहियं व त्ति ) दीर्घिका सारणी ( गुंजालियं व त्ति ) गुञ्जालिका- वक्रसारणी "सरसिं व त्ति " क्वचिद् दृश्यते । तत्र महत्सरः सरसीत्युच्यते, ( नरात्थ अद्धाणगमणेणं त्ति ) न इति यो निषेधः सोऽन्यत्राध्वगमनादित्यर्थः । " सगडं वा " इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-" रहं वा जाणं वा जुग्गं वा गिल्लिं वा थिल्लिं वा पवहणं वा सीयं वेति ।" एतानि च प्रागिव व्याख्येयानीति । ( हरियाणं लेसणया व त्ति ) संश्लेषणता ( घट्टणया व त्ति ) सङ्घट्टनम् ( थंभणया व त्ति ) स्तम्भनम्-ऊर्ध्वीकरणं ( लूसणया व त्ति ) क्वचित्तत्र लूपणं- हस्ताऽऽदिना पनकाऽऽदे सम्मार्जनम् ( उप्पाडणया व त्ति ) उन्मूलनम् " अयपायाणि वा " इत्यादिसूत्रे यावत्करणात् त्रपुकसीसकरजतजातरूपका. ( चवेडंति य ) वृत्तलोहकंसलोहहारपुटकरीतिकामाणिशङ्खदन्तचर्मचेलशैलशब्दविशेषितानि पात्राणि दृश्यानि । " अन्नयराणि वा तहप्पगाराणि महद्धणमोल्लाइ " इति च दृश्यम् । तत्रायो लोहं, रजतं रूप्यं, जातरूपं सुवर्णं, काच पाषाणविकारः । ( वेडंति य त्ति ) रूढिगम्यम्, वृत्तलोह त्रिकुटीति यदुच्यते, कांस्यलोहं कांस्यमेव, हारपुटकं मुक्ताशुक्तिपुटं, रीतिका पीतला, अन्यतराणि वा येषा मध्ये एकतराणि एतद्व्यतिरिक्तानि वा तथाप्रकाराणि भोजनाऽऽदिकार्यकारणसमर्थानि, महत् प्रभूतं, धनं द्रव्यं, मूल्यं प्रतीत, येषा तानि तथा । ( अलाबुपायणं ति ) अलाबुपात्रात् तुम्बकभाजनादित्यर्थ । तथा-"अयबंधणाणि वा " इत्यत्र यावत्करणात् त्रपुकबन्धनाऽऽदीनि शैलबन्धनान्तानि पात्राणि दृश्यानि । 'अन्नयराइ तहप्पगाराइं महद्धणमुल्लाइं" इत्येतच्च दृश्यमिति । पुस्तकान्तरे समग्रमिदं सूत्रद्वयमस्त्येवेति । ( णरात्थ एगाए धाउरत्ताए त्ति ) इह युगलिकयेति शेषो दृश्य' । हाराऽऽदीनि प्राग्वत् , नवरम् ( दसमुद्दियाणंतयं त्ति ) रूढशब्दत्वादस्य हस्ताङ्गुलीमुद्रिकादशकमित्यर्थ । ( पवित्तपणं त्ति ) पवित्रकम् अङ्गुलीयकम् ( गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमे त्ति ) ग्रन्थिमं-ग्रन्थनेन निर्वृत्तं मालारूप, वेष्टिमवेष्टनेन निर्वृत्तं पुष्पलम्बूसकाऽऽदि, पूरिमं-पूरणनिर्वृत्तं वंशशलाकाजालकपूरणमयमिति, सङ्घातिम-सङ्घातेन निर्वृत्तम् इतरेतरस्य नालप्रवेशनेन । ( मल्ले त्ति ) माल्यानि मालायां साधूनि, तस्यै हितानि वेति पुष्पाणीत्यर्थ. । ( कण्णपूरएणं ति ) कर्णपूरकः-पुष्पमयः कर्णाऽऽभरणविशेषः । ( मागहए पत्थए त्ति ) " दो असईओ पसई, दोहिं पसईहिं सेइया होइ । चउसेइओ उ कुलओ, चउकुलओ पत्थओ होइ ॥ १ ॥ चउपत्थमाढयं तह चत्तारि य आढया भवे दोणो ॥" इत्यादिमानलक्षणलक्षितो मागधप्रस्थ. । ( सेऽवि य वहमाणए त्ति ) तदपि जलं वहमानं नद्यादिस्रोतोवर्ति व्याप्रियमाणं वा । ( थिमिओदए त्ति ) स्तिमितोदकं यस्याधः कर्दमो नास्ति, ( बहुपसन्ने त्ति ) बहुप्रसन्नम् अतिस्वच्छम् । ( परिपूए त्ति ) परिपूतं वस्त्रेण गालितम् ( पविबए त्ति ) पातुम् ( चरुचमस त्ति ) चरुः स्थालीविशेषश्चमसो दर्विकेति ॥ १२ ॥ ३८ ॥ औ० भ०। परिव्राजामिदम् परिव्राजकम् । परिव्राजकसम्बन्धिनि, " बहुसु परिव्वायएसु नएसु" औ० । परिव्राजकसम्बन्धिषु नयेषु, आचारशास्त्रेषु, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

**परिसंकमाण**-परिशङ्कमान-त्रि० । सर्वतो भयाऽऽकुले, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

**परिसंकियजण**-परिशङ्कितजन-पुं० । भीतजने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

**परिसंखाय**-परिसङ्ख्याय -अव्य० । सम्यग्ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र०२ श्रु० १ अ० । आचा० । सर्वैः प्रकारैर्ज्ञात्वेत्यर्थे, दश० ७ उ० ।

**परिसंठाविय**-परिसंस्थापित-त्रि० । परि समन्तात्सर्वत्र सम्यक् स्थापितम् । रचिते, तं० ।

**परिसंत**-परिश्रान्त-त्रि० । अङ्गप्रत्यङ्गापेक्षया श्रान्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**परिसंथव**-परिसंस्तव-पुं० । परिवन्दने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

**परिसंवेयण**-परिसंवेदन-न० । अनुभवे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**परिसक्कि**-परिष्वष्किन्-त्रि० । परिष्वष्कितुं शीलमस्येति । परिसर्पणशीले, " विपुलगगणचवलपरिसक्किरेसु ।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**परिसडण**-परिशटन-न० । नि शरणे, स्था० १ ठा० ।

**परिसडिय** परिशटित-त्रि० । कुष्ठाऽऽद्युपहताङ्ग इव विध्वस्ते. प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

**परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहार**-परिशटितकन्दमूलत्वक्पत्रपुष्पफलाऽऽहार-पुं० । परिशटितकन्दाऽऽदिभक्षके वानप्रस्थभेदे, नि० चू० १ उ० ।

**परिसप्प**-परिसर्प-पुं० । परिसर्पतीत्येवंशीलः परिसर्पी । परिसर्पणशीलेषु भुजोरःपरिसर्पेषु जीवभेदेषु, अनु० । जी० । प्रज्ञा० ।

**परिसप्पिणी**-परिसर्पिणी-स्त्री० । परिसर्पणशीलायाम्, तिर्यक्स्त्रियाम्, " से किं त परिसप्पिणीओ ? । परिसप्पिणीओ दुविहाओ पराणत्ताओ । तं जहा-उरपरिसप्पिणीओ, भुयपरिसप्पिणीओ य । " जी० २ प्रति० ।

**परिसर**–परिसर–पुं० । प्रान्ते, ओ० । " नगरपरिसरेइ वा । " आ० म० १ अ० । " · · · · · परिसरो मृत्यौ, देवोपान्तप्रदेशयोः । " है० । " परिसरो पासा । " पाइ० ना० २३९ गाथा ।

**परिसह**–परिषह–पुं० । परीति समन्तात् स्वहेतुभिरुदीरिता मार्गाच्यवननिर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्ते इति परीषहाः । उत्त० २ अ० । साधुभिः सहनीयेषु क्षुदादिषु, भ० १ श० ६ उ० । औ० । विशे० । सूत्र० । आ० चू० । आव० ।

ननु केऽमी परीषहाः ?, किंरूपाः ?, किञ्चाऽऽलम्बनमुररीकृत्यैतेषु सत्स्वपि न विनयविलङ्घनमित्याशङ्काऽऽपोह्याय परिषहास्तत्स्वरूपाऽऽदि चाभिधेयमित्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य महार्थस्य महापुरस्येव चतुरनुयोगद्वारस्वरूपमुपवर्णनीय, तत्र च नाम निष्पन्ननिक्षेपस्य परीषह इति नाम, अतस्तन्निक्षेपदर्शनायाऽऽह भगवान्निर्युक्तिकारः–

णासो परीसहाणं, चउव्विहो दुव्विहो उ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नोआगमओ य सो तिविहो ॥६५॥

नियतं निश्चितं वाऽऽसनं नामाऽऽदिरचनाऽऽत्मकं क्षेपणं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः । अयं च केषामित्याह–परीति समन्तात् स्वहेतुभिरुदीरिता मार्गाच्यवननिर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्त इति परीषहास्तेषां, चत्वारो विधाः प्रकारा अस्येति चतुर्विधो, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, इत्यनादृत्य द्रव्यपरीषहमाह–' द्विविधा ' द्विभेद, तु पूरणे, भवति ' द्रव्ये ' इति द्रव्यविषय, प्रक्रमात्परीषहः । स च ( आगम णोआगमतो त्ति ) आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्त इत्यागमस्वरूपमतिपरिचितमिति परिहृत्य नोआगमत आह नो आगमतस्तु नोआगमं पुनराश्रित्य ' स ' इति परीषह ' त्रिविधः ' त्रिप्रकार इति गाथाऽर्थः ॥ ६५ ॥

त्रैविध्यमेवाऽऽह–

जाणगसरीर भविए, तव्वइरित्ते य से भवे दुविहे ।
कम्मे नोकम्मे या, कम्मम्मि य अणुदओ भणिओ ॥६६॥

( जाणगसरीर त्ति ) ज्ञायको ज्ञो वा तस्य शरीरं ज्ञायकशरीरं, ज्ञशरीरं वा जीवरहितं सिद्धशिलातलगतं निषीधिकागतं वा, अहो ! अमुना शरीरसमुच्छ्रयेणानेन परीषह इति पदं शिक्षितम्, अयं घृतघटोऽभूदिति तत्सम्भाव्यमानं, तथा ( भविय त्ति ) शरीरशब्दस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बन्धात् भव्यशरीरं, तत्र भविष्यति तेन तेनावस्थाऽऽत्मना सत्ता प्राप्स्यति य स भव्यो जीवस्तस्य शरीरं यद्यापि परीषह इति पदं न शिक्षते एष्यति तु शिक्षिष्यते, तदयं घृतघटो भविष्यतीतिवत्सम्भाव्यमानम् । नोआगमतो द्रव्यपरीषह ( तव्वइरित्ते य त्ति ) ताभ्यां ज्ञशरीरभव्यशरीराभ्यां व्यतिरिक्तः पृथग्भूतः तद्व्यतिरिक्तः, स च प्रकृतत्वाद् द्रव्यपरीषहो भवत्, ' द्विविध ' द्विभेद । कथमित्याह–क्रियते मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानुगतेनाऽऽत्मना निर्वर्त्यत इति कर्म, तत्र ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूप, ' नोकर्मणि च ' तद्विपरीतरूपे, च समुच्चये दीर्घत्वं च " ह्रस्वदीर्घौ मिथो वृत्तौ " ॥८।१।४॥ इति प्राकृतल-



क्षणात् । तत्राऽऽद्यमाह–कर्मणि विचार्ये, चः पूरणे, द्रव्यपरीषह अनुदयः उदयाभावः, प्रक्रमात् परीषहवेदनीयकर्मणामेव, ' भणितः ' उक्त इति गाथाऽर्थः ॥ ६६ ॥

द्वितीयभेदमाह–

णोकम्मम्मि य तिविहो, सचित्ताचित्तमीसओ चेव ।
भावे कम्मस्सुदओ, तस्स उ दाराणिमे हुंति ॥ ६७ ॥

नोकर्मणि पुनर्विचार्ये, चस्य पुनरर्थत्वाद् द्रव्यपरीषहः त्रिविधः त्रिभेदः, (सचित्ताचित्तमीसओ त्ति) लुप्तनिर्दिष्टत्वाद्विभक्तेः सचित्तोऽचित्तो मिश्रक इति, समाहारो वा सचित्ताचित्तमिश्रकमिति, प्राकृतत्वाच्च पुंल्लिङ्गता, चः स्वगतानेकभेदसमुच्चये, एवोऽवधारणे इयन्त एवामी भेदाः, तत्र नोकर्मणि सचित्तद्रव्यपरीषहो गिरिनिर्झरजलाऽऽदिः, अचित्तद्रव्यपरीषहश्चित्रकचूर्णाऽऽदिर्मिश्रद्रव्यपरीषहो गुडाऽऽर्द्रकाऽऽदि त्रयस्यापि कर्माभावरूपत्वात् क्षुत्परीषहजनकत्वाच्च, इत्थं पिपासाऽऽदिजनकं लवणजलाऽऽद्यप्यनेकधा नोकर्मद्रव्यपरीषह इति स्वधिया भावनीयम् । भावपरीषह आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु नोशब्दस्यैकदेशवाचित्वे आगमैकदेशभूतमिदमेवाध्ययनं, निषेधवाचित्वे तु तदभावरूप परीषहवेदनीयस्य कर्मण उदय । तथा चाऽऽह–( भावे कम्मस्स उदओ त्ति ) कर्मण इति परीषहवेदनीयकर्मणां बहुत्वेऽपि जात्यपेक्षयैकवचननिर्देशः । ' तस्य च ' भावपरीषहस्य ' द्वाराणि ' व्याख्यानमुखानि ' इमानि ' अनन्तरवक्ष्यमाणानि, भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ६७ ॥

तान्येवाऽऽह–

कत्तो कस्स व दव्वं, समोआर अहिआसए नय वत्तणा कालो ।
खित्तुद्देस पुच्छा, निद्देसे सुत्तफासे य ॥ ६८ ॥

'कुत ' इति कुतोऽङ्गाऽऽदेरिदमुद्धृतं १, (कस्स इति) कस्य संयताऽऽदेरमी परीषहा २, 'द्रव्यम्' इति किममीषामुत्पादकं द्रव्यं ३ ' समवतार ' इति क्व कर्मप्रकृतौ पुरुषविशेषे वाऽमीषां सम्भवः ? ४, ' अध्यास ' इति कथममीषामध्यासना सहनाऽऽत्मिका ? ५, ' नय ' इति को नयः कं परीषहमिच्छति ? ६ च समुच्चये, ' वर्तना ' इति कति क्षुदादयः एकदैकस्मिन् स्वामिनि वर्तन्ते ७ ' काल ' इति कियन्तं कालं यावत् परीषहास्तित्वम् ८, ( खेत्ते त्ति ) कतरस्मिन्क्षेत्रे वा देवे ९, ' उद्देशो ' गुरोः सामान्याभिधायि वचनं १०, ' पृच्छा ' तज्जिज्ञासो शिष्यस्य प्रश्नः ११, ' निर्देश ' गुरुणा पृष्टार्थविशेषभाषणम् १२ सूत्रस्पर्श ' सूत्रस्पर्शिनार्थवचनम् १३ ' च ' समुच्चये । इति गाथासमासार्थः ॥६८॥

तत्र कुत इति प्रश्नप्रतिवचनमाह–

कम्मप्पवायपुव्वे, सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं ।
सणयं सोदाहरणं, तं चेव इह पि णायव्वं ॥ ६९ ॥

कर्मणः प्रवादः प्रकर्षेण प्रतिपादनमस्मिन्निति कर्मप्रवाद तच्च तत् पूर्वं च तस्मिन्, तत्र बहूनि प्राभृतानीति कतिथे प्राभृते इत्याह–सप्तदशे प्राभृते–प्रतिनियतार्थाधिकाराभिधायिनि, यत् 'सूत्र' गणधरप्रणीतश्रुतरूपं 'सनय' नैगमाऽऽदिनयान्वितं, ' सोदाहरणं ' सदृष्टान्त ( तं चेव त्ति ) चः

पूरणे, एवोऽवधारणे, ततस्तदेव 'इहापि' परीषहाध्ययने, 'ज्ञातव्यम्' अवगन्तव्यं, न न्वाधिकम्। किमुक्तं भवति ?– निरवशेषं तत एवेदमुद्धृतं न पुनरन्यत इति गाथार्थः॥६६॥

कस्येति यदुक्तं तदुत्तरमाह–

**तिएहं पि णेगमणओ, परीसहो जाव उज्जुसुत्ताओ।**
**तिएहं सदणयाणं, परीसहो संजए होइ ॥ ७० ॥**

'त्रयाणामपि' अविरतविरताविरतविरतानां, न तु विरतस्यैव नैगमनयः, 'परीषहः' क्षुदादिरिति, मन्यत इति शेषः। त्रयाणामपि परीषहवेदनीयासाताऽऽदिकर्मोदयजनितस्य क्षुधादेस्तत्सहनस्य च यथायोगं सकामाकामनिर्जराहेतोः सम्भवाद् अनेकगमत्वेन चास्य सर्वप्रकारसङ्ग्राहित्वात्, (जाव उज्जुसुत्ताउ त्ति) सोपस्कारत्वादस्यैव यावदृजुसूत्रः। कोऽर्थः ?–संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रा अपि त्रयाणामपि परीषहं मन्यन्ते एकैकनयस्य शतभेदत्वेनैतद्भेदानामपि केषाञ्चित् परीषहं प्रति नैगमेन तुल्यमतत्वात्, 'त्रयाणां' त्रिसङ्ख्याना, केषाम् ?–शब्दप्रधाना नयाः शब्दनया, शाकपार्थिवाऽऽदिवत् समासः, तेषां शब्दसमभिरूढैवम्भूताना, मतेनेति शेषः। परीषह 'संयते' विरते भवति। "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।" (तत्त्वा० ६ अ० ८ सू०) इति लक्षणोपेतनिरुपचरितपरीषहशब्दस्य तत्रैव सम्भवात्, इति गाथार्थः॥ ७० ॥

द्रव्यद्वारमधिकृत्य नयमतमाह–

**पढमम्मि अट्ठ भंगा, संगहे जीवो व अहव नोजीवो।**
**ववहारे नोजीवो, जीवदव्वं तु सेसाणं ॥ ७१ ॥**

'प्रथमे' प्रक्रमान्नैगमनये अष्टौ भङ्गाः, स हि–"णेगेहिं माणेहिं, मिणइत्ती णेगमस्स नेरुत्ती।" इति लक्षणादनेकधा करणमिच्छन् यदैकेन पुरुषाऽऽदिना चपेटाऽऽदिना परीषह उदीर्यते तदा परीषहवेदनीयकर्मोदयनिमित्तत्वेऽपि तस्य तद्विवक्षया जीवेनाऽसौ परीषह उदीरित इति वक्ति १, यदा बहुभिस्तदा जीवैः २, यदा अचेतनेनैकेन दृषदादिना जीवप्रयोगरहितेन तदाऽजीवेन ३, यदा तैरेव बहुभिस्तदा अजीवैः ४, यदैकेन लुब्धकाऽऽदिना बाणाऽऽदिनैकेन तदा जीवेन चाऽजीवेन च ५, यदा तैनैकेनैव बहुभिः बाणाऽऽदिभिस्तदा जीवेनाजीवैश्च ६, यदा बहुभिः पुरुषाऽऽदिभिरेकं शिलाऽऽदिकमुत्क्षिप्य क्षिपद्भिस्तदा जीवैरजीवेन च ७, यदा तु तैरेव मुद्गराऽऽदीन् बहून् मुञ्चद्भिस्तदा जीवैश्चाजीवैश्चेति ८॥ 'संग्रहे' संग्रहनाम्नि नये विचार्यमाणे जीवो 'वा' अथवा–नोजीवो हेतुरिति प्रक्रमः किमुक्तं भवति ?–जीवद्रव्येणाजीवद्रव्येण वा परीषह उदीर्यते। स हि "संगहियपिंडियत्थं, संगहवयणं समासतो बेंति।" इति वचनात् सामान्यग्राहित्वेनैकत्वमेवेच्छति, न पुनर्द्वित्वबहुत्वे। अस्यापि च शतभेदत्वाद्यदा चिद्रूपतया सर्वं गृह्णाति तदा जीवद्रव्येण, यदा त्वचिद्रूपतया तदा अजीवद्रव्येण॥ 'व्यवहारे' व्यवहारनये (नोजीव इति) अजीवो हेतुः। कोऽर्थः ? अजीवद्रव्येण परीषह उदीर्यत इत्येकमेव भङ्गमयमिच्छति। तथाहि–"बच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वदव्वेसुं।" इति तल्लक्षणम्। तत्र च विनिश्चितम्' इत्यनेकरूपत्वेऽपि वस्तुनः साव्यवहारिकजनप्रतीतमेव रूपमुच्यते, तद्ग्राहकोऽयम्। उक्तं च–
"भमराइ पंचवएणा–ई णिच्छिए जम्मि वा जणवयस्स। अत्थे विणिच्छओ जो, विणिच्छियत्थु त्ति सो गेज्झो॥१॥ बहुयरउ त्ति य तं चिय, गमेइ संतेऽवि सेसए मुयइ। संववहारपरतया, ववहारो लोगमिच्छंतो ॥ २ ॥" इति।

ततोऽयमाशयः–

"कालो सभाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता। मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं॥ १॥" इत्यागमवचनतः सर्वस्यानेककारणत्वेऽपि कर्मकृतं लोकवैचित्र्यमिति प्रायः प्रसिद्धेर्यत् कर्म कारयिष्यति तत्करिष्याम इत्युक्तेश्च कर्मैव कारणमित्याह–तच्चाचेतनत्वेनाजीव एवेति। (जीवदव्व) तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् जीवद्रव्यमेव, शेषाणाम्–ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताना पर्यायनयाना मतेन, हेतुरिति गम्यते। अयमर्थः–जीवद्रव्येण परीषह उदीर्यत इत्येष एवैषां भङ्गोऽभिमतः, ते हि पर्यायास्तित्वेन परीषह्यमाणमेव परीषहमिच्छन्ति, परीषहणं चोपयोगाऽऽत्मकम् उपयोगस्य च जीवस्वाभाव्यात् जीवद्रव्यमेव सन्निहितमव्यभिचारि च कारणं तद्विपरीतं तु अजीवद्रव्यं दण्डाऽऽदीन्यकारणं, जीवद्रव्यमिति तु द्रव्यग्रहणं पर्यायनयस्यापि गुणसंहतिरूपस्य द्रव्यस्येष्टत्वात्। तदुक्तम्–"पर्यायनयोऽपि द्रव्यमिच्छति गुणसन्तानरूपम्।" इति गाथार्थः॥ ७१॥

सम्प्रति समवतारद्वारमाह–

**समोयारो खलु दुविहो, पयडीपुरिसेसु चेव नायव्वो।**
**एएसिं नाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ७२ ॥**

'समवतारः खलु द्विविधः' इति खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् द्विविध एव, द्वैविध्यं च विषयभेदत इति। तमाह–प्रकृतयश्च पुरुषाश्च प्रकृतिपुरुषास्तेषु, कोऽर्थः ?–प्रकृतिषु ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपासु, पुरुषेषु, चशब्दात् क्षपकाऽऽदिषु च, तत्तद्गुणस्थानविशेषवर्तिषु, एवेतिपूरणे, 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, 'एतेषां' प्रकृत्यादीना 'नानात्वं' भेदं वक्ष्ये, 'अथ' अनन्तरम्, 'आनुपूर्व्या' क्रमेणेति गाथार्थः॥७२॥ उत्त० २ अ०।

एए णं भंते! बावीसं परीसहा कइसु कम्मपगडीसु समोयरंति ?। गोयमा! चउसु कम्मपगडीसु समोयरंति। तं जहा–णाणावरणिज्जे, वेयणिज्जे, मोहणिज्जे, अंतराइए। णाणावरणिज्जे णं भंते! कम्मे कइ परीसहा समोयरंति ?। गोयमा! दो परीसहा समोयरंति। तं जहा–पएणापरीसहे, णाणपरीसहे। वेयणिज्जे णं भंते! कइ परीसहा समोयरंति ?। गोयमा! एक्कारस परीसहा समोयरंति–"पंचेव आणुपुव्वी, चरिया सेज्जा वहे य रोगे य। तणफास जल्लमेव य, एक्कारस वेयणिज्जम्मि ॥ १ ॥" दंसणमोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कइ परीसहा समोयरंति ?। गोयमा! एगे दंसणपरीसहे समोयरइ। चरित्तमोहणिज्जे णं भंते! कइ परीसहा समोयरंति ?। गोयमा! सत्त परीसहा समोयरंति। तं जहा–"अरई अचेलइत्थी, निसीहिया जायणा य अक्कोसे। सक्कार पुरक्कारे, चरित्तमोहम्मि सत्तेते ॥ १ ॥" अंतराइए णं भंते! कम्मे कइ परीसहा समोयरंति ?। गोयमा! एगे अलाभपरीसहे समोयरइ ॥

(कइसु कम्मपगडीसु समोयरंति त्ति) कतिषु कर्मप्रकृतिषु विषये परीषहाः समवतारं व्रजन्तीत्यर्थः। (पन्ना परीसहेत्यादि) प्रज्ञापरीषहो ज्ञानाऽऽवरणे मतिज्ञानाऽऽवरणरूपे समवतरति, प्रज्ञाया अभावमाश्रित्य तदभावस्य ज्ञानाऽऽवरणोदयसम्भवत्वात्। यत्तु तदभावे दैन्यवर्जनं तत्सद्भावे च मानवर्जनं तच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमाऽऽदेरिति। एवं ज्ञानपरीषहोऽपि, नवरं मत्यादिज्ञानाऽऽवरणेऽवतरति "पंचेत्यादि गाथा। (पंचेव आणुपुव्वी ति) क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकपरीषहा इत्यर्थः। एतेषु च पीडैव वेदनीयोत्था, तदधिसहनं तु चारित्रमोहनीयक्षयोपशमाऽऽदिसम्भवमधिसहनस्य चारित्ररूपत्वादिति। (एगे दंसणपरीसहे समोयरइ त्ति) यतो दर्शनं तत्त्वश्रद्धानरूपं दर्शनमोहनीयस्य क्षयोपशमाऽऽदौ भवत्युदये तु न भवतीत्यतस्तत्र दर्शनपरीषह समवतरतीति। "अरई" इत्यादिगाथा। तत्र चारतिपरीषहोऽरतिमोहनीये, तज्जन्यत्वादचेलपरीषहो जुगुप्सामोहनीये लज्जापेक्षया, स्त्रीपरीषहः पुरुषवेदमोहे, रुग्पेक्षया तु पुरुषपरीषहः स्त्रीवेदमोहे, तत्त्वतः स्त्र्याद्यभिलापरूपत्वात्तस्य, नैषेधकीपरीषहो भयमोहे उपसर्गभयापेक्षया, याञ्चापरीषहो मानमोहे तद्दुष्करत्वापेक्षया, आक्रोशपरीषहः क्रोधमोहे क्रोधोत्पत्त्यपेक्षया, सत्कारपुरस्कारपरीषहो मानमोहे मदोत्पत्त्यपेक्षया समवतरति। सामान्यतस्तु सर्वेऽप्येते चारित्रमोहनीये समवतरन्तीति। (एगे अलाभपरीसहे समोयरइ त्ति) अलाभपरीषह एवान्तराये समवतरत्यन्तरायं चेह लाभान्तरायं तदुदय एव लाभाभावात्, तदधिसहनं च चारित्रमोहनीयक्षयोपशम इति। भ० ८ श० ८ उ०।

तत्र प्रकृतिनानात्वमाह–

णाणावरणे वेए, मोहम्मि य अंतराइए चेव।
एएसुं बावीसं, परीसहा हुंति णायव्वा ॥ ७३ ॥

ज्ञानाऽऽवरणे वेद्ये मोहे चान्तरायिके चैव, एतेषु चतुर्षु कर्मसु वक्ष्यमाणस्वरूपेषु द्वाविंशतिः परीषहा भवन्ति ॥७३॥

अनेन प्रकृतिभेद उक्तः। सम्प्रति यस्य यत्रावतारस्तमाह–

पन्नानाणपरिसहा, णाणावरणम्मि हुंति दुन्नेए।
इक्को य अंतराए, अलाहपरीसहो होइ ॥ ७४ ॥

प्रज्ञा चाज्ञानं च प्रज्ञाऽज्ञाने, ते एवोत्सेकवैक्लव्याकरणतः परिषह्यमाणे परीषहौ, 'ज्ञानाऽऽवरणे' कर्मणि भवतो 'द्वौ एतौ, तदुदयक्षयोपशमाभ्यामनयोः सद्भावात्, एकश्च 'अन्तराये' अन्तरायकर्मण्यलाभपरीषहो भवति, तदुदयानिबन्धनत्वादलाभस्य इति गाथाऽर्थः ॥ ७४ ॥

मोहनीयं द्विधेति यत्र तद्भेदे वेदनीये च यत्परिषहावतारस्तमाह–

अरई अचेल इत्थी, निसीहिया जायणा य अक्कोसे।
सक्कारपुरक्कारे, चरित्तमोहम्मि सत्तेए ॥ ७५ ॥
अरईऍ दुगुंछाए, पुंवेय भयस्स चेव माणस्स।
कोहस्स य लोहस्स य, उदएण परीसहा सत्त ॥ ७६ ॥
दंसणमोहे दंसण-परीसहो नियमसो भवे इक्को।
सेसा परीसहा खलु, इक्कारस वेयणिज्जम्मि ॥ ७७ ॥

'अरतिः' इति अरतिपरीषहः, एवमुत्तरेष्वपि परीषहशब्दः सम्बन्धनीयः। (अचेल त्ति) प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपः, अचेल, 'स्त्री नैषेधिकी याचना चाऽऽक्रोशः सत्कारपुरस्कारः' सप्तैते वक्ष्यमाणरूपाः परीषहाः 'चरित्रमोहे' चरित्रमोहनाम्नि मोहनीयभेदे भवन्तीति गम्यते। तदुदयभावित्वादेषाम् ॥ चारित्रमोहनीयस्यापि बहुभेदत्वाद्यस्य तद्भेदस्योदयेन यत्परीषहसद्भावस्तमाह–'अरतेः' अरतिनाम्नश्चारित्रमोहनीयभेदस्य, अचेलस्य जुगुप्सायाः, (पुंवेय त्ति) सुपो लोपात् पुंवेदस्य, भयस्य चैवं मानस्य क्रोधस्य लोभस्य च उदयेन परीषहाः सप्त। इह चाऽरत्युदये नारतिपरीषहः जुगुप्सोदयेनाचेलपरीषह इत्यादि यथाक्रमं योजना कार्येति। तथा दर्शनमोहे 'दर्शनपरीषहः' वक्ष्यमाणरूपो, (णियमसो त्ति) आर्षत्वेन नियमात् भवेत्, 'एक' अद्वितीयः 'शेषाः' एतदुद्धरिताः, परीषहाः पुनः एकादश 'वेदनीये' वेदनीयनाम्नि कर्मणि संभवन्तीति गाथात्रयार्थः ॥ ७५-७६-७७ ॥

के पुनस्ते एकादशेत्याह–

पंचेव आणुपुव्वी, चरिया सिज्जा वहे य रोगे य।
तणफास जल्लमेव य, इक्कारस वेयणिज्जम्मि ॥ ७८ ॥

पञ्चैव पञ्चसंख्या एव, ते च प्रकारान्तरेणापि स्युरित्याह–'आनुपूर्व्या' परिपाट्या क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशकमशकाऽऽख्या इति भावः। चर्या शय्या वधश्च रोगश्च तृणस्पर्शो जल्ल एव च इत्यमी एकादश वेदनीयकर्मण्युदयवति परीषहा भवन्तीति शेषः, इति गाथाऽर्थः ॥ ७८ ॥

सम्प्रति पुरुषसमवतारमाह–

बावीसं बायरसं-पराएँ चउदस य सुहुमरागम्मि।
छउमत्थवीयराए, चउदस इक्कारस जिणम्मि ॥ ७९ ॥

'द्वाविंशतिः' द्वाविंशतिसंख्याः प्रक्रमात्परीषहाः 'बादरसंपराये' बादरसम्परायनाम्नि गुणस्थाने। किमुक्तं भवति?–बादरसम्परायं यावत्सर्वेऽपि परीषहाः सम्भवन्ति, चतुर्दश चतुर्दशसंख्याः, चः पूरणे, सूक्ष्मसंपराये, सूक्ष्मसम्परायनाम्नि गुणस्थाने, 'सप्तानां' चारित्रमोहनीयप्रतिबद्धानां, दर्शनमोहनीयप्रतिबद्धस्य चैकस्य तत्राऽसम्भवादिति भावः। 'छद्मस्थवीतरागे' छद्मस्थवीतरागनाम्नि गुणस्थाने, 'चतुर्दश' उक्तरूपा एव, 'एकादश' एकादशसंख्याः जिने केवलिनि, वेदनीयप्रतिबद्धानां क्षुदादीनामेव तत्र भावाद्, इति गाथाऽर्थः ॥ ७९ ॥

अधुना अध्यासनामाह–

एसणमणेसणिज्जं, तिण्ह अग्गहणऽभोयण नयाणं।
अहिआसण बोद्धव्वा, फासुय सद्दुज्जुसुत्ताणं ॥ ८० ॥

एष्यत इत्येषणम्–एषणाशुद्धम् अनेषणीयं तद्विपरीतं, सोपस्कारत्वाद्यस्माऽऽदि तस्य, यद्वा–'सुपां सुपो भवन्ति' इति न्यायादेषणीयस्य अनेषणीयस्य च, (अग्गहणऽभोयण त्ति) अग्रहणम्–अनुपादान, कथञ्चिद् ग्रहणे वा अभोजनम्–अपरिभोगाऽऽत्मकं 'नयानाम्' अर्थात्रैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणां नयानां मतेनाध्यासना बोद्धव्येति सम्बन्धः। अमी हि स्थूलदर्शिनः क्षुत्पाऽऽद्यधिसहनमप्याऽऽहारपरिहाराऽऽत्मकमेवेच्छन्ति। (फासुय सद्दुज्जुसुत्ताणं ति) शब्द

थानां त्रयाणामृजुसूत्रस्य च मतेन प्रासुकमन्नाऽऽदि, उपलक्षणत्वात् कल्प्यं च गृह्णतो भुञ्जानस्याप्यभ्यासनेति प्रक्रमः । ते हि भावप्रधानतया भावाभ्यासनामेव मन्यन्ते, सा च ना भुञ्जानस्यैव, किं तु शास्त्रानुसारिप्रवृत्त्या समताऽवस्थितस्य प्रासुकमेषणीयं च धर्म्मधूर्वहनार्थं भुञ्जानस्यापीति गाथाऽर्थः ॥ ८० ॥

सम्प्रति नयद्वारमाह–

जं पप्प नेगमनओ, परीसहो वेयणा य दुण्हं तु ।
वेयण पडुच्च जीवे, उज्जुसुओ सद्दस्स पुण आया ॥८१॥

'यद्' वस्तु गिरिनिर्झरजलाऽऽदि 'प्राप्य' आसाद्य क्षुदादिपरिषहा उत्पद्यन्ते नैगमो-नैगमनयो, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत्परीषह इति, वक्तीति शेषः। स ह्येवं मन्यते-यदि तत् क्षुदाद्युत्पादकं वस्तु न भवेत्तदा क्षुदादय एव न स्युः, तदभावाच्च किं केन सह्यत इति परीषहाभाव एव स्यात्, ततस्तद्भावभावित्वात् परीषहस्य तत् प्रधानमिति तदेव परीषह, प्रस्थकोत्पादककाष्ठप्रस्थकवत् । आह नैकगमन्वा नैगमस्य कथमेकरूपतैव परीषहाणामिहोक्ता ?, उच्यते शाखात्वादस्य न सर्वभेदाभिधानं शक्यमिति क्वचिदेव क्वचिदुच्यते । एवं शेषनयेष्वपि यथोक्ताऽऽशङ्कायां वाच्यमिति। वेदना' क्षुदादिजनिता असातवेदना, चशब्दात्तदुत्पादकं च परीषह, 'द्वयोस्तु' पारिशेष्यात् संग्रहव्यवहारयोः पुनर्मतेनेति गम्यते। अयं चानयोरभिप्राय –यदि तावद्गिरिनिर्झरजलाऽऽदिक्षुदादिवेदनाजनकत्वेन परीषह' कथमिव क्षुदादिवेदना न परीषहो, निरुपचरितं परीषह्यन्त इति परीषहलक्षणं वेदनाया एव सम्भवति, उपचरितं तु गिरिनिर्झरजलाऽऽदौ, तात्त्विकवस्तुनिबन्धनश्चोपचार इति तदभावे नस्याप्यभाव एव स्यात् ।' वेदनां ' क्षुदाद्यनुभवाऽऽत्मिकां ' प्रतीत्य ' आश्रित्य जीवे परीषह इति ऋजुसूत्रः मन्यत इतीहापि गम्यते । अयमस्याऽऽशय –सति हि निरुपचरितलक्षणान्वितेऽपि परीषहे स एव परीषहोऽस्तु, किमुपचरितकल्पनया ?, ततो निरुपचरितलक्षणयोगाद्वेदनैव परीषहः, सा च जीवधर्मत्वाज्जीवेनाजीव इति वेदना प्रतीत्य जीवे परीषह उच्यते, न तु पूर्वेषामिवाजीवेऽपीति, ' शब्दस्य ' इति शब्दाऽऽख्यनयस्य साम्प्रतसमभिरूढैवम्भूतभेदतस्त्रिरूपस्य मतेनाऽऽत्मा जीवः, परीषह इति प्रक्रमः । पुनश्शब्दो विशेषं द्योतयति, विशेषश्च परीषहोपयुक्तत्वम्, अयं ह्युपयोगप्रधान, उपयोगश्चाऽऽत्मन एवेति परीषहोपयुक्त आत्मैव परीषह इति मन्यते इति गाथाऽर्थः ॥ ८१ ॥

इदानीं वर्त्तनाद्वारमाह–

वीसं उक्कोसपए, वट्टंति जहन्नओ हवइ एगो ।
सीउसिण चरियं निसी–हिया य जुगवं न वट्टंति ॥८२॥

विंशतिः उत्कृष्टपदे चिन्त्यमाने परीषहा वर्त्तन्ते युगपदेकत्र प्राणिनीति गम्यते । ' जघन्यतः ' जघन्यपदमाश्रित्य भवेदेकः परीषह, ननूत्कृष्टपदे द्वाविंशतिरपि किं नैकत्र वर्त्तन्त इत्याह ( सीउसिण त्ति ) शीतोष्णे चर्यानैषेधिक्यौ च ' युगपद् ' एककालं ' न वर्त्तेते ' न भवतः, परस्परं परिहारस्थितिलक्षणत्वादमीषाम्, तथाहि–न शीतमुष्णे न चोष्णं शीते न चर्याया नैषेधिकी नैषेधिक्यां वा चर्येत्यतो यौगपद्येनामीषामेकत्रासम्भवाद्योत्कृष्टतोऽपि द्वाविंशतिरिति। आह–नैषेधिकीवत्कथं शय्याऽपि न चर्यया विरुध्यते ?, उच्यते। निरोधबाधाऽऽदिनिमित्तत्वक्षणिकाऽऽश्रयेऽपि तत्र सम्भवान्नैषेधिकी तु स्वाध्यायाऽऽदीनां भूमिः, ते च प्रायः स्थिरतायामेवानुज्ञाता इति तस्या एव चर्यया विरोधः, इति गाथाऽर्थः ॥८२॥

कालद्वारमाह–

वासग्गसो अ तिण्हं, मुहुत्तमंतं च होइ उज्जुसुए ।
सद्दस्स एगसमयं, परीसहो होइ नायव्वो ॥ ८३ ॥

( वासग्गसो य त्ति ) आर्षत्वाद्वर्षोऽग्रतः, कोऽर्थः ?-वर्षलक्षणं कालपरिमाणमाश्रित्य, परीषहो भवति इति गम्यते । त्रयः पूरणे 'त्रयाणां' नैगमसङ्ग्रहव्यवहारनयानां मतेन, ते ह्यनन्तरोक्तन्यायतस्तदुत्पादकं वस्त्वपि परीषहमिच्छन्ति, तच्चैतावत्कालस्थितिकमपि सम्भवत्येवेति. ( मुहुत्तमंतं च इति ) प्राकृतत्वादन्तर्मुहूर्त्तं पुनर्भवति, प्रक्रमात्परीषह', ऋजुसूत्रे वा विचार्यमाणे, स हि प्रागुक्तनीतितो वेदनापरीषह इति वक्ति। सा चोपयोगाऽऽत्मिका, उपयोगश्च–" अंतमुहुत्ता उ परं, जोगुवओगा न संतीति " इति वचनात् आन्तर्मुहूर्तिक एव, ' शब्दस्य ' साम्प्रताऽऽदित्रिभेदस्य मतेनैकसमयं परीषहो भवति ज्ञातव्य अवबोद्धव्य, स ह्युक्तनीतितो वेदनोपयुक्तमात्मानमेव परीषहं मनुते, स चैतस्य पर्यायाऽऽत्मकतया प्रतिसमयमन्यान्य एव भवतीति समयमेवैतन्मतेन परीषहो युक्त । इति गाथाऽर्थ ॥ ८३ ॥

' वर्षाग्रतः त्रयाणां परीषह ' इति यदुक्तं; तदेव दृष्टान्तेन द्रढयितुमाह–

कंडू अभत्तछंदो, अच्छीणं वेयणा तहा कुच्छी ।
कासं सास च जरं, अहिआसे सत्त वाससए ॥ ८४ ॥

( कण्डू ) कण्डूतिम्, ' अभक्तछन्दं ' भक्तारुचिरूपम्, 'अक्ष्णोः ' लोचनयोः, वेदना तु स्वानुभवं; सर्वत्र द्वितीयार्थे प्रथमा, तथेति समुच्चये; (कुच्छि त्ति) सुब्व्यत्ययात् कुक्ष्योः वेदना-शूलाऽऽदिरूपा कासं श्वासं च ज्वरं ' त्रयमपि प्रतीतमेव। 'अध्यास्त' इति अधिसहते, सप्त वर्षशतानि यावत् । अनेन तु सनत्कुमारचक्रवर्त्युदाहरणं सूचितं;स हि महात्मा सनत्कुमारचक्रवर्ती शक्रप्रशंसाऽसहनसमायातामरद्वयनिवेदितशरीरविकृतिरुत्पन्नवैराग्यवासनः पटप्रान्तावलग्नतृणवद्विलमपि राज्यमपहायाभ्युपगतदीक्षः प्रतिक्षणमभिनवाभिनवप्रवर्द्धमानसंवेगो मधुकरवृत्त्यैव यथोपलब्धान्नपानोपरचितप्राणवृत्तिरनन्तरोक्तरोगकण्डूकण्ठाद्यादिवेदनाविधुरितशरीरोऽपि संयमात्मनागपि नच्चचाल. पुनस्तत्सत्त्वपरीक्षणाऽऽयातभिषग्वेषामरोपदर्शितद्वादशाङ्गमालिसमाङ्गुल्यवयवश्च तत्पुरतः " पुव्विं कडाणं कम्माणं वेयइत्ता " इत्यादि संवेगोत्पादकमागमवचः प्ररूपयन् स्वयमागत्य शक्रेणाभिवन्दित उपबृंहितश्च। इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

सम्प्रति क्व परीषह इति क्षेत्रविषयप्रश्नप्रतिवचनमाह–

लोए संथारम्मि य, परीसहा जाव उज्जुसुत्ताओ ।
तिण्हं सद्दनयाणं, परीसहा होइ अत्ताणे ॥ ८५ ॥

लोके संस्तारके च परीषहा ( जाव उज्जुसुत्ताओ त्ति ) सूत्रत्वात् ऋजुसूत्र यावत्, अस्य च पूर्वार्द्धस्य सूचकत्वादविशुद्धनैगमस्य मतेन लोके परीषहा, तत्सहिष्णु-

यतिनिवासभूतक्षेत्रस्यापि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकानर्थान्तरत्वात्, इत्थमपि च व्यवहारदर्शनाद्, एवमुत्तरोत्तराऽऽदिधिशुद्धविशुद्धतरतद्देदापेक्षया तिर्यग्लोकजम्बूद्वीपभरतदक्षिणार्द्धपाटलीपुत्रोपाश्रयाऽऽदिषु भावनीयं, यावदत्यन्तविशुद्धतमनैगमस्य यत्रोपाश्रयैकदेशे अमीषा सोढा यतिस्तत्रामी इति, एवं व्यवहारस्यापि, लोकव्यवहारपरत्वादस्य, लोके च नेह वसति प्रोषित इति व्यवहारदर्शनात्, सङ्ग्रहस्य संस्तारके परीषहाः, स हि संगृह्णातीति संग्रह इति निरुक्तिवशात् सङ्ग्रहोपलक्षितमेवाऽऽधारं मन्यते संस्तारक एव च यतिशरीरप्रदेशैः संगृह्यते न पुनरुपाश्रयैकदेशाऽऽदिरिति संस्तारक एवास्य परीषहा, ऋजुसूत्रस्य तु येष्वाकाशप्रदेशेष्वात्माऽवगाढस्तेष्वेव परीषहा, संस्तारकाऽऽदिप्रदेशाना तदणुभिरेव व्याप्तत्वात्, तत्रावस्थानाभावात्, त्रयाणां शब्दनयाना परीषहो भवति आत्मनि, स्वात्मनि व्यवस्थितत्वात्सर्वस्य। तथाहि-सर्वं वस्तु स्वाऽऽत्मनि व्यवतिष्ठते सत्त्वाद् यथा चैतन्यं जीवे। आह-किमेवं नयैर्व्याख्या?, निषिद्धा ह्यसौ। यदुक्तम्-" णत्थि पुहुत्ते समोयारो " इति। उच्यते-दृष्टिवादोऽन्यत्वादस्य न दोषः। तथा च प्रागुक्तम्-' कम्मप्पवायपुव्वे " इत्यादि। दृष्टिवादे हि नयैर्व्याख्येत्यत्रापि तथैवाभिधानम्। इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥

इदानीमुद्देशाऽऽदिद्वारत्रयमल्पवक्तव्यमित्येकगाथया गदितुमाह-

**उद्देसो गुरुवयणं, पुच्छा सीसस्स उ मुणेयव्वा ।**
**निद्देसो पुणिमे खलु, बावीसं सुत्तफासे य ॥ ८६ ॥**

उद्दिश्यत इति उद्देश, क इत्याह-गुरुवचनम् गुरोः विवक्षितार्थसामान्याऽभिधायकं वचो यथा प्रस्तुतमेव ( इह खलु बावीसं परीसह त्ति ) ' पृच्छा शिष्यस्य तु ' गुरूद्दिष्टार्थविशेषजिज्ञासोर्विनेयस्य, तुः पुनः, प्रक्रमाद्वचनम् ' मुणितव्वा ' ज्ञातव्या। यथा-( कयरे खलु ते बावीसं परीसहा? इति ) निर्देशश्चेति निर्देशः पुन इमे खलु द्वाविंशतिः, परीषहा इति गम्यते, अनेन च शिष्यप्रश्नानन्तरं गुरोर्निर्वचनं निर्देश इत्यर्थादुक्तं भवति, अत्र चैवमुदाहरणद्वारेणाभिधानं पूर्वयोरप्युक्तोदाहरणद्वयसूचनार्थं वैचित्र्यख्यापनार्थं चेति किञ्चिन्न्यूनगाथाऽर्थः ॥ ८६ ॥

इत्थं ' कुतः ' इत्यादि द्वादशद्वारवर्णनादवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेप, सम्प्रति ' सूत्रस्पर्शः ' इति चरमद्वारस्य सूत्राऽऽलापकनिष्पन्ननिक्षेपस्य चावसर, तच्चोभय सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्। तच्चेदम्-

**सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ।**

श्रुतम् आकर्णितमवधारितमिति यावत्। ( मे ) मया 'आयुष्मन्!' इति शिष्याऽऽमन्त्रण क कमेवमाह?-सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं। किं तत् श्रुतमित्याह-तेनेति त्रिजगत्प्रतीतेन ' भगवता ' अष्टमहाप्रातिहार्यरूपसमग्रैश्वर्याऽऽदियुक्तेन, एवमित्यमुना वक्ष्यमाणन्यायेन ' आख्यातं ' सकलजन्तुभाषाऽभिव्याप्त्या कथितम्। उक्तं च-" देवा दैवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम्। तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ १ ॥ " किमत आह-इहेति लोके प्रवचने वा ' खलु ' वाक्यालङ्कारे, अवधारणे वा, तत इहैव जिनप्रवचन एव द्वाविंशतिः परीषहाः, सन्तीति गम्यते। अत्र च श्रुतमित्यनेनावधारणाभिधायिना स्वयमवधारितमेव अन्यस्मै प्रतिपादनीयमित्याह, अन्यथाऽभिधाने प्रत्युतापायसम्भवात्। उक्तं च-' किं एत्तो पावयरं, सम्मं अणहिगयधम्मसब्भावो। अन्नं कुदेसणाए, कट्ठुतरायम्मि पाडेइ ॥ १ ॥ " इति। मयेत्यनेनार्थतोऽनन्तराऽऽगमत्वमाह-भगवतेत्यनेन च वक्तुः केवलज्ञानाऽऽदिगुणवत्त्वसूचकेन प्रकृतवचसः प्रामाण्यं ख्यापयितुं वक्तुः प्रामाण्यमाह-वक्तृप्रामाण्यमेव हि वचनप्रामाण्ये निमित्तम्। यदुक्तम्-" पुरुषप्रामाण्यमेव शब्दे दर्पणसङ्क्रान्तं मुखमिवापचाराद्भिधीयते।" तेनेति च गुणवत्त्वप्रसिद्ध्यभिधानेन प्रस्तुताध्ययनस्य प्रामाण्यनिश्चयमाह, संदिग्धे हि वक्तुर्गुणवत्त्वे वचसोऽपि प्रामाण्ये संदिहीतेति, समुदायेन तु आत्मौद्धत्यपरिहारेण गुरुगुणप्रभावनापरैरेव विनेयेभ्यो देशना विधेया, एतद् भक्तिपरिणामे च विद्याऽऽदेरपि फलसिद्धिः। यदुक्तम्-'आयरियभत्तिराए-ण विज्जा मंता य सिज्झंति।" अथवा-' आउसंतेणं ति " भगवद्विशेषणम्, आयुष्मता भगवता, चिरजीविनेत्यर्थः मङ्गलवचनमेतत्। यद्वा-आयुष्मतेति परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्धारयता, न तु मुक्तिमवाप्याऽपि तीर्थनिकाराऽऽदिदर्शनात्पुनरिहाऽऽयातेन। यथोच्यते कैश्चित्-" ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥ " एवं हि अनुन्मूलितनिःशेषरागाऽऽदिदोषत्वात्तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात्, निःशेषोन्मूलने हि रागाऽऽदीना कुतः पुनरिहाऽऽगमनसम्भव इति। यदि वा-( आवसंतेण ति )मयेत्यस्य विशेषणं, तत आङिति-गुरुदर्शितमर्यादया वसता, अनेन तत्त्वतो गुरुमर्यादावर्तित्वरूपत्वात् गुरुकुलवासस्य तद्विधानमर्थत उक्तं, ज्ञानाऽऽदिहेतुत्वात्तस्य। उक्तं च-"णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवास न मुंचंति ॥ १ ॥ " अथवा-( आमुसंतेणं) आमृशता भगवत्पादारविन्दं भक्तितः करतलयुगाऽऽदिना स्पृशता। अनेनैतदाह-अधिगतसमस्तशास्त्रेणापि गुरुविश्रामणाऽऽदिविनयकृत्यं न मोक्तव्यम्। उक्तं हि-"जहाऽऽहिअग्गी जलणं नमंसे, णाणाहुईमंतपयाहिसित्तं। एवाऽऽयरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंतणाणोवगओऽवि संतो ॥१॥" इति। यद्वा-( आउसतेणं ति ) प्राकृतत्वेन लिङ्गव्यत्ययादाजुषमाणेन श्रवणविधिमर्यादया गुरून् सेवमानेन, अनेनाप्येतदाह-विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्यं न तु यथाकथञ्चित्, गुरुविनयभीत्या गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात्। यथोच्यते-" परिसुट्ठियाण पासे, सुणेइ सो विणयपरिभंसी।" इति। यदुक्तं भगवता आख्यातं द्वाविंशतिः परीषहाः सन्तीति, तत्र किं भगवता अन्यत पुरुषविशेषादवसेयाऽऽगमात् स्वतो वा अमी अवगता, इत्याह-श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन ( पवेइय त्ति ) सूत्रत्वात् प्रविदिता, तत्र श्राम्यतीति श्रमणः-तपस्वी, तेन, न तु

" ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पते । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥ " इति कणादाऽऽदिपरिकल्पितसदाशिववदनाऽऽदिसंगिन्देन, तस्य देहाऽऽदिविरहात् तथाविधप्रयत्नाभावेनाऽऽख्यानायोगात् । उक्तं च-" वयणं न कायजोगा-भावे ण य सो अणादिसुद्धस्स । गहणम्मि य नो हेतू, सत्थं अत्ताऽऽगमो कह णु ? । १ ॥ " भगवतेति च समग्रज्ञानैश्वर्याऽऽदिसूचकेन सर्वज्ञतागुणयोगित्वमाह । तथा च यत् कैश्चिदुच्यते-" हेयोपादेयतत्त्वस्य, साभ्योपायस्य वेदकः । यः प्रमाणमसाविष्टो, न तु सर्वस्य वेदकः ॥ १ ॥ " इति, तद् व्युदस्तं भवति, असर्वज्ञो हि न यथावत्सोपायहेयोपादेयतत्त्वविद्भवति, प्रतिप्राणि भिन्ना हि भावानामुपयोगशक्तयः, तत्र कोऽपि कस्यापि कथमपि क्वाप्युपयोगीति कथं सोपायहेयोपादेयतत्त्ववेदनं सर्वज्ञता विना सम्भवतीति, महावीरेणेति शक्रकृतनाम्ना चरमतीर्थकरेण, ' काश्यपेन ' काश्यपगोत्रेण; अनेन च नियतदेशकालकुलाभिधायिना सकलदेशकालकलाव्यापिपुरुषाद्वैतनिराकरणं कृतं भवति । तत्र हि सर्वस्यैकत्वादयमाख्याताऽस्मै व्याख्येयमित्यादिविभागाभावत आख्यानस्यैवासम्भव इति, प्रविदिता प्रकर्षेण स्वयं साक्षात्कारितया ज्ञाता, अनेन बुद्धिव्यवहितार्थपरिच्छेदवादः परिक्षिप्तो भवति, स्वयमसाक्षात्कारी हि प्रदीपहस्तान्धपुरुषवद् व्यतिरिक्तबुद्धियोगोऽपि कथं कञ्चनार्थं परिच्छेत्तुं क्षमः स्याद् ? । एवं चैतदुक्तं भवति-नान्यत पुरुषविशेषादेतेऽवगताः, स्वयं सम्बुद्धत्वाद्भगवत , नाप्यपौरुषेयाऽऽगमात्, तस्यैवासम्भवाद्, अपौरुषेयत्वं ह्यागमस्य स्वरूपापेक्षमर्थप्रत्यायनापेक्षं वा ?, तत्र यदि स्वरूपापेक्षं तदा ताल्वादिकरणव्यापारं विनैवास्य सदोपलम्भप्रसङ्ग , न चाऽऽवृतत्वात् नोपलम्भ इति वाच्य, तस्य सर्वथा नित्यत्वे आवरणस्याकिञ्चित्करत्वात्, किञ्चित्करत्वे वा कथञ्चिदनित्यत्वप्रसङ्गः, अथार्थप्रत्यायनापेक्षम्, एवं कृतसङ्केता बालाऽऽदयोऽपि ततोऽर्थं प्रतिपद्येरन्निति नापौरुषेयाऽऽगमसम्भव इति । ते च कीदृशा इत्याह-यानिति परीषहान् ' भिक्षुः ' उक्तनिरुक्तः, ' श्रुत्वा ' आकर्ण्य, गुर्वन्तिक इति गम्यते । ' ज्ञात्वा ' यथावदवबुद्ध्य, ' जित्वा ' पुनः पुनरभ्यासेन परिचितान् कृत्वा ' अभिभूय ' सर्वथा तत्सामर्थ्यमुपहत्य, भिक्षोश्चर्या विहितक्रियासेवनं भिक्षुचर्या, तया ' परिव्रजन् ' समन्ताद्विहरन् स्पृष्ट आश्लिष्ट , प्रक्रमात्परीषहैरेव, ' नो ' नैव ' विनिहन्येत ' विविधैः प्रकारैः संयमशरीरोपघातेन विनाश प्राप्नुयात् । पठन्ति च-' भिक्खायरियाए परिव्वयंतो त्ति । ' भिक्षाचर्यायां-भिक्षाऽटने परिव्रजन् , उदीर्यन्ते हि भिक्षाऽटने प्राय परीषहाः । उक्तं हि-" भिक्खायरियाए बावीस परीसहा उदीरिज्जन्ति । " इति, शेषं प्राग्वत् ॥ इत्युक्त उद्देश ।

पृच्छामाह-

कयरे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ।

( कयरे ) किं नामान ' ते ' अनन्तरसूत्रोद्दिष्टाः ' खलु ' वाक्यालङ्कारे, शेषं प्राग्वदिति ।

निर्देशमाह-

इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो नो विनिहन्नेज्जा ।

' इमे ' अनन्तरं वक्ष्यमाणत्वाद् हृदि विपरिवर्त्तमानतया प्रत्यक्षा इमे ' ते इति ' ये त्वया पृष्टाः, शेषं पूर्ववत् ॥

तं जहा-दिगिंछापरीसहे १, पिवासापरीसहे २, सीयपरीसहे ३, उसिणपरीसहे ४, दंसमसगपरीसहे ५, अचेलपरीसहे ६, अरइपरीसहे ७, इत्थीपरीसहे ८, चरियापरीसहे ९, निसीहियापरीसहे १०, सिज्जापरीसहे ११, अक्कोसपरीसहे १२, वहपरीसहे १३, जायणापरीसहे १४, अलाभपरीसहे १५, रोगपरीसहे १६, तणफासपरीसहे १७, जल्लपरीसहे १८, सक्कारपुरक्कारपरीसहे १९, पण्णापरीसहे २०, अन्नाणपरीसहे २१, सम्मत्तपरीसहे २२ ।

तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थं , दिगिञ्छापरीषह १, पिपासापरीषहः २ शीतपरीषहः ३, उष्णपरीषहः ४, दंशमशकपरीषह ५, अचेलपरीषह ६, अरतिपरीषहः ७, स्त्रीपरीषहः ८, चर्यापरीषह ९, नैषेधिकीपरीषह १०, शय्यापरीषहः ११ आक्रोशपरीषह १२, वधपरीषह १३, याचनापरीषह १४, अलाभपरीषह १५, रोगपरीषह १६, तृणस्पर्शपरीषह १७, जल्लपरीषहः १८, सत्कारपुरस्कारपरीषह १९, प्रज्ञापरीषहः २०, अज्ञानपरीषहः २१, दर्शनपरीषह २२ । इह च-" दिगिंछत्ति " देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते, सैवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुरप्यसंयमभीरुतया आहारपरिपाकाऽऽदिवाञ्छाविनिवर्तनेन परीति-सर्वप्रकारं सह्यत इति परीषहः दिगिञ्छापरीषह १, एवं पातुमिच्छा पिपासा, सैव परीषहः पिपासापरीषह २, ' श्यैङ् ' गतावित्यस्य गत्यर्थत्वात्कर्तरि क्त , ततो " द्रवमूर्तिस्पर्शयो श्य " ( पा० ६-१-२४ ) इति संप्रसारणे स्पर्शवाचित्वाच्च ' श्योऽस्पर्शे " ( पा० ८ २-७ ) इति नत्वाभावे शीतं शिशिर स्पर्श तदेव परीषह शीतपरीषह ३, ' उष ' दाहे इत्यस्यौणाऽऽदिकनक्प्रत्ययान्तस्य उष्णं निदाघाऽऽदितापाऽऽत्मकं तदेव परीषह उष्णपरीषह ४ दशन्तीति दशा पचाऽऽदित्वादच्; मारयितुं शक्नुवन्ति मशका , दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकाः; यूकाऽऽद्युपलक्षणं चैतत् , त एव परीषहो दंशमशकपरीषह ५, अचेल चेलाभावो जिनकल्पिकाऽऽदीनाम्, अन्येषां तु भिन्नमल्पमूल्य च चेलमप्यचेलमेव, अवल्गशीलाऽऽदिवत् , तदेव परीषहोऽचेलपरीषह ६, रमणं रति संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरति , सैव परीषह अरतिपरीषह ७, स्त्यायते स्तृणोतेर्वा त्रट टित्वाच्च ङीपि स्त्री, सैव तद्गतरागहेतुगतिविभ्रमङ्गिताऽऽकारविलोकनेऽपि-

" त्वग्रुधिरमांसमेद-स्नाय्वस्थिशिराव्रणैः सुदुर्गन्धम् । कुचनयनजघनवदनो-रुसूर्च्छितो मन्यते रूपम् ॥ १ ॥ "

तथा-

" निष्ठीवितं जुगुप्स-त्यधरस्थं पिबति मोहित प्रसभम् । कुचजघनपरिस्रावं, नेच्छति तन्मोहितो भजते ॥ २ ॥ "

इत्यादिभावनातोऽभिधास्यमानन्नीतितश्च परिषह्यमाणत्वा-त्परीषहः स्त्रीपरीषहः ८, चरणं चर्या ग्रामानुग्रामं विहरणाऽऽत्मिका,सैव परीषहः चर्यापरीषहः ९,निषेधनं निषेधः पापकर्मणां गमनाऽऽदिक्रियायाश्च सप्रयोजनमस्या नैषेधिकी-स्मशानाऽऽदिका स्वाध्यायाऽऽदिभूमिः,निषद्येति यावत्,सैव परीषहो नैषेधिकीपरीषहः १०,तथा-शेरतेऽस्यामिति शय्या उपाश्रयः। सैव परीषहः शय्यापरीषहः ११,आक्रोशनमाक्रोशः-असत्यभाषाऽऽत्मकः,स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः १२, हननं वधः-ताडनं,स एव परीषहो वधपरीषहः १३,याचनं याञ्चा, प्रार्थनेत्यर्थः,सैव परीषहो याञ्चापरीषहः १४,लभनं लाभो न लाभोऽलाभः अभिलषितविषयाप्राप्तिः स एव परीषहः अलाभपरीषहः१५,रोगः कुष्ठाऽऽदिरूपः स परीषहो रोगपरीषहः १६ तरन्तीति तृणानि,श्रौणाऽऽदिको नक् न्हस्वत्वं च,तेषां स्पर्शः तृणस्पर्शः,स एव परीषहस्तृणस्पर्शपरीषहः १७,जल्ल इति मलः, स एव परीषहो जल्लपरीषहः १८, सत्कारो वस्त्राऽऽदिभिः पूजनं पुरस्कारः अभ्युत्थानाऽऽसनाऽऽदिसम्पादनम्। यद्वा-सकलैवाभ्युत्थानाभिवादनदानाऽऽदिरूपा प्रतिपत्तिरिह सत्कारस्तेन पुरस्करणं सत्कारपुरस्कारः, ततस्तावेव स एव वा परीषहः सत्कारपुरस्कारपरीषहः १९, प्रज्ञापरीषहः अज्ञानपरीषहश्च प्रागुभावितार्थौ, नवरं प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, स्वयं विमर्शपूर्वको वस्तुपरिच्छेदः, तथा ज्ञायते वस्तुतत्त्वमनेनेति ज्ञानं, सामान्येन मत्यादि, तदभावोऽज्ञानम् २०-२१ दर्शनं सम्यग्दर्शनं तदेव क्रियाऽऽदिवादिना विचित्रमतश्रवणेऽपि सम्यक् परिषह्यमाणं-निश्चलचित्ततया धार्यमाणं परीषहो दर्शनपरीषहः। यद्वा-दर्शनशब्देन दर्शनव्यामोहहेतुरैहिकाऽऽमुष्मिकफलानुपलम्भादिरिह गृह्यते, ततः स एव परीषहो दर्शनपरीषहः २२। इत्थं नामतः परीषहानभिधाय तानेव स्वरूपतोऽभिधित्सुः सम्बन्धार्थमाह-

परीसहाणं पविभत्ती, कासवेणं पवेइया।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

'परीषहाणाम्' अनन्तरोक्तनाम्नां प्रविभक्तिः' प्रकर्षेण स्वरूपसम्मोहाभावलक्षणेन विभागः-पृथक्ता 'काश्यपेन' काश्यपगोत्रेण, महावीरेणेति यावत्।' प्रवेदिता' प्ररूपिता 'तामिति' काश्यपप्ररूपितां परीषहप्रविभक्तिं ( भे इति भवताम्, उदाहरिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि, ' आनुपूर्व्या' क्रमेण शृणुत ( मे ) मम प्रक्रमादुदाहरतः, शिष्याऽऽदरख्यापनार्थं च काश्यपेन प्रवेदितेति वचनम्। इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ उत्त० २ अ०।

संप्रत्यध्ययनार्थोपसंहारमाह-

एए परीसहा सव्वे, कासवेणं पवेइया।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुइ ॥ ४६ ॥

'एते' अनन्तरमुपदर्शितस्वरूपा', 'परीषहाः' क्षुदादयः 'सर्वे' द्वाविंशतिसंख्या अपि न तु कियन्त एव ' काश्यपेन ' श्रीमन्महावीरेण 'प्रवेदिताः' प्ररूपिताः.( जे इति ) यानुक्तन्यायेन ज्ञात्वेति शेषः, भिक्षुर्यतिर्नैव 'विहन्येत' पराजीयेत। कोऽर्थः ?-संयमात्पात्येत, 'स्पृष्टो' बाधितः केनापि प्रक्रमात् द्वाविंशतेरेकतरेण दुर्जयेनापि परीषहेण ( कण्हु इति ) कुत्रचित् देशे काले वा इति सूत्रार्थः। उत्त० २ अ०।

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं ॥ २७ ॥

क्षुधं बुभुक्षां, पिपासां तृषं, दुःशय्यां विषमभूम्यादिरूपां, शीतोष्णं प्रतीतम्, अरतिं मोहनीयोद्भवां भयं व्याघ्राऽऽदिसमुत्थमतिसहेत् एतत्सर्वमेव अव्यथितो दीनमनाः सन् देहे दुःखं महाफलं, संचिन्त्येति वाक्यशेषः। तथा च-शरीरे सन्तं [illegible] दुःखं शरीरं वाऽसारं सम्यगतिसह्यमानं च मोक्षफलमेवेदम्, इति सूत्रार्थः। दश० ८ अ०। पं० व० द्वा०।

अथ बन्धस्थानान्याश्रित्य परीषहान् विचारयन्नाह-

सत्तविहबंधगस्स णं भंते ! कइ परीसहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! बावीस परीसहा पण्णत्ता। वीसं पुण वेएइ। जं समयं सीयपरीसहं वेएइ नो तं समयं उसिणपरीसहं वेएइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेएइ नो तं समयं सीयपरीसहं वेएइ, जं समयं चरियापरीसहं वेएइ नो तं समयं निसीहियापरीसहं वेएइ, जं समयं निसीहियापरीसहं वेएइ नो तं समयं चरियापरीसहं वेएइ॥ अट्ठविहबंधगस्स णं भंते ! कइ परीसहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! बावीसं परीसहा पण्णत्ता। तं जहा-छुहापरीसहे पिवासापरीसहे सीयपरीसहे० जाव दंसणपरीसहे। एवं अट्ठविहबंधगस्स वि। छव्विहबंधगस्स णं भंते ! सरागछउमत्थस्स कइ परीसहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! चोद्दस परीसहा पण्णत्ता। बारस पुण वेएइ। जं समयं सीयपरीसहं वेएइ नो तं समयं उसिणपरीसहं वेएइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेएइ नो तं समयं सीयपरीसहं वेएइ। जं समयं चरियापरीसहं वेएइ नो तं समयं सेज्जापरीसहं वेएइ, जं समयं सेज्जापरीसहं वेएइ नो तं समयं चरियापरीसहं वेएइ। एक्कविहबंधगस्स णं भंते ! वीयरागछउमत्थस्स कइ परीसहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! एवं जहेव छव्विहबंधगस्स। एगविहबंधगस्स णं भंते ! सजोगिभवत्थकेवलिस्स कइ परीसहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! एक्कारस परीसहा पण्णत्ता। नव पुण वेएइ। सेसं जहा छव्विहबंधगस्स। अबंधगस्स णं भंते ! अजोगिभवत्थकेवलिस्स कइ परीसहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! एक्कारस परीसहा पण्णत्ता। नव पुण वेएइ। जं समयं सीयपरीसहं वेएइ नो तं समयं उसिणपरीसहं वेएइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेएइ नो तं समयं सीयपरीसहं वेएइ, जं समयं चरियापरीसहं वेएइ नो तं समयं सेज्जापरीसहं वेएइ, जं समयं सेज्जापरीसहं वेएइ नो तं समयं चरियापरीसहं वेएइ।

सप्तविधबन्धक आयुर्वर्जकर्मबन्धकः। ( जं समयं सीयपरीसहमित्यादि ) यत्र समये शीतपरीषहं [illegible] उष्णपरीषहं, शीतोष्णयोः परस्परं [illegible] सम्भवात्। अथ यद्यपि [illegible] परस्परविरुद्धे शीते [illegible]

स एकस्यां दिशि शीतमन्यस्यां चोष्णमित्येवं द्वयोरपि शीतोष्णपरीषहयोरस्ति सम्भव । नैतदेवम्, कालकृतशीतोष्णाऽऽश्रयत्वाद्धिकृतसूत्रस्यैवंविधव्यतिकरस्य वा प्रायेण तपस्विनामभावादिति । तथा-( जं समयं चरियापरीसहमित्यादि) तत्र चर्या ग्रामाऽऽदिषु सञ्चरणं, नैषेधिकी च ग्रामाऽऽदिषु प्रतिपन्नमासकल्पाऽऽदेः स्वाध्यायाऽऽदिनिमित्तं शय्यातो विविक्तोपाश्रये गत्वा निषदनम् । एवं चानयोर्विहारावस्थानरूपत्वेन परस्परविरोधान्नैकदा संभव । अथ नैषेधिकीवच्छय्याऽपि चर्यया सह विरुद्धेति न तयोरेकदा सम्भव, ततश्चैकोनविंशतेरेव परीषहाणामुत्कर्षेणैकदा वेदनं प्राप्तमिति । नैवम् । यतो ग्रामाऽऽदिगमनप्रवृत्तो यदा कश्चिदौत्सुक्यादनिवृत्ततत्परिणाम एव विश्रामभोजनाऽऽद्यर्थमित्वरं शय्याया वर्त्तते तदोभयमप्यविरुद्धमेव, तत्वतश्चर्याया अलमासत्वादाश्रयस्य चाश्रयणादिति । यद्येवं तर्हि कथं षड्विधबन्धकमाश्रित्य वक्ष्यति । ( जं समयं चरियापरीसहं वेएइ नो तं समयं सेज्जापरीसहं वेएइत्यादि ) । अत्रोच्यते-षड्विधबन्धको मोहनीयस्याविद्यमानकल्पत्वात्सर्वत्रौत्सुक्याभावेन शय्याकाले शय्यायामेव वर्त्तते, न तु बादररागवदौत्सुक्येन विहारपरिणामाविच्छेदाच्चर्यायामप्यतस्तदपेक्षया तयो परस्परविरोधाद्युगपदसम्भवस्ततश्चासाध्वेवं ( जं समयं चरिएत्यादि ) (छव्विहबंधेत्यादि) षड्विधबन्धकस्याऽऽयुर्मोहवर्जाना बन्धकस्य सूक्ष्मसम्परायस्येत्यर्थ , एतदेवाऽऽह-( सरागछउमत्थस्सेत्यादि ) सूक्ष्मलोभाणुता वेदनात्सरागोऽनुत्पन्नकेवलत्वाच्छद्मस्थस्ततः कर्मधारयोऽतस्तस्य । ( चोद्दसपरीसह त्ति ) अष्टाना मोहनीसम्भवाना नस्य मोहाभावेनाभावाद् द्वाविंशते' शेषाश्चतुर्दश परीषहा इति । ननु सूक्ष्मसम्परायस्य चतुर्दशानामेवाभिधानात् मोहनीयसम्भवानामष्टानामसम्भव इत्युक्तं, ततश्च सामर्थ्यादनिवृत्तिबादरसम्परायस्य मोहनीयसम्भवानामष्टानामपि सम्भवः प्राप्त,कथं चैतदुच्यते,यतो दर्शनसप्तकोपशमे बादरकषायस्य दर्शनीयोदयाभावेन दर्शनपरीषहाभावात्सप्तानामेव सम्भवो, नाष्टानाम् । अथ दर्शनमोहनीयसत्ताऽपेक्षयाऽसावपीष्यत इत्यष्टावेव, तर्ह्युपशमकत्वे सूक्ष्मसम्परायस्यापि मोहनीयसत्तासद्भावात् कथं तदुत्था सर्वेऽपि परीषहा न भवन्तीति, न्यायस्य समानत्वादिति । अत्रोच्यते-यस्माद्दर्शनसप्तकोपशमस्योपर्येव नपुंसकवेदाऽद्युपशमकाले अनिवृत्तिबादरसम्परायो भवति,स चाऽऽवश्यकाऽऽद्यभिप्रायतिरिक्तग्रन्थान्तरमतेन दर्शनत्रयस्य बृहति भागे उपशान्ते शेषे चानुपशान्ते एव स्यात् । नपुंसकवेद चाऽसौ तेन सहोपशमयितुमुपक्रमते, ततश्च नपुंसकवेदोपशमावसरे अनिवृत्तिबादरसम्परायस्य सतो दर्शनमोहस्य प्रदेशत उदयोऽस्ति, न तु सत्तैव, ततस्तत्प्रत्ययो दर्शनपरीषहस्तस्यास्तीति । ततश्चाष्टावपि भवन्तीति;सूक्ष्मसम्परायस्य तु मोहसत्तायामपि न परीषहहेतुभूत सूक्ष्मोऽपि मोहनीयोदयोऽस्तीति न मोहजन्यपरीषहसंभव ।

आह च-

"मोहनिमित्ता अट्ठ वि, बायररागे परीसहा किह णु ।
किंहि वा सुहुमसरागे, न हुंति उवसामए सन्ते ॥ १ ॥"

आचार्य आह-

"सत्तगपरउब्बिय जे-ण बायरो जं च सावसेसम्मि ।
मग्गिहाम्मि पुरिसे, लग्गइ नो दंसणस्सावि ॥ २ ॥
लब्भइ पएसकम्मं, पत्तुय सुहुमोदओ तओ अट्ठ ।
तम्म भणिया न सुहुमे,न तस्स सुहुमोदओ वि जओ ॥३॥"

इति । यत्र सूक्ष्मसम्परायसूक्ष्मलोभकिट्टिकानामुदया नासौ परीषहहेतुर्लोभहेतुकस्य परीषहस्यानभिधानात् । यदि च कोऽपि कथञ्चिदसौ स्यात्तदा तस्यात्यन्ताल्पत्वेनाविवक्षेति । (एगविहबंधगस्स त्ति ) वेदनीयबन्धकस्येत्यर्थ । कस्य तस्येत्यत आह-( वीअरागछउमत्थस्स त्ति ) । उपशान्तमोहस्य, क्षीणमोहस्य चेत्यर्थ । ( एवं चेवेत्यादि ) । चतुर्दश प्रज्ञप्ता द्वादश पुनर्वेदयतीत्यर्थ ॥ शीतोष्णयोश्चर्याशय्ययोश्च पर्यायेण वेदनादिति । भ० ८ श० ८ उ० । प्रव० । प० सं० । ( जिनस्यैकादश ११ परीषहा वेद्या इति केवल्याहारचिन्तायामुक्ता ) द्रव्यभावपरीषहेषु उदाहरणम् । एते च परीषहा द्विविधा । तद्यथा-द्रव्यपरीषहा भावपरीषहाश्च । तत्र द्रव्यपरीषहा नाम य इहलोकनिमित्तं बन्धनाऽऽदिषु वा परवशेनाधिसह्यन्ते । तत्रोदाहरणं यथा-सामायिके चक्रदृष्टान्ते इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तपुत्रस्था भावपरीषहा ये संसारव्यवच्छेदमनसानाऽऽकुलेना स नाधिसह्यन्ते तैरेव वासाधिकार । आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

पञ्चभि प्रकारैः छद्मस्थपरीसहा-

पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थेणं उदिणे परीसहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा,तितिक्खेज्जा,अहियासेज्जा । तं जहा-उदिन्नकम्मे खलु अयं पुरिसे उम्मत्तगभूए तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा, अवहसइ वा, णिच्छोडइ वा, णिब्भत्थेइ वा, बंधइ वा,रुंधइ वा,छविच्छेयं करेइ वा,पमारं वा, णेइ उद्दवेइ वा,वत्थपडिग्गहं कंबलं पायपुंछणमाच्छिंदइ वा, विच्छिदइ वा, भिंदइ वा, अवहरइ वा ॥ १ ॥ जक्खाइट्ठे खलु अयं पुरिसे तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा,तहेव०जाव अवहरइ वा ॥ २ ॥ ममं च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उदिन्ने भवइ तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा० जाव अवहरइ वा ॥३॥ ममं च णं सम्म असहमाणस्स अक्खममाणस्स अतितिक्खेमाणस्स अणहियासेमाणस्स किम्मन्ने कज्जइ एगंतसो मे पावकम्मे कज्जइ ॥ ४ ॥ ममं च णं सम्मं सहमाणस्स०जाव अहियासेमाणस्स किम्मन्ने कज्जइ ?,एगंतसो मे निज्जरा कज्जइ ॥ ५ ॥ इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्म सहेज्जा० जाव अहियासेज्जा ॥

(पचहीत्यादि) स्फुटं, किं तु छाद्यते येन तत् छद्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिघातिकर्मचतुष्टयं, तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थ , सकषाय इत्यर्थ । उदीर्णानुदितान् परीषहोपसर्गानभिहितस्वरूपान् सम्यक्तत्कषायोदयनिरोधाऽऽदिना सहेत भयाभावेनाविचलनाद्भट भटवत् क्षमेन, क्षान्त्या तितिक्षेत अदीनतया, अध्यासीनपरीषहाऽऽदावेवाऽऽधिक्येनासीन न चलेदिति, उदीर्णमुदितप्रबलं वा कर्म मिथ्यात्वमोहनीयाऽऽदि यस्य स उदीर्णकर्मा, खलुर्वाक्यालङ्कारे, अयं प्रत्यक्ष पुरुष उन्मत्तको मदिराऽऽदिना विप्लुतचित्त स इव उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात् उन्मत्तक एव वा उन्मत्तकभूतो भूत-

शब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वात् । ( तेण त्ति ) उदीर्णकर्मा यतोऽय-
मुष्मत्तकभूतः पुरुषस्तेन कारणेन । ( मे इति ) माम् एषो-
ऽयमाक्रोशति, शपति, अपहसति, उपहासं करोति, अपघर्ष-
ति वा अपघर्षणं करोति, निच्छोटयति सम्बन्धान्तरसंब-
द्धहस्ताऽऽदौ गृहीत्वा बलात् क्षिपति, निर्भर्त्सयति दुर्वचनैर्ब-
ध्नाति रज्ज्वादिना, रुणद्धि कारागारप्रवेशनाऽऽदिना, छवे
शरीरावयवस्य हस्ताऽऽदेश्छेदं करोति, मारणप्रारम्भः प्रमारो
मूर्च्छाविशेषो मारणस्थानं वा तं नयति प्रापयतीति अप-
द्रावयति मारयति, अथवा-प्रमारं मरणमेव । ( उद्वेइ
त्ति ) उपद्रवयति उपद्रवं करोतीति । पतद्ग्रहं पात्रं, कम्ब
लं प्रतीतं, पादप्रोञ्छनं रजोहरणम् आछिनत्ति बलादु-
द्दालयति । विच्छिनत्ति विच्छिन्नं करोति दूरे व्यवस्था-
पयतीत्यर्थः । अथवा वस्त्रमपि आच्छिनत्ति आछिनत्ति । विशे-
षेण छिनत्ति विच्छिनत्ति, भिनत्ति पात्रं स्फोटयति, अपहरति
चोरयति, वाशब्दाः सर्वे विकल्पार्था इत्येकं परीषहाऽऽदि-
सहनाऽऽलम्बनस्थानम्, इदञ्चाऽऽक्रोशाऽऽदिकमिह प्राय आ
क्रोशवधाभिधानपरीषहद्वय रूपं मन्तव्यम्, उपसर्गविवक्षायां
तु मानुष्यकप्राद्वेषिकाऽद्युपसर्गरूपमिति । तथा यक्षाविष्टो
देवाधिष्ठितोऽयं तेनाऽऽक्रोशतीत्यादि द्वितीयम् । तथा अय हि
परीषहोपसर्गकारी मिथ्यात्वाऽऽदिकर्म्मवशवर्ती ( ममं च णं
ति ) मम पुनस्तेनैव मानुष्यकेण भवेन जन्मना वेद्यतेऽनुभू-
यते यत्तद्भववेदनीयं कर्म्म, उदीर्णं भवत्यस्ति तेनैष मामाक्रो-
शतीत्यादि तृतीयम् । यथा एष बालिशः पापाभीतत्वात् क-
रोतु नामाक्रोशनाऽऽदि मम पुनरसहमानस्य ( किं मन्ने त्ति )
मन्ये इति निपातो वितर्कार्थः ( कज्जइ त्ति ) संपद्यते, इह
विनिश्चयमाह-( एगंतसो त्ति ) एकान्तेन सर्वथा पापं क-
र्माऽसाताऽऽदि क्रियते संपद्यत इति चतुर्थं । तथा अय ता-
वत्पापं बध्नाति मम चेदं महती निर्जरा क्रियत इति प-
ञ्चमम् । ( इच्चेएहीत्यादि ) निगमनमिति । शेषं सु-
गमम् ।

छद्मस्थविपर्ययः केवलीति तत्सूत्रम्-

पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं
सहेज्जा० जाव अहियासेज्जा । तं जहा खित्तचित्ते
खलु अयं पुरिसे तेण मे एस पुरिसे अक्कोसइ वा
तहेव० जाव अवहरइ वा ॥ १ ॥ दित्तचित्ते खलु अयं
पुरिसे तेण मे एस पुरिसे० जाव अवहरइ वा ॥ २ ॥ ज-
क्खाइट्ठे खलु अयं पुरिसे तेण मे एस पुरिसे० जाव अ-
वहरइ वा ॥ ३ ॥ ममं च णं तब्भववेयणिज्जे कम्मे उदि
न्ने भवइ तेण मे एस पुरिसे० जाव अवहरइ वा ॥ ४ ॥
ममं च णं सम्मं सहमाणं खममाणं तितिक्खमाणं अहि-
यासेमाणं पासित्ता बहवे अन्ने छउमत्था समणा निग्गंथा
उदिन्ने परीसहोवसग्गे एवं सम्मं सहिस्संति० जाव अहि-
यासिस्संति ॥ ५ ॥ इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं केवली उ-
दिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहेज्जा० जाव अहियासेज्जा ।

तत्र च क्षिप्तचित्त पुत्रशोकाऽऽदिना, नष्टचित्त पुत्रजन्मा-
ऽऽदिना दर्पवच्चित्त उन्मत्त एवेति । मां च सहमानं दृष्ट्वा अ-
न्येऽपि साधवोऽन्ययुत्तमानुसारित्वात् प्राय इतरेषाम् । यदाह-
" जो उत्तमेहिं मग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाणं । आ-
यरियम्मि जयंते, तयणुचरा केण सीएज्ज ? " ॥ १ ॥ इति ।
( इच्चेएहीत्यादि ) अत्राऽपि निगमनम् । शेषं सुगममिति ।
स्था० ५ ठा० १ उ० ।

परीषहाः सोढव्या इत्युपदेशः-

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए ।
तं संजमओऽवचिज्जई, मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥ १ ॥

संवृतानि निरुद्धानि कर्माण्यनुष्ठानानि सम्यगुपयोगरू-
पाणि वा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि वा
यस्य भिक्षोः साधोः स तथा तस्य यत् दुःखम् अस-
द्वेद्यं तदुपादानभूत वा अष्टप्रकारं कर्म स्पृष्टमिति बद्धस्पृष्ट-
निकाचितमित्यर्थ, तच्च अत्र " अबोधिना " अज्ञानेनोप-
चितं सत् संयमतो मौनीन्द्रोक्तात् सप्तदशरूपादनुष्ठानाद-
पचीयते प्रतिक्षणं क्षयमुपयाति । एतदुक्तं भवति-यथा तटा-
कोदरसंस्थितमुदकं निरुद्धापरप्रवेशद्वारं सदाऽऽदित्यकर-
संपर्कात् प्रत्यहमपचीयते, एवं संवृताऽऽश्रवद्वारस्य भिक्षो-
रिन्द्रिययोगकषायं प्रति संलीनतया संवृताऽऽत्मनः सतः
संयमानुष्ठानेन चाऽनेकभवाज्ञानोपचितं कर्म क्षीयते, ये च
संवृताऽऽत्मानः सदनुष्ठायिनश्च ते हित्वा त्यक्त्वा ' म-
रणं ' मरणस्वभावम्, उपलक्षणत्वात् जातिजरामरणशो-
काऽऽदिकं त्यक्त्वा मोक्षं व्रजन्ति पण्डिताः सदस-
द्विवेकिनः, यदि वा-पण्डिताः सर्वज्ञ एवं वदन्ति यत्
प्रागुक्तमिति ॥ १ ॥

येऽपि च तेनैव भवेन न मोक्षमाप्नुवन्ति तानधिकृत्याऽऽह-

जे विन्नवणाहिऽजोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अदक्खु कामाइं रोगवं ॥ २ ॥

ये महासत्त्वाः कामार्थिभिर्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा का-
मिनं विज्ञापयन्ति ता विज्ञापना स्त्रियस्ताभिः अजुष्टा असे-
विता क्षयं वा-अवसायलक्षणमतीतास्ते सन्तीर्णैर्मुक्तैः समं
व्याख्याता, अतीर्णा अपि सन्तो यतस्ते निष्किञ्चनतया श-
ब्दाऽऽदिषु विषयेष्वप्रतिबद्धा संसारोदन्वतस्तटोपान्तवर्ति-
नो भवन्ति तस्मादूर्ध्वमिति मोक्षं योषित्परित्यागादूर्ध्वं यद्भ-
वति तत्पश्यत यूयम् । ये च कामान् रोगवद्व्याधिकल्पान्
" अद्राक्षुः " दृष्टवन्तस्ते संतीर्णसमा व्याख्याता । तथा
चोक्तम्-' पुप्फफलाणं च रसं, सुराइ मंसस्स महिलियाण
च । जाणता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे ॥ १ ॥ " तृतीय
पादस्य पाठान्तरं वा-' उड्ढं तिरियं अहे तहा " ऊर्ध्वमिति
सौधर्माऽऽदिषु (तिरियमिति) तिर्यग्लोके, अध इति-भवनप-
त्यादौ, ये कामास्तान् रोगवदद्राक्षुर्ये ते तीर्णकल्पा व्याख्या-
ता इति ॥ २ ॥

पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याऽऽह-

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारंती राइणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥ ३ ॥

' अग्रं ' वर्यं प्रधानं रत्नवस्त्राऽऽभरणाऽऽदिकम् । तद्यथा-
वणिग्भिर्देशान्तरादाहितं ढौकितं राजानस्तत्कल्पा ईश्वरा-
ऽऽदय इहाऽस्मिन्मनुष्यलोके धारयन्ति बिभ्रति, एवमेता-

न्यपि महाव्रतानि रत्नकल्पानि 'आचार्यै'राख्यातानि प्रतिपादितानि नियोजितानि सरात्रिभोजनानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि साधवो बिभ्रति,तुशब्दः पूर्वरत्नेभ्यो महाव्रतरत्नाना विशेषाऽऽपादक इति। इदमुक्तं भवति यथा प्रधानरत्नानां राजान एव भाजनम् एवं महाव्रतरत्नानामपि महासत्त्वा एव साधवो भाजनं, नान्ये इति ॥ ३ ॥

किञ्च-

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया,न विजाणंति समाहिमाहितं॥४॥

ये नरा लघुप्रकृतयः, इहाऽस्मिन् मनुष्यलोके, सातं सुखमनुगच्छन्तीति सातानुगाः-सुखशीला ऐहिकाऽऽमुष्मिकाऽपायभीरवः समृद्धिरससातागौरवेष्वध्युपपन्नाः गृद्धाः। तथा-'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिताः' कामोत्कटतृष्णा। कृपणो दीनो वराकक इन्द्रियैः पराजितस्तेन समास्तद्वत्कामाऽऽसेवने 'प्रगल्भिताः' धृष्टता गताः। यदि वा-किमनेन स्तोकेन दोषेणाऽसम्यक्प्रत्युपेक्षणाऽऽदिरूपेणाऽस्मत्संयमस्य विराधनं भविष्यत्येवं प्रमादवन्तः कर्त्तव्येष्ववसीदन्तः समस्तमपि संयमं पटवन्मणिकुट्टिमवद्वा मलिनीकुर्वन्ति, एवंभूताश्च ते समाधिं धर्मध्यानाऽऽदिकम् 'आख्यातं' कथितमपि न जानन्तीति।

पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याऽऽह-

वाहेण जहा व विच्छए, अवले होइ गवं पचोइए।
से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अवले विसीयति ॥५॥

व्याधेन लुब्धकेन (जहा व त्ति) यथा (गवं ति) मृगाऽऽदिपशुर्विविधमनेकप्रकारेण कूटपाशाऽऽदिना क्षतः परवशीकृतः श्रमं वा ग्राहितः प्रणोदितोऽप्यबलो भवति, जातश्रमत्वात् गन्तुमसमर्थः, यदि वा-वाहयतीति वाहः शाकटिकस्तेन यथावद् वहन् गौर्विविधं प्रतोदाऽऽदिना क्षतः प्रचोदितोऽप्यबलो विषमपथाऽऽदौ गन्तुमसमर्थो भवति, स चाऽन्तशो मरणान्तमपि यावदल्पसामर्थ्यो नाऽतीववोढुं शक्नोति एवंभूतश्चाऽबलो भारं वोढुमसमर्थस्तत्रैव पङ्काऽऽदौ विषीदतीति।

दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं कामेसणं विऊ, अज्ज सुए पयहेज संथवं।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥६॥

एवमनन्तरोक्तया नीत्या कामाना शब्दाऽऽदीना विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्या कर्त्तव्यायां 'विद्वान्' निपुणः कामप्रार्थनासक्तः शब्दाऽऽदिपङ्के मग्न स चैवंभूतोऽद्य श्वो वा संस्तवं परिचयं कामसंबन्धं प्रजह्यात् किलेति, एवमध्यवसाय्येव सर्वदाऽवतिष्ठते, न च तान् कामान् अबलो बलीवर्दवत् विषमे मार्गे त्यक्तुमलं, किञ्च न चैहिकाऽऽमुष्मिकापायदर्शितया कामी भूत्वोपनतानपि कामान् शब्दाऽऽदिविषयान् वैरस्वामि-जम्बूनामाऽऽदिवद्वा कामयेत् अभिलषेदिति। तथा क्षुल्लककुमारवत् कुतश्चिन्निमित्तात् "सुट्ठ गाइय" इत्यादिना प्रतिबुद्धो लब्धानपि प्राप्तानपि कामान् अलब्धसमान् मन्यमानो महासत्त्वतया तन्निस्पृहो भवेदिति ॥ ६ ॥

किमिति कामपरित्यागो विधेय इत्याशङ्क्याऽऽह-

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयती, से थणती परिदेवती वहुं ॥७॥

मा पश्चान्मरणकाले भवान्तरे वा कामानुषङ्गादसाधुता कुगतिगमनाऽऽदिकरूपा भवेत् प्राप्नुयादिति, अतो विषयाऽऽसङ्गादात्मानम् अत्येहि त्याजय, तथाऽऽत्मानं च अनुशाधि आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु यथा हे जीव! यो ह्यसाधुः असाधुकर्मकारी हिंसाऽनृतस्तेयाऽऽदौ प्रवृत्तः स च दुर्गतौ पतितोऽधिकम् अत्यर्थमेव शोचति,स च परमाधार्मिकैः कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा क्षुदादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति सशब्दं निःश्वसिति, तथा परिदेवते विलपत्याक्रन्दति सुबह्विति-' हा मात! म्रियत इति, त्राता नैवाऽस्ति साम्प्रतं कश्चित्। किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य? ॥ १ ॥" इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिण प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्विति संबन्धनीयम् ॥ ७ ॥

किञ्च

इह जीवियमेव पासहा, तरुणेव वाससयस्स तुट्टती।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

इहाऽस्मिन् संसारे,आस्ता तावदन्यज्जीवितमेव सकलसुखाऽऽस्पदमानित्यताऽऽघ्रातम् आवीचिमरणेन प्रतिक्षण विशरारुस्वभावं तथा- सर्वाऽऽयुःक्षय एव वा तरुण एव युवैव वर्षशताऽऽयुरप्युपक्रमतोऽध्यवसाननिमित्ताऽऽदिरूपादायुषस्त्रुट्यति प्रच्यवते. यदि वा-साम्प्रतं सुबह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुट्यति, सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्वरवासकल्पं वर्तते- स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्व यूयं, तथैवंभूतेऽप्यायुषि नराः पुरुषा लघुप्रकृतयः कामेषु शब्दाऽऽदिषु विषयेषु गृद्धा अध्युपपन्ना मूर्छिता तत्रैवाऽऽसक्तचेतसो नरकाऽऽदियातनास्थानमाप्नुवन्तीति शेषः ॥ ८ ॥

अपि च-

जे इह आरंभनिस्सिया, आतदंडा एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥ ९ ॥

ये केचन महामोहाऽऽकुलितचेतसः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके आरम्भे हिंसाऽऽदिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिता संबद्धा अध्युपपन्नास्ते आत्मानं दण्डयन्तीत्यात्मदण्डकाः, तथैकान्तेनैव जन्तूनां लूषकाः हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः, ते एवंभूता गन्तारो यास्यन्ति 'पापं लोकं' पापकर्मकारिणा यो लोको नरकाऽऽदिः "चिररात्रमिति" प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्ति। तथा बालतपश्चरणाऽऽदिनाऽपि तथाविधदेवत्वाऽऽपत्तिस्तथाऽप्यसुराणामियमासुरी ता दिशं यान्ति, अपरप्रेष्याः किल्बिषिका देवाऽधमा भवन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

किञ्च-

ण य संखयमाहु जीवितं, तह वि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पन्नेण कारियं, को दट्ठुं परलोकमागते ? ॥ १० ॥

(ण य संखयेत्यादि) न च नैव त्रुटितं जीवितमायुः संस्कर्तुं संधातुं शक्यते एवमाहुः सर्वज्ञाः। तथाहि-" डंकलियं करिंता, वच्चंति हु राइओ य दिवसा य। आउ स-

वेसुंता, गया य न पुणो नियत्तंति ॥ १ ॥ " तथाऽप्येव-मपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनः अज्ञो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्ति कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टतां याति, असदनुष्ठानेनाऽपि न लज्जत इत्यर्थः । स चाऽज्ञो जनः पापानि कर्माणि कुर्वन् परेण चोदितो धृष्टतया अलीकपाण्डित्याभिमानेनेदमुत्तरमाह-प्रत्युत्पन्नेन वर्तमानकालभाविना परमार्थसता अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वात् कार्यं प्रयोजनं, प्रेक्षापूर्वकारिभिस्तदेव प्रयोजनसाधकत्वादादीयते, एवं च सतीहलोक एव विद्यते न परलोक इति दर्शयति-कः परलोकं दृष्ट्वेहाऽऽयात', तथा चोचुः-

"पिब खाद च साधु शोभने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ १ ॥"

तथा-

एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १ ॥ " इति ॥१०॥
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

विषयाननाश्रयन् कथं भावसमाधिमाप्नुयादित्याह—

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू,
तणाइफासं तह सीयफासं ।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा,
सुब्भिं व दुब्भिं व तितिक्खएज्जा ॥ १४ ॥

स भावभिक्षुः परमार्थदर्शी शरीराऽऽदौ निस्पृहो मोक्षगमनैकप्रवणश्च या संयमेऽरतिरसंयमे च रतिर्वा तामभिभूय एतदधिसहेत । तद्यथा-निष्किञ्चनतया तृणाऽऽदिकान् स्पर्शान्नाऽऽदिग्रहणान्निम्नोन्नतभूप्रदेशस्पर्शांश्च सम्यगधिसहेत, तथा शीतोष्णदंशमशकक्षुत्पिपासाऽऽदिकान् परीषहान्क्षोभ्य तया निर्जरार्थम् अध्यासयेत् अधिसहेत, तथा गन्धं सुरभिमितरं च सम्यक् तितिक्षयेत्सह्यात्, चशब्दादाक्रोशवधाऽऽदिकांश्च परिषहान्मुमुक्षुस्तितिक्षयेदिति ॥ १४ ॥ सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोअंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहिँ पासए,अणिहे से पुट्ठे अहियासए ॥१३॥

परीषहोपसर्गाः एतद्भावनापरेण सोढव्याः, नाहमेवैकस्तावदिह शीतोष्णाऽऽदिदुःखविशेषैः 'लुप्ये' पीड्ये, अपि त्वन्येऽपि ' प्राणिनः ' तथाविधास्तिर्यङ्मनुष्याः अस्मिल्लोके ' लुप्यन्ते ' अतिदुःसहैर्दुःखैः परिताप्यन्ते, तेषां च सम्यग्विवेकाभावान्न निर्जराऽऽख्यफलमस्ति । यतः-

" क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः ।
सोढा दुःसहतापशीतपवनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परं, तत्तत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥ १ ॥ " तदेवं क्लेशाऽऽदिसहनं सद्विवेकिना संयमाभ्युपगमे सति गुणायैवेति । तथाहि-

कार्श्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं शीतोष्णयोः पात्रता,
पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले ।
एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे,
दोषाश्चापि गुणा भवन्ति हि नृणां योग्ये पदे योजिताः ॥ १ ॥ " एवं सहितो ज्ञानाऽऽदिभिः सहितो वा आत्महितः सन् ' पश्येत ' कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेदनन्तरोदितं, तथा निहन्यत इति निहः न निहोऽनिहः क्रोधाऽऽदिभिरपीडितः सन् स महासत्त्वः परीषहैः स्पृष्टोऽपि तान् ' अधिसहेत ' मनःपीडां न विदध्यादिति । यदि वा- ' अनिह ' इति तपःसंयमे परीषहसहने वाऽनिगूहितबलवीर्यः, शेषं पूर्ववदिति ॥ १३ ॥

अपि च-

धुणिया कुलियं व लेववं,किसए देहमणासणा इह ।
अविहिंसामेव पव्वए,अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

( धुणिया इत्यादि ) ' धूत्वा ' विधूय ( कुलियं ) कडणकृतं कुड्यं ' लेपवत् ' सलेपम्, अयमत्रार्थः-यथा कुड्यं गोमयाऽऽदिलेपेन सलेपं जाघट्यमानं लेपापगमात् कृशं भवति, एवम् अनशनाऽऽदिभिर्देहं ' कर्शयेत् ' अपचितमांसशोणितं विदध्यात्, तदपचयाच्च कर्मणोऽपचयो भवतीति भावः । तथा विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा, तामेव प्रकर्षेण व्रजेत्, अहिंसाप्रधानो भवेदित्यर्थः । अनुगतो मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षणः, परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो ' मुनिना ' सर्वज्ञेन ' प्रवेदितः ' कथित इति ॥ १४ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥ १३ ॥

समन्तात् तप्ताः सन्तप्ताः केशानां ' लोचः ' उत्पाटनं तेन, तथाहि-सरुधिरकेशोत्पाटने हि महती पीडोपपद्यते तया चाल्पसत्त्वाः विस्रोतसिकां भजन्ते, तथा ' ब्रह्मचर्यं ' वस्तिनिरोधस्तेन च पराजिताः पराभग्नाः सन्तः ' तत्र ' तस्मिन् केशोत्पाटनेऽतिदुर्जयकामोद्रेके वा सति ' मन्दाः ' जडा लघुप्रकृतयो विषीदन्ति संयमानुष्ठानं प्रति शीतलीभवन्ति, सर्वथा संयमाद् वा भ्रश्यन्ति, यथा मत्स्याः ' केतने ' मत्स्यबन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः सन्तो जीविताद् भ्रश्यन्ति, एवं तेऽपि वराकाः सर्वे कपकामपराजिताः संयमजीविताद् भ्रश्यन्ति ॥ १३ ॥

किञ्च-

आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥ १४ ॥

आत्मा दण्ड्यते-खण्ड्यते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः ' समाचारः ' अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते तथा, तथा मिथ्या-विपरीता संस्थिता स्वाऽऽग्रहाऽऽरूढा भावना-अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते मिथ्यासंस्थितभावना-मिथ्यात्वोपहतदृष्टय इत्यर्थः । हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वे[illegible] राग-द्वेषसमाकुला इति यावत् । त[illegible] [illegible]दाचारं साधुं क्रीडया प्रद्वेषेण वा [illegible] कदर्थयन्ति दण्डाऽऽ[illegible]

अप्पेगे पलियंते
वंधंति भिक्खुयं
अपि संभावने,
[illegible]
ति ) अनर्थे[illegible]
' चौरः ' अयं [illegible]

हि-' घ्नन्ति ' रज्ज्वादिना संयमयन्ति ' भिक्षुकं ' भिक्षणशीलं ' बाला ' अज्ञाः सदसद्विवेकविकलाः, तथा ' कषायवचनैश्च ' क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्त्सयन्तीति ॥ १५ ॥

अपि च-

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥ १६ ॥

' तत्र ' तस्मिन्ननार्यदेशपर्यन्ते वर्तमानः साधुरनार्यैः ' दण्डेन ' यष्टिना मुष्टिना वा ' संवीतः ' प्रहतोऽथ वा-' फलेन वा ' मातुलिङ्गाऽऽदिना खड्गाऽऽदिना वा स साधुरेवं तैः कदर्थ्यमानः कश्चिदपरिणत ' बालः ' अज्ञो ' ज्ञातीनां ' स्वजनानां स्मरति । तद्यथा-यद्यत्र मम कश्चित् सम्बन्धी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थनामवाप्नुयामिति । दृष्टान्तमाह-यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला निराश्रया मांसपेशीव सर्वस्पृहणीया तस्कराऽऽदिभिरभिद्रुता सती जातपश्चात्तापा ज्ञातीनां स्मरति, एवमसावपीति ॥ १६ ॥

उपसंहारार्थमाह-

एते भो ! कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवाऽवस गया गिहं ॥ १७ ॥

भो इति शिष्याऽऽमन्त्रणं, य एत आदितः प्रभृति दंशमशकाऽऽदय पीडोत्पादकत्वेन परीषहा एवोपसर्गा अभिहिता ' कृत्स्ना ' सम्पूर्णा बाहुल्येन स्पृश्यन्ते-स्पर्शेन्द्रियेणानुभूयन्त इति स्पर्शाः । कथम्भूताः ? -' परुषाः ' परुषैरनार्यैः कृतत्वात् पीडाकारिणः, ते चाल्पसत्त्वैर्दुःखेनाधिसह्यन्ते तांश्चासहमाना लघुप्रकृतयः केचनाश्लाघामङ्गीकृत्य हस्तिन इव रणशिरसि शरजालसंवीता 'शरशताऽऽकुला भङ्गमुपयान्ति एवं ' क्लीबा ' असमर्था ' अवशाः ' परवशाः कर्माऽऽयत्ता गुरुकर्माणः पुनरपि गृहमेव गताः । पाठान्तरं वा- " तिव्वसड्ढे त्ति " तीव्रैरुपसर्गैरभिद्रुताः ' शठाः ' शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहं गताः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

परिसहचमू-परिषहचमू-स्त्री० । परीषहसैन्ये, भ० ९ श० ३३ उ० । कल्प० ।

परिसहजय-परिषहजय-पु० । परिषहजय इति मार्गाच्च्यवननिर्जराऽर्थं परिषह्यन्ते इति परीषहा क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकाऽऽद्या द्वाविंशतिः, तेषां जयः अभिभवः परीषहाणां सहनेन । स चैवं योगशास्त्रवृत्त्युक्तः-" क्षुधाऽऽर्तः शक्तिभाक् साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत् । अदीनोऽविह्वलो विद्वान्, यात्रामात्रोद्यतश्चरेत् ॥ १ ॥ ' अयं क्षुत्परीषहजयः । ध० ३ अधि० । ( एवं पिपासाऽऽदिपरीषहजया अपि ' पिवासा ' आदिशब्देषु द्रष्टव्या )

परिसहवत्तिय-परिषहप्रत्यय-त्रि० । शीतोष्णमशकाऽऽदीनां परीषहाणां सपाधे, परीषहाः शीतोष्णमशकाऽऽदयः प्रत्ययो यत्र तत्तथेति व्युत्पत्तेः । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

परिसा-पर्षद्-स्त्री० । आस्थान्याम्, "अत्थाणी तह सहा परिसा ।" पाइ० ना० १६७ गाथा । सभायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तिस्रः पर्षदः-सिंहपरिषद्, मृगपरिषद्, वृषभपरिषच्च । बृ० ।

अथ सिंहाऽऽदीनां पर्षदां व्याख्यानमाह-

कडजोगि सीहपरिसा, गीयत्थ थिरा य वसभपरिसा उ ।
सुत्तकडगऽगीयत्था, मिगपरिसा होइ नायव्वा ॥७५७॥

कृतयोगिनः संयमगीतार्थाः परं तथा समर्थास्ते सिंहपर्षदुच्यन्ते, यद्गीतार्था अपरे च स्थिरा बलवन्तस्ते वृषभपर्षद्, ये तु कृतसूत्राः सूत्रे अधीतिनः परमगीतार्थास्ते मृगपरिषदिति ज्ञातव्या भवन्ति । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

ज्ञा, अज्ञा, दुर्विदग्धा ३ पर्षत्-

सा समासओ तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-
जाणिया अजाणिया दुव्विअड्ढा ।

जाणिया जहा-

खीरमिव जहा हंसा, जे घुट्टंति इह गुरुगुणसमिद्धा ।
दोसे य विवज्जंती, तं जाणसु जाणियं परिसं ॥ १ ॥

अजाणिया जहा-

जा होइ पगइमहुरा, मियसावयसीहकुक्कुडयभूया ।
रयणमिव असंठविया, अजाणिया सा भवे परिसा ॥२॥

दुव्विअड्ढा जहा-

न य कत्थइ निम्माओ, न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेणं ।
वत्थि व्व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लय दुव्वियड्ढो ॥ ३ ॥

(सा समासतो तिविहेत्यादि) सा पर्षत् समासतः संक्षेपेण त्रिविधा त्रिप्रकारा प्रज्ञप्ता, तीर्थङ्करगणधरैरिति गम्यते । पर्षदिति कथं लभ्यते इति चेत् ?, उच्यते-इह प्रागुक्तं प्रारम्भणीयः प्रवचनानुयोग इति अनुयोगश्च शिष्यसन्निकृत्य प्रवर्तते, निरालम्बनस्य तस्याभावात् ततः सामर्थ्यात्प्रत्युक्ते पर्षदिति लभ्यते, तथ्येऽप्युदाहरणोपदर्शनार्थम्-(जाणय त्ति) 'ज्ञा' अवबोधने, जानातीति ज्ञा । ' इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः " ॥ ३ । १ । १३५॥ इति (पाणि०) कप्रत्ययः । इति च- 'आतो लोप इटि च' ॥६।४।६४॥ इति (पाणि०) आकारलोपः । ततः-"अजाऽऽद्यतष्टाप्" ॥४।१।४॥ इति (पाणि०) स्त्रियामाप् । ज्ञैव ज्ञिका स्वार्थिकः कप्रत्ययः । ततः " भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ्पूर्वाणामपि " ॥ ७ । ३ । ४७ ॥ इत्याप स्थाने इकाराऽऽदेशः, कप्रत्ययाच्च परतः स्त्रियामाप्, ततः सिद्धं ज्ञिकेति । ज्ञका नाम परिज्ञानवती । किमुक्तं भवति ?-कुपथप्रवृत्तपाखण्डमतेनानादिग्धान्तःकरणा गुणदोषविशेषपरिज्ञानकुशला सतामपि दोषाणामपरिग्राहिका केवलं गुणग्रहणरक्तवर्तीति । उक्तं च-

" गुणदोसविसेसन्नू, अणभिग्गहिया य कुस्सुइमएसु ।
एसा जाणगपरिसा, गुणतत्तिल्ला अगुणवज्जा ॥ १ ॥ "

अत ( गुणतत्तिल्ले त्ति ) गुणेषु यत्नवती गुणग्रहणपरायणा इत्यर्थः । ( अगुणवज्जे त्ति ) अगुणान् दोषान् वर्जयति सतोऽपि न गृह्णातीत्यगुणवर्जा, तथा अज्ञिका ज्ञिकविलक्षणा सम्यक्परिज्ञानरहिता । किमुक्तं भवति ? या ताम्रचूडकण्ठीरवकुरङ्गपोतवत् प्रकृत्या मुग्धस्वभावा असंस्थापितजात्यरत्नमिवान्तर्गुणविशिष्टगुणसम्भृता सुखप्रज्ञापनीया पर्षत् सा अज्ञिका । उक्तं च- ' पगई मुद्धअयाणिय, मिगछावगसीहकुक्कुडगभूया । रयणमिव असंठविया, सुहसण्णप्पा गुणसमिद्धा ॥ १ ॥ " इह ( मिगछावगसीहकुक्कुडगभूय त्ति ) मा चशब्दोऽग्रे संबध्यते, ततो " मिगसीहकुक्कुडगभूय

इसावभूता" इत्यर्थः। ( असंठविय त्ति ) असंस्थापिता असंस्कृता इत्यर्थः। सुखसंज्ञाप्या सुखेन प्रज्ञापनीया। तथा (दुव्वियड्ड त्ति) दुर्विदग्धा मिथ्याऽहङ्कारविडम्बिता। किमुक्तं भवति ?-या तत्तद्गुणज्ञपार्श्वोपगमनेन कतिपयपदान्युपजीव्य पाण्डित्याभिमानिनी किञ्चिन्मात्रमर्थपदं सारपल्लवमात्रं वा श्रुत्वा तत ऊर्द्ध्वं निजपाण्डित्यख्यापनायाभिमानतोऽवज्ञयाऽपत्रपति। अर्द्धं कथ्यमानं चाऽऽत्मनो बहुज्ञतासूचनायाग्रे त्वरित पठति,सा पर्षद् दुर्विदग्धेत्युच्यते। उक्तं च-" किञ्चिम्मत्तग्गाही,पल्लवग्गाही य तुरियगाही य। दुव्वियड्डिया उ एसा,भणिया तिविहा भवे परिसा ॥१॥" अमूषां च तिसृणां पर्षदां मध्ये आद्ये द्वे पर्षदावनुयोगयोग्ये तृतीया त्वयोग्या। यदाह चूर्णिकृत्-"एत्थ जाणिया अजाणिया य अरिहा,दुव्वियड्डा अणरिहा।" इति। तत आद्ये एव द्वे अधिकृत्यानुयोग प्रारम्भणीयो न तु दुर्विदग्धाम्,मा भूदाचार्यस्य निष्फल परिश्रम, तस्याश्च दुरन्तसंसारोपनिपातः। सा हि तथास्वाभाव्यात् यत्किमप्यर्थं पदं शृणोति तदप्यवज्ञया श्रुत्वा च सारपदमन्यत्र सर्वजनातिशायिनिजपाण्डित्याभिमानतो महतो महीयसोऽवमन्यते, तदवज्ञया च दुरन्तससाराभिष्वङ्ग इति स्थितम। न०। अनु०। बृ०। आ० चू०। आव०। (पर्षदा शलघनाऽऽद्युदाहरणानि ' सीस ' शब्दे वक्ष्यन्ते ) द्विविधा पर्षद् लौकिकी, लोकोत्तरा च। बृ०।

संप्रति ये अस्याध्ययनस्य योग्यास्तानाह-

दुव्वियड्डगा उ एसा, भणिया परिसा भवे तिविहा ॥३७२॥

किञ्चिन्मात्रग्राहिणा पल्लवग्राहिणा त्वरितग्राहिणा, एवमेषा दुर्विदग्धा पर्षद् त्रिविधा त्रिप्रकारा भणिता।

तत्र किञ्चिन्मात्रग्राहिणीमाह-

नाऊण किंचि अन्न-स्स जाणियव्वेन देति ओगासं।
न य निज्जिओ वि लज्जइ,इच्छइ य जयं गलरवेण ॥३७३॥

ज्ञात्वा किञ्चिदन्यस्य ज्ञातव्येनावकाशं ददाति, न च निर्जितोऽपि लज्जते, केवलं गलरवेण महागलप्रमाणेनाऽऽरटनं जयमिच्छति।

ने पीठिकामात्रेण गीतार्थकर्त्तव्यं या करोति सैषा दुर्विदग्धा पर्षत् ।

आयरियत्तण तुरितो, पच्चं सीसत्तणं अकाऊणं ।
हिंडइ चोक्खाऽऽयरिओ, निरंकुसो मत्तहत्थि व्व ॥३७५॥

कोऽपि शिष्यो दशवैकालिकमात्रं पठित्वा आचार्यत्वरितः प्रत्यन्तं ग्रामं नगरं वा गत्वा पीठिकायां निविष्ट आत्मानमाचार्यमभिमन्यते, स एव शिष्यत्वमकृत्वा निरङ्कुशो मत्तहस्तीव चोक्खो चोक्षो मूर्खः सन् आचार्यो हिण्डते परिभ्रमति ।

कीदृशस्य मूर्खत्वमत आह–

छन्नालयम्मि काऊ-ण कुंडियं अभिमुहं जलीसुढितो ।
गेरू पुच्छति पसिणं, किं तु हु सा वागरे किंचि ॥३७७॥

गेरूकः परिव्राजकः षड्नाले त्रिदण्डे कुण्डिकां कृत्वा कृताञ्जलिरभिमुखं येऽचादृत पादपतित पृच्छति प्रश्नयति किन्तु सा कुण्डिका तथा पृच्छ्यमाना किञ्चित्परिव्राजकस्य व्याभृणोति नैव किञ्चन यादृशं तस्याः कुण्डिकाया आचार्यत्वं तादृशमेतस्यापि ।

सीसा वि य तूरंती, आयरिया वि हु लहुं पसीयंति ।
तेण दरि सिक्खियाणं, भरितो लोगो पिसायाणं ॥३७८॥

शिष्या अप्याचार्यपदपरिपालनाय त्वरन्ति आचार्या अपि लघु शीघ्रं प्रसीदन्ति, न पुनः परिभावयन्ति, यथा नाद्यापि परिपूर्णमधीतामिति, ततः ईषत् शिक्षितानाम्, अत एव पिशाचानां ग्रहिलानां लोकोऽत्र भृतः ।

तेगिच्छें मने पुच्छा, अत्तहिं वालुंक देवि कहि चिन्ना ।
तोसत्थेण कहति य, विज्जनिसिद्धे ततो दंडो ॥३७९॥

"एगो विज्जो राउले ओलग्गइ सो मतो, रन्ना पुच्छियं-अत्थि से पुत्तो, कहियं-अत्थि, नवरं विज्जयमसिक्खितो रन्ना भणियं-वच्च पढाहि तदवत्था चेव ते भोगा ततो अन्नत्थ गतुं पढितुमारब्धं, तत्थ अडयाए पुरोहडे चरंतीए गलए वालुंकं लग्गं, चिर्भिटमित्यर्थः । सा विज्जसमीवमाणिया, विज्जेण पुच्छियं-कहिं चिन्ना एसा । कहियं-पुरोहडे, तेण नायं चिब्भडं लग्गं ति । पोत्तं गलए बंधिउं तहा वलियं जहा तं सोलभग्गं निग्गयं गलिया तो तेण विज्जपुत्तेण चिंतियं-एस उवातो विज्जियाए किरियाए, पडिनियत्तो । रन्नो अल्लीणो, पुच्छितो रन्ना-सिक्खियं विज्जयं ति । तेण भणियं-सिक्खियं । ततो रन्ना चिंतियं अहो मेहावी त्ति सक्कारो कतो । अन्नया रन्नो अ महादेवीए गलगंडं उट्ठितं सो वाहितो, भणइ, कहिं चिन्नेल्लिया । तहिं भणियं पुच्छामो, इयरेण भणियं-भण पुरोहडे तहिं चिंतियं-नूणं एअम्हहत्थमयं । ततो भणियं-पुरोहडे त्ति । पच्छा तेण गलए साडएण आवेढित्ता मारिया पच्छा रन्ना अन्ने विज्जा पुच्छिया-किं मन्नयनिद्देसेण कया किरिया, उयाहु आम त्थेण ?, नत्थ विवादं विज्जे हि निवेदिओ, पच्छा सारीरेण दंडेण दंडिता । अजरगमनिका-चिकित्सके वैद्ये मृते राज पृच्छा-अस्ति तस्य पुत्र कथितम्-अस्ति, परमशिक्षितो वैद्यकस्य । राज्ञा भणितम्-अन्यत्र गत्वा पठ, स गत तत्र बालु कमजागले वस्त्राऽऽवेष्टनेन भिद्यमानं दृष्ट्वा लब्धं वैद्यरहस्यमिति विचिन्त्य प्रतिनिवृत्तः, तत्र देव्या गलगण्डमभवत्, स आकारितः पृष्टवान् क चीर्णा ?, तोपार्थिना तोषनिमित्तं कथयन्ति-पुरोहडे, ततः सा पोताऽऽवेष्टनेन मारिता, स विवादे वैद्येन निषिद्धः, ततः शारीरो दण्डस्तस्य राज्ञा कृतः । एष दृष्टान्तः ।

उपनयमाह–

कारणनिसेवि लहुसग, अगीयपच्चय विसोहि दट्ठूण ।
सव्वत्थ एव पच्चं-तगमण गीया गते दंडे ॥३८०॥

आचार्येणान्यस्य कस्यापि साधोः कारणनिषेविणोऽगीतप्रत्ययनिमित्तं किञ्चित् यथा लघु प्रायश्चित्तं दत्तं, विशोधिः प्रायश्चित्तमित्यनर्थान्तरम् । तत् दृष्ट्वा चिन्तयति-सर्वत्रैवं प्रायश्चित्तं दातव्यं, ततः प्रत्यन्ते ग्रामे नगरे वा (से) तस्य गमनं, तत्र गते स ब्रूते अहमपि जानामि प्रायश्चित्तं, तत्र निष्कारणं प्रतिसेविते भणति-भण मया कारणे प्रतिसेवितं, तत एवमुक्ते स ब्रूते-त्वं शुद्धः, तथापि किञ्चिद् गीतार्थप्रत्ययं प्रायश्चित्तं ददामि, एवं कुर्वन् पश्चादन्येषां गीतार्थानामागमनं, तैरन्यैर्गीतार्थैरपद्रावितो, दीक्षा तस्याऽपहृता । ईदृशा ये पुरुषाः सा दुर्विदग्धा पर्षद्, एतस्या यो ददाति सूत्रमर्थं वा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु, जानन्त्याश्च सूत्रार्थप्रदाने चतुर्लघु । अथवा द्विविधा पर्षत्-लौकिकी, लोकोत्तरा च । तत्र लौकिकी पञ्चविधा ।

तामेवाऽऽह–

पूरंती छत्तंतिय, बुद्धी मंती रहस्सिया चेव ।
पंचविहा खलु परिसा, लोइय लोउत्तरा चेव ॥३८१॥

पूरयन्ती, छत्रवती, बुद्धिमन्त्री, राहस्यिकी च । एवं लौकिकी लोकोत्तरा च खलु पञ्चविधा पर्षत् ।

तत्र लौकिकीं पञ्चप्रकारामपि दर्शयति–

पूरंतिया महाजणो, छत्तविदिन्ना उ ईसरा वितिया ।
समयकुसला उ मंती-लोइय तह रोहिणिज्जाया ॥३८२॥

महाजन पूरयन्तिका पर्षत्, वितीर्णछत्रा ईश्वरा द्वितीया छत्रान्तिका, स्वसमयकुशला तृतीया बुद्धिपर्षद्, चतुर्थी मन्त्री, पञ्चमी राहस्यिका रोहिणियानामवधिका अन्तःपुरमहत्तरिका, एषा लौकिकी पञ्चप्रकारा पर्षत् ।

तत्र पूरयन्तिकामाह–

नीहम्मियम्मि पूरयति, रण्णो परिसा न जा परमतीति ।
जे पुण छत्तवितिन्ना, अयंति ते बाहिरं सालं ॥३८३॥

यदा राजा निर्गच्छति तस्मिन् निर्गते यः कोऽपि महान् जनः स सर्वोऽपि राज्ञा ढौकने यावत् गृहं नायाति सा पर्षत् पूरयन्तिका । ये पुनस्तत्र वितीर्णछत्रा प्रदत्तछत्रा राजानो भडभोजिकाश्च ते बाह्यशालायां यावद्गच्छन्ति, शेषा वार्यन्ते, एषा छत्रान्तिका छत्रवती ।

तृतीया पर्षदमाह–

जे लोगवेयसमए-हिं कोविया तेहिं परिवृो सहिओ ।
समयमतीय परिच्छइ, परप्पवाऽऽगमे चेव ॥ ३८४ ॥

ये लोके, वेदे, समये चेत्यर्थः, कोविदा कुशलास्तैः सहितः

पार्थिवः समयमवसरमतीत. प्राप्तः सन् परप्रयतीनामाग-मः परप्रवादाऽऽगमास्तान् परीक्षते । एषा बुद्धिपर्षत् ।

मन्त्रिपर्षदमाह-

जे रायसत्थकुसला, अत्तकुलीया हिता परिणया य ।
माइकुली या वसिया, मंतेति निवो रहे तेहिं ॥३८६॥

ये राजशास्त्रेषु कौटिल्यप्रभृतिषु कुशला राजशास्त्रकुशला', आत्मकुलीया राजकुले भवाः पैतृकेण संबन्धेन संबद्धा इत्यर्थः । हिताऽहितान्वेषिणः, परिणता. वयसा, मातृकुलीया मातृकेण संबन्धेन संबद्धा वसिका आयत्ता , तैः सह रहसि नृपो मन्त्रयति । एषा मन्त्रिपर्षत् ।

रोहिणीयां पर्षदमाह-

कुविया तोसेयव्वा, रयस्सला वार अन्नमासत्ता ।
छणपगासे य रहे, मंतयते रोहिणिज्जेहिं ॥ ३८७ ॥

या देवी राज्ञः कुपिता तां रोहिणीया निवेदयन्ति, ततो दूतत्वेन प्रसादननिमित्तं प्रेष्यन्ते, यथा युष्माभिः सा देवी तोषयितव्या, तथा या रजस्वला ऋतुस्नाता, ततो रोहिणीया कथयन्ति, यस्याश्च यस्मिन् दिवसे वारकस्त राज्ञस्तस्याः कथयन्ति, याऽपि कन्या यौवनप्राप्ता तामपि परिणयनीय-राज्ञे निवेदन्ति (अन्नमासत्त त्ति) अन्याऽऽसक्ता व्यभिचारिणीत्यर्थः तामपि राज्ञः कथयन्ति-यथैषा देव ! दुश्चारिणीति । श यानपि यानि छन्नानि प्रकाशानि च रहांसि रतिकार्याणि तानि रोहिणीयैः सह राजा मन्त्रयते । एषा पञ्चमी राहस्यिका पर्षत् । तदेवमुक्ता पञ्चप्रकाराऽपि लौकिकी पर्षत् ।

संप्रति लोकोत्तरं पञ्चविधां पर्षदमाह-

आवस्सगमादीया, सुत्तकडा पूरयंतिया भवे परिसा ।
दसामादि उवरिमसुया, हवति उ छत्तंतिया परिसा ।३८८।
लोइयवेइयसामा-इएसु सत्थेसु जे समोगाढा ।
ससमयपरसमयविसा-रया य कुसला य बुद्धिमती ।३८९।

आवश्यकमादिं कृत्वा यावत् सूत्रकृतमङ्गं तावदधीतश्रुता पूरयन्ती पर्षद्, न खल्वत्र कश्चनापि साधु पठन् निरुध्यते, दशाश्रुतस्कन्धमादिं कृत्वा येषामुपरितनानि श्रुतानि सा छत्रान्तिका पर्षद् । तत्र हि ये परिणामका अतिपरिणामकाश्च निवार्यन्ते, ये च लौकिकेषु वैदिकेषु सामायिकेषु च शास्त्रेषु समवगाढाः स्वसमयपरसमयविशारदाः कुशलाः सा बुद्धिमती पर्षत् ।

आह-किं प्रयोजनं बुद्धिपर्षदा ?, तत आह-

आसन्नपतीभत्तं, खेयपरिस्सा जओ तहा सए ।
कहमुत्तरं च दाहिसि, अमुगो किर आगतो वादी ।३९०।

बुद्धिपर्षदा सह श्रमं कुर्वन आसन्नप्रतिभत्वमुपजायते. तथा य शास्त्रे निरन्तरव्याख्याकरणत खेद परिश्रमस्तस्य जयो भवति, कदाचित्परिश्रमे जाते व्याख्याकरणतस्तं परिश्रममपनयन्ति, तथा सा बुद्धिपर्षदेवं शिक्षयते-अमुकः किल आगतो वादी तत कथं त्वमुत्तरं दास्यसि ?, एवं बुद्धिपर्षदा सह कृताऽऽभ्यासः सुख परप्रवादिन निगृह्णाति । उक्ता बुद्धिपर्षत् ।

मन्त्रिपर्षदमाह-

पुव्वं पच्छा जेहिं, सिंगणादितविही समणुभूतो ।
लोए वेदे समए, कयागमा मंतिपरिसा उ ॥ ३९१ ॥

यै पूर्वं गृहवासः पश्चात् श्रमणभावे शृङ्गनादितविधिः, सर्वेषु कार्येषु मध्ये शृङ्गभूतं यत् कार्यं तत् शृङ्गनादितमुच्यते, तद्विधिः समनुभूतः, स लोके वेदे समये च कृताऽऽगमा मन्त्रिपर्षद् ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह-

गिहवासे अत्थसत्थे-हिं कोविया केइ समणभावम्मि ।
कज्जेसु सिंगभूयं, तु सिंगनादिं भवे कज्जं ॥ ३९२ ॥

पूर्वगृहवास अर्थशास्त्रेषु, पश्चात् श्रमणभावे स्वसमयपरसमयेषु ये केचित् कोविदाः सा मन्त्रिपर्षद्, कार्येषु शृङ्गभूतं यत्कार्यं तत् शृङ्गनादितं भवति ।

किं तदित्याह-

तं पुण चेइयनासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेदे ।
भत्तोवहिवोच्छेदे, अभिवायणबंधपिट्टादी ॥३९३॥

तत्पुनः शृङ्गनादितं कार्यं चैत्यविनाशो लोकोत्तमभवनप्रतिमाविनाशः, तद्द्रव्यविनाशं चैत्यद्रव्यविद्रावणं, तथा द्विविधो भेदो मरणमुत्प्रव्राजनं वा यो वा भक्तं भिक्षां वारयति, उपधिं वा, यथा मा कोऽप्यमीषा भक्तमुपधिं वा दद्यादिति भक्तव्यवच्छेद उपधिव्यवच्छेदो वा, तथा कोऽपि धिग्जातीयो ब्रूते-ब्राह्मणानभिवादयत, बन्धध्वमिति यो बन्धापयति पिट्टयति, आदिग्रहणाद्यो निर्विषयानाज्ञापयति आक्रोशयति वा, प्रद्विष्टो राजाऽऽदि तत् अभिवादन बन्धघाताऽऽदि च शृङ्गनादितं कार्यं तद्विधिर्यैः समनुभूत सा मन्त्रिपर्षद् ।

वितहं ववहरमाणं, सत्थेण वियाणतो निहोडेइ ।
अम्हं सपक्खदंडो, न चेरिसो दिक्खिए दंडो ॥३९४॥

राजाऽऽदि वितथं व्यवहरन्त मन्त्रिपर्षदन्तर्गतो विज्ञायकः स्वसमयपरसमयत्वात् शास्त्रकुशलः शास्त्रेण निहोडयति सुखं वारयति, यथा अस्माकं स्वपक्षे दण्डो भवति, संघो दण्डं करोतीत्यर्थ । न च राजा प्रभवति, नाऽपि प्रपन्नदीक्षाकस्यैतादृशो दण्ड । एषा मन्त्रिपर्षत् ।

संप्रति राहस्यिकीं पर्षदमाह-

सल्लुद्धरणे समण-स्स चाउकण्णा रहस्सिया परिसा ।
अज्जाणं चउकण्णा, छक्कन्ना अट्ठकन्ना वा ॥ ३९५ ॥

द्विविधं शल्यम्-द्रव्यशल्यं, भावशल्यं च । द्रव्यशल्यं कण्टकाऽऽदि, भावशल्यं मायानिदानमिथ्यात्वानि । अथवा-भावशल्य मूलोत्तरगुणातिचार . तत श्रमणस्य भावशल्योद्धरणे, आचार्यसमीपे आलोचयत इत्यर्थ । राहस्यिकी पर्षद् भवति । कथंभूतेत्यत आह-चतुष्कर्णा द्वावार्यस्य द्वौ साधोरिति चत्वार कर्णा यत्र सा तथा, आचार्याणां चतुःकर्णा, षट्कर्णा वा, तत्र यदा निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ्या पुरतः आलोचयति तदा चतुःकर्णा, यथा निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्यपार्श्वे आलोचयत, यदा त्वद्वितीयस्थविरगुरुसमीपे आलोचयति सद्वितीया भिक्षुकी तदा षट्कर्णा, सद्वितीयतरुणगुरुसमीपे सद्वितीयायाभिक्षुक्या आलोचयन्त्या अष्टकर्णा ।

तत्र प्रथमतः संयतस्य चतुष्कर्णी भावयति--

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जितो गुरुसगासे ।
एगंतमणावाए, एगो एगस्स निस्साए ॥ ३९६ ॥

एकान्ते अनापाते एकोऽद्वितीय एकस्याद्वितीयस्याऽऽचार्यस्य निश्रया, तत्पुरत इत्यर्थः। गौरवपरिवर्जित ऋद्धिरससातगौरवपरित्यक्तो गौरवाद्धि सम्यगालोचयितव्यं भवतीति तत्प्रतिषेधः गुरुसमीपे आलोचनादाचार्यसमीपे आलोचना प्रयुङ्क्ते ।

कथमित्याह -

विरहम्मि दिसाभिगइ, उक्कुडुतो पजली निसेज्जा वा ।
एस सपक्खे परप-क्खे मोत्तु उद्धं निसिज्जा वा ॥३९७॥

एकान्ते यत्र कोऽपि न तिष्ठति तत्र विरहे छन्ने प्रदेशे पूर्वं गुरोर्निषद्यां कृत्वा पूर्वामुत्तरां चरन्तिकां वा दिशमभिगृह्य वन्दनकं दत्त्वा उत्कुटुकः प्रबद्धाञ्जलिः, अथासौ व्याधिमान् प्रभून वाऽऽलोचनीयं ततो निषद्यामनुज्ञाप्याऽऽलोचयति, एष स्वपक्षे आलोचनाविधिः। परपक्षे नाम संयती तत्र छन्नं मुक्त्वा आलोचना दातव्या, निषद्या च न कार्यते । इयमत्र भावना-यदा संयती संयतस्य पुरत आलोचयति तदा छन्नं वर्जयति, किं तु यत्र लोकस्य सर्वोकस्तत्राऽऽलोचयति निषद्या वाऽऽचार्यस्य न करोति, आत्मनाऽप्युत्थिता आलोचयति ।

श्रमणीमधिकृत्याऽऽलोचनाविधेश्चतुष्कर्णत्वमाह-

आलोयणं पउंजए, गारवपरिवज्जिया उ गणिणीए ।
एगंतमणावाए, एगाए निस्सिया समणी ॥ ३९८ ॥

या श्रमणी गौरवपरिवर्जिता गणिन्या पुरत आलोचना प्रयुङ्क्ते। केत्याह-एकान्ते अनापाते एका अद्वितीया एकस्या अद्वितीयाया गणिन्या निश्रया ततो गुरुसमीपे श्रमणस्येव श्रमण्या अपि गणिन्याः पुरत आलोचयन्त्याश्चतुष्कर्णा पर्षद् भवति ।

षट्कर्णामाह--

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए ।
अविइतियथेरगुरुणो, सविइया भिक्खुणी निहुया ।३९९।

अद्वितीयस्य स्थविरगुरुसमीपे सद्वितीया भिक्षुकी निभृता निर्व्यापारा न दिशो नापि विदिश आलोकयति, नापि यत्किञ्चिदुल्लापयति इत्यर्थः । एवंभूता सती एकान्ते बहुजनस्य सलोके आलोचनां प्रयुङ्क्ते।

अथ कीदृशी तस्या द्वितीया भवतीत्यत आह

नाणदंसणसंपन्ना, पोढा वयसमपरिणया ।
इंगियायारसंपन्ना, भणिया तीसे विइज्जिया ॥ ४०० ॥

ज्ञानदर्शनसंपन्ना प्रौढा वयसा या संयतस्य तस्या वा भावं विज्ञाय न मन्त्रणं कर्तुं ददाति, किं तु वदति-यथाऽऽलोचितं यदि न तावत्तावतो बहालोचनयाऽपि न प्रयोजनमिति, तथा वयसा परिणता परिणतवयाः, तथा इङ्गिताऽऽकारसंपन्ना इङ्गिताऽऽकारेण च यस्य यादृशो भावस्तस्य तं जानातीत्यर्थः । एवंभूता सा तस्या द्वितीया गणिन्या सा पुनः कियद् दूरे तिष्ठति। उच्यते-एके सूरयो वदन्ति-यत्रोभयोराकारा दृश्यन्ते तावन्मात्रे, परे ब्रुवते-यत्र श्रवणं शब्दस्येति ।

अष्टकर्णामाह-

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स सलोए ।
सविइतियतरुणगुरुणो, सविइया भिक्खुणी निहुया ।४०१।

एकान्ते बहुजनस्य सलोके सद्वितीयस्य तरुणगुरोः समीपे सद्वितीया तादृशी प्रागुक्ता ।

संप्रति यादृशस्य आचार्यस्य द्वितीयस्तादृशमाह-

नाणेण दंसणेण य, चरित्ततवविणयआलयगुणेहिं ।
वयपरिणामेण य अभि-गमेण इयरो हवइ जुत्तो ॥४०२॥

ज्ञानेन दर्शनेन चारित्रेण तपसा विनयेन आलयगुणैर्यैर्द्विस्त्र्यादिभिः प्रतिलेखनाऽऽदिभिरुपशमगुणेन च यथा वयःपरिणामेन अभिगमेन सम्यक्त्ववशाद्बार्थकौशलेन युक्तो भवत्याचार्यस्येतरो द्वितीय । उक्ता पञ्चप्रकारा अपि पर्षद् । वृ० १ उ० १ प्रक० । आव० । राजाऽऽदिलोके, ' सामी समोसढे परिसा णिग्गया धम्मो कहिओ परिसा पडिगया ।" नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । मिथिलाया नगर्या वास्तव्यो लोकः समस्तोऽपि भगवन्तमागतं श्रुत्वा भगवद्वन्दनार्थं स्वस्वादाश्रयाद् विनिर्गत इत्यर्थः । सू० प्र० १ पाहु० । भ० । प०, रिवारे. जी० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो कति परिसाओ पन्नत्ताओ ?। गोयमा ! तओ परिसाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-समिता चंडा जाया, अब्भितरिया समिया, मज्झे चंडा बाहिं जाया । चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भतरपरिसाए कति देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ, मज्झिमपरिसाए कति देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ, बाहिरपरिसाए कति देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ ?। गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स अब्भितरपरिसाए चउवीसं देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए अट्ठावीसं देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ, बाहिरयाए परिसाए बत्तीसं देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ । चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो अब्भितरियाए परिसाए कइ देवीसया पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए कइ देवीसया पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए कइ देवीसया पन्नत्ता ?। गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भितरियाए परिसाए अद्धट्ठ देवीसया पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए तिन्नि देवीसया पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए अड्ढाइज्जा देवीसया पन्नत्ता ॥

( चमरस्स णमित्यादि ) चमरस्य भदन्त ! असुरेन्द्रस्याऽसुरराजस्य कति कियत्संख्याका पर्षदः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! तिस्रः पर्षदः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा समिता चण्डा जाता । तत्राऽऽभ्यन्तरिका पर्षद् समिताभिधाना । मध्यमिका चण्डा, बाह्या जाता । ( चमरस्स णमित्यादि ) चमरस्य भदन्त ! असुरेन्द्रस्याऽसुरराजस्य अभ्यन्तरिकाया पर्षदि कति देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ? मध्यमिकाया पर्षदि कति देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?, बाह्याया पर्षदि कति देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! चमरस्य असु-

रेन्द्रस्य असुरराजस्याभ्यन्तरिकायां पर्षदि चतुर्विंशतिदेवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि,मध्यमिकायामष्टाविंशतिदेवसहस्राणि, बाह्याया द्वात्रिंशत् देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ( चमरस्स णं भंते ! इत्यादि ) चमरस्य भदन्त ! असुरेन्द्रस्य असुरेन्द्रराजस्याऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि कति देवीशतानि प्रज्ञप्तानि ?, मध्यमिकायां पर्षदि कति देवीशतानि प्रज्ञप्तानि ?, बाह्याया पर्षदि कति देवीशतानि प्रज्ञप्तानि ? भगवानाह-गौतम ! अभ्यन्तरिकायां पर्षदि अर्द्धतृतीयानि देवीशतानि प्रज्ञप्तानि, मध्यमिकायां पर्षदि त्रीणि देवीशतानि प्रज्ञप्तानि, बाह्यायां पर्षदि अर्द्धचतुर्थानि देवीशतानि प्रज्ञप्तानि जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।" एवं तायतीसगाए वि लोगपालाणं तुंबा तुडिया पव्वा, एवं अग्गमहिसीण वि ।" स्था० ३ ठा० २ उ० ।

पर्षदि देवीस्थितिः-

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?,बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?,अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?,मज्झिमियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?। गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता,बाहिरियाए परिसाए देवाणं दिवड्ढपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं दिवड्ढपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं पलिओवमं ठिई पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता ।

( चमरस्स णं भंते इत्यादि) चमरस्य भदन्त ! असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवाना कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?, मध्यमिकायां पर्षदि देवानां कियन्तं कालं स्थिति· प्रज्ञप्ता?, एवं बाह्यपर्षद्विषयमपि प्रश्नसूत्रं वक्तव्यम्-तथा अभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां, कियन्तं कालं स्थिति· प्रज्ञप्ता?। एवं मध्यमिकाबाह्यपर्षद्विषये अपि प्रश्नसूत्रे वक्तव्ये। भगवानाह-गौतम ! चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरराजस्य अभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्धतृतीयानि पल्योपमानि स्थिति प्रज्ञप्ता। मध्यमिकाया पर्षदि देवाना द्वे पल्योपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता।बाह्याया पर्षदि देवाना द्व्यर्धं पल्योपम स्थिति· प्रज्ञप्ता। तथाऽभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीना द्व्यर्धं पल्योपमं स्थिति प्रज्ञप्ता। मध्यमिकायां पर्षदि देवीना पल्योपमा स्थिति· प्रज्ञप्ता। बाह्याया पर्षदि देवीनामर्धपल्योपमं स्थिति प्रज्ञप्ता। इह भूयान् वाचनाभेद इति यथावस्थितसूत्रे पाठनिर्णयार्थं सुगममपि सूत्रमक्षरसंस्कारमात्रेण विव्रियते ।

संप्रत्यभ्यन्तरिकादिव्यपदेशकारणं पिपृच्छिषुरिदमाह -

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुचइ-चमरस्स असुरिंदस्स तओ परिसाओ पन्नत्ताओ। त जहा-समिया चंडा जाया, अब्भिंतरिया समिया,मज्झिमिया चडा,बाहिरिया जाया ?। गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो अब्भिंतरपरिसा देवा णं वाहित्ता हव्वमागच्छंति गोयमा ! णो अव्वाहित्ता; मज्झिमपरिसाए देवा वाहित्ता हव्वमागच्छंति, अव्वाहिया वि; बाहिरपरिसा देवा अव्वाहित्ता हव्वमागच्छंति । अदुत्तरं च णं गोयमा ! चरमे असुरिंदे असुरराया अन्नयरेसु उच्चावएसु कज्जकोडुंबेसु समुप्पन्नेसु अब्भिंतरियाए सार्द्धं संमइसंपुच्छणाबहुले विहरइ, मज्झिमियाए परिसाए सार्द्धं पियं पवंचेमाणे २ विहरति, बाहिरयाए परिसाए सार्द्धं पयं पचंडेमाणे २ विहरइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुचइ-चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो तओ परिसाओ पन्नत्ताओ-समिया चंडा जाया, अब्भितरिया समिया,मज्झिमिया चडा,बाहिरिया जाया ।

( से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य तिस्र· पर्षदः प्रज्ञप्ताः ?। तद्यथा समिता चण्डा जाया, अभ्यन्तरा समिता, मध्यमिका चण्डा बाह्या जाया। भगवानाह-गौतम ! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अभ्यन्तरपर्षत्का देवा (वाहित्ता) आहूता(हव्व) शीघ्रमागच्छन्ति। (णोअव्वाहित्ता) अनाहूता अनेन गौरवमाह, मध्यमपर्षद्गा देवा आहूता अपि शीघ्रमागच्छन्ति , अनाहूता अपि मध्यमप्रतिपत्तिविषयत्वात् बाह्यपर्षद्गा देवा अनाहूता· शीघ्रमागच्छन्ति । तेषामाकारेण लक्षणगौरवानर्हत्वात् । ( अदुत्तरं च णमित्यादि) अथोत्तरमथान्यत् अभ्यन्तरत्वाऽऽदिविषये कारणं गौतम ! चमरोऽसुरेन्द्रोऽसुरराजोऽन्यतरेषु उच्चावचेषु शोभनेषु "कज्जकोडुंबेसु" इति) कौटुम्बेषु कार्येषु, कुटुम्बे भवानि कौटुम्बानि, स्वरान्द्रविषयाणीत्यर्थ । तेषु कार्येषु समुत्पन्नेषु अभ्यन्तरिकया परिषदा सार्द्धं संमतिसंप्रश्नबहुलश्चापि विहरति, सम्मत्या उत्तमया मत्या यः संप्रश्न पर्यालोचनं तद्बहुलश्चापि विहरत्यास्ते, स्वल्पमपि प्रयोजनं प्रथमतस्तया सह पर्यालोच्य विदधातीति भाव । मध्यमिकया पर्षदा सार्द्धं यदभ्यन्तरिकया पर्षदा सह पर्यालोच्य कर्त्तव्यतया निश्चितं पद तत् प्रपञ्चयन् २ विहरति । एवमिदमस्माभि पर्यालोचितमिद वा कर्त्तव्यमिदं वा न कर्त्तव्यमन्यथा दोष इति विस्तारयन् २ आस्ते, बाह्यया पर्षदा सह यदभ्यन्तरिकया पर्षदा सह पर्यालोचितं मध्यमिकया सह गुणदोषप्रपञ्चकथनतो विस्तारितं पदं तत् प्रचण्डयन् २ विहरति। आज्ञाप्रधान मन्ववश्यं कर्त्तव्यतया निरूपयन् तिष्ठति, यथा इदं युष्माभि कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति तदेवं या एकान्तेन गौरवमेव केवलमर्हति, यया च सहोत्तमतित्वात् स्वल्पमपि कार्यं प्रथमत· पर्यालोचयति सा गौरवविशेषे पर्यालोचनायां चात्यन्तमभ्यन्तरा वर्तते इति अभ्यन्तरिकायां तु गौरवार्हा पर्यालोचितं चाभ्यन्तरिकया पर्षदा सहावश्य कर्त्तव्यतया निश्चितं, न तु प्रथमत सा किल गौरवपर्यालोचनायां च मध्यमे भावे वर्तते इति मध्यमिका, या तु गौरव न जातु चिदप्यर्हति, न च यया सह कार्यं पर्यालोचयति, केवलम् आदेश एव यस्यै दीयते सा गौरवात् पर्यालोचनायाश्च बहिर्भावे वर्तते इति बाह्या तदेवाऽऽभ्यन्तरिकाऽऽदिव्यपदे·

शनिबन्धनमुक्तम् । संप्रत्येतदेवोपसंहरन्नाह-( से तेणट्ठेण-मित्यादि ) पाठसिद्धम् । यानि तु 'समिया चण्डा जाता' इति नामानि तानि कारणान्तरनिबन्धनानि कारणान्तरं च ग्रन्थान्तरादवसातव्यम् ।

अत्र संग्रहणिगाथा-

" चउवीसऽट्ठाऽवीसा बत्तीसतसहस्स देव चमरस्स ।
अद्धुट्ठा तिन्नि तहा, अड्ढाइज्जा य देविसया ॥ १ ॥
अड्ढाइज्जा दोन्नि दि-वड्ढपलियं कमेण देवठिई ।
पलिअ दिवड्ढमेगं अद्धा देवीण परिसासु ॥ २ ॥ "

बल्यादीनाम्-

बलिस्स णं भंते ! वइरोयणरन्नो कइ परिसाओ पन्नत्ताओ ?। गोयमा ! तिन्नि परिसाओ पणत्ताओ । तं जहा-समिया, चंडा, जाया । अब्भिंतरिया समिया, मज्झिमिया चंडा, बाहिरिया जाया । बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए कइ देवसहस्सा ?,मज्झिमियाए परिसाए कइ देवसहस्सा० जाव बाहिरियाए परिसाए कइ देविसया पणत्ता ? । गोयमा ! बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स अब्भिंतरियाए परिसाए वीसं देवसहस्सा पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए चउवीसं देवसहस्सा पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए अट्ठावीसं देवसहस्सा पन्नत्ता, अब्भितरियाए परिसाए अद्धपंचमा देविसया पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए चत्तारि देविसया पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए अद्धदेविसया पन्नत्ता ।

बल्यादीनां स्थिति:-

बलिस्स ठिए पुच्छा ? ०जाव बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?। गोयमा ! बलिस्स वइरोयणिंदस्स अब्भितरियाए परिसाए देवाणं अद्धुट्ठपलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता. मज्झिमाए परिसाए तिन्नि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता,बाहिरियाए परिसाए अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता,अब्भितरियाए परिसाए देवाणं अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता. मज्झिमियाए परिसाए देवीणं दोपलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीण दिवड्ढं पलिओवमं ठिई पन्नत्ता, सेसं जहा चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो ।

धरणाऽऽदीनाम्-

धरणस्स णं भंते ! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो कइ परिसाओ पन्नत्ताओ ? । गोयमा ! तिन्नि परिसाओ ताओ चेव जहा चमरस्स । धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो अब्भितरियाए परिसाए सट्ठिं देवसहस्सा पण्णत्ता, मज्झिमियाए सत्तरि देवसहस्सा पण्णत्ता, बाहिरियाए असीतिं देवसहस्सा पण्णत्ता, अब्भितरयाए परिसाए पन्नत्तरं देविसयं पन्नत्तं, मज्झिमियाए परिसाए पन्नासं देविसयं पन्नत्तं, बाहिरियाए परिसाए पणवीसं देविसयं पन्नत्तं ॥

" महिड्ढीए ०जाव पभासेमाणे से णं तत्थ चायालीसभवणावाससयसहस्साणं छण्हं सामाणियसाहस्सीणं तेत्तीसाए तावत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं छण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं दाहिणिल्लाणं नागकुमाराणं देवाण देवीण य आहेवच्चं जाव विहरतीति " पाठसिद्धम् ।

स्थिति:—

धरणस्स णं रन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?। मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?, बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?,मज्झिमियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?। गोयमा ! धरणस्स रन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं साइरेगं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता मज्झिमियाए परिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता बाहिरियाए परिसाए देवाणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता,अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं साइरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, बाहिरियाए परिसाए देवीणं चउभागपलिओवमं ठिई पन्नत्ता,अट्ठो जहा चमरस्स।

भूतानन्दस्य-

भूयाणंदस्स णं भंते ! नागकुमारस्स रन्नो अब्भिंतरियाये परिसाए कइ देवसाहस्सियाओ पन्नत्ताओ ?, मज्झिमाए परिसाए कइ देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ ?,बाहिरियाए परिसाए कइ देवसाहस्सीओ पणत्ताओ ?,अब्भिंतरियाए परिसाए कइ देवीसया पन्नत्ता ?,मज्झिमाए परिसाए कइ देविसया पन्नत्ता ?,बाहिरियाए परिसाए कइ देवीसया पन्नत्ता ?। गोयमा ! भूयाणंदस्स णं नागकुमाररन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए पन्नासं देवसहस्सीओ पन्नत्ताओ. मज्झिमियाए परिसाए सट्ठिदेवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ,बाहिरियाए परिसाए सत्तरि देवसाहस्सीओ पन्नत्ताओ,अब्भिंतरियाए परिसाए दोपणवीसा देविसया पन्नत्ता,मज्झिमियाए परिसाए दो देविसया पन्नत्ता,बाहिरियाए परिसाए पण्णत्तरदेविसयं पन्नत्तं।

स्थिति —

भूयाणंदस्स णं भंते ! नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, मज्झिमाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, बाहिरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?, बाहिरियाए परिसाए देवीणं केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ?।

गोयमा ! भूयाणंदस्स णं अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं देसूणं पलिओवमं ठिई पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाण सातिरेगं अद्धपलिओवम ठिई पण्णत्ता, वाहिरियाए परिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं अद्धपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवीणं देसूणं अद्धपलिओवम ठिई पण्णत्ता, वाहिरियाए परिसाए देवीणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिई पन्नत्ता, अट्ठो जहा चमरस्स अवसेसा वि देवादीण महाघोसपज्जवसाणाण ठाणपयवत्तव्वया णिरवसेसं भाणियव्वा, परिसाओ जहा धरणिंदभूयाणंदाणं दाहिणिल्लाणं जहा भूयाणंदस्स परिसाणं पि, ठिई वि ।

कालस्य–

कालस्स णं भंते ! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ। गोयमा ! ईसा तुडिया दढरहा, अब्भिंतरिया ईसा, मज्झिमिया तुडिया, वाहिरिया दढरहा। कालस्स णं भंते ! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ० जाव वाहिरियाए परिसाए कति देविसया पण्णत्ता ? । गोयमा ! कालस्स णं पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररायस्स अब्भिंतरपरिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, वाहिरियाए परिसाए वारस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, अब्भिंतरियाए परिसाए एकं देविसयं पण्णत्तं, मज्झिमियाए परिसाए एकं देविसयं पण्णत्तं, वाहिरियाए परिसाए एकं देविसयं पण्णत्तं ।

स्थितिः–

कालस्स णं भंते ! पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररन्नो अब्भिंतरपरिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, वाहिरियाए परिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, अब्भिंतरियाए परिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?, मज्झिमियाएपरिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता?, वाहिरियाए परिसाए देवीणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा ! कालस्स णं पिसायकुमारिंदस्स पिसायकुमाररण्णो अब्भिंतरपरिसाए देवाणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं देसूणं अद्धपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, वाहिरियाए परिसाए देवाणं सातिरेग चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं सातिरेगं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमपरिसाए देवीणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, वाहिरपरिसाए देवीणं देसूणं चउब्भागपलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो० जाव चमरस्स एवं उत्तरिल्लस्स वि, एवं निरंतरं० जाव गीयजसस्स । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

संप्रति ज्योतिष्काणाम्। तत्र सूर्यस्य–

सूरस्स णं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! तिण्णि परिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–तुंबा तुडिया पव्वा। अब्भितरिया तुंबा, मज्झिमिया तुडिया, वाहिरिया पव्वा। सेसं जहा कालस्स परिमाणं, ठिती वि, अट्ठो जहा चमरस्स चंदस्स ति एवं चेव । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

शक्रस्य पर्षदः स्थितिश्च–

सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा–समिता चंडा जाता। अब्भितरिया समिता, मज्झिमिया चंडा, वाहिरिया जाता । सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरन्नो अब्भितरियाए परिसाए कति देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?, मज्झिमियाए वाहिरियाए तहेव पुच्छा ?। गोयमा ! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अब्भितरियाए परिसाए वारस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए चोद्दसदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, वाहिरियाए परिसाए सोलस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। एवं देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अब्भितरियाए परिसाए सत्त देविसया पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए छच्च देविसया पण्णत्ता, वाहिरियाए परिसाए पंच देविसयाणि पण्णत्ताइं ॥ शक्रस्य भदन्त ! देवेन्द्रस्य देवराजस्य कति पर्षदः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह–गौतम ! तिस्रः पर्षदः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–शमिका चण्डा जाता, अभ्यन्तरिका शमिका मध्यमिका चण्डा वाह्या जाता–( सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो अब्भितरियाए ) इत्यादि प्रश्नषट्कं सुप्रतीतम्। भगवानाह–गौतम ! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अभ्यन्तरिकायां पर्षदि द्वादश देवसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, मध्यमिकायां चतुर्दश देवसहस्राणि, वाह्यायां षोडश देवसहस्राणि। तथा अभ्यन्तरिकायां पर्षदि सप्तशतानि देवीनां प्रज्ञप्तानि, मध्यमिकायां देवीनां षट्शतानि, वाह्यायां देवीनां पञ्चशतानि ।

सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरन्नो अब्भितरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता ?, एवं मज्झिमियाए वाहिरियाए वि ?। गोयमा ! सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो देवाणं अब्भितरियाए परिसाए पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, वाहिरियाए परिसाए देवाणं तिण्णि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, अब्भितरियाए परिसाए देवीणं तिन्नि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए दोण्णि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, वाहिरियाए परिसाए एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो सो चेव जहा भवणवासीणं ।

" सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं केवइयं कालं " इत्यादि प्रश्नपदक सुप्रतीतम्। भगवानाह-गौतम ! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अभ्यन्तरिकाया पर्षदि पञ्चपल्योपमा स्थितिः प्रज्ञप्ता। मध्यमिकाया चत्वारि पल्योपमानि, बाह्याया त्रीणि पल्योपमानि, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवीनां त्रीणि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, मध्यमिकाया द्वे पल्योपमे, बाह्यायामेकं पल्योपमम्। "से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो तओ परिसाओ " इत्यादि सकलमपि सूत्रं चमरवक्तव्यतायामिव भावनीयम्। जी० ४ प्रति० २ उ०।

ईशानस्य—

ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-समिता चंडा जाता, तहेव सव्वं, णवरिं अब्भिंतरियाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ, बाहिरियाए परिसाए चोद्दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! अब्भिंतरियाए परिसाए णव देवीसया पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए अट्ठसया पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए सत्त देवीसया पण्णत्ता। देवाणं ठितीपुच्छा ?। गोयमा ! अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं सत्त पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए छपलिओवमाइं, बाहिरियाए पंचपलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। देवीणं पुच्छा ?। गोयमा ! अब्भिंतरियाए परिसाए पंच पलिओवमाइं, मज्झिमियाए परिसाए चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए तिण्णि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो तहेव भाणियव्वो।

अभ्यन्तरिकायां पर्षदि दश देवसहस्राणि मध्यमिकाया द्वादश, बाह्याया चतुर्दश, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि नव देवीशतानि, मध्यमिकायामष्टौ देवीशतानि, बाह्याया सप्त देवीशतानि, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवानां सप्त पल्योपमानि, मध्यमिकाया बाह्याया षट्, पञ्च तथा अभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवीनां पञ्च पल्योपमानि, मध्यमिकायां चत्वारि, बाह्याया त्रीणि, शेषं शक्रवत्। जी० ४ प्रति० २ उ०।

सनत्कुमाराऽऽदीनाम्—

सणंकुमाराणं पुच्छा तहेव ठाणपदगमेणं० जाव सणंकुमारस्स तओ परिसाओ समिताऽऽदी तहेव, नवरि अब्भिंतरियाए परिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं ठिती अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, मज्झिमियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, बाहिरियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं तिण्णि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो सो चेव।

अभ्यन्तरिकायां पर्षदि अष्टौ देवसहस्राणि, मध्यमिकाया दश, बाह्यायां द्वादश, देवीपर्षदो न वक्तव्या। तथा अभ्यन्तरिकायां पर्षदि देवानामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि पञ्चपल्योपमानि स्थितिर्मध्यमिकायां अर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि चत्वारि पल्योपमानि, बाह्यायामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि त्रीणि पल्योपमानि। शेषं सर्वं शक्रवत्। जी० ४ प्रति० २ उ०।

एवं माहिंदस्स वि तहेव० जाव तत्थ अब्भिंतरियाए परिसाए छ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमियाए परिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ठिती, देवाणं अब्भिंतरियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं सत्त पलिओवमाइं ठिती, मज्झिमियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं छच पलिओवमाइं बाहिरियाए परिसाए अद्धपंचमाइं सागरोवमाइं पंचपलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। जी० ४ प्रति० २ उ०।

अभ्यन्तरिकाया पर्षदि षट् देवसहस्राणि, मध्यमिकायाम् अष्टौ देवसहस्राणि, बाह्यायां दश देवसहस्राणि, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवनामर्द्धपञ्चमानि सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि। शेषं सर्वं यथा सनत्कुमारस्य। जी० ४ प्रति० २ उ०।

बंभस्स वि तओ परिसाओ पण्णत्ताओ। अब्भिंतरियाए चत्तारि देवसाहस्सीओ, मज्झिमियाए परिसाए छदेवसाहस्सीओ, बाहिरियाए अट्ठ देवसाहस्सीओ। देवाणं ठिती अब्भिंतरियाए परिसाए अद्धणवमाइं सागरोवमाइं पंचपलिओवमाइं, मज्झिमियाए परिसाए अद्धणवमाइं सागरोवमाइं, बाहिरियाए अद्धनवमाइं सागरोवमाइं तिण्णि पलिओवमाइं, अट्ठो सो चेव।

अभ्यन्तरिकाया पर्षदि चत्वारि देवसहस्राणि, मध्यमिकाया षड्देवसहस्राणि, बाह्यायामष्टौ देवसहस्राणि, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवानामर्द्धनवमानि सागरोपमाणि पञ्चपल्योपमानि स्थितिः, मध्यमिकायां पर्षदि अर्द्धनवमानि सागरोपमाणि चत्वारि पल्योपमाणि, बाह्यायामर्द्धनवमानि सागरोपमाणि त्रीणि पल्योपमानि, शेषं यथा सनत्कुमारस्य। जी० ४ प्रति० २ उ०।

लंतगस्स वि० जाव तओ परिसाओ० जाव अब्भिंतरियाए दो देवसाहस्सीओ, मज्झिमियाए चत्तारि देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरियाए छदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, ठिती भाणियव्वा, अब्भिंतरियाए परिसाए देवाणं बारस सागरोवमाइं सत्त पलिओवमाइं ठिती, मज्झिमियाए परिसाए बारस सागरोवमाइं छच पलिओवमाइं ठिती, बाहिरियाए परिसाए बारस सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता, अट्ठो सो चेव।

अभ्यन्तरिकाया पर्षदि द्वे देवसहस्रे, मध्यमिकाया चत्वारि, बाह्याया षट्, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवाना द्वादश

सागरोपमाणि सप्त च पल्योपमाणि स्थितिर्मध्यमिकाया द्वादश सागरोपमाणि षट् पल्योपमाणि, बाह्यायां द्वादश सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमाणि । जी० ४ प्रति० २ उ० ।

महासुक्कपुच्छा ?। गोयमा ! ०जाव अभिंतरियाए एगदेवसाहस्सीओ, मज्झिमियाए परिसाए दो देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, बाहिरियाए परिसाए चत्तारि देवसाहस्सीओ, ठिती अभिंतरियाए परिसाए अद्धसोलससागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं, मज्झिमियाए अद्धसोलससागरोवमाइं चत्तारि पलिओवमाइं, बाहिरियाए अद्धसोलससागरोवमाइं तिण्णि पलिओवमाइं, अट्ठो सो चेव ।

अभ्यन्तरिकायां पर्षदि एकं देवसहस्रं, मध्यमिकायां द्वे देवसहस्रे, बाह्याया चत्वारि देवसहस्राणि ।तथा अभ्यन्तरिकायां पर्षदि अर्द्धषोडश सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि स्थितिः, मध्यमिकायामर्द्धषोडश सागरोपमाणि चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, बाह्यायामर्द्धषोडश सागरोपमाणि त्रीणि पल्योपमानि। शेषं पूर्ववत् । जी० ४ प्रति० २ उ०।

सहस्सारे पुच्छा ? ०जाव अभिंतरियाए परिसाए पंच देवसया, मज्झिमियाए परिसाए एगा देवसाहस्सीओ, बाहिरियाए दो देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, ठिती अभिंतरियाए अद्धट्ठारससागरोवमाइं सत्त पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता। एवं मज्झिमियाए अद्धट्ठारस सागरोवमाइं छपलिओवमाइ, बाहिरियाए अद्धट्ठारस सागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं, अट्ठो सो चेव ।

अभ्यन्तरिकाया पर्षदि पञ्च देवशतानि, मध्यमिकायामेकं देवसहस्रं, बाह्याया द्वे देवसहस्रे, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवानामर्द्धाष्टादश सागरोपमाणि सप्त च पल्योपमानि, मध्यमिकाया पर्षदर्द्धाष्टादश सागरोपमाणि षट् पल्योपमानि, बाह्यायामर्द्धाष्टादश सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि । शेषं पूर्ववत् । जी० ४ प्रति० २ उ० ।

आणयपाणयस्स वि पुच्छा? ०जाव तओ परिसाओ, णवरि अभिंतरिया अड्ढाइज्जा देवसया. मज्झिमियाए पंच देवसया, बाहिरिया एगा देवसाहस्सीओ, ठिती अभिंतरियाए एगूणवीससागरोवमाइं पंच पलिओवमाइं, मज्झिमियाए परिसाए एगूणवीससागरोवमाइं चत्तारि पलिओवमाइं, बाहिरियाए परिसाए एगूणवीससागरोवमाइं तिण्णि पलिओवमाइं ठिती, अट्ठो सो चेव ।

अभ्यन्तरिकायां पर्षदि अर्द्धतृतीयानि देवशतानि, मध्यमिकाया पञ्च देवशतानि, बाह्यायामेकं देवसहस्रं, तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवानामर्द्धैकोनविंशति सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमानि स्थिति, मध्यमिकायामर्द्धैकोनविंशति सागरोपमाणि, चत्वारि पल्योपमानि, बाह्यायामर्द्धैकोनविंशति सागरोपमाणि त्रीणि च पल्योपमानि, शेषं पूर्ववत् । जी० ४ प्रति० २ उ० ।



आरणाऽच्युताऽऽदीनाम्-

कहि णं भंते ! आरणऽच्चुयए देवाणं ?, तहेव अच्चुए परिवारे० जाव विहरति । अच्चुयस्स णं देविंदस्स तओ परिसाओ पण्णत्ताओ-अभिंतरपरिसाए देवाणं पणुवीससयं, मज्झिमियाए अड्ढाइज्जसया, बाहिरपरिसाए पंचसया, अभिंतराए एकवीसं सागरोवमा सत्त पलिओवमा, मज्झिमियाए एकवीस सागरोवमा छपलिओवमा, बाहिराए एकवीसं सागरोवमा पंच पलिओवमा ठिती पण्णत्ता ।

अभ्यन्तरिकाया पर्षदि पञ्चविंशं देवशतं, मध्यमिकायाम् अर्द्धतृतीयानि, देवशतानि, बाह्याया पञ्च देवशतानि । तथा अभ्यन्तरिकाया पर्षदि देवानामेकविंशतिः सागरोपमाणि सप्त च पल्योपमानि, मध्यमिकाया पर्षदि एकविंशति सागरोपमाणि षट् पल्योपमाणि, बाह्यायामेकविंशति. सागरोपमाणि पञ्च पल्योपमाणि, शेष पूर्ववत् । जी०४ प्रति०२ उ०। औ० । स्था० । (सूर्याभस्य देवस्य सामानिकपरिषदुपपन्नकदेवाना स्थितिः ' ठिइ ' शब्दे चतुर्थभागे १७२६ पृष्ठे गता ) ( प्रायश्चित्तदानयोग्या पर्षद् " तइरिहपरिसा य " इति द्वारम् ' पच्छित्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३६ पृष्ठे गतम् )

परिसाइ ( ण् )-परिस्राविन्-त्रि० । दुष्पकत्वाऽऽदिना त्तरके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

परिसाइय-परिशाट्य-अव्य० । निर्गालयेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

परिसागय-पर्षद्गत-त्रि० । साधुसंहतिमध्यगते, पा० ।

परिसाड-परिशाट-पु० । उज्झने,आव० ४ अ० । 'शट' रुजाविशरणगत्यवसादनेष्विति धातो पुद्गलाना परिशाटनमवसादनं परिशाट । पुद्गलानामवसादने, विशे० ।

परिसाडकरण-परिशाटकरण-न० । करपत्राऽऽदिना शङ्खस्येव निष्पादने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विशे० । आ० म० । आ० चू० । ( एतच्च ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३६१ पृष्ठे दर्शितम् )

परिसाडणा -परिशाटना-स्त्री० । जीवप्रदेशेभ्य पृथक्करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

परिसाडणिया-परिशाटनिका-स्त्री० । अर्चनिकायाम् , वृ० १ उ० १ प्रक० ।

परिसाडिअ-परिशाटित-त्रि० । पृथक्कृते, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

परिशाट्य-त्यक्त्वेत्यर्थे कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

परिसाडि (ण्) परिशाटिन्-त्रि० । कुशाऽऽदितृणसंस्तारकान् परिभुञ्जानस्य यस्य न किञ्चित्परिशटति स परिशाटी । वं. शकुलाऽऽदौ संस्तारके नि० चू० २ उ० ।

परिसामिय-परिश्यामित-त्रि० । कृष्णीकृत , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

परिसाववहारि ( ण् )-पर्षद्व्यवहारिन्-पु० पर्षन्नाम व्यवहारयो द्वयेऽऽपि पक्षो न भवति यदि द्वावऽपि पक्षो मध्यस्थौ भवत इति स्वमतेन व्यवहारिणि, व्य० ३ उ० ।

परिसिट्ठ-परिशिष्ट-त्रि० । उद्धरिते, आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

परिसित्त-परिषिक्त-न० । नपुंसके क्तः । परिषेके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

परिसित्तपाणग-परिषिक्तपानक-न० । यत उष्णोदकेन दधिभृत्तिका नित्यं गाल्यते तस्मिन्, नि० चू० ४ उ० ।

परिसिल्ल पर्षद्वत्-त्रि० । पर्षद्युक्ते, बृ० ३ उ० ।

परिसीसग प्रतिशीर्षक-न० । स्वशिरःप्रतिरूपके पिष्टाऽऽदिमयशिरसि "परिसीसय च दलाहि ।" प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रतिरूपाणि पिष्टाऽऽदिमयशिरांसि आत्मशिरोरक्षार्थं यच्छत चण्डिकाऽऽदिभ्य इत्यर्थः । प्रश्न०२ आश्र० द्वार।

परिसुक्क परिशुष्क-त्रि० । स्वतःशोषमुपागते, विपा० १ श्रु० २ अ०।

परिसुक्कमुह-परिशुष्कमुख-त्रि० । परिशुष्कं निर्गतनिष्ठीवनतयाऽनार्द्रतामुपगतं मुखमस्येति परिशुष्कमुखः । उत्त० २ अ० । गतनिष्ठीवनत्वेन शुष्कतालुजिह्वौष्ठे, उत्त० २ अ० ।

परिसुद्ध-परिशुद्ध-त्रि० । निर्दोषे, पञ्चा० ४ विव० । सर्वप्रकारशुद्धे, षो० १ विव० । निशुद्धिमाप्तया निश्चिते, पञ्चा० २ विव० ।

परिसुद्धग-परिशुद्धक-त्रि० । अपगतदोषे, पञ्चा० १६ विव०।

परिसुद्धजलग्गहण-परिशुद्धजलग्रहण-न० । वस्त्रपूतत्रसरहितजलग्रहणे, आ० ।

परिसुद्धि-परिशुद्धि-स्त्री० । दोषविशुद्धौ, पञ्चा० १६ विव० ।

परिसेय-परिषेक-पु० । दुष्टव्रणाऽऽदेरुत्थितस्योपरि षेचने, पिं० । ओघ० ।

परिसोवपणग-पर्षदुपपन्नक-पु० । परिहारोपपन्नके, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

परिसोसिय-परिशोषित-त्रि० । परि समन्ताच्छोषितमपचितीकृतम् । उत्त० १ अ० । तपसा दुर्बलीकृते, उत्त० १ अ० ।

परिस्सम-परिश्रम-पु० । समन्तात्खेदे, " खुह पिवास परिस्सम व न विंदइ । " आ० म० १ अ०।

परिस्सव-परिश्रव-पु० । कर्मनिर्जराऽऽस्पदेषु अनुष्ठानेषु परिसमन्ताच्छ्रवति गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिश्रवा इति व्युत्पत्तेः । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । (" जे आसवा ते परिस्सवा । " इति ' आसव ' शब्दे द्वितीयभागे ४७५ पृष्ठे व्याख्यातम् )

परिस्सवंत-परिश्रवत्-त्रि० । गलति, तं०। सर्वतो गलति,तं०।

परिस्साइ-(ण्)-परिस्राविन्-पुं० । आलोचकदोषानुपश्रुत्योद्गिरति, स्था० १ ठा० ।

परिह-परिघ-पु० । अर्गलायाम् , अनु० ।

परिहट्ट-मृद्-धा० । चोदे, "मृदो मलमढपरिहट्ट० " ॥ ८ । ४ । १२६ ॥ इत्यादिसूत्रेण मृद्धातोः परिहट्टाऽऽदेशः । ' परिहट्टइ ।' प्रा० ४ पाद ।

परिहट्टिअ-परिमर्दित-त्रि० । मर्दिते, " पव्वाडिअयं परिहट्टिअं । " पाइ० ना० १७८ गाथा ।

परिहट्टी-देशी-प्रतिहारिण्याऽऽकृष्टौ, दे० ना० ६ वर्ग ७२ गाथा । आकृष्टौ, दे० ना० ६ वर्ग २१ गाथा ।

परिहण-देशी वसने, दे० ना० ६ वर्ग २१ गाथा ।

परिहणय-परिधानक-न० । परिधानीये, "जाण सिचयं कडिल्लं, निअंसणं साहुली य परिहणयं । " पाइ ना०६६ गाथा।

परिहत्थ-देशी-दक्षे, आव० ४ अ० । आचा० । ' परिहत्थो दच्छो ।" पाइ० ना० २४४ गाथा ।

परिहरंत-परिहरत्-त्रि० । " धातवोऽर्थान्तरेऽपि " ॥ ८ । ४ । २५६ ॥ इति परिहरतेस्त्यागे वृत्तेः । त्यजति, प्रा० ४ पाद।

परिहरण-परिहरण-न० । आसेव्यस्य वस्तुनोऽनासेवने, स्था० १० ठा० ।

परिहरणदोस-परिहरणदोष-पु० । दोषभेदे, स्था० । परिहरणमासेवा, स्वदर्शनस्थित्या लोकरूढ्या वा अनासेव्यस्य तदेव दोष परिहरणदोषः । अथवा-परिहरणमनासेवनं, समारूढ्याऽऽसेव्यस्य वस्तुनस्तदेव तस्माद्वा दोष परिहरणदोषः । अथ वादिनोपन्यस्तस्य दूषणन्यासम्यक्परिहारो जात्युत्तरं परिहरणदोष इति । यथा बौद्धेनोक्तम्-अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति । अत्र मीमांसकः परिहारमाह ननु घटगतं कृतकत्वं शब्दस्यानित्यत्वसाधनायोपन्यस्यते, शब्दगतं वा ? । यदि घटगतं तदा तच्छब्दे नास्तीत्यसिद्धता हेतोः। अथ शब्दगतं तत्रानित्यत्वेन व्याप्तमुपलब्धमित्यसाधारणानैकान्तिको हेतुरित्ययं सम्यक् न परिहारः । एवं हि सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग ,अनुमानं हि साधनधर्ममात्रात्साध्यधर्ममात्रनिर्णयाऽऽत्मकम्, अन्यथा धूमादनलानुमानमपि न सिध्येत्। तथा हि-अग्निरत्र धूमाद्यथा महानसे । अत्र विकल्पति-किमत्रेति शब्दनिर्दिष्टपर्वतैकप्रदेशाऽऽदिगतधूमोऽग्निसाधनायोपात्तः, उत महानसगतः ? । यदि पर्वताऽऽदिगतः सोऽग्निना न व्याप्तः सिद्ध इत्यसाधारणानैकान्तिको हेतु । अथ महानसगतस्तदा नाऽसौ पर्वतैकदेशे वर्तत इत्यसिद्धो हेतुरिति। अयं परिहरणदोष इति । स्था० १० ठा० ।

परिहरणा-परिहरणा-स्त्री० । ' हृञ् ' हरणे, अस्या परिपूर्वस्यैव ल्युडन्तस्यैव परिहरणं परिहरणा । सर्वप्रकारैर्वर्जनायाम् , प्रतिक्रमणशब्दार्थे, आव० ।

निक्षेप -

नामं ठवणा दविए, परिरय परिहार वज्जणाए य ।
अणुगह भावे अ तहा,अट्ठविहा होइ परिहरणा ॥१२३६॥

नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यपरिहरणा-द्वेयं विषयमधिकृत्य अनुपयुक्तस्य, सम्यग्दृष्टेर्लब्ध्यादिनिमित्तं वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्य कण्टकाऽऽदिपरिहरणा चेति । परिरयपरिहरणा-गिरिसरित्परिरयपरिहरणा। परिहारपरिहरणा-लौकिकलोकोत्तरभेदभिन्ना, लौकिकी मात्रादिपरिहरण , लोकोत्तरा पार्श्वस्थाऽऽपरिहरणा। वर्जनापरिहरणा अपि लौकिकलोकोत्तरभेदैव लौकिका इत्वरा यावत्कथिका च, इत्वरा प्रसूतसूतकाऽऽदिपरिहरणा, यावत्कथिका डोम्बाऽऽदिपरिहरणा। लोकोत्तरा पुनरित्वरा शय्यातरपिण्डाऽऽदिपरिहरणा, यावत्कथिका तु राजपिण्डाऽऽदिपरिहरणा। अनुग्रहपरिहरणा-अ-

कखोडभङ्गपरिहरणा। भावपरिहरणा-प्रशस्ता,अप्रशस्ता च। अप्रशस्ता ज्ञानाऽऽदिपरिहरणा,प्रशस्ता क्रोधाऽऽदिपरिहरणा। अथवा-ओघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः,तयेहाधिकारः,प्रतिक्रमणपर्यायता चास्याः प्रतिक्रमणमप्यशुभयोगपरिहारेणैवेति। आव० ४ अ०। आ० चू०। विशे०।

अथ परिहरणायां दुग्धकायेन दृष्टान्तः-दुग्धकायो दुग्धकायपष्टिः-

" एकः कोऽप्यभवद् ग्रामे, कुत्रापि कुलपुत्रक ।
अन्यान्यग्रामयोस्तस्यो-दूढमस्ति स्वसृद्वयम् ॥ १ ॥
तस्याभूद् दुहिता जाम्योः, पुत्रौ तेषां च यौवने ।
स्वस्वसृतुकृते जाम्यौ, पुत्र्यर्थं सममागते ॥ २ ॥
सोऽवदत्कस्य यच्छामि, पुत्र्येका तद्युवां सुतौ ।
अत्र प्रेषयतं दास्ये, तत. कृत्यविदः सुताम् ॥ ३ ॥
गते ते प्रेषितौ पुत्रौ, मातुलेन तदैव तौ ।
अर्पयित्वा घटावुक्तौ, दुग्धमानयतं व्रजात् ॥ ४ ॥
काययष्टिं गृहीत्वा तौ, गतौ भृत्वा पयो घटान् ।
निवृत्तौ तानथाऽऽदाय, तत्र चास्ति पथद्वयम् ॥ ५ ॥
नेदीयान् विषम पन्थाः, दवीयाँश्च समः पुनः ।
विषमं परिहृत्यैक स्तत्राचालीत्समाध्वना ॥ ६ ॥
विषमेणापि नैकस्त्या-च्चलति स्म द्वितीयकः ।
स्खलत्पदस्य तस्यैको, भग्नः कुम्भोऽपरोऽपि च ॥ ७ ॥
अमाजि पतता तेन, रिक्त एवाऽथ सोऽभ्यगात् ।
समाध्वना शनैरन्यो, गृहीत्वा दुग्धमाययौ ॥ ८ ॥
तुष्टस्तस्मै ददौ पुत्रीं, द्वितीयं प्रैषयत्पुन ।
मयोक्तं दुग्धमानेयं, शीघ्रात् शीघ्रगतिर्न तु ॥ ९ ॥
द्रव्ये परिहरणेयं, भावे चोपनयः पुनः ।
तीर्थकृत्कुलपुत्रोऽभू-च्चारित्र पयसः पदे ॥ १० ॥
तद्वद्भिः प्रयत्नेन, प्राप्या कन्येव निर्वृतिः ।
गोकुलं मानुषं जन्म, पन्थास्तत्र परं तप ॥ ११ ॥
स्थविराणामनिकटो, निकटो जिनकल्पिनाम् ।
रक्षेश्च चारित्रपयोऽ-गीतार्थो जिनकल्पिकः ॥ १२ ॥
दुष्प्रापा निर्वृत्तिस्तस्य, स्खलितस्य कथञ्चन ।
प्राप्याऽन्यैस्तु शनैः सिद्धि-श्चारित्रक्षीररक्षकैः ॥ १३ ॥ आ० क० ४ अ० । आसेवायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० । बृ०। परिभोगे व्यापारणे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। प० चू०। स्था०। आ० म०।

परिहरणिज्ज-परिहरणीय-त्रि०। अकार्ये, आ० चू० १ अ०।

परिहरणोवघाय-परिहरणोपघात-पु० । अलाक्षणिकस्याकल्प्यस्य वोपकरणस्य सेवा, तया य स परिहरणोपघातः। उपघातभेदे, स्था० १० ठा० । परिहरणा आसेवा, तयोपध्यादेरकल्प्यता, तत्रोपधेर्यथा एकाकिना हिण्डकसाधुना यदासेवितमुपकरणं तदुपहतं भवतीति समयव्यवस्था। स्था० ५ ठा० २ उ०। (अत्र विशेषः 'उवघाय' शब्दे द्वितीयभागे ८८० पृष्ठे गत.)

परिहरमाण-परिहरत्-त्रि०। परिभोगयति, व्य० ६ उ०।

परिहरित्तए-परिहर्तुम्-अव्य० । आसेवितुमित्यर्थे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। आचा०।

परिहरिय-परिहृत्य-अव्य० । निक्षिप्येत्यर्थे, उत्त० १२ अ०।

परिहरियव्व-परिहर्त्तव्य-त्रि० । सर्वैः प्रकारैर्वर्जनीये, आ० नि० चू०।

परिहरिस-परिहर्ष-पुं० । आनन्दे, " आमोओ परिहरिसो तोसो।" पाइ० ना० १६८ गाथा।

परिहलाविअ-देशी-जलनिर्गमे, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा।

परिहवंत-परिभवत्-पुं०। पार्श्वस्थाऽऽदौ अयतमाने, "परिहवंतो नाम पासत्थो"। व्य० १ उ०।

परिहा-परिखा-स्त्री०। अध उपरि च समखाते, भ० ५ श० ७ उ०। नि०चू०। ज्ञा०। अनु०। "खायं तह खाइआ परिहा।" पाइ० ना० १५८ गाथा। रोषे, दे०ना० ६ वर्ग ७ गाथा।

परिहाअ-देशी-क्षीणे, दे० ना० ६ वर्ग २५ गाथा।

परिहाएमाण-परिहीयमान-त्रि० । परिहाणिमुपनीयमाने, " मायाए परिहाएमाणा।" स्था०४ ठा० २ उ०। जं०।

परिहाण-परिधान-न०। वस्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

परिहाणि-परिहानि-स्त्री०। अपचये, आव० १ अ०। सूत्रार्थविस्मरणे,ओघ०। सर्वथा त्यागे,ध०२ अधि०। पंभा०। पं०चू०।

परिहाय-त्रि० । दुर्बले, " परिहायं दुव्वलं हीणं।" पाइ० ना० १८१ गाथा।

परिहार-परिहार-न०। परिह्रियते परित्यजते गुरुमूलं गत्वा यत् तत् परिहारम्। "अकर्त्तरि च करके०-" ॥ ३।३।१६ ॥ इति (पाणि०) कर्मणि घञ्। विषये, व्य० १ उ०।

(१) संप्रति परिहारशब्दनिक्षेपप्ररूपणार्थमाह-

नामं ठवणा दविए, परिरय परिहरण वज्जऽणुग्गहता ।
भावाऽऽवन्ने सुद्धे, नव परिहारस्स नामाइं ॥ २७ ॥

परिहारशब्दो विभक्तिपरिणामेन सर्वत्र संबध्यते । तद्यथा-नामपरिहारः, स्थापनापरिहारः, (दविए त्ति) द्रव्यविषयः परिहारो द्रव्यपरिहारः, परिरयपरिहारः, परिहरणपरिहारः, 'वृजी' वर्जने, वृज्यते इति वर्जनं, कर्मण्यनट्, वर्ज्यमित्यर्थः। वर्जनपरिहारः। अनुगृह्यते इति अनुग्रह', कर्मण्यच्च तस्य भावोऽनुग्रहताऽनुग्रहणमित्यर्थ. । अनुग्रहतया परिहारोऽनुग्रहतापरिहार.। (भाव त्ति) भावचिन्तायामापन्ने आपन्नस्य परिहार. आपन्नपरिहार, शुद्धे शुद्धस्य परिहारः। एवं परिहारस्य नामाऽऽदिविशेषणतो नव नामानि भवन्ति। एष गाथाऽक्षरार्थ.। अधुना भावार्थ उच्यते-तत्र नामस्थापने प्रतीते, द्रव्यपरिहार उच्यते-द्रव्यपरिहारो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतः परिहारशब्दार्थज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः । नोआगमतस्त्रिधा-ज्ञशरीर भव्यशरीरं तद्व्यतिरिक्त.। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत्।

तद्व्यतिरिक्तपरिहारपरिरयपरिहाराऽऽदिप्रतिपादनार्थमाह-

कंटगमादी दव्वे, गिरिनइमाईण परिरओ होइ ।
परिहरणधरणभोगे, लोउत्तर वज्ज इत्तरिए ॥ २८ ॥

द्रव्ये इति द्वारपरामर्श। नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो,द्रव्यपरिहारो नाम-यत् कण्टकाऽऽदि,कण्टकम् आदिशब्दात्। स्थाणुविषसर्पाऽऽदिकं च परिहरति,द्रव्यस्य परिहारो द्रव्यपरिहार इति व्युत्पत्ते'। परिरयो नाम पर्याहार.,परिधि-

रिति यावत्। उक्तं च-" पज्जाहारो त्ति वा परिरओ त्ति वा एगट्ठं ।" परिरयेण परिहारः, स च परिरयो भवति संभवति गिरिनद्यादीनां विषये। इयमत्र भावना-यत् गिरिनदीस्,आदिशब्दात् समुद्रमटवीं वा परिरयेण परिहरति, एष परिरयपरिहारः । तथा परिह्रियते इति परिहरणं, भावे अनट्। तच्च द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरं च। तत्र लौकिकं यथा-माता पुत्रं परिहरति, भ्रातरं परिहरति, न परिभुङ्क्ते इत्येवमादि। लोकोत्तरं साक्षादाह-परिहरणधरणभोगे-लोकोत्तरं परिहरणं द्विधा-धरणभोगे धरणपरिहरणं, परिभोगपरिहरणं चेत्यर्थः । तत्र धरणपरिहरणं नाम-यत्किमप्युपकरणं संगोपयति,प्रतिलेखयति च,न परिभुङ्क्ते। परिभोगपरिहरणं-यत्सूत्रिककल्पाऽऽदि परिभुङ्क्ते, प्रावृणोतीत्यर्थः । उक्तं च-" लोगे जह माता ऊ पुत्तं परिहरइ एव मादीओ। लोगुत्तरपरिहारो दुविहो परिभोग धरणे य ॥१॥" अत्रैवं व्युत्पत्तिः-परिहरणमेव परिहारः (लोगुत्तर वज्ज इत्तरिए) वर्जं वर्ज्यं तत् द्विधा-(लोग त्ति)लौकिकम् (उत्तर त्ति) लोकोत्तरम्। लौकिकं द्विधा-इत्वरं, यावत्कथितं च। तत्रेत्वरं यत् सूतकमृतकाऽऽदि दशदिवसान् यावत् वर्ज्यते इति। यावत्कथिकम्-"वरुडविडरूचम्मकारडोंबाऽऽदि, एतेहिं" यावज्जीवं शिष्टैः सांभोगाऽऽदिना वर्ज्यन्ते । लोकोत्तरमपि वर्ज्यं द्विधा-इत्वरं,यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरं 'दाणे अभिगमसड्ढे" इत्यादि। यावत्कथिकम् अट्ठारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।" इत्यादि। 'वज्ज इत्तरिए' इत्यत्र ग्रहणमुपलक्षणं, तेन यावत्कथिकमित्यपि द्रष्टव्यम्, तस्य परिहारः परित्यागो वर्जनपरिहारः।

खोडाऽऽदिभंगऽणुग्गह, भावे आवण्ण-सुद्धपरिहारो ।
मासाऽऽदी आवन्ने, तेण उ पगयं न अन्नेहिं ॥ २६ ॥

" खोडभंग इति वा उक्कोडभंग इति वा अक्षोटभङ्ग इति वा " एकार्थम् । उक्तं च निशीथचूर्णौ-" खोटभंगो त्ति वा उक्कोडभगो त्ति वा अक्खोडभंगो त्ति एगट्ठं।" खोटं नाम यत् राजकुले हिरण्याऽऽदि द्रव्यं दातव्यम्। आदिशब्दात् वेष्टिकरणं चारभटाऽऽदीनां भोजनाऽऽदिप्रदानमित्यादिपरिग्रहः। खोटाऽऽदेर्भङ्गः खोटाऽऽदिभङ्गोऽनुग्रहः, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादनुग्रहः परिहारः । एतदुक्तं भवति-राजकृतानुग्रहवशेन एकद्वित्र्यादिवर्षमर्यादया यथोक्तरूपं खोटाऽऽदिभञ्जनं एकं द्वे त्रीणि वर्षाणि यावत् वसति तावन्तं वा कालं यावत् राज्ञाऽनुग्रहः कृतः तावन्तं कालं वसति, न च हिरण्याऽऽदि प्रददाति,नापि वेष्टिं करोति, न चापि चारभटाऽऽदीनां भोजनाऽऽदिप्रदानं विधत्ते। एष खोटाऽऽदिभङ्गोऽनुग्रहपरिहारः । ( भावे इति ) भावविषयः परिहारो द्विधा । तद्यथा-आपन्नपरिहारः, शुद्धपरिहारश्च । तत्र यत् विशुद्धः सन् पञ्चयाममनुत्तरं धर्मं परिहरति, परिहारशब्दस्य परिभोगेऽपि वर्त्तमानत्वात् स शुद्धपरिहारः, शुद्धस्य सतः परिहारः पञ्चयामानुत्तरधर्म्मकरणं शुद्धपरिहार इति व्युत्पत्तेः। यदि वा-यो विशुद्धकल्पव्यवहारः क्रियते स शुद्धपरिहारः, शुद्धश्चासौ परिहारश्च शुद्धपरिहार इति व्युत्पत्तेः। तथा यन्मासिकं यावत्षाण्मासिकं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तत् आपन्ने आपरिभोगेऽपि वर्त्तते, परिह्रियते इति परिहारः । कर्मणि घञ् । आपन्नमेव परिहारः आपन्नपरिहार इति व्युत्पत्तेः। तथा चाऽऽह-(मासाऽऽदी आवन्ने इति ) मासाऽऽदिकं यत्प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्ने परिहार इति भावः । अथवा-परिहरणं परिहार इति भावे घञ्, आपन्नेन प्रायश्चित्तस्थानेन परिहारो वर्जनं, साधोरिति गम्यते। आपन्नपरिहारः । तथाहि-प्रायश्चित्ती अविशुद्धत्वात् विशुद्धचरणैः साधुभिर्यावत्प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या न शुद्धो भवति तावत् परिह्रियते, इह तेन आपन्नपरिहारेण प्रकृतमधिकारो न शेषैः परिहारैः तदेवं परिहारशब्दनिक्षेपप्ररूपणा कृता। व्य० १ उ० । नि० चू०। ( मासिकाऽऽदिपरिहारस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत् इति 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४२ पृष्ठे गतम् ) परिहरणं परिहारः। पुं० । तपोविशेषे, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रव० । विशे० । अनेषणीयाऽऽदेस्त्यागे च। अनु०।

मासिकाऽऽदिपरिहारस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत् । तत्र परिहारतपोदानम्-

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा सातिरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा सातिरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियमाणे ॥ ४ ॥

इत्यस्य सूत्रावयवस्य व्याख्या प्राग्वत् । ( 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४५ पृष्ठे कृतः परिहारतपोवक्तव्यतासंग्रहः ) अधस्तनसूत्रे परिहारतपो नोक्तमिह परिहारतपो विभाव्यते इति तत्र येन वक्तव्यक्रमेण परिहारतपो वक्तव्यं भवति तद्वक्तव्यक्रमसंसूचिकां द्वारगाथामाह-

को भंते ! परियाओ, सुत्तत्थाभिग्गहो तवोकम्मं ।
कक्खडमकक्खडे वा, सुद्धतवे मंडवा दोन्नि ॥३५०॥

प्रथमतः परिहारतपोयोग्यतापरिज्ञानाय को भदन्त ! त्वमसीति पृच्छा कर्तव्या, तदनन्तरं परिहारतपोयोग्यस्य पर्यायो वाच्यः, ततः सूत्रार्थौ, तदनन्तरमभिग्रहः, तथा तपःकर्म, तत्र यदि तपसा कर्कशो भवति । किमुक्तं भवति ?-कर्कशे तपसि सदा कृताभ्यासतया न कर्कशेन तपसा परिभूतः ततः परिहारतपस्तस्मै दीयते, इतरस्मिँस्त्व कर्कशं शुद्धं तपः । अत्रार्थे द्वौ मण्डपावेरण्डशिलानिष्पन्नौ दृष्टान्तौ। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं विवक्षुः प्रथमतः पृच्छाद्वारं विवृणोति-

सगणम्मि नऽत्थि पुच्छा,अन्नगणा आगतं तु यं जाणे।
अन्नायं पुण पुच्छे, परिहारतवस्स जोगट्ठा ॥ ३५१ ॥

स्वगणे स्वगणसम्बन्धिनि पृच्छा उक्तस्वरूपा, वक्ष्यमाणा वा नास्ति, स्वगणवास्तव्यतया परिचितत्वात्। अन्यगणादपि, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः । स च भिन्नक्रमत्वादत्र संबध्यते, आगतं यं जानाति गीताऽऽदिरूपमाकारेङ्गिताऽऽदिभिः, तस्मिन्नपि नास्ति पृच्छा, अज्ञातं पुनः परगणादागतं परिहारतपसो योग्यार्थं योग्योऽयं न वेति परिज्ञानार्थं पृच्छेत्।

कथमित्याह-

गीतमगीतो गीतो,अहं ति किं वत्थु कास वऽसि जोग्गो।
अविगीए त्ति व भणिए,थिरमथिर तवे य कयजोगो३५२

स प्रायश्चित्तस्थानप्राप्त आलोचयितुमुपस्थितः पृच्छ्यते-किं त्वं गीतो गीतार्थः ?। मकारोऽलाक्षणिकः । अगीतोऽगी

तार्थः। तत्र यदि ब्रूते-अहं गीतो-गीतार्थः। तत. पुनरपि पृच्छ्यते-त्वं किं वस्त्विति आचार्य उपाध्यायो वृषभाऽऽदिर्वा। तत्राऽन्यतरस्मिन्कथिते भूयः पृच्छ्यते-( कास वऽसि जोग्गो त्ति ) कस्य वा तपसस्त्वमसि योग्यः। किमुक्तं भवति ?-किं तप. कर्तुमुत्सहसे, कस्य वा तपस. समर्थ इति पृच्छनीय इति। अथ स ब्रूते-अहमविगीतो, न विशिष्टो गीतः, अगीतार्थ इत्यर्थः। ततोऽविगीत इति भणिते पुन. पृच्छ्यते-(थिरमथिर त्ति) किं त्वं स्थिरो वा अस्थिरो वा। तत्र स्थिरो नाम-धृतिसंहननाभ्यां बलवान्, तद्विपरीतोऽस्थिर। तत्र यदि ब्रूयादहमस्थिरः, ततः पुनः परिपृच्छा कार्या-( तवे य कयजोगो त्ति ) तपसि कृतयोगो नाम-कर्कशतपोभिरनेकधा भाविताऽऽत्मा, इतरस्तु नेति। तत्र यदि तपसि कृतयोगस्ततस्तस्मै परिहारतपो दीयते, इतरस्मै शुद्धतपः। गतं पृच्छाद्वारम्।

( २ ) अधुना पर्यायद्वारमाह-

**गिहि सामन्ने य तहा, परियाओ दुविह होइ नायव्वो।**
**इगुतीसा वीसा य, जहन्न उक्कोस देसूणा ॥ ३५३ ॥**

पर्यायो भवति द्विधा ज्ञातव्य.। तद्यथा-गृहिणि गृहविषय', जन्मत आरभ्येत्यर्थः। तथा श्रामण्ये श्रामण्यविषय', श्रमणभावप्रतिपत्तेरारभ्य इति भाव। इयमत्र भावना-द्विविधः पर्यायः तद्यथा-जन्मपर्यायो, दीक्षापर्यायश्च। ( इगुतीसा वीसा य जहन्न त्ति ) यथासंख्येन योजना-जन्मपर्यायो जघन्यतो जन्मत एकोनत्रिंशद्वर्षाणि विज्ञेयो, दीक्षापर्यायो विंशतिवर्षाणि। उत्कर्षत उभयत्राऽपि देशोना पूर्वकोटी। उक्तं च-"परियाओ दुविहो-जम्मपरियातो य, दिक्खापरियातो य। जम्मपरियातो-जहन्नेणं इगुणतीसं ठाणं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी दिक्खापरियातो-जघन्नेणं वीसं वासा, उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी त्ति।" ( अत्र बहु वक्तव्यता 'परियाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२८ पृष्ठे गता ) गतं पर्यायद्वारम्।

( ३ ) संप्रति सूत्रार्थमाह-

**नवमस्स तइयवत्थू, जहन्न उक्कोस ऊणगा दसओ।**
**सुत्तत्थाभिग्गह-दव्वाऽऽदि तवोरयणमादी ॥३५४॥**

जघन्यत. सूत्रमर्थश्च यावत् नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारनामकं वस्तु, उत्कर्षतो यावदूनानि किञ्चिन्न्यूनानि दशपूर्वाणि परिपूर्णदशपूर्वधराऽऽदीना परिहारतपोदानायोगात्। तेषा हि वाचनाऽऽदिपञ्चविधस्वाध्यायविधानमेव सर्वोत्तमं कर्म्म निर्जरास्थानम्। गतं सूत्रार्थद्वारम्।

(४) इदानीमभिग्रहद्वारमाह अभिग्रहा द्रव्यादिका.। तद्यथा-द्रव्यत. क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च तत्र द्रव्याभिग्रहा.-अद्य मया कुल्माषा ग्राह्या.। यदि वा-तक्राऽऽदिकमेकं द्रव्यमिति। क्षेत्रतोऽभिग्रहा.-देहलीमाक्रम्येत्यादिका.। कालतोऽभिग्रहा-तृतीयस्या पौरुष्याम् भावतोऽभिग्रहा.-यदि हसन्ती रुदन्ती वा भिक्षा ददातीत्येवमादिका। गतमभिग्रहद्वारम्।

( ५ ) अधुना तपोद्वारमाह-( तपोरयणमादी ) तपो. रत्नाऽऽदिकम्, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नाऽऽवऽऽल्यादिकम्। आदिशब्दात्कनकाऽऽवलिमुक्ताऽऽवलीसिंहविक्रीडिताऽऽदितप.परिग्रह। एवं गीतार्थत्वं यथोक्तं पर्यायसूत्रार्थाभिग्रहकर्कशतप कर्म्मलक्षणगुणसमूहयुक्तस्य परिहारतपो दीयते, एतद्गुणविहीनस्य पुन शुद्धं तपो देयम्।

अत्र शिष्यः पृच्छति-

**एयगुणसंजुयस्स उ, किं कारण दिज्जए उ परिहारो।**
**कम्हा पुण परिहारो, न दिज्जए तव्विहूणस्स? ॥३५५॥**

भगवन्! किं कारणमेतैरनन्तरोदितैर्गीतार्थत्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य परिहारः परिहारतपो दीयते। कस्मात्पुनस्तद्विहीनस्य गीतार्थत्वाऽऽदिगुणविकलस्य परिहारो न दीयते?।

अत्राऽऽचार्यो द्वौ मण्डपौ दृष्टान्तीकरोति-शैलमण्डपमेरण्डमण्डपञ्च। तथा चाऽऽह-

**जं मायति तं छुब्भति, सेलमए मंडवे न एरंडे।**
**उभयबलियम्मि एवं, परिहारो दुब्बले सुद्धो ॥३५६॥**

शैलमये पाषाणमये मण्डपे यत्किमपि माति तत्सर्वं क्षुभ्यते इति क्षिप्यते। तस्य तावत्यपि प्रक्षिप्ते भङ्गासंभवात्। एरण्डे एरण्डमये पुनर्मण्डपे न यन्माति तत्सर्वं क्षिप्यते, भङ्गसंभवात्, किं तु यावत् क्षमते तावत्प्रक्षिप्यते। एवं उभयं धृत्या शरीरसंहननेन च बलिके बलिष्ठे गीतार्थत्वाऽऽदिगुणयुक्ते परिहारः परिहारतपो दीयते। दुर्बले धृत्या, संहननेन वा, उभयेन वा बलविहीने शुद्धतपो दीयते। एते च परिहारशुद्धतपसी तुल्यायामप्यापत्तौ पुरुषविशेषाऽऽश्रयणेन दीयेते।

तथा चाऽऽह-

**अविसिट्ठा आवत्ती, सुद्धतवे तह य चेव परिहारे।**
**वत्थुं पुण आसज्ज, दिज्जइ इयरो व इयरो वा ॥३५७॥**

शुद्धतपसि दातुमिष्टे परिहारे च अविशिष्टा तुल्या आपत्तिस्तथाऽपि वस्तु धृतिसंहननसंपन्नं पुरुषवस्तु आसाद्य अपेक्ष्य इतरत् परिहारतपो दीयते, धृतिसंहननविहीन पुरुषवस्तु आसाद्य इतरत् शुद्धतपो दीयते। किमुक्तं भवति ?-यद्यपि द्वावपि जनौ तुल्यमापत्तिस्थानमापन्नौ, तथाऽपि यो धृतिसंहननसंपन्नस्तस्मै परिहारतपो देयम्, इतरस्मै तुल्यायामप्यापत्तौ शुद्धतपः।

अत्र दृष्टान्तमाह-

**वमण विरेयणमाई, कक्खड किरिया जहाऽऽउरे बलिए।**
**कीरइ न दुब्बलम्मी, अह दिट्ठंतो भवे दुविहे ॥३५८॥**

यद्यपि द्वावपि पुरुषौ सह रोगाभिभूतौ तथापि तयोर्मध्ये य. आतुर शरीरेण बलवान् तस्मिन् बलिके यथा वमनविरेचनाऽऽदिका कर्कशा क्रिया क्रियते न तु दुर्बले तस्मिन यथा संहते तथा अकर्कशा क्रिया क्रियते। ( अह त्ति ) एष दृष्टान्त. तपसि द्विविधे परिहारशुद्धतपोलक्षणे। इदमुक्तं भवति-अयमत्रोपसंहार-बलवत्यातुरे कर्कशक्रियेव धृतिसंहननसंपन्ने परिहारतपो दीयते, बलहीने त्वकर्कशक्रियेव धृतिसंहननविहीने शुद्धतप इति।

(६) संप्रति येभ्यो नियमत शुद्धतप परिहारतपो वा शुद्धतप परिहारतपोयोग्याऽऽपत्तिस्थानाऽऽपत्तौ तपो देय तत्प्रतिपादनार्थमाह-

**सुद्धतवो अज्जाणं, अगियत्थे दुब्बले असंघयणे।**

धितिवलिए य समन्ना-गए य सव्वेसिं परिहारो ॥३५६॥

परिहारतपोयोग्येऽप्यापत्तिस्थाने समापतिते आर्याणा-मार्यिकाणा शुद्धतपो देयम्, आर्यिकाणा धृतिसंहनन-दुर्वलतया पूर्वानधिगमाच्च परिहारायोग्यत्वात्। तथा योऽ-गीतार्थो, यश्च धृत्या दुर्बलो रोगाऽऽदिना अनुपश्चिनदेहो दु र्वलो, यश्चासहनन आदिमानां त्रयाणां संहननानामन्यतमेना-ऽपि संहननेन विकल एतेभ्यो नियमतः शुद्धं तपो दातव्यम्, अगीतार्थत्वाऽऽदिना परिहारायोग्यत्वात्। यः पुनर्धृत्या वलिको वलवान् वज्रकुड्यसमानो, यश्च समन्वागत , आदिमानां त्रयाणां संहननानामन्यतमेन संहननेन गीतार्थत्वाऽऽदिगुणै श्च युक्त ,एतेभ्यः सर्वेभ्यो नियमतः परिहारतपोयोग्याऽऽप-त्तिस्थानप्राप्तौ परिहारतपो देयम्। तत्रायं विधिः-"ठवणि-ज्ज ठवइत्ता।" यत्तेन सह नाऽऽचरणीय तत् स्थानीयमुच्य ते, तत् सकलगच्छसमक्षं स्थापयित्वा ।

कथं स्थापयिन्वेत्यत आह-

विउसग्गो जाणणट्ठा, ठवणा तीए य दोसु ठविएसु ।
अगडे नदी य राया, दिट्ठंतो गीय आमत्थो॥ ३६० ॥

परिहारतपोदानात् प्राक् आदावेव कायोत्सर्गः क्रियते। कथमिति चेत्? उच्यते-गुरु पूर्वदिगभिमुख, उत्तरदिगभिमुखो वा, चरन्तीदिगभिमुखो वा, चैत्यानां वाभिमुख ,एवं परिहारतपस्यपि, नवरं गुरोर्वामपार्श्वे ईषत्पृष्ठतस्तौ द्वावपि भणत -" परिहारतवपज्जावणट्ठा करेमि काउस्सग्गं निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए० जाव वोसिरामि,पणुवीसुस्सासकाल सुभज्झाणसायी चउवीसत्थयं वा चिंतेज्जा, नमोक्कारेण पारेत्ता अणलियं चउवीसत्थयं उच्चरंति।" अत्र शिष्य प्राऽऽह-किमर्थमेष कायोत्सर्गः क्रियते ?,उच्यते-(जाणणट्ठा)साधूनां परिज्ञानार्थम्। अथवा-निरुपसर्गनिमित्तम्। एतच्चानन्तरगाथाया वक्ष्यति। (ठवण त्ति) कल्पस्थितस्य अनुपारिहारिकस्य च स्थापना कर्त्तव्या । ततो (दोसु ठविएसु) कल्पस्थिते अनुपारिहारिके च स्थापिते सति स पारिहारिकः । कदाचिद्भीतो भवेत्-कथमहमालापनादिपरिवर्जित सन्नुग्रं तप करिष्यामीति ? तत एव स भीत सन् आश्वासयितव्य । तत्राऽवट , कूपो, नदी, सरित् राजा च दृष्टान्त । तथाहि-यथा कोऽप्यवटे पतितः सन् भयमगमत्-कथमुत्तरिष्यामि ? तत स तटस्थैराश्वास्यते-मा भैस्त्व, वयं त्वामुत्तारयिष्याम, तथा च रज्जुरियमानीता वर्त्तते इति । एवमाश्वासितो निर्भयः सन् स्ताघां वध्नाति, यदि पुनस्त प्रत्येवमुच्यते-मृत एव वराको न कोऽप्युत्तारयिष्यति, तत स निराशः सन्नङ्गं निस्सहं मुक्त्वा म्रियते, तत स यथा नियमत आश्वासनीयस्तथा पारिहारिकोऽप्याश्वासनीय । यथा वा कोऽपि नद्या अनुश्रोतसो ह्यमानो भयमायासीत् ,तत स तटस्थैराश्वास्यते,आश्वासितश्च सन् स्ताघां प्राप्नोति, अनाश्वासितो निराशो भयेनैव म्रियते । यथा वा कस्यचित् राजा रुष्ट, तत स भीतो नूनमहं मारयिष्ये इति। तत सोऽन्यैराश्वास्यते-मा भैर्वयं राजानं विज्ञपयिष्यामो, न च राजाऽन्यायं करोति । एवं पारिहारिक आश्वासनीय । आश्वासनदानेन च तस्मिन् भीते आ समन्तात् स्वस्थे जाते अधिकृततपस प्रतिपत्ति क्रियते।

(७) संप्रति कायोत्सर्गकरणीय कारणान्तरमाह-

निरुवस्सग्गनिमित्तं,भयजणणट्ठाएँ सेसगाणं च ।
तस्सऽप्पणो य गुरुणो,य साहए होइ पडिवत्ती॥३६१॥

कायोत्सर्गकरणमादौ निरुपसर्गनिमित्तम्-निरुपसर्गं परिहारतप समाप्तिं यायादित्येवमर्थम्। तथा शेषाणां साधूनां भयजननार्थम्-यथाऽमुकमापत्तिस्थानमेव प्राप्त इत्यसौ महाघोरं परिहारतपो दाप्यते, तस्मान्नैतदापत्तिस्थानं सेवनीय, किं तु यत्नतो रक्षणीयमिति । तत कायोत्सर्गस्य करणानन्तरं तस्य परिहारतपः प्रतिपत्तुर्गुरोश्च साधके अनुकूले शुभे तिथिकरणमुहूर्त्ताऽऽदिके शुभे तारावले शुभे चन्द्रवले परिहारतपस प्रतिपत्तिर्भवति ।

अन्यच्च कायोत्सर्गकरणानन्तरम् आदावेव तं परिहारिकमिदं गुरुर्ब्रूते-

कप्पट्ठितो अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीतो ।
पुव्वं कयपरिहारो, तस्सऽसतीयरोऽवि दढदेहो ॥३६२॥

यावत्तव कल्पपरिहारसमाप्तिस्तावदहं तव कल्पस्थितः वन्दनवाचनाऽऽदिषु कल्पभावे स्थितो,न तु परिहार्य। शेषाः पुन साधव परिहार्या । अन्यच्च-एष साधुर्गीतो गीतार्थ । पूर्वं कृतपरिहारत्वेन सकलसामाचारीज्ञाता तवायमनुपरिहारी-यत्र यत्र भिक्षाऽऽदिनिमित्तं परिहारी गच्छति तत्र अनु पश्चात् पृष्ठतो लग्न सन् गच्छतीत्यनुपरिहारी। अथवा-अणुपरिहारीत्यपिशब्दसंस्कार । तत्राऽयमन्वर्थ -परिहारिणोऽणु स्तोकं प्रतिलेखनाऽऽदिषु साहाय्यं करोतीत्यणुपरिहारी, तत्र यदि पूर्वं कृतपरिहारोऽनुपहारी न लभ्यते, ततस्तस्य असति अभावे इतरोऽपि अकृतपरिहारतपा अपि दृढदेहो दृढसंहननो गीतार्थोऽनुपरिहारी स्थाप्यते। एवं कल्पस्थितमनुपरिहारिणं च स्थापयित्वा स्थापना स्थापनीया।

ता च स्थापना स्थापयन्नाचार्य शेषसाधूनिदं वक्ति-

एस तवं पडिवज्जइ, न किंचि आलवति मा य आलवह।
अत्तट्ठचिंतगस्सा, वाघातो भे न कायव्वो॥ ३६३ ॥

आचार्य समस्तमपि सवालवृद्धं गच्छमामन्त्र्य ब्रूते एष 'साधुः' परिहारतप प्रतिपद्यते,तत कल्पस्थितिरेषा,न कञ्चित्साधुमितरं वा आलापयति।"वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"॥३।३।१३१॥ इति (पाणि०) वचनतो भविष्यति वर्तमाना। ततोऽयमर्थ -न कञ्चिदालापयिष्यति, मा च यूयमपि एनमालापयथ आलापयिष्यथ। तथा आत्मन एव केवलस्यार्थे भक्ताऽऽदिलक्षणं चिन्तयति, न वालाऽऽदीनाम्, तथा कल्पसमाचारादित्यात्मार्थचिन्तक। यदि वा-आत्मार्थो नाम अतीचारमलिनस्याऽऽत्मनो यथोक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं विशोधनमित्यर्थ । चिन्तयतीत्यात्मार्थचिन्तकस्तस्य ( भे ) भवद्भिरेतैः पदैर्व्याघातो न कर्तव्य ।

तान्येव पदान्याह-

आलावण पडिपुच्छण-परियट्टाण वंदणग मत्ते।
पडिलेहण संघाडग-भत्तदाण संभुंजणा चेव ॥ ३६४ ॥

एष न कञ्चिदप्यालापयिष्यति युष्माभिरप्येष नालपयितव्य । तथा सूत्रमर्थमन्यद्वा किंचिदेष न युष्मान् प्रक्ष्यति

युष्माभिरप्येष सूत्रार्थाऽऽदौ न प्रष्टव्यः, तथा युष्माभिः सह नैष सूत्रमर्थं वा परिवर्तयिष्यति नाऽपि युष्माभिरनेन सह सूत्राऽऽदि परिवर्तनीयम्। तथैव कालवेलाऽऽदिषु युष्मान्नोत्थापयिष्यति युष्माभिरप्येष नोत्थापयितव्यः। तथा न वन्दनं युष्माकमेष करिष्यति, नापि युष्माभिरेतस्य कर्तव्यम्। तथा उच्चारप्रश्रवणखेलमात्रकाण्येष युष्मभ्यं न दास्यति नापि युष्माभिरेतस्मै दातव्यम्। तथा-न किञ्चिदुपकरणमेष युष्माकं प्रतिलेखयिष्यति नापि युष्माभिरुपकरणमेतस्य प्रतिलेखनीयम्। तथा नैष युष्माकं संघाटकभावं यास्यति न च युष्माभिरेतस्य संघाटकैर्भवितव्यम्। तथा न युष्मभ्यमेष भक्तं पानं वा आनीय दास्यति न च युष्माभिरेतस्याऽऽनीय दातव्यम्। तथा नायं युष्माभिः सह भोक्ष्यते नापि युष्माभिरेतेन सह भोक्तव्यम्, तथा कल्पसमाचारात्। तस्मात् आलापने प्रतिप्रच्छने परिवर्तने उत्थापने वन्दनदापने मात्रे उच्चारप्रश्रवणखेलमात्रकानयने प्रतिलेखने संघाटके संघाटककरणे भक्तदाने संभोजने च सहभोजनविषये व्याघातो न कर्तव्य इति संबन्धः,आलापनाऽऽदिभिर्व्याघातो न कार्य इत्यर्थः। एवमेतैर्दशभिः पदैर्गच्छेन स परिहृतः सोऽपि गच्छमेतैः पदैः परिहरति।

(७) यदि पुनर्गच्छवासी एतानि पदान्यतिचरति तत इदं प्रायश्चित्तम्।

संघाडगो उ जाव य, लहुओ मासो दसरह उ पयाणं।
लहुगा य भत्तपाणे, भुंजाणे होंतऽणुग्घाया ॥ ३६५ ॥

दशानां पदाना मध्ये आलापनपदादारभ्य यावदष्टमं पद संघाटकरूप तावदेकैकस्मिन् पदेऽतिचर्यमाणे लघुको मासः प्रायश्चित्तम्। यदि पुनर्भक्तं पानं च गच्छवासिनः प्रयच्छन्ति ततो भक्तदाने भक्तपानदानविषये लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम्। संभोजने सहभोजने भवन्त्यनुद्धाताः, चत्वारो गुरुमासा इत्यर्थः।

साम्प्रतमेतेष्वेव पदेषु परिहारिणः प्रायश्चित्तमाह-

संघाडगो उ जाव य, गुरुगो मासो दसरह उ पयाणं।
भत्तप्पयाणे संभुं-जणे य परिहारिगे गुरुगा ॥३६६॥

दशानां पदानामालापनपदादारभ्य यावत्संघाटकः संघाटकपद तावदेतेषु पदेष्वतिचर्यमाणेषु प्रत्येकं पारिहारिके गुरुको मासः, यदि पुनर्गच्छवासिभ्यो भक्तप्रदानं करोति, तैः सह भुङ्क्ते वा तदा प्रत्येकं भक्तदाने संभोजने च प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः।

यः पुनः कल्पस्थितः स इदं करोति-

कितिकम्मं च पडिच्छइ, परिण्ण पडिपुच्छयं पि से देइ।
सो वि य गुरुमुवइट्ठइ, उदंतमवि पुच्छितो कहए ॥३६७॥

कृतिकर्म वन्दनकं तत् यदि पारिहारिको ददाति तदा गुरुः प्रतीच्छति। उपलक्षणमेतत्—आलोचनमपि प्रतीच्छति। ( परिण्ण त्ति ) प्रत्युषसि अपराह्णे च परिज्ञां प्रत्याख्यानं तस्मै ददाति। तथा सूत्रे अर्थे वा यदि पृच्छति ततः प्रतिपृच्छां च ददाति। सोऽपि च पारिहारिको गुरुमाचार्यमागच्छन्तमभ्युत्थानाऽऽदिना विनयेनोपतिष्ठते। उदन्तः शरीरस्य वार्त्तमानिकी वार्ता,तामपि गुरुणा पृष्टः सन् कथयति।

एवं स्थापनायां स्थापितायां भीतस्य च पूर्वोक्तप्रकारेणाऽऽश्वासनायां च कृतायां स पारिहारिकः तपो वोढुं प्रवर्त्तते, तपो वहंश्च क्रमं गतो वीर्याऽऽचारमनिगूहयन् यदन्यतरां क्रियां कर्त्तुमसमर्थो भवति तदा तु पारिहारिकः करोति।

तथा चाऽऽह-

उट्ठिज्ज निसीएज्जा, भिक्खं हिंडिज्ज भंडयं पेहे।
कुवियपियबंधवस्स व,करेइ इयरो वि तुसिणीओ ॥३६८॥

यद्युत्थातुं न शक्नोति ततो ब्रूते-उत्तिष्ठामि तदनन्तरमनुपारिहारिकः समागत्योत्थापयेत्। तथा यदि निषीदनं कर्तुमसमर्थस्तदा निषीदामीति वचनानन्तरं सत्वरमागत्य निषीदयेत्। यच्च भिक्षां गतः सन् कर्तुं न शक्नोति तदपि भिक्षाग्रहणाऽऽदिकं करोति। अथ ब्रूते-भिक्षामेव हिण्डितुमसमर्थः तदा भिक्षामनुपारिहारिकः केवलो हिण्डेत। एवं भण्डकप्रत्युपेक्षणेऽपि साहाय्यं करोति, समस्तं वा भण्डकं प्रत्युपेक्षते। कथमेतत् सर्वं करोतीत्यत आह-( कुवियेत्यादि ) यथा कोऽपि कुपितप्रियबान्धवस्य यत्करणीयं तत्सर्वं तूष्णीक करोति। एवमितरोऽप्यनुपारिहारिकस्तस्य पारिहारिकस्य तूष्णीकः सन् सर्वं करोति।

अत्र पर आह-

अवसो व रायदंडो, न एव एवं तु होइ पच्छित्तं।
सकरसरिसवसगडे-मंडववत्थेण दिट्ठंतो ॥३६९॥

'अवसो' इत्यत्र प्रथमा तृतीयाऽर्थे, आर्षत्वात्। ततोऽयमर्थः—यथा राजदण्डोऽवश्यमवशेनापि वोढव्यः, किमेवमध्यवसानं कृत्वा प्रायश्चित्तं वोढव्यम्,उतान्यदालम्बनं कृत्वा?। सूरिराह-नवरं राजदण्डन्यायेन वोढव्यं, किं तु चरणविशुद्धिनिमित्तमेतत् प्रायश्चित्तमित्येवमध्यवसायेन भवति प्रायश्चित्तं वोढव्यम्। अथवा यथा राजदण्डोऽवश्यमवशेनाप्युह्यते यदि पुनर्नेति नोह्यते ततः शरीरविनाशो भवति। एवशब्द एवंशब्दात्परतो द्रष्टव्यः। एवमेव राजदण्डन्यायेनैव प्रायश्चित्तमप्यवश्य भवति वोढव्यम्, तद्वहनाभावे चारित्रशरीरविनाशाऽऽपत्तेः। पुनरप्याह-प्रभूतं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नमुह्यतां किं स्तोकमापन्नमुह्यते, न खलु किमपि तावता प्रायश्चित्तस्थानेनाऽऽपन्नेन भवति?। अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह-"सं-करेत्यादि पश्चार्द्धम्।" सर्करस्तृणाऽऽद्यवस्करः, तेन,तथा सर्षपाः प्रतीता ,सर्षपग्रहण पाषाणोपलक्षणम्। ततोऽयमर्थ –शकटे पाषाणेन, मण्डपे सर्षपेण, वस्त्रेण चात्र दृष्टान्तः। तथाहि-यथा सारण्या क्षेत्रे पाय्यमाने सारणीस्रोतसि तृणशूकमेकं तिर्यग्लग्नं, तैर्नाऽपनीतं, तन्निश्रया अन्यान्यपि तृणशूकानि लग्नानि, तन्निःश्रया प्रभूतः पङ्को लग्नः। तत एवं तस्मिन् स्रोतसि रुद्धे क्षेत्रं समस्तमपि शुष्कम्। एवं स्तोकेनाऽऽपन्नेन पङ्केनाशोध्यमानेन चरणकुल्यानिरोधश्चरणक्षेत्रविनाशो भवति, तत एवं ज्ञात्वा स्तोकमपि प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं वोढव्यमिति। शकटदृष्टान्तो यथा-एकः पाषाणः शकटे प्रक्षिप्तः स नापनीतः अन्यः प्रक्षिप्तः, सोऽपि नापनीतः, एवं प्रक्षिप्यमाणेषु भविष्यति स कोऽपि गरीयान् पाषाणो यस्मिन् प्रक्षिप्ते तच्छकटं भङ्क्ष्यति। एवं स्तोकेन स्तोकेन समापन्नेन प्रायश्चित्तस्थानेन शोध्यमाने चरणक्रमेण चारित्रशकटं भज्यते। अथवाऽन्यथा शकटदृष्टान्तभावना-शकटे एकं दारु भग्नं तन्न संस्थापितमेवमन्यदन्यत् भग्नं न स्थापित-

मिति सर्वं भग्नम् । एवं चारित्रशकटेऽप्युपसंहारो भावनीयः । तथा एरण्डमण्डपे एकः सर्षपः प्रक्षिप्तः,स नापनीतः,अन्यः प्रक्षिप्तः, सोऽपि नापनीतः । एवं प्रक्षिप्यमाणेषु सर्षपेषु भविष्यति सर्षपो येन प्रक्षिप्तेन सोऽल्पीयानेरण्डमण्डपो भज्यते । एवं स्तोकेन स्तोकेनाऽऽपन्नेनाशोध्यमानेन कालक्रमेण चारित्रमण्डपो भज्यते । वस्त्रदृष्टान्तभावना यथा-शुद्धे वस्त्रे कर्दमबिन्दुः पतितः स न प्रक्षालितः, अन्यः पतितः, सोऽपि न प्रक्षालितः । एवं पतत्सु कर्दमबिन्दुषु अप्रक्षाल्यमानेषु कालक्रमेण सर्वं तद्वस्त्रं कर्दमवर्णं संजातम्, एवं शुद्धचारित्रे स्तोकायां स्तोकायामापतितायामापत्तौ प्रायश्चित्तेनाशोध्यमानायां कालक्रमेणाचारित्रं सर्वथा भवति ।

एवं दृष्टान्तैः प्रायश्चित्तस्य दाने करणे च प्रसाधिते पर आह-

अनुकंपिया य चत्ता, अहवा सोही न विज्जए तेसिं ।
कप्पट्ठगभंडीए, दिट्ठंतो धम्मया सुद्धो ॥ ३७० ॥

तुल्यायामप्यापत्तौ यस्य शुद्धतपः प्रयच्छत स युष्माभिरनुकम्पितः,तद्विषये च भवतामवश्यं रागोऽन्यथेत्थमनुकम्पाकरणानुपपत्तेः । यस्य पुनः परिहारं प्रयच्छत स परित्यक्तः कर्कशतपोदानेन तथा वसति तस्मिन् व्यक्तः प्रद्वेषः । अथवा-परलोकमपेक्ष्य परिहारतपश्चानुकम्पितः, परिहारतपोदानेन तच्चरणशुद्धिकरणात् शुद्धतपस्वी च परित्यक्तः, शुद्धतपसा तच्चारित्रस्य शुद्ध्यभावात् । एवं विवक्षातो द्वावप्यनुकम्पितौ यदि त्यक्ताविति । (अहवा सोहीत्यादि) अथवा तयोः शोधिः सर्वथा न विद्यते तथाहि-यदि परिहारतपसा शुद्धिस्ततः शुद्धतपस्विनो न शुद्धिः तस्य परिहारतपोऽभावात् । अथ शुद्धतपसा शुद्धिस्तर्हि पारिहारिकस्य यत् परिहारतपसः कर्कशस्य करणं तत् सर्वं निरर्थकं, शुद्धतपसा शुद्ध्यभ्युपगतौ तेन शुद्ध्यभावात् । अत्राऽऽचार्य आह-(कप्पट्ठगेत्यादि) कल्पस्थका बालाः, तेषां भण्डी गन्त्री तया दृष्टान्तः । कल्पस्थकग्रहणं महदुपलक्षणं, तेन महद्गन्त्र्या दृष्टान्त इत्यपि द्रष्टव्यम् । इयमत्र भावना-अत्र बालकगन्त्र्या बृहत्पुरुषगन्त्र्या च दृष्टान्तः । तथाहि-डिम्भा आत्मीयया गन्त्र्या क्रीडन्ति स्वकार्यनिष्पत्तिं च साधयन्ति । न पुनः शक्नुवन्ति बृहत्पुरुषगन्त्र्या कार्यं कर्तुम् तथा बृहत्पुरुषा अपि आत्मीयया बृहद्गन्त्र्या कार्यं कुर्वन्ति न डिम्भकगन्त्र्या । अथ डिम्भकगन्त्र्या कुर्वन्ति ततो भूयान् पलिमन्थदोषो, न चाऽभिलषितस्य कार्यस्य परिपूर्णा सिद्धिः । अथ बृहद्गन्त्र्या भारस्तस्यामारोप्यते तर्हि सा भज्यते, मूलत एव कार्यं न सिद्ध्यति । एवं शुद्धतपस्विना शुद्धतपसा शुद्धिर्भवति, परिहारतस्विना परिहारतपसा, यदि पुनः शुद्धतपस्विना परिहारतप आरोप्यते ततस्तत्र तेषां शक्त्यभावात् मूलत एव भ्रंशः । अथ च परिहारतपस्विना शुद्धतपस आरोपस्तर्हि चरणशुद्ध्यभावः,तावता तेषां चरणशुद्ध्ययोगात् । अथ कथं शुद्धतपस्वी, परिहारतपस्वी च स्वस्वतपसा शुद्ध्यति, नान्येन, तत आह-( धम्मया सुद्धो ) इह शुद्धतपस्वी परिहारतपस्वी वा शुद्धो भवति 'धम्मया' स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् धर्मेण स्वशक्तिलक्षणेन स्वभावेन, तत एवमेव शुद्धिर्नान्यथा ।

एतदेव स्पष्टतरं भावयति-

जो जं काउ समत्थो, सो तेण विसुज्झए असढभावो ।
गूहियबलो न सुज्झइ, धम्म सहावो त्ति एगट्ठं ॥ ३७१ ॥

यः साधुर्यत् शुद्धतपः परिहारतपो वा कर्तुं समर्थः स साधुरशठभावः स्वकीयं प्रति मायामकुर्वाणः स्वधर्मव्यवस्थितत्वात्तेन तपसा शुद्ध्यति । यः पुनर्गूहितबलः स्ववीर्यं निगूहति स न शुद्ध्यति । स्वधर्मगूहनात् धर्मः स्वभाव इति द्वयमप्येकार्थम् । एतेन "धम्मया सुद्धो" इति धर्मशब्दस्य पर्यायेण व्याख्या कृता पादत्रयेण त्वादिमेन तत्त्वत इति ।

( ८ ) अथ शुद्धतपःपरिहारतपसोः कतरत् कर्कशं तपः ? ।

सूरिराह-

आलवणाऽऽदी उ पया, सुद्धतवे अत्थि कक्खडो न भवे ।
इयरम्मि उ ते नऽत्थी, कक्खडओ तेण सो होइ ॥३७२॥

यस्मात् शुद्धतपसि दशाप्यालपनाऽऽदीनि सन्ति, तेन कारणेन तत्तपः कर्कशं न भवति, इतरस्मिंस्तु परिहारतपसि यस्मात्तान्यालापनाऽऽदीनि पदानि न सन्ति, तेषां पूर्वमेव सकलगच्छसमक्षं स्थापितत्वात् । तेन तद्भवति कर्कशमिति । यः पुनस्तपःकालो, यच्च तपःकरणं तत् द्वयोरपि तुल्यम् ।

तम्हा उ कप्पट्ठिय अणु-परिहारिं च तो ठवेऊण ।
कज्जं वेयावच्चं, किच्चं त विज्जवच्चं तु ॥ ३७३ ॥

यस्मादेवं परिहारतपः स्थितिः तस्मात्कल्पस्थितम् अनुपारिहारिकं च स्थापयेत्, स्थापयित्वा च तौ ततस्तदनन्तरं स्वमापन्नं परिहारतपो वोढव्यं, तच्चाऽऽपन्नं परिहारतपः प्रपन्नस्य ताभ्यां कल्पस्थितानुपरिहारिकाभ्यां स्थापिताभ्याम्-" करणिज्ज वेयावच्चं " इति सूत्रपदम्, एतदेवानुवदति कार्यं वैयावृत्यम् । एतदेव व्याचष्टे-कृत्यं करणीयं तत् सेवितं ताभ्यां वैयावृत्यम् ।

किं तद् वैयावृत्यं यत्ताभ्यां कर्त्तव्यमित्यत आह-

वेयावच्चे तिविहे, अप्पाणम्मि य परे तदुभए य ।
अणुसट्ठि उवालंभे, उवग्गहे चेव तिविहम्मि ॥ ३७४ ॥

वैयावृत्यं त्रिविधम् । तद्यथा अनुशिष्टिरुपालम्भोऽनुग्रहश्च । त्रिविधेऽपि तस्मिन् वैयावृत्ये प्रत्येकं त्रयो भेदाः । तद्यथा-अनुशिष्टिरात्मनि आत्मविषया, परस्मिन्परविषया तदुभयस्मिन् तदुभयविषया, आत्मपरतदुभयविषया इत्यर्थः । एवमुपालम्भोपग्रहावपि प्रत्येकमात्मपरतदुभयविषयौ भावयितव्यौ । तत्र उपदेशप्रदानमनुशिष्टिः स्तुतिकरणं वा अनुशिष्टिः, तत्र यत् आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः । यत्पुनः परस्य परेण वाऽनुशासनं सा परानुशिष्टिः । तत्रोदाहरणम्-चम्पाया नगर्यां सुभद्रा, सा हि सर्वैरपि नागरिकजनैरनुशिष्टा,यथा धन्याऽसि त्वं,कृतपुण्याऽसि त्वमिति । यत्पुनरात्मानं परं वाऽनुशास्ति सा उभयानुशिष्टिः । तथा-अनाचारे कृते सति यत्सा तु तथोपदेशदानमेव उपालम्भः । सोऽपि त्रिविधः, तद्यथा-आत्मनि परे, तदुभये च । तत्र यदात्मानमात्मनैवोपालम्भते, यच्च त्वयैवेदं कृतं, तस्मात्सम्यक् सहस्वेति स आत्मोपालम्भः । परेणाऽऽचार्याऽऽदिना यदुपालम्भनं स परोपालम्भः । तत्रोदाहरणम्-मृगावती देवी, सा हि आर्यचन्दनया अकालचारिणीति कृत्वा उपालब्धा । उभयोपालम्भनो नाम-यत् प्रथमत आ-

त्मानमात्मनोपालभते,पश्चादाचार्याऽऽदिना परेणोपालभ्यते। यदि वा-गुरुणा उपालभ्यमानस्तत् गुरुवचन सम्यक् प्रतिपद्यमानः प्रत्युचरति , एष उभयोपालम्भः । तथा उपग्रहणमुपग्रहः, उपष्टम्भकरणमित्यर्थ. । सोऽपि त्रिविधः।तद्यथा-आत्मोपग्रह',परोपग्रहः,उभयोपग्रहश्च । तत्र यदात्मन उपष्टम्भकरणं स आत्मोपग्रहः, यत्पुन परमुपगृह्णाति स परोपग्रहः, आत्मन' परस्य चोपष्टम्भकरणमुभयोपग्रहः । उपग्रहश्च स्वरूपतो द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। अत्र चतुर्भङ्गिका-द्रव्यतो नामैक उपग्रहो, न भावतः १। भावत एको, न द्रव्यत २। एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३। एको नाऽपि द्रव्यतो नापि भावत । अत्र चतुर्थो भङ्ग शून्य.। तृतीयभङ्गे उदाहरणमाचार्य.।

तथा च उक्तानेव दृष्टान्तानुपदर्शयति-

अणुसट्ठीएँ सुभद्दा, उवालंभम्मि य मिगावती देवी ।
आयरिओ दोसुव-ग्गहे य सव्वत्थ वाऽऽयरिओ ।३७४।

अनुशिष्टौ परानुशिष्टावुदाहरणं सुभद्रा, उपालम्भे परोपालम्भे उदाहरणे मृगावती देवी । एते च द्वे अप्युदाहरणे प्रागेव भाविते, परस्य द्रव्यभावयोर्विषये उपग्रहे उदाहरणमाचार्यः। स हि द्रव्यमन्नपानाऽऽदिकं दापयति, भावतः प्रतिपृच्छाऽऽदिकं करोति। ( अथवा दोसु उवग्गहे य त्ति ) द्वयोः पारिहारिकानुपारिहारिकयोरुपग्रहे आचार्यो वर्तते। तस्मात्परोपग्रहे आचार्य उदाहरणम्। अथवा सर्वत्र अनुशिष्टौ उपालम्भे उपग्रहे च उदाहरणमाचार्य.। यतः सपरिहारिकस्यानुपारिहारिकस्य समस्तस्याऽपि च गच्छस्यानुशिष्ट्यादीनि करोतीति। व्य० १ उ०। ( सर्वोऽप्यनुशिष्टिविषय. 'अणुसट्ठी' शब्दे प्रथमभागे ४२० पृष्ठे गतः )

संप्रत्यात्मोपालम्भोल्लेख दर्शयति-

तुमए चेव कयमिणं, न सुद्धगारिस्स दिज्जए दंडो ।
इह मुक्को वि न मुच्चइ, परत्थ अह होउपालंभो ॥३७७॥

त्वयैव स्वयं कृतमिदं प्रायश्चित्तस्थानं. तस्माच्च कस्याप्युपर्यन्यथाभाव' कल्पनीयः, न खलु शुद्धकारिणो लोकेऽपि दण्डो दीयते। किं च-यदि इह भवे कथमप्याचार्येणैवमेव मुच्यते। तथा इह भवे मुक्तोऽपि परत्र परलोके न मुच्यते । तस्मात्प्रमादाऽऽपन्नं प्रायश्चित्तमवश्यं गुणवृद्ध्या कर्तव्यमिति। अथ एष भवत्युपलम्भः। एष आत्मोपलम्भः, एतदनुसारेण परोपालम्भ , उभयोपालम्भोऽपि भावनीयः।

संप्रति परोपग्रहे यदुक्तम्-" आयरिओ दोसुवग्गहे य " इति। तत् व्याख्यानयति-

दव्वेण य भावेण य, उवग्गहो दव्वे अन्नपाणाई ।
भावे पडिपुच्छाई, करेति जं वा गिलाणस्स ॥ ३७८ ॥

उपग्रहो द्विविध'-द्रव्येण, भावेन च । तत्र " दव्वे " इति तृतीयार्थे सप्तमी, द्रव्येणोपग्रह , कल्पस्थितोऽनुपारिहारिको वा असमर्थस्य सतोऽन्नपानाऽऽद्यानेतुं ददाति । भावे भावेनोपग्रहो यत् सूत्रेऽर्थे वा प्रतिपृच्छाऽऽदि करोति। अथवा यत् ग्लानस्य क्रियते समाधानोत्पादनमेव भावोपग्रह ।

अधुना " दोसुवग्गहे य " इत्यस्य व्याख्यानान्तरमाह-

परिहाराणुपरिहारी, दुविहेण उवग्गहेण आयरिओ ।
उवगेण्हइ सव्वं वा, सबालवुड्ढाऽऽउलं गच्छं ॥ ३७९ ॥

परिहारिकमनुपरिहारिकं च एतौ द्वावपि द्विविधेन द्रव्यरूपेण भावरूपेण चोपग्रहेणाऽऽचार्य उपगृह्णाति, तत आत्मोपग्रहे आचार्य उदाहरणम्। "सव्वत्थ वाऽऽयरिओ" इत्यस्य व्याख्यानमाह-( सव्वं वा इत्यादि) वाशब्द पूर्वार्धोक्तपक्षापेक्षया पक्षान्तरसूचने, सर्वं पारिहारिकमनुपारिहारिकं सबालवृद्धाऽऽकुलं च गच्छमाचार्यो द्रव्यतो भावतश्चोपगृह्णाति, ततः सर्वत्र समस्तेऽपि गच्छे आचार्य उपग्रहे वर्तते, तस्मात्परोपग्रहे स उदाहरणम्।

अत्रैव व्याख्यानान्तरमाह-

अहवाऽणुसट्ठुवाल-भुवग्गहे कुणति तिन्नि वि गुरू से ।
सव्वस्स वि गच्छस्स, अणुसट्ठाईणि सो कुणति ॥३८०॥

अथवेति प्रकारान्तरे, अनुशिष्ट्युपालम्भोपग्रहान् त्रीनपि गुरुराचार्य. ( से ) तस्य पारिहारिकस्य यथायोगं करोति. न केवलं पारिहारिकस्य यथायोगं करोति किं तु सर्वस्याऽपि गच्छस्य अनुशिष्ट्यादीनि त्रीण्यपि स आचार्य. करोति। व्य० १ उ०। नि० चू० । ( वहव पारिहारिका इच्छन्ति अभिनिपद्या गन्तुमिति तद्वक्तव्यता 'अभिणिसज्जा' शब्दे प्रथमभागे ७१५ पृष्ठे दर्शिता )

(८) परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोरन्यत्राऽऽचार्याणां वैयावृत्याय गमनम्-

परिहारकप्पट्ठिते भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,थेरा य से सरेज्जा,कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए, जं णं जं णं दिसिं अन्ने साहम्मिया विहरंति तं णं त णं देसं उवलातुं णो से कप्पइ, तत्थ विहारवत्तियं वत्थए,कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा,एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा परं वत्थए, जं तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा पर वसइ,से संतराए छेदे वा परिहारे वा ॥२३॥ परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराण वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से णो सरेज्जा, कप्पइ से णिव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसिं०जाव तत्थ एगराओ वा दुराओ वा परं वसति, से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ २४ ॥ परिहारकप्पट्ठिते भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,थेरा य से सरेज्जा वा, णो सरेज्जा वा, कप्पइ से णिव्विसमाणस्स एगराइयाए० जाव छेदे वा परिहारे वा ॥ २५ ॥

परिहारस्य कल्प समाचारी परिहारकल्पस्तत्र स्थितः परिहारकल्पस्थित.,प्रायश्चित्ततप प्रकारे व्यवस्थित इत्यर्थ। भिक्षुर्व्रती, वहिरन्यत्र नगराऽऽदौ स्थविराणामाचार्याऽऽदीना, वैयावृत्याय वैयावृत्यकरणाय गच्छेत्। स्थविराश्च येषां समीपे तिष्ठन्ति ते स्मरेयुर्यथैव परिहारकल्पस्थितो वर्तते, स्मरद्भि स्थविरै. स वक्तव्यो-यावत्प्रत्यागच्छसि तावद्नि-

क्षिप परिहारतपः। तत्र यदि सामर्थ्यमस्ति,ततः परिहारतपः प्रपन्नो गच्छति अथ नास्ति, ततो निक्षिपति निक्षिप्य च (से) तस्य कल्पते एकरात्रिक्या प्रतिमया. अत्र प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहवाची, एकरात्रिकेणाभिग्रहेण । किमुक्तं भवति ?-यत्रापान्तराले वसामि तत्र गोकुलाऽऽदौ प्रचुरगोरसाऽऽदिलाभे ऽपि प्रतिबन्धमकुर्वता कारणमन्तरेण मयैकरात्रमेव वस्तव्यं नाधिकमित्येवंरूपेणाभिग्रहेण ( जं णं जं णं दिसमित्यादि ) अत्र द्वितीया सप्तम्यर्थे, यस्यां यस्यां दिशि, णंशब्दो वाक्यालङ्कारे । अन्ये साधर्म्मिकाः-( लिङ्गसाधर्मिकाः ) प्रवचनसाधर्म्मिका वा संविग्नसांभोगिकाऽऽदयो वक्ष्यमाणास्तिष्ठन्ति । (तं णं तं णं दिसमिति) ता तां दिशं, णंशब्दो प्राग्वत्। उपलातुं ग्रहीतुम्, आश्रयितुमित्यर्थः । 'ला आदाने' इति वचनात्। (नो से कप्पइ इत्यादि) (नो) नैव ( से ) तस्य परिहारकल्पस्थितस्य, निक्षिप्तपरिहारतपसो वा कल्पते, तत्रेति गच्छन् यत्र वसति भिक्षा वा करोति, तत्र सुन्दर आहारः, सुन्दर उपधिः, सुन्दरा शय्येति समीचीनो विहार इति विहारप्रत्ययं वस्तुम् (कप्पइ से इत्यादि) कल्पते ( से ) तस्यानन्तरोदितस्य यत्र भिक्षा कृतवान् उषितवान् वा, तत्र कारणप्रत्ययं वक्ष्यमाणसूत्रार्थप्रतिपृच्छादानाऽऽदिकरणनिमित्तं वस्तुम्,( तंसि च णमित्यादि )। येन कारणेनोषितस्तस्मिन् कारणे निष्ठिते परिसमाप्ते यदि ब्रूयात्-अहो आर्य ! वस एकरात्रं द्विरात्रं वा तत एवं तदुपरोधतः (से) तस्य कल्पते एकरात्रं,द्विरात्रं वा वस्तुं, न पुनः (से) तस्य कल्पते एक रात्रात् द्विरात्राद् नापरं वस्तुं, यत्पुनस्तत्रैकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वसति निष्कारणवसनरूपात् वा ( से ) तस्य प्रायश्चित्तं छेदो वा परिहारो वा परिहारतपो वेति । एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ २३ ॥ ( परिहारकप्पट्ठिए ) एतदपि सूत्रत्रयं तथैव नवरमेतावान् विशेषः-( थेरा य से सरिज्जा वा नो सरिज्जा वा नो कप्पइ से निविसमाणस्स त्ति ) अस्याऽयमर्थः-स्थविराः ( से ) तस्य परिहारकल्पं स्मरेयुः । यदि वा-व्याक्षेपात्र स्मरेयुः, वाशब्दादुभावपि न स्मरेयाताम्, तथाऽपि यदि निविशमानको गच्छति ततः ( से ) तस्य निविशमानकस्य एकरात्रिक्या प्रतिमया एकरात्रिकेण वा साभिग्रहेण कुत्रचिदपि प्रतिबन्धमन्तरेण गच्छत इत्यादि । तथा चाऽऽह-इह त्रीणि सूत्राणि, तद्यथा-प्रथमं स्मरणसूत्रं, द्वितीयमस्मरणसूत्रम्, तृतीयं मिश्रकसूत्रम् स्मरणास्मरणसूत्रमित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

साम्प्रतमेतदेव सूत्रं विवरीषु प्रथमतो भिक्षुशब्दविषये चालनाप्रत्यवस्थाने आह-

परिहारियगहणेणं, भिक्खुगहणं तु होइ किं पगयं ।
किंच गिहीण वि भाषित्ति,गणिआयरियाण पडिसेहो ? ।६७।

अथवा-पारिहारिकग्रहणेन परिहारकल्पस्थितग्रहणेन भिक्षुग्रहणं किं न भवतीति भावः, पारिहारिकस्य भिक्षुत्वाव्यभिचारात् न खलु पारिहारिकत्वं गृहस्थस्याऽपि भवति । एतदेव काका आह-(किं च गिहीणं वि त्ति) किं वा गृहिणामपि गृहस्थानामपि भवति पारिहारिकत्वं, येन तद्व्यवच्छेदकरणो भिक्षुग्रहणं सफलतामश्नुवीत ?, नैव भवतीति भावः । ततो निरर्थकं भिक्षुग्रहणम्। अत्राऽऽह-भण्यते उत्तरं दीयते-गणधराचार्ययोर्गणी गच्छाधिपतिराचार्यस्तयोः, उपलक्षणमेतत्-उपाध्यायस्य च प्रतिषेधो भिक्षुग्रहणेन, आचार्योपाध्यायप्रतिषेधार्थं भिक्षुग्रहणमिति भावः ।

पुनरप्यत्राऽऽक्षेपपरिहारावाह-

वेयावच्चुज्जमणे, गणिआयरियाण किन्नु पडिसेहो ।
भिक्खुपरिहारिओ वि हु, करेइ किमु आयरियमादी ? ॥६८॥

वैयावृत्त्योद्यमने वैयावृत्त्यविषयोद्यतकरणे,किं तु खलु गणधराचार्ययोर्गच्छाधिपत्यनुयोगाऽऽचार्योपाध्यायानां प्रतिषेध,नैवाऽसौ युक्त इति भावः । यतो भिक्षुरपि, अपिशब्दो भिन्नक्रमत्वादत्रोपात्तोऽप्यन्यत्र संबध्यते । पारिहारिकः करोति । संघवैयावृत्त्यं किमुताऽऽचार्याऽऽदि न करोति, सुतरां तेन कर्त्तव्यम्, गुणोत्तमतया विशेषतस्तस्य तत्करणाधिकारत्वात्।

अत्र सूरिराह-

जम्हा आयरियाऽऽदी, निक्खिविउं करेइ परिहारं ।
तम्हा आयरियाऽऽदी,वि भिक्खुणो होंति नियमेण ॥६९॥

यस्मादाचार्याऽऽदिकः परिहारं पारिहारतपः करोति आचार्याऽऽदिपदं निक्षिप्य मुक्त्वा, तस्मादाचार्याऽऽदयोऽपि भवन्ति नियमेन भिक्षव इति । भिक्षुग्रहणेन तेऽपि तदवस्थोपगता गृहीता इति ।

( ६ ) अथ स्थविराणां वैयावृत्त्याय गच्छतीत्युक्तं, तत्र किं वैयावृत्त्यं, येन हेतुभूतेन स गच्छति ? । तत आह-

परिहारिओ उ गच्छे, सुत्तत्थविसारओ सलद्धीओ ।
अन्नेसि गच्छाणं, इमाई कज्जाई जायाइं ॥७०॥

यस्मात्स पारिहारिकः सूत्रार्थविशारदः सम्यक् सूत्रार्थतदुभयकुशलः । तथा सलब्धिकोऽनेकलब्धिसंपन्नः । ततः सूत्रार्थप्रतिपृच्छाप्रदाननिमित्तम्, तथाऽन्येषां गच्छाऽऽदीनां ष ष्ठी सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात् अन्येषु गच्छेषु, इमानि वक्ष्यमाणानि, कार्याणि जातानि, ततः साधनार्थं च गच्छेत् ।

इदं तु महत्प्रवचनस्य वैयावृत्त्यं यत् सूत्रार्थप्रदानादि करोति। अथ कान्यन्येषु जातानि कार्याणि,यदर्थं स व्रजेत्? अत आह-

अकिरिय जीए पिट्टण-संजम बंधे य भत्तमल्लभंते ।
भत्तपरिण्ण गिलाणे, संजमऽतीए य वादी य ॥ ७१ ॥

अक्रियावादी नास्तिको वादी स राजसमक्षं वादं याचते। ( जीए त्ति ) जीविते वा साधूनां प्राणेषु वा राजा केनापि कारणेन प्रद्विष्टः ( पिट्टण त्ति ) पिट्टयति वा लकुटाऽऽदिभिः साधून् ( संयम त्ति ) संयमाद्वा च्यावयति, उत्प्रव्राजयतीति भावः । ( बंध त्ति ) बध्नाति वा साधून्, बन्धे च कृते साधवो राज्ञः सकाशाद्भक्तपानं लभन्ते वा, न वा। किमुक्तं भवति ?-बन्धयित्वा स्वयं ददाति वा, धारयति वा यदेते भ्यो हिण्डमानेभ्यः कोऽपि मा भिक्षां दद्यादिति । ( भत्ते त्ति ) दुर्भिक्षे वा समापतिते भक्तमतीव दुर्लभं जातमिति गत्वा स संपादयति । ( भत्तपरिण्ण त्ति ) भक्तप्रत्याख्यानं वा केनाऽपि साधुना कृतं, स च पारिहारिकः शोभनो निर्यामकः ( गिलाण त्ति ) ग्लानो वा कोऽप्याचार्याऽऽदिकः प्रवचनाऽऽधारभूतो जातः स च पारिहारिकः सम्यक् वैद्यक्रियाकुशलः । ( संजमतीते त्ति ) संजमातीता उत्प्रव्रजिताः ते राज्ञा कृता , कृत्वा च धृता वर्त्तन्ते इति तन्मोचनार्थं गच्छति (वादि त्ति ) नास्तिकवादिव्यतिरिक्तो दर्शनान्तरस्थः कोऽपि वादं याचते । एतेषां कारणानामन्यतमस्मिन्नपि

एवमनुमानितोऽपि यदा न तिष्ठति तदा ये राज्ञो वल्लभिका', स्वजना इत्यर्थः । तैरनुमानयेत् । तैरपि प्रतिबोध्यमानो यदि न तिष्ठति तदा विद्याऽऽदिना वश्यं कुर्यात् । आदिशब्दात् मन्त्रेण योगचूर्णैर्वा वश्यं कुर्यादिति परिग्रहः । विद्याऽऽदिनाऽप्यगृह्यमाणे चारित्रविषये पश्चात्कृतो भूयात् स्वलिङ्गं परित्यज्य गृहिलिङ्गं च गृहीत्वा तथा कर्त्तव्यं यथा नैव स राजा भवति । एतदपि स कुर्वाणः शुद्ध एव, प्रवचनरक्षार्थं तस्य प्रवृत्तेः ।

यथा च स राजा उत्पाटनीयः तथा तद्विषयं मत्कोटकोच्छेदि चाणक्यप्रयुक्त नन्दसत्कचौरसमूलघाति नलदामकुविन्ददृष्टान्तमुपदर्शयति–

नन्दे भोइय खणा, आरक्खियघडण गेरु नलदामे ।
मूइंगगेहडहणा, ठवणा भत्तेसु कत्तसिरा ॥ ७१ ॥

नन्दे चाणक्येनोत्पाटिते चन्द्रगुप्ते च राज्ये संस्थापिते नन्दसत्का ये भोजिकास्ते चाणक्येन, " खगणा " इति । देशीपदमेतत् । सर्वात्मना क्षपिता, ततस्ते अजीवन्तश्चन्द्रगुप्तारक्षकैः सह संघट्टनं कृतवन्तः, कृत्वा च चौर्यपतनाऽऽदिना नगरमुपद्रवन्ति, येऽप्यन्ये आरक्षिकाः स्थाप्यन्ते तानपि सवलयित्वा तथैव नगरोपद्रवं कुर्वते । ततश्चाणक्येन चिन्तयित्वा गैरुकवेषेण 'मूइंगो " ति देशीपदं मत्कोटकास्तेषाम् । मत्कोटगेहदहने प्रवृत्तं नलदामनामानं दृष्ट्वा तस्मिन्नारक्षकपदस्य स्थापना कृता । तेन च नन्दसत्कभोजिकानां समस्तानामपि सपुत्राणां भक्ते भक्तदानवेलायां शिरांसि लूनानि । एष गाथासंक्षेपार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-" नंदे निच्छूढरज्जे परिठाविते चंदगुत्ते नंदस्स जे भोइया ते चाणक्केण लूसिया, ताहे ते अजीवमाणा चंदगुत्तारक्खिएहिं समं सवलिया खत्तखणणाऽऽदीहिं नगरं उवद्दवंति, जे वि अन्ने आरक्खिया ठविज्जंति ते वि मवन्नति, ताहे चाणक्केण चिंतियं-को लभिज्जा चौरग्गाहो जो न सवलिज्जा, जो य समूले चोरे उप्पाडेइ, ताहे चाणक्को परिव्वायगवेसं काऊण नयरबाहिरियाए हिंडमाणेण दिट्ठो नलदामकुविंदो तंतुवायसालाठिओ, तम्मि वेलाए नलदामकोलियस्स पुत्तो रममाणो मक्कोडएण खइओ, रोयमाणो उरम्मि गममल्लीणो कहिय मक्कोडएण खइओ, नलदामेण उट्ठिऊण बिलमूलाओ सव्वे खणिऊण जहा तेसिं जुत्तं खणित्ता बिले अग्गी दिन्नो, ततो चाणक्केण पुच्छिओ कतो बिलातो निग्गया दिट्ठा मक्कोडा ते विस खनित्ता, जे बिलस्सतो अन्नया दिट्ठा तेसु गत्ताणि पक्खिवित्ता पलीवित्ता अडयाणि दड्ढाणि । चाणक्केण सो पुच्छितो किं कारणं ता एवं गतो वित्तस्स पलीविय ? । नलदामो भणइ-एए अन्नया निप्फन्ना खाइस्संति । ततो चाणक्केण चिंतियं-एस चोरग्गाहो कतो संतो समत्थो मुइंगपरिदाहं व चोरा उच्छेदेउं । ततो सो चोरग्गाहो ठवितो ताहे केइ नंदपक्खिया चोरा नलदामं मलवेंति, तुब्भे चोरभागं दाहामो, मा रक्खेह । नलदामेण भणियं-एवं होउ त्ति, इमं च भणियं अन्ने वि एवमुवलभेह, तो सव्वे पत्तेजावित्ता मलकसमायेहिं तेहिं तह त्ति कयं सव्वे सम्माणिया नलदामेण । अन्नया तेण नलदामेण तेसिं चोराणं विपुलं भत्तं सज्जियं, जाहे सव्वे सपुत्ता आगया, ताहे सव्वेसिं सपुत्ताणं सिराणि छिन्नाणि ।" तदेवं यथा चाणक्येन नन्द उत्पाटितो, यथा च नलदाम्ना मत्कोटकाश्चौराश्च समूला उच्छेदितास्तथा प्रवचनप्रद्विष्टं राजानं समूलमुत्पाटयति । ये च तस्य साहाय्यं कुर्वते, ये च तदीशिना अनुमोदन्ते, ते सर्वे शुद्धाः, प्रवचनोपघातरक्षणे प्रवृत्तत्वात् । न केवलं शुद्धिमात्रं, किं त्वचिरान्मोक्षगमनम् । तथा चात्र दृष्टान्तः प्रवचनोपघातरक्षको विष्णुकुमार इति ।

समतीतम्मि उ कज्जे, परे वयंतम्मि एग दुविहं वा ।
संवासो न निसिद्धो, तेण परं छेय परिहारो ॥६१॥

समतीते पुनः कार्ये यदि परो वदति एकरात्रं द्विरात्रं वा संवासः क्रियतामिति । एवं परस्मिन् वदति एकरात्रं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा वासो न निषिद्धः, तथा संवासेऽपि न किमपि प्रायश्चित्तमिति भावः । ततो द्विरात्राद् त्रिरात्राद्वा परं यदि वसति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं छेदः, परिहारो वा । यदि पुनः सूत्रार्थप्रतिपृच्छादानाऽऽदिलक्षणं कारणं भवेत् तर्हि तत परमपि वसेत् यावत्प्रयोजनपरिसमाप्तिः । तथा चाऽऽह-

सुत्तत्थपाडिपुच्छं, करेंति साहू उ तस्समीवम्मि ।
आगाढम्मि उ जोगे, तेसि गुरू होज्ज कालगतो ॥६२॥

सूत्रार्थप्रतिपृच्छां कुर्वन्ति तस्य समीपे साधवः । यदि वा-आगाढे योगे वर्तमानानां तेषां साधूनां गुरुः, उपलक्षणमेतत् वा आगाढप्रदानेन तेषां निस्तारकः सोऽपि कालगतः, ततः स तान् सूत्रार्थप्रदानाऽऽदिना निर्वाहयति, तथा यावत्सूत्रार्थप्रतिपृच्छा यावच्च तेषामागाढयोगानां परिसमाप्तिस्तावदवतिष्ठते तत परं तु नेति । अथ सूत्रे-" से संतरा छेदे वा परिहारे वा ।" इत्युक्तम्, तत्र परिहारात् छेदो गरीयान् । प्रथमं च लघु वक्तव्यं, पश्चात् गुरु, ततः ' से संतरा परिहारे वा छेदे वा " इति वक्तव्ये किमर्थं प्रथम ? ।

उच्यते-

बंधाणुलोमयाए, उक्कमकरणं तु होति सुत्तस्स ।
आगाढम्मि य कज्जे, दप्पेण ठिते भवे छेदो ॥६३॥

एवरूपो हि पाठो ललितपदविन्यासस्ततो बन्धानुलोमतया, तथा आगाढे प्रयोजने समुपस्थिते यदि कथमपि दर्पेण स्थितो छेद एव प्रायश्चित्तं, तस्य भवति परिहारतप इति, एतदर्थं च सूत्रस्याप्युत्क्रमकरणमिति ।

तत यदि प्रद्विष्टं राजानं समूलमुत्पाटयितुमीशः तर्हि स सलब्धिकः समस्तं संघं निस्तारयेत्, अथ न समस्तं संघं निस्तारयितुमीष्टे, तत इमान् पञ्च निस्तारयेत् । तानेवाऽऽह-

आयरिए अभिसेए, भिक्खू खुड्डे तहेव थेरे य ।
गहणं तेसि इणमो, संजोगगमं च वोच्छामि ॥ ६४ ॥

आचार्यो गच्छाधिपतिः, अभिषेकः सूत्रार्थतदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्हः, भिक्षुः प्रतीतः, क्षुल्लको बालः स्थविरो वृद्धः । एतेषां पञ्चानामपि ग्रहणमिदं वक्ष्यमाणं संयोगगमं संयोगतो गमः प्रकारो यस्य तत्तथा वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

तरुणे निप्फन्ने परि-वारे लद्धीजुते तहेव अब्भासे ।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥६५॥

यदि शक्तिरस्ति ततः पञ्चापि आचार्यादीन् युगपन्निस्तारयेत् । अथ न शक्तिस्ततः स्थविरवर्जान् चतुरः, तत्राप्यशक्तौ क्षुल्लकस्थविरवर्जान्, तत्राप्यसामर्थ्ये आचार्यमेकं, सोऽप्येकः स्थविरो यदि वर्त्तते अपरस्तरुणस्तर्हि तयोर्मध्ये तरुणो निस्तारणीयः, द्वयोस्तरुणयोर्वा मध्ये निष्पन्नः सम्यक् सूत्रार्थकुशलः, द्वयोरनिष्पन्नयोर्वा सपरिवारः, द्वयोः सपरिवारयोर्वा लब्धियुक्तयोर्वा अभ्यासे समीपे स्थितः अत्र संप्रदायः–द्वयोरभ्यासे स्थितयोर्यो नंष्टुमशक्तः स निस्तारणीयः। एतेषां पञ्च गमा आचार्ये भवन्ति । अभिषेकस्तु नियमान्निष्पन्न एव भवति, अन्यथा तस्यत आचार्यपदस्थापनायोग्यत्वानुपपत्तेः । ततस्तस्मिन्नभिषेके निष्पन्नानिष्पन्नगमाभावात् शेषास्तु चत्वारो गमाः। तद्यथा–स्थविरतरुणयोर्मध्ये तरुणः द्वयोस्तरुणयोर्वा सपरिवार, द्वयोः सपरिवारयोर्वा लब्धियुक्तः, द्वयोर्लब्धियुक्तयोरलब्धियुक्तयोर्वाऽभ्यासे स्थितः । इति शेषाणां भिक्षुक्षुल्लकस्थविराणां पञ्चैव गमा भवन्ति । ते यथा–अनन्तरमाचार्यो भावितस्तथा भावनीया ।

तथा चैतदेव व्याचिख्यासुर्गाथाद्वयमाह–

तरुणे बहुपरिवारे, सलद्धिजुत्ते तहेव अब्भासे ।
एते वसहस्स गमा, निप्फण्णो जेण सो नियमा ॥९६॥
तरुणे निप्फन्ने वा, बहुपरिवारे सलद्धि अब्भासे ।
भिक्खुखुड्डाथेरा-ण होंति एए गमा पच ॥ ९७ ॥

गाथाद्वयमपीदं व्याख्यातार्थं, नवरं वृषभोऽभिषेकः, सपरिवारश्च,वृषभाऽऽदीनामाचार्यप्रदत्तः, प्रव्रजितस्वजनवर्गो वा द्रष्टव्य । तदेवं साधूनां निस्तारणविधिरुक्त ।

इदानीं साध्वीनां तमाह–

पवित्तिणि भिसेयपत्ता, भिक्खुड्डा तहेव थेरी य ।
गहणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि ॥ ९८ ॥

प्रवर्त्तिनी समस्तसाध्वीनां नायिकाऽऽचार्यस्थानीया, अभिषेकप्राप्ता प्रवर्त्तिनीपदयोग्या, भिक्षुक्षिका, स्थविरा च प्रतीता । एतासां पञ्चानामपि ग्रहणमिदं वक्ष्यमाणं संयोगगमं संयोगतोऽनेकप्रकारं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

तरुणि निप्फन्न परिवा -र सलद्धिया जा य होति अब्भासे ।
अभिसेयाणं चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥ ९९ ॥

यदि शक्तिरस्ति ततः पञ्चापि प्रवर्त्तिन्यादयो युगपन्निस्तारणीयाः, अशक्तौ चतस्रः, तत्राप्यशक्तौ तिस्रः, तदभावे द्वे प्रवर्त्तिन्यभिषेके, तत्राप्यशक्तौ प्रवर्त्तिन्येका. तत्रापि यद्येका प्रवर्त्तिनी स्थविरा भवति अपरा च तरुणी तरुणीस्थविरयोर्मध्ये तरुणी निस्तारणीया, द्वयोस्तरुणयोः स्थविरयोर्वा मध्ये निष्पन्ना द्वयोर्निष्पन्नयोर्वा मध्ये सपरिवारा, द्वयोः सपरिवारयोरपरिवारयोर्वा मध्ये लब्धियुक्ता, द्वयोर्लब्धियुक्तयोरलब्धिकयोर्वा या भवत्यभ्यासे सा निस्तारणीया । एते पञ्च गमाः प्रवर्त्तिन्याम्, अभिषेकायां चत्वारो गमाः, तस्या निष्पन्नतया निष्पन्नानिष्पन्नगमासंभवात् । शेषाणां भिक्षुकीक्षुल्लिकास्थविराणां पञ्च गमा भवन्ति । तेऽपि पञ्चापि गमाः प्रवर्त्तिन्या एव भावनीयाः । तदेवं साधूनां साध्वीनां च प्रत्येकं निस्तारणविधिरुक्तः ।

सांप्रतमुभयेषां संयोगत आह–

आयरिय गणिणि वसभे, कमाण गहणं तहेव अभिसेया ।
सेसाण पुव्वमित्थी, मीसगकरणे कमो एस ॥ १०० ॥

यद्यस्ति शक्तिस्ततो द्वावपि वर्गौ युगपन्निस्तारयेत् , अथासमर्थस्तत एवं यतना आचार्यप्रवर्त्तिन्योर्मध्ये प्रथमत आचार्यं निस्तारयेत् ततः प्रवर्तिनीम्, प्रवर्त्तिनीवृषभयोर्मध्ये पूर्वं प्रवर्त्तिनीं पश्चात् वृषभम्, वृषभाभिषेकयोर्मध्ये पूर्वं वृषभं पश्चादभिषेकम् । ( सेसाण पुव्वमित्थी ति ) शेषेषु षष्ठी सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्, पूर्वं स्त्री निस्तारणीया, अनुकम्प्यत्वात्पश्चात्पुरुषः । तद्यथा–भिक्षुभिक्षुक्योर्मध्ये पूर्वं भिक्षुकी पश्चाद्भिक्षु, क्षुल्लिकाक्षुल्लकयोर्मध्ये प्रथमतः क्षुल्लिका, पश्चात् क्षुल्लकः, स्थविरास्थविरयोः पूर्वं स्थविरा, पश्चात् स्थविरः । अत्रापि सुनिपुणेन भूत्वा अल्पबहुत्वचिन्ता कर्त्तव्या । कृत्वा च यद् बहुगुणं तत्समाचरणीयम् । उक्तं च– "बहुवित्थरमुस्सग्गं, बहुतरमुववायवित्थरं नाउं । जह जह संजमवुड्ढी, तह जयसू निज्जरा जह य ॥१॥" एष मिश्रकरणे युगपत्साधुसाध्वीवर्गनिस्तारणकरणे एषोऽनन्तरोदित. क्रमः । गतं " जीय त्ति " द्वारम् ।

( ११ ) अधुना विहनद्वारमाह–

भिक्खू खुड्डग थेरे, अभिसेगे चेव तह य आयरिए ।
गहणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वुच्छामि ॥ १०१ ॥

भिक्षु. क्षुल्लकः स्थविरोऽभिषेक आचार्यः, तेषामेवं क्रमेण व्यवस्थितानां पञ्चानामपि ग्रहणमिदं वक्ष्यमाणं संयोगगमं संयोगतोऽनेकप्रकार वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

तरुणे निप्फन्ने परि–वारे सलद्धिए जे अ होंति अब्भासे ।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥१०२॥

यदि शक्तिस्ततः पञ्चापि युगपन्निस्तारयेत्, तदशक्तावेकैकहान्या यावदेकं भिक्षु सोऽपि यदेकः तरुणोऽपरश्च स्थविरः तदा तरुणो निस्तारणीयः । द्वयोस्तरुणयोरतरुणयोर्वा निष्पन्नो, द्वयोर्निष्पन्नयोर्वा सपरिवारः, द्वयोः सपरिवारयोर्वा सलब्धिकः, द्वयोः सलब्धिकयोर्वा यो भवत्यभ्यासे समीपे स निस्तारणीयः । एते पञ्च गमा भिक्षौ भवन्ति, अभिषेकगमाश्चत्वारो. निष्पन्नतया तस्य निष्पन्नानिष्पन्नगमाभावात् । शेषाणां तु क्षुल्लकस्थविराऽऽचार्याणां च भिक्षोरिव पञ्चैव गमाः ।

तत्र भिक्षुकाऽऽदिक्रमकरणे कारणमाह–

असहंते पचासू, रणम्मि मा होज्ज सव्वपत्थारो ।
खुड्डो भीरु णुकंपो; असहो घायस्स थेरा य ॥१०३॥
गणि आयरिया उ सहू, देहविओए वि साहसविवज्जी ।
एमेव भंसणम्मि वि, उड्डाहदो त्ति नाणत्तं ॥ १०४ ॥

भिक्षवो हि यदा राज्ञा विट्टयितुमारभ्यन्ते तदा ते किञ्चिदनीतार्थत्वेनासहमाना प्रत्यास्तरयेयु । प्रत्यास्तरण नाम–संमुखीभूय युद्धकरणम् । ततोऽसहमाने जातात्रेकवचन-

म्, षष्ठ्यर्थे सप्तमी । असहमानानां प्रत्यास्तरयो प्रतिकूलमभिमुखीभूय त्वरत्वकरणे मा सर्वप्रस्तारः समस्तसंघोपद्रवो भूयात् । किमुक्तं भवति ?-आगाढतरं प्रद्विष्ट सन् राजा सर्वमपि सङ्घमुपद्रवेत्, अनेन कारणेन पिट्टनद्वारे भिक्षुः प्रथममुपात्तः,तदनन्तरं क्षुल्लकः, स हि बालत्वाद्गौरवानुकम्प्यश्च। ततः स द्वितीये स्थाने स्थापितः,तदनन्तरं स्थविरो, यत. स्थविरत्वेनाक्रमत्यङ्गानां श्लथीभूततया तस्य पिट्टनस्यासहः । ( गणि आयरिया उ सहू इत्यादि ) गणी गच्छाधिपतिराचार्य आचार्यपदार्हः,एतौ द्वावपि सहौ समर्थौ, घातस्येति संबध्यते, अपि च देहवियोगेऽपि देहभ्रंशे अपि, सुशब्दोऽपिशब्दार्थे; साध्वसविवर्जनौ, अविमृश्य प्रवृत्तिः साध्वसं, तद्विवर्जनौ, संमुखीभूय युद्धप्रदानलक्षणसाध्वसरहिताविति भावः । तत स्थविरानन्तरं तौ द्वावप्युपात्तौ, तत्राप्यभिषेकादतिशयेन सहो गच्छाधिपतिरित्यभिषेकानन्तरं गणिन उपादानम् । ( एमेवेत्यादि ) अंशेन संयमच्यवनद्वारेऽप्येवमेव अनेनैव प्रकारेण भिक्षुकाऽऽदिक्रमकरणाकरणमभिधानीयम्, नवरं भिक्षुरुदीर्णवेदोऽपि संभवतीति नानात्वम्। किमुक्तं भवति ?-यदि भिक्षोस्तरुणतया प्रचुरमोहनीयोदयतया वा उत्प्रव्राजनमनुकूल भवेत्, तत. स क्षिप्रमुत्प्रव्रजेत् इति,प्रथमं भिक्षुग्रहणम्,तदनन्तरं क्षुल्लकाऽऽदिक्रमकरणे प्रयोजनं प्रागुक्तमवसातव्यम्। तासां पञ्चानामपि करणं निस्तारणकरणमिदं वक्ष्यमाणं संयोगगमं वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

तरुणी निप्फण्णा ऊ, परिवार सलद्धिया य अब्भासे ।
अभिसेयाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ।। १०५ ।।

अस्याः साधुगतगाथाया इव व्याख्या ।

संप्रति द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयो. संयोगेन निस्तारणविधिमाह-

पंतावण मीसाणं, दोण्हं वग्गाण होइ करणं तु ।
पुव्वं तु संजईणं, पच्छा पुण संजयाण भवे ।। १०६ ।।

"पंतावणं" नाम पिट्टनं, तत्र मिश्रयोर्द्वयोरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः करणं निस्तारणकरणं भवति। पूर्वं संयतीनां पश्चात्पुनर्भवति । संयतानाम् तद्यथा-भिक्षुभिक्षुकयोः पूर्वं भिक्षुकी,पश्चाद्भिक्षु ,एवं क्षुल्लिकाक्षुल्लकयो. पूर्वं क्षुल्लिका क्षुल्लकास्थविरयो. स्थविरा. अभिषेकाभिषेकयोरभिषेका,आचार्यप्रवर्तिन्यो. पूर्वं प्रवर्तिनी, पश्चादाचार्यः । गतं पिट्टनद्वारम् ।

अधुना संयमच्यावनद्वारमाह-

भिक्खू खुड्डे थेरे, अभिसेयाऽऽयरिएँ संजमे पडुप्पन्ने ।
करणं तेसिं इणमो. संजोगगमं तु वुच्छामि ।। १०७ ।।

भिक्षु', क्षुल्लकः, स्थविरोऽभिषेक आचार्य , कथंभूत एकैक इत्याह--संयमे प्रत्युत्पन्नो वर्त्तमान्, तेषां भिक्षुप्रभृतीनां पञ्चाना निस्तारणकरणमिदं वक्ष्यमाणं संयोगगमं संयोगतोऽनेकप्रकार वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

तरुणे निप्फन्न परि-वारे सलद्धिए जे य होइ अब्भासे ।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ।।१०८।।

अस्या व्याख्या प्रागवत् ।

'संप्रति यदुक्तम्-" उदिन्नवेदो त्ति नाणत्तमिति " तद्व्याविख्यासुराह-

अपरिणतो सो जम्हा, अन्नं भावं वएज्ज तो पुव्वं ।
अपरीणामो अहवा, न निज्जाई किं वि काहीइ ।।१०९।।

स भिक्षुर्यस्मादपरिणतोऽपरिणामत्वात् वाऽन्यं भावमुत्प्रव्राजनाभिप्रायलक्षणं, व्रजेत्, ततः स सत्वरमेवोत्प्रव्राज्यते । अन्यच्च-अथवा न ज्ञायते सोऽपरिणामः सन् ( किंचीति ) किमपि सम्मुखीभूय युद्धं करिष्यति, येन सकलस्यापि संघस्योपद्रवो भवेत्, तत एव तद्दोषभयात् पूर्वं भिक्षुर्निस्तारणीय इति पूर्वं तस्योपादानं. शेषाणां तु क्रमोपन्यासे प्रयोजनं पिट्टनद्वारवदवसेयमिति ।

अत्रैव साध्वीरधिकृत्य निस्तारणविधिमाह-

भिक्खुणि खुड्डी थेरी,अभिसेग पवत्तिणि संजमे पडुप्पन्ना ।
करणं वा सिं इणमो, संजोगगमं तु वुच्छामि ।।११०।।
तरुणी निप्फन्न परिवारा,सलद्धिया जा य होइ अब्भासे ।
अभिसेयाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ।। १११ ।।

इदं गाथाद्वयमपि प्राग्वत् ।

संप्रति संबन्धे लभन्ते इति द्वारव्याख्यानार्थमाह-

खुड्डे थेरे भिक्खू, अभिसेयाऽऽयरिएँ भत्तपाणं तु ।
करणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वुच्छामि ।। ११२ ।।

क्षुल्लक., स्थविरो, भिक्षुरभिषेक आचार्य , तेषां पञ्चानामप्येवं क्रमव्यवस्थितानां राज्ञा निरुद्धं भक्तपानमधिकृत्य करणं निस्तारणकरण संयोगगमं संयोगतोऽनेकप्रकारं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

तरुणे निप्फन्नपरिवारे, सलद्धिए जे य होइ अब्भासे ।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ।।११३।।

शक्तौ सत्यां पञ्चापि युगपन्निस्तारयेत्, शक्त्यभावे एकैकहान्या यावत्पूर्वं क्षुल्लक निस्तारयेत् सोऽपि यद्येकस्तरुणोऽपरोऽतरुण. । तरुणो नाम-प्रथमकुमारत्वे वर्त्तमान इति। निष्पन्नता वज्रस्वामिन इव भावनीया । द्वयोर्निष्पन्नयोर्वा सपरिवारः, द्वयो सपरिवारयोरपरिवारयोर्वा सलब्धिकयोरलब्धिकयोर्वा यो भवत्यभ्यासे स निस्तार्यः। एते पञ्च गमाः क्षुल्लकस्य, अभिषेके चत्वार. निष्पन्नतया अस्य निष्पन्नानिष्पन्नगमाभावात् । शेषाणां स्थविरभिक्ष्वाऽऽचार्याणां पञ्च गमा. ।

संप्रति साध्वीरधिकृत्य निस्तारणमाह-

खुड्डिय थेरी भिक्खुणि, अभिसेय पवित्ति भत्तपाणं तु ।
करणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि ।।११४।।
तरुणी निप्फन्नपरिवारा, सलद्धिया जा य होइ अब्भासे ।
अभिसेयाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ।। ११५ ।।

इद गाथाद्वयं साधुगतगाथाद्वयमिव व्याख्यातव्यम् ।

अधुना क्षुल्लकाऽऽदिक्रमकरणे प्रयोजनमाह-

अणुकंपा जणगरिहा, तिक्खखुहो होइ खुड्डओ पढमं ।
इइ भत्तपाणरोहे, दुल्लभभत्ते वि एमेव ।। ११६ ।।

क्षुल्लकस्य यदा प्रथमतो भक्तपानविषये निस्तारणं क्रियते तदा तस्यानुकम्पा कृता भवति,यदि पुनस्तस्य प्रथमं निस्तारो न क्रियते किं त्वाचार्याऽऽदीनां तदा जनगर्हा। यथा- धिगेतान् मुण्डान् यद् बालं बुभुक्षाक्रान्तं मुक्त्वा आत्मानं चिन्तितवन्त इति । अपि च-बालत्वादेव स तीक्ष्णक्षुत्त्वाच्च, स्तोककालेनापि भक्तपाननिरोधेन क्लमुपयाति । तेन कारणेन क्षुल्लकः प्रथम निस्तार्यते, तदनन्तरं स्थविरः, सोऽपि हि बालवत् स्तोककालेनाऽपि भक्तपान निरोधेन क्लाम्यति केवलं क्षुल्लकापेक्षया मनाक् सहत इति तदनन्तर तस्योपादानम् । स्थविरादपि भिक्षुश्चिरकालसह इति तदनन्तरं तस्योपादानम् । ततोऽप्यभिषेकः समर्थस्तस्मादाचार्य इति तदनन्तरं तौ क्रमेणोपात्ताविति । इति प्रथम भक्तपाननिरोधक्षुल्लकाऽऽदिक्रमकरणे प्रयोजनगत विधिं लभत इतिद्वारम् । अधुना क्षुल्लकभक्तद्वारमाह ( दुल्लभभत्ते वि एमेव ) एवमेव अनेनैव प्रकारेण दुर्भिक्षत्वेन दुर्लभे भक्ते निस्तारणविधिर्वक्तव्यः ।

तद्यथा-

खुड्डे थेरे भिक्खू, अभिसेयाऽयरिएँ दुल्लभं भत्तं ।
करणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वुच्छामि ॥ ११७ ॥
तरुणे निप्फन्नपरिवारे, सलद्धिए जे य होइ अब्भासे ।
अभिसेयम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥ ११८ ॥
खुड्डिय थेरी भिक्खुणि, अभिसेय पवित्ति दुल्लभं भत्तं ।
करणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वुच्छामि ॥ ११९ ॥
तरुणी निप्फन्न परिवारा, सलद्धिया जा य होइ अब्भासे ।
अभिसेयाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥ १२० ॥

क्षुल्लकाऽऽदिक्रमकरणप्रयोजनमपि तथैव वक्तव्यम् । गतं दुर्लभभक्तद्वारम् ।

अधुना भक्तपरिज्ञाद्वार ग्लानद्वारं च युगपदाह-

परिणाय गिलाणस्स य,दोण्ह वि कयरस्स होति कायव्वं ।
असतीएगिलाणस्स य, दोण्ह वि संते परिणाए ॥ १२१ ॥

परिज्ञातेति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् भक्तपरिज्ञातशब्दः प्रत्याख्यानवाची क्तान्तस्य च परनिपातः, प्राकृतत्वात्सुखाऽऽदिदर्शनाद्वा। प्रत्याख्यानभक्तस्य, ग्लानस्य च संभवे द्वयोर्मध्ये कतरस्य भवति कर्तव्यम् ? । उच्यते शक्तौ सत्यां द्वयोरपि कर्तव्यम्, अथ न शक्तो द्वयोरपि कर्तुं ततो ग्लानस्य कर्तव्यं,तस्य जीवितसापेक्षत्वात् । शक्तौ सत्या द्वयोरपि वैयावृत्त्ये क्रियमाणे सति परिज्ञाते प्रत्याख्यातभक्तस्येत्यर्थः, विशेषतरं कर्तव्यमिति वाक्यशेषः ।

अथ शक्तावसत्यां ग्लानस्य कर्तव्यमित्युक्तमकारणमत आह-

सावेक्खो उ गिलाणो, निरवेक्खो जीवियम्मि उ परिणी ।
इइ दोण्ह वि कायव्वे, उक्कमकरणं करे असहू ॥ १२२ ॥

ग्लानो जीविते जीवने सापेक्ष , परिज्ञी भक्तपरिज्ञानवान् जीविते निरपेक्ष,ततोऽवश्यं ग्लानो जीवयितव्य इति । द्वयोरपि कर्तव्ये 'असहू' अशक्तः, उत्क्रमेण भक्तपरिज्ञावन्तं मुक्त्वा ग्लानस्य करणं वैयावृत्त्यं कुर्यात् । यदुक्त शक्तौ सत्यां द्वयोरपि कर्तव्यं, प्रत्याख्यातभक्तस्य विशेषतः कर्तव्यमिति ।

तत्र कारणमाह-

वसहे जोहे य तहा, निज्जामगविरहिए जहा पोए ।
पावति विणासमेवं, भत्तपरिणाएँ संमूढो ॥ १२३ ॥

यथा वृषभो बलीवर्दः सुसारथिरहित., यथा वा योधाः सुस्वामिविरहिताः, यथा च निर्यामकविरहित. पोत प्राप्नोति विनाशम्, एवं भक्तपरिज्ञायां सम्यग्निर्यामकाभावतः संमूढः सन् समाधिलाभलक्षणं प्राणविनाशमाप्नोति ।

तत्र प्रथमं वृषभदृष्टान्तं भावयति-

नामेणं गोएण य, विपलायंतो वि सावितो संतो ।
अवि भीरू विनियत्तइ,वसहो अप्फालिओ पहुणा ॥ १२४ ॥

यथा वृषभ प्रथमं सारथिरहितः सन् प्रतिवृषभेण युद्धे पराजितो विपलायते, न युद्धाऽभिमुखो भवति, विपलायमानश्च कथमपि प्रभुणा सारथिना दृष्ट. सन् नाम्ना गोत्रेण च शापितः शब्दितः,आकारित इत्यर्थ. । तथा प्रसादपुरस्सरमास्फालितश्च स्कन्धाऽऽदिप्रदेशेषु हस्तेन, तत एवं प्रोत्साहितसत्त्वः सन् अपिः संभावने, भीरुरपि विपलायमानोऽपि पुनरपि प्रतिवृषभेण सह युद्धदानाय प्रतिनिवर्तते । एवं कृतप्रत्याख्यानोऽपि सम्यग्निर्यामकभावतो जातमन्दपरिणामोऽपि निर्यामकेन प्रोत्साहितः सन् प्रतिवर्तते स परीषहचमूमभिभवितुमिति वृषभदृष्टान्त' ।

संप्रति योधदृष्टान्तभावनामाह-

अप्फालिया जह रणे, जोहा भंजंति परबलाणीयं ।
गीयजुतो उ परिणी, तह जिणइ परीसहाणीयं ॥ १२५ ॥

प्रभुणा नाम्ना गोत्रेण गुणप्रशंसनेन च आस्फालिता -आ समन्तात् स्फारं प्रापिता यथा योधाः सुभटा रणे संग्रामे परबलानीकं परेषा वैरिणां बलं परबलं, तच्च तत् अनीकं च परबलानीकं भञ्जन्ति । तथा परिज्ञी भक्तपरिज्ञावान् गीतयुतः सम्यग्निर्यामकोपेतो जयति अभिभवति परीषहानीकमिति । उक्ता योधदृष्टान्तभावना ।

संप्रति पोतदृष्टान्तभावनामाह-

सुणिउणनिज्जामगविर-हियस्स पोयस्स जह भवे नासो ।
गीयत्थविरहियस्स उ, तहेव नासो परिणस्स ॥ १२६ ॥

सुनिपुणः सम्यग्जलमार्गकुशलः तेन निर्यामकेन विरहितस्य पोतस्य यथा भवति विनाशः, तथैव गीतार्थविरहितस्य परिज्ञिनः कृतभक्तपरिज्ञानस्य भवति विनाशः, प्रत्याख्यानफलस्य सुगतिलाभस्याभावात् ।

निउणमतीनिज्जामग, पोतो जह इच्छियं वए भूमिं ।
गीयत्थेणुववेतो, तह य परिणी लहइ सिद्धिं ॥ १२७ ॥

यथा पोत प्रवहणं, निपुणमतिः निर्यामकः कर्णधारो यस्य स तथा ईप्सिता भूमिं व्रजति, एवं गीतार्थेनोपेतो युक्त. सन्परिज्ञी लभते सिद्धिं मोक्षमिति । उक्ता पोतदृष्टान्तभावना ।

अथ किं तस्य विशेषतर करणीयमित्यत आह-

उव्वत्तणा य पाणग, धीर वणा चेव धम्मकहणा य ।
अंतोवहिनीहरणं, तम्मि य काले नमोकारो ॥ १२८ ॥

तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य स्वयमुद्वर्त्तन कर्तुमशक्नुवत

उद्वर्तना वक्तव्या, तस्यां च क्रियमाणायां महानाश्वासो भवति, समाधिं च परमं लभते, ततः साधयति परमसुत्तमार्थम्। तथा तृषापीडितस्य सतः पानकं पानं समर्पणीयम् ( धीरवणा चेव त्ति ) दुःखेन परिताप्यमानस्य धीरापना कर्त्तव्या, यथा-धीरो भव अहं तवैतत् दुःखं विश्रामणाऽऽदिना अपनेष्यामि। अपि च पुण्यभागिन्! सहस्वैतद् दुःखं सम्यग्यत एव तत्सहनानन्तरमचिरात्सर्वदुःखप्रहीणो भविष्यसीति इत्यादि। तथा धर्मकथना पूर्वपरमदुष्करकारिमुनिचरितरूपा कथयितव्या, मध्ये घर्ममसहमानस्य बहिर्निर्हरणं बहिर्नयनं, बहिर्वाताऽऽदिकम सहमानस्य अन्ते निर्हरणम्। तथा तस्मिन् काले मरणसमये नमस्कारो दातव्यः। गतं परिज्ञाद्वारं, ग्लानद्वारं वा।

संप्रति संयमातीतद्वारं वादिद्वारम्, तथा चाऽऽह-

जो चिय भंसिज्जंते, गमओ सो चेव भंसियाणं पि।
हेट्ठा अकिरियवादी,भणितो इणमो किरियवादी॥१२६॥

य एव चारित्राद् भ्रंश्यमाने संयमप्रत्युत्पन्नद्वारे गमक उक्तः स एव भ्रंशितानामुत्प्रव्राजितानामपि भ्रियमाणानां वेदितव्यः, न पुनः किञ्चिदपि नानात्वम्। गतं संयमातीतद्वारम्। अधुना वादिद्वारमाह-( अकिरियवादी इत्यादि ) य एव प्राक्परवादिनि गम उक्तः स एवात्रापि द्रष्टव्यः, केवलं सोऽक्रियावादी भणितोऽयं तु क्रियावादीति विशेषः। यत्र स्थाने वादो दातव्यः तत्र गतस्य यत्कर्त्तव्यम्,

तथा चाऽऽह-

वादे जेण समाही, विज्जागहणं च वादिपडिवक्खे।
न सरइ विक्खेवेणं, निव्विसमाणो तहिं गच्छे॥१३०॥

वादे वादविषये येन तस्य समाधिरुपजायते तत्सर्वं क्रियते। तद्यथा वादी भणति-वाक्पाटवकारि ब्राह्म्याद्यौषधं दीयताम्, इति तद्दीयते। शरीरजाड्यापहारि तदुपदिष्टं वैद्योपदिष्टं वा किञ्चिद्वस्तु। यदि वा दुग्धाऽऽदिविकृतिप्रणीतभक्तम्। अथवा-देशस्नानं सर्वस्नानं वस्त्राऽऽदिविभूषा वा। विद्याग्रहणं च ( वादिपडिवक्खे त्ति ) विद्याग्रहणं वा वादिप्रतिपक्षे वादिभिर्विद्याप्रतिपक्षभूतं कार्यते। किमुक्तं भवति?, याः प्रतिवादिज्ञाताः, तासा प्रतिपन्थिन्यो या अन्या विद्याः। यथा-"मोरी नउलि विराली" इत्यादि। तासा ग्रहणं कार्यते। कस्मादेतत्सर्वं क्रियते इति चेत्?, उच्यते-गुणदर्शनात्। तथाहि-ब्राह्म्याऽऽद्यौषधोपयोगतो वाक्पाटव, शरीरजाड्यापहार्यौषधाभ्यवहारत शरीरलघुता, दुग्धप्रणीताऽऽहाराभ्यवहारतो मेधाविशिष्टं च धारणाबलं,सर्पिःसन्मिश्रभोजने भुक्ते तु ऊर्जा, "घृतेन पाटवम्" इति वचनात्। देशतः सर्वतो वा स्नानेन वस्त्राऽऽदिभूषायां च तेजस्विता, प्रतिपक्षविद्याग्रहणतो महान्मानसिकोऽवष्टम्भ. । एतत्सर्वं वादवेलायामुपयोगि।

तथा चाऽऽह-

वाया पुग्गललहुया, मेहा उज्जा य धारण बलं च।
तेजस्सिया य सत्तं, वायामइयम्मि संगामे॥ १३१॥

वाग्व्यक्ताक्षरा, पुद्गललघुता शरीरपुद्गलाना जाड्यापगमः, मेधा अपूर्वापूर्वऊहाऽऽत्मको ज्ञानविशेष, ऊर्जा बलं प्रभूततरभाषणेऽपि प्रवर्द्धमानस्वबल, आन्तर उत्साहविशेष इत्यर्थः। धारणाबलं प्रतिवादिनः शब्दतदर्थावधारणबलं, तेजस्विता प्रतिवादिक्षोभाऽऽदिका शरीरस्य स्फूर्तिमती दे-, दीप्यमानता, सत्त्वं प्राणव्यपरोपणसमर्थविद्याप्रयोगेऽप्यविचलितस्तन्मानोपमर्दहेतुरवष्टम्भ. । एतत्सर्वं वाङ्मये संग्रामे उपयुज्यते। सूत्रम्-( परिहारकप्पट्ठिते भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से नो सरेज्जा, कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए॥२४॥ इत्यादि ) अत्र "नो सरेज्जा" इति विशेषः। शेषं समग्रमपि पूर्ववत्। "नो सरेज्जा" इत्यस्यायमर्थः-एष परिहारतपो वहन्, तिष्ठतीति स्थविरा आचार्या न स्मरेयुः। कस्मान्न स्मरेयुरिति चेत्?,उच्यते-व्याक्षेपात्। तथा चाऽऽह-"नसरइ" इत्यादि पूर्वगाथापश्चार्द्धम्। विद्यानां निमित्तानां प्रत्युत्तराणां च कथनतो, बहुविधसंदेशकथनतो वा आचार्यो न स्मरति, ततस्तस्मिन्नस्मरणे सति स निर्विशमानक एव गच्छेत्, गत्वा च यत्र गन्तव्यम्, तत्र यत्करोति तदाह-

तत्थ गतो वि य संतो-पुरिसं थामं च नाउ तो ठवणं।
साहीणमसाहीणे, गुरुम्मि ठवणा असहणाओ॥१३२॥

तत्र गतोऽपि च सत्पुरुषं प्रतिवादिलक्षणं प्रचण्डं वा स्थाम च प्राणमात्मनो ज्ञात्वा तदनन्तरं यदि समर्थमात्मानं संभावयति तदा न निक्षिपति। अथाशक्तिः संभाव्यते तत स्थापना निक्षेपणं परिहारतपसः कर्तव्यम्। किमुक्तं भवति?-दुर्जय. खलु प्रतिवादी न यथा कथञ्चन जेतुं शक्यते, अहं च क्षामतया बहुविधमुत्तरं दातुमशक्तो, मतिमोहो वा तदानीं मम क्षामतया भवेत्, इति यदि संभावयति तर्हि निक्षिपति। अथ कथं स निक्षिपतीत्यत आह-( साहीणेत्यादि ) स्वाधीने सन्निहिते अस्वाधीने असन्निहिते गुरौ च सहस्य स्थापना परिहारतपसो निक्षेपणं भवति। इयमत्र भावना-यद्याचार्यः सन्निहितो भवति ततः स एव तं निक्षेपयति, अथ नास्ति सन्निहित. ततोऽशक्तः क्षामत्वेन परवादिनं जेतुमित्यालम्बनतः स्वयमेव निक्षिपति। अत्र पर आह-ननु यदि स्वयं निक्षिपति तत स आत्मच्छन्दसा निक्षिपन् यदि उद्घातितं वहति ततोऽनुद्घातितं प्राप्नोति, अथानुद्घातितं ततः परतर स्थानमाप्नोति इति।

सूरिराह-

कामं अप्पच्छंदो, निक्खिवमाणो उ दोसवं होइ।
तं पुण जुज्जइ असढे, वीरियकज्जे पुण वाहेज्जा॥१३३॥

कामशब्दो मकरध्वजे, अवधृतौ च। इहावधृते काममवधृतमेतत्। आत्मच्छन्दसा निक्षिपन् दोषवान् भवति, परं निष्कारणे यदि पुनरशठ सन् एवं चिन्तयति-न शक्तः क्षामतया परवादिनं जेतुमिदानीं वीरितकार्ये समाप्तकार्यः पुनर्भूयो वहेयमिति ततस्तद् निक्षेपणं युज्यते एव, अदुष्टभावपुष्टाऽऽलम्बनत्वात्। सूत्रम्-(परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरिज्जा वा नो सरिज्जा वा नो कप्पइ से निव्विसमाणस्स॥२५॥ इत्यादि ) एतदपि सूत्र तथैव, नवरमेतावान्विशेष.-( थेरा य से सरिज्जा वा नो सरिज्जा वा नो कप्पइ से निव्विसमा-

णस्सेति ) अस्यायमर्थः-स्थविराः ( से ) तस्य परिहारकल्पं स्मरेयुर्यदि वा व्याक्षेपान्न स्मरेयुः, वाशब्दादुभावपि न स्मरेयातां, तथापि यदि निर्विशमानको गच्छति ततः ( से ) तस्य एकरात्रिक्या प्रतिमया एकरात्रिकेण वा साभिग्रहेण क्वचिदपि प्रतिबन्धमन्तरेण गच्छत इत्यादि ।

तथाचाऽऽह-

सरमाणे जो उ गमो, अस्सरमाणे वि होइ एमेव ।
एमेव मीसगम्मि वि, देसं सव्वं च आसज्ज ॥ १३४ ॥

इह त्रीणि सूत्राणि । तद्यथा-प्रथमं स्मरणसूत्रं, द्वितीयमस्मरणसूत्रम्, तृतीयं मिश्रकसूत्रं स्मरणास्मरणसूत्रमित्यर्थः। तत्र य एव गमः स्मरणे स्मरणसूत्रे उक्तः, एवमेव अनेनैव प्रकारेण प्रथमसूत्रप्रकारेणेत्यर्थः । अस्मरणे अस्मरणसूत्रे भवति गमः, एवमेव अनेनैव प्रकारेण मिश्रकसूत्रेऽपि । तत्र सूत्रत्रयेऽपि वहनं निक्षेपण झोषो वा देशं सर्वं वा आसाद्य प्रतीत्य द्रष्टव्यः ।

तत्र द्वयोरपि विस्मरणं सूचितं, तत्र कारणमाह-

विज्जानिमित्तउत्तर कहणे अप्पाहणा य कहियाओ ।
अतिसंभम तुरियविणि-ग्गयाण दोण्हं पि विस्सरियं॥१३५॥

विद्यानां प्रतिवादिप्रतिपक्षभूतानां निमित्तानामनेकप्रकाराणाम्, उत्तराणां प्रतिवादिविषयाणां यथा यदि स वादी एव ब्रूयात्, ततो भवानित्थं वदेदित्येवमादिरूपाणां, कथने, तथा 'अप्पाहणा य" संदेशकाः कथितास्तत आचार्यस्यातिसंभ्रमेण इतरस्यापि वाऽतिसंभ्रमादेव त्वरितविनिर्गतस्य द्वयोरपि विस्मृतम् यथा-परिहारतपो निक्षेपणीयमिति । तत्र यदि आचार्याः स्मरेयुः, स वा स्मारयति, तदा निक्षिप्य गच्छति, अथ द्वयोरपि विस्मृतं तदा निर्विशमानक एव याति ।

यदा तु पूर्वं स स्मृतवान् विस्मृतवान् पश्चात्तदा का वार्त्तेत्यत आह-

पुव्वं सो सरिऊणं, संपत्थिए विज्जमादिकज्जेहिं ।
जस्स पुणो विस्सारियं,निव्विसमाणो तहि वि वए ।१३६।

पूर्वं स पारिहारिकः स्मृत्वा परिहारतपो निक्षिप्य मया गन्तव्यमिति विचिन्त्य संप्रस्थिते संप्रस्थानकाले विद्याऽऽदिकार्यैर्विद्याग्रहणाऽऽदिकार्यैर्व्याकुलीभूततया यस्य पुनर्विस्मृतं, यो वा विस्मरणं गतवान्, तत्रापि पूर्वं स्मरणे निर्विशमानो व्रजेत् ।

संप्रति यदुक्तम्-देशं सर्वं वा आसाद्येति तद् व्याख्यानयति-

देसं वा वि वहेज्जा, देसं व ठवेज्ज अहव झोसिज्जा ।
सव्वं वावि वहेज्जा,सव्वं ठवेज्ज सव्व झोसिज्जा ॥१३७॥

त्रिष्वपि सूत्रेषु देशं वा वाहयेदपि, देशं वा स्थापयेदपि अथवा-देशं झोषयेदपि । वाशब्दाः सर्वं चेत्याद्यपेक्षया विकल्पार्थाः । अपिशब्दाद् वहनाऽऽदिषु परस्परसमुच्चयार्थः । तथा-त्रिष्वपि सूत्रेषु सर्वं वा स्थापयेदपि, सर्वं वा झोषयेदपि । अत्र वाशब्दो देशं चेत्याद्यपेक्षया विकल्पार्थः । अपिशब्दाः पूर्ववत् ।

अथ कथं देशस्य वहनाऽऽदि ? । उच्यते परिहारतपः प्रायः पूर्वं व्यूढं स्तोकं तिष्ठति, अत्रान्तरे च गमनकार्यमधिकृतं समुत्पन्नम्, तत आचार्यैरुक्तम्-

निक्खिव न निक्खिवामी, पंथि च्चिय देसमेव वोज्झामि ।
असहू पुण निक्खिवए,झोसंति मए ऽज्ज तवसेस ॥१३८॥

निक्षिप मुञ्च अधिकृतं परिहारतपः, यत इदं गमनकार्यमिदानीं समुत्पन्नम् । तत्र समर्थः सन्नाह-न निक्षिपामि न मुञ्चामि, यत एव देशं पथ्येव मार्ग एव वोढयामि, न च पथि पलमं गमिष्यामि, शक्तत्वात् । असहोऽसमर्थः पुनर्नूनमहं गमिष्यामीति विचिन्तयन् तं देशं निक्षिपति । अथवा-( से ) तस्य यदवशेषं स्तोकमव्यूढमवतिष्ठते, तत्तस्य संप्रस्थितस्य वाऽऽचार्याः प्रसादबुद्ध्या समस्त झोषयन्ति मुञ्चन्ति । यथा महति प्रयोजने त्वं संप्रस्थितो वर्त्तसे इति मुक्तं प्रसादतस्तवैतत् तपः शेषमिति । तदेवं देशस्य वहननिक्षेपणझोषा भाविताः ।

संप्रति सर्वस्य तान् भावयति-

एमेव य सव्वं पि व, दूरद्धाणम्मि तं तवे नियमा ।
एमेव सव्वदेसे, वाहणझोसा पडिनियत्ते ॥ १३९ ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण सर्वमपि वाह्यं निक्षेपणीयं च भावनीयम् । नवरं तद्भवति वाह्याऽऽदिकं नियमात्तद्दूराध्वनि । तथाहि-कस्यापि परिहारतपो दत्तं, वोढुं च स प्रवृत्तः, अत्रान्तरे च गमनप्रयोजनमुपजातं, तत आचार्या ब्रुवते-भद्र ! समुत्पन्नमिदं गमनप्रयोजनं तस्मान्निक्षिप परिहारतप इति । स समर्थः सन् प्राऽऽह-भगवन् ! गच्छन्नपि समर्थोऽहं वोढुमध्वनो दूरत्वाच्च मार्ग एव समस्तं वोढयामि । तथाहि-सर्वजघन्यं परिहारतपो मासिकं तदापन्नोऽसौ, गन्तव्यं चाऽऽनन्दपुरात् मथुरायां, ततस्तत्तपो मार्ग एव समाप्तिमुपयातीति असमर्थः पुनर्निक्षिपति, यदि वा-महत्प्रयोजनमुपस्थितं, गरीयांश्चाध्वा, एतस्य च प्रयोजनस्यायमेव गुणगरीयस्त्वात् कर्त्ता, ततः सम्यक्प्रवचनभक्तोऽयं परमदुष्करकारीति विचिन्त्य सूरयः सर्वमपि तस्य प्रसादतो मुञ्चन्ति । एवं सर्वस्य वहननिक्षेपझोषाः । ( एमेवेत्यादि ) एवमेव अनेनैव प्रकारेण, प्रतिनिवृत्ते प्रत्यागतस्य देशस्य सर्वस्य वाहनाझोषौ वेदितव्यौ । तद्यथा यदि गच्छता देशो निक्षिप्तस्ततः स देशः प्रत्यागते वोह्यते, अथ समस्तं ततः सर्वमिति । यदि वा-अहो दुष्करमिदं कार्यमनेन कृतमिति परितुष्टाः सूरयो निक्षिप्तं देशं सर्वं वा मुञ्चन्ति । एवं प्रत्यागतस्य देशसर्ववाहनझोषौ । अथ कथं देशस्य सर्वस्य वा प्रसादतो झोषकरणं ?, न खलु प्रसादतः पापमुपशाम्यतीति ।

तत आह-

वेयावच्चकराणं, होति अणुग्घातिए वि उग्घायं ।
सेसाण अणुग्घाया, अप्पच्छंदोवयेताणं ॥ १४० ॥

यथा अनुद्घातिते परिहारतपसि प्राप्ते वैयावृत्यकराणां संघाऽऽदिवैयावृत्यप्रवृत्तानामुद्घाति परिहारतपो भवति दानयोग्यं, वैयावृत्याऽऽलम्बनेन तेषामवलम्बितत्वात् । एवं कदाचित् देशकालाऽऽद्यपेक्षया देशस्य सर्वस्य वा झोषोऽपि क्रियते, तथा तीर्थकराज्ञाप्रवृत्तेः । तथा चोक्तम्-" तित्थगरेहिं भणियं, वेयावच्चकराणं झोसो भवति, अणुग्घातियं कसाइ।" इति । शेषाणां वैयावृत्याऽऽलम्बनरहितानामु-

वुघातिते प्राप्ते उद्घातितमेव दीयते, तथाऽऽदौ वैयावृत्त्याऽऽलम्बनरहिता आत्मच्छन्दसा निक्षिपन्तो यदि उद्घातितं वहन्त आसीरन् तदा अनुद्घातितं निक्षिपवन्तस्ततत उपरितनं तेषां प्रायश्चित्तमिति । व्य० १ उ० ।

( १२ ) द्वयोरेकत्र विहरतोरन्यतरस्य परिहारतपोदानम्-

दो साहम्मिया एगओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नतरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ १ ॥

द्वौ साधर्म्मिकौ संविग्नसांभोगिकाऽविरूपावेकत एकस्मिन् स्थाने समुदितौ विहरत. । तत्रैकोऽन्यतरत् अकृत्यं स्थान प्रतिसेव्य आलोचयेत् । तत्र यद्यगीतार्थः प्रतिसेवितवान् ततस्तस्मै शुद्धतपो दातव्यम् । अथ गीतार्थस्तर्हि यदि परिहारतपोयोग्यमापन्नस्ततः परिहारतपो दद्यात्, तदनन्तरं स्थाप्यते विविक्तं कृत्वा प्ररूप्यते इति स्थापनीयं परिहारतपोयोग्यमनुष्ठानं तत् स्थापयित्वा प्ररूप्य य आपन्न स परिहारतपः प्रतिपद्यते, इतरः कल्पस्थितो भवति । स एव च तस्यानुपारिहारिक , ततस्तेन तस्य करणीयं वैयावृत्त्यमित्येष सूत्रसंक्षेपार्थ ।

अधुना निर्युक्तिविस्तरः-

दो साहम्मिय छ व्वा-रसेव लिंगम्मि होइ चउभंगो ।
चत्तारि विहारम्मि उ, दुविहो भावम्मि भेदा तु ॥१४१॥

द्विशब्दस्य साधर्म्मिकशब्दस्य च यथाक्रमं षट् द्वादश नामाऽऽदयो निक्षेपाः, द्विशब्दस्य षट्कः साधर्म्मिकशब्दस्य द्वादशको निक्षेप इत्यर्थः । लिङ्गे लिङ्गविषये चतुर्भङ्गी, भवति । सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश. प्राकृतत्वात् । तथा विहारे चत्वारो नामाऽऽदयो निक्षेपाः । तत्र भावे द्विविधो भेद. । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थ । व्य० २ उ० । ( द्वयोर्विहारसंभवो 'विहार' शब्दे वक्ष्यते )

दो साहम्मिया एगतो विहरंति, दो वि ते अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता एगे णिव्विसेज्जा,अह पच्छा से वि णिविसेज्जा ॥२॥

( दोसाहम्मिआ एगओ विहरंति इत्यादि ) द्वौ साधर्म्मिकावेकत्र एकत्र स्थाने विहरतः, तौ द्वावप्यन्यतरदकृत्यं स्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेयाताम् । तत्र यदि द्वावपि गीतार्थौ ततस्तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये एकं कल्पस्थितं स्थापयित्वा एको निर्विशेत्, परिहारतप प्रतिपद्येत । यश्च कल्पस्थित' स एव चानुपरिहारको भवति,अन्यस्याभावात् । तत. स तस्य वैयावृत्त्यं करोति । अथ परिहारतप'समाप्त्यनन्तरं स कल्पस्थित पश्चान्निर्विशेत्परिहारतप प्रतिपद्येत, इतरस्तु कृतपरिहारतप.कर्म्मा कल्पस्थितोऽनुपरिहारकश्च भवति, एष सूत्रार्थः ।

एतमेव सूत्रार्थं भाष्यकृत्सविशेषमाह-

बितिए निव्विसएगो, निव्विट्ठे तेण निव्विसे इयरो ।
एगतरम्मि अगीते दोसु य सगणेयरे सोही ॥५७॥

द्वितीये सूत्रे द्वयोरपि गीतार्थयोरन्यतरत् अकृत्यस्थानमापन्नयोरेको निर्विशति परिहारतप प्रतिपद्यते । द्वितीय कल्पस्थितोऽनुपारिहारिकश्च, भवतीति वाक्यशेषः । ततस्तेन विशिष्टे परिहारतपसि कृते इतरो द्वितीयो निर्विशति कृतपरिहारतपःकर्म्मा तु तस्य कल्पस्थितोऽनुपारिहारिकश्चोपजायते । यदि पुनरेकतरोऽगीतोऽगीतार्थो भवति तत. शोधिः, शुद्धतपः प्रायश्चित्तदानम् । अथ द्वयोरपि अगीतार्थयोः सतोः प्रायश्चित्तस्थापनाऽऽपत्तौ स्वगणे इतरस्मिन् परगणे वा गीतार्थाना मिलित्वा गताभ्यां शोधिं शुद्धं तप. प्रतिपद्यते, अगीतार्थत्वेन परिहारतपोयोग्यताया अभावात् ।

( १३ ) सूत्रम्-

बहवे साहम्मिया एगओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, तत्थ ठवणिज्जं च ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ ३ ॥

( बहवे साहम्मिया एगतो विहरंति इत्यादि ) बहव. साधर्मिका एकत' एकत्र स्थाने विहरन्ति । तत्र तेषा मध्ये एको गीतार्थोऽन्यतरदकृत्यस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्, आलोचनानन्तरं परिहारतपो दाने स्थापनीयं, प्रागुक्तस्वरूप स्थापयित्वा अनुपारिहारिकेण तस्य करणीयं वैयावृत्यमित्येष सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

एतमेव भाष्यकृत्सविशेषमाह-

एमेव तइयसुत्ते, जइ एगो बहुग मज्झे आवज्जे ।
आलोयणगीयत्थे, सुद्धे परिहार जइ पुव्विं ॥ ५८ ॥

एवमेव अनेनैव प्रागुक्तेन प्रकारेण यद्येको बहुषु मध्ये अवतिष्ठमानः प्रायश्चित्तस्थानमापद्यते, ततस्तेन तत्रापि गीतार्थस्य पुरत आलोचना दातव्या । तत्र यदि सोऽगीतार्थो भवति तदा शुद्धं तपस्तस्मै दातव्यम् । अथ गीतार्थस्तत परिहारतप', तच्च यथा स्थापनीयस्थापनापुरस्सरं पूर्वमुक्तं, तथाऽत्रापि वक्तव्यम् । इयमत्र भावना-ते बहवः साधर्मिका गीतार्था अगीतार्थाः वा भवेयु., गीतार्थमिश्रा वा । तत्र गीतार्थमिश्रेषु जघन्येनैको गीतार्थो भवेत्, उत्कर्षतो द्वित्राऽऽदिका.,तत्र यदि सर्वे गीतार्थाः । यद्वा-द्वित्राऽऽदिका गीतार्थाः प्राप्यन्ते, तदा एक कल्पस्थित क्रियते, एकोऽनुपारिहारिक । अथ सर्वे आचार्यव्यतिरेकेणागीतार्थाः, तत शुद्धतपो देयम् । अथाऽऽचार्य एव प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्तत सोऽन्यत्र गच्छे गत्वा परिहारतप. प्रतिपद्यते । अथ समस्ता अप्याचार्यप्रभृतयो गीतार्थास्ततोऽन्यत्र गच्छान्तरे ते सर्वे गत्वा य. प्रायश्चित्तमापन्न. स शुद्धं तपः प्रतिपद्यते ।

सूत्रम्-

बहवे साहम्मिया एगओ विहरति, सव्वे ते अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पगं ठवइत्ता अवसेसा णिव्विसिज्जा, अह पच्छा सेवि निव्विसेज्जा ॥४॥

बहव. साधर्मिका एकतो विहरन्ति, ते च तथा विहरन्त सर्वेऽप्यन्यतरत् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेयु, आलोच्य एकं तत्र कल्पस्थितं कृत्वा अवशेषा. सर्वेऽपि निर्विशन्ति, परिहारतप प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थ । ततः तेषा परिहारतपःसमाप्त्यनन्तर पश्चात्स कल्पस्थितोऽपि निर्विशेत।

स परिहारतपः प्रतिपद्येतेति भावः । तस्यैकोऽनुपारिहारिको दीयते । एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ ४ ॥

व्यासार्थं तु भाष्यकृदाह-

सव्वे वा गीयत्था, मीसा व जहन्न एगो गीयत्थो ।
परिहारिएँ आलवणा, इय भत्तं देंति गेण्हंती ॥५९॥
लहु गुरु लहुगा गुरुगा, सुद्धतवाणं व होइ पन्नवणा ।
अह होंति अगीयत्था, अन्नगणे सोहणं कुज्जा ॥ ६० ॥

ते बहवः साधर्मिकाः कदाचित्सर्वेऽपि गीतार्था भवेयुः, कदाचिद् गीतार्थैर्मिश्राः । तत्र यदि जघन्येनैको गीतार्थः, शेषाः सर्वेऽगीतार्था इति य एको गीतार्थः प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्तस्य एवाऽऽचार्यः कल्पस्थितः, स एव चानुपारिहारिकः । यदि पुनर्बहवो गीतार्थाः प्राप्यन्ते, यदि वा-सर्वे गीतार्थाः, तत एकं कल्पस्थितं कृत्वा बहवः पारिहारिका भवन्ति, तेषां च पारिहारिकी कर्तव्या, पारिहारिकैश्च परिहारतपसि व्यूढे अनुपारिहारिकाः परिहारतप प्रतिपद्यन्ते । कृतपरिहारतपःकर्माणस्तु तेषामनुपारिहारिका भवन्ति । कल्पस्थितोऽपि परिहारतपो वहति, तस्याप्यनुपारिहारिक एको दातव्यः । यदि पुनराचार्यः परिहारतपोयोग्यं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नो भवति, शेषास्तु सर्वेऽप्यगीतार्थाः, ततः सोऽन्यगणं गत्वा परिहारतपः प्रतिपद्यते, पारिहारिकस्य यदि शेषाः साधव आलापनाऽऽदिकं कुर्वन्ति । आदिशब्दात्सूत्रवाचनाऽऽदिपरिग्रहः । ततस्तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो लघवः । अथ भक्तं ददति, तदा चत्वारो गुरवः । तथा पारिहारिकाद्भक्तं गृह्णन्ति, तदा चत्वारो लघवः । पारिहारिक एवाऽऽलापनाऽऽदिकं करोति भक्तं वा ददाति गृह्णाति वा तदा सर्वत्र प्रत्येकं चत्वारो गुरवः । ये पुनरगीतार्थास्तेभ्यः शुद्धतपो दातव्यम् । अगीतार्थतया तेषां परिहारतपोयोग्यत्वाभावात् । अथ कीदृशाः परिहारतपोर्हाः, कीदृशाः शुद्धतपोयोग्या इति शिष्यप्रश्नावकाशात् परिहारतपोयोग्यानां च प्रज्ञापना प्ररूपणा कर्त्तव्या । अत्रापि तत्प्ररूपणायाः स्थानत्वात् । सा च प्रागेव कृतेति न भूयः क्रियते । अथ सर्वेऽप्यगीतार्था भवेयुस्ततस्ते अन्यस्मिन् गणे गत्वा शोधनं कुर्युरालोचनां दत्त्वा शुद्धतपः प्रतिपद्येरन्निति भाव ।

( १४ ) परिहारकल्पस्थितं ग्लायन्तम्-

परिहारकप्पट्ठिते भिक्खू गिलायमाणे अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ ५ ॥ से य णो संथरेज्जा अणुपारिहारिएणं करणिज्जं वेयावडियं,से य संते बले अणुपरिहारिएणं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जेज्जा से य कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ ६ ॥

" परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू गिलायमाणे " इत्यादि सूत्रद्वयम्—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुर्ग्लायन् ग्लानिमुपपन्नः अन्यतरदकृत्यस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् । स च तेनाऽकृत्यप्रतिसेवनेन संस्तरेद् परिहारतपोवहने समर्थो भवेत्, ततः स्थापनीयं स्थापयित्वा अनुपारिहारिकस्तस्य स्थापयितव्यः, तेन तस्य करणीयं वैयावृत्यमितीदमेकं सूत्रम् ॥ ५ ॥ द्वितीयं सूत्रमाह-( से य णो संथरेज्जा इत्यादि ) सोऽधिकृतः पारिहारिको ग्लायन्नकृत्यप्रतिसेवनेनाऽपि न संस्तरेत्, न परिहारतपोयोग्यमनुष्ठानं विधातुमलम्, ततस्तस्यानुपारिहारिकेण वैयावृत्यं करणीयं, तच्च यथा करणीयं तथा भाष्यकृद्दर्शयिष्यति । यदि पुनः सत्यपि बलेऽनुपारिहारिकेण क्रियमाणं वैयावृत्यम्, (साइज्जेज्ज त्ति) स्वादयेत् अनुमन्येत, तदापि प्रायश्चित्तं कृत्स्नम् तत्रैव उह्यमाने परिहारतपसि अनुग्रहकृत्स्नेनाऽऽरोपयितव्यं स्यादिति सूत्रद्वयसंक्षेपार्थः ॥ ६ ॥

व्यासार्थं तु भाष्यकृत्प्रतिपादयति-

परिहारियाहिगारे, अणुवत्तंते अयं विसेसो उ ।
आवन्नदाणसंथर-मसंथरे चेव नाणत्तं ॥ ६१ ॥

परिहारिके प्रकृतेऽनुवर्त्तमाने अयं वक्ष्यमाणलक्षणो विशेषः पारिहारिकविधिगत आभ्यां सूत्राभ्यामभिधीयते । को विशेषः ?, इत्यत आह-( आवन्नदाणसंथरे त्ति ) परिहारतपः प्रायश्चित्तमापन्नस्य परिहारतपोदाने कृते सति तत् वहतो ग्लानिमुपगतस्य अन्यतरदकृत्यस्थान प्रतिसेव्यते, न संस्तरतः । प्रथमसूत्रेण विधिरभिधीयते, द्वितीयसूत्रेण पुनस्तेनाप्यसंस्तरत इति सूत्रद्वयस्य परस्परं पूर्वानन्तरसूत्राच्च नानात्वं विशेषः ।

पर आह-

उभयबले परियायं, सुत्तत्थाभिग्गहे य वन्नेत्ता ।
न हु जुज्जइ वुत्तुं जे, जं तदवत्थो वि आवज्जे ॥६२॥

ननु तस्य पारिहारिकस्य पूर्वमुभयं धृतिसंहननबलरूपं वर्णितं, पर्यायश्च गृहयतिपर्यायरूप उभयतो वर्णितः, सूत्रार्थावपि तस्य यावत्प्रमाणौ भवतस्तावत्प्रमाणौ वर्णितौ.अभिग्रहा अपि च तस्य क्षेत्राऽऽदिविषयाः पूर्वमधस्तात् व्यावर्णितास्तत उभयबलमुभय पर्यायं सूत्रार्थावभिग्रहांश्च वर्णयित्वा ( नहु ) नैव युष्माकं युज्यते वक्तुम् । ' जे ' इति पादपूरणे । यत्तदवस्थेऽपि परिहारतप. प्रतिपन्नोऽप्यापद्यते, प्रायश्चित्तस्थानाऽऽपत्तिसंभवात् ।

अत्र सूरिराह-

दोहि वि गिलायमाणे,पडिसेवंते मिगेण दिट्ठंतो ।
आलोयणा अफरिसे, जोहे वसहे य दिट्ठंते ॥ ६३ ॥

द्वाभ्यामाभ्यां परीषहाभ्यां क्षुत्पिपासालक्षणाभ्यां ग्लायन्न ग्लानिमुपगच्छन् गुरुलाघवचिन्तया अनेषणाऽऽदिकमपि प्रतिसेवेत, तस्मिंश्च तथा प्रतिसेवमाने दृष्टान्तो मृगेण वेदितव्यः । स च तथा प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत् । आलोचनायां च तेन दीयमानायामपरुषं भाषणीयम् । यदि पुनः परुषं भाषन्ते प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका मासाः, आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनाश्च दोषा. । अत्राऽर्थे योधान् दृष्टान्तीकुर्याद्, यदि वा-वृषभेण दृष्टान्त. कर्तव्य इति । तत्र मृगदृष्टान्तोऽयम्-" एगो मिगो गिम्हकाले संपत्ते तण्हाए अभिभूतो पाणियट्ठाणं गतो पासइ-कोदंडकंधरियहत्थं वाहं । ततो मिगो इमं चिंतेइ-जइ न पियामि तो खिप्पं मरिहामि । पीते सुहेण मरिज्जाभि । अवि य-पीए कयाइ

बलियत्तणगुणेण पलाइज्जा वि। एवं चिंतिऊण सो अन्नेण ओगासेणं खिप्पं पाणियं पाउं लग्गो। जाव सो वाहं तं ओगासं पावइ ताव कह वि चेट्ठं करेत्ता पलातो एवं सो वि पारिहारिओ चिंतेइ-जइ न पडिसेवामि तो मरामि। अवूढे च पायच्छित्ते अप्पमवि कम्मनिज्जरणं न काहामि। पडिसेविए पुण पच्छित्तं च, जं च अवूढं च वहिस्सामि अन्नं च कम्मनिज्जरणं चिरं जीवंतो करेस्सामि भवसत्तम देवदिट्ठंतेणं कयाइ सिज्झिहामि विवेयं। जतो भणियं-

" अप्पेणं बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं ।

सव्वासु पडिसेवासु, एयं अट्ठावयं विदू ॥ १ ॥ "

अस्योत्तरार्द्धस्यागमनिका-सर्वासु प्रतिसेवासु प्रतिसेवनासु एतदनन्तरोदितमल्पेन च षट्के परमासार्थपदं सार्थकमपवादपदं विदुर्जानन्ति पूर्वमहर्षय । 

एतमेव मृगदृष्टान्तं भावयति-

गिम्हे स मोक्खिएसुं, दट्ठुं वाहं गतो जलोयारे ।

चिंतेइ जइ न पाहं, तोयं तो मे धुवं मरणं ॥ ६४ ॥

पाउं मरणं पि सुहं, कयाइ चेट्ठिओ पलाएज्जा ।

इति चिंतेउं पाउं, नोल्लेउं तो गतो वाहं ॥ ६५ ॥

ग्रीष्मे ग्रीष्मकाले स मृगोऽवतारे गतो व्याधं मोक्षितेषु मोक्षितो मोक्षमिष्ट इवुर्वाणि येन स तथा तं, दृष्ट्वा चिन्तयति-यदि न पास्यामि तोयं जलं ततो मे ध्रुवं मरणम्। अपि च पानीयं पीत्वा मरणमपि मे सुखं, तथा कदाचित्पानीयपानेन चेष्टितः सचेष्टाक सन् पलायेयमपि,इति चिन्तयित्वा पानीयमन्यस्मिन्नवकाशे पीत्वा वेगबलेन व्याधं मुदित्वा प्रेर्य गतो मृग स्वस्थानम्। उक्तो मृगदृष्टान्तः।

संप्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

मिगसमाणो साहू, दगपाणसमा अकप्पपडिसेवा ।

वाहोवमो य बंधो, सेविय पीतं पणोल्लेइ ॥ ६६ ॥

मृगसमानो मृगसदृश साधु , उदकपानसमा उदकाभ्यवहारसमा अकल्पप्रतिसेवा, व्याधोपमो व्याधस्थानीयो बन्ध । कर्मबन्धमकल्पं प्रतिसेव्य मृग इव पानीयं पीत्वा व्याधं प्रणुदति प्रेरयति । सम्प्रति आलोचनाया अपरुषभाषणे योधदृष्टान्त उपन्यस्तः। स भाव्यते-" एगो राया, सो परबलेणं अभिभूतो, तेण जोहा दिट्ठा जुज्झंता परबलेन पहारेहिं परिताविया भग्गा , ततो आगया अप्पणिज्जगस्स रन्नो पायमूलं तेण वायसरेहिं तज्जिया-तुज्झे मम वित्तिं खाइत्ता किं पहाराणं भीया पडिआगता ?। ताहे ते जोहा परबलमभिभविउमसमत्था इमं चिंतंति-जुज्झंताणं आउहपहारेण भग्गाणं पडिआगयाण वायासरपहारा बंधणमरणादीणि विसेसंति कीस अप्पा न परिचत्तो त्ति चिंतेऊण तेहिं जोधेहिं राया बंधिउं परबलस्स दिन्नो ।"

एतमेवार्थमाह-

परबलपहारचइया, वायासरतोइया य ते पहुणा ।

परपच्चूहासत्ता, तस्सेव हवंति घायाय ॥ ६७ ॥

योधा परबलकृतै प्रहारैस्त्याजिता संग्रामाध्यवसायमोचिताः, ततः प्रत्यागता सन्तस्ते प्रभुणा स्वकीयेन राज्ञा वाक्शरैस्तोदिता अतिशयेन पीडिता परप्रत्यूहासक्ताः परबलप्रतिक्षेपं कर्तुमसमर्थाः तस्यैवाऽऽत्मीयस्य राज्ञो व्याघाता य भवन्ति।

"अण्णो राया परबलेणाभिभूतो तहेव जोहे पेसेइ, परबलपहारेहिं भग्गो पडिआगतो प्रोत्साहयति।" कथमित्याह-

नामेण य गोएण य, पसंसिगा चेव पुव्वकम्मेहिं ।

भग्गवणिया वि जोहा, जिणंति सत्तुं उदिण्णं पि ॥६८॥

ते योधा प्रत्यागताः सन्त तेन राज्ञा नाम्ना अभिधानेन गोत्रेणान्वयेन तथा पूर्वकर्मभिः पूर्वकृतैरनेकैः संविधानकैः प्रशंसिनाः सम्यक् स्तुता, ततस्तया प्रशंसया उत्कर्षं ग्राहिता सन्तो व्रणिताः सन्तो भग्ना भग्नव्रणिता, राजदन्ताऽऽदिदर्शनाद्भग्नशब्दस्य पूर्वनिपातः। तथाभूता अपि उदीर्णमपि प्रबलमपि शत्रुं जयन्ति । उक्तो योधदृष्टान्तः।

संप्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

इय आउरपडिसेवं-त चोदितो अहव तं निकाए तो ।

लिंगाऽऽरोवण चागं, करेज्ज घायं व कलहं वा ॥ ६६ ॥

एतेन योधगतेन प्रकारेणाऽऽतुर प्रथम, द्वितीयः परीषहाभिभूतेनाऽऽकुलीभूतोऽनेषणाऽऽदि प्रतिसेवमानः सन् चोदितोऽथवाऽसत्प्रतिसेवितं निकाचयन् आलोचयन् चोदितो,यथा-हे निर्धर्मिन् ! किमीदृशं त्वया कृतमित्यादि। स च तथा परुषभाषणेन रोषं ग्राहित सन् ता प्रतिचोदनामसहमानो लिङ्गस्य वा रजोहरणमुखवस्त्रिकारूपस्य आरोपणं वा, प्रायश्चित्तस्य त्यागं वा कुर्यात्। यदि वा-घातं चोदकस्य कुर्यात्, घातग्रहणमुपलक्षणम्-पिट्टनं वा लकुटाऽऽदिभिर्जीविताद्व्यपरोपणं वा कुर्यात्, कलहं वा राटिरूपं विदध्यात्,कोपाऽऽवेशत सर्वस्याप्यकृत्यसंभवात् । संप्रति वृषभदृष्टान्त उच्यते-" केदारेसुं साली वाविता , ते य केयारा चिंतीए परिक्खित्ता कया, तेसिं एकं बारं कयं, अन्नया तेण बारेण वसभो पविट्ठो केयारेसु चरइ, केयारसामी आगतो त वसभं पविट्ठं पासिऊण तं बारं ढक्किय, ततो सरमादीहिं तं वसभं परितावेति – ताहे तेणं परितावियेणं इम कयं।"

जं पि न चिण्णं तं ते-ण चमढियं पेल्लियं सराईहिं ।

केयारेक्कदुवारे, पेयालेणं निरुद्धेणं ॥ ७० ॥

केदारसत्के एकस्मिन् द्वारे सति तेन द्वारस्थगनतो निरुद्धेन पेयालेन साराडवृषभेण यदपरेषु केदारेषु न चीर्णं तदपि शराऽऽदिभि परिताप्यमानेन इतस्तत परिभ्रमता (चमढियं ति) विनाशितं (पेल्लियं चेति) पातितं च शीघ्रम्। एष दृष्टान्तः।

अयमर्थोपनय -

तणुयम्मि वि अवराहे, कयम्मि अणुवायचोइएणं वा ।

सेसं चरणं पि मलियं, असमत्थ पसत्थ बिइयं तु॥७१॥

एवं वृषभदृष्टान्तप्रकारेण स्तोकेऽप्यपराधे कृते अनुपायेन उपायाभावेन यश्चोदितस्तेनानुपायचोदितेनाभिद्रुतमतिसेवनात शेषं यच्चारित्रमवतिष्ठते तदपि लिङ्गत्यागाऽऽदिना मलिनं क्रियते। इदमप्रशस्तमुदाहरणम्। द्वितीयं तदाहरणं प्रशस्तम्। तच्चेदम्-"अन्नो केयारसामी वसभ कया-

देसुं सालिं चरंतं पासिऊण दुवारस्स पगपासे मिच्छा सद्दं क रेइ, ततो सो वसभो नीतो तेण दुवारेण निप्फडति. निप्फ डंतो य लेट्ठुमादीहिं आहतो, एवं तस्स खेत्तमलणा दिया पुव्वुत्ता दोसा न जाया । एवं आयरिएण वि सो उ धाएण चोएयव्वो जहा न रूसति, ततो पुव्वुत्तो एगो वि दोसो न संभवति ।" व्याख्यातं प्रथमसूत्रम् ।

अधुना द्वितीयं व्याचिख्यासुः प्रथमतः सूत्रेण सह संबन्धमाह–

तेणेव सेविएणं, असंथरंतो वि संथरो जातो ।
वितिओ पुण सेवंतो, अकप्पियं नेव संथरति ॥७२॥

अनन्तरसूत्राभिहितोऽसंस्तरन्नपि तेनैव प्रागुक्तेनाकल्पिकेन सेवितेन संस्तरो विवक्षितानुष्ठानवहनसमर्थो जातः। द्वितीयः पुनरधिकृतसूत्रोक्तोऽकल्पिकमपि प्रतिसेवमानो नैव संस्तरति नैवाधिकृतानुष्ठानवहनसमर्थ उपजायते ।

ततोऽसंस्तरतो व्याचिख्यासनार्थमधिकृतसूत्राऽऽरम्भः–

एमेव बीयसुत्ते, नाणत्तं नवरमसंथरंतम्मि ।
करणं अणुपरिहारी, चोयगगोणीएँ दिट्ठंतो ॥ ७३ ॥

यथा प्रागुक्तसूत्रेऽभिहितम्-"उभयबले परियायं" (६२) इत्यादि,एवमेव अनेनैव प्रकारेणास्मिन्नप्यधिकृते द्वितीये सूत्रे वक्तव्यं, नवरमत्र नानात्वमिदमसंस्तरति अकल्पिकप्रतिसेवनेनापि संस्तरणमप्राप्नुवति करणमनुपरिहारिणः यच्च शक्नोति परिहारिकः कर्तुं तद्भणितः, स न करोत्यनुपरिहारिक इति भावः । " चोयगगोणीएँ दिट्ठंतो " इति पश्चाद् व्याख्येयम् ।

संप्रति यदनुपरिहारिणा कर्तव्यं तदाह–

पेहा भिक्खग्गहणे, उट्ठंतनिवेसणे य भुवणे य ।
जं जं न तरइ काउं, तं तं से करेइ वितिओ उ ॥ ७४॥

प्रेक्षा या भिक्षाग्रहणे उत्तिष्ठति उत्थानं कर्तुमारभमाणो निवेशते चानुपरिहारिणः, करणं भवतीति शेषः । इयमत्र भावना-यदि परिहारिको भाण्ड प्रत्युपेक्षितुं न शक्नोति ततोऽनुपरिहारिकं ब्रूते-प्रत्युपेक्षस्व भाण्डकमिति । ततोऽनुपरिहारिकस्तस्य भाण्डं प्रत्युपेक्षते । तथा यदि भिक्षानिमित्तं हिण्डितुं न शक्नोति ततोऽभिधत्ते, भिक्षामटित्वा ददाति । एवमुत्थानं यदि कर्तुं न शक्तस्तत उत्थापयति, उपवेष्टुमशक्तमुपवेशयति, लेपकृदादिना खरण्टितं पात्रबन्धाऽऽदि यदि प्रक्षालयितुमशक्तस्तदा तदपि प्रक्षालयति । अत्र "चोयगगोणीएँ दिट्ठंतो" इत्यस्यावकाशः । चोदक आह-यदि नाम तस्यानुपरिहारिणा कर्तव्यं, ततः किमुक्तमेव करोति, सर्वं कस्मान्न कुरुते ? । तथाहि-यथा भिक्षाहिण्डनार्थमुत्थातुमशक्नुवता परिहारिकेणोक्ते मामुत्थापयेति तमनुपरिहारिक उत्थापयति । तथा भिक्षामटित्वा कस्माद् भक्तमानेतुं ददाति । यथा वा भणितः सन् भिक्षामटित्वा भक्तमानेतुं तस्मै प्रयच्छति । तथा भाण्डप्रत्युपेक्षणाऽऽदिकमप्यभणित एव कस्मान्न करोति ?। सूरिराह–गोण्या दृष्टान्तः-यथा कस्यापि गौर्वाताऽऽदिना लग्नशरीरा, तामुपविष्टामुत्थातुमशक्नुवतीं पुच्छे गृहीत्वा गोनायक उत्थापयति, सा चोत्थिता स्वयमेव चारिं चरितुं याति, यदि पुनरसमर्था चारिचरणाय गन्तुं तदा चारिं पानीयं चाऽऽनीय ददाति, एवं च तावत् कारिता यावद्बलिष्ठोपजायते । एवं च पारिहारिकोऽपि यत् यत्कर्तुं न शक्नोति तत्तत् (से) तस्य द्वितीयोऽनुपारिहारिकः करोति, यत्पुनः कर्तुमलं तत्स्वयमेवानिगूहितबलवीर्यः करोति । एवं नाम तेन वीर्याचारोऽनुचीर्णो भवति ।

संप्रति यदुक्तम्-" अणुपरिहारिएणं कीरमाणं वेयावच्चं जं साइज्जति ।" तत्र साइज्जणामाह–

जं से अणुपरिहारी, करेइ तं जइ वलम्मि संतम्मि ।
न निसेहेई साइ-ज्जणा उ तहियं तु संठाणं ॥ ७५ ॥

यत् ( से ) तस्य परिहारिणोऽनुपरिहारी करोति, तद्यदि तेन क्रियमाणं सत्यपि बले, अपिशब्दोऽत्रानुक्तोऽपि सामर्थ्याद्गम्यते । न निषेधते न निवारयति । सा नाम " साइज्जणा " स्वादना. तत्र च तस्यां च स्वादनायां क्रियमाणायां प्रायश्चित्तं स्थानम् । किमुक्तं भवति ?-प्रथमोद्देशके येषु स्थानेष्वालपनाऽऽदिलघव उक्तास्तेषु स्थानेष्वस्य गुरुका दातव्या', अनुमननाध्यवसायस्यातिप्रमादहेतुत्वादिति ।

सूत्रम्–

परिहारकप्पट्ठियं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं० जाव ततो रोगायंकाओ विप्पमुक्को ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सयं नामं ववहारे पट्ठवेयव्वे सिया ॥ ७ ॥

अथास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह क संबन्धः ?। उच्यते–

तवसोसियस्स वाऊ, खुभेज्ज पित्तं व दोवि समगं वा ।
सम्मग्गि पारणम्मी, गेलण्णयं तु संबंधो ॥ ७६ ॥

तपःशोषितस्य यो हि परिहारतपसा शोषमुपगतस्य वातः क्षुभ्येत,यदि वा पित्तम् । अथवा द्वयमपि वातपित्तं समकं क्षुभ्येयाताम् । ततो वातेन पित्तेन वा सन्ने विध्याते अग्नौ पारणे कृते सति ग्लानत्वमुपजायते । ततो ग्लानस्य सतो विधिख्यापनार्थमेतत्सूत्रमुपगतमित्येष सूत्रस्य संबन्धः । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्याऽस्य सूत्रस्य(७)व्याख्या-परिहारकल्पस्थितं भिक्षुं ग्लायन्तं यस्य सकाशमागतस्तस्य गणावच्छेदिनो न कल्पते निर्यूहितुमपाकर्तुं वैयावृत्यकरणाऽऽदिना,किं त्वग्लान्या तस्य करणीय वैयावृत्यं तावद्यावत्स रोगाऽऽतङ्काद्विप्रमुक्तो भवति. ततः पश्चात्तस्य परिहारिणो (लहुसग त्ति) स्तोको नाम व्यवहार. प्रायश्चित्तं प्रस्थापयितव्यो दातव्यः स्यादिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः कारणैः स ग्लायति तान्यभिधित्सुराह–

पढमविइएहिँ न तरइ, गेलण्णेणं तवोकिलंतो वा ।
निज्जूहणा अकरणे, ठाणं व न देइ वसहीए ॥ ७७ ॥

प्रथमद्वितीयाभ्यां क्षुत्पिपासालक्षणाभ्यामभिभूतः सन् परिहारी ग्लायति । यदि वा-ग्लानत्वेन,अथवा-तपसा क्लान्तः सन् । एतावता "गिलायमाणं" इति पदं व्याख्यातम् । अधुना " निज्जूहित्तए " इति व्याचिख्यासुराह-निर्यूहना नाम वैयावृत्यस्याकरणे, यदि वा-वसतौ दोषाऽभावे यत्स्थानं न ददाति एषा निर्यूहना । वैयावृत्त्याकरणाऽऽदिना यत्तस्य नपोऽकरणं सा निर्यूहनेति भाव ।

यदुक्तम्-' अगिलाए तस्स करणिज्जं" इति । तत्र गिलाप्रतिषेधेन अगिला ज्ञायते, इति गिलाव्याख्यानार्थमाह–

निववेढिं व कुणंतो, जो कुणई एरिसा गिला होइ ।
पडिलेहुट्ठवणाई, वेयावडियं तु पुव्वुत्तं ॥ ७८ ॥

यो नाम नृपवेष्टिं राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्त्यं करोति एतादृशी भवति गिला ग्लानिः, तस्याः प्रतिषेधोऽगिला, तया करणीयं वैयावृत्त्यम्। किं तदित्यत आह-प्रतिलेखोत्थापनाऽऽदिकं भाण्डस्य प्रत्युपेक्षणमुपविष्टस्योत्थापनम्, आदिशब्दात् भिक्षानयनाऽऽदिपरिग्रहः। एतत्पूर्वोक्तं वैयावृत्त्यम्।

अत्र निर्युक्तिविस्तरः-

परिहारि कारणम्मी, आगमे निज्जूहणम्मि चउ गुरुगा।
आणाइया य दोसा, जं सेवइ तं च पाविहिति ॥ ७९ ॥

परिहारिणः कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे आगते सति यदि निर्यूहना क्रियते तदा तस्य गणावच्छेदिनो निर्यूहितुः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः मासाः, तथा आज्ञाऽऽदयश्च आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः। तथा यद्वैयावृत्त्याकरणतः स्थानलाभेन वा प्रतिसेवते परिहारी, तच्च तन्निमित्तमपि च प्रायश्चित्तं स प्राप्नोतीति।

संप्रति यैः कारणैः परिहारिण आगमनं भवति, तान्यभिधित्सुराह-

कालगतो से सहाओ, असिवे राया व बोहियभए वा।
एएहिं कारणेहिं, एगागी होज्ज परिहारी ॥ ८० ॥

( से ) तस्य परिहारिणः सहाय एको अनेको वा कालगतः। यदि वा-साधूनामशिवमुपस्थितम्। अथवा राजा प्रद्विष्टः ( बोहिय त्ति ) म्लेच्छाः तद्भयं वा समुपजातं, तत साधूनां वृन्दस्फोट उपजायते, एतैः कारणैः स परिहारी एकाकी भवेत्, एकाकिनश्च सतः परिहारतपो न निर्वहति विशेषतो ग्लानस्तस्य आगमनमिति।

तम्हा कायव्वं से, कप्पट्ठियमणुपरिहारियं ठवेऊण।
बितियपदे असिवादी, गहियागहियम्मि आदेसो। ८१ ।

यस्मादेवं कारणे समागतस्तस्मात् (से तस्य परिहारिण प्रायश्चित्तपरिज्ञाननिमित्तं सकलगच्छसमक्षं कल्पस्थितमनुपरिहारिणं च स्थापयित्वा कर्त्तव्यं यत्करणीयं, द्वितीयपदे अशिवाऽऽदिलक्षणेऽपवादेन निर्यूहितोऽपि परिहारिणं स गणावच्छेदी अशिवाऽऽदिभिश्च गृहीतागृहीतविषये आदेशः प्रकारश्चतुर्भङ्ग्यात्मकः।

तमेव प्रकारमाह-

गहियागहिए भंगा, चउरो न उ वसति पढमबितिएसुं।
इच्छाए तइयभंगे, सुद्धो उ चउत्थओ भंगो ॥ ८२ ॥

गृहीताऽगृहीते वा गृहीतविषये भङ्गाश्चत्वारः। तद्यथा अशिवेन गच्छो गृहीतो न परिहारीति प्रथमो भङ्गः। परिहारी गृहीतो न गच्छ इति द्वितीयः। परिहार्यपि गृहीतो गच्छोऽपीति तृतीयः। न गच्छो न परिहारीति चतुर्थः। तत्र प्रथमे द्वितीये वा भङ्गेन प्रविशति प्रथमभङ्गे परिहारिणो, द्वितीयभङ्गे वास्तव्यानामनर्थसंभवात्, तृतीयभङ्गे पुनरिच्छया प्रवेशः। यदि सदृशेनाशिवेन गृहीत परिहारी, गच्छश्च तत प्रवेश्यते, अथ विसदृशेन एक सौम्यमुखीभिरपरः कालमुखीभी रक्तमुखीभिर्वा तदा न प्रवेश्यते। अन्यतरस्यानर्थसंभवात्। यस्तु चतुर्थो भङ्गः स शुद्ध एव।

संप्रति प्रथमाऽऽदिषु भङ्गेषु प्रतिषिद्धमपि प्रवेशनं कुर्वतः प्रायश्चित्तविधिमाह-

अइगमणे चउगुरुगा, साहू सागारि गामबाहिं ठेंति।
कप्पट्ठ सिद्ध सण्णी, साहु गिहत्थं व पेसेति ॥ ८३ ॥

प्रथमाऽऽदिषु प्रतिषेधमतिक्रम्य गमनं प्रवेशनमतिगमनं,तस्मिन्प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुका मासाः, आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनाश्च दोषाः। तथा यदि प्रथमाऽऽदिषु भङ्गेषु प्रतिषिद्धेऽपि प्रवेशने कृते साधुरेकोऽपि कालं करोति, तदा चरमं पाराञ्चितं नाम प्रायश्चित्तम्। अथ शय्यातरस्य कालकरणे ततश्चत्वारो गुरुकाः, यत एवं प्रायश्चित्तमतः परिहारिकेण ग्रामस्य बहिः स्थित्वा यदि कल्पस्थकं पश्यति। यदि वा-(सिद्ध त्ति) सिद्धपुत्रम्। अथवा संज्ञिनं श्रावकं साधुं वा विचाराऽऽदिविनिर्गतं गृहस्थं वा-ऽयम्, ततः संदेशं कथयित्वा प्रेरयति। यथा गत्वा साधूनामाचक्ष्व बहिः प्रव्रजितो युष्मान् द्रष्टुकामास्तिष्ठति, स तथा प्रेषितः साधूनामाख्याति।

ततः किमित्याह-

गंतूण पुच्छिऊणं, तस्स य वयणं करेंति न करेंति।
एगाऽऽभोयण सव्वे, बहिठाणं वारणं इयरे ॥ ८४ ॥

ग्रामाभ्यन्तरवर्तिनः साधवः परिहारिणः समीपं गत्वा पृच्छन्ति-चिराबाधं भवतो वर्त्तते। तत्र यदि ब्रूते-गृहीतोऽहमशिवेनेति, तदा ( तस्स य वयणं करेंति, न करेंति त्ति) तस्य परिहारिकस्य वचनं प्रवेशलक्षणं ते कुर्वन्ति। किमुक्तं भवति?-प्रथमे द्वितीये वा भङ्गे न कुर्वन्ति। तृतीये भङ्गे चतुर्थे कुर्वन्ति।

तृतीये यतनामाह-( एगाभोयणेत्यादि )। तृतीये भङ्गे यदि सदृशमशिवं तत एकस्मिन्नुपाश्रये तं कुर्वन्ति। अथ विसदृशं तर्हि नैकस्मिन्नुपाश्रये स्थापनीयोऽन्यतरस्यानर्थसंभवात्, किं तु भिन्ने, तस्मिन्नप्यसंबद्धे अथ व्यवच्छिन्नं गृहं न किमपि लभ्यते, ततः संबद्धेऽपि गृहे पृथग्द्वारे स्थापनीयः। ( एगाभोयण सव्वे त्ति ) एकस्य साधोराभोगन प्रतिजागरणम्। किमुक्तं भवति?-एकः साधुस्तं ग्लायन्तं प्रतिहारिणं प्रति जागर्ति, शेषाः सर्वेऽपि साधवः तत्प्रायोग्यमौषधाऽऽदिकं याचन्ते। ( बहिट्ठाणमिति ) यदि पुनः परिहारिणो वसतावानयने शय्यातरोऽप्रीतिं करोति, तदा ग्रामस्य बहिर्वसतौ दूरे वा योऽन्यो वाटकाऽऽदिस्तत्र परिहारिण स्थान कर्त्तव्यम्। ( वारण इयरे इति ) अथ सागारिको यस्तं प्रतिचरति, यश्च तत्र गत्वा शरीरवार्त्ता पृच्छति, तस्मिन् वारणं प्रतिषेधं करोति। यथा-यूयम शिवगृहीतस्य समीपं गच्छत, आगच्छत, एवं च तेन सह सम्पर्कं कुर्वाणा अस्माकमप्यशिवं संचारिष्यतस्तस्मान्मा कोऽपि युष्मन्मध्ये तत्र यासीत्, तदा यतना कर्त्तव्या। सा चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यते।

सांप्रतम्-" एगाऽऽभोयण सव्वे " इति व्याख्यानयन्नाह-

वुच्छिन्नघरस्सासइ, पिहद्दुवारे व संबद्धे।
एगो तं पडिजग्गइ, जोग्गं सव्वे वि भोसंति ॥ ८५ ॥

व्यवच्छिन्नगृहस्यासंबद्धस्योपाश्रयस्य असति अभावे संबद्धेऽप्युपाश्रये वसन्ति। कथंभूते?, इत्याह-पृथग्द्वारे विभिन्न-

द्वारे ततः (एगो तमिति) तं परिहारिणं प्रतिजागर्ति प्रतिचरति, शेषाः सर्वेऽपि साधवो योग्यमौषधाऽऽदिकं झोषयन्ति मार्गयन्ति; आभोगनं मार्गणं झोषणमिति एकार्थः । उक्तं च-" आभोगणं ति वा मग्गणं ति वा झोषणं ति वा एगट्ठमिति ॥ "

संप्रति " बहिट्ठाणं " इति व्याख्यानयति-

सागारियअचियत्ते, बाहिं पडियरण तह वि नेच्छंते ।
अदिट्ठे कुणइ एगो, न य भूयो वेंति दिट्ठम्मि ॥ ८७ ॥

सागारिकः शय्यातरः, तस्य " अचियत्ते " अप्रीतौ ग्रामस्य बहिर्वसतेर्दूरे वा योऽन्य उपाश्रयस्तं याचित्वा तत्र त परिहारिणमुन्मुच्य एकः साधुः प्रतिचरति । " वारणं इयरे " इत्यस्य व्याख्यानमाह-( तह वि नेच्छंते इत्यादि ) तथापि एवमपि यदि शय्यारो नेच्छति । यथा-किमिति यूयं गमनाऽऽगमनकारणेनाऽस्माकमप्यशिवं संचारयथ, तस्मात् मा कोऽपि तत्र गच्छेदिति. तदा एकः साधुर्यथा शय्यातरो न पश्यति न जानाति वा तथा प्रतिचरति । यदि पुनः कथमपि शय्यातरेण स्वयं दृष्टो भवेत् ज्ञातो वा, ततो वदेत्-यदा यूयं वारिता अपि न तिष्ठथ, तदा तदृष्टे, उपलक्षणमेतत्-ज्ञाते चारित्रे चैवं वक्तव्यम्-न भूयो गमिष्यामः क्षमस्व त्वमिति । अथ सागारिकस्य गाढमप्रीतिकरणं ततः सर्वेऽप्यन्यवसतिं याचयित्वा च तिष्ठन्ति ।

बहुपाउग्गउवस्सय, असती वसहा दुवेऽहवा तिन्नि ।
कइतवकलहेणऽन्नहिँ, उप्पायण बाहिँ संछोभो ॥८८॥

बहुप्रायोग्योपाश्रयस्यासति अभावे, किमुक्तं भवति ?-यत्र सर्वे साधवो मान्ति स उपाश्रयोऽन्यो न लभ्यते ततो द्वौ वृषभावथवा त्रयः कैतवेन कलहं कृत्वा अन्यत्र वसत्यन्तरे गच्छन्ति, तत्र स्थिताः परिहारिणः परिचेष्टां कुर्वन्ति, अन्यतरकैरपि औषधाऽऽदीनामुत्पादनं कृत्वा औषधाऽऽदीनि याचयित्वा बहिः संक्षोभः क्रियते. बहिः परिहारिणः समीपे प्राप्यते, येऽपि च कैतवकलहं कृत्वा न विनिर्गतास्तेऽप्यन्यतरकैः सह विविक्ते प्रदेशे मिलित्वा पारिहारिकयोग्यं गृह्णन्ति ।

संप्रति तद्गतप्रतिचरणविधिमाह-

ते तस्स सोहियस्स य, उव्वत्तण संथरं व धोवेज्जा ।
अच्छिक्कोवहि पेहे, अचियर्लिगेण जा पउणो ॥ ८९ ॥

ते अभ्यन्तरकाः कलहव्याजेन विनिर्गताः, तस्य शोधितस्य प्रतिपन्नपरिहारतपःप्रायश्चित्तस्य, उद्वर्त्तनम्, उपलक्षणमेतत्-परावर्त्तनमौषधाऽऽदिप्रदानं च वस्त्रान्तरितेन हस्तेन कुर्वन्ति, वस्त्राणि च तस्य सत्कानि सान्तरमेकोऽनन्तरितानि गृह्णाति, सोऽन्यस्मै समर्पयति, सोऽन्यस्मायित्यन्तरितं धावयन्ति प्रक्षालयन्ति, उपधिमपि तस्य प्रत्युपेक्षन्ते (अच्छिक्का) अस्पृष्टाः सन्तः, बहुवचनप्रक्रमेऽप्येकवचनं गाथायां प्राकृतत्वात्, वचनव्यत्ययोऽपि हि प्राकृते यथालक्ष्यं भवतीति, एवं तावत्प्रतिजागरति यावत्स प्रगुणो भवति । राजप्रद्वेषे तु यत् यत्रार्चितं लिङ्गं तेन यावत्प्रगुणो भवति तावत्प्रतिजागरति । व्य० १ उ० । ( यथालघुस्वको व्यवहारः ' अहालहुस्सय ' शब्दे प्रथमभागे ८७० पृष्ठे गतः )

(१५) अथ कं व्यवहारं केन तपसा पूरयतीति प्रतिपादनार्थमाह-

गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होइ दसमं तु ।
अहगुरुग दुवालसमं, गुरूगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥ ९६ ॥

गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणं अष्टमं कुर्वन् पूरयति, गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणमष्टमेन वहति, तथा गुरुतरकं चतुर्मासप्रमाणं व्यवहारं दशमं कुर्वन् पूरयति, दशमेन वहतीत्यर्थः । यथागुरुकं कुर्वन् द्वादशमेनेत्यर्थः । एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारपूरणविषये ततः प्रतिपत्तिः ।

छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल एगठाणपुरिमड्ढं ।
निव्वीयं दायव्वं, अहालहुस्सम्मि सुद्धो वा ॥ ९७ ॥

लघुकं व्यवहारं त्रिंशद्दिनपरिमाणं षष्ठं कुर्वन् पूरयति, लघुतरकं पञ्चविंशद्दिवसपरिमाणं व्यवहारं चतुर्थं कुर्वन्, यथालघुकव्यवहारं विंशतिदिनमाचाम्लं कुर्वन्, एषा लघुकत्रिविधव्यवहारपूरणे तपःप्रतिपत्तिः । तथा लघुकस्वभावव्यवहारं पञ्चदशदिवसपरिमाणमेकस्थानकं कुर्वन् पूरयति, लघुकतरस्वकव्यवहारं दशदिवसपरिमाणं पूर्वार्द्धकं कुर्वन्, यथालघुस्वकव्यवहारं पञ्चदिनपरिमाणं निर्विकृतिकं कुर्वन्पूरयति । तत एतेषु गुरुकगुरुतरकाऽऽदिषु व्यवहारेष्वनेनैव क्रमेण तपो दातव्यम् । यदि वा यथालघुस्वके व्यवहारे प्रस्थापयितव्ये स प्रतिपन्नव्यवहारतप प्रायश्चित्तः, एवमेवाऽऽलोचनाप्रदानमात्रतः शुद्धः क्रियते, करणे यतनया प्रतिसेवनात् । व्य० २ उ० ।

वहवे परिहारिया इच्छेज्जा-एगतो एगमासं वा दुमासं वा तिमासं वा चाउम्मासं वा पंचमासं वा छमासं वा वत्थए, ते अन्नमन्नं संभुंजति, अन्नमन्नं नो संभुंजइ मासंते, तओ पच्छा सव्वे वि एगओ संभुंजति ॥ २५ ॥

" वहवे परिहारिया " इत्यादि । अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ?, इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

असरिसपक्खे ठाविएँ, परिहारो एस सुत्तसंबंधो ।
काऊण व तेगिच्छं, साइज्ज समागते सुत्तं ॥ ३५५ ॥

असदृशपाक्षिको नाम-द्वितीयभङ्गवर्ती, चतुर्थभङ्गवर्त्ती, वा तस्मिन् स्थापिते किल चतुर्गुरु नाम प्रायश्चित्तं परिहारः प्रस्तावादधिकृतपरिहारसूत्रास्याय निक्षेपः । एष पूर्वसूत्रेण सहाधिकृतसूत्रस्य सम्बन्धः । अत्रैव प्रकारान्तरमाह-( काऊण वेत्यादि ) रोगचिकित्सा कुर्वता मनोज्ञमौषधं मनोज्ञं वा भोजनमनुरागेणाऽऽस्वादितं, तत्र च प्रायश्चित्त परिहार तप ,ततो रोगचिकित्सां कृत्वा मनोज्ञ च भोजनाऽऽदिकमास्वाद्य समागतस्य प्रायश्चित्तं परिहारतपो भवतीति ज्ञापनार्थमधिकृतं परिहारविषयसूत्रम् । एष द्वितीयः संबन्धप्रकारः ।

अधुना तृतीयमाह-

अहवा गणस्स अप्प-त्तियं तु ठावेंते होइ परिहारो ।
एसो त्ति न एसो त्ति व, वज्जेऊ भंडणं सगणे ॥३५६॥

यो गणधरः स्वाभिप्रेतं गणासम्मतं गुणरहितमपि स्थापयितुकामोऽभिमानवशेनैष योग्यो, न पुनरेष गणसम्मतो योग्य-

इत्येवं स्वगणे भण्डन कृत्वा स्थापयति तस्मिन् गणस्य गच्छस्य अप्रीतिकं यथा भवति एवं स्वाभिप्रेतमाचार्यं स्थापयति प्रायश्चित्तं भवति परिहार परिहारतप, तत एतदर्थप्रतिपादनार्थं दिग्बन्धसूत्रानन्तर परिहारसूत्रम्। एष तृतीय' सम्बन्धप्रकारः।

सम्प्रति चतुर्थं पञ्चमं च सम्बन्धप्रकारमाह–

परिहारो वा भणितो, न तु परिहारम्मि वण्णिया मेरा।
ववहारे वा पगते, अह ववहारो भणे तेसिं ॥ ३५७ ॥

वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतनार्थः, अधस्तात्परिहार उक्तो, न तु तस्मिन्परिहारो बोढव्यो व्यावर्णितो मर्यादा विधिरित्यर्थः। व्यवहारार्थं किल व्यवहाराध्ययनं प्रकृतं, ततस्तस्मिन् नदीस्रोतोवदनुवर्तमाने कृते व्यवहारे– ' अह ' एष तेषां परिहारिकाणां च व्यवहारो भण्यते। अनेन सम्बन्धपञ्चकेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य ( २५ ) व्याख्या—बहवः प्रभूताः पारिहारिका॰, बहवोऽपरिहारिकाः कारणवशत॰ तीर्थकरोपदेशेच्छया, न स्वच्छन्देच्छया इच्छेयुरेकत एकत्र स्थाने एकमासं वा द्विमासं वा त्रिमासं वा चतुर्मासं वा पञ्चमासं वा षण्मासं वस्तुं तेऽन्योन्यं परस्परमपि, परिहारिका इति शेषः। संभुञ्जते सर्वप्रकारैः भुञ्जन्ति परिहारिका यावत्तपो वहन्ति तावत्ते परस्परमपरिहारिकैः वा समं न संभुञ्जति। यैः षण्मासाः सेविताः तेषां य षण्मासेऽपरिवर्ती मासस्तं यावत्ते परिहारिका परस्परं परिहारिकैः, समभुपलक्षणमेतत्-अपरिहारिकैर्वा सममेकत्र न संभुञ्जन्ते,आलपनाऽऽदीनि कुर्वन्ति, तत उपरितनमासपरिपूर्णीभवनानन्तर पश्चात्सर्वेऽपि पारिहारिका अपारिहारिकाश्च एकत एकत्र स्थाने सर्वप्रकारैर्भुञ्जते। एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अत्र पर आह–ननु बहव' पारिहारिका', अपारिहारिकाश्च कथमेकत्र संभवन्ति,येनाधिकृतं सूत्रमुपपद्येत ?, तत आह–

कारणिगा ते भोगा, बहुगा परिहारिका भवेज्जाहि।
अप्पारिहारिएँ भोगो, परिहारि न भुंजए बहओ ॥ ३५८ ॥

बहवः पारिहारिका एकत्र मिलिता भवेयु', कारणिकाः कारणवशेनेति भावः। ततो नाधिकृतसूत्रानुपपत्ति॰। तत्रापारिहारिकाणामेकत्र परस्परं भोगो भवति। एतावता " ते अण्णमण्णं संभुंजंति" इति व्याख्यातम्। यस्तु परिहारी परिहारतपो वहन् परिहारिभिर्वा समं न भुङ्क्ते, एतेन " असमन्नं तो संभुंजति " इति व्याख्यातं, पारिहारिका नाम–ये परिहाररूपं प्रायश्चित्तं प्रपन्नाः ते अपरिहारिकास्तत्र परिहारतपःप्रतिपादनविधिः, परिहरणविधिश्च निशीथाध्ययने कल्पे च व्यावर्णितः।

यस्तु तत्र नोक्तस्तमिदानीं प्रतिपिपादयिषुराह–

गिम्हाणं आवण्णो, चउसु वि वासासु देंति आयरिया।
पुण्णम्मि मासवज्जण, अप्पुण्णे मासियं लहुयं ॥ ३५९ ॥

इह ग्रीष्मग्रहणेन ऋतुबद्धकालग्रहणं, तेषामृतुबद्धाना मासानां मध्ये एकमासं यावत्षण्मासं तावत्परिहारतपः समापन्नस्तद्वर्षारात्रे चतुर्ष्वपि मासेषु दीयते। अत्रार्थे च कारणं स्वयमेव वक्ष्यति। ,यस्तु षण्मासं पारिहारतपः प्रपन्नस्तस्य पूर्णे षण्मासे उपरि मासवर्जनं मासं यावदेकत्र भोजनवर्जनम्, एतेन मासाऽऽदिके परिपूर्णे पञ्चरात्रिन्दिवाऽऽदिभोजनवर्जनमुपलक्षितम्, तदनन्तरगाथायां स्वयमेव वक्ष्यति। तत्र यावद् भोजनं प्रतिषिद्धं तत्र तावत्परिपूर्णभोजनं कुर्वतः प्रायश्चित्तं मासिकं लघु।

संप्रति "पुण्णम्मि मासवज्जणं" इत्येतद्व्याचिख्यासुराह–

पणगं मासे मासे, वज्जेज्जइ मास छण्ह मासाणं।
न य भद्दपंतदोसा, पुव्वुत्तगुणा य तो वासे ॥ ३६० ॥

मासे मासे पञ्चकं परिवर्द्धमानं तावत्पर्यन्ते यावत्षण्मासानामुपरि मासो वर्ज्यते। इयमत्र भावना-यो मासिकं परिहारतप आपन्नस्तस्य मासं वहतः पूर्वोक्तो विधिरालापनवर्द्धमानऽऽदिको वेदितव्यः। मासे तु व्यूढे उपरि पञ्चरात्रिन्दिवानि यावदालापनाऽऽदीनि सर्वाणि क्रियन्ते,नवरमेकं भोजनमेकत्र वर्ज्यते, एवं यो द्वौ वा मासावापन्नस्तस्य दशरात्रिंदिवानि त्रीन्मासान् तस्य विंशति', यः पञ्चमासान् तस्य भिन्नमासं यावत्, यस्तु षण्मासानापन्नस्तस्य षण्मासेषु व्यूढेषु उपरि मासं यावदेकत्र भोजनमेकं वर्ज्यते, शेषं त्वालापनाऽऽदिकं सर्वं सर्वत्र दशरात्रिन्दिवाऽऽदौ क्रियते। अथ कस्मादृतुबद्धेषु मासेषु प्रपन्नस्यापि रात्रेः तपो दीयते तत आह-( न य भद्दपंतदोसा इत्यादि ) ऋतुबद्धे काले यदि परिहारतपो दीयते ततस्तस्मिन् दत्ते सति यदि मासकल्पे परिपूर्णे सति विहरन्ति तर्हि पारिहारिकाणां परितापनाऽऽदिदोषप्रादुर्भावः। अथ न विहरन्ति ततो भद्रकप्रान्तकृतदोषसम्भव'। भद्रकृता उद्गमाऽऽदिकरणं,प्रान्तकृतदोषा अतिचिरावस्थानेन चमढनाऽऽदिका वर्षाकाले त्वेते दोषा' प्रयोजनतः संभवन्ति, सर्वदर्शिनां वर्षाकालस्य तपोऽनुष्ठानाऽऽश्रयतया सम्मतत्वेन कस्यचिदपि विशेषतः प्रतिद्वेषस्य वा संभवात्। तथा पूर्वोक्तगुणाश्च कल्पाध्ययनप्रतिपादिताः गुणाश्च वर्षाकाले अवाप्यन्ते, ततो वर्षासु परिहारतपो दीयते।

अथ के ते पूर्वोक्ता गुणा इति विस्मरणशीलान् प्रति तान् भूय उपदर्शयति–

वासासु बहू पाणा, बलिओ कालो चिरं च ठायव्वं।
सज्झायसंजमतवे, धणियं अप्पा निओत्तव्वो ॥ ३६१ ॥

वर्षाकाले सर्वतः प्रायो बहवः प्राणाः, ततो दीर्घभिक्षर्या न भवन्ति। तथा स्निग्धतया स कालो बलिको बलीयान्, तपः कुर्वतां बलावष्टम्भं करोति इति भावार्थः। तथा चिरं च प्रभूतं कालं चैकत्र स्थातव्यम्। अत एव स्वाध्यायसंयमे तपसि च धणियमत्यर्थमात्मा नियोक्तव्यो भवति। तत एवं प्रभूतगुणोपदर्शनता वर्षाकाले परिहारतपःप्रतिपत्तिः कार्यते। एतेन " गिम्हाणं आवन्नो, चउसु वि वासासु देंति आयरिया। " इत्यत्र यदुक्तं तत्र कारणं स्वयमेव वक्ष्यतीति तत्समर्थितम्।

संप्रति षण्मासवहनानन्तरमुपरि यन्मासोऽसौ भोजनमधिकृत्य वर्ज्यते तत्र कारणमाक्षेपपुरस्सरमभिधित्सुराह–

मासस्स गोणनामं, परिहरणा पूतिनिम्बलक्खमासो।
तत्तो पमोयमासो, भुंजणवज्जो न सेसेहिं ॥ ३६२ ॥

अथ षण्णां मासानामुपरि मासस्य परिहरणं भोजनमधिकृत्य क्रियते । उच्यते-निर्वलनार्थं प्रमोदार्थं वेति वाक्यशेषः। तथाहि-कुथितमद्याऽऽदिगन्धं मृत्तिकाभाजनं यावदद्यापि निर्वलितं न भवति, तावत्तत्र क्षाराऽऽदिप्रक्षेपः एवमेषोऽपि दुश्चरितदुरभिगन्धभावितो नियमादेतावता कालेन निर्वलितो भवति नान्यथा, तथा जिनप्रवचनप्रवृत्तेः. तथा कश्चित् केनाप्यगम्यगामित्वेनालीकेनातिशयितु राजकुले च निवेदितः। स तप्तमासाऽऽदिकं गृहीत्वा शुद्ध. स तप्तकालाऽऽदिकं गृहीत्वा शुद्धः सन् मिथः भाषणादिभिः प्रमोदं कृत्वा परस्परं स्वजनैः सह भुङ्क्ते, एवमेषोऽपि परिहारिक आत्मानमपराधमलिनं प्रायश्चित्तेन विशोध्य मासं यावत् मिथः संभाषणादिभिः प्रमोदमादाय तैः सहैकत्र भुङ्क्ते, तदेवमुक्ते कारणवशाद्यतोऽन्यैः सममभुञ्जानो मासं यावदवतिष्ठते, तस्मादेतस्य मासस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम द्विधा । तद्यथा-पूतिनिर्वलितः मास इति प्रमोदमास इति । पूतिर्दुरभिगन्धिः, तस्य निर्वलितमास्फेटनं तत्प्रधानो मासः पूतिनिर्वलितमासः। तथा प्रमादहेतुर्मासः स च मासो भोजनेन वर्ज्यः परिहर्त्तव्यो, न पुनः शेषैरालापाऽऽदिभिः । यथाऽऽभ्यां कारणाभ्यां मासपरिवर्जनमेवं पञ्चरात्रिन्दिवाऽऽदि परिवर्जनमपि भावनीयम् ।

किञ्च-अन्यदपि कारणमस्ति पञ्चरात्रिन्दिवाऽऽदिपरिवर्जने। ततस्तदभिधित्सुराह-

दिज्जइ सुहं व वीसुं, तवसोसिययस्स जं वलकरं तु ।
पुणरवि य होज्ज जोग्गो, अचिरा दुविहस्स वि तवस्स ।३६३।

इह यद्येकत्र भुङ्क्ते तत. सहैव स्वसंघाटकेनैष भुङ्क्ते इत्यनादरबुद्ध्या यत्तपःशोषितस्य वलवर्द्धनकर तस्य दानं न भवति, तेष्वपृथक्प्रतिभोजने पुनस्तप शोषितगात्रोऽयमद्यापि न मण्डल्यां भुङ्क्ते, इत्यादरवुद्धिभावतः तपसा शोषितस्य तद्बलवर्द्धनकरमशनाऽऽदि तत्सुखेनैव सर्वैरपि साधुभिरपि दीयते। तस्यापि दाने को गुण इत्याह-वलवर्द्धनकराऽशनाऽऽदिप्रदाने पुनरप्यचिरात्स्तोकेन कालेन द्विविधस्यापि तपसः परिहारतपसः शुद्धतपसश्चेत्यर्थ., योग्यो भवति ।

सूत्रम्-

परिहारकप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स णो कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, थेरा य णं वा देज्जा इमं तं अज्जो ! तुमं एतेसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा, एवं से कप्पइ दाउं वा अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से लेवं अणुजाणवित्तिए अणुजाणह भंते ! लेवाए, एवं से कप्पइ लेवं समासेवित्तए ॥ २६ ॥

( परिहारकप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स इत्यादि ) अथास्य सूत्रस्य कः संवन्धः ? उच्यते-

एसा वूढे मेरा, होइ अवूढे अयं पुण विसेसो ।
सुत्तेणेव निसिद्धं, होइ अणुण्णा उ सुत्तेण ॥ ३६४ ॥

एषा अनन्तरसूत्रप्रतिपादिता मर्यादा स्थितिर्भवति व्यूढे परिहारतपसि, अव्यूढे पुनः परिहारतपसि अयमधिकृतसूत्रेण प्रतिपाद्यमानो मर्यादाया 'विहारकप्पट्ठियस्स' विशेष.। एष पूर्वसूत्रेण सहाधिकृतसूत्रस्य संवन्धः । अनेन संवन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य ( २६ ) व्याख्या-परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोर्न कल्पते अशनं पानं खादिम स्वादिमं वा अन्यस्मै साक्षात्स्वहस्तेन दातुमनुप्रदातुं वा परम्परकेण प्रदातुमनुशब्दस्य परम्परद्योतकत्वात्। अत्रैवानुज्ञामाह-( थेरा य ण मित्यादि ) यदि पुनः स्थविराः, णमिति वाक्यालङ्कृतौ । वदेयुरिमं परिहारकल्पस्थितं भिक्षुम् । अहो आर्य ! त्वमेतेभ्यो देहि परिभाजय, अनुप्रदेहि वा । एवं स्थविरैरनुज्ञाते सति ( से ) तस्य कल्पते दातुमनुप्रदातुं वा, दानेऽनुप्रदाने च तस्य हस्तो विकृतिप्रश्रेणिखरण्टितो भवति, ततः ( से ) तस्य कल्पते लेपं विकृतिहस्तगतमनुज्ञापयितुम् । यथा-भदन्त ! यूयमनुजानीथ लेपखरण्टितं हस्तम् । (लेवाए इति) समासेवितुमेवमनुज्ञापने कृते सति (से) तस्य कल्पते लेपं विकृतिं हस्तगतां समासेवितुम्, उपलक्षणमेतदन्यदपि यदुद्धरितं तदप्यनुज्ञात सत् कल्पते समासेवितुमिति, इति सूत्रसंक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः सामान्यत आह चेत्यादि सूत्रेणैव प्रदानेऽनुप्रदाने च प्रथमतो निषिद्धे तदनन्तरं तेनैव सूत्रेण दानेऽनुप्रदाने च भवत्यनुज्ञा । एवं संक्षेपतः सूत्रार्थे कथिते-

किह तस्स दाउ कप्पइ, चोयग ! सुत्तं तु होइ कारणियं ।
सो दुब्बलो गिलायइ, तस्स उवाएण देंते य ॥३६५॥

( किह ) कथं केन प्रकारेण तस्य परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोर्दातुं क्रियतेऽशनाऽऽदिकं, तद्दानकरणस्य तत्कल्पविरुद्धत्वात्। अत्र सूरिराह-हे चोदक ! सूत्रमिदं भवति कारणिकं कारणेन निवृत्त कारणिकं, कारणमधिकृत्य प्रवृत्तमित्यर्थः। तदेव कारणमाह--( सो दुब्बलो इत्यादि ) स परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः दुर्वलस्तपःशोषितशरीरत्वादत एव पदे ग्लायति । ततस्तस्यानुकम्पनार्थमेवमनेनोपायेन दानानुप्रदानकाऽऽरोपणलक्षणेन विकृतिं स्थविरा ददति प्रयच्छन्ति। तत एषाऽपि परिहारकल्पसमाचारी, न कश्चिद्दोष. ।

संप्रति यथा तस्य दानमनुप्रदानं वा करणीयं भवति, येन च कारणेन स्थविरा अनुजानते, तदभिधित्सुराह-

परिमिय असई अन्ने, सो वि य परिभायणम्मि कुसलो उ ।
उच्चूरपउरलंभे, अगीयवामोहणनिमित्तं ॥३६६॥
तवसोसियमज्झोवा-अओ य तब्भाविओ भवे अहवा ।
थेरा नाऊणेवं, वदंति भाएहि तं अज्जो ! ॥ ३६७ ॥

इह यद्दानमनुप्रदानं वा परिभाजन उच्यते, तच्च यथा संभवति तथोपपाद्यते-साधुभि सर्वैस्तपोविशेषप्रतिपन्नवर्जितैरेकत्र मण्डल्यां भोक्तव्यम्। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते। इह द्विविधाः साधवो लब्धिमन्तो, लब्धिरहिताश्च। तत्र ये लब्धिरहितास्ते वहिर्गतास्तथाविधं प्रायोग्यं न लभन्ते, मण्डल्यां तूपविष्टानां लब्धिमत्साधुसंघाटकाऽऽनीतपरिभाजनेन तेषामन्येषामपि च बालशैक्षवृद्धग्लानाऽऽदीनां प्रायोग्यं भवतीति तेषामनुग्रहाय मण्डलीवन्धकरणं मण्डलीवन्धे च कृते कस्यचिदजीर्णं भवति, जीर्णेऽपि च काश्चित् विकृतीर्भुङ्क्ते, न सर्वः सर्वाः. ततः प्रचुरविकृतिलाभे सर्वजनानुग्रहाय परिभाजनं क्रियते, तत्र स परिहारकल्पस्थितो भिक्षुस्तपःशोषितशरीर इति तस्य विकृतिविषयेऽध्युपपात. अत्र जात. ।

अथवा-पूर्वं सदैव तस्यां विकृतौ भवित इति तद्भावनया तस्यामभ्युपपातो जातस्तत एतत् स्थविरा ज्ञात्वा तदनुग्रहाय परितो विकृतिलाभे सति असत् अविद्यमानोऽन्यः परिभाजनकुशलो यः सर्वेषामौचित्येनाऽऽपूरयति तस्याऽपि पारिहारकल्पस्थितः परिभाजनकुशल इति सर्वसाधूनां वचनेन प्रकार्यैवं वदति-अहो आर्याः ! गाथायामोकारान्तता प्राकृतलक्षणवशात्। त्वमेतेभ्यः साधुभ्यः परिभाजय,यदि पुनः (उच्चूरं)नानाविधं प्रचुरमतिप्रभूतं घृताऽऽदि लब्धं भवति तदा उच्चूरप्रचुरलाभे अगीतव्यामोहननिमित्तम् अगीतार्थो मा विपरिणमन्त्विति । यद्वा तद्वा कारणं वचसा प्रकाश्य तद्व्यामोहननिमित्तमेवं ब्रुवते-आर्य ! त्वं साधुभ्यः परिभाजय।

परिभाइएँ संसट्ठे, जो हत्थो संलेहावए परेण ।
फुसइ व कुड्डे लहुओ,अणणुखाए भवे लहुओ ॥३६८॥

आचार्योपदेशेन परिभाजिते सति तस्य हस्तः संसृष्टो घृताऽऽदिना लिप्तो भवति,तस्मिन्संसृष्टे यदि तथैव संसृष्टेन हस्तेनावतिष्ठते तर्हि प्रायश्चित्तं मासलघुको वा । हस्तं परेण संलेहापयति तस्यापि प्रायश्चित्तं मासलघु । अथवा-कुड्ये हस्तं स्पृशति तदाऽपि मासलघु । अथवा काष्ठेन निघृष्य छर्दयति तत्रापि मासलघु । अथवा-अननुज्ञातः सन् स्वयं लेढि हस्तं तदाऽपि तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः।

कप्पति य वियसम्मी, चोयगवयणं स सेस सूवस्स ।
एवं कप्पइ अप्पा-यणं तु कप्पट्ठिती चेसा॥ ३६९ ॥

वितीर्णे अनुज्ञाते सति कल्पस्थे स्वयं हस्तं परिलेढुम् । इयमत्र भावना-यथाचार्याः समादिशन्ति तं स्वहस्तं घृताऽऽदिविकृतिखरण्टितं स्वयमेव लेढि, चशब्दादन्यदपि यत्परिभाजितशेषं तदप्याचार्येणानुज्ञातं भुङ्क्ते ( चोयगवयणं ति ) अत्र चोदकवचनम्-यथारूप परिहारिकस्य विकृतेरनुज्ञापनं युक्तमिति । सूरिराह-( सेस सूवस्स ) सूपस्य सूपकारस्य यथा शेषाऽऽभाव्यं भवति तथा तस्यापीति भावः । एतदुक्तं भवति-यथा सूपकारः केनापि स्वामिना संदिष्ट एतावत्प्रमाणैस्तन्दुलमुद्गाऽऽदिभिर्भक्तं निष्पाद्यैतावत्पुरुषान् भोजयेत्यादेशे लब्धे साधिते भक्ते भोजितेषु पुरुषेषु यच्छेषमुद्वरति तत्सर्वं सूपकारस्याऽऽभाव्यम्। एवमाचार्योपदेशतः परिहारिकेण परिभाजिते यच्छेषमुद्वरति तत्तस्य पारिहारिकस्याभाव्यम्। सूपकारदृष्टान्त उपलक्षणं,तेनाऽऽपूपिकदृष्टान्तोऽपि वेदितव्यः । स चैवम्-केनाप्यापूपिक आदिष्ट एतावता कणिकाऽऽदिना द्रव्येण एतावत्प्रमाणं मण्डकाऽऽदि कर्त्तव्यमेवमादेशे लब्धे तथैव मण्डकाऽऽदिके निष्पादिते शेषं यदुद्वरति मण्डकाऽऽदि तदापूपिकस्य भवत्येवं पारिहारिकस्यापि, तत एवं तपःशोषितशरीरस्याऽऽप्यायननिमित्तमाचार्यस्य करोते अनुज्ञापनमित्यदोषः । कल्पस्थितिरेषा यत् ग्लायत आप्यायननिमित्तमेवमनुज्ञापनं कर्त्तव्यं, येन शेषं प्रायश्चित्ततपः सुखेन वहतीति ।

सूपकारदृष्टान्तमेव सविस्तरं भावयति-

एवइयाणं भत्तं, करेहि दिण्णम्मि सेसयं तस्स ।
इय भाइय पज्जंते, सेसुव्वरिय च देंतस्स ॥ ३७० ॥

एतावद्भिस्तन्दुलाऽऽदिकैरेतावद्भक्तं कुर्विति समादेशे लब्धे निष्पादिते भक्ते दत्ते चोक्तप्रमाणेभ्यः पुरुषेभ्यो भोजने यच्छेषं तस्याऽऽभवति,इत्येवममुना प्रकारेणाऽऽचार्योपदेशतः पर्याप्ते भाजिते शेषमुद्वरितमस्य पारिहारिकस्य परिवेषस्याऽऽचार्यो ददाति ।

संप्रति येन प्रमाणेनाऽऽचार्यमुपदिशति तत्प्रमाणमभिधित्सुराह-

दव्वप्पमाणं तु विदित्तु पुव्व,
थेरा से दाए ततियं पमाणं ।
जुत्ते वि सेसं भवते जहा उ,
उच्चूरलंभे तु पकामदाणं ॥ ३७१ ॥

इहाऽऽचार्यैः पूर्वं द्रव्यं प्रमाणयितव्यम्-यथेदं किं युक्तप्रमाणमाहोश्वित्सपरिस्थापनमेवं पूर्वं द्रव्यप्रमाणं विदित्वा ज्ञात्वा स्थविरा आचार्याः ( से ) तस्य परिहारिकस्य तकत्प्रमाणं दर्शयन्ति यथा युक्तेऽपि युक्तप्रमाणेऽपि शेषं भवति (उच्चूरलाभे) प्रचुरनानाविधघृताऽऽदिलाभे प्रकामदानं यावत् यस्मै रोचते तावत्तस्मै दीयतामित्येवंरूपमनुज्ञाप्यते।

सूत्रम्-

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो वडियावेयाए गच्छिज्जा,थेरा तं वएज्जा-परिग्गहेहि अज्जो! अहं पि भोक्खामि वा पाहामि वा,एवं णं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए,तत्थ णो कप्पइ अपरिहारिएणं परिहारिस्स पडिग्गहम्मि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा, पातए वा, कप्पइ से सकंसि वा पडिग्गहगंसि वा सकंसि वा पलासगंसि वा सकंसि वा कमढगंसि वा सकंसि वा खुवगंसि वा उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा, एस कप्पे अपरिहारियस्स पारिहारियओ ॥ २७ ॥

( परिहारकप्पट्ठियं भिक्खू सएणं पडिग्गहेणमित्यादि ) अस्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

आयाणाऽऽदिऽवसाणे, संपुडितो एस होइ उद्देसो ।
एगाहिगारियाणं, वारेइ अतिप्पसंगं वा ॥ ३७२ ॥

आदानमादिः,अवसानं पर्यन्तः,तयोः साधर्मिकाधिकारप्रतिपादनादेष उद्देशः संपुटित , संपुटं सञ्जातमस्येति संपुटितः। तारकाऽऽदिदर्शनादित प्रत्ययः। इयमत्र भावना-अस्योद्देशकस्याऽऽद्यावन्ते च प्रत्येकं द्वे द्वे सूत्रे साधर्मिकाऽऽधिकारप्रतिपादके तत एष उद्देशकः,साधर्मिकाधिकारेण संपुटितः, संपुटितत्वाच्च संपुटनकरणमेवास्य सूत्रस्य संबन्धः।अथवा-एकाधिकारिकानि यान्यनन्तरमुद्दिष्टानि पारिहारिकसूत्राणि तेषामेकाधिकारिकाणा यो भक्तदानैकत्रभोजनप्रतिषेधेऽतिप्रसङ्गस्तं वारयत्यधिकृते सूत्रद्वयेनेत्येष पूर्वसूत्रेण सहास्य संबन्धः।अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य (२७)सूत्रस्य व्याख्या-परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः स्वकीयेन एतद्ग्रहेण प्रतिग्रहणेन वा वसतेर्बहिरात्मन स्वशरीरस्य वैयावृत्याय,भिक्षाऽऽनयनायेत्यर्थः । गच्छेत् स्थविराश्च तथा गच्छन्तं दृष्ट्वा वदेयुरस्मद्योग्यमपि स्वपात्रके गृहीया अहमपि भोक्ष्ये पास्या-

मि वा एवमुक्ते ( से ) तस्य कल्पते स्थाविरयोग्यं प्रतिगृहीतुम्। तत्र तस्मिन्परिगृहीते सति नो कल्पते अपरिहारिकेण सता पारिहारिकस्य पतद्ग्रहे अशन पानं खादिमं स्वादिमं वा भोक्तुं वा पातुं वा, किं तु कल्पते ( से ) तस्यापारिहारिकस्य स्वकीये पतद्ग्रहे तुम्बाऽऽदिमये स्वकीये वा पलाशपात्रके स्थाले स्वकीये वा ( खुव्वए त्ति ) पलाशाऽऽदिपत्रमये दोन्निके (उड्डुट्टु उड्डुट्टु इति) अवकृष्यावकृष्य भोक्तुं वा पातुं वा । उपलक्षणमेतत्–दुर्लभपानीयभावे कालाप्रापणे वा तत्पात्रे एव पारिहारिकेण समं कल्पते भोक्तुं वा पातुं वा। उपसंहारमाह–एष कल्पोऽपारिहारिकस्य, पारिहारिकमपः पारिहारिकमधिकृत्य । एष प्रथमसूत्रसंक्षेपार्थः ।

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहएणं वहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,थेरा णं वदेज्जा–पडिग्गहेहि अज्जो ! अत्थ तुमं पि एत्थ भोयसि वा पाहासि वा,एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए, तत्थ णो कप्पइ पारिहारिएणं अपारिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोयए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि पडिग्गहंसि सयंसि वा पलासगंसि वा सयंसि वा कमढगंसि सयंसि वा खुव्वगंसि वा पाणिसि उड्डुट्टु उड्डुट्टु भोयए वा पायए वा, एस कप्पे पारिहारियस्स अपारिहारियओ त्ति बेमि ॥ २८ ॥

द्वितीयसूत्रसंक्षेपार्थस्त्वयम्—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः स्थविराणा पतद्ग्रहेण वसतेर्बहिः स्थविराणां वैयावृत्याय,भिक्षाऽऽनयनायेत्यर्थः । गच्छेत्,स्थविराश्च तं तथा गच्छन्तं दृष्ट्वा नूनं सर्वगृहेषु भिक्षाकालः समकं वर्त्तते, ततोऽस्मद्योग्यमानीय पश्चादेष आत्मनो योग्याऽऽनयनाय प्रविष्टो न किमपि लप्स्यते इति कारणवशतो वदेयुः-प्रतिगृह्णीयाः ?,त्वमप्यत्र भोक्ष्यसे, पास्यसि वा,एवमुक्ते ( से ) तस्य कल्पते प्रतिगृहीतुं तत्र तस्मिन् आत्मयोग्यग्रहणे सति न कल्पते पारिहारिकेणापारिहारिकस्य पतद्ग्रहे अशनं पानं खादिमं स्वादिमं वा भोक्तुं वा पातुं वा, किं तु कल्पते तस्य स्वकीये वा पलाशके स्वकीये वा कमठे स्वकीये वा खुव्वके भोक्तुं वा पातुं वा, उपलक्षणव्याख्यानमत्राऽपि द्रष्टव्यम् । एष कल्पः पारिहारिकस्य पारिहारिकतपोऽपारिहारिकमधिकृत्य इति ब्रवीमि तीर्थकरोपदेशतो न स्वमनीषिकयेति ।

संप्रति निर्युक्तिभाष्यविस्तरः–

सपडिग्गाहे परपडि–ग्गहे य वहि पुव्व पच्छ तत्थेव ।
आयरियसेहऽभिग्गह–सम संडासे अहाकप्पो ॥३७३॥

पूर्वं वसतेर्बहिर्भिक्षाऽऽनयनाय निष्क्रम्य स्वपतद्ग्रहे स्वयोग्यमानीय पश्चात्परपतद्ग्रहे आचार्ययोग्यमानयति । अथवा–पूर्वं परपतद्ग्रहे आचार्ययोग्यमानीय पश्चात्स्वपतद्ग्रहे स्वयोग्यमानयति । अथवा—कारणवशतः तत्रैव एकस्मिन्पतद्ग्रहे उभययोग्यमानयति । आनीते च स्थविरेण पूर्वं भुङ्क्ते पश्चात् पारिहारिकेण भोक्तव्यम् । अथ कालो न प्राप्यते ततः आचार्यः स्थविरः, शैक्षाभिग्रहः पारिहारिकः, एतौ द्वावपि सममेककालमेकस्मिन् पतद्ग्रहे भुञ्जाते । तत्र च संडासोपलक्षितः शुनकमांसदृष्टान्तो वक्तव्यः । एष यथाकल्पोऽयं यथावस्थिता सामाचारी ।

साम्प्रतमेनामिव गाथां विवरीषुः प्रथमतः "सपडिग्गहे परपडिग्गहे य वहि पुव्व " इति व्याख्यानयति–

कारणिय दोन्नि थेरो,व सो गुरू अह च केणई असहू ।
पुव्वं सयं व गेण्हइ, पच्छा घेत्तुं च थेराणं ॥३७४॥

अथवाऽपि कारणवशतो द्वौ आचार्यपरिहारिकौ कारणिकौ जातौ। किमुक्तं भवति ?–अशिवाऽऽदिकारणवशतः शेषसाधून् देशान्तरे प्रेष्य तावेव केवलावेकत्र स्थाने स्थितौ, तत्र योऽसौ गुरुः स स्थविर इति कृत्वा। अथवा–केनापि रोगेण ग्रस्त इति भिक्षामटितुमसहोऽसमर्थः, यः पुनस्तस्य सहायः स परिहारतपःप्रतिपन्नो वर्तते,ततस्तत्रेयं सामाचारी–पारिहारिकः पूर्वमात्मीयेन पतद्ग्रहेणाऽऽत्मनो योग्यमानीय मुक्त्वा आत्मीयपतद्ग्रहं स्थापयित्वा पश्चात्स्थविरसत्कं पतद्ग्रहं गृहीत्वा स्थविराणां योग्यं ग्रहीतुमटति । अथवा–पूर्वं स्थविरसत्कं पतद्ग्रहं कृत्वा स्थविरयोग्यमानीय स्थविराणां समर्प्य पश्चादात्मीयेन पतद्ग्रहेन हिण्डित्वा आत्मना भुङ्क्ते ।

अत्र परस्यावकाशमाह–

जइ एस समाचारी, किमट्ठ सुत्तं इमं तु आरद्धं ।
सपडिग्गहेतरेण व, परिहारी वेज्जवच्चकरो ॥ ३७५ ॥

यदि नाम एषा सामाचारी, यथा–पारिहारी पारिहारिकः स्वपतद्ग्रहेण इतरेण वाऽऽचार्यपतद्ग्रहेण यथाक्रमं स्वस्याऽऽचार्यस्य च वैयावृत्यकर इति ततः इदं 'सूत्रं' सूत्रद्वयं किमर्थमारब्धं,सूत्रोक्तस्याऽसंभवात्। आचार्यः प्राऽऽह–न सूत्रोक्तार्थासंभवः, कारणतः सूत्रद्वयस्य पतितत्वात् । अथ कानि कारणानि यद्वशादिदं सूत्रद्वय पतितम् ।

आह–

दुल्लहदव्वं पडुच्चं, तवखेयवियं समं च सति काले ।
चोयग ! कुव्वंति तयं, जं वुत्तमिहेव सुत्तम्मि ॥३७६॥

हे चोदक ! दुर्लभं द्रव्यं पानीयं प्रतीत्य, यदि वा–तपसा खेदित परिहारिकम्, अथवा–समकमेककालं सर्वगृहेषु सति भिक्षाकाले आचार्यपरिहारिकौ न कुर्वेत , यदुक्तमिहैव सूत्रे। तथाहि–स परिहारिकस्तपसा खेदितः सन् आत्मनः स्थविरस्य वाऽर्थाय द्वौ वारौ भिक्षामटितुमसमर्थः, ततस्तं पारिहारिक स्वकीयेन पतद्ग्रहेणाऽऽत्मनोऽर्थाय हिण्डित्वा पश्चात्स्थविराणामर्थाय स्थविरपतद्ग्रहेण हिण्डिष्ये इति बुद्ध्या संप्रस्थितं स्थविरा समर्थं ज्ञात्वा ब्रुवते–अस्माकमपि योग्य मात्मीयेन पतद्ग्रहेण गृह्णीया , ततः उपरि एकस्मिन्वा पार्श्वे स्थविरयोग्यं गृह्णाति, गृहीते च तथा तस्मिन् स्थविरस्ततः समाकृष्य समाकृष्य भुङ्क्ते एषा स्थविरस्य सामाचारी। परिहारिकस्य पुनरियम्–तं परिहारिकं स्थविराणां पतद्ग्रहं गृहीत्वा स्थविरस्यार्थाय हिण्डित्वा पश्चादात्मनोऽर्थाय हिण्डिष्ये,एवं बुद्ध्या संस्थितं दृष्ट्वा गृहाऽऽदिकं परिमितं ज्ञात्वा स्थविरा भाषन्ते । आत्मनोऽप्यर्थायास्मदीये एव पात्रे प्रतिगृह्णीथा एव संदिष्ट सन् स तथैव च गृहीत्वा समागतः,

ततः स्थविरः पतद्ग्रहादात्मीये पतद्ग्रहे पलाशभाजने क मठके वा समाकृष्य समाकृष्य भुङ्क्ते, परिहारिकस्य सामाचारी, एतावता "तवखेयावेय" इति भावितम्। सम्प्रति "स मं च सह काले" इति भाव्यते। यत्र ग्रामे नगरे वा तौ स्थविरपारिहारिकाऽववस्थितौ तत्र सर्वगृहेषु समकालं भिक्षाकालोऽजनिष्ट, तं स्थविरा ज्ञात्वा मा द्वितीयवारं प्रविष्टः सन्नेष न लभेतेति संप्रस्थितं भाषन्ते—एकत्रैवाऽऽत्मनो मम च योग्यं गृह्णीया इति। तत्र चोभयोरपि मृग्यमाणं स्तोकं पानीयं लभ्यते, ततः पारिहारिकः पतद्ग्रहस्य च प्रक्षालनाय पानीय पूर्यते, तत एतद् ज्ञात्वा स्थविरास्तं पारिहारिकं संदिशन्ति-एकस्मिन्नेव पतद्ग्रहे द्वयोरपि योग्यं गृह्णीथा, एवं संदिष्टे पारिहारिकस्येयं सामाचारी-तस्मिन्पतद्ग्रहे स्थविरयोग्यं भक्तं तद्विष्वक् गृह्णाति, द्वितीये पार्श्वे आत्मीययोग्यम, अथवाऽऽत्मयोग्यमधस्तात् गृह्णाति, स्थविरयोग्यमुपरिष्टात्, एवं गृहीत्वा वसतावागच्छति, तत्राऽऽचार्यभोजनविधिः-तस्य चैकस्य पतद्ग्रहस्य एकस्मिःपार्श्वे उपरिष्टात् यदाचार्ययोग्यं गृहीतं तस्मिन्नाचार्यो भुङ्क्ते, पश्चात्पारिहारिको यदन्यस्मिन्पार्श्वेऽधस्तदात्मयोग्यं गृहीतं तद्भुङ्क्ते, अथवा-यावत् स्थविरेण भुज्यते तावत् सूरोऽस्तमुपयाति, ततो द्वावपि समकं भुञ्जाते। एतावता "सम त्ति" भावितम्।

एतदेव व्याचिख्यासुराह-

पासे उवरि व गहणं, कालस्स दवस्स चावि असतीए।
पुव्वं भोत्तुं थेरा, दलंति समगं च भुंजंति ॥ ३७७ ॥

द्रवस्य पानीयस्यासति अभावे एकस्मिन्पार्श्वे उपरि वा यद् ग्रहीतमाचार्ययोग्य, ततः पूर्वं स्थविरा भुक्त्वा पश्चाच्छेषं परिहारिकाय ददति, कालस्य द्वयोः क्रमेण भोजनकालस्यासति समक वा एककाल तौ भुञ्जाते। संप्रति संडासोपलक्षित शुनकमांसदृष्टान्तभावना क्रियते-यथा कोऽप्यलर्केण शुना खादितः, स यदि तस्यैव शुनकस्य मांसं खादति तत प्रगुणी भवति। अनेन कारणेन शुनकमांसं खाद्यते,स च तं खादितुकामः कथमहं सर्वास्पृश्य शुनकमांसं स्पृशामीति संदंशकेन मुखे प्रक्षिपति, एवं पारिहारिकोऽपि कारणत एकस्मिन्पार्श्वे उपरि वा गृहीतं स्थविरसत्कं जुगुप्समान इव तत् परिहरन् आत्मीयं समुद्दिशति। व्य० २ उ०।

अन्यस्मै वसतिदामाऽऽदि, अन्यस्मै अशनाऽऽदिदानम्-

जे भिक्खू अपरिहारियं वएज्जा-एहि अज्जो ! तुमं च अहं च एगओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गहेत्ता,तओ पच्छा पत्तेयं पत्तेयं भोक्खामो वा पेहामो वा प- ज्जचं एवं वदेइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १४६ ॥

पायच्छित्तमणावण्णो अपरिहारिओ आवण्णो मासाति० जाव छम्मासियं सो परिहारिओ बूया ब्रवीति-अज्ज ! इति आमंत्रणे एगतओ संघाडएण भत्तं भोक्खामो, पाणगं पाहामो, उग्घाए त्ति मासलहुं। सीसो भणति-भगवं ! सो कहिं आउत्तो आवण्णो ?, आयरिओ आह। नि० चू० ४ उ०।

परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिओवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए, तेण परं नो से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा, कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करित्तए। तं जहा-उट्ठावणं वा वि निसीयावणं वा तुयट्टावणं वा उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणविगिंचणं वा विसोहणं वा करित्तए, अह पुण एवं जाणिज्जा-छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा, पवडिज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ २६ ॥

अस्य संबन्धमाह-

पच्छित्तमेव पगतं, सहस्स परिहार एव न उ सुद्धे।
तं वहतो का मेरा, परिहारियसुत्तसंबंधो ॥ ६८६ ॥

प्रायश्चित्तमेवाऽनन्तरसूत्रे प्रकृतं, तच्च सहिष्णोः समर्थस्य प्रथमसंहननाऽऽदिगुणयुक्तस्य परिहारतपो रूपमेव दातव्यं, न पुनः शुद्धतपोरूपम्, अतस्तत्परिहारतपो वहतः का मर्यादा का सामाचारीत्यस्या जिज्ञासायामिदं परिहारिकसूत्रमारभ्यते, एष संबन्धः।

वीसुंवणसुत्ते वा, गीतो बलवं च नं परिट्ठप्पा।
चोयण कलहम्मि कते,तस्स उ नियमेण परिहारो ॥६६०॥

अथवा विष्वग्वनसूत्रे मरणसूत्रे गीतार्थो बलवांश्च प्रथमसंहननयुक्तः, तन्मृतकं परिष्ठाप्य कायमानयन् गृहस्थेन नोदितो यदि कलहं करोतीति तदा तस्य नियमेन पारिहारो दातव्यः। तस्य च विधिरनेनाभिधीयते-अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य ( २६ ) व्याख्या-परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोः कल्पते आचार्योपाध्यायेन तद्दिवसमिन्द्रमहाऽऽद्युत्सवदिने एकस्मिन् गृहे पिण्डपातं विपुलमवगाह्य नाऽऽदिभक्तलाभं दापयितुम्, ततः परं (से) तस्य न कल्पते अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा दातुमनुप्रदातुम्। दातुम् एकशः,अनुप्रदातुं पुनः पुनः,किं तु कल्पते (से) तस्य परिहारिकस्यान्यतरद् वैयावृत्त्यं कर्तुम्। तद्यथा-उत्थापनं वा निषीदनं वा। त्वग्वर्तापनं वा,उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणाऽऽदीना च विवेचनं परिष्ठापनं विशोधनं वा उच्चाराऽऽदिखरंटितोपकरणाऽऽदेः प्रक्षालनं कर्तुम् अथ पुनरेवं जानीयात् छिन्नाऽऽपातेषु व्यवच्छिन्नसमागमेषु पथिषु आतुरो ग्लान (झिंझितो) बुभुक्षाऽऽर्त्तः पिपासितस्तृषितो न शक्नोति विवक्षितं ग्रामं प्राप्तुम्। अथवा-ग्रामाऽऽद्वावपि तिष्ठता स तपस्वी षष्ठाष्टमाऽऽदिपरिहारतप कर्म कुर्वन् दुर्बलो भवेत्, ततो भिक्षाचर्यया क्लान्त सन् मूर्च्छेद्वा, प्रपतेद्वा, एव (से) तस्य कल्पते अशनाऽऽदिकं दातुमनुप्रदातुं वा। एष सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तर-

कंटकमादिसु जहा, आदिकडिल्ले तहा जयंतस्स।
अवमछगणाऽऽलोयण-ठवणाजुत्ता य वोस्सग्गो ॥६६१॥

ननु भगवान् प्रमादो न कर्तव्य इत्युपदिशति संयमाध्वनि गच्छन् कथं परिहारिकत्वं प्राप्त इति ?। उच्यते-तथा क-

एटकाऽऽकीर्णे मार्गे उपयुक्तस्याऽपि कण्टको लगति, आदिशब्दाद्विषमे वा पथ्युपयुक्तोऽप्यागच्छन् प्रपतति, कृतप्रयत्नो वा यथा नदीवेगेन न्हियते, सुशिक्षितोऽपि यथा खड्न लुब्ध्यते, एवं कण्टकाऽऽदिस्थानीयमादिकडिल्लकम्, आदिग्रहणाद् यदुद्गमोत्पादनैषणारूपं ज्ञानाऽऽदिरूपं वा, तत्र यतमानस्याप्यवश्यं कस्याऽपि छलना भवति, छलितेन वाऽवश्यमालोचना दातव्या, ततो य संहननाऽऽगमाऽऽदिभिर्गुणैर्युक्तः सहितस्तस्य स्थापना परिहारतपःप्रायश्चित्तदानं कर्त्तव्यम्। तत्र चायं विधिः-प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु तस्य साधोर्निर्विघ्नतपःकर्मसमाप्त्यै शेषसाधूनां च भयजननार्थं सकलेनाऽपि गच्छेन व्युत्सर्गः कर्त्तव्यः। तत्राऽऽचार्यो भणति-"तस्स साहुस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि काउस्सग्गं० जाव वोसिरामि।" ततश्चतुर्विंशतिस्तवमनुप्रेक्ष्य-"नमो अरिहंताणं" भणित्वा चतुर्विंशतिसूत्रं सुखेनोच्चार्य भणति-

एस तवं पडिवज्जति,ण किंचि आलवति मा णमालवहा।
अत्तट्ठचिंतगस्स, वाघातो ते ण कायव्वो ॥ ६९२ ॥

एष आत्मविशुद्धिकारकपरिहारतपः प्रतिपद्यते, अतो न किञ्चिद् युष्मानालपति। अत्र "सत्सामीप्ये सद्वद्वा" ॥५।४।१॥ (हैम०) इति सूत्रेण भविष्यदर्थे वर्तमाना। ततो नालप्स्यतीत्यर्थः। तथा न एष युष्मान् सूत्रार्थोभयं,शरीरोदन्तं वा न पृच्छति, यूयमप्येनं मा पृच्छत। एवमन्येष्वपि परिवर्तनाऽऽदिपदेषु भावनीयम्। इत्थमात्मार्थचिन्तकस्यास्य ध्यानस्य परिहारतपसश्च व्याघातो 'ते' भवद्भिर्न कर्त्तव्यः।

अथ यानि पदानि तेन साधुभिश्च परस्परं परिहर्त्तव्यानि तानि दर्शयति-

आलावण पडिपुच्छण, परियट्टुट्ठाण वंदणग मत्ते।
पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव ॥६९३॥

आलापनं संभाषणमनेन युष्माकं न कर्तव्यं, युष्माभिरप्यस्य न विधेयम्। एवं सूत्रार्थया, शरीरवार्तया वा प्रतिप्रच्छनं, पूर्वाधीतस्य परिवर्तनं कालग्रहणनिमित्तम् (उट्ठाण त्ति) उत्थापनं, रात्रौ सुप्तोत्थितैर्वन्दनकरणं, खेलकायिकसंज्ञामात्रकाणां समर्पणम्, उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणं भिक्षाविचाराऽऽदौ गच्छतः संघाटकेन भवनं, भक्तस्य पानकस्य वा दानं एकमण्डल्यां वा समेकीभूय भोजनं न कर्तव्यम्।

अथ कुर्वन्ति तत इदं प्रायश्चित्तम्-

संघाडगा उ जाव उ, लहुओ मासो दसण्ह उ पयाणं।
लहुगा य भत्तपाणा, संभुंजण होंतऽणुग्घाता ॥६९४॥

एतेषामालपनाऽऽदीनां दशानां पदानां मध्यादालपनादारभ्य यावत् संघाटकपदं तावदष्टानां पदानां कारणे गच्छसाधूनां प्रत्येकं मासलघु अथ भक्तदानं कुर्वन्ति ततश्चतुर्लघु, एकमण्डल्यां भुञ्जते ततस्तेषामेव चत्वारो गुरुका मासाः।

परिहारकस्य इदं प्रायश्चित्तम्-

[illegible] तु पदाण, गुरुगो परिहारियस्स मासा उ।
भत्तदाणे संभुंजणे य लहुगा [illegible] ॥६९५॥

परिहारकस्याष्टानां पदानां संघाटकपर्यन्तानां करणे मासगुरु, भक्तदाने संभोजने वा कुर्वतश्चत्वारो मासा अनुद्धाताः।

इमे च दोषाः-

कुव्वंताणेयाणि उ, आणाऽऽदि विराहणा दुवण्हं पि।
देवएँ पमत्तछलणा, अधिगरणाऽऽदी उदेतम्मि ॥६९६॥

एतान्यालपनाऽऽदीनि कुर्वतामाज्ञाऽऽदयो दोषा, विराधना द्वयोरपि पारिहारिकगच्छसाधुवर्गयोर्भवति, प्रमत्तस्य च देवतया छलनमन्येन वा साधुना भणितः-किमित्यालपनाऽऽदीनि करोषि, एवमुदिते भणिते सत्यधिकरणाऽऽदयो दोषा भवन्ति।

अथ "कप्पइ एगगिहम्मि" इत्यादि सूत्रं व्याख्यानयति-

विउलं च भत्तपाणं, दट्ठूणं साहुवज्जणं चेव।
नाऊण तस्स भावं, संघाडं देंति आयरिया ॥ ६९७ ॥

संखवाद्यमुत्सवे वा विपुलं भक्तपानं साधुभिरानीतं दृष्ट्वा तद्विषय ईषदभिलाषो भवेत्, साधुवर्जनां च साधुभिः सुदुष्करितैः परित्यक्तोऽहमित्येवं मनसि चिन्तयेत्, एवं ज्ञात्वा तदीयभावमाचार्याः संघाटं ददति।

अथेदमेव भावपदं व्याचष्टे-

भावो देहावत्था, तप्पडिबद्धो व ईसिभावो से।
अप्पाइय हयतण्हो, वहति सुहं सेस पच्छित्तं ॥ ६९८ ॥

भावो नाम देहावस्था देहस्य दुर्बलता, तत्प्रतिबद्धा वा विपुलभक्तपानविषय ईषत् भावाऽभिलाषस्तस्य सञ्जातः, ततश्च यथाऽभिलषिताऽऽहारेणाऽऽप्यायितो हततृष्णश्च सन् सुखेनैव शेषं प्रायश्चित्तं वहतीति मत्वा संघाटको दीयते।

अमुमेवार्थमन्याऽऽचार्यपरिपाट्या किञ्चिद्विशेषयुक्तमाह-

देहस्स उ दोब्बल्लं, भावो ईसिं च तप्पडीबंधो।
अगिलाएँ सोधिकरणे-ण वा वि पावं पहीणं से ॥६९९॥

देहस्य दौर्बल्यम्, ईषद्वा मनोज्ञाऽऽहारविषयप्रतिबन्ध एष भाव उच्यते। यद्वा-अग्लान्या शोधिकरणेन पापं तस्य प्रक्षीणप्रायम् एवंविधभावमाचार्या जानीयुः।

कथं पुनरेतत् जानन्ति ?, इत्युच्यते-

आगंतु-एयरो वा, भाव अतिसंसिओ उ जाणिज्जा।
हेऊअहि वेमभावं, जाणित्ता अणतिसंसी वि ॥७००॥

आगन्तुक इतरो वास्तव्योऽतिशयी नवपूर्वधराऽऽदिरवधिज्ञानाऽऽदियुक्तो वा स एवंविधं भाव(से) तस्य जानीयात्। अथवाऽनतिशयवानपि यो इङ्गितादिभिर्हेतुभिस्तस्य भावं चेतो जानीयात्।

सत्तमहादी दिवसो, पणीयभत्ता व सड्ढी विपुला।
धुवलंभिग एगयरं, तं भागकुलं अणाग वा ॥ ७०१ ॥

[illegible] यदा संजातमस्य तं क्वापि श्राद्धगृहे न[illegible] [illegible] [illegible] भायर्वा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] विपुलमशनादिकमऽऽहृत्य भक्तं पान[illegible] [illegible] [illegible]

गृहीत्वा स्वयमानीय गुरवो ददति । एतावता "कप्पइ आयरिओ उवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए ।" इति सूत्रं व्याख्यातं मन्तव्यम् ।

अथ "तेण परं से नो कप्पइ" इत्यादि सूत्रं व्याख्याति–

भत्तं वा पाणं वा, ण दिंति परिहारियस्स ण करेंति ।
कारणे उट्ठवणाऽऽदी, चोयग गोणीएँ दिट्ठंतो ॥७०२॥

भक्तं वा पानं वा ततः परं पारिहारिकस्य निष्कारणे न प्रयच्छन्ति, न वा किमप्यालपनाऽऽदिकं कुर्वन्ति. कारणे तु यदा स्थानाऽऽदिकं कर्तुं क्षीणदेहतया न शक्नोति तत उत्थापनाऽऽदिकं कारयन्ति । अत्र चोदकः प्राह–किं प्रायश्चित्त राजदण्ड इवावशेन वोढव्यं, येनेदृशीमवस्थां प्राप्तस्यापि भक्तपानमानीय न दीयते । सूरिराह–गौर्दृष्टान्तोऽत्र क्रियते । यथा–नवप्रावृषि या गौरुत्थातुं न शक्नोति, तां गोप उत्थापयति, अटवीं च चारिचरणार्थं नयति, या तु गन्तुं न शक्नोति, तस्या गृहे आनीय प्रयच्छति । एवं पारिहारिकोऽपि यत्कर्तुं शक्नोति तत्कार्यते, यत्पुनरुत्थानाऽऽदिकं कर्तुं न शक्नोति तदनुपरिहारिकः करोति ।

कथं पुनरसौ करोतीत्याह–

उट्ठेज्ज निसीएज्जा, भिक्खं गेण्हेज्ज भंडगं पेहे ।
कुवियपियबंधवस्स व, करेइ इयरो वि तुसिणीओ ॥७०३॥

स परिहारिकस्तपसा क्लान्तो ब्रवीति–उत्तिष्ठेयं, निषीदेयं, भिक्षां हिण्डेयं, भाण्डकं प्रत्युपेक्षेयम्, एवमुक्ते अनुपारिहारिक उत्थापनाऽऽदिकं सर्वमपि करोति । कथमित्याह–यथा प्रियबान्धवस्य कुपितः कश्चिदनुवर्तकरणीयं तूष्णीकः करोति । एवमितरोऽप्यनुपरिहारिकः सर्वमपि तूष्णीकभावेन करोति ।

अथ भिक्षाहिण्डनाऽऽदौ विधिमाह–

णीणेति पवेसेति य, भिक्खगए उग्गह ते उग्गहियं ।
रक्खति य रीयमाणं, उक्खिवइ करे य पेहाए ॥७०४॥

भिक्षां गतस्य पारिहारिकस्यावग्रहं प्रतिग्रहं तेन पारिहारिकेण गृहीतमनुपारिहारिकः पात्रं बध्नाति निष्काशयति रीयमाणं च पर्यटन्तं तं गवाद्युपद्रवात् प्रपतनाऽऽदेर्वा रक्षति, भाण्डप्रत्युपेक्षणायामशक्तस्य करौ हस्तावनुपरिहारिक उत्क्षिपति येन स्वयमेव प्रत्युपेक्षते ।

आह–यदि नामाशक्तस्तर्हि कस्मादसौ भिक्षाहिण्डनाऽऽदिकं विधीयते ?, इत्याह–

एवं तु असढभावो, इरियायरियाविअणुचिण्णो ।
भयजणणं सेसाण य, तवो य सप्पुरिसचरियं वा ॥७०५॥

एवं यथाशक्ति कुर्वतस्तस्याशठभावो भवति, वीर्याऽऽचारश्चानुचीर्णो भवति, शेषाणामपि साधूनां भयजननं कृतं भवति, तपः सम्यगनुपालितं भवति, सत्पुरुषचरितं च कृतं भवति ।

"अथ छिन्नावाएसु पंथेसु" इत्यादिसूत्रं व्याचष्टे–

छिन्नावाते किलंते, ठवणा खेत्तस्स पालणा दोण्हं ।
असहुस्स भत्तदाणं, कारणे पंथे व भत्ते वा ॥७०६॥

छिन्नाऽऽपाते अध्वनि गच्छन् परिहारिको यदि बुभुक्षया तृषा क्लान्तो ग्रामं प्राप्तुं न शक्नोति, ततोऽनुपरिहारिको भक्तपानं गृहीत्वा तस्यान्तरग्रामे ददाति । अथवा–स भगवान् अभिगृहितबलवीर्यो यथा कामं भिक्षां पर्यटति, तत्र हिण्डित्वा तपःक्लान्तो यदा न शक्नोत्यागन्तुम्, तत आगन्तुमसमर्थे तस्मिन् क्षेत्रस्य स्थापना कर्त्तव्या । मूलग्राम एव स हिण्डते न बहिर्भिक्षाचर्यां गच्छतीत्यर्थः । (पालणा दोण्हं ति) द्वयोरपि पारिहारिकानुपरिहारिकयोः पालना कर्तव्या । कथमित्याह (असहुस्स भत्तदाणं कारणे त्ति ) यदि स पारिहारिकः स्वग्रामेऽपि हिण्डितुं न शक्नोति ततोऽनुपारिहारिको हिण्डित्वा तस्य प्रयच्छति, अनुपारिहारिकस्तु मण्डलीनः समुद्दिशति । तथाऽनुपारिहारिकोऽपि ग्लानत्वेनासहिष्णुर्भिक्षां गन्तुं न शक्नोति, ततः एवंविधकारणे द्वयोरपि गच्छसत्काः साधवः प्रयच्छन्ति । एवं द्वावपि पालितावनुकम्पितौ भवतः । एवं स्थानस्थितानां यतना भणिता ।

संप्रति पूर्णे मासे वर्षावासे वा ग्रामानुग्रामौ विहरतां पथि ग्रामे प्राप्ताना वा यतनाऽभिधीयते–

ठवयति डहरगामं, पत्ता परिहारिए अपावंते ।
तस्सऽट्ठा तं गामं, ठवेंति अन्नेसु हिंडंते ॥ ७०७ ॥

पथि व्रजन्तो डहरं लघुतरं ग्रामं प्राप्ताः पारिहारिकस्यार्थाय स्थापयित्वा द्वितीयमर्द्धं स्वयमटन्ति । एवं तावत्पथि वर्त्तमाने पारिहारिके भणितं यत्र तु साधवः परिहारिकश्च समकमेव प्राप्तास्तत्राप्यर्द्धे ग्रामे साधवो हिण्डन्ते, अर्धे पारिहारिकः । अथ साधूनामर्द्धे पर्यटतां न पूर्यते ततस्ते सर्वस्मिन् ग्रामे पर्यटिते पारिहारिकः पश्चात्पर्यटति ।

अथ पारिहारिको यथा कारणे गच्छसाधूनां वैयावृत्त्यं करोति तथाऽभिधीयते–

बिइयपयकारणम्मि, गच्छे वाऽऽगाढे सो उ जतणाए ।
अणुपरिहारिउ कप्प–ट्ठितो व आगाढ संविग्गो ॥७०८॥

द्वितीयपदे कारणे कुलाऽऽदिकार्ये पारिहारिकोऽपि साधूनां वैयावृत्त्यं करोति । यथा पाराञ्चिकः "अत्थउ पदाणुभगो, महासु पुण सयागरो संघो ।" इत्यादि भणित्वा वैयावृत्त्यं कृतवान् । तथा गच्छे वा आगाढं कारणं समजनि नत सोऽपि यतनया वक्ष्यमाणया भक्तपानीयाऽऽहरणाऽऽदिवैयावृत्त्यं करोति । ( अणुपरिहारिए ) इत्यादि पश्चार्द्धम् । अथ गच्छसाधवः प्रज्ञप्तिमहाश्रुताऽऽदीनामन्यतरमागाढयोगं प्रतिपन्नाः, उपाध्यायश्च ग्लानः कालगतो वा, ततोऽनुपारिहारिकः कल्पस्थितो वा वाचनां गच्छस्य ददाति । अथ तावक्ष्यशक्तौ ततः परिहारिकोऽपि वाचनां ददाति, स च तादृग्यशक्तौ ... प्रावनोऽपि संविग्न एव मन्तव्यः । इह मा भूत्कस्यापि मतिः–पूर्वसूत्रेण प्रतिषिद्धं, पूर्वसूत्रार्थदानाऽऽदिकमनेनानुज्ञातम् । एवं पूर्वापरविरुद्धमाचरन्नसंविग्नोऽसाविति तन्मतिव्यपोहार्थं संविग्नग्रहणं व्याचष्टे–

भयणाच्छवगविसो मे, देति गणो वा तिरो व अतिरो वा ।
तज्झाणेसु सएसु व, तस्स वि जोग्गं जणो देति ॥७०९॥

मदन कोद्रव, तस्य कुरेण भक्तेन गच्छः सर्वोऽपि ग्लानो जातः, अशवकमशिव तेन वा गृहीतः, प्रत्यनीकेन वा विषो दत्तः, अ

वमौदर्यो वा न संस्तरति, ततः परमागाढेन कारणेन, पारिहारिको भक्तपानमौषधानि वा तद्भाजने गच्छसत्केषु पात्रकेषु, तेषामभावे स्वभाजनेषु, वा गृहीत्वा तिरोहितमतिरोहितं वा गच्छस्य प्रयच्छति । तिरोहितं नाम—आनीयानुपारिहारिकस्य ददाति, सोऽपि गच्छस्यार्पयति, अथानुपारिहारिकोऽपि ग्लानः, तदा कल्पस्थितस्य ददाति, सोऽपि तथैव गच्छस्यार्पयति, कल्पस्थितस्यापि ग्लानत्वे अतिरोहितं तिरोहितं वा स्वयमेव गच्छस्य ददाति । यच्च तेषां योग्यं जनो ददाति तत्तेषामर्थाय गृह्णाति, यत्तु तस्य योग्यं तदात्मनो गृह्णाति ।

**एवं ता पंथम्मी, तत्थ वि य ठिया तहिं पि एमेव ।**
**बाहिं अडती डहरे, इयरे अद्धद्ध अडते वा ॥ ७१० ॥**

एवं तावत्पथि गच्छतामभिहितं, तत्रापि च ग्रामाऽऽदौ स्थिताः, तत्राप्येवमेव मन्तव्यम् । मार्गे च यत्र गच्छो न प्राप्तः,तत्र बहिः डहरेणान्तःपुरे धर्मकथनार्थं (?)कृतेत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–" पाडलिपुत्ते मुरुंडो नाम राया गंगाए नावारूढो उदगे एहायंतो अभिरमइ । साहुणो परकूले पासित्ता सयमेव नावं नेउ साहुणो वि लागविता भणइ–कहं कहेह, जाव नई उत्तरामो । अक्खेवणाइकहालद्धिजुत्तो साहू कहिउमारद्धो । तेण कहितेण अक्खित्तो नावियं सन्नेइ–सणियं कड्ढेहि, जेण एस साहू चिरं कहेइ । साहूण कारणे सणियं गच्छंताणं जत्तिया अवेलखेवा तत्तिया चउलहुगा । उत्तिण्णेण रन्ना अंतेउरे कहिया कहा, सुंदराओ कहाओ तरङ्गवत्याद्याः कथयन्ति साधवः । अंतेउरियाणं कोउगं जायं . रायाणं विन्नवेंति–जइ ते साहुणो इहमाणिज्जिज्ञा ता अम्हे वि सुणेज्जामो । रन्ना गवेसित्ता पवेसिता साहुणो अंतेउरे । "

तत्र च प्रविष्टानामेते दोषाः–

**सुत्तत्थे पलिमंथो–ऽणेगा दोसा य णिवघरपवेसे ।**
**सइकरण कोउएण य,भुत्ताऽभुत्ताण गमणाऽऽई ॥७११॥**

सूत्रार्थयोः पलिमन्थः, स्मृतिकरणेन कौतुकेन च भुक्ताभुक्तानां प्रतिगमनाऽऽदयोऽनेके दोषा नृपगृहप्रवेशे भवन्ति । एते अनुकम्पायां दोषा उक्ताः ।

अथ प्रत्यनीकतायां दोषानाह–

**बुज्झण सिंचण बोलण, कंवलसवला य घाडिते मित्ते ।**
**अणुसट्ठी कालगता, णागकुमारेसु उववण्णे ॥ ७१२ ॥**

वाहनं सेचनं बोलनं वा प्रत्यनीकेन साधुना क्रियेत । तत्र सामान्येन दृष्टान्तोऽयम्–मथुराया भण्डीरयक्षयात्रायां कम्बलशबलौ वृषभौ घाटिकेन मित्रेण जिनदासस्यानापृच्छ्या वाहितौ तन्निमित्त सञ्जातवैराग्यौ श्रावकेणानुशिष्टौ भक्तं प्रत्याख्याय कालगतौ नागकुमारेषूपपन्नौ ।

ततस्ताभ्या किं कृतमिति ?, आह–

**वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्स कासि उवसग्गं ।**
**मिच्छदिट्ठिपरद्धो,कंवलसवलेहिं तारिओ भगवं ॥७१३॥**

वीरवरस्य भगवतो नावारूढस्य सुदाढो नागकुमार उपसर्गमकार्षीत्, तेन मिथ्यादृष्टिना प्रारब्धो जले बोलयितुं कम्बलशबलाभ्यां मोचितो भगवान् ।कथानकमावश्यकादवधारणीयम् । एवं नावारूढस्य साधोर्बोलनाऽऽदिकं सम्भवतीति ।

अथ वाहनाऽऽदिपदानि व्याचष्टे–

**सीसगता वि ण दुक्खं, करेह मज्झं ति एवमवि वोत्तुं ।**
**जो छुब्भंतु समुद्दे–सुं वति णावं विलग्गेसु ॥ ७१४ ॥**

सिद्धार्थका इव शिरसि गता अपि मम दुःखं न कुरुध्व एवमप्युक्त्वा कश्चित्प्रत्यनीको यदा साधवो नावं विलग्नास्तदा नावं नदीमुखेषु मुञ्चति । येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते, तत्र पतिता क्लिश्यन्ता म्रियन्ता चेति कृत्वा । गत वाहनम् ।

अथ सेचनं बोलन चाऽऽह–

**सिंचति ते उवहिं वा, ते चेव जले छुभेज्ज उवधिं वा ।**
**मरणोवधिनिप्फन्नं, अणेसग तणानि तरपण्णं ॥७१५॥**

नाविकोऽन्यो वा प्रत्यनीकस्तान् साधूनुपधिं वा सिञ्चति, तानेव साधूनुपधिं वा जले प्रक्षिपेत्, बोलयेदित्यर्थः । तत्र चाऽऽत्मविराधनाया मरणनिष्पन्नम्, उपधिनाशे उपधिनिष्पन्नम् यच्चाऽनेषणीयमुपधिं ग्रहीष्यन्ति, तृणानि वा सेविष्यन्ते, तन्निष्पन्न सर्वमपि प्राप्नोति । तरपण्यं वा स मार्गयेत्, अदीयमाने चिर निरुन्ध्यात्, दीयमाने अधिकरणम् । गताः प्रत्यनीकदोषाः ।

अथ बहवः प्रत्यपाया इति व्याचष्टे–

**संघट्टणा य सिंचण, उवकरणे पडण संजमे दोसा ।**
**सावयतेणे तिण्हे–गतर विराहणा संजमाऽऽताए॥७१६॥**

त्रसाऽऽदीना संघट्टना जलेन वा सेचनमुपकरणऽऽस्यात्मनो वा पतन वा एते संयमे दोषाः । श्वापदकृता स्तेनकृता वा आत्मविराधना ( तिण्हेगयर त्ति ) अनुकम्पाप्रत्यनीकतातदुभयाऽऽदिरूपाणा त्रयाणामेकतरस्मिन् संयमविराधना–ऽऽत्मविराधना च भवति । एष संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति–

**तसउदगवणे घट्टण, सिंचण लोगे अ णावि सिंचणता ।**
**बुज्झण उवधी तुभये,मगराऽऽदि समुद्द तेणे य ॥७१७॥**

जलोद्भवाना त्रसानामुदकस्य वा सेवालाऽऽदिरूपस्य वनस्पतेर्वा संघट्टनं भवेत्, लोकेन नाविकेन वा साधोरुपकरणस्य वा सेचनं क्रियते, अतिसबाधे वा उपधेरात्मनस्तदुभयस्य वा स्ताघे अस्ताघे वा जले ( बुज्झणं ) बोलनं भवति । मकराऽऽदय श्वापदा समुद्रे स्तेनाश्च तत्र भवेयुः ।

इदमेव व्याचष्टे–

**ओहार मगराऽऽदी वा, घोरा तत्थ उ सावया ।**
**सरीरोवहिमादीया, णावा तेणा य कत्थई ॥ ७१८ ॥**

ओहारमकराऽऽदयस्तत्र तथा घोराः श्वापदा भवन्ति । ओहारो मत्स्यविशेषः, स किल नावमधस्तले जलस्य नयति । शरीरहरा उपधिहरा वा नौस्तेनाः कुत्रापि भवेयु । एतैरात्मन उपधेर्वा विनाशे तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् ।

अथ " तिण्हेगयर त्ति " पदं व्याख्याति–

**सावय तेणा उभय, अणुकंपादी विराहणा तिम्मि ।**
**संजम आतुभयं वा, उत्तरणावुत्तरंते य ॥ ७१९ ॥**

श्वापदाः १, स्तेनाः २, श्वापदा अपि स्तेना अपि ३, एतत्रयम । अथवा-अनुकम्पया १, प्रत्यनीकतया २, अनुकम्पाप्रत्यनीकोभयार्थतया वा ३ । अथवा-तिस्रो विराधना', तद्यथा-स ग्रामे पारिहारिक प्राप्तो बहिर्ग्रामे पर्यटति उत्तरति। अथ वेलाऽतिक्रमो दूरे वा स ग्रामस्ततस्तत्रैव मूलग्रामे अर्द्धे पारिहारिक' पर्यटति अर्द्धे गच्छसाधव., तेन अटिते वा गच्छ. पर्यटति। किं बहुना ?-पक्षद्वयस्याप्ययं परमार्थ. ।

उच्यते-

कप्पट्ठिएँ परिहारी, अणुपरिहारी व भत्तपाणाणं ।
पंथे खित्ते व दुवे, सो वि य गच्छस्स एमेव ।। ७२० ।।

पथि वा क्षेत्रे वा द्वयोरपि वर्त्तमानो ग्लानत्वाऽऽदौ कारणे कल्पस्थितः परिहारी अनुपरिहारिको वा पारिहारिकस्य भक्तपानैरुपग्रहं करोति, सोऽपि च पारिहारिको गच्छस्यैव मेवोपग्रह करोति। बृ० ४ उ० ।

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमिज्जा, तं च थेरा जाणिज्जा अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुचा, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवेयव्वे सिया ।।५३।।

अस्य संबन्धमाह-

निक्कारणपडिसेवी, अजयणकारी व कारणे साहू ।
अहवा चिअत्तकिचे, परिहारं पाउणे जोगो ।। ३५२ ।।

निष्कारणे मात्रप्रक्षणाऽऽदिकं प्रतिसेवितुं शीलमस्येति निष्कारणप्रतिसेवी स तथा, कारणे वा योऽयतनाकारी पूर्वोक्तयतना विना गात्रप्रक्षणविधायी साधु । अथवा-यस्त्यक्तकृत्यो नीरुग्भूतोऽपि तदेव प्रक्षणाऽऽदिकमुपजीवति,स परिहारतप' प्राप्नुयादिति योग. सवन्धः । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य ( ५३ ) व्याख्या-परिहारकल्पस्थितो भिक्षुर्बहिरन्यत्र नगराऽऽदौ स्थविराणामाचार्याणामादेशेन वैयावृत्यर्थं गच्छेत्। किमुक्तं भवति ?-अन्यस्मिन् गच्छे केषाञ्चिदाचार्याणा वादी नास्तिकाऽऽदिक उपसंस्थित ,तेषा च नास्तिवादलब्धिसंपन्नस्ततस्ते येषामाचार्याणा स परिहारिकस्तेषामन्तिके संघाटकं प्रेषयन्ति । स च संघाटको ब्रूते-वादिनं कमपि मुत्कलयत ।एवमुक्ते ते आचार्या' परिहारक परवादिनिग्रहक्षम मत्वा प्रेषयन्ति, ततस्तदा देशादसौ परिहारतपो वहमान एव गच्छेत्। इदं च महत्प्रवचनस्य वैयावृत्यं यद्ग्लान्या परवादिनिग्रहणं, ततस्तदर्थं गत. स परिहारिक' ( आहच्च ) कदाचिदतिक्रमेत् पादधावनाऽऽदिकं प्रतिसेवितुम्, तत् स्थविरा मौलाऽऽचार्या आत्मन आगमेनावध्याद्यतिशयज्ञानेन अन्येषा वा अन्तिके श्रुत्वा जानीयु । तत' पश्चात् तत्परिज्ञानानन्तर तस्य पारिहारिकस्य यथा लघुस्वको नाम स्तोकप्रायश्चित्तरूपो व्यवहारः प्रस्थापयितव्य. स्यादिति सूत्रार्थ. ।

अथ भाष्यम्-

परिहारिओ य गच्छे, आसण्णे गच्छेॅ वाइणा कज्जं ।
आगमणं तहिँ गमणं, कारणपडिसेवणा वाए ।।३५३।।

परिहारिक क्वापि गच्छे विद्यते, क्वचित्त्वासन्नेऽन्यगच्छे वादिना कार्यमुत्पन्नं, ततस्तत्र गच्छे आगमनम्। अन्यगच्छात् संघाटक आगतस्तेन च वादी प्रेष्यतामित्युक्ते गुरोरादेशात् परिहारतपो वहमानस्यैव तस्य तत्र गमनम्। तत्र गतेन तेन परवादी राजसभासमक्षं निःपिष्टप्रश्नव्याकरणः कृतस्ततः प्रवचनस्य महती प्रभावना समजनि, तेन च वादस्य करणे अमूनि प्रतिसेवितानि भवेयु'-

पाया व दंता व सिया उ धोया,
वा बुद्धहेतुं च पणीयभत्तं ।
तं वातिगं वा मइसत्तहेओ,
सभाजयट्ठा सुवयं च सुक्कं ।। ३५४ ।।

पादौ वा दन्ता वा प्रवचनजुगुप्सापरिहारार्थं धौताः स्युर्भवेयु , प्रणीतभक्तं वा घृतदुग्धाऽऽदिकं वाग्हेतोर्बुद्धिहेतोर्भुक्तं भवति. " घृतेन वर्द्धते मेधा " इति वचनात्। वातिकं नाम-विककठं, तद्वा मतिहेतो. सत्त्वहेतोर्वा सेवितं भवेत्। मतिर्नाम परवाद्युपन्यस्तस्य साधनस्याऽपूर्वापूर्वदूषणोहाऽऽत्मको ज्ञानविशेष. । सत्त्वं- प्रभूतप्रभूततरभाषणे प्रवर्धमान आन्तर उत्साहविशेषः सभाजयार्थं वा शुक्लं 'सुवय' वस्त्रं प्रावृतं भवेत् "जिता वस्त्रवता सभा।" इति वचनात्।

थेरा पुण जाणंती, आगमओ अहव अणओ सुचा।
परिसाए मज्झमिए, ठवणा वा होइ पच्छित्ते ।। ३५५ ।।

एवमादिकं तेन प्रतिसेवितं स्थविराः सूरयः पुनरागमतो जानीयु.। अथवा-अन्यतः श्रुत्वा, ततस्तस्य भूय' समागतस्य पर्षन्मध्ये प्रायश्चित्तस्य स्थापना कर्तव्या भवति ।

इदमेव व्याचष्टे-

नवदसचउदसओही, मणणाणी केवली य आगमओ ।
सो चेवऽण्णो उ भवे,तदणुचरो वा वि ओगो वा ।।३५६।।

नवपूर्विणो,दशपूर्विणश्चतुर्दशपूर्विण., अवधिज्ञानिनो, मन'पर्यवज्ञानिन., केवलज्ञानिनो वा, ते आगमातिशयेन ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं दद्युः। अन्यो नाम स एव परिहारिकः स्वमुखादालोचनाद्वारेण श्रुत्वा । यद्वा-ये तस्य परिहारिकस्यानुचरा सहाया प्रेषितास्तै' कथितम्। उवको नाम-अन्यः कोऽपि तिर्यगापतितो मिलित तेषा गच्छसत्को न भवतीत्यर्थ.। तेन वा कथितम् यथैतेनामुकं पादधावनाऽऽदिकं प्रतिसेवितम्।

ततः-

तेसिं पच्चयहेउं, जे पेसविया सुयं व तं जेहिं ।
भयहेउं सेसगणे, इमाउ आरोवणारयणा ।।३५७।।

ये तेन सार्द्धं प्रेरिता , यैर्वा प्रेषितैरपि तत्प्रतिसेवनं श्रुतं, तेषामुभयेषामप्यपरिणामकाना प्रत्ययहेतो , शेषाणा च अतिपरिणामिकाना भयोत्पादनहेतोरियमारोपणा रचना व्यवहारप्रस्थापना सूरिभि. कर्तव्या। ( वृ० ) ( यथालघुस्वको व्यवहार. 'अहालहुस्सय' शब्दे प्रथमभागे ८७० पृष्ठे विस्तरतो गत. ) ( कं व्यवहारं केन तपसा पूरयतीति अभिसेव शब्दे ६८१ पृष्ठे गतम् )

एवं प्रस्तारं पूरयित्वा सूरयो भणन्ति-
जं इत्थं तुह रोयइ,इमे व गिण्हाहि अंतिमे पच ।

हत्थं च भमाडेउं, जं अक्कमते तगं वहइ ॥ ३६३ ॥

यदत्रामीषां प्रायश्चित्तानां मध्ये तव रोचते तद् गृहाण, अमूनि वा अन्तिमानि पञ्च रात्रिन्दिवानि गृहाण । एवमुक्ते स यथालघुस्वकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति । अथवा-हस्तं भ्रामयित्वा यत्प्रायश्चित्तं गुरव आक्रमन्ति तकं गृह्णाति ।

सूरयश्चेदं तं प्रति भणन्ति-

उब्भावियं पवयणं, थोवं ते तेण मा पुणो कासि ।

अइपरिणए मुत्तं, वेइ वहंतो वयं एअं ॥ ३६४ ॥

त्वया परवादिन निगृह्णता प्रवचनमुद्भावितं तेन स्तोकं, ते प्रायश्चित्तं, मा पुन भूयोऽप्येवं कार्षीः । अथातिपरिणता श्चिन्तयेयुः-एष तावन्मात्रेण मुक्त इति । ततो यदि तस्यान्यदपरं प्रदानं तपोऽपूर्णं तदा तदेव वहमानोऽतिपरिणामिकाऽऽदीनां पुरतो गुरून् भणति-एतत्प्रायश्चित्तं युष्माभिर्दत्तं वहामीति । बृ० ५ उ० । वर्जने च । प्रव० १० द्वार । नि० चू० ।

विषयसूची-

(१) परिहारशब्दनिक्षेपप्ररूपणम् ।
(२) पर्यायद्वारम् ।
(३) सूत्रार्थद्वारम् ।
(४) अभिग्रहद्वारम् ।
(५) तपोद्वारम् ।
(६) येभ्यो नियमतः शुद्धतपः परिहारतपो वा देय तत्प्रतिपादनम् ।
(७) यदि गच्छवासी एतानि पदान्यतिचरति तत इदं प्रायश्चित्तम् ।
(८) शुद्धतप परिहारतपसो' कतरत् कर्कशं तपः । परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोरन्यत्राचार्याणां वैयावृत्याय गमनम् ।
(९) स्थविराणां वैयावृत्याय गच्छतीत्युक्तं, तत्र किं वैयावृत्त्यं, येन हेतुभूतेन स गच्छति ।
(१०) " जीए त्ति " द्वारव्याख्यानम् ।
(११) पिट्ठनद्वारम् ।
(१२) द्वयोरेकत्र विहरतोरन्यतरस्य परिहारतपोदानम् ।
(१३) तृतीयं सूत्रम् ।
(१४) परिहारकल्पस्थितं ग्लायन्तम् ।
(१५) कं व्यवहारं केन तपसा पूरयतीति ।

परिहारकप्पट्ठिय-परिहारकल्पस्थित-पुं० । परिहारस्य कल्पः सामाचारी परिहारकल्पस्तत्र स्थितः । प्रायश्चित्ततप प्रकारैर्व्यवस्थिते, व्य० १ उ० ।

परिहारट्ठाण-परिहारस्थान-न० । परिहारो विषय , तिष्ठन्ति जन्तव कर्मकलुपिता अस्मिन्निति स्थानम् । परिहारश्च तत् स्थानं परिहारस्थानम् । प्रायश्चित्तार्हकार्यविषये, व्य०१ उ० । नि० चू० ।

परिहारग-प्रतिहारक-पुं० । पारिहारिके उत्त० २८ अ० ।

परिहारविसुद्धिय-परिहारविशुद्धिक-पुं० । परिहरणं परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धं, परिहारो वा विशेषेण शुद्धं यस्मिँस्तत् परिहारविशुद्धं तदेव परिहारविशुद्धिकम् । स्था०५ ठा०२उ० । परिहरणं परिहारस्तपोविशेषस्तेन कर्मनिर्जरारूपा विशुद्धिर्यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिकम् । संयमविशेषे, बृ० ६ उ० । पञ्चमहाव्रतानां परिहारे, आ० चू० १ अ० । तृतीये चारित्रभेदे, एतदपि द्विभेदम्-निर्विशमानकं, निर्विष्टकायिकं च । तत्रास्यैव चारित्रस्यासेवकाः साधवो निर्विशमानका उच्यन्ते, तदव्यतिरेकादिदमपि चारित्रं निर्विशमानकं भण्यते आसेवितैतच्चारित्रकायास्तु मुनयो निर्विष्टकायाः, त एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादान्निर्विष्टकायिकाः, तदभेदादिदमपि चारित्र निर्विष्टकायिकम्, एतत्स्वरूपं च विस्तरतो भाष्येऽभिधास्यत इति ॥१२६०॥ विशे० । ( अत्र " से किं तं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया । " इत्यादि सूत्रम् 'चरित्तारिय' शब्दे तृतीयभागे ११५२ पृष्ठे गतम् )

अथ निर्विशमान-निर्विष्टकायिककल्पस्थितिद्वयं विवरीपुराह-

परिहारकप्पं पवक्खामि, परिहरंति जहा विऊ ।

आदिमज्झऽवसाणेसु, आणुपुव्विं जहक्कमं ॥ ३६९ ॥

परिहारकल्पं प्रवक्ष्यामि । कथमित्याह-यथा विद्वांसो विदितपूर्वगतश्रुतरहस्याः, त कल्पं परिहरन्ति धातूनामनेकार्थत्वादासेवन्ते, कथं पुनर्वदयसीत्यत आह आदिमध्यावसानेषु यथाक्रममानुपूर्व्येति ।

पंचहिं अग्गहो भत्ते, तत्थेगाए अभिग्गहो ।

उवहिणो अग्गहो देसे, इयरो एक्कतरीयओ ॥ ३७० ॥

भक्ते, उपलक्षणत्वात्-पानके च संसृष्टासंसृष्टाऽऽख्यमाद्यमेषणाद्वयं वर्जयित्वा पञ्चभिरुपरितनाभिरेषणाभिराग्रहः, स्वीकारस्तत्राप्येकस्यामेकतरस्यामभिग्रहः, एकया कयाचिद्भक्तमपरया पानकमन्वेषयन्तीत्यर्थः ।

आह च बृहद्भाष्यकृत्-

" संसट्ठमाइ आणं, सव्वएहं एसणाण उ ।

आइल्लाहिं उ दोहिं तु, अग्गहो गह पंचहिं ।

तत्थ वि अन्नतरीए, एगाए अभिग्गहं तु काऊणं ॥ " इति ।

उपधिर्वस्त्राऽऽदिरूपस्तस्योद्दिष्टा प्रेक्षा अंतरा उज्झितधर्मकाख्या पीठिकायां व्याख्याता, याश्चतस्र एषणास्तत्र द्वयोरुपरितनयोराग्रह स्वीकारः, इतरोऽभिग्रहः, स एकतरस्यामुपरितन्यां भवति, यदा चतुर्थ्यां न तदा तृतीयायां, यदा तृतीयायां न तदा चतुर्थ्यां गृह्णातीति भाव ।

कदा पुनस्तेऽमुं कल्पं प्रतिपद्यन्ते इत्याह-

अइरुग्गयम्मि सूरे, कप्पं देसंति ते इमं ।

आलोइय पडिकंता, ठावयंति तओ गणे ॥ ३७१ ॥

अचिरोद्गते सूर्ये ते भगवन्त कल्पमिमं देशयन्ति, स्वयं प्रतिपन्ना अन्येषां दर्शयन्ति, तत आलोचितप्रतिक्रान्ता आलोचनाप्रदानपूर्वं प्रदत्तमिथ्यादुष्कृतास्त्रीन् गणान् स्थापयन्ति ।

तेषु च त्रिषु गणेषु कियन्त पुरुषा भवन्तीत्याह-

सत्तावीसं जहन्नेणं, उक्कोसेणं सहस्ससो ।

निग्गंथसूरा भगवंतो, सव्वग्गेणं वियाहिया ॥ ३७२ ॥

सप्तविंशति पुरुषा जघन्येन भवन्ति, एकैकस्मिन् गणे, उत्कर्षतः सहस्रशः सहस्रसंख्या पुरुषा भवन्ति , शताग्रशो गणानामुत्कर्षतो वक्ष्यमाणत्वात् । एवं ते भगवन्तो निर्ग्रन्थसूराः सर्वाग्रेण सर्वसंख्यया व्याख्याताः ।

गणमङ्गीकृत्य प्रमाणमाह–

सयग्गसो य उक्कोसा, जहन्नेणं तओ गणा ।

गणो य णवओ वुत्तो, एमेता पडिवत्तिओ ॥ ३७३ ॥

शताग्रशः शतसंख्या गणा उत्कर्षतोऽमीषां भवन्ति, जघन्येन त्रयो गणाः, गणश्च नवको नवपुरुषमान उक्तः, एवमेताः प्रतिपत्तयः प्रमाणाऽऽदिविषयप्रकारा मन्तव्याः ।

एगं कप्पट्ठियं कुज्जा, चत्तारि परिहारिए ।

अणुपरिहारिगा चेव, चउरो तेसिं तु ठावए ॥ ३७४ ॥

नवानां जनानां मध्यादेकं कल्पस्थितं गुरुकल्पं कुर्यात्, चतुरः परिहारिकान् कुर्यात्, तेषां शेषाश्चतुरोऽनुपरिहारिकान् स्थापयेत् ।

ण तेसिं जायती विग्घं, जा मासा दस अट्ठ य ।

ण वेयणा ण वाऽऽतंका, णेव अन्ने उवद्दवा ॥३७५॥

अट्ठारससु पुन्नेसु, होज्ज एते उवद्दवा ।

ऊणिए ऊणिए यावि, गणमेरा इमा भवे ॥ ३७६ ॥

तेषामेवं कल्पं प्रतिपन्नानां न जायते विघ्नोऽन्यत्र संहरणाऽऽदि यावन्मासा दशाष्टौ च, अष्टादशेत्यर्थः । न वेदना न वाऽऽतङ्को नैवान्यैः केचनोपद्रवाः प्राणव्यपरोपणकारिण उपसर्गाः, अष्टादशसु मासेषु पूर्णेषु भवेयुरप्येते उपद्रवाः, उपद्रवैश्च यदि तेषामेके इम्वा म्रियन्ते । अथवा-तेषां कोऽपि स्थविरकल्पात् जिनकल्पे च गतो भवति, शेषास्तु तमेव कल्पम्–" अनुपालकम्मे तउ पवजंति तेऊणिते गणा जाते " इयं गणमर्यादा गणसामाचारी भवति । इहोनिते ऊनिते इति द्विरुच्चारणं भूयोऽप्यष्टादशसु मासेषु पूर्णेषु एष एव विधिरिति ज्ञापनार्थः ।

एवं तु ठविए कप्पे, उवसंपज्जति जो तहिं ।

एगो दुवे अणेगे वा, अविरुद्धा भवंति ते ॥ ३७७ ॥

एवमन्तरोक्तनीत्या कल्पे स्थापिते सति यद्येकादयो निर्वेचन् । अन्यत्र वा गच्छेयुः ततो यस्तत्रोपसंपद्यते स एको वा द्वौ वाऽनेके वा भवेयुः । तथा प्रतिपद्यमानानां मध्ये प्रतिपन्नानामवसाने प्रस्तुतकल्पसमाप्तौ या आनुपूर्वी सामाचार्याः परिपाटिस्ता, यथाक्रमं वक्ष्यामीति संटङ्कः ।

तत्र कतरस्मिन् तीर्थे एवं कल्पो भवतीति जिज्ञासायामिदमाह–

भरहेरवएसु वासेसु, जदा तित्थगरा भवे ।

पुरिमा पच्छिमा चेव, कप्पा दंसंति ते इमं ॥ ३७८ ॥

भरतैरवतेषु वर्षेषु दशस्वपि यदा तृतीयचतुर्थाऽऽरकयोः पश्चिमे भागे पूर्वाः पश्चिमाश्च तीर्थकरा भवेयु, तदा ते भगवन्त इमं प्रस्तुतं कल्पं दिशन्ति प्ररूपयन्ति । अर्थापन्नं-मध्यमतीर्थकृतां महाविदेहेषु नास्ति परिहारकल्पस्थितिरिति ।

आह-यद्येवं ततः–

केवइयं काल संजोगं, गच्छो तु अणुसज्जती ।

तित्थयरेसु पुरिमेसु, तहा पच्छिमएसु य ॥ ३७९ ॥

कियन्तं कालं संयोगं परिहारकल्पिकानां गच्छः पूर्वेषु पश्चिमेषु च तीर्थङ्करेषु अनुसजति परम्परयाऽनुवर्तते ।

एवं शिष्येण पृष्टे सति सूरिराह–

पुव्वसयसहस्साइं, पुरिमस्स अणुसज्जति ।

वीसग्गसो य वासाइं, पच्छिमस्साणुसज्जति ॥ ३८० ॥

पूर्वशतसहस्राणि पूर्वस्य ऋषभस्वामिनस्तीर्थे परिहारकल्पोऽनुसजति तत्र ऋषभस्वामिनः तीर्थे यानि पूर्वशतसहस्राण्युक्तानि तानि देशोने द्वे पूर्वकोटी मन्तव्ये । कथमिति चेत् ?,उच्यते-इह पूर्वकोट्यायुषो मनुष्या जन्मत आरभ्य संजाताष्टवर्षाः प्रव्रजितास्तेषां च नवमे वर्षे उपस्थापना संजाता, एकोनविंशतिवर्षपर्यायाणां च दृष्टिवाद उद्दिष्टः, तच्च वर्षेण योगः समाप्तिं नीतः, एवं नवविंशतिश्च मिलिता एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, एतावत्सु वर्षेषु गतेषु ऋषभस्वामिनः पार्श्वे परिहारकल्पं प्रतिपन्नाः, तत एकोनविंशद्वर्षन्यूनां पूर्वकोटीं परिहारकल्पे तैरनुपालिते सति ये वाऽन्ये तेषां मूले परिहारकल्पं प्रतिपद्यन्ते, तेऽप्येवमेवैकोनत्रिंशद्वर्षन्यूनां पूर्वकोटीमनुपालयन्ति । एवं देशोने द्वे पूर्वकोटी भवतः, पश्चिमस्य तु यानि विंशत्यग्रशो वर्षाण्युक्तानि तानि देशोने द्वे वर्षशते भवतः ।

तथा चाऽऽह–

पव्वज्जा अट्ठवासस्स, दिट्ठिवादो उ वीसहिं ।

इति एकूणतीसाए, सयमूणं तु पच्छिमे ॥ ३८१ ॥

पालइत्ता सयं ऊणं, वासाणं ते अ पच्छिमे ।

काले देसिंति अण्णेसिं, इति ऊणा तु वे सता ॥३८२॥

श्रीवर्द्धमानस्वामिकाले वर्षशताऽऽयुषो मनुष्याः, तत्राष्टवर्षस्य जन्मनः प्रभृति संजातवर्षाष्टकस्य कस्याऽपि प्रव्रज्या संजाता, पूर्वोक्तरीत्या च विंशत्या वर्षे दृष्टिवादो योगतः समर्थितः, ते श्रीमन्महावीरसकाशे परिहारकल्पं नव जनाः प्रतिपद्य देशोनवर्षशतमनुपालयन्ति इत्येवमेकोनत्रिंशतं पश्चिमे पश्चिमतीर्थङ्करकाले भवति । ततस्ते वर्षाणां शतमूनं तं कल्पं पालयित्वा पश्चिमे काले निजाऽऽयुःपर्यन्ते अन्येषां तं कल्पं दिशन्ति प्ररूपयन्ति, प्रवर्तयन्तीति भावः । तेऽप्येवमेवैकोनन्यूनं शतं पालयन्ति । इत्येवं द्वे शते ऊने वर्षाणां भवत इति ।

किमर्थं तृतीया पूर्वकोटी तृतीयं वा वर्षशतं न भवतीत्याह–

पडिवन्नजिणिंदस्स, पादमूलम्मि जे विऊ ।

ठावयंति अ तेऽन्ने, ण उ ठावितठावगा ॥ ३८३ ॥

जिनेन्द्रस्य पादमूले ये विद्वांसः प्रस्तुतं, कल्पं प्रतिपन्नास्त एवान्यान् तत्र कल्पे स्थापयन्ति, न तु स्थापितस्थापकाः, जिनेन स्थापिता स्थापका येषां ते स्थापितस्थापकास्ते अमुं कल्पमन्येषां न स्थापयन्ति । इदमत्र हृदयम्–इयमेवास्य कल्पस्य स्थितिर्यत्तीर्थकरसमीपे वा अमुं प्रतिपद्यन्ते तीर्थकरसमीपप्रतिपन्नसाधुसकाशे वा नान्येषामतस्तृतीये वर्षे पूर्वकोटिवर्षशते न भवत इति ।

अथ कीदृग्गुणोपेता अमी भवन्ति ?,इत्याह–

सव्वे चरित्तमंता य, दंसणे परिनिट्ठिया ।

णवपुव्विया जहन्नेणं, उक्कोसं दसपुव्विया ॥ ३८४ ॥

पंचविहे ववहारे, कप्पे ते दुविहम्मि य ।

दसविहे य पच्छित्ते, सव्वे वि परिनिट्ठिया ॥ ३८५ ॥

सर्वेऽपि भगवन्तः चारित्रवन्तो दर्शने च सम्यक्त्वे परिनिष्ठिताः परमकोटिमुपगताः ज्ञानमङ्गीकृत्य तु नवपूर्विणो जघन्येनोत्कर्षतो दशपूर्विणः, किञ्चिन्न्यूनदशपूर्वधरा मन्तव्याः,तथा पञ्चविधे व्यवहारे आगमश्रुताऽऽज्ञाऽऽधारणाजीतलक्षणे, द्विविधे च कल्पे अकल्पस्थापनाकल्परूपे जिनकल्पस्थविरकल्परूपे वा दशविधे प्रायश्चित्ते आलोचनाऽऽदौ पाराञ्चिकान्ते सर्वेऽपि परिनिष्ठिताः परिज्ञायां परां निष्ठां प्राप्ताः।

अप्पणो आउगं सेसं, जाणित्ता ते महामुणी ।

परकमं च बलविरियं, पच्चवाए तहेव य ॥ ३८६ ॥

आत्मन आयुः शेषं सातिशयश्रुतोपयोगेन ज्ञात्वा ते महामुनयो बलं शारीरं सामर्थ्यं, वीर्यं जीवशक्तिः, तदुभयमपि दर्शितस्वफलं पराक्रमः, एतान्यात्मनो विज्ञायाऽमुं च कल्पं प्रतिपद्यन्ते। प्रत्यपाया जीवितोपद्रवकारिणो रोगाऽऽदयस्तानपि तथैव प्रथममेव भोगयति, किं प्रतिपन्नानां भविष्यन्ति न वेति, यदि न भवन्ति ततः प्रतिपद्यन्ते, अन्यथा तु नेति।

आपुच्छिऊण अरहंते, मग्गं देसंति ते इमं ।

पमाणाणि य सव्वाइं, अभिग्गहे य बहुविहे ॥ ३८७ ॥

अर्हतस्तीर्थकृत आपृच्छ्य तेषामनुज्ञया अमुं कल्पं प्रतिपद्यन्ते। ते च तीर्थकृतस्तेषां प्रस्तुतकल्पस्य इमम् अनन्तरमेव वक्ष्यमाणं मार्गं सामाचारीं देशयन्ति। तद्यथा-प्रमाणानि च सर्वाणि, अभिग्रहांश्च बहुविधान्।

एतान्येव व्याचष्टे-

गणोवहिपमाणाइं, पुरिसाणं च जाणितुं ।

दव्वं खेत्तं च कालं च, भावमण्णे य पज्जवे ॥ ३८८ ॥

गणप्रमाणानि उपधिप्रमाणानि पुरुषाणां च प्रमाणानि यानि प्रस्तुते काले जघन्याऽऽदिभेदादनेकधा भवन्ति। यच्च तेषां द्रव्यमशनाऽऽदिकं कल्पनीयं, यच्च क्षेत्रं मासकल्पप्रायोग्यं च वर्षावासप्रायोग्यं वा यतश्च तयोरेव मासकल्पवर्षावासयोः प्रतिनियत कालो,यश्च भावः क्रोधनिग्रहाऽऽदिरूपो ये चान्येऽपि निष्प्रतिकर्मताऽऽदयो लेश्याध्यानाऽऽदयो वा पर्यायास्तेषां संभवन्ति तान् सर्वानपि भगवन्तस्तेषामुपदिशन्ति, स एको वा द्वौ वा अनेके वा भवेयुः। तत्र यावद्भिः परिहारिकगणः ऊनस्तावता उपसंपदर्थमागतानां मध्यात् गृहीत्वा गणः पूर्यते, ये शेषास्ते पारिहारिकतपस्तुलनां कुर्वन्तः तिष्ठन्ति, ते च पारिहारिकैः सार्द्ध तिष्ठन्तोऽविरुद्धा भवन्ति, पारिहारिकाणामकलनीया भवन्तीत्युक्तं भवति; ते च तावत् तिष्ठन्ति यावदन्ये उपसंपदर्थमुपतिष्ठन्ति, तैः पूरयित्वा पृथग् गणः क्रियते।

इदमेव व्याख्याति-

तत्तो य ऊणए कप्पे, उपसंपज्जति जो तहिं ।

जत्तिएण गणो ऊणो, तत्तिए तत्थ पक्खिवे ॥३८९॥

ततश्च पूर्वोक्तकारणादूनके एकद्व्यादिभिः साधुभिरूने कल्पे यस्तत्रोपसंपद्यते तत्रायं विधिर्यावद्भिरेकाऽऽदिसंख्याकैः स गणः ऊनस्तावत्संख्याकान् तत्र गणे प्रक्षिपेत् प्रवेशयेत्।

ततो अणूणए कप्पे, उवसंपज्जति जे तहिं ।

उवसंपज्जमाणं तु, तप्पमाणं गणं करे ॥ ३९० ॥

अथ कोऽप्युपद्रवैर्न कालगतस्तत्र एवमन्यूनके कल्पे ये तत्रोपसंपद्यन्ते ते यदि नव जनाः पूर्णास्ततः पृथग् गणो भवति। अथाऽपूर्णास्तत प्रतिक्षिप्यन्ते यावदन्ये उपसंपदर्थमागच्छन्ति, ततस्तमुपसंपद्यमानं साधुजनं मीलयित्वा तत्प्रमाणं नवपुरुषमानं गणं कुर्यात् स्थापयेत्।

पमाणं कप्पट्ठितो तत्थ, ववहारं ववहरित्तए ।

अणुपरिहारियाणं पि, पमाणं होति से गिऊ ॥३९१॥

तेषां परिहारिकाणां तत्र कल्पे क्वचित् स्खलिताऽऽदौ आपन्ने व्यवहारप्रायश्चित्तं व्यवहर्त्तुं दातुं कल्पस्थितः प्रमाणं, यदसौ प्रायश्चित्तं ददाति तत्तैर्वोढव्यमिति भावः। एवमनुपरिहारिकाणामप्यपराधपदमापन्नाना स एव विद्वान् गीतार्थः प्रायश्चित्तदाने प्रमाणम्।

आलोयण कप्पठिते, तवमुज्जाणोवमं परिवहंते ।

अणुपरिहारिएँ गोवा-लएँ णिच्चं उज्जुत्तमाउत्तो ॥३९२॥

ते परिहारिकानुपरिहारिकाः,आलोचनमुपलक्षणत्वात् वन्दनकं प्रत्याख्यानं च कल्पस्थितस्य पुरतः कुर्वन्ति। ( तवमुज्जाणोवमं परिवहते त्ति ) यथा किल कश्चिदुद्यानिकां गत एकान्तरतिप्रसक्तस्वच्छन्दसुख विहरमाण आस्ते, एवं तेऽपि पारिहारिका एकान्तसमाधिसिन्धुनिमग्नमनसस्तत्तप उद्यानोपमम् उद्यानिकासदृश परिवहन्ति, कुर्वन्तीत्यर्थः। अनुपरिहारिकाश्च चत्वारोऽपि परिहारिकाणां भिक्षाऽऽदौ पर्यटता पृष्ठतः स्थिता नित्यमुद्यतकाः प्रयत्नवन्त आयुक्ताश्च उपयुक्ता हिण्डन्ते, यथा गोपालको गवा पृष्ठत स्थित उद्युक्त आयुक्तश्च हिण्डते।

पडिपुच्छं वायं णं, मोत्तूण णत्थि संकहा ।

आलावो अत्तणिद्देसो, परिहारस्स कारणे ॥ ३९३ ॥

तेषां च पारिहारिकाऽऽदीना नवानामपि जनाना सूत्रार्थयोः प्रतिपृच्छां वाचं मुक्त्वा नास्त्यन्योन्यं परस्पर संकथा. पहारिकस्य च कारणे उत्थाननिषीदनाऽऽद्यशक्तिरूपे आलाप आत्मनिर्देशरूपो भवति, यथा उत्थास्यामि, उपवेक्ष्यामि, भैक्ष्यं हिण्डिमात्रकं प्रेक्ष्ये इत्यादि।

वारस दसऽट्ठ दस अ-ट्ठ छच्चऽट्ठछचउगे य उक्कोसं।

मज्झिमजहन्नगा ऊ, वासासिसिरगिम्हे उ ॥ ३९४ ॥

पारिहारिकाणा वर्षाशिशिरग्रीष्मरूपे त्रिविधे काले उत्कृष्टमध्यमजघन्यानि तपासि भवन्ति। तत्र वर्षारात्रे उत्कृष्टं तपो द्वादशं, शिशिरे दशमम् उत्कृष्ट ग्रीष्मे अष्टमं वर्षारात्रे मध्यमं दशमं शिशिरे अष्टमं, ग्रीष्मे षष्ठ वर्षारात्रे जघन्यमष्टमं, शिशिरे षष्ठ, ग्रीष्मे चत्वारि भक्तानि, चतुर्थमित्यर्थः।

आयंबिलवारसगं, पत्तेयं परिहारगा परिहरंति ।

अभिगहितएसणाए, पंचराह वि एगो संभोगो ॥३९५॥

परिहारिका उत्कर्षतो द्वादशतप कृत्वा आचाम्लेन पारयन्ति, ते च परिहारिकाश्चत्वारोऽपि प्रत्येकं पृथक् परिहरन्ति, न परस्परं समुद्देशनाऽऽदिभिर्भोगं कुर्वन्तीत्यर्थः।

ते च पारिहारिका अभिगृहीततया पञ्चानामुपरितनानामेषणया भक्तपानं गृह्णन्ति,ये तु चत्वारोऽनुपारिहारिका एकत्र कल्पे स्थितास्तेषां पञ्चानामप्येक एव संभोग. । ते च प्रतिदिवसमाचाम्लं कुर्वन्ति । यस्तु कल्पस्थितः स स्वयं न हिण्डते, तस्य योग्यं भक्तपानमनुपारिहारिका आनयन्ति ।

परिहारिओ छम्मासे, अणुपरिहारिओ वि छम्मासा ।
कप्पट्ठितो वि छम्मासे, एते अट्ठारस उ मासे ॥३९६॥

परिहारिका. प्रथमतः षण्मासान् प्रस्तुतं तपो वहन्ति, ततोऽनुपरिहारिका अपि षण्मासान् वहन्ति, इतरे तु तेषामनुपरिहारिकत्वं प्रतिपद्यन्ते,तैरपि व्यूढे सति कल्पस्थितः षण्मासान् वहति, तत शेषाणामेकः कल्पस्थितो भवति, एकः पुनरनुपरिहारिकत्वं प्रतिपद्यते,एवमेते अष्टादश मासा भवन्ति ।

अणुपरिहारिगा चेव, जया ते परिहारिगा ।
अण्णमण्णेसु ठाणेसु, अविरुद्धा भवंति ते ॥ ३९७ ॥

अनुपरिहारिकाश्च ये च ते पारिहारिकास्ते अन्योऽन्येषु स्थानेषु कालभेदेन परस्परमेकैकस्य वैयावृत्यं कुर्वन्तोऽविरुद्धा एव भवन्ति ।

तथा-

गएहिँ छहिँ मासेहिं, निव्विट्ठा य भवंति ते ।
ततो पच्छा य ववहारं,पट्ठवंति अणुपरिहारिया ॥३९८॥
गएहिँ छहिँ मासेहिं, निविट्ठा य भवंति ते ।
वहइ कप्पट्ठिओ पच्छा, परिहारं तहाविहं ॥ ३९९ ॥

ते परिहारिका षड्भिर्मासैर्गतैस्तपसि व्यूढे सति निविष्टा निर्विष्टकायिका भवन्ति , तत पश्चादनुपरिहारिका व्यवहारं परिहारतपः समाचारं प्रस्थापयन्ति कर्त्तुं प्रारभन्ते । तेऽपि षड्भिर्मासैर्गतैर्निविष्टा भवन्ति, पश्चात्कल्पस्थितोऽपि तथाविधं परिहारं तावदेव मासान् वहति ।

एव च-

अट्ठारसेहिँ मासेहिं, कप्पो होति समाणितो ।
मूलट्ठवणाए समं, छम्मासा उ अणूणगा ॥ ४०० ॥

अष्टादशभिर्मासैरयं कल्पः समापितो भवति । कथमित्याह-( मूलठवणा इत्यादि ) मूलस्थापना नाम-यत्परिहारिका प्रथमत इदं तपः प्रतिपद्यन्ते, तस्यां षण्मासा अन्यूनास्तपो भवति, एवमनु पारिहारिकाणां कल्पस्थितस्य च मूलस्थापनया सम तुल्यं तपः प्रत्येकं ज्ञेयं, षण्मासान् यावदित्यर्थः ।एवं त्रिभिः षड्भिरष्टादश मासा भवन्ति।ते च द्विधा-जिनकल्पिका , स्थविरकल्पिकाश्च ।

तत्रैतेषामपि व्याख्यानमाह-

एवं समाणिए कप्पे, जे तेसिं जिणकप्पिया ।
तमेव कप्पं ऊणावि, पालए जावजीविय ॥ ४०१ ॥

एवमनन्तरोक्तविधिना अष्टादशभिर्मासैः कल्पे समापिते सति ये तेषां मध्यात् जिनकल्पिकास्ते तमेव कल्पमूना अपि अष्टाऽऽदिसंख्याका अपि यावज्जीवं पालयन्ति ।

अट्ठारसेहिँ पुण्णेहिं, मासेहिं थेरकप्पिया ।
पुणो गच्छं नियच्छंति, एसा तेसिँ अहाठिती ॥४०२॥

ये स्थविरकल्पिकास्ते अष्टादशभिर्मासैः पूर्णैः पुन स्तूयोऽपि (गच्छं ति) गच्छं नियच्छन्ति आगच्छन्तीत्यर्थः । एषा तेषां यथास्थितिर्यथाकल्प. ।

अथ षट्स्वपि कल्पस्थितौ का कुत्रावतरतीत्याह-

तइयचतुत्था कप्पा, समोयरंति तु ठियम्मि कप्पम्मि ।
पंचमछट्ठट्ठितीसुं, हेट्ठिल्लाणं समोयारो ॥ ४०३ ॥

तृतीयचतुर्थौ निर्विशमानकनिर्विष्टकायिकाऽऽख्यौ द्वितीये छेदोपस्थापनीयनाम्नि स्थितककल्पे समवतरत । तथा सामायिकच्छेदोपस्थापनीयनिर्विशमानकनिर्विष्टकायिकाऽऽख्या आद्याश्चतस्रः स्थितयोऽधस्तन्यः कल्पयन्ते । तासां पञ्चमषष्ठस्थित्योर्जिनकल्पस्थविरकल्पस्थितिरूपयो समवतारो भवति। गत निर्विशमानकनिर्विष्टकायिककल्पस्थितिद्वयम्। बृ० ६ उ०। स्था०। अनु० । पञ्चा० । कर्म० । प्रज्ञा० । अथैते परिहारविशुद्धिका कस्मिन् क्षेत्रे काले वा भवन्ति ? उच्यते--इह क्षेत्राऽऽदिनिरूपणार्थं विंशतिद्वाराणि।तद्यथा-क्षेत्रद्वारम् १,कालद्वारम् २,चारित्रद्वारम् ३, तीर्थद्वारम् ४, पर्यायद्वारम् ५,आगमद्वारम् ६,वेदद्वारम् ७,कल्पद्वारम् ८,लिङ्गद्वारम् ९,लेश्याद्वारम् १०, ध्यानद्वारम् ११, गणद्वारम् १२, अभिग्रहद्वारम् १३, प्रव्रज्याद्वारम् १४,मुण्डापनाद्वारम् १५,प्रायश्चित्तविधिद्वारम् १६,कारणद्वारम् १७,नि.प्रतिकर्मताद्वारम् १८, भिक्षाद्वारम् १९, पन्थद्वारम् २० । तत्र क्षेत्रे द्विधा मार्गणा-जन्मत , सद्भावतश्च, यत्र क्षेत्रे जातस्तत्र जन्मतो मार्गणा । यत्र च कल्पे स्थितो वर्त्तते तत्र सद्भावत । उक्त च-" खेत्ते दुविहं मग्गण, जम्मणओ चेव संतिभावे य । जम्मणओ जहिँ जाओ, संतीभावो जहिं कप्पो ॥१॥" तत्र जन्मतः सद्भावतश्च पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरावतेषु, न तु महाविदेहेषु. न चैतेषां संहरणमस्ति, येन जिनकल्पिका इव संहरणतः सर्वासु कर्मभूमिष्वकर्मभूमिषु वा प्राप्येरन्। उक्त च-" खित्ते भरहेरवए, सु होंति संहरणवज्जिया नियमा । " कालद्वारे-अवसर्पिण्यां तृतीये चतुर्थे वाऽऽरके जन्मसद्भाव , पञ्चमेऽपि अरके उत्सर्पिण्यां द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा जन्म-सद्भाव , पुनस्तृतीये चतुर्थे वा। उक्त च-" ओसप्पिणीऍ दोसु, जम्मणओ तीसु संतिभावेण । उस्सप्पिणिविवरीओ, जम्मणओ संतिभावे य ॥ १ ॥ " उत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपे तु चतुऽऽर्थारकप्रतिभागकाले न सम्भवन्ति, महाविदेहक्षेत्रे तेषामसम्भवात् । चारित्रद्वारे- संयमस्थानद्वारेण मार्गणा, तत्र सामायिकस्य छेदोपस्थापनस्य च चारित्रस्य यानि जघन्यानि संयमस्थानानि, तानि परस्परतुल्यानि, समानपरिणामत्वात्, ततोऽसङ्ख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि संयमस्थानान्यतिक्रम्योर्द्ध्वं यानि संयमस्थानानि तानि परिहारविशुद्धिकयोग्यानि तान्यपि च केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानानि असङ्ख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि,तानि प्रथमद्वितीयचारित्राविरोधीनि, तेष्वपि सम्भवात्,तत ऊर्द्ध्वं यानि संयमस्थानानि संयमस्थानानि सूक्ष्मसम्परायथाख्यातचारित्रयोग्यानि। उक्त च-

"तुल्ला जहन्नठाणे, संयमठाणेण पढमबिइयाणं ।
तत्तो असंखलोए, गंतुं परिहारियट्ठाणा ॥ १ ॥
ते वि असंखा लोगा, अविरुद्धा चेव पढमबिइयाणं ।
उवरिं वि ततोऽसंखा, संयमठाणा उ दोण्ह पि " ॥ २ ॥

तत्र परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्तिः स्वकीयेष्वेव संयमस्थानेषु वर्त्तमानस्य भवति, न शेषेषु, यदा त्वतीतनयमधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो विचार्यते तदा शेषेष्वपि संयमस्थानेषु भवति, परिहारविशुद्धिकल्पसमाप्त्यनन्तरमन्येष्वपि चारित्रेषु संभवात्,

तेष्वपि च वर्त्तमानस्यातीतनयमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्नत्वाविरोधात्। उक्तं च-" सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो । तेसु वि वट्टतो सो-ऽतीतनय पप्प वुच्चति उ" ॥ १ ॥ तीर्थद्वारे-परिहारविशुद्धिको नियमतस्तीर्थप्रवर्त्तमान एव भवति भवति, न तदुच्छेदो नानुत्पत्त्या वा तदभावे जातिस्मरणाऽऽदिना। उक्तं च-" तित्थ त्ति नियमतो च्चिय, होइ स तित्थम्मि न उण तदभावे। विगएऽणुप्पन्ने वा, जाईसरणाइएहिं तु " ॥ १ ॥ पर्यायद्वारे-पर्यायो द्विधा-गृहस्थपर्यायो, यतिपर्यायश्च। एकैकोऽपि द्विधा-जघन्यतः, उत्कर्षतश्च। तत्र गृहस्थपर्यायो जघन्यत एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, यतिपर्यायो विंशतिः, द्वावपि चोत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटीप्रमाणौ। उक्तं च-" एगस्स एस नेओ, गिहिपरियाओ जहन्न गुणतीसा। जइपरियाओ वीसा, दोसु वि उक्कोसदेसूणो" ॥ १ ॥ आगमद्वारे-अपूर्वमागमं स नाधीते यस्मात्तत्कल्पमधिकृत्य प्रगृहीतोचितयोगाऽऽराधनत एव स कृतकृत्यतां भजते, पूर्वाधीत तु विस्रोतसिकाक्षयनिमित्तं नित्यमेवैकाग्रमनाः सम्यक् प्रायोऽनुस्मरति। आह च-

" अप्पुव्वं न अहिज्जइ, आगममेसो पडुच्च कप्पं तु।
जमुचियपगहियजोगा-राहणओ चेव कयकिच्चो ॥ १ ॥
पुव्वाहीयं तु तयं, पायं अणुसरइ निच्चमेवेस ।
एगग्गमणो सम्मं, विस्सोयसिगाएँ खयहेऊ ॥ २ ॥ "

वेदद्वारे-नित्य प्रवृत्तिकाले वेदे पुरुषवेदो भवेत, नपुंसकवेदो वा, न स्त्रीवेदः, स्त्रियाः परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्त्यसंभवात्। अतीतनयमधिकृत्य पुनः पूर्वप्रतिपन्नश्चिन्त्यमानः सवेदो वाऽवेदो वा, तत्र सवेदः श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे, उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ त्ववेद इति। उक्तं च-" वेदो पवित्तिकाले, इत्थीवेदो उ होइ एगयरो । पुव्वपडिवन्नगो पुण, होज्ज सवेदो अवेदो वा ॥१॥ " कल्पद्वारे- स्थितकल्पे एवायं, नास्थितकल्पे, "ठियकप्पम्मि य नियमा" इति वचनात्। तत्राचेलक्याऽऽदिषु दशस्वपि स्थानेषु ये स्थिताः साधवस्तत्कल्पः स्थितकल्प उच्यते। ये पुनश्चतुर्षु शय्यातरपिण्डेष्वेवावस्थितेषु कल्पेषु स्थिताः शेषेषु चाचेलक्याऽऽदिषु षट्सु अस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्पः। उक्तं च "ठिय अट्ठिओ य कप्पो, आचेलुक्काइएसु ठाणेसु। सव्वेसु ठिया पढमो, चउ ठियगेसु अट्ठिया बीओ ॥ १ ॥ " आचेलक्याऽऽदीनि च दश स्थानान्यमूनि। " आचेलुक्कुद्देसिय, सिज्जायर रायपिंड किइकम्म। वयजेट्ठ पडिक्कमणे, मास पज्जोसवणकप्पो ॥ १ ॥ " चत्वारश्चावस्थिताः कल्पा इमे-" सेज्जायरपिंडम्मी, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य । किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥ २ ॥ " लिङ्गद्वारे-नियमतो द्विविधेऽपि लिङ्गे भवति। तद्यथा-द्रव्यलिङ्गे, भावलिङ्गे च, एकेनापि विना विवक्षितकल्पोचितसामाचार्ययोगात्। लेश्याद्वारे-तेजःप्रभृतिकास्वितरासु तिसृषु विशुद्धासु लेश्यासु परिहारविशुद्धिककल्पं प्रतिपद्यते पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सर्वास्वपि कथञ्चिद्भवति, तत्राऽपीतरविशुद्धिलेश्यासु नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्त्तते, तथाभूतासु वर्त्तमानो न प्रभूतं कालमवतिष्ठते, किं तु स्तोकं, यतः स्ववीर्यवशात् झटित्येव ताभ्यो व्यावर्त्तते। अथ प्रथमत एव कस्मात्प्रवर्त्तते ?, उच्यते-कर्मवशात्। उक्तं च-

" लेसासु विसुद्धासु य, पडिवज्जइ तीसु न उण सेसासु।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्जा सव्वासु वि कहिंचि ॥ १ ॥
णच्चंतसंकिलिट्ठासु, थोवं कालं च वट्टति न इयरासु ।
विचित्तकम्माण गई, तहा वि वीरियफलं देइ ॥ २ ॥ "

ध्यानद्वारे-धर्मध्यानेन प्रवर्द्धमानेन परिहारविशुद्धिकं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नः पुनरार्त्तरौद्रयोरपि भवति, केवलं प्रायेण निरनुबन्धः।

आह च-

" झाणम्मि वि नियमेणं, पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं ।
इयरेसु वि झाणेसु, पुव्वपडिवन्नो न पडिसिद्धो ॥ १ ॥
एवं च झाणजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा ।
रोद्दट्टेसु वि भावो, इमस्स पायं निरणुबंधो ॥ २ ॥ "

गणनाद्वारे-जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यन्ते, उत्कर्षतः शतसंख्याः, पूर्वप्रतिपन्नाः। जघन्यत उत्कृष्टतो वा शतशः, पुरुषगणनया जघन्यतः प्रतिपद्यमानाः सप्तविंशतिः, उत्कर्षतः सहस्रं, पूर्वप्रतिपन्नाः पुनर्जघन्यतः शतशः, उत्कर्षतः सहस्रशः। आह च-

" गणओ तिन्नेव गणा, जहन्नपडिवत्ति सयसो उक्कोसा ।
उक्कोसजहन्नेणं, सयसो च्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥ १ ॥
सत्तावीस जहन्ना, सहस्स मुक्कोसओ य पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्न जहन्न उक्कोसा ॥ २ ॥ "

अन्यच्च यदा पूर्वप्रतिपन्नकल्पमध्यादेको निर्गच्छति, अन्यः प्रविशति तदोनप्रक्षेपप्रतिपत्तौ कदाचिदेकोऽपि भवति पृथक्त्वं वा, पूर्वप्रतिपन्नोऽप्येवं भजनया कदाचिदेकः प्राप्यते, पृथक्त्वं वा। उक्तं च-"पडिवज्जमाणभयणा-ए होज्ज एक्को वि ऊणपक्खेवे । पुव्वपडिवन्नया वि य, भइया एक्को पुहुत्तं वा ॥१॥" अभिग्रहद्वारे-अभिग्रहाश्चतुर्विधा। तद्यथा-द्रव्याभिग्रहाः, क्षेत्राऽभिग्रहाः कालाभिग्रहाः, भावाभिग्रहाश्च। एते चान्यत्र चर्चिताः इति न भूयश्चर्च्यते। तत्र परिहारविशुद्धिकस्यैतेऽभिग्रहा न भवति। यस्मादेतस्य कल्प एव यथोदितरूपोऽभिग्रहो वर्त्तते। उक्तं च-

" दव्वाई अभिग्गह, विचित्तरूवा न होंति पुण केइ ।
एयस्स जीयकप्पो, कप्पो च्चियऽभिग्गहो जेण ॥ १ ॥
एयम्मि गोयराई, नियया नियमेण निरववादा य ।
तप्पालणे वि य परं, एयस्स विसुद्धिठाण तु ॥ २ ॥ "

प्रव्रज्याद्वारे-नासावन्यं प्रव्राजयति कल्पस्थितिरेषेति कृत्वा आह च-" पव्वावेइ न एसो, अन्नं कप्पट्ठिइ त्ति काऊण ।' इति। उपदेशं पुनर्यथाशक्ति प्रयच्छति। मुण्डापनद्वारेऽपि नासावन्यं मुण्डयति। अथ प्रव्रज्याऽनन्तरं नियमतो मुण्डनमिति प्रव्रज्याग्रहणेनैव तद्गृहीतमिति किमर्थं पृथक् द्वारम् ?। तदयुक्तम्। प्रव्रज्याद्वारे नियमतो मुण्डनस्याभावात्, अयोग्यस्य कथञ्चिद् दत्तायामपि प्रव्रज्यायां पुनरयोग्यतापरिज्ञाने मुण्डनायोगात् पृथगिदं द्वारमिति। प्रायश्चित्तविधिद्वारे-मनसाऽपि सूक्ष्ममप्यतिचारमापन्नस्य नियमतश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमस्य, यत एष कल्प एकाग्रताप्रधानः, ततस्तद्भङ्गे गुरुतरदोष इति। कारणद्वारे-तथा कारणं नाम आलम्बनं, तच्च ज्ञानाऽऽदिकं, तथाऽस्य न विद्यते येन तदाश्रित्यापवादपदसेविता स्यात्। एष हि सर्वत्र निरपेक्षः क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तं प्रारब्धमेव स्वकल्पं यथोक्तविधिना समापयन् महात्मा वर्तते।

उक्तं च-

" कारणमालंबणं सोउ, पुण नाणाइ य सुपरिसुद्धं ।
एयस्स तं न विज्जइ, उचियतवसाहणोपायं ॥ १ ॥
सव्वत्थ निरवयक्खो, आढत्त च्चिय दढं समाणंतो ।
वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खयनिमित्तं ॥ २ ॥ "

नि.प्रतिकर्मताद्वारे-एष महात्मा निष्प्रतिकर्मशरीरोऽक्षिमलाऽऽदिकमपि कदाचिन्नापनयति, न च प्राणान्तिकेऽपि समापतिते व्यसने द्वितीय पद सेवते।

उक्त च-

"निप्पडिकम्मसरीरो, अच्छिमलाइ वि नावणेइ सया।
पाणतिए वि य महा, वसणम्मि न वट्टए बीए॥ १॥
अप्पबहुत्ताऽऽलोयण, विसयाईओ उ होइ एस त्ति।
अहवा सुहभावाओ, य गपय चिय इमस्स॥ २॥"

भिक्षाद्वारे-एतदेव चारित्र तथा विहारक्रमश्च तृतीयस्यां पौरुष्यां भवति, शेषासु च पौरुषीषु कायोत्सर्गो निद्राऽपि चाम्याल्पा द्रष्टव्या। यदि पुन कथमपि जङ्घाबलमस्य परिक्षीण भवति, तथाऽप्येषो विहरन्नपि महाभागो म द्वितीयपदमापद्यते। किं तु तत्रैव यथाकल्पमात्मीय योग विदधातीति।

उक्त च-

"तइयाए पोरिसीए, भिक्खाकालो विहारकालो उ।
सेसासु उ उस्सग्गो, पाय अप्पा य निद्द त्ति॥ १॥
जघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नवरमावज्जे।
तत्थेव अहाकप्प, कुणइ य जोग महाभागो॥ २॥"

एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधा। तद्यथा-इत्वरा., याव त्कथिकाश्च। तत्र ये कल्पसमाप्त्यनन्तर तमेव कल्प गच्छ वासमुपयास्यन्ति ते इत्वरा, ये पुन कल्पसमाप्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्प प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिका। उक्त च- "इत्तरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिय त्ति।" अत्र स्थविरकल्पग्रहण उपलक्षणम्-स्वकल्पे चेति द्रष्टव्यम्। नत्वरवराणा कल्पप्रभावाद्देवमनुष्यतैर्यग्योनिकृता उपसर्गा. सद्योघातिन आतङ्का अतीवाविषह्याश्च वेदना न प्रादुष्यन्ति, यावत्कथिकानां सम्भवेयुरपि। ते हि जिनकल्प प्रतिपत्स्यमाना जिनकल्पभावमनुविदधति,जिनकल्पिकानां चोपसर्गाऽऽद्य सम्भवन्तीति। उक्त च-"इत्तरियाणुवसग्गा, आनका वेयणा य न हवति। आवकहिया ण भइया।" इति। प्रज्ञा० १ पद। पञ्चा०। प० स०। आ० म०। प० भा०। औ०। वृ०।

**परिहारविसुद्धिलाद्धि-परिहारविशुद्धिलब्धि**-स्त्री०। परिहारस्त पोविशेष., तेन विशुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिकम्, तस्य लब्धि। परिहारविशुद्ध्याख्यचारित्रं धौ, भ० ८ श० २ उ०।

**परिहारिणी-**देशी-चिरप्रसूतमाहिष्याम, दे० ना० ६ वर्ग ३१ गाथा।

**परिहारिय-परिहारिक**-पु०। परिहार परित्यागमर्हन्तीति व्युत्पत्त्या पारिहारिका। भिक्षाग्रहणे परिहर्त्तव्येषु, बृ० ३ उ०। नि० चू०। परिहारतपोऽनुपालकेषु, प० व० ४ द्वार। उत्त०। अनु०। स्था०।

**परिहाल-**देशी-जलनिर्गमे, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा।

**परिहाविय-परिहापित**-त्रि०। परिहाणिं नीते, व्य० ४ उ०।

**परिहास-परिहास**-पु०। सर्वत उपहासे,सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। हास्ये, "केली नम्म च परिहासो।" पाइ० ना० १६६ गाथा।

**परिहासडि-**स्त्री०। रीतौ, "ढोल्ला एह परिहासडी, अहिह भन कवणेहि देसि।" प्रा० ४ पाद।

**परिहासणा-परिभाषणा**-स्त्री०। परिभाषण परिभाषणा। कोपाऽऽविष्करणेन मा यासीरित्यपराधिनोऽभिधाने, आव० १ अ०। "परिहासणा उ पढमा।" प्रथमा स्वल्पापराधविषया परिभाषणा प्रागुक्तस्वरूपा भगवता आदिनाथेन प्रवर्तिताऽऽसीदू इत्युन्नीति'। आ० म० १ अ०।

**परिहि-परिधि**-पु०। परिणाहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। परिवेषे, है०।

**परिहिअ-परिहित**-त्रि०। "आलइअ परिहिअ पिणद्ध च।" पाइ० ना० १७४ गाथा।

**परिहित्ता-परिधाय**-अव्य०। परिधान कृत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

**परिहिय-परिहित**-त्रि०। निवसिते,आ०१ श्रु० १६ अ०। औ०। प्रज्ञा०। स्था०। प्रति०। उत्त०। निवसनीकृते,दशा० १० अ०।

**परिहीण-परिहीन**-न०। भावे क्त। परिहाणौ, रा०। क्षीणे, "जहा य परिहीणकम्मा सिद्धा।" सू०प्र० १ पाहु०।

**परिहीणघण-परिहीनघन**-त्रि०। दरिद्रे, नि० चू० २ उ०।

**परिहूअ-परिभूत**-त्रि०। अनादृते, "परिहूअ अहिलिअ पराहूअ।" पाइ० ना० १११ गाथा।

**परिहेरग-परिहेरक**-न०। आभरणविशेषे,औ०।

**परी-क्षिप्**-धा०। क्षेपणे, "क्षिपेर्गलत्था ड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णुह-हुल-परी-घत्ता॥ ८।४।१४३॥ इति सूत्रेण क्षिपधातो. परीत्यादेश। 'परीइ।' क्षिपति। प्रा० ४ पाद।

**भ्रम-**धा०। भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-परा॥ ८।४।१६१॥ इति सूत्रेण परीत्यादेश। 'परीइ।' भ्राम्यति। प्रा० ४ पाद।

**परीत-परीत**-त्रि०। परिमिते, रा०। प्रत्येकशरीरिणि, पु०। आ० म० १ अ०।

**परीयसंसारिय-परीतसांसारिक**-पु०। परीत परिमित, स चाऽसौ ससारश्च परीतससार। "अतोऽनेकस्वरात्॥७।२।६॥ इतीकप्रत्यय.। सान्तससारे, रा०।

**परु-परुत्**-अव्य०। पूर्वस्मिन् वर्षे उत् परश्चान्तादेश। गतवर्षे, वाच०। आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

**परूढ-प्ररूढ**-त्रि०। वृद्धिमुपगते, औ०।

**परूवइत्ता-प्ररूप्य**-अव्य०। प्रज्ञप्य (स्था० ३ ठा० १ उ०।) उपपत्तिकथनतो वा निरूप्येत्यर्थे, भ० ६ श० ३१ उ०।

**परूवण-प्ररूपण**-न०। प्रकर्षेण रूपण प्ररूपणम्। स्वरूपकथने, नि०चू० १ उ०। प्रभेदाऽऽदिकथनन (स्था०३ ठा० २ उ०। विशे०।) नामाऽऽदिभेदस्वरूपकथने,न०। प्रज्ञापने, अनु०। व्यक्तपर्यायवचनत प्ररूपणे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अनु०। असख्यातप्रदेशाऽऽत्मकाऽऽदिस्वरूपो धर्मास्तिकाय इत्यादिरूपे, अनु०। दर्पण इव श्रोतृहृदये सङ्क्रामणे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। गत्यादिषु द्वारेषु विचारणे, आ० म० १ अ०।

**परूवणा-प्ररूपणा**-स्त्री०। प्रकृष्टा प्रधाना प्रगता वा रूपणा प्ररूपणा। वर्णनायाम, विशे०। आ० म०। पञ्चविधा प्ररूपणा "आरोवणा य भयणा, पुच्छा तह दायणा य निज्जवणा। एसा वा पञ्चविहा, परूवणा तत्थ नायव्वा॥'॥" ('णमोक्कार' शब्दे तृतीये भागे १८२३ पृष्ठे व्याख्याता) विशे०। आ० म०। आ० चू०। नि० चू०। प्रकथने,आव० ४ अ०। परूवण त्ति वा

कहण त्ति वा वक्खाणमग्गो त्ति वा एगट्ठा।" आ०चू० १ अ०। "पन्न त्ति वा पन्नवण त्ति वा विन्नवण त्ति परूवण त्ति वा एगट्ठी" नि०चू० १ उ०। "परूवण त्ति वा कप्पण त्ति वा एगट्ठा।' नि० चू० १उ०। पदार्थकथनायां च। आव० ४ अ०। विशे०। वृ०।

**परूविय-प्ररूपित**-त्रि०। नामाऽऽदिस्वरूपकथनत (स०१ अङ्ग) सूत्रार्थकथनत. (ग० २ अधि०। स्था०। अनु०) स्वनामकथनत (उत्त० २९ अ०) भेदानुभेदकथनेन कथिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार। प्रतिसूत्रमर्थकथनत. प्रोक्ते, अनु०।

**परूवेंत-प्ररूपयत्**-त्रि०। उपपत्तिभि स्थापयति, औ०।

**परेअ-देशी** पिशाचे, दे० ना० ६ वर्ग १२ गाथा।

**परेय-प्रेत**-त्रि०। पिशाचे, "दयरा पुयाऽणो पिप्पया परेया पिल्लसया भूया।" पाइ० ना० ३० गाथा।

**परेवय-देशी**-पादपतने, दे० ना० ६ वर्ग १८ गाथा।

**परोक्ख-परोक्ष**-न०। परेभ्योऽक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रियमनोभ्योऽक्षस्य जीवस्य यत्तत्परोक्षम, निरुक्तिवशात्। अथवा परैरक्षसम्बन्धन जन्यजनकभावलक्षणमस्येति परोक्षम। इन्द्रियमनोव्यवधानेनाऽऽत्मनोऽर्थप्रत्ययकर्मसाक्षात्कारिणि, स्था० २ ठा० १ उ०।

**परोक्खणाण-परोक्षज्ञान**-न०। क० स०। अप्रत्यक्षाऽऽत्मके ज्ञाने, विशे०।

अथ परोक्षज्ञानस्वरूपमाह--

**अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विंदियमणा परा तेणं।**
**तेहिं तो ज नाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ ९० ॥**

यद्यस्माद् द्रव्येन्द्रियाणि, द्रव्यमनश्च.अक्षस्य जीवस्य पराणि भिन्नानि वर्तन्ते। कथंभूतानि पुनर्द्रव्येन्द्रियद्रव्यमनांसीत्याह-पुद्गलकृतानि पुद्गलस्कन्धनिचयनिष्पन्नानि, हेतुद्वारेण चेद विशषण द्रष्टव्यम, पुद्गलकृतत्वाद्, येन द्रव्येन्द्रियमनांसि जीवस्य परभूतानि, तेन तेभ्यो यन्मतिश्रुतलक्षण ज्ञानमुत्पद्यते, तत्तस्य साक्षादनुत्पत्ते परोक्षम अनुमानवदिति। इदमुक्त भवति· अपौद्गलिकत्वादमूर्त्तो जीवः,पौद्गलकत्वात्तु मूर्त्तानि द्रव्येन्द्रियमनांसि, अमूर्त्ताच्च मूर्त पृथग्भूत, ततस्तेभ्य पौद्गलिकेन्द्रियमनोभ्यो यन्मतिश्रुतलक्षण ज्ञानमुपजायते,तद्धूमाऽऽदेरग्न्यादिज्ञानवत्परनिमित्तत्वात् परोक्षमिह जिनमते परिभाष्यते। इति गाथार्थ. ॥९०॥ विशे०। वृ०।

परोक्षं लक्षयन्ति--

**अस्पष्टं परोक्षम् ॥ १ ॥**

इति प्राक्सूत्रितस्य स्पष्टत्वाभावभ्राजिष्णु यत्प्रमाण तत्परोक्षं लक्षयितव्यम् ॥ १ ॥

अथैतत्प्रकारत. प्रकटयन्ति--

**स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानाऽऽगमभेदतस्तत्पञ्चप्रकारम्।२।**

स्पष्टम्। रत्ना० ३ परि०। आ० चू०। "परोक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते। त जहा आभिणिबोहियणाणे चेव, सुअनाणे चेव।" स्था० ३ ठा० १ उ०। आ० म०। नं०। विशे०। सम्म०। (व्याख्या स्वस्वस्थाने) (नैयायिकसम्मताना प्रत्यक्षज्ञानाना परोक्षत्वम् 'पच्चक्ख' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितम्)

परोक्षज्ञानभेदा.--

**से किं तं परोक्खनाणं?। परोक्खणाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा-आभिणिबोहियनाणपरोक्खं च,सुयनाणपरोक्खं च।**

(से किं तमित्यादि) अथ किं तत् परोक्षज्ञानम्?। परोक्षज्ञान द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-आभिनिबोधिकज्ञानपरोक्षं च श्रुतज्ञानपरोक्षं च। चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ परस्पर सहभावमेव तयोर्दर्शयतः। नं०। वृ०। स्था०। (एतत् सर्वं 'अक्खीकरण' शब्दे प्रथमभागे ५०४ पृष्ठे न्यक्षेणादर्शि)

**परोक्खवयण-परोक्षवचन**-न०। स देवदत्त इत्यादिरूपे परोक्षार्थप्रतिपादके वचनभेदे, आचा०२ श्रु० १ चू० ४ अ०१ उ०।

**परोप्पर-परस्पर**-त्रि०। पर-वीप्सायाम् द्वित्वम्,सुट् च। "नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य" ॥ ८। १। ६२ ॥ इति द्वितीयस्यात ओत्वम्। 'परोप्परं।' प्रा० १ पाद। "ष्पस्पयो· फ" ॥ ८। २। ५३ ॥ इति सूत्रस्य बाहुलकत्वात्तस्य भागस्य प्फ'। प्रा० २ पाद। अन्योन्यस्मिन्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। "तम्मि परोप्परं पीई"। आ० म० १ अ०। प्रश्न०। सूत्र०।

**परोवक्कम-परोपक्रम**-पु०। परकृतमरणे, भ० २० श० १० उ०। स्था०।

**परोवगइ-परोपकृति**-स्त्री०। परोपकारे, परोपकारपरो हि पुमान् सर्वस्य नेत्राञ्जनम्। ध० १ अधि०।

**परोवगार-परोपकार**-पु०। परस्मै अशनाऽऽदिप्रदाने, सघा०। तत्राऽपि विशेषत. परोपकारकरणे प्रवर्तितव्यं, तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामपि पुण्यबन्धनिबन्धनत्वात्। उक्त च—"सक्षेपात्कथ्यते धर्मो जना! किं विस्तरेण व?। परोपकार. पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥ १॥" स चापकारो द्वेधा-द्रव्यतो,भावतश्च। तत्र द्रव्यत उपकारो भोजनशयनाऽऽच्छादनप्रदानाऽऽदिलक्षण.। स चाल्पतयाऽनात्यन्तिकश्चेति· कार्थस्याऽपि साधनैकान्तेन साधीयानिति। भावोपकारस्त्वध्यापनश्रावणाऽऽदिस्वरूपो गरीयानित्यात्यन्तिक उभयलोकसुखावहश्चेत्यतो भावोपकार एव यतितव्यम्। स च परमार्थत. परमेश्वरप्रवचनोपदेश एव, तस्यैव भवशतोपचितदु.खक्षयक्षमत्वात्। आह च-"नोपकारो जगत्यस्मिंस्तादृशो विद्यते क्वचित्। यादृशी दुःखविच्छेदाद्देहिनां धर्मदेशना॥ १॥" संघा० १ अधि० १ प्रस्ता०।

**परोवताव-परोपताप** पु० परेषा प्रतिपत्तिविघ्ने,पं०सू०३सूत्र।

**परोहड**-न०। अज्ञाते भूमिगृहे, "घरवाडयं परोहड।" पाइ० ना० २६४ गाथा।

**पल-पर**-त्रि०। "रसोर्ल-शौ" ॥ ८।४।२८८ ॥ इति रस्य ल। "एदु भवं शमणे भयव महावीले। भयव कडंते,ये अप्पणो पकम्व उज्झिय पलस्स पकमं पमाणीकलेशि।" [illegible]

**पल**-न०। मांसे,अष्ट०। औ०। कर्षचतुष्टय [illegible] अनु०। गुञ्जानयेण पल स्यात् [illegible] ... स्तेषा मार्द्धशतेर्मणम्।" न०। दश [illegible] मानभेदे, स० २० सम०। [illegible], दे० ना० [illegible]

**पलअ-प्रलय**-न०। नाशे, 'पलओ निट्ठण' [illegible] ना० १६७ गाथा।

**पलंघण-प्रलङ्घन**-न०। [illegible] कर्दमा [illegible] न० १ अधि०। स्था०। अतिविस्तृ [illegible]

पत्र । विस्तीर्णभूखाते, ( प्रकृष्टे ) पुनःपुनर्लङ्घने, भ० २ श० ५ उ० । उत्त० ।

**पलंघेतिए**-प्रलङ्घयितुम् अव्य० । पुनः पुनर्लङ्घयित्वेत्यर्थे, भ० ।

**पलंडु**-पलाण्डु-पुं० । (काँदा-प्याज) इतिख्याते कन्दविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । उत्त० ।

**पलंब**-प्रलम्ब-त्रि० । प्रलम्बते इति प्रलम्बः । प्रलम्बमाने, रा० । "पलम्बकोरण्टमल्लदामविसोहियं ।" प्रलम्बते इति प्रलम्बं, तेन प्रलम्बमानेन कोरण्टमाल्यदाम्ना कोरण्टपुष्पमालया उपशोभितं प्रलम्बकोरण्टमाल्यदामोपशोभितम् । रा० । ईषल्लम्बमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । ध० । जी० । आ० म० । चले, ओघ० । ज्ञा० । दीर्घे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अतिदीर्घे, औ० । प्रलम्ब्यत इति प्रलम्बः । आभरणविशेषे, आ० म० १ अ० । झुम्बनके, जं० २ वक्ष० । औ० । कल्प० । नि० चू० । उपा० । त्रयःषष्टितमे महाग्रहे, "दो पलंबा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । चं० प्र० । सू० प्र० । एकादशदेवलोकस्थविमानभेदे, स० १७ सम० । ओघ० । अहोरात्रस्याष्टमे मुहूर्त्ते, स० ३० सम० । शकटाऽऽदिकृते धान्याऽऽगारविशेषे, बृ० २ उ० । ('मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे वनस्पतिप्रतिसेवनाप्रस्तावे शुद्धप्रलम्बभक्षणं वक्ष्यते ) "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् " ॥ ३ । ३ । १९ ॥ इति घञ्प्रत्ययः । प्रलम्बते प्रकर्षेण वृद्धिं याति वृक्षोऽस्मादिति । मूले, व्य० १ उ० । फले, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

( १ ) प्रलम्बग्रहणनिषेधः-

**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥१॥** बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

( निर्ग्रन्थाऽऽमशब्दाना सनिक्षेपा व्याख्या स्वस्वस्थाने )

( २ ) अथ प्रलम्बपदं विवृणोति-

**नामं ठवणपलंबं, दव्वे भावे अ होइ बोधव्वं ।**
**अट्ठविहकम्मगंठी, जीवो उ पलंबए जेणं ॥ २ ॥**

नामप्रलम्बं स्थापनाप्रलम्बं द्रव्यप्रलम्बं भावप्रलम्बं च भवति बोद्धव्यम् नामस्थापने सुगमे । द्रव्यप्रलम्बम् एकभविकबद्धाऽऽयुष्काभिमुखनामगोत्रभेदभिन्न मूलोत्तरगुणभेदभिन्नं च, द्रव्यतालवद् भावप्रलम्बं च वक्तव्यम् । यद्वा-अष्टविध' कर्मग्रन्थिर्भावप्रलम्ब उच्यते इत्याह-येन कर्मणा जीव ,तुशब्दः संसारीति विशेषणार्थः । तालवत् प्रलम्बते नैरयिकाऽऽदिका गतिं प्रति लम्बत इति तद्भावत प्रलम्बम् ।

अत्र परः प्राऽऽह-

**ताल तलो पलंबं, तालं तु फलं तलो हवइ रुक्खो ।**
**पलंबं तु होइ मूलं, झिञ्झिरिमाई मुणेयव्वं ॥४३॥**

किमिद तालं,को वा तल ,किं वा प्रलम्बम् ? । अत्र सूरिराह-तालं च तावत्फल, तलं वृक्षसंबन्धि, तच्चाग्रफल प्रलम्बमुच्यते तल पुनस्तदाधारभूतो वृक्ष । प्रलम्ब पुनर्मूल भवति, प्रलम्बशब्देन इह मूलप्रलम्ब गृहीतमिति भाव । तच्च क्रियाऽऽदिक झिञ्झिरिप्रभृति वृक्षसंबन्धि ( मुणेयव्व ) ज्ञातव्यम् ।

तदेव मूलप्रलम्बमाह-

**झिञ्झिरिसुरभिपलंबे, तालपलंबे अ सल्लइपलंबे ।**
**एवं मूलपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥ ४४ ॥**

झिञ्झिरी वल्ली पलाशकः,सुरभिः किंशुकस्तयोः प्रलम्बं मूलम् । एवं तालप्रलम्बं च,सल्लकीप्रलम्बं,चशब्दादन्यदपि मूलं यल्लोकस्योपभोगमायाति तदेतद् मूलप्रलम्बं ज्ञातव्यमानुपूर्व्या ।

अथाऽग्रप्रलम्बं विवृणोति-

**तलनालिएरलउए, कविट्ठ अंबाड अंबए चेव ।**
**एअं अग्गपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥ ४५ ॥**

तालफलं, नारिकेरफलं,लकुचफलं, कपित्थफलम्, आम्रफलम्, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादन्यदपि कदलीबीजपूराऽऽदिकम्, एतदग्रप्रलम्बं ज्ञातव्यमानुपूर्व्या ।

अथ परः प्राऽऽह-

**जइ मूलग्गपलंबा, पडिसिद्धा न हु इयाणि कंदाई ।**
**कप्पंति न वा जीवा, को व विसेसो तदग्गहणे ? ॥४६॥**

यदि मूलप्रम्बाग्रप्रलम्बे प्रतिषिद्धे, न पुनरिदानीमस्मिन् सूत्रे कन्दाऽऽदयः-कन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रबालपत्रपुष्पबीजानि प्रतिषिद्धानि, यतश्चैतेषां प्रतिषेधं न करोति सूत्रं ततो मदीयायां मतौ प्रतिभासते-अवश्यमेते कन्दाऽऽदयः कल्पन्ते प्रतिगृहीतुं जीवा अपि सन्तः । अथवा-तत्त्वतो नामी जीवा भवन्ति, यदि हि जीवा भवेयुस्ततः प्रतिषेधोऽप्यमीषामस्मिन् सूत्रे कृतः स्यात्, अथेत्थं भणिष्यन्ति भवन्तः-जीवा एवामी न कल्पन्ते ततः सूत्रं दुर्बद्धम् । अथ ब्रवीध्वं जीवा अमी न च कल्पन्ते सूत्रं च सुबद्धं, ततः को वा विशेषहेतुः, तेषा कन्दाऽऽदीनामग्रहणे तेन गृहीता इति ।

अत्र सूरिः प्रतिवचनमाह-

**चोयग ! कन्नसुहेहिं, सद्देहिं अमुच्छितो विसहे फासे ।**
**मज्झम्मि अट्ठ विसया, गहिया एवऽट्ठ कंदाई ॥ ४७ ॥**

हे नोदक ! यथा दशवैकालिके-"कन्नसोक्खेहिं सद्देहिं पेम नाभिनिवेसए । दारुणं कक्कसं फासं, काएणं अहियासए ॥१॥" इत्यस्मिन् श्लोके कर्णसुखैः सुश्रवैः शब्दैरमूर्छितो भवेदिति शब्दविषयो राग प्रतिषिद्धः, विषहेत स्पर्शं दारुणमित्यनेन तु स्पर्शविषयो द्वेष इति शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानामिष्टानिष्टरूपतया दशविधाना मध्यादिष्टशब्दानिष्टस्पर्शयोराद्यन्तयोरेतत्सूत्रलाघवार्थं ग्रहणं कृतम् । अन्यथा ह्येवमभिधातव्यं स्यात्-

"कन्नसोक्खेहिं सद्देहिं, पेम नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं सद्दं, सोएण अहियासए ॥ १ ॥
चक्खुसोक्खेहिं रूवेहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं रूवं, चक्खुणा अहियासए ॥२॥"

इत्यादि परमाद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादष्टावपि मध्यवर्त्तिनोऽनिष्टशब्दाऽऽद्या इष्टस्य शान्ता विषया गृहीता भवन्ति । एवमत्रापि सूत्रं बृहत्तरं मा भूदितिहेतोराद्यन्तयोरग्रमूलप्रलम्बयोर्ग्रहणे मध्यवर्त्तिन कन्दाऽऽदयोऽष्टावपि गृहीता द्रष्टव्या ।

एतेषा च मूलकन्दाऽऽदीनां दशानामपि भेदाना सुखप्रतिपत्त्यर्थमियं गाथा लिख्यते-

"मूले कंदे खंधे, तया य साले पवाल पत्ते य ।

पुप्फे फले य बीए, फलंबसुत्तम्मि दस भेया ॥ १ ॥"

प्रकारान्तरेण प्रतिवचनमाह-

अहवा एगग्गहणे, गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं ।
तेणऽग्गपलंबेणं, तु सूइया सेसगपलंबा ॥ ४८ ॥

अथवा "एकग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणं भवति" इति न्यायो यतः समस्ति, तेनाग्रप्रलम्बग्रहणेन, तुशब्दान्मूलप्रलम्बग्रहणेन च शेषाणि कन्दाऽऽदीनि प्रलम्बनानि सूचितानि।

अथ पुनरपि परः प्राह-

तलगहणा उ तलस्सा, न कप्पे सेसाण कप्पई नामं ।
एगग्गहणा गहणं, दिट्ठंतो होइ सालीणं ॥ ४९ ॥

तलग्रहणादिति,उपलक्षणत्वात्तालप्रलम्बग्रहणात् तालस्यैव संबन्धीनि मूलकन्दाऽऽदीनि प्रलम्बानि न कल्पन्ते, शेषाणां पुनराम्राऽऽदीनां प्रलम्बानि कल्पन्त इत्यर्थादापन्नं, नामेति संभावनायां, संभाव्यते अयमर्थ इति भावः। सूरिराह- "एकग्रहणात् तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणं भवति" दृष्टान्तः शालिसंबन्धी अत्र भवति-यथा निष्पन्न शालिरित्युक्ते नैक एव शालिकणो निष्पन्नः प्रतीयते, किं तु शालिजातिः, तथाऽत्रापि तालप्रलम्बग्रहणे न केवलस्यैव तालस्य, किं तु सर्वेषां वृक्षजातीयानां प्रलम्बान्युपात्तानि प्रतिपत्तव्यानि।

अथ पुनरपि प्रश्नयति-

को नियमो उ तलेणं, गहणं अन्नेसिं जेण न कयं तु ।
उभयमवि एइ भोगं, परित्त साऊ य तो गहणं ॥५०॥

को नाम नियमस्तलेन तस्यैव ग्रहणं कृतं नान्येषां वृक्षाणाम्?। सूरिराह-तालस्य संबन्धि मूलाग्रप्रलम्बरूपमुभयमपि भोगमुपयोगमेति, तथा परीत्तं प्रत्येकशरीरं स्वादु च मधुरं तत् भवति, अतस्तत्प्रतिषेधे सुतरामनन्तकायिकाऽऽदीना प्रतिषेधः कृतो भवति, ततस्तालस्य ग्रहणं कृतम्। इति गतं प्रलम्बपदम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। ( अथ भिन्नपदव्याख्या 'भिन्न' शब्दे करिष्यते )

अत्र चतुर्भङ्गीमाह-

भावेण य दव्वेण य, भिन्नाभिन्ने चउक्कभयणाओ ।
पढमं दोहिँ अभिन्नं, बिइयं पुण दव्वतो भिन्नं ॥५१॥
तइयं भावतोँ भिन्नं, दोहि वि भिन्नं चउत्थगं होइ ।
एएसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ५२ ॥

भावेन च द्रव्येन च भिन्नाभिन्नयोश्चतुष्कभजना चतुर्भङ्गीरचना कर्त्तव्या। तत्र च प्रथमं प्रथमभङ्गवर्त्ति प्रलम्बं द्वाभ्यामपि भावेन द्रव्येण च अभिन्नं, द्वितीयं पुनर्द्रव्यतो भिन्नं भावतस्त्वभिन्न, तृतीयं भावतो भिन्नं द्रव्यत पुनरभिन्नं, चतुर्थं द्वाभ्यामपि भावतो द्रव्यतश्च भिन्नं भवति। एतेषां चतुर्णामपि प्रायश्चित्तं यथानुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या वक्ष्यामि भणिष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

लहुगा य दोसु दोसु य, लहुओ पढमम्मि दोहि वी गुरुगा ।
तवगुरुअ कालगुरुओ, दोहि वि लहुओ चउत्थो उ॥५३॥

प्रथमद्वितीययोर्द्वयोर्भङ्गयोश्चत्वारो लघुका, भावतोऽभिन्नतया सचेतनत्वात् द्वयोस्तु तृतीयचतुर्थयोर्मासलघु, तथा प्रथमे भङ्गे ये चत्वारो लघुकास्ते द्वाभ्यामपि लघुकाः-तपसा कालेन च लघुकं, तत्र मासलघु द्रष्टव्यमित्यर्थः।

उग्घाइया परित्ते, होंति यऽणुग्घाइया अणंतम्मि ।
आणाऽणवत्थमिच्छा, विराहणा कस्सऽगीयत्थे? ॥५४॥

एतानि प्रायश्चित्तान्युद्धातिकानि लघुकानि परीत्ते प्रत्येकप्रलम्बे भणितानि, अनन्ते अनन्तकाये पुनरेतान्येवानुद्धातिकानि गुरुकाणि ज्ञातव्यानि, प्रथमद्वितीययोश्चत्वारो गुरुकाः,तृतीयचतुर्थयोस्तु भङ्गयोर्मासगुरु प्रायश्चित्तं, तपःकालविशेषितं पूर्ववद्वक्तव्यमिति भावः। तथा प्रलम्बं गृह्णता तीर्थकृताऽऽज्ञाभङ्गः कृतो भवति, अनवस्था मिथ्यात्वं विराधना च संयमाऽऽत्मविषया कृता भवति। शिष्यः पृच्छति-कस्यैतत्प्रायश्चित्तमाज्ञाऽऽदयश्च दोषाः?। गुरुराह-अगीतार्थस्य भिक्षोरित्येतच्च सप्रपञ्चमुपरिष्टाज्ज्ञापयिष्यते ।

अथ प्रलम्बग्रहणे विस्तरेण प्रायश्चित्तं वर्णयितुकाम इमां द्वारगाथामाह-

अन्नत्थ तत्थ गहणे, पडिते अच्चित्तमेव सच्चित्ते ।
छुभणाऽऽरुहणा पडणे, उवही तत्तो य उड्डाहो ॥५५॥

प्रलम्बग्रहणं द्विधा अन्यत्र ग्रहणं, तत्र ग्रहणं च। वृक्षादन्यत्रान्यस्मिन् प्रदेशे ग्रहणम् अन्यत्रग्रहणम्। तत्रैव वृक्षप्रदेशे ग्रहणं तत्रग्रहणम्। तथा पतितं वृक्षस्याधस्तात् यद् गृह्णाति तद् द्विधा-अचित्तं, सचित्तं च। तस्य पतितस्य प्राप्तौ वृक्षोपरिस्थितप्रलम्बपातनाय (छुभण त्ति) काष्ठाऽऽदेः प्रक्षेपणम्। तथा प्राप्तौ-( आरुहण त्ति ) तस्मिन् वृक्षे आरोहणं करोति, आरूढस्य च कदाचित्पतनं भवेत्, प्रलम्बं गृह्णन्तं दृष्ट्वा प्रान्तेन केनचिदुपाधिरपह्रियते, ततश्चोड्डाहः संजायत इति गाथाऽर्थः।

विस्तरार्थं प्रतिद्वारं विभणिषुः प्रथमतोऽन्यत्र ग्रहण विवृणोति-

अण्णगहणं तु दुविहं, वसमाणे अडवि वसति अंतोँ बहिं ।
अंताऽऽवण तव्वज्जे, रत्थागिह अंतोँ पासे वा ॥५६॥

अन्यत्र ग्रहणं द्विविधम्, तद्यथा-वसतौ,अटव्यां च। तत्र यद्वसतिप्रदेशे तद् द्विधा-ग्रामाऽऽदीनामन्तः, बहिश्च। यद् ग्रामाऽऽदीनामन्तस्तत् पुनर्द्विविधम्-आपणे, तद्वर्ये च। आपणे हट्टे, तत्र स्थितस्य प्रलम्बस्य यद् ग्रहणं तदापणविषयम्। यत् पुनरापणवर्जे गृहे वा रथ्यायां वा गृह्णाति तत्तद्वर्जविषयं, तत्र यदापणविषयं, तत्र यदापणस्यान्तर्वा भवेत्, पार्श्वतो वा, यत्तद्वर्जविषयं तदपि रथ्याया गृहस्य वा अन्तर्वा भवेत्, पार्श्वतो वेति। एतच्च सर्वमपि द्विधा अपरिग्रहं, सपरिग्रहं च। तत्राऽऽपणे तद्वर्जे वा अपरिग्रहे गृह्णानस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्विधं प्रायश्चित्तम्।

तत्र द्रव्यतस्तावदाह-

कप्पट्ठ दिट्ठे लहुओ, अट्ठुप्पत्ती य लहुग ते चेव ।
परिवड्ढमाणेँ दोसे, दिट्ठाई अन्नगहणम्मि ॥ ५७ ॥

कल्पस्थ समयपरिभाषया बालक उच्यते, तेन प्रलम्बमचित्त गृह्णानो यदि दृष्टस्तदा मासलघु। अथ संयतं प्रलम्बं गृह्णन्त दृष्ट्वा कल्पस्थकस्योत्पत्तिरहमपि गृह्णामीत्येवंलक्षणा भवति ततश्चतुर्लघव। अथ न कल्पस्थेन किं तु महता पुरुषेण प्रलम्ब गृह्णानो दृष्टस्तदा ( ते चेव त्ति ) त एव चत्वारो

लघवः। अथ तस्याप्यर्थोऽल्पतेरद्दमपि गृह्णामीति ततोऽपि च-त्वारो लघवः। अत्र च ये दृष्टाऽऽदय. परिवर्द्धमाना दोषा अ-न्यत्र ग्रहणे भवन्ति, ताननन्तरगाथया वक्ष्यमाणान् शृणुत।

तानेवाऽऽह-

दिट्ठे संका भोइए, घाडिनियाऽऽरक्खिसेट्ठिराईणं ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥५८॥

युवादिना महता पुरुषेण प्रलम्बानि गृह्णन् दृष्ट चतुर्लघु,त-तस्तस्य शङ्का जायते-किं सुवर्णाऽऽदिकं गृहीत उत प्रलम्बं, तत्राऽपि चतुर्लघु,निःशङ्किते चत्वारो गुरवः।अथ असौ (भो-इय त्ति) भोजति भर्त्तारमिति भोजिका भार्या,तस्या. कथय-ति-प्रिये! मया संयतः फलानि गृह्णानो दृष्ट',इत्युक्ते यदि तया प्रतिहतो-मैवं वादीत् संभवत्येवैदृशं महात्मनि साधाविति। ततश्चतुर्गुरुकमेव। अथ तया न प्रतिहतस्ततः षड् लघवः, अस्तीतर संबन्ध इति कृत्वा प्रथमं भोजिकाया अग्रे कथ यतीति एवं मित्रादिष्वपि मन्तव्यम्। ततो (घाडि त्ति)घाट' सघाट. सौहृदमित्येकोऽर्थः। स विद्यतेऽस्येति घाटी. सहजा तकाऽऽदिर्वयस्य इत्यर्थः ।तस्याग्रे तथैव कथयति,तेनापि य-दि निहतस्तदा षड् लघव एव। अथ न प्रतिहतस्ततः षड् गुरव , ततो निजमातापित्रादयस्तेषां कथयति, तैः प्रतिहत षड् गुरव एव अप्रतिहते पुनः छेद.,तत आरक्षिकेनाऽऽरक्षिक पुरुषैर्वा तस्य सकाशादन्यतो वा प्रलम्बग्रहणवृत्तान्ते श्रुते तत. प्रतिहते छेद एव अप्रतिहते पुनर्मूलं,ततः श्रेष्ठिनः श्रीदे-व्याध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गस्य तस्य वृत्तान्त-श्रवणे तेन च प्रतिहते मूलमेव,अप्रतिहतेऽनवस्थाप्यम्, ततो राज्ञोपलक्षणत्वादमात्येन च ज्ञाते तत प्रतिहतेऽनवस्थाप्यं,प्र-तिहते पाराञ्चिकं, पश्चार्द्धे यथाक्रममर्मीषामेव प्रायश्चित्तान्य-भिहितान्येव. नवरं ( दुगं ति ) अनवस्थाप्यपाराञ्चिकद्वयम्।

एवं ता अदुगुंछिअ, दुगुंछिए लसुणमाइ एमेव ।
नवीर पुण चउलहुगा, परिग्गहे गिण्हणादीया ॥५६॥

एवं तावदजुगुप्सिते आम्राऽऽदौ प्रलम्बे गृह्यमाणे प्रायश्चि त्तं द्रष्टव्यं, जुगुप्सिते पुनरिदं नानात्वम्। जुगुप्सितं द्विधा-जातिजुगुप्सित, स्थानजुगुप्सितं च। तत्र जातिजुगुप्सितं लशुनाऽऽदि, आदिग्रहणे पलाण्डुप्रभृतिपरिग्रह । स्थानजुगु-प्सित पुनरशुचिस्थाने कर्दमाऽऽदौ पतितम् द्विविधेऽपि जु-गुप्सिते एवमेव जुगुप्सितवत् प्रायश्चित्तं वक्तव्य, नवरं केवलं पुन. कल्पस्थकदृष्टं जुगुप्सितं, गृह्णानस्य चतुर्लघ-वोऽत्र ज्ञातव्या, अजुगुप्सिते पुन. 'कप्पट्ठे दिट्ठे लहुग त्ति" लहुमास एवोक्त इति विशेष । एतच्च सर्वमप्यपरिग्रहम-धिकृत्योक्तम्। ( परिग्गहे गिण्हणादीय त्ति ) यत्पुन. प्रलम्बं कस्याऽपि परिग्रहे वर्तते, तस्मिन् जुगुप्सिते वा अजुगुप्सि-ते वा प्रायश्चित्तं तथैव वक्तव्यं. परं यस्य शिष्याऽऽदेः परि-ग्रहे तानि प्रलम्बानि वर्तन्ते, तत्कृतो ग्रहणाऽऽकर्षणव्यवहा-राऽऽदयो दोषा अत्राऽधिका भवन्तीति। गतं द्रव्यत प्राय-श्चित्तम्।

अथ क्षेत्रत कालतश्च प्ररूपयति-

खेत्ते निवेसणाई, जा सीमा लहुगमाइ जा चरिमं ।
कमिंची विवरीयं, काले दिण अट्ठहिं सपदं ॥ ६० ॥

क्षेत्रतो निवेशनमादौ कृत्वा यावत् ग्रामस्य सीमा. एतेषु स्थानेषु गृह्णानस्य लघुकाऽऽदिकं यावच्चरिमं पाराञ्चिकम्। किमुक्तं भवति?-निवेशने महापरिवारभूतग्रहसमुदायरूपे गृ-ह्णाति चत्वारो लघव., पाटके गृह्णते चत्वारो गुरव., संहि काया गृहपङ्क्तिरूपाया गृह्णाति, षड् लघवः एवं ग्राममध्ये षड् गुरव , ग्रामद्वारे छेद , ग्रामस्य बहिर्मूलम् , उद्याने अ-नवस्थाप्यं. ग्रामसीमाया पाराञ्चिकं केषाञ्चिदाचार्याणां म-तेन विपरीतमुक्तविपर्ययस्तं प्रायश्चित्तम्। तद्यथा-सीमायाम-न्यग्रामे वा गृह्णाति चतुर्लघु, उद्याने चतुर्गुरु, ग्रामबहिर्षड् लघु, ग्रामद्वारे षड्गुरु, ग्राममध्ये छेद , साहिकाया मूलं. पाटके अनवस्थाप्यं, निवेशने पाराञ्चिकमिति। तथा काले कालविषयं प्रायश्चित्तम् अष्टमे दिने स्वपद पाराञ्चिकम्। इय-मत्र भावना-प्रलम्बानि गृह्णत. प्रथमे दिवसे चत्वारो ल-घव , द्वितीये चत्वारो गुरव , तृतीये षड् लघव. चतुर्थे षड् गुरव , पञ्चमे छेद , षष्ठे मूलं, सप्तमे अनवस्थाप्यम्, अष्टमे पाराञ्चिकम्।

अथ प्रकारान्तरेण क्षेत्रत एव प्रायश्चित्तमाह-

निवेसणवाडगसाही, गाममज्झे अ गामदारे य ।
उज्जाणे सीमाए, अन्नगामे य खेत्तम्मि ॥ ६१ ॥

क्षेत्रे प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमिदम्-निवेशने चतुर्लघु,पाट-के चतुर्गुरु, साहिकाया षड् लघु, ग्राममध्ये षड् गुरु, ग्राम-द्वारे छेद., उद्याने मूल, सीमायाम् अनवस्थाप्यम् , अन्य ग्रामे पाराञ्चिकम्।

अथ भावत. प्रायश्चित्तमाह-

भावट्ठारसपदं,लहुगाई मीस दसहि चरिमं तु ।
एमेव य बहिया वी, सत्थे जत्ताइठाणेसु ॥ ६२ ॥

भावे अष्टभिर्वा पदैः स्वपद पाराञ्चिकम्। किमुक्तं भवति?-एकं वार प्रलम्बानि गृह्णाति चत्वारो लघव', द्वितीयं वार चत्वारो गुरव , तृतीयं वार षड् लघव , चतुर्थं वार षड् गुरव , पञ्चमं वार छेद., षष्ठं वार मूल. सप्तमं वारम् अनवस्थाप्यम् , अष्टमं वार गृह्णत पाराञ्चि-कम्। एतच्च सर्वमपि सचित्तप्रलम्बविषयं भणितं मिश्रप्रल म्बे तु गृह्यमाणे लघुमासाऽऽदिकं दशमे स्थाने चरम पाराञ्चिकम्। तद्यथा-मिश्रप्रलम्ब गृह्णाति, कल्पस्थकेन दृष्टे मासलघु, महता पुरुषेण दृष्टे शङ्काया मासलघु, निःशङ्के मासगुरु, भोजिकाया. कथने चतुर्लघु, घाटिनो निवेदने च तुर्गुरु,ज्ञातीना ज्ञापने षड्लघु,आरक्षिकाणां निवेदने षड्गुरु, सार्थवाहज्ञाते छेद , श्रेष्ठिकथने मूलम् , अमात्यस्य निवेद्यते अनवस्थाप्यं, राज्ञो ज्ञापिते पाराञ्चिकम। एतद् द्रव्यत प्राय श्चित्तम्। क्षेत्रत पुनरिदम् निवेशने मासलघु,पाटके मासगुरु, साहिकायां चतुर्लघु ग्राममध्ये चतुर्गुरु ग्रामद्वारे षड्लघु ग्रा-मबहिः षड्गुरु, उद्याने छेद , उद्यानसीम्नोरन्तरे मूल, सी-मायामनवस्थाप्यं सीमाया परतोऽन्यग्रामाऽऽदौ पाराञ्चि कम्। कालत पुन प्रथमे दिवसे मासलघु, द्वितीये मासगुरु, एवं यावद्दशभिर्दिवसै पाराञ्चिकम्। भावत. प्रथम वारं गृ-ह्णतो मासलघु, द्वितीयं मासगुरु । एवं यावद्दशभिर्वारैः पाराञ्चिकम् ।गतमापणतद्भेदात् द्विविधमपि ग्रामान्त-र्विषयं ग्रहणम्।

अथ ग्रामबहिर्भागे ग्रहणमाह-" एमेव य " इत्यादि प-श्चार्द्धम्। एवमेव बहिरपि ग्रामस्य ग्रहणं भणितव्य, तत्पुन-

र्बहिर्ग्रहणम्। ( सत्थे त्ति ) सार्थो वासस्थाने वा भवेत्, या-त्राऽऽदिस्थाने वा। यात्रास्थानं तत्र लोक उद्यानिकाऽऽदियात्रया गच्छति। आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्थानस्य परिग्रहः।

अथ बलिग्रहणे प्रायश्चित्तमिति दर्शयन्नाह–

अंतो आवणमाई, गहणे जा वण्णिया सवित्थारा ।
बहिया उ अन्नगहणे, पडियम्मी होइ सच्चेव ॥ ६३ ॥

ग्रामाऽऽदीनामन्तर्मध्ये आपणाऽऽदौ आपणे आपणवर्जे वा जुगुप्सिते अजुगुप्सिते वा सपरिग्रहे अपरिग्रहे वा सविस्तारा "दिट्ठे संका भोइए" इत्यादि लक्षणप्रपञ्चसहिता वर्णिता, शोधिरित्युपस्कारः। सैव ग्रामाऽऽदीनां बहिः पतितप्रलम्बविषयेऽन्यत्र ग्रहणे निरवशेषा द्रष्टव्या। उक्तं बहिर्ग्रहणं तद्भणने च समर्थितं च सत्प्रदेशविषयं ग्रहणम्।

अथाटवीविषयमाह–

कोट्टगमाई रण्णे, एमेव जणो उ जत्थ पुंजेइ।
तहियं पुण वच्चंते, चउपयभयणा उ छद्दसिया ॥ ६४ ॥

जनो लोकः प्रचुरफलायामटव्यां गत्वा फलानि यावत् पर्याप्तं गृहीत्वा यत्र गत्वा शोषयति पश्चाद् गन्त्रीपोट्टलकाऽऽदिभिरानीय नगराऽऽदौ विक्रीणाति तत्कोट्टकमुच्यते, तत्रारण्ये कोट्टकाऽऽदौ प्रदेशे यत्र जनः फलानि शोषणार्थं पुञ्जयति पुञ्जीकरोति, तत्र प्रलम्बग्रहणे एवमेव यथा–"वसिमे दिट्ठे संका भोइए" इत्यादिकमुक्तं तथैव प्रायश्चित्तमवगन्तव्यम्। विशेषः पुनरयम्–तत्र पुनः कोट्टकाऽऽदौ व्रजतः चतुर्भिः पदैर्भजना भङ्गकरचना षोडशिका षोडशभङ्गप्रमाणा कर्त्तव्या।

कथमिति चेत् ?, उच्यते–

वच्चंतस्स य दोसा, दिया य राओ य पंथ उप्पंथो ।
उवउत्त अणुवउत्ते, सालंब तहा निरालंबे ॥ ६५ ॥

तत्र व्रजतो बहवो दोषा भवन्ति, ते चोपरिष्टाद्दश भणिष्यन्ते; दिवा च,रात्रिश्च, पन्था उत्पथश्च, उपयुक्तः, अनुपयुक्तः,सालम्बस्तथा निरालम्बश्चेति अक्षरयोजना। अथ भावार्थ उच्यते–दिवा गच्छति पथा उपयुक्तः सालम्बः १, दिवा गच्छति पथा उपयुक्तो निरालम्बः २, दिवा गच्छति पथा अनुपयुक्तः सालम्बः ३, दिवा गच्छति पथा अनुपयुक्तो निरालम्बः ४। एवमुत्पथपदेनापि चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते। जाता अष्टौ भङ्गाः ८। एते दिवा पदममुञ्चता लभ्यन्ते। एवं रात्रिपदममुञ्चताऽप्यष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते। सर्वसंख्यया षोडश भङ्गाः।

अमीषां रचनोपायमाह–

अट्ठग चउक्क दुग ए-क्कगं च लहुगा य होंति गुरुगा य ।
सुद्धा एगंतरिया, पढमरहिय सेसगा तिण्णि ॥ ६६ ॥

भङ्गानां चतस्रः पङ्क्तयः स्थाप्यन्ते तत्र प्रथमपङ्क्तौ प्रथममष्टौ लघुकाः ततोऽप्यष्टौ गुरुका इत्येवं षोडशाङ्का निक्षेपणीयाः। द्वितीयपङ्क्तौ चत्वारः प्रथमं लघुकाः ततश्चत्वारो गुरुकाः, पुनश्चत्वारो लघुकाः, तदनु चत्वारो गुरुकाः। तृतीयपङ्क्तावपि षोडशाङ्काः द्वौ लघुकौ द्वौ गुरुकावित्यनेन क्रमेण निरूप्याः। चतुर्थपङ्क्तावेको लघुक एको गुरुक एवमेकान्तरितलघुगुरुकाः षोडशैवाङ्काः स्थापयितव्याः। एवमन्यत्रापि भङ्गकप्रस्तारे यत्र यावन्तो भङ्गकास्तत्र तावद्दायामः। चरमपङ्क्तावेकान्तरितानामर्वाक्तनपङ्क्तिषु पुनर्द्विगुणद्विगुणानां लघुगुरूणामङ्काणां निक्षेपः कर्त्तव्यः। उक्तं च–"भंगपमाणाऽऽयामो लहुओ गुरुओ य अक्खनिक्खेवो। आरउ दुगुणा दुगुणा,पत्थारे होइ निक्खेवो॥१॥" एतेनैव शुद्धाशुद्धस्वरूपं दर्शयति–(सुद्धा एगंतरिया इत्यादि ) प्रथमे भङ्गकाष्टके प्रथमभङ्गरहिता शेषास्त्रयो भङ्गका एकान्तरिताः शुद्धाः। इदमुक्तं भवति–प्रथमो भङ्गकश्चतुर्ष्वपि पदेषु निरवद्यत्वादेकान्तेन शुद्ध इति न काचित् तदीया विचारणा। तं मुक्त्वा ये प्रथमाष्टके शेषा भङ्गकास्तेषाम् एकान्तरितस्तृतीयपञ्चमसप्तमरूपास्त्रयः क्वचिदुत्पथाऽऽदौ पदे अशुद्धा अपि सालम्बनत्वात् शुद्धाः प्रतिपत्तव्याः। अर्थादापन्नं द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमभङ्गका दिवाऽऽदौ पदे शुद्धा अपि निरालम्बनत्वादशुद्धाः। एवं द्वितीयाष्टकेऽपि प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषास्त्रय एकान्तरिता अशुद्धाः,सालम्बनत्वात्।

अत एवाऽऽह–

पढमे एत्थ उ सुद्धो, चरिमो पुण सव्वहा असुद्धो उ ।
अवसेसा वि य चउदस, भंगा भइयव्वगा होंति ॥६७॥

प्रथमो भङ्गोऽत्रैषां षोडशानां भङ्गानां मध्ये शुद्धः सर्वथा निर्दोषश्चरम अशुद्धः, अवशेषाश्चतुर्दश भङ्गा भक्तव्या निरूपयितव्या भवन्ति, केचित्पुनरशुद्धा इति भावः।

कथमिति चेत् ?, उच्यते–

आगाढम्मि उ कज्जे, सेस असुद्धा वि सुज्झए भंगो ।
न विसुज्झे अणागाढे, सेसपदेहिं जइ वि सुद्धे ॥ ६८ ॥

आगाढे कार्ये पुष्टे आलम्बने गच्छतः शेषैरात्र्युत्पथानुपयुक्तलक्षणैः पदैरशुद्धोऽपि भङ्गः शुद्ध्यति, अनागाढे आलम्बनाभावे शेषैर्दिवापथोपयुक्तलक्षणैः पदैर्यद्यपि शुद्धस्तथापि न विशुद्ध्यति।

अथ किं तत्र प्रायश्चित्तं भवतीति ?, उच्यते–

लहुगा य निरालंबे, दिवसतो रत्तिं हवंति चउगुरुगा ।
लहुगो य उप्पहेणं, रायादी चेवऽणुवउत्तो ॥ ६९ ॥

यत्र यत्र निरालम्बनस्तत्र तत्र दिवसे गच्छतः चत्वारो लघुकाः, रात्रौ चत्वारो गुरुकाः यत्र यत्र दिवसतः उत्पथेन गच्छति तत्र तत्र मासलघु, यत्र यत्र दिवसतः ईर्याप्रभृतिसमितिष्वनुपयुक्तो गच्छति तत्र तत्र मासलघु रात्रावुत्पथगमने अनुपयुक्तगमने च मासगुरु।

अथ प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह–

दियओ लहुगा गुरुगा, आणा चउगुरुग लहुगा य ।
संजमआयविराहण, संजमें आरोवणा इणमो ॥ ७० ॥

अशुद्धेषु भङ्गेषु सर्वेष्वपि दिवसतो गच्छतश्चत्वारो लघुकाः, रात्रौ पुनश्चत्वारो गुरुकाः, तीर्थंकराणामाज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः, अनवस्थायां चत्वारो लघुकाः, मिथ्यात्वेऽपि चत्वारो लघुकाः अत्र चानवस्थामिथ्यात्वे प्रक्रमाद् द्रष्टव्ये। विराधना द्विविधा–संयमे आत्मनि च। तत्र संयमविराधनायामिदं वक्ष्यमाणमारोपणा प्रायश्चित्तम्।

तामेवाऽऽह–

छक्काएँ चउसु लहुगा, परित्ते लहुगा य गुरुग साहारे ।

संघट्टणे परितावणे, लहु गुरुगऽतिवायणे मूलं ॥ ७१॥

षट्काया. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः, तेषां मध्ये चतुर्षु पृथिव्यप्तेजोवायुषु सघट्टनाऽऽदौ लघुकपर्यन्तं प्रायश्चित्तम्। 'परीत्ते' प्रत्येकवनस्पतिकायेऽपि लघुकान्तं, साधारणे अनन्तवनस्पतौ गुरुकान्तम्। तथा द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संघट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम् ।अति पातने विनाशने मूलम् । इयमत्र भावना-पृथिवीकायं संघट्टयति मासलघु, परितापयति मासगुरु, अपद्रावयति चतुर्लघु, एवमप्काये तेजःकाये वायुकाये प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम्। अनन्तवनस्पतिं यदि संघट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, अपद्रावयति चतुर्गुरु, द्वीन्द्रियं संघट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयति षड्लघु, त्रीन्द्रियं संघट्टयतश्चतुर्गुरु, परितापयत. षड्लघु,जीविताद् व्यपरोपयतः षड्गुरु, चतुरिन्द्रियं संघट्टयत षड्लघु,परितापयतः षड्गुरु, जीविताद्व्यपरोपयत छेदः, पञ्चेन्द्रियं संघट्टयत. षड्गुरु, परितापयतो लघुमासिक. छेद., अपद्रावयतो मूलम् ।

अथैतदेव प्रायश्चित्तं रात्रौ विशेषयन्नाह-

जहिँ लहुगा तहिँ गुरुगा,जहिँ गुरुगा कालगुरुग तहिँ ठाणे।
छेदो य लहुय गुरुओ, काए साऽऽरोवणा रत्तिं ॥ ७२ ॥

यत्र दिवसतो लघुकानि मासलघुचतुर्लघुषड्लघुरूपाणि, तत्र रात्रावेतान्येव गुरुकाणि मासगुरुचतुर्गुरुषड्गुरुरूपाणि कर्तव्यानि। यत्र पुनरग्रेऽपि गुरुकाणि मासाऽऽदीनि तत्र स्थाने तान्येव कालगुरुकाणि दातव्यानि । यत्र च छेदो लघुकस्तत्र स एव गुरुक. कर्तव्य. । काये कायविषया एषा आरोपणा रात्रौ ज्ञातव्या ।

अथाऽऽत्मविराधनामाह-

कंटऽट्ठिखाणुविज्जल-विसमदरीनिन्नमुच्छसूलविसे ।
वालऽच्छभल्लकोले, सीहविगवराहमेच्छित्थी ॥७३॥
तेणे देवे मणुस्से, पडिणीए एवमाइआएसुं ।
मास चउ छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥७४॥

स साधु' कोट्टकाऽऽदौ व्रजन् कण्टकेन वा अस्थ्ना वा स्थाणुना वा पादयो परिताप्येत, (विज्जल) पङ्किल. विषमं निम्नोन्नतं, दरी कुसाराऽऽदिका निम्नं गम्भीरा गर्ता, एतेषु पतितस्य मूर्छा भवेत् , शूल वा अनुधावेत, ( विसं ति ) विषकण्टकेन वा विध्येत , विषफलं वा भक्षयेत्, तथा व्यालेन सर्पाऽऽदिना अच्छभल्लन वा ऋक्षेण कोलेन वा सूकरेण सिंहेन वा वृकेण वा वराहेण वोपद्रूयेत, म्लेच्छपुरुष अप्रीतितया प्रहाराऽऽदिकं दद्यात् स्त्री वा तं साधुमुपसर्गयेत्। अथवा-म्लेच्छस्त्री पुलिन्दीप्रभृतिका तमुपसर्गयेत्,तन्निमित्त म्लेच्छ कुपितो वधबन्धाऽऽदि कुर्यात्। स्तेनो द्विविध -शरीरस्तेन ,उपधिस्तेनश्च। तेनोपद्रव क्रियते देवता वा प्रान्ता त साधुं प्रमत्तं दृष्ट्वा छलयेत् । अपरो वा कोऽपि प्रत्यनीको मनुष्यो विजनमरण्य मत्वा मारणाऽऽदि कुर्यात् । एवमादिका आत्मनि विराधना भवति । तत्रेदं प्रायश्चित्तम्-'मास चउ" इत्यादि पश्चार्द्धम्। कण्टकाऽऽदिभिरगाढं परिताप्यते चतुर्लघु, आगाढे परिताप्यत चतुर्गुरु, अथ महादु.खमुत्पद्यते ततः षड्लघु, मूर्छामूर्छे षड्गुरु, कृच्छ्रमाणे छेद., कृच्छ्रे मूलं, मारणान्तिकसमुद्घाते अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम् ।

अथाऽऽत्मविराधनायामेव सामान्यत' प्रायश्चित्तमाह-

कंटऽट्ठिमाइएहिं,दिवसतो सव्वत्थ चउगुरू होंति।
रत्तिं पुण कालगुरू, जत्थ व अन्नत्थ आयवहो ॥७५॥

कण्टकास्थिकाऽऽदिभि. परितापनाया सर्वत्र दिवसतश्चतुर्गुरवो भवन्ति । रात्रौ पुनस्त एव चतुर्गुरव कालगुरुका ज्ञातव्या., अन्यत्राऽपि यत्राऽऽत्मवध आत्मविराधना भवति तत्र सर्वत्राऽपि चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् ।

तथा-

पोरिसि नासणपरिता-वठावणं तेण देहउवहिगतं ।
पंतादेवयछलणं, मणुस्सपडिणीयवहणं च ॥ ७६ ॥

कण्टकाऽऽदिना पीडित सन् सूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु, अर्थपौरुषीं न करोति मासगुरु,सूत्रं नाशयति चतुर्लघु, अर्थं नाशयति चतुर्गुरु। ( परिताव त्ति ) अनागाढपरितापे चतुर्लघु. आगाढपरितापे चतुर्गुरु, ( ठावण त्ति ) अनाहारं परिस्थापयति चतुर्लघु,आहारं परिस्थापयति चतुर्गुरु परीत्तं स्थापयति चतुर्लघु, अनन्तं स्थापयति चतुर्गुरु, अस्नेहं स्थापयति चतुर्लघु सस्नेहं स्थापयति चतुर्गुरु । तथा ( तेण त्ति) उपधिस्तेनास्तैरुपधेराह्रियमाणे उपधिगतं जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। देहस्तेना शरीरापहारिणस्तैरेक. साधु' ह्रियते मूलं,द्वयोर्ह्रियमाणयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु ह्रियमाणेषु पाराञ्चिकम् प्रान्तया देवतया यदि छलनं क्रियते ततश्चतुर्गुरु, प्रत्यनीकमनुष्येण पुरुषेण स्त्रिया नपुंसकेन वा हन्येत चत्वारो गुरवः ।

अथ प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नर्थान्तरमुपन्यस्यन्नाह-

एवं ता असहाए, सहायसहिए इमे भवे भेदा ।
जय अजय इत्थि पंडे, असंजयसंजईहिं वा ॥ ७७ ॥

एवं तावदसहायस्य एकाकिनो व्रजतो दोषा उक्ता., सहायसहिते व्रजति विचार्यमाणे एते सहायस्य भेदा भवन्ति । तद्यथा-यता. संयता अयता. असंयता ( इत्थि त्ति ) पार्श्वस्थस्त्रिय , पण्डका नपुंसका., असंयत्यो गृहस्थस्त्रियः, संयत्यः साध्व्य., एतै सार्द्धं गच्छति ।

इदमेव व्याचष्टे—

संविग्गाऽसंविग्गा, गीया ते चेव होंति अगीया ।
लहुगा दोहि विसिट्ठा, तेहि समं रत्ति गुरुगाओ ॥७८॥

संविग्ना गीतार्था.,असंविग्ना अगीतार्था ,एतै. समं गच्छतो द्वाभ्यां तप कालाभ्या विशिष्टा लघुका' प्रायश्चित्तं । तद्यथा संविग्नैर्गीतार्थै. समं व्रजति चत्वारो लघवस्तपसा कालेन च गुरुलघुका । असंविग्नैर्गीतार्थै समं गच्छति चतुर्लघव., तपसा लघुका कालेन गुरुका , संविग्नैरगीतार्थैः सार्द्धं यानि चतुर्लघु कालेन लघु तपसा गुरु असंविग्नैरगीतार्थैः समं व्रजति चतुर्लघु, तपसा कालेन च गुरु। एतद्दिवसतो ज्ञातव्यं, रात्रौ तै समं व्रजत एवमेव तप कालविशेषिताश्चतुर्गुरुका' ।

असंजयलिंगीथिउ, पुरिसागिइपंडएहिँ य दिवा उ ।
अस्सोय सोय छक्कु,ते चेव उ रत्ति गुरुगाओ ॥७९॥

असंयता द्विविधाः-गृहिणो,लिङ्गिनश्च। लिङ्गमेषां विद्यत इति लिङ्गिनः, अन्ये पाखण्डिन इत्यर्थः । तथा पुरुषाऽऽकृतयः पुरुषनेपथ्यधारिणः पण्डकाः, एते त्रयोऽपि प्रत्येकं द्विविधाः- शौचवादिनः,अशौचवादिनश्च। तत्र शौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु, उभयलघुकं, शौचवादिभि समं व्रजति षड्लघु, कालगुरुकम्,अन्यलिङ्गिभिरशौचवादिभिः सार्द्धं व्रजति षड् लघु,काललघुकं,शौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु,तपोगुरुकं पुरुषाऽऽकृतिभिः पण्डकैरशौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु,तपोगुरुकं,शौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु,तपसा कालेन च गुरुकम्,एतद्दिवसतः प्रायश्चित्तमुक्तम्,रात्रौ तु त एव षण्मासा गुरुकाः,षड्गुरवस्तपःकालविशेषिता एवमेव दातव्या इति भावः ।

पासंडिणित्थि पंडे, इत्थीवेसेसु दिवसतो छेदो ।
तेहिं चिय निसि मूलं, दियरत्ति दुगं तु समणीहिं ॥८०॥

तापसीपरिव्राजकाऽऽदिभिः पाषण्डिनीभिः ( इत्थि त्ति ) गृहस्थस्त्रीभिः, स्त्रीवेषधारिभिश्च पण्डकैरशौचवादिभिः सह दिवसतो गच्छतो लघुकः छेदः, शौचवादिभिः सह गुरुकश्छेदः, तैरेव सह निशि रात्रौ गच्छतो मूलं, श्रमणीभिः समं दिवा गच्छतोऽनवस्थाप्यं, रात्रौ श्रमणीभिः सह गच्छति पाराञ्चिकम् । प्रकारान्तरेणाऽत्रैव प्रायश्चित्तमाह-संयतास्तैः सार्द्धं दिवा गच्छति चतुर्लघु,रात्रौ गच्छति चतुर्गुरु,असंयतैः सार्द्धं दिवा गच्छति षड्लघु,रात्रौ गच्छति षड्गुरु, असंयतीभिः समं दिवा व्रजति छेदः, रात्रौ गच्छति मूलं,संयतीभिः सह दिवसतो गच्छति अनवस्थाप्यं, रात्रौ गच्छति पाराञ्चिकम्। तदेवमुक्तमटवीविषयं ग्रहणं, तदुक्तौ चावसितमन्यत्र ग्रहणम् प्रलम्बग्रहणम्।

अथ तत्र ग्रहणं विभावयिषुरुक्तार्थसदृशं विधिमतिदिशन्नाह—

जह चेव अन्नगहणे-ऽरण्णे गमणाऽऽइ वण्णियं एयं ।
तत्थ गहणे वि एवं, पडियं जं होइ अच्चित्तं ॥ ८१ ॥

यथैवान्यत्र ग्रहणे अरण्यविषयं षोडशभङ्गरचनया गमनम्, आदिशब्दात्संयमाऽऽत्मविराधनासमुत्थं दोषजालं प्रायश्चित्तं चैतदनन्तरमेव वर्णितं, तत्र ग्रहणेऽपि विवक्षितप्रलम्बाऽऽधारभूतं वृक्षस्याधः पतितं यदचित्तं प्रलम्बं तद्गृह्णानस्याप्येवमेव निरवशेषं वर्णनीयं यावत् श्रमणीभिः सह गमनमिति।

यस्तु विशेषस्तमुपदिदर्शयिषुराह-

तत्थ गहणं दुविहं, परिग्गहमपरिग्गहं दुविहभेयं ।
दिट्ठादपरिग्गहीए, परिग्गहिए अणुग्गहं कोइ ॥ ८२ ॥

तत्र ग्रहणं द्विविधम्। तद्यथा-सपरिग्रहम्,अपरिग्रहं च। यद्देवताऽऽदिभिः परिगृहीतं वृक्षाऽऽदि तद्विषयं सपरिग्रहम् तद्विपरीतमपरिग्रहम् तदुभयमपि द्विविधभेदं द्विविधेन सचित्ताचित्तभेदेनाऽऽत्मीयं यस्य तत् द्विविधभेदं सचित्ताचित्तभेदभिन्नमिति भावः । तत्र यदि परिगृहीतमचित्तं तद् गृह्णानस्य (दिट्ठा इति) "दिट्ठे संका भोइए" इत्यादिका आरोपणा सर्वाऽपि प्राग्वद् द्रष्टव्या। यत्पुनः परिगृहीतमचित्तं तद् गृह्णन् कश्चिद् भद्रकः परिगृहीता अनुग्रहं मन्येत, एतदग्रतो भाव्यते।

अथ सपरिग्रहस्यैव स्वरूपं निरूपयितुमाह-

तिविह परिग्गह दिव्वे, चउलहु चउगुरुग छल्लहुक्कोसो ।
अहवा छल्लहुग चिय, अंतगुरू तिविहदव्वम्मि ॥८३॥

सपरिग्रहं त्रिविधम्। तद्यथा-देवपरिगृहीतं,मनुष्यपरिगृहीतं,तिर्यक्परिगृहीतम्। तत्र दिव्यं देवपरिगृहीतं तत्त्रिविधम् जघन्यं, मध्यमम्, उत्कृष्टं च । व्यन्तरपरिगृहीतं जघन्यं, तत्र चतुर्लघु, भवनपतिज्योतिष्कपरिगृहीतं मध्यमम् तत्र चतुर्गुरु. वैमानिकपरिगृहीतम् उत्कृष्टम्। तत्र षड्लघवः। अथवा-त्रिष्वपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टेषु षड् लघव एव प्रायश्चित्तं, केवलं तपःकालविशेषितं, जघन्ये तपोलघु कालगुरुकं, मध्यमे काललघु तपोगुरुकम् , अन्त्ये चोत्कृष्टे द्वाभ्यामपि गुरुकं कर्त्तव्यमिति त्रिविधं दिव्यविषयं प्रायश्चित्तम्।

अथ मनुष्यपरिगृहीतमाह-

सम्मेतर सम्म दुहा, सम्मे लिंगि लहु गुरु उ गिहिएसुं ।
मिच्छा लिंगि गिही वा,पागयलिंगीसु चउलहुगा ॥८४॥

मनुष्यपरिगृहीतं द्विधा—सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतम्, ( इयर त्ति) मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च ।तत्र यत्सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तद् द्विधा-पार्श्वस्थाऽऽदिलिङ्गस्थपरिगृहीतं च गृहस्थपरिगृहीतं च । लिङ्गस्थपरिगृहीते मासलघु गृहिभिः सम्यग्दृष्टिभिः परिगृहीते मासगुरु, यत्पुनर्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं तद् द्विविधम्—( लिंग त्ति ) अन्यपाखण्डिपरिगृहीतं, गृहस्थपरिगृहीतं च । तत्र गृहस्थपरिगृहीतं त्रिधा-प्राकृतपरिगृहीतं, कौटुम्बिकपरिगृहीतं, दण्डिकपरिगृहीतं च। तत्र प्राकृतपरिगृहीते च चतुर्लघु ।

गुरुगा पुण कोडुंबे, छल्लहुगा होंति दंडियाऽऽरामे ।
तिरिया य दुट्ठऽदुट्ठे, गुरुगा इयरे य चउ लहुगा ॥८५॥

कौटुम्बिकपरिगृहीते पुनश्चत्वारो गुरुकाः, दण्डिकाऽऽरामे दण्डिकपरिगृहीते उद्याने षड् लघुकाः। गतं मनुष्यपरिगृहीतम्। अथ तिर्यक्परिगृहीतं भाव्यते-तिर्यञ्चः द्विविधाः-दुष्टाः, अदुष्टाश्च । दुष्टा हस्तिशुनकाऽऽदयः, अदुष्टा शृगालहरिणाऽऽदयः । दुष्टतिर्यक्परिगृहीते चतुर्गुरुकाः, इतरैरदुष्टैः परिगृहीते चतुर्लघुकाः। गतं तिर्यक्परिगृहीतम्।

अथ यदुक्तम्-" परिगहिए अणुग्गहं कोइ " इति । तदेतद्भावयति-

भद्देतर सुरमणुया, भद्दे घिप्पंति दट्ठुणं भणइ ।
अन्ने वि साहु ! गिण्हसुं, पंतो छण्हेगयर कुज्जा ॥ ८६ ॥

यस्य सुरस्य मनुजस्य वा परिग्रहे स आरामो वर्त्तते स भद्रको भवेदितरो वा प्रान्तः। तत्र भद्रः प्रलम्बं गृह्यमाणं दृष्ट्वा तं साधुं भणति-साधु त्वया कृतं, नारिता वयं संसारसागरात् अन्यान्यपि हे साधो ! पर्याप्तानि गृहाण इत्यादि। प्रान्तः पुनः षण्णां प्रकाराणामेकतरं कुर्यात् ।

अथ क एते षट् प्रकाराः ?, उच्यते-

पडिसेहणा खरंटण, उवलंभ पंतावणा य उवहिम्मि ।
गिण्हणकड्ढणववहा-रपच्छकड्डुड्डाहनिव्विसए ॥८७॥

प्रतिषेधनं प्रतिषेधना,निवारणेत्यर्थः १ खरण्टना खरपरुषवचनैर्निर्भर्त्सना २, उपालम्भः सपिपासवचनैः शिक्षा ३,प्रान्तापना यष्टिमुष्ट्यादिभिस्ताडना, ( उवहिम्मि त्ति ) उपधिह-

रणम् ५ इति पञ्च भेदाः। ग्रहणाऽऽकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोड्डाहनिर्विषय इत्येक एव षष्ठो भेदः। इति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह-

**जं गहियं तं गहियं, बिइयं मा गिएह हरइ वा गहियं ।**
**जायसु ममं व कज्जे, मा गिएह सयं तु पडिसेहो ॥८८॥**

यद् गृहीतं प्रलम्बं तद् गृहीतं नाम द्वितीयं पुनर्वारं मा ग्रहीरिति वचनं यद्वक्ति, यद्वा-गृहीतं सत्प्रलम्बं तस्य प्रव्रजितस्य हस्तात् हरति उद्दालयति, भणति वा कार्ये समापतिते मामेव याचस्व, स्वयं पुनर्मा गृहाणेत्येष सर्वोऽपि प्रतिषेध उच्यते ।

अथ खरएटनामाह-

**धी मुंडितो दुरप्पा, धिरत्थु ते एरिसस्स धम्मस्स ।**
**अन्नत्थ वा विलज्जिसि, मुक्कोऽसि खरंटणा एसा ॥८६॥**

धिग् मुण्डितो दुरात्मा, धिगस्तु ते तव संबन्धिन ईदृशस्य धर्मस्य, यत्र चौर्यं क्रियत इति भावः। यद्वा-मया मुक्तोऽसि परमन्यत्रापि त्वमीदृशैश्चेष्टितैर्विडम्बनां लप्स्यसे, एषा निष्पिपासनिर्भर्त्सना खरएटना भण्यते ।

उपालम्भमाह-

**आमफलाणि न कप्पं-ति तुम्ह मा सेसए वि दूसेहि ।**
**मा य सकज्जे मुज्झसु, एमाई होउवालंभो ॥ ६० ॥**

आम्रफलानि युष्माकं ग्रहीतुं न कल्पन्ते, अतः शेषानपि साधून् मा दूषय निजदुश्चरितेन सकलङ्कितान् कुरु, मा च स्वकार्ये निरवद्यप्रवृत्त्यात्मके चारित्रे मुह्य, एवमादिकः सपिपासशिक्षारूप उपालम्भो भवति।

प्रान्तापनोपधिहरणे भावयति-

**करपायदंडमाइसु, पंतावणि गाढमाइ जा चरिमं ।**
**अप्पो अ अहाजाओ, सव्वो दुविहो वि जं च विणा ॥६१॥**

करपाददण्डाऽऽदिभिः,आदिशब्दात् लताऽऽदिभिश्च ताडनं प्रतापना, तस्यां चानागाढपरितापाऽऽदिषु चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तम्। अल्पं वा बहुं वा स उपधिं हरेत्। अल्पो नाम यथाजातः, निषद्याद्वयोपेतं रजोहरणं मुखवस्त्रिका चोलपट्टश्चेत्यर्थः। बहुः पुनः सर्वश्चतुर्दशविध उपधिः। अथवा-द्विविध औधिकौपग्रहिकरूप । यच्च तृणग्रहणाऽऽदिकम् उपधिं विना भवेत्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

संप्रत्यनुग्रहाऽऽदिपदेषु प्रायश्चित्तमाह-

**लहुगा अणुग्गहम्मी, अप्पत्तिएँ गुरुग तीसु ठाणेसुं ।**
**पंतावणे चउगुरुगा, अप्पबहुम्मी हिए मूल ॥ ६२ ॥**

यस्य संबन्धी स आरामः स यदि चिन्तयति-अनुग्रहो मे यन्मदीयानि प्रलम्बानि साधवो गृह्णन्ति, इत्यनुग्रहे मन्यमाने चतुर्लघवः। अथ प्रीतिकं करोति तूष्णीकस्तिष्ठति ततश्चतुर्गुरुका । अथाप्रीतिकवशात्प्रतिषेधं खरएटनामुपालम्भं वा कुर्यात्तत्त्रिष्वपि स्थानेषु प्रत्येकं चतुर्गुरुका । अल्पे वा बहौ वा उपधौ हृते मूलम्। यद्वा-उपधिनिष्पन्नम्। तद्यथा-उत्कृष्टे उपधौ चतुर्लघव, मध्यमे मासलघु, जघन्ये रात्रिन्दिवपञ्चकम्। आह-कथमेकत्रैव मूलमुपधिनिष्पन्नं वा?। उच्यते-प्रमादत प्रलम्बानि गृह्णत उपधिहरणे उपधिनिष्पन्नं, दर्पतस्तु प्रलम्बानि गृह्णानस्योपकरणापहारे मूलम्।

अथ " पंतावणिगाढमाइ चरमं पि " पदं व्याचष्टे-

**परितावणा य पोरिसि, ठवणा महएँ मुच्छकिच्छकालगए।**
**मास चउ छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥६३॥**

प्रान्तापितस्य सतोऽनागाढा परितापना भवति चतुर्लघु, आगाढा भवति चतुर्गुरु परितापनामिभूतः सन् सूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु; अर्थपौरुषीं न करोति मासगुरु, सूत्रं नाशयति चतुर्लघु, अर्थं नाशयति चतुर्गुरु,अप्राशुकं स्थापयति चतुर्लघु, अप्राशुकं स्थापयति चतुर्गुरु, प्रत्येकस्थापने चतुर्लघु, अनन्तस्थापने चतुर्गुरु, इत्यादि प्राग्वद्वक्तव्यम्। (महए त्ति) महादुःखे षड्लघु, मूर्च्छायां षड्गुरु कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम् ।

अथ यच्च तृणग्रहणाऽऽदिकमुपधिना विना भवेदिति पदं विवृणोति-

**तणगहणे सुसिरेतर, अग्गी सज्झाए अभिनवे जं च ।**
**एसणा पेल्लण गहणे, काया सुय मरणओहाणे ॥ ६४ ॥**

वर्षाकल्पाऽऽद्युपकरणे हृते शीताभिभूतास्तृणानि गृह्णन्ति सेवन्ते, तत्र शुषिरतृणसेवने चतुर्लघु, अशुषिरतृणसेवने मासलघु, अग्निं सेवन्ते तत्र स्वस्थानप्रायश्चित्तं चतुर्लघु इत्यर्थः। अथाभिनवमग्निं जनयन्ति मूलं, यच्चाग्निसमारम्भे अन्येषां जीवाना विराधनं तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तम्। अथोपकरणाभावे उद्गमाऽऽदिदोषदुष्टं वस्त्राऽऽदि गृह्णन्त एषणा प्रेरयन्ति ततस्तन्निष्पन्नं (गहणे त्ति) शीताऽऽदिभिः परिताप्यमाना गृहस्थैरदत्तमपि वस्त्राऽऽदि गृह्णीयुस्तन्निष्पन्नम्। निशीथचूर्णिकृता तु " गमणे त्ति " पाठो गृहीतस्तत्र चोपधिं विना शीताऽऽदि परीषहमाणो जघन्यवर्थिकेष्वेकः मार्गे गच्छति मूलं, द्वयोर्गच्छतोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम्। ( काय त्ति ) अग्निं सेवमाना एषणा प्रेरयन्तो यावत्पृथिव्यादिकायान् विराधयन्ति तन्निष्पन्नम्। (सुय त्ति) श्रुतं सूत्रं तस्य पौरुषीं न कुर्वन्ति, उपलक्षणत्वादर्थपौरुषीं न कुर्वन्ति, सूत्रं नाशयन्ति अर्थं नाशयन्ति, तन्निष्पन्नम्। ( मरण त्ति ) उपकरण विना यद्येकोऽपि म्रियते तथाऽपि पाराञ्चिकम्। ( ओहाण त्ति ) यद्येकः साधुरवधावति मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम्।

अथ ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदिरूपं षष्ठं प्रकारं भावयति-

**गेएहण गुरुगा छम्मा-स कड्ढणे छेदो होइ ववहारे ।**
**पच्छाकडम्मि मूलं, उड्डहण विरुंगणे नवमं ॥ ६५ ॥**
**उद्दवणे निव्विसए, एगमणेगे पदेस पारंची ।**
**अणवठ्ठप्पा दोसु अ, दोसु च पारंचिओ होइ ॥ ६६ ॥**

अथ यदि प्रलम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतस्त प्रलम्बानि गृह्णानो यदि प्रलम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतस्तो ग्रहणे चतुर्गुरुका , अथ तेनोपकरणे हस्ते वा गृहीत्वा राजकुलाभिमुखमाकृष्टस्तत आकर्षणे षण्मासा गुरव , अथ कारणिकाना समीपे व्यवहारे कारयितुमारब्ध तत छेद , व्यवहारे विधीयमाने यदि पश्चात्कृत पराजित ततो मूलम्, अथ चतुष्कचत्वराऽऽदिष्वेष प्रलम्बचौर इति घोषणापुरस्सरमुद्दग्ध हस्तपादाऽऽदौ वा अवयवे व्यङ्गितस्तत एवमुद्दहने ( विरुंगणे त्ति ) व्यङ्गने वा नवममनवस्थाप्यम्। अथान्यायोदीर्णके यो-नलेन राजाऽऽदिना अपद्रावितो निर्वि

पयो वा आज्ञप्तः, ततोऽपद्रावणे निर्विषये वा कृते पाराञ्चिकम्। अथ वा-एकस्यानेकेषां वा साधूनामुपरि प्रद्वेषं यदि व्रजति तदा पाराञ्चिकम्। अत्र च द्वयोरुद्दहनव्यङ्गनयोरनवस्थाप्यो भवति, द्वयोश्चापद्रावणनिर्विषययोः पाराञ्चिक इति।

अथ परिग्रहविशेषेण प्रायश्चित्तविशेषमाह-

आरामे मोल्लकीए, परतित्थिय भोइएण गाम वणी।
घडकोडुंवियराउल-परिग्गहे चेव भद्दितरा ॥ ९७ ॥

इहाऽऽरामः कश्चिदादित एवाऽऽत्मीयो वा भवेत्, मूल्येन क्रीतो वा,यो मूल्येन क्रीतः स केन क्रीतो भवेत्? उच्यते परतीर्थिकेन वा १, भोगिकेन वा २, ग्रामेण वा ३, वणिजा वा ४, घटया वा, गोष्ठ्या इत्यर्थः ५, कौटुम्बिकेन वा ६, आरक्षिकेण वा ७, राज्ञा वा ८। एतद् द्वयमपि राजकुलशब्देन गृहीतम्। एतेषां परिग्रहे वर्त्तमानादारामात्प्रलम्बानि गृह्णतो यथाक्रमं प्रायश्चित्तं चतुर्लघु १, चतुर्गुरु २, षड्लघु ३, षड्गुरु ४, छेदो ५ मूलम् ६, अनवस्थाप्यं ७, पाराञ्चिकम्। अत्रापि त एवं भद्रेतरा भद्रकप्रान्तकृता अनुग्रहप्रतिषेधाऽऽदयो दोषा वक्तव्याः। एतत्सर्वमयाचिते प्रलम्बे द्रष्टव्यं, याचिते तु ग्रहणाऽऽकर्षणाऽऽदिदोषान् विना शेषमिति। एतावता वृक्षस्याधः प्रपतितमचित्तं व्याख्यातम्।

अथ सचित्ताऽऽदिद्वारचतुष्टयमभिधित्सुराह-

एमेव य सचित्ते, छुभणा अरोहणा य पडणा य।
जं इत्थं णाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ९८ ॥

यथा-अचित्ते "दिट्ठे संका" (५६) गा०। इत आरभ्य "आरामे मोल्ल०" (९७) गा०। इति पर्यन्तं भणितम्। एवमेव सचित्तेऽपि द्रष्टव्यम्। प्रक्षेपणमारोहणं पतनमित्येतान्यपि द्वाराणि तथैव वक्तव्यानि, यत्पुनरत्र नानात्वं विशेषस्तदहं वक्ष्ये समासेन।

तत्र सचित्ते तावद्विशेषमाह--

तं च सचित्तं दुविहं, पडियापडियं पुणो परित्तियरं।
पडितऽसति अपावंते, छुभई कट्ठाइए उवरिं ॥ ९९ ॥

तत्पुनः सचित्तं द्विविधम्-पतितमपतितं च। पुनरेकैकं च द्विधा-परीतं प्रत्येकम्, इतरत् अनन्तं च। अत्र पतितस्यासत्यभावे वृक्षप्रतिष्ठितेऽपि हस्ताऽऽदिना अप्राप्यमाणे तत प्रलम्बपातनार्थं काष्ठाऽऽदीन्युपरि क्षिपति।

तत्र यद् वृक्षोपरि स्थितं भूमिस्थितो हस्तेन गृह्णाति, तत्र प्रायश्चित्तमाह-

सजियपयट्ठिएँ लहुगो, सजिए लहुगा य जत्तिया गाहा।
गुरुगा होंति अणंते, हत्थपत्तं तु गेण्हंते ॥ १०० ॥

सजीववृक्षप्रतिष्ठितमचित्तफलं गृह्णाति मासलघु, अत्र च यावतो ग्राहान् करोति तावन्ति मासलघुकानि। अथ सजीवं सचित्तवृक्षप्रतिष्ठितं गृह्णाति चतुर्लघु, सचित्तप्रतिष्ठितमप्रत्ययं च मासलघु, तत्रापि यावतो ग्राहान् करोति तावन्ति चतुर्लघूनि, मासलघूनि च, एतत्प्रत्येके भणितम्। अनन्ते पुनरेतान्येव प्रायश्चित्तानि गुरुकाणि, मासगुरुचतुर्गुरुरूपाणि भवन्ति, एव भूमिस्थितस्य वृक्षस्थितं हस्तप्राप्तं प्रलम्बं गृह्णत प्रायश्चित्तमुक्तम्।



अथ यदुक्तम्-" छुभई कट्ठाईए उवरिं ति " तदेतद्विवरीषुराह--

छुभमाण पंचकिरिए, पुढवीमाई तसेसु तिसु चरिमं।
तं काय परिच्चयई, आवडणे अप्पगं चेव ॥ १०१ ॥

प्रलम्बपातनार्थं काष्ठलेष्टुशुष्कगोमयाऽऽदिकं गवेषयति चतुर्लघु, काष्ठाऽऽदिकं लब्ध्वा वृक्षाभिमुखं क्षिपति, चतुर्लघव एव। स च क्षिपन्नेव पञ्चक्रिय पञ्चभिः क्रियाभि स्पृष्टः। तद्यथा-कायिक्या १, आधिकरणिक्या २, प्राद्वेषिक्या ३, पारितापनिक्या ४, प्राणातिपातिक्रियया चेति ५। पृथिव्यादिषु च जीवेषु संघट्टनापरितापनाऽपद्रावणैर्लघुमासाऽऽदिकं प्रायश्चित्तं यथास्थानं ज्ञातव्यम्। ( तसेसु तिसु चरिमं ति ) त्रिषु पञ्चेन्द्रियरूपेषु त्रसेषु व्यपरोपितेषु चरमं पाराञ्चिकम्। तथा काष्ठाऽऽदिकं क्षिपन् तं कायं वनस्पतिलक्षणं नियमादेव परित्यजति, स च लगुडाऽऽदिरूर्द्ध्वं क्षिप्तः शाखाऽऽदौ प्रतिस्खलान्निवृत्तस्तस्यैव शरीराभिमुखमायाति तम्यापतना। आत्मानं परित्यज्यतीति।

कथं पुनः पृथिव्यादिकायानां विराधको भवतीति? उच्यते-

पावंते पत्तम्मि उ, पुणो पडंते य भूमिपत्ते य।
रयवासविज्जुमाई, वायफले मच्छिगाइ तसे ॥१०२॥

तत् काष्ठाऽऽदिकं हस्ताच्च्युतं सत् यावद्वृक्षेनाऽऽस्फालति, तावत्प्राप्नुवत् भण्यते, तस्मिन् प्राप्नुवति तथा वृक्षं प्राप्ते पुनः पतति च भूमिप्राप्ते च षट्कायविराधना ज्ञातव्या। कथमिति चेदित्याह—( रय इत्यादि ) आदिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। ततश्च रजःप्रभृतिकं पृथिवीकायं वर्षोदकाऽऽदिकमप्कायं, विद्युदादिकं तेजःकायं, वातं च तत्रैव वान्त, फलानि तस्यैव वृक्षस्य सत्कानि, उपलक्षणत्वात्पत्राऽऽदीन्यपि, मक्षिकाऽऽदींश्च त्रसान् विराधयति।

इदमेव स्पष्टयन्नाह-

खोल्लतयाईसु रओ, महिवासोस्साऽऽइ अग्गि दवदड्ढे।
तत्थेवऽनिल वणस्सइ, तसा उ किमिकीडसउणाई ॥१०३॥

" खोल्लं ति " देशीशब्दत्वात् कोटरं, त्वक् प्रतीता, तदादिषु स्थानेषु वृक्षे रज प्रभृतिकं पृथिवीकायविराधना, महिकाया निपतन्त्या वर्षे, अवश्याये वा निपतति, आदिग्रहणेन हरतनुकाऽऽदिसंभवे अप्कायविराधना च, दवाऽऽदिनाऽग्निना दग्धे वृक्षे, उपलक्षणत्वात् विद्युति वाऽग्निकायविराधना, तत्रैवाग्नौ नियमादनिलो वायुः संभवतीति वायुकायविराधना, वनस्पतिः स एव प्रलम्बलक्षणः पत्रपुष्पाऽऽदि च त्रसास्तु कृमिकीटशकुनाऽऽदिका विराध्यन्ते, कृमयो विष्ठाऽऽदिसमुद्भवाः, कीटिका घुणाऽऽदय, शकुना काककपोताऽऽदय, आदिग्रहणेन सरटाऽऽदिपरिग्रह। एवं वृक्षमप्राप्ते काष्ठाऽऽदौ षट्कायविराधना, एवमेव प्राप्ते पुनः पतिते भूमिं प्राप्तेऽपि ज्ञातव्यम्।

यत आह-

अप्पत्ते जो उ गमो, सो चेव गमो पुणो पडंतम्मि।
सो चेव य पडियम्मी, निक्कंपे चेव भोमाऽऽई ॥१०४॥

य एवाप्राप्ते गम प्रकार स एव गम पुन पतति उपलक्षणत्वात्प्राप्तेऽपि भूयो गम, एवशब्दोच्चारणं षट्कायविराधनां प्रतीत्याऽऽत्यन्तिकतुल्यताख्यापनार्थम्। स एव च भूमौ

पतितेऽपि काष्ठाऽऽदौ प्रकार प्रतिपत्तव्य' केवलम् ( निक्कंपे चेव भोमाई ति)तत्काष्ठाऽऽदिकं महता भारगौरवेण "निक्कंपं निस्सद्दं" पृथिव्यां यन्निपतति तेन भूम्यादीनां पृथिव्यादीना महती विराधनेति चूर्णिकृदभिप्राय.। निशीथचूर्णिकाराऽभिप्रायेण तु 'निक्कंपे चेव भूमीए" इति पाठ.। अस्य व्याख्या-यस्या भूमौ स्थितः काष्ठाऽऽदिक्षेपणाय विशिष्टं स्थानबन्धमध्यास्ते तत्राऽपि पादयोर्निष्कम्पत्वेन षण्णां कायाना विराधको भवति ।

एव दव्वतो छण्हं, विराधओ भावओ उ इहरा वि ।
चिज्जइ हु घणं कम्मं, किरियगहणं भयनिमित्तं ॥१०५॥

एवमेतेन प्रकारेण चतुर्ष्वप्यप्राप्ताऽऽदिपदेषु द्रव्यतः षण्णां कायाना विराधक. प्रतिपत्तव्यः, भावतस्तु इतरथाऽपि द्रव्यतो विराधना विनाऽप्यसौ षट्कायविराधको लभ्यते, संयमं प्रति निरपेक्षतया तस्य भावत प्राणातिपातसद्भावात्। भावप्राणातिपाते च यथा घनं निबिडं कर्म चीयते न तथा द्रव्यप्राणातिपातेन । आह-यदुक्तम्-पञ्चभिः क्रियाभि स्पृष्टस्तत्कथं संवादमश्नुते,यावर्ता यदि निवारयति तदा कायिकी अधिकरणिकी च क्रिये संभवत . अथ विराधयति तदेताश्च तस्रो भवेयु ,प्राद्वेषिकी पुन कथं भवेत्? सूरिराह-क्रियाग्रहणं भयनिमित्तं भयजननार्थं क्रियते येन साधव क्रियापञ्चकाऽऽपत्तिदोषभीता मूलत एव प्रलम्बग्रहणे न प्रवर्त्तन्ते । यद्वा-दृष्टिवादनयाभिप्रायनैपुण्यात् यत्रैका क्रिया तत्र पञ्चापि क्रियाः संभवन्तीति न दोष. । यदाह निशीथचूर्णिकृत्- 'अहवा जत्थ एगा किरिया तत्थ दिट्ठिवायनयसुहुमत्तणओ पंच किरियाओ भवंति, अतो पचकिरियागहणे न दोसा ।" एवं तावत्संयमविराधना भाविता ।

( ३ ) अथाऽऽत्मविराधना भावयति-

कुवणउ पत्थर लेट्टू , पुव्वं छूढे फले व पवडंते ।
पच्चप्फालणे आया, अच्चायामेण हत्थाऽऽई ॥ १०६ ॥

अन्येन केनचित्प्रलम्बार्थिना पूर्वं (कुवणउ त्ति) लगुडः क्षिप्त., स तत्रैव वृक्षशाखाया विलग्न. सन् वायुप्रयोगेण, विवक्षितसाधुक्षिप्तकाष्ठाऽऽदिप्रयोगेण वा सञ्चालितस्तस्यैव साधोरुपरि निपतन् विराधना कुर्यात् , एवं प्रस्तर पाषाणो, लेष्टुरिष्टकाशकलं मृत्तिकापिण्डो वा पूर्वं क्षिप्त पतेत्, फलं वृन्तच्युत वृक्षात्प्रपतेत्, तस्यैव काष्ठाऽऽदे प्रतिनिवृत्तस्तस्वसंमुखं प्रत्यास्फालने आत्मविराधना भवेत्, अत्यायामेन चातीव हस्तमुत्क्षिपणेन लगुडाऽऽदौ क्षिप्यमाणे हस्ताऽऽदे. परितापना भवेदिति । गतं क्षेपणद्वारम् ।

अथाऽऽरोहणा-

खिवणेऽवि अपावंतो, दुरुहइ तहिँ कंटविच्छुअहिमाई ।
पक्खितरच्छाइवहो. देवत खित्ताऽऽइकरणं च ॥१०७॥
तत्थेव य णिट्ठवणं, अंगेहिँ समोहएहिँ छक्काया ।
आरोवण सच्चेव य,गिलाणपरितावणाऽऽईया ॥१०८॥

काष्ठाऽऽदे. क्षेपणे कृतेऽपि यदा प्रलम्बानि न पतन्ति तदाऽध स्थितस्तान्यप्राप्नुवन्प्रलम्बमानस्तं वृक्षं ( दुरुहइ त्ति ) आरोहति, स च यावद्भिर्बाहुक्षेपकैरारोहति तावन्ति चतुर्लघुकानि,अग्रन्ते पुनश्चतुर्गुरुकाणि,तत्र वृक्षे आरोहतो यत्कण्टकैर्विध्यते,यच्च वृश्चिकेन अहिना वा,आदिशब्दान्नकुलाऽऽदिना वा दश्यते,यच्च पक्षिभि' श्येनाऽऽदिभिस्तरक्षवादिभिश्चाटव्यर्जीवैर्वधो भवति, यया वा देवतया अधिष्ठितोऽसौ वृक्षस्तया यदसौ साधु. क्षिप्तचित्त क्रियते।आदिग्रहणेनापरया कयाचिद्विडम्बनया विडम्ब्यते। यद्वा-सा देवता स्वाधिष्ठितवृक्षाऽऽरोहणकुपिता तत्रैव निष्ठापनम् आयुष' समापनं तस्य यत् कुर्यात् । अथवा-तं साधुमारोहन्तमेव यत्पातयेत् एषा सर्वाऽऽप्यात्मविराधना, पातितस्य च तस्याङ्गानि समवहन्यन्ते,भज्यन्त इत्यर्थः। तैरङ्गैर्हस्तपादाऽऽदिभि समवहतैर्यत्र भूमावसौ पतति तत्र षट्काया विराध्यन्ते, तेषा च संघट्टनाऽऽदिभिरारोपणा सैव द्रष्टव्या । या " छक्कायचउसु लहुगा" इत्यादिगाथायामुक्ता आत्मविराधना,या च ग्लानविषया परितापनाऽऽदिनिष्पन्नाया आरोपणा, साऽपि प्राग्वद्वक्तव्या । गतमारोहणद्वारम् ।

( ४ ) अथ पतनद्वारमाह-

मरणगिलाणाऽऽईया, जे दोसा होंति गेण्हमाणस्स ।
ते चेव य साऽऽरुवणा, पवडंते होंति दोसा उ ॥१०९॥

कदाचिदसौ तं वृक्षमारोहन् पतेत्, ततश्च मरणग्लानत्वाऽऽदिका ये दोषा आरोहतो भवन्ति, प्रपततोऽपि त एव दोषा. साऽऽरोपणा सप्रायश्चित्तनिरवशेषा वक्तव्याः। "पवडते होंति सविसेसा" इति निशीथचूर्णिलिखितपाठः। तत्रायमर्थः आरोहतो दोषाणा संभव एव भणित', पतत पुनरवश्यंभाविनो गात्रभङ्गाऽऽदयो दोषा इति सातिशेषग्रहणम्। गतं पतनद्वारम्।

( ५ ) अथोपधिद्वारं विवृणोति-

तम्मूल उवहिगहणं, पंतो साहूण कोइ सव्वेसिं ।
तणअग्गिगहण परिता-वणा य गेलन्न पडिगमणं ॥११०॥

यस्य परिग्रहे तानि प्रलम्बानि तन्मूलं च ग्रहणनिमित्तं, तस्यैव साधोरुपधिग्रहण कुर्यात् । यद्वा-कश्चित् प्रान्त. सर्वेषां साधूनामुपधिं गृह्णीयात् । तत्र यथा जाते रजोहरणाऽऽदिके उपधौ हृतं मूलं, शेषे पुनरुत्कृष्टे चतुर्लघु, मध्यमे मासलघु, जघन्ये पञ्चकम् , उपधिं विना तृणानि गृह्णीयात् , अग्निग्रहणं वा कुर्यात् , अग्निं सेवेतेति भाव । अथाग्निं न सेवते तत' शीतेन परितापः तस्य भवेत् , शीतेन वा भुक्ते अजीर्यमाणे ग्लानत्वं भवेत् शीताभिभूता वा साधव. पार्श्वस्थाऽऽदिषु प्रतिगमन कुर्यु. ।

संप्रत्यत्रैव प्रायश्चित्तमाह-

तणगहणे अग्गिसेवण, लहुगा गेलण्ण होइ तं चेव ।
मूलं अणवट्ठप्पो, दुग तिग पारंचिओ होइ ॥१११॥

अशुषिरतृणानि गृह्णीयात् चतुर्लघु, परकृतमग्निं सेवते चतुर्लघु अभिनवमग्निं जनयति मूलम्, अग्निशकटिकाया वा तापयन् यावतो भागान् हस्तं वा संचालयति तावन्ति चतुर्लघूनि, यस्तु धर्मश्रद्धालुरग्निं न सेवते स शीतेन ग्लानसजायते, ग्लानत्वे चाऽनागाढपरितापनाऽऽदौ तदेव प्रायश्चित्तम्। अथ शीतपरीषहमसहिष्णु पार्श्वस्थाऽऽदिषु प्रजति चतुर्गुरु,यथा छन्देषु व्रजति चतुर्गुरु । यद्येकोऽवधावति अन्यतीर्थिकेषु वा याति ततो मूलं, द्वयोरनवस्थाप्यं, त्रिषु पाराञ्चिकम् । गतमुपधिद्वारम् ।

(६) अथोड्डाहद्वारं विवृणोति—

अपरिग्गहिएँ पलंबे, अलभंतो समणजोगमुक्कधुरो ।
रसगेहीपडिवद्धो, इतरे गिरहंतो गहिओ य ॥११२॥

अपरिगृहीतानि प्रलम्बान्यलभमानः श्रमणयोगमुक्तधुरः परित्यक्तश्रमणव्यापारभार इति भावः । रसगृद्धिप्रतिबद्धः, इतराणि परिगृहीतप्रलम्बानि गृह्णन् प्रलम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतः ।

ततश्च—

महजणजाणणया पुण, सिंघाडगतिगचउक्कगामेसुं ।
उड्डाहिऊण विसज्जिते, महजणणाए ततो मूलं ॥ ११३ ॥

तेन प्रलम्बस्वामिना गृहीत्वा शृङ्गाटकत्रिकचतुष्कस्थानेषु ग्रामेषु वा बहुषु नीत्वा महाजनस्य पौरजनपदरूपस्य ज्ञापना कृता। यथा—एतेन मदीयानि प्रलम्बानि चोरितानीत्यादि महाजनस्य पुरत उड्डाहात् विसर्जितो मुक्तस्तत एवं महाजने ज्ञाते सति मूलं नाम प्रायश्चित्तम्।

कथमुड्डाह इत्याह—

एस उ पलंबहारी, सहोढ गहिओ पलंबठाणेसु ।
सेसाण वि वाघाओ, सविहोढविडंविए होइ ॥ ११४ ॥

येनाऽऽरामाधिपतिना संप्रलम्बानि गृह्णानो गृहीतः,स रासभाऽऽरोपितं शृङ्गाटकत्रिकचतुष्काऽऽदिषु सर्वतः परिभ्रामयन्नेवमुद्घोषयति—भो भोः पौराः श्रूयतामस्य प्रव्रजितकस्य दुश्चरितम्—एष प्रलम्बहारी मदीयाऽऽरामसत्कप्रलम्बचौरः सहोढः सोपलब्धो गृहीतो. मया दुरात्मा प्रलम्बस्थानेष्वारामप्रदेशेष्वित्यादिघोषणापुरस्सरमितश्च नीयमानो महाजनेन सखेदमवलोक्यमानः स कृतेन कर्मणा विडम्ब्यते। ततश्च सविहोढं सजुगुप्सनीयं यथा भवतीत्येवं विडम्ब्यते, तस्मिन् शेषाणामपि साधूनां व्याघातः—सर्वेऽप्यमी एवंविधा एवेति प्रभापरिभ्रंशो भवतीति व्याख्यातमुड्डाहद्वारम्। तद्व्याख्याने च समर्थिता "अन्नत्थ तत्थ गहणे" इत्यादिद्वारगाथा । अथ यदुक्तमधस्तात्—"आणाऽणवत्थमिच्छा, विराहणा कस्स गीयत्थो।" तदिदानीं प्राप्तावसरं व्याख्यायते—तत्राऽऽज्ञेति द्वारं भगवता प्रतिषिद्धं यत्प्रलम्बं न कल्प्यते तद्ग्रहणं कुर्वता भगवतामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति, तस्मिंश्चाऽऽज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः। बृ०१ उ० २ प्रक० । (आज्ञाद्वारम् 'आणा' शब्दे द्वितीयभागे १२१ पृष्ठे गतम्)

(७) अथानवस्थाद्वारमाह—

एगेण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो ।
सायाबहुल परंपर, वोच्छेदो संजमतवाणं ॥ १२३ ॥

एकेन केनचिदाचार्याऽऽदिना किमप्यकार्यं प्रमादस्थानं कृतं प्रतिसेवितं, ततोऽन्योऽपि तत्प्रत्ययादेव आचार्याऽऽदिः श्रुतधरोऽप्येवं करोति, नूनं नास्त्यत्र दोष इति तदेवाकार्यं करोति, ततोऽपरोऽपि तथैव करोति, तदन्योऽपि तथैवेत्येवं सातबहुलाना सातगौरवप्रतिबद्धाना प्राणिना परम्परया प्रमादस्थानमासेवमानाना संयमतपसो व्यवच्छेदः प्राप्नोति, यद्वि संयमस्थानं वा पूर्वाऽऽचार्येण सातगौरवगृध्नुतया वर्जितं तत्पाश्चात्यैरदृष्टमिति कृत्वा व्यवच्छिन्नमेवेति । गतमनवस्थाद्वारम्।

(८) अथ मिथ्यात्वद्वारं विवृणोति—

मिच्छत्ते संकाऽऽई, जहेय मोसिं तहेव सेसं पि ।
मिच्छत्ते थिरीकरणं, अब्भुवगमे वारणमसारं ॥१२४॥

मिथ्यात्वे विचार्यमाणे शङ्काऽऽदयो दोषा वक्तव्याः। शङ्का नाम—किं मन्ये अमी यथा वादिनस्तथा कारिणो न भवन्ति, येन प्रलम्बानि गृह्णन्ति,आदिशब्दात्काङ्क्षादयो दोषाः। तथा यथैतदनृतं, तथैव शेषमन्यदप्येतेषां मिथ्यारूपमेवेति चित्तविप्लुतिः स्यात्, मिथ्यात्वाद्वा चलितभावस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य प्रलम्बग्रहणदर्शनात् पुनरपि मिथ्यात्वे स्थिरीकरणं भवति. अभ्युपगमं वा प्रव्रज्यायाः, अणुव्रतानां वा, सम्यग्दर्शनस्य वा कर्तुकामस्यापरः कश्चिद् वारणं कुर्यात्—नैतेषा समीपे प्रतिपद्यस्व असारं निस्सारममीषां प्रवचनं मयेदं च दृष्टमिति। गतं मिथ्यात्वद्वारम्।

(९) अथ विराधना। सा च द्विविधा—संयमे, आत्मनि च। द्वे अपि प्रागेव सप्रपञ्चं भाविते,तथाऽपि विशेषमुपदर्शयितुमाह—

तं काय परिच्चयई, नाणं तह दंसणं चरित्तं च ।
वीयाऽऽईपडिसेवग, लोगो जह तेहिं सो पुट्ठो ॥१२५॥

प्रलम्बं गृह्णन्तं तं कायं वनस्पतिलक्षणं परित्यजति, तथा—ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेति बीजाऽऽदिप्रतिसेवको लोको यथा असंयमेन स्पृष्टः, तथा सोऽपि साधुस्तैः प्रलम्बैरासेवितैरसंयमेन स्पृष्ट इति निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह—

कायं परिच्चयंतो, सेसे काए वए य सो चयई ।
णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी ॥ १२६ ॥

प्रलम्बानि गृह्णानो वनस्पतिकायं परित्यजति, तं च परित्यजन् शेषानपि कायानसौ भावतः परित्यजति, तत्परित्यागे च प्रथमव्रतपरित्यागः, प्रथमव्रतपरित्यागे च शेषव्रतपरित्यागोऽप्युपजायत इति व्रतान्यप्यसौ परित्यजतीत्युक्तम् । तथा ज्ञाने ज्ञानविषये परित्यागे चिन्त्यमाने ज्ञानोपदेशे क्रियाद्वारेणावर्तमानोऽसौ ज्ञान्यपि अज्ञानी मन्तव्यः।

दंसणचरणा मूढस्स, नत्थि समया व नत्थि संमं तु ।
विरईलक्खण चरणं, तदभावे नत्थि वा तं तु ॥ १२७ ॥

ज्ञानाभावादसौ मूढो भवति, मूढस्य दर्शनचारित्रे न स्तः। यद्वा—प्रलम्बग्रहणादस्य जीवेषु समता न विद्यते, समताया अभावाच्च सम्यक्त्वमपि नास्ति, तस्यापि सामायिकभेदतया समतारूपत्वात् विरतिलक्षणं चरणं भणितं, तच्च लक्षणं प्रलम्बानि गृह्णतो न विद्यते, तदभावे लक्षणाभावे तत्तु तत्पुनश्चारित्रं नास्ति, वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतकः । अथ "बीयाई" इत्यादि व्याख्यायते—फलाद्वीजं भवतीति कृत्वा बीजग्रहणम् । आदिशब्दात्फलपुष्पपत्रप्रवालशाखात्वक्स्कन्धकन्दमूलानि गृह्यन्ते। शिष्यः प्राऽऽह—सर्वेऽपि वनस्पतयः मूलादेव प्रभवन्ति, अतो 'मूलाई पडिसेवग' इति कर्तुमुचितं किमिति "बीयाई पडिसेवग" इति कृतम्?।

सूरिराह—

पाएण बीयभोई, चोयग! पच्छाऽणुपुव्वि वा एवं ।

जोणिग्घाते व हतं, तदादि वा होइ वणकाओ ॥१२८॥

लोकः प्रायेण बीजभोजी, तेन कारणेन बीजमादौ कृतम्। यद्वा-हे नोदक ! समये त्रिविधाऽनुपूर्वी प्ररूप्यते। तद्यथा-पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी च। त्रिविधाऽपि च यथावसरं व्याख्याङ्गमित्यत्र पश्चानुपूर्वी गृहीता। अथवा-बीजं वनस्पतिनो योनिरुत्पत्तिस्थानम्, अतस्तस्य घाते विनाशे सर्वमपि मूलाऽऽदिकं निरपेक्षतया हतं भवति। यदि वा-तदादिर्वनस्पतिकायो भवति, तद्बीजमादिर्यस्य स तदादिः, सर्वेषामपि वनस्पतीनां तत एव प्रसूतेः, अतो बीजाऽऽदिग्रहणं कृतम्।

ततश्च-

विरइसभावं चरणं, बीयासेवी हु सेसघाती वि ।
अस्संजमेण लोगो, पुट्ठो जह सो वि हु तहेव ॥१२९॥

यो बीजाऽऽसेवी स नियमात् शेषाणां मूलाऽऽदीनामपि घाती विज्ञेयो, यश्च मूलाऽऽदीनि घातयति तस्य विरतिस्वभावं यच्चरणं चारित्रं तन्न भवति। यथा च बीजाऽऽदिप्रतिसेवको लोकोऽसंयमेन स्पृष्टस्तथैवासावपि तैः प्रलम्बैरासेवितैरसंयमेन स्पृष्ट इति। गता संयमविराधना।

(१०) आत्मविराधनामाह-

तं चेव अभिहणेज्जा, आवडिय अहव जीहलोलुपता ।
बहुगाइं भुंजित्ता, विसूचिकाईहिँ आयवहो ॥१३०॥

तैलगुडाऽऽदिकं क्षिप्तं पुनरापतितं सत् तमेव साधुमभिहन्यात्, इदं च प्रागुक्तमपि स्थानाशून्यार्थमत्रोपात्तमिति न पुनरुक्तदोषः। अथवा-जिह्वालोलुपतया बहुकानि प्रलम्बानि भुक्त्वा विसूचिकाऽऽदिभी रोगैरुत्पन्नैरात्मवधो भवति। उक्ताऽऽत्मविराधना। तदुक्तौ च व्याख्याता आज्ञाऽऽदयश्चत्वारोऽपि दोषाः। बृ० १ उ० २ प्रक०। ( गीतार्थेन गच्छसारणा न कर्तुं शक्यते इति 'गच्छसारणा' शब्दे तृतीयभागे ८०६ पृष्ठे उक्तम् ) ( प्रलम्बाधिकारे द्रव्यतः परीतमनन्तं वा येन लक्षणेन जानाति तदभिहितम्, 'अणंतजीव' शब्दे प्रथमभागे २६३ पृष्ठे )

(११) अथ ग्रहणद्वारम्-

चउभंगि गहणे पक्खे-वए अ एगम्मि मासियं लहुयं ।
गहणे पक्खेवम्मी, होंति अणेगा अणेगेसु ॥ १७६ ॥

चतुर्भङ्गी ग्रहणे प्रक्षेपके च द्रष्टव्या। तद्यथा एकं ग्रहणम् एकः प्रक्षेपकः १, एकं ग्रहणमनेके प्रक्षेपकाः २, अनेकानि ग्रहणानि एकः प्रक्षेपकः ३, अनेकानि ग्रहणानि अनेके प्रक्षेपकाः ४। अत्र च हस्तेन यत् प्रलम्बमादानं तद् ग्रहणम्, यत्पुनर्मुखे प्रवेशनं स प्रक्षेपकः। तत्र प्रथमभङ्गे एकस्मिन् ग्रहणे प्रक्षेपके च प्रत्येकं मासलघु। द्वितीयभङ्गे एकस्मिन् ग्रहणे मासलघु, प्रक्षेपस्थाने यावतः प्रक्षेपकान् करोति तावन्ति मासलघूनि। तृतीयभङ्गे तु यावन्ति ग्रहणानि तावन्ति मासलघुकानि, प्रक्षेपकविषयस्त्वेको मासलघु। चतुर्थभङ्गे अनेकेषु ग्रहणेषु प्रक्षेपकेषु चाऽनेकान्येव मासलघुकानि, एतच्च सामाचारीनिष्पन्नं मन्तव्यम्। यत्पुनर्जीवघातनिष्पन्नं चतुर्लघुकाऽऽदिकं तत् स्थितमेव। एतच्च ग्रहणप्रक्षेपकनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं यथा केवली जानाति तथा गीतार्थोऽपीति। गतं ग्रहणद्वारम्।

(१२) अथ तुल्ये रागद्वेषाभाव इति द्वारम्। तत्र शिष्यः प्राऽऽह-

पडिसिद्धा खलु लीला, विइए चरिमे य तुल्लदव्वेसुं ।
निद्दयता वि हु एवं, बहुघाए एगें पच्छित्तं ॥ १७७॥

अहो भगवन्तो रागद्वेषाध्यासितमनसः। तथाहि-तुल्यद्रव्येषु, समानेऽपि प्रलम्बद्रव्याणां जीवत्वे इत्यर्थः, द्वितीयभङ्गे एकफलस्य, चरमभङ्गे बहूनां फलानां बहून् वारान् प्रक्षेपं करोतीति बहूनि मासिकानि, इत्थं तृतीयभङ्गे तु बहूनि वनफलानि गृहीत्वा वा एकः प्रक्षेपक इति कृत्वैकं मासिकं च दद्ध्वे तन्मम मनसि प्रतिभासते-नूनं लीलैव युष्माभिः प्रतिषिद्धा न पुनर्जीवोपघातः। एवं च भगवता द्वितीये भङ्गे प्रलम्बजीवानामुपरि रागो, बहुमासिकदानात् तृतीयभङ्गे तु द्वेषः, एकस्यैव मासिकस्य दानात्। यद्वा-द्वितीये भङ्गे गृह्णता शिष्याणामुपरि द्वेषः। तृतीये तु रागः, कारणं प्राग्वदेव। किं च-युष्माकमेव बहुघाते युगपद्बहूनां मुखं प्रक्षिप्य भक्षणे एकमेव मासिकं ददता निर्दयता भवति।

अथ रागद्वेषाभावं समर्थयन् सूरिः परिहारमाह-

चोयग ! निद्दयत्तं चिय, णेच्छंता विडसणं पि नेच्छामो ।
निवमेच्छछगलसुरकुड-मतामते लिंपभक्खणता ॥ १७८॥

हे चोदक ! निर्दयतामेव नेच्छन्तो वयं विदशनमपि नेच्छामः, विविधं दशनं भक्षणं विदशनं, लीला इत्यर्थः। म्लेच्छद्वयदृष्टान्तं वर्णयति-"जहा एगस्स रन्नो दो मेच्छा ओलग्गगा, तेण रन्ना तेसिं मेच्छाणं तुट्ठेण दो सुरकुडा दो य छगला दिण्णा। ते तेहि य तुट्ठा, तत्थ एगेण छगलो गलप्पहारेणं मारिऊण खाइओ दोहिं तिहिं। बितिओ एक्केक्कं अंगं छेत्तुं खायति, तं पि सो छेदे थाम लोणेण आसुरीहिं वा छगणेण वा लिंपइ। एवं तस्स छगलस्स जीवंतस्सेव गाताणि घेत्तुं खइयाणि, मतो य पढमस्स एगप्पहारेण एक्को वधो। बितियस्स जत्तिएहिं छेदेहिं मरति तत्तिया वधा, लोगे य पावो गणिज्जति। एवं जेण पलबस्स एक्को पक्खेवो कओ, तस्स एकं मासियं, जो विडसंतो खायति तस्स तत्तिया पच्छित्ता घणचिक्कणाए य पारितावणियाए किरियाए वट्टति। विउसणं णाम-आसादेंतो थोवं खायति।" अत एवाऽऽह-'निवमेच्छ' इत्यादि। कस्यचिद् नृपस्य द्वौ म्लेच्छाववलगकौ, तेन तुष्टेन तयोः छगलकौ सुराकुटौ च दत्तौ, तत्रैकेन छगलकस्य मृतस्य द्वितीयेन पुनरमृतस्यैवैकैकमङ्गं छित्त्वा लवणाऽऽदिभिरालिप्य भक्षणं कृतमिति।

किं च-

अच्चित्ते वि विदसणा, पडिसिद्धा किमु सचेयणे दव्वे ?।
कारणें पक्खेवम्मि तु, पढमो तइओ अ जयणाए ॥१७९॥

अचित्तेऽपि द्रव्ये विदशना प्रतिषिद्धा, किं पुनः सचेतने द्रव्ये ?, सचित्तं प्रलम्बं सुतरां विदशनतया न भक्षणीयमिति भावः। यत्र पुनः कारणे सचित्तं मुखे प्रक्षिपति, तत्राऽपि प्रथमभङ्गः एकग्रहणैकप्रक्षेपरूपः, तृतीयो भङ्गस्त्वनेकग्रहणैकप्रक्षेपरूपो यतनया सेवितव्यः।

अथानन्तकायस्य वर्जनेति द्वारम्। यतः प्रथमतो द्वारगाथामाह-

पायच्छित्ते पुच्छा, उच्छुकरणमहिड्डिदारुयथली य ।

दिट्ठंतो चउत्थपदं, विकड्डुभ पलिमंथणाचिन्नं ॥१८०॥

प्रथम प्रायश्चित्ते पृच्छा कर्त्तव्या, तत इक्षुकरणेनेक्षुवाटेन, महर्द्धिकेन राज्ञा ( दारु त्ति ) दारुभारेण स्थल्या च देवद्रोण्या दृष्टान्तः कर्त्तव्यः। चतुर्थं द्रव्यतो भावतोऽपि भिन्नमिति यत्पदं तत्र त्रीणि द्वाराणि-विकड्डुभं, परिमन्थः, अनाचीर्णमिति समासार्थः ।

अथ विस्तरार्थमाह-

चोएइ अजीवत्ते, तुल्ले कीस गुरुगो अणंतम्मि ।
कीस य अचेयणम्मी, पच्छित्तं दिज्जए दव्वे ? ॥१८१॥

शिष्यो नोदयति-भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽभिन्नं,भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽपि भिन्नमिति तृतीयचतुर्थयोर्भङ्गयोः परीत्ते अनन्ते च अजीवत्वे तुल्येऽपि कस्मात् अनन्ते गुरुमासः, परीत्ते लघुमासो दीयते ?,कस्माच्चाचेतने द्रव्ये परीत्ते अनन्ते वा जीवोपघातं विनाऽपि प्रायश्चित्तं दीयते ?। अपरं च रागद्वेषवन्तो यदचेतने परीत्ते मासलघु, अनन्ते अचेतनेऽपि मासगुरु प्रयच्छन् ।

तत्र यत्तावन्नोदितं कस्मात्परीत्ते मासलघु, अनन्ते मासगुरु, तद्विषयं समाधानमाह-

साऊ जिणपडिकुट्ठो, अणंतजीवाण गायनिप्फन्नो ।
गेहीपसंगदोसा, अणंतकाए अतो गुरुगो ॥ १८२ ॥

परीत्तादनन्तकाय स्वादुः स्वादुतरः, तथा जिनैस्तीर्थकरैः प्रतिकुष्टः।कारणेऽपि परीत्तं ग्रहीतव्यं नानन्तमिति जिनोपदेशात्। अनन्तानां च जीवानां च गात्रेण स निष्पन्नः सुस्वादुत्वाच्चाधिकतरा तत्र गृद्धिर्भवति,तस्याश्च प्रसङ्गेनानेषणीयमपि गृह्णीयादित्यादयो बहवो दोषा अतोऽनन्तकाये अचित्तेऽपि गुरुको मासः प्रायश्चित्तम् । एवं च द्रव्यानुरूपं प्रायश्चित्तं ददतामस्माकं रागद्वेषावपि दूरापास्तप्रसराविति । यच्चोक्तं कस्मादचित्ते प्रायश्चित्तं प्रयच्छतेति, तत्राऽपि समाधीयते-अनवस्थाप्रसङ्गनिवारणार्थं, सजीवग्रहणपरिहारार्थं वाऽचित्तेऽपि प्रायश्चित्तप्रदानमुपपन्नमेव ।

तथा चात्राऽऽचार्यो इक्षुकरणदृष्टान्तमुपदर्शयति-

न वि खाइयं नावि वतिं, न गोणपहियाइए निवारेइ ।
इतिकरणभईछिन्नो, विवरीए पसत्थुवणओ य ॥१८३॥

" एगेण कुडुंबिणा उच्छुकरणं रोवियं, तस्सपरपेरंतो न वि खाइया न वि वईए फलिहियं,न वि गोणाई निवारेइ,नावि पहिए खायंते वारेइ, ताहे तेहिं गोणाईहिं अवारिज्जमाणेहिं तं सव्वं उच्छाइयं, एवं करेंतो सो कम्मकरणे भईए छिन्नो, जं च पराइयं खित्तं वावि तेण वुत्तं-पत्तियं ते दाहं ति तं पि दायव्वं। एवं सो उच्छुकरणे विणट्ठे मूले छिन्ने जं जस्स देयं तं अदिंतो बद्धो विणट्ठो य। एस अपसत्थो। अन्नेण वि उच्छुकरणं कयं,सो विवरीतो भाणियव्वो,खाइयादि सव्वं कयं,जे य गोणाई पडंति ते तहा अन्ने वि न ढुक्कंति। एस पसत्थो।"अथाक्षरार्थः-कश्चित् कुटुम्बी इक्षुकरणं रोपयित्वा नापि खानिकां नापि वृतिं कृतवान् ,न वा गोपथिकाऽऽदीन् खादतो निवारयति.इत्येवं कुर्वन् इक्षुकरणस्य संबन्धिनी या भृतिः कर्मकराऽऽदिदेय द्रव्यं,तया छिन्नस्त्रुटितः सन् विनष्टः । एतद्विपरीतश्च प्रशस्तदृष्टान्तो वक्तव्यः। उपनयश्च द्वयोरपि दृष्टान्तयो र्भवति ।

स चाऽयम्-

को दोस दोहि भिन्ने, पसंगदोसेण अणरुई भत्ते ।
भिन्नाभिन्नगहणे, न तरइ सजिए वि परिहरिउं ॥१८४॥

कश्चिन्निर्द्धर्मा प्रलम्बानि गृहीतुकामः को दोषः स्यात् द्वाभ्यां द्रव्यभावाभ्यां भिन्ने प्रलम्बे गृह्यमाणे इति परिभाव्य द्रव्यभावभिन्नानि प्रलम्बान्यानीतवान् । यदि च-तस्य प्रायश्चित्तं न दीयते तदा स निर्विशङ्कं भूयो भूयस्तानि गृह्णाति, ततश्च लब्धप्रलम्बरसाऽऽस्वादस्य प्रसङ्गदोषेण तैः प्रलम्बैरलभ्यमानैस्तस्य भक्ते अरुचिररोचको भवति, ततो यानि भावतो भिन्नानि द्रव्यतोऽभिन्नानि तेषां ग्रहणे प्रवर्तते, यदा तान्यपि न लभते तदाऽसौ प्रलम्बरसगृद्धः सजीवान्यपि प्रलम्बानि न शक्नोति परिहर्तुमिति । विशेषयोजना त्वेवम्-कुटुम्बिस्थानीयः साधुः, इक्षुकरणस्थानीयं चारित्रं, परिखास्थानीया अचित्तप्रलम्बाऽऽदिनिवृत्तिः,वृतिस्थानीया गुर्वाज्ञा, गोपथिकाऽऽदिस्थानीया रसगौरवाऽऽदयः, तैरुपद्रूयमाणं प्रलम्बग्राहिणश्चारित्रमचिरादेव विनश्यति,येनाऽसौ कर्षक एकभाविकं मरणं प्राप्तस्तथाऽयमप्यनेकानि जन्ममरणानि प्राप्नोतीत्येष अप्रशस्त उपनयः। प्रशस्तः पुनरयम्-यथा तेन द्वितीयकर्षकेण कृतं सर्वमपि परिखाऽऽदिकम् , उत्त्रासिता गवादयः, रक्षितं स्वक्षेत्रं, संजातोऽसावैहिकानां कामभोगानामाभागी, एवमत्रापि केनाऽपि साधुना द्रव्यभावभिन्नं प्रलम्बमानीतमाचार्याणामालोचितं तैराचार्यैः स साधुरत्यर्थं खरण्टितः ।

ततश्च-

छड्डाविय कयदंडे, ण कमेति मती पुणो वि तं घेत्तुं ।
न य से वड्ढइ गेही, एमेव अणंतकाए वि ॥१८५॥

स साधुराचार्यैः प्रलम्बानि छर्दापितः त्याजितः, प्रायश्चित्तदण्डश्च तस्य कृतः, ततश्च छर्दापितकृतदण्डस्य पुनरपि तत्प्रलम्बजातं गृहीतुं मतिर्न क्रमते नोत्सहते । न च नैव ( से ) तस्य प्रलम्बे गृद्धिर्वर्द्धते, ततश्चाऽसौ विरतिरूपया परिखया गुर्वाज्ञारूपया वृत्त्या परिक्षिप्तमिक्षुकरणकल्पं चारित्रं रसगौरवाऽऽदिगोपथिकैरुपद्रूयमाणं सम्यक् परिपालयितुमीष्टे, जायते चैहिकाऽऽमुष्मिककल्याणपरम्पराया भाजनमेवं तावत्प्रत्येके भणितम् ,अनन्तकायेऽप्येवमेव द्रष्टव्यमिति ।

अथ महर्द्धिकदारुभरदृष्टान्तद्वयमाह-

कन्नंतेपुर ओलो-यणेण अनिवारियं विणट्ठं तु ।
दारुभरो य विलुत्तो, नगरद्दारे अवारिंतो ॥ १८६ ॥
वितिएणोलोयंती, सव्वा पिंडित्तु तालिता पुरतो ।
भयजणणं सेसाण वि, एमेव य दारुहारी वि ॥१८७॥

महिड्ढिओ. राया भण्णइ-तस्स कन्नंतेपुरं वायायणेहिं ओलोएइ तं न कोऽवि वारेइ, ताहे तेणं पसंगेणं निग्गंतुमाढत्ताओ तह वि ण को वि निवारेइ, पच्छा विडपुत्तेहिं समं आलावं काउमाढत्ताओ। एवं अवारिज्जंतिओ विणट्ठाओ। दारुभरदिट्ठंतो-एगस्स सेट्ठिस्स दारुभरिया भंडी पविसति, नगरद्दारे एकं दारुअं सयं पडिय तं गेण्हंतं पासित्ता न वारियं ति काउ अन्नेण चेडरूवेण भंडीओ चेव गहियं, तं अवारिज्जमाणं पासित्ता सव्वो दारुभरो विलुत्तो लोगेणं । एते अपसत्था। इमे पसत्था—वितिएणं अंतेपुरपालेणं एगा ओलोयंती

दिट्ठा, ताहे तेण सव्वाओ पिंडित्ता तासिं पुरओ सा तालिता, ताहे सेसियाओ वितीयाओ ए पलोयंति । एवं अंतेउरं रक्खियं । एवं पउमदारुहारी वि पिट्टित्ता दारुभरो वि राक्खितो । " तथा-उच्चरगमनिका-कन्याऽन्तःपुरमवलोकनेन वातायनेनावलोकनागमनिवारितं मत् क्रमेण विद्धपुत्रै सार्द्धमालापकरणादिनष्टम् । एवं दारुभरोऽपि, नगरद्वारे दारूणि गृह्णाति, चेटरूपाण्यचारयति शाकटिके सर्वोऽपि विलुप्तेमुपित । द्वितीयेन पुनरन्तःपुरपालकेनैका कन्यका अवलोकमाना दृष्टा तत सर्वा अपि कन्यका पिण्डीकृत्य तस्या पुरतस्ताडिता, यथा शेषाणामपि भयजननं भवति । एवमेव च दारुहार्यपि प्रथम कुट्टितो यथा शेषा बिभ्यतीति ।

स्थलीदृष्टान्तमाह-

थलगोणि मयं मुयभ-क्खणेण लद्धपसरा थलिं तु पुणो ।
वातेसुं वितिएहिउ, कोट्टगवंदिग्गहनियत्ती ॥१८८॥

थली नाम देवद्रोणी ततो गावीण गोयरं गयाए एक्का जरग्गवी मया, सा पुलिंदेहिं सय मय त्ति खइया, कहियं गोवालएहिं देवद्रोणीपरिचारगाणं । ते भणंति-जइ खइया नाम ता खइया । पच्छा ते दप्पगेण अवारिज्जंता अप्पणा चेव मारेउमारद्धा, पच्छा तेहिं लद्धपसरेहिं थली चेव घातिता । एस अपसत्थो । इमो पसत्थो-तेहिं च गावीए गोयरं गयाणं एक्का मया ता पुलिंदेहिं खइया, गोवालेहिं सिट्टं परिचारगाणं, तेहिं गंतूणं विइयदिवसे तं कोट्टं भग्गं मा पसंगं काहिंति त्ति काउं तत्थ वदिग्गहो कओ । "अक्षरार्थ -स्थलीसंबन्धिनीनां गवा गोचरगतानामेका जरद्गवी स्वयं मृता तस्या भक्षणेन लब्धप्रसङ्गा पुलिन्दा स्वयमेवाऽऽगम्य स्थलीं घातितवन्त । द्वितीयैः पुनर्देवद्रोणीपरिचारकैः कोट्टकं पुलिन्दपल्ली तरुर्वा भग्न मा भूत्प्रसङ्ग इति कृत्वा तेषां पुलिन्दाना वन्दिग्रहणे निवृत्ति कृता । उपनययोजना-" कोदोसो दोहि भिन्ने, पसंगदोसेण अगए भुत्ते । " इत्यादि प्रागुक्तानुसारेण सर्वमपि द्रष्टव्या ।

अथ " विकडुभ-पलिमथद्वारे " व्याख्यानयति-

विकडुभयमंगणे टी-हगोयरं एसणं व पेल्लिज्जा ।
निप्पिमिय सोंडनायं, मुग्गछिवाडीए पलिमंथो ॥१८९॥

इह प्रलम्बरसभिन्नदाढतया प्रलम्बैर्विना केवल कूरो यदा न प्रतिभासते, ततोऽन्यस्मिन् भक्तपाने लब्धेऽपि विकडुभं शालनकं, तन्मार्गयन्नलभमानो दीर्घ गोचरं करोति, एषणीयं वा अलभमानोऽनेषणीयं विकडुभं गृह्णन्नेषणां प्रेरयेत् । अत्र च निप्पिशितः पिशितवर्जी शौण्डो मद्यपो ज्ञातम् उदाहरणम् ' जहा एगो अमंसभक्खी पुरिसो, तस्स य मज्जपाएहिं सह संसग्गो,अन्नदा तेहिं भणिओ-मज्जे णिज्जीवे को दोसो, ते हि य सो सवह गाहितो, तओ लज्जमाणो एगते परेण आणीय पिवइ पच्छा लद्धपसरो बहुजणमज्झे वीहीए वि चत्तलज्जो पाउमाढत्तो, तेसिं पुण मस विलंको उवदंस इत्यर्थ । इयरस्स पुण चिब्भिडवाण यपपड गाईणि भाणिय सव्वकालं न भवति, पुणो तेहिं भणियं-कोरस मज्जपाए विणा विलंकेणं ?, परमारिए य मंसे को दोसो खाइउ । इम तत्थ विसेसे वह गाहितो परमारिए नत्थि दोसो त्ति खायति पच्छा लद्धरसो कढिणचित्तीभूतो निद्धंधसपरिणामो अप्पणा वि मारेउं खायति निस्सगो जाओ, जहा सो सोंडओ विलंकेण विणा न सक्केइ पच्छिउं एवं तस्स वि पलंबेहिं विणा कूरो न परिहाइ, तस्स एरिसी गेही तेसु जायइ,जीए एगदिवसमवि तेहिं विणा न सक्केइ अत्थितुं, पच्छा सयियं चेव रुक्खहितो गिएहइ त्ति तथा मुग्गछिवाडी कोमला मुग्गफली, उपलक्षणत्वादिक्षुखण्डतिन्दुकाऽऽदिकमपि यत्तुच्छौषधिरूपं तस्मिन् भक्ष्यमाणे परिमन्थ सूत्रार्थव्याघातो भवति,न पुन काचित् तृप्तिमात्रा संजायते । अपि च-कदाचिदात्मविराधनाऽपि भवेत् । तथा चात्र दृष्टान्त -"एक्का अविरइया मुग्गछेत्ते कोमलाओ मुग्गफलिवा खायती रन्ना आहेडएण वच्चतेण दिट्ठा, एतेण वि दिट्ठा सा, तहेव तस्स कोउयं जाय, केनियाओ पुण खडिया होज त्ति पेट्ट से फाडिय जाव नवर दिट्ठ फणरसो, एवं विराहणा होज्जा । गते विकडुभ-परिमन्थद्वारे ।

अथानाचीर्णद्वारमाह-

अविअ हु भव्वपलंबा, जिणगणहरमाइएहिँ णाइन्ना ।
लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेण ते एवं ॥१९०॥

तथा अपिचेति दूषणाभ्युच्चये,पूर्वोक्त दोषास्तावत् स्थिता एव, दूषणान्तरमस्तीति भाव । हु निश्चित, सर्वाणि सचित्ताचित्ताऽऽदिभेदभिन्नानि मूलकन्दाऽऽदिभेदाद्दशविधानि वा प्रलम्बानि जिनैस्तीर्थकरैर्गणधरैश्च गौतमाऽऽदिभिरादिग्रहणेन जम्बूप्रभवशय्यंभवाऽऽदिभि स्थविरैरप्यनाचीर्णान्यनासेवितानि, लोकोत्तरिकाश्च ये केचन धर्मा समाचारास्ते सर्वेऽप्यनुगुरवो यद्यथा पूर्वगुरुभिराचरितं तत्तथैव पाश्चात्यैरप्याचरणीयमिति गुरुपारम्पर्यव्यवस्थया व्यवहरणीया इति भाव । येनैव तेन तानि प्रलम्बानि वर्ज्यानि परिहर्त्तव्यानीति । वृ० १ उ० २ प्रक० । ( अत्र विधि ' अणाइण्ण ' शब्दे प्रथमभागे ३०५ पृष्ठे गत. ) अयं सर्वोऽपि विधिर्निर्ग्रन्थानाश्रित्योक्त ।

(१३) अथ निर्ग्रन्थीरधिकृत्यामुमेवातिदिशन्नाह-

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
सविसेसतरा दोसा, तासिं पुण गिण्हमाणीणं ॥१९१॥

एष एव सर्वोऽपि गम प्रकारो निर्ग्रन्थीनामपि भवति ज्ञातव्य, तासां पुनर्गृह्णतीना प्रलम्बन हस्तकर्मकरणाऽऽदिना सविशेषतरा दोषा वक्तव्या इति ।

सूत्रम्-

कप्पइ निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए ॥ २ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरं भिन्नं भावतो व्यपगतजीवं द्रव्यतो भिन्न वा, तृतीयचतुर्थभङ्गवर्त्तीत्यर्थ , सूत्रेणानुज्ञातं, यथा-आम भिन्न कल्पते,अर्थेन पुन प्रतिषेधयति-न कल्पते । आह-यदि न कल्पते तत किं सूत्रे निवद्धं कल्पत इति ? उच्यते-

जइ वि निबंधो सुत्ते, तह वि जईणं न कप्पई आमं ।
जइ गिण्हइ लग्गति सो,पुरिमपदनिवारिए दोसे ॥१९६॥

यद्यपि सूत्रे निबन्धः कल्पते भिन्नमितिलक्षणस्तथापि यतीना न कल्पते आम भिन्नमपि यदि गृह्णाति, ततः स पूर्वपदे पूर्वसूत्रे निवारिता ये दोषास्तान् लगति प्राप्नोति ।

गुरुराह-

अद्धाणे जयणाए, परूवणं वक्खती उवरि सुत्ते ।
ओमे वुवरिं वोच्छइ, रोगायंकेसिमा जयणा ॥ २१८ ॥

अध्वनि गच्छता या प्रलम्बग्रहणे यतना सामाचारी, तस्याः प्ररूपणमुपरि अध० सूत्रे इहैवोद्देशके वक्ष्यति, अवमेऽपि यः कोऽपि विधिः स सर्वोऽप्युपरि इहैव प्रलम्बप्रकृते वक्ष्यते । अत्र पुनर्यत् ग्लानत्वद्वारं तदभिधीयते । तच्च ग्लानत्वं द्विधा-रोगः, आतङ्कश्च । तयोः रोगाऽऽतङ्कयोर्द्वयोरपीयं वक्ष्यमाणलक्षणा यतना ।

अत्र तिष्ठतु तावद्यतना, रोगाऽऽतङ्कयोरेव कः परस्परं विशेषः ?, उच्यते-

गंडीकोढखयाऽऽदी, रोगो कासाइओ य आयंको ।
दीहरुया वी रोगो, आतंको आसुघाती उ ॥ २१९ ॥

गण्डी गण्डमालाऽऽदिक , कुष्ठं पाण्डुरोगः, गलत्कुष्ठं वा, क्षयो राजयक्ष्मा, आदिशब्दात् श्लीपदश्वयथुगुल्माऽऽदिकः सर्वोऽपि रोग इति व्यपदिश्यते । कासाऽऽदिकस्तु आतङ्कः, आदिग्रहणेन श्वासशूलहिक्काज्वरातिसाराऽऽदिपरिग्रहः । अथवा-दीर्घकालभाविनी सर्वाऽपि रुक् रोग उच्यते । यस्तु आशुघाती विसूचिकाऽऽदिक० स आतङ्कः ।

अथ सामान्येन ग्लानत्वे विधिमाह-

गेलण्णं पि य दुविहं, आगाढं चेव नो अ आगाढं ।
आगाढे कमकरणा, गुरुगा लहुगा अणागाढे ॥ २२० ॥

ग्लानत्वमपि द्विविधम्-आगाढं चैव,नो आगाढम् , अनागाढमित्यर्थः । आगाढे यदि क्रमेण पञ्चकपरिहाण्या करोति ततश्चत्वारो गुरवः, अनागाढे तु यदि आगाढकरणीयं करोति तदा चत्वारो लघवः ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

आगाढमणागाढं, पुव्वुत्तं खिप्पगहणमागाढे ।
फासुगमफासुगं वा, चउ परियट्टंतऽणागाढे ॥ २२१ ॥

आगाढम्,अनागाढं च पूर्वोक्तम्-"अहिडक्कविसविसूई"इत्यादिना पूर्वमेव व्याख्यातं तत्राऽऽगाढे शूलविसूचिकाऽऽदौ ग्लानत्वे समुत्पन्ने प्राशुकम्, अप्राशुकं वा-एषणीयमनेषणीयं वा क्षिप्रमेव गृहीतव्यम्,आगाढे त्रि०परिवर्तनरूपया, पञ्चकपरिहाणिरूपया वा यतनया क्रमेण गृह्णन्ति, ततश्चत्वारो गुरव , अनागाढे पुनस्त्रिकृत्वः परिवर्तने कृतेऽपि यदि शुद्धं न प्राप्यते ततश्चतुर्थे परिवर्ते पञ्चकाऽऽदियतनया अनेषणीयं गृह्णाति । अथ " अनागाढे त्ति " परिवर्तन पञ्चकपरिहाणिं वा न करोति ततश्चतुर्लघव० ।

अथ ग्लानत्वविषया यतनामाह-

विज्जे पुच्छा जयणा, पुरिसे लिंगे य दव्वगहणे य ।
पिट्ठमपिट्ठे आलो-यणा य पन्नवण जयणा य ॥२२२॥

प्रथमतो वैद्यस्वरूपं वक्तव्यं, ततस्तत्पार्श्वे यथा प्रच्छने यतना क्रियते तथा वाच्य,पुरुष आचार्याऽऽदिकोऽभिधातव्य , लिङ्गेन वा यथा प्रलम्बग्रहणं भवति यथा वक्तव्य, द्रव्यग्रहणे वा लेपाऽऽदिद्रव्योपादानमभिधानीयम् , पिष्टस्य च प्रलम्बग्रहणे विधिर्वक्तव्य , तत आलोचना प्रज्ञापना यतना चाऽभिधातव्या । इति निर्युक्तिगाथासमासार्थ ।

अथ तस्या एव भाष्यकृत् व्याख्यानमाह-

विज्जऽट्ठग एगदुगाऽऽ-दिपुच्छणे जा चउक्कउवएसो ।
इह पुण दव्वपलंबा,तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाई ॥२२३॥

वैद्याष्टकमष्टौ वैद्याः-" संविग्गमसंविग्गा २, लिंगी ३ तह सावए ४ अहाभद्दे ५ । अणभिग्गह मिच्छे ६ तर ७, अट्ठमए अन्नतित्थी य ८ ॥ १ ॥ " इति गाथोक्ताः प्रष्टव्याः । एते च मासकल्पप्रकृते ग्लानद्वारे व्याख्यास्यन्ते । एतेषां च प्रच्छने इयं यतना-वैद्यस्य समीपे एकः प्रच्छको न गच्छति, मा यमदण्ड आगत इति निमित्तं ग्रहीत् । द्वावपि न व्रजतः, यमदूतावेताविति मननात् । आदिशब्दात् चत्वारोऽपि न व्रजन्ति नीहरणकारिण एते इति कृत्वा, यत एवं ततस्त्रयः पञ्च वा गन्तव्या इति, इत्यादिको विधिस्तावद् ज्ञेयो यावत् किमस्मिन् रोगे प्रतिकर्तव्यमिति पृष्टः सन् स वैद्यश्चतुष्कोपदेशं दद्यात् । तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । एते ग्लानद्वार एव व्याख्यास्यन्ते । इह पुनर्द्रव्यतः प्रलम्बानि पुरुषाश्च त्रय आचार्याऽऽदय आचार्योपाध्यायभिक्षुरूपा द्रष्टव्या इति । तत्र वैद्यः पृष्टः कदाचिदेवमभिदध्यात्-यादृशं रोगं यूयं कथयत ईदृशस्योपशमनार्थमिदं वनस्पतिजातं ग्लानस्य दातव्यम् ।

स च वनस्पतिर्यो यस्य रोगस्योपशमनाय प्रभवति तद्विषयं तमभिधित्सुराह-

पउमुप्पले माउलिंगे, एरंडे चेव निंबपत्ते य ।
पित्तुदए संनिवाए, वायकोवे य सिंभे य ॥ २२४ ॥

पित्तोदये पद्मोत्पलमौषधं सन्निपाते मातुलिङ्गं बीजपूरकं,वातप्रकोपे एरण्डपत्राणि, (सिंभ त्ति) श्लेष्मोदये निम्बपत्राणि ।

अथ यदुक्तम् -" तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाइ त्ति " तदेतद्भावयति-

गणि वसभ गीय परिणा-मगा य जाणंति तं जहा दव्वं ।
इयरेसिं वाउलणा, नायंसि य भंडिपोउवमा ॥ २२५ ॥

योऽसौ ग्लान स गणी आचार्यो, वृषभ उपाध्यायो भिक्षुश्चेति त्रयः पुरुषा । अत्र भिक्षुर्द्विधा-गीतार्थोऽगीतार्थश्च, परिणामकोऽपरिणामको वा तत्र गणिवृषभगीतार्थभिक्षूणां त्रयाणां पुरुषाणां प्राशुकैषणीयेन द्रव्येणाऽऽलेपाऽऽदिना कर्तव्यं, यदा प्राशुकमेषणीयं वा न प्राप्यते तदा तदितरेणापि कर्तव्यम् । एतेषां च यद् यथा गृहीतं तत्तथैव निवेद्यते, निवेद्यन्ते च ते तथैवाऽऽगमप्रामाण्येन सचित्तमचित्तं वा शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं यद्यस्मिन्नवसरे कल्पते तद्यथावत् जानन्ति । यस्तु अगीतार्थ पर परिणामक सोऽपि यद्यथा क्रियते तत्तथैव, परिणामकत्वात्कथितं सज्जानीते, इतरे अपरिणामका सन्तो ये अगीतार्थास्तेषां न कथ्यते । यथा-अप्राशुकमनेषणीयं वा गृहीतं, किं तु तेषां व्याकुलना क्रियते । यथा अमुककुलगृहादात्मार्थं कृतमानीतमिदम् ; अथ कथमपि तैर्ज्ञातं, यथा-एतदप्राशुकमनेषणीयं वा ततो ज्ञाते सति भण्डी गन्त्री पोत० प्रवहणं, तदुपमा कर्तव्या । यथा-

" जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा उ करेति कज्जं ।
जा दुव्वला सीलविया वि संती,
न तं तु सीलंति विसिण्णदारुं " ॥ १ ॥

शीलाप्यते समारच्यते इत्यर्थ ।

काले जं ण खनियं। एवं तेहिं फाडित्ता खइओ। तत्थ जेहिं खानियं ते साहापारगेण भणिता-इतो णित्थिन्ना समाणा पच्छित्तं वहेज्जह, तत्थ जो सो परिणामगो तेण अप्पसागरियं एगम्स अज्झावगस्स आलोइयं तेण सुद्धो त्ति भणियं पंचगव्वं वा दिन्नं। तत्थ जो सो अपरिणामओ सो णित्थिन्नो समाणो सुणगक त्ति सिरे काउ माहणमिलिता चाउव्वेज्जस्स पादेहिं पडित्ता साहति,सो चाउव्वेज्जेण धिद्धिकतो णिच्छूढो। जो सो अइपरिणामगो णत्थि किंचि अभक्खं अपेयं वा अतिपरिणामपसंगेण सो मायंगचंडालो जातो।" अथाक्षरार्थ-चत्वारो मरुका विदेशं प्रस्थितास्तत. शाखापारगो वेदाध्ययनपारगतो मरुकस्तेषा मिलितस्तेन च शुनकः सार्द्धं गृहीत., अरण्ये च गताना सार्थस्य वधा, मोषणं, ततस्तैर्मरुकैरेका दिशं गृहीत्वा पलायितै. तृतीयदिने पूनिकुथितं मृतकडेवराऽऽकीर्णमुदकं दृष्टं, शाखापारगो वक्ति-एनं शुनकं हत्वा भक्षयाम । अत्र चैक. परिणामको, द्वौ अपरिणतौ अपरिणामकौ, अन्तिमश्चतुर्थोऽतीव परिणामक प्रथम. शाखापारगवचन श्रद्दधते,द्वितीयः पुनरपरिणात. कर्णौ स्थगितवान्,न शृणुम एनां वार्तामपीति कृत्वा मृत.। तृतीयोऽप्यपरिणतश्चिन्तयति-एतदेतस्यामप्यवस्थायामकृत्यं परं किं क्रियते दु सहं मर्तुमिति शुनकभक्षणं कर्तुं समारब्ध.। चतुर्थस्त्वतिपरिणामक -किमियत. कालात् शिष्टं कथितमित्युक्त्वा अधिकं करोति, गोगर्दभाऽऽदिमासान्यपि भक्षयतीति। शाखापारगेण च ते भणिता-अटव्या उत्तीर्णा प्रायश्चित्त वहध्वं, तत्र य प्रथम परिणामक स यथालघुकप्रायश्चित्तेन शुद्धो, द्वितीयस्तु मृत एव, तृतीयो निर्धाटितश्चातुर्विद्यै. पङ्क्तेर्बहिष्कृत इत्यर्थ.। चतुर्थश्चातिप्रसङ्गात् नास्ति किञ्चिदभक्ष्यमपेयं चेति श्वपाकरूपश्चण्डालो जात इति।

अथोपयोजनमाह-

जह पारगो तह गणी, जह मरुगा एव गच्छवासी उ ।
सुणगसरिसा पलंबा, मडतोयसमं दगमफासं ॥२१२॥

यथा शाखापारगस्तथा गणी आचार्यो, यथा चत्वारो मरुका एवमसुना प्रकारेण गच्छवासिन साधव , शुनकसदृशान्यत्र प्रलम्बानि,विप्रकृष्टाध्वाऽऽदिकारण विना साधूना मभक्षणीयत्वात्। मृनतोयसमं मृतकडेवराकुऽऽलोदकतुल्य मप्रासुकोदकं ज्ञातव्यम्, अपेयत्वात्।

अथ यदुक्तम्-" एवमिहं अद्धाणो, गेलन्ने तहेव ओमम्मि।" तत्राध्वद्वारं विवृणोति-

उद्ददरे य सुभिक्खे, अद्धाण पवज्जणं तु दप्पेणं ।
लहुगा पुणऽद्धपदे, ज वा आवज्जती तत्थ ॥२१३ ॥

ऊर्द्ध दर पूर्यते यत्र काले तदूर्द्धदरं, प्राकृतशैल्या उद्ददरं, ते दरा द्विविधा -धान्यदरा उदरदराश्च। धान्यानामाधारभूता दरा धान्यदरा, कटपल्ल्यादय उदराण्येव दरा उदरदरा.।ते उभयेऽपि यत्र पूर्यन्ते तदूर्द्धदरम्।तथा-सुभिक्षं भिक्षाचरै सुलभभिक्षम्। अत्र चतुर्भङ्गी-ऊर्द्धदरं सुभिक्षं च १, ऊर्द्धदरं न सुभिक्षं२,सुभिक्ष नोर्द्धदरम्३,नोर्द्धदरं नो सुभिक्षम् ४। तत्र प्रथमभङ्गे तृतीयभङ्गे वा यत्राध्वानं दर्पेण प्रतिपद्यते तदा यद्यपि न मूला त्तरगुणविराधनाऽऽदिक किमप्यापद्यते, तदापि शुद्धपदे चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम्,कस्माद्दर्पेणाध्वानं प्रतिपद्यते इति?। यद्वा-आत्मविराधनाऽऽदिकं यत्राऽऽपद्यते तत्र तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् अर्थादापन्नं शेषभङ्गद्वये दुर्भिक्षत्वादध्वगमनं प्रतिपत्तव्यमिति प्रथमतृतीययोरपि भङ्गयो. कारणतो भवेदध्वगमनम्।

आह-किं तत्कारणम्?, उच्यते-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए वऽगाढे ।
गेलण्ण उत्तिमट्ठे, नाणे तह दंसणचरित्ते ॥ २१४ ॥

विवक्षितदेशे आगाढमशिवमवमौदर्यं राजद्विष्टं भयं वा प्रत्यनीकाऽऽदिसमुत्थमागाढशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते तथा तत्र वसतां ग्लानत्वं भूयो भूय उत्पद्यते । यद्वा-देशान्तरे ग्लानत्वं कस्यापि समुत्पन्नं. तस्य प्रतिजागरणं कर्त्तव्यम्। उत्तमार्थं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य निर्यापनं कार्यम्। तथा विवक्षिते देशे ज्ञानं वा दर्शनं चारित्रं वा नोत्सर्पति।

एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं ।
उवगरण पुव्वपडिले-हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ २१५ ॥

एतैरनन्तरोक्तै कारणैरागाढै. समुत्पन्नै सद्भिर्गम्यते, गच्छद्भिश्चाध्वप्रायोग्यमुपकरणं गुलिकाऽऽदिकं गृहीत्वा सार्थे पूर्वमेव प्रत्युपेक्षणीयस्तेन पूर्वप्रत्युपेक्षितेन सार्थेन सार्द्धं गन्तव्यम्।

अत्र विधिमाह-

अद्धाणं पविसंतो, जाणगनीसाए गाहए गच्छं ।
अह तत्थ न गाहेज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥२१६॥

अध्वान प्रविशन्नाचार्यो ज्ञायको गीतार्थस्तन्निश्रया गच्छं सकलमप्यध्वकल्पस्थितिं ग्राहयति। अथ तत्राध्वप्रवेशेऽध्वकल्पस्थितिमाचार्या न ग्राहयेयुस्ततश्चतुर्मासा गुरव. प्रायश्चित्तं भवेयुः।

स्यान्मति कथं वा गच्छमध्वकल्पं ग्राहयतीति?। उच्यते-

गीयत्थेण सयं वा, गाहइ छडितो य पच्चयनिमित्तं ।
सारिंति तं सुयत्था, पसंग अप्पच्चओ इहरा ॥ २१७॥

यद्याचार्य आत्मना केनाऽपि कार्येण व्यापृतस्ततोऽन्येनोपाध्यायाऽऽदिना गीतार्थेन,अथ न व्यापृतस्तत स्वयमात्मनैवान्यगीतार्थान् पुरत अर्द्धकल्पसामाचारीं गच्छं ग्राहयति. स च कथको ग्राहयन्नन्तरान्तरा अर्थपदजातं छर्दयन् परित्यजन् कथयति ततो ये ते श्रुतार्था गीतार्थास्ते तदर्थं यदर्थपदजात त्यक्त तत् स्मारयन्ति, यथा विस्मृतं भवनामिव तद्यैतदर्थपदमिति। किंनिमित्तमेवं क्रियते?, इत्याह-अगीर्थाना प्रत्ययनिमित्तं-यथा सर्वेऽप्येते यदेतां सामाचारीमित्थमेव जानन्ति, तत् नूनं साऽन्यैवेयमिति,इतरथा यद्येवं न क्रियते, ततस्तेषामगीतार्थाना मध्ये ये अतिपरिणतास्ते अध्वन उत्तीर्णा अपि तथैव प्रसङ्ग कुर्युः। ये त्वपरिणामकास्तेषामप्रत्ययो भवेत्, यथैते इदानीमेव स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितामवविधा स्थितिं कुर्वन्तीति शिष्यः प्राह-या काचिदध्वनि प्रलम्बग्रहणे सामाचारी तामिदानीमेव भणत।

गुरुराह-

अद्धाणे जयणाए, परूवणं वक्खती उवरि सुत्ते ।
ओमे वुवरिं वोच्छइ, रोगायंकेसिमा जयणा ॥ २१८ ॥

अध्वनि गच्छतां या प्रलम्बग्रहणे यतना सामाचारी, त स्याः प्ररूपणमुपरि अध· सूत्रे इहैवोद्देशके वक्ष्यति, अव- मेऽपि यः कोऽपि विधिः स सर्वोऽप्युपरि इहैव प्रलम्ब प्रकृते वक्ष्यते । अत्र पुनर्यत् ग्लानत्वद्वारं तदभिधीयते । तच्च ग्लानत्व द्विधा-रोगः, आतङ्कश्च । तयोः रोगाऽऽतङ्कयोर्द्वयो- रपीयं वक्ष्यमाणलक्षणा यतना ।

अत्र तिष्ठतु तावद्यतना, रोगाऽऽतङ्कयोरेव कः परस्परं वि- शेषः ?, उच्यते-

गंडीकोढखयाऽऽदी, रोगो कासाइओ य आयंको ।
दीहरुया वी रोगो, आतंको आसुघाती उ ॥ २ ६ ॥

गण्डी गण्डमालाऽऽदिक , कुष्ठं पाण्डुरोगः, गलत्कुष्ठं वा, क्षयो राजयक्ष्मा, आदिशब्दात् श्लीपदश्वयथुगुल्माऽऽदिकः सर्वोऽपि रोग इति व्यपदिश्यते। कासाऽऽदिकस्तु आतङ्कः, आदिग्रहणेन श्वासशूलहिक्काज्वरातिसाराऽऽदिपरिग्रहः । अथवा-दीर्घकालभाविनी सर्वाऽपि रुक् रोग उच्यते । यस्तु आशुघाती विसूचिकाऽऽदिक· स आतङ्कः ।

अथ सामान्येन ग्लानत्वे विधिमाह-

गेलण्णं पि य दुविहं, आगाढं चेव नो अ आगाढं ।
आगाढे कमकरणा, गुरुगा लहुगा अणागाढे ॥ २२० ॥

ग्लानत्वमपि द्विविधम्-आगाढं चैव,नो आगाढम् , अनागाढ- मित्यर्थ· ।आगाढे यदि क्रमेण पञ्चकपरिहाएया करोति तत- श्चत्वारो गुरव·, अनागाढे तु यदि आगाढकरणीयं करोति तदा चत्वारो लघव· ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

आगाढमणागाढं, पुव्वुत्तं खिप्पगहणमागाढे ।
फासुगमफासुगं वा, चउ परियट्टंतऽणागाढे ॥ २२१ ॥

आगाढम्, अनागाढं च पूर्वोक्तम्-"अहिडक्कविसविसूई"इत्या- दिना पूर्वमेव व्याख्यातं तत्राऽऽगाढे शूलविसूचिकाऽऽदौ ग्ला- नत्वे समुत्पन्ने प्राशुकम्, अप्राशुकं वा-एषणीयमनेषणीयं वा क्षिप्रमेव गृहीतव्यम्,आगाढे क्षि·परिवर्तनरूपया, पञ्चकपरि- हाणिरूपया वा यतनया क्रमेण गृह्णन्ति, ततश्चत्वारो गुरवः, अनागाढे पुनस्त्रिकृत्व· परिवर्तने कृतेऽपि यदि शुद्धं न प्राप्यते ततश्चतुर्थे परिवर्ते पञ्चकाऽऽदियतनया अनेषणीयं गृह्णाति । अथ " अनागाढे त्ति " परिवर्तन पञ्चकपरिहाणिं वा न करोति ततश्चतुर्लघव ।

अथ ग्लानत्वविषया यतनामाह-

विज्जे पुच्छा जयणा, पुरिसे लिंगे य दव्वगहणे य ।
पिट्ठमपिट्ठे आलो-यणा य पन्नवण जयणा य ॥२२२॥

प्रथमतो वैद्यस्वरूपं वक्तव्यं, ततस्तत्पार्श्वे यथा प्रच्छने य- तना क्रियते तथा वाच्यं,पुरुष आचार्याऽऽदिकोऽभिधानव्य·, लिङ्गेन वा यथा प्रलम्बग्रहणं भवति यथा वक्तव्य, द्रव्य- ग्रहणं वा लेपाऽऽदिद्रव्योपादानमभिधानीयम् , पिष्टस्य च प्रलम्बग्रहणे विधिर्वक्तव्य , तत आलोचना प्रज्ञापना यतना चाऽभिधातव्या । इति निर्युक्तिगाथासमासार्थ ।

अथ तस्या एव भाष्यकृत् व्याख्यानमाह-

विज्जऽट्ठग एगदुगाऽऽ-दिपुच्छणे जा चउक्कउवएसो ।
इह पुण दव्वपलंवा,तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाई ।२२३।

वैद्याष्टकमष्टौ वैद्याः-" संविग्गमसंविग्गा २, लिंगी ३ तह सावए ४ अहाभद्दे ५ । अणभिग्गह मिच्छे ६ तर ७, अट्ठमए अन्नतित्थी य ८ ॥ १ ॥ " इति गाथोक्ताः प्रष्टव्याः । एते च मासकल्पप्रकृते ग्लानद्वारे व्याख्यास्यन्ते । एतेषां च प्रच्छने इयं यतना—वैद्यस्य समीपे एकः प्रच्छको न गच्छति, मा यमदण्ड आगत इति निमित्तं ग्रहीत् । द्वावपि न व्रजतः, यमदूतावेताविति मननात् । आदिशब्दात् च- त्वारोऽपि न व्रजन्ति नीहरणकारिण एते इति कृत्वा, यत एवं ततस्त्रयः पञ्च वा गन्तव्या इति, इत्यादिको विधिस्तावद् ज्ञेयो यावत् किमस्मिन् रोगे प्रतिकर्तव्यमिति पृष्टः सन् स वैद्यश्चतुष्कोपदेशं दद्यात् । तद्यथा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, का- लतो, भावतश्च । एते ग्लानद्वार एव व्याख्यास्यन्ते । इह पुनर्द्रव्यतः प्रलम्बानि पुरुषाश्च त्रय आचार्याऽऽदय आ- चार्योपाध्यायभिक्षुरूपा द्रष्टव्या इति । तत्र वैद्य· पृष्टः क- दाचिदेवमभिदध्यात्-यादृशं रोगं यूयं कथयत ईदृशस्यो- पशमनार्थमिदं वनस्पतिजातं ग्लानस्य दातव्यम् ।

स च वनस्पतिर्यो यस्य रोगस्योपशमनाय प्रभवति त- द्विषयं तमभिधित्सुराह-

पउमुप्पले माउलिंगे, एरंडे चेव निंवपत्ते य ।
पित्तुदए संनिवाए, वायक्कोवे य सिंभे य ॥ २२४ ॥

पित्तोदये पद्मोत्पलमौषधं सन्निपाते मातुलिङ्गं बीजपूरकं,वा- तप्रकोपे एरण्डपत्राणि, (सिंभ त्ति) श्लेष्मोदये निम्बपत्राणि ।

अथ यदुक्तम्-" तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाइ त्ति " तदेत- द्भावयति-

गणि वसभ गीय परिणा-मगा य जाणंति तं जहा दव्वं ।
इयरेसिं वाउलणा, नायंसि य भंडिपोउवमा ॥ २२५ ॥

योऽसौ ग्लान· स गणी आचार्यो, वृषभ उपाध्यायो भि- क्षुश्चेति त्रय· पुरुषा । अत्र भिक्षुर्द्विधा-गीतार्थोऽगीतार्थश्च, परिणामकोऽपरिणामको वा तत्र गणिवृषभगीतार्थभिक्षूणा त्रयाणां पुरुषाणां प्राशुकैषणीयेन द्रव्येणाऽऽलेपाऽऽदिना कर्त्तव्यं, यदा प्राशुकमेषणीयं वा न प्राप्यते तदा तदितरे- णापि कर्त्तव्यम् । एतेषां च यद् यथा गृहीतं तत्तथैव निवेद्यते, निवेद्यन्ते च ते तथैवाऽऽगमप्रामाण्येन सचित्तमचित्तं वा शु- द्धमशुद्धं वा द्रव्य यद्यस्मिन्नवसरे कल्पते तद्यथावत् जान- न्ति । यस्तु अगीतार्थ पर परिणामक सो·पि यद्यथा क्रियते तत्तथैव, परिणामकत्वात्कथितं सज्जानीते, इतरे अपरि- णामका सन्तो ये अगीतार्थास्तेषां न कथ्यते । यथा- अप्राशुकमनेषणीयं वा गृहीतं, किं तु तेषां व्याकुलना क्रियते । यथा अमुकगृहादात्मार्थं कृतमानीतमिदम् , अथ कथमपि तैर्ज्ञात, यथा-एतदप्राशुकमनेषणीयं वा ततो ज्ञाते सति भण्डी गन्त्री पोत· प्रवहणं, तदुपमा कर्त्तव्या । यथा-

" जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा उ करेति कज्जं ।
जा दुब्बला सीलविया वि संती,
न तं तु सीलेंति विसिन्नदारुं " ॥ १ ॥

शीलाप्यते समारच्यते इत्यर्थ ।

तथा—

"जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सीलप्पए सो उ करेइ कज्जं ।
जे दुब्बलो सीलविओ वि सन्तो न नं तु मीलेति विसिन्नदारुं ॥२"

एव त्वमपि जानीहि अहं प्रगुणीभविष्यामि, प्रगुणीभूत इद प्रायश्चित्त वोढास्मि । प्रवर स्वाध्यायवैयावृत्यतप प्रभृतिभिरधिक लाभमुपार्जयिष्यामीति तत इद प्रतिसेवस्वाकल्पनीयम् । अथैतेषामसमर्थस्ततो मा प्रतिसेवस्वेति गतं वैद्यप्रच्छनयतनापुरुषलक्षणं द्वारत्रयम् ।

अथ लिङ्गाऽऽदीनि सर्वाण्यपि द्वाराणि गाथाद्वयेन भावयति—

सो पुण आलेवो वा, हवेज्ज आहारिमं व मिस्सियरं ।
पुव्वं तु पिट्ठगहणं, विगरणजं पुव्वछिन्नं वा ॥ २२६ ॥
भावियकुलेसु गहणं, तेसऽसति सलिंगगेण्हणाऽन्नो ।
विकरणकरणाऽऽलोयण,अमुगगिहे पच्चओऽगीते ।२२७।

यो वनस्पतिभेदो व्रणाऽऽदौ पित्तोदयाऽऽदौ वा उपयुज्यते,स पुनरालेपो वा स्याद् बहि पिण्डीप्रदानाऽऽदिक इत्यर्थ । आहारिम वा बीजपूराऽऽदिकं, तच्चोभयमपि प्रथमतोऽचित्तं, तदलाभे मिश्रम् अस्याप्यभावे इतरत् सचित्तम् । अथ वा मिश्रं नाम–यदालेप आहारयितव्य च भवति इतरन्नाम–यन्नालेपो नाहारयितव्यं, तच्च स्पर्शेन स्पर्शनीयं वा स्यात् पद्मोत्पलवत् नासिकया आघ्रातव्य भवेत्पुष्पाऽऽदिवत् । एतावता द्रव्यग्रहणद्वार व्याख्यातम् । अथ पिष्टापिष्टद्वारम्–तत्राऽऽलेपाऽऽदिकं सर्वमपि यत्पूर्वं पिष्टं लभ्यते तस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्,पूर्वपिष्टस्यालाभे तृतीयेनापि भङ्गेन,तस्याप्यलाभे द्वितीयेन,तस्याप्यसति प्रथमभङ्गेन यत् पूर्वच्छिन्नं तद्विकरणं कृत्वा ग्राह्य, विविधमनेकप्रकार करणं खण्डन यस्य तद्विकरणं तत्तादृशं कृत्वाऽऽनीय पेषणीयम् । एतेन च यद् वक्ष्यमाणम् "इयरे गहण कह होज्जा ?," इति, तदेव भवेदिति प्रतिपत्तव्यम् । अथ पूर्वच्छिन्नं न लभ्यते तत आत्मनाऽपि छिन्दन्ति,तच्च पूर्वच्छिन्नं भावितकुलेषु ग्रहीतव्यम्,तत्र यानि श्राद्धकुलानि मातापितृसमानानि साधूनामपवादपदे प्रासुकाऽऽदिकं गृह्णतामनुग्राहकारीणि तानि भावितकुलान्युच्यन्ते, तेषामसति यच्चभावितकुलेषु स्वलिङ्गेन गृह्णाति ततो महानवर्णो भवति, अतस्तेष्वन्यलिङ्गेन ग्रहीतव्यम् । इति लिङ्गद्वारमपि व्याख्यातम् । अथवा भावितकुलानामभावे यानि सुप्रज्ञापनीयानि कुलानि तानि प्रज्ञाप्य मार्गयति गृह्णाति च एषा प्रज्ञापना मन्तव्या । एतानि पुन प्रथमद्वितीयभङ्गवर्त्तीनि प्रलम्बानि यत्र गृहीतानि तत्रैव विकरणानि कृत्वा आनीय गुरुसमीपे आलोचयन्ति अगीतार्थप्रत्ययनिमित्तं, यथा–अमुकस्य गृहे स्वार्थं कृतानि मया लब्धानीति एषा आलोचना । यतना तु सर्वथा पूर्वच्छिन्नानामलाभे स्वयमपि छेत्तव्यानि च प्रथम परीत्तानि, ततोऽनन्तान्यपि पूर्व स्वलिङ्गेन,तत इतरेणापि, एतच्च निर्ग्रन्थानाश्रित्य भणितम् ।

अथ निर्ग्रन्थीना विधिमतिदिशन्नाह–

एमेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि नवरि छब्भंगा ।
आमे भिन्नाभिन्ने, जाव पउमुप्पलाईणि ॥२२७॥

एष एवग मो नियमात् निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यो यावत्पद्मोत्पलाऽऽदीनि ' पउमुप्पलमाउलिंगे " इत्यादिगाथा यावत् एतच्च निर्युक्तिमङ्गीकृत्योक्तम् । भाष्यमाश्रित्य तु–' अमुगगिहे पच्चओऽगीए " इति पर्यन्तं द्रष्टव्यं, नवरं तासामाम प्रलम्बे भिन्नाभिन्नपदाभ्यां विधिभिन्नाविधिभिन्नपदसहिताभ्या षड्भङ्गा कर्त्तव्या , ते चानन्तरसूत्रे स्वस्थान एव भावयिष्यन्त ।

(१४) सूत्राणि–

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने वा पडिगाहित्तए ॥३॥ नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥४॥ कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए,से वि य विहिभिन्ने,नो चेव णं अविहिभिन्ने॥५॥

एतानि त्रीणि सूत्राणि समकमेव व्याख्यायन्ते–कल्पते निर्ग्रन्थीनां पक्वं तालप्रलम्बं द्रव्यतो भिन्न वा प्रतिगृहीतुम् , नो कल्पते निर्ग्रन्थीना पक्वं तालप्रलम्बमभिन्नं प्रतिगृहीतुम् । कल्पते निर्ग्रन्थीना पक्व तालप्रलम्बं च द्रव्यो भिन्नं प्रतिग्रहीतुं, तदपि च विधिभिन्नं विधिना वक्ष्यमाणलक्षणेन भिन्नं विदारित, नैव, णं वाक्यालङ्कारे । अविधिभिन्नमिति सूत्रार्थ । बृ० १ उ० २ प्रक० । ( ' पक्क ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे नक्षेिपः कृत ' )

अथ भिन्नाभिन्नपदे व्याचष्टे–

पक्के भिण्णे समणा–ण वि दोसे किं तु समणीणं ।
समणे लहुओ मासो, विकडुभमाई य ते चेव ॥२३६॥

पक्व यन्निर्जीवं तद् द्रव्यतो भिन्नं वा स्यादभिन्नं वा । तत्रोभयेऽपि श्रमणानामपि दोषा भवन्ति, किं तु किं पुन श्रमणीना, श्रमणा यदि गृह्णन्ति ततो मासलघु, द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्या लघुकं विकडुभपलिमन्थाऽऽदयश्च त एव दोषा ।

इदमेव स्फुटतरमाह–

आणाऽऽदिरसपसंगा, दोसा ते चेव जे पढमसुत्ते ।
इह पुण सुत्तनिवाओ, ततियचउत्थेसु भंगेसु ॥ २३७ ॥

आज्ञाऽऽदयो रसप्रसङ्गाऽऽदयश्च दोषास्त एव पक्वप्रलम्बग्रहणेऽपि भवन्ति ये प्रथमसूत्रेऽभिहिता । यद्येवं तत सूत्रमपार्थकमित्याह–इह पुन सूत्रनिपातस्तृतीयचतुर्थयोर्भङ्गयोर्भवति, भावतो भिन्नमिति कृत्वा तृतीयचतुर्थरूप भङ्गद्वयमधिकृत्य सूत्रं प्रवृत्तमिति भाव ।

एमेव संजईण वि, विकडुभपलिमंथमाइया दोसा ।
कम्माईया य तहा, अविभिन्ने अविधिभिन्ने च ॥२३८॥

एवमेव संयतीनामपि विकडुभपलिमन्थाऽऽदयो दोषा । तथा अविभिन्ने अविधिभिन्ने च प्रलम्बे हस्तकर्माऽऽदय स शिवषा दोषा मन्तव्या , अतस्तासा विधिभिन्नमेव कल्पते नाविधिभिन्नम् ।

अत्र च षड्भङ्गीमाह–

विहिअविहीभिन्नम्मि य, समणीणं होतिमे तु छब्भंगा ।
पढमं दोहि अभिन्न,अविहिविही दव्वनिड तइए ॥२३६॥
एमेव भावतो वि य, भिन्ने तत्थेक्क दव्वतोऽभिन्नं ।
पंचमे छट्ठे दोहि वि, नवरं पुण पंचमे अविही ॥२४०॥

" से वि य विहिभिन्ने नो चेव ण अविहिभिन्ने ' इत्यत श्रमणीना सूत्रे इमे षड्भङ्गा भवन्ति । ' पढम ' इ-

त्यादि। प्रथमं द्वाभ्यामपि भावद्रव्याभ्यां वा भावतोऽभिन्न,द्रव्यतोऽप्यभिन्नम्। द्वितीय भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽविधिभिन्नं तृतीयं भावतोऽभिन्नं द्रव्यतो विधिभिन्नम् । एवमेव भावतो भिन्नेऽपि भङ्गत्रयं,तत्रैकं चतुर्थं भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽभिन्नं, पञ्चमषष्ठौ भङ्गौ द्वाभ्यामपि भिन्नौ, नवरं केवलं पञ्चमं अविधिभिन्नं, भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽविधिभिन्नमिति भाव । अर्थादापन्नं षष्ठे भावतो भिन्नं, द्रव्यतो विधिभिन्नमिति ।

अथ षट्स्वपि भङ्गेषु यथाक्रमं प्रायश्चित्तमाह–

लघुगा तीसु परित्ते, लघुओ मासो उ तीसु भंगेसु ।
गुरुगा होंति अणंते, पच्छित्ता संजईणं तु ॥ २४१ ॥

आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु परीत्तवनस्पतौ चत्वारो लघुका प्राग्वत्तप कालविशेषिताः भावतोऽभिन्नत्वात् । उत्तरेषु त्रिषु भङ्गेषु परीत्तवनस्पतावेव लघुको मासस्तप कालविशेषितः प्राग्वत्, भावतो भिन्नत्वात्। अनन्तवनस्पतौ तु त एव गुरुका कर्त्तव्या . चत्वारो गुरवो गुरुमासश्चेति भाव । इत्थं षट्स्वपि भङ्गेषु संयतीनां प्रायश्चित्तानि द्रष्टव्यानि ।

अथ हस्तकर्मसम्भवासंभवौ चेतसि व्यवस्थाप्य प्रकारान्तरेणैव प्रायश्चित्तमाह–

अहवा गुरुगा गुरुगा, लहुगा गुरुगा य पंचमे गुरुग ।
छट्ठंसि हवति लहुओ, लहुगत्थाणे गुरूऽणंते ॥२४२॥

अथवा प्रथमे भङ्गे गुरुका अभिन्नत्वात्, द्वितीयेऽपि गुरुका अविधिभिन्नत्वात्, तृतीये लघुका विधिभिन्नत्वात्, चतुर्थे गुरुका अभिन्नत्वात्, पञ्चमेऽपि गुरुका अविधिभिन्नत्वात्, षष्ठे लघुको मासो विधिभिन्नत्वात् अचित्तत्वाच्च। एतच्च परीत्ते भणितम्, अनन्ते तु लघुकस्थाने गुरुकं, यत्र चतुर्लघवस्तत्र चतुर्गुरवो यत्र लघुमासस्तत्र गुरुमास इत्यर्थः ।

आयरिउ पवत्तिणीए, पवत्तिणी भिक्खुणीएँ न कहेइ ।
गुरुगा लहुगा लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥२४३॥
गेण्हंतीणं गुरुगा, पवित्तिणीए पवित्तिणी जइ वा ।
न सुणेती गुरुलहुगा, मासलहू भिक्खुणी जाव ॥२४४॥

एतत्प्रलम्बसूत्रमाचार्य प्रवर्त्तिन्या न कथयति चत्वारो गुरव , प्रवर्त्तिनी भिक्षुणीना न कथयति चत्वारो लघव , यदि भिक्षुण्यो न शृण्वन्ति ततो लघुमास । तत्राप्यकथने अश्रवणे वा आज्ञाऽऽदयो दोषा । यदि भिक्षुणीना प्रलम्बं गृह्णतीना प्रवर्त्तिनी सारणाऽऽदिकं न करोति तदा प्रवर्त्तिन्याश्चत्वारो गुरव . प्रवर्त्तिनी यद्याचार्याणां कथयता न शृणोति तदा चत्वारो गुरव , प्रवर्त्तिन्या पार्श्वे गणावच्छेदिनी न शृणोति चत्वारो लघव , अभिषेका न शृणोति मासगुरु, भिक्षुणी न शृणोति मासलघु ।

अथ निर्ग्रन्थीरधिकृत्य द्वारगाथामाह–

अभिन्ने महव्वयपुच्छा, मिच्छत्तविराहणा य देवीए ।
किं पुण ता दुविहाओ, भुत्तभोगा अभोगा य ॥२४५ ॥

अभिन्ने महाव्रतपृच्छा कर्त्तव्या, तथा अङ्गादानसदृशमभिन्नं प्रलम्बं गृह्णन्तीं निर्ग्रन्थीं दृष्ट्वा कश्चित् मिथ्यात्वं व्रजेत्–यदेता अङ्गादानाऽऽकारमेवंविधफलं गृह्णाति, तदनूनमेतासां तीर्थकृता नैव दोषो दृष्टः, असदृशं एवमादृशं मु- [illegible]विराधना वा भवेत्। तत्र च देव्या दृष्टान्तो वक्तव्य । यदि च तस्या अपि देव्याः प्रतिसेवनाकौतुकं सञ्जातं किं पुन श्रमणीनामिति वक्तव्यम् ?। ताश्च श्रमण्यो द्विविधा –भुक्तभोगिन्यो–ऽभुक्तभोगिन्यश्चेति समासार्थः । अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते–तत्र प्रथममभिन्नं महाव्रतपृच्छाद्वारं शिष्य पृच्छति–निर्ग्रन्थानां भिन्नमभिन्नं वा एकं कल्पते, निर्ग्रन्थीना पुनर्भिन्नमेव कल्पते, नाभिन्नं, तदपि विधिभिन्नमित्यत्र यथा भेदस्तथा किमेवं महाव्रतेष्वपि तासां भेद ?, यथा किल तत्र नग्निकानां मते भिक्खूणामर्द्धतृतीयानि शिक्षापदशतानि भिक्षुणीनां पञ्च शिक्षापदशतानि, एवं किं निर्ग्रन्थीनामपि षट् महाव्रतानि, दश वा, येनैवमभिधीयते ?।

उच्यते–

न वि छ महव्वया नेव दुगुणिया जह उ भिक्खुणीवग्गे ।
बंभवयरक्खणट्ठा, न कप्पती तं तु समणीणं ॥२४६॥

नाऽपि निर्ग्रन्थीना षट् महाव्रतानि, नैव साधूना संबन्धिभ्यः पञ्चमहाव्रतेभ्यो द्विगुणितानि, दशेत्यर्थः । यथा सौगताना मते भिक्षुणीवर्गे द्विगुणानि शिक्षापदानि भवन्ति न तथाऽत्र, किं तु पञ्चैवेति भाव । यद्येवं तर्हि किमर्थमत्र निर्ग्रन्थीनामभिन्नं न कल्पते ?। उच्यते–ब्रह्मव्रतरक्षणार्थं तत्तु अभिन्नं श्रमणीनां न कल्पते,मा करकर्माऽऽदिकमनेन कार्षुरिति कृत्वा ।

न केवलमत्रैव प्रलम्बे श्रमणीनां विशेष, किं त्वन्यत्रापीति दर्शयति–

अन्नत्थ वि जत्थ भवे, एगयरे मेहुणुब्भवो तं तु ।
तस्सेव उ पडिकुट्ठं, बिइयस्सऽन्नेण दोसेणं ॥२४७॥

अन्यत्राऽपि यत्र भुक्ते स्पृष्टे वा ( एगयरे इति ) षष्ठीसप्तम्योरर्थ प्रत्यभेदादेकतरस्य साधुपक्षस्य साध्वीपक्षस्य तु तदेवान्येनासंगमलक्षणेन दोषेण प्रतिषिध्यते ।

निदर्शनमाह–

निल्लोमसलोमऽजिणे, दारुगदंडे सवेंटपाए य ।
बंभवयरक्खणट्ठा, वीसुं वीसुं कया सुत्ता ॥ २४८ ॥

यथा निर्ग्रन्थाना निर्लोमाजिनं स्मृतिकरणकौतुकाऽऽदिदोषपरिहारार्थं प्रतिषिद्धं, निर्ग्रन्थीना पुन प्राणिदयानिमित्तमतिरिक्तोपधिभारपरिहारार्थं च तदेव प्रतिषिध्यते । एवं सलोमाजिनं निर्ग्रन्थीनां स्मृतिकरणाऽऽदिदोषनिवारणार्थं निर्ग्रन्थाना पुनस्तदेव प्राणिदयानिमित्तं प्रतिषिद्धम्।दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनं संवृतपात्रं च निर्ग्रन्थीना ब्रह्मव्रतानुपालनार्थं, निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थानां पुनरतिरिक्तोपधिदोषपरिहरणाय नानुज्ञातम्। एवं ब्रह्मव्रतरक्षणार्थं निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीना च विष्वक् पृथक् पृथक् सूत्राणि कृतानि ।

आह–कर्मोदयादेव प्राणिना मैथुनोद्भवो भवति तत किमेवं सलोमाऽऽदिपरिहार क्रियते ?। उच्यते–

नाऽनिदाणओ होइ उब्भवो तेण परिहर निदाणं ।
ते पुण तुल्लाऽतुल्ला, मोहनिदाणा दुपक्खे वि ॥२४९॥

निदान कारणमित्येकोऽर्थः । तच्चेह प्रशस्तरूपरसगन्धस्पर्शाऽऽत्मकं,यत्प्रतीत्य पुरुषवेदाऽऽदिमोहनीयमुदयमासादयति। तदुक्तम्–"काल भाव च भव,दव्वं खेत्तं तहा समासज्ज। तस्स समासुद्दिट्ठो, उदओ कम्मस्स पंचविहो ॥ १ ॥" ततश्च नास्ति न

विद्यते एतत् यदनिदानको निदानमन्तरेण मोहनीयोद्भवो भवति, तेन कारणेन परिहर निदानमिष्टशब्दाऽऽदिरूपं, ते पुन शब्दाऽऽदयो मोहनिदानभूता द्वयोः पक्षयो समाहारो द्विपक्षं स्त्रीपुरुषवर्गद्वय, तस्मिन् द्विपक्षेऽपि मोहोद्भवं प्रति केचित् तुल्या॰ केचित्त्वतुल्याः ।

तानेवाऽऽह–

रसगंधा तहिँ तुल्ला, सद्दाई सेस भय दुपक्खे वि ।
सरिसे वि होइ दोसो,किं पुण ता विसमवत्थुम्मि ?॥२५०॥

स्त्रीणां पुरुषाणां च तत्र मोहोद्भवे रसगन्धास्तुल्या॰ । किमुक्तं भवति ?–यथा स्निग्धमधुराऽऽदिरसैः स्रक्चन्दनाऽऽदिगन्धैश्च पुरुषाणामिन्द्रियाणि मोहोद्रेकभाञ्जि भवन्ति, तथा स्त्रीणामपीति मोहोद्भवं प्रति रसगन्धास्तुल्याः । शेषान् शब्दरूपस्पर्शान् भज विकल्पय द्विपक्षेऽपि उभयपक्षयोरपि, यतः पुरुषस्य पुरुषसंबन्धिनि शब्दे श्रुते रूपे दृष्टे स्पर्शे विस्पृष्टे मोहोदयो भवेद्वा न वा यदि भवेन्न तादृशस्तीव्र॰ । पुरुषसंबन्धिषु प्रायो भवत्येव, तीव्रश्च भवति, तदेवं सदृशेऽपि स्पर्शाऽऽदौ वस्तुनि दोषो भवति, किं पुनस्ताव-द्विषमे विसदृशे वस्तुनीति । यतश्चैवमतः सलोमनिर्लोमाऽऽदीन्यतुल्यानि वा तानि विशेषत॰ परिच्छियन्ते, अत एव चात्राभिन्नमविधिभिन्नं च न कल्पते । गतमभिन्ने महाव्रतपृच्छेति द्वारम्, सुबोधत्वात् भाष्यकृता न भावितम् । अथ विराधनाद्वारम् । अभिन्नं गृह्णतीनां निर्ग्रन्थीनामात्मनो ब्रह्मव्रतस्य वा विराधना भवेत् । अत्र च देव्या दृष्टान्तः ।

तमेवाऽऽह–

चीयत्ति कक्कडी को उ–कंटकं विसप्प समिय सत्थे य ।
पुणरवि निवेस फोडण, किमु समणि निरोह भुत्तितरा।२५१।

"एगस्स रन्नो महादेवी, तीसे कक्कडियाओ पियाओ, ताओ अ एगो णिउत्तपुरिसो दिणे दिणे आणेति, अन्नया तेण पुरिसेण अहापवित्तीए अंगादाणसंठिया कक्कडिया आणीता तीसे देवीए त कक्कडियं पासित्ता कोतुय जायं–पेच्छामि ताव केरिसो फासो त्ति एयाए पडिसेवियाए ?। ताहे ताए सा कक्कडिया पादे बंधिउं सागारियट्ठाण पडिसेविउमाढत्ता । तीसे कक्कडियाए कंटओ आसी, से तम्मि सागारिए लग्गो विसप्पिय तं, ताहे वेज्जस्स सिट्ठं, ताहे वेज्जेण समिआ मद्दिया तत्थ निवेसाविया उट्टवेत्ता सुसियप्पदेसम्मि पदेसे तीए अपेच्छमाणीए सत्थउप्परासुहधारं खोहियं पुणो तेणेव आगारेण णिवेसाविया, फोडिय पूएण समं निग्गओ कंटओ पउणा जाया । जति ताव तीसे देवीए दंडिएण पडिसेविज्जमाणीए कोउय जायं, किमग पुण समणीणं णिच्चनिरुद्धाण भुत्तभोगीणं अभुत्तभोगीण य ।" अथ गाथाऽक्षरार्थ -राज्ञ कस्यचिद्देव्या कर्कटिका (चियत्ता इति) प्रीतिकरा रुच्या इत्यर्थ । अङ्गादानाकारा च कर्कटिका दृष्ट्वा कौतुकमुत्पन्नं, तत प्रतिसेव्यमानायास्तस्या कण्टक सागारिके लग्न, विसर्पितं च तत् सागारिक, ततो वैद्येन सामिता कणिक्का, तस्या मर्दिता या निवेशित्वा तत शुष्कप्रदेशे शस्त्रक प्रक्षिप्तम्, तत॰ पुनरपि तथैव निवेश्यते, तेन शस्त्रकेण सागारिकस्य पाटने कृते पूयेन सम कण्टके निर्गते प्रगुणीकृता । यदि तस्या अप्येवंविधं कौतुकमजनिष्ट, किं पुन श्रमणीना नित्यनिरोधानां भुक्तानामितरासा वा अभुक्तानाम् ।

इदमेव स्पष्टयन्नाह–

कसिणाविहिभिन्नम्मि य, गुरुगा भुत्ताण होइ सइकरणं ।
इयरासिं कोउगाई, घिप्पंते जं च उड्डाहो ॥ २५२ ॥

कृत्स्नमभिन्नं, तत्र, अविधिभिन्ने च श्रमणीना चत्वारो गुरुका:, भुक्तभोगिना स्मृतिकरणम्, इतरासा तु कौतुकाऽऽदयो दोषा भवन्ति तस्मिश्चाङ्गादानाऽऽकारे गृह्यमाणे यश्चोड्डाहो भवति-यथा नूनमेतेनैषा पादकर्म करिष्यति, तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तम् ।

तेन च प्रलम्बेन पादकर्म कृत्वा चिन्तयति–

जइ ताव पलंबाणं, सहत्थणुन्नाण एरिसो फासो ।
किं पुण गाढालिंगण,इयरम्मि य निद्दओ छुद्धो ?॥२५३॥

यदि तावत्प्रलम्बानां स्वहस्तेन नुन्नाना, णुदप्रेरणे । प्रेरितानामित्यर्थः । ईदृश॰ स्पर्श , किं पुनर्गाढाऽऽलिङ्गनेन इतरस्मिन्नङ्गादाने पुरुषेण ( निद्दओ छुद्दे त्ति ) निर्दयं यथा भवत्येवमुत्प्राबल्येन क्षिते सति स्पर्शो भविष्यतीति ।

ततश्चेत्थं विचिन्त्योदीर्णप्रबलमोहनीयकर्मा सा इदं कुर्यात्–

पडिगमणमन्नतित्थिग, सेवे संजयं लिंग हत्थे य ।
वेहायसो उहाणे, एमेव अभुत्तभोगी वि ॥ २५४ ॥

काचित् पार्श्वस्थाऽऽदिभ्य॰ समागता भवेत्, साऽपि तत्रैव प्रतिगच्छेत्, अन्यतीर्थिकेन वा सिद्धपुत्रेण वा आत्मानं प्रतिसेवयेत्, संयतं वा उपसर्गयेत् एतानि स्वलिङ्गे स्थिता कुर्यात्, हस्तकर्म वा भूयो भूय कुर्यात् । यद्वा-मया व्रतानि भग्नानीति, कथङ्कार वा द्राघीयसं कालं परिपालित शीलरत्नमहं भङ्क्ष्यामीति निर्वेददूनमानसा वैहायसं मरण विदध्यात् । अथवा–प्रलम्बमोहवशा अवधावनं विदध्यात् । एतानि पदानि भुक्तभोगिनी कुर्यात् । अभुक्तभोगिन्यप्येवं कुर्यात् ।

शिष्य॰ प्रश्नयति न जानीमहे वयं कीदृशमविधिभिन्नं कीदृश विधिभिन्नमिति ?। सूरिराह–

भिन्नस्स परूवणया, उज्जुत तह चक्कली विसमकोट्टे ।
ते चेव अविहिभिन्ने, अभिन्ने जे वन्निया दोसा ॥२५५॥

असंयमदोषनिवर्तनार्थमविधिना विधिना च विभिन्नस्य प्ररूपणा क्रियते–तत्र यत् चिर्भटाऽऽदिकं विदार्य ऊर्ध्वफालिरूपा पेश्यं कृतं, तदृजुकभिन्नं; यत्पुनस्तिर्यक्छित्त्वा चक्कलिकाकृत तत् चक्कलिकाभिन्नम् । एते द्वे अप्यविधिभिन्ने मन्तव्ये । यत्तु पेश्य कृत्वा पुन श्लक्ष्णश्लक्ष्णतराऽऽदिभि॰ खण्डैरनेकश कृत्वा तथा भूयस्तदाकार कर्तुं न पार्यते तदेवंविधं विषमकुट्टभिन्नमुच्यते । विषमै॰ पुनस्तथा कर्तुमशक्यै॰ कुट्टै॰ श्लक्ष्णखण्डैर्भिन्नमिति व्युत्पत्ते । एतच्च विधिभिन्नम्, अत्र चाऽविधिभिन्ने त एव दोषा द्रष्टव्या॰, ये अभिन्ने देवीदृष्टान्तेन वर्णिता ।

कथमिति चेत् ?, इच्युते–

कट्ठेण व सुत्तेण व, संदाणिते अविहिभिन्ने ते चेव ।
सविसेसतरा य भवे, वेउव्विय भुत्तइयरीणं ॥२५६॥

काष्ठेन वा शलाकाऽऽदिना,सूत्रेण वा दवरकाऽऽदिना सन्दानिते सघातिते, पूर्वाऽऽकार स्थापिते इत्यर्थ॰ । अविधिभिन्ने

त एव दोषा ज्ञातव्या ये अभिन्ने भणिताः सविशेषतरा भवेयुः कथमित्याह-विकुर्वन्ति तं चेटकाऽऽद्याभरणेनालङ्कृतं यदङ्गादानं तेन याः स्त्रियो भुक्तपूर्वास्तासां प्रव्रजिताना तत्र काष्ठादिसन्दानितप्रलम्बे विकुर्वितङ्गादानकल्पे दृष्टे समधिकतरा दोषा उपढौकन्ते ।

अथाऽर्थत. कारणिकं सूत्रमुपदर्शयन्नाह-

विहिभिन्नं पि न कप्पइ,लहुओ मासो उ दोस आणाई ।
तं कप्पती न कप्पइ, निरत्थगं कारणं किं तं ? ॥२५७॥

यदपि सूत्रे विधिभिन्नमनुज्ञात तदपि न कल्पते, यदि गृह्णन्ति ततो मासलघु,आज्ञाऽऽदयश्च दोषा. । आह-ननु सूत्रे भणितं-तद्विधिभिन्नं कल्पते । गुरुराह-यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातं तथाऽपि न कल्पते । यद्येवं तर्हि निरर्थकं सूत्रम् । नेवम् । कारणिकं सूत्रम् । आह-किं पुनस्तत्कारणं यद्द्यापि नाभिधीयते ? ।

उच्यते-इम -

गेलन्नऽद्धाणोमे, तिविहं पुण कारणं समासेण ।
गेलन्ने पुव्वुत्त, अद्धाणुवरिं इमं ओमे ॥ २५८ ॥

ग्लानत्वमध्वा अवमौदर्यमेतत् समासेन संक्षेपेण त्रिविधं कारणम् । तत्र ग्लानत्वे इहैव प्रलम्बप्रकृते " विज्जे पुच्छण जयणा " इत्यादिपूर्वोक्तं द्रष्टव्यम् । अध्वनि तु उपरि अध्वसूत्रे इहैवोद्देशके भणिष्यते, इदमनन्तरमेव वक्ष्यमाणमवमे द्रष्टव्यम् ।

निग्गंथीणं भिन्नं, निग्गंथाणं च भिन्नऽभिन्नं तु ।
जह कप्पइ दोण्हं पी तमहं वोच्छं समासेणं ॥२५९॥

निर्ग्रन्थीना नियमाद्विधिना षष्ठे भङ्गे भिन्नं, निर्ग्रन्थाना चतुर्थतृतीययोर्भङ्गयो. भिन्नमभिन्नं वा यथा द्वयोरपि वर्गयो. कल्पते तदह वक्ष्ये समासेन ।

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

ओमम्मि तोसलीए, दोण्ह वि वग्गाण दोसु खेत्तेसु ।
जयणट्ठियाण गहणं, भिन्नाभिन्नं च जयणाए ॥२६०॥

अवमकाले साधव साध्व्यश्च तोसलिविषय गत्वा स्थिताः, तत्र द्वावपि वर्गौ द्वयो क्षेत्रयो. स्थितौ, एकस्मिन् क्षेत्रे संयता. द्वितीयस्मिन् संयत्य इत्यर्थ. । तथा यदुत्सर्गत एकत्र क्षेत्रे मिलितौ नावतिष्ठेते एषैव यतना, तया स्थितौ यतनास्थितौ । यद्वा-साधुसाध्वीप्रायोग्य विधिं आहयित्वा यौ स्थितौ तौ यतनास्थितौ, तयोरेव स्थितयोर्यतनया वक्ष्यमाणभिन्नस्याभिन्नस्य वा ग्रहणं कल्पते ।

आह-कोऽयं नियमो येन तोसलेरेव ग्रहणं कृतम् ? । उच्यते-

आणुवऽजंगलदेसे, वासेण विणा वि तोसलिग्गहणं ।
पायं च तत्थ वासति, पउरपलंबो अ अन्नो वि ॥२६१॥

देशो द्विधा-अनूपो, जङ्गलश्च । नद्यादिपानीयबहुलो अनूप., तद्विपरीतो जङ्गल., निर्जल इत्यर्थ । यथा अनूपोऽजङ्गल इति पर्यायौ, तत्रायं तोसलिदेशो यतोऽनूपो, यतश्चास्मिन् देशे वर्षेणं विनापि सारणीपानीयै सस्यनिष्पत्ति । अपर च-तत्र तोसलिदेशे प्रायो बाहुल्येन वर्षति, ततोऽतिपानीयेन विनष्टेषु सस्येषु प्रलम्बोपभोगो भवति । अन्यच्च-तोसलि प्रचुरप्रलम्बः । तत एतै कारणैस्तोसलिग्रहणं कृतम् । अन्योऽपि य ईदृश प्रचुरप्रलम्बस्तत्राप्येष एव विधि. ।

पुच्छ सहुभीयपरिसे, चउथउ भंगे पढमएँ अणुन्नाओ ।
सेसतिए नाऽणुन्ना, गुरुगा परियट्टणे जं च ॥२६२॥

पृच्छति-यदुक्तं भवद्भिर्द्वयो. वर्गयो क्षेत्रद्वयस्थितयोरित्यादि,तत्र संयतीना पृथक् क्षेत्रे स्थितानां व्यापारो वोढुं दुःशको भवति, दोषदर्शिनश्च यूय पृथक् क्षेत्रे स्थापयत. यतश्च दोषा. समुत्पद्यन्ते तथ्रिक्षावता नोपादातुमुचितम्. प्रभुवचने च तत्र तत्र प्रदेशे संयत्य प्रव्राजनीया उक्ता एव, अत पर्यनुयुज्यते-किं परिवर्तयितव्याः संयत्य.,उत नेति ? । गुरुराह-नास्त्यत्र कोऽपि नियमो यदवश्यमेव परिवर्त्तयितव्या न वेति । यदि पुन प्रव्राज्य न्यायतः परिवर्त्तयति ततो महतीं कर्मनिर्जरामासादयति । अथान्यायत परिवर्त्तयति ततो महामोहमुपचित्य दीर्घसंसारसंपातभाग्भवति । तर्हि कीदृशेन परिवर्त्तयितव्या ? । उच्यते ( सहुभीयपरिसे त्ति) सहिष्णुभीतपर्षदि पदद्वयेन चतुर्भङ्गी । सा चेयम्-सहिष्णुरपि भीतपरिषदपि १, सहिष्णुर्न भीतपरिषत् २, असहिष्णुः परं भीतपरिषत् ३ असहिष्णुरभीतपरिषच्चेति ४। तत्रेन्द्रियनिग्रहसमर्थ संयतीप्रायोग्यक्षेत्रवस्त्रपात्राऽऽदीनामुत्पादनाया प्रभविष्णु सहिष्णुरुच्यते,यस्य तु सर्वोऽपि साधुसाध्वीवर्गो भयान्न काममप्यक्रिया करोति स भीतपरिषत्, तत्र प्रथमभङ्गेषु वर्त्तमानो नानुज्ञात.,यदि परिवर्त्तयति तदा चत्वारो गुरुका । ( जं च त्ति ) द्वितीयभङ्गे आत्मना सहिष्णु परमभीतपरिषत्तया स्वच्छन्दप्रचारा. सत्यो यत् किमपि ता. करिष्यन्ति तत्सर्वमयमेव प्राप्नोति । तृतीयभङ्गे तु स्वयमसहिष्णुतया तासामङ्गप्रत्यङ्गाऽऽदीनि दृष्ट्वा यदाचरति तन्निष्पन्नम् । चतुर्थे भङ्गे द्वितीयतृतीयभङ्गदोषानेव प्राप्नोति ।

प्रथमभङ्गवर्तिनमुद्दिश्याऽऽह-

जइ पुण पव्वावेत्ती, जावज्जीवाएँ ताओ पालेइ ।
अन्नासति कप्पे वि हु,गुरुगा जं निज्जरा विउला ॥२६३॥

यदीत्यभ्युपगमे, ततश्चायमर्थ -ता प्रथमतोऽपि यतस्तत प्रव्राजयितुं न कल्पते, यदि पुन प्रव्राजयति ततो यथोक्तविधिना यावज्जीवं ता पालयति, योगक्षेमविधानेन सम्यक् निर्वाहयतीत्यर्थ. । स प्रथमभङ्गवर्त्ती यदि जिनकल्प प्रतिपित्सुरपरं चाऽऽर्यिका परिवर्त्तयिष्या ,तत किं करोतु ?, इति चिन्तायां यद्यस्ति तदीये गच्छे कोऽप्यार्यिकाणां विधिना परिवर्त्तापकस्ततस्तस्य समर्प्य जिनकल्पं प्रतिपद्यताम् । अथ नास्त्यन्यो वर्त्तापकस्तर्हि मा जिनकल्पप्रतिपत्तिं करोतु, किं त्वार्यिका एव परिवर्त्तयतु । कुत इत्याह-अन्यस्य वर्त्तापकस्यासत्यभावे जिनकल्पेऽपि प्रतिपद्यमाने, तन्निश्रये चत्वारो गुरुका । आह-सकलकर्मक्षयकारणे जिनकल्पेऽपि प्रतिपद्यमाने किमेवं प्रायश्चित्तमाह-यद्यस्मात्कारणाज्जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य या निर्जरा. तस्या सकाशाद्विपुला निर्जरा यथावत् सयतीं परिपालयतो भविष्यतीति युक्तियुक्तमेव प्रायश्चित्तम् ।

अथ 'जयणट्ठियाण गहणं ' इति यदुक्तं तत्र यया यतनया स्थितास्तामाह-

उभयगणी पेहेउं, जइ सुद्धं तत्थ संयती खेत्ति ।

**असती व जहिं भिन्ना, अभिन्ने अविहीइमा जयणा ।२६४।**

(उभय त्ति) उभय साधुसाध्वीवर्गद्वयरूपो गणोऽस्यास्तीत्युभयगणी, स आचार्योऽवमकाले तोसलिप्रभृतिके प्रचुरप्रलम्बदेशे गत्वा गीतार्थेनाऽऽत्मना वा क्षेत्रद्वयं प्रत्युपेक्ष्य ययोः शुद्ध भक्तं लभ्यते, न प्रलम्बमिश्रितमित्यर्थ । तयो क्षेत्रयोः पृथक् द्वावपि वर्गौ स्थापयति । यदि द्वे क्षेत्रे ईदृशे न स्तस्ततो यत्र शुद्धं भक्तं प्राप्यते तत्र संयतीर्नयति स्थापयन्ति, यत्र पुन प्रलम्बमिश्रितं तत्राऽऽचार्या आत्मना तिष्ठन्ति, अथ नास्ति सर्वथा निर्मिश्रभक्तक्षेत्रं ततो यत्र प्रलम्बमिश्रितं भक्तं लभ्यते तत्र साध्वी स्थापयति, स्वयं तु निर्मिश्रप्रलम्बक्षेत्रे तिष्ठन्ति । अथ सर्वेष्वपि क्षेत्रेषु निर्मिश्रप्रलम्बानि प्राप्यन्ते तत. (असइ त्ति) प्रलम्बमिश्रस्याभावे यत्र विधिभिन्नानि प्राप्यन्ते तत्र संयत्य. स्थापनीया., स्वयं पुनरभिन्नाविधिभिन्नक्षेत्रे तिष्ठन्ति । अथ सर्वेष्वपि क्षेत्रेष्वभिन्नान्यविधिभिन्नानि वा प्राप्यन्ते तत इयं यतना कर्त्तव्या ।

तामेवाऽऽह-

**भिन्नाणि देह भिन्नू-णि वा वि असति पुरतो सिं भिंदंति ।**
**ठाविंति तहिं समणी, ता चेव जयंति तेसऽसती ।।२६५।।**

यत्र क्षेत्रे संयती स्थापयितुकामस्तत् क्षेत्रं साधवः पूर्वमेवेत्थं भावयन्ति-यदा गृहस्थै प्रलम्बान्यानीतानि भवन्ति तदा साधवो भणन्ति-यानि भिन्नानि तान्यस्मभ्यं दत्त, अथ न सन्ति भिन्नानि, सन्ति वा पर स्तोकानि, तैश्च संस्तरणं न भवतीति परिभाव्य साधवो भणन्ति-अस्मभ्यमेतानि भित्त्वा प्रयच्छत, न कल्पन्ते अस्माकमीदृशानीति । अथ ते गृहस्था -यदि रोचते तत ईदृशान्येव गृह्णीत इत्युक्त्वा अभिन्नान्येव प्रयच्छन्ति, ततोऽसत्यभावे सति तेषा गृहस्थाना पुरतस्तानि प्रलम्बानि भिन्दन्ति, भित्त्वा च गृह्णन्ति, एवं विधीयमाने गृहस्थाना चेतासि गाढतरं निश्चय उत्पद्यते, यथा-नून न कल्पते अमीषामभिन्नानीति. ततस्ते भिन्नान्येव प्रयच्छन्तीत्येव तदा तत् क्षेत्रं भावितं भवति, तदा तत्र श्रमणी. स्थापयन्ति । तेषा संयतानामसत्यभावे व्यापृतेषु वा तेषु क्वापि प्रयोजनान्तरे ता एव यतयो या तत्र स्थविरास्ता एवमेव यतन्ते ।

**भिन्नासति वेलाऽति-क्कमे व गेण्हंति थेरियाऽभिन्ने ।**
**दारे भित्तु एंति व, ठाणाऽसति भिंदती गणिणी ।२६६।**

विधिना भिन्नानामसति, यावद्वा गृहस्थैर्भेदयन्ति, आत्मना वा यावत्तत्र भिन्दन्ति तावद्वेलाऽतिक्रमो भवति, ततो या. स्थविरास्ता अभिन्नानि अविधिभिन्नानि वा, यास्तु तरुणास्ता विधिभिन्नानि गृह्णन्ति, तत. प्रतिनिवृत्ता स्थविरा अभिन्नाविधिभिन्नान्युपाश्रयद्वारे भित्त्वा विधिभिन्नानि कृत्वा वसतिं यान्ति, प्रविशन्ति इत्यर्थ । अथ बहि स्थानं नास्ति तत स्थानस्यासत्यभावे गणिनी प्रवर्तिनी तस्या स्तानि समर्प्यन्ते, तत सा गणिनी तानि भिनत्ति, विधिभिन्नानि करोतीत्यर्थ । कृत्वा च तरुणीना समुद्देष्टुं ददाति । आह-किं कारणं तरुणीना प्रतिग्रहीतुं समुद्देष्टुं वा अभिन्नानि अविधिभिन्नानि न दीयन्ते ? । उच्यते-

**कक्खंतरुक्खवेकच्छिया-ऽऽइमाईसु गूसए तरुणी ।**
**तउ भिन्नं छुभति पडि- ग्गहेसु न य दिज्जए सयलं ।।२६७।।**

कक्षाया. अन्तरं कक्षान्तरम् "उक्खो त्ति" परिधानवस्त्रैकदेश' । आह च निशीथचूर्णिकृत्-" परिधाणवत्थस्स अब्भितरचूलाए उवरिं कडिं नाभिहेट्ठा उक्खो भण्णइ ।" वैकक्षिकी संयतीनामुपकरणविशेष. । एतेष्वादिशब्दादन्यत्राऽपि वस्त्रान्तरे तरुणी सा ( णूमए त्ति ) "छदेर्णेणुम-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्बाल-पव्वाला " ॥ ८ । ४ । २१ ॥ इति प्राकृतलक्षणात् समाच्छादयेत्, ततो भिक्षाग्रहणकाले तस्याः प्रतिग्रहेषु भिन्नं प्रक्षिप्यते, न च सकलमभिन्नमविधिभिन्नं वा तस्या भोजनकाले दीयते ।

**एवं एसा जयणा, अपरिग्गहेसु होति खेत्तेसु ।**
**तिविहेहिं परिग्गहिए, इमा उ जयणा तहिं होइ ।।२६८।।**

एवमेषा अनन्तरोक्ता यतना अपरिगृहीतेषु क्षेत्रेषु कर्त्तव्या भवति त्रिविधै. संयतसंयतीतदुभयैः परिगृहीते इमा वक्ष्यमाणा यतना तत्र क्षेत्रे भवति ।

इदमेव स्फुटतरमाह-

**पुव्वे गहिए खित्ते, तिविहेण गणेण जइ गणो तिविहो ।**
**एज्जा इमयं खेत्तं, ओमे जयणा तहिं काणु ? ।।२६९।।**

त्रिविधेन संयतसंयतीतदुभयरूपेण गणेन त्रिविधस्य वा अन्यतरेण पूर्वमेव गृहीते क्षेत्रे यदि त्रिविध एव गणो अवमकाले असंस्तरन् इमकं क्षेत्रामयात् आगच्छेत्ततस्तेषामागताना स्थातव्ये वास्तव्याना वा अवग्रहे दातव्ये का, नुरिति वितर्के, यतना ? ।

अत आह-

**आयरिय वसभ अभिसे-गभिक्खुणो पेल्लंमें न य देंति ।**
**गुरुगा दोहि विसिट्ठा, चउगुरुगा दिज्ज जा लहुगो ।।२७०।।**

यत् संयतपरिगृहीतं क्षेत्रं तदेषामन्यतरेण परिगृहीत चेत् तद्यथा-आचार्येण वा वृषभेण वा अभिषेकेण वा भिक्षुणा वा, ये आगन्तुकास्तेऽप्येव चत्वारो द्रष्टव्या' । संयत्योऽपि वास्तव्या आगन्तुकाश्चैवमेव चतुर्विधा , नवरमाचार्यस्थाने प्रवर्त्तिनी वृषभस्थाने गणावच्छेदिनी वक्तव्या । अत्र चाऽऽचार्य प्रसिद्ध , उपाध्यायो वृषभस्तु इति कृत्वा वृषभ उच्यते, य. पुनरित्वराभिषेकेणाऽऽचार्यपदेऽभिषिक्त स इहाभिषेकः । अथवा-गणावच्छेदक इहाभिषेक । शेषा सामान्यसाधवो भिक्षव' । एतेषा चेयं चारणिका-आचार्यपरिगृहीते क्षेत्रे यदन्य आचार्य आगतो, यदि च स वास्तव्य आचार्यः क्षेत्रे पूर्व मागे भक्तपाने चालभ्यमाने आगन्तुकस्य स्थातुं न ददाति, तदा चत्वारो गुरव । अथ न पूर्यते क्षेत्रं, स चागन्तुको बलात्प्रेर्यते तस्यापि चतुर्गुरुका. । एतच्च प्रायश्चित्त तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरु । स एव वास्तव्य आचार्यो वृषभस्याऽऽगन्तुकस्य न ददाति, वृषभो वा बलात्तिष्ठति, उभयोरपि चत्वारो गुरुका , तपसा गुरव कालेन लघव , स एव वास्तव्य आचार्य आगन्तुकभिक्षोरेव स्थातुं न प्रयच्छति, स वा भिक्षुर्वास्तव्यमाचार्यं बलाद्वलाय तिष्ठति, द्वयोरपि चत्वारो गुरव , तपसा कालेन च लघव । एवमाचार्ये पूर्वस्थिते भगिनम् । एवं वृषभाभिषेके भिक्षुभिरपि पूर्वस्थितै प्रत्येकं चत्वारो गमा कर्त्तव्या , प्रायश्चित्तमप्येवमेव च तप काल विशेषितम् । एवमेते सर्वसंख्यया षोडश गमा । अथ चैतेष्वे-

व षोडशसु गमेषु प्रायश्चित्तम्। प्ररूपणायामयमादेशः-(चउ गुरुगा दिज्ज जा लहुगो त्ति ) अस्य भावना-आचार्यस्याऽऽगतस्य स्थातुं न ददाति, आगन्तुको वा प्रेरयति, द्वयोरपि चत्वारो गुरवः,उभयगुरुकाः,आचार्यो वृषभस्य न प्रयच्छति, वृषभो वा बलात्तिष्ठति चतुर्लघव , तपसा गुरुकाः, आचार्य एवाभिषेकस्य न ददाति, अभिषेको बलात्प्रेरयति मासगुरु, कालेन गुरु., आचार्य. सामान्यभिक्षोरायातस्य स्थातुं नानुजानीते आगन्तुको वा भिक्षुर्बलादेवावतिष्ठते मासलघु, उभयतो लघुकम्।एवं शेषेष्वपि द्वादशसु गमेषु चतुर्गुरुकाऽऽदिकं लघुमासान्तं तपःकालविशेषितमेवमेव प्रायश्चित्तम् । तदेवं संयतानां संयतैः सह चारणिकया षोडश विकल्पा उक्ता. ।

अथ शेषविकल्पप्रदर्शनायाऽऽह-

**एमेव य भयणा वी, सोलसिया एक्कमेक्कपक्खम्मि ।**
**उभयम्मि वि नायव्वा, पेल्लमदेंते च जं पावे ॥ २७१ ॥**

एवमत्र एकैकस्मिन् पक्षे षोडशिका भजना भङ्गरचना कर्त्तव्या । यस्तदुभयरूपो गणो न भवति किं तु केवल एव संयतपक्ष , संयतीपक्षो वा, स एकैकपक्षोऽभिधीयते । तत्र संयतानां संयतै. सह प्रथमा षोडश भङ्गी। सा च सप्रपञ्चं भाविता । अथ संयतीभि' परिगृहीते क्षेत्रे अपराः संयत्यः समागच्छन्ति, तत्रापि प्रवर्तिनीगणावच्छेदिन्यभिषेकाभिक्षुणीभि. पूर्वस्थिताभि सह प्रत्येकमागन्तुकप्रवर्त्तिनीगणावच्छेदिन्याभिषेकाभिक्षुणीरूपाणां चतुर्णां पदानां चारणिकां कुर्वाणैरेवमेव द्वितीया षोडशभङ्गी संयतीभिश्चतुर्विधाभिरागच्छन्तीभिरेवमेव तृतीया षोडशभङ्गी, संयतीना चतुर्विधाना पूर्वस्थितानां संयतैश्चतुर्विधैरेवाऽऽगच्छद्भिरेवमेव तुरीया षोडशभङ्गी। सर्वसङ्ख्यया जाता भङ्गानां चतुःषष्टि । एतेन केवलसंयतसंयतीपक्षचारणिकया लब्ध । अथोभयपक्षमधिकृत्याऽऽह-(उभयम्मि वि नायव्व त्ति ) उभयशब्देनोभयगणाधिपतिः परिगृह्यते,तत्राऽप्येवमेव भङ्गरचना ज्ञातव्या। तथाहि-चतुर्विधोभयगणाधिपतिभि. परिगृहीते क्षेत्रे चतुर्विधैरेवाऽऽगन्तुकसंयतैरागच्छद्भि पूर्वोक्तनीत्यैव षोडश भङ्गाः। तथा- तैरेव परिगृहीते प्रवर्त्तिन्यादिभेदाच्चतुर्विधा. संयत्यो यदाऽऽगच्छेयुस्तदाऽपि षोडश भङ्गा ,चतुर्विधेषु तदुभयगणाधिपतिषु पूर्वस्थितेषु चतुर्विधानामेवोभयगणाधिपतीनामागमनेऽप्येवमपि षोडश भङ्गा । चतुर्विधसंयतेषु पूर्वस्थितेषु चतुर्विधा उभयगणाधिपतय आगच्छेयु । अत्रापि षोडश भङ्गा । एवं चतुर्विधसंयतीषु चतुर्विधानामेवोभयगणाधिपतीनामागमने षोडश भङ्गा.।एवमेता पञ्च षोडशभङ्ग्य सञ्जाता ,पञ्चभिश्च षोडशभङ्गीभिर्लब्धा भङ्गानामशीति पूर्वोक्ता, एकैकपक्षविषयया भङ्गकचतुःषष्टया मील्यते जात,चतुश्चत्वारिंश शत भङ्गानाम् प्रायश्चित्त च सर्वत्र प्राग्वद् द्रष्टव्यम । ( पेल्लमदिंते य ज पावे त्ति ) एतत्पद सर्वभङ्गानुपाति प्रतिपत्तव्यम । आपूर्यमाणे क्षेत्रे आगन्तुका यदि बलात्प्रेर्य तिष्ठति ततो वास्तव्या निर्गच्छन्तोऽयमौदर्यसमुत्थमात्मसंयमविराधनां यत्प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तमागन्तुकानाम । अथ वास्तव्या पूर्यमाणे क्षेत्रे आगन्तुकानां स्थातु न ददति, ततो यदागन्तुका बहि पर्यटन्तो भक्ताऽऽदिकमलभमाना विराधना प्राप्नुयु ति तन्निष्पन्न वास्तव्यानामापद्यते ।

स्याद एवेय कुर्वतामेतत्प्रायश्चित्तद्वयमुपढौकते नहि मा प्रस्तस्य कृत्य दूर दूरेण स्थातु युक्त । अत्रोच्यते-

**चउवग्गो वि हु अत्थउ, असंथराऽऽगंतुगा य वच्चंतु ।**
**वत्थव्वा व असंथरे , मोत्तु गिलाणस्स संघाडं ॥२७२॥**

चतुर्वर्गो नाम वास्तव्याः संयताः,संयत्यश्च;आगन्तुकाः संयताः, संयत्यश्च। एते चत्वारोऽपि वर्गा एकस्मिन् क्षेत्रे यदि संस्तरन्ति तर्हि तिष्ठन्तु,न केनाऽपि परस्परं मत्सर कर्त्तव्यः,यदि संस्तरण न भवति तत आगन्तुका व्रजन्तु;अथाऽऽगन्तुकान्वक तत् क्षेत्रमागन्तुका वा आदेशिका आखेदज्ञानवन्त ,ततो वास्तव्या आत्मनस्तेषां वा असंस्तरणे निर्गच्छन्ति। एवमागन्तुका वास्तव्या वा ये निर्गच्छन्ति तेषां यदि कश्चित् ग्लानो भवेत् ततो ग्लानः सद्वाटकस्तिष्ठति, त मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि गच्छन्ति ।

**एमेव संजईणं, वुड्ढीतरुणीण जुंगितकमाई ।**
**पायादिविगल तरुणी, य अत्थए वुड्ढिओ पेसे ॥२७३॥**

एवमेव संयतवत् संयतीनां निर्गमनविधिरभिधातव्यः, परमत्र द्विकभेदः कर्त्तव्यः । कथमित्याह-वृद्धानां तरुणीनां च मध्ये यदि प्रत्यपाय ततस्तरुण्यो गच्छन्ति, वृद्धा आसते, तथा जुङ्गितानामजुङ्गितानां च जुङ्गितास्तिष्ठन्ति, अजुङ्गिका व्रजन्ति । जुङ्गिता द्विविधा.-जातिजुङ्गिताः, शरीरजुङ्गिताश्च। तत्र जातिजुङ्गिता गच्छन्ति,शरीरजुङ्गिता. पादाऽऽदिविकलास्तत्रैवाऽऽसते, तरुण्योऽपि यदि सप्रत्यपाय मार्गाऽऽदौ ततस्तत्रैवाऽऽसते, वृद्धास्तु प्रेषयत्।

**एवं तेसि ठियाणं, पत्तेगं वावि अहव मिस्साणं ।**
**ओमम्मि असंथरणे,इमा उ जयणा उ जहिँ पगयं ।२७४।**

एवमनन्तरोक्तप्रकारेण तेषामाचार्याऽऽदीनां तत्र क्षेत्रे प्रत्येक वा एकतरवर्गरूपेण,मिश्राणां वा द्विवर्गचतुर्वर्गरूपतया स्थितानाम अवमकाले असंस्तरणे इय यतना यस्यामिद प्रलम्बसूत्र प्रकृतम् ।

तामेवाऽऽह-

**ओयणमीसे निम्मी-सुवक्खडे पक्क आमपत्तेगे ।**
**साधारण सग्गामे, परगामे भावतो विभए ॥ २७५ ॥**

ओदनम् १ मिश्रोपस्कृतम् २ निर्मिश्रोपस्कृतम् ३ पक्वम् ४ आमम ५ प्रत्येकम् ६ साधारणम् ७। एतानि सप्तापि यथाक्रम प्रथमं स्वग्रामे तत परग्रामे ग्रहीतव्यानि,भावतोऽपि यान्यपि भिन्नानि तान्यपि यतनापरिपाटिप्राप्तानि भजेत सेवेत, गृह्णीयादित्यर्थः । इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथ प्रतिद्वार विस्तरार्थमभिधित्सुरोदनद्वारमाह-

**बत्तीसाई जा ए-क्को घास खवणं व न वि य से हाणी ।**
**आवासएसु अत्थउ, जा छम्मासे न य पलंबे ॥२७६॥**

ओदनस्य द्वात्रिंशत्कवला पुरुषस्य प्रमाण आहार , यदि ते एकेन कवलेन न्यूना. द्वात्रिंशत्कवला लभ्यन्ते तेनैव तिष्ठतु, यदि तस्याऽऽवश्यकयोगा न परिहीयन्ते, एवमेकैक कवल परिहापयता तावद्गन्तव्या यावत् यद्येको ग्रास कवल प्राप्यते, ततस्तेनैवाम्नां यदि तस्याऽऽवश्यकयोगा न परिहीयन्ते,मा च प्रलम्बानि गृह्णातु। अथैकोऽपि कवलो न प्राप्यते तत एक दिवस क्षपणमुपवास कृत्वा, आस्तां द्वितीये दिवसे द्वात्रिंशत्कवलैः पारयतु। यदि तावन्तो न लभ्यन्ते,एकैककवलपरिहाण्या तावद्गन्तव्य यावत् यद्येकोऽपि कवलो न लभ्यते तत षष्ठ कृत्वा स-

माधिमध्यास्तां, षष्ठस्य च पारणके प्रमाणप्राप्तमाहारमुपाददीत। अथ न लभ्यते, ततः पूर्वोक्तयुक्त्या यावदेकोऽपि कवलो न लभ्यते ततोऽष्टमं कृत्वा तिष्ठतु, मा च प्रलम्बान्याददीत। एवमनयैव दिशा दशमाऽऽदिकमुत्तरोत्तरक्षपणं वर्द्धयता तावन्नेतव्यं यावत्षण्मासक्षपणम्। अथ षण्मासक्षपणे धर्माऽऽवश्यकयोगाः परिहीयन्ते, तत एकदिनन्यूनं षण्मासक्षपणं करोतु, तदपि न शक्नोति निर्वोढुं तत एकैकं क्षपणं परिहापयता तावन्नेतव्यं यावदेकमपि क्षपणं कर्तुं न शक्नोति।

तनः किं करोतीत्याह-

जावइयं वा लब्भइ, सग्गामे सुद्धसेस परगामे।
मीसं च उवक्खडियं, सुद्धऽज्झवपूरगं गिण्हे ॥२७७॥

वाशब्दः पातनायां, सा च कृतैवेति, यावत् शुद्धौदनं स्वग्रामे लभ्यते यदि तावता न संस्तरति ततो यावता न्यूनं तावत्परग्रामात् शेषं शुद्धौदनमानयति। गतमोदनद्वारम्। अथ मिश्रोपस्कृतद्वारमाह-( मीसं च इत्यादि ) यदा स्वग्रामपरग्रामयोः पर्याप्तं शुद्धौदनं न प्राप्यते, तदा यदोदनं प्रलम्बैर्मिश्रमुपस्कृतं तत् शुद्धौदनस्याध्यवपूरकं गृह्णाति।

इदमेव विशेषयन्नाह-

तत्थ वि पढमं जं मी-सुवक्खडं दव्वभावतो भिन्नं।
दव्वाभिन्न वि भिन्नं, तस्सऽसति उवक्खडं ताहे ॥२७८॥

तत्रापि मिश्रोपस्कृते गृह्यमाणे प्रथमं यद् द्रव्यतो भावतश्च भिन्नैः प्रलम्बैर्मिश्रमुपस्कृतं तत् स्वग्रामपरग्रामयोर्गृह्णाति, तस्याप्यसत्यलाभे यदोदनं द्रव्यतोऽभिन्नैर्भावतो भिन्नैः प्रलम्बैर्विमिश्रमुपस्कृतं तत्तदा शुद्धौदनस्याध्यवपूरकं प्रथमं स्वग्रामे तद् गृह्णाति। गतं मिश्रोपस्कृतम्।

अथ निर्मिश्रोपस्कृतमाह-

पणगाइ मासपत्तो, ताहे निम्मिस्सुवक्खडं भिन्नं।
निम्मीसउवक्खडियं, गिण्हति ताहे ततियभंगे ॥२७९॥

येषु सूक्ष्मप्राभृतिकाऽऽदिदोषेषु पञ्चकप्रायश्चित्तं तेष्वादिशब्दाद् दशरात्रिन्दिवाऽऽदिस्थानेषु च यतित्वा यदा त्रिन्नमासमतिक्रान्तो लघुमासं च प्राप्तो भवति, तदा यत् द्रव्यतो भावतश्च भिन्नं निर्मिश्रं प्रलम्बजातमुपस्कृतं तत् शुद्धौदनस्य मिश्रोपस्कृतस्य वाऽध्यवपूरकं स्वग्रामपरग्रामयोर्गृह्णाति, यदा चरमभङ्गे न लभ्यते तदा निर्मिश्रोपस्कृतमेव तृतीयभङ्गे द्रव्यतोऽभिन्नं गृह्णाति। गतं निर्मिश्रोपस्कृतम्।

अथ पक्वमामं च व्याख्यानयति-

एमेव पउलियापउ-लिते य चरिमततिया भवे भंगा।
ओसहिफलमाईसुं, जं चाइन्नं तगं णेयं ॥ २८० ॥

एवमेव पक्वापक्वयोश्चरमतृतीयौ भङ्गौ भवतः, पक्वं नाम यदग्निना सकृतं यथेक्षुरीबीजाग्निलवाऽऽदि, अपक्वं यदग्निना अन्येन वेन्धनधूमाऽऽदिना प्रकारेण न पक्वं परं निर्जीवावस्थं, यथा परिपक्वकदलीफलपुष्पाऽऽदि,तत्र निर्मिश्रोपकृतस्यालाभे प्रथमं पक्वं चतुर्थभङ्गे, ततस्तृतीयभङ्गे अपक्वमपि चतुर्थतृतीयभङ्गयोरेवमेवाध्यवपूरकं गृह्णाति। अत्र चौषधिफलाऽऽदिषु यत्र पूर्वसाधुभिरवमाऽऽदिकारणं विनाऽप्याचीर्णं तत्तथ नवनीयं, ग्रहीतव्यमित्यर्थः। यद् वा-तत् ज्ञेयं ज्ञातव्यं, तत्रौषधयो धान्यानि, तेष्वाचीर्णं यथा चणका माषा वा, फलेषु आचीर्णं यथा त्रिफलाऽऽदि, आदिशब्दान्मूलकन्दाऽऽदिष्वपि यथा योगमाचीर्णमनाचीर्णंव्यवस्थाऽनुसर्तव्या।

तत्रौषधीषु यदाचीर्णं तद् व्याचष्टे-

सगलासगलाऽऽइन्ने, मीसोवक्खडिय नत्थि हाणी उ।
जइउं अमिस्सगहणं, चरिमदुए जं अणाइन्नं ॥२८१॥

चणकमाषाऽऽदिषु पूर्वाऽऽचार्यैराचीर्णेषु सकलेषु असकलेषु वा मिश्रेषु निर्मिश्रेषु वा उपस्कृतेषु नास्ति पञ्चकपरिहाणिः। यच्च पूर्वाऽऽचार्यैरनाचीर्णं तत्र पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा लघुमासं प्राप्तश्चरमद्वयो चतुर्थतृतीयभङ्गयो अमिश्रस्य निर्मिश्रोपस्कृतस्य ग्रहणं कार्यं नार्वागिति।

आह-यन्निर्जीवं तत् कथमनाचीर्णम्?। उच्यते-

जइ ताव पिहुगमाई, सत्थोवहया वि होंतऽणाइन्ना।
किं पुण असत्थुवहया, पेसी य फला य सरडू य। २८२॥

इह ये व्रीहयः परिपक्वाः सन्तो भ्राष्ट्राऽऽदौ भृज्यन्ते, ततः स्फुटिता अपनीतत्वचः पृथुका इत्युच्यन्ते, आदिग्रहणेनान्यदपि यदेव निष्पद्यते तत्परिग्रहः। यदि तावत्पृथुकाऽऽदयो अग्निशस्त्रोपहता अप्यनाचीर्णा भवन्ति किं पुनरशस्त्रोपहता पेश्यः प्रलम्बानामूर्द्धायताः, फलाफलानि तथा प्रम्लानानि म्लानवृन्तादीऽऽनि यानि सरडूनि अबद्धास्थिकफलानि तान्यशस्त्रोपहतानि कथमाचीर्णानि भविष्यन्तीत्यर्थः?। एतत् सर्वमपि परीत्तविषयमुक्तम्। गतं परीत्तद्वारम्।

अथ साधारणद्वारमाह-

साधारणे वि एवं, मीसामीसे वि होंति भंगा उ।
पणगाऽऽदी गुरुपत्तो, सव्वविसोही य जय ताहे ॥२८३॥

साधारणमनन्तं, तत्राप्येवं प्रत्येकवत्, मिश्रोपस्कृते चतुर्थतृतीयभङ्गौ भवतः, नवरं यदा तृतीयभङ्गे प्रत्येकप्रलम्बं निर्मिश्रोपस्कृतं न लभ्यते तदा मासलघुकादुपरि यत्रोद्गमाऽऽदौ लघुपञ्चरात्रिन्दिवान्यभ्यधिकान्यापद्यन्ते, तत्र स्वग्रामे वा परग्रामे वा गृह्णाति, एवं यदा पञ्चकाऽऽदिहान्या गुरुमासं प्राप्तो भवति तदा साधारणं निर्मिश्रोपस्कृतं प्रथमं चतुर्भङ्गे स्वग्रामपरग्रामयोर्गृह्णाति। यदा तृतीयभङ्गेनापि न प्राप्यते, तदा सर्वेषु विशोधिकोटिदोषेषु यतस्व प्रयत्नं कुरु, तत्र आधाकर्म कर्मौद्देशिकात्रिकमाहारपूतिकर्ममिश्रजातान्त्यद्विकबादरप्राभृतिका अध्यवपूरकचरमद्विकरूपानऽविशोधिकोटिदोषान् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽप्यौद्देशिकाऽऽद्य उद्गमदोषा विशोधिकोटयः, तेष्वपि गुरुलाघवाऽऽलोचनतो यथा यदाल्पदोषमनरतत्पूर्वं पूर्वप्रतिसेवमानास्तावद्यतते यावच्चतुर्लघुस्थानानि, तेष्वपि यदा न लभ्यते तदा चतुर्लघुकादुपरि पञ्चपरिहाण्या यतित्वा यदा चतुर्गुरु प्राप्नोति भवति तदा किमाधाकर्म गृह्णातु, उत प्रथमद्वितीयभङ्गाविति?।

अत्रोच्यते-

कम्मे आदेसदुगं, मूलुत्तरे ताहि वि कालि पत्तेगे।
दावरकली अणंते, ताहे जयणाएँ जुत्तस्स ॥ २८४ ॥

अत्राऽऽधाकर्मणि प्राप्ते आदेशद्विकम्। तद्यथा-आधाकर्माणि चत्वारो गुरवः, प्रत्येके प्रथमद्वितीययोर्भङ्गयोश्चत्वारो लघवः, एवं च प्रायश्चित्ताऽऽनुलोम्येनाऽऽधाकर्मगुरुकं, मतानुलोम्येन

प्रथमद्वितीयभङ्गौ गुरुकौ, तयोः प्रतिषेव्यमाणयोः प्राणातिपातव्रतस्य लोपसद्भावादिति । अथवा-आधाकर्म उत्तरगुणोपघातित्वात् लघुतर प्रथमद्वितीयभङ्गौ मूलगुणोपघातित्वाद्गुरुतरौ, एवमादेशद्वये कृतेऽप्याधाकर्मैव प्रथमतो ग्रहीतव्यम् । न च प्रथमद्वितीयभङ्गौ, कुतः ?, इति चेत्, उच्यते-आधाकर्मणि जीवा परेण व्यपरोपिता इति तत्र गृह्यमाणे न तादृशी निःशूकतोपजायते, यादृशी प्रथमद्वितीययोर्भङ्गयोरव्यक्कवीक्ष्यमाणानां जीवानामात्मनैव मुखे प्रक्षिप्य भक्ष्यमाणानां व्यपरोपणा भवति । अत आधाकर्मैव प्रथमतो ग्राह्य, न प्रथमद्वितीयभङ्गाविति स्थितम् । ( दाहे वि कालि पत्तेगे त्ति ) यदा आधाकर्माऽपि न लभ्यते तदा प्रत्येकद्वितीयभङ्गे ग्रहीतव्यम्, तदभावे कलि. प्रथमो भङ्ग. तत्राऽपि ग्राह्यम ( दावरकलीअणते त्ति ) यदा प्रत्येकस्याऽपि प्रथमो भङ्गो न प्राप्यते तदा द्वापर इति समयपरिभाषया द्वितीय , कलिरिति तु प्रथम उच्यते । ततश्च प्रथममनन्तकायिके द्वितीयेन भङ्गेन तदभावे प्रप्रथमेनाऽपि ग्रहीतव्य, यदा अनन्तस्याऽपि प्रथमो भङ्गो न प्राप्यते तदा यतनया युक्तस्य यत्र यत्राल्पतरः कर्मबन्धो भवति तत्तत् गृह्णानस्याशठपरिणामस्य स्वयम एव भवतीति वाक्यशेष. । एव तावत् संयतानधिकृत्य यतनोक्ता ।

अथ संयतीरुद्दिश्याऽऽह-

**एमेव संजईण वि, विहि अविही नवरि तेसि नाणत्तं ।**
**सव्वत्थ वि सग्गामे, परगामे भावओ विभए ॥२८५॥**

यथा संयतानां स्वग्रामपरग्रामाऽऽदिविभागपुरस्सर भिन्नाभिन्नयोर्यतना भणिता, एवमेव संयतीनामपि वक्तव्या, नवर तासां नानात्व विशेषो, विधिभिन्नान्यविधिभिन्नानि च सभवन्ति । विधिभिन्नानि मुख्यपदे सर्वत्रापि गृह्णन्ते, स्वग्रामपरग्रामयोश्च प्रथमं षष्ठो भङ्गस्तदभावे पञ्चमस्तस्याप्यलाभे चतुर्थस्तस्याप्यप्राप्तौ भावतोऽप्यभिन्नानि तृतीयद्वितीयप्रथमभङ्गवर्तीनि यथाक्रम भजेत् प्रतिसेवेत, न कश्चिद्दोष. । इति कल्पटीकाया प्रलम्बप्रकृत समाप्तम् ।

" दुर्गस्थानबहुत्वभीरुकतया मन्दाऽपि दातु पदान्येनश्चूर्णिनिशीथचूर्णियुगलीयुग्मिद्युतीर्यादर्शनात् ।
प्रेर्य प्रेर्य पदे पदे निजगवीं क्षिप्रप्रचार मया,
कल्पे यत्प्रकृत प्रलम्बविषय तद्गोचरे चारिता ॥ १ ॥ "
बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० ।

(१५) प्रलम्ब न गृह्णीयात्-

**कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं ।**
**तुंबागं सिंगवेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥**

कन्द सूरणाऽऽदिलक्षण, मूल विदारिकारूप प्रलम्ब वा तालफलाऽऽदि आम छिन्न वा ( सन्निरमिति ) पत्रशाक, तुम्बाक त्वग्मिञ्जान्तर्वर्ति, आर्द्रा तुलसीमित्यन्ये, शृङ्गवेर चार्द्रकम्, आम परिवर्जयेदिति सूत्रार्थ ॥ ७० ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

**से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण पलंबगजातं जाणेज्जा ' तं जहा-अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालपलंबं वा झिज्झिरिपलवं वा सुरभिपलंबं वा सल्लरपलंबं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं पलंबजातं आमगं असत्थपरिणतं अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा (४५) ।** आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

विषयसूची-

( १ ) प्रलम्बग्रहणनिषेध ।
( २ ) प्रलम्बपदविवरणम् ।
( ३ ) आत्मविराधनभावना ।
( ४ ) पतनद्वारम् ।
( ५ ) सर्पाधिद्वारविवरणम् ।
( ६ ) उड्डाहद्वारविवरणम् ।
( ७ ) अनवस्थाद्वारम् ।
( ८ ) मिथ्यात्वद्वारम् ।
( ९ ) विराधनायां विशेष ।
( १० ) अथात्मविराधना ।
( ११ ) ग्रहणद्वारम् ।
( १२ ) तुल्ये रागद्वेषाभाव इति द्वारम् ।
( १३ ) निर्ग्रन्थीरधिकृत्य प्रलम्बग्रहणम् ।
( १४ ) निर्ग्रन्थीरधिकृत्य प्रलम्बग्रहणविषयाणि सूत्राणि ।
( १५ ) प्रलम्ब न गृह्णीयात् ।

**पलंबकूड-प्रलम्बकूट**-पु० । जम्बूद्वीपे रुचकवरपर्वतस्य षष्ठे कूटे, स्था० ८ ठा० ।

**पलंबजाय-प्रलम्बजात**-न० । प्रलम्बत्वावच्छिन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

**पलंबपाग-प्रलम्बपाक**-पु० । फलानां पचने, नि० चू० १ उ० ।

**पलंबमाण-प्रलम्बमान**-त्रि० । प्रकर्षेण लम्बमानम् । इतस्ततो मनाक् चलनेन लम्बमाने, रा० । ज्ञा० । औ० । आ० म० । " पालंबपलंबमाणकडिसुत्तसु कयासोहे । " कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

**पलंबवणमालाधर-प्रलम्बवनमालाधर**-त्रि० । प्रलम्बेन इति प्रलम्बा या वनमाला ता भरतीति प्रलम्बवनमालाधर । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आपादलम्बिन्या वनमालया युक्ते, कर्म० १ कर्म० । स्था० । उपा० । जा० ।

**पलग-पलक**-पु० । विनाशे, दर्श० ४ तत्त्व ।

**पलज्जण-प्रलज्जन**-त्रि० । प्ररज्यते इति प्ररञ्जन' । अनुरागवति, विपा० १ श्रु० २ अ० । सूत्र० । ज्ञा० ।

**पलत्त-प्रलप्त**-न० । शब्दे, औ० । भाषणे, रा० ।

**पलय-प्रलय**-पु० । प्रह्लाण स्वापावस्थायाम , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । जगत स्वकारणे लये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

**पलयघण-प्रलयघन**-न० । प्रलयकालिकमेघे, प्रा० ? पाद ।

**पलल पलल**-न० । पल-कलच् । मांसे, पङ्के, तिलचूर्णे च । पल लाति ला-कः । राक्षसे, पु० । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । विशे० ।

**पलालिय-प्रलपित**-त्रि० । प्रकीर्तिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पलवण-प्रलपन**-न० । उक्तौ, प्रश्न० ४ द्वार ।

**पलवण-पुं०** । वृक्षविशेषे, तस्य त्वगनन्तजीवा, न त्वन्येऽवय- वा । प्रश्न० ४ द्वार ।

**पलविय-प्रलपित**-न० । अनर्थकभाषणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**पलस-देशी**-कर्पासफले, स्वेदे च । दे०ना० ६ वर्ग ७० गाथा ।

**पलसू-देशी**-सेवायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा ।

**पलहि(ही)-कर्पास-पुं०** । कर्पासशब्दस्य पलहीत्यादेश (कपास) इतिख्यात सूत्रयोनिकफलक वृक्षभेदे, प्रा० २ पाद । दे० ना० ६ वर्ग ४ गाथा । " पलही ववण तूलो रुवो ।" पाइ० ना० २५५ गाथा ।

**पलाअ-देशी**-चौरे, दे० ना० ६ वर्ग ८ गाथा ।

**पलाइ (ण)-पलायिन्**-त्रि० । पलायनकर्तृषु, ये भट्टाऽऽदयो गच्छ० पृच्छां विना स्वकुटुम्बाः प्रणश्य गणान्तरं गच्छन्ति । बृ० १ उ० ३ प्रक० । ( गच्छात् पलायिनां साधूनां प्रतिक्रिया 'ओ- हावण ' शब्द तृतीयभागे १३० पृष्ठे दर्शिता )

**पलाइय-पलायित**-न० । कुतश्चिद् नाशने, दश० ४ अ० । क- र्तरि क्त० । देशान्तरं गते, नि० चू० १ उ० । नष्टे, ओघ० ।

**पलायमाण-पलायमान**-त्रि० । नश्यति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**पलाल-प्रलाल**-न० । प्रकृष्टा लाला यत्र तत्प्रलालम् । लालाप्र- कर्षशालिनि, " प्रलालं पलालं ।" अनु० । इह प्रकृष्टा लाला यत्र तत्प्रलालं वस्तु प्राकृते पलालमुच्यते, यत्र तु पलाला भावस्तत्कथं तृणविशेषरूपं पलालमुच्यत इति प्राकृतशैली- भङ्गीकृत्याऽयथार्थता मन्तव्या, संस्कृते तु तृणविशेषरूपं पलालं निर्व्युत्पत्तिकमवोच्यते इति न यथार्थोऽयथार्थोविन्ता सम्भवति । अनु० । आ०क० । सूत्र० । आ० म० । आचा० । "छि- प्पीरं च पलालं ।" पाइ० ना० १४७ गाथा ।

**पलालपीढय-पलालपीठक**-न० । पलालमये आसने, नि० चू० १२ उ० ।

**पलालपुंज-पलालपुञ्ज**-न० । मञ्चोपरि व्यवस्थिते पलालसमा- ते, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

**पलाव-प्रलाप**-पुं० । अनर्थक वचसि, स्था० १ श्रु० १ अ० ।

**नश्-धा०** । अदर्शने, " नशेर्णिउड नासव-हारव-विप्पगा- ल-पलावाः " ॥ ८ । ४ । ३१ ॥ इति नशेः पलावाऽऽदेशः । 'पलावइ ।' नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

**पलावि (ण)-प्रलापिन्**-त्रि० । अनर्थकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**पलास-पलाश**-पुं० । पलमश्नातीति पलाशः । मांसभक्षके, "नो य तं भणइ सि पलासो ।" पल मांसमश्नन्नपि पलाश इति गो- पालादिलक्षणं पलाशः । पत्रे, कल्प० ३ क्षण० । अनु० । आचा० । स्था० । आ०चू० । प्रज्ञा० । रा० । स्था० १ श्रु० ८ अ० । किंशुके, प्रज्ञा० १ पद । अनु० । नि०चू० । जं० । ('पलासफं' शब्द एतदुपपाताऽऽ- दिवक्तव्यता ) स्वनामख्याते नालवद् यत्प्रभवस्य कूटे, स्था० ८ ठा० । " इअ पलास इव पत्तं ।" पाइ० ना० १२७ गाथा ।

**पलाससमुग्गय-पलाशसमुद्गक**-पुं० । मुग-प्रसूनसमुद्गके, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**पलासी-देशी**-भल्लुके, दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा । द्रुमे, वाच० ।

**पलिअंक-पर्यङ्क**-पुं० । शयनविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । आचा० । आसनविशेषे, प्रश्न० । रा० । जं० ।

**पलिय-पलित**-न० । कर्मणि, जुगुप्सने, अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

**पलिउंचग-प्रतिकुञ्चक**-पुं० । निह्नव कुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

**पलिउंचण-प्रतिकुञ्चन**-न० । सरलतया प्रवृत्तस्य वचनस्या- खण्डने, भ० १२ श० ५ उ० ।

**परिकुञ्चन**-न० । परि समन्तात् कुञ्च्यते वक्रतामापद्यते कि- या येनाति । मायानुष्ठाने, ' पलिउंचणं च भयणं च, थिण्डि- स्सयणाणि य ।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स० । मायायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

**पलिउंचणा-परिकुञ्चना**-स्त्री० । परिकुञ्चनमपराधस्य क्षेत्रका- लभावानां गोपायनमन्यथा सतामन्यथा भणन परिकुञ्चना परि- वञ्चना वा । स्था० ४ ठा० १ उ० । गुरुदोषस्य मायया लघु दोषकथने, यथा सचित्तं प्रतिषेव्य मयाऽचित्तं प्रतिषेवित- मित्याहेति । व्य० १ उ० ।

**प्रतिकुञ्चना**-स्त्री० । प्रायश्चित्तविशेषे, व्य० ।

इदानीं प्रतिकुञ्चनाप्रायश्चित्तमाह-

> **दव्वे खेत्ते काले, भावे पलिउंचणा चउविगप्पा ।**
> **चोयग कप्पारोवण, इहं इं भणिया पुरिसजाया ॥१५०॥**

प्रतिकुञ्च्यते अन्यथा प्रतिसेवितमन्यथा कथ्यते, यया सा प्र- तिकुञ्चना । सा चतुर्विधा । तद्यथा- द्रव्ये द्रव्यविषया, एवं क्षेत्रे काले भावे च । अत्र परस्य प्रश्नमभिधित्सुराह ( चोयग इत्ति ) अत्र चोदको ब्रूते ननु कल्पेऽपि प्रायश्चित्तमभिहितं, व्यवहार- ऽपि तदेव प्रायश्चित्तमभिधीयते, इति द्वयोरप्यध्ययनयोर्विशे- षाभाव । अत्रार्थे सूरिवचनम्-( कप्पारोवणेत्यादि ) कल्पे क ल्पाध्ययने कल्पितानां मूलोत्तरगुणापराधप्रायश्चित्तानामारोप- ण दानमिह व्यवहाराध्ययने भणितम् । इं इति पादपूरणे इति वचनात्, सानुस्वारता प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि पदान्ते सानुस्वारता भवतीति । किमुक्तं भवति? -कल्पाध्ययने आपत्ति प्रायश्चित्तमुक्तं न तु दानम्, इह तु दानं भणितमिति विशेषः । तथा कल्पाध्ययने प्रायश्चित्तार्हा पुरुषजाता न भणिता इह तु भणि- ता इति महान् विशेषः । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासु प्रथमतो द्रव्याऽऽदिवि- षयिकां प्रतिकुञ्चनां व्याख्यानयति-

> **सचित्ते अच्चित्तं, जणवयपडिसेवियं तु अद्धाणे ।**
> **सुभिक्खम्मि दुभिक्खे, हट्टेण तहा गिलाणेणं ॥१५१॥**

द्रव्यविषया प्रतिकुञ्चना नाम सचित्ते, उपलक्षणमेतत्-मिश्रे मा प्रतिसेविते अचित्तं मया प्रतिसेवितमित्यालोचयति । क्षेत्र- प्रतिकुञ्चना जनपदे प्रतिसेव्य अध्वनि प्रतिसेवितमित्यालोच- यति । कालप्रतिकुञ्चना यत्सुभिक्षे काले सचित्ता दुर्भिक्षे मया प्रतिसेवितमित्यावेदयति । भावप्रतिकुञ्चना यत् हृष्टेन सता प्रतिसेव्य ग्लानेन सता मया प्रतिसेवितमित्यालोचयति । यथा

प्रतिकुञ्चना । व्य० १ उ० । (मासिकाऽऽदिपरिहारस्थानाऽऽपन्नस्य प्रतिकुञ्चकस्य दृष्टान्तः 'पडिकुस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १४५ पृष्ठे व्याख्यात.)

**पलिउंचमाण–प्रतिकुञ्चमान**–त्रि० । गोपयति, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० ।

**पलिउंचिय–प्रतिकुञ्च्य**–अव्य० । 'कुञ्च कुञ्च' कौटिल्याल्पीभावयोः । परि सर्वतो भावे परि समन्तात् कुञ्चित्वा कौटिल्यमाचर्य परिकुञ्च्य । सूत्रे "डभ्रकाविण्डाऽऽदीनाम्" इति विकल्पवचनतो रेफस्य लकारभावः । कौटिल्यमापाद्येत्यर्थे, व्य० १ उ० । गोपयित्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । नि० चू० ।

**पलिउंजिय–परियौगिक**–पुं० । परि समन्ताद् यौगिकाः । परिज्ञानिनि, भ० २ श० ५ उ० ।

**पलिओवम–पल्योपम**–न० । पल्येनोपमा येषु तानि पल्योपमानि । असंख्यातवर्षकोटीकोटिप्रमाणेषु कालविशेषेषु, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

से किं तं पलिओवमे ?। पलिओवमे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–उद्धारपलिओवमे, अद्धापलिओवमे, खेत्तपलिओवमे अ ।

तत्र पल्योपमं त्रिधा । तद्यथा–(उद्धारपलिओवमे इत्यादि) तत्र वक्ष्यमाणस्वरूपवालाग्राणां, तत्खण्डानां वा, तद्द्वारेण द्वीपसमुद्राणां वा प्रतिसमयसमुद्धारणमपोद्धरणमुद्धारः, तद्विषयं तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् । तथा–अद्धेति कालः, स चेह प्रस्तावाद्वक्ष्यमाणवालाग्राणां, तत्खण्डानां वा प्रत्येकं वर्षशतलक्षण उद्धारकालो गृह्यते । अथवा–यो नारकाऽऽद्यायुःकालः प्रकृतपल्योपममेयत्वेन वक्ष्यते स एवोपादीयते, ततस्तत्प्रधानं पल्योपममद्धापल्योपमं, तथा क्षेत्रम् आकाशं तदुद्धारप्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमम् । अनु० । (उद्धारपल्योपमव्याख्या 'उद्धारपलिओवम' शब्दे द्वितीयभागे ८८२ पृष्ठादारभ्य गता)

अथाऽद्धापल्योपमं निरूपयितुमाह–

से किं तं अद्धापलिओवमे ?। अद्धापलिओवमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सुहुमे अ, वावहारिए अ । तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे, तत्थ णं जे से वावहारिए से जहानामए पल्ले सिआ जोअणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उव्वेहेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं से णं पल्ले एगाहियवेआहिअतेआहिअ०जाव भरिए वालग्गकोडीणं, ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा०जाव नो पलिविद्धंसिज्जा नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा, ततो णं वाससए वाससए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्ठिए भवइ, से तं वावहारिए अद्धापलिओवमे । "एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी भविज्ज दसगुणिआ । तं ववहारिअस्स अद्धासागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥ १ ॥" एएहिं ववहारिएहिं अद्धासागरोपमपलिओवमेहिं किं पओअणं ?। एएहिं ववहारिएहिं अद्धापलिओवमसागरोवमेहिं नत्थि किंचि पओअणं, केवलं पण्णवणा पण्णविज्जइ । से तं ववहारिए अद्धापलिओवमे । से किं तं सुहुमे अद्धापलिओवमे ?। सुहुमे अद्धापलिओवमे से जहाणामए पल्ले सिआ जोअणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उड्ढं उव्वेहेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, से णं पल्ले एगाहिअवेआहिअतेआहिअ० जाव भरिए वालग्गकोडीणं, तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कज्जइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्ता सुहुमस्स पणगसुहुमसरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा, ते णं वालग्गा णो अग्गी०जाव नो पलिविद्धंसिज्जा नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, ततो णं वाससए वाससए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ, से तं सुहुमे अद्धापलिओवमे । "एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिआ । तं सुहुमस्स अद्धासागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥ १ ॥" एएहिं सुहुमेहिं अद्धापलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ?। एएहिं सुहुमेहिं अद्धापलिओवमसागरोवमेहिं नेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं आउअं मविज्जति (१३६) ।

(से किं त अद्धापलिओवमे इत्यादि) इदमप्युद्धारपल्योपमवत्सर्वं भावनीयं, नवरमुद्धारकालस्येह वर्षशतमानत्वाद् व्यावहारिकपल्योपमे संख्येया वर्षकोट्योऽवसेयाः, सूक्ष्मपल्योपमे त्वसंख्येया इति । अनु० । (नैरयिकाऽऽदीनां स्थितिपरिमाणम् 'ठिइ' शब्दे चतुर्थभागे १७१७ पृष्ठे उक्तम्)

से तं सुहुमे अद्धापलिओवमे । से तं अद्धापलिओवमे । (१४२) ।

उक्तं सप्रयोजनमद्धापल्योपमम् । अनु० ।

से किं तं खेत्तपलिओवमे ?। खेत्तपलिओवमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सुहुमे अ, वावहारिए अ । तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे, तत्थ णं जे से ववहारिए से जहानामए पल्ले सिआ जोअणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उव्वेहेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, से णं पल्ले एगाहिअवेआहिअतेआहिअ जाव०भरिए वालग्गकोडीणं, ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा० जाव णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा, जे णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा तेहिं वालग्गेहिं अप्फुन्ना तओ णं समए समए एगमेगं आगासपएसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे ०जाव निट्ठिए भवइ से तं ववहारिए खेत्तपलिओवमे । "एएसिं पल्लाणं, कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिआ । तं ववहारिअस्स खेत्तसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥ १ ॥" एएहिं ववहारिएहिं खेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ?। एएहिं ववहारिएहिं नत्थि किंचि पओअणं, केवलं पण्णवणा प-

घपविज्जइ । से तं ववहारिए । से किं तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे ?। खेत्तपलिओवमे से जहाणामए पल्ले सिआ जोअणं आयाम ०जाव परिक्खेवेणं से णं पल्ले एगाहिअवेआहियतेआहिय० जाव भरिए वालग्गकोडीणं तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखिज्जाइं खंडाइं कज्जइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा, ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा०जाव णो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, जे णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा तेहिं वालग्गेहिं अप्फुन्ना वा अणाफुन्ना वा तओ णं समए समए एगमेगं आगासपएसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे ०जाव निट्ठिए भवइ । से तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे ॥

क्षेत्रपल्योपममप्युक्तानुसारत एव भावनयिम्, नवरं व्यावहारिकपल्योपमे(जे णं तस्स पल्लस्सेत्यादि)तस्य पल्यस्यान्तर्गता नभ प्रदेशास्तैर्वालाग्रैर्ये (अप्फुण त्ति) आस्पृष्टा व्याप्ता आक्रान्ता इति यावत्,तेषां सूक्ष्मत्वात् प्रतिसमयमेकैकापहारे असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योऽनिक्रामन्त्यतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानं प्रस्तुतपल्योपम ज्ञातव्यं, सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमे तु सूक्ष्मैर्वालाग्रै स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च नभ प्रदेशा गृह्यन्ते, अतस्तद्व्यावहारिकादसख्येयगुणकालमानं द्रष्टव्यम् । आह-यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्च नभ प्रदेशा गृह्यन्ते, तर्हि वालाग्रै. किं प्रयोजनं?,यथोक्तपल्यान्तर्गतनभ प्रदेशापहारमात्रत सामान्येनैव वक्तुमुचितं स्यात् , सत्यं, किं तु प्रस्तुतपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि कानिचिद्यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभ प्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरित्यतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद्वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति ॥

तत्थ णं चोअए पन्नवगं एवं वयासी–अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणाफुण्णा ?। हंता अत्थि । जहा को दिट्ठंतो ?। से जहाणामए कोट्ठए सिआ कोहंडाणं भरिए तत्थ णं माउलिंगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं बिल्ला पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं आमलगा पक्खित्ता ते वि माया,तत्थ णं वयरा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं चणगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं मुग्गा पक्खित्ता ते वि माया,तत्थ णं सरिसवा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं गंगावालुआ पक्खित्ता सा वि माया। एवमेव एएणं दिट्ठंतेणं अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणाफुण्णा। "एएसिं पल्लाणं,कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिआ। तं सुहुमस्स खेत्तसा-गरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं ॥१॥" एएसिं सुहुमेहिं खेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं ?। एएहिं सुहुमपलिओवमसागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वा मविज्जंति । ( १४३ )।

( तत्थ णं चोयए पणवगमित्यादि ) तत्र नभ.प्रदेशानां स्पृष्टास्पृष्टत्वप्ररूपणे सति जातसन्देह. प्रेरक प्रज्ञापकमाचार्यमेवमवादीद्भदन्त ! किमस्त्येतद्यदुत तस्य पल्यस्यान्तर्गतास्ते केचिदप्याकाशप्रदेशा विद्यन्ते ये तैर्वालाग्रैरस्पृष्टा ?। पूर्वोक्तप्रकारेण वालाग्राणा तत्र निविडतयाऽवस्थापनाच्छिद्रस्य क्वचिदप्यसंभवाद् दुरुपपादमिद यत्तत्रास्पृष्टा नभःप्रदेशा. सन्तीति प्रच्छकाभिप्राय , तत्रोत्तरम्–हन्तास्त्येतन्नात्र संदेहः कर्त्तव्यः, इदं च दृष्टान्तमन्तरेण वाङ्मात्रतः प्रतिपत्तुमशक्त पुनर्विनेय पृच्छति । यथा–कोऽत्र दृष्टान्त ?। प्रज्ञापक आह–( से जहानामए इत्यादि ) अयमत्र भावार्थ –कूष्माण्डाना पुस्फलाना भृते कोष्ठके स्थूलदृष्टीना तावद् भृतोऽयमिति प्रतीतिर्भवति । अथ कूष्माण्डाना बादरत्वात्परस्परं तानि छिद्राणि सम्भाव्यन्ते येष्वन्यापि मातुलिङ्गानि बीजपूरकाणि मान्ति,तत्प्रक्षेपे च पुनर्भृतोऽयमिति प्रतीतावपि मातुलिङ्गच्छिद्रेषु विल्वानि प्रक्षिप्तानि तान्यपि मान्तीत्येवं तावद्यावत्सर्षपच्छिद्रेषु गङ्गावालुका प्रक्षिप्ता साऽपि माता । एवमर्वाग्दृष्टयो यद्यपि यथोक्तपल्ये शुषिराभावतोऽस्पृष्टनभ प्रदेशान्न सम्भावयन्ति तथापि वालाग्राणा बादरत्वादाकाशप्रदेशाना तु सूक्ष्मत्वात् सन्त्येवाऽसंख्याता अस्पृष्टा नभ प्रदेशा., दृश्यते च निविडतया संभाव्यमानेऽपि स्तम्भाऽऽदौ आस्फालिताय.कीलकाना बहूना नदन्त.प्रवेशो,न चासौ शुषिरमन्तरेण संभवति, एवमिहापि भावनीयम् ॥१४३॥ ( द्रव्यशरीरवक्तव्यता स्वस्वस्थाने )

से तं सुहुमखेत्तपलिओवमे । से तं खेत्तपलिओवमे ।

अनु० । आ० म० । प्रव० । भ० । कर्म० । ज० । प्रज्ञ० । विशे० । स्था० । पल्यवत्पल्यस्तेनोपमा यस्मिंस्तत्पल्योपमम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । आ० म० । "पलिओवम वाससयसहस्समब्भहियं।" मकारस्य प्राकृतप्रभवत्वाद् वर्षशतसहस्राभ्यधिकमित्यर्थ । अथवा–पल्योपमं वर्षशतसहस्रमभ्यधिकं पल्योपमादित्येवं गमनिका । औ० ।

**पलित–प्रलीयमान**–त्रि० । प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते य स प्रलीयमान । शोभनभावयुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । समन्ताद् गच्छति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

**पलिगोव–परिगोप**–पु० । परि गोपनं परिगोप । द्रव्यत पाकाऽऽदौ भावतोऽभिष्वङ्गे सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदणपूयणा इहं ।

महान्तं संसारिणं दुस्त्यजत्वान्महता वा संरम्भेण परिगोपनं परिगोपो,द्रव्यत पाकाऽऽदिर्भावतोऽभिष्वङ्गस्त ज्ञात्वा स्वरूप तस्तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य याऽपि च प्रव्रजितस्य सतो राजाऽऽदिभि कायाऽऽदिभिर्वन्दना वस्त्रपात्राऽऽदिभिश्च पूजना ता च इहाऽस्मिन् लोके मौनीन्द्रे वा शासने व्यवस्थितेन कर्मोपशमजं फलमित्येवं परिज्ञायोत्सेको न विधेय ॥ ११ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**पलिच्छन्न–परिच्छन्न**–त्रि० । परिच्छदोपेते, व्य० ३ उ० । प्रतिनिरुद्धे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

**पलिच्छिंदिय–परिच्छिद्य**–अव्य० । शस्त्राऽऽदिना (नि० चू० ५ उ० ) छित्त्वेत्यर्थे आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अपनीयेत्यर्थे आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

पलित्त-प्रदीप्त-त्रि० । " प्रदीपिदोहदे लः " ॥ ८ । १ । २२१ ॥ इत्यनेन दस्य ल. । प्रा० १ पाद । प्रज्वलिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पलित्तणेह-पर्याप्तस्नेह-त्रि० । पर्याप्तः परिपूर्णः स्नेहस्तैलाऽऽदिरूपो यस्य तत्पर्याप्तस्नेहम् । पूर्णस्नेहे,जी०३प्रति०४अधि० ।

पलिबाहिर-परिबाह्य-न० । समन्ताद् बाह्ये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

पलिभाग-परिभाग-पुं० । सादृश्ये, कर्म० ५ कर्म० ।

पलिभिंदिय-परिभिद्य-अव्य० । परिज्ञाप्येत्यर्थे, परिभिद्येत्यर्थे च । " पलिभिंदियाणं तो पच्छा पादुद्धट्टुमुद्धिपहाणं ति । " ॥ २ ॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

पलिभेय-प्रतिभेद-पुं० । खण्डाखण्डीकरणे, नि० चू० ५ उ० ।

पलिमंथ-परिमन्थ-पुं० । परिमश्नन्ति इति परिमन्था. । व्याघातकेषु, स्था० ६ ठा० । " विलोडनाय व्याघाताय स्थिते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । विघ्ने, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" पलिमंथमहं वियाणिया,जा वि य वंदणपूयणा इहं ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पलिमथग-परिमन्थक-पुं० । वृत्तचणके,कालचणके च । भ० ६ श० ७ उ० । विलम्बे, स्था० ७ उ० ।

पलिमंथु-परिमन्थु-पु० । परिमथ्नन्तीति परिमन्थव. । उणाऽऽदित्वाद् उप्रत्ययः । स्था० ६ ठा० । सर्वतो विलोडयितरि,

छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता । तं जहा-कुकुइए संजमस्स पलिमंथू, मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू, चक्खुलोले इरियावहियाए पलिमंथू, तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू, इच्छालोले मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू, भुज्जो भुज्जो णियाणकरणे सिद्धिमग्गस्स पलिमंथू, सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ॥ १३ ॥ बृ० ६ उ० ।

( ' कप्प ' शब्दे तृतीयभागे २२६ पृष्ठे सूत्र व्याख्यातम )

पलिमद्द-परिमर्द-पु० । परिमर्दयन्ति ये ते परिमर्दका. । परिमर्दोपजीवके, नि० चू० ६ उ० ।

पलिमद्दवंत-पलिमर्दयत्-त्रि० । शरीरमर्दनं कारयति, नि० चू० १७ उ० ।

पलिय-पलित-न० । कर्मणि, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । पल-भावे क्त' । केशाऽऽदौ जरया जाताया श्वेततायाम्, मासाऽऽदेर्नैलिपरीनभावे च । कर्तरि क्त' । वृद्धे, स्त्रियां पलिता । योगिनि तु पलिक्नीत्युक्तम् । वाच० । आ० म० । आचा० ।

पलियंक-पर्यङ्क-पुं० । शय्याविशेषे, व्य० १० उ० । दश० । जीत० । भ० । ज्ञा० । नि० चू० । कल्प० । जी० ।

पलियंकबंध पर्यङ्कबन्ध-पु० । आसनविशेषे, पो० १४ विव० ।

पलियंत-पर्यन्त-त्रि० । परि समन्तादन्तो यस्येति पर्यन्त । भान्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

पल्यान्त-न० । त्रिपल्योपमान्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

पलियत्तयकण्णहत्थ-पलितत्वकर्णहस्त-त्रि० । जराग्रस्तत्वकर्णहस्त, न हि दिज्जइ आहरणं,पलिय तयकण्णहत्थस्स । त्रिशे० ।

पलियस्सओ-परिपार्श्वतस्-अव्य० । समीप, " पलियस्सओ पुण अत्थि ।" भ० ६ श० ५ उ० ।

पलियाम-पलिनाऽऽम-त्रि० । परिपक्वतां प्राप्याऽऽमे यत्परिपक्वं पर्यायं वा प्राप्तम्, तथाऽऽग्यामग । नि० चू० १५ उ० ।

पलिल पलित-त्रि० । ' पलिलं वा " ॥ ८ । १ । २१२ ॥ इति सूत्रेण तकारस्य वैकल्पिक लकार. । जराग्रस्ते, प्रा० १पाद ।

पलिवग-प्रदीपक-त्रि० । प्रदीपनकर्तरि प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पलिविय-प्रदीपित-त्रि० । ' पानीयाऽऽदिष्वित्" ॥ ८ । १ । १०१ ॥ इति दीर्घेकारस्य ह्रस्वेकार. । ज्वलिते, प्रा० १ पाद ।

पलिह-परिघ-पुं० । अर्गलादण्डे, औ० ।

पलिस्सइउ-परिष्वक्तुम्-अव्य० । परिष्वङ्गं कर्तुमित्यर्थे, बृ० ४ उ० ।

पलिस्सयण-परिष्वजन-न० । आश्लेषैर्निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थीपरिष्वङ्गः । बृ० ।

सूत्रम्-

निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिया वा भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ९ ॥ णिग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा भगिणी वा धूता वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१०॥

अथास्य सूत्रद्वयस्य क. सम्बन्ध इति ?, आह—

उवहयभावं दव्वं, सचित्तं इय णिवारियं सुत्ते ।
भावासुभसंवरणं, गिलाणसुत्ते वि जोगोऽयं ॥३५२॥

दुष्टताऽऽदिभिर्दोषैरुपहतो दूषितो भावः परिणामो यस्य तदुपहतभावं पञ्चविधं सचित्तद्रव्यं प्रव्राजनाऽऽदौ ( इय ) एवमनन्तरसूत्रे निवारितम् । इहापि ग्लानसूत्रेऽशुभभावस्य परिपूजनानुमोदनलक्षणस्य संवरणं निवारणं विधीयतेऽयं योग संबन्ध । अनेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य ( ६-१० ) व्याख्या-निर्ग्रन्थीं प्रागुक्तशब्दार्थां, चशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे, णमिति वाक्यालङ्कारे । ( गिलायमाणिं ति ) ग्लायन्तीं, ' ग्लै ' हर्षक्षये, शरीरक्षयेण हर्षक्षयमनुभवन्तीं पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा निर्ग्रन्थ सन् परिष्वजेत् । प्रपतन्तीं धारयन् निवेदयन् स्थापयन् वा शरीरं स्पृशेत् । तत्र पुरुषस्पर्शं सा निर्ग्रन्थी मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता स्वादयेत् अनुमोदयेत्, तत आपद्यते चातुर्मासिक परिहारस्थानमनुद्घातिकम । एवं निर्ग्रन्थसूत्रमपि व्याख्येयम्,नवरं तु माता वा भगिनी वा दुहिता वा परिष्वजेत् । इति सूत्रार्थ । अथ निर्युक्तिविस्तर । तत्र पर प्राऽऽह-तत्र पुरुषोत्तमो धर्म इति कृत्वा प्रथम निर्ग्रन्थस्य सूत्रमभिधातव्य, ततो निर्ग्रन्थ्या अत किमर्थं व्यत्यास इति ? । आह-

कामं पुरिसाऽऽदीया, धम्मा सुत्ते विवज्जओ तह वि ।
दुब्बलचलस्सभावा, जेणित्थी तो कता पढमं ॥३५३॥

काममनुमतमिद यत्पुरुषाऽऽदय पुरुषमुख्या धर्मा भवन्ति,

तथाऽपि सूत्रे विपर्ययः कृतः । कुतः ?, इत्याह-दुर्बला धृतिबलविकलस्वभावा स्त्री येन कारणेन भवति ततः प्रथममसौ कृता इत्यदोषः ।

वइणि त्ति णवरि णम्मं,अण्णा वि ण कप्पती सुविहियाणं ।
अवि पसुजाती आलिं गिउं पि किमुता पलिस्सइउं ।३५४।

इह सूत्रे यत् व्रतिनी निर्ग्रन्थी भणिता तन्नवरं नर्म चिह्नमुपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेनान्याऽपि स्त्री सुविहितानां न कल्पते परिष्वक्तुम् । इदमेव व्याचष्टे-पशुजातिरपि पिकीप्रभृतिपशुजातीयस्त्रीरप्यालिङ्गितुं न कल्पते किमुत यत् परिष्वक्तुम् । यत् सूत्रे परिष्वजनमभिहितं तत्कारणिकम् ।
अत एवाऽऽह-

निग्गंथो निग्गंथिं, इत्थिं गिहित्थं व संजयं चेव ।
पलिसयमाणे गुरुगा, दो लहुगा आणमादीणि ।।३५५।।

निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं परिष्वजति चतुर्गुरुकाः, तपसा कालेन च गुरवः, स्त्रियमविरतिकां परिष्वजति त एव तपसा गुरवः, गृहस्थं परिष्वजति चतुर्लघुकाः, कालेन गुरवः, संयतं परिष्वजति त एव, द्वाभ्यामपि लघवस्तपसा कालेन च, सर्वत्र चाऽऽज्ञाऽऽदीनि दूषणानि भवन्ति ।
इदमेव व्याचष्टे-

निग्गंथी गुरुगा गिहि-पासंडिसमणा य चउलहुगा ।
दोहिं गुरुगा य लहुगा, कालगुरू दोहि वी लहुगा ।३५६।

निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थीं परिष्वजतश्चतुर्गुरवो द्वाभ्यामपि गुरवः, स्त्रिय परिष्वजत एव तपोगुरवः, गृहस्थं परिष्वजतश्चतुर्लघवः कालगुरवः, पाखण्डिपुरुषं श्रमणं वा साधुं परिष्वजतश्चतुर्लघवः । एते द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघवः ।

मिच्छत्तं उड्डाहो, विराहणा फास भावसंबंधो ।
आतंको दोण्ह भवे, गिहिकरणे पच्छकम्मं वा ।।३५७।।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थ्या परिष्वजनं दृष्ट्वा यथा भद्रकाऽऽद्यां मिथ्यात्वं गच्छेयुः । एते यथा-वादिनस्तथा कारिणो न भवन्ति । उड्डाहो वा भवेत्-एते संयतीभिरपि सममब्रह्मचारिणः । एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम् । एवं च प्रवचनस्य विराधना भवेत् । तेन वा स्पर्शेन द्वयोरपि मोहोदये संजाते भावसंबन्धोऽपि स्यात्, ततश्च प्रतिगमनाऽऽदयो दोषाः । आतङ्को वा द्वयोरन्यतरस्य भवेत् स परिष्वजनं संक्रमेत् । गृहस्थस्य च परिष्वजनकरणात्पश्चात्कर्मदोषो भवेत् ।
इदमेव पश्चार्द्धं व्याचष्टे-

कोढखए कच्छुजरे, अ परोप्परसंकमंते चउभंगो ।
इत्थीणाणिसुहीण य, अवियत्ती गेण्हणाऽऽदी य ।।३५८।।

कुष्ठक्षयकच्छूज्वरप्रभृतिके रोगे परस्परं संक्रामति चतुर्भङ्गी भवति-संयतस्यं संयत्यां कुष्ठाऽऽदि संयत्याः संक्रामति संयत्याः संयत्यां वा संयतस्य संक्रामति, द्वयोरन्यस्यान्यस्य संक्रामति, अथाऽऽत्मभङ्गचयं रोगसंक्रमणरुता परितापनाऽऽदयो दोषाः । (इत्थी इत्यादि) तस्याः स्त्रियः स्वजनैर्ज्ञातेर्मातयां य च सुहृदस्तेषामप्रीतिकं भवति, ततश्च ग्रहणाऽऽदयो दोषाः ।

गिहिएसु पच्छकम्मं, भंगो ते चेव रोगमादीया ।
संजात असंखडाऽऽदी,भुत्ताभुत्ते य गमणाऽऽदी ।।३५९।।

गृहिषु परिष्वज्यमानेषु पश्चात्कर्म भवति, संयतेन स्पृष्टोऽऽयमिति कृत्वा गृहस्थः स्नानं कुर्यादिति भावः । अविरतिका । परिष्वक्ते भावसंबन्धोऽपि जायेत । ततश्च व्रतभङ्गो ब्रह्मचर्यविराधना भवेत्, रोगसंक्रमणाऽऽदयश्च त एव दोषाः, संयतं तु परिष्वजतः तेन सहासंखडदयो दोषाः । भुक्तभोगिनश्च स्मृतिकरणेनाभुक्तभोगिनः कौतुकेन प्रतिगमनाऽऽदयो दोषाः । एवं तावन्निष्कारणे अग्लानयोरुक्तम् ।

एमेव गिलाणाए, सुत्तऽफलं कारणे तु जयणाए ।
कारणे गएऽगिलाणा,गिहकुल पंथे व पत्ता वा ।।३६०।।

एवमेव ग्लानाया अपि संयत्याः परिष्वजने क्रियमाणे दोषजालं मन्तव्यम् परः आह-नन्वेवं सूत्रमफलं प्राप्नोति, तत्र हि परिष्वजनमनुज्ञातं, त्वदनं पुनः प्रतिषिद्धम् । सूरिराह-कारणे यतनया क्रियमाणे परिष्वजने सूत्रमवतरति । कथं पुनस्तस्य संभव इत्याह-कारणे काचिदार्यिका (एग त्ति) एकाकिनी संवृता सा च पश्चाद्ग्लानीभूता, (गिहिकुल त्ति) गृहस्थकुला निश्रया सा स्थिता । अथवा-(गिहिकुल त्ति)माताऽस्यैककुलसमुद्भूता भगिन्यादिसंबन्धेन जिनका गृहस्थता परित्यज्य तदन्तिके प्रव्रजिता, सा चानीयमाना पथि वा वर्त्तमाना विवक्षितग्रामं वा प्राप्ता ग्लाना जाता ।
तत्रेयं यतना-

माता भगिणी धूता, तधेव सण्णातिगा य सड्ढीए ।
गारत्थि कुलिंगी वा, असोय सोए य जयणाए ।।३६१।।

तस्या संयत्या या माता भगिनी दुहिता वा तया तस्या उत्थापनाऽऽदिकं कार्यते । एतासामभावे या सज्ञातिका मागिनेयीपौत्रीप्रभृतिका, तया कार्यते । तस्या अभावे श्राद्धिकया, तदभावे गृहस्थया तथा भद्रिकया, कुलिङ्गिन्या वा कार्यते, तास्वपि प्रथममशौचवादिनीभिस्ततः शौचवादिनीभिरपि यतनया कारयितव्यम् ।

एयासि असतीए, अगार सणाय णालवद्धो य ।
समणो अणालवद्धो, तस्सऽसति गिही अवयतुल्लो ।३६२।

एतासां स्त्रीणामभावे योऽगारः सज्ञातकस्तस्या स्वजनः, स च मातुलपुत्राऽऽदिरपि स्यात्, अतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह-स च नालवद्धो वल्लीबद्ध, पितृभ्रातृपुत्रप्रभृतिक इत्यर्थः । स उत्थापनाऽऽदिकं तस्याः कार्यते, तदभावे श्रमणोऽपि यस्तस्या नालबद्धो असमानतया, तस्यासति अनालबद्धोऽपि गृही वयसा अतुल्यः स कार्यते ।

दोन्नि वी णालवद्धासु, जुंजंती एत्थ कारणे ।
किडी कण्णा वि मज्झा वा, एमेव पुरिसेसु वि ।।३६३।।

नालबद्धाभावे द्वावपि स्त्रीपुरुषावनालबद्धावपि कारणे आगाढे उत्थापनाऽऽदिकं कारयितुं युज्यते । तत्रापि प्रथम ( किडि त्ति ) स्थविरा स्त्री कार्यते, तदभावे कन्यका, तदप्राप्तौ मध्यमा । एवं पुरुषेष्वपि वक्तव्यम् ।

अमुमेवार्थं पुरातनगाथया व्याख्यानयति-

असई य माउवग्गो, पिता व भाता व सो करेज्जाहि ।
दोण्ह वि तेसिं करणं, जति पत्थं तेण जतणाए ।।३६४।।

मातृवर्गो नाम स्त्रीजनस्तस्याभावे य अस्याः संबन्धी पिता भ्राता वा स उत्थापनाऽऽदिकं करोति । ( दोएह वि इत्यादि ) द्वयोरपि तयोः करणम् । किमुक्तं भवति ?-पथि वर्तमानाया प्राप्ताया वा । अथवा-निजकाया वा अनिजकाया वा अनन्तरोक्तविधिना तस्या उत्थापनाऽऽदिकं कर्तव्यम् । यदा च पथि ग्लाना संवृत्ता तदा स्वयमेव यतनया गोपालकञ्चुकनिरोधने विधूय तस्याः परिकर्म करोति । अथवा-(दोरिह वि त्ति ) विभक्तिव्यत्ययाद् द्वाभ्यामपि द्रष्टव्यम् ।

तत्राऽयमर्थः-

थीपुरिसणालऽणाले, सपक्खपरपक्ख सोयऽसोए य ।
आगाढम्मि उ कज्जे, करेंति सव्वे वि जतणाए ॥३६५॥

आगाढे कार्ये स्त्रिया पुरुषेण वा नालबद्धेन वा अनालबद्धेन वा स्वपरपक्षेण वा शौचवादिना अशौचवादिना वा सर्वेऽपि यतनया कुर्वन्ति ।

पंथम्मि अपंथम्मि व, असस्स, सती सती व कुणमाणो ।
अंतरियकंचुकादी, सच्चिय जयणा उ पुव्वुत्ता ॥ ३६६॥

पथि अपथि वा वर्तमानाया अन्यस्याभावे यद्वा अस्ति अन्य परं स भणितोऽपि न करोति, ततः स्वयमेव कुर्वन् गोपालकञ्चुकाऽऽदिभिरन्तरित करोति । अत्र च सैव पूर्वोक्ता यतना मन्तव्या या तृतीयोद्देशके प्रथमसूत्रे ग्लानसंयत्याः प्रतिचरणे प्रतिपादिता । एवं तावदेकाकिनः साधोर्विधिरुक्तः ।

अथ गच्छे तमेवाऽऽह-

गच्छम्मि पिता पुत्तो, भाता वा अज्जगो व णत्तू वा ।
एतेसिं असतीए, तिविहा वि करेंति जयणाए ॥३६६॥

गच्छे वसता यदि तस्या पिता पुत्रो भ्राता वा आर्यको वा पितामहाऽऽदिर्नप्ता वा पौत्रोऽस्ति, तत संयतीनामपरस्य वा स्त्रीजनस्याभावे तैः कर्त्तव्यम् । एतेषां पितृप्रभृतीनामभावे त्रिविधा अपि स्थविरमध्यमतरुणाः साधवो यतनया कञ्चुकतिरोहितं कुर्वन्ति, इदं गच्छे प्राप्ताया अभिहितम् ।

अथ पथि वर्त्तमानाया उच्यते-

दोण्णि वि वयंति पंथं, एकतरा दोण्णि वा न वचंती ।
गच्छ णिसए व जतणा, जा वुत्ता णायगादीया ॥३६७॥

ये अपि द्वे निजकानिजकसंयत्यौ पन्थानं व्रजत.-एकतरा वा व्रजति, द्वे अपि न व्रजतः, एवमेते त्रयः प्रकाराः । अत्र तृतीय. प्रकारः शून्यस्थानास्थिताना वा अशक्नुवता गच्छमप्राप्तानां भवति, ? त्रिष्वपि चामीषु या पूर्वं ज्ञातकाऽऽदिक्रमेण प्रोक्ता ।

एवं पि कीरमाणे, साइज्जणे चउगुरु ततो पुच्छा ।
तम्मि अवत्थाएँ भवे, तहिगं च भवे उदाहरणं ॥३६८॥

एवमपि यतनया क्रियमाणे परिकर्मणि यदि पुरुषस्पर्श स्वादयति तदा चतुर्गुरु, ताभ्यामपि तप कालाभ्या गुरुव. । सत शिष्य पृच्छति-यस्या ग्लानावस्थायामुत्थातुमपि न शक्यते तस्यामपि मैथुनाभिलाषो भवतीति कथं श्रद्धेयम् ?। सूरिराह- तत्रेति तादृगवस्थायामपि मोहोदये इदमुदाहरणं भवेत् ।

कुलवंसम्मि पहीणा, ससमभसएहिँ होइ आहरणं ।
सुकुमालियपव्वज्जा, सपच्चवाता य फासेणं ॥ ३६९ ॥

शशक-भसकाभ्यामाहरणं भवति । कथमित्याह-कुले वंशे सर्वस्मिन्नशिवेन प्रक्षीणे सति सुकुमारिकायाः प्रव्रज्या ताभ्यां दत्ता, सा चातीव सुकुमारा रूपवती च ततस्तेन स्पर्शदोषेणालक्षणतया रूपदोषेण च सप्रत्यपाया ज्ञाता ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्याति-

जियसत्तु नरवरिंद-स्स अंगया ससभसे य सुकुमाली ।
धम्मे जिणपन्नत्ते, कुमारगा चेव पव्वइता ॥ ३७० ॥
तरुणाइन्ने निच्चं, उवस्सए सेसिगाण रक्खट्ठा ।
गणिणिगुरुभातुकहणं, वीसुवस्सएँ हिंडए एको ॥३७१॥
इक्खागे दसभागं, सव्वे वि य वणिहणो उ छब्भागं ।
अम्हं पुण आयरिया, अद्धं अद्धेण विभयंति ॥३७२॥
हतमहितविप्परद्धे, वणिहकुमारेहिँ तुरुमिणीनगरे ।
किं काहिति हिंडंतो,पच्छा ससग भसगओ चेव ॥३७३॥
भायणुकंपपरिण्णा, समोहयं एगों भंडगं वितिओ ।
आसत्थवणियगहणं, भातुकसारिक्खीदक्खा य ॥३७४॥

"इहेव अद्धभरहे वणवासीए नयरीए जिट्ठभाउणो जरकुमारस्स मए जियसत्तू राया, तस्स दुवे पुत्ता, ससओ भसओ धूया य सुकुमालिया नामेणं । अन्नया ते भाउणो दो वि पव्वइया गीयत्था जाया । सा भायगदंसणत्थं आगया, नवरं सव्वे वि कुलवंसपहीणा सुकुमालियं एकं मोत्तुं । सा तेहिं पव्वाविया तुरुमिणिं नगरिं गया, महयरिया पडिन्ना, सा अतीव रूववई जओ जओ भिक्खवियाराऽऽदिसु वच्चइ तओ तओ तरुणजुवाणा पिट्ठतो वच्चति, वसहीए पविट्ठाए वि तरुणा उवस्सय पविसित्ता चिट्ठंति, संजईओ न तरंति पडिलेहणाई किंचि काउं, ताहे ताए महयरियाए गुरूणं कहियं-सुकुमालिपत्तणं समं अन्नाओ वि विणिस्सिहंति, गुरुणा ससगभसगा भणिता-सारक्खह एतं भगिणिं, ते तां घेत्तुं वीसुं उवस्सएट्ठिया, तेसिं एगो भिक्खं हिंडइ, एगो तं पयत्तेण रक्खइ, दो वि भायरो साहस्समल्ला, जे तरुणा अहिवडंति ते हतमहिते काउं घाडेंति, ते य विराहिया भिक्खं न दिंति, तओ स एगो हिंडंतो तिएहं पज्जत्त न लहइ, पच्छा देसकाले फिडिए हिंडितो न संथरइ, ताहे सा भणइ, तुब्भे दुक्खिया माहोह, अहं भत्तं पच्चक्खामि, पच्चक्खाए मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया, तेहिं नायं कालगय त्ति ताहे एगेणं उवगरणं गहियं, बीएण त्ासा गहिया, गच्छंताणं ताएईसि त्ति पुरिसफासो वेइओ, साइज्जिय च तओ ते तं परिट्ठवित्ता गया गुरुसगासं, इयरी रत्तीए सीयलवाएण समासत्था सचेयणा जाया, गोसे एगेणं सत्थवाहपुत्तेणं दिट्ठा, तावसो भणिओ-जइ ते मए कज्जं नो सारवेहि, सा तेण सारविया महिला से जाया । ते भायरो अन्नया भिक्खं हिंडते दट्ठुं पाएसु पडियाए रुन्ना, सा तेहिं सारिक्खेण पच्चभिन्नाया पुणो पव्वाविया एवं । जइ ताव तीए समुग्घायगयाए साइज्जियं किमंग ! पुण इयरी गिलाणी साइज्जिज्जा ।" अथाऽक्षरार्थ. जितशत्रुनरवरेन्द्रस्याङ्गजौ पुत्रौ शशकभसकौ सुकुमारिका च दुहिता । ततो जिनप्रणीते धर्मे कुमारकावेव तौ प्रव्रजितौ, क्रमेण च ताभ्यां भगिन्यपि प्रव्रजिता । ततस्तस्या रूपदोषेण

तरुणैराकीर्णे नित्यमुपाश्रये शेषसाध्वीनां रक्षणार्थं गणिन्या गुरवे निवेदितम्,गुरुभिश्च भ्राता कथितं,तत पृथगुपाश्रये ता गृहीत्वा स्थितौ,तयोर्मध्यादेको भिक्षार्थं हिण्डते,एकस्तां रक्षति । किमर्थ पुनस्तस्या रक्षणमेवं तौ कृतवन्तावित्याह-( इक्खागा इत्यादि ) इक्षाकव इक्ष्वाकुवंशनृपतयः प्रजा सम्यक् पालयन्तोऽपालयन्तश्च यथाक्रम तन्नीयपुण्यपापयोर्देशभागं लभन्ते, सर्वेऽपि च वृष्णयो हरिवंशनृपतय एवमेव षड्भागं लभन्ते, अस्माकं पुन प्रवचने आचार्याः साधुसाध्वीजनं संयमाऽऽत्मप्रवचनविषयप्रत्यपायेभ्य सम्यक् पालयन्तो वा यथाक्रमं पुण्यपापं चार्द्धमर्द्धेन विभजन्ति,अत एव तौ ता रक्षितवन्ताविति भावः । ततश्च ( वण्हिकुमारेहि त्ति ) वृष्णयो यादवास्तेषां कुमारौ वृष्णिकुमारौ, वृष्णिकुमारौ शशकभसकावित्यर्थ । ताभ्या तुरुमिणीनगर्यामुपसर्गकारी तरुणजनः भूयान् इथमथितविप्रलब्ध. कृतस्तत्र हतश्चपेटाऽऽदिना मथितो नाम भ्रान्तिं प्रापितो विप्रलब्धो विविधखरपरुषवचनै. प्रकर्षेण निवारित । एवं प्रभूतलोकैर्विराधिते सति किं करिष्यति पश्चाद्भिक्षां हिण्डमान. शशको भसको वा, भक्तपानलाभाभावाच्च किमपीति भाव । तत. सुकुमारिकया भ्रात्रोरनुकम्पया परिज्ञा भक्तप्रत्याख्यानं, ततः मरणसमुद्घातेन समवहता कालगतेयमिति ज्ञात्वा एको भाण्डमुपकरणं द्वितीयस्तस्या गृहीतवान्, तत. शीत लवातेन आश्वस्तायास्तस्या वणिजा ग्रहणं कालान्तरेण च भ्रातृभ्यां सादृश्येण प्रत्यभिज्ञाय दीक्षा प्रदत्तेति व्याख्यातं निर्ग्रन्थीसूत्रम् ।

अथ निर्ग्रन्थसूत्रं व्याचष्टे-

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीण पि होइ णायव्वो ।
तम्मि कुलपव्वज्जा, भत्तपरिण्णा य भातुम्मि ॥३७६॥

एष एव गमो निर्ग्रन्थस्य परिष्वजनं कुर्वन्तीना निर्ग्रन्थीना ज्ञातव्यो भवति, नवरं तासा निर्ग्रन्थीना संबन्धी (कुल त्ति) एककुलोद्भवो भ्राता रूपवान् प्रव्रजितस्तस्यापि क्रमेण भक्तपरिज्ञा संजाता ।

इदमेव व्याचष्टे-

विउलकुले पव्वइते, कप्पट्ठक किढिय कालकरणं च ।
जोव्वण तरुणीपेल्लण, भगिणी सारक्खणे वीसुं ॥३७७॥
सो चेव य पडियरणे, गमतो जुवतिजणवारणपरिण्णा ।
कालगतो त्ति समोहतो, उज्झण गखिया पुरिसदेसी ३७८

क्वापि विपुलकुले समुद्भूतं भगिनीद्वयं प्रव्रजितं, तत कुल यशस्तथैव सर्वोऽपि प्रक्षीणो, नवरमेक कल्पस्थको जीवति, तत ज्ञानदर्शनाय गतेन तेनार्यिकाद्वयेन किढिका स्थविरा, मातेत्यर्थ । तत्प्रभृति कुटुम्बस्य कालकरण श्रुतं स च कल्पस्थक. प्रव्रज्य गुरूणा दत्त , यौवनं च प्राप्तोऽमावतीव रुपवान् समजनि, ततस्तरुणीति प्रेर्यते, तनो गुरूणामाज्ञया ते भगिन्यौ विष्वगुपाश्रये नीत्वा संरक्षितवत्यौ । कथमित्याह-स एव प्रतिचरणे रक्षणे गमो भव ति, य सुकुमारिकाया उक्त । एव युवतिजनवारणे क्रियमाणे तस्य भगिनीदुःख तथाविधं दृष्ट्वा भक्तपरिज्ञा, त त समवहत कालगत इति विज्ञायोज्झनं परिष्ठापनं, तस्य च स्त्रीस्पर्शेण समाश्वासितस्य पुनश्चैनन्ये संजाते पुरुषद्वेषिण्या गणिकया ग्रहणं, ततस्तस्या पतिः संजात, कियत्यपि काल गते समागताभ्या भगिनीभ्यां प्रत्यभिज्ञाय भूय प्रव्राजित इति । वृ० ४ उ० ।

पलिहअ-देशी-मूर्खे, दे० ना० ६ वर्ग २० गाथा ।

पलिहस्स-देशी-ऊर्ध्वदारौ, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा ।

पलिहा-देशी-ऊर्ध्वदारौ, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा ।

पलीण-प्रलीन-त्रि० । प्रकर्षेण लीने, भ० २५ श० ७ उ० । सूत्र० । सम्बद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०४ उ० । ( अस्य विस्तरतो व्याख्या ' धारणाववहार ' शब्दे २७४६ पृष्ठे ६५३ व्यवहारगाथायां गता )

पलीवणया-प्रदीपनता-स्त्री० । संधुक्खिअमुदंविय-मुज्झालिअं पलीविअं जाए । मंदुमिअं ऊसिक्किअं उव्भुत्तिअयं च तेअविअं ॥ १६ ॥ पाइ० ना० १६ गाथा । स्वार्थे तल् । नाशने. नि० चू० १६ उ० ।

पल्लुत्तरा-पल्योत्तरा-स्त्री० । एकैकपलवृद्धिसूचिकाया रेखायाम् , ज्यो० २ पाहु० ।

पलेमाण-प्रलीयमान-त्रि० । प्रकर्षेण लीयते प्रलीयमान । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । पौन पुन्येन कृतजन्माऽऽदिसन्धाने, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पलोएमाण-प्रलोकयत्-त्रि० । दीर्घां दृष्टिं दिक्षु प्रक्षिपति, भ० १५ श० । उपादेयतया प्रेक्षमाणे, औ० ।

पलोट्टण-प्रत्यागमन-न० । उत्थाने, व्य० १ उ० ।

पलोट्टफेणाउल-प्रत्यागतफेनाऽऽकुल-त्रि० । प्रवृत्युत्पन्नेन फेनेन व्याप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पलोट्ट-प्रति-आ-गम्-धा० । यतो गतस्तत्रैवाऽऽगमने, "प्रत्याङा पलोट्टः । " ॥ ८ । ४ । १६६ ॥ इति प्रत्याङ्पूर्वस्य गमधातो पलोट्टाऽऽदेश । 'पलोट्टइ । पच्चागच्छइ ।' प्रत्यागच्छति । प्रा०४ पाद ।

पलोट्टजीह-देशी-रहस्यभेदिनि, दे०ना० ६ वर्ग ३५ गाथा ।

पलोभिय-प्रलोभित-त्रि० । प्रकृष्टं लोभं कारिते, " णियदंसणेण पलोभिया कयणियाणा । " आ० म० १ अ० ।

पलोय-प्रलोक-पुं० । प्रलोक्यत इति प्रलोक. । लोके, आ० म० २ अ० ।

पलोयण-प्रलोकन-न० । पर्यालोचने, आचा० २ श्रु० ४ चू० १ अ० १ अधि० ।

पलोयणा-प्रलोकना-स्त्री० । प्रलोकनं प्रलोकना । प्रकर्षेणाऽऽलोके, ओघ० । "जे भिक्खू सखडिपलोयणाए असण पाण खाइम साइम पडिग्गाहेइ । " नि० चू० ३ उ० ।

पल्ल-पल्य-न० । शकटकाऽऽदिकृते धान्याऽऽधारविशेषे,स्था० ३ ठा० १ उ० । अनु० । रा० ।

पल्लंक-पल्यङ्क-पुं० । शाकभेदे, प्रव० ४ द्वार ।

पल्लग-पल्यक-पुं० । ( पाल-खच ) लाटदेशप्रसिद्धे, धान्याऽऽधारविशेषे, प्रज्ञा० ३३ पद । आ० म० । विशे० । नं० ।

पल्लट्ट-पर्यस्-धा० । पतने, घाते, विक्षेपे च । वाच० । पर्य-स पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्था. ॥ ८ । ४ । २०० ॥ इति सूत्रेण पर्यस्यतेः पल्लट्टाऽऽदेशः ' पल्लट्टइ ' पर्यस्यति । प्रा० ४ पाद ।

पल्लट्टिउं-परिवर्त्य-अव्य० । स्वकीयकोद्रवौदनाऽऽदिसमर्पणेन परकीयशाल्योदनाऽऽदि गृहीत्वेत्यर्थे, पञ्चा० १३ विव० ।

पल्लत्थ-पर्यस्त-त्रि० । " पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्लः " ॥ ८ । २ । ६८ ॥ इति र्यस्य ल्लः । प्रा० २ पाद । " पर्यस्ते थटौ " ॥ ८ । २ । ४७ ॥ इति स्तभागस्य थकारटकारौ । प्रा० २ पाद । प्रक्षिप्ते, विक्षिप्ते, पर्वतशैलाद् गण्डशैल इव स्वाश्रयाच्चलिते, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । " करयलपल्लत्थमुहे । " करतले पर्यस्तं मुखं यस्य स तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पर्यस्ते, पर्यस्तशब्दभवे । दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा ।

पल्लत्थयंत-पर्यस्तयत्-त्रि० । पर्यस्तं कुर्वति, "अहया वग्गणाणि पल्लत्थयंतीए रयणाणि जायाणि ।" नि० चू० १ उ० ।

पल्लय-पल्ल्यक-पुं० । अनुत्तरोपपातिकदशानां दशमाऽध्ययनोक्तवक्तव्यताके साधौ, स्था० १० ठा० ।

पल्लल-पल्वल-न० । लघुतडागे, " पल्ललं अखायतळं । " पाइ० १३० गाथा । पुं० । प्रल्हादनशीले जलस्थानविशेषे, भ० ५ श० ७ उ० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । प्रश्न० ।

पल्लव-पल्लव-पुं० । संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपे वराङ्कुरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स० । औ० । जी० । " किसलयाई पल्लवा पवाला य । " पाइ० ना० १३८ गाथा । रा० । जं० । किशलये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पर्यव-पुं० । प्राकृतत्वात्तथाऽऽदेशः । वस्तुधर्मे, स० ४ अङ्ग ।

पल्लविअ पल्लवित-त्रि० । लाक्षारसरक्ते, " लक्खारुणिअं पल्लविअं । " पाइ० ना० २६८ गाथा ।

पल्लविय-पल्लवित-त्रि० । संजातपल्लवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । लाक्षारक्ते, न० । दे० ना० ६ वर्ग ११ गाथा ।

पल्लवंकुर-पल्लवाङ्कुर-पुं० । सञ्जातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपेऽङ्कुरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पल्लवग्ग-पर्यवाग्र-न० । पर्यवप्रमाणे अभिधेयाऽऽदितद्धर्मसंख्याने, यथा " परित्ता तसा । " इत्यादि । स० ४ अङ्ग ।

पल्लवग्गाहिणी-पल्लवग्राहिणी-स्त्री० । "न य कत्थइ निम्मातो.ण य पुच्छइ परिभवस्स दोसेण । वत्थीव वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लगविपक्खेसु ॥ ३७५ ॥ " इत्युक्तलक्षणे दुर्विदग्धपर्षद्भेदे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पल्लवाय-देशी-क्षेत्रे, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा ।

पल्लविल्ल-पल्लव-पुं० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति सूत्रेण स्वार्थे इल्लप्रत्ययः । किशलये, प्रा० २ पाद ।

पल्लाउत्त पल्ल्यागुप्त-पुं० । वंशकटाऽऽदिकृते धान्याऽऽधारविशेषे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पल्लाण-पर्याण-न० । ' पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्लः ॥ ८ । २ । ६८ ॥ इति र्यस्य ल्लः । उष्ट्राऽऽदिपृष्ठोपरिस्थे विशिष्टस्थाने आसनविशेषे, प्रा० २ पाद ।

पल्लिय-पल्लित-त्रि० । आक्रान्ते, नि० चू० २ उ० । "अतिणिद्दापल्लिओ । " अतिनिद्राग्रस्त । नि० चू० १ उ० । पाल्यन्तेऽनया दुष्कृतविधायिनो जना इति पल्ली नैरुक्तो विधिः । उत्त० ३० अ० ।

पल्ली-पल्ली-स्त्री० । वृत्तवंशाऽऽदिगहनाऽऽश्रिते प्रान्तजनस्थाने, उत्त० ३० अ० । नि० चू० ।

पल्लीण-प्रलीन-त्रि० । प्रकर्षेण लीन प्रलीन. । कल्प० १ अधि० ४ क्षण । बहुतरं लीने, जीत० ।

पल्लीवइ-पल्लीपति-पुं० । पल्लीराजे चौरपत्यादौ, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पल्लोट्ट-पर्यस्त-त्रि० । "क्तेनाप्फुण्णाऽऽदय. " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति निपातः । विक्षिप्ते, प्रा० ४ पाद ।

पल्हत्थ-पर्यस्त-त्रि० । " क्तेनाप्फुण्णाऽऽदय " ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति निपातः । पतिते, क्षिप्ते, प्रा० ४ पाद ।

पर्यस्-धा० । विक्षेपे, " पर्यस. पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्थाः " ॥ ८ । ४ । २०० ॥ इति सूत्रेण परिपूर्वकस्यास्धातोः पर्यसादेशः । ' पल्हत्थइ । ' पर्यस्यति । प्रा० ४ पाद ।

पल्हत्थिय-पर्यस्तित-त्रि० । पर्यस्तीकृते, सर्वत. क्षिप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

विरचित-त्रि० । विराचिते, " पल्हत्थियमुल्लंडियं । " पाइ० ना० २०१ गाथा ।

पल्हत्थिया-पर्यस्तिका-स्त्री० । जङ्घोपरि वस्त्रवेष्टनाऽऽत्मके, उत्त० १ अ० । जङ्घोपरि पादमोचने, उत्त० १ अ० ।

पल्हत्थियावट्ट-पर्यस्तिकापट्ट-पुं० । योगपट्टे, बृ० ३ उ० ।

पल्हाइय-प्रह्लादित-त्रि० । आपन्नसुखे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

पल्हाय-प्रल्हाद-पुं० । " ह्रो ल्ह " ॥ ८ । २ । ७६ ॥ सूत्रेणास्य हकाराऽऽक्रान्तलकारस्य लकाराऽऽक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । " अहो अभिरूपा एता " इत्यादि विकल्पजे आनन्दे, उत्त० १६ अ० ।

पल्हायजणण-प्रह्लादजनन-न० । प्रह्लादोत्पादे शीतीभवने, व्य० १० उ० । अन्तःकरणस्य हर्षोत्पादके उत्त० १६ अ० ।

पल्हायणिज्ज-प्रह्लादनीय-त्रि० । आह्लादके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पवअ-प्लवग-पुं० । वानरे, " साहामिओ वलिमुहो, पवंगमो वानरो कई पवओ । " पाइ० ना० ४३ गाथा ।

पवंग-प्लवङ्ग-पुं० । वानरे, पाइ० ना० ४३ गाथा ।

पवंगम प्लवङ्गम-पुं० । वानरे " साहामिओ वलिमुहो, पवंगमो वाणरो कई पवओ । " पाइ० ना० ४३ गाथा ।

पवंच-प्रपञ्च-पुं० । प्रपञ्च्यते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः । संसारे, जातिजरामरणरोगशोकाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । विस्तारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । औ० । पर्याप्तापर्याप्तकसुभगाऽऽदिद्वन्द्वविकल्पे आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । वृ० ।

पवंचण-प्रपञ्चन-न० । विप्रतारणे प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पवंचा -प्रपञ्चा-स्त्री० । प्रपञ्चयति विस्तारयति खेलकासाऽऽदीनि प्रपञ्चा । सप्तम्यां पुरुषस्य दशायाम्, तं० ।

सत्तमीउ पवंचाओ, जं नरो दसमस्सिओ ।
निच्छुभइ चिक्कणं खेलं, खासई य खणे खणे ॥७॥

सप्तमी प्रपञ्चा दशा या दशामाश्रित ( निच्छुभइ त्ति ) बहिर्नि क्षिपति यत्र कुत्रापि बहिर्निस्सारयति चिक्कणं पिच्छिलं, श्लेष्मकतुल्यमित्यर्थः । खेलं श्लेष्माणं च पुनः क्षणे क्षणे वारं वारं ( खासइ त्ति )कासितं करोतीत्यर्थः । तं० । दश० ।

पवंचियएणु-प्रपञ्चितज्ञ-पुं० । विस्तरगदिनसे विनये, नं० ।

पवग-प्लवक-पुं० । उत्प्लुत्य गर्ताऽऽदिलङ्घनकारिषु, ये उत्प्लवन्ति गर्ताऽऽदिकं क्रियाभिर्लङ्घयन्ति नद्यादिकं वा तरन्ति तेषु, अनु० । जं० । कल्प० । जी० । औ० । प्रश्न० । रा० । ज्ञा० । नि० चू० । प्लवको वा प्रथम वंशे विलग्न. सन् प्लवते, तत पश्चादभ्यस्यन्नाकाशेऽपि तानि तानि करणानि करोति । वृ० १ उ० ।

पवज्जा -प्रव्रज्या-स्त्री० । प्रव्रजनं पापेभ्य. प्रकर्षेण । चरणयोगेषु गमने, ध०३ अधि० । महाव्रतप्रतिपत्तौ,पञ्चा० १६ विव० ।

पव्वयणं पव्वज्जा, पावाओ सुद्धचरणजोगेसुं ।
इअ मुक्खं पइ वयणं, कारणकज्जोवयागाओ ॥ ५ ॥

प्रव्रजन प्रव्रज्या, प्रकर्षेण व्रजनं प्रव्रज्या,कुत केत्यत आह-पापाच्छुद्धचरणयोगेषु. इह पापशब्देन पापहेतवो गृहस्थानुष्ठानविशेषा उच्यन्ते कारणे कार्योपचारात्, यथा-दधित्रपुषी प्रत्यक्षो ज्वर इति । शुद्धचरणयोगास्तु संयतव्यापारा मुखवस्त्रिकाऽऽदिप्रत्युपेक्षणाऽऽदय उच्यन्ते । (इय) एवं मोक्षं प्रति व्रजनं प्रव्रज्या । कथमित्याह-"कारणे कार्योपचारात्"कारणे शुद्धचरणयोगलक्षणे मोक्षाऽऽख्यकार्योपचारात् । यथा-"आयुर्घृतम्" इत्यायुष कारणत्वाद् घृतमेवाऽऽयुरित्थं मोक्षकारणत्वात् शुद्धचरणयोग एव मोक्ष इति । ततश्च मोक्षं प्रति प्रव्रजन प्रव्रज्या इति गाथार्थः । एष तावत्प्रव्रज्यातत्त्वार्थ ।

( १ ) अधुना भेदत एना व्याचिख्यासुराह-

नामाइचउब्भेआ, एसा दव्वम्मि चरगमाईणं ।
भावेण जिणमयम्मि उ, आरंभपरिग्गहच्चाओ ॥ ६ ॥

नामाऽऽदिचतुर्भेदा एषा इयं च प्रव्रज्या नामाऽऽदिचतुर्भेदा भवति । तद्यथा-नामप्रव्रज्या स्थापनाद्रव्यभावप्रव्रज्या चेति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य नोआगमत एव ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यप्रव्रज्यामाह-द्रव्ये चरकाऽऽदीना द्रव्य इति द्वारपरामर्शः । द्रव्यप्रव्रज्या चरकाऽऽदीना चरकपरिव्राजकभिक्षुभौताऽऽदीना,द्रव्यशब्दश्चेहाप्रधानवाचको वर्तमानभूतभविष्यद्भावयोग्यतावाचक इति नोआगमत एव भावप्रव्रज्यामाह-भावेनेति भावत परमार्थेन जिनमत एव रागाऽऽदिजेतृत्वाज्जिन तन्मत एव. वीतरागशासन एवेत्यर्थः । आरम्भपरिग्रहत्याग वक्ष्यमाणाऽऽरम्भपरिग्रहवर्जनं जिनशासन एव. अन्यशासनेष्वारम्भपरिग्रहस्वरूपानवगमात्सम्यक्त्यागाभाव इति गाथाऽर्थः ।

आरम्भपरिग्रहस्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह-

पुढवाइसु आरंभो, परिग्गहो धम्मसाहणं मुत्तुं ।
मुच्छा य तत्थ बज्झो, इयरो मिच्छत्तमाईओ ॥७॥

पृथिव्यादिषु कार्येषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्यारम्भणमारम्भ. संघट्टनाऽऽदिरूप परिग्रहण परिग्रह. । असौ द्विविध-बाह्य ,आभ्यन्तरश्च । तत्र धर्मसाधनं मुखवस्त्रिकाऽऽदि मुक्त्वा बाह्य इति संबन्ध । अन्यपरिग्रहणमिति गम्यते । मूर्च्छा च तत्र धर्मोपकरणे बाह्य एव परिग्रह इति । इतरस्त्वान्तरपरिग्रहो मिथ्यात्वाऽऽदिरेव । आदिशब्दादविरतिदुष्टयोगा गृह्यन्ते परिगृह्यन्ते, तेन कारणभूतेन कर्मणा जीव इति गाथार्थः । प० व० १ द्वार । नि० चू० ।

( २ ) प्रव्रज्यापर्यायाः । अधुनैतत्पर्यायानाह-

पव्वज्जा निक्कमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं ।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥ ८ ॥

प्रव्रज्या निरूपितशब्दार्था. निष्क्रमणं द्रव्यभावसङ्गात्,समता सर्वेष्विष्टानिष्टेषु त्यागो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य, तथैव वैराग्यं विषयेषु, धर्मचरण क्षान्त्याद्यासेवनम्,अहिंसा प्राणिघातवर्जनम्, दीक्षा सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन भावसत्रम् । एकार्थिकानि तु एतानि प्रव्रज्यायाः, तु विशेषणार्थ शब्दनयाभिप्रायेण, समभिरूढनयाभिप्रायेण तु नानार्थान्येव,भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्सर्वशब्दानाम् । इति गाथाऽर्थः । प०व०१ द्वार ।

( ३ ) त्रिविधा प्रव्रज्या-

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता । तं जहा-इहलोगपडिबद्धा, परलोगपडिबद्धा, दुहओ पडिबद्धा ॥

सूत्रचतुष्टय सुगमं,केवलं प्रव्रजनं गमनं पापाच्चरणव्यापारेष्विति प्रव्रज्या. एतच्चरणयोगेगमनं मोक्षगमनमेव,कारणे कार्योपचारात्, तन्दुलान्वर्षति पर्जन्य इत्यादिवदिति । उक्तं च पञ्चवस्तुके-"पव्वयणं पव्वज्जा. पावाओ सुद्धचरणजोगेसु । इय मोक्खं पइ गमण, कारणकज्जोवयाराओ " ॥ ५ ॥ इति ॥ ( अस्या. व्याख्याऽनुपदमेव गता ) इहलोकप्रतिबद्धा ऐहलौकिकभोजनाऽऽदिकार्यार्थिनां, परलोकप्रतिबद्धा जन्मान्तरकामाऽऽर्थिना,द्विधा प्रतिबद्धा इहलोकपरलोकप्रतिबद्धा, सा चोभयार्थिनामिति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

चतुर्विधा प्रव्रज्या-

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता । तं जहा-इहलोगपडिबद्धा, परलोगपडिबद्धा, दुहओ लोगपडिबद्धा अप्पडिबद्धा ॥

इहलोकप्रतिबद्धा निर्वाहाऽऽहिमात्रार्थिनाम्, परलोकप्रतिबद्धा जन्मान्तरकामाऽऽर्थिनाम् द्विधालोकप्रतिबद्धा,उभयार्थिनाम् । अप्रतिबद्धा-विशिष्टसामायिकवताम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता । तं जहा-पुरओ पडिबद्धा,मग्गओ पडिबद्धा,दुहओ पडिबद्धा ।

पुरतोऽग्रत प्रतिबद्धा प्रव्रज्यापर्यायभाविषु शिष्याऽऽदिष्वाशंसनत. प्रतिबन्धत्वात्, मार्गत पृष्ठत स्वजनाऽऽदिषु स्नेहाच्छेदात् तृतीया द्विधाऽपीति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता । त जहा-पुरओ पडिबद्धा,मग्गओ पडिबद्धा दुहओ पडिबद्धा अपडिबद्धा ॥

पुरतोऽग्रतः प्रव्रज्यापर्यायभाविषु शिष्याऽऽहाराऽऽदिषु या प्रतिबद्धा सा तथा उच्यते, एवं मार्गतः पृष्ठतः स्वजनाऽऽदिषु, द्विधाऽपि काचित् अप्रतिबद्धा पूर्ववत्। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-तुयावइत्ता, पुयावइत्ता, बुयावइत्ता ॥

( तुयावइत्त त्ति ) 'तुद' व्यथने इति वचनात् । तोदयित्वा तोदं कृत्वा व्यथामुत्पाद्य या प्रव्रज्या दीयते मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथोच्यते । ( पुयावइत्त त्ति ) 'प्लुङ्' गताविति वचनात् । प्लावयित्वाऽन्यत्र नीत्वाऽऽर्यरक्षितवत् या दीयते सा तथेति । ( बुयावइ त्ता ) संभाष्य गौतमेन कर्षकवदिति । स्था० ३ ठा० २ उ०।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-तुयावइत्ता, पुयावइत्ता, मोयावइत्ता परिपुयावइत्ता ॥

( तुयावइत्त त्ति ) तोदं कृत्वा तोदयित्वा व्यथामुत्पाद्य या प्रव्रज्या दीयते, मुनिचन्द्रपुत्रस्य सागरचन्द्रेणेव सा तथोच्यते ।( ओयावइत्त त्ति ) क्वचित्पाठस्तत्र ओजो बलं शारीरं विद्याऽऽदिसत्कं वा तत् कृत्वा प्रदर्श्य दीयते सा ओजयित्वेत्यभिधीयते । ( पुयावइत्त ति ) प्लुङ् गताविति-वचनात्, प्लावयित्वा अन्यत्र नीत्वाऽऽर्यरक्षितवत्, पूतं वा दूषणव्यपोहेन कृत्वा या सा पूतयित्वेति । ( बुयावइत्त त्ति ) संभाष्य गौतमेन कर्षकवत् वचनं वा पूर्वपक्षरूपं कारयित्वा निगृह्य च प्रतिज्ञावचनं वा कारयित्वा या सा तथोक्ता। क्वचित् " मोयावइत्त त्ति " पाठस्तत्र मोचयित्वा साधुना तैलार्थत्वादासन्नप्राप्तभगिनीवदिति । ( परिपुयावइत्त त्ति) घृताऽऽदिभिः परिप्लुतभोजनः परिप्लुत एव, तं कृत्वा परिप्लुतयित्वा क्षुहस्तिनो रङ्कवत् या सा तथोच्यते। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

तिविहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-उवायपव्वज्जा, अक्खायपव्वज्जा, संगारपव्वज्जा ॥

अवपातः सेवा सद्गुरूणां ततो या सा अवपातप्रव्रज्या, तथा आख्यातस्य वा प्रव्रज्येत्यभिहितस्य गुरुभिर्या साऽऽख्यातप्रव्रज्या फल्गुरक्षितस्येवेति । ( संगार त्ति ) संकेतस्तस्माद्या सा संगारप्रव्रज्या, मेतार्याऽऽदीनामिवेति । अथवा-यदि त्वं प्रव्रजसि तदा मया प्रव्रजितव्यमित्येवं या सा। स्था० ३ ठा० २ उ०।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-उवायपव्वज्जा, अक्खायपव्वज्जा, संगारपव्वज्जा, विहगगइपव्वज्जा।

( उवाय त्ति ) अवपातः सद्गुरूणा सेवा, ततो या प्रव्रज्या साऽवपातप्रव्रज्या, आख्यातस्य प्रव्रज्येत्याद्युक्तस्य या स्यात् साऽऽख्यातप्रव्रज्या, आर्यरक्षितभ्रातु फल्गुरक्षितस्येवेति। ( संगार त्ति ) संकेतस्तस्मात् या सा तथा मेतार्याऽऽदीनामिव। यदि वा-यदि त्व प्रव्रजसि तदाऽहमपि इत्येव संकेतेनो या सा तथेति । ( विहगगइ त्ति ) विहगगत्या पक्षिन्यायेन परिवाराऽऽदिवियोगेनैकाकिनो देशान्तरगमनेन च या सा विहगगतिप्रव्रज्या, क्वचिद्विहगप्रव्रज्येति पाठ, तत्र विहतगस्येवेति दृश्यम्, विहतस्य वा दारिद्र्यादिभिररिभिर्वेति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-णडक्खइत्ता, भडक्खइत्ता, सीहक्खइत्ता, सियालक्खइत्ता ।

नटस्येव संवेगविकलधर्मकथाकरणोपार्जितभोजनाऽऽदीनाम्, ( खइय त्ति ) खादितं भक्षणं यस्या सा नटखादिता, नटस्येव वा ( खइ त्ति ) संवेगशून्यधर्मकथनलक्षणो हेवाकः स्वभावो यस्यां सा तथा, एवं भटाऽऽदिष्वपि, नवरं भटस्तथाविधबलोपदर्शनलब्धभोजनाऽऽदेः खादिना आरभटवृत्तिलक्षणहेवाको वा, सिंहः पुनः शौर्यातिरेकाद्वज्ञयोपात्तस्य यथालब्धभक्षणेन वा, खादिना तथाविधप्रकृतिर्वा, शृगालस्तु न्यग्वृत्त्योपात्तस्यान्यान्यस्थानभक्षणेन वा खादिता तत्स्वभावो वेति। ४।

कृषिदृष्टान्तः-

चउव्विहा किसी पण्णत्ता। तं जहा-वाविया, परिवाविया, निंदिया, परिणिंदिया । एवामेव चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-वाविया, परिवाविया, णिंदिया, परिणिंदिया ।

कृषिर्धान्यार्थं क्षेत्रकर्षणम् ( वाविय त्ति ) । सकृद्धान्यवपनवती । ( परिवाविय त्ति ) द्विस्त्रिर्वा उत्पाद्य स्थानान्तराऽऽरोपणतः परिवपनवती, शालिकृषिवत् । (णिंदिय त्ति) एकदा विजातीयतृणाऽऽद्यपनयनेन शोधिना निन्दिना। (परिनिंदिय त्ति ) द्विस्त्रिर्वा तृणाऽऽदिशोधनेनेति प्रव्रज्या तु ( वाविया ) सामायिकाऽऽरोपणेन । ( परिवाविया ) महाव्रताऽऽरोपणेन निरतिचारस्य सातिचारस्य वा मूलप्रायश्चित्तदानतः ( निंदिया ) सकृदतिचाराऽऽलोचनेन (परिणिंदिया ) पुनः पुनरिति ।

धान्यपुञ्जसमाना-

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-धण्णपुंजियसमाणा, धण्णविरल्लियसमाणा, धण्णविक्खित्तसमाणा, धण्णसंकड्डियसमाणा ।

( धण्णपुंजियसमाण त्ति ) खले लूनपूतविशुद्धपुञ्जीकृतधान्यसमाना सकलातिचारकचवरविरहेण लब्धस्वस्वभावत्वात् एकाऽन्या तु खलक एव यद्विरल्लितं विसारितं वायुना पूतपुञ्जीकृतं धान्यं तत्समाना, या हि लघुनाऽपि यत्नेन स्वस्वभावं लप्स्यत इति । अन्या तु यद्विकीर्णं गोखुरक्षुण्णतया विक्षिप्तं धान्यं तत्समाना, या हि सहसमुत्पन्नातिचारकचवरयुक्तत्वात्सामग्र्यन्तरापेक्षितया कालक्षेपलभ्यस्वस्वभावा सा धान्यविकीर्णसमानोच्यते । अन्या तु यत्संकर्षितं क्षेत्रादाकर्षितं खलमानीतं धान्यं तत्समाना, या हि बहुतरातिचारोपेतत्वाद्बहुतरकालप्राप्तव्यस्वस्वभावा, सा धान्यसङ्कर्षितसमानेति । इह च पुञ्जिताऽऽदेर्धान्यविशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वादिति । इयं च प्रव्रज्या एव विचित्रसंज्ञावशाद्भवतीति । स्था० ४ ठा ४ उ०।

दशविधा प्रव्रज्या-

दसविहा पव्वज्जा पण्णत्ता। तं जहा-"छंदा रोसा परिजुण्णा, सुविणा पडिस्सुया चेव। मारणिया रोगणिया, अणाढिया देवसण्णत्ती ॥ १ ॥ " वच्छाणुबंधिया ।

" छंदागाहा "-( छंद त्ति ) छन्दात् स्वकीयादभिप्रायविशेषाद्गोविन्दवाचकस्येव सुन्दरीनन्दस्येव वा परकीयाद्वा,

आतुर्यश भवदत्तस्येव या सा ( रोस त्ति ) रोषात् शिवभूतेरिव या सा रोषा।( परिजुण्ण त्ति ) परिधूनाद्दारिद्र्यात्काष्ठाऽऽहारकस्येव या सा परिद्यूना। ( सुविण त्ति ) स्वप्नात् पुष्पचूलाया इव या स्वप्ने वा या प्रतिपद्यते सा स्वप्ना। (पडिस्सुया चेव त्ति) प्रतिश्रुतात् प्रतिज्ञानाद्या सा प्रतिश्रुता, शालिभद्रभगिनीपतिधन्यकस्येव। (सारणिय त्ति) सारणाद्या सा सारणिका, मल्लिनाथसमारितजन्मान्तराणां प्रतिबुद्धस्याऽऽदिराजानामिव। (रोगिणिय त्ति) रोग आलम्बनतया विद्यते यस्या सा रोगिणी, सैव रोगिणिका, सनत्कुमारस्येव। ( अणाढिय त्ति ) अनादृतादनादराद्या सा अनादृता, नन्दिषेणस्येव, अनादृतस्य वा शिथिलस्य या सा तथा। (देवसन्नत्ति त्ति) देवसंज्ञप्तेर्देवप्रतिबोधनाद्या सा तथा, मेतार्याऽऽदेरिवेति। (वत्थाणुबंधिय त्ति) गाथाऽतिरिक्तम्-वत्सेः पुत्रस्तदनुबन्धो यस्यामस्ति सा वत्सानुबन्धिका, वैरस्वामिमातुरिवेति। स्था० १० ठा०। (इत्येतासां मिलितानां षोडशानामच्छन्दाऽऽदीनां प्रव्रज्यानां छन्दाऽऽदिशब्देषु व्याख्या ) पं० भा०। पं० चू०।

(४) धर्मश्रवणतोऽभिगमनागमनश्च दीक्षामेव तत्वत आह-
तत्र दीक्षामेव तावत्स्वरूपतो निरूपयन्नाह-

दिक्खा मुंडणमेत्थं, तं पुण चित्तस्स होइ विष्णेयं।
ण हि अप्पसन्नचित्तो, धम्मऽहिगारी जओ होइ ॥ २ ॥

दीक्षणं दीक्षा, सा च मुण्डनं द्रव्यतः केशापनयनं, भावतस्तु क्रोधाऽऽद्यपनयनम्। यदाह-"पंचमुंडा पण्णत्ता। तं जहा-कोहमुंडे सिरमुंडे।" पठ्यते च धातुपाठे-'दीक्षा' मौण्ड्ये इति। तदिह किं द्रव्यमुण्डनमपि दीक्षा, नेत्याह-( एत्थं ति ) अत्र जिनदीक्षाऽधिकारे तदिति मुण्डनं, पुनःशब्दः पूर्वोक्तार्थस्य विशेषणार्थः। चित्तस्य भावस्य मिथ्यात्वक्रोधकण्डू इत्यादिरूपस्य, भवति वर्त्तते, विज्ञेयं ज्ञातव्यं, सर्वविरतिदीक्षा तु शिरोमुण्डनमपीति भावः। कुत एतदवमित्याह-न हि नैव,हिशब्द एवकारार्थो, दीक्षाया मुण्डनविशेषस्वरूपताभावनार्थो वा, अप्रशान्तचित्तः उत्कटक्रोधाऽऽदिदूषितमना, धर्मे सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपे कुशलकर्मण्यधिकारी नियोगवान् धर्माधिकारी, यतो यस्मात्कारणात्, भवति जायते। यदाह-" तत्रास्य विषयतृष्णा प्रभवन्त्युच्चैर्न दृष्टिसंमोहः। अरुचिर्न धर्मपथ्ये, न च पापा क्रोधकण्डूतिः ॥ १ ॥ " ' अप्पमत्तचित्तो त्ति " वा पाठः। तत्र आपत्स्वऽवैक्लव्यकरमध्यवसानकरं च सत्त्वमुक्तं, ततश्चाल्पं तुच्छं सत्त्वं यत्र तदल्पसत्त्वं, तच्चित्तं यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्त इति, शेषं तथैव। इति गाथार्थः ॥ २ ॥

इयं च भावमुण्डनरूपा दीक्षा यदा यस्य च भवतीत्येतदभिधित्सुराह—

चरिमम्मि चेव भणिया, एसा खलु पोग्गलाण परियट्टे।
सुद्धसहावस्स तहा, विसुज्झमाणस्स जीवस्स ॥ ३ ॥

चरम एवानादित्वाद्भव्यजीवयोरनन्तानां पुद्गलपरावर्त्तानां सर्वान्तिम एव नान्यत्रापि भणिता अभिहिता जिनैरेषा भावमुण्डनरूपा दीक्षा, खलुर्वाक्यालङ्कारे, पुद्गलानां परमाणवादीनां परिवर्ते एकजीवापेक्षया निखिलपुद्गलग्रहणग्रमितकालरूपे, स च समयप्रसिद्धोऽनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः। यदाह-
" ओरालविउव्वियतेयकम्मभासाणुपाणमणएहिं।
जीवस्स सयलपोग्गल-गहणओ थूलपरियट्टो ॥ १ ॥
ओरालियाएँ एक्क-क्कमेयओ सव्वपोग्गलग्गहणे।
कालेण जेण सो पुण, भण्णति इह सुहुमपरियट्टे " ॥ २ ॥
इत्यादि शुद्धस्वभावस्य यथाप्रवृत्तिकरणेनापचितदीर्घकर्मस्थितिकत्वेन निर्मलस्वरूपस्य, तथेति विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः। अथवा-तथा तेन प्रकारेण तत्कालोचितशुद्ध्येति भावः, विशुध्यमानस्योत्तरोत्तरां विशुद्धिमनुभवतो न पुनः संक्लिश्यमानस्य जीवस्य प्राणिनः। यदाह-"वड्ढंतपरिणामे, पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं। एमेव वड्ढियम्मि वि, हायंति न किंचि पडिवज्जे ॥ १ ॥ " इति गाथार्थः। पञ्चा० २ विव०। ध्य०।

अथयथार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतः प्रव्रज्याद्वारमाह-

सोच्चाऽभिसमेच्चा वा, पव्वज्जा अभिसमागमो तत्थ।
जाइस्सरणाईओ, सनिमित्तमनिमित्तओ वावि ॥ ३३१ ॥

श्रुत्वा तीर्थकरगणधराऽऽदीनां धर्मदेशनां निशम्य अभिसमेत्य वा सह सन्मत्याऽऽदिना स्वयमेवावबुध्य, प्रव्रज्या भवेत्, तत्राल्पवक्तव्यत्वात् प्रथममभिसमागम उच्यते सोऽपि समागमो जातिस्मरणाऽऽदिकः सनिमित्तकोऽनिमित्तको वा द्रष्टव्यः। तत्र यद्वाह्यं निमित्तमुद्दिश्य जातिस्मरणमुपजायते तत्सनिमित्तकः, यथा वल्कलचीरप्रभृतीनां, यत् पुनरेव तदावारकर्मणा क्षयोपशमेनोत्पद्यते तदनिमित्तकं, यथा स्वयंबुद्धकपिलाऽऽदीनाम्। एतेन जातिस्मरणेन, आदिग्रहणात् अवधिकस्य गुणप्रत्ययप्रभवेणावधिज्ञानेन अन्यतीर्थिकस्य वा विभङ्गज्ञानेन प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः संभवति। गतमभिसमेत्य द्वारम्।

अथ श्रुत्वेति द्वारं विवरीषुराह-

सोच्चा उ होइ धम्मं, स केरिसो केण वा कहेयव्वो ?।
के तस्स गुणा वुत्ता दोसा अणुवायकहणाए ॥ ३३२ ॥

धर्ममाचार्याऽऽदीनामन्तिके श्रुत्वा प्रव्रज्या भवति। अत्र शिष्यः पृच्छति-स धर्मः कीदृशः केन वा कथयितव्यः, के वा तस्या पायकथने गुणाः प्रोक्ताः, के वा अनुपायकथने दोषा इति।

तत्र कीदृशः केन वा कथयितव्य इति प्रश्ने निर्वचनमाह-

संसारदुक्खमहणो, विबोहओ भवियपुंडरीयाणं।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पगप्पजइणा कहेयव्वो ॥ ३३३ ॥

संसार एव जन्मजरामरणाऽऽदिदुःखनिबन्धनत्वाद् दुःखं, संसारस्य वा दुःखानि शारीरमानसिकलक्षणानि, तस्य तेषां वा मथनो विनाशकः, तथा भव्या एव विनयाऽऽदिविमलगुणपरिमलयोगात् ज्ञानाऽऽदिलक्ष्मीनिवासयोग्यतया च पुण्डरीकाणि श्वेतसरोरुहाणि तेषां विशेषेण मिथ्यात्वाऽऽदिनिद्रापगमलक्षणेन बोधकः सम्यग्दर्शनाऽऽदिविकाशकारी ईदृशो जिनप्रज्ञप्तो धर्मः प्रकल्पयतिना निशीथाध्ययनसूत्रार्थधारिणा साधुना कथयितव्यः, स हि संविग्नगीतार्थतयोत्सर्गापवादपदानि स्वस्थाने स्वस्थाने विनियुञ्जानो न विपरीतप्ररूपणयाऽऽत्मानं वा दीर्घभवभ्रमणभाजनमातनोतीति। परः प्राह-किमेवंविधोऽपि भगवतो धर्ममुपदिश-

मान' केषाञ्चिद् बोधन जनयति येनैवमभिधीयते भव्यपुण्ड-रीकाणां विबोध इति।

अत्रोच्यते-

जह सूरस्स पभावं, दट्ठुं वरकमलपोंडरीयाइं ।
बुज्झंति उदयकाले,तत्थ उ कुमुदा न बुज्झंति ॥२३४॥
एवं भवसिद्धीया, जिणवरसूरस्स थुइपभावेणं ।
बुज्झंति भवियकमला,अभवियकुमुदा न बुज्झंति।२३५।

यथा सूर्यस्य प्रभावं प्रभापटलरूपं दृष्ट्वा सरसि स्थितानि वरकमलपुण्डरीकाणि उदयकाले प्रभाते बुद्ध्यन्ते, तत्रैव च सरसि कुमुदान्यपि सन्ति, पर तानि न बुद्ध्यन्ते, एवमेतेनैव दृष्टान्तेन जिनवरसूर्यस्य या स्तुतिरागमः प्रभापटलकल्पः, तत्प्रभावेन भव्यकमलानि बुद्ध्यन्ते सम्यक्त्वाऽऽदिविकाशमासादयन्ति। तानि च "भव्वा वि ते अणंता, जे मुत्तिसुहं न पावंति।" इति वचनादसंभावनीयसिद्धिगमनान्यपि भवेयुरित्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-भवा भाविनीति सिद्धिर्येषां तानि भवसिद्धिकानि, यस्मिंश्च जीवलोकसरसि भगवतः प्रभावेन भव्यकमलानि बोधमश्नुवते,तस्मिन्नभव्यकुमुदान्यपि कालसौकरिकप्रभृतीनि सन्ति, परं तानि न प्रतिबुद्ध्यन्ते, तथास्वाभाव्यात्। यदवादि वादिमुख्येन-"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् *। तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ १ ॥" ( ६ स्या० )

अत्र परः प्राह-

पुव्वं तु होइ कहओ, पच्छा धम्मो उ उकमो किं नु ?।
तेण वि पुव्वं धम्मो, सुतो उ तम्हा कमो एसो ॥२३६॥

पूर्वं तावत्कथको धर्मोपदेष्टा भवति पश्चात्तदुपदेशं श्रुत्वा धर्म उत्पद्यते, ततः किमेव कीदृश इति प्रथमं धर्मस्वरूपमुद्दिश्य केन वा कथयितव्य इति कथकस्वरूपं पश्चादुद्दिशद्भिरुत्क्रमः क्रियते ?। गुरुराह-तेनापि कथकेन पूर्वं गुरूणां समीपे धर्मः श्रुत एव तस्मात्क्रम एष नोत्क्रम इति।

अयं च धर्म उपायेनैव कथयितव्यो नानुपायेन । आह-के दोषा अनुपायकथने ?। उच्यते-

जइधम्मं अकहेत्ता, अणु दुविधं सम्म मंसविरई वा ।
अणु वा सए कहिंते,चउजमला कालगा चउरो ॥२३७॥

यो खलु मिथ्यादृष्टिरनुपासकस्तत् प्रथमतया धर्मश्रवणार्थमुपतिष्ठते,तस्य यतिधर्मः कथयितव्यो,यदि यतिधर्ममकथयित्वा श्रावकसंबन्धिनमणुधर्मं कथयति तदा चत्वारो गुरवः, तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरुकाः, यदा यतिधर्मं प्रतिपत्तुं नोत्सहते तदा मूलोत्तरगुणभेदात् द्विविधः श्राद्धधर्मः कथनीयः, सम्यक्त्वमूलानि द्वादश व्रतानीत्यर्थः । यदि श्राद्धधर्ममकथयित्वा सम्यग्दर्शनमात्रं कथयति तदा चत्वारो गुरवः, तपसा गुरवः, कालेन लघवः । यदा श्राद्धधर्मं ग्रहीतुं न शक्नोति तदा यदि सम्यग्दर्शनमनुपदिश्य मद्यमांसविरतिं कथयति तदा चत्वारो गुरवः तपसा लघवः, कालेन गुरवः, यदा सम्यग्दर्शनमप्यङ्गीकर्तुं न शक्नोति तदा यदि मद्यमांसविरतिमप्ररूप्यैहिकमामुष्मिकं वा तद्विरतिफल कथयति तदाऽपि चत्वारो गुरवः तपसा कालेन लघवः।

( चउजमला कालगा चउरो त्ति ) चत्वारि यमलानि तपःकालयुगललक्षणानि येषु ते चतुर्यमलाः, चत्वारः कालकाश्चत्वारश्चतुर्गुरुका इत्यर्थः । आज्ञाभङ्गाऽऽदयश्च दोषाः ।

अपि च-

जीवा अब्भुट्ठित्ता, अवहीकहणा वि रंजिया संता ।
अभिसंछूढा होंति उ, संसारमहन्नवं तेण ॥ २३८ ॥

ते जीवाः प्रव्रज्यायामभ्युत्तिष्ठन्तोऽपि तदीयया अविधिकथनया रञ्जिताः सन्तश्चिन्तयन्ति-यदि श्रावकधर्मेणाऽपि कामभोगान् भुञ्जानैः सुगतिरवाप्यते ततः किमनया सिकताकवलनिरास्वादया प्रव्रज्यया ?। एवं यदि सम्यग्दर्शनमात्रेणापि सुगतिरासाद्यते तर्हि को नामाऽऽत्मानं विरतिशृङ्खलायां प्रक्षेप्स्यतीत्यादि। एवं ते विपरिणामिताः प्रव्रज्यामगृह्णन्तः षट्कायान् विराधयेयुः अतस्तेन कथकेन संसारमहार्णवमभि आभिमुख्येन प्रक्षिप्ता भवन्ति,चिरेण मुक्तिपदप्राप्तेः।

एसेव य नूण कमो, वेरग्गगओ न रोयए तं च ।
दुहतो य निरणुकंपा,सुणिपायसतरच्छअद्दुवमा ॥२३९॥

ते जीवा इत्थं चिन्तयेयुः-नूनमेष एवात्र क्रमः परिपाटिः यत्पूर्वं श्रावकधर्मं स्पृष्ट्वा पश्चाद्यतिधर्मं प्रतिपद्यते। अथवा-पूर्वं सम्यग्दर्शनमात्रमुररीकृत्य ततो देशविरतिरूपा दीयते। यद्वा-मद्यमांसविरतिं स्पृष्ट्वा पश्चात् सम्यक्त्वं गृह्यते इति। स चाऽऽरम्भबहुलतया गृहवासस्योपरि वैराग्यमुपगतः प्रव्रज्या प्रतिपत्तुमायातः,स च धर्मकथां श्राद्धधर्मं प्ररूपयितुं लग्नः,तं चासौ वैराग्याधिरूढमानसत्वात् न रोचयति ततो विपरिणम्य तच्चनिकाऽऽदिषु (?) गच्छेत, ते चैवमविधिना धर्मं कथयन्तो द्विधाऽपि निरनुकम्पाः,षण्णां कायानां तस्य चोपरि अनुकम्पारहिताः। (सुणि त्ति) वीरशुनिकादृष्टान्तो, यथा-सा वीरशुनिका पूर्वमालपमाना परिखेदिता पश्चात्सत्कृतमपि नेच्छति,एवमत्रापि पूर्वं श्राद्धधर्मे कथिते पश्चात् यत्नतोऽभिधीयमानमपि श्रमणधर्ममसौ न प्रतिपद्यते। तथा (पायस त्ति) यथा-कस्यापि प्राघूर्णिकस्य पूर्वं वासितभक्तं दत्तं,तत स उदरपूरं तद्भुक्तात् पश्चात् घृतमधुसंयुक्तं पायसमपि दीयमानं तस्य न रोचते।(तरच्छअद्दुवम त्ति) यथा तरक्षो व्याघ्रविशेषः,स पूर्वं अस्थाऽऽघ्रातः पश्चादामिषमपि न रोचयति,एवमस्यापि श्रावकधर्मघ्रातस्य यतिधर्मो न प्रतिभासते यत एते दोषा अतो विधिनैव कथनीयम्।

के पुनर्विधिकथने गुणा ?। उच्यते-

तित्थाणुसज्जणाए, आयहियाए परं समुद्धरति ।
मग्गप्पभावणाए, जइधम्मकहा अओ पढमं ॥ २४० ॥

यतिधर्मकथा प्रथमतः क्रियमाणा तीर्थस्यानुसज्जना भवति बहुना जन्तूना प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तीर्थानुसज्जना च कृता आत्महिताय जायते परं च प्रव्रज्याप्रदानेन संसारसागरात्सौ समुद्धरति, अत एव मार्गस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदेः प्रभावनायै सा प्रभवति,यत एते गुणा अतो यतिधर्मकथा प्रथम स्वरूपतो गुणतश्च कर्त्तव्या। तत्र स्वरूपतो यथा-" खंती य मद्दवज्जव मुत्ती ' इत्यादि। गुणतो यथा-' नो दुष्कर्मप्रयासो न कुयुवतिसुतस्वामिदुर्वाक्यदुःखं राजाऽऽदौ न प्रणामोऽशनवसनधनस्थानचिन्ता न चैव। ज्ञानाऽऽप्तिर्लोकपूजा प्रशमसुखरसः

* पाठान्तरम् 'खेदाऽऽदि किलनुर्न्मम' ।

प्रेत्य मोक्षाऽऽध्यवासिःश्रामण्येऽमी गुणा स्युस्तदिह सुमतयः! किं न यत्नं कुरुध्वम्? ॥१॥" इत्यादि। यदा यतिधर्ममङ्गीकर्तुं न शक्नोति तदा सम्यक्त्वमूलं श्राद्धधर्मः कथयितव्यः, यदा तमपि न प्रतिपद्यते तदा सम्यग्दर्शनं, तस्याप्यप्रतिपत्तौ मद्यमांसविरतिः। एवं चानुपासकपुरतो धर्मकथायां विधिः। उपासकस्य तु यथा स्वरुचि, धर्मकथां करोतु न कश्चिद्दोषः। गतं प्रव्रज्याद्वारम्। सू० १ उ० २ प्रक०।

(५) अधुना केनेत्येतद् व्याख्यायते। तत्र योग्येन गुरुणा स चेत्थंभूत इत्याह–

पव्वज्जाजुग्गगुणे–हि संगओ विहिपवण्णपव्वज्जो।
सेवियगुरुकुलवासो, सययं अक्खलियसीले अ ॥१०॥

प्रव्रज्यायोग्यस्य प्राणिनो गुणा प्रव्रज्यायोग्यगुणाः आर्यदेशोत्पन्नाऽऽदयो वक्ष्यमाणाः। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्–अथ प्रव्रज्यार्ह आर्यदेशोत्पन्नः विशिष्टजातिकुलान्वितः क्षीणप्रायकर्ममलः। तत एव विमलबुद्धिर्दुर्लभं मानुष्यं जन्ममरणनिमित्तं दुःखं संपदश्चलाः विषयाः दुःखहेतवः संयोगे वियोगः प्रतिक्षणं मरणं दारुणो विपाक इत्यवगतसंसारनिर्गुणत्व, तत एव तद्विरक्तः प्रतनुकषायोऽल्पहास्याऽऽदिः कृतज्ञो विनीतः प्रागपि राजामात्यपौरजनबहुमतोऽद्रोहकारी कल्याणाङ्गः श्राद्धः स्थिरः समुपसंपन्नश्चेति। एभिः संगतो युक्तः समेतः सन् किमित्याह–विधिप्रपन्नप्रव्रज्यः–विधिना वक्ष्यमाणलक्षणेन प्रपन्नाऽङ्गीकृता प्रव्रज्या येन स तथाविधः। तथा सेवितगुरुकुलवासः समुपासितगुरुकुलवास इत्यर्थः। सततं सर्वकालं प्रव्रज्याप्रतिपत्तेरारभ्याऽस्खलितशीलो वाऽखण्डितशीलश्च, चशब्दात् परद्रोहविरतिभावश्चेति गाथाऽर्थः।

सम्मं अहीअसुत्तो, तत्तो विमलयरबोहजोगाओ।
तत्तण्णू उवसंतो, पवयणवच्छल्लजुत्तो अ ॥ ११ ॥

सम्यग् यथोक्तयोगविधानेन अधीतसूत्रो गृहीतसूत्रः, ततो विमलतरबोधयोगादिति–तत सूत्राध्ययनाद्यः शुद्धतरो बोधस्तत्संबन्धादित्यर्थः। किमित्याह–तत्त्वज्ञः वस्तुतत्त्ववेदी। उपशान्तः क्रोधविपाकावगमेन, प्रवचनवात्सल्ययुक्तश्च प्रवचनमिह सङ्घः, सूत्रं वा, तद्वत्सलभावयुक्त इति गाथाऽर्थः।

सत्तहिअरओ अतहाऽऽदेओ, अणुवत्तगो अ गंभीरो।
अविसाई परलोए, उवसमलद्धाइकलिओ अ ॥१२॥

सत्त्वहितरतश्च सामान्येनैव जीवहिते सक्तश्च, तथा न केवलमित्थंविधः, किं त्वादेयोऽनुवर्तकश्च गम्भीरः। तत्राऽऽदेयो नाम ग्राह्यवाक्यः, अनुवर्तकश्च भावानुकूल्येन सम्यक् पालकः गम्भीरो विपुलचित्तः, अविषादी परलोकेन परीषहाऽऽद्यभिद्रुतः कायसंरक्षणाऽऽदौ दैन्यमुपयाति। उपशमलब्ध्यादिकलितश्च उपशमलब्ध्युपकरणलब्धिस्थिरहस्तलब्धियुक्तश्चेति गाथाऽर्थः।

तह पवयणत्थवत्ता, सुगुरुअणुण्णायगुरुपओ चेव।
एआरिसो गुरू खलु, भणिओ रागाइरहिएहिं ॥ १३ ॥

तथा प्रवचनार्थवक्ता, सूत्रार्थवक्तेत्यर्थः। स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपदश्चैव असति तस्मिन् दिने सम्यगाचर्याऽऽदिना स्थापितगुरुपद इत्यर्थः, ईदृशो गुरुः। खलुशब्दोऽवधारणार्थे, ईदृश एव, कालदोषादन्यतरगुणरहितोऽपि बहुतरगुणयुक्त इति वा विशेषेणेत्यर्थः। भणितो रागाऽऽदिरहितैः प्रतिपाऽऽदितो, वीतरागैरिति गाथार्थः।

एआरिसेण गुरुणा, सम्मं परिसाइकज्जरहिएणं।
पव्वज्जा दायव्वा, तयणुग्गहनिज्जराहेओ ॥ १४ ॥

ईदृशेन गुरुणा एवंविधेनाऽऽचार्येण, सम्यगविपरीतेन विधिना पर्षदादिकार्यरहितेन पानकाऽऽदैहिककार्यनिरपेक्षेण प्रव्रज्या दातव्या दीक्षा विधेया, किं तदङ्गीकृत्येत्यत आऽऽह–तदनुग्रहनिर्जराहेतोरिति, विनेयानुग्रहार्थं कर्मक्षयार्थं चेति गाथाऽर्थः।

ईदृशि गुरौ गुणमाह–

भत्तिबहुमाणसद्धा, थिरया चरणम्मि होइ सेहाणं।
एआरिसम्मि नियमा, गुरुम्मि गुणरयणजलहिम्मि ॥१५॥

भक्तिबहुमानाविति–भक्तिर्बाह्यविनयरूपा, बहुमानो भावप्रतिबन्धः, एतौ भवतः, शिक्षकाणामभिनवप्रव्रजितानामिति योगः। केत्याह–ईदृश्येवंभूते गुरौ आचार्ये नियमान्नियमेन। पुनरपि स एव विशेष्यते–गुणरत्नजलधौ गुणरत्नसमुद्र इति। ततः श्रद्धा स्थिरता च चरणे भवतीति। तथाहि–गुरुभक्तिबहुता न भावत एव चारित्रे श्रद्धा स्थैर्यं च भवति, नान्यथेति गाथाऽर्थः।

गुणान्तरमाह–

अणुवत्तगो अ एसो,-हवइ दढं जाणइ जओ सत्ते।
चित्ते चित्तसहावे, अणुवत्ते तह उवायं च ॥ १६ ॥

अनुवर्तकश्च एषोऽनन्तरोदितो गुरुर्भवति दृढमत्यर्थम्। कुत इत्याह–जानाति यतः सत्त्वान् प्राणिनश्चित्रान् नानारूपाश्चित्रस्वभावान्नानास्वभावान्, अनुवर्त्यानिति अनुवर्तनीयान्, तथोपायं चानुवर्तनोपायं च जानातीति गाथाऽर्थः।

अनुवर्तनागुणमाह–

अणुवत्तणाएँ सेहा, पायं पावंति जोगयं परमं।
रयणं पि गुणुक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेण ॥ १७ ॥

अनुवर्तनया करणभूतया शिक्षकाः प्रायो बाहुल्येन, कटुककल्पं दुःखं विहाय प्राप्नुवन्ति योग्यतामपवर्गं प्रति परमां प्रधानाम्। स्यादेतद् योग्या एव प्रव्रज्याऽर्हा इति किं गुरुणेत्येतदाशङ्क्याऽऽह–रत्नमपि पद्मरागाऽऽदि गुणोत्कर्षं कान्त्यादिगुणप्रकर्षमुपैति (सोहम्मणगुणेण) रत्नशोधकप्रभावेण, वैकटिकप्रभावेणेत्यर्थः। एवं सुशिष्या अपि गुरुप्रभावेणेति गाथाऽर्थः।

किं च–

एत्थ पमायक्खलिआ, पुव्वब्भासेण कस्स व न हुंति।
जो ताइऽवणेइ संमं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥ १८ ॥

अत्र च प्रव्रज्याविधाने, प्रमादस्खलितानीति–प्रमादात्सकाशाद् दुश्चेष्टितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति। अनादिभवाभ्यस्तो हि प्रमादः न झटित्येव त्यक्तुं पार्यते, यस्तानि स्खलितान्यपनयति सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना गुरुत्वं तस्य सफलम्। गुणगुरुत्वेनेति गाथाऽर्थः।

एतदेव लौकिकोदाहरणेन स्पष्टयति–

को णाम सारहीणं, स होज्ज जो भद्दवाजिणो दमए।

दुट्टे वि अ जो वाऽऽसे, दमेइ तं सारहिं विंति ॥१६॥

को नाम सारथीनां स भवेत् यो भद्रवाजिनः शोभनाऽश्वान् दमयेत्, न कश्चिदसौ, असारथिरेवेत्यर्थः । दुष्टानपि तु योऽश्वान् दमयति शोभनान् करोति तं सारथिं ब्रुवते लौकिकाः । पाठान्तरं वा-तमाश्विकं ब्रुवत इति गाथाऽर्थः ।

शिष्यानुपालनेन गुरोर्दोषमाह-

जो आयरेण पढमं, पव्वावेऊण नाणुपालेइ ।

सेहे सुत्तविहीए, सो पवयणपच्चणीउ त्ति ॥ २० ॥

यो गुरुरादरेण बहुमानेन प्रथमं प्रव्राज्य प्रवज्यां ग्राहयित्वा पश्चान्नानुपालयति शिष्यकान् सूत्रविधिना, स किमित्याह-स प्रवचनप्रत्यनीकः शासनप्रत्यनीक इति गाथाऽर्थः ।

एतदेवाऽऽह-

अविकोविअपरमत्था, विरुद्धमिह परभवे अ सेविंता ।

जं पावंति अणत्थं, सो खलु तप्पच्चओ सव्वो ॥२१॥

अविकोपितपरमार्थाः अविज्ञापितसमयसद्भावाः, विरुद्धं, सेवमाना इति योगः । इह परभवे च यं प्राप्नुवन्त्यनर्थं, स खलु तत्प्रत्ययः सर्वः,अननुवर्त्तकगुरुनिमित्त इति गाथाऽर्थः ।

जिणसासणस्सऽवण्णो, मिअंकधवलस्स जो अ ते दट्ठुं ।

पावं समायरंतो, जायइ तप्पच्चओ सो वि ॥ २२ ॥

जिनशासनस्यावर्णोऽश्लाघा मृगाङ्कधवलस्य चन्द्रधवलस्य, यश्च तान् दृष्ट्वा पापं समाचरतः सेवमानान् जायते जनितो भवति । तत्प्रत्ययोऽसावपि अननुवर्त्तकगुरुनिमित्तोऽसावपीति गाथाऽर्थः ।

अनुवर्त्तकस्य तु गुणमाह-

जो पुण अणुवत्तेई, हिए य निप्फायइ अ विहिणा उ ।

सो ते अन्ने अप्पा-णयं च पावेइ परमपयं ॥ २३ ॥

यः पुनरनुवर्त्तते स्वभावानुकूल्येन हिते योजयति, क्रियां निष्पादयति च ज्ञानक्रियाभ्यां विधिना आगमोक्तेन स गुरुस्तान् शिष्यानन्यान् प्राणिनः आत्मानं च प्रापयति परमपदं नयति मोक्षमिति गाथाऽर्थः ।

एतदेव दर्शयति-

णाणाइलाभओ खलु, दोसा हीयंति वड्ढई चरणं ।

इअ अब्भासाइसया, सीसाणं होइ परमपयं ॥ २४ ॥

ज्ञानाऽऽदिलाभतः खलु अनुवर्त्तमाना हि शिष्याः स्थिरा भवन्ति, ततो ज्ञानदर्शने लभन्ते, ततो लाभात्, खलुशब्दोऽवधारणे, तत एव दोषा रागाऽऽदयो हीयन्ते त्यज्यन्ते, क्षीयन्ते वा, ततो वर्द्धते चरणं चारित्रम् ( इय ) एवं अभ्यासातिशयादभ्यासातिशयेन तत्रान्यत्र वा जन्मनि कर्मक्षयभावाच्छिष्याणां भवति परमपदं मोक्षाऽऽख्यमिति गाथाऽर्थः ।

एआरिसा इहं खलु, अन्नेसिं सासणम्मि अणुराओ ।

वीअं सवणपवित्ती, संताणे तेसु वि जहुत्तं ॥ २५ ॥

तान् ज्ञानाऽऽदियुतान् दृष्ट्वा ईदृशा ज्ञानाऽऽदियुक्ता इह खलु इहैव जिनशासने इत्यन्येषां गुणपक्षपातिनां शासने अनुरागो भवति,भावत एव शोभनमिदं शासनं,वीजमित्येतदेव सम्यक्त्वापवर्गबीजं केषाञ्चित्, केषाञ्चित् त्वनुरागातिशयाच्छ्रवणप्रवृत्तिरहो शोभनमेतदिति श्रवणं त्वेव, अपरे अङ्गीकुर्वन्ति च, सन्तान इत्येवं कुशलसन्तानप्रवृत्तिः तेषामप्यन्येषां सन्तानिनां यथोक्तमिति ज्ञानाऽऽदिगुणलाभतः परमपदमेवेति गाथाऽर्थः ।

इअ कुसलपक्खहेऊ, सपरुवयारम्मि निच्चमुज्जुत्तो ।

सफलीकयगुरुसद्दो, साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥ २६ ॥

( इय ) एवं कुशलपक्षहेतु पुण्यपक्षकारणं स्वपरे नित्योद्युक्तो नित्योद्यतः सफलीकृतगुरुशब्दो गुणत्वेन साधयति यथेप्सितं कार्यं परमपदमिति गाथाऽर्थः ।

विपर्ययमाह-

विहिणाऽणुवत्तिआ पुण,कहिं वि सेविंति जइ व पडिसिद्धं ।

आणाकारि त्ति गुरू, न दोसवं होइ सो तह वि ॥२७॥

विधिनाऽनुवर्तमानाः पुनः कथञ्चित्कर्मपरिणामतः रोचन्ते यद्यपि प्रतिषिद्धं सूत्रे आज्ञाकारीति गुरुर्न दोषवान् भवत्यसौ तथाऽपि भगवदाज्ञाऽनुवर्तनासंपादनादिति गाथाऽर्थः ।

आहऽन्नसेवणाए, गुरुस्स पावं ति नायवज्झमिणं ।

आणाभंगाउ तयं,न य सो अन्नम्मि कह वज्झं ? ॥२८॥

आह परः—अन्यसेवनया अनुवर्तिताशिष्यपरावसेवनया गुरौ पापमिति न्यायबाह्यमिदं, ततश्च स खलु तत्प्रत्ययः सर्वं इत्याद्ययुक्तमित्यस्योत्तरमाह-आज्ञाभङ्गात्तद् भगवदाज्ञाभङ्गेन पापं न चासावन्यस्मिन्, किं तु गुरवं, कथम् ?, बाह्यं नैव न्यायबाह्यमिति गाथाऽर्थः ।

तम्हाऽणुवत्तियव्वा, सेहा गुरुणा उ सो अ गुणजुत्तो ।

अणुवत्तणासमत्थो, जं तो एआरिसेणेव ॥ २६ ॥

यस्मादेवं तस्मादनुवर्तितव्याः शिष्यका गुरुणैव, स च गुणयुक्तश्च सन् अनुवर्त्तनासमर्थो यद्यस्मात्तत्तस्मादीदृशेनैव गुरुणा प्रव्रज्या दातव्येति गाथाऽर्थः ।

अपवादमाह-

कालपरिहाणिदोसा, इत्तो एगाइगुणविहीणेणं ।

अन्नेण वि पव्वज्जा, दायव्वा सीलवंतेणं ॥ ३० ॥

कालपरिहाणिदोषादतोऽनन्तरोक्त उदितगुणोपेताद् गुरोरेकाऽऽदिगुणविहीनेनान्येनापि प्रव्रज्या दातव्या शीलवता शीलयुक्तेनेति गाथाऽर्थः । केणं ति दार गयं ।

विशेषतः कालोचितं गुरुमाह-

गीतत्थो कडजोगी, चारित्ती तह य गाहणाकुसलो ।

अणुवत्तगोऽविसाई, बीओ पव्वावणाऽऽयरिओ ॥३१॥

गीतार्थो गृहीतसूत्रार्थः, कृतयोगी कृतसाधुव्यापारः, चारित्री शीलवान्, तथा च-ग्रहणाकुशलः क्रियाकलापकुशलः शिक्षणानिपुणः, अनुवर्तकः स्वभावानुकूल्येन प्रतिजागरकः, अविषादी भावापत्सु, द्वितीयः अपवादिकः प्रव्राजनाऽऽचार्यः प्रव्रज्याप्रयच्छकः गुरुरिति गाथाऽर्थः । केनेति व्याख्यातम् ।

(६) अधुना केभ्य इति व्याख्यायते-केभ्यः प्रव्रज्या दातव्या । के पुनस्तदर्हा इत्येतदाह-

पव्वज्जाए अरिहा, आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना ।

जाइकुलेहिँ विसुद्धा, तह खीणप्पायकम्ममला ॥३२॥

प्रव्रज्याया अर्हा योग्या । क इत्याह-आर्यदेशे ये समुत्पन्ना

अर्द्धपड्विंशतिजनपदेष्वित्यर्थः । जातिकुलाभ्यां विशिष्टाः, मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलं, तथा क्षीणप्रायकर्ममलाः, अल्पकर्माण इति गाथार्थः ।

तत्तो अ विमलबुद्धी, दुल्लहमणुअत्तणं भवसमुद्दे ।
जम्मो मरणनिमित्तं, चवलाओ संपयाओ अ ॥ ३३ ॥

ततश्च कर्म्मक्षयाद्विमलबुद्धयः, विमलबुद्धित्वादेव च दुर्लभं मनुजत्वं भवसमुद्रे संसारसमुद्रे, तथा जन्म मरणनिमित्तं, चपलाः संपदश्चेति गाथार्थः ।

विसया य दुक्खहेऊ संजोगे निअमओ विओगो त्ति ।
पइसमयमेव मरणं, एत्थ विवागो अ अइरुद्दो ॥ ३४ ॥

विषयाश्च दुःखहेतवः, तथा संयोगे सति नियमतो वियोग इति, तथा प्रतिसमयमेव मरणमवीचिमाश्रित्य, अत्र विपाकश्चातिरौद्रः परभव इति गाथार्थः ।

एवं पयईए चिअ, अवगयसंसारनिग्गुणसहावा ।
तत्तो अ तव्विरत्ता, पयणुकसायाऽप्पहासा य ॥ ३५ ॥

एवं प्रकृत्यैव स्वभावेनैव अवगतसंसारनिर्गुणस्वभावाः, ततश्च नैर्गुण्यावगमात्तद्विरक्ताः संसारविरक्ताः प्रतनुकषाया अल्पहास्याश्च, हास्यग्रहणं रत्याद्युपलक्षणमिति गाथार्थः ।

सुकयण्णुआ विणीया, रायाईणमविरुद्धकारी य ।
कल्लाणंगा सड्ढा, थिरा तहा समुवसंपण्णा ॥ ३६ ॥

सुकृतज्ञाः, विनीताः, राजाऽऽदीनामविरुद्धकारिणश्च, आदिशब्दादमात्याऽऽदिपरिग्रहः, कल्याणाङ्गाः, श्राद्धाः, स्थिराः, तथा समुपसम्पन्ना इति गाथार्थः ।

उत्सर्गत एवंभूता एव, अपवादतस्त्वाह-

कालपरिहाणिदोसा, एत्तो एकाऽऽदिगुणविहीणा वि ।
जे बहुगुणसंपन्ना ते, जुग्गा हुंति नायव्वा ॥ ३७ ॥

कालपरिहाणिदोषात् इतोऽनन्तरोदितगुणगणान्वितेभ्यः एकाऽऽदिगुणविहीना अपि ये बहुगुणसंपन्नास्ते योग्या भवन्ति ज्ञातव्याः, प्रव्रज्याया इति गाथार्थः ।

नणु मणुअमाइएहिं, धम्मेहिं जुत्त एत्तिएणेव ।
पायं गुणसंपन्ना, गुणपगरिससाहगा जेण ॥ ३८ ॥

ननु मनुजाऽऽदिभिर्धर्मैर्युक्ता इत्येतावतैव योग्याः, इति आदिशब्दादार्यदेशादिपरिग्रहः । किमेतदित्थमित्यत्राऽऽह प्रायो बाहुल्येन गुणसम्पन्नाः सन्त गुणप्रकर्षसाधका येन गुणप्रकर्षश्च प्रव्रजितेन साधनीय इति गाथार्थः ।

निगमयन्नाह-

एवंविहाण देआ, पव्वज्जा भवविरत्तचित्ताणं ।
अच्चंतदुक्करा जं, थिरं च आलंबणमिमेसिं ॥ ३९ ॥

एवंविधेभ्यो बहुगुणसंपन्नेभ्यो देया दातव्या प्रव्रज्या दीक्षा भवविरक्तचित्तेभ्यः सम्यग्विरक्तचित्तेभ्यः । किमित्यत्राऽऽह-अत्यन्तदुष्करा यत् यस्मात् स्थिरं चाऽऽलम्बनममीषां भवविरक्तचित्तानामेता-र्मा सदा वैराग्यभावेन कुर्वन्तीति गाथार्थः ।

दुष्करत्वनिदर्शनमाह-

अइगरुओ मोहतरू, अणाइभवभावणाविअयमूलो ।
दुक्खं उम्मूलिज्जइ, अच्चंतं अप्पमत्तेहिं ॥ ४० ॥

अतिगुरुरतिरौद्रो मोहतरुर्मोहस्तरुरिवाशुभपुष्पफलदानभावेन मोहतरुरनादिभवभावनाभावितमूलः, अनादिमत्यो या संसारभावना विषयस्पृहाऽऽध्यास्ताभिर्व्यासमूलः यतश्चैवमतो दुःखमुन्मूल्यते अपनीयते, अत्यन्तमप्रमत्तैः सद्भिरिति गाथार्थः ।

संसारविरत्ताण य, होइ तओ न उण तयभिनंदीणं ।
जिणवयणं पि न पायं, तेसिं गुणसाहगं होइ ॥ ४१ ॥

संसारविरक्तानां च भवति तक इत्यसावप्रमादो न पुनस्तदभिनन्दिनां संसाराभिनन्दिनां जिनवचनाद्भविष्यतीति चेदेतदाशङ्क्याऽऽह जिनवचनमपि, आस्तां तावदन्यत्, न प्रायस्तेषां संसाराभिनन्दिनां गुणसाधकं भवति शुभनिर्वर्तकं भवतीति गाथार्थः ।

किमित्यत आह-

गुरुकम्माणं जम्हा, किलिट्ठचित्ताण तस्स भावत्थो ।
नो परिणमइ त्ति सम्मं, कुंकुमरागो व्व मलिणम्मि ॥ ४२ ॥

गुरुकर्मणां प्रचुरकर्मणां यस्मात् क्लिष्टचित्तानां मलिनचित्तानां तस्य जिनवचनस्य भावार्थोऽविपरीतार्थो न परिणमति न प्रतिभासते सम्यग् अविपरीतः । दृष्टान्तमाह-कुङ्कुमराग इव मलिने, वाससीति गम्यते । न चापरिणमतोऽसावप्रमादप्रसाधक इति गाथार्थः ।

किं च-

विट्ठाएँ सूअरो जह, उवएसेण वि न तीरए धरिओ ।
संसारसूअरो इअ, अविरत्तमणो अकज्जम्मि ॥ ४३ ॥

विष्ठाया पुरीषलक्षणाया सूकरः पशुविशेषो यथा उपदेशेनापि निवारणालक्षणेन, अपिशब्दात् प्रायः क्रिययाऽपि, न शक्यते धर्तुं, किं तु बलात् प्रवर्त्तते एवं संसारसूकर प्राणी, इति एवमविरक्तमनाः, संसारे एवेति गम्यते । अकार्य इत्यनासेवनीये न शक्यते धर्तुमिति गाथार्थः ।

ता धन्नाणं, गीओ, उवाहिसुद्धाण देइ पव्वज्जं ।
आयपरपरिच्चाओ, विवज्जए मा हविज्ज त्ति ॥ ४४ ॥

यस्मादेव तस्माद् धन्येभ्यः पुण्यभाग्येभ्यः, गीत इति गीतार्थः उपाधिशुद्धेभ्यः आर्यदेशसमुत्पन्नाऽऽदिविशेषणशुद्धेभ्यो ददाति प्रव्रज्यां प्रयच्छति दीक्षाम्, आत्मपरपरित्यागो विपर्यये मा भूदिति । तथा ह्यधन्येभ्योऽनुपाधिशुद्धेभ्यः प्रव्रज्यादाने आत्मपरपरित्यागो नियमात् एव इति गाथार्थः ।

एतदेव भावयति-

अविणीओ न य सिक्खइ, सिक्खं पडिसिद्धसेवणं कुणइ ।
सिक्खावगेण तस्स हु, सइ अप्पा होइ परिचत्तो ॥ ४५ ॥

अविनीत इति स ह्यधन्यः प्रव्रजितः प्रकृत्यैवाविनीतो भवति, न च शिक्षति शिक्षा ग्रहणाऽऽसेवनाख्या, प्रतिषिद्धसेवनं करोति अविहितानुष्ठानं च प्रवर्त्तते, शिक्षकेण न स्वेच्छाभूतस्य सदा सर्वकालमात्मा भवति परित्यक्तः, अविषयप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ।

तस्स वि य अइक्कमणं, मडाभावम्मि उभयलोगेहिं ।
जीविअमहलं किरिया-णासणं तस्स चाओ त्ति ॥ ४६ ॥

तस्यापि चाऽन्यस्य शिक्षया प्रवर्तमानस्याऽऽसेव्यानं म-

वति । किमित्यत आह-श्रद्धाभावे सति श्राद्धस्य हि तथा प्रवर्त्तमानस्य सुखं, नेतरस्य । ततश्चोभयलोकयोरिहलोके परलोके च जीवितमफलं तस्य, इहलोके तावद्भिक्षाऽटना-ऽऽदियोगात्परलोके च कर्म्मबन्धात् । क्रियाज्ञातेनेति वैद्य क्रियोदाहरणेन, तस्य त्याग इत्यनेन प्रकारेण परित्याग इति गाथाऽर्थः ।

क्रियाज्ञातमाह-

जह लोअम्मि वि विज्जा, असज्झवाहीण कुणइ जो किरिया ।
सो अप्पाणं तह वा-हिए अ पाडेइ केसम्मि ॥४७॥

यथा लोकेऽपि वैद्यः असाध्यव्याधीनामातुराणां करोति यः क्रियां स आत्मानं तथा व्याधितांश्च पातयति क्लेशे, व्याध्यपगमाभावादिति गाथाऽर्थः ।

तह चेव धम्मविज्जो, एत्थ असज्झाण जो उ पव्वज्जं ।
भावकिरिअं पउंजइ, तस्स वि उवमा इमा चेव ॥ ४८ ॥

तथैव धर्म्मवैद्य आचार्य अत्राधिकारे असाध्याना कर्म्म-व्याधिमाश्रित्य यस्तु प्रव्रज्यां भावक्रिया प्रयुङ्क्ते कर्मरोग-नाशनाय, तस्यापि धर्म्मवैद्यस्य उपमा इयमेव, आत्मानं तांश्च क्लेशे पातयतीति गाथाऽर्थः ।

चोदक आह-जिनक्रियाया असाध्या
नाम न सन्ति । सत्यम् । इत्याह-

जिणकिरियाएँ असज्झा, ण इत्थलोगम्मि केइ विज्जंति ।
जे तप्पओगऽजोग्गा, तेऽसज्झा एस परमत्थो ॥ ४६ ॥

जिनाना संबन्धिनी क्रिया तत्प्रणेतृत्वेन जिनक्रिया, तस्या असाध्या अचिकित्स्या नात्र लोके प्राणिलोके केचन प्राणिनो विद्यन्ते, किं तु ये तत्प्रयोगाऽयोग्या जिनक्रियाप्रयोगानुचितास्ते असाध्याः कर्म्मव्याधिमाश्रित्य, एष परमार्थः, इदमत्र हृदयमिति गाथाऽर्थः ।

एएसि वयपमाणं, अट्ठसमाउ त्ति वीअरागेहिं ।
भणियं जहन्नयं खलु, उक्कोसं अणवगल्लो त्ति ॥ ५० ॥

एतेषां प्रव्रज्यायोग्यानां वयःप्रमाणं शरीरावस्थाप्रमाण-मष्टौ समा इत्यष्टवर्षाणि वीतरागैर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितं जघन्यकं खलु सर्वस्तोकमेतदेव द्रव्यलिङ्गप्रतिपत्तिरिति । उत्कृष्टं वयःप्रमाणम् ( अनवगल्ल इति ) अनत्यन्तवृद्ध इति गाथाऽर्थः ।

अतः को दोषः ?, इति चेदुच्यते-

तदहो परिभवखित्तं, ण चरणभावो वि पायमेएसिं ।
आहच्च भावकहगं, सुत्तं पुण होइ नायव्वं ॥ ५१ ॥

तदध परिभवक्षेत्रमित्यष्टभ्यो वर्षेभ्य आराद्वर्त्ती परिभवभाजनं भवति । न चरणभावोऽपि न चारित्रपरिणामोऽपि प्रायो बाहुल्येनामीषा तदधोवर्त्तिनां बालानामिति । आह-एव सति सूत्रविरोधः " छम्मासियं छसु जीयं " इत्यादि श्रवणाच्चैव चरणपरिणाममन्तरेण भावतः प्रव्रज्या यतो भवतीति (?) ।

अत्रोत्तरमाह-

केई भणंति बाला, किल एएँ वयंजुआ वि जे भणिया ।
छुल्लगभावाओ चिय, न हुंति चरणस्स जुग्ग त्ति ॥५२॥

केचन भणन्ति तन्त्रान्तरीयाश्चैव वृद्धाऽऽदयो बालाः किल एते । क इत्याह-वयोयुक्ता अपि ये भणिता अष्टवर्षा अपि ये उक्ताः, यतश्चैवमतः क्षुल्लकभावादेव बालत्वादेव, किमित्याह-न संभवन्ति चरणस्य योग्या इति, न चारित्रोचिता इति गाथाऽर्थः ।

अन्ने उ भुत्तभोगा-णमेव पव्वज्जमणघमिच्छंति ।
संभावणिज्जदोसा, वयम्मि जं खुड्डगा होंति ॥ ५३ ॥

अन्ये तु त्रैविद्यवृद्धा भुक्तभोगानामेवातीतयौवनानां प्रव्रज्यामनघामपापामिच्छन्ति प्रतिपद्यन्ते । किमित्यत आह-संभावनीयदोषाः संभाव्यमानविषया ऽऽसेवनापराधाः, वयसि यौवने, यद्यस्मात्क्षुल्लका भवन्ति । संभवी च दोषः परिहर्तव्यो यतिभिरिति गाथाऽर्थः ।

किं च-

विण्णायविसयसंगा, सुहं च किल ते तओऽणुपालिंति ।
कोउअनिअत्तभावा, पव्वज्जमसंकणिज्जा य ॥ ५४ ॥

विज्ञातविषयसङ्गा अनुभूतविषयसङ्गाः सन्तः सुखं च किल ते अतीतवयस, ततो विज्ञातविषयसङ्गत्वात्कारणादनुपालयन्ति, प्रव्रज्यामिति योगः । कस्माद्धेतोरित्यत्राऽऽह कौतुकनिवृत्तभावा इति कृत्वा । " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायो दर्शनम् " इति वचनात् । विषयाऽऽलम्बनकौतुकनिवृत्तभावत्वादित्यर्थः । गुणान्तरमाह-अशङ्कनीयाश्चेति अतिक्रान्तवयसः सर्वप्रयोजनेष्वेवाशङ्कनीयाश्च भवन्तीति गाथाऽर्थः ।

किं च-

धम्मऽत्थकाममोक्खा, पुरिसत्था जं चयार लोगम्मि ।
एए आसेविअव्वा, निअनिअकालम्मि सव्वे वि ॥५५॥

धर्मार्थकाममोक्षाः पुरुषार्था यस्माच्चत्वारो लोके, तत्र हिंसाऽऽदिलक्षणो धर्मः, हिरण्याऽऽदिरर्थः, इच्छामदनलक्षणः कामः, अनाबाधो मोक्षः, एते चत्वारः पुरुषार्थाः सेवितव्याः, निजनिजकाले आत्मीयाऽऽत्मीयकाले सर्वेऽपि, अन्यथा अक्षीणकामनिबन्धनकर्मणस्तत्परित्यागदोषोपपत्तेरिति गाथाऽर्थः ।

गुणान्तरमाह-

तहऽभुत्तभोगदोसा, कोउगकामगहपत्थणाईआ ।
एए वि होंति विजढा, जोग्गाहिगयाण तो दिक्खा ॥५६॥

तथा अभुक्तभोगदोषा इति न भुक्ता भोगा यस्ते अभुक्तभोगास्तद्दोषाः कौतुककामग्रहप्रार्थनाऽऽदय, तत्र कौतुक सुरतविषयमौत्सुक्य कामग्रहस्तदनासेवनोद्रेकाद्विभ्रमप्रार्थना योषिदभ्यर्थना, आदिशब्दाद्गुलाग्रहणाऽऽदिपरिग्रह । एतेऽपि भवन्ति विजढा परित्यक्ता अतिक्रान्तवयोभि प्रव्रज्या प्रतिपद्यमानैरिति योग्याधिकृतानामतिक्रान्तवयसामेव प्रव्रज्या, इतरे त्वयोग्या उक्तदोषोपपत्तेरिति गाथाऽर्थः । एष पूर्वपक्षः ।

अत्रोत्तरमाह-

भण्णइ खुड्डगभावो, कम्मखउवसमभ वपभवेणं ।
चरणेण किं विरुज्झइ, जेणमजोग त्ति सग्गाहो ॥ ५७ ॥

भण्यतेऽत्र प्रतिवचनं-क्षुल्लकभावो बालभावः कर्म्मक्षयो-

पशमभावप्रभवेन कर्मक्षयोपशमभावात्प्रभव उत्पादो यस्य तस्येत्थंभूतेन चरणेन " मातुः तृतीया " इति न्याद्, किं विरुध्यते ?, येन अयोग्याः क्षुल्लका इत्यसत्प्रलापः ? न विरुध्यत इति गाथाऽर्थः ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

सकम्मक्खओवसमो, चित्तनिबंधणसमुब्भवो भणिओ ।
न उ वयनिबंधणो च्चिय, तम्हा एयाणमविरोहो ॥५८॥

तत्कर्म्मक्षयोपशम चारित्रमोहनीयकर्म्मक्षयोपशम चित्तनिबन्धनसमुद्भवो नानाप्रकारकारणानुगामी यत्र स तथाविधो भणितः उक्तोऽर्हद्भिः, न तु वयोनिबन्धन एव, मध्यमविशिष्टशरीराद्यवस्थाकारण एव, यस्मादेवं तस्मादनयोः चरणपरिणामवयोरविरोधोऽयमिति गाथाऽर्थः ।

इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमिति दर्शयति-

गयजोव्वणा वि पुरिसा, बालु व्व समायरंति कम्माणि ।
दोग्गइनिबंधणाइं, जोव्वणवंता वि ण य केइ ॥ ५९ ॥

गतयौवना अप्यतिक्रान्तवयसोऽपि पुरुषा बाला इव यौवनोन्मत्ता इव समाचरन्ति आसेवन्ते कर्म्माणि क्रियारूपाणि । किंविशिष्टानीत्याह—दुर्गतिनिबन्धनानि दुर्गतिकारणानि, यौवनवन्तोऽपि यौवनसमन्विता अपि केऽपि न समाचरन्ति तथाविधानि कर्म्माणि, ततो व्यभिचारि यौवनमिति गाथाऽर्थः ।

ततश्च-

जोव्वणमविवेगो च्चिय, विणिओ भावओ उ तब्भावो ।
जोव्वणविगमो सो उण, जिणेहिँ न कयाइ पडिसिद्धो ॥६०॥

यौवनमविवेक एव निर्दिष्टं भावतस्तु परमार्थेन पुनः तत्स्वभाव अविवेकाभावो, यौवनविगम स पुनर्यौवनविगमो जिनैर्न कदाचित्प्रतिषिद्धः, सदैव सम्भवादिति गाथाऽर्थः ।

अत्राऽऽह-

जइ एवं तो कम्हा, वयम्मि नियमा कओ उ ननु भणियं ।
तदहो परिहवखित्ता -इ कारणं बहुविहं पुव्वं ॥ ६१ ॥

यद्येव यौवनं व्यभिचारि ततः कस्माद्वयसि नियम कृत एव अष्टौ समा इत्येवंभूत ?। अत्रोत्तरमाह-ननु भणितमत्र तदर्थ परिभवक्षेत्राऽऽदि कारणं बहुविधमनेकप्रकारं पूर्वमिति गाथाऽर्थः ।

पूर्वपक्षमुल्लिख्य व्यभिचारयन्नाह-

संभावणिज्जदोसा, वयम्मि खुड्ड त्ति जं पि तं भणिअं ।
तं पि न अणहं जम्हा, सुभुत्तभोगाण वि सम तं ॥६२॥

कर्म्मणा सम्भावनीयदोषा वयसि क्षुल्लका इति यदपि तद्भणितं पूर्वं तदपि तद्भणितं नानघं न शोभनम् । कुत इत्याह—यस्मात्सुभुक्तभोगानामप्यतीतवयसामप्यशक्तपित्रादिप्रभृतीनां समं तुल्यं तत्संभावनीयदोषत्वमिति गाथाऽर्थः ।

किञ्च-

कम्माण रायभूअं, तं जाव य मोहणिज्जं तु ।
संभावणिज्जदोसा, चिट्ठइ ता चरमदेहा वि ॥ ६३ ॥

कर्म्मणां राजभूतमप्रभूततया प्रधानमित्यर्थः । यावत् एव मिथ्यात्वाऽऽदिरागस्य भेदात् मायन्मोहनीयं तु, तिष्ठतीति योग । तुशब्दोऽवधारणार्थः, किं विशिनष्टि स्वप्रक्रियामाश्रित्य ?, एवं तत्रापरं त्यागाश्रय मर्यादिनन्दिर्नी अविषा परिशृणोते । संभावनीयदोषास्तावच्चरमदेहा अपि पश्चिमशरीरा अपि तिष्ठन्तु तस्य इति गाथार्थः ।

यतश्चैवम्-

तम्हा न द्विरिअव्वा, केई अणिअट्टिवायराहारा ।
ते न य ठिया विअला, पायं जं निसमपेअ त्ति ॥६४॥

यस्मादेवं तस्मान्न दीक्षितव्या इति स्वप्रक्रियानुसारेण स्वसमयपरिभाषया यादृच्छिकपद्यानुबन्धेनायाताणिमाऽऽदिभावेऽस्य आपादिति (?)। ते त्वातिर्भूत्वायादृशः अयोग्याणिमाऽऽदिभावा या न दीक्षाधिकारा न प्रव्रज्यार्हाः प्रायस्तथान्यत्र या उत्पत्ति उपस्थितामान्यादिरूप सकलवीर्यकल्पाश्रयभावव्यवस्थापनं प्रायोग्रहणम् । एवञ्च तत्रान्तरेऽपि स्वपरिभाषया गीयते एव, अन्यत्तमसनयाता कल्याणोऽपि कल्याण प्राप्त इति वचनात्, यतस्मादेव निरवमेतत् ततस्तस्मादिदं संकटमेतत् । किमुक्तं भवति ?—दीक्षाऽऽनन्तरेण विशिष्टगुणा न भवन्ति तथा निरन्तरं न तु दीक्षे तिर्यन्नराऽर्थपविरोध इति गाथाऽर्थः ।

अन्यदुक्तार्थं समता दर्शयन्नाह-

विणायविसयसंगा, जमुत्तमिच्चाइ तं पि ण हि तुल्लं ।
अणायविसयसंगा, वि तग्गुणा केइ जं हुंति ॥ ६५ ॥

विज्ञातविषयसङ्गा यदुक्तमित्यादि पूर्वपक्षवादिनस्तदपि न तुल्यं, प्रत्यक्षेऽपि कथमित्याह-अज्ञातविषयसङ्गा अपि तद्गुणा विज्ञातविषयसङ्गगुणाः केचन प्राणिनो यद्यस्माद्भवन्तीति गाथाऽर्थः ।

स्वपक्षं योजयन्नाह

अब्भासजणियपसरा, पायं कामा य तब्भवब्भासो ।
असुहपवित्तिणिमित्तो, तेसिं नो सुंदरतरा ते ॥ ६६ ॥

अभ्यासजनितप्रसरा आसेवनोद्भूतवेगाः प्राय कामश्च बाहुल्येन कामा पञ्चविधा वर्त्तन्ते, तद्भवाभ्यास अशुभप्रवृत्तिनिमित्तस्तेषां न विद्यते । अन्यभवाभ्यासस्तु मनागपि प्रकृष्ट इति सुन्दरतराः शोभनतरास्ते अज्ञातविषयसङ्गा इति गाथाऽर्थः ।

परोपन्यस्तमुपपत्त्यन्तरमुक्तार्थं परिहरन्नाह-

धम्मऽत्थकाममोक्खा, जमुत्तमिच्चाइ तुच्छमेअं तु ।
संसारकारणं जं, पयईए अत्थकामा उ ॥ ६७ ॥

धर्म्मार्थकाममोक्षा यदुक्तमित्यादि पूर्वपक्षवादिना, तुच्छमेतदल्पसारमित्यर्थः । कुत ?, इत्याह-संसारकारणं यत् यस्मात्प्रकृत्या स्वभावेनार्थकामौ, ताभ्यां बन्धादिति गाथाऽर्थः ।

तत् किमिति चेत् ?, उच्यते-

असुहो अ महापावो, संसारो तप्परिक्खयणिमित्तं ।
बुद्धिमया पुरिसेणं, सुद्धो धम्मो अ कायव्वो ॥ ६८ ॥

अशुभश्च महापाप संसारस्तत्परिक्षयनिमित्तं बुद्धिमता पुरुषेण शुद्धो धर्म्मस्तु कर्त्तव्य, शुद्ध एव चारित्रधर्म्मः स्वप्रक्रियया अप्रवृत्तिरूपः तन्त्रान्तरानुसारेणेति गाथाऽर्थः ।

अन्नं च जीविअं जं, विज्जुलयाऽऽडोअचंचलमसारं ।
पिअजणसंबंधो वि अ, सया तओ धम्ममाराहे ॥ ६६ ॥

अन्यच्च जीवितं यद्यस्मात् विद्युल्लताऽऽटोपचञ्चलं स्थितित असारं, स्वरूपतः प्रियजनसंबन्धोऽपि च एवंभूत एव, यतश्चैवं सदा ततो धर्ममाराधयेद्धर्मं कुर्यादिति गाथाऽर्थः ।

किं च-

मोक्खो वि तप्फलं चिय, नेओ परमत्थओ तयत्थं पि ।
धम्मो चिअ कायव्वो, जिणभणिओ अप्पमत्तेण ॥७०॥

मोक्षोऽपि तत्फलमेव धर्मफलमेव ज्ञेयः परमार्थतः,यतश्चैवमतस्तदर्थमपि मोक्षार्थमपि धर्म एव कर्तव्यो जिनभणित. चारित्रधर्मः अप्रमत्तेनेति गाथाऽर्थः।

अन्यदप्युच्चार्य तिरस्कुर्वन्नाह-

तहऽभुत्तभोगदोसा, इच्चाइ जमुत्तमुत्तिमित्तमिदं ।
इअरेसिं दुट्ठयरा, सइमाईया जओ दोसा ॥ ७१ ॥

तथा अभुक्तभोगदोषा इत्यादि यदुक्तं पूर्वपक्षवादिना, उक्तिमात्रमिदं,वचनमात्रमिदमित्यर्थः। किमित्यत आह-इतरेषां तु भुक्तभोगानां दुष्टतरा स्मृत्यादयो यतो दोषा इति गाथाऽर्थः।

स्वपक्षोपचयमाह-

इअरेसिं वालभाव-प्पभिइं जिणवयणभाविअमईणं।
अणभिण्णाणं पायं, विसएसु न हुंति ते दोसा ॥ ७२ ॥

इतरेषामभुक्तभोगानां वालभावप्रभृति वालादारभ्य जिनवचनभावितमतीनां सता वैराग्यसंभवादनभिज्ञाना च विषयेषु प्रायो न भवन्ति, ते दोषा. कौतुकाऽऽदय इति गाथार्थः।

उपसंहरन्नाह-

तम्हा उ सिद्धमेअं, जहण्णओ भणियवयजुआ जोग्गा ।
उक्कोस अणवगल्लो, भयणा संथारसामण्णे ॥ ७३ ॥

यस्मादेवं तस्मात् सिद्धमेतज्जघन्यतो भणितवयोयुक्ता. अष्टवर्षा योग्याः प्रव्रज्याया उत्कृष्टतोऽनवकल्पो योग्य.। अवकल्पमधिकृत्याऽऽह-भजना संस्तारकश्रामण्ये, कदाचिद्भावितमतिरवकल्पोऽपि संस्तारकश्रमण क्रियत इति गाथाऽर्थः।

अन्ने गिहासमं चिय, वुच्चंति पहाण मंदबुद्धीओ ।
जं उवजीवंती तं, नियमा सव्वे वि आसमिणो ॥७४॥

अन्ये वादिनो गृहाऽऽश्रममेव गृहस्थमेव ब्रुवते प्रधानमिति अभिदधति श्लाघ्यतरमिति मन्दबुद्धयः अल्पमतय इति। उपपत्तिं चाभिदधति-यद्यस्मादुपजीवन्ति तं, कं ?,गृहस्थम् अन्नलाभाऽऽदिना नियमान्नियमेन सर्वेऽप्याश्रमिणो लिङ्गिन इति गाथाऽर्थः।

अत्रोत्तरमाह-

उवजीवणाकयं जइ, पाहन्नं तो तओ पहाणयरा ।
हलकरिसगपुढवाई, जं उवजीवंति तो ते वि ॥ ७५ ॥

उपजीवनाकृतं यदि प्राधान्यमुपजीव्यं प्रधानमुपजीवकस्त्वप्रधानमित्याश्रीयते ( तो इति ) ततस्तस्मात्तत इति गृहाश्रमात्प्रधानतरा. श्लाघ्यतरा. हलकर्षकपृथिव्यादय. पदार्था इति। आदिशब्दाज्जलपरिग्रह । किमित्यत्राऽऽह-यद्यस्मादुपजीवन्ति तेभ्यो धान्यलाभेन तान् हलाऽदींस्तेऽपि गृहस्था अपीति गाथाऽर्थः।

सिय णो ते उवगारं, करेमु एतेसि धम्मनिरयाणं ।
एवं मणंति तओ, कह पाहन्नं हवइ तेसिं ?॥ ७६ ॥

स्यादित्याशङ्कायामथैवं मन्यसे-नो ते हलाऽऽदयः एवं मन्यन्त इति योगः। मन्यन्ते जानन्ति। कथं न मन्यन्त इत्याह उपकारं कुर्मो धन्यप्रदानेन एतेषां धर्मनिरतानां गृहस्थानामिति। यतश्चैवं ततः कथं प्राधान्य भवति तेषां हलाऽऽदीना, नैव प्राधान्यं, तथा मननाभावादिति गाथाऽर्थः।

अत्रोत्तरमाह-

ते चेव तेहिँ अहिया, किरियाए मंतिएण किं तत्थ ।
णाणाइविरहिया अह, इइ एतेसि होइ पाहन्नं ॥७७॥

त एव हलाऽऽदयस्तेभ्यो गृहस्थेभ्योऽधिका क्रियया,प्राधानाः करणेनैव,यतस्तेभ्यो धान्याऽऽदिलाभतस्तु उपजीव्यते गृहस्थैः तो मन्त्रितेन ज्ञातेन किं तत्र। क्रियया एव प्राधान्ये सति, ज्ञानाऽऽदिविरहिता अथ ते हलाऽऽदय इति मन्यसे एतदाशङ्क्याऽऽह-( इति ) एवमेतेषां ज्ञानाऽऽदीनां भवति प्राधान्यं, नोपजीव्यस्येति गाथाऽर्थ. ।

ततः किमिति चेदुच्यते -

ताणि य जईण तम्हा, हुंति विसुद्धाणि तेसिं तु ।
तं जुत्तं आरंभो, अ होइ जं पावहेउ त्ति ॥७८॥

तानि च ज्ञानाऽऽदीनि यतीना प्रव्रजितानां यस्माद्भवन्ति विशुद्धानि निर्मलानि, तेन हेतुना तेषामेव यतीनां तत्प्राधान्ययुक्तम्, आरम्भश्च भवति यद्यस्मात्पापहेतुरित्यतोऽपि तन्निवृत्तैकत्वात्तेषामेव प्राधान्यं युक्तमिति गाथाऽर्थः।

अन्ने सयणविरहिआ, इमीएँ जोग त्ति एत्थ मन्नंति ।
सो पालणीयगो किल,नचाए होइ पावं तु ॥ ७९ ॥

अन्ये वादिन स्वजनविरहिता भ्रात्रादिवन्धुवर्जिता अस्याः प्रव्रज्याया योग्या इत्येवमत्र लोके मन्यन्ते। कया युक्त्येति तां युक्तिमुपन्यस्यति-स पालनीयो रक्षणीय. किल, तत्यागे स्वजनत्यागे भवति पापमेवेति गाथाऽर्थ. ।

सोगं अकंदणविल-वणं च ज दुक्खिओ तओ कुणइ ।
सेवइ जं च अकज्जं, तेण विणा तस्स सो दोसो ॥८०॥

शोकमाक्रन्देन विलपनं, चशब्दादन्यच्च ताडनाय दुःखितस्तक इत्यसौ स्वजन करोति, सेवते यच्चाकार्यं शीलखण्डनाऽऽदि, तेन विना तेनेति पालकेन प्रव्रज्याभिमुखेन,तस्यासौ दोष इति य. स्वजनं विहाय प्रव्रज्या प्रतिपद्यत इति गाथाऽर्थ । एष पूर्वपक्ष ।

अत्रोत्तरमाह-

इअ पाणवहाईआ, ण पावहेउ त्ति अह मयं ते वि ।
णणु तस्स पालणे तह,ण होंति ते चिंतणीयमिण ॥८१॥

इति एवं स्वजनत्यागाद्दोषे सति प्राणिवधाऽऽद्या न पापहेतव इति । आदिशब्दाद् मृषावादाऽऽदिपरिग्रह', स्वजनत्यागादेव पापभावादित्यभिप्राय.। अथ मतं तेऽपि प्राणिवधाऽऽदय पापहेतव एव। एतदाशङ्क्याऽऽह-ननु तस्य स्वजनस्य पालने न-

थेत्यारम्भयोगे न भवन्ति ते प्राणवधाऽऽदयः चिन्तनीयमिदमेतद्भवत्येवेति गाथाऽर्थः ।

एतदेव प्रकटयन्नाह-

आरंभमंतरेणं, ण पालणं तस्स संभवइ जेणं ।
तम्मि अ पाणवहाई, नियमेण हवंति पयडमिणं ॥८२॥

आरम्भमन्तरेण न पालन तस्य स्वजनस्य संभवति येन तस्मिश्चाऽऽरम्भे प्राणवधाऽऽद्या नियमेन भवन्ति,प्रकटमिदं । लोकेऽपीति गाथाऽर्थः ।

अणं च तस्स चाओ, पाणवहाई व गुरुतरा होज्जा ।
जइ ताव तस्स चाओ, को एत्थ विसेसहेउ त्ति ? ॥८३॥

अन्यच्च तस्य स्वजनस्य त्यागः प्राणवधाऽऽदयो वा पापचिन्तया गुरुतरा भवेयुरिति विकल्पौ । किं च त इत्याह- यदि तावत्तस्य स्वजनस्य त्यागो गुरुतर इत्यत्राऽऽह-कोऽत्र विशेषहेतुरिति यतोऽयमेवेति गाथाऽर्थः ।

अह तस्सेव उ पीडा, किं णो अन्नेसि पालणे तस्स ? ।
अह तेऽपराइ सो वि हु, सतत्तचिंता इमे चेवव ॥८४॥

अथेत्यथैव मन्यसे-तस्यैव तु स्वजनस्य पीडा विशेषहेतुरित्यत्रोत्तरमाह-किं नो अन्येषा सत्त्वाना पालने तस्य पीडा?, पीडैवेति भावः । अथ तेऽपरादय इति, अपरे, आदिशब्दाद्येकेन्द्रियाऽऽदयश्च, अत्रोत्तरम्-असावपि स्वजन स्वतत्त्वचिन्तायां परमार्थचिन्तायामेवमेव पराऽऽदेरेव, अनित्यत्वात् तत्संयोगस्येति गाथाऽर्थः ।

पक्षान्तरमाह-

सिअ तेण कयं कम्मं, एसो नो पालगो त्ति किं ण भवे ? ।
ता नूणमण्ण पालग, जोगं वि अ तं कयं तेण ॥ ८५ ॥

स्यादित्यथैवं मन्यसे-तेन स्वजनेन कृतं कर्माऽदृष्टं, किं फलमित्याह-एष प्रविव्रजिषुर्न अस्माकं पालक इत्येवं फलम्,अत्रोत्तरम्-किं न भवति?, कर्मणः स्वफलदानात् न च भवति, तन्नूनमवश्यमन्यः पालक इत्येतदुचितमेव तत्कर्म कृतं तेन स्वजनेनेति गाथाऽर्थः ।

किं च-

बहुपीडाए अ कहं, थोवसुहं पंडिआणमिट्ठं ति ? ।
जलकट्ठाइगयाण य, बहूण घाओ तदच्चाए ॥८६॥

बहुपीडायां च अनेकजलाऽऽद्युपमर्दने च कथं स्तोकसुखं स्तोकाना स्वजनानां स्तोकं वा स्वल्पकालभावेन सुखं स्तोक सुखं पण्डितानामिष्टमिति ? बहुपीडामाह-जलकाष्ठाऽऽदिगताना च,प्राणिनामिति गम्यते । बहूना घातस्तदत्यागे स्वजनात्यागे, आरम्भमन्तरेण तत्परिपालनाभावादिति गाथाऽर्थः ।

एवंविहा उ अह ते, सिट्ठ वि न तत्थ होइ दोसो उ ।
इअ सिट्ठिवायपक्खे, तच्चाएणं कहं दोसो ? ॥८७॥

एवंविधा एव तथा मरणधर्माणः, अथ ते जलकाष्ठाऽऽदिगता प्राणिन सृष्टा इति न तत्र स्वजनभरणार्थे तद्विघातने भवति दोषस्तु । अत्रोत्तरमाह-इति एव सृष्टिवादपक्षेऽङ्गीक्रियमाणे तत्त्यागेन स्वजनत्यागेन कथ दोषो ?, नैव दोष इति,यतोऽसौ स्वजनस्तथाविध एव सृष्ट., येन त्यज्यत इति गाथाऽर्थ ।

यतश्चैतदित्थं न घटते-

ता पाणवहाईआ, गुरुतरगा पावहेउणो नेआ ।
सयणस्स पालणम्मि अ, निअमाए इति भणियमिणं ॥८८

यस्मादेवं तस्मात्प्राणिवधाऽऽद्या गुरुतरा पापहेतवो ज्ञेयाः स्वजनत्यागात्सकाशात् । तत किमिति चेत् ?,उच्यते-स्वजनस्य पालने च नियमादिति प्राणिवधाऽऽद्या इति भणितमिदं पूर्वमिति गाथाऽर्थः ।

एवं पि पावहेऊ, अप्पयरो णवर तस्स चाउ त्ति ।
सो कह ण होइ तस्सा, धम्मत्थं उज्जयमइस्स ? ॥ ८९ ॥

एवमपि पापहेतुरेष अल्पतरो, नवरं तस्य स्वजनस्य त्याग इति स पापहेतुः कथं न भवति तस्य प्रविव्रजिषोः धर्मार्थमुद्यतमतेः, भवत्येवेति गाथाऽर्थ. ।

अत्रोत्तरमाह-

अब्भुवगमेण भणिअं,ण उ विहिचाओ वि तस्स हेउ त्ति ।
सोगाइम्मि वि तेसिं, मरणेव विसुद्धचित्तस्स ॥ ९० ॥

अभ्युपगमेन भणितम्-अन्यच्च तस्य त्याग इत्यादौ, न तु विधित्यागोऽपि,स्वजनस्येति गम्यते । तस्य हेतुरिति, तस्येति पापस्य हेतुर्विधित्यागकथनाऽऽदिना अन्यत्र निर्गमस्य शोकाऽऽदावपि तेषां स्वजनाना मरण इव विशुद्धचित्तस्य रागाऽऽदिरहितस्य,मरण इवेति च सिद्ध परस्य दृष्टान्तोऽन्यथा तत्रापि स्वजनशोकाऽऽदिभ्य. पापप्रसङ्ग इति गाथाऽर्थ ।

अन्ने भणंति धण्णा, सयणाइजुआ उ होंति जोग त्ति ।
संतस्स परिच्चागा, जम्हा ते चाइणो हुंति ॥ ९१ ॥

अन्ये वादिनो भणन्ति अभिदधति-धन्या पुण्यभाज स्वजनाऽऽदियुक्ता एव स्वजनहिरण्याऽऽदिसमन्विता एव भवन्ति । योग्या , प्रव्रज्याया इति गम्यते । उपपत्तिमाह-अन्ये वादिनो सतो विद्यमानस्य परित्यागात्स्वजनाऽऽदेर्यस्मात्कारणात्ते स्वजनयुक्तास्त्यागिनो भवन्ति,त्यागिनां च प्रव्रज्येष्यत इति गाथाऽर्थ. ।

जे पुण तप्परिहीणा, जाया देवाओ चेव भिक्खागा ।
तह तुच्छभावउ चिय, कहं णु ते होंति गंभीरा ? ॥९२॥

येन पुनस्तत्परिहीणा जाता दैवादेव कर्मपरिणामे चैव भिक्षाका. भिक्षाभोजिन., ततश्च तथा तेन प्रकारेण तुच्छभावत्वादेवासारत्वादेव, कथ नु ते भवन्ति गम्भीरा, नैव ते भवन्त्युदारचित्ता अनुदारचित्ताश्चायोग्या इति गाथाऽर्थ. ।

किं च-

मज्जंति अ ते पायं, अहिययरं पाविऊण पज्जायं ।
लोगम्मी उवघाओ, भोगाभावाण चाई य ॥ ९३ ॥

मज्जन्ति च मन्दं गच्छन्ति ते अगम्भीरा. प्रायो बाहुल्येनाधिकतरमिहलोक एव शोभनतर प्राप्य पर्यायमासाद्यावस्थाविशेषम्,अधिकश्चेह लोकेऽपि तथाविधगृहस्थपर्यायात्प्रव्रज्यापर्याय , लोके चोपघात तुच्छप्रव्रज्याप्रदानेन तथा भोगाभावाना त्यागिनश्च ते, अगम्भीरा त्यागिनश्च प्रव्रज्योक्त्या (?), 'से हु चाई त्ति वुच्चति ।'' इत्यादिवचनादिति गाथाऽर्थ । एष पूर्वपक्ष ।

अत्रोत्तरमाह-

एयं पि न जुत्तिखमं, विसेअं मुद्धविम्हयकरं तु ।
अविवेगपरिच्चागा, चाई जं निच्छयनयस्स ॥६४॥

एतदपि न युक्तिक्षमं विज्ञेयं न युक्तिसमर्थं ज्ञातव्यं, यदुक्तं पूर्वपक्षवादिना,मुग्धविस्मयकरं तु मन्दमतिचेतोहारि त्वेतत्। कथमित्याह-अविवेकपरित्यागाद्भावतोऽज्ञानपरित्यागेन, त्यागी यद्यस्मान्निश्चयनयस्याभिप्रेत इति गाथार्थः ।

किमित्येतदेवमत आह-

संसारहेउभूओ. पवत्तगो एस पावपक्खम्मि ।
एअम्मि अपरिचत्ते, किं कीरइ वज्झचागेण ? ॥६५॥

संसारहेतुभूतः संसारकारणभूतः प्रवर्त्तकः एषोऽविवेकः पापपक्षेऽकुशलव्यापारे, यतश्चैवमतः-एतस्मिन्नविवेके अपरित्यक्ते किं क्रियते बाह्यत्यागेन स्वजनाऽऽदित्यागेनेति गाथार्थः ।

किं च-

पालेइ साहुकिरिअं, सो सम्मं तम्मि चेव चत्तम्मि ।
तब्भावम्मि अ विहलो, इअरस्स कओ वि चाउ त्ति ॥६६॥

पालयति साधुक्रियां यतिसामाचारीं स प्रव्रजितः सम्यगविपरीतेन मार्गेण तस्मिन्नेवाविवेके त्यक्ते इति तद्भावे चाविवेकसत्तायां च सत्यां विफलः परलोकमङ्गीकृत्य,इतरस्य स्वजनाऽऽदेः कुतोऽपि त्यागो विवेक इति गाथार्थः ।

एतदेव दर्शयति-

दीसंति अ केइ इहं, सइ तम्मी वज्झचायजुत्ता वि ।
तुच्छपवित्ती अफलं, दुहा वि जीवं करेमाणा ॥ ६७ ॥

दृश्यन्ते केचिदिहलोके सति तस्मिन्नविवेके बाह्यत्यागयुक्ता अपि स्वजनाऽऽदित्यागसमन्विता अपि तुच्छप्रवृत्त्या अविवेकात्तथाविधरसाऽऽद्यसारप्रवृत्त्या अफलं द्विधाऽपि इहलोकपरलोकापेक्षया जीवितं कुर्वन्तः सन्त इति गाथार्थः।

तथा च-

चइऊण घरावासं, आरंभपरिग्गहेसु वट्टंति ।
जं सण्णभेएणं,एअं अविवेगसामत्थं ॥ ६८ ॥

त्यक्त्वाऽपि गृहवासं प्रव्रज्याऽङ्गीकरणेनाऽऽरम्भपरिग्रहयोरुक्तलक्षणयोर्वर्तन्ते यद्यस्मात्संज्ञाभेदेन एवं त्यक्त्वा देवाऽऽद्यर्थोऽयमित्येवंशब्दभेदेन एतदित्थंभूतमविवेकसामर्थ्यमज्ञानशक्तिरिति गाथार्थः ।

एतदेव दृष्टान्तद्वारेणाऽऽह-

मंसनिवित्तिं काउं, सेवइ दंभिकयं ति धणिभेआ ।
इअ चइऊणाऽऽरंभं, पर ववएसा कुणइ बालो ॥६९॥

मांसनिवृत्तिं कृत्वा कश्चिदविवेकात्सेवते दाम्भिकमिति ध्वनिभेदाच्छन्दभेदेन ( इय ) एवं त्यक्त्वाऽऽरम्भम् "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्" इति न्यायात्परिग्रहं च, परव्यपदेशात् परवादिव्यपदेशेन करोति बालोऽज्ञ इति गाथार्थः ।

किमित्येतदेवमित्यत आह-

पयईए सावज्जं, संतं जं सव्वहा विरुद्धं तु ।
धणिभेअम्मि वि महुरग-सीअलिगाइ व्व रोगम्मि ॥१००॥

प्रकृत्या स्वभावेन सावद्यं सपापं सदवद्यं यद्यस्मात्सर्वथा सर्वैः प्रकारैर्विरुद्धमेव दुष्टमेव ध्वनिभेदेऽपि शब्दभेदेऽपि सति, किं तदित्याह-मधुरकशीतलिकाऽऽदिवल्लोक इति । न हि विष मधुरकमित्युक्तं न व्यापादयति,स्फोटिका वा शीतलिकेत्युक्ता न तद् दुनोतीति गाथार्थः ।

अत्राऽऽह-

ता कीस अणुमओ सो,उवएसाइम्मि कूवणाएणं ।
गिहिजोगो उ जइस्स उ, साविक्खस्सा परट्ठाए ॥१०१॥

यद्येवं तत्किमित्यनुमतोऽसावारम्भ । केत्याह-उपदेशाऽऽदाविति-उपदेशे श्रावकाणामादिशब्दात्कचिदात्मनाऽपि लूताऽऽद्यपनयनमाप्यत इति । अत्रोत्तरमाह-कूपज्ञातेन प्रवचनप्रसिद्धकूपोदाहरणेन गृहयोग्यस्तु श्रावकयोग्य एवेति,मध्यस्थस्य शास्त्रार्थकथने नानुमति., यतः प्रव्रजितस्य सापेक्षस्य गच्छवासिन. परार्थे सत्त्वार्हगुणमाश्रित्य निरीहस्य यतनया विहितानुष्ठानत्वान्नानुमतिरिति गाथार्थः ।

तथा चाऽऽह-

अण्णाभावे जयणा-ए मग्गणासो हविज्ज मा तेणं ।
पुव्वकया जइणाइसु, ईसिं गुणसंभवे इहरा ॥ १०२ ॥

अन्याभावे श्रावकाऽऽद्यभावे,यतनया आगमोक्तया क्रियया, मार्गनाशस्तीर्थनाशो मा भूदित्यर्थः । तेन कारणेन पूर्वकृतायतनाऽऽदिषु महति सन्निवेशे सञ्चारितलोकाऽऽकुले अर्द्धपतितायतनाऽऽदिषु ईषद् गुणसंभवे च कस्यचित्प्रतिपत्त्यादिस्तोकगुणसंभवे च सति एतदुक्तम्, इतरथाऽन्यथा ।

चेइअकुलगणसंघे, आयरियाण च पवयणसुए य ।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ १०३ ॥

चैत्यकुलगणसंघेषु-चैत्यान्यर्हत्प्रतिमाः,कुलं चन्द्राऽऽदिः परस्परसापेक्षोऽनेककुलसमुदायो गण., वालुकापर्यन्त सङ्घः, तथा आचार्याणां प्रसिद्धतत्त्वानां, प्रवचनश्रुतयोश्च-प्रवचनमर्थ , श्रुतं तु सूत्रमेव, एतेषु सर्वेष्वपि, तेन साधुना कृत यत्कर्त्तव्यं, केनेत्याह-तपःसंयमयोरुद्युक्तेन तपसि संयमे चोद्यम कुर्वता, इति गाथार्थः ।

एत्थ अविवेगचागा, पवत्तई जेण तम्ह सो पवरो ।
तस्सेव फलं एसो. जो सम्मं वज्झचाउ त्ति ॥ १०४ ॥

अत्र च तपआदौ, अविवेकत्यागात्प्रवर्तते, येन कारणेन, तस्मादसावविवेकत्याग. प्रवरः, तस्यैवाविवेकत्यागस्य फलमेष., क ?, यः सम्यग्बाह्यत्याग इति गाथार्थः ।

यतश्चैवम्-

ता कसिणमिअं कज्जं, सयणाइजुओ न वेति सइ तम्मि ।
एत्तो चेव य दोसा, ण हुंति सेसा धुवं तस्स ॥ १०५ ॥

तत कृत्स्नो लोको भुवनमिदं कार्यं स्वजनाऽऽदियुक्तो न वेति सति तस्मिन्नविवेकत्यागे अत एव चाविवेकत्यागात् दोषा न भवन्ति,शेषा ध्रुवं तस्य अगम्भीरमदाऽऽदय इति गाथार्थः ।

यतस्तत्र उक्तम्-" जय कते पिए " इत्याद्यैः "से हु चाइ त्ति वुच्चति ।" तत्कथ नीयत इति चेतसि निधायाऽऽह-

सुत्तं पुण ववहारे, साहीणत्ता तयाइभावेणं ।
बहु अत्थि मइत्थम्मी, अन्नो वि तओ हवइ चाई ॥ १०६ ॥

सूत्रं पुनः " से हु चाई " इत्यादिव्यवहारनयविषयं व्यवहारतस्तावदेवं स्वाधीनत्वात्तपआदिभाविन तपसा अनिदानेन. आदिशब्दात् कोटित्रयोद्यमपरित्यागेन वहु. सूत्रोक्तः, अपि शब्दार्थे वा सोऽप्यन्योऽपि ततो भवति, त्यागीति गाथाऽर्थ. ।

किं च—

को वा कस्स न सयणो, के वा केणं न पाविश्रा भोगा ।
संतेसु वि पडिबंधो, दुट्ठो त्ति तश्रो चएअव्वो ॥१०७॥

को वा कस्य न स्वजन के वा केन न प्राप्ता भोगा अनादौ संसारे इति । तथा सत्स्वपि स्वजनाऽऽदिपु प्रतिवन्धो दुष्ट इत्यसौ त्यक्तव्यः, असत्स्वपि तत्संभवादिति गाथाऽर्थः ।

उभययुक्ताना तु गुणमाह-

धन्ना य उभयजुत्ता, धम्मपवित्तीइ हुंति अन्नेसिं ।
जं करणमिहं पायं, केसिं चि कय पसंगेणं ॥ १०८ ॥

केसि त्ति दारं गयं । धन्याश्चोभययुक्ता वाह्यत्यागविवेकत्याग द्वयसंपन्ना, किमित्यत आह-धर्म्मप्रवृत्तेर्भवन्ति, अन्येषां प्राणिना, यद्यस्मात्कारणदिह प्रायेण केषाञ्चिदन्येषामिति कृतं प्रसङ्गेनेति गाथाऽर्थ. । केभ्य इति व्याख्यातम् । इदानीं कस्मिन्निति व्याख्यायते ।

( ७ ) कस्मिन् क्षेत्राऽऽदौ प्रव्रज्या दातव्येत्येतदाह-

श्रोसरणे जिणभवणे, उच्छुवणे खीररुक्खवणसंडे ।
गंभीरसाणुणाएं, एमाइपसत्थखित्तम्मि ॥ १०९ ॥

समवसरणे भगवद्ध्यासिते क्षेत्रे, वृत्तत्त्वावे वा, जिनभवने अर्हदायतने, इक्षुवने प्रतीते, क्षीरवृक्षवनखण्डे अश्वत्थाऽऽदिवृक्षसमूहे. गम्भीरसानुनादे महाभोगप्रतिशब्दे वा एवमादौ प्रशस्तक्षेत्रे, आदिशब्दात्प्रदक्षिणाऽऽवर्तजलपरिग्रह इति गाथाऽर्थः ।

दिज्ज ण उ भग्गभामिश्र-सुसाणसुन्नामणुन्नगेहेसुं ।
छारंगारवयारा-मेज्झाईदव्वदुट्ठे वा ॥ ११० ॥

एवंभूते क्षेत्रे दद्यान्न तु भग्नध्यामितश्मशानशून्यामनोज्ञगृहेषु दद्यात् ध्यामितं दग्धं, तथा क्षाराङ्गारावकारामेध्याऽऽदिद्रव्यदुष्टे वा क्षेत्रे न दद्यात् । आदिशब्दोऽमेध्यत्वस्येह व्यापक इति गाथाऽर्थ ।

( ८ ) व्यतिरेकप्राधान्यत. कालमधिकृत्याऽऽह-

चाउद्दसि पन्नरसिं, च वज्जए अट्ठमिं च नवमिं च ।
छट्ठिं च चउत्थिं वा-रसिं सेसासु दिज्जाहि ॥१११॥

चतुर्दशीं पञ्चदशीं च वर्जयेदष्टमीं च नवमीं च षष्ठीं च चतुर्थीं द्वादशीं च । शेषासु तिथिषु दद्यादन्यदोषरहितास्विति गाथाऽर्थ ।

नक्षत्राण्यधिकृत्याह-

तिसु उत्तरासु तहा रो-हिणीसु कुज्जा उ सेहनिक्खमणं ।
गणिवायए अणुन्ना, महव्वयाणं च आरुहणा ॥११२॥

तिसृषूत्तरासु आषाढाऽऽदिलक्षणासु तथा रोहिणीषु कुर्यात् शिष्यकनिष्क्रमण दद्यात् प्रव्रज्यामित्यर्थ. । तथा गणिवाचकयोरनुज्ञा एतेष्वेव क्रियते, महाव्रताना चाऽऽरोपणेति गाथाऽर्थ ।

वर्ज्यनक्षत्राण्याह-

संझागयं रविगयं, विड्डेर सग्गहं विलंविं च ।
राहुहयं गहभिन्नं, च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥ ११३ ॥

संध्यागतं रविगतं विड्डेरं सग्रहं विलम्बि च राहुहतं ग्रहभिन्नं च वर्जयेत्सप्त नक्षत्राणि ।

"अत्थमणे संझागय, रविगय जहियं ठिश्रो उ आइच्चो ।
विड्डेरमवद्दारिय, सग्गह कूरग्गहठियं जं तु ॥ १ ॥
आइच्चपिट्ठश्रो जं, विलंबि त राहुहयं तु जहिं गहणं ।
मज्झेणं जस्स गहो, गच्छइ तं होइ गहभिन्नं ॥ २ ॥
संझागयम्मि कलहो, आइच्चगते य पवयणे हाणी ।
विड्डेरे परविजश्रो. सग्गहम्मि य विग्गहो होइ ॥ ३ ॥
दोसो अ भंगयत्तं, होइ कुभत्तं विलंविनक्खत्ते ।
राहुहयम्मि य मरण, गहभिन्ने सोणउग्गालो ॥ ४ ॥" इति गाथाऽर्थ. ।

उपसंहरन्नाह-

एसा जिणाणमाणा, खित्ताईश्रा य कम्मणो हुंति ।
उदयाइकारणम्मि, तम्हाए एस जइअव्वं ॥ ११४ ॥

कम्मि त्ति दारं गयं । एषा जिनानामाज्ञा यदुक्तोक्तलक्षणेष्वेव क्षेत्राऽऽदिपु दातव्येति । क्षेत्राऽऽदयश्च कर्म्मणो भवन्ति उदयाऽऽदिकारणे यद्यस्मात् । यत उक्तम्-" उदयक्खश्रो य खउवर-समोवसम्मा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खित्तं कालं, तथं च भावं च संपप्पा । १ । " यस्मादेवं तस्मादेतेषु क्षेत्राऽऽदिपु यतितव्यं शुद्धेपु यत्नः कार्य. । इति गाथाऽर्थ. । प० व० १ द्वार ।

( ९ ) चरमपुद्गलपरावर्त्ते विशुध्यमानस्य च दीक्षा भवतीत्येकमस्या. सामान्यतोऽधिकारी निरूपितोऽथ तमेव विशेषतो निरूपयन्नाह-

दिक्खाएँ चेव रागो, लोगविरुद्धाण चेव चाउ त्ति ।
सुंदरगुरुजोगो वि य, जस्स तश्रो एत्थ उचिश्रो त्ति ॥४॥

दीक्षायामेव प्रागुक्तस्वरूपदीक्षणक एव, चैवशब्दोऽवधारणार्थ. । तेन न पुनर्दीक्षाप्रतिपक्षेऽपि, रागोऽनुरागो वक्ष्यमाणलक्षण । तथा लोकविरुद्धाना बहुजनविरोधहेतुभूतानुष्ठानविशेषाणा वक्ष्यमाणरूपाणाम्, चशब्द. समुच्चयार्थ., एवशब्दस्त्ववधारणार्थ । तस्य चैवं प्रयोगः-त्यागः एव परिहार एव । अथवा-चैवेत्यवधारणे । तेन लोकविरुद्धानामेव, न तु तद्विरोधवता त्याग., इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थ. । ततश्च इत्येवंरूपो वक्ष्यमाणविषयभेद इत्यर्थ. । अथवा-इतिशब्द परिसमाप्तौ । ततश्च इति एतावदेव दीक्षणीयजीवस्य स्वगत दीक्षारागलोकविरुद्धत्यागरूप दीक्षाऽधिकारित्वस्य लक्षणम् । अतोऽन्यत्सायोगिकमिति दर्शित भवति । तथा सुन्दरगुरुयोगः सम्यग्ज्ञानसदनुष्ठानसंपन्नदीक्षादायकाचार्यसम्बन्ध । अपिशब्दोऽवधारणे । चशब्द समुच्चये । तेन सुन्दरगुरुयोग एव च न पुनरसुन्दरगुरुयोगोऽपि । अथवा-अपिचेत्येतत्समुच्चय एव । यस्यानिर्दिष्टविशेषस्य दीक्षणीयजीवस्य, अस्तीति गम्यम् । तकोऽमावत्र जिनदीक्षायामुचितो योग्य. । इतिशब्दो दीक्षाऽधिकारिजीवलक्षणसमाप्तिद्योतक. । एतावदेवैतस्य लक्षणमिति हृदयमिति द्वारगाथाऽर्थ ॥ ४ ॥

दीक्षारागं लक्षयितुं गाथात्रयमाह-

पयतीए सोऊण व, दट्ठूण व केइ दिक्खिए जीवे ।
मग्गं समायरंते, धम्मियजणबहुमए निच्चं ॥ ५ ॥
एईएँ चेव सद्धा, जायइ पावेज्ज कहमहं एयं ?।
भवजलहिमहाणावं, णिरवेक्खा साणुबंधा य ॥ ६ ॥
विग्घाणं चाभावो, भावे वि य चित्तथेज्जमच्चत्थं ।
एयं दिक्खारागो, णिद्दिट्ठं समयकेऊहिं ॥ ७ ॥

प्रकृत्या निसर्गेण, स्वतः सम्भूततथाविधकर्मक्षयोपशमेनेत्यर्थः । एतस्यां श्रद्धा जायत इति सम्बन्धः । तथा श्रुत्वाऽऽकर्ण्य दीक्षागुणाऽऽदिप्रतिपादनपरं श्रुतधर्ममिति गम्यते । अथवा-दीक्षितान् जीवानिति सम्बध्यते । वाशब्दो विकल्पार्थः । दृष्ट्वा वा चक्षुषोपलभ्य,कानित्याह-(केइ त्ति) कांश्चित् न सर्वान् ,सर्वेषां दीक्षितत्वासम्भवात् । अथवा-कांश्चित्सामान्यान् स्वजातिभिः स्वदेशाऽऽदिभिरविशेषितान् । अनेनाविशेषेण गुणिषु प्रमोदमावेदयति । दीक्षितान् प्रतिपन्नजिनदीक्षान् । ततः किंभूतांस्तान्?-मार्गं सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपं निर्वाणनगरगमनपथम् ,समाचरतो विदधतः । तथा धार्मिकजन बहुमतान् धर्मचारिलोकसंमतान् , नित्यं सर्वदेति । इह च प्रकृत्येत्यनेन निसर्गतः सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिरुक्ता, श्रुत्वा वा दृष्ट्वा वेत्यनेन चाधिगमत इति प्रकारद्वयमेव चास्य प्रतिपत्तौ स्यात् । यदाह "तन्निसर्गादधिगमाद्वेति ।" ( तत्त्वार्थः ) ॥ ५ ॥ एतस्यामेव प्रस्तुतदीक्षायां, न दीक्षान्तरे, श्रद्धा रुचिः, जायते प्रादुर्भवति । श्रद्धामेवोल्लेखतो दर्शयति-प्राप्नुयां लभेयम् ,कथं केन प्रकारेण ?. अहमेतां दीक्षाम् । किम्भूतां?-भवजलधिमहानाव संसारसमुद्रतरणमहाद्रोणीम् । किंभूता श्रद्धेत्याह- निरपेक्षा निःस्पृहा,सांसारिकफलानि प्रति लौकिकधर्मदेवगुरुत्वाप्रतीत्याविद्यमानापेक्षेत्यर्थः । यत एतत्याग एव दीक्षा । यदाह-" समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमति सम्मत्तं उवसंपज्जति, नो से कप्पति अज्जप्पभिई अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा । " इत्यादि । सानुबन्धाऽव्यवच्छिन्नतद्भावसन्ताना,चशब्दः समुच्चय इति ॥ ६ ॥ तथा- विघ्नानां दीक्षाप्रतिपत्तिप्रत्यूहानाम् । चशब्दः समुच्चये । अभावोऽविद्यमानता, श्रद्धालक्षणशुभभावव्यपोक्षित्वात्तेषाम् । भावेऽपि च निरुपक्रमक्लिष्टकर्मदोषाभिन्नानां सद्भावेऽपि च; अपि चेति समुच्चयार्थः । चित्तस्थैर्यं दीक्षा प्रति मनोदार्ढ्यम् , अत्यन्तम् , वर्द्धिते शेष । एतदनन्तरोक्तं श्रद्धाविघ्नाभावचित्तदार्ढ्यरूपं त्रयम् । किमित्याह-दीक्षारागो दीक्षाऽनुरागः, निर्दिष्टं कथितम् । कैरित्याह-समयकेतुभिः प्रकाशकत्वेन सिद्धान्तचिह्नभूतैः समयज्ञैरिति यावत् । इति गाथात्रयार्थः ॥ ७ ॥

उक्तो दीक्षारागोऽथ लोकविरुद्धत्यागाभिधित्सया लोकविरुद्धानुष्ठानोपदर्शनायाऽऽह-

सव्वस्स चेव णिंदा, विसेसओ तह य गुणसमिद्धाणं ।
उजुधम्मकरणहसणं, रीढा जणपूयणिज्जाणं ॥ ८ ॥
बहुजणविरुद्धसंगो, देसादाचारलंघणं चेव ।
उव्वणभोगो य तहा, दाणाइ वि पगडमन्ने तु ॥ ९ ॥
साहुवसणम्मि तोसो, सइ सामत्थम्मि अपडियारो य ।
एमाइयाणि एत्थं, लोगविरुद्धाणि णेयाणि ॥ १० ॥

सर्वस्यैव समस्तस्यैव लोकस्य, चैवशब्दोऽवधारणे । नेन न पुनः कस्यचिदेव । निन्दा जुगुप्सा, लोकविरुद्धमिति सर्वत्र योज्यम् । निन्द्यमानो हि लोको निन्दकं प्रति विरुद्धो भवत्यतो लोकविरुद्धम् । एवं सर्वत्र भावना कार्या । तथा विशेषतो विशेषेण नितरामित्यर्थः । तथा चेति पुनरर्थः। गुणसमृद्धानां ज्ञानाऽऽदिगुणर्द्धिमतामाचार्याऽऽदीनाम् । निन्देति प्रकृतमेव ।गुणवतां हि बहुलोकः पक्षपाती भवत्यतस्तन्निन्दा विशेषतो लोकविरुद्धमिति भावः । ऋजूनामव्युत्पन्नबुद्धीनां धर्मकरणे स्वबुद्ध्यनुसारेण कुशलानुष्ठानाऽऽसेवने हसनमुपहासो धूर्त्तैर्विडम्बिताः खल्वेते इत्यादिरूप ऋजुधर्मकरणहसनम् । बहवो ह्यव्युत्पन्ना एव लोकाः, ते च तद्धर्माऽऽचारहसने सति विरुद्धा एव भवन्ति । तथा रीढा हीला, जनपूजनीयानां राजामात्यश्रेष्ठितद्गुरुप्रभृतीनाम् । भावनाभिप्रायः प्रतीत एव ॥ ८ ॥ तथा बहुजनैः प्रभूतलोकैः सह ये विरुद्धास्तदपकारकत्वेन विरोधवन्तस्तैः सार्धं यः सङ्गः सम्पर्कः स तथा । देशाऽऽद्याचारलङ्घनमेव च जनपदग्रामकुलप्रभृतिसमाचारातिक्रम एव च । पुनस्तदनुलङ्घनमपि । चशब्दः समुच्चये । एवकारश्चावधारणे । अनयोश्च प्रयोगो दर्शित एव । तथोल्वणः खिङ्गजनाऽऽचरितो भोगो वस्त्रपुष्पाऽऽदिभिर्देहसत्कार उल्वणभोगः । तथा तेन प्रकारेण देशकालविभववयोऽवस्थाऽऽद्यनौचित्यलक्षणेन । तथा दानाऽऽद्यपि वित्तवितरणतपःप्रभृतिकमपि,न केवलमुल्वणभोग इत्यपिशब्दार्थः । किम्भूतं दानाऽऽदीत्याह-प्रकटमगम्भीरतया लोकप्रकाशम् । अन्ये त्वपरे पुनराचार्याः,लोकविरुद्धमाहुरिति गम्यम् । तथाविधदानाऽऽदिविधायकस्य हि लोक उपहासकारी स्यादिति लोकविरुद्धतेति ॥ ९ ॥ तथा-साधुव्यसने दुष्टराजाऽऽदिजनितायां शिष्टजनानामापदि,तोषः प्रमोदः । अत्र हि साधवस्तत्पाक्षिकाश्च विरुद्धा भवन्ति । तथा सति विद्यमाने, सामर्थ्ये साधुव्यसनपरित्राणबले , अप्रतिकारो व्यसनापरित्राणम् । चशब्दः समुच्चये । लोकविरुद्धमिति योग. । शेषलोकविरुद्धोपलक्षणार्थमाह-एवमेतानि सर्वजननिन्दाऽऽदीनि,आदिः प्रकारो येषां तान्येवमादिकानि । आदिशब्दात्पैशुन्याऽऽदिग्रहः । ( एत्थं त्ति ) अत्र जिनदीक्षाऽधिकारे, लोके वा. लोकविरुद्धानि लोकविरोधवन्त्यनुष्ठानानि, ज्ञेयानि ज्ञातव्यानि ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहर्त्तव्यानीति गाथात्रयार्थः ॥ १० ॥

अथ सुन्दरगुरुयोगं दर्शयन्नाह-

णाणाइजुओ उ गुरू, सुविणे उदगादितारणं तत्तो ।
अचलाइरोहणं वा, तहेव वालाइरक्खा वा ॥ ११ ॥

ज्ञानाऽऽदियुतश्च गुरुः इह चशब्दस्तुशब्दो वा पुनरर्थः । तस्य चैवं प्रयोग -लोकविरुद्धानि, तावत्सर्वजननिन्दाऽऽदीनि, गुरुश्च दीक्षाऽऽचार्यः पुनर्ज्ञानादियुतः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रयुक्तः सुन्दरो भवतीति हृदयम् । अथवा-ज्ञानाऽऽदियुत एव गुरुर्भवतीत्येवमवधारणं व्याख्येयम् । अथ तद्योगः क इत्याह-स्वप्ने निद्रासंवलितमनोविज्ञानविशेषरूपे, उदकाऽऽदिभ्यो जलानलगर्त्ताऽऽदिभ्यस्तारणम् । ततो गुरोः सकाशात् दीक्षाकामस्य । एतच्च सुन्दरगुरुयोगपरिज्ञानहेतुत्वात्सुन्दरयो-

णोऽभिधीयते। एवमचलाऽऽदिषु पर्वतप्रसादवृक्षशिखरप्रभृतिषु, रोहणमारोपणमचलाऽऽदिरोहणम्। वाशब्दः पूर्वोक्तपक्षापेक्षया विकल्पार्थः। तथैव तेनैव प्रकारेण स्वप्ने ततः सकाशादित्येवंलक्षणेन, व्यालाः श्वापदा भुजगा वा तदादिभ्य। आदिशब्दाद्गजाऽऽदिभिश्च रक्षा व्यापाद्यमानस्य त्राणं व्यालाऽऽदिरक्षा। वाशब्दो विकल्पार्थ एवंति गाथाऽर्थः॥११॥ उक्ता दीक्षा। पञ्चा० २ विव०।

(१०) समवसरणान्तःपुष्पपाते योग्यतानिर्णयाद्दीक्ष्यतेऽसौ, बहिस्तत्पाते तु को विधिरित्याह–

बाहिं तु पुप्फपाए, वियडणचउसरणगमणमाईणि ।
काराविज्जइ एसो, वारतिगमुवरि पडिसेहो ॥ २७ ॥

बहिर्बहिस्तात्समवसरणात्, तुशब्दः पुनःशब्दार्थ, स च पूर्वोक्तार्थापेक्षयोत्तरार्थस्य विलक्षणतासूचनार्थ। पुष्पपाते कुसुमपतने सति, विकटनं च शङ्काऽऽद्यतिचाराऽऽलोचना स्वाभिप्रायनिवेदनमात्रं वा, चतुःशरणगमनं 'चत्तारि सरणं पवज्जामि' इत्यादिरूपमादिर्येषां तानि विकटनचतुःशरणगमनाऽऽदीनि। मकारश्चेहाऽऽगमिकः आदिशब्दात् पञ्चनमस्काराऽऽदिपरिग्रहः(काराविज्जति त्ति)कार्यन्ते विधाप्यन्ते गुरुणा एष दीक्षाधिकृतजीवः। कियतीर्वारा इत्याह-(वारतिगं) त्रीन् वारान् यावत्, उपरि तस्योर्ध्वं प्रतिषेधो निषेधो दीक्षायाः। इदमुक्तं भवति -बहिः पुष्पपाते सत्यालोचनाऽऽदि कारयित्वा तथैव पुष्पपात. कार्यते,पुनर्बहिः पाते पुनरपि स एव विधिरावर्त्यते। ततो वारत्रयेऽपि यदि बहिरेव पुष्पपातो भवति, तदा त्रिर्निश्चितत्वात्तद्दीक्षाऽनर्हत्वस्य प्रतिषिध्यत एवासौ दीक्षाग्रहणं प्रति भद्र! प्रस्तावान्तरे तव दीक्षा दास्यते, नाधुनेत्यादिभि. कोमलवचनैरिति गाथाऽर्थ. ॥ २७ ॥

उक्तविपर्ययमाह–

परिसुद्धस्स उ तह पु–प्फपायजोगेण दंसणं पच्छा ।
ठितिसाहणमुववूहण, हरिसाइपलोयणं चेव ॥ २८ ॥

परिशुद्धस्य दीक्षोचितविशुद्धिप्राप्ततया निश्चितस्य सतो दीक्षणीयस्य, तुशब्दः पुन.शब्दार्थ. । कथमित्याह -तथेति तथाविधः पूर्वोक्तन्यायत. समवसरणमध्यभावी यः पुष्पपातयोगः कुसुमपतनव्यापार. स तथा तेन पुष्पपातयोगेन। किमित्याह दर्शनं नयनाऽऽवरणवसनापनयनेन जिनप्रतिमां प्रति तस्य दर्शनक्रियाया प्रयोजनं गुरुणा कार्यम्। पश्चादिति पुष्पपातेन तद्विशुद्धिनिश्चयानन्तरम्। अथवा-दर्शनमिति सम्यग्दर्शनं तस्याऽऽरोपणीयमेतदारोपणमेव च दीक्षोच्यते। उक्ता वासक्षेपाऽऽदिलक्षणा सामाचारी।

तत्र चावश्यकचूर्ण्यनुसारी सम्प्रदायोऽयम्-चैत्यवन्दनाऽऽदिना तदुचितेन सर्वविरतिसामायिकाऽऽरोपणक्रमेण गुरुणेदमुच्चारयितव्य दीक्षणीयेन चैतदेव प्रत्युच्चारयताऽभ्युपगन्तव्यम्। तद्यथा-" अहं भंते! तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि,सम्मत्तं उवसंपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पभिई अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाइ अरहंतचेयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अनालत्तेण आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तीकंतारेणं दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, दव्वओ णं दंसणदव्वाइं अंगीकाऊणं, खेत्तओ णं सव्वलोए, कालओ णं जावज्जीवाए, भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेणं न छलिज्जामि, जाव संनिवाएणं न भुंजामि (नाभिभविज्जामि) जाव केण वि परिणामवसेण परिणामो मे न परिवडति ताव मे एसा दंसणपडिम त्ति। " ततश्च वासप्रक्षेपपूर्वकं सर्वविरतिसामायिकाऽऽरोपणे इव " नित्थारगपारगो होहि गुरुगुणेहिं वड्ढाहि त्ति " आशिषं प्रयुञ्जते। अयमेवार्थो ऽन्यत्राऽऽचार्यैरेवमुक्तः-" इय मिच्छाओ विरमिय,सम्मं उवगम्म भणति गुरुपुरओ। अरहंतो निस्संगो, मह्हदेवो दक्खिणा साहू॥ १॥ " इति। ततश्च (ठितिसाहण त्ति) दीक्षितमर्यादाकथनं कार्यम्। यथा-" अज्जप्पभिई तुम्भं अरहं देवो, साहवो गुरू, जीवाइपयत्थसद्दहाणं सम्मत्तं, नो ते कप्पति लोइयतित्थे एहाणदाणपिंडपयाणाइ, कप्पइ पुण तिकालं देववंदणाइय अणुट्ठाणं।" अथवा-स्थितिसाधन दीक्षासमाचारप्रकाशनं कार्यम्। यथा—" भो भद्र! दीक्षाप्रतिपत्तिक्रमाऽयमस्थिस्थगनपुष्पप्रक्षेपाऽऽदिरिति न त्वयाऽन्यथा संभावनीय.। तथा-(उववूहण त्ति) इह प्राकृतत्वेन निरनुस्वारः पाठ। ततश्चोपबृंहणं तस्यानुमोदनं कार्यम्। यथा-" धन्यस्त्वं धर्माधिकारी क्षीणप्रायक्लेश' यतो भगवतो भुवनबान्धवस्याऽऽसन्नकुसुमनिपातेन निश्चितो ऽसि समासन्नकल्याण इति। " अथवा-" धन्यस्त्वं येन सकलकल्याणवल्लरीकन्दकल्पा भागवती दीक्षाऽवाप्ता, तदवाप्तौ चावाप्तानि सकलकल्याणानि। " अपि च-" धन्नाण निवेसिज्जति, धन्ना गच्छंति पारमेयस्स। गंतुं इमस्स पारं, पारं दुक्खाण वच्चंति ॥ २॥ " इति। तथा-हर्षाऽऽदीना तद्गतप्रमोदप्रभृतीनाम्। आदिशब्दाद्दैन्योदासीनताऽऽदिग्रहः। प्रलोकनमवलोकनं हर्षाऽऽदिप्रलोकनं तदाचार्येण मुखप्रसन्नताऽऽदिभिर्लक्षणैस्तस्य कार्यम्,किमयमेतत्समाचारदर्शने हृष्टोऽन्यथा वेत्यवगन्तव्यमित्यर्थः। चैवेति समुच्चय इति गाथाऽर्थ॰ ॥ २८॥ पञ्चा० २ विव०।

(११) कथं चेति प्रकारेण दातव्येत्येतदाह–

पुच्छा कहणा परिच्छा, सामाइअमाइसुत्तदाणे च ।
चिइवंदणाइआए, विहीएँ सम्मं पयच्छिज्जा ॥११५॥

प्रश्नः प्रव्रज्याऽभिमुखविषय., कथनं कथा साधुक्रियायो .प रीक्षा सावद्यपरिहारेण,सामायिकाऽऽदिसूत्रदाने च विशुद्धाऽऽलापकेन,ततश्चैत्यवन्दनाऽऽदिविधिना वक्ष्यमाणलक्षणेन, सम्यगसंभ्रान्तः, प्रयच्छेत्प्रव्रज्या दद्यादिति गाथासमुदायार्थः

अवयवार्थं तु ग्रन्थकार एवाऽऽह–

धम्मकहाअक्खित्तं, पव्वज्जाअभिमुहं तु पुच्छिज्जा ।
कत्थ तुमं सुंदर! प–व्वयसी वा किं निमित्तं ति ॥ ११६॥

धर्मकथाऽऽक्षिप्तमिति धर्मकथया अनुष्ठानेन वा आवर्जितं प्रव्रज्याऽभिमुखं तु सन्तं पृच्छेत्। कथमित्याह-क कुत्र त्वं सुन्दर! कस्त्वं कुल वा त्वमायुष्मन्!, प्रव्रजसि वा किं निमित्तमिति गाथाऽर्थ.।

स खल्वाह-

कुलपुत्तो तगराए, असुहभवक्खयनिमित्तमेवेह।
पव्वामि अहं भंते !, इइ गज्झो भयणा सेसेसु ॥ ११७ ॥

कुलपुत्रोऽहं तगरायां नगर्यामित्येतद्ब्राह्मणमथुराऽऽद्युपलक्षणं नेदितव्यमिति । अशुभभवक्षयनिमित्तमेवेह, भवन्त्यस्मिन्कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसारस्तत्परिक्षयनिमित्तमित्यर्थः। प्रव्रजामि अहं भदन्त ! इति एवं ब्रुवन् ग्राह्यः,भजना शेषेषु अकुलपुत्रान्यनिमित्ताऽऽदिषु। इदं च विशिष्टसूत्रानुसारतो द्रष्टव्या। उक्तं च-" जे जहिं दुगुञ्छिया खलु, पव्वावणवसहिभत्तपाणेसुं । जिणवयणे पडिकुट्ठा,वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥१॥" इत्यादीति गाथाऽर्थः। प्रश्न इति व्याख्यातम्।

(१२) कथामधिकृत्याऽऽह-

साहिज्जा दुरणुचरं, कापुरिसाणं तु साहुकिरिअं ति ।
आरंभनियत्ताण य, इह परभविए सुहविवागे ॥११८॥

साधयेत् कथयेत् दुरनुचरां कापुरुषाणां क्षुद्रसत्त्वानां साधुक्रियामिति, तथा आरम्भनिवृत्तानां च इहपरभविके शुभविपाकान् प्रशस्तभवदेवलोकगमनाऽऽदीनि इति गाथार्थः।

जह चेव उ मोक्खफला,आणा आराहिआ जिणिंदाणं ।
संसारदुक्खफलया, तह चेव विराहिआ होइ ॥११९॥

यथैव तु मोक्षफला, भवतीति योगः। आज्ञा आराधिता अखण्डिता सती जिनेन्द्राणां सर्वज्ञानामिति, संसारदुःखफलदा तथैव च विराधिता खण्डिता भवतीति गाथाऽर्थः।

किं च-

जह वाहिओ उ किरिअं, पवज्जिउं सेवई अपत्थं तु ।
अपवत्तगाउ अहियं, सिग्घं च स पावए विणासं ॥१२०॥

यथा व्याधितस्तु कुष्ठाऽऽदिग्रस्तः क्रियां प्रतिपद्य चिकित्सामाश्रित्य सेवते अपथ्यं तु । स किमित्याह-अप्रपन्नात्सकाशादधिकं शीघ्रं च स प्राप्नोति, विनाशमपथ्यसेवनेन प्रकुपितव्याधिवृद्धेरिति गाथाऽर्थः।

एमेव भावकिरिअं, पवज्जिउं कम्मवाहिखयहेउं ।
पच्छा अपत्थसेवी, अहियं कम्मं समज्जिणइ ॥१२१॥

एवमेव भावक्रियां प्रव्रज्यां प्रतिपद्य, किमर्थमित्याह-कर्मव्याधिक्षयहेतोः पश्चादपथ्यसेवी असंयमादिसेवकारी अधिकं कर्म समार्जयति, भगवदाज्ञाविलोपनेन क्रूराऽऽशयत्वादिति गाथाऽर्थः। कथेति व्याख्याता।

(१३) परीक्षामाह-

अब्भुवगयं पि संतं, पुण परिक्खिज्जइ पवयणविहीए ।
छम्मासं जाऽऽसज्ज व, पत्तं अद्धाए अप्पबहुं ॥ १२२ ॥

अभ्युपगतमपि अङ्गीकृतमपि सन्तं पुनः परीक्षेत प्रवचनविधिना स्वचर्याप्रदर्शनाऽऽदिना कियन्तं कालं यावदित्याह-षण्मासं यावदासाद्य वा पात्रमद्धायाः अल्पबहुत्वमद्धा काल',सपरिणामके पात्रके विशेषे अल्पतर इतरस्मिन् बहुतरोऽपीति गाथाऽर्थः। परीक्षेति व्याख्यातम्।

(१४) साम्प्रतं सामायिकाऽऽदिसूत्रदानमाह-

सोभणदिणम्मि विहिणा, दिज्जा आलावगेण सुविसुद्धं ।
सामाइआइसुत्तं, पत्तं नाऊण जं जोग्गं ॥ १२३ ॥

शोभनदिने विशिष्टनक्षत्राऽऽदियुक्ते विधिना चैत्यवन्दननमस्कारपाठनपुरस्सराऽऽदिना दद्यादालापकेन,न तु प्रथमेव पट्टिकालिखनेन सुविशुद्धं एवं सामायिकाऽऽदिसूत्रं, प्रतिक्रमणेर्यापथिकाऽऽदीत्यर्थः। पात्रं ज्ञात्वा यद्योग्यं तद्यथान्यस्ययेनेति गाथाऽर्थः। उक्तं सूत्रदानम्।

(१५) शेषविधिमाह-

तत्तो अ जहाविहवं, पूअं स करिज्ज वीयरागाणं ।
साहूण य उवउत्तो, एअं च विहिं गुरू कुणइ ॥१२४॥

ततश्च तदुत्तरकालं यथाविभव यो यस्य विभवः, विभवानुरूपमित्यर्थः, पूजा स प्रव्रजिषुः कुर्याद्वीतरागाणां जिनानां माल्याऽऽदिना, साधूनां वस्त्राऽऽदिना, उपयुक्तः सन्निति । एतं च वक्ष्यमाणलक्षणं विधिं गुरुराचार्यः करोति । सूत्रस्य त्रिकालगोचरत्वप्रदर्शनार्थं वर्तमाननिर्देश इति गाथाऽर्थः।

चिइवंदणरयहरणं, अट्ठा सामाइयस्स उस्सग्गो ।
सामाइयतियकड्ढण, पयाहिणं चेव तिक्खुत्तो॥१२५॥

चैत्यवन्दनं करोति रजोहरणमर्पयति, अष्टां गृह्णाति, सामायिकस्योत्सर्ग इति कायोत्सर्गं च करोति, सामायिकत्रयाऽऽकर्षणमिति त्रिरो वाराः सामायिकं पठति,प्रदक्षिणां चैव त्रिः तिस्रो वाराः शिष्यं कारयतीति गाथासमुदायाऽर्थः।

अथावयवार्थं त्वाह-

सेहमिह वामपासे, ठवित्तु तो चेइए पवंदति ।
साहूहिं समं गुरवो, थुइथुड्ढी अप्पणो चेव ॥ १२६ ॥

शिष्यकमिह प्रव्रज्याऽभिमुखं वामपार्श्वे स्थापयित्वा ततश्चैत्यान्यर्हत्प्रतिमालक्षणानि प्रवन्दन्ते साधुभि सम गुरवः, स्तुतिवृद्धिरात्मनैवेति आचार्या एव छन्दःपाठाभ्यां प्रवर्धमाना स्तुतीर्ददतीति गाथाऽर्थ ।

(१६) वन्दनविधिमाह-

पुरओ वजंति गुरवो, सेसा वि जहक्कमं तु सट्ठाणे ।
अक्खलिआइकमेणं, विवज्जए होइ अविही उ ॥१२७॥

पुरत एव तिष्ठन्ति गुरव आचार्याः, शेषा अपि सामान्यसाधवः यथाक्रममेव ज्येष्ठार्थतामङ्गीकृत्य स्वस्थाने तिष्ठन्ति, तत्रास्खलिताऽऽदि न स्खलितं न मिलितमित्यादिक्रमेण परिपाट्या, सूत्रमुच्चारयन्तीति गम्यते। विपर्यये स्थानमुच्चारणं वा प्रति भवति। अविधिरवन्दन इति गाथाऽर्थ।

एतदेवाऽऽह-

खलियमिलियवाइद्धं, हीणं अच्चक्खराइदोसजुअं ।
वंदंताणं नेआ-ऽसामायारि त्ति सुत्ताणं ॥ १२८ ॥

स्खलितमुपलाऽऽकुलायां भूमौ लाङ्गलवत् मिलितं विसदृशधान्याऽऽमलकवत्, व्याविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावत्, हीन न्यूनम्, अत्यक्षराऽऽदिदोषयुक्तमिति, अत्यक्षरमाधिकाक्षरम्, आदिशब्दादप्रतिपूर्णाऽऽदिग्रहः। इत्थं वन्दमानाना ज्ञेया असामाचारी अस्थितिरज्ञाऽऽज्ञा आगमार्थ एवंभूत इति गाथाऽर्थ । व्याख्यातं चैत्यवन्दनद्वारम्।

प्रव्रज्यां व्याचिख्यासुराह-

वंदिय पुणुद्विआणं, गुरुणा ता वद्दणं समं दाउं ।

सेहो भणाइ इच्छा–कारेणं पव्वयावेह ॥ १२६ ॥

वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसानवन्दनेन पुनरुत्थितेभ्यः प्रणिपाताभिवन्दनोत्थानेन गुरुभ्यः आचार्येभ्यस्ततेस्तदनन्तरं वन्दनं समं वेयाऽऽवभिमुखमेव दत्वा शिक्षको भणति। किमिति तदाह–इच्छाकारेण प्रव्राजयत, अस्मानिति गम्यते। एष गाथाऽर्थः।

इच्छामो त्ति भाणित्ता, उट्ठेउं कड्ढिऊण मंगलयं।
अप्पेइ रओहरणं, जिणपन्नत्तं गुरू लिंगं ॥ १३० ॥

इच्छाम इति भणित्वा विशुद्धवचसा तथानुमूर्धस्थानेन आकृष्य मङ्गलकं पठित्वा पञ्चनमस्कारमर्पयति रजोहरणं जिनप्रज्ञप्तं गुरुः लिङ्गमिति गाथाऽर्थः।

(१७) लिङ्गदान एव विधिमाह–

पुव्वाभिमुहो उत्तर–मुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छिज्जा।
जाए जिणाऽऽदओ वा,दिसाए जिणचेइआइं वा ॥१३१॥

पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा दद्यात् गुरुः। अथवा–प्रतीच्छेच्छिष्यः,यस्यां जिनाऽऽदयो वा दिशि,जिनाः मनःपर्यायज्ञानिनः अवधिसम्पन्नाश्चतुर्दशपूर्वधराश्च, जिनचैत्यानि वा यस्यां दिशि आसन्नानि तदभिमुखो दद्यात्,अथवा–प्रतीच्छेदिति गाथाऽर्थः। रजोहरण लिङ्गमुक्तम्।

साम्प्रत तच्छब्दार्थमाह–

हरइ रयं जीवाणं, वज्झं अब्भंतरं च जं तेणं।
रयहरणं ति पवुच्चइ, कारणकज्जोवयाराओ ॥१३२॥

हरत्यपनयति रजो जीवानां बाह्य पृथिवीरज प्रभृति, अभ्यन्तर च बध्यमानकर्मरूप यस्मात्तेन कारणेन रजोहरणमिति प्रोच्यते, रजो हरतीति रजोहरणम्। अभ्यन्तररजोहरणमाशङ्कयाऽऽह–कारणे कार्योपचारात्संयमयोगा रजोहराः, तत्कारण चेदमिति गाथाऽर्थः।

एतदेव प्रकटयति–

संजमजोगा एत्थं, रयहरणा तेसि कारणं जेणं।
रयहरणं उवयारो, भण्णइ तेणं रओकम्मं ॥१३३॥

संयमयोगाः प्रत्युपेक्षितप्रमृष्टभूभागस्थानाऽऽदिव्यापाराः, अत्राधिकारे,रजोहरणा बध्यमानकर्महरा इत्यर्थः। तेषां संयमयोगानां कारणं येन कारणेन रजोहरणमित्युपचारस्तेन हेतुनेति। रजःस्वरूपमाह–भण्यते रज कर्म बध्यमानकमिति गाथाऽर्थः।

केई भणंति मूढा, संजमजोगाण कारणं नेवं।
रयहरणं ति पमज्जण–माईहुवघायभावाओ ॥१३४॥

केचन भणन्ति मूढा दिगम्बरविशेषाः संयमयोगानां युक्तलक्षणानां कारण नैव वक्ष्यमाणेन प्रकारेण रजोहरणमिति। यथा न कारण तदाह–प्रमार्जनाऽऽदिभिः प्रमार्जनेन समार्जनेन च उपघातभावात्प्राणिनामिति गाथाऽर्थः।

एतदेवाऽऽह–

मूइंगलिआईणं, विणाससंताणभोगविरहाई।
रयहरिथगणसंस–जणाऽऽइणा होइ उवघाओ ॥१३५॥

प्रमार्जने सति मूइङ्गलिकाऽऽदीनां पिपीलिकामत्कोटकप्रभृतीनां विनाशसन्तानभोगविरहाऽऽदयो,भवन्तीति वाक्यशेषः। रजोहरणसंस्पर्शनादल्पकायानां विनाश एव, सन्तानः प्रबन्धः गमन भोग्यं भिक्षाऽऽदि, एतद्विरहस्तु भवत्येवेत्युपघातः। तथा–रजोहरिस्थगनसंमार्जनाऽऽदिना भवत्युपघात इति। सम्प्रति च प्रमार्जने सति रजसा हरिस्थगनं, तत्ससर्जने च सत्वोपघात इति गाथाऽर्थः। एष पूर्वपक्षः।

अत्रोत्तरमाह–

पडिलेहिउं पमज्जण–मुपाघाओ कह णु तत्थ होज्जा उ?।
अपमज्जउं च दोसा, वज्जाऽऽदागाढवोसिरणे ॥१३६॥

प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा पिपीलिकाऽऽद्यनुपलब्धौ सत्यामुपलब्धावपि प्रयोजनविशेषे यतनया प्रमार्जनसूत्रे उक्त,यतश्चैवमत उपघातः कथं नु तत्र भवेत्?,नैव भवतीत्यर्थः। सत्त्वानुपलब्धौ किमर्थं प्रमार्जनमिति चेत्?,उच्यते–सूत्रोक्तन्यायविधसत्त्वसंरक्षणार्थमुपलब्धावपि प्रयोजन तत्तु अप्रमार्जने तु दोषः। तथा चाऽऽह–अप्रमृज्य च दोषाः वर्ज्या आदावागाढव्युत्सर्गे, आदिशब्दात्श्चेकाङ्गुलिकाऽऽदिपरिग्रह इति गाथाऽर्थः।

(१८) अप्रमार्जनदोषमाह–

आयपरपरिच्चाओ, दुहा वि सत्थस्सऽकोसलं नूणं।
संसज्जणाइदोसा, देहे व्व विहीएँ णो हुंति ॥१३७॥

यो हि कथञ्चित्पुरीषोत्सर्गमङ्गीकृत्य असहिष्णुः, ससक्तं च स्थण्डिलम्, तेन दयालुना स तत्र न कार्यः, कार्यो वेति द्वयी गतिः। किं चात उभयथाऽपि च दोषः। तथा चाऽऽह–आत्मपरपरित्यागोऽकरणे आत्मपरित्यागः, करणे परपरित्याग इति। किं चात इत्याह–द्विधाऽपि शासितुः स्वदभिमततीर्थकरस्याकौशल नूनमवश्य, कुशलस्य चाकुशलताऽऽपादने आशातनेति। पक्षान्तरपरिजिहीर्षयाऽऽह–संसज्जनाऽऽदिदोषाः पूर्वपक्षवादिनिहिता अविधिनाऽपरिभोगेन (?) भवन्ति देह इव शरीर इव,अविधिना स्वसमंजसाऽऽहारस्य देहेऽपि भवन्त्येवेति गाथाऽर्थः। रजोहरणमिति व्याख्यातम्।

अथ इति व्याचिख्यासुराह–

अह वंदिउं पुणो सो, भणइ गुरुं परमभत्तिसंजुत्तो।
इच्छाकारेणऽम्हे, मुंडावेहि त्ति सपणामं ॥ १३८ ॥

अथानन्तरं वन्दित्वा पुनरपि स शिष्यको भणति गुरुमाचार्यं परमभक्तिसंयुक्तः सन्। किमित्याह–इच्छाकारेणास्मान् मुण्डयेति सप्रणाम भणतीति गाथाऽर्थः।

इच्छामो त्ति भणित्ता, मंगलगं कड्ढिऊण तिक्खुत्तो।
गिण्हइ गुरु उवउत्तो,अट्ठा से तिन्नि अच्छिन्ना ॥१३९॥

इच्छाम इति भणित्वा गुरुर्मङ्गलकमाकृष्य पठित्वा त्रिकृत्वः, तिस्रो वारा इत्यर्थः। गृह्णाति गुरुः, उपयुक्त तस्य अद्धाः केशोत्क्षेपग्रहणरूपास्तिस्र ,अच्छिन्ना अस्खलिता इति गाथाऽर्थः। अद्धा इति व्याख्यातम्।

अधुना सामायिककायोत्सर्ग इति व्याख्यानयन्नाह–

वंदित्तु पुणो सेहो, मज्झाऽऽरोवेह नवरमायरियं।
इइ भणई संविग्गो, सामाइयमिच्छकारेणं ॥१४०॥

इच्छाकारेण सामायिक ममत्यारोपयतेति भणति संविग्नः सन्नवरमाचार्यमिति गाथाऽर्थः।

इच्छामो त्ति भणित्ता, सो वि अ सामईअरोवणनिमित्तं।
सेहेण समं सुत्तं, कड्ढित्ता कुणइ उस्सग्गं ॥ १४१ ॥

इच्छाम इति भणित्वा सोऽपि च गुरुः सामायिकाऽऽरोपणनिमित्तं शिष्यकेण सार्द्धं सूत्रं सामायिकाऽऽरोपणानिमित्तम्– "करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ ऊससिएणं" इत्यादि पठित्वा करोति कायोत्सर्गमिति गाथाऽर्थः ।

पुनश्च–

**लोगस्सुज्जोयगरं, चिंते उस्सारए असंभंतो ।**
**नवकारेणं तप्पु–व्वगं च वारे तओ तिन्नि ॥ १४२ ॥**

तत्र लोकस्योद्द्योतकरं चिन्तयित्वा उत्सारयति सयमयोग, तदनन्तरं माविक्रियासेवनेन असम्भ्रान्त सन्नमस्कारेण "नमो अरहंताणं" इत्यनेन (?)। 'कायोत्सर्गं' इति व्याख्यातम् । पं० व० १ द्वार ।

(११) साधुधर्मे परिभाविते यत्कर्त्तव्यं तदभिधातुमाह–

**परिभाविए साहुधम्मे जहोदिअगुणे जइज्जा सम्ममेअं पडिवज्जिउं अपरोवतावं परोवतावो हि तप्पडिवत्तिविग्घं, अणुपाओ खु एसो न खलु अकुसलारंभओ हिअं । अप्पडिबुद्धे कहिंचि पडिबोहिज्जा अम्मापिअरे । उभयलोगसफलं जीविअं समुदायकडा कम्मा समुदायफल त्ति । एवं सुदीहो अ विओगो । अण्णहा एगरुक्खनिवासिसउणतुल्लमेअं । उद्दामो मच्चू पच्चासण्णो अ । दुल्लहं मणुअत्तं समुद्दपडिअरयणलाभतुल्लं । अइप्पभूआ अन्ने भवा दुक्खबहुला मोहंधयारा अकुसलाणुबंधिणो अजुग्गा सुद्धधम्मस्स । जुग्गं च एअं पोअभूअं भवसमुद्दे जुत्तं सकज्जे निउंजिउं संवरट्ठइअच्छिद्दं नाणकण्णधारं तवपवणजवणं । खणे दुल्लहे सव्वकज्जोवमाईए सिद्धिसाहगधम्मसाहगत्तेण । उवादेआ य एसा जीवाणं; जं न इमीए जम्मो, न जरा, न मरणं, न इट्ठविओगो, नाणिट्ठसंपओगो, न खुहा, न पिवासा, न अण्णो कोइ दोसो, सव्वहा अपरतंतं जीवावत्थाणं असुभरागाइरहिअं संतं सिवं अव्वाहं ति ।**

परिभाविते साधुधर्मे अनन्तरसूत्रोदितेन विधिना यथोदितगुणः संसारविरक्तः संविग्नः अममः अपरोपतापी विशुद्धः विशुध्यमानभावः सन्, यतेत सम्यग्विधिनाऽमुं धर्मं प्रतिपत्तुम् । कथं ?, इत्याह–अपरोपतापमिति क्रियाविशेषणम् । किमेतदेवार्थ्यते ?, इत्याह–परोपतापो हि तत्प्रतिपत्तिविघ्नः, परोपतापो यस्माद्धर्मप्रतिपत्त्यन्तरायः । एतदेवाऽऽह–अनुपाय एषैव धर्मप्रतिपत्तौ परोपतापः । कथम् ?, इत्याह–न खल्वकुशलाऽऽरम्भतो हितम् । अकुशलाऽऽरम्भश्च धर्मप्रतिपत्तावपि परोपताप । न चान्यस्तत्र, प्रायोऽन्य समर्पनीति । समयविपरिहारार्थमाह–अप्रतिबुद्धौ कथञ्चित्कर्मदोषैर्विवर्तत., प्रतिबोधयेन्मातापितरौ । न तु प्रायो महासत्त्वस्यैनावप्रतिबुद्धौ भवत इति । कथञ्चित् ?, इत्याह–उभयलोकसफलं जीवितं, प्रशस्यत इति शेष । तथा समुदायकृतानि कर्माणि, प्रक्रमाच्छुभानि समुदायफलानीति । अनेन भूयोऽपि योगाऽऽक्षेप । तथा चाऽऽह–एवं सुदीर्घो वियोग', भवपरम्परया सर्वेषामस्माकमिति प्रक्रम । अन्यथैवमकरणे एकवृक्षनिवासिशकुनतुल्यमेतत्, चेष्टितमिति शेष । यथोक्तम्–"बालवृक्षे समागम्य, विगच्छन्ति यथाऽण्डजाः । नियत विप्रयोगान्त–स्तथा भूतसमागमः ॥ १ ॥" इत्यादि । एतदेव स्पष्टयन्नाह–उद्दामो मृत्युः अनिवारितप्रसरः, प्रत्यासन्नश्चाल्पाऽऽयुष्ट्वेन । तथा दुर्लभं मनुजत्वं, भवाब्धाविति शेषः । अत एवाऽऽह–समुद्रपतितरत्नलाभतुल्यम्, अतिदुरापमित्यर्थः । कुतः ?, इत्याह–अतिप्रभूता अन्ये भवाः पृथिवीकायाऽऽदिसम्बन्धिनः कायस्थित्या । यथोक्तम्–"अस्सखोसप्पिणिस–प्पिणीउ एगिंदियाण उ चउण्ह । ता चेव ऊ अणंता, वणस्सतीए उ बोधव्वा ॥ १ ॥" एते च दुःखबहुला उत्कटासातवेदनीया मोहान्धकाराः तद्धदयतीमतया, अकुशलानुबन्धिनः प्रकृत्याऽसच्चेष्टाहेतुत्वेन, अत एवमतः–अयोग्याः शुद्धधर्मस्य चारित्रलक्षणस्य, योग्यं चैतन्मनुजत्वम् । किंविशिष्टम् ?, इत्याह–पोतभूतं भवसमुद्रे तदुत्तारकत्वेन । यत एवमतो युक्तं स्वकार्ये नियोक्तुं धर्मलक्षणे । कथम् ?, इत्याह–संवरस्थगितच्छिद्रं, छिद्राणि प्राणातिपाताऽविरमणाऽऽदीनि । तथा ज्ञानकर्णधारमभीष्टप्राप्ति तदुपयोगतः । तपःपवनजवनम्, अनशनाऽऽद्यासेवनतया । एवं युक्तं स्वकार्ये नियोक्तुम् । किम् ?, इत्यत आह–क्षण एष दुर्लभः । क्षणः प्रस्ताव. सर्वकार्योपमातीत एषः । कथम् ?, इत्याह–सिद्धिसाधकधर्मसाधकत्वेन हेतुना, उपादेया चैषा जीवानां सिद्धिरेव । यस्मादस्यां सिद्धौ जन्म प्रादुर्भावलक्षणम् न जरा वयोहानिलक्षणा, न मरणं प्राणत्यागलक्षणम्, नेष्टवियोगः, तदभावात् । नानिष्टसंप्रयोगोऽत एव हेतोर्न क्षुद्, बुभुक्षारूपा । न पिपासा, उदकेच्छारूपा । न चान्यः कश्चिद्दोष. शीतोष्णाऽऽदिः । सर्वथाऽपरतन्त्रं जीवावस्थानम्, अस्यां सिद्धाविति प्रक्रम., अशुभरागाऽऽदिरहितमेतदवस्थानम् । एतदेव विशेष्यते–शान्तं शिवमव्याबाधमिति । शान्तं शक्तितोऽपि क्रोधाऽऽद्यभावेन, शिवं सकलाऽशिवाऽभावतः, अव्याबाधं निष्क्रियत्वेनेति ।

**विवरीओ अ संसारो इमीए अणवट्ठिअसहावो । इत्थ खलु सुही वि असुही, संतमसंतं, सुविणु व्व सव्वमालमालं ति । ता अलमित्थ पडिबंधेणं । करेह मे अणुग्गहं । उज्जमह एअं वुच्छिंदित्तए । अहं पि तुम्हाणुमईए साहेमि एअं । निव्विण्णो जम्ममरणेहिं । समिज्झइ अ मे समीहिअं गुरुपभावेणं । एवं सेसे वि बोहिज्जा । तओ सममेएहिं सेविज्ज धम्मं । करिज्जोचिअकरणिज्जं निरासंसो उ सव्वदा एअं परमसुणिसासणं ॥**

विपरीतश्च संसारोऽस्याः सिद्धेर्जन्माऽऽदिरूपत्वात् सर्वोपद्रवाऽऽलयो, यथाऽऽह–"जरामरणदौर्गत्य–व्याधयस्तावदासताम् । मन्ये जन्मापि धीरस्य, भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥१॥" अत एवाऽऽह–अनवस्थितस्वभाव. संसार । अत्र खलु सुख्यप्यसुखी पर्यायत, सदप्यसत्पर्यायत एव । स्वप्न इव, सर्वमालमालमाश्वाऽभावेनेति । यत एव तदलमत्र प्रतिबन्धेन संसारे, कुरुत ममानुग्रहम् । कथम् ?, इत्याह–उद्यच्छतैनं व्यवच्छेत्तुं संसारं यूयम् । अहमपि युष्माकमनुमत्या साधयाम्येनदव्यवच्छेदनम् । किमिति ?, अत आह–निर्विण्णो जन्ममरणाभ्यां संसाराऽऽगामिभ्याम् । समृद्ध्यति च मम समीहित संसारव्यवच्छेदन, गुरुप्रभावेन । एवं शेषाण्यपि भार्याऽऽदीनि बोधयेदौचित्योपन्यासेन । तत सममेभिर्माता-पित्रादिभि. सेवेत धर्मं चारित्रलक्षणम् । कथम् ?, इत्याह–निरा·

श्रस एव सर्वदा, इहलोकपरलोकान्यथाम् । एतत्परममुनिशासन, वीतरागवचनमित्यर्थः ।

अबुज्झमाणेसु अ कम्मपरिणईए विहिज्जा जहासत्तिं तदुवकरणं आओवायसुद्धं समईए । कयएणुआ खु एसा । करुणा य धम्मप्पहाणजणणी जणम्मि । तओ अणुणाए पडिवज्जिज्ज धम्मं । अण्णहा अणुवहे चेव उवहिजुत्ते सिआ । धम्माराहणं खु हिअं सव्वसत्ताणं । तहा तहेअं संपाडिज्जा । सव्वहा अपडिवज्जमाणे चइज्जा ते अट्ठाणगिलाणोसहत्थचागनाएणं ॥

अबुध्यमानेषु च मातापित्रादिषु कर्मपरिणत्या हेतुभूतया, विदध्यात् यथाशक्ति शक्त्यनुसारेण तदुपकरणमर्थजातादीत्यर्थः । किम् ? "कारणे कार्योपचारात् ।" किम्भूतम् ?, इत्याह--आयोपायशुद्धं स्वमत्या । ततोऽन्यसम्भूतिराय कलान्तराऽऽदिरुपाय । किमेतदेव कुर्यात् ?, इत्याह-कृतज्ञतैवैषा वर्तते । करुणा च किंविशिष्टेयम् ?, इत्याह- धर्मप्रधानजननी जने, शासनोन्नतिनिमित्तमित्यर्थः । ततोऽनुज्ञात सन्, मातापित्रादिभिरिति प्रक्रमः । प्रतिपद्येत धर्मं चारित्रलक्षणम् । अन्यथैवमपि, तदनुज्ञाऽभावे । अनुपध एव, भावत । उपधियुक्त स्याद्, व्याजवान् स्यादित्यर्थः । उक्तं च- " निर्माय एव भावेन, मायावांस्तु भवेत्क्वचित् । पश्येत्स्वपरयोर्यत्र, सानुबन्धहितावयम् ॥१॥ " एवं च धर्माऽऽराधनमेव हितं सर्वसत्त्वानामिति । तथा तथैव दुःस्वप्नाऽऽदिकथनेन सपादयेद्धर्माऽऽराधनं, सर्वथाऽप्रतिपद्यमानान् । अमुनाऽपि प्रकारेण त्यजेत्तान् मातापित्रादीन् । अस्थानग्लानौषधार्थत्यागज्ञातेन ज्ञानमुदाहरणम् ।

एतदेवाऽऽह-

से जहा नामए केइ पुरिसे कहंचि कंतारगए अम्मापिइसमेए तप्पडिबद्धे वच्चिज्जा । तेसिं तत्थ नियमघाई पुरिसमित्तासज्झे संभवओसहे महायंके सिआ । तत्थ से पुरिसे तप्पडिबंधाओ एवमालोचिअ न भवंति एए निअमओ ओसहमंतरेण, ओसहभावे अ संसओ कालसहाणि अ एआणि । तहा संठविअ संठविअ तदोसहनिमित्तं स[वित्]तिनिमित्तं च चयमाणे साहु । एस चाए अचाए, अचाए चे[व] चाए । फलमित्थ पहाणं बुहाणं धीरा एअदंसिणो ॥

तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषो विवक्षित कथञ्चित्कान्तारगत सन् मातापितृसमेतः, भार्याऽऽद्युपलक्षणमेतत् । तत्प्रतिबद्धो व्रजेत् । तयोर्मातापित्रोस्तत्र कान्तारे नियमघाती पुरुषमात्रासाध्य सम्भवदौषधः महातङ्कः स्यात् । आतङ्कः सद्योघाती रोगः । तत्रासौ पुरुषः तत्प्रतिबन्धान्मातापितृप्रतिबन्धेन, एवमालोच्य न भवत एतौ मातापितरौ नियमत औषधमन्तरेणौषधं विना । औषधभावे च संशयः-कदाचिद्भवतोऽपि, कालसहौ चैतौ मातापितरौ । तथा तेन वृत्त्याच्छादनाऽऽदिना प्रकारेण संस्थाप्य संस्थाप्य तदौषधानिमित्तं, तयोर्मातापित्रोरौषधार्थं, स्ववृत्तिनिमित्तं च आत्मवृत्त्यर्थं च त्यजन् साधु शोभन । कथम् ?, इत्याह-एष त्यागोऽत्यागः, सद्योगफलत्वात् । अत्याग एव त्यागः, त्रियोगफलत्वात् । यदि नामैवं ततः किम् ? इत्याह-फलमत्र प्रधानं बुधानां पण्डितानाम् । धीरा एतद्दर्शिनः, निपुणबुद्ध्या फलदर्शिनः ।

स ते ओसहसंपायणेण जीवाविज्जा । संभवाओ पुरिसोचिअमेअं । एवं सुक्कपक्खिए महापुरिसे संसारकंतारपडिए अम्मापिइसंगए धम्मपडिबद्धे विहरिज्जा । तेसिं तत्थ निअमविणासगे अपत्तबीजाइपुरिसमित्तासज्झे संभवंतसम्मत्ताइओसहे मरणाइविवागे कम्मायंके सिआ । तत्थ से सुक्कपक्खिए पुरिसे धम्मपडिबंधाओ एवं समालोचिअ विणस्संति एए अवस्सं सम्मत्ताइओसहविरहेण । तस्स संपाडणे विभासा । कालसहाणि अ एआणि ववहारओ । तहा संठविअ संठविअ इहलोगचिंताए तेसिं सम्मत्ताइओसहनिमित्तं विसिट्ठगुरुमाइभावेण सवित्तिनिमित्तं च किच्चकरणेण चयमाणे संजमपडिवत्तीए ते साहु सिद्धीए एस चाए अचाए तत्तभावणाओ । अचाए चेव चाए मिच्छाभावणाओ । तत्तफलमित्थ पहाणं बुहाणं परमत्थओ । धीरा एअदंसिणो आसन्नभव्वा ॥

स पुरुषः तौ मातापितरौ औषधसंपादनेन जीवयेत् । संभवत एवाऽऽह-सम्भवात्पुरुषोचितमेतद्वृत्तमित्थं त्यागः इति । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः इत्याह-एवं शुक्लपाक्षिको महापुरुषः, परीत्तसंसार इत्यर्थः । यथोक्तम्-" जस्स अवड्ढो पोग्गल-परियट्टो सेसओ अ संसारो । सो सुक्कपक्खिओ खलु, अहिगे पुण कण्हपक्खीओ ॥ १ ॥ " किमयम् ?, इत्याह-संसारकान्तारपतितः सन् मातापितृसङ्गत । उपलक्षणमेतत् भार्यादीनां, धर्मप्रतिबद्धो विहरेत् । तयोर्मातापित्रोस्तत्र संसारकान्तारे नियमविनाशक, अप्राप्तबीजाऽऽदिपुरुषमात्रासाध्य, सम्भवत्सम्यक्त्वाऽऽद्यौषध, मरणाऽऽदिविपाक कर्मातङ्कः स्यात्, क्लिष्टं कर्मेत्यर्थः । तत्राऽसौ शुक्लपाक्षिकः पुरुषः, धर्मप्रतिबन्धात्, एवं समालोच्य विनश्यत एतौ मातापितरौ, अवश्यं सम्यक्त्वाऽऽद्यौषधविरहेण सम्यक्त्वाऽऽद्यौषधाभावेन । तत्सम्पादने सम्यक्त्वाऽऽद्यौषधसंपादने विभाषा, कदाचिदेतत्संपादयितुं शक्यते, कदाचिन्न इत्येवंरूपा । कालसहौ चैतौ व्यवहारतः । तथा जीवनस्य न्यायनिश्चयतस्तु न । यथोक्तम्-" आयुषि बहूपसर्गे, वाताऽऽहतसलिलबुद्बुदादप्यतरे । उच्छ्वस्य निःश्वसिति य, सुप्तो वा यद्विबुध्यते तच्चित्रम् ॥ १ ॥ " तथा तेन सौहित्याऽऽपादनप्रकारेण संस्थाप्य संस्थाप्य इहलोकचिन्तया तयोर्मातापित्रोः सम्यक्त्वाऽऽद्यौषधनिमित्तं, विशिष्टगुर्वादिभावेन धर्मकथाऽऽदिनाऽभावात् । स्ववृत्तिनिमित्तं च कृत्यकरणेन हेतुना त्यजन्संयमप्रतिपत्त्या तौ मातापितरौ साधुधर्मशील सिद्धौ सिद्धिविषये । किमित्येतदेवम् ?, इत्याह-एष त्यागोऽत्यागस्तत्त्वभावनातस्तद्धितप्रवृत्तेः । अत्याग एव त्यागो, मिथ्याभावनातस्तदहितप्रवृत्तेः । तत्त्वफलं सानुबन्धमत्र प्रधानं बुधानां परमार्थेन परमार्थेन । धीरा एतद्दर्शिन आसन्नभव्या नाऽन्ये ।

स ते सम्मत्ताइओसहसंपाडणेण जीवाविज्जा अच्चंतिअं अमरणावंझवीअजोगेणं । संभवाओ सुपुरिसोचिअमेअं दुप्पडिआराणि अ अम्मापिईणि । एस धम्मो सयाणं

भगवं इत्थ नायं परिहरमाणे अकुसलाणुबंधि अम्मापिइ-सोगं ति । एवमपरोवतावं सव्वहा सुगुरुसमीवे पूइत्ता भगवंते वीअरागे साहू अ तोसिऊण विहवोचिअं किवणाई सुप्पउत्तावस्सए सुविसुद्धनिमित्ते समहिवासिए विसुज्झमाणो महया पमोएणं सम्मं पव्वइज्जा लोअधम्मेहिंतो लोगुत्तरधम्मगमणेण । एसा जिणाणमाणा महाकल्लाण त्ति न विराहिअव्वा बुहेणं महाणत्थभयाओ सिद्धिकंखिणा ।

स शुक्लपाक्षिकः पुरुषः तौ मातापितरौ सम्यक्त्वाऽऽद्यौषधसम्पादनेन जीवयेदात्यन्तिकम् । कथम् ?, इत्याह-अमरणावन्ध्यबीजयोगेन, चरममरणावन्ध्यकारणसम्यक्त्वाऽऽदियोगेनेत्यर्थः । सम्भवत्येतदन एवाऽऽह-सम्भवात्पुरुषोचितमेतद्, यदुतैव तत्त्याग इति । किमिति ?, अत आह-दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ, इति कृत्वा एष धर्मः सतां सत्पुरुषाणां भगवानत्र ज्ञातः महावीरः एव परिहरन् गर्भाभिग्रहप्रतिपत्त्याऽकुशलानुबन्धिनम् । तथा कर्मपरिणत्या मातापितृशोकं प्रव्रज्याग्रहणोद्भवमिति । उक्तं च-"अह सत्तमम्मि मासे, गब्भत्थो चेवऽभिग्गहं गेण्हे । णाहं समणो होहं, अम्मापियरे जियंतम्मि ॥ १ ॥" प्रस्तुतनिगमनायाऽऽह-एवमपरोपतापं सर्वथा सम्यक् प्रव्रजेदिति योगः । विधिशेषमाह-सुगुरुसमीपे, नान्यत्र, पूजयित्वा भगवतो वीतरागान् जिनान्, तथा साधून् यतीन् तोषयित्वा, विभवोचितं कृपणाऽऽदीन् दुःखितसत्त्वानित्यर्थः । सुप्रयुक्ताऽऽवश्यकः सम्मुचितेन नेपथ्याऽऽदिना सुविशुद्धनिमित्तः प्रतियोगं समधिवासितो गुरुणा गुरुमन्त्रेण विशुद्ध्यमानो महता प्रमोदेन लोकोत्तरेण सम्यग्भाववन्दनाऽऽदिगुरूपा प्रव्रजेत् । किमुक्तं भवति ?, लोकधर्मेभ्यः सवलेभ्यः लोकोत्तरधर्मगमनेन, प्रकर्षेण व्रजेदित्यर्थः । एषा जिनानामाज्ञा यदुतैव प्रव्रजितव्यम् । इयं च महाकल्याणेति कृत्वा न विराधितव्या बुधेन, नान्यथा कर्त्तव्येत्यर्थः । कस्मात् ?, इत्याह महानर्थभयात् । नाज्ञाविराधनतोऽन्योऽनर्थः । अर्थश्च तदाराधना इति । अत एवाऽऽह-सिद्धिकाङ्क्षिणा मुक्त्यर्थिनेति । न खल्वाज्ञाराधनातोऽन्यः सिद्धिपथ इति भावनीयम् । पं० सू० ३ सूत्र ।

(२०) पालनासूत्रम्-

विधिना प्रव्रज्या ग्राह्येत्येतत्, अस्य चर्यामभिधातुमाह-

स एवमभिपव्वइए समाणे सुविहिभावओ किरिआफलेण जुज्जइ । विसुद्धचरणे महासत्ते न विवज्जयमेइ । एअअभावेऽभिप्पेअसिद्धी उवायपवित्तीओ नाविवज्जत्थोणुवाए पयट्टइ । उववाओ अ साहगो निअमेण । तस्स तत्तच्चाओ, अण्णहा अइप्पसंगाओ निच्छयमयमेअं ।

स प्रस्तुतो मुमुक्षुः, एवमुक्तेन विधिनाऽभिप्रव्राजितः सन् सुविधिभावतः कारणात् क्रियाफलेन युज्यते, सम्यक्क्रियात्वादधिकृतक्रियायाः । स एव विशेष्यते-विशुद्धचरणो महासत्त्वः, यत एवम्भूतः, अतो न विपर्ययमेति, मिथ्याज्ञानरूपम् । एतदभावे विपर्ययाभावेऽभिप्रेतसिद्धिः सामान्येनैव । कुतः ?, इत्याह-उपायप्रवृत्तेः । इयमेव कुतः ?, इत्याह-नाविपर्यस्तोऽनुपाये प्रवर्त्तते । इयमेवाविपर्यस्तस्याविपर्यस्तता । यदनुपाये प्रवृत्तिरन्यथा तस्मिन्नेव विपर्ययः । एवमपि किम् ?, इत्याह-उपायश्चोपेयसाधको नियमेन कारणं कार्याव्यभिचारीत्यर्थः । अतज्जननस्वभावस्य तत्कारणत्वायोगादतिप्रसङ्गात् । एतदेवाऽऽह-तत्स्वतत्त्वत्याग एवोपायस्यानत्त्वत्याग एवान्यथा स्वमुपेयमसाधयतः । कुतः ?, इत्याह-अतिप्रसङ्गात् । तदसाधकत्वाविशेषेणानुपायस्याप्युपायत्वप्रसङ्गात् । न चैवं व्यवहारोच्छेद आशङ्कनीय इत्याह-निश्चयमतमेतदिति सूक्ष्मबुद्धिगम्यम् ।

से समलिट्ठुकंचणे समसत्तामित्ते निअत्तग्गहदुक्खे पसमसुहसमेए सम्मं सिक्खमाइअइ । गुरुकुलवासी गुरुपडिवद्धे विणीए भूअत्थदरिसी न इओ हिअं तत्तं ति मन्नइ सुस्सूसाइगुणजुत्ते तत्ताभिनिवेसाविहिपरे । परमंतो त्ति अहिज्जइ सुत्तं वद्धलक्खे आसंसाविप्पमुक्के आययट्ठी । स तमवेइ सव्वहा । तओ सम्मं निउंजइ । एअं धीराण सासणं । अण्णहा अणिओगो । अविहिगहिअमंतनाएण अणाराहणाए न किंचि तदणारंभाओ धुवं । इत्थ मग्गदेसणाए दुक्खं अवधीरणा अप्पडिवत्ती । नेवमहीअमहीयं अवगमविरहेण न एसा मग्गगामिणो विराहणा अणत्थमुहा । अत्थहेऊ तस्सारंभाओ धुवं । इत्थ मग्गदेसणाए अणभिनिवेसो । पडिवत्तिमित्तं किरिआरंभो । एवं पि अहीअं अहीअं अवगमलेसजोगओ । अयं सवीओ नियमेण । मग्गगामिणो क्खु एसा । अवायबहुलस्स निरवाए जहोदिए सुत्तुत्तकारी हवइ पवयणमाइसंगए पंचसमिए तिगुत्ते अणत्थपरे । एअचाए अविअत्तस्स सिसुजणणिचायनाएण । विअत्ते इत्थ केवली एअफलभूए सम्ममेअं विआणइ दुविहाए परिण्णाए ॥

स एव समभिप्रव्राजितः समलोष्टकाञ्चनः सन् सर्वथा समशत्रुमित्रः । एवं निवृत्ताऽऽग्रहदुःखः, अतः स प्रशमसुखसमेतः । अधिकारितया सम्यक् शिक्षामादत्ते, ग्रहणाऽऽसेवनारूपाम् । कथम् ?, इत्याह-गुरुकुलवासी, तदनिर्गमनेन । गुरुप्रतिबद्धः, तद्बहुमानात् । विनीतो बाह्यविनयेन । भूतार्थदर्शी तत्त्वार्थदर्शी, न इतो गुरुकुलवासात् हितं तत्त्वमिति मन्यते, वचनानुसारित्वात् । वचनं च-'णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचति ॥ १ ॥' स एव च शुश्रूषाऽऽदिगुणयुक्तः शुश्रूषा १ श्रवण २ ग्रहण ३ धारणा ४ विज्ञान ५ ऊह ६ ऽपोह ७ तत्त्वाभिनिवेशाः ८ प्रज्ञागुणा इत्येतद्युक्तः । तत्त्वाभिनिवेशाविधिपरः सन्, किम् ?, इत्याह-परममन्त्रो रागाऽऽदिविषघ्नत्वेति कृत्वाऽधीते सूत्रं पाठश्रवणादरम् । किंविशिष्टः सन् ?, इत्याह बद्धलक्षोऽनुष्ठानं प्रति । आशंसाविप्रमुक्तः इहलोकाऽऽद्यपेक्षया आयतार्थी मोक्षार्थी, अत एव स एवम्भूतः तत्सूत्रमवैति । सर्वथा याथातथ्येन । ततः किम् ?, इत्याह-ततोऽवगमात्सम्यग्नियुङ्क्ते तत्सूत्रम्, एतद्धीराणां शासनम्, यदुतैवमधीत सम्य-

भियुक्तमिति । अन्यथाऽविध्यध्ययनेऽनियोगः, नियोगादन्योऽनियोगः विपर्ययानियोग इत्यर्थः । अत एवाऽऽह-अविधिगृहीतमज्ञातेन तत्रापि महाऽऽदिभावाद्विपर्ययात् योग एव । अनाराधनायामेकान्तेन प्रवृत्तस्य न किञ्चिदिष्टमनिष्टं वा फलम् । मोक्षोन्मादाऽऽदिसदनुष्ठानं हि मोक्षफलमेव । यथोक्तम्-" श्रामण्यस्य फलं मोक्षः, प्रधानमितरत् पुनः । तत्त्वतोऽफलमेवेह, ज्ञेयं कृषिपलालवत् ॥ १ ॥ " भक्तस्याप्युन्मादाऽद्येव । यथोक्तम्-" उम्मादं च लभेज्जा, रोगातकं व पाउणे दीहं । केवलिपन्नत्ताओ, धम्माओ वावि भंसेज्जा ॥ १ ॥ " न पुनः सम्यक्त्वमेव कथमनाराधनायां न किञ्चित् ?, इत्याह-तदनारम्भतो ध्रुवं तत्त्वतस्तस्यानारम्भात् । न चान्यसिद्धेवोद्भवत्यतिप्रसङ्गात् । इहैव लिङ्गमाह-अनाराधनायां मार्गदेशनाया तात्त्विकायां दुःखं शृण्वतो भवति । उक्तं च-"शुद्धदेशना हि क्षुद्रसत्त्वमृगयूथसंत्रासनसिंहनादः" । तथा अवधीरणा मनागलघुनरकर्मणो न दुःखम् । तथा अप्रतिपत्तिस्ततोऽपि लघुनरकर्मणो नावधीरणा । ततः किम् ?, इत्याह-नैवमनाराधनयाऽधीतमधीतं सूत्रं तत्त्वतः । कुतः ?, इत्याह—अवगमविरहेण सम्यगवबोधाभावेन । नैषा मार्गगामिन एकान्तमनाराधना भवति । सम्यक्त्वाऽऽदिभावे सर्वथा सत्क्रियायोगात् । अत एवाऽऽह-विराधना अक्रमादध्ययनस्य अनर्थमुखा उन्मादाऽऽदिभावेन । अथ च गुरुतरदोषापेक्षयाऽर्थहेतुः पारम्पर्येण मोक्षाङ्गमेवेत्यर्थः । कुतः ?, इत्याह-तस्याऽऽरम्भाद् ध्रुवं मोक्षगमनस्यैवाऽऽरम्भात् । कण्टकज्वरमोहोपेतमार्गगन्तृवत् । उक्तं च-" मुनेर्मार्गप्रवृत्तिर्या, सा सदोषाऽपि सैव हि । कण्टकज्वरसमोहं युक्तस्येव सदध्वनि ॥ १ ॥ " एतद्भावे लिङ्गमाह-अत्र विराधनायां सत्यां मार्गदेशनाया पारमार्थिकायामनभिनिवेशः शृण्वतो भवति, हेयोपादेयतामधिकृत्य यथाह-समेषु स्खलन्नन्धबधिरवन्मूकवच्च रूपाऽऽदिषु तथा समोहादिति । तथा प्रतिपत्तिमात्रं मनाग्विराधकस्य नानभिनिवेशः । तथा क्रियाऽऽरम्भोऽल्पतरविराधकस्य न प्रतिपत्तिमात्रम् । एवं किम् ?, इत्याह-एवमपि विराधनयाऽधीतमधीतं सूत्रं भावतः । कुतः ?, इत्याह--अवगमलेशयोगतः सम्यगवबोधलेशयोगेन । अयं सबीजो नियमेन । विराधकः सम्यग्दर्शनाऽऽदियुक्त इत्यर्थः । कुतः ?, इत्याह-मार्गगामिन एवैषा विराधना, प्राप्तबीजस्येति भावः । न सामान्येनैव । किं तर्ह्यपायबहुलस्यानिरुपक्रमक्लिष्टकर्मवतः, निरपायो यथोदितः मार्गगामीति प्रक्रमः । एतदेवाऽऽह-सूत्रोक्तकारी भवति सबीजो निरपायः प्रवचनमातृसङ्गतः सामान्येन तद्युक्तः । विशेषणैतदेवाऽऽह-पञ्चभिः समितः त्रिगुप्तः । ईर्यासमित्याद्याः समितयः पञ्च । मनोगुप्त्याद्याश्च तिस्रो गुप्तय इति । सम्यग्ज्ञानपूर्वकमेतदित्याह-अनर्थपरश्चारित्रमाणकरणेन । एतत्त्यागः प्रवचनमातृत्यागः । सम्यगेनद्विजानातीति योगः । कस्यानर्थपरः एतत्त्यागः ?, इत्याह--अव्यक्तस्य भावबालस्य । केनोदाहरणेन ?, इत्याह--शिशुजननीत्यागज्ञानेन, शिशोर्बालस्य जननीत्यागोदाहरणेन, स हि तत्त्यागाद्विनश्यति । व्यक्तोऽत्र कः ?, इत्याह-व्यक्तोऽत्र भावचिन्तायां केवली सर्वज्ञः एतत्फलभूतः प्रवचनमातृफलभूतः, सम्यग्ज्ञानपरिणत्या । एतद्विजानात्यनन्तरोदितम् । एतदेवाऽऽह-द्विविधया परिज्ञया-ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च । ज्ञपरिज्ञाऽवबोधमात्ररूपा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा तद्धर्मक्रियारूपा ।

तहा आसासपयासदीवं संदीणाऽथिराइभेअं (?) असंदीणथिरत्थमुज्जमइ । जहासत्तिमसंभंते अणूसुगे असंसत्तजोगाराहए भवइ उत्तरुत्तरजोगसिद्धीए मुच्चइ पावकम्मुण त्ति । विसुज्झमाणे आभवं भावकिरिअमाराहेइ । पसमसुहमणुहवइ अपीडिए संजमतवकिरिआए अव्वहिए परीसहोवसग्गेहिं वाहिअसुकिरिआनाएणं ।

तथा आश्वासप्रकाशद्वीपं दीपं वा सम्यग्विजानातीति वर्त्तते । किंविशिष्टम् ?, इत्याह-स्पन्दनास्थिराऽऽदिभेदम् (?) । इहभवाब्धावाश्वासद्वीपो, मोहान्धकारे दुःखगहने प्रकाशदीपश्च । तत्राऽऽद्य स्पन्दनवानस्पन्दनवांश्च, प्लावनवानप्लावनवांश्चेत्यर्थः । इतरोऽपि स्थिरोऽस्थिरश्च । अप्रतिपाती, प्रतिपाती चेत्यर्थः । अयं च यथासंख्यं मानुष्ये क्षायोपशमिकक्षायिकचारित्ररूपः, क्षायोपशमिकक्षायिकज्ञानरूपश्च । उभत्राऽऽद्योऽनाक्षेपेणेष्टसिद्धये, सप्रत्यपायत्वात् । चरमस्तु सिद्ध्यै, निष्प्रत्यपायत्वात् । सम्यगेतद्विजानाति, न केवलं विजानाति । अस्पन्दनवत् स्थिरार्थमुद्यमं करोति सूत्रनीत्या । कथम् ?, इत्याह-यथाशक्ति शक्त्यनुरूपम्, असंभ्रान्तो भ्रान्तिरहितः, अनुत्सुक औत्सुक्यरहितः, फलं प्रति । असंसक्तयोगाऽऽराधको भवति । निःसपत्नश्रामण्यव्यापारकर्त्ता, सूत्रानुसारित्वात् । सूत्रं च-" जोगो जोगो जिणसासणम्मि दुक्खक्खया पउंजंतो । अन्नोन्नमवाहंतो, असवत्तो होइ कायव्वो ॥ १ ॥ " एवमुत्तरोत्तरयोगसिद्ध्या, धर्मव्यापारसिद्ध्येत्यर्थः । किम् ?, इत्याह--मुच्यते पापकर्मणा तत्तद्गुणप्रतिबन्धकेन इति । एवं विशुद्ध्यमानः सन् आभवं आजन्माऽऽसंसारं वा भावक्रिया निर्वाणसाधिकामाराधयति निष्पादयत्यौचित्याऽऽरम्भनिर्वहणरूपाम् । तथा प्रशमसुखमनुभवति । तात्त्विकं कथम् ?, इत्याह--अपीडितः संयमतपःक्रियया आश्रवनिरोधानशनाऽऽदिरूपया । तथा अव्यथितः सन् परीषहोपसर्गैः क्षुदिव्याऽऽदिभिः । कथमेतदेवम् ?, इति निदर्शनमाह-व्याधितस्य सुक्रियाज्ञातेन रोगितस्य शोभनक्रियोदाहरणेन ।

एतदेवाऽऽह-

से जहा नामए केइ महावाहिगहिए अणुहूअतव्वेअणे विन्नाया सरूवेण निव्विन्ने तत्तओ । सुविज्जवयणेण सम्मं तमवगच्छिअ जहाविहाणओ पवन्ने सुकिरिअं । निरुद्धजहिच्छाचारे तुच्छपत्थभोई मुच्चमाणे वाहिणा निअत्तमाणवेअणे समुवलब्भारोग्गं पवड्ढमाणतब्भावे तल्लाभनिव्वुइए तप्पडिबंधाओ सिराखाराइजोगे वि वाहिसमारुग्गविन्नाणेण इट्ठनिप्फत्तीओ अणाकुलभावयाए किरिओवओगेण अपीडिए अव्वहिए सुहलेस्साए वड्ढइ । विज्जं च बहु मन्नइ ।

तद्यथा-कश्चित्सत्त्वो महाव्याधिगृहीतः, कुष्ठाऽऽदिग्रस्त इत्यर्थः । अनुभूततद्वेदनः अनुभूतव्याधिवेदनः । विज्ञाता स्वरूपेण वेदनायाः, न कण्डूगृहीतकण्डूयनकारिवद्विपर्यस्तः । निर्विण्णस्तत्त्वतः, तद्वेदनयेति प्रक्रमः । ततः किम् ?, इत्याह-सुवैद्यवचनेन हेतुभूतेन सम्यगवैपरीत्येन तं व्याधिमवगम्य यथाविधानतो यथाविधानेन देवतापूजाऽऽदिलक्षणेन,

प्रपन्न सुक्रियां परिपाचनाऽऽदिरूपां,निरुद्धयदृच्छाचारः सन् प्रत्यपायभयात्तथा तुच्छपथ्यभोजी व्याध्यानुगुण्यतः। अनेन प्रकारेण मुच्यमानो व्याधिना खसराऽऽद्यपगमेन, निवर्त्तमानवेदन. कण्ड्वाद्यभावात्, समुपलभ्याऽऽरोग्यं सदुपलम्भेन । प्रवर्द्धमानतद्भावः प्रवर्द्धमानाऽऽरोग्यभावः, तल्लाभनिर्वृत्त्या आरोग्यलाभनिर्वृत्त्या, तत्प्रतिबन्धात् आरोग्यप्रतिबन्धाद्धेतोः शिराक्षाराऽऽदियोगेऽपि शिरावेधक्षारपातभावेऽपीत्यर्थः। व्याधिशमाऽऽरोग्यविज्ञानेन व्याधिशमाद्यदारोग्यं तदवबोधेनेत्यर्थः । किम् ?,इत्याह-इष्टनिष्पत्तेरारोग्यनिष्पत्तेर्हेतोरनाकुलभावतया निबन्धनाभावात् । तथा क्रियोपयोगेन इतिकर्त्तव्यतायां बोधेन हेतुना अपीडितः अव्यथितो निवातस्थानाऽऽसनौषधपानाऽऽदिना। किम् ?,इत्याह- शुभलेश्यया प्रशस्तभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमाप्नोति। तथा वैद्यं च बहु मन्यते महापायनिवृत्तिहेतुरयं ममेति सम्यग्ज्ञानाद्। एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-

एवं कम्मवाहिगहिए अणुभूअजम्माइवेअणे विण्णाया दुक्खरूवेणं निव्विण्णे तत्तओ । तओ सुगुरुवयणेण अणुट्ठाणाइणा तमवगच्छिअ पुव्वुत्तविहाणओ पवन्ने सुकिरिअं पव्वज्जं निरुद्धपमायायारे असारसुद्धभोई मुच्चमाणे कम्मवाहिणा निअत्तमाणिट्ठविओगाइवेअणे समुवलब्भचरणारुग्गं पवड्ढमाणसुहभावे तल्लाभनिव्वुइए तप्पडिबंधविसेसओ परीसहोवसग्गभावे वि तत्तसंवेअणाओ कुसलासयवुड्ढी थिरासयत्तेण धम्मोवओगाओ सया थिमिए तेउलेस्साए पवड्ढइ । गुरुं च बहु मन्नइ। जहोचिअं असंगपडिवत्तीए निसग्गपवित्तिभावेण। एसा गुरुई विआहिआ भावसारा विसेसओ भगवंतबहुमाणेणं । जो मं पडिमन्नइ से गुरुं ति तदाणा। अन्नहा किरिआ अकिरिआ कुलडानारीकिरिआसमा गरहिआ तत्तवेईणं अफलजोगओ विसण्णतत्ती फलमित्थ नायं आवट्टे खु तप्फलं असुहाणुबंधे ।

एवं कर्मव्याधिगृहीतः प्राणी। किंविशिष्टः ?, इत्याह-अनुभूतजन्माऽऽदिवेदनः। आदिशब्दाज्जरामरणाऽऽदिग्रहः। विज्ञाता दु:खरूपेण जन्माऽऽदिवेदनायाः। न तु तत्रैवाऽऽसक्त्या विपर्यस्त इति। ततः किम् ?,इत्याह-निर्विण्णस्तत्त्वतः। ततो जन्माऽऽदिवेदनाया.। किम् ?,इत्याह-सुगुरुवचनेन हेतुनाऽनुष्ठानाऽऽदिना तमवगम्य सुगुरुं कर्मव्याधिं च. पूर्वोक्तविधानतस्तृतीयसूत्रोक्तेन विधानेन प्रपन्नः सन्,सुक्रियां प्रव्रज्यां निरुद्धप्रमादाऽऽचारो यदृच्छया,असारशुद्धभोजी संयमाऽऽनुगुण्येन, अनेन विधिना मुच्यमान कर्मव्याधिना निवर्त्तमानेष्टवियोगाऽऽदिवेदनस्तथा मोहनिवृत्त्या किम् ?,इत्याह-समुपलभ्य चरणाऽऽरोग्यं सदुपलम्भेन प्रवर्द्धमानशुभभाव प्रवर्धमानचरणाऽऽरोग्यभाव'। बहुतरकर्मव्याधिविकारनिवृत्त्या तल्लाभनिवृत्त्या तत्प्रतिबन्धविशेषात्। चरणाऽऽरोग्यप्रतिबन्धविशेषात् स्वाभाविकात् कारणात् परीषहोपसर्गभावेऽपि क्षुदिव्याऽऽदिव्यसनभावेऽपि तत्त्वसंवेदनात्सम्यग्ज्ञानाद्धेतो। तथा कुशलाऽऽशयवृद्ध्या क्षायोपशमिकभाववृद्ध्या. स्थिराऽऽशयत्वेन चित्तस्थैर्येण हेतुना। तथा धर्मोपयोगात् इतिकर्त्तव्यताबोधात् कारणात् सदा स्तिमितः भावद्वन्द्वविरहात् प्रशान्तः । किम् ?, इत्याह- तेजोलेश्यया शुभप्रभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमनुभवति,गुरुं च बहु मन्यते भाववैद्यकल्पम्। कथम् ?,इत्याह-यथोचितमौचित्येन, असङ्गप्रतिपत्त्या स्नेहरहिततद्भावप्रतिपत्त्या। किमस्या उपन्यासः?,इत्याह निसर्गप्रवृत्तिभावेन मांसिद्धिकप्रवृत्तित्वेन हेतुना,एषाऽसङ्गप्रतिपत्तिर्गुर्वी व्याख्याता भगवद्भिः। किमिति ?,अत आह-भावसारा तथौदयिकभावविरहेण विशेषतः असङ्गप्रतिपत्तेः। इहैव युक्त्यन्तरमाह-भगवद्बहुमानेन अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पतीर्थंकरप्रतिबन्धेन। कथमयम् ?, इत्याह-यो मां प्रतिमन्यते भावतः स गुरुमित्येवं तदाज्ञा भगवदाज्ञा इत्थं तत्त्वं व्यवस्थितम् । अन्यथा गुरुबहुमानव्यतिरेकेण क्रियाऽप्यक्रिया प्रत्युपेक्षणाऽऽदिरूपा, अक्रिया सत्क्रियातोऽन्या। किंविशिष्टा ?,इत्याह-कुलटानारीक्रियासमा दुःशीलवनितोपवासक्रियातुल्या । ततः किम् ? इत्याह-गर्हिता तत्त्ववेदिनां विदुषाम्। कस्मात् ?,इत्याह-अफलयोगतः। इष्टफलादन्यदफलं,मोक्षात्सांसारिकमित्यर्थं । तद्योगात्। एतदेव स्पष्टयन्नाह-विषान्नतृप्तिफलमत्र ज्ञातमल्पं विपाकदारुणं, विराधनाऽऽसेवनात् । एतदेवाऽऽह-आवर्त एव तत्फलम्,आवर्तन्ते प्राणिनोऽस्मिन्नित्यावर्तः संसारः,स एव तत्त्वतः तत्फल विराधनाविषजन्यम्। किंविशिष्ट आवर्तः ?, इत्याह-अशुभानुबन्धः । तथा तथा विराधनोत्कर्षेण।

एवं सफलं गुर्वबहुमानमभिधाय तद्बहुमानमाह—

आयओ गुरुबहुमाणो अवंझकारणत्तेण । अओ परमगुरुसंजोगो । तओ सिद्धी असंसयं । एसेह सुहोदए पगिट्ठतयणुबंधे भववाहितेगिच्छी । न इओ सुंदरं परं । उवमा इत्थ न विज्जइ । स एवं पण्णे एवं भावे एवं परिणामे अप्पडिवडिए वड्ढमाणे तेउलेस्साए दुवालसमासिएणं परिआएणं अइक्कमइ सव्वदेवतेउलेस्सं एवमाह महामुणी । तओ सुक्के सुक्काभिजाई भवइ । पायं छिन्नकम्माणुबंधे खवइ लोगसण्णं । पडिसोअगामी अणुसोअनिवित्ते सया सुहजोगे एस जोगी विआहिए। एस आराहगे सामण्णस्स, जहा गहिअपइण्णे सव्वोवहासुद्धे संधइ सुद्धगं भवं सम्मं अभवसाहगं भोगकिरिआ सुरूवाइकप्पं । तओ ता संपुण्णा पाउणइ अविगलहेउभाओ असंकिलिट्ठसुहरूवाओ अपरोवताविणो सुंदरा अणुबंधेणं न य अ-णा संपुण्णा ॥

आयतो गुरुबहुमान साद्यपर्यवसितत्वेन, दीर्घत्वादायतो मोक्षः स गुरुबहुमानः, गुरुभावप्रतिबन्ध एव मोक्ष इत्यर्थ.। कथम् ?, इत्याह-अवन्ध्यकारणत्वेन मोक्षं प्रत्यप्रतिबद्धसामर्थ्यहेतुत्वेन। एतदेवाऽऽह-अत. परमगुरुसंयोगः,अतो गुरुबहुमानात्तीर्थकरसंयोग. । तत' संयोगादुचिततत्सम्बन्धत्वात् सिद्धिरसंशयं मुक्तिरेकान्तेन. यतश्चैवमत एषोऽत्र शुभोदयो गुरुबहुमानः, कारणे कार्योपचारात् यथाऽऽयुर्घृतमिति । अयमेव विशेष्यते—प्रकृष्टतदनुबन्धः प्रधानशुभोदयानुबन्ध'.तथा तथाऽऽराधनोत्कर्षेण। तथा भवव्याधिचिकित्सक गुरुबहुमान एव हेतुफलभावात् । न

इत सुन्दर परं, गुरुवहुमानात् । उपमाऽत्र न विद्यते; गुरुवहुमाने सुन्दरत्वेन भगद्वहुमानादित्यभिप्राय' । स एवं प्रज्ञ. स तावदधिकृतप्रव्रजित एवं प्रज्ञो विमलविवेकात् एवं भाव विवेकाभावेऽपि प्रकृत्या । एवं परिणामः सामान्येन गुर्वभावेऽपि क्षयोपशमान्माषतुषवत् । यथोक्तम्–विवेकशुभभावपरिणामा वचनगुरुतदभावेषु यमिनामिति । एवमप्रतिपतितः सन् वर्द्धमानस्तेजोलेश्यया नियोगतः, शुभप्रभावरूपया । किम् ?, इत्याह—द्वादशमासिकेन पर्यायेण एतावत्कालमानया प्रव्रज्ययेत्यर्थः । अतिक्रामति स र्वदेव तेजोलेश्यां सामान्येन शुभप्रभावरूपाम । क एवमाह–?, महामुनिर्भगवान् महावीरः । तथा चाऽऽगमः–" जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा एतेणं कस्स तेउलेस्सं वीतीवयति ?। गोयमा ! मासपरियाए समणे णिग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेउलेस्सं वीइवयइ । एवं दुमासपरियाए समणे णिग्गंत्थे असुरिंदवाज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेउलेस्सं वीतीवयति । तिमासपरियाए समणे णिग्गंथे असुरकुमारिंदाणं देवाणं तेउलेस्सं वीतीवयति । चउमासपरियाए समणे णिग्गंथे गहगणणक्खत्ततारारूवाणं जोतिसियाणं तेउलेस्सं वीतीवयनि । पचमासपरियाए समणे णिग्गंथे चंदिमसूरियाणं जोतिसिंदाणं तेउलेस्सं वीतीवयति । छम्मासपरियाए समणे णिग्गथे सोहम्मीसाणाणं देवाण तेउलेस्सं वीतीवयति । सत्तमासपरियाए समणे निग्गथे सणंकुमारसाहिंदाणं देवाण तेउलेस्सं वीतीवयति । अट्ठमासपरियाए समणे णिग्गंथे वंभलोगलंतगाणं देवाणं तेउलेस्सं वीतीवयति । णवमासपरियाए समणे णिग्गंथे महासुक्कसहस्साराणं देवाणं तेउलेस्सं वीतीवयति । दसमासपरियाए समणे णिग्गंथे आणयपाणयआरणाच्चुयाणं देवाण तेउलेस्सं वीतीवयति । एकारसमासपरियाए समणे णिग्गथे गेविज्जाणं देवाणं तेउलेस्सं वीतीवयति । वारसमासपरियाए अणुत्तरोववातियाण तेउलेस्सं वीतीवयति । तेण पर सुक्के सुक्काभिजाती भवित्ता सिज्झति० जाव अंतं करेति ।" अत्र तेजोलेश्या चित्तसुखलाभलक्षणा । अत एवाऽऽह–तन शुक्लशुक्लाभिजात्यो भवति । तत्र शुक्लो नामा भिन्नवृत्तोऽमत्सरी कृतज्ञ' सदारम्भी हितानुवन्ध इति । शुक्लाभिजात्यश्चैतत्प्रधान । प्रायश्छिन्नकर्मानुबन्ध' । न तद्वेदयंस्तथाविधमन्यत् गृह्णाति । प्रायोग्रहणमनिन्त्यत्वात्कर्मशक्ते कदाचि[illegible] एवम्भूत क्षपयति लोकसंज्ञां भगवद्वचनप्रतिकूला, प्रभूनससाराभिनन्दिसत्त्वक्रियाप्रीतिरूपामिति । अत एवाऽऽह–प्रतिस्रोतोगामी लोकाऽऽचारप्रवाहनदीं प्रति । अनुस्रोतो निर्वृत्त. । एनामेवाधिकृत्यैतदभ्यासत एव न्याय्यं चैतत् । यथोक्तम्–

" अणुसोयपट्ठिए वहु–जणम्मि पडिसोअॉ लद्धलक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेण ॥ १ ॥
अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसवो सुविहियाणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स णिप्फेण ॥ २ ॥ "

एव सदा शुभयोग श्रामण्यव्यापारसङ्गत , एप योगी व्याख्यात । एवभूतो भगवद्भिर्योगी प्रनिपादित । यथोक्तम्—' सम्यक्त्वज्ञानचारित्र—योग सद्योग उच्यते । एतद्योगाद्धि योगी स्यात्, परमब्रह्मसाधकः ॥ १ ॥ " एप एवम्भूत आराधकः श्रामण्यस्य निष्पादकः श्रमणभावस्य । यथा गृहीतप्रतिज्ञ., आदित आरभ्य सम्यक्प्रवृत्ते' । एवं सर्वोपधाशुद्धो, निरतिचारत्वेन । किम् ?, इत्याह–संधत्ते घटयति, शुद्धं भवं जन्मविशेषलक्षणं भवैरेव । अयमेव विशेष्यते–सम्यगभवसाधकं, सत्क्रियाकरणेन, मोक्षसाधकमित्यर्थः । निदर्शनमाह–भोगक्रियाः सुरूपाऽऽदिकल्पं न रूपाऽऽदिविकलस्यैता' सम्यग् भवन्ति । यथोक्तम् रूपवयोवैचक्षण्यसौभाग्यमाधुर्यैश्वर्याणि भोगसाधनमिति । ततस्ताः संपूर्णा प्राप्नोति सुरूपाऽऽदिकल्पाद्भवाद्भोगक्रिया इत्यर्थः । कुत ?, इत्याह–अविकलहेतुभावतः कारणादिति । किंविशिष्टाः ?, इत्याह–असंक्लिष्टसुखरूपा , शून्यताऽभावेन संक्लेशाभावात् । तथा अपरोपतापिन्यो वैचक्षण्याऽऽदिभावेन तथा सुन्दरा अनुवन्धनाऽत एव हेतो । न चान्याः संपूर्णा , उक्तलक्षणाभ्यो भोगक्रियाभ्य ।

कुतः ?, इत्याह–

तत्तत्तखंडणेणं एअं नाणंति वुच्चइ । एअम्मि सुहजोगसिद्धी उचिअपडिवत्तिपहाणा । इत्थ भावो पवत्तगो । पायं विग्घो न विज्जइ निरणुवंधासुहकम्मभावेण । अक्खित्ताओ इमे जोगा भावाराहणाओ । तहा तओ सम्मं पवत्तइ निप्फायइ अणाउले । एवं किरिआ सुकिरिआ एगंतनिकलंका निकलंकत्थसाहिआ । तहा सुहाणुवंधा उत्तरुत्तरजोगसिद्धीए । तओ से साहइ परं परत्थं सम्मं । तक्कुसले सया तेहिं तेहिं पगारेहिं साणुवंधं महोदए बीजबीजाऽऽदिट्ठावणेणं । कत्तिविरिआइजुत्ते अवंझसुहचिट्ठे समंतभद्दे सुप्पणिहाणाइहेऊ मोहतिमिरदीवे रागामयविज्जे दोसानलजलनिही संवेगसिद्धिकरे हवइ अचिंतचिंतामणिकप्पे । स एवं परंपरत्थसाहए तहा करुणाइभावओ अणेगेहिं भवेहिं विमुच्चमाणे पावकम्मुणा पवड्ढमाणे अ सुहभावेहिं अणेगभविआए आराहणाए पाउणइ सव्वुत्तमं भवं चरमं चरमभवहेउं अविगलपरंपरत्थनिमित्तं । तत्थ काऊण निरवसेसं किच्चं विहूअरयमले सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।

तत्तत्त्वखण्डनेन सद्क्लेशाऽऽदिभ्य उभयलोकापेक्षया, भोगक्रियास्वरूपखण्डनेनेति भाव. । एतद् ज्ञानमित्युच्यते यदेवमिष्टवस्तुतत्त्वनिरूपकम् । एतस्मिन् शुभयोगसिद्धि । एतस्मिन् ज्ञाने सति शुभव्यापारनिष्पत्ति लोकद्वयेऽपीष्टप्रवृत्तौ । किं विशिष्टा ?, इत्याह–उचितप्रतिपत्तिप्रधाना सज्ञानाऽऽलोचनेन , तत्तदनुवन्धेक्षणात् । न ह्यस्तदारभते, यद्विनाशयति. अत एवाऽऽह–अत्र भावः प्रवर्तक प्रस्तुतप्रवृत्तौ सदन्त'करणलक्षणो न मोह इति । अत एवाऽऽह–प्रायो विघ्नो न विद्यते । अत्राधिकृतप्रवृत्तौ, सदुपाययोगादित्यर्थ. । एतद्बीजमेवाऽऽह–निरनुवन्धाशुभकर्मभावेन न ह्यनीदृश इत्थ प्रवर्त्तते, इति हृदयम् । सानुवन्धाशुभकर्मण सम्यक् प्रव्रज्यायोगात् । आक्षिप्ता स्वीकृता एवैते योगा सुप्रव्रज्याव्यापारा' । कुत ?, इत्याह–भावाऽऽराधनात । तथा जन्मान्तरे तद्बहुमानाऽऽदिप्रकारेण । तत किम् ?, इत्याह–तत आक्षेपात्सम्यक् प्रव

र्तने, नियमनिष्पादकत्वेन । ततः किम् ?, इत्याह–निष्पाद्यत्यनाकुल. सन् इष्टम् । एवमुक्तेन प्रकारेण क्रिया सुक्रिया भवति, सम्यग्ज्ञानादौचित्यारब्धेत्यर्थः । इयमेव विशेष्यते–एकान्तनिष्कलङ्का, निरतिचारतया । निष्कलङ्कार्थसाधिका, मोक्षसाधिकेत्यर्थः । यतस्तथा शुभानुबन्धा, अव्यवच्छेदेनोत्तरोत्तरयोगसिद्ध्या ततः शुभानुबन्धायाः सुक्रियायाः सकाशात् स प्रस्तुतः प्रव्रजितः साधयति निष्पादयति, परं प्रधानं, परार्थं सत्त्वार्थं, सम्यगविपरीतम् । तत्कुशलः परार्थसाधनकुशलः, सदा सर्वकालम् । कथम् ?, इत्याह–तैस्तैः प्रकारैर्बीजबीजन्यासाऽऽदिभिः सानुबन्धं परार्थं महोदयोऽसौ परपरार्थसाधनात् । एतदेवाऽऽह–बीजबीजाऽऽदिस्थापनेन बीजं सम्यक्त्वं बीजबीजं तदाक्षेपकशासनप्रशंसाऽऽदि,एतन्न्यासेन । किंविशिष्टोऽयम् ?,इत्याह–कर्तृवीर्याऽऽदियुक्तः परं परार्थं प्रति । अवन्ध्यशुभचेष्टः, एतमेव प्रति । समन्तभद्रः, सर्वाऽऽकारसंपन्नतया । सुप्रणिधानाऽऽदिहेतुः क्वचिदप्यन्यूनतया । मोहतिमिरदीपस्तदपनयनस्वभावतया । रागाऽऽमयवैद्यस्तच्चिकित्सासमर्थयोगेन । द्वेषानलजलनिधिस्तद्विध्यापनशक्तिभावात् । संवेगसिद्धिकरो भवति, तद्धेतुयोगेन । अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पः, सत्त्वसुखहेतुतया । सोऽधिकृतः प्रव्रजितः । एवमुक्तनीत्या परपरार्थसाधकः,धर्मदानेन । कुतो हेतो ?,इत्याह–तथा करुणाऽऽदिभावतः,प्रधानभव्यतया । किम् ?,इत्याह–अनेकैर्भवैर्जन्माऽऽदिभिर्विमुच्यमानः पापकर्मणा,ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिलक्षणेन । प्रवर्द्धमानश्च शुभभावैः संवेगाऽऽदिभिः । अनेकभविकयाऽऽराधनया पारमार्थिकया प्राप्नोति सर्वोत्तमं भवं तीर्थकराऽऽदिजन्म । किंविशिष्टम् ?, इत्याह–चरमं पश्चिममचरमभवहेतुं मोक्षहेतुमित्यर्थः । अविकलपरपरार्थनिमित्तम् अनुत्तरपुण्यसंभारभावेन तत्र कृत्वा निरवशेषं कृत्यं यदुचितं महासत्त्वानां विधूतरजोमलः बध्यमानप्राग्बद्धकर्मरहितो व्यवहारतः सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोतीति । अत्र सिद्ध्यति सामान्येनाणिमाऽऽद्यैश्वर्यं प्राप्नोति । बुध्यते केवली भवति । मुच्यते भवोपग्राहिकर्मणा । परिनिर्वाति सर्वतः कर्मविगमेन । किमुक्तं भवति ?, सर्वदुःखानामन्तं करोति,सदा पुनर्भवाऽभावात् । यद्वा–सिध्यति सर्वकार्यपरिसमाप्त्या । बुध्यते तत्राऽपि केवलाप्रतिघातेन । मुच्यते । निरवशेषकर्मणा । परिनिर्वाति समग्रसुखाऽऽप्त्या । एवं सर्वदुःखानामन्तं करोतीति निगमनम् । नयान्तरमतव्यवच्छेदार्थमेतद्वेयम् । इति प्रव्रज्यापरिपालनासूत्रं समाप्तम् । पं० सू० ४ सूत्र ।

(२१) प्रव्रज्याविधि –

जंबू ! परंपराए पव्वावणविहीए ठिक्खिया से गुरु परंपरागमे त्ति वुच्चइ । का सा भंते ! पव्वावणविही । एवं खलु जंबू ! पुव्वं पत्तपरिक्खा णपुंसगाइदोसरहिया । सुमुहुत्ततिहिनक्खत्तकरणजोगेसु सूरिणा तिहिणा दह्तिणाए पंचगं घाऊण वासा अभिमंतियव्वा । पं-चसुहापसोगेण सव्वसुहापसोगेण वा पत्तस्स सिर-म्मि खिवइ । तओ पच्छा सीसस्स खमासमणदुगं दावेऊणं देवे वंदावेइ० जाव " जय वीयराय त्ति " पाठो । तओ णियमं तेण वासे अभिमंतिय दत्तखमासमणं सीसं भणावेइ । ममं पव्वावेह, ममं वेसं समप्पेह । तओ सूरी उट्ठाय णमुक्कारपुव्वं सुग्गहियं करेहि त्ति भणंतो सीसदक्खिणवाहो सम्मुहं रओहरणदसिआओ करिंतो पुव्वाभिमुहो उत्तराभिमुहो वा सीसस्स वेसं समप्पेइ । सीसो इत्थं ति भणइ । ईसाणदिसिभागे गंतुं आभरणाइअलंकारं मुयइ, वेसं परिग्गहेइ । पुणो सूरीसमीवमागम्म वंदित्ता भणइ–इच्छाकारेण भंते ! ममं मुंडावेह, सव्वविरइसामाइयं ममारोवेह । तओ सीसो वारसावत्तं वंदणं देइ । तओ दो वि सव्वविरइसामाइयरोवणत्थं सत्तावीसूसासकाउस्सग्गं करिंति; पारित्ता उ चउवीसत्थयं भणंति । तओ पत्ताए लग्गवेलाए अब्भितरपत्तिसमाणं सीसं णमुक्कारतिगमुच्चारित्तु सूरी उद्धट्ठिओ तस्स तिन्नि अट्ठाओ अक्खलियाओ गिण्हइ, गिण्हित्ता सणमुक्कारं तिन्निवारं सामाइयं भणइ । सेहो वि उद्धट्ठिओ चेव भावियप्पा अप्पाणं कयत्थं मन्नमाणो अणुकड्ढइ । तो जइ पुव्विं संखेवेणं वासा अभिमंतिया तो इत्थ वित्थरेणं वासाभिमंतणं । संघवासदाणं । तओ खमासमणपुव्वं इच्छकारि तुम्हे सव्वविरइं सामाइयं आरोवेह । इच्चाइयं च खमासमणाणि दाउं पुव्विं च समवसरणं गुरू भणइ । संघो तस्सोवरि सिरे वासे खिवइ । एवं जाव तिन्नि वारा । तओ खमासमणं दाउं भणइ–तुम्हाणं पवेइयं साहूण य पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि । पुणो वि वंदित्ता भणइ–सव्वविरइसामाइयथिरीकरणत्थं करेमि काउस्सग्गं सत्तावीसुस्सासचिंतणं चउवीसत्थयं भणइ । तओ खमासमणपुव्वं सीसो भणइ–इच्छकारि भंते ! मम णामट्ठवणं करेह । तओ सूरी नियनामवग्गाइदोसरहियं गंधे खिवंतो णामं ठवेइ । तओ सीसो जहारायणियाए साहू वंदइ । सावयसावियसाहुणीओ य तं वंदंति । तओ सूरी माणुस्सखित्तजाइ त्ति वा, अहवा चत्तारि परमंगाणि त्ति इच्चाइ देसणं देइ । आयंबिलाइं जहासत्तीए तवो कायव्वो । एअं सामाइयं चरित्तु उक्कोसं०जाव छम्मासं पच्छा उट्ठावणिया किज्जति । सा इमा विही । तत्थ पढियाइ ।१ "वास २ निह ३ वय निवेला ४ समासमणं च सत्तहा ५ किसावंधो । दुविहि तिविहा तहा-नयं–देवेगं मंडली सत्त ॥१॥ पडियकाहियअहिगयपरि-हरट्ठावणा य कप्पा त्ति । छक्कं तीहिं विसुद्धं,परिहर नवएण भेयणं ॥२॥ अप्पत्तं अकहित्ता. आणाहिगयपरिच्छणे य आणाइ । दोसा जिणेहिं भणिया.तम्हा पत्ताइउट्ठावे ॥३॥" एवं सुपरिक्खियगुणसीसो तिहिकरणमुहुत्तगवेसणाइय पसत्थदिवसे अप्पाणं जेसिणामि जिणभवणाइपहाणदि-

से गुरुं वंदित्ता भणइ-इच्छकारि तुम्हे अम्ह पंच महव्वयाइं राइभोअणवेरमणछट्ठाइं आरोवावणिया, णंदिकरावणि-यं वासाणिक्खेवं करेह । तओ पुव्वं वासक्खेवं करिय दे-वे वंदिय वंदणं दाउं महव्वयाइआरोवणत्थं सत्तावीसु-स्सासं काउस्सग्गं दोवि करिंति । तओ सूरीहिँ तिहा तुभएहिं पिट्ठोवरि कुप्परिचिट्ठिएहिं करेहिं रयहरणं ठा-वित्ता वामकराऽनामियाए मुहपुत्तिं लंबंतिं धरितु सम्मं उवओगपरो सीस अद्धोवणयकयं इक्किक्क वयं नमु-क्कारपुव्वं तिन्निवारं उच्चारावेइ । तत्थ खलु पढमं भं-ते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अ-इवायाविज्जा, पाणे अइवाइयंते वि अन्ने ण समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं करेमि, ण कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसि-रामि । पढमे भंते ! महव्वए अब्भुट्ठिओमि सव्वाओ पाणा-इवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥ अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, परिग्गहं परिगिण्हंते वि सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि । से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवऽन्नेहिं मुसं वायावेज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए० जाव वोसिरामि । दुच्चे भंते ! अब्भुट्ठिओ मि सव्वाओ मुसावाया-ओ वेरमणं ॥ २ ॥ अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदि-न्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा णगरे वाऽरन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदि-न्नं गिण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हावेज्जा, अदिन्नं गि-ण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न० जाव वोसिरामि । तच्चे भंते ! महव्वए अब्भुट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणा-ओ वेरमणं ॥३॥ अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणा-ओ वेरमणं, सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं से-विज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा, मेहुणं सेवंतं वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणे-णं० जाव अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए अ-ब्भुट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ ४ ॥ अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! प-रिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा थूलं वा चित्त-मंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हावेज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं० जाव वोसिरामि । पंचमे भंते ! महव्वए अब्भुट्ठिओ-मि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥५॥ अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! राइभोअणं पच्च-क्खामि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राई भुंजिज्जा, ० जाव वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए अब्भु-ट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥ ६ ॥

(एतेषां सूत्राणां व्याख्या 'पडिक्कमण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २८४ पृष्ठादारभ्य गता)

तओ पत्ताए लग्गवेलाए इच्चेइयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोय-णवेरमणछट्ठाइं अत्तहिअट्ठाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । एयं तिन्निवारेण भणावेइ । तओ वंदित्ता सीसो भणइ-इच्छ-कारि भगवं ! तुम्हे अम्ह पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमण-छट्ठाइं अत्तहिअट्ठाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । इच्चाइ खमासमणपुव्वं पयाहिणा समवसरणे कायव्वा, तओ सी-सस्स आयरियउवज्झायओ दुविहो दिसीबंधो कीरइ । अमुगगणो अमुगसाहा अमुगकुलं अमुगो गुरू अमुगा आयरिया अमुगा व उवज्झाया अमुगाओ पवत्तिणीओ महत्तराओ साहुणीओ सिरिसोहम्मसाहम्मियाओ अमुग-अमुगा आयरिया परंपराएणं जहा दसासुअक्खंधे अट्ठम-ज्झयणे थेरावलीओ बुइया ।

(सा च स्थविरावलिः 'थविरावलि' शब्दे चतुर्थभागे २३६४ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या)

तहा तस्स सीसस्स गणो ठावेइयव्वो । जहा जंबू ! ममं परं-पराए कोडिगणो वइज्झरी साहा चंदकुलं ठवियस्संति । एव पव्वावणाविहीए दिक्खिऊण पंचमहव्वयरक्खणट्ठा देसणं दिंति, गुरुणो उज्झिया-भोगीया-रक्खिया-रोहिणीपंच-सालिअक्खएणं जहा नायाधम्मकहाए । एसा पव्वाव-णाविही जंबू ! ममं पुरो समणेणं भगवया महावीरेणं वि-आहिया । एआए विहीए इंदभूइपामोक्खाणं चउद्दससमण-साहस्सीयाए पव्वाविया, छत्तीसअज्जियासाहस्सीओ प-व्वाविया, जहा तुम पि मए पव्वाविओ तहा ममं पिअत्था अन्ने वि आयरियउवज्झाया सीसाणं सीसिणीणं पव्वावि-स्संति० जाव दुप्पसहसूरी त्ति एवं पव्वावइस्सइ । एसा पर-परा सुद्धा । एसा पव्वावणविही पव्वइअकालाइदेसेणं ब-लमेहाबुद्धीण हाणीए पमायं सेवमाणा वि सुद्धा जिणमयं पयासयंता साहुणो णेयव्वा । अट्ठ० ।

(२२) गुरवे आत्मनिवेदनम्-

उक्तो गुरुव्यापारः । अथ शिष्यव्यापारं दर्शयन्नाह-

अह तिपयाहिणपुव्वं, सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेण ।
गुरुणो णिवेयणं स-व्वहेत्र दढमप्पणो एत्थ ॥ २६ ॥

अथोक्तविधानादनन्तरं तिसृणां प्रदक्षिणानां समाहारस्त्रिप्रदक्षिणम्, तत्पूर्वं प्रथमं यत्र तत्तथा क्रियाविशेषणमिदम्। गुरुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्येत्यर्थः । सम्यक् शुद्धेन तत्त्वतो निर्मलेन, न कल्पनयेत्यर्थः । चित्तं मनस्तदेव रत्नं माणिक्यं प्रकाशस्वभावसाधर्म्याच्चित्तरत्नं, तेन। गुरोर्धर्माऽऽचार्यस्य निवेदनीयम्–"भवदीयोऽहं किङ्करो,यूयं मे भवोदधिनिमग्नस्य नाथाः " इत्येवं समर्पणम्। सर्वथैव समस्तैरपि प्रकारैर्द्विपदचतुष्पदधनाऽऽद्यर्पणलक्षणैर्मन·प्रभृतिभिर्वा, न तु कथञ्चिदनिवेदनम्। दृढमत्यर्थमव्यभिचरितया। कस्य निवेदनम्?। इत्याह–आत्मनः स्वस्य । अत्र दीक्षायां दत्तायां सत्यामिति गाथाऽर्थः ॥ २६ ॥

अथ तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते, न वा ?; यदि न प्रतिपद्यते तदा न युक्तं, निष्फलत्वात्तस्येत्याशङ्कां परिहरन्नाह–

एसा खलु गुरुभत्ती, उक्कोसो एस दाणधम्मो उ ।
भावविसुद्धीएँ दढं, इहरा वि य बीयमेयस्स ॥ ३० ॥

यदेतद् गुरूणां सर्वथाऽऽत्मनिवेदनमनन्तरोक्तमेषा इयं,खलु र्वाक्यालङ्कारेऽथवाऽवधारणे, तेनैषैव,न त्वन्याऽपि । यदाह–"का भक्तिस्तस्य येनाऽऽत्मा, सर्वथा न नियुज्यते।अभक्तेः कार्यमेवाऽऽहु–रंशेनाप्यनियोजनम् ॥१॥ " गुरुभक्तिर्धर्माचार्यबहुमानः । गुरुभक्तिश्च सदा विधेया दुष्प्रतिकारत्वाद् गुरोः,तस्याश्च महार्थसाधकत्वात्। उक्तं चानन्तरोक्तार्थद्वयसंवादि' तिण्हं दुप्पडियार समणाउसो !। त जहा–अम्मापियरस्स, गुरुस्स, भत्तिस्स।" तथा–"गुरुभक्तेः श्रुतज्ञानं भवेत् कल्पतरूपमम । लोकद्वितयभाविन्य–स्ततः स्युः सर्वसम्पदः ॥१॥" तथा उत्कृष्यत इत्युत्कर्ष उत्कृष्टः । (एस त्ति) इहोत्तरस्यैवकारार्थस्य तुशब्दस्य सम्बन्धादेष एवायमेव गुरोरात्मनिवेदनरूपो नान्यः। वस्त्वन्तरदाने हि तदेवैकं दत्तं स्यात्, आत्मदाने तु सर्वमपीत्यात्मदानधर्मस्यैवोत्कृष्टता । दानधर्मो वितरणरूपं कुशलानुष्ठानम्। विधेयश्चासौ महार्थसाधकत्वात्। यदाह–" दानात्कीर्त्तिः सुधाशुभ्रा, दानात्सौभाग्यमुत्तमम्। दानात्कामार्थमोक्षाः स्यु–र्दानधर्मो वरस्ततः॥ १॥" किं यथाकथञ्चिदपि आत्मनिवेदनमुत्कृष्टदानधर्मो भवति ?, नेत्याह· भावविशुद्ध्या परिणामनिष्कलङ्कतया,दृढमत्यन्तम्,परिणामकलङ्कं च कीर्त्याद्यपेक्षेति। तर्हि भावशुद्ध्यभावे किं स्यादित्याह–( इहरा वि य त्ति ) इतरथाऽन्यथाभावविशुद्धिव्यतिरेकेणेत्यर्थ· । अपि चेति पुन·शब्दार्थः । बीजमिव बीजं हेतुर्भवतीति । द्रव्यतोऽपि सदनुष्ठानस्य प्रायो भावानुष्ठानकारणत्वादेतस्योत्कृष्टदानधर्मस्याऽऽत्मनिवेदनमिति प्रकृतम्। इति गाथाऽर्थः ॥ ३० ॥

कथमिदं भावविशुद्ध्यभावपूर्वकमात्मनिवेदमुत्कृष्टदान धर्मबीजं भवतीत्याह–

जं उत्तमचरियमिणं, सोउं पि अणुत्तमा ण पारेंति ।
ता एयसगासाओ, उक्कोसो होइ एयस्स ॥ ३१ ॥

यद्यस्मात्कारणात् उत्तमचरितं सत्पुरुषचेष्टितम्, इदमनन्तरदर्शितमात्मनिवेदनम्, श्रोतुमप्याकर्णयितुमपि, आस्तामनुष्ठातुम् अनुत्तमा असत्पुरुषाः। न पारयन्ति न शक्नुवन्ति, तथाविधबीजरहितत्वात्तेषाम्। तत्तस्मात्कारणादेतत्सकाशादेतस्माद्भावविशुद्धिविरहाविहितोत्तमपुरुषचरितरूपाऽऽत्मनिवेदनाद्वधेः। तुशब्द एवकारार्थः । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः। प्रकर्ष उत्कर्षो भवत्येव जायत एव। एतस्यानन्तरगाथोक्तदानधर्मस्य। इदमुक्तं भवति–यद्यप्यात्मनिवेदनरूपो दानधर्मो विशुद्धभावाऽभावे विधीयमानोऽनुत्कृष्टो भवति तथाऽप्युत्तमचरितरूपत्वात्तस्योत्कृष्टतानिमित्तभूताया भावविशुद्धेर्जनकत्वादुत्कृष्टदानधर्मबीजं भवतीति, अतः साधूक्तम्–" इहरा वि य बीयमेयस्स त्ति।" अतो गुरुणाऽप्रतिपन्नत्वेऽपि न निष्फलताऽऽत्मनिवेदनस्येति गाथाऽर्थः॥३१॥

अथ यदि तदात्मनिवेदनं गुरुः प्रतिपद्यते, तदाऽधिकरणदोषो गुरोः स्यादित्याशङ्कां परिहरन्नाह–

गुरुणो वि णाहिगरणं, ममत्तरहियस्स एत्थ वत्थुम्मि ।
तब्भावसुद्धिहेउं, आणाएइ पयट्टमाणस्स ॥३२॥

गुरोरपि न केवलं दीक्षितस्याऽऽत्मनिवेदननिष्फलत्वलक्षणो दोषोऽभिहितयुक्तेर्न भवति धर्माचार्यस्याऽपि, न नैव, अधिक्रियते दुर्गतावनेनाऽऽत्मेत्यधिकरणम् । दीक्षितेनाऽऽत्मनि निवेदिते परिग्रहाऽऽरम्भानुमतिरूपो दोषो भवतीति गम्यते। किम्भूतस्येत्याह–ममत्वरहितस्य नि·सङ्गस्य । केत्याह–अत्रैतस्मिन्ननन्तरोक्ते,वस्तुनि पदार्थे दीक्षितसत्त्वतदीयाऽऽपत्यवित्ताऽऽदिरूपे। पुनः किम्भूतस्येत्याह–प्रवर्त्तमानस्य व्याप्रियमाणस्य। कया?,आज्ञया आप्तोपदेशेन। किमर्थम्?,तद्भावशुद्धिहेतुं दीक्षितसत्त्वपरिणामविशोधनहेतोः । एवं हि प्रवृत्तौ तस्य भावशुद्धिरुपजायत इति। एवं चेहानुमानप्रयोगो यदुत–दीक्षिताऽऽत्मनिवेदनं गुरोरधिकरणं न भवति, ममत्वरहितत्वात्, शरीराऽऽदिवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः। न च ममत्वरहितत्वमसिद्धं,तदुपकारायाऽऽज्ञया प्रवृत्तत्वाच्चारित्रोपकाराय भोजनाऽऽदाविवेति गाथाऽर्थः ॥ ३२ ॥

एवं दीक्षाविधिं परिसमाप्य दीक्षितोपदेशं प्रत्याचार्यस्योपदेशमाह–

णाऊण य तब्भावं, जह होइ इमस्स भाववुड्ढि त्ति ।
दाणादुवदेसाओ, अणेण तह एत्थ जइयव्वं ॥३३॥

ज्ञात्वा च निश्चाय पुनः, तद्भावं दीक्षितपरिणाममाकाराऽऽदिभिः। यदाह–" आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ १ ॥ " यथा येन प्रकारेण भवति जायते। ( इमस्स त्ति ) अस्य दीक्षितस्य , धर्मवृद्धिर्दीक्षार्थं समृद्धिः । इतिशब्द समाप्तौ । तस्य च " जइयव्वं " इत्यत्र गाथान्ते प्रयोग·। दानाऽऽदीनां वितरणप्रभृतीनाम्। आदिशब्दाद् गुरुसेवातपःप्रभृतीना चोपदेशः। प्रवर्त्तनमादिर्यस्य कुसंसर्गनिषेधाऽऽदे· स तथा तत्र दानाऽऽद्युपदेशाऽऽदौ, अनेन दीक्षाऽऽचार्येण· तथा तेन प्रकारेण, अत्र दीक्षायां दत्तायां सत्याम्, यतितव्यं यत्नो विधेयः। तत्र दानोपदेशो, गुरुसेवोपदेशश्च यथा–

" न्यायात्तं स्वल्पमपि हि, भृत्यानुपरोधतो महादानम्।
दीनतपस्व्यादौ गु–र्वनुज्ञया दानमन्यत्तु ॥ १ ॥
एवं गुरुसेवाऽऽदि च, काले सद्योगविघ्नवर्जनया ।
इत्यादिकृत्यकरणं, लोकोत्तरतत्त्वसम्प्राप्त्यै ॥ २ ॥ "

इति गाथाऽर्थ· ॥ ३३ ॥

इदं च मिथ्यात्वप्रतिक्रमणाऽऽद्यात्मनिवेदनाऽऽदि वा दीक्षाविधानं यादृशौ शिष्याऽऽचार्यौ कुरुतस्तादृशावथ दर्शयितुमाह–

णाणाइगुणजुओ खलु, णिरभिस्संगो पयत्थरसिगो जो ।
इय जयइ न उण अन्नो, गुरू वि एयारिसो चेव ॥३४॥

ज्ञानाऽऽदिगुणयुतः खलु सम्यग्ज्ञानश्रद्धानगुरुभक्तिसत्त्वप्रभृतिगुणसंपन्न एवेति, यतत इति सम्बन्धः । खलुरवधारणे । निरभिष्वङ्गो मिथ्यादृष्टिव्यवहारेषु बाह्यद्रव्ये च निःस्पृहः । पदार्थरसिक आगमोक्तदेवतत्त्वगुरुतत्त्वाऽऽगमतत्त्वजीवाऽऽदिभावप्रीतियुक्तः । चशब्दः समुच्चये । यो दीक्षितजीवः,स इति गम्यते । इत्यनेन प्रकारेणाऽनन्तरोक्तमिथ्यात्वप्रतिक्रमणसम्यक्त्वप्रतिपत्त्यात्मनिवेदनाऽऽदिलक्षणेन । यतते यत्नं करोति; न पुनरन्यो ज्ञानाऽऽदिगुणयुतादपर , एवंविधयत्नस्य ज्ञानाऽऽदिगुणयोगसाध्यत्वात् । तथा गुरुरपि न केवलं शिष्य एवंविध एव एवं यतते धर्माऽऽचार्योऽप्येतादृश एव ज्ञानश्रद्धानचारित्रशिष्याऽनुग्रहबुद्धिसत्त्वाप्रमादाऽऽदिगुणयुतो निःसङ्गः पदार्थरसिकश्चेत्यर्थः न पुनरन्यो ज्ञानाऽऽदिशून्यस्य प्रागुक्तविधावशक्तत्वात्,ससङ्गस्य दीक्षितेनाऽऽत्मनिवेदने कृतेऽभिष्वङ्गसंभवेन तद्भावशुद्ध्यर्थमाज्ञया प्रवर्त्तनासम्भवात्,पदार्थरसिकताशून्यस्य च देवतत्त्वाऽऽदिप्रतिपादकत्वाभावादिति । चेवशब्दोऽवधारणार्थ । दर्शितं चावधारणम् । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ यथाविधौ दीक्षकदीक्षितौ यथावद्दीक्षासाधकौ स्यातां तथाविधावुक्तौ, ( प्रथमं प्रव्रजत उपधिग्रहणम् 'उवहि' शब्दे १०६८ पृष्ठे " णिग्गंथस्स " १५ इत्यादिना सूत्रेण प्रतिपादितम् )

अथ यथावद्दीक्षितानां प्रशंसामाह–

धण्णाणमेयजोगो, धण्णा चेट्ठंति एयणीईए ।
धण्णा बहु मण्णंते, धण्णा जे ण प्पदूसंति ॥ ३५ ॥

धन्यानां भावधनलब्धॄणां तत्साधूनां वा, सत्त्वानामिति गम्यते । एतद्योगो जिनदीक्षया सह सम्बन्धः । तथा तद्योगेऽपि धन्याः पुण्यवन्तः, चेष्टन्ते प्रवर्त्तन्ते , एतन्नीत्या दीक्षाऽधसराभ्युपगतन्यायेन त्रिकालं जिनवन्दनपूजनाऽऽदिना । तथा धन्याः पुण्या बहु मन्यन्ते बहुमानविषयीकुर्वन्ति, दीक्षितान् दीक्षां वा स्वयं तां कर्मदोषादप्रतिपन्ना अपीति । तथा धन्याः पुण्या ये जीवाः, न प्रदुष्यन्ति न प्रद्विष्टा भवन्ति, दीक्षायामिति गम्यते । क्षुद्रसत्त्वा हि न केवलं तां न प्रतिपद्यन्ते, मोहान्धतया तस्यामेव द्वेषिणो भवन्तीति । वक्ष्यति च–" विहिअपओसो जेसिं, आसन्ना ते 'वि सुद्धप त्ति । खुद्दमिगाणं पुण सु–द्धदेसणा सिंहनायसमा ॥१॥ " इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ दीक्षितानन्तरं दीक्षितेन यद्विधेयं तदुपदिशन्नाह—

दाणमह जहासत्ती, सद्धासंवेगकमजुय णियमा ।
विहवाणुसारओ तह, जणोवयारो य उचिओ त्ति ॥३६॥

दानं प्रासुकैषणीयवस्त्रपात्राऽन्नपानाऽऽदीनां सङ्घाऽऽदिभ्यो वितरणम् । यतः सर्वविरतिदीक्षामधिकृत्योक्तम्–"उवणंतयधयगुल गोरस–फासुगपडिलाहणं समणसंघे । असइ गणिवायगाणं, तदसइ सव्वस्स गच्छस्स ॥ १ ॥ " ( अनन्तकं वस्त्रं ) अथेति दीक्षाग्रहणानन्तरम् । यथाशक्ति शक्तेरनतिक्रमेण. वित्तविभवानुरूपमित्यर्थः । दातव्यमिति शेषः । किम्भूतं तदित्याह–श्रद्धा स्वकीयोऽभिलाषः, परानुवृत्तिरित्यर्थः । संवेगो मोक्षाभिलाषः, क्रमो देयद्रव्यपरिपाटिर्लोकरूढा यथाज्येष्ठता वा, एभिर्युतं संयुक्तं यत्तथा । नियमादवश्यंभावेन । तथा विभवानुसारतो विभवापेक्षया । तथाशब्दो विध्यन्तरप्रतिपादनपरवाक्योपक्षेपार्थ उत्तरार्धस्याऽऽदौ द्रष्टव्यः । अथवा–तथेति तेन प्रकारेण लोकरूढेन,जनोपचारः स्वजनाऽऽदिलोकपूजा । चशब्दः समुच्चये । उचित. स्वपरयोग्यताऽनुरूपो, विधेय इति गम्यम । इतिशब्दः समाप्तौ । तेनैतावदेव दीक्षाऽनन्तरकृत्यमित्यर्थः स्यादिति गाथाऽर्थ ॥ ३६ ॥

एतावत्प्रयत्नकृताऽपि दीक्षा सम्यगन्यथा च स्यात्तत्रेयं सम्यग्दीक्षेति कथमवसेयम् ? । उच्यते–लिङ्गतोऽतस्तान्येवाऽऽह–

अहिगयगुणसाहम्मिय पीईबोहगुरुभत्तिवुड्ढी य ।
लिंगं अव्वभिचारी, पइदियहं सम्मदिक्खाए ॥ ३७ ॥

अधिकृता दीक्षाप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृता. प्रस्तुता वा अधिगता वा प्राप्तास्ते च ते गुणाश्च सम्यक्त्वतरसद्भवप्रशमसंवेगनिर्वेदाऽऽस्तिक्यानुकम्पाशुश्रूषाधर्मरागदेवाऽऽदिवैयावृत्त्यकरणाऽऽदयोऽधिकृतगुणाः, ते च साधर्मिकप्रीतिश्च समानधार्मिकानुरागः,बोधश्च तत्त्वावगमो,गुरुभक्तिश्च धर्माऽऽचार्याऽनुराग इति द्वन्द्वः । अतस्तासां वृद्धिर्दीक्षाऽवसरादारभ्य वर्धनमिति समासः । चशब्दः पुनरर्थः । तद्भावना चैवम्—सम्यग्दीक्षायां दानाऽऽदिकं तावदनन्तरकृत्यमधिकृतगुणसाधर्मिकप्रीतिबोधगुरुभक्तिवृद्धिः पुनर्लिङ्गं गमकं चिह्नमव्यभिचार्यैकान्तिकम् , प्रतिदिवसमहर्निशम्; एतच्चाधिकृतगुणाऽऽदिवृद्धेर्विशेषणम् । कस्या लिङ्गमियमित्याह–सम्यग्दीक्षाया अमिथ्यादीक्षणस्य, एतद्विपर्ययस्तु सामर्थ्यादसम्यग्दीक्षायाः । इति द्वारगाथाऽर्थः ॥ ३७ ॥

अथ सम्यग्दीक्षाया यथाधिकृतगुणवृद्धिर्लिङ्गं भवति, तथा दर्शयन्नाह–

परिसुद्धभावओ तह, कम्मखओवसमजोगओ होइ ।
अहिगयगुणवुड्ढी खलु, कारणओ कज्जभावेण ॥ ३८ ॥

परिशुद्धभावतोऽतिशुद्धाध्यवसायात् तथेति तथाप्रकारादीक्षाप्रतिपत्तिरूपादित्यर्थः । वक्ष्यमाणकारणापेक्षया वा समुच्चयार्थस्तथाशब्दः । कर्मणोऽधिकृतगुणाऽऽवरणस्य क्षयोपशमो दीक्षाप्रतिपत्तिरूपपरिशुद्धभावजन्यो विगमविशेषस्तेन यो योगः सम्बन्धः स तथा ततः कर्मक्षयोपशमयोगत. । किमित्याह–भवति जायते । काऽसौ ? अधिकृतगुणवृद्धिः सम्यक्त्वाऽऽदिगुणवर्धनम् । खलुर्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा । अन्यकवधारणार्थत्वे चास्य भवत्येवेत्येव प्रयोगो दृश्यः । केन कारणेनैतदेवमित्याह–कारणतो हेतो. सकाशात् कार्यभावे न फलसद्भावात् । तत्र दीक्षारूपविशुद्धभावः कारणकारणं, कर्मक्षयोपशमस्तु कारणम् । तथा शब्दद्वितीयव्याख्यानपक्षे तु परिशुद्धभावः, कर्मक्षयोपशमश्चेति कारणद्वयम् , अधिकृतगुणवृद्धिश्च कार्यम् । अतः परिशुद्धभावरूपसम्यग्दीक्षायामधिकृतगुणवृद्धिः कार्यत्वात् लिङ्गं भवति । इति गाथाऽर्थ. ॥ ३८ ॥

अथ साधर्मिकप्रीतिवृद्धिर्यथा सम्यग्दीक्षाया लिङ्गं भवति तथा दर्शयन्नाह—

धम्मम्मि य बहुमाणा , पहाणभावेण तदणुरागाओ ।

साहम्मियपीतिए ऊ, हंदि वुड्ढी धुवा होइ ॥ ३९ ॥

धर्मे दीक्षारूपे दीक्षितजनानुष्ठेयश्रुतचारित्ररूपे च, चशब्दः समुच्चयार्थो भिन्नक्रमश्च । बहुमानात्पक्षपातात्, प्रधानभावेन प्राधान्याच्च धर्मप्रधानत्वात् साधर्मिकाणामिति हृदयम् । तदनुरागात् साधर्मिकस्नेहात् । इह यद्यपि साधर्मिकशब्दः परपदे समस्तश्च वर्तते, तथापि तच्छब्देन स एव संस्पर्शनीयः, वक्त्रा तथैव विवक्षितत्वात्, वक्त्राधीनत्वाच्छब्दप्रवृत्तेः, दृश्यते चैवंविधः प्रयोगस्तत्र तत्रेति । किं स्यादित्याह-साधर्मिकप्रीतेः समानधर्मजनविषयप्रेमजन्यवात्सल्यस्य । कार्ये कारणोपचारात् । तुशब्दः पुनरर्थः । तद्भावना चैवम्-परिशुद्धभावतोऽधिकृतगुणानां वृद्धिर्भवति, साधर्मिकप्रीतेः पुनर्धर्मबहुमानतः साधर्मिकानुरागादिति । अथवा-धर्मे बहुमानात्प्रीतिमात्रात् प्रधानभावेन धर्मस्यैतमत्वबुद्ध्या तदनुरागाच्च धर्मभक्तेश्चेत्यर्थः । धर्मविषययोः प्रीतिभक्त्योश्चायं विशेषो यथा-

" यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।
शेषत्यागेन करो-ति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ १ ॥
गौरवविशेषयोगाद्-बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम् ।
क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥
अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वद्धिता च जननीति ।
तुल्यमपि कृत्यमनयो-र्ज्ञातं स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥३॥" इति ।

साधर्मिकप्रीतेस्तु साधर्मिकानुरागस्य । हन्दीत्युपप्रदर्शने,वृद्धिर्वर्धनम्,ध्रुवा निश्चिता,भवति जायते । इति गाथार्थः॥३९॥

अथ बोधवृद्धेर्लिङ्गतादर्शनायाऽऽह-

विहियाणुट्ठाणाओ, पाएणं सव्वकम्मखउवसमो ।
णाणावरणावगमा, णियमेणं बोहवुड्ढि त्ति ॥४०॥

विहितानुष्ठानात् दीक्षादीक्षितसमाचाररूपसत्कृत्यात्, प्रायेण बाहुल्येन, कस्यापि जीवस्य भावविशेषादेव क्षयोपशमो भवतीति प्रायेणेत्युक्तम् । सर्वकर्मक्षयोपशमो निखिलज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिघातिकर्मणां विगमविशेषो, भवतीति गम्यम् । घातिकर्मणामिति व्याख्यानम्-" मोहस्सेवोवसमो, खाओवसमो चउण्ह घाईणं । उदयक्खयपरिणामा, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं ॥१॥" इति वचनात् । ततश्च ज्ञानाऽऽवरणापगमात् घातिकर्मान्तर्गतस्य ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मणः क्षयोपशमाऽऽदेः सकाशान्नियमेन नियोगेन, बोधवृद्धिर्ज्ञानवर्धनं भवति । इतिशब्दो बोधवृद्धिरूक्तव्यतासमाप्तिसंसूचनार्थः । इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

अथ गुरुभक्तिवृद्धेर्लिङ्गतादर्शनायाऽऽह-

कल्लाणसंपयाए, इमिए हेऊ जओ गुरू परमो ।
इय बोहभावओ च्चिय, जायइ गुरुभत्तिवुड्ढी वि ॥४१॥

कल्याणानामैहिकाऽऽमुष्मिकश्रेयसां संपत्संपत्तिः कल्याणसंपत् तदवन्ध्यहेतुत्वाद्दीक्षादीक्षितसमाचारश्च कल्याणसंपदुच्यतेऽतस्तस्याः । ( इमिए त्ति )अस्या अनन्तरोक्तायाः, हेतुः कारणम्,यतो यस्मात्, गुरुर्धर्माऽऽचार्यः, परमः प्रधानो वर्तते । ततः कारणान्महाभक्तिविषयोऽयमिति शेषः । इत्यनेन प्रकारेण कल्याणहेतुत्वेन भक्तिविषयो गुरुरित्येवंलक्षणेन यो बोधो ज्ञानं तस्य यो भावः सत्ता स तथा तस्मादिति बोधभावादेव नान्यथा । ' चिय ' शब्दोऽवधारणार्थः । जायते भवति गुरुभक्तिवृद्धिरपि धर्माचार्यबहुमानवर्धनमपि, न केवलं स्वहेतोर्बोधवृद्धिरिति गाथार्थः ॥४१॥

अथानन्तरोक्तदीक्षागुणानामनन्तरफलं दर्शयन्नाह-

इय कल्लाणी एसो, कमेण दिक्खागुणे महासत्तो ।
सम्मं समायरंतो, पावइ तह परमदिक्खं पि ॥४२॥

इति उक्तन्यायेन सम्यग्दीक्षाकृतगुणवृद्ध्यादित्रिलिङ्गप्राप्तिलक्षणेन । कल्याणी कल्याणवान् लोकद्वयभाविकल्याणहेतुभूतदीक्षाऽवाप्तेः । भवतीति गम्यते । एषोऽनन्तरोक्तरूपो दीक्षितजीवः । तथा क्रमेण परिपाट्या शुद्धशुद्धतरशुद्धतमयेत्यर्थः । दीक्षागुणान् जिनदीक्षाधर्मान् जिनसाध्वागमभक्तिप्रभावाऽऽदीन्, समाचरन्निति योगः । महासत्त्वो महानुभावः । सम्यग्भावसारं, समाचरन् सेवमानः, प्राप्नोति लभते । तथेति फलान्तरसमुच्चयार्थः । परमदीक्षामपि सर्वविरतिदीक्षामपि, न केवलं कल्याणेव भवति इत्यपिशब्दार्थः । अथवा-कल्याणी सन्नेष प्राप्नोति तथा परमदीक्षामपि यथेतरदीक्षां प्राप्त इति हृदयम् । शेषं तथैव । इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

अथ जिनदीक्षाया एव परम्परफलोपदर्शनायाऽऽह-

गरहियमिच्छायारो, भावेणं जीवमुत्तिमणुहविउं ।
णीसेसकम्ममुक्को, उवेइ तह परममुत्तिं पि ॥ ४३ ॥

गर्हिता निन्दिता मिथ्याऽऽचारा मोक्षमार्गविपरीतसमाचारा मिथ्यात्वाविरतिकषायदुष्टयोगलक्षणा अतीतकालाऽऽसेविता येन स तथा परमदीक्षाऽवाप्त्या । उपलक्षणत्वाच्चास्य वर्तमानानां मिथ्याऽऽचाराणां संवरणम्, अनागतानां च प्रत्याख्यानमिह द्रष्टव्यम् । अन्ये तु मिथ्याऽऽचारलक्षणं वदन्ति-" बाह्येन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याऽऽचारः स उच्यते ॥१॥ " इति । कथं गर्हितमिथ्याऽऽचार इत्याह-भावेन परमार्थतो न द्रव्यत एव, उपैति परममुक्तिमपीति योगः । अथवा-भावत इत्येतत्पदमनुभूयेत्यनेन सम्बन्धनीयम् । जीवतः प्राणान् धारयतो मुक्तिर्मोक्षो निःसङ्गताप्रकर्षेण जीवन्मुक्तिस्ताम्, अनुभूय संवेद्य, अनुभवन्ति च जीवन्त एव परमदीक्षावन्तो मुक्तिम् । यदाह-" निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ १ ॥ " निःशेषकर्ममुक्तः क्षीणसकलकर्मा, उपैत्युपगच्छति, तथा तेन प्रकारेण जिनदीक्षाजनितगुणप्रकर्षपर्यन्तवृत्तिलक्षणेन, परममुक्तिमपि सकलकर्मांशप्रक्षयमपि, न केवलं परमदीक्षामपि प्राप्नोतीत्यपिशब्दार्थः । इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ प्रकरणोपसंहारायाऽऽह-

दिक्खाविहाणमेयं, भाविज्जंतं तु तंतणीतीए ।
सइअपुणबंधगाणं, कुग्गहविरहं लहुं कुणइ ॥ ४४ ॥

दीक्षाविधानं जिनदीक्षाविधिः, एतदनन्तरोक्तम्, ( भाविज्जंतं तु त्ति ) भाव्यमानमपि पर्यालोच्यमानमपि, आस्तामासेव्यमानम्, सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकाभ्यामिति गम्यम् । अथ भाव्यमानमेव नाभाव्यमानमपि, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः, एवकारार्थो वा । तन्त्रनीत्याऽऽगमन्यायेन । कयो-

रित्याह-सकृदेकदा न पुनरपि बन्धो मोहनीयकर्मोत्कृष्ट-स्थितिबन्धनं ययोस्तौ सकृदपुनर्बन्धकौ तयोः, सकृद्बन्धकस्यापुनर्बन्धकस्य चेत्यर्थः । तत्र यो यथाप्रवृत्तकरणेन ग्रन्थिप्रदेशमागतोऽभिन्नग्रन्थिः सकृदेवोत्कृष्टां सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिलक्षणां स्थितिं भन्त्स्यत्यसौ सकृद्बन्धक उच्यते । यस्तु तां तथैव क्षपयन् ग्रन्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भन्त्स्यति भेत्स्यति च ग्रन्थिं सोऽपुनर्बन्धक उच्यते । एतयोश्चाभिन्नग्रन्थित्वेन कुग्रहः सम्भवति, न पुनरविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनां, मार्गाभिमुखमार्गपतितयोस्तु कुग्रहसंभवेऽपि तत्त्याग एव तद्भावनामात्रसाध्य इत्यत उक्तं सकृद्बन्धकापुनर्बन्धकयोरिति । एतयोश्च भावसम्यक्त्वाभावात् दीक्षायां द्रव्यसम्यक्त्वमेवमारोप्यत इति । कुग्रहविरहमसदभिनिवेशविशेषवियोगं, लघु शीघ्रं, करोति विधत्ते । इह विरहशब्देन हरिभद्राऽऽचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यास्याऽऽवेदितं विरहाङ्कत्वात्तस्यत्येवं सर्वत्र । इति गाथाऽर्थः ॥४४॥ पञ्चा० २ विव० ।

(२३) इह तु परं तत्फलमभिधातुमाह-

**स एवमभिसिद्धे परमबंभे मंगलालए जम्मजरामरणरहिए पहीणासुहे अणुबंधसत्तिवज्जिए संपत्तनिअसरूवे अकिरिए सहावसंठिए अणंतनाणे अणंतदंसणे ॥**

स प्रक्रान्त प्रव्रज्याकारी, एवमुक्तेन सुखपरम्पराप्रकारेणाभिसिद्धः सन् । किम्भूत इत्याह-परमब्रह्म, सदाशिवत्वेन । मङ्गलाऽऽलय', गुणोत्कर्षयोगेन । जन्मजरामरणरहितो निमित्ताभावेन । यथोक्तम्-" दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुर. । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुर ॥१॥ " इति । प्रक्षीणाशुभ एकान्तेन अनुबन्धशक्तिवर्जित. अशुभमङ्गीकृत्याऽत एव संप्राप्तनिजस्वरूप' केवलो जीवः, अक्रियो गमनाऽऽदिशून्य., स्वभावसस्थितः सांसिद्धिकधर्मवान् । अत एवाऽऽह-अनन्तज्ञानोऽनन्तदर्शनः, ज्ञेयानन्तत्वात् । स्वभावश्चास्यायमेव । यथोक्तम्-" स्थित. शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्ध्या । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत् ॥ १ ॥ "

अथ कीदृशोऽसौ वर्णरूपाभ्याम् ?, इत्याशङ्काऽपोहायाऽऽह-

**से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, अरूवी सत्ता अणित्थंथसंठाणा अणंतविरिआ कयकिच्चा सव्वाबाहविवज्जिआ सव्वहा निरविक्खा थिमिआ पसंता । असंजोगिए एसाणंदे अओ चेव परे मए । अविक्खा अणाणंदे, संजोगो विओगकारणं, अफलं फलमेआओ विणिवायपर खु तं, बहुमयं मोहाओ अबुहाणं, जमित्तो विवज्जओ, तओ अणत्था अपज्जवसिआ, एस भावरिऊ परे । अओ वुत्ते उ भगवया । नागासेण जोगो एअस्स । से सरूवसंठिए । नागासमण्णत्थ । न सत्ता सदंतरमुवेइ । अचिंतमेअं केवलिगम्मं तत्तं निच्छयमयमेअं । विजोगवं च जोगो त्ति न एस जोगो भिण्णं लक्खणमेअस्स । न इत्थाविक्खा सहावो खु एसो अणंतसुहसहावकप्पो । उवमा इत्थ न विज्जइ । तब्भावेऽणुभवो परं तस्सेव । आणा एसा जिणाणं सव्वण्णूणं अवितहा एगंतओ । न वितहत्ते निमित्तं । न चानिमित्तं कज्जं ति । निदंसणमित्तं तु नवरं ।**

स सिद्धः न शब्दो, न रूपं , न गन्धो , न रसो, न स्पर्शः, पुद्गलधर्मत्वादमीषाम् । अभावस्तर्हीत्येतदपि नेत्याह-अरूपिणी सत्ता ज्ञानवत् । अनित्थंस्थसंस्थापना, इदंप्रकारमापन्नमित्थम्, इत्थं स्थितमित्थस्थं, न इत्थंस्थम् अनित्थंस्थम्, संस्थानं यस्य । अरूपिण्याः सत्तायाः सा यथोक्ता । अनन्तवीर्या इयं सत्ता प्रकृत्यैव । तथा कृतकृत्या तन्निष्पादनेन निवृत्ततच्छक्तिः, सर्वाऽऽबाधाविवर्जिता द्रव्यतो भावतश्च । सर्वथा निरपेक्षा, तच्छक्त्यपगमेन । अत एव स्तिमिता प्रशान्ता सुखप्रकर्षादनुकूला निस्तरङ्गमहोदधिकल्पा । एतस्या एव परमसुखत्वमभिधातुमाह-असांयोगिक एष आनन्दः, सुखविशेषः । अत एव निरपेक्षत्वात् परो मत. प्रधान इष्टः । इहैव व्यतिरेकमाह-अपेक्षाऽनानन्दः, औत्सुक्यदुःखत्वात् । अपेक्ष्यमाणाऽऽप्त्या तन्निवृत्तौ दोषमाह-संयोगो वियोगकारणं, तदवसानतया स्वभावत्वात् । अफलं फलमेतस्मात् संयोगात् । किमिति ?, अत आह-विनिपातपरमेव तत्सांयोगिकफलम् । कथमिदं बहुमतम् ?, इत्याह-बहुमतं मोहादबुधानां पृथग्जनानाम् । तत्रापि निबन्धनमाह-यदतो विपर्ययः, मोहादत एवाफले फलबुद्धिः । ततो विपर्ययादनर्थो असत्प्रवृत्त्या अपर्यवसिताः सानुबन्धतया । एवमेष भावरिपुः परो मोह', अत एवोक्तो भगवता तीर्थकरेण । यथोक्तम्-" अण्णाणतो रिपू अन्नो, पाणिणं णेव विज्जइ । एत्तोऽसक्किरिया तीए, अणत्था विस्सतो सुहा ॥ १ ॥ " यदि संयोगो दुष्ट. कथं सिद्धस्याऽऽकाशेन न स दुष्टः ? इत्याशङ्क्याऽऽह-नाऽऽकाशेन सह योग एतस्य सिद्धस्य । किमिति ?, अत आह-स स्वरूपसंस्थित' सिद्धः । कथमाधारमन्तरेण स्थिति ?, इत्याशङ्क्याऽऽह-नाकाशमन्यत्राऽऽधारे । अत्रैव युक्तिर्न सत्ता सदन्तरमुपैति, न वाऽन्यथाऽन्यदन्यत्र । अचिन्त्यमेतत्प्रस्तुतं केवलिगम्यं तत्त्वम् । तथा निश्चयमतमेतद्व्यवहारमतं त्वन्यथा सत्यपि तस्मिन्निदं तत्संयोगशक्तियात् सूपपन्नमेव । अभ्युच्चयमाह-वियोगवाँश्च योग इति कृत्वा नैष योग सिद्धाऽऽकाशयोरिति भिन्नं लक्षणमेतस्याधिकृतयोगस्य, न चात्रापेक्षासिद्धस्य । कथं लोकान्ताऽऽकाशगमनम् ?, इत्याह-स्वभाव एवैष तस्य । अनन्तसुखस्वभावकल्पः कर्मक्षयव्यङ्ग्यः । कीदृशमस्यानन्त सुखम् ?, इत्याह-उपमाऽत्र न विद्यते, सिद्धसुखे । यथोक्तम्-" स्वयं वेद्यं हि तद्ब्रह्म, कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी न विजानाति, सम्यक् जात्यन्धवद्धटम् ॥ १ ॥ " अत एवाऽऽह-तद्भावे सिद्धसुखभावे अनुभव परं तस्यैव । एतदपि कथं ज्ञायते ?, इत्याह-आज्ञा एषा जिनाना, वचनमित्यर्थः । किंविशिष्टानाम् ?, इत्याह-सर्वज्ञानाम् । अत एव अवितथा, एकान्ततः सत्येत्यर्थः । कुत ?, इत्याह-न वितथतत्वे निमित्तं रागाऽऽद्यभावात् । उक्तं च-"रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥१॥" न चानिमित्तं कार्यमित्यपि । तथा जिनाऽऽज्ञा । एवं स्वसंवेद्यं सिद्धसुखमित्याप्तवाद । निदर्शनमात्रं तु नवरं सिद्धसुखस्येदं वक्ष्यमाणलक्षणम् ॥

सव्वसत्तुक्खए सव्ववाहिविगमे सव्विच्छासंजोगेणं स-व्विच्छासंपत्तीए जारिसमेअं, इत्तोऽणंतगुणं तं तु भावसत्तुक्खयादितो । रागादओ भावसत्तू, कम्मोदयावाहिणो, परमलद्धीओ उ अट्ठा, अणिच्छेच्छा इच्छा । एवं सुहुममेअं न तत्तओ इयरेण गम्मइ । जइ सुहं व अजइणा । आरुग्गसोहं व रोगिण त्ति विभासा । अचिंतमेअं सरूवेणं । साइअपज्जवसिअं एगसिद्धाविक्खाए । पवाहओ अणाई । ते वि भगवंतो एवं । तहा भव्वत्ताइभावओ । विचित्तमेअं तहाफलभेएण । नाविचित्ते सहकारिभेओ तदविक्खो तओ त्ति अणेगंतवाओ तत्तवाओ । स खलु एवं इहरहेगंतो मिच्छत्तमेसो न इत्तो ववत्था । अणारिहमेअं । संसारिणो उ सिद्धत्तं । नावद्धस्स मुत्ती सद्दत्थरहिआ । अणाइमं बंधो पवाहेणं अईअकालतुल्लो । अबद्धबंधणे वा मुत्ती पुणो बंधपसंगओ अविसेसो अबुद्धमुक्काणं । अणाइजोगे वि विओगो कंचणोवलनाएणं । न दिदिक्खा अकरणस्स । न यादिट्ठम्मि एसा । न सहजाए निवित्ती । न निवित्तीए आयट्ठाणं ।

सर्वशत्रुक्षये सति तथा सर्वव्याधिविगमे, एवं सर्वार्थसंयोगेन सता तथा सर्वेच्छासंप्राप्त्या यादृशमेतत्सुखं भवति, अतोऽनन्तगुणमेव सिद्धसुखम् । कुतः ?, इत्याह-भावशत्रुक्षयाऽऽदितः । आदिशब्दाद्भावव्याधिविगमाऽऽदयो गृह्यन्ते । तथा चाऽऽह-रागाऽऽदयो भावशत्रवः रागद्वेषमोहाः, जीवापकारित्वात् । कर्मोदया व्याधयः, तथा जीवपीडनात् । परमलब्धयस्त्वर्थाः, परार्थहेतुत्वेन । अनिच्छेच्छा इच्छा सर्वथा तन्निवृत्त्या । एवं सूक्ष्ममेतत्सुखं न तत्त्वतः परमार्थेन इतरेण गम्यते । असिद्धेन निदर्शनमाह-यतिसुखमिवाऽयतिना विशिष्टक्षायोपशमिकभाववेद्यत्वादस्य, एवमारोग्यसुखमिव रोगिणेति । उक्तं च-" रागाईणमभावे, जं होइ सुहं तयं जिणो मुणइ । ण हि सन्निवायगहिओ, जाणइ तदभावजं सोक्खं ॥ १ ॥ " इति विभाषा कर्त्तव्या । सर्वथाचिन्त्यमेतत्स्वरूपेण सिद्धसुखं न तत्त्वतो मतेरविषयत्वात् । साद्यपर्यवसितं प्रमाणत एकसिद्धापेक्षया न तु तत्प्रवाहमधिकृत्य, प्रवाहतस्त्वनादितद्योघमाश्रित्य । तथा चाऽऽह-तेऽपि भगवन्तः सिद्धा एवं एकसिद्धापेक्षया साद्यपर्यवसिताः प्रवाहापेक्षया अनाद्यपर्यवसिता इति । समाने भव्यत्वाऽऽदौ कथमेतदेवम् ?, इत्याह-तथाभव्यत्वाऽऽदिभावात् तथाफलपरिपाकीह तथाभव्यत्वम् । अत एवाऽऽह-विचित्रमेतत्तथाभव्यत्वाऽऽदि कुतः ?, इत्याह-तथा फलभेदेन कालाऽऽदिभेदभाविफलभेदेनेत्यर्थः । समाने भव्यत्वे सहकारिभेदात्फलभेद इत्याशङ्काऽपोहायाऽऽह-नाविचित्रे तथाभव्यत्वाऽऽदौ सहकारिभेदः । किमिति ?, इत्याह-तदपेक्षत्वक इति तत्तत्स्वभावत्वे तदुपनिपाताभादिति । अनेकान्तवादस्तत्त्ववादः सर्वकारणसामर्थ्याऽऽपादनात् स खल्वनेकान्तवाद एवम् । तथाभव्यत्वाऽऽदिभावे इतरथैकान्तः सर्वथा भव्यत्वाऽऽदेस्तुल्यतायाम् । ततः किम् ?, इत्याह-मिथ्यात्वमेष एकान्तः । कुतः ?, इत्याह-नातो व्यवस्था एकान्तात् भव्यत्वाभेदे सहकारिभेदस्यायोगात् तत्कर्मताभावात् । कर्मणोऽपि कारकत्वात् अतत्स्वभावस्य च कारकत्वासम्भवादिति भावनीयम् । अत एवाऽऽह-अनार्हतमेतदेकान्ताऽऽश्रयणम् । प्रस्तुतप्रसाधकमेव न्यायान्तरमाह-संसारिण एव सिद्धत्वं, नान्यस्य । कोऽयं नियमः ?, इत्याह-नाबद्धस्य मुक्तिः सार्थिका, इत्याह-शब्दार्थरहिताबन्धाभावेन । अयं चानादिमान् बन्धः प्रवाहेण संतत्या । कथं युक्तिसङ्गतोऽभूतिभावेन इत्याह-अतीतकालतुल्यः स हि प्रवाहेणानादिमाननुभूतवर्त्तमानभावश्च । यथोक्तम्-" भवति स नामातीतः, प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वम् । एष्यंश्च नाम स भवति, यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम् ॥१॥ " किं वाऽबद्धबन्धने प्रथमं अमुक्तिर्मुक्त्यभावः । कुतः ?, इत्याह-पुनर्बन्धप्रसङ्गात् अबद्धत्वेन हेतुना । तथा चाऽऽह-अविशेषो बद्धमुक्तयोरिति । अनादिमति बन्धे मोक्षाभावः । तत्स्वाभाविकत्वेनेत्याशङ्कानिराशायाऽऽह- अनादियोगेऽपि सति वियोगोऽविरुद्ध एव काञ्चनोपलज्ञातेन लोके तथादर्शनात्, योगो बन्ध इत्यनर्थान्तरम् । आदावबद्धस्य दिदृक्षा, बद्धमुक्तस्य तु न सेति दोषाभावादादिमानेव बन्धोऽस्त्वित्याशङ्काव्यपोहायाऽऽह-न दिदृक्षाऽकरणस्येन्द्रियरहितस्याऽबद्धस्य चैतानि । तथा न चादृष्टे एषा दिदृक्षा, द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षेति कृत्वा सहजैवैषेत्यारेकानिराकरणायाऽऽह-न सहजाया निवृत्तिर्दिदृक्षायाश्चैतन्यवत् । अस्तु वेयमित्यभ्युपेत्य दोषमाह-न निवृत्तौ दिदृक्षाया आत्मनः स्थानं, तदव्यतिरेकात् । तथा चाऽऽह-

न यऽस्सहा तस्सेसा, न भव्वत्ततुल्ला, नाएणं, न केवलजीवरूवमेअं, न भाविजोगाविक्खाए तुल्लत्तं, तया केवलत्तेणं सया विसेसओ, तहा सहावकप्पणमप्पमाणमेव । एसेव दोसो परिकप्पिआए, परिणामभेआ बंधाइभेउ त्ति साहू । सव्वनयविसुद्धिए निरुवचरिओभयभावेणं । न अप्पभूअं कम्मं । न परिकप्पिअमेअं । न एवं भवादिभेओ । न भवाभावो उ सिद्धी ॥

नान्यथा तन्वैषा आत्मनो दिदृक्षा योगात् । तदव्यतिरेकेऽपि भव्यत्वस्यैव तन्निवृत्तौ दोषाभाव इत्याशङ्काऽपोहायाऽऽह-न भव्यत्वतुल्या न्यायेन दिदृक्षा । कुतः ?, इत्याह-न केवलजीवरूपमेतद्भव्यत्वम् । दिदृक्षा तु केवलजीवरूपेत्यर्थः । न भावियोगापेक्षया महदादिभावे तदा केवलत्वेन तुल्यत्वं दिदृक्षाया भव्यत्वेन । अत्र युक्तिमाह-तदा केवलत्वेन भावियोगाभावे सदा अविशेषात्तथा सांसिद्धिकत्वेन तदूर्ध्वमपि दिदृक्षाऽऽपत्तिरिति हृदयम् । एवं स्वभावैवेयं दिदृक्षा या महदादिभावाद्विकारदर्शने केवलावस्थायां निवर्त्तते, इत्येतदाशङ्क्याऽऽह—तथा स्वभावकल्पनं कैवल्याविशेषे प्रक्रमाद्दिदृक्षाया भावाभावस्वभावकल्पनमप्रमाणमेव । आत्मनस्तद्भेदाऽऽपत्तेः प्रकृतेः पुरुषाधिकत्वेन तद्भावापत्त्येति गर्भः । अत एवाऽऽह-एष एव दोषः प्रमाणाभावलक्षणः परिकल्पितायां दिदृक्षायामभ्युपगम्यमानायां तथाहि परिकल्पिता न किञ्चित्, कथं नत्र प्रमाणवृत्तिरिति । तदेवं व्यवस्थिते सति परिणामभेदादा-

त्मन इति प्रक्रमः। बन्धाऽऽदिभेदो बन्धमोक्षभेद इत्येतत्साधु प्रमाणोपपन्नम्। न खल्वन्ययोगवियोगौ विहाय मुख्यः परिणामभेदः, भावाच्च मुक्तिरनादिमांश्च भव इति नीत्या। अत एवाऽऽह-सर्वनयविशुद्धया । अनन्तरोदितसाधुफलोपदर्शनायाऽऽह-निरुपचरितोभयभावेन प्रक्रमात् मुख्यबन्धमोक्षभावेन,एवं द्रव्यास्तिकमतमधिकृत्य कृता निरूपणा। पर्यायास्तिकमतमधिकृत्याऽऽह-नाऽऽत्मभूतं कर्म, न बोधस्वलक्षणमेवेत्यर्थः।तथा न परिकल्पितमसदेवैतत्कर्मवासनाऽऽदिरूपम्। कुतः ?,इत्याह-नैवं भवाऽऽदिभेदः। आत्मभूते परिकल्पिते वा कर्मणि बोधमात्राविशेषेण क्षणभेदेऽपि मुक्तक्षणभेदवन्न भवापवर्गविशेषः। तथा न भवाभाव एव सिद्धिः, सन्तानोच्छेदरूपा प्रध्यातप्रदीपोपमा। अत्र युक्तिमाह-

**न तदुच्छेदेऽणुप्पाओ। न एवं समंजसत्तं। नाऽणाइमंतभवो। न हेउफलभावो। तस्स तहा सहावकप्पणमजुत्तं निराहारन्नयकओ निओगेणं। तस्सेव तहाभावे जुत्तमेअं सुहुममद्धपयमेअं। विचिंतिअव्वं महापण्णाए त्ति।**

न तदुच्छेदेऽनुत्पाद, न सन्तानोच्छेदेऽनुत्पादस्तस्यैव किं तर्ह्युत्पाद एव यथाऽसौ सन्नुच्छिद्यते, एवमसन्नप्युत्पद्यतामिति को विरोधः ?। यद्येवं ततः किम् ?, इत्याह-नैवं समञ्जसत्वं न्यायोपपन्नत्वम्। कथम् ?, इत्याह-एष हि मानादिमान् भव संसारः कदाचिदेव सन्तानोत्पत्तेः। तथा न हेतुफलभावः। चरमाऽऽद्यक्षणयोरकारणकार्यत्वात्। पक्षान्तरनिरासायाऽऽह-तस्य तथास्वभावकल्पनमयुक्तम्। कुतः ?, इत्याह-निराधारोऽन्वय कुतो नियोगेन, अयमत्र भावाऽर्थः। स्वो भाव इत्यात्मीया सत्ता स्वभावः। एवं च स निवृत्तिस्वभाव इति स्वभाविकी आत्मीया सत्तेति निराधारत्वम्। यद्वा-अन्वयाभावस्तन्निवृत्तेस्तथ्यादिति नियोगग्रहणमवश्यमिदमित्थमन्यथा शब्दार्थायोगादिति स्थापनार्थम्, एवमाद्यक्षणेऽपि भावनीयम्। अत एवाऽऽह-तस्यैव तथाभावे युक्तमेतत्तथास्वभावकल्पनमिति सूक्ष्ममर्थपदमेतद्भावगम्यत्वात्, विचिन्तितव्यं महाप्रज्ञया, अन्यथा ज्ञातुमशक्यत्वादिति। आनुषङ्गिकमभिधाय प्रकृतमाह-

**अपज्जवसिअमेव सिद्धसुक्खं। इत्तो चेवुत्तमं इमं। सव्वहा अणुस्सुगत्तेणंतभावाओ। लोगंतसिद्धिवासिणो एए। जत्थ य एगो तत्थ निअमा अणंता। अकम्मुणो गई पुव्वपओगेण अलाउप्पभिइनायओ। निअमो अओ चेव अफुसमानगईए गमणं उक्करिसविसेसओ इअं। अव्वुच्छेओ भव्वाण अणंतभावेण। एअमणंताणंतयं समया इत्थ नायं। भव्वत्तं जोगयामित्तमेव केसिं चि पडिमाजुग्गदारुनिदंसणेणं। ववहारमयमेअं। एसोऽवि तत्तंगं पवित्तिविसोहणेणं अणेगंतसिद्धीओ निच्छयंगभावेण। परिसुद्धो उ केवलं एसा आणा इह भगवओ समंतभद्दा तिकोडिपरिसुद्धीए अपुणबंधगाइगम्मा।**

अपर्यवसितमेवमुक्तेन विधिना सिद्धसौख्यम्। अत एव कारणादुत्तममिदम्। एतदेव स्पष्टमभिधातुमाह-सर्वथाऽनुत्सुकत्वे सति अनन्तभावात्कारणात्। क निवास एषाम् ?, इत्याह-लोकान्तसिद्धिवासिन एते । चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकान्ते या सिद्धिः प्रशस्तक्षेत्ररूपा तद्वासिन एते सिद्धाः। कथं व्यवस्थिताः ?, इत्याह-यत्रैकः सिद्धस्तत्र क्षेत्रे नियमाद्वियोगेनानन्ताः सिद्धा । उक्तं च-" जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का। अण्णोण्णमणाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ १ ॥" कथमिह कर्मक्षये लोकान्तगमनम् ?, इत्याह-अकर्मणः सिद्धस्य गतिरितो लोकान्तं पूर्वप्रयोगेण हेतुना तत्स्वाभाव्यात्। कथमेतदेवं प्रतिपत्तव्यम्?, इत्याह-अलाबुप्रभृतिज्ञाततः, अष्टमृल्लेपलिप्तजलक्षिप्ताधोनिमग्नतदपगमोर्द्ध्वगमनस्वभावाऽलाबुवत्, प्रभृतिग्रहणादेरण्डफलाऽऽदिग्रहः। ऊर्द्ध्वगमनं तत्रैव चासकृद्गमनागमनं किं न ?, इत्येतदाशङ्कयाऽऽह-नियमोऽत एवालाबुप्रभृतिज्ञाततः एकसमयाऽऽदिः, उत्पलपत्रशतव्यतिभेदद्दृष्टान्तेन एकसमयेन तन्नतिर्युक्तेत्याशङ्काऽपोहायाऽऽह-अस्पृशद्गत्या गमनं सिद्धस्य सिद्धिक्षेत्रं प्रति स्पृशद्गतिमद्पेक्षया चोत्पलपत्रशतव्यतिभेददृष्टान्तः। कथमियं सम्भवति ?, इत्याह-उत्कर्षविशेषत इयं गत्युत्कर्षविशेषदर्शनादेवमस्पृशद्गतिः सम्भवतीति भावनीयम्। सिद्धस्यापुनरागमनात्कालस्य चानादित्वात्, एवमासान्तः प्रायोऽनेकसिद्धैर्भव्योच्छेदप्रसङ्ग इति विभ्रमनिरासार्थमाह 'अव्यवच्छेदो भव्यानामनन्तभावेन, तथा सिद्धिगमनाऽऽवावपि वनस्पत्यादिषु कायस्थितिक्षयदर्शनादनन्तस्याऽपि राशेः क्षयोपपत्तेः पुन संशय इति तद्व्यवच्छित्यर्थमाह-एतदनन्तानन्तकम् एतद्भव्यानन्तकमनन्तानन्तकं न युक्तानन्तकाऽऽदिसमया अत्र ज्ञातं, तेषां प्रतिक्षणमतिक्रमेऽनुच्छेदोऽनन्तत्वात्। कथं तर्ह्येतत् ?, उच्यते-" ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुन, क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः। गतं गतं नैव तु संनिवर्त्तते, जलं नदीनां च नृणां च जीवितम् ॥ १ ॥" इति। उच्यत एतद् व्यवहारतस्तूच्यते, अन्यथा तस्यैव परावृत्तौ बाल्याऽऽद्यनिवृत्तिः। तस्य तद्बाल्याऽऽद्यापादनस्वभावत्वादिति परिभावनीयम्। अतो न क्षयो भव्यानामिति स्थितम्। एवं च सति भव्यत्वं योग्यतामात्रमेव सिद्धिं प्रति केषाञ्चित्प्राणिनां ये न कदाचिदपि सेत्स्यन्ति। तथा चाऽऽगमः-" भव्वा वि न सिज्झिस्संति केइ " इत्यादि। भव्यत्वं सिद्धगमनयोग्यत्वम्। फलगम्या च योग्यता। को वा एवमभव्येभ्यो विशेषो भव्यानाम् ?, इत्याशङ्काव्यपोहायाऽऽह-प्रतिमायोग्यदारुनिदर्शनेन । तथाहि-तुल्यायां प्रतिनिष्पत्तौ तथाप्येकं दारु प्रतिमायोग्यं ग्रन्थ्यादिशून्यतया न तदन्यद्धूकतयेत्यादिविविदङ्गनाऽऽदिसिद्धमेतत्। न चात्राऽपि तत्र स्वभावन्वाऽऽदिविकल्पचिन्ता कार्या। कुतः ?, इत्याह-व्यवहारमतमेतत्, अयं चैवं व्यवस्थितः, इति भावितमेव। न चायं संवृतिरूप इत्याह-एषोऽपि तत्त्वाङ्गमेषोऽपि व्यवहारनयः परमार्थाङ्गम् इह प्रक्रमे,तथा योग्यताबुद्धेरपि सन्निबन्धनत्वात्। तत्स्वभावाविशेषे तु दार्वन्तरवदयोग्यदारुण्यपि, तथा तु बुद्ध्यसिद्धेरित्यादि निर्लोठितमन्यत्र। इत्यनुष्ठानमेवाधिकृत्याऽऽह-एषोऽपि तत्त्वाङ्गम्। यथोक्तम्-" जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुयह। ववहारणउच्छेए, तित्थुच्छेओ जतोऽवस्सं ॥१॥" अत एषोऽपि व्यवहारनयस्तत्त्वाङ्गम्, प्रवृत्तौ मोक्षाङ्गमित्यर्थः। कुत ?, इत्याह-प्रवृ-

त्तिविशोधनेन तन्मतेन प्रव्रज्याऽऽदिप्रदानात्परलोकप्रवृत्तिविशोधनेन, इत्थमनेकान्तसिद्धितः सन्नीत्या, तथा निश्चयाङ्गभावेन । एवं प्रवृत्त्याऽपूर्वकरणाऽऽदिप्राप्तेः । परिशुद्धस्तु केवलमाज्ञाऽपेक्षी पुष्टाऽऽलम्बनः । एषाऽऽज्ञेह भगवत उभयनयगर्भा । अथवा-सर्वैव पञ्चसूत्रोक्ता । किंविशिष्टा ?, इत्याह-समन्तभद्रा. सर्वतो निर्दोषा । कथम् ?, इत्याह-त्रिकोटिपरिशुद्धया कषच्छेदतापपरिशुद्धया । इयं च भागवती सदाज्ञा सर्वैव अपुनर्बन्धकाऽऽदिगम्या । अपुनर्बन्धकाऽऽदयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां कर्मस्थितिं, तया अपुनर्बन्धकत्वेन ये क्षपयन्ति ते खल्वपुनर्बन्धकाः । आदिशब्दान्मार्गाभिमुखमार्गपतिताऽऽदयः परिगृह्यन्ते । दृढप्रतिज्ञाऽऽलोचकाऽऽदिलिङ्गाः एतद्गम्येयं न संसाराभिनन्दिगम्या. तेषां ह्यतो विषयप्रतिभासमात्रं ज्ञानमुदेति न तद्धेयत्वाऽऽदिवेदकमिति । उक्तं च-"न यथाऽवस्थितं शास्त्रं, खल्वज्ञो वेत्ति जातुचित् । श्यामलादपि बिम्बात्तु, निर्मलः स्यात्स्वहेतुतः ॥ १ ॥ " अपुनर्बन्धकत्वाऽऽदिलिङ्गमाह-

एअप्पिअत्तं खलु इत्थ लिंगं ओचित्तपवित्तिविन्नेअं संवेगसाहगं निअमा । न एसा अन्नेसिं देआ । लिंगविवज्जयाओ तप्परिखा । तयणुग्गहट्टयाए आमकुंभोदगनासनाएणं एसा करुणा त्ति वुच्चइ, एगंतपरिसुद्धा अविराहणाफला तिलोगनाहबहुमाणेणं निस्सेअससाहिग त्ति पव्वज्जाफलसुत्तं ।

एतत्प्रियत्वं खल्वत्र लिङ्गम् । आज्ञाप्रियत्वमपुनर्बन्धकाऽऽदिलिङ्गम् । प्रियत्वमुपलक्षणं,श्रवणाभ्यासाऽऽदेः । एतदप्यौचित्यप्रवृत्तिविज्ञेयं, तदाराधनेन तद्बहुमानात् । औचित्यबाधया तु प्रवृत्तौ न तत्प्रियत्वं मोह एवासाविति । एतत्प्रियत्वमेव विशेष्यते-संवेगसाधकं नियमात् । यस्य भागवती सदाज्ञा प्रिया तस्य नियमतः संवेग इति । यत एवमतो नैषा अन्येभ्यो देया । नैषा भागवती सदाज्ञा, अन्येभ्योऽपुनर्बन्धकाऽऽदिव्यतिरिक्तेभ्यः संसाराभिनन्दिभ्यो देया । कथं ते ज्ञायन्ते ?, इत्याह—लिङ्गविपर्ययात्तत्परिज्ञा । प्रक्रमादपुनर्बन्धकाऽऽदिलिङ्गविपर्ययात् संज्ञा, न द्वेषाऽऽदिलक्षणात्तत्परिज्ञा संसाराऽभिनन्दिपरिज्ञा । उक्तं च—"क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो,मत्सरी भयवान् शठः । अज्ञो भवाभिनन्दी स्यात्,निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः ॥ १ ॥ " किमिति न तेभ्यो देया ?,इत्याह-तदनुग्रहार्थं संसाराभिनन्दिसत्त्वानुग्रहार्थम् । उक्तं च-" अप्रशान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥ १ ॥ " इहैव निदर्शनमाह-आमकुम्भोदकन्यासज्ञातेन । उक्तं च-" आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥ " एषा करुणोच्यते, अयोग्येभ्यः सदाज्ञाऽप्रदानरूपा । किं विशिष्टा ?, इत्याह एकान्तपरिशुद्धा, तदपायपरिहारेण । अत एवेयमविराधनाफला, सम्यगालोचनेन । न पुनर्ग्लानापथ्यप्रदानेन निबन्धनकरुणावत्तदाभासेति । इयं चैवंभूता त्रिलोकनाथबहुमानेन हेतुना निःश्रेयससाधिकेति । किमुक्तं भवति ?-नानागमिकस्येयं भवति, किं तु परिणताऽऽगमिकस्य । अस्य च भगवत्येवं बहुमानः । एवं चेयं मोक्षसाधिकैव सानुबन्धसुप्रवृत्तिभावेन । प० सू० ४ सूत्र ।



(२४) प्रव्रजितस्यार्यिकाभिर्वन्दनम्-

वंदंति अज्जियाओ, विहिणा सड्ढा य साविया ओ य ।
आयरियसमीवम्मी,अणुपविसइ तओ असंभंतो ॥१५४॥

ततस्तं प्रव्रजितं वन्दन्ते आर्यिकाः, पुरुषोत्तमो धर्म्म इति कृत्वा । कथमित्याह-विधिना प्रवचनोक्तेन, किं ता एव, नेत्याह-श्रावकाः श्राविकाश्च वन्दन्ते आचार्यसमीपे चोपविशति । ततस्तदुत्तरकालं, किंविशिष्टः सन्नित्याह-असंभ्रान्तः अनन्यचित्त इति गाथाऽर्थः ।

प्रव्रजितं प्रति तथोपदेशो यथाऽन्यः प्रव्रजेत् । ततश्च-

भवजलहिपोअभूअं, आयरिओ तह कहेइ से धम्मं ।
जह संसारविरत्तो, अन्नो वि पवज्जए दिक्खं ॥१५५॥

भवजलधिपोतभूतं संसारसमुद्रबोहित्थकल्पमाचार्यस्तथा कथयति, तस्य प्रव्रजितस्य धर्म्मं यथा संवेगातिशयात्संसारविरक्तः सन्नन्योऽपि तत्पर्षदन्तर्वर्त्ती सत्त्वः प्रपद्यते दीक्षां प्रव्रज्यामिति गाथाऽर्थः ।

भूतेसु जंगमत्तं, तेसु वि पंचिंदिअत्तमुक्कोसं ।
तेसु वि अ माणुसत्तं, माणुस्से आरिओ देसो ॥१५६॥

भूतेषु प्राणिषु जङ्गमत्वं द्वीन्द्रियाऽऽदित्वं, तेष्वपि जङ्गमेषु पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टं प्रधानं, तेष्वपि पञ्चेन्द्रियेषु मानुषत्वमुत्कृष्टमिति वर्तते । मनुजत्वे आर्यो देश उत्कृष्ट इति गाथाऽर्थः ।

देसे कुलं पहाणं, कुले पहाणे अ जाइमुक्कोसा ।
तीए रूवसमिद्धी, रूवे अ बलं पहाणयरं ॥१५७॥

देशे आर्ये कुलं प्रधानमुग्राऽऽदि कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा मातृसमुत्था, तस्यामपि जातौ रूपसमृद्धिरुत्कृष्टा सकलाङ्गनिष्पत्तिरित्यर्थः । रूपे च सति बलं प्रधानतरं सामर्थ्यमिति गाथाऽर्थः ।

होइ बले वि अ जीअं, जीए वि पहाणयं तु विण्णाणं ।
विण्णाणे सम्मत्तं, सम्मत्ते सीलसंपत्ती ॥ १५८ ॥

भवति बलेऽपि च जीवितं प्रधानमिति योगः, जीवितेऽपि प्रधानतरं विज्ञानं, विज्ञाने सम्यक्त्वं, क्रिया पूर्ववत् । सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः प्रधानतरेति गाथाऽर्थः ।

सीले खाइअभावो, खाइअभावे वि केवलं नाणं ।
केवलिए पडिपुन्ने, पत्ते परमक्खरे मोक्खे ॥ १५९ ॥

शीले क्षायिकभाव प्रधानः, क्षायिकभावे च केवलं ज्ञानं, प्रतिपदयोजना सर्वत्र कार्येति । केवले प्रतिपूर्णे प्राप्ते परमाक्षरे मोक्ष इति गाथाऽर्थः ।

पन्नरसंगो एसो, समासओ मोक्खसाहणोवाओ ।
एत्थ बहुं पत्तं ते, थोवं संपावियव्वं ति ॥१६०॥

पञ्चदशाङ्गः पञ्चदशभेद एष अनन्तरोदितः समासतः संक्षेपेण मोक्षसाधनोपायः सिद्धिसाधनमार्गः । अत्र मोक्षसाधनोपाये बहुप्राप्तं त्वया शीलं यावदित्यर्थः स्तोकं संप्राप्तव्यं-क्षायिकभावः केवलज्ञानद्वयमिति गाथाऽर्थः ।

ता तह कायव्वं ते, जह तं पावेसि थोवकालेणं ।
सीलस्स नत्थिऽसज्झं,जयम्मि तं पाविअं तुमए ॥१६१॥

तत्तथा कर्त्तव्यं त्वया यथा तच्छेषं प्राप्नोषि स्तोककालेन। किमित्यत आह शीलस्य नास्त्यसाध्यं जगति तत्प्राप्तं त्वया, प्रव्रज्या प्रतिपन्नेति गाथार्थः।

लद्धूण सीलमेअं, चिंतामणिकप्पपायमब्भहिअं।
इह परलोए अ तहा, सुहावहं परममुणिचरिअं ॥१६२॥

लब्ध्वा शीलमेतत्किंविशिष्टमित्याह -चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यधिकं निर्वाणहेतुत्वेन। एतदेवाऽऽह इहलोके परलोके च तथा सुखावहं परममुनिभिश्चरितमासेवितमिति गाथार्थः।

एअम्मि अप्पमाओ, कायव्वो सइ जिणिंदपन्नत्ते।
भावेअव्वं च तहा, विरसं संसारणेगुण्णं ॥ १६३ ॥

एतस्मिन् शीले अप्रमादो यत्नातिशयः कर्त्तव्यः सदा सर्वकालं जिनेन्द्रप्रज्ञप्ते तीर्थकरप्रणीते अप्रमादोपायमेवाऽऽह-भावयितव्यं च तथा शुभान्तःकरणेन विरसं संसारनैर्गुण्यं वैराग्यसाधनमिति गाथार्थः।

आह विरइपरिणामो, पव्वज्जा भावओ जिणाएसो।
जं ता तह जइअव्वं, जह सो होइ त्ति किमणेणं ? ॥१६४॥

आह परः, किमाह-विरतिपरिणामः सकलसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपः प्रव्रज्या भावतः परमार्थतो जिनाऽऽदेश अर्हद्वचनमित्थं व्यवस्थितमिति यद् यस्मादेवं तत्तस्मात्तथा यतितव्यम् तथा प्रयत्नः कार्यो यथाऽसौ विरतिपरिणामो भवतीति किमनेन चैत्यवन्दनाऽऽदिक्रियाकलापेनेति गाथार्थः।

परश्च स्वपक्षं समर्थयन्नाह-

सुव्वइ अ एअवइअर-विरहेणं भरहमाईणं।
तयभावम्मि अभाओ,ज भणिओ केवलस्स सुए॥१६५॥

श्रूयते च एतद्व्यतिकरविरहेणाऽपि चैत्यवन्दनाऽऽदिसंबन्धमन्तरेणापि स विरतिरूपपरिणाम इह जिनशासने भरताऽऽदीनां महासत्पुरुषाणामिति। कथमिति चेदुच्यते-तदभावे विरतिपरिणामाभावे भावतः अभावोऽसंभवः यद्यस्माद्भणित उक्तः केवलस्य श्रुते प्रवचन इति गाथार्थः।

संपादिए वि अ तहा, इमम्मि सो होइ नत्थि एअं पि।
अंगारमद्दगाई, जेण पवज्जंत अभव्वा वि ॥ १६६ ॥

संपादितेऽपि च तथा तस्मिँश्चैत्यवन्दनाऽऽदौ व्यतिकरे सति स विरतिपरिणामो भवति। नास्त्येतदप्यत्राप्यनियम एवेति। एतदेवाऽऽह-अङ्गारमर्द्दकाऽऽदयो येन कारणेन प्रतिपद्यन्ते अधिकृत्य व्यतिकरमभव्या अपि आसता तावदन्य इति गाथार्थ।

किं च-तच्चैत्यवन्दनाऽऽदि विधिना सामायिकाऽऽरोपणे सति वा विरतिपरिणामे क्रियेत नेति वा. उभयथाऽपि दोषमाह-

सइ तम्मि इमं विहलं, असइ मुसावायगो गुरुस्सावि।
तम्हा न जुत्तमेअं, पव्वज्जाए विहाणं तु ॥ १६७ ॥

सति तस्मिन्विरतिपरिणामे,इदं चैत्यवन्दनाऽऽदि विधिना सामायिकाऽरोपणं, विफलं,भावत एव तस्य विद्यमानत्वादन्यथा ताविव असत्यविद्यमाने विरतिपरिणामे सामायिकाऽऽरोपणं कुर्वन् मृषावाद एव गुरोरपि असदध्यारोपणाद्भणिशब्दाच्छिष्यस्यापि। अथ ताविव प्रतिपत्तेर्यस्मादेवं तस्मान्न युक्तमेतच्चैत्यवन्दनाऽऽदि विधिना सामायिकाऽऽरोपणरूप प्रव्रज्याया विधानमेवमुभयथाऽपि दोषदर्शनादिति गाथार्थः। एष पूर्वपक्षः।

अत्रोत्तरमाह-

सच्चं खु जिणाएसो, विरईपरिणामओ उ पव्वज्जा।
एसो तस्स उवाओ, पायं ता कीरइ इमं तु ॥१६८॥

सत्यमेव जिनाऽऽदेशो जिनवचनमित्थंभूतमेव, यदुत विरतिपरिणाम एव प्रव्रज्या नाऽन्यथाभावः। तथाऽप्यधिकृतविधानमवन्ध्यमेवेत्येतदाह-एष पुनश्चैत्यवन्दनाऽऽदिविधिना सामायिकाऽऽरोपणव्यतिकरस्तस्य विरतिपरिणामस्यापायो हेतु प्रायो बाहुल्येन यद्यस्मात् तस्मात्क्रियत एवेदं चैत्यवन्दनाऽऽदिप्रव्रज्याविधानमिति गाथार्थः।

उपायतामाह-

जिणपन्नत्तं लिंगं, एसो उ विही इमस्स गहणम्मि।
पत्तो मए त्ति सम्मं, चिंतेंतस्सा तओ होइ ॥ १६९ ॥

जिनप्रज्ञप्तं लिङ्गं तीर्थकरप्रणीतमेव तत् साधुचिह्नं रजोहरणमिति। एष च चैत्यवन्दनाऽऽदिलक्षणो विधिरस्य लिङ्गस्य ग्रहणे अङ्गीकरणे प्राप्तो मयाऽत्यन्तदुराप इत्येवं चिन्तयतः सतः शुभभावत्वादसौ विरतिपरिणामो भवतीति गाथार्थः।

कथं गम्यत इति चेदुच्यते-

लक्खिज्जइ कज्जेणं, जम्हा तं पाविऊण सप्पुरिसा।
नो सेवंति अकज्जं, दीसइ थोवं पि पाएणं ॥ १७० ॥

लक्ष्यते गम्यते कार्येणाऽसौ विरतिपरिणामः, कथमित्याह-यस्मात्तं चैत्यवन्दनपुरस्सरं सामायिकाऽऽरोपणविधिं संप्राप्य सत्पुरुषाः महासत्त्वाः प्रव्रजिताः, वयमिति, न सेवन्ते अकार्यं परलोकविरुद्धं किञ्चित् दृश्येतत्प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यत एतत् स्तोकमप्यकार्यं प्रायशो बाहुल्येन न सेवन्ते, अतो विपरिणामसामर्थ्यमेतदिति गाथार्थः।

साम्प्रतं यदुक्तं श्रूयते चैतद्व्यतिकरविरहेणापि स इह भरताऽऽदीनामित्येतत्परिजिहीर्षुराह-

आहच्च भावकहणं, नय पाओ जुज्जए इहं काउं।
ववहारनिच्छया जं, दोन्नि वि सुत्ते समा भणिया ॥१७१॥

कदाचित्कभावकथनं भरताऽऽदिलक्षणं न च प्रायो युज्यते इह विचारे कर्तुम् किमित्यत आह- व्यवहारनिश्चयौ यतो नयौ द्वावपि सूत्रे समौ भणितौ प्रतिपादितौ भगवद्भिरिति गाथार्थः।

एतदेवाऽऽह-

जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
ववहारणउच्छेए, तित्थुच्छेओ जओऽवस्स ॥१७२॥

यदि जिनमतं प्रपद्यध्वं यूयं ततो मा व्यवहारनिश्चयौ मुञ्चत महाशिष्टाः। किमित्याह-व्यवहारनयोच्छेदे तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यमतो व्यवहारतोऽपि प्रव्रजित एव गाथार्थः।

एतदेव समर्थयति-

ववहारपवत्तीअ वि, सुहपरिणामो तओ अ कम्मस्स।
निअमेणमुत्तसमाई, णिच्छयणयसम्मयं तत्तो ॥१७३॥

व्यवहारप्रवृत्त्याऽपि चैत्यवन्दनादिविधिना प्रव्रजितोऽहमित्यादिलक्षणो यः शुभपरिणामो भवति, ततश्च शुभपरिणामात् कर्मणः ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदेर्नियमेनोपशमाऽऽदयो भवन्ति। आदिशब्दात् क्षयक्षयोपशमाऽऽदिपरिग्रहः। निश्चयनयसम्मतं तत इति तत उपशमाऽऽदेर्विरतिपरिणामो भवतीति गाथाऽर्थः।

यच्चोक्तं सति तस्मिन्निदं च फलमित्यादि, तन्निराकरणार्थमाह-

होंति वि तस्सिं विहलं, न खलु इमं होइ एत्थऽणुट्ठाणं।
सेसाणुट्ठाणं पि अ, आणाआराहणाए उ ॥ १७४ ॥

भवत्यपि तस्मिन्विरतिपरिणामे विफलं न खल्विति चैत्यवन्दनं चेदं चैत्यवन्दनाऽऽदि भवत्यत्र प्रक्रमेऽनुष्ठानं, किंतु सफलमेव शेषानुष्ठानमिवोपाधिप्रत्युपेक्षणाऽऽदिवत्। कुत इत्याह-आज्ञाऽऽराधनात एव तीर्थकरोपदेशानुपालनादेव, भगवदुपदेशश्चायमिति गाथाऽर्थः।

द्वितीयं पक्षमधिकृत्याऽऽह-

असइ मुसावाओ वि अ,इसिं पि न जायते तहा गुरुणो।
विहिकारगस्स आणा-आराहणभावओ चेव ॥१७५॥

असति विरतिपरिणामे मृषावादोऽपि ईषदपि मनागपि न ज्ञायते गुरोरुक्तलक्षणस्य। किंविशिष्टस्येत्यत्राऽऽह-विधिकारकस्य सूत्राऽऽज्ञासंपादकस्येति। कुत इत्याह-आज्ञाऽऽराधनभावत एव भगवदाज्ञासंपादनादेवेति गाथाऽर्थः।

विधिप्रव्राजने गुणानाह-

होंति गुणा निअमेणं, आसंसाईहिँ विप्पमुक्कस्स।
परिणामविसुद्धीओ,अजुत्तकारिम्मि वि तयम्मि ॥१७६॥

भवन्ति गुणा नियमेन कर्मक्षयाऽऽदयो विधिप्रव्राजने सति आसंसाऽऽदिभिर्विप्रमुक्तस्य गुरोरादिशब्दात्संपूर्णपर्षदादिपरिग्रहः। कुतो भवन्ति-परिणामविशुद्धेः संसारिकदुःखेभ्यो मुच्यतेऽयमित्यध्यवसायादयुक्तकारिण्यपि कुतश्चित्कर्मोदयात् तस्मिन् शिष्ये। इति गाथाऽर्थः।

तम्हा न जुत्तमेअं, पव्वज्जाए विहाणकरणं तु।
गुणभावओ अकरणे, तित्थुच्छेआइआ दोसा ॥१७७॥

यस्मादेवं तस्मान्न युक्तमेतदनन्तरोदितं प्रव्रज्याया विधानकारणं तु चैत्यवन्दनाऽऽदि। कुत इत्याह-गुणभावत उक्तन्यायात्कर्मक्षयाऽऽदिगुणभावादकारणे प्रस्तुतविधानस्य तीर्थोच्छेदाऽऽदयो दोषाः, तीर्थोच्छेदस्तत्त्वे प्रव्रज्या न कल्पते इति गाथाऽर्थः।

एतदेव भावयति-

छउमत्थो परिणामं, सम्मं नो मुणइ ता ण देइ तओ।
न य अइसओ वि तीए, विणा कहं धम्मचरणं तु ॥१७८॥

छद्मस्थश्च परिणामं विनेयसंबन्धिनं सम्यक् न मनुते न जानाति, ततो न ददात्यसौ दीक्षां परदर्शनेन, ततोऽतिशयी दास्यतीति चेदत आह-न चातिशयोऽप्यस्त्यधुना, तया भावतो दीक्षया विना कथं धर्मचरणमिति सामान्येनैव धर्मचरणाभावः। इति गाथाऽर्थः।

"तयभावो" भरताऽऽद्युदाहरणमुक्तं तद्दोषहत्याऽऽह-

आइपभावकहणं, तं पि हु तप्पुव्वयं जिणा विंति।
तयभावे ण य जुत्तं, तयं पि एसो विही तेणं ॥१७९॥

कादाचित्कभावकथनं भरताऽऽदीनामतिशयाऽऽदिरूपं यत्तदपि तत्पूर्वकं जन्मान्तराभ्यस्तप्रव्रज्याविधानपूर्वकं जिना ब्रुवते। तदभावे च जन्मान्तराभ्यस्तप्रव्रज्याविधानाभावे च,न युक्तं,तदपि कादाचित्कभावकथनं यत एवमेष विधिरनन्तरोदितः प्रव्रज्यायाः ततोऽन्याय्या। इति गाथाऽर्थः।

अन्ने अगारवासं, पावाओ परिच्चयंति इइ विंति।
सीओदगाइभोगं, अदिन्नठाण त्ति न करिंति ॥१८०॥

अन्ये वादिन इति ब्रुवत इति संबन्धः। किमित्याह-अगारवासं गृहवासं पापात्परित्यजन्ति, पापोदयेन तत्परित्यागबुद्धिरुत्पद्यते। ·· · (?) इति गाथाऽर्थः।

एतदेव समर्थयति-

बहुदुक्खसंविढत्तो, नासइ अत्थो जहा अभव्वाणं।
इअ पुन्नेहिँ वि पत्तो,अगारवासो वि पावाणं ॥१८१॥

(बहुदुक्खसंविढत्तो त्ति)बहुदुःखसमर्जितः सन्नश्यत्यर्थो यथा अभव्यानामपुण्यवताम्। ( इय ) एवं पुण्यैरपि प्राप्तः अगारवासोऽपि पापानां नश्यति, क्षुद्रपुण्योपात्तत्वादिति गाथाऽर्थः।

चत्तम्मि घरावासे, ओआसविवज्जिओ पिवासत्तो।
खुहिओ अ परिअडंतो,कहं न पावस्स विसउ त्ति ॥१८२॥

त्यक्ते गृहाऽऽवासे, प्रव्रजित सन्नित्यर्थः। अवकाशविवर्जितः आश्रयरहितः पिपासाऽऽर्त्ते तृट्परीत क्षुधार्तश्च पर्यटन् कथं न पापस्य विषय इति पापे येन सर्वमेतद्भवतीति गाथाऽर्थः।

तथा चाऽऽह-

सुहझाणाओ धम्मो, सव्वविहीणस्स तं कओ तस्स ?।
अन्नं पि जस्स निच्चं, नत्थि उवट्ठंभहेउ त्ति ॥१८३॥

शुभध्यानात् धर्मध्यानाऽऽदेर्धर्म इति सर्वतन्त्रप्रसिद्धः, सर्वविहीनस्य सर्वोपकरणरहितस्य तच्छुभध्यानं कुतस्तस्य प्रव्रजितस्य, अन्नमपि भोजनमपि, आस्तां शीतत्राणाऽऽदि, यस्य नित्यं सदोचितकाल, नास्त्युपष्टम्भहेतुः शुभध्यानाऽऽश्रयस्य कायस्येति गाथाऽर्थः।

तम्हा गिहासमरओ, संतुट्ठमणो अणाउलो धीमं।
परहिअकरणेक्करई, धम्मं साहेइ मज्झत्थो ॥ १८४ ॥

यस्मादेवं तस्माद् गृहाश्रमरतः सन् संतुष्टमना न तु लोभाभिभूत, अनाकुलो न तु सदा गृहकर्तव्यतामूढः, बुद्धिमान् तत्त्वज्ञ, परहितकरणैकरतिर्न स्वात्मंभरिर्धर्मं साधयति मध्यस्थो न तु क्वचिद्रक्तो द्विष्टो वेति गाथाऽर्थः। एष पूर्वपक्षः।

अत्रोत्तरमाह-

किं पावस्स सरूवं, किं वा पुन्नस्स संकिलिट्ठं जं।
वेइज्ज य तेणेव य,तं पावं पुण्णमिअरं ति ॥ १८५ ॥

पापात्परित्यजन्ति पुण्योपात्तं गृहाश्रममिति पक्षान्तरम्। आचार्यस्त्वाह-किं पापस्य स्वरूपं किं वा पुण्यस्येति पुण्यपापयोर्यथा स्वरूपलक्षणं तथा कुशलानुबन्धिना पुण्यात्परित्यजन्ति पुण्योपात्तं गृहाश्रममिति परमकुशलानुबन्धि यत्, पापात् परित्यजन्ति गृहवासमित्येतदयुक्तं यदर्थात्। एतदेव तदाः स्वरूपमाह-संक्लिष्टं मलिनं पापस्वरूपं तत्र वेद्यते चानुभूयते तेन

नैव संक्लेशेन तत्पापम् । पुण्यमितरदिति यदसंक्लेशेनैव च वेद्यते । इति गाथाऽर्थः ।

एवमनयोः स्वरूपे उक्ते सत्याह-

जइ एवं किं गिहिणो, अत्थोवायाणपालणाईसु ।
विअणा ण संकिलिट्ठा, किं वा तीए सरूवं ति ? ॥१८६॥

यद्येवं पुण्यपापयोः स्वरूपं यथाऽभ्यधायि भवता,नन्वेवं किं गृहिणः अर्थोपादानपालनाऽऽदिषु सत्सु आर्तध्यानाऽऽदि-ष्वादिशब्दाद्माशाऽऽदिपरिग्रहः । वेदना न संक्लिष्टा, संक्लिष्टैवेत्यभिप्रायः । किं वा तस्याः संक्लिष्टाया वेदनायाः स्वरूपं, यद्येषाऽपि संक्लिष्टा न भवतीति गाथाऽर्थः ।

पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

गेहाईणमभावे, जातं रूवं इमइ अह इट्ठं ।
जुज्जइ अ तयभिसंगे, तदभावे सव्वहाऽजुत्तं ॥ १८७ ॥

गेहाऽऽदीनां गृहधनाऽऽदीनामभावे या वेदना,तद्रूपमस्याः संक्लिष्टाया वेदनायाः । अथेष्टमभ्युपगतं भवता । एतदाशङ्क्याऽऽह-युज्यते एतद्रूपं तस्याः तदभिष्वङ्गे गेहाऽऽदिष्वभिलाषे सति, तदभावेऽभिष्वङ्गाभावे सर्वथा एकान्तेनायुक्तं तद्रूपमस्य निराभिष्वङ्गस्य संक्लेशयोगादिति गाथाऽर्थः ।

एतदेव समर्थयति-

जो एत्थ अभिस्संगो, संतासंतेसु पावहेउ त्ति ।
अट्टज्झाणविअप्पो, स इमीए संगओ रूवं ॥ १८८ ॥

योऽत्र लोके अभिष्वङ्गो मूर्च्छालक्षणः सदसत्सु गेहाऽऽदिषु पापहेतुरिति पापकारणमार्तध्यानविकल्प अशुभध्यानभेदोऽभिष्वङ्गः स खल्वस्यां संक्लिष्टाया वेदनायाः संगतो रूपमिति गाथाऽर्थः ।

तत किमित्याह-

एसो अ जायइ दढ, संतेसु वि अकुसलाणुबंधाओ ।
पुण्णाओ ता तं पि हु, नेअं परमत्थओ पावं ॥ १८९ ॥

एषो वाऽभिष्वङ्गो जायते दृढमत्यर्थं, सत्स्वपि गेहाऽदिष्विति गम्यते । कुत इत्याह-अकुशलानुबन्धिनः मिथ्यानुष्ठानोपात्तात्पुण्याद्यस्मादेवं तत्तस्मात्तदप्यकुशलानुबन्धि पुण्यं ज्ञेयं परमार्थतः पापं संक्लेशहेतुत्वादिति गाथाऽर्थः ।

तथा च-

कइया सिज्झइ दुग्गं,को वामो मज्झ वट्टए कहं वा ? ।
जायं इमं ति चिंता, पावा पावस्स य निदाणं ॥ १९० ॥

कदा सिध्यति दुर्गं बलदेवपुराऽऽदि,को वाम. प्रतिकूलो मे मरपतिर्वर्तते, कथं वा जातमिदमस्य वामत्वमिति । एवंभूता चिन्ता पापा संक्लिष्टाऽऽर्त्तध्यानत्वात् । पापस्य च निदानं कारणमार्त्तध्यानत्वादेवेति गाथाऽर्थ ।

इइ चिंताविसघारिअ देहो विसए वि सेवइ न जीवो ।
चिट्ठउ अ ताव धम्मो-ऽसतेसु वि भावणा एवं ॥ १९१ ॥

इति एवं चिन्ताविषघारितदेहो चिन्ताविषव्याप्तशरीरः सन् विषयानपि सेवते,न जीव । तथा आकुलत्वात् तिष्ठतु च तावद्धर्मो विशिष्टाप्रमादसाध्य असत्स्वपि, गेहाऽऽदिष्विति गम्यते । अभिष्वङ्गे सति भावना एवमिति अशुभचिन्ता धर्मविरोधिनी यायादेवेति गाथाऽर्थः ।

एतदेवाऽऽह-

दीणो जणपरिभूओ, असमत्थो उदरभरणमित्ते वि ।
वित्तेण पावकारी, तह वि हु पावस्स फलं एअं ॥ १९२ ॥

दीनः कृपणः, जनपरिभूतो लोकगर्हितः, असमर्थ उदरभरणमात्रेऽपि-आत्मंभरिरपि न भवति । वित्ते न पापकारी तथापि तु एवंभूतोऽपि सन्नसदिच्छया पापवित्त इत्यर्थः । पापफलमेतदिति जन्मान्तरकृतस्य कार्यभाविनश्च कारणमिति गाथाऽर्थः ।

यद्येवं किं विशिष्टं तर्हि पुण्यमित्यत्राऽऽह-

संतेसु वि भोगेसुं, नाभिस्संगो दढं अणुट्ठाणं ।
अत्थि य परलोगम्मि वि, पुन्नं कुसलाणुबंधिमिणं ॥१९३॥

इह यदुदयात् सत्स्वपि भोगेषु शब्दाऽऽदिषु नाभिष्वङ्गो दृढमत्यर्थमनुष्ठानमस्ति च परलोकेऽपि दानध्यानाऽऽदि पुण्यं कुशलानुबन्धादि जन्मान्तरेऽपि कुशलकारणत्वादिति गाथाऽर्थः ।

परिसुद्धं पुण एयं, भवविडविनिबंधणेसु विसएसु ।
जायइ विरागहेऊ, धम्मज्झाणस्स य निमित्तं ॥ १९४ ॥

परिशुद्धं पुनरेतदभ्यासवशेन कुशलानुबन्धि पुण्य भवविटपिनिबन्धनेषु विषयेषु संसारवृक्षबीजभूतेष्वित्यर्थ. । जायते विरागहेतुर्वैराग्यकारणं धर्म्मध्यानस्य च निमित्तं महापुण्यवतां महापुरुषाणा तथोपलब्धेरिति गाथाऽर्थः ।

एतच्च विषये विरागाऽऽदि महत्सुखमित्याह-

जं विसयविरत्ताणं,सुक्खं सज्झायभाविअमईणं ।
तं मुणइ मुणिवरो च्चिअ, अणुहावओ पुण अओ वि ।१९५।

यद्विषयविरक्तानामसदिच्छारहितानां सौख्यं सज्ज्ञानभावितमतीनां च धर्म्मध्यानाऽऽदिभावितचित्ताना तन्मनुते जानाति मुनिवर एव साधुरेवानुभावतोऽनुभवनेन पुनरन्योऽप्यसाधुः तथानुभवभावादिति गाथाऽर्थः ।

एतदेव समर्थयति-

कंखिज्जइ जो अत्थो, सपत्तीए न तं सुहं तस्स ।
इच्छाविणिवित्तीए, जं खलु बुड्ढप्पवाओऽयं ॥१९६॥

काङ्क्ष्यतेऽभिलष्यते योऽर्थः संप्राप्त्या न तत्सुखं तस्यार्थस्य इच्छाविनिवृत्त्या यत्खलु सुखं वृद्धप्रवादोऽयमाप्तप्रवादोऽयमिति गाथाऽर्थ. ।

मुत्तीए वभिचारो, तं णो जं सा जिणेहिँ पन्नत्ता ।
इच्छाविणिवित्तीए, चेव फलं एगरिसं पत्तं ॥ १९७ ॥

मुक्त्या व्यभिचारस्तत्काङ्क्षणे तत्प्राप्त्यैव सुखभावादेतदाशङ्क्याऽऽह-तन्न यद्यस्मादसौ मुक्तिर्जिनै. प्रज्ञप्ता तीर्थकरैरुक्ता इच्छाविनिवृत्तेरेव फलं न पुनरिच्छापूर्वकमिति प्रकर्ष.प्राप्तं सामायिकं संयताऽऽदेरारभ्योत्कर्षेण निष्ठाप्राप्तमिति गाथाऽर्थ. ।

किं च-

जस्सिच्छाए जायइ, संपत्ती तं पडुच्चिमं भणिअं ।
मुत्ती पुण तदभावे जमणिच्छा केवली भणिया ॥१९८॥

यस्यार्थस्येच्छया प्रवृत्तिनिमित्तभूतया जायते संप्राप्तिस्तम-र्थं विलयाऽऽदिकं प्रतीत्येदं भणितं,काङ्क्ष्यत इति । मुक्तिः पुनस्तदभावे इच्छाभावे जायते । कुतः ?, इत्याह-यद्यस्मादनि-

अभयं च कयं ताहिं, किं लद्धं पुच्छिए अभयं ॥२२४॥

अनयोरर्थः कथानकेनैवोच्यते-" वसंतउरे नयरे जियसत्तू राया पियपत्तीहिं सद्धिं निज्जूहगराओ चिट्ठइ । इओ य तेणगो वज्झो निज्जइ । सो य मच्चुभएण विहाणगो रायपत्तीहिं दिट्ठो । कारुणिगाहिं विन्नत्तो राया-महाराय ! कुणिमो एयस्स पयावत्थगस्स य किं पि उवगारं ति । राइणाऽणुन्नाया ते । ताओ एगाए सिणाविऊण एयं पि ताव पावओ तिव्वं पागतिहाइणाऽभंगाविऊण एहविओ परिहाविओ विलित्तो य । दससाहस्सीए णीअपरिवएणं अन्नाए भूसिऊणाहाराऽऽदिणा भुंजाविओ अट्ठारस वि खंडप्पगारे वीससाहस्सीएणं परिवएणं । अन्नाए भणियं-महाराय ! णत्थि मे विहवे जेण एयस्स उवगरेमि । राइणा भणियं-मए हवति किं तुज्झ नत्थि, देह जं रोयतीति । तीए भणियं-जइ एवं ता अभयं एयस्स । इयरीहिं भणियं-मोग्गडा एसा । तीए भणियं-जं मए दिन्नं तं न तुज्झेहिं । एत्थ एसो पमाणं । पुच्छिओ तेणगो-भण किमेत्थ लद्धं ति ? । तेण भणियं-सेसं ण याणामि, अभयदाणे मे वेयणापसमुत्ति । " अतोऽभयकरणमेव परोपकार इति गाथाद्वयाऽर्थः ।

गृहिणस्ते तदविकलं न भवतीत्याह-

गिहिणो पुण संपज्जइ, भोअणमित्तं पि निअमिओ चेव ।
छज्जीवकायघाए-ण ता तओ कह णु लद्धो त्ति ? ॥२२॥

गृहिणः पुनः संपद्यते भोजनमात्रमप्यास्तां तावदन्यद्रागादि नियमत एव । केनेत्याह-षड्जीवकायघातेन यतश्चैवं ततस्तस्मादसौ गृहाऽऽश्रमः कथ नु लब्धो, नैव शोभनः । इति गाथाऽर्थः ।

अनेन वाद्स्थानान्तरमपि परिहृतं द्रष्टव्यमित्येतदाह-

गुरुणो वि कह न दोसो, तवाइदुक्खं तहा करिंतस्स ।
सीसाणमेवमाइ वि, पडिसिद्धं चेव एएण ॥ २२६ ॥

गुरोरपि प्रव्राजकस्य कथं न दोषः तपआदिना दुःखं तथा तेन प्रकारेणानशनाऽऽदिना कुर्वतः,केषामित्याह-शिष्याणामेवमाद्यपि,कुतोऽयमादिशब्दात् स्वजनवियोगाऽऽदिपरिग्रहः । प्रतिषिद्धमेव एतेनानन्तरोदितेन ग्रन्थेनेति गाथाऽर्थः ।

कथमित्याह-

परमत्थओ न दुक्खं, भावम्मि वि तं सुहस्स होउ त्ति ।
जह कुसलविज्जकिरिआ, एवं एअं पि नायव्वं ॥२२७॥

' कह व त्ति दारं गयं । ' परमार्थतो न दुःखं तप इत्युक्तभावेऽपि दुःखस्य तत् तथा दुःखं सुखस्य हेतुरिति । निर्वृतिसाधकत्वेनात्र दृष्टान्तमाह-यथा कुशलवैद्यक्रिया दुःखदाऽप्यातुरस्य न वैद्यदोषायैवमेतदपि सांसारिकदुःखमोचकं तदनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति गाथाऽर्थः । प० व० १ द्वार । (दी- ... 'दिक्खा' शब्दे चतुर्थभागे २५०६ पृष्ठे उक्तम्)

( २५ ) परीक्ष्य प्रव्राजयति-

' ! कहं परिक्खा ? । गोयमा ! णं जे केइ पुरिसे इ वा, ... वा सामन्नं पडिवज्जिउकामे कखेज्ज वा,निसीएज्ज वा पकरेज्ज वा, सगेण वा परगेण वा आसंतेइ वा वा, ते बहुत्तं गच्छेज्ज वा, अनालोइज्ज वा, पलोइज्ज वा, वेसग्गहणे ठाइज्जमाणे कोइ उप्पाएइ वा असुहे दुन्निमित्ते इ वा भवेज्जा; से णं गीयत्थे गणी अइयरेइ वा मयहरादी महयाऽन्नेणं निरूविज्जा, जस्स णं एयाइं परकज्जा, से णं णो पव्वावेज्जा, से णं गुरुपडिणीए भवेज्जा, से णं निद्धम्मसवले भवेज्जा, से णं सव्वहा सव्वपयारेसु णं केवल एगंतेणं अइज्जकरणुज्जए भवेज्जा, से णं जेण वा तेणं वा सुएण वा विन्नाणेण वा गारवेए भवेज्जा, से णं संजइवग्गस्स चउत्थवयखंडणसीले भवेज्जा, से णं बहुरूवे भवेज्जा । से भयवं ! कयरेणं से बहुरूवे वुच्चइ ? । जे णं ओसन्नविहारीणं ओसन्ने उज्जुयविहारी णं निद्धम्मसवलाणं निद्धम्मसवले बहुरूवी रंगगए वारणे इव, णडे खणेणं रामो खणेण लक्खणे खणेणं दसग्गीवरावणे खणेणं दप्परयतुदंतुरजराजुत्तगत्तपंडुरकेसबहुपवंचभरिए विदूसगे खणेणं तिरियंचजाती वाणरहणुमंतकेसरी; जहा एस गोयमा ! तहा णं से बहुरूवे । एवं गोयमा ! जे णं असई कयाइ चुक्कखलिएणं पव्वावेज्जा से णं दूरद्धाणववहिए करेज्जा, से णं सन्निहिए णो धरेज्जा, से णं आयारंणं नो आलवेज्जा, से णं भंडमत्तोवगरणेणं नो पडिलाहावेज्जा, से णं तस्स गच्छसत्थं नो उद्दिसेज्जा, से णं गंथसत्थं नो अणुजाणेज्जा, से णं तस्स सद्धिं गुज्झरहस्सं वा णो मंतिज्जा । एवं गोयमा ! जे केइ एयदोसविप्पमुक्के से णं पव्वावेज्जा । तहा णं गोयमा ! मिच्छद्देसुप्पन्नं अणारियं णो पवावेज्जा, एवं वेस्सासुयं नो पव्वावेज्जा, एवं गणिगं नो पव्वावेज्जा, एवं चक्खुविगलं, एवं विगप्पियकरचरणं, एवं छिन्नकन्ननासोट्ठं, एवं कुट्ठवाहीए गलमाणं सडहडंतं, एवं पंगुं अयंगमं मूयं बहिरं, एवं अच्चुकडकसायं, एव बहुपासंडसंसट्ठं, एवं घणरागदोसमोहामिच्छत्तमलखवालियं, एवं आजियउत्तयं, एवं पोराणनिक्खुडं. एवं जिणालयाइबहुदेववलीकरणभोइयं चक्कायरं, एवं णडणट्टच्छत्तवारणं, एवं झयजड्ड चरणकरणजड्डं जड्डकायं णो पव्वावेज्जा, एवं तु जाय णं नामहीणं थामहीणं कुलहीणं जाइहीणं बुद्धिहीणं पन्नाहीणं गामउडमयहरं वा गामउडं मयहरसुयं वा अन्नयरं वा निंदियाणमहीणजाइयं वा अविन्नायकुलसहावं गोयमा ! सव्वहा णो दिक्खे, णो पव्वावेज्जा । महा० ५ अ० ।

(२६) एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नस्य श्रावकस्य प्रव्रज्या-

अथ तदनन्तरं यत्तस्य विधेयं स्यात्तदभिधित्सुराह-

भावेऊणऽत्ताणं, उवेइ पव्वज्जमेव सो पच्छा ।
अहवा गिहत्थभावं, उचियत्तं अप्पणो नाउं ॥ ३६ ॥

भावयित्वा वासयित्वा प्रतिमाऽनुष्ठानेनाऽऽत्मानं स्वमुपैत्युपगच्छति, प्रव्रज्यामेवानगारत्वमेव, तदुचितमात्मानं ज्ञात्वेत्यु-

तथा -

वाहिस्स य खयहेऊ, सेविज्जंता कुणंति धिइमेव ।

कडुगाई वि जणस्सा, ईसिं दंसिंतगाऽऽरोग्गं ॥२११॥

व्याधेरपि कुष्ठाऽऽदेः क्षयहेतव सेव्यमानाः कुर्वन्ति धृतिमेव, कटुकाऽऽदयोऽपि जनस्य ईषद्दर्शयन्त आरोग्यमनुभवसिद्धमेतदिति गाथाऽर्थ. । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः-

इअ एए वि अ मुणिणो, कुणंति धिइमेव सुद्धभावस्स ।

गुरुआणासंपाडण-चरणाइ सयं ति दंसित्ता ॥ २१२ ॥

( इय ) एवमेतेऽपि च क्षुदादयो मुनेः कुर्वन्ति धृतिमेव, न तु दु.खं, शुद्धभावस्य रागाऽऽदिविरहितस्य । किं दर्शयन्तः सन्त ?, ... । ( ? ) इति गाथाऽर्थः।

ण य ते वि होंति पायं, अविअप्पं धम्मसाहणमइस्स ।

न य एगंतेण वि अ, ते कायव्वा जओ भणियं ।२१३।

न च तेऽपि भवन्ति प्राय' क्षुदादयः अविकल्पं मातृस्थानविरहेण धर्मसाधनमतेः प्रव्रजितस्य धर्मप्रभावादेव । न चैकान्तेनैव ते क्षुदादयः कर्त्तव्या मोहोपशमाऽऽदिव्यतिरेकेण यतो भणितमिति गाथाऽर्थः ।

किं तदित्याह-

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।

जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा ण हीयंते ॥२१४॥

तद्धि तपः कर्त्तव्यमनशनाऽऽदि येन मनोऽमङ्गलमसुन्दरं न चिन्तयति, शुभाध्यवसायनिमित्तात्कर्मक्षयस्य । तथा येन नेन्द्रियहानि.,तद्भावे प्रत्युपेक्षणाऽऽद्यभावात् । येन च योगाः चक्रवालसामाचार्यन्तर्गता व्यापारा न हीयन्ते । इति गाथाऽर्थः।

देहे वि अपडिबद्धो, जो सो गहणं करेइ अन्नस्स ।

विहियाणुट्ठाणमिणं, ति कह तओ पावविसउ त्ति ।२१५।

देहेऽप्यप्रतिबद्धो यः विवेकात्स ग्रहणं करोत्यन्नस्यौदनाऽऽदेर्विहितानुष्ठानमिति, न तु लोभाद्यतश्चैवमत कथमसौ पापविषय इति, नैव पापविषय । एतेन कथं न पापविषय इत्येतत्प्रत्युक्तमिति गाथाऽर्थ. ।

किञ्च -

तत्थ वि अ धम्मझाणं, न य आसंसा तओ अ सुहमेव ।

सव्वं इय अणुठाणं, सुहावहं होइ विन्नेअं ॥२१६॥

तत्राऽपि चान्नग्रहणाऽऽदौ धर्मध्यान, सूत्राऽऽज्ञासंपादनात् । न चाऽऽशंसा, सर्वत्रैवाभिष्वङ्गनिवृत्तेः । यतश्चैव ततश्च सुखमेव तत्राऽपि सर्वं वस्त्रपात्राऽऽदि ( इय ) एवमुक्तेन न्यायेन सूत्राऽऽज्ञासंपादनाऽऽदिना अनुष्ठानं साधुसंबन्धि सुखाऽऽवहं भवति विज्ञेयमिति गाथाऽर्थ ।

एवंभावयत सूत्रोक्ता चेष्टा सुखदैव, तदन्यस्य तु दु.खदेति सिद्धसाध्यता । तथा चाऽऽह-

चारित्तविहीणस्सा, अभिसंगपरस्स कलुसभावस्स ।

अन्नाणिणो अ जा पुण,सा पडिसिद्धा जिणवरेहिं।२१७।

चारित्रविहीनस्य द्रव्यप्रव्रजितस्याभिष्वङ्गपरस्य भिक्षाऽऽदावेव कलुषभावस्य यो द्वेषाऽऽत्मा तस्याऽज्ञानिनश्च मूर्खस्य या भिक्षाऽटनाऽऽदिचेष्टा सा प्रतिषिद्धा जिनवरैः, प्रत्युत बन्धनिबन्धनमसाविति गाथाऽर्थः ।

तथा च-

भिक्खं अडंति आरं-भसंगया अपरिसुद्धपरिणामा ।

दीणा संसारफलं, पावाओ जुत्तमेअं तु ॥ २१८ ॥

भिक्षामटन्त्युदरभरणार्थमारम्भसङ्गतास्तथा षड्जीवनिकायोपमर्दनप्रवृत्त्या अपरिशुद्धपरिणामाः उक्तानुष्ठानगम्यमहामोहाऽऽदिरञ्जिता., दीना अल्पसत्त्वाः संसारफला भिक्षां, न तु सुयनिवद् दातृगृहीत्रोरपवर्गफलां, पापाद्युक्तमेव तदिति । एतदित्थंभूतमकुशलानुबन्धिना पापेन भवतीति न्याय्यमेतदिति गाथाऽर्थ. ।

कस्य पुन. कर्मणः फलमिदमित्याह-

ईसं काऊण सुहं, निवाडिया जेहिँ दुक्खगहणम्मि ।

मायाएँ केइ पाणी, तेसिं एआरिसं होइ ॥ २१६ ॥

ईषत्कृत्वा सुखं गलप्रव्रजिताऽविधिपरिपालनाऽऽदिना निपातिता यैर्दु खगहने दु.खसङ्कटे मायया केचित्प्राणिन ऋजवस्तेषां सत्त्वानामीदृशं भवति ईदृक्फलदायि पापं भवतीति गाथाऽर्थः ।

तथा च-

चइऊण घरावासं, तस्स फलं चेव मोहपरतंता ।

ण गिही ण य पव्वइआ, संसारविवड्ढगा भणिआ ॥२२०॥

त्यक्त्वा गृहवास दीक्षाऽभ्युपगमेन, तस्य फलं चैव गृहवासत्यागस्य फलं प्रव्रज्या; ता च त्यक्त्वा विरुद्धासेवनेन, मोहपरतन्त्राः सन्तो न गृहिणः, प्रकटवृत्त्या तस्य त्यागात्र च प्रव्रजिता , विहितानुष्ठानाकरणात् । त एवम्भूताः ( संसारपवड्ढग त्ति ) संसाराऽऽकर्षका', दीर्घसंसारिण इत्यर्थः । भणितास्तीर्थकरगणधरैरिति गाथाऽर्थ ।

उपसंहरन्नाह-

एएणं चिअ सेसं, जं भणिअं तं पि सव्वमक्खित्तं ।

सुहझाणाइअभावा, अगारवासम्मि विन्नेअं ॥२२१॥

एतेनैवानन्तरोदितेन शेषमपि शुभध्यानाद्धर्म इत्यादि यद्भणितं तदपि सर्वमाक्षिप्तमागृहीतं, विज्ञेयमिति योग. । कुत ?, इत्याह-शुभध्यानाऽऽद्यभावात् आगारवास इति । न ह्यागारवासे उक्तवत्कदा सिद्धयति दुर्गमित्यादिना शुभध्यानाऽऽदिसम्भव इति गाथाऽर्थः ।

यच्चोक्तं परहितकरणैकरतिरित्यत्राऽऽह-

मुत्तूण अभयकरणं, परोवयारो वि नत्थि अण्णो त्ति ।

दंडिगतेणगणायं, न य गिहिवासे अविगलं तं ॥२२२॥

मुक्त्वाऽभयकरणमिहलोकपरलोकयो. परोपकारोऽपि नास्त्यन्य इति अत्र दृष्टान्तमाह-दण्डिकस्तेनकज्ञातमत्र द्रष्टव्यम् । न च गृहवासे अविकलं तदभयकरणमिति गाथाऽर्थ.।

यच्चोक्तं परहितकरणैकरतिरित्यत्र दण्डिकस्तेनोदाहरणमाह-

तेणस्स वज्झनयणं, विद्दाणग रायपत्तिपासणया ।

निवविण्णवणं कुणिमो, उवयार किं पि एअस्स ॥२२३॥

रायाणुण्णा ण्हवणग, विलेवणं भूसणं सुहाऽऽहारं ।

अभयं च कयं ताहिं, किं लद्धं पुच्छिए अभयं ॥२२४॥

अनयोरर्थः कथानकेनैवोच्यते-" वसंतउरे नयरे जियसत्तू राया पियपत्तीहिं सद्धिं निज्जूहगराओ चिट्ठइ । इओ य तेणगो वज्झो निज्जइ । सो य मच्चुभएण विद्दाणो रायपत्तीहिं दिट्ठो । कारुणिगाहिं विन्नत्तो राया-महाराय ! कुणिमो एयस्स पयावत्थगस्स य किं पि उवगारं ति । राइणाऽणुन्नाया ते । ताओ एगाए मिन्नावेऊण एयं पि ताव पावओ तिव्वं पागतिन्नाइणाऽभंगावेऊण एहविओ परिहाविओ विलित्तो य । दससाहस्सीए णीअपरिवएणं अन्नाए भूसिऊणाहाराऽऽदिणा भुंजाविओ अट्ठारस वि खंडप्पगारे वीससाहस्सीएणं परिवएणं । अन्नाए भणियं-महाराय ! नत्थि मे विहवे जेण एयस्स उवगरेमि । राइणा भणियं-मए हवति किं तुज्झ नत्थि, देह जं रोयतीति । तीए भणियं-जइ एवं ता अभयं एयस्स । इयरीहिं भणियं-मोग्गडा एसा । तीए भणियं-जं मए दिन्नं तं न तुज्झेहिं । एत्थ एसो पमाणं । पुच्छिओ तेणगो-भण किमेत्थ लद्धं ति ? । तेण भणियं-सेसं ण याणामि, अभयदाणे मे वेयणापसमुत्ति ।" अतोऽभयकरणमेव परोपकार इति गाथाद्वयाऽर्थः ।

गृहिणस्ते तदविकलं न भवतीत्याह-

गिहिणो पुण संपज्जइ, भोअणमित्तं पि निअमिओ चेव ।
छज्जीवकायघाए-ण ता तओ कह णु लद्धो त्ति ? ॥२२॥

गृहिणः पुनः संपद्यते भोजनमात्रमप्यास्तां तावदन्यद्रागादि नियमत एव । केनेत्याह-षड्जीवकायघातेन यतश्चैवं ततस्तस्मादसौ गृहाऽऽश्रमः कथं नु लब्धो, नैव शोभनः । इति गाथाऽर्थः ।

अनेन वादस्थानान्तरमपि परिहृतं द्रष्टव्यमित्येतदाह-

गुरुणो वि कह न दोसो, तवाइदुक्खं तहा करिंतस्स ।
सीसाणमेवमाइ वि, पडिसिद्धं चेव एएण ॥ २२६ ॥

गुरोरपि प्रव्राजकस्य कथं न दोषः तपआदिना दुःखं तथा तेन प्रकारेणानशनाऽऽदिना कुर्वतः, केषामित्याह-शिष्याणामेवमाद्यपि, कुतोऽयमादिशब्दात् स्वजनवियोगाऽऽदिपरिग्रहः । प्रतिषिद्धमेव एतेनानन्तरोदितेन ग्रन्थेनेति गाथाऽर्थः ।

कथमित्याह-

परमत्थओ न दुक्खं, भावम्मि वि तं सुहस्स होउ त्ति ।
जह कुसलविज्जकिरिआ, एवं एअं पि नायव्वं ॥२२७॥

'कह व त्ति दारं गयं ।' परमार्थतो न दुःखं तप इत्युक्तभावेऽपि दुःखस्य तत् तथा दुःखं सुखस्य हेतुरिति । निर्वृतिसाधकत्वेनात्र दृष्टान्तमाह-यथा कुशलवैद्यक्रिया दुःखदाऽप्यातुरस्य न वैद्यदोषायैवमेतदपि सासारिकदुःखमोचकं तपोऽनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति गाथाऽर्थः । पं० व० १ द्वार । (दीक्षाषोडशकम् 'दिक्खा' शब्दे चतुर्थभागे २५०६ पृष्ठे उक्तम्)

( २५ ) परीक्ष्य प्रव्राजयति-

से भयवं ! कहं परिक्खा ? । गोयमा ! णं जे केइ पुरिसे इ वा, इत्थियाओ वा सामन्नं पडिवज्जिउकामे कखेज्ज वा, निसीएज्ज वा, छड्डिं वा पकरेज्ज वा, सगेण वा परगेण वा आसंतेइ वा सन्निएइ वा, ते बहुत्तं गच्छेज्ज वा, अनालोइज्ज वा, पलोइज्ज वा, वेसग्गहणे ठाइज्जमाणे कोइ उप्पाएइ वा असुहे दुन्निमित्ते इ वा भवेज्जा; से णं गीयत्थे गणी अ-अइयरेइ वा मयहरादी महयाऽन्नेणं निरूविज्जा, जस्स णं एयाइं परकज्जा, से णं णो पव्वावेज्जा, से णं गुरुपडिणीए भवेज्जा, से णं निद्धम्मसवले भवेज्जा, से णं सव्वहा सव्वपयारेसु णं केवल एगंतेणं अइज्जकरणुज्जए भवेज्जा, से णं जेण वा तेणं वा सुएण वा विन्नाणेण वा गारवेए भवेज्जा, से णं संजइवग्गस्स चउत्थवयखंडणसीले भवेज्जा, से णं बहुरूवे भवेज्जा । से भयवं ! कयरेणं से बहुरूवे वुचइ ? । जे णं ओसन्नविहारीणं ओसन्ने उज्जुयविहारी णं निद्धम्मसवलाणं निद्धम्मसवले बहुरूबी रंगगए वारणे इव, णडे खणेणं रामो खणेण लक्खणे खणेणं दसग्गीवरावणे खणेणं दप्परयतुदंतुरजराजुत्तगत्त-पंडुरकेसबहुपवंचभरिए विदूसगे खणेणं तिरियंचजाती वाणरहणुमंतकेसरी; जहा एस गोयमा ! तहा णं से बहुरूवे । एवं गोयमा ! जे णं असई कयाइ चुकखलिएणं पव्वावेज्जा से णं दूरट्ठाणववहिए करेज्जा, से णं सन्निहिए णो धरेज्जा, से णं आयारेणं नो आलवेज्जा, से णं भंडमत्तोवगरणेणं नो पडिलाहावेज्जा, से णं तस्स गच्छसत्थं नो उद्दिसेज्जा, से णं गंथसत्थं नो अणुजाणेज्जा, से णं तस्स सद्धिं गुज्झरहस्सं वा णो मंतिज्जा । एवं गोयमा ! जे केइ एयदोसविप्पमुक्के से णं पव्वावेज्जा । तहा णं गोयमा ! मिच्छदेसुप्पन्नं अणारियं णो पवावेज्जा, एवं वेस्सासुयं नो पव्वावेज्जा, एवं गणिगं नो पव्वावेज्जा, एवं चक्खुविगलं, एवं विगप्पियकरचरणं, एवं छिन्नकन्ननासोट्ठं, एवं कुट्ठवाहीए गलमाणं सडहडंतं, एव पंगुं अयंगमं मूय बहिर, एवं अच्चुकडकसायं, एव बहुपासंडसंसट्ठं, एवं घणरागदोसमोहामिच्छत्तमलखवालियं, एवं आजियउत्तयं, एवं पोराणनिक्खुडं. एवं जिणालयाइबहुदेवबलीकरणभोइयं चक्कायरं, एवं णडणट्टच्छत्तवारणं, एवं भयजड्ड चरणकरणजड्डं जड्डकायं णो पव्वावेज्जा, एवं तु जाव णं नामहीणं थामहीणं कुलहीणं जाइहीणं बुद्धिहीणं पन्नाहीणं गामउडमयहरं वा गामउडं मयहरसुयं वा अन्नयरं वा निंदियाणमहीणजाइयं वा अविन्नायकुलसहावं गोयमा ! सव्वहा णो दिक्खे, णो पव्वावेज्जा । महा० ५ अ० ।

(२६) एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नस्य श्रावकस्य प्रव्रज्या—

अथ तदनन्तरं यत्तस्य विधेयं स्यात्तदभिधित्सुराह-

भावेऊणऽत्ताणं, उवेइ पव्वज्जमेव सो पच्छा ।
अहवा गिहत्थभावं, उचियत्तं अप्पणो नाउं ॥ ३६ ॥

भावयित्वा वासयित्वा प्रतिमाऽनुष्ठानेनाऽऽत्मानं स्वमुपैत्युपगच्छति, प्रव्रज्यामेवानगारत्वमेव, तदुचितमात्मानं ज्ञात्वेत्यु-

स्सर्गः । स इति श्रावकः । पश्चात्प्रतिमाऽनुष्ठानानन्तरम् । अथवेति प्रकारान्तरद्योतनार्थः । गृहस्थभावं गृहित्वमेवो-पैतीति वर्तते । किं कृत्वेत्याह-उचितत्वं योग्यता गृहिभाव स्यैवाऽऽत्मनः स्वस्य ज्ञात्वाऽवगम्येति गाथाऽर्थः ।

अथ कस्मात्प्रतिमाभिर्भावयित्वैवाऽऽत्मानमुपैति प्रव्रज्या-मित्याशङ्क्याऽऽह-

गहणं पव्वज्जाए, जओ अजोगाण णियमतोऽणत्थो ।

तो तुलिऊणऽप्पाणं, धीरा एयं पवज्जंति ॥४०॥

ग्रहणं स्वीकरणं प्रव्रज्याया श्रामण्यस्य यस्मादयोग्याना-मनुचितानां नियमतोऽवश्यमेवानर्थोऽपायस्तस्मात्तुलयित्वा भावनया परीक्ष्य, योग्यता निश्चित्येत्यर्थः । आत्मानं स्वं धीरा धीमन्तः एता प्रतिपद्यन्तेऽङ्गीकुर्वन्तीति गाथाऽर्थः ।

तुलयित्वाऽऽत्मानमित्युक्तमथ तुलनैव कथमित्यत आह-

तुलणा इमेण विहिणा, एतीए हंदि नियमतो णेया ।

णो देसविरइकंडय-पत्तीए विणा जमेस त्ति ॥ ४१ ॥

तुलना आत्मनो योग्यता परीक्षाऽनेनानन्तरोक्तेन विधिना विधानेन प्रतिमाऽनुष्ठानलक्षणेन एतस्याः प्रव्रज्यायाः, हन्दी त्युपप्रदर्शने,नियमतो नियोगेन विज्ञेया अवसेया । अथ कस्मा-देवमित्याह-(नो) नैव देशविरतिरणुव्रताऽऽदिप्रतिपत्तिपरि-णामस्तस्य कण्डकान्यध्यवसायस्थानानि, तेषां या प्राप्तिर्ला-भः सा तथा तया देशविरतिकण्डकप्राप्त्या, विना तदभावे, यद्यस्मात्कारणादेषा प्रव्रज्या भवति । इतिशब्दो वाक्यार्थस-माप्तौ । प्रायिकं चैतत्-यतोऽसंख्याततमो भागः सिद्धानाम प्राप्तदेशविरतिकोऽपि सिद्धत्वमुपगतोऽभिधीयते । यदाह-"भागेहिं असंखेज्जेहिं फासिया देसविरईउ त्ति " तथा तु-लनाऽनेन विधिनेत्यपि प्रायिकम् । एतच्च स्वयमेवाग्रे दर्श यिष्यतीति गाथाऽर्थः ।

एवं तुलनापूर्वकं प्रव्रज्याया सत्यां यद्भवति तद्दर्शयितुमाह-

तीए य अविगलाए, वज्झा चेट्ठा जहोदिया पायं ।

होति णवरं विसेसा, कत्थति लक्खिज्जए ण तहा । ४२॥

तस्यामुक्तनुलनापुरस्सरप्रव्रज्यायां, चशब्दः पुनरर्थे । अवि-कलायां परिपूर्णायां तद्योग्यतानिश्चयपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नत्वा त्, बाह्या बहिर्वर्तिनी, चेष्टा प्रत्युपेक्षणाऽऽदिसामाचार्यनुपा लनारूपा, यथोदिताऽऽगमोक्ता, प्रायो बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं चोक्तविपरीतकारिभिर्गुरुकर्मप्राणिभिर्व्यभिचारोऽभिहितार्थ स्य मा भूदिति कृतमिति भवति स्यात् ननु कदाचित् ग्लान-त्वाऽऽदौ तथा प्रव्रज्यायामप्यसौ न दृश्यते इत्याशङ्क्याऽऽह-नवरं केवलं भवत्यपि सामान्येन सा विशेषतो विशेषेण क्वचिद्देशे काले पुरुषे वा पुष्टाऽऽलम्बनादाश्रितापवादे ल-क्ष्यते निश्चीयते स्थूलदृष्टिभिर्न नैव तथा तद्यथा स्वस्था-वस्थायां बाह्यचेष्टेति प्रकृतमिति गर्दभिल्लराजगृहीत-साध्वीविमोचनार्थमुज्जयिन्यामानीतपक्षवतिमामन्तकटक-कालिकाऽऽचार्यश्चेहोदाहरणमिति गाथाऽर्थ । ( कालि-काचार्यवृत्तम् ' कालगज्ज ' शब्दे तृतीयभागे ४६० पृष्ठे विस्तरतो गतम् )

अथ कस्मादिह यथोक्तैव चेष्टा स्यादित्याह-

भवणिव्वेयाउ जतो, मोक्खे रागाउ णाणपुव्वाओ ।

सुद्धासयस्स एसा, ओहेण वि वण्णिया समए ॥४३॥

भवनिर्वेदात्ससारविरागाद्यतो यस्मात्कारणात्तथा मोक्षे निर्वाणे रागादभिलाषात् । किं भूतात् ?, ज्ञानपूर्वात् सम्यक्-ज्ञानपुरस्सरात् न तु मिथ्याज्ञानपूर्वकात् शुद्धाऽऽशयस्य नि-र्मलाध्यवसायस्य जीवस्य एषा प्रव्रज्या ओघेनाऽपि सामान्य-तोऽपि सामायिकमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽप्यास्ता विशेषतोऽप्र-मत्ताऽऽदिसामायिकप्रतिपत्तितो वर्णिता भणिता समये सि-द्धान्ते, अतः कथमस्यामयथोक्तार्था चेष्टा । इति गाथाऽर्थः ।

येन वचनेन समये सा तथा वर्णिता तद्दर्शयन्नाह-

तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणो ।

सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥ ४४ ॥

इह प्राकृतशैल्यपेक्षया श्रमणशब्दं व्युत्पादयति-(तो इति) ततस्तस्माद्धेतोः "सह मणेण त्तिसेण वट्टइ त्ति" समणो. न चेह मनोमात्रास्तित्वं विवक्षितशब्दस्य सामायिकविशेषप्र-तिपादनार्थस्य व्युत्पत्तिनिमित्ततया विवक्षितं,सकलसंज्ञिसा-धारणत्वात् तस्येत्यतस्तद्विशेषणार्थमाह यदीत्यभ्युपगमे, शोभनं धर्मध्यानाऽऽदिप्रवृत्ततया मनश्चित्तं यस्य स सुमनाः। अनेन सद्गुणान्वितमनस्कत्वं विवक्षितशब्दव्युत्पत्तिनिमि-त्तत्वेनोक्तम् । अथ दोषरहितमनस्कतामाह-भावेनाऽऽत्मप-रिणामेन तत्त्वतो वा निरुपचरितत्वेन, चशब्दः समुच्चये, य-दीत्यभ्युपगमे, न भवति नैव स्यात् पापं प्राणातिपाता-ऽऽदिमत्सनिदानं वा मनो यस्य स पापमनाः,तथा स्वजने च पुत्राऽऽदिके जने चान्यस्मिन् समस्तुल्य प्रेमाप्रेमवर्जनेन । तथा समश्च तुल्य एव मानापमानयोः पूजेतरयोरिति उत्त-रार्द्धापेक्षया त्वेवं व्युत्पत्तिः-समः सन् सम्यग् वा अणति वर्तते योऽसौ निरुक्तविधिना ' समण इति ' स्यादित्येवं शु-द्धाऽऽशयस्यैषा वर्णितेति गाथाऽर्थः ।

अथ कस्याऽपि प्रतिमाऽनुष्ठानं विनाऽपि प्रव्रज्या यथोदि-तैव स्यादिति दर्शयन्नाह-

ता कम्मखओवसमा, जो एयपगारमंतरेणावि ।

जायति जहोइयगुणो, तस्स वि एसा तहा णेया ॥४५॥

( ता इति ) यस्माद्भवनिर्वेदाऽऽदे सकाशाद्विशुद्धाऽऽशय स्यैषा वर्णिता तस्मात्कारणात् क्षयोपशमात् ज्ञानाऽऽवर-णाऽऽदिकर्मविगमविशेषात् कारणाच्च प्राग्येतत्प्रकारमन्त रेणाऽपि बालत्वाऽऽदिकारणात्प्रतिमाऽऽनुष्ठानव्यतिरेकेणा-ऽपि एतत्प्रकारेण तावज्जायत एवेत्यपिशब्दार्थ , जायते सं-पद्यते यथोदितगुणः प्रव्रज्योचितगुणस्तस्याऽपि प्राणिनो, न केवलं प्रतिमाकारिण एव, एषा प्रव्रज्या, तथा तद्वत् प्रतिमा-कारिण इव ज्ञेयाऽवसेया, कर्मक्षयोपशमादेवेति गाथाऽर्थ ।

प्रतिमाप्रतिपत्तिव्यतिरेकेणाऽपि प्रव्रज्या जायते इत्येत-स्यैव समर्थनार्थमाह-

एत्तो च्चिय पुच्छाऽऽदिसु, हंदि विसुद्धस्स सति पयत्तेणं ।

दायव्वा गीतेणं, भणियमिणं सव्वदंसीहिं ॥४६॥

(एत्तो च्चिय त्ति) यत एतत्प्रकारमन्तरेणाऽपि उचितगुणस्य प्रव्रज्याप्रतिमाकर्तुरिव यथोक्ता भवति, अत एव कारणात्, पृच्छाऽऽदिषु पृच्छाकथनापरीक्षासु । तत्र पृच्छा-" कोऽसि तुमं, कत्तो वा, पव्वयसि वा किंनिमित्त त्ति । " एवमादिरूपा । कथना पुन प्रविव्रजिषो प्रव्रज्याभिधरूपकथनम् । यथा-"जह

चेव मोक्खफलया, आणा आराहिया जिणिंदाणं । संसारदुक्खफलया, तह चेव विराहिया होइ ॥ १ ॥ " इति । परीक्षा तु षण्मासाऽऽदिकालमाना विनयाऽऽदिभिस्तद्योग्यतानिरूपणा । एतेषु पदेषु, इन्दीत्युपप्रदर्शने, विशुद्धस्य निर्दोषतां गतस्य सकृत्सदा प्रयत्नेनाऽऽदरेण दातव्या देया, प्रव्रज्येति प्रकृतम् । गीतेन "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" गीतार्थेन सूत्रार्थविदा, नान्येनेति, भणितमुक्तमिदमेतत्सर्वदर्शिभिः केवलिभिरिति गाथाऽर्थः ।

पुनरपि सामान्यतोऽपि प्रव्रज्याग्रहणमस्तीति समर्थयन्नाह-

तह तम्मि तम्मि जोए, सुत्तुवओगपरिसुद्धभावेणं ।
दरदिण्णाए वि जओ, पडिसेहो वण्णिओ एत्थ ॥४७॥

तथेति ज्ञापकान्तरसमुच्चयार्थः। तस्मिंस्तस्मिन् तत्र तत्र प्रव्राजनमुण्डनाऽऽदौ योगे प्रव्रज्यादानव्यापारे विषयभूते, प्रतिषेधो वर्णित इति योगः। सूत्रोपयोगेनाऽऽगमोपयुक्ततया परिशुद्धो विशुद्धो भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा तेन, गुरुणा, किमित्याह-दरदत्तायामपीषद्वितीर्णायामपि, दीयमानायामित्यर्थः । आस्तामदत्तायां प्रव्रज्यायामिति प्रकृतम् । यतो यस्मात्कारणात्, प्रतिषेधो निषेधोऽयोग्यानाम्, वर्णित उक्तः, अत्रेति वक्ष्यमाणे प्रव्रज्याभिधानसूत्रे प्रव्रज्यायां चेति । अतो ज्ञायते प्रतिमानुष्ठानमन्तरेणाऽपि प्रव्रज्याभिधानमस्तीति गाथाऽर्थः ।

अथ कथं सूत्रे प्रव्राजनायां प्रतियोगनिषेध उक्त इत्यवसितमित्याह-

पव्वाविओ सिय त्ति य, मुंडावेउमाइ जं भणियं ।
सव्वं च इमं सम्मं, तप्परिणामे हवति पायं ॥ ४८ ॥

प्रव्राजितः स्यादिति च मुण्डापयितुमित्येतद्वाक्यमादिर्यस्य सूत्रस्य तत्तथा तत् यद्यस्माद्भणितमुक्तं कल्पभाष्ये, तस्मात्प्रतियोगं प्रव्रज्यायां निषेधो वर्णित इत्यवसीयते । तच्चेदं सूत्रम्-" पव्वाविओ सिय त्ति य, मुंडावेउं अणायरणजोग्गो । ते च्चिय मुंडावेंते, पुरिमपयनिवारिया दोसा ॥१॥" तथा-"मुंडाविओ सिय त्ति य, सिक्खावेउं अणायरणजोग्गो । ते च्चिय सिक्खावेंते, पुरिमपयनिवारिया दोसा ॥१॥" "एवं उट्ठावेउं, एवं भुंजावेउं, एवं संवासेउं एवं, संवाहेउं ।" अयमर्थ-प्रव्राजितः प्रव्राजयिष्यामस्त्वामित्येवमभ्युपगतो रजोहरणाऽऽदिसाधुवेषदानत इत्यन्ये । ततश्च प्रव्राजित इति च एतदप्ययोग्यप्रव्राजनलक्षणमसंभाव्यं वस्तु स्याद्भवेत् । छद्मस्थतयाऽनाभोगवशात् तत किमुचितमित्याह-मुण्डापयितुमग्रग्रहणतो लुञ्चयितुम् । अनाचरणयोग्यः अनासेवनार्हः, तथाऽपि मुण्डापयत्याचार्ये त एवाऽऽज्ञाभङ्गाऽऽदय । पूर्वपदस्य प्रव्राजनस्य संबन्धिनो दोषा अनिवारिता भवन्तीति । एवमन्यगाथाऽपि बोद्धव्या इति । अथ प्रस्तुतार्थं निगमयति-सर्वं च समस्तं पुनरिद पृच्छाऽऽदिविशुद्धस्य प्रव्रज्यादानाऽऽदिकमागमिकं वस्तु, सम्यग् समीचीन भवति । अथवा-सम्यक्त्वपरिणामे यथावत्प्रव्रज्यापरिणतौ सत्या भवति स्यात्, प्रायो बाहुल्येन । प्रायोग्रहणं चाङ्गारमर्दकाऽऽदिव्यभिचारपरिहारार्थमिति । तत. प्रतिमाकरणमन्तरेणाऽपि प्रतिमाकर्त्तुरिव प्रव्रज्या स्यादिति हृदयमिति गाथाऽर्थ. ।

ननु यदि प्रतिमाकरणमन्तरेणाऽपि प्रव्रज्या सम्यग् भवति तदा किं तेनेत्यत आह-

जुत्तो पुण एस कमो, ओहेण संपयं विसेसेण ।
जम्हा असुहो कालो, दुरणुचरो संजमो एत्थ ॥४९॥

यद्यपि प्रक्रमान्तरेणाऽपि प्रव्रज्या स्यात्तथाऽपि युक्तः सङ्गतः । पुनरिति विशेषणार्थ । एषोऽनन्तरोक्त प्रतिमानुष्ठानाऽऽदि, क्रम प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ परिपाटिः । कथमित्याह-ओघेन सामान्येन न तु सर्वथैव, तं विनाऽपि बहूनां प्रव्रज्याश्रवणात् । कालापेक्षया विशेषमाह--सांप्रतं वर्त्तमानकाले विशेषेण विशेषतो युक्त एष क्रमः । कुत एतदेवमित्याह-यस्मात्कारणाद् अशुभोऽशुभानुभावः कालो दुःषमालक्षणो वर्त्तते । ततश्च दुरनुचरो दुःखाऽऽसेव्यः, संयमः संयतत्वम्, अत्राऽशुभकाले, अतः प्रव्राजितुकामेन प्रतिमाऽभ्यासो विधेय इति भावः । इति गाथाऽर्थ ।

तन्त्रान्तरप्रसिद्ध्या प्रतिमापूर्वकत्वं प्रव्रज्याया योग्यत्वं समर्थयन्नाह—

तंतंतरेसु वि इमो, आसमभेओ पसिद्धओ चेव ।
ता इय इह जइयव्वं, भवविरहं इच्छमाणेहिं ॥ ५० ॥

तन्त्रान्तरेष्वपि दर्शनान्तरेष्वपि, आस्तां जिनप्रवचने । अयमनन्तरोक्तः, आश्रमभेदो भूमिकाविशेषः, 'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा ।" इत्यादिनोक्तस्वरूप । 'इओ" इति पाठान्तरम् । तत्र इतोऽशुभकालदुरनुचरसंयमलक्षणाद्धेतुद्वयात्, अथवा इतो जैनप्रवचनात्तन्त्रान्तरेष्विति । प्रसिद्धः ख्यातश्चैव सिद्ध एव न तु साध्य । यस्मादेवं तत्तस्माद्, इत्युक्तन्यायेन, इह प्रतिमापूर्वकप्रव्रज्यायां यतितव्यं यत्नो विधेय., भवविरहं संसारवियोगम्, इच्छद्भिर्वाञ्छद्भिर्निखिलशासनप्रवरपारगताऽऽगमावलम्बिभिरिति, गाथाऽर्थः । पञ्चा० १० विव० ।
( 'सेहभूमि ' शब्दे जडस्यापरिणामस्य दीक्षा )

(२७) पण्डक-वातिक-क्लीवप्रव्रज्यानिषेधः-

तओ नो कप्पंति पव्वावित्तए । तं जहा-पंडए, वाइए, कीवे ॥ ४ ॥

अस्य संबन्धमाह-

न ठविज्जई वएसुं, सज्जं एएण होइ अणवट्ठो ।
दुविहम्मि वि न ठविज्जइ, लिंगे अयमन्न जोगो उ ॥२५८॥

येन तद्दोषपरतोऽपि सद्य. तत्क्षणादेवानाचरिततपोविशिष्टो भावलिङ्गरूपेषु महाव्रतेषु न स्थाप्यते, एतेन कारणेनानवस्थाप्य इत्युच्यते । स चाऽनन्तरसूत्रे भणितः । अयं पुनरन्य पण्डकाऽऽदिर्द्विविधेऽपि द्रव्यभावलिङ्गे यो न स्थाप्यते प्रतिपद्यते. एष योगः संबन्ध । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य ( ४ ) व्याख्या-त्रयो नो कल्पन्ते प्रव्राजयितुम् । तद्यथा-पण्डको नपुंसको वातिको नाम-यदा स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा मेहनं कषायितं भवति तदा न शक्नोति वेदं धारयितुम् । क्लीबोऽसमर्थ, स च दृष्टिक्लीवाऽऽदिलक्षण एष सूत्रार्थ ।

अथ भाष्यविस्तर-

वीसं तु अपव्वज्जा, निज्जुत्तीए उ वन्निया पुव्विं ।
इह पुण तिहिँ अधिकारो, पंडे कीवे य वाई य ॥२५९॥

विंशतिर्बालवृद्धाऽऽदिभेदाद्विंशतिसंख्या अप्रव्राज्या पूर्वं

नामनिष्पन्ने निक्षेपे निर्युक्तौ पञ्चकल्पे सप्रपञ्चं वर्णिताः। इह पुनरेभिरेवाधिकारः-पण्डकेन क्लीबेन वातिकेन चेति गुरुतरा दोषदुष्टा अमी इति कृत्वा।

अथ प्रव्राजनाविधिमेव तावदाह-

गीयत्थे पव्वावण, गीयत्थेऽपुच्छिऊण चउगुरुगा।
तम्हा गीयत्थस्स उ, कप्पइ पव्वावणा पुच्छा ॥२६०॥

गीतार्थेनैव प्रव्राजना कर्त्तव्या नागीतार्थेन, यद्यगीतार्थः प्रव्राजयति तदा चतुर्गुरुकम्। गीतार्थोऽपि यदि अपृष्ट्वा पृच्छामन्तरेण प्रव्राजयति तदा तस्यापि चतुर्गुरुका। तस्मात् गीतार्थस्य पृच्छा शुद्धं कृत्वा प्रव्राजना कर्तुं कल्पते। पृच्छाविधिश्चायम् कोऽसि त्वं को वा ते निर्वेदो येन प्रव्रजसि?।

एवं पृष्टे सति-

सयमेव कोइ साहति, मित्तेहिँ व पुच्छिओ उवाएणं।
अहवा वि लक्खणेहिं, इमेहिँ नाउं परिहरेज्जा ॥२६१॥

स्वयमेव कोऽपि पण्डकः कथयति-यथा सदृशे मनुष्यत्वे ममेदृशश्चैराशिके वेद समुदीर्ण इति। यद्वा-मित्रैस्तस्य निर्वेदकारणमभिधीयते। प्रव्राजकेन वा स एवोपायपूर्वं पृष्टः कथयेत्। अथवा-लक्षणैर्महिलास्वभावाऽऽदिभिरेभिर्वक्ष्यमाणैर्ज्ञात्वा परिहरेत्।

तत्र पृच्छां तावद्भावयति-

नज्जंतमणज्जंते, निव्वेयमसढे पढमया पुच्छे।
अन्नातो पुण भन्नइ, पंडाइ न कप्पई अम्हं॥ २६२॥

यः प्रव्रजितुमुपस्थितः स ज्ञायमानो वा स्यादज्ञायमानो वा। ज्ञायमानो नाम-अमुकोऽमुकपुत्रोऽयं; तद्विपरीतोऽज्ञायमानः; स यदि श्राद्धः श्रावको न भवति, ततः प्रथमतस्तं निर्वेदं पृच्छेत्। यः पुनरज्ञातः स समासेन भण्यते-न कल्पते अस्माकं पण्डकाऽऽदिः प्रव्राजयितुम्।

स च यदि पण्डकस्तत एवं चिन्तयति-

नाओ मि ति पणासइ,निव्वेयं पुच्छिया व मे मित्ता।
साहंति एस पंडो, सयं व पंडो त्ति निव्वेयं ॥२६३॥

ज्ञातोऽस्म्यहममीभिरिति मत्वा प्रणश्यति। अथवा यानि तस्य मित्राणि तानि पृच्छ्यन्ते एष तरुण ईश्वरो नीरोगश्च विद्यते, ततः केन निर्वेदेन प्रव्रजति?। एवं पृष्टानि तानि ब्रुवते-एष पण्डक इति। स्वयं वा स पण्डकोऽस्म्यहमिति निर्वेदं कथयति। बृ० ४ उ०। दश०।

(२८) अथैतेषां प्रव्राजने प्रायश्चित्तमाह-

दससु वि मूलायरिए,वयमाणस्स वि हवंति चउगुरुगा।
सेसाणं छण्हं पी, आयरिए वदति चउगुरुगा ॥२७८॥

पण्डकाऽऽदीन् आसिक्तास्तान् दशापि नपुंसकान् यः प्रव्राजयति तस्याऽऽचार्यस्य दशस्वपि प्रत्येकं मूलम्। तेष्वेव दशसु यो वदति प्रव्राजयति तस्यापि चतुर्गुरुका भवन्ति। शेषाणां वर्द्धिताऽऽदीनां षण्णामपि च प्रतिसेवकानां प्रव्राजने आचार्यस्य चतुर्गुरुकं, यो वा प्रव्राजयति तस्याऽपि चतुर्गुरुकम्।

अथ शिष्यः प्रश्नयति-

थीपुरिसा जह उदयं, धरेंति झाणोववासणियमेहिं।
एवमपुमं पि उदयं, धरिज्ज जति को तहिं दोसो?॥२७९॥

यथा स्त्रीपुरुषा ध्यानोपवासनियमैरुपयुक्तं चोदयं धारयन्ति एवं नपुंसकोऽपि यदि धारयेत्, ततः प्रव्राजिते को दोषः स्यात्?।

अहवा ततिए दोसो, जायइ इयरेसु किं न सो भवति?।
एवं खु नत्थि दिक्खा,सवेययाणं न वा तित्थी ॥२८०॥

अथवा युष्माकमभिप्रायो भवेत्-तृतीये नपुंसके वेदोदये चारित्रभङ्गलक्षणो दोषो भवेत्, तत उच्यते, इतरयोः स्त्रीपुरुषयोरपि वेदोदये स दोषः किं न भवति?। अपि च-क्षीणमोहाऽऽदीन् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि संसारस्था जीवाः सवेदकास्तेषां च दोषदर्शनादेव भवदुक्तनीत्या नास्ति दीक्षा, तदभावाच्च न तीर्थिनस्तीर्थस्य संततिर्न वेति।

सूरिराह-

थीपुरिसा पत्तेयं, वसंति दोसरहिएसु ठाणेसु।
संवासे फासदिट्ठी, इयरे वच्छंबदिट्ठंतो ॥ २८१ ॥

स्त्री प्रव्राजितास्त्रीणां मध्ये निवसति, पुरुषः प्रव्राजितः पुरुषमध्ये वसति। एवं तौ प्रत्येकं दोषरहितेषु स्थानेषु वसतः। इतरस्तु पण्डको यदि स्त्रीणां मध्ये वसति तदा संवासे स्पर्शतो दृष्टितश्च दोषा भवन्ति। एवं पुरुषेष्वपि संवसतस्तस्य दोषा भवन्ति। वत्साऽऽम्रदृष्टान्तश्चात्र भवति-यथा वत्सो मातरं दृष्ट्वा स्तन्यमभिलषति, माताऽपि पुत्रं दृष्ट्वा प्रस्नौति। आम्रं वा खाद्यमानं दृष्ट्वा यथा मुखं क्लिद्यति, एवं तस्य संवासाऽऽदिना वेदोदयेनाभिलाष उत्पद्यते, भुक्ताभुक्तभोगिनः साधवस्तमभिलषेयुः। यत एवमतः पण्डको न दीक्षणीयः।

द्वितीयपदे एतैः कारणैः प्रव्राजयेदपि-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे।
गेलन्ने उत्तमट्ठे, नाणे तवदंसणचरित्ते ॥ २८२ ॥

स प्रव्राजितः सन् अशिवमुपशमयिष्यति, अशिवगृहीतानां वा प्रतितर्पणं करिष्यति। एवमवमौदर्ये राजद्विष्टे बोधिकाऽऽदिभये वा आगाढे ग्लानत्वे उत्तमार्थे वा ज्ञाने दर्शने चारित्रे वा साहाय्यं करिष्यति। एतैः कारणैः पण्डकं प्रव्राजयेत्।

अथैनामेव गाथां व्याख्याति-

रायदुट्ठभयेसु, ताणट्ठ निवस्स चेव गमणट्ठा।
विज्जो व सयं तस्स उ,तप्पिस्सति वा गिलाणस्स ॥२८३॥
गुरुणो व अप्पणो वा, नाणादी गिण्हमाणे तप्पिहिति।
चरणा देसावकमि, तप्पे ओमासिवेहिं वा ॥ २८४ ॥

राजद्विष्टे बोधिकाऽऽदिभये च त्राणार्थं, नृपस्य वा अभिगमनार्थम्। किमुक्तं भवति?-राजद्विष्टे समापतिते देशान्तरं गच्छता तन्निस्तारणक्षमं भक्तपानाऽऽद्युपष्टम्भं करिष्यति, राजवल्लभो वा स पण्डकस्ततो राजानमनुकूलयिष्यति, बोधिकाऽऽदिभये वा स बलवान् गच्छस्य परित्राणं विधास्यति। ग्लानत्वद्वारे स पण्डकः स्वयमेव वैद्यो भवति, ततो ग्लानस्य चिकित्सां करिष्यति। यद्वा-स तस्य ग्लानस्य वा वेतनभेषजाऽऽदिना प्रतितर्पयिष्यति उपकरिष्यति यावद्वादुत्तमार्थं प्रतिपन्नस्य वा मम साहाय्यं करिष्यति, स्वयमेव वाऽसावुत्तमार्थं प्रतिपत्स्यति। तथा गुरोरात्मनो वा ज्ञानम्, आदिशब्दाद्दर्शनप्रभावकानि शास्त्राणि गृह्णतोऽसौ भक्तपानाऽऽदिभिर्वस्त्राऽऽदिभिश्चोपकरिष्यति। चरणात् चारित्रं पालयितुं न शक्यते तदा देशादपक्रमणं कुर्वता मार्गा-

ऽऽदिषु स्वजनाऽऽदिवलाद्धक्तपानाऽऽदिभिस्तस्कराऽऽदिभिः रक्षणतश्चोपकरिष्यन्ति । अवमाशिवयोर्वा प्रतितर्पयिष्यन्ति । अत्र च नानुपूर्व्या, अपि तु वस्तुस्वरूपख्यापनार्थमवमाशिवद्वारयोः पर्यन्ते व्याख्यानम् ।

एएहिँ कारणेहिं, आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे ।
पंडाईसोलसगं, कए उ कज्जे विगिंचणया ॥२८५॥

एतैरागाढैः समुपस्थितैः कारणैः यः पण्डकाऽऽदिषोडशकस्यान्यतरं नपुंसकं प्रव्राजयति, तेनाऽऽचार्येण कृते समापिते कार्ये तस्य नपुंसकस्य विवेचनं परिष्ठापनं कर्तव्यम् ।

तत्र प्रव्राजनायां तावद्विधिमाह–

दुविहो जाणमजाणी, अजाणगं पन्नवेंति उ इमेहिं ।
जणपच्चयट्ठयाए, नज्जंतमणज्जमाणे वि ॥२८६॥

द्विविधो नपुंसको–ज्ञायकोऽज्ञायकश्च । तत्र यो जानाति–साधूनां त्रैराशिकं प्रव्राजयितुं न कल्पते स ज्ञायकः, तद्विपरीतोऽज्ञायकः । तत्र ज्ञायकमुपस्थितं प्रज्ञापयन्ति–भवान् दीक्षाया अयोग्यः, ततोऽवक्रवेषधारी श्रावकधर्मं प्रतिपद्यस्व, अन्यथा ज्ञानाऽऽदीनां विराधना ते भविष्यति । अज्ञायकमप्येवमेव प्रज्ञापयन्ति । अथैनां नेच्छति, प्रव्रज्यामेवाभिलषति, आत्मनश्च किञ्चिदशिवाऽऽदिकं कारणमुपस्थितं, ततस्तमज्ञायकजनप्रत्ययार्थममीभिः कटीपट्टकाऽऽदिभिः प्रज्ञापयन्ति । स चाज्ञायकस्तत्र जनेन ज्ञायमानोऽज्ञायमानो वा स्यादुभयत्राप्ययं विधिः कर्तव्यः–

कडिपट्टए य छिहली, कत्तरिया मुंड लोय पाढे य ।
धम्मकह सन्नि राउल–ववहार विगिंचणा विहिणा ॥२८७॥

कटीपट्टकं स परिधाप्यः, छिहली शिखा तस्य शिरसि धारणीया; अथ नेच्छति ततः कर्त्तर्या क्षुरेण वा मुण्डनं विधेयं, लोचो वा विधातव्यः । ( पाढि त्ति ) परतीर्थिकमताऽऽदीनि स पाठनीयः । कृते कार्ये धर्मकथा कर्त्तव्या येन लिङ्गं परित्यज्य गच्छति । अथैवं लिङ्गं न मुञ्चति ततः संज्ञिभिः श्रावकैः प्रज्ञापनीयः । अथ राजकुलं गत्वा कथयति ततो व्यवहारोऽपि कर्त्तव्यः । एवं तस्य विगिञ्चना परिस्थापना विधिना वक्ष्यमाणनीत्या विधेया । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति–

कडिपट्टओ अभिनवे, कीरइ छिहली य अम्ह चेवाऽऽसी ।
कत्तरिया मुंडं वा, अणिच्छे एक्केक्कपरिहाणी ॥२८८॥

कटीपट्टकोऽभिनवप्रव्रजितस्य तस्य क्रियते, न पुनरग्रावपूरकः शिरसि च छिहली शिखा ध्रियते । यदि ब्रूयात्–किं मम अग्रावपूरकं, सर्वमुण्डनं वा न कुरुत ? । ततो वृषभा भणन्ति अस्माकमपि प्रथममेव एतमासीत्, ततश्च मुण्डनं कर्तर्या कर्त्तव्यम् । अथ नेच्छति ततो क्षुरेण, क्षुरमप्यनिच्छतो लोचः कर्त्तव्यः । एवमेकैकपरिहाणिर्मन्तव्या, शिखा तु सर्वत्रापि धारणीया ।

छिहलिं तु अणिच्छंते, भिक्खुगमाई मतं पि णेच्छंते ।
परतित्थियवत्तव्वं, उक्कमदाणं ससमए वि ॥२८९॥

अथ शिखामपि नेच्छति ततः सर्वमुण्डनमपि विधीयते । सा च द्विविधा शिक्षा–ग्रहणे, आसेवने च । आसेवनाशिक्षायां क्रियाकलापमसौ न ग्राह्यते । ग्रहणशिक्षायां भिक्षुका सौगताऽऽजीवकाऽऽदिमतं कापिलाऽऽदीनां च परतीर्थिकानां मतमध्याप्यते । अथ तदपि नेच्छति ततः शृङ्गारकाव्यं पाठ्यते, तदप्यनिच्छन्तं द्वादशाङ्गे यानि परतीर्थिकवक्तव्यतानिबद्धानि सूत्राणि तानि पाठयन्ति । तान्यप्यनिच्छतः स्वसमयस्याऽऽलापका उत्क्रमेण विलुप्ता दीयन्ते ।

आसेवनाशिक्षायां विधिमाह–

वीयारगोयरे थेर–संजुओ रत्ति दूरे तरुणाणं ।
गाहेण ममं पि ततो, थेरा गाहेंति जत्तेणं ॥ २९० ॥

विचारभूमिं गच्छन् गोचरं वा पर्यटन् स्थविरसाधुसंयुक्तो हिण्डाप्यते, रात्रौ तरुणानां दूरे क्रियते, ते च साधवो न पाठयन्ति । ततो यदि ब्रूते–मामपि पाठं ग्राहयत, ततः स्थविराः साधवो यत्नेन ग्राहयन्ति ।

किं तदित्याह–

वेरग्गकहा विसया–ण णिंदणा उट्ठनिसीयणे गुत्ता ।
चुक्कखलिए य बहुसो, सरोसमिव नोदए तरुणा ॥२९१॥

यानि सूत्राणि वैराग्यकथायां विषयनिन्दायां च निबद्धानि तानि ग्राह्यन्ते । अथवा–वैराग्यकथा विषयनिन्दा च तस्य पुरतः कथनीया, उत्तिष्ठन्तो निषीदन्तश्च साधवो गुप्ताः संवृता भवन्ति, यथाऽङ्गादानं स न पश्यति, तस्य यदि सामाचार्यां चुक्कस्खलितानि भवन्ति । चुक्कं नाम विस्मृतं किं चित्कार्यं, स्खलितं तदेव विनष्टं, ततो ये तरुणास्ते तं सरोषमिव परुषं वचोभिर्बहुशो नोदयन्ति येन तरुणेषु नानुबन्धं गच्छति ।

अथ धर्मकथापदं व्याचष्टे–

धम्मकहा पाढिज्जति, कयकज्जो वा से धम्ममक्खंति ।
मा हण परं पि लोगं, अणुव्वता दिक्ख नो तुज्झं ॥२९२॥

धर्मकथां वा स पाठ्यते कृतकार्यो वा स पठ्यते, ततः कार्येण दीक्षितस्तत् समाप्यते, तस्य धर्ममाख्यान्ति, यथा मर्दितो न रजोहरणाऽऽदिलिङ्गं धारयेत् । तदभावे बोधनमपधानकरणाय त्वं वर्त्तसे, ततो मा परमपि लोकं हन विनाशय मुञ्च रजोहरणाऽऽदिलिङ्गम् । तवाणुव्रतानि धारयितुं युज्यन्ते, न दीक्षा । एवं प्रज्ञापितो यदि मुञ्चति तदा लष्टम् ।

अथ न मुञ्चति ततः–

सन्नि खरकम्मिओ वा, भेसेति कतो इहेस कंचिक्को ।
णिवसिट्ठे वा दिक्खितो, एतेहिँ अणातें पडिसेहो ।२९३।

य खरकर्मिकः संज्ञी स पूर्वं प्रज्ञाप्यते–अस्माभिः कारणैः त्रैराशिकः प्रव्राजितः, स इदानीं लिङ्गं नेच्छति परित्यक्तुं ततो यूयं प्रज्ञापयत । एवमुक्तो असावागत्य गुरून् वन्दित्वा सर्वान् साधून् निरीक्षते । ततः तं पण्डकं पूर्वकथितचिह्नैरुपलक्ष्य भूमितलस्फालनशिरःकम्पनपरुषदृष्टिनिरीक्षणपरुषवचनैर्भेषयति । कुत एव इह युष्माकं मध्ये कश्चित्को नपुंसक इति । तं च ब्रवीति अपसर साम्प्रतमितः, अन्यथा व्यपरोपयिष्यामि भवन्तम् । एवमुक्तोऽपि यदि न मुञ्चति, खरकर्मिकस्य वा श्रावकस्याभावे यदि नृपस्य कथयति–अहमेतैर्दीक्षितः, सांप्रतं पुनः परित्यजन्ति । ततो व्यवहारेण जेतव्यः, कथमित्याह–यद्यसौ जनेनाज्ञातो दीक्षितस्ततः प्रतिषेधः क्रियते; नास्माभिर्दीक्षित इति अपलप्यत इत्यर्थः ।

यथाऽसौ ब्रूयात्–

अज्झाविओ मि एते–हिँ चेव पडिसेधो किं वऽधीयंते ।
छलियादिकहा मङ्क्ति, कत्थ जती कत्थ छलियाई ? ॥२९४॥

अहमेतैरेवाध्यापितस्ततोऽत्रापि प्रतिषेधः कार्यो, न किमप्यस्माभिरध्यासिन इत्यर्थः। अथवा वक्तव्यम्-किं त्वया अधीतम्?। ततोऽसौ छलितकाव्याऽऽदिकथामाकर्षेत्। तत्र वक्तव्यम्-कुत्र यतयः, कुत्र च छलिताऽऽदि काव्यकथा ?। साधवो वैराग्यमार्गस्थिताः शृङ्गारकथां न पाठयन्ति। पठामो वयमीदृशं सर्वज्ञभाषितं सूत्रम्-

पुव्वावरसंजुत्तं, वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं ।
पोराणमद्धमागध-भासानियतं हवति सुत्तं ॥२६५॥

यत्र पूर्वसूत्रनिवन्धः पाश्चात्यसूत्रेण न व्याहन्यते तत्पूर्वापरसंयुक्तं, वैराग्यकरं विषयसुखवैमुख्यजनकं, स्वतन्त्रेण स्वसिद्धान्तेन सहाविरुद्धं, सर्वथा सर्वकालं सर्वत्र नास्त्यस्मा इत्यादिस्वसिद्धान्तविरोधरहितमित्यर्थः। पौराणं नाम पुराणैस्तीर्थकरगणधरलक्षणैः पूर्वपुरुषैः प्रणीतम् अर्द्धमागधभाषानियतमिति प्रकटार्थम्। एवंविधमस्मदीयं सूत्रं भवति।

किंच-

जे सुत्तगुणा भणिया, तव्विवरीयाइं गाहए पुव्विं ।
निच्छिन्नकारणेणं, सा चेव विगिंचणे जयणा ॥२६६॥

ये सूत्रस्य गुणाः पीठिकायां भणितास्तद्विपरीतानि वर्णविकलानि सूत्राणि तं ग्राहयेत्। ततो निस्तीर्णकारणेन मया पूर्वं विवक्षितप्रयोजनाभावतः सैविकथापरिष्ठापने यतना भवति। एवं व्यवहारेण परिष्ठापनविधिरुक्तः।

येषु व्यवहारेण न शक्यते परित्यक्तुं तस्याऽयं विधिः-

कावालिए सरक्खे, तव्वन्नियवेसलिंगरूवेणं ।
कोडुंवग पव्वइए, कायव्वो विहीएँ वोसिरणं ॥२६७॥

गीतार्था हि विकर्षणाद् वृषभा उच्यन्ते, ते कापालिकसरजस्कास्तद्वर्णिकवेषग्रहणेन तं परिष्ठापयन्ति। यो वा कौटुम्बिको बहुस्वजनः प्रव्राजितस्तस्य संबन्धिनो विधिना व्युत्सर्जनं कर्त्तव्यम्।

एतदेव भावयति-

निववल्लहे बहुपक्ख-म्मि यावि तरुणवसभा इमं विंति ।
भिन्नकहाओभट्ठा, न घडइ इह वच्च परतित्थं ॥२६८॥

यो नृपस्य वल्लभो बहुपाक्षिको वा प्रभूतस्वजनमित्रपर्यस्तयोरयं परिष्ठापने विधिः। यदा नपुंसको रहसि तरुणभिक्षुमवभाषते, भिन्नकथां वा करोति, तदा ते तरुणवृषभा इदं ब्रुवते-इह यतीनां मध्ये ईदृशं न घटते, यदि त्वमीदृशं कर्तुकामोऽसि ततः निष्क्रमणं कुरु, परतीर्थिकेषु वा व्रज।

ततो यदि ब्रूयात्-

तुमए समगं आमं, ति निग्गओ भिक्खमाइलक्खेणं ।
नासति भिक्खुगमादिसु,छोढण तत्तो वि हि पलाइ ॥२६९॥

त्वया सममहं परतीर्थिकेषु गमिष्यामि-एवमुक्तः स तरुणवृषभ आममिति भणित्वा निर्गच्छति, निर्गतश्च भिक्षुकादिवेषेण गत्वा तेषु भिक्षुकाऽऽदिषु प्रक्षिप्य नश्यति। य पुनस्तत्र नाभिप्रैति, तं साधुं न मुञ्चति, तं रात्रौ सुप्तं मत्वा पलायते, भिक्षाऽऽदिलक्षणेण वा निर्गतो नश्यति।

सूत्रम्-

एवं मुंडावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए संवसित्तए॥ ५ ॥

यथा एते पण्डकाऽऽदयः प्रव्राजयितुं न कल्पन्ते। एवमेत एव कथञ्चिच्छलितेन प्रव्राजिता अपि सन्तो मुण्डापयितुं शिरोलोचने लुञ्चितुं न कल्पते। एवं शिक्षापयितुं प्रत्युपेक्षणाऽऽदिसामाचारीं ग्राहयितुम्, उपस्थापयितुं महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुं, संभोक्तुमेकमण्डलीसमुद्देशाऽऽदिनाऽभ्यवहारयितुं, संवासयितुमेकत्र समीपे आसयितुमिति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यम्-

पव्वाविओ सिय त्ति उ, सेसं पणगं अणायरणजोग्गो ।
अहवा समायरंते, पुरिमपदणिवारिता दोसा ॥ ३०० ॥

स पण्डकश्चेत्कदाचिदनाभोगाऽऽदिना प्रव्राजितो भवेत्। इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शार्थः। एवं प्रव्राजितोऽपि यदि पश्चात् ज्ञातस्तदा ( सेसं पणगं ति ) विभक्तिव्यत्ययात् शेषः पञ्चकस्य मुण्डापनाऽऽदिलक्षणस्याऽऽचरणयोग्ये न तदाचरणीयमिति भावः। अथ लोभाऽऽद्यभिभूततया तदपि समाचरति ततः पूर्वपददोषाः पूर्वस्मिन् प्रवचनाऽऽख्यपदे ये प्रवचनापयशः प्रवादादयो दोषा उक्तास्ते अनिवारितास्तद्वस्था एव मन्तव्या इति भावः।

मुंडाविओ सिय त्ती, सेसचउक्क अणायरणजोग्गो ।
अहवा समायरंते, पुरिमपदनिवारिया दोसा ॥३०१॥

अनाभोगाऽऽदिना मुण्डापितोऽपि स्यात्तत शेषचतुष्कोऽस्य शिक्षापनाऽऽदिलक्षणस्याऽऽचरणेऽयोग्य। अथ समाचरति ततः पूर्वपददोषा अनिवारिताः। एवं तिस्रो गाथा वक्तव्याः।

यथा-

सिक्खाविओ सिय त्ती, सेसतिगस्सा अणायरणजोग्गो ।
अहवा समायरंते, पुरिमपदनिवारिया दोसा ॥ ३०२ ॥
उवट्ठाविओ सिय त्ती, सेसदुगस्सा अणायरणजोग्गो ।
अहवा समायरंते, पुरिमपदनिवारिया दोसा ॥ ३०३ ॥
संभुंजिओ सिय त्ती, संवासेउं अणायरणजोग्गो ।
अहवा संवासित्ते, पुरिमपदनिवारिया दोसा ॥ ३०४ ॥

एवं षड्विधसचित्तद्रव्यकल्पसूत्राणि क्रमेण भवन्ति।

तथा चात्रामी दृष्टान्ताः

मूलातो कंदादी, उच्छुविकारा य जह रसा वी य ।
मिप्पिंडगोरसाण य, होंति विकारा जहक्कमेणं ॥ ३०५॥
जह वा णिसेगमादी, गब्भे जातस्स णाममादीया ।
होंति कमा लोगम्मी, तह छव्विहकप्पसुत्ताओ ॥३०६॥

यथा मूलात् कन्दस्कन्धशाखाऽऽदयो भेदाः क्रमेण भवन्ति। इक्षुविकाराश्च रसकक्काऽऽदयो यथाक्रमेण जायन्ते। मृत्पिण्डस्य वा यथा स्थासकोशकुशूलाऽऽदयो, गोरसस्य च दधिनवनीताऽऽदयो विकारा यथाक्रमेण भवन्ति। यथा वा गर्भे प्रविष्टस्य जीवस्य निषेक ओजःशुक्रमुद्गलाऽऽहरणलक्षणस्तदादयः, आदिशब्दात्कललार्बुदपेशीप्रभृतयः पर्याया भवन्ति, जातस्य वा तस्यैव नामाऽऽदयो नामकरणचूडाकरणप्रभृतयः क्रमाद्यथा लोके भवन्ति तथा षड्विधकल्पसूत्राणि यथा क्रमभाविप्रव्राजिताऽऽदिपदविषयाणि क्रमेण भवन्ति। वृ० ४ उ०। स्था०। ग०। प० भा०। प० चू०। नि० चू०। आव०। पं० च०। ( परिष्ठापना पण्डकाऽऽदीनां 'परिट्ठवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७५ पृष्ठे विस्तरत उक्ता )

( षड्वर्षस्य अतिमुक्तककुमारस्य प्रव्रज्या 'अइमुत्तय' शब्दे प्रथमभागे ६ पृष्ठादवगन्तव्या ) षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वम्। आह च-" छव्वरिसो पव्वइओ, निग्गंथं रो- यऊण पावयणं । " एतदेव चाऽऽश्चर्यमिहान्यथा वर्षा- कादाराम प्रव्रज्या स्यादिति । भ० ५ श० ४ उ० ।

हवर्षप्रव्रज्या कारणिकी-यो देशोनपूर्वकोट्यायुश्चारित्रं प्र- पद्यते, तदपेक्षमिति। ऊनता च पूर्वकोट्या अष्टाभिर्वर्षैरष्ट- र्षस्यैव प्रव्रज्याऽर्हत्वात्। यच्च षड्वर्षस्त्रिवर्षो वा प्रव्रजितो- तिमुक्तको वैरस्वामी वा, तत्कादाचित्कमिति न सूत्रावता- रति। भ० १२ श० ६ उ० ।

(२६) नायकमनायकं वा प्रव्राजयति, अनलं वा प्रव्राजयति-

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवा- सगं पव्वावेइ, पव्वावंतं वा साइज्जइ ॥१६०॥ जे भि- क्खू अणलं पव्वावेइ, पव्वावंतं वा साइज्जइ ॥१६१॥

णायगो स्वजन०, अथवा नातगो प्रज्ञायमानः, अनायगो अ- ज्ञायमानः, उपासकः श्रावकः, अनुपासकः मिथ्यादृष्टिः, न अलं पर्याप्तः अनलं अपर्याप्तः, अयोग्य इत्यर्थः । पव्वा- तस्स चउगुरु आणादिया य दोसा ।

इमा निज्जुत्ती न सुत्तकमेण अणाणुपुव्वीए वक्खाणेति-

साहू वा समणो वा, उवासओ वती व अवती वा ।
सो पुण णायग इतरो,एवऽणुवासे वि दो भंगा॥२२०॥
कामं खलु अलसद्दो , तिविहो पज्जत्तमत्तहिं पगतं ।
अनलो अपच्चलो त्ति य,होति अजोग्गो व एगट्ठं॥२२१॥

उवासगो दुविहो-वती, अवती वा । अवती सो परदंसण संपन्नो । एक्केको पुणो दुविहो-णायगो, अणायगो वा । अणु- वासगे वि-नायगमनायगो य एते चेव दो वि । तथा अनल- मित्यपर्याप्तः । चोदकाऽऽह-ननु अलंशब्द त्रिष्वर्थेषु दृष्टः । तद्यथा-पर्याप्ति,भूषणे, वारणे । आचार्याऽऽह-यद्यपि त्रिष्वर्थेषु दृष्टः तथापि अर्थवशादत्र पर्याप्ते द्रष्टव्यः, न अलो अनल०, अप्रच्चल अयोग्य एकार्थाः ।

ते य पव्वज्जाए अजोग्गा इमे-

अट्ठारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु ।
पव्वावणा अणरिहा,इति अणलो इत्तिया भणिया॥२२२॥

सव्वे अडयालीसं ।

जे ते अट्ठारस पुरिसेसु ते इमे-

बाले वुड्ढे णपुंसे य,जडे कीवे य वाइए ।
तेणे रायावकारी य, उम्मत्ते य अदंसणे ॥२२३॥
दोसे दुट्ठे य मूढे य, अणभे जुंगिए इय ।
उव्वद्धए तरुयए, सेहणिप्फडिया इअ ॥२२४॥

जो पुरिसणपुंसगो सो पडिसेवति पडिसेवावेति जातं वीसं। इत्थीसु ता इमा-बाला वुड्ढी० जाव सेहणिप्फडिया, एते अट्ठारस ।

इमाओ य दो गाहा-

गुव्विणी बालवच्छा य, पव्वावेउं न कप्पती ।
एएसिं तु परूवणा, कायव्वा दुपयसंजुत्ता ॥ २२५ ॥

णपुंसदारे विसेसो-इत्थी णपुंसिया इत्थिवेदो वि से, नपुं- सगवेदमपि वेदेति एतेसिं ।

गाहापच्छद्धं " दुपदनपुंस त्ति।" अस्य व्याख्या-

कारणमकारणे वा, जयणेतरा पुणो दुविहा ।
एस परूवणा दुविहा, गयं तु दप्पेणिमं सुत्तं ॥२२६॥

कारणे णिकारणे वा पव्वावेति, कारणे जयणाए, अज- यणाए वा जो दप्पेण पव्वावेति तस्स चउगुरुगं, आणा- दिया य दोसा । नि० चू० ११ उ० । ( बालभेदान् 'बाल' शब्दे वक्ष्यामि ) इयाणिं नपुंसया दस,ते पुरिसेसु चेव वुत्ता नपुंसगदारे जे जति पुरिसेसु वुत्ता ते चेव इहं पि। किं क- तो भेदो ?, भन्नति-तेहिं पुरिसाकिती इह गहणं, सेसया ण भवे। इयाणिं वीसं इत्थीओ, तस्स बालादी अट्ठारस इ- त्थीओ जहा पुरिसा ।

इयाणिं गुव्विणी बालवच्छा य-

जे केइ अणलदोसा, पुव्वं भणिता मए समासेणं ।
ते चेव अपरिसेसा, गुव्विणि तह बालवच्छाए ।४४४॥

जे एते हेट्ठा अनलाणं बालादी दोसा वन्निया ते गुव्वि- णी बालच्छाए भाणियव्वा। कह ?, उच्यते-गुव्विणीए बा- लदोसा भविस्सा, बालवच्छाए पुण वट्टमाणे चेव बाल- दोसो, नपुंसगा वि ते होज्जा, सेसा वि भइयव्वा।

इमो मोत्तुं-

मोत्तूण णवरि वुड्ढं, सरीरजड्डं च चोरमवगारिं ।
दोसमणत्तं च तहा, उव्वद्दाती य जे पंच ॥४४५॥

उव्वद्दाई पंच इमे-उवद्दगो, सेहनिप्फेडिया, गुव्विणी, बा- लवच्छा य। एतेसु सव्वेसु बालेसु न भवन्ति ।

अवसेसा पुण अणला,भइअव्वा तह य गुव्विणीएँ भवे ।
कायभवत्थो विंबं, विकितं पसवम्मि व मरेज्जा ॥४४६॥

अविसेसा सिय अत्थि सिय नत्थि इमे गुव्विणीए चे- व दोसा स्त्रीकाये न भवन्ति, अथवा कायभवस्थो उत्को- सेण द्वादशवर्षाणि गर्भत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः। हस्तपादकर्ण- नासादिविवर्जितं विंबं मृगावतिपुत्रवत्, विकृत सर्पाऽऽ- दिवद्भवेत्। प्रसवकाले वेदणाए वा मरेज्ज।

एतेसामण्णतरं, अणलं जो णाइगाइ पव्वावे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ४४७ ॥

अणलं पव्वावेतस्स इमं पच्छित्तं-

तेणे कीवे राया-वगारि दुट्ठे य जुंगितादी य ।
सेहे गुव्विणि मूलं, सेसे चउरो सवित्थारा ॥४४८॥

कंठा,नवरं सेहि त्ति सेहणिप्फेडियाइएसु जहुद्दिट्ठेसु मूलं, सेसेसु सव्वेसु चउगुरुगा सवित्थारा ।

अहवा अन्नपरिवाडीए इमं भन्नइ-

कीवे दुट्ठे तेणे, विगुव्विणि रायावगारि सेहे य ।
मूलं तू पारंची,मूलं वा होति चउगुरुगा॥४४६॥

कीवे मूलं, दुट्ठादिएसु चउसु पारंचियं, अहवा दुट्ठादिएसु गुरुगा सवित्थारा ।

अहवा अन्नपरिवाडीए इमं भन्नइ-

बाले वुड्ढे कीवे, जड्डुमत्ते य जुंगियसरीरे ।
गच्छे पव्वइयाणं, संवासो एगतो भणितो ॥ ४५० ॥

बालवुड्ढा कारणे पव्वाविया, कीवो अभिभूतो शरीरज-

ड्डो उम्मत्तो शरीरजुंगितो अयसणो । एते सव्वे पव्वाविया संता परिसा जाता । एतेसिं संवासो एक्कतो चेव, न पुढो जदि ते अन्नवसहीए ठविज्जंति, तो ते विपादं गच्छन्ति । तम्हा गच्छगता चेव विधीए परिट्ठविज्जंति । गुव्विणी कहं वि अन्नाता पव्वाविता, जहा करकंडुमाता पउमावती । पडिणीएण वा, जहा पेढाले जिट्ठा, सा विहीए भावितसड्ढकुलेसु संगुप्पति, सन्नाणिससव्व वट्टमाणिं च वहंति, अंतरंतरे सेहोवायं ।

जिणवयणपडिकुट्ठे, जो पव्वावेति लोभदोसेणं ।
चरियट्ठी य तवस्सी,सो लोपति तमेव तु चरित्तं ॥४५१॥

अडयालीसं पडिकुट्ठा सिस्सलोभेण अप्पणो चरित्तवुड्ढिनिमित्तं परो पव्वाविज्जति, ते पुण पव्वाविता अप्पणो वि चरितघायं करेंति ।

इमं वितियपदं-

पव्वाविओ सिय त्ति य, सेसं पणगं अणायरणजोग्गं ।
अहवा समायरंते, पुरिमपदनिवारिता दोसा ॥४५२॥

जति अणलो पव्वावितो सिअ त्ति अजाणया जाणया कारणेणं सेसं पणगं णायराविज्जति, तं च इमं-मुंडावणसिक्खावणउट्ठावणसंभुंजणसंवासे त्ति, सो एयस्स पणगस्स णायरणजोग्गो,अथ आयरावेति, तो पव्वावणपदे पुव्ववण्णिए दोसे पावति । नि० चू० ११ उ० । (अङ्गारदाहकाऽऽदीन् न प्रव्राजयेत् । इति ' आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३२२ पृष्ठे गतम्) ( अवग्रहे यदि कश्चिद् गृहस्थ· प्रवव्राजिषुरागच्छेत् तत्प्रतिबोधः ' अवग्गह ' शब्दे प्रथमभागे ७०४ पृष्ठे उक्तः )

(३०) निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थैरात्मार्थं न प्रव्राजनीया-

णो कप्पति णिग्गंथाणं णिग्गंथिं अप्पणो अट्ठाए पव्वावित्तए वा मुंडावित्तए वा सिक्खावित्तए वा सेहावित्तए वा उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तिरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥४॥ कप्पति निग्गंथाणं निग्गथिं असेसिं अट्ठाए पव्वावित्तए वा मुंडावित्तए वा सिक्खावित्तए वा सेहावित्तए वा उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तिरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ ५ ॥ णो कप्पति निग्गंथीणं निग्गंथं अप्पणो अट्ठाए पव्वावित्तए वा मुंडावित्तए वा० जाव धारित्तए वा ॥ ६ ॥ कप्पति निग्गंथीणं णिग्गंथं असेस्स अट्ठाए पव्वावित्तए वा० जाव धारित्तए वा ॥ ७ ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीमात्मनोऽर्थाय प्रव्राजयितुं सामायिकाऽऽरोपणतो,मुण्डापयितुं लोचकारापणतः,शिक्षापयितुमासेवनाशिक्षाग्रहणप्रदानत , उपस्थापयितुमुत्थापनाकरणत , संभोक्तुं एक्षा साभोगिकानामन्यतमेन यथायोगं संभोगेन वस्तुं वा, तथा तस्या इत्वरदिशमाचार्यलक्षणामनुदिशं वा उपाध्यायाऽऽदिरूपामुद्देष्टुं वा धारयितुं वा॥ कल्पते निर्ग्रन्थाना निर्ग्रन्थीनामन्यार्थमित्यादि प्राग्वत्परमन्येषामित्याचार्यस्योपाध्यायस्य वा प्रवर्त्तिन्या अर्थाय ते एतस्या उपसंग्रहं करिष्यन्तीत्यभिप्रायेण । शेषं सुगमम् ।

अत्र भाष्यम्-

असट्ठमप्पणो वा, पव्वावणें चउगुरू च आणादी ।
मिच्छत्त तेणसंक-ट्ठ मेहुणे गाहणे जं च ॥ ९७ ॥

शिष्यस्य मे च सर्वकार्येषु सहायिनी भविष्यतीत्येवमन्यार्थमेवमात्मनो वाऽर्थाय यदि प्रव्राजयति निर्ग्रन्थीं तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु, आज्ञाऽऽदयश्च दोषा', तथा मिथ्यात्वं तीर्थकरवचनातिक्रमात् । तथा स्तैन्यार्थे शङ्कायां किं मन्ये प्रव्राज्याऽऽहरिष्यति, उत धर्मश्रद्धया प्रव्राजयतीत्येवरूपाया यत्प्रायश्चित्तं चतुर्लघुकम् । उपलक्षणमेतत्-नि·शङ्कितमेष प्रव्राज्याऽऽहरिष्यतीति निश्चयेऽपि यत्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । तथा-मैथुने शङ्किते यथा किं मैथुनार्थमेष प्रव्राजयति,उत धर्मश्रद्धयेति यत्प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकम् । नूनमेष मैथुनार्थं प्रव्राजयतीत्येव निःशङ्किते यन्मूल प्रायश्चित्तम् । यच्च ग्रहणे कञ्चुकाऽऽदिसघाटप्रावरणोपदेशदाने कक्षान्तराऽऽदिदृष्ट्वाऽऽत्मपरोभयसमुत्थदोषैर्ब्रह्मचर्यविराधना तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तमापद्यते ।

एतदेवोत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह-

तेणट्ठेँ मेहुणे वा, हरइ अयं संकऽसंकिए सोही ।
कक्खादभिक्खदंसण-मथकमाऽऽतोभए दोसा ॥९८॥

अथ प्रव्राजनाव्याजेन हरतीत्येत्र शङ्कायामशङ्किते वा स्तैन्यस्यार्थे,तथा मैथुनशङ्कायामशङ्किते वा मैथुन,या शोधि प्रायश्चित्त तदापद्यते । तथा कक्षाऽऽदीनामथक्रम प्रस्तावमन्तरेणदर्शने आत्मोभयदोषा । उपलक्षणमेतत्-परदोषाश्चायतनेऽपि प्राप्नोति ।

एतदेव सविशेषमाह-

हरति त्ती संकाए, लहुगा गुरुगा य होंति नीसंके ।
मेहुणसंके गुरुगा, निस्संकिएँ होइ मूलं तु ॥ ९९ ॥

अथ प्रव्रज्या दातव्या येन हरतीत्येष शङ्कायां प्रायश्चित्त चत्वारो लघुका , नि शङ्कहरणे नूनमेष निश्चित हरिष्यतीत्येव निश्चये भवन्ति चत्वारो गुरुका । तथा मैथुनाऽऽशङ्कायां चत्वारो गुरुका', नि शङ्किते मैथुने वा भवति मूलम् ।

अमुमेवार्थं सूत्रकृताङ्गालापकेन संवादयति-

'अवि धूयराहिँ' वासो,पडिसिद्धो तह य वासेँ सतिहिका ? ।
वीसत्थादी दोसा, त्ति जहट्ठा एव पुवुत्ता ॥१००॥

पूर्वं सूत्रकृताङ्गे १३ गाथा । ४ अ० १ उ० । एवोक्ता अभिहिता पूर्वोक्ता ।

पव्वावणा सपक्खे, परिपुच्छिऊएँ दोसवज्जिए दिक्खा ।
एवं सुत्तं अफल, सुत्तनिवातो उ कारणिओ ॥१०१॥

यस्मादेते दोषा स्तस्मात् सपक्षे प्रव्राजना कर्त्तव्या । तद्यथा-पुरुषा. स्यतै. प्रव्राजनीया ,स्त्रिय संयतीभि संयतैरनुज्ञाताभि ।सा च दीक्षा परिपृच्छ्य किं प्रव्रजसि इति पृष्टा यद्यभ्युपगच्छति तदा दातव्या, पर दोषवर्जिते "अट्ठारस पुरिसेसु " इत्येवमादिदोषरहिते । अत्र पर आह—यद्येतत्तत्र तर्हि सूत्रमफलं, सूत्रे परपक्षेऽपि दीक्षाया अभ्यनुज्ञानात्तस्याश्चासंभवात् । आचार्य आह—सूत्रनिपात कारणिकः कारणमपेक्ष्येद सूत्र प्रवृत्तमिति भाव. ।

किं तत्कारणमत आह—

**कारणमेगमडंवे, खंतियमादीसु मेलणा होइ ।**
**पव्वज्जमब्भुवगए, अप्पाण चउव्विहा तुलणा ॥१०२॥**

कारणमशिवाऽऽदिलक्षणमधिकृत्य कोऽपि साधुरेकाकी जातः, कथमप्येकमडम्बे गतः । एकमडम्ब नाम यस्य निवेशस्य सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च नास्ति कोऽप्यन्यो ग्रामो नगरं वा तस्मिन्नेकमडम्बे गतस्तत्र च संयत्यो न विद्यन्ते । अथ च तस्मिन्नेकमडम्बे तस्य साधोर्माता भगिनी अन्या वा काचन नालसंबद्धा स्वजनाऽस्ति, कोऽप्यन्यो तासां मात्रादीनां मेलापकः साधोर्भवति । स च मात्रादिकः स्त्रीजनो धर्मे कथिते अकथिते वा प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुमभ्युपगतः । यथा वयं प्रव्रज्यां प्रतिपद्यामहे—एवं प्रव्रज्यामभ्युपगते मात्रादावशङ्कनीये स्त्रीवर्गे यतना कर्तव्या । सा चेयम्–तेन साधुना च तुलनया तोलयितव्यः । तद्यथा–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो यदि समर्थ आहारमुपधिं भेषजाऽऽदिकं चोत्पादयितुं समर्थ । तथा कस्याप्येवं स्वभावो भवति यथा न शक्नोति सातु प्रथमालिकां विना, चतुर्थरसिकाऽऽदिकं वा पानकं न शक्नोति पातुं, ततस्तद्योग्यं पानकं प्रथमालिकां वा नेतुं समर्थ । तथा कस्याप्येव स्वभावो भवति क्षेत्रतो यदि शक्नोति पथि पादाभ्यां गन्तुमध्वनि वा यदि शक्नोति आहाराऽऽदिमुत्पादयितुं, कालतो ग्रीष्मकाले पानकं, शीतकाले तत्कालप्रयोग्यमाहाराऽऽदिकं तदुत्पादयितुं समर्थः, रात्रौ मध्याह्ने यदि गन्तुं प्रभुर्भावतो यदि क्रोधाऽऽदीनां दहनं कर्तुं क्षमो, ज्ञानदर्शनचारित्राणि सामाचारीं च ग्राहयितुमास्ते, ततो यावदाचार्याणां प्रवर्त्तिन्या वा मूलं न प्राप्नोति तावदनया चतुर्विधया तुलनयाऽऽत्मानं तुलयित्वा यदि समर्थो जातस्ततः प्रव्राजयति ।

एतदेवाऽऽह–

**असिवाऽऽदिकारणगतो, वोच्छिन्नमडंव संजतीरहिते ।**
**कहियाकहिएँ उवट्ठिएँ, असंक इत्थीसिमा जयणा ।१०३।**

अशिवाऽऽदिभिः कारणैरेकाकी, व्यवच्छिन्ना ग्रामनगराऽऽदयो दिक्षु विदिक्षु च यस्मात्तस्मिन्व्यवच्छिन्ने संयतीरहिते मडम्बे गतस्तत्र च धर्मे कथिते अकथिते वा मात्रादयो व्रतग्रहणार्थमुपस्थितास्तासु अशङ्कासु अशङ्कनीयास्त्रिय वक्ष्यमाणा यतना ।

तामेवाऽऽह–

**आहारादुप्पायण, दव्वे समुइं च जाणते तीसे ।**
**जइ तरइ गंतु खेत्ते, आहारादीणि अद्धाणे ॥१०४॥**

द्रव्ये द्रव्यतो यद्याहाराऽऽदीनाम् । आदिशब्दादुपध्यादिपरिग्रहः । उत्पादने समर्थः । 'समुइ' नाम स्वभावः, तं तस्य जानाति यथा प्रथमालिकां विना न शक्नोति चतुर्थरासिकाऽऽदिकं च पानीयं पातुं न शक्नोति, ततस्तद्योग्यं पानं प्रथमालिकां चोत्पादयितुं क्षमः । तथा क्षेत्रतो यदि पथि पादाभ्यां गन्तुं तरति, अध्वनि चाऽऽहाराऽऽदिकमुत्पादयितुम् ।

**गिम्हाइकालेँ पाणग, निसिगमणोमेसु वा वि जइ सत्तो ।**
**भावे कोहाइजओ, गहणे णाणे य चरणे य ॥१०५॥**

काले ग्रीष्माऽऽदौ यदि पानकमुत्पादयितुं शक्तः । उपलक्षणमेतत्–शीतकाले च प्रायोग्यं तत्सपादयितुं शक्तः । भावे यदि क्रोधाऽऽदि जयं कर्तुं शक्यते, ज्ञाने चरणे च तस्या ग्रहणे समर्थस्तदा यावदाचार्यमूलं प्रवर्त्तिनीमूलं च न प्राप्नोति तावदेतया चतुर्विधयाऽऽत्मानं तोलयित्वा यद्यात्मनः समर्थता मन्यते तदा प्रव्राजयति, यावत्कथासमर्थो वा प्रव्राजयति ।

अत्रेयं मार्गणा–यो यावत्कथं परिपालयितुं समर्थः स नियमात्प्रव्राजयति, इतरस्मिंस्तु भजना । तथाहि–यो यावत्कथं परिपालयितुं समर्थस्तस्य यद्याचार्यः सलब्धिकः परिपालने समर्थोऽन्यो वा स्वगणसत्कः परिपालयितुं क्षमस्ततः प्रव्रज्य तस्य समर्पयति । अथाऽऽचार्योऽन्यो वा स्वगणसत्कस्तां परिपालयितुं न समर्थस्तदा न प्रव्राजयति ।

इयमितरस्मिन् भजना–

**अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिउकामो जो उ पव्वावे ।**
**गुरुगा अविज्जमाणे, अन्ने गणधारणसमत्थे ॥१०६॥**

योऽभ्युद्यतमेकतरं नाम लब्धिक आर्यिकाणां परिपालने च समर्थस्तस्य मात्रादिका व्रतग्रहणार्थमुपस्थिताः, स यद्युद्यतविहारं मरणं वा प्रतिपत्तुकामस्तर्हि यदि तस्याऽऽचार्योऽन्यो वा स्वगणसत्कः परिपालने समर्थस्तदा ताः परिव्राज्य तस्य समर्पयति, समर्प्य चाऽभ्युद्यतविहारं मरणं वा प्रतिपद्यते । अथ नास्त्याचार्यः स्वगणसत्को वा तासां परिपालकस्तदा अन्यस्मिन् गणधारणसमर्थे अविद्यमाने योऽभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं वा प्रतिपत्तुकामः प्रव्राजयति तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

**जो वि य अलद्धिजुत्तो, पव्वावे तस्स होंति गुरुगा उ ।**
**तम्हा जो उ समत्थो, सो पव्वावेइ ताओ वा ॥१०७॥**

योऽप्यलब्धियुक्तो न तत्प्रायोग्यमाहारयितुमीशस्तस्याऽपि प्रव्राजयतो भवन्ति चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तं, यत एवमसमर्थतायां प्रायश्चित्तं तस्माद्यः समर्थः स ता मात्रादिकाः स्त्रीः प्रव्राजयति ।

**एवं तुलेउणऽप्पं, सा वि तुलिज्जइ उ दव्वमाईहिं ।**
**कायाण दंसणं दि–क्ख सिक्ख इतरादिसा नयणं ।१०८।**

एवमुक्तेन प्रकारेणाऽऽत्मानं द्रव्याऽऽदिरूपया चतुर्विधया तुलनया तोलयित्वा याऽसौ प्रव्राजनीया साऽपि द्रव्याऽऽदिभिस्तोलयितव्या । सा च तुलनाऽग्रे भणिष्यते । यदि तुलनायामुक्तायां सा ब्रूते–सर्वमहं कर्तुं समर्था इति । तदा सा दीक्षणीया । सा च तुलना तस्याः कर्त्तव्या यस्याः स्वभावो न ज्ञायते । यस्याः पुनः स्वभावो ज्ञातो वर्त्तते तत्राऽऽत्मतुलनैव प्रागुक्ता कर्त्तव्या । अथ यदि तस्य माता भगिनी वा ततः कथं तस्याः स्वभावो न ज्ञायते ? । उच्यते–स लघुक एव नष्टः प्रव्रजितो वा ततः स्वभावापरिज्ञानम् । ( कायाण दसणमिति ) कायानां पृथिवीकायाऽऽदीनां दर्शनं कर्त्तव्यम् । यथा–एष पृथिवीकाय उच्यतेऽयमप्कायोऽयं तेजस्काय एष वायुकायोऽयं वनस्पतिकाय एष चलनधर्मा द्वीन्द्रियाऽऽदिस्त्रसकायः । तत्र पृथिव्याम् आलिखनाऽऽदि न कर्त्तव्यम् । अप्कायेन स्नानसेचनादि, तेजस्कायेन प्रतापनाऽऽदि, वनस्पतिकायेन दन्तधावनाऽऽदि, त्रसकायस्य परितापनाऽऽदि । यदि पुनः कायैः कार्यमुपजायते तदा उत्कारणे प्रासुकेन परिमितेन कर्त्तव्यम् । एवमभ्युपगते तस्या दीक्षा दातव्या, तदनन्तरं ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च शिक्षणीया । तत्र ग्रहणशिक्षा–सा दशवैकालिकाऽऽदिसूत्रं पाठनीया । आसेवनाशिक्षा–यत् परिधापनाऽऽदिशिक्षा, तत्र परिधापनविधिमुपदर्शयितुकामेन पूर्वं लघु-

याचकः सयतीनेपथ्येन परिधाप्यते,तत उच्यते-एवमार्ये ! त्वम पि परिधानं कुर्या'। तथा भिक्षाटनसामाचारीं संक्षेपेण कथयति । तत इत्वरदिक्करणम्-यावदाचार्यसकाशं न व्रजामि तावदह- मेव ते आचार्योऽहमेव च प्रवर्तिनी,आचार्यसमीपं गतानां त्वा- चार्या ज्ञातारः। ततो वक्ष्यमाणविधिना गुरुसमीपे नयनम् । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुर्भाष्यकारः प्रथमत- स्तस्या द्रव्याऽऽदिभिस्तुलनामाह-

पेज्जादि पायरासा, सयणासणवत्थपाउरण दव्वे ।
दोसीण दुब्बलाणि य,सयणादि असक्कया एण्हिं ।१०९।

गृहस्थावस्थायां प्रातराशा प्रथमालिका पेयाऽऽदिरूपा पेया प्रता- ता,आदिशब्दान्मण्डकमोदकाऽऽदिपरिग्रहः ।तथा शयनाऽऽ- सनवस्त्राणि शोभनानि प्रावरणानि कालोचितान्यासीरन्, इदा- नीं तु व्रतप्रतिपत्तौ प्रथमालिकायां भक्त (दोसीणमिति)पर्युषित भविष्यति, दुर्बलानि च शयनाऽऽदीनि शयनाऽऽसनवस्त्राणि प्रावरणानि च, एतेषां कर्तुमशक्यता, इय द्रव्ये द्रव्यविषया प्रतिपृच्छा ।

पुनरपि द्रव्यविषयामेव तामाह-

पडिकारा य बहुविहा,विसयसुहा आसि भे ण पुण इण्हिं ।
वत्थाणि ण्हाणधूवा-विलेवणा ओसहाइं च ॥११०॥

तथा (भे) भगवतीनां गृहस्थावस्थायां व्याधेः प्रतीकारा बहु- विधा आसीरन्, विषयसुखानि च बहुविधानि । तथाहि-गृह- स्थावस्थायां मनोज्ञानि वस्त्राणि, शरीरमनःप्रह्लत्तिकरं स्नानं, प्राणमनोनिर्वृत्तिकरा धूपाः ,शरीरसुभगानि विलेपनानि, एतैः विषयसुखानि भावितानि । तथा औषधानि गृहस्थावस्थायां नानाप्रकारसगृहीतानि, इदानीं पुनर्न विषयसुखानि, नापि प्रतीकारा बहुविधाः, ततः परं दुष्करं व्रतमेतदिति ।

क्षेत्रतः प्रतिपृच्छामाह-

अद्धाण दुक्ख सेज्जा,करेणु तमसा य वसहिओ खेत्ता ।
परपाएहिं गयाणं, उसियाण य उउसुहघरेसुं ॥१११॥

युष्माकं सदैव परपादैर्गताना सदैव च ऋतुसुखेषु गृहेषूषि- तानां प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरमध्वनि स्वपादाभ्यां गमनं महद् दुःखं भविष्यति, शय्या वसतिः , करेणुका तथा दीपो रात्रौ न प्रज्वाल्यते, वसतयो वसनानि तमसा कल्पानि भविष्य- न्ति, एषा क्षेत्रे प्रतिपृच्छा ।

कालत आह-

आहाराउवओगो, जोग्गो जो जम्मि होइ कालम्मि ।
सो अन्नहा न य निर्सि, अकालेऽजोग्गो य हीणो य ।११२।

यो यस्मिन्काले योग्य आहाराऽऽद्युपयोगः स गृहस्थावस्थायां समपद्यत,व्रतप्रतिपत्त्यनन्तरं तु स आहाराऽऽद्युपयोगोऽन्यथा भवति,तथा न रात्रावाहाराऽऽद्युपयोगो,न च कालेऽपि च,क- दाचिदयोग्यो भवति,सोऽपि च न परिपूर्णः,किं तु हीनः। इति गतः कालः ।

प्रतिपृच्छामाह-

सव्वस्स पुच्छणिज्जा,न य पडिकूलेन सइरमुदिताऽसि ।
खुड्डा वि पुच्छणिज्जा,चोयण फरुसा गिरा भावे ॥११३॥

गृहस्थावस्थायां त्वं सर्वस्य प्रष्टव्या (?) वर्त्तसे,तथापि न प्रति- कूलेन, तथा स्वैरं स्वेच्छया मुदिता प्रमोदवती गृहस्थावस्था यामसि भवसि । व्रतप्रतिपत्त्यनन्तरं तु क्षुल्लिकाऽपि त्वया प्रष्टव्या,तथा चोदना शिक्षणं परुषया गिरा भविष्यति । एतच्च परमदुःसहमित्येषा भावे भावविषया प्रतिपृच्छा ।

जा जेण वएण जहा, य लालिता तं तदन्नहा भणति ।
सोयादिकसायाण य, जोगाण य निग्गहो समिती ॥११४॥

या यस्मिन्वयसि, गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्, यथा येन प्रकारेण लालिता, चाशब्दो भावविषयप्रतिपृच्छा- प्रकारान्तरोपदर्शने,ता तदन्यथा इत्युक्ति,श्रोत्रादीनामिन्द्रि- याणां कषायाणां योगानां च कायप्रभृतीनां निग्रहः कर्त्तव्यः, समितयश्च ईर्यासमित्यादयः पञ्च परिपालनीयाः । तदेवं त- स्या द्रव्याऽऽदिभिस्तुलनोक्ता ।

सम्प्रति कायानां च दर्शनमाह-

अलिहणसिंचणतावण-वीयणदंतधुवणादिकज्जेसु ।
कायाण अणुवभोगो, फासुयभोगो परिमितो य। ११५।

पृथिव्या काष्ठाऽऽदिना आलिखनमुदकेन सेचनमग्निना तापनं वायोर्वीजनं दन्तप्रक्षालनमित्यादिकार्येषु कायानामनुपभोगः । यदि पुनः कार्ये प्रयोजनमुपजायते तदा प्रासुकेन परिभोगः कर्त्तव्यः, सोऽपि च परिमित इति ।

सम्प्रति दीक्षाऽऽदिद्वारप्रतिपादनार्थमाह-

अब्भुवगयाएँ लोओ, कप्पट्ठगलिंगकरणदंसणया ।
भिक्खग्गहणं कहती, तावदहं ते दिसं तिण्णि ॥११६॥

पूर्वोक्तं सर्वं यद्यभ्युपगतवती भवति, तदा तस्या अभ्युपग- ताया अभ्युपगमवत्या लोचः कर्त्तव्यो, यदा तु निवसनविधि- मुपादेष्टुमुपक्रान्तो भवति तदा कल्पस्थकस्य बालकस्य स- यतीनेपथ्यपरिधापनेन निवसनस्य दर्शनं कर्त्तव्यम् ।तथा भि- क्षाग्रहणं भिक्षाऽटनसामाचारीं कथयति, वदति च यावदाचा- र्यसमीपं न व्रजामि तावदहं ते तव तिस्रो दिशः । अहमेव तवाऽऽचार्योऽहमेवोपाध्याया अहमेव प्रवर्तिनीति । आचार्य पादमूलं गताना त्वाचार्याः प्रमाणम् ।

नयनविधिमाह—

माऊण एक्कियाए, संबंधीइत्थिपुरिससत्थे य ।
एमेव संयतीण वि,लिंगकरणे मोत्तु बितियपदं ॥११७॥

एकस्या मातुः,उपलक्षणमेतत्,भगिन्या वा-नयनं नाहवरूढा (?)। सम्बन्धिना पुरुषसार्थेन,तस्याप्यभावेऽन्येन भद्रकेन सार्थेन सह, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात्। सूत्रम् "नो कप्पइ नि- ग्गंथीण निग्गंथ अप्प० ॥६॥ कप्पति निग्गंथीण अप्प० ॥७॥" इत्यादिसूत्रद्वयम्। अस्याक्षरगमनिका प्राग्वत् । अत्र भाष्यकार: प्राह-"एमेव" इत्यादिगाथापश्चार्द्धम्। एवमेव अमेनैव प्रकारेण, सयतीनामपि सयतः प्रव्राजयन्तीनां निरवशेषं वक्तव्यम् । नवरं लिङ्गकरणे द्वितीयपदं मुक्त्वा लिङ्गकरणे द्वितीयपदमधिकत्वा- ऽऽसेवनीयमिति भावः ।

एतदेव दर्शयति—

उड्डंतं निवेसंते, सइ करणादी य लज्जनासे य ।
तम्हा उ सकडिपट्टं, गाहेंति तयं दुविहसिक्खं ॥११८॥

अग्रपूरकमात्रकरणे उत्तिष्ठति,निविसति,सकृत्करणाऽऽदौ च यस्मात् अज्ञानाशो भवति तस्मात्तक सयत द्विविधमपि शिक्षां ग्राहयति,सकटीपट्टक सन्त कटीपट्टकपरिधानोपेत मन्तम ।

**आयरिएँ उवज्झाओ, तइया य पवत्तिणी उ समणीणं ।**
**अवेसिं अट्ठाए, त्ति होइ एएसि तिएहंपि ।११६।**

श्रमणीनामाचार्य उपाध्यायस्तृतीया च प्रवर्तिनी भवति, श्रमणानां त्वाचार्योपाध्यायौ । ततोऽन्येषामर्थायेति यदुक्तं सूत्रद्वयेऽपि व्याख्यातम्। व्य० ७ उ० । "कषाया यस्य नोच्छिन्ना, यस्य नाऽऽत्मवश मनः । इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम् ॥१॥" सूत्र० १ श्रु०७ अ० । येन प्रव्रज्यायाः पूर्वं लघुधान्यानि प्रत्याख्यातानि भवन्ति,तस्य तद्ग्रहणे तानि कल्पन्ते, न वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र पूर्वं येन लघुधान्यानि प्रत्याख्यातानि तस्य प्रव्रज्याग्रहणे सति अन्याचाप्राप्तौ तानि कल्पन्ते इति ॥ ११८ ॥ ही० ३ प्रका० । ('मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे कल्पिकापरिग्रहप्रतिषेवणाप्रस्तावे कुष्ठप्रव्राजनाविचारः) ( पर्युषणायां दीक्षादानम् ' पज्जुसवणाकप्प ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५० पृष्ठे गतम् ) ।

विषयसूची—

( १ ) भेदतः प्रव्रज्याव्याख्यानम् ।
( २ ) प्रव्रज्यापर्यायाः ।
( ३ ) त्रिविधा प्रव्रज्या ।
( ४ ) धर्मश्रवणतोऽभिसमागमतश्च दीक्षाया एव स्वरूपतो निरूपणम् ।
( ५ ) योग्येन गुरुणा ।
( ६ ) केभ्यः प्रव्रज्या दातव्या, के पुनस्तदर्हा इति निरूपणम् ।
( ७ ) कस्मिन् क्षेत्राऽऽदौ प्रव्रज्या दातव्या ।
( ८ ) व्यतिरेकप्राधान्यतः कालनिरूपणम् ।
( ९ ) चरमपुद्गलपरावर्त्ते विशुद्ध्यमानस्य च दीक्षा भवतीत्येवमस्याः सामान्यतो विशेषतश्चाधिकारिनिरूपणम् ।
( १० ) समवसरणान्तःपुष्पपाते योग्यतानिर्णयाद्दीयतेऽसौ, बहिस्तत्पाते तु यो विधिस्तन्निरूपणम् ।
( ११ ) कथं केन प्रकारेण दातव्या ।
( १२ ) कथामधिकृत्य ।
( १३ ) परीक्षा ।
( १४ ) सामायिकाऽऽदिसूत्रदानम् ।
( १५ ) शेषविधिः ।
( १६ ) वन्दनविधिः ।
( १७ ) लिङ्गदान एव विधिः ।
( १८ ) अप्रमार्जनदोषाः ।
( १९ ) साधुधर्मे परिभाविते यत्कर्तव्यं तन्निरूपणम् ।
( २० ) पालनासूत्रम् ।
( २१ ) प्रव्रज्याविधिः ।
( २२ ) गुरवे आत्मनिवेदनम् ।
( २३ ) प्रव्रज्याफलम् ।
( २४ प्रव्रजितस्याऽऽर्यिकाभिर्वन्दनम् ।
( २५ ) परीक्ष्य प्रव्राजनम् ।
( २६ ) एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नस्य श्रावकस्य प्रव्रज्या ।
( २७ ) पण्डक-वातिक-क्लीबप्रव्रज्यानिषेधः ।
( २८ ) पण्डकादीनां प्रव्राजने प्रायश्चित्तम् ।
( २९ ) नायकम्, अनायकं वा अनलं वा प्रव्राजयति । तत्र प्रायश्चित्तम् ।
( ३० ) निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थैरात्मार्थं न प्रव्राजनीया ।

पव्वजियव्व–प्रतिपत्तव्य–त्रि० । स्वीकर्त्तव्ये, "पया पवज्जियव्वा, पयंसि जोगय उवगए ।" पञ्चा० १६ विव० ।

पवट्ट–प्रवृत्त–त्रि० । "वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः" ॥ ८ । २ । २९ ॥ इति तस्य टः । उपक्रान्ते, प्रा० २ पाद ।

पवट्टण–प्रवर्त्तन–न० । प्ररूपणे, विशे० । पुनःपुनर्देहमर्द्दने, नि० चू० ३ उ० ।

पवट्टय–प्रवर्त्तक–पुं० । प्रवर्त्तयतीति प्रवर्त्तकः । प्रवर्त्तमानस्य प्रेरके, प्रव० २ द्वार ।

पवट्ठ–प्रकोष्ठ–पुं० । "ओतोऽद्वाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठाऽऽतोद्य-शिरोवेदना-मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ॥" ८ । १ । १५६ ॥ इति सूत्रेण को इति भागस्य वः। गृहद्वारपिण्डे,प्रा० १पाद ।

पवडंत–प्रपतत्–त्रि० । प्रकर्षेणाधः पतिते, "पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।" दश० ५ अ० १ उ० ।

पवडण–प्रपतन–न० । भूमौ पाते, स्था० ५ ठा० २ उ० । "पवडणं भूमीए गत्तेहिं ।" भूमौ प्राप्तं सर्वगात्रैश्च यत् पतनम् । बृ० ६ उ० ।

पवडणया–प्रपतनता–स्त्री० । प्रपतनशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते, प्रज्ञा० १६ पद । आ० म० ।

पवडणा–प्रपतना–स्त्री० । भूमौ पाते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पवडमाण–प्रपतत्–त्रि० । प्रकर्षेण भूमौ सर्वैरपि गात्रैः पतति, बृ० ६ उ० ।

पवड्ढण–प्रवर्धन–न० । प्रकर्षेण वर्धनं प्रवर्धनम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विवर्धने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

पवण–पवन–पुं० । पवते पुनातीति वा पवनः । पिं० । वायौ, आव० ४ अ० । प्रश्न० । स्वातीनक्षत्रदेवतायाम् , स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० म० । "अणिलो गंधवहो मा-रुओ समीरो पहंजणो पवणो ।" पाइ० ना० २५ गाथा ।

प्लवन–न० । तरणे ज्ञा०१ श्रु०१४ अ० । जलोपरि गमने,सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । उत्प्लवने, उत्त० २ अ० । "लंघणजवणपमदणसमत्थे ।" जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

पवणकिच्च–प्लवनकृत्य–न० । प्लवनं तरणं कृत्यं कार्यं यस्येति । तरकाण्डे, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

पवणकुमार–पवनकुमार–पुं० । वायुकुमारे भवनपतिविशेषे, स्था० १० ठा० ।

पवणबलसमाहय–पवनबलसमाहत–त्रि० । वातसामर्थ्यात्प्रेरिते ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पवणाहय–पवनाऽऽहत–त्रि० । वायुप्रेरिते, औ० ।

पवण्ण–प्रपन्न–त्रि० । अभ्युपगते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । उत्त० । "अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो । एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ॥ १३ ॥" उत्त० २३ अ० ।

( अस्या गाथाया व्याख्या 'गोयमकेसिज्ज' शब्दे तृतीयभागे ६६० पृष्ठे गता )

**पवत्तग-प्रवर्त्तक-**पुं० । प्रशस्तयोगेषु साधून् प्रवर्त्तयतीति प्रवर्त्तक । गणे प्रवृत्तिनिवृत्तिविधायके, ध० ।

अथ प्रवर्त्तकगुणानाह-

तपःसंयमयोगेषु, योग्यं यो हि प्रवर्त्तयेत् ।
निवर्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्तकः ॥ १४३ ॥

गणचिन्तीति गणचिन्ताकारक. । शेषं सुगमम् । प्रशस्तयोगेषु साधून् प्रवर्तयतीति प्रवर्त्तक. । प्रवर्तकपदयोग्य इत्यर्थ. ॥ १४३ ॥ ध० ३ अधि० । आव० । प्रयोजके, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । रा० । ज्ञानाऽऽदिषु प्रवर्त्तयितरि, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । प्रवर्त्तयतीत्येवं शील. प्रवर्त्तकः । धर्मे विषीदता प्रोत्साहके, व्य० १ उ० ।

**पवत्तचक्क-प्रवृत्तचक्र-**त्रि० । योगिभेदे, द्वा० ।

प्रवृत्तचक्रास्तु पुन-र्यमद्वयसमाश्रयाः ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं, शुश्रूषाऽऽदिगुणान्विताः ॥२३॥

( प्रवृत्तचक्रास्त्विति ) प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयस्य इच्छायमप्रवृत्तियमलक्षणस्य समाश्रया आधारीभूता. । शेषद्वयार्थिन स्थिरयमसिद्धियमद्वयार्थिनः, अत्यन्तं सदुपायप्रवृत्त्या. सुश्रूषाऽऽदयो गुणा. सुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहलक्षणास्तैरन्विता युक्ता. ॥२३॥ द्वा० १६ द्वा० ।

**पवत्तण-प्रवर्त्तन-**न० । "र्तस्याऽधूर्त्ताऽऽदौ" ॥ ८ । २ । ॥ इति सूत्रेणाऽधूर्त्ताऽऽदाविति पर्युदासात् तस्य टो न । प्रा० २ पाद । उद्यमे, उत्त० ३१ अ० ।

**पवत्तय-प्रवर्त्तक-**न० । प्रथमसमारम्भादूर्ध्वमाक्षेपपूर्वकं प्रवर्त्तमाने, जं० १ वक्ष० ।

**पवत्ति ( ण् )-प्रवर्त्तिन्-**पु० । प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्त्याऽऽदिषु प्रवर्त्ती । प्रवर्त्तके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

प्रवर्तिस्वरूपमाह—

तवनियमविणयगुणनिहि-पवत्तया नाणदंसणचरित्ते ।
संगहुवग्गहकुसला, पवत्ति एयारिसा हुंति ॥ ३३६ ॥

तपो द्वादशप्रभेद,नियमा विचित्रा द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाः, विनयो ज्ञानाऽऽदिविनय , तपोनियमविनयानां गुणानां निधय इव तपोनियमविनयगुणनिधयस्तेषां प्रवर्त्तका' । तथा ज्ञानदर्शनचारित्रेषु उद्युक्ता. सततोपयोगवन्त इति वाक्यशेष । तथा सग्रह शिष्याणां सग्रहणम्, उपग्रहस्तेषामेव ज्ञानाऽऽदिषु सीदतामुपष्टम्भकरण, तयो. सग्रहोपग्रहयो कुशला , एतादृशा एवरूपा' प्रवर्त्तिनो भवन्ति । यथोक्तेनप्रशस्तयोगेषु साधून् प्रवर्त्तयन्तीत्येव शीला. प्रवर्तिन इति व्युत्पत्तः ।

तथा चाऽऽह—

तवसंजमनियमेसुं, जो जुग्गो तत्थ त पवत्तेइ ।
असहू य नियत्तंती, गणतत्तिल्लो पवत्तीओ ॥३४०॥

तप सयमयोगेषु मध्ये यो यत्र योग्यस्त तत्र प्रवर्त्तयन्ति, असहांश्चासमर्थांश्च निवर्त्तयन्ति । एव गणतप्तिप्रवृत्ता प्रवर्त्तिन. । उक्त प्रवर्त्तिस्वरूपम् । व्य० १ उ० ।

**पवत्तिणी-प्रवर्त्तिनी-**स्त्री० । गणमहत्तरिकायाम् आचार्यस्थानीयायां सकलसाध्वीनां नायिकायाम्, बृ० ३ उ० । व्य० । ध० व० । नि० चू० ।

अथ प्रवर्त्तिनीगुणानाह—

गीतार्था कुलजाऽभ्यस्त-सत्क्रिया पारिणामिकी ।
गम्भीरोभयतो वृद्धा, स्मृताऽऽर्याऽपि प्रवर्त्तिनी ॥१२६॥

गीतार्था श्रुतविभागमधिकृत्य,तथा कुलजा विशिष्टकुलजाता, तथा अभ्यस्ता सत्क्रिया यया सा तथा, तथा पारिणामिकी उत्सर्गापवादविषयज्ञा । तथा गम्भीरा अलब्धमध्या । तथा उभयतो दीक्षावयोभ्यां वृद्धा स्थविरा, चिरदीक्षिता परिणतेत्यर्थ. । ईदृशी आर्याऽपि सत्यपि प्रवर्त्तिनी स्मृता प्रोक्तेति सबन्धः । ध० ३ अधि० ।

अथ वृत्तद्वयेन गणिनीस्वरूप दर्शयति-

समा सीसपडिच्छीणं, चोअणासु अणालसा ।
गणिनी गुणसंपन्ना, पसत्थपुरिसाणुगा ॥ १२७ ॥

स्वशिष्याणा प्रातीच्छिकानां च समा तुल्या, तथा चोदनासु अनलसा कृतोद्यमा, प्रशस्तपुरुषाऽनुगा प्रशस्तपुरुषानुसारिणी, एवंविधा गणिनी महत्तरिका गुणसपन्ना ज्ञानादिगुणसहितेति । अनुष्टुप्छन्द ॥ १२७ ॥

संविग्गा भीयपरिसा य, उग्गदंडा य कारणे ।
सज्झायज्झाणजुत्ता य, संगहे अ विसारया ॥ १२८ ॥

सविग्ना संवेगवती, तथा भीतपर्षद्, यत. कारणे उग्रदण्डा, तथा स्वाध्यायध्यानयुक्ता, तत्र स्वाध्याय पञ्चधा, ध्यान च धर्मं शुक्लञ्चेति, चकार. समुच्चयार्थ. । तथा सग्रहे शिष्याऽऽदिसग्रहणे, चकारादुपग्रहे च, विशारदा कुशलेति । विषमाक्षरेतिगाथाछन्द. ॥ १२८ ॥ ध० ३ अधि० । ( प्रवर्त्तिनीरहिताभिर्निर्ग्रन्थीभिर्न स्थातव्यमिति 'उद्देस' शब्दे द्वितीयभागे ८०८ पृष्ठे गतम् ) ( निर्ग्रन्थ्या नवकहस्तवस्त्रया नोद्देष्टव्यम इति 'आयारपकप्प' शब्दे द्वितीयभागे ३५३ पृष्ठे उक्तम् ) ( निर्ग्रन्थ्याः क्षताऽऽचाराया. प्रवर्त्तिनीत्वं न कल्पते इति 'खयायार' शब्दे तृतीयभागे ७१८ पृष्ठे उक्तम् )

अयोग्यप्रवर्त्तिनी-

अहुणा पवत्तिणी तासिं, अजोग्गा तु इमा भवे ।
वासग्गामविहारे य, वीयाराऽऽदेक्क दीहिया ॥
अजुत्तोवहि अणाउत्ता, अप्पछंदा य काहिया ।
पडिणी थद्धसुहसीला, गिहिवेयावच्चकारिया ॥
संसत्तठवियभत्ता, पाउसी अप्पणट्ठया ।
अणायतणगवेसी य, छलइंगाणं पलोइया ॥
जाऽऽयऽण्णा एवमादीया, अज्जा अण्णेण कड्ढिया ।
आहारे उवहिम्मि य, गतीएँ सयणाऽऽसणे सरीरे य ।
भासाएँ पाउसाणं जा जहिँ आरोवणा भणिता ॥ (दारं)
वासा वासं वसती, तु एक्किया तह य गामअणुगामं ।
दूइज्जती वियारं, विहारभिक्खादि एक्का य ॥
दीहं करेति गोयरमुक्कस्सं-दोच्चगाणि मग्गेति ।
चित्तलगाइ णियंसण, अजुत्तउवही भवति एसा ॥

इरियाभासेसणादा-णिक्खेवसामिईअनाउत्ता ।
अणपुच्छाए गच्छति, जात्थिच्छाए य सच्छंदा ॥
गेहेसु गिहत्थाणं, गंतूण कहा कहेत्ति काहीया ।
तरुणादि अहिपडंते, अणुजाणाति जा उ सा पडिणी ॥
थद्धा जचादिमया-दिएहिँ सुहसील दुहसील त्ति ।
सिव्वणबंधणमादिसु, वेयावच्चं गिहीण करे ॥
उकस्सवत्थपत्ता-दिएहिँ संसत्त भावसंसत्ता ।
अहवा वि गिहत्थेसुं. पाउरणादीसु अविभत्ती ॥
भत्तं वा पाणं वा, णिक्खिवती पाउसी उ जा धुवति।
अभिक्खं तु हत्थपादे, कक्खंतरगुज्झमादीणि ॥
सएिहहि सणिव्वए चे-व कुणति जा अप्पणो अणट्ठाए।
अएां वा वि अणट्ठा, संचययं जा करेती तू ॥
जंतादिसाल तह व-हकोट्ठए मेंठसालठाणाणि ।
जा गच्छति एतेसिं, अणायतणगवेसिता सा तु ॥
गुज्झगाणि पलोए अप्पणो अहवा वि जा तु पुरिसाणं।
उक्कोसगमाहारं, एसति उवहिं च उक्कोसं ॥
गच्छति सविलासगती, सयणिज्ज सतूलियं सविव्वोयं।
उव्वट्टेति सरीरं, सिणाणमादी व जा कुणति ॥
भमुहुक्खेवादीहिं, सविकारं भासती सवीलासं ।
एमादि अणरिहा तु, पच्छित्तं वावि सट्ठाणं ॥
तच्च पुण तवो इणमो, पच्छित्तं भण्णए समासेणं ।
देंतगधरेंतगाणं, अगीतमादीण दोएहं पि ॥
अवहुस्सुतेऽगीतत्थे, णिसिरिज्जगाणं तु अवधारेज्जा ।
तं देवसियं तस्स तु, मासा चत्तारि भारीया ॥
सत्तरत्त तवो होति, ततो छेदो पहावती ।
छेदेण छिएणपरियाए, ततो मूलं तओ दुगं ॥
एक्केकं सत्तदिणे,दातुं तवेँ तिगिच्छिए ततो छेदो ।
जत्तो तवोँ आरद्धो, पणगादिकडो व जहिँ केइ ॥
तुल्ला चेव य ठाणा. तवभेदाणं हवंति दोएहं पि ।
पणगादि पणगवड्डी, दोएह विं छम्मास णिट्ठवणा ॥
किं कारणं न कप्पति, गणहारिऽवहुस्सुते अगीतत्थे ।
भएणति सो पच्छित्तं, जयणं च ण जाणए काउं ॥
दिट्ठंतो एट्टेण, अजाणमाणेण जाणएणं च ।
कायव्वोँ इत्थ इणमो, परूवणा तस्सिमा होति ॥
गीयम्मि अभिणयम्मि य, सरगममुच्छणासु सव्वासु ।
कुणति विवच्चासं खलु, जह णट्टमसिक्खितो णट्टो ॥
तह कुणति विवच्चासं, अगीतो सव्वकरणजोगेसुं ।
सुत्तत्थमजाणंतो, णाणे तह दंसणे चरित्ते ॥
जह नट्टगीतवाइय, विजाणतो जुंजए समं तालं ।
सुत्तं तु विजाणंतो, तह कुणती मम्मकरणं तु ॥
किं पुण सो ण विजाणति,जं कुणती सव्वहिं विवच्चासं ।
भएणति सुणसु इणमो, जं कुणती सो विवच्चासं ॥
ठाणणिसीयतुयट्टण-पेहणपप्फोडणे तहा समणे ।
भासासुद्धगहणे, जेऽन्ने य परूविया धम्मा ॥
उवदिसिउं न वियाणति, सामायारिं तु ठाणमादीयं ।
अज्जा वि जा अगीता, ण जाणए सा वि तह चेव ॥
अप्पच्छंदिओ लुद्धो, परिभूतो इत्थ पत्थणिज्जो उ ।
बहुलोहमोहछएणो, अज्जावग्गो दुरणुकड्ढो ॥
पाएण अप्पछंदा, महग्घदाणे तु लोभित अकिच्चं ।
कुव्वंति छगलिया विव, परिभूताओ व सव्वस्स ॥
मंसादिपेसिया विव, संजतिवग्गो हु पत्थणिज्जो तु ।
धिज्जाइयदिट्ठीसुं, बहुं च बहुमोहसएणाओ ॥
मज्जायविप्पहूणा, मज्जादासंपउत्तम्मि (?)।
पडिसेहेँ अणुएणाया, मग्गधरविलोमता चउरो ॥
जम्हा तु दुपरियट्टो,अज्जावग्गो तु तेण पडिसेहो ।
परियट्टण अज्जाणं, मज्जायाविप्पहूणस्स ॥
मज्जायसंपउत्तो, अज्जापरियट्टओ अणुएणातो ।
परिअट्टए अजोग्गे, उवट्ठिए चउगुरू सोही ॥
मग्गधरो आयरिओ,सो पुण सिढिलेइ जो तु मज्जादं ।
तस्सुवदेसो कीरति,मज्जादाए दढो होहि ॥
उपदेससारपडिसा-रणे य ते णवरि तिणि मामलहुं ।
छंदे अ वट्टमाणं, अपच्छंदं विवज्जिए ॥
दिट्ठंता य इमसिं, पढमा मासलहुगादि दिज्जंति ।
छगणोल्लपट्टरुंवण-अवराहेसु तिसु कमेणं ॥
आयरणे उवदेसो, अकप्पपडिसेवणे य उवदेसो ।
विकथादिपमाएसु य, मा वट्टह एस उवदेसो ॥
णिद्दाइपमादाइसु, सइं तु खलियस्स सारणा होति ।
णणु कहित ते पमादा, मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥
तद्दिवसं बीए वा, सीदंतो भएणए पुणो तइयं ।
अएणं वेलं ण सज्झ, भिक्खुपहादीहिँ संसत्तं ॥
फुडरुक्खे अवियत्तं, गोणे तुदितु व्व मा हु पेलेज्जा ।
सज्झ अतेणे भएणति, पसंतचित्तं ततो सारे ॥
भएणति दिस्सुवदेसो, तुज्झं पि नियं च साहि तुम्हेहिं ।
एगवारं तु होती मढो, वितियं पुण ते ण विसहामो ॥
ताहे पुणोऽवराहे, कयम्मि पच्छित्त देंति मासलहुं ।
भएणइ य सुणेहेतथं, दिट्ठंतं तेणएणं तु ॥
गोणादिहरणगहिओ, मुक्को य पुणो सहोढसंगहितो ।
उल्लोल्लछगणहारी, ण मुच्चती जायमाणो वि ॥
पुणरवि कयावराहे,मासलहुं चेव देंति से सोहिं।
भएणति पट्टिज्जंति य, मुक्कं सुद्धं तह तुमं पि ॥

पुणरवि अवरद्धम्मी, मासो विय तेसिं दिज्जते दंडो।
पाणो सो संवुत्तो, अतिरंविय कुंकुमं ततियं ॥
तेण परं णिच्छुमेणं, कुलगणथेरादि तस्स कुव्वंति।
अपमत्ता वी णियमा, भणति तू जस्सिमे दोसा ॥
अप्पच्छंदिय लुद्ध, गिलाणं दुप्पडिजग्गगं।
वामं सगव्वितं णच्चा, संवासो वि ण कप्पति ॥
उम्मग्गदेसणाए, संतस्स य छायणाए मग्गस्स।
मग्गधर उवालंभे, मासा चत्तारि भारीया ॥
आयरियाणं छंदे -ण वट्टती अप्पछंदिओ सो तु।
आहारादुकोसं. लद्धं अत्तट्ठे लुद्धो उ ॥
जो तु गिलाणो अपत्थं, मग्गति सो होति दुपडिजग्गो तु।
ठायसु भणितो वच्चति, वच्चति य ठाति वामो उ ॥
जच्चादिमादिएहिं, करेति गव्वं तु परिभवति अण्णं।
णाणादीया मग्गे, परूवणा अण्णहा तेसिं ॥
णाणादिसु सीदंतो, ण सुद्धमग्गं तु जो परूवेइ।
एसो मग्गच्छादो, वड्डयती दीहसंसारं ॥
एतेसिं तु विवेगो, मग्गधरा खलु कुलादिया थेरा।
एहिं उवालद्धाणं, उवट्ठिताणं गुरू चउरो ॥
वालाणं वुड्ढाणं, भिक्खूमादीण चेव सव्वेसिं।
संरोवेण महत्थो, उवदेसो कीरए इणमो ॥
कप्पे सुत्तत्थविसा-रएण थामावहारविजढेण।
भत्तादिलभऽलंभे, सक्कारजढेण हीयव्वं ॥
कप्पेति थेरकप्पो, सुत्तत्थविसारएण साहूण।
सव्वत्थामवलेणं, ण गूहियव्वं समत्थेणं ॥
आहारमादिएहिं, दट्ठुं धीयारमादि पुज्जंते (?)।
साहू अपुज्जमाणे, ण एव मणसा वि चिंतेज्जा ॥
पूइज्जती अ जया, वयं तु सव्वहुग्गमोदिण्णा।
आ कहणु ण पुज्जामो, ण करे मण दुक्कडं एवं ॥
सक्कारपुरक्कारे. परीसहो तु अहिआमिओ एवं।
जूरंतेणऽहियामिओ, तम्हा सुमणेण होयव्व ॥
पं० भा० ४ कल्प ॥

पयणगत्तेसि त्ति।" अणायणं तु वट्टमाणाए सुविह, तहा य जतगुणसालाति वा, जा तु गुज्झदेसाइ पलोएइ। एवमाइ अणरिहा पवत्तिणित्तणस्स। गाहा-"आहारे उवहि त्ति।" आहारोवहि एएसु जाव सत्तदुयाओ आहारमेज्जोवहासु अणणुण्णाए सट्ठाणपच्छित्तं मासापाउसियाए चउगुरुआइविभासा। गाहा-"अवहुस्सुए त्ति।" अवहुस्सुयाइ देतस्स गणे आरोवणा तद्दिवसमेव तस्स चउगुरुयं अहिकिख्खिरतस्स चउगुरुयं। गाहा-"सत्तरत्त तवो त्ति।" सत्त दिवसाइं दिणे २ चउगुरुयं, अट्ठमे दिवसे तवागुरुओ चउगुरुओ, छेओ जाव सत्तदिणा, पण्णरसमे दिणे मूलं अणवट्ठपारंची। एवं होएइ वि देंतधरेंताण। कम्हा अगीयत्थो दायव्वस्स धरेयव्वस्स वा अकप्पिओ?। उच्यते-नर्तकीदृष्टान्तेन गाहा-"जह नट्ट त्ति।" जहा नट्टिया अयाणिया विवच्चास करेइ गिज्जमाणे नट्टे य गरहिया य भवइ। एवमगीयत्थो अगीयत्थी य न सक्केइ समायरिउं पडिलेहणाइ उवदिसिउं वा परेसु। इयाणि गीयत्था जहा नट्टी न चेव नट्ट गेय वा अविवच्चास करेति, जसो किंत्ति च पावइ, एव चेव जाणतो करेइ सुद्ध, उवदिसइ य किं पुण न याणइ मासो वा सजओ। गाहा-"ठाण त्ति।" ठाणनिसीयणाईणि सजमाइ न याणइ न उवदिसिउं पायच्छित्तं वा गीयत्थो पुण जाणइ। गाहा-"ताणि त्ति।" ताणि चेव ठाणाईणि सजमतवोवहाणाइ उवदिसइ करेइ य गीयत्थो। किं च एएसु तवनियमाइसु सजुत्तो गीयत्थो आराहओ भवइ। गाहा-"अप्पच्छंद त्ति।" अज्जावग्गो पुण इमेहिं कारणेहिं दुपरियट्टिओ पावइ अप्पच्छंदिओ लुद्धो य जेण केणइ लोभाधियाओ अकिच्चमवि आयरंति। ठगल्लियवग्गो विव परिभूयाओ पत्थणिज्जाओ य अवपेसियादि ठतेण वा वहुमोहलोहमत्ताइसु धिज्जाइयासु एएण कारणेण दुपरिट्ठियाओ। गाहा-"मज्जाय त्ति।" एव मर्यादासम्प्रयुक्तस्य अणुपालणाकप्पो अणुण्णाओ, इयरस्स पडिसेहो, उवट्ठियस्स चउगुरु। एवं ता परियट्टी भणिया परियट्टियव्व पि सजईओ मज्जया वा चेति मज्जादासपवत्ता परियट्टिज्जति। इयरंमि पडिसेहो, उवट्ठियाण चउगुरुयं, जे पुण मज्जाय सिढिल करेंति तस्सुवदेसो, पडिस्सि सारणा, ठिइओ पिउपुव्वनिद्दोडिओ त्ति, तहया पडिसारणा तहे अवहुमाणस्स विगिंचणा। गाहा-गणहारिं या थेरा सारेंति, अहवा इमस्स अणाम्स विवेओ, अप्पच्छंदियस्स लुद्धस्स य जहा वा सो गिलाणो हवइ, तथा दुपरियट्टिओ होइ, पत्थपत्थाणि मग्गइ वामो गच्छिओ य निगिंचइ। गाहा-"उम्मग्ग त्ति।" उम्मग्ग जो देसेइ तस्स वि निगिंचणा। गाहा-"मग्गधर त्ति।" मग्गधरा नाम कुलथेराइ आयरिया था एए उवालभिऊण गुरुयं पायच्छित्तं देंति। तत्र थेरकप्पो सुत्ताइविसारएण वलमगूहमाणेण भत्त था निरयमाणो उयाहिम्मि ता मम न लहइ। सि मम सक्कार। न कीरइ त्ति अप्पसमए ण हायइ, किं कारणं?, जो माणणामाइच्छो साणाइ नि था किंत्तिया जीया। पं० चू० ४ कल्प।

सव्वन्नुदेसियमिणं, पयं पहाणफलजणयं ।
बंभीसुंदरिचंदण-पभिईहिँ खिसेवियं समत्ता ॥
अह समणीओ तुब्भ, सरणागया भवभयाओ ।
सारणवारणचोयण-माईहिं रक्खियव्वाओ ॥
साहुणीणं एसा सिक्खियव्वाओ, साहुणीणं एसा सिक्खा गुरवो दिंति-
"कुलवहुदिट्ठंतेणं, कज्जे खिब्भत्थियाहिँ वि कहं वि ।
एयाए पयमूलं, आमरणंतं ण मुत्तव्वं ॥ १ ॥
ण य पडिकूलेयव्वं, वयणं गुरुणीएँ णीणमाईए ।
एवं गिहिवासचाओ, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥२॥"
पवत्तिणीए भगवईए महत्तपयट्ठवणा । लद्धवद्धमाणविज्जा-मंतप्पयट्ठाणं एसा पयट्ठवणविही सम्मत्ता । अङ्ग० ।
णो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पबितियाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १ ॥ कप्पइ पवत्तिणीए अप्पततियाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ २ ॥ णो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पततियाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ ३ ॥ कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ ४ ॥ णो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पततियाए वासावासं च वत्थए ॥५॥ कप्पइ पवत्तिणीए अप्पचउत्थीए वासावासं वत्थए ॥६॥ णो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए ॥ ७ ॥ कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पपंचमाए वासावासं वत्थए ॥ ८ ॥ से गामंसि वा० जाव संनिवेसंसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पततियाणं बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पचउत्थीणं कप्पति हेमंतगिम्हासु चारए अन्नमन्नणिस्साए ॥ ९ ॥ से गामंसि वा० जाव संनिवेसंसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थीणं बहूणं गणावच्छेदिणीणं अप्पपंचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नणिस्साए ॥ १० ॥ गामाणुग्गामं दूइज्जमाणी णं अज्जिया जं पुरओ कट्टु विहरिज्जा से य आहच्च वीसंभेज्जा अज्जिया ! इत्थ काइ अणाउवसंवज्जणारिहा कप्पइ सा उवसंपज्जियव्वा सिया इत्थ काइ अणाउवसंपज्जणारिहा अप्पणो कप्पाए असमत्ता एव से कप्पइ एगरातियाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति, तं णं तं णं दिसं उवलित्तए णो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं तत्थ य कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए तंसि च णं कारणंसि णिट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि णं अज्जे ! एगराय वा दुरायं वा, एवं कप्पइ एगराय वा दुरायं वा वत्थए; णो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए, ज तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसति छेए वा परिहारे वा ॥ ११ ॥ वासावासं पज्जोसवेइ णिग्गंथी य पुरा कट्टु विहरति सा य आहच्च वीसंभेज्जा अज्जिया इत्थ काइ अणाउवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा० जाव छेए वा परिहारे वा ॥ १२ ॥ पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नतरं वदिज्जा अज्जे ! मए णं कालगयाए इयं संमुक्कसियव्वा सा य समुक्कसणारिहा संमुक्कसियव्वा सिया. सा य णो समुक्कसणारिहा णो समुक्कसियव्वा सिया, अज्जिया इत्थ काइ अणासमुक्कसिणारिहा सा समुक्कसणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा तेसिं च णं समुक्कट्ठंसि परो वएज्जा-दुसमुक्कट्ठाए अज्जे ! निक्खिवाहि तीसे णिक्खिवमाणीए वा णत्थि काइ छेए वा परिहारे वा जा तओ साहमाणीओ अहाकप्पणाणा उवट्ठायंति तासिं सव्वासिं छेए वा परिहारे वा ॥ १३ ॥ पवत्तिणी य ओहायमाणी एगतरं वएज्जा-ममंसि णं अज्जे ! ओहाइयंसि एसा समुक्कसियव्वा सिया सा समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा सिया, सा य णो समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा सिया, तंसि च णं समुक्कट्ठंसि परो वएज्जा-दुसमुक्कट्ठं ते अज्जे ! णिक्खिवाहि, तीसे णिक्खिवमाणीए वा तत्थ काइ छेए वा परिहारे वा तं जओ साहम्मिओ अहाकप्पेणं णो उवट्ठायंति तासिं सव्वासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ १४ ॥

"नो कप्पति पवत्तिणीए" इत्यादि तावत् यावदभिधानसूत्रम् ।
अर्थसम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह-

उद्देसम्मि चउत्थे, जा मेरा वण्णिया उ साहूणं ।
सा चेव पंचमे सं-जतीण गणणाए णाणत्तं ॥१॥

चतुर्थे उद्देशके या मर्यादा वर्णिता साधूनां सैव पञ्चमे उद्देशे संयतीना वर्ण्यते, केवलं गणनायां नानात्वं, तदपि च सूत्रे साक्षादुक्तमिति प्रतीतमतः प्रथमत एव संयतीसूत्रकदम्बकोपनिपातः ।

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह-

उत्तमहवा बहुत्तं, पिंडगसुत्ते चउत्थचरमम्मि ।
अपहुत्ते पडिसेहं, काउमणुण्णा बहूणं तु ॥ २ ॥

अथवा चतुर्थस्योद्देशकस्य चरमे पिण्डसूत्रे बहुत्वमुक्तं, ततो बहुत्वप्रस्तावात् पञ्चमे उद्देशके संयतीनामबहुत्वे प्रतिषेधं कृत्वा बहूनामनुज्ञा कृता । ननु बहूनामपि त्रिप्रभृतीनां विहारो न कल्पते-असमाप्तकल्पत्वात् । तथाहि-जघन्यतोऽपि ऋतुबद्धे काले संयतीनां सप्तक. समाप्तकल्पो वर्षाकाले नवकस्तत' कथं नाधिकृतसूत्रकदम्बकविरोधः ?। उच्यते-नैष दोष., कारणवशतः सूत्रकदम्बकस्य प्रवृत्तिः ।

तान्येव कारणान्युपदर्शयति-

संघयणे वाउलणा, उट्ठे अंगम्मि गमणमसिवादी ।
सागरनाते जयणा, उउबद्धाऽऽलोयणा भणिया ॥३॥

प्रवर्त्तिन्या गणावच्छेदिन्या वा उत्तमेन संहननेन. उपलक्षणमेतत्-उत्तमया च धृत्या, सूत्रमर्थश्च भूयान् गृहीतो, गच्छे च व्याघात., स च व्याकुलवशात् तत उक्तं द्वितीयं

कारणं व्याकुलता। सा च "धम्मकहि महिड्ढीए।" इत्यादिना प्रकारेण यथा प्राक् तृतीयोद्देशकेऽभिहिता तथैवात्रापि भावनीया, पुनरुक्तदोषभयान्नाऽभिधीयते। ततः सूत्रार्थस्मरणनिमित्तमात्मतृतीयायाः प्रवर्त्तिन्या आत्मचतुर्थ्याश्च गणावच्छेदिन्या गमनम्। तथा षष्ठे अङ्गे ज्ञाताधर्मकथाऽऽख्ये बहवः सदृशाऽऽगमाः। तथा च तत्रानेकाः कथानककोटयः सदृशपाठाः, विसदृशपाठास्त्वर्धचतुर्थककोटयः, तदभिनवगृहीतं वर्तते, पुनः पुनरस्मृतं च विस्मृतमुपयाति, ततस्तत्स्मरणार्थमुक्तपरिवाराया अपि गमनम्। तथा अशिवाऽऽदिभिरशिवावमौदर्याऽऽदिभिरुक्तसंख्याकपरिवाराया गमनम्। तथा षष्ठप्रभृतीन्यङ्गानि संयतीनां ( सागर त्ति ) स्वयंभूरमणसागरतुल्यानि, तान्यभिनवगृहीतानि परावर्तनीयानि सन्ति, अपरावर्तितानि नश्यन्ति, ततस्तेषां परावर्तनाय यथोक्तसंख्याकपरिवाराया अपि गमनम्। तदेवमाधिकृतसूत्रकदम्बकप्रवृत्तौ कारणान्यभिहितानि। अधुना शेषवक्तव्यतामाह-( जाते त्ति ) जाताऽऽदिरूपः कल्पो वक्तव्यः। स च ऋतुबद्धे सप्तक समाप्तकल्पः, तदूनोऽसमाप्तकल्पो वर्षाकाले नवकः समाप्तकल्पस्तदूनोऽसमाप्तकल्पश्च। एकैको द्विधा-जातोऽजातश्च गीतार्थोऽगीतार्थश्चेति। तत्र च भङ्गचतुष्टये प्रथमवर्जेषु शेषेषु त्रिषु भङ्गेषु प्राग्वत् यतना कर्त्तव्या। तथा ऋतुबद्धे काले निरन्तरं साध्वीप्रेषणतोऽवलोचना कर्त्तव्या भणिता। तदेवमभिहितानि कारणान्येतैः कारणैरायातस्यास्य सूत्रकदम्बकस्य व्याख्या। सा च तथैव।

तथा चाऽऽह-

जह भणियं च चउत्थे, पंचमम्मि तह चेविमं तु नाणत्तं।
गमणित्थिमीससंबं-धिवज्जए पूजिते लिंगे ॥ ४ ॥

यथा चतुर्थे उद्देशके निर्ग्रन्थसूत्राणां व्याख्यानं भणितं, तथा पञ्चमेऽप्युद्देशे निर्ग्रन्थीसूत्राणामपि वक्तव्यं, नवरमिदं नानात्वम्। तदेवाऽऽह-(गमणित्थीत्यादि) विष्वग्भूताया प्रवर्तिन्या गमनं सर्वाभिरार्यिकाभिराचार्यसमीपे कर्त्तव्यं, तच्च स्त्रीभिः सह तदभावे मिश्रैः स्त्रीपुरुषैः, तेषामप्यभावे सबन्धिपुरुषैः, तेषामप्यभावे सम्बन्धवर्जितैरधिकारिभिः पुरुषैः। अथ सप्रत्यपायाः पन्थानस्तर्हि यत् यत्र पूजितं लिङ्गं तस्मिन् लिङ्गे गृहीते गमनम्।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

वीसुंभियाएँ सव्वा-सि गमणं अद्धद्ध जाव दोण्हेका।
सबंधिइत्थिसत्थे, भावितमविकारितेहिं वा ॥ ५ ॥

विष्वग्भूतायां शरीरात्पृथग्भूतायां, मृतायामित्यर्थः। प्रवर्त्तिन्यामाचार्यसमीपे सर्वाभिर्गन्तव्यम्। तत्र च गतानामाचार्येण प्रवर्त्तिनी स्थापयितव्या, यदि तरुणीनां सर्वासां पथि प्रत्यपायस्तर्हि अर्द्धा याः परिणतवयसस्ता व्रजन्ति। अथ सर्वास्तरुणप्राया कतिपयाः स्थविरास्ततो या मन्दरूपास्तरुण्यो याश्च स्थविरास्ता समुदायस्य चतुर्भागमात्रा व्रजन्ति। एवं तावद्वाच्यं यावत् द्वे जने गच्छत द्वयोरप्यसम्भवे एका व्रजति। ता पुन केन सार्थेन सह व्रजन्ति? तत आह-( संबधीत्यादि ) सबन्धिना स्त्रीसार्थेन सह गन्तव्य,तदलाभे असंबन्धिनाऽपि स्त्रीसार्थेन, तस्याऽप्यलाभे पुरुषा ये भाविताः संबन्धिनोऽपि ये अविकारिणः पुरुषास्तैः कामम् अथ सप्रत्यपाया पन्थानस्तर्हि यत् यत्र देशे पूजितं लिङ्ग तेन गृहीतेन व्रजन्ति। एतच्च सुगमत्वान्न व्याख्यातम्। अत्र शिष्य आह-यद्यप्याचार्येण प्रवर्त्तिनी स्थापयितव्या, तर्हि ये एते द्वे सूत्रे " पवत्तिणी गिलायमाणी वएज्जा मए णं कालगयाए समुक्कसियव्वा।" इत्यादि। तथा " पवत्तिणी ओहायमाणी वएज्जा मए णं ओहावियाए इयं समुक्कसियव्वा।" इत्यादि, ते कथं नीयेते?।

तत आह-

असिवाइएसु फिडिया, कालगए वा वि तंसि आयरिए।
तिगथेराण य असती, गिलाणओहाणिसुत्ताओ ॥६॥

अशिवाऽऽदिभिः कारणैः गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात्। यस्याऽऽचार्यस्य समीपे आसीरन् तस्मात् स्फिटिताः। ततः सा ग्लानीभूता अवधावनप्रेक्षिका अन्यास्याऽऽचार्यस्य परिज्ञानकरणार्थं सूत्राऽभिहितं वदति(तिगथेराण य असती इति) त्रिकं कुलगणसंघरूपस्तस्य स्थविरास्त्रिकस्थविरास्तेषाम-सति। किमुक्तं भवति?-कुलस्थविराणां गणस्थविराणां संघस्थविराणां वा प्रत्यासन्नानामभावे शेषस्थविरपरिज्ञानकरणाय यत्सूत्रेऽभिहितं तद्वदति, ततो ग्लानावधानसूत्रे उपपन्ने।

साहीणम्मि वि थेरे, पवत्तिणी चेव तं परिकहेइ।
एसा पवत्तिणी भे!, जोग्गा गच्छे बहुमता य ॥७॥

अथवा स्वाधीनेऽपि स्थविरे आचार्ये सा प्रवर्त्तिनी ग्लायन्ती अवधावनप्रेक्षिका वा ता परिकथयति। यथा (भे) भगवन्! एषा प्रवर्त्तनी योग्या प्रवर्त्तनीत्वस्याऽर्हा,सूत्रार्थतदुभयनिष्पन्नत्वात् गच्छे बहुमता च। एवमपि ते सूत्रे उपपन्ने।

अब्भुज्जयपरिहारं, परिवज्जिउकामे दुस्समुक्कट्ठं।
जह होती समणाणं, भत्तपरिण्णा तहा तासिं ॥८॥

यथा प्राक् श्रमणानामभ्युद्यतविहारं प्रतिपत्तुकामे दुःसमुत्कृष्टं भवति,दु समुत्कृष्टं प्रतिपादितं, तथा तासां श्रमणीनां भक्तपरिज्ञां प्रतिपत्तुकामानां दु:समुत्कृष्टं भावनीयम्। व्य० ५ उ०।

पवत्तिय-प्रवर्त्तित-त्रि०। जनिते, उत्त० २० अ०।

पवत्थय-प्रत्यवस्तृत-त्रि०। आच्छादिते, " केसरपवत्थयाऽभिरामे।" रा०।

पवदमाण-प्रवदमान-त्रि०। प्रवादं कुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

पवद्ध-देशी-घने लोहकुट्टनोपकरणे, दे० ना० ६ वर्ग ११ गाथा।

पवमाण-प्लवत्-त्रि०। जलोपरि तरति, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ०।

प्लवमान-त्रि०। उत्प्लुतिं कुर्वति, भ० २५ श० ७ उ०।

पवय-प्लवक-त्रि०। प्लवतीति प्लवक.। उत्प्लवनकारिणि, भ० २५ श० ७ उ०। प्लवक कोऽपि तथा शिक्षामधिगत (आ० म० २ अ०) आकाशास्थितानि करणानि करोति। नं०।

पवयण-प्रवचन -न० । प्रोच्यतेऽनेनास्मादस्मिन् वा जीवाऽऽदयः पदार्था इति प्रवचनम्। अथवा-प्रशब्दस्याव्ययत्वेनानेकार्थद्योतकत्वात् प्रगतं जीवाऽऽदिपदार्थव्यापकं प्रशस्तमादौ वा वचनं प्रवचनम्। द्वादशाङ्गे गणिपिटके, आदित्वं चास्य विवक्षिततीर्थकरापेक्षया द्रष्टव्यम्। " नमस्तीर्थाय " इति वचनात् तीर्थकरेणाऽपि तन्नमस्करणादिति । अथवा-जीवाऽऽदितत्त्वं प्रवक्तीति व्युत्पत्तेर्द्वादशाङ्गे, गणिपिटकानन्यत्वाच्चातुर्विधश्रमणसङ्घे च । विशे० । पा० । उत्त० । पश्चा० । आ० म० । स्था० । ज्ञा० । अनु० । व्य० । औ० । स० । नि०चू० । प्रकर्षेण परसमयायथावस्थितभूरिभेदप्रभेदैरुच्यन्ते जीवाजीवाऽऽदयः पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनम्। जीत० । प्रशस्तं प्रगतमवगाढं वा वचनं प्रवचनं, प्रकृष्टं वा वचनं शेषाऽऽगमापेक्षया प्रवचनं सूत्रतोऽर्थतश्च। द्वादशाङ्गे, षो० १६ विव० । पं० व० । विशे० । शासने, औ० । विशे० । उत्त० ।

तं नाणकुसुमवुट्ठिं, घेत्तुं बीयाइबुद्धओ सव्वं ।
गंथंति पवयणट्ठा, माला इव चित्तकुसुमाणं ॥१११॥
पगतं वयणं पवयण-मिह सुयनाणं कहं तयं होज्जा ?।
पवयणमहवा संघो, गंथंति तयणुग्गहट्ठाए ॥११२॥

तां तीर्थकरमुक्तां ज्ञानकुसुमवृष्टिं गृहीत्वा बीजाऽऽदिबुद्धयो गणधराः । यः पदादप्यनेकानि पदशतानि गृह्णाति, असौ बीजबुद्धिः। आदिशब्दात् कोष्ठबुद्ध्यादिपरिग्रहः । कोष्ठकप्रक्षिप्तं धान्यमिव यस्य सूत्रार्थौ सुचिरमपि तिष्ठतः स कोष्ठबुद्धिः । सर्वं तीर्थकरभाषितं, चित्रकुसुममालामिव प्रवचनार्थं ग्रथ्नन्ति । प्रवचनशब्दार्थमेव कथयति-प्रगतं प्रधानं प्रशस्तमादौ वा वचनम्, अत्र श्रुतज्ञानं द्वादशाङ्गम्, ' तत् कथं नु नाम भवेद् निष्पद्यते ? ' इत्येवं संप्रधारयन्तस्तदर्थं ग्रथ्नन्ति । अथवा-प्रवक्तीति प्रवचनं संघ , तदनुग्रहार्थं ग्रथ्नन्ति । विशे० । आगमे, भ० ।

प्रवचनम्-

पवयणं भंते ! पवयणं, पावयणी पवयणं ?। गोयमा ! अरहा ताव णियमं पावयणी । पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे । तं जहा-आयारो० जाव दिट्ठिवाओ ।

प्रकर्षेणोच्यते अभिधेयमनेनेति प्रवचनमागमस्तत् भदन्त ! प्रवचन प्रवचनशब्दवाच्यं काकाऽध्येतव्यम्, उत प्रवचनी प्रवचनप्रणेता जिनः प्रवचनं ?, दीर्घता च प्राकृतत्वात्। भ० २० श० ८ उ० । सू० प्र० । विशे० । दर्श० ।

प्रवचननिक्षेपाऽभिधानायाऽऽह निर्युक्तिकृत्-

निक्खेवो पवयणम्मी चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो,नोआगमतो य सो तिविहो ॥४५५॥
जाणगसरीर भविए, तव्वइरित्ते कुतित्थमाईसुं ।
भावे दुवालसंगं, गणिपिडगं होइ नायव्वं ॥४५६॥

निक्षेपः प्रवचने चतुर्विधो नामाऽऽदिः। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एवेत्यनादृत्य द्रव्यनिक्षेपमाह-द्विविधो भवति द्रव्ये विचार्ये, निक्षेप इति गम्यते। द्वैविध्यमेवाऽऽह-आगमतो, नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयोगवान् नोआगमतस्तु, स त्रिविधः। कथमित्याह-(जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते त्ति) ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्रक्रमात्प्रवचने, तद्व्यतिरिक्तम्-(कुतित्थमाईसु त्ति) कुतीर्थ्यादिषु प्रवचनम्। आदिशब्दात् सुतीर्थेषु च ऋषभाऽऽदिसंबन्धिषु पुस्तकाऽऽदिन्यस्तं भाष्यमाणं वा। भावे द्वादशाङ्गम्-आचाराऽऽदि दृष्टिवादपर्यन्तम्। गणिन आचार्यास्तेषां पिटकमिव पिटकं सर्वस्वाऽऽधारो गणिपिटकं भवति ज्ञातव्यं प्रवचनम्। नन्वेवं दृष्टिवादान्तर्गतत्वात्सकलकुदृष्टीनामपि भावप्रवचनतैव प्राप्ता। उच्यते-अस्त्येतत्, किं त्वेकपक्षावधारणपरतयाऽसद्दृष्टित्वाद् द्रव्यप्रवचनतैवाऽऽसामिति नोक्तदोषाऽऽपत्तिः । उत्त० २४ अ० ।

प्रवचनैकार्थिकानि-

एगट्ठियाणि तिण्णि उ, पवयण सुत्तं तहेव अत्थो य ।
एक्केकस्स य एत्तो, नामा एगट्ठिया पंच । १३६६ ॥

एकोऽर्थो येषां तान्येकार्थिकानि त्रीण्येव । कानि पुनस्तानि ?, प्रवचनसूक्तार्थं, वक्ष्यमाणार्थं च, सामान्येन श्रुतज्ञानम्। सूचनात्सूत्रं, तद्विशेष एव। अर्यते इत्यर्थः, अयमपि तद्विशेष एव। एषां च प्रवचनसूत्रार्थानां मध्ये एकैकस्य प्रत्येकमेकार्थिकानि पञ्च पञ्च नामानि भवन्तीति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥१३६६॥

भाष्यम्-

जमिह पगयं पसत्थं, पहाणवयणं च पवयणं तं च ।
सामन्न सुयनाणं, विसेसओ सुत्तमत्थो य ॥ १३६७ ॥

गताऽर्था । विशे० ।

सूत्रार्थयोः प्रवचनेन सहैकार्थता युक्ता, तयोस्तद्विषयत्वात् । सूत्रार्थौ तु परस्परं विभिन्नौ । तथाहि-सूत्रं व्याख्येयम्, अर्थस्तु तद्व्याख्यानमिति । अथवा-त्रयाणामप्येषां भिन्नार्थतैव युक्त्युपपन्ना, प्रत्येकमेकार्थिकविभागसद्भावात्, घटपटशकटवत्। अन्यथा एकार्थतायां सत्यां भेदेनैकार्थिकाऽभिधानमयुक्तम्, घटकुम्भयोरिवेति । अत्रोच्यते-इह यथा मुकुलविकसितयोः पद्मविशेषयोः संकोचविकाशरूपपर्यायभेदेऽपि कमलसामान्यरूपत्वेनाऽभेदः,तथा सूत्रार्थयोरपि प्रवचनाऽपेक्षया परस्परतश्चाभेदः । तथाहि अविवृतं मुकुलतुल्यं सूत्रं, तदेव विवृतं प्रबोधितं विकचकल्पमर्थः, प्रवचनं तूभयमपि, यथा च तेषां कमलसंकोचविकाशानामेकार्थिकविभाग उपलभ्यते, कमलम् अरविन्दं पङ्कजम् इत्यादि पद्मैकार्थिकानि यथा मुकुल वृन्दं संकुचितमित्यादीनि मुकुलैकार्थिकानि, तथा विकचं फुल्लं विबुद्धमित्यादीनि विकसितैकार्थिकानि । तथा प्रवचनसूत्रार्थानामपि पद्ममुकुलविकसितकल्पानामेकार्थिकविभागो न विरुद्ध इति। अथवा अन्यथा व्याख्यायते-एकार्थिकानि त्रीण्येवाऽऽश्रित्य वक्तव्यानि । तद्यथा-प्रवचनमेकार्थिकगोचरः, तथा सूत्रमर्थश्च, शेषं पूर्ववत्। आह-यद्येवं द्वारगाथायां यदुक्तं प्रवचनैकार्थिकानि इति तद् व्याहन्यते, सूत्रार्थयोरप्येकार्थिकाऽभिधानात्। नैष दोषः । प्रवचनस्य सामान्यविशेषरूपतया सूत्रार्थयोरपि प्रवचनविशेषरूपत्वेन प्रवचनत्वोपपत्तेः । आह-यद्येवं तर्हि विभागश्चेति पृथग्द्वाराऽभिधानमनर्थकम्। तदसम्यक्। विभागश्चेति । किमुक्तं भवति ? नाविशेषेण सामान्यविशेषरूपस्य प्रवचनस्य पञ्चदशैकार्थिकानीति किं तर्हि विभागश्च वक्तव्य , विशेषगोचराऽभिधानपर्यायाणां सामान्यगोचराऽभिधानपर्यायत्वानुपपत्तेः । न हि चूतसहकाराऽऽदयो वृक्षाऽऽदिशब्दपर्याया भवन्ति, लोके तथाव्यवहाराभावादिति ।

तत्र प्रवचनैकार्थिकान्याह–

सुयधम्म तित्थ मग्गो, पावयणं पवयणं च एगट्ठा ।

श्रुतस्य धर्मः स्वभावः श्रुतधर्मः, श्रुतस्य बोधस्वभावत्वात् श्रुतस्य धर्मो बोधो बोद्धव्यः । अथवा–श्रुतं च तत् धर्मश्च सुगतिधारणात् श्रुतधर्मः । यदि वा–जीवपर्यायत्वात् श्रुतस्य, श्रुतं च धर्मश्च श्रुतधर्मः । उक्तं च–" बोहो सुयस्स धम्मो, सुय च धम्मो सजीवपज्जोतो । सुगईए संजमम्मि य, धरणातो वा सुयं धम्मो ॥१॥" तथा तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं, तच्च संघ इत्युक्तम् । इह तु तदुपयोगानन्यत्वात् प्रवचनं तीर्थमुच्यते। आह च–तित्थं ति पुव्व भणियं, संघो जो नाणचरणसंघातो । इह पवयणमपि तित्थं, तत्तो णत्थंतरं जेण ॥१॥ " तथा मृज्यते शोध्यतेऽनेनात्मा इति मार्गः, मार्गणं वा मार्गः, शिवस्यान्वेषणमिति भावः । उक्तं च–' मग्गिज्जइ सोहिज्जइ, जेणऽत्ता पवयणं ततो मग्गो। अहवा सिवस्स मग्गो मग्गणमन्नेसण पथो ॥ १ ॥ " इति । तथा प्रगतमभिविधिना जीवाऽऽदिपु पदार्थेषु वचनं प्रवचनमुक्तशब्दार्थम् (?) । उक्तानि पञ्च प्रवचनैकार्थिकानि । आ० म० १ अ० । आ० चू०। नि० चू० ।

केचित्प्रवचनमतिक्रामन्ति–

से भयवं ! अत्थि केइ जेणमिणमो परमगुरूणं पि अलंघणिज्जं परमसरणं फुडं पयडं पयडपयडं परमकल्लाणं कसिणकम्मट्ठदुक्खनिट्ठवणं पवयणं अइक्कमेज्ज वा पइक्कमेज्ज वा, खंडेज्ज वा विराहिज्ज वा, आसाइज्ज वा, से मणसा वा वयसा वा कायसा वा ०जाव णं वयसि। गोयमा ! णं तेणं कालेणं परिवत्तमाणेणं । सयं दस अच्छेरगे भविंसु, तत्थ णं असंखेज्जे अभव्वे असंखेज्जे मिच्छादिट्ठे असंखेज्जे सासायणदव्वलिंगमासीयसड्ढताए उभेणं सक्कारिज्जंते एत्थ धम्मेगत्ति काऊणं बहवे अदिट्ठकल्लाणे जइ णं पवयणमब्भुवगमंति, तदब्भुवगमियं रसलोलुत्ताए विसयलोलुत्ताए दुद्दंतियदोसेणं अणुदियहिं जहट्ठियं मग्ग निट्ठवेंति, उम्मग्गं च ऊसप्पियंति, सव्वे तेणं कालेण इमं परमगुरूण पि अलंघणिज्ज पवयणं ०जाव णं आसायंति। से भयवं ! कयरेणं तेणं कालेणं दस अच्छेरगे भविंसु ?। गोयमा ! णं इमे तेणं कालेणं दस अच्छेरगे भवंति । तं जहा–तित्थयराणं उवसग्गे, गब्भसंकामणे, वामा तित्थयरे, तित्थयरस्स ण देसणाए अभव्वसमुदाएणं परिसावंधि सविमाणाणं चंदाइच्चाणं तित्थयरसमवसरणे आगमणं वासुदेवाणं संखेज्जणीए अन्नयरेणं वा रायकउहेण परोप्परमेलावगो, इहइं तु भारहे खेत्ते हरिवंसकुलुप्पत्तीए चमरुप्पाए एगसमएणं अट्ठसयसिद्धिगमणं असंजयाणं पूयाकारगे ति। से भयवं ! जे णं केइ कहिं कयाइ पमायदोसओ पवयणमासाएज्ज से णं किं आयरियपलंभं लभज्जा ?। गोयमा ! जेण केइ कहिं वि कयाइ पमायदोसओ असइ कोहेणं वा माणेणं वा मायाए वा लोभेणं वा रागेण वा दोसेण वा भएण वा हासेण वा मोहेण वा अन्नाणदोसेण वा पवयणस्स णं अन्नयरट्ठाणे वइमेत्तेणं पि अणगारं असमायारी परूवमाणे वा अणुमन्नेमाणे वा पवयणमासाएज्जा, से णं बोहिं पि णो पावे, किमंग! आयरियपलंभं। से भयवं ! किं अभव्वे मिच्छादिट्ठी आयरिए भवेज्जा? । गोयमा ! भवेज्जा । एत्थं च णं इंगालमद्दगाई नाए से भयवं! किं मिच्छादिट्ठी निक्खमेज्जा?।गोयमा ! निक्खमेज्जा। से भयवं! कयरेणं लिंगेणं से णं वियाणेज्जा जहा णं धुवमेयं मिच्छदिट्ठी?। गोयमा! जे ण कयसामाइए सव्वसंविमुत्ते भवित्ता णं अफासुपायं परिभुंजेज्जा जे णं अणगारधम्मं पडिवज्जित्ता णं समई सोयरियं वा परोयरियं वा तेउकायं सेवेज्ज वा, सेवाविज्ज वा सेविज्जमाणं अन्नेसिं समणुजाणेज्ज वा, तहा नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं जे केइ साहू वा साहुणी वा एक्कमवि खंडिज्ज वा विराहेज्ज वा, खंडिज्जमाणं वा विराहिज्जमाणं वा बंभचेरगुत्तिं परेसिं समणुजाणेज्ज वा, मणेणं वा वायाए वा काएण वा से णं मिच्छदिट्ठी, न केवलं मिच्छदिट्ठी अभिगहियमिच्छादिट्ठी वि जाणेज्जा । से भयवं ! जे णं केइ आयरिएइ वा मयहरएइ वा असई कहिं वि कयाइ तहाविहाणंगमासज्ज इणमो निग्गंथं पवयणमन्नहा पन्नवेज्जा, से ण किं पावेज्जा ? । गोयमा ! जं सावज्जायरिएणं पावियं । महा० ५ अ० ।

( प्रवचनान्यथाप्ररूपणायां सावद्याऽऽचार्य । तद्वृत्तम् ' सावज्जायरिय ' शब्दे वक्ष्यामि )

**पवयणउब्भावणया**–प्रवचनोद्भावनता–स्त्री० । प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्योद्भावनं प्रभावनं प्रावचनिकत्वधर्मकथावादाऽऽदिलब्धिभिर्वर्णवादजननं प्रवचनोद्भावनम् , तदेव प्रवचनोद्भावना। शासनप्रभावनायाम् , स्था० १० ठा० ।

**पवयणकुसल** प्रवचनकुशल–पु० । सूत्रार्थोत्सर्गापवादभावव्यवहारकुशले, ध० ।

अथ प्रवचनकुशल इति षष्ठं भावश्रावकलक्षणं चेत्थम्–

सुत्ते १ अत्थे २ अ तहा, उस्सग्ग ३ ऽववाए ४ भावे ५ ववहारे ६।
जो कुसलत्तं पत्तो, पवयणकुसलो तओ छद्धा ॥ ५१ ॥

सूत्रे सूत्रविपये य कुशलत्व प्राप्त इति प्रत्येकं योजनीयम्। ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० । श्रावकपर्यायोचितसूत्राध्येतेत्यर्थः १ । तथाऽर्थे सूत्राभिधेये संविग्नगीतार्थसमीपे सूत्रार्थश्रवणेन कुशलत्वं प्राप्त इत्यर्थ २ । उत्सर्गे सामान्योक्तौ ३ । अपवादे विशेषभणिते कुशलः । अयं भाव –केवल नोत्सर्गमेवावलम्बते, नापि केवलमपवादं, किं तूभयमपि यथायोगमालम्ब इत्यर्थ ४ । भावे विधिसारे धर्मानुष्ठाने करणस्वरूपे कुशल । इदमुक्तं भवति–विधिकारिणमन्य बहु मन्यते, स्वयमपि सामग्रीसद्भावे यथाशक्ति विधिपूर्वकं धर्मानुष्ठाने प्रवर्त्तते। सामग्र्या अभावे पुनर्विधाराधनमनोरथान् मुञ्चत्येवेति ५। व्यवहारे गीतार्थाऽऽचरितरूपे कुशल देशका-

लाऽऽद्यपेक्षयोत्सर्गापवादवेदिगुरुलाघवपरिज्ञाननिपुणगीतार्थाऽऽचरितं व्यवहारं न दूषयतीति भाव. ६।" एसो पवयणकुसलो, छब्भेओ मुणिवरेहिँ निद्दिट्ठो। किरियागयाइँ छव्विह-लिंगाइं भावसड्ढस्स ॥ १ ॥" एतानि भावश्रावकस्य क्रियोपलक्षणानि षडेव लिङ्गानि। ध० २ अधि०। दर्श०।

संप्रत्यस्यैव षष्ठलक्षणस्य भावार्थं विवरीषुराद्यभेदं गाथाप्रथमपादेनाऽऽह-

उचियमहिज्जइ सुत्तं, । ... .. ..... . .. ॥५३॥

उचितं योग्यं श्रावकभूमिकायामधीते पठति सूत्रं प्रवचनमात्रादिषड्जीवनिकान्तम्। उक्तं च-"पवयणमाईछज्जी-वणियंता उभयओ वि इयरस्स।" ( ग्रहणशिक्षेति तत्र प्रकृतम् ) उभयत सूत्रतोऽर्थतश्च इतरस्य श्रावकस्येति सूत्रग्रहणमुपलक्षणं, तेनान्यदपि पञ्चसंग्रहकर्मप्रकृतिकं शास्त्रसंदोहं गुरुप्रसादीकृतं निजप्रज्ञाऽनुसारेण जिनदासवत्पठतीति। ध० र० २ अधि० ६ लक्ष।

प्रवचनकुशलमाह-

सुत्तत्थहेउकारण-वागरणसमिद्धचित्तसुयधारी।
पोराणदुद्धरधरो, सुयरयणनिहाणमवि पुणो ॥१३६॥
धारियगुणियसमीहिय, निज्जवणा विउलवायणसमिद्धो।
पवयणकुसलगुणनिही, पवयणहियनिग्गहसमत्थो ॥१४०॥

सूत्राऽऽत्मकत्वात्सूत्रार्थो, यदि वा-सूत्रयुक्तोऽर्थोऽस्मिन्निति सूत्रार्थः, न त्वक्षरानारूढार्थमिति भाव.। हेतुरन्वयव्यतिरेकाऽऽत्मकः, कारणमुपपत्तिमात्रम्, हेतुकारणे व्याक्रियते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति हेतुकारणव्याकरणं समृद्धम, अनेकातिशयाऽऽत्मकत्वात्, चित्रमाश्चर्यभूतम्, अनन्तागमपर्यायाऽऽत्मकत्वात्। एवंरूपं श्रुतं धारयतीत्येवंशीलः सूत्रार्थहेतुकारणव्याकरणसमृद्धचित्रश्रुतधारी। तथा पौराणमिव पौराणं यादृशमतीतद्वयोर्मासात् तादृशमिदानीमप्यतिबहुलत्वेनेति भावः। दुर्द्धरनयभङ्गाऽऽकुलतया प्राकृतजनैर्धारयितुमशक्यं धरतेऽर्थात् प्रवचनमिति पौराणदुर्द्धरधरः। तथा श्रुतरत्नस्य निधानमिव पूर्णः प्रतिपूर्णोऽर्थनिर्णयप्रदानाऽऽदिना। तथा धारितं सम्यग्धारणाविषयीकृतं, न विनष्टमिति भावः। गुणितं च बहुश' परावर्त्तितम्। तथा सम्यक् ईहित पूर्वापरसंबन्धेन पूर्वापराव्याहतत्वेनेत्यर्थ'। मीमांसितं समीहितम्। एतानि वचनविशेषणानि. इत्थभूतेन प्रवचने तस्य निर्यापणा मीमांसिततया निर्दोषत्वेन निश्चयतया विपुला विशोधनार्थं बहूनामाचार्याणां सकाशे ग्रहणात्. वाचना विपुलावाचना, तया च समृद्धो धारितगुणितसमीहितनिर्यापणाविपुलवाचनासमृद्ध'। तथा प्रवचनपरिज्ञानानुगतानां गुणानां निधिरिव गुणनिधि.। किमुक्तं भवति?-प्रवचनमाधात्यात्मनो हितं वहत्यन्येषां च हितमुपदिशतीति तया प्रवचनस्याहिता अवर्णभाषिणस्तन्निग्रहे समर्थ' प्रवचनाहितनिग्रहसमर्थ। पाठान्तरम्-" पवयणहियनिग्गमसमत्थो।" प्रवचनाय हित. स्वशक्त्या निगूहनेन प्रभावक इत्यर्थ.। निर्गमे आत्मन परस्य च संसारान्निस्तारणे समर्थ.।

अत्रैव कतिपयपदव्याख्यानार्थमाह-

नयभंगाऽऽउलयाए, दुद्धर इत्र सद्दो त्ति ओवम्मे।
धारियमविग्घणट्ठं, गुणियं परियत्तियं बहुसो ॥१४१॥
पुव्वावरबंधेणं, समीहियं वाइयं तु निज्जवियं।
बहुविहवायणकुसलो, पवयणअहिए य निग्गिण्ही ॥१४२॥

गाथाद्वयमपि गतार्थ, नवरं वाचितमाक्षेपपरिहारपूर्वकतया सम्यक् गुरुपादान्तिके निर्णीतार्थीकृतं, निर्यापित विपुलवाचनासमृद्ध इत्यस्या व्याख्यानं, बहुविधया वाचनया कुशलो दक्षो बहुविधवाचनाकुशलः। उक्तः प्रवचनकुशलः। व्य० ३ उ०।



पवयणखिंसा-प्रवचनखिंसा-स्त्री०। जिनशासनापभ्राजनायाम्, पञ्चा० १२ विव०। पूजाविधानाऽप्रतिपादनपर जिनशासनमन्यथा कथमार्हताः शौचाऽऽदिव्यतिरेकेणाऽपि जिनं पूजयन्ति इत्यादिरूपायां जिनशासनाऽश्लाघायाम्, पञ्चा०१२ विव०।

पवयणगहियत्थ-प्रवचनगृहीतार्थ-पुं०। प्रवचनस्य गृहीतोऽर्थः सर्वसारो येन स तथा। गीतार्थे, व्य० १० उ०।

पवयणगुरु-प्रवचनगुरु-पु० प्रधानाऽऽचार्ये, पञ्चा०६ विव०।

पवयणणिण्हव-प्रवचननिह्नव-पु०। प्रवचनमागमं निह्नवतेऽपलपन्त्यन्यथा प्ररूपयन्तीति प्रवचननिह्नवा.। बहुरताऽऽदिषूत्सूत्रप्ररूपकेषु, स्था० ७ ठा०। ( ते च 'णिण्हव' शब्दे चतुर्थभागे २०६४ पृष्ठे व्याख्याताः )

पवयणदेवया-प्रवचनदेवता-स्त्री०। शासनदेव्याम्, स्था० १० ठा०।

पवयणपच्चणीय-प्रवचनप्रत्यनीक-त्रि०। शासनप्रत्यनीके, पं० व० १ द्वार।

पवयणवत्ता-प्रवचनवक्तृ-त्रि०। सूत्रार्थवक्तरि, पं०व० १द्वार।

पवयणमाउआ-प्रवचनमातृ-स्त्री०। प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य मातर इव तत्प्रसूतिहेतुत्वान्मातरो जनन्यः प्रवचनमातरः। पा०। प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य तदाधारस्य वा संघस्य मातर इव प्रवचनमातरः। स० ८ सम०। आव०। आ० म०। प्रवचनाऽऽधारेषु समितिगुप्तिषु,

अट्ठ पवयणमायाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई, उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिई, मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती।

स० ८ सम०। आ० चू०। ध०। एतदर्थप्रतिपादके चतुर्विंशे उत्तराध्ययने, उत्त०।

संप्रति नामान्वर्थमाह-

अट्ठसु वि समिईसुं, दुवालसंगं समोयरइ जम्हा।
तम्हा पवयणमाया, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥४५६॥

अष्टास्वप्यष्टसंख्यास्वपि समितिषु द्वादशाङ्गं प्रवचनं समवतरति संभवति यस्मात्, ताश्चेहाभिधीयन्त इति गम्यते। तस्मात् प्रवचनमाता प्रवचनमातरो वोपचारत इति। इदमध्ययन भवति ज्ञातव्यमिति गाथाऽर्थः। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप।

संप्रति सूत्राऽऽलापकनिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्—

अट्ठ पवयणमायाओ, समिती गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१॥
इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२॥
एया पवयणमाया, समासेण वियाहिया ।
वारसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥३॥

प्रकटार्थमेव । उत्त० २४ अ० ।

एया पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२७॥

स्पष्टमेव, नवरं सम्यगविपरीतेन न तु दम्भाऽऽदिना इति सूत्रार्थः । उत्त० २४ अ० ।

पवयणरहस्स-प्रवचनरहस्य-न०। छेदसूत्रे, पं० भा० ४ कल्प। प० चू० ।

पवयणवच्छल्लजुत्त प्रवचनवात्सल्ययुक्त-त्रि० । संघस्य सूत्रार्थयोर्वा वत्सलभावयुक्ते, पं० व० १ द्वार ।

पवयणवच्छल्लया-प्रवचनवत्सलता-स्त्री० । प्रकृष्टं प्रशस्तं प्रगतं वा वचनमागमः प्रवचन द्वादशाङ्गं, तदाधारो वा सङ्घस्तस्य वत्सलता प्रवचनवत्सलता । प्रत्यनीकत्वाऽऽदिनिरासेन शासनहितकारितायाम्, स्था० १० ठा० ।

पवयणसार-प्रवचनसार-पु० । प्रवचनसंदोहे, आव० ४ अ०। "तम्हा पवयणसारे. ।" ( १ ) सूत्र०१ श्रु०६ अ०। ल० प्र०। "पवयणसारुद्धारं" (१)। प्रव०१ द्वार। "पवयणसारुद्धारो" (१६१३)। श्रीनेमिचन्द्रसूरिविरचिते ग्रन्थे, प्रव० २७६ द्वार।

पवयणहिय-प्रवचनहित -त्रि०। प्रवचनमिति द्वादशाङ्गम्।अथवा श्रमणसंघ ,तस्य हित. सुखम् । प्रवचनोपकारके, प० चू० १ कल्प । पं० भा० ।

पवयणाहियणिग्गहसमत्थ-प्रवचनाहितनिग्रहसमर्थ-त्रि०। प्रवचनाऽवर्णवादिना निग्रहसमर्थे, व्य० ३ उ०।

पवयणुड्डाह-प्रवचनोड्डाह-पु०। प्रवचनमालिन्ये, ग०२ अधि०।

पवयणुड्डाहकर-प्रवचनोड्डाहकर-त्रि० । आवश्यकोक्तकाष्ठसाधुवत् प्रवचनमालिन्यकरे, ग० ३ अधि० ।

पवयणोवघाइ-प्रवचनोपघातिन्-त्रि० । प्रवचनोपघातकारके, यथा पिण्डग्रहणं कुर्वता निर्धमनाऽऽद्यशुचिस्थानम् । ध० २ अधि०।

पवयणोवघाय-प्रवचनोपघात-पुं० । प्रद्विष्टराजाऽऽदिना जिनशासनापभ्रंशे, व्य० १ उ० । ( प्रवचनोपघातरक्षको विष्णुकुमारवद् विशुद्ध एवेति 'रायदुट्ठ' शब्दे वक्ष्यते )

पवर-प्रवर-त्रि० । प्रकर्षेण वर श्रेष्ठ । उत्त० ११ अ० । अतिप्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । स्था० । विशे० । रा०। जी० । आ० म०। प्रज्ञा०। औ० । स० । विंशतितमाया गौणाजुज्ञायाम्, नं० ।

पवरंग-देशी-शिरसि, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा ।

पवरकच्छ प्रवरकच्छ-पुं० । कच्छदेशे, जं० ३ वक्ष० ।

पवरकुंदुरुक-प्रवरकुन्दुरुक-न० । विशिष्टचीडाभिधाने गन्धद्रव्यविशेषे, कल्प० १ अधि० २ क्षण । जं० । औ० । स० ।

पवरगंध-प्रवरगन्ध-पु० । प्रवरे गन्धे, प्रवरगन्धोपेते, त्रि० । स्था० ८ ठा० ।

पवरगवल प्रवरगवल-न०। वरमहिषशृङ्गे, जं० ३ वक्ष० ।

पवरगोणजुवाण-प्रवरगोयुवन्-पु०। श्रेष्ठतरुणवलीवर्दे, "नीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं ति ।" भ० ६ श० ३३ उ० ।

पवरजुवति-प्रवरयुवति-स्त्री०। तरुण्याम्, प्रश्न०४ आश्र०द्वार।

पवरदित्ततेय-प्रवरदीप्ततेजस्-त्रि० । प्रवरभावतया वरदीप्ततया च शुक्रे, स० ।

पवरधूवण-प्रवरधूपन-न० । गन्धयुक्त्युपदेशविरचिते धूपविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

पवरपरिहित-प्रवरपरिहित-त्रि० । प्रवरं यथा भवतीत्येवं परिहिते, भ० २ श० ५ उ० । " मंगल्लाइं वत्थाइं पवरमंगल्लाइं पवरपरिहिए ।" ( पवर त्ति ) द्वितीयावहुवचनलोपात् प्रवराणि प्रधानानि परिहितो निवसित । अथवा-प्रवरश्चासौ परिहितश्चेति समासः । औ० । जी० ।

पवरभवण-प्रवरभवन-न० । प्रवरगेहे, प्रश्न० ४ आश्र०द्वार।

पवरभुय-प्रवरभुज -पुं० । प्रलम्बावाहौ, औ० ।

पवरभूसण-प्रवरभूषण-न० । तलभङ्गकवाहुरक्षिकाप्रभृतिभूते, औ० ।

पवररायसीह-प्रवरराजसिंह पुं० । पूर्वकृततप प्रभावात् प्रकृष्टराजवीरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

पवरवत्थमादि-प्रवरवस्त्राऽऽदि-त्रि० । प्रधानवसनप्रभृतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

पवरवीर-प्रवरवीर-पुं० । प्रधानभटे, भ० ७ श० ६ उ० । सुभटे, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

पवरा-प्रवरा-स्त्री० । श्रीवासुदेवस्य शासनदेव्याम् , प्रव० २७ द्वार।

पवसंत-प्रवसत्-त्रि० । देशान्तरं गच्छति, प्रा० ४ पाद ।

पवसण-प्रवसन-न०। जिनकल्पाऽऽदिप्रतिपत्तौ देशान्तरगमने, पं० चू० २ कल्प ।

पवसमाण-प्रवसत्-त्रि० । देशान्तरं गच्छति, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पवसिउकाम-प्रवसितुकाम-त्रि० । परिधातुकामे, " पिंडवायपडियाए पवसिउकामे सव्वं चीवरमायाए। " आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० ।

पवसिय-प्रोषित-त्रि० । देशान्तरं गन्तु प्रवृत्ते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । स्वस्थानविनिर्गते, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

पवह-प्रवाह-पुं० । प्रवह-घञ् वृद्धिः । ''घञ्वृद्धेर्वा " ॥ ८ । १ । ६८ ॥ इति सूत्रेण वैकल्पिकवृद्धिः । 'पवहो। प-

वाहो । प्रा० १ पाद । प्रभावे, स्था० १० ठा० " विमला, णं दिसा रुयगादीया रुयगप्पवहा । " भ० १३ श० ४ उ० ।

पवहण-प्रवहण-न० । वेसराऽऽदिषु वाहनेषु, औ० । पोते, "समुद्दे पवहणं पासइ ।" आ० म० १ अ० ।

पवहाइअ-देशी-प्रवृत्ते, दे० ना० ६ वर्ग ३४ गाथा ।

पवा-प्रपा-स्त्री० । जलदानस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । दशा० । भ० । औ० । पानीयशालायाम्, कल्प० १ अधि० ४ क्षण । रा० । व्य० । जलदानमण्डपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आचा० ।

पवाइय-प्रवादित-त्रि० । आस्फालिते, औ० । आ० म० । प्रज्ञा० । रा० ।

पवाडेमाण-प्रपातयत्-त्रि० । अधःपातयति, भ० १७ श० १ उ० ।

पवाय-प्रवाद-पुं० । प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः । दर्शनेषु, " अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । " स्या० । प्रकृष्टो वादः प्रवादः । आचार्यपारम्पर्योपदेशे, " जे महं अबहिमणे, पवाएण पवायं जाणेज्जा ।" (१६७) (जे महं इत्यादि) य. पुरस्कृतमोक्षो महान्महापुरुषो लघुकर्म्मा ममाऽभिप्रायात्र विद्यते बहिर्मनो यस्यासावबहिर्म्मनाः सर्वज्ञोपदेशवर्त्तीति यावत्, कुतः पुनस्तदुपदेशनिश्चय इति चेदाह-( पवाए इत्यादि ) प्रकृष्टो वादः प्रवाद.-आचार्यपारम्पर्योपदेश. प्रवाद . तेन प्रवादेन सर्वज्ञोपदेशं जानीयात्परिच्छिन्द्यादिति । यदि वा-अणिमाद्यऽऽष्टविधैश्वर्यदर्शनादपि न तीर्थकृद्वचनाद्बहिर्मनो विधत्ते, तीर्थिकानिन्द्रजालिककल्पानिति मत्वा तदनुष्ठानं तद्वादांश्च पर्यालोचयति । कथमित्याह-( पवाएण इत्यादि ) प्रकृष्टो वादः प्रवादः सर्वज्ञवाक्यं, तेन मौनीन्द्रेण प्रवादेन तीर्थिकप्रवादं जानीयात्परीक्षयेत् । तद्यथा-वैशेषिकास्तनुभुवनकरणाऽऽदिकमीश्वरकर्तृकमिति प्रतिपन्ना.। तदुक्तम्-" अन्यो जन्तुरनीशः स्या-दात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा स्वभ्रमेव च ॥१॥" इत्यादिकं प्रवादमात्मीयप्रवादेन पर्यालोचयेत् । तद्यथा-अभ्रेन्द्रधनुरादीनां विश्रसापरिणामलब्धाऽऽत्मलाभानां तदतिरिक्तेश्वराऽऽदिकारणपरिकल्पनायामतिप्रसङ्ग स्यात् । तथा घटपटाऽऽदीनां दण्डचक्रचीवरसलिलकुलालतुरीवेमशलाकाकुविन्दाऽऽदिव्यापारानन्तरावाप्ताऽऽत्मलाभाना तदनुपलब्धव्यापारेश्वरस्य कारणपरिकल्पनायां रासभाऽऽदेरपि किं न स्यात्? तनुकरणाऽऽदीनामप्यवन्ध्यस्वकृतकर्म्माऽऽपादितं वैचित्र्यं, कर्म्मणोऽनुपलब्धे.। कुत एतदिति चेत्, समान. पर्यनुयोगः। अपि च-तुल्ये मातापित्रादिके कारणे अपत्यवैचित्र्यदर्शनात्तदधिकेन निमित्तेन भाव्यम्, तच्चेश्वराभ्युपगमेऽप्यदृष्टमेवैष्टव्य, नान्यथा सुखदुःखसुभगदुर्भगाऽऽदिजगद्वैचित्र्यं स्यादिति । तथा-साङ्ख्या एवमाहु.-यथा-" सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति., प्रकृतेर्म्महान्महतोऽहङ्कारस्तस्मादेकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि, तन्मात्रेभ्य. पञ्च भूतानि, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते स चाकर्त्ता निर्गुणश्चेति ।" तथा प्रकृति करोति पुरुष उपभुङ्क्ते, तत. कैवल्यावस्थाया द्रष्टाऽस्मीति निवर्तते, इत्यादिक युक्तिविकलत्वान्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति । तथाहि-प्रकृतेरचेतनत्वात् कुत आत्मोपकाराय क्रियाप्रवृत्ति. स्यात्?, कुतो वा दृष्टेत्यात्मोपकाराय प्रवृत्तिर्न स्यात्?, अचेतनायास्तद्विकल्पाऽसंभवात्, नित्यायाश्च प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावात् पुरुषस्याप्यकर्तृत्वे संसारोद्वेगमोक्षौत्सुक्यभोक्तृत्वाऽऽद्यभाव : स्यादिति । उक्तञ्च-

" न विरक्तो न निर्विण्णो, न भीतो भवबन्धनात् ।
न मोक्षसुखकाङ्क्षी वा, पुरुषो निष्क्रियाऽऽत्मकः ॥ १ ॥
क. प्रव्रजति साङ्ख्याना, निष्क्रिये क्षेत्रभोक्तरि ।
निष्क्रियत्वात्कथं वाऽस्य, क्षेत्रभोक्तृत्वमिष्यते?॥ २ ॥" इति।

तथा-शौद्धोदनिशिष्यका यत् सत्तत्सर्वं क्षणिकमित्येवं व्यवस्थिताः । तत्रोत्तरम् । यदि निरन्वयो विनाशः स्यात् ततः प्रतिनियतः कार्यकारणभाव एव न स्यात् , एकसन्तानान्तर्गतत्वात्स्यादिति चेद् , अशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि-न सन्तानिव्यतिरेकेण कश्चित् सन्तानोऽस्ति, तथा च सति पूर्वकालक्षणावस्थायित्वमेव कारणत्वमेवञ्च सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् सर्वस्य पूर्वकालक्षणावस्थायित्वाद्यत्किञ्चिदेतदिति । किं च-

" यज्जातमात्रमेव, प्रध्वस्तं तस्य का क्रिया कुम्भे? ।
नोत्पन्नमात्रभग्ने, क्षिप्तं संतिष्ठते वारि ॥ १ ॥
कर्तरि जातविनष्टे, धर्म्माधर्म्मक्रिया न सम्भवति ।
तदभावे बन्धः को, बन्धाभावे च को मोक्ष.?॥ २ ॥"

इत्यादि बार्हस्पत्यानां तु भूतवादेनाऽऽत्मपुण्यपापपरलोकाऽभाववादिनां निर्म्मर्यादतया जनताऽतिगानां न्यक्कारपदव्याधानमनुत्तरमेवोत्तरमिति ।

अपि च-

" अब्रह्मचर्यरक्तै-र्मूढैः परदारधर्षणाभिरतैः ।
माहेन्द्रजालविषवत् , प्रवर्तितमसत्किमप्येतत् ॥ १ ॥ "

तथा-

"मिथ्या च दृष्टिर्भवदुःखधात्री,
मिथ्यामतिश्चापि विवेकशून्या ।
धर्म्माय येषां पुरुषार्थमाना,
तेषामधर्म्मो भुवि कीदृशोऽन्यः ? ॥ २ ॥ "

इत्यनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिकवादा. सर्वज्ञवादमनुसृत्य निराकार्या इति स्थितम्, तन्निराकरणे च सर्वज्ञप्रवादं निराकार्यं च तीर्थिकप्रवादमेभिस्त्रिभिः प्रकारैर्जानीयात् । आचा०१ श्रु० ५ अ० ६ उ० । उत्त० । सूत्र० । आ० म० ।

प्रपात-पुं० । गर्ते, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । विपा० । भृगुषु, यत्र मुमूर्षवो जनाः भूम्यां पतन्ति । रात्रिधात्र्या च । जं०१ वक्ष०। ज्ञा० । पर्वतात्प्रपतज्जलसमूहे, स० ७५ सम० ।

पवायंत-प्रवात्-त्रि० । प्रवहति, " जंसिप्पेगे पवेदंति सिसिरे मारुए पवायंते ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

पवायग-प्रवाचक-पुं० । प्रकर्षेण प्रधान , आदौ वा वाचकः प्रवाचकः । गणधरे, आ० म० १ अ० । आ० चू० । विशे० ।

पवायदह-प्रपातह्रद-पुं० । प्रपतनं प्रपातस्तदुपलक्षितो ह्रदः प्रपातह्रदः । प्रपातकुण्डे, यत्र हिमवदादेर्नगात् गङ्गाऽऽदिका महानदी प्रणालेनाधो निपतति । स्था० ।

जंबू ! मंदरदाहिणेणं भरहे वासे दो पवायदहा पणत्ता । तं

जहा-बहुसमतुल्ला० जाव गंगप्पवायद्दहे चेव सिंधुप्पवायद्दहे चेव। एवं हेमवए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता बहुसम तुल्ला। तं जहा-रोहियप्पवायद्दहे चेव रोहियंसप्पवायद्दहे चेव। जंबू! मंदरदाहिणेणं हरिवासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला। तं जहा-हरिप्पवायद्दहे चेव,हरिकंतप्पवायद्दहे चेव। जंबू! मंदरउत्तरदाहिणेणं महाविदेहे वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता। तं जहा-बहुसमतुल्ला० जाव सीयप्पवायद्दहे चेव, सीओदयप्पवायद्दहे चेव। जंबू! मंदरउत्तरेणं रम्मए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव णरप्पवायद्दहे चेव णारकंतप्पवायद्दहे चेव। एवं हेरन्नवए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता। तं जहा-बहुसमतुल्ला ०जाव सुवण्णकूलप्पवायद्दहे चेव रूपकूलप्पवायद्दहे चेव। जंबू! मंदरउत्तरेणं एरवए वासे दो पवायद्दहा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव रत्तप्पवायद्दहे चेव रत्तवइप्पवायद्दहे चेव। स्था० २ ठा० ३ उ०।

( गङ्गाप्रपातह्रदाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने )

**पवाया-प्रवाता**-स्त्री०। प्रगतवाताया शय्यायाम्, या हि ग्रीष्मकालेऽपराह्णे उपलेपनाऽऽदिकरणेन घर्मं नाशयति। वृ० १ उ० २ प्रक०। आचा०।

**पवाल-प्रवाल**-पुं०। किशलये, " किसलयाइं पल्लवा पवाला य। " पाइ० ना० १३८ गाथा। " विद्रुमं पवालं। " पाइ० ना० २२८ गाथा।

**पवास-प्रवास**-पुं०। देशान्तरगमने, आव० १ अ०। " अत. समृद्ध्यादौ वा " ॥ ८।१।४४ ॥ इति वैकल्पिको दीर्घः। प्रा० १ पाद।

**पवाह-प्रवाह**-पुं०। सन्तत्याम्, प० व० ४ द्वार। आ०म०। आव०। वंशे, विशे०। आव०।

**पवाहण-प्रवाहण**-न०। प्रवाह्यते अनेनेति प्रवाहणम्। जले, तस्य मलप्रक्षालनत्वात्। आ० म० २ अ०।

**पविआ-प्रविका**-स्त्री०। " सिरिद्दहो पविआ। " पाइ० ना० २१८ गाथा। पक्षिपानपात्रे, दे० ना० ६ वर्ग ४ गाथा।

**पविइण्ण-प्रविकीर्ण**-त्रि०। विक्षिप्ते, औ०। व्याप्ते, " नरवइपविइण्णमहीवइपहा। " नरपतिना राज्ञा प्रविकीर्णो गमनाऽऽगमनाभ्यां व्याप्तो महीपतिपथो राजमार्गो यस्या सा तथा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

**पविकत्थण-प्रविकत्थन**-न०। आत्मश्लाघायाम्, स० ३० सम०।

**पविकसिय-प्रविकसित**-त्रि०। प्रकर्षेण विकसितमुद्बोधं गतम्। प्रोद्बुद्धे, क० प्र० १० प्रक०।

**पविकिरमाण-प्रविकिरत्**-त्रि०। मुञ्चति, " जालासहस्साइं पविकिरमाणाइं क्रियाइं। " स्था० ८ ठा०।

**पविचरिय-प्रविचरित**-न०। इतस्ततो गमनेन सर्वतो व्याप्ते,रा०।

**पविज्जल-प्रदीप्तजल**-त्रि०। प्रतप्तजले, " सयाजला नाम नदीभिदुग्गा पविज्जला लोहविलीणगत्ता। " (२१) रुधिराऽऽविलत्वात् पिच्छिला विस्तीर्णगम्भीरजला वा। अथवा-प्रदीप्तजला वा। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

**पविट्ठ-प्रविष्ट**-त्रि०। अन्तर्गते, अनु०। सूत्र०। उत्त०।

**पवित्त पवित्र**-न०। " पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्। अहिंसा सत्यमस्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा ॥ १ ॥ " उत्त० १२ अ०। दर्भे, पवित्रशब्दभव.। दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा।

**पवित्तय-पवित्रक**-न०। अङ्गुलीयके, भ० २ श० ५ उ०। औ०।

**पवित्ति-प्रवृत्ति**-स्त्री०। प्रवर्त्तने, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आत्मेच्छायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। प्रथमाभ्यासे, द्वा० १८ द्वा०। चेष्टायाम्, पञ्चा० ६ विव०। प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिः। अनुष्ठानरूपाया परिशुद्धप्रतिपत्त्यनन्तरभाविन्या तत्त्वविषयाया विशिष्टक्रियायाम्, षो० १६ विव०। ( प्रवृत्तिलक्षणम् ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६७० पृष्ठे उक्तम् ) न्यायसंमते शुभाऽशुभफले विंशतिविधे वाङ्मन कायव्यापारे, स्या०।

**पवित्तिजम-प्रवृत्तियम**-पुं०। संविग्नपाक्षिकस्य प्रवृत्तचक्रत्वानुरोधे सति यमे, द्वा० १६ द्वा०।

**पवित्तिया-पवित्रिका**-स्त्री०। ताम्रमये अङ्गुलीयके, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०।

**पवित्थर-प्रविस्तर**-पुं०। धनधान्याऽऽद्धिप्रविस्तारे. प्रश्न० ५ आश्र० द्वार। धनधान्यद्धिपदचतुष्पदाऽऽदिविभूतिविस्तारे, उत्त० १ अ०। प्रश्न०। गृहोपस्करे दशा० ६ अ०।

**पवित्थरिल्लय-प्रविस्तर**-न०। विस्तारवति, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

**पविद्ध-प्रविद्ध**-त्रि०। यद्वन्दनं ददद्देव नश्यति तादृशे वन्दनदोषे, " पविद्धं वंदणगं दिंतओ चेव उट्ठेत्ता णासति। " आ० चू०।

पविद्धमणुवयारं, जं अप्पितो णिजंतिओ होइ।
जत्थ व तत्थ व उज्झइ,कियकिच्चोऽवक्खरं चेव॥१५६॥

" पविद्धमणुवयारं ति। " प्रविद्धं नाम यदुपचाररहितम्। एतदेव व्याचष्टे-यद्वन्दनकं गुरुभ्योऽर्पयन् ददत् नियन्त्रितो भवति, अनवस्थित इत्यर्थः। अनवस्थिततत्वेन च यत्र वा तत्र वा स्थाने प्रथमप्रवेशाऽऽदिलक्षणेऽसमाप्तमपि वन्दनकमुज्झित्वा नश्यति। क इव यथा किमुज्झतीत्याह-( कियकिच्चोवक्खर चेव त्ति ) एतदुक्तं भवति-केनचित् भाटकिना कुतश्चिन्नगरान्नगरान्तरेऽवस्करं भाण्डमुपनीतम्, अवस्करस्वामिना च स भाटकी भणित प्रतीक्षस्व किञ्चित्काल यावदस्यावस्करस्यावतारणाय स्थान किञ्चिदन्वेषयामि कुत्राऽपीति। स प्राह-मयाऽस्मिन्नेव नगरे समानेतव्यमिदमित्येवोक्तमत कृतकृत्यत्वान्नात्र प्रतीक्षेऽहमित्युक्त्वाऽस्थाने एव तद्भाण्डमुज्झित्वा गच्छति। एव साधुरप्यस्थान एव वन्दनकं प-

रित्यज्य नश्यतीत्येतावतांऽशेन दृष्टान्त इति । प्रव० २ द्वार । वृ० । आव० ।

पविद्धत्थ-प्रविध्वस्त-त्रि० । भस्मसाद्भूते, जी० ३ प्रति० १ अधि० १ उ० । विध्वस्ताभिमुखीभूते , स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पविभत्ति-प्रविभक्ति-स्त्री० । प्रविभजनं प्रविभक्तिः । नं० । प्रकर्षेण स्वरूपसम्मोहाभावलक्षणेन विभाग· पृथक्त्वम् । उत्त० २ अ० । पृथक् पृथक् विभागे, उत्त० २ अ० ।

पवियक्खण-प्रविचक्षण-त्रि० । प्रकर्षेण अभ्यासातिशयेन विचक्षणः । क्रियासहितज्ञानयुक्ते, उत्त० ६ अ० । अभ्यासातिशयतः । क्रिया प्रति प्रावीण्यवति, उत्त० ६ अ० ।

पवियार-प्रविचार-पु० । अब्रह्मसेवायाम् , प्रव० १ द्वार । (देवपरिचारणा 'देवपरियारणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२६ पृष्ठादारभ्योक्ता )

पविरइअ-देशी-त्वरिते, दे० ना० ६ वर्ग २७ गाथा ।

पविरजिअ-देशी-स्निग्धे, कृतनिषेधे च । दे० ना० ६ वर्ग ७४ गाथा ।

पविरञ्ज-भञ्ज-धा० । आमर्दने, " भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर- सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः " ॥ ८ । ४ । १०६॥ इति भञ्जे· पविरञ्जादेशः । पविरञ्जइ । भनक्ति । प्रा०४पाद ।

पविरय-प्रविरत-न० । प्रस्फुटिते, जी० ३ प्रति०१अधि०२उ० ।

पविरल-प्रविरल-त्रि० । प्रकर्षवद्विरले, " पविरलपरिसडियदंतसेढी । " प्रविरला दन्तविरलत्वेन परिशटिता दन्तानां केषाञ्चित् पतितत्वेन भग्नत्वेन वा दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पविरलफुसिय-प्रविरलस्पृष्ट-त्रि० । प्रविरलानि घनभावे कर्दमसंभवात् प्रकर्षेण यावता रेणवः स्थगिता भवन्ति तावन्मात्रेणोत्कर्षेण स्पृष्टानि यत्र वर्षे तत्प्रविरलस्पृष्टम् । प्रविरलवर्षे भूमिस्थरेणुमात्रसेवके वर्षे, " पविरलफुसियं दिव्वं सुरभिरयरेणुविणासणं गंधोदकवासं वासंति । " जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पविसंत-प्रविशत्-त्रि० । अन्तर्विशति, सू० प्र० १ पाहु० । प्रा० । आचा० ।

पविसमाण-प्रविशत्-त्रि० । 'पविसंत' शब्दार्थे, सू० प्र० १ पाहु · । प्रा० । प्रक्षिपति, भ० १५ श० ।

पविसिज्ज-प्रविश्य-अव्य० । प्रवेशं कृत्वेत्यर्थे, दश० ८ अ० ।

पविसितुकाम-प्रवेष्टुकाम-त्रि० । प्रवेशकरणेच्छौ, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

पवीइय-प्रवीजित-त्रि० । वाय्वर्थमान्दोलिते, " पवीइयचामरवालवीयणियं । " प्रवीजिता श्वेतचामरवालानां सत्का व्यजनिका यम् । अथवा-प्रवीजिते श्वेतचामरे वालव्यजनिका च यं स तथा । भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

पवीलण-प्रपीडन-न० । असकृदनीपद् वा पीडने, दश० ४ अ० । विकृष्टतपसा पीडने, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

पवुट्ठ-प्रवृष्ट-त्रि० । प्रकर्षेण वृष्टिं कृतवति, " पवुट्ठदेवे ति वा निवुट्ठदेवे ति वा नो वएज्जा । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

पवूढ-प्रव्यूढ-त्रि० । निर्गते, ज० ४ वक्ष० ।

पवेइय-प्रवेदित-त्रि० । प्रकर्षेणाऽऽदौ वा सर्वस्वभाषानुगामिन्या वा वेदितम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । केवलज्ञानचक्षुषाऽवलोक्य प्रतिपादिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । प्ररूपिते, उत्त० २ अ० । आचा० । सूत्र० । प्रकर्षेण यथावस्थितार्थद्वारेण वेदिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । विद् ज्ञाने । प्रकर्षेण वेदितम् प्रवेदितम् । विज्ञाते, दश० ४ अ० । उत्त० । आचा० । स्वयं साक्षात्कारित्वेन ज्ञाते, उत्त० १ अ० ।

पवेयण-प्रवेदन-न० । कथने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । प्रकाशे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । अनुभावने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । ज्ञाने, परिच्छेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रकर्षेण हेतुदृष्टान्तैश्चित्तसन्तताचारोपणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्ररूपणे, वृ० ३ उ० । पूरकरणे, वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पवेस-प्रवेश-पुं० । प्रवेशने, पञ्चा० ८ विव० । अन्तर्भावे, विशे० । प्रश्न० । " पवेसणिग्गमवारणजोगा " प्रवेशनिर्गमवारणान्येव वा योगा व्यापाराः प्रवेशनिर्गमवारणयोगा' । पञ्चा० ५ विव० ।

पवेसणय-प्रवेशनक-न० । गत्यन्तरादुद्धृतस्य विजातीयगतौ जीवस्योत्पादे, भ० ।

प्रवेशनकवक्तव्यता-

कइविहे णं भंते ! पवेसणए पण्णत्ते ? । गंगेया ! चउव्विहे पवेसणए पण्णत्ते । तं जहा-णेरइयपवेसणए, तिरिक्खजोणियपवेसणए, मणुस्सपवेसणए, देवपवेसणए । णेरइयपवेसणए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गंगेया ! सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा-रयणप्पभापुढविणेरइयपवेसणए०जाव अहेसत्तमापुढवीणेरइयपवेसणए । एगे णं भंते ! णेरइए णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणे किं रयणप्पभाए होज्जा, सक्करप्पभाए होज्जा, एवं० जाव अहे सत्तमाए होज्जा ?। गंगेया! रयणप्पभाए वा होज्जा०जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा ।

' एगे णं भंते ! नेरइए ' इत्यादौ सप्त विकल्पाः-

दो भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा०जाव अहे सत्तमाए होज्जा ?। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा० जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा० जाव एगे रयणप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ६ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए० जाव अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।५। अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए होज्जा, ए-

वं० जाव अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४ । एवं एक्केक्का पुढवी छड्डेयव्वा० जाव अहवा-एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ॥

" दो भंते ! नेरइए " इत्यादावष्टाविंशतिर्विकल्पाः । तत्र रत्नप्रभाऽऽद्याः सप्ताऽपि पृथिवीः क्रमेण पट्टाऽऽदौ व्यवस्थाप्याऽक्षसञ्चारणया पृथिवीनामेकत्वद्विकयोगाभ्यां तेऽवसेयाः । तत्रैकैकपृथिव्यां नारकद्वयोत्पत्तिलक्षणैकत्वे सप्त विकल्पाः । पृथिवीद्वये नारकद्वयोत्पत्तिलक्षणद्विकयोगे त्वेकविंशतिरित्येवमष्टाविंशतिः । ( एवं एक्केक्का पुढवी छड्डेयव्व त्ति ) अक्षसञ्चारणाऽपेक्षयेदमुक्तमिति ।

तिण्णि भंते ! णेरइया णेरइयप्पवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा०जाव अहे सत्तमाए होज्जा ?। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा०जाव अहवा-अहे सत्तमाए होज्जा ।७। अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए होज्जा०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा ।६। अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए होज्जा०जाव अहवा-दो रयणप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १२ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए दो वालुयप्पभाए होज्जा०जाव अहवा-एगे सक्करप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा । ५ । अहवा-दो सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा०जाव अहवा-दो सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।१०। एवं जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया भणिया, तहा सव्वपुढवीणं भाणियव्वा ०जाव अहवा-दो तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४२ । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए होज्जा ।१२।० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।५। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा, एवं०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४ । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ३ । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २ । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १ । एवं । १५ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयाए एगे धूमप्पभाए होज्जा । २ । ०जाव एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा० जाव अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ३ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १० । अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ३ । अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २ । अहवा-एगे वालुयाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १ । एवं । ६ । अहवा-एगे पंकाए एगे धूमाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे पंकाए एगे धूमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २ । अहवा-एगे पंकप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।१। एवं ।३। अहवा-एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ॥१।३५।८४॥

' तिण्णि भंते ! नेरइए " इत्यादौ चतुरशीतिर्विकल्पाः । तथाहि-पृथिवीनामेकत्वे सप्त विकल्पाः । द्विकसंयोगे तु तासामेको द्वावित्यनेन नारकोत्पादविकल्पेन रत्नप्रभया सह शेषाभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः षट् द्वावेक इत्यनेनाऽपि नारकोत्पादविकल्पेन षडेव, तदेते द्वादश । एवं शर्कराप्रभया पञ्च पञ्चेति दश । एवं वालुकाप्रभयाऽष्टौ, पङ्कप्रभया षट्, धूमप्रभया चत्वारः, तमःप्रभया द्वाविति । द्विकयोगे द्विचत्वारिंशत्त्रिकयोगे तु तासां पञ्चत्रिंशद्विकल्पाः, ते चाक्षसञ्चारणगम्याः, तदेवमेते सर्वेऽपि चतुरशीतिरिति ।

चत्तारि भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा पुच्छा ? । गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा०जाव अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए तिण्णि सक्करप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए तिण्णि वालुयप्पभाए होज्जा । एवं०जाव एगे रयणप्पभाए तिण्णि अहे सत्तमाए होज्जा । ६ । अहवा-दो रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए होज्जा । एवं०जाव दो रयणप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा । ६ । अहवा-तिण्णि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए होज्जा । एवं जाव०अहवा-तिण्णि रयणप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।६।१८। अहवा-एगे सक्करप्पभाए तिण्णि वालुयप्पभाए होज्जा । एवं जहेव रयणप्पभाए उवरिमाहिं समं संचारियं तहा सक्करप्पभाए वि उवरिमाहिं समं चारेयव्वं, एवं एक्केकाए समं चारेयव्वं० जाव अहवा तिण्णि तमाए

एगे अहे सत्तमाए होज्जा।६३। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए दो वालुयप्पभाए होज्जा, अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए दो पंकप्पभाए होज्जा। एवं० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा। ५। अहवा एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा। एवं०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा।५। अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा। १। एवं०जाव अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा।५।१५। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए दो पंकप्पभाए होज्जा। ०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा।४। एवं एएणं गमएणं जहा तिण्हं तियसंजोगो तहा भाणियव्वो०जाव अहवा-दो धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। १०५। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा। एवं०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। ४। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पकप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। ३। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। २। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। १। एवं। १०। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकाए एगे तमाए होज्जा। अहवा एगे रयणप्पभाए एगे वालुयाए एगे पंकाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। ३। अहवा एगे रयणप्पभाए एगे वालुयाए एगे धूमाए एगे तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयाए एगे धूमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। २। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा।१।१६। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमाए एगे तमाए होज्जा, अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। २। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे पंकाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। १। १६। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे धूमाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। एवं। २०। अहवा एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा। १। एवं जहा रयणप्पभाए उवरिमाओ पुढवीओ संचारियाओ तहा सक्करप्पभाए वि उवरिमाओ उच्चारेयव्वाओ०जाव अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। १०। अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा। अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। २। अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे धूमाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। ३५। २१०।

"चत्तारि भंते ! नेरइया" इत्यादौ दशोत्तरे द्वे शते विकल्पानाम्। तथाहि-पृथिवीनामेकत्वे सप्त विकल्पाः, द्विकसंयोगे तु तासामेकस्त्रय इत्यनेन नारकोत्पादविकल्पेन रत्नप्रभया सह शेषाभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः षट्, द्वौ द्वावित्यनेनापि षट्, त्रय एक इत्यनेनापि षडेव। तदेवमेतेऽष्टादश। शर्कराप्रभया तु तथैव त्रिषु पूर्वोक्तनारकोत्पादविकल्पेषु पञ्च पञ्चेति पञ्चदश। एवं वालुकाप्रभया चत्वारश्चत्वार इति द्वादश पङ्कप्रभया त्रयस्त्रय इति नव, धूमप्रभया द्वौ द्वाविति षट् तमःप्रभयैकैव इति त्रय, तदेवमेते द्विकयोगे त्रिषष्टिस्तथा पृथिवीना त्रिकयोगे एक एका द्वौ चेत्येवं नारकोत्पादविकल्पे रत्नप्रभाशर्कराप्रभाभ्यां सहान्याभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः पञ्च, एको द्वावेकश्चेत्येवं नारकोत्पादविकल्पान्तरे पञ्च द्वावेक एकश्चेत्येवमपि नारकोत्पादविकल्पान्तरेऽपि पञ्च द्वावेक एकश्चेत्येवमपि नारकोत्पादविकल्पान्तरे पञ्चैवेति पञ्चदश एवं रत्नप्रभावालुकाप्रभाभ्यां सहोत्तराभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धा द्वादश, एवं रत्नप्रभापङ्कप्रभाभ्यां नव, रत्नप्रभाधूमप्रभाभ्यां षट्, रत्नप्रभातमःप्रभाभ्या त्रय., शर्कराप्रभावालुकाप्रभाभ्या द्वादश. शर्कराप्रभापङ्कप्रभाभ्यां नव, शर्कराप्रभाधूमप्रभाभ्यां षट्, शर्कराप्रभातम प्रभाभ्या त्रय., वालुकाप्रभापङ्कप्रभाभ्यां नव, वालुप्रभाधूमप्रभाभ्या षट्, वालुकाप्रभातम प्रभाभ्यां त्रय., पङ्कप्रभाधूमप्रभाभ्या षट्, पङ्कप्रभातमःप्रभाभ्या त्रय., धूमप्रभाऽऽदिभिस्तु त्रय इति। तदेवं त्रिकयोगे पञ्चोत्तरं शतं, चतुष्कसंयोगे तु पञ्चत्रिंशदित्येवं सप्तानां त्रिषष्टेः पञ्चोत्तरशतस्य पञ्चत्रिंशतश्च मीलने द्वे शते दशोत्तरे भवत।

पंच भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रय-

णप्पभाए पुच्छा ?। गंगेया ! अहवा-रयणप्पभाए वा होज्जा० जाव अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए वा होज्जा चत्तारि सक्करप्पभाए होज्जा० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए चत्तारि अहे सत्तमाए होज्जा ।६। अहवा-दो रयणप्पभाए तिन्नि सक्करप्पभाए होज्जा । एवं० जाव अहवा-दो रयणप्पभाए तिन्नि अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-तिन्नि रयणप्पभाए दोन्नि सक्करप्पभाए होज्जा। एवं० जाव अहवा-तिन्नि रयणप्पभाए दोन्नि अहे सत्तमाए होज्जा ।६। अहवा-चत्तारि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए होज्जा ।एवं० जाव अहवा-चत्तारि रयणप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।६। २४। अहवा-एगे सक्करप्पभाए चत्तारि वालुयप्पभाए होज्जा। एवं जहा रयणप्पभाए समं उवरिमपुढवीओ संचारियाओ तहा सक्करप्पभाए वि समं उच्चारेयव्वाओ० जाव अहवा-चत्तारि सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २० । एवं एक्केक्काए समं उच्चारेयव्वाओ०जाव अहवा-चत्तारि तमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ८४। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए तिन्नि वालुयप्पभाए होज्जा। एवं०जाव एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए तिन्नि अहे सत्तमाए होज्जा ।५। अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए दो वालुयप्पभाए होज्जा । एवं० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा ।५। अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए दो वालुयप्पभाए होज्जा। एवं०जाव अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा ।५। अहवा-एगे रयणप्पभाए तिन्नि सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा। एवं० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए तिन्नि सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २० । अहवा-दो रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा । एवं०जाव दो रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २५ । अहवा-तिन्नि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए होज्जा । एवं०जाव अहवा-तिन्नि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ३० । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए तिन्नि पंकप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं जहा चउण्हं तियसंजोगो भणिओ तहा पंचण्हं वि तियसंजोगो भाणियव्वो। णवरं तत्थ एगो संचारिज्जइ,इमाइं दोन्नि,सेसं तं चेव०जाव अहवा-तिन्नि धूमप्पभाए एगे तमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । २१० । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए दो पंकप्पभाए होज्जा, एवं० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए दो अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्कराए दो वालुयाए एगे पंकाए होज्जा । एवं०जाव अहवा-एगे रयणाए एगे सक्कराए दो वालुयाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४ । अहवा-एगे रयणाए दो सक्कराए एगे वालुयाए एगे पंकाए होज्जा । एवं०जाव अहवा-एगे रयणाए दो सक्कराए एगे वालुयाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४ । अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्कराए एगे वालुयाए एगे पंकाए होज्जा । एवं० जाव अहवा-दो रयणाए एगे सक्कराए एगे वालुयाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४ । अहवा-एगे रयणाए एगे सक्कराए एगे पंकाए दो धूमाए होज्जा । एवं जहा चउण्हं चउक्कसंजोगो भणिओ, तहा पंचण्ह वि चउक्कसंजोगो भाणियव्वो, णवरं अब्भहियं एगो संचारियव्वो० जाव अहवा दो पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १४० । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे धूमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १५ । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे वा-

लुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा -एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाहे होज्जा । अहवा-एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ॥

" पंच भंते ! नेरइया " इत्यादि पूर्वोक्तक्रमेण भावनीयम् नवरं संक्षेपेण विकल्पसङ्ख्या दर्श्यते-एकत्वं सप्त विकल्पा, द्विकसंयोगे चतुरशीतिः । कथम् ?, द्विकसंयोगे सप्तानां पदानामेकविंशतिर्भङ्गाः, पञ्चानां नारकाणां च द्विधा करणेऽक्षसंचारणाऽवगम्याश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति । तद्यथा-एकश्चत्वारश्च द्वौ त्रयश्च त्रयो द्वौ च चत्वार एकश्चेति । तदेवमेकविंशतिश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिर्भवन्तीति । त्रिकयोगे तु सप्तानां पदानां पञ्चत्रिंशद्विकल्पाः, पञ्चानां च त्रित्वेन स्थापने षट् विकल्पाः । तद्यथा-एक एकस्त्रयश्च एको द्वौ द्वौ च द्वावेको द्वौ च एकस्त्रय एकश्च द्वौ द्वावेकश्च त्रय एक एकश्चेति । तदेवं पञ्चत्रिंशतः षड्भिर्गुणने दशोत्तरं भङ्गशतद्वयं भवति । चतुष्कसंयोगे तु सप्तानां पञ्चत्रिंशद्विकल्पाः, पञ्चानां च चतूराशितया स्थापने चत्वारो विकल्पाः, तद्यथा-११११२, ११२१, १२११, २१११ । तदेव पञ्चत्रिंशतश्चतुर्भिर्गुणने चत्वारिंशदधिकं शतं भवतीति, पञ्चकयोगे त्वेकविंशतिरेति । सर्वमीलने च चत्वारि शतानि द्विषष्ट्यधिकानि भवन्तीति ।

छ भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए पुच्छा ?। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा ०जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए पंच सक्करप्पभाए वा होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए पंच वालुयप्पभाए वा होज्जा । एव०जाव अहवा- एगे रयणप्पभाए पंच अहे सत्तमाए होज्जा ।६। अहवा दो रयणप्पभाए चत्तारि सक्करप्पभाए होज्जा । एव०जाव अहवा-दो रयणप्पभाए चत्तारि अहे सत्तमाए होज्जा । ६। अहवा-तिण्णि रयणप्पभाए तिण्णि सक्करप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं जहा पंचण्हं दुयसंजोगो तहा छण्हं वि भाणियव्वो , णवरं एक्को अब्भहिओ संचारेयव्वो० जाव अहवा पंच तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १०५ । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए चत्तारि वालुयप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए चत्तारि पंकप्पभाए होज्जा । एवं० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए चत्तारि अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए तिण्णि वालुयप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेण जहा पंचण्हं तियसंजोगो भणिओ, तहा छण्हं वि भाणियव्वो, णवरं एक्को अब्भहिओ उच्चारेयव्वो, सेसं तं चेव ।३५०। चउक्कसंजोगो वि तहेव ।३५०। पंचसंजोगो वि तहेव, णवरं एक्को अब्भहिओ संचारेयव्वो०जाव पच्छिमो भंगो । अहवा-दो वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।१०५। अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए एगे पंकप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए० जाव एगे धूमप्पभाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए ०जाव एगे पंकप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा—एगे रयणप्पभाए०जाव एगे वालुयप्पभाए एगे धूमप्पभाए एगे तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे पंकप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ९२४ ।

( छ भंते ! नेरइया इत्यादि ) इह एकत्वे सप्त द्विकयोगे तु षण्णां द्वित्वे पञ्च विकल्पाः । तद्यथा-१५,२४,३३,४२, ५१ । तैश्च सप्तपदद्विकसंयोगैकविंशतेर्गुणनात्पञ्चोत्तर भङ्गकशतं भवति, त्रिकयोगे तु षण्णां त्रित्वे दश विकल्पाः । तद्यथा-११४ १२३, २१३, १३२ २२२, ३१२, १४१, २३१, ३२१, ४११ । एतैश्च पञ्चत्रिंशतः सप्तपदत्रिकसंयोगानां गुणनात्त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि भवन्ति, चतुष्कसंयोगे तु षण्णां चतूराशितया स्थापने दश विकल्पाः । तद्यथा-१११३, ११२२, १२१२, २११२, ११३१, १२२१, २१२१, १३११ २२११, ३१११ । पञ्चत्रिंशतश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगानां दशभिर्गुणनात् त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि भवन्ति । पञ्चकसंयोगे तु षण्णां पञ्चधा करणे पञ्चविकल्पा । तद्यथा-११११२, ११२१, ११२११, १२१११, २११११ । सप्तानां च पदानां पञ्चकसंयोगे एकविंशतिर्विकल्पा । तेषां च पञ्चभिर्गुणने पञ्चोत्तरं शतमिति । षट्कसंयोगे तु सप्तैव ते, सर्वमीलने च नव शतानि चतुर्विंशत्युत्तराणि भवन्तीति ।

सत्त भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा पुच्छा ?। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा०जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा ।७। अहवा-एगे रयणप्पभाए छ सक्करप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं जहा छण्हं दुयसंजोगो तहा सत्तण्ह वि भाणियव्वं । णवरं एगो अब्भहिओ संचारिज्जइ, सेसं तं चेव १२६। तियसंजोगो ५२५। चउक्कसंजोगो ।७००। पंच-

संजोगो २१५ । छक्कसंजोगो य छएहं जहा तहा सत्तएहं वि भाणियव्वं । णवरं एकेको अब्भहिओ संचारेयव्वो०जाव छक्कसंजोगो । अहवा-दो सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ४२ । अहवा एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १७१६ ।

( सत्त भंते ! इत्यादि ) इहैकत्वे सप्त, द्विकयोगे तु सप्तानां द्वित्वे षड्विकल्पाः। तद्यथा-१६,२५,३४,४३,५२,६१। षड्भिश्च सप्तपदद्विकसंयोगैकविंशतेर्गुणनात्षड्विंशत्युत्तरं भङ्गकशतं भवति त्रिकयोगे तु सप्तानां त्रित्वे पञ्चदश विकल्पा। तद्यथा ११५, १२४, २१४, १३३, २२३, ३१३, १४२, २३२, ३२२,४१२, १५१, १४१, ३३१, ४२१, ५११ । एतैश्च पञ्चविंशतः सप्तपद त्रिकसंयोगानां गुणानात्पञ्च शतानि पञ्चविंशत्यधिकानि भवन्तीति । चतुष्कयोगे तु सप्तानां चतूराशितया स्थापने एक एक एकश्चत्वारश्चेत्यादयो विंशतिर्विकल्पाः। ते च वक्ष्यमाणाश्च पूर्वोक्तभङ्गकानुसारेणाऽक्षसञ्चारणाकुशलेन स्वयमेवावगन्तव्याः। विंशत्या च पञ्चत्रिंशतः सप्तपदचतुष्कसंयोगानां गुणनात्सप्तशतानि विकल्पानां भवन्ति । पञ्चकसंयोगे तु सप्ताना पञ्चतया स्थापने एक एक एक एकस्त्रयश्चेत्यादयः पञ्चदश विकल्पाः। एतैश्च सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणनात् त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि भवन्ति, षट्कसंयोगे तु सप्तानां षोढाकरणे पञ्चैकका द्वौ चेत्यादय १११११२, षड्विकल्पाः । सप्ताना च षदाना षट्कसंयोगे सप्तविकल्पाः, तेषां च षड्भिर्गुणने द्विचत्वारिंशद्विकल्पा भवन्ति । सप्तकसंयोगे त्वेक एवेति, सर्वमीलने च सप्तदशशतानि षोडशोत्तराणि भवन्तीति ।

अट्ठ भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा ?। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा ०जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा । ७ । अहवा-एगे रयणप्पभाए सत्त सक्करप्पभाए होज्जा । एवं दुयसंजोगो । ४७। तियसंजोगो ।७३५। चउक्कसंजोगो ।१२२५। पंचसंजोगो ।७३५।०जाव छक्कसंजोगो य जहा सत्तएहं भणियं, तहा अट्ठएहं वि भाणियव्वं । णवरं एकेको अब्भहिओ सेसं तं चेव० जाव छक्कसंजोगस्स । अहवा-तिणि सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । १४७ । अहवा-एगे रयणप्पभाए० जाव दो तमाए एगे अहे सत्तमाए होज्जा । एवं संचारेयव्वं० जाव अहवा-दो रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा ७ । ३००३ ।

( अट्ठ भंते इत्यादि ) इहैकत्वे ~ न विकल्पा , द्विकयोगे त्वष्टाना द्वित्वे एक सप्तेत्यादय. सप्त विकल्पा प्रतीता एव । तैश्च सप्तपदद्विकसंयोगैकविंशतेर्गुणनाच्छतं सप्तचत्वारिंशदधिकं भङ्गकाना भवतीति । त्रिकसंयोगे त्वष्टाना त्रित्वे एक एक षट् इत्यादय एकविंशतिर्विकल्पा, तैश्च सप्तपदत्रिकसंयोगपञ्चविंशतो गुणने सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि भवन्ति । चतुष्कसंयोगे त्वष्टानां चतुर्धात्वे एक एक एक पञ्चेत्यादयः पञ्चत्रिंशद्विकल्पा , तैश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगानां पञ्चत्रिंशतो गुणने द्वादशशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि भङ्गकानां भवन्तीति । पञ्चकसंयोगे त्वष्टानां पञ्चत्वे एक एक एक एकश्चत्वारश्चेत्यादयः पञ्चत्रिंशद्विकल्पाः, तैश्च सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणने सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि भवन्तीति । षट्कसंयोगे त्वष्टानां षोढात्वे पञ्चैककास्त्रयश्चेत्यादयः १११११३ । एकविंशतिर्विकल्पा , तैश्च सप्तपदषट्कसंयोगानां सप्तपदस्य गुणने सप्तचत्वारिंशदधिकभङ्गकं शतं भवतीति । सप्तसंयोगे पुनरष्टानां सप्तधात्वे विकल्पाः प्रतीता एव, तैश्चैकस्य सप्तकसंयोगस्य गुणने सप्तैव विकल्पाः, एषां च मीलने त्रीणि सहस्राणि त्र्युत्तराणि भवन्तीति ।

णव भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा पुच्छा ?। गंगेया ! णवरं रयणप्पभाए वा होज्जा ०जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा । ७। अहवा-एगे रयणप्पभाए अट्ठ सक्करप्पभाए वा होज्जा । एवं दुयसंजोगो०जाव सत्तसंजोगो य जहा अट्ठएहं भणियं, तहा णवएहं पि भाणियव्वं , णवरं एकेको अब्भहिओ संचारेयव्वो, सेसं तं चेव पच्छिमो आलावगो । अहवा-तिणि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए एगे वालुयप्पभाए०जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा ।५००५।

( नव भंते ! इत्यादि ) इहाऽप्येकत्वे सप्तैव , द्विकसंयोगे तु नवाना द्वित्वेऽष्टौ विकल्पाः प्रतीता एव , तैश्चैकविंशतेः सप्तपदद्विकसंयोगानां गुणने अष्टषष्ट्यधिकं भङ्गकशतं भवतीति । त्रिकसंयोगे तु नवानां द्वावेककौ तृतीयश्च सप्तकः ११७, इत्येवमादयोऽष्टाविंशतिर्विकल्पाः, तैश्च सप्तपदत्रिकसंयोगे पञ्चत्रिंशतो गुणने नवशतान्यशीत्युत्तराणि भङ्गकानां भवन्तीति । चतुष्कसंयोगे तु नवाना चतुर्द्धात्वे त्रय एककाः । षट्कश्चेत्यादयः १११६ षट् पञ्चाशद्विकल्पाः , तैश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगे पञ्चत्रिंशतो गुणने सहस्रं नवशतानि षष्टिश्च भङ्गकाना भवन्तीति , पञ्चकसंयोगे तु नवानां पञ्चधात्वे चत्वार एककाः पञ्चकश्चेत्यादयः ११११५ सप्ततिर्विकल्पा , तैश्च सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणने सहस्रं चत्वारि शतानि सप्ततिश्च भङ्गकाना भवन्तीति । षट्कसंयोगे तु नवानां षोढात्वे पञ्चैकका श्चतुष्कश्चेत्यादय १११११४ षट्पञ्चाशद्विकल्पा भवन्ति , तैश्च सप्तपदषट्कसंयोगसप्तकस्य गुणने शतत्रयं द्विनवत्यधिकं भङ्गकानां भवतीति । सप्तकसंयोगे पुनर्नवानां सप्तत्वे एकका षट् त्रिकश्चेत्यादय १११११३, अष्टाविंशतिर्विकल्पा भवन्ति, तैश्च एकस्य सप्तकसंयोगस्य गुणनेऽष्टाविंशतिरेव भङ्गका , एषा च सर्वेषा मीलने पञ्च सहस्राणि पञ्चोत्तराणि विकल्पा भवन्तीति ।

दस भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा किं रयणप्पभाए होज्जा पुच्छा ?। गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा० जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा ।७। अहवा-एगे र-

रयणप्पभाए नव सक्करप्पभाए वा होज्जा । एवं दुयसंजोगो ०जाव सत्तसंजोगो जहा णवण्हं,णवरं एक्केको अब्भहिओ संचारेयव्वो, सेसं तं चेव पच्छिमो आलावगो । अहवा-चत्तारि रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए० जाव एगे अहे सत्तमाए होज्जा । ८४ । ए००८ ।

( दस भंते ! इत्यादि ) इहाप्येकत्वे सप्तैव, द्विकसंयोगे तु दशानां द्विधात्वे एको नव चेत्येवमादयो नव विकल्पाः,तैश्चैकविंशतेः सप्तपदद्विकसंयोगानां गुणने एकोननवत्यधिकं भङ्गकशतं भवतीति । त्रिकयोगे तु दशानां त्रिधात्वे एक एकोऽष्टौ चेत्येवमादयः षट्त्रिंशद्विकल्पाः। तैश्च सप्तपदत्रिकसंयोगे पञ्चत्रिंशतो गुणने द्वादशशतानि षष्ट्यधिकानि भङ्गकानां भवन्तीति । चतुष्कसंयोगे तु दशानां चतुर्द्धात्वे एककत्रयं सप्तकश्चेत्येवमादयश्चतुरशीतिर्विकल्पाः,तैश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगे पञ्चत्रिंशतो गुणने एकोनत्रिंशच्छतानि चत्वारिंशदधिकानि भङ्गकानां भवन्तीति । पञ्चकसंयोगे तु दशानां पञ्चधात्वे चत्वार एककाः षट्कश्चेत्यादयः षड्विंशत्युत्तरशतसङ्ख्या विकल्पा भवन्ति, तैश्च सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणने षड्विंशतिशतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि भङ्गकानां भवन्तीति । षट्कसंयोगे तु दशानां षोढात्वे पञ्चैककाः पञ्चकश्चेत्यादयः षड्विंशत्युत्तरशतसङ्ख्या विकल्पा भवन्ति, तैश्च सप्तपदषट्कसंयोगसप्तकस्य गुणनेऽष्टौ शतानि द्व्यशीत्यधिकानि भङ्गकानां भवन्ति, सप्तकसंयोगे तु दशानां सप्तधात्वे षडेककाश्चतुष्कश्चेत्येवमादयश्चतुरशीतिविकल्पाः, तैश्चैकस्य सप्तकसंयोगस्य गुणने चतुरशीतिरेव भङ्गकानां भवति, सर्वेषां चैषां मीलने अष्टसहस्राण्यष्टोत्तराणि विकल्पानां भवन्तीति ।

संख्येयाः-

संखेज्जा भंते ! ऐरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा पुच्छा?, गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा० जाव अहवा-अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा । एवं० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा ।६। अहवा-दो रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा । एवं०जाव अहवा-दो रयणप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा ।३। अहवा-तिन्नि रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा। एवं एएणं कमेणं एक्केको संचारेयव्वो० जाव अहवा-दसरयणप्पभाए संखेज्जा, सक्करप्पभाए होज्जा । एवं०जाव अहवा-दसरयणप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा ।६। अहवा-संखेज्जा रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा० जाव अहवा-संखेज्जा रयणप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा । ६ । अहवा-एगे रयणप्पभाए सखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा। एवं जहा रयणप्पभा उवरिमपुढवीहिं समं चारिया. एवं सक्करप्पभा वि उवरिमपुढवीहिं संचारेयव्वा, एवं एक्केका पुढवी उवरिमपुढवीहिं समं संचारेयव्वा ०जाव अहवा-संखेज्जा तमाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा । २३ । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए संखेज्जा पंकप्पभाए ०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए दो सक्करप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए तिन्नि सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं एक्केको संचारेयव्वो सक्करप्पभाए० जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा ०जाव अहवा-एगे रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा। अहवा-दो रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा०जाव अहवा-दो रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-तिन्नि रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं एक्केको रयणप्पभाए संचारेयव्वो० जाव अहवा-संखेज्जा रयणप्पभाए सखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा वालुयप्पभाए होज्जा० जाव अहवा-संखेज्जा रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए संखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए एगे सक्करप्पभाए संखेज्जा पंकप्पभाए होज्जा ०जाव एगे रयणप्पभाए एगे वालुयप्पभाए संखेज्जा, अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-एगे रयणप्पभाए दो वालुयप्पभाए संखेज्जा पंकप्पभाए होज्जा । एवं एएणं कमेणं तियसंजोगो चउक्कसंजोगो०जाव सत्तसंजोगो जहा दसण्हं तहेव भाणियव्वो पच्छिमगो आलावगो सत्तसंजोगस्स । अहवा-संखेज्जा रयणप्पभाए संखेज्जा सक्करप्पभाए० जाव संखेज्जा अहेसत्तमाए होज्जा ।६१ । ३३ । ३७ ।

( संखेज्जा भंते ! इत्यादि ) तत्र सङ्ख्याता एकादशाऽऽदयः शीर्षप्रहेलिकान्ताः । इहाप्येकत्वे सप्तैव, द्विकसंयोगे तु सङ्ख्यातानां द्विधात्वे एकः संख्याताश्चेत्यादयो दश सङ्ख्याताश्च संख्याताः संख्याताश्चेत्येतदन्ता एकादश विकल्पाः । एते चोपरितनपृथिव्यामेकाऽऽदीनामेकादशानां पदानामुच्चारणेऽधस्तनपृथिव्यां तु संख्यातपदस्यैवोच्चारणे सत्यवसेयाः । ये त्वन्ये उपरितनपृथिव्यां संख्यातपदस्याऽधस्तनपृथिव्यां त्वेकाऽऽदीनामेकादशानां पदानामुच्चारणे लभ्यन्ते न इह न विवक्षिताः पूर्वसूत्रक्रमाऽऽश्रयणात्, पूर्वसूत्रेषु हि दशाऽऽदिराशीनां द्वैविध्यकल्पनायामुपर्य्येकाऽऽद्यो लघव संख्याभेदाः

पूर्वे न्यस्ता., अधस्तु नवाऽऽदयो महान्त एवमिहाप्येकाऽऽदय उपरि संख्यातराशिश्चाधस्तत्र च संख्यातराशेरधनस्तनस्यै- काऽऽद्याकर्षणेऽपि संख्यातत्वमवस्थितमेव, प्रचुरत्वान्न पुन. पूर्वसूत्रेषु नवाऽऽदीनामिवैकाऽऽदितया तस्यावस्थानमित्यतो नेहाध एकादिभावोऽपि तु संख्यातसम्भव एवेति नाधिकविकल्पविवक्षेति, तत्र रत्नप्रभा एकादिभि. संख्यातान्तैरेकादशभि पदै. क्रमेण विशेषिता संख्यातपदविशेषिताभि. शेषाभि. सह क्रमेण चारिता. षट्षष्टिभङ्गकान् लभन्ते । एवमेव शर्कराप्रभा पञ्चपञ्चाशतं वालुकाप्रभा चतुश्चत्वारिंशतं, पङ्कप्रभा त्रयस्त्रिंशतं, धूमप्रभा द्वाविंशतिं तम.-प्रभा त्वेकादशेति । एवं च द्विकसंयोगविकल्पानां शतद्वयमेकत्रिंशदधिकं भवति, त्रिकयोगे तु विकल्पपरिमाणमात्रमेव दर्श्यते । रत्नप्रभाशर्कराप्रभावालुकाप्रभाश्चेति प्रथमस्त्रिकयोग.,तत्र च एक एक सङ्ख्याताश्चेति प्रथमाविकल्प.,तत प्रथमायामेकस्मिन्नेव तृतीयाया तु सङ्ख्यातपद एव स्थितं, द्वितीयाया क्रमेणाक्षविन्यासे द्याद्यक्षभावेन दशमचारे सङ्ख्यातपदं भवति । एवमेते पूर्वेण सह एकादश. ततो द्वितीयाया तृतीयायां संख्यातपद एव स्थिते प्रथमायां तथैव द्याद्यक्षभावेन दशमचारे संख्यातपदं भवति । एवं चैतं दश समाप्यते, चेतोऽक्षविन्यासोऽन्त्यपदस्य प्राप्तत्वात् । एवं चैते सर्वेऽप्येकत्र त्रिकसंयोगे एकविंशति । अनया च पञ्चत्रिंशत सप्तपदत्रिकसंयोगाना गुणने सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि भवन्ति । चतुष्कसंयोगे तु पुनराद्याभिश्चतसृभि प्रथम चतुष्कसंयोग , तत्र चाद्यासु तिसृष्वेकैकश्चतुर्थ्यां तु सङ्ख्याता इत्येको विकल्प ।तत पूर्वोक्तक्रमेण तृतीयायां दशमचारे संङ्ख्यातपदमेवं द्वितीयाया प्रथमाया च तत एते सर्वेऽप्येकत्र चतुष्कयोगे एकत्रिंशत् । अनया च सप्तपदचतुष्कसंयोगानां पञ्चत्रिंशतो गुणने सहस्र पञ्चाशीत्यधिकं भवति । पञ्चकसंयोगे त्वाद्याभि पञ्चभि प्रथम. पञ्चकयोग । तत्र चाद्यासु चतसृष्वेकैक पञ्चम्या तु सङ्ख्याता इत्येको विकल्पः। तत पूर्वोक्तक्रमेण चतुर्थ्यां दशमचारे संख्यातपदमेवं शेषास्वपि । तत एते सर्वेऽप्येकत्र पञ्चकयोगे एकचत्वारिंशत् । अस्याश्च प्रत्येकं सप्तपदपञ्चकसयोगानामेकविंशतौ लाभादष्टशतान्येक षष्ट्यधिकानि भवन्ति । षट्कसयोगेषु तु पूर्वोक्तक्रमेणैकत्र षट्कयोगे एकपञ्चाशद्विकल्पा भवन्ति । अस्याश्च प्रत्येक सप्तपदषट्कसंयोगसप्तके लाभात्त्रीणि शतानि सप्तपञ्चाशदधिकानि भवन्ति । सप्तकसयोगेषु पूर्वोक्तभावनयैकषष्टिर्विकल्पा भवन्ति । सर्वेषा चैषा मीलने त्रयस्त्रिंशच्छतानि सप्तत्रिंशदधिकानि भवन्ति ।

असंख्येया.-

असंखेज्जा भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा पुच्छा ? । गंगेया ! रयणप्पभाए वा होज्जा० जाव अहे सत्तमाए वा होज्जा ।७। अहवा-एगे रयणप्पभाए असंखेज्जा सक्करप्पभाए होज्जा । एवं दुयसंजोगो०जाव सत्तगसंजोगो य । जहा संखेज्जाणं भणिओ तहा असंखेज्जाण वि भाणियव्वो, णवर असंखेज्जाओ अब्भहिओ भाणियव्वो, सेसं तं चेव०जाव सत्तगसंजोगस्स पच्छिमओ आलावगो । अहवा-असंखेज्जा रयणप्पभाए असंखेज्जा सक्करप्पभाए ०जाव असंखेज्जा अहे सत्तमाए होज्जा ६ । ७ । ३६ । ५८ ।

"असंखेज्जा भंते !" इत्यादि । संख्यातप्रवेशनकवदेवैतदसंख्यातप्रवेशनकं वाच्य, नवरमिहासंख्यातपद द्वादशमधीयते, तत्र चैकत्वे सत्येव. द्विकयोगाऽऽदौ तु विकल्पप्रमाणवृद्धिर्भवति । सा चैवम्-द्विकसंयोगे द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके २५२. त्रिकसयोगेऽष्टौ शतानि पञ्चोत्तराणि ८०५, चतुष्कसंयोगे त्वेकादशशतानि नवत्यधिकानि ११९०, पञ्चकसंयोगे पुनर्नवशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि ९४५, षट्कसंयोगे तु त्रीणि शतानि द्विनवत्यधिकानि ३९२ सप्तसंयोगे पुन. सप्तषष्टि ६७ । एतेषा मीलने षट्त्रिंशच्छतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि भवन्ति ३६५८ ।

अथ प्रकारान्तरेण नारकप्रवेशनकमेवाऽऽह-

उक्कोसेणं भंते ! णेरइया णेरइयपवेसणएणं पवेसमाणा पुच्छा ? । गंगेया ! सव्वे वि ताव रयणप्पभाए होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए सक्करप्पभाए य होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए य वालुयप्पभाए य होज्जा ०जाव अहवा-रयणप्पभाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । ६ । अहवा—रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य होज्जा । एव० जाव अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । ५ । अहवा-रयणप्पभाए य वालुयप्पभाए य पंकप्पभाए य होज्जा । १ । ०जाव अहवा-रयणप्पभाए य वालुयप्पभाए य अहे सत्तमाए होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए य पंकप्पभाए य धूमाए य होज्जा । १ । एवं रयणप्पभं अमुयंतेसु जहा तिण्ह तियसंजोगो भणिओ तहा भाणियव्वं०जाव अहवा-रयणप्पभाए य तमाए य अहे सत्तमाए य होज्जा ।१५। अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य पंकप्पभाए य होज्जा अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य धूमप्पभाए य होज्जा०जाव अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । ४ । अहवा रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य पंकप्पभाए य धूमप्पभाए य होज्जा । एव रयणप्पभं अमुयंतेसु जहा चउण्हं चउक्कसंजोगो तहा भाणियव्वं० जाव अहवा-रयणप्पभाए य धूमप्पभाए य तमाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । २० । अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य पंकप्पभाए य धूमप्पभाए य होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए य० जाव पंकप्पभाए य तमाए य होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए य० जाव पंकप्पभाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । ३ । अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य धूमप्पभाए य तमाए य होज्जा । एवं रयणप्पभं अमुयंतेसु ज-

हा पंचएहं पंचसंजोगो तहा भाणियव्वं० जाव अहवा रयणप्पभाए य पंकप्पभाए य धूमप्पभाए य तमाए य अहे सत्तमाए य होज्जा।१५। अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य पंकप्पभाए य धूमप्पभाए य तमाए य होज्जा । अहवा -रयणप्पभाए य० जाव धूमप्पभाए य अहे सत्तमाए य होज्जा। अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य पंकप्पभाए य तमाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य वालुयप्पभाए य धूमप्पभाए य तमाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य पंकप्पभाए य धूमप्पभाए य तमाए य अहे सत्तमाए य होज्जा । ५ । अहवा-रयणप्पभाए य वालुयप्पभाए य० जाव अहे सत्तमाए य होज्जा ॥ ६ ॥ अहवा-रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए० य जाव अहे सत्तमाए होज्जा ॥ १६४ ॥

( उक्कोसेणं इत्यादि ) उत्कर्षा उत्कृष्टपदिनो ये उत्कर्षेत उत्पद्यन्ते ( सव्वे वि त्ति ) ये उत्कृष्टपदिनस्ते सर्वेऽपि रत्नप्रभायां भवेयुस्तद्गामिनां तत्स्थानानां च बहुत्वात् । इह प्रक्रमे द्विकयोगे षड्भङ्गकास्त्रिकयोगे पञ्चदश चतुष्कयोगे विंशतिः, पञ्चकयोगे पञ्चदश, षट्कयोगे षट् , सप्तकयोगे त्वेक इति ।

अथ रत्नप्रभाऽऽदिष्वेव नारकप्रवेशनकस्याल्पत्वाऽऽदिनिरूपणायाऽऽह-

एयस्स णं भंते ! रयणप्पभापुढविणेरइयपवेसणगस्स सक्करप्पभापुढविपवेसणगस्स० जाव अहे सत्तमापुढविणेरइयपवेसणगस्स कयरे कयरे० जाव विसेसाहिए वा ?। गंगेया ! सव्वत्थोवे अहे सत्तमपुढविणेरइयपवेसणए तमापुढविणेरइयपवेसणए असंखेज्जगुणे पडिलोमग० जाव रयणप्पभापुढविणेरइयपवेसणए असंखेज्जगुणे।

( एयस्स णमित्यादि ) तत्र सर्वस्तोकं सप्तमपृथिवीनारकप्रवेशनकं, तद्गामिनां शेषापेक्षया स्तोकत्वात्, ततः षष्ठ्यामसंख्यातगुणं, तद्गामिनामसंख्यातगुणत्वादेवमुत्तरत्राऽपि ।

अथ तिर्यग्योनिकप्रवेशनकप्ररूपणायाऽऽह-

तिरिक्खजोणियपवेसणए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गंगेया ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-एगिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए० जाव पचिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए। एगे भंते ! तिरिक्खजोणिए तिरिक्खजोणियपवेसणएणं पवेसमाणे किं एगिंदियेसु होज्जा० जाव पंचिंदिएसु होज्जा ?। गंगेया ! एगिंदिएसु वा होज्जा० जाव पंचिंदिएसु वा होज्जा ।५। दो भंते ! तिरिक्खजोणियपुच्छा ?। गंगेया ! एगिंदिएसु वा होज्जा० जाव पंचिंदिएसु वा होज्जा ।५। अहवा-एगे एगिंदिएसु एगे वेइंदिएसु होज्जा। एवं जहा णेरइयपवेसणए तहा तिरिक्खजोणियपवेसणए वि भाणियव्वे ०जाव असंखेज्जा। उक्कोसा भंते ! तिरिक्खजोणिए पुच्छा ?। गंगेया ! सव्वे वि ताव एगिंदिएसु होज्जा । अहवा-एगिंदिएसु य वेइंदिएसु य होज्जा । एवं जहा णेरइया संचारिया तहा तिरिक्खजोणिया वि संचारेयव्वा। एगिंदिया अमुयंतेसु दुयसंजोगो तियसंजोगो चउक्कसंजोगो पंचकसंजोगो य भाणियव्वो०जाव अहवा-एगिंदिएसु य वेइंदिएसु य०जाव पंचिंदिएसु य होज्जा। एयस्स णं भंते ! एगिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणगस्स ०जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणगस्स य कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ?। गंगेया ! सव्वत्थोवे पंचिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए चउरिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए विसेसाहिए तेइंदियतिरिक्खजोणियप्पवेसणए विसेसाहिए वेइंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए विसेसाहिए एगिंदियतिरिक्खजोणियप्पवेसणए विसेसाहिए ।

( तिरिक्खेत्यादि ) इहैकस्तिर्यग्योनिक एकेन्द्रियेषु वा भवेदित्युक्तं, तत्र च यद्यप्येकेन्द्रियेष्वेक. कदाचिदप्युत्पद्यमानो न लभ्यते, अनन्तानामेव तत्र प्रतिसमयमुत्पत्तेस्तथाऽपि देवाऽऽदिभ्य उद्वृत्य यस्तत्रोत्पद्यते, तदपेक्षयैकोऽपि लभ्यते, एतदेव च प्रवेशनकमुच्यते यद्विजातीयेभ्य आगत्य विजातीयेषु प्रविशति, सजातीयस्तु सजातीयेषु प्रविष्ट एवेति किं तत्र प्रवेशनकमिति तत्र चैकस्य क्रमेण एतानेव सूचयता "अहवा एगे एगिंदिएसु" इत्याद्युक्तम् । अथ संक्षेपार्थं द्व्यादीनामसङ्ख्यातपर्यन्तानां तिर्यग्योनिकानां प्रवेशनकमतिदेशेन दर्शयन्नाह-नारकप्रवेशनकसमानमिदं सर्वं, परं तत्र सप्तसु पृथिवीष्वेकाऽऽदयो नारका उत्पादिताः, तिर्यञ्चस्तु तथैव पञ्चस्थानेषु उत्पादनीयाः, ततो विकल्पनानात्वं भवति, तच्चाभियुक्ते पूर्वोक्तन्यायेन स्वयमवगन्तव्यमिति। इह चानन्तानामेकेन्द्रियाणामुत्पादेऽपि अनन्तपदं नास्ति, प्रवेशनकस्योक्तलक्षणस्यासङ्ख्यातानामेव भावादिति । ( सव्वे वि ताव एगिंदिएसु होज्ज त्ति ) एकेन्द्रियाणामतिबहूनामनुसमयमुत्पादात् । ( दुयसंजोगो इत्यादि ) इह प्रक्रमे द्विकसंयोगश्चतुर्द्धा, त्रिकसंयोगः षोढा, चतुष्कसंयोगश्चतुर्द्धा पञ्चकसंयोगस्त्वेक एवेति । ( सव्वत्थोवे पंचिंदियतिरिक्खजोणियपवेसणए त्ति ) पञ्चेन्द्रियजीवानां स्तोकत्वादिति, ततश्चतुरिन्द्रियाऽऽदिप्रवेशनकानि परस्परेण विशेषाधिकानीति ।

मनुष्यप्रवेशनकं देवप्रवेशनकं च सुगमं, तथाऽपि किञ्चिल्लिख्यते-

मणुस्सपवेसणए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गंगेया ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-समुच्छिममणुस्सपवेसणए य, गब्भवक्कंतियमणुस्सपवेसणए य । एगे भंते ! मणुस्सपवेसणएणं पवेसमाणे किं संमुच्छिममणुस्सेसु होज्जा,

गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा ?। गंगेया ! संमुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा, गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा २। दो भंते ! मणुस्सा पुच्छा ?। गंगेया ! संमुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा,गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा। अहवा-एगे संमुच्छिममणुस्सेसु होज्जा, एगे गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । एवं एएणं कमेणं जहा णेरइयपवेसणए तहा मणुस्सपवेसणए वि भाणियव्वे। एवं०जाव दस। संखेज्जाइं भंते ! मणुस्सपुच्छा ?। गंगेया ! संमुच्छिममणुस्सेसु वा होज्जा, गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु वा होज्जा। अहवा-एगे संमुच्छिममणुस्सेसु सखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । अहवा-दो संमुच्छिममणुस्सेसु होज्जा संखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा। एवं एक्केक्कं उसारिएसु० जाव अहवा-संखेज्जा संमुच्छिममणुस्सेसु गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा ११ । असखेज्जाइं भंते ! मणुस्सा पुच्छा ?। गंगेया ! सव्वे वि ताव संमुच्छिममणुस्सेसु होज्जा । अहवा-असंखेज्जा संमुच्छिममणुस्सेसु एगे गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु होज्जा । अहवा -असंखेज्जा संमुच्छिममणुस्सेसु दो गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु एवं ०जाव असंखेज्जा संमुच्छिममणुस्सेसु संखेज्जा गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु य होज्जा ११ । उक्कोसा भंते ! मणुस्सा पुच्छा ?। गंगेया ! सव्वे पि ताव संमुच्छिममणुस्सेसु होज्जा। अहवा-संमुच्छिममणुस्सेसु य गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु य होज्जा १ । एयस्स णं भंते ! संमुच्छिममणुस्सपवेसणगस्स गब्भवक्कंतियमणुस्सपवेसणगस्स य कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ? । गंगेया ! सव्वत्थोवे गब्भवक्कंतियमणुस्सपवेसणए संमुच्छिममणुस्सपवेसणए असंखेज्जगुणे ।

देवपवेसणए णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गंगेया ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-भवणवासिदेवपवेसणए०जाव वेमाणियदेवपवेसणए । एगे भंते ! देवे देवपवेसणए णं पविसमाणे किं भवणवासीसु होज्जा, वाणमंतरेसु होज्जा, जोइसिएसु होज्जा, वेमाणिएसु होज्जा ?। गंगेया ! भवणवासीसु वा होज्जा , वाणमंतरेसु वा होज्जा, जोइसिएसु वा होज्जा, वेमाणिएसु वा होज्जा ४ । दो भंते ! देवा देवपवेसणए णं पुच्छा ?। गंगेया ! भवणवासीसु वा होज्जा,वाणमंतरेसु वा होज्जा, जोइसिएसु वा होज्जा, वेमाणिएसु वा होज्जा । अहवा -एगे भवणवासीसु,एगे वाणमंतरेसु होज्जा। एवं जहा तिरिक्खजोणियपवेसणए तहेव देवपवेसणए वि भाणियव्वे०जाव असंखेज्जाइं। उक्कोसा भंते ! पुच्छा ?। गंगेया ! सव्वे वि ताव जोइसिएसु होज्जा । अहवा-जोइसिएसु य भवणवासीसु य होज्जा । अहवा-जोइसियवाणमंतरेसु य होज्जा । अहवा-जोइसियवेमाणिएसु य होज्जा। अहवा-जोइसिएसु य भवणवासीसु य वाणमंतरेसु य होज्जा । अहवा-जोइसिएसु य भवणवासिएसु य वेमाणिएसु य होज्जा । अहवा-जोइसिएसु य वाणमंतरेसु य वेमाणिएसु य होज्जा । अहवा-जोइसिएसु य भवणवासीसु य वाणमंतरेसु य वेमाणिएसु य होज्जा । एयस्स णं भंते ! भवणवासिदेवपवेसणगस्स वाणमंतरदेवपवेसणगस्स जोइसियदेवपवेसणगस्स वेमाणियदेवपवेसणगस्स य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ?। गंगेया ! सव्वत्थोवे वेमाणियदेवपवेसणए भवणवासिदेवपवेसणए असंखेज्जगुणे वाणमंतरदेवपवेसणए असंखेज्जगुणे जोइसियदेवपवेसणए संखेज्जगुणे ।

मनुष्या स्थानद्वये संमूर्च्छिमगर्भजलक्षणे प्रविशन्ति. द्वयमाश्रित्य एकाऽऽदिसंख्यातान्तेषु पूर्ववद्विकल्पा कार्या । तत्र चातिदेशयानामन्तिमं संख्यातपदमिति तद्विकल्पान् साक्षाद्दर्शयन्नाह-(संखेज्जा इत्यादि)इह द्विकयोगे पूर्ववत् एकादश विकल्पा असंख्यातपदेषु पूर्वं द्वादश विकल्पा उक्ता । इह पुनरेकादशैव.यतो यदि संमूर्च्छिमेषु गर्भजेषु चासंख्यातत्वं स्यात्तदा द्वादशोऽपि विकल्पो भवेन्न चैवमिह गर्भजमनुष्याणां स्वरूपतोऽप्यसंख्यातानामभावेन तत्र प्रवेशनके असंख्यातासंभवात्तो संख्यातपदे विकल्पैकादशदर्शनायाऽऽह-( असंखेज्जा इत्यादि ) (उक्कोसा भंते ! इत्यादि ) (सव्वेऽवि ताव संमुच्छिममणुस्सेसु होज्ज त्ति ) संमूर्च्छिमानामसङ्ख्याताना भावेन प्रविशतामप्यसंख्याताना सम्भव., त तश्च मनुष्यप्रवेशनकं प्रत्युत्कृष्टपदिन., तेषु सर्वेऽपि भवन्तीति। अत एव संमूर्च्छिममनुष्यप्रवेशनकमितरापेक्षयाऽसंख्यातगुणमवगन्तव्यमिति ॥

देवप्रवेशनके(सव्वे वि ताव जोइसिएसु होज्ज त्ति)ज्योतिष्कगामिनो बहव इति,तेषूत्कृष्टपदिनो देवप्रवेशनकवन्त' सर्वेऽपि भवन्तीति।(सव्वत्थोवे वेमाणियदेवप्पवेसणए इति)तद्गामिनां तत्स्थानानां चाल्पत्वादिति। अथ नारकाऽऽदिप्रवेशनस्यैवाल्पत्वाऽऽदि निरूपयन्नाह-(एयस्स णमित्यादि) तत्र सर्वस्तोकं मनुष्यप्रवेशनकं, मनुष्यक्षेत्र एव तस्य भावात्तस्य च स्तोकत्वान्नैरयिकप्रवेशनकं त्वसंख्यातगुणं, तद्गामिनामसंख्यातगुणत्वादेवमुत्तरत्रापीति ।

अल्पबहुत्वम्—

एयस्स णं णं भंते ! णेरइयपवेसणगस्स तिरिक्खजोणियपवेसणगस्स मणुस्सपवेसणगस्स देवपवेसणगस्स कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ?। गंगेया ! सव्वत्थोवे मणुस्सपवेसणए णेरइयपवेसणए असंखेज्जगुणे देवपवेसणए असंखेज्जगुणे तिरिक्खजोणियपवेसणए असंखेज्जगुणे । भ० ६ श० ३२ उ० ।

पव्व-पर्व्व-न० । पूरणाद् धर्मोपचयहेतुत्वात्पर्व अष्टम्यादि तिथौ, आव० ६ अ० । अमावास्यायाम्,पौर्णमास्याम्,तदुपलक्षिते पक्षे च । स्था० ६ ठा० । सू० प्र० । चं० प्र० ।

तत्र पर्वाणि चैवमूचुः-

अट्ठमि चउद्दसी पु-ण्णिमा य तहऽमावसा हवइ पव्वं।
मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि अ पव्वाइँ पक्खम्मि ॥ १ ॥

"चाउद्दसऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासीसु त्ति" सूत्रप्रामाण्यात्। महानिशीथे तु ज्ञानपञ्चम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता-" अट्ठमिचउद्दसीसुं,नाणपंचमीसु उववासं। न करेई पच्छित्तं, .... ॥" इत्यादिवचनात्। तथाऽन्यत्र च—

"बीआ पंचमि अट्ठमि, एगारसि चउद्दसी पणतिहीओ
एआओ सुअतिहीओ, गोअम! गणहारिणा भणिआ ॥१॥
बीआ दुविहे धम्मे, पंचमि नाणेसु अट्ठमी कम्मे
एगारसि अंगाणं, चउद्दसी चउदपुव्वाणं ॥ २ ॥"

एवं पञ्चपर्वी पूर्णिमाऽमावास्याभ्यां सह षट्पर्वी च प्रतिपक्षमुत्कृष्टतः स्यात्। एषु च पर्वसु कृत्यानि यथा पौषधकरणं, प्रतिपर्व्व तत्करणाऽऽशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन। यदागमः-" सव्वेसु कालपव्वे-सु पसत्थो जिणमए हवइ जोगो। अट्ठमिचउद्दसीसु अ, निअमेण हविज्ज पोसहिओ "॥१॥ इति। यथाशक्तिग्रहणादष्टम्यादिष्वपि पौषधकरणाऽऽशक्तौ द्विष्प्रातिक्रमणबहुबहुतरसामायिककरणबहुसंक्षेपदेशावकाशिकव्रतस्वीकरणाऽऽदि कार्यम्। ध० २ अधि०। कौमुदीप्रभृतिषु लौकिकोत्सवतिथिषु,ज्ञा० १ श्रु० २ अ०।

प्रतिवर्षपर्वसंख्यामाह-

**ता पढमस्स णं चंदस्स संवच्छरस्स चउव्वीसं पव्वा पण्णत्ता। दोचस्स णं चंदसंवच्छरस्स चउव्वीसं पव्वा पण्णत्ता। तच्चस्स णं अभिवड्डितसवच्छरस्स छव्वीसं पव्वा पण्णत्ता। चउत्थस्स णं चंदसंवच्छरस्स चउव्वीसं पव्वा पण्णत्ता। पंचमस्स णं अभिवड्डियसंवच्छरस्स छव्वीसं पव्वा पण्णत्ता। एवामेव सपुव्वावरेणं पंचसंवच्छरिए जुगे एगे चउव्वीसे पव्वसते भवतीति मक्खायं ॥**

( ता पढमस्स णं इत्यादि ) 'ता' इति। तत्र युगे प्रथमस्य, णमिति वाक्यालंकृतौ। चान्द्रस्य संवत्सरस्य चतुर्विंशतिः पर्वाणि प्रज्ञप्तानि। द्वादशमासात्मको हि चान्द्रसंवत्सर, एकैकस्मिंश्च मासे द्वे द्वे पर्वणी, ततः सर्वसंख्यया चान्द्रे संवत्सरे चतुर्विंशतिपर्वाणि भवन्ति। द्वितीयस्याऽपि चान्द्रसंवत्सरे चतुर्विंशतिपर्वाणि भवन्ति। अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य षड्विंशतिः पर्वाणि,तस्य त्रयोदशमासाऽऽत्मकत्वात्। चतुर्थस्य चान्द्रसंवत्सरस्य चतुर्विंशतिः पर्वाणि। पञ्चमस्य अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य षड्विंशतिः पर्वाणि। कारणमनन्तरमेवोक्तं, तत एवमेव उक्तेन च प्रकारेणैव ( सपुव्वावरेणं ति ) पूर्वापरगणितमीलनेन पञ्चसांवत्सरिके युगे चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतं भवतीत्याख्यातं सर्वैरपि तीर्थकृद्भिर्मया च।

इह कस्मिन्नयने कस्मिन्वा मण्डले किं पर्व समाप्तिमुपयातीति चिन्तायां पूर्वाऽऽचार्यैः पञ्चकरणगाथा अभिहिताः। ततस्ता विनेयजनानुग्रहार्थमुपदर्श्यन्ते-

" इच्छा पव्वेहि गुण, अयणं रूवाहिअं तु कायव्वं।
सोज्झं च हवइ तत्तो, अयणक्खित्तं उडुवइस्स ॥ १ ॥
जइ अयणा सुज्झंती, तइ पंचजुया उ रूवसंजुत्ता।
तावइयं तं अयणं, नत्थि निरंसं हि रूवजुयं ॥ २ ॥
कसिणम्मि होइ रूवं, पक्खेवो दो य होंति भिन्नम्मि।
जावइया तावइया, एते ससिमंडला होंति ॥ ३ ॥
ओयम्मि तु गुणकारे, अब्भिंतरमंडले हवइ आई।
जुम्मम्मि य गुणकारे, बाहिरगे मंडले आई ॥ ४ ॥"

आसां क्रमेण व्याख्या-यस्मिन् पर्वणि अयनमण्डलाऽऽदिविषयां ज्ञातुमिच्छा,तैर्ध्रुवराशिर्गुण्यते अथ कोऽसौ ध्रुवराशिः?, उच्यते-इह ध्रुवराशिप्रतिपादिकेयं पूर्वाऽऽचार्योपदर्शिता गाथा-" एगं च मंडलं म-ण्डलस्स सत्तट्ठि भाग चत्तारि। नव चेव चुण्णियाओ, इगतीसकएण छेएण ॥ १ ॥" अस्या अक्षरयोजना-एकं मण्डलमेकस्य च मण्डलस्य सप्तषष्टिभागाश्चत्वारः, एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकत्रिंशत्कृतेन छेदेन ये चूर्णिका भागास्तेन च एतावत्प्रमाणो ध्रुवराशिः। अयं च पर्वगतक्षेत्रादयनगतक्षेत्रापगमे शेषीभूत एकस्य चोत्पत्तिमात्रं भावयिष्याम" ॥ १ ॥ तत एवंभूतं ध्रुवराशिमीप्सितपर्वभिर्गुणयित्वा तदनन्तरमयनं रूपाधिकं कर्त्तव्य, तथा गुणितस्य मण्डलराशेर्यदि चन्द्रमसोऽयनक्षेत्रं परिपूर्णमधिकं वा संभाव्यते, तत एतस्मादीप्सितपर्वसंख्यागुणितात् मण्डलराशेरुडुपतेश्चन्द्रमसोऽयनक्षेत्रं भवति, शोधयन्ति च, यावत्सङ्ख्यानि चायनानि शुद्ध्यन्ति तति-भिर्युक्तानि पर्वाणि अयनानि क्रियन्ते, कृत्वा च भूयो रूपसंयुक्तानि विधेयानि। यदि पुनः परिपूर्णानि मण्डलानि शुद्ध्यन्ति राशिश्च पश्चान्निर्लेपो जायते तदा तदयनसंख्यातैर्निरंशं सद्रूपयुक्तं नास्ति न तत्रायनराशौ रूपं प्रक्षिप्यते इति भावः। तथा कृत्स्ने परिपूर्णे राशौ भवत्येकं रूपं मण्डलराशौ प्रक्षेपणीयं भिन्ने खण्डे अंशसहिते राशावित्यर्थः। द्वे रूपे मण्डलराशौ प्रक्षेपणीये, प्रक्षेपे च कृते सति यावान्मण्डलराशिर्भवति तावन्ति मण्डलानि तावत्तिथे ईप्सिते पर्वणि भवन्ति। तथा यदि ईप्सितेन पर्वणा ओजोरूपेण विषमलक्षणेन गुणकारो भवति, तत आदिरभ्यन्तरे मण्डले द्रष्टव्यः, युग्मे तु समे तु गुणकारे आदिर्बाह्ये मण्डलेऽवसेयः। एष करणगाथासमूहाक्षरार्थः।

भावना त्वियम्-कोऽपि पृच्छति-युगाऽऽदौ प्रथमं पर्व कस्मिन्नयने कस्मिन्वा मण्डले समाप्तिमुपयाति?,तत्र प्रथमं पर्व पृष्टमिति वामपार्श्वे पर्वसूचक एककः स्थाप्यते, ततस्तस्यां तु श्रेणिदक्षिणपार्श्वे एकमयनं, तस्य चानुश्रेणि एकं मण्डलं तस्य च मण्डलस्याऽधस्ताच्चत्वारः सप्तषष्टिभागास्तेषामप्यधस्तान्नव एकत्रिंशद्भागाः। एष सर्वोऽपि राशिर्ध्रुवराशिः, स ईप्सितेन एकेन पर्वणा गुण्यते, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति जातस्तावानेव राशिः। "ततोऽयनं रूपाधिकं च कर्त्तव्यम्।" इति वचनादेकं रूपमयने प्रक्षिप्यते, मण्डलराशौ चायनं न शुध्यति, ततो " दो य होंति भिन्नम्मि " इति वचनात् मण्डलराशौ द्वे रूपे प्रक्षिप्येते, तत आगतमिदं प्रथमं पर्व द्वितीये अयने तृतीयस्य मण्डलस्य " ओयम्मि य गुणकारे, अब्भिंतर मण्डले हवइ आई।" इति वचनात्। अभ्यन्तरवर्तिनश्चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य नवस्वेकत्रिंशद्भागेषु गतेषु समाप्तिमुपयातीति, अयनं चेह चान्द्रायणमवसेयम्। चन्द्रायणं च युगस्याऽऽदौ प्रथममुत्तरायणं, द्वितीयं

दक्षिणायनमिति । द्वितीये अभ्यन्तरवर्तिनस्तृतीयस्य मण्ड लस्येत्युक्तम् । तथा कोऽपि पृच्छति-द्वितीयं पर्व कस्मिन्नयने कस्मिन् वा मण्डले समाप्तिमधिगच्छतीति ?। तत्र द्वितीयं पर्व पृष्टमिति स एव प्रागुक्तो ध्रुवराशि' समस्तोऽपि द्वाभ्यां गुण्यते, ततो जाते द्वे अयने द्वे मण्डले अष्टौ सप्तषष्टिभागा अष्टादश एकत्रिंशद्भागाः, " ततोऽयन रूपाधिकं कर्त्तव्यम् । " इति वचनात् अयने रूपं प्रक्षिप्यते, मण्डलराशौ चाऽयन न शुद्ध्यति, ततो " दो य हौति भिसम्मि " इति वचनात् मण्डलराशौ द्वे प्रक्षिप्येते, तत आगतं द्वितीयं पर्व तृतीये अयने चतुर्थस्य मण्डलस्य " जुगमम्मि य गुणकारे,बाहिरगे मण्डले हवइ आई । " इति वचनाद् बाह्यमण्डलादर्वाग्वर्त्तिनोऽष्टसु सप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्याष्टादशस्वेकत्रिंशद्भागेषु अतिक्रान्तेषु परिसमाप्तिमुपैति । तथा कोऽपि प्रश्नयति-चतुर्दशं पर्व कतिसङ्ख्येष्वयनेषु मण्डलषु वा समाप्तिं गच्छतीति ?, स एव प्रागुक्तो ध्रुवराशिः समस्तोऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यते, जातान्ययनानि चतुर्दश मण्डलान्यपि चतुर्दश चत्वारः सप्तषष्टिभागाश्चतुर्दशभिर्गुणिता जाता' षट्पञ्चाशत् ५६ नव एकत्रिंशद्भागाः चतुर्दशभिर्गुणिता जातं षड्विंशत्यधिकं शतम् १२६ । तत्र षड्विंशत्यधिकस्य शतस्य एकत्रिंशता भागो ह्रियते. लब्धाश्चत्वारः सप्तषष्टिभागा द्वौ चूर्णिकाभागौ तिष्ठतः, चत्वारश्च सप्तषष्टिभागा उपरितने सप्तषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताः षष्टि. सप्तषष्टिभागाः ६०/६७ । चतुर्दशभ्यश्च मण्डलेभ्यस्त्रयोदशभिर्मण्डलैस्त्रयोदशभिश्च सप्तषष्टिभागैरयनं शुद्धं, तेन सर्वाण्ययनानि चतुर्दशसङ्ख्यायुतानि क्रियन्ते , ततोऽयनं रूपाधिकं कर्त्तव्यमिति वचनात् भूयोऽपि तत्रैकं रूपं प्रक्षिप्यते. जातानि षोडश अयनानि सप्तषष्टिभागाश्च चतुःपञ्चाशत्संख्यामण्डलराशावुद्वरितास्तिष्ठन्ति, ते सप्तषष्टिभागराशौ षष्टिरूपे प्रक्षिप्यन्ते. जात चतुर्दशोत्तरं शतम् ११४ । तस्य सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धमेकं मण्डलं पश्चादवतिष्ठते सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः . ततो " दो य हौति भिसम्मि " इति वचनात् मण्डलराशौ द्वे रूपे प्रक्षिप्येते. जातानि त्रीणि मण्डलानि चतुर्दशभिश्चात्र गुणितं कृतं,चतुर्दशराशिश्च यद्यपि युग्मरूपस्तथाऽप्यत्र मण्डलराशेरेकमयनमधिकं प्रविष्टमिति त्रीणि मण्डलानि अभ्यन्तरमण्डलादारभ्य द्रष्टव्यानि. तत आगतं चतुर्दशं पर्व, षोडशे अयने अभ्यन्तरमण्डलादारभ्य तृतीये मण्डले सप्तचत्वारिंशतिसप्तषष्टिभागेषु गतेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य द्वयोरेकत्रिंशद्भागयोर्गतयोः परिसमाप्नोतीति । तथा द्वाषष्टितमपर्वजिज्ञासायां स पूर्वोक्तो ध्रुवराशिर्द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि द्वाषष्टिरयनानि द्वाषष्टिमण्डलानि द्वे शते अष्टाचत्वारिंशदधिके सप्तषष्टिभागाना २४८ पञ्चशतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि एकत्रिंशद्भागानाम् तेषामेकत्रिंशता भागे हृते लब्धाः परिपूर्णा अष्टादश सप्तषष्टिभागास्ते उपरितने सप्तषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते,जाते द्वे शते षट्षष्ट्यधिके २६६ उपरि च द्वाषष्टिमण्डलानि, तेभ्यो द्विपञ्चाशता मण्डलैर्द्विपञ्चाशता च एकस्य मण्डलस्य सप्तषष्टिभागैश्चत्वारि अयनानि लब्धानि,तानि अयनराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि षट्षष्टिरयनानि ६६ । पश्चादवतिष्ठन्ते नव मण्डलानि, पञ्चदश च सप्तषष्टिभागा मण्डलस्य, तत्र पञ्चदश सप्तषष्टिभागाः सप्तषष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते एकाशीत्यधिके २८१ । ततो सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि चत्वारि मण्डलानि, शेषा अवतिष्ठन्ते त्रयोदश सप्तषष्टिभागा मण्डलानि च मण्डलराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि त्रयोदश मण्डलानि त्रयोदशभिर्मण्डलैस्त्रयोदशभिश्च सप्तषष्टिभागैः परिपूर्णमेकमयनं लब्धमिति तदयनराशौ प्रक्षिप्यते. जातानि सप्तषष्टिरयनानि । " नत्थि निरंसम्मि रूवजुयं ।" इति वचनाद् अयनराशौ रूप न प्रक्षिप्यते, केवलं " किसणम्मि होइ रूवं पक्खेवो " इति वचनात् मण्डलस्थाने एकं रूप न्यस्यते, द्वाषष्ट्या चात्र गुणकारः कृतो द्वाषष्टिरूपश्च राशिर्युग्मो, यानि अपि च चत्वार्ययनानि प्रविष्टानि तान्यपि युग्मरूपाणि, रूप चात्राधिकमेकं न प्रक्षिप्तमिति पञ्चममयनं तत्स्थाने द्रष्टव्यमिति बाह्यमण्डलमादिं कृत्य, तत आगतं द्वाषष्टितमं पर्व सर्वसप्तषष्ट्यायनेषु परिपूर्णेषु जातेषु बाह्यमण्डले प्रथमरूपे परिसमाप्तिं गतमिति । एवं सर्वाण्यपि पर्वाणि भावनीयानि । केवलं विनेयजनानुग्रहाय पर्वायनप्रस्तारो लेशतो दर्शयते-तत्र प्रथमं पर्व द्वितीये अयने तृतीये मण्डले तृतीयस्य मण्डलस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य नवस्वेकत्रिंशद्भागेषु गतेषु समाप्तमिति ध्रुवराशिं कृत्वा पर्वाऽऽयनमण्डलेषु प्रत्येकमेकैकं रूपं प्रक्षेप्तव्यं, भागेषु च तावत्संख्यका भागा मण्डले चायनक्षेत्रे परिपूर्णानि त्रयोदश मण्डलानि, एकस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागा इत्येतावत्प्रमाणमयनक्षेत्रं शोधयित्वाऽयनं प्रक्षेप्तव्यम् । अनेन क्रमेण वक्ष्यमाणः प्रस्तार सम्यक्परिभावनीयः । स च प्रस्तारोऽयम्-प्रथमं पर्व द्वितीयेऽयने तृतीये मण्डले तृतीयस्य मण्डलस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य नवस्वेकत्रिंशद्भागेषु गतेषु समाप्तं द्वितीयं पर्व, तृतीयेऽयने चतुर्थे मण्डले चतुर्थमण्डलस्याष्टासु सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्याष्टादशस्वेकत्रिंशद्भागेषु तृतीयं पर्व, चतुर्थेऽयने पञ्चमे मण्डले पञ्चमस्य मण्डलस्य द्वादशसु सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य सप्तविंशतौ एकत्रिंशद्भागेषु चतुर्थं पर्व, पञ्चमे अयने षष्ठे मण्डले षष्ठस्य मण्डलस्य सप्तदशसु सप्तषष्टिभागेषु एकस्य सप्तषष्टिभागस्य पञ्चस्वेकत्रिंशद्भागेषु पञ्चमं पर्व, षष्ठेऽयने सप्तमे मण्डले सप्तमस्य मण्डलस्य एकविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य चतुर्दशस्वेकः त्रिंशद्भागेषु षष्ठं पर्व, सप्तमेऽयने अष्टमे मण्डले अष्टमस्य मण्डलस्य पञ्चविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्य त्रयोविंशतौ एकत्रिंशद्भागेषु सप्तम पर्व, अष्टमे अयने नवमे मण्डले नवमस्य मण्डलस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकस्मिन्नेकत्रिंशद्भागे अष्टमं पर्व,नवमे अयने दशमे मण्डले दशमस्य मण्डलस्य चतुस्त्रिंशतिसप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकस्मिन्नेकत्रिंशद्भागेषु नवमं पर्व, दशमे अयने एकादशे मण्डले एकादशस्य मण्डलस्याष्टात्रिंशतिसप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकोनविंशतावेकत्रिंशद्भागेषु दशमं पर्व, एकादशेऽयने द्वादशे मण्डले द्वादशस्य च मण्डलस्य द्वाचत्वारिंशतिसप्तषष्टिभागेषु एकस्य च सप्तषष्टिभागस्याष्टाविंशतौ एकत्रिंशद्भागेषु एकादश पर्व,

द्वादशे अयने त्रयोदशे मण्डले त्रयोदशस्य मण्डलस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य षट्सु एकत्रिंशद्भागेषु द्वादशं पर्व, चतुर्दशे अयने प्रथमे मण्डले प्रथमस्य च मण्डलस्याष्टाविंशतिसप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य पञ्चदशस्वेकत्रिंशद्भागेषु त्रयोदशं पर्व, पञ्चदशे अयने द्वितीये मण्डले द्वितीयस्य मण्डलस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य चतुर्विंशतौ एकत्रिंशद्भागेषु चतुर्दशं पर्व, षोडशे अयने तृतीये मण्डले तृतीयस्य मण्डलस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य द्वयोरेकत्रिंशद्भागयोः पञ्चदशं पर्व, सप्तदशे अयने चतुर्थे मण्डले चतुर्थस्य मण्डलस्य एकपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेष्वेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकादशस्वेकत्रिंशद्भागेषु। एवं शेषेष्वपि पर्वस्वयनमण्डलप्रस्तारो भावनीयः। ग्रन्थगौरवभयात्तु न लिख्यते।

अथ किं पर्व कस्मिन् चन्द्रनक्षत्रयोगे परिसमाप्तिमुपयातीति चिन्तायां पूर्वाऽऽचार्यैः करणमुपदर्शितम्। संप्रति तदभ्युपदर्श्यते–

" चउवीससयं काऊ-ण पमाणं सत्तसट्ठिमेव फलं।
इच्छापव्वेहिँ गुणं, काऊणं पज्जया लद्धा ॥ १ ॥
अट्ठारसहिँ सएहिं, तीसेहिं सेसगम्मि गुणियम्मि।
तेरस विउत्तरेहिं सएहिँ अभिइम्मि सुद्धम्मि ॥ २ ॥
सत्तट्ठिविसट्ठीणं, सव्वग्गेणं तओ उ जं सेसं।
तं रिक्खं नायव्व, जत्थ समत्तं हवइ पव्वं ॥ ३ ॥"

त्रैराशिकविधौ चतुर्विंशत्यधिकं शतं प्रमाणं प्रमाणराशिं कृत्वा सप्तषष्टिरूपं फलं फलराशिं कुर्यात्, कृत्वा च ईप्सितैः पर्वभिर्गुणकारं विदध्यात्, विधाय चाऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतेन भागे हृते यल्लभ्यते पर्याया ज्ञातव्याः, यत्पुनः शेषमवतिष्ठते तदष्टादशभिः शतैः त्रिंशदधिकैः संगुण्यते, संगुणिते च तस्मिन् ततस्त्रयोदशभिः शतैर्द्व्युत्तरैरभिजित् शोधनीयः, अभिजिद्भोग्यानामेकविंशतेः सप्तषष्टिभागानां द्वाषष्ट्या गुणने एतावत्शोधनकस्य लभ्यमानत्वात् ततस्तस्मिन् शोधने सप्तषष्टिसंख्याया द्वाषष्ट्यस्तासां सर्वाग्रेण यद्भवति। किमुक्तं भवति ?–सप्तषष्ट्या द्वाषष्टौ गुणितायां यद्भवति तेन भागे हृते यल्लब्धं तावन्ति नक्षत्राणि शुद्धानि, यत्पुनस्ततोऽपि भागहारणादपि शेषमवतिष्ठते तादृशं नक्षत्रं ज्ञातव्य यत्र विवक्षितं पर्व समाप्तमिति। एष करणगाथात्रयाक्षरार्थः।

भावना त्वियम्–यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४।६७।१। अत्र चतुर्विंशत्यधिकशतरूपो राशिः प्रमाणभूतः, सप्तषष्टिरूपं फलं, तत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातस्तावानेव। तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणम्, स च स्तोकत्वाद्भागं न प्रयच्छति, ततो नक्षत्राऽऽनयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागरूपैर्गुणयिष्यामः। इति गुणकारच्छेदराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, जातो गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, छेदराशिर्द्वाषष्टिः ६२। तत्र सप्तषष्टिर्नवशतैः पञ्चदशोत्तरैर्गुण्यते, जातान्येकषष्टिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ६१३०५। एतस्मादभिजितस्त्रयोदश शतानि द्व्युत्तराणि शुद्धानि स्थितानि, शेषाणि षष्टिसहस्राणि त्र्युत्तराणि ६०००३। तत्र छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तैर्भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्दश १४। तेन श्रवणाऽऽदीनि पुष्यपर्यन्तानि चतुर्दश नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषाणि तिष्ठन्ति अष्टादश शतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १८४७। एतानि मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि दशोत्तराणि ५५४१०, तेषां भागे हृते लब्धास्त्रयोदश मुहूर्त्ताः, शेषाणि तिष्ठन्ति चतुर्दश शतानि अष्टोत्तराणि १४०८। एतानि द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानीति गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्त्तना क्रियते, तत्र गुणकारराशिर्जातम एककश्छेदराशिः सप्तषष्टिः, एकेन च गुणित उपरितनो राशिर्जातस्तावानेव ततस्तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकविंशतिः २१। पश्चादवतिष्ठते एकः सप्तषष्टिभागः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य आगत प्रथमं पर्व, अश्लेषयोस्त्रयोदश मुहूर्तान् एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशतिर्द्वाषष्टिभागान् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकसप्तषष्टिभागं भुक्त्वा समाप्तमिति। तथा यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिः पर्याया लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यां पर्वाभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना–१२४।६७।२। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातं चतुस्त्रिंशदधिकं शतम् १३४। तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धा एको नक्षत्रपर्यायः स्थितः, शेषा दश, तत एतान् नक्षत्रानयनायाऽष्टादशभिः शतैः त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, जातो गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५। छेदराशिर्द्वाषष्टिः ६२। तत्र दश नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैर्गुण्यन्ते जातान्येकनवतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ९१५०। तेभ्यस्त्रयोदश शतानि द्व्युत्तराण्यभिजितः शुद्धानि स्थितानि पश्चादष्टसप्ततिशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ७८४८। तत्र द्वाषष्टिरूपश्छेदराशिः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४। तैर्भागो ह्रियते, लब्धमेकं श्रवणरूप नक्षत्रं, शेषाणि तिष्ठन्ति षट्त्रिंशच्छतानि चतुर्नवत्यधिकानि ३६९४। एतानि मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातमेकं लक्षं दश सहस्राणि अष्टौ शतानि विंशत्युत्तराणि ११०८२०। तेषां छेदराशिना भागे हृते लब्धा षड्विंशतिर्मुहूर्त्ता २६, शेषाणि तिष्ठन्ति षोडशोत्तराणि अष्टाविंशतिशतानि २८१६। एतानि द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानि, तत्र गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्त्तना। तत्र गुणकारराशिरेककरूपो जातश्छेदराशिः सप्तषष्टिः, तत्रैकेन उपरितनो राशिर्गुणितो जातस्तावानेव, तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा द्वाचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ, आगतं द्वितीयं पर्व, धनिष्ठानक्षत्रस्य षड्विंशतिमुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाचत्वारिंशतं द्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ भुक्त्वा समाप्तिमुपगच्छति। एवं शेषेष्वपि पर्वसु सप्तापि नक्षत्राणि भावनीयानि।

तत्संग्राहिकाश्चेमाः पूर्वाऽऽचार्यप्रदर्शिता' पञ्च गाथा'-

" सप्प धणिट्ठा अज्जम, अभिवुड्ढी चित्त आस इंदग्गी ।
रोहिणि जिट्ठा मिगसिर, विस्सादिति सवण पिउदेवा ॥१॥
अज अज्जम अभिवड्ढी, चित्ता आसो तहा विसाहा उ ।
रोहिणि मूलो अद्दा, वीसं पुस्सो धणिट्ठा य ॥ २ ॥
भग अज अज्जम पूसो, साई अग्गी य मित्तदेवा य ।
रोहिणि पुव्वासाढा, पुणव्वसू वीसदेवा य ॥ ३ ॥
अहि वसु भगाभिवुड्ढी, हत्थऽस्स विसाह कत्तिया जिट्ठा ।
सोमाऽऽउरवी सवणो, पिउ वरुण भगोऽभिवड्ढी य ॥ ४ ॥
चित्ताऽसविसाहऽग्गी, मूलो अद्दा य विस्स पुस्सो अ ।
एए जुगपुव्वद्धे, विसट्ठिपवेसु नक्खत्ता ॥ ५ ॥

एतासां व्याख्या-प्रथमस्य पर्व्वणः समाप्तौ सर्पाः सर्पदेवतोपलक्षितं नक्षत्रम् अश्लेषानक्षत्रम् १ द्वितीयस्य धनिष्ठा २, तृतीयस्यार्यमा अर्यमदेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्य ३, चतुर्थस्याभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४, पञ्चमस्य चित्रा ५, षष्ठस्याऽश्व अश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी ६, सप्तमस्य इन्द्राग्निरिन्द्राग्निदेवतोपलक्षिता विशाखा ७, अष्टमस्य रोहिणी ८, नवमस्य ज्येष्ठा ९, दशमस्य मृगशिरम् १०, एकादशस्य विश्वग्देवतोपलक्षिता उत्तराषाढा ११, द्वादशस्यादिति अदितिदेवतोपलक्षितं पुनर्वसु १२, त्रयोदशस्य श्रवण १३, चतुर्दशस्य पितृदेवता मघा १४, पञ्चदशस्याज' अजादेवोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा १५, षोडशस्यार्यमा अर्यमदेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्य १६, सप्तदशस्याभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा १७, अष्टादशस्य चित्रा १८, एकोनविंशतितमस्याश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी १९, विंशतितमस्य विशाखा २०, एकविंशतितमस्य रोहिणी २१, द्वाविंशतितमस्य मूलम् २२, त्रयोविंशतितमस्य आर्द्रा २३, चतुर्विंशतितमस्य विश्वग् विश्वग्देवतोपलक्षिता उत्तराषाढा २४ पञ्चविंशतितमस्य पुष्य॰ २५, षड्विंशतितमस्य धनिष्ठा २६, सप्तविंशतितमस्य भगो भगदेवतोपलक्षिता पूर्वफाल्गुन्य २७, अष्टाविंशतितमस्याऽजो अजदेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा २८, एकोनत्रिंशत्तमस्यार्यमा अर्यमादेवता उत्तरफाल्गुन्य २९, त्रिंशत्तमस्य पुष्य, पुष्पदेवताका रेवती ३०, एकत्रिंशत्तमस्य स्वाति ३१, द्वात्रिंशत्तमस्याग्निरग्निदेवतोपलक्षिता कृत्तिका ३२, त्रयस्त्रिंशत्तमस्य मित्रदेवा मित्रनामा देवो यस्या सा तथा अनुराधा इत्यर्थ ३३, चतुस्त्रिंशत्तमस्य रोहिणी ३४, पञ्चत्रिंशत्तमस्य पूर्वाषाढा ३५, षट्त्रिंशत्तमस्य पुनर्वसु ३६ सप्तत्रिंशत्तमस्य विश्वग्देवा उत्तराषाढा ३७, अष्टात्रिंशत्तमस्याहिरहिदेवतोपलक्षिता अश्लेषा ३८, एकोनचत्वारिंशत्तमस्य वसुर्वसुदेवोपलक्षिता धनिष्ठा ३९, चत्वारिंशत्तमस्य भगो भगदेवा पूर्वफाल्गुन्य. ४०, एकचत्वारिंशत्तमस्याभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४१, द्विचत्वारिंशत्तमस्य हस्त ४२, त्रिचत्वारिंशत्तमस्याश्वोऽश्वदेवा अश्विनी ४३, चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य विशाखा ४४, पञ्चचत्वारिंशत्तमस्य कृत्तिका ४५, षट्चत्वारिंशत्तमस्य ज्येष्ठा ४६, सप्तचत्वारिंशत्तम सोमदेवोपलक्षित मृगशिरोनक्षत्रम् ४७, अष्टाचत्वारिंशत्तमस्या 'युरायुर्देवा पूर्वाषाढा ४८, एकोनपञ्चाशत्तमस्य रवि रविनामकदेवोपलक्षितं पुनर्वसुनक्षत्रम् ४९, पञ्चाशत्तमस्य श्रवण ५०, एकोनपञ्चाशत्तमस्य पिता पितृदेवा मघा ५१, द्विपञ्चाशत्तमस्य वरुणदेवोपलक्षितं शतभिषक्नक्षत्रम् ५२, त्रिपञ्चाशत्तमस्य भगो भगदेवाः पूर्वफाल्गुन्य ५३, चतुःपञ्चाशत्तमस्याभिवृद्धिदेवा उत्तरभद्रपदा ५४, पञ्चपञ्चाशत्तमस्य चित्रा ५५, षट्पञ्चाशत्तमस्याश्वोऽश्वदेवा अश्विनी ५६, सप्तपञ्चाशत्तमस्य विशाखा ५७, अष्टपञ्चाशत्तमस्याग्निदेवोपलक्षिता कृत्तिका ५८, एकोनषष्टितमस्य मूलम् ५९, षष्टितमस्य आर्द्रा ६०, एकषष्टितमस्य विष्वक् विष्वग्देवा उत्तराषाढा ६१, द्वाषष्टितमस्य पुष्य ६२ । एतदुपसंहारमाह—एतानि नक्षत्राणि युगस्य पूर्वार्द्धे यानि द्वाषष्टिसंख्यानि पर्वाणि तेषु क्रमेण वेदितव्यानि । एवं प्रागुक्तकरणवशादुत्तरार्द्धेऽपि द्वाषष्टिसंख्येषु पर्वस्ववगन्तव्यानि ।

संप्रति कस्मिन् सूर्यमण्डले किं पर्व समाप्तिं यातीति चिन्तायां यत्पूर्वाऽऽचार्यैरुपदर्शितं करणं तदभिधीयते—

" सूरस्स वि नायव्वो, सगेण अयणेण मंडलविभागो ।
अयणम्मि य जे दिवसा, रूवहिए मंडले हवइ ॥ १ ॥ "

अस्या व्याख्या—सूर्यस्याऽपि पर्वविषयो मण्डलविभागो ज्ञातव्य इष्टव्य स्वकीयेनायनेन । किमुक्तं भवति ?—सूर्यस्य स्वकीयमयनमपेक्ष्य तस्मिंस्तस्मिन्मण्डले तस्य पर्वणः परिसमाप्तिरवधारणीयेति । तत्राऽयने शोधिते सति ये दिवसा उद्धरिता वर्त्तन्ते तत्संख्ये रूपाधिके मण्डले तदीप्सितं परिसमाप्तं भवतीति वेदितव्यम् । एषा करणगाथाऽक्षरघटना ।

भावार्थस्त्वयम्—इह यत्पर्व कस्मिन्मण्डले समाप्तमिति ज्ञातुमिष्यते तत्संख्या ध्रियते, धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते, गुणयित्वा च रूपाधिका क्रियते, ततः संभवतोऽवमरात्र पात्यन्ते, ततो यदि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भाग' पतति तर्हि भागे हृते यल्लब्धं तान्ययनानि ज्ञातव्यानि, केवलं या पश्चाद्दिवससंख्याऽवतिष्ठते, तदन्तिमे मण्डले विवक्षितं पर्व समाप्तमित्यत्र भेयम् । उत्तरायणे वर्तमाने बाह्यमण्डमादिं कर्त्तव्यं,दक्षिणायने च सर्वाभ्यन्तरमिति संप्रति भावना क्रियते-तत्र कोऽपि पृच्छति-कस्मिन् मण्डले स्थित' सूर्यो युगे प्रथमं पर्व समापयतीति ?। इह प्रथमपर्व पृष्टमित्येकको ध्रियते, स पञ्चदशभिर्गुण्यते, जाता पञ्चदश अत्रैकोऽप्यवमरात्रो न संभवतीति तत् किमपि पात्यते, ते च पञ्चदश रूपाधिका क्रियन्ते, जाता षोडश युगाऽऽदौ च प्रथमं पर्व दक्षिणायने तत् आगतं सर्वाभ्यन्तरमण्डलमादिं कृत्वा षोडशमण्डले प्रथमं पर्व परिसमाप्तमिति । तथाऽपर' पृच्छति-चतुर्थं पर्व कस्मिन् मण्डले परिसमाप्नोतीति तत्र चतुष्को ध्रियते, धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जाता षष्टि अत्रैकोऽवमरात्र. संभवतीत्येक पात्यते, जाता एकोनषष्टि ५९। सा भूयोऽप्येकरूपयुता क्रियते, जाता षष्टि आगतं सर्वाभ्यन्तरमण्डलमादिं कृत्वा षष्टितमे मण्डले चतुर्थं पर्व समाप्तमिति । तथा पञ्चविंशतितमपर्वजिज्ञासाया पञ्चविंशति' स्थाप्यते, सा पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ३७५। अत्र षड्वमरात्रा जाता इति षट् शोध्यन्ते जातानि त्रीणि शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि ३६९, तत्र त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धौ पश्चाति-

ष्ठन्ति त्रीणि, तानि रूपयुतानि क्रियन्ते, जातानि चत्वारि, यौ च द्वौ लब्धौ, ताभ्यां द्वे अयने दक्षिणायनोत्तरायणरूपे शुद्धे ततः आगतं तृतीये अयने दक्षिणायनरूपे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमादिं कृत्वा चतुर्थे मण्डले पञ्चविंशतितमं पर्व परिसमाप्तमिति चतुर्विंशत्यधिकशततमपर्वजिज्ञासायां चतुर्विंशत्यधिकं शतं स्थाप्यते, तत्पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि षष्ट्यधिकानि १८६० चतुस्त्रिंशत्यधिके पर्वशते च त्रिंशदवमरात्रा भूता इति त्रिंशत्पात्यते, जातानि पश्चादष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०, तानि रूपयुतानि क्रियन्ते, जातान्यष्टादश शतान्येकत्रिंशदधिकानि १८३१ । तेषां त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागे हृते लब्धानि दशायनानि, पश्चादवतिष्ठते एकः, दशमं च अयनं युगपर्यन्ते उत्तरायणं, ततः आगतमुत्तरायणपर्यन्ते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चतुर्विंशत्यधिकशततमं पर्व समाप्तमिति ।

संप्रति किं पर्व कस्मिन् सूर्यनक्षत्रे समाप्तिमधिगच्छति एतन्निरूपणार्थं यत्पूर्वाऽऽचार्यैः करणमुक्तं तदुपदर्श्यते–

" चउवीससयं काऊ–ण पमाणं पज्जए य पंच फलं ।
इच्छापव्वेहिँ गुणं काऊणं पज्जया लद्धा ॥ १ ॥
अट्ठारस य सएहिं, तीसेहि सेसगम्मि गुणियम्मि ।
सत्तावीससएसुं अट्ठावीसेसु पुस्सम्मि ॥ २ ॥
सत्तट्ठि विसट्ठीणं, सव्वग्गेणं तओ उ जं सेसं ।
तं रिक्खं सूरस्स उ, जत्थ समत्तं हवइ पव्वं ॥ ३ ॥ "

एतासां तिसृणां गाथानां क्रमेण व्याख्या–त्रैराशिकविधौ चतुर्विंशत्यधिकशतं प्रमाणं प्रमाणराशिं कृत्वा पञ्च पर्यायान् फलं कुर्यात्कृत्वा च ईप्सितैः पर्वभिर्गुणं गुणकारं विदध्यात्, विधाय चाऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागो हर्त्तव्यो, भागे हृते यल्लब्धं ते पर्यायाः शुद्धाः ज्ञातव्याः । यत्पुनः शेषमवतिष्ठते तदष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैर्गुण्यते–गुणिते च तस्मिन् सप्तविंशतिशतेषु अष्टाविंशत्यधिकेषु शुद्धेषु पुष्यः शुद्ध्यति, तस्मिन् शुद्धे सप्तषष्टिसंख्याया द्वाषष्ट्याः, तासां सर्वाग्रेण यद्भवति । किमुक्तं भवति ?– सप्तषष्ट्या द्वाषष्टौ गुणितायां यद्भवति तेन भागे हृते यल्लब्धं तावन्ति नक्षत्राणि शुद्धानि द्रष्टव्यानि यत्पुनस्ततोऽपि भागहरणादपि शेषमवतिष्ठते तदृक्षं सूर्यस्य संबन्धि द्रष्टव्यं यत्र विवक्षितं पर्व समाप्तमिति । एष करणगाथात्रयाक्षरार्थः ।

भावना त्वियम्–यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते, तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना–१२४।५।१। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातस्तावानेव पञ्चकरूपः, तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणं स च स्तोकत्वाद्भागं न प्रयच्छति, ततो नक्षत्राऽऽनयनार्थम् अष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराश्योरर्द्धेनाऽपवर्त्तना, जातो गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५ । छेदराशिर्द्वाषष्टिः ६२ । तत्र पञ्च नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैर्गुण्यन्ते, जातानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ४५७५ । पुष्यस्य च चतुश्चत्वारिंशद्भागा द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि सप्तविंशतिशतानि अष्टाविंशत्यधिकानि २७२८ । एतानि पूर्वराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चादष्टादशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १८४७ । तत्र च्छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्या गुण्यते जातानि एकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तैर्भागो ह्रियते, तत्र राशेः स्तोकत्वाद्भागो न लभ्यते, ततो दिवसा आनेतव्याः, तत्र छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः परिपूर्णनक्षत्राऽऽनयनार्थं हि द्वाषष्टिः सप्तषष्ट्या गुणितः, परिपूर्णं च नक्षत्रमिदानीं नाऽऽयाति, ततो मूल एव द्वाषष्टिरूपच्छेदराशिः केवलं पञ्चभिः सप्तषष्टिभागैरहोरात्रो भवति, ततो दिवसाऽऽनयनाय द्वाषष्टिः पञ्चभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि दशोत्तराणि ३१०, तैर्भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्च दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति द्वे शते सप्तनवत्यधिके २९७, ते मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, तत्र गुणकारच्छेदराश्योः शून्येनाऽपवर्त्तना, जातो गुणकारराशिस्त्रिकरूपश्छेदराशिरेकत्रिंशत् तत्त्रिकेणोपरितनो राशिर्गुण्यते, जातान्यष्टौ शतान्येकनवत्यधिकानि ८९१, तेषामेकत्रिंशता भागो ह्रियते, लब्धा अष्टाविंशतिमुहूर्त्ताः २८, एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिरेकत्रिंशद्भागाः $\frac{23}{31}$, आगतं प्रथमं पर्व अश्लेषानक्षत्रस्य पञ्चदिवसान् एकस्य च दिवसस्याष्टाविंशतिमुहूर्त्तानेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिमेकत्रिंशद्भागान् भुक्त्वा समाप्तम् । अथ वा–पुष्ये शुद्धे यानि स्थितानि पश्चादष्टादशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १८४७, तानि सूर्यमुहूर्त्ताऽऽनयनाय त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि दशोत्तराणि ५५४१०, तेषां प्रागुक्तेन छेदराशिना ४१५४, भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश मुहूर्त्ताः १३, शेषाणि तिष्ठन्ति चतुर्दशशतान्यष्टोत्तराणि १४०८, ततोऽमूनि द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानि, गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्त्तना, तत्र गुणकारराशिरेककरूपः छेदराशिः सप्तषष्टिरूपः, तत्र एकेन गुणितो राशिस्तावानेव जातः १४०८ तस्य सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिः २१ द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभागः, तत आगतं युगस्याऽऽदौ प्रथमं पर्व अमावास्यालक्षणमश्लेषानक्षत्रस्य त्रयोदशमुहूर्त्तस्य एकविंशतिद्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकं सप्तषष्टिभागं भुक्त्वा सूर्यः समायाति । तथा च वक्ष्यति–" ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता अस्सिलेसाणं एक्के मुहुत्ते चत्तालीसं वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छित्ता छावट्ठिं चुण्णिआ सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता अस्सिलेसाहिं चेव अस्सिलेसाणं एक्को मुहुत्तो चत्तालीसं वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठिं चुण्णिया सेसा । " इति । तथा यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना ।१२४।५।२। अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यराशिः पञ्चकरूपो गुण्यते, जाता दश १०, तेषामाद्येन राशिना भागहरणं तेन च स्तोकत्वाद्भागं न प्रयच्छन्ति, ततो नक्षत्राऽऽनयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैर्गुणयितव्या इति गुणकारच्छेदराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना जातो गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५ । छेदराशिर्द्वाषष्टिः ६२, तत्र नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैर्दश गुण्यन्ते, जातानि एकनवतिशतानि पञ्चाशदुत्तराणि ९१५०,

तेभ्यः सप्तविंशतिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि पुष्यसत्कानि शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चाच्चतुःषष्टिशतानि द्वाविंशत्यधिकानि ६४२२, छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्या गुण्यते जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तैर्भागो ह्रियते, लब्धमेकं नक्षत्रं, तच्चाश्लेषारूपमश्लेषानक्षत्रं चार्द्धक्षेत्रमत एतद्गता: पञ्चदश सूर्यमुहूर्त्ता अधिका वेदितव्याः, शेषाणि तिष्ठन्ति द्वाविंशतिशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि २२६८, ततो मुहूर्त्तानयनार्थमेतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातान्यष्टषष्टिसहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि ६८०४०, तेन छेदराशिना ४१५४ भागो ह्रियते, लब्धा: षोडश सूर्यमुहूर्त्ता: १६. शेषाण्यवतिष्ठन्ते पञ्चदशशतानि षट्सप्तत्यधिकानि १५७६, तानि द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानीति गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्त्तना, जातो गुणकारराशिरेकरूप: छेदराशिः सप्तषष्टि ६७, तत्रोपरितनो राशिरेकेन गुणितस्तावानेव जात:, तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयोविंशतिर्द्वाषष्टिभागा $\frac{23}{62}$ एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागा: ३५, तत्र ये लब्धा: षोडश मुहूर्त्ता ये चोद्धरिताः पश्चात्या: पञ्चदश मुहूर्त्तास्ते एकत्र मील्यन्ते जाता एकत्रिंशत् ३१, तत्र त्रिंशता मघा शुद्धा पश्चादुद्धरत्येक: सूर्यमुहूर्त्तस्तत आगतं त्रितीयं पर्व श्रावणमासभाविपौर्णमासीरूपं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्यैकं मुहूर्त्तमेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिं द्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशतं सप्तषष्टिभागान् भुक्त्वा सूर्य परिसमापयतीति। तथा च वक्ष्यति-" ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं पुण्णमासीणं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता धणिट्ठाहिं धणिट्ठाणं तिन्नि मुहुत्ता एगुणवीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पण्णट्ठी चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं पुव्वाणं फग्गुणीणं अट्ठावीसं च मुहुत्ता अट्ठावीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता बत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा।" इति। तथा यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते, ततस्त्रिभि: किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१२४।५।३। अत्रान्त्येन राशिना त्रिकलक्षणेन मध्यो राशि: पञ्चकरूपो गुण्यते, जाता पञ्चदश १५ तेषामाद्येन राशिना भागहरण, तत्र राशेः स्तोकत्वाद्भागो न लभ्यते, ततो नक्षत्राऽऽनयनार्थमष्टादशशतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराश्योर्द्विकेनाऽपवर्त्तना, जातो गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, छेदराशिर्द्वाषष्टि ६२। तत्र नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः पञ्चदश गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदशसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि १३७२५, तेभ्यः सप्तविंशतिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि पुष्यसत्कानि शोध्यन्ते, स्थितानि पश्चाद्दशसहस्राणि नवशतानि सप्तनवत्यधिकानि १०९९७, छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्या गुणितो, जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४ तैर्भागो ह्रियते लब्धे द्वे नक्षत्रे २। ते चाश्लेषामघारूपे अश्लेषा नक्षत्रं चार्द्धक्षेत्रमित्येतद्गता: पञ्चदश सूर्यमुहूर्त्ता उद्धरिता अधिकतया। शेषाणि तिष्ठन्ति षड्विंशतिशतानि नवाशीत्यधिकानि २६८९। एतानि मुहूर्त्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातान्यशीतिसहस्राणि षट्शतानि सप्तत्यधिकानि ८०६७०। तेषां छेदराशिना ४१५४ भागो ह्रियते, लब्धा एकोनविंशतिमुहूर्त्ता: १९। शेषाण्यवतिष्ठन्ते सप्तदशशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि १७४४। एतानि द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानीति गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्तना, जातो गुणकारराशिरेकरूपः, छेदराशि: सप्तषष्टि: ६७, तत्रोपरितनो राशिरेकेन गुणितस्तावानेव जात १७४४। तस्य सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा: षड्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ $\frac{26}{62}\frac{2}{67}$। तत्र ये लब्धा एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ता ये चोद्धरिता: पाश्चात्या पञ्चदश मुहूर्त्ता: ते एकत्र मील्यन्ते जाताश्चतुस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता:। स च त्रिंशता पूर्वफाल्गुनी शुद्धा, शेषास्तिष्ठन्ति चत्वारो मुहूर्त्तास्तत आगतं तृतीयं पर्व भाद्रपदगतममावास्यारूपम् उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रस्य चत्वारो मुहूर्त्तानेकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतं द्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ भुक्त्वा सूर्य परिसमापयति। तथा च वक्ष्यति-" ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ?। ता उत्तराहिं फग्गुणीहिं उत्तरफग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता पणतीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पण्णत्ती चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे एवं केण नक्खत्तेणं जोएइ ? ता उत्तराहिं चेव फग्गुणीहिं उत्तराण फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता पणतीस च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पण्णट्ठी चुण्णिया भागा सेसा।" इति। एवं शेषपर्वसमापकान्यपि सूर्यनक्षत्राण्यानेतव्यानि।

अथ चेदं पर्वसु सूर्यनक्षत्रपरिज्ञानार्थं पूर्वाऽऽचार्योपदर्शितं करणम्-

निसीसं च मुहुत्ता, बिसट्ठिभागा य दो मुहुत्तस्स।
चुसीसचुण्णिया भागा, पव्वीकय रिक्ख धुवरासी ॥ १ ॥
इच्छापव्वगुणाओ, धुवरासीओ य सोहए कुणसु।
पूसाईणं कमसो जह दिट्ठमणंतनाणीहिं ॥ २ ॥
उगवीसं च मुहुत्ता, तेयालीसं विसट्ठिभागा य।
तेतीसचुण्णियाओ, पूसस्स य सोहए एयं ॥ ३ ॥
उगुयालसयं उत्तर-फग्गु उगुणट्ठ दो विसाहासु।
चत्तारि नवोत्तर उ-त्तराणऽसाढाण सोज्झाणि ॥ ४ ॥
सव्वत्थ पुस्सऽस्सेणं, सोज्झ अभिइस्स चउउ उगुवीसं।
बावट्ठी छब्भागा, बत्तीसं चुण्णिया भागा। ५ ॥
उगुणत्तर पंचसया, उत्तरभद्दवय सत्त उगुवीसा।
रोहिणि अट्ठनवोत्तर-पुणव्वसंतम्मि सोज्झाणि ॥ ६ ॥
अट्ठनया उगुवीसा, विसट्ठिभागा य होंति चउवीसं।
छावट्ठी सत्तट्ठी, भागा पुस्सस्स सोहणगं ॥ ७ ।"

एतासां क्रमेण व्याख्या-त्रयस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वौ द्वाषष्टिभागावेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत् चूर्णिका भागा ३३।२।३४। एष सर्वेष्वपि पर्वसु पर्वाङ्कन एकेन पर्वणा निष्पादित इत्यत एवराशि: सूर्यनक्षत्रविषया ध्रुवराशि। कथमेतस्योत्पत्तिरिति चेदुच्यते-त्रैराशिकत्वात्। तथा चैर त्रैराशिकं यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना- १२४। ५। १। अत्रान्त्येन राशिना म-

जेट्ठाइगं च छक्कं, अजाऽभिवुड्ढी दु पूसाऽऽसा ॥ १ ॥
छक्कं च कत्तियाई, पिइ भग अज्जमदुगं च चित्ता य ।
वाउ विसाहा अणुरा-ह जेट्ठ आउं च वीसु दुगं ॥ २ ॥
सवण धणिट्ठा अजदे-व अभिवुड्ढिदु अस्स जमबहुला ।
रोहिणि सोमऽदिइदुगं, पुस्सो पिइभगज्जमा हत्थो ॥ ३ ॥
चित्ता य जिट्ठवज्जा, अभिई अंताणि अट्ठ रिक्खाणि । -
एए जुगपुव्वद्धे, विसेट्ठि पव्वे सरिक्खाणि ॥ ४ ॥

एतासा व्याख्या-प्रथमस्य पर्वणः समाप्तौ सूर्यनक्षत्रं सर्पः सर्पदेवतोपलक्षिता अश्लेषा १, द्वितीयस्य भगो भगदेवतोपलक्षिताः पूर्वफाल्गुन्यः २, ततः अर्यमद्विकमिति तृतीयस्य पर्वणोऽर्यमदेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्य. ३. चतुर्थस्याऽप्युत्तरफाल्गुन्यः ४, पञ्चमस्य हस्तः ५, षष्ठस्य चित्रा ६, सप्तमस्य विशाखा ७, अष्टमस्य मित्रो मित्रदेवतोपलक्षिता अनुराधा ८, ततो ज्येष्ठाऽऽदिकं षट् क्रमेण वक्तव्यम् । तद्यथा-नवमस्य ज्येष्ठा ९,दशमस्य मूलम् १०,एकादशस्य पूर्वाषाढा ११, द्वादशस्योत्तराऽऽषाढा १२,त्रयोदशस्य श्रवणः १३, चतुर्दशस्य धनिष्ठा १४, पञ्चदशस्याजोऽजादेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा १५, षोडशस्याऽभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा १६, सप्तदशस्योत्तरभद्रपदा १७, अष्टादशस्य पुष्यः पुष्यदेवतोपलक्षिता रेवती १८, एकोनविंशतितमस्याश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी १९, षट्कं च कृत्तिकाऽऽदिकमिति विंशतितमस्य कृत्तिकाः २०,एकविंशतितमस्य रोहिणी २१, द्वाविंशतितमस्य मृगशिरः २२, त्रयोविंशतितमस्याऽऽर्द्रा २३, चतुर्विंशतितमस्य पुनर्वसु २४, पञ्चविंशतितमस्य पुष्यः २५, षड्विंशतितमस्य पितरः पितृदेवतोपलक्षिता मघाः २६, सप्तविंशतितमस्य भगो भगदेवतोपलक्षिताः पूर्वफाल्गुन्य. २७, अष्टाविंशतितमस्यार्यमा अर्यमदेवा उत्तरफाल्गुन्यः २८, एकोनत्रिंशत्तमस्याप्युत्तरफाल्गुन्यः २९, त्रिंशत्तमस्य चित्रा ३०, एकत्रिंशत्तमस्य वायुर्वायुदेवतोपलक्षिता स्वातिः ३१, द्वात्रिंशत्तमस्य विशाखाः ३२,त्रयस्त्रिंशत्तमस्यानुराधा ३३, चतुस्त्रिंशत्तमस्य ज्येष्ठा ३४, पञ्चत्रिंशत्तमस्य पुनरापुरापुर्देवतोपलक्षिता पूर्वाषाढा ३५, षट्त्रिंशत्तमस्य विश्वग्देवा उत्तराषाढा ३६, सप्तत्रिंशत्तमस्याप्युत्तराषाढाः ३७, अष्टात्रिंशत्तमस्य श्रवण. ३८, एकोनचत्वारिंशत्तमस्य धनिष्ठा ३९, चत्वारिंशत्तमस्याऽजोऽजदेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा ४०, एकचत्वारिंशत्तमस्याभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवा उत्तरभद्रपदा ४१, द्विचत्वारिंशत्तमस्याप्युत्तरभद्रपदा ४२, त्रिचत्वारिंशत्तमस्याश्वोऽश्वदेवा अश्विनी ४३, चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य यमो यमदेवा भरणी ४४, पञ्चचत्वारिंशत्तमस्य बहुला कृत्तिका ४५, षट्चत्वारिंशत्तमस्य रोहिणी ४६, सप्तचत्वारिंशत्तमस्य सोमः सोमदेवोपलक्षितं मृगशिर. ४७, अदितिद्विकमिति अष्टचत्वारिंशत्तमस्यादितिरदितिदेवोपलक्षितं पुनर्वसुनक्षत्रम् ४८, एकोनपञ्चाशत्तमस्यापि पुनर्वसुनक्षत्रम् ४९, पञ्चाशत्तमस्य पुष्य. ५०, एकपञ्चाशत्तमस्याऽपि पितृदेवा मघा ५१, द्वापञ्चाशत्तमस्य भगो भगदेवतोपलक्षिता पूर्वफाल्गुन्यः ५२, त्रिपञ्चाशत्तमस्यार्यमा अर्यमदेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः ५३, चतुःपञ्चाशत्तमस्य हस्त ५४, अत ऊर्ध्वं चित्राऽऽदीनि अभिजित्पर्यन्तानि ज्येष्ठावर्जान्यष्टौ नक्षत्राणि क्रमेण वक्तव्यानि । तद्यथा-पञ्चपञ्चाशत्तमस्य चित्रा ५५, षट्पञ्चाशत्तमस्य स्वातिः ५६ सप्तपञ्चाशत्तमस्य विशाखा ५७, अष्टपञ्चाशत्तमस्य अनुराधा ५८, एकोनषष्टितमस्य मूल ५९, षष्टितमस्य पूर्वाषाढा ६०, एकषष्टितमस्योत्तराषाढाः ६१, द्वाषष्टितमस्याभिजिदिति ६२ । एतानि नक्षत्राणि युगस्य पूर्वार्द्धे द्वाषष्टिसंख्येषु पर्वसु यथाक्रममुक्तानि । एतं करणवशेन युगस्योत्तरार्द्धेऽपि द्वाषष्टिसंख्येषु पर्वसु ज्ञातव्यानि । किं पर्वं चरमदिवसे कियत्सु मुहूर्त्तेषु गतेषु समाप्तिमियतीत्येतद्विषयं यत्करणमभिहितं पूर्वाऽऽचार्यैस्तदभिधीयते-

" चउहिं अहियम्मि पव्वे, एक्के सेसम्मि होइ कलिओगो ।
बेसु य दावरजुम्मो, तिसु तेया चउसु कडजुम्मो ॥ १ ॥
कलिओगे ते णउई, पक्खेवो दावरम्मि बावट्ठी ।
तेऊए एक्कतीसा, कडजुम्मे नत्थि पक्खेवो ॥ २ ॥
सेसद्धे तीसगुणे, बावट्ठी भाइयम्मि जं लद्धं ।
जाणे तइसु मुहुत्ते-सु अहोरत्तस्स तं पव्वं ॥ ३ ॥ "

एतासां क्रमेण व्याख्या-पर्वाणि पर्वराशौ चतुर्भिर्भक्ते सति यद्येक. शेषो भवति तदा स राशिः कल्योजो भण्यते । द्वयोः शेषयोर्द्वापरयुग्म. । त्रिषु शेषेषु त्रेतोजश्चतुर्षु शेषेषु कृतयुग्म' । ( कलिओगेत्यादि ) तत्र कल्योजे रूपराशौ त्रिनवति प्रक्षेपः प्रक्षेपणीयो राशिः, द्वापरयुग्मे द्वाषष्टि' , त्रेतौजसि एकत्रिंशत् , कृतयुग्मे नास्ति प्रक्षेप. । एवं प्रक्षिप्तप्रक्षेपाणा पर्वराशीना सता चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन भागो न्हियते, हृते च भागे यच्छेषमवतिष्ठते तस्यायं विधिः-( सेसद्धे इत्यादि ) शेषश्चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागे हृते अवशिष्टस्यार्द्धं क्रियते, कृत्वा च त्रिंशता गुण्यते, गुणयित्वा च द्वाषष्ट्या भज्यते, भक्ते सति यल्लब्धं तान् मुहूर्त्तान् जानीहि, लब्धान् शेषमुहूर्त्तभागान् , तत एवं स्वशिष्येभ्य. प्ररूपयन् तत् विवक्षितं पर्व चरमे अहोरात्रे सूर्योदयात्तावत्सु मुहूर्त्तेषु तावत्सु च मुहूर्त्तभागेषु अतिक्रान्तेषु परिसमाप्तमिति । एष करणगाथाऽक्षरार्थः । भावना त्वियम्-प्रथमं पर्व चरमे अहोरात्रे कति मुहूर्त्तानतिक्रम्य समाप्तमिति जिज्ञासायामेको ध्रियते । अयं किल कल्योजोराशिरित्यत्र त्रिनवतिः प्रक्षिप्यते, जाता चतुर्नवति , अस्य चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो हर्त्तव्यः । स च भागो न लभ्यते, राशे स्तोकत्वात् , ततो यथासंभवं करणं लक्षणं कर्त्तव्यं, तत्र चतुर्नवतेरर्द्धं क्रियते, जाता' सप्तचत्वारिंशत् ४७ , सा त्रिंशता गुण्यते, जातानि चतुर्दश शतानि दशोत्तराणि १४१०, तेषां द्वाषष्ट्या भागो न्हियते, लब्धा द्वाविंशतिर्मुहूर्त्ताः २२, शेषास्तिष्ठन्ति षट्चत्वारिंशत् ४६, ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरर्द्धेनापवर्तना, लब्धास्त्रयोविंशतिरेकत्रिंशद्भागा ३१, आगतं प्रथमं पर्व चरमे अहोरात्रे द्वाविंशतिमुहूर्त्तान् , एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोविंशतिमेकत्रिंशद्भागानतिक्रम्य समाप्तं गतमिति द्वितीयपर्वजिज्ञासायां द्विको ध्रियते,स किल द्वापरयुग्मराशिरिति द्वाषष्टि. प्रक्षिप्यते, जाता चतु षष्टि । सा च चतुर्विंशत्यधिकस्य शतस्य भाग न प्रयच्छति, ततस्तस्यार्द्धं क्रियते,जाता द्वात्रिंशत् , सा त्रिंशता गुण्यते,जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ९६०,तेषां द्वाषष्ट्या भागो न्हियते, लब्धा' पञ्चदश मुहूर्त्ता. १५, पञ्चा-

दवतिष्ठते त्रिंशत् ३०, ततश्छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, लब्धाः पञ्चदश एकोनत्रिंशद्भागाः १५३१, आगतं द्वितीयं पर्व, चरमे अहोरात्रे पञ्चदश मुहूर्त्तानेकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चदश एकत्रिंशद्भागानतिक्रम्य द्वितीयं पर्व समाप्तमिति। तृतीयपर्वजिज्ञासायां त्रिको ध्रियते, स किल त्रेतौजोराशिरिति तत्रैकत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते, जाता चतुस्त्रिंशत् ३४, सा चतुर्विंशत्यधिकस्य शतस्य भाग न प्रयच्छति, ततस्तस्यार्द्धं क्रियते, जाता सप्तदश, ते त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि पञ्चशतानि दशोत्तराणि ५१०, तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धा अष्टौ ८, शेषास्तिष्ठन्ति चतुर्दश १४, ततश्छेद्यच्छेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, लब्धाः सप्त एकत्रिंशद्भागाः $\frac{७}{३१}$, आगतं तृतीयं पर्व, चरमे अहोरात्रे अष्टौ मुहूर्त्तानेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्त एकत्रिंशद्भागानतिक्रम्य समाप्तिं गतमिति । चतुर्थपर्वजिज्ञासायां चतुष्को ध्रियते, स किल कृतयुग्मराशिरिति न किमपि तत्र प्रक्षिप्यते, चत्वारश्चतुर्विंशत्यधिकस्य शतस्य भागं न प्रयच्छन्ति, ततस्ते अर्द्धं क्रियते, जातौ द्वौ, तौ त्रिंशता गुण्येते, जाता षष्टिः ६०, तस्या द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, भागश्च न लभ्यते इति छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्त्तना, जातास्त्रिंशदेकत्रिंशद्भागाः $\frac{३०}{३१}$, आगतं चतुर्थं पर्व, चरमे अहोरात्रे मुहूर्त्तस्य त्रिंशतमेकत्रिंशद्भागानतिक्रम्य समाप्तिं गच्छतीति। एवं शेषेष्वपि पर्वसु भावनीयम्। चतुर्विंशत्यधिकशततमपर्वजिज्ञासायां चतुर्विंशत्यधिकं शतं ध्रियते, तस्य किल चतुर्भिर्भागे हृते न किमपि शेषमवतिष्ठन्ते इति कृतयुग्मोऽयं राशिः, ततोऽत्र न किमपि प्रक्षिप्यते, ततः चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, जातो राशिर्निर्लेपः, आगतं परिपूर्णं चरममहोरात्रं भुक्त्वा चतुर्विंशतिशततमं पर्व समाप्तिं गतमिति। तदेवं यथा पूर्वाऽऽचार्यैरिदमेव पर्वसूत्रमवलम्ब्य पर्वविषयं व्याख्यानं कृतं, तथा मया विनेयजनानुग्रहाय स्वमत्यनुसारेणोपदर्शितम्। सू०प्र० १० पाहु० २० पाहु०पाहु० । चं० प्र० । जं० । ज्यो० । अथ पर्व किमुच्यते ?-अत आह-मासार्द्धे मासयोर्मध्ये पुनः पर्व भवति । तदेवाऽऽह-

पक्खस्स अट्ठमी खलु, मासस्स य पक्खियं मुणेयव्वं ।
अण्णं पि होइ पव्वं, उवरागो चंदसूराणं ॥१५३॥

व्य० ६ उ० । ( अस्याः व्याख्या 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे २६ पृष्ठे गता) द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे क्वास्ति ॥ १५ ॥ "मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि अ पव्वाइं पक्खम्मि" इति गाथोक्ता चतुष्पर्वी सर्वश्राद्धानां, किं वा लेपश्राद्धाधिकारवर्णितेति ? ॥१६॥ इतिप्रश्ने,उत्तरम्-द्वितीयाऽऽदिपञ्चपर्व्या उपादेयत्वं संविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णं तथा संभाव्यते,अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र दृष्टानि न स्मर्यन्ते ॥ १५ ॥ तथा- 'मासम्मि पव्वछक्कं, तिन्नि य पव्वाइं पक्खम्मि ।" इति गाथोक्तैव चतुष्पर्वी सर्वश्राद्धानां संभाव्यते, न तु लेपश्राद्धाधिकारोक्तेति ॥ १६ ॥ ही० १ प्रका० ।

पव्वइंद-पर्वतेन्द्र-पुं० । पर्वतानामिन्द्रः पर्वतेन्द्रः । मेरौ, सू० प्र० ५ पाहु० ।

पव्वइय-प्रव्रजित-त्रि० । पापात् प्रव्रजितः । भागवतीं दीक्षां प्रतिपन्ने, विशे० । त्यक्तराज्याऽऽदिगृहपाशबन्धने, अनु० । सूत्र० । आरम्भपरिग्रहात् ( दश० २ अ० ) पापान्निष्क्रान्ते, द्वा० २७ द्वा० । दीक्षिते, पञ्चा० २ विव० । प्रतिपन्ने, कल्प० १ अधि० १ क्षण । प्रगते प्राप्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रव्रजनं प्रव्रजितम् । प्रव्रज्यायाम् , व्य० १ उ० । सन्धिवर्धने, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पव्वइसेल्ल-देशी-वालमयकण्टके, दे० ना० ६ वर्ग ३१ गाथा ।

पव्वई-पार्वती-स्त्री० । शिवभार्य्यायाम्, "दक्खायणी भवाणी, सेलसुआ पव्वई उमा गोरी ।" पाइ० ना० ३ गाथा ।

पव्वग-पर्वक-पुं० । पर्वोपेतेषु इक्ष्वादिषु, आ० चू० १ अ० ।

से किं तं पव्वगा ?। पव्वगा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा-
"इक्खूया इक्खुवडए, वीरुणा, तह इक्कडे य मासे य ।
सुंठे सरे य वेत्ते, तिमिरे सतपोरगणले य ॥ १ ॥
वंसे वेलू कणए, कंकावंसे य ववंसे य ।
उदए कुडए विमए, कंडावेलू य कल्लाणे ॥ २ ॥
जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं पव्वगा । प्रज्ञा० १ पद ।

"कालीपव्वगसंकासे ।" काली जङ्घा तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति । ततः कालीपर्वाणि जानुकूर्पराऽऽदीनि येषु तानि । संधिमध्ये, उत्त० २ अ० । जी० । प्रश्न० । भ० । आचा० । दर्भाऽऽकृतितृणे, नि० चू० १ उ० ।

पव्वज्जएगपक्खिय-प्रव्रज्यैकपाक्षिक-पुं०। गुरुसहाध्यायाऽऽदिषु, बृ० ।

कुत्र पुनरिति चेत् ?, उच्यते-

पव्वज्जएगपक्खिय, उवसंपयय्यंविहा सए ठाणे ।
छत्तीसातिकंते, उवसंपययं तुवादाय ॥ ५३४ ॥

यः प्रव्रज्यैकपाक्षिकस्तस्य पार्श्वे उपसंपदं तान् कुलस्थविरा ग्राहयेयुः,सा च उपसपत् एवंविधा वक्ष्यमाणनीत्या भवति, तस्यां चोपसंपदि षट्त्रिंशद्वर्षातिक्रमे प्राप्तायां ( सए ठाणि त्ति ) विभक्तिव्यत्ययात् स्वकमात्मीयं स्थानमुपादाय गृहीत्वा तैरुपसंपत्तव्यम् ।

इदमेव भावयति—

गुरुसज्झिलओ सज्झं, तिउ पिउ गुरुगुरुस्स वा भत्तू ।
अहवा कुलिव्वतो उ, पव्वज्जाएगपक्खी ऊ ॥ ५३५ ॥

गुरुसज्झिलको गुरूणा सहाध्यायी पितृव्यस्थानीयः, सज्झंति क आत्मनः सब्रह्मचारी भ्रातृस्थानीयो, गुरुगुरू पितामहस्थानीयो, गुरोः संबन्धी न प्राप्तशिष्य आत्मनो भ्रातृव्यस्थानीयः । एते प्रव्रज्यैकपक्षिका उच्यन्ते । बृ० ४ उ० ।

पव्वज्जा-प्रव्रज्या-स्त्री० । प्रव्रजनं प्रव्रज्या । महाव्रतप्रतिपत्तौ, पञ्चा० १६ विव० । ( सर्वा वक्तव्यताऽनुपदम् 'पवज्जा' शब्दे गता )

पव्वज्जो-देशी-नखे, शरे, वाले, मृगे च । दे० ना० ६ वर्ग ६६ गाथा ।

पव्वणी-पर्वणी-स्त्री० । कार्तिक्यादिषु, भ० ६ श०३३ उ० ।

पव्वति ( ण् )-पर्वतिन्-पुं० । स्वनाम्ना गोत्रप्रवर्तके काश्यपमूलगोत्रीये पुरुषे, तदपत्येषु च । स्था० ७ ठा० ।

पव्वतिहि-पर्वतिथि-पुं०। पर्वदिने, अष्टमीचतुर्दश्यादौ, ध० २ अधि०।

पव्वती-पार्वती-स्त्री०। शिवभार्यायां, हिमालयपुत्र्याम्, पाइ० ना० ३ गाथा।

पव्वतेय-पार्वतेय-पुं०। वैताढ्यपर्वते, पर्वतापत्ये, विद्याधरकार्ये, आ० चू० १ अ०।

पव्वबीय-पर्वबीज-पुं०। पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः। इक्ष्वादिषु, आव० ४ अ०। औ०। आ० म०।

पव्वय-पर्वत-पुं०। क्षुद्रगिरौ, जं० १ वक्ष०। गिरौ, स्था० ५ ठा० १ उ०। क्रीडापर्व्वते, उज्जयन्तवैभाराऽऽदौ, भ० ७ श० ६ उ०। अनभिभवनीयस्थिराऽऽश्रयसाधर्म्यात् (मनुष्येषु) कुलपर्वताऽऽदयः शब्दाः प्रोच्यन्ते। प्रज्ञा० १ पद।

पव्वयकडय-पर्वतकटक-न०। भृगुस्थाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। स्था०।

पव्वयग-पर्वतक-पुं०। प्रथमवासुदेवस्य पूर्वाऽऽचार्ये, ति०। निर्वृतिपितरि मथुराराजे, पञ्चा० १४ विव०। आ० म०। नन्दराजयार्थे चाणक्येन मित्रीकृते हिमवत्कूटराजे, आ० म० १ अ०। तं०। अग्निकसहजाते इन्द्रपुरनगरराजदत्तचेटे, आव० ४ अ०। आ० म०।

पव्वयगिह-पर्वतगृह-न०। पर्वतोपरि गृहे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ०।

पव्वयगुरुय-पर्वतगुरुक-न०। पर्वतवद् गुरुणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

पव्वयपाद-पर्वतपाद-पुं०। पर्वतैकदेशे, आ० म० १ अ०।

पव्वयराय-पर्वतराज-पुं०। पर्वतानां राजा पर्वतराजः। मेरौ, सू० प्र० ५ पाहु०। चं० प्र०।

पव्वयविदुग्ग-पर्वतविदुर्ग-पुं०। नानारूपपर्वते, व्य० ६ उ०। आचा०।

पव्वराहु-पर्वराहु-पुं०। राहुभेदे, यः पर्व्वणि पौर्णमास्याममावास्याया च यथाक्रमं चन्द्रस्य सूर्यस्य वा उपराग करोति। सू० प्र० १६ पाहु०।

पव्वविदुग्ग-पर्वविदुर्ग-पुं०। मेखलाऽऽदिभिर्दुर्ग्रा पर्वतैर्वा विषमे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

पव्वहिय-प्रव्यथित-त्रि०। पराजिते वशीकृते, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। प्रकर्षेण व्यथिते, सर्वस्याऽऽरम्भस्य नकाश्रयत्वादिति प्रकर्षार्थः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। गृहस्थाऽऽदिभिः परस्परत. कर्मविपाकतो वा व्यथिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

पव्वाइय-प्रव्राजित-त्रि०। वेषदानेन गृहान्नि:काशिते, भावे क्तप्रत्यय.। प्रव्राजने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०।

पव्वाय-म्लै-धा०। हर्षक्षये, "म्लेर्वापव्वायौ" ॥ ८। ४। १८॥ इति म्लायतेः पव्वायाऽऽदेश। पव्वायइ। म्लायति। प्रा० ४ पाद। "पव्वायं व सुआयं, सुसिअं वायम्मि गिलाणत्थे।" पाइ० ना० ८३ गाथा।

पव्वाल-छद्-धा०। अपवरणे, "छदेर्णेर्णुम नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वालाः" ॥ ८। ४। २१॥ इति छदधातोः पव्वालाऽऽदेशः। 'पव्वालइ।' छदयति। प्रा० ४ पाद।

प्लावि-प्लु-णिच्। धा०। तारणे, "प्लावे रोम्वाल-पव्वालौ" ॥ ८। ४। ४१॥ इति प्लवतेर्ण्यन्तस्य पव्वालाऽऽदेश.। पव्वालइ। प्लावयति। प्रा० ४ पाद।

पव्वालिअ-प्लावित-न०। "पव्वालिअं आउंवालिअं, च सलिलुच्छयं जाए।" पाइ० ना० ७८ गाथा।

पव्वावणंतेवासि (ण्)-प्रव्राजनान्तेवासिन्-पुं०। प्रव्राजनया दीक्षयाऽन्तेवासी प्रव्राजनान्तेवासी। दीक्षिते, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

पव्वावणा-प्रव्राजना-स्त्री०। दीक्षादापने, ध० २ अधि०। ('पव्वज्जा' शब्दे ऽनुपदमेव सर्वा वक्तव्यतोक्ता)

पव्वावणायरिय-प्रव्राजनाचार्य-पुं०। प्रव्राजनयाऽऽचार्यतां गते, स्था० ४ ठा० ३ उ०। प्रव्रज्याप्रयच्छके गुरौ, प० व० १ द्वार।

पव्वावित्तए-प्रव्राजयितुम्-अव्य०। दीक्षापयितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ०।

पव्वावेउं-प्रव्राजयितुम्-अव्य०। पापाद् व्रजितुमित्यर्थे, प० चू० १ कल्प०। पं० भा०।

पव्वावेऊण-प्रव्राज्य-अव्य०। प्रव्रज्या ग्राहयित्वेत्यर्थे, "जो-आयरेण पढमं, पव्वावेऊण नाणुपालेइ।" प० व० २ द्वार।

पव्विद्धा-देशी-प्रेरिते, दे० ना० ६ वर्ग ११ गाथा।

पव्वोणि-देशी-"तरुणाइयस्स जोग्गाहारं च नेइ पव्वोणिं" संमुखे, व्य० ६ उ०।

पश्चादो-पश्चात्-अव्य०। दिक्कालकृतपरत्वे, "भीमसेणस्स पश्चादो हिंडीअदि। हिडिंबाए घडुक्कयशोकेण उवशमादि।" पश्चात् ङस. अन्त्यतलुक्। "ङसे' त्तो दो०" ॥ ८। ३। ८॥ इति ङसिस्थाने दो। प्रा० ढुं० ३ पाद।

पसइ-प्रसृति-स्त्री०। असति द्वयेन निष्पन्ने नावाकारतान्यवस्थापितप्राञ्जलकरतले, अनु०। "दो असईओ पसई दो पसईओ य सेइया होइ।" ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। औ०। नं०।

पसओ-देशी-मृगे विशेषे, दे० ६ वर्ग ४ गाथा।

पसंग-प्रसङ्ग-पुं०। प्रसजनं प्रसङ्ग। अभिष्वङ्गे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। आ० म०। सातत्ये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। अभीक्ष्णयोगे। आ० चू० १ अ०। अभ्यासे, आ० म० १ अ०। नं०। उत्तरोत्तरदु खसम्भवे, नि० चू० ४ उ०। अत्रशस्याऽनिष्टप्राप्तौ, नि० चू० १ उ०। आसेवायाम्, विस्तारे च। पञ्चा० १८ विव०। अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

पसंजण-प्रसजन-न०। प्रसङ्गे, नि० चू० १ उ०।

पसंडि-देशी-कनके, दे० ना० ६ वर्ग १० गाथा।

पसंत-प्रशान्त-त्रि०। प्रकर्षेण सर्वाऽऽत्मना शान्त' प्रशान्त'। आ० म० १ अ०। शम गते, स० ३४ सम०। रागाऽऽदिरहिते, दश० १० अ०। कषायनोकषायोद्रेकरहिते, अष्ट० ३० अष्ट०। प्रश्न०। क्रोधरहिते, आम० १ अ०। बहिर्वृ-

स्या शमं गते,कल्प० १ अधि० ६ क्षण। औ० । विफलीकृतकषायोदये, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० ।

पसंतगंभीरासय-प्रशान्तगम्भीराऽऽशय-पुं० । प्रशान्ताः क्षान्तियोगात् गम्भीरोऽगाधतया आशयश्चित्तपरिणामो येषां ते प्रशान्तगम्भीराऽऽशयाः । क्षमाप्रधानगम्भीरमतिकेषु, पं० सू० १ सूत्र ।

पसंतचित्तमाणस-प्रशान्तचित्रमानस-त्रि० । प्रशान्तानि शमं गतानि चित्राणि रागद्वेषाऽऽद्यनेकविधविकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्त करणानि यस्य स तथा । स० ३४ सम० ।

पसंतडिंबडमर-प्रशान्तडिम्बडमर-त्रि० । अनुदितडिम्बडमरे, यत्र राष्ट्रे विघ्ना डमराणि राजकुमाराऽऽदिकृतानि दूरा वा प्रशान्ता । रा० ।

पसंतमण प्रशान्तमनस्-त्रि० । अरक्तद्विष्टान्तःकरणे, नं० ।

पसंतरस-प्रशान्तरस-पुं० । काव्यरसभेदे, अनु० ।

अथ हेतुलक्षणद्वारेणैव प्रशान्तरसमुदाहरति-

निद्दोसमणसमाहा-णसंभवो जो पसंतभावेणं ।
अविकारलक्खणो सो, रसो पसंतो त्ति णायव्वो ॥१८॥

पसंतो रसो जहा-

सब्भावनिव्विगारं, उवसंतपसंतसोम्मदिट्ठीअं ।
ही जह मुणिणो सोहइ, मुहकमलं पीवरासिरीअं ॥१६॥

निर्दोषं हिंसाऽऽदिदोषरहितं यन्मनस्तस्य यत्समाधानं-विषयाऽऽद्यौत्सुक्यनिवृत्तिलक्षणं स्वास्थ्यं तस्मात्संभवो यस्य स तथा, प्रशान्तभावेन-क्रोधाऽऽदिपरित्यागेन यो भवतीति गम्यते, स प्रशान्तो रसो ज्ञातव्य इति घटना, स चाविकारलक्षणो-निर्विकारताचिह्न इत्यर्थः ॥ १८ ॥ "सब्भाव" इत्याद्युदाहरणगाथा-प्रशान्तवदनं कञ्चित्साधुमवलोक्य कश्चित्समीपस्थित कञ्चिदाश्रित्य प्राह-हीति प्रशान्तभावातिशयद्योतकः, पश्य भो ! यथा मुनेर्मुखकमलं शोभते,कथंभूतं ?,सद्भावतो न मातृस्थानतो निर्विकारं विभूषाभ्रूक्षेपाऽऽदिविकाररहितम् , उपशान्ता रूपाऽऽलोकनाऽऽद्यौत्सुक्यत्यागतः प्रशान्ता क्रोधाऽऽदिदोषपरिहारतोऽत एव सौम्यदृष्टिर्यत्र तत्तथा, अस्मादेव च पीवरश्रीकम्-उपचितोपशमलक्ष्मीकमिति ॥ १६ ॥ अनु० ।

पसंतवाहिया-प्रशान्तवाहिता-स्त्री० । प्रशान्तं वोढुं शीलं यस्य तत्प्रशान्तवाहि तद्भावस्तत्ता । षो० । प्रशमैकवृत्तिसन्ताने, द्वा० । प्रशान्तवाहितासंज्ञं सांख्यानां, विसभागपरिक्षयो बौद्धानां, शिववर्त्म शैवानां, ध्रुवाध्वा महाव्रतिकानाम् , असङ्गानुष्ठानं जैनानाम् । द्वा० २४ द्वार ।

पसंधण प्रसन्धन-न० । सातत्येन प्रवर्तने, पिं० ।

पसंस-प्रशस्य-पुं० । प्रशस्यते सर्वैरिन्द्रियैरिति प्रशस्यः। निo चू० १ उ० ।

पसंसंत-प्रशंसत्-त्रि० । वर्णयति, समर्थयति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । स्तुवति, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । श्लाघमाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । आव० ।

पसंसण-प्रशंसन-न० । श्लाघायाम् , जी० २३ अधि० ।

पसंसा-प्रशंसा-स्त्री० । प्रशंसनं प्रशंसा । स्तुतौ, आव० ६ अ० । आ० । नि० चू० । श्लाघायाम्, प्रव० १४ द्वार । उत्त० । आव० । ध० । साधुकारे, आ० म० १ अ० । आव० ।

पार्श्वस्थाऽऽदीनां वदनप्रशंसा-

जे भिक्खू पासत्थं वंदइ,वंदंतं वा साइज्जइ ।

एवं कुशीलमवसन्नं संसक्तं नित्यकाथिकं पश्यतिकं मनाकं संप्रसारकं वा वन्दते, प्रशंसति वा । नि० चू० १३ उ० । "पसंस त्ति वा सलाजणए त्ति वा सलाघण ति वा एगट्ठाणि ।" आ० चू० १ उ० ।

पासत्थाऽऽदियाण सव्वेसिं इमं सामण्णं भवति-

एएसामण्णतरं, जे भिक्खू पसंसए अहव वंदे ।
सो आणा अणवत्था, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १०३ ॥

पच्छित्त जएति, संजमविराहणं च पावति ।

इमाणि पससणकारणाणि भवंति-

महाविणीयविती, दाणरुई चेतिताण अतिसत्तो ।
लोगपगतो पवक्को, पियवाईऽपुव्वभासी य ॥ १०४ ॥

अणुज्जमंतस्स एते सव्वे अगुणा दट्ठव्वा, तम्हा मेहादिएहिं पससवयणेहिं ण पसंसियव्वा, अण्णेसु वि सव्वेसु पासत्थाऽऽदियाण वदण पडिसिद्धं ।

जतो भण्णति-

ठियकप्पे पडिसेहो, सुहसीलज्जाण चेव किंतिकम्मं ।
णवगस्स या पसंसा,पडिसिद्ध पकप्पमज्झयणे ॥१०५॥

इमो ठियकप्पो-" आचेलक्कुद्देसिय-सेज्जातररायपिंडकितिकम्मे । वयजेट्ठपडिक्कमणे, मास पज्जोसवणकप्पे ॥ १ ॥ " एत्थ पडिसिद्ध वंदणयं, पससा य सुहसीलाण पासत्थादीअज्जाण य कितिकम्मं पडिसिद्धं, कितिकम्मं वंदणयं ( णवगस्स त्ति ) पासत्थादी पंच, काहिकादि चउरो, एते सव्वे णव पगप्पा, इमं चेव णिसीहज्झयणं,एत्थ णवगस्स पसंसा पडिसिद्धा ।

इदाणिं सामण्णेणं सीयंतेसु वंदणपडिसेहो कज्जति-

मूलगुण उत्तरगुणे, संथरमाणा वि जे पमाणंति ।
ते होंति वंदणिज्जा, तट्ठाणारोवणा चउरो ॥ १०६ ॥

जो संथरंतो मूलुत्तरगुणेसु सीदति, सो अवंदणिज्जो, जं च पासत्थादिठाण सेवति, तेहिं वा सह संसग्गं करेति, अतो तट्ठाणासेवणेण आरोवणा, से चउलहु अहाछंदवज्जेसु, अहाछंदेण पुण चउगुरुं ।

गाहा-

बितियपदमणप्पज्झे, पसंसते अविकोविते च अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, भयमातव्वादिगच्छट्ठा ॥१०७॥

अणवज्झो खित्ताऽऽदिचित्तो पराधीणत्तणतो पसंसे, अविकोवितो सेहो, सो वा दोसं अजाणंतो पसंसे सत्थचित्तो वि । अथवा-जाणंतो वि दोसे भया पसंसे, राया सातव्वा देंति, कोइ परवादी इमेरिसं पक्खे करेज्ज-पासत्थादयो ण पसंसणिज्जा इति प्रतिज्ञा , अस्य प्रतिघातत्वं पसंसियव्वं, दोसो ण, गच्छस्स वा उवग्गहकारी सो पासत्थादिपुरिसो, अतो गच्छट्ठा पसंसेति ।

इमो वंदणस्स अववानो वितियगाहा-

वितियपदमणप्पज्झे, वंदे अविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, भयसातव्वादिगच्छट्ठा ॥१०८॥

पूर्ववत् ।

अहवा-उस्सग्गो भणति, अववादेण जदा पासत्थादियाण शरीरणिरावाहगवेसण करेति, तदा वंदणविरहियं करेति । जतो भणति-

गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागयं आउवायकुसलेणं ।
एवं गणाधिपतिणा, सुहसीलगवेसणा कुज्जा ॥१०९॥

ओमरायदुट्ठादिसु गच्छस्स वा उवग्गहं करेस्सनि त्ति गच्छं वा अणागयं ति तम्मि ओमादिगे कारणे अणुप्पण्णवि-आउ त्ति, जस्स पासातो असणवत्थादिसंजमवुड्ढी वा गच्छनिरावाहओ वा आयो, उवायकुमलत्तं पुण गणाधिपतिणो तहा सुहसीलाणं गवेसणं करेति. जहा ण वंदति, ते गवेसति य, ण य तेसिं अप्पत्तियं भवति ।

सा य तेसिं गवेसणा इमेहिं ठाणेहिं कायव्वा-

वाहिं आगमणपहे, उज्जाणे देउले समोसरणे ।
रत्थउवस्सगपत्ता, अंतो जयणा इमा होंति ॥ ११० ॥

जत्थ ते गामणगरादिसु अत्थंति, तेसिं वाहिं ठितो जदा ते पस्सति सेज्जातरादि वा, तदा णिए वाहादि गवेसति । जया वा ते आगच्छति भिक्खायरियादियम्मि वा पहिदिट्ठाणं गवेसणं करेति, एवं उज्जाणादिट्ठाणं चेतियवदणनिमित्तमागतो वा देवउले गवेसति, समोसरणे वा दिट्ठा, रत्थाए वा भिक्खादि अडंता अभिमुहा संभिज्ज गवेसनि, कदाचित्ते पासत्थाऽऽदयो वाहिं दिट्ठा भणेज्जा,अम्हं पडिस्सयं ण कदाइ एह; ताहे तदाणुवत्ती,एतेसिं उवस्सयं पि गम्मंति, तत्थ उवस्सयस्स वहिया ठितो सव्वं णिए वाहादि गवेसति, इमा जयणा गवेसियव्वे भवति, अहवा-जयणा इमा होति पुरिसविसेसवंदणे ।

सो य पुरिसविसेसो इमो-

मुक्कधुरा संपागड-ऽकिच्चे चरणकरणपरिहाणे ।
लिंगावसेसमेत्ते, जं कीरति तारिसं वोच्छं ॥ १११ ॥

संजमधुरा मुक्का जेण सो मुक्कधुरो,समत्थजणस्स पागडाणि अकिच्चाणि करेति जो सो संपागडकिच्चो । अहवा-संजमकिच्चाणि संपागडादि करेति जो सो संपागडकिच्चो. संपागडसेवी वा मूलगुणउत्तरगुणे सेवनीत्यर्थः । सो अकिच्चे पडिसेवणातो चेव चरणकरणपब्भट्ठो-चरणकरणपरिहीणत्तणो चेव दव्वलिंगावसेसो दव्वलिंगं से अपरिवत्तं लिंगं सेसं सव्वं परिवत्तं, मात्राशब्दो लक्षणवाची, पव्वज्जालक्खणं द्रव्यलिङ्गमात्रमित्यर्थः । ता तारिसे दव्वलिंगमत्ते जारिसं वंदणं कीरति तारिसं सुणसु ।

गाहा—

वायाएँ णमोकारो, हत्थेण य होइ सीसनमणं च ।
संपुच्छणऽत्थणं छो-भवंदणं वंदणं वावि ॥ ११२ ॥

वाहिं आगमणपहादिएसु ठाणेसु दिट्ठस्स पासत्थादियस्स वायाए वंदण कायव्व, वंदामो त्ति भणति । विसिट्ठतरे उग्गसभावे वायाए हत्थेण च अंजलिं करेति अतो वि विसिट्ठतरउग्गतरसभावस्स वा दो वि एते करेंति, ततियं च सिरप्पणाम करेति, ततो विसिट्ठतरे तिष्ठि वि काउं पुरट्ठितो भत्तिं पिव दरिसंतो सरीरे वट्टमाणीं पुच्छति, ततो विसिट्ठतरस्स पुच्छित्ता खणमेत्तं पज्जुवासंतो अत्थति । अथवा-पुरिसविसेसं जाणिऊण उच्छोभवंदणं देति-" इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए तिविहेण एयं उच्छोभवंदणयं ।" अहवा-पुरिसविसेसं णाउ पुण्णं वारसावत्त वंदणं देति ।

ते य वंदणविसेसकारणा इमे-

परियायपरिसपुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं णच्चा ।
कारणजाते जाते, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥ ११३ ॥

बंभचेरमभग्ग वि रोसितो दीहो परियाओ सेसुत्तरगुणेहिं सीदेति, परिसा परिवारो. सो संजमविणीतो मूलुत्तरगुणेसु उज्जुत्तो, पुरिसो रायादि दिक्खितो वहुसंमतो वा पवयणुब्भावगो खेत्तं पासत्थादिभावियं, तदणुगएहिं तस्स घसियव्व, ओमकाले जो पासत्थो स गच्छवक्खावण करेति, तस्स जहारिहो सक्कारो कायव्वो, आगमं से सुत्तं अत्थि, अत्थं वा. से पण्णवेति,चारित्रगुणं प्रज्ञापयतीत्यर्थः । कारणा कुलादिया पढमजातशद्दो प्रकारवाची, वितिओ जातसद्दो उप्पण्णवाची, जस्स पुरिस्स जं वदणं अरिहं तं कायव्वं । चोदगाह-जोग्गगहणं णिरत्थयं, पुणरुत्तं वा । आचार्य्य आह-ण णिरत्थयं । कहं ?, भणति-अण्णं पि जं करणिज्जं अब्भुट्ठाणासणविस्सामणभत्तवत्थादिपदाणं तं पि सव्वं कायव्वं, एयं जोग्गग्गहणं गहितं ।

गाहा-

एयाइँ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे ।
न भवइ पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादिया दोसा ॥११४॥

एयाइं ति वायाए णमोकारमादियाइं ति परियायमादियाए पुरिसाणं अरिहदेसिए मग्गे ठियाणं जहारिहं वंदणाऽऽदिउवचारं अकरेंताणं णो पवयणे भत्ती कया भवति. वंदणाऽऽदिउवयारं अकरेंतस्स आणाऽऽदिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ॥ नि० चू० १३ उ० ।

पसंसावयण-प्रशंसावचन-न० । श्लाघावचने, यथा रूपवती स्त्री । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

पसंसिय-प्रशंसित-त्रि० । श्लाघिते, उत्त० १४ अ० । संस्तुते श्लाघिते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । तीर्थकराऽऽदिभि श्लाघिते, उत्त० १४ अ० । आचा० ।

पसज्जण-प्रसज्जन-न० । प्रसङ्गे, नि० चू० १ उ० ।

पसज्जणा-प्रसज्जना-स्त्री० । भोजिकाघाटिकाऽऽदिप्रसङ्गपरम्परायाम् , वृ० १ उ० ३ प्रक० । प्रायश्चित्तवृद्धौ. वृ० १ उ० २ प्रक० ।

पसज्झ-प्रसह्य-अव्य० । प्र-सह-ल्यप् । हठादित्यर्थे, " सहं वयमाणस्स पसज्झ दारुणं ।" प्रसह्य प्रकटमेव वाचं ब्रुवत. सतोऽर्थो मोक्षस्तत्कारणभूतो वा संयम स वहु परिहीयते ध्वंसमुपयाति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पसढ-प्रशठ-त्रि० । प्रकर्षेण शठे, दश० ५ अ० १ उ० । सूत्र० ।

पसढ-प्रसह्य-त्रि० । " विक्कीयमाणं पसढं रएण परिफासियं । " हठादित्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ० ।

पसढिल-प्रशिथिल-त्रि० । प्रश्लथे, शिथिलबन्धने, औ० । अदृढे, ओघ० । ध० । "पसिढिलमघणं अरिगाराय च ।" ओघ० ।

पसण्ण-प्रसन्न-त्रि० । स्वच्छे, औ० । कालुष्यरहिते, अष्ट० । विकाररहिते, उत्त० १८ अ० । " पसन्नं ते तहा मणो । " उत्त० १८ अ० । सूत्र० । द्राक्षाऽऽदिद्रव्यजन्यायां मनःप्रसत्तिहेतौ सुरायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ० । नि० । "मज्जं च सीधुं च पसन्नं च आसाएमाणी विहरइ । " (स्त्री०) उत्त० ५ अ० । जी० ।

पसण्णचन्द-प्रसन्नचन्द्र-पुं० । जम्बूद्वीपेऽपरविदेहे प्रसिद्धनगरराजे, यच्छ्रासितनगरजो धनः सार्थवाहः सार्थेन धर्मघोषमुनीन् नीत्वा मार्गे वृष्टिपाते निरवद्याऽऽहाराऽलाभतः खिद्यतः घृतं प्रतिलाभ्य तीर्थकृत्त्वं समुपार्जयत् । आ० क० १ अ० । यस्य प्रसन्नचन्द्रस्य सुत. वज्रजङ्घवजीवाविभपुत्रसुविधिजन्मसहजातो महीधरो नाम जातः । आ० क० १ अ० । वीरान्तिके प्रव्रजिते राजर्षिभेदे, आ० क० ।

तच्चरित्रमेवम्-

" क्षितिप्रतिष्ठितपुरं, जगच्चित्तप्रतिष्ठितम् ।
प्रसन्नचन्द्रस्तत्राऽऽसी-त्पृथिवीपाकशासन ॥ १ ॥
श्रीवीरः समवासार्षीत्, तत्र नन्तुमगान्नृप ।
श्रुत्वा धर्मं प्रबुद्धः सन्, सुतं राज्ये न्यवेशयत् ॥ २ ॥
प्रव्रज्याऽऽदाय शिक्षे द्वे, स गीतार्थोऽभवन्मुनिः ।
अन्यदा जिनकल्पं स, प्रतिपित्सुर्महामुनिः ॥ ३ ॥
सप्तभिर्भावनाभिः स्व, भावयन् धर्मतत्त्ववित् ।
राजगृहे श्मशाने स, कायोत्सर्गेण तस्थिवान् ॥ ४ ॥
तदा तमोरिपुर्वीर-स्तत्रापि समवासरत् ।
वन्दारुर्निर्ययौ लोकः, कोकवत्प्रीतमानसः ॥ ५ ॥
क्षितिप्रतिष्ठितात्तत्रा-ऽऽयातौ द्वौ च वणिग्वरौ ।
प्रसन्नचन्द्रराजर्षि, दृष्ट्वा मार्गसमीपगम् ॥ ६ ॥
एकोऽभाषिष्ट दृष्टः सन्, धन्याऽऽत्मा प्रभुरेष नः ।
राज्यलक्ष्मीं परित्यज्य, स्वीचकार तपःश्रियम् ॥ ७ ॥
द्वितीयः स्माऽऽह धन्यत्वं, कुतोऽमुष्य महामुनेः ? ।
योऽसंजातबलं पुत्रं, कृत्वा राज्येऽग्रहीद् व्रतम् ॥ ८ ॥
वराक. सोऽधुना डिम्भो, दायादैः परिभूयते ।
उपद्रुतं पुरं लोको, दु.खे बहुरपात्यत ॥ ९ ॥
तदद्रष्टव्य एवाय -मित्याकर्ण्याऽकुपन्मुनिः ।
दध्यौ पुत्रे मयि सति, दुर्द्धीरपकरोति कः ॥ १० ॥
तदैव तत्र मनसा, स ययौ विस्मृतव्रत. ।
हस्त्यश्वरथपादाति-सैन्यानि समनाह्वयत् ॥ ११ ॥
महासंग्राममारेभे, रौद्रध्यानवशंवदः ।
संजह्रे वैरिणोऽनेकान्, शल्यभल्लाऽऽदिहेतिभि ॥ १२ ॥
अत्रान्तरे प्रभु नन्तुं श्रेणिक. क्ष्माभृदीयिवान् ।
स दृष्ट्वा तमवन्दिष्ट कायोत्सर्गधरं मुनिम् ॥ १३ ॥
तं नैपदपि दृष्ट्वाऽपि, स पुन समभावयत् ।
श्रेणिकोऽचिन्तयन्नूनं, शुक्लध्याने स्थितोऽस्त्यसौ ॥ १४ ॥
तत श्रीश्रेणिको वीर, नत्वाऽप्राक्षीज्जगत्प्रभो ! ।
प्रसन्नचन्द्रराजर्षि-र्यादृग्ध्यानो मया नत ॥ १५ ॥
तत्र कालं स चेत्कुर्या-त्तस्य जायेत का गतिः ? ।
बभाषे भगवान् वीर., सप्तम्यामवनौ गति ॥ १६ ॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको दध्यौ, हा किमेतन्मया श्रुतम् ? ।
अत्रान्तरेऽस्य राजर्षेः, संग्रामाऽऽरूढचेतसः ॥ १७ ॥
प्रधानरिपुणैकेन, युध्यमानस्य निर्भयम् ।
निष्ठां गतानि शस्त्राणि, शिरस्त्राणे करं न्यधात् ॥ १८ ॥
हतेनैनं हनिष्यामि, हताः सर्वेऽपरेऽरयः ।
यावत्परपर्श मौलिं स, तावदग्रेऽस्ति लुञ्चितम् ॥ १९ ॥
ततः संवेगमापन्नो, राजर्षिर्दध्यिवानिदम् ।
आः किं चक्रे मया धिग् धिग्, विराद्धं प्रथमव्रतम् ॥२०॥
शुद्धध्यानपरिणामः, स्वं निन्दन्नतिचारिणम् ।
ततो बद्धानि कर्माणि, मनसैव क्षिपंस्तदा ॥ २१ ॥
श्रेणिकः पुनरप्राक्षी-त्स राजर्षिः प्रभोऽधुना ।
यादृग्ध्यानोऽस्ति तत्रैव, कां गतिं ननु यास्यति ? ॥ २२ ॥
स्वाम्यूचे संप्रति मृतो-ऽनुत्तरेषु सुरो भवेत् ।
अथोचे श्रेणिकः स्वामिन् !, पूर्वमन्यन्न्यरूपि किम् ? ॥२३॥
किमन्यथा मयाऽज्ञायि, स्वाम्याह न मयाऽन्यथा ।
ऊचे त्वयाऽन्यत्राश्रावि,श्रेणिकः स्माऽऽह तत्कथम् ? ॥२४॥
स्वाम्यथोवाच तद्वृत्तं, सर्वं श्रेणिकभूभुजे ।
प्रसन्नचन्द्रराजर्षेः, पार्श्वेऽभूद् दुन्दुभेर्ध्वनिः ॥ २५ ॥
देवैः कलकलश्चक्रे, राजोचे किमिदं प्रभो ! ? ।
स्वाम्याह तस्य राजर्षेः, शुभध्यानाऽऽत्मनोऽधुना ॥ २६ ॥
कुर्वन्ति केवलोत्पत्तौ, महिमानं सुरासुरा ।
दृष्टान्तोऽभूत्तदैकोऽय-मुत्सर्गे द्रव्यभावयोः ॥ २७ ॥ "

आ० क० १ अ० । आ० म० । आ० चू० । नवाङ्गीटीकाकृतोऽभयदेवसूरेः शिष्ये, उमास्वातिवाचककृतसिद्धिप्रयोगग्रन्थस्य टीकाकृति आचार्ये च । जै० इ० ।

पसत्त-प्रसक्त-त्रि० । आसक्ते, दश० २ अ० । तत्परे, ग० २ अधि० । आचा० । रा० ।

पसत्ति-प्रसत्ति-स्त्री० । प्रसादे, अर्हदादिगुणबहुमानेन शुभरूपतायाम्, विशे० । नि० चू० ।

पसत्थ-प्रशस्त-त्रि० । " स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे " ॥ ८ । २ । ४५॥ इति स्तस्य त्थः । प्रा० २ पाद । प्रशंसाऽऽस्पदीभूते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । स्तुते, दश० १ अ० । व्य० । श्रेष्ठे, नं० । शोभने, आ० म० १ अ० । प्रव० । तं० । मङ्गल्ये, स० । औ० । रा० । अतिप्रशस्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । औ० । लक्षणोपेते. कल्प० १ अधि० २ क्षण । रा० । प्रशंस्ये, संथा० । प्रश्न० । श्लाघिते, 'शंसु' स्तुताविति वचनात् । स्था० ५ ठा० १ उ० । ज्ञा० । प्रश्न० । पवित्रे, विशे० । प्रशंसिते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । सामायिके, तस्य मोक्षसाधकत्वेन प्रशस्तत्वात् । आ० म० १ अ० ।

पसत्थकायविणय-प्रशस्तकायविनय-पुं० । विनयभेदे, स्था० ७ ठा० । ( वक्तव्यतां 'विणय' शब्दे वक्ष्यामि )

पसत्थकारण-प्रशस्तकारण-न० । तीर्थकरानुज्ञातप्रत्युपेक्षाकारणे, नि० चू० १ उ० ।

पसत्थझाणोवउत्तया प्रशस्तध्यानोपयुक्तता-स्त्री० । प्रशस्तध्यानेन धर्मशुक्लाऽऽदिलक्षणशुभाध्यवसानेनोपयुक्तता संपन्नता प्रशस्तध्याने चोपयुक्तता दत्तावधानता प्रशस्तध्यानोपयुक्तता । धर्मशुक्लध्यानध्यायितायाम्, "एसा महव्वयउच्चारणा पसत्थझाणोवउत्तया । " महाव्रतोच्चारणं कुर्वता शृण्वतो वा नियमादन्यतरशुभशुभतरध्यानसंभवात् । पा०

पसत्थतिवलि-प्रशस्तत्रिवलि-न० । प्रशस्तास्तिस्रो वल्यो लेखा यत्रैतत् प्रशस्तत्रिवलि । त्रिरेखायां कटौ, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

पसत्थदोहला-प्रशस्तदौर्हृदा-स्त्री० । अनिन्द्यमनोरथायामन्तर्वत्न्याम्, कल्प० १ अधि० ४ क्षण । भ० ।

पसत्थमणविणय-प्रशस्तमनोविनय-पुं० । प्रशस्तः शुभो मनसो विनयन विनयः, प्रवर्त्तनमित्यर्थः; प्रशस्तमनोविनयः । विनयभेदे, " पसत्थमणविणए सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा-अपावए, असावज्जे, अकिरिए, निरुवक्केसे, अणण्हकरे, अच्छविकरे, अभूयाभिसंकमणे । " स्था० ७ ठा० ।

पसत्थरूव-प्रशस्तरूप-त्रि० । मनोरमे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

पसत्थलक्खण-प्रशस्तलक्षण-त्रि० । प्रशस्तानि शोभनानि लक्षणानि यस्य सः । शुभचिह्नधरे, रा० ।

पसत्थवइविणय-प्रशस्तवाग्विनय-पुं० । विनयभेदे, स्था० ७ ठा० । ( वक्तव्यता 'विणय' शब्दादवगन्तव्या )

पसत्थविहगगइणाम-प्रशस्तविहायोगतिनामन्-न० । विहायोगतिनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तोः प्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, यथा हंसाऽऽदीनाम् । कर्म० ६ कर्म० । उत्त० ।

पसत्थार-प्रशास्तृ-त्रि० । अनुशासके, मर्यादाकारिणि सभानायके, सभ्ये च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्था० । सभ्यो वा तस्माद् द्विष्टादुपेक्षकाद्वा दोषः, प्रतिवादिनो जयदानलक्षणो विस्मृतप्रमेयप्रतिपादिनः प्रमेयस्मरणाऽऽदिलक्षणो वा । प्रशास्तृदोषभेदे, धर्मशास्त्रपाठके, औ० । आव० । लेखाऽऽचार्याऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । आव० ।

पसत्थालंवण-प्रशस्तालम्बन-न० । प्रशस्तज्ञानाऽऽद्युपकारकमालम्ब्यते इत्यालम्बनम् । प्रवृत्तिनिमित्तं शुभाध्यवसाने, आव० ४ अ० ।

पसन्ना-प्रसन्ना-स्त्री० । मदिरायाम्, " कायंवरी पसन्ना, हाला तह वारुणी मइरा । " पाइ० ना० ६४ गाथा ।

पसप्पग-प्रसर्पक-त्रि० । प्रकर्षेण सर्पति गच्छतीति प्रसर्पकः । गमके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पसम-प्रशम-पुं० । कषायाभावे, अष्ट० २७ अष्ट० ।

प्रश्रम-पुं० । प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः । स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपे खेदे, आव० ४ अ० ।

पसमरइ-प्रशमरति-पुं० । उमास्वातिवाचकगणिसंदृब्धे ग्रन्थविशेषे, ग० १ अधि० । संघा० ।

पसर-प्रशर-पुं० । द्विखुराऽऽटव्यचतुष्पदपशुविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

प्रसर-पुं० । प्रसरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पसरिअ-प्रसृत-त्रि० । विस्तारमुपगते, औ० । " उव्वेल्ल पसरिअ पयल्लं च । " पाइ० ना० १८६ गाथा । जातप्रसरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " लद्धप्पसराभय देह ।" स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पसरेहा-देशी किञ्जल्के, दे० ना० ६ वर्ग १३ गाथा ।

पसव-प्रसू-धा० । पुत्राऽऽदिजनने, "उवर्णस्यावः" ॥ ८ । ४ । २३३ ॥ इति सूत्रेणोकारस्यावादेशः । 'पसवइ' । प्रसूते । प्रा० ४ पाद ।

प्रसव-पुं० । पुत्राऽऽदिजन्मनि, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० सूक्ष्मसुमनसि, दश० १ अ० । प्रश्न० । पुष्पे, " कुसुमं पसवं पसूअं च ।" पाइ० ना० १३६ गाथा ।

पसवडक्क-देशी-विलोकने, दे० ना० ६ वर्ग ३० गाथा ।

पसाय-प्रसाद-पुं० । तद्विषयभक्तिबहुमानवशे उच्छलितविशिष्टकर्मक्षयोपशमभावे, प० सं० ५ द्वार । मनःप्रसत्तौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रसन्नतायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पसायपेहि ( ण् )-प्रसादप्रेक्षिन्-त्रि० । प्रसादोऽयं यदन्यसद्भावेऽपि मामादिशन्ति गुरव इति प्रेक्षितुमालोचयितुं शीलमस्येति प्रसादप्रेक्षी । गुरूणां स्नेहप्रेक्षणशीले, उत्त० १ अ० । आतुरप्रसादार्थं वा गुरुपरितोषाभिलाषिणि, । उत्त० पाइ० १ अ० ।

पसार-प्रसार-पुं० । उत्तरोत्तरोत्पत्तौ, ध० २ अधि० ।

पसारण-प्रसारण-न० । अङ्गानां विक्षेपे, आव० ४ अ० । प्रव० । आ० म० । संयोगविभागोत्पत्तौ अवयवानामृजुत्वसंपादने कर्मभेदे, सम्म० ३ काण्ड । आ० चू० ।

पसारय-प्रसारक-त्रि० । विस्तारके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पसारिय-प्रसारित-न० । गात्रविततकरणे, दश० ४ अ० । रा० । प्रलम्बीकृते, उत्त० १२ अ० । विशे० ।

पसारेमाण-प्रसारयत्-त्रि० । हस्ताऽऽदीनवयवान् विनिवर्त्तमाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

पसाहण-प्रसाधन-न० । मण्डने, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । भ० ।

पसाहणघरग-प्रसाधनगृहक-न० । मण्डनाऽऽलये, यत्राऽऽगत्य स्वं परं च मण्डयन्ति । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । जं० ।

पसाहा-प्रशाखा-स्त्री० । शाखांशे, दश० ६ अ० २ उ० । ज० । सम्म० । औ० ।

पसाहिअ-प्रसाधित-त्रि० । " टिविडिक्किअ-चिंचिल्लिअ-चिंचइअ-पसाहिआइं मंडिआइं । " पाइ० ना० ८५ गाथा ।

पसाहिया-प्रसाधिका-स्त्री० । मण्डनकारिण्यां दास्याम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

पसाहेमाण-प्रसाधयत्-त्रि० । पालयति, नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । औ० । स्था० । सूत्र० ।

पसिअ-देशी-पूगफले, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा ।

पसिअंत-प्रसीदत्-त्रि० । "पानीयाऽऽदिष्वित्" ॥ ८ । १ । १०१ ॥ इतीकारस्य ह्रस्वः । मनसा हृष्यति, प्रा० १ पाद ।

पसिंढि-न० । सुवर्णे, " हेम कणय चामी-अर पसिंढि च तवणिज्जं । " पाइ० ना० ५० गाथा ।

पसिढिल-प्रशिथिल-त्रि० । प्रश्लथे, पं० व० २ द्वार । "पसिढिलभूसणा ।" प्रशिथिलानि भूषणानि दुर्बलत्वाद् यस्याः सा तथा । भ० ६ श० ३३ उ० ।

पसिण-प्रश्न-पुं० । परस्परलाभालाभाऽऽदिप्रच्छने, ध० ३ अधि० । पा० । औ० । संशयाऽऽपन्नस्य निःसंशयार्थं गुरुप्रच्छने, विशे० ।

अथ प्रश्नमाह--

पण्हो उ होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं ।
अंगुट्ठुच्छिट्ठपदे, दप्पणअसितोयकुड्डाई ॥५१३॥

प्रश्नस्तु देवनाऽऽदिपृच्छारूपः "पसिणं" भण्यते । यद्वा यत् स्वयमात्मना तुशब्दादन्येऽपि तत्रस्थाः पश्यन्ति,तत् "पसिणं" प्राकृतशैल्याऽभिधीयते । किं तदित्याह-( अंगुट्ठे उच्छिट्ठ त्ति ) कंसाराऽऽदिभक्षणेनोच्छिष्टपदे प्रतीते, दर्पणे आदर्शे, असौ खड्गे, तोये उदके, कुड्ये भित्तौ, आदिशब्दाद्वाहादौ वा यद्देवताऽऽदिकमवतीर्णं पृच्छति पश्यति वा स प्रश्नः । यदि वा--"कुड्डाई" इति पाठः । तत्र च कुड्डः प्रशान्तो वा यत्तथाविधकल्पविशेषात्पश्यति स प्रश्न इति । बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । आचा० । (मार्गे यादृशान् प्रश्नान् कुर्यात् यादृशान् वा प्रश्नान् पृष्टो न व्याकुर्यात्तथा 'विहार' शब्दे)

पसिणविज्जा-प्रश्नविद्या-स्त्री० । यकाभिः क्षौमकाऽऽदिषु देवताऽधिकारः क्रियते तासु विद्यासु, स्था० १० ठा० ।

पसिणहेलिया-प्रश्नहेलिका-स्त्री० । शब्दार्थचित्रे पद्यभेदे, तद्रचन चतुष्षष्टितमा कला । कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

पसिणापसिण-प्रश्नाप्रश्न-पुं० । स्वप्नविद्यया कथितस्यान्यस्मै कथने, ध० ३ अधि० । बृ० ।

प्रश्नाप्रश्नमाह--

पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिट्ठं कहेइ अन्नस्स ।
अहवा आइंखिणिया, घंटियसिट्ठं परिकहेइ ॥५१४॥

यत् स्वप्ने अवतीर्णया विद्यया विद्याधिष्ठात्र्या देवतया शिष्टं कथितं सदन्यस्मै कथयति । अथवा-- "आइंखिणिया" डोम्बी, तस्याः कुलदैवतं घण्टिकयक्षो नाम पृष्ट: सन् कर्णे कथयति । सा च तेन शिष्टं कथितं सदन्यस्मै प्रच्छकाय शुभाशुभाऽऽदि यत्परिकथयति एष प्रश्नाप्रश्न । बृ० १ उ० २ प्रक० । व्य० । पं० व० । आव० । नि० चू० ।

पसिणाययण-प्रश्नाऽऽयतन-न० । आदर्शप्रश्नाऽऽदेराविष्करणे, यथावस्थितप्रश्ननिर्णयने,लौकिकाना परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेण निर्णयने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

पसिद्ध-प्रसिद्ध-त्रि० । प्रकर्षेण सिद्ध प्रसिद्धम् । साधनीयावस्थामापन्निते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रख्याते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

पसिद्धि-प्रसिद्धि-स्त्री० । प्र-सिध-क्तिन् "अत समृद्ध्यादौ वा ॥ ८।१।४४ ॥ इति वाऽऽदेर्दीर्घ । प्रा० १ पाद । आक्षेपपरिहारे आ० म० १ अ० । अनु० । उत्तरपक्षे विशे० । "तो निग्गओ पसिद्धी ।" आक्षेपानन्तरं निर्णयः प्रसिद्धिः । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पसिस्स-प्रशिष्य-पुं० । शिष्यस्याऽपि शिष्ये,आ०म० १ अ० ।

पसु-पशु-पुं० । पश्यति प्रसूयते वा पशुः । अजैडकहस्त्यश्वगोमहिष्यादिके, उत्त० ६ अ० । सूत्र० । स० । पं० व० । तिर्यग्योनिजे जन्तौ, ध० ३ अधि० । आचा० । स्था० । उत्त० । सूत्र० । आ० म० । आव० । छगलके, अजमात्रे, अनु० । प्रव० । पशुसादृश्यात् कर्तव्याकर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् तथाविधे मूर्खे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

पसुजाइय-पशुजातीय-त्रि० । हसगवादौ, स्था० ५ ठा० २ उ० । सूत्र० ।

पसुत्त-प्रसुप्त-त्रि० । 'अतः समृद्ध्यादौ वा" ॥ ८ । १ । ४४ ॥ इति सूत्रेणाऽऽदेर्दीर्घो वा । प्रा० १ पाद । निद्रां गते,आतु० ।

पसुत्तविगम-पशुत्वविगम-पुं० । पशुत्वमज्ञत्वं तस्य विगमोऽपगमः सर्वथा निवृत्तिः । अज्ञानध्वंसे, षो० १६ विव० ।

पसुत्ति-प्रसुप्ति-स्त्री० । नखाऽऽदिविदारणेऽपि चेतनाया असंवितिहृतोपाये, पिं० ।

पसुधम्म-पशुधर्म-पुं० । मात्रादिगमनलक्षणे पश्वाचारे, दश० १ अ० ।

पसुपाल-पशुपाल-पुं० । अजाऽऽदिपशुरक्षके,ध० र० १ अधि० १ गुण । उत्त० । ( पशुपालदृष्टान्तः ' धम्मरयण ' शब्दे चतुर्थभागे २७२६ पृष्ठे गतः )

पसुवह-पशुवध-पुं० । पशुहिंसायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

पसुभत्त-पशुभक्त-न० । राजादिना पशुभ्यो वितीर्यमाणे आहारे, नि० चू० ८ उ० ।

पसुभूय-पशुभूत-पुं० । पशुकल्पे, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एवं केवलमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वात्पशुकल्प' । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

पसुमेह-पशुमेध-पुं० । अश्वमेधे, आ० म० १ अ० ।

पसुसंघाय-पशुसंघात-पुं० । गवादिपशुवर्गे,बृ० १उ० ३प्रक० ।

पसुसंसत्त-पशुसंसक्त-त्रि० । गवादिभि· संसक्ते, स्था०६ठा० ।

पसूअ-प्रसूत-न० । कुसुमे, " कुसुमं पसवं पसूअं च ।" पाइ० ना० १३६ गाथा ।

पसूइ-प्रसूति-स्त्री० । उत्पत्तौ, नि० चू० २० उ० । आ० म० । प्रति० । विशे० ।

पसूइत्ता-प्रसूय-अव्य० । उत्पाद्येत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पसून-देशी-न० । कुसुमे, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा ।

पसूय-प्रसूत-त्रि० । जाते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आचा० । रा० । आ० म० ।

पसेढि-प्रश्रेणि-स्त्री० । तथाविधबिन्दुजाताऽऽदेः पङ्क्तेर्विनिर्गताया पङ्क्तौ आ० म० १ अ० । जी० । रा० ।

पसेणइय-प्रसेनजित्-पुं०। अवसर्पिणीजातानां पञ्चादशानां पञ्चमे कुलकरे,स्था०७ ठा०। जं०। प्रश्न०। कल्प०। आ० म०। प्रति०। द्वारवत्या नगर्यामन्धकवृष्णेर्धारिण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे,स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जयेऽनशनेन मृतस्सिद्ध इत्यन्तकृद्दशानां प्रथमे वर्गेऽष्टमेऽध्ययने सूचितम्। अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। स्था०। राजनगरमहाराजे श्रेणिकमहाराजपितरि, नं० "आसीत्पुरे राजगृहे, महाराजः प्रसेनजित्। श्रेणिकस्तस्य पुत्रोऽभूत्, राजलक्षणलाञ्छितः॥१॥" आ० क० १ अ०। आव०। येन राजगृहनगरं निवासितम्। आव० ४ अ०। आ० क०। आ० चू०।

पसेय-प्रसेक-पुं०। अधिकनिष्ठीवनप्रवृत्तौ, 'प्रसेक. सदनं भ्रम" इत्येतानि अजीर्णकार्याणि। ध० १ अधि०।

पसेयग-प्रसेचक-पुं०। कोत्थलके, दृतौ, स च ऊर्द्धेमपाटितेनापनीतमस्तकेन निष्कर्षितचर्मान्तर्वर्तिसर्वास्थ्यादिकचवरेणापरत्रर्ममथस्थिग्गलकस्थगितापानच्छिद्रेण संकीर्णमुखीकृतग्रीवाऽन्तर्विवरेणाजापश्वोरन्यतरस्य शरीरेण निष्पन्नश्चर्ममय. प्रसेवक. कोत्थलक.। प्रायो यवनैर्जलभाण्डतया व्यवहार्यते। पिं०।

पसेवअ-देशी-व्रजशिर दे० ना० ६ वर्ग २२ गाथा। पाइ०ना०। स०। कल्प०।

पस्ट-पष्ट-पुं०। "ष्टष्ठयो. स्ट" ॥८।४।२९०॥ इति द्विरुक्तस्य ष्टस्य सकाराऽऽक्रान्त. स्ट.। वक्षे, प्रा० ४ पाद।

पस्स-दृश्य-त्रि०। दर्शनयोग्ये, स्था०।

चउण्हमेगसरीरं नो पस्सं भवइ। तं जहा-पुढवीकाइयाणं, आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं॥

(नो पस्सं ति)चक्षुषा नो दृश्यमिति सूक्ष्मत्वात्। क्वचिन्न सुपस्सं तीति पाठ। तत्र न सुखदृश्यं न चक्षुषा प्रत्यक्षदृश्यमनुमानाऽऽदिभिस्तु दृश्यमपीत्यर्थ.। बादरवायूना तथा सूक्ष्माणा पञ्चानामपि यदेकमनेकं वाऽदृश्यमिति चतुर्णामित्युक्तं, वनस्पतय इति साधारणा एव ग्राह्या, प्रत्येकशरीरस्यैकस्यापि दृश्यत्वादिति। स्था०४ ठा०३ उ०।

पस्संत-पश्यत्-त्रि०। पर्यालोचयति, सूत्र०१ श्रु०३अ०४उ०।

पस्सयवत्तण-प्रश्रयवत्व-न०। विनयनम्रतायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

पह-पथ-पुं०। मार्गे, विशे०। अनु०। स्था०। प्रश्न०। रा०। पथिक्षितिशब्दपर्यायस्य पथशब्दस्यादन्तस्य दर्शनात्। स्या०। प्रज्ञा०। आ० म०। 'मग्गो पथो सरणी, अद्धाणं वत्तिणी पद्धा पयवी।" पाइ० ना० ५१ गाथा।

पथिन्-पु०। मार्गे-" पथिपृथिवीप्रतिश्रुन्मूषिकहरिद्राविभीतकेष्वत्" ॥८।१।८८॥ इति इकारस्याकार। प्रा०१ पाद। सामान्यमार्गे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

पहपुल्ल-देशी-पणके, दे० ना० ६ वर्ग १८ गाथा।

पहंकरा-प्रभङ्करा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां सूर्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० ८ वर्ग ४ अ०।

पहंजण प्रभञ्जन-पु०। पवने, " अणिलो गंधवहो मा-रुओ समीरो पहंजणो पवणो।" पाइ०ना० २५ गाथा। स०। कल्प०।

पहकर-प्रहकर-पु०। समूहे भ० ७ श०३३ उ०। अन्त०। निकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। संघाते, रा०। विपा०। जं०। औ०। जी०।

पहट्ठ-प्रहृष्ट-त्रि०। प्रमुदिते, तं०। प्रहसितवदने समुद्भूतरोमहर्षे, बृ० १ उ० २ प्रक०। दे० ना०।

पहट्ठभमरगण-प्रहृष्टभ्रमरगण-पुं०। प्रमुदितमधुकरनिकरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। जी०। म०।

पहण-देशी-कुले, दे० ना० ६ वर्ग ५ गाथा।

पहणी-देशी-संमुखाऽऽगतनिरोधे, दे० ना० ६ वर्ग ५ गाथा।

पहद-देशी-सदा दृष्टे, दे० ना० ६ वर्ग १० गाथा।

पहम्म-प्रहम्म-धा०। 'हम्म' गतौ। प्रघाते,'पहम्मइ'। प्रहम्मते। प्रा० ४ पाद। सुरखाते, दे० ना० ६ वर्ग ११ गाथा।

पहय-प्रहत-त्रि०। आच्छोटिते, जं० २ वक्ष०। क्षुण्णे, " आयरिएहिँ पहओ मग्गो।" बृ० १ उ० १ प्रक०।

पहयर-देशी-निकरे, दे० ना ६ वर्ग १५ गाथा। " उप्पक्को ओप्पीलो, उक्केरो पहयरो गणो पयरो ॥ १८ ॥ ओहो निवहो संघो, संघाओ संहरो निअरो। संदोहो निउरुंबो, भरो निहाओ समूह-नामाइं ॥ १९ ॥ पाइ० ना०१८-१९ गाथा।

पहर-प्रहर-पु०। अहोरात्राष्टमे भागे, " पढमपहराइकाला, जंबूदीवम्मि दोसु पासेसु।" मण्ड०।

प्रहार-पु०। " घञ् वृद्धेर्वा ॥८।१।६८॥ इति दीर्घाऽऽकारस्य ह्रस्व.। प्रहरणैर्घाते, प्रा० १ पाद।

पहरण-प्रहरण-न०। प्रहारप्रवृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। असिकुन्ताऽऽदिके आयुधे,आचा० १ श्रु०१ अ०५ उ०। आ० म०। नि० चू०। औ०। जी०। स्था०। आ० क०। प्रश्न०। रा०। उत्त०। ज्ञा०। ' जामो पहरो।" पाइ० ना० २६८ गाथा। " पहरणाभरणभरियजुद्धसज्जं।" प्रहरणानामायुधकवचाना भृतं यद्युद्धसज्जं च संग्रामगुणं च यत्तत्तथा। औ०। भावेल्युट्। प्रहारदाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ०। " आउहं अत्थं च पहरणं होइ।" पाइ० ना० १२१ गाथा।

पहरणकोस-प्रहरणकोश-पु०। प्रहरणस्थाने,ग०। स्था०। स०।

पहराइया-प्रहरादिका-स्त्री०। ब्राह्म्या लिपेर्भेदे,प्रज्ञा० १ पद।

पहराय प्रभाराज-पु०। सप्तमपष्ठवासुदेवप्रतिशत्रौ, ति०। आव०। ती०। प्रव०।

पहरिस-प्रहर्ष-पु०। प्रहर्षण प्रह र्ष। स्वजनमेलापकाऽऽदौ संघमेलापकाऽऽदौ वा महती पूजा भविष्यतीति प्रमोदे,आतु०। ' आमोओ पहरिसो तोसो।" पाइ० ना० १६८ गाथा।

पहलिअ-देशी-विषमे, दे० ना० ६ वर्ग १५ गाथा।

पहल्ल-घूर्ण-धा०। भ्रमणे, "घूर्णो घुल-घोल-घुम्म-पहल्ला ॥८।४।११७॥ " इति घूर्णधातो पहल्लाऽऽदेश। 'पहल्लइ।' घूर्णते। प्रा० ४ पाद।

पहसिय-प्रहसित-न० । हास्ये, बृ० १ उ० ३ प्रक० । भ० । हसितुमारब्धे,विपा० १ श्रु० ६ अ० । कर्त्तरि क्तः । श्वेतप्रभापटलप्रबलनया हसति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पहा-प्रभा-स्त्री० । चन्द्राऽऽदीनां प्रकाशे, उत्त० २८ अ० । दीप्तौ, चं० प्र० १८ पाहु० । प्रभावे, उपा० २ अ० । आव० । आलोओ उज्जोओ, दित्ती भासा पहा पयासो य । " पाइ० ना० ४८ गाथा ।

पहाण-प्रधान-न० । उत्तमे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । नं० । जी० । जं० । प्रवरे अपेक्षणीये, पञ्चा० ७ विव० । औ० । स्या० । प्रभौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । मुख्ये, विशे० । जं० । औ० । भ० । सूत्र० । साधकतमे, पञ्चा० ४ विव० । सत्त्वरजस्तमोरूपे अव्यक्ते प्रकृतौ,सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । आव० । दशा० । सम्म० ।

पहाणकज्जणिबंध-प्रधानकार्य्यनिबन्ध-पुं० । प्रधानकार्ये विशिष्टफलदायिनि प्रयोजने, आग्रहे, द्वा० १२ द्वा० ।

पहाणकड-प्रधानकृत-त्रि० । सांख्यपरिकल्पितया सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्थारूपयाऽऽविर्भाविते, सांख्याना हि पुमर्थापेक्षप्रकृतिपरिणाम एव लोक इत्यन्यत्र परीक्षितम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

पहाणजय-प्रधानजय-पुं० । प्रकृतेः सर्ववशित्वे, ततो मनोजावत्वं विकरणाभावः प्रधानजयश्च । द्वा० २६ द्वा० ।

पहाणदव्व-प्रधानद्रव्य-न० । चन्दनागरुकर्पूरपुष्पाऽऽदिषु प्रवरपूजाऽङ्गेषु, पञ्चा० ८ विव० ।

पहाणपुरिस-प्रधानपुरुष-पुं० । तात्कालिकं पुरुषाणां शौर्याऽऽदिभिः प्रधानत्वात् । स० । वासुदेवे, स० ।

पहाणभाव-प्रधानभाव-पुं० । प्राधान्ये, पञ्चा० २ विव० ।

पहाणमग्ग-प्रधानमार्ग-पुं० । महापुरुषसेविते ( उत्त० १४ अ० ) प्रव्रज्यारूपे मोक्षमार्गे, उत्त० पाई० १४ अ० ।

पहाणमहेलागुण-प्रधानमहेलागुण-पुं० । अतिशायिमहेलाना प्रियम्वदत्वभर्तृचित्तानुवर्तकत्वप्रभृतिषु गुणेषु, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पहाय-प्रहाय-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, औ० । आचा० ।

पहार-प्रहार-पुं० । कशाऽऽदिना प्राणिनां क्लेशविशेषाऽऽपादने ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । " वणं पहारो । " पाइ० ना० २२४ गाथा ।

पहारगाढ-गाढप्रहार-पुं० । प्राकृतत्वात् गाढशब्दस्य परनिपातः । दृढाऽऽघाते, दश० ७ अ० ।

पहारिय-प्रधारित-त्रि० । विकल्पिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पहारेत्ता-प्रधारयितृ-त्रि० । स्थापयितरि, भ० ५ श० ६ उ० ।

पहारेमाण-प्रधारयत्-त्रि० । पर्यालोचयति,स्था० ३ ठा० । सूत्र० ।

पहावण-प्रधावन-न० । शीघ्रं कार्यस्य निष्पादने, व्य० १ उ० ।

पहाविय-प्रधावित-त्रि० । वेगेन प्रवृत्ते,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । " तनो सा नगरं पहाविना । " आ० म० १ अ० । तं चक्करयणं पुव्वाभिमुहं पहाविय । आ० म० १ अ० ।

पहास-प्रहास-पुं० । निन्दास्तुतिरूपे उपहासे,आतु० । औ० ।

पहासमुदाय-प्रभासमुदाय-पुं० । ६ त० । कान्तिसमूहे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

पहि-प्रधि-पुं० । नेमौ, रोगे, है० ।

पहिअ-पान्थ-पुं० । "पथो णस्येकट्" ॥८।२।१५२॥ "नित्यं णः पन्थश्च " ॥ ६ । ४ । ८६ ॥ इति सूत्रेण यः पथो णो विहितस्तस्येकट् भवतीति इकट् । नित्यपथिके, प्रा० २ पाद । पूगफले, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा

पहिऊण-प्रहाय-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, व्य० ३ उ० ।

पहित्ता-प्रहाय-अव्य० । प्रकर्षेण स्थगयित्वेत्यर्थे, स० ३० सम० ।

पहिय-पथिक-पुं० । पथि गच्छतीति पथिकः । नानाविधनगरग्रामदेशपरिभ्रमणकारिणि, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

प्रहित-त्रि० । केनापि क्वचित्कार्ये प्रेषिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

प्रथित-त्रि० । प्रसिद्धिं गते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पहियकित्ति-प्रथितकीर्ति-त्रि० । विश्रुतयशसि, औ० । जं० । ख्यातप्रसिद्धौ, संथा० । जं० ।

पहीण-प्रहीण-त्रि० । प्रकर्षेण हीनं रहितं प्रहीणम् । आव० ३ अ० । आ० म० । प्रभ्रष्टे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रभ्रष्टे, त्यक्ते, उत्त० १४ अ० । परित्यक्ते, सूत्र० ३ श्रु० १ अ० । स्था० ।

प्रक्षीण-त्रि० । नष्टप्राये, स्था० १ ठा० ।

पहीणगोत्तागार-प्रहीणगोत्रागार-न० । प्रहीणं विरलीभूतं मानुषं गोत्रागारं तत्स्वामिगोत्रगृहं येषा तानि तथा । भ० ३ श० ७ उ० । येषा महानिधानानां धनिकसम्बन्धीनि गोत्राणि अगाराणि च प्रहीणानि विरलीभूतानि भवन्ति तानि प्रहीणगोत्रागाराणि । तेषु, कल्प० १ अधि० ४ क्षण ।

पहीणजरमरण-प्रक्षीणजरामरण-पुं० । प्रक्षीणे तदाऽपुनर्भावित्वेन जरामरणे येषा ते तथा । जन्माऽऽदिबीजाभावात् । पं० सू० १ सूत्र । वयोहान्या प्राणत्यागेन च विमुक्ते, ल० ।

पहीणसंथव-प्रक्षी ( ही ) णसंस्तव-पुं० । प्रक्षीणः प्रहीणो वा संस्तवः वचनसंवासरूपो वा यस्य सः । गृहिभिः सहासंसर्गवति, उत्त० २१ अ० ।

पहीणसामिय-प्रहीणस्वामिक-न० । अल्पीभूतस्वामिके धने, कल्प० १ अधि० ४ क्षण । भ० ।

पहीणसेउय-प्रहीणसेतुक-न० । अल्पीभूतधनप्रक्षेप्तरि, भ० ३ श० ७ उ० । कल्प० ।

पहु-प्रभु-त्रि० । समर्थे,आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । स्वामिनि, आव० ४ अ० । आचा० । सम्बोधने तु "डो दीर्घो वा" ॥ ८ । ३ । ३८ ॥ इति नित्यं सेर्डो प्राप्तौ " अक्लीबे सौ " ॥ ८ । ३ । १६ ॥ इति इदुतोरकारान्तस्य च प्राप्तो दीर्घः सौ वा भवतीति दीर्घविकल्पः । हे पहु । हे पह । प्रा० ३ पाद ।

पहुजिणवरसूरि-प्रभुजिनवरसूरि-पुं० । विविधतीर्थकल्पोपदेशके प्रवचनोद्भावक आचार्ये, ती० २१ कल्प ।

पहुट्ठ-प्रहृष्ट-त्रि० । प्रकर्षेण हृष्टः प्रहृष्टः । प्रहसितमनसि, नि० चू० ४ उ० ।

पहुडि-प्रभृति-अव्य० । " प्रत्यादौ डः "॥ ८ । १ । २०६ ॥ इति तकारस्य डकारः । प्रा० १ पाद । " उद्दत्वादौ " ॥८।१।१३१॥ इति सूत्रेण ऋकारस्योकारः । प्रा० १ पाद । तदारभ्येत्यर्थे, वाच० ।

पहुत्त-प्रहृत्व-न० । द्रव्यतो नीचैर्वृत्तिलक्षणे, भावतश्च साध्वाचारं प्रति प्रवणत्वरूपे नीचत्वे, उत्त० १ अ० । नि०चू० । " पजत्तं च पहुत्तं । " पाइ० ना १८४ गाथा ।

पहुत्थ-वि-रेच-धा० । आन्तरवस्तूना बाह्यीकरणे, " विरिचेरोलुण्डोल्लण्डपहुत्थाः " ॥ ८ । ४ । २६ ॥ इति विपूर्वकरेचिधातो पहुत्थाऽऽदेशः । ' पहुत्थइ ।' विरेचयति । प्रा० ४ पाद ।

पहुसंदिट्ठ-प्रभुसंदिष्ट-त्रि० । प्रभ्वादिष्टे, सू० १ उ० २ प्रक० ।

पहेज्जमाण-प्रहीयमान-न० । जीवप्रदेशैः सह संश्लिष्टस्य कर्मणस्तेभ्य पतनलक्षणेन हीयमाने कर्मणि, भ० १ श० १ उ० ।

पहेणय-प्रहेणक-न० । वध्वा नीयमानायाः पितृगृहे भोजने, आचा०२ श्रु०१ चू०१अ०४ उ० । सूत्र० । "वायणं च पहेणयं ।" पाइ० ना० २०६ गाथा । भोजनोपायोत्सवेषु, दे० ना० ६ वर्ग ७३ गाथा ।

पहेलिया-प्रहेलिका-स्त्री० । गूढाऽऽशयपद्ये, स० ७२ सम० । जं० । ज्ञा० ।

पहोइअ-देशी । पर्याप्त-प्रभुत्वयोः, दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा ।

पहोलिर-प्रघूर्णक-त्रि० । हिक्कायाम्, (हिंचकनार-गुजराती) " रखोलिर पहोलिरं । " पाइ० ना० १८६ गाथा ।

पहोवण-प्रधोवन-न० । पुन पुनः प्रक्षालने, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । नि०चू० ।

पा-पा-धा० । पाने, " स्वरादनतो वा " ॥ ८ । ४ । २४० ॥ इत्यकाराऽऽगमः । 'पाइ । पाअइ ।' प्रा० ४ पाद ।

पाअ-पाद-पुं० । चरणे, पादस्य मध्यतलप्रदेशे, पडङ्गुलविस्तीर्णे वितस्त्यर्द्धे, पादैकदेशत्वात्पादत्वव्यपदेशात् । अनु० । रथचक्रे, दे० ना० ६ वर्ग ३७ गाथा ।

पाअड-प्रकृत-त्रि० । "अन स्वरादनतो वा' ॥ ८ । ४ । २४० ॥ इति सूत्रेणाऽऽदेर्वा दीर्घ । प्रक्रान्ते, प्रा०४ पाद ।

पाइअ-देशी-वदनविस्तारे, दे० ना० ६ वर्ग ३६ गाथा ।

पाइक्क-पदाति-पुं० । ' मलिनोभय-शुक्ति-छुप्ताऽऽरब्ध-पदातेर्मइलावह-सिप्पि-छिक्का-ढत्त-पाइक्कं " ॥ ८ । २ । १३८ ॥ इति सूत्रेण पदातिस्थाने पाइक्काऽऽदेश । प्रा० २ पाद । पादचारिणि सैन्याङ्गपुरुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पाइत-देशी-इतस्तत स्पन्दिते, वृ० १ उ० २ प्रक० ।

पाइत्त-पाक्य-त्रि० । पाकप्रायोग्ये, दश० ७ अ० ।

पाइभ-प्रातिभ-न० । अनलिङ्गशब्दव्यापारानपेक्षे ज्ञाने, रत्ना०२ परि० । " प्रातिभात्सर्वं सवित् " द्वा० २६ द्वा० । पो० ।

पाइल्लय-देशी-कटनिर्वर्त्तके अयोमये उपकरणे, आ० म० १ अ० । विशे० ।

पाई-पात्री-स्त्री० । भाजनविशेषे, स्था० ६ ठा० । जी० । रा० । सूत्र० ।

प्राची-स्त्री० । सूर्यदर्शनदिशि, यत्र यः सूर्यं पश्यति सा तस्य प्राची । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । ( " जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा ॥ ४ ॥ " इत्यादिगाथा ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे गता ) पूर्वस्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० । आचा० ।

पाईण-प्राचीन-त्रि० । अपश्चिमे, पं० चू० १ कल्प । पूर्वाभिमुखे प्राच्याः दिशि स्थिते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । आचा० । पूर्वस्या दिशि, स्था० २ ठा० १ उ० । स० । आचा० । आ०म० ।

पाईणगामिणी-प्राचीनगामिनी-स्त्री० । पूर्वदिग्गामिन्याम्, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

पाईणतम-प्राचीनतम-स्त्री० । पूर्वजन्मनि, आ० क० ४ अ० ।

पाईणपडीणायय-प्राचीनप्रतीचीनाऽऽयत-त्रि० । प्राचीनं पूर्वतः प्रतीचीनं पश्चिमत आयता । पूर्वतः पश्चिमतश्च दीर्घे, स० ६००० सम० ।

पाईणवाय-प्राचीनवात-पुं० । पूर्वदिग्वाते, भ० ३ श० ७ उ० । यः प्राच्या दिशः समागच्छति वातः । जी०१ प्रति० । स्था० । चं० प्र० ।

पाईणवाह-प्राचीनवाह-पुं० । पूर्वदिगभिमुखप्रवाहे, वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पाईणस-प्राचीनश-पुं० । स्वनामख्याते गोत्रप्रवर्तके ऋषौ, " थेरे अज्जभद्दबाहु पाईणसगुत्ते ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

पाईणा प्राचीना-स्त्री० । पूर्वस्याम्, स्था० ६ ठा० । ( का प्राचीनेति ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे निर्णीतम् )

पाउ-पायु-पुं० । पिबति तैलाऽऽदिकमनेनेति पायु । गुदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

प्रादुष्-अव्य० । प्रकाश्ये सूत्र०१ श्रु० १५ अ० । अनु० । ज्ञा० ।

पाउअ-प्रावृत-त्रि० । "उद्दत्वादौ" ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति सूत्रेण ऋकारस्योकारः । आच्छादिते, प्रा० १ पाद ।

पाउअय-प्रावृतक-त्रि० । आच्छादिते, "ऊढिअयं पाउअयं ।" पाइ० ना० २६५ गाथा ।

पाउआ-पादुका- स्त्री० । पदु स्त्री० । भावे उण् पादू स्वार्थे क ह्रस्व । चर्ममये पादाऽऽच्छादने, वाच० । औ० ।

पाउआजुग-पादुकायुग-पुं० । पादुकायुगे, औ० ।

पाउकर-प्रादुष्कर-त्रि० । स्वतः सन्मार्गानुप्रायिनि, अन्येषां च प्रादुर्भावके, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

पाउकिमि-पायुकृमि-स्त्री० । गुदजातकृमौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

पाउक्क-देशी-मार्गीकृते, दे० ना० ६ वर्ग ४१ गाथा ।

पाउक्करण-प्रादुष्करण-न० । प्रादु शब्द प्रकाशार्थस्तत्करणम् । पञ्चा० १३ विव० । वह्निप्रदीपमणयादिना भित्त्यपनयनेन वा बहिर्निष्काश्य द्रव्यधारणेन वा प्रकटकरणं, भ० ३ अधि० । ग० । पञ्चा० । पं० व० । जी० । प्रश्न० । प्रव० ।

तद्योगात् प्रादु· प्रकटं करणं यस्येति वा । उद्गमदोषविशिष्टे, भक्तादौ च । पिं० । आचा० । स्था० ।

अथ प्रादुष्करणद्वार विभणिषुः प्रथम·
तस्तत्संभवं गाथाषट्केनाऽऽह–

लोयविरलुत्तमंगं, तवोकिसं जल्लखउरियसरीरं ।
जुगमेत्तंतरदिट्ठिं, अतुरियचवलं सगिहमिंतं ॥ २६२ ॥
दट्ठूण य अणगारं, सड्ढी संवेगमागया काइ ।
विपुलन्नपाण घेत्तू–ण निग्गया निग्गओ सो वि ॥२६३॥
नीयदुवारम्मि घरे, न सुज्झई एसण त्ति काऊणं ।
नीहम्मिए अगारी, अच्छइ विलिया व गहिएणं ॥२६४॥
चरणकरणालसम्मि य, अन्नम्मि य आगए गहिय पुच्छा ।
इहलोगं परलोगं, कहेइ चइउं इमं लोगं ॥ २६५ ॥
नीयदुवारम्मि घ·, भिक्खं निच्छंति एसणासमिया ।
जं पुच्छसि मज्झ कहं, कप्पइ लिंगोवजीवीऽह ॥२६६॥
साहुगुणेसणकहणं, आउट्टा तम्मि तिप्पइ तहेव ।
कुक्कुडि चरंति एए, वयं तु चिन्नव्वया वीओ ॥२६७॥

काचित् श्राविका अनगार साधुमेकाकिविहारिणं लोचविरलोत्तमाङ्गम् अत्रोत्तमाङ्गशब्देनोत्तमाङ्गस्थाः केशा उच्यन्ते । ततोऽयमर्थ·–लोचेन विरलोत्तमाङ्गकेशं तपःकृशं मलकलुषितशरीरं युगमात्रान्तरन्यस्तदृष्टिमत्वरितमचपलं स्वगृहमागच्छन्तम् ॥ दृष्ट्वा संवेगमागता, ततो गृहमध्ये विपुलं भक्तं पानं च गृहीत्वा गृहमध्याद्विनिर्गता, सोऽपि च साधुः ॥ नीचद्वारेऽस्मिन् गृहे न शुद्ध्यति ममैषणेति कृत्वा तत· स्थानाद्विनिर्जगाम, निर्गते च तस्मिन् गृहीतेन भक्तपानेन संजातविप्रिये वाऽवतिष्ठते ॥ अत्रान्तरे चरणकरणालसोऽन्यस्तस्मिन् गृहे साधुर्भिक्षार्थमागतः, ततस्तस्मै सा भिक्षा तया दत्ता, गृहीतायां च भिक्षाया स साधुः पृष्टो यथा भगवन्निदानीमेव साधुरीदृशस्तादृशो वाऽत्र समागतः, परं तेन भिक्षा न गृहीता, त्वया गृहीता, तत्र किं कारणम् ?। ततः स ऐहलौकिकं भिक्षालाभमात्राऽऽदिकं पारलौकिकं धर्मं यथाक्रममल्पगुणं बहुगुणं च विचिन्त्येमं लोकम्-लोकात् लभ्यं भिक्षामात्राऽऽदिकं परित्यज्योक्तवान् ॥ यथा-नीचद्वारे गृहे साधव एषणासमितिसमिता भिक्षा नेच्छन्ति, तत्रान्धकारभावत एषणाशुद्ध्यभावात्, सोऽपि च भगवान् । साधुरेषणासमितस्ततो न गृहीतवानिति । यदप्युक्तम्–किं कारण त्वया गृहीता ?, इति, तत्राहं लिङ्गमात्रोपजीवी, न साधुगुणयुक्त ॥ ततः साधूना गुणानेषणां च यथागमं कथितवान्, तत· सा स्वचेतसि चिन्तयामास-अहो जगति निजदोषप्रकटनं परगुणोत्कीर्तनं चातिदुष्करम्, तदप्येतेन कृतमिति तस्मिन्नतिशयेन भक्तिं कृतवती, विपुलं च भक्तपानं ( तिप्पइ त्ति ) तेपते क्षरति, ददाति स्मेति भावार्थ· । गते च तस्मिन् अन्य· कोऽप्यगणितदीर्घसंसारपरिभ्रमणभयो निर्द्धर्मो साधुराजगाम, सोऽपि भिक्षा दत्त्वा तथैव पृष्ट । तत स पापीयानुक्तवान्–एते इत्थभूताः कुक्कुट्या मायया चरन्ति, ततस्त्वदीयचित्ताऽऽवर्जनार्थं तेन मातृस्थानतो न भिक्षा गृहीता, यावता न तत्र कश्चिद् दोष·, ईदृशानि न मातृस्थानयुक्तानि व्रतान्यस्माभिरपि पूर्वं चीर्णानि, परमिदानी चिन्तितं-किं मातृस्थानकरणेनेति न मायां कुर्म ?, ततः सा चिन्तितवती-अहोऽयं निर्द्धर्मा पापीयान्, यस्तादृशमपि साधु निन्दतीति विसर्जितः । इत्थंभूता च भक्तिपरवशगा साधुदानाय प्रादुष्करणमपि कुर्यादिति प्रादुष्करणसंभवः ।



सम्प्रति तदेव प्रादुष्करणं गाथाद्वयेनाऽऽह–

पाओकरणं दुविहं, पागडकरणं पगासकरणं च ।
पागड संकामण कु–ड्डदारपाए य छिन्ने व ॥२९८॥
रयणपईवे जोई, न कप्पइ पगासणा सुविहियाणं ।
अत्तट्ठि अपरिभुत्तं, कप्पइ कप्पं अकाऊणं ॥२९९॥

प्रादुष्करणं द्विधा । तद्यथा–प्रकटकरण,प्रकाशकरणं च । तत्र प्रकटकरणम्–अन्धकारादपसार्य बहिः प्रकाशे स्थापनम् । प्रकाशकरणं–स्थानस्थितस्यैव भित्तिरन्ध्रकरणाऽऽदिना प्रकटीकरणम् । एतदेवाऽऽह–तत्र प्रकटकरणमन्धकारादन्यत्र संक्रामणेन प्रकाशकरणं (कुड्डदारपाए इत्यादि ) अत्र सर्वत्राऽपि तृतीयार्थे सप्तमी, कुड्यस्य द्वारपातेन रन्ध्रकरणेन, यदि वा–कुड्येन मूलत एव छिन्नेन येन कुड्येन कुड्यैकदेशेन वाऽन्धकारमासीत्तेन मूलत एवापनीतेनेत्यर्थ· । चशब्दादन्यस्य द्वारस्य करणेन चेत्यादिपरिग्रह· ॥ तथा–रत्नेन पद्मरागाऽऽदिना प्रदीपेन प्रतीतेन ज्योतिषा ज्वलता वैश्वानरेण तत्रैवं प्रकाशना सुविहितानां न कल्पते । किमुक्तं भवति ?–प्रकाशकरणेन प्रकटकरणेन च यद्दीयते भक्ताऽऽदि तत्संयतानां न कल्पते, तत्रैवापवादमाह–( अत्तट्ठि त्ति ) आत्मार्थीकृतं तदपि कल्पते नवरं ज्योति·प्रदीपौ वर्जयेत्, ताभ्यां प्रकाशितमात्मार्थीकृतमपि न कल्पते, तेजस्कायदीप्तिसंस्पर्शनात् । साधुपात्रमाश्रित्य विधिमाह–इह सहसाकाराऽऽदिना प्रादुष्करणदोषाऽऽघ्रातं कथमपि भक्तं पानं वा गृहीतं, ततस्तत् अपरिभुक्तस्, उपलक्षणमेतत्–अर्द्धभुक्तमपि परिस्थाप्योद्धरितासित्थुलेपाऽऽदिना खरण्टितेऽपि तस्मिन् पात्रे कल्पं जलप्रक्षालनरूपमकृत्वाऽप्यन्यत् शुद्धं गृहीतुं कल्पते ।

एतदेव गाथाद्वयं विवरीषु· प्रथमतश्चुल्लीसं·
क्रमणमाश्रित्य प्रकटकरणं स्पष्टयति–

संचारिमा य चुल्ली, बहिं व चुल्ली पुरा कया तेसिं ।
तहिं रंधंति कयाइ, उवही पूई य पाओ य ॥३००॥

इह त्रिधा चुल्ली । तद्यथा–एका संचारिमा, या गृहाभ्यन्तरवर्तिन्यपि बहिरानेतुं शक्यते । चशब्दात्साऽप्याधाकर्म्मिकी द्रष्टव्या द्वितीया बहिरेव तेषां साधूना निमित्तं चुल्ली पुरा कृता आसीत् । चशब्दात्तदानीं वा साधुनिमित्तं बहिश्चुल्ली कृता वेदितव्या, सा च तृतीया । ततो यदि कदाचित् तत्र तिसृणा चुल्लीनामन्यतमस्या गृहस्था राध्यन्ति, ततो द्वौ दोषौ । तद्यथा–उपकरणपूति·,प्रादुष्करणं च । यदा च चुल्ल्याः पृथक्कृतं तद्देयं वस्तु तदा प्रादुष्करणरूप एवैक केवलो दोष , पूतिदोषस्तूत्तीर्ण । यदा चुल्ल्योऽपि शुद्धास्तदाऽपि प्रादुष्करणरूप एवैको दोष ।

यदर्थं प्रादुष्करणं गृहस्था कृतवती तं भिक्षार्थं गृहमागच्छन्तं दृष्ट्वा यदृजुत्वेन भाषते, तदाह–

नेच्छह तमिसम्मि तओ, बाहिरचुल्लीए साधु सिद्धम्मि ।

इय सोउं परिहरए, पुट्ठे सिट्ठम्मि वि तहेव ॥ ३०१ ॥

हे साधो ! त्वं तमिश्रेऽन्धकारे भिक्षां नेच्छसि, ततो वहिश्चुल्ल्या सिद्धं पक्वमन्नम् इति अस्माभि भक्तमिति श्रुत्वा तया दीयमानं परिहरति, प्रादुष्करणदोषदुष्टत्वात्, तथा प्रादुष्करणशङ्कायां किमर्थमयमाहारोऽद्य गृहस्य वहिस्तात्पक्वः ?, इत्येवं पृष्टे तया ऋजुतया यथावस्थिते कथिते तथैव परिहरति। एतेनाऽऽद्यगाथाया "संकामण" इत्यवयवो व्याख्यातः। नन्वय संक्रामणकृत आहारः केनाऽपि प्रकारेण कल्पते ?, किं वा न ?, इति। उच्यते-आत्मार्थीकृत' कल्पते।

कथमस्या आत्मार्थीकरणसंभव इति चेदत आह–

मच्छियघम्मा अंतो, वाहिं पवायं पगासमासन्नं।
इय अत्तट्ठियगहणं, पागडकरणे विभासेयं ॥ ३०२ ॥

साध्वर्थं पूर्वं वहिश्चुल्ल्यादि कृत्वा काचिदेवं चिन्तयति-गृहस्यान्तर्मक्षिका, घर्मश्च। उपलक्षणमेतत्, तेनान्धकारं दूरं च पाकस्थानात् भोजनस्थानमित्यादिपरिग्रहः, वहिश्च प्रवातं तेन मक्षिकाऽऽदयो न भवन्ति, तथा प्रकाशमासन्नं च पाकस्थानाद्भोजनस्थानं, ततो वयमत्रैवाऽऽत्मनिमित्तमपि सदैव पक्ष्याम इत्येवमात्मार्थीकृते ग्रहणं कल्पते इति भावः। इयं प्रकटकरणे कल्प्याकल्प्यविषया विभासा।

संप्रति प्रकाशकरणं स्पष्टयन्, "कुड्डदारपाए" (२९८) इत्यादि व्याचिख्यासुराह–

कुड्डस्स कुणइ छिड्डं, दारं वड्डेइ कुणइ अन्नं वा।
अवणेइ छायणं वा, ठावइ रयणं व दिप्पंतं ॥ ३०३ ॥
जोइपईवे कुणइ व, तहेव कहणं तु पुट्ठ दुट्ठे वा।
अत्तट्ठिए उ गहणं, जोइपईवे उ वज्जित्ता ॥ ३०४ ॥

प्रकाशकरणार्थं कुड्यस्य छिद्रं करोति, यद् वा-द्वारं लघु सत् वर्धयति बृहत्तरं करोति। यदि वा-अन्यत् द्वितीयं द्वारं करोति। अथवा-गृहस्योपरितनं छादनं स्फेटयति। यदि वा-दीप्यमानं रत्नं स्थापयति॥ यद्वा-ज्योतिः प्रदीपं वा करोति, तथैवानन्तरोक्तेन प्रकारेण स्वयमेव यदि वा-पृष्टे सति प्रादुष्करणे कथिते यत् भक्ताऽऽदि प्रादुष्करणदोषदुष्टं तत् साधूना न कल्पते। यदि पुनः प्राक्तनेन प्रकारेणाऽऽत्मार्थीकरोति तदा ग्रहणं कल्पते इति भावः। ज्योतिःप्रदीपाभ्या प्राकाशमात्मार्थीकृतमपि न कल्पते, तेजस्कायसंस्पर्शात्।

संप्रति "अपरिभुत्तं कप्पइ कप्प अकाऊणं" (२९९) इति व्याचिख्यासुराह–

पागडपयासकरणे, कयम्मि सहसा व अहवऽणाभोगा।
गहियं विगिंचिऊणं, गेण्हइ अन्नं अकयकप्पे ॥ ३०५ ॥

प्रकटकरणे प्रकाशकरणे वा कृते सति यत् सहसाऽनाभोगतो वा गृहीतं तत् (विगिंचिऊण) परिष्ठाप्य तस्मिन् पात्रे उज्झिते लेशमात्रमपरिष्टेऽपि अकृतकल्पे जलप्रक्षालनरूपकल्पदानाभावेऽप्यन्यत् शुद्धं गृह्णाति, नास्ति कश्चिद्दोषो, विशोधिकोटित्वात्। पि०।

पाउग्ग-प्रायोग्य-त्रि०। उचिते, पञ्चा० १३ विव०। आव०। दशा०। अनुज्ञापनीये बृ० १ उ० २ प्रक०। समाधिकारके द्रव्ये, नि० चू० १ उ०। आ० चू०।

पाउग्गिअ-प्रायोगिक-पुं०। द्यूतकारयितरि, "पाउग्गिओ य सहिओ।" पाइ० ना० १०४ गाथा।

पाउड-प्रावृत-त्रि०। गुण्ठिते, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। छादिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। प्रावरणसहिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

पाउप्पभाया-प्रादुःप्रभाता-स्त्री०। प्रादुः प्राकाश्येन प्रभाता। प्रकाशप्रभातायां किञ्चिदुपलभ्यमानप्रकाशाया रजन्याम्, अनु०। दशा०।

पाउब्भवंत-प्रादुर्भवत्-त्रि०। प्रकटीभवति, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

पाउब्भाव-प्रादुर्भाव-पुं०। उत्पादे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। दश०। त०।

इन्द्राणां परस्पर प्रादुर्भावः–

पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणेणं देविंदेणं सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए ?। हंता ! पभू जहा पाउब्भवणा। अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं किच्चाइं करणिज्जाइं ?। हंता ! अत्थि। से कहमियाणिं पकरेइ ?। गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवइ। ईसाणे वा देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवइ। इति भो सक्का देविंदा देवराया दाहिणड्ढलोगाहिवई। इति भो ईसाणा देविंदा देवराया उत्तरड्ढलोगाहिवई। इति भो इति भो त्ति ते अन्नमन्नस्स किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं विवादा समुप्पज्जंति ?। हंता ! अत्थि। से कहमिदाणिं पकरेइ ?। गोयमा ! ताहे चेव णं सक्कीसाणा देविंदा देवरायाणो सणंकुमारं देविंदं देवरायं मणसीकरेइ। तए णं से सणंकुमारे देविंदे देवराया तेहिं सक्कीसाणेहिं देविंदेहिं देवराईहिं मणसीकए समाणे खिप्पामेव सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं अंतियं पाउब्भवंति। जं से वयइ तस्स आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठंति। भ० ३ श० १ उ०।

पाउब्भूय-प्रादुर्भूत-त्रि०। आविर्भूते आगते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। ज०। सू० प्र०। औ०। आ० म०। समवसरणे समागते, रा०। आ० म०।

पाउया-पादुका-स्त्री०। काष्ठाऽऽदिमये चरणरक्षोपकरणे, ध० २ अधि०। भ०। प्रश्न०। "परिवारसंवुडा पाउयासो मुयइ।" आ० म० १ अ०। सूत्र०।

पाउरण-प्रावरण-न०। वस्त्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

पाउरिय-प्राचुर्य-न०। बाहुल्ये, स्था० ४ ठा० १ उ०।

पाउल्लग-पादवत्-न०। पुरुषपुत्तलके, नि० चू० १ उ०।

पाउस-पुं०। प्रावृष्-स्त्री०। "उदृत्वादौ" ॥८।१।१३१॥ इति ऊत उकार। प्रा० १ पाद। "प्रावृट्-शरत्-तरणयः पुंसि" ॥८।१।३१॥ इति पुंस्त्वं प्राकृते। प्रा० १ पाद। आषाढश्राव-

णलक्षणे प्रथमऋतौ, स्था० ५ ठा० २ उ०। ज्ञा०। सू० प्र०। प्र०। ज्यो०। चं० प्र०। श्रावणभाद्रपदमासयुगे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

पाउसागम-प्रावृषागम-पु०। वर्षाप्रारम्भे, "पाउसागमा ऊ- ऊ।" पाइ० २३२ गाथा।

पाउसियकाल-प्रावृट्काल-पु०। वर्षाकाले, "महुगाए णयरीए एगो साहू पाउसियकालं घेत्तुं अइक्कमाए।" नि० चू० १ उ०।

पाउसिया-प्राद्वेषिकी-स्त्री०। प्रद्वेषो मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी। स०५ सम०। भ०। प्रद्वेषो मत्सरस्तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता सा एव वा प्राद्वेषिकी। भ० ३ श० ३ उ०। मत्सरिक्यां क्रियायाम्, स्था० २ ठा० १ उ० आव०। आ०चू०।

पाए-प्राक्- अव्य०। "जत्तो पाए खेत्ते, गया उ पडिलेहणा तत्तो पाए।" यतः प्राक् यतो दिनादारभ्येत्यर्थे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

पाएसणा-पात्रैषणा-स्त्री०। अप्रासुकाऽऽदिपात्रान्वेषणसामाचार्याम्, आचा० २ श्रु० ६ अ०। ('पत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६२ पृष्ठे उक्ता)

पाओकरण-प्रादुष्करण-न०। 'पाउक्करण' शब्दार्थे, पिं०।

पाओगिय-प्रायोगिक-त्रि०। प्रयोगपरिणामपरिणामिते कुसुम्भरागाऽऽदौ, आ० म० १ अ०।

पाओपगम-पादोपगम-न०। 'पाओवगमण' शब्दार्थे, व्य०१०उ०।

पाओवगमण-पादपोपगमन-न०। पादपो वृक्षः, उपशब्दश्चोपमेयेऽपि साहश्येऽपि दृश्यते, ततश्च पादपमुपगच्छति साहश्येन प्राप्नोतीति पादपोपगमनम्। पादपवन्निश्चले, ध० ३ अधि०। दश०। नि० चू०। ज०। कल्प०। सर्वथा परिस्पन्दवर्जिते, चतुर्विधाऽऽहारत्यागनिष्पन्नेऽनशनभेदे, पञ्चा०१६ विव०। स०। औ०। प० व०। सथा०। स्था०। भ०। प्रव०।

पादपोपगमनविचारभेदाः-

**से किं तं पाओवगमणे ? पाओवगमणे दुविहे पसत्ते। तं जहा-णीहारिमे य, अणीहारिमे य। णियमा अपडिक्कमे। सेत्तं पाओवगमणे। भ० २५ श० ७ उ०।**

(पाओवगमणे त्ति) पादपस्येवोपगमनमस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्। इदं च चतुर्विधाऽऽहारपरिहारनिष्पन्नमेव भवतीति (नीहारिमे य त्ति) निर्हारेण निर्वृत्तं यत्तन्निर्हारिमम्, प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत् तत्कलेवरस्य निर्हारणात्। अनिर्हारिमं तु योऽटव्यां म्रियत इति। भ०२ श० १ उ०। (तामलिना यथा पादपोपगमनं प्रतिपेदे तथा 'तामलि' शब्दे चतुर्थभागे २२२७ पृष्ठे उक्तम्) अधुना पादपोपगमनमुच्यते तदपि प्रव्रज्याऽऽदितीर्थाव्यवच्छेदपर्यन्तं कृत्वा पञ्चतपःसूत्राऽऽदि तोलयित्वा च प्रतिपद्यते। तत्र नियमतो निष्प्रतिकर्म निश्चलं वा। तथाहि-ऊर्द्ध्वस्थानेन उपवेशनेन, न पार्श्वेन वाऽन्येन वा, येन स्थानेन स्थितः स यावज्जीवमपि तेन स्थानेन तिष्ठति, न पुनरन्यत्स्थानं तस्य कर्तुं स्वप्रयोगेण कल्पते। तच्च द्विधा-निर्हारिमम्, अनिर्हारिमं च। निर्हारिमं नाम यत् ग्रामाऽऽदेर्नामन्तः प्रतिपद्यते, ततो हि मृतस्य स तस्तस्य शरीरं निष्काशनीयं भवति ('णीहारिम' शब्दे चतुर्थभागे २१५६ पृष्ठे व्याख्यातम्)। अनिर्हारिमं नाम-यत् ग्रामाऽऽदीनां बहिः प्रतिपद्यते ('अणीहारिम' शब्दे प्रथमभागे ३४० पृष्ठे व्याख्या)

सम्प्रति पादपोपगमनस्य निरुक्तिमाह-

**पाओपगमं भणियं, समविसमे पायवो जहा पडितो। नवरं परप्पओगा, कंपेज्ज जहा चल तरु व्व ॥ ५४४ ॥**

पादपोपगमं नाम भणितं यथा समे विषमे वा पादपः पतितस्तथैवाऽवतिष्ठते, तथा यो यथा समे विषमे वा पतितः स यावज्जीवं तथा तिष्ठति, नवरं परप्रयोगात् कम्पेत, यथा तरुः परप्रयोगाच्चलः। पादपस्येवोपगमोऽभ्युपगमः पतनस्य यत्र तत्तथेति व्युत्पत्तिः।

विशुद्धे स्थण्डिले निर्दोषत्वमेवाऽऽह—

**तसपाणबीयरहिए, विच्छिन्नवियारें थंडिलविसुद्धे। निद्दोसा निद्दोसे, उवेंति अब्भुज्जयामरणं ॥ ५४५ ॥**

त्रसप्राणबीजरहिते विस्तीर्णविचारे विपुलप्रचारे यत्र कृष्यमाणस्याप्यस्थण्डिलगमनदोषो न भवति, तत्र निर्दोषाः साधवोऽभ्युद्यतमरणं पादपोपगमनमरणमुपयन्ति प्रतिपद्यन्ते।

**पुव्वभवियवेरेणं, देवो साहरति कोऽवि पायाले। मा सो चरमसरीरे-ण वेयणं किंचि पाविहिति ॥ ५४६ ॥**

पूर्वभवकर्मवैरेण कोऽपि देवस्तं प्रतिपन्नपादपोपगमनं पाताले पातालकलशेषु संहरेत्। माऽसौ चरमशरीरेण काञ्चिदपि वेदनां प्राप्स्यतीति कृत्वा स तथा हृतः सम्यक् तमुपसर्गं सहते, न केवलमेनमन्यानपि।

तथा चाऽऽह-

**उप्पन्ने उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सए तिरिच्छे य। सव्वे पराइणित्ता, पाओवगया परिहरंति ॥ ५४७ ॥**

उत्पन्नान् उपसर्गान् दिव्यान्मानुष्यान् तैरश्चांश्च सर्वान्पराजित्य पादपोपगताः परिहरन्ति।

**जह नाम असी कोसे, अन्नो कोसे असी वि खलु अन्नो। इय मे अन्नो देहो, अन्नो जीवो त्ति मन्नति ॥ ५४८ ॥**

यथा नाम असिः खड्गः कोशे प्रत्याकारे वर्तते, तत्राऽन्यः पृथक् खलु कोशोऽन्यः असिरिति। एवममुना दृष्टान्तप्रकारेण ममान्यो देहोऽन्यो जीवः परश्च भवति। देहो न जीव इति न काचिन्मे क्षतिरिति मन्यते, तथा मननाच्च सम्यग् प्रसगान् सहते।

**पुव्वावरदाहिणउ-त्तरेहिँ वाएहिँ आवयंतेहिं। जह न विकंपइ मेरू, तह ते झाणाउ न चलंति ॥ ५४९ ॥**

यथा मेरुः पूर्वापरदक्षिणोत्तरैर्वातैरापतद्भिर्न विकम्पते, तथा ते पादपोपगता उपसर्गनिपातेऽपि ध्यानान्न चलन्ति।

**पढमम्मि य संघयणे, वट्टंतो सेलकुड्डसामाणा। तेसिं पि य वुच्छेदो, चोद्दसपुव्वीण वुच्छेए ॥ ५५० ॥**

प्रथमे च ऋषभनाराचसंहनने वर्तमाना भूत्वा शैलकुड्यसमानाः पादपोपगमनं प्रतिपन्नाः पादपोपगमनं प्रतिपद्यन्ते। तेषामपि च पादपोपगमनप्रतिपत्तॄणां चतुर्दशपूर्विव्यवच्छेदे व्यवच्छेदोऽभवत्।

**दिव्व मणुया उ दुग तिग, अस्से पक्खेवगं सिया कुज्जा। वोसट्ठचत्तदेहो, अहाउयं कोइ पालिज्जा ॥ ५५१ ॥**

देवा मनुष्या वा अनुलोमानि प्रतिलोमानि वा द्रव्याणि द्वि-

कम,अनुलोमप्रतिलोमलक्षणोभयसहितं तदेव त्रिकम्। अथवा सचित्तमचित्तं वा इति द्विकं, तदेव हि मिश्रसहितं त्रिकं, तस्य द्विकस्य त्रिकस्य वा आस्ये मुखे प्रक्षेपं कुर्युः,स तेन द्वारेण मुखे प्रक्षिप्तेन व्युत्सृष्टः प्रतिबन्धाभावनस्त्यक्तः परिकर्मकरणतो देहो येन स व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः, कोऽपि यथाऽऽयुर्यथावस्थितमात्मीयमायुः पालयति ।

द्विकत्रिकाऽऽहारव्याख्यानार्थमाह-

अणुलोमा पडिलोमा, दुगं तु उभयसहिया तिगं होति ।
अहवा चित्तमचित्तं, दुगं तिगं मीसगसमग्गं ॥५५२॥

अनुलोमानि द्रव्याणि प्रतिलोमानि चेति द्विकं,तान्येवोभयसहितानि त्रिकम् । अथवा सचित्तमचित्तमिति द्विकं, तदेव मिश्रसमग्रं त्रिकमिति ।

पुढविदगअगणिमारुअ-वणस्सइतसेसु कोवि साहरइ ।
वोसट्ठचत्तदेहो, अहाउयं कोइ पालेज्जा ॥ ५५३ ॥

कोऽपि पादपोपगमं प्रतिपन्नं पृथिव्यां पृथिवीकायमध्ये उदके अप्काये अग्नौ मारुते वायुकाये वनस्पतिषु त्रसेषु च संहरति, स च तथा संहृतो व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो यथायु कोऽपि पालयति ।

एगंत निज्जरा से, दुविहा आराहणा धुवा तस्स ।
अंतकिरियं व साहू, करेज्ज देवोवपत्तिं वा ॥५५४॥

एकान्तेन 'से' तथावस्थितस्य निर्जरा भवति । तथा तस्य ध्रुवा द्विविधा सिद्धिगमनयोग्या कल्पोपपत्तियोग्या चाऽऽराधना यया साधुरन्तक्रियां वा कुर्यात्, देवोपपत्तिं वा ।

मज्जण गंधं पुप्फो-वयार परियारणं सिया कुज्जा ।
वोसट्ठचत्तदेहो, अहाउयं कोइ पालेज्जा ॥ ५५५ ॥

केचित् रूपातिशयलुब्धा तस्य कृतपादपोपगमनस्य मज्जनं स्नानं, ततः पटवासाऽऽदिगन्धं, तदनन्तरं पुष्पोपचारं, ततः परिचारणं गले गलित्वा परिमन्थनपरिचुम्बनाऽऽदिरूपं स्यात् कदाचित्कुर्यात् । तत्र स व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो यथायुः कोऽपि पालयति, अरक्तद्विष्टः सन् सम्यक् तत्सहमानो यावज्जीवमवतिष्ठते ।

पुव्वभवियपेम्मेणं, देवो कुरुउत्तरकुरासु ।
कोई तु साहरेज्जा, सव्वसुहा जत्थ अणुभावा ॥५५६॥

पूर्वभविकेन प्रेम्णा कोऽपि देवो यत्र अनुभवाः सर्वे शुभास्तासु देवकुरूत्तरकुरुषु वा संहरेत् । स च तथा तथा तत्र संहृतो व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो यथायु कोऽपि पालयति ।

पुव्वभवियपेम्मेणं, देवो साहरइ नागभवणम्मि ।
जहियं इट्ठा कंता, सव्वसुहा हुंति अणुभावा ॥ ५५७ ॥

पूर्वभविकेन प्रेम्णा कोऽपि देवो यत्र सर्वे शुभा अनुभावा इष्टाः कान्ताश्च भवन्ति, तत्र नागभवने संहरेत्, सोऽपि तत्र तथैवावतिष्ठते ।

बत्तीसलक्खणधरो, पाओपगतो य पागडसरीरो ।
पुरिसद्देसी कण्णा, रायवितिण्णा उ गेण्हेज्जा ॥ ५५८ ॥

द्वात्रिंशल्लक्षणधरः पादपोपगतः सन् प्रकटशरीरो जानन् पुरुषद्वेषिणी कन्या राजवितीर्णा राज्ञा अनुज्ञाता सती गृह्णीयात् ।

गृहीत्वा किं करोत्यत आह-

मज्जण गंधं पुप्फो-वयार परिचारणं सया कुज्जा ।
वोसट्ठचत्तदेहो, अहाउयं कोवि पालेज्जा ॥ ५५९ ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत् ।

तथा-

नवंगसुत्तपरिबोहि-याएँ अट्ठारसरतिविसेसकुसलाए ।
बावत्तरिकलापं-डियाए चोसट्ठिमहिलागुणेहि च ॥५६०॥

द्वे अक्षिणी, द्वौ कर्णौ, द्वौ नासापुटौ, जिह्वास्पर्शने, नवमं मनः एतानि नव अङ्गानि यावदद्यापि यौवनं न भवति तावत्सुप्तानि भवन्ति । न खलु तदानीमेतेषामर्तीवाराऽभिष्वङ्गः सुखं भवति, तत सुप्तानीति व्यपदिश्यन्ते । यौवने तु प्राप्तस्य कल्पगुणेन प्रतिबुद्धानि जायन्ते । नवाङ्गानि सुप्तानि प्रतिबोधितानि यया सा तया । तथा अष्टादशदेशभाषास्तासु मध्ये यस्य यत्र रतिविशेषस्तत्र कुशलतया, द्वासप्ततिकलापण्डितया चतुःषष्टि महेलागुणैरुपेतया ।

नवाङ्गाऽऽदिव्याख्यानं नावदाह-

दो सोअ नेत्तमादी-णवगं सुत्ता हवंति एए उ ।
देसीभासऽट्ठारस, रतीविसेसा इगुवीसं ॥ ५६१ ॥
कोसल्लमेकवीसइ-विहं गुणेहिं तु जुत्ताए ।
एवं च रूवजोव्वण-विलासलावण्णकलियाए ॥५६२॥

द्वे श्रोत्रे, द्वे नेत्रे, आदिशब्दान्नासापुटद्वयजिह्वास्पर्शनसपरिग्रहः । एतानि नवक नवसङ्ख्यानि सुप्तानि भवन्ति । देशीभाषाऽष्टादश ताः शास्त्रप्रसिद्धाः, रतिविशेषा एकोनविंशतितमः । तत्र कौशलमेकविंशतिविधं शास्त्रप्रसिद्धम्, एवमादिभिर्गुणैः युक्तया, तथा रूपयौवनविलासलावण्यकलितया ।

चउकण्णम्मि रहस्से, रागेणं रायदिन्नपसराए ।
तिमिमगरेहिं उदही, न खोभिओ जो मणो मुणिणो ॥५६३॥
जाहे पराजिया सा, न समत्था सीलखंडणं काउं ।
नेऊण सेलसिहरं, से सिलं मुंचए उवरिं ॥ ५६४ ॥

चतुःकर्णे रहस्ये रागेणानुरागेण राजदत्तप्रसरया गृहीते, गृहीत्वा चाऽनेकप्रकारं संक्षोभं आपद्यते । तत्र यन्मुनेर्मनस्तद् न याति तिमिमकरैर्वोदधिर्न क्षोभितं, ततो यदा सा पराजिता शीलखण्डनं कर्तुं न समर्था तदा रोषात् शैलशिखरं नीत्वा ( से ) तस्योपरि शिलां मुञ्चति ।

एगंतनिज्जरा से, दुविहा आराहणा धुवा तस्स ।
अंतकिरियं च साहू, करेज्ज देवोववत्तिं वा ॥ ५६५ ॥

इयं प्राग्वत् ।

मुणिसुव्वयंतेवासी, खंदग दाहे य कुंभकारकडे ।
देवी पुरंदरजसा, दंडइ पालक मरुओ य ॥ ५६६ ॥

कुम्भकारकृते नगरे दण्डकिर्नाम राजा, तस्य देवी पुरन्दरयशा, पालको नाम मरुकः पुरोहितः । तत्र भगवतो मुनिसुव्रतस्वामिनोऽन्तेवासी स्कन्दको नाम विहारक्रमेण गतः स्वशिष्याणां यन्त्रपीडनेन मरणं, विशेषतो बालक्षुल्लकस्योपलभ्य संजातकोपो यन्त्रपीडनमारितोऽग्निकुमारेषु उत्पद्य ज्ञानं स्मृत्वा समस्तस्यापि देशस्य दाहं कृतवान्, शिष्यास्तु समाधिं प्राप्ता मृत्युमुपागताः । (विस्तरः 'खंदग' शब्दे तृतीयभागे ६९३ पृष्ठे गतः । )

तथा चाऽऽह-

पंच सया जंतेणं, रुट्ठेणं पुरोहिएण मलियाइं ।
रागद्दोसतुलग्गं, समकरणं चिंतयंताणं ॥ ५६७ ॥

रागद्वेषतुलाग्रं समकरणं समभावं चिन्तयतां साधूनां पञ्च शतानि रुष्टेन पुरोहितेन यन्त्रमलितानि, तथापि न तेषां मनागपि ध्यानविक्षोभोऽभवत् । एवमन्यैरपि सोढव्यम् ।

तथा चाऽऽह-

जंतेण करकएण व, सत्थेण व सावएहिँ विविहेहिँ ।
देहे विद्धिस्संते, न हु ते झाणाउ फिट्टंति ॥ ५६८ ॥

यन्त्रेण क्रकचेन शस्त्रेण वा खड्गाऽऽदिना श्वापदैर्वा विविधैः शृगालिकाप्रभृतिभिः देहे विध्वस्यमाने ( न हु ) नैव ते पादपोपगता ध्यानात् स्फिट्टन्ति परिभ्रस्यन्ति ।

पडिणीयताएँ कोई, अग्गिं से सव्वतो पदेज्जाहि ।
पादोवगए सन्ते, जह चाणक्कस्स य करीसे ॥ ५६९ ॥

पादोपगते सति कोऽपि प्रत्यनीकतया 'से' तस्य सर्वतः सर्वासु दिक्षु अग्निं प्रदद्यात् । यथा चाणक्यस्य करीषे करीषमध्ये व्यवस्थितस्य स्वबन्धुनाऽमात्यः सर्वतोऽग्निं प्रदीपितवानिति ।

पडिणीययाएँ कोई, चम्मं से कीलएहिँ विहुणित्ता ।
महुघयमक्खियदेहं, पिपीलियाणं तु देज्जाहि ॥५७०॥

प्रत्यनीकतया कोऽपि ( से ) तस्य पादपोपगमनस्य कीलकैर्लोहमयैश्चर्म विधून्य तदनन्तरं तं मधुघृतम्रक्षितदेहं कृत्वा पिपीलिकानां दद्यात्, तथापि स सम्यक् सहेत ।

तत्र सहने दृष्टान्तमाह-

जह सो चिलाइपुत्तो, वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहो उ ।
सोणियगंधेण पिवी-लियाहिँ चालंकितो धीरो ॥५७१॥

यथा स चिलातीपुत्रो निसृष्टमतिश्रयेन व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः शोणितगन्धेन पिपीलिकाभिश्चालनीकृतः चालनाकृतो धीरो मनागपि ध्यानाच्चलितवान्, एवं सर्वैरपि सोढव्यम् ।

अन्य दृष्टान्तमाह-

जह सो कालपएसी, ठितोऽवि मोग्गल्लसेलसिहरम्मि ।
खइओ विउव्विऊणं, देवेणं सियालरूवेणं ॥ ५७२ ॥

यथा स ब्रह्मचर्याध्ययनप्रसिद्धः कालप्रदेशी मौद्गल्यशैलशिखरे स्थितो देवेन शृगालरूपं विकुर्वित्वा शृगालरूपेण खादितो भक्षितः, तथापि सम्यगधिसोढवान्, एवं सर्वैरपि सोढव्यम् ।

जह सो वंसिपएसी, वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहो उ ।
वंसीपत्तेहिँ विणि-ग्गएहिँ आगासमुक्खित्तो ॥५७३॥

यथा साधुरेकः पादपोपगतः, स प्रत्यनीकैरुत्क्षिप्य वंशीकुडङ्गस्योपरि मुक्तोऽधस्ताच्च तथा उत्थितास्तैर्वंशैः प्रवर्द्धमानैः स साधुर्विद्धो दूरमुत्पन्नैरङ्कुररूपैर्विनिर्गतैर्दूरमाकाशमुत्क्षिप्तो वेदनां सोढवान्, एवं सर्वैरपि सोढव्यम् ।

जहऽवन्तीसुकुमालो, वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहो उ ।
धीरो सपेल्लियाए, सिवाएँ खतितो तिरिक्खेणं ॥५७४॥

यथा अवन्तिसुकुमालो व्युत्सृष्टनिसृष्टत्यक्तदेहो धीरः ( सपेल्लियाए ) पेल्लिकसहितया बालस्वपुत्रभाण्डसहितया शिवया



शृगाल्या रात्रित्रिकेण भक्षितः सम्यक् सोढवान्, एवमन्यैरपि सोढव्यम् ।

जह ते गोट्ठट्ठाणे, वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहा उ ।
उदएण वोज्झमाणा, विरयम्मि उ संकरे लग्गा ॥५७६॥

ग्रामाऽऽसन्नप्रदेशे केचित्साधवः पादपोपगमनवन्तो यथा ते गोष्ठस्थाने प्रदेशविशेषे निसृष्टं निस्सहनतया व्युत्सृष्टत्यक्तदेहा अन्तरिक्षेण पतितेनोदकेन उह्यमाना विरये नद्या श्रोतसि सङ्करे लग्नाः सम्यग्वेदनां सहमाना कालगताः, एवं शेषैरपि सोढव्यम् ।

एतदेवाऽऽह-

बावीसमाणुपुव्वी, तिरिक्ख मणुया व भंसणत्थाए ।
विसयाणुकपरक्खणा, करेज्ज देवा व मणुया वा ॥५७७॥

द्वाविंशतिं परीषहान् आनुपूर्व्या पूर्वानुपूर्व्या वा तिर्यञ्चो मनुष्या वा चारित्रभ्रंसनार्थमुदीरयेयुः । तथा देवा मनुष्या वा विषयाणामिन्द्रियविषयाणां प्रत्यनीकतया अनिष्टानामनुकम्पया इष्टानामुदीरणमनुकम्पया रक्षणं कुर्युः, तत्रारक्तद्विष्टः सन् सम्यक् सहेत ।

पुनरपि दृष्टान्तान्तरमाह-

जह सा वत्तीसघडा, वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहा उ ।
वीरा धातेण उदा-रिएण दियलम्मि ओलइया ॥५७८॥

यथा सा द्वात्रिंशत्गोष्ठी, पुरुषा इत्यर्थः । व्युत्सृष्टस्तत्प्रतिबन्धपरित्यागेन निसृष्टोऽतिशयत्यक्तो, मनागपि परिचेष्टाया अकरणात्, देहो यया सा तथा पादपोपगता भ्रातेन तृप्तेन द्वीपान्तरवासिना म्लेच्छेन दृष्टा, ततः कल्ये ममैते प्रक्रय प्रविष्यन्तीति चिन्तयित्वा वृक्षं विलग्नापयित्वा ( दियलम्मि ) वेलायां जीवन्त एव ते ( ओलइया ) अवलम्बिताः; ते सम्यग्वेदनां सहमानाः कालगताः ।

उपसंहारमाह-

एयं पाओपगमं, निप्पडिकम्मं तु वणितं सुत्ते ।
तित्थयरगणहरेहि य, साहूहि य सेवियमुदारं ॥५७९॥

एतत्पादपोपगमं सूत्रे आगमे निष्प्रतिकर्म वर्णितं तीर्थकरैर्गणधरैः शेषसाधुभिश्चोत्तमधृतिसंहननोपेतैः, उदारं स्फीतं यथा भवति एवमासेवितम् । व्य० १० उ० ।

**पाओवगय**-पादोपगत-त्रि० । पादपवदुपगतः पादपोपगतः । अचेष्टतया स्थितेऽनशनविशेषं प्रतिपन्ने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

**पाओसिणाण**-प्रातःस्नान-न० । प्रत्यूषजलावगाहने, "पाओ सिणाणाऽऽदिसु नत्थि मोक्खो ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

**पाओसिया**-प्राद्वेषिकी-स्त्री० । प्रद्वेषो मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी । ध० ३ अधि० । स्था० । मत्स्याम्येनमित्यशुभमनःसम्प्रधाने, प्रति० । ( 'किरिया' शब्दे तृतीयभागे ५५० पृष्ठे सूत्रं गतम् )

**पांडुकंबलसिला**-पाण्डुकम्बलशिला-स्त्री० । मेरोः पाण्डकवनस्य पूर्वदक्षिणविदिशि शिलायाम्, "दो पांडुकंबलसिला ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पांडुकी-देशी-शिविकायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ३६ गाथा।

पांडुर-पाण्डुर-त्रि०। शुक्ले, ज्ञा० १ श्रु०१ अ०। धौतपट्टे, अनु०।

पांडुरंग-पाण्डुरङ्ग-पुं०। भस्मोद्धूलितगात्रे, अनु०। शैले, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। अनु०।

पाकम्म-प्राकाम्य-न०। इच्छाऽनभिघाते योगसिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा०।

पाखिकायण-पाखिकायण-पुं०। मूलगोत्रकौशिकवंश्ये स्वनामख्याते ऽवान्तरगोत्रप्रवर्तकर्षौ, तत्सन्तानिषु च। स्था०७ठा०।

पाग-पाक-पुं०। विक्लत्यनुकूले व्यापारे, औ०। ( पृथ्वीभाण्डानां पाकं प्रथममृषभदेव उपदिदेशेति 'उसह' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम् ) ( ग्लानार्थं साधुभिरपि पाक कर्तव्य इति 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८८६ पृष्ठे उक्तम् ) शिष्टाश्च पुण्यार्थमेव पाकक्रियायां प्रवर्तन्ते। तथाहि-न पितृकर्माऽऽदिव्यपोहेनाऽऽत्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति न स्वार्थमेव पक्तव्यम्। दश० ५ अ० १ उ०। बलवति रिपौ च। आ० म० १ अ०।

पागड्डि ( ण् )-प्राकर्षिन्-त्रि०। प्राकर्षके, ज्ञा० १ श्रु०१अ०। प्रवर्तके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

पागड-प्रकट-त्रि०। समृद्ध्यादित्वाद् दीर्घः। प्रकाशान्विते, आ० म० १ अ०। प्रव०। आव०। प्रश्न०।

प्राकृत-न०। प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। प्रा० १ पाद। स्वभावसिद्धे, वृ० १ उ० १ प्रक०। आत्मा पुद्गल एवमादिरूपस्य संस्कृतस्य विकृतिरूपे "आता पोग्गले" इत्यादिरूपे भाषाभेदे, आ० चू० १ अ०। स्था०।

तत्रत्याः कतिपयनियमा –

अथ प्राकृतम् ॥ ८ । १ । १ ॥ अथशब्द आनन्तर्यार्थोऽधिकारार्थश्च। प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतं, संस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते। संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमानभेदसंस्कृतयोनेरेव, तस्य लक्षणं, न देश्यस्येति ज्ञापनार्थम्। संस्कृतसमं तु संस्कृतलक्षणेनैव गतार्थम्। प्राकृते च प्रकृतिप्रत्ययलिङ्गकारकसमाससंज्ञाऽऽदयः संस्कृतवद्वेदितव्याः। लोकादिति च वर्तते। तेन ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ऐ-औङ-ञ-श-ष-विसर्जनीय-प्लुत-वर्ज्यो वर्णसमाम्नायो लोकादवगन्तव्यः। ङ-ञौ स्ववर्ग्यसंयुक्तौ भवत एव। ऐदौतौ च केषाञ्चित्-कैतवम्। कैअवं। सौन्दर्यम्। सौंअरिअं। कौरवाः। कौरवा। तथा च-अस्वरं व्यञ्जनं द्विवचनं चतुर्थीबहुवचनं च न भवति।

बहुलम् ॥ ८ । १ । २ ॥

बहुलमित्यधिकृतं वेदितव्यमाशास्त्रपरिसमाप्तेः। ततश्च-क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिद् अप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा, क्वचिद् अन्यदेव भवति। तच्च यथास्थान दर्शयिष्याम।

आर्षम् ॥ ८ । १ । ३ ॥ ऋषीणामिदमार्षम्। आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति। तदपि यथास्थानं दर्शयिष्याम। आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते। प्रा० १ पाद।

एओकारपराइं, अंकारपरं च पायए नत्थि।
वसगारमज्झिमाणि य, कचवग्गतवग्गनिहणाइं ॥

अस्या इयमक्षरगमनिका-एकारपरः-ऐकारः, ओकारपरः-औकारः, अंकारपरः-अः कार इति विसर्जनीयाऽऽख्यमक्षरम्। तथा वकारसकारयोर्मध्यगे ये अक्षरे-शषा विति, यानि च कवर्गचवर्गतवर्गनिधनानि-ङञना इति। एतान्यक्षराणि प्राकृते न सन्ति। तत एतैरक्षरैर्विहीनं सद् वचनं तत्प्राकृतमवसातव्यमेभिरेव-ऐऔअःशष ङञन इत्येवं रूपैरुपेतं संस्कृतम्। वृ०१उ०। प्राकृते हि विभक्तीनां व्यत्ययोऽपि भवति। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासामिति।" आ०म० १ अ०। द्वितीयार्थे षष्ठी। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-"द्वितीयार्थे षष्ठी।" नं०। "प्राकृते हि पूर्वोत्तरनिपातोऽतन्त्रः। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०। ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिबद्धमिति दुःश्रद्धेयम्, मैवं शङ्क्थम्। "बालस्त्रीमूढमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्। अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ १ ॥" विशे०। प्रकृतिषु भवः प्राकृतः। आ० म० १ अ०। साधारणे, स्वाभाविके, सूत्र०१ श्रु० १ अ०१ उ०। लघुतरे, वृ० १ उ०।

पागडिय-प्रकटित-त्रि०। प्रकटत्वं प्राप्ते, "पागडियपणं पंसुलिपणं।" तं०।

पागडेमाण-प्रकटयत्-त्रि०। व्यक्तीकुर्वति, स्था० ३ ठा०४उ०।

पागदव्व-पाकद्रव्य-न०। कयरीपाकाऽऽदिविशिष्टनिष्पन्ने खाद्यद्रव्ये, ही०। कयरीपाक इत्यादिलोकप्रसिद्धानि पाकद्रव्याणि तद्दिवसनिष्पन्नानि आर्द्रशाकप्रत्याख्यानवतां कल्पन्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र कल्पन्ते इदृशी प्रवृत्तिर्दृश्यते इति। ही० ४ प्रका०। कयरीपाक इत्यादिलोकप्रसिद्धद्रव्याणि आसवाख्यार्द्रशाकावयवनिष्पन्नतया तत्प्रत्याख्यानवतां कल्पन्ते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र "कयरीपाक" इत्यादिलोकप्रसिद्धपाकद्रव्याणि आसवाख्यार्द्रशाकावयवनिष्पन्नान्यपि तत्प्रत्याख्यानवतां कल्पन्ते इति प्रवृत्तिर्दृश्यते इति। ही०४प्रका०।

पागब्भ-प्रागल्भ्य-न०। धार्ष्ट्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

पागब्भिय-प्रागल्भिक-त्रि०। प्रागल्भ्यं धार्ष्ट्यं तद् विद्यते यस्य तत् स प्रागल्भी। सूत्र० १ श्रु०५ अ०१ उ०। धृष्टे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। यः प्रागल्भ्येन चरति धृष्टतामापन्नः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

पागभाव-प्रागभाव-पुं०। प्राक् पूर्वं वस्तूत्पत्तेरभावः प्रागभावः। वस्तूत्पत्तेः प्राक्कालिकेऽभावे, रत्ना०।

तत्र प्रागभावमाविर्भावयन्ति–

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥५६॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्या, न पुनरनिवृत्तावपि, अस्य पदार्थस्य निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्पत्तिर्व्याप्तिप्रसक्तेः। अन्धकारस्याऽपि निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात्। न चैवमपि रूपज्ञानं तन्निवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्प्रति तस्य तत्त्वप्रसक्तिरिति वाच्यम्। अतीन्द्रियदर्शिनि नक्तञ्चराऽऽदौ च तद्भावेऽपि तद्भावात्। स इति पदार्थः, अस्येति कार्यस्य ॥५६॥

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥६०॥

रत्ना० ३ परि०।

पागसासण-पाकशासन पुं०। पाकं दैत्यं शास्ति शिक्षयतीति पाकशासन। कल्प० १ अधि० १ क्षण। पाको नाम बल-

वान् रिपुः, स शिष्यते निराक्रियते येन स पाकशासनः । आ० म० १ अ० । शक्रे, पुरन्दरे, आ० म० १ अ० । प्रश्ना० । भ० । जी० । उपा० ।

पागसासणी-पाकशासनी-स्त्री० । इन्द्रजालसंज्ञिकायां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पागार-प्राकार-पुं० । शालायाम्, प्रश्न० २ पद । विपा० । गृहस्य पत्तनस्य वा ( आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० ) वप्रे. उत्त० ६ अ० । अनु० । रा० । प्रश्न० । जं० ।

पागारतिगणास-प्राकारत्रिकन्यास-पुं० । शालानां त्रयस्य न्यसने, पञ्चा० २ विव० ।

पाड-पाड-पुं० । चण्डे, पाडाश्चण्डाः । बृ० ३ उ० ।

पाडग-पाटक-पुं० । ग्रामान्तर्गते वसतिसन्निवेशे, जीत० । आचा० । आ० म० । ज्ञा० ।

पाडच्चर-पाटच्चर-पुं० । चोरे, " कलमो सुकुमालो तक्करो य पाडच्चरो थेणो ।" पाइ० ना० ७२ गाथा । आसक्तचित्ते, दे० ना० ६ वर्ग ३४ गाथा ।

पाडण-पा (त) टन-न० । करपत्राऽऽदिभिः ( आव० ६ अ० ) निष्कुटादधो वज्रभूमौ प्रक्षेपे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रुधिराऽऽदिगालने, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

पाडणा-पातना-स्त्री० । अखण्डस्यैव गर्भस्य पातनोपाये, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

पाडल-पाटल-त्रि० । रक्ते, " अरुणं सोणं रत्तं, पाडलं आयंबिर तंबं ।" पाइ० ना० ६३ गाथा ।

पाडलसउण-देशी-हंसे, दे० ना० ६ वर्ग ६ गाथा ।

पाडला-पाटला-स्त्री० । पुष्पजातिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । रा० । प्रज्ञा० । कल्प० । जं० ।

पाडलिउत्त-पाटलिपुत्र-न० । उदायिनृपवासिते मगधदेशीये गङ्गातटस्थे पुरभेदे, ती० ।

" आनम्य श्रीनेमिन-मनेकपुंरत्नजनिपवित्रस्य ।
श्रीपाटलिपुत्राऽऽह्वय-नगरस्य प्रस्तुमो वृत्तम् ॥ १ ॥ "

पूर्वे किल श्रीश्रेणिकमहाराजेऽस्तं गते तदात्मज कूणिकः पितृशोकाच्चम्पापुरीं प्राविशत्तस्मिँश्चालेख्यशेषतां प्रयाते तत्सूनुरुदायिनामधेयश्चम्पायां शोणिजानिरजनिष्ट । सोऽपि स्वपितुस्तानि तानि सभाक्रीडाशयनाऽऽसनाऽऽदिस्थानानि पश्यन्नस्तोकं शोकमुदवहत् । ततोऽमात्यानुमत्या नूतनं नगरं निवेशयितुं नैमित्तिकवरात् स्थानगवेषणायाऽऽदिशत् । तेऽपि सर्वत्र तांस्तान् प्रदेशान् पश्यन्तो गङ्गातटं ययु. । तत्र सकुसुमं पाटलितरुं प्रेक्ष्य तच्छोभावशीकृतास्तच्छाखायां निषण्णं चाषं व्यात्तवदनं स्वयं निपतत्कीटपेटकमालोक्य चेतस्यचिन्तयन्नहो यथाऽस्य चापपक्षिणो मुखे स्वयमेत्य कीटाः पतन्तः सन्ति तथाऽत्र स्थाने नगरे निवेशितेऽस्य राज्ञः स्वयं श्रियः समेष्यन्ति । तच्च ते राज्ञि व्यजिज्ञपन् । सोऽप्यतीव प्रमुदितः । तत्रैको जरन्नैमित्तिको व्याहरत्-देव ! पाटलातरुरयं न सामान्य., पुरा हि ज्ञानिना कथितम्- " पाटलात. पवित्रोऽयं, महामुनिकरोटिभूः ।" एकावनारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशेषः । ती० ३५ कल्प । ( प्रयागतीर्थकथा ' पयाग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०८ पृष्ठे उक्ता ) सूरेः करोटिर्यादोभिस्त्रोट्यमानाऽपि जलोर्मिभिर्नदीतीर नीता इतस्ततो लुलन्ती च शुक्तिवन्नदीतटे क्वाऽपि गुप्तविषमे प्रदेशे लग्ना तस्थौ, तस्य च करोटिकर्परस्यान्तः कदाचित् पाटलाबीजं न्यपतत्, क्रमात् करोटिकर्परं भित्वा दक्षिणहनोः पाटलातरुरुद्गतो, विशालश्चायमजनि । तदत्र पाटलिद्रोः प्रभावाच्चापनिमित्ताच्च नगरं निवेश्यताम्, आशिवाशब्दं च सूत्रं दीयताम् । ततो राज्ञाऽऽदिष्टा नैमित्तिकाः पाटलां पूर्वतः कृत्वा पश्चिमां तत उत्तरां ततः पुनः पूर्वां, ततो दक्षिणां शिवाशब्दावधि गत्वा सूत्रमपातयन्नेवं चतस्रः सीमाः पुरस्य सन्निवेशे बभूवुः । तत्राङ्किते प्रदेशे पुरमचीकरन्नृपः । तच्च पाटलीनाम्ना पाटलिपुत्रं पत्तनमासीत् । ती० । ( नन्दराजवृत्तम् ' णंदराय ' शब्दे चतुर्थभागे १७५० पृष्ठे गतम् ) " गौडवंशावतंसस्य, श्रीजिनप्रभसूरयः, कल्पं पाटलिपुत्रस्य. रचयां चक्रुरागमात् ॥ १ ॥ " ती० ३५ कल्प । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । जी० । संथा० । आव० । विपा० । विशे० । कल्प० ।

पाडलिसंड-पाटलिखण्ड-न० । स्वनामख्याते भारतखण्डीये पुरभेदे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । " पाडलिसंडे नयरे वणसंडे उज्जाणे उंबरदत्ते य जक्खे । तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सिद्धत्थराया । तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सागरदत्तसत्थवाहे होत्था ।" विपा० १ श्रु० ७ अ० । आ० म० । स्था० ।

पाडवण-देशी-पादपतने, दे० ना० ६ वर्ग १८ गाथा ।

पाडिअ-पातित-त्रि० । निपतिते, " औसड्ढं पाडिअं निसुड्ढं च ।" पाइ० ना० १६४ गाथा ।

पाडिअग्ग-देशी-विश्रामे, दे० ना० ६ वर्ग ४४ गाथा ।

पाडिअज्झ-देशी-पितृगृहात्पतिगृहे वध्वाः प्रापके, दे० ना० ६ वर्ग ४३ गाथा ।

पाडिक्कं-प्रत्येकम्-अव्य० । एकं जीवं प्रति प्रत्येकम् । " प्रत्येकम पाडिक्कं पाडिएक्कं " ॥ ८ । २ । २१० ॥ प्रत्येकमित्यस्यार्थे पाडिक्कं पाडिएक्कमिति प्रयोक्तव्यं वा । प्रा० २ पाद । " एगे जीवे पाडिक्कएणं सरीरेणं ।" एकं जीवं प्रति गतं यच्छरीरं प्रत्येकशरीरनामकर्मोदयात्तत्प्रत्येकं, तदेव प्रत्येककम्, दीर्घत्वाऽऽदि प्राकृतत्वात् । स्था० १ ठा० । " सयमेव पाडिएक्कं वित्तफलगं करेइ ।" एकमात्मान प्रति प्रत्येकं पितुः फलकाद् भिन्नमित्यर्थः । भ० १५ श० । स्था० । " पाडिक्कं पत्तेअं ।" पाइ० ना० २४५ गाथा ।

पाडिकअ-देशी-प्रतिक्रियायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा ।

पाडिच्छिय-प्रातीच्छित-त्रि० । प्रतीच्छकेषु, येऽन्यतो गच्छान्तरादागत्य साधवस्तत्रोपसंपदं गृह्णन्ति तेषु, व्य० १ उ० ।

पाडिपहिय-प्रातिपथिक-पुं० । प्रतिपथेनाभिमुखेन चरति प्रातिपथिकः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० । सम्मुखपथिके, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० २ उ० । संमुखीने, आचा० १ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० । नि० चू० ।

पाडिप्फद्धि ( ण् )-प्रतिस्पर्द्धिन्-त्रि० । " ष्प-स्पयोः फ " ॥ ८ । २ । ५३ ॥ " इति स्पस्य फादेशः । प्रा० २ पाद । समृद्ध्यादित्वाद् दीर्घः । पराभिभवेच्छौ. प्रा० २ पाद ।

पाडिय-पातित-त्रि० । अधोभ्रंशिते, जं० ३ वक्ष० ।

पाडियतिय-प्रात्यन्तिक-न० । अभिनयभेदे, रा० ।

पाडिया-पाटिका-स्त्री०। उत्तरीयवस्त्रे, म० १ श० १ उ०।

पाडिवआ-प्रतिपद्-स्त्री०। "स्त्रियामादविद्युतः" ॥८।१।१५॥ स्त्रियां वर्त्तमानस्यान्त्यव्यञ्जनस्याऽऽत्वं भवति। इत्यात्वमन्त्यस्य। प्रा० १ पाद। प्रथमतिथौ, स० १५ सम०। अने०। ज्यो०।

पाडिवआरिय-प्रातिपदाचार्य-पुं०। कल्किनृपसमकालिके सङ्घप्रवर्तकाचार्ये, ती० २ कल्प। "पाडिवओ नामेणं, अणगारो" ति०।

पाडिवेसिय-प्रातिवेश्मिक-पुं०। पार्श्वगृहवासिनि, ध०। "सुप्रातिवेश्मिके" इति। शोभना. शीलाऽऽदिसंपन्नाः प्रातिवेश्मिका यत्र तस्मिन्। कुप्रातिवेश्मिकत्वे पुनः "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति वचनात् निश्चितं गुणहानिरुत्पद्यत इति तन्निषेधः। दुष्प्रातिवेश्मिकास्त्वेते शास्त्रप्रसिद्धाः-"खरिआ तिरिक्खजोणी, तालायरसमणमाहणसुसाणा। वग्गुरि अहवा गुम्मिअ, हरिएस पुलिंदमच्छिंदा" ॥१॥ ध० १ अधि०।

पाडिसार-देशी-पटुतायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १६ गाथा।

पाडिसिर-देशी-खलीनयुक्तायां खलायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ४२ गाथा।

पाडिस्सुइय-प्रातिश्रुतिक-न०। नाट्यशास्त्रप्रसिद्धे अभिनयभेदे, जं० ५ वक्ष०। आ० म०।

पाडिहत्थी-देशी-मालायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ४२ गाथा।

पाडिहारिय-प्रातिहारिक-न०। प्रतिहरणं प्रतिहारः, प्रत्यर्पणं, तमर्हतीति प्रातिहारिकम्। पुनः समर्पणीये संस्तारकाऽऽदौ, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। आचा०। प्रव०। दशा०।

पाडिहुअ-देशी-प्रतिभुवि, (साक्षिणि) दे० ना० ६ वर्ग ४२ गाथा।

पाडिहेर-प्रातिहार्य-न०। जिनानामतिशयपरमपूज्यत्वख्यापकालङ्कारविशेषे, अष्ट महाप्रातिहार्याणि जिनानाम्-"अशोकवृक्ष १ सुरपुष्पवृष्टिः २ दिव्यध्वनि३श्चामर ४ मासनं च ५। भामण्डलं ६ दुन्दुभि७रातपत्रं ८, सत् प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥१॥" दर्श० १ तत्त्व। देवृतोपहारे, औ०। ज्ञा०।

पाडीगणिय-पाटीगणित-न०। यावत्तावातिके गुणकारे, स्था० १० ठा०।

पाडुच्चिया-प्रातीतिकी-स्त्री०। बाह्यं वस्तु प्रतीत्याऽऽश्रित्य भवा सा प्रातीतिकी। स्था० २ ठा० १ उ०। जीवाऽऽदीन् प्रतीत्य भवन्त्यां क्रियायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ०। "पाडुच्चिया किरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-जीवपाडुच्चिया चेव, अजीवपाडुच्चिया चेव"। स्था० २ ठा० १ उ०। आव०। जीवं प्रतीत्य यः कर्मबन्धः सा तथा। अजीवं प्रतीत्य यो रागद्वेषोद्भवः तज्जो यः कर्मबन्धः सा अजीवप्रातीतिकी। स्था० २ ठा० १ उ०।

पाडुच्ची-देशी-तुरगमण्डने, दे० ना० ६ वर्ग ३६ गाथा। "पाडुच्ची तुरयदेहपिंलरणं। पाइ० ना० २१० गाथा।

पाढ-पाठ-पुं०। पठन पाठः। पठ्यते वा तदिति पठ्यते व्यक्तं क्रियतेऽनेनास्मादस्मिन्निति अभिधेयमिति पाठः। आ० म० १ अ०। शास्त्रे, "पाठो त्ति वा सत्थं ति वा एगट्ठा।" आ० चू० १ अ०। प्रश्न०।

पाठशब्दार्थमाह-

पढणं पाठो तं ते-ण तम्मि व पढिज्जएऽभिधेयं ति। (१३८४)

पठनं पाठः। पठ्यते वा व्यक्तीक्रियते तदिति पाठ। पठ्यतेऽभिधेयमनेनास्मादस्मिन्निति वा पाठः। ग्रहणाऽऽसेवनाशिक्षायाम्, विशे०। आव०।

पाढयत-पाठयत्-त्रि०। श्रावकादिभ्यः सूत्रदानतः भाणयति, जीवा०।

अधुना विंशतितममाह-

अन्ने उ गुरुयसिरिमो-हरायआणापरव्वसा बाला।
पाढिंति सावयजणे, उस्सग्गऽववायगाहाओ॥१॥

अन्ये पुनरपरे गुरुकश्रीमोहराजाऽऽज्ञापरवशा महाऽज्ञाननृपतिशासनाऽऽयत्ताः,अत एव बाला हिताहितविवेकविकलाः, पाठयन्ति सूत्रदानतः श्रावकजनान् श्राद्धलोकान्, उत्सर्गापवादगाथाः समयप्रसिद्धा इति गाथार्थः।

तत्किं सम्मतं, न वेत्याह-

तं तु न कहिं पि हरिसं, जणेइ सुवहुस्सुयाण सूरीण।
जम्हा निसीहगंथे, सावयमुद्दिस्स भणियमिणं॥२॥

तत्पुनर्न कथमपि न केनापि प्रकारेण हर्षं सन्तोषं जनयत्युत्पादयति सुवहुश्रुतानामतिशयाऽऽगमज्ञानानाम्, इतरेषां तु जनयेदपि, सूरीणामाचार्याणां, यस्मान्निशीथग्रन्थे प्रतीते, श्रावकं श्राद्धमुद्दिश्याऽऽश्रित्य भणितमुक्तमिदं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः।

तदेवार्थतो गाथाद्वयेनाऽऽह-

इयरसुयं पि हु पाढं-तयाण साहूण संजईणं च।
पच्छित्तं खलु एयं, सिद्धंताओ पुणो तेसिं॥३॥
छज्जीवणिया सुत्ते-णुण्णा पिंडेसणेव अत्थाओ।
कप्पइ पढिउं सोउं, व आगमाओ न उण अन्नं॥४॥

इतरसूत्रमपि प्रकरणाऽऽदिकं न केवलसिद्धान्तसूत्रमित्यपिशब्दार्थः। पाठयता सूत्रदानत श्रावकाऽऽदिकमित्यध्याहारः साधूनां यतीनां,संयतीनां चार्यिकाणां,च. समुच्चये। प्रायश्चित्तमेव समये प्रनीतमुत्सर्गतः। खलुरवधारणे, एतत् वक्ष्यमाणं सिद्धान्तादागमात्पुनस्तेषां श्रावकाणाम्।३। षड्जीवनिका समयप्रसिद्धा, सूत्रेण पाठदानलक्षणेन, अनुज्ञाता सूत्राऽनुज्ञायामर्थेऽपि एतस्याऽनुज्ञातो द्रष्टव्यः, अर्थतः अभिधेयमाश्रित्य पिण्डैषणैव प्रतीना, कल्पते युज्यते, अपवाद इति शेषः। पठितुं सूत्रत, श्रोतुं वाऽर्थतः, आगमात् सिद्धान्ता न पुनर्नैवान्यदपरम्। तथा च निशीथगाथार्द्धम्-"पव्वज्जाए अभिमुह-वायंति गिहिअन्नपासंडी" एस चूर्णि-"गिहिं अन्नपासंडिं वा पव्वज्जाभिमुहं सावगं वा छज्जीवणिय त्ति जाव सुत्तओ अत्थओ जाव पिंडेसणाओ एस गिहत्थाइसु अववाउ त्ति।" इति गाथाद्वयार्थः।

सूत्रेण विहितसंबन्धां गाथामाह-

किं च जईण वि परिणा-मियाण दिज्जंति छेयसुत्तत्था।

अइपरिणयाणऽपरिणा-मियाण न उणंऽववदिट्ठंता ॥५॥

किं चेत्यभ्युच्चये। श्रावकाणां तावत् छेदग्रन्थाऽऽदीनां सर्वथा निषेध. सिद्ध एव, यतीनामपि अतिपरिणामकाणामुत्सर्गापवादप्रियाणां दीयन्ते वितीर्यन्ते छेदग्रन्थसूत्रार्थाः प्रतीताः,अपरिणामकाणामपवादरसिकानामुत्सर्गैतन्त्रनिष्ठानां नैव न च, पुनःशब्दोऽवधारणार्थो दर्शित एव। आम्रदृष्टान्तात् चूतज्ञातात्। तच्चेदम्-किल केनचिदाचार्येण सिद्धान्तरहस्यं दातुकामेन निजक्षुल्लकपरीक्षार्थं क्षुल्लकत्रयकमाहूयेदमुक्तम्-भो अस्मदर्थमाम्रफलान्यानयत। ततस्तैरिदं चिन्तितम्,प्रथमेन प्रहृष्टसहजवदनकमलेनाकृत्यमिदं, द्वितीयेन न कर्तव्यमिदं,तृतीयेन च किं खण्डैरखण्डैर्वाल्पैरितरैर्वा पक्वैरपक्वैः प्रयोजनमिति न सम्यग् ज्ञायते। ततो गुरुमभिवन्द्य पृष्टवान्-भगवन्नवगतो युष्माकमादेशः, परं विशेषतो ज्ञातुमिच्छामि, ततः कथयन्तु पूज्या येन तान्यानयामि शीघ्रमिति। अत्र प्रथमः उत्सर्गप्रियत्वादपरिणामको, द्वितीयस्त्वपवादरुचित्वादप्यपरिणामकः, तृतीयस्तूभयप्रियत्वात्परिणामकः। आद्यावयोग्यौ, तृतीयस्तु योग्य इति गाथाऽर्थः।

अत्रैवाऽर्थे दोषमाविष्कुर्वन्निदमाह-

अविहियउवहाणाणं, नाणइयारेण तह असज्झाए।
सज्झाय कुणंताणं, ववहारे भणियमेवं ति ॥ ६ ॥

अविहितोपधानानामकृततपसां ज्ञानातिचारेण श्रुतमालिन्यजनकेन, तथा अस्वाध्याये कालवेलाऽऽदौ स्वाध्याय पाठं कुर्वतां विद्धता व्यवहारे छेदग्रन्थाऽऽख्ये भणितमुक्तमेवमित्थमितिर्वाक्यसमाप्ताविति गाथाऽर्थः।

तदेवाऽऽह-

उम्मायं व लभेज्जा, रोगायंकं व पाउणे दीहं।
केवलिपन्नत्ताओ, धम्माओ वावि भंसेज्जा ॥ ७ ॥

प्रकटाऽर्थो।

अत्रैवार्थे दोष दर्शयन् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकगर्भगाथाद्वयमाह-

जह रन्ना पडिसिद्धे, पदातिनो देंत गेण्ह रयणाओ।
पावइ दंडमिहोग्गं, तह जिणरन्ना तु नाणुमए ॥ ८ ॥
छेयसुयरयरयणोव-मेओ मोहा पढंत पाढेंता।
पावेंति महाघोरं, भवदंडं लंघियजिणाणा ॥ ९ ॥

यथेति दृष्टान्तार्थो, राज्ञा भूपतिना प्रतिषिद्धे निवारिते नैतानि कस्य चिद्दातव्यानीति, ददत् प्रयच्छन् भाण्डागारिकाऽऽदिः गृह्णंश्चाऽऽददानः पदात्यादीन् रत्नानि माणिक्यानि नृ' पूरुषः प्राप्नोति लभते दण्डं चित्तापहाराऽऽदिकम, इह जगत्गुरु मत्कत्वपादाटनाऽऽदि। तथेति दार्ष्टान्तिकयोजनार्थम्, जिनराजा सर्वज्ञेनेश्वरेण तु तथैव न नैवाऽनुमतानननुज्ञाता- न् छेदसूत्रार्थान् रत्नोपमान् माणिक्यसदृशान् मोहादज्ञानान् पठन्त. श्रावकाऽऽदय., पाठयन्तश्च नानिव यत्यादय.। विभक्तिव्यत्ययात् प्राप्स्यन्ति लप्स्यन्ते महाघोरम् अतीव रौद्रं भवदण्डं संसारभ्रमणं [illegible] ?,लङ्घितजिनाज्ञा त्यक्तसर्वज्ञाज्ञा। इति गाथाद्वयार्थः।

[illegible]-

तम्हा मा जीव ! तुमं, [illegible] देसु [illegible] ।

जं पि य कहेसि किंची तं पि य इयबुद्धिए कहसु ॥१०॥

तस्मान्मेति निषेधे जीवात्मन्! देहि प्रयच्छ छेदसूत्रार्थान्, उपलक्षणत्वादस्यान्यदपि सिद्धान्तनिषिद्ध द्रष्टव्यम्। यदपि कथयसि व्याचक्षसे किंचित् स्तोकं, दीर्घता चात्र पूर्ववत्। तदपि च इतिबुद्ध्या एवंमत्या कथय ब्रूहीति गाथाऽर्थ.।

तामेवाऽऽह-

अविकोविएहिँ तरलिय-मइणो मा धम्मबाहिरा हुंतु।
-एए भव्वा दंसे-मि तेण पडिवक्खवयणाइं ॥ ११ ॥

अविकोविदैरगीतार्थैस्तरलितमतयो विसंस्थुलबुद्धयो, मेति प्रतिषेधे, धर्मबाह्या दीनाऽऽश्चीर्णा भवन्तु एते प्रत्यक्षवर्तिनो भव्या मोक्षगामिनः। दर्शयामि प्रकटयामि तेन कारणेन प्रतिपक्षवचनानि उत्तरवचांसि।

ननु अन्यान् वारयसि स्वयं तु संवादार्थं निजभणितस्य सर्वत्र तद्गाथाः कथयसि, विरुद्धमिदम् ?। सत्यम्। यदा विप्रतिपन्नो जनो दर्शनं प्रति भवति तदा रहस्यकथनेऽप्यदोषः। तथा च निशीथे भणितमिदम्- "तम्हा न कहेयव्वं, आयरियेणं तु पवयणरहस्सं। खेत्तं कालं पुरिसं, नाऊण पगासए गुज्झं ॥१॥" इति गाथाऽर्थ.।

व्यतिरेकमाह—

जइ पुण तुमं पि एमे-व कहेसि सड्ढाण दुव्वियड्ढाणं।
ता तुज्झ वि भवदंडो, निरत्थओ एरिसो होही ॥१२॥

यदि पुनस्त्वमपि, न केवलं पूर्वोक्ता इत्यपेरर्थ'। (एमेव त्ति) तरलितमत्यभावे कथयसि जल्पसि श्राद्धानां श्रावकाणां,किं विशिष्टानां ?,दुर्विदग्धानां ज्ञानलवगर्वा[illegible] तस्मा[illegible] तवापि न केवलं पूर्वोक्तानाम्,इत्यपेरर्थ.। भवदण्डं संसार..यं निरर्थको निःप्रयोजनो ईदृग् ईदृशो भविष्यति। इति गाथाऽर्थः। जीवा० २० अधि०।

पाढग-पाठक-पुं०। बहुश्रुतत्वनिबन्धनपदवीविशेषभाजि, अष्ट० ३२ अष्ट०।

पाढणया-पाठनता-स्त्री०। वाचनतायाम्, "उद्दिसण वायण त्ति य, पाढणता चेव एगट्ठा।" पं० भा० ४ कल्प।

पाढा-पाठा-स्त्री०। अनन्तजीववनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद।

पाढीण-पाठीन-पुं०। मत्स्यविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

पाण-प्राण-पुं०। प्राणइन्द्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। "मायंगा तह जणंगमा पाणा।" पाइ० ना० १०५ गाथा। चाण्डाले, व्य० १ उ०। ये ग्रामस्य नगरस्य च बहिराकाशे वसन्ति तेषां गृहाभावात्। व्य० ३ उ०। नृ०। गुच्छवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

पान-न०। पीयत इति पानम्। कर्मणि ल्युट्। उच्चवर्णरस्याऽऽ. सुपेते दश० ५ अ० १ उ०। खर्जूरद्राक्षापानकाऽऽदौ, प्रश्न० ४ द्वार। आचा०। स्था०। उत्त०। चं० प्र०। भ०। सुराऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ०। सू० प्र०। प्रश्न०। सौवीराम्लाऽऽदिध मने, ध० २ अधि०। दशा०। दश०। उष्णोदकाऽऽदौ, स० १२ अङ्ग०। दर्श०। आव०। आचा०। आ० चू०। पञ्चा०। त्रिफलाद्युत्तं प्रासुकं पानीयं कुत्र सिद्धान्ते प्रोक्तमस्तीति ? प्रश्ने, उत्तरम् अत्र त्रिफलाद्युत्तं प्रासुकमुदकं सिद्धान्तानुसारतः प्रवर्तते यत -"तुवर फले य पत्ते, रुक्ख[illegible]-

लातुप्पमहुणादीसु । पासंदणे पवाते आयवतत्ते वहे अवहे । ॥२०४॥" इति निशीथभाष्यगाथा । एतच्चूर्णौ तुवरफला इ रीतक्यादय इति व्याख्यातमस्तीति ॥७॥ ह्री०३ प्रका०। प्रव०।

संप्रति पानमाह-

पाणं सोवीर जवो-दगाऽऽइ चित्तं सुराइयं चेव ।
आउक्काओ सव्वो, कक्कडगजलाइयं च तहा ॥ २१२ ॥

सौवीरं काञ्जिकं,यवोदकाऽऽदि यवधावनम् आदिशब्दाद्गोधूमषष्टिकाऽऽदितन्दुलकोद्रवधावनाऽऽदिपरिग्रहः। तथा चित्रं नानाप्रकारं सुराऽऽदिकं चैव, आदिशब्दात्सरकाऽऽदिपरिग्रहः, तथाऽप्काय. सर्वः सर सरित्कूपाऽऽदिस्थानसंबन्धी, तथा कर्कटजलाऽऽदिकं च कर्कटकानि चिर्भिटकानि, तन्मध्यवर्ति जलं, तदादिर्यस्य तत्कर्कटजलाऽऽदिकमादिशब्दात् खर्जूरद्राक्षाचिञ्चणिकापानकेक्षुरसाऽऽदिग्रहः ।- एतत्सर्वं पानम्। प्रव० ४ द्वार ।

चित्रपानलक्षणमाह-

उस्सेइम संसेइम, पुप्फरसो रत्तपभिइ तणुजायं ।
आउक्काओ सव्वो, सोवीरजवोदगाईयं ॥ ४५ ॥
उच्छुरस मेरयसुरा-ऽऽसव वप्फं य सिरिफलाइ फलनीरं।
हिमकरवहरतणाई, चित्तं पाणं विणिद्दिट्ठं ॥४६॥ ल०प्र०।

पानीयस्य अचित्तत्वकाल -उष्णकालाऽऽदौ उष्णं प्रासुकं वा पानीयं पश्चाऽऽदिप्रहरं यावदचित्तं, तत. परं सचित्तं भवतीत्यक्षराणि कुत्र सन्ति । तथा तत्र यावत्त्रसजीवोत्पत्तिर्जाता न भवति तावद् गालितं तत्पातुं कल्पते, न वा इति प्रश्ने,उत्तरम्-अत्र उष्णकालाऽऽदौ उष्णं प्रासुकं वा पानीयं पश्चाऽऽदिप्रहरं यावदचित्त, तत. परं सचित्तं भवतीत्यक्षराणि प्रवचनसारोद्धारसूत्रवृत्तिमध्ये प्रोक्तानि । तथा तत्र त्रसजीवोत्पत्तिर्जाता भवतु,मा वा तथाऽपि गालितमेव तद्व्यापारणीयं,नागालितमिति परम्परा दृश्यते इति । ह्री०४ प्रका०। पानीयानामचित्तत्वकाल.-एकविंशतिपानीयानां प्रासुकीभवनानन्तरं पुनः कियता कालेन सचित्तता भवति ? । तथा तेषां सर्वेषां साम्प्रतं प्रवृत्ति. कथं नास्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र उष्णोदकस्य यथा वर्षाऽऽदौ प्रहरत्रयाऽऽदिक काल. प्रोक्तोऽस्ति तथा प्रासुकोदकधावनाऽऽदीनामपीति बोध्यम्, तेषां प्रवृत्तिस्तु यथासंभवं विद्यते इति । ह्री० ३ प्रका० । पा भावे ल्युट् पानं, जलाऽऽदेरुपभोगे, दर्श० १ तत्त्व । उच्छ्वासाऽऽदौ स्था० १ ठा० । बले, स्था० ६ ठा० । प्रव० । जीविते, ग०२ अधि०। "पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, नि श्वास उच्छ्वासमथान्यदायु । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥१॥" दर्श० ५ तत्त्व०। विशे०। सूत्र०। प्रव०। दश०। आतु०। आव०। जी०। द्विविधा प्राणा.-द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च। प्रज्ञा० १ पद। ( ते च 'पण्णवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८८ पृष्ठे व्याख्याता ) निश्वासे, स०। भ०। ( केप्राणिन. कियता कालेन प्राणन्तीति 'आण' शब्दे द्वितीयभागे १०५ पृष्ठे उक्तम् ) उच्छ्वासनिःश्वासयोरपि काले, तं० । संख्यातावलिकाप्रमाणे निश्वासकाले, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

हट्ठस्सऽनवगप्पस्स, णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो ।
एगे ऊसासणीसासे, एस पाण त्ति वुच्चइ ॥ १ ॥

हृष्टस्य तुष्टस्य अनवकल्पस्य जरसा अपीडितस्य निरुपक्लिष्टस्य व्याधिना वाऽनभिभूतस्य जन्तोर्मनुष्याऽऽदेरेकउच्छ्वासयुक्तो निःश्वास उच्छ्वासनिश्वास एष प्राण उच्यते । अनु०। प्राणशब्देनाभेदोपचारात् तद्वान् गृह्यते । जन्तौ, आचा०१ श्रु० २ अ०३ उ०। दशविधप्राणभोक्तृत्वात्तदभेदोपचारात् प्राणिनि, सूत्र०१ श्रु० २ अ० २ उ०। द्वीन्द्रियाऽऽदिजन्तौ, वृ०६ उ० । "प्राणा द्वित्रिचतु' प्रोक्ता', भूतास्तु तरव. स्मृता. । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया',सत्त्वा. शेषा. इतीरिताः ॥१॥" स्था०५ ठा०२ उ० । सूत्र० । आचा० । आ० चू० । रसजाऽऽदिषु कुन्थ्वादिषु प्राणिषु, आव० ४ अ० । स्था० । आचा० । ज्ञा० । कल्प० । "सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे सत्ता सव्वे जीवा । " सर्वे प्राणाः सर्व्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियवलोच्छ्वासनि.श्वासाऽऽयुष्कलक्षणप्राणधारणात् प्राणा. । आचा० १ श्रु ४ अ० १ उ० । ( कतिविधा. क्षुद्रजन्तु प्राणा इति 'खुड्डजंतु' शब्दे तृतीयभागे ७५० पृष्ठे उक्तम् )

पाणकलंद पाणकलन्द -न० । " पाणकलंदं कुंडं । " उदरमध्यभागभवे, उपा० ।

पाणक्कमण--प्राणयाक्रमण--न० । द्वीन्द्रियाऽऽदीनां त्रसानां पादेन क्रीडने, आव० ४ अ० । ध० ।

पाणक्खय -प्राणक्षय--पु० । बलक्षये, भ० ३ श० ७ उ० । मारिकृते प्राणनाशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पाणग-पानक- न० । द्राक्षापानकाऽऽदौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । भ० । "नरवइजोग्गो पंचहिं वारसेहिं जं सीसगं होज्जा लोणदव्वे सहियं तं पाणगो त्ति वुच्चइ । " प० चू० १ कल्प । प० भा० । व्रतियोग्ये जलविशेषे, भ० १५ श० । ( उत्सेदिमाऽऽदिपानकानामचित्तीभवनम् 'अचित्त ' शब्दे प्रथमभागे १८७ पृष्ठे गतम् )

अचित्तत्वकाल कति प्रहरान् यावत्-" पणपहर माह फग्गुण, पहरा चत्तारि चित्तवइसाहे । जिट्ठासाढे तिपहर, तेण परं होइ अचित्तो " ॥ २ ॥ कालितस्तु मुहूर्त्तादूर्द्धमचित्त.,तस्य चाऽचित्तीभूतानन्तरं विनशनकालमान तु शास्त्रे न दृश्यते,परं द्रव्याऽऽदिविशेषेण वर्षाऽऽदिविपरिणामाऽभवनं यावत्कल्पते उष्णनीरं तु त्रिदण्डोत्कालितावधि मिश्रम्। यदुक्तम् पिण्डनिर्युक्तौ-

"उसिणोदगमणुवत्ते, दडे वासे अ पडिअमित्तम्मि ।
मुत्तूणाऽऽदेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥ १८ ॥ "

अनुद्वृत्तेषु त्रिदण्डेषु उत्कालेषु जलमुष्णं मिश्रं, तत. परमचित्तं,तथा वर्षे वृष्टौ पतितमात्राया ग्रामाऽऽदिषु प्रभूतमनुष्यप्रचारभूमौ यज्जल तद्यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम्, अरण्यभूमौ तु यत्प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चान्नि पतत सचित्तम्। आदेशत्रिकं मुक्त्वा तण्डुलोदकमबहुप्रसन्नं मिश्रम्, अतिस्वच्छीभूतं त्वचित्तम्। अत्र त्रय आदेशा यथा केचिद्वदन्ति तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डादन्यत्र भाण्डे उत्क्षिप्यमाणे त्रुटित्वा भाण्डपार्श्वे लग्ना बिन्दवो यावन्न शाम्यन्ति तावन्मिश्रम् । अपरे तु तथैव जा ना यावद् बुद्बुदा न शाम्यन्ति तावत् । अन्ये तु यावत्तन्दुला न सिद्ध्यन्ति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा अनादेशा , रूक्षेतरभाण्डपवनाग्निसंभवाऽऽदिभिरेषु कालनियमस्याभावात्ततोऽतिस्वच्छीभूतमेवा-

चित्तम् । ध० २ अधि० । ( ' तिव्वोदग ' इत्यादि गाथा ' आउक्काय ' शब्दे द्वितीयभागे २३ पृष्ठे गता ) ( ' परिट्ठवणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७२ पृष्ठे उदकसंसक्तस्याऽऽहारस्य परिष्ठापनिका गता )

चतुर्थभक्तिकाऽऽदेः चतुर्थभक्तिकस्य पानकानि-

चउत्थभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए । तं जहा-उस्सेइमे, संसेइमे, चाउलधोवणे । छट्ठभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए । तं जहा-तिलोदए,तुसोदए,जवोदए । अट्ठमभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए । तं जहा आयामए, सोवीरए, सुद्धवियडे ।

तद्यथाऽस्ति स चतुर्थभक्तिकस्तस्य,एवमन्यत्रापि,शब्दव्युत्पत्तिमात्रमेतत्, प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्ताऽऽदिशब्दानामेकाऽऽद्युपवासाऽऽदिष्विति । भिक्षणशीलं धर्मस्तत्साधुकारिता वा यस्य स भिक्षुर्भिनत्ति वा क्षुधमिति भिक्षुस्तस्य पानकानि पानाऽऽहारा उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमं येन व्रीह्यादि पिष्टं सुराऽऽद्यर्थम् उत्स्वेद्यते । तथा संसेकेन निर्वृत्तमिति संसेकिमम् । अरणिकाऽऽदिपत्रशाकमुत्काल्य येन शीतलजलेन संसिच्यते तदिति । तन्दुलधावनं प्रतीतमेव । तिलोदकाऽऽदि तन्तत्प्रक्षालनजलं, नवरं तुषोदकं व्रीह्युदकम् । आयामकमवश्रावणं सौवीरकं काञ्जिकं शुद्धं विकटमुष्णोदकम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । ( 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८८६ पृष्ठे तस्मै काञ्जिकं तण्डुलोदकं संसृष्टं चेति क्रमेण देयमित्युक्तम् )

पानकग्रहणविधिः—" गच्छम्मसइएँ अकप्पे, अंबिलभरिए अ ऊसित्ते " इति द्वारमभिधित्सुः प्रथमतः संवन्धमाह—

भुत्ते भुंजतम्मि तु, जम्हा नियमा दवस्स उवओगो ।
समहियतरो पयत्तो, कायव्वो पाणए तम्हा ॥६३५॥

भुक्ते भोजनानन्तरं पानार्थं, संज्ञाभूमिगमनार्थं वा,भोजनलग्नगलरक्षणार्थं यस्मान्नियमाद् द्रवस्य पानकस्योपयोगो भवति तस्मात् भक्तग्रहणप्रयत्नात् समधिकतरः प्रयत्नः पानकग्रहणे कर्तव्य. । इत्यतस्तद्ग्रहणविधिरुत्सृज्यते ।
इह शतिकेषु वा गच्छेषु प्रभूतेन पानकेन कार्यं भवति, तच्च कल्पनीयमेव ग्रहीतव्यम् , अतस्तद्विधिप्रतिवद्धद्वारसंग्राहिकामिमा गाथामाह-

पाणगजाइणियाए, आहाकम्मस्स होइ उप्पत्ती ।
पूतीएँ मीसजाए, कडे य भरिए य ओसित्ते ॥६३६॥

पानकस्य याञ्चायामाधाकर्मण उत्पत्तिर्भवति सा वक्तव्या । तत (पूइ त्ति) पूतिका (मीस त्ति) स्वगृहयतिमिश्रा स्वगृहपाखण्डिमिश्रा स्वगृह यावदर्थिकमिश्रा च । ( कडे य त्ति ) आधाकृता क्रीतकृताऽऽत्मार्थकृता वक्तव्या ( भरिए त्ति ) भरणं भरितमस्ति नामाभिधातव्यम् ( ओसित्त त्ति ) उत्सेचनमुत्सिक्तं तद्वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थ. ।

अथ विस्तरार्थमाह-

अणोऽन्नदवोभासण-संदेसो पुणु वेड घरसामी ।
वल्लं ठवेहि अन्नं, महल्लसोवीरिणि गेहे ॥ ६३७ ॥

कोऽपि भद्रको गृहपतिरन्यान् संघाटकान् द्रव्यस्याऽवभाषणं कुर्वाणान् दृष्ट्वा तेषां च मध्ये केषाञ्चित् संघाटकानां संदेशं मुत्कलनं गृहीतम् । अग्रेतनैः संघाटकैः पानकं नास्तीदानी भवद्योग्यमिति क्रियमाणं निरीक्ष्य-(पुण्णे त्ति) पुण्यार्थं गृहस्वामिनीं ब्रवीति-धर्मप्रिये ! मा कञ्चनाऽपि साधुं जङ्गमं निधिमिव गृहाङ्गणमायात प्रतिषेधयेः । किं भवत्या दानधर्मकथायामयं श्लोको नाऽऽकर्णित.? । यथा -"दातुरुन्नतचित्तस्य, गुणयुक्तस्य चाऽर्थिनः । दुर्लभः खलु संयोगः, सुबीजक्षेत्रयोरिव ॥ १ ॥ " ततः सा ब्रूयात्-नास्त्येतावन्तं साधूना योग्यं काञ्जिकम् । ततोऽसौ गृहपतिर्ब्रूयात्-कल्ये स्थापयान्यां महतीं सौविरीणीमम्लिनीम् , गेहे येन सर्वेषामपि योग्य पानकं पूर्यते । एतच्चाकर्ण्य वक्तव्यम्-

मा काहिसि पडिसिद्धो, जइ बूया कुणसु दाणमन्नेसिं ।
ते उद्दिट्ठविवज्जी, न यावि निच्चं अधिपडंति ॥ ६३८ ॥

न कल्पते एवं विधीयमानं ग्रहीतुमतो मा कार्षीः । यद्येवं प्रतिषिद्धः स गृहस्वामी ब्रूयाद् प्रिये ! कुर्यास्त्वं तावदपरा सौवीरिणीं, यद्येष न गृहीष्यति ततोऽन्येषां साधूनां पानकदानं कारिष्यते । ततो वक्तव्यम्-तेऽपि साधव उद्दिष्टविवर्जिनः साधर्मिकमुद्दिश्य कृतं वर्जयितुं शीलं येषां ते तथा,नाऽपि च नित्यं पानकार्थमपि निपतन्ति, अनियतभिक्षाऽटनशीलत्वादेषाम् ।

इत्थमुक्ते यद्यसौ गृहस्वामी ब्रूयात्-

अम्ह वि होहिइ कज्जं, घेच्छंति वहू य अन्नपासंडा ।
पत्तेयं पडिसेहो, साहारे होइ जयणा उ ॥ ६३९ ॥

अस्माकमपि भविष्यति कार्यं काञ्जिकेन, ग्रहीष्यन्ति च वहवोऽन्येऽपि युष्मद्व्यतिरिक्ताः पाखण्डिन इति । तत्र साधारणे यतना कर्त्तव्या । यथा अस्माकं तावन्न कल्पते (पत्तेयं पडिसेहो त्ति ) अथ गृहपतिर्भणति-अन्येऽपि निर्ग्रन्था, पानकार्थमायास्यन्ति, तेभ्यो दास्यते, इत्थं प्रत्येक निर्ग्रन्थानेवाऽऽश्रित्याऽभिधीयमाने प्रतिषेध' कार्यो,न कल्पते साधूनामित्थं विधीयमानम् । एवं प्रतिषिद्धेऽपि कोऽपि सप्त सौवीरिणीः स्थापयेत् ।

ताश्चैताः—

आहाकम्मि य संथर,पासंडमीसए जाव कीएँ पूइ अत्तकडे ।
एक्केक्कम्मि उ सत्त उ, करे य काराविए चेव ॥६४०॥

आधाकर्मिका साधूनामेवार्थाय कारिता १, स्वगृहपतिमिश्रा गृहस्य साधूनां चार्थाय निर्मापिता २, स्वगृहपाखण्डिमिश्रा, गृहस्य पाखण्डिनां चार्थाय कारिता ३, यावदर्थिकमिश्रा तु यावन्त केचनागारिण पाखण्डिनस्त्वागमिष्यन्ति स्वगृह चोद्दिश्य कृता ४, क्रीतक्रीता साध्वर्थं मूल्येन गृहीता ५ पूतिकर्मिका आधाकर्मिकसुधाऽऽदिना प्ररितच्छिद्रा ६ आत्मार्थं कृता,स्वगेहार्थमेव स्थापिता ७ एतासां सप्तानां सौवीरिणीनामेकैकस्याः संथरभरणानि भवन्ति सप्त च सप्तभिस्ताडित एकोनपञ्चाशद्भवति । एषा च प्रत्येक कृते कारापिते च संभवनि, ततो द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता भेदानामष्टानवतिरिति ।

अथ सप्त भरणानि दर्शयति-

कम्मघरं पासंडे, जावंतिय कीय पूइ अत्तकडे ।

भरणं सत्तविकप्पं, इक्किक्कीए उ रसिणीए ॥ ६४१ ॥

आधाकार्मिकं १, स्वगृहयतिमिश्रं २, स्वगृहपाखण्डिमिश्रं ३, यावदर्थिकमिश्रं ४ क्रीतकृतं ५, पूतिकर्मिकम् ६,आत्मार्थकृतं चेति ७ सप्तविकल्पं सप्तप्रकारं भरणमेकैकस्यां रसिन्यां सौवीरिण्या भवति ।

अथ किं सप्तैव रसिन्यो भवन्ति नाधिका इत्युच्यते–

सत्त त्ति नवरि नेम्म, उग्गमदोसा हवंति अन्ने वि ।
संजोगा कायव्वा, सत्तहिँ भरणेहिँ रासि.ऐण ॥६४२॥

सप्तेति यदुक्तं तन्नवरं केवलं नेम चिह्नमुपलक्षणं द्रष्टव्यं,तेनो-द्गमदोषा औद्देशिकाऽऽदयोऽन्येऽपि यथासंभवमत्र मन्तव्याः । याः प्रतिनिरभ्यधिका अप्यक्षिन्यो भवन्ति, अत्र च संयोगा भङ्गका कर्तव्याः, सप्तभिर्भरणैः सप्तानामेव रसिनीनाम् । तथाहि–आधाकर्मिका सौवीरिणी भरणमपि तस्यामा-धाकर्मिका सौवीरिणीभरणं स्वगृहयतिमिश्रम्, एवं सौवीरिणी तस्यैव भरणं पाखण्डिमिश्रम्, यावदर्थिकमिश्रम्, क्रीतकृत, पूतिकर्मिकम् आत्मार्थकृतम् । एवं स्वगृहयतिमिश्राऽऽदिष्वपि सौवीरिणीषु प्रत्येकं सप्त २ भरणानि योजनीयानि ।

ततश्च कियन्तो भङ्गका उत्तिष्ठन्ते इत्याह–

जावइया रसिणीओ, तावइया चेव होंति भरणा वि ।
अन्नोन्नो पाए भेया, सयग्गसो यावि णेयव्वा ॥६४३॥

यावन्त्यः यावत्संख्याका रसिन्यस्तावन्त्येव तावत्संख्याकान्यत्र भवन्ति भरणानि । ततश्च यदा सप्ताम्लिन्यः, सप्त च भरणानि गृह्यन्ते तदा एकोनपञ्चाशद्भेदा भङ्गका भवन्ति । अथान्यानप्युद्गमदोषान् प्रक्षिप्य बहुतरा सौवीरिण्यो बहुतराणि च भरणानि विवक्ष्यन्ते तत शताग्रशः शतसंख्यापरिच्छिन्ना अपि भदा मन्तव्याः ।

अथाऽऽधाकर्मिकभरणं भावयति मूलभरणं च भावयति–

मूलभरणं तु वीया, तहिँ छम्मासा न कप्पए जाव ।
तिन्नि दिणा कड्ढिए,चाउलउदए तहाऽऽयामे ॥६४४॥

मूलभरणं नाम प्राशुकायामम्लिन्या राजिकाऽऽदीनि बीजानि सयतार्थं यत्प्रक्षिप्यन्ते तच्चाधाकर्मिकमतस्तत्र यदन्यत् प्राशुकमपि क्षिपन्ति तत् षण्मासान् यावन्न कल्पते, परतस्तु कल्पते । अथ तस्या रसिन्या सकाशात्तदाधाकर्मिकमाकर्षितं ततस्तस्मिन्नाकर्षिते ( चाउलोदग ) तन्दुलधावनं तथा आयाममवस्रावणं यत्तत्र क्षिप्यते तत् त्रीन् दिनान् न कल्पते, पूतिकर्मत्वात् , तत ऊर्द्ध कल्पते ।

अथ स्वगृहमिश्राऽऽदिभरणान्यतिदिशन्नाह–

एमेव सघरपासं डमीस जाव किइ पूइ अत्तकडे ।
कयकीयकडे ठविए, तहेव वत्थाइणं गहणं ॥६४५॥

एवमेवाऽऽधाकर्मिकचरणवत् स्वगृहमिश्रं पाखण्डमिश्रं जावदर्थिकमिश्रं क्रीतकृतं पूतिकर्म आत्मार्थकृतं च भरणं मन्तव्यम् । वस्त्राऽऽदिविषयमप्यतिदेशमाह– "कय इत्यादि" पश्चार्द्धम् । कृते संयतार्थं निष्पादिते क्रीतकृते मूल्येन गृहीते स्थापिते साध्वर्थं निक्षिप्ते तथैव पानकवत् वस्त्राऽऽदीनां ग्रहणं भावनीयम् । एतच्च पश्चादूर्द्धमुत्तरत्र भावयिष्यते ।

अथानन्तरोक्तभङ्गकेषु प्रायश्चित्तमाह–

जेण असुद्धा रसिणी, भरणं उभयं च तत्थ जाऽऽरुवणा ।
सुद्धुभय लहुसमित्ते, कम्ममजीवे वि मुणिभरणे ॥६४६॥

पूर्वोक्तभङ्गेषु यत्र येनाऽऽधाकर्माऽऽदिना दोषेणाशुद्धा रसिनी भरणं च उभयं वा सौवीरिणीभरणयुगं यत्र यत् दोषेण दूषितं तत्र तद्दोषनिष्पन्ना या काचित् प्रत्येकं संयोगतो वा आरोपणा सा वक्ष्यमाणेत्या वक्तव्या । तथा यत्र रसिनी भरणं च उभयमपि शुद्धं, परं संयतार्थं पानकमुत्सिक्तं तत्र लघुमासः । ( कम्ममजीवे वि मुणिभरणे त्ति ) यदजीवमपि प्राशुकमपि मुनीनां हेतोर्भरणं क्रियते तदप्याधाकर्म मन्तव्यं परं विशोधिकोटिः ।

अथाऽऽधाकर्माऽऽदिभेदेष्वारोपणामाह–

तिन्नेव य चतुगुरुगा, दो लहुगा दो गुरुग अंतिमो सुद्धो ।
एमेव य भरणे वी, एक्केक्कीए उ रसिणीए ॥ ६४७ ॥

आधाकर्मणि स्वगृहमिश्रे पाखण्डमिश्रे च प्रत्येकं चतुर्गुरुकमिति त्रयः चतुर्गुरवो भवन्ति, द्वयोर्यावदर्थिकक्रीतकृतयोश्चतुर्लघवः, भक्तपानपूतिके गुरुमासः, उपकरणपूतिके लघुमास इत्यनुक्तमपि दृश्यम् । अन्तिमः आत्मार्थकृतलक्षणो भेदः शुद्धः, एवमेकैकस्या रसिन्यामुक्तम्, भरणेऽप्येकैकस्मिन्नेवं मन्तव्यम् ।

अथाऽऽगमे चाऽम्लिनीनां मध्ये को विशोधिकोटिः को वा अविशोधिकोटिरित्यादिचिन्तां चिकीर्षुराह–

संयतकडे य देसे, अप्फासुग फासुगे य भरिए य ।
अत्तकडे वि य ठविए, लहुगो आणाइणो चेव ॥६४८॥

संयतानेव केवलानाश्रित्य कृतं संयतकृतमाधाकर्म ( देसि त्ति) देशेन एकदेशेन संयताऽऽदीनामाश्रित्य कृतं देशकृतं,गृहमिश्राऽऽदिकमित्यर्थः । अप्राशुकेन प्राशुकेन वा संयतार्थं यद्भरणं तदप्याधाकर्म ( अत्तकडे वि य ठविए त्ति) आत्मार्थं कृतायामम्लिन्या यदात्मार्थं भरणं तदपि यदि श्रमणार्थमुत्सृज्य बहिः स्थापयति तदा स्थापनादोष इति कृत्वा न ग्रहीतव्यं, यदि गृह्णाति तदा लघुको मासः, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अथैनामेव व्याख्यानयति–

देसकडा मज्झपदा, आदिपदं अंतिमं च पत्तेयं ।
उग्गमकोडी च भवे, विसोहिकोडी च जो दोसो ॥६४९॥

यानि मध्यपदानि स्वगृहमिश्रपाखण्डिमिश्रयावदर्थिकमिश्रक्रीतकृतपूतिकर्मलक्षणानि तानि देशकृतान्युच्यन्ते,देशतः स्वगृहार्थं देशतस्तु साध्वाद्यर्थमभीप्सा क्रियमाणत्वात् । यत्पुनरादिपदमाधाकर्म अन्तिमपदं चात्मार्थं कृतं तद् द्वितयमपि प्रत्येकमेकविषयं केवलमेव, साधुपक्षं स्वगृहपक्षं चोद्दिश्य प्रवृत्तत्वात् । अत्र च यो देशो देशकृतं स्वगृहमिश्राऽऽदिको दोष स उद्गमकोटिकोटिर्वा भवेत् अविशोधिकोटिरित्यर्थः । विशोधिकोटिर्वा । तत्र स्वगृहमिश्रं पाखण्डमिश्रं च नियमादविशोधिकोटी, पूतिकर्मयावदर्थिकमिश्रक्रीतकृत चेति त्रीणि विशोधिकोटयः । आधाकर्मिकं पुनरेकान्तेनाविशोधिकोटिः, आत्मार्थं कृतं तु निरवद्यमेवेति ।

जं जीवजुयं भरणं, तदफासुय फासुयं तु तदभावा ।
तं पि य हु होइ कम्मं, न केवलं जीवघाएण ॥६५०॥

यज्जीवयुतं राजिकाऽऽदिवीजसहितं भरणं तदप्राशुकं, तदभावाद्राजिकाऽऽदिवीजाभावाद्यद्भरणं तत्प्राशुकं, तदपि च निर्ज्जीव भरणं संयतार्थं क्रियमाणमाधाकर्म भवति, न केवलं जीवघातेन राजिकाऽऽदिवीजजन्तूपघातेन निष्पन्नमिति।

अथोत्सिक्तपदं भावयति—

समणे घरे पासंडे, जावं ति य अत्तणो य मुत्तूणं ।
छट्ठो नत्थि विकप्पो, उस्सिंचणमो जयट्ठाए ॥६५१॥

काञ्जिकस्य सौवीरिणीतो यन्निष्काशनं तदुत्सिक्तम्। तच्च पञ्चधा-श्रमणार्थं साधूनामर्थायेत्यर्थः १, स्वगृहयतिमिश्रं २, पाखण्डमिश्रं ३,यावदर्थिकामिश्रम् ४,आत्मार्थकृतम् ५। एतान् पञ्चभेदान् मुक्त्वा अपरः षष्ठो विकल्पो नास्ति यदर्थमुत्सेचनं भवेत्। अत्र चाऽऽत्मार्थं यद् गृहिभिरुत्सिक्तं तदेव गृहीतुं कल्पते, न शेषाणीति। उक्त आहारविषयो विधिः।

अथोपधिविषयं तमेवाऽऽह-

ततं पाइय विततं पि य, वत्थं एक्केकगस्स अट्ठाए ।
पायं भिन्नं निक्को-रियं च जं जत्थ वा कमइ ॥६५२॥

वस्त्रमेकैकस्यार्थाय ततं पायितं विततं वक्तव्यम्। तद्यथा-संयतार्थं ततं, संयतार्थं पायितं, संयतार्थमेव च विततम् १। संयतार्थं ततं,संयतार्थं पायितम्,आत्मार्थं विततम्। संयतार्थं ततम् २। आत्मार्थं पायितं,संयतार्थं विततम् ३। संयतार्थं ततम्, आत्मार्थं पायितम्,आत्मार्थमेव विततम् ४। एवमात्मार्थं ततेनापि चत्वारो भङ्गा लभ्यन्ते,जाता अष्टौ भङ्गाः। अत्र चाष्टमो भङ्गः शुद्धः,त्रयाणामप्यात्मार्थं कृतत्वात्। एवं स्वगृहमिश्रपाखण्डमिश्रयावदर्थिकामिश्रेष्वपि द्रष्टव्यं,सर्वत्रापि चाष्टमो भङ्गः शुद्धः शेषास्तु सर्वेऽप्यशुद्धा इति। पात्रमप्युद्भिन्नं निष्कीर्णं चैवमेव वक्तव्यम्। तद्यथा-संयतार्थमुद्भिन्नं,संयतार्थं चोत्कीर्णं १, संयतार्थमुद्भिन्नम् आत्मार्थमुत्कीर्णम् २,आत्मार्थमुद्भिन्नं संयतार्थमुत्कीर्णम् ३, आत्मार्थमुद्भिन्नम् आत्मार्थमेव चोत्कीर्णम् ४। अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः,शेषास्त्रयोऽप्यशुद्धाः। यच्च क्रीतकृतस्थापिताऽऽदिकं यत्र वस्त्रे पात्रे वा क्रमते अवतरति तं तत्र सम्यगुपयुज्य योजनीयम्। अत्र च तननं वा विशोधिकोटिः, पायनं विशोधिकोटिरित्याचार्यस्य मतम्। परस्तु ब्रवीति-पायनमशोधिकोटिः, कन्दाऽऽदिजीवोपघातनिष्पन्नत्वात्। तननं विततनं च विशोधिकोटिः, जीवोपघातस्याऽदृश्यमानत्वादिति। अत्र सूरिराह-नास्माकं जीवोपघातेनैवाऽऽधाकर्म, किं तु श्रमणार्थं यच्चाऽऽदेर्यत्पर्यायान्तरनयनं तदप्याधाकर्म मन्तव्यम्।

अपि च-

अत्तट्ठियतंतूहिं, समणट्ठ ततो अ पाइय वुतो य ।
किं सो ण होइ कम्मं,फासूण विरज्जिओ जो उ ।६५३।
जइ पज्जणं तु कम्मं, इतरं न स कप्पऊ धोओ ।
अह धोओ वि न कप्पइ,तणणं विणणं तओ कम्मं ।६५४।

आत्मार्थिता स्वार्थं निष्पादिता ये तन्तवस्तैः श्रमणार्थं यः पटः ततः पायितो ऊतश्च,स प्राशुकेनाऽपि स्वार्थमुपसीद्धतेन खलिकाद्रव्यसम्भारेण पायितः सन् किम् आधाकर्म न भवति ?, त्वदुक्तनीत्या न भवतीति भावः। ततो यदि जीवोपघातनिष्पन्नत्वात्पायनमाधाकर्म, इतरत्तु तननं विततनं वा कर्म न आधाकर्मेति तर्हि स पटो धौतः सन् कल्पतां, भवतोपनीतपायनिकालेपत्वात्। अथ ब्रवीथाः-धौतोऽप्यसौ न कल्पते ततस्तननं विततनं चार्थादाधाकर्म संवृत्तमिति सिद्धं नः समीहितम्। वृ० १ उ० २ प्रक०।



अपरिणतं पानकं न गृह्णाति-

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा०जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा। तं जहा-उस्सेइमं वा संसेइमं वा चाउलोदगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणा धोतं अणंबिलं अव्वोकंतं अपरिणतं अविद्धत्थं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा-चिराधोयं अंबिलं वुक्कंतं परिणतं विद्धत्थं फासुयं पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा०जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा। तं जहा-तिलोदगं वा, तुसोदगं वा, जवोदगं वा,आयामं वा,सोवीरं वा, सुद्धवियडं वा अन्नतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं पुव्वामेव आलोएज्जा, आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अन्नतरं पाणगजायं ?। से सेवं वदंतस्स परो वएज्जा-आउसंतो समणा ! तुमं चेवेदं पाणगजातं पडिग्गहेण वा उस्सिंचियाणं उयत्तियाणं गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा गिण्हिज्जा, परो वा से दिज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्जा। (४१)।

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पानकार्थं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेव जानीयात्। तद्यथा-(उस्सेइमं वेति)पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम्(संसेइमं वेति)तिलधावनोदकम्। यदि वा-अरणिकाऽऽदिसंस्विन्नधावनोदकम्। तत्र प्रथमद्वितीयोदके प्रासुके एव तृतीयचतुर्थे तु मिश्रे कालान्तरेण परिणते भवतः। (चाउलोदयं ति) तन्दुलधावनोदकम्। अत्र च त्रयोऽनादेशाः। तद्यथा—बुद्बुदाविगमो वा, भाजनलग्नबिन्दुशोषो वा, तन्दुलपाको वा। आदेशस्त्वयम्—उदकस्वच्छीभावः, तदेवमाद्युदकम् अनाम्लं स्वस्वादादचलितम् अव्युत्क्रान्तमपरिणतमविध्वस्तमप्रासुकं यावन्न प्रतिगृह्णीयादिति।

एतद्विपरीतं तु ग्राह्यमित्याह-अहेत्यादि सुगमम्। पुनः पानकाधिकार एव विशेषार्थमाह-स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टो यत्पुनः पानकजातमेवं जानीयात्। तद्यथा-'तिलोदकं' तिलैः केनचित्प्रकारेण प्रासुकीकृतमुदकम् ४ एवं तुषैर्यवैर्वा ५-६। तथाऽऽचाम्लम् अवश्यानं ७ 'सौवीरम्' आरनालं ८, 'शुद्धविकटं' प्रासुकमुदकम् ६, अन्यद्वा तथाप्रकारं द्राक्षापानकाऽऽदि 'पानकजातं' पानीयमासामान्यम्, पूर्वमेव 'अवलोकयेत्' पश्येत्। तच्च दृष्ट्वा तं गृहस्थम् अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वेत्यामन्त्र्यैव ब्रूयात्-यथा दास्यसि

मे किञ्चित्पानकजातम्?। स परस्तं भिक्षुमेवं वदन्तमेवं ब्रूयात् यथा आयुष्मन् ! श्रमण ! त्वमेवेदं पानकजातं स्वकीयेन पतद्ग्रहेण टोप्परिकया कटाहकेन वोत्सिञ्च्यापवृत्य वा पानकभाण्डक गृहाण । स एवमभ्यनुज्ञात· स्वय गृह्णीयात् परो वा तस्मै दद्यात् , तदेवं लाभे सति प्रतिगृह्णीयादिति ।

किञ्च -

से भिक्खू वा० जाव समाणे मे जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए०जाव संताणाए उद्धट्टु २ णिक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीतोदएण वा संभोएत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पाणगजातं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा । एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खूणिए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिएहिं सएहिं सदा जएज्जा ॥ ४२ ॥

स भिक्षुर्यत्पुनरेव जानीयात्तत्पानक सचित्तेष्वव्यवहितेषु पृथिवीकायाऽऽदिषु तथा मर्कटकाऽऽदिसन्तानके वाऽन्यतो भाजनादुद्धृत्योद्धृत्य निक्षिप्तं व्यवस्थापितं स्यात्। यदि वा-स ग्वासयतो गृहस्था भिक्षुप्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य उदकाऽऽर्द्रेण गलद्बिन्दुना सस्निग्धेन गलदुदकबिन्दुना सकषायेण सचित्तपृथिव्याद्यवयवगुण्डितेन मात्रेण भाजनेन शीतोदकेन वा ( सभोएत्ता ) मिश्रयित्वा आहृत्य दद्यात्तथाप्रकार पानकजातमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयात्। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

आम्राऽऽदिपानकानि -

से भिक्खू वा० जाव पविट्ठे समाणे मे जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा। तं जहा-अंबगपाणगं वा अंबाडगपाणगं वा कविट्ठपाणगं वा मातुलिंगपाणगं वा मुद्दियापाणगं वा दालिमपाणग वा खज्जूरपाणगं वा णालिएरपाणगं वा करीरपाणगं वा कोलपाणगं वा आमलपाणगं वा चिंचापाणगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं सअट्ठियं सकणुयं सवीयगं असंजए भिक्खुपडियाए छव्वेण वा दूसेण वा वालगेण वा आवीलियाण परिवीलियाण परिसाइयाण आहट्टु दलएज्जा तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत् पुनरेवंभूतं पानकजातं जानीयात् । तद्यथा-'अंबगपाणगं" इत्यादि सुगमम् । नवरं मुद्दिया द्राक्षा, कोलानि बदराणि, एतेषु च पानकेषु द्राक्षाबदराविलिकाऽऽदि कतिचित्पानकानि तत्क्षणमेव समर्द्य क्रियन्ते, अपराणि त्वाम्राम्बाडकाऽऽदिपानकानि द्वित्र्यादिदिनसंधानेन विधीयन्ते इत्येवभूतं पानकजात तथाप्रकारमन्यदपि सास्थिकं सहास्थिना कुलकेन यद्वर्त्तते, तथा सह कणुकेन त्वगाद्यवयवेन यद्वर्त्तते, तथा बीजेन सह यद्वर्तते । अस्थिबीजयोश्चाऽऽमलकाऽऽदौ प्रतीतो विशेष । तदेवंभूत पानकजातमसंयतो गृहस्थ· भिक्षुमुद्दिश्य साध्वर्थं द्राक्षाऽऽदिकमामर्द्य पुनर्वंशात्वग्निर्मितादिछब्बकेन वा,तथा (दूसं) वस्त्रं तेन वा, तथा ( वालगेण त्ति ) गवादिवालधिवालनिष्पन्नचालनकेन सुघरिकागृहकेन वेत्यादिनोपकरणेनास्थ्याद्यपनयनार्थं सकृदापीड्य पुन पुनः परिपीड्य तथा परिस्राव्य निर्गाल्याऽऽहृत्य च साधुसमीपं दद्यादित्येवंप्रकारं पानकजातमुद्गमदोषदुष्टं सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्णीयात् । ते चामी उद्गमदोषाः-

" आहाकम्मुद्देसिय· पूतीकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए, पाओअर कीय पामिच्चे ॥ ६२ ॥
परियट्टिए अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे इय ।
अच्छिज्ज अणिसट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे ॥६३॥ " पिं० ।

व्याख्या-साध्वर्थं यत्सचित्तमचित्तीक्रियते, अचित्तं वा यत्पच्यते तदाधाकर्म । तथा आत्मार्थं यत्पूर्वसिद्धमेव लड्डुकचूर्णकादि साधूनुद्दिश्य पुनरपि सन्तप्तगुडाऽऽदिना संस्क्रियते तदौद्देशिक सामान्येन विशेषतो विशेषसूत्रादवगन्तव्यमिति । यदाधाकर्माऽऽद्यवयवसंमिश्रं तत्पूतीकर्म । संयतासंयताऽऽद्यर्थमादितोऽभ्याऽऽहारपरिपाको मिश्रम्। साध्वर्थं क्षीराऽऽदिस्थापनं स्थापना भण्यते।प्रकरणस्य साध्वर्थमुत्सर्पणमवसर्पणं वा प्राभृतिका। साधूनुद्दिश्य गवाक्षाऽऽदिप्रकाशकरण वहिर्वा प्रकाशे आहारस्य व्यवस्थापन प्रादुष्करणम् । द्रव्याऽऽदिविनयमयेन स्वीकृतं क्रीतम्। साध्वर्थं यदन्यस्मादुच्छिन्नकं गृह्यते तत् 'पामिच्चं' इति। यच्छाल्योदनाऽऽदि कोद्रवाऽऽदिना प्रतिवेशिकगृहे परिवर्त्य ददाति तत्परिवर्त्तनम्। यद् गृहाऽऽदेः साधुवसतिमानीय ददाति तदाहृतम् । गोमयाऽऽद्युपलिप्तं भाजनमुद्भिद्य ददाति तदुद्भिन्नम्। मालाऽऽद्यवस्थितं निश्रेण्यादिनाऽवतार्य ददाति तन्मालाहृतम्। भृत्यादेराच्छिद्य यद्दीयते तदाच्छेद्यम्। सामान्यं श्रेणिभक्तकाऽऽद्येकस्य ददतोऽनिसृष्टम्। स्वार्थमधिश्रयणाऽऽदौ कृते पश्चात्तन्दुलाऽऽदिप्रसृत्यादिप्रक्षेपाद्ध्यवपूरक । तदेवमन्यतमेनाऽपि दोषेण दुष्ट न प्रतिगृह्णीयादिति। आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०७ उ० । (भक्तपानकमधिकृत्य विशेष 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६६ पृष्ठे गत· )

पानकग्रहणम् । साम्प्रतं पानकविधिमाह-

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणा धोयं विवज्जए ॥ ७५ ॥

तथैव यथा अशनम् उच्चावचं तथा पानम् उच्चं वर्णाऽऽद्युपेतं द्राक्षापानाऽऽदि, अवचं वर्णाऽऽदिहीनं पूत्यारनालाऽऽदि। अथवा-वारकधावनं गुडघटधावनमित्यर्थः। संस्वेदजं पिष्टोदकाऽऽदि· एतदशनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति वाक्यशेषः। त दुलोदकम्-" अद्विकरकं " अधुना धौतमपरिणतं विवर्जयेदिति सूत्राऽर्थ· ।

अत्रैव विधिमाह-

जं जाणिज्ज चिरा धोयं, मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ॥७६॥

यत्तन्दुलोदकं जानीयात् विद्यात् चिरधौतं, कथं जानीयादित्याह मत्या दर्शनेन वा,मत्या तद्ग्रहणाऽऽदिकर्मजया,दर्शनेन वा वर्णाऽऽदिपरिणतसूत्राऽनुसारेण च,वा चशब्दार्थ·,तदप्येवंभूतं कियती वेलाऽस्य धौतस्येति पृष्ट्वा गृहस्थं श्रुत्वा वा महती वेलेति श्रुत्वा च प्रतिवच·, यच्चेति यदेव 'नि शङ्कितं भवति निरवयवप्रशान्ततया तन्दुलोदकं तत्प्रतिगृह्णीयात्, इति विशेष पिण्डनिर्युक्तावुक्त इति सूत्राऽर्थः ।

उष्णोदकाऽऽदिविधिमाह--

अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगेण्हेज्ज संजए ।
अह संकियं भवेज्जा, आसाइत्ता ण रोयए ॥ ७७ ॥

उष्णोदकमजीव परिणतं ज्ञात्वा त्रिदण्डपरिवर्त्तनाऽऽदिरूपं मत्या दर्शनेन वेत्यादि वर्त्तते, तदित्थं भूतं प्रतिगृह्णीयात् संयत. चतुर्थरसमपूत्यादिदेहोपकारकं मत्यादिना ज्ञात्वेत्यर्थः । अथ शङ्कितं भवेत् तत आस्वाद्य रोचयेत् विनिश्चयं कुर्यादिति सूत्राऽर्थः ।

तच्चैवम्-

थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तण्हं विणित्तए ॥७८॥

स्तोकमास्वादनार्थं प्रथमं तावत् हस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो गृहीष्ये,मा मे अत्यम्लं पूतिनालं तृडपनोदाय। ततः किमनेनानुपयोगिनेति सूत्राऽर्थः ।

आस्वादितं च सत्साधुप्रायोग्यं चेद् गृह्यते एव, नो चेदग्राह्यम्-

तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥
तं च होज्ज अकामेण, विमणेणं पडिच्छियं ।
तं अप्पणा न पिवे, नो वि अन्नस्स दावए ॥ ८० ॥

तच्चात्यम्लाऽऽदि भवेत् अकामेन उपरोधशीलतया विमनस्केनान्यचित्तेन प्रतीप्सितं गृहीतं तदात्मना कायापकारकमित्यनाभोगधर्म्मश्रद्धया न पिबेत्, नाप्यन्येभ्यो दापयेत्,रत्नाधिकेनाऽपि स्वयं दानस्य प्रतिषेधज्ञापनार्थं दापनग्रहणम् । इह च-" सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव । " इत्यादि भावनयेति सूत्राऽर्थः ।

अस्यैव विधिमाह--

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।
जयणाए परिट्ठवेज्जा, परिट्ठाय पडिक्कमे ॥ ८१ ॥

एकान्तमवक्रम्य गत्वा अचित्तं दग्धदेशाऽऽदि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणेन, स्थण्डिलमिति गम्यते । यतमानः परितं प्रतिष्ठापयेत् विधिना त्रिवाक्यपूर्वं व्युत्सृजेत् । प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेत ईर्यापथिकाम् । एतच्च बहिरागमननियमकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणमबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० । वृ० । प० । ध० । आव० ।

पानकजातं प्रतिगृह्य परिष्ठापयति-

जे भिक्खू अण्णयरं पाणगजायं पडिग्गाहित्ता पुप्फं २ आइयंति, कसायं २ परिट्ठावइ, परिट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

अन्यतरग्रहणात् अनेके पानका प्रदर्शिता भवन्ति । तत्र इक्षुपानपुष्पकपानाद्राक्षिमनुदिनारिंदिनादि, पाने जातग्रहणात् प्रासुक एषणीयस्तं, ग्रहण आदाने विधिपूर्वकं गृहीत्वा. पुष्पं नाम स्वच्छं यद्वर्णगन्धरसस्पर्शैरुपेतं प्रधानं. कसायं स्पर्शादिभिरनिसारमप्रधान कषाय कलुषमानमित्यर्थः । स्वसमानेऽपि गृहीतस्य इदं सूत्रं, एवं वर्त्तनस्य मासलहुं । एस सुत्तत्थो ।

अहुणा णिज्जुत्ती--

जं गंधरसोवेतं, अच्छं च दवं तु तं भवे पुप्फं ।
जं दुब्भिगंधिमरसं, कलुसं वा तं भवे कलुसं ॥ ३१४ ॥

कंठा ।

घित्तूण दोण्णि वि दाव, पत्तेयं अहव एक्कतो चेव ।
जे पुप्फमादिइत्ता, कुज्ज कसाए विगिंचणयं ॥ ३१५ ॥

दोण्णि वि पुप्फं कसायं च, एगम्मि वा भायणे पत्तेगेसु वा भायणेसु पुप्फमाइत्ता कसाए परिट्ठवणं करेज्ज, तस्स मासलहु ।

इमे य दोसे पावेज्ज-

सो आणा अणावत्थं, मिच्छत्त विराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, पुव्व कसाएतरं पच्छा ॥ ३१६ ॥

आयसंजमविराहणा, पुव्वं कसायं पिवे, इतरं पुप्फं पच्छा, जो पुप्फं पुव्वं पिवे कसायं परिट्ठवेति, तस्सिमे दोसा।

तम्मि य गिद्धो अण्णं, णेच्छे अलभंतो एसणं पेल्ले ।
परिठाविते य कूडं, तसाण संगामदिट्ठंतो ॥ ३१७ ॥

अच्छदव्वे गिद्धो अण्णं कसायं णेच्छति पातुं, तं कसायं परिट्ठवेउं पुणो वि हिंडंतस्स सुत्तादिपलिमंथो, अच्छं अलभंतो वा एसणं पेल्लेज्ज, आयविराहणादिया य बहुदोसा । कलुसे य परिट्ठविए कूडदोसो, जे कूडे पाणिणो बज्झंति। जहा तत्थ वि मच्छियादी पडिबज्झंति अण्णे य तत्थ वट्टे पयंगा णिप्पतंति, पिवीलिगाहि य संसज्जति। एवं बहुतसघातो दीसति । एत्थ संगामदिट्ठंतो-तच्छ कलुसे परिट्ठविए मच्छिया आलग्गंति,तेसिं घरकोइला धावति, तीए वि मज्जारी,मज्जारीए सुणगो,सुणगस्स वि अण्णो सुणगो,सुणगणिमित्तं सुणगसामिणो कलहं करेंति। एवं पक्खापक्खीए संगामो भवति,जम्हा एते दोसा तम्हा णो पुप्फं आदिए,कसायं परिट्ठवेति ।इमा सामायारी,वसहिपालो अन्धंता भिक्खागयसाहुआगमणं णाउं गच्छमासज्ज एक्कं दो तिण्णि वा भायणे उग्गाहेति, तो जो जहा साधुसंघाडगो आगच्छति तस्स तहा पाणभोयणाओ अच्छंनेसु भायणेसु परिगाहेति । एवं अच्छं पुढो कज्जति, कलुसं पि पुढो कज्जति,न कसायं भुत्तं वा अभुत्तं वा पुव्वं पिबंति, तम्मि णिट्ठिते पच्छा पुप्फं पियंति ।

पुप्फस्स इमे कारणा-

आयरिय अभावित पा-णगट्ठता पाउपोस धुवणट्ठा ।
होति य सुहं विवेगो, सुह आयमणं व सागारिए ॥३१८॥

आयरियस्स पाणाए, एवं अभावियस्स सेहस्स वि उत्तरकालं पाणट्ठता, पायुपोसं अपाणाहार एतेसिं धुवणट्ठा उव्वरियस्स य सुहं विवेगो कज्जति, कुडानिग्गमा भवंति सागारिए य आयमणादि सुह कज्जति ।

भाणस्स कप्पकरणं, दट्ठूणं चरि आयमंतो वा ।
ओभावणमणगारगं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ ३१९ ॥

अच्छं भायणकरणं कप्पकरणं भवति,बहल पुण इत अच्छमेतं अनुचितमिति । अगारी वा कोइ सचेलंकपाणगरूपमानिता इमे अमारा , अगाररा वा अण्णं दुविह वो-

च्छेदं करेज्ज-तद्द्रव्यान्यद्रव्ययोः,तद्द्रव्य पानकम्, अन्यद्द्रव्यं भक्तवस्त्राऽऽदि ।

अह तस्स साधो अन्यस्य वा साधो अववाएणं पुण परिट्ठावंतो विसुद्धो । जतो—

वितियपदे दोसिह वि बहू, मीसे व विगिंचणारिहं होइ ।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्जे गिलाणमायरिए ॥३२०॥

दो वि बहू पुष्फं कसायं च णज्जति । जहा अवस्सकीयं परिट्ठविज्जति, जइ वि तं पिज्जति, ताहे तं न पिबंति, पुप्फं पिवंति । एस पत्तेयगहियाण विही । अह मीसं गहियं तत्थ गालिए पुप्फं बहुयं कसायं थोवं, ताहे तं परिट्ठविज्जति, पुप्फं पिवंति । अहवा-सायं विगिंचिणारिहं होज्ज अणेसणिज्ज त्ति, ताहे परिट्ठविज्जति । अहवा अविकिंचणारिहे पि जं आयरियादीण जावणिज्जं ण भवति, एवं परिट्ठवेंतो सुद्धो ।

विगिंचणारिहस्स वक्खाणं इमं—

जं होति अपेयं जम-णेसियं तं विगिंचणरिहं तु ।
विसकत मंतकतं वा, दव्वविरुद्ध कतं वा वि ॥३२१॥

अपेयं मद्यमांसरसादि, अणेसणीयं उग्गमादिदोसजुत्तं । अहवा-अपेयं इमं पच्छद्धेण-विससंजुत्तं वसीकरणादिमंतेण वा अभिमंतियं,दव्वाविरुद्धं जहा खीरंबिलाणं । नि० चू० २ उ० ।

**पाणगजाय**-पानकजात -न० । पानीयसामान्ये, " पुण पाणगजायं जाणेज्जा । तं जहा-तिलोदगं वा, तुसोदगं वा ।" आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ७,उ० ।

**पाणगपच्चक्खाण**-पानकप्रत्याख्यान-न० । पानकवर्जिते त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्याने,चतुर्विधाऽऽहारप्रत्याख्याने वा । ध० २ अधि० । 'छ प्पाणे' षडाकारा भवन्ति पानके पानकाऽऽहारे ते चैवं-"लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ ।' अयमर्थः -"इहान्यत्रेत्यस्यानुवृत्तेस्तृतीयाया पञ्चम्यर्थत्वात् । (लेवाडेण व त्ति) कृतलेपाद्वा पिच्छिलत्वेन भाजनाऽऽदीनामुपलेपकारकात् खर्जूराऽऽदिपानकादन्यत्र तद्वर्जयित्वेत्यर्थः । त्रिविधाऽऽहारं व्युत्सृजतीति योगः । वाशब्दोऽलेपकृतपानकापेक्षयाऽस्या वर्जनीयत्वाविशेषद्योतनार्थः । अलेपकारिणेव लेपकारिणाऽप्युपवासाऽऽदेर्न भङ्ग इति भावः । एवं अलेपकृताद्वा अपिच्छिलात् । अच्छाद्वा निर्मलादुष्णोदकाऽऽदेर्बहलाद्वा गडुलात् तिलतण्डुलधावनाऽऽदे ससिक्थाद्वा भक्तपुलकोपेतादवश्रावणाऽऽदे ( असित्थाद्वा ) सिक्थवर्जितपानकाऽऽहारादिति । पञ्चा० ५ विव० ।

**पाणच्चाग**—प्राणत्याग- पुं० । मरणाऽऽगमने, ग० २ अधि० ।

**पाणजाइय**-प्राणजातिक-पुं० भ्रमराऽऽदिके प्राणित्वावच्छिन्ने आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

**पाणद्धी** -देशी-रथ्यायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ३८ गाथा ।

**पाणधारणट्ठया**-प्राणधारणार्थता-स्त्री० । जीवितव्यसरक्षणे, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

**पाणपुण्ण**-प्राणपूर्ण-त्रि० । द्वीन्द्रियाऽऽदिजीवाऽऽकुले, स्था० ६ ठा० ।

**पाणवह**-प्राणवध-पुं० । प्राणा इन्द्रियाऽऽद्यायुःपर्यवसानास्तेषां वधो जीवेन सह वियोगीकरणं प्राणवधः । दर्श० २ तत्त्व । प्रश्न० । प्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

प्राणवधवक्तव्यताद्वारसंग्रहः –

जारिसओ जंनामा, जह य कओ जारिसं फलं दिंति ।
जे वि य करिंति पावा, पाणवहं तं निसामेह ॥ ३ ॥

यादृशको यत्स्वरूपकः, यानि नामानि यस्येति यन्नामा, यदभिधानमित्यर्थः । यथा च कृतो निवर्तितः प्राणिभिर्भवतीति । यादृश यद्रूपं फलं कार्यं दुर्गतिगमनाऽऽदिकं ददाति करोति । येऽपि च कुर्वन्ति पापाः पापिष्ठाः प्राणिनः प्राणाः प्राणिनस्तेषां वधो विनाशः प्राणवधः ( तं ति ) तत्पदार्थं पञ्चकं ( निसामेह त्ति ) निशामयत शृणुत मम कथयत इति शेषः । तत्र तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति न्यायमाश्रित्य यादृशक इत्यनेन प्राणवधस्य तत्त्वं निश्चयतया प्रतिज्ञातं, यन्नामेत्यनेन तु पर्यायव्याख्यानम् । शेषद्वारत्रयेण तु भेदव्याख्याकरणप्रकारभेदेन फलभेदेन च तस्यैव प्राणवधस्य विधमानत्वात् । अथवा-यादृशो यन्नामा चेत्यनेन स्वरूपतः प्राणिवधश्चिन्तितः, तत्पर्यायाणामपि यथार्थतया ततस्वरूपस्यैवाभिधायकत्वात् । यथा च कृतो ये च कुर्वन्ति, अनेन तु कारणतोऽसौ चिन्तितः, करणप्रकाराणां कर्तॄणां च तत्कारणत्वात् यादृशं फलं ददातीत्यनेन तु कार्यत्वाद्गतो चिन्तितः, एवं च कालत्रयवर्तिता तस्य निरूपिता भवतीति । अथवा-अनुयोगद्वारावयवभूतोपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्य प्रतिद्वाराणां " किं कइविहं " इत्यादीनां मध्यात्कानिचित्तया गाथया तानि दर्शितानि । तथाहि-यादृशक इत्यनेन प्राणवधस्वरूपोपदर्शकं किमित्येतत् द्वारमुक्तं, यन्नामेत्यनेन तु निरुक्तिद्वारम् । एकार्थं मत्पुरस्तिकं शब्दाभिधानरूपत्वात्तस्य—" सम्मद्दिट्ठिअमोहो " ( ८६१-८६२ ) इत्यादिना गाथासूत्रेण सामायिकनिर्युक्तावपि सामायिकनिर्युक्तिप्रतिपादनात् । यथा च कृत इत्यनेन कथमिति द्वारमभिहितं, येऽपि च कुर्वन्त्यनेन कस्येति द्वारमुक्तं फलद्वारं त्वतिरिक्तमिहेति ।

तत्र " यथोद्देशं निर्देशः " इति न्यायाद्यादृश इति द्वाराभिधानायाऽऽह—

पाणवहो नाम एस णिच्चं जिणेहिं भणिओ पावो चंडो रुद्दो खुद्दो साहसिओ अणारिओ निग्घिणो णिस्संसो महब्भओ पइभओ अतिभओ बीहणओ तासणओ अणज्जो उव्वेयजणओ य णिरवयक्खो निद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो निरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपयट्टओ मरणवेमणस्सो पढमं अहम्मदारं ।

प्राणवधो हिंसा, नामेत्यलङ्कृतौ वाक्यस्य । एषोऽधिकृतत्वेन प्रत्यक्षो, नित्यं सदा, न कदाचनापि । पापचण्डाऽऽदिकं वक्ष्यमाणस्वरूपं परित्यज्य वर्तत इति भावनीयम् । जिनैः भणित उक्तः । किंविध इत्याह-पापप्रकृतीनां बन्धहेतुत्वेन पाप कोपोत्कट, पुरुषकार्यत्वात् चण्ड रौद्राभिधानरसविशेषप्रवर्तितत्वाद्रौद्र, क्षुद्रा द्रोहका अधमा वा तत्प्रवर्तितत्वात् क्षुद्र, सहसा अविचार्य प्रवर्तित इति साहसि

कः पुरुषः तत्प्रवर्तितत्वात्साहसिकः, आराधानाः पापकर्म भ्य इत्यार्यास्तन्निषेधादनार्या म्लेच्छाऽऽदयः तत्प्रवर्तितत्वाद नार्यः, न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा यत्र स निर्घृणः, नृशंसा निःशूकास्तद्व्यापारत्वात् नृशंसः, निष्क्रान्तो वा शंसायाः श्लाघाया इति निःशंसो,महद्भयं यस्मादसौ महाभयः, प्राणिनं प्राणिनं प्रति भयं यस्मात्स प्रतिभयः, भयान्यैहलौकिकाऽऽदीन्यतिक्रान्तोऽतिभयः। अत एवोक्तम्-"मरणभय च भयाणं ति।" ( बीहण उ त्ति ) भापयति भयवन्तं करोतीति भापनकः, त्रासः आकस्मिकं भयम् अकस्मोत्पन्नशरीरकम्प मनःक्षोभाऽऽदिलिङ्गं,तत्कारकत्वात्त्रासनकः। (अण्णज्जो त्ति) न न्यायोपेत इत्यन्याय उद्वेगजनक चित्तविप्लवकारी उद्वेगकर इत्यर्थः। चकारः समुच्चये। ( णिरवयक्खो त्ति ) निर्गताऽपेक्षा परप्राणविषया परलोकाऽऽदिविषया वा यस्मिन्नसौ निरपेक्षः, निरवकाङ्क्षो वा। निर्गतो धर्माच्छ्रुतचारित्रलक्षणादिति निर्द्धर्म । निर्गतः पिपासायाः वध्य प्रति स्नेहरूपाया इति नि पिपासः, निर्गता करुणा दया यस्मादसौ निष्करुण , निरयो नरकः स एव वासो निरयवासः, तत्र गमन तदेव निधनं पर्यवसानं यस्य स निरयवासगमन निधनः तत्फल इत्यर्थः। मोहो मूढता, महाभयमतिभीतिस्तयो प्रकर्षकः प्रवर्तको यः स मोहमहाभयप्रकर्षक। क्वचिन्मोहमहाभयप्रवर्धक इति पाठः। ( मरणवेमणसो त्ति ) मरणेन हेतुना वैमनस्यं दैन्यं देहिना यस्मात्स मरणवैमनस्यः। प्रथममाद्य मृषावादाऽऽदिद्वारापेक्षया अधर्मद्वारमाश्रवद्वारमित्यर्थः। तदेवमियता विशेषेण समुदायेन यादृशः प्राणिवध इति द्वारमभिहितम्।

अधुना यन्नामेति द्वारमभिधातुमाह—

तस्स य इमाणि नामाणि गोणाणि हुंति तीसं। तं जहा—पाणवहो १ उम्मूलणा सरीराओ २ अवीसंभो ३ हिंसविहिंसा ४ तहा आकिचं च ५ घायणा य ६ मारणा य ७ वहणा ८ उद्दवणा ९ तिवायणा य १० आरभसमारंभो ११ आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेओ १२, मच्चू १३ असंजमो १४ कडगमद्दणं १५ वोरमणं १६ परभवसंकामकारओ १७ दुग्गतिप्पवाओ १८ पावकोवो य १९ पावलोभो य २० छविच्छेओ २१ जीवियंतकरणो २२ भयंकरो २३ अणकरो २४ वज्जो २५ परितावणअसओ २६ विणासो २७ निज्जवणा २८ लुंपणा २९ गुणाणं विराहणो त्ति ३० वि य। तस्स एवमाईणि णामधेज्जाणि हुति तीसं २ पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफलदेसगाइं।

तस्योक्तस्वरूपप्राणवधस्य, चकारः पुनरर्थः, नामान्यभिधानानीमानि वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षाऽऽसन्नानि गौणानि गुणनिष्पन्नानि भवन्ति त्रिंशत्। यथा प्राणानां प्राणिनां वधो घातः प्राणवधः १। ( उम्मूलणासरीराउ त्ति ) वृक्षस्या ... न्मूलना निष्कासन जीवस्य शरीरादिति २। ( अवीसंभो त्ति ) अविश्वासः प्राणवधप्रवृत्तो हि जीवानामविश्वसनीयो भवतीति, प्राणवधस्यापि तत्कारणत्वा

दविश्रम्भेव्यपदेश इति। ( हिंसविहिंस त्ति ) हिंस्यन्त इति हिंस्या जीवास्तेषां विहिंसा विघातो हिंस्यविहिंसा, अजीवविघाते किल कथञ्चित्प्राणवधो न भवतीति हिंस्यानामिति विशेषणं विहिंसाया उक्तम्। अथवा हिंसा विहिंसा चेह ग्राह्या, द्वयोरुपादानेऽपि बहुसमत्वादिति। अथवा-हिंसनशीलो हिंस्रः प्रमत्तः "जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो" इति वचनात्। तत्कर्तृका विशेषवती हिंसाऽऽहिंस्रविहिंसा ४ ( तहा अकिच्च च त्ति ) तथा तेनैव प्रकारेण हिंस्याविषयमेवेत्यर्थः। अकृत्यं चाकरणीयं, चशब्द एकार्थिकसमुच्चयार्थः।५। घातना मारणा च प्रतीते ६-७। चकारः समुच्चयार्थ एव। ( वहण त्ति ) हननम् ८ ( उद्दवण त्ति ) उपद्रवणमपद्रवण वा ९ ( निवायणाय त्ति ) त्रयाणां मनोवाक्कायानामथवा त्रिभ्यो देहाऽऽयुष्केन्द्रियलक्षणेभ्यः प्राणेभ्यः पातना जीवस्य भ्रंशना निपातना। उक्तं च " कायवइमणो तिन्नि उ, अहवा देहाउ इंदियप्पाणा।" इत्यादि। अथवा अतिशयवती पातना प्राणेभ्यो जीवस्येत्यतिपातना, तीनपिधानाऽऽदिशब्देष्विवाऽऽकारलोपात् चकारोऽत्रापि समुच्चय इति १०। ( आरंभसमारभो त्ति ) आरभ्यन्ते विनाश्यन्त इति आरम्भा जीवास्तेषां समारम्भ उपमर्दः। अथवा-आरम्भः कृष्यादिव्यापारस्तेन समारम्भो जीवोपमर्दः। अथवा-आरम्भो जीवानामुपद्रवणं, तेन सह समारम्भः परितापनमित्यारम्भसमारम्भः,प्राणवधस्य पर्याय इति। अथवेहाऽऽरम्भसमारम्भशब्दयोरेकतर एव गणनीयो, बहुसमरूपत्वादिति ११। ( आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयनिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो त्ति ) आयुःकर्मण उपद्रव इति वा तस्यैव भेद इति वा तन्निष्ठापनमिति वा तद्गालनेति वा। चः समुच्चये, तत्संवर्तक इति वा। इह स्वार्थे क तत्संक्षेप इति वा प्राणवधस्य नाम। एतेषा च उपद्रवाऽऽदीनामेकतरस्यैव गणनेन नाम्ना त्रिंशत्पूरणीया, आयुश्छेदलक्षणार्थापेक्षया सर्वेषामेतेषामेकत्वादिति १२। मृत्यु १३, असंयमः १४। एतौ प्रतीतौ। तथा कटकेन सैन्येन किलिञ्जेन वा आक्रम्य मर्दन कटकमर्दन, ततो हि प्राणवधो भवतीत्युपचारात्प्राणवधः कटकमर्दनशब्देन व्यपदिश्यत इति १५। ( वोरमरणं ति ) व्युपरमणं प्राणेभ्यो जीवस्य व्युपरतिः। अयं च व्युपरमणशब्दोऽन्तर्भूतकारितार्थः प्राणवधपर्यायो भवतीति भावनीयम् १६। परभवसंक्रमकारक इति,प्राणवियोजितस्यैव परभवे संक्रान्तिसद्भावात् १७। दुर्गतौ नरकाऽऽदिकायां कर्तारं प्रपातयतीति दुर्गतिप्रपातः,दुर्गतौ वा प्रपातो यस्मात्स तथा १८। ( पावकोवो य त्ति ) पापमपुण्यप्रकृतिरूपं कोपयति प्रपञ्चयति पुष्णाति यः स पापकोप इति। अथवा-पापं चासौ कोपकार्यत्वात्कोपश्चेति पापकोप , चः समुच्चये १९। (पावलोभो त्ति) पापमपुण्यं लुभ्यति प्राणिनि श्लिष्यति संश्लिष्यतीति यावत्। यत स पापलोभ अथवा-पाप चासौ लोभश्च तत्कार्यत्वात्पापलोभ २०। ( छविच्छेओ त्ति ) छविच्छेदः शरीरच्छेदनं, तस्य च द्वैधीभाव रूपत्वात्। प्रस्तुतपर्यायविनाशकारणत्वेन चोपकारात्प्राणवधत्वमात् च-"तप्पज्जायविणासो दुक्खुप्पाओ य संकिलेसो य। एस वहो जिणभणिओ, वज्जेयव्वो पयत्तेणं॥ १॥" त्ति। २१। जीवितान्त करणः २२। भयकरश्च प्रतीत एव २३।

ऋणं पापं करोतीति ऋणकरः २४। (वज्जो त्ति) वज्रमिव वज्र-गुरुत्वात्तत्कारिप्राणिनामतिगुरुत्वेनाधोगनिगमनात्। वर्ज्यते वा विवेकिभिरिति वर्ज्यः।"सावज्जो त्ति" पाठान्तरे। सावद्य-सपाप इत्यर्थ २५। (परितावणअासओ त्ति) परितापनापूर्वक आस्रवः परितापनाऽऽश्रवः। आश्रवो हि मृषावादाऽऽदिरपि भवति, न चासौ प्राणवध इति प्राणवधसंग्रहार्थमाश्रवस्य परितापनेति विशेषणमिति। अथवा-प्राणवधशब्द नामघन्तं संस्थाप्य शरीरोन्मूलनाऽऽदीनि संकल्पनीयानि। तत-परितापनेति पञ्चविंशतितमं नाम। आश्रव इति तु षड्विंशतितममिति २६। विनाश इति, प्राणानामिति गम्यते २७। ( णिज्जवण त्ति ) निराधिक्येन यान्ति प्राणिन' प्राणास्तेषां निर्यातना निर्गच्छता प्रयोजकत्वं निर्यापना २८। ( लुंपण त्ति ) लोपना छेदेन, प्राणानामिति २९। गुणाना निगमनेऽप्यपि चेति। हिंस्यप्राणिगणगुणाना हिंसकजीवचारित्रगुणाना वा विराधना खण्डना इत्यर्थ। इतिशब्द उपप्रदर्शने,अपि चेति समुच्चय इति ३०। (तस्सेत्यादि) प्राणिवधनाम्ना निगमनवाक्यम्। ( एवमाईणि त्ति ) आदिशब्दोऽत्र प्रकारार्थे। यदाह-"सामीप्ये च व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा। चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी, आदिशब्द तु लक्षयेत् ॥ १ ॥" इति। नेनेवमादीन्येवंप्रकाराण्युक्तस्वरूपाणीत्यर्थ। नामान्येव नामधेयानि भवन्ति त्रिंशत्प्राणिवधस्य कलुषस्य पापस्य कटुकफलादर्शकान्यसुन्दरकार्योपदर्शकानि.यथार्थत्वात्तेषामिति। तदियता यदामेत्युक्तम्। अथ गाथोक्तद्वारनिर्देशक्रमाऽऽगत यथा च कृतमित्येतदुपदर्शयति। तत्र च प्राणिवधकारणप्रकारेण प्राणिवधकर्तृणामसंयतत्वाऽऽदयो धर्मा जलचराऽऽदयो वध्यास्तथाविधानि मांसाऽऽदीनि प्रयोजनान्यवतरन्त्येतन्निषेधत्वात्प्राणवधप्रकारस्येति।

तानि क्रमेण दर्शयितुमाह-

तं च पुण करेंति केइ पावा असंजया अविरया अणिहुयपरिणामदुप्पओगा पाणवहं भयंकरं बहुविहं बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणपसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा किं ते पाठीणतिमितिमिंगिलअणेगझसविविहजाइमंडुक्कदुविहकच्छभणक्कमगरदुविहगाहदिलिवेढयमंडुयसीमागारपुलुयसुसुमारबहुप्पगारा जलयरविहाणा कए य एवमाइ कुरंगरुरुसरभचमरसंवरउरब्भससयपसयगोणरोहियहयगयखरकरभखग्गवानरगवयविगसियालकोलमज्जारकोलसुणहसिरिकंदलगावत्तकोकंतियगोकण्णमियमहिसवियग्घच्छगलदीवियसाणतरच्छअच्छभल्लसद्दूलसीहचिल्ललचउप्पयविहाणा कए य एवमाइ अयकरगोणसावराहिमाउलिकाकोदरदब्भपुप्फा आसालियमहोरगोरगविहाणा कएय एवमाइ छीरलसरंगसेहसेल्लगगोधूंदरणउलसरडजाहकसुगुंसाखाडहिलावाउप्पइयघरोलियसरीसिवगणे य एवमाइकादंबकंकबलाकासारसआडिसेतीयवंजुलपारिप्पवकीवसउणदीवियहंसधत्तरट्ठभासकुलीकोसकुंचदगतुंडढेणियालगसूयीमुहकविलपिंगलक्खगकारंडचक्कवागउक्कोसगरुलपिंगलसुयबरिहिणमयणसालानंदीमुहनंदमाणगकोरगभिंगारगकोणालगजीवंजीवकतित्तिरवट्टगलावगकपिञ्जलगकवोतकपारेवयगचडगढिंककुक्कुडवेसरमयूरचओरगहयपोंडरीयकरकचीरल्लसेणवायसविहंगभेयणासियचासवग्गुलिचमट्ठिलवितितपक्खिसहचरविहाणा कए य एवमाइजलथलखचारिणो य पंचिंदिए पसूगणे बियतियचउरिंदिए पंचिंदिए य विविहे जीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणंति बहुसंकिलिट्ठकम्मा; इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं, किं ते चम्मवसामंसमेयसोणियजगियफिफिसमत्थुलिंगहियंयंतपित्तफोफसदंतट्ठा अट्ठिमिंजानहनयणकण्णण्हारुणिनकनमणीसिंगदाढिपिच्छविसविसाणवालहेओ हिंसंति य भमरमधुकरिगणे रसेसु गिद्धा तहेव तेइंदिए सरीरोवकरणट्ठयाए किवणे बेइंदिए बहवे वत्थोहरपरिमंडणट्ठा अण्णेहि य एवमाइएहिं बहुहिं कारणसएहिं अबुहा इह हिंसंति तसे पाणे इमे य एगिंदिए बहवे वराए तसे य अण्णे तदस्सिए चेव तणुसरीरे समारंभंति अत्ताणे असरणे अणाहे अबंधवे कम्मनिगडबद्धे अकुसलपरिणाममंदबुद्धिजणदुव्विजाणए पुढवीमए पुढवीसंसिए जलमए जलगए अणलाणिलतणवणस्सइगणनिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तदाहारे तप्परिणतवण्णगंधरसफासबोंदिरूवे अचक्खुसे य चक्खुसे य तसकाइए असंखे थावरकाइए य सुहुमबायरपत्तेयसरीरनामसाहारणे अणंते हणंति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं किं ते करिसणपोक्खरणीवावीवप्पिणकूवसरतलागचितिवेदिखातियआरामविहारथूभपागारदारगोपुरअट्टालगचरियसेतुसंकमपासायविकप्पभवणघरसरणलेणआवणचेतियदेवकुलचित्तसभापवाआयतणअवसहभूमिघरमंडवाण य कए भायणभंडोवगरणस्स विविहस्स य अट्ठाए पुढविं हिंसंति मंदबुद्धिया जलं च मज्जणयपाणभोयणवत्थधोवणसोयमाइएहिं पयणपयावणजलणजलावणविदंसणेहिं अगणिं सुप्पवियणतालविंटपेहुणमुहकरयलसागपत्तवत्थमाइएहिं अणिलं आगारपरियारभक्खभोयणसयणासणफलकमुसलउखलततवितततोज्जवहणवाहणमंडवविविहभवणतोरणविडंगदेवकुलजालद्धचंदनिज्जूहगचदमालियवेदियनिस्सेणिदोणिचंगेरीपीलामडकसभाप्पवाऽऽवसहगंधमल्लाणुलेवणअंबरजूयलगलमइयकुसियसंदणसीयारहसगडजाणजुग्गअट्टालगचरियदारगोपुरफलिहजंतसूलकीललउडमुसुंढिसयग्घिबहुपहरणाऽऽवरणुवक्खराण कए अण्णेहि य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं हिंसंति तरुगणे भणियाभणि-

ए य एवमाइगत्ते सत्तपरिवज्जिए उवहणंति दढ-मूढा दारुणमती कोहा माणा माया लोहा हास रती अरती सोयवेदत्थी जीयकामत्थधम्महेउं सवसा अवसा अट्ठाए अणट्ठाए य तसे पाणे थावरे य हिंसंति मंदबुद्धी सवसा हणंति अवसा हणंति सवसा अवसा दुहओ हणंति अट्ठा हणंति अणट्ठा हणंति अणट्ठा अट्ठा दुहओ हणंति हासा हणंति वेरा हणंति रतिय हणंति हासा वेरा रतिय हणंति कुद्धा हणंति लुद्धा हणंति मुद्धा हणंति कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति अत्था हणंति धम्मा हणंति कम्मा हणंति अत्था धम्मा कम्मा हणंति, कयरे जे ते सोयरिए मच्छबंधा साउणिया वाहा कूरकम्मा वाउरिया दीवियबंधप्पओगतप्पगलजालवीरिल्लगायसडब्भवग्गुराकूडछेलिहत्था हरिएसाउणिया य वीदंसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा य महुघातपोतघाया एणीयारा पएणियारा सरदहदीहियतलागपल्ललपरिगालणमलणसोत्तबंधणसलिलासयसोसगा विसगरस्स य दायगा उग्गतणवल्लरदवग्गिणिद्दयपलीवका कूरकम्मकारी इमे य बहवे मिलुक्खुजाई किं ते सक्का जवणा सवरबब्बरगायमुरुंडोड्डभंडगभित्तियपक्कणिया कुलक्खा गोडसीहलपारसकोंचअंधदविडचिल्ललपुलिंदआरोसडोंवपोक्काणगंधहारगबहलीयजल्ला रोममासबउसमलयचुंचुया य चूलियकोंकणगा मेयपल्हवमालवमहुरआभासिया अणक्कचीणलासियखसखासियनेट्ठरमरहट्ठमुट्ठियआरबडोंबिलगकुहणकेकयहूणरोमगरुरुमरुगाचिलायविसयवासी य पावमइणो जलयरथलयरसणफतोरगखहचरसंडासतोंडजीवोवघायजीवी सण्णी य असण्णिणो य पज्जत्ता असुभलेस्सपरिणामा एते अण्णे य एवमाइ करेंइ पाणाइवायकरणं पावा पावाभिगमा पावरुई पाणवहं करेइ पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमंता तुट्ठा पावं करेइं हुंति य ।

सस्थावरेषु जीवेषु प्रतिनिविष्टास्तद्रक्षणतस्तेषु वस्तुतो द्वेषवन्तः। ( किं ते त्ति ) कथं प्राणिवधं कुर्वन्तीत्यर्थः । तद्यथेति वा ( पाठीणेत्यादि ) पाठीनो मत्स्यविशेषस्तिमयस्तिमिङ्गिलाश्च महामत्स्या महामत्स्यतमा अनेकशो विविधमत्स्या सूक्ष्ममत्स्यश्वलमत्स्ययुगमत्स्याऽऽदय ,विविधजातयो नानाजातीया । मण्डूका द्विविधा. कच्छपा मांसकच्छपाऽस्थिकच्छपभेदात् । नक्रा मत्स्यविशेषा एव ।(मकरदुविह त्ति) मकरा जलचरविशेषा. शुण्डामकरमत्स्यभेदेन द्विभेदा ग्राहा जलजन्तुविशेषा एव । दिलिवेष्टक मण्डूकसीमाकारपुलकास्तु ग्राहभेदा एव. सुंसुमारा जलचरविशेषा. । तत एषां द्वन्द्व । ततश्च ते बहुप्रकाराश्चेति कर्मधारयोऽतस्तान् घ्नन्तीति वक्ष्यमाणेन योग. । इह च द्वितीयाबहुवचनेऽप्येकाराभावश्छान्दसत्वात् । ( जलयरविहाणा कए य एवमाइ त्ति ) जलचराणां विधानानि भेदास्तान्येव विधानकानि तानि कृतानि विहितानि यैस्ते तथा तान् जलचरविधानान् कृतांश्च । इह च कशब्दलोपेन विधानशब्दस्यान्तदीर्घत्वम । एवमादीन् पाठीनाऽऽदींस्तथा कुरङ्गा मृगा , रुरवस्तद्विशेषा , सरभा महाकायाऽटव्यपशुविशेषा ।' परासरे त्ति' पर्याया । ये हस्तिनमपि पृष्ठे समारोपयन्ति, चमरा आरण्यगाव , संवरा येषामनेकशाखे शृङ्गे भवत . ( उरब्भे त्ति ) उरभ्रा मेषा , शशा. शशका लोमटकाऽऽकृतय. प्रशरा द्विखुराटव्यपशुविशेषा., गोणा गाव , रोहिताश्चतुष्पदविशेषा । पाठान्तरेण त एव रोहिसा. । हया अश्वा गजा हस्तिन खरा गर्दभा करभा उष्ट्रा , खड्गा येषा पार्श्वयो पत्रवच्चर्माणि लम्बन्ते शृङ्ग चैकं शिरसि भवति, वानरा मर्कटा , गवया गवाकृतयो चतुष्पदा . वृका ईहामृगपर्याया नागरविशेषा. शृगाला जम्बुका , कोला उन्दुराऽऽकृतय । पाठान्तरेण कोका नखरविशेषा., मार्जारा बिराला. ( कोलसुणग त्ति) महाशूकरा. । अथवा कोडा शूकरा , श्वान कोलेयका , श्रीकन्दलका अवर्ताश्च एकखुरविशेषा., कोकन्तिका लोमटका ये रात्रौ को को इत्येवं स्वनन्ति गोकर्णा द्विखुराश्चतुष्पदविशेषा., मृगा सामान्यहरिणा. । कुम्भाऽऽदयस्तु प्रतीतभेदिना. शृगालवर्णाऽऽदिविशेषणाल्लद्विशेषा नामस्योऽवगम्या । महिषा प्रतीता. । (वियग्घ त्ति) व्याघ्रा नखरविशेषा. । छगला अजा , द्वीपिकाश्चित्रकाऽभिधाना नखरविशेषा , श्वानश्चाटव्या एव कोलेयका नरक्षा. अच्छभल्ला शार्दूलाश्च व्या-

प्रमाणमुत्कर्षेत आख्यायत इति। तत एषां द्वन्द्व'।तत उरग-विधानकानि कृतानि यैस्ते तथा। तत' कर्मधारय । ततश्च ताश्च एवमादीनि तत्तथा । क्षीरला' सारङ्गाश्च भुजपरिसर्पविशेषा । सेहास्तीक्ष्णशलाकाऽऽकुलशरीरा' शल्या कायचर्मकर्तलकैरङ्गरक्षका विधीयते गोधो—न्दुरनकुला· प्रतीता· । शरटाः कृकलाशा' , जाहका' कण्टकाऽऽवृतशरीरा सुगुंसा' खाडहिलाऽऽकृतय·, खाडहिला शुक्लकृष्णपट्टाङ्कितशरीरा शून्यदेवकुलाऽऽदिवासिन्य·, वातोत्पत्तिका रूढावसेयाः । गृहकोकिलिका गृहगोधिका· । एतेषां द्वन्द्व' । तत एते च ते सरीसृपगणाश्चेति कर्मधारय·।ततस्तेषां च एवमादीन् क्षीरलाऽऽदिप्रकारानित्यर्थ । तथा कादम्बाश्च हंसविशेषा', कङ्काश्च वकोटा ,वलाकाश्च विसकण्टिका ,सारसाश्च दार्वाघाटा', आडीसेटीकाश्च वञ्जुलाश्च खदिरचञ्चवः पारिप्लवाश्च शकुनाश्च पीपीलिका(?)विकारका हंसाश्च श्वेतपक्षा धार्त्तराष्ट्रकाश्च कृष्णचरणाऽऽनना हंसा एव,भासाश्च शकुन्ता·(कुलीकोस त्ति) कुटीक्रोशाश्च क्रोञ्चाश्च उदकतुण्डाश्च ढेणिकालकाश्च शूचीमुखाश्च कपिलाश्च पिङ्गलाक्षकाश्च कारण्डकाश्च चक्रवाकाश्च रथाङ्गा· उत्क्रोशाश्च कुररा , गरुडाश्च सुपर्णा· पिङ्गुलाश्च शुकाश्च कीरा', वर्हिणश्च कलापवन्मयूरा', मदनशालाश्च सारिकाविशेषा·, नन्दीमुखाश्च नन्दमानकाश्च कोरङ्काश्च भृङ्गारिकाश्च सतिनिसे(?)भूमौ ह्यङ्गुलशरीरा इत्येवलक्षणा', कोणालकाश्च जीवञ्जीवकाश्च तित्तिराश्च वर्त्तकाश्च लावकाश्च कपिञ्जलकाश्च कपोतकाश्च पारापतकाश्च चटकाश्च कलविङ्का ढिङ्काश्च कुर्कुटाश्च ताम्रचूडा वेसराश्च मयूरकाश्च कलापवर्जिता , चकोरकाश्च हृदपुण्डरीकाश्च शालकाश्च । पाठान्तरेण करकाश्च चीरल्लाश्च श्येना एवं वायसाश्च काका·, विहङ्गभेदनाशिनाश्च चाषाश्च किकीदीविन' वल्गुल्यश्च चर्म्मास्थिलाश्च चर्मचटका विततपक्षिणश्च मनुष्यक्षेत्रवहिर्वर्तिन इति द्वन्द्वः । ते च ते ( खचरविहाणा कए य त्ति ) खचरविधानककृताश्चेति तथा ताश्च एवमादीनुक्तप्रकारान् । एतेषु च शब्देषु केचिदप्रतीयमानार्थाः । केचित् प्रतीयमानपर्याया ,नामकोषेऽपि केषाञ्चित्प्रयोगानभिधानात्।आह च–"जीवञ्जीवकपिञ्जलचकोरहारीतवञ्जुलकपोता । कारण्डवकादम्वककुराद्या पक्षिजातयो ज्ञेया ॥१॥"इति पूर्वोक्ता ।ते च संग्रहवचनेनाऽऽह जलस्थलखचारिणश्च चशब्दो जलचराऽऽदिसामान्यसमुच्चयार्थ·।पञ्चेन्द्रियापञ्चेन्द्रियान् पशुगणान्विविधान् (वियतियचउरिंदि त्ति) द्वे च त्रीणि च चत्वारि चेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणि येषां ते तथा द्वीन्द्रिया ,त्रीन्द्रिया , चतुरिन्द्रियाश्चेत्यर्थोऽतस्तान् विविधान् कुलभेदेन जीवान् जन्तून् प्रियजीवितानभिमतप्राणधारणान्, मरणलक्षणस्य दुःखस्य मरणदु खयोर्वा प्रतिकूला' प्रतिपन्थिनो ये ते तथा तान् वराकान् तपस्विन । किमित्यत आह–घ्नन्ति विनाशयन्ति वहुसंक्लिष्टकर्म्माण सत्त्वा इति गम्यते। एवं तावद्रूपद्वारेण प्राणवधस्य प्रकार उक्त । अथ प्रयोजनद्वारेण स उच्यते। एभिर्वक्ष्यमाणप्रत्यक्षैर्विविधै कारणै प्रयोजनै ( किं ते त्ति ) किं तत्प्रयोजन,तद्यथेति वा।चर्म त्वक् वसा शारीर स्नेहविशेष·, मांसं पलम्, मेदो देहधातुविशेष , शोणित रक्तं, यकृद्दक्षिणकुक्षौ मांसग्रन्थि', फिप्फसमुदरमध्यावयवविशेषः, मस्तुलिङ्गं कपालभेजक ,हृदयं हृदयमांसम् अन्त्रं पुरीतत्,पित्तं दोषविशेष' फोफसं शरीरावयवविशेष', दन्ता दशना ,एतयां द्वन्द्वः,तत एतेभ्य इदमित्यर्थं विगृह्यार्थशब्दा योजनीया' । चर्माऽऽदिनिमित्तमित्यर्थः। तथाऽस्थीनि कीकशानि मिञ्जा तन्मध्यावयवविशेष ,नखा करजा·,नयना लोचनानि, कर्णाः श्रवणा (ण्हारु त्ति)स्नायु'(नर्क्क ति)नासिका·धमन्यो नाड्य शृङ्गं विषाण दंष्ट्रा दशनविशेष ।(पिच्छं ति)पत्र,विषं कालकूटं विषाणं हस्तिदन्त ,वाला केशा ।एतेषां द्वन्द्व' ततस्त एव हेतुरित्येवं हेतुशब्दो योज्य । तत पष्ठ्यर्थे द्वितीया। ततोऽयमर्थ·–अस्थिमिञ्जाऽऽदिहेतोर्घ्नन्तीति प्रक्रम·। तथा हिंसन्ति च वहुसंक्लिष्टकर्माण इति प्रक्रम । भ्रमरा पुरुषतया लोकव्यवहृता , मधुकर्य्यस्तु स्त्रीत्वव्यवहृतास्तद्गणान् तत्समूहान , रसेषु गृद्धा·, मधुग्रहणार्थमिति भाव । तथैव हिंसन्त्येवेत्यर्थ । त्रीन्द्रियान् यूकामत्कुणाऽऽदीन् ,शरीरोपकरणार्थं शरीरस्योपकाराय यूकाऽऽदिकृतदु खपरिहारार्थम्। अथवा–शरीराय,उपकरणाय चोपधये। अयमर्थ –शरीरसंस्कारप्रवृत्ता उपकरणसाधनसंस्कारप्रवृत्ताश्च विविधचेष्टाभिस्तान् घ्नन्तीति। किम्भूतान् ? कृपणान् कृपाऽऽस्पदभूतानिति। तथा द्वीन्द्रियान् वहून् (वत्थो वहरपरिमंडणट्ठ त्ति) वस्त्राणि चीवराणि, (उवहर त्ति)उपगृहाणि आश्रयविशेषा ,तेषां परिमण्डनार्थं भूषार्थं,कृमिरागेण हि रज्जमानानि श्रूयन्ते वस्त्राणि आश्रयास्तु मण्डन एव शङ्खशुक्तिचूर्णेनेति । अथवा—वस्त्रार्थमुपगृहार्थं परिमण्डनार्थं चेति। तत्र वस्त्रार्थं पट्टसूत्रसंपादने कृमिहिंसा सम्भवति,आलयार्थं मृत्तिकाजलाऽऽदिद्रव्येषु पूतरकाऽऽदिघातो भवति,परिमण्डनार्थं हाराऽऽदिकरणे शुक्त्यादिद्वीन्द्रियाणामिति। अन्यैश्चैवमादिकैर्वहुभि कारणशतैरवुधा वालिशा·, इह हन्ति इह जीवलोके हिंसन्ति घ्नन्ति,त्रसान् प्राणान्, तथा इमाश्च प्रत्यक्षान् एकेन्द्रियान् पृथिवीकायिकाऽऽदीन् वराकास्तपस्विन समारभन्त इति योग । न केवलमेकेन्द्रियाण्येव,त्रसाश्चान्यान् तदाश्रिताश्चैव, किंभूतान्?, तनुशरीरान् अत्राणान् अनर्थप्रतिघातकाभावात् अशरणानर्थप्रापकाभावात्। अत एव अनाथान् योगक्षेमकारिनायकाभावात्, अवान्धवान् स्वजनसहायकार्याभावान्,कर्मनिगडवद्धानिति व्यक्तं, तथा अकुशलपरिणामोदयाऽऽवर्जितत्वेन मन्दवुद्धिश्च मिथ्यात्वोदयाद्यो जनो लोकस्तेन दुर्ज्ञेया ये ते तथा तान् , पृथिव्या विकारा पृथिवीमयान् , पृथिवीकायिकानित्यर्थ·। तथा पृथिवीसंश्रितान् अलसाऽऽदित्रसान्,एव जलमयानप्कायिकान् जलगतान् पूतरकाऽऽदित्रसान् शैवलाऽऽदिवनस्पतिकायिकाश्च अनलस्तेजस्कायो निलो वायुकायस्तृण वनस्पतिगणो वादरवनस्पतीना समुदाय । एत न्निश्रिताश्च एतदुपजीवकाश्च त्रसानिति हृदयम्। ( तम्मयतज्जिए त्ति) तेषामनलानिलतृणवनस्पतिगणाना विकारास्तन्मया अनलकायिकाऽऽदय एव,तथा तेषामेवानलाऽऽदीना जीवास्तज्जीवास्तद्योनिका त्रसा इत्यर्थ । तन्मयाश्च तज्जीवाश्चेति तन्मयतज्जीवा। नाश्चैव पाठान्तरेण–तन्मयजीवाश्चेति। किंभूतास्तान् ?, (तदाहारेत्ति) पृथिव्यादय आधारो येषां ते तदाधारास्तानेव वा पृथिव्यादीना हारयन्तीति तदाहारास्तान् , तेषामेव पृथिव्यादीना परिणता वर्णगन्धरसस्पर्श·

र्था चोन्दी शरीर सैव रूपं स्वभावो येषां ते तथा तान्, अचाक्षुषान् चक्षुषाऽदृश्यांश्चाक्षुषांश्च चक्षुर्ग्राह्यान्। कानेवं-विधानित्याह-त्रसकायस्त्रसनामकर्मोदयवर्तिजीवराशिः,तत्र भवास्त्रसकायिकाः तान्। कियन्त इत्याह असंख्यान् तथा स्थावरकायांश्च सूक्ष्माश्च बादराश्च तन्नामकर्म्मोदयवर्तिनः प्रत्येकशरीरमिति नामकर्मविशेषो येषां ते प्रत्येकशरीरनामानः, ते च साधारणाश्च साधारणशरीरनामकर्म्मोदयवर्तिन इति द्वन्द्वोऽतस्तान्। कियन्तः?,अनन्तान् साधारणानेव शेषस्थावराणामसंख्येयत्वात्। जीवानिति योग.। किमित्याह-घ्नन्ति। किंभूतान्?,अविजानतश्च स्ववधपरिजानतश्च सुखदुःखे अनुभवतः। एकेन्द्रियान् अथवा स्ववधमजानत एकेन्द्रियान् तमेव परिजानतस्त्रसानिति जीवान जन्तून् एभिर्विविधैः कारणैः प्रयोजनैः ( किं ते त्ति ) किं तत्, तद्यथेति वा। कर्षणं कृषि ,पुष्करिणीः पुष्करवती चतुः कोणा वा वापीति पुष्करावर्त्ता वा। (वप्पिण त्ति) केदाराः,कूपसरस्तडागाः प्रतीता.। चितिर्भित्त्यादेश्चयनं,मृतकदहनार्थं दारुविन्यासो वा,वेदिर्वितर्दिका,खातिका परिखा,आरामो वाटिका, विहारो बौद्धाऽऽधाश्रयः,स्तूपः चितिविशेषः,प्राकारः शालद्वारं प्रतीतं,गोपुरं प्रतोलीकपाट इत्यन्ये। अट्टालकः प्राकारोपरिवर्त्त्याश्रयविशेषः, चरिका नगरप्राकारयोरन्तरेषु अष्टहस्तप्रमाणो मार्ग.,सेतुर्मार्गविशेषः,पालिर्वा। संक्रमो विषमोत्तरणमार्ग.,प्रासादो नरेन्द्राऽऽश्रयः,विकल्पास्तद्भेदाः। भवनानि चतुःशालाऽऽदीनि, गृहाणि सामान्यानि, शरणानि तृणमयानि, लयनानि पार्व्वतानि कुट्टितगृहाणि,आपणा हट्टाः,चैत्यानि प्रतिमाः,देवकुलानि सशिखरदेवप्रासादा.,चित्रसभा चित्रकर्मवन्मण्डप., प्रपा जलदानस्थानम्,आयतन देवाऽऽयतनम्,आवसथः परिव्राजकाऽऽश्रय.,भूमिगृहं प्रतीतं,मण्डपश्छायाऽऽर्थ्यः पटाऽऽदिमय आश्रयविशेषः,एतेषां द्वन्द्व.। तत एतेषां कृते निमित्ते पृथिवीं हिंसन्ति इति संबन्धः भाजनान्यमत्राणि सौवर्णाऽऽदीनि, भाण्डानि तान्येव मृण्मयानि,क्रयाणकानि लवणाऽऽदीन्युपकरणान्युदूखलाऽऽदीनि। एषां समाहारद्वन्द्वः। ततस्तस्य विविधस्य चार्थाय हेतवे पृथिवीं पृथिवीकायिकान् हिंसन्ति मन्दबुद्धिका.। तथा जलं चाप्कायिकांश्च,हिंसन्ति इति वर्तते। मज्जनकं स्नानं, पानं भोजन च प्रतीतम्। वस्त्रधावनं वासःक्षालनं, शौचमाचमनमेतदादिभिः कारणैः इति प्रक्रमः। तथा पचन पाचनमोदनाऽऽदेः (जलावणं ति)स्वत परतो वाऽग्नेरुद्दीपनं, विदर्शनमन्धकारस्थवस्तुप्रकाशनमेतैः कारणैः। च समुच्चये। अग्निं हिंसन्ति। तथा सूर्पं प्रतीतं, व्यजनं वायूदीरकम् ताल वृन्त,तदेव छिपुटाऽऽदि।(पेहुणं ति) मयूराङ्गं,मुखमास्यं,करतलं हस्त.,सागरत्रं वृत्तविशेषपत्र, वस्त्रं प्रतीतमेतदादिभिः यानोद्वै[illegible]णवस्तुभि अनिलं वायुं हिंसन्ति इति। नथा आगारं गेह (परियारो त्ति) परिवारो वृतिः,खड्गाऽऽदिकोशो वा। भक्ष्याणि मोदकाऽऽदीनि।"रदविशदमभ्यवहार्यं भदरम्"इति वचनात्। भोजनान्योदनाऽऽदीनि,शयनानि शय्या ,आसनानि विष्टराणि,फलकान्यवष्टम्भनपृताऽऽदिनिमित्तानि. मुशलान्युदूखलाश्च प्रसिद्धा। ततानि वीणाऽऽदीनि,विततानि पटहाऽऽदीनि,चातोद्यानि वाद्यानि,वहनानि यानपात्राणि, वाहनानि शकटादीऽऽनि,मण्डपाः प्रतीता। विविधभवनानि चतुःशालाऽऽदीनि,तोरणानि प्रतीतानि। विडङ्कः कपोतपाली, देवकुलं प्रतीतं, जालकः छिद्रान्वितो गृहावयवविशेषः,अर्द्धचन्द्रः सो-

धविशेषः, निर्यूहकं द्वारोपरितनपार्श्वविनिर्गतदारु,चन्द्रशालिका प्रासादोपरितनशाला, वेदिका वितर्द्दिका, नि.श्रेणिरवतरणी,द्रोणी नौः,चङ्गेरी महती काष्ठपात्री,बृहत्पटलिका वा। कीलाः शङ्कवः,मण्डका मुण्डका,सभा आस्थानिका, प्रपा जलदानमण्डपः,आवसथः परिव्राजकाऽऽश्रयः, गन्धाः चूर्णा[illegible]-पाः, माल्यं कुसुममनुलेपनं विलेपनमम्बराणि वस्त्राणि, यूपो युगं,लाङ्गलं सीर,(मत्तिय त्ति)मत्तिकं,येन कृष्टा क्षेत्रं मृज्यते,कुशिकं हलप्रकार.,स्यन्दनो रथविशेषो,यतो द्विविधो रथ.-सांग्रामिको,देवयानरथश्च। तत्र संग्रामिकस्य कट्यप्रमाणा वेदिका भवति,शिविका पुरुषसहस्रवहनीयकूटाऽऽकारशिखराऽऽच्छादितो जम्पानविशेष.,रथः प्रसिद्धः,शकटं गन्त्री, यानं त द्विशेषः,युग्यं गोल्लदेशप्रसिद्धो द्विहस्तप्रमाणवेदिकोपशोभितो जम्पानविशेष एव, अट्टालकः प्राकारोपरिवर्ती आश्रयविशेषः। चरिका नगरप्राकारान्तराले अष्टहस्तप्रमाणो मार्गः, द्वारं प्रतीतं,गोपुरं पुरद्वारः,परिघा अर्गला,यन्त्राणि अरघट्टाऽऽदियन्त्राणि,शूलिका वध्यप्रोतनकाष्ठं,पाठान्तरे शूलकः कीलकविशेषः। (लउड त्ति)लकुट मुसुण्ढिः प्रहरणविशेष.,शतघ्नी महती यष्टिः,बहूनि च प्रहरणानि करवालाऽऽदीनि,आवरणानि स्फरवाऽऽदीनि (?) उपस्करश्च गृहोपकरणं मञ्चकाऽऽदि। तत एतेषां द्वन्द्व.। ततश्च एतेषां कृते अर्थाय एभ्यैश्च एवमादिभिः बहुभिः कारणशतैः हिंसन्ति तरुगणान्। तथा भणिताभणिताश्चैवमादिकान् एवंप्रकारान् सत्त्वान् सत्त्वपरिवर्जितान् उपघ्नन्ति। दृढाश्च मूढाश्च दारुणमत.यश्चेति प्रतीतम्। तथाविधक्रोधात् मानात् मायालोभात् हास्यरत्यरतिशोकात्। इह पञ्चमीलोपो दृश्य.। वेदार्थाश्च वेदार्थमनुष्ठानं, जीविका जीवनं, धर्मश्चार्थश्च कामश्चेत्येतेषां हेतो कारणात्, स्ववशाः स्वतन्त्रा , अवशास्तदितरे अर्थाय च अनर्थाय च त्रसप्राणान् स्थावरांश्च हिंसन्ति मन्दबुद्धय.। एतदेव प्रपञ्चयन्नाह-स्ववशा घ्नन्ति,अवशा घ्नन्ति, स्ववशा अवशाश्च इत्येवं (दुहउ त्ति)द्विविधा घ्नन्ति,एवमर्थाय इत्यादालापकत्रयम्। एवं हास्यवैररतिभिरालापकचतुष्टयमेयं क्रुद्धलुब्धमुग्धैः अर्थधर्मकामैश्चेति। तदेवं यथा च कृत इति प्रतिपादितम्। अधुना 'फलप्रधानाः क्रियाः" इति न्यायात्। फलद्वारं द्वारगाथाया कर्तृद्वारात् प्रागुपन्यस्तमप्युल्लङ्घ्य "कर्त्रधीना क्रिया" इति न्यायेन कर्तुं प्रधानतया अल्पवक्तव्यत्वाद्वा येऽपि कुर्वन्ति पापा प्राणवधमित्येतदाह-( कयरेत्यादि ) तत्र कतरे कृष्यादिकारणैः प्राणिनो घ्नन्तीति प्रश्न.। उत्तरमाह-( जे ते सोयरिए इत्यादि ) तत्र शूकरैः मृगया कुर्वन्ति ये ते शौकरिका., मत्स्यबन्धा. प्रतीताः। शकुनीन् घ्नन्तीति शाकुनिका , व्याधा. लुब्धकविशेषा. क्रूरकर्माण इत्येतेषामेव स्वरूपाभिधायकं विशेषणम्। (वागुरिय त्ति)क्वचित्पाठः। तत्र वागुरिकया मृगबन्धनविशेषेण चरन्तीति वागुरिका इति। तथा द्वीपिकश्चित्रको मृगमारणाय बन्धनप्रयोगश्च बन्धोपाय तप्नद्य(?)नरकाण्डविशेषो मत्स्यग्रहणार्थं जलावतरणाय ,गलं च वडिश जालं च मत्स्यबन्धनं. चिरल्लकश्च श्येनाभिधान , शाकुनि शकुनिविनाशाय. आयसी लोहमयी दर्भमयी च या वागुरा मृगबन्धनविशेष. सा च कूटेन या स्थाप्यते चित्रकाऽऽदिग्रहणार्थं, छलिका अजा सा कूटच्छलिका सा च, अथवा कूटं च मृगाऽऽदिग्रहणयन्त्रं छलिका चेति द्वन्द्व.। ना हस्ते यषां ते तथा।

( दीविय त्ति ) क्वचित्पाठ । तत्र द्वीपिकेन चित्रकेन चरन्तीति द्वीपिका इति । तत उत्तरपदेन द्वन्द्वम् । अयमालापक क्वचित्कथञ्चिद् दृश्यते,नवरं गमकपक्षमाश्रित्य व्याख्यात । इरिकेशाश्चण्डालविशेषा , कुणिकाश्च सेवकविशेषा । क्वचित् "साउणिय त्ति" पाठ । तत्र शकुनेन चरन्ति शाकुनिका इति । (विदंस त्ति) विदशन्ति इति विदंशिका श्येनाऽऽदयः,पाशाश्च शाकुनिबन्धनविशेषा हस्ते येषां ते तथा, वनचरका शवराः, लुब्धकाश्च व्याधाः, मधुघातपोतघाताः मधुग्राहकाः शावग्राहकाश्चेत्यर्थ । ( एणीयार त्ति ) एणी हरिणी मृगग्रहणार्थं धारयन्ति पोषयन्ति ये ते । तथा-( पएणीयार त्ति ) प्रकृष्टा एणीचारा, प्रेणीचाराः, सरो जलाऽऽश्रयविशेष., इदो नद', दीर्घिका शारिणी, तडागं प्रतीतम्, पल्वल नद्वलमित्येतान् परिगालनेन च शुक्तिशंखमत्स्याऽऽदिग्रहणार्थं जलनिःसारणेन मलनेन च मर्द्दनेन च श्रोतोबन्धनेन च जल पारगमनाय सलिलाऽऽश्रयान् परिशोषयन्ति ये ते तथा । विषस्य कालकूटस्य गरलस्य च द्रव्यसंयोगविशेषस्य दायकाः दातारो ये ते तथा । उद्गततृणानामुद्गतवल्लराणां क्षेत्राणां दवाग्निना वह्निर्ज्वालनेन निर्दयं यथा भवतीत्येवं ( पलीवग त्ति ) प्रदीपका ये ते तथा । क्रूरकर्मकारिण इमे बहवे ( मिलक्खुजाइ त्ति ) म्लेच्छजातीयाः ( किं ते त्ति)तद्यथा-शकाः १ यवना' २ शवराः ३ वर्वराः ४ काया' ५ मुरुण्डाः ६ उड्डाः ७ भरण्डा. ८ भित्तिकाः ९ पक्कणिका. १० कुलाक्षा. ११ गौडाः १२ सिंहलाः १३ पारसाः १४ क्रौञ्चा १५ आन्ध्रा' १६ द्रविडा' १७ चिल्वला १८ पुलिन्दाः १९ आरोपा. २० डोम्बाः २१ पोक्कणा' २२ गन्धहारका' २३ वल्हीका. २४ जल्ला. २५ रोसा. २६ माषा' २७ वकुशा' २८ मलयाश्च २९ चुञ्चुकाश्च ३० चूलिका. ३१ कोङ्कणगाः ३२ मेदाः ३३ पह्लवाः ३४ मालवाः ३५ महुरा ३६ आभाषिकाः ३७ अणक्काः ३८ चीनाः ३९ लासिका' ४० खसा' ४१ खासिकाः ४२ नेट्टराः ४३ ( मरहट्ट त्ति ) महाराष्ट्रा ४४ । पाठान्तरेण मुढीः ४५ मौष्टिक' ४६ आरवा' ४७ डोम्बिलका' ४८ कुहुणाः ४९ केकया. ५० हूणा' ५१ रोमकाः ५२ रुरवो ५३ मरुका इति ५४ । एतानि च प्रायो लुप्तप्रथमाबहुवचनानि पदानि तथा चिलातविषयवासिनो म्लेच्छदेशवासिन' । एते च पापमतय. । तथा च जलचराश्च थलचराश्च (सणहपय त्ति) सनखपदाश्च सिंहाऽऽदय उरगाश्च सर्पाऽऽदय' ( खहयरसदंसतुंड त्ति ) खचराः सदंशतुण्डाश्च संदंसाऽऽकारमुखपक्षिण इति द्वन्द्वः । ते च ते जीवोपघातजीविनश्चेति कर्मधारय. । कथंभूता ?, संज्ञिनश्चासंज्ञिनश्च पर्याप्ता. अशुभलेश्यापरिणामाः, एते चान्ये चैवमादय. कुर्वन्ति प्राणातिपातकरणं प्राणिवधानुष्ठानं, पापाः पापानुष्ठायिन. पापाभिगमा' पापमेवोपादेयमित्यभिगमा' । पापरुचय पापमेवोपादेयमिति श्रद्धाना', प्राणवधकृतरतिका' प्राणवध एव रूपानुष्ठाना प्राणवधकथास्वभिरमतः ( तुट्ठा पाव करेत्तु हुंति य बहुप्पगारं ति ) पापं प्राणवधरूपं कृत्वा बहुप्रकारं तुष्टाश्च भवन्ति ये ते कुर्वन्ति प्राणवधमिति प्रकृतम् । तदियता ये प्राणवधं कुर्वन्ति ते प्रतिपादिता' ।

इदानीं यादृशं फलं ददाति प्राणवधः एतदुपपादनायाऽऽह-
बहुप्पगारं तस्स य पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं नरयतिरिक्खजोणिं इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जंति नरएसु हुलियं महालएसु वइरामयकुड्डरुंदनिस्संधिदारविरहियनिम्मद्दवभूमितलखरफासविसमणिरयघरचारएसु महोसिणसयपतत्तदुग्गंधविस्सउव्वेयणगेसु बीभच्छदरिसणिज्जेसु निच्चं हिमपडलसीयलेसु य कालोभासेसु य भीमगंभीरलोमहरिसणेसु णिरभिरामेसु निप्पडियारवाहिरोगजरापीलिएसु अईव णिच्चंधयारतिमिसेसु पतिभएसु ववगयगहचन्दसूरणक्खत्तजोइसेसु मेयवसामंसपडलपोच्चडपूयरुहिरुक्किण्णविलीणचिक्कणरसियावावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकूलानलपलित्तजालमुम्मुरअसिखुरकरवत्तधारासु निसितविच्छुयडंडकनिवातोवमफरिसअतिदुस्सहेसु य अत्ताणा असरणा कडुयदुक्खपरितावणेसु अणुबद्धनिरंतरवेयणेसु जमपुरिससंकुलेसु तत्थ य अंतोमुहुत्तलद्धिभवपच्चएणं निव्वत्तेंति य ते सरीरं हुंडं बीभच्छदरिसणिज्जं बीभणगं अट्ठिण्हारूणहरोमवज्जियं असुभगदुक्खविसहं ततो य पज्जत्तिमुवगया इंदिएहिं पंचहिं वेएन्ति,असुभाए वेयणाए उज्जलबलविउलातिउलउक्कडखरफरुसपयंडघोर बीहणगदारुणाए । किं ते कंदुमहाकुंभिपयणपउलणतवगतलणभट्ठभज्जणाणि य लोहकडाहकढणाणि य कोट्टबलिकरणकुट्टणाणि य सामलितिक्खग्गलोहकंटकअभिसरणापसरणाणि फालणविदालणाणि य अवकोडकबंधणाणि लट्ठिसयतालणाणि य गलगवलुल्लंबणाणि सूलग्गभेयणाणि य आएसपवंचणाणि खिंसणविमाणणाणि य विघुट्ठपणिज्जणाणि वज्झसयमातिकाणि य, एवं ते पुव्वकम्मकयसंचयोवतत्ता निरयग्गिमहग्गि संपलित्ता गाढदुक्खं महब्भयं कक्कसं असायं सारीरं माणसं च तिव्वं दुविहं वेएइ वेयणं पावकम्मकारी बहूणि पलिओवमसागरोवमाणि कलुणं पालेंति ते अहाउयं जमकायियतासिता य सद्दं करेइ भीया । किं ते अविभाव सामि भाय वप्प ताय जियवं ! मुय मे मरामि दुब्बलो वाहिपीलिओऽहं, किं दाणाऽसि, एवं दारुणो णिद्दओ य मा देहि मे पहारे उस्सासे तं मुहुत्तगं मे देहि पसाय करेह मा रूस वीसमामि गेविज्जं मुंच मे मरामि गाढं तण्हाइओ अहं देहि पाणीयं,ता हंद पिय इमं जलं विमलसीयल, निघित्तूण य णिरयपाला तवियं तउयं से देंति कलसेण अंजलीसु दट्ठूण च तं पदीवियंगमंगा अंसुपगलंतपप्पुयच्छा छिण्णा तण्हा इय मे कलुणाणि जंपमाणा विप्पेक्खत्ता दिसो दिसिं अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पहूणा विपलायंति मिया व वेगेण भयुव्विग्गा घित्तूण बला पलायमाणाणं निरणुकंपा मुहं

विहाडेंतु लोहदंडेहिं कलकलं एहं वयणंसि छुब्भंति केइ जमकाइया हसंता तेण य दड्ढा संते रसंति य भीमाइं विस्सराइं रोवेंति कलुणगाइं पारेवतगा य एवं पलावितविलावकलुणो कंदियबहुरुन्नरुदियसद्दो परिदेवियरुद्धबद्धकारवसंकुलो नीसट्ठो रसियभणियकुवियकुइयणिरयपालतज्जियगिण्हणक्कामणपहारछिंदभिंदउप्पाडेहि उक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो हणविहणविच्छुभोच्छुहआकड्ढविकड्ढ किं ण जंपसि समराहि य पावकम्माइं दुक्कयाइं एवं वयणमहप्पगब्भो पडिसुयसद्दसंकुलो तासओ सया निरयगोयराणं महानगरडज्झमाणसरिसो निग्घोसो सुच्चए अणिट्ठो तहियं णेरइयाणं जातिज्जंताणं जातणाहिं । किं ते-असिवणदब्भवणजंतपत्थरसूईतलखारवाविकलकलितवेयरणिकलंबवालुयाजलियगुहनिरुंभणउसिणोसिणकंटइल्लदुग्गमरहजोयणतत्तलोहपहगमणवाहिणाणि इमेहिं विविहेहिं आयुहेहिं । किं ते-मोग्गरमुसंढिकरकयसत्तिहलगयमुसलचक्ककुंततोमरसूललउडभिंडिमालसद्धलपट्टिसचम्मेट्ठदुघणमुट्ठियअसिखेडगखग्गचावनारायकणगकप्पणिवासिपरसुटंकतिक्खनिम्मला अन्नेहि य एवमाइएहिं असुभेहिं विउव्विएहिं पहरणसएहिं अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परं वेयणं उदीरेंति अभिहणंति तत्थ य मोग्गरपहारचुण्णियमुसंढिसंभग्गमहितदेहा जंतोप्पीलणफुरंतकप्पिया, केइत्थ सचम्मकविगता णिमूलुल्लूणकण्णोट्ठनासिका छिन्नहत्थपाया असिककचतिक्खकुंतपरसुप्पहारफालियवासीसंतच्छितंगमंगा कलकलखारपरिसित्तगाढडज्झंतगत्ता कुंतग्गभिन्नजज्जरियसव्वदेहा विलोलंति महीतले विसूणियंगमंगा, तत्थ य विगसुणगसियालकागमज्जारसरभदीवियवग्घसद्दूलसीहदप्पियखुहाभिभूतेहिं णिच्चकालमणसिएहिं घोररसमाणभीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढागाढडक्ककड्ढियसुनिक्खनहफालियउद्धदेहा विच्छिप्पते समंतओ. विमुक्कसंधिबंधणा वियंगमंगा कंकुरगिद्धघोरकट्ठवायसगणेहि य पुणो खरथिरदढणक्खलोहतुंडेहिं ओवतित्ता पक्खाहयतिक्खणखविक्खित्तजिब्भिंछियनयणनिद्दयो [illegible]भग्गविगयवयणा उक्कोसंता य उप्पयंतनिप्पयंता भमंता पुव्वकम्मोदयोवगया [illegible] डज्झमाणा णिंदंता पुरेकडाइं पावगाइं तहिं तहिं तारिसाणि ओसन्न[illegible] दुक्खाइं अणुभवित्ता ततो य आउक्खएणं उव्वट्टिया समाणा बहवे गच्छंति तिरियवसहिं दुक्खुत्तारं [illegible] जम्मणमरणजरावाहिपरियट्टणारहट्टं जलथलखहचरपरोप्परविहिंसणपवंचं इमं च जगपागडं वराका दुक्खं पावेंति दीहकालं । किं ते-सीउण्हतण्हखुहवेयणअप्पईकार[illegible] [illegible]

णंऽकणनिवायणऽट्ठिभंजणनासाभेदप्पहारदमणछविच्छेयणअभिओगपावणकसंकुसारनिवायदमणाणि वाहणाणि य मायापितिविओगसोयपरिपीलणाणि य सत्थग्गिविसाभिघातगलगवलावलणमारणाणि य गलजालुच्छिप्पणाणि पउलणविकप्पणाणि य जावज्जीवगबंधणाणि पंजरनिरोहणाणि य सजूहनिद्धाडणाणि धमणाणि दोहणाणि य कुदंडगलबंधणाणि वाडपरिवारणाणि य पंकजलनिमज्जणाणि वारिप्पवेसणाणि य ओवायनिभंगविसमणिवडणदवग्गिजालदहणाइं एवं ते दुक्खसतसंपलित्ता नरगाओ आगया इहं सावसेसकम्मा तिरिक्खपंचिंदिएसु पावंति पावकारी कम्माणि पमादरागदोसबहुसंचियाइ अतीव अस्सायकक्कसाइं भमरमसगमच्छिगाइएसु जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं णवहिं चउरिंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुभवंता कालसंखेज्जकं भमंति नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसणघाणचक्खुसहिया तहेव तेइंदिएसु कुंथुपिपीलिकाअवहिकाइकेसु य जातीकुलकोडिसयसहस्सेहिं अट्ठहिं अणूणएहिं तेइंदियाणं तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुभवंता कालसंखेज्जकं भमंति, नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसणघाणसंपउत्ता तहेव वेइंदिएसु गडूलयजलोयकिमियचंदणगमादिएसु य जातीकुलकोडिसयसहस्सेहिं सत्तहिं अणूणएहिं वेइंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुभवंता कालसंखेज्जगं भमंति नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसणसपउत्ता पत्ता एगिंदियत्तणं पि य पुढविजलजलणमारुयवणप्फति सुहुमबायरं च पज्जत्तमपज्जत्तं पत्तेयसरीरनामसाहारणं च पत्तेयसरीरजीविएसु य, तत्थ वि कालमसंखेज्जगं भमंति अणंतकालमणंतकाए फासिंदियभावसंपउत्ता दुक्खसमुदए य इमं अणिट्ठं पावेंति पुणो पुणो तहिं तहिं चेव परभवतरुगणगहणे कोद्दालकुलियदालणसलिलमलणखुंभणरुंभणअणलाणिलविविहसत्थघट्टणपरोप्पराभिहणनमारणविराहणाणि य अकामकाइं परप्पओगोदीरणाति य कज्जपओयणेहिं य पेस्सपसुणिमित्तं ओसहाहारमाइएहिं उक्खणणउक्कत्थणपयणकुट्टणपीसणपिट्टणभज्जणगालणआमोडणसाडणफुडणभंजणछेयणतच्छणविलुंचणं [illegible] दहणाइं एवं ते भवपरंपरादुक्खसमणुबद्धा अडंति संसारे बीहणकरे जीवा पाणाइवायणिरया अणंतं कालं ।

[illegible]

द्भिश्च पुनः पुनस्तत्रोत्पादहेतुकर्मबन्धनात्,किंभूताम् ?, मह-
द्भयं यस्यां सा महाभया ता महाभयाम्,अविश्रामवेदना वि-
श्रान्तरहितामसातवेदना दीर्घकालं यावत् वहुभिः दुःखैः
शारीरमानसैः या संकुला सा दीर्घकालवहुदुःखसंक-
टा तां नरकेषु तिर्यक्षु च या योनिरुत्पत्तिहेतुत्वात् सा न-
रकतिर्य्यग्योनिस्ता, ततश्च इतो मनुष्यजन्मनः सकासा-
दायुःक्षये मरणे सति च्युतास्सन्तः ( नरसेत्यादि ) च सूत्रं
क्वचिदेव दृश्यते। अशुभकर्मवहुलाः कलुषकर्मप्रचुराः, उ-
पपद्यन्ते जायन्ते नरकेषु ( हुलियं ति ) शीघ्रं महालयेषु
क्षेत्रस्थितिभ्या महत्सु, कथंभूतेषु ?, वज्रमयकुड्या रुन्द्रा
विस्तीर्णा निस्संधयो निर्विवराः द्वारविरहिताः अद्वाराः
निर्मार्दवभूमितलाश्च कर्कशभूमयः ये नरकास्ते तथा ( ख
लफास त्ति ) कर्कशस्पर्शाः विषमा निम्नोन्नता निरयगृहसं-
बन्धिनो नारका कुड्यकुटा नारकोत्पत्तिस्थानभूताः येषु नर-
केषु ते तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। अतस्तेषु तथा
महोष्णाः अत्युष्णाः सदा प्रतप्ता नित्यतप्ताः दुर्गन्धाः अशुभ
गन्धा विश्रा आमगन्धय कुथितेत्यर्थः। उद्विज्यते उद्विग्नैर्भू
यते यस्मिन् ते उद्वेजनकास्ते ये ते तथा तेषु तथा वीभत्सदर्श
नीयेषु विरूपेषु नित्यं सदा हिमपटलमिव हिमवृन्दमिव शी-
तला ये ते तथा तेषु च काल आवभास प्रभा येषा ते त-
था कालावभासास्तेषु च, भीमगम्भीराश्च ते अत एव
लोमहर्षणाश्च रोमहर्षकारिणो भीमगम्भीरलोमहर्षणास्तेषु
निरभिरामेष्वनभिरमणीयेषु नि प्रतीकारा अचिकित्स्या ये
व्याधय कुष्ठाऽऽद्या जरा च प्रतीता रोगाश्च सद्योघातिनो
ज्वरशूलाऽऽदय तै पीडिता ये ते तथा तेषु। इदं च नारक-
धर्माध्यारोपान्नरकाणा विशेषणमुक्तम्। अतीव प्रकृष्टं नित्य
शाश्वतमन्धकार येषु ते तथा तमिस्रेव (?) अन्धका
रप्रकर्षास्ते अतीव नित्यान्धकारतिमिस्रा। अथवा-अतीव-
नित्यान्धकारेण तिमिस्रेव ये ते तथा तेषु। अत एव प्रतिभ-
येषु वस्तुं वस्तुं प्रतिभयं येषु ते तथा तेषु व्यपगतग्रहचन्द्र-
सूर्यनक्षत्रज्योतिष्केषु। इह ज्योतिष्शब्देन तारका गृह्यन्ते।
मेदश्च शरीरधातुविशेष, वसा च शरीरस्नेह, मांसं च
पिशितं, तेषां यत्पटलं वृन्द ( पोच्चड त्ति ) अनिविडं च
पूयरुधिराभ्या पकरक्तशोणिताभ्यां ( उक्किसं ति ) उत्की-
र्णं मिश्रितं विलीन जुगुप्सितं चिक्कणमाश्लेषवत् रासि
कया शारीररसविशेषेण व्यापन्न विनष्टं स्वरूपमत एव कु-
थितं कोथवत् तदेव चिक्खल्लं प्रयलकर्दम कर्दमश्च त-
त्रितरो येषु ते तथा तेषु, कुकूलानलश्च कारीषाग्नि प्र
दीप्तज्वाला च मुर्मुरश्च भस्माग्नि ,असिक्षुरकरपत्राणा धा-
रासु निशिता वृश्चिककण्डकस्य तत्पुच्छकण्टकस्य च
निपात इति द्वन्द्व। एभिरौपम्यमुपमा यस्य स तथा त-
थाविध स्पर्शः अतिदुःसहो येषा ते तथा तेषु, अत्राणा
अनर्थप्रतिघातकवर्जिताः, अशरणा स्वार्थप्रापकवर्जिता
जीवा कटुकटुःखै दारुणैः दुःखैः परितप्यन्ते येषु ते अ-
त्राणाशरणकटुकटुःखपरितापनास्तेषु अनुवद्धनिरन्तरा
अत्यन्तनिरन्तरा वेदना येषु ते तथा तेषु, यमस्य दक्षि-
णदिक्पालस्य पुरुषा अम्बाऽऽदय असुरविशेषा यमपुरुषा
स्तै संकुला येषु ते तथा तेषु, तत्र च उत्पत्तौ सति अन्तर्मु
हूर्तंश्च कालमानविशेष , लब्धिश्च वैक्रियलब्धिर्भवप्रत्ययश्च

भवलक्षणो हेतुरन्तर्मुहूर्तलब्धिश्च भवप्रत्ययं तेन निर्वर्तयन्ति
कुर्वन्ति ते पुनः पापा ,शरीर किंभूतम् ?,हुण्डं सर्वत्रासंस्थितं,
वीभत्सदर्शनीयं दुर्दर्शनं ( वीहणगं ति ) भयजनकमस्थिस्ना-
युनखरोमवर्जितम् असुभगं च तत् दुःखविषहं चेत्यसुभगदुः-
खविषहम्। पाठान्तरेणाऽशुभं दुःखविषयं च यत् तत्तथा, ततः
शरीरनिर्वर्तनानन्तरं पर्याप्तिमिन्द्रियपर्याप्तिमानप्राणपर्याप्ति
भाषापर्याप्ति मनःपर्याप्ति चोपगता प्राप्ता इन्द्रियैः पञ्चभि-
र्वेदयन्ति अनुभवन्ति। कं ?, दुःखं महाकुम्भिपचनाऽऽदीनि
दुःखकारणानीति योगः। कया कलितान्यशुभया वेदनया दु-
खरूपयेत्यर्थः। किंभूतयेत्याह-( उज्जलेत्यादि ) तत्रोज्ज्वला
विपक्षलेशेनाप्यकलङ्किता वला वलवती निवर्तयितुमशक्या
विपुला सर्वशरीरावयवव्यापिनी। पाठान्तरेण-(तिउल ति)
त्रीन् मनोवाक्कायास्तुलयत्यभिभवति या सा त्रितुला, उ-
त्कटा प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनी, खरममृदुशिलावत् यद् द्रव्य त-
त्सम्पातजनिता खरा, परुषं कर्कश कूष्माण्डीदलमिव
यत्तत्सम्पातसंभवाः परुषाः प्रचण्डाः शीघ्रं शरीरव्या-
पिका प्रचण्डापरिवर्तिनत्वाद्वा प्रचण्डा घोरा क्रमिति
जीवितक्षयकारिणी औदारिकवता परिजीवितानपेक्षा वा
ये ते तथा, घोरास्तत्प्रवर्तित्वात् घोरा इति ' ( वीह-
णग त्ति) भयोत्पादिका। किमुक्तं भवति ?-दारुणा,तत एतेषां
कर्मधारयः। अत तया वेदयन्तीति प्रकृतम्। (किं ते त्ति) त-
द्यथा-कन्दुलोही, महाकुम्भी महत्युखा, तयोः पचन च भक्त
स्येव ( पउलणं ति ) पचनविशेषस्य पृथुकस्येव ( तवगं ति )
तापिका, तत्र तलनं च सुकुमारिकाऽऽदेरिव भ्राष्ट्रे अवरीषेव
भर्जनं च पाकविशेषकरणं चणकाऽऽदेरिवेति द्वन्द्वोऽतस्ता-
नि च लोहकटाहे क्वथनानि चेक्षुरसस्येव (कोट्टं ति) क्रीडा,
तेन वलिकरण चण्डिकाऽऽदेः पुरतो पश्वादेरिवोपहारविधा-
नम्। पाठान्तरे-" कोट्टाकोट्टकिरिया " दुर्गा तस्यैव कोट्टाय
ा प्राकाराय बलिकरणं, तच्च कुट्टनं च कुटिलत्वकरण
वैकल्यकरणं वा कुट्टनं वा चूर्णनं तानि च शाल्मल्या
वृक्षविशेषस्य तीक्ष्णाग्रा ये लोहकण्टका इव लोहकण्टका-
स्तेष्वभिसरणं चापेक्षिकमभिमुखाऽऽगमनमपसरणं च नि-
वर्त्तनं शाल्मलीतीक्ष्णाग्रलोहकण्टकाभिसरणापसरणैः स्फा-
टनं च सकृद्दारणं च विदारणं च विविधप्रकारैरिति। ते
चावकोटकबन्धनानि वाहुशिरसां पृष्ठदेशे वन्धनानि यष्टि-
शतताडनानि च प्रतीतानि, गलके कण्ठे बलात् हठात्
यान्युल्लम्बनानि वृक्षशाखाऽऽदावुद्बन्धनानि तानि गलकम्ब
लोल्लम्बनानि शूलाग्रभेदनानि च व्यक्तान्यादेशप्रपञ्चनान्य-
सत्यार्थादेशनो विप्रतारणानि, खिंसनविमाननानि च तत्र
खिंसनानि निन्दनानि, विमाननान्यपमानजनतानि ( विघु-
ट्ठपणिज्जणाणि त्ति ) विघुष्टानाम् एते पापा प्राप्नुवन्ति,
स्वकृतं पापफलमित्यादि चाग्निसंशब्दिताना प्रणयनानि
वध्यभूमिप्रापणानि विघुष्टप्रणयनानि वध्यशतानि व्यक्तानि
तान्येव माता उत्पत्तिभूमिर्येषा तानि वध्यशतमातृकाणि,
वध्याऽऽश्रितदुःखानीत्यर्थः। तानि चैवमित्युक्तक्रमेण ते पाप-
कर्मकारिण इत्यनेन संवन्धः। ( पुव्वकम्मकयसंचओवतत्त
त्ति ) पूर्वकृतकर्मणा सञ्चयेनोपतप्ता आपन्नसन्तापा ये ते
तथा निरय एव अग्निर्निरयाग्निस्तेन महाग्निनेव स-
प्रदीप्ता ये ते तथा गाढदुःखा गाढदुःखरूपा द्विविधां
वेदना वेदयन्तीति योग। किंभूताम् ?,महद्भय यस्या सा तथा

तां कर्कशां कठिनद्रव्योपनिपातजनितत्वात्, असातामसाता-ऽऽख्यवेदनीयकर्मभेदप्रभवां शारीरिं मानसीं च तीव्रां तीव्रानुभागबन्धजनितां पापकर्मकारिणस्तथा वहूनि पल्योपमसागरोपमाणि करुणा दयाऽऽस्पदभूता॰ करुणं वा पालयन्ति ते इति पूर्वोक्ता॰ पापकर्मकारिणः ( अहाउय ति ) यथा-बद्धमायुष्कगाढयाऽपि वेदनया नोपक्रम्यत इति भाव॰। तथा यमकायिकै॰ दक्षिणदिक्पालदेवनिकायाऽऽश्रितैरसुरैरम्वा-ऽऽदिभिरित्यर्थ॰। त्रासितोत्पादितभया यमकायिकत्रासितास्ते च शब्दमार्त्तस्वरं कुर्वन्ति भीताः सन्तः। (किं ते त्ति) तद्यथा-( अविभाव त्ति) हे अविभाव्य अविभावनीयस्वरूप ! (सामि त्ति) हे स्वामिन् (भाय त्ति) हे भ्रात॰ ( वप्प त्ति ) हे वप्प हे पितः इत्यर्थ॰। एवं हे तात (जितवं ति) हे जितवन् प्राप्तजय जीतं वा (मुंच त्ति) मुञ्च (मो त्ति) मा (मरामि त्ति) म्रिये। इह च नारकाणा वहुवचनप्रक्रमेऽपि यदेकवचनं तदेकापेक्षं तद्जात्यपेक्षं छान्दसत्वाद्वा इति । यतः दुर्बलो व्याधिपीडितोऽहं ( किं दाण सि त्ति ) किमिदानीम् असि भवसि (एवं दारुणो त्ति ) एवं प्रकारो दारुणो रौद्रो निर्दयश्च निर्घृणश्च, मा देहि मे मम प्रहारान् ( उस्सासेतं मुहुत्तगं मे देहि त्ति ) उच्छ्वासं उच्छ्वसनम्, एतं अधिकृतम् एकं वा मुहूर्त्तकं यावत् मे मह्यं देहि इति प्रसादं कुरुत, मा कुरुध्व (?) विश्रमामि विश्रामं करोमि ( गेविज्जं ति ) ग्रैवेयकं ग्रीवाबन्धनं मुञ्च-(मे) मम यतो ( मरामि त्ति ) म्रिये तथा गाढमत्यर्थम् ( तण्हाइउ त्ति ) तृष्णाऽर्दितः पिपासितः, अहम् ( देहि त्ति ) दत्त पानीयं जलम् इति नारकेण उक्ते सति नरकपाला यद् भणन्ति तदाह-( ता इति ) यदि त्वं पिपासितः ततः अह, ताहंद इति चाऽऽमन्त्रणे, पिव इदं जलं विमलं शीतलम् इति एतत्शब्दार्थ॰, भणन्तीति गम्यते । गृहीत्वा च निरयपालाः तप्तं त्रपुकम् ( से ) तस्य ददति कलशेन अञ्जलिपु दृष्ट्वा च तज्जलं प्रवेपिताङ्गोपाङ्गाः कम्पितसकलगात्राः अश्रुभिः प्रगलद्भि॰ प्रप्लुते अक्षिणी येषा ते अश्रुप्रगलत्प्लुताक्षा॰ (छिण्हा तण्हा इयऽम्ह त्ति) (इय त्ति) इति भिन्नक्रम । तस्य च एवं सम्बन्ध॰, छिन्ना तृष्णा अस्माकम् इति एवं रूपाणि करुणानि, वचनानि इति गम्यते । जल्पन्तो विपलायन्ते च इति योग । विप्रेक्षमाणाः (दिसो दिसं ति) एकस्या दिशः सकाशात् अन्यां दिशम् अत्राणा अनर्थप्रतिघातवर्जितत्वात् अशरणा अर्थकारकविरहिता॰ अनाथा॰ योगक्षेमकारिविरहिता अवान्धवा॰ स्वजनरहिता॰ वन्धुविप्रहीणाः विद्यमानवान्धवविप्रमुक्ता । कथञ्चिदेकार्थिकानि अपि एतानि पदानि न दोषाय, अनाथताप्रकर्षप्रतिपादकत्वादिति । विपलायन्ते च नश्यन्ति च, कथं ?, मृगा इव वेगेन भयोद्विग्ना इति गृहीत्वा च वलात् हठात् इत्यर्थ । नारकादिति गम्यते। तेषा च विपलायमानाना निरनुकम्पा यमकायिका इति योग। मुखं विघाट्य विदार्य्य लोहदण्डै ( कलकलं एहं ति ) कलकलशब्दयोगात् कलकलं, पूर्वोक्तं त्रपुकम् इह सर्प्यते। ' एहं ति" वाक्यालङ्कारे। वदने मुखे क्षिपन्ति केचित् यमकायिका अम्वाऽऽदय । किंभूता ? हसन्त इति। ततो नारका यत् कुर्वन्ति तदाह-तेन च तप्तत्रपुणा दग्धा सन्तो ( रसन्ति च प्रलपन्ति च। किंभूतानि वचनानीत्याह—भीमानि भयकारीणि विस्वराणि विकृतशब्दानि, तथा रुदन्ति च करुणकानि कारुण्यकारीणि । क इवेत्याह-पारापता इवेति



एवंप्रकारो निर्घोपः श्रूयते इति सम्बन्धः। प्रलपितम् अनर्थकभाषणं विलाप आर्त्तस्वरकरणं, ताभ्यां करुणो यः स तथा. तथा क्रन्दितं ध्वनिविशेषकरणं वहु प्रभूतम् ( रुसं ति ) अश्रुविमोचनम् ( रुदितं ति ) आराटीमोचनम् । एतेषां एतानि वा शब्दः यत्र स तथा तथा,परिदेवनाश्च विलपिता॰। वाचनान्तरे परिवेपिताश्च प्रकम्पिता रुद्धाश्च वद्धकाश्च ये नारका॰ ते तथा तेषां य आरव॰ तेन यः संकुलः स तथा निसृष्टो नारकैः विसुक्तः आत्यन्तिको वा तथा रसिता कृतशब्दाः भणिताः कृता व्यक्तवचना॰ कुपिता॰ कृतकोपा॰ उत्कूजिता कृताऽव्यक्तमहाध्वनयो ये निरयपालाः तेषां यत्तर्जित-ज्ञास्यासि रे पापाः ! इत्यादि भणितं नारकविषयं ( गिण्ह त्ति ) गृहाण कामं लङ्घयेत्यर्थः । प्रहारो लकुटादिना छिन्दि खड्गाऽऽदिना (भिंदि) कुन्ताऽऽदिना (उप्पाडेहि त्ति) उत्पाट्य भूतलादुत्क्षिप (उक्खणाहि त्ति) समुत्खन,अक्षिगोलकवाह्वादिकं कृत्त कर्तय नासाऽऽदिकं विकृत्त च विविधप्रकारैः ( भुज्जो त्ति ) भूयः एकदा हतं, पुनरपि पाठान्तरे भञ्ज आमर्दय हन ताडय क्रियार्थो हनशब्दो निपात॰। ( विहण त्ति ) विशेषेण ताडय ( विच्छुभ त्ति ) विक्षिप त्रपुकाऽऽदिकं मुखे विकीर्णं वा कुरु । वाचनान्तरे विच्छुभ निष्कर्षय इत्यर्थः। ( उच्छुह त्ति ) आधिक्येन क्षिप. प्रवेशय इत्यर्थ॰ । आकृष्ट अभिमुखम् आकर्षणं कुरु, विकृषा विपरीतं विकर्षणं कुरु, किं न जल्पसि ?। वाचनान्तरे तु किं न जानासि ?,स्मर हे पाप ! कर्माणि दुष्कृतानि,एवममुना प्रकारेण यद्वदन नरकपालप्रतिपादन तेन महाप्रगल्भो स्फारो यस्य स तथा। ( पडिस्सुय त्ति ) प्रतिश्रुत॰ प्रतिशब्दः तद्रूपो य शब्द॰ तेन सङ्कुल॰ त्रासक॰ । वाचनान्तरे तु- 'वीहणओ तासणओ पइभओ अइभओ त्ति " एकार्थो॰ । सदा सर्वदा॰ केषां त्रासक इत्याह-( निरयगोयराणं ) नरकवर्तिना ( महानगरडज्झमाणसरिसो त्ति ) दह्यमानमहानगर-घोषसदृशो निर्घोषो महाध्वनिः श्रूयते अनिष्टः (तहियं ति) तत्र नरके, केषा संवन्धीत्याह-( नेरइयाणं ) किंभूतानामित्याह-यात्यमानाना कदर्थ्यमानानां यातनाभि॰ कदर्थनाप्रकारै॰ ( किं ते त्ति ) कास्ता असिवनं खड्गाऽऽकारपत्रवनं, दर्भवनं प्रतीतं, दर्भपत्राणि छेदकानि तदग्राणि च भेदकानि भवन्तीति तद्यातनाहेतुत्वेनोक्तम् । यत्र प्रस्तरा घरट्टाऽऽदिपाषाणयन्त्रमुक्तपाषाणा वा यन्त्राणि च पाषाणाश्चेति वा यन्त्रपाषाणा सूचीतलमूर्द्ध मुखसूचिकं भूतल खारव॰ध्यः क्षारद्रव्यभृतवाप्यकलकलं ( त त्ति ) कलकलायमानं यत् त्रपुकाऽऽदि तद्भृता वैतरणीत्रिधाना या नदी सा कलकलायमानवैतरणी कदम्वपुष्पाऽऽकारा वालुका कदम्बवालुका ज्वलिता या गुहा कन्दरा सा। ततो द्वन्द्व॰। ततोऽसिवनाऽऽदिपु यन्निरोधन प्रक्षरणास्तत्तथा उष्णोष्णे अत्युष्णे ( कंटइल्ले त्ति ) कण्टकवति दुर्गमे कृच्छ्रगतिके रथशकटे यद्योजनं गवामिव तत्तथा, तप्ते लोहपथे लोहमयमार्गे यद्गमनं स्वयमेव वाहनं च परैर्गवामिव तत्तथा । ततः पदत्रयस्य द्वन्द्व॰ । (इमेहिं ति) एतैर्वक्ष्यमाणैर्विविधै॰ परस्परं दैवतामुदीरयन्तीति योगः। ( किं ते त्ति ) तद्यथा मुद्गरोऽयोघन॰ मुसुण्ढि॰ प्रहरणविशेष , (करकय त्ति) क्रकचं करपत्रं, शक्तिः त्रिशूलं हलं लाङ्गलं, गदा लकुटविशेषः, मुशलं चक्रं कुन्तं च प्रतीतं, तोमरो वाणविशेष॰, शूला प्रतीतम् । ( लउड त्ति )

लकुट ,भिण्डिमालः प्रहरणविशेषः। सद्धलो भल्लः, पट्टिस प्रहरणविशेष' (चम्मेट्ठ त्ति ) चर्मवेष्टितं पाषाणविशेषो, दुघणो मुद्गरविशेषः, मौष्टिको मुष्टिप्रमाणपाषाण एव, असिखेटकम् असिना सह फलक, खड्ग' केवल एव, चाप धनुः, नाराच आयसो बाण', कणको बाणविशेष' । कल्पनी कर्तिकाविशेष , वासी काष्ठतक्षकोपकरणविशेषः। परशु कुठारविशेष । तत एतेषां द्वन्द्वस्ततस्ते च ते टङ्का इव तीक्ष्णा निर्मलाश्चेति कर्मधारय , ततस्तैरिति व्याख्येयम् , तृतीयाबहुवचनलोपदर्शनादिति । अन्यैश्चैवमादिभि अशुभैर्वैक्रियै प्रहरणशतैरभिघ्नन्त- अनुबद्धतीव्रवैरा अविच्छिन्नोत्कटवैरभावा परस्परमन्योऽन्यं वेदनामुदीरयन्ति नारका एव तिसृभ्यः नरकपृथिवीभ्य , परतो नरकपालाना गमनाभावात् ।( तत्थ य त्ति ) तत्र च परस्पराभिहननेन वेदनोदीरणेन मुद्गरप्रहारचूर्णितो भुसुण्डिभिसंभग्नो मथितश्च विलोडितो देहो येषां ते तथा,यन्त्रोपपीडनेन स्फुरन्तश्च कल्पिताश्च छिन्नाः यन्त्रोपपीडनस्फुरत्कल्पिता' ( केइत्थ त्ति ) केचिदत्र नरके सचर्म्मकाश्चर्म्मणा सह विकृता., उत्कृत्ता. पृथक्कृतचर्म्माण इत्यर्थ. । तथा निर्मूलोल्लूनकर्णोष्ठनासिका. छिन्नहस्तपादा असिक्रकचतीक्ष्णकुन्तपरशूनां प्रहारैः स्फाटिता विदारिता ये ते तथा, वास्या सततिनान्यङ्गोपाङ्गानि येषा ते तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारय. । तथा ( कल त्ति ) कलकलायमानक्षारेण यत्परिषिक्तं परिषेक तेन गाढमत्यर्थ(डज्झंत त्ति) दह्यमान गात्रं येषां ते तथा, कुन्ताग्रभिन्नो जर्जरितश्च सर्वो देहो येषा ते, ततः कर्मधारय ।(विलोलि ति) विलुलन्ति। लुठन्तीत्यर्थ । महीतले भूतले ( विसुणियंगमंग त्ति ) जातवेपथुकाङ्गोपाङ्गा'। वाचनान्तरे तु निर्गताग्रजिह्वा ( तत्थ य त्ति ) तत्र च महीतलविलोनेन वृकाऽऽदिभि विक्षिप्यन्ते इति योगः। तत्र वृका ईहामृगा । (सुणग त्ति) कौलेयका .शृगाला.,गोमायव', काका वायसा ,मार्ज्जारा बिडाला .सरभा. परसरा', द्वीपिका चित्रका ।( वियग्घ त्ति ) वैयाघ्रा व्याघ्रापत्यानि, शार्दूला व्याघ्रा., सिंहा प्रतीता । एते च ते दर्पिताश्च दसा क्षुदाभिभूता बुभुक्षिता इति ते तथा तै नित्यकालमनस्तै निर्भोजनैर्घोरा दारुणक्रियाकारिण. आरसन्तः शब्दायमाना' भीमरूपाश्च ये ते तथा तै , आक्रम्य दृढं दंष्ट्राभिर्गाढमत्यर्थ ( डक्क त्ति ) दष्टा. ( कड्डिय त्ति ) कृष्टाश्च आकर्षिता ये ते तथा, सुतीक्ष्णनखै स्फाटित उर्द्धो देहो येषां ते तथा । तत पदद्वयस्य कर्मधारय । विक्षिप्यन्ते विकीर्यन्ते, समंतत.,किंभूतास्ते ?,विमुक्तसंधिबन्धना. श्लथीकृताङ्गसंधाना.,तथा व्यङ्गितानि विकलीकृतान्यङ्गानि येषां ते तथा,तथा कङ्का पक्षिविशेष , कुररा उत्क्रोशा', गृध्रा शकुनिविशेषा', घारकष्टा अतिकष्टाश्च ये वायसास्तेपा ये गणास्तैश्च (पुणो त्ति)समुच्चयार्थ ,खरा. कर्कशा ,स्थिरा निश्चला', दृढाः अभङ्गुरा नखा येषा ते तथा, तथैव लुरडं येषा ते तथा, तत' कर्मधारयस्तैरवपत्य उपनिपत्य पक्षैराहता. पक्षाऽऽहता तीक्ष्णनखैः विक्षिता. आकृष्टा जिह्वा. आच्छिन्ने चाऽऽकृष्टे नयने लोचने. निर्दयं च निष्कृप यथाभवत्येव तथा (ओरुग्ग त्ति) अवरुग्णं भग्नं विकृतं च वदनं येषा, पाठान्तरे 'ओलुग्गं ति" अवलुप्तानि छिन्नानि विकृतानि गात्राणि येषा ते,तथा उत्क्रोशन्तश्च क्रन्दन्तश्च उत्पतन्तो निपतन्तो भ्रमन्त पूर्वकर्म्मोद-

योपगता इति च पदचतुष्टयं व्यक्तम् । पश्चादनुशयेन पश्चात्तापेन दह्यमानाः निन्दन्तो जुगुप्समानाः(पुरे कडानि)पूर्वभवकृतानि कर्म्माणि क्रियाः पापकानि प्राणातिपाता ऽऽदीनि ततः ( तहिं २ ) ते तस्यां रत्नप्रभाऽऽदिकायां पृथिव्याम् , उत्कृष्टाऽऽदि स्थितिके नरके तादृशानि जन्मान्तर उपार्जितानि परमाधार्मिकोदीरितपरस्परोदीरितक्षेत्रप्रत्ययरूपाणि ( उस्सण्णचिक्कणाइं ति ) उत्सन्नं प्राचुर्येण ( चिक्कणाइं ) दुर्विमोचानि दु.खानि अनुभूय ततश्च निरयादायु क्षयेणोद्वृत्ता सन्तो बहवो गच्छन्ति तिर्यग्वसतिं तिर्यग्योनिं यतोऽल्पा एव मनुष्येषूत्पद्यन्ते तु खोत्तराम् अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीकायस्थितिकत्वात्,तस्यां सुदारुणां तु खाऽऽश्रयत्वात् जन्ममरणजराव्याधीना या परिवर्त्तना पुन पुनर्भवनानि ताभिररघट्टो या सा तथा तां तिर्यग्वसतिं जलस्थलखचराणां परस्परेण विहिंसनस्य विविधव्यापादनस्य प्रपञ्चो विस्तारो यस्यां सा तथा, तस्यां तस्यां च इदं वक्ष्यमाणप्रत्यक्षं जगत्प्रकटं,न केवलमागमगम्यं, किं तु जङ्गमजन्तूनां प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धतया प्रकटमेवेति, वराकास्तपस्विनः प्राणवधकारिण इति प्रक्रम । दुखं प्राप्नुवन्ति दीर्घकालं,या च(किंत त्ति)तद्यथा- शीतोष्णतृष्णाक्षुद्भिर्वेदना तथा अप्रतीकारं सुतिकर्माऽऽदिरहितम् । अटवीजन्म कान्तारजन्म नित्यं भवेनोद्विग्नाना मृगाऽऽदीनां वासोऽवस्थानं जागरणं च अनिद्रागमनं वधो मारणं बन्धनं संयमनं ताडनं कुट्टनम् , अङ्कनं तप्तायःशलाकाऽऽदिना चिन्हकरणं निपातनं गर्ताऽऽदिप्रक्षेपणमस्थिभञ्जनं कीकसामर्दनं, नासाभेदो नासिकाविवरकरणं प्रहारैः (दमणं ति)दमनमुपनाप छविच्छेदनमवयवकर्तनम् ,अभियोगप्रापणं हठाद्व्यापारप्रवर्तनं, कसश्च चर्मयष्टिका,अङ्कुशं सृणिः, आरा च प्रवपराणी(?)या दण्डान्तर्वर्तिनी लोहशलाका तासां निपात शरीरे निवेशनं दमनं शिक्षाग्रहणं ततो द्वन्द्व । तत ए तानि प्राप्नुवन्तीति प्रक्रम. । वाहनानि च भारस्येति गम्यम् । मातापितृविप्रयोग' श्रोतसां नासामुखाऽऽदिरन्ध्राणा च परिपीडनानि रज्ज्वादिदृढबन्धनेन बाधनानि यानि तानि, तथा शोकपरिपीडितानि वा ततो द्वन्द्व. । ततस्तानि च श स्त्रं चाऽग्निश्च विषं च प्रसिद्धानि, तैरभिघातश्चाभिहननं ग लस्य कण्ठस्य गवलस्य शृङ्गस्याऽऽवलनं च मोटनमथवा गलस्य बलाद्वावलनं मारणं चेति तानि च गलेन बडिशेन, जालेन वाऽऽनायेन (उच्छिप्पणाणि त्ति) जलमध्यान्मत्स्याऽऽदीनामुत्क्षेपणान्याकर्षणानि यानि तानि , तथा ( पउलनं ) पचन विकल्पनं छेदनं ते च यावज्जीविकबन्धनानि पञ्जरनिरोधनानि चेति पदद्वयं व्यक्तम् । स्वयूथान्निर्घाटनानि वा स्वकीयनिकायनिष्कालनानीत्यर्थः। धमनानि महिष्यादीनां वायुपूरणानि, दोहनानि च प्रतीतानि, कुदण्डेन बन्धनविशेषेण,गले कण्ठे यानि बन्धनानि तानि तथा, घाटेन वाटकेन वृत्येत्यर्थ । परिवारणानि निराकरणानि यानि तानि तथा तानि पङ्कजलनिमज्जनानि कर्दमप्रायजले बोलनानि,वारिप्रवेशनानि च जले क्षेप , तथा-(ओवाय त्ति) अवपातेषु गर्तविशेषेषु उडङ्क इत्येवंरूढेषु पतनेन निभङ्गो भञ्जनं गात्राणामवपातनिभङ्ग । स च विषमात्पर्वतशृङ्गाऽऽदे निपतनं विषमनिपतन,तच्च दवाग्निभिर्ज्वालाभिर्दहनं चेति तानि आदिर्येषा तानि तथा कर्माणि प्राप्नुवन्तीति योग । एवमुक्तन्यायेन ते प्राणघातिन तु खशतसंप्रदीप्ता. नरका-

द्यागता इह तिर्यग्लोके, किंभूताः ?, सावशेषकर्माण तिर्यक्षु पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्नुवन्ति पापकारिणः । कानीत्याह-कर्माणि कर्मजन्यानि, दुःखानीति भाव । प्रमादरागद्वेषैर्बहूनि यानि सञ्चितान्युपार्जितानि तानि तथा, अतीवाऽत्यर्थमशातकर्कशानि अशातेषु दुःखेषु मध्ये कर्कशानि कठोराणि यानि तानि तथा, भ्रमरमशकमक्षिकाऽऽदिषु चेति सप्तम्या षष्ठ्यर्थत्वाद् भ्रमराऽऽदीनामिति व्याख्येयम्। चतुरिन्द्रियाणामिति च सम्बन्धनीयम्। अथवा चतुरिन्द्रियाणां भ्रमराऽऽदिषु जातिकुलकोटीशतसहस्रेष्वेवं घटनीयमिति । जातौ चतुरिन्द्रियजातौ यानि कुलकोटीशतसहस्राणि तानि तथा तेषु नवसु (तहिं २ चेव त्ति) तत्रैव तत्रैव चतुरिन्द्रियजातावित्यर्थ । जननमरणान्यनुभवन्तः कालं संख्यातकं संख्यातवर्षसहस्रलक्षणं भ्रमन्ति, किंभूताः ?, नारकसमानतीव्रदुःखाः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु सहिताः, इन्द्रियचतुष्टयोपेता इत्यर्थ । तथैवेति यथैव चतुरिन्द्रियेषु तथैव त्रीन्द्रियेषु जननान्यनुभवन्त, भ्रमन्तीति प्रकृतम्। एतदेव प्रपञ्चयन्नाह-कुन्थुपिपीलिका अवधिकाऽऽदिकेषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रैरित्यादि द्वीन्द्रियगमान्तं चतुरिन्द्रियगमवन्नेयं, नवरं (गंडूलय त्ति) अलसी (चंदणग त्ति) अक्षा. । तथा ( पत्ता एगिंदियत्तणं पि य त्ति ) न केवलं पञ्चेन्द्रियाऽऽदित्वमेव प्राप्ता एकेन्द्रियत्वमपि प्राप्ता दुःखसमुदयं प्राप्नुवन्ति इति योग । किंभूतमेकेन्द्रियत्वमित्याह-पृथिवीजलज्वलनमारुतवनस्पतिसम्बन्धिवत् एकेन्द्रियत्वं तत्पृथिव्याद्येवोच्यते, पुन. किंभूतं तत्सूक्ष्मं बादरं च तत्कर्मोदयसंपाद्यं, तथा पर्याप्तमपर्याप्त च तत्तत्कर्मणोत्पाद्यमेव, तथा प्रत्येकशरीरनामकर्मसंपाद्यं प्रत्येकशरीरनामैवाच्यते। साधारणशरीरनामकर्मसम्पाद्यं च साधारणं पर्याप्ताऽऽदिपदानां कर्मधारयः। चः समुच्चये । एवंविधं चैकेन्द्रियत्वं प्राप्ता कियन्तं कालं भ्रमन्तीति भेदेनाऽऽह-" पत्तेयेत्यादि " ( तत्थ वि त्ति ) तत्राप्येकेन्द्रियत्वे प्रत्येकशरीरे जीवनं प्राणधारणं येषां ते प्रत्येकशरीरजीवितास्तेषु पृथिव्यादिषु, चकार उत्तरवाक्यापेक्षया समुच्चयार्थ । कालमसंख्यातं भ्रमन्ति, अनन्तं कालं वाऽनन्तकाये साधारणशरीरेष्वित्यर्थः। आह च-"असंखोसप्पिणिओ-सप्पिणीउ एगिंदियाण उ चउण्हं। ता चेव ऊ अणंता, वणस्सईए उ बोधव्वं ॥१॥" इति। किंभूतास्ते ?, स्पर्शनेन्द्रियभावेन परिणामेन तत्तया वासं प्रयुक्ता ये ते तथा दुःखसमुदयमिमं वक्ष्यमाणमनिष्टं प्राप्नुवन्ति, पुन. पुन. तत्रैव एकेन्द्रियत्वे इत्यर्थ । किंभूतो ?, परः प्रकृष्ट सर्वोत्कृष्टकायस्थितिकत्वाद्भव उत्पत्तिस्थानं तरुगणो वृक्षगुच्छाऽऽदिवृन्दलक्षणो यत्रैकेन्द्रियत्वे। पाठान्तरे तु परभवतरुगणगहन यत्तथा । तत्र तु खसमुदयमेवाऽऽह-कुद्दालो भूखनित्रं कुलिकं हलविशेषस्ताभ्यां ( दालणं ति ) विदारणं यत्तत्तथा, एतत् पृथिवीवनस्पत्योर्द्वयोरुक्तम्, सलिलस्य मलनं च मर्दनं (खुभण त्ति) क्षोभण च सञ्चलणं (रुंभण त्ति) रोधनं च तानि सलिलमलनक्षोभणरोधनानि, अनेनाप्कायिकानां तु ग्रमुक्तम्। अनलानिलयोरभिधानयोर्विविधैः स्वकायपरकायभेदैर्यद् घट्टनं संघट्टन तत्तथा । द्वयोर्द्वयोरुक्तम्। परस्पराऽभिहननेन राधनं परितापनं ते तथा तेषां ...ऽन्तीति गम्यम्। तानि यानि। एतदेव विशेषेणाऽऽह-परप्रयोगोदीरणाऽऽदिभि, स्वव्यतिरिक्तजनापारदुःखोत्पादनाभिर्निष्प्रयोजनाभिरिति हृदयम्, कार्यप्रयोजनैश्च अवश्यकरणीयप्रयोजनै . किंभूतै ?, प्रेष्यपशुनिमित्तं कर्म करणवादिहेतोरुपलक्षणत्वात्तदन्यनिमित्तं च यान्यौषधाऽऽहारादीनि तानि तथा तै, उत्खननमुत्पाटनम् उत्कोचनं त्वचोऽपनयनं पाकः कुट्टनं चूर्णनं पेषणं घरट्टाऽऽदिना दलनं पिट्टनं ताडनं भर्जनं भ्राष्ट्रपचनं गालनं छालनमामोटनमीषद्भञ्जनं शाटनं स्वत एव विशारणं स्फुटनं स्वत एव द्वैधीभावगमनं भञ्जनमामर्दन छेदनं प्रतीतं, तक्षणं काष्ठाऽऽदेरिव वास्यादिना, विलुञ्चन लोमाऽऽद्यपनयनम् अन्तर्भ्राटनं तरुप्रान्तपल्लवफलाऽऽदिपातनम्, अग्निदहनं प्रतीतम्, एतान्यादिर्येषां तानि तथा, दुःखान्येकेन्द्रियाणां भवन्तीति गम्यम्। एकेन्द्रियाधिकारं निगमयन्नाह-एवमुक्तक्रमेण ते एकेन्द्रिया भवपरम्परासु यद् दुःखं तत्समनुबद्धमविच्छिन्नं येषां ते तथा, अटन्ति संसार एव ( वीहणकर त्ति ) भयङ्कराः त्रसजीवा. प्राणातिपातनिरता अनन्तं कालं यावदिति।

अथ प्राणातिपातकारिणो नरकादुद्वृत्ता मनुष्यगतिगता यादृशा भवन्ति तथोच्यते-

जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहं वि नरगाओ उव्वट्टिया अधन्ना ते वि य दीसंति पायसो विकय-विगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य वहिरा काणा कुंटा य पंगुला वियला य मूया य मम्मणा य अंधिल्लगएगचक्खुविणिहयसपिल्लयवाहिरोगपीलियअप्पाउयसत्थवज्झबाला कुलक्खणुक्किण्णदेहदुब्बलकुसंघयणकुप्पमाणकुसंठिया कुरूवा किवणा य हीणदीणसत्ता णिच्चं सोक्खपरिवज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ उव्वट्टित्ता इहं सावसेसकम्मा एवं नरगतिरिक्खजोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणंताइं दुक्खाइं पावकारी, एसो सो पाणवहस्स फलविवाओ इहलोइए परलोइए अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती ण य अवेदयित्ता, अत्थि हु मोक्खो त्ति, एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य पाणवहस्स फलविवागं एसो सो पाणवहो पावो चंडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ निग्घिणो निस्संसो महब्भओ बीभणओ उत्तासणओ अणज्जो उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो निप्पिवासो णिक्कलुणो निरयवासगमणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरणवेमणसो पढमं अहम्मदारं सम्मत्तं ति बेमि ॥

येऽपि

कु०

नासमर्थजह्वाः, विकलाश्चापरिपूर्णगात्राः, मूकाश्च वचनासमर्थाः, ( पगुला वि य जलमूय त्ति ) पाठान्तरे । अपि चेति समुच्चये । जलमूका जलप्रविष्टस्येव बुद्बुद इत्येवरूपो ध्वनिर्येषां मन्मनाश्च येषां जल्पतां स्खलिते वाणी । ( आधिल्लग त्ति ) अन्धाः, एकं चक्षुर्विनिहतं येषां ते एकचक्षुर्विनिहताः । (सपिल्लय त्ति) सर्वोपचक्षुषी । पाठान्तरे (सपिसल्लय त्ति) तत्र सह पिसल्लयेन पिशाचेन वर्तत इति सपिसल्लया, व्याधिभिः कुष्ठाऽऽद्यै रोगैराधिभिर्विशिष्टाभिर्वा आधिभिर्मनःपीडाभिः रोगैश्च पीडिता व्याधिरोगपीडिताः, अल्पायुषः स्तोकजीविताः, शस्त्रेण हन्यन्ते ये ते शस्त्रवध्याः, बालाः बालिशाः । ततोऽन्धकाऽऽदीनां द्वन्द्वः । कुलक्षणैरपलक्षणैरुत्कीर्णः आकीर्णो देहो येषां ते तथा । दुर्बलाः कृशाः, कुसंहनना बलविकलाः, कुप्रमाणा अतिदीर्घा अतिह्रस्वाः, कुसंस्थिताः कुसंस्थानाः । ततो दुर्बलाऽऽदीनां द्वन्द्वः । अत एव कुरूपाः कृपणाश्च रङ्काः हीना अत्यागिनो धनहीना वा जात्यादिगुणैः (?) हीनसत्त्वाः अल्पसत्त्वा नित्यं सौख्यपरिवर्जिताः, अशुभमशुभाऽनुबन्धि यद् दुःखं तद्भागिनः, नरकादुद्वृत्ताः सन्तः, इह मनुष्यलोके दृश्यन्ते, सावशेषकर्माण इति निगमनम् । अथ यादृशं फलं ददाती-त्येतन्निगमयन्नाह-( एवमित्यादि ) एवमुक्तक्रमेण नरकतिर्यग्योनीः कुमानुषत्वं च हिण्डमाना अधिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति अनन्तकानि दुःखानि पापकारिणः प्राणवधकाः । विशेषेण निगमयन्नाह-एष स प्राणिवधस्य फलविपाकः ऐहलौकिकमनुष्यापेक्षया मनुष्यभावाऽऽश्रयः, पारलौकिकमनुष्यापेक्षया नरकगत्याद्याश्रितः, अल्पसुखो भोगसुखलवसंपादनात्, अविद्यमानसुखो वा; बहुदुःखो नरकाऽऽदिदुःखकारणत्वात् ।( महब्भओ त्ति ) महाभयरूपः, बहुरजः प्रभूतं कर्म प्रगाढं दुर्मोचं यत्र स तथा, दारुणो रौद्रः, कर्कशः कठिनः, असातः असातवेदनीयकर्मोदयरूपः, वर्षसहस्रैर्मुच्यते, ततः प्राणीति शेषः न च नैव, अवेदयित्वा, तमिति शेषः । अस्ति मोक्षः अस्मादिति शेषः । इति शब्दः समाप्तौ । अथ केनायं द्वारपञ्चकप्रतिबद्धः प्राणातिपातलक्षणाऽऽश्रवद्वारप्रतिपादनपरः प्रथमाध्ययनार्थः प्ररूपित इति जिज्ञासायामाह-( एवं ति ) एवं प्रकारमतीन्द्रियभूतभव्यभविष्यदर्थविषयस्फुटप्रतिभासप्रकाशनीयमनन्तजिह्वं वस्तु ( आहसु त्ति ) आख्यातवान्, ज्ञातकुलनन्दनः ज्ञाता क्षत्रियविशेषाः, तद्वंशसमृद्धिकरः महात्मेति प्रतीतः, जिनस्तु जिन एव वीरवरनामधेयः ( वीरवरे त्ति ) प्रशस्तनामा, तथा कथितवांश्च प्राणवधस्य फलविपाकमध्ययनार्थस्य महावीराभिहितत्वे प्रतिपादितेऽपि यत् पुनस्तत्फलविपाकस्य वीरकथितत्वाभिधानं तत्प्राणिवधस्यैकान्तिकाशुभफलत्वेनात्यन्तपरिहाराऽऽविष्करणार्थमिति । अथ शास्त्रकारः प्राणवधस्य स्वरूपं प्रथमद्वारोपदर्शितमपि निगमनार्थं पुनर्दर्शयन्नाह-एष स प्राणवधोऽभिहितो योऽनन्तरं स्वरूपतः पर्यायतः विधानतः फलतः कर्तृतश्च वक्तुं प्रतिज्ञात आदावासीत् । किंभूत ?, इत्याह-चण्डः कोपनवत्तत्प्रवृत्तित्वाच्चण्डः, रौद्ररसप्रवर्त्तित्वाद्रौद्रः, क्षुद्रजनाऽऽचरितत्वात् क्षुद्रः, अनार्यलोककरणत्वादनार्यः, घृणाया अनाश्रियमाणत्वात् निर्घृणः, निःशूकजनकृतत्वान्नृशंसः, महाभयहेतुत्वात् महाभयः । ( बीहणओ त्ति ) भयवत्प्रवृत्तित्वात् त्रासकः इत्त्रासहेतुत्वात् । अन्यायो न्यायादनपेतत्वात्, उद्वेजनकश्च उद्वेगहेतुत्वात् निरपेक्षश्च परप्राणापेक्षया वर्जितः,

निर्धर्मो धर्मादपक्रान्तः, निष्पिपासः वध्यं प्रति स्नेहविरहात्, निष्करुणो विगतदयः, निरयवासगमनः इति व्यक्तम् । मोहमहाभयप्रकर्षक-तत्प्रवर्तकमरणेन वैमनस्यं दैन्यं यत्र मरणवैमनस्यप्रथममधर्मद्वारं मृषावादाऽऽद्यपेक्षयेदमाद्यमाश्रवद्वारं समाप्तम्, तदेतदन्यताऽपेक्षया निष्ठां गतमितिशब्दः समाप्तौ, ब्रवीमि प्रतिपादयामि, तीर्थकरोपदेशेन, न स्वमनीषिकयेति । एतच्च सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं स्ववचसि सर्वज्ञवचनाऽऽश्रितत्वेनाव्यभिचारीदमिति प्रत्ययोत्पादनार्थम् । तथा स्वस्य गुरुपरतन्त्रताऽऽविष्करणार्थं विनेयानां चैतदुपायप्रदर्शनार्थमाख्यातवानिति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**पाणभूयजीवसत्तदयट्ठया**-प्राणभूतजीवसत्त्वदयार्थता-स्त्री० । प्राणाऽऽदिषु सामान्येन या दयाऽनावर्थं प्राणाऽऽदिदयाऽर्थस्तद् भावस्तत्ता । अथवा-षट्पदिका एव प्राणानामुच्छ्वासाऽऽदीनां भावात् प्राणाः भवनधर्मकत्वात् भूता उपयोगलक्षणत्वाज्जीवाः सत्त्वोपेतत्वात्सत्त्वास्ततः कर्मधारयः तदर्थता । प्राणाऽऽदिरक्षणाभिलाषे, " पाणभूयजीवसत्तदयट्ठया । " वैशायन यूकाशय्यातरं प्रति गोशालं । भ० १५ श० ।

**पाणभोयण**-पानभोजन-न० । द्राक्षापानखण्डखाद्यकाऽऽदिके, दश० ५ अ० १ उ० । ( अत्रार्थे ' दायगदोस ' शब्दे चतुर्थभागे २५०३ पृष्ठे विस्तरः )

**पाणभोयणा**-पानभोजना-स्त्री० । प्राणाः प्राणिनो रसजाऽऽद्यय भोजने दध्योदनाऽऽदौ, संघट्यन्ते विराध्यन्ते वा यस्यां प्राभृतिकायां सा प्राणभोजना । रसजाऽऽदिभोजनप्राभृतिकायाम्, "पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरिअभोयणाए"। आव० ४ अ० ।

**पाणमंसोवम**-पाणमांसोपम-पु० । पाणो मातङ्गस्तन्मांसमस्पृश्यत्वेन जुगुप्सया दुःखाऽऽढ्यं स्यादेव यस्तेषां दुःखाऽऽढ्यः स पाणमांसोपमः । जुगुप्स्ये आहारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**पाणय**-प्राणत-पुं० । स्वनामख्याते विमानविशेषे, दशमदेवलोके तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति । तल्लोकवासिदेवेषु च । अनु० । विशे० । स्था० । प्रव० । स० । आनतकल्पस्येन्द्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**पाणवत्तिय**-प्राणवृत्तिक न० । मित्रदोषप्रत्ययिकाऽऽख्ये दशमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

**पाणवत्तिया**-प्राणप्रत्ययिका-स्त्री० । प्राणवृत्तिके, स्था० । प्राणा उच्छ्वासादयो बलं वा प्राणास्तेषां तस्य वा वृत्तिः स्था० ६ ठा० ।

**पाणविहि**-पानविधि-पु० । उदकमृत्तिकया प्रसादितस्य सह जनिर्मलस्य तत्तत्संस्कारकरणे, ज० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । स० ।

**पाणसम**-प्राणसम-पु० । पत्यौ, " रमणो कन्तो पणओ, पाणसमो पियसमो दइओ ।" पाइ० ना० ६१ गाथा ।

**पाणसमारंभ**-प्राणसमारम्भ-पु० । प्राणिव्यपरोपणे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

**पाणसाला**-पानशाला-स्त्री० । यत्रोदकाऽऽदिपानं तस्यां शालायाम्, नि० चू० ६ उ० ।

**पाणसुहुम**-प्राणसूक्ष्म-न० । अनुद्धरिकुन्थौ, स्था० ८ ठा० । दश० ।

से किं तं पाणसुहुमे ? । पाणसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-किण्हे, नीले, लोहिए, हालिद्दे, सुक्किल्ले । अत्थि कुंथु-

अणुद्धरी नामं जा ठिया अचलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा नो चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जा अट्ठिया चलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चक्खुफासं हव्वमागच्छइ० जाव छउमत्थेणं निग्गंथेण वा निग्गंथीए वा अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वा पासियव्वा पडिलेहियव्वा भवइ। से तं पाणसुहुमे।

तत्र प्राणसूक्ष्मं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरैः, कृष्णाऽऽदिवर्णभेदात्। एकस्मिन्वर्णे सहस्रशो भेदा बहुप्रकाराश्च संयोगास्ते सर्वे पञ्चसु कृष्णाऽऽदिवर्णेष्वेव अवतरन्ति। प्राणसूक्ष्मं तु द्वीन्द्रियाऽऽदयः प्राणा यथाऽनुद्धरी कुन्थुः। स हि चलन्नेव विभाव्यते, न हि स्थानस्थः। कल्प० ३ अधि० ६ क्षण। दश०।

**पाणह**-उपानह्-स्त्री०। काष्ठ(चर्म)पादुकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

**पाणाअ**-देशी-चाण्डाले, दे० ना० ६ वर्ग ३८ गाथा।

**पाणाइवाइया**-प्राणातिपातिका-स्त्री०। प्राणातिपातः प्रतीतस्तद्विषया क्रिया प्राणातिपातिकी। प्राणातिपातक्रियायाम्, आव० ४ अ०।

**पाणाइवाय**-प्राणातिपात-पुं०। प्राणा उच्छ्वासाऽऽदयस्तेषामतिपतनं प्राणवता सह वियोजनं प्राणातिपातः। हिंसायाम्, स्था०।"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥१॥" "एगे पाणाइवाए० जाव एगे परिग्गहे।" स च प्राणातिपातो द्रव्यभावभेदाद् द्विविधो, विनाशपरितापसंक्लेशभेदात् त्रिविधो वा। आह च-"तप्पज्जायविणासो,दुक्खुप्पाओ य संकिलेसो य। एस वहो जिणभणिओ,वज्जेयव्वो पयत्तेण ॥१॥" अथवा-मनोवाक्कायैः करणकारणानुमतिभेदान्नवधा। पुनः स क्रोधाऽऽदिभेदात् षट्त्रिंशद्विधो वा इति। स्था० १ ठा०। प्रश्न०। आ० चू०। प्राणानामिन्द्रियोच्छ्वासाऽऽयुरादीनामतिपातः प्राणिनः सकाशाद् विभ्रंशः प्राणातिपातः। प्राणिप्राणवियोजने, पा०। जीववधे,पा०। आव०।प्राणिनां साधुमर्यादाऽतिक्रमेण पाते,आ०चू० ४ अ०।

प्राणातिपातदोषकथा-

" पुमान् कौङ्कणकः कश्चि-त्तस्य प्रियतमा मृता।
पुत्रस्तदीयस्तस्याऽस्ति, त दायाद् विदन् जनः ॥ १ ॥
परिणेतु ददाति स्वां, पुत्रीं तस्य न कश्चन।
ततस्तेन सुतोऽघाति, तिर्यक्कलङ्कयेण खेलता ॥ २ ॥"

आ०क०६ अ०। आ०चू०। (' पाणवह ' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यतोक्ता) प्राणातिपातजनिते तज्जनके वा चारित्रमोहनीयकर्मणि, भ० १२ श० ५ उ०।

**पाणाइवायकरण**-प्राणातिपातकरण-न०। प्राणिवधाऽनुष्ठाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। हिंसायाम्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

**पाणाइवायकिरिया**-प्राणातिपातक्रिया-स्त्री०। प्राणातिपातः प्रसिद्धस्तद्विषया क्रिया, प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया। हिंसारूपे क्रियाभेदे, भ० ३ श० ३ उ०। (" अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया० " इति ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५३८ पृष्ठे व्याख्यातम्)। प्राणातिपातेन प्राणातिपाताध्यवसायेन क्रिया सामर्थ्यात् प्राणातिपातः क्रियते। कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः। भवतीत्यर्थः। अतीतनयाभिप्रायाऽऽत्मकोऽयं प्रश्नः। कतमोऽत्र नयः, यमध्यवसीय पृष्टमिति चेत् ?,उच्यते-ऋजुसूत्रः। तथाहि-ऋजुसूत्रस्य हिंसापरिणतिकाल एव प्राणातिपातक्रियोच्यते, पुण्यकर्मपदानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात् नान्यथा परिणताविति। भगवानभिहितऋजुसूत्रनयमधिकृत्य प्रत्युत्तरमाह-( हंता ! अत्थि ) हन्तेति सम्प्रेक्षणप्रत्यवधारणविवादेषु। अत्र प्रत्यवधारणे अस्त्येतत्। प्राणातिपाताध्यवसायेन प्राणातिपातक्रिया भवति।" परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंबमाणाणं।" इत्याद्यागमवचनस्य स्थितत्वात्। इदमेव वचनमधिकृत्याऽऽवश्यकेऽपीदं सूत्रं प्रावर्त्ति।"आया चेव अहिंसा,आया हिंस त्ति निच्छओ एस त्ति।"व्याचष्टे-मृषावादाऽऽदौ तु क्रिया यथायथं प्राणातिपाताऽऽदिका भवतीति प्राणातिपाताध्यवसाये प्राणातिपातनिवर्त्तककार्येषु जायमानेषु प्राणातिपातोपचारो, मृषावादाध्यवसाये च यथोचितक्रियानिवर्त्तककार्येषु जायमानेषु तदुपचारः, इत्यत्र बीजमुत्पद्यमानमुत्पन्नम् इत्यस्यार्थे स्यादित एषोपपादस्येत्यमेवोपचारेण संभवात्। परमार्थतस्तु चरमसमय एवोत्पद्यमानं तदैव चोत्पन्नम्। इत्यस्यार्थस्य महता प्रबन्धेन महाभाष्ये व्यवस्थापितत्वात्। आत्मैव हिंसेति तु यद्यपि शब्दनयानां मतं, नैगमनयमते जीवाजीवयोः सा, संग्रहव्यवहारयोः षड्जीवनिकायेषु, ऋजुसूत्रस्य प्रति स्वस्वघात्ये तद्भेदेन तन्मते हिंसाभेदाच्छब्दनयानां स्वात्मनाऽत्यो (?)ऽप्यवृत्ताविति वचनात्तथा विषयविभागेन नयप्रदर्शनं तत्। इह तु हिंसास्वरूपविवेचनेन नयविभागः। तत्र च संक्लेशदुःखोत्पादनात् पर्यायविनाशभेदेन त्रिविधाऽपि हिंसा नैगमव्यवहारयोः, संक्लेशदुःखोत्पादनरूपा त्रिविधा संग्रहस्य,संक्लेशरूपैव ऋजुसूत्रस्य सम्मतेत्येव व्यवस्थितेः। संक्लेशश्चाऽऽत्मपरिणामः,आत्मैवेत्येतन्मते आत्मैव हिंसेत्युक्तौ दोषाभावाच्छब्दनयानामप्येतदेव मतम्-"मूलनिमेणं पज्जव०" (५) इत्यादिगाथा सव्याख्या ' दव्वट्ठिय ' शब्दे चतुर्थभागे २४६८ पृष्ठे गता। इति सम्मतिग्रन्थेन तेषामृजुसूत्रविस्ताराऽऽत्मकाऽवस्थितेर्विशेषिततरतदर्थकत्वस्यैव निर्युक्तावभिधानात्प्राणातिपातनिवृत्तस्वभावसमवस्थितमेव द्रव्यान्यथाभावं ऋजुसूत्रमते, हिंसा तद्गुणान्यथाभावश्च शब्दनयमत इति तु विवेचकाः। प्रति०। प्रज्ञा०। " पाणाइवायकिरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-सहत्थपाणाइवायकिरिया चेव १, परहत्थपाणाइवायकिरिया चेव २।" प्राणातिपातक्रिया द्विधा-स्वदेहव्यपरोपणप्राणातिपातक्रिया, तत्र स्वदेहव्यपरोपणक्रिया यत् स्वर्गहेतुः स्वयं देहं परित्यजति, गिरिशिखरे ज्वलितं वा हुतवहं प्रविशति, अंभसि वाऽऽत्मानं परित्यजति, आयुधेन वा स्वदेहं विनाशयति १। परदेहस्य व्यपरोपणं प्राणातिपातक्रिया। तद्यथा-क्रोधाऽऽविष्टः। एवं मानमायालोभमोहक्रोधेन रुष्टो मारयति। एवं मानेन मत्तो, मायया विश्वासेन लोभेन लुब्धः शौकरिकवत्, मोहेन मूढः संसारमोचकवत्, ये चान्ये धर्मनिमित्तं प्राणिनो व्यापादयन्ति २। आ०चू० ४ अ०।

**पाणाइवायविरइ**-प्राणातिपातविरति-स्त्री०। प्राणातिपातविरमणव्रते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। महा०।

**पाणाइवायविरय**-प्राणातिपातविरत-त्रि०। प्राणानां दशप्र-

कारणामप्यतिपातो विनाशस्तस्माद् विरतः स्थितः । कृतप्राणातिपातविरतौ, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

पाणाइवायवेरमण-प्राणातिपातविरमण-न० । हिंसानिवृत्तौ अहिंसायाम्, तच्च स्थूलसूक्ष्मभेदात् देशतः सर्वतो वा द्विधा । प्रथमं श्रावकाणा,द्वितीयं साधूनाम् । तत्राऽऽद्यं यथा प्रथममणुव्रतं स्थूलकादत्ताऽऽदानाद् विरमणम् । ध० ।

" जीवा थूला सुहुमा, संकप्पाऽऽरंभओ भवे दुविहा ।
सऽवराह-निरवराहा, साविक्खा चेव निरविक्खा ॥१॥ "

अस्या व्याख्या-प्राणिवधो द्विविधः, स्थूलसूक्ष्मजीवविषय-भेदात् । तत्र स्थूला द्वीन्द्रियाऽऽदयः,सूक्ष्माश्चात्रैकेन्द्रियाऽऽदयः पृथिव्यादयः पञ्चाऽपि बादराः,न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनः सर्वलोकव्यापिनः, तेषां वधाभावात्, स्वयमायुः क्षयेणैव मरणात्, अत्र च साधूना द्विविधादपि वधान्निवृत्तत्वाद्विंशतिविंशोपका जीवदया, गृहस्थाना तु स्थूलप्राणिवधान्निवृत्तिर्न तु सूक्ष्मवधात् पृथिवीजलाऽऽदिषु सततमारम्भप्रवृत्तत्वाद् इति दशविंशोपकरूपमर्द्धं गतम् । स्थूलप्राणिवधोऽपि द्विधा-संकल्पज आरम्भजश्च । तत्र संकल्पात् मारयाम्येनमिति मनःसंकल्परूपाद्यो जायते तस्माद् गृही निवृत्तो न त्वारम्भजात् कृष्याद्यारम्भे द्वीन्द्रियाऽऽदिव्यापादनसंभवात् । अन्यथा च शरीरकुटुम्बनिर्वाहाऽऽद्यभावात् । एवं पुनरर्द्धं गतं,जाताः पञ्च विंशोपकाः । संकल्पजोऽपि द्विधा-सापराधविषयो, निरपराधविषयश्च । तत्र निरपराधविषयान्निवृत्तिः, सापराधे तु गुरुलाघवचिन्तनं, यथा गुरुरपराधो लघुर्वेति । एवं पुनरर्द्धे गते सार्द्धौ द्वौ विंशोपकौ जातौ । निरपराधोऽपि द्विधा-साऽपेक्षो,निरपेक्षश्च । तत्र निरपेक्षान्निवृत्तिर्न तु सापेक्षात् । निरपराधेऽपि वाह्यमानमहिषवृषहयाऽऽदौ पाठाऽऽदिप्रमत्तपुत्राऽऽदौ च सापेक्षतया वधबन्धाऽऽदिकरणात्,तत पुनरर्द्धगते सपादो विंशोपकः स्थित इति । इत्थं च देशत. प्राणिवध श्रावकेण प्रत्याख्यातो भवति । प्राणिवधो हि त्रयश्चत्वारिंशदधिकशतद्वयविध. । यत.-

" भूजलजलणानिलवण-बितिचउपंचिंदिएहिँ नव जीवा ।
मणवयणकायगुणिया, हवंति ते सत्तवीस त्ति ॥ १ ॥
इक्कासीई ते करण-कारणानुमइताडिआ होइ ।
ते चिअ तिकालगुणिआ, दुन्नि सया हुंति तेयाला ॥२॥"

इति तेषां मध्ये त्रैकालिकमनोवाक्कायकरणकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियविषयकहिंसाकरणकारणस्यैव प्राय. प्रत्याख्यानसंभवात् । एतद्व्रतफलं चैवमाहु -" जं आरुग्गमुदग्गमप्पडिहयं, आणेसरत्तं फुडं । रूवं अप्पडिरूव-मुज्जलतरा कित्ती धणं जुव्वणं । दीह आउ अवंचणो परिअणो पुत्ता सुपुण्णासया, तं सव्वं सचराचरम्मि वि जए नूणं दयाए फल ॥१॥" एतदनङ्गीकारे च पङ्गुत्वकुणिताकुष्ठाऽऽदिमहारोगवियोगशोकापूर्णाऽऽयुर्दु खदौर्गत्याऽऽदिफलम् । यत - 'पाणिवहे वट्टता,भमंति भीमासु गब्भवसहीसु । संसारमंडलगया, नरयतिरिक्खासु जोणीसु ॥ १ ॥ " ॥ २५ ॥ ध० २ अधि० । " एगे पाणाइवायवेरमणे ।" स्था० १ ठा० ।

थूलगं पाणाइवाय पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं ण करेमि, ण कारवेमि मणसा वयसा कायसा ।

(थूलगं ति) त्रसविषयं ( जावज्जीवाए त्ति ) यावती चासौ जीवा च प्राणधारणं यावज्जीवा, या वा जीवः प्राणधारणं यस्यां प्रतिज्ञायां सा यावज्जीवा तया । ( दुविहं ति ) करणकारणभेदेन द्विविधं प्राणातिपातं ( तिविहेणं ति ) मन.प्रभृतिना करणेन (कायस त्ति) सकारस्याऽऽगमिकत्वात्कायेनेत्यर्थः, न करोमीत्यादिनैतदेव व्यक्तीकृतम् । उपा० १ अ० । पञ्चा० । ध० र० ।

थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ । से पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-संकप्पओ अ १,आरंभओ य २। तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरंभओ ।

स्थूला द्वीन्द्रियाऽऽदय',स्थूलत्वं चैतेषां सकललौकिकजीवत्वप्रसिद्धेरेतदपेक्षत्वेकेन्द्रिया. सूक्ष्माऽधिगमेनाऽजीवत्वसिद्धेरिति । स्थूला एव स्थूलकास्तेषां प्राणा इन्द्रियाऽऽदयस्तेषामतिपात. स्थूलकप्राणातिपातस्तं श्रमणोपासक' श्रावक इत्यर्थः । प्रत्याख्याति तस्माद्विरमत इति भावना । स च प्राणातिपातो द्विविध. प्रज्ञप्त , तीर्थङ्करगणधरैः द्विविधः प्ररूपित इत्यर्थः । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थ । सङ्कल्पजश्च, आरम्भजश्च । सङ्कल्पाज्जात सङ्कल्पज',मनस. संकल्पात् द्वीन्द्रियाऽऽदिप्राणिन. मांसास्थिचर्मनखवालदन्ताऽऽद्यर्थं व्यापादयतो भवति । आरम्भाज्जात आरम्भज । तत्राऽऽरम्भो हल-दन्तालखननस्तत्प्रकारस्तस्मिन् शङ्खचन्दनकपिपीलिकाधान्यगृहकारकाऽऽदिसंघट्टनपरितापापद्रावणलक्षण इति । तत्र श्रमणोपासकः सङ्कल्पतो यावज्जीवयाऽपि प्रत्याख्याति,न तु यावज्जीवयैव नियमत इति नाऽऽरम्भजमिति,तस्याऽवश्यतयाऽऽरम्भसद्भावादिति । आह-एवं सङ्कल्पत किमिति सूक्ष्मप्राणातिपातमपि न प्रत्याख्याति ?। उच्यते-एकेन्द्रिया हि प्रायो दु.खपरिहारा.,सद्मवासिना संकल्प्यैव सचित्तपृथिव्यादिपरिभोगात् । "तत्थ पाणाइवाए कज्जमाणे के दोसा,अकीरते के वा गुणा ? । "

तत्र दोसे उदाहरणं—

कोंकणगो, तस्स भज्जा मया, पुत्तो य से अत्थि, तस्स दारगस्स दाइयभएण दारियं न लहइ, ताहे सो अप्पलक्खेण रमतो विंधइ ।

गुणे उदाहरणं सत्तवइओ वितियं—

उज्जेणीए दारगो, मालवेहिं हरिओ सावयदारगो, सूएण कीओ, सो तेण भणिओ—लावगे ऊसासेहि । तेण मुक्का । पुणो भणिओ । मारेहि त्ति । सो नेच्छइ, पच्छा पिट्टेउमारद्धो, सो पिट्टिज्जतो कूवति । पच्छा रण्णा सुतो, सद्दाविऊण पुच्छिओ । ताहे साहेइ रण्णा वि भणिओ, नेच्छइ, ताहे हत्थिणा भेसिओ तहा वि नेच्छइ, पच्छा रण्णा सीमरक्खो ठविओ । अन्नया थेरा समोसढा, तेसिं अतिए पव्वइओ ।

ततियं गुणे उदाहरणं—

पाडलिपुत्ते नयरे जियसत्तू राया खेमो से अमच्चो चउव्विहाए बुद्धीए संपन्नो समणोवासगो सावगगुणसंपन्नो । सो पुण रण्णो हिउ त्ति काउं अन्नेसिं दंडभडभोइयाणं अप्पिओ । ते तस्स विणासणनिमित्त खेममंतिए पुरिसे दाणमाणेहिं सक्कारेंति । रण्णो अभिमरए पउंजति, गहिया य

भणंति-हम्ममाणा अम्हे खेमसंगता, तेण चेव खेमेण नि-उत्ता। खेमो गहितो भणइ-अहं सव्वसत्ताण खेमं करेमि किं पुण रन्नो सरीरस्स त्ति ?, तहा वि वज्झो आणत्तो, रन्नो य असोगवणियाए अगाहा पोक्खरिणी संछन्नपत्तभि-समुणाला उप्पलपउमोवसोहिया। सा च मगरगाहेहिं दु-रवगाहा, न य ताणि उप्पलादीणि कोइ उच्चिणिउं सम-त्थो, जो य वज्झो रण्णा आइस्सइ सो वुब्भइ-इत्तो पोक्ख-रणीओ पउमाणि आणेहि त्ति। ताहे खेमो उट्ठेऊण-"न-मोऽत्थु णं अरिहंताणं ति" भणित्तु जइ हं निरवराही तो मे देवया सानिज्झं देतु, सागारं भत्तं पच्चक्खाइउं ओगा-ढो, देवयासानिज्झेणं मगरपुट्ठिट्ठिओ बहूणि उप्पलकमलाणि गेण्हित्तुत्तिन्नो। रन्ना हरसितेण खामिओ उवगूढो य, पडि-वक्खनिग्गहं काऊण भणिओ-किं ते वर देमि ?। तेण निरुभ-माणेण वि पव्वज्जा चरिया पव्वइओ, एए गुणा पाणाइवाय-विरमणे।" इदं चातिचाररहितमनुपालनीयम्। आव० ६ अ०।

अतिचाराः-

तदाऽणंतरं च णं थूलयस्स पाणाइवायवेरमणस्स स-मणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समा-यरियव्वा। तं जहा-वहे, बधे, छविच्छेए, अइभारे। भत्त-पाणवोच्छेए। उपा० १ अ०।

(एषां पदानामर्थः स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यः) "सव्वत्थ वि जयणा, जहा थूलगपाणाइवायवेरमणस्स अतियारो न भ-वइ तहा पयत्तियव्वं निरवेक्खवहबंधादिसु य लोगोवघाइ-गा दोसा भाणियव्वा।" उक्तं सातिचारं प्रथमाणुव्रतम्। उपा०। (एतदाश्रित्य श्रावकाणां भङ्गाः 'पच्चक्खाण' शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे ६० पृष्ठे गता.)

अधुना प्रकृतमाह-

पडिवज्जिऊण य वयं, तस्सइयारे जहाविहिं णातुं।
संपुन्नपालणट्ठा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ २५७ ॥

प्रतिपद्य चाङ्गीकृत्य च व्रतं तस्य व्रतस्याऽतिचारा अति-क्रमणहेतवो यथाविधि यथाप्रकार ज्ञात्वा परिहर्त्तव्याः, सर्वैः प्रकारैर्वर्जनीया., प्रयत्नेनेति योगः। किमर्थम् ?, संपू-र्णपालनार्थं, न ह्यतिचारवतः संपूर्णा तत्पालना, तद्भावे त-त्खण्डनाऽऽदिप्रसङ्गादिति।

तथा चाऽऽह-

बंध वह छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवोच्छेए।
कोहाइदूसियमणो, गोमणुआदीण णो कुज्जा ॥ २५८ ॥

तत्र बन्धन बन्धः, संयमनं रज्जुदामनकाऽऽदिभिः १। हन-न वधस्ताडनं कशाऽऽदिभि. २। छवि' शरीरं तस्य छेद पाटनं करपत्राऽऽदिभि. ३। भरणं भारः अतिभरणम् अ-तिभार, प्रभूतस्य पूगफलाऽऽदे. स्कन्धपृष्ठारोपणमित्यर्थः ४। भक्तमशनमोदनाऽऽदि पानं पेयमुदकाऽऽदि तस्य व्यव-च्छेदो निरोध., अदानमित्यर्थं ५। एतान्समाचरन्नतिचरति प्रथमाणुव्रतम्। एतान् क्रोधाऽऽदिदूषितमना न कुर्यादि-ति। अनेनाऽपवादमाह, अन्यथाकरणेऽप्रतिषेधावगमात्। तदत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः-

"बन्धो दुविहो दुपयाणं चउप्पदाणं च अट्ठाए अणट्ठाए य। अणट्ठाए न वट्टइ बंधेउं, अट्ठाए दुविहो निक्खेवो-सावेक्खो य निरवेक्खो य। निरवेक्खो निच्चलं धणियं जं बंधइ, सावेक्खो जं दामगंठिणा जं च सक्केइ पलीवणगादिसु मुंचिउं छिंदिउं वा ण संसरपासएण बंधेयव्वं, एयं ताव चउप्पयाणं दुपयाणं पि दासो वा दासी वा चोरो वा पुत्तो वा ण पढंतगाइ जइ बज्झंति तो सावेक्खाणि बंधितव्वाणि, रक्खियव्वाणि य जहा अग्गि-भयादिसु ण विणस्संति, ताणि किर दुपयचउप्पयाणि साव-गेणं गेण्हियव्वाणि जाणि अबद्धाणि चेव अत्थंति। वहो वि तह चेव। वहो नाम-तालणं, अणट्ठाए णिरवेक्खो निद्दयं तालेइ, सावेक्खो पुण पुव्वामेव भीयपरिसेण होयव्वं, मा हणणं करेज्जा, जइ ण करेज्ज तो मम्मं मोत्तूण ताहे लयाए दोरेण वा एक्कं दो तिन्नि वारे तालेइ। छविच्छेओ अणट्ठाए तहेव णिरवे-क्खो हत्थपायकन्नहोट्ठणक्काणि णिद्दयाए छिंदइ, सावेक्खो गंडं वा अरइयं वा छिंदेज्ज वा, दहेज्ज वा। अइभारो ण आरोवेय-व्वो। पुव्विं चेव जावाहणाए जीविया सा मोत्तव्वा ण होज्ज अन्ना जीविया ताहे दुपदो जं सयं चेव उक्खिवइ उत्तारेइ वा भारं, एवं वहाविज्जइ वइल्लाणं जहा साभावियाओ वि भाराओ ऊणओ कीरइ, हलसगडेसु वि वेलाए चेव मुयइ, आसहत्थी-सुं वि एस चेव विही, भत्तपाणवोच्छेदो ण कस्सइ काय-व्वो, तिव्वच्छुहो मा मरेज्ज, तहेव अणट्ठाए दोसा परिहरे-ज्जा, सावेक्खो पुण रोगणिमित्तं वा वायाए वा भणेज्जा। अज्ज ते ण देमि त्ति संतिणिमित्तं वा उववासं कारावेज्जा सव्वत्थ वि जयणा जहा थूलगपाणाइवायस्स अइयारो न भवइ तहा जइयव्वं ति। णिरवेक्खबंधाऽऽदिसु य लोगोव-घातादिया दोसा भाणियव्वा।

आह च-

परिसुद्धजलग्गहणं, दारुयधन्नाइआण तह चेव।
गहियाण वि परिभोगो, विहीए तसरक्खणट्ठाए ॥ २५९ ॥

परिशुद्धजलग्रहणं वस्त्रपूतत्रसरहितजलग्रहणमित्यर्थः। दा-रुधान्याऽऽदीनां च तथैव परिशुद्धानां ग्रहणम् अनिलाजी-र्णानां दारूणामकीटविशुद्धस्य धान्यस्य, आदिशब्दात्तथावि-धोपस्करपरिग्रहः। गृहीतानामपि परिभोगो विधिना कर्त्त-व्य.। परिमितप्रत्युपेक्षिताऽऽदिना। किमर्थं ?, त्रसरक्षणार्थं द्वी-न्द्रियादिपालनार्थमिति। श्रा०। द्वितीयं पुनः सर्वस्मात् स्था-वरसूक्ष्मविराधनारूपात् प्राणातिपातात्। ध० ३ अधि०। संथा०। दश०। सूत्र०। (अत्र "तत्थ खलु पढमे भंते!" इत्या-दि प्राणातिपातविरमणविषयं सूत्रम् 'पडिक्कमण' शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे २८४ पृष्ठे व्याख्यातम्) पा०। सूत्र०। ध०। (इद च व्रतं सभावनाकम 'अहिंसा' शब्दे प्रथमभागे ८७५ पृष्ठादारभ्य व्याख्यातम्) संयमे, भ० २० श० २ उ०। गौणवृत्त्या धर्मास्तिकाये, इह धर्मश्चारित्रलक्षणः, स च प्राणातिपातविरमणाऽऽदिरूपः। ततश्च धर्मशब्दसाधर्म्यात् अस्तिकायरूपस्याऽपि धर्मस्य प्राणातिपातविरमणशब्दस्य पर्यायत्वात्। भ० २ श० १ उ०।

पाणाउय-प्राणायुष्-न०। प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणि, त्रीणि मानसा-ऽऽदीनि बलानि, उच्छ्वासनिःश्वासौ च, आयुश्च प्रतीतं, ततो यत्र प्राणा आयुश्च सप्रभेदमुपवर्ण्यन्ते तदुपचारतः प्राणा-युरित्युच्यते। द्वादशे पूर्वे, तस्य पदपरिमाणमेका पदकोटी पदपञ्चाशच्च पदलक्षाणि। नं०। अत्र त्रिंशद् वस्तूनि। नं०।

पाणाडंबर-पाणाडम्बर-पुं० । मातङ्गानामाडम्बरे महता समारम्भेण पूजनीये, स च यक्षो, हिरिमिक्कापरनामदेवतं वा । व्य० ७ उ० । आ० चू० ।

पाणापाण-प्राणापान-पुं०। उच्छ्वासनिःश्वासेषु, कर्म०५ कर्म०।

पाणापाणजोग-प्राणापानयोग-पुं० । प्राणापानव्यापारे, वि-शे० । (अस्य हि शरीरयोगान्तर्गतत्वेन न पृथग्योगत्वमित्युक्तं 'जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६१५ पृष्ठे ) ।

पाणापाणपज्जत्ति-प्राणापानपर्याप्ति-स्त्री० । उच्छ्वासपर्याप्तौ, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा । प०सं०१द्वार । प्रज्ञा०।

पाणापाणवग्गणा-प्राणापानवर्गणा-स्त्री० । यानि पुद्गलद्रव्याणि जन्तवः प्राणापानरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च निसृजति तद्वर्गणायाम्, प० सं० ५ द्वार ।

पाणामा-प्राणामी-स्त्री० । प्रणामोऽस्ति विधेयतया यस्यां सा प्राणामी । प्रणामविधियुक्तायां प्रव्रज्यायाम्, " पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए ।" भ० ३ श० १ उ० ।

पाणायाम-प्राणायाम-पुं० । श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदे, द्वा० ।

रेचकः स्याद् बहिर्वृत्ति-रन्तर्वृत्तिश्च पूरकः ।
कुम्भकस्तम्भवृत्तिश्च, प्राणायामस्त्रिधेत्ययम् ॥ १७ ॥

(रेचक इति) बहिर्वृत्तिः श्वासो रेचकः स्यात् अन्तर्वृत्तिश्च प्रश्वासः पूरकः,स्तम्भवृत्तिश्च कुम्भकः,यस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणोऽवस्थाप्यते,इत्ययं त्रिधा प्राणायामः प्राणगतिविच्छेदः। यदाह-"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।" २।४६॥ इति । अयं च नासाद्वादशान्ताऽऽदिदेशेन षट्त्रिंशतिमात्राऽऽदिप्रमाणकालेन संख्यया चैयतो वारान् कृत एतावद्भिश्च श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवती त्यादिलक्षणोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञ आख्यायते । यथोक्तम्-"स तु बाह्याऽऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञ इति।(२-५०)" बाह्याभ्यन्तरविषयो द्वादशान्तहृदयनाभिचक्राऽऽदिरूप एव पर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत् स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यमानात् कुम्भकात्तत्पर्यालोचनपूर्वकत्वमात्रभेदेन च चतुर्थोऽपि प्राणायाम इष्यते । यथोक्तम्-"बाह्याऽऽभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।" २-५१ ॥ इति ॥ १७ ॥

धारणायोग्यता तस्मात्, प्रकाशाऽऽवरणक्षयः ।
अन्यैरुक्तः क्वचिच्चैत-द्युज्यते योग्यताऽनुगम् ॥१८॥

( धारणेति ) तस्मात्प्राणायामात् धारणानां योग्यता प्राणायामेन स्थिरीकृतं चेतः सुखेन नियतदेशे धार्यत इति । तदुक्तम्-" धारणा ( सु ) च योग्यता मनसः " ( २-५३ ) इति । तथा प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूप तत्क्षय । तदुक्तम्-" तत क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणमिति ।" ( २-५२ ) अयमन्यैः पतञ्जल्यादिभिरुक्तः । भगवत्प्रवचने तु व्याकुलताहेतुत्वेन निषिद्ध एव श्वासप्रश्वासरोधः, यथायोगसमाधानमेव प्रवृत्तेः श्रेयस्त्वात्, प्राणरोधपलिमन्थस्यानतिप्रयोजनत्वात् । तदुक्तम्-" उस्सासं ण णिरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमु अचेट्ठा । पसज्जमरणं निरोहे, सुहुमुस्सासं च जयणाए ॥ १ ॥ " एतच्च पतञ्जल्याद्युक्तं क्वचित्पुरुषविशेषे योग्यताऽनुगं योग्यताऽनुसारि युज्यते, नानुचित्वाद्योगिनां प्राणायामरुचीनां प्राणायामेनाऽपि फलसिद्धेः स्वरुचिसंपत्तिसिद्धस्योत्साहस्य योगोपायत्वात् । यथोक्तं योगबिन्दौ-"उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्-सन्तोषात्तत्त्वदर्शनात् । मुनेर्जनपदत्यागात्, षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ॥ ४१० । इति । तस्माद्धस्य प्राणवृत्तिनिरोधेनैवेन्द्रियवृत्तिनिरोधस्य नवुपयोग इति तत्त्वम् ॥ १८ ॥

रेचनाद् बाह्यभावाना-मन्तर्भावस्य पूरणात् ।
कुम्भनान्निश्चितार्थस्य, प्राणायामश्च भावतः ॥ १६ ॥

(रेचनादिति) बाह्यभावाना कुटुम्बदाराऽऽदिममत्वलक्षणाना रेचनात्, अन्तर्भावस्य श्रवणजनितविवेकलक्षणस्य पूरणात्, निश्चितार्थस्य कुम्भनात् स्थिरीकरणाच्च, भावतः प्राणायामोऽयमेवाव्यभिचारेण योगाङ्गम् । अत एवोक्तम् " प्राणायामवती चतुर्थाङ्गभावतो भावरेचकादिमावाऽऽदिति ॥ १६ ॥"

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः, प्राणाऽऽयामविनिश्चयात् ।
प्राणांस्त्यजन्ति धर्मार्थं, न धर्मं प्राणसङ्कटे ॥ २० ॥

[ प्राणेभ्योऽपीति ] प्राणेभ्योऽपीन्द्रियाऽऽदिभ्योऽपि गुरुर्महत्तरो धर्म इत्यतो भावप्राणायामतो विनिश्चयात् धर्मार्थं प्राणांस्त्यजति, तत्रोत्सर्गप्रवृत्तेः । अत एव न धर्मं त्यजति प्राणसङ्कटे प्राणकष्टे ॥ २० ॥ द्वा० २२ द्वा० ।

पाणारंभ प्राणाऽऽरम्भ-पुं० । प्राणानामारम्भविनाशाऽऽदिरूपे प्राणाऽऽरम्भः। प्राणातिपाते,"सव्वं पाणारंभं,पच्चक्खामि त्ति ।" आतु० ।

पाणाली-देशी-हस्तद्वयप्रहारे, दे० ना० ६ वर्ग ४० गाथा ।

पाणि-पाणि-पुं० । हस्ते, औ० । "पाणी हत्था य करा।" पा इ० ना० ११० गाथा । सूत्र० । उत्त० । आचा० । स० । कल्प० । दशा० ।

पाणि-पुं० । दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । व्यक्तेन्द्रियेषु जीवेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अनु० । आव० । आ० म० । आचा० । द्रव्या० । सत्त्वे भूते, विशे० ।

पाणिअ-पानीय-न०। " पानीयाऽऽदिष्वित् " ॥८ । १ । १०१॥ इति दीर्घेकारस्य ह्रस्वेकारः । प्रा० १ पाद । जले, आ० म० १ अ० ।

पाणिगहण-पाणिग्रहण-न० । हस्तसंयमने, आ० म०१अ० ।

पाणिघंसि(ण)-पाणिघर्षिन्-पुं० । पाणिना घर्षितुं शीलं येषां ते पाणिघर्षिणः । श्रीह्याद्यौषधीनां पाणिभ्यां घर्षितुं शीलेषु, तद्भोक्तृषु युगलकमनुष्येषु, "आसी य पाणिघंसी, तिम्मियतंदुलपवालपुडभोई । इत्थपत्लपुडाहारा,जइया किर कुलगरो उसभो ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० ।

पाणिणि-पाणिनि-पुं० । पणनं पणः, ततोऽस्त्यर्थे इति तदपत्यम्, अण्, तस्य छात्रः । इन् इञ् । अष्टाध्यायीव्याकरणकारके दाक्षीपुत्रे मुनौ, वाच० । [ तत्प्रचित हि व्याकरणमि-

दानीं सर्वेभ्यः शब्दशास्त्रेभ्यः उत्तममध्ययनप्रतिषद्धं च, परं तदसिद्धमसाधु न मन्तव्यम् । अष्टौ व्याकरणान्यन्या- नीन्द्रा ऽऽदीनि लोकेऽपि साम्प्रतमभिधानमात्रेण प्रतीतान्ये- व, अतः कतिपयशब्दविषयलक्षणाभिधानतुच्छे पाणिनिनि- र्मित एव नाऽऽग्रहः कार्य इति, व्यासाऽऽदिप्रयुक्तशब्दानामपि तेनाऽसिद्धेः। न च ते ततोऽपि शब्दशास्त्रानभिज्ञा इति । आ- व० २ अ० । प्राकृतलक्षणनामकं प्राकृतव्याकरणमपि तेन रचितम् , यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-" व्यत्ययोऽ- प्यासाम् " इति तत्र तत्रोल्लेखात् । कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

पाणिणिवह-प्राणिनिवह-पुं० । जीवसङ्घाते, श्रा० ।

पाणिणीय-पाणिनीय-पुं० । पाणिनेरिमे छात्रा इति पाणि- नीयाः । पाणिन्यन्तेवासिषु, पाणिनिकृतव्याकरणे च । नपुं० । प्रा० ढुं० २ पाद ।

पाणिदया-पानीयदया-स्त्री० । वर्षाऽऽदौ निपतदप्कायाऽऽदि- जीवदयायाम् , उत्त० २६ अ० । स्था० ।

पाणिपडिग्गह-पाणिप्रतिग्रह-पुं० । करपात्रे जिनकल्पे, क- ल्प० १ अधि० ६ क्षण । आचा० । पाणिप्रतिग्रही, एवंभूतः- वज्रनामो भरतक्षेत्रे प्रथमो जिनो भावीति । स एव भगवान्, तदानीमेव तस्यैको मनुष्यः प्रधानेक्षुरसकुम्भसमूहप्राभृत- मादाय आगतः,ततोऽसौ तत् कुम्भमादाय भगवन् ! गृहा- णेमां योग्यां भिक्षामिति जगाद । भगवताऽपि पाणी प्रसा- रितौ, निसृष्टश्च तेन सर्वोऽपि रसः, न चात्र बिन्दुरप्यधः प- तति, किं तूपरि शिखा वर्द्धते । यतः-" माइज्ज घडस- हस्सा, अहवा माइज्ज सागरा सव्वे । जस्सेआरिसल- द्धी, सो पाणिपडिग्गही होइ ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ७ क्षण । आचा० ।

पाणिपाणिपमज्जण-प्राणिपाणिप्रमार्जन-न० । कुन्थ्वादीनां प्राणिनां हस्तेन प्रमार्जने, ध० २ अधि० ।

पाणिपाणिविसोहणी-प्राणिपाणिविशोधनी-स्त्री० । हस्त- स्योपरि कुन्थ्वादीनां प्राणिनां प्रत्युपेक्षमाणवस्त्रेण प्रमार्ज- नायाम् , स्था० ६ ठा० ।

पाणिपिज्ज-प्राणिपेय-त्रि० । तटस्थप्राणिभिः पातव्ये, " पा- णि पिज्जंति नो वए । " दश० ७ अ० ।

पाणिवह-प्राणिवध-पुं० ।पृथिवीकायाऽऽदिजीवसमाजस्वी- कृतनिजनिजप्राणोद्दालने, दर्श० १ तत्त्व । व्य० । प्राण्युपमर्दे, प्रव० ४१ द्वार ।

पाणिवहाणिरय-प्राणिवधनिरत-त्रि० । जीवव्यापादनशक्ते, ज्यो० ६ पाहु० ।

पाणिरेहा-पाणिरेखा-स्त्री० । हस्ततथाऽऽयुरेखाऽऽदौ, कल्प० २ अधि० ६ क्षण । जी० ।

पाणीय-पानीय-न० । जले, उत्त० ३५ अ० । स्था० । प्रश्न० । सू० प्र० । ज्ञा० । आ० म० । भ० । प्रासुकपानीयस्य संस्तारक कच्चकपानीये मुच्यते, किं वा पृथक् रक्ष्यते ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रासुकपानीयस्य संस्तारकः सचित्तपानीये न क्षिप्यते इत्यक्षराणि शास्त्रे न ज्ञातानि, ततो यथा यतना भ- वति तथा कर्त्तव्यं, परं यथा तथा संस्तारको न क्षिप्यते इति । ४२३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

पाणीयविंदुमित्त-पानीयबिन्दुमात्र-न०। सचित्तजललेशमात्रे, ग० २ अधि० ।

पाणीयविहिपरिमाण-पानीयविधिपरिमाण-न० । पानीयप्र- काराणां भोग्यत्वेयत्तापरिमाणे, (' आणंद ' शब्दे द्वितीय- भागे १०८ पृष्ठादारभ्य सूत्रम्)-"अंतलिक्खोदयं ति ।" यज्ज- लमाकाशात्पतदेव गृह्यते तदन्तरिक्षोदकम् । उपा० १ अ० ।

पाणु-प्राण-पुं० । संख्येयाऽऽवलिकारूपयोरुच्छ्वासनिःश्वासयोः काले, कर्म० ४ कर्म० । अनु० । " हट्ठस्स ऽनवगल्लस्स, णिरु- वकिट्ठस्स जंतुणो । एगे ऊसासणिस्सासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ ॥१॥" स० ७७ सम० । भ० । हृष्टस्य तुष्टस्याऽनवकल्प- स्य जरसाऽनभिभूतस्य निरुपक्लिष्टस्य व्याधिना प्राक्साम्प्रतं चानभिभूतस्य जन्तोर्मनुष्याऽऽदेरेक उच्छ्वासेन सह निःश्वा- स उच्छ्वासनिःश्वासः । य इति गम्यते । एष प्राण इत्युच्यते । भ० ६ श० ७ उ० । " तिविहे पाणू पण्णत्ते । तं जहा-तीते, पडुप्पन्ने, अणागए त्ति । " स्था० ३ ठा० ४ उ० । श्वपचे, दे० ना० ६ वर्ग ३८ गाथा ।

पाणेसणा-पानैषणा-स्त्री० । पानग्रहणसामाचार्याम् , आचा० ।

अहावराओ सत्त पाणेसणाओ । तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा-असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते , तं चेव भाणियव्वं , णवरं चउत्थाए णाणत्तं । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण पाण- गजायं जाणेज्जा । तं जहा-तिलोदगं वा, तुसोदगं वा, जवोदगं वा,आयामं वा,सोवीरं वा, सुद्धवियडं वा, अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे तहेव० जाव पडि- गाहेज्जा ॥ ६२ ॥

पानैषणा अपि नेया भङ्गकाश्चाऽऽयोज्याः, नवरं चतुर्थ्यां ना- नात्वं, स्वच्छत्वाच्च तस्या अल्पलेपत्वं, ततश्च संसृष्टाऽऽ- द्यभावः । आसां च एषणानां यथोत्तरं विशुद्धितारतम्यादेष एव क्रमो न्याय्य इति ।

साम्प्रतमेताः प्रतिपद्यमानेन यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

इच्चेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अ- न्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे णो एवं वदेज्जा-मिच्छापडिवन्ना खलु एते भयंतारो, अहमेगे सम्मं पडिवन्ने, जे एए भ- यंतारो एयाओ पडिमाओ पडिवज्जित्ता णं विहरंति, जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्जित्ता णं विहरामि सव्वे वि ते उ जिणाणाए उवट्ठिया अन्नोन्नसमाहीए, एवं च णं विहरं- ति, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सा- मग्गियं ॥ ६३ ॥

इत्येतासां सप्तानां पिण्डैषणानां पानैषणानां वाऽन्यतरां प्र- तिमां प्रतिपद्यमानो नैतद्वदेत् । तद्यथा- स- म्यक् पिण्डैषणाऽऽद्यभिग्रहवन्तो भगवन्त.

कः सम्यक् प्रतिपन्नो, यतो मया विशुद्धः पिण्डैषणाऽभिग्रहः कृतः,एभिश्च न,इत्येवं गच्छनिर्गतेन गच्छान्तर्गतेन वा सम्हष्ट्या द्रष्टव्या , नाऽपि गच्छान्तर्गतेनोत्तरोत्तरपिण्डैषणाऽभिग्रहवता पूर्वपूर्वतरपिण्डैषणाऽभिग्रहवन्तो दूष्या इति । यच्च विधेयं तद्दर्शयति-य एते भगवन्तः साधवः,एता प्रतिमाः पिण्डैषणाऽऽद्यभिग्रहविशेषान् प्रतिपद्य गृहीत्वा ग्रामानुग्रामं विहरन्ति यथायोगं पर्यटन्ति, यां चाहं प्रतिमां प्रतिपद्य विहरामि सर्वेऽप्येते जिनाऽऽज्ञायां जिनाऽऽज्ञया वा समुत्थिता अभ्युद्यतविहारिणः संवृत्ता ,ते चान्योऽन्यसमाधिवा यो यस्य गच्छान्तर्गताऽऽदे समाधिरभिहित । तद्यथा-सप्ताऽपि गच्छवासिनां,तन्निर्गतानां तु द्वयोरग्रहः पञ्चसु अभिग्रह , इत्यनेन विहरन्ति यतन्त इति। तथा विहारिणश्च सर्वेऽपि ते जिनाज्ञां नातिलङ्घन्ते "जोऽवि दुवत्थ तिवत्थो,बहुवत्थ अचेलओ व्व संथरइ । न हु ते हीलेंति परं,सव्वे वि य ते जिणाणाए ॥ १ ॥" एतस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभावो यदात्मोत्कर्षवर्जनमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । पा० । ध० । स्था० ।

पात-पात्र-न० । पतद्ग्रहे, प्रव० ६० द्वार । " पाताणि य मे रयावेहि । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । ( सर्वा वक्तव्यता 'पत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६२ पृष्ठे गता )

पातखज्ज-पाकखाद्य-न० । गर्त्ताप्रक्षेपकोद्रवपलालाऽऽदिना विपच्य भक्षणयोग्ये फले, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

पातग्ग-पादाग्र-न० । चरणाग्रे, " पूजितो व ताए पातग्गकुसुमप्पतानेन ।" पादाग्रकुसुमप्रदानेन । आ० ४ पाद ।

पातरास-प्रातराश-पुं० । प्रातरशनं प्रातराशः । प्रत्यूषस्येव भोजने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रथमालिकायाम् , नि० चू० १ उ० । आचा० । आ० म० । "जाव मागहओ पातरासो त्ति।" प्रातराशं प्राभातिकं भोजनकालं यावत्प्रहरद्वयाऽऽदिकमित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पातिभणाण-प्रातिभज्ञान-न० । मार्गानुसारिप्रकृष्टोहे, द्वा० १६ द्वा० ।

पात्थरिअ-देशी-पल्लवे, दे० ना० ६ वर्ग २० गाथा ।

पाद-पात्र-न० । पतन्तमाहारं पातीति पात्रम् । आचा १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । भाजने, आचा० १ श्रु० २ चू० ३ अ० ३ उ० । ( पात्रस्य सर्वोऽधिकार 'पत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६२ पृष्ठे गत ) कांस्यपात्र्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अलाबुकाऽऽदौ, दश० ६ अ० ।

पाद पुं० । चरणे,सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ० । द्रव्या० । ध० । पञ्चा० । " उड्ढं पादं रापज्जा उच्चद्दट्टु ।" पादं संहृत्याग्रतलेन पादं पादप्रदेशं चातिक्रम्य गच्छेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । गाथाऽऽदिचतुर्थांशे अनु० । पट्टाऽऽद्यधोभागे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । षडङ्गुलमिते पादमध्यतले, अष्टौ यवमध्यान्येकमङ्गुलमेतेनाङ्गुलप्रमाणेन अन्यूनाधिकतया षडङ्गुलानि पाद पादस्य मध्यतलप्रदेश' । जं० ३ वक्ष० । किरणे, कल्प० १ अधि० २ क्षण । " धुन्नाहितुर्याशरश्मिप्रत्यन्तपर्वताऽऽदिषु, " हैं० ।

पादकंचणिया-पादकाञ्चनिका-स्त्री० । पादधावनयोग्यायां काञ्चनमय्यां पात्र्याम, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पादकंबल-पादकम्बल-न० । पादप्रोञ्छने, उत्त० १७ अ० ।

पादकुक्कुड-पादकुक्कुट-पुं० । कुक्कुटविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

पादकेसरिआ-पात्रकेशरिका-स्त्री० । पात्रप्रमार्जनहेतुः केशरिका पात्रकेशरिका । ओघ० । पात्रप्रमार्जनपोत्तिकायाम् , प्रश्न० ५ संव० द्वार । यया पात्रं प्रत्युपेक्षते । बृ० ५ उ० । निर्ग्रन्थीनामेव सवृन्ता पादकेशरिका कल्पते ।

सूत्रम्-

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटियं पादकेसरियं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा ॥ ४३ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटियं पादकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४४ ॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सवृन्तिका पादकेशरिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ ४३ ॥ कल्पते निर्ग्रन्थाना सवृन्तिका पादकेशरिका धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ ४४ ॥

अथ केयं सवृन्ता पादकेशरिकेत्याह-

लाउयपमाणदंडे, पडिलेहणिया उ अग्गए वद्धा ।
सा केसरिया भन्नइ, सनालए पायपेहट्ठा ॥ २६४ ॥

यत्राऽभिनवसंकटमुखे अलाबुनि हस्तो न माति,तस्याऽलाबुनो यदुच्चत्वं तत्प्रमाणो दण्डः क्रियते, तस्याग्रभागे बद्धा या प्रत्युपेक्षणिका सा पादकेशरिका सवृन्ता भण्यते, कारणगृहीतसनालमलाबुकं तया प्रत्युपेक्षते, ततो मुखं क्रियते । बृ० ५ उ० ।

पायपमज्जणहेऊ, केसरिया पाएँ इक्केका ।
गोच्छक पत्तट्ठवणं, इक्केकं गणणमाणेणं ॥१०१८॥

केशरिकाऽपि पात्रप्रमुखवस्त्रिकाऽपि पात्रकप्रमार्जननिमित्तं भवति पात्रे पात्रे एकैका पात्रकेशरिका भवति गणनया, तथा गोच्छक. पात्रस्थापनं च एकैकं गणनाप्रमाणमानेनेति । ओघ० ।

पादचार-पादचार-पुं० । चरणाभ्यामेव गमने, " पायचारेण पज्जुवासति ।" ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० ।

पादजालग-पादजालक-न० । पादाऽऽभरणे,प्रश्न०५ संव०द्वार ।

पादजालघंटिया-पादजालघण्टिका-स्त्री० । पादाऽऽभरणविशेषे, औ० ।

पादट्ठवण-पात्रस्थापन-न० । कम्बलमये पात्रोपकरणे, बृ० ३ उ० । यत्र कम्बलखण्डे पात्रं निधीयते । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

पादणिज्जोग-पात्रनिर्योग-पुं० । पात्रपरिकरत्वे उपकरणकलापे, बृ० ३ उ० ।

स च पात्रकबन्धाऽऽदि· सप्तविधः-

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइँ रयत्ताणं, गोच्छगओ पायणिज्जोगो ॥

बृ० ३ उ० । ( एषा गाथा 'उवहि' शब्दे द्वितीयभागे १०६३

पृष्ठे व्याख्याता ) ध० । पिं० । आचा० । औ० । ( पाद-निर्योगव्युत्पत्तिः " अपत्ते श्चिय० " (२६) इत्यादिपिण्डनिर्युक्तिगाथायाः व्याख्याने ' धावण ' शब्दे चतुर्थभागे २७५१ पृष्ठे गता )

पादत्तणीय-पादातानीक-न० । पादातीनां समूहः पादातं,तस्यानीकं पादातानीकम् । उत्त० १८ अ० । पदातिसमूहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । भ० । पदातिकटके, औ० ।

पादत्ताणाहिवइ-पादात्याधिपति-पुं० । पदातिकटकनायके, कल्प० १ अधि० २ क्षण । उत्त० ।

पाददद्दरय-पाददर्दरक-न० । भूमेः पादेनाऽऽस्फोटने,जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० । ज्ञा० ।

पादपडिमा-पात्रप्रतिमा-स्त्री० । पात्रविपयकाभिग्रहविशेषे, स्था० । चतुर्थी पात्रप्रतिमा-उद्दिष्टं दारुपात्राऽऽदि याचिष्ये, तथा प्रेक्षितं, तथा दातु स्वाङ्गिकं परिभुक्तप्रायं द्वित्रिपु वा पात्रेषु पर्यायेण परिभुज्यमानं पात्रं याचिष्य इति तृतीया, उज्झितधर्मिकमिति चतुर्थी । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पादपप्फोडण पादप्रस्फोटन-न० । पादधूलिच्छोटने, व्य० ६ उ० । ( आचार्य उपाध्यायो वा वसतेरन्तः पादान् प्रस्फोटयितुं शक्नोति इति ' अइसेस ' शब्दे प्रथमभागे १२ पृष्ठे उक्तम् )

पादपरियावण्ण-पादपर्यापन्न-त्रि० । पात्रस्थिते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

पादपलंब-पादप्रलम्ब-न० । पादौ यावद्यः प्रलम्बते अलङ्कारविशेपः,स पादप्रलम्ब' । पादपर्यन्ते आभरणविशेपे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पादपास-पादपाश-पु० । वागुराऽऽदिबन्धने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

पादपीढ-पादपीठ-पु० । पट्टाऽऽदिके, प्रति० । स० । रा० ।

पादपुंछण-पादप्रोञ्छन-न० । रजोहरणे, औ० । प्रश्न० । ध० । दश० । भ० । पा० । स्था० ।

निर्ग्रन्थीनां दारुदण्डकप्रोञ्छनकम् । सूत्रम्-

नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा,परिहरित्तए वा ॥ ४५ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं दारुदंडयं० जाव परिहरित्तए वा ॥ ४६ ॥

यत्र दारुमयस्य दण्डस्याग्रभागे ऊर्णिका दशिका वध्यन्ते तद्दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनमुच्यते, तन्निर्ग्रन्थीनां न कल्पते ॥४५॥ निर्ग्रन्थानां तु कल्पते ॥४६॥

अत्र भाष्यम्-

ते चेव दारुदंडे, पाउंछणगम्मि जे सनालं ति ।
दुण्ह वि कारणगहणे, वप्पडए दंडए कुज्जा ॥ २६५ ॥

ये सनाले पात्रे दोपा उक्तास्त एव दारुदण्डकेऽपि पादप्रोञ्छनके भवन्ति । द्वयोरपि च सनालपात्रदारुदण्डकयोः कारणे निर्ग्रन्थीनामपि ग्रहणं भवति, तत्र च ग्रहणे कृते वप्पडकान् दण्डकान् कुर्यात् । बृ० ५ उ० ।

प्रातिहारिकं पादप्रोञ्छनं याचित्वा प्रत्यर्पयति-

जे भिक्खू पाडिहारियं पायपुंछणं जाइत्ता तामेव रयणिं पच्चुप्पिणइस्सामि त्ति सुए पच्चुप्पिणेइ, पच्चुप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

प्रतीपं हरणं प्रतीहार्यं, तं अज्ज अ सुए वेलाए राती वा अणिहामि त्ति सुए कल्ले अणेंतस्स मासलहुं, आणादिया य दोसा ।

जे भिक्खू पाडिहारियं पायपुंछणं जाइत्ता सुए पच्चुप्पिणेस्सामीति तामेव रयणिं पच्चुप्पिणेइ, पच्चुप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जं पाडिहारियं पायपुंछणं सुए उवातिणाविस्सामि त्ति तमेव रयणीए उवातिणावेति इत्यादि अर्थः पूर्ववत् ।

पाउंछणगं दुविहं, तं उद्देसम्मि वण्णियं तहा पुव्वं ।
तं पाडिहारियं तू, गेण्हंतोऽऽणादिया दोसा ॥ ४७ ॥

उस्सग्गिय अववादियं च पुव्वं वितियउद्देसे सभेयं वण्णियं, तं जो पाडिहारियं गेण्हति, तस्स आणादिया दोसा ।

इमे पारिहारियदोसा-

णट्ठेहि य विस्सरिते, अणप्पिणंतम्मि होइ वोच्छेओ ।
पच्छाकम्म पवहणं, धुवावणं वा तयट्ठस्स ॥ ४८ ॥

भिक्खाइ अडंतस्स पडि पणट्ठं तेणगेण हरियं,सज्झायातिगयस्स काइयभूमिगयस्स कतो विस्सरियं, एतेहिं कारणेहिं अणप्पिणंतस्स तद्दव्वस्स साहुस्स वा वोच्छेओ हवेज्ज, गिहत्थो वा अण्णं पाउंछणं करेज्ज, पच्छाकम्म वा ठवियं वा जं अत्थति पवहणं करेज्ज, धुवावणं दवावणं तदट्ठस्स पादपुंछणस्स अण्णट्ठं वा मुल्लं दवावेज्ज, तम्हा पाडिहारियं ण गेण्हेज्ज ।

उच्चत्ताए पुव्वं, गहणमलंभे उ होइ पडिहारी ।
तं पि य ण छिण्णकाल, दोसा ते चेव छिण्णम्मि ॥४९॥

जं पाडिहारियं णिद्दिसेज्ज तं उच्चतागहणं पुव्वं तारिसं घेत्तव्वं, तारिसस्स अलंभे पाडिहारियं अज्ज वा कल्ले वा छिण्णकालं न करेति, गेण्हंतेण भाणियव्वं-कताहिं वि कते कज्जे अप्पेहामि, दोसा छिण्णम्मि ते चेव, अज्ज सुए वा अप्पहामि त्ति छिन्नकाले कदाइ वाघातो हवेज्ज, ततो अणप्पिणंतो माया मोसं भवति अदत्तं ।

सो साहू इमेहिं कारणेहिं पाडिहारियं गेण्हति-

णट्ठेहि य विस्सरिते, झामिय छूढे तहेव परिजुण्णे ।
असति दुल्लभ पडिसे-ह गहणं पडिहारिए चउण्ह ॥५०॥

झामितं दड्ढं, छूढं ति उत्तरेण कालेण वा खुद्दं, परिजुण्णं असति पाडिहारियं ण लब्भति, दुल्लभे वा जाय लब्भति, पडिणीएण वा पडिसेधितो इमं चउव्विहं पाडिहारियं गेण्हति—उस्सग्गुस्सग्गियं, उस्सग्गियं, अववाइयं अववायाववातियं । अणाभोगेण कते छिण्णकाले, अलब्भंते वा छिण्णकाले कते दोण्ह वि सुत्ताण वज्जासकरणे इमा जयणा-

तं पाडिहारियं पा-यपुंछणं गिण्हिऊण जे भिक्खू
वोच्चत्थमप्पिणादी, सो पावति आणमादीणि ॥

तं पाडिहारियं छिएणकालं गेएिहत्तुं तम्मि चेव काले अप्पे-यव्वं, विवरीयमप्पिणंतस्स इमे दोसा-

मायामोसमदित्तं, अप्पच्चओ खिंसणा उवालंभो ।
वोच्छेदपदोसादी, वोच्चत्थं अप्पिणंतस्स ॥ ५२ ॥

पूर्ववत्।

वितियपदे वाघातो, होज्जा पहुणो व अप्पणो वावि ।
एतेहिँ कारणेहिं, वोच्चत्थं अप्पिणिज्जाहि ॥ ५३ ॥

पभुणो णिव्विसयानी कारणा होज्जा ।

अप्पणो इमो--

गेलन्नवासमहिता, पडिणीए रायसंभम भए वा ।
अह समणो वाघातो, णिव्विसयादी य इयरम्मि ॥५४॥

गिलाणो जातो, वासं महिता वा, पडिणीओ वा अंतरे रायदुट्ठं वोहियादिभयं वा अग्निमादिसंभमं वा जातं । एते समणोवाघातकारणा ।

जे भिक्खू सागारियसंतियं पायपुंछणं जाइत्ता तामेव रयणिं पच्चप्पिणंति, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू सागारियसंतियं पायपुंछणं जाइत्ता सुए पच्चु-प्पिणिस्सामि त्ति तामेव रयणिं पच्चप्पिणइ वा, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

दो सुत्ता सागारिए सेज्जातरे।

जे भिक्खू पाडिहारियं दंडयं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूइं वा एते वि दो वि चेव पडिहारियसागारियगा-मएहिं णेयव्वा ॥ २२ ॥ जे भिक्खू पाडिहारियसेज्जासंथा-रयं पच्चुप्पिणित्ता दोच्चं पि अणुण्णविय अहाट्ठेइ, अहाट्ठंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

दो सुत्ता। सूत्रार्थः पूर्ववत्।

पडिहारिएँ जो तु गमो, णियमा सागारियम्मि सो चेव।
दंडगमादीसु तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ५५ ॥

पाउंछणगं दुविधं, वितिउद्देसम्मि वण्णितं पुव्विं ।
सागारियसंतियं तं, गेएहंताऽऽणादिणो दोसा ॥ ५६ ॥

णट्ठेहि य विस्सरिए, अणप्पिणंते य होति वोच्छेदो ।
पच्छाकम्म पवहणं, जावणं वा तयट्ठस्स ॥ ५७ ॥

उवसाए पुव्वं गहणं, अलंभे य होज्ज पडिहारिं तं पि य ण छिएणकालं,ते च्चिय दामा न छिंसे ।

णट्ठेहि तु विस्सरिते, झामिय वूढे तहेव जुसे अ ।
असती दुल्लभपडिसेह, गहणं सागारिए चउहा ॥५८॥

सागारिसंतियं तं, पाउंछणं गेएिहऊण जे भिक्खू ।
वोच्छिज्ज मप्पिणिज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥५९॥

भाष्यग्रन्थः अविशेषेण पूर्ववत् । नि० चू० ५ उ० । पादौ पु-प्रोञ्छति येन तत्पादप्रोञ्छनकम् । नि० चू० २ उ० । रजोहर-णस्य तृतीयनिषद्यायाम्,पिं०। सा च अभ्यन्तरनिषद्या या ति-र्यग्पृथक्प्रकाम् कुर्वन्ती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमाना कम्बल-मयी भवति, सा च उपवेशनोपकारित्वादधुना पादप्रोञ्छन-कमित्युच्यते । पिं०। (अत्र औत्सर्गिकत्वापवादिकत्वविचारः 'रओहरण' शब्दे वक्ष्यते )

**पादपमज्जण**-पादप्रमार्जन--न०। पादानां पुनः पुनर्मार्जने,नि० चू० १५ उ०।

जे भिक्खू अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ । १५ ।

( जे भिक्खू अप्पणो पाए इत्यादि ) अप्पणो पाए आ-मज्जति एक्कंसि,पमज्जति पुणो पुणो। अहवा-हत्थेण आमज्ज-णं, रयहरणेण पमज्जणं, तस्स मासलहुं ।

इमा णिज्जुत्ती-

आइण्णमणाइण्णा, दुविहा पादे पमज्जणा होति ।
संसत्ते पंथे वा, भिक्ख वियारे विहारे य ॥ ५३ ॥

पुव्वद्धं कंठं। जा आइण्णा सा इमा अणेगविहा, संसत्तो पादो आमज्जितव्वो, पंथे वा अथंडिलातो थंडिलं, थंडिलाओ वा अथंडिलं, अथंडिलातो वा थंडिले विलक्खणे सकाय-सत्थं ति काउं संकमंतो कएहमातासु पमज्जति, भिक्खातो वा पडिणियत्तो,वियारे त्ति सन्नाभूमीओ वा आगतो, विहारे त्ति सज्झायभूमीए गामंतराओ वा कुलगणादिएसु कज्जेसु पडिआगओ पमज्जति, ता उवकरणोवघातो भविस्सति ।

एसा आइण्णा खलु, तव्विवरीया भवे अणाइण्णा ।
सुत्तमणाइण्णाइं, तं सेवंतम्मि आणादी ॥ ५४ ॥

खलु अवधारणे। एवमादिकारणवतिरित्ता आणातिया सु-त्तणिवातो अणाइण्णपमज्जणं णिसेवंतस्स आणादीया दोसा।

इमा संजमविराहणा-

संघट्टणा तु वाते, सुहुमे वादरे विराधए पाणे ।
पाउसदोस विभूसा, तम्हा ण पमज्जए पादे ॥ ५५ ॥

पमज्जणे वातो संघट्टिज्जति, अणे य पयंगादी सुहुमे वादरे वा विराहेति, पाउसदोसो य, बंभचेरे अगुत्ती, तम्हा पादे ण पमज्जए ।

वितियपदमणमज्झे, अप्पज्झुव्वातसज्जमाणे वा ।
पुव्वं पमज्जिऊणं, वीसामे कंडुएज्जा वा ॥ ५६ ॥

अणप्पज्झो अनात्मवशः,खित्तचित्तादिसु पमज्जणाइ करेज्ज, अप्पज्झो वा उव्वातो श्रांत स पमज्जिओ विस्सामिज्जति, खमासमणो वा पादे पमज्जिउं कंडुइज्जति । उक्तार्थं पश्चार्द्धम्। नि०चू० ३ उ०। स्था०।(आचार्यस्योपाध्यायस्य वा वसतेरन्त-पादप्रमार्जनं युक्तमिति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १७ पृष्ठे उक्तम् )

**पादबंधण**-पादबन्धन--न०। पात्रबन्धे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

**पादबद्ध**-पादबद्ध--न०। वृत्ताऽऽदिचतुर्भागमात्रैः पादैः बद्धे, जं० १ वक्ष०। जी०।

**पादलग्ग**--पादलग्न--त्रि०। चरणप्रविष्टे, पञ्चा० १८ विव०।

**पादलित्त**-पादलिप्त--पुं०। "पाटलीपुत्रनगरे,मुरुण्डोऽभून्महीपतिः। आचार्यः पादलिप्ताऽऽख्य-स्तत्र विद्याजलार्णव ॥१॥" इति लक्षिते सूरिभेदे,आ०क०१ अ०। नं०।("विज्जासिद्ध' शब्दे

कथा) ('णागज्जुण' शब्दे चतुर्थभागे १६३५ पृष्ठेऽपि तस्मै सम्यक्त्वदानमुक्तम् ) " संप्रतिविक्रमादित्यः शालिवाहनवाग्भटौ । पादलिप्ताऽऽम्रदत्ताद्य, इत्यस्योद्धारकारकाः ॥ १ ॥" ( शत्रुञ्जयतीर्थस्य ) । ती० १ कल्प ।

पादलेहणिया-पादलेखनिका-स्त्री० । वर्षासु कर्दमनिर्लेखनार्थे काष्ठोपकरणे, बृ० ३ उ० । ध० । पं० भा० ।

.................. " वासावासासु पायलेहणिया ।

वड उंबरे पिलक्खू,तस्स अलंभम्मि चिंचिणिया ॥६२॥

वर्षासु वर्षाकाले वर्षति सति पादलेखनिकया प्रमार्जनं कर्त्तव्यं. सा च किमयी भवत्यत उच्यते—वटमयी, उदुम्बरमयी, प्लक्षमयी, तस्याभावे प्लक्षस्याभावे चिञ्चिणिकामयी अम्बिलिकामयीति ।

सा च कियत्प्रमाणा भवतीत्याह—

बारसअंगुलदीहा, अंगुलमेत्तं तु होइ वित्थिन्ना ।

घणमसिणनिव्वणा वि य,पुरिसे पुरिसे य पत्तेयं ॥६१॥

द्वादशाङ्गुलदीर्घा भवति, येन मध्ये हस्तग्रहो भवति, विस्तारस्त्वेकमङ्गुलं स्यात् । सा च घना निविडा कार्या, मसृणा निर्व्रणा निर्ग्रन्थिः । सा च किमेकैव भवति ?। नेत्याह—पुरुषे पुरुषे च प्रत्येकम्, एकैकस्य पृथगसौ भवति ।

उभयं नहसठाणा, सचित्ताचित्तकारणा मसिणा ।

(आउक्काओ दुविहो, भोमो तह अंतलिक्खो य )॥६२॥

उभयोः पार्श्वयोः नखवत्तीक्ष्णा । किमर्थाऽसौ उभयपार्श्वयोस्तीक्ष्णा क्रियते ?,सचित्ताचित्तकारणात्,तस्या एकेन पार्श्वेन सचित्तपृथिवीकायः संलिख्यते, अन्येन पार्श्वेन अचित्तपृथिवीकाय इति । किंविशिष्टा सा ?,(मसिण त्ति)मार्द्वी क्रियते नातितीक्ष्णा, यतो तया लिखने आत्मविराधना भवति । ओघ० ।

एक्केका सा तिविधा, वहुपरिकम्मा य अप्पपरिकम्मा ।

अप्परिकम्मा य तहा, जलभावित एतरा चेव ॥२१३॥

'जलमज्झवुसिते कट्ठे जा कज्जति सा जलभाविता, इतरा अभाविता ।

अद्धंगुला परेणं, छिज्जंती होति सा सपरिकम्मा ।

अद्धंगुलमेगं तू, छिज्जंती अप्पपरिकम्मा ॥ २१४ ॥

जा पुव्ववड्डिया वा, जगिता संठवित तच्छिता वा वि ।

लब्भति पमाणजुत्ता, सा णातव्वा अधाकडिया॥२१५॥

पढमवितियाण करणं, सुहुममबीजो तु कारवे भिक्खू ।

गिहि अणतित्थिएण व,सो पावति आणमादीणि ।२१६।

घट्टितसंठविताए, पुव्विं जमिताए होति गहणं तु ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयंकरणं ॥ २१७ ॥

नि० चू० १ उ० ।

पादव-पादप-पुं० । पादैरध प्रसर्पिमूलाऽऽत्मकैः पिबतीति पादपः । उत्त० ५ अ० । दश० । वृत्ते, आ० १ श्रु० १ अ० ।

पादवगण-पादपगण-पुं० । वृक्षसङ्घाते, दश० १ अ० ।

पादविहारचार-पादविहारचार-पुं० । पादविहाररूपे सञ्चरणे, आचा० ।



पादसंवाहण-पादसंवाधन-न० । पादानामनेकशो मर्दने । नि० चू० ।

जे भिक्खू अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा,पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

'सं' ति प्रसंसा, सोभणा बाहा संवाहा, सा चउव्विहा अट्ठिसुहासंसाऽऽरामतया । सा गुरुमाइयाण विघाले संबंधा भवति । जो पुण अद्धरत्ते पच्छिमरत्ते दिवसतो वा अणेगसो संबाधेति, सा परिमद्दा भण्णति । नि० चू० ३ उ० ।

पादसम-पादसम-न० । पादो वृत्तपादस्तेन तुल्यं मिलितं च । वृत्तांशतुल्ये गेये, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

पादसीसग-पादशीर्षक-न० । पादानामुपरितने अवयवविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । रा० । आचा० ।

पादिम-पाच्य-त्रि० । पाचनयोग्ये, आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

पात्य-त्रि० । देवताऽऽदेः पातनयोग्ये,आचा० १ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

पादोष्पय-पादोप्दपद-न० । दृष्टिवादस्य सिद्धश्रेणिकापरिकर्मभेदे, स० १२ अङ्ग ।

पाभाइयक्खण-प्राभातिकक्षण-पुं० । प्राभातिककालग्रहणवेलायाम् , ध० ३ अधि० ।

पाम-पामन्-न० । विचर्चिकायाम् , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पामण्णमुद्दा-प्रामाण्यमुद्रा-स्त्री० । प्रमाणदार्ढ्ये, प्रति० ।

पामद्दा-देशी-पदाभ्यां धान्यमर्दने, दे० ना० ६ वर्ग ४० गाथा ।

पामर-पामर-पुं० । गृहपतौ, "पामर गिहवइ सेआ-ल कासया दोणया हलिआ ।" पाइ० ना० ७१ गाथा ।

पामाड-प्रपुन्नाट-पुं० । वृक्षविशेषे, "तरवट्टो पामाडो ।" पाइ० ना० १४५ गाथा ।

पामिच्च-प्रामित्य-न० । साध्वर्थमुच्छिद्य दाने,दश०५अ०१उ० । ग० । आचा० । साध्वर्थमन्याऽऽदिभ्यमुच्छिद्यमानीयते,तत्प्रामित्यकम् । ध०३ अधि० । पं०चू० । साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद् गृह्यते तत्प्रामित्यकम् । सूत्र०१ श्रु०६ अ० । आचा० । प्रश्न० । दर्श० । अपमित्य भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत्साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यं गृह्यते, तदप्युपचाराद्पमित्यमिति । पिं० । पञ्चा० । जीत० । उद्गमदोषविशेषे,पिं० ।

प्रामित्यद्वारमाह—

पामिच्चं पि य दुविहं, लोइय लोगुत्तरं समासेणं ।

लोइय सज्झिलगाई, लोगुत्तर वत्थमाईसु ॥ ३१६ ॥

प्रामित्यमपि समासेन द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा-लौकिकं, लोकोत्तरं च । तत्र लोके भवं लौकिकं, तच्च साधुविषयं ( सज्झिलगाई ) सज्झिलगा-भगिनी,आदिशब्दाद् भ्रात्रादिपरिग्रहः । तस्मिन् . किमुक्तं भवति ?-भगिन्यादिभिः क्रियमाणं द्रव्यमिति, अत्र च भगिनीशब्देन कथानकं सूचितं,

तदग्रे स्वयमेव वक्ष्यति। लोकोत्तरं प्रामित्यं ' वत्थाऽऽदिसु ' वस्त्राऽऽदिविषयं साधूनामेव परस्परमवसेयम्। इह लौकिकं भगिन्यादावित्युक्तम्।

तत्र भगिन्युदाहरणमेव गाथात्रयेण प्रकटयति-

सुयअहिगमनायविही, बहि पुच्छा एग जीवइ ससा ते ।
पविसण पाग निवारण, उच्छिंदण तेल्ल जइदाणं ।३१७।
अपरीमियनेहवुड्ढी, दासत्तं सो य आगओ पुच्छा ।
दासत्तकहण मा रुय,अचिरा मोएमि एत्ताहे ॥ ३१८ ॥
भिक्खदगसमारंभे, कहणाउट्टो कहिं ति वसहि त्ति ।
संवेया आहरणं, विसज्जु कहणा कइवया उ ॥३१९॥

कोशलाविषये कोऽपि ग्रामः, तत्र देवराजो नाम कुटुम्बी, सारिकाऽभिधा तस्य भार्या, तस्याश्च सम्मतप्रमुखा बहवः सुताः, सम्मतिप्रभृतयश्च प्रभूता दारिकाः, तच्च सकलमपि कुटुम्बं परमश्रावकं, तथा तस्मिन्नेव ग्रामे शिवदेवो नामश्रेष्ठी. तस्य भार्या शिवा, अन्यदा च समुद्रघोषाभिधाः सूरयः समागच्छन्, तेषां समीपे जिनप्रणीतं धर्ममाकर्ण्य जातसंवेग. सम्मतो दीक्षां गृहीतवान्, कालक्रमेण च गुरुचरणप्रसादतोऽतीव गीतार्थः समजनि। स चान्यदा चिन्तयामास-यदि मदीय. कोऽपि प्रव्रज्या गृह्णाति, ततः शोभनं भवति, इदमेव हि तात्त्विकमुपकारकरणं यत्संसारार्णवादुत्तारणमिति। तत एवं चिन्तयित्वा गुरूनापृच्छ्य निजबन्धुग्रामे समागमत्, तत्र च बहिः प्रदेशे कमपि परिणतवयस पृष्टवान् पुरुषं-यथाऽत्र देवराजाभिधस्य कुटुम्बिनः सत्क. कोऽपि विद्यते ? इति। स प्राह-मृत सर्वमपि तस्य कुटुम्बं,केवलमेका सम्मत्यभिधा विधवा पुत्रिका जीवतीति। ततः स तस्या गृहे जगाम। सा च भ्रातरमायान्तं दृष्ट्वा मनसि बहुमानमुद्वहन्ती वन्दित्वा कञ्चित्कालं पर्युपास्य च तन्निमित्तमाहारं पक्तुमुपतस्थे। साधुश्च तां निवारितवान्-यथा न कल्पतेऽस्माकमस्मन्निमित्तं किमपि कृतमिति,ततो भिक्षावेलायां सा दुर्गतत्वेनान्यत्र क्वचिदपि तैलमात्रमप्यलभमाना कथमपि शिवदेवाभिधस्य वाणिजो विपणेस्तैलपलिकाद्वयं दिने दिने द्विगुणवृद्धिरूपेण कलान्तरेण समानीय भ्रात्रे दत्तवती। भ्रात्रा च तं वृत्तान्तमजानता शुद्धमिति ज्ञात्वा प्रतिजगृहे। सा च तद्दिनं भ्रातु सकाशे धर्मं श्रुतवती,तेन न पानीयाऽऽनयनाऽऽदिना तत् तैलपलिकाद्वयं प्रवेशयितुं प्रपारितवती। च द्वितीये दिने भ्राता यथाविहारक्रमं गतः। ततस्तस्मिन्नपि दिने तद्वियोगशोकाऽऽकीर्णमानसतया तत्तैलपलिकाद्वयं द्विगुणीभूतं प्रवेशयितुमशक्नुवती,तृतीये च दिने कर्षद्वयमृणे जातं,तच्चातिप्रभूतत्वान्न प्रवेशयितुं शक्तम्,अपि च-भोजनमपि पानीयाऽऽनयनाऽऽदिना कर्त्तव्यं, ततो भोजनायैव यत्नविधौ सकलमपि दिनं जगामेति न ऋणं प्रवेशयितुं शक्नोति, दिने दिने द्विगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमानमृणमपरिमितघटप्रमाणं जातं, ततः श्रेष्ठिना सा बभणे-यथा मम तैलं देहि, यद्वा मे दासी भव। ततः सा तैलं दातुमशक्नुवती दासत्वं प्रतिपेदे, कियत्सु च वर्षेष्वतिक्रान्तेषु भूयोऽपि सम्मताभिधः साधुस्तस्मिन्नेव ग्रामे यथाविहारक्रममागमत्। सा च भगिनी स्वगृहे न दृष्टा, तत आगता सती पप्रच्छे, तया च प्राचीनः सर्वोऽपि व्यतिकरस्तस्मै न्यवेदि, यावद्दासत्वं शिवदेवगृहे जातमिति, निवेद्य च स्वदुःखं रोदितुं प्रवृत्ता। ततः साधुरवोचत्-मा रोदीरचिरादहं त्वां मोचयिष्यामि। ततस्तस्या मोचनोपायं चिन्तयन् प्रथमतः शिवदेवस्यैव गृहं प्रविवेश। शिवा च तस्य भिक्षादानार्थं जलेन हस्तौ प्रक्षालयितुं लग्ना. तां च साधुर्निवारयामास, यथैवमस्माकं न कल्पते भिक्षेति। ततः समीपदेशवर्ती श्रेष्ठी प्रोवाच-कोऽत्र दोषः ? । ततः साधु. कायविराधनाऽऽदीन् दोषान् यथागमं सविस्तरमचीकथत्। ततः स आवृत्तो भणति-यथा भगवन्! कुत्र युष्माकं वसतिः ?,येन तत्राऽऽगता वयं धर्मं शृणुमः। ततः साधुरवादीत्-नास्ति मेऽद्यापि प्रतिश्रयः। ततस्तेन निजगृहैकदेशे वसतिरदायि, प्रतिदिनं च धर्मं शृणोति, सम्यक्त्वमणुव्रतानि च प्रतिपन्नानि। साधुश्च कदाचनापि वासुदेवाऽऽदिपूर्वपुरुषाऽऽचीर्णाननेकानभिग्रहान् व्यावर्णयामास, यथा वासुदेवेनायमभिग्रहो जगृहे-यदि मदीयः पुत्रोऽपि प्रव्रज्यां जिघृक्षति ततोऽहं न निवारयामीत्यादि। एवं च श्रुत्वा शिवदेवोऽप्यभिग्रहं गृहीतवान्-यदि भगवन्! मदीयोऽपि कोऽपि प्रव्रज्या प्रतिपद्यते ततोऽहं न निवारयामीति। अत्रान्तरे च शिवदेवस्य तनयो ज्येष्ठः. सा च साधुभगिनी सम्मतिः प्रव्रज्या ग्रहीतुमुपतस्थे। श्रेष्ठिना च तौ द्वावपि विसर्जितौ, तत. प्रव्रज्या प्रतिपन्नाविति। सूत्रं सुगमम्। केवलं ' श्रुताधिगमज्ञातविधिः ' श्रुताधिगमात् ज्ञातो विधि क्रियाविधिर्येन स तथा। अत्राऽऽह-नन्वेतत्प्रामित्यं साधुना विशेषतो ग्रहीतव्यं, परम्परया प्रव्रज्याकारणत्वात्. अत आह-" कइवया उ " एवंविधा गीतार्था विशिष्टश्रुतविदो देशनाविधिनिपुणा. कतिपया एव भवन्ति, न भूयांसः, कतिपयानामेव च प्रव्रज्यापरिणाम, ततः प्रामित्यं दोषायैव। तदेवं लौकिकविषये प्रामित्ये दोष उक्तः।

सम्प्रत्यतिदेशेन वस्त्राऽऽदिविषये दोषानभिधित्सुराह-

एए चेव य दोसा, सविसेसयरा उ वत्थपाएसुं।
लोइयपामिच्चेसुं, लोगुत्तरिया इमे अन्ने ॥ ३२० ॥

एते चैव दासत्वाऽऽदयो दोषा वस्त्रपात्रविषयेषु लौकिकेषु प्रामित्येषु सविशेषतरा निगडाऽऽदनियन्त्रणपुरस्सरा द्रष्टव्याः, लोकोत्तरिकाः लोकोत्तरप्रामित्यविषया. पुनरिमेऽन्ये दोषाः।

तानेवाऽऽह-

मइलिएँ फालिएँ खोसिएँ, हिएँ नट्ठे वावि अन्न मग्गंते ।
अवि सुंदरे वि दिन्ने, दुक्कररोई कलहमाई ॥ ३२१॥

इह द्विधा लोकोत्तरं प्रामित्यं-कोऽपि कस्याऽपि सत्कमेवं वस्त्राऽऽदि गृह्णाति, यथा कियद्दिनानि परिभुज्य पुनरपि ते समर्पयिष्यामि कोऽपि पुनरेवम् एतावद्दिनानामुपरि तवैतत् सदृशमपरं वस्त्राऽऽदि दास्यामि,तत्र प्रथमे प्रकारे मलिनिते शरीराऽऽदिमलेन क्लेदिते। यदि वा-पाटितेऽथवा-'खोसिते' जीर्णप्राये कृते। यदि वा-चौराऽऽदिना हृते,यद्वा-क्वापि मार्गपतिते कलहाऽऽदयो दोषा.। द्वितीये च प्रकारेऽन्यद्वस्त्राऽऽदिकं याचमानो याचमानस्य, ' अपि. ' सम्भावनायां, ' सुन्दरेऽपि ' पूर्वभुक्ताद्वस्त्राऽऽदेर्विशिष्टतरेऽपि दत्ते कोऽपि दुष्करुचिर्भवति, महता कष्टेन तस्य रुचिरापादयितुं श-

क्यते, ततस्तमधिकृत्य कलहाऽऽदयो दोषाः सम्भवन्ति, तस्माल्लोकोत्तरमपि प्रामित्यं न कर्त्तव्यम्।

अत्रैवापवादमाह-

उच्चत्ताए दाणं, दुल्लभ खग्गूड अलस पामिच्चे ।
तं पि य गुरुस्स पासे, ठवेइ सो देइ मा कलहो ॥३२२॥

इह दुर्लभे वस्त्राऽऽदौ सीदतः साधोर्यदि वस्त्राऽऽदिकमपरेण साधुना दातुमिष्यते, तर्हि तस्य 'उच्चतया' मुधिकतया दानं कर्त्तव्यं, न प्रामित्यकरणेन, तथा यः 'खग्गूडः' कुटिलो वैयावृत्त्यादौ न सम्यग् वर्त्तते, योऽपि चालसः, तौ दुर्लभवस्त्राऽऽदिदानप्रलोभनेनाऽपि वैयावृत्त्यं कार्येते, ततस्तद्विषयं प्रामित्यं सम्भवति, तत्रापि तद्दीयमानं वस्त्राऽऽदिकं दायको गुरोः पार्श्वे स्थापयेत्, न स्वयं दद्यात्, ततः स गुरुर्ददाति. मा भूदन्यथा तयोः परस्परं कलह इति कृत्वा। उक्तं प्रामित्यद्वारम्। पिं०। पं० व०। प्रव०।

प्रतिग्रहं प्रामित्ययति-

जे भिक्खू पडिग्गहं पामिचेइ, पामिचावेइ, पामिच्चमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंत वा साइज्जइ ॥२॥

जे पोत पामिच्चे इत्यादि उच्छिण्णं गेण्हति, गेण्हावेति, अणुमोदेति तस्स चउलहु। नि०चू० १४ उ०। आचा०। बृ०।

पामुक्क-प्रमुक्त-त्रि०। "पामुक्कं विच्छुडिअं, अवहत्थिअं उज्झिअं चत्तं।" पाइ० ना० ७६ गाथा।

पामोक्ख-प्रमुख-त्रि०। प्रवरे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। आ० म०।

प्रमोत्त-पुं०। आक्षेपस्य परिहारे उत्तरे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०।

पाय-पाक-पुं०। स्विन्नताऽऽपादने, अनु०।

प्रातर्-अव्य०। प्रभातसमये, सू० प्र० २ पाहु० १ पाहु० पाहु०। उत्त०। स्था०। प्रत्युपसि. सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। पान पायः। पाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

प्रायस्-अव्य०। बाहुल्ये, आ० चू० ५ अ०। बृ०। पं० व०। पञ्चा०। आव०। प्रायशब्दोऽप्यत्र। स्था०।

पात्र-न०। पात्रेऽपि। स्था०।

पाद-पुं०। किरणे, "अंसू रस्सी पाया,करा मऊहा गहत्थिणो किरणा।" पाइ० ना० ४७ गाथा। चरणे, "चलणा कमा य पाया।" पाइ० ना० १०६ गाथा। सानौ, "पाया कडया साणू।" पाइ० ना० १३५ गाथा।

पायए-पातुम्-अव्य०। गलादधो द्रवं कर्तुमित्यर्थे, भ० ६ श० ३३ उ०।

पायकंचणिया-पादकञ्चनिका-स्त्री०। 'पादकंचणिया' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

पायकंवल-पादकम्बल-न०। 'पादकंवल' शब्दार्थे, उत्त० १७ अ०।

पायकेसरिया-पात्रकेशरिका-स्त्री०। 'पादकेसरिया' शब्दार्थे. ओघ०।

पायखज्ज-पाकखाद्य-त्रि०। पाकेन खादितु योग्यीकृते, "फलाइं पक्काइं पायखज्जाइं ति नो वए।" दश० ७ अ०।

पायगुड-पाकगुड-पुं०। क्वथितद्रवगुडे, येन खज्जकाऽऽदि लिप्यते। ध० २ अधि०।

पायचार-पादचार-पुं०। 'पादचार' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

पायच्छित्त-पापच्छित्-न०। पापं छिनत्तीति पापच्छित्। अथवा-व्यवस्थितप्रायश्चित्तम्। दश० १ अ०। स्था०। स०। पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तं, विशोधकत्वाद् वा प्राकृते "पायच्छित्तमिति।" शुद्धौ, तद्विषये शोधनीयातिचारे,स्था० ३ठा०४ उ०। नि०चू०। औ०। भ०। ("पावं छिंदइ०" (१५०८) इत्यादिगाथा 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२६ पृष्ठे गता) व्याख्याविशेषो दर्श्यते-पापं कर्मोच्यते. तत् पापं छिनत्ति यस्मात्कारणात्प्राकृतशैल्या "पायच्छित्त ति" भण्यते तेन कारणेन, संस्कृते तु पापं छिनत्तीति पापच्छिदुच्यते। आव० ५ अ०।

प्रायश्चित्त-न०। प्रायशो वा चित्तम् जीव शोधयति कर्ममलिनं विमलीकरोति तेन कारणेन प्रायश्चित्तमित्युच्यते। प्रायो वा बाहुल्येन चित्तं स्वेन स्वरूपेण अस्मिन्सतीति प्रायश्चित्तं,प्रायोग्रहणं संवराऽऽदेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थः। आव० ५ अ०। स्था०। आ० चू०। पञ्चा०। "प्रायः पापं विनिर्दिष्टं, चित्तं तस्य च शोधनम्।" इत्युक्तेः। अथवा-प्रकर्षेण अयते गच्छति अस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकस्तेन चिन्त्यते स्मर्यतेऽतिचारविशुद्ध्यर्थमिति निरुक्तात् प्रायश्चित्तम्। अनुष्ठानविशेषे, ध० ३ अधि०। (प्रायश्चित्तस्य सर्वोऽधिकारः 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२६ पृष्ठे गतः)

भेदाः-

तिविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते। तं जहा-आलोयणारिहे, पडिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे।

तच्च त्रिधा, दशविधत्वेऽपि तस्य त्रिस्थानकानुरोधादिति। आलोचनार्हं, प्रतिक्रमणार्हं. तदुभयार्हम्। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

तिविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते। तं जहा-णाणपायच्छित्ते,दंसणपायच्छित्ते, चरित्तपायच्छित्ते।

(नाणेत्यादि)ज्ञानाऽऽद्यतिचारशुद्ध्यर्थं यदालोचनाऽऽदि ज्ञानाऽऽदीनां वा योऽतिचारस्तज्ज्ञानप्रायश्चित्ताऽऽदि तत्राऽकालाविनयाध्ययनाऽऽदयोऽष्टावतिचारा ज्ञानस्य शङ्किताऽऽदयोऽष्टौ दर्शनस्य, मूलगुणोत्तरगुणविराधनारूपा विचित्रा चारित्रस्येति। स्था० ३ ठा० ४ उ०। (चतुर्विधप्रायश्चित्तविचारः 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२६ पृष्ठे गतः)

छव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते। तं जहा-आलोयणारिहे.पडिक्कमणारिहे,तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउस्सग्गारिहे, तवारिहे।

आलोचनार्हं यद् गुरुनिवेदनया शुद्ध्यति,प्रतिक्रमणार्हं यन्मिथ्यादुष्कृतेन, तदुभयार्हं यदालोचनामिथ्यादुष्कृताभ्यां विवेकार्हं यत्परिष्ठापित आधाकर्माऽऽदौ शुद्ध्यति,व्युत्सर्गार्हं यत्कायचेष्टानिरोधतः,तपोऽर्हं यन्निर्विकृतिकाऽऽदिना तपसेति। स्था० ६ ठा०।

अट्ठविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते। तं जहा-आलोयणारिहे, प-

डिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे, विउस्सग्गारिहे, तवारिहे, छेयारिहे, मूलारिहे । स्था० ८ ठा० ।

नवविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते । तं जहा-आलोयणा० जाव मूलारिहे अणवट्ठप्पारिहे । स्था० ९ ठा० ।

दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते । तं जहा-आलोयणारिहे पडिक्कमणारिहे, तदुभयारिहे, विवेगारिहे,विउस्सग्गारिहे, तवारिहे, छेदारिहे, मूलारिहे, अणवट्ठप्पारिहे, पारंचियारिहे।

इह च प्रायश्चित्तशब्दः अपराधे, तच्छुद्धौ च दृश्यते, तदिहापराधे दृश्यः। अत्र ( आलोयणारिहे त्ति ) आलोचना निवेदना, तल्लक्षणां शुद्धिं यदर्हत्यतिचारजातं तदालोचनार्हमेवमन्यान्यपि केवलं प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतं, तदुभयमालोचनामिथ्यादुष्कृते विवेकोऽशुद्धभक्ताऽऽदित्यागः, व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः, तपो निर्विकृतिकाऽऽदिश्छेदः प्रव्रज्यापर्यायहस्वीकरणं मूलं महाव्रताऽऽरोपणम् अनवस्थाप्यम् कृततपसो व्रतारोपणं पाराञ्चिकम् लिङ्गाऽऽदिभेदमिति । प्रायश्चित्तं च तप उक्तम् । भ० २५ श० ७ उ० । स्था० । आव० । आ० चू० । दुःस्वप्नाऽऽदिविघातार्थे करणीये कर्मविशेषे, भ० ।

पादच्छुप्त-न० । पादेन वा छुप्तश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्त । भ० २ श० ५ उ० । पादे पादेन वा छुप्ते, दशा० १० अ० । " कयकोउयमंगलपायच्छित्ता । " विपा० १ श्रु० २ अ० ।

पायच्छित्तकरण-प्रायश्चित्तकरण-न० । प्रायो बाहुल्येन चित्तं जीवं मनो वा शोधयति पापं विनश्यति वा पश्चात् प्रायश्चित्तम् । तत्करणम्, प्रायश्चित्तकरणम् । प्रायश्चित्ताऽऽचरणे, ध० २ अधि० ।

प्रायश्चित्तकरणफलम्-

पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे आवि भविस्सइ, सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं च आयारफलं च आराहेइ ।१६।

हे भदन्त ! प्रायश्चित्तकरणेन पापशुद्धिकरणेन आलोचनाऽऽदिकेन जीवः किं जनयति ?, गुरुर्वदति-हे शिष्य ! प्रायश्चित्तकरणेन पापकर्मविशोधिं जनयति, ततश्च निरतीचारोऽतिचाररहितो भवति, सम्यक् प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानः स न्मार्गं सम्यक्त्वं च पुनर्मार्गफलं मार्गस्य सम्यक्त्वस्य फलं ज्ञानं तत् विशोधयति च पुनराचारं आराधयति, आचारशब्देन चारित्रमाराधयति-पुनराचारस्य फलं मोक्षमाराधयति साधयति । उत्त० २९ अ० । आव० ।

पायजालग-पादजालक-न० । ' पादजालक ' शब्दार्थे,प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

पायजालघंटिया-पादजालघण्टिका-स्त्री० । ' पादजालघंटिया ' शब्दार्थे, औ० ।

पायट्ठवण-पात्रस्थापन-न० । 'पादट्ठवण' शब्दार्थे, वृ० ३ उ०।

पायड-प्रकट-त्रि० । आकाशीभूते, विशे० । साक्षात्परिस्फुरति, चं० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु० ।

पायण-पायन-न० । लोहकारेण तापितकुट्टिततीक्ष्णधारीकृतपुनस्तापितानां जले निबोलने, आ० १ श्रु० ७ अ० । भण्डे, न० । अङ्कणे, दे० ना० ६ वर्ग ४० गाथा ।

पायणिज्जोग-पात्रनिर्योग-पुं० । ' पादणिज्जोग ' शब्दार्थे, वृ० ३ उ० ।

पायदद्दरय-पाददर्दरक-न० । ' पाददद्दरय ' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पायत्ताणीय-पादात्यनीक-न० । 'पादत्ताणीय' शब्दार्थे,उत्त० १८ अ० ।

पायत्ताणाहिवइ-पादत्राणाधिपति-पुं० । ' पादत्ताणाधिपति ' शब्दार्थे, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

पायपडिमा-पात्रप्रतिमा-स्त्री० । पात्रप्रतिमा उद्दिष्टदारुपात्राऽऽदि याचिष्ये, तथा प्रेक्षितं,तथा दातु. स्वाङ्गिकं परिभुक्तप्राय द्वित्रिषु वा पात्रेषु पर्यायेण परिभुज्यमानं पात्रं याचिष्य इति उज्झितधर्मिकमिति चतुर्थी । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पायपमज्जण-पादप्रमार्जन-न० । ' पादपमज्जण ' शब्दार्थे, नि० चू० १५ उ० ।

पायपप्फोडण-पादप्रस्फोटन-न० । ' पादपप्फोडण ' शब्दार्थे, व्य० ६ उ० ।

पायपरियावण्ण-पादपर्यापन्न-त्रि० । ' पादपरियावण्ण ' शब्दार्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० ।

पायपलंब-पादप्रलम्ब-न० । ' पादपलंब ' शब्दार्थे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

पायपास-पादपाश-पु० । ' पादपास ' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

पायपुंछण-पादप्रोञ्छन-न० । ' पादपुंछण ' शब्दार्थे, औ० ।

पायप्पहड-देशी कुक्कुटे, दे० ना० ६ वर्ग ४५ गाथा ।

पायबंधण-पादबन्धन-न० । ' पादबंधण ' शब्दार्थे, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

पायबद्ध-पात्रबद्ध-न० । ' पादबद्ध ' शब्दार्थे, जं० १ वक्ष० ।

पायय- पात्रक -न० । अल्पे पात्रे, स भिक्षुः स्वकीयं परकीयं वा पात्रकं समाधिस्थानं गृहीत्वा । आचा० २ श्रु०२ चू०३ अ० ।

प्राकृत-न० । प्रकृतौ भवं प्राकृतम् । वृ० १ उ० १ प्रक० । संस्कृतविकृतिरूपे भाषाभेदे,वृ० १ उ० १ प्रक० । "बालस्त्रीमूढमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ १ ॥ " दश० ३ अ० ।

पापक-पु० । नीचे, 'अहमा इयरा य पायया नीया ।" पा० ना० १०३ गाथा ।

पायल-देशी-चक्षुषि, दे० ना० ६ वर्ग ३ गाथा ।

पायलग्ग -पादलग्न-त्रि० । पादलग्ग' शब्दार्थे,पञ्चा०१८विव०।

पायलित्त-पादलिप्त-पु० । 'पायलित्त' शब्दार्थे, आ० क० ।

पायलेहणिया-पादलेखनिका-स्त्री० । ' पादलेहणिया ' शब्दार्थे, वृ० ३ उ० ।

पायव-पादप-पुं०। वृक्षे, उत्त० ५ अ०। "साही विडवी वच्छो, महीरुहो पायवो दुमो य तरू।" पाइ० ना० ५४ गाथा।

पायवगण-पादपगण-पुं० । 'पादवगण' शब्दार्थे, दश० १ अ०।

पायविहारचार-पादविहारचार-पुं० । 'पादविहारचार' शब्दार्थे, आचा० ।

पायस-पायस-न०। 'पायसो-खीरी' पाइ०ना० २४० गाथा। परमान्ने, आ० म० १ अ०। जी०। आ० क०।

पायसंजय पादसंयत-पुं० । कारणं विना कूर्मवल्लीने, दश० ६ अ० ३ उ०।

पायसंवाहण-पादसंवाहन-न० । 'पादसंवाहण' शब्दार्थे, नि० चू० ३ उ०।

पायसम-पादसम-न०। 'पादसम' शब्दार्थे, स्था०५ ठा०१ उ०।

पायसीसग-पादशीर्षक-न० । 'पादसीसग' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

पायार-प्राकार-पुं०। दुर्गे, (किल्लो गुजराती) 'सारो पायारो।" पाइ० ना० २३७ गाथा।

पायाल-पाताल-पुं०। न०। पत-आलञ् । धरायास्तलस्थे भुवने, ज्योतिषोक्ते लग्नाच्चतुर्थे स्थाने च । वाच०। वलयामुखपातालकलशेषु,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। अनु०। औ०। भ०। "पायालं च रसायलं।" पाइ० ना० १७१ गाथा।

पायालकलस-पातालकलश-पुं०। समुद्रमध्यवर्तिषु (प्रव० १ द्वार ) वलयामुखप्रभृतिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

पायालगंगा-पातालगङ्गा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नेमिनाथप्रतिमायाम्,शौर्यपुरे शङ्खजिनाऽऽलये पालिनगरे मथुरायां द्वारकायां सिंहपुरस्तम्भतीर्थे पातालगङ्गाभिधः श्रीनेमिनाथः। ती० ४३ कल्प।

पायावच्च-प्राजापत्य-पुं०। प्राकृतलोके, वृ० १ उ० ३ प्रक०। चं० प्र०। ज्यो० । एकोनविंशतितमे चतुर्दशे वाऽहोरात्रमुहूर्त्ते, स० ३० समः।

पायाहिण-प्रादक्षिण्य-न० । नमस्कारपाठेन निवेदने, पं० व० ३ द्वार।

पार-शक्-धा०। मर्षणे, " शकेः चय-तर-तीर-पाराः " ॥ ८।४।८६॥ इति शकेः पाराऽऽदेशः। 'पारइ।' शक्नोति। पारयतेरपि-'पारेइ।' प्रा० ४ पाद।

पार-पुं०। न०। तटे, परकूले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। सूत्र०। स्था०। विशे०। तीरे, पर्यन्तगमने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। "परतीरं पारं।" पाइ० ना० २२६ गाथा। वृ०। स्था०। नरकाऽऽदिके परलोके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। मोक्षे, संसारार्णवतटवृत्तित्वादेतत्कारणेषु ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

प्राकार-पुं०। "व्याकरण-प्राकारागते कगोः"॥ ८। १।२६८॥ इति कलुक् वा । 'पारो। पाआरो।' नगरभित्तौ, प्रा० १ पाद।

पारअ-प्रावारक-पुं०। यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट-प्रावारक-देवकुलैवमेवे व.' ॥८।१।२७१॥ इति सस्वरव्यञ्जनस्य वा लुक्। पारओ। पावारओ। उत्तमौर्णवस्त्रे, प्रा० १ पाद।

पारंक-देशी सुरामानभाण्डे, दे० ना० ६ वर्ग ४१ गाथा।

पारंगम-पारंगम-पुं०। पारं गच्छतीति पारं गमः। परकूलगन्तरि, गमनं गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः। परतटगमने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। (" अतीरंगमा एए ण य तीरंगमित्तए अपारंगमा एए ण य पारंगमित्तए।" 'अपारगम' शब्दे प्रथमभागे ६०६ पृष्ठे व्याख्यानम्) अथ तीर-पारयोः को विशेष इति ?। उच्यते-तीरं मोहनीयं क्षयः, पारं शेषघातिक्षयः। अथवा तीरं घातिचतुष्टयाऽपगमः, पारं भवोपग्राहिकर्माभाव इत्यर्थः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

पारंगय-पारङ्गत-त्रि०। पारं पर्यन्तं संसारस्य प्रयोजनव्रातस्य वा गतः पारं गतः। सिद्धे, आचा० ४ अ०।

पारंचिय-पाराञ्चिक-न० । पारं तीरं तपसाऽपराधस्याञ्चति गच्छति ततो दीक्ष्यते यः स पाराञ्चिः, स एव पाराञ्चिक , तस्य यत्तत्पाराञ्चिकम्। स्था०३ ठा०४ उ०। पारमन्त्यं प्रायश्चित्तानां तत उत्कृष्टतरप्रायश्चित्ताभावादपराधानां पारमञ्चति गच्छतीत्येवं शीलं पाराञ्चिकम्। ध० ३ अधि०। व्य०। जी० । दशमप्रायश्चित्ते, तच्छोध्यातिचारकर्तृपुरुषे, स्था० १० ठा० । पञ्चा० । तपोविशेषेणैवाऽभिचारपारगमने, औ०। ग०।

पाराञ्चित-न० । यस्मिन् प्रतिसेविते लिङ्गक्षेत्रकालतपसा पारमञ्चितमर्हतीति पाराञ्चितम् । व्य० १ उ०। स्था०।

तओ पारंचिया पन्नत्ता। तं जहा-दुट्ठे पारंचिए, पमत्ते पारंचिए, अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए ॥ २॥

त्रयः पाराञ्चिकाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-दुष्टः पाराञ्चिकः, प्रमत्तः पाराञ्चिकः, अन्योऽन्यं परस्परं मुखपायुप्रयोगतः प्रतिसेवनां कुर्वाणः पाराञ्चिक इति सूत्रसमासार्थः।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकृद्विभणिषुराह-

अंचु गति पूयणम्मि य, पारं पुणऽणुत्तरं बुधा विंति।
सोधीऍ पारमंचइ, णयावि तदपूजियं होति ॥ ६३ ॥

'अञ्चु' गतिपूजनयोरिति वचनात् अञ्चुधातुर्गतौ पूजने वा गृह्यते। तत्र गत्यर्थो यथा-पारं तीरं गच्छति येन प्रायश्चित्तेनाऽऽसेवितेन तत्पाराञ्चिकम्। अथ पारं कमुच्यते ?,इत्याह-पारं पुनः संसारसमुद्रस्य तीरभूतमनुत्तरं निर्वाणं बुद्धास्तीर्थकृदादयो ब्रुवते । अनेन मिलितेन साधुर्मोक्षं गच्छतीति भावः। तदस्याऽऽपद्यतेऽभावाद्युपचारात्पाराञ्चिकमुच्यते । यथा शोधेः पारं पर्यन्तमञ्चति यत्तत्पाराञ्चिकमपश्चिमं प्रायश्चित्तमित्यर्थः ॥ पूजार्थो यथा-नवाऽपि नैव तत्प्रायश्चित्तपारगमनमपूजितं, किं तु पूजितमेव। ततो येन तपसा पारं प्रापितेनाञ्च्यते श्रीश्रमणसङ्घेन पूज्यते तत्पाराञ्चिकं पाराञ्चितं वाऽभिधीयते, तद्योगात्साधुरपि पाराञ्चिकः।

अथ तमेव भेदतः प्ररूपयन्ति-

आसायण-पडिसेवी, दुविहो पारंचितो समासेणं।

एक्केक्कम्मि य भयणा, सचरित्ते चेव अचरित्ते ॥ ९४ ॥

पाराञ्चिकः समासेन द्विविधः। तद्यथा-आशातनापाराञ्चिकः, प्रतिसेविपाराञ्चिकश्च। पुनरेकैकस्मिन् द्विविधा भजना कर्त्तव्या। कथमित्याह-द्वावप्येतौ सचारित्रिणौ अचारित्रिणौ वा। कथं पुनरेषा भजनेत्याह

सव्वचरित्तं भस्सति, केणइ पडिसेवितेण तु पदेणं ।
कत्थ वि चिट्ठति देसो, परिणामऽवराहमासज्ज ॥९५॥

केनचिदपराधपदेन पाराञ्चिक प्रतिपत्तियोग्येन प्रतिसेवितेन सर्वमपि चारित्रं भ्रश्यति, कुत्राऽपि पुनश्चारित्रस्य देशोऽवतिष्ठते। कुत इत्याह-परिणामं तीव्रमन्दाऽऽदिरूपमपराधं चोत्कृष्टमध्यमजघन्यरूपमासाद्य चारित्रं भवेद्वा, न वा।

इदमेव भावयति-

तुल्लम्मि वि अवराहे, परिणामवसेण होइ णाणत्तं ।
कत्थ वि परिणामम्मि वि,तुल्ले अवराहे णाणत्तं ॥९६॥

तुल्येऽप्यपराधे परिणामवशेन तीव्रमन्दाऽध्यवसायवैचित्र्यवलाच्चारित्रपरिभ्रंशाऽऽदौ नानात्वं भवति । कुत्रचित्पुनः परिणामे तुल्येऽप्यपराधे नानात्वं प्रतिसेवनावैचित्र्यं भवति।

अथाऽऽशातनापाराञ्चिकं व्याचिख्यासुराह-

तित्थकरपवयणसुए, आयरिए गणहरे महिड्ढीए ।
एते आसायंते, पच्छित्ते मग्गणा होइ ॥ ९७ ॥

तीर्थकरप्रवचनं श्रुतम् ,आचार्यान्, गणधरान्, महर्द्धिकांश्च एतान्, आशातयति तस्य प्रायश्चित्ते वक्ष्यमाणलक्षणा मार्गणा भवति।

तत्र तीर्थङ्करं यथाऽऽशातयति तथाऽभिधीयते-

पाहुडियं अणुमण्णति, जाणंतो किं च भुंजती भोगे।
थीतित्थं पि य वुच्चति,अतिकक्खडदेसणा यावि ॥९८॥

प्राभृतिका सुरविरचितसमवसरणमहाप्रातिहार्याऽऽदिपूजालक्षणामर्हन् यदनुमन्यते, तन्न सुन्दरम्। ज्ञानत्रयप्रमाणेन च भवस्वरूपं जानन् विपाकदारुणान् भोगान् किमिति भुङ्क्ते?। मल्लिनाथाऽऽदेश्च स्त्रियाया अपि यत्तीर्थमुच्यते । तदतीवासमञ्जसम्। अतीव कर्कशा अतीव दुरनुचरा तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि या देशना कृता, साऽप्ययुक्ता।

अण्णं च एवमादी, अवि पडिमासु वि तिलोगमहिताणं।
पडिरूवमकुव्वंतो,पावति पारंचियं ठाणं॥ ९९ ॥

अन्यमप्येवमादिकं तीर्थकृतामवर्णं यो भाषते । तथा अपीत्यभ्युच्चये । त्रिलोकमहितानां भगवतां याः प्रतिमास्तास्वपि यद्येवमवर्णं भाषते न तासां पाषाणाऽऽदिमयीनां माल्यालङ्काराऽऽदिपूजा क्रियते एवं ब्रुवन् प्रतिरूपं वा विनयवन्दनस्तुतिस्तवाऽऽदिकं तासामेवावज्ञाबुद्ध्या अकुर्वन् पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति ।

अथ प्रवचनं सङ्घस्तस्याऽऽशातनामाह-

अक्कोसतज्जणादिसु, संघमहिक्खिवति सव्वपडिणीओ ।
अण्णे वि अत्थि संघा, सियालमंतिकढंकाणं ॥१००॥

यः सङ्घप्रत्यनीक स ( अक्कोसणतज्जणाइसु त्ति ) विभक्तिव्यत्ययात् आक्रोशतर्जनाऽऽदिभिः सङ्घमधिक्षिपति । यथा सन्त्यन्येऽपि शृगालानां तिकढङ्कप्रभृतीनां सङ्घाः, यादृशास्ते तादृशोऽयमपि इति भावः । एष आक्रोश उच्यते । तर्जना तु हुं हुं जातं भवदीयं सङ्घत्वमित्यादिका ।

अथ श्रुताऽऽशातनामाह-

काया वता य ते च्चिय, ते चेव पमायमप्पमादा य ।
मोक्खाहिकारियाणं, जोतिसविज्जासु किं च पुणो॥१०१॥

दशवैकालिकोत्तराऽध्ययनाऽऽदौ यत्त एव षट्कायाः तान्येव व्रतानि, तान्येव प्रमादाप्रमादौ भूयो भूय उपवर्ण्यन्ते तदेतदयुक्तम्। मोक्षाधिकारिणां च साधूनां ज्योतिषविद्यासु पुनः किं नाम कार्यं येन श्रुते ताः प्रतिपाद्यन्ते।

अथाऽऽचार्याऽऽशातनामाह-

इड्ढिरससातगुरुगा, परोवदेसुज्जया जहा मंखा।
अत्तट्ठपोसणरया, पोसंति दिया व अप्पाणं ॥१०२॥

आचार्याः स्वभावादेव ऋद्धिरससातगुरुकास्तथा मङ्खा इव परोपदेशोद्यता , लोकाऽऽवर्जनप्रसक्ता इति भाव ! ( मङ्खस्वरूपं 'मंख' शब्दे)आत्मार्थे पोषणरताः स्वोदरभरणैकचेतसः । इदमेव व्याचष्टे द्विजा इवाऽऽत्मानममी पोषयन्ति ।

गणधराऽऽशातनामाह-

अब्भुज्जयं विहारं, देसंति परेसि सयमुदासीणा ।
उवजीवंति य रिद्धिं,निस्संगा मो त्ति य भणंति ॥१०३॥

गणधरा गौतमाऽऽदयोऽभ्युद्यतं विहारं जिनकल्पप्रभृतिकं परेषामुपदिशन्ति . स्वयं पुनरुदासीनास्तं न प्रतिपद्यन्ते। ऋद्धिं चाक्षीणमहानसिकाचारणाऽऽदिकलब्धिमुपजीवन्ति, निःसंगा वयमिति च भणन्ति ।

अथ महर्द्धिकपदं व्याख्यानयन्ति-

गणधर एव महिड्ढी, महातवस्सी व वादिमादी वा ।
तित्थगरपढमसिस्सा, आदिग्गहणेण गहिया वा ॥१०४॥

इह गणधर एव सर्वलब्धिसंपन्नतया महर्द्धिक उच्यते । यद्वा महर्द्धिको महातपस्वी वा वादिविद्यासिद्धप्रभृतिको वा भण्यते। तस्य यदवर्णवादाऽऽदिकरणं सा महर्द्धिकाऽऽशातना । गणधरास्तु तीर्थकरप्रथमशिष्या उच्यन्ते, आदिग्रहणेन वा ते गृहीता मन्तव्याः।

अथैतेषामाशातनायां प्रायश्चित्तमार्गणामाह-

पढमावितिएसु चरिमं,सेसे एक्केक्क चउगुरू होंति ।
सव्वे आसादिंते, पावति पारंचियं ठाणं ॥ १०५ ॥

अथ प्रथमस्तीर्थकरो द्वितीयः सङ्घस्तयोर्देशतः सर्वतो वा आशातनाया पाराञ्चिकं, शेषेषु श्रुताऽऽदिषु एकैकस्मिन् देशतः आशात्यमाने चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तं भवति; अथ सर्वानस्तान्याशातयति, ततस्तेष्वपि पाराञ्चिकं स्थानं प्राप्नोति ।

तित्थयरपढमसिस्सं,एक्कं पासाऽऽदयं तु पारंची ।
अत्थस्सेव जिणिंदो, पभवो सो जेण सुत्तस्स ॥१०६॥

तीर्थकरप्रथमशिष्यं गणधरमेकमप्याशातयन् पाराञ्चिको भवति। कुत इत्याह-जिनेन्द्रस्तीर्थकरः,स केवलस्यैवाऽर्थस्य प्रभवः प्रथमत उत्पत्तिहेतुः । सूत्रस्य पुनः स एव गणधरो येन कारणेन प्रभवः प्रथमतः प्रणेता, ततस्तमे-

कमप्याशातयतः पाराञ्चिकमुच्यते । उक्त आशातनापाराञ्चिकः ।

प्रतिसेवनापाराञ्चिकमाह–

**पडिसेवणापारंची, तिविधो सो होइ आणुपुव्वीए ।**
**दुट्ठे य पमत्ते य, णेयव्वे अण्णमण्णे य ।। १०७ ।।**

प्रतिसेवनापाराञ्चिकः, स इति पूर्वोपन्यस्तस्त्रिविधस्त्रिप्रकारः, आनुपूर्व्या सूत्रोक्तपरिपाट्या भवति । तद्यथा-दुष्टः पाराञ्चिकः, प्रमत्तः पाराञ्चिकोऽन्योन्यं च कुर्वाणः पाराञ्चिको ज्ञातव्यः ।

तत्र दुष्टं तावदाह–

**दुविधो य होइ दुट्ठो, कसायदुट्ठो विसयदुट्ठो य ।**
**दुविहो कसायदुट्ठो, सपक्ख परपक्ख चतुभंगो ।।१०८।।**

द्विविधस्त्र दुष्टो भवति–कषायदुष्टश्च, विषयदुष्टश्च । तत्र कषायदुष्टो द्विविधः–स्वपक्षदुष्टः, परपक्षदुष्टश्च । अत्र चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तद्यथा–स्वपक्षः स्वपक्षे दुष्टः १, स्वपक्षः परपक्षे दुष्टः २, परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः ३, परपक्षः परपक्षे दुष्टः ४ ।

तत्र प्रथमभङ्गं विभावयिषुराह -

**सासवणाले मुहणं-तए य उलुगच्छि सिहरणी चेव ।**
**एसो सपक्खदुट्ठो, परपक्खे होतिऽणेगविधो ।।१०९।।**

( सासवनालं ति ) सर्षपभर्जिका ( मुहणंतकं ) मुखवस्त्रिका, उलूको घूकस्तस्येवाक्षिणी यस्य स उलूकाक्षः शिखरिणी मार्जिता । एते चत्वारो दृष्टान्ताः । एष स्वपक्षकषायदुष्टो मन्तव्यः । परपक्षकषायदुष्टः पुनरनेकविधो भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुः सर्षपनालदृष्टान्तं तावदाह–

**सासवणाले छंदण, गुरु सव्वं भुंजएतरे कोवो ।**
**खामणमणुवसमते, गणिं ठवेत्तण्णहिँ परिण्णा ।। ११० ।।**
**पुच्छंतमणक्खाए, सोचाऽणतो गंतु कत्थमे गहसरीरं ।**
**गुरु पुव्वकहि तहाइ न, पडियरणं दंतभंजणता ।।१११।।**

इह प्रथमं कथानकम्–" एगेण साहुणा सासवभज्जिया सुसंतिया लद्धा, तत्थ से अतीव गेही, आयरियस्स य आलोइयं, पडिदंसिए निमंतिए अ आयरिए सव्वा वि समुद्दिट्ठा । इतरो पदोसमावण्णो आयरिएण लक्खियं, मिच्छा मि दुक्कड कयं । तहा वि न उवसमइ । भणइ य–तुज्झं दंते भंजामि । गुरुणा चिंतियं–मां असमाहिमरणेण मारिस्सइ त्ति । गणे अन्नं गणहरं ठवेत्ता अन्नं गणं गंतूण भत्तपच्चक्खाणं कयं, समाहीए कालगया । इयरो गवेसमाणो सउभतिए पुच्छइ कहिं आयरिया ? । तेहिं न अक्खायं, सो अन्नतो सोच्चा तत्थ गंतुं पुच्छइ–कहिं आयरिया ? । ते भणंति–समाहीए कालगया । पुणो पुच्छइ–कहिं सरीरगं परिट्ठवियं, आयरिएहि पुव्वं भणियं मा तस्स पवेसससमसरीरपरिट्ठावणियाभूमिं कहेज्जाहो मा आगहिविगाहिं करेमाणो उड्डाहं काहिइ । तेहिं अकहिए अन्नतो सोतुं तत्थ गंतुं उचट्ठियाओ गोलाघलं कड्डिऊण दंते भंजंतो भणइ–एतेहिं तुमे सासवनालं खइयं । तं साहहिं पडियरंतेहिं दिट्ठं । " अथाक्षरगमनिका–सर्षपनालविषयं छन्दनं निमन्त्रणं गुरोः कृतं, गुरुणा च सर्वं भुक्तम्, इतरस्य कोपो गुरुणा क्षामणे कृतेऽपि नोपशान्तः, ततोऽनुपशान्ते तस्मिन् गणिनमाचार्यं स्थापयित्वा अन्यस्मिन् गच्छे परिज्ञां भक्तप्रत्याख्यानमङ्गीकृतं ततः शिष्याधमस्य गुरवः कुत्र गता इति पृच्छतोऽपि सज्झिलकसाधुभिर्नाऽऽख्यातं. ततोऽन्यतः श्रुत्वा तत्र गत्वा कुत्र तेषां शरीरमिति पृच्छा कृता । गुरुभिश्च सर्व एव तदीयो वृत्तान्तः कथित आसीत् । ततस्तैराचार्यशरीरपरिष्ठापनभूमिर्न दर्शिता । स चान्यतः श्रुत्वा गतो दन्तभञ्जनं कृतवान् साधुभिश्च गुपिलस्थाने स्थितैः प्रतिचरणं कृतमिति ।

अथ मुखानन्तकदृष्टान्तमाह–

**मुहणंतगस्स गहणे, एमेव य गंतु खिसि गलग्गहणं ।**
**संमूढेणियरेण वि,सो गलगहितो मता दो वि ।।११२।।**

एकेन साधुना मुखानन्तकमतीवोज्ज्वलं लब्धम्, तस्य च गुरुभिर्ग्रहणं कृतं, तत्राऽप्येवमेव पूर्वाऽऽख्यानकसदृशं वक्तव्यं, नवरं तत्तु तत्पुनर्मुखानन्तकं प्रत्यर्पयताऽपि न गृहीतं, ततो गुरुणा स्वगण एव भक्तं प्रत्याख्यातं. निशाया च विरहं लब्ध्वा मुखानन्तकं गृह्णातीति भणता गाढतरं गलग्रहणं कृतं संमूढेन च इतरेणाऽपि गुरुणा स गलके गृहीतः, एवं द्वावपि मृतौ ।

उलूकाक्षदृष्टान्तमाह–

**अत्थं गए वि सिव्वसि, उलुगच्छी उक्खणामि ते अच्छी ।**
**पढमगमो नवरि इहं, उलगच्छीड त्ति ढोकेति ।।११३।।**

एकः साधुरस्तं गतेऽपि सूर्ये सीव्यन् अपरेण साधुना परिहासेन भणितः–उलुकाक्ष ! किमेवमस्तं गतेऽपि सूर्ये सीव्यसि ? । स प्राह–एवं भणतस्तव द्वे अप्यक्षिणी उत्खनामि । अत्राऽपि सर्वोऽपि प्रथमाऽऽख्यानकगमो मन्तव्यः । नवरमिह स्वगणे प्रत्याख्यातभक्तस्य कालगतस्य रजोहरणाद् अयोमयं कीलिकामाकृष्य मामुलुकाक्षं भणसीति ब्रुवाणो द्वे अप्यक्षिणी उद्धृत्य तस्य ढौकयति, वैरं मया निर्यापितमिति कृच्छ्रं ।

शिखरिणीदृष्टान्तमाह–

**सिहरिणिलंभाऽऽलोयण,छंदिएँ सव्वा वि तेण उग्गरणं ।**
**भत्तपरिण्णा अण्णहि, ण गच्छती सो इहं णवरि ।।११४।।**

एकेन साधुना उत्कृष्टा शिखरिणी लब्धा सा च गुरूणामालोचिता, तया च गुरवश्छन्दिता निमन्त्रिताः । सा च तैः सर्वा पीता, स साधुः प्रद्वेषमुपगतो मारणार्थं दण्डकमुद्गीर्णवान्, स गुरुभिः क्षामितोऽपि यदा नोपशाम्यति तदा भक्तपरिज्ञा कृता, नवरमिह स आचार्योऽन्यस्मिन् गणे न गतः, तस्य च समाधिना कालगतस्य शरीरं तेन पापात्मना दन्तकेन कट्टितम् । यत एते दोषाः ततोऽनन्तस्यैव न कर्तव्यः ।

तथा चाऽऽह–

**तिव्वकसायपरिणतो, तिव्वयरागाणि पावइ भयाइं ।**
**मयगस्स दंतभंजण, सममरणं ढोकणुग्गिरणा ।।११५।।**

तीव्रा उत्कटा ये कषायास्तेषु परिणतो जीवस्तीव्रतराणि भयानि प्राप्नोति । यथा प्रथमदृष्टान्तोक्तस्याऽऽचार्यस्य तीव्रलोभपरीतस्य दन्तभञ्जनभयम् । द्वितीयदृष्टान्तयोः–

स्तु शिष्याऽऽचार्ययोस्तीव्रक्रोधपरिणतयोः समकालं मरणम्। तृतीयदृष्टान्तप्रसिद्धस्य साधोर्लोचनढौकनम्। चतुर्थदृष्टान्तोक्तस्य दन्तकोद्धिरणम्। ईदृशा स्वपक्षकषायदुष्टा लिङ्गपाराञ्चिका कर्तव्या। गतः प्रथमो भङ्गः।

अथ द्वितीयमाह–

रायवहाऽऽदिपरिणतो, अहवा वि हवेज्ज रायवहओ तु ।
सो लिंगतो पारची, जो वि य परिकड्ढती तं तु ॥११६॥

राज्ञो राजामात्यस्य वा परस्य वा प्राकृतगृहस्थस्य वधाय परिणतः। अथवा–राजवधक एव स भवेत्, विहितराजवध इत्यर्थः। एवमनेकविधपरपक्षदुष्टः, एष सर्वोऽपि लिङ्गपाराञ्चिकः कर्तव्यः। योऽपि वाऽऽचार्योऽऽदिकस्तं राजवधकं परिकर्षति वोत्तापयति सोऽपि लिङ्गपाराञ्चिको विधेयः। अथ तृतीयभङ्ग उच्यते–परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः स कथं भवति? उच्यते–पूर्वं गृहवासे वसन् वादे पराजित आसीत्, स्कन्दकाऽऽचार्येण पालकवत्, वैरिको वा स तस्याऽऽसीत्।

स पुनः कीदृशो भवेत्?, इत्याह–

सन्नी व असन्नी वा, जो दुट्ठो होति तू सपक्खम्मि ।
तस्स निसिद्धं लिंगं, अतिसेसी वा वि दिज्जाहि ॥११७॥

स च संज्ञी वा असंज्ञी वा य स्वपक्षदुष्टो भवति तस्य लिङ्गं निषिद्धं, प्रव्रज्या न दातव्येति भावः। अतिशयज्ञानी वा उपशान्तोऽयमिति मत्वा तस्याऽपि लिङ्गं दद्यात्।

अथ चतुर्थभङ्गे परपक्ष परपक्षे दुष्ट इति भाव्यते–

रन्नो जुवरन्नो वा, वाघातो अहवा वि इस्सरादीणं ।
सो उ सदेसे ण कप्पति, कप्पति अन्नम्मि अन्नाओ ॥११८॥

यो राज्ञो वा युवराजस्य वा वधकः स तु पुनः स्वदेशे दीक्षितुं न कल्पते किं तु कल्पते अन्यस्मिन् देशे अज्ञातो दीक्षितुम्।

इत्थ पुण अधीकारो, पढमिल्लुगवितियभंगदुट्ठेहिं ।
तेसिं लिंगविवेगो, दुचरिमे वा लिंगदाणं तु ॥११९॥

अत्र पुनः प्रथमद्वितीयभङ्गदुष्टैरधिकारः स्वपक्षपरपक्षदुष्टा इत्याद्यभङ्गद्वयवर्तिभिरिति भावः। एतेषां लिङ्गं विवेकरूपं पाराञ्चिकं दातव्यम्। अतिशयज्ञानी वा यदि जानाति, न पुनरीदृशं करिष्यति, ततः सम्यगावृतस्य लिङ्गविवेकं न करोति। (दुचरिमे त्ति) तृतीयचतुर्थलक्षणौ यौ चरमभङ्गौ तयोर्वा विकल्पेन लिङ्गदानं कर्तव्यम्। किमुक्तं भवति?–परपक्ष स्वपक्षे दुष्टः परपक्षः परपक्षे दुष्ट इति भङ्गद्वये वर्तमाना यद्युपशान्ता इति सम्यग् ज्ञायन्ते, ततो लिङ्गदानं कर्तव्यम्। अथ नोपशान्तास्ततो न प्रव्रज्यन्ते, अपि तु तानि स्थानानि परिहार्यन्ते। एष वाशब्दसूचितोऽर्थः।

अथ सर्षपनालाऽऽदिदृष्टान्तप्रसिद्धो दोषो मा भूदिति द्वितीयाचार्येण यथा सामाचारी–स्थापना कर्तव्या तथा प्रतिपादयन्नाह–

सव्वेहि वि घेत्तव्वं, गहणे य निमंतणे य जो तु विही ।
भुंजंती जतणाए, अजतणदोसा इमे हुंति ॥ १२० ॥

सर्वैरपि साधुभिराचार्यप्रायोग्यं स्वस्वमात्रकेषु ग्रहीतव्यम्, तथा ग्रहणे निमन्त्रणे वा यावद्वक्ष्यमाणो विधिः स सर्वोऽपि कर्तव्यः। एवं यतनया सूरयो भुञ्जते, अयतनया तु भुञ्जानानामिमे वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति।

एनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति–

सव्वेहि वि गहियम्मी, थोवं थोवं तु केइ इच्छंति ।
सव्वेसिं न वि भुंजति, गहित पि वितिय आदेसो ॥१२१॥

सर्वैरप्याचार्यप्रायोग्ये गृहीते केचिदाचार्या इदमिच्छन्ति–यथा तत एकैकस्य हस्तात् स्तोकं स्तोकं गृहीत्वा गुरुणा भोक्तव्यम्। एष प्रथम आदेशः। अपरे ब्रुवते–एकेनैव गुरुयोग्यं ग्रहीतव्यम् अथान्यैरपि गृहीते ततस्तद्गृहीतमपि तेषां सर्वेषां हस्तात् स्तोकं स्तोकं न भोक्तव्यं, किं तु तैर्निमन्त्रितेन वक्तव्यम्–पर्याप्तम्, इत ऊर्द्ध्वं न गच्छति। एष द्वितीय आदेशः।

अमुमेव व्याचष्टे–

गुरुभत्तिमं जो हिययाणुकूलो,
सो गिण्हती णिस्समणिस्सतो वा ।
तस्सेव सो गिण्हति णेयरेसिं,
अलब्भमाणम्मि य थोव थोवं ॥१२२॥

गुरुभक्तिमान् यश्च गुरूणां हृदयानुकूलश्छन्दोऽनुवर्त्ती स गुरुप्रायोग्यं निश्रागृहेभ्यो अनिश्रागृहेभ्यो वा गृह्णाति तस्यैव च संबन्धि आचार्यो भक्तपानं गृह्णाति, नेतरेषाम–परसाधूनाम्। अथैकः पर्याप्तं न लभते ततो लभ्यमाने स्तोकं स्तोकं सर्वेषामपि गृह्णाति। एष ग्रहणविधिरुक्तः।

संप्रति निमन्त्रणे विधिमाह–

सति लंभम्मि वि गिण्हति, इयरेसिं जाणिऊण निब्बंधं ।
मुंचति य सावसेसं, जाणति उवयारभणियं च ॥१२३॥

सति विद्यमानेऽपि प्राचुर्येण लाभे यदीतरे साधवो निमन्त्रयमाणा गाढं निर्बन्धं कुर्वते, ततस्तं ज्ञात्वा तेषामपि गृह्णाति, तच्च तदीयं भुञ्जानः सावशेषं मुञ्चति, मा सर्वस्मिन् भुक्ते प्रद्वेषं स गच्छेत्, उपचारभणितं च जानाति–अयमुपचारेणाय पुनः सद्भावेन निमन्त्रयते, इत्येव वहिश्छिद्रेऽप्यलक्षयतीत्यर्थः।

गुरुणो भुत्तुव्वरियं, वालादसती य मंडलिं चावि ।
जं पुण सेमगगहितं, गिलाणमादीण तं दिंति ॥१२४॥

गुरूणा यद् भुक्तोर्द्धरितं तद् वालाऽऽदीनां दीयते, तेषामभावे मण्डलीयानि मण्डलीप्रतिगृहे क्षिप्यते यत्पुनः शेषैर्गुरुभक्तिमद्व्यतिरिक्तैः साधुभिर्मात्रके गृहीतं तद् ग्लानाऽऽदीनां प्रयच्छन्ति।

सेमाणं संमट्ठं, न छुब्भती मंडलिपडिग्गहिए ।
पत्तेगगहित छुब्भति, ओभामणलंभ मोत्तूणं ॥ १२५ ॥

शेषाणां गुरुव्यतिरिक्तानां संसृष्टं मण्डलीप्रतिग्रहे न क्षिप्यते। यत्तु ग्लानाऽऽदीनामर्थाय प्रत्येकं पृथक् पृथक् मात्रकेषु गृहीतं, तच्छेषामुद्धरितं मण्डल्यां प्रक्षिप्यते, परमवभाषितलाभं मुक्त्वा प्रक्षिप्यते इति भावः।

पाहुणगट्ठा व तगं, धरेंतु अतिवाहडा विगिंचंति ।
इइ गहणभुंजणविही, अविधीए इमे भवे दोसा ॥१२६॥

प्राघुणकार्थं वा तकं ग्लानार्थमानीतप्रायोग्यं धृत्वा स्थापयित्वा यदि 'अतिवाहडा' अतीव प्राता प्राघूर्णकाश्च नायातास्ततस्तद्विवेचयन्ति परित्यजन्ति, एवमिह ग्रहणभोजनविधिर्भवति।

यद्येन विधिं न कुर्वन्ति ततस्तस्मिन् विधौ इमे दोषा भवेयुः-

तिव्वकसायपरिणतो, तिव्वतरायाइँ पावइ भयाइं ।
मयगस्स दंतभंजण, सममरणं ढोक्कणुग्गिरणा ॥ १२७॥

व्याख्यातार्था । उक्तः कषायदुष्टः ।

अथ विषयदुष्टमाह-

संजति कप्पट्ठीए, सिज्झायरि अण्णउत्थिणीए य ।
एसो उ विसयदुट्ठो, सपक्खपरपक्खचउभंगो ॥ १२८ ॥

इहापि स्वपक्षपरपक्षपदाभ्यां चतुर्भङ्गी । तद्यथा-स्वपक्षः स्वपक्षे दुष्टः, स्वपक्षः परपक्षे दुष्टः, परपक्षः स्वपक्षे दुष्टः, परपक्षः परपक्षे दुष्टः ४ । तत्र कल्पस्थिकायां तरुण्यां संयत्यां संयतोऽध्युपपन्न इति प्रथमो भङ्गः । संयत एव शय्यातरभूणिकायामन्यतीर्थिक्यां वा अध्युपपन्न इति द्वितीयः । गृहस्थयती कल्पस्थिकायामध्युपपन्नाविति तृतीयः । गृहस्थो गृहस्थायामिति चतुर्थः । एष च विषयदुष्टश्चतुर्विधो मन्तव्यः ।

पढमे भंगे चरिमं, अणुवरए वा वि वितियभंगम्मि ।
सेसेण इहं पगतं, वा चरिमे लिंगदाणं तु ॥ १२९ ॥

प्रथमे भङ्गे चरमं पाराञ्चिकम् । अनुपरतस्याऽनिवृत्तस्य द्वितीयेऽपि भङ्गे पाराञ्चिकम् । शेषेण तृतीयचरमभङ्गद्वयेन इह प्रकृतम् । अत्र पाराञ्चिकस्य प्रस्तुतत्वात्तस्य च परपक्षे अघटमानत्वात् । अथवा ( वा चरिमे लिंगदाणं तु त्ति ) वा विकल्पेन भजनया चरमभङ्गद्वये लिङ्गदानं कर्त्तव्यम्, यद्युपशान्तस्तदा अन्यस्मिन् स्थाने लिङ्गं दातव्यम्, अन्यथा तु नेति भावः ।

अथ प्रथमभङ्गे दोषं दर्शयन्नाह-

लिंगेण लिंगिणीए, संपत्तिं जइ णियच्छती पावो ।
सव्वजिणाणऽज्जाओ, संघो आसातिओ तेणं ॥ १३० ॥

लिङ्गेन रजोहरणाऽऽदिना युक्तो लिङ्गिन्याः संयत्याः संपत्तिं यदि अधमतया कथमपि कश्चित्पापो नियच्छति प्राप्नोति तर्हि तेन पापेन सर्वजिनानाम् आर्याः संयत्यः सङ्घश्च भगवानाशातितो मन्तव्यः ।

पावाणं पावयरो, दिट्ठिब्भासेऽवि सो ण वट्टति हु ।
जो जिणपुंगवमुद्दं, नमिऊण तमेव धरिसेति ॥ १३१ ॥

पापानां सर्वेपामपि स पापतरः, अत एव दृष्टेर्लोचनस्याभ्यासेऽपि समीपेऽपि कर्तुं स न वर्त्तते न कल्पते, यो जिनपुङ्गवमुद्रां श्रमणीं नत्वा तामेव धर्षयति ।

संसारमणवयग्गं, जातिजरामरणवेदणापउरं ।
पावमलपडलछन्ना, भमंति मुद्दाधरिससेणं ॥ १३२ ॥

संसारमनवदग्रमपर्यन्तं जातिजरामरणवेदनाप्रचुरं पापमलपटलच्छन्ना मुद्राधर्षणेन परिभ्रमन्ति ।

तत:-

जत्थुप्पज्जति दोसो, कीरति पारंचितो स तम्हा तु ।
सो पुण सेवि मसेवी, गीतमगीतो व एमेव ॥ १३३ ॥

यत्र क्षेत्रे यस्य संयतीधर्षणाऽऽदिको दोष उत्पद्यते, उत्पत्स्यते वा स तस्मात् क्षेत्रात्पाराञ्चिकः क्रियते, स पुनः सेवी वा स्यादसेवी वा, तेन तत्कार्यं कृतं वा भवेदकृतं वेति भावः । एवमेव गीतार्थोऽगीतार्थो वा स सर्वोऽपि पाराञ्चिकः कर्त्तव्यः ।

कथमित्याह-

उवसयकुले निवेसण-पाडगसाहि गाम देस रज्जे वा ।
कुलगणसंघे निज्जू-हणाए पारंचितो होति ॥ १३४ ॥

यस्य यस्मिन्नुपाश्रये दोष उत्पन्न उत्पत्स्यते वा स तत उपाश्रयात्पाराञ्चिकः क्रियते । एवं यस्मिन् गृहस्थकुले दोष उत्पन्नः, तथा निवेशनमेकनिर्गमप्रवेशद्वारो द्वयोर्ग्रामयोरपान्तराले द्व्यादिगृहाणां संनिवेशः, एवंविधस्वरूप एव ग्रामान्तर्गतः पाटकः, साही शाखारूपेण श्रेणिक्रमेण स्थिता ग्रामगृहाणामङ्गनः परिपाटिः, ग्रामः प्रतीतो, देशो जनपदो, राज्यं नाम यावत्सु देशेषु एको भूपतिः राजा तावद्देशप्रमाणम् । एतेषु यत्र यस्य दोष उत्पन्नः, उत्पत्स्यते वा, स ततः पाराञ्चिकः क्रियते । तथा कुलेन यो निर्व्यूढो बाह्यः कृतः स कुलपाराञ्चिकः । गणाद् बाह्यः कृतो गणपाराञ्चिकः, सङ्घाधस्य निर्यूहणा कृता स सङ्घपाराञ्चिकः ।

किमर्थमुपाश्रयाऽऽदिपाराञ्चिकः क्रियेत इत्याह-

उवसंतो वि समाणो, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेसु ।
हंदि हु पुणो वि दोसं, तट्ठाणाऽऽसेवणा कुणति ॥ १३५ ॥

उपशान्तोऽपि स्वलिङ्गिनीप्रतिसेवनात्प्रतिनिवृत्तोऽपि सन् तेषु तेषु स्थानेषु प्रतिश्रयकुलनिवेशनाऽऽदिषु विहरन् वार्यते । कुत इत्याह-' हंदि ' निष्कारणोपप्रदर्शने, हुरिति निश्चये, पुनरप्यसौ तस्य स्थानस्याऽऽसेवनात्तमेव दोषं करोति ।

इदमेव स्पष्टरमाह-

जेसु विहरंति ताओ, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेसु ।
पढमे भंगे एवं, सेसेसु अ ताइँ ठाणाइं ॥ १३६ ॥

येषु ग्रामाऽऽदिषु ताः संयत्यो विहरन्ति तेषु तेषु स्थानेषु स विहरन् वार्यते, ततः पाराञ्चिकः क्रियत इत्यर्थः । एवं प्रथमभङ्गे स्वपक्षः स्वपक्षे दुष्ट इति लक्षणे विधिरुक्तः । शेषेष्वपि द्वितीयाऽऽदिषु भङ्गेषु तानि स्थानानि विसर्जनीयानि । किमुक्तं भवति ? द्वितीयभङ्गे यस्यां नगर्यामध्युपपन्नस्तदीये कुलनिवेशनाऽऽदौ प्रविशन् वारणीयस्तृतीयचतुर्थभङ्गयोः परपक्षः स्वपक्षे, परपक्षः परपक्षे वा दुष्ट इति लक्षणयोरुपशान्तस्यापि तेषु स्थानेषु लिङ्गं न दातव्यम् ।

एत्थं पुण अहिगारो, पढमगभंगेण दुविहदुट्ठे वि ।
उच्चारियसरिसाइं, सेसाइं विकोवणट्ठाए ॥ १३७ ॥

अत्र पुनर्द्विविधेऽपि कषायतो विषयतश्च दुष्टे प्रथमभङ्गेनाधिकारः, शेषाणि पुनर्द्वितीयभङ्गाऽऽदीनि पदानि उच्चारितसदृशानि विनेयमतिविकोपनार्थमभिहितानि । गतो विषयदुष्टः पाराञ्चिकः ।

संप्रति प्रमत्तपाराञ्चिकं प्राह-

कसाए विकह विगडे, इंदिय निद्दा पमाद पंचविधो ।
अहिगारो सुत्तम्मी, तर्हि नव इमे उदाहरणा ॥ १३८ ॥

कषायाः क्रोधाऽऽदयः, विकथा स्त्रीकथाऽऽदिका, विकटं मद्यम्, इन्द्रियाणि श्रोत्राऽऽदीनि, निद्रा वक्ष्यमाणा, एष पञ्चविधः प्रमादो भवति । अयं च निशीथपीठिकायां यथा सविस्तरं

सप्रायश्चित्तोऽपि भावितस्तथैवान्नाऽपि मन्तव्य', नवरमिह स्वपनं सुत्तं, निद्रा इत्यर्थ , तया अधिकार । सा च पञ्चविधा । वृ०५ उ०। ( तत्र निद्राया स्वरूपम् 'णिद्दा' शब्दे चतुर्थभागे २०७२ पृष्ठे गतम्) (निद्रानिद्राविवरणं विस्तरत 'णिद्दाणिद्दा' शब्दे चतुर्थभागे २०७२ पृष्ठे गतम्) ( प्रचलाया सर्वोऽधिकार ' पयला ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०७ पृष्ठ ऽस्ति ) ( प्रचलाप्रचला चङ्क्रमतो जन्तोरिति ' पयलापयला ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०८ पृष्ठे गतम् ) ( अत्र पाराञ्चिकस्य प्रस्तुतत्वात् स्त्यानर्द्धिनिद्रया अधिकार । सा च 'थीणद्धि' शब्दे चतुर्थभागे २४१२ पृष्ठे गता ) इदानीं पुन सामान्यलोकवलात् द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं वालन (वल) भवतीति मन्तव्यम् । यत एवमत स प्रज्ञापनीय' सौम्य ! मुञ्च लिङ्ग नास्ति तव चरण चारित्रम् । यद्येवं गुरुणा सानुनयं भणितो मुञ्चति, तत शोभनम् । अथ न मुञ्चति तत सङ्घ समुदितो लिङ्गं तस्य मोक्तुमनिच्छत सकाशात् हरति उद्दालयति, न पुनरेकजन इत्याह-मा तस्यैकस्योपरि प्रद्वेषं गच्छेत्, प्रद्विष्टश्च व्यापादनमपि कुर्यात् ।

लिङ्गापहारनियमार्थमिदमाह-

अवि केवलमुप्पादे, ण य लिंग देति अणतिसेसी से ।
देसवत दंसणं वा, गिएह अणिच्छे पलायंति ॥ १४७ ॥

अपि संभावने, स चैतत् संभावयति-यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन केवलमुत्पादयति तथाऽपि ( से ) तस्य स्त्यानर्द्धि , ततो लिङ्गमनतिशयी न ददाति य पुनरतिशयज्ञानी स जानाति-न भूय एतस्य स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयो भविष्यति, ततो लिङ्गं ददाति । लिङ्गापहारे पुन क्रियमाणे अयमुपदेशो दीयते-देशव्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरमणाऽऽदीनि गृहाण, तानि चेत्प्रतिपत्तुं न समर्थस्ततो दर्शनं सम्यक्त्वं गृहाण । अथैवमप्यनुनीयमानो लिङ्गं मोक्तुं नेच्छति तदा रात्रौ त मुक्त्वा पलायन्ते देशान्तरं गच्छन्ति । गत प्रमत्तपाराञ्चिक ।

अथान्योन्यं कुर्वाण तमेवाऽऽह-

करणं तु अणमणे, समणाणं न कप्पते सुविहिताणं ।
जे पुण करेंति णाता,तेसिं तु विविंचणा भणिया ।१४८।

तुशब्दस्य व्यवहितसंबन्धनया अन्योऽन्यं परस्पर पुनर्यत्करण मुखपायुप्रयोगेण सेवनं तत् श्रमणाना सुविहिताना कर्तुं न कल्पते । ये पुन कुर्वन्ति ते यदि ज्ञातारस्तदा तेषा विवेचना परिष्ठापना भणिता ।

इदमेव व्याचष्टे-

आसगपोसगसेवी, केई पुरिसा दुवेयगा होंति ।
तेसिं लिंगविवेगो, वितियपदं रायपव्वइए ॥ १४९ ॥

आस्य मुखम्, आस्यमेवाऽऽस्यक, पोषक पायु , आस्यकपोषकाभ्या सेवितुं शीलमेषामित्यास्यकपोषकसेविन केचित्पुरुषा साधवो द्विवेदका स्त्रीपुरुषवेदयुक्ता भवन्ति, न पुंसकवेदिन इत्यर्थ । तेषा लिङ्गविवेक कर्त्तव्य । द्वितीयपदमत्र भवति-यो राजा प्रव्रजितस्तस्याऽऽस्यकपोषकसेविनोऽपि लिङ्ग नापह्रियते, पर यतनया परित्यज्यते । गतोऽन्योन्यं कुर्वाण पाराञ्चिक ।

संप्रति यो दुष्टाऽऽदिर्यत पाराञ्चिक क्रियते तदेतद्दर्शयति-

विइओ उवस्सयाई, कीरति पारंचिओ न लिंगातो ।
अणुवरमं पुण कीरति,सेसा नियमा तु लिंगाओ ।१५०।

द्वितीयो विषयदुष्ट उपाश्रयाऽऽदेः पाराञ्चिक क्रियते,क्षेत्रत इत्यर्थ । न लिङ्गात्, लिङ्गपाराञ्चिको न विधीयते । अथ ततो दोषान्नोपरमते तदा अनुपरमन् लिङ्गतोऽपि पाराञ्चिक क्रियते । शेषा कषायदुष्टप्रमत्तान्योऽन्यसेवाकारिणो नियमाल्लिङ्गपाराञ्चिका क्रियन्ते । किमेत एव पाराञ्चिका उतान्योऽप्यस्ति ? । अस्तीति ब्रूम ।

कीदृश स ?, इति चेदुच्यते-

इंदियपमाददोसा, जो पुण अवराधमुत्तमं पत्तो ।
सब्भावममाउट्टो, जति य गुणा से इमे होंति ॥१५१॥

इन्द्रियदोषात्, प्रमाददोषाद्वा पाराञ्चिकाऽऽपत्तियोग्याय पुन साधुरुत्तममुत्कृष्टमपराधपदं प्राप्त स यदि सद्भावमावृत्तो-निश्चयेन भूयोऽहमेवं न करिष्यामि, इति व्यवसितस्तदा स तप पाराञ्चिक क्रियते, यदि च ' से ' तस्य इमे गुणा भवन्ति ।

के पुनस्ते इत्याह-

संघयणविरियआगम-सुत्तत्थविहीएँ जो समग्गो उ ।
तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे अभिगतत्थो ॥१५२॥

संहननं वज्रऋषभनाराचं, वीर्यधृत्या वज्रकुड्यसमानता, आगमा जघन्येन नवमपूर्वान्तर्गतमाचाराऽऽख्य तृतीयं वस्तु, उत्कर्षतो दशमपूर्वं संपूर्णं, तच्च सूत्रतोऽर्थतश्च यदि परिचितं भवति । एतै संहननाऽऽदिभि , विधिना च तदुचितसमाचारे ण य समग्रः संपूर्णं तपस्वी नाम सिंहविक्रीडनाऽऽदितप कर्मभावित , निग्रहयुक्त इन्द्रियकषायाणा निग्रहसमर्थ, प्रवचनसारे अभिगतार्थ परिणामितप्रवचनरहस्यार्थ इति ।

किंच -

तिलतुसतिभागमेत्तो,वि जस्स असुभो ण विज्जती भावो ।
णिज्जूहणारिहो सो, सेसे णिज्जूहणा णत्थि ॥१५३॥

यस्य गच्छान्निर्यूढस्य तिलतुषत्रिभागमात्रोऽपि निर्यूढोऽहमित्यशुभो भावो न विद्यते स निर्यूहणाया अर्हो योग्य', शेषस्य एतद्गुणविकलस्य निर्यूहणा नास्ति न कर्तव्या ।

इदमेव व्याचष्टे-

एयगुणसंपउत्तो, पावति पारंचियारिहं ठाणं ।
एयगुणविप्पमुक्को, तारिसगम्मी भवे मूलं ॥१५४॥

एतै संहननाऽऽदिभिर्गुणै संप्रयुक्त पाराञ्चिकार्हं स्थानं प्राप्नोति । य पुनरेतद्गुणविप्रमुक्तस्तादृशे पाराञ्चिकाऽऽपत्तिप्राप्तेऽपि मूलमेव प्रायश्चित्तं भवति ।

अथ पाराञ्चिकमेव कालतो निरूपयति-

आसायणा जहन्ने, छम्मासुक्कोस बारसउ मासे ।
वासं बारस वासे, पडिसेवउ कारणा भइओ ॥१५५॥

आशातनापाराञ्चिको जघन्येन षण्मासान् , उत्कर्षतश्च द्वादश मासान् भवति, एतावन्तं कालं गच्छान्निर्यूढस्तिष्ठतीत्यर्थ । प्रतिसेवनापाराञ्चिको जघन्येन संवत्सरमुत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि निर्यूढ आस्ते । ( पडिसेवउ कारणे भइओ त्ति ) य प्रतिषेवकपाराञ्चिक , स कारणे कुलगणाऽऽदिकार्ये भक्तो विकल्पितो, यथोक्तकालादर्वागपि गच्छं प्रवेश्यतीति भाव ।

अथ तस्यैव गणनिर्गमनविधिमाह-

इत्तरियं णिक्खेवं, काउं अन्नं गणं गमित्ता णं ।
दव्वादिसुभे वियडण, निरूवसग्गट्ठ उस्सग्गो ॥ १५६ ॥

इह य पाराञ्चिकं प्रतिपद्यते स नियमादाचार्य एव भवति । तेन च स्वगणे पाराञ्चिकं न प्रतिपत्तव्यम् । अन्यस्मिन् गणे गन्तव्यम् । तत इत्वरं गणनिक्षेपमात्मतुल्ये शिष्ये कृत्वा ततोऽन्यं गणं गत्वा द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु विकटनामालोचनां परगणाऽऽचार्यस्य प्रयच्छति, उभावपि च निरुपसर्गप्रत्ययं कायोत्सर्गं कुरुतः ।

अथ किं कारणं स्वगणे न प्रतिपद्यते ? । उच्यते-

अप्पच्चय णिब्भयया, आणाभंगो अजंतणा सगणे ।
परगणे न होंति एए, आणाथिरता भयं चेव ॥१५७॥

स्वगच्छ एव पाराञ्चिकप्रतिपत्तौ अगीतार्थानामप्रत्ययो भवति-नूनमकृत्यमनेन प्रतिसेवितं येन पाराञ्चिकः कृतः, ततस्तेषां निर्भयता भवति, न गुरूणा बिभ्यति इत्यर्थः । अबिभ्यतश्चाऽऽज्ञाभङ्गं कुर्वीरन्, अयन्त्रणा च स्वगणे भवति, शिष्यानुरोधाऽऽदिना स्वयमेव भक्तपानाऽऽनयनाऽऽदौ नियन्त्रणे वक्ष्यमाणा न भवतीत्यर्थः । परगणे च एते दोषा न भवन्ति । अपि च-तत्र गच्छता भगवतामाज्ञाऽनुपालने स्थिरता स्थैर्यं कृतं भवति, भयं चाऽऽत्मनः सञ्जायते । ततः परगणं गत्वा तत्र पाराञ्चिकं प्रतिपद्य निरपेक्षः सक्रोशयोजनात् क्षेत्राद् बहिर्व्रजति ।

तस्य चेयं सामाचारी-

जिणकप्पियपडिरूवी, बाहिं खेत्तस्स सो ठितो संतो ।
विहरति बारस वासे, एगागी झाणसंजुत्तो ॥ १५८ ॥

जिनकल्पिकप्रतिरूपी अलेपकृतं भैक्ष्यं ग्रहीतव्यं, तृतीयस्यां पौरुष्यां पर्यटनीयमित्यादिका यादृशी जिनकल्पिकस्य चर्या, तां कुर्वन् क्षेत्राद् बहिः स्थितः सन् स पाराञ्चिक एकाकी ध्यानसंयुक्तः श्रुतपरावर्तनैकचित्तो द्वादश वर्षाणि विहरति ।

यस्याऽऽचार्यस्य सकाशे प्रतिपद्यते तेन यत्कर्तव्यं तदाह-

ओलोयणं गवेसण, आयरिओ कुणति सव्वकालं पि ।
उप्पन्ने कारणम्मी, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ १५६ ॥

आचार्यः पाराञ्चिकस्य सर्वकालमपि, यावन्तं कालं तत्प्रायश्चित्तं वहति तावन्तं सकलमपि कालं यावत् प्रतिदिवसमवलोकनं करोति; तत्समीपं गत्वा तद्दर्शनं करोतीत्यर्थः । तदनन्तरं गवेषणम्-गतोऽल्पक्लामतया भवतां दिवसो रात्रिश्चेति पृच्छां करोति । उत्पन्ने पुनः कारणे ग्लानत्वलक्षणे सर्वप्रयत्नेन भक्तपानाऽऽहरणाऽऽदिकं स्वयमाचार्येण तस्य कर्तव्यम् ।

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमाएणं ।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥ ६० ॥

य पुनराचार्यः केनाऽपि प्रमादेन जनव्याक्षेपाऽऽदिना उपेक्षां कुरुते, तस्य समीपं गत्वा तच्छरीरस्योदन्तं न वहति, तस्य आरोपणा पूर्वनिर्दिष्टा ग्लानद्वाराऽभिहिता कर्तव्या, चत्वारो गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तमारोपयितव्यमिति भावः ।

" उप्पन्ने कारणम्मि सव्वपयत्तेण कायव्वं " ( १५६ ) एतद्भावयति-

आहरति भत्तपाणं, उव्वट्टणमाइयं पि सो कुणति ।
सयमेव गणाहिवई, अह अगिलाणो सयं कुणति ॥१६१॥

यदि पाराञ्चिको ग्लानो भवेत् ततस्तस्य गणाधिपतिराचार्यः स्वयमेव भक्तपाने चाऽऽहरति आनयति उद्वर्तनम्, आदिशब्दात् परावर्त्तनोत्थापनोपवेशनाऽऽदिकं तस्य स्वयं करोति । अथ जातोऽग्लानो नीरोगस्ततः आचार्यं न कमपि कारयति, किं च सर्वं स्वयमेव कुरुते ।

"ओलोयणं गवेसण त्ति" (१५६) एतद् व्याख्यानार्थमाह-

उभयं पि दाऊण सपाडिपुच्छं,
वोढुं सरीरस्स य वट्टमाणिं ।
आसासइत्ता य तवोकिलंतं,
तमेव खेत्तं समुवेंति थेरा ॥ १६२ ॥

स्थविरा आचार्याः शिष्याणां प्रतीच्छकानां च उभयमपि सूत्रमर्थं च । किंविशिष्टमित्याह-सप्रतिपृच्छं पृच्छा प्रश्नः, तस्याः प्रतिवचनं प्रतिपृच्छा, तया सहितं सप्रतिपृच्छं, सूत्रविषयेऽर्थविषये यत् येन पृष्टं तत्र प्रतिवचनं दत्त्वा तत्सकाशमुपगम्य तदीयशरीरस्य ( वट्टमाणिं ) वर्तमाने काले भवा वार्त्तमानी, वार्त्तेत्यर्थः । तां वहन्ति, अल्पक्लाम्यतां पृच्छन्तीति भावः । सोऽपि चाऽऽचार्यमागतं मस्तकेन वन्दे इति फेटावन्दनकेन वन्दते । शरीरस्य चोदन्तं पृष्ट्वा यदि तपसा क्लाम्यति, तत आश्वासयति । आश्वास्य च तदेव क्षेत्रं यत्र गच्छोऽवतिष्ठते तत्समुपगच्छन्ति स्थविराः ।

अथ द्वावपि सूत्रार्थौ दत्त्वा तत्र गन्तुं न शक्नोति, ततः को विधिरित्याह-

असहू सुत्तं दातुं, दोवि अदाउं व गच्छति पगे त्ति ।
संघाडओ से भत्तं, पाणं चाऽऽणेति मग्गेणं ॥ १६३ ॥

इहैकस्याऽपि कदाचिदेकवचनं कदाचिच्च बहुवचनं सर्वस्याऽपि वस्तुनः एकानेकरूपताऽऽख्यापनार्थमित्यदुष्टम् । असहिष्णुराचार्यः सूत्रं दत्त्वा गच्छति, अथ तथाऽपि न शक्नोति, ततो द्वावपि सूत्रार्थावदत्त्वा ( पगे ) प्रगे प्रभात एव गच्छति, तस्य च तत्र गतस्य एकः संघाटको भक्तं पानकं च मार्गेण पृच्छतः आनयति ।

कदाचित्तत्र गच्छेदपि, नत्वेतानि कारणानि-

गेलण्णेण व पुट्ठो, अभिनवमुक्को ततो व रोगातो ।
कालम्मि दुब्बले वा, कज्जे अन्ने य वाघातो ॥ १६४ ॥

स आचार्यो ग्लानेन वा पृष्टो भवेत् । अथवा-तस्मात् ग्लानत्वकारणात् रोगादभिनवमुक्तस्तत्कालमुक्तः स्यात्, ततो न गच्छेत् । यदि वा-काले दुर्बले न विद्यते बलं गमनाय यस्मिन् गाढतपःसंभवाऽऽदिना स दुर्बलो ज्येष्ठाऽऽषाढाऽऽदिकः कालशब्दोऽभाववाची (?), तस्मिन्न गच्छेत्, शरीरक्लेशसंभवात् । " कज्जे अन्ने च वाघातो " इति । अत्र सप्तमी तृतीयार्थे, प्राकृतत्वात् । ततोऽयमर्थः-अन्येन वा कार्येण केनापि व्याघातो भवेत् ।

किं पुनस्तत्कार्यमित्याह–

कयपराजएण कुविंतो, चेइयतद्दव्वसंजतीगहणे ।

पुव्वुत्ताण चउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अन्नयरं ॥१६५॥

वादे कस्याऽपि राजवल्लभवादिनः पराजयेन कुपितः स्यात् । अथवा–चैत्यं जिनाऽऽयतनं किमपि तेनावरुद्धं स्यात्तत्तन्मोचने क्रुद्धो भवेत । अथवा–तद्द्रव्यस्य चैत्यद्रव्यस्य संयत्या वा ग्रहणं राज्ञा कृतं, तन्मोचने वा कुपितः। ततः पूर्वोक्तानामिहैव प्रथमोद्देशके प्रतिपादितानां निर्विषयत्वाज्ञापनभक्तपाननिषेधोपकरणहरणजीवितचारित्रभेदलक्षणाना चतुर्णां कार्याणामन्यतरत् कार्यमुत्पन्नं भवेत्, ततो न गच्छेत् । अथवाऽगमने चोपाध्यायः प्रेषणीयोऽन्यो वेति ।

तथा चाऽऽह–

पेसेइ उवज्झायं, अन्नं गीतं व जो तहिं जोग्गो ।

पुट्ठो व अपुट्ठो वा, सया वि दीवेति तं कज्जं ॥ १६६ ॥

पूर्वोक्तकारणवशात् स्वयमाचार्यः तत्र गमनाभावे उपाध्यायं, तदभावे अन्यो वा यो गीतार्थस्तत्र योग्यस्तं प्रेषयति, तत्र गत सन् तेन पाराञ्चितेन किमद्य क्षमाश्रमणा नाऽऽयाता इति पृष्टो वा अपृष्टो वा तत्कार्यं कारणं दीपयेत् यथा अमुकेन कारणेन नाऽऽयातः ।

जाणंता माहप्पं, सयमेव भणंति एत्थ तं जोग्गं ।

अत्थि मम एत्थ विसओ, अजाणए सो वए तेसिं ।।१६७।

इह यदि ग्लानीभवनाऽऽदिना कारणेन क्षमाश्रमणानागमनं पृष्टेन अपृष्टेन वा दीपितं, तदा न किमप्यन्यत्तेन पाराञ्चितेन वक्तव्यं, किं तु गुर्वादेश एव ततो यथोदित. संपादनीय । अथ राजप्रद्विष्टतो निर्विषयत्वाऽऽज्ञापनाऽऽदिना व्याघातो दीपितस्तत्र यदि ते उपाध्याया अन्ये वा गीतार्थास्तस्य किंचित् स्वयमेव बुद्ध्यन्ति, ततो जानन्त स्वयमेव तस्य माहात्म्यं तं भणन्ति ब्रुवते–यथाऽस्मिन् प्रयोजने त्वं योग्य इति क्रियतामुद्यम । अथ न जानते तस्य शक्तिं, ततः स एव तान् अजानानान् ब्रूते- यथा अस्ति ममात्र विषय इति । एतच्च स्वमुपाध्यायाऽऽदिभिर्वा भणितो वक्ति–

अत्थउ महाणुभागो, जहासुहं गुणसताऽऽगरो संघो ।

गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भवेस्सए लहुयं ॥ १६८॥

तिष्ठतु यथासुख महान् अनुभागोऽधिकृतप्रयोजनाऽनुकूला अचिन्त्या शक्तिर्यस्य स तथा, गुणशतानामनेकेषां गुणानामाकरो निधानं गुणशताऽऽकरः सङ्घ । यत इदं गुरुकमपि कार्यं मा प्राप्य लघुकं भविष्यति, समर्थोऽहमस्य प्रयोजनस्य लीलयाऽपि साधने इति भाव ।

एवमुक्तेऽसौ अनुज्ञात सन् यत्करोति तदाह–

अभिहाणहेउकुसलो, बहूसु नीराजितो वि उ सभासु ।

गंतूण रायभवणं, भणाति तं रायदारट्ठं ॥ १६९ ॥

अभिधानहेतुकुशल , शब्दमार्गे तर्कमार्गे चातुक्ष इत्यर्थ । अत एव बहुषु विद्वत्सभासु नीराजितो निर्वर्दित इत्थंभूत. स राजभवने गत्वा तं राजद्वारस्थं प्रतीहारं भणति ।

किं भणतीत्याह–

पडिहाररूवी ! भण रायरूविं,

तमिच्छए संजयरूवि दट्ठुं ।

निवेदयित्ता य स पत्थिवस्स,

जहिं निवो तत्थ तयं पवेसे ॥ १७० ॥

हे प्रतीहाररूपिन् ! मध्ये गत्वा राजरूपिणं राजानुकारिणं भण-यथा त्वा संयतरूपी द्रष्टुमिच्छति । एवमुक्त सन् स प्रतीहारस्तथैव पार्थिवस्य निवेदयति, निवेद्य च राजानुमत्या यत्र नृपोऽवतिष्ठते तत्र तकं साधुं प्रवेशयति ।

तं पूयइत्ता य सुहासणत्थं,

पुच्छिंसु रायाऽऽगयकोउहल्लो ।

पण्हे उराले असुए कयाई,

स यावि आइक्खइ पत्थिवस्स ॥ १७१ ॥

तं साधुं प्रविष्टं सन्तं राजा पूजयित्वा शुभाऽऽसनस्थं शुभे आसने उपविष्टम्, आगतकुतूहलोऽप्राक्षीत् । कानित्याह–प्रश्नान् उदारान् गम्भीरार्थान् कदाचिदप्यश्रुतान् प्रतीहाररूपिन् इत्येवमादिकान् । स चाऽपि साधुरेव पृष्ट पार्थिवस्याऽऽचष्टे ।

किमाचष्टे इत्याह–

जारिसग आयरक्खा, सक्कादीणं तु तारिसो एसो ।

तुह राय ! दारपालो, तं पि य चक्कीण पडिरूवी ।१७२।

यादृशका खलु शक्राऽऽदीनाम्, आदिशब्दाच्चमराऽऽदिपरिग्रहः आत्मरक्षाः, तादृश एष तव राजन् ! द्वारपालस्तत उक्तम्- हे प्रतीहाररूपिन् ! तथा त्वमपि यादृशश्चक्रवर्ती तादृशो न भवसि, रत्नाऽऽद्यभावात् । अत्रान्तरे चैकवर्तिसमृद्धिराख्यातव्या । किं च–प्रतापशौर्यन्यायानुपालनाऽऽदिना तत्प्रतिरूपोऽसि, तत उक्तम्–राजरूपिणं ब्रूहि, चक्रवर्तिप्रतिरूपमित्यर्थः । एवमुक्ते राजा प्राऽऽह–त्वं कथं श्रमणानां प्रतिरूपी ।

तत आह–

समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि राय ! तं जहमहं ति ।

निरतीयारा समणा, न तहाऽहं तेण पडिरूवी ॥ १७३ ॥

यत् त्वं राजन् ! पृच्छसि अथ कथं त्वं श्रमणाना प्रतिरूपी, तदहं कथयामि–यथा श्रमणा भगवन्तो निरतिचारा., न तथाऽहं, तेन श्रमणाना प्रतिरूपी, न साक्षात् श्रमण इति ।

प्रतिरूपित्वमेव भावयति–

निव्वूढो मि नरीसर !, खेत्ते वि जईण अत्थिउं न लभे ।

अतिचारस्स विसोधिं, पकरेमि पमायमूलस्स ॥ १७४ ॥

हे नरेश्वर ! प्रमादमूलस्याऽतिचारस्य सम्प्रति विशोधिं प्रकरोमि, तां च कुर्वन् निर्व्यूढोऽस्मि निष्काशितोऽस्मि, तत आस्तामन्यत्, क्षेत्रेऽपि यतीनामहमास्थातुं न लभे, ततः श्रमणप्रतिरूप्यहमिति । राजा प्राह–कस्त्वया कृतोऽतिचारः, को वा तस्य विशोधि ? ।

इत्थं पृष्टे यत्कर्तव्यं तदाह–

कहणाऽऽउट्टण आगमण पुच्छणं दीवणा य कज्जस्स ।

वीसज्जियं ति य मए, हासुस्ससितो भणाति राया ।१७५।

कथना राज्ञा पृष्टस्य प्रसङ्गतोऽन्यस्याऽपि यथा प्रवचनभावना भवति, तत आवर्तनमाकम्पनं, राज्ञो भक्तीभवनमिति भाव । तदनन्तरमागमनकारणस्य प्रश्न , केन प्रायो-

जनेन यूयमत्राऽऽगताः। अत्रान्तरे येन कार्येण समागतस्य दीपना प्रकाशना ततो राजा (हासुच्छलिउ त्ति) हासेन युक्त उच्छलितो हृष्टो,हसितमुख प्रहृष्टश्च सन्नित्यर्थः। भणति यथा मया विसर्जितमुत्कलितं निर्विषयाऽऽज्ञपनाऽऽदिकं कार्यमिति।

एवं च किं सञ्जातमित्याह-

संघो न लभइ कज्जं, सव्वं कज्जं महाणुभाएण ।
तुज्झं ति विसज्जेऽहं, सो वि य संघो त्ति पूएति ॥१७६॥

निर्विषयत्वाऽऽज्ञापनमुत्कलनाऽऽदिलक्षणं कार्यं संघो न लभते, किं तु तेन पाराञ्चिकेन महानुभागेन सातिशयाचिन्त्यप्रभावेन लब्धम्। न च स एवं कार्यलाभेन गर्वमुद्वहति। यत आह-( तुज्झं ति इत्यादि ) राजा प्राह-युष्माकं भणितेनाहं पूर्वग्राहं त्यक्त्वा यत्कार्यं विसर्जयामि, नान्यथा। सोऽपि च पाराञ्चिको ब्रूते-राजन्! कोऽहं?, कियन्मात्रो वा गरीयान् सङ्घो भट्टारकः, तत्प्रभावादेवाहं किञ्चित् जानामि, तस्मात् सङ्घमाहूय क्षमयित्वा यूयमेवं ब्रूत-मुत्कलितं राज्ञा युष्माकमिति। ततो राजाऽपि सङ्घं पूजयति।

अब्भत्थितो व रण्णा, सयं व संघो विसज्जति उ तुट्ठो ।
आदीमज्झऽवसाणे,सया वि दोसो धुओ होइ ॥१७७॥

राजा सङ्घं ब्रूयात्-मया युष्माकं विसर्जनं कार्यं, परं मदीयमपि कार्यमिदानीं कुरुत-मुञ्चतास्य पाराञ्चिकस्य प्रायश्चित्तम्। एवं राज्ञा अभ्यर्थितो, यदि वा-स्वयमपि तुष्टः सङ्घो विसर्जयति मुत्कलयति। किमुक्तं भवति?- यद् व्यूढं तद् व्यूढमेव शेषं तु पुनः देशतः सर्वतो वा प्रमादेन मुञ्चति,तस्य च पाराञ्चिकतपसस्तदानीमादिमध्यावसानं वा भवेत्, त्रिधाऽपि सङ्घस्याऽऽदेशात् सर्वोऽपि पाराञ्चिकाऽऽपत्तिहेतोर्दोषो धूतः कम्पितः, प्रमादेन स्फेटितो भवतीत्यर्थः। तत्र देशो देशदेशो वा प्रायश्चित्तस्य तेन वोढव्यः। अथ राजा तस्याऽपि मोचने निर्विघ्नं करोति, तदा तदपि मुच्यते, देशो नाम षड्भागः, देशदेशो दशमागः।

तत्र देशो यावन्तो मासा भवन्ति तदेव प्रतिपादयति-

एको य दोण्णि दोण्णि य,मासा चउवीस होंति छब्भागो।
देसं दोण्ह वि एयं, वहिज्ज मुंचेज्ज वा सव्वं ॥१७८॥

इहाऽऽशातनापाराञ्चिको जघन्यतो वर्षम्, उत्कर्षतो द्वादशवर्षाणि भवतीत्युक्तम्। तत्राऽपि वर्षस्य षड्भागो द्वौ मासौ, द्वादशवर्षाणां षष्ठे भागे चतुर्विंशतिर्मासा भवन्ति। एवंविधं देशं द्वयोरप्याशातनाप्रतिसेवनापाराञ्चिकयोः संबन्धिनं सङ्घस्याऽऽदेशाद् वहेत्। यद्वा-सर्वमपि सङ्घो मु-

छब्भागं दसभागं, वहिज्ज सव्वं च झोसिज्जा ॥१८०॥

द्वयोरपि आशातनाप्रतिसेवनापाराञ्चिकयोर्जघन्य उत्कृष्टश्च यः कालस्तस्य संबन्धिनं षड्भागं वा अनन्तरोक्तं वहेत्। यद्वा-सर्वमप्यवशिष्यमाणं सङ्घो झोषयेत्, प्रसादेन मुञ्चेदिति भावः। बृ० ४ उ०। पञ्चा०। प्रव०।

पाराञ्चितशोध्या अतीचाराः-

तित्थयर पवयण सुयं, आयरियं गणहरं महिड्डीयं।
आसाइंतो बहुसो, आभिनिवेसेण पारंची ॥ ६४ ॥

तीर्थकराऽऽदीन् आशातयन् हीलयन् आशातनापाराञ्चिको भवति।

प्रतिसेवनापाराञ्चिकमाह-

जो य सलिंगे दुट्ठो, कसायविसएहिँ रायवहगो य।
रायग्गमहिसिपडिसे-वओ य बहुसो पगासो य ॥६५॥

इह प्रतिसेवनापाराञ्चिकस्त्रिधा-दुष्टो, मूढः, अन्योन्यं कुर्वाणश्च। यदाह-" पडिसेवणपारंची, ० (१०७) " इत्यादिगाथा सव्याख्याऽस्मिन्नेव भागे ८५६ पृष्ठे गता। तत्र दुष्टः स द्विधा-कषायतो विषयतश्च। पुनरेकैको द्विधा (सलिंग त्ति) समानलिङ्गे स्वपक्षे श्रमणश्रमणीरूपे, चकारात् [illegible] परपक्षे गृहस्थेऽन्यतीर्थिके वा ततश्च स्वपक्षपर[illegible] कषायदुष्टे विषयदुष्टे च चत्वार चत्वारो भङ्गा भवन्ति। [illegible] कषायदुष्टे भङ्गचतुष्टयम्-स्वपक्षकषायदुष्टः [illegible] ष्टश्चेत्येको भङ्गः। स्वपक्षकषायदुष्टो न [illegible] द्वितीयः। न स्वपक्षकषायदुष्टः [illegible] उभाभ्यामपि न दुष्ट इति, चतुर्थः [illegible] विहो य होइ दुट्ठो,० (१०८) " [illegible] न्नेव भागे ८५६ पृष्ठे गता। तत्र [illegible] हरणानि। "सासवनाले १, [illegible] हरिणी चेव ४। " (११०) [illegible] भागे ८५६ पृष्ठे गता।

" सिहरिणि त्ति " दर्शयति ४-
साधुना केनचित् क्वापि, लब्धा शिखिरिणी शुभा ॥ ६ ॥
तया निमन्त्रितस्तेन, गुरुस्तां निखिलां पपौ ।
तं सोऽथास्मानमुद्दीय, हिंसन्नन्यैर्न्यवार्यत ॥ १० ॥
तथाऽप्यनुपशान्ते च, तस्मिन्ननशनं गुरुः ।
स्वगच्छ एव विदधे, नान्यं गच्छं जगाम सः ॥ ११ ॥
" उलुगच्छि त्ति " दर्शयति ३-
अस्तं गतेऽपि कोऽप्यर्के सीव्यन् गुरुभिरौच्यत ।
उलूकाक्षोऽसि भिक्षो ! त्वं, स रुष्टो गुरुमूचिवान् ॥ १२ ॥
तवैवं वदतो द्वे अ-प्यक्षिणी उद्धराम्यहम् ।
अथाऽसौ गुरुणा गाढं, क्षमितोऽपि न शान्तवान् ॥ १३ ॥
ततो रजोहृतो लोह-मयीमाकृष्य कीलिकाम् ।
रोषाऽऽध्मातः स दुष्टाऽऽत्मा, समुद्दध्रेऽक्षिणी गुरोः ॥१४॥"

एते चत्वारोऽपि साधवो दुष्टत्वात् लिङ्गपाराञ्चिकाः । परपक्षकषायदुष्टस्तु-राजवधक उदायिनृपमारकवत् । विषयदुष्टस्यैवं भङ्गचतुष्टयम्-स्वलिङ्गी स्वलिङ्गिनीं साध्वीं सेवते १, स्वलिङ्गी गृहलिङ्गिनीं स्त्रियम् २, स्वलिङ्गी अन्यलिङ्गिनीं परिव्राजिकाऽऽदिकाम् ३,अन्यलिङ्गी चान्यलिङ्गामिति ४.शून्योऽयं भङ्गः । तत्राऽऽद्यो विषयदुष्टः-"पावाण०" (१३१) इत्यादिगाथा ऽस्मिन्नेव भागे ८६१ पृष्ठे गता । द्वितीयविषयदुष्टस्तु बहुशः पौनःपुन्येन प्रकाशो लोकविदितः राजाग्रमहिषीप्रतिसेवकश्च । अग्रमहिषीग्रहणादन्या अप्यनतिदिष्टा राज्ञस्तत्सेवकश्चशब्दात् युवराजसेनापत्याद्यग्रमहिषीसेवकश्च । द्वावप्येतौ लिङ्गपाराञ्चिकौ । तृतीयविषयदुष्टस्याप्यतिशयी लिङ्गं दद्यादान्यः ।अनतिशयी तु तस्यापि लिङ्गं पाराञ्चिकमेव दत्त इत्यर्थः । अत्राऽऽह शिष्यः-सामान्यस्त्रीसेवकः साधुः किं न पाराञ्चिकः? । उच्यते-बहूपाया राजाऽऽद्यग्रमहिष्यः, तत्सेवने कुलगणसङ्घाऽऽचार्याणां प्रस्तारः संहाररूपो, निर्विषयता वा स्यात्, इतरस्त्रीषु पुनर्व्रतभङ्ग एव दोषः, दोषवत एव चैकस्याऽपाय इति तस्य सूलम् । व्याख्यातो दुष्टपाराञ्चिकः ।

मूढपाराञ्चिकमाह-

**थीणद्धिमहादोसो, अण्णुण्णासेवणपसत्तो य ।**
**चरमट्ठाणावत्तिसु, बहुसो य पसज्जए जो उ ॥ ६६ ॥**

स्त्यानर्द्धिर्दर्शनाऽऽवरणीयकर्मभेदरूपस्य निद्रापञ्चकस्य पञ्चमो भेदः, यदुदयेऽतिसंक्लिष्टपरिणामाऽऽदिनाऽदृष्टमर्थमुत्थाय प्रसाधयति, केशवार्द्धबलश्च जायते । तदनुदयेऽपि च स शेषपुरुषेभ्यस्त्रिचतुर्गुणबलो भवति । इयं च प्रथमसंहनिन एव भवति,इयमेव च महान् दोषो यस्य स स्त्यानर्द्धिमहादोषः । अयं च मूढः प्रमत्तश्च कथ्यते । एते च पुद्गलमोदकहस्तिदन्तकुम्भकारवटशाखाद्यवः पञ्च स्त्यानर्द्ध्यामुदाहरणानि ।

तद्यथा-
" एकः कुटुम्बिको ग्रामे, मांसमेवात्यनेकधा ।
श्रुत्वा धर्मं स केषाञ्चित्, समीपे व्रतमग्रहीत् ॥ १ ॥
विचरंश्च कचिद् ग्रामे, महिषं पिशितार्थिभिः ।
विभज्यमानमद्राक्षीत्, ततोऽभूत्तत्र सस्पृहः ॥ २ ॥
सोऽव्युच्छिन्नतदाकाङ्क्षो, भुक्त्वा यातो बहिर्भुवम् ।
सूत्रस्य पौरुषीं चान्यां, चक्रे सुप्तस्तथा निशि ॥ ३ ॥
जातस्त्यानर्द्धिरुत्थाय, गत्वा महिषमण्डलम् ।
हत्वैकं भुक्तवान् शेष-मेत्य सत्रोपरि न्यधात् ॥ ४ ॥
ईदृग् दृष्ट प्रगे स्वप्नः, इत्यालोचितवान् गुरोः ।
दिशोऽवलोकनात् तत्र, मुनिभिर्मांससमीक्षितम् ॥ ५ ॥
सोऽथ स्त्यानर्द्धिमान् ज्ञात्वा, लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ।
साधुर्भिक्षां भ्रमन् कोऽपि, मोदकान् वीक्ष्य कुत्रचित् ॥ ६ ॥
चिरमैक्षिष्ट गृद्धस्ता-नलब्ध्वाऽशेत तन्मनाः ।
जातस्त्यानर्द्धिरुत्थाय, गत्वा तद्भवनं निशि ॥ ७ ॥
भित्त्वा कपाटमत्ति स्म, मोदकानुद्धृतानथ ।
पात्रे कृत्वाऽऽश्रये प्राप्तः प्रातः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा पात्रेऽपरपौरुष्या, तान् पात्रप्रतिलेखने ।
लिङ्गपाराञ्चिकः सोऽपि, ततो गुरुभिरादधे ॥ ९ ॥
एकः साधुर्गतो भिक्षां, त्रासितः करिणा ततः ।
पलायित कथमपि, तस्मिन् रुष्टश्च सुप्तवान् ॥ १० ॥
जातस्त्यानर्द्धिरुत्थाय, गत्वा व्यापाद्य तं गजम् ।
आनीय दन्तमुशले, विन्यस्योपाश्रयोपरि ॥ ११ ॥
पुनः सुप्तः प्रगे स्वप्नं, व्याचष्टेऽथ तपोधनैः ।
दृष्ट्वा दन्तान् स विज्ञातो, लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ॥ १२ ॥
गच्छे महति कस्मिंश्चित्, प्राव्राजीत्कुम्भकारकः ।
सुप्तः स्त्यानर्द्धिमाग्रातो, मृत्तिकाभ्यासतः स तु ॥ १३ ॥
समीपस्थितसाधूनां, चिच्छेद च शिरांस्यधीः ।
एकान्ते निक्षिप्य तानि, शीर्षाणि च वपूंषि च ॥ १४ ॥
शेषा अपसृता भूय, सुप्तः स्वप्नं प्रगेऽवदत् ।
मृतान् वीक्ष्याथ साधून् स, लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ॥ १५ ॥
वटस्याऽधोऽध्वना कश्चित्, भिक्षाचर्यां गतो मुनिः ।
आतपाऽऽर्तो व्रजन् वेगात्, क्षुत्तृड्ग्रीष्मार्कतापितः ॥ १६ ॥
तच्छाखायामास्फलितो, रुष्टस्तस्यामसन्निशि ।
स्त्यानर्द्ध्युदयतो गत्वा, भङ्क्त्वा शाखां समागतः ॥ १७ ॥
विन्यस्योपाश्रयद्वारे, सुप्तः स्वप्नं न्यवेदयत् ।
प्रातः स्त्यानर्द्धिमान् ज्ञात्वा, लिङ्गपाराञ्चिकः कृतः ॥ १८ ॥
केऽप्याहुः प्राग् वनेशोऽभूत् सोऽथ स्त्यानर्द्धिमान्नरः ।
संजज्ञे प्राग्भवाभ्यासाद्, वटशाखां ततोऽभनक् ॥ १९ ॥"
उक्तो मूढपाराञ्चिकः ।

अन्योऽन्यं कुर्वाणः पाराञ्चिकस्तु-( अण्णुण्णासेवणपसत्तो य ) अन्योऽन्यं पुरुषः पुरुषान्तरेण सह परस्परं मुखपायुप्रयोगतो मैथुनाऽऽसेवनायां प्रसक्तः । तथा चरमस्थानं पाराञ्चिकं, तदापत्तिहेतवो ये अतिचारास्तेषु, बहुशः पौनःपुन्येन यश्च प्रसजति प्रसक्तो भवति, स पाराञ्चिकः क्रियत इत्यर्थः ।

एतदेवाऽऽह-

**सो कीरइ पारंची, लिंगाओ खित्त कालओ तवओ ।**
**सो पागडपरिसेवी, लिंगाओ थीणनिद्धी य ॥ ६७ ॥**

पाराञ्चिकः चतुर्द्धा-लिङ्गतः, क्षेत्रतः, कालतः, तपोविशेषतश्च । तत्र लिङ्गपाराञ्चिके द्रव्यभावलिङ्गपाराञ्चिके द्रव्यभावलिङ्गाभ्यां चतुर्भङ्गी-द्रव्यलिङ्गेन पाराञ्चिको भावलिङ्गेन च १, द्रव्यलिङ्गेन पाराञ्चिको न भावलिङ्गेन २, भावलिङ्गेन पाराञ्चिको न द्रव्यलिङ्गेन ३, उभाभ्यामपि न पाराञ्चिक इति, चतुर्थः शून्यः । तत्र स प्रकटप्रतिसेवी राजाग्रमहिष्यादिसेवकः स्त्यानर्द्धिमान् । चशब्दाद् अन्योऽन्यासेवनाप्रसक्तो राजवधकश्च, लिङ्गतः पाराञ्चिको द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गाभ्यां पाराञ्चिकः क्रियत इत्यर्थः ।

अत्र पाराञ्चिकं गाथाद्वयेनाऽऽह-

**वसहि निवेसण पाडग-साहिनिओगपुरदेसरज्जाओ ।**

खित्ताओ पारंची, कुलगणसंघालयाओ वा ॥ ९८ ॥
जत्थुप्पन्नो दोसो, उप्पज्जिस्सइ व जत्थ नाऊण ।
तत्तो तत्तो कीरइ, खित्ताओ खित्तपारंची ॥ ९९ ॥

ग्रसति प्रसनाद्वा ग्रामः, निवेशनम् एकनिर्गमप्रवेशनद्वारो ग्रामयोरन्तराले द्यादिगृहाणां संनिवेशः । एवंविधस्वरूप एव ग्रामान्तर्गतः पाटकः । " साही " शालारूपेण श्रेणिक्रमेण स्थिता ग्रामगृहाणामेकतः परिपाटिः । नियोगपुरं निश्चिनाः योगाऽऽदिना कृतव्यापारो यस्य स नियोगो राजा, तस्य पुरं राजधानी । देशो जनपदः, राज्यं राष्ट्रं यावत्खु देशेष्वेको भूपतिः राजा तावद्देशप्रमाणम् । एतेषां द्वन्द्वः । तस्मात् क्षेत्रपाराञ्चिकः कुलगणसङ्घाऽऽलयाद्वा कुलगणसङ्घानामा सामस्त्येन यत्र क्षेत्रे लयनं मिलनं तस्माद्वा यत्र क्षेत्रे वसतिनिवेशनाऽऽदिके उत्पन्नो दोषः पाराञ्चिकाऽऽपत्तिकारी, उत्पत्स्यते च यत्र निष्ठतो दोषस्तं ज्ञात्वा ततस्ततः क्षेत्रात् क्षेत्रपाराञ्चिकः क्रियते ।

कालतपःपाराञ्चिकावाह–

जत्तियमित्तं कालं, तवसा पारंचियस्स विसए वा ।
कालो दुविगप्पस्स वि, अणवट्ठप्पस्स जोऽभिहिओ ॥१००॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य यो यावन्तं कालमनुपशान्तदोषोऽनुपरतपाराञ्चिकाऽऽपत्तिहेत्वतिचारः स तावन्तं कालं कालपाराञ्चिकः । ततः पाराञ्चिको द्विधा–आशातनापाराञ्चिकः, प्रतिसेवनापाराञ्चिकश्च । आद्यः प्रागुक्तरूपः । प्रतिसेवनापाराञ्चिकस्त्रिधा–दुष्टः, प्रमत्तोऽन्योऽन्यं कुर्वाणश्च । आद्यस्त्वभेदौ प्रागुक्तरूपौ । प्रमत्तो मूढः । स पञ्चधा कषायविकथामद्येन्द्रियनिद्राऽऽख्यैः प्रमादभेदैर्विस्तारिणाऽऽख्येयः, अस्य च तपःपाराञ्चिकस्य द्विविकल्पस्याऽपि स एव कालः प्रमाणसमयो यः पूर्वमनवस्थाप्यस्याऽभिहितः । तस्येयं योजना– आशातनातपःपाराञ्चिकस्य द्विकल्पस्याऽपि स एव जघन्येन षण्मासाः, उत्कर्षेण वर्षम् । प्रतिसेवनापाराञ्चिकस्य तु जघन्येन वर्षम्, उत्कर्षेण द्वादश वर्षाणि । तथा पाराञ्चिकमपि अनवस्थाप्यमिव संहननाऽऽदिगुणयुत एव दीयते, तपोऽपि पारिहारिकाऽऽख्यमनवस्थाप्यस्येव पाराञ्चिकस्याऽपि भवति ।

दा स्वयमेव भक्तपानाऽऽदिकमानयति, प्रतिलेखनामुद्वर्तनाऽऽदिकं च करोति । अथ ग्लानस्तस्याऽऽचार्योऽन्यो वा साधुर्भक्तपानाऽऽद्युपनयति, उद्वर्तनाऽऽदिकं च करोति । सूत्रार्थं तु वाऽऽचार्योऽन्यो वा तस्य पृच्छायामुत्तरमपि ददाति । एवमेतत् संक्षेपतः पाराञ्चिकाऽर्हं प्रायश्चित्तं भणितम् । जीत० ।

पाराञ्चिकस्य गणानुज्ञा–

पारंचियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं० जाव रोगातंकाओ विप्पमुक्के ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सगो ववहारो पट्ठवियव्वे सिया ॥ ९ ॥

अथाऽस्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह कः संबन्धः ? । उच्यते–

सगणे गिलायमाणं, कारणे परगच्छमागयं वावि ।
मा हु ण कुज्जा णिज्जू–हमगिलाए एस संबंधो ॥९८॥

यथाऽनवस्थाप्यस्य कर्तव्यं तथा प्रतिपन्नपाराञ्चितप्रायश्चित्तस्याऽपि, न पुनरेवं निर्यूहितो निष्कासित इति कृत्वा स्वगणे ग्लायन्त रोगाऽऽतङ्कवशतो ग्लानिमुपगच्छन्तं, यद्वा प्रागुक्तैरशिवाऽऽदिभिः कारणैः परगच्छमागतं, मा, हु निश्चितं वैयावृत्त्यविषयं न कुर्यात् नाकार्षीत्, किं तु तस्याऽपि वैयावृत्त्यमवश्यमग्लान्या कर्तव्यम् तथा प्रतिपन्नपाराञ्चितप्रायश्चित्तस्याऽपि तत्र गणे क्षेत्रबहिः स्थितस्याऽऽचार्यः स्वयमुदन्तं वहति, परगणेऽपि कारणवशादायातस्य तदीय आचार्यः करोति यथासूत्रं वैयावृत्त्यमित्येष पूर्वसूत्रेण सहास्य सूत्रस्य संबन्धः । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्याऽस्य व्याख्या कर्तव्या । सा च प्राग्वत् । व्य० २ उ० । जीत० ।

पारंपर–देशी–राक्षसे, दे० ना० ६ वर्ग ४४ गाथा ।

पारंपरिय–पारंपर्य–न० । प्रणालिकायाम्, " आयरियपारंपरियं ।" आचार्याः सुधर्मस्वामिजम्बूनामप्रभवार्यरक्षिताऽऽद्यास्तेषां प्रणालिका पारम्पर्यम् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

पारंभ–प्रारम्भ–पुं० । आद्यकृतौ, द्वा० २५ अष्ट० ।

पारंभमंगल–प्रारम्भमङ्गल–न० । आदिमङ्गले, द्वा० २७ अष्ट० ।

पारक–पारक–त्रि० । छेदके, " पारके य सव्वेसिं संसयाणं ।" सर्वेषां संशयानां छेदक इत्यर्थः । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

पारकेर–परकीय–त्रि० । " परराजभ्यां क–डिक्कौ च " ॥ ८ । २ । १४८ ॥ इदमर्थस्य प्रत्ययस्य केराऽऽदेशः । पारकेरं । प्रा० २ पाद । " अतः समृद्ध्यादौ वा " ॥ ८ । १ । ४४ ॥ इत्यादेरकारस्य दीर्घो जातः । परसम्बन्धिनि, प्रा० १ पाद ।

पारक्क–परकीय–त्रि० परसम्बन्धिनि, "परराजभ्यां क–डिक्कौ च" ॥ ८ । २ । १४८ ॥ इति क्क । प्रा० २ पाद । " जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि ! मज्झु पिएण । अह भग्गा अम्हहं तणा, तो ते मारिअडेण ॥ १ ॥ ' यदि भग्नाः परकीयास्ततः सखि ! मम प्रियेण । अथ भग्ना अस्माकं तदा तेन मारितेन । प्रा० ४ पाद ।

पारग–पारग–त्रि० । पारं गच्छतीति पारगः । आचा० १ श्रु० १ अ० ? उ० । पारगामिनि आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

श्रा० । नि० । व्य० । तीरगामिनि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । पर्यन्तगामिनि, औ० । पा० । समर्थे, आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० ३ उ० । सर्वस्याऽपि प्रारब्धश्रुतस्य पारगामिनि, बृ० ६ उ० । सिद्धान्तगामिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पारगमण–पारगमन–न० । पूरणे, पालने, " पारणं ति वा पालणं ति वा पारगमणं ति वा एगट्ठा । " आ० चू० ५ अ० ।

पारगय–पारगत–त्रि० । संसारस्य प्रयोजनव्रातस्य वा पर्यन्तं गते, ल० । भ० । औ० । आ० म० । इन्द्रियविषयात्परतोऽवस्थिते, भ० ५ श० ४ उ० ।

पारगामि (ण्)–पारगामिन्–त्रि० । पारो मोक्षः संसारार्णवतटवृत्तित्वादेतत्कारणानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपि पार इति । भवति हि तात्स्थ्यात्ताद्धर्म्यम् । यथा–"तन्दुलान् वर्षति पर्जन्यः" अतस्तं पारं ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यं गन्तुं शीलं यस्य स पारगामी । मुक्ते, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । संसारस्य कर्मणो वा उत्क्षिप्तभारस्य वा पर्यन्तगामिनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

पारण–पारण–न० । भोजने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । पञ्चा० । आचा० । ( कस्य तीर्थकरस्य किं पारणकद्रव्यं प्रथममासी दिति ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११३२ पृष्ठे उक्तम् । )

पारणा–पारणा–स्त्री० । परिसमाप्तौ, पञ्चा० ६ विव० । श्रीआदिदेवस्य श्रेयांसेन बहुभिरिक्षुरसकुम्भैः पारणा कारिता, एकेनैवेक्षुरसकुम्भेन वेति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्–" मत्वेति प्रमदोत्पन्न–रोमाञ्चः सोमभूपभूः । उत्पाद्येक्षुरसैः पूर्णान्, घटानागाज्जिनान्तिकम् ॥ १ ॥ " इति ऋषिमण्डलवृत्तौ ७ पत्रे ।

तावदावसथद्वारि, राजसूनोरुपायने ।
केनचिच्चक्रिरे कुम्भाः, नवेक्षुरससंभृताः ॥ २६१ ॥
श्रेयांसो जातिस्मरणात् , भिक्षादोषोज्झितं रसम् ।
मत्वा कल्प्यममुं स्वामिन् !, गृहाणेत्यभ्यधात् प्रभुम् ॥२६२॥
प्रभुणाऽप्यञ्जलीकृत्य, पाणिपात्रे पुरोधृते ।
स रसं कलशश्रेण्याऽक्षिपेदिक्षुसमुद्भवम् ॥ २६३ ॥
इति श्रीअमरकविकृते पद्मानन्दकाव्ये त्रयोदशे सर्गे ।
" अत्रान्तरे कुमारस्य, प्राभृत्ये केनचिन्मुदा ।
नवेक्षुरससंपूर्णा, ढौकया चक्रिरे घटाः ॥ ६० ॥
ततो विज्ञातनिर्दोष–भिक्षादानविधिः स तु ।
गृह्यतां कल्पनीयोऽयं, रस इत्यवदद्विभुम् ॥ ६१ ॥
प्रभुरप्यञ्जलीकृत्य, पाणिपात्रमधारयत् ।
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षु–रसकुम्भानलोठयत् ॥ ६२ ॥ "

इति श्रीहेमचन्द्रसूरिकृतऋषभदेवचरित्रे तथैवान्तर्वाच्ये च वसुदेवहिण्डौ प्रथमखण्डे च इत्यादिग्रन्थाक्षरानुसारेण बहुभिरिक्षुरसघटैः पारणा जातेति ।

तथा "ताहे सयं चेव खोअरस रसघडग गहाय भावसुद्धेणं पडिगाहगसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं पडिलाभिस्सामि त्ति" इत्याद्यावश्यकचूर्ण्यावश्यकनिर्युक्तिहारिभद्रवृत्तितद्वृद्वादशसहस्रावृत्तिवर्द्धमानसूरिकृतऋषभचरित्रकल्पकिरणावलीप्रभृतिग्रन्थानुसारेण त्वेकेनैवेक्षुरसघटेन पारणा कारितेति ज्ञायते, एतदाश्रित्य निर्णयस्तु सर्वविद्वेद्य इति । २७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पारणादिने वाचना कल्पते न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–पारणादिनेऽपि वाचना कल्पते, इति ज्ञातमस्ति । २०७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । पारणादिनाऽनन्तरमुक्तिगस्तु कल्पते । न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–न कल्पते । २०८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

पारणाइंत–पारणवत्–त्रि० । भोक्तरि, असहिष्णुत्वाऽऽदिना मण्डल्या बहिर्भोक्तरि, पञ्चा० १२ विव० ।

पारदारिय–पारदारिक–पुं० । परदारान् गच्छति पारदारिकः । उद्भ्रामके, आ० म० १ अ० । पारदारिकाणां वृषणच्छेदः, शाल्मल्युपगूहनाऽऽदीनि च परमाधार्मिकैः क्रियन्ते सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

पारद्ध–प्रारब्ध–त्रि० । प्रकर्षेणाऽऽरब्धे, स०६ अङ्ग । ज्ञा० । ती० ।

पारद्धि–पापर्द्धि–स्त्री० । " पापर्धौ रः " ॥ ८ । १ । २३५ ॥ अपदादौ पकारस्य रो भवति इति पस्य र । " सर्वत्र०– " ॥ ८ । २ । ७६ ॥ इति रलुक् । पापाऽऽधिक्ये, पापोत्कर्षे, शाकुनिके, पुं० । प्रा० १ पाद ।

पारमासि–पुं० । परमक्रोधसमुद्घाते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वृ० ।

पारय–देशी–सुराभाण्डे, दे० ना० ६ वर्ग ३८ गाथा ।

पारस–पारस–पुं० । अनार्यदेशविशेषे, प्रव० १४८ द्वार । प्रज्ञा० । आ० म० । सूत्र० । तज्जाते म्लेच्छमनुष्ये च । शम्० ।

पारसकूल–पारसकूल–न० । पारसदेशसीमायाम्, आ० म० १ अ० ।

पारसी–पारसी–स्त्री० । पारसाऽऽख्यानार्यदेशोत्पन्नायां दास्याम्, भ० ९ श० ३३ उ० । रा० ।

पाराभोय–पाराऽऽभोग–पुं० । पारं संसार आभोगयन्ति प्रापयन्तीति । पारप्रापके, कल्प० १ अधि० ८ क्षण ।

पारायण–पारायण–न० । सूत्रार्थतदुभयानां पारगमने, व्य० ४ उ० । आ० म० । विशे० ।

पारावअ–देशी–गवाक्षे, दे० ना० ६ वर्ग ४३ गाथा ।

पारावय–पारापत–पुं० । " पारापतेरो वा " ॥ ८ । १ । ८० ॥ पारापतशब्दे रस्थस्यात एद् वा भवति । पारेवओ । पारावओ । प्रा० १ पाद । वृक्षविशेषे, जं० ४ वक्ष० । पक्षिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पारावार–पारावार–पुं० । समुद्रे, आ० क० १ अ० । " मयरहरो सिंधुवई, सिंधू रयणायरो सलिलरासी । पारावारो जलही, तरंगमाली समुद्दो य ॥ ८ ॥ " पाइ० ना० ८ गाथा ।

पारासर–पाराशर–पुं० । स्वनामख्याते पराशराऽऽत्मजे मुनौ, "पारासरे दगं भोच्चा " ( ३ ) । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्त० । ज्ञा० ।

पारिग्गहिया–पारिग्रहिकी–स्त्री० । परिग्रहे भवाया क्रियायाम् , स्था० १ ठा० । आव० ।

पारिजाणिय–पारियानिक–न० । परियानं देशान्तरगमनं तत्प्रयोजनं येषां तानि पारियानिकानि गमनप्रयोजनानीत्यर्थः । देवानामशाश्वतेषु नगराऽऽकारेषु विमानेषु, स्था० १० ठा० । ( 'परियाणियविमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२८ पृष्ठे उक्तानि ) परियानप्रयोजनेषु, भ० ११ श० ११ उ० । वृ० ।

पारिजाय–पारिजात–पुं० । सुरद्रुमविशेषे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ० । रा० ।

पारिट्ठावणिया–पारिस्थापनिकी–स्त्री० । परि सर्वैः प्रकारैः स्थापनं परिस्थापनमपुनर्ग्रहणतया न्यास इत्यर्थः, तेन निर्वृत्ता पारिस्थापनिकी । आव० ४ अ० । सर्वथा त्यजन

प्रयोजने क्रियाभेदे, प्रव० ४ द्वार । ( पारिष्ठापनिकी विधिस्तु ' परिट्ठवणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७० पृष्ठे उक्तः)

नवरमसंयतमनुष्यपरिस्थापनानन्तरमिदं दृश्यम्-

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसं भवेज्जा, तं च सरीरयं केइ साहम्मिया पासिज्जा, कप्पति से तं सरीरयं मा सागारियं ति कट्टु तं सरीरयं एगंते अचित्ते बहुफासुए उ थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवित्तए अत्थि या इत्थ केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए सलक्खणे परिहरणारिहे कप्पति से सागारकडं गहाय दोचं पि ओग्गहा अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ १७ ॥

ग्रामानुग्रामं (दूइज्जमाणे इति) विहरन् "आह च" कदाचित् शरीरात् विष्वक् पृथक् भवेत्, म्रियते इत्यर्थः। तच्च शरीरकं केचित्साधर्म्मिकाः संयताः पश्येयुः, तत्र सार्धर्म्मिकस्य तत् शरीरं मा सागारिकं भवत्विति कृत्वा एकान्ते विविक्ते अचित्ते स्थण्डिले बहुप्रासुके कीटकाऽऽदिसत्त्वरहिते प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य च परिस्थापयितुम् (अत्थि या इत्थ इत्यादि) अस्ति चात्र किञ्चित्साधर्म्मिकसत्कमुपकरणजातं सलक्षणं एतद्ग्रहाऽऽदि परिहरणाऽर्हं करिष्यति (स इत्यादि) कल्पते (से) तस्य सागारकृतं गृहीत्वा सागारकृतं नाम नाऽऽत्मना स्वीकरोति आचार्यसत्कमेतत् आचार्य एव एतस्य ज्ञायक एवं गृहीत्वा आचार्याणां समर्प्य यदिदम् आचार्यस्तस्यैव ददाति ततः स मस्तकेन वन्दे इति ब्रुवाणे आचार्यवचः प्रमाणं करोति, एष द्वितीयोऽवग्रहस्तमनुज्ञाप्य द्विविधेन परिहारेण परिहर्तुं परिभोगयितुम्, अथाऽऽचार्योऽन्यस्मै ददाति, तदा तस्य तदिति सूत्रसंक्षेपाऽर्थः ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः-

तं चेव पुव्वभणियं, सुत्तनिवातो उ पंथे गामे वा ।
गामे एगमणेगो, बहू व एमेव पंथे वि ॥ ४२१ ॥

यत्पूर्वं कल्पाध्ययने चतुर्थे उद्देशके विष्वग् भवनं भणितं, तदेवात्राऽपि द्रष्टव्यं,नवरमिह विशेषो भण्यते-सूत्रनिपातो ग्रामे वा भवेत् पथि वा "गामाणुगामं दूइज्जमाणे" इति वचनात् । ग्रामे एको वा भवेदनेके वा, तत्र येऽनेके ते द्विप्रभृतयो यावत्सप्त बहवो वा द्रष्टव्याः । एवमेव पथ्यपि द्रष्टव्यम् एको वाऽनेके वा, तत्राऽनेके द्विप्रभृतयो यावत्सप्त बहवो वा ।

एतदेवाऽऽह-

एगो एगो चेव उ,दुप्पभिई आणेग सत्त बहुगा वा ।
कालगय गामे पंथे, व जाणगा उज्झणविहीए ॥४२२॥

एकस्तावदेक एव, तस्यैकत्वेन भेदाभावात्; द्विप्रभृतयो यावत्सप्त,तावदनेके, ततः परं बहवः । एतेषां मध्ये कदाचिदेको ग्रामे पथि कालगतो भवेत् । तत्र उज्झनविधिः परिष्ठापनविधेर्ये ज्ञायकास्ते यथोक्तविधिना परिष्ठापयन्ति । अथाऽनेके द्विप्रभृतयो यावत्सप्तेति कस्मादुक्तं न पञ्च षट् वेति ? । उच्यते-सप्तानामेव समासकल्पत्वादन्यथा त्वविधिरिति ज्ञापनाऽर्थम् ।

तथा चाऽऽह-

चउरो वहंति एगो, कुसादि रक्खइ उवस्सयं एगो ।
एगो य समुग्घातो, इति सत्तण्हं अहाकप्पो ॥ ४२३ ॥

चत्वारो जना विष्वग्भूतं वहन्ति, एकः कुशान् दर्भान् पानं च गृहीत्वा पुरतो याति, एकः षष्ठ उपाश्रयं रक्षति, एकः सप्तमः समुद्घातः कालगत इति । एवममुना प्रकारेण सप्तानां यथाकल्पो विधिकल्पः ।

सत्तण्हं हेट्ठेणं, अविही उ न कप्पए विहरिउं जे ।
एगागियस्स अविही,उ अत्थिउं गच्छिउं वा वि ॥४२४॥

सप्तानामधस्तादविधिस्ततस्तेषां षट् पञ्चप्रभृतीनां विहर्तुं न कल्पते। 'जे' इति पादपूरणे। एकाकिनः पुनरासितुं गन्तुं वा नियमादविधिः । तेषामपि कदाचित् कारणवशतः स्थितानां यः परिष्ठापनविधिः सोऽग्रेऽभिधास्यते ।

तथा च एकानेकेषामेव विधिमभिधित्सुः प्रथमतो न केषां प्रतिजानीते—

नेगाण विहिं वुच्छं, नायमनाए व पुव्वखेत्तम्मि ।
दिसि थंडिलभामिय विं-बमादीसु य पदेसेसु ॥४२५॥

पूर्वमेकेऽनेके चोक्ताः, तत्र प्रथमतोऽनेकेषां विधिं वक्ष्यामि। प्रतिज्ञातमेव करोति—तत्र ज्ञाते वा पूर्वक्षेत्रे दिक् परिभावनीया, तथा त्रिषु प्रदेशेषु स्थण्डिलं, तच्च स्वाभाविकं शिलातलाऽऽदिरूपं,ध्यामितमग्निना दग्धं,विम्बाऽऽदीनां समीपे च ।

तत्र प्रथमतो ज्ञातक्षेत्रविषयविधिमाह-

नाए अ पुव्वदिट्ठं, तं चेव य थंडिलं हवति तत्थ ।
अन्नाते वेलपत्ता, सन्नादिगया उ पेहंति ॥ ४२६ ॥

ज्ञाते क्षेत्रे यत्पूर्वं दृष्टं, तदेव तत्र स्थण्डिलं भवति । अज्ञाते यदि वेलाया प्राप्तास्तदा संज्ञाऽऽदिगताः स्थण्डिलं प्रेक्षन्ते ।

अह पुण विकाले पत्ता-इं ता चेव उ करेंति उवओगं ।
अकरणे हवंति लहुगा, वेलं पत्ताण चउगुरुगा ॥४२७॥

अथ पुनर्विकालवेलायां प्राप्तास्तत आगच्छन्त एव स्थण्डिलविषयमुपयोगं कुर्वन्ति तदा उपयोगस्याकरणे चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तं, वेलां प्राप्ताना पुनः स्थण्डिलविषयोपयोगाकरणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

आणादिणो य दोसा, कालगतेसुं भमादिसुं हुज्जा ।
अत्थंतमपेच्छंता, विणास गरिहं च पावेंति ॥ ४२८ ॥

न केवलं प्रायश्चित्तं,किं त्वाज्ञाऽऽदयश्च दोषाः।तथा तेषां मध्ये कोऽपि रात्रौ कदाचित्कालं कुर्यात् तत्र स्थण्डिलं न प्रत्युपेक्षितमिति न परिष्ठापयन्ति। अपरिष्ठापयतां च वेतालोत्थानदोषः । अथ परिष्ठापयन्ति तर्हि स्थण्डिलदोषाऽऽसङ्गः।तथाहि-रात्रौ बहिःसम्भवो वा स्तेनसम्भ्रमो वा, परचक्रविभ्रमो वा जातः, सोऽपि च व्रती कालगतः,स्थण्डिलं न प्रत्युपेक्षितमिति न परिष्ठापितः, तत्र यदि अग्निसंभ्रमाऽऽदिषु कथमनाथकलेवरमिव त्यक्त्वा व्रजामो, मा प्रवचनस्योड्डाहोऽभूदिति विचिन्त्य तिष्ठन्ति तस्य समीपे, तदा तेषामग्न्यादेर्विनाश उपधेर्वा स्तेनाऽऽदिभिरपहरणम्। अथ न तिष्ठन्ति किं तु तत्यक्त्वा पलायन्ते तदा ते जनमध्ये गर्हां प्राप्नुवन्ति । अथवा-स्थण्डिलं न प्रत्युपेक्षितमिति प्रभाते परिष्ठापयन्ति तदा मलिनैर्वस्त्रैस्तस्मिन्परिष्ठाप्यमाने प्रवच-

नस्यापभ्राजना-अहो अमी वराका अदत्तदाना मृता अपि शोभा न लभन्ते इति ।

" संभमादिसुं होज्जा " इत्यादिकमेव व्याख्यानयति-

तेणऽग्गिसंभमादिसु, तप्पडिबंधेण दाहों हरणं वा ।
मइलेहि अ छड्डंती, गरिहा य अथंडिले वावि ॥४२९॥

स्तेनाग्निसंभ्रमात्,आदिशब्दात्परचक्रसंभ्रमाऽऽदिपरिग्रहः । तत्प्रतिबन्धेन कालगतप्रतिबन्धेन निष्ठनामग्निदाहः,स्तेनैर्वा हरणं स्यात् । अथ स्थण्डिलं न प्रत्युपेक्षितमिति प्रभाते परिष्ठापयन्ति तदा मलिनैर्वस्त्रैरुपेतं छर्दयन्ति, गर्हा स्यात्, अथैतद्दोषभयादस्थण्डिलेऽपि परिष्ठापयन्ति ।

तथा अस्थण्डिले परितापनादोषः-

एए दोस अपेहिय, अह पुण पुव्वं तु पेहितं होतं ।
तो ताहि चिय निंता, एते दोसा न होंता य ॥४३०॥

एते अनन्तरोदिता दोषा अप्रेक्षिते स्थण्डिले भवन्ति । अथ पुनः पूर्वं प्रत्युपेक्षितमभविष्यत्ततस्तदैव यदि अनायिष्यतस्तदा एते अनन्तरोदिता दोषा नाभविष्यन् ।

अह पेहिए वि पुव्विं, दिया व रातो व होज्ज वाघातो ।
सावयतेणभया वा, वि ढक्किया ताहे अत्थावे ॥४३१॥

अथ पूर्वप्रेक्षितेऽपि स्थण्डिले दिवा वा रात्रौ वा भवेत् व्याघातः । कथमित्याह-श्वापदभयात्,स्तेनभयाद्वा । यदि वा ग्रामे द्वाराणि ढकितानि पिहितानि तदाऽऽस्थापयन्ति धरन्ति, न परिष्ठापयन्तीत्यर्थः । तथा बन्धनच्छेदनजागरमाणाऽऽदिका पूर्वोक्ता यतनाऽपि, स्थण्डिलस्य व्याघातस्तर्हि यावत् स्तेनाऽऽदिभयापगमो भवति, स्थण्डिलं वा किमपि कालोचितं प्राप्यते, तावत्सैव प्राक्तनी यतना कर्तव्या ।

असतीएँ सुकिलाणं, दिणकालगयं निसिं विगिंचंति ।
पडिहारियं च पच्छा-कडादि कोडीदुगेणं वा ॥४३२॥

अथ दिवसे कालगतः परं शुक्लानि वस्त्राणि न विद्यन्ते तर्हि शुक्लाना वस्त्राणामभावे दिनकालगतं बन्धनाऽऽदियतनाविषयं कृत्वा निशि रात्रौ ( विगिंचंति ) परिष्ठापयन्ति । अथ रात्रौ पूर्वोक्तप्रकारैर्व्याघातस्तर्हि यदन्यत एवमेव यावत् शुक्लं वस्त्रं न लभ्यते तदा पश्चात्कृताऽऽदिषु प्रातिहारिकं शुक्लं वस्त्रं याच्यते । अथ तदपि न लभ्यते तर्हि कोटीद्विकेनाप्युत्पादयेत् । किमुक्तं भवति ?-पूर्वं विशोधिकोट्यापीति ।

असतीए णेउ निसिं, ठवेत्तु सागारि थंडिलं पेहे ।
थंडिलवाघातम्मि वि, जयणा एसेव कायव्वा ॥४३३॥

कोटीद्विकप्रकारेणापि शुक्लवस्त्राणामभावे निशि रात्रौ सागारिकं शय्यातर कालगतस्य समीपे स्थापयित्वा स्वयं साधवः स्थण्डिलं तथाविधं प्रत्युपेक्षन्ते । अथ स्थण्डिलव्याघातस्तदा एवैवानन्तरोदिना यतना कर्तव्या । रात्रिद्वारं गतम् ।

अथ दिग्द्वारमाह-

महल्ल पुर गामे वा, वस्सा वाडग साधिओ ।
इहरा दुव्विभागाओ, कुग्गामे सुविभाविया ॥ ४३४ ॥

यत्र महापुरस्य महानगरस्य, महाग्रामस्य वा महत्त्वेन दिग्विभागो दुःखेन विभाव्यते, तत उपाश्रयाद्, वाटकात्, मार्वा दिग्विभागः परिभावनीयः, इतरथा दुर्विभागा भवेयुः, कुग्रामे तु सुविभागा दिशः ।

ताः पुनरिमा दिशः-

दिस अवरदक्खिणाद-क्खिणा य अवरा य दक्खिणपुव्वा
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ४३५ ॥

दिक् प्रथमतोऽपरदक्षिणा नैर्ऋती निरीक्षणीया, तदभावे दक्षिणा, तस्या अभावे अपरा पश्चिमा, तस्या अप्यभावे दक्षिणपूर्वा, आग्नेयी इत्यर्थः । तस्या अभावे अपरोत्तरा वायव्येति भावः । तस्या अलाभे पूर्वा, तस्या अप्यभावे उत्तरपूर्वा ।

संप्रति प्रथमायां दिशि सत्यां शेषदिक्षु परिष्ठापने दोषमाह-

समाही अभत्तपाणे, उवगरऽणज्झायमेव कलहो उ ।
भेदो गेलण्णं वा, चरिमा पुण कड्डते अण्णं ॥ ४३६ ॥

अथ प्राप्तायामपरदक्षिणायां परिष्ठापने प्रचुरान्नपानलाभः समाधिरुपजायते, तस्यां सत्यां द्वितीयस्यां दक्षिणायां परिष्ठापने अभक्तपानं भक्तपानाऽलाभः ,तृतीयस्यामनुपकरणमुपधेरभावः, चतुर्थ्यां दक्षिणपूर्वस्यां स्वाध्यायाभावः, पञ्चम्यामपरोत्तरस्यां कलहः , षष्ठ्यां पूर्वस्यां गच्छभेदता, सप्तम्यामुत्तरस्यां ग्लानत्वं, चरमा अष्टमी पूर्वोत्तरा कृतमृतकपरिष्ठापना अन्यं मृतकं कर्षयति, मरणमापादयतीत्यर्थः ।

एतदेव स्पष्टतरमाह-

पउरऽण्णपाण पढमा,बितियाए भत्तपाणें न लभंति ।
ततियाएँ उवहिमादी,नऽत्थि चउत्थीएँ सज्झाओ ॥४३७॥
पंचमियाएँ असंखड, छट्ठीएँ गणस्स भेयणं नियमा ।
सत्तमिए गेलण्णं, मरणं पुण अट्ठमी बेंति ॥ ४३८ ॥

गाथाद्वयमपि व्याख्यातार्थत्वात्सुगमं, नवरं " पउरण्णपाण पढमा " इत्यत्र प्राकृतत्वात्सप्तम्या लोपः । ततः प्रथमायामिति द्रष्टव्यम् । अष्टमीति अष्टम्यामिति ।

साम्प्रतमुक्तानुक्तद्वारसंग्रहार्थमाह-

रत्तिदिसा थंडिल्ले, सिल त्रिंबा झामिए य उस्सण्णे ।
छेत्तविभत्ते सीमा, सीसाणे चेव ववहारो ॥ ४३९ ॥

प्रथमं रात्रिद्वारं,तच्च प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तम् । द्वितीयं दिग्द्वारं, तच्च भण्यमानमास्ते, तृतीयं स्थण्डिलद्वारं त्रिधा शिलारूपं, विम्बाऽऽदि वृक्षाऽऽदीनामधो ध्यामितम् । चतुर्थमुत्सन्नद्वारं, पञ्चमं क्षेत्रैर्विभक्ते भूमिभागे द्वयोर्ग्रामयोः सीमायां परिष्ठापनीयमित्येवंलक्षणं, षष्ठं श्मशाने इति द्वारम् । तत्र च व्यवहारो वक्तव्यः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुकामो रात्रिद्वारं किल प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तमतो दिग्द्वारस्य वक्तव्यशेषमाह-

लभमाणे पढमाए, तीए असतीएँ वावि वाघाते ।
ताहे अन्नाए वी, दिसाएँ पेहेज्ज जयणाए ॥४४०॥

लभ्यमानायां, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, प्रथमायां परिष्ठापनम् प्रथमायां अपरदक्षिणस्या अभावे व्याघाते वा सति तत-

स्तस्या प्रथमाया दिशोऽन्यस्यां दिशि द्वितीयस्यां स्थण्डिलं यतनया प्रेक्षेत, तस्या अपि लभ्यमानाया अभावे व्याघाते वा तृतीयस्यामेवं यावच्चरमायामपि, न च प्रागुक्तो दोषः, तीर्थकराऽऽज्ञानुपालनपुरस्सरं यतनया प्रवृत्तेः । यदि पुनर्द्वितीयस्यां सत्यां तृतीयस्यां दोष उक्त स प्रसज्जति, चतुर्थ्यां तृतीयोक्तः। एवमुत्तरोत्तरदिक्षु अपि भावनीयम् । गतं दिग्द्वारम् ।

अधुना स्थण्डिलद्वारमाह -

सिलायलं पसत्थं तु, जत्थ वुच्छादि फासुयं ।
झामथंडिलमादी वा, निंबादीणं समीवगे ॥ ४४१ ॥

शिलातलं शिलातलरूपं यत् प्रशस्तं स्थण्डिल तत्र परिष्ठापयन्ति । अथवा -यत्र गोकुलमजा वा उषिताः । आदिशब्दादन्यद्वा यत्प्रासुकं तत्र । यदि वा-ध्यामिते अग्निना दग्धे प्रदेशे, आदिशब्दात् करीषाऽऽदिप्रदेशरूपे वा स्थण्डिले, यदि वा-निम्बाऽऽदीनां वृक्षाणां समीपे यत्र महान् सार्थ उषितस्तत्र परिष्ठापयन्ति । गतं स्थण्डिलद्वारम् ।

अधुना "उस्सण्ण" द्वारमाह-

उस्सण्णाऽऽचिण्ण कप्पा उ, होंति खेत्तेसु केसुई ।
अथंडिला दिसासुं वा, ते विजाणेज्ज पण्णवं ॥ ४४२ ॥

केषुचित् क्षेत्रेषु उत्सन्नेन बाहुल्येन बहुकालादाचीर्णाः कल्पा भवन्ति । किंविशिष्टा इत्याह-अस्थण्डिलाः, तथाहि-केषुचित् ग्रामेषु नगरेषु वा एवंरूपा मर्यादा यथा एतावति प्रदेशे मृतकं त्यक्तव्यं,नान्यत्र,यत्र च स्थण्डिलाभावस्तत्र धर्मास्तिकायप्रदेशनिश्रामुपकल्प्य परिष्ठापयेत् । यत्राऽपि नदीपूरेण वर्षासु स्थण्डिलप्रदेशः प्लावितोऽन्यासु विदिक्षु स्थण्डिलव्याघातस्तत्रापि धर्मास्तिकायप्रदेशनिश्रया परिष्ठापनं कुर्यात् । एतच्च प्रस्तावादुक्तम्, अन्यथा नायमाचीर्णः कल्पः । तथा केषुचित् क्षेत्रेषु दिक्षु बहुकालाऽऽचीर्णाः कल्पा भवन्ति । यथा आनन्दपुरे उत्तरस्यां दिशि संयता परिष्ठापयन्ति, ततस्तत्र तथैव परिष्ठापनं कर्त्तव्यं, नास्ति कश्चिद्दोषः । तानपि स्थण्डिलान् दिक्षु वा कल्प्यान् प्रज्ञावान् जानीयात्, ज्ञात्वा च तथैव समाचरेदिति । गतमुत्सन्नद्वारम् ।

इदानीं क्षेत्रविभक्ते सीमायामिति द्वारमाह-

खेत्तं वि भत्ते गामे, रायभए वा अदेंत सीमाए ।
भोजियमादी पुच्छा, रायपहे सीममज्झे वा ॥ ४४३ ॥

कचित् ग्रामे कौटुम्बिकैः क्षेत्रभूमयः सर्वा अपि सीमाछेदेन विभक्ताः, ततः समस्तं भूखण्डं क्षेत्रैर्निरुद्धं, क्षेत्रसीमासु च न लभ्यते परिष्ठापयितुम् । कुत इत्याह-(रायभए वा अदेंत सीमाए ) यदि क्षेत्रसीमाया परिष्ठाप्यते तदा येषां कुटुम्बिनां सीमा, ते राजकुले गृह्यन्ते, यथा युष्माभिरयं मारितः, ततः सीमाया राजभयेन,वाशब्दः समुच्चये, अददत्सु कौटुम्बिकेषु तस्य ग्रामस्य यो भोजिको महत्तरः,स पृच्छ्यते-यथा क्षेत्रसीमाया वयं मृतकं परिष्ठापयाम ,आदिशब्दात् यदि स ब्रूयात्-ग्रामुक्तो जानाति,नाहमिति । ततस्तं पृच्छ तदा स पृच्छ्यते, यदि सोऽनुजानाति ततः सुन्दरम् । अथ नानुजानाति तदा राजपथे परिष्ठाप्यते ।

अथवा—द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये सीमायां सरजोऽवग्रह इति कृत्वाऽधुना श्मशानमाह—

असतीए तु ससाणे, रुंभण अन्नत्थ अपरिभोगम्मि ।
असती अणुसट्ठादी-ऽणंतग अंताई इयरे वा ॥ ४४४ ॥

राजपथस्य ग्रामद्वयमध्यस्य वा कथमप्यभावे ( ससाणे ) श्मशाने परिष्ठाप्यते । अथ श्मशानपालकः श्मशानद्वारे स्थितो निरुणद्धि, यथा यत् दातव्यं तद्दत्त्वा श्मशानमभिगच्छथ, तदा अन्यत्रापरिभोगे यत्रानाथमृतकानि परिष्ठाप्यन्ते दह्यन्ते वा तत्र परिष्ठापयन्ति । अथ तादृक् स्थानं न विद्यते तदा तस्य असत्यभावे तस्य श्मशानपालकस्य अनुशिष्टिः शासनम् । आदिशब्दात् धर्मकथा च क्रियते । अथ तथापि न ददाति तर्हि ( से ) तस्य मृतस्य यानि 'णंतिगानि अन्तानि' तस्मै दीयन्ते, अथ तानि नेच्छति, तर्हि इतराणि नवानि दीयन्ते ।

कथंभूतानीत्यत आह-

अदासइ अणिच्छंते, साहारण गमण दार मुत्तूण ।
सति लंभमुवारुहणं, स चेव विगिंचणाऽलंभे ॥४४५॥

अदशानि दशारहितानि दीयन्ते, अथ तानि नेच्छति तर्हि साधारणं वचनं भण्यते, यथाऽयं कालगतोऽचनारितस्तिष्ठतु, वयं ग्राम प्रविश्य मार्गयामो,यदि लभ्यामहे दास्यामो, नो चेत् तमिदं मृतकमिति । एवं साधारणं वचनमुक्त्वा, नवर श्मशानद्वारे अवतार्य ग्राममध्ये गमनं कुर्वन्ति । यदि लब्धानि सदशानि वस्त्राणि ततः प्रत्यागत्य दत्त्वा परिष्ठापयन्ति । अथ न लब्धानि तदा राजकुले उपारोहणं चटनं, चटित्वा निवेद्यते-यथा युष्मदीयः श्मशानपालकः श्मशाने अनिनं कालगतं मोक्तुं न ददाति, साधवो हि निष्किञ्चनाः स त्वसमर्थं याचते । एवं निवेद्य तस्य पुरुषमानीय परिष्ठापयन्ति । एतेन यद्वस्तनद्वारगाथायां व्यवहार इत्युक्तं तद्भावितम् । अथ राजकुलं ब्रूयात्—श्मशानपालस्यैतदायत्तं, ततो यत्स ब्रूते तत्कर्त्तव्यम् । एवं राजकुले व्यवहारस्यालाभे सैव विवेचना । किमुक्तं भवति ?-पुनस्तत्र गम्यते ।

सीयाणस्स वि असती, अलंभमाणे उवरि कायाणं ।
निसिरंता जयणाए, धम्मादिपदेसनिस्साए ॥ ४४६ ॥

अथ श्मशानपालकः श्मशानद्वारे मृतकस्य स्थापनं न ददाति तदा श्मशानस्याभावे श्मशानद्वारेऽवस्थापयितुमलभ्यमाने अस्थण्डिलेऽपि कायाना हरति कायादीनामुपरि यतनया धर्माऽऽदिप्रदेशनिश्रया धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशेष्विदं परिष्ठापयाम इति कल्पनया,निसृजन्तः परिष्ठापयन्ति शुद्धा ।

एसा सत्तण्ह मज्जाया, ततो वा जे परेण य ।
हेट्ठा सत्तण्ह लोगा उ,तेसिं वुच्छामि जो विही ॥४४७॥

एषा अनन्तरोदिता मर्यादा विधिः सप्तानां,तेभ्यो वा सप्तभ्यः परेण परतो ये अष्टप्रभृतयस्तेषां द्रष्टव्यो,ये तु सप्तानामधस्तात् लोकास्तेषां यो विधिस्त वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव करोति-

पंचण्ह दोण्हि हारा, भयणा आरेण पालहारेसु ।
ते चेव य कुसपडिमा, नयति हारावहारो वा ॥४४८॥

यदि सप्तानामधस्तात् पञ्च भवन्ति, तदा त्रयो विश्रम्य द्वौ द्वौ भूत्वा वहन्ति, एको वसतिपालः, एकस्तृणाऽऽदि मात्रकं च गृह्णाति । पञ्चानां विधिं साक्षादाह-पञ्चानां साधूनां संभवे द्वौ हारौ वहन इत्यर्थः । तृतीयः कुशाऽऽदि नयति,

चतुर्थो वसतिपाल, पञ्चम' कालगत'। पञ्चानामारतो ये चतु:प्रभृतयस्तेषा वसतिरक्षणे वहने च विकल्पना। किमुक्तं भवति ?-यथासंभवमशून्या वसतिं कृत्वा शय्यातरस्य वा निवेद्य शून्यामपि कृत्वा यथा शक्नुवन्ति तथा परिष्ठापयन्ति। तथा चाऽऽह-त एव हरामृतवाहकाः कुशानप्यानयन्ति। अयमत्र भावना-शय्यातरस्य च निवेदने कृते त्रयो विश्रम्य वहन्ति। यस्तु विश्राम्यति स कुशाऽऽदि नयतीति। अथवा-य: एव समर्थः स हरो भवेत्, स वहतीति भावः।

एको व दो व उवहिं, रत्तिं वेहास दिव असुण्णम्मि।
एक्कस्स य दो चेव य,छड्डण गुरुगा य आणादी ॥४४६॥

यदि त्रयः साधवो भवेयुः तदा एक कालगतो, यौ च द्वौ तौ रात्रावुपधिं विहायसि कृत्वा एको द्वौ वा वहत'। अथ दिवा परिष्ठाप्यते तदा एकस्य मोचनेन विधिस्तथैव द्रष्टव्यो यथा द्वयोरनन्तरमुक्त। किमुक्तं भवति ?-रात्रावुपधिं विहायसि कृत्वा परिष्ठापयन्ति, दिने शय्यातरभालनेन वसतिमशून्या कृत्वा परिष्ठापयेत। यद्येकद्वित्रिप्रभृतय स्तोका वयं कथ धोदयाम इति विचिन्त्य न परिष्ठापयन्ति किं तु त्यक्त्वा गच्छन्ति, तदा तेषा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका, न केवलं प्रायश्चित्तमेव किन्त्वाऽऽज्ञादयश्च दोषा:, तन्निमित्तमपि तेषा प्रायश्चित्तमिति भाव ।

इमे चान्ये दोषाः-

गिहि गोण मल्ल राउल-निवेयणा पाणकड्डणुड्डाहे।
छक्कायाण विराहण, झावण सुक्खे य वाव्रन्ने ॥४५०॥

साधूनामभावे गृहिणस्त त्यजन्ति। यदि वा-गावौ वलीवर्दौ योक्त्रयित्वा ताभ्या गृहस्था: कर्षयन्ति। अथवा-मल्लै परित्याजयन्ति। यदि वा-गृहस्था राजकुले निवेदयन्ति, तत्र पाणेराकर्षणे प्रवचनस्योड्डाह। यथा प्रासमीदृशेन धर्मेण, यत्रेदृशी अवस्था प्राप्यते, प्रवचनविरूपा दोषा इयं संयमविराधना। असंयतैर्नीयमानै: षट्कायविराधना, ध्मापनं दहनं तस्य कलेवरस्य गृहस्थै क्रियेत, ततस्तत्रापि षट्कायविराधना। तथा व्यापन्ने कुथिते कृमिजालसंसक्ते शुष्के शोषमुपगते द्वीन्द्रियविराधना।

उपसंहारमाह-

तम्हा उ वड्डितं चेव, वोढुं जे जइए बला।
नयंति दो वि निद्दोव्वे, सदोव्वे ठावए निसि ॥४५१॥

यस्मादेते अनन्तरोदिता दोषास्तस्मात्स्तोकैरपि परिष्ठापयितव्य तत्र विधि प्रागुक्त एव। यथा यदि चत्वारस्तदा एको वसतिपाल', शेषास्त्रयो विश्रम्य विश्रम्य तत्कलेवरं वहन्ति, यस्तु विश्राम्यति स तृणानि मात्रकं वहति। अथ त्रयो जना, यदि वा-द्वौ, तदा यदि रात्रौ निर्भयं तर्हि (निद्दोव्वे)निर्भये येन तदुपरि कलेवरं वोढुं प्रति सह्या' समर्थास्ते द्वावपि नयन्ति, उपधिं तच्च कलेवरं नयन्तीत्यर्थ:। नीत्वा च कलेवरं परिष्ठापयन्ति। अथ बहिरुपकरणस्तेनभयं तदा रात्रावुपकरणं विहायसि विलम्ब्य द्वारं बद्ध्वा परिष्ठाप्य प्रत्यागच्छन्ति। यदि वा-सदोषे समये रात्रौ तत्कलेवरं परिष्ठापयन्ति, स्थापयित्वा बन्धनच्छेदनजागरणाऽऽदिका यतना कुर्वन्ति, ततो दिवसे यदि शक्नुवन्ति तदा उपकरणं गृहीत्वा परिष्ठापयन्ति। अथोपकरणं वोढुं न शक्नुवन्ति तदा शय्यातराऽऽदीनां परिनिवेद्य द्वारं स्थगयित्वा परिष्ठापयन्ति, परिष्ठाप्य भूयो वसतौ प्रत्यागच्छन्ति।

अह गंतुमणा चेव, तो नयंति ततो च्चिय।
ओलोयणमकुव्वंतो,असढो तं तु सुज्झए ॥ ४५२ ॥

अथान्यं ग्रामं ते गन्तुमनसस्तत उपकरणं सह नयन्ति। नीत्वा तत्कलेवर परिष्ठाप्य तत एव परिष्ठापनप्रदेशात्परतोऽन्यं ग्रामं गच्छन्ति। तत्र यदुक्तमधस्तात्कल्पाध्ययने-"अवरक्कयम्मि अवलोयण कायव्वा" इति। तदन्यग्रामगमनेनाशठोऽकुर्वन् शुध्यति, न दोषभाग् भवति।

छड्डेउं जइ जंती, नायमनाए व तेण परलिंगं।
जइ कुव्वंती गुरुगा, आणादी भिक्खुदिट्ठंतो ॥ ४५३ ॥

यदि कालगतं छर्दयित्वा अपरिष्ठाप्य गच्छन्ति तर्हि ते विचारणीयास्तेन ग्रामेण ते ज्ञाता वा, तस्य परिचिता वा इत्यर्थ। तत्र ज्ञाते ग्रामस्य परिचये सति यदि कालगतस्य परलिङ्गं कुर्वन्ति, कृत्वा वा परिष्ठाप्य गच्छन्ति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका, आज्ञाऽऽदयश्च दोषा। अथ अज्ञाते परलिङ्गं कृत्वा अपरिष्ठाप्य गच्छन्ति तदा कालगतस्य परलिङ्गदर्शनतो मिथ्यात्वगमनम्। अत्र च श्रावकभिक्षुदृष्टान्त। स च आवश्यकटीकातो भावनीय। (स चाऽस्मिन् कोशेऽपि ' भिक्खुदिट्ठत ' शब्दादवगन्तव्य:)

तत्र ज्ञातेऽन्ये च दोषास्तानेवाऽऽह-

अचियत्तमादि वोच्छे-यमादि दोसा उ होंति परलिंगे।
अन्नाए ओहि काले, अकए गुरुगा य मिच्छत्तं ॥४५४॥

ज्ञाते सति परलिङ्गं कृतमितराश्च साधून दृष्ट्वा अप्रीतिं कुर्वन्ति। अहो इमे संयता नि शङ्का निर्लज्जा मा परिष्ठाप्योभूदिति परलिङ्गमारोप्यापरिष्ठाप्य त्यक्त्वा गता। आदिग्रहणेनाऽऽगाढमिथ्यादृष्टीनां प्रीतिरुपजायते इति परिग्रह। सूत्रे च व्युच्छेदाऽऽदयो दोषा। तथाहि-ते आगाढमिथ्यादृष्टय: प्रीतिं कुर्वते। अहो 'सुन्दरमात्मनैव तै प्रवचनस्य हीलना कृता, मा एतेषामाहारादीनि प्रयच्छथ। आदिग्रहणात्त्व कोऽपि प्रव्रज्या प्रतिपद्येत, मा सोऽप्येवंविधामवस्था प्राप्नुयात्। एते ज्ञातानां दोषा। अथाज्ञाना यतना कृत्वा तत्कलेवरमपरिष्ठाप्य व्रजन्ति, यदि क्षिप्रमेव गतास्तत: स पश्चात्कालगतो देवलोके उत्पन्नोऽवधिं प्रयुङ्क्ते। तत स एवं मन्यते- अहमेतेन लिङ्गेन देवो जात, एवं मरणानन्तरं मिथ्यात्वगमनम्। अत्र काले कृते तेषा गमने प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका'। यस्मादेते दोषास्तस्माद्विधिना परिष्ठाप्य।

संप्रति यः कथञ्चन एकाकी जातस्तस्य परिष्ठापनाविधिमाह-

एगागी तो जाहे,न तरेज्ज विगिंचिउं तया सो उ।
ताहे य विमग्गेज्जा, इमेण विहिणा सहायाओ ॥४५५॥

तत एकाकी त्यक्तकलेवरं विवेक्तुं न शक्नुयात्, तदा अनेन वक्ष्यमाणेन विधिना सहायान्विमार्गयेत्।

तमेव विधिमाह-

संविग्गमसंविग्गे, सारूवियसिद्धपुत्त सण्णी य।

सग्गामम्मि य पुर्व्वि, सग्गामऽसती परग्गामे ॥४५६॥
अप्पाहेइ सयं वा, वि गच्छई तत्थ ठाविया अण्णं ।
असती निरच्चए वा, काउं ताहे व वच्चेज्जा ॥४५७॥
संविग्गाई ते च्चिय, असतीए ताहेँ इत्थिवग्गेण ।
सिद्धी साविग संजति,किटि मज्झिम कायतुल्ला वा ।४५८।

यदि तस्मिन् ग्रामे अन्येऽपि संविग्ना असांभोगिकाः सन्ति, तदा तैः सह परिष्ठापयन्ति, तेषामभावे असंविग्नैः पार्श्वस्थाऽऽदिभिः समं, तेषामप्यभावे सारूपिकसिद्धपुत्रैः,तेषामप्यप्राप्तौ संज्ञिभिः श्रावकैः समम्। एवं पूर्वं स्वग्रामे मार्गणा कर्त्तव्या, तत्र स्वग्रामे संज्ञिनामप्यसति अभावे यदि परग्रामे स्वपक्षोऽस्ति तत्र कश्चित्प्रेषयति, अन्यस्य तथाविधस्य प्रेषणयोग्यस्याभावे ( अप्पाहेइ त्ति ) अन्यं गच्छन्तमादिशति, अन्यस्यापि गच्छतोऽसंभवे कालगतस्य पार्श्वे कञ्चित् स्थापयित्वा स्वयमन्यग्रामं गच्छन्ति, गत्वा स्वपक्षमन्यमानयति। अथ स कोऽपि न विद्यते यः कालगतस्य पार्श्वे स्थाप्यते, तर्हि यत्र कीटिभिर्न भक्ष्यते तत्र निरत्यये निरपाये स्थाने कालगतं कृत्वा ततोऽन्यग्रामं व्रजेत्, गत्वा संविग्नाऽऽदीनानयति, प्रथमतः संविग्नान् सांभोगिकानानीय तैः समं परिष्ठापयन्ति । तेषामप्यप्राप्तौ श्रावकैः समं, तेषामप्यभावे स्त्रीवर्गेण । तत्र क्रममाह-प्रथमतः सारूपिकीभिः सिद्धपुत्रीभिरतुल्यवयोभिः,तासामप्यलाभे श्राविकाभिरतुल्यवयोभिः,तासामप्यलाभे वृद्धाभिः संयतीभिः,तासामप्यप्राप्तौ मध्यमकायाभिः संयतीभिः, तासामप्यलाभे तुल्याभिरपि तुल्यवयोभिरपि संयतीभिः ।

गण भोइए व जुंगिते, संवरमादी मुहा अणिच्छंतो ।
अणुसट्ठि अदसादी,तेहिँ समं तो विगिंचति तु ॥४५९॥

तुल्यवयसामपि संयतीनामभावे मल्लगणं वा हस्तिपालगणं वा कुम्भकारगणं वा समुपतिष्ठति,ततो यान् ते सहायान् ददति तैः समं परिष्ठापयति, गणानामभावे भोजिक ग्राममहत्तरमुपतिष्ठते ततो यावत्सहायान् ददाति तैः सह परिष्ठापयति,तत्रापि सहायानामलाभे ये जुङ्गिका हीनजातयो हीनकर्माणश्च संवराऽऽदयश्च संवराः कचवरोत्सारका, आदिशब्दात्परोधिकास्नानकारकक्षालप्रक्षालकाऽऽदिपरिग्रहः । तेषामनुशिष्टिं ददाति,ततस्तैः सहायैः परिष्ठापयति। अथ ते मुधा नेच्छन्ति तदा ये अन्ये जातिजुङ्गिका वरुडाऽऽदयस्तेषामनुशिष्टिं ददाति अथ तेऽपि मुधा नेच्छन्ति तदा तेषामदशानि वस्त्राणि मूल्यं दीयते, अदशानामनिच्छाया ततस्तैः समं विगिञ्चेत्।

अह व संभिज्ज दारट्ठो, मूल्लं दाऊण नीणहा ।
अणुसट्ठादी तु तहियं, अणो वा भणती जती ॥४६०॥

तस्मिन्कालगते कदाचित् रात्रौ नीयमाने द्वारस्थो द्वारं रुन्ध्यात्,यदि किञ्चित् प्रयच्छ ततो निष्काशं ददामि, क्वचिद्देशे पुनरयमाचारो-दिवसेऽपि मृतं द्वारपालस्य किञ्चित् दत्वा निष्काश्यते, तस्य रुन्धतोऽनुशिष्टिः कर्त्तव्या। आदिशब्दात् धर्मकथाऽपि। तत्र यदि नेच्छति ततो यद्यन्यः कोऽपि धर्मकथामनुशिष्टिं वा श्रुत्वा ब्रूते इत्याह-

मुंच साहामऽरं मुल्लं, उवेहं तत्थ कुव्वती ।



अदसा देंती वत्थे, असती साहरणं वदे ॥४६१॥
जइ लब्भामों आणेमो, अलद्धे तं वियाणओ ।
सो वि लोगरवा भीतो, मुंचते दारवालओ ॥ ४६२ ॥

मुञ्चामुं साधुमहं ते मूल्यं दास्यामि, तत्रापेक्षां साधुः कुरुते,न तं मूल्यं प्रयच्छन्तं वारयति। अथान्यः कोऽपि नैवं भणति, तदा अदशानि वस्त्राणि ददाति, तेषामनिच्छायां सदशान्यपि। अथ वस्त्राणि सदशान्यदशानि वा न सन्ति तदा तेषामभावे साधारणं वदेत्। तथाहि-यदि लभ्यामहे तत आनेष्यामो, अलाभे त्वमेतस्य कलेवरस्य विज्ञायकः, एवं साधारणे उक्ते सोऽपि द्वारस्थो लोकरवभीतो नियमात् मुञ्चति, अमोचने तत्तत्रैव मुक्त्वा वस्त्रोत्पादनाय गच्छन्ति, गत्वा अन्तं प्रान्तं वा वस्त्रमानयन्ति, अलाभे सोऽपि द्वारपालो मृतकेन हील्यते, ततो मुहूर्त्तानन्तरं स्वयमेव मुञ्चति।

अज्ञातविषयेऽपवादमाह-

अण्णाए वावि परं, लिंगं जयणाएँ काउ वच्चंति ।
उवओगट्ठ नाऊणं, एस विही असहायए ॥ ४६३ ॥

अथवा अज्ञाते अपरिचिते ग्रामरूपे यतना कालगतस्य परलिङ्गं कृत्वा व्रजति। कया यतनयेत्याह-उपयोगार्थं ज्ञात्वा एतावता कालेन तस्य कालगतस्य उपयोगलक्षणोऽर्थोऽभूत्, नातः परं, परलिङ्गकरणेऽपि कश्चिद्दोष इति ज्ञात्वा एष विधिरसहायेष्वसहायस्य एकाकिनो द्रष्टव्यो, न तु द्विप्रभृतीनामपीति।

एएण सुत्त न गयं,सुत्तनिवातो उ पंथ गामे वा।
एगो व अणेगा वा, हवेज्ज वीसुंभिया भिक्खू ॥ ४६४ ॥

यदेतत् व्याख्यातमेतेन न सूत्रं गतं, किं तु सामाचारीप्रकाशनिमित्त सर्वमेतत् व्याख्यातम्। संप्रति यदधः प्रतिपादितः सूत्रनिपातः पथि ग्रामे वेति तदिदानीं व्याख्यायते-एको वा अनेके वा भवेयुर्विष्वग्भूताः भिक्षवः । इयमत्र भावना । अत्र चत्वारो भङ्गाः-एकेन साधुना एकः कालगतो दृष्ट ।१। एकेन अनेके २, अनेकैरेकः ३ अनेकैरनेके ४ ।

तत्र प्रथमभङ्गमधिकृत्य विधिमाह—

एगागियं तु गामे, दट्ठुं सोउं विगंचण तहेव ।
जो दाररुभणं तू , एसो गामे विही वुत्तो ॥ ४६५ ॥

ग्रामे एकाकी एकाकिनं कालगतं संविग्नमसंविग्नं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा विवेचनं परिष्ठापनं तथा कुर्यात् यथोक्तमनन्तरं तावत् द्वारे निरोधनम्। एवं शेषेष्वपि भङ्गेषु संविग्नशरीरं वा असंविग्नशरीरम् वा " एगो एगं पासइ, एगो णेगे, ते पुण संविग्गियरे वा जे वा " प्रागुक्तेन विधिना परिष्ठापयितव्याः। एष ग्रामे विधिरुक्तः।

संप्रति पथि विधिमभिधित्सुराह—

एमेव य पंथम्मि वि,एगमणेगे विगिंचणा विहिणा ।
एत्थं जो उ विसेसो, तमहं वुच्छं समासेणं ॥ ४६६ ॥

( एमेव ) अनेनैव प्रागुक्तेन प्रकारेण, पथ्यपि एकस्यानेकस्य च विवेचना परिष्ठापना द्रष्टव्या, नवरमत्र यो विशेषस्तमहं समासेन वक्ष्ये ।

तत्र एकानेकप्रतिपादनार्थमाह—

एगो एगं पासति, एगोऽणेगे अणेगे एगं वा ।
णेगाणेग ते पुण, संविग्गितरे व जे दिट्ठा ॥ ४६७ ॥

एक एकं पश्यतीति प्रथमो भङ्गः १, एकोऽनेकान् २, अनेके एकम् ३, अनेके अनेकान् ४, तत्र ये दृष्टास्ते संविग्ना भवेयुरसंविग्ना वा, सर्वथा परिष्ठापना कर्त्तव्या अन्यथा प्रवचनोपघात स्यात्।

संप्रति विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

वीइक्कते भिन्ने, नियट्टे मोत्तूण पंच वि पयाइं ।
मिच्छत्त अन्नपंथे-ण कड्ढणा झामणा जं च ॥ ४६८ ॥

व्यतिक्रान्तं, व्यपगतजीवमिति भाव । भिन्नं श्वाऽऽदिभिर्विकीर्णं कुथितमकुथितं वा तस्मिन् व्यतिक्रान्ते, भिन्ने, उपलक्षणमेतत्—अभिन्ने वा श्रुते निवृत्य यथाक्रमविधिना तत्परिष्ठापयेत्। यदि पुन श्रुत्वा एकमपि पदं गच्छति तदा आज्ञाऽऽदीनि पञ्चापि पदानि तस्य प्रसजन्ति, न केवलमाज्ञाऽऽदीनि पञ्च पदानि, किं त्वन्यान्यऽपि मिथ्यात्वाऽऽदीनि प्रसजन्ति । तद्यथा-श्रुत्वा यदि परिष्ठापनामयादन्यपथेन उन्मार्गेण वा अन्यग्रामाभिमुखं व्रजति तदा न स यथा—वादकारीति तस्य मिथ्यात्वम्। (कड्ढण त्ति) गृहे वाऽऽऽकर्षणे यत्प्रायश्चित्तं तदपि प्राप्नोति । तथा ( झामण त्ति ) अग्निकायेन यदि तस्य कलेवरस्य दाह. क्रियते तदा ध्यामननिष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते । यच्चान्यत्तदपि प्राप्नोति । किं तदिति चेत्,यावन्त प्राणा निमूर्च्छन्ति तावन्तो विराध्यन्ते, यावन्तश्चाऽऽगन्तुका प्राणास्ते विराधनामाप्नुवन्ति,तत्सर्वमपरिष्ठापयन्प्राप्नोति। अथवा श्रुत्वा पदमात्रनिक्रमेऽपि पञ्चापि पदानि प्राप्नोति । कानि तानीति ? अत आह—मिथ्यात्वमयथावादकारित्वात् पथेन व्रजति तन्निमित्त प्रायश्चित्तम् । २ गृहस्थाऽऽदिभि कर्षणं, तन्निष्पन्नम् । ३ अग्निकायेन दहने तद्धेतुकम् । ४ । यच्चान्यत्संमूर्छिताऽऽगन्तुकप्राणजातिविराधनाज, तदपि । ५ ।

साम्प्रतमेनामेव गाथा व्याविख्यासुराह—

तं जीवातिक्कंतं, भिन्नं कुथितेतरं च मोऊणं ।
एगपयं पि नियत्ते, गुरुगा उम्मग्गमादी वा ॥ ४६९ ॥

तत्कलेवरं जीवातिक्रान्तं व्यतिक्रान्तमुच्यते, भिन्न श्वाऽऽदिभिर्विकीर्णं,तच्च कुथितमकुथितं वा। उपलक्षणमेतत्-भिन्न । वा श्रुत्वा एकपदमपि न गच्छति, किं तु निवर्त्तेत, अन्यथा एकपदातिक्रमेऽपि प्रायश्चित्तं चत्वारोऽपि गुरुका , उन्मार्गाऽऽदौ वा प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका ।

आणादी पंचपदे, नियत्तणे पावए इमे अन्ने ।
मिछत्ताऽऽदी व पदे, कमविक्खेवा व जे पंच ॥४७०॥

न केवलमनिवर्त्तने प्रायश्चित्तं,किं त्वाज्ञाऽऽदीनि पञ्च पदानि प्राप्नोति । तद्यथा-आज्ञा १,अनवस्था २, मिथ्यात्वम् ३, आत्मविराधना ४,संयमविराधना च ५। न केवलमसूनि पदानि, किन्त्वियमान्यपि मिथ्यात्वाऽऽदीनि पदान्यन्यानि प्राप्नोति । तानि च प्रागेव भावितानि। अथवा-पञ्चापि पदानि प्राप्नोति इत्युक्तेतत्र तान्येव पञ्च पदानि द्वारगाथाया दर्शयति–क्रमविक्षेपादािनिक्षेपाद्यानि पञ्च पञ्च पदानि मिथ्यात्वाऽऽदीनि मिथ्यात्वमन्यपथेन प्रव्रजनं गृहस्थाऽऽदिभिराकर्षणम, अग्निकाये न दहनं ४, यच्चान्यत्संमूर्छिताऽऽगन्तुकप्राणजातिविराधनमिति तानि प्राप्नोति । तदेवं पञ्च पदानीत्यस्य व्याख्यानं द्विधा कृतम्।

संप्रति कर्षणपदं यच्चेति पदं व्याख्यानयति-

गोणादि जत्तियाओ, व पाणजातीउ तत्थ मुच्छंति ।
आगंतुगा व पाणा, जं पावंते तय पावे ॥ ४७१ ॥

गवाद्यो यन्नमाकर्षयन्ति यावन्तो वा प्राणजातयस्तत्र कलेवरे मूर्छन्ति, आगन्तुका वा प्राणा यथाऽऽनुचन्ति, तद्तत्सर्वं साऽनिवर्त्तमान प्राप्नोति, शेषपदानि सुगमानीति कृत्वा न व्याख्यातानि ।

अधुना विवेचनमाह-

दट्ठुं वा मोउं वा, अन्नायामं विगिंचए विहिणा ।
वावण्णे परलिंगं, उवहीनातो व अन्नातो ॥ ४७२ ॥

पथि कालगतं दृष्ट्वा यदि वा-कालगत इति अन्यत श्रुत्वा, यदि तत्र कलग्रमव्यापन्नम्, अविभिन्नमित्यर्थ । तत पूर्वोक्तेन विधिना विवेचयेत्। अथ स एकाकी, तत परिष्ठापयितु न शक्नोति । यदि वा-शक्नोति परं बहवा मृतास्तत परलिङ्ग कृत्वा त्यजति । अथ तत् व्यापन्न तदा तस्मिन्परलिङ्ग कर्त्तव्यम् । परलिङ्गकरण नाम-यस्तस्योपधिग्रहणम्। स चोपधिर्द्विधा-ज्ञातो वा अज्ञातो वा । ज्ञाता नाम यथैतत्साम्भोगिकस्य साधाम्पकरणम्, अज्ञाना नाम यो न ज्ञायत, किमेष साम्भोगिकस्य, किं वा असाम्भोगिकस्यति ?। तत्र ज्ञातोऽज्ञातो वा तस्योपधिर्ग्रहीतव्य ।

अथ कस्मात्परलिङ्गं क्रियते?, तत आह—

मा णं पिच्छंतु बहू, इति नाए वि करेइ परलिंगं ।
गहिउम्मि वि उवगरणे, परलिंगं चेव तं होइ ॥४७३॥

मा अमुं बहवो जना प्रेक्षन्तामिति कृत्वा ज्ञातेऽपि तस्मिन्कालगते परलिङ्ग क्रियते। किं तत्परलिङ्गकरणमिति चेत ?,अत आह—गृहीते चोपकरणे परलिङ्गमेव तद्भवति, साधुलिङ्गाभावात् ।

संप्रति ज्ञातस्य चोपधिग्रहणे विधिमाह-

सागारकडे एक्को, मणुन्न दिस्सो सुहो भवे विइओ ।
अमणुन्ने अप्पिणतो,न गेण्हती दिज्जमाणं पि ॥४७४॥

सागारकृतं नाम य स्वयं तान्मर्थीकृतं किन्त्वाचार्या एतस्य विज्ञायका इति बुद्ध्या परिगृहीतं तस्मिन्सागारकृते एक प्रथमोऽवग्रह । यदि साम्भोगिकस्योपधिरयमिति ज्ञातस्तदा आचार्यसमीप गत्वा निवेद्य आचार्यस्य समर्पयति। तत्र यद्याचार्यो ब्रूते-त्वमेवामुमुपधिं परिगृहाण, 'ततो मस्तकेन वन्दे' इति भणित्वा अन्येषा साधूना निवेदयति । यथा क्षमाश्रमणैरेतद्वस्त्र पात्र वा मह्य दत्तमिति। ततस्ते ब्रुवते-आगरधारिणीयं क्षमाश्रमणाना गुणैर्वर्द्धस्व । एवमन्योऽप्यस्य साम्भोगिकस्योपधेर्द्धस्त्यावग्रहो द्वितीय । अथामनोज्ञ स उपधिस्तर्हि तं गुरो समर्पयति, न च गुरुणा दीयमानमपि न गृह्णाति ।

असांभोगिकसत्कत्वात्तर्हि कथं तत्कर्त्तव्यमित्याह–

इयरेसिं घेत्तूणं, एगंते परिठवेज्ज विहिणा उ ।
अन्नाए संविग्गो–वहिम्मि कुज्जा उ घोसणयं ॥४७५॥

इतरेषामसांभोगिकानां लिङ्गमात्रोपजीविनां वा संबन्धी यदि ज्ञातो भवति तर्हि आचार्याणां तथैव निवेदनीयं, तत्र यद्यन्य उपधिर्नास्ति ततः कारणे आचार्यो ब्रूते–परिशुद्धया ऽमुमुपधिमिति, तेन च तथेति प्रतिपत्तव्यम्। अथान्य उपधिः समस्ति, तदा सूरिवचनात्तं गृहीत्वा एकान्ते परिष्ठापयेत्। अथ न ज्ञातो भवति किमयमुपधिः संविग्नस्येति तदा अज्ञाते संविग्नोपधौ विधिना घोषणं कुर्यात्। व्य० ७ उ०। ध०।

पारिट्ठावणियागार–पारिस्थापनिकाऽऽकार–पुं० । परिष्ठापनं सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकम्। तदेवाऽऽकारः पारिष्ठापनिकाऽऽकारः। पञ्चा० ५ विव०। परिष्ठापनरूपे प्रत्याख्यानाऽऽकारे, प्रव० ४ द्वार।

पारिणामिय–पारिणामिक–पुं० । पारे समन्तान्नमनं जीवानामजीवानां च जीवत्वाऽऽदिरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवन परिणामः, स एव तेन वा निर्वृत्त पारिणामिकः। कर्म०४ कर्म०। जीवाजीवभव्यत्वाऽऽदिलक्षणे भावभेदे, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। अनु० । आ० म० । प० सं० । आचा० । "भव्वाभव्वजीवत्तपरिणामे।" भव्यत्वमभव्यत्वं जीवत्वं चेति त्रयो भेदा परिणामे। कर्म० ४ कर्म०। (अस्य व्याख्या 'परिणामिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१५ पृष्ठे दर्शिता)

पारिणामिया–पारिणामिकी–स्त्री० । पारे समन्तान्नमनं परिणामः। सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनाऽऽदिजन्य आत्मधर्मः स कारणं यस्या सा पारिणामिकी । भ० १२ श० ५ उ० । प्रायो वयोविपाकजन्ये बुद्धिभेदे, रा०। ज्ञा०। आ० क। आ० चू०। न०। ('परिणामिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१६ पृष्ठे इयं सोदाहरणा लक्षिता) "एव विणीओ दोहलो, णवहिं मासेहिं दारगो जाओ, रणो णिवेइयं,तुट्ठो दासीए अट्टाविओ असोगवणियाए, कहियं सेणियस्स, आगओ, अंवाडिया किं से पढमपुत्तो उज्झिओ त्ति ?। गओ असोगवणियं, तेण सो उजीविओ। असोगचंदो से नाम कयं। तस्थवि कुक्कुडिपिच्छएणं कोणंगुली अहिविद्धा, सुकुमालिया सा न पउणइ,कूया जाया, ताहे से दारएहि नामं कयं कूणिओ त्ति ।" (१२८८ गाथा) आव० ४ अ०। (अशोकचन्द्रवृत्तमपि 'परिणामिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२० पृष्ठे गतम्) ('कूणिय' शब्दे तृतीयभागे ६२६ पृष्ठादारभ्यात्र विशेषः)

पारितावणिया–पारितापनिकी–स्त्री० । परितापनं नाम दुःखं. तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी। ध०३ अधि०। आव०। परितापनं दुःखविशेषलक्षणं तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी। स०४सम०। पीडाकरणे भवायां,पीडाकरणेन वा निर्वृत्तायां क्रियायाम् भ०३ श ३उ०। आ०चू०। प्रज्ञा०। स्था०। खड्गाऽऽदिघातेन पीडाकरणे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। सा च द्विधा–स्वदेहपारितापनिकी, परदेहपरितापनिकी च। आद्या स्वदेहे परितापनं कुर्वतः, द्वितीया–परदेहे परितापनमिति, तथा चान्यः रुष्टोऽपि स्वदेहपरितापनं करोत्येव कश्चिज्जडः। अथवा–स्वहस्तपारितापनिकी, परहस्तपारितापनिकी च। आद्या स्वहस्तेन परितापनं कुर्वतः, द्वितीया परहस्तेन कारयतः। आव० ४ अ०। आ०चू०।

पारित्त–परत्र–अव्य०। परलोके, न०।

पारित्तए–पारयितुम्–अव्य०। पारमेतुमित्यर्थे, भ० १२ श० १ उ०।

पारित्तविइय–परत्रद्वितीय–पुं० । जीवानां परलोके द्वितीये धर्मे, तं०।

पारिप्पव–पारिप्लव–पुं०। पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आचा०।

पारियट्ट–न०। वाह्यपृष्ठस्य वाह्यभूमौ, न०।

पारियावणिया–पारियापनिका–स्त्री०। कालान्तरं यावत्स्थितौ, "सव्वं च से उवट्ठाणपरियावणियं परिक्कहेइ।" ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०। स्था०। परितापनं ताडनाऽऽदुःखविशेषलक्षणं, तेन निर्वृत्ता पारितापनकी। स्था० २ ठा० १ उ०।

पारियासिय–परिवासित–त्रि०। ह्यस्तने, भ० १५ श०। पर्युषिते, बृ० ३ उ०। नि०। ग०। (पर्युषिताऽऽहारग्रहणनिषेधो 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६७ पृष्ठे कृतः)

पारिव्वज्ज–पारिव्रज्य–न०। परिव्राजामिदं पारिव्रज्यम्। मस्करित्वे गृहस्थभावत्यागे, द्वा० १८ अष्ट०।

पारिव्वाय–पारिव्राज–न०। परिव्राट्संवन्धिनि, आ०म०१अ०।

पारिसाडणिया–पारिशाटनिका–स्त्री०। परिशाटनं दानाय देयवस्तुनो भूमौ छर्दनं, तेन निर्वृत्ता पारिशाटनिकी। ध० ३ अधि०। उज्झनभवायां पारिष्ठापनिकायाम्, आव० ४ अ०।

पारिहत्थिय–पारिहस्तिक–पुं०। प्रकृत्यैव दक्षे सर्वप्रयोजनानामकालहीनतया कर्तरि स्था० ६ ठा०।

पारिहारिय–पारिहारिक–पुं०। परिहारस्तपोविशेषः, तेन चरन्तीति पारिहारिकाः। ध०४ अधि०। परिहारतपोवाहकेषु,जी०।

"गतास्तत्राऽथ तान् द्रष्टुं, तावत्पश्यन्ति लिङ्गिकान्।
पृच्छन्ति स्म ततस्ते तं स ददात्युत्तरं शवः॥
आभद्रगादिपरीहारात्,किन्त्वेते पारिहारिकाः ॥१०॥" जीत०।

पारी–देशी दोहनभाण्डे, दे० ना० ६ वर्ग ३७ गाथा।

पारुअग–देशी–विश्रामे, दे० ना० ६ वर्ग ४४ गाथा।

पारुअल्ल–देशी पृथुके, दे० ना० ६ वर्ग ४४ गाथा।

पारुहल्ल–देशी–कृते, दे० ना० ६ वर्ग ४५ गाथा।

पारेवय–पारापत–पुं०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति० । जं० । फलप्रधानवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०। प्रश्न०। रा०।

पालंक–पालङ्क–पुं०। महाराष्ट्राऽऽदिप्रसिद्धे शाकभेदे, बृ० १ उ० २ प्रक०। आचा०।

पालंब–प्रालम्ब–पुं०। झुम्बनके, आप्रपदीने, आभरणविशेषे, आचा० १ श्रु० १ चू०२ अ०१ उ०। ज्ञा०। भ०। गलाऽऽभरणविशेषे, औ०। तपनीयमये विचित्रमणिरत्नभक्तिविह्ने आत्मनः प्रमाणेन सुप्रमाणे आभरणविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। "पालवपलवमाणघोलंतभूसणधरे।" प्राल

म्बप्रलम्ब्यमानघोलयद्भूषणधरः । ( पलंबमाणघोलंत त्ति ) दोलायमानानि भूषणानि, तानि धरतीति य स तथा । कल्प० १ अधि० १ क्षण । " पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे ।" प्रलम्बेन दीर्घेण प्रलम्बमानेन च सुष्ठु कृतं पटेनोत्तरीयमुत्तरासङ्गो येन स तथा । तं० । प्रलम्बेन दीर्घेण प्रलम्बमानेन लम्बमानेन पटेन सुष्ठु कृतमुत्तरीयमुत्तरासङ्गो येन स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । औ० । रा० । " ओऊलं गालंबं ।" पाइ० ना० २०५ गाथा ।

पालग-पालक-न० । स्वनामख्याते शक्रेन्द्रस्याऽऽभियोगिके देवे, तद्विरचिते लक्षयोजनप्रमाणे शक्रस्य पारियानिके,औ० । स्था० । " पालययानविमानपाणकं । " पालकदेवनिर्मितसौधर्मेन्द्रसंबन्धि, यानं च तद्विमानं च यानाय वा गमनाय विमानं यानविमानं, न तु शाश्वतमिति । विमाने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । जं० । कल्प० । ( पालकदेवस्य कृत्यवर्णनम् ' तित्थयर ' शब्दे चतुर्थभागे २२५१ पृष्ठे गतम् ) चम्पानगरीराजस्य स्कन्दकस्य कुम्भकारनगरराजभार्यायाः पुरन्दरयशसो भ्रातुर्मुनिसुव्रतस्वाम्यन्तिके प्रव्रजितस्य मारके नास्तिकदृष्टौ स्वनामख्याते ब्राह्मणे, नि० चू० १६ उ० । व्य० । स्वनामख्याते कृष्णवासुदेवपुत्रे, ( कृतिकर्मण्ययं दृष्टान्तः ) आव० ३ अ० । आ० म० । नि०चू० । स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र वीरजिनं वानिलो नाम वणिक् यात्रायां प्रस्थितोऽसि गृहीत्वा मारयितुं प्रवृत्तः, स्वयमेव छिन्नशिरा संजातः । ( ५२२ गाथा ) आ० चू० १ अ० । आव० । आ० म० । अवन्तीराजप्रद्योतसुते स्वनामख्याते वीरनिर्वाणादिनाभिषिक्ते अवन्तीराजे, आ० क० ४ अ० । ( तत्कथा ' अणाययण ' शब्दे प्रथम भागे ४६४ पृष्ठे गता ) "जं रयणिं सिद्धि गओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो । त रयणिमवंतीए, अहिसित्तो पालगो राया ॥ ६१३ ॥ " ति० ।

पाला-पाला-स्त्री० । महत्तरिकायाम्, व्य० ४ उ० ।

पालि-पालि-पुं० । सेतौ, स्था०५ ठा०१ उ० । आ० म० । रा० । तडागाऽऽदेरनतिक्रमार्थे बन्धे,उपा०७ अ० । संयममहातडागस्याऽनतिक्रमे, बृ० ३ उ० । पालिरिव पालिर्जीवितधारणात् । भवस्थितौ, उत्त० १८ अ० ।

पालिआ-पालिका-स्त्री० । खड्गमुष्टौ, " असिमुट्ठी पालिआ य छरू ।" पाइ० ना० १२१ गाथा ।

पालिज्जंत-पाल्यमान-त्रि० । सततोपयोगजागरणेन रक्षणीये, औ० । " पञ्चक्खपहावेणं, पालिज्जंतस्स सया पयत्तेणं (१५१७) " पं० व० ५ द्वार ।

पालित्तग-पालित्रक-पुं० । पाटलिपुत्रीये स्वनामख्याते आचार्ये, ' पाडलिपुत्तणयरे पालित्तगआयरिया अत्थंति " आ० चू० १ अ० ।

पालित्ता-पालयित्वा-अव्य० । आसेव्येत्यर्थे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

पालित्ताणय-पालित्राणक न० । स्वनामख्याते नगरभेदे, " अत्थि चोल्लकजणवए पालित्ताणयं नाम नयरं, तत्थ कवड्डिनामधिज्जो गाममहत्तरो ।" ती० २७ कल्प । ( ' कवड्डिजक्ख ' शब्दे तृतीयभागे ३८५ पृष्ठे उक्तम् )

पालिभेद-पालिभेद पुं० । प्रतिपूर्णस्य शुद्धपरिणामप्रयुक्तस्याऽतिक्रमे, बृ० ३ उ० ।

पालिय-पालित-त्रि० । पुनः पुनरुपयोगप्रतिजागरणेन रक्षिते, स्था० ७ ठा० । आचा० । आव० । "पालियं पुणो पुणो परिजागरमाणेण जाहातिणं मङ्गुरावाणियत्तण निसहपुत्ता निक्खेवतो सम्मं " । आ० चू० ६ अ० ।

> उदिए काले विहिणा, पत्तं जं फासियं तयं भणियं ।
> तह पालियं तु असई, सम्मं उवओगपडिअरिअं ॥ ५४८ ॥

उदिते काले पूर्वोक्ताऽऽदौ विधिनोच्चारणाऽऽदिना प्राप्तं यत् प्रत्याख्यानं स्पृष्टं तद् भणितं परमगुरुभिः तत्पालितं तु भण्यते गृहीतं सत् यदसकृत्सम्यगुपयोगं प्रतिजागरितम् अविस्मृतमिति गाथाऽर्थः । प० व० २ द्वार । सीमा यावत्तत्परिणामहान्या रक्षिते, स्था० १० ठा० । प्रव० ।

पाली-देशी-दिशि, दे० ना० ६ वर्ग ३७ गाथा ।

पालीबंध-देशी-तटाके, दे० ना० ६ वर्ग ४५ गाथा ।

पालीहम्म-देशी-वृत्तौ, दे० ना० ६ वर्ग ४५ गाथा ।

पालेमाण-पालयत्-त्रि० । स्वयमेव पालनं कुर्वाणे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । ज० । जी० । प्रज्ञा० । " आहेवच्चं पोरेवच्चं कारेमाणा पालेमाणा विहरइ । " विपा० १ श्रु० २ अ० ।

पालेवि-पालयितुम्-अव्य० । " तुम एवमणाणहमणहिं च " ॥ ८ । ४ । ४४१ ॥ इत्यनेन तुम' स्थाने तेवि आदेश' । " जेप्पि चएप्पिणु सयल धर, लेविणु तबु पालेवि । विणु संते तित्थेसरेण, को सक्कइ भुवने वि ? ॥ २ ॥ " जेतुं त्यक्तुं सकला धरां लातुं तपः पालयितुम् । विना शान्तिना तीर्थेश्वरेण कः शक्नोति भुवनेऽपि ?॥ प्रा० ४ पाद ।

पाव-पाप-न० । " क-ग-च ज० " ॥ ८ । १ । १७७ ॥ इत्यादिना अनादेरेव लुग्विधानात् पस्य न लुक् । "पाव " ॥ ८ । १ । २३१ । इति पस्य व । प्रा० १ पाद । पाशयति मलिनयति जीवमिति पापम् । ( अत्रार्थे " पंसेइ० " ( ३०२५ ) इत्यादिगाथा सव्याख्या ' णमोक्कार ' शब्दे चतुर्थभागे १८४१ पृष्ठे गता ) विशे० । पातयति नरकाऽऽदिष्विति पापम् । आव० ४ अ० । आचा० । आ० म० । पाशयति गुण्डयति आत्मनं पातयति चाऽऽत्मन आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम् । स्था० १ ठा० । असदनुष्ठानाऽऽपादिते कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । सर्वत सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । हिंसाऽनृताऽऽदिरूपे कर्मणि, सूत्र० १ श्रु०१० अ० । अशुभे कर्मणि,पञ्चा० ७ विव० । " एगे पावे ।" स० १ सम० । स्था० । असातोदयफले,अशुभप्रकृतौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रश्न० । अपुण्ये, दश० १ चू० । उत्त० । सूत्र० । आव० । आचा० । "पुद्गलकर्मशुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् । यदशुभमथ तत्पापमि-ति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥१॥ " इति । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । आचा० । असातवेअसद्वेद्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० । असातवेदनीयाऽऽदिके कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अशुद्धे कर्मणि, तत्कारणत्वाद् हिंसाऽऽदिके कर्मणि पञ्चा० ३ विव० ।

आगमनिषिद्धे कर्मणि, पञ्चा० ११ विव० । सम्यक्त्वाऽऽदिगुणविघातहेतौ ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिप्रकृतिकदम्बे, पो० ३ विव० । प्रव० ।

पापनिक्षेपः-

पावे छक्कं दव्वे, सचित्ताचित्त मीसगं चेव ।
खेत्तम्मि निरयमाई, कालो अइदुस्समाईओ ॥ ३८७ ॥
भावे पावं इणमो, हिंसा मुसा चोरियं च अब्बंभं ।
तत्तो परिग्गहो च्चिय, अगुणा भणिया य जे सुत्ते ॥३८८॥

पापे पापविषयः ( छक्कं ति ) षट्कं षट्परिमाणो नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदान्निक्षेप इति गम्यते । तत्र च नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्ये विचार्ये आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो, नो आगमतस्तु व्यतिरिक्तमाह-(सचित्ताचित्त मीसगं चेव त्ति ) इह च पापमिति योज्यते । प्राकृतत्वाच्चोभयत्र बिन्दुलोपः । तत्र सचित्तद्रव्यपापं यद् द्विपदचतुष्पदापदेषु मनुष्यपशुवृक्षाऽऽदिष्वसुन्दरम् । अचित्तद्रव्यपापं तदेव जीवविप्रयुक्तं चतुरशीतिपापप्रकृतयो वा वक्ष्यमाणाः । मिश्रद्रव्यपापं तथाविधद्विपदाऽऽद्येवाऽशुभवस्त्राऽऽदियुक्तं तच्छरीराणि वा जीववियुक्तैकदेशयुक्तानि । सन्ति हि जीवशरीरेष्वपि जीवविप्रयुक्ता नखकेशाऽऽदयस्तदेकदेशाः । उक्तं हि-"तस्सेव देसे चिए, तस्सेव देसे अणुवचिए त्ति।" जीवप्रदेशापेक्षमेव हि तत्र चितत्वमनुपचितत्वं वा विवक्षितं, पापप्रकृतियुक्तो वा जन्तुरेव मिश्रद्रव्यपापमुच्यते । ( चेवेति ) प्राग्वत् । क्षेत्रे विचार्ये पापं नरकाऽऽदिपापप्रकृत्युदयविषयभूतं यत्र तदुदयोऽस्ति । काल इति कालपापम् दुष्षमाऽऽदिको, यत्र कालाऽनुभावतः प्रायः पापोदय एव जन्तूनां जायते । आदिशब्दादन्यत्र वा काले यत्र कस्यचिज्जन्तोस्तदुदयः । भावे विचारयितुमुपक्रान्ते पापम् । इदमनन्तरमेव वक्ष्यमाणं (हिंस त्ति ) हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, मृषाऽसदभिधानं, चौर्यं च स्तैन्यम्, अब्रह्म मैथुनं,ततः परिग्रहो मूर्च्छाऽऽत्मकः। अपिः समुच्चये,चः पूरणे,गुणाः सम्यग्दर्शनाऽऽदयः,तद्विपक्षभूता अगुणा मिथ्यात्वाऽऽदयो दोषाः। नञो विपक्षेऽपि दर्शनादऽमित्राऽऽदिवत् । भणिता उक्ताः,तु. समुच्चये व्यवहितक्रमश्च,अगुणाश्च ये सूत्रे आगमे अन्यत्र इहैव वा प्रस्तुताऽध्ययने । उत्त०१७अ० । (पापतत्त्वम् 'नाणंतराय' इत्यादिगाथाभिः 'तत्त' शब्दे चतुर्थभागे२१८१पृष्ठे प्रकटीकृतम्) इह पापं द्विधा-गोप्यं, स्फुटं च । गोप्यमपि द्विधा लघु महच्च । तत्र लघु कूटतुलामानाऽऽदि,महद् विश्वासघाताऽऽदि। स्फुटमपि द्विधा कुलाऽऽचारेण, निर्लज्जत्वाऽऽदिना च । कुलाऽऽचारेण गृहिणामारम्भाऽऽदि,म्लेच्छाऽऽदीनां हिंसाऽऽदि च,निर्लज्जत्वाऽऽदिना तु यतिवेषस्य हिंसाऽऽदि तत्र निर्लज्जत्वाऽऽदिना स्फुटेऽनन्तसंसारित्वाऽऽदि,प्रवचनोड्डाहाऽऽदेर्हेतुत्वात् कुलाऽऽचारेण पुनः स्फुटे स्तोकः कर्मबन्धो, गोप्ये तु तीव्रतरोऽसत्यमयत्वात् । ध०२ अधि०। पापमेवापचीयमानमुपचीयमानं च सुखदु:खहेतुर्न पुण्यं कर्माऽस्ति पुण्यमेव वाऽपचीयमानमपचीयमानं च सुखदु:खहेतुर्न पापमस्तीति एवंविधवादं निरस्यतोक्तं भगवता-"अत्थि पुण्णे, अत्थि पावे।" स्था०। ( अत्र समग्रो नवमगणधरवादः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४१ पृष्ठादारभ्य दर्शितः ) "संभाव्यमानपापोऽहमपापेनापि किं मया ? । निर्विषस्यापि सर्पस्य भृशमुद्विजते जनः ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । "पावं काऊण सयं,अप्पाणं सुद्धमेव ववहरइ । दुगुणं करेइ पावं, बीयं बालस्स मंदत्तं ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

दीणो जणपरिभूओ, असमत्थो उअरभरणमित्ते वि ।
वित्तेण पावकारी, तह वि हु पापप्फलं एअं ॥ १६२ ॥

दीनः कृपणः, जनपरिभूतो लोकगर्हितः, असमर्थः उदरभरणमात्रेऽपि आत्मानं भरितुमपि न भवति । वित्तेन पापकारी तथाऽपि तु एवंभूतोऽपि सन्नसदिच्छया पापचित्त इत्यर्थः,पापफलमेतदिति जन्मान्तरकृतस्य कार्यं, भाविनश्च कारणमिति गाथाऽर्थः। प० व०१ द्वार । पापमस्यास्तीति पापः । पापकारिणि, आ० १ श्रु० ४ अ०। पापाऽऽत्मनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दशा० । हिंस्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । पापकर्मणि सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रा० । पापिष्ठे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । विशे० ।

जीवानां पापं सर्वं दुःखम्-

नेरइया णं भंते ! पावे कम्मे जे य कडे,जे य कज्जइ,जे य कज्जिस्सइ,सव्वे से दुक्खे,जे निज्जिण्णे,से सुहे? । हंता गोयमा ! नेरइयाणं पावे कम्मे०जाव सुहे एवं०जाव वेमाणियाणं ।

( नेरइयाणमित्यादि )(सव्वे से दुक्खे त्ति) दुःखहेतुसंसारनिबन्धनत्वाद् दुःखम् । (जे निज्जिण्णे से सुहे त्ति ) सुखस्वरूपमोक्षहेतुत्वाद्यन्निर्जीर्णं कर्म तत्सुखमुच्यते । भ०७ श०८ उ०।

नवविहा पावस्साऽऽययणा पण्णत्ता । तं जहा-पाणाइवाए०जाव परिग्गहे कोहे माणे माया लोभे ।

(नवविहा पावस्सेत्यादि) कण्ठ्यम्, नवरं पापस्याशुभप्रकृतिरूपस्याऽऽयतनानि बन्धहेतव इति । स्था०९ ठा०। "दुरिअं कलुस कुकयं, अघं अहम्मो य कम्मसं पावं । मिच्छा मोहं विहलं, अलिअमसच्च असब्भूअं ॥५३॥"पाइ०ना०५३ गाथा।

पावअ-पावक-पुं० । अग्नौ. " धूमद्धओ हुयवहो, विहावसू पावओ सिही वण्ही । अणलो जलणो डहणो, हुआसणो हव्ववाहो य ॥ ६ ॥ " पाइ० ना० ६ गाथा ।

पावस-पापीयस्-त्रि० । अतिशयेन पापे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

पावकम्म-पापकर्मन्-न० । अशुभे कर्मणि, भ० २६ श० १ उ० । चारित्रप्रतिबन्धकमोहनीयप्रकृतौ, ध० ३ अधि०। अशुभज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मप्रकृतिषु, औ०। विपा० । असदनुष्ठानाऽऽपादिते कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । दुष्कृते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पापव्यापारे, आ० चू० ३ अ० । पापोपादाने, अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । विषयार्थं सावद्यानुष्ठाने, आचा०१ श्रु० ५ अ० १ उ० । संसारार्णवपरिभ्रमणहेतौ, आचा०१श्रु०२अ०२उ० । पापहेतौ हिंसाऽऽद्यनुष्ठाने,उत्त०६अ०।आचा०।सूत्र०। मैथुनाऽऽसेवनाऽऽदिके,सूत्र० १ श्रु० ४ अ०१ उ० । घातिकर्मणि स्था०२ ठा०४ उ० । उत्त०। (" से वसुमं० " ( १५५ । सूत्रं ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६७५ पृष्ठे उक्तम् ) " पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे ।" पापं पापोपादानं कर्माष्टादशभेदभिन्नं, तदकुर्वाणोऽनाचरन् । एष अहं निर्ग्रन्थः। आचा० १ श्रु० ८ अ०३ उ० "पावं कम्मं णो अन्नेसिं तं परिण्णाय मेहावी"-पापं कर्म-अधःपतनकारित्वात्पापं,क्रियत इति कर्म,तच्चाऽष्टादशविधं प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालो-

भप्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशुन्यपरपरिवादरत्यरतिमायामृ-षामिथ्यादर्शनशल्याऽऽख्यमिति । एवमेतत्पापमष्टादशभेदं नान्वेषयेन्न कुर्यात् स्वयं, न चाऽन्यं कारयेत्, न कुर्वाणमन्य-मनुमोदयेत् । (६१ सूत्रं) आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । सूत्र० । ' पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्कंताणं वेदइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । " जीवा णं दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं बंधइ । तं जहा-रागेण चेव, दोसेण चेव ।" रागद्वेषाभ्यां पापकर्म बध्यते उदीर्यते इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । ( ' बन्ध ' शब्दे विशेषः ) जीवाना पापकर्म-तया पुद्गलचय:-

जीवा णं दुट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा,चिणंति वा,चिणिस्संति वा । तं जहा-तसकायनिव्वत्तिए चेव,थावरकायनिव्वत्तिए चेव,उवचिणिंसु वा, उवचिणंति वा,उवचिणिस्संति वा, बंधिंसु वा, बंधंति वा, बंधिस्संति वा, उदीरिंसु वा, उदीरंति वा, उदीरिस्संति वा, वेदिंसु वा, वेदिंति वा, वेदिस्संति वा, णिज्जरिंसु वा, णिज्जरिंति वा, णिज्जरिस्संति वा ।

सूत्राणि षट् सुगमानि, नवरं जीवा जन्तवो, 'णं' वाक्याल-ङ्कारे, द्वयोः स्थानयोराश्रययोः त्रसस्थावरकायलक्षणयोः स-माहारो द्विस्थानं, तत्र मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्ये निर्वर्त्तिताः सा-मान्येनोपार्जिता वक्ष्यमाणावस्थाषट्कयोग्यीकृताः, द्वयोर्वा स्थानयोर्निर्वृत्तिर्येषां ते द्विस्थाननिर्वृत्तिकास्तान् पुद्गलान् का-र्म्मणान् पापकर्म्म घातिकर्म्म सर्वमेव वा ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि, तद्भावस्तत्ता, तया पापकर्मतया, तद्रूपतयेत्यर्थः । चितव-न्तो वा अतीते काले, चिन्वन्ति वा सम्प्रति, चेष्यन्ति वा अनागते काले केचिदिति गम्यते, चयनं कषायाऽऽदिपरिण-तस्य कर्म्मपुद्गलोपादानमात्रम्,उपचयनं तु चितस्याऽऽबाधा-कालं मुक्त्वा ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदितया निषेकः । स चैवम्-प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्म्मदलिकं निषिञ्चति, ततो द्वितीयायां विशेषहीनम् । " एवं जावुक्कोसियाए विसेसहीणं निसिंचइ त्ति ।" बन्धनं तु तस्यैव ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदितया निषि-क्तस्य पुनरपि कषायपरिणतिविशेषान्निकाचनमिति । उदीर-णं तु अनुदयं प्राप्तस्य करणेनाऽऽकृष्योदये प्रक्षेपणमिति । वेदनमनुभवः, निर्जरा कर्म्मणोऽकर्म्मताभवनमिति । कर्म्म च पुद्गलाऽऽत्मकमिति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

जीवा णं तिट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चि-णिंसु वा, चिणिंति वा, चिणिस्संति वा । तं जहा-इत्थी-णिव्वत्तिए, पुरिसणिव्वत्तिए, णपुंसगणिव्वत्तिए । एवं-"चिणउवचिणबंधउदी-रवेए तह णिज्जरा चेव ।"

( जीवा णमित्यादि ) सूत्राणि षट् तत्र त्रिभिः स्थानैः स्त्री-वेदाऽऽदिभिर्निर्वर्तितान् अर्जितान् पुद्गलान् पापकर्मतया अशुभकर्मत्वेनोत्तरोत्तराशुभाध्यवसायतश्चितवन्तः आसङ्क-लितवन्तः, एवमुपचितवन्तः परिपोषणतः एव बद्धवन्तो निर्मा-पणतः, उदीरितवन्तः अध्यवसायवशेनाऽनुदीर्णोदयप्रवेशनतः वेदितवन्तः अनुभवनतः निर्जरितवन्तः प्रदेशपरिशाटनतः । संग्रहणीगाथार्द्धमत्र-" चिय उवचिय बंधोदी-रवेय तह निर्ज्जरा चेव । " इति । अस्य व्याख्या-" एवमिति । " यथैकं कालत्रयाभिलापेनोक्तं तथा सर्व्वाण्यपीति । कर्म च पुद्गला-ऽऽत्मकमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

जीवा णं चउट्ठाणनिव्वत्तए पोग्गले पावकम्मत्ताए चि-णिंसु वा, चिणिंति वा, चिणिस्संति वा । तं जहा-णे-रइयणिव्वत्तिए, तिरिक्खजोणिणिव्वत्तिए, मणुस्सणिव्व-त्तिए, देवणिव्वत्तिए । एवं उवचिणिंसु वा, उवचिणंति वा, उवचिणिस्संति वा । एवं " चिण उवचिण बंधो-दी-र वेय तह णिज्जरा चेव । "

( जीवा णमित्यादि ) सूत्रषट्कं व्याख्यातं प्राक् तथाऽपि किञ्चिल्लिख्यते-( जीवा णं ति ) ' णं ' शब्दो वाक्यलङ्कारार्थः, चतुर्भिः स्थानकैर्नारकत्वाऽऽदिभिः पर्यायैर्निर्वर्तिता' कर्मपरिणामं नीतास्तथाविधाशुभपरिणामवशाद् बद्धास्ते चतुःस्थाननिर्वर्तितास्तान् पुद्गलान् । कथं निर्वर्तितानित्या ह-पापकर्मतया अशुभस्वरूपज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपत्वेन ( चिणिंसु त्ति ) तथाविधापरकर्मपुद्गलैश्चितवन्तः पापप्र-कृतीरल्पप्रदेशा बहुप्रदेशीकृतवन्त । ( नेरइयणिव्वत्तिए त्ति ) नैरयिकेण सा निर्वर्तिता इति विग्रहः । एवं सर्वत्र तथा ( एवं उवचिणिंसु त्ति ) चयसूत्राभिलापेनोपचयसूत्रं वाच्यम्, तत्र ( उवचिणसु त्ति ) उपचितवन्त पौनः पुन्ये-न । एवमिति चयाऽऽदिन्यायेन बन्धाऽऽदिसूत्राणि वा-च्यानीत्यर्थः । इह च बन्ध उदीरेत्यादिवक्तव्ये यच्चयोपच-यग्रहणं तत्स्थानान्तरप्रसिद्धगाथोत्तरार्द्धोऽनुवृत्तिवशादिति । तत्र ( बन्ध त्ति ) बन्धेषु श्लथबन्धनबद्धान् गाढबन्धनबद्धा-न् कृतवन्त । ३ । ( उदीर त्ति ) ( उदीरिंसु ) उदय-प्राप्ते दलिके अनुदितास्तानाकृष्य करणेन वेदितवन्त' । ( वे-य त्ति ) ( वेदिंसु ) प्रतिसमयं स्वेन रसविपाकेनाऽनुभू-तवन्त ( तह निज्जरा चेव त्ति ) ( निज्जरिंसु ) कार्त्स्न्येनानु-समयविशेषतद्विपाकहान्या परिशाटितवन्त । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

जीवा णं पंचट्ठाणणिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चि-णिंसु वा, चिणिंति वा, चिणिस्संति वा । तं जहा-एगिंदियनिव्वत्तिए० जाव पंचिंदियनिव्वत्तिए । एवं "चि-ण उवचिण बंध उदी-र वेद तह निज्जरा चेव ।" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

जीवा णं छट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिं-सुं वा,चिणिंति वा,चिणिस्संति वा । तं जहा-पुढविकाइय-निव्वत्तिए० जाव तसकाइयनिव्वत्तिए । एवं "चिण उव-चिण बंध उदी-र वेय तह निज्जरा चेव ।" स्था० ६ ठा० ।

जीवा णं सत्तट्ठाणनिव्वत्तिए पुग्गले पावकम्मत्ताए चि-णिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा । तं जहा-नेरइय-निव्वत्तिए० जाव देवनिव्वत्तिए । एवं " चिण० जाव निज्जरा चेव । " स्था० ७ ठा० ।

जीवा णमट्ठट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा। पढमसमए नेरइयनिव्वत्तिए०जाव अपढमसमयदेवनिव्वत्तिए। एवं "चिण उवचिण० जाव णिज्जरा चेव।" स्था० ८ ठा०।

जीवा णं नवट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणंति वा, चिणिस्संति वा। पुढविकाइयनिव्वत्तिए० जाव पंचिदियनिव्वत्तिए। एवं "चिण उवचिण० जाव निज्जरा चेव।" स्था० ६ ठा०।

जीवा णं दसट्ठाणनिव्वत्तिए पोग्गले पावकम्मत्ताए चिणिंसु वा, चिणिंति वा, चिणिस्संति वा। तं जहा-पढमसमयएगिंदियनिव्वत्तिए०जाव फासिंदियनिव्वत्तिए। एवं "चिण उवचिण बंध उदी-र वेय तह णिज्जरा चेव।" स्था० १० ठा०।

(यथा च पापकर्माणि पापफलविपाकसंयुक्तानि क्रियन्ते तथा 'अण्णउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४४० पृष्ठे गतम्)

से णूणं भंते! नेरइयस्स वा तिरिक्खजोणियस्स वा मणुसस्स वा देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, णत्थि तस्स अवेइयत्ता मोक्खो?, हंता गोयमा! नेरइयस्स वा तिरिक्खमणुस्सदेवस्स वा०जाव मोक्खो। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-नेरइयस्स वा०जाव मोक्खो, एवं खलु मए?। गोयमा! दुविहे कम्मे पण्णत्ते। तं जहा-पएसकम्मे य, अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेदेइ, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेदेइ, अत्थेगइयं नो वेदेइ, णायमेयं अरहया, सुयमेयं अरहया, विण्णायमेयं अरहया, इमं कम्मं अयं जीवे अज्झोवगमियाए वेयणाए वेयइस्सइ, इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेयणाए वेयइस्सइ, अहाकम्मं अहाणिगरणं जहा जहा तं भगवया दिट्ठं तहा तहा त विपरिणमिस्सतीति, से तेणट्ठेणं गोयमा! नेरइयस्स वा ०जाव मोक्खो।

(से णूणमित्यादि) 'नेरइयस्स वा' इत्यादौ नास्ति मोक्ष इत्येवं सम्बन्धात् षष्ठी। (जे कडे त्ति) तैरेव यद्बद्धं पावकम्मे त्ति) पापमशुभं नरकगत्यादि, सर्वमेव वा, पापं दुष्टं, मोक्षव्याघातहेतुत्वात्। (तस्स त्ति) तस्मात्कर्मणः सकाशात् (अवेइयत्त त्ति) तत् कर्माननुभूय (एवं खलु त्ति) वक्ष्यमाणप्रकारेण खलुर्वाक्यालङ्कारे (मए त्ति) मया। अनेन च वस्तुप्रतिपादने सर्वज्ञत्वेनाऽऽत्मनः स्वातन्त्र्यं प्रतिपादयति। (पएसकम्मे य त्ति) प्रदेशाः कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोतास्तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म (अणुभागकम्मे य त्ति) अनुभागस्तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयो रसस्तद्रूपं कर्मानुभागकर्म। तत्र यत्प्रदेशकर्म तन्नियमाद्वेदयति, विपाकस्याननुभवनेऽपि कर्मप्रदेशानामवश्यं क्षपणात्प्रदेशेभ्य प्रदेशान्नियमाच्छातयतीत्यर्थोऽनुभागकर्म च तथाभाव वेदयति वा न वा। तथा मिथ्यात्वं तत्क्षयोपशमकालेऽनुभागकर्मतया न वेदयति प्रदेशकर्मतया तु वेदयत्येवेति। इह च द्विविधेऽपि कर्मणि वेदयितव्ये प्रकारद्वयमस्ति, तच्चार्हतैव ज्ञायत इति दर्शयन्नाह-ज्ञातं सामान्येनावगतमेतद्वक्ष्यमाणं वेदनाप्रकारद्वयम्, अर्हता जिनेन (सुयं ति) स्मृतं प्रतिपादितम् अनुचिन्तितं वा तत्र स्मृतमिव स्मृतं केवलित्वेन स्मरणाभावेऽपि जिनस्यात्यन्तमव्यभिचारसाधर्म्यादिति। (विण्णायं ति) विविधप्रकारैर्देशकालाऽऽदिविभागरूपैर्ज्ञातं विज्ञातं, तदेवाऽऽह-(इमं कम्मं अयं जीवे त्ति) अनेन द्वयोरपि प्रत्यक्षतामाह-केवलित्वादर्हतः (अज्झोवगमियाए त्ति) प्राकृतत्वात् अभ्युपगमः, प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्यभूमिशयनकेशलुञ्चनाऽऽदीनामङ्गीकारस्तेन निर्वृत्ता आभ्युपगमिकी तया (वेयइस्सइ त्ति) भविष्यत्कालनिर्देशः भविष्यत्पदार्थो विशिष्टज्ञानवतामेव ज्ञेयोऽतीतो वर्त्तमानश्च पुनरनुमानद्वारेणान्यस्याऽपि ज्ञेयः सम्भवतीति ज्ञापनार्थं। (उवक्कमियाए त्ति) उपक्राम्यतेऽनेनत्युपक्रमः कर्मवेदनोपायस्तत्र भवा औपक्रमिकी स्वयमुदीर्णस्य उदीरणाकरणेन चोदयमुपनीतस्य कर्मणोऽनुभवनया औपक्रमिकया वेदनया वेदयिष्यति। तथा च-(अहाकम्मं ति) यथाकर्म बद्धकर्मानतिक्रमेण (अहानिगरणं ति) निकरणानां नियमानां देशकालाऽऽदीनां विपरिणामहेतूनामनतिक्रमेण यथा यथा तत्कर्म भगवता दृष्टम्, तथा तथा विपरिणंस्यति, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तिद्योतीति। भ० १ श० ४ उ०। (अत्र विशेषम् 'बंध' शब्दे वक्ष्यामि)

पावकम्ममूल-पापकर्ममूल-न०। क्लिष्टज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिबीजे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

पावकम्मविगम-पापकर्मविगम-पुं०। पापकर्म मिथ्यात्वमोहनीयाऽऽदि, तस्य विगमः विशिष्टो गमः। पापस्य अपुनर्भवबन्धकत्वेन पृथग्भावे, पं० सू० १ सूत्र।

पावकम्मोवदेस-पापकर्मोपदेश-पुं०। पातयति नरकाऽऽदाविति पापं, तत्प्रधानं कर्म पापकर्म, तस्योपदेश इति समासः। कृष्याद्युपदेशे, आव० ६ अ०। औ०। यथा क्षेत्राणि कृषयत्यादि। उपा०। ध० ८०। पापकर्मप्रवर्त्तन कृष्यादिसावद्यव्यापारे, ध० २ अधि०।

पावकोव-पापकोप-पुं०। पापमपुण्यप्रकृतिरूपं कोपयति प्रपञ्चयति पुण्यानि यः स पापकोप इति। अथवा-पापं चासौ कोपकार्यत्वात् कोपश्चेति पापकोपः। पापाऽऽत्मनि कोपनशीले च। एकोनविंशे गौणप्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

पावग-पावक-न०। पुनातीति पावकम्। शुभे अनुष्ठाने, नं०। अग्नौ, दश० ४ अ०। उत्त०।

पापक-न०। पापमेव पापकम्। पापोपादानकारणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। उत्त०। सावद्यानुष्ठानरूपे कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। अवद्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। अशुभे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार। उत्त०। कल्मषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। प्राणातिपाताऽऽदौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आव०। अशुभफलवृत्तिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। दुःखदायके, उत्त० २० अ०। पापानुष्ठाने, उत्त० १ अ०। मैथुना

ऽऽसेवनाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । नरकाऽऽदि-हेतौ पापकर्मणि, उत्त० २ अ० । सकारणभूतेषु आश्रवेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । पापकमस्यास्तीति पापकः । पापवति, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । आचा० । पाप एव पापकः । पापकर्त्तरि, दश० ६ अ० । जलरुहभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

पावगोयर-पापगोचर-पुं० । पापविषये, द्वा० २० द्वा० ।

पावजीवि ( न् )-पापजीविन्-पुं० । पापश्रुताऽऽजीविनि, कौण्टलाऽऽदिशास्त्रोपजीविनि, व्य० ३ उ० ।

पावट्ठाणग-पापस्थानक-न० । पापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि । हिंसाऽऽदिषु पापस्थानेषु, प्रव० १०६ द्वार । (तान्यष्टादश ' पेसुन्न ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यामि )

पावडण-पादपतन-न० । ' दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पादपीठेऽन्तर्दः ' ॥ ८ । १ । २७० ॥ इति सस्वरव्यञ्जनस्य लुग्वा । 'पावडणं-पाअवडणं ।' पादयोः पाते, प्रा० १ पाद ।

पावण-पावन त्रि० । पवित्रे, अष्ट० २६ अष्ट० ।

प्रापण-न० । प्राप्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । हठाद् व्यापारप्रवर्तने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पावणियाण-पापनिदान-न० । पापानि पापनिबन्धमानि निदानानि । पापोपादानभोगाऽऽदिप्रार्थनायाम्, पा० ।

पावणिवारण-पापनिवारण-न० । त० । अशुभकर्मणो निषेधके पा० ।

पावणिंदण-पापनिवेदन-न० । रागद्वेषकृताना कर्मणा स्वयं कृतत्वेन परिकथने, पं० ६ विव० ।

पावदिट्ठि-पापदृष्टि-पुं० । पापा दृष्टि बुद्धिरस्येति पापदृष्टिः । पापबुद्धौ उत्त० पाई० १ अ० ।

पावदुगुंछा-पापजुगुप्सा-स्त्री० । पापपरिहारे, षो० ।

पापजुगुप्सालक्षणम्-

पापजुगुप्सा तु तथा, सम्यक् परिशुद्धचेतसा सततम् ।
पापोद्वेगोऽकरणं, तदचिन्ता चेत्यनुक्रमतः ॥ ५ ॥

पापजुगुप्सा तु तथा पापपरिहाररूपा सम्यक् परिशुद्धचेतसा अविपरीतपरिशुद्धमनसा सततमनवरतं पापोद्वेगोऽतीतकृतपापोद्विग्नता अकरण पापस्य वर्त्तमानकाले तदचिन्ता चेत्यनुक्रमतः तस्मिन् भाविनि पापे अचिन्ताऽचिन्तनमनुक्रमेण आनुपूर्व्या कालत्रयरूपया । अथवा-पापोद्वेगः पापपरिहारः कायप्रवृत्त्या अकरणं वाचा तदचिन्ता पापाचिन्ता मनसा सर्वाऽपीयं पापजुगुप्सा धर्म्मतत्त्वलिङ्गम् । षो० । ४ विव० । अष्ट० ।

पावद्ध प्रावद्ध-त्रि० । पाशिते, नि० चू० १६ उ० ।

पावधम्म-पापधर्मन्-पुं० । क० स० । सावद्येषु मनोवाक्कायव्यापारेषु, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । पापोपादानकारणे प्राण्युपमर्दप्रवृत्तौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकलुषितान्तराऽऽत्मनि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

पावपगइ-पापप्रकृति-स्त्री० । कटुकरसासु अशुभप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

इदानीं पापप्रकृतीराह-

.. . . . , अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरियदुग असाय नीओ-वघाय इग विगल निरयतिगं ॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क, घाइ पणयाल सहिय बासीई ।
पावपयडि त्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

(अपढमसंठाणेत्यादि) संस्थानानि च खगतिश्च संहननानि च संस्थानखगतिसंहननानि, अप्रथमानि च प्रथमवर्जानि तानि संस्थानखगतिसंहननानि च अप्रथमसंस्थानखगतिसंहननानि । तत्राऽप्रथमसंस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डलसादिकुब्जवामनहुण्डाऽऽख्यानि पञ्च, अप्रथमखगतिरप्रशस्तविहायोगतिः, अप्रथमसंहननानि-ऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचकीलिकाच्छेदवृत्तरूपाणि पञ्च, तिर्यग्द्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम्, असात, नीचैर्गोत्रम्, उपघातम् ( इग त्ति ) एकेन्द्रियजाति , (विगल त्ति) द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातयः, नरकत्रिकं नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकाऽऽयुर्लक्षणं, स्थावरदशकं स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणाऽस्थिराऽशुभदुर्भगदु स्वरानादेयायशःकीर्त्तिरूप, वर्णचतुष्कम्-वर्णगन्धरसस्पर्शाऽऽख्यं, ( घाइपणयाल त्ति ) सर्वघातिन्यो विंशतिः, देशघातिन्यः पञ्चविंशतिः । उभया अपि मिलिता सामान्येन घातिन्यः पञ्चचत्वारिंशद्भवन्ति, ताभिः सहिता युक्ता पूर्वोक्ता अप्रथमसंस्थानाऽऽदिका वर्णचतुष्कपर्यवसाना सप्तत्रिंशत्संख्या द्व्यशीतय पापप्रकृतयो भवन्ति । इतिशब्दः परिसमाप्तौ, द्व्यशीतय एव पापप्रकृतयो नाधिका इत्यर्थः । ननु द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयो भवन्ति, द्व्यशीतिश्च पापप्रकृतयो, मिलिताश्चतुर्विंशत्युत्तर प्रकृतिशतं जात, बन्धे तु विंशत्युत्तरमेव शतमधिक्रियते "बंधे विसुत्तरसय" मिति वचनात्, तत्कथं न विरोधः ?, इत्याह-( दोसु वि वन्नाइगह त्ति) द्वयोरपि पुण्यपापप्रकृतिराश्योर्वर्णाऽऽदिग्रहात् वर्णगन्धरसस्पर्शग्रहणान्न कश्चनापि विरोधः । अयमभिप्रायः-वर्णाऽऽदयो हि पुण्यस्वभावा पापस्वभावाश्च वर्तन्ते, ततः पुण्यवर्णचतुष्टय पुण्यप्रकृतिषु मध्ये गृह्यते, पापवर्णचतुष्टयं पुन पापप्रकृतिषु । ततः पुण्यपापप्रकृतिराश्योर्वर्णाऽऽदिचतुष्कं यत्तदेकमेव सत् प्रशस्ताप्रशस्तभेदेनोभयत्रापि विवक्ष्यते इत्यदोष । तथा एता एव पुण्यप्रकृतयः शुभकारणजन्यत्वात् शुभा उच्यन्ते, पापप्रकृतयस्त्वशुभकारणजन्यत्वादशुभा अभिधीयन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

पावभीरुयया-पापभीरुकता-स्त्री० । दृष्टादृष्टेभ्यः पापकारणेभ्यः कर्मभ्यो भीरुकतायाम्, ध० १ अधि० ।

पावमण-पापमनस्-त्रि० । पापं प्राणातिपाताऽऽदिमत्सनिदानं वा मनो यस्य स पापमनाः । पापोपभोगाऽऽदिप्रार्थनया उपेते, पञ्चा० ६ विव० ।

पावमोक्ख-पापमोक्ष-पुं० । पातयति पाशयतीति वा पापं, तस्मान्मोक्ष । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " पावमोक्खो त्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसा एव परिण्णाय मेहावी । " आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

पावय-पावक-पुं० । अग्नौ, " धूमद्धओ हुअवहो विहावसू पावयो सिही वण्ही । अणलो जलणो दहणो, हुआसणो हव्ववाहो य ॥ ६ ॥ " पाइ० ना० ६ गाथा ।

**पावयण**-प्रावचन-न० । प्रकर्षेणाभिविधिनोच्यन्ते जीवाऽऽदयो यस्मिन् तत् प्रावचनम् । आव० ४ अ० । ध० । प्रवचने, शासने, प्रश्न० २ संव० द्वार । "सुयधम्मो त्ति वा तित्थ त्ति वा पावयणं ति वा एगट्ठा ।" आ० चू० १ अ० । संथा० । प्रशस्तं प्रगतं प्रथमं वा वचनमिति प्रवचनम् । आगमे, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

**पावयणिय**-प्रावचनिक-पुं० । प्रवचने प्रवचनार्थकथने नियुक्तः प्रावचनिकः । नं० । प्रवचनं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तदस्यास्तीति प्रावचनी । युगप्रधानाऽऽगमे, आचार्ये, प्रवचनप्रभावकभेदे, ध० २ अधि० । आचा० । संथा० । बृ० । व्य० ।

**पावयणि** ( न् )-प्रवचनिन्-पुं० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । प्रवचनप्रणेतरि जिने, भ० २० श० ८ उ० । आचार्ये, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

**पावरग**-प्रावरक-पुं० । सलोमके पटे, प्रवारः सलोमकः पट, स च मणिकीप्रभृतिकः, अन्ये तु प्रावारको बृहत्कम्बलः परियच्छिवेत्याहुः । प्रव० ८४ द्वार ।

**पावरण**-प्रावरण-न० । 'पट्पदिकाभयेन यत्प्राव्रियते तत्प्रावरणम् । बृ० ३ उ० । वर्षाकल्पाऽऽदौ, उत्त० १७ अ० ।

**पावरुइ**-पापरुचि-त्रि० । पापमेवोपादेयमिति श्रद्दधाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**पावलोग**-पापलोक-पुं० । पापकर्मणां नरकाऽऽदिके लोके, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

**पावलोभ**-पापलोभ-पुं० । पापमपुण्यं लुभ्यति प्राणिनि श्लिष्यति, संश्लिष्यतीति यावत् यतः स पापलोभः । अथवा-पापं चासौ लोभश्च तत्कार्यत्वात् पापलोभः । विंशतितमे गौणप्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**पावविगार**-पापविकार-पुं० । पापजन्ये विषयतृष्णाऽऽदौ, षो० १ विव० । (धर्मतत्त्वयुक्तस्य विषयतृष्णाऽऽदयो न भवन्ति इति 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६७२ पृष्ठे दर्शितम् )

**पावसंतत्त**-पापसन्तप्त-त्रि० । पापकर्मणा सन्तप्ते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

**पावसमण**-पापश्रमण-पुं० । पापेनोक्तरूपेण उपलक्षितः श्रमणः पापश्रमणः । पापश्रमणीयोत्तराऽध्ययनवर्णितभावसेवके दुःश्रमणे, उत्त० ।

जे भावाऽकरणिज्जा, इह अज्झयणम्मि वन्निय जिणेहिं ।
ते भावे सेवंतो, नायव्वो पावसमणो त्ति ॥ ३६० ॥

ये भावाः संसक्तापठनाशीलताऽऽदयोऽर्थाः अकरणीयाः कर्तुमनुचिताः इह प्रस्तुतेऽध्ययने ( वन्निय त्ति ) वर्णिताः प्ररूपिताः जिनैस्तीर्थकृद्भिः तान् भावान् सेवमानोऽनुतिष्ठन् ज्ञातव्योऽवबोद्धव्यः पापेन-उक्तरूपेण उपलक्षितः श्रमणः पापश्रमणः । इतिशब्दः पापश्रमणशब्दस्य स्वरूपपरामर्शक इति गाथाऽर्थः । उत्त० पाई० १७ अ० ।

पापश्रमणलक्षणम्-

जे केइ ऊ पव्वइए नियंठे,
धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने ।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं,
विहरिज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥ १ ॥
सिज्जा दढा पाउरणं मि अत्थि,
उप्पज्जई भुत्तु तहेव पाउं ।
जाणामि जं वट्टइ आउसो त्ति,
किं नाम काहामि सुएण भंते ! ॥ २ ॥

यः कश्चिदित्यविवक्षितविशेषणः तुः पूरणे । पठन्ति च-'जे के इमे त्ति ।' तत्र च ( इमे त्ति ) अयं प्रव्रजितो निष्क्रान्तो निर्ग्रन्थः प्राग्वत्, कथं पुनरयं प्रव्रजित इत्याह-धर्मं श्रुतचारित्ररूपं श्रुत्वा निशम्य, विनयेन ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराऽऽत्मकेनोपपन्नो युक्तो विनयोपपन्नः सन् सुदुर्लभमतिशयदुष्प्रापम् ( लभिउं ति ) लब्ध्वा बोधिलाभं जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिरूपम्, अनेन भावप्रतिपत्त्याऽसौ प्रव्रजित इत्युक्तं भवति । स किमित्याह-विहरेच्चरेत्पश्चात् प्रव्रजनोत्तरकालं, चः पुनरर्थो विशेषद्योतकस्ततश्च प्रथमं सिंहवृत्त्या प्रव्रज्य पश्चात्पुनर्यथासुखं यथा यथा विकथाऽऽदिकरणलक्षणेन प्रकारेण सुखमात्मनोऽवभासते, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्यथासुखमेव शृगालवृत्त्यैव विहरेदित्यर्थः । उक्तं हि-"सीहत्ताए निक्खंतो सियालत्ताए विहरइ त्ति ।" स च गुरुणाऽन्येन वा हितैषिणाऽध्ययनं प्रति प्रेरितो यद्वक्ति तदाह शय्या वसतिर्दृढा वाताऽऽतपजलाऽऽद्युपद्रवैरनभिभाव्या, तथा प्रावरणं वर्षाकल्पाऽऽदि मे मम अस्ति । किञ्च-उत्पद्यते जायते भोक्तुं भोजनाय तथैव पातुं पानाय यथाक्रममशनं पानं चेति शेषः । तथा जानाम्यवगच्छामि यद्वर्तते यदिदानीमस्ति आयुष्मन्निति प्रेरयितुरामन्त्रणमिति, एतस्माद्धेतोः किं नाम ?, न किञ्चिदित्यर्थः । ( काहामि त्ति ) करिष्यामि श्रुतेनाऽऽगमेनाधीतेनेत्यध्याहारः ।" भंते त्ति " पूज्याऽऽमन्त्रणम् । इह च प्रक्रमात् क्षेपे । अयं हि किलास्याऽऽशयो यथा ये भवन्तो भदन्ता अधीयन्ते तेऽपि नाऽतीन्द्रियं वस्तु किञ्चनाऽवबुध्यन्ते, किं तु साम्प्रतमात्रेक्षिण एव, तच्चैतावदस्मास्वेवमप्यस्ति, तत् किं हृदयगलतालुशोषविधायिनाऽधीतेनेति ?, इत्येवमध्यवसितो यः स पापश्रमण इत्युच्यते इतीहाऽपि सिंहावलोकितन्यायेन संबध्यत इति सूत्रद्वयार्थः ।

किं च-

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुयई, पावसमणे त्ति वुच्चइ ॥

यः कश्चित् प्रव्रजितो निद्राशीलो निद्रालुः प्रकामशो बहुशो भुक्त्वा दध्योदनाऽऽदि,पीत्वा तक्राऽऽदि सुखं यथा भवत्येवं सकलक्रियाऽनुष्ठाननिरपेक्ष एव स्वपिति शेते । पठ्यते च-(वसइ त्ति) वसत्यास्ते ग्रामाऽऽदिषु, स इत्थंभूतः किमित्याह-पापश्रमण इत्युच्यते प्रतिपाद्यत इति सूत्राऽर्थः ।

इत्थं न केवलमनधीयान एव पापश्रमण उच्यते, किं तु-

आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥ ४ ॥

आचार्योपाध्यायैः श्रुतमागममर्थतः शब्दतश्च विनयं चोक्तरूपं ग्राहितः शिक्षितो,यैरिति गम्यते,तानेवाऽऽचार्याऽऽदीन्

( खिंसइ त्ति ) निन्दति वालो विवेकविकलो गम्यमानत्वा-द्यः स पापश्रमण इत्युच्यते इति सूत्रार्थः ।

इत्थं ज्ञानाऽऽचारनिरपेक्षं पापश्रमणमभिधाय दर्शनाऽऽ-चारनिरपेक्षं तमेवाऽऽह-

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पई ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमण त्ति वुच्चई ॥ ५ ॥

आचार्योपाध्यायाना सम्यगवैपरीत्येन न परितप्यते न तत्तप्तिं विधत्ते दर्शनाऽऽचारान्तर्गतवात्सल्यविरहितो न त-त्कार्येष्वभियोगं विधत्ते इति भावः। अप्रतिपूजकः प्रस्तावा-दर्हदादिषु यथोचितप्रतिपत्तिपराङ्मुखः स्तब्धो गर्वाऽऽध्मा-तः केनचित् प्रेर्यमाणोऽपि न तद्वचनतः प्रवर्त्तते यः स पा-पश्रमण इत्युच्यत इति सूत्रार्थः।

सम्प्रति चारित्राऽऽचारविकलं तमेवाऽऽह-

सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।
असंजए संजय मन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ६ ॥
संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकंबलं ।
अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ७ ॥
दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं ।
उल्लंघणे य चंडे य, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ८ ॥
पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकंबलं ।
पडिलेहाअणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ९ ॥
पडिलेहेइ पमत्ते, सो किंचि हु निसामिआ ।
गुरुं परिभावए निच्चं, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १० ॥
बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ ११ ॥
विवायं च उदीरेइ, अधम्मे अत्तपण्णहा ।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १२ ॥
अथिरासणे कुक्कुईए, जत्थ तत्थ निसीयई ।
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १३ ॥
ससरक्खपाओ सुअई, सिज्जं न पडिलेहई ।
संथारए अणाउत्तो, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १४ ॥

संमर्दयन् हिंसन् प्राणानिति प्राणयोगात् प्राणिनो द्वी-न्द्रियाऽऽदीन् बीजानि शाल्यादीनि हरितानि च दूर्वाङ्कुराऽऽ-दीनि सकलैकेन्द्रियोपलक्षणमेतत्, स्पष्टतरचैतन्यलिङ्गत्वा-त्तदुपादानम्, अत एवासंयतस्तथापि ( संजतमन्नमाणि-त्ति ) सोपस्कारत्वात्संयतोऽहमिति मन्यमानः, अनेन च सं-क्लिष्टपाक्षिकत्वमप्यस्य नास्तीत्युक्तम्, पापश्रमण इत्युच्यते । तथा संस्तारं कम्बल्यादि,फलकं चम्पकपट्टाऽऽदि, पीठमास-नं, निषद्या स्वाध्यायभूम्यादिकां यत्र निष्पद्यते पादकम्बलं पादपुञ्छनम्, अप्रमृज्य रजोहरणाऽऽदिना असंशोध्य, उपल-क्षणत्वाच्चप्रत्युपेक्ष्य च,आरोहति समाक्रामति य स पापश्रम-ण इत्युच्यते । तथा ( दवदवस्स त्ति ) द्रुतं द्रुतं तथाविधाऽऽ-लम्बनं विनाऽपि त्वरितं त्वरितं चरति गोचरचर्याऽऽदिषु प-रिभ्राम्यति,प्रमत्तश्च प्रमादवशगश्च भवतीति शेषः । अभीक्ष्णं वारं वारमुल्लङ्घनश्च बालाऽऽदीनामुचितप्रतिपत्त्यकरणतोऽधः-कर्त्ता चण्डश्च क्रोधनः । यद्वा-प्रमत्तोऽनुपयुक्तः, ईर्यासमितौ उल्लङ्घनश्च वत्सडिम्भाऽऽदीना चण्डश्चारभटवृत्त्याश्रयणत, शेषं तथैव । तथा प्रतिलेखयति अनेकार्थत्वात् प्रत्युपेक्षते प्रमत्तः सन् ( अवउज्झइ त्ति ) अपोज्झति यत्र तत्र निक्षि-पति, प्रत्युपेक्षमाणो वा अपोज्झति, न प्रत्युपेक्षते इत्यर्थः। किं तत्?, पादकम्बलं पात्रकम्बलं वा प्रतीतमेव, समस्तो-पध्युपलक्षणं चैतत्, स एवं प्रतिलेखनाऽनायुक्तः प्रत्युपे-क्षाऽनुपयुक्तः, शेषं तथैव । तथा प्रतिलेखयति प्रमत्तः सन् ( किंचि हु त्ति ) हुरपिशब्दार्थः, ततः किञ्चिदपि विकथाऽऽ-दीति गम्यते । (निसामिय त्ति) निशम्याऽऽकर्ण्य तत्राऽऽक्षि-प्तचित्ततयेति भावः । ( गुरुपरिभासए त्ति ) गुरून् परिभा-षते विवदते गुरुपरिभाषकः । पाठान्तरतो गुरुपरिभावको, नित्यं सदा । किमुक्तं भवति ?-असम्यक् प्रत्युपेक्षमाणोऽन्यद्वा वितथमाचरन् गुरुभिश्चोदितस्तानेव विवदतेऽभिभवति वाऽसभ्यवचनैर्यथा स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्व, युष्माभिरेव वय-मित्थं शिक्षितास्ततो युष्माकमेवैष दोष इत्यादि । शेषं त-थैव,गुरुपरिभाषकत्वं प्रमत्तत्वस्य च निशमनहेतुत्वं पूर्वस्मा-द्विशेष इति न पौनरुक्त्यम् । किं च-बहुमायी प्रभूतवञ्चनाप्र-योगवान् प्रकर्षेण मुखरः स्तब्धो लुब्ध इति च प्राग्वत्, अ-विद्यमानो निग्रहः-इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणाऽऽत्मकोऽस्ये-त्यनिग्रहः । संविभजति-गुरुग्लानबालाऽऽदिभ्य उचितमश-नाऽऽदि यच्छतीत्येवं शील' संविभागी न तथा य आत्मपो-षकत्वेनैव सोऽसंविभागी ( अचियत्ते त्ति ) गुर्वादिष्व-प्रीतिमान्, शेषं पूर्ववत् । अन्यच्च-विरूपो वादो विवा-द -वाक्कलहः, त, च, पूरणे, ( उदीरेइ त्ति ) कथञ्चिदुप-शान्तमप्युत्प्राबल्येन प्रासनाऽऽदिना वृद्धिं नयति, अधर्मोऽविद्यमान-सदाचारः ( अत्तपण्णहा त्ति ) आत्मनि प्रश्न आत्मप्रश्न तं हन्त्यात्मप्रश्नहा, यदि कश्चित्परः पृच्छेत्-किं भवान्तरया-यी अयमात्मा, उत नेति ?, ततस्तमेव प्रश्नमतिवाचालतया हन्ति, यथा-नास्त्यात्मा प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणैरनुपलभ्यत्वात्, ततोऽयुक्तोऽयं प्रश्न, "सति हि धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते" इति । पठ्यते च-( अत्तपन्नह त्ति ) तत्र च आप्ता सि-द्धान्ताऽऽदिश्रवणतो गृहीतामासा वा इहपरलोकयोः स-द्बोधरूपतया हिता प्रज्ञाऽऽत्मनोऽन्येषा वा बुद्धिं कुत-र्कैर्व्याकुलीकरणतो हन्ति यः स आप्तप्रज्ञाहा आप्तप्रज्ञाहा वा, ( बुग्गहि त्ति ) व्युद्ग्रहे दण्डाऽऽदिघातजनिते विरोधे कलहे तस्मिन्नेव वाचिके रक्तोऽभिष्वक्तः । शेषं प्राग्वत् । अ-परं च अस्थिरासनः कुकुचः कुकुचो वा,द्वयमपि पूर्ववत् यत्र तत्रेति संसक्तसरजस्काऽऽद्रावपीत्यर्थः, निषीदतीत्युपविशति आसने पीठाऽऽदावनायुक्तोऽनुपयुक्त सन्, शेषं प्राग्वत् । त-था सह रजसा वर्त्तेते इति सरजस्कौ तथाविधौ पादौ यस्य स तथा स्वपिति शेते । किमुक्तं भवति ?-संयमविराधनां प्रत्य-भीरुतया पादावप्रमृज्यैव शेते, तथा शय्या वसतिं न प्रतिले-खयत्युपलक्षणत्वात् न च प्रमार्जयति, संस्तारके फलकक-म्बलाऽऽदौ सुप्त इति शेष । अनायुक्तः "कुक्कुडिपायपसारण, आयामेउं वि आउंटे ।" इत्याद्यागमाऽर्थाऽनुपयुक्त अन्यत्रैवेति सूत्रनवकाऽर्थः ।

इदानीं तप आचारातिक्रमत. पापश्रमणमाह-

दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं ।

अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १५ ॥
अत्थंतम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं ।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १६ ॥
आयरियपरिचाई, परपासंडसेवए ।
गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥ १७ ॥

दुग्धं, क्षीरं,दधि च तद्विकार एव, दधिदुग्धे, सूत्रे च व्यत्ययः प्राग्वत् , विकृतिहेतुत्वात् विकृती, उपलक्षणत्वात् ,घृताऽऽद्यशेषविकृतिपरिग्रहः,आहारयत्यभ्यवहरति,अभीक्ष्णं वारं वारं,तथाविधपुष्टाऽऽलम्बनं विनापीति भावः।अत एवारत-श्चाप्रीतिमांश्च तपःकर्मण्यनशनाऽऽदौ, शेषं प्राग्वत् । अपि च-( अत्थंतम्मि य त्ति ) अस्तान्ते अस्तमयपर्यन्ते, चः पूरणे,उदयादारभ्येति गम्यते । सूर्ये भास्वत्याहारयत्यभीक्ष्णम्। किमुक्तं भवति ?-प्रातरारभ्य संध्यां यावत् पुनः पुनर्भुङ्क्ते, यदि वा-( अत्थंतम्मि य त्ति ) अस्तमयति सूर्ये आहारयति, तिष्ठति तु किमुच्यत इति भावः । किमेकदैवेत्याह-अभीक्ष्णं पुनः पुनर्दिने दिने इत्युक्तं भवति । यदि चाऽसौ केनचित् गीतार्थसाधुना चोद्यते, यथाऽऽयुष्मन् ! किमेवं त्वयाऽऽहारतत्परेणैव स्थीयते ?, दुर्लभा खल्वियं मनुजत्वाऽऽदिचतुरङ्गसामग्री,ततः एनामवाप्य तपस्येवोद्यन्तुमुचितमिति । ततः किमित्याह-( चोइओ पडिचोएइ त्ति ) चोदितः सन् प्रतिचोदयति, यथा-कुशलत्वमुपदेशकर्मणि न तु स्वयमनुष्ठाने, अन्यथा किमेवमवगच्छन्नपि भवान्न विकृष्टं तपोऽनुतिष्ठति ?, शेषं तथैव । आचार्यपरित्यागी, ते हि तपःकर्मणि विषीदन्तमुद्यमयन्त्यानीतमपि चान्नाऽऽदि बालग्लानाऽऽदिभ्यो दापयन्त्यतोऽतीवाऽऽहारलौल्यात्तत्परित्यजनशीलः परानन्यान् पाषण्डान् सौगतप्रभृतीन् "मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, " इत्यादिकदभिप्रायतोऽत्यन्तमाहारप्रसक्तांस्तत एव हेतोः सेवते-तथा तथाऽपसर्पतीति परपाषण्डसेवकः, तथा च स्वेच्छाप्रवृत्ततया ( गाणंगणिए त्ति ) गणात् गणं षण्मासाभ्यन्तर एव संक्रामतीति गाणंगणिक इत्यागमिकी परिभाषा। तथा चाऽऽगमः-"छम्मासऽब्भंतरतो गणा गणं संकमं करेमाणो।" इत्यादि । अत एव च दुर्निन्द्यायां, ततश्च दुरिति निन्दित, भूतं-भवनमस्येति दुर्भूतो, दुराचारतया निन्द्यो भूत इत्यर्थः,अपरं तथैवेति सूत्रत्रयार्थः।

संप्रति वीर्याऽऽचारविरहतः तमेवाऽऽह-

सयं गेहं परिवज्ज, परगेहंसि वावरे ।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१८॥
सन्नाइपिंडं जेमेइ, निच्छई सामुदाणियं ।
गिहिनिसिज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥१९॥

स्वमेव स्वकं, निजकमित्यर्थः । गेहं गृहं, परित्यज्य परिहृत्य, प्रव्रज्याङ्गीकरणतः परगेहेऽन्यवेश्मनि ( वावरि त्ति)व्याप्रियते पिण्डार्थी सन् गृहिणामात्मभाव दर्शयन् स्वतस्तत्कृत्यानि कुरुते । पठ्यते च-( ववहरि त्ति ) तत एव हेतोर्व्यवहरति गृहिनिमित्तं क्रयविक्रयव्यवहार करोति, निमित्तेन च शुभाशुभसूचकेन व्यवहरति द्रव्यार्जनं करोति, अपरं च पूर्ववत् । अपि च-सन्नाय त्ति स्वज्ञातयः स्वकीयस्वजनास्तैर्निजक इति यथेप्सितो यः स्निग्धमधुराऽऽदिराहारो दीयते स स्वज्ञातिपिण्डस्तं ( जेमति त्ति ) भुङ्क्ते, नेच्छति नाऽभिलषति समुदानानि-भिक्षास्तेषां समूहः सामुदानिकम् , " अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् " ॥ ४ । २ । ४७ ॥ इति ठक् । बहुगृहसंबन्धिनं भिक्षासमूहमज्ञातोञ्छमिति यावत् . गृहिणां निषद्या पर्यङ्कतूल्यादिका शय्या, तां च वाहयति सुखशीलतया आरोहति, शेषं तथैवेति सूत्रद्वयार्थः ।

संप्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरन्नुक्तरूपदोषाऽऽसेवनपरिहारयोः फलमाह-

एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे,
रूवं धरे मुणिपवराण हेट्ठिमे ।
अयंसि लोए विसमेवगरहिए,
ण से इहं नेव परम्मि लोए ॥ २० ॥
जो वज्ज एए उ सया उ दोसे,
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे ।
अयंसि लोए अमयं व पूइए,
आराहए दुहओ लोगमिणं (तहा परे) ॥ २१ ॥

एतादृशो यादृश उक्तः-( पंचे त्ति ) पञ्चसंख्यः कुत्सितं शीलमेषां कुशीलाः पार्श्वस्थाऽऽदयः समाहृताः पञ्चकुशीलं तद्वदसंवृत —अनिरुद्धाऽऽश्रवद्वारः पञ्चकुशीलासंवृतो, रूपं रजोहरणाऽऽदिकं वेषं धारयति रूपधरः, सूत्रे तु प्राकृतत्वाद्विन्दुनिर्देशः । मुनिप्रवराणामतिप्रधानतपस्विनाम्-( हिट्ठिमो त्ति ) अधस्ताद्वर्ती, अतिजघन्यसंयमस्थानवर्तित्वान्निकृष्ट इत्यर्थः । एतत्फलमाह-( अयंसि त्ति ) अस्मिन् लोके जगति विषमिवेति गरल इव गर्हितो निन्दितः, भ्रष्टप्रतिज्ञो हि प्राकृतजनैरपि निन्द्यते-धिगेनमिति । अत एव न स इहेति इहलोके,नैवेति नाऽपि परत्र लोके,परमार्थतः सन्निति शेषः, यो हि नैहिककमामुष्मिकं वा कञ्चन गुणमुपार्जयति स तद्गणनायामप्रवेशनत्वतोऽविद्यमान एवेति । यो वर्जयति परित्यजत्येतानुक्तरूपान् ( सया उ त्ति ) सदैव दोषान् यथासुखविहाराऽऽदिपापाऽनुष्ठानरूपान् स तथाविधः सुव्रतो निरतिचारतया प्रशस्यव्रतो भवति मुनीनां मध्ये । किमुक्तं भवति ?-भावतो मुनित्वेनाऽसौ मुनिमध्ये गण्यते, तथा चाऽस्मिन् लोके अमृतमिव सुरभोज्यमिव पूजितोऽभ्यर्हितं आराधयति ( दुहतो लोगमिणं ति ) इहलोकपरलोकभेदेन द्विविधं लोकम् ( इणं ति ) इममनेन चाऽतिप्रतीततया प्रत्यक्षं निर्दिशतीति,इहलोके सकललोकपूज्यतया परलोके च सुगत्यवाप्तेः, ततः पापवर्जनमेवं विधेयमिति भाव इति सूत्रद्वयाऽर्थः । उत्त० १७ अ० ।

पावसमणिज्ज-पापश्रमणीय-न० । पापश्रमणस्वरूपोपदर्शके, सप्तदशे उत्तराध्ययने, उत्त० १७ अ० ।

पावसुमिण- पापस्वप्न-पुं० । दुःस्वप्ने, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पावसुय-पापश्रुत -न० । पापोपादानहेतौ शास्त्रे, स्था० ६ ठा० । आव० ।

पावसुयपसंग-पापश्रुतप्रसङ्ग -पुं० । पापोपादानहेतुः श्रुत तत्र प्रसङ्गस्तथा सेवारूपो विस्तरो वा सूत्रवृत्तिकरूपः पापश्रुतप्रसङ्गः । उत्पाताऽऽदिके पापश्रुते, स्था० ।

नवविहे पावसुयपसंगे पएणत्ते । तं जहा-" उप्पाए नेमित्तिएँ मंते, आइक्खए तिगिच्छीए । कलाऽऽवरण अन्नाणे, मिच्छापावयणे त्ति य ॥ १ ॥ "

पापोपादानहेतुः श्रुतं शास्त्रं पापश्रुतं, तत्र प्रसङ्गः तथा सेवारूपो विस्तरो सूत्रवृत्तिकरूपः पापश्रुतप्रसङ्गः । ( उप्पाए सिलोगो ) तत्रोत्पातः प्रकृतिविकाररूपः सहजरुधिरवृष्ट्यादि तत्प्रतिपादनपरं शास्त्रमपि तथा, राष्ट्रोत्पाताऽऽदि, तथा निमित्तमतीताऽऽदिपरिज्ञानोपायशास्त्रं कूटपर्वताऽऽदि. मन्त्रोमन्त्रशास्त्रं जीवोद्धरणगारुडाऽऽदि (आइक्खए त्ति)मातङ्गविद्या, यदुपदेशादतीताऽऽदि कथयति डोम्बो वधिरा इति लोकप्रतीताः ४, चैकित्सकमायुर्वेदः; कला लेखाऽऽद्या गणितप्रधानाः शकुनरुतपर्यवसाना द्वासप्ततिः, तच्छास्त्राण्यपि । तथा आव्रियते आकाशमनेनेत्यावरणं भवनप्रासादनगराऽऽदि तल्लक्षणं शास्त्रमपि तथा, वास्तुविद्येत्यर्थः । अज्ञानं लौकिकश्रुतं भारतकाव्यनाटकाऽऽदि ८। मिथ्याप्रवचनं शाक्याऽऽदितीर्थिकशासनमिति । एतच्च सर्वमपि पापश्रुतं,संयतेन पुष्टाऽऽलम्बनेनाऽऽसेव्यमानमपापश्रुतमेवेति । इतिरेवं प्रकारे,चः समुच्चये । स्था० ६ ठा० ।

एगूणतीसइविहे पावसुयपसंगेणं पएणत्ते । तं जहा- भौमे उप्पाए सुमिणे अंतरिक्खे अंगे सरे वंजणे लक्खणे । भोमे तिविहे पएणत्ते । तं जहा-सुत्ते वित्ती वत्तिए । एवं एक्केक्कं तिविहं, विकहाजोगे,विज्जाणुजोगे,मंताणुजोगे, जोगाणुजोगे, अएणतित्थियपवत्ताणुजोगे ॥

पापोपादानानि श्रुतानि तेषां प्रसङ्गस्तथाऽऽसेवनारूपः पापश्रुतप्रसङ्गः । स च पापश्रुतानामेकोनत्रिंशद्विधत्वात् तद्विध उक्तः पापश्रुतविषयतया पापश्रुतान्येवोच्यन्तेऽत एवाऽऽह-( भोमे इत्यादि ) तत्र भौमं भूमिविकारफलाऽभिधानप्रधानं निमित्तशास्त्रं, तथा उत्पातं सहजरुधिरवृष्ट्यादिलक्षणोत्पातफलनिरूपकं निमित्तशास्त्रम्, एवं स्वप्नं स्वप्नफलाऽऽविर्भावकम्, अन्तरिक्षमाकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदाऽऽदिभावफलनिवेदकम्, अङ्गं शरीराऽवयवप्रमाणस्पन्दिताऽऽदिविकारफलोद्भावकं, स्वर जीवाजीवाऽश्रितस्वरस्वरूपफलाऽभिधायकं, व्यञ्जनं मषाऽऽदिव्यञ्जनफलोपदेशकं, लक्षणं लाञ्छनाऽऽद्यनेकविधलक्षणव्युत्पादकमित्यष्टावेतान्येव सूत्रवृत्तिवार्त्तिकभेदाच्चतुर्विंशतिः,तत्राङ्गवर्जितानामन्येषां सूत्रं सहस्रप्रमाणं,वृत्तिर्लक्षप्रमाणा, वार्त्तिकं वृत्तेर्व्याख्यानरूपं कोटिप्रमाणमङ्गस्य तु सूत्रं लक्षणं वृत्तिः टीका वार्त्तिकमपि परिमितमिति । तथा विकथाऽनुयोगोऽनर्थकामोपायप्रतिपादनपराणि कामन्दकवात्स्यायनाऽऽदीनि भारताऽऽदीनि वा शास्त्राणि२५,तथा विद्याऽनुयोगो रोहिणीप्रभृतिविद्यासाधनाऽभिधायकानि शास्त्राणि २६ मन्त्राऽनुयोगश्चेटकाऽऽदिमन्त्रसाधनाऽभिधायकानि पापशास्त्राणि २७, योगाऽनुयोगो वशीकरणाऽऽदिकानि हरमेखलाऽऽदियोगाऽभिधायकानि शास्त्राणि २८, अन्यतीर्थिकेभ्यः कापिलाऽऽदिभ्य सकाशाद् यः प्रवृत्त. स्वकीयाऽऽचारवस्तुतत्त्वानामनुयोगो विचारस्तत्करणार्थं शास्त्रसन्दर्भ इत्यर्थः, सोऽन्य इति २६ । स० २६ सम० । आ० चू० । आव० । सूत्र० । प्रश्न० । ध० ।

अट्ठ निमित्तंगाइं, विव्वुप्पायंतलिक्खभोमं च ।
अंगसरलक्खणवं-जणं च तिविहं पुणोक्केक्कं ॥ १ ॥
सुत्तं वित्ती तह व-त्तियं च पावसुय अउणतीसविहं ।
गंधव्वनट्टवत्थुं, आउं धणुवेयसंजुत्तं ॥ २ ॥

अष्ट निमित्ताङ्गानि, दिव्यं व्यन्तराऽऽद्यट्टहासाऽऽदिविषयम्, उत्पातम् सहजरुधिरवृष्ट्यादिविषयम्,अन्तरिक्षम्-ग्रहभेदाऽऽदिविषयं, भौमं-भूमिविकारदर्शनादेवास्मादिदं भवति इत्यादि विषयम्, अङ्गम् अङ्गविषयं, स्वरम्-स्वरविषयम्, व्यञ्जनम्-मषाऽऽदि तद्विषयं,लक्षणं लाञ्छनाऽऽदि तद्विषयम् । तथा च-अङ्गाऽऽदिदर्शनतस्तद्विदो भाविनं सुखाऽऽदि जानन्त्येव,त्रिविधं पुनरेकैकं दिव्यादि-सूत्रम,वृत्तिः, तथा-वार्त्तिकं चेत्यनेन भेदेन-

" दिव्वाऽऽदीण सरूवं, अंगविवज्जाण होइ सत्तएहं ।
सुत्तं सहस्सलक्खो, य वित्ति तह कोडि वक्खाणं ॥ १ ॥
अंगस्स सयसहस्सं,सुत्तं वित्ती य कोडि विन्नेया ।
वक्खाणं अपरिमिय, इयमेव य वत्तियं जाण ॥ २ ॥ "

पापश्रुतमेकोनत्रिंशद्विधं,कथम् ?,अष्टौ मूलभेदा. सूत्राऽऽदिभेदेन त्रिगुणाश्चतुर्विंशति. गन्धर्वाऽऽदिसंयुक्ता एकोनत्रिंशद्भवन्ति, (वत्थुं ति) वास्तुविद्या ( आउं ति ) वैद्यकम् । शेषं प्रकटार्थम् । आव० ४ अ० ।

**पावसूयण** पापसूदन-न० । " पापसूदनमप्येवं, तत्तत्पापाऽऽद्यपेक्षया । चित्रमन्त्रजपप्रायं, प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥१३५॥" ( यो० बि० ) इतिलक्षिते तपोभेदे, द्वा० ।

पापसूदनमप्येवं, तत्तत्पापाऽऽद्यपेक्षया ।
चित्रमन्त्रजपप्रायं, प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥ २१ ॥

पापसूदनमप्येवं परिशुद्धं विधानतश्च ज्ञेयम् । तत्तच्चित्ररूपं यत्पापं साधुद्रोहाऽऽदि तदपेक्षया यथाऽर्जुनमुनिराजस्याङ्गीकृतप्रव्रज्यस्य साधुवधस्मरणे तद्दिनप्रतिपन्नाभोजनाभिग्रहस्य षएमासान् यावज्जातव्रतपर्यायस्य सम्यक् संपन्नाऽऽराधनस्य किल न कचिद्दिने भोजनमजनीति चित्रो नानाविधः "ह्रीं असिआउसा नम."इत्यादिमन्त्रस्मरणरूपो मन्त्रजप प्रायो बहुलो यत्र तत् प्रत्यापत्तिस्तत्तदपराधस्थानान्महता संवेगेन प्रतिक्रान्तिस्तया विशोधितं विशुद्धिमानीतम् । द्वा० १२ द्वा० ।

**पावा** पापा-स्त्री० । मध्यमाऽपरनाम्न्यां बङ्गदेशराजधान्याम्, प्रव० २७५ द्वार । पञ्चा० । प्रज्ञा० । आ० म० । सूत्र० । यत्र भगवान् निर्वृत. । ती० ।

पापाकल्प -

सिद्धार्थोक्त्या वनान्ते खरक(?) कुसुमितान्यञ्जनद्रोणिभाजः,
शल्ये निष्किष्यमाणे श्रुतियुगविवरात्तीव्रपीडाऽर्दितस्य ।
यस्या अभ्यर्णभागेऽस्तिमजिनमुकुटस्योद्धवाश्चर्यमुच्चैश्चीत्कारारावस्फुटितगिरिदरी दृश्यतेऽद्यापि पूर. ॥१॥
यत्रे तीर्थप्रवृत्तिं चरमजिनपतिर्यत्र वैशाखशुक्लैकादश्यामेत्य रात्रौ वनमनु महसेनाह्वयं जृम्भिकातः ।
सद्धात्रास्तत्र त्रिकाग्र्य गणपतयो दीक्षिता गौतमाऽऽद्याः,
जग्रन्थुर्द्वादशाङ्गीं भवजलधितरीं ते निपद्यात्रयेण ॥ २ ॥
यस्या श्रीवर्द्धमानो द्यमहमनयनक्देमनाकान्तिमत्यां (?),
कृत्वा श्रीहस्तिपालाभिधधरणिभुजोऽधिष्ठितःशुल्कशालाम् ।

स्वातावूर्जस्य दर्शे शिवमसमसुखश्रीनिशान्त निशान्ते,
प्रापत्पापाऽस्तपापान् विरचयतु जनान् सा पुरीणां धुरीणा।३।
नागा अद्यापि यस्यां प्रतिकृतिनिलया दर्शयन्ति प्रभावं,
निस्तैले नीरपूर्णे ज्वलति गृहमणिः कौशिके यत्रिशासु ।
भूयिष्ठैश्वर्यभूमिश्चरमजिनवरस्तूपरम्यस्वरूपा,
सा पापा मध्यमाऽऽदिर्भवतु वरपुरी भूतये यात्रिकेभ्यः।४।"
इतिश्रीपापाकल्पः । ती० १३ कल्प ।
"पणमिय वीरं वुच्छं, तस्सेव य सिद्धिगमपवित्तीए ।
पापापुरीइ कप्पं, दीवमहुप्पत्तिपडिबद्धं ॥ १ ॥
गउडेसु पाडलिपुरे, संपइ राया तिखंडभरहवई ।
अज्जसुहत्थिगणहर, पुच्छइ पणओ परमसड्ढो ॥ २ ॥
दीवालिअपव्वमिणं, लोए लोउत्तरे अ लोगओ रचिअं ।
भयवं ! कह संभूयं ?,अह भणइ गुरू निव ! सुणेसु ॥ ३ ॥"

( ती० ) ( इतोऽग्रे ' कलिजुग ' शब्दे तृतीयभागे ३७६ पृष्ठे गतम् ) (दु:षमावृत्तम् ' दूसमा ' शब्दे चतुर्थभागे २६०१ पृष्ठे गतम् ) ( कल्किवृत्तान्तम् 'कक्कि' शब्दे तृतीयभागे १८१ पृष्ठे गतम् ) । "दत्तो राया वायत्तरिवासाओ पइदिणं जिणचेइमंडियं महिं काही,लोगं च सुहिअं काहिति । दत्तस्स पुत्तो जियसत्तू,तस्सचिओ मेघघोसो, कक्किअणंतरं महानिसीहं न वट्टिस्सइ । दोवाससहस्सट्ठिइणो भासरासिग्गहस्स पीडाए नियत्ताए य देवा वि दंसणं दाहिंति,विज्जा मंता य अप्पेण वि जावेण पहावं दंसिस्संति, ओहिनाणजाइसरणाइभावा य किंचि पयट्टिस्संति, तदनंतरं एगुणवीससहस्साइं जाव जिणधम्मो वट्टिस्सइ(दुप्पसहसूरिवृत्तम् 'दुप्पसह'शब्दे चतुर्थभागे २५६२ पृष्ठे गतम्) दुप्पसहो सूरी,फग्गुसिरी अज्जा,नाइलो सावओ, सच्चसिरी साविया,अपच्छिमो संघो एस पुव्वण्हे भारहे वासे अत्थमेहिइ, मज्झण्हे विमलवाहणो राया,सुमुहो मंती, अवरण्हे अग्गी,एवं धम्मरायनीइपागाईणं वुच्छेओ होहिइ, एवं पचमो अरओ दूसमा संपुण्णा,तओ दूसमदूसमाए छट्ठे अरए पयट्टे पलयवाया वाइस्संति,वरिसिस्संति विसहरजला, भविस्सइ धारसाऽऽइच्चसमो सूरो, अइसीयं मुंचिस्सइ चंदो, गंगासिंधूभयतडेसुं वेयड्ढमूले बाहत्तरिए मूलेसु छखंडभरहवासिणो नरतिरिया वसिस्सति,वेयड्ढआरओ पुव्वावरतडेसु गंगाए नव नव बिलाइं, एवं वेयड्ढपरओ वि एवं छत्तीसं. एमेव सिंधूए वि छत्तीसं. एगत्ते बावत्तरि बिलाई रहपहमित्तपवाहाणं गंगासिंधूणं जले उप्पन्ने मच्छाई ते बिलवासिणो रत्तिं कड्ढिस्संति,दिया ताव भएण निग्गतुमक्खमा सूरकिरणपक्कोसेरयणीए खाहिंति,ओसहितपक्खगामनगरजलासयपव्वयाईए वेयड्ढउसभकूडवज्जं निवेसट्ठाणं पि न दीसिहिइ छव्वासा इत्थीओ गब्भं धारिस्संति,सोलसवासाओ नरा पुत्तपुत्ते दच्छंति,हत्थमुस्सिआ काला कुरुया उग्गकसाया नग्गा पायं नरयगामी बिलवासिणो एगवीसं सहस्साइं भविस्संति । एवं छट्ठे अरए ओसप्पिणीए समत्ते वि पढमे अरए एवा चेव वत्तव्वया तम्मि वोलीणे बीयारयपारंभे सत्ताहं पंच मेहा भारहे वासे वासिस्संति कमेणं । तं जहा-पढमो पुक्खरसंवट्टो तावं निव्वावेहिइ,बीओ खीरोदो घनकारी,तइओ घओदओ नेहकारओ चउत्थो मओदओ ओसहीकरो. पंचमो रसोदओ भूमीए रसंजणओ,ते य [illegible] वासिणो परमयं पहमाणसरीरा[illegible] [illegible] [illegible] हंतो निस्सरंति,धणं फलाइं भुंजंता मंसाहारं निवारइस्सति.तओ मज्झदेसे सत्त कुलगरा भविस्संति,तत्थ पढमो विमलवाहणो,बीओ सुदामो, तइओ संगओ,चउत्थो सुपासो,पंचमो दत्तो छट्ठो सुमुहो,सत्तमो संमुची। जाइसरणेणं विमलवाहणो नगराइनिवेसं काही. अग्गिम्मि उप्पन्ने अण्णपाणगं सिप्पाइं कालाओ लोगववहारं च सव्वं पवत्तेही । तइओ एगूणनवइपक्खस्स मज्झिए उस्सप्पिणीअरयदुगे वइक्कंते पुंडवद्धणदेसे सयदारे पुरे संमुइनरवइणो भद्दाए देवीए चउद्दसमहासुमिणसूइओ सेणियरायजीवो रयणप्पभाए लोलुयच्चुयपच्छडाओ चुलसीइं वाससहस्साइं आउं पालित्ता उव्वट्टो समाणो कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववज्जिहिइ, वद्धप्पमाणालवणआऊणि गब्भावहारवज्जं पंचकल्लाणयाण मासतिहिनक्खत्ताणि जहा मम तहेव भविस्संति । नवरं नामेणं पउमनाहो,देवसेणो,विमलवाहणो अ। तओ बीअतित्थयरो सुपासजीवो सूरदेवो, तइओ उदाइजीवो सुपासो, चउत्थो पोट्टिलजीवो सयंपभो, पंचमो दढाउजीवाओ सव्वाणुभूई, छट्ठो कित्तियजीवो देवसुओ, सत्तमो संखजीवो दओ, अट्ठमो आणंदजीवो पेढालो, नवमो सुनंदाजीवो पोट्टिलो, दसमो सयगजीवो सयकित्ती, एक्कारसमो देवइजीवो मुणिसुव्वओ, वारसमो कण्हजीवो अममो, तेरसमो सव्वइजीवो निक्कसाओ, चउद्दसमो वलदेवजीवो निप्पुलाओ, पण्णरसो सुलसाजीवो निम्ममो, सोलसमो रोहिणीजीवो चित्तगुत्तो । "केइ पुण भणंति-कक्किपुत्तो दत्तनामो पण्णरसउ त्तिउत्तरे विक्कमवरिसे सेत्तुंजउद्धारं कारित्ता जिणभवणमंडिअं च वसुहं काउ अजियतित्थयरनामो सग्गं गंतुं चित्तगुत्तो नामजिणवरो होहित्ति । इत्थ य बहुस्सुअसंमयं पमाणं ।"सत्तरसो रेवइजीवो समाही,अट्ठारसो सयालिजीवो संवरो,एगूणवीसो दीवायणजीवो जसोहरो, वीसइमो कण्हजीवो विजओ, एगवीसो नारदजीवो मल्लो वावीसइमो अंबडजीवो देवो, तेवीसइमो अमरजीवो अणंतविरिओ, चउवीसइमो सयंबुद्धजीवो भद्दकरो, अंतरालाइ पच्छाणुपुव्वीए जहा वद्धमाणजिणाणं । ते वि चक्कवट्टिणो दुवालस होहिंति । तं जहा-दीहदंतो,गूढदंतो,सिरिचंदो,सिरिभूई,सिरिसोमो पउमो नायगो,महापउमो,विमलो,अमलवाहणो,विलो, अरिट्ठो अ । नव भाविवासुदेवा । तं जहा-नंदी,नंदिमित्तो, सुंदरबाहू,महाबाहू,अइबलो,दुविट्ठू,तिविट्ठ य । नव भाविपडिवासुदेवा जहा-तओ लोहजंघो,केसरी,बली,पहराओ,अपराजितो, भीमो, सुग्गीवो । नव भाविबलदेवा जहा-जयंतो, अजिओ, धम्मो, सुप्पभो, सुदंसणो, आणंदे, नंदणो, पउमो, संकरिसणो य । इगसट्ठी सलागापुरिसा ओसप्पिणीए तइए अरए भविस्संति, अपच्छिमजिणचक्कवट्टिणो य दुसि चउत्थे अरए होहिंति । तओ दसमगाई कप्परुक्खा उप्पज्जिहिंति । अट्ठारस कोडाकोडीओ सागरोवमाणं निरंतरं जुगलधम्मो भविस्सइ । उस्सप्पिणी अवसप्पिणी कालचक्काणि अणंतसो वेअहाओ अणंतगुणाणि भारहे वासे होहिंति।

एवमाइ अन्ने पि भविस्सकाले मरुवं थागरित्ता कम्मि विगामे देयमम्मविप्पस्स पोहगुत्थं गोअमसामी पट्ठविओ,जहा एयस्स पेमबंधो झिज्झिइ, तओ तीसं वासाइं आगारवासे वसित्ता एक्केहिं अ मइवारसवासे छउमत्थो तीसं वासाइं तेरस पक्खाइं केवली विहरित्ता कत्तिअअमाव-

साए राईए चरमजामऽद्धे चंदे दुवे संवच्छरे पीइवद्धणे मासे नंदिवद्धणे पक्खे देवानंदाए रयणीए उवसमे दिणे नागे करणे सव्वट्ठसिद्धे मुहुत्ते साइनक्खत्ते अयं पज्जंकासणे सामी सक्केणं विन्नत्तो—भयवं ! दोवाससहस्सट्ठिई भासरासी नाम तीसइमो गहो अइखुद्दप्पा तुम्ह जम्मनक्खत्तं संकंतो संपयं ता मुहुत्तं पडिक्खह, जहा तस्स मुहं वंचियं भवइ, अन्नहा तुम्ह वि अ तित्थस्स पीडा चिरं होहिति । भयवया भणियं-भो देवरायराया ! अम्हेऽत्थ पुहविं छत्तं, मेरुं च दंडं काउं एगाहलाए सयंभूरमणसमुद्दं तरिउं, लोअं च अलोए खिविउं समत्था, न उण आउकम्म वड्ढेउं वा हासेउं वा समत्था, तओ अवस्सं भाविभावाणं नत्थि वइक्कमो, तओ दोवाससहस्से जाव अवस्सं भाविणी तित्थस्स पीड त्ति । सामी पच्चावन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पच्चावन्नं च पावकम्मफलविवागाइं विभावइत्ता छत्तीसं च अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता पहाणं नाम अज्झयणं वि भावमाणे सेलेसीमुवगम्म कायजोगनिरोहो सिद्धाणंतचउक्को एगागी सिद्धिं संपत्ते अणंतं नाणं, अणंतं दंसणं, अणंतं सम्मत्तं, अणंतो आणंदो, अणंतं विरयं च त्ति पंचाणंतग, तया य अणुद्धरीकुंथूणं उप्पत्तिं दट्ठु अज्जप्पभिइ संजमे दुराराहए भविस्सइ त्ति समणा समणीओ अ बहवे भत्तं पच्चक्खिंसु । (ती०)

अन्नं च-" कासीकोसलगा नव मल्लई नव लेच्छई अट्ठारसगणरायाणो अमावसाए पोसहोववासं पारित्ता गए भावुज्जोए दव्वुज्जोअं करिस्सामि " त्ति । ( १२७ सूत्र कल्प० १ अधि० ६ क्षण ) परिभाविय रयणमयदीवेहिं उज्जोयको त्ति कालक्कमेण अग्गिदीवेहिं सो जाओ, एवं दीवालिया जाया, देवेहिं देवीहि य आगच्छंतगच्छंतेहिं सा रयणी उज्जोअमई कोलाहलसकुला य जाया । भगवओ य सरीरं देवेहिं सक्कारिय भासरासिं पडिवक्खो पीडापडिघायत्थं देवमाणुसगवाईणं नीराजणा जणेहिं कया तेण किर मेरा इयाणिं पवित्ता जाया ।

गोयमसामी पुणं तं विप्पं पडिबोहित्ता जाव भयवओ वंदणत्थं पच्चागच्छइ ताव देवाणं संलावे सुणेइ,जहा भयवं कालगओ त्ति सुदुट्ठअरं अधिंतिं गओ । अहो ममम्मि भत्ते वि सामिणो निन्नेहया,जमहं अंतसमए वि समीवे न ठाविओ, कहं वा वीअरागाणं सिणेहु त्ति नायसुअं ति चभियपेमबंधणे तक्खणं चेव केवली जाओ । सक्केणं कत्तियसुद्धपडिवयाए आगासगे केवलिमहिमा कया । भयव सहस्सदलकणयपंकए निवेसिओ, पुप्फप्पयरं काउं अट्ठमंगलाइं पुरओ आहिलिआइं, देसणा य सुआ । अओ चेव पाडिवए महूसओ अज्ज वि जयं पि पवत्तई । सूरिमंतो अ गोअमसामीए णीओ, तस्साराहगा गोअमकेवलुप्पत्तिदिवसु त्ति तम्मि दिणे समवसरणे अक्खएहवणाइपूअं सूरिणो करिंति सावया य भयव अ त्थमिए सुअनाणं चेव सव्वविहासु पहाणं ति सुअनाणं पूअंति नंदिवद्धणनरिंदो सामिणो जिट्ठभाया भयवंतं सिद्धिगयं सुच्चा अईव सोगं कुणंतो पाडिवए कओववासो कत्तिअसुद्धबीयाए संबोहित्ता निअघरे आमंतित्ता सुदंसणाए भगिणीए भोइओ तंबोलवत्थाइ दिण्णं, तप्पभिइ भायबीयापव्वं रूढं । एवं दीवूसवट्ठिई संजाया । जे अ दीवमहे चउद्दसिअमावसासु कोडीसहिअमुववासं काउं अट्ठप्पगारपूयआए सुअनाणं पूइत्ता पंचाससहस्सपरिवारं सिरिगोअमसामिं सुवण्णकमले ठियं जाइत्ता पइदिणं पंचाससहस्साइं तंदुलाणं, एगत्ते बारस लक्खाइं चउवीस पहयपुरओ बोइत्ता तदुवरि अखंडदीवयं बोहित्ता गोअमं आराहिंति, ते परमपयसुहलच्छिं पावंति त्ति दीवूसयअमावसाए उज्जमणं कुज्जा । तत्थ दीवुस्सवे जिणालए सऽक्कअम्हावणाइ पूयं काऊण नंदीसरपडपुरओ वा दप्पणसंकंतजिणबिंबेसु महवणाइ काउं वायणहिं घलिट्ठोइज्जावत्थूण य पक्कअमेया नारिंगजंबीरकयलीफलाईणि नालिएराइ पूगाईणि अउक्कलखीओ खज्जूरमुद्दियाघरिसालयउत्तरित्तिसालयउत्तत्तिया वायनाईणि खीरमाइयालाइ दीवयाइच्चाइकवोलियाओ वायवं तंयोलाइदाणपुव्वं सातिया णंदिया अन्ने क दीवूसवं विअ भायसारा नंदीसरतवं आढविंति त्ति ।

अह पुणरवि अज्जसुहत्थीणं संपइमहाराओ पुच्छिसु-भयवं ! इत्थ दीवालिया-पव्वम्मि विसेसओ घराण मंडणअभवन्याईणं विसिट्ठपरिभोगो अभोअं वाऽऽहाराइकरणं जणाणं केण कारणेण दीसइ ?। तत्थ इमं पच्चुत्तरं अज्जसुहत्थिसूरिणो पन्नविंसु-जहा पुव्वं उज्जेणीए पुरीए उज्जाणे सिरिमुणिसुव्वइसामिसीसो सुव्वयाऽऽयरिओ समोसढो, तस्स वंदणत्थं गओ सिरिधम्मराया, तेसु वि मंती विज्जं तत्थ गओ, सूरीहिं समं विवायं कुणंतो खुल्लगेण पराजिओ, गओ रत्ता समं गेह तिराए मुणिणो हंतुं कड्ढिअखग्गो गओ उज्जाणं, देवयाए तम्भिओ गोसे विम्हिएण रन्ना खामित्ता मोइओ लज्जिओ नट्ठो गओ हत्थिणाउरे, तत्थ पउमुत्तरो राया, जाला तस्स देवी, तीसे दो पुत्ता-विण्हुकुमारो, महापउमो अ । जिट्ठे अणिच्छंते महापउमस्स जुवरायपयं पिउणा दिन्नं, नमुई तस्स मंती जाओ, तेण सीहरहो रणे विजिओ, महापउमो तुट्ठो वरं दिंते, तेण न सीकओ वरो, एगया जालादेवीए अरहंतरहो कारिओ, तीसे सवत्तीए लच्छीए पच्छिमदिट्ठीए पुण बंभरहो, पढमं रहकड्ढणे दुण्ह वि देवाणं विवाहे दोवि रहा रन्ना वारिया, माउए अवमाणं दट्ठुं महापउमो देसंतरं गओ,कमेण मयणावलिं परिणित्ता साहियछक्खंडभारहो गयउरं समागओ,पिउणा रज्जं दिन्नं, विण्हुकुमारेण समं पउमुत्तरो सुव्वयाऽऽयरियपायमूले दिक्खं गिण्हित्ता सयं सिवं पत्ता, विण्हुकुमारस्स य सट्ठिवाससयाइं तवं कुणंतस्स अणेगाओ लद्धीओ संपन्नाओ,महापउमो चक्की जिणभवणमंडियं महिं काउं रहजुत्ताओ कारित्ता पूरेइ माउयमणोरहो,नमुचिणा वक्का नासा कया वेरेण जणकरत्थं रज्जं मग्गिओ, तेण सव्वसंघेण तस्स रज्जं दाउं सय ठियमंतेउरे, सुव्वयायरिया य विहरिता । तया हत्थिणाउरे वासाचउम्मासिं ठिया, आगया सव्वे पासंडिणो आहिणवनिवं दट्ठुं,न सुव्वयाऽऽयरिया,तओ कुद्धो नमुई भणेइ-ममभूमीए तुज्झेहिं सत्तदिणोवरि न ठायव्वं,अन्नहा मारेमि,जओ मं दट्ठुं तुम्हे नागया । तओ सूरीहिं संघं पुच्छित्ता एगो साहू गयणगामिविज्जाए संपन्नो आइट्ठो मेरुचूलियाठियस्स विण्हुकुमारस्स आणयणत्थं । तेण विण्णत्तं भंते ! मम गंतुं सत्ती अत्थि, न उण आगंतुं । गुरूहिं वुत्तो-सो चेव तुमं आणेइ त्ति । तओ सो पत्तो मेरुतलं वंदिऊण विण्णत्तं सव्वं सरूवं महरिसिणा, तक्खणं चेव सो उप्पइओ साहुगं

णु साहुणा नहतलं, आगओ गयउरं, राउलं च, नमुइवज्जेहिं सव्वेहिं वंदिओ, उवलक्खिओ य । नमुई पच्चविओ वि अहो ठाउं न देइ साहूणं । ताए विण्हुणा राय त्ति गयमाणा भूमी तेण दिन्ना । भणियं च-जो बाहिं पयतिगाओ दिट्ठो,तं मारेहामि, ता वेउव्वियलक्खीय लक्खजोयणपमाणदेहो जाओ,विण्हुरिसी किरीडकुंडलगयाचक्कखग्गधणुहं धारिंतो तं ओहेण नाऊ ण पट्टवियाओ सुरंगणाओ कण्णजा हेट्टाओ महुरसरेण खंति-उवसमगब्भगीयाणि गाइंति, चक्कवट्टिपमुहा य विन्नायवइरा पसायणत्थं पाए सइंति, तओ उवसंतो पणइमावन्नो मह-रिसी खामिओ चक्कवट्टिणा संघेण य, विण्हुकुमाराओ च-क्किणा य मोयाविओ किवाए नमुई, तया य वासाए च-उत्थमासस्स पक्खसंधिदिणं आसी, तंसि उप्पाए उवसमे लोएहिं पुसज्झायं च अप्पाणं मन्नमाणाहिं अन्नोन्नं ववहारा-कया, विसिट्ठघरमंडणच्छायणभोयणतंबोलाइपरिभोगा प व्वत्तिया, तप्पभिइ पयम्मि दिवसे पयवरिसंते चेव ववहा-रा पयट्टिज्जंति, विन्हुकुमारो य कालेण केवली होऊण सि-द्धो महापउमचक्कवट्टि त्ति दसपुव्विस्स मुहाओ एवं सोऊण संपइनरिंदो आसी जिणभूरयओ वि सेसं पुव्वदियहेसु म-ज्झिमाए पावाए पुरिंव अपावा पुरि त्ति नामं आसि, सक्केणं पावापुरि त्ति नामं कयं, जेण इत्थ महावीरसामी कालगओ। इत्थेव य पुरीए वइसाहसुद्धएक्कारसीदिवसे जंभियगा-माओ रत्तिं बारस जोयणाणि आगंतूण पुव्वण्हदेसकाले महसेणवणे भयवया गोयमाइगणहरा खंडियगणपरिवुडा दिक्खिया, अणुओगगणाणुन्ना य तेसिं दिन्ना, तेहिं च नि-सिज्जात्तिगेण उप्पायविगमधुवलक्खणं पयतिगं लघूणं सामिसगासाओ तत्थ णं दुवालसगी विरइया । इत्थेव न यरीए भयवओ कणेहिंतो सिद्धत्थवाणियउवक्कमेणं खरय-वेज्जेण कण्णसलागा उद्धरिया, तदुद्धरणे य वेयणावसेण भयवया चिक्कारवो मुक्को, तेण पव्वासन्नपव्वओ दुहा जा-ओ, अज्ज वि तत्थ अंतरालसद्दिमग्गो दीसइ । तहा इ-त्थेव पुरीए कत्तियअमावसाए रयणीए भगवओ निव्वाणट्ठा-णे मिच्छदिट्ठीहिं सिरिवीरथूभं ठावियं नागमंडवे अज्ज वि वा उवक्खियलोहा जत्तामहूसवं करिंति, तीए चेव एगरत्ती देवा-ऽणुभावेणं कूवा इट्टियजलपुण्णमल्लियाए दीवो पज्जलेइ तिल्लं विणा, पुव्वुत्ता य अत्थासयवया इत्थेव नयरे वक्खाणिया, इत्थेवइ भगवं संपत्तो सिद्धिं, इच्चाइ अ पभूयसंविहाणठाणं पावापुरीतित्थं ।

" इय पावापुरिकप्पो, दीवमहुप्पत्तिभणणरमणिज्जो ।
जिणपहसूरीहिँ कओ, ठिएहिँ सिरिदेवगिरिनयरे ॥ १ ॥
तेरहसत्तासीए, विक्कमवरिसम्मि भद्दवयबहुले ।
पूलस्सिकारसिए, समत्थिओ एस सत्थिकरो ॥ २ ॥ "

समासः श्रीअपापाबृहत्कल्पो, दीपोत्सवकल्पो वा । ती० २० कल्प ।

**पावाइय**-प्रावादिक पुं० । प्रकर्षेण मर्यादया वदितुं शीलं येषां ते प्रावादिनः, त एव प्राम्दिकाः । यथाऽवस्थितताऽर्थस्य प्रतिपादवाय वावदूकेषु , आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

**पावाउय**-प्रावादुक-पुं० । प्रवदनशीलत्वात् प्रावादुकः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । परमतिनि. सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रावादुकाः पाखण्डिन. । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आचा० ।

**पावाण्ण**-पापान्य-पुं० । साधुधर्मे व्यवस्थिते, नि० चू० ४ उ० ।

**पावाभिगम**-पापाभिगम-पुं० । पापमेवोपादेयमित्यभिगमे , प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

**पावाययण**-पापाऽऽयतन-न० । अशुभप्रकृतिबन्धहेतौ, स्था० । " नव पावस्साऽऽययणा पन्नत्ता । तं जहा-पाणाइवाए० जाव परिग्गहे कोहे माणे माया लोहे । " स्था० ६ ठा० ।

**पावारग**-प्रावारक-पुं० । नेपालाऽऽदिराङ्कवरोमबृहत्कम्बलेषु, बृ० ३ उ० । नि० चू० । ज्ञा० । जी० ।

**पावासुअ**-प्रवासिन्-त्रि० । " प्रवासीक्षौ " ॥ ८ । १ । ६५ ॥ इत्यादेरिति उत्त्वम् ( पावासुओ ) प्रोषिते, प्रा० १ पाद ।

**पाविऊण**-प्राप्य-अव्य० । समधिगम्येत्यर्थे, पं० व० १ द्वार ।

**पाविड्डि**-पापर्द्धि-स्त्री० । ऋद्धिविशेषे. " दाणभोगरहिआ साया विड्ढी अणत्थफला ।" ध० २ अधि० ।

**पावित्ता**-प्राप्य-अव्य० । लब्ध्वेत्यर्थे,सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

**पावियंत**-प्राप्यमाण-त्रि० । गम्यमाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

**पाविया**-पापिका-स्त्री० । दोषवत्याम् , सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

**पावीढ**-पादपीठ पुं० । " दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पाद-पीठेऽन्तर्दः " ॥८।१।२७०॥ इति मध्ये वर्त्तमानस्य सस्वरव्य-ञ्जनस्य दकारस्य लुग् वा । ' पावीढं । पाअपीढं ।' पद्माऽऽदौ, प्रा० १ पाद ।

**पावेसणय**-प्रवेशनक-पुं० । भगवतीनवमशतसत्कद्वतीयोद्देशके गाङ्गेयाभिधानानगारकृतनरकाऽऽदिप्रवेशनविचारे, भ० ८ श्र० १ उ० ।

तदेव दर्शयते-

वंदित्तु वद्धमाणं, गंगेअसुपुट्ठभंगपरिमाणं ।
इगजोगे सग भंगा,दुगजोगे भंग इगवीसा ॥१॥

' वंदित्तु त्ति ' वन्दित्वा वर्द्धमानं गाङ्गेयपृष्टभङ्गपरिमाणं कथ्यत इति । " इगजोगे" असंयोगे भङ्गाः सप्त सप्त भवन्ति सप्तसु नरकेषु, एकस्मिन्नेकस्मिन् द्विकसंयोगे भङ्गाः२१-२१, तद्यथा-प्रथमद्वितीययोः १, प्रथमतृतीययोः २, प्रथमचतुर्थ्योः ३, प्रथमपञ्चम्योः ४ , प्रथमषष्ठ्योः ५ , प्रथमसप्तम्योः ६ , द्वितीयतृतीययो ७ , द्वितीयचतुर्थ्योः ८, द्वितीयपञ्चम्योः ६, द्वितीयषष्ठ्योः १०, द्वितीयसप्तम्यो. ११, इत्यादिभङ्गप्रस्तारवशाज्ज्ञेयम् । प्रथमनरकेण सह भङ्गाः ६, द्वितीयेन सह ५, तृतीयेन सह ४ , चतुर्थेन सह ३, पञ्चमेन सह २ , षष्ठेन सह १ , एवम्-२१ ॥ १ ॥

तिगचउजोमे पत्ते-अ भंग पणतीस पंचसंजोए ।
इगवीस य छज्जोए, सग भंगा सत्तए एगो ॥ २ ॥

एकस्मिन्नेकस्मिन् त्रिकयोगे चतुष्कयोगे च प्रत्येकं प्रत्येकं भङ्गाः ३५-३५ भवन्ति । त्रिकयोगे यथा-प्रथम द्वितीय-तृतीयेषु १ , प्रथमद्वितीयचतुर्थेषु २ , प्रथमद्वितीयपञ्चमेषु ३, इत्यादिभङ्गप्रस्ताराज्ज्ञेयम् । प्रथमेन सह १५ , द्वितीयेन सह १० , तृतीयेन ६, चतुर्थेन ३ , पञ्चमेन १ , एवम् ३५ । एक-

स्मिन्नेकस्मिन् चतुर्योगे भङ्गा. ३५-३५, प्रथमद्वितीयचतुर्थेपु १, प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमेपु २, प्रथमद्वितीयतृतीयषष्ठेषु ३, प्रथमद्वितीयतृतीयसप्तमेपु ४, इत्यादि प्रस्तारवशाज्ज्ञेयम्। प्रथमनरकेण सह भङ्गाः २०, द्वितीयेन १०, तृतीयेन ४, चतुर्थेन १. एवम् ३५। एकस्मिन्नेकस्मिन् पञ्चयोगे भङ्गा २१-२१ भवन्ति। प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमेपु १, इत्यादि प्रस्ताराज्ज्ञेयम्। प्रथमेन सह १५, द्वितीयेन सह ५, तृतीयेन सह १, एवम् २१। एकस्मिन्नेकस्मिन् षट्संयोगे भङ्गा ७-७, प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठेपु १, इत्यादि भङ्गप्रस्ताराज्ज्ञेयम्। प्रथमनरकेण सह भङ्गा ६, द्वितीयेन सह १ एक। सप्तसंयोगे भङ्गक एक एव प्रथमनरकेण सह, प्रथमद्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-सप्तमेपु प्रस्ताराज्ज्ञेयम् ॥ २ ॥

अधुना संयोगमधिकृत्याऽऽह-

एगपवेसे सत्त य, दुपवेसे सत्त ते असंजोगे ।
दुगसंजोगो एगो, भगगुणा जोग कायव्वा ॥ ३ ॥

एकप्रवेशे भङ्गाः सप्तैव, द्विप्रवेशेऽसंयोगे भङ्गा सप्तैव, द्विकयोगे संयोग एक एव। स्थापना चेयम्-

| १ | १ |
|---|---|

भङ्गगुणा योगा कर्त्तव्या., किमुक्तं भवति ?-यत्र यत्र द्विकयोगाऽऽदिका यावन्तो यावन्त संयोगा भवन्ति, ते संयोगा भङ्गगुणा. कर्त्तव्या, यस्मिन् यस्मिन् संयोगे यावन्तो यावन्तो भङ्गा. भवन्ति तद्गुणा. कर्त्तव्या. ॥ ३ ॥

तिपवेसे इगजोगे, सत्त य भंगा इमेव सव्वत्थ ।
दुगजोगे संजोगा, दो चेव हवंति नायव्वा ॥ ४ ॥

त्रिप्रवेशे 'एकयोगे' असंयोगे भङ्गा. सप्त ७, एवं सर्वत्र चतु.प्रवेशाऽऽदिषु ज्ञातव्यम्। असंयोगे भङ्गा ७-७, द्विकसंयोगे द्वौ संयोगौ भवत ॥ ४ ॥ स्थापना चेयम्-

| १ | २ |
|---|---|
| २ | १ |

तिगसंजोगे एगो, चउएह य पवेसि तिण्णि दुअजोगा ।
तिय जोगा तिन्नेव य, चउसंजोगो भवे एगो ॥ ५ ॥

त्रिकसंयोग एक एव, स्थापना चेयम्-

| १ | १ | १ |
|---|---|---|

( चउएह त्ति ) चतुर्णां प्रवेशे त्रयो द्विकसंयोगा भवन्ति स्थापना चेयम्-

| १ | ३ |
|---|---|
| २ | २ |
| ३ | १ |

त्रिकसंयोगे त्रय एव। तद्यथा—

| १ | १ | २ |
|---|---|---|
| १ | २ | १ |
| २ | १ | १ |

चतुष्कसंयोगे एक एव ॥ ५ ॥ स्थापना चेयम्-

| १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|

पंचपवेसि दुजोए, सजोगा इह हवंति चत्तारि ।
तिगजोए छज्जोआ, चउसंजोगा य चत्तारि ॥ ६ ॥

"पंचपवेसि त्ति" पञ्चाना प्रवेशे चत्वारो द्विकसंयोगा भवन्ति। तद्यथा

| ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |

त्रिकसंयोगे षट् संयोगा भङ्गा भवन्ति। तद्यथा-

| ३ | २ | २ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | २ | ३ |

चतुष्कसंयोगाश्चत्वारो भवन्ति ॥६॥ तद्यथा-

| १ | १ | १ | २ |
|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ |
| १ | २ | १ | १ |
| २ | १ | १ | १ |

इग पंचगसंजोगो, छपवेसे पंच हुंति दुगजोगा ।
तिगजोगा दस चेव य, चउक्कसंजोग दस एव ॥ ७ ॥

पञ्चकसंयोगे एक एव, तद्यथा-

| १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|

षट्प्रवेशे पञ्च द्विकसंयोगा भवन्ति। तद्यथा—

| १ | ५ |
|---|---|
| २ | ४ |
| ३ | ३ |
| ४ | २ |
| ५ | १ |

त्रिकसंयोगा दश भवन्ति। स्थापना चेयम्-

| १ | १ | ४ |
|---|---|---|
| १ | २ | ३ |
| २ | १ | ३ |
| १ | ३ | २ |
| २ | २ | २ |
| ३ | १ | २ |
| १ | ४ | १ |
| २ | ३ | १ |
| ३ | २ | १ |
| ४ | १ | १ |

चतुष्कसंयोगा दश भवन्ति। तद्यथा-

| १ | १ | १ | ३ |
|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | २ |
| १ | २ | १ | २ |
| २ | १ | १ | २ |
| १ | १ | ३ | १ |
| १ | २ | २ | १ |
| २ | १ | २ | १ |
| १ | ३ | १ | १ |
| २ | २ | १ | १ |
| ३ | १ | १ | १ |

संयोगोत्पादन उपायमाह-यथा- दश प्रवेशेऽधस्तात् बहवः स्थाप्यन्ते अष्टाऽऽद्य.(सप्ताऽऽद्य.)उपरि एक एक स्थाप्यते। यथा-चतु संयोगे ४ ५-६ ७ एव प्रथमो भङ्ग.। पश्चादूर्द्धमुखं
१ १-१-७
भङ्गा. सञ्चार्यन्ते १-१-२-६ एष द्वितीयसंयोगः। १-२ १ ६- एष तृतीय. संयोगो भवति। २-१-१-६, एष चतुर्थ संयोग.। ततः पश्चादुपरिस्थ एको निवर्तते, स च एतमध्यादेकश्च, द्वावप्येकत्र कृत्वा द्वितीयस्थाने सञ्चार्येते। स्थापना-१-१-३-५, एष पञ्चम. संयोग। ततो द्वितीयस्थानात् एकोऽग्रे संचार्यते १-२ २ ५, ततोऽप्यूर्द्धमेक. संचार्यते २-१-२-५, तत उपरिस्थ उपरिस्थ एको निवर्तते स च, द्वितीयस्थानमध्यादेकश्च,द्वावपि तृतीये स्थाने संचार्येते १-३-१-५, एष अष्टमः संयोग.। एवमूर्द्धमुखाः सञ्चार्यन्ते, सर्वोपरि गत्वा निवर्तन्ते, अधस्तात् द्विकाऽऽदयो यत्र वर्तन्ते तन्मध्यादेकन सहोर्द्धस्थाने संचार्यन्ते, ततोऽप्यूर्द्धमेवं तावत्कर्तव्यं यावद्बहव उपरिस्था भवन्ति, अन्यत्र एक एक एवेति ७-१-१-१, एष चरमो भङ्गः, इत्थं संयोगा उत्पाद्या. ॥ ७ ॥

पणसंजोगा पंच य, छस्संजोगो अ होइ इगु चेव ।
सत्तपवेसि दुजोए, संजोगा इत्थ छच्चेव ॥ ८ ॥

( पणसंजोग त्ति ) पञ्चसंयोगा पञ्च भवन्ति। सर्वत्र संयोगा. प्रस्तारवशाज्ज्ञातव्याः। ते चेमे पञ्चकसंयोगा। स्थापना—

| १ | १ | १ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ |
| २ | १ | १ | १ | १ |

षट्संयोग एक एव। स्थापना-

| १ | १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|

सप्तप्रवेशे द्विकसंयोगा. षट् ॥ ८ ॥ तद्यथा-

| १ | ६ |
|---|---|
| २ | ५ |
| ३ | ४ |
| ४ | ३ |
| ५ | २ |
| ६ | १ |

तिगसंजोगा पणरस, वीसा पुण हुंति चउकसंजोगा ।
पणसंजोगा पन्नरस, छज्जोगा हुंति छच्चेव ॥ ९ ॥

त्रिकसंयोगा पञ्चदश संयोगप्रस्ताराज्ज्ञातव्याः। चतुःसंयोगा विंशतिर्भवन्ति। पञ्चसंयोगा पञ्चदश भवन्ति। षट्संयोगा. षट् भवन्ति ॥ ९ ॥

सगजोगे इग भंगो, अट्ठपवेसे दुजोगें सत्तेव ।
तिगजोगे इगवीस य, चउजोगे हुंति पणतीसा ॥१०॥

सप्तसंयोगे भवति एकः, संयोगप्रस्ताराज्ज्ञातव्यः-

स्थापना--

| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|

अष्टप्रवेशे द्विकसंयोगाः सप्त। तद्यथा-

| ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |

त्रिकसंयोगा एकविंशतिभङ्गा भवन्ति । चतुर्योगे पञ्चत्रिंशद् भङ्गा भवन्ति । तद्यथा-एककेन संयोग एक, द्वितीयाङ्केन ३, द्विकत्रिकाभ्यां ६, द्विकत्रिकचतुष्कैः १०, द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकैः १५, एवं ३५ संयोगा भवन्ति ॥ १० ॥

पणजोए पणतीसा, इगवीस छजोग सत्त सगजोए ।
नव पविसि अड दुजोगा, तिगसंजोगा य अडवीसा ॥११॥

पञ्चकसंयोगे पञ्चत्रिंशद् ३५, एककेन १. द्विकेन ४ द्विकत्रिकाभ्यां १०, द्विकत्रिकचतुष्कैः २०, एवं ३५, भवन्ति । एकविंशतिः षट्संयोगे, एकेन संयोगः १ , द्विकेन ५, द्विकत्रिकाभ्यां १५ । सप्तसंयोगे सप्त भङ्गाः, तद्यथा—

| १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ |
| २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

नवप्रवेशेऽष्टौ द्विकसंयोगाः तथा-

| ८ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ |

त्रिकसंयोगाः २८ ॥ ११ ॥

छप्पन्ना चउजोगे, सत्तरि हवई अ पंचसंजोए ।
छप्पन्ना छज्जोए, अडवीसा सत्तसंजोआ ॥ १२ ॥

चतुर्योगे षट्पञ्चाशद् भङ्गा भवन्ति । पञ्चसंयोगाः सप्ततिः, षट् संयोगाः षट्पञ्चाशत् , सप्तसयोगाः २८ अष्टाविंशतिः, एवं सर्वत्र संयोगप्रस्ताराज्ज्ञातव्याः ॥ १२ ॥

दसगपवेसे नव दुग-संजोगा तिन्नि जोगें छत्तीसा ।
चउसंजोगा चुलसी, पणजोग सयं च छव्वीसं ॥ १३ ॥

दशकप्रवेशे नव द्विकसंयोगा भवन्ति, तद्यथा-

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ९ | ८ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |

त्रिकसंयोगाः ३६ षट्त्रिंशद्भवन्ति । चतुष्कसंयोगाः ८४ । पञ्चकसंयोगाः १२६॥ १३ ॥

छज्जोगे १२६ छव्वीसं, सत्तगजोगे हवंति चुलसीई ।
एवं भंगपरूवण, कहिआ तेलोक्कदंसीहिं ॥ १४ ॥

षट्संयोगे १२६ संयोगा भवन्ति । शतशब्दोऽत्रापि योज्यः । सप्तसंयोगे ८४ चतुरशीतिः भङ्गा ज्ञातव्या. ॥ १४ ॥

भंगा अहोमुहा खलु, चारेअव्वा य अग्गअग्गओ चेव ।
संजोगा उड्ढमुहा, दुतिचउपंचाइ पि हु चेव ॥ १५ ॥

भङ्गा अधोमुखाश्चार्या , ( अग्गअग्गउ त्ति ) अग्रेतना अग्रेतना भङ्गा अग्रतोऽग्रतः संचार्याः, संयोगास्तूर्द्ध्वमुखा उपर्युपरि सञ्चार्याः, सयोगप्रस्तारवशाज्ज्ञातव्या. । " दुतिचउ " इत्यादि ॥ १५ ॥



दुगजोगे एगेगो, तिजोगि हुंति अ इगाइ अट्ठंता ।
चउजोगि इग ति छ दस, पणरस इगवीस अडवीसा १६

द्विकसंयोग एककेन सह भङ्ग एक एव द्विकेन सह संयोगा एक', एवं त्रिकेन १, चतुष्केण १, पञ्चकेन १, षट्केन १, सप्तकेन १, अष्टकेन, नवकेन १ एक एव सयोग उत्पद्यते। त्रिकसंयोग एककेन सह १, द्विकेन सह संयोगौ २, द्विकत्रिकाभ्यां ३, द्विकत्रिकचतुष्कै ४ द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकैः ५, द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकषट्कै. ६, द्विकाऽऽदिसप्तान्तैः, एव द्विकाऽऽद्यष्टान्तै ८,एवमूर्द्धमूर्ध्वं सञ्चार्यमाणानां सयोगा लभ्यन्ते ३६। चतुष्कसंयोग एककेन भङ्ग १, द्विकेन ३, द्विकत्रिकाभ्यां षट्,एव द्विकाऽऽदिचतुष्कान्तैः १०,पञ्चान्तैः१५,षष्ठान्तैः २१, सप्तान्तैः २८। सर्वे चतुरशीतिः ८४ भवन्ति ॥ १६ ॥

चउ दस वीस पणतीसा, छप्पन्न पणजुगि छसगजोआ ।
पण पणरस पणतीसा,सयरि छ इगवीस छप्पन्ना ॥१७॥

पञ्चकसयोग एककेन सह १ , द्वितीयाङ्केन सह ४ , द्विकत्रिकाभ्या १० . द्विकाऽऽदिचतुष्कान्तैः २० द्विकाऽऽदिपञ्चकान्तै. ३५, द्विकाऽऽदिषट्कान्तैः ५६ सर्वे १२६। षट्संयोग एककेन सह १, द्विकेन सह ५,द्विकत्रिकाभ्यां १५,एवं द्विकाऽऽदिचतुष्कान्तै' ३५ द्विकाऽऽदिपञ्चकान्तैः ७०, सर्वे १२६। सप्तसंयोगे एककेन सह १, द्विकेन ६ , द्विकत्रिकाभ्यां २१ , द्विकत्रिकचतुष्कैः सञ्चार्यमाणैः सह ५६, सर्वे ८४ ॥ १७ ॥

संजोगगुणिअभंगा, कायव्वा सव्वमेव परिमाणं ।
उत्तरभंगाणं इह, गाहुद्दिट्ठा य कायव्वा ॥ १८ ॥

संयोगगुणिता भङ्गाः कर्त्तव्या., उत्तरभङ्गानां सर्वं परिमाणं भवेत् , तद्यथा-एकप्रवेशे भङ्गाः ७, द्विप्रवेशेऽसंयोगे भङ्गा. ७, द्विकसंयोग एक एव , द्विकसंयोगे भङ्गाः २१, तैरेको गुणितस्तावन्तः एव भवन्ति २१ , सर्वे २८ । त्रिप्रवेशेऽसंयोगे भङ्गा' ७, द्विकसंयोगौ द्वौ , तौ भङ्गैरेकविंशत्या गुणितौ जाता ४२, त्रिकसंयोग एक एव. भङ्गाः ३५ तैर्गुणिना' भङ्गा ३५ भवन्ति, सर्वे ८४। चतुष्प्रवेशेऽसंयोगे ७, द्विकसंयोगाः ३ भङ्गैरेकविंशत्या गुणिता जाता ६३, त्रिकसंयोगाः ३ भङ्गैः पञ्चत्रिंशता गुणिताः १०५, चतुःसंयोग एक एव पञ्चत्रिंशना गुणिना जाता. ३५ , सर्वे २१०, पञ्चप्रवेशेऽसंयोगे ७. द्विकसंयोगाः ४ भङ्गैरेकविंशत्या गुणिता जाताः ८४, त्रिकसंयोगाः ६ पञ्चत्रिंशता गुणिताः २१०, चतुःसंयोगा ४ पञ्चत्रिंशता गुणिताः १४० , पञ्चकसंयोग एक एव, ( भङ्गाः २१ तैर्गुणिता' ) भङ्गाः २१ , सर्वे भङ्गा. ४६२। षट्प्रवेशेऽसंयोगे ७, द्विकसंयोगाः ५ ( भङ्गाः २१ तैः) भङ्गैर्गुणिता १०५, त्रिकसयोगा १०, ( भङ्गाः ३५ तै. ) भङ्गैर्गुणिना' ३५०, चतुःसंयोगाः १० पञ्चत्रिंशता गुणिनाः ३५०, पञ्चकसयोगाः ५ एकविंशत्या गुणिता जाता १०५। षट्संयोग एक एव सप्तगुणाः ७, सर्व्वे भङ्गाः ९२४। सप्तप्रवेशेऽसंयोगे ७ , द्विकसयोगा ६ एकविंशत्या गुणिता १२६, त्रिकसंयोगा १५ पञ्चत्रिंशता गुणिता ५२५, चतु संयोगाः २० पञ्चत्रिंशता गुणिता ७०० , पञ्चसंयोगाः १५ एकविंशत्या गुणिताः ३१५ , षट् संयोगाः ६ भङ्गैः सप्तभिर्गुणिताः ४२ , सप्तसयोग एक एव , सर्व्वे १७१६।

अष्टप्रवेशेऽसंयोगे ७ , द्विकसंयोगाः ७ एकविंशत्या गुणिता. १४७, त्रिकसंयोगाः २१ पञ्चत्रिंशता गुणिताः ७३५ , चतु.सयोगा ३५ पञ्चत्रिंशता गुणिता' १२२५ पञ्चकसंयोगाः ३५ एकविंशत्या गुणिताः ७३५ षट्सयोगा २१ सप्तगुणा १४७, सप्तसयोगा ७ एकगुणा' सप्तैव, सर्वे ३००३ भवन्ति । नवप्रवेशेऽसंयोगे ७, द्विकसंयोगा' ८ एकविंशत्या गुणिता' १६८ , त्रिकसयोगा २८ पञ्चत्रिंशता गुणिता' ६८० , चतुःसयोगा ५६ पञ्चत्रिंशता गुणिता' १९६०,पञ्चकसंयोगा. ७० एकविंशत्या गुणिता १४७० षट्संयोगाः ५६ सप्तभिर्गुणिता' ३९२ सप्तसयोगे २८,सर्वे ५००५। दशकप्रवेशेऽसंयोगे ७ द्विकसयोगा ६ एकविंशत्या गुणिता - १८६, त्रिकसंयोगा' ३६ पञ्चत्रिंशता गुणिता' १२६०, चतु संगा ८४ पञ्चत्रिंशता गुणिता. २९४०, पञ्चसंयोगा. १२६ एकविंशत्याः गुणिता. २६४६, षट्सयोगा १२६ सप्तगुणिता. ८८२, सप्तसंयोगाः ८४ एकगुणितास्तावन्त एव, सर्वे ८००८ ॥ १८ ॥

( एक प्रवेशाऽऽदिभङ्गसङ्ख्यापरिमाणम् )

एकप्रवेशे भङ्गा ७,
द्विप्रवेशे भङ्गा' २८,
त्रिप्रवेशे भङ्गा ८४,
चतु प्रवेशे भङ्गा २१०,
पञ्चप्रवेशे भङ्गाः ४६२,
षट्प्रवेशे भङ्गा ६२४,
सप्तप्रवेशे भङ्गा' १७१६,
अष्टप्रवेशे भङ्गा ३००३,
नवप्रवेशे भङ्गा. ५००५,
दशप्रवेशे भङ्गा ८००८,

एवम्- १६४४७ ।

( नरकसत्कासंयोगाऽऽदिभङ्गकयन्त्रकम् )

अ०द्वि०त्रि०च०प०ष०स० ।

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| | | १ | १ | १ | १ | १ |
| | | | १ | १ | १ | १ |
| | | | | १ | १ | १ |
| | | | | | १ | १ |
| | | | | | | १ |

७,२१० ३५० ३५ २१ ७ १

एवं सर्वभङ्गकरचना नरकप्रस्तारं च विधाय नष्टमाश्रित्यमाह-

नट्ठंऽकाउ य भंगे, सोहिज्जा जत्थ बहुअरा भंगा ।
संजोगेहिं हर तहिं, लद्धे मुण मूलभंगे अ ॥ १६ ॥

( नट्ठंऽकाउ त्ति ) नष्टाङ्केभ्यो येऽल्पतरा भङ्गास्तान् शोधयेत्, नष्टाङ्कमध्यान्निष्काशयेत्, तावन्निष्काशयेद् यावद्बहुतरा भङ्गा न स्यु, यत्र तु नष्टाङ्काद्भङ्गा बहुतरास्तत्र संयोगैस्तद्भवसंयोगैर्हर भज इति लब्धान् मूलभङ्गान् ( मुण त्ति ) जानीहि ॥ १६ ॥

उद्धरिए संजोगे, जाणिज्जा अहव अंतिपडिआ य ।
साहारणसंजोगा, भंगा जइ इगदुगतिगाई ॥२०॥

उद्धरितान् संयोगान् जानीया. । किमुक्तं भवति ?-एतावन्तो भङ्गा गताः, वर्तमाने भङ्ग एतावत्परिमाण संयोगो वर्तत इति । ( अहव त्ति ) अथवा यदि साधारणसंयोगा भङ्गा अन्त्ये पतिता । ( इगदुगतिगाइ त्ति ) एकद्विकत्रिकचतुष्काऽऽदिसाधारणभङ्गा अन्त्यपतिताः ॥ २० ॥

ते तम्मज्झा कड्डिअ, उद्धरिए मिलिअभंगमइआ य ।
जाणिज्जा संजोगे, सेसे वि अ जाण भंगे अ ॥२१॥

तान् भङ्गान् तल्लब्धमूलभङ्गकमध्यात् ( कड्डिअ त्ति ) निष्काश्योद्धरितान् भङ्गान् मेलयित्वा यावद्भि. साधारणत्वं भवति तावद्भिर्भङ्गैर्भङ्क्त्वा लब्धान् संयोगान् जानीहि, शेषानुद्धरितान् संयोगान्तर्गतभङ्गान् जानीहि, चशब्दादादावपि साधारणसंयोगा भवन्ति, तत्र तैर्हृत्वा संयोगान् जानीहि, अष्टप्रवेशमाश्रित्योदाहरणं यथा-केनाऽपि पृष्टं, सैकोननवतिकाष्टादशशततमो भङ्ग स कीदृशो भवति ?, तदेतावन्मध्याद्भङ्गा. ७ असंयोगिका , द्विकसंयोगे १४७, त्रिकसंयोगे ७३५, एवमष्टशतानि सैकोननवतिकानि ८८६, निष्कासितानि, शेषा. सहस्रं, चतुष्कसंयोगे १२२५, भङ्गा. सन्ति, बहुतरा इति कृत्वाऽत्र सहस्रं संयोगैर्हर इति संयोगा ३५, पञ्चत्रिंशता ह्रियमाणा लब्धभङ्गा २८, अतीता गता , उद्धरिता विंशतिर्भङ्गा । किमुक्तं भवति ?, एकोनत्रिंशत्तमे भङ्गे विंशतितमोऽय संयोगो वर्तते, द्वितीये नरके ४, चतुर्थे नरके १, षष्ठे नरके १, सप्तमे २, इति कथनीयम् । अष्टप्रवेशमाश्रित्य केनाऽपि पृष्टं सैकोनचत्वारिंशत्कषोडशशततमो भङ्ग. कीदृशो भवति ?, ततस्तन्मध्यात् १६३६, नष्टमध्यात् ८८६, निष्कास्यन्ते, शेषा ७५०, ते पञ्चत्रिंशता ह्रियन्ते, लब्धा. २१, उद्धरिता. १५, एकविंशतितमो भङ्गोऽत्र साधारणपतित., त्रिभि साधारण पञ्चमषष्ठसप्तमसाधारणपतितोऽत एकविंशतिमध्यादेको निष्कास्यते पृथक् क्रियते पञ्चत्रिंशद्भङ्गा' पञ्चदशभिरुद्धरितैर्मीलिता जाता' ५०, त्रिसाधारण इति त्रिभिर्भङ्गा १६ षोडश संयोगा उद्धरितौ द्वौ सप्तदशसंयोगे द्वितीयो भङ्गः । किमुक्तं भवति ?-विंशतिर्भङ्गा गता उपरि षोडश सयोगा. सप्तदशसंयोगे द्वितीयो द्वितीयो भङ्गो वर्तते, द्वितीये नरके १, तृतीये ४, चतुर्थे १ षष्ठे २ सैकोनचत्वारिंशत्कषोडशशततमोऽयं भङ्ग ईदृशो भवति इति कथनीय, चशब्दादादावपि साधारणा भङ्गा' पतितास्तदा तेऽपि भङ्गा यावद्भि. साधारणास्तैर्भज्यन्ते, यथा-अष्टप्रवेशे द्विकसंयोगे षट् साधारणा भङ्गा भवन्ति, तदा षड्भिर्ह्रियन्ते, यथा- केनाऽपि पृष्टम् , अष्टप्रवेशे द्विकसंयोगे चत्वारिंशत्तमो भङ्गः स कीदृशो भवति ? तदा षट् साधारणत्वात् षड्भिर्भज्यते, लब्धा ६ , उद्धरिता. ४, तदा कथनीय षट्संयोगा अतीता. सप्तमे संयोगे चतुर्थो भङ्गो वर्तते ( प्रथमे ) ७ ( पञ्चमे ) १ इति कथनीयमित्यादि ज्ञातव्यम् ॥ २१ ॥ इति नष्टकरणगाथात्रयम् ।

अथोद्दिष्टकरणमाह-

उद्दिट्ठ तीअभंगा, संजोगगुणा य सहिअसंजोगा ।

उद्दिट्ठभंगसंखा, इअ कहिआ धीरपुरिसेहिं ॥ २२ ॥

( उद्दिट्ठ त्ति ) उद्दिष्टे सति ये पूर्वे भङ्गा अतीतास्त एकत्र करणीयाः, वर्त्तमाने संयोगे ये भङ्गास्तेऽपि तैः संयोगैर्गुणाः कर्त्तव्याः । किमुक्तं भवति ?—वर्त्तमानाद्भङ्गात्पूर्वे ये भङ्गा गतास्ते भङ्गास्तत्सम्बन्धिभिः संयोगैर्गुणाः कर्त्तव्याः, वर्त्तमाने भङ्गे ये संयोगास्तेऽपि, ते त्रयोऽपि, ते त्रयोऽपि, भेदा एकत्र करणीयाः, एवं कृते सति या सङ्ख्या भवति, तत्सङ्ख्यो भङ्ग इति उद्दिष्टभङ्गसङ्ख्या धीरपुरुषैः कथिता ॥२२॥

जइ भंगयसाहारण-संजोगा जे अ तेहिं गुणिऊण ।
सेसे भंगे मेलिअ, एगीकाऊण सव्वग्गं ॥ २३ ॥

( जइ त्ति ) यदि भङ्गकसाधारणसंयोगाः येऽतीताः गतास्तान् संयोगान् तैः साधारणभङ्गैर्द्वित्रिचतुरादिसाधारणभङ्गैर्गुणयित्वा 'शेषान्' वर्तमानसम्बन्धिन उत्तरभेदान् मेलयित्वा पश्चात्पूर्वमुत्पन्नान् भङ्गान् भङ्गकसाधारणसंयोगांश्चैकीकृत्य वक्तव्यमेतावत्सङ्ख्याकोऽयं भङ्गः । अष्टप्रवेशमाश्रित्योदाहरणमाह—केनाऽपि पृष्टम्-३/४ ४/५ ६/१ ७/२ अयं भङ्गः कतिथः ?, तदा गणनीयं, गणने एकोनत्रिंशत्तमोऽयं भङ्गो वर्तते। कथम् ?, अष्टाविंशतिर्भङ्गा गतास्ते संयोगगुणा कर्तव्याः पञ्चत्रिंशद् गुणा कर्तव्याः, गुणनाज्जाताः ६८०, विंशतितमः संयोग एकोनत्रिंशत्तमे भङ्गे वर्तते, एकत्र करणे जातं सहस्रं पूर्वं येऽतीताः ते असंयोगे ७, द्विकसंयोगे १४७, त्रिकसंयोगे ७३५, सर्वं एकीकरणे जातानि-भङ्गानां १८८९ अष्टादशशतान्येकोननवतिश्च, तदा कथनीयं सैकोननवत्यष्टादशशततमो भङ्गः । यदा केनचित् पृष्टमयं-२/१ ३/७ ४/१ ६/२ भङ्गः कतिथः ?–तदाऽत्र भङ्गाः २० गताः, संयोगैर्गुणिताः ( ३५ गुणिताः ) जाताः ७००, एकत्रिंशतितमे भङ्गे षोडश संयोगा अतीता गतास्ते त्रिसाधारणत्वात् त्रिभिर्गुणिता जाताः ४८, सप्तदशे संयोगे द्वितीयो भङ्गस्ताभ्यां सह जाताः ५०, सप्तशतैः सह जातानि सार्धानि सप्तशतानि ७५०, पूर्वमसंयोगे ७, द्विसंयोगे १४७, त्रिकसंयोगे ७३५, अतीतास्तेऽपि ८८९ मध्ये क्षेप्याः सर्वे जातानि सैकोनचत्वारिंशत्कानि षोडश शतानि तदा कथनीयमयं सैकोनचत्वारिंशत्षोडशशततमो भङ्गः । तृतीयमुदाहरणम्-केनचित्पृष्टमयं ६/७ ७/१ भङ्गः कतिथः ?, तदा दृश्यते, अत्र सप्तमसंयोगे चतुर्थो भङ्गोऽयम्, अत्र षट्संयोगा अतीताः ते षट्साधारणत्वात् षड्गुणाः क्रियन्ते, जाता ३६, सप्तमे संयोगे चतुर्थो भङ्गो वर्तते अतस्तेऽपि मध्ये क्षेप्याः जाताः ४०, तदा कथनीयमयं चत्वारिंशत्तमो भङ्गः, एवं सर्वत्रोद्दिष्टभङ्गा आनेतव्याः । शेषं सुगमम् । एवं सङ्ख्येयानामसङ्ख्येयानां च संयोगा ज्ञातव्याः । यत्र यत्र ये ये उत्पद्यन्ते तत्र तत्र ते ते उत्पाद्याः सूत्रादतिविस्तारबाहुल्यान्न लिखिताः । श्रीभगवत्यङ्गनवमशते ३२ द्वात्रिंशत्तमोद्देशकादयमधिकारोऽलेखि ॥ २३ ॥

इय भंगियसुअभणणे, नामंति अ घोररोगउवसग्गा ।
पावंति अ सुहसंपय, सिवं च देवत्तणं एई ॥ २४ ॥
सिरिमेहनामपंडिअ-सीसेण सिरिविजयनामधेएण ।
रइयं एयं सुत्तं, नियसरण परोसिं हिअमट्ठं ॥ २५ ॥

अनयोर्व्याख्या सुगमा ॥ २४ ॥ २५ ॥ इति गाङ्गेयपृष्टभङ्गकावचूरिः पन्यासश्रीविजयगणिना कृता समाप्ता ।

अथ गाङ्गेयभङ्गप्रस्तारो लिख्यते—

एक एकसंयोगे भङ्गा ७, प्र० १, द्वि० २ तृ० ३, च० ४, पं० ५, ष० ६, स० ७ । द्विकसंयोगे भङ्गा २१, प्र० द्वि० १, प्र० तृ० २, प्र० च० ३, प्र० पं० ४, प्र० ष० ५, प्र० स० ६, द्वि० तृ० ७, द्वि० च० ८, द्वि० पं० ९, द्वि० ष० १०, द्वि० स० ११, तृ० च० १२, तृ० पं० १३, तृ० ष० १४, तृ० स० १५, च० पं० १६, च० ष० १७, च० स० १८, पं० ष० १९, पं० स० २०, ष० स० २१ । त्रिकसंयोगे भङ्गाः ३५, प्र० द्वि० तृ० १, प्र० द्वि० च० २, प्र० द्वि० पं० ३, प्र० द्वि० ष० ४, प्र० द्वि० स० ५, प्र० तृ० च० ६, प्र० तृ० पं० ७, प्र० तृ० ष० ८, प्र० तृ० स० ९, प्र० च० पं० १०, प्र० च० ष० ११, प्र० च० स० १२, प्र० पं० ष० १३, प्र० पं० स० १४, प्र० ष० स० १५, द्वि० तृ० च० १६, द्वि० तृ० पं० १७, द्वि० तृ० ष० १८, द्वि० तृ० स० १९, द्वि० च० पं० २०, द्वि० च० ष० २१, द्वि० च० स० २२, द्वि० पं० ष० २३, द्वि० पं० स० २४, द्वि० ष० स० २५, तृ० च० पं० २६, तृ० च० ष० २७, तृ० च० स० २८, तृ० पं० ष० २९, तृ० पं० स० ३०, तृ० ष० स० ३१, च० पं० ष० ३२, च० पं० स० ३३, च० ष० स० ३४, पं० ष० स० ३५ । चतुष्कसंयोगे भङ्गाः ३५, प्र० द्वि० तृ० च० १, प्र० द्वि० तृ० पं० २, प्र० द्वि० तृ० ष० ३, प्र० द्वि० तृ० स० ४, प्र० द्वि० च० पं० ५, प्र० द्वि० च० ष० ६, प्र० द्वि० च० स० ७, प्र० द्वि० पं० ष० ८, प्र० द्वि० पं० स० ९, प्र० द्वि० ष० स० १०, प्र० तृ० च० पं० ११, प्र० तृ० च० ष० १२, प्र० तृ० च० स० १३, प्र० तृ० पं० ष० १४, प्र० तृ० पं० स० १५, प्र० तृ० ष० स० १६, प्र० च० पं० ष० १७, प्र० च० पं० स० १८, प्र० च० ष० स० १९, प्र० पं० ष० स० २०, द्वि० तृ० च० पं० २१, द्वि० तृ० च० ष० २२, द्वि० तृ० च० स० २३, द्वि० तृ० पं० ष० २४, द्वि० तृ० पं० स० २५, द्वि० तृ० ष० स० २६, द्वि० च० पं० ष० २७, द्वि० च० पं० स० २८, द्वि० च० ष० स० २९, द्वि० पं० ष० स० ३०, तृ० च० पं० ष० ३१, तृ० च० पं० स० ३२, तृ० च० ष० स० ३३ तृ० पं० ष० स० ३४, च० पं० ष० स० ३५ । पञ्चकसंयोगे भङ्गा २१, प्र० द्वि० तृ० च० पं० १, प्र० द्वि० तृ० च० ष० २, प्र० द्वि० तृ० च० स० ३, प्र० द्वि० तृ० पं० ष० ४, प्र० द्वि० तृ० पं० स० ५, प्र० द्वि० तृ० ष० स० ६, प्र० द्वि० च० पं० ष० ७, प्र० द्वि० च० पं० स० ८, प्र० द्वि० च० ष० स० ९ प्र० द्वि० पं० ष० स० १०, प्र० तृ० च० पं० ष० ११, प्र० तृ० च० पं० स० १२, प्र० तृ० च० ष० स० १३, प्र० तृ० पं० ष० स० १४, प्र० च० पं० ष० स० १५ द्वि० तृ० च० पं० ष० १६, द्वि० तृ० च० पं० स० १७, द्वि० तृ० च० ष० स० १८, द्वि० तृ० पं० ष० स० १९ द्वि० च० पं० ष० स० २०, तृ० च० पं० ष० स० २१ । षट्संयोगे भङ्गाः ७, प्र० द्वि० तृ० च० पं० ष० १, प्र० द्वि० तृ० च० पं० स० २, प्र० द्वि० तृ० च० ष० स० ३, प्र० द्वि० तृ० पं० ष० स० ४, प्र० द्वि० च० पं० ष० स० ५, प्र० तृ० च० पं० ष० स० ६, द्वि० तृ० च० पं० ष० स० ७ । सप्तसंयोगे भङ्ग १, प्र० द्वि० तृ० च० पं० ष० स० १ ।

अथ संयोगप्रस्तारो लिख्यते—एकस्य प्रवेशे भङ्गाः ७, १-१-१-१-१-१-१। द्विप्रवेशेऽसंयोगिकभङ्गा. ७। द्विकसंयोगिकभङ्ग. १,

| १ |
|---|
| १ |

त्रिकप्रवेशेऽसंयोगिकभङ्गा ७। द्विकसंयोगिकौ भङ्गौ द्वौ-

| २ | १ |
|---|---|
| १ | २ |

त्रिकसंयोगिक एक एव भङ्गः

| १ | १ | १ |
|---|---|---|

। चतु प्रवेशेऽसंयोगिकभङ्गा ७। द्विकसंयोगिकभङ्गास्त्रयः, स्थापना चेयं—

| ३ | २ | १ |
|---|---|---|
| १ | २ | ३ |

। त्रिकसंयोगिभङ्गास्त्रय, स्थापना चयं—

| २ | १ | १ |
|---|---|---|
| १ | २ | १ |
| १ | १ | २ |

चतुष्कसंयोग एक एव, स्थापना चेयं—

| १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|

पञ्चकप्रवेशेऽसंयोगिकभङ्गा. ७। द्विकसंयोगिभङ्गाः ४, स्थापना-

| ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ |

। त्रिकसंयोगिभङ्गा. ६, तद्यथा-

| ३ | २ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | ३ |

चतुष्कसंयोगा ४ स्थापना-

| २ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | १ | २ |

। पञ्चकसंयोगे एक एव,

| १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|

। षट्प्रवेशेऽसंयोगिकभङ्गा ७। द्विकसंयोगिकभङ्गा ५, स्थापना

| ५ | ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ |

। त्रिकसंयोगिकभङ्गा १०

| ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ |

चतुष्कसंयोगिकभङ्गा १०,–

| ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ |

। पञ्चकसंयोगे भङ्गा ५-

| २ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | १ | १ | २ |

षट्संयोग एक एव भङ्गाः १-

| १ | १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|

सप्तप्रवेशेऽसंयोगिकभङ्गा. ७। सप्तप्रवेशे द्विकसंयोगिकभङ्गा. ६,

| ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |

सप्तप्रवेशे त्रिकसंयोगिभङ्गा १५,

| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | २ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ |

सप्तप्रवेशे चतुष्कसंयोगिभङ्गा. २०,

| १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
| ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

सप्तप्रवेशे पञ्चसंयोगिभङ्गा. १५

| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

सप्तप्रवेशे षट्संयोगिभङ्गाः ६

| १ | १ | १ | १ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ |
| २ | १ | १ | १ | १ | १ |

सप्तप्रवेशे सप्तसंयोगी एक एव

| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|

अष्टप्रवेशेऽसंयोगिभङ्गाः ७। अष्टप्रवेशे द्विकसंयोगिभङ्गाः ७।

| ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |

अष्टप्रवेशे त्रिकसंयोगिभङ्गा. २१

| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ६ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

अष्टप्रवेशे चतुष्कसंयोगिभङ्गा ३५

| १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

अष्टप्रवेशे पञ्चसंयोगिभङ्गा. ३५।

| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

अष्टप्रवेशे षट्संयोगिभङ्गाः २१ ।

| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ३ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

अष्टप्रवेशे सप्तसंयोगिभङ्गाः ७ ।

| १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ |
| २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

नवप्रवेशेऽसंयोगिभङ्गाः ७ ।

नवप्रवेशे द्विकसंयोगिभङ्गाः ८

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ८ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |

नवप्रवेशे त्रिकसंयोगिभङ्गाः २८ ।

| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ७ | ६ | ६ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

नवप्रवेशे चतुष्कसंयोगिभङ्गाः ५६ ।

| १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ |
| १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ |
| ६ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |

| ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | ६ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

नवप्रवेशे पञ्चसंयोगिभङ्गाः ७०.

| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |

| १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | १ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | ४ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

नवप्रवेशे षट्संयोगिभङ्गाः ५६.

| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ |
| ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

| १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
| २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

नवप्रवेशे सप्तसंयोगिभङ्गाः २८ ।

| १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

दशकप्रवेशेऽसंयोगिभङ्गाः ७ । दशकप्रवेशे द्विकसंयोगिभङ्गाः ९ ।

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ९ | ८ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |

दशकप्रवेशे त्रिकसंयोगिभङ्गा ३६ ।

| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | १ | २ | ३ | ५ | ६ | ७ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ७ | ६ | ५ | ३ | २ | १ | ८ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ८ | ७ | ७ | ६ | ६ | ६ | ५ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

दशकप्रवेशे चतुष्कसंयोगिभङ्गाः ८४ ।

| १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ |
| १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ |
| ७ | ६ | ६ | ६ | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ |

| ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | ६ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |

| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ७ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ७ | ६ | ६ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

दशकप्रवेशे पञ्चसंयोगिभङ्गा· १२६ ।

| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ६ | ५ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ |

| २ | ३ | ४ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ |
| १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | ५ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |

| ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ |
| २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | ६ | ५ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ |
| १ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

| ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ | ६ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | ६ | ५ | ५ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

दशकप्रवेशे षट्संयोगिभङ्गा॰ १२६,

| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |
| ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |

| २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ |
| २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ |
| २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ |
| २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

| २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | १ | २ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ |
| १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ |
| २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ४ |
| ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

| १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ | १ | २ | ३ | ४ | ५ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ | ५ | ४ | ३ | २ | १ |
| ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | ५ | ४ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | ३ | १ | १ |
| ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

दशप्रवेशे सप्तसंयोगिभङ्गाः ८४।

| १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ |

| १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | २ |
| १ | १ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | १ | ३ | २ |
| १ | २ | १ | १ | १ | १ | ३ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ |
| ४ | ३ | ३ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

| १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | १ | २ | १ | २ | ३ | १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | १ | २ | १ | ३ | २ | १ | ४ | ३ | २ | १ |
| १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | २ | १ | १ | ३ | २ | २ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ |
| २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | ४ | ३ | ३ | ३ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | २ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |
| १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ | १ |

एकप्रवेशे भङ्गाः ७, द्विप्रवेशे भङ्गाः २८, तन्मध्येऽसंयोगिकभङ्गाः ७, द्विकसंयोगिभङ्गाः २१ ।
त्रिप्रवेशे भङ्गाः८४, असं० ७, द्विकसं० ४२, त्रिकसं० ३५ ।
चतुःप्रवेशे भङ्गाः २१०, असं० ७, द्वि० ६३, त्रि० १०५, च० ३५ ।
पञ्चप्रवेशे भङ्गाः ४६२, असं० ७, द्वि० ८४, त्रि० २१०, च० १४०, पं० २१ ।
षट्प्रवेशे भङ्गाः ९२४, असं० ७, द्वि० १०५, त्रि० ३५०, च० ३५०, पं० १०५, ष० ७ ।
सप्तप्र० भङ्गाः १७१६, असं० ७, द्वि० १२६, त्रि० ५२५, च० ७००, पं० ३१५, ष० ४२, स० १ ।
अष्टप्र० भङ्गाः ३००३, असं० ७, द्वि० १४७, त्रि० ७३५, च० १२२५, पं० ७३५, ष० १४७, स० ७ ।
नवप्र० भङ्गाः ५००५, असं० ७, द्वि० १६८, त्रि० ९८०, च० १९६०, पं० १४७०, ष० ३९२, स० २८ ।
दशप्र० भङ्गाः ८००८, असं० ७, द्वि० १८९, त्रि० १२६०, च० २९४०, पं० २६४६, ष० ८८२, स० ८४ ।

———o:#:o———

पावोवरय-पापोपरत-त्रि० । पापात् पापहेतोः सावद्यानुष्ठानात् हिंसाऽनृतादानाब्रह्मरूपादुपरत. पापोपरतः । स्यक्तपापे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

पास-दृश-धा० । प्रेक्षणे, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोएपुलए-निअावआस-पासा." । ८ । ४ । १८१ ॥ इति दृशधातो. 'पास' आदेशः । 'पासइ ।' पश्यति । प्रा०४पाद । "पासिमं दविए लोए ।" "पासिम" इत्यादि यदुक्तमुद्देशकाऽऽदेरारभ्यानन्तरसूत्रं यावत्तमिममर्थं पश्य परिच्छिन्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्यतया विवेकेनावधारय कोऽसौ द्रव्यभूतो-मुक्तिगमनयोग्यः साधुरित्यर्थः । आचा०१ श्रु०३ अ०४ उ० । "दोहिं ठाणेहिं आया रूवाइं पासइ-देसेण वि, सव्वेण वि । " स्था०२ ठा०१ उ० ।

पाश-पुं० । पाशयति बध्नातीति पाशः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । " परिसरो पासो । " पाइ० ना० १३६ गाथा । पुत्रकलत्रधनप्रमुखबन्धने, उत्त० ४ अ० । प्रश्न० । गलयन्त्राऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ७ उ० । रज्जुबन्धने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । संयमप्रवृत्तिं प्रति स्वातन्त्र्योपरोधिनि, उत्त० पाई० ४ अ० । बन्धनविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । आचा० । मिथ्यात्वाऽऽदिषु बन्धहेतुषु, व्य० १ उ० । अविद्या वेदान्तिना, क्लेश साङ्ख्याना, कर्म जैनानाम् , आदिशब्दाद् वासना सौगतानाम्, पाशः शैवानाम् ( ११ श्लोक ) द्वा० २६ द्वा० । द्यूतोपकरणे, जं० ३ वक्ष० । अत्यन्तपारवश्यहेतौ कलत्राऽऽदिसंबन्धे, उत्त० ६ अ० ।

पार्श्व-न० । समीपे, उत्त०२४ अ० । वामदक्षिणभागे, प्रव० २ द्वार । सूत्र० । स्वनामख्याते तीर्थकरे, आव० ।

सप्पं सयणे जणणी, तं पासइ तमसि तेण पासजिणो १०९१
इदाणीं पासो त्ति, तत्र पूर्वोक्तयुक्तिकलापादेव पश्यति सर्वभावानिति पार्श्व , पश्यक इति चान्ये । ' तत्थ सव्वेऽवि सव्वभावाणं जाणगा पासगा य त्ति सामन्नं, विसेसो पुण-व्याख्या-( गाहद्धं ) गब्भगए भगवंते तेलोक्कबंधवे सत्तसिरं णागं सयणिज्जे णिविज्जणे माया से सुविणे दिट्ठत्ति, तहा अंधकारे सयणिज्जगयाए गब्भप्पभावेण य पेत्तं सप्प पासिऊणं रण्णो सयणिज्जे णिग्गया बाहा चडाविया, भणिओ य-एस सप्पो वच्चइ, रण्णा भणियं-कहं जाणसि ?, भणइ-पेच्छामि, दीवएण पलोइओ, दिट्ठो य सप्पो, रण्णा चिंता गब्भस्स एसो अइसयप्पहावो जेण परिसे तिमिंधयारे पासइ, तेण पासो त्ति णामं कयं । आव० १ अ० । पश्यति सर्वभावानिति निरुक्तात्पार्श्वः । तथा गर्भस्थे भगवति जनन्या निशि शयनीयस्य पार्श्वे अन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति पार्श्वः । ध० २ अधि० । अस्यामवसर्पिण्या भरतक्षेत्रजे त्रयोविंशे तीर्थकरे, अनु० । स० । आ० चू० ।

अथ जघन्यमध्यमोत्कृष्टवाचनाभिः श्रीपार्श्वदेवचरित्रमाह-

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए पंचविसाहे हुत्था । तं जहा-विसाहाहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते विसाहाहिं जाए, विसाहाहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए, विसाहाहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने विसाहाहिं परिनिव्वुडे ॥१४९ ॥

( तेणं कालेणं इत्यादि ) तस्मिन्काले ( तेणं समएणं ) तस्मिन् समये ( पासे अरहा पुरिसादाणीए ) पार्श्वनामा अर्हन् पुरुषश्चासौ आदानीयश्च आदेयवाक्यतया आदेयनामतया च पुरुषादानीय , पुरुषप्रधान इत्यर्थः । ( पंचविसाहे होत्था ) पञ्च कल्याणकानि विशाखायां, (पञ्चविशाख ) अभवत् ( तं जहा-) तद्यथा-( विसाहाहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते ) विशाखायां च्युतः, च्युत्वा गर्भे उत्पन्न १ ( विसा-

हाहिं जाए ) विशाखायां जातः २ ( विसाहाहिं मुंडे भविता ) विशाखायां मुण्डो भूत्वा ( अगाराओ अणगारियं पव्वइए ) अगारान्निष्क्रम्य साधुतां प्रतिपन्नः ३, ( विसाहाहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए ) विशाखायां अनन्ते अनुपमे निर्व्याघाते ( निरावरणे कसिणे पडिपुन्ने ) समस्ताऽऽवरणरहिते समस्ते प्रतिपूर्णे ( केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ) एवंविधे केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने ४, ( विसाहाहिं परिनिव्वुडे ) विशाखायां निर्वाणं प्राप्तः ५, ॥ १४६ ॥

च्युतिः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं पाणयाओ कप्पाओ वीसं सागरोवमट्ठिइयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वाणारसीए नयरीए आससेणस्स रन्नो वम्माए देवीए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आहारवक्कंतीए भववक्कंतीए सरीरवक्कंतीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ॥ १५० ॥

( ते णं काले णं ) तस्मिन् काले ( ते णं समए णं ) तस्मिन् समये ( पासे अरहा पुरिसादाणीए ) पार्श्वः अर्हन् पुरुषादानीय ( जे से गिम्हाणं पढमे मासे ) योऽसौ उष्णकालस्य प्रथमो मास ( पढमे पक्खे ) प्रथमः पक्षः ( चित्तबहुले ) चैत्रस्य बहुलपक्षः ( तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं ) तस्य चैत्रबहुलस्य चतुर्थीदिवसे ( पाणयाओ कप्पाओ ) प्राणतनामकात् दशमकल्पात्, कीदृशात्?-( वीसं सागरोवमट्ठिइयाओ ) विंशतिसागरोपमस्थितिः आयुःप्रमाणं यत्र, ईदृशात् ( अणंतरं चयं चइत्ता ) अनन्तरं दिव्यशरीरं त्यक्त्वा ( इहेव जंबुद्दीवे दीवे ) अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे द्वीपे ( भारहे वासे ) भरतक्षेत्रे ( वाणारसीए नयरीए ) वाराणस्यां नगर्यां ( आससेणस्स रन्नो ) अश्वसेनस्य राज्ञ ( वामाए देवीए ) वामायाः देव्याः ( पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि ) पूर्वापररात्रिसमये, मध्यरात्रौ इत्यर्थः । ( विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं ) विशाखायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति ( आहारवक्कंतीए ) दिव्याऽऽहारत्यागेन ( भववक्कंतीए ) दिव्यभवत्यागेन ( सरीरवक्कंतीए ) दिव्यशरीरत्यागेन ( कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ) कुक्षौ गर्भतया व्युत्क्रान्त उत्पन्नः ॥ १५० ॥

च्यवनज्ञानम्-

पासे णं अरहा पुरिसादाणीए तिन्नाणोवगए आवि हुत्था। तं जहा-चइस्सामि त्ति जाणइ, तेणं चेव अभिलावेणं सुविणदंसणविहाणेण सव्वं०जाव निअगं गिहं अणुपविट्ठा० जाव सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ ॥ १५ . ॥

(पासे णं अरहा पुरिसादाणीए) पार्श्वः अर्हन् पुरुषादानीयः ( तिन्नाणोवगए आवि हुत्था ) त्रिज्ञानोपगत आसीत् । ( तं जहा ) तद्यथा-( चइस्सामि त्ति जाणइ ) च्योष्ये इति जानाति ( तेणं चेव अभिलावेणं ) तेनैव पूर्वोक्तपाठेन ( सुविणदंसणविहाणेणं ) स्वप्नदर्शनस्वप्नफलप्रश्न



प्रमुखम् ( सव्वं जाव निअगं गिहं अणुपविट्ठा ) सर्वं वाच्यं यावत् निजं गृहं वामादेवी प्राविशत् ( जाव सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ)यावत् सुखं सुखेन तं गर्भं परिपालयति ॥ १५१ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे से हेमंताणं दुच्चे मासे तच्चे पक्खे पोसहबहुले तस्स णं पोसबहुलस्स दसमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणं राइंदिआणं विइक्कंताणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवाएणं आरोग्गारोग्गं दारयं पयाया ॥ १५२ ॥

( तेणं कालेणं ) तस्मिन् काले ( तेणं समएणं ) तस्मिन् समये ( पासे अरहा पुरिसादाणीए ) पार्श्वः अर्हन् पुरुषादानीयः ( जे से हेमंताणं ) योऽसौ शीतकालस्य ( दुच्चे मासे तच्चे पक्खे ) द्वितीयो मासः तृतीयः पक्षः ( पोसबहुले ) पौषबहुलः ( तस्स णं पोसबहुलस्स दसमीपक्खेणं ) तस्य पौषबहुलस्य दशमीदिवसे ( नवण्हं मासाणं ) नवसु मासेषु ( बहुपडिपुन्नाणं ) बहुप्रतिपूर्णेषु सत्सु ( अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं ) अर्धाष्टसु च अहोरात्रेषु ( विइक्कंताणं ) व्यतिक्रान्तेषु सत्सु ( पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि ) पूर्वापररात्रिसमये,मध्यरात्रौ इत्यर्थः ।( विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं ) विशाखाया नक्षत्रे चन्द्रयोगे उपागते सति ( आरोग्गारोग्गं दारयं पयाया ) आरोग्या वामा आरोग्यं दारकं प्रजाता ॥ १५२ ॥

जं रयणिं च णं पासे अरहा पुरिसादाणीए जाए, सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं य देवीहिं य० जाव उप्पिंजलभूआ कहकहगभूआ आवि हुत्था ॥ १५३ ॥

( जं रयणिं च णं ) यस्यां रजन्यां ( पासे अरहा पुरिसादाणीए जाए ) पार्श्वः अर्हन् पुरुषादानीयः जात ( सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं य देवीहिं य ) सा रजनी बहुभिः देवैः देवीभिश्च कृत्वा ( जाव उप्पिंजलमाणभूआ ) यावत् भृशं आकुला इव ( कहकहगभूआ आवि हुत्था ) अव्यक्तवर्णकोलाहलमयी अभवत् ॥ १५३ ॥

सेसं तहेव, नवरं जम्म णं पासाभिलावेणं भाणिअव्वं० जाव तं होउ णं कुमारे पासे नामेणं ॥ १५४ ॥

( सेसं तहेव. नवरं पासाभिलावेणं भाणियव्वं ) शेषं जन्मोत्सवाऽऽदि तथैव पूर्ववत्, परं पार्श्वाभिलापेन भणितव्यं ( जाव तं होउ णं कुमारे पासे नामेणं ) यावत् तस्मात् भवतु कुमार पार्श्वः नाम्ना कृत्वा । तत्र प्रभौ गर्भस्थे सति शयनीयस्था माता पार्श्वे सर्पन्तं कृष्णसर्पं ददर्श, ततः पार्श्व इति नाम कृतं, क्रमेण यौवनं प्राप्त । तच्चैवम्-" धात्रीभिरिन्द्राऽऽदिष्टाभि-र्लाल्यमानो जगत्पतिः । नवहस्तप्रमाणाङ्गः क्रमादाप च यौवनम् ॥ १ ॥ " ततः कुशस्थलेशः प्रसेनजिन्नृपपुत्रीं प्रभावतीनाम्नीं कनीम् आगृह्य पित्रा परिणायितः, अन्येद्युर्गवाक्षस्थः स्वामी एकस्यां दिशि गच्छतः पुष्पाऽऽदिपूजोपकरणसहितान्नागरांश्च निरीक्ष्य एते क्व गच्छ-

न्तीति कश्चित्पप्रच्छ, स आह. प्रभो ! कुत्रचित्सन्निवेशे या-स्तव्यो दरिद्रो मृतमातापितृको ब्राह्मणपुत्रः कृपया लोकै जीवितः कमठनामा, स च एकदा रत्नाऽऽभरणभूषितान् नागरान् वीक्ष्य अहो एतत्प्राग्जन्मतपसः फलमिति विचिन्त्य पञ्चाग्न्यादिमहाकष्टार्थी तपस्वी जात , सोऽयं पुर्या बहिरागतोऽस्ति तं पूजितुं लोका गच्छन्तीति निशम्य प्रभुरपि सपरिवारस्तं द्रष्टुं ययौ । तत्र काष्ठान्तर्दह्यमानं महासर्पं ज्ञानेन विज्ञाय करुणासमुद्रो भगवानाह-अहो मूढ तपस्विन् ! किं दयां विना वृथा कष्टं करोषि, यतः-" कृपानदीमहातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः । तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ? ॥ १ ॥ " इत्याकर्ण्य क्रुद्धः कमठोऽवोचत्-राजपुत्रा हि गजाश्वाऽऽदिक्रीडा कर्तुं जानन्ति,धर्मं तु वयं तपोधना एव जानीमः । ततः स्वामिनाऽग्निकुण्डात् ज्वलत्काष्ठम् आकृष्य कुठारेण द्विधा कृत्वा च तापव्याकुलः सर्पो निष्कासितः, स च भगवन्नियुक्तपुरुषमुखान्नमस्कारान् प्रत्याख्यानं च निशम्य तत्क्षणं विपद्य धरणेन्द्रो जातः, अहो ज्ञानीति जनैः स्तूयमानः स्वामी स्वगृहं ययौ, कमठोऽपि तपस्तप्त्वा मेघकुमारेषु मेघमाली जातः ॥ १५४ ॥

**पासे णं अरहा पुरिसादाणीए दक्खे दक्खपइन्ने पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए, तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता पुणरवि लोयंतिएहिं जिअकप्पिएहिं देवेहिं ताहिं इट्ठाहिं० जाव एवं वयासी ॥ १५५ ॥**

( पासे णं अरहा पुरिसादाणीए ) पार्श्वः अर्हन् पुरुषादानीयः ( दक्खे दक्खपइन्ने ) दक्षः दक्षप्रतिज्ञः दक्षा प्रतिज्ञा यस्य ( पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए ) रूपवान् गुणैरालिङ्गितः भद्रकः विनयवान् ( तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता ) त्रिंशद्वर्षाणि गृहस्थावस्थायां स्थित्वा ( पुणरवि लोयंतिएहिं ) पुनरपि लोकान्तिकाः ( जिअकप्पिएहिं देवेहिं ) जीतकल्पिकाः देवाः ( ताहिं इट्ठाहिं जाव एवं वयासी ) ताभिः इष्टाभिर्वाग्भिः यावत् एवम् अवादिषुः ॥ १५५ ॥

**" जय जय नंदा, जय जय भद्दा," ०जाव जयजयसद्दं पउंजंति ॥ १५६ ॥**

( जय जय नंदा जय जय भद्दा जाव जयजयसद्दं पउंजंति ) जयजयवान् भव, हे समृद्धिमन् ! जयजयवान् भव, हे कल्याणवन् ! यावत् जयजयशब्दं प्रयुञ्जन्ति ॥ १५६ ॥

**पुव्विं पि णं पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स माणुस्सगाओ गिहत्थधम्माओ अणुत्तरे आहोइए तं चेव सव्वं जाव दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता जे से हेमंताणं दुच्चे मासे तच्चे पक्खे पोसबहुले तस्स णं पोसबहुलस्स इक्कारसीदिवसेणं पुव्वण्हकालसमयंसि विसालाए सिविआए सदेवमणुआसुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे तं चेव सव्वं, नवरं वाणारसिं नयरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव आसमपए उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ,ठवेइत्ता सीयाओ पच्चोरुहइ,पच्चोरुहइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुअइ, ओमुअइत्ता सयमेव पंचमुट्ठिअं लोअं करेइ, करेइत्ता अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥ १५७ ॥**

( पुव्विं पि णं पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स ) पूर्वमपि पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( माणुस्सगाओ ) मनुष्ययोग्यात् ( गिहत्थधम्माओ ) गृहस्थधर्मात् (अणुत्तरे आहोइए) अनुपमम् उपयोगाऽऽत्मकम् अवधिज्ञानमभूत् ( तं चेव सव्वं जाव दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता ) तदेव सर्वं पूर्वोक्तं वाच्यं, यावत् धनं गोत्रिणो विभज्य दत्त्वा ( जे से हेमंताणं ) योऽसौ शीतकालस्य ( दुच्चे मासे तच्चे पक्खे ) द्वितीयो मासः तृतीयः पक्षः ( पोसबहुले ) पौषस्य कृष्णपक्षः ( तस्स णं पोसबहुलस्स इक्कारसीदिवसेणं ) तस्य पौषबहुलस्य एकादशीदिवसे ( पुव्वण्हकालसमयंसि ) पूर्वाह्णकालसमये प्रथमप्रहरे ( विसालाए सिविआए ) विशालायां नाम शिबिकायां ( सदेवमणुआसुराए ) देवमनुष्यासुरसहितया ( परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे ) पर्षदा समनुगम्यमानं प्रभुमग्रत ( तं चेव सव्वं नवरं ) सर्वं तदेव पूर्वोक्तं वाच्यम्, अयं विशेषः- (वाणारसिं नगरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ ) वाराणस्या नगर्या मध्यभागेन निर्गच्छति ( निग्गच्छित्ता ) निर्गत्य ( जेणेव आसमपए उज्जाणे ) यत्रैव आश्रमपदनामकमुद्यानम् ( जेणेव असोगवरपायवे ) यत्रैव अशोकनामा वृक्षः ( तेणेव उवागच्छइ ) तत्रैव उपागच्छति ( उवागच्छित्ता ) उपागत्य ( असोगवरपायवस्स अहे ) अशोकवृक्षस्य अधस्तात् ( सीयं ठावेइ ) शिबिकां स्थापयति ( ठवित्ता ) संस्थाप्य ( सीयाओ पच्चोरुहइ ) शिबिकातः प्रत्यवतरति ( पच्चोरुहित्ता ) प्रत्यवतीर्य ( सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुअइ ) स्वयमेव आभरणमालालङ्कारान् अवमुञ्चति ( ओमुइत्ता ) अवमुच्य ( सयमेव पंचमुट्ठियं लोअं करेइ ) स्वयमेव पञ्चमौष्टिकं लोचं करोति ( करित्ता ) लोचं कृत्वा ( अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं ) अष्टमेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन ( विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं ) विशाखायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति ( एगं देवदूसमादाय ) एकं देवदूष्यं गृहीत्वा ( तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता ) त्रिभिः पुरुषशतैः सार्द्धं मुण्डो भूत्वा ( आगाराओ अणगारियं पव्वइए ) गृहान्निष्क्रम्य साधुतां प्रतिपन्नः ॥ १५७ ॥

**पासे णं अरहा पुरिसादाणीए तेसीइं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे , जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति । तं जहा-दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तिरिक्खजोणिआ वा, अणुलोमा वा पडिलोमा वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहइ तितिक्खइ खमइ अहियासेइ ॥ १५८ ॥**

( पासे णं अरहा पुरिसादाणीए ) पार्श्वः अर्हन् पुरुषा-

दानर्थः ( तेसीइं राइंदियाइं ) त्र्यशीतिं रात्रिंदिवसान् यावत् ( निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे ) नित्यं व्युत्सृष्टकाय. त्यक्तदेह ( जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति ) ये केचन उपसर्गा उत्पद्यन्ते । ( तं जहा ) तद्यथा-( दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिक्खजोणिआ वा ) देवकृताः मनुष्यकृताः तिर्यक्कृताः ( अणुलोमा वा पडिलोमा वा ते उप्पन्ने सम्मं सहइ ) अनुलोमा वा प्रतिलोमा वा तान् उत्पन्नान् सम्यक् सहते ( तितिक्खइ खमइ अहियासेइ ) तितिक्षते क्षमते अध्यासयति, तत्र देवोपसर्गः कमठसम्बन्धी । स चैवम्-स्वामी प्रव्रज्यैकदा विहरन् तापसाऽऽश्रमे कूपसमीपे न्यग्रोधाधो निशि प्रतिमया स्थितः, इतः स मेघमाली सुराधमः श्रीपार्श्वमुपद्रोतुम् आगत्य क्रोधान्ध स्वविकुर्वितशार्दूलवृश्चिकाऽऽदिभिरभीतं प्रभुं निरीक्ष्य गगनेऽन्धकारसन्निभान् मेघान् विकुर्व्य कल्पान्तमेघवद्वर्षितुम् आरेभे विद्युतश्च अतिरौद्राऽऽकारा दिशि दिशि प्रसृताः, गर्जारवं च ब्रह्माण्डस्फोटसदृशम् अकरोत्, क्षणादेव च प्रभुनासाग्रं यावज्जले प्राप्ते आसनकम्पेन धरणेन्द्रो महिषीभिः सममागत्य फणैः प्रभुम् आच्छादितवान्, अवधिना च विज्ञातोऽमर्षेण वर्षन् मेघमाली धरणेन्द्रेण हक्कितः प्रभुं शरणीकृत्य स्वस्थानं ययौ, धरणेन्द्रोऽपि नाट्याऽऽदिभिः प्रभुपूजां विधाय स्वस्थानं ययौ, एवं देवाऽऽदिकृतानुपसर्गान् सम्यक् सहते ॥ १५८ ॥

तए णं से पासे भगवं अणगारे जाए, इरियासमिए० जाव अप्पाणं भावेमाणस्स तेसीइं राइंदियाइं विइक्कंताइं, चउरासीइमस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि धायइपायवस्स अहे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएण विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते अणुत्तरे० जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने० जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥ १५९ ॥

( तए णं से पासे भगवं अणगारे जाए ) ततः स पार्श्वो भगवान् अनगारो जातः ( इरियासमिए० जाव अप्पाणं भावेमाणस्स ) ईर्यायां समितः यावत् आत्मानं भावयतः ( तेसीइं राइंदियाइं विइक्कंताइं ) त्र्यशीतिः अहोरात्रा व्यतिक्रान्ताः ( चउरासीइमस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणस्स ) चतुरशीतितमस्य अहोरात्रस्य अन्तरा वर्तमानस्य ( जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे ) योऽसौ ग्रीष्मकालस्य प्रथमो मासः प्रथमः पक्षः ( चित्तबहुले ) चैत्रस्य बहुलपक्षः कृष्णपक्षः ( तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं ) तस्य चैत्रबहुलस्य चतुर्थीदिवसे ( पुव्वण्हकालसमयंसि ) पूर्वाह्णकालसमये प्रथमप्रहरे ( धायइपायवस्स अहे ) धातकीनामवृक्षस्य अधः ( छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं ) षष्ठेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन ( विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं ) विशाखाया नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति ( झाणंतरिआए वट्टमाणस्स ) शुक्लध्यानमध्यभागे वर्त्तमानस्य ( अणंते अणुत्तरे० जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने ) अनन्ते अनुपमे यावत् केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने ( जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ) यावत् सर्वभावान् जानन् पश्यंश्च विहरति ॥ १५९ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा हुत्था । तं जहा-" सुभे य १ अज्जघोसे य २ वसिट्ठे ३ बंभयारि य ४ । सोमे ५ सिरिहरे ६ चेव, वीरभद्दे ७ जसेवि य ८ ॥ १ ॥ " ॥ १६० ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा हुत्था ) अष्टौ गणा अष्टौ गणधराश्च अभवन्, तत्र एकवाचनिका यतिसमूहा गणास्तन्नायकाः सूरयो गणधरास्ते श्रीपार्श्वस्य अष्टौ । आवश्यके तु दशगणा दशगणधराश्चोक्ताः, तस्मादिह स्थानाङ्गे च द्वौ अल्पायुष्कत्वाऽऽदिकारणान्नोक्तौ इति टिप्पनके व्याख्यातम् ( तं जहा ) तद्यथा-( सुभे य १ अज्जघोसे य २ ) शुभश्च १ आर्यघोषश्च २ ( वसिट्ठे ३ बंभयारि य ४ ) वशिष्ठः ३ ब्रह्मचारी ४ च ( सोमे ५ सिरिहरे ६ चेव ) सोमः ५ श्रीधरश्चैव ६ ( वीरभद्दे ७ जसेवि य ८ ) वीरभद्रः ७ यशस्वी ८ च ॥ १ ॥ १६० ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अज्जदिन्नपामुक्खाओ सोलस समणसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणसंपया हुत्था ॥ १६१ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( अज्जदिन्नपामुक्खाओ ) आर्यदिन्नप्रमुखाणि ( सोलस समणसाहस्सीओ ) षोडश श्रमणसहस्राणि ( उक्कोसिआ समणसंपया हुत्था ) उत्कृष्टा एतावती श्रमणसम्पदा अभवत् ॥ १६१ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स पुप्फचूलापामुक्खाओ अट्ठत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जियासंपया हुत्था ॥ १६२ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( पुप्फचूलापामुक्खाओ ) पुष्पचूलाप्रमुखाणि ( अट्ठत्तीसं अज्जियासाहस्सी ) अष्टत्रिंशत् आर्यासहस्राणि ( उक्कोसिआ अज्जियासंपया हुत्था ) उत्कृष्टा एतावती आर्यिकासम्पदा अभवत् ॥ १६२ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स सुव्वयपामुक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सी चउसट्ठी च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १६३ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( सुव्वयपामुक्खाणं ) सुव्रतप्रमुखाणाम् ( समणोवासगाण ) श्रमणोपासकानां श्रावकाणां ( एगा सयसाहस्सी ) एकलक्षः ( चउसट्ठी च सहस्सा ) चतुःषष्टिश्च सहस्राणि ( उक्कोसिया समणोवासगाणं संपया हुत्था ) उत्कृष्टा एतावती श्रावकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १६३ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स सुनंदापामुक्खाणं समणोवासिआणं तिन्नि सयसाहस्सीओ सत्तावीसं च सहस्सा उक्कोसिआ समणोवासियाणं संपया हुत्था ॥ १६४ ॥

(पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( सुनंदापामुक्खाणं ) सुनन्दाप्रमुखाणां ( समणोवासियाणं ) श्रमणोपासिकानां श्राविकाणां ( तिन्नि सयसाहस्सीओ ) त्रयः शतसहस्राः त्रयो लक्षाः (सत्तावीसं च सहस्सा ) सप्तविंशतिश्च सहस्राः ( उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया हुत्था ) उत्कृष्टा एतावती श्रमणोपासिकाना सम्पदा अभवत् ॥ १६४ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अद्धुट्ठसया चउद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं० जाव चउद्दसपुव्वीणं संपया हुत्था ॥ १६५ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( अद्धुट्ठसया चउद्दसपुव्वीणं ) अध्युष्टशतानि चतुर्दशपूर्विणां ( अजिणाणं जिणसंकासाणं ) अकेवलिनामपि केवलितुल्यानां ( जाव चउद्दसपुव्वीणं संपया हुत्था ) यावत् चतुर्दशपूर्विणां सम्पदा अभवत् ॥१६५॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स चउद्दस सया ओहिणाणीणं दस सया केवलनाणीणं, इक्कारस सया वेउव्वियाणं,छस्सया रिउमईणं,दस समणसया सिद्धा,वीसं अज्जियासयाइं सिद्धाइं,अट्ठसया विउलमईणं,छ सया वाईणं, बारस सया अणुत्तरोववाइयाणं ॥ १६६ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( चउद्दस सया ओहिनाणीणं ) चतुर्दश शतानि अवधिज्ञानिनां सम्पदा अभवत् ( दस सया केवलनाणीणं ) दश शतानि केवलज्ञानिनां सम्पदा अभवत् । ( इक्कारस सया वेउव्वियाणं ) एकादश शतानि वैक्रियलब्धिमतां सम्पदा अभवत् ( छसया रिउमईणं ) षट्शतानि ऋजुमतीनां मनःपर्यवज्ञानिनां सम्पदा अभवत् ( दस समणसया सिद्धा ) दश श्रमणशतानि सिद्धानि (वीसं अज्जियासयाइं सिद्धाइं ) विंशतिः आर्याशतानि सिद्धानि ( अट्ठसया विउलमईणं ) अष्टौ शतानि विपुलमतीनां सम्पदा अभवत् ( छसया वाईणं ) षट्शतानि वादिनां सम्पदा अभवत् ( बारस सया अणुत्तरोववाइयाणं ) द्वादश शतानि अनुत्तरोपपातिनां सम्पदा अभवत् ॥ १६६ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स दुविहा अंतगडभूमी हुत्था । तं जहा-जुगंतगडभूमी, परियायंतगडभूमी य ०जाव चउत्थाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी, तिवासपरिआए अंतमकासी ॥ १६७ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( दुविहा अंतगडभूमी हुत्था ) द्विविधा मुक्तिगामिनां मर्यादा अभूत् ( तं जहा- ) तद्यथा-(जुगंतगडभूमी ) युगान्तकृद्भूमिः ( परियायंतगडभूमी य ) पर्यायान्तकृद्भूमिश्च ( जाव चउत्थाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी ) चतुर्थं पट्टधरपुरुषं युगान्तकृद्भूमिः, श्रीपार्श्वनाथादारभ्य चतुर्थं पुरुषं यावत् सिद्धिमार्गो वहमानः स्थितः ( तिवासपरिआए अंतमकासी ) त्रिवर्षपर्याये कश्चिन्मुक्तिं गतः पर्यायान्तकृद्भूमौ तु केवलोत्पत्तेस्त्रिषु वर्षेषु सिद्धिगमनम्.ऽऽऽऽम. ॥ १६७ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता, तेसीइं राइंदिआइं छउमत्थपरिआयं पाउणित्ता देसूणाइं सत्तरिवासाइं केवलिपरिआयं पाउणित्ता, पडिपुन्नाइं सत्तरिवासाइं सामन्नपरिआयं पाउणित्ता, एक्कं वाससयं सव्वाउयं पालइत्ता खीणवेयणिज्जाउयनामगुत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए बहुविइक्कंताए जे से वासाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे सावणसुद्धे, तस्स णं सावणसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं उप्पिं संमेअसेलसिहरंसि अप्पचउत्तीसइमे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वण्हकालसमयंसि वग्घारियपाणी कालगए विइक्कंते० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥ १६८ ॥

( तेणं कालेणं ) तस्मिन् काले ( तेणं समएणं ) तस्मिन् समये [ पासे अरहा पुरिसादाणीए ] पार्श्वः अर्हन् पुरुषादानीयः [ तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता ] त्रिंशत् वर्षाणि गृहस्थावस्थायामुषित्वा स्थित्वा [ तेसीइं राइंदिआइं ] त्र्यशीतिमहोरात्रान् [ छउमत्थपरिआयं पाउणित्ता ] छद्मस्थपर्यायं पालयित्वा [ देसूणाइं सत्तसत्तरिवासाइं ] किञ्चिदूनानि सप्ततिवर्षाणि [ केवलिपरिआयं पाउणित्ता ] केवलिपर्यायं पालयित्वा [ पडिपुन्नाइं सत्तरिवासाइं] प्रतिपूर्णानि सप्ततिवर्षाणि[सामन्नपरियायं पाउणित्ता] चारित्रपर्यायं पालयित्वा [एक्कं वाससयं सव्वाउअं पालइत्ता] एकं वर्षशतं सर्वायुः पालयित्वा [ खीणे वेयणिज्जाउयनामगुत्ते ] क्षीणेषु सत्सु वेदनीयाऽऽयुर्नामगोत्रेषु कर्मसु [इमीसे ओसप्पिणीए ] अस्यामेव अवसर्पिण्यां [ दुसमसुसमाए बहुविइक्कंताए ] दुष्षमसुषमनामके चतुर्थेऽरके बहुव्यतिक्रान्ते सति [ जे से वासाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे ] योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासः द्वितीयः पक्षः [ सावणसुद्धे ] श्रावणशुद्धः [ तस्स णं सावणसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं ] तस्य श्रावणशुद्धस्य अष्टमीदिवसे [ उप्पिं सम्मेअसेलसिहरम्मि ] उपरि सम्मेतनामशैलशिखरस्य [ अप्पचउत्तीसइमे ] आत्मना चतुस्त्रिंशत्तमः [ मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं ] मासिकेन भक्तेन अपानकेन [ विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं ] विशाखानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति [ पुव्वण्हकालसमयंसि ] पूर्वाह्णकालसमये, तत्र प्रभोर्मोक्षगमने पूर्वाह्ण एव कालः, "पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि त्ति" क्वचित्पाठस्तु लेखकदोषान्मतान्तरमेवाह्ना [ वग्घारियपाणी ] प्रलम्बितौ पाणी हस्तौ येन स तथा, कायोत्सर्गे स्थितत्वात् प्रलम्बितभुजद्वयः [ कालगए विइक्कंते० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ] भगवान् कालगतः व्यतिक्रान्तः यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः ॥ १६८ ॥

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स० जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स दुवालस वाससयाइं विइक्कंताइं, तेरसमस्स य वाससयस्स अयं तीसइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥ १६९ ॥

( पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीअस्स ) पार्श्वस्य अर्हतः पुरुषादानीयस्य ( जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स ) यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणस्य ( दुवालस वाससयाइं विइक्कंताइं ) द्वादश वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि ( तेरसमस्स य वाससयस्स ) त्रयोदशमस्य वर्षशतस्य ( अयं तीसइमे संवच्छरे काले गच्छइ ] अयं त्रिंशत्तमः संवत्सरः कालो गच्छति , तत्र श्रीपार्श्वनिर्वाणात् पञ्चाशदधिकवर्षशतद्वयेन श्रीवीरनिर्वाणं , ततश्चाऽशीत्यधिकनववर्षशतानि अतिक्रान्तानि, तदा वाचना; ततो युक्तमुक्तमिदं त्रयोदशमशतसंवत्सरस्यायं त्रिंशत्तमः संवत्सरः कालो गच्छतीति । कल्प० १ अधि० ७ क्षण ( 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठादारभ्यविस्तरः गतः )

पार्श्वनाथचरितं गद्यमयम्—

जिणे पासि त्ति नामेणं, अरहा लोगेसु पूइओ ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू , धम्मतित्थयरे जिणे ॥ १ ॥

" जिणे पासि त्ति नामेणं " इत्यस्यां गाथायां कतिथोऽयं पार्श्वनामा तीर्थङ्करः कस्मिन् भवे चानेन तीर्थङ्करनामकर्म्म निबद्धमिति सकौतुकं श्रोतृवैराग्योत्पादनार्थं पार्श्वनाथचरित्रमुच्यते–इहैव जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे पोतनपुरनगरे अरविन्दो नाम राजा, तस्य विश्वभूतिर्नाम पुरोहितः, स श्रावकोऽस्ति, तस्य द्वौ पुत्रौ—कमठो, मरुभूतिश्च । तयोः क्रमेण भार्या वरुणा, वसुन्धरा च । तयोः कमठमरुभूत्योः शिरसि गृहकार्यभारं विन्यस्य स्वयं धर्मं कुर्वाणः क्रमेण कालं कृत्वा विश्वभूतिर्देवलोकं गतः, तद्भार्याऽनुदरी विशेषतपःकरणेन शोषितशरीरा मृता, कमठोऽपि कृतमातृपितृप्रेतकर्मः पुरोहितो जातः, मरुभूतिरपि प्रायो ब्रह्मचारी कृतोद्यमः सम्पन्नः, तस्य भार्यां मनोहरोऽक्षेदं दृष्ट्वा कमठस्य चित्तञ्चलितं, तां सविकारलोचनाभ्यां पश्यति, साऽपि कामविरहमसहन्ती तं सविकारं पश्यति, उभयोर्भृशं रङ्गोल्लासे अनाचारप्रवृत्तिर्जाता, मरुभूतिना सामान्यतो ज्ञाता, विशेषज्ञानाय तस्याः कमठस्य च पुरोऽहं ग्रामान्तरं यास्यामीत्युक्त्वा निजमन्दिराद् बहिर्गत्वा संध्यासमये कार्पटिकरूपं कृत्वा स्वरभेदेन कमठ प्रत्येवं बभाण–हे महानुभाव ! निराहारस्य मम शीतत्राणाय किञ्चिन्निवातस्थानं देहि, अविज्ञातपरमार्थेन कमठेन भणितम्–अहो कार्पटिक ! अत्र चतुर्हस्तमध्ये स्वच्छन्दं निवस, ततस्तत्र रात्रौ स्थितो मरुभूतिस्तयोः सर्वमनाचारस्वरूपमालोक्य ईर्ष्यापरवशो जातः, परं लोकापवादभीरुत्वाच्च तयोः प्रतीकारं चकार, प्रभाते च राजान्तिके गत्वा सर्वं तयोः स्वरूपं यथास्थितमाख्यातवान् । राज्ञा च कुपितेन समादिष्टाः स्वपुरुषाः,तैर्दण्डमास्फालनपूर्वं गलाऽऽरोपितशरावमालः खराऽऽरूढः कमठः सर्वतो नगरे भ्रामितः, भ्रातृजायाभोगकार्ययमिति जनानां पुरो निर्घोषं कृत्वा स नगरान्निष्कासितः, ततः सञ्जातामर्षः कमठोऽपि समुत्पन्नगुरुवैराग्यो गृहीतपरिव्राजकलिङ्गो दुस्तरं तपः कर्तुं लग्नः, तं च वृत्तान्तं ज्ञात्वा मरुभूतिः संजातपश्चात्तापः स्वापराधक्षामणाय तस्यान्तिके गत्वा पादयोः पपात । कमठोऽपि तदानीं समुत्पन्नपूर्ववैरोल्लासेन मरुभूतेर्मूर्ध्नोपरि महाशिलां पातितवान् । ततो मरुभूतिस्तस्याः पाणिप्रहारेण आर्त्तध्यायन् कालं कृत्वा विन्ध्याचले बहुयूथाधिपतिः करी समुत्पन्नः । इतश्च अरविन्दराजा कदाचित् शरत्काले स्वान्तःपुरप्रसादोपरि स्थितः क्रीडन् शरदभ्रं सुस्निग्धं प्रच्छादितनभस्तलं मनोहरं ददर्श, पुनस्तत्क्षणादेव वायुना विलीनं तदभ्रं पश्यन् दृष्टान्तावष्टम्भेन सर्वेषां भावानां क्षणभङ्गुरतां भावयन् समुत्पन्नावधिज्ञानः परिजनेन ध्रियमाणोऽपि दत्तनिजपुत्रराज्यः प्रव्रजितः । अन्यदा स राजर्षिर्विहरन् सागरदत्तसार्थवाहेन समं संमेतशिखरचैत्यवन्दनार्थं प्रस्थितः, सागरदत्तसार्थवाहेन पृष्टः–भगवन् ! क्व गमिष्यसि ! यतिना उक्तम्-तीर्थयात्रायाम् । सार्थवाहेनोक्तम्–कीदृशो भवतां धर्मः ? । मुनिना कथितो दयादानविनयमूलः सविस्तरः स्वस्य धर्मः, तं श्रुत्वा स सार्थवाहः श्रावको जातः, क्रमेण महाटवीं प्राप्तः, यत्र सो मरुभूतिजीवः करी जातोऽस्ति, तत्र महासरोवरं दृष्ट्वा तत्तीरे सार्थं उत्तीर्णः, अत्रान्तरे तस्मिन्नेव सरसि बहुहस्तिनीपरिवृतः स करी जलपानार्थमागतः, जलं सविलासं पीत्वा पालमारूढः सर्वत्र चक्षुर्विक्षिपन् सार्थं दृष्ट्वा तद्विनाशनार्थं त्वरितं धावितः, तं च तथाऽऽगच्छन्तं दृष्ट्वा सार्थजना इतस्ततः प्रणष्टाः, मुनिस्तु अवधिना ज्ञात्वा स्वस्थाने स्थितः कायोत्सर्गेण, तेन करिणा सर्वं सार्थप्रदेशं भ्रमता दृष्टः स महामुनिः, तदभिमुखं स धावितः, आसन्नप्रदेशे गत्वा तं पश्यन् उपशान्तकोपो निश्चलः स्थित , तथारूपं तं दृष्ट्वा तत्प्रतिबोधनार्थं पारितकायोत्सर्गो मुनिरेवमूचे-भो मरुभूते ! किं न त्वं स्मरसि माम् अरविन्दनरपतिम्, आत्मनः पूर्वभवं वा । एतन्मुनिवचः श्रुत्वा स करी सञ्जातजातिस्मरणः पतितो मुनिचरणेषु मुनिनाऽपि सविशेषदेशनाकरणपूर्वं स श्रावकः कृतः, ततः प्रणम्य स्वस्थानं गतः, अत्रान्तरे उपशान्तं तं करिणं दृष्ट्वा साश्चर्यं सार्थजनः पुनस्तत्र मिलितः, प्रणम्य मुनिचरणयुगलं प्रतिपन्नवान् दयामूलं श्रावकधर्मं, ततः कृतकृत्यः सर्वोऽपि सार्थो मुनिश्च स्वस्वाचारनिरतो विजहार । इतश्च स कमठपरिव्राजको मरुभूतिविनाशनेनाऽपि अनिवृत्तवैरानुबन्धो निजायुःक्षये मृत्वा समुत्पन्नः कुर्कुटसर्पः, विन्ध्यावने परिभ्रमता तेन दृष्टः स हस्ती पङ्कनिमग्नः पूर्ववैरोल्लासेन कुम्भस्थले दष्टः, तद्विषवेदनामनुभवन्नपि श्रावकत्वात् क्षमावान् मृत्वा समुत्पन्नः सहस्रारकल्पे देवः, कुर्कुटसर्पोऽपि तस्मिन् समये मृत्वा सप्तदशसागरोपमाऽऽयुः पञ्चमनरकपृथिव्यां नारकः सञ्जातः । इतश्च स हस्तिदेवश्च्युतः इहैव जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे कच्छविजये वैताढ्यपर्वते तिलकनगर्यां विद्युद्गतिविद्याधरस्य भार्यायाः कनकतिलकायाः किरणवेगो नाम पुत्रो जातः, स च तत्र क्रमाऽऽगतः राज्यमनुपाल्य सुगुरुसमीपे प्रव्रजितः एकत्वविहारी चारणश्रमणो जातः, अन्यदा आकाशविहारी स गतः पुष्करद्वीपे, तत्र कनकगिरिसन्निवेशे कायोत्सर्गेण स्थितः किञ्चित्तपः कर्तुमारब्धः, इतश्च स कुर्कुटसर्पजीवो नरकादुद्वृत्य तस्यैव कनकगिरेः समीपे सञ्जातो महोरगः, तेन स मुनिः दृष्टो दष्टश्च, विधिना कालं कृत्वा अच्युतकल्पे जम्बुमावर्तविमाने देवो जातः, सोऽपि महोरगः क्रमेण कालं कृत्वा पुनरपि सप्तदशसागराऽऽयुः पञ्चमपृथिवीनारको जातः,

किरणवेगदेवोऽपि ततः च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपेऽपरविदेहे सुगन्धविजये शुभङ्करानगर्यां वज्रवीर्यराज्ञो विमता (?) या भार्यायां वज्रनाभनामा पुत्रः समुत्पन्नः, सोऽपि तत्र क्रमाऽऽगतं राज्यमनुपाल्य दत्तचक्राऽऽयुधनामस्वपुत्रराज्यः क्षेमंकरजिनसमीपे प्रव्रजितः, तत्र विविधतपोविधानेन बहुलब्धिसम्पन्नो गतः सुकच्छविजयं, तत्राप्रतिबद्धविहारेण विहरन् सम्प्राप्तो ज्वलनगिरिसमीपं, दिनेऽस्तमिते तत्रैव कायोत्सर्गेण स्थितः, प्रभाते ततश्चलितोऽटव्यां प्रविष्टः। इतश्च स महोरगनायकः पञ्चमपृथिवीत उद्वृत्य कियन्तं संसार भ्रान्त्वा तस्यैव ज्वलनगिरिसमीपे भीमाटव्या जातो वनेचरश्चाण्डाल·,तेनाऽऽखेटकनिमित्तं निर्गच्छता दृष्टः प्रथमं स साधुः,ततः पूर्वभववैरवशतोऽपशकुनोऽयमिति कृत्वा बाणेन विद्ध·, तेन विधुरीकृतवेदनो विधिना मृत्वा वज्रनाभो मुनिर्मध्यमग्रैवेयके ललिताङ्गो नाम देवो जातः सोऽपि चाण्डालवनेचरस्तं विपन्नं महामुनिं दृष्ट्वा अहोऽहं महाधनुर्धर इति मन्यमानो निकाचितक्रूरकर्मा कालेन मृत्वा सप्तमे नरके नारकत्वेन समुत्पन्नः,वज्रनाभदेवस्ततश्च्युत इहैव जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुराणपुरे कुलिशबाहुराज्ञ· सुदर्शनादेव्याः कनकप्रभो नाम पुत्रो जातः, स च क्रमेण चक्रवर्त्ती जातः, अन्यदा प्रासादोपरि संस्थितेन आकाशे निर्गच्छन् देवसङ्घातो दृष्टः, तद्दर्शनादेव विज्ञातं जगन्नाथतीर्थङ्करागमः, स्वयं निर्गतस्तद्वन्दनार्थं, वन्दित्वा च तत्रोपविष्टस्य तस्य पुरतो भगवता देशना कृता, तां च श्रुत्वा हृष्टश्चक्रवर्ती वन्दित्वा स्वनगर्यां प्रविष्टः, अन्यदा कनकप्रभनामा चक्रवर्ती तां तीर्थंकरदेशना भावयन् जातजातिस्मरणः पूर्वभवान् दृष्ट्वा भवविरक्तचित्त· प्रव्रजितः, इतश्च स क्रमेण विहरन्नसौ क्षीरवनाटव्या क्षीरपर्वते सूर्याऽभिमुखं कायोत्सर्गेण स्थित । इतश्च स चाण्डालवनचरस्ततो नरकादुद्वृत्य तस्यामेवाटव्यां क्षीरपर्वतगुहायां सिंहो जात·, स च भ्रमन् कथमपि संप्राप्त· मुनिसमीपे, ततः समुच्छलितपूर्ववैरेण तेन विनाशित स मुनिः, समाधिना कालं कृत्वा नियद्धतीर्थङ्करनामकर्मा प्राणतकल्पे महाप्रभे विमाने उत्पन्नो विंशतिसागरोपमायुर्देव, सोऽपि सिंहो बहुलसंसारं भ्रान्त्वा कर्मवशाद्ब्राह्मणो जातः । तत्रापि पापोदयवशेन जातमात्रस्य पितृमातृभ्रातृप्रमुख· सकलोऽपि स्वजनवर्गः क्षयं गतः, स च दयापरेण लोकेन जीवितः संप्राप्तयौवनोऽपि कुरूपो दुर्भगो दुःखेन वृत्तिं कुर्वन् वैराग्यमुपगतो वने कन्दमूलफलाऽऽहारस्तापसो जात·,करोति बहुप्रकारम् अज्ञानतपोविशेषम्। इतश्च स कनकप्रभचक्रवर्तिदेवः प्राणतकल्पात् चैत्रकृष्ण चतुर्थ्यां च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपे भारते क्षेत्रे काशीदेशे वाराणस्या नगर्यामश्वसेनस्य राज्ञो वामादेव्याः कुक्षौ मध्यरात्रिसमये विशाखानक्षत्रे त्रयोविंशतितमतीर्थङ्करत्वेन समुत्पन्नः, तस्यामेव रात्रौ सा वामादेवी चतुर्दश स्वप्नान् ददर्श, निवेदयामास च राज्ञ, तेनापि राज्ञा अतीवाऽऽनन्दमुद्वहता भणितम्-प्रिये ! सर्वलक्षणसम्पूर्णः शूरः सर्वकलाकुशलस्तव पुत्रो भविष्यति,तद्वचः श्रुत्वा सुष्ठुतरं परितुष्टा, सा, प्रभाते च राज्ञा स्वप्नपाठकानाहूय तान् यथार्थानाचख्यौ। तेऽपि पूर्णस्वप्नाध्यायं सविस्तारमाख्याय चतुर्दश स्वप्नाना फलमेवमाहु -तीर्थकरमाता चक्रवर्तिमाता वा एतांश्चतुर्दशस्वप्नान् पश्यति, ततोऽस्या· कुक्षौ तीर्थङ्करश्चक्री वा समुत्पन्नोऽस्तीति स्वप्नानुसारेण पूर्णेषु मासेषु शुभवेलायां भगवान् जातः, षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीभिर्जन्ममहोत्सवः पूर्वं कृतः, ततः स्वासनकम्पाद्विज्ञातभगवज्जन्माभिषेक शक्रैर्मेरुशिरसि जन्माभिषेक· कृत·, प्रभाते चाश्वसेनोऽपि नगरान्तर्दशाह्निकोत्सवं कृतवान्, अस्मिन् गर्भस्थिते भगवति जनन्या पार्श्वे गच्छन् सर्पो रात्रौ दृष्टस्ततोऽस्य पार्श्व इति नाम कृत,तत· कल्पतरुवज्जनाऽऽनन्दक स भगवान् वृद्धिं प्राप, अष्टवार्षिकश्च भगवान् सर्वकलाकुशलो बभूव। अथ भगवान् सर्वमनोहर यौवनं प्राप, पित्रा च तदानीं प्रभावतीं कन्या परिणायितः, भगवान् तया समं विषयसुखं बुभुजे, अन्यदा भगवता प्रासादोपरि गवाक्षजालस्थन दिगवलोकनं कुर्वता दृष्टो नगरलोकः प्रवरकुसुमहस्तो बहिर्गच्छन्, पृष्टं च भगवता कस्यचित्पार्श्ववर्त्तिन·-भो ! किमद्य कश्चित्पर्वोत्सवोऽस्ति, येनैष जनः पुष्पहस्तो बहिर्गच्छन्नस्ति। तेन पुरुषेणोक्तम्-अद्य कोऽपि पर्वोत्सवो नास्ति किं तु कमठो नाम महातपस्वी पुराद् बहिः समागतोऽस्ति, तद्वन्दनार्थं प्रस्थितोऽयं जन·, ततस्तद्वचनमाकर्ण्य जातकौतुकविशेषो भगवान् तत्र गतः, पञ्चाग्नितपः कुर्वाणं कमठं दृष्टवान्, त्रिज्ञानवता भगवता ज्ञात एकस्मिन्नग्निकुण्डे प्रक्षिप्तातीवमहत्काष्ठमध्ये प्रज्वलन् सर्प्प उत्पन्नपरमकरुणेन भगवता भणितम्—अहो ·कष्टमज्ञानं यदीदृशेऽपि तपसि क्रियमाणे दया न ज्ञायते। तत कमठेन भणितम्—राजपुत्रा· कुञ्जरतुरङ्गाऽऽश्रममेव जानन्ति, धर्मं तु मुनय एव विदन्तीति। ततो भगवता एकस्य स्वपुरुषस्य एवमादिष्टम्-अरे ! इदमग्निमध्ये प्रक्षिप्तं काष्ठं कुठारेण द्विधा कुरु, तेन पुरुषेण तत्काष्ठं द्विधा कृतं, तत्र दृष्टो दह्यमानः सर्प्पः, तस्य भगवता स्ववदनेन पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारा· प्रदापिता·, नागोऽपि तत्प्रभावान्मृत्वा समुत्पन्नो नागलोके धरणेन्द्रो नाम नागराजः, लोकैश्च अहो भगवतो ज्ञानशक्तिरिति भणद्भिर्महान् सत्कार· कृतः, ततो विलक्षीभूतः कमठपरिव्राजको गाढमज्ञानतप· कृत्वा मेघकुमारनिकायमध्ये समुत्पन्नो मेघमाली नाम भवनवासी देवः, अन्यदा सुखेन तिष्ठतो भगवतो वसन्तसमय· समागत·, तद्ज्ञापनार्थम् उद्यानपालेन सहकारमञ्जरी भगवतः समर्पिता, भगवता भणितम् -भो· किमेतत् ? स आह-भगवन् ! बहुविधक्रीडानिवासो वसन्तसमयः प्राप्त·, ततो मित्रप्रेरितः श्रीपार्श्वकुमारो वसन्तक्रीडानिमित्तं बहुजनपरिवारसमन्वितो यानाऽऽरूढो गतो नन्दनवनं, तत्र यानात्समुत्तीर्य निषण्णो नन्दनवनप्रासादमध्यस्थितकनकमयसिंहासने अतिरमणीयं नन्दनवनं सर्वत पश्यन् भित्तिस्थं परमं रम्य चित्रं दृष्ट्वा अहो किमत्र लिखितं ज्ञानमिति सम्यग् निरूपयता भगवता दृष्टम्-अरिष्टनेमिचरित्रम्*, ततश्चिन्तितुं प्रवृत्तः-धन्यः सोऽरिष्टनेमिर्यो विरसावसानं विषयसुखमाकलय्य निर्भरानुरागा निरुपमरूपलावण्या जनकवितीर्णा राजकन्या च त्यक्त्वा भग्नमदनमण्डलप्रचारः कुमार एव निष्क्रान्त·, ततोऽहमपि करोमि सर्वसङ्गपरित्यागम्। अत्रान्तरे लोकान्तिका देवास्तत्राऽऽगत्य भगवन्तं प्रतिबोधयन्ति स्म, ततो मार्गणगणस्य यथेप्सितं सांवत्सरिकदानं दत्त्वा भगवान् मातृपित्राद्यनुज्ञया महामह·

* तत् 'अरिट्ठणेमि' शब्दे प्रथमभागे ७६२ पृष्ठे गतम्।

पूर्वम् आश्रमपथोद्याने ऽशोकपादपस्याधः पौषशुक्लैकादशीदिने पूर्वाह्णसमये पञ्चमौष्टिकं लोचं कृत्वा अपानकेन अष्टमभक्तेन एकं देवदूष्यमादाय त्रिभिः पुरुषशतैः समं निष्क्रान्तः। अथ श्रीपार्श्वो भगवान् विहरन्नेकदा वटपादपाधः कायोत्सर्गेण स्थितः। इतश्च स कमठजीवो मेघमाली असुरोऽवधिना ज्ञात्वा आत्मनो व्यतिकरं स्मृत्वा च पूर्वभववैरकारणं समुत्पन्नतीव्रामर्षः समागतस्तत्र प्रारब्धास्तेनानेकसिंहाऽऽदिरूपैरनेके उपसर्गाः, तथाऽपि भगवान् श्रीपार्श्वोऽक्षुब्धो धर्मध्यानान्न चलितः, तादृशं तं ज्ञात्वा कमठ एवं चिन्तयामास-अहमेनं जलेन प्लावयित्वा मारयामीति ध्यात्वा भगवदुपरिष्टान्महामेघवृष्टिं चकार, जलेन भगवदङ्गं नासिकां यावत् व्याप्तम्, अत्रान्तरे कम्पिताऽऽसनेन धरणेन्द्रेण अवधिना ज्ञातभगवद्व्यतिकरेण समागत्य स्वामिशीर्षोपरि फणिफणाऽऽटोपं कृत्वा फणिशरीरेण भगवच्छरीरमावृत्य जलोपसर्गं च निवार्य भगवत्पुरो वेणुवीणागीतनिनादैः प्रवरं प्रेक्षणं कर्तुमारब्धवान्। कमठासुरस्तादृशम् अक्षोभ्यं भगवन्तं धरणेन्द्रकृतमहिमानं च दृष्ट्वा समुपशान्तदर्पो भगवच्चरणौ प्रणम्य गतो निजस्थाने, धरणेन्द्रोऽपि भगवन्तं निरुपसर्गं ज्ञात्वा स्तुत्वा च स्वस्थानं गतवान्। पार्श्वस्वामिनो निष्क्रमणदिवसाच्चतुरशीतितमे दिवसे चैत्रकृष्णाष्टम्याम् अष्टमभक्तेन पूर्वाह्णसमयेऽशोकतरोरधः शिलापट्टे सुखनिषण्णस्य शुभध्यानेन क्षीणघातिकर्मचतुष्कस्य सकललोकावभासि केवलज्ञानं समुत्पन्नं, चलिताऽऽसनैः शक्रैः तत्राऽऽगत्य केवलज्ञानोत्सवो महान् कृतः, पार्श्वोऽर्हन् सप्तफणालाञ्छनो वामदक्षिणपार्श्वयोः वैरोट्याधरणेन्द्राभ्यां पर्युपास्यमानः प्रियङ्गुवर्णदेहो नवहस्तशरीरो भव्यसत्त्वान् प्रतिबोधयन् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतः पृथिवीमण्डले विहरति, स्म पार्श्वभगवतो दश गणा गणधरा अभवन्, आर्यदिन्नप्रमुखाः षोडशसहस्रसाधवोऽभवन्, पुष्पचूलाप्रमुखा अष्टत्रिंशत्सहस्राऽऽर्यिका अभवन्, सुनन्दप्रमुखाः श्रमणोपासकाः, एकलक्षं चतुःषष्टिसहस्राश्च अभवन्, सुनन्दाप्रमुखा श्रमणोपासिका लक्षत्रयं सप्तविंशतिसहस्राश्चाभवन्, सार्द्धत्रीणि शतानि चतुर्दशपूर्विणामभवन्, अवधिज्ञानिनां चतुर्दश शतानि, केवलज्ञानिनां दशशतानि, वैक्रियलब्धिमताम् एकादश शतानि, विपुलमतीनां सार्द्धत्रीणि शतानि, वादिनां षट् शतानि अन्तेवासिनां दश शतानि सिद्धिगतानि, आर्यिकाणां विंशतिशतानि, सिद्धानि अनुत्तरोपपातिकानां द्वादश शतानि अभवन्, श्रीपार्श्वनाथस्य एवं परिवारसम्पदा अभूत्। ततः पार्श्वो भगवान् देशोनानि सप्ततिवर्षाणि केवलपर्यायेण विहृत्य एकं वर्षशतं सर्वायुः परिपाल्य संमेतशिखरे ऊर्द्धस्थित एवाथ कृतपाणिः निर्वाणमगमत्। तत्कलेवरसंस्कारोत्सवः शक्राऽऽदिभिस्तत्रैव विहितः। उत्त० २३ अ०।

पार्श्वप्रतिमाया कल्पः-

"सुरअसुरखयरकिन्नर-जोईसरविसरमहुराऽऽकलिअं।
तिहुअणकमलसरोहं, नमामि जिणचलणनीरुहं ॥१॥
जं पुव्वसूरिरइअं, अवि अप्पाणप्पकप्पमज्झम्मि।
इत्तरकालिमहमहिअं, कहिअं सिरिपासजिणरन्निअं ॥२॥
संखित्तसत्थनिक्किर-सखित्तदिट्ठीए धम्मिअजणाणं।
तोसकए तं कप्पं, भणामि पासस्स लेसेणं ॥ ३ ॥
भवभमणभेयणत्थं, भविआ ! भवदुक्खभारभरियंगा।
एयं समासओ पुण, पभणिज्जंतं मए सुणह ॥ ४ ॥
विजया जया य कमठो, पउमावइपासजक्खवइरुट्टा।
धरणो विज्जा देवी, सोलसऽहिट्ठायगा जस्स ॥ ५ ॥
पडिमुप्पत्तिनिआणं, कप्पे कलिअं पि नेह संकलिअं।
एयस्स गोरवभया, पढिहिइ न हु कोइ णं पच्छा ॥ ६ ॥
अह जलहि चुलुअमाणं, करेइ नारयविमाणसंखेवं।
पासजिणपडिममहिमं, कहिउं न वि पारए सो वि ॥ ७ ॥
एसा पुराणपडिमा, अणेगठाणेसु संठवेऊणं।
खयरसुरनरवरेहिं, महिया उवसग्गसमणत्थं ॥ ८ ॥
तह वि हु जणमणनिच्चल-भावकए पाससामिपडिमाए।
इंदाईकयमहिमं, कित्तिय-मेत्ताइ ता वुच्छं ॥ ९ ॥
सुरअसुरवदिअपए, सिरिमुणिसुव्वयजिणेसरे इत्थ।
भारहसरम्मि भविजण-कमलाइं बोहियंतम्मि ॥ १० ॥
सक्कस्स कत्तियअभवे, सयसंखाभिग्गहा गया सिद्धिं।
एआए झाणाओ, वयगहणाणंतरं तइया ॥ ११ ॥
सोहम्मवासवो तं, पडिमा माहप्पसोहणा सुणिउं।
अंचइ तत्थेव ठिअं, महाविभूईइ दिव्वाए ॥ १२ ॥
एवं वच्चइ कालो, कइवयवासेहिं रामवणवासो।
राहवपहावदंसण-हेउ लोआण हरिवयणा ॥ १३ ॥
रयणजडिखयरसंजुअ-सुरजुअलेणं च दंडगारन्ने।
सतुरयरहो अ पडिमा, दिन्नेसा रामभद्दस्स ॥ १४ ॥
सहमा से नवदिअहे विदेहदुहिओवणीयकुसुमेहिं।
भत्तिभरनिब्भरेणं, महिआ रहुपुंगवेण तहा ॥ १५ ॥
रामस्स य चलकम्मय-मलंघणिज्जं च वसणमाइसं।
नाऊण सुरा भुज्जो, तं पडिमं निंति सट्ठाण ॥ १६ ॥
पूअइ पुणो वि सक्को, उक्किट्ठभत्तीइ दिव्वभोएहिं।
एवं जा संपुन्ना, एगारस वासलक्खा य ॥ १७ ॥
तेणं कालेणं जउ-वंसे बलएवकण्हजिणनाहा।
अवइन्ना संपत्ता, जुव्वणमह केसवो रज्जं ॥ १८ ॥
कण्हेण जरासंध-स्स विग्गहे निअदलोवसग्गेसु।
पुट्ठो नेमी भयवं, पच्चूहविणासणोवायं ॥ १९ ॥
तत्तो आइसइ पहू, पुरिसस्स मज्झ सिद्धिगमणाओ।
सगसयपणासाहिअ-तेतीसहसेहिं + वरिसाणं ॥ २० ॥
होही पासो अरिहा, विविहाहिट्ठायगेहिं नयचलणो।
जस्सऽच्चणह्वणजला-सित्ते लोए नमइ असिवं ॥ २१ ॥
सामी संपइ कत्थ वि, तस्स जिणिंदस्स चिट्ठए पडिमा।
इय चक्कधरेणुत्ते, तमिंदमहिअं कहइ नाहो ॥ २२ ॥
इअ जिणजणद्दणाणं *, अह सो मुणिउं मणोगयं भावं।
मायलिसारहिरहिअं, रहमेयं पडिममप्पेइ ॥ २३ ॥
मुइओ सुर रिद्धिपडिमं, एहावइ घणसारघणघुसिणरसेहिं।
पूयइ परिमलबहला-मलचंदणचारुकुसुमेहिं ॥ २४ ॥
पच्छाऽऽगयगहनिअं, सिअं सिंचेइ सामिसलिलेणं।
जंतुवसग्गा वलिअं, विलयं जह जोगिचित्ताइं ॥ २५ ॥
बहुदुहदहणं निअणं, एत्थे पच्चक्खचक्कवट्टिम्मि।
जाओ जयजयवाओ, जाढवनिवनिविडभडनिम्मो ॥ २६ ॥
तत्थेव विजयठाणे, निम्मावि अमहिपयं जिणाऽऽएसा।
संखउरनयरजुत्तं, ठविऊणं पासपडिमं च ॥ २७ ॥

+ ३३०० अनन्तरम्। * जिनजनार्दनयोः।

पडिममिमं संगिरिएहअ, निअनयरमुवागयस्स कएहस्स ।
भूवेहिँ वासुदेव-त्तणाभिसेओसवो विहिओ ॥ २८ ॥
कएहनरिंदेण तओ, मणिकंचणरयणरइअपासाए ।
सत्तयवसेसयाइं, संठाविय पूइआ पडिमा ॥ २९ ॥
जाए जायवजाई-ए लए देवा उ दारवइदाहे ।
सामिपहावा देवा-लयम्मि न हु पावगो लग्गो ॥ ३० ॥
सद्धिं पुरीइ तइया, जलनिहिणा रुद्दमंदिरसमेओ ।
लोललहरीकरेहिं, नाहो नीरंतरे नीओ ॥ ३१ ॥
तक्खयनागिंदेणं, तइआ रमणत्थमुरगरमणीहिं ।
तत्थाऽऽगएण दिट्ठा, पहुपडिमा पावनिद्दलणी ॥ ३२ ॥
पमुइअमणेण तत्तो, नायबहुविहिअनट्टकलहट्टं ।
महया महेण महिआ, जाव सिवाइं वाससहसाइं ॥३३॥
वरुणोऽवरहरितवई, तहेव सरसायर पलोअंतो ।
तक्खयपूइज्जंतं, पासइ तिहुयणपहुं पासं ॥ ३४ ॥
एसो सो गोसामी, जो सुरनाहेण पूइओ पुव्विं ।
इण्हिं मज्झ वि जुज्जइ, सहायणं सामिचलणाणं ॥ ३५ ॥
चिंतिअमत्थमहीणं, पावइ सेवइ जिणेसमणवरयं ।
जाव उ वच्छरसहसा, ठिआ य अह तेण समएणं ॥ ३६ ॥
सिरिवद्धमाणजलए, तिलए लोअस्स भरहखित्तम्मि ।
अविरलगोपूरेणं, सिंचिते भव्वसस्साइं ॥ ३७ ॥
कंतिकलाकलुसीकय-सुरपुरपउमाइ कंतिनयरीए ।
वसइ सुरसत्थवाहो, धणेसरो सत्थवाहु त्थि ॥ ३८ ॥
सो अन्नया महिब्भो, विणिग्गओ जाणवयजत्ताए ।
संजत्तिअवयजुत्तो, सिंहलदीवम्मि संपत्तो ॥ ३९ ॥
तत्थ विढप्पिअपणगण-मागच्छंतस्स तस्स वेगेण ।
पवहणथंभो सहसा, जाओ जलरासिमज्झम्मि ॥ ४० ॥
विमणमणो जा चिंतइ, पयडीहोऊण सासणसुरी ता ।
पउमावई पयंपई, मा बीहसु वत्थ ! सुण वयणं ॥ ४१ ॥
अहिणिम्मियमहिमोसो, महिमोहमरहमहणो भद्द ! ।
इह नीरतले चिट्ठइ, पासजिणो नयसु सट्ठाणं ॥ ४२ ॥
देवि ! कहं मह सत्ती, जिणेसगहणे समुद्दजलमूला ।
एवं धणेण कहिए, तो भासइ सासणा देवी ॥ ४३ ॥
पविम मह पुट्ठिलग्गो, कड्ढसु पहुमामसुत्ततंतूहिं ।
आरोविय तं सावय, ठुट्ठिसु जलहिम्मि झ त्ति पुणो ॥४४॥
काऊण सव्वमेयं, लोगुत्तमनायगं गहेऊण ।
संजायहरिसपगरिस-पुलइअगत्तो महासत्तो ॥ ४५ ॥
खणमित्तेण सठाणं, समागओ परिसरे पडकुडीओ ।
रइआविअ जाविहिओ, पइ पुणो सम्मुहो ताव ॥ ४६ ॥
गंधव्वगीइवाइअ-रवेण सुरवरनारिधवलेहिं ।
वहिरिअककुहो नाहं, दाण दिंतो पवेसेइ ॥ ४७ ॥
रययालयसच्छायं, पासायं कारिऊण कंतीए ।
विणवेसिअभवणगुरुं, तिव्वं पूएइ भत्तीए ॥ ४८ ॥
कालंतरमावन्ने, धणेसरे पउरनायरवरेहिं ।
वाससहस्से पहुणो, पूइज्जंतस्स वक्कंते ॥ ४९ ॥
देवाहिदेवसुत्तिं, परिअररहिअं तया य कंतीए ।
मेलियरसस्स थंभण-निमित्तगागासमग्गेणं ॥ ५० ॥
कलिअकलाकालत्तय-पालित्तयगणहरोवएसाओ ।
नागज्जुणे जा इदो, आणेही अप्पणो ठाणे ॥ ५१ ॥
जोइणिगए कयत्थो, तत्थ सुत्तूण नाहसइवीए ।
रसथंभाओ होही, थंभणय* नाम तित्थं ति ॥ ५२ ॥
उच्छिन्नवंसयालं-तरट्ठिओ सुरहिखीरहविअंगो ।
अक्कंतखिइनिमग्गो, जणेण जरहु त्ति कयनामे ॥ ५३ ॥
अवि पस्सइ तयवत्थो, जिणनाहो पणसयाइँ वरिसाणं ।
तयणु धरणिंदनिम्मिअ-सन्निज्झो विइअसुअसारो ॥ ५४ ॥
सिरिअभयदेवसूरी, दूरीकयदुरिअरोगसंघाओ ।
पयडं तित्थं काही, अहीणमाहप्पदिप्पंतं ॥ ५५ ॥
कंतीपुरीए भयवं, पुणो गमिस्सइ तओ अ जलहिम्मि ।
बहुविहनयरेसु अगहु व, अगणियमहिमाइ दिप्पंते ॥ ५६ ॥
अह कोती अणागय-पडिमाठाणाण साहणसमत्थो ।
जइ वि हु सो सहसमुहो, हविज रसणासयसहस्सो ॥५७॥
पावाचंपऽट्ठावय--रेवयसंमेअविमलसेलेसु ।
कासीनासिगमिहिला- रायगिहप्पमुहतित्थेसु ॥ ५८ ॥
जत्ताइ पूअणेणं, दाणेणं जं फलं लहइ जीवो ।
तं पासपडिमदंसण-मित्तेणं पावए इत्थ ॥ ५९ ॥
मासक्खमणस्स फलं, वंदणबुद्धीइ पाससामिस्स ।
छम्मासिअस्स पावइ, नयणपहगयाइ पडिमाए ॥ ६० ॥
निरवच्चो बहुतणओ, धणहीणो धणयसंनिहो होइ ।
दोहग्गो वि हु सुहओ, पहु दिट्ठीए जणो दिट्ठा ॥ ६१ ॥
मुक्खत्तं कुकलत्तं, कुजाइजम्मो कुरूवदीणत्तं ।
अन्नभवे पुरिसाणं, न हुंति पहुपडिमपणयाणं ॥ ६२ ॥
अडसट्ठितित्थजत्ता-कए भमइ कह वि मोहिओ लोओ ।
तेहिंतोऽणंतगुण, फलमप्पिंते जिणे पासे ॥ ६३ ॥
एगेण वि कुसुमेणं, जो पडिमं महइ तिव्वभावो सो ।
भूवालिमउलिमउलिअ-चरणो चक्काहिवो होई ॥ ६४ ॥
जे अट्ठविह पूअं, कुणंति पडिमाइ परमभत्तीए ।
तेसिं देविंदाई--पयाइं परपंकजत्थाइं ॥ ६५ ॥
जो वरकिरीडकुंडल केउराईणि कुणइ देवस्स ।
तिहुअणमउडो होऊ-ण सो लहुं लहइ सिवसुक्खं ॥ ६६ ॥
तिहुअणचूडारयणं, जणनयणामयसलागिगा एसा ।
जेहिँ न दिट्ठा पडिमा, निरत्थयं नाए मणुयत्ते ॥ ६७ ॥
सिरिसंघदाससुणिणो, लहुकप्पो निम्मिओ अ पडिमाए ।
गुरुकप्पाओ अ मया, संबंधलवे समुद्धरिओ ॥ ६८ ॥
जो पढइ सुणइ चिंतइ, एयं कप्प स कप्पवासीसुं ।
नाहो होऊण भवे, सत्तमए पावए सिद्धिं ॥ ६९ ॥
गिहचेइअम्मि जो पुण, पुत्थयलिहिअं पि कप्पमच्चेइ ।
सो नारयतिरिएसुं, निअमा लहई अचिरबोहिं ॥ ७० ॥
हरिजलहिजलणगयगया-चोरोरगगहनिवारियारिपेयाणं ।
वेयालसाइणीणं, भयाइँ नासंति दिणमणिणो ॥ ७१ ॥
भव्वाण पुन्नसोहा-पाणीआइअहिअयठाणम्मि ।
कप्पो कप्पतरू इव, विलसंतो वंछिअं देउ ॥ ७२ ॥
जावइ मेरुपईवो, महिमल्लिअओ समुद्दजलतिल्ले ।
उज्जोअंतो चिट्ठइ, नरखित्तं ता जयउ कप्पो ॥ ७३ ॥ "
इति श्रीपार्श्वनाथस्य कल्पसंक्षेप. । ती० ५ कल्प । अतिवि-
शोभयोः, दे० ना० ६ वर्ग ७५ गाथा ।

पश्य-त्रि० । पश्यतीति पश्यः । द्रष्टरि, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पासंड-पाषण्ड-न० । व्रते, अनु० । अन्यदर्शिनि परिव्राज-
काऽऽदौ, पु० । उत्त० २३ अ० ।

---

* तत्कल्पः 'थंभणय' शब्दे चतुर्थभागे २३८१ पृष्ठे गतः ।

पासंडत्थ-पाषण्डस्थ-पुं० । लिङ्गिनि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । व्रतस्थे, भ० ६ श० ३२ उ० । "दरिद्दथेरा नाम पासंडत्था" आ०म० १ अ० । "परिव्वायरत्तपडमादी पासंडत्था ।" नि०चू० १ उ० ।

पासंडणाम-पाषण्डनामन्-न० । पाषण्डिविशेषप्रतिपाषण्डके शब्दे, "से किं तं पासंडणामे ? । पासंडणामे समणे य पंडरंगे भिक्खू कावालिए अनावसए । सेत्तं पासंडणामे ।" इह येन यत्पाषण्डमाश्रितं तस्य तन्नाम स्थाप्यमानं पाषण्डस्थापनानामाभिधीयते । अनु० ।

पासंडधम्म-पाषण्डधर्म-पुं० । शाक्याऽऽदीनां धर्मे, जं० २ वक्ष० ।

पासंडि ( ण् )-पाषण्डिन्-पुं० । पाषण्डं व्रतं, तदस्यास्तीति पाषण्डी । जैनसाधौ, " पाषण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि । स पाषण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः " ॥ १ ॥ दश० २ अ० । द्वा० । द्विजाऽऽदिषु, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । परमतिकेषु, प्रव० ।

असीइसयं किरिआणं, १८०
अकिरियवाईण होइ चुलसीई ८४ ।
अन्नाणि य सत्तट्ठी ६७ ,
वेणइआणं च बत्तीसं ३२ ॥ १२०२ ॥

न कर्त्तारमन्तरेण क्रिया पुण्यबन्धाऽऽदिलक्षणा संभवति, तत एवं परिज्ञाय तां क्रियामात्मसमवायिनीं वदन्ति, तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिन आत्माऽऽद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः, तेषामशीत्यधिकं शतं भवति, वक्ष्यमाणप्रकारेण अशीत्यधिकशतसंख्यास्ते इति भावः । ता न कस्यचिदप्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिन आत्माऽऽदिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः । तथा चाऽऽहुः-" क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थिराणां कुतः क्रिया ? । भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥ १ ॥ " तेषां चतुरशीतिर्भवति, तथा कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं,तदेषामस्ति, तेन वा चरन्तीत्यज्ञानिकाः, असंचिन्त्यकृतबन्धवैफल्याऽऽदिप्रतिपादनपराः । तथा हि-ते एवमाहुर्न ज्ञानं श्रेयस्तस्मिन् सति परस्परं विवादयोगेन चित्तकालुष्याऽऽदिभावतो दीर्घतरसंसारप्रवृत्तेः । तथाहि-केनचित्पुरुषेणान्यथा देशिते वस्तुनि विवक्षितो ज्ञानी ज्ञानभावगर्वाऽऽध्मातमानसस्तस्योपरि कलुषचित्तस्तेन सह विवादे च क्रियमाणे तीव्रतीव्रतराचित्तकालुष्यभावतोऽहङ्कारतश्च प्रभूतप्रभूततराशुभकर्म्मबन्धसंभवः, तस्माच्च दीर्घदीर्घतरसंसारः । तथा चोक्तम्-" अन्नेण अन्नहा दे-सिअम्मि भावम्मि नाणगव्वेण । कुणइ विवायं कलुसिअ-चित्तो तत्तो य से बंधो ॥ १ ॥ " यदा पुनर्न ज्ञानमाश्रीयते तदा नाहङ्कारसंभवो, नापि परस्योपरि चित्तकालुष्यभावः;ततो न कर्म्मबन्धसंभवः । अपि च-यः संचिन्त्य क्रियते कर्म्मबन्धः स दारुणविपाकोऽत एवावश्यं वेद्यस्तस्य तीव्राध्यवसायतो निष्पन्नत्वात्, यस्तु मनोव्यापारमन्तरेण कायवचनकर्मवृत्तिमात्रतो विधीयते, न तत्र मनसोऽभिनिवेशः, ततो नासाववश्यंवेद्यो, नाऽपि तस्य दारुणो विपाकः । केवलं शुष्कसुधापङ्कधवलितभित्तिगतरजोराजिरिव स कर्म्मसङ्गः शुभ एव, शुभाध्यवसायपवनविक्षोभितोऽपयाति । मनसोऽभिनिवेशाभावश्चाज्ञानाभ्युपगमे समुपजायते, ज्ञाने सत्यभिनिवेशसंभवात्तस्मादज्ञानमेव मुमुक्षुणा मुक्तिमार्गप्रवृत्तेनाभ्युपगन्तव्यं, न ज्ञानमिति । किं च-भवेदुक्तो ज्ञानस्याभ्युपगमो यदि ज्ञानस्य निश्चयः कर्तुं पार्यते, परं यावता स एव न पार्यते । तथाहि-सर्वेऽपि दर्शनिनः परस्परं भिन्नमेव ज्ञानं प्रतिपन्नास्ततो न निश्चयः कर्तुं शक्यते, किमिदं ज्ञानं सम्यगुत नेदमिति । यदुक्तम्-" सव्वे य मिहो भिन्नं, नाणं इह नाणिणो जओ विंति । तीरइ तओ न काउं, विणिच्छओ एवमेय त्ति ॥ १ ॥ " तेषामज्ञानिकानां सप्तषष्टिभेदाः, तथा विनयेन ये चरन्तीति वैनायिकाः । एते चानवधृतलिङ्गाऽऽचारशास्त्राः केवलं विनयप्रतिपत्तिप्रधानाः, एषां च द्वात्रिंशद्भेदा इति । प्रव० २०६ द्वार । सूत्र० । औ० । ध० । आचा० । नं० । दशा० । तत्र त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयपाषण्डिकाः समवसरणाद् बहिस्तिष्ठन्ति, किं वा मध्ये इति प्रश्ने, उत्तरम्-पाषण्डिका प्रायो बहिरेव भवन्ति,कश्चित् कदाचिन्मध्येऽपि समेति, तदा कोऽत्र प्रश्नावकाश इति । १४३ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

पासंडिय-पाषण्डिक-पुं० । द्विजाऽऽदिषु, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

पासंडियावसह-पाषण्डिकाऽऽवसथ-पु० । पाषण्डिकानामावसथः । परिव्राजकानां शालागृहे, नि० चू० ८ उ० ।

पासंत-पश्यत्-त्रि० । प्राप्नुवति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

पासंदण-प्रस्यन्दन-न० । निर्झरणे, चू० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० ।

पासग-पाशक-पुं० । द्यूतोपकरणे, अक्षस्ताश्वाऽऽदिबन्धने, जं० ३ वक्ष० । सूत्र० । जं० । आ०म० । ( मनुष्यत्वदौर्लभ्ये पाशको दृष्टान्तः 'माणुसत्त' शब्दे वक्ष्यते) विले, नि०चू० १ उ० ।

पश्यक-पु० । पश्यतीति पश्यः, स एव पश्यकः । पश्यतीति पश्यकः । सर्वज्ञे, तदुपदेशवर्त्तिनि च । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । " उद्देसो पासगस्स णत्थि बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे, । " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । परमार्थदृशि, " सव्वमो उद्देसे पासगस्स णत्थि बाले ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । तीर्थकृति, " दुक्खं च एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतगरस्स आयाणं णिसेद्धा सगडब्भि किमत्थि उवाधी पासगस्स ण विज्जति ।" आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । " कोहं च माणं च मायं च लोभं च एय पासगस्स दंसणं । " आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

पासणया-पश्यता-स्त्री० । पश्यतो भावः पश्यता । बोधपरिणामविशेषे, भ० १६ श० ७ उ० ।

पश्यतावक्तव्यता-

कतिविहा णं भंते ! पासणया पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पासणया पण्णत्ता । तं जहा-सागारपासणया, अणागारपासणया य । सागारपासणया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! छव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-सुयनाण-

पासणया, ओहिनाणपासणया, मणपज्जवनाणपासणया, केवलनाणपासणया,सुयअन्नाणसागारपासणया,विभंगनाणसागारपासणया। अणागारपासणया णं भंते ! कइविहा पसत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पसत्ता । तं जहा-चक्खुदंसणअणागारपासणया,ओहिदंसणअणागारपासणया, केवलदंसणअणागारपासणया । एवं जीवाणं पि ।

( कतिविधा णं भंते ! इत्यादि ) कतिविधा कतिप्रकारा. णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! (पासणय त्ति) 'दृशिर्' प्रेक्षणे, पश्यतीति "सति वानितौ" ॥ ५ । २ । १६ ॥ इति (हैम॰) अतृङ्प्रत्यय.,कर्त्तर्यनदादेश'। "पाघ्राध्मास्थाम्नादाम्दृश्यर्ति श्रौतिकृधुधिवुशद्सदः पिवजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छेश्टकृधिशीयसीदाम्" ॥४।३।१०८॥ इति (हैम०) दृशे पश्याऽऽदेशः,पश्यतो भाव पश्यत्ता, "भावे त्वतलौ" ॥७।१।५५॥इति तल्प्रत्यय.। "अ त्"॥२।४।१८॥ इति(हैम०) आप्। सैव पासणयेत्युच्यते, एप च 'पासणया' शब्दो रूढिवशात् साकारानाकारबोधप्रतिपादक ,उपयोगशब्दवत् , तथा चोपयोगविषये प्रश्नोत्तरसूत्रे—( ' उवओग ' शब्दे द्वितीयभागे ८५६ पृष्ठे गते ) "कइविहा णं भंते ! पासणया पसत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पासणया पसत्ता। तं जहा-सागारपासणया, अणागारपासणया इति । " ननु तुल्ये साकारानाकारभेदत्वे कोऽनयोः प्रतिविशेषो, येन पृथगुच्यते?, उच्यते-साकारानाकारभेदगतावान्तरभेदसंख्यारूप. । तथाहि-पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानीत्यष्टविधः साकार उपयोग., साकारपश्यत्ता तु षड्विधा-मतिज्ञानमत्यज्ञानयो. पश्यत्तयो' अनभ्युपगमात्, कस्मादिति चेत्, उच्यते-इह पश्यत्ता नाम पश्यतो भाव उच्यते, पश्यतो भावश्च 'दृशिर्' प्रेक्षणे इति वचनात्, प्रेक्षणमिह रूढिवशात् साकारपश्यत्ताया चिन्त्यमानायां प्रदीर्घकालम् अनाकारपश्यत्ताया चिन्त्यमानाया प्रकृष्टं परिस्फुटरूपमीक्षणमवसेयं, तथा च सति येन ज्ञानेन त्रैकालिक. परिच्छेदो भवति तदेव ज्ञानं प्रदीर्घकालविषयत्वात् साकारपश्यत्ताशब्दवाच्यं न शेषं, मतिज्ञानमत्यज्ञाने तु उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहके साम्प्रतकालविषये, तथा च मतिज्ञानमधिकृत्यान्यत्रोक्तम्-

" जमवग्गहादिरूवं, पच्चुप्पन्नवत्थुगाहग लोए । इंदियमणोनिमित्तं, तं आभिनिबोधिगं वेंति ॥ १ ॥ " तत् द्वे अपि साकारपश्यत्ताशब्दवाच्ये न भवत., श्रुतज्ञानाऽऽदीनि तु त्रिकालविषयाणि । तथाहि-श्रुतज्ञानेन अतीता अपि भावा ज्ञायन्ते, अनागता अपि । उक्तं च-

" जं पुण तिकालविसयं, आगमगंथाणुसारि विन्नाणं । इंदियमणोनिमित्तं, सुयनाणं तं जिणा विंति ॥ १ ॥ "अवधिज्ञानमपि संख्यातीता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीः अतीता. ( परिच्छिन त्ति ) भाविनीश्च मन पर्यायज्ञानमपि पल्योपमासंख्येयभागमतीतं जानाति भाविनं च केवलं सकलकालविषय सुप्रतीतं, श्रुताज्ञानविभङ्गज्ञाने अपि त्रिकालविषये, ताभ्यामपि यथायोगमतीतानागतभावपरिच्छेदात् ततो ज्ञानानि साकारपश्यत्ताशब्दवाच्यानि, उपयोगस्तु यत्राऽऽकारो यथावितस्वरूप. परिस्फुरति स बोधो वर्त्तमानकालविषयो वा यदि भवति त्रिकालिको वा तत्र सर्वत्राऽपि प्रवर्त्तते इति साकारोपयोगोऽष्टविध., तथा चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शन केवलदर्शनमिति चतुर्विधोऽनाकारोपयोगः, अनाकारपश्यत्ता तु त्रिविधा, अचक्षुर्दर्शनस्यानाकारपश्यत्ताशब्दवाच्यत्वाभावात् । कस्मादिति चेदुच्यते-उक्तमिह पूर्वमनाकारपश्यत्तायां चिन्त्यमानायां प्रकृष्टं परिस्फुटरूपमीक्षणमवसेयमिति, तत्राचक्षुर्दर्शने परिस्फुटरूपमीक्षणं न विद्यते, न हि चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियमनोभि परिस्फुटमीक्षते प्रमाता,ततोऽचक्षुर्दर्शनस्याऽनाकारपश्यत्ताशब्दवाच्यत्वाभावात् त्रिविधानाकारपश्यत्ता,तदेवं साकारभेदेऽनाकारभेदे च प्रत्येकमवान्तरभेदे वैचित्र्यभावान्महानुपयोगपश्यत्तयो' प्रतिविशेष , एनमेव प्रतिविशेषं प्रतिपिपादयिपु प्रथमत. साकारानाकारभेदौ ततस्तद्गतावान्तरभेदान् प्रतिपादयति-(गोयमा ! दुविहा पासणया पसत्ता । तं जहा-सागारपासणया, अणागारपासणया य । सागारपासणया णं भंते ! कतिविहा पसत्ता ? ) इत्यादि भावितार्थम् । तदेवं सामान्यतो जीवपदविशेषणरहिता पश्यत्तोक्ता । साम्प्रतं तामेव जीवपदविशेषणसहितामभिधित्सुराह-( एवं जीवाणं पि ) एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण जीवानामपि जीवपदविशेषणसहिताऽपि पश्यत्ता वक्तव्या । सा चैवम्-" जीवा णं भंते ! कतिविहा पासणया पसत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पासणया पसत्ता । तं जहा-सागारपासणया, अणागारपासणया य । जीवाणं भंते ! सागारपासणया कतिविहा पसत्ता । इत्यादि तदेवं जीवानामपि सामान्यत उक्ता ।

संप्रति चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वदति-

णेरइया णं भंते ! कतिविहा पासणया पसत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पासणया पसत्ता । तं जहा-सागारपासणया, अणागारपासणया य । णेरइया णं भंते ! सागारपासणया कइविहा पसत्ता ?। गोयमा ! चउव्विहा पसत्ता । तं जहा-सुयनाणसागारपासणया, ओहिनाणसागारपासणया, सुयअन्नाणसागारपासणया,विभंगनाणसागारपासणया। णेरइया णं भंते ! अणागारपासणया कइविहा पसत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पसत्ता । तं जहा-चक्खुदंसणअणागारपासणया, ओहिदंसणअणागारपासणया य । एवं ०जाव थणियकुमारा। पुढविकाइया णं भंते ! कतिविहा पासणया पसत्ता ?। गोयमा ! एगा सागारपासणया । पुढवीकाइया णं भंते ! सागारपासणया कतिविहा पसत्ता ?। गोयमा ! एगा सुयअन्नाणसागारपासणया पसत्ता । एवं० जाव वणप्फइकाइयाणं। बेइंदियाणं भंते ! कतिविहा पासणया पसत्ता ?। गोयमा ! एगा सागारपासणया पसत्ता । बेइंदिया णं भंते ! सागारपासणया कइविहा पसत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पसत्ता । तं जहा-सुयणाणसागारपासणया, सुयअन्नाणसागारपासणया य । एवं तेइंदियाण वि। चउरिंदिया णं पुच्छा ?। गोयमा ! दुविहा सागारपासणया पसत्ता । तं जहा-सागारपासणया, अणागारपासणया । सागारपासणया जहा बेइंदियाणं । चउरिंदिया णं भंते ! अणागारपासणया कतिविहा पसत्ता ?। गोयमा ! एगा चक्खुदंसणअणागारपासणया पसत्ता । मणूसाणं जहा

जीवाणं सेसा जहा णेरइया० जाव वेमाणियाणं ।

( नेरइया णं भंते ! ) इत्यादि सुगमन्वादुपयोगपदे प्रायो भावितत्वात् चानन्तरोक्तभावनाऽनुसारेण स्वयं परिभावनीयं, तदेवं सामान्यतो विशेषतश्च जीवानां पश्यत्तोक्ता ।

सम्प्रति जीवानेव पश्यत्ताविशिष्टान् विचिन्तयिषुराह–

जीवा णं भंते ! किं सागारपस्सी, अणागारपस्सी ? । गोयमा ! जीवा सागारपस्सी वि, अणागारपस्सी वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जीवा सागारपस्सी वि, अणागारपस्सी वि । गोयमा ! जे णं जीवा सुयनाणी, ओहिनाणी, मणपज्जवनाणी, केवलनाणी, सुयअन्नाणी, विभंगनाणी, तेणं जीवा सागारपस्सी । जे णं जीवा चक्खुदंसणी ओहिदंसणी केवलदंसणी ते णं जीवा अणागारपस्सी, से एतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–जीवा सागारपस्सी वि, अणागारपस्सी वि । णेरइया णं भंते ! किं सागारपस्सी, अणागारपस्सी ? । गोयमा ! एवं चेव, नवरं सागारपासणयाए मणपज्जवनाणी, केवलनाणी न वुच्चति,अणागारपासणयाए केवलदंसणं नत्थि, एवं० जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा ?। गोयमा ! पुढवीकाइया सागारपस्सी, नो-अणागारपस्सी । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ । गोयमा ! पुढविकाइयाणं एगा सुयअन्नाणसागारपासणया पण्णत्ता । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । एवं ०जाव वणस्सइकाइयाणं वेइंदियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! सागारपस्सी, नो अणागारपस्सी । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–गोयमा ! वेइंदियाणं दुविहा सागारपासणया पण्णत्ता । तं जहा–सुयनाणसागारपासणया, सुयअन्नाणसागारपासणया य । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । एवं तेइंदियाण वि । चउरिंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! चउरिंदिया सागारपस्सी वि, अणागारपस्सी वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जे णं चउरिंदिया सुयनाणी, सुयअन्नाणी, ते णं चउरिंदिया सागारपस्सी, जे णं चउरिंदिया चक्खुदंसणी, ते णं चउरिंदिया अणागारपस्सी ।.से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । मणूसा जहा जीवा, अवसेसा जहा णेरइया० जाव वेमाणिया ॥ ३१२ ॥

( जीवा णं भंते किं सागारपस्सी इत्यादि ) जीवा जीवन्युक्ताः, प्राणधारिण इत्यर्थः । णमिति वाक्यालङ्कारे, किमिति प्रश्ने, साकारपश्यत्ता विद्यते येषां ते साकारपश्यस्विन, प्राकृतत्वात्साकारपस्सी इत्युक्तम् । ( मणपज्जवनाणी केवलनाणी न वुच्चइ इत्यादि ) नैरयिकाणां चारित्रप्रतिपत्त्यसम्भवतो मनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभावात् । इह किल छद्मस्थानां साकारोऽनाकारश्चोपयोगः क्रमेणोपजायमानो घटते,सकर्मकत्वात् सकर्मकाणां ह्यन्यतरस्योपयोगस्य वेलायामन्यतरस्य कर्मणाऽऽवृतत्वात् न घटते एवोपयोग इति, केवली तु घातिचतुष्टयक्षयाद्भवति, ततः संशयः–किं क्षीणज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणत्वात् यस्मिन्नेव समये रत्नप्रभाऽऽदिकं जानाति तस्मिन्नेव समये पश्यति, उत जीवस्वाभाव्यात्क्रमेणेति । ततः पृच्छति–

केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठंतेहिं वन्नेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ, जं समयं पासइ तं समयं जाणइ । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं जं समयं जाणइ, नो तं समयं पासइ, जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ ? । गोयमा ! सागारे से नाणे भवइ, अणागारे से दंसणे भवइ । से तेणट्ठेणं० जाव नो तं समयं जाणइ एवं० जाव अहे सत्तमं, एवं सोहम्मकप्पं ०जाव अच्चुयं । गेवेज्जगविमाणा अणुत्तरविमाणा ईसिप्पब्भारं पुढवीपरमाणुपोग्गलं दुपदेसियं खंधं ०जाव अणंतपदेसियं खंधं । केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं अहेऊहिं अणूवमेहिं अदिट्ठंतेहिं अवन्नेहिं असंठाणेहिं अप्पमाणेहिं अपडोयारेहिं पासइ न जाणइ । हंता गोयमा ! केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं० जाव पासइ न जाणइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं०जाव पासइ न जाणइ ?। गोयमा ! अणागारे से दंसणे भवइ, सागारे से नाणे भवइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं० जाव पासइ न जाणइ, एवं० जाव ईसिप्पब्भारं पुढविं परमाणुं पुग्गलं अणंतपएसियं खंधं पासइ न जाणइ ।

( केवली णं भंते ! इत्यादि ) केवलं ज्ञानं दर्शनं चास्यास्तीति केवली, णमिति वाक्यालङ्कृतौ, भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! इमां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानां रत्नप्रभाभिधां पृथिवीम्-( आगारेहिं ति ) आकारभेदा यथा इयं रत्नप्रभा पृथिवी त्रिकाण्डा खरकाण्डपङ्ककाण्डाप्काण्डभेदात्, खरकाण्डमपि षोडशभेदम् । तद्यथा–प्रथमं योजनसहस्रमानं, रत्नकाण्ड तदनन्तरं योजनसहस्रप्रमाणमेव, वज्रकाण्डं तस्याप्यधो योजनसहस्रमानं वैडूर्यकाण्डमित्यादि । ( हेऊहिं ति ) हेतव उपपत्तयः, ताश्चेमाः केन कारणेन रत्नप्रभेत्यभिधीमते ?। उच्यते–यस्मादस्या रत्नमयं काण्डं तस्माद्रत्नप्रभा रत्नानि प्रभा· स्वरूप यस्या सा रत्नप्रभेति

व्युत्पत्तेरिति । (उवमाहिं इति)उपमाभिः 'माङ्' माने, अस्मा-दुपपूर्वात् उपमितम् उपमा । " उपसर्गादात· " ॥ ५।३।११० ॥ इति अङ्प्रत्ययः । ताश्चैवम्—रत्नप्रभायां रत्नप्रभाऽऽदीनि काण्डानि वर्णविभागेन, कीदृशानि ?, पद्मरागेन्दुसदृशानीत्यादि । ( दिट्ठंतेहिं ति ) दृष्टः अन्तः परिच्छेदो विवक्षितसाध्यसाधनयोः सम्बन्धस्याविनाभावरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते दृष्टान्तास्तैर्यथा घटः स्वगतैर्धर्मैः पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकाराऽऽदिरूपैरनुगतः परधर्मेभ्यश्च पटाऽऽदिगतेभ्यो व्यतिरिक्त उपलभ्यत इति पटाऽऽदिभ्यः पृथक् वस्त्वन्तरं तथैवैषाऽपि रत्नप्रभा स्वगतभेदैरनुषक्ता,शर्कराप्रभाऽऽदिभेदेभ्यश्च व्यतिरिक्तेति,ताभ्यः पृथग् वस्त्वन्तरमित्यादि ।(वन्नेहिं ति)शुक्लाऽऽदिवर्णविभागेन तेषामेव उत्कर्षापकर्षसंख्येयाऽसंख्येयानन्तगुणविभागेन च वर्णग्रहणमुपलक्षणं तेन गन्धरसस्पर्शविभागेन चेति द्रष्टव्यम् । ( संठाणेहिं ति ) यानि तस्यां रत्नप्रभायां भवननारकाऽऽदीनि संस्थानानि । तद्यथा-"तेणं भवणा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया । " तथा " ते णं नेरइया अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया । " इत्यादि । तथा—( परिमाणेहिं ति ) प्रमाणानि । ( अहेत्यादि ) परिमाणानि । यथा-" असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्ला रज्जुप्पमाणमेत्ता आयामविक्खंभेणं । " इत्यादि ( पडोयारेहिं ति ) प्रति सर्वतः सामस्त्येन अवतीर्यते व्याप्यते यैस्ते प्रत्यवतारास्ते चात्र घनोदध्यादिवलया वेदितव्याः । ते हि सर्वासु दिक्षु विदिक्षु चेमां रत्नप्रभां परिक्षिप्य व्यवस्थितास्तैः । ( जं समयमिति ) " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥ २।२।४२॥ इत्यधिकरणभावेऽपि द्वितीया । ततोऽयमर्थः-यस्मिन् समये जानाति आकारादिविशिष्टां परिच्छिनत्ति ( तं समय त्ति ) तस्मिन् समये पश्यति केवलदर्शनविषयीकरोति । भगवानाह-गौतम ! नायमर्थः समर्थः—नायमर्थो युक्त्युपपन्न इति भावः । तत्त्वमजानानः पृच्छति—( से केणट्ठेणं भंते ! इत्यादि ) से इति अथशब्दार्थे, अथ केनार्थेन कारणेन भदन्त ! एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेणोच्यते ?, तमेव प्रकारं दर्शयति—( केवली णमित्यादि ) भगवानाह-( गोयमेत्यादि ) अस्यायं भावार्थः—इह ज्ञानेन परिच्छिन्दन् जानातीत्युच्यते, दर्शनेन परिच्छिन्दन्पश्यतीति, ज्ञानं च ( से ) तस्य भगवतः साकारमन्यथा ज्ञानत्वायोगात् विशेषानभिगृह्णानो हि बोधो ज्ञानं सविशेषं पुनर्ज्ञानमिति वचनात् दर्शनमनाकारं निर्विशेषं विशेषाणां, अग्रहो दर्शनमुच्यते इति वचनात् तत्र ज्ञानं च दर्शनं च जीवस्य खण्डशो नोपजायते, यथा कतिपयेषु प्रदेशेषु ज्ञानं, कतिपयेषु प्रदेशेषु दर्शनं, तथा स्वाभाव्यात् , किं तु यदा ज्ञानं तदा सामस्त्येन ज्ञानमेव, यदा दर्शनं तदा सामस्त्येन दर्शनमेव, ज्ञानदर्शने च साकारानाकारतया परस्परं विरुद्धे, छायातपयोरिवेतरेतराभावनान्तरीयकत्वात्,ततो यस्मिन् समये जानाति तस्मिन् समये न पश्यति, यस्मिन् समये पश्यति तस्मिन् समये न जानाति । एतदेवाऽऽह-(से एणट्ठेणमित्यादि) एतेन यद्वादीद्वादी सिद्धसेनदिवाकरो*-यथा केवली भगवान् युगपत् जानाति पश्यति चेति तद-प्यपास्तमवगन्तव्यम् , अनेन सूत्रेण साक्षात् युक्तिपूर्वं ज्ञानदर्शनोपयोगस्य क्रमशो व्यवस्थापितत्वात् । एवं शर्कराप्रभावालुकाप्रभापङ्कप्रभाधूमप्रभातमःप्रभातमस्तमःप्रभासौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकशुक्रसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतकल्पग्रैवेयकविमानान्युत्तरविमानेषत्प्राग्भाराभिधपृथिवीपरमाणुपुद्गलद्विप्रदेशिकस्कन्धयावदनन्तप्रदेशिकस्कन्धविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि । ननु यदि ज्ञानदर्शने साकारानाकारतया पृथगेवं व्यवस्थापितविषये तत इदमायातं,यदा भगवान् केवली रत्नप्रभाऽऽदिकमाकाराऽऽद्यभावेन परिच्छिनत्ति तदा स पश्यतीत्येवं वक्तव्यो न जानातीति । सत्यमेत्तथा चाऽऽह-" केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं अहेऊहिं । " इत्यादि प्रायो भावितत्वात्सुगमम् प्रज्ञा० ३० पद ।

* इह सिद्धसेनदिवाकरमतनिराकरणमपि ।

पासणाह–पार्श्वनाथ–पुं० । पश्यतीति पार्श्वः, पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकर , तस्य नाथः पार्श्वनाथः । अवसर्पिण्यां जाते त्रयोविंशे तीर्थकरे, ध० २ अधि० " पान्तु व पार्श्वनाथस्य, पादपद्मनखांशवः । अशेषविघ्नसंघात-तमोभेदैकहेतवः ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० । प्रव० । ती० । ( पार्श्वनाथवक्तव्यता ' पास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गता)

पासणिय–प्राश्निक–पुं० । प्रश्नेन राजाऽऽदिकिंवृत्तरूपेण दर्पणाऽऽदिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरन्तीति प्राश्निकाः । प्रश्नोपजीविनी साधौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

प्राश्निकं वन्दते—

जे भिक्खू पासणियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥ जे भिक्खू पासणियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

जे पासणियं इत्येवमादि दो सुत्ता । जणवयववहारेसु णडणट्टणादिसु वा जो पेक्खणं करेति, सो पासणिओ ।

लोइववहारमूलो, पासत्थादिएसु कज्जेसु ।
पासणियत्तं कुणती, पासणिओ सो य नायव्वो ॥ ६६ ॥

" लोइयववहारेसु त्ति ।" अस्य व्याख्या—

साधारणे विरेगं, साहति पत्त पउए य आहरणा ।
दोण्ह य एगो पत्तो, दोण्णि य महिला उ एगस्स ॥६७॥

दोण्हं सामण्णं साधारणं तस्स विरेगं विभयणं तत्थ वे पासणिया छेत्तुमसमत्था सोभावच्छंणाओ छिंदति, कहं ?, एत्थ उदाहरणं जहा-णमोक्कारणिज्जुत्ताए पउगआहरणं पि जहा तत्थेव, एवं अन्नेसु वि बहूसु लोगववहारेसु पासणियत्तं करेइ छिंदति वा ।

" लोए सत्थादिए त्ति " अस्य व्याख्या-

छंदणिरुत्तं सत्थं, अत्थं वा लोइयाण सत्थाण ।
भावत्थए य साहति, छलियादी उत्तरे सउणे ॥ ६८ ॥

छंदादियाणं लोगसत्थाणं सुत्तं कहेति, अत्थं वा । अहवा-अत्थं व त्ति, अत्थं सत्थं सेसुमादियाण वा बहूण कव्वाणं कोडल्लयाणं य वेसियमाण य भावत्थं पसाहेति, छलियसिंगारकहाछीवक्खगादी उत्तरे तित्थं कुत्तरादी, अहवा ववहारे उत्तरं सिक्खावइ । अहवा-उत्तरे त्ति लोउत्तरे वि सउणभयादीणि कहयति । नि० चू० १३ उ० । साणिणि, दे० ना० ६ वर्ग ४१ गाथा ।

पासत्थ-पार्श्वस्थ-पुं० । सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः । नाथवादिकमण्डलचारिषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । साधुज्ञानाऽऽदीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ. । पाशस्थ इति वा संस्कारस्तत्रेयं व्युत्पत्तिः-मिथ्यात्वाऽऽदयो बन्धहेतवः पाशास्तेषु तिष्ठतीति पाशस्थः । व्य० १ उ० । प्रव० । नि० । ध० । जी० । ज्ञा० । पार्श्वः सम्यक्त्वं तस्मिन् ज्ञानाऽऽदिपार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । दर्श० । साधुगुणानां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । शबलाऽऽचारे, व्य० ३ उ० । मन्दधर्मे, ज्यो० १० पाहु० । ज्ञानाऽऽदिबहिर्वर्त्तिनि , भ० १० श० ४ उ० । स्था० ।

पार्श्वस्थो भूत्वा गणमुपसम्पद्यते-

जे भिक्खू वा गणाओ अवकम्म पासत्थविहारे विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ से पुणो आलोएज्जा,पुणो पडिकमेज्जा, पुणो छेदपरिहारस्स उवट्ठाइज्जा । एवं अहाछंदो कुसीलो ओसण्णो संसत्तो ॥ २६ ॥

भिक्षुकशब्दार्थः,'वा' वाक्यभेदे, गणादपक्रम्य निःसृत्य पार्श्वस्थविहारं पार्श्वस्थचर्यां प्रतिपद्येत । स भूयोऽपि भावपरिवृत्त्या इच्छेत द्वितीयमपि वारं गणमुपसंपद्य विहर्तुम् । ( अत्थि या इत्थ त्ति ) अस्ति चात्र कश्चित् य. शेषे चारित्रस्य सति पुनरालोचयेत् । पुनः प्रतिक्रामेत, पुनश्छेदं परिहारं प्रायश्चित्तसमापन्नस्तस्य छेदस्य परिहारस्य वा प्रतिपत्तये अभ्युत्तिष्ठेत् । यः पुनः सर्वथाऽपगते चारित्रे पुनरालोचयेत् , पुनः प्रतिक्रामेत् , स मूलमापन्न इति मूलस्य प्रतिपत्तये अभ्युत्तिष्ठेत् । व्य० १ उ० । ( यथाछन्दाऽऽदीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने )

अथ कथं पार्श्वस्थाऽऽदयो जायन्ते तत आह-

गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणा जह पंजरंतरनिरुद्धा ।
सारणपंजरचइया, पासत्थगयाइ विहरंति ॥ २०६ ॥

यथा शकुनिः शकुनिका पञ्जरान्तर्निरुद्धा महता कष्टेन वर्त्तते , तथा केचित् गुरुकर्माणः पुरुषा गच्छे स्मारणाचोदनाऽऽदिमहत्कष्टमभिमन्यमानाः कष्टेन वर्तन्ते, ततः सारणालक्षणपञ्जरत्यागिनः सन्तः पार्श्वस्थगताऽऽदयः , आदिशब्दाद्यथाच्छन्दोगताऽऽदिपरिग्रहः । विहरन्त्यवतिष्ठन्ते, विहृत्य च केचिद् भूयः स्वगणमुपसंपद्यन्ते ।

तेषां चोपसंपद्यमानानां प्रायश्चित्तं देयमतस्तद्विवक्षुरिदमाह-

तेसिं पायच्छित्तं, वोच्छं ओहे य पयविभागे य ।
ठप्पं तु पयविभागे, ओहेण इमं तु वुच्छामि ॥ २१० ॥

तेषां पार्श्वस्थाऽऽदीनां स्वगुणमुपसंपद्यमानानां प्रायश्चित्तं वक्ष्ये । कथमित्याह-ओघेन सामान्येन,पदविभागेन च कालाऽऽदिविशेषेण । गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे । तत्र यत्पदविभागेन प्रायश्चित्तं वक्तव्यं तत् स्थापनीयं , पश्चाद्वक्ष्यते इत्यर्थः । ओघेन सामान्येन, कालादिविशेषरहितत्वेनेति भावः । पुनरिदमनन्तरं वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षीभूतमिव वक्ष्यामि-

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

ऊसववज्जे कयाई, लहुओ लहुया अभिक्खगहणम्मि ।
ऊसवे कयाइ लहुया, गुरुगा य अभिक्खगहणम्मि ।२११।

उत्सववर्जमुत्सवाभावे यदि कदाचित् शय्यातरपिण्डाऽऽदिकं गृहीतवान्, ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः, तथाऽभीक्ष्णं गृहीतवान् ततश्चत्वारो लघुमासाः । अथोत्सवे कदाचित् शय्यातरपिण्डमग्रहीत् । ततश्चत्वारो लघुका मासाः । अथाभीक्ष्णमुत्सवेषु गृहीतवान् ततश्चत्वारो गुरुकाः । इहानुत्सवाउत्सवे गुरुकशोधिप्रदानकरणमग्रे स्वयमेव वक्ष्यतीति नाभिधीयते । अत्र कालविशेषो न कोऽपि निर्दिष्ट इतीदमोघेन प्रायश्चित्ताभिधानम् ।

इदानीं कालसामान्यत आह-

चउछम्मासे वरिसे,कयाइ लहु गुरु य तह य छग्गुरुगा ।
एएसु चेव भिक्खं, चउगुरु तह छग्गुरु च्छेदो ॥२१२॥

चतुरो मासान् यावत्कदाचिदपि गृहीतवान् यदि शय्यातरपिण्डं ततश्चत्वारो लघुकाः,षण्मासान् कदाचित् ग्रहणे चत्वारो गुरुका. । वर्षं यावत्कदाचिदभिगृहीते षण्मासा गुरवः । एतेष्वेव चतुर्मासषण्मासवर्षेषु अभीक्ष्णग्रहणे यथाक्रमं चतुर्गुरु, षड्गुरु छेदश्च । किमुक्तं भवति ?-चतुरो मासान् यावदभीक्ष्णग्रहणे चत्वारो गुरुका. मासाः,षण्मासानभीक्ष्णग्रहणं षण्मासा गुरवः । वर्षं यावदभीक्ष्णग्रहणे छेद । अत्रोत्सवानुत्सवविशेषरहिततया सामान्येनाभिधानम् ।

तथा चाऽऽह-

एसो उ होति ओहे, एत्तो पयविभागतो पुणो वुच्छं ।
चउत्थमासे चरिमे, ऊसववज्जं जइ कयाइ ॥ २१३ ॥
गेण्हइ लहुओ लहुया, गुरुया इत्तो अभिक्खगहणम्मि ।
चउरो लहुया गुरुया, छग्गुरुया ऊसवविवज्जा ॥२१४॥

एषोऽनन्तरोक्त. प्रायश्चित्तविशेषः । ओघेन सामान्येन भवति द्रष्टव्य । अत ऊर्ध्वं पुनर्विभागत. पदविभागेन प्रायश्चित्तं वक्ष्ये । यथाप्रतिज्ञात करोति-चतुरो मासान् यदि कदाचित् उत्सववर्जमग्रहीत् शय्यातरपिण्डं ततो मासलघु, षण्मासानुत्सववर्जमभिगृहीते चत्वारो लघुकाः, वर्षं यावदुत्सववर्जं कदाचिदभिग्रहेण चत्वारो गुरुका इत ऊर्ध्वमेते । अथ चतु.षड्वर्षेऽभीक्ष्णग्रहणे वक्ष्ये चत्वारो लघुका गुरुकाः षड्गुरुका उत्सववर्जा यथाक्रमं ज्ञातव्या । किमुक्तं भवति?-चतुरो मासानुत्सववर्जंशय्यातरपिण्डमभीक्ष्णमग्रहीत् तत. प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा लघुकाः, षण्मासानुत्सववर्जमभीक्ष्णग्रहणे चत्वारो गुरुका. । वर्षं यावदुत्सववर्जमभीक्ष्णग्रहणे षड्गुरुका । उत्सववर्जं गतम् ।

इदानीमुत्सवे प्रतिपादयति-

चउरो लहुया गुरुगा, छम्मासा ऊसवम्मि उ कयाई ।
एवं अभिक्खगहणे, छग्गुरु चउ छग्गुरु च्छेदो ॥२१५॥

चतुरो मासान् यदि कदाचिदुत्सवे गृहीतवान् ततश्चत्वारो मासा लघव', षण्मासान् कदाचिदुत्सवे ग्रहणे चत्वारो गुरुकाः वर्षं यावत्कदाचिद् गृह्णतः षण्मासा गुरवः । एतदनुवर्त्स्यमाणमभीक्ष्णग्रहणे षड्गुरु इत्यादि । चतुरो मासानुत्सवेष्वभीक्ष्णग्रहणे षण्मासा गुरवः । षण्मासानुत्सवे प-

क्ष्णमभीक्ष्णग्रहणे चतुर्गुरुकश्छेदः, वर्षे यावदभीक्ष्णमुत्सवेषु ग्रहणे षड्गुरुकं छेद' ।

अथ कस्मादुत्सवेषु कदाचिदभीक्ष्णं वा ग्रहणे अधिकतर-प्रायश्चित्तदानमत आह-

ऊसववज्जे न गेण्हइ, निब्बंधा ऊसवम्मि गेण्हंति ।
अज्झोयरगादीया, इति अहिगा ऊसवे सोही ॥२१६॥

एष साधुरुत्सववर्जे उत्सवरहिते शेषे काले भिक्षां न गृह्णाति, उत्सवे पुनर्विपुलं भक्तपानं प्रासुकमुपलभ्य कथमपि निर्बन्धात् गाढाऽऽदरकरणात् गृह्णाति, ततोऽस्मै पर्याप्तं दातव्यमिति किंचित् न अध्यवपूरकाऽऽदयो दोषाः संभवन्ति । आदिशब्दात् मिश्रकाऽऽदिदोषपरिग्रहः । इति अस्माद्धेतोरुत्सवे अधिका बहुतरा शोधिः प्रायश्चित्तमिति ।

एवं उवट्ठियस्स य, पडितप्पिय साहुणो पदं हसति ।
चोएइ रागदोसे,दिट्ठंतो पन्नगतिलेहिं ॥ २१७ ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण शय्यातरपिण्डाऽऽदि प्रतिसेव्य पुनरकरणतयोपस्थितस्य ग्लानाऽऽदिप्रयोजनेषु प्रतर्पिता भक्तपानप्रदानाऽऽदिना सोपष्टम्भीकृताः साधवो येन स प्रतर्पितसाधुस्तस्य पदं प्रतिसेवालक्षणं ह्रसति। एवमेव मुच्यते । अथमत्र संप्रदायः-यदि पञ्चरात्रिंदिवं दशरात्रिन्दिवं यावद्भिन्नमास इत्यापन्नो भवति, तत स एवमेव मुच्यते, तस्य साधुप्रतर्पणेनैव शुद्धिभावात् । अथ मासाऽऽदिकमापन्नस्तर्ह्यन्तिमं पदं ह्रसति । तद्यथा—यदि द्वौ मासावापन्नस्तत एको मासो मुच्यते, एको दीयते । अथ त्रीन्मासान् तर्हि एको मासो मुच्यते, द्वौ मासौ दीयते इत्यादि । अत्र एके रागद्वेषौ चोदयन्ति—यथा यूयं रागद्वेषवन्त । तथाहि—येन साधूनां प्रतर्पितं तस्य पदमनुरागतो ह्रासयथ, येन पुनर्न प्रतितर्पितं तस्य द्वेषतः सकलमपि प्रायश्चित्तं परिपूर्णं प्रयच्छथ। सूरिराह-(दिट्ठंतो पन्नगतिलेहिं) न वयं रागद्वेषवन्तः । तथा चात्र दृष्टान्त उपमा । पन्नकतिलै । तथाहि—पन्नकतिला नाम दुर्गन्धितिलाः, ते स्थानद्वयेऽपि स्थापिताः । तत्रैके निम्बपुष्पैर्वासिता, अपरे स्वाभाविका एव स्थिताः । तत्र ये निम्बपुष्पैर्वासितास्तेषां दुरभिगन्धो बहुविधेनोपक्रमेणापनेतुं शक्यते, इतरेषां स्तोकेन । एवमिहापि ये स्वरूपतः पार्श्वस्था, अपर च साधुसामाचारीप्रद्वेषतो ग्लानाऽऽदिप्रयोजनेषु साधूनामप्रतर्पिणोऽवर्णभाषिणश्च ते महता प्रायश्चित्तेन शुद्धिमासादयन्ति । ये तु पार्श्वस्था अपि कर्मलघुतया साधुसामाचारानुरागतः साधून् ग्लानाऽऽदिप्रयोजनेषु प्रतर्पयन्ति श्लाघाकारिणश्च, ते स्तोकापराधेन एवमेव शुद्ध्यन्ति । महापराधिनोऽन्तिमपदह्रासत' स्तोकेन प्रायश्चित्तेनेति । पन्नकतिलाश्चोपलक्षणं, तेन सर्वाशिसर्वाशिरोगाभ्या धौताधौतशारदपटाभ्यां पन्नकतिलेन चोपमा द्रष्टव्या । तथा सर्वमश्नातीत्येवंशीलः सर्वाशी बहुभक्षकः, असर्वाशी अल्पभोजी; तत्र सर्वाशी रोगी कर्कशया क्रियया शुद्धिमासादयति, असर्वाशी स्तोकया क्रियया । यथा वा द्वौ पटौ शारदौ, तत्रैको वाते वाति प्रतिदिवसं तेन वातेन धूयते, अपरो न, एवं तयोर्द्वयोरपि कालक्रमेण मलिनीभूतयो विधूतपट शीघ्रमेकेनोपक्रमेण शुद्धिमासादयत्यविधूतपटो बहुनोपक्रमेण । एवं यः पार्श्वस्थ' साधूनामवर्णभाषी स महता प्रायश्चित्तेन शुद्धिं लभते इति तस्मै परिपूर्णं प्रायश्चित्तं दीयते, इतरस्य तु साधूनां प्रतर्पणेन वर्णभाषणेन च शुद्धि संभवत्येतदर्थं ह्रास इति ।

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुः परः प्रश्नं भावयति-

जो तुब्भं पडितप्पइ, तस्सेगं ठाणगं तु ह्रासेह ।
वड्ढेह अपडितप्पे, इइ रागद्दोसिया तुब्भे ॥ २१८ ॥

यो युष्माकं प्रतितर्पयति उपकारं करोति तस्य एकं स्थानकमन्तिमलक्षणं प्रागुक्तस्वरूपं ह्रासयथ, यः पुनर्न प्रतितर्पयति तस्मिन्नप्रतितर्पिते तदेकस्थानकमन्तिमलक्षणं वर्द्धयथ, परिपूर्णं तस्मै प्रायश्चित्तं दत्थ इत्यर्थ । इत्येवममुना प्रकारेण यूयं रागद्वेषिका रागद्वेषवन्तः ।

संप्रति यदुक्तम् " पन्नकतिलैर्दृष्टान्तः " इति तद्भावयति-

इहरह वि ताव चोयग !, कडुयं तेल्लं तु पन्नगतिलाणं ।
किं पुण निंबतिलेहिं, भावियथाणं भवे खज्जं ॥२१९॥

इतरथाऽपि निम्बकुसुमाऽऽदिवासनामन्तरेणाऽपि तावत् हे चोदक ! पन्नकतिलानां तैलं कटुकमेव, तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, न खाद्यं भवतीति भावः । किं पुनस्तेषां पन्नकतिलानां स्वतिलैः, तिलानि इव सूक्ष्मत्वात् तिलानि कुसुमानि, स्वस्य तिलानि स्वतिलास्तैर्निम्बकुसुमैरित्यर्थ । भावितानां वासितानां तैलं खाद्यं भवेत् ?, नैव भवेदित्यर्थ । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः-

एवं सो पासत्थो, अवन्नवादी पुणो य साहूणं ।
तस्स य महती सोही, बहुदोसो सोत्थओ चेव ॥२२०॥

एवं शोधिकृतः साधुरेकं तावत्पार्श्वस्थसमाचारकारी पुनः साधूनामवर्णवादी, साधुसमाचारप्रद्वेषात् । ततस्तस्य तथारूपस्य महती शुद्धिः प्रायश्चित्तं, यत सोऽत्र प्रायश्चित्तदानविधौ परिचिन्त्यमानो बहुदोष एव भवति वर्तते । तदेवमप्रशस्ततिलैरुपनय' कृत ।

संप्रति प्रशस्ततिलैस्तमभिधित्सुराह-

जह पुण ते चेव तिला, उसिणोदगधोयखारउव्वका ।
तेसिं जं तेल्लं तं, घयमाडं पी विसेसेइ ॥२२१॥

यथा पुनस्त एव पन्नकतिला उष्णोदकेन पूर्वं धौतास्तदनन्तरं क्षीरेण दुग्धेन (उव्वका) क्षीरमध्ये प्रक्षिप्य कियत्कालं धृत्वा ततो निष्काशिताः, तेषां यत्तैलं तद् घृतमाज्यमपि विशेषयति, ततोऽप्यधिकतरं भवतीति भावः । एष दृष्टान्त ।

अयमर्थोपनयः-

कारणे संविग्गाणं, आहारादीहिँ तप्पितो जो उ ।
नीयावत्ताणुतप्पी, तप्पक्खिय वन्नवादी य ॥ २२२ ॥

यः कारणेष्वशिवावमौदर्याऽऽदिषु संविग्नानां सुसंयतानामाहाराऽऽदिभक्तपानौषधाऽऽदिभिस्तर्पितं प्रतर्पणं कृतवान्, तथा य संविग्नानां नीचैर्वृत्तिर्वर्तनं यस्य स तथा । किमुक्तं भवति ?-स तान्वन्दते, न पुनर्वन्दापयति । तथा अकल्प्य किमपि प्रतिसेव्य अनु पश्चात् हा दुष्टं कारितमित्यादिरूपेण तपति सन्तापमनुभवतीत्येवंशीलोऽनुतापी । तथा तेषां संविग्ना

पक्षस्तत्पक्षस्तत्र भवस्तत्पाक्षिकः, संविग्नपाक्षिक इत्यर्थः। तथा वर्णवादी श्लाघाकारी सुविहितानाम्।

ततः किमित्याह-

पावस्स उवचियस्स वि, पडिसाडण मो करेति सो एवं।
सव्वासिरोगिउवमा,सरए य पडे अ विधुयम्मि ॥२२३॥

एवमनुना प्रकारेण संविग्नतर्पणाऽऽदिनाऽपि पार्श्वस्थेन सता उपचयं नीतं, तथाऽपि तस्योपचितस्यापि पापस्य परिशाटनभाव करोति। मो इति पादपूरणे, तेन तस्यैकपदस्य ह्रासः। उक्ता पद्मतिलकदृष्टान्तभावना। एवमवर्णवादिनः पार्श्वस्थस्य परिपूर्णप्रायश्चित्तदाने सर्वाशिरोगिण उपमा, या च शारदिके पटे वातविधूते सा च दृष्टान्तभावना भावितव्या।

संप्रति तामेव दृष्टान्तभावनामाह-

पुण्णो यऽथ ते किमिणो य, अणुवायं वट्टितो य उल्लो य।
केण वि सेवायपुत्तेणं,बुब्बुलइयं उलइयं सुणा णा* ॥२२४॥

तदेवमितरः पार्श्वस्थः साधूनामप्रतर्पयिता, न च पाप कृत्वा तु तपति, यदपि च पापं कुरुते तदपि निर्दयः सन्, साधूनां चाऽवर्णभाषी. ततः सोऽन्यथा न शुध्यतीति तस्मै परिपूर्ण प्रायश्चित्तं दीयते, द्वितीयस्तु साधुप्रतर्पणाऽऽदिना बहु पापं क्षपितवान्, न च निर्दयः सन्नकरोत्पापमिति तस्य पदह्रासः।

तदेव भावयति-

थोवं भिन्नमासा-दिगाउ राइंदियाइँ जा पंच।
सेसे उ पयं हसती, परितप्पिएँ एयरे सयलं ॥२२५॥

यदि नाम स्तोकं भिन्नमासाऽऽदिकादारभ्य यावत्पञ्चरात्रिंदिवानि एतानि समुदितान्येकतरं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तदा स एवमेवमुच्यते, तस्य साधुप्रतर्पणाऽऽदिना शुद्धीभूतत्वात्। यदि पुनर्भिन्नमासस्योपरि प्रायश्चित्तमापन्नस्ततस्तस्मिन् शेषे तु प्रायश्चित्ते समापतिते सति पदमन्तिमं प्रतर्पिते साधौ ह्रसति, तस्य चान्तिमपदह्रासस्य भावना प्रागेव कृता, इतरस्मिन्साधूनामप्रतर्पिण्यवर्णवादिनि च सकलं परिपूर्णं प्रायश्चित्तं, तस्यानन्यथा शुद्ध्यभावात्। ततो न वयं रागद्वेषवन्त.।

संप्रति पार्श्वस्थान् व्याख्यानयति-

दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होइ नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जायरकुलादी ॥ २२६ ॥

द्विविधो द्विप्रकारः खलु निश्चितं पार्श्वस्थः। तद्यथा-देशे देशतः, सर्वस्मिन् सर्वतः पार्श्वस्थः। शब्दसंस्कारमाश्रित्य त्रयो विकल्पाः त्रयः प्रकाराः। तद्यथा-पार्श्वस्थः, प्रास्वस्थः, पाशस्थश्च। एते स्वयमेवाग्रे वक्ष्यन्ते। देशे देशतः पार्श्वस्थः शय्यातरकुलाऽऽदिप्रतिसेवमान.।

"तिन्नि विगप्पा" (२२६) इत्युक्तं तत्र प्रथमं प्रकारमाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवे य अत्ताहितो पवयणे य।
तेसिं पासविहारी, पासत्थं तं वियाणाहि ॥ २२७ ॥

भर्शनं सम्यक्त्वं ज्ञानमाभिनिबोधिकाऽऽदि, चारित्रमाश्रवनिरोधः। एतेषां समाहारो द्वन्द्व.। तस्मिन्, तथा तपसि बाह्याऽऽभ्यन्तररूपे द्वादशप्रकारे,प्रवचने च द्वादशाङ्गलक्षणे

यस्याऽऽत्मा हितोपयुक्तो, न सम्यग्योगवानित्यर्थः। यदि वा-अभिहितस्तेषां, विराधकत्वात्,किं तु तेषां ज्ञानाऽऽदीनां पार्श्वे तटे विहरतीत्येवं शीलो विहारी, न तेषु ज्ञानाऽऽदिष्वन्तर्गत इत्यर्थः। स पार्श्वस्थ इति जानीहि। ज्ञानाऽऽदीनां पार्श्वे तिष्ठतीति व्युत्पत्तेः। इह यद्यपि यो दुष्करमाश्रयनिरोधं करोति स परमार्थतस्तपोयुक्त एवेति वचनतश्चारित्रग्रहणेन तपोज्ञानग्रहणेन च प्रवचनं गतं तथापि तयोरुपादान मोक्षं प्रति प्राधान्यं गतो व्याख्यानार्थं, भवति च तपो मोक्षं प्रति प्रधानमङ्गं, पूर्वसंचितकर्मक्षपणत्वात्प्रवचनं च विधेयोपदेशद्वायित्वादिति। उक्त एकः प्रकारः।

संप्रति द्वितीयं प्रकारमाह-

दंसणनाणचरित्ते, सत्थो अत्थति तहिं न उज्जमति।
एएणं पासत्थो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ २२८ ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रे यथोक्तरूपे यः स्वस्थेऽवतिष्ठते,न पुनस्तत्र ज्ञानाऽऽदौ यथा उद्यच्छति उद्यमं करोति, एतेन कारणेनैव पार्श्वस्थ उच्यते। प्रकर्षेण समन्तात् ज्ञानाऽऽदिषु निरुद्यमतया स्वस्थ. प्रास्वस्थ इति व्युत्पत्तेरेव खल्वन्यो द्वितीयोऽपि पर्याय. । अपिशब्दः खल्वर्थे भिन्नक्रमश्च, स च यथास्थानं योजितः। उक्तो द्वितीयः प्रकार ।

संप्रति तृतीयं प्रकारमाह-

पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्ठं बंधहेयओ पासा।
पासत्थिओ पासत्थो,अन्नो वि य एस पज्जाओ ॥२२९॥

पाश इति वा बन्धनमिति वा एकार्थम्। इह ये मिथ्यात्वाऽऽदयो बन्धहेतवस्ते पाशास्तेषु स्थितः पाशस्थः, पाशेषु तिष्ठतीति पाशस्थ इति व्युत्पत्तेः। एषोऽन्यः खलु तृतीयः पर्यायः। उक्तास्त्रयोऽपि प्रकारास्तद्भणनाच्च भणितः सर्वतः पार्श्वस्थः।

इदानीं देशतः पार्श्वस्थं व्याचिख्यासुना यदुक्तम्-"सेज्जायरकुलादी" इति, तद् व्याख्यानयति-

सेज्जायरकुल निस्सिय, ठवणकुल पलोयणा अभिहडे य।
पुव्विं पच्छा संथव, निइअग्गपिंडभोइ पासत्थो ॥२३०॥

यः शय्यातरपिण्डं भुङ्क्ते, यानि च तस्य निश्रितान्याश्रितानि कुलानि तानि सततमुपजीवति। किमुक्तं भवति? यानि कुलानि प्रपन्नानि, तानि येषु ग्रामेषु नगरेषु वा वसन्ति, तेषु गत्वा तेभ्य आहाराऽऽदिकमुत्पादयति। (ठवण त्ति) स्थापनाकुलानि निर्विशति। अथवा-यानि लोके गर्हितानि कुलानि स्थापितान्युच्यन्ते, तेषामपरिभोग्यतया जिनैः स्थापितत्वात्, तेभ्यः आहाराऽऽदिकमुत्पादयति। (पलोय त्ति) संखड्याः सततमाहारलौल्यतः प्रलोकना येन क्रियते, शरीरस्य वा शुभवर्णाऽऽदिनिरीक्षणार्थं प्रलोकना, तथा अभ्याहृतानि आचीर्णानाचीर्णांश्चाऽऽहारान् यो गृह्णाति,यश्च पूर्वं संस्तुतान् मातापित्रादीन् पश्चादसंस्तुतान् वा करोति। तथा नित्यपिण्डमग्रपिण्डं च यो भुङ्क्ते स देशतः पार्श्वस्थः। (नित्यपिण्डव्याख्या 'णितियपिंड' शब्दे चतुर्थभागे २०६७ पृष्ठे गता) (अग्रपिण्डव्याख्या 'अग्गपिंड'शब्दे प्रथमभागे १६५ पृष्ठे गता) ('अभिहड' शब्दे प्र० भागे ७३१ पृष्ठे विस्तरः)

साम्प्रतमभ्याहृतपिण्डं नियतपिण्डं च व्याख्यानयति-

आइन्नमणाइन्नं, निसीहऽभिहडं च नोनिसीहं च।

* इयं गाथा असग्ना, असंगता, टीकातो भिन्नार्थिका चास्ति।

साभावियं च निययं,णिकायणनिमंतणे लहुओ ॥२३१॥

अभ्याहृतं द्विविधम्--आचीर्णमनाचीर्णं च । तथाऽऽचीर्णमुपयोगसंभवे गृहत्रयमध्ये,ततः परमनाचीर्णम् ,उपयोगासंभवात्। अनाचीर्णमपि द्विधा--निशीथाभ्याहृतं,नोनिशीथाभ्याहृतं च। तत्र यत्साधोरविदितमभ्याहृतं तन्निशीथाभ्याहृतम्,इतरत्साधोर्विदितमानीतं नोनिशीथाभ्याहृतम् । एतानि कारणे निष्कारणे वा यथाकथञ्चिदभिगृह्णानो देशतः पार्श्वस्थः । तत् त्रिविधम् । तद्यथा—स्वाभाविकं निकाचितम् , अनिकाचितं, निमन्त्रितं च । तत्र यत्र संयतार्थमेव किन्तु य एव श्रमणोऽन्यो वा प्रथममागच्छति तस्मै यदग्रपिण्डादि दीयते तत्स्वाभाविकं,यत्पुनर्भूतिकर्माऽऽदिकरणतश्चतुर्मासाऽऽदिकरणतश्चतुर्मासाऽऽदिकं कालं यावत् प्रतिदिवसं निकाचितं निबद्धीकृतं गृह्यते तन्निकाचितम्। यत्तु दायकेन निमन्त्रणापुरस्सरं प्रतिदिवसं नियतं दीयते तन्निमन्त्रितम्। एतान्यपि गृह्णानो देशतः पार्श्वस्थः स्वाभाविकनियते निकाचने निमन्त्रणे च सर्वत्र प्रायश्चित्तं मासलघु ।

अथ पार्श्वस्थो भूत्वा पुनः कथं संविग्नविहारमुपपद्यते , येनोच्यते "से य इच्छेज्जा दोच्चं तमेव ठाणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए " इत्यादि । तत आह--

संविग्गजणो जड्डो, व जह सुहितो सारणाएँ वइओ उ ।
वच्चइ संभरमाणो, तं चेव गणं पुणो एति ॥ २३२ ॥

इह संविग्नो जनो जड्ड इव हस्तीव वेदितव्य । तथाहि-यथा स हस्ती वनादानीतो घृतगुडाऽऽदिभिः पुष्टिं नीतः, स्मृत्वा वनं जगाम, तच्च वनमनावृष्टिभावतोऽचारीभूतं, ततस्तत्र दु:खमनुभवन् घृतगुडाऽऽदिकं स्मरति, स्मृत्वा च भूयो नगरमायाति । एवं सोऽप्यधिकृतः संविग्नो जनः संविग्नाना मध्ये भगवत्प्रसादत उत्कृष्टैराहारैः पोषमुपागतस्ततः सुखितः सन् स्मारणामसहमानस्तया त्याजितः पार्श्वस्थविहारमुपपद्यते, तत्र च स्थितः पार्श्वस्थ इति कृत्वा श्राद्धाऽऽदिभिर्नाऽऽद्रियते, केवलं लोकत आक्रोशमवाप्नोति, यथाऽयं धिक् शिथिलो यात इति, ततः संविग्नानां पूजां सत्कारं च संस्मरन् तमेवाऽऽत्मीयं गणं पुनरेति समागच्छति, समागतश्च सन्नालोचनाऽऽद्यर्थमभ्युत्तिष्ठति ।

तत इदमाह--

अत्थि य से सावसेसं, जइ नत्थी मूलमत्थि तवछेया ।
थोवं जइ आवन्नो, पडितप्पएँ साहुणा सुद्धो ॥२३३॥

पूर्वमिदं परिभावनीयम्-(से) तस्य आलोचनाऽऽद्यर्थमभ्युद्यतस्य सावशेषं चारित्रमस्ति, चशब्दात् किं वा नास्ति, ततो मूलं दातव्यं, मूलं नाम सर्वपर्यायोच्छेदः । अथाऽस्ति सावशेषं चारित्रं, ततस्तस्मै तपो वा दीयता, छेदो वा, तत्र यदि स्तोकमापन्नो भवति । स्तोकं नाम रात्रिंदिवपञ्चकादारभ्य भिन्नमासं यावत्साधूना च स प्रतितर्पितः, ततः स साधुप्रतितर्पणादेव शुद्ध इति प्रसादेन मुच्यते । मासाऽऽद्यापत्तौ त्वन्तिमपादह्रास इति। गतं पार्श्वस्थसूत्रम्। व्य०१उ०।

पार्श्वस्थं वन्दते प्रशंसति वा--

जे भिक्खू पासत्थं पसंसति, पसंसंतं वा साइज्जइ ।४१।

सुलद्धं ते माणुस्सं जम्मं, जं साहू ण वट्टासि, एवमादि पसंसाविधीए वंदणं उच्छोभणवंदणं वा । एस सुत्तत्थो । नि० चू० १३ उ० । आव० । आचा० । आ० चू० । सूत्र० । पार्श्वस्थं तु यत्र स्थाने यद् भणितं प्रायश्चित्तं तस्मिन् स्थाने यथाच्छन्दे विवर्द्धितां विशेषेण वर्द्धितं जानीहि, तच्च तथैवानन्तरमुपदर्शितम् । कस्मादिह वर्द्धितं जानीहि इति चेत् ?। उच्यते-प्रतिसेवनात्, प्ररूपणाया बहुदोषत्वात् । इह पार्श्वस्थत्वं त्रयाणामपि संभवति । तद्यथा- भिक्षोर्गणावच्छेदिन आचार्यस्य च,यथाच्छन्दत्वं पुनर्भिक्षोरेव। ततः पार्श्वस्थविषयं सूत्रं त्रिसूत्राऽऽत्मकं, यथाच्छन्दविषयं त्वेकस्वरूपमिति । व्य० १ उ० । तथा देश पार्श्वस्थो वन्द्यः कास्तीति, अत्र पूर्वोक्तादरानुसारेणाऽऽचार्याऽऽदिः प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानो द्वादशाऽऽवर्त्तवन्दनं पार्श्वस्थाऽऽद्रेः करोति। कारणान्तरे सर्वपार्श्वस्थाऽऽदेरपि वृद्धवन्दनाऽऽदि करोतीति आवश्यकनिर्युक्त्यादौ कथितमस्ति। ह्री० ३ प्रका० । पार्श्वस्थाऽऽदीनामशनाऽऽदिदाने तेभ्योऽशनाऽऽदिग्रहणे चतुर्लघु । ध० ३ अधि० ।

पासत्थविहारि ( ण् )-पार्श्वस्थविहारिन्-पुं० । पार्श्वस्थाना यो विहारो बहूनि दिनानि यावत्तथा वर्तनम् स पार्श्वस्थविहारः, सोऽस्यास्तीति पार्श्वस्थविहारी । ज्ञा० १ श्रु० ५ अ०। अकालं पार्श्वस्थसमाचारे, भ० १ श० ४ उ० ।

पासपिट्ठंतरोरुपरिणय-पार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणत-त्रि० । पार्श्वे च पृष्ठान्तरे च तद्विभागौ ऊरू च परिणतौ निष्पत्तिप्रकर्षावस्था गतौ यस्य स तथा । उत्तमसंहनने, उत्त० ४ अ० ।

पासपुट्ठ-पार्श्वस्पृष्ट-त्रि० । छुप्तमात्रे, स्था० १० ठा० ।

पासमग्ग-पाशमार्ग-पुं० । पाशप्रधानो मार्गः पाशमार्गः । पाशकूटकवागुराऽन्विते मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

पासमग्गण-पाशमार्गण-न० । गुप्तिगतनरसमीपात् याचने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पासमाण-पश्यत्-त्रि० । अवलोकके, भ० १६ श० ६ उ०। " पासमाणो चिंतेइ । " आ० म० १ अ० । दर्शनोपयुक्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

पासमूल-पार्श्वमूल-न० । पार्श्वसमुत्थरोगे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पासल्लिय पार्श्विक-त्रि० । पार्श्वशायिनि, प्रव० ६७ द्वार। पञ्चा० । भ० ।

पासवण-प्रश्रवण-न० । प्रकर्षेण श्रवणं, श्रवतीति श्रवणम् । एकाकिकायाम् , आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० । सूत्रे आव० ४ अ० । स० । कल्प० । ज्ञा० । कायिकभूमिस्थाने, नि० चू० १ उ० ।

पासवणणिरोह-प्रश्रवणनिरोध-पुं० । मूत्रसंरोधे, स्था० १० ठा० ।

पासवणपडिक्कमण-प्रश्रवणप्रतिक्रमण-न० । मूत्रोत्सर्गे विधायेर्यापथिकाप्रतिक्रमणे,स्था०।"उच्चारं पासवणं भूमीए वोसिरित्तु उवउत्तो ओसिरिऊणं इरियावहियं पडिक्कमइ वोसिरइ मत्तगे जइ न पडिक्कमई य मत्तगं जो उ साहू परिट्ठवइ नियमेण पडिक्कमे सो उ त्ति । " स्था० ६ ठा० ।

पासवणभूमि-प्रश्रवणभूमि-स्त्री० । मूत्रस्थण्डिले, ताश्च द्वादश । आलयपरिभोगान्ताः षट्, षट् बहिः । आव० ५ अ० ।

पासाअ-प्रासाद-पुं० । " पासाओ हम्मिअं । " पाइ० ना० २७३ गाथा ।

पासाईय-प्रासादीय-त्रि० । प्रसादाय मनःप्रसत्तये हितस्तत्कारित्वात् प्रासादीयः । मनःप्रसत्तिकारिणि, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । नं० । मनःप्रसादकारणे, व्य० ६ उ० । प्रसादो मनःप्रमोदः प्रयोजनं यस्येति । औ० । नि० । आ० म० । द्रष्टृणां चित्तप्रसादजनके, भ० ५ श० २ उ० । रा० । विपा० । ज्ञा० । स्था० । प्रासादेषु भवा प्रासादीया । प्रासादबहुलायां पुरि, स्त्री० । सू० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु० । "पासाईया।" प्रसादः प्रसन्नता निर्मलजलता विद्यते यस्याः सा प्रासादिका । प्रासादा वासुदेवकुलसन्निवेशास्ते विद्यन्ते यस्यां समन्ततः सा प्रासादिका । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

पासाण-पाषाण-पुं० । स्फटिकाऽऽदिके पृथ्वीविकारे, नि० चू० २ उ० । विजातीयरत्नेषु, दश० ६ अ० ।

पासाणधाउ-पाषाणधातु-पुं० । युक्तिविशेषेण ध्मायमाने सुवर्णवर्णेन परिणमिते पाषाणे, " जत्थ पासाणे जुत्तिणिजुत्ते वा धममाणे सुवन्नदोयर्द सो पासाणधातू । " नि० चू० १३ उ० ।

पासाणिअ-देशी-साक्षिणि, दे० ना० ६ वर्ग ४१ गाथा ।

पासादीय-प्रासादीय-त्रि० । ' पासाईय ' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पासाय-प्रासाद-पुं० । देवानां राज्ञां च भवने, उत्सेधबहुले गृहे च । भ० ५ श० ३ उ० । जी० । प्रश्न० । अनु० । उत्त० । प्रासादभवनयोः को विशेषः ?। उच्यते-भवनमायामापेक्षया किञ्चिन्न्यूनोच्छ्रायमानं भवति , प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्राय इति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विपा० । जं० । राजगृहे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । राजमन्दिरे, उत्त० १६ अ० ।

चक्रवर्त्यादीनां प्रासादप्रमाणम् । ऊर्द्धतः परिमाणमाह-

अट्ठसयं चक्कीणं, चउसट्ठी चेव वासुदेवाणं ।
बत्तीसं मंडलिए, सोलस हत्था उ पागतिए ॥४६॥

अष्टाधिकं शतं सहस्तानामूर्द्धतश्चक्रवर्त्तिनां प्रासादो भवति, चतुःषष्टिर्वासुदेवानां, द्वात्रिंशत् माण्डलिकस्य. षोडश हस्ताः प्राकृतिके प्राकृतजनसंबन्धिनि प्रासादः ।

भवणुज्जाणादीणं, एसुस्सेहो उ वत्थुविज्जाए ।
भणितो सिप्पिनिहिम्मि उ,चक्कीमादीण सव्वेसिं ॥४७॥

शिल्पिनिधौ वास्तुविद्यायां सर्वेषामपि चक्रवर्त्यादीनां भवनोद्यानाऽऽदीनामेष उत्सेधो भणितः । व्य० ६ उ० ।

पासायवडिंसग-प्रासादावतंसक-पुं० । प्रासादानामवतंसक इव शेखरक इव प्रासादावतंसकः । प्रासादविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आ० म० । स० । रा० । प्रासादोऽवतंसक । भ० २ श० ८ उ० । प्रासादश्चावतंसकश्च प्रासादावतंसक' । प्रधानप्रासादे, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० ।

पासाला-स्त्री० । देशी-भल्ल्याम् , दे० ना० ६ वर्ग १४ गाथा ।

पासावअ-देशी-गवाक्षे, दे० ना० ६ वर्ग ४३ गाथा ।

पासावच्चिज्ज-पार्श्वापत्यीय-पुं० । पार्श्वापत्यस्य पार्श्वस्वामिशिष्यस्यापत्यं शिष्यः पार्श्वापत्यीयः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । पार्श्वापत्यानां पार्श्वजिनशिष्याणामयं पार्श्वापत्यीयः । भ० १ श० ६ उ० । पार्श्वनाथशिष्यशिष्ये, स्था० ६ ठा० । चातुर्यामिकसाधौ, भ० १५ श० । " समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापितरो पासावच्चिज्जा । " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

पासित्तए-द्रष्टुम्-अव्य० । प्रेक्षितुमित्यर्थे, नि० चू० ६ उ० ।

पासित्ता-दृष्ट्वा-अव्य० । प्रेक्ष्येत्यर्थे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । अनु० । " दससुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा । " स्था० १० ठा० । आचा० ।

पासिय-पाशित-त्रि० । पाशोपेते अनर्थोपादके , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

दृष्ट्वा-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे , आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । दशा० ।

पाशिक-पुं० । पाशेन बन्धनविशेषेण चरतीति पाशिकः । पाशेन हननोपजीवके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

पासियव्व-द्रष्टव्य-त्रि० । चक्षुषा निरीक्षणीये,कल्प० ३ अधि० ।

पासी-देशी-चूडायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ३७ गाथा ।

पासेल्लिय-पार्श्ववत्-त्रि० । पार्श्वशायिनि, दशा० ७ अ० ।

पाहण्ण-प्राधान्य-न० । प्रधानतायाम् , स० १० अङ्ग ।

पाहण्णया-प्रधानता-स्त्री० । प्रधानस्य भावः प्रधानता । प्रधानभावे, अनु० ।

से किं तं पाहण्णयाए ?। पाहण्णयाए असोगवणे सत्तवण्णवणे चंपगवणे चूअवणे नागवणे पुन्नागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालिवणे । से तं पाहण्णयाए ॥

( से किं तं पाहण्णयाए इत्यादि ) प्रधानस्य भावः प्रधानता, तया किमपि नाम भवति, यथा बहुष्वशोकवृक्षेषु स्तोकेष्वाम्राऽऽदिपादपेष्वशोकप्रधानं वनमशोकवनमिति नाम । सप्तपर्णाः-सप्तच्छदाः,तत्प्रधानं वनं सप्तपर्णवनम् , इत्यादि सुगमम् , नवरमत्राप्याह-ननु गुणनिष्पन्नादिदं न भिद्यते, नैवम्,तत्र क्षमाऽऽदिगुणेन क्षमणाऽऽदिशब्दवाच्यार्थस्य सामस्त्येन व्याप्तत्वादत्र त्वशोकाऽऽदिभिरशोकवनाऽऽदिशब्दवाच्यानां वनानां सामस्त्येन व्याप्तेरभावादिति भेदः॥५॥ अनु० ।

पाहाण-पाषाण-पुं० । " दश-पाषाणे हः " ॥ ८ । २ । २६२ ॥ इति षकारस्य हः । पाहाणे । पासाणे । प्रस्तरे, प्रा० १ पाद ।

पाहाणजल-पाषाणजल-न० । पाषाणानामुपरि वहति जले, ओघ० ।

पाहिज्ज-पाथेय-न० । पथि भक्ताऽऽदिभृतौ, "पाहिज्जएणाणत्तं वाहिमुभयपएसं चेव, गामा पच्छाकडाइएसुं । " बृ० १ उ० २ प्रक० । "पयत्थयणं संबलं च पाहिज्जं ।" पाइ० ना० १५५ गाथा ।

**पाहुड–प्राभृत**–न० । प्रकर्षेण समन्ताद् भ्रियते प्राप्यते चित्तमभीष्टस्य पुरुषस्यानेनेति प्राभृतमिति व्युत्पत्तिः । " कृबहुलम् " ॥ ५ । १ । २ ॥ इति वचनात् करणे क्तप्रत्ययः । "उ-त्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋत उत् । भस्य हः । प्रा० ढुं० १ पाद । " पाहुडं उवायणं । " पाइ० ना० २३६ गाथा । पूर्वान्तर्गते श्रुतविशेषे , विशे० । स० । अथ प्राभृतमिति कः शब्दार्थः ? । उच्यते–इह प्राभृतं नाम लोके प्रसिद्धं यदभीष्टाय पुरुषाय देशकालोचितं दुर्लभं वस्तु परिणामसुन्दरमुपनीयते ततः प्राभ्रियते प्राप्यते चित्तमभीष्टस्य पुरुषस्यानेनेति प्राभृतमिति व्युत्पत्तेः " कृद्बहुलम् " ॥ ५ । १ । २ ॥ इति वचनात् च करणे क्तप्रत्ययः । विवक्षिता अपि च ग्रन्थपद्धतयः परमदुर्लभाः परिणामसुन्दराश्चाभीष्टेभ्यो विनयाऽऽदिगुणकलितेभ्य शिष्येभ्यो देशकालौचित्येनोपनीयन्ते । चं० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु० । सू० प्र० । अनु० । आचा० । स० । कलहे, नि० चू० १० उ० । बृ० । स्था० । कौशलिकपरमक्रोधे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्राभृतिकायाम्, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

**पाहुडच्छेद–प्राभृतच्छेद**–पुं० । परिमाणपरिच्छिन्नप्राभृतवदर्थच्छेदे, नि० चू० २० उ० । व्य० ।

**पाहुडपाहुड–प्राभृतप्राभृत**–न० । प्राभृतमिव प्राभृतम् । प्राभृतेष्वान्तर्गतं प्राभृतं प्राभृतप्राभृतम् । सू० प्र० १ पाहु० १ पाहु० पाहु० । प्राभृतान्तर्वर्तिनि अधिकारविशेषे, कर्म० १ कर्म० ।

**पाहुडपाहुडसमास–प्राभृतप्राभृतसमास**–पुं० । पूर्वान्तर्वर्तिबहुधिकारविशेषाणां प्राभृतप्राभृतानां द्व्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० । अनु० ।

**पाहुडसमास–प्राभृतसमास**–पुं० । पूर्वान्तर्वर्त्यधिकारविशेषाणां प्राभृतानां द्व्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

**पाहुडसीलया–प्राभृतशीलता**–स्त्री० । कलहनसम्बन्धतायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**पाहुडिया–प्राभृतिका**–स्त्री० । कस्मैचिदिष्टाय पूज्याय वा बहुमानपुरस्सरीकारेण यदभीष्टं वस्तु दीयते तत्प्राभृतमुच्यते , तदेव प्राभृतिका । प्रव० ६७ द्वार । प्राभृतं कौशलिकं तद्विवोपचारसाधर्म्यात् या भिक्षा सा प्राभृतिका । पञ्चा० १३ विव० । प्राभृतमिव प्राभृतं साधुभ्यो देय भिक्षाऽऽदिकं प्राभृतमेव प्राभृतिका । यद् वा–प्र इति प्रकर्षेण आ इति साधुदानलक्षणमर्यादया भृता निर्वर्तिता यका भिक्षा सा प्राभृता, सा स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् प्राभृतिका । प्रव० ६७ द्वार । पिं० । कालान्तरभाविनो विवाहाऽऽदेरिदानीं सन्निहिताः साधवः सन्ति तेषामप्युपयोगो भवत्विति बुद्ध्या इदानीमेव करणे, सन्निकृष्टस्य विवाहाऽऽदेः कालान्तरे साधुसमागमं संचिन्त्योत्कर्षणे च । ध० ३ अधि० । उद्गमदोषविशेषे च । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० । स्था० । प० चू० । पिं० ।

संप्रति प्राभृतिकाद्वारमभिधित्सुराह–

पाहुडिया वि हु दुविहा, बायर सुहुमा य होइ नायव्वा ।
उस्सक्कणमोसक्कण, कब्बट्ठीए समोसरणे ॥२८५॥

द्विविधा प्राभृतिका । तद्यथा–बादरा, सूक्ष्मा च । एकैकाऽपि द्विधा । तद्यथा–अवष्वष्कणेन, उत्ष्वष्कणेन च । सूत्रे चात्र विभक्तिलोप आर्षत्वात् , तत्रावष्वष्कणं स्वयोगप्रवृत्तनियतकालावधेरर्वाक्करणम् , उत्ष्वष्कणं परतः करणम् । तत्र बादरप्राभृतिकाविषयमाह–( कब्बट्ठीए समोसरणे ) इह समयपरिभाषया ' कब्बट्ठी ' लघ्वी दारिका भण्यते । तस्याः सत्कस्य, उपलक्षणमेतत् , पुत्राऽऽदेश्च सत्कस्य विवाहस्य अवष्वष्कणमुत्ष्वष्कणं वा समवसरणे साधुसमुदायविषये । इयमत्र भावना–साधुसमुदाय यथाविहारक्रममायातं दृष्ट्वा कोऽपि श्रावकः चिन्तयति, यथा–ज्योतिर्विदोपदिष्टे विवाहदिने यदि विवाहः क्रियते, ततोऽर्वागेव सुविहितजनो विहारक्रमेण गमिष्यति ततो न किमपि मदीयं विवाहसंभवं मोदकाऽऽदिकं तन्दुलधावनाऽऽदि वोपकरिष्यते, तत एवं चिन्तयित्वा अर्वाक् विवाहं करोति । यदि वा-भूयान् सुविहितजनो यथाविहारक्रममागच्छन् श्रूयते, विवाहश्च तदागमनादर्वाक् , ततो न किमपि तेषां मदीयमुपकरिष्यतीति, तत एवं विचिन्त्य परतो विवाहं करोति, इह च विवाहस्यावष्वष्कणमुत्ष्वष्कणं वा कृत्वा यदुपस्क्रियते भक्ताऽऽदि, सा बादरा प्राभृतिका ।

संप्रत्यपसर्पणरूपां सूक्ष्मप्राभृतिका भाष्यकृत् गाथाद्वयेनाऽऽह–

कत्तामि ताव पेलुं,तो ते देहामि पुत्त ! मा रोव ।
तं जइ सुणेइ साहू, न गच्छए तत्थ आरंभो ॥३५॥
अन्नट्ठ उट्ठिया वा, तुज्झ वि देमि त्ति किं पि परिहरति ।
किह दाणि न उट्ठिहिसी, साहुपभावेण लब्भामो ॥३६॥

काचित्कर्त्तनं कुर्वती भोजनं याचमानं बालकं प्रति वदति—कृणन्मि तावदिदं पेलुं रूतपूणिका , कृणन्मीति ' कृतुपवेष्टने ' इत्यस्य रौधादिकस्य प्रयोगः, ततः पश्चात् ( ते ) तुभ्यं दास्यामीति मा रोदीः, अत्रान्तरे च साधुरागतो यदि शृणोति तर्हि तत्र गृहे न गच्छति , न तत्र भिक्षां गृह्णातीत्यर्थः । मा भूत्साधुनिमित्त आरम्भो बालकभोजनदानतदनन्तरहस्तधावनाऽऽदिरूपः । सा हि साध्वर्थमुत्थिता सती बालकस्यापि भोजनं ददाति, ततो हस्तधावनाऽऽदिनाऽप्कायाऽऽदिकं च विनाशयति । इह रूतपूणिकाकर्तनसमाप्त्यनन्तरं दातव्यतया बालकाय प्रतिज्ञाते भोजने साधुनिमित्तमर्वागुत्थानेन यदर्वागेव बालस्य भोजनदानं तदवसर्पणम् । अथवा–गृहस्था कर्तनं कुर्वती भोजनं याचमानं पुत्रं प्रति वदति अन्यार्थमन्येन प्रयोजनेनोत्थिता सती तवाऽपि तुभ्यमपि किमपि खादिमाऽऽदि दास्यामि, अत्रान्तरे च साधुरागत एवं श्रुते परिहरति । अथवा—तथाभूतगृहस्थावचनानाकर्णनेऽपि साधौ समागते बालको जननीं वदति–कथमिदानीं नोत्थास्यसि ?, समागतो ननु साधुस्ततोऽवश्यमुत्थातव्य त्वया, तथा च सति साधुप्रभावेण वयमपि लप्स्यामहे, तत एवं बालकवचनं श्रुत्वा तया दीयमानं परिहरति , मा सूदवसर्पणरूपसूक्ष्मप्राभृतिकादोषः ।

संप्रत्युत्सर्पणरूपां सूक्ष्मप्राभृतिकां गाथाद्वयेनाऽऽह–

मा ताव झंख पुत्तय !, परिवाडीए इहेहि सो साहू ।

एयस्स उट्ठिया ते, दाहं सोउं विवज्जेइ ॥ २८६ ॥

अहवा-

अंगुलियाए घेत्तुं, कड्ढइ कप्पट्ठओ घरं जंतो ।
किं ति कहिए न गच्छइ, पाहुडिया एस सुहुमा उ ॥२८७॥

इह काचित् गृहस्था भोजनं याचमानं पुत्रं प्रतिपादयति-हे पुत्रक ! मा तावत् क्षण वारं वारं जल्प, इह परिपाट्या साधुरागमिष्यति ततस्तस्यार्थमुत्थिता सती ते तुभ्यं दास्यामि, अत्रान्तरे च साधुरागत इदं वचः श्रुत्वा विवर्जयति, मा भूदुत्सर्पणरूपसूक्ष्मप्राभृतिकादोषः, अत्रार्वाक् विवक्षितस्य भोजनदानस्य साधुभिक्षादानेन समं परतः करणमुत्सर्पणम् । अथवा-प्राकृतने जनन्योक्ते बालकेन श्रुते सति स 'कप्पट्ठओ' बालकस्त साधुमङ्गुल्या गृहीत्वा यतो निजगृह तत' समाकर्षति । तत साधुस्तं बालकं पृच्छति । यथा किं मामाकर्षसि ? । तत स यथावस्थित कथयति, बालकत्वेन ऋजुत्वात्, तत' कथिते तत्र न गच्छति, मा भूदुत्सर्पणरूपसूक्ष्मप्राभृतिकादोषसंपर्कः। एषा सर्वाऽप्यनन्तरोक्ता सूक्ष्मप्राभृतिका ।

संप्रति "कब्बट्ठीए समोसरणे" इत्यवयवं व्याचिख्यासुः प्रथमतोऽवष्वष्कणरूपां बादरप्राभृतिकामाह-

पुत्तस्स विवाहदिणं, ओसरणे अइच्छिए मुणिय सड्ढी ।
ओसक्कंतो सरणे, संखडिपाहेणगदट्ठा ॥२८८॥

पुत्रस्य, उपलक्षणमेतत्, पुत्रिकाऽऽदेश्च, विवाहदिनं ज्योतिर्विदा अवसरणे साधुसमुदाये यथाविहारक्रममतिक्रान्तेऽन्यत्र गते सत्युपदिश्यमान श्रुत्वा श्राद्धी विवाहमवष्वष्कते, अर्वाक् दिन दृष्ट्वा विवाहं करोति । किमर्थम् ?, इत्याह-समवसरणे, षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् समवसरणस्य साधुसमुदायस्य विवाहरूपायां संखड्यां प्रेहणकं मोदकाऽऽदि द्रव्यं-तन्दुलधावनाऽऽदि तदर्थं-तद्दानार्थम्, भावना च प्रथमगाथायामेव कृता ।

उत्सर्पणरूपा बादरप्राभृतिकामाह-

अप्पत्तम्मि य ठवियं, ओसरणे होहिइत्ति उस्सकणं ।

स्थापितं विवाहदिनं किलामासि यथाविहारक्रममनागते 'अवसरणे' साधुसमुदायरूपे भविष्यति, ततो न किमपि मदीयं विवाहसत्कं साधूनामुपकरिष्यतीतिकृत्वा विवाहस्योत्सर्पणं करोति, साधुसमागमकाल एव करोतीत्यर्थः । उक्ता बादरा प्राभृतिका ।

संप्रति द्विविधाया अवसर्पणोत्सर्पणरूपायाः कर्त्तारं प्रतिपादयति-

तं पागडमियरं वा, करेइ उज्जू अणुज्जू वा ॥ २८९ ॥

तामवष्वष्कणोत्ष्वष्कणरूपां द्विधामपि ऋजु प्रकटं करोति सकल जननिवेदनेन करोति । अनृजुरितरत्-प्रच्छन्नम्, यथा न कोऽपि जानातीति भाव' । तत्र यदि प्रकटं करोति तर्हि तां जनपरंपरात एव ज्ञात्वा परिहरन्ति । अथाप्रकटं तर्हि निपुणं शोधयित्वा वर्जयन्ति, निपुणशोधनेऽपि यदि कथमपि न परिज्ञानं भवति तदा न कश्चिद्दोष, परिणामस्य शुद्धत्वात् ।

अथ किमर्थं बादरमवष्वष्कणाऽऽदिकं करोति, तत आह-

मंगलहेउं पुण्ण-ट्ठया व ओमाविपं दुहा पगयं ।
उग्गाहिनं पि किं ति य, पुट्ठे सिट्ठे विवज्जंति ॥२९०॥

प्रकृतं विवाहाऽऽदिकं द्विधा-द्वाभ्यां प्राकाराभ्यामवष्वष्कितं भवति । तद्यथा-मङ्गलहेतोर्विवाहे गृहस्य साधुचरणैः स्पर्शनं तेभ्यो दानं च मङ्गलाय इति कृत्वा, यद्वा-पुण्यार्थम्, एवमुत्ष्वष्कितमपि द्विधा, ततो निपुणपृच्छं किमिदमिति पृष्टे गृहस्थेन च यथावस्थिते कथिते तद्वीवाहसत्कं परिहरन्ति, मा भूत् बादरप्राभृतिकादोषानुषङ्ग इति ।

ये तु न परिहरन्ति तेषां दोषमाह

पाहुडिभत्तं भुंजइ, न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स ।
एमेव अडइ बोडो, लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥

य. प्राभृतिकाभक्तं भुङ्क्ते, न च तस्मात् प्राभृतिकापरिभोगरूपात् स्थानात्-प्रतिक्रामति स 'बोडा.' मुण्ड एवमेव निष्फलमटति, यथा लुञ्चितविलुञ्चितकपोतः । उक्तं प्राभृतिकाद्वारम् । पिं० । वल्यादिनिमित्तं या ददाति । पिं० । पञ्चा० । जी० । व्य० । सूक्ष्मप्राभृतिकायाम् अविकृतिप्रायश्चित्तम् । जीत० । "गोयरचरियाए पाहुडियं न पडिपरिया तस्स णं चउत्थं पायच्छित्तं उवसेज्जा ।" महा० १ चू० । "मंडीपाहुडियाए वलिपाहुडियाए ठवणापाहुडियाए अणेसणाए जो मे अइयारो कओ ।" (मण्डीप्राभृतिकाऽऽदीनां यस्यां वसतौ स्थितानां कर्म प्राभृतं भवति सा प्राभृतिका । वसतेश्छादनलेपनाऽऽदिकरणे, आव० ४ अ० । आ० चू० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

वसतिविषया प्राभृतिका । अथ प्राभृतिकाद्वारं विभावयिषुराह-

पाहुडिया वि य दुविहा, बायर सुहुमा य होइ नायव्वा ।
एक्केका वि य एत्तो, पंचविहा होइ नायव्वा ॥

प्राभृतिका वसतेः छादनलेपनाऽऽदिरूपा, सा द्विविधा-बादरा, सूक्ष्मा च भवति ज्ञातव्या, एकैकाऽपि चेत ऊर्द्ध्वं पञ्चविधा भवति ज्ञातव्या ।

तत्र बादरां पञ्चविधामपि तावदाह-

विद्धंसण छावण ले-वणे भूमीकम्मे पडुच्च पाहुडिया ।
उस्सक्कण ओसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा ॥

बृ० १ उ० २ प्रक० । प० व० । (अस्या गाथायाः व्याख्या 'वसहि' शब्दादवगन्तव्या) सुरविरचितसमवसरणमहाप्रातिहार्यादि (नि० चू० ४ उ०) पूजायाम्, बृ० ४ उ० । प्राभृतिका भिक्षा भण्यते, पूजाऽपि । बृ० १ उ० ।

पाहुण-प्राघुण-पुं० महद्धस्थविरे, स च सद्भाग्य गौरवार्हतया प्राघुण उच्यते । बृ० ३ उ० । विकेये, दे० ना० ६ वर्ग४० गाथा ।

पाहुणग-प्राघूर्णक-पुं० । आगन्तुके भिक्षौ, स्था० ६ ठा० । तदर्थे पथ्ये च । न० । आ० चू० ३ अ० । बृ० ।

पाहुणगभत्त-प्राघूर्णकभक्त न० । प्राघूर्णका आगन्तुका भिक्षुका एव तदर्थं यद् भक्तं तत्तथा प्राघूर्णको वा गृही भ यद्दापयति तदर्थं संस्कृत्य तत्तथा, । प्राघूर्णकार्थाऽऽहारे, स्था० ९ ठा० । प्राघूर्णकः कोऽपि कश्चिद् गतो यत्प्रतिनिमित्तं संस्कृत्य ददाति, प्राघूर्णका वा साध्वादय इहाऽऽयाता इति यद्दापयति तत्प्राघूर्णकभक्तम् । औ० ।

पाहुणिज्ज-प्राहवणीय-त्रि० । प्रकर्षेणाऽऽह्वनीये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भ० ।

पाहुणिय-प्राघुनिक-पुं० । षष्ठे महाग्रहे, " दो पाहुणिया ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । चं० प्र० । सू० प्र० । जं० ।

पाहुण्ण-प्राघूर्ण्य-न० । आगन्तुकसंयतानामातिथेये, बृ० १ । उ० ३ प्रक० । आ० म० ।

पाहेज्ज-देशी-पाथेये, दे० ना० ६ वर्ग २४ गाथा ।

पि-पि-अव्य० । सम्भावने, विशे० । " प्यादयः " ॥ ८ । २ । २१८ ॥ प्यादयो नियतार्थवृत्तयः प्राकृते प्रयोक्तव्या इति । पा० २ पाद ।

पिअण-देशी-दुग्धे, दे० ना० ६ वर्ग ४८ गाथा ।

पिअमा-देशी-फलिन्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिअमाहवी-देशी-कोकिलायाम्, दे० ना०६ वर्ग ५१ गाथा ।

पिआ-पितृ-पुं० जनके,"पिआ जणओ।"पाइ०ना०२५२गाथा।

पिआमह-पितामह-पुं० । ब्रह्मणि, "कमलासण य सयंभू,चउम्मुहो य परमिट्ठी । थेरो विही विरिंची, पयावई कमलजोणी य ॥ २ ॥" पाइ० ना० २ गाथा ।

पिउअ-पितृक-पुं० । " उदृत्वादौ " ॥ ८ । १ । ५३१ ॥ ऋतुइत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उदिति ऋकारस्योकारः । प्रा० १ पाद । जनके, उत्त० १ अ० । स्था० । विपा० । आव० । जं० ।

पिउअंग-पैतृकाङ्ग-न० । शुक्रविकारबहुले पितृजाते अङ्गे, " तओ पिउअंगा पन्नत्ता । त जहा-अट्ठिमिंजाकेसमंसुरोमनहा । " त० ।

पिउआ-पितृका-स्त्री० । " आन्तान्ताड्डाः " ॥ ८ । ४ । ४३२ ॥ अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानादप्रत्ययो भवति इति डा। प्रा०४पाद।

पिउकज्ज-पितृकार्य-न० । देवतानां पितृणां च जलाञ्जलिदानाऽऽदिके कृत्ये, नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ० ।

पिउच्छा-पितृस्वसृ-स्त्री० । ६ त० । " मातृपितुः स्वसुः सिआ-छौ " ॥ ८ । २ । १४२ ॥ इति स्वसु स्थाने छादेश । पितृभगिन्याम्, प्रा० २ पाद । " फुप्फिआ पिउच्छा । " पाइ० ना० २५३ गाथा ।

पिउड-देशी-कूरशिक्थाऽऽदौ, आ० म० १ अ० । विशे० । नि० चू० ।

पिउदत्त-पितृदत्त-पुं० । श्रावस्त्या नगर्यां श्रीभद्रायाः श्राविकायाः पत्यौ स्वनामख्याते गृहपतौ,आ०म०१ अ० । आ०चू० ।

पिउदेवया-पितृदेवता-स्त्री० । मघायाम्, चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु० ।

पिउपज्जय-पितृप्राजक-पुं० । पितुःप्रपितामहे , भ० ६ श० ३३ उ० ।

पिउपिंड-पितृपिण्ड-पुं० । मृतकभक्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

पिउवइ-पितृपति-पुं० । "गौणान्त्यस्य" ॥८ । १ । १३४ ॥ इति ऋत उत् । यमे, प्रा० १ पाद ।

पिउवण-पितृवन-न० । " गौणान्त्यस्य " ॥ ८ । १ । १३४ इति ऋत उत्वम् । श्मशाने, आचा० १ श्रु० ८ श्रु० २ उ० । प्रा० । प्रश्न० । स्था० । ' पेअवणं पिउवणं मसाणं च ।" पाइ० ना० १५८ गाथा ।

पिउव्वेय-पित्रुद्वेग-पु० । पितृचित्तसन्तापे, द्वा०२५ द्वा० ।

पिउसम-पितृसम-पु० । पितृविभूत्याऽनुमाने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पिउसिया-पितृष्वसृ-स्त्री० । " गौणान्त्यस्य " ॥ ८ । १ । १३४ ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । " मातृ-पितुः स्वसुः सिआ छौ " ॥ ८ । २ । १४२ ॥ इति पितु परस्य स्वसु 'सिआ' आदेशः । प्रा० २ पाद । जनकभगिन्याम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

पिउसुक्क-पितृशुक्र-न० । जनकस्य शुक्रपुद्गले, तं० । स्था० ।

पिउसेणकण्ह-पितृसेनकृष्ण-पुं० । श्रेणिकभार्यायाः पितृसेनकृष्णायाः पुत्रे, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य वर्षद्वयपर्यायपरिपालनं कृत्वा प्राणतदेवलोके दशमे उत्पद्य एकोनविंशतिसागरोपमाण्यायुरनुपाल्य ततश्च्युतो महाविदेहे सेत्स्यतीति निरयावलिकाना नवमेऽध्ययने सूचितम् । नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० ।

पिउसेणकण्हा-पितृसेनकृष्णा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां श्रेणिकमहाराजलघुमातरि श्रेणिकभार्यायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग ५ अ० । सा चाऽऽर्यचन्दनाया अन्तिके प्रव्रज्य मुक्तावली तपःकर्मोपसंपद्य सिद्धेति अन्तकृद्दशानाम् पञ्चमेऽध्ययने रचितम् । अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग ६ अ० ।

पिंकार-अपिकार-पु० । अकारलोपोऽनुस्वाराऽऽगमश्च । अपिशब्दे । अनुयोगभेदे, अपि. संभावनानिवृत्त्यपेक्षासमुच्चयगर्हाशिष्टामर्षणभूषणप्रश्नेषु,तत्र-"एवं पि एगे आसासे ।" इत्यत्र सूत्रे एवमपि । अन्यथा पीति-प्रकारान्तरसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः । स्था० १० ठा० ।

पिंखा-प्रेङ्खा-त्रि० ।"डोला पिंखा ।" पाइ० ना०२३२गाथा ।

पिंखोलमाण-प्रेङ्खोलमान-त्रि० । दोलायमाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पिंग-पिङ्ग-त्रि० । पिङ्गले, स्था० ४ ठा० २ उ० । कपिशे, औ० । " कविलं कविसं पिङ्गं,पिसंगयं पिंगय कडारं च ।" पाइ० ना० ६३ गाथा ।

पिंगंग-देशी-मर्कटे, दे० ना० ६ वर्ग ४ गाथा ।

पिंगय-पिङ्गक-त्रि० । पिङ्गे, पाइ० ना० ६३ गाथा ।

पिंगल-पिङ्गल-त्रि० । कपिले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अनु० । चत्वारिंशे महाग्रहे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । चत्वारिंशत्तमे महाग्रहे, " दो पिंगला । " स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । सू० प्र० । तं० । स्था० । चं० प्र० । (' अचौवणीय ' शब्दे प्रथम भागे ५०६ पृष्ठे उदाहरणम् ) कपिलाऽऽदिगुणे स्थपतौ,पु० । स्था० ४ ठा० ३ उ० । " पिंगलंगुलिया । " पिङ्गला पिङ्गा अङ्गुल्यो येषा ते तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

पिंगलक्ख-पिङ्गलाक्ष-पु० । पिङ्गले पिङ्गे अक्षिणी लोचने यस्य स पिङ्गलाक्ष । कपिशलोचने,स्था० ४ ठा० २ उ० । पक्षिविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । औ० । रा० । प्रश्न० ।

पिंगलग-पिङ्गलक-पु० । चक्रवर्तिना निधिभेदे, प्रव० ।

सव्वा आहरणविही, पुरिसाणं जा य महिलाणं ।

आसाण य हत्थीण य, पिंगलगनिहिम्मि सा भणिया ॥ १२२०
सर्वोऽप्याभरणविधिर्यः पुरुषाणां, यश्च महिलानां, तथाऽश्वानां हस्तिनां च, स यथौचित्येन पिङ्गलनामके महानिधौ भणितः। प्रव० २१३ द्वार। आ०चू० ।जं०। दर्श०। श्रावस्त्यां नगर्यां स्कन्दकेन कृतसम्वादे वैशालिकश्रावके निर्ग्रन्थे, भ० २ श० १ उ० । ( 'खंधग' शब्दे तृतीयभागे ६६३ पृष्ठे सम्वाद उक्तः )

पिंगला-पिङ्गला-स्त्री० । सागरदत्तसुतायां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।

पिंगलायण-पिङ्गलायन-पुं० । कौत्समूलगोत्रान्तर्गतगोत्रविशेषप्रवर्तके पिङ्गलापत्ये स्वनामख्याते पुरुषे, स्था० ७ ठा० । जं० । सू० प्र० ।

पिंगा-पिङ्गा-स्त्री० । आकाशभ्रमणप्रधानायां कपिञ्जलायाम्, सूत्र० १० श्रु० ३ अं० ४ उ० ।

पिंचू-देशी-पक्वकरीरे, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिंछोली-देशी-मुखमारुताऽऽपूरिततृणवाद्यविशेषे, दे० ना० ६ वर्ग ४७ गाथा ।

पिंजयंती-पिञ्जयन्ती-स्त्री० । कर्पासात्कार्पासिकविभजनं कुर्वन्त्याम्, ध० ३ अधि० ।

पिंजर-पिञ्जर-पुं० । न० । पिजि अरच् । हरिताले, स्वर्णे, नागकेशरे, विहगाऽऽदिबन्धनस्थाने, देहास्थिवृन्दे, अश्वभेदे, पीतरक्तवर्णे च । पुं० । तद्वति, त्रि० । वाच० । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पिंजरअ-पिञ्जरक-पुं० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति प्राकृते स्वार्थिक. क. । पक्षिवन्दीपञ्जरे, पीतवर्णे, मिश्रिते, " कुंकुमपिंजरअं " प्रा० २ पाद ।

पिंजरुड-देशी-भेरुण्डे, वदनद्वयोपेतभारुण्डाऽऽख्यपक्षिणि, दे० ना० ६ वर्ग ५० गाथा ।

पिंजिअ-देशी-विधुने, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिंजिअय-देशी-विधुने, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिंजिय-पिञ्जित-न० । पिञ्जनिकया ताडिते कर्पासे, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पिंड-पिण्ड-पुं० । 'पिडि' संघाते । पिण्डनं पिण्डः । "इदितो नुम् धातोः" ॥ ७ । १ । ५८ ॥ इति नुम् । प्रव० ६७ द्वार । कथञ्चिद्भिन्न इति त एव बहवः पदार्था एकत्र समुदिताः पिण्डशब्देनोच्यन्ते । पिं० । जीत० । दोषविशुद्धाऽऽहारे, ध० ३ अधि० । समयभाषया भक्ते, स्था० ७ ठा० ।

पिण्डाऽऽदयोऽर्थाधिकाराः । तत्र प्रथमतः पिण्ड इति व्याख्यायते । व्याख्या च तत्त्वभेदपर्यायैः, अतः प्रथमतः पिण्डशब्दस्य पर्यायानभिधित्सुराह-

पिंड निकाय समूहे, संपिंडण पिंडणा य समवाए ।
समुसरण निचय उवचय, चए य जुम्मे य रासी य ॥२॥

एते सर्वेऽपि सामान्यतः पिण्डशब्दस्य पर्यायाः, विशेषापेक्षया तु कोऽपि क्वापि रूढः । तत्र पिण्डशब्दो गुडपिण्डाऽऽदिरूपे सङ्घाते रूढो, निकायशब्दो भिक्षुकाऽऽदिसङ्घाते रूढो, समूहशब्दो मनुष्याऽऽदिसमुदाये, संपिण्डनशब्दः सेवाऽऽदीनां खण्डपाकाऽऽदेश्च परस्परं सम्यक्संयोगे, पिण्डनाशब्दोऽपि तत्रैव, केवलं मीलनमात्रे संयोगे, समवायशब्दो वणिगादीनां संघाते, समवसरणशब्दः तीर्थकृतः सदेवमनुजासुराणां पर्षदि, निचयशब्दः शूकराऽऽदिसंघाते, उपचयशब्दः पूर्वावस्थातः प्रचुरीभूते संघातविशेषे, चयशब्द इष्टिकारचनाविशेषे, युग्मशब्दः पदार्थद्वयसंघाते, राशिशब्द पूगफलाऽऽदिसमुदाये । तदेवमिह यद्यपि पिण्डाऽऽदयः शब्दाः लोके प्रतिनियत एव संघातविशेषे रूढा, तथाऽपि सामान्यतो यद् व्युत्पत्तिनिमित्तं संघातत्वमात्रलक्षणं तत्सर्वेषामप्यविशिष्टमितिकृत्वा सामान्यतः सर्वे पिण्डाऽऽदयः शब्दा एकार्थिका उक्ता, ततो न कश्चिद्दोषः । पिं० । आ०चू० । औ० । (विशेषतो निकायशब्दव्याख्या 'णिकाय' शब्दे चतुर्थभागे २०१६ पृष्ठे गता) (समूहशब्दविषयम् ' समूह ' शब्दे वक्ष्यामि ) ( संपिण्डनतत्त्वं तु 'संपिंडण' शब्दे एव वक्ष्यामि ) ( पिण्डनाशब्दार्थः ' पिंडणा ' शब्दादवगन्तव्यः ) ( समवायविषया सर्वा वक्तव्यता ' समवाय ' शब्दादवगन्तव्या ) ( निचयविषयस्तु ' णिचय ' शब्दे चतुर्थभागे २०५४ पृष्ठे गतः ) ( उपचयशब्दार्थावलोचनायां दण्डक. ' उवचय ' शब्दे द्वितीयभागे ८८१ पृष्ठे गत. ) ( चय. ' चय ' शब्दे तृतीयभागे ११२३ पृष्ठे गत एव ) ( युग्मशब्दार्थविचारः, तत्र भेदाः, तद्वक्तव्यता च ' जुम्म ' शब्दे चतुर्थभागे १५७८ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्या ) (राशिम् ' रासि ' शब्दे वक्ष्यामि ) ।

पिण्डव्याख्या । अथ भाष्यम्—

पिंडं जं संपन्नं, पिंडगजभं च पिंडविगई वा ।
जं तु सभावा लुत्तं, तं जाणसु लोयगं नाम ॥ १८३ ॥

पिण्डो नाम यदशनाऽऽदिकं संपन्नं विशिष्टाऽऽहारगुणयुक्तं षड्रसोपेतमिति यावत् । यद्वा-यत्पिण्डग्राह्यं पिण्डरूपतया हस्ते ग्रहीतुं शक्यते, पिण्डविकृतिर्वा गुडाऽऽदिघनविकृतिरूपा पिण्डोऽभिधीयते । यत्पुनरन्नाऽऽदिषु स्वभावादेव लुप्तमाहारगुणैरनुपेतं तल्लोचकं नाम जानीहि । क्षीरदधिनवनीतसर्पिस्तैलाऽऽदिसुप्रसिद्धानीति । बृ० २ उ० । सूत्र० । आचा० ।

तदेवं पिण्डशब्दस्य पर्यायानभिधाय सम्प्रति भेदानाचिख्यासुराह-

पिंडस्स उ निक्खेवो, चउक्कओ छक्कओ व कायव्वो ।
निक्खेवं काऊणं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥ ३ ॥

( पिंडस्स ) प्रागुक्तशब्दार्थस्य, तुशब्दः पुनरर्थे, स च निक्षेपशब्दानन्तरं योज्यः, ' निक्षेपो ' नामाऽऽदिन्यासरूपः, पुनश्चतुष्ककः षट्कको वा कर्त्तव्यः । तत्र चत्वारः परिमाणमस्येति चतुष्कः, "सङ्ख्याडतेश्चाऽशत्तिष्टेः कः" ॥ ६ । ४ । १३० ॥ इति कः प्रत्ययः, ततो भूय. स्वार्थिककप्रत्ययविधानाच्चतुष्कक. । एवं षट्ककोऽपि वाच्य. । इह यत्र वस्तुनि निक्षेपो न सम्यग् विस्तरतोऽवगम्यतेऽवगतो वा विस्मृतिपथमुपगतस्तत्राप्यवश्यं नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुष्कको निक्षेपः कर्त्तव्य इति प्रदर्शनार्थं चतुष्कग्रहणं, यत्र तु तथाविधगुरुसम्प्रदायतः सविस्तरमधिगतो भवति । नाप्यधिगतो विस्मृतिपथमुपगतस्तत्र सविस्तरं निक्षेपो

वक्तव्य इति न्यायप्रदर्शनार्थं षट्ककग्रहणम् । तथा चोक्तम्-" जत्थ य जं जाणिज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि य न जाणिज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ " ॥ १ ॥ ततश्चैतदत्रोक्तं भवति--यदि षट्को निक्षेपः सम्यगधिगतो भवति, अधिगतोऽपि च न विस्मृतस्तदा षट्करूपो निक्षेपः कर्त्तव्यः, अन्यथा तु नियमतश्चतुष्करूप इति । एवं च निक्षेपं कृत्वा तस्य पिण्डस्य प्ररूपणा कर्तव्या, येन पिण्डेनेहाधिकारः स पिण्डः प्ररूपणीय इति भावार्थः । इदमेव च नामाऽऽदिभेदोपन्यासेन व्याख्यायाः फलं यदुत यावन्तो विवक्षितशब्दवाच्याः पदार्थाः घटन्ते तान् सर्वानपि यथास्वरूप वैविक्त्येनोपदर्श्य येन केनचिन्नाम्नाऽऽद्यन्यतमेन प्रयोजनं स युक्तिपूर्वमधिक्रियते, शेषास्त्वपाक्रियन्ते । तथा चोक्तम्-अप्रस्तुतार्थापाकरणात्प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवानिति । इह चतुष्कः षट्को वा निक्षेपः कर्तव्य इत्युक्तं, तत्र नानिर्दिष्टस्वरूप चतुष्कं षट्कं वा निक्षेपं शिष्याः स्वयमेवावगन्तुमीशास्ततोऽवश्यं तत्स्वरूपं निर्देष्टव्यं, तत्र षट्के निर्दिष्टे तदन्तर्गतत्वाच्चतुष्कोऽर्थान्निर्दिष्टो भवति, तत. स एव षट्कनिक्षेपो निर्दिश्यते इति ।

एतद्दृष्टान्तपुरस्सरं प्रतिपिपादयिषुराह-

कुलए उ चउब्भाग-स्स संभवो छक्कए चउण्हं च ।
नियमेण संभवो अ-त्थि छक्कगं निक्खिवे तम्हा ॥४॥

यथा ' कुलके ' चतुःसेतिकाप्रमाणे चतुर्भागस्य सेतिकाप्रमाणस्य सम्भवो विद्यमानताऽवश्यं भाविनी, एवं षट्के निक्षेपे चतुर्णां निक्षेपस्य चतुष्करूपस्य निक्षेपस्य नियमेन अवश्यंतया सम्भवोऽस्ति,ततस्तमेव षट्ककमिह निक्षिपामि षट्करूपमेव निक्षेपं प्ररूपयामि, तस्मिन् प्ररूपिते तस्यापि चतुष्करूपस्य निक्षेपस्य प्ररूपितत्वभावादिति भावार्थः ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

नामं ठवणा पिंडो,दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
एसो खलु पिंडस्स उ, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥५॥

( नामं ति ) नामपिण्ड , स्थापनापिण्ड , ' द्रव्ये ' द्रव्यविषयः पिण्डो द्रव्यपिण्डः, द्रव्यस्य पिण्ड इत्यर्थ. । तथा-' क्षेत्रे ' क्षेत्रस्य पिण्डः, एवं कालपिण्डो, भावपिण्डश्च, ' एषः ' अनन्तरोक्तः खलु ' पिण्डस्य ' पिण्डशब्दस्य निक्षेप. षड्विधो भवति ।

तत्र नामपिण्डस्य व्याख्यानाय स्थापनापिण्डस्य तु सम्बन्धनायाऽऽह-

गोणं समयकयं वा, जं वावि हवेज्ज तदुभएण कयं ।
तं विंति नामपिंड, ठवणापिंड अओ वोच्छं ॥ ६ ॥

इह यत् पिण्ड इति वर्णावलीरूपं नाम स नामपिण्डः, नाम चासौ पिण्डश्च नामपिण्ड इति व्युत्पत्ते. । पिं० । (चतुर्धा नाम ' णाम ' शब्दे चतुर्थभागे १९९८ पृष्ठे गतम्) पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्त्यर्थघटनाच्च गौणम्, अथ च समये प्रसिद्धम् । तथा च आचाराङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमे पिण्डैषणाभिधानेऽध्ययने सप्तमोद्देशकसूत्रम्-" से भिक्खू भिक्खुणी वा०जाव पडिगाहिज्जा ।" (४१) । (इति सूत्रं शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८२६ पृष्ठे गतम्) अत्र पानीयमपि पिण्डशब्देनाभिहितम्, ततः पानीये पिण्ड इति नाम समयप्रसिद्धं, न चान्वर्थयुक्तमिति समयजमित्युच्यते, यदा पुनर्भिक्षुर्भिक्षुकी वा भिक्षार्थं प्रविष्टा सती गृहपतिकुले गुडपिण्डम् , ओदनपिण्डं सक्तुपिण्डं वा लभते तदा पिण्डशब्दस्तत्र प्रवर्त्तमान उभयजः, समयप्रसिद्धत्वादन्वर्थयुक्तत्वाच्च,यदा पुनः कस्यापि मनुष्यस्य पिण्ड इति नाम क्रियते,न च शरीरावयवसङ्घातविवक्षा तदा तदनुभयजम् । सम्प्रति गाथाऽक्षराणि विवियन्ते-यत्पिण्ड इति नाम गौणं, यद्वा-समयकृतं समयप्रसिद्धम्, यद्वा भवेत्तदुभयकृतम्, उभयम्-गुण०, समयश्च । तच्च तदुभयं च तदुभयं, तेन कृतं तदुभयकृत, समयप्रसिद्धमन्वर्थयुक्तं चेत्यर्थ. । अपिशब्दात् यद्वा अनुभयजमन्वर्थविकलं समयाप्रसिद्धं च तन्नामपिण्डं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः ।

अत ऊर्ध्वं स्थापनापिण्डमहं वक्ष्ये-एनामेव गाथां भाष्यकृत् सप्रपञ्चं व्याचिख्यासुः प्रथम गौणं नाम व्याख्यानयन्नाह-

गुणनिप्फन्नं गोणं, तं चेव जहत्थमत्थवी वेति ।
तं पुण खवणो जलणो, तवणो पवणो पईवो य ॥ १ ॥

गुणेन परतन्त्रेण ( तन्त्रशब्दार्थाः ' तंत ' शब्दे चतुर्थभागे २१६७ पृष्ठे गता ) व्युत्पत्तिनिमित्तेन द्रव्याऽऽदिना यन्निष्पन्नं नाम तद्गौणं, यच्च(स्य)गुणैर्निष्पन्नं तद्गुणात्तस्मिन् वस्त्वागतमिति "तत आगते" ॥६।३।१४९॥ इत्यनेनाणप्रत्ययः, तदेव च गौणं नाम 'अर्थविद' शब्दार्थविदो यथार्थं ब्रुवते । गौणं च नाम त्रिधा । तद्यथा -द्रव्यनिमित्तं, गुणनिमित्तं, क्रियानिमित्तं च । एतच्च प्रागेव भावितं,तत्र पिण्ड इति नाम क्रियानिमित्तं, पिण्डनमिति व्युत्पत्तेः, तत उदाहरणान्यपि क्रियानिमित्तान्येव दर्शयति--( तं पुण इत्यादि ) तत्पुनर्गौणं नाम क्षपण इत्यादि, तत्र क्षपयति कर्म्माणीति क्षपणः-क्षपकर्षिः, ( अत्र विस्तरः ' खवग ' शब्दे तृतीयभागे ७२७ पृष्ठे गतः ) इह प्रकर्षे क्षपणलक्षणा क्रियामधिकृत्य क्षपण इति नाम प्रवृत्तमतो गौणम् , एवं शेषेष्वप्युदाहरणेषु भावना कार्या । तथा-ज्वलतीति ज्वलनः ( अस्यार्थाः ' जलण ' शब्दे चतुर्थभागे १४२६ पृष्ठे गताः ) वैश्वानरः । तपतीति तपनः (अर्थाः ' तवण ' शब्दात् चतुर्थभागस्य २२०६ पृष्ठादवगन्तव्याः ) रवि. । पवते पुनातीति वा पवनः ( विशेष ' पवण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७७७ पृष्ठे गतः) वायुः । प्रदीप्यते इति प्रदीप ( 'पईव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२ पृष्ठे सर्वं प्रतिपादितम्) दीपकलिका। चकारोऽन्येषामप्येवंजातीयानामुदाहरणानां समुच्चयार्थ. । तदेवं सामान्यतो गौणं नाम व्याख्यातम् ।

सम्प्रति पिण्ड इति नाम गौणं समयकृतं च व्याचिख्यासुराह -

पिंडण बहुदव्वाणं, पडिवक्खेणावि जत्थ पिंडक्खा ।
सो समयकओ पिंडो, जह सुत्तं पिंडपडियाई ॥ २ ॥

बहूनां सजातीयानां विजातीयानां वा कठिनद्रव्याणां यत् पिण्डनम् एकत्र संश्लेषस्तत्र पिण्ड इति नाम प्रवर्त्तमानं,गौणमिति शेष ,व्युत्पत्तिनिमित्तस्य तत्र विद्यमानत्वात्,तथा प्रतिपक्षे प्रकरणात्प्रतिपक्षशब्द. कठिनद्रव्यसंश्लेषाभाववाची। बहूनां द्रव्याणां मीलनमन्तरे-

ण तावत्पिण्ड इति नाम प्रवर्त्तत एव, न काचित्तत्र व्याहति-रित्यपिशब्दार्थः,समयप्रसिद्धया'पिण्डाख्या' पिण्ड इति नाम, स पिण्डाऽऽख्यावान् नामपिण्डः समयकृत इत्युच्यते, तत्र ना मनामवतोरभेदोपचारादेवं निर्देश . उपचाराभावे त्वयमर्थः- तत्र वस्तुनि तत्पिण्ड इति नाम समयकृतमिति । एतदेव द-र्शयति-( जह सुत्तं पिंडपडियाई ) यथैव्युपदर्शने पिण्डेति पिण्डपातग्रहणं, तत एवं गाथायां निर्देशो द्रष्टव्यः-" पिंड-वायपडियाए, " इत्यादि । आदिशब्दात् "पविट्ठे समाणे" (४१) इत्यादिसूत्रपरिग्रहः । ( नच ' पाएग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८२६ पृष्ठे प्रागेव दर्शितम् ) इयमत्र भावना—अत्र सूत्रे प्रभूतकठिनद्रव्यपरस्परसंश्लेषाभावेऽपि पानीये पिण्ड इति नामान्वर्थरहितं समयप्रसिद्धया प्रयुज्यते, अत इदं सम-यजमभिधीयते इति ।

सम्प्रति उभयजं पिण्ड इति नाम दर्शयति--

जस्स पुण पिंडवाय-ट्ठया पविट्ठस्स होइ संपत्ती।
गुडओयणपिंडेहिं, तं तदुभयपिंडमाहंसु ॥३॥ ( भा० )

यस्य पुनः कस्यचित् पिण्डपातार्थतया पिण्डपात आ-हारलाभस्तदर्थनया साधोर्गृहपतिगृहं प्रविष्टस्य सतो भ-वति आ सम्प्राप्तिः, ( गुडओदणपिंडेहिं ति ) " व्यत्ययोऽ-प्यासाम् ॥"इति प्राकृतलक्षणवशात्षष्ठ्यर्थे तृतीया । ततोऽयम-र्थः-गुडौदनपिण्डयोः गुडपिण्डस्य, ओदनपिण्डस्य चेत्यर्थः । गुडौदनग्रहणमुपलक्षणं,तेन सक्तुपिण्डाऽऽदेश्च या सम्प्राप्तिस्तं गुडपिण्डाऽऽदिकं तदुभयपिण्डं गुणनिष्पन्नसमयप्रसिद्धपिण्ड-शब्दवाच्यमुक्तवन्तस्तीर्थकरगणधराः. इहापि नामनामवतो-रभेदोपचारात् एवं गाथायां निर्देश , उपचाराभावे त्वयं भा-वार्थः-तद्विषयं पिण्ड इति नाम उभयजम्, अन्वर्थयुक्त-त्वात्समयप्रसिद्धत्वाच्चेति ।

सम्प्रत्युभयातिरिक्तं सामान्यतो नाम प्रतिपादयति–

उभयाइरित्तमहवा, अन्नं पि हु अत्थि लोइयं नाम ।
अत्ताभिप्पायकयं, जह सीहगदेवदत्ताई ॥४॥ ( भा० )

अथवेति नाम प्रकारान्तरताद्योतक , ' उभयातिरिक्तं ' गौणसमयजविभिन्नम् , अन्यदप्यस्ति ' लौकिकं ' लोके प्र-सिद्धमात्माभिप्रायकृतं नाम, अनुभयजमिति भावार्थः । तदे-वोदाहरणेन समर्थयमान आह–यथा सिंहकदेवदत्ताऽऽदि.आ-दिशब्दाद्यज्ञदत्ताऽऽदिपरिग्रहः इदं हि सिंहदेवदत्ताऽऽदिकं ना-म शौर्यक्रौर्याऽऽदिगुणनिबन्धनोपचाराभावे देवा एनं देयासु रिति व्युत्पत्त्यर्थासम्भवे च यस्य कस्यचिदात्माऽभिप्रायतः पित्रादिभिर्दीयमानं न गौणमन्वर्थविकलत्वान्नापि समयप्र-सिद्धमत उभयातिरिक्तमिति । एवं पिण्ड इत्यपि नाम उभ-यातिरिक्तं भावनीयम् । ननु पिण्ड इति नाम निर्युक्तिगाथा-यामुभयातिरिक्तं नोपन्यस्तं,तत्कथं भाष्यकृता व्याख्यायते ?। तदयुक्तं,नोपन्यस्तमित्यसिद्धेः, अपिशब्देन तत्र सूचितत्वात् ।

तथा चाऽऽह भाष्यकृत्-

गोणसमयाइरित्तं, इणमन्नं वाऽवि सूइयं नाम ।
जह पिंडउ त्ति कीरइ, कस्सइ नामं मणूसस्स ॥ ५ ॥

इदं पिण्ड इति नाम । अन्यत्रा-' गौणसमयातिरिक्तं ' गौ-णसमयजविभिन्नमपिशब्दसूचितमस्ति, तदेव दर्शयति-यथा कस्यापि मनुष्यस्य पिण्ड इति नाम क्रियते, तद्धि न गौ-णं. प्रभूतद्रव्यसंश्लेषासम्भवाच्छरीरावयवसङ्घातस्य चावि-वक्षणात्, नापि समयकृतम्, अत इदमुभयातिरिक्तमिति । ननु समयकृतोभयातिरिक्तयोर्न कश्चित्परस्पर विशेष उपल-भ्यते, उभयत्राप्यन्वर्थविकलत्वादात्माभिप्रायकृतत्वाविशेषा-च्च,तत्कथं द्वयोरुपादानम् ?,साङ्केतिकमित्येवोच्यताम् । एवं हि द्वयोरपि ग्रहणं भवति । तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह हि यल्लौकिकं नाम साङ्केतिकं तत्पृथग्जनाः सामा-यिकाश्च व्यवहरन्ति, यत्पुनः समय एव साङ्केतिकं, तन् सामायिका एव न पृथग्जनाः ।

तथा चाऽऽह भाष्यकृत्–

तुल्लेऽवि अभिप्पाए, समयपसिद्धं न गिरहए लोओ ।
जं पुण लोयपसिद्धं, तं सामइया उवचरंति ॥६॥ (भा०)

( अभिप्रायशब्दस्य बहवोऽर्थाः ' अभिप्पाय ' शब्दे प्रथमभागे ७२५ पृष्ठे गताः ) इहाभिप्रायशब्देन पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादभिप्रायकृतत्वमुच्यते । त-त्रायमर्थः—अभिप्रायेण इच्छामात्रेण कृतं न तु वस्तु-बलप्रवृत्तमभिप्रायकृतं , तस्य भावोऽभिप्रायकृतत्वं, साङ्के-तिकत्वमित्यर्थः, तस्मिंस्तुल्येऽपि समानेऽपि, आस्तामस-माने इत्यपिशब्दार्थः, समयप्रसिद्धं ' लोकः ' पृथग्जनरूपो न गृह्णाति न समयप्रसिद्धेन साङ्केतिकेन नाम्ना व्यवहरति, न खलु पृथग्जनो भोजनाऽऽदिकं समुद्देशाऽऽदिना स मयप्रसिद्धेन साङ्केतिकेन नाम्ना व्यवहरति, यत्पुनर्लोक-प्रसिद्धं तत्पृथग्जनाः सामयिकाश्चोपचरन्ति, तत इत्थं स-मयकृतोभयातिरिक्तयो स्वभावभेदाद् तद् द्वयोरपि पृथगुपा-दानमर्थवत् । एतेन गौणोभयकृतयोरपि स्वभावभेदसूचनेन पृथगुपादानं सार्थकमुपपादितं द्रष्टव्यम् । तथाहि-यद्यपि गौणमुभयकृतं चान्वर्थयुक्तत्वेनाविशिष्टं, तथापि यद्गौणं त-त्पृथग्जना. सामयिकाश्च व्यवहरन्ति, यत्पुनः समयप्रसि-द्धं गौणं तत्सामयिका एव, न पृथग्जना , तेषा तेन प्र-योजनाभावात् समयप्रसिद्धेन हि नाम्ना गौणेनापि यथो-क्तसमयपरिपालननिष्पन्नचेतसां गृहीतव्रतानां प्रयोजनं न गृ-हस्थानाम्, अतः स्वभावभेदात्तयोरपि पृथगुपन्यासः सा-र्थक इति । तदेवं नामपिण्डो निर्युक्तिकृतोपदर्शितो भाष्य-कृता सप्रपञ्चं व्याख्यातः ।

स्थापनापिण्डः । साम्प्रतं यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं निर्युक्ति-कृता ' ठवणापिंडं अतो वोच्छं ' तत्समर्थयमानः स एवाऽऽह–

अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे वा ।
सब्भावमसब्भावं, ठवणापिंडं वियाणाहि ॥ ७ ॥

सत इव विद्यमानस्येव भावः सत्ता सद्भावः । किमुक्तं भवति ?- स्थाप्यमानस्येन्द्राऽऽदेरनुरूपाङ्गोपाङ्गचिह्नवाहनप्रहरणाऽऽदि-परिकररूपो य आकारविशेषो यद्दर्शनात्साक्षादिव्यमान इवे-न्द्राऽऽदिर्लक्ष्यते स सद्भाव.,तदभावोऽसद्भावः,तत्र सद्भाव-मसद्भावं चाऽऽश्रित्य 'अक्षे चन्दने कपर्दे वराटके,वाशब्दोऽ-ङ्गुलीयकाऽऽदिसमुच्चयार्थः। उभयत्रापि च जातावेकवचनं, तथा काष्ठे दारुणि, 'पुस्ते' ढिउल्लिकाऽऽदौ वाशब्दो लेप्यपा-षाणसमुच्चये, चित्रकर्मणि वा या पिण्डस्य स्थापना साऽ-

क्षाऽऽदिः काष्ठाऽऽदिष्वाकारविशेषो वा पिण्डत्वेन स्थाप्यमानः स्थापनापिण्डः । इयमत्र भावना-यदा काष्ठे लेप्ये उपले चित्रकर्म्मणि वा प्रभूतद्रव्यसंश्लेषरूपः पिण्डाकारः साक्षाद्विद्यमान इवालिख्यते यद्वा अक्षाः कपर्दिका अङ्गुलीयकाऽऽदयो वा एकत्र संश्लेष्य पिण्डत्वेन संस्थाप्यन्ते, यथैष पिण्ड स्थापित इति तदा तत्र पिण्डाऽऽकारस्योपलभ्यमानत्वात् सद्भावतः पिण्डस्थापना, यदा त्वेकस्मिन्नक्षे वराटकेऽङ्गुलीयके वा पिण्डत्वेन स्थापना-एष पिण्डो मया स्थापित इति,तदा तत्र पिण्डाऽऽकारस्यानुपलभ्यमानत्वात् , अक्षाऽऽदिगतपरमाणुसङ्घातस्य चाविवक्षणादसद्भावतः पिण्डस्थापना,चित्रकर्म्मण्यपि यदा एकबिन्द्वालिखनेन पिण्डस्थापना यथैष पिण्ड आलिखित इति विवक्षा तदा प्रभूतद्रव्यसंश्लेषाऽऽकारादर्शनादसद्भावपिण्डस्थापना, यदा पुनरेकबिन्द्वालिखनेऽपि एष मया गुडपिण्ड ओदनपिण्डः सक्तुपिण्डो वा आलिखित इति विवक्षा तदा सद्भावतः पिण्डस्थापना ।

अमुमेव सद्भावासद्भावस्थापनाविभागं भाष्यकृदुपदर्शयति-

इक्को उ असब्भावे, तिण्हं ठवणा उ होइ सब्भावे ।
चित्तेसु असब्भावे, दारुअलेप्पोवले सियरो ।७। (भा०)

एकोऽक्षो वराटकोऽङ्गुलीयकाऽऽदिर्वा यदा पिण्डत्वेन स्थाप्यते । तदा सा पिण्डस्थापना ' असद्भावे ' असद्भावविषया, असद्भाविकीत्यर्थः,तत्र पिण्डाऽऽकृतेरनुपलभ्यमानत्वात्,अक्षाऽऽदिगतपरमाणुसङ्घातस्य चाविवक्षणात् । यदा तु त्रयाणामक्षाणां वराटकानामङ्गुलीयकाऽऽदीनां वा परस्परमेकत्र संश्लेषकरणेन पिण्डत्वेन स्थापना तदा सा पिण्डस्थापना, सद्भावे सद्भाविकी,तत्र पिण्डाऽऽकृतेरुपलभ्यमानत्वात्,त्रयाणां चेत्युपलक्षणं, तेन द्वयोरपि बहूनां चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तथा ' चित्रेषु ' चित्रकर्मसु यदैकबिन्द्वालिखनेन पिण्डस्थापना तदा साऽप्यसद्भावे, यदा तु चित्रकर्मस्वपि अनेकबिन्दुसंश्लेषालिखनेन प्रभूतद्रव्यसंघाताऽऽत्मकपिण्डस्थापना तदा सा सद्भावस्थापना, पिण्डाऽऽकृतेस्तत्र दर्शनात्, तथा-दारुफलेप्योपलेषु पिण्डाऽऽकृतिसम्पादनेन या पिण्डस्य स्थापना स ' इतरः ' सद्भावस्थापनापिण्डः, तत्र पिण्डाऽऽकारस्य दर्शनात् । तदेवमुक्तः स्थापनापिण्डः । सम्प्रति द्रव्यपिण्डस्याऽवसरः । स च द्विधा-आगमतो, नो आगमतश्च । तत्राऽऽगमतः पिण्डशब्दार्थस्य ज्ञाता चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्, नोआगमतस्त्रिधा । तद्यथा-ज्ञशरीरद्रव्यपिण्डः, भव्यशरीरद्रव्यपिण्डः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यपिण्डश्च । तत्र पिण्डशब्दार्थज्ञस्य यच्छरीरं सिद्धशिलातलाऽऽदिगतमपगतजीवितं तद् भूतपिण्डशब्दार्थपरिज्ञानकारणत्वात् ज्ञशरीरद्रव्यपिण्डः, यस्तु बालको नेदानीमवबुध्यते पिण्डशब्दार्थम्, अथ चायत्यामायत्यां तेनैव शरीरेण परिवर्द्धमानेन भोत्स्यते स भावपिण्डशब्दार्थपरिज्ञानकारणत्वात् भव्यशरीरद्रव्यपिण्डः ।

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यपिण्डं निर्युक्तिकृदाह-

तिविहो उ दव्वपिंडो,सच्चित्तो मीसओ अचित्तो य ।
एक्केक्कस्स य एत्तो, नव नव भेआ उ पत्तेयं ॥ ८ ॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यपिण्डस्त्रिधा । तद्यथा-सचित्तो, मिश्रोऽचित्तश्च । तत्र मिश्रः सचित्ताचित्तरूपः, इह पृथिवीकायाऽऽदिकः पिण्डत्वेनाभिधास्यते, स च पूर्वं सचित्तो भवति,तत स्वकायशस्त्राऽऽदिभिः प्रासुकीक्रियमाणः कियन्तं कालं मिश्रो भवति, तत ऊर्ध्वमचित्तः, तत एतदर्थस्थापनार्थं सचित्तमिश्राचित्ताः क्रमेणोक्ताः, ' इतो ' भेदत्रयाभिधानादनन्तरम् ' एकैकस्य ' सचित्ताऽऽदेर्भेदस्य प्रत्येकं नव नव भेदा वाच्या भवन्ति ।

तानेव नवनवभेदानाह-

पुढवी आउक्काओ, तेऊ वाऊ वणस्सई चेव ।
बेइंदियं तेइंदिय, चउरो पंचेंदिया चेव ॥ ९ ॥

इह पिण्डशब्दः पूर्वगाथातोऽनुवर्त्तमान प्रत्येकं सम्बध्यते । तद्यथा---पृथिवीकायपिण्डोऽप्कायपिण्डस्तेजस्कायपिण्डो वायुकायपिण्डो वनस्पतिकायपिण्डो द्वीन्द्रियपिण्डस्त्रीन्द्रियपिण्डश्चतुरिन्द्रियपिण्डः पञ्चेन्द्रियपिण्डश्च ।

सम्प्रत्यमीषामेव नवानां भेदानां सचित्तत्वाऽऽदिकं विभावयिषुः प्रथमतः पृथिवीकायं भावयति-

पुढवीकाओ तिविहो, सचित्तो मीसओ य अचित्तो ।
सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छय ववहारओ चेव ॥ १० ॥

पृथिवीकायस्त्रिविधः । तद्यथा-सचित्तो, मिश्रः, अचित्तश्च । सचित्तः पुनर्द्विधा । तद्यथा-निश्चयतो, व्यवहारतश्च ।

एतदेव निश्चयव्यवहाराभ्यां सचित्तस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयति-

निच्छयओ सच्चित्तो, पुढविमहापव्वयाण बहुमज्झे ।
अच्चित्तमीसवज्जो, सेसो ववहारसच्चित्तो ॥ ११ ॥

निश्चयतः सचित्तः पृथिवीकायो धर्माऽऽदीनां पृथिवीनां मेर्वादीनां महापर्वतानाम्,उपलक्षणमेतत्, तेन टङ्काऽऽदीनां च बहुमध्यभागे वेदितव्यः, तत्राचित्ततया मिश्रतायाश्च हेतुना शीताऽऽदीनामसम्भवात् , शेष पुनः अचित्तमिश्रवर्ज्जो वक्ष्यमाणस्थानसम्भविमिश्राचित्तव्यतिरिक्तो निराबाधाऽऽरण्यभूम्यादिषु व्यवहारतः सचित्तो वेदितव्यः । उक्तः सचित्तपृथिवीकायः ।

सम्प्रति तमेव मिश्रमाह-

खीरदुमहेट्ठपंथे, कट्ठोले इंधणे य मीसो उ ।
पोरिसि एग दुग तिगं,बहु इंधण मज्झ थोवे य ॥१२॥

( खीरदुमहेट्ठ त्ति ) क्षीरद्रुमा वटाश्वत्थाऽऽदयस्तेषामधस्तात् तत्रेप पृथिवीकायः स मिश्रः । तत्र हि क्षीरद्रुमाणां माधुर्येण शस्त्रत्वाभावात् कियान्सचित्त शीताऽऽदिशस्त्रसम्पर्कसम्भवाच्च कियानचित्त इति मिश्रता, तथा पथि ग्रामान्नगराद्वा बहिर्यं पृथिवीकाय वर्तते सोऽपि मिश्रो, यतस्तत्र गन्त्रीचक्राऽऽदिभिर्य उत्खातः पृथिवीकायः स कियान्सचित्त कियांश्च शीतयाताऽऽदिभिरचित्तीकृत इति मिश्रः, (कट्ठोले त्ति) कृष्टो हलविदारितः सोऽपि प्रथमतो हलेन विदार्यमाण सचित्त,तत शीतयाताऽऽदिभि कियानचित्तीक्रियते इति मिश्र तथाऽऽर्द्रो जलमिश्रित । तथाहि-मेघस्यापि जलं सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निपतत् कियन्तं पृथिवी-

कायं विराधयति ततो जलाऽऽर्द्रपृथिवीकायो मिश्र उपपद्यते, सोऽप्यन्तर्मुहूर्तादनन्तरमचित्तीभवति, परस्परशस्त्रत्वेन द्वयोरपि पृथिव्यप्काययोरचित्तीभवनसम्भवात्। यदा त्वतिप्रभूतं मेघजलं निपतति तदा तज्जलं यावन्नाद्यापि स्थितिं बध्नाति तावत् मिश्रः पृथिवीकायः, स्थितिबन्धे तु कृते सति सचित्तोऽपि सम्भाव्यते, तथा इन्धने गोमयाऽऽदौ मिश्रः। तथाहि-गोमयाऽऽदिकमिन्धनं सचित्तपृथिवीकायस्य शस्त्रं, शस्त्रेण च परिपीड्यमानो यावन्नाद्यापि सर्वथा परिणमति तावन्मिश्रः। अत्रैवेन्धनविषये कालमानमाह-( पोरिसीत्यादि ) वह्निन्धनमध्यगत एकां पौरुषीं यावन्मिश्रो, मध्यमेन्धनसंपृक्तस्तु पौरुषीद्विकम्, अल्पेन्धनसम्पृक्तस्तु पौरुषीत्रिकं, तत ऊर्द्धमचित्त इति। तदेवमुक्तो मिश्रः पृथिवीकायः।

साम्प्रतमचित्तमाह-

सीउण्हखारखत्ते, अग्गीलोणूसअंबिलेनेहे ।
वुक्कंतजोणिएणं, पत्र्योयणं तेणिमं होइ ॥ १३ ॥

इह सर्वत्र सप्तमी तृतीयाऽर्थे, प्राकृतलक्षणवशात्। तथा चाऽऽह पाणिनिः प्राकृतलक्षणे-' व्यत्ययोऽप्यासाम।' इत्यत्र सूत्रे सप्तमी तृतीयार्थे। यथा-' तिसु तेसु अलंकिया पुहवी ' इति। ततोऽयमर्थः-शीतोष्णक्षारक्षत्रेण, तत्र शीतं प्रतीतम्, उष्णः सूर्याऽऽदिपरितापः, क्षारः यवक्षाराऽऽदिः, क्षत्रं करीषविशेषः। एतैः, तथा ( अग्गीलोणूसअंबिलेनेहे इति ) अग्निः वैश्वानरः, लवणं प्रतीतम्, ऊषः ऊषराऽऽदिक्षेत्रोद्भवो लवणिमसम्मिश्रो रजोविशेषः, आम्लं काञ्जिकं, स्नेह तैलाऽऽदिः। एतैश्चाचित्तः पृथिवीकायो भवति, इह शीताग्न्यम्लक्षारक्षत्रस्नेहाः परकायशस्त्राणि, ऊषः स्वकायशस्त्रम्, उष्णश्चेह सूर्यपरितापरूपः स्वभावोष्णः, तथाविधपृथिवीकायपरितापरूपो वा गृह्यते। नाग्निपरितापरूपस्तस्याग्निग्रहणेनैव गृहीतत्वात्, ततः सोऽपि, स्वकायशस्त्रोपादानेन परकायशस्त्रोपादानेन चान्यान्यानि स्वकायपरकायशस्त्राण्युपलक्ष्यन्ते, यथा कटुकरसो मधुररसस्य स्वकायशस्त्रमित्यादि, एतेन पृथिवीकायस्याचित्ततया भवनं चतुर्द्धा प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्। तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतश्च। तत्र स्वकायेन परकायेन वा यदचित्तीकरणं तद् द्रव्यतः, यदा तु क्षाराऽऽदिक्षेत्रोत्पन्नस्य मधुराऽऽदिक्षेत्रोत्पन्नस्य च तुल्यवर्णस्य भूम्यादेः पृथिवीकायस्य परस्परं सम्पर्केणाचित्तताभवनं तदा तत् क्षेत्रतः, क्षेत्रस्य प्राधान्येन विवक्षणात्। यद्वा-मा भूदपरक्षेत्रोद्भवेन पृथिवीकायान्तरेण सह मीलनं, किन्त्वन्यत्र क्षेत्रे योजनशतात्परतो यदा नीयते तदा सर्वोऽपि पृथिवीकायः सर्वसाधपि क्षेत्राद्योजनशतादूर्द्धमानीतो भिक्षाऽऽहारन्वेन शीताऽऽदिसम्पर्कतश्चाऽऽवश्यमचित्तीभवति, इत्थं च क्षेत्राऽऽदिक्रमेणाचित्तीभवनमप्कायाऽऽदीनामपि भावनीयं, यावद्वनस्पतिकायिकानां, तथा च हरीतक्यादयो योजनशतादूर्द्धमानीताऽचित्तीभूतत्वादौषधाऽऽद्यर्थं साधुभिः प्रतिगृह्यन्ते इति। कालतस्त्वचित्तता स्वभावत आयुःक्षयेण सा च परमार्थतोऽतिशयज्ञानेनैव सम्यक् परिज्ञायते, न छाद्मस्थिकज्ञानेनेति न व्यवहारपथमवतरति। अत एव च तृषाऽतिपीडितानामपि साधूनां स्वभावतः आयुःक्षयेणाचित्तीभूतमपि तडागोदकं पानाय

वर्द्धमानस्वामी भगवान् नानुज्ञातवान्, इत्थंभूतस्याचित्तीभवनस्य छद्मस्थानां दुर्लक्ष्यत्वेन मा भूत् सर्वत्रापि तडागोदके सचित्तेऽपि पाश्चात्यसाधूनां प्रवृत्तिप्रसङ्ग इतिकृत्वा, भावतोऽचित्तीभवनं पूर्ववर्णाऽऽदिपरित्यागतोऽपरवर्णाऽऽदितया भवनम्। तदेवमुक्तोऽचित्तोऽपि पृथिवीकायः। एतेन चाचित्तेन साधूनां प्रयोजनम्। तथा चाऽऽह-(वुक्कंत इत्यादि) व्युत्क्रान्ता अपगता योनिः उत्पत्तिस्थान यस्य तेन विध्वस्तयोनिना प्रासुकेन, इदं वक्ष्यमाणस्वरूपं प्रयोजनं साधूना भवति।

तदेवोपदर्शयति-

अवरद्धिगविसबंधे, लवणेन व सुरभिउवलएणं वा ।
अचित्तस्स उ गहणं, पत्र्योयणं तेणिमं वऽन्नं ॥ १४ ॥

अपराधनम् अपराद्धं पीडाजनकता, तदस्यास्तीति अपराद्धिको लूतास्फोटः, सर्प्पाऽऽदिदंशो वा। विष प्रतीत तच्च दद्रूप्रभृतिषु चारितं सम्भवति, तयोरुपशमनाय बन्ध इव बन्धः प्रलेपस्तस्मिन् कर्त्तव्येऽचित्तपृथिवीकायस्य गौरमृत्तिकाकेदारतरिकाऽऽदिरूपस्य ग्रहणं प्रयोजनम्। यद्वा-लवणेन प्रतीतेन ( अचित्तस्स त्ति ) विभक्तिपरिणामेनेह तृतीयान्तं सम्बध्यते, अचित्तेनालवणभक्तभोजनाऽऽदौ प्रयोजनम्, अथवा सुरभ्युपलेन गन्धपाषाणेन गन्धरोहकाऽऽख्येन प्रयोजनं, तेन हि पामाप्रसूतवानघाताऽऽदिः क्रियते, वाशब्दो विकल्पार्थः, अथवा-तेन पृथिवीकायेनेदमन्यत्प्रयोजनम्।

तदेवाऽऽह-

ठाणनिसियणतुयट्टण-उच्चाराईण चेव उस्सग्गो ।
घुट्टगडगलगलेवो, एमाइ पत्र्योयणं बहुहा ॥ १५ ॥

इह साधुभिः सचित्तमिश्रपरिहारद्वारेणाचित्ते भूतलप्रदेशे यत् स्थानं कायोत्सर्गो विधीयते, यच्च निषीदनम् उपवेशनं, यच्च त्वगपवर्तनं स्वापः, यश्च उच्चाराऽऽदीनां पुरीषप्रस्रवणश्लेष्मनिष्ठ्यूतानामुत्सर्गः, तथा यो घुट्टको लेपितपात्रमसृणताकारकः पाषाणो, ये च डगलकाः पुरीषोत्सर्गानन्तरमपानप्रोञ्छनकपाषाणाऽऽदिखण्डरूपाः, यश्च लेपो भोगपुरपाषाणाऽऽदिनिष्पन्नस्तैल्वकपात्राभ्यन्तरे दीयते, एवमादि ' बहुधा ' बहुप्रकारम् अचित्तेन पृथिवीकायेन प्रयोजनम्। उक्तः सचित्ताऽऽदिभेदभिन्नः पृथिवीकायपिण्ड। पिं०।(अप्कायस्य पिण्डं सचित्तम् ' आउकाय ' शब्दे द्वितीयभागे २२ पृष्ठेऽवोचम् ) ( अचित्तेनाप्कायेन बहुप्रकारो द्रष्टव्यः ) चीवरधावनं संयतानां वर्षाकालादर्वाग् कल्पते, न शेषकालं, शेषकाले त्वनेकदोषसंभवात्। ( ते च दोषाः ' धावण ' शब्दे चतुर्थभागे २७५१ पृष्ठे गताः ) ( तेजस्काय ' तेउक्काइय ' शब्दे चतुर्थभागे २३४३ पृष्ठे गतः ) ( ' वाउक्काय ' शब्दे वक्ष्यामि वायुकायपिण्डम् ) ( द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियशब्देषु तत्तत्पिण्डाः ) तदेवं सचित्ताऽऽदिभेदभिन्नस्त्रिप्रकारोऽपि द्रव्यपिण्डः प्रत्येकं पृथिवीकायाऽऽदिभेदान्नवविध उक्तः। संप्रति एतेषामेव नवानां पृथिवीकायाऽऽदीनां द्व्यादिमिश्रणतो मिश्रं द्रव्यपिण्डमभिधित्सुराह—

अह मीसओ य पिंडो, एएसिं चिय नवण्ह पिंडाणं ।
दुगसंजोगाईओ, नायव्वो जाव चरमो त्ति ॥ ५३ ॥

अथेत्यानन्तर्यद्योतने, केवलपृथिवीकायाऽऽदिपिण्डाभिधाना-

नन्तरं मिश्रकपिण्डो व्याख्यायते इति द्योतयति । 'मिश्रकः' सजातीयविजातीयद्रव्यमिश्रणाऽऽत्मकः पिण्डः, एतेषामेव नवानां पिण्डानां द्व्यादिसंयोगाऽऽत्मको ज्ञातव्यः । तद्यथा-पृथिवीकायोऽप्कायश्चेति द्विकसंयोगे प्रथमो भङ्गः, पृथिवीकायस्तेजस्काय इति द्वितीयः, एवं द्विकसंयोगे षट्त्रिंशद्भङ्गा भावनीयाः । तथा त्रिकसंयोगे पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्काय इति प्रथमो भङ्गः, पृथिवीकायोऽप्कायो वायुकाय इति द्वितीयः । एवं त्रिकसंयोगे चतुरशीतिर्भङ्गाः । तथा-चतुष्कसंयोगे पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्कायो वायुकाय इति प्रथमो भङ्गः पृथिवीकायोऽप्कायस्तेजस्कायो वनस्पतिकाय इति द्वितीयः, एवं चतुष्कसंयोगे षड्विंशं शतं भङ्गानां भावनीयम् । पञ्चकसंयोगेऽपि षड्विंशं शतम् । षट्कसंयोगे चतुरशीतिः, सप्तकसंयोगे षट्त्रिंशत्, अष्टकसंयोगे नव, नवकसंयोगे एकः ; सर्वसङ्ख्या भङ्गानां पञ्चशतानि द्व्यधिकानि । एतेषां च भङ्गानामानयनार्थमियं करणगाथा-

" उभयमुह रासिदुगं, हिट्ठिल्लाणंतरेण भय पढमं ।
लद्धह रासिविभत्ते, तस्सुवरि गुणित्तु संजोगा ॥ १ ॥"

अस्याक्षरगमनिका- इह नवानां पदानां द्व्यादिसंयोगभङ्गा आनेतुमभिप्रेतास्ततस्तावत्प्रमाणौ द्वौ राशी उभयमुखौ स्थाप्येते । स्थापना चेयम्- $\frac{१\ २\ ३\ ४\ ५\ ६\ ७\ ८\ ९}{९\ ८\ ७\ ६\ ५\ ४\ ३\ २\ १}$ । अत्रैकस्योपरि नवकः, स्त एककसंयोगे नव भङ्गा द्रष्टव्याः, न च तत्र करणगाथाया व्यापारः, द्व्यादिसंयोगभङ्गाऽऽनयनार्थैव तस्याः प्रवृत्तत्वात्, ततोऽधस्तने राशौ पर्यन्तवर्तिन एककस्यानन्तरेण द्विकलक्षणेनोपरितनराशौ प्रथममङ्कं नवकरूपं भजेत् तस्य भागहारं कुर्यात्, ततो लब्धाः सार्द्धाश्चत्वारः, तेन च सार्धचतुष्केणाधोराशिनोपरितने प्रथमेऽङ्के विभक्ते लब्धेन तस्य द्विकलक्षणस्याङ्कस्योपरितनमङ्कमष्टकलक्षणं गुणयेत् ताडयेत्, जाताः षट्त्रिंशत्, इत्थं च गुणयित्वा 'संयोगाः' संयोगभङ्गा वाच्याः, यथा द्विकसंयोगे भङ्गाः षट्त्रिंशदिति, ततो भूयोऽपि त्रिकसंयोगभङ्गाऽऽनयनाय प्रथमपादरहिता करणगाथा व्यापार्यते, अधस्तने राशौ स्थितेन द्विकादनन्तरेण त्रिकेणोपरितनराशिव्यवस्थित त्रिकोपरितनसप्तकरूपाङ्कापेक्षया आद्यं षट्त्रिंशद्रूपमङ्कं भजेत्, ततो लब्धा द्वादश, तैश्चाधोराशिनोपरितनेऽङ्के विभक्ते लब्धैस्त्रिकलक्षणस्याङ्कस्योपरितनं सप्तकलक्षणमङ्कं गुणयेत, गुणिते च सति जाताश्चतुरशीतिः, एतावन्तस्त्रिकसंयोगेष्वपि भङ्गा आनेतव्याः; यावन्नवकसंयोगे एको भङ्गः । तथा चाऽऽह-( जाव चरिमो त्ति ) तावद्द्विकसंयोगाऽऽदिको मिश्रपिण्डो ज्ञातव्यो यावच्चरमो नवकनिष्पन्न एकसङ्ख्यो मिश्रपिण्डः, स च लेपमधिकृत्योपदर्श्यते, इहाक्षस्य धुरि म्रक्षितायां रजोरूपः पृथिवीकायो लगति, नदीमुत्तरतोऽप्कायः, लोहमया वपनघर्षणे तेजस्कायः, यत्र तेजस्तत्र वायुरिति वायुकायोऽपि, वनस्पतिकायो धूरेव, द्वित्रिचतुरिन्द्रिया सम्पातिमा सम्भवन्ति, मक्षिकादिचर्ममयनाडिकाऽऽदेश्च घृष्यमाणस्यावयवरूपः पञ्चेन्द्रियपिण्डः, इत्थंभूतेन चाक्षस्य अञ्जनेन लेपः क्रियते, इत्यसावुपयोगी, इतिशब्दो मिश्रपिण्डसमाप्त्यर्थः, एतावानेव द्रव्यपिण्डो मिश्रः सम्भवतीति ।

सम्प्रत्यस्यैव मिश्रपिण्डस्य कानिचिदुदाहरणान्युपदर्शयति-

सोवीरा गोरसासव, वेसण भेसज्ज नेह साग फले ।
पोग्गल लोण गुलोयण, णेगा पिंडा उ संजोगे ॥५४॥

'सौवीर' काञ्जिकं, तच्चाप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायाऽऽदिपिण्डरूपम् । तथाहि-तत्राप्कायस्तण्डुलधावनं, तेजस्कायोऽवश्रावणं, वनस्पतिकायस्तण्डुलावयवा यत्सम्पर्कतस्तण्डुलोदकं गडुलमुपजायते, लवणावयवाश्च केचन तत्र लवणसम्मिश्रतण्डुलोदकाऽऽदिभिः सह पतन्ति, ततस्तत्र पृथिवीकायोऽपि सम्भवतीति, एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्तव्या । तथा 'गोरसं' तक्राऽऽदि, तच्चाप्कायत्रसकायसम्मिश्रं भवति, तथा 'आसवः' मद्यं, तच्चाप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायाऽऽदिपिण्डरूपं, 'वेसनं' जीरकलवणाऽऽदि, तच्च वनस्पतिपृथिवीकायाऽऽदिपिण्डरूपं, 'भेषजं' यवागूप्रभृति, तच्चाप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायपिण्डरूपं, स्नेहः घृतवशाऽऽदि, तच्च तेजस्कायत्रसकायाऽऽदिपिण्डरूपं, 'शाकः' वत्थुलभार्जिकाऽऽदिरूपः, स च वनस्पतिकायपृथिवीकायत्रसकायाऽऽदिपिण्डरूपः, 'फलम्' आमलकाऽऽदि, तच्चेह पक्वं ग्राह्यं, ततस्तदपीत्थमेव भावनीयम् । ( पोग्गलं ) मांसं, तदपीह पक्वं गृह्यते, ततस्तदपि शाकवद्भावनीयं, 'लवण' प्रतीतं, तच्चाप्कायपृथिवीकायरूपं, 'गुडौदनौ' प्रतीतौ, तावपि फलवद्भावनीयौ । एवमन्येऽप्यनेके यथासम्भवं संयोगे पिण्डा भावनीयाः, केवलं तं तं संयोगं परिभाव्य यो यत्र द्विकसंयोगाऽऽदावन्तर्भवति स तत्र स्वयमेवान्तर्भावनीय । तदेवमुक्तः सप्रपञ्चं द्रव्यपिण्डः । पिं० ।

लेपपिण्डसूचनायाऽऽह-

अह होइ लेवपिंडो, संजोगेणं णवण्ह पिंडाणं ।
नायव्वो निप्फन्नो, परूवणा तस्स कायव्वा ॥ ६२ ॥

अथ भवति लेपपिण्डः संयोगेन नवानां पिण्डानां निष्पन्नो ज्ञातव्यः । कथं ?, चक्का गिड्डिया, तत्थ अक्खेत्ते पुढविकायस्स रओ लगति, आउकाया नदी जे उत्तरणे लग्गंति, तेउकाओ तत्थ लोह घास इति, वाऊ तत्थेव, यत्राऽग्निस्तत्र वायुना भवितव्यं, वणस्सइअक्खो वितिओ उ संपातिमा पाणा पडंति, पंचिंदियाण वि चम्ममयस्स त्ति । एवं संयोगेन निप्फन्नो लेवो । इदानीं तस्य प्ररूपणा कर्तव्या ॥ ६२ ॥ ओघ० । ( सा च प्ररूपणा विस्तरतः 'लेवपिंड' शब्दादवगन्तव्या )

सम्प्रति क्षेत्रकालपिण्डावभिधित्सुराह-

तिन्नि उ पएससमया, ठाणट्ठिइउ दविए तया एसा ।
चउपंचमपिंडाणं, जत्थ जया तप्परूवणया ॥ ५५ ॥

इह क्षेत्रकालपिण्डौ-"नामं ठवणा पिंडे, दव्वे खेत्ते य काले भावे य ।" इति गाथानिर्देशक्रमापेक्षया चतुर्थपञ्चमपिण्डौ, क्षेत्रम् आकाशम् कालः समयविवक्षारूपः, तत्र त्रय प्रदेशाः क्षेत्रप्रस्तावादाकाशप्रदेशाः, तथा त्रयः समयाः कालस्य निर्विभागा भागा, तुशब्दो विशेषणार्थः, स च परस्परमनुगता इति विशेषयति, 'चतुष्पञ्चमपिण्डयोः' क्षेत्रकालपिण्डयोः स्वरूपम् । इयमत्र भावना-त्रय परस्परमनुगता आकाशप्रदेशाः त्रय परस्परमनुगताः समया यथाक्रमं क्षेत्रपिण्ड कालपिण्ड इति वेदितव्याः, त्रिग्रहणं चोपलक्षणं, तेन द्विचतुरादयोऽपि द्रष्टव्याः । तदेवं क्षेत्रकालपिण्डौ निरुपचरितौ प्रतिपाद्य सम्प्रति तावेव सोपचारावभिधत्से-( ठाणट्ठिइउ दविए

तया एसा) (दविए त्ति) द्रव्ये पुद्गलस्कन्धरूपे स्थानम्-अवगाहः, स्थितिः कालतोऽवस्थानं, स्थानं च स्थितिश्च स्थानस्थिती, ताभ्यां स्थानास्थितितः। अत्र पञ्चमी "यप् कर्म्माऽऽधारे" इत्यनेन सूत्रेण। ततोऽयमर्थः-स्थानं स्थितिं चाऽऽश्रित्य यस्तदाऽऽदेशः क्षेत्रकालाऽऽदेशः क्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया क्षेत्रेण कालेन च व्यपदेशस्तस्मात्तुपञ्चमपिण्डयोः प्ररूपणा कार्या। किमुक्तं भवति ?-स्कन्धरूपे पुद्गलद्रव्येऽवगाहचिन्तामाश्रित्य क्षेत्रप्राधान्यविवक्षया यदा क्षेत्रेण व्यपदेशो यथा एकप्रादेशिकोऽयं द्विप्रादेशिकोऽयं त्रिप्रादेशिक इत्यादि, स इत्थं क्षेत्रतो व्यपदिश्यमानः क्षेत्रपिण्ड इत्युच्यते, क्षेत्रतो व्यपदिष्टः पिण्डः क्षेत्रपिण्ड इति व्युत्पत्तेः। यदा तु कालतोऽवस्थानमधिकृत्य कालप्राधान्यविवक्षया कालेन व्यपदेशो, यथा एकसामयिको द्विसामयिक इत्यादि, तदा स कालपिण्डोऽपि भण्यते, कालतो व्यपदिष्टः पिण्डः कालपिण्ड इति समासाऽऽश्रयणात्। अथवा-त्रिप्रदेशाऽऽद्यात्मकक्षेत्रपिण्डे, यदि वा-त्रिसमयाऽऽद्यात्मककालपिण्डे यदवस्थितं पुद्गलद्रव्यं तत्तदादेशात् क्षेत्रकालव्यपदेशात्, क्षेत्रकालोपचारादित्यर्थः। यथाक्रमं क्षेत्रपिण्डः कालपिण्ड। प्रकारान्तरेण सोपचारौ क्षेत्रकालपिण्डावाह-(जत्थ जया तप्परूवणया) 'यत्र वसत्यादौ यदा प्रथमपौरुष्यादौ 'तत्प्ररूपणा' पिण्डप्ररूपणा क्रियते सः पिण्डः प्ररूप्यमाणो नामाऽऽदिपिण्डो वसत्यादिक्षेत्रमधिकृत्य क्षेत्रपिण्ड उच्यते, यथाऽमुकवसतिरूपक्षेत्रपिण्ड इति, प्रथमपौरुष्यादिकं तु कालमधिकृत्य कालपिण्डो यथाऽमुकप्रथमप्रहराऽऽदिरूपः कालपिण्ड इति। "इह तिण्णि उ पएससमया" इत्यत्र पर आक्षेपमाह-ननु मूर्त्तेषु द्रव्येषु परस्परमनुवेधतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पिण्ड इति व्यपदेशो घटते, क्षेत्रकालयोस्तु न परस्परमनुवेधो नाऽपि काले सङ्ख्याबाहुल्यम्। तथाहि-क्षेत्रमाकाशमुच्यते "खेत्तं खलु आगास" इति वचनात्, तच्च नित्यमकृत्रिमत्वात्, ततः सदैव विविक्तप्रदेशाऽऽत्मकतया व्यवस्थितमिति कथमाकाशप्रदेशानामनुवेधः?, एकत्र मिश्रणाभावात्। कालोऽपि पूर्वापरसमयविविक्तो वार्त्तमानिकसमयरूप एव परमार्थिक, पूर्वापरसमययोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन परमार्थतोऽसत्त्वात्, सतां च परस्परमनुवेधः संख्याबाहुल्यं वा नासतां सदसतां वा, ततः कालद्वयमपि नोपपद्यते इति कथं तत्र पिण्ड इति व्यपदेशः ?।

अत्र प्रतिविधानमभिधित्सुराह-

मुत्तदविएसु जुज्जइ, जइ अन्नोऽन्नाणुवेहओ पिंडो ।
मुत्तिविमुत्तेसु वि सो, जुज्जइ नणु संखबाहल्ला ॥ ५६ ॥

ननु यदि मूर्त्तेषु द्रव्येषु 'अन्योऽन्यानुवेधतः' परस्परानुवेधतः, 'संखबाहुल्ला' इत्यप्यत्र सम्बध्यते, 'सङ्ख्याबाहुल्यतश्च' आदिसङ्ख्यासम्भवतश्च पिण्ड इति व्यपदेशो 'युज्यते' योगमुपैति, घटते इत्यर्थः। तर्हि स पिण्ड इति व्यपदेशः 'मूर्त्तिविमुक्तेष्वपि' मूर्त्तिरहितेष्वपि, अमूर्त्तेष्वित्यर्थः, क्षेत्रप्रदेशकालसमयेषु युज्यते, तत्राऽपि पिण्डशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य परस्परानुवेधस्य सङ्ख्याबाहुल्यस्य च सम्भवात्। तथाहि-सर्वेऽपि क्षेत्रप्रदेशाः परस्पर नैरन्तर्यलक्षणेन संबन्धेन सम्बद्धा अवतिष्ठन्ते, ततो यथा बादरनिष्पादिते चतुरस्राऽऽदिघने परस्परनैरन्तर्यरूपानुवेधतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पिण्ड इति व्यपदेशः प्रवर्त्तते। तथा क्षेत्रप्रदेशेष्वपि पिण्डशब्दः प्रवर्त्तमानो न विरुध्यते, तत्राऽपि परस्परनैरन्तर्यरूपस्यानुवेधस्य सङ्ख्याबाहुल्यस्य च सम्भवात्, तथा कालोऽपि परमार्थतः सन् द्रव्यं च, ततः सोऽपि परिणामे, सतः सर्वस्य परिणामित्वाभ्युपगमात्, अन्यथा सत्त्वायोगात्, एतच्चान्यत्र धर्मसङ्ग्रहणिटीकादौ * विभावितमिति नेह भूयो विभाव्यते, ग्रन्थगौरवभयात्, परिणामी चान्वयी तेन तेन रूपेण परिणममान उच्यते, ततोऽस्ति वार्त्तमानिकस्याऽपि समयस्य पूर्वापरसमयाभ्यामनुवेधः, केवलं तौ पूर्वापरसमयावसन्तावपि बुध्या सन्ताविव विवक्षितौ, ततः सङ्ख्याबाहुल्यमपि तत्रास्तीति पिण्डशब्दप्रवृत्त्यविरोधः।

सम्प्रति क्षेत्रे पिण्डशब्दप्रवृत्त्यविरोधं
दृष्टान्तद्वारेण समर्थयते-

जह तिपएसो खंधो, तिसु वि पएसेसु जो समोगाढो ।
अविभागेण संबद्धो, कहं तु नेवं तदाधारो ? ॥ ५७ ॥

यथा कश्चिदनिर्दिष्टव्यक्तिकः 'त्रिप्रदेशिकः' त्रिपरमाण्वात्मकः स्कन्धस्त्रिष्वप्याकाशप्रदेशेष्ववगाढो, न त्वेकस्मिन् द्वयोर्वेत्यपिशब्दार्थः 'अविभागेन सम्बद्धो' विभागो नैरन्तर्याभावस्तदभावोऽविभागो, नैरन्तर्यमित्यर्थः। तेन सम्बद्धो नैरन्तर्यसम्बन्धसंबद्ध इति भावः, पिण्ड इति व्यपदिश्यते, नैरन्तर्येणावस्थानभावात् सङ्ख्याबाहुल्यतश्च, एवं त्रिप्रदेशावगाढत्रिपरमाणुस्कन्ध इव तदाधारः-त्रिपरमाणुस्कन्धाऽऽधार प्रदेशत्रयसमुदायः कथं तु न पिण्ड इति व्यपदिश्यते ?, सोऽपि पिण्ड इति व्यपदिश्यताम्, उभयत्राप्युक्तनीत्या विशेषाभावात्।

सम्प्रति "जत्थ जया तप्परूवणया" इत्येतद्व्याचिख्यासुर्नामस्थापनाद्रव्यभावपिण्डानां योगविभागसम्भवात् पारमार्थिकं पिण्डत्वं, क्षेत्रकालयोस्तु योगविभागासम्भवत औपचारिकं प्रतिपादयन्नाह-

अहवा चउण्ह नियमा, जोगविभागेण जुज्जए पिंडो ।
दोसु जहियं तु पिंडो, वण्णिज्जइ कीरए वावि ॥५८॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने, पूर्वं हि क्षेत्रकालयोर्यथासङ्ख्यं प्रदेशसमयानां परस्पराऽनुवेधतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पारमार्थिकं पिण्डत्वमुक्तम्। यद्वा-तत्र युज्यत एव, योगविभागासम्भवात्। तथाहि-लोके यत्र योगे सति विभागः कर्तुं शक्यते, विभागे वा सति योगः तत्र पिण्ड इति व्यपदेशः, न च क्षेत्रप्रदेशेषु योगे सत्यपि विभागः कर्तुं शक्यः, नित्यत्वेन तेषां तथाव्यवस्थितानामन्यथा कर्तुमशक्यत्वात्, ततो न तत्र पारमार्थिकं पिण्डत्वं, तथा समयो वर्तमान एव सन् नातीतोऽनागतो वा, तयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात्, ततोऽत्र विभाग एव न तु कदाचनाऽपि योग इति परमार्थिकपिण्डत्वाभावः, ततोऽन्यथा क्षेत्रकालपिण्डप्ररूपणा कर्तव्येति प्रकारान्तरता, 'चतुर्णां' नामस्थापनाद्रव्यभावपिण्डानां 'योगविभागेन' ... नियमात्पिण्ड इति व्यपदेशो युज्यते। तथाहि-नाम्नः

* एतन्नामा ग्रन्थः।

एड., " नामनामवतोरभेदोपचारात् ।" यद्वा-नाम्ना पिण्डो नामपिण्ड इति व्युत्पत्तेः पुरुषाऽऽदिकमेव भण्यते, तस्य च हस्तपादाऽऽदिभिरवयवैर्युक्तस्याऽपि खड्गाऽऽदिभिर्विभागः कर्तुं शक्यते इत्यस्ति योगे सति विभाग । यद्वा-पूर्वं गर्भे मांसपेशीरूपस्य सतो हस्ताऽऽदिभिरवयवैर्वियोगः पश्चात्क्रमेण तैः सह संयोग इति विभागे सति योगः ततः पिण्डरूपता, तथा स्थापनापिण्डेऽक्षत्रिकाऽऽदिरूपे पूर्वं विभागे सति संयोग., संयोगे वा सति विभाग इति पिण्डरूपता, द्रव्यपिण्डेऽपि गुडौदनाऽऽदिके विभागपूर्वकः संयोगः संयोगपूर्वको वा विभाग. सुप्रतीत इति पारमार्थिकपिण्डरूपता, भावपिण्डेऽपि भावभाववतो. कथञ्चिदभेदात्साध्वादिरेव मूर्त्तो विग्रहवान् गृह्यते, तत्र संयोगविभागौ नामपिण्ड इव तात्त्विकाविति पारमार्थिकी पिण्डरूपता. क्षेत्रकालयोस्तूक्तनीत्या न संयोगविभागाविति न तत्र पिण्डशब्दप्रवृत्ति.,तस्मान्नामाऽऽदिपिण्ड एव तत्तत्क्षेत्रनिवासाऽऽदिकं पर्यायमुद्भूतरूपं विवक्षित्वा क्षेत्रपिण्डकालपिण्डशब्दाभ्यां व्यपदिश्यते । तथा चाऽऽह-' दोसु जहियं तु ' इत्यादि । द्वयोः' क्षेत्रकालयोः 'यत्र'वसत्यादौ यदा वा प्रथमपौरुष्यादौ य. पिण्डो नामाऽऽदिरूपो व्यावर्ण्यते, यद्वा-यत्र गृहे महानसाऽऽदौ वा पिण्डो गुडपिण्डाऽऽदिर्मोदकाऽऽदिपिण्डो वा क्रियते,यदा वा प्रथमप्रहराऽऽदौ निष्पाद्यते स व्यावर्ण्यमानो नामाऽऽदिपिण्ड. क्रियमाणो वा गुडौदनाऽऽदिपिण्डस्तत्क्षेत्रकालापेक्षया क्षेत्रपिण्डः कालपिण्डश्च व्यपदिश्यते,यथाऽमुकवसत्यादिक्षेत्रपिण्डः प्रथमपौरुषीपिण्ड इत्यादि । उक्तौ क्षेत्रकालपिण्डौ ।

सम्प्रति भावपिण्डमभिधित्सुराह-

दुविहो उ भावपिंडो, पसत्थओ चेव अप्पसत्थो य ।
एएसिं दोण्हं पि य, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥५६॥

' द्विविध' ' द्विप्रकारः भावपिण्ड.,तद्यथा-प्रशस्त.,अप्रशस्तश्च । तत एतयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं प्ररूपणां प्ररूप्यते, द्वावपि भावपिण्डौ यया गाथापद्धत्या सा प्ररूपणा, ता वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

एगविहाइ दसविहो, पसत्थओ चेव अप्पसत्थो य ।
संजम विज्जाचरणे,नाणाऽऽदितिगं च तिविहो उ ॥६०॥
नाणं दंसण तव सं-जमो य वय पंच छच्च जाणेज्जा ।
पिंडेसण पाणेसण, उग्गहपडिमा य पिंडम्मि ॥६१॥
पवयणमाया नव बं-भगुत्तिओ तह य समणधम्मो य।
एस पसत्थो पिंडो, भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥६२॥

प्रशस्त.,अप्रशस्तश्च भावपिण्ड. प्रत्येकं दशविध. दशप्रकार ' किं रूप. ?, इत्याह 'एकविधाऽऽदिकः ' एकविधो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधो यावद्दशविध इति, तत्र प्रथमत उद्देशक्रमप्रामाण्यानुसरणात्प्रशस्तं भावपिण्डं दशविधमप्यभिदधाति-( संजमेत्यादि ) तत्रैकविधः प्रशस्तो भावपिण्ड' संयमः, इह संयमो ज्ञानदर्शने विना न भवति, पूर्वद्वयलाभ, पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्ध इति वचनप्रामाण्यात्, ततो ज्ञानदर्शने संयम एवान्तर्भूते विवक्षिते इति संयम एवैक. प्रशस्तभावपिण्डत्वेन प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यते । ( प्रशस्तैकविधभावपिण्डः, तत्स्वरूपम् ' संजम ' शब्दे वक्ष्यामि ) १ । द्विविध. पिण्ड.-' विद्या १, चरणम् २ । विद्या-ज्ञानं १ ( प्रशस्तद्विविधभावपिण्डः ' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १९३९ पृष्ठे गतः ) तच्च-आभिनिबोधिक-श्रुतावधि-मन.पर्यव-केवलज्ञानभेदात् पञ्चविधम् । ( तत्र आभिनिबोधिकज्ञानम् 'आभिणिबोहिय ' शब्दे द्वितीयभागे २५२ पृष्ठे गतम् ) (श्रुतज्ञानम्'सुय' शब्दे वक्ष्यामि) (अवधिज्ञानम्'ओहिणाण' शब्दे तृतीयभागे १५९ पृष्ठे प्रतिपादितम् ) ( मनःपर्यवज्ञानम् ' मणपज्जवणाण ' शब्दे वक्ष्यामि) (केवलज्ञानसर्वस्वम् ' केवलणाण ' शब्दे तृतीयभागे ६४२ पृष्ठे विस्तरतो गतम्) चरणं क्रिया २, ( सा च विस्तरतः ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे ५३१ पृष्ठे निरूपिता ) अत्र सम्यग्दर्शनं ज्ञान एवान्तर्भूतं विवक्षितमिति न पृथग्गणितं, विवक्षा हि वक्त्रधीना , वक्ता च कदाचित्संक्षेपेणाभिधित्सुस्ता ता प्रत्यासत्तिमधिकृत्य तत्तदन्तर्भावेनाभिधत्ते , कदाचित्पुनर्विशेषपरिज्ञानोत्पादनाय विस्तरेणाभिधित्सुः सर्वं वैविक्त्येन पृथक् प्रतिपादयति, ततः कदाचित् ज्ञानाऽऽदिकं संयम इति प्रतिपाद्यते, कदाचित् ज्ञानक्रिये इति,कदाचित्पुन. परिपूर्णमपि साक्षाद्यथा ज्ञानाऽऽदित्रिकमिति न कश्चिद्दोष. २। त्रिविधः पिण्डः पुनः-'ज्ञानाऽऽदित्रिकम् ज्ञान दर्शन-चारित्राणि । ( प्रशस्तत्रिविधभावपिण्ड.-ज्ञानम् १-' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १९३९ पृष्ठे प्ररूपितम् ) तद्भेदाश्च स्वस्वशब्दादवगन्तव्या. । ( दर्शनम् २- सभेदम् 'दंसण' शब्दे चतुर्थभागे २४२५ पृष्ठेऽवलोकनीयम्) (चारित्रम् ३-'चरित्त' शब्दे तृतीयभागे ११७५ पृष्ठे गतम्) (विस्तरश्चात्र-' चरित्त' शब्दे तस्मिन्नेव भागे ११४१ पृष्ठे निरूपित. ) ३ । चतुर्विधः पिण्ड.-ज्ञान १-दर्शन २-तपः ३-संयमा' ४ ,( प्रशस्तचतुर्विधभावपिण्डमध्ये ज्ञानम् १-स्वस्थाने । दर्शनम् २, ' दंसण ' शब्दे । तप' तद्भेदश्च ३ ' तव ' शब्दे चतुर्थभागे २१९९ पृष्ठे सविस्तर गतः ३ ) ( ' संयमं ' ४ स्वस्थाने वक्ष्यामि ) ४ । पञ्चविधः-पञ्चव्रतानि , प्राणातिपात १-मृषावादा २-ऽदत्तादान ३-मैथुन४-परिग्रहनिवृत्तिलक्षणानि ५ । अत्राऽपि ज्ञानदर्शने अन्तर्भूते विवक्षिते इति न पृथग्गणिते, रात्रिभोजनविरमणमप्येतेषु पञ्चसु यथायोगमन्तर्भूतं विवक्षितं ततो न पञ्चविधत्वव्याघातः। एवमुत्तरत्राऽपि यथायोगमन्तर्भावभावना भावनीया । ( प्रशस्तपञ्चविधभावपिण्डान्तर्गता प्राणातिपातनिवृत्ति' १' ' पाणाइवायवेरमण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८४६ पृष्ठे गता ) (मृषावादनिवृत्तिः २ ' मुसावायवेरमण ' शब्दादवगन्तव्या) ( अदत्तादाननिवृत्ति. ३ ' अदत्तादाणवेरमण ' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे गता ) ( मैथुननिवृत्तिम् ४ ' मेहुणवेरमण ' शब्दे वक्ष्यामि ) ( परिग्रहनिवृत्ति. ५ ' परिग्गहवेरमण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७० पृष्ठे गता ) ५ । षड्विधो भावपिण्ड.-षड् व्रतानि, तत्र पञ्च व्रतानि पूर्वोक्तान्येव प्राणातिपातविरमणाऽऽदीनि, षष्ठं तु रात्रिभोजनविरमणलक्षणम् (प्रशस्तषड्विधभावपिण्डान्तर्गता. प्राणातिपाताऽऽद्य परिग्रहविरमणान्ता स्वस्वस्थाने व्याख्याता') (रात्रिभोजनविरमणम् ' राइभोयणवेरमण ' शब्दे वक्ष्यामि ) ६ । तथा सप्त विधे पिण्डे-सप्त पिण्डैषणा., सप्त पानैषणा, सप्त अवग्रहप्रतिमा. । तत्र पिण्डैषणाः पानैषणाश्च सप्त संसृष्टाऽऽदयः । ताश्चेमा.-

" संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह अप्पलेवडा चेव ।
उग्गहिया पग्गहिया,उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥१॥"पिं०।
( विस्तरं ' पिंडेसणा ' शब्देऽग्रे वक्ष्यामि ) ( पानैषणाश्च ' पाणेसणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८४६ पृष्ठे व्याख्याताः ) (अवग्रहप्रतिमा वसतिविषयनियमविशेषाः, ते च द्वितीयभागे ७२४ पृष्ठे ' उग्गह ' शब्दे व्याख्याताः ) ( विशेषं चात्र ' वसहि ' शब्दे वक्ष्यामि ) ७ । तथा—अष्टविधः पिण्डः—अष्टौ प्रवचनमातरः, ( ताश्च ' पवयणमाउआ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७८५ पृष्ठे गताः ) ८ । तथा नवविधः पिण्डः नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः । तासां चेदं स्वरूपम्-
" वसहि कह निसिज्जिंदिय, कुड्डुंतर पुव्वकीलिय पणीए।
अइमायाहार विभू-सणं च नव बंभगुत्तीओ ॥ १ ॥ "
( प्रशस्तनवविधभावपिण्डप्रतिपादिकगाथाविशेषं ' बंभचेरगुत्ति ' शब्दे वक्ष्यामि ) ९ । तथा चेति समुच्चये, दशविधः पिण्डः दशप्रकारः श्रवणधर्मः । स चायम्—
" खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे ।
सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जइधम्मो ॥ १ ॥ "

( प्रशस्तदशविधभावपिण्डप्रतिपादिकाया अस्या गाथाया अक्षरगमनिका ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६६७ पृष्ठे गता ) ( विस्तरश्चाऽत्र ' समणधम्म ' शब्दादवगन्तव्यः ) प्रशस्तभावपिण्डस्योपसंहारमाह-( एसो इत्यादि ) ' एष ' दशप्रकारोऽपि भावपिण्ड कर्माष्टकमथनैः तीर्थकृद्भिर्भणितः, अनेन स्वमनीषिकाव्युदासमाह ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥
सम्प्रति अप्रशस्तं भावपिण्ड दशविधमपि क्रमेणाऽऽह-
अपसत्थो य असंजम, अन्नाणं अविरई य मिच्छत्तं ।
कोहायासवकाया, कम्मे गुत्ती अहम्मो य ॥ ६३ ॥
( अपसत्थो य इत्यादि ) अप्रशस्तः पुनर्भावपिण्ड एकविधः-असंयमः, विरत्यभावः, अत्राऽज्ञानमिथ्यात्वाऽऽदीनि सर्वाण्यप्यन्तर्भूतानि विवक्ष्यन्ते, ततो न कश्चिद्दोषः । ( अप्रशस्तैकविधभावपिण्डः असंयमः, स च सप्तदशविधः ' असंजम ' शब्दे प्रथमभागे ८२३ पृष्ठे निरूपितः ) १ । द्विविधः अज्ञानाऽविरती, चशब्दो मिथ्यात्वशब्दानन्तरं योजनीयः, अत्र मिथ्यात्वकषायाऽऽदयः सर्वेऽप्यत्रैवान्तर्भूता विवक्षितास्ततो न द्विविधत्वव्याघात, एवमुत्तरत्राप्यन्तर्भावभावना भावनीया, ( अप्रशस्तद्विविधभावपिण्डान्तर्गतम् अज्ञानम् १-' अण्णाण ' शब्दे प्रथमभागे ४८७ पृष्ठे सविस्तरं निरूपितम् । ) ( तन्मध्यगा दशविधाऽपि अविरतिः २-' अविरइ ' शब्दे तस्मिन्नेव भागे ८०८ पृष्ठे निरूपिता ) २ । त्रिविधः-मिथ्यात्वं, चशब्दादज्ञानाविरती च । ( मिथ्यात्वम् १-मिच्छत्त ' शब्दादवगन्तव्यम् ।) (अज्ञाना २-ऽविरती ३ स्वस्वस्थाने गते) ३ । चतुर्विधः-चत्वारः क्रोधाऽऽदयः क्रोधमानमायालोभाः, ( तत्र क्रोधस्वरूपम्—' कोह ' शब्दे तृतीयभागे ६८३ पृष्ठे गतम् ) (तस्यानेकविधक्रोधस्याऽऽत्मप्रतिष्ठितत्वाऽऽदिभेदाः सदण्डकाः ' कसाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्ता ) (मानम् २-' माण' शब्दे विस्तरतो वक्ष्यामि) ( माया ३-' माया ' शब्दादवसेया(कनीया) ( लोभः, तत्फलानि च ४-' लोभ ' शब्दे वक्ष्यामि ) ४ । पञ्चविध.-पञ्चाऽऽश्रवद्वाराणि प्राणातिपातमृषावादाऽदत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहरूपाणि । (तत्र प्राणातिपातः १-'पाणाइवाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८४३ पृष्ठे रूपितः ) (मृषावादम् २-' मुसावाय ' शब्दे वक्ष्यामि ) (अदत्ताऽऽदानम् ३-'अदत्तादाण' शब्दे प्रथमभागे ५२७ पृष्ठे गतम् ) ( मैथुनम् ४-' मेहुण ' शब्दे वक्ष्यामि ) ( परिग्रहः ५ ' परिग्गह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५२ पृष्ठे गतः ) ५ । षड्विधः-(काय त्ति) कायवधाः पृथिवीकायिकाऽऽदिविनाशाः, ( ते च ' छक्कायवह ' शब्दे तृतीयभागे १३४३ पृष्ठे निरूपिताः ) ६ । सप्तविधः-कर्मणि कर्मविषयो द्रष्टव्यः । इह कर्म्मशब्देन कर्म्मबन्धनिबन्धनभूता अध्यवसाया गृह्यन्ते, भावपिण्डाधिकारात्, तत आयुर्वर्जशेषसप्तकर्मबन्धनिबन्धनभूताः काषायिका अकाषायिका वा परिणामविशेषा जातिभेदापेक्षया सप्तभेदाः । सप्तविधोऽप्रशस्तो भावपिण्डः । ( अध्यवसायशब्दार्थः ' अज्झवसाय ' शब्दे प्रथमभागे २३२ पृष्ठे गतः ) ( ते च अध्यवसायाः ' अणुभागबंधट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३९६ पृष्ठे विस्तरतो निरूपिता ) ( सप्तविधकर्मज्ञानाय तृतीयभागे २४३ पृष्ठगत ' कम्म ' शब्दो द्रष्टव्यः ) ७ । अष्टविधोऽपि भावपिण्डः-कर्म्मविषयः । तत्रापीयं भावना—कर्माष्टकबन्धनिबन्धनभूताः काषायिका परिणामविशेषा जातिभेदापेक्षयाऽष्टभेदाः, अष्टविधोऽप्रशस्तो भावपिण्ड । ( अष्टविधं कर्म 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५८ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम् ) ८ । ( अगुत्तीओ त्ति ) नव ब्रह्मचर्यगुप्तिप्रतिपक्षभूता नव ब्रह्मचर्यागुप्तयः, ( ताश्च ' बंभचेरअगुत्ति ' शब्दे वक्ष्यामि ) ९ । तथा अधर्मः-दशविधधर्मप्रतिपक्षभूतः ( स चाधर्म ' अध ( ह ) म्म ' शब्दे प्रथमभागे ५६६ पृष्ठे गतः ) दशविधोऽप्रशस्तो भावपिण्डः १० ।

सम्प्रति प्रशस्ताप्रशस्तयोर्भावपिण्डयोर्लक्षणमाह-
बज्झइ य जेण कम्मं, सो सव्वो होइ अप्पसत्थो उ ।
मुच्चइ य जेण सो पुण, पसत्थओ नवरि विन्नेओ ॥ ६४ ॥
इह येन भावपिण्डेनैकविधाऽऽदिकेन प्रवर्त्तमानेन ' कर्म्म ' ज्ञानावरणीयाऽऽदि बध्यते, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । स च दीर्घस्थितिकं दीर्घसंसारानुबन्धि विपाककटुकं च येन बध्यते इति समुच्चिनोति, स सर्वोऽप्यप्रशस्तो भावपिण्डो ज्ञातव्यः । येन पुनरेकविधाऽऽदिना प्रवर्त्तमानेन कर्मणः सकाशात् शनैः शनैः सर्वाऽऽत्मना वा मुच्यते, स प्रशस्तो भावपिण्डो विज्ञेयः । आह-पिण्डो नाम बहूनामेकत्र मीलनमुच्यते, पिण्डनं पिण्ड इति व्युत्पत्तेः, भावाश्च संयमाऽऽदयो यदा प्रवर्त्तन्ते तदैकसङ्ख्या एव, एकस्मिन् समये एकस्यैवाध्यवसायस्य भावात्, ततः कथं पिण्डत्वम् ? इति, अत्रोत्तरमाह—
दंसणनाणचरित्ता-ण पज्जवा जे उ जत्तिया वावि ।
सो सो होइ तयक्खो, पज्जवपेयालणा पिंडो ॥ ६५ ॥
इह चारित्रग्रहणेन तपःप्रभृत्यपि गृह्यते, तस्याऽपि विरतिपरिणामरूपतया चारित्रभेदत्वात्, ततो दर्शनज्ञानचारित्राणां प्रत्येकं ये ये ' पर्यवा ' पर्यायाः अविभागपरिच्छेदरूपा यदा यदा 'यावन्तो' यत्परिमाणा वर्त्तन्ते स स तदा तदा तत्तदाख्यो-दर्शनाऽऽख्यो ज्ञानाऽऽख्यश्चारित्राऽऽख्यः'पर्यवपेयालनापिण्ड,' पर्यायप्रमाणकरणेन पिण्ड, पर्यायसंहतिविषयत्वा

पिण्डो भवतीत्यर्थः। इयमत्र भावना-इह यदा संयम एव केवल प्राधान्येन विवक्ष्यते, न तु सती अपि ज्ञानदर्शने, संयमस्य तदविनाभावित्वेन तयोस्तत्रैवान्तर्भावाविवक्षणात्, तदा ये नस्य संयमस्याऽविभागपरिच्छेदाऽऽख्याः पर्यायास्ते समुदायेनैकत्र पिण्डीभूय व्यवतिष्ठन्ते परस्परं तादात्म्यसम्बन्धेन सम्बद्धत्वात्, तत. संयमपर्यायसंहत्यपेक्षया पिण्ड इति संयम एकविधभावपिण्डत्वेनोच्यमानो न विरुध्यते, यदा तु तस्मिन्नेव संयमरूपेऽध्यवसाये पृथग्ज्ञानविवक्षा क्रियाविवक्षा च भवति, यथा वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदरूपोऽशो ज्ञानं प्राणातिपाताऽऽदिविरतिरूप परिणामविशेषस्तु क्रियेति तदा ये ज्ञानस्याविभागपरिच्छेदरूपा. पर्यायास्ते परस्परं तादात्म्यसम्बन्धेनावस्थिता इति ज्ञानपिण्डः । ये तु क्रियाया अविभागपरिच्छेदरूपाः पर्यायास्ते क्रियापिण्ड', ततो द्विविधो भावपिण्डो ज्ञानक्रियाऽऽख्य प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यते, यदा तु तस्मिन्नेव संयमरूपेऽध्यवसाये पृथग् ज्ञानविवक्षा दर्शनविवक्षा चारित्रविवक्षा च, यथा वस्तुयाथात्म्यपरिच्छेदरूपोऽशो ज्ञानं तस्मिन्नेव वस्तुनि परिच्छिद्यमाने जिनैरित्थमुक्तम्, अत इदं तथेतिप्रतिपत्तिनिबन्धनं रुचिरूप परिणामविशेषो दर्शनं, प्राणातिपाताऽऽदिविरतिरूपस्तु परिणामविशेषश्चारित्रमिति, तदा ये ज्ञानस्याविभागपरिच्छेदरूपा. पर्यायास्ते समुदिता ज्ञानपिण्डो, ये तु दर्शनस्य ते दर्शनपिण्ड', ये तु चारित्रस्य ते चारित्रपिण्ड इति त्रिविधो ज्ञानदर्शनचारित्राऽऽख्यो भावपिण्ड उपपद्यते, यदा तु तपोरूपोऽपि परिणामो भवति भिन्नश्च चारित्राद्विवक्ष्यते तदा त्रय' पिण्डा' पूर्वोक्ताश्चतुर्थस्तु तपःपिण्ड इति चतुर्विधो भावपिण्ड., यदा तु पञ्च महाव्रतान्येव केवलानि विवक्ष्यन्ते ज्ञानदर्शनतपांसि पुनस्तत्रैवान्तर्भूतानि तदा ये प्राणातिपातविरतिपरिणामस्याविभागपरिच्छेदरूपा पर्यायास्ते परस्परं समुदितत्वात् प्राणातिपातविरतिपिण्ड, ये तु मृषावादविरतिपरिणामस्य ते मृषावाद विरतिपिण्ड. । एवं यावद्ये परिग्रहविरतिपरिणामस्य ते परिग्रहविरतिपिण्ड इति पञ्चविधो भावपिण्ड उपपद्यते। एवं शेषेष्वपि पिण्डेषु पिण्डत्वभावना भावनीया । एवमप्रशस्तेष्वपि भावपिण्डेषु। तदेवं पिण्डन पिण्ड इति भावविषया व्युत्पत्तिमधिकृत्य संयमाऽऽदे. पिण्डत्वमुक्तम्। अथवा-भावपिण्डविचारे पिण्डशब्दः कर्तृसाधनो विवक्ष्यते, यथा पिण्डयति कर्म्मणा सहाऽऽत्मानं मिश्रयतीति पिण्डो, भावश्चासौ पिण्डश्च भावपिण्डः ।

एतदेवाऽऽह-

कम्माण जेण भावे-ण अप्पगे चिणइ चिक्कणं पिंडं ।
सो होइ भावपिंडो, पिंडयए पिंडणं जम्हा ॥ ६६ ॥

येन 'भावेन' परिणामविशेषेण कर्म्मणा पिण्डं ( चिक्कण त्ति ) अन्योऽन्यानुवेधेन गाढसंश्लेषरूपमात्मनि चिनोति स भावो भवति भावपिण्डः। अत्र हेतुमाह-यस्मात्पिण्डनमिति पिण्ड्यते आत्मा येन सह येन तत्पिण्डनं कर्म ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि तत्पिण्डयति आत्मना सह सम्बद्धं करोति स भावस्तत्कारणात्स भावपिण्ड इत्युच्यते। अत्र चेत्थं प्रशस्ताप्रशस्तत्वभावना-येन भावेन शुभं कर्म्म आत्मन्युपचीयते स प्रशस्तो भावपिण्डः, येन त्वशुभं सोऽप्रशस्त इति। तदेवमुक्तो भावपिण्डः । पिं० । ओघ० । पं० भा० । पं० चू० ।

सम्प्रत्यमीषां पिण्डानां मध्ये येनात्राधिकारस्तमभिधित्सुराह-

दव्वे अचित्तेणं, भावम्मि पसत्थएणिहं पगयं ।
उच्चारियत्थसरिसा, सीसमइविकोवणट्ठाए ॥ ६७ ॥

'इह' अस्यां पिण्डनिर्युक्तौ 'द्रव्ये' द्रव्यपिण्डविषये 'अचित्तेन' अचित्तद्रव्यपिण्डेन 'भावे' भावपिण्डविषये पुन 'प्रशस्तेन' प्रशस्तभावपिण्डेन 'प्रकृतं' प्रयोजनं, यद्येवं तर्हि शेषाः किमर्थमभिहिता.?, अत आह-( उच्चारिए' त्यादि ) शेषा-नामाऽऽदयः पिण्डाः पुनरुच्चारितार्थसदृशाः उच्चरित.-प्रतिपादितः योऽर्थः पिण्डशब्देनान्वर्थयुक्तेन तत्सदृशा.-तेन तुल्याः, तेषामपि पिण्डा इत्येवमुच्चार्यमाणत्वात्, ततः शिष्याणां मते. विकोपनं प्रकोपनं झटिति तत्तदर्थव्यापकतया प्रसरीभवनं तदर्थमुक्ताः। इयमत्र भावना-जगति नामाऽऽदयोऽपि पिण्डा उच्यन्ते, तत्रापि पूर्वोक्तप्रकारेण पिण्डशब्दप्रवृत्तिदर्शनात्, केवलमिह तेषां मध्येऽचित्तद्रव्यपिण्डेन प्रशस्तेन च भावपिण्डेनाधिकारः, न शेषैरप्रस्तुतत्वादिति, अस्यार्थस्य वैविक्त्येन प्रतिपादनार्थं शेषनामाऽऽदिपिण्डोपन्यास इति । आह-मुमुक्षूणां सकलकर्म्मशृङ्खलाबन्धविमोचाय प्रशस्तेन भावपिण्डेन प्रयोजनं भवतु, अचित्तेन तु द्रव्यपिण्डेन किं प्रयोजनम्?, उच्यते-भावपिण्डोपचयस्य तदुपष्टम्भकत्वात् ।

एतदेवाऽऽह-

आहार उवहि सेज्जा, पसत्थपिंडस्सुवग्गहं कुणइ ।
आहारे अहिगारो, अट्ठहिँ ठाणेहिँ सो सुद्धो ॥ ६८ ॥

इहाचित्तद्रव्यपिण्डस्त्रिधा। तद्यथा-आहाररूपः,उपधिरूप., शय्यारूपश्च। एष च त्रिविधोऽपि प्रशस्तस्य ज्ञानसंयमाऽऽदिरूपस्य भावपिण्डस्य 'उपग्रहम्' उपष्टम्भं करोति, ततस्त्रिविधेनाप्येतेन यतीनां प्रयोजनं, केवलमिह ग्रन्थे 'अधिकारः' प्रयोजनम्, 'आहारे' आहारपिण्डे, स चाष्टभिः स्थानैः उद्गमाऽऽदिभिः परिशुद्धो यथा यतीनां गवेषणीयो भवति तथाऽभिधास्यते। किं कारणमत्र विशेषत आहारपिण्डेन प्रयोजनम्?, अत आह-

निव्वाणं खलु कज्जं, नाणाइतिगं च कारणं तस्स ।
निव्वाणकारणाणं, च कारणं होइ आहारो ॥ ६९ ॥

इह मुमुक्षूणां 'कार्यं' कर्तव्यं निर्वाणमेव, न शेषं, खलुशब्दोऽवधारणार्थः, शेषस्य सर्वस्याऽपि तुच्छत्वात्। 'तस्य' निर्वाणस्य कारणं 'ज्ञानाऽऽदित्रिकं' ज्ञानदर्शनचारित्ररूपम्, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। ( तत्त्वा० अ० १ सू० १ ) इति। वचनप्रामाण्यात्, ततस्तदवश्यमुपादेयम्, उपायसेवामन्तरेणोपेयप्राप्त्यसम्भवात्, तेषां ज्ञानाऽऽदीनां निर्वाणकारणानां कारणमष्टभिः स्थानैः परिशुद्ध आहार, आहारमन्तरेण धर्मकायस्थितेरसम्भवात्, उद्गमाऽऽदिदोषदुष्टस्य च [illegible]

एतदेवाऽऽहारस्य निर्वाणकारणज्ञानाऽऽदिकारणत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते—

**जह कारणं तु तंतू, पडस्स तेसिं च होंति पम्हाई ।**
**नाणाइतिगस्सेवं, आहारो मोक्खनेमस्स ॥ ७० ॥**

यथा पटस्य तन्तवः कारणं, तेषामपि तन्तूनां कारणानि पक्ष्माणि भवन्ति, 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानाऽऽदित्रिकस्य ( मोक्खनेमस्स त्ति ) नेमशब्दो देश्यः कार्याभिधाने रूढः, ततो मोक्षो नेम कार्यं यस्य तस्य कारणं भवत्याहारः । इह कश्चित् ज्ञानाऽऽदीनां मोक्षकारणतामेव न प्रतिपद्यते, विचित्रत्वात्सत्त्वचित्तवृत्तेः ।

ततस्तं प्रति ज्ञानाऽऽदीनां मोक्षकारणतां दृष्टान्तेन भावयति—

**जह कारणमणुवहयं, कज्जं साहेइ अविकलं नियमा ।**
**मोक्खक्खमाणि एवं, नाणाईणि उ अविगलाई ॥७१॥**

यथा बीजाऽऽदिलक्षणं कारणमनुपहतम् अग्न्यादिभिरविध्वस्तम् 'अविकलं' परिपूर्णसामग्रीसम्पन्नं नियमादङ्कुराऽऽदिलक्षणं कार्यं जनयति । 'एवम्' अनेनैव प्रकारेण ज्ञानाऽऽदीन्यप्यविकलानि परिपूर्णानि, तुशब्दादनुपहतानि च नियमतः 'मोक्षक्षमाणि' मोक्षलक्षणकार्यसाधनानि भवन्ति । तथाहि—संसारापगमरूपो मोक्षः, संसारस्य च कारणं मिथ्यात्वाज्ञानाविरतयः, तत्प्रतिपक्षभूतानि च ज्ञानाऽऽदीनि, ततो मिथ्यात्वाऽऽदिजनितं कर्म नियमतो ज्ञानाऽऽद्यासेवायामपगच्छति, यथा हिमप्रपातजनितं शीतमनलाऽऽसेवायामिति, कारणानि मोक्षस्य ज्ञानाऽऽदीनि, तानि च परिपूर्णानि, तुशब्दादनुपहतानि च, अनुपहतत्वं च चारित्रस्योद्गमाऽऽदिदोषपरिशुद्धाऽऽहारग्रहणे सति, नान्यथा, ततोऽष्टभिः स्थानैराहारो यतिभिर्ग्राह्य इत्येतदत्र वक्तव्यम् । अत आहारपिण्डेनेहाधिकारः । पिं० । तदेवमुक्तपिण्डे, पं०व० ३ द्वार । दर्श० । प्रव० । पिण्डनीये, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । ( शय्यातरपिण्डः, राजपिण्डश्च स्वस्वस्थाने ) ( पिण्डप्रतिसेवना 'पडिसेवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६४ पृष्ठे उक्ता ) शरीरे, षो० ६ विव० । कालिञ्जे, ( कलेजा ) पिण्डो मासेन विकृतिः । पं० व० २ द्वार । गुडाऽऽदिपिण्डवत्पिण्डः । स्कन्धे, अनु० ।

**पिंडकप्पिय**—पिण्डकल्पिक—पुं० । पिण्डविशुद्धिविशुद्धाऽऽहारग्रहणसामाचारीके, बृ० ।

संप्रति पिण्डकल्पिकमाह—

**अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयपरिच्छणे य चउगुरुगा ।**
**दोहिं गुरुतवगुरुगा, कालगुरू दोहिँ वी लहुगा ॥५३९॥**

सूत्रं नाम प्रागासीत् आचारगतं पिण्डैषणाऽध्ययनमिदानीं तु दशवैकालिकगतं पिण्डैषणाऽध्ययनं, तस्मिन्नप्राप्ते अपठिते यदि पिण्डस्याऽऽनयनाय तं प्रेषयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, कालेनापि च गुरुकाः । अथ सूत्रं प्राप्तस्तथापि यदि तस्यार्थमकथयित्वा प्रेषयति तदा चत्वारो लघुका, नवरमेकेन कालेन लघवः । अथ कथितोऽर्थः परं नाद्याप्यधिगतः, अथवाऽधिगत परमद्यापि न तं सम्यक् श्रद्धधाति, तमनधिगतार्थमश्रद्दधानं वा प्रेषयतश्चत्वारो लघुकाः, तपसैकेन लघवः । अथाऽधिगतार्थमप्यपरीक्ष्य प्रेषयति तदा चत्वारो लघुकाः, द्वाभ्यां लघवः । तद्यथा तपसा कालेन च यत एवं प्रायश्चित्तमतः—

**पढिए य कहिएँ अहिगएँ, परिहरती पिंडकप्पितो एसो ।**
**तिविहं तीहि विसुद्धं, परिहर नवगेण भेदेण ॥ ५४० ॥**

पिण्डैषणाध्ययने पठिते तस्यार्थे कथिते तेन चाधिगते, उपलक्षणमेतत्, सम्यक् श्रद्धिते च, यस्त्रिविधमुद्गमशुद्धमुत्पादनाशुद्धमेषणाशुद्धं, त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्विशुद्धं यः पारिहारविषयेण नवकेन भेदेन परिहरति । तद्यथा—मनसा न गृह्णाति, नाप्यन्यैर्ग्राहयति, न च गृह्णन्तमनुजानीते । एवं च वाक्कायेनापि प्रत्येकं त्रिकमवसातव्यम् । एष पिण्डकल्पिकः । अत्र पिण्डनिर्युक्ति + सर्वा वक्तव्या । बृ० १० उ० १ प्रक० । ( अत्रार्थे 'पिंडणिज्जुत्ति' शब्दोऽवलोकनीयः ) ( उद्गमाऽऽदिदोषाणां प्रायश्चित्तमन्यत्रान्यत्र ) पूर्वं सूत्रतोऽर्थतश्चाधीतपिण्डकल्प आसीत्, इहेदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रतोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिकः क्रियते सोऽपि भवति । व्य० ३ उ० ।

**पिंडग**—पिण्डक—पुं० । पिण्डकरूपे कर्दमे, यः पादयोः पिण्डरूपतया लगति । ओघ० ।

**पिंडगुड**—पिण्डगुड—पुं० । कठिनगुडे, अद्रवगुडे, प्रव० ४ द्वार । पं० व० ।

**पिंडघर**—पिण्डगृह—न० । चिक्खल्लपिण्डैर्निष्पादिते गृहे, व्य० ४ उ० ।

**पिंडणा**—पिण्डना—स्त्री० । सेवाऽऽदीनां खण्डपाकाऽऽदेश्च परस्परं संयोगे, ( २ गाथा ) पिं० ।

**पिंडणिगर**—पिण्डनिकर—पुं० । दापितभक्ते, पिण्डदाने च । नि० चू० ८ उ० । पितृपिण्डे, मृतकभक्ते, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

**पिंडणिज्जुत्ति**—पिण्डनिर्युक्ति—स्त्री० । पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययननिर्युक्तौ, पिं० ।

सा चैवम्—

" जयति जिनवर्द्धमानः,
परहितनिरतो विधूतकर्मरजाः ।
मुक्तिपथचरणपोषक-
निरवद्याऽऽहारविधिदेशी ॥ १ ॥
नत्वा गुरुपदकमलं,
गुरूपदेशेन पिण्डनिर्युक्तिम् ।
विवृणोमि समासेन,
स्पष्टं शिष्यावबोधाय ॥ २ ॥ "

आह—निर्युक्तयो न स्वतन्त्रशास्त्ररूपाः, किं तु तत्तत्सूत्रपरतन्त्राः, तथा तद्व्युत्पत्त्याश्रयणात् । तथाहि—सूत्रोपात्ता अर्थाः स्वरूपेण सम्बद्धा अपि शिष्यान् प्रतिनिर्युज्यन्ते निश्चित सम्बद्धा उपदिश्य व्याख्यायन्ते यकाभिस्ता निर्युक्तयः, भवताऽपि च प्रत्यज्ञायि पिण्डनिर्युक्तिमहं विवृणोमि, तदेषा पिण्डनिर्युक्तिः कस्य सूत्रस्य प्रतिबद्धेति ? । उच्यते—इह दशाध्ययनपरिमाणश्चूलिकायुगलभूषितो दशवैकालिको नाम

+ दशवैकालिकपञ्चमाध्ययननिर्युक्तिः ।

श्रुतस्कन्धः, तत्र च पञ्चममध्ययनं पिण्डैषणानामकं, दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययननिर्युक्तिरतिप्रभूतग्रन्थत्वात्पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता, तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नाम कृतं, पिण्डैषणानिर्युक्तिः पिण्डनिर्युक्तिरिति मध्यमपदलोपिसमासाऽऽश्रयणाद्, अत एव चाऽऽदावत्र नमस्कारोऽपि न कृतो, दशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तर्गतत्वेन तत्र नमस्कारेणैवात्र विघ्नोपशमसम्भवात्, शेषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिकनिर्युक्तिरिति स्थापिता । अस्याश्च पिण्डनिर्युक्तेरादावियमधिकारसङ्ग्रहगाथा-

पिंडे उग्गम उप्पा-यणेसणा (सं) जोयणा पमाणं च ।
इंगाल धूम कारण, अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती ॥ १ ॥

'पिडि संघाते' पिण्डनं पिण्ड. सङ्घातो, बहूनामेकत्र समुदाय इत्यर्थ । समुदायश्च समुदायिभ्यः कथञ्चिदभिन्न इति त एव बहव. पदार्था एकत्र समुदिताः पिण्डशब्देनोच्यन्ते, स च पिण्डो यद्यपि नामाऽऽदिभेदादनेकप्रकारो वक्ष्यते, तथाऽपीह संयमाऽऽदिरूपभावपिण्डोपकारको द्रव्यपिण्डो गृहीष्यते, सोऽपि च द्रव्यपिण्डो यद्यप्याहारशय्योपधिभेदात् त्रिप्रकार, तथाऽप्यत्राऽऽहारशुद्धेः प्रक्रान्तत्वादाहाररूप एवाधिकरिष्यते. ततस्तस्मिन्नाहाररूपे पिण्डे विषयभूते प्रथमत उद्गमो वक्तव्यः, तत्र उद्गम उत्पत्तिरित्यर्थ. । उद्गमशब्देन च इह उद्गमतादोषा अभिधीयन्ते, तथाविवक्षणात् । ततोऽयं वाक्यार्थः-प्रथमत उद्गमगता आधाकर्मिकाऽऽदयो दोषा वक्तव्या., ( ते च 'उग्गम' शब्दे द्वितीयभागे ६९२ पृष्ठे, 'आधाकम्म' शब्दे च तस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठादारभ्य दर्शिता ) १ । तत -( उप्पायण त्ति ) उत्पादनमुत्पादना, धात्रीत्वाऽऽदिभिः प्रकारै. पिण्डस्य संपादनमिति भाव । सा वक्तव्या । किमुक्तं भवति-उद्गमदोषाऽभिधानानन्तरमुत्पादनादोषा धात्रीत्वाऽऽदयो वक्तव्या', (ते उत्पादनादोषा. 'उप्पायणा' शब्दे द्वितीयभागे ८३६ पृष्ठे गता. ) २ । तत ( एसण त्ति ) एषणमेषणा, सा वक्तव्या, ( एषणादोषाः 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ५३ पृष्ठे समुक्ताः ) ३ । एषणा त्रिधा । तद्यथा-गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा च । तत्र 'गवेष' अन्वेषणे, एषणा अभिलाषो गवेषणैषणा, एवं ग्रहणैषणाग्रासैषणेऽपि भावनीये, तत्र गवेषणैषणा उद्गमोत्पादनाविषयेति तद्ग्रहणेनैव गृहीता द्रष्टव्या । ग्रासैषणा त्वभ्यवहारविषया, ततः संयोजनाऽऽदिग्रहणेन सा गृहीष्यते, तस्मादिह पारिशेष्यादेषणाशब्देन ग्रहणैषणा गृहीता द्रष्टव्या, ग्रहणैषणाग्रहणेन च ग्रहणैषणागता दोषा वेदितव्याः, तथाविवक्षणात् । ततोऽयं भावार्थ.-उत्पादनादोषाभिधानानन्तरं ग्रहणैषणागता दोषाः शङ्कितम्रक्षिताऽऽदयोऽभिधातव्या. । तत. संयोजना वक्तव्या, तत्र संयोजनं संयोजना गृद्ध्या रसोत्कर्षसम्पादनाय सुकुमारिकाऽऽदीनां खण्डाऽऽदिभिः सह मीलनं, सा द्रव्यभावभेदाद् द्विधा । वक्ष्यति च-'दव्वे भावे संजोयणा य' इत्यादि । ( संयोजनादोषा. 'संजोयणा' शब्दादवगन्तव्याः ) ४ । ततः प्रमाणं केवलसङ्ख्यालक्षण वक्तव्यं, (प्रमाणम् 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५२१ पृष्ठे गतम्) ५ । चकार. समुच्चये, स च भिन्नक्रमत्वात्कारणशब्दानन्तरं द्रष्टव्य. । तत (इगालधूम त्ति) अङ्गारदोषो धूमदोषश्च यथा भवति तथा वक्तव्यं, ( अङ्गारदोषः 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५२२ पृष्ठे गत. ) ( विशेषः-'अंगार' शब्दे प्रथमभागे ४२ पृष्ठे गतः ) ६ । ( धूमदोषः 'धूम शब्दे चतुर्थभागे पृष्ठे २७६८ सामान्यत उक्त' ) ( विशेषम् 'सधूम' शब्दे वक्ष्यामि ) ७ । तदनन्तरं ( कारण त्ति ) यैः कारणैराहारो यतिभिरादीयते, यैस्तु न, तानि कारणानि च वक्तव्यानि, ( आहाराऽनयनाऽऽनयनकारणानि 'वेयणा' शब्दे वक्ष्यामि ) ८ । सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्, तदेवम् 'अष्टधा' अष्टप्रकारा अष्टभिरर्थाधिकारैः सम्बद्धेति भावार्थपिण्डनिर्युक्तिः पिण्डैषणानिर्युक्ति. । स्यादेतद्, एतेऽष्टावप्यर्थाधिकाराः किं कुतश्चित्सम्बन्धविशेषादायाता, उत यथाकथञ्चिद्वक्तव्याः ?, उच्यते-सम्बन्धविशेषादायाता. । तथाहि-पिण्डैषणाऽध्ययननिर्युक्तिर्वक्तुमुपक्रान्ता, पिण्डैषणाऽध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-उपक्रमो, निक्षेप., अनुगमो, नयाश्च । तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे पिण्डैषणाऽध्ययनमिति नाम, ततः पिण्ड इति अध्ययनमिति च व्याख्येयं, तत्राध्ययनमिति प्रागेव द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने व्याख्यातम्, इह तु पिण्ड इति व्याख्येय, तत एव गवेषणा च एषणा च गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा च । गवेषणैषणाऽऽद्यश्च उद्गमाऽऽदिविषयास्ततस्ते वक्तव्याः । पिं० ।

संप्रत्यस्या एषणाया. सकलदोषसंकलनमाह-

सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणा य दोसा उ ।
दस एसणा य दोसा, संजोयणमाइ पंचेव ॥ ६६९ ॥

सुगमा । सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशत् एषणादोषा., एतान् विशोधयन् पिण्डं विशोधयति, पिण्डविशुद्धौ च चारित्रशुद्धि., चारित्रशुद्धौ मुक्तिसंप्राप्ति. ।

उक्तं च—

"एए विसोहयंतो, पिंडं सोहेइ संसओ नत्थि ।
एए अविसोहिंते, चरित्तभेयं वियाणाहि ॥ १ ॥
समणत्तणस्स सारो, भिक्खायरिया जिणेहिँ पन्नत्ता ।
एत्थ परितप्पमाणं, तं जाणसु मंदसंवेगं ॥ २ ॥
णाणचरणस्स मूलं, भिक्खायरिया जिणेहिँ पन्नत्ता ।
एत्थ उ उज्जममाणं, तं जाणसु तिव्वसंवेगं ॥ ३ ॥
पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, निरत्थया होइ दिक्खा उ ॥ ४ ॥
चारित्तम्मि असंतम्मि, निव्वाणं न उ गच्छइ ।
निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वादिक्खा निरत्थगा ॥ ५ ॥"

तस्मादुद्गमाऽऽदिदोषपरिशुद्धः पिण्ड एषयितव्य इति ।

एसो आहारविही, जह भणिओ सव्वभावदंसीहिं ।
धम्मावस्सयजोगा, जेण न हायंति तं कुज्जा ॥ ६७० ।

एष आहारविधि. पिण्डविधिर्यथा येन प्रकारेण भणितस्तीर्थकराऽऽदिभिस्तथा कालानुरूपस्वमतिविभवेन मया व्याख्यात इति वाक्यविशेष । पश्चार्द्धेनापवादमाह-(धम्मेत्यादि) धर्माऽऽवश्यकयोगा. श्रुतधर्मचारित्रधर्मप्रतिक्रमणाऽऽदिव्यापाराः येन न हीयन्ते न हानिं व्रजन्ति, तत्कुर्यात्, तथा-तथापवादं सेवेतेति भाव, साऽधुना हि यथायथमुत्सर्गापवादस्थितेन भवितव्यं, या चापवादमासेवमानस्याऽशठस्य, साऽपि निर्जराफला ।

तथा चाऽऽह-

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स ।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥६७१॥

यतमानस्य सूत्रोक्तविधिपरिपालनपूर्णस्य, अध्यात्मविशोधियुक्तस्य रागद्वेषाभ्यां रहितस्येति भावः । या भवेद्विराधना अपवादप्रत्यया सा भवति निर्जराफला । इयमत्र भावना-कृतयोगिनो गीतार्थस्य कारणवशेन यतनयाऽपवादमासेवमानस्य या विराधना सा सिद्धिफला भवतीति । तदेवं निक्षिप्तं पिण्डपदमेषणापदं च, तन्निक्षेपकरणाच्चाभिहितो नाम निक्षेपः, तदभिधानाच्चामवत्परिपूर्णा पिण्डनिर्युक्तिरिति ।

" येनैषा पिण्डनिर्युक्ति-र्युक्तिरम्या विनिर्मिता ।
द्वादशाङ्गविदे तस्मै, नमः श्रीभद्रबाहवे ॥ १ ॥
व्याख्याता यैरेषा, विषमपदार्थाऽपि सुललितवचोभिः ।
अनुपकृतपरोपकृतो, विवृतिकृतस्तान्नमस्कुर्वे ॥ २ ॥
इमां च पिण्डनिर्युक्ति-मतिगम्भीरां विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ३ ॥
अर्हन्तः शरणं सिद्धाः, शरणं मम साधवः ।
शरणं जिननिर्दिष्टो, धर्मः शरणमुत्तमः ॥४॥" पिं०नि० चू०।

पिंडत्थ-पिण्डार्थ-पुं० । समुदायार्थे, विशे० । अनु० ।

पिंडदाण-पिण्डदान-न० । पितृभ्यः पिण्डविसर्जने, आ०चू० ४ अ० । प्रथमं मृताय श्रेणिकमहाराजाय कूणिकेन पिण्डदानं कृतमिति ततो लोके रूढम् । " स्वामिन् पिण्डाऽऽदिदानेन, क्रियते निर्वृतः पिता । तथा चक्रे जनेऽप्येषा, प्रवृत्तिरभवत्तनः ॥६७॥" औ०क० ४ अ० । ('सेणिय' शब्दे विशेषं वक्ष्यामि)

पिंडदोस-पिण्डदोष-पुं० । पिण्डस्योद्गमोत्पादनैषणादोषेषु, पञ्चा० १३ विव० ।

पिंडपगडि-पिण्डप्रकृति-स्त्री० । अवान्तरभेदपिण्डाऽऽत्मिकासु नामकर्मप्रकृतिषु,पं० सं० ३ द्वार । क० प्र० । (ताश्च 'णामकम्म' शब्दे चतुर्थभागे १६६६ पृष्ठे उक्ताः )

पिंडरस-पिण्डरस-पुं० । खर्जूराऽऽदौ, बृ० १ उ० २ प्रक० । ( पिण्डरसद्रव्याणि 'लेव' शब्दे प्रसङ्गोपात्तानि )

पिंडलइय-पिण्डलासिक-त्रि० । पिण्डस्वरूपे समुदिते, " पिंडजायं पिंडलइयं ।" पाइ० ना० २०८ गाथा ।

पिंडलग-पिण्डलक-न० । पटलके, " पिंडलगपिहुणसंठाणसंठिया । " पिण्डलकं पटलकं पटलपुष्पभाजनं तद्वत् पृथुलं संस्थानं तेन संस्थिता इति । स्था० ७ ठा० ।

पिंडलिअ-देशी-पिण्डीकृतार्थे, दे० ना० ६ वर्ग ५४ गाथा ।

पिंडवद्धण-पिण्डवर्द्धन-न० । कवलवृद्धिकारणे, भ० ११ श० ११ उ० ।

पिंडवाएसणा-पिण्डपातैषणा-स्त्री० । विशुद्धपिण्डग्रहणैषणायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

पिंडवाएसणारय-पिण्डपातैषणारत-त्रि० । लब्धे पिण्डपाते ग्रासैषणारते, "संथारपिंडं वा एसणारए संति भिक्खुणो ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ० ।

पिंडवाय-पिण्डपात-पुं० । भक्ताऽऽदिभिक्षालाभे, स्था० ५ ठा० १ उ० । भिक्षालाभे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । भैक्ष्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० ।

पिंडवायपडिया-पिण्डपातप्रतिज्ञा-स्त्री० । पिण्डस्य पातो भोजनस्य पात्रे गृहस्थान्निपतनम्, तत्र प्रतिज्ञा ज्ञानबुद्धिः पिण्डपातप्रतिज्ञा । पिण्डस्य पातो मम पात्रे भवत्विति बुद्धौ, भ० ८ श० ६ उ० । अहमत्र भिक्षां लप्स्ये इत्यध्यवसाये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

पिंडविसुद्धिकत्ता-पिण्डविशुद्धिकर्तृ-पुं० । जिनवल्लभगणिनि , सेन० । " पिण्डविशुद्धिविधाता जिनवल्लभगणिः खरतरोऽन्यो वेति प्रश्ने , उत्तरम्-जिनवल्लभगणेः खरतरगच्छसंबन्धित्वं न संभाव्यते, यतस्तत्कृते पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धानां पौषधमध्ये जेमनाक्षरदर्शनात्कल्याणकस्तोत्रे च श्रीवीरस्य पञ्चकल्याणकप्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना, खरतराणां च भिन्नेति । २३ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

पिंडविसुद्धिकहण-पिण्डविशुद्धिकथन-न० । आधाकर्माऽऽदिदोषादूषितभक्तभणने, जी० ३ अधि० ।

पिंडविसोहि-पिण्डविशुद्धि-स्त्री० । ' पिडि ' संघाते इत्यस्य "इदितो नुम् धातोः"॥७।१।५८॥ इति (पाणि०) नुमि कृते पिण्डनं पिण्ड. संघातो बहूनां सजातीयानां विजातीयानां वा कठिनद्रव्याणामेकत्र समुदाय इत्यर्थः। समुदायश्च समुदायिभ्यः कथञ्चिदभिन्न इति त एव बहवः पदार्था एकत्र संश्लिष्टाः पिण्डशब्देनोच्यन्ते,तस्य विविधमनेकैराधाकर्माऽऽदिपरिहारप्रकारैः शुद्धिर्निर्दोषता पिण्डविशुद्धिः । प्रव० ६७ द्वार । ओघ० । आहाराऽऽदेरनेकैराधाकर्माऽऽदिपरिहारैर्निर्दोषतायाम्, ध० ३ अधि० । ग० । पं० चू० । द्रवरूपं च जलमपि समयभाषया पिण्ड एव । तदुक्तम्-"पिंडो देहो भण्णइ, तस्स अवट्ठंभकारणं दव्वं । एगमणेगं पिंडं, समयपसिद्धं विआणाहि ॥ १ ॥" ध० ३ अधि० । प्रव० । नि०चू० ।( ' पढमालिया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३७६ पृष्ठे विशेष उक्तः )

उद्गमाऽऽदिदोषरहित आहार -

सुद्धो पिंडो विहिओ, समणाणं संजमायहेउ त्ति ।
सो पुण इह विन्नेओ, उग्गमदोसाऽऽदिरहितो जो ॥२॥

शुद्धो निरवद्य एव पिण्डो भक्ताऽऽदिरूपो विहितो ग्राह्यतया निरूपितः,गुरुभिरिति गम्यम् । श्रमणानां साधूनाम् । कुत एतदेवमित्याह-संयमस्य पृथिव्यादिसंरक्षणरूपस्याऽऽत्मनः स्वशरीरस्य,संयमरूपस्य वाऽऽत्मनः,संयमायस्य वा संयमलाभस्य हेतुर्निमित्तं संयमाऽऽत्महेतु. संयमायहेतुर्वा इति कृत्वा । शुद्धस्यैव लक्षणमाह-स पुनः शुद्धः, इह पिण्डाधिकारे विज्ञेयो ज्ञातव्यः, उद्गमदोषरहितो वक्ष्यमाणलक्षणोद्गमोत्पादनैषणादूषणविकलः । य इति पिण्डः । इति गाथाऽर्थः ।

उद्गमदोषाऽऽदीनामेव परिमाणमाह-

सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणाएँ दोसा उ ।
दस एसणाएँ दोसा, बायालीसं इय हवंति ॥३ ॥

षोडशोद्गमदोषा आधाकर्माऽऽदयो वक्ष्यमाणस्वरूपास्तथा षोडशोत्पादनायामपि वक्ष्यमाणनिरुक्तायां, तस्या वा दोषाः

दूषणानि धात्र्यादयः, तुशब्दोऽपिशब्दार्थो, नियोजितश्चायं प्राक्, तथा दशैषणायां वक्ष्यमाणनिरुक्ताया, तस्या वा दोषा दूषणानि शङ्किताऽऽदयः, सर्वमीलने यत्स्यात्तदाह--द्विचत्वारिंशद्दोषा इति । एवमुक्तक्रमेण, भवन्ति जायन्ते, इति गाथाऽर्थः । पञ्चा० १३ विव० । पिं० । दर्श० । महा० । सम्म० ।

ते च द्विचत्वारिंशद्दोषा नामतो निरूप्यन्ते--

( आधाकर्मदोषः 'आधाकम्म' शब्दे द्वितीयभागे २१६ पृष्ठे उक्तः) १ । ( 'उद्देसिय' शब्दे तस्मिन्नेव भागे ८१७ पृष्ठे औद्देशिकदोष उक्तः ) २ । ( पूतीकर्मदोषः 'पूईकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ) ३ । ( मिश्रजातदोषम् 'मीसजाय' शब्दे वक्ष्यामि ) ४ । ( स्थापनादोषः 'ठवणा' शब्दे चतुर्थभागे १६८२ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितः ) ५ । ( प्राभृतिकादोषः 'पाहुडिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१४ पृष्ठे गतः ) ६ । ( प्रादुष्करणदोष 'पाउकरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८१८ पृष्ठे उक्तः ) ७ । ( क्रीतदोष. 'कीयगड' शब्दे तृतीयभागे ५६३ पृष्ठे गतः ) ८ । ( प्रामित्यदोषः 'पामिच्च' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८५३ पृष्ठे उक्त. ) ९ । ( परिवर्तितदोषः 'परियट्टिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२७ पृष्ठे उक्तः ) १० । ( अभ्याहृतदोष. 'अभिहड' शब्दे प्रथमभागे ७३० पृष्ठे गत ) ११ । ( उद्भिन्नदोषः 'उब्भिण्ण' शब्दे द्वितीयभागे ८४० पृष्ठे उक्तः ) १२ । ( मालाहृतदोषम् 'मालोहड' शब्दे वक्ष्यामि ) १३ । ( आच्छेद्यदोषः 'अच्छिज्ज' शब्दे प्रथमभागे १६७ पृष्ठे प्रतिपादितः ) १४ । ( अनिसृष्टदोषः 'अणिसट्ठ' शब्दे तस्मिन्नेव भागे ३३६ पृष्ठे समुक्त. ) १५ । ( अध्यवपूरकदोष 'अज्झोयरय' शब्दे तस्मिन्नेव भागे २३४ पृष्ठे गत. ) १६ । ( धात्रीदोषः 'धाईपिंड' शब्दे चतुर्थभागे २७४० पृष्ठे प्रतिपादितः ) १७ । ( दूतीदोष 'दूई' शब्दे तस्मिन्नेव भागे २६०४ पृष्ठे गतः ) १८ । ( निमित्तपिण्डदोषः 'णिमित्त' शब्दे तस्मिन्नेव भागे २०८२ पृष्ठे उक्त ) १९ । ( आजीवनदोष. 'आजीव' शब्दे द्वितीयभागे १०२ पृष्ठे गत. ) २० । ( 'वणीमग' शब्दे वनीपकदोष वक्ष्यामि ) २१ । ( चिकित्सादोषः 'तिगिच्छा' शब्दे चतुर्थभागे २२३८ पृष्ठे गत ) २२ । ( क्रोधदोषः 'कोहपिंड' शब्दे तृतीयभागे ६८६ पृष्ठे उक्त ) २३ । ( मानदोषम् 'माणपिंड' शब्दे वक्ष्यामि ) २४ । ( मायादोषं 'मायापिंड' शब्दे वक्ष्यामि ) २५ । ( लोभदोषम् 'लोभ' शब्दे वक्ष्यामि ) २६ । ( पूर्वपश्चात्संस्तुतदोषम् 'संथवपिंड' शब्दे वक्ष्यामि ) २७ । ( विद्यापिण्डदोषम् 'विज्जा' शब्दे वक्ष्यामि ) २८ । ( मन्त्रदोषम् 'मंत' शब्दे वक्ष्यामि ) २९ । ( चूर्णदोष 'चुण्ण' शब्दे तृतीयभागे ११९६ पृष्ठे उक्त. ) ३० । ( योगदोष 'जोगपिंड' शब्दे चतुर्थभागे १६४१ पृष्ठे गतः ) ३१ । ( मूलकर्मदोषम् 'मूलकम्म' शब्दे वक्ष्यामि ) ३२ । ( शङ्कितदोषम् 'संकिय' शब्दे वक्ष्यामि ) (स एव 'एसणा' शब्दे च तृतीयभागे ५४ पृष्ठे गतः) ३३ । ( म्रक्षितदोषम् 'मक्खिय' शब्दे वक्ष्यामि । विस्तरत 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ५५ पृष्ठे उक्त ) ३४ । ( निक्षिप्तदोष 'णिक्खित्त' शब्दे चतुर्थभागे २०२३ पृष्ठे गत ) ३५ । ( पिहितदोषम् 'पिहिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यामि ) ३६ । ( संहृतदोषम् 'साहरिय' शब्दे वक्ष्यामि ) ३७ । ( दायकदोष 'दायगदोस' शब्दे चतुर्थभागे २५०० पृष्ठे गत ) ३८ । ( उन्मिश्रदोषशब्दार्थः 'उम्मिस्स' शब्दे द्वितीयभागे ८५० पृष्ठे उक्तः ) ३९ । ( अपरिणतदोषः 'अपरिणय' शब्दे प्रथमभागे ६०१ पृष्ठे गतः ) ४० । ( लिप्तदोषम् 'लित्त' शब्दे वक्ष्यामि ) ४१ । ( छर्दितदोष 'छड्डिय' शब्दे तृतीयभागे १३४९ पृष्ठे उक्तः ) ४२ ।

**पिंडविहाण**--पिण्डविधान--न० । भक्तपानाऽऽदिलक्षणपिण्डग्रहणविधौ, पञ्चा० ।

नमिऊण महावीरं, पिंडविहाणं समासओ वोच्छं ।
समणाणं पाउग्गं, गुरूवएसाणुसारेणं ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, महावीरं वर्धमानजिनम्, पिण्डविधानं भक्तपानाऽऽदिलक्षणं पिण्डग्रहणविधिम्, समासतः संक्षेपेण न पुनर्विस्तरेण पिण्डैषणाध्ययनाऽऽदाविव, मन्दमेधसां समासतो भणनस्यैवोपयोगित्वात्, वक्ष्ये भणिष्यामि । किंभूतमित्याह-गुरवो जिनाऽऽदयस्तेषामुपदेश आज्ञा, तस्यानुसार आज्ञाऽनुरूप्यं गुरूपदेशानुसारोऽतस्तेन, न तु स्वमनीषया । इति गाथाऽर्थः । पञ्चा० १३ विव०

**पिंडहलिद्दा**--पिण्डहरिद्रा--स्त्री० । कन्दविशेषे, भ० ७ श० ३ उ० ।

**पिंडाइचउक्कविसोहि**-पिण्डाऽऽदिचतुष्कविशुद्धि-स्त्री० । पिण्डशय्यावस्त्रपात्राणामाधाकर्माऽऽदिदोषराहित्ये, ध० ३ अधि० ।

**पिंडार**-पिण्डार--पुं० । गोपे, "असती जा एसा सा तं परिचरति, सा य नम्मयाए परकूले पिंडारो, तेण समं पलगिया ।" आव० ४ अ० । "न मुग्धा किन्त्वसत्येषा, स तच्चरितमीक्षते । नर्मदा परकूले च, गोपेन सममस्ति सा ॥ १ ॥" आ० क० ४ अ० ।

**पिंडालुग**-पिण्डालुक-पुं० । कन्दभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

**पिंडि**-पिण्डि-स्त्री० । भित्तके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । लुम्ब्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पिंडिकुंडिमराय**-पिण्डिकुण्डिमराज-पुं० । काकुतिके नृपभेदे, ती० ४९ कल्प ।

**पिंडिम**-पिण्डिम-त्रि० । पिण्डेन निर्वृत्त. पिण्डिमः । घोषवर्जिते, स्था० १० ठा० । पिण्डिते, रा० । आ० म० ।

**पिंडिय**-पिण्डित-त्रि० । मीलिते, तं० । औ० । सम्मीलिते, आचू० १ अ० । गुणिते, औ० । एकजातिमापन्ने, आ० म० १ अ० । अनु० । उत्त० । पिण्डितं किमुच्यते ?, इत्याह-"संगहियमागहीयं, संपिंडियमेगजाइमाणीयं । संगहियमणुगमो वा, वइरेगो पिंडियं भणियं" ॥ २२०४ ॥ विशे० । एकीभूते, ओघ० । आ० म० ।

**पिंडियणीहारिमा**-पिण्डितनिर्हारिमा-स्त्री० । पिण्डिता सती निर्हारिमा दूरे विनिर्गच्छति पिण्डितनिर्हारिमा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पुद्गलसमूहरूपायां दूरदेशगामिन्या च । औ० । गन्धघ्राणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पिंडी**-देशी-मञ्जर्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

**पिंडेसणा**-पिण्डैषणा-स्त्री० । पिण्डं समयभाषया भक्तं, तस्यैषणा ग्रहणप्रकारा । स्था० ७ ठा० । पा० । प्रव० । पि-

एडस्य प्रहणैषणायाम्, सा च दशवैकालिकस्य पञ्चमेऽध्ययने, इति तदध्ययनमपि पिण्डैषणेत्युच्यते । तद्व्याख्यानाय भाष्यकार आह -पिण्डैषणानिक्षेपः-

मूलगुणा वक्खाया, उत्तरगुणअवसरेण आयायं ।
पिंडज्झयणमियाणिं, निक्खेवे नामनिप्फन्ने ॥ ६१ ॥

मूलगुणाः प्राणातिपातनिवृत्त्यादयः व्याख्याताः सम्यक् प्रतिपादिता अनन्तराध्ययने, ततश्च उत्तरगुणावसरेणोत्तरगुणप्रस्तावेनाऽऽयातम इदमध्ययनमिदानीं यत्प्रस्तुतम्, इह चानुयोगद्वारोपन्यासः पूर्ववन्नामनिष्पन्नो निक्षेपः, तथा चाह-निक्षेपे नामनिष्पन्ने, किमित्याह-

पिंडो य एसणा य, दुपयं नामं तु तस्स नायव्वं ।
चउ चउ निक्खेवेहिं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥२३४॥

पिण्डश्च एषणा च द्विपदं नाम तु द्विपदमेव विशेषाभिधानं तस्योक्तसंबन्धस्याध्ययनस्य ज्ञातव्यं, चतुश्चतुर्निक्षेपाभ्यां नामाऽऽदिलक्षणाभ्यां प्ररूपणा, तस्य पदद्वयस्य कर्त्तव्येति गाथाऽर्थः। दश० ५ अ० १ उ० । ( पिण्डशब्दार्थविचार. 'पिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव कृतः ) ( एषणाशब्दार्थः 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ४२ पृष्ठे विस्तरतो निरूपितः ) ( द्रव्यैषणाऽपि तत्रैव पृष्ठे प्रतिपादिता ) (भावैषणा चापि विस्तरतस्तत्रैव निरूपिता) (द्रव्यैषणाभावैषणयोर्भेदाश्च तस्मिन्नेव भागे ५३ पृष्ठे गताः ) । पिण्डैषणा च सर्वा उद्गमाऽऽदिभेदभिन्ना संक्षेपेण अवतरति नवसु कोटीषु ताश्च कोट्य ('कोडीकरण' शब्दे तृतीयभागे ६७६ पृष्ठे दर्शिताः )

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीअं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥ ४२ ॥
तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइअं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्स सुणेह मे ॥४३॥
एवं तु सगुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए ।
तारिसो मरणंतेऽवि, आराहेइ संवरं ॥ ४४ ॥
आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसे ।
गिहत्था वि ण पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥ ४५ ॥

यतश्चैवमत एतद्दोषपरिहारेण "तवं ति" सूत्रं, तपः करोति 'मेधावी' मर्यादावर्ती 'प्रणीतं' स्निग्धं वर्जयति 'रसं' घृताऽऽदिकं, न केवलमेतत्करोति, अपि तु मद्यप्रमादविरतो, नास्ति क्लिष्टसत्त्वानामकृत्यमित्येवं प्रतिषेध, 'तपस्वी' साधुः 'अत्युत्कर्षः' अहं तपस्वीत्युत्कर्षरहित इति सूत्रार्थः ॥ ४२ ॥ ( तस्स त्ति ) 'तस्य' इत्थंभूतस्य पश्यत. 'कल्याणं' गुणसंपद्रूपं संयमं, किंविशिष्टमित्याह-अनेकसाधुपूजितं, पूजितमिति सेवितमाचरितं, 'विपुलं' विस्तीर्णं विपुलमोक्षाऽऽवहत्वात्'अर्थसंयुक्तं' तुच्छताऽऽदिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात् कीर्तयिष्येऽहं शृणुत 'मे' ममेति सूत्रार्थः ॥ ४३ ॥ 'एवं तु' उक्तेन प्रकारेण 'स' साधु. 'गुणप्रेक्षी' गुणानप्रमादाऽऽदीन् प्रेक्षते तच्छीलश्च य इत्यर्थः, तथा 'अगुणानां च' प्रमादाऽऽदीना स्वगतानामनासेवनेन परगतानां चाननुमन्त्या विवर्जकः त्यागी 'तादृशः' शुद्धवृत्तो 'मरणान्तेऽपि' चरमकालेऽप्याराधयति 'संवरं' चारित्रं, सदैव कुशलबुद्ध्या तद्बीजपोषणाद्। इति सूत्रार्थः ॥ ४४ ॥ तथा-( आयरिए त्ति ) आचार्यानाराधयति, शुद्धभावत्वात्, श्रमणांश्चापि तादृश आराधयति, शुद्धभावत्वादेव, गृहस्था अपि शुद्धवृत्तमेनं पूजयन्ति, किमिति ?, येन जानन्ति 'तादृशं' शुद्धवृत्तमिति सूत्रार्थ ॥ ४५ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

पिण्डैषणा—

अह भिक्खू जाणेज्जा सत्त पिंडेसणाओ, सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा-असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते तहप्पगारेणं असंसट्ठेणं हत्थेण वा मत्तएणं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से दिज्जा फासुयं पडिगाहेज्जा, पढमा पिंडेसणा १ । अहावरा दोच्चा पिंडेसणा-संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते तहेव दोच्चा पिंडेसणा २ । अहावरा तच्चा पिंडेसणा-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया सड्ढा भवंति-गाहावती वा० जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं अन्नयरेसु विरूवरूवेसु भायणजाएसु उवणिक्खित्तपुव्वे सिया, तं जहा-थालंसि वा पिढरंसि वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा अह पुण एवं जाणेज्जा-असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते, से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिए वा से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसो त्ति वा भगिणी ति वा एतेणं तुमं असंसट्ठेणं हत्थेण संसट्ठेण मत्तेणं संसट्ठेण वा हत्थेण असंसट्ठेण मत्तेणं अस्सिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा णिहट्टु उच्चित्तु दलयाहि, तहप्पगारं भोयणजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा एसो देज्जा फासुयं एसणिज्जं० जाव लाभे सते पडिगाहेज्जा, तच्चा पिंडेसणा ३। अहावरा चउत्था पिंडेसणा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा पिहुअं वा० जाव चाउलपलंबं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाए तहप्पगारं पिहुयं वा० जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं जाएज्जा० जाव पडिग्गाहेज्जा । चउत्था पिंडेसणा ४ । अहावरा पंचमा पिंडेसणा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा । तं जहा-सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा, अह पुण एवं जाणेज्जा-बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा सयं० जाव पडिगाहिज्जा पंचमा पिंडेसणा ५ । अहावरा छट्ठा पिंडेसणा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, जं च सयट्ठाए पग्गहियं, जं च परट्ठाए प-

ग्गहियं तं पायपरियावन्नं तं पाणिपरियावन्नं फासुयं पडिगाहिज्जा, छट्ठा पिंडेसणा ६। अहावरा सत्तमा पिंडेसणा-से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे बहुउज्झियधम्मियं भोयणजायं जाणेज्जा, जं चऽण्णे बहवे दुपयचउप्पयसमणमाहणअतिथिकिवणवणीमगा णावकंखंति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं भोयणजायं सयं जाणेज्जा, परो वा से देज्जा० जाव फासुयं पडिगाहेज्जा, सत्तमा पिंडेसणा, इच्चेयाओ सत्त पिंडेसणाओ ७।

अथशब्दोऽधिकारान्तरे किमधिकुरुते सप्त पिण्डैषणा' पानैषणाश्चेति। अथान्तरं भिक्षुर्जानीयात्-का सप्त पिण्डैषणाः पानैषणाश्च । ताश्चेमास्तद्यथा-" असंसट्ठा १, संसट्ठा २, उद्धडा ३ अप्पलेवा ४, उग्गहिया ५, पग्गहिया ६ उज्झितधम्मा ७" इति। अत्र च द्वये साधवो गच्छान्तर्गता गच्छनिर्गताश्च। तत्र गच्छान्तर्गतानां सप्तानामपि ग्रहणमनुज्ञातं, गच्छनिर्गतानां पुनराद्ययोर्द्वयोरग्रहः पञ्चस्वभिग्रह इति । तत्राऽऽद्या तावद्दर्शयति-तत्र तासु मध्ये खल्वियत्यलङ्कारे इमा प्रथमा पिण्डैषणा। तद्यथा-असंसृष्टो हस्तः, असंसृष्टं च मात्रं, द्रव्यं पुनः सावशेषं वा स्यान्निरवशेषं वा, तत्र निरवशेषे पश्चात्कर्मदोषस्तथाऽपि गच्छस्य बालाऽऽद्याकुलत्वात्तन्निषेधो नास्त्यत एव सूत्रे तच्चिन्ता न कृता। शेषं सुगमम् १। तथा अपरा द्वितीया पिण्डैषणा। तद्यथा-संसृष्टो हस्तः, संसृष्टं मात्रकमित्यादि सुगमम् २। अथापरा तृतीया पिण्डैषणा । तद्यथा-इह खलु प्रज्ञापकापेक्षया प्राच्या दिक्षु सन्ति केचित् श्रद्धालवः। ते चामी गृहपत्यादयः कर्मकरीपर्यन्तास्तेषां च गृहेष्वन्यतरेषु नानाप्रकारेषु भाजनेषु पूर्वमुत्क्षिप्तमशनाऽऽदि स्यात्भाजनानि च स्थालाऽऽदीनि सुबोध्यानि, नवरं सरगमिति शरिकाभिः कृतं सूर्पाऽऽदि परगं वंशनिष्पन्नं छब्बकाऽऽदि वरगं मण्यादिमहार्घमूल्यं, शेषं सुगमं, यावत्परिगृह्णीयादिति। अत्र च संसृष्टासंसृष्टसावशेषद्रव्यैरष्टौ भङ्गाः, तेषु चाष्टमो भङ्गः संसृष्टो हस्त', संसृष्टं मात्र, सावशेषं द्रव्यमित्येष गच्छनिर्गतानामपि कल्पते शेषास्तु भङ्गा गच्छान्तर्गताना सूत्रार्थहान्यादिकं कारणमाश्रित्य कल्पन्ते इति ३। अपरा चतुर्थी पिण्डैषणा-अल्पलेपा नाम सा यत्पुनरेवमल्पलेपं जानीयात्तद्यथा पृथुकमिति भुग्नशाल्याद्यपगततुषं यावत्तन्दुलप्रलम्बमिति भुग्नशाल्यादितन्दुलामिति अत्र च पृथुकाऽऽदिके गृहीतेऽप्यल्पं पश्चात्कर्माऽऽदि, तथा अल्प पर्यायजातमल्पं तुषाऽऽदि त्यजनीयमित्येवंप्रकारमल्पलेपमन्यदपि वल्लचणकाऽऽदि यावत्परिगृह्णीयादिति ४। अथापरा पञ्चमी पिण्डैषणा-अवगृहीता नाम। तद्यथा-स भिक्षुर्यावदुपहृतमेव भोक्तुकामस्य भाजनस्थितमेव भोजनजातं ढौकितं जानीयात्तत्पुनर्भाजनं दर्शयति । तद्यथा-शरावं प्रतीतं, डिण्डिमं कांस्यभाजनं, कोशकं प्रतीतं, तेन च दाता कदाचित्पूर्वमेवोदकेन हस्तो मात्रकं वा धौतं स्यात्तथा च निषिद्धं ग्रहणम्। अथ पुनरेवं जानीयाद्बहुपर्यापन्नः परिणत' पाण्यादिषूदकलेपस्तत एवं ज्ञात्वा यावद् गृह्णीयादिति ५। अथापरा षष्ठी पिण्डैषणा-प्रगृहीता नाम स्वार्थे परार्थे वा पिठरकाऽऽदेरुद्धृत्य चट्टुकाऽऽदिनोत्क्षिप्ता परेण च न गृहीता प्रव्रजिताय वा ढौकिता, सा प्रकर्षेण गृहीता प्रगृहीता तां तथाभूतां प्राभृतिकां 'पात्रपर्यापन्नां वा' पात्रस्थितां पाणिपर्यापन्नां वा हस्तस्थितां वा यावत्प्रतिगृह्णीयादिति ६। अथापरा सप्तमी पिण्डैषणा-उज्झितधर्मिका नाम, सा च सुगमा ७। आसु च सप्तस्वपि पिण्डैषणासु संसृष्टाऽऽद्यष्टभङ्गका भणनीयाः, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वमिति तस्या अलेपत्वात्संसृष्टाऽऽद्यभाव इति। आचा०२ श्रु०१ चू० १ अ० ११ उ० । आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्याऽदित आरभ्य सप्ताध्यायीरूपायाः प्रथमचूडायाः प्रथम अध्ययने, स० १ अङ्ग० । आ० चू० । प्रश्न० । ध० ।

पिंडेसिका-पिण्डैषिका-पुं० । पिण्डं भोजनमिच्छन्त्यन्वेषयन्ति वा ये ते पिण्डैषिकाः । पिण्डान्वेषकेषु, भ०९ श०३३ उ०।

पिंडोलग-पिण्डावलग-पुं०। 'पिडि' संघाते, पिण्ड्यते तत्तद्गृहेभ्य आदायात्यते इति पिण्डः, तमवलगते सेवते पिण्डावलगकः। स्वयमाहाराभावतः परदत्तोपजीविनि, उत्त० ५ अ०। सूत्र०। "पिंडोलए व दुस्सीले, णरगाओ न मुच्चइ।" उत्त० ५ अ०। आचा०। सूत्र०।

पिंसुली-देशी-मुखमारुतपूरिततृणवाद्यविशेषे, दे० ना० ६ वर्ग ४७ गाथा।

पिक्क-पक्व-त्रि० । " सर्वत्र ल-व-रामचन्द्रे " ॥८।२।७९॥ इति वलोप । प्रा०२ पाद। "पक्वाङ्गारललाटे वा"॥८।१।४७॥ इत्यकारस्येकारः । प्रा० १ पाद। " पक्कं पिक्कं परिणय।" पाइ० ना० १४३ गाथा।

पिक्कमांसी-पक्वमांसी-स्त्री० । संस्कृते गन्धद्रव्यविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

पिक्खण-प्रेक्षण-न० । प्रेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणम् । प्रत्युपेक्षणे, ओघ० ।

पिचुमंद-पिचुमन्द-पुं० । निम्बे, नि० चू० १ उ० ।

पिच्च-नीर-न० । उदके, दश० ७ अ० ।

पिच्चा-प्रेत्य-अव्य० । परलोके, "पिच्चा न ते संति"। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

पीत्वा-स्त्री० । पानं कृत्वेत्यर्थे, कल्प० ३ अधि० ९ क्षण।

पिच्चिय-पिच्चित-न०। कुट्टितत्वक्कये लेखनोपकरणे, स्था०५ ठा० ४ उ० ।

पिच्छ-पिच्छ-पुं० न०। पत्रे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। पक्षे, ज्ञा०१ श्रु० ३ अ०। पक्षावयवविशेषे, उपा०१ अ० प्रश्न० । प्रज्ञा०। मयूराङ्गरुहे, जी० १७ अधि०। " पिच्छाइं पेहुणाइं" पाइ०ना० १२६ गाथा। घृते, "उअ पिच्छ।" पाइ० ना० २२३ गाथा।

पिच्छणिज्ज-प्रेक्षणीय-न०। द्रष्टुं योग्ये, कल्प०१ अधि०२ क्षण।

पिच्छाघर-प्रेक्षागृह-न०। वास्तुविद्याप्रसिद्धे गृहे, बृ०१ प्र०४पाद०।

पिच्छाभूमि-प्रेक्षाभूमि-स्त्री० । रङ्गमण्डपे, " रंगो पिच्छाभूमी।" पाइ० ना० २७२ गाथा।

पिच्छि-पिच्छिन्-पुं० । मयूराऽऽदिपिच्छवाहिनि, भ०१ श० ३३ उ० । औ० । जं० ।

पिच्छिज्जमाण-प्रेक्ष्यमाण-त्रि० । विलोक्यमाने, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । प्रश्न०।

पिच्छिली-देशी-लज्जायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ४७ गाथा।

पिच्छी-पृथ्वी-स्त्री० । " इत्कृपाऽऽदौ " ॥८।१।१२८॥ इति ऋत इत्वम् । औ० । जं० । " त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-

क्षाः कचित्"॥ ८।२।१५॥ इति क्षः स्थाने छाऽऽदेशः। प्रा० २ पाद।

पिज्ज-पा-धा० पाने, "पिबे पिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः" ॥ ८।४।१०॥ इति पिबतेः 'पिज्ज' आदेशः। पिज्जइ। पिबति। प्रा० ४ पाद।

पेय-न०। पयिमाने नद्यादौ, सू० २ उ०।

प्रेमन्-न०। अभिष्वङ्गे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

पिज्जणिस्सिय-प्रेमनिःसृत-न०। अतिरक्तानां दासोऽहं तवेत्यादिरूपे मिथ्यावचने, स्था० १० ठा०।

पिज्जदोसमिच्छादंसणविजय-प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजय-पुं०। प्रेम राग इत्यर्थः, स च द्वेषश्चाप्रीतिरूपो मिथ्यादर्शनं, सांशयिकाऽऽदिप्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनानि, तद्विजयः। रागद्वेषमिथ्यात्वजये, उत्त०।

पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ? । गोयमा! पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेति, अट्ठविहस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमट्ठाएणं जहाणुपुव्वीए अट्ठावीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं पंचविहं अंतराय एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ, तओ पच्छा अणंतं अणुत्तरं कसिणं पडिपुन्नं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ ०जाव सजोगी भवइ ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ, सुहफरिसं दुसमयट्ठिइयं तं पढमसमए बद्धं बिइए समए वेइयं तइए समए निज्जिण्णं तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिन्नं सेयाले य अकम्मे यावि भवइ ।७१।

हे भदन्त! स्वामिन्! प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन जीवः किं फलं जनयति? । तत्र प्रेय्यशब्देन प्रेम रागः, द्वेषः प्रसिद्धो, मिथ्यादर्शनं संशयाऽऽदिभिर्विपरीतमतित्वं, प्रेय्यं च द्वेषश्च मिथ्यादर्शनं च प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शनानि, तेषां विजयः प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शनविजयस्तेन जीवः किं फलमुत्पादयति?। तदा गुरुराह-हे शिष्य! रागद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन जीवो ज्ञानदर्शनचारित्राणामाराधनायै अभ्युत्तिष्ठते, सावधानो भवति; अभ्युत्थाय च अष्टविधकर्मणां ग्रन्थिं घातिकर्मणां कठिनजालं विमोचनार्थं क्षपयितुम् अभ्युत्तिष्ठते सावधानो भवति । अथ कर्मग्रन्थिविमोचने अनुक्रममाह—तत् प्रथमतया यथानुक्रममष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्म्म उद्घातयति, क्षपकश्रेणिमारूढः सन् क्षपयति, षोडश कषायाः, नव नोकषायाः, मोहनीयत्रयम् । एवमष्टाविंशतिविधं मोहनीयकर्म विनाशयति, ततश्चरमसमये यत् क्षपयति तत् क्रममाह—मतिश्रुतावधिमनःपर्यायाऽऽवरणरूपं कर्म पञ्चप्रकारविधं दर्शनाऽऽवरणीयं कर्म्म चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनाऽऽवरणं निद्रापञ्चकम्, एवं नवविधं दर्शनाऽऽवरणीयं कर्म्म, ततः पश्चात्पञ्चविधम्-अन्तरायम्, एतानि त्रीणि (कम्मंसे इति) सत्कर्माणि विद्यमानानि त्रीणि कर्माणि युगपत् क्षपयति, क्षपकश्रेण्यारूढः सन् समकालं क्षयं नयतीत्यर्थः। ततः पश्चादनन्तरं तेषां कर्मणां क्षयीकरणादनन्तरम् अनुत्तरं सर्वेभ्यः प्रधानमननन्तमन्तार्थग्राहकं कृत्स्नं समस्तवस्तुपर्यायग्राहकं प्रतिपूर्णं सकलैः स्वपरपर्यायैः सहितं निरावरणं समस्तावरणरहितं, वितिमिरम् अज्ञानांशरहितं, विशुद्धं सर्वदोषरहितं, लोकालोकप्रभावकं लोकालोकयोः प्रकाशकारकम्, एतादृशं केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयति, यावत् सयोगी भवति, मनोवाक्कायानां योगो व्यापारस्तेन सह वर्तते इति सयोगी भवति। त्रयोदशगुणस्थाने यावत्तिष्ठति तावत् ईर्यापथिकं कर्म बध्नाति, ईरणं ईर्या गतिस्तस्याः पन्थाः ईर्यापथ, ईर्यापथे भवमीर्यापथिकं, पथो ग्रहणं हि उपलक्षणं तस्य तिष्ठतोऽपि सयोगस्य ईर्यायाः सम्भवात् सयोगतायां केवलिनोऽपि सूक्ष्मसञ्चाराः सन्ति, तत् ईर्यापथिकं कर्म कीदृशं भवति?, तदुच्यते-सुखयतीति सुखः सुखकारी स्पर्श आत्मप्रदेशैः सह संश्लेषो यस्य तत् सुखस्पर्शं, द्विसमयस्थितिकं द्वौ समयौ स्थितिर्यस्याः सा द्विसमया, द्विसमया स्थितिरस्येति द्विसमयस्थितिकम्। तत् द्विसमयस्थितिकस्वरूपमाह-प्रथमसमये बद्धं स्वस्य स्पर्शनाय अधीनं कृतमधीनकरणात् स्पृष्टमपि द्वितीये समये तद्बद्धं स्पृष्टं वेदितं कायेन अनुभूतं तृतीयसमये निर्जीर्णं परिशाटितं, निष्कषायस्य उत्तरकालस्थितेरभावो वर्तते, उत्तरकाले सकषायस्य बन्धो भवति, परं केवलिनो न भवति। तदेव पुनः सूत्रकारः भ्रान्तिनिवारणार्थमाह-तत् ईर्यापथिकं कर्म केवलिनो बद्धम् आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्टं व्योम्ना पटवत् तथा स्पृष्टं मसृणमपि कुड्यापतितशुष्कचूर्णवत् इति विशेषणद्वयेन केवलिनो हि निधत्तनिकाचितावस्थयोरभावः, पुनरुदीरितम् उदयप्राप्तं सत् वेदितम् अनुभूतं, केवलिनो हि उदीरणा न भवति, ततो निर्जीर्णं क्षयमुपगतम् ततः (सेयाले इति) एष्यत्काले आगामिनि काले अकर्मा चापि भवति, कर्मरहितो भवति इत्यर्थः। उत्त० २९ अ०।

पिज्जबंधण-प्रेमबन्धन-न०। स्नेहबन्धने, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

पिट्ट-पिट्ट-न०। उदरे, पञ्चा० ३ विव०।

पिट्टण पिट्टन-न०। वस्त्राऽऽदेरिव मुद्गराऽऽदिना हनने, श्री०। "धनहीनरएडारमणीभिरिव पुनः पुनः प्रदेपपुरःसरमुद्गलोत्पिट्टनेन कुट्टने," पिं०। एतच्च वस्त्रं धावयता साधुना न कर्तव्यम्। ओघ०। सूत्र०। प्रश्न०।

पिट्टावणया-पिट्टनता-स्त्री०। पिट्टनप्रापिकायां परितापनायाम्, भ० ३ श० ३ उ०।

पिट्टिय-पिट्टित-त्रि०। कदर्थिते, आ० म० १ अ०। दर्श०।

पिट्ठ-पिष्ट-न०। मुद्गाऽऽदिचूर्णे, बृ० १ उ० २ प्रक०। उण्डेरकाऽऽदिशकुमभृतिके, बृ० १ उ० २ प्रक०। ज्ञा०। ध०। नि०चू०। आ० म०। तन्दुलक्षोदे, दश० ५ अ० १ उ०। क्षोदे, रा०। आच्छटिततन्दुलचूर्णे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०। पिष्टस्य तु मिश्रताऽऽदेवमुक्तं पूर्वसूरिभिः—"पणदिणमीसो लुट्टो, अचालिओ सावणे अ भद्दवए। चउआसोए कत्तिअ-मगसिरपोसेसु तिन्नि दिणा ॥ १॥" ध० २ अधि०।

पृष्ठ–न० । " पृष्ठे धाऽनुत्तरपदे " ॥ ८ । १ । १२९ ॥ इति ष्ठस्य ठः । प्रा० १ पाद । पश्चाद्भागे, स० ३४ सम० ।

पिट्ठओ–पृष्ठतस् -अव्य० । पश्चाद्भागे, स० ३४ सम० । पृष्ठदेशमाश्रित्येत्यर्थे, उत्त० १ अ० । सूत्र० । "अरइं पिट्ठओ किच्चा।" पृष्ठतः कृत्वाऽनादृत्य । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । " पिट्ठओ कडा।" पृष्ठतः कृत्वा, परित्यक्तेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

पिट्ठंत–पृष्ठान्त–न० । ६ त० । " पिट्ठीए अंतं पिट्ठंतं ।" अपानद्वारे, नि० चू० ६ उ० । गुदे, दे० ना० ६ वर्ग ४९ गाथा ।

पिट्ठकरंडग–पृष्ठकरण्डक–न० । पृष्ठवंशवर्त्तुलुन्नते अस्थिखण्डे पांशुलिकायाम्, जं० २ वक्ष० । तं० । जी० । अणु० ।

पिट्ठखउरा–देशी–मद्ये, दे० ना० ६ वर्ग ५० गाथा ।

पिट्ठखउरिआ–स्त्री० । मदिरायाम्, " विट्टसुरा पिट्ठखउरिआ महरा ।" पाइ० ना० २११ गाथा ।

पिट्ठचंपा–पृष्ठचम्पा–स्त्री० । चम्पानगरीपृष्ठतोऽतिसमीपनगर्याम्, तत्र त्रीणि वर्षारात्राणि वीरप्रभुः कृतवान् । कल्प १ अधि० ६ क्षण । ( ' चंपा ' शब्दे तृतीयभागे १०६८ पृष्ठे कल्प उक्तः )

पिट्ठपयणग–पिष्टपचनक–न० । सुरार्थं पिष्टपचनकं यत्र सुरासन्धानाय पिष्टं पच्यते तत् पिष्टपचनकम् । भाजने, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

पिट्ठि–स्त्री० । पृष्ठ–न० । "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८ । ४ । ३२९ ॥ इत्यकारस्येकारः । प्रा० ४ पाद । " वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥ ८ । १ । ३५ ॥ इति स्त्रीत्वं वा । 'पिट्ठी, पिट्ठं ।' प्रा० १ पाद । शरीराङ्गभेदे, प्रश्न० ।

पिट्ठिचंपा–पृष्टिचम्पा–स्त्री० । चम्पासमीपनगरीभेदे, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

पिट्ठिमंस–पृष्ठमांस–पुं० । परोक्षस्य दूषणाऽऽविष्करणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । " पिट्ठिमंसं न खाइज्जा । " पृष्ठमांसं परोक्षदोषकीर्त्तनरूपं न खादेन्न भाषेत । दश० ८ अ० ।

पिट्ठिमंसिय–पृष्ठमांसिक–पुं० । पराङ्मुखस्य परस्यावर्णवादकारिणि, स० २० सम० । अगुणभाषिणि, दशा० १ अ० । आव० ।

पिट्ठिवंस–पृष्ठवंश–पुं० । पृष्ठमध्यवंशके, ग० १ अधि० ।

पिट्ठी–पैष्टी–स्त्री० । व्रीह्यादिधान्यक्षोदनिष्पन्नायां सुरायाम्, बृ० २ उ० ।

पिडग–पिटक–न० । वंशमये पात्रे, " भोयणपिडयं करेइ ।" भोजनस्थाल्याधारभूतं वंशमयं पात्रं पिटकं, तत्करोतीत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । "गणिपिडए ।" गणिन आचार्यस्य पिटकमिव पिटकम् । वणिज इव सर्वस्वस्थानं गणिपिटकम् । स्था० १० ठा० । औ० । सूत्र० । अनु० । बृ० । भ० । स० । चन्द्रद्वये सूर्यद्वये च द्वौ चन्द्रौ द्वौ सूर्यौ एकं पिटकमुच्यते । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । ( तानि कियन्तीति ' जोइसिय ' शब्दे चतुर्थभागे १५६२ पृष्ठे उक्तम् )

पिडच्छा–देशी–सख्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ४९ गाथा ।

पिडिया–पिटिका–स्त्री० । मञ्जूषायाम्, आ० चू० ४ अ० ।

पिढर–पिठर–पुं० । भाण्डे, " पिठरो मठरो य कोलंबो ।" पाइ० ना० १७२ गाथा । " ठो ढः " ॥ ८ । १ । १९९ ॥ इति ठस्य ढः । प्रा० १ पाद ।

पिढरग–पिठरक–पुं० । उखायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । गागलिकुमारपितरि, उत्त० । चम्पानाम्नी नगरी, तत्र शालनामा राजा, महाशालनामा भर्त्ता, तत्पुत्रो गागलिः । उत्त० १० अ० । ती० । आ० म० ।

पिणद्ध–पिनद्ध–त्रि० । परिहिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । तं० । औ० । विपा० । यन्त्रिते, तं० । बद्धे, रा० । ज्ञा० । " पिणद्धगेवेज्जविमलवरचिंधपट्टे " पिनद्धं परिहितं ग्रैवेयकं ग्रीवाऽऽभरणं येन स तथा विमलवरो बद्धश्चिह्नपट्टो योधचिह्नपट्टो येन स तथा, ततः कर्मधारयः । भ० ७ श० ९ उ० । जी० । रा० । " ओलइअं परिहियं पिणद्धं च ।" पाइ० ना० १७५ गाथा ।

पिणद्धित्तए–पिनद्धुम्–अव्य० । बद्धुमित्यर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । औ० ।

पिणाअ–देशी–बलात्कारे, दे० ना० ६ वर्ग ४९ गाथा ।

पिणाइ–पिनाकिन्–पुं० । शिवे, " सूली सिवो पिणाई, थाणू गिरिसो भवो संभू ।" पाइ० ना० २१ गाथा ।

पिणाई–देशी–आज्ञायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ४८ गाथा ।

पिण्णाग–पिण्याक–पुं० । खले, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । आचा० ।

पिण्णिया–पिण्णिका–स्त्री० । श्यामकाऽऽख्ये गन्धद्रव्ये, उत्त० ४ अ० ।

पिण्ही–देशी–क्षामनि कृशे, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पित्त–पित्त–न० । मायुनामके शरीरस्थधातुविशेषे, प्रव० ३८ द्वार० । ज्ञा० । कर्म० । प्रश्न० । ध० । आचा० । तल्लक्षणं च—" परिस्रवस्वेदविदाहरागाः, वैगन्ध्यसंक्लेदविपाककोपाः । प्रलापमूर्च्छाभ्रमिपीतभावः, पित्तस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः " ॥ १ ॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पित्ततो–पित्ततस्–अव्य० । पित्तोदये, व्य० ३ उ० ।

पित्तमुच्छा–पित्तमूर्च्छा–स्त्री० । पित्तनिमित्तं मूर्च्छा पित्तमूर्च्छा । पित्तोद्रेके, व्य० २ उ० । पित्तप्राबल्याद् मनाङ् मूर्च्छायाम्, भ० १ श० १ उ० । आव० । पित्तसंक्षोभे, आ० चू० ५ अ० । व्य० । पित्तसंक्षोभादीषन्मोहे, ध० २ अधि० ।

पित्तसोणिय–पित्तशोणित–न० । पित्तप्रधाने शोणिते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पित्तिय–पितृव्य–पुं० । पितृभ्रातरि, " भगवओ महावीरस्स पित्तिए सुपासे । कल्प १ अधि० ५ क्षण । आचा० ।

पैत्तिक–त्रि० । पित्तरोगजे, तं० ।

पित्तिवस–पितृष्वसृ–स्त्री० । पित्रायत्ते " आया पित्तिवसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा ।" व्य० ३ उ० ।

पितिथिज्जमाण–प्रार्थ्यमान–त्रि० । कान्त्यादिगुणैर्हेतुभूतैः प्रार्थ्यमाने. औ० ।

पिधं–पृथक्–अव्य० । " इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग-नप्तृके " ॥ ८ । १ । १३७ ॥ इतीत्वमुत्वं च । प्रा० १ पाद । " पृथकि धो वा " ॥ ८ । १ । १८८ ॥ इत्यनेन थस्य ध. । प्रा० १ पाद । "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ कलुक्, बहुलाधिकारात् वा कस्य मः " प्रा० १ पाद ।

पिपीलियंड–पिपीलिकाण्ड–न० । कीटिकाण्डे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

पिपीलिया–पिपीलिका–स्त्री० । कीटिकाऽपरनामके त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । आ०म० । प्रज्ञा० । आचा० । उत्त० ।

पिप्पअ–देशी–मशकोन्मत्तयोः, दे० ना० ६ वर्ग ७८ गाथा ।

पिप्पडा–देशी–ऊर्णपिपीलिकायाम्, दे०ना० ६ वर्ग ४८ गाथा ।

पिप्पडिअ–देशी–यत्किञ्चित्पठिते, दे० ना० ६वर्ग ५० गाथा ।

पिप्पय–पुं० । पिशाचे, " ढयरा पुणाइणो पि-प्पया परेया पिसल्लया भूआ । " पाइ० ना० ३० गाथा ।

पिप्पर–देशी–वृषभ-हंसयोः, दे० ना० ६ वर्ग ७६ गाथा ।

पिप्पल–पिप्पल–न० । अश्वत्थे, " पिप्पलं आसत्थं " । पाइ० ना० २५८ गाथा ।

पिप्पलग–पिप्पलक–पुं० । ह्रस्वक्षुरे, विपा० १ श्रु०६ अ० । ओघ० । पात्रमुखाऽऽदिकरणाय लोहमये ( ध० ३अधि० ) किञ्चिद् वक्रे क्षुरविशेषे, पिं० । क्षुरप्रे, बृ० ३ उ० । जीत० । सूत्र० । आचा० ।

जे भिक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

पिप्पलगणहत्थेणं, सोधणए चेव होंति एवं तु ।
णवरं पुण णाणत्तं, परिभोगे होति णायव्वं ॥ १८३ ॥

एवं पिप्पलगणहत्थे णं य कण्णसोहणे एकेके चउरो सुत्ता, अत्थो पूर्ववत् । परिभोगे विसेसो इमो–

वच्छं छिंदिस्सामि, त्ति जाइउं पादछिंदणं कुणति ।
अधवा वि पादछिंदण–काहिंतो छिंदती वच्छं ॥१८४॥
णक्खं छिंदिस्सामि, त्ति जाइउं कुणति सल्लमुद्धरणं ।
अहवा सल्लुद्धरणं, काहिंतो छिंदती णक्खे ॥ १८५ ॥

पिप्पलगेण णक्खच्छेयणाणं अप्पणो इमा विधी–

मज्झ व गेण्हित्ता णं, हत्थे उत्ताणयम्मि वा काउं ।
भूमीए व ठवेउं, एस विधी होति अप्पणणे ॥१८६॥

उभयतो धारणसंभवा मज्झे गेण्हेऊण अप्पेति, सेसं कंठं ।

कण्णं सोधिस्सामि, त्ति जाइतुं दंतसोधणं कुणति ।
अहवा वि दंतसोधण, काहंतो सोहती कण्णे ॥ १८७ ॥
लाभालाभपरिच्छा, दुल्लभ अवियत्त सहस अप्पणणे ।
बारससु वि सुत्तेसु अ, अवरपदा होंति णायव्वा ॥१८८॥

नि० चू० १ उ० ।

पिप्पली–पिप्पली–स्त्री० । कणानामके औषधद्रव्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । पञ्चा० । " पिलक्खू पिप्पलभेदो, सो पुण इत्थियाभिहाणा पिप्पली भवति । " नि०चू० ३ उ० ।

पिप्पिया–पिप्पिका–स्त्री० । दन्तमले, नं० ।

पिम्म–प्रेमन्–न० । स्नेहे, " नेहो पिम्मं रसो य अणुराओ । " पाइ० ना० १२० गाथा ।

पिय–प्रिय–त्रि० । प्रेमविषये, स्था० ८ ठा० । नि० । ज्ञा० । दयिते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । अद्वेष्ये, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कल्प० । भ० । इष्टे, उत्त० १ अ० । आत्मनो हिते,उत्त० २ अ० । दशा० । प्रेमकर्तरि. ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० । चं० प्र० । दश० । प्रेमावहे, स्था० ६ ठा० । प्रेमोत्पादके, स्था० ६ ठा० । प्रेमनिबन्धने, रा० । प्रीतिकरे, इन्द्रियाऽऽह्लादके, स्था० २ ठा० ३ उ० । द्रष्टृणामानन्दोत्पादके, रा० । सर्वजनाऽऽनन्दके, दर्श० ५ तत्त्व । औ० । वल्लभे, औ० ।

पियंकर–प्रियङ्कर–पुं० । प्रियमनुकूलं करोतीति प्रियङ्करः । कथञ्चित्केनचिदपकृतोऽपि न तत्प्रतिकूलमाचरति, किन्तु ममैष कर्मणामयं दोष इत्यवधारयन्नप्रियकारिण्यपि प्रियमेव चेष्टते यः, तस्मिन्नेतादृशे अनुकूलाऽऽचरणे, उत्त० ११ अ० ।

पियंकरकर–प्रियङ्करकर–पुं० । प्रियङ्करहस्ते, आ० क० ।

" विदेहे पश्चिमाऽऽशस्थे, क्षितिमण्डलमण्डनम् ।
क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, नगरं सुप्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
प्रियङ्करकरस्तत्र, राजा राजेव विश्रुतः ।
शुचिः कुवलयोल्लासी, प्रसन्नचन्द्रनामकः ॥ २ ॥ " आ०क० १ अ० । ( तत्कथा ' पसण्णचंद ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८११ पृष्ठे समुक्ता )

पियंग–पित्रङ्ग–न० । पितुर्जनकस्याङ्गान्यवयवाः पित्रङ्गानि । प्रायः शुक्रपरिणतिरूपेषु पित्रवयवेषु, " तओ पियंगा पण्णत्ता । तं जहा–अट्ठी, मिंजा, केसमंसरोमनहे । " स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पियंगाभ–प्रियङ्ग्वाभ–त्रि० । प्रियङ्गुः फलिनीतरुस्तदाभः । नीले, प्रव० २७ द्वार । " पासो मल्ली पियंगाभा । " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पियंगु–प्रियङ्गु–पुं० । श्यामापर्याये फलिनीतरौ, प्रव० ३० द्वार । जं० । आचा० । पञ्चमजिनस्य चैत्यवृक्षः । स० । चम्पायां मित्रप्रभराजामात्यधर्मघोषभार्यायां धनमित्रसार्थवाहसुतसुजातानुकारिकायाम्, आ० क० ४ अ० । आ० चू० । आव० । ( ' संवेग ' शब्दे कथा ) वर्धमानपुरे धनदेवसार्थवाहभार्यायाम्, अञ्जूमातरि, स्त्री० । विपा० १ श्रु० १० अ० । " पियगुलो कंगू । " पाइ०ना० २५६ गाथा । " फलिणी पियमा पियंगू य । " पाइ० ना० १४५ गाथा ।

पियंगुलिया–प्रियङ्गुलिका–स्त्री० । ब्रह्मदत्तभार्याया रत्नावल्याः सख्याम्, उत्त० १३ अ० ।

पियंगुवण्णाभ–प्रियङ्गुवर्णाभ–त्रि० । प्रियङ्गुवर्णा इवाऽऽभा छाया येषां ते तथा । प्रियङ्गुश्यामेषु, आ० म० १ अ० । नीलवर्णे, आ० क० १ अ० ।

पियंवदा–प्रियम्वदा–स्त्री० । सिद्धार्थराजदास्याम्, " अस्मिन्नवसरे ( वीर–जन्मसमये ) राज्ञो, दासी नाम्ना प्रियम्वदा । तं पुत्रजननोदन्तं, गत्वा शीघ्रं न्यवेदयत् ॥ १ ॥ " कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

पियकारिणी–प्रियकारिणी–स्त्री० । भगवतो महावीरस्य मातरि, कल्प० १ अधि० ५ क्षण ।

पियगंधव्व–प्रियगान्धर्व्य–त्रि० । गीतप्रिये, प्रति० ।

पियगंथ–प्रियग्रन्थ–पुं० । स्थविरसुस्थितसुप्रतिबुद्धयोः पञ्चशिष्याणां द्वितीये, कल्प० । प्रियग्रन्थकथा–( पियग्गंथे त्ति ) एकदा त्रिशतजिनभवनचतुःशतलौकिकप्रासादाष्टादशशतविप्रगृहषट्त्रिंशच्छतवणिग्गेहनवशताऽऽरामसप्तशतवापीद्विशतकूपसप्तशतसत्रागारविराजमाने अजमेरुनिकटवर्त्तिनि सुभटपालभूपालसंबन्धिनि हर्षपुरे श्रीप्रियग्रन्थसूरयो अभ्येयुः; तत्र चान्यदा द्विजैर्यागे छागो हन्तुमारेभे, तैः श्राद्धकरार्पितवासक्षेपे तं छागमागत्याम्बिकाऽधिष्ठिता, ततः स छागो नभसि भूत्वा बभाण–

" हनिष्यत नु मां हुत्यै, बध्नीतायात मा हन ।
युष्मद्धन्निर्दयः स्या चेत्, तदा हन्मि क्षणेन वः ॥ १ ॥
यत्कृतं रक्षसां लङ्के कुपितेन हनूमता ।
तत्करोम्येष वः स्वस्थः, कृपा चेन्नान्तरा भवेत् ॥ २ ॥
यावन्ति रोमकूपाणि पशुगात्रेषु भारत ! ।
तावद्वर्षसहस्राणि, पच्यन्ते पशुघातकाः ॥ ३ ॥
यो दद्यात् काञ्चनं मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम् ।
एकस्य जीवितं दद्या–न्न च तुल्यं युधिष्ठिर ! ॥ ४ ॥
महतामपि दानाना, कालेन क्षीयते फलम् ।
भीताऽभयप्रदानस्य, क्षय एव न विद्यते ॥ ५ ॥ " इत्यादि ।
" कस्त्वं प्रकाशयात्मानं, तेनोक्तं पावकोऽस्म्यहम् ।
ममैनं वाहन कस्मा–ज्जिघांसथ पशु वृथा ॥ १ ॥
इहास्ति श्रीप्रियग्रन्थः,सूरीन्द्रः समुपागतः ।
तं पृच्छत शुभं धर्म्मं, समाचरत शुद्धितः ॥ २ ॥
यथा चक्री नरेन्द्राणां, धानुष्काणां धनञ्जयः ।
तथा धुरि स्थितः साधुः, स एकः सत्यवादिनाम् ॥ ३ ॥ "
ततस्ते तथा कृतवन्त । कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

पियजण–प्रियजन–पुं० । मित्रजने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पियजीवि ( ण् )–प्रियजीविन्–त्रि० । जीवितुकामे, " सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं । " सर्वे प्राणिनो जन्तव प्रियमायुर्येषु ते प्रियायुषः, ननु च सिद्धैर्व्यभिचारो न हि ते प्रियाऽऽयुषस्तदभावात्, नैष दोषो, यतो मुख्यजीवाऽऽदिशब्दव्युदासेन प्राणशब्दस्योपचरितस्य ग्रहणं संसारिप्राण्युपलक्षणार्थमिति यत्किञ्चिदेतत् । पाठान्तरं वा–"सव्वे पाणा पियायया" आयत आत्माऽनाद्यन्तत्वात्स प्रियो येषां ते तथा, सर्वेऽपि प्राणिनः प्रियाऽऽत्मानः । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पियट्ठया–प्रियार्थता–स्त्री० । प्रीत्यर्थे, भ० ११ श० ११ उ० ।

पियण–पान–न० । तृडपनोदाय जलस्याभ्यवहरणे, पिं० ।

पियदंसण–प्रियदर्शन–त्रि० । प्रियं प्रेमकारि दर्शनं यस्य स प्रियदर्शनः । सू० प्र० २० पाहु० । चं०प्र० । प्रियं द्रष्टॄणां दर्शनं रूपं यस्य स तथा । भ० ११ श० ११ उ० । नि० चू० । प्रियं प्रेमावहं दर्शनं यस्य । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । वल्लभदर्शने, कल्प० १ अधि० १ क्षण । प्रेमकारिदर्शने, भ० १६ श० ६ उ० । प्रेमजनकारे, विपा० २ श्रु० १ अ० । औ० । मेरुपर्वते, स० १६ सम० । धातकीखण्डार्द्धदेवे, स्था० १० ठा० । जी० । द्वी० । जीत० ।

पियदंसणा–प्रियदर्शना–स्त्री० । अनवद्याङ्ग्यपरनामिकाया भगवतो महावीरस्य दुहितरि, आ० म० १ अ० । आ० चू० । आचा० । आ० क० । उत्त० । विशे० । ( सा च स्वभर्तरि जमालौ मृते सहस्रपरिवारा प्रव्रजिता इति ' जमालि ' शब्दे तृतीयभागे १४०६ पृष्ठे उक्तम् ) साकेतनगरराजस्य चन्द्रावतंसकस्य भार्यायां सुदर्शनासपत्न्याम्, आ० म० १ अ० ।

पियदढधम्म–प्रियदृढधर्मन्–पुं० । प्रियः प्रतिस्थानं दृढः स्थिरो विपत्स्वप्यविमोचनाद् धर्मे श्रुतचारित्राऽऽत्मको यस्य सः प्रियदृढधर्मा । प्रियधर्मत्वदृढधर्मत्ववति, पञ्चा० १२ विव० ।

पियधम्म–प्रियधर्मन्–पुं० । प्रियो धर्मो यस्य तत्र प्रीतिभावेन सुखेन च प्रतिपत्तेः स प्रियधर्मा । स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रिय इष्टो धर्मो यस्येति प्रियधर्म । ओघ० । धर्मप्रिये, आ० १ श्रु० ८ अ० । व्य० । प्रव० । स्था० । धर्मश्रद्धालौ, सू० १ उ० २ प्रक० । एकान्तवल्लभसंयमानुष्ठाने, व्य० १ उ० । आ० म० । बृ० । तीव्ररुचौ, पं० व० ५ द्वार ।

पियमा–प्रियतमा–स्त्री० । फलिन्याम्, ' फलिणी पियमा पियंगू य । " पाइ० ना० १४४ गाथा ।

पियमाहवी–प्रियमाधवी–स्त्री० । कोकिलायाम्, " पियमाहवी परहुआ कलयंठी कोइला वणसवाई । " पाइ०ना०४२ गाथा ।

पियमित्त–प्रियमित्र–न० । सह पांशुक्रीडिताऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । त्रयोविंशभवे वीरजीवे, स च अपरविदेहे मूकाया राजधान्यां धनञ्जयस्य राज्ञो धारिण्या देव्याः कुक्षौ चतुर्दशीतिलक्षपूर्वायु प्रियमित्रनामा चक्रवर्ती बभूव । कल्प० १ अधि० २ क्षण । आ० चू० । आ० क० । षष्ठबलदेवपूर्वभवधर्माऽऽचार्ये, ति० । स० ।

पियय–प्रियक–पुं० । असनपर्याये वृक्षभेदे, औ० ।

पिययम–प्रियतम–पुं० । पत्यौ, " रमणो कंतो पणई, पाणसमो पिययमो दइओ । " पाइ० ना० ६१ गाथा ।

पियरक्खिया–पितृरक्षिता–स्त्री० । पित्राऽकार्यान्निवारितायाम्, औ० ।

पियरूव–प्रियरूप–त्रि० । प्रीतिकारिस्वरूपे, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

पियसह–पितृसख–पुं० । पितृवयस्ये, आ० म० १ अ० ।

पियवयणवल्लरी–प्रियवचनवल्लरी–स्त्री० । मिष्टवाणीमञ्जर्याम्, तं० ।

पियसुदंसण–प्रियसुदर्शन–पुं० । शोभनदर्शने, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पियहुत-प्रियहुत-न० । अभिमुखार्थे हुतशब्दः । प्रियाभिमुखे, प्रा० २ पाद ।

पिया-प्रिया-स्त्री० । दयितायाम्, सूत्र० ।

"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ।
प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणाऽपि चेतसा ॥१॥" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

"स्नानाऽऽदिसर्वाङ्गपरिष्क्रियायां,
विचक्षणः प्रीतिरसाभिरामः ।
विश्रम्भपात्रं विधुरे सहायः,
कोऽन्यो भवेन्नूनमृते प्रियायाः॥१॥" कल्प०१अधि०७क्षण।
राजगृहनगरवास्तव्यभार्यायाम्, नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० ।

पितृ-पुं० । पाति रक्षत्यपत्यमिति पिता । उत्त० १ अ० । जनके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जनको जनयिता यो बीजं निषिक्तवान् । जं० २ वक्ष० । जीत० । "जनिता चोपनेता च, यस्तु विद्यां प्रयच्छति । अन्नदाता भयत्राता, पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ १ ॥" ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

पियाउआ-प्रियाऽऽयुष्-पुं० । प्रियमायुर्येषां ते प्रियाऽऽयुषः । जीवितप्रिये, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पियामह-पितामह-पुं० । पितुः पितरि, ब्रह्माणि चतुर्मुखे, "कमलासणो सयंभू, पिया ( आ ) महो चउमुहो य परमिट्ठी । थेरो विही विरिंची, पयावई कमलजोणी य ॥ १ ॥" पाइ० ना० ३ गाथा । आचा० । आव० । आ० म० ।

पियायय-प्रियाऽऽयत-पुं० । आयत आत्मा आत्मनोऽनाद्यनन्तत्वात् प्रियो येषां ते तथा । प्रियाऽऽत्मकेषु, "सव्वे पाणा पियायया ।" आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

पियाल-प्रियाल-पुं० । वृक्षभेदे, जं० ४ वक्ष० । "चारं पियालं ।" पाइ० ना० २५७ गाथा ।

पिरडी-देशी-शकुनिकायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ४७ गाथा ।

पिरिपिरिया-पिरिपिरिका-स्त्री० । कोलिकपुटकावनद्धमुखे वंशाऽऽदिनलिके वाद्यविशेषे, भ० ५ श० ४ उ० । आचा० । "पिरिपिरिया ततो णं सलागातो सुसिराओ जमलाओ संघातिज्जंति मुहमूले एगमुहा सा संखागारेण वाइज्जमाणी जुगवं तिण्णि सद्दे पिरिपिरेंती करेंति । अन्ने भणंति-गुंजाएण वा भंडणा भवति ।" नि० चू० १७ उ० ।

पिरिली-पिरिली-स्त्री० । तृणरूपवाद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ उ० । नि० चू० । गुच्छविशेषे वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पाद ।

पिलक्खु-प्लक्ष-पुं० । पिप्पलभेदे, नि० चू० ३ उ० । प्रज्ञा० । स० ।

पिलण-देशी-पिच्छिले देशे, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिलुट्ठ-प्लुष्ट-त्रि० । "लात्" ॥ ८ । १ । २ । १६ ॥ इति अन्त्यव्यञ्जनात् पूर्वं इकारः । दग्धे, प्रा० २ पाद ।

पिल्लग-पिल्लक-पुं० । शुनीबालके, व्य० २ उ० ।

पिल्लिअ-क्षिप्त-त्रि० । उरिक्षप्ते, "विच्छूढं उच्छित्तं, पणुल्लिअं पिल्लिमं गलत्थिअयं ।" पाइ० ना० ८३ गाथा ।

पिल्लण-प्रेरण-न० । आरूढस्य पुंसोऽभिमुखे दर्शनधावनाऽऽदिना संज्ञाकरणपूर्वके प्रवर्तने, जं० ३ वक्ष० ।

पिल्लरी-देशी-गण्डूरसंज्ञक-तृणचीरि-धर्मेषु, दे० ना० ६ वर्ग ७९ गाथा ।

पिल्लि-पिल्लि-स्त्री० । यानभेदे, लाटानां यड्डुपप्रमाणं रूढं तदन्यविषयेषु पिल्लिरित्युच्यते । दशा० ६ अ० ।

पिल्ह-देशी-लघुपक्षिणि, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिव-इव-अव्य०-"मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा" ॥८। २।१८२॥ इतीवार्थे पिवप्रयोगः । 'चंदणं पिव ।' प्रा० २ पाद ।

पिवइत्ता-पीत्वा-अव्य० । पानं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

पिवासा-पिपासा-स्त्री० । पातुमिच्छा पिपासा । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । काङ्क्षातिरेके, उपा० २ अ० । औ० । जलपानेच्छायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । तृषि, स्था० १० ठा० । स० । आ० म० । "तण्हा तिसा पिवासा ।" पाइ० ना० १३३ गाथा ।

पिवासापरिसह-पिपासापरिषह-पुं० । परिषह्यमाणा पिपासा पिपासापरीषहः । प्रव० ८६ द्वार । आ० म० । अपरिदेवनेन पिपासापरिदेवनसहने, पं० सं० ४ द्वार । "पिपासितः पथिस्थोऽपि, तत्त्ववित् दैन्यवर्जितः । शीतोदकं नाभिलषेत्, मृगयेतकल्पितौदकम् ॥ १ ॥" आ० म० १ अ० । प्रश्न० । "पिपासितः पथिस्थोऽपि, तत्त्वविद्दैन्यवर्जितः । न शीतमुदकं वाञ्छे-देषयेत्प्रासुकोदकम् ॥१॥" ध० ३ अधि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

तओ पुट्ठो पिवासाए, दुगुंछी लद्धसंजमे ।
सीओदगं न सेवेज्जा, वियडस्सेसणं चरे ॥ ४ ॥

( तओ पुट्ठो ) तत इति क्षुत्परीषहात्तको वा उक्तविशेषणो भिक्षुः, स्पृष्टोऽभिद्रुतः, पिपासयाऽभिहितस्वरूपया ( दुगुञ्छी ति) जुगुप्सी, सामर्थ्यादनाचारस्येति गम्यते,अत एव लब्धोऽवाप्तः संयमः पञ्चाऽऽश्रवाऽऽदिविरमणाऽऽत्मको येन स तथा, पाठान्तरं वा-"लज्जसंजमे त्ति" लज्जा प्रतीता संयम उक्तरूपः,एताभ्यां स्वभ्यस्ततया सात्मीभावमुपगताभ्याममन्य इति स एव लज्जासंयमः । पठ्यते च-"लज्जासंजए त्ति" तत्र लज्जया सम्यग्यतते कृत्यं प्रत्यादृतो भवतीति लज्जासंयतः,सर्वधातूनां पचाऽऽदिषु दर्शनात्। स एवंविधः किमित्याह-शीतं शीतलं, स्वरूपस्थतोयोपलक्षणमेतत्, तत स्वकीयाऽऽदिशस्त्रानुपहतम्,अप्रासुकमित्यर्थः। तच्च तदुदकं च शीतोदकं, न सेवेत न पानाऽऽदिना भजेत्,किं तु-( वियडस्स त्ति)विकृतस्य वह्न्यादिना विकारं प्रापितस्य।प्रासुकस्येति यावत्। प्रक्रमादुदकस्य ( एसणं ति ) चतुर्थ्यर्थे द्वितीया । ततश्चैषणाय गवेषणार्थं चरेत्तथाविधकुलेषु पर्यटेत् । अथवा-एषणाम् एषणासमितिं चरेत्,चरतेरासेवायामपि दर्शनात् पुनः पुनः सेवेत । किमुक्तं भवति?-एकवारमेषणाया अशुद्धावपि न पिपासाऽतिरेकतोऽनेषणीयमपि गृह्णंस्तामुल्लङ्घयेत् इति सूत्रार्थः ।

कदाचिज्जनाकुल एव निकेतनाऽऽदौ लज्जातः स्वस्थ एवं चैवं विदधीतेत्यत आह-

छिन्नावाएसु पंथेसु, आउरेसु पिवासिए ।

परिसुक्कमुहेऽदीणे, तं तितिक्खे परीसहं ॥ ५ ॥

छिन्न. अपगतः आपातोऽन्यतोऽन्यत आगमनाऽऽत्मकोऽर्थो-ज्जनस्य येषु ते छिन्नाऽऽपाता.,विविक्ता इत्यर्थः। तेषु पथिषु मार्गेषु, गच्छन्निति गम्यते। कीदृशः सन्नित्याह-आतुरोऽत्यन्ताऽऽकुलतनुः,किमिति?,यतः सुष्ठु अतिशयेन पिपासितस्तृषितः सुपिपासित ,अत एव च परिशुष्कं विगतनिष्ठीवनतयाऽनार्द्रतामुपगत मुखमस्येति परिशुष्कमुख., स चासावदीनश्च दैन्याभावेन परिशुष्कमुखादीन., तमिति तृट्परीषहं तितिक्षेत सहेत । पठ्यते च-( सव्वओ य परिव्वए त्ति ) " सर्वत इति सर्वान् मनोयोगाऽऽदीनाश्रित्य,च. पूरणे, परिव्रजेत् सर्वप्रकारं संयमाध्वनि यायात् ,उभयत्रायमर्थो विविक्तदेशस्थोऽप्यत्यन्तं पिपासित. अस्वास्थ्यमुपगतोऽपि च नोक्तविधिमुल्लङ्घयेत्तत पिपासापरीषहोऽध्यासितो भवतीति सूत्रार्थः ।

इदानीं नदीद्वारमनुसरन् " सीओदगं ण सेविज्जा " इत्यादिसूत्रावयवसूचितं निर्युक्तिकृत् दृष्टान्तमाह-

उज्जेणी धणमित्तो, पुत्तो से खुड्डओ अ धणसम्मा ।
तएहाइत्तोऽपीओ, कालगओ एलकच्छपहे ॥ ६० ॥

उज्जयिन्या धनमित्रः(से इति)तस्य पुत्र क्षुल्लकश्च धनपुत्रशर्मा (तएहाइत्तो त्ति) तृषितोऽपीतः कालगत एडकाक्षपथ इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः। स चायम्-" एत्थ उदाहरणं किंचि पडिवक्खेण किंचि अणुलोमेण। उज्जेणी नाम नयरी, तत्थ धणमित्तो नाम वाणियओ, तस्स पुत्तो धणसम्मा नाम दारओ, सो धणमित्तो तेण पुत्तेण सह पव्वइओ। अन्नया ते साहू मज्झएहवेलाए एलगच्छपहे पट्ठिया, सोऽवि खुड्डगो तएहाइत्तो एति, सोऽवि से खंतो सिणेहाणुरागेण पच्छओ एति, साहुणोऽवि पुरतो वच्चंति, अन्तरा वि नदी समावडिया, पच्छा तेण वुच्चइ-एहि पुत्त ! इमं पाणियं पियाहि. सोऽवि खंतो नइं उत्तिन्नो चिंतेति य-मणागं ओसरामि, जावेस खुड्डओ पाणियं पियइ, मा मे संकाए न पाहित्ति एगंते पडिच्छइ, जाव खुड्डतो पत्तो णई ण पियति। केइ भणंति-अंजलीए उक्खित्ताए अह से चिंता जाया-पियामि त्ति,पच्छा चिंतेइ-कहमहं एए हालाहले जीवे पिविस्सं?, ण पीय , आसाए छिन्नाए कालगतो , देवेसु उववण्णो , ओहिं पउत्तो , जाव खुड्डगसरीरं पासति. तहिं अणुपविट्ठो, खंतं ओलग्गति, खंतोऽवि एति त्ति परिथिनो, पच्छा तेण तेसिं देवेणं साहूणं गोउलाणि विउव्वियाणि, साहू वि तासु वइयासु तक्काईणि गिण्हंति, एवं वईयापरंपरेण जाव जणवयं संपत्ता. पच्छिल्लाए वईयाए तेण देवेण विंटिया पम्हुसाविया जाणणनिमित्तं एगो साहू णियत्तो. पेच्छति विंटियं. णत्थि वइया, पच्छा नेहिं णायं—सा दिव्वं ति, पच्छा तेण देवेण साहुणो वंदिया, खंतो न वंदिओ, तओ सव्वं परिकहेइ, भणइ-एएण अहं परिचत्तो-तुमं णं पाणियं पियाहि त्ति, जदि मे तं पाणियं पिय होंतं तो संसारं भमंतो, पडिगतो। एवं अहियासेयव्व , इत्यवसित पिपासापरीषह. । अथास्या. कथाया व्याख्यारूपोऽनुवादोऽयम्—

उज्जयिनी नाम नगरी,तत्र धनमित्रो नाम वणिक्,तस्य पुत्रो धनशर्मा नाम दारक , स धनमित्रस्तेन पुत्रेण सह प्रव्रजित. । अन्यदा ते साधवो मध्याह्नवेलायामेलकाक्षपथे प्रस्थिता., सोऽपि क्षुल्लकस्तृषित एति, सोऽपि तस्य पिता स्नेहानुरागेण पश्चादायाति, साधवोऽपि पुरतो व्रजन्ति, अन्तराऽपि नदी समापतिता, पश्चात्तेनोच्यते-एहि पुत्र ! इदं पानीयं पिब, सोऽपि वृद्धो नदीमुत्तीर्याश्चिन्तयति च मनागपसरामि । यावदेष क्षुल्लकः पानीयं पिबति, मा मम शङ्कया न पास्यतीति एकान्ते प्रतीक्षते, यावत्क्षुल्लक प्राप्तः नदीं, न पिबति । केचिद्भणन्ति—अञ्जलावुत्क्षिप्तायामथ तस्य चिन्ता जाता-पिबामीति, पश्चात् चिन्तयति-कथमहमेतान् हालाहलान् जीवान् पास्ये ?, न पीतम् , आशायां छिन्नायां कालगतः देवेषूत्पन्नः.अवधि. प्रयुक्तः,यावत् क्षुल्लकशरीरं पश्यति, तत्रानुप्रविष्ट', वृद्धमवलगति, वृद्धोऽपि एतीति प्रस्थितः. पश्चात्तेन देवेन तेभ्य' साधुभ्यो गोकुलानि विकुर्वितानि. साधवोऽपि तासु व्रजिकासु तक्राऽऽदीनि गृह्णन्ति, एवं व्रजिकापरम्परकेण यावज्जनपदं संप्राप्ता., पश्चिमाया व्रजिकायां तेन देवेन विएिटका विस्मारिता ज्ञाननिमित्तम्, एकः साधुर्निवृत्तः, पश्यति विएिटका, नास्ति व्रजिका, पश्चात्तैर्ज्ञात-सा दिव्यमिति, पश्चात् तेन देवेन साधवो वन्दिताः, वृद्धो न वन्दित', तत' सर्वं परिकथयति, भणति एतेनाहं परित्यक्त —त्वमिदं पानीयं पिबेति, यदि मया तत्पानीयं पीतमभविष्यत्तदा संसारमभ्रमिष्यम् , प्रतिगत. , एवमध्यासितव्यम् । उत्त० पाई० २ अ० । अथोज्जयिन्या धनमित्रकथा—यथा उज्जयिन्यां धनमित्रो वणिक् धनशर्मनाम्ना स्वसुतेन समं प्रव्रजित., अन्यदा मार्गे क्षुल्लकस्तृट्पीडित' नदीं दृष्ट्वा पित्राऽवादि-वत्स ! पिब जलं पश्चादालोचनया दोषशुद्धिर्भाविनी इत्युक्ते क्षुल्लको नेच्छति, नत पिता साधु. स्वशङ्कानिरासार्थं शीघ्रं नदीमुत्तीर्याग्रे गत., क्षुल्लो नद्या प्रविष्ट', जलाञ्जलिमुत्क्षिप्य चिन्तितवान्-कथं जलं पिबामि ?,यत -

" एगम्मि उदगबिन्दुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता ।
ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न मायंति ॥ १ ॥
जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ निच्छओ अग्गी ।
तेऊ वाऊ सहगया, तसा य पच्चक्खया चेव ॥ २ ॥
हंतूण परप्पाणे, अप्पाणं जे कुणंति सप्पाणं ।
अप्पाणं दिवसाणं, कए य नासेइ अप्पाणं ॥ ३ ॥ " इति ।

संवेगेन जलमञ्जलित. पश्चाद्यत्नेन मुक्तं, ततस्तृषया मृत्वा स देवो जातः, अवधिज्ञानादवगतपूर्वभववृत्तान्तेन साधूनामनुकम्पया पथि गोकुलं कृतं,तत्र तक्राऽऽदि शुद्धमिति गृहीत्वा साधव. सुखिनो जाता अग्रे चलिता., तेन देवेन स्वस्वरूपज्ञापनार्थं एकस्य साधोः विएिटका गोकुले स्थापिता, विएिटग्रहणार्थं पश्चाद् व्यावृत्तमुनिवचसा सर्वैरपि साधुभिर्ज्ञातगोकुलाभावैस्तत्र दिव्यमाया ज्ञाता, तत्पिएडमोजनविषयं मिथ्यादुष्कृतं दत्तं, ततस्तत्राऽऽयातेन देवेन पितरं मुक्त्वा सर्वे साधवो वन्दिताः, पित्रा वन्दनाकारणं पृष्टः स देवः सर्वं स्ववृत्तान्तं पितुर्जलपानानुमतिं च प्रोच्य गतो देव. स्वस्थानम् । एवं क्षुल्लकवत् तृट्परीषहः सोढव्यः । उत्त० २ अ० । आव० ।

पिवासिय-पिपासित-त्रि० । असाधारणतृड्वेदनासमुच्छलनात् । (जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०) जाततर्षे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । तृषिते, सू० ४ उ० ।

पिवित्तए-पातुम्-अव्य० । जलमभ्यवहर्तुमित्यर्थे, औ० ।

पिवीलियंड-पिपीलिकाण्ड-न० । 'पिपीलियंड' शब्दार्थे,कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

पिवीलिया-पिपीलिका-स्त्री० । 'पिपीलिया' शब्दार्थे, जी० १ प्रति० ।

पिव्व-देशी-जले, दे० ना० ६ वर्ग ४६ गाथा ।

पिश्चिल-पिच्छिल-त्रि० । "छस्य श्चोऽनादौ" ॥ ८ । ४ । २९५ ॥ इति मागध्यां वर्तमानस्य छस्य तालव्यशकाराऽऽक्रान्तः श्चः । सकर्दमे, यत्र पादौ विस्खलति । प्रा० ४ पाद ।

पिसंगय-पिशङ्गक-त्रि० । पीतवर्णे, " कविलं कपिसं पिंग पिसंगयं कडारं च ।" पाइ० ना० ६३ गाथा ।

पिसल्लय-पिशाच-पुं० । " ढयरा पुणाइणो पिप्प-या परेया पिसल्लया भूआ य ।" पाइ० ना० ३० गाथा ।

पिसाअ-पिशाच-पुं० । " खचित-पिशाचयोश्चः स-ल्लौ वा." ॥ ८ । १ । १९३ ॥ इति पिशाचशब्दस्य पिसिल्लादेशो वा । प्रा० १ पाद । व्यन्तरदेवभेदे, स्था० ८ ठा० । राक्षसे,स्था० १० ठा० । ते च पिशाचाः षोडशविधाः । तद्यथा-कूष्माण्डाः १, पटका २,जाषाः ३,आह्निकाः ४,कालाः ५, महाकालाः ६, चोक्षाः ७,अचोक्षाः ८,तालपिशाचाः ९, मुखरपिशाचाः १०, अधस्तारकाः ११,देहाः १२, विदेहाः १३, महाविदेहाः १४, तूष्णीका १५,वनपिशाचाः १६,इति । प्रज्ञा० १ पद । आ०क० । स० । प्रव० । ('ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०६ पृष्ठे एषां स्थानमिन्द्रश्चादर्शिषाताम् ) जातित्वात् स्त्रीत्वे पिशाची । क्वचिच्चस्य जः । पिसाजी । प्रा० १ पाद ।

पिसायई-पिशाचकिन्-त्रि० । पिशाचोऽस्यास्तीति पिशाचकी । "पिशाचात्कश्चान्ते" इत्यनेन मत्वर्थीय इन् कश्चान्ते । पिशाचेनाऽऽक्रान्तवपुषि भूताऽऽविष्टे, स्था० ।

पिसायभूय-पिशाचभूत-पुं० । पिशाचवद् भूतो जातो गमकत्वात्समासः। धुवावगुण्ठितशरीरत्वेन मलिनवस्त्रत्वेन भूततुल्ये, उत्त० १२ अ० । " पिसायभूए " पिशाचो हि लौकिकानां दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभिः समभिध्वस्त इष्टस्ततः सोऽपि निष्प्रतिकर्मतया रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते । उत्त० पाई० १२ अ० ।

पिसिअ-पिशित-न० । मांसे, " पिसिअं खुल्लं मंसं ।" पाइ० ना० ११३ गाथा ।

पिसिज्जमाण-पिष्यमाण-त्रि० । संचूर्ण्यमाणे, जं० ४ वक्ष० ।

पिसिय-पिशित-न० । पुद्गले मांसे,बृ० ३ उ० । आव० । व्य० । सूत्र० । नि० चू० ।

पिसियाइभोइ-पिशिताऽऽदिभोजिन्-त्रि० । मांसमद्यप्रभृतिकाऽभक्ष्यभोजके, हिंसके च । पञ्चा० १३ विव० ।

पिसिल्ल-पिशाच-पुं० । 'पिसाअ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

पिसुअ-पिशुक-पुं० । चञ्चटाऽऽदौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि । मत्कुणवर्त्मंडकं मशकजातौ, बृ० ४ उ० । नि० चू० ।

पिसुण-पिशुन-त्रि० । प्रीतिं शून्यां करोतीति पिशुनः । नैरुक्ती शब्दनिष्पत्तिः । बृ० १ उ० १ प्रक० । परगुणासहनतया तद्दोषोद्घाटके, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । उत्त० । परनिन्दके, उत्त० ५ अ० । बृ० ।

पिसुणभेयण-पिशुनभेदन-न० । खलभेदने, परस्परं प्रेमसम्बद्धयोः प्रेमच्छेदने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार० ।

अथ पिशुनद्वारमाह-

पीई सुण्णति पिसुणो, गुरुगाई चउरह जाव लहुओ उ ।
अहव असंता संते, लहुगा लहुगो तिही गुरुगो ॥

( पीई सुण्णति त्ति ) अलीकानीतराणि वा परदूषणानि भाषमाणः प्रीतिं शून्यां करोतीति पिशुनो, नैरुक्ती शब्दनिष्पत्तिः, स च यथाऽऽचार्यः पैशुन्यं करोति तदा चत्वारो गुरवः, उपाध्यायः करोति चत्वारो लघवः, भिक्षुः करोति करोति मासगुरु, क्षुल्लकः करोति मासलघु । अमुमेवार्थं संजिघृक्षुराह-( गुरुगा इत्यादि ) चतुर्णामाचार्योपाध्यायभिक्षुक्षुल्लकरूपाणां पैशुन्यकरणविषयभूतानां कर्तृभूतानां च यथाक्रम गुरुकाऽऽदयो यावल्लघुमास प्रायश्चित्तम् । अथ वेति प्रकारान्तरोपन्यासे सामान्यतः यत संयतः,संयतेषु पैशुन्यं करोति तत्रासति,दूषणविषये पैशुन्ये चत्वारो लघवः, सद्दूषणविषये लघुको मास । एते एव प्रायश्चित्ते गृहिषु गुरुकेऽवसातव्ये । तद्यथा-गृहस्थेषु असद्भिर्दोषैः पैशुन्यं करोति चत्वारो गुरवः, सद्भिः करोति गुरुमासः । बृ० १ उ० १ प्रक० । नि० चू० । आव० । " पोरच्छो पिसुणो,मच्छरी खलो सुहसुहुओ य उप्फालो । " पाइ० ना० ७२ गाथा ।

पिसुणिअ-कथित-त्रि० । कथिते, " वज्जरिअ-सिट्ठ-सुइअ-उप्फालिअ-पिसुणिआइ साहिअयं ।" पाइ० ना०८३ गाथा ।

पिसुया पिशुका-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे,प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

पिह-स्पृह-धा० । इच्छायाम् , " क्रियाइ, पिहाइ । " ( क्रियाइ ) । स्पृहयति । यद्येवंविधं प्रहरणं मयाऽपि स्यादित्येवं तदभिलषति स्वस्थानगमनं चाभिलषति । अथवा-पिहा इति अक्षिणी पिधत्ते निमीलयति । भ० ३ श० २ उ० ।

पृथक्-अव्य० । विभिन्ने, विशे० ।

पिहं-पृथक्-अव्य० । " इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथङ्-मृदङ्ग नप्तृके ॥ ८ । १ । १३७ ॥ " इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । " वा स्वरे मश्च " ॥ ८ । १ । २४ ॥ इत्यनेन बाहुलकत्वात् कस्य अनुस्वारो वा । विभिन्ने, प्रा० १ पाद । नि० चू० । विशे० ।

पिहंड-देशी वाद्यविशेष विवर्णयोः,दे० ना० ६ वर्ग ९ गाथा ।

पिहज्जण-पृथग्जन-पुं० । सामान्यजने, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पिहड-पिठर-पुं० । " पिठरे हो वा रश्च डः " ॥ ८ । १ । २०१ ॥ इति पिठरशब्दे ठस्य हः तत्सन्नियोगे च रस्य डः । 'पिहडो' पिठरो । प्रा० १ पाद । स्थाल्याम् , उपा० ७ अ० । यत्र प्रभूतजनयोग्यं धान्यं पच्यते । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

पिहत्तआगामिपह-पिधत्तआगामिपथ-न० । अन्तरायकर्मभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । ( व्याख्या 'अंतराय' शब्दे प्रथमभागे ९८ पृष्ठे गता ) ।

पिहब्भूय-पृथग्भूत-त्रि० । भिन्ने, विशे० ।

पिहल-देशी-मुखमारुतपूरिततृणवाद्यविशेषे, दे० ना० ६ वर्ग ४७ गाथा ।

पिहाण-पिधान-न० । स्थगने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । विशे० । सूत्र० । आचा० । जं० ।

पिहाणिआ-पिधानिका-स्त्री० । आच्छादनकर्त्र्याम्, " पिहाणिआ मंढी ।" पाइ० ना० २३३ गाथा ।

पिहिअ-पिहित-त्रि० । आच्छादिते, " तिरोहिअं पिहिअं अंतरिअं ।" पाइ० ना० १७७ गाथा ।

पिदधत्-त्रि० । स्थगयति, आ० १ श्रु० ६ अ० ।

पिहिय-पिहित-त्रि० । स्थगिते, पञ्चा० १३ विव० । दश० । जीवा० । स्था० । ध० । आचा० । ग० । कम्बलाऽऽद्यावृतशरीरे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सचित्तत्वेन स्थगिते उद्गमदोषविशेषे, प्रव० २ द्वार । आचा० । ( पिहितदोषः ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ५६ पृष्ठे प्रतिपादितः )

दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण, सिलेसेण वि केणइ ॥ ४५ ॥

( दगवारेण त्ति ) दकवारेणोदककुम्भेन पिहितं भाजनस्थं सन्तं स्थगितम् । तथा ( नीसाए त्ति ) पेषण्या, पीठकेन वा काष्ठपीठाऽऽदिना, लोढेन वापि शिलापुत्रकेण, तथा लेपेन मृल्लेपनाऽऽदिना, श्लेषेण वा केनचिज्जतुसिक्थाऽऽदिनेति सूत्रार्थः ॥ ४५ ॥

तं च उब्भिदिआ दिज्जा, समणट्ठाएँ दावए ।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

( तं च त्ति ) तच्च स्थगितं लिप्तं वा सत् उद्भिद्य दद्याच्छ्रमणार्थं दायकः, नात्माऽऽर्थम् सकृदुद्भिद्य दायको दद्यात् । तदित्थंभूतं ददतीं स्त्रियं साधुर्वदेत् मम कल्पते तादृशमिति ॥ ४६ ॥ दश० ५ अ० १ उ० । " गुरुपिहिए चउगुरु ।" पं० चू० १ कल्प । मुद्रिते, बृ० २ उ० ।

पिहियच्च-पिहितार्च-पुं० । पिहिता स्थगिताऽर्चा क्रोधज्वाला येन स तथा । उपशान्तक्रोधे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

पिहिआगामिपह-पिहिताऽऽगामिपथ-न० । पिधत्ते च आगामिनो लब्धव्यस्य वस्तुनः पथ आगामिपथस्तमिति । क्वचिदागामिपथमिति दृश्यते । क्वचिच्च " आगामपहं ति " तत्र च लाभमार्गमित्यर्थ । स्था० २ ठा० ४ उ० । ( ' अंतराय ' शब्दे प्रथमभागे ६८ पृष्ठे व्याख्या )

पिहियाण-पिधान-न० । स्थगने, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पिहियासव-पिहिताऽऽश्रव-पुं० । स्थगितप्राणातिपाताऽऽद्याश्रवे, " पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ।" दश० ४ अ० ।

पिहु-पृथु-त्रि० । सामान्येन विस्तीर्णे, विशे० ।

पिहुंड-पिहुण्ड-न० । नगरभेदे, उत्त० । वङ्गदेशीये चम्पानगरीतः प्रवहणमारुह्य व्यापारार्थं पिहुण्डं नगरं समायात इति । उत्त० २१ अ० ।

पिहुण-पिहुन-न० । मयूरपिच्छे, रा० ।

पिहुणमिंजिया-पिहुणमिञ्जिका-स्त्री० । मयूरपिच्छमध्यवर्तिन्यां मिञ्जिकायाम्, रा० ।

पिहुय-पृथुक-न० । शाल्यादिलाजे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । अपगततुषे भुग्नशाल्यादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । इह ये व्रीहयः परिपक्काः सन्तो भ्राष्ट्राऽऽदौ भज्यन्ते, ततः स्फुटिता अपनीतत्वचः पृथुका इत्युच्यते । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पिहुयखज्ज-पृथुकखाद्य-त्रि० । पृथुकभक्षणयोग्ये, " पिहुयखज्जाओ सालीओ त्ति नो वए । " दश० ७ अ० ।

पिहुल-पृथुल-त्रि० । अतिपृथुनि, औ० । आ० म० । अतिविपुले, जं० २ वक्ष० । विस्तीर्णे, स्था० १ ठा० । संस्थानभेदे, "एगे पिहुले ।" स्था० १ ठा० । ऊर्वोः, ' पियय विउलं वित्थिणं वित्थयं रूविसालं ।" पाइ० ना० ८६ गाथा ।

पिहुलवच्छ-पृथुलवक्षस्-त्रि० । पृथुलमतिविस्तीर्णं वक्षो हृदयं येषां ते । विस्तीर्णहृदयेषु, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

पिहोअर-देशी-तनौ, दे० ना० ६ वर्ग ५० गाथा ।

पीइ-प्रीति-स्त्री० । रुचौ, विशे० । अभिष्वङ्गे, द्वा० २३ द्वा० । " प्रीतिश्च हितोदया भवति " प्रीतिश्चाभिरुचिरूपा हितोदया हित उदयो यस्याः सा तथा, भवति । षो० १० विव० । आव० । प्रति० । पञ्चा० । ज्ञा० । प्रीतिभक्तित्वे इच्छागतजातिविशेषे, ध० १ अधि० । " अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वत्ता च जननीति । तुल्यमपि कृत्यमनयो-र्ज्ञातं, स्यात्प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ५ ॥ " षो० १० विव० । दर्श० । अष्ट० । ( ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे व्याख्यातम् )

पीइअणुट्ठाण-प्रीत्यनुष्ठान-न० । "यत्राऽऽदरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः । शेषत्यागेन करो-ति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥ " इत्युक्तलक्षणेऽनुष्ठानभेदे, षो० ६ विव० । ( ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे व्याख्यातम् )

पीइगम-प्रीतिगम-न० । आनतदेवेन्द्रस्य पारियानिके विमाने, जं० ५ विव० । औ० । स्था० ।

पीइदाण-प्रीतिदान-न० । हर्षपूर्वके दाने, औ० । प्रीतिदानं यद्भगवदागमननिवेदने परमहर्षनिवेदने परमहर्षाभियुक्तैर्नरैस्यो दीयते । आ० म० १ अ० । ज्ञा० ।

पीइधम्मिअ-प्रीतिधर्मिक-न० । स्थविरार्यसुहस्तिनिर्गतस्य चारणगणस्य द्वितीयकुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

पीइवद्धण-प्रीतिवर्द्धन-पुं० । लोकोत्तररीत्या कार्तिके, जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० । ज्यो० । " पीइवद्धणे मासे ।" कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

पीइमण-प्रीतिमनस्-त्रि० । प्रीतिः प्रीणनमाप्यायनं मनसि यस्येति प्रीतिमनाः । भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० । प्रीतियुक्तचित्ते, कल्प० १ अधि० २ क्षण । आ० म० । दशा० । भ० ।

पीई-देशी-तुरङ्गमे, दे० ना० ६ वर्ग ५१ गाथा ।

पीउम्मत्त-प्रीतोन्मत्त-त्रि० । प्रीतेन कनकेन पक्कीरथन्यायेनार्थात् धातूद्रेकेणोन्मत्त प्रीतोन्मत्तः । घूर्णिते, अष्ट० १५ अ० ।

पीऊस-पीयूष-न० । अमृते, " अमयं च सुहा य पीऊसं । " पाइ० ना० १८३ गाथा ।

पीढरई-देशी-चोरस्त्रियाम्, दे० ना० ६ वर्ग ५१ गाथा ।

पीडा-पीडा-स्त्री० । बाधायाम्, पञ्चा० १८ विव० । देहसमुत्थवेदनायाम्, पञ्चा० ७ विव० । " किं ताए पढियाए, पयकोडीए पयालभूताए । जत्थित्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥ १ ॥ " संथा० । " अत्ती विअणा पीडा । " पाइ० १६१ गाथा ।

पीडिअ-पीडित-त्रि० । वेदनाऽभिभूते, " अहिड्डयं पीडिअं परद्धं च ।" पाइ० ना० १६१ गाथा ।

पीढ-पीठ-न० । आसने, भ० २ श० ५ उ० । दशा० । स्था० । उत्त० । सिंहासनाऽऽदिके, उत्त० १७ अ० । रा० । ज्ञा० । प्रश्न० । औ० । ध० । आसनविशेषे, औ० । पट्टाऽऽदिके, स्था० ५ ठा० २ उ० । उपा० । छगणाऽऽदिमये उपवेशनपट्टे, बृ० ३ उ० । पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां वज्रसेनस्य तीर्थंकरस्य राज्ञः सुते, वज्रसेनो हि पूर्वभवे ललिताङ्गो नाम देवः च्युत्वा कतिपयभवान् कृत्वा विदेहे चिकित्सकसुत आसीत्तत्रायं सार्थवाहसुत आसीत् । आ० म० १ अ० । ( वृत्तम् ' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे ११११८ पृष्ठे गतम् ) अस्मिन् भवे भ्रातृभिः सह प्रव्रजितः । पञ्चा० १६ विव० । अनन्तरविमानादवतीर्य सुमङ्गलायामृषभदेवेन जनिते बाहुभ्रातरि पुत्रे, आ० म० १ अ० । आ० चू० । इक्षुनिपीडनयन्त्रे, दे० ना० ६ वर्ग ५१ गाथा । आसने, पाइ० ना० १२० गाथा ।

पीढग-पीठक-न० । काष्ठमये छगणमये वा आसने, दश० ५ अ० १ उ० । ध० । पं० व० । बृ० ।

पीढफलग-पीठफलक-न० । आसने, पीठमासनफलकमवष्टम्भनार्थः । काष्ठविशेषे, दशा० १० अ० । ( निर्ग्रन्थीनां पीठफलकम् ' आसण ' शब्दे द्वितीयभागे ४४१ पृष्ठे उक्तम् )

जे भिक्खू तणपीढयं वा पलालपीढयं वा छगणपीढयं वा कट्टपीढयं वा वेत्तपीढयं वा परवत्थेणोच्छण्णं अहिट्ठेइ, अहिट्ठंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

पलालमयं तणपीढगं, वेत्तासणगं वेत्तपीढगं, भिसिमादिकट्ठमयं छगणपीढयं पासिद्धं, परो गिहत्थो, तस्संतिएण वत्थेण उच्छइयं तं जो साहू अहिट्ठेति, निवसतीत्यर्थः । तस्स चउलहू, आणादिणो य दोसा-

पीढगमादी आसण, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते ।
परवत्थेणोच्छेत्ते, ताणि अहिट्ठेति आणादी ॥ ४६ ॥

इमे आयविराहणा दोसा-

दुट्ठियभग्गमपाए पडिज्ज, तब्भावणा व से होज्जा ।
पवडेंते उड्डाहो, वंचणट्ठा कते अहियं ॥ ४७ ॥

परेण जमासणं अजाणता पडिणीयट्ठयाए वंचणट्ठा दुट्ठियं ठवियं, भग्गं वा ठवियं, एगतुति सव्वपादविरहियं वा ठवियं, तत्थ वीसत्थो निविट्ठो पडिज्ज वा, निद्दोसे तब्भावणा वा से होज्जा, पडमाणो वा अवाउडो भवति । तत्थ उड्डाहो-समणो पडिउ त्ति । एवं वंचणट्ठा दुट्ठतादिकयं आसणतो अहियतरा उड्डाहपवंचणादोसा भवंति ।

इमे संजमदोसा-

गंभीरे तसपाणा, पुव्वं ठविते तविज्जमाणे वा ।
पच्छाकम्मे य तहा, उप्फोसणधोवणादीणि ॥ ४८ ॥

गम्भीरं गुविलं अप्रकाशं, तत्थ दुनिरिक्खा कुंथुमादितसा पाणा ते विराहेज्जंति, एवं पुव्वट्ठविते समणट्ठा ठविज्जमाणे वा इमो दिट्ठंतो-एगस्स रण्णो पुरतो साहुस्स तव्वन्नियस्स या दो साहू भणति-अरहंतपणीओ मग्गो सुदिट्ठो, इतरो वुद्धपणीउ त्ति । एवं तेसिं बहुदिवसा गता, अण्णायरणो जाव तेणागच्छंते ताव दो अमणा ठवित्ता अंडयाणि वत्थपच्छादिताणि कयाणि, तव्वन्नितो पुव्विं आगतो अपेहित्ता णिविट्ठो साहू आगतो, वत्थं अवणीतं, दिट्ठा अंडआ, अण्णासणे पमज्जित्ता णिविट्ठो तुट्ठो राया, एस सम्मग्गो त्ति ओहामितो तव्वन्निउ त्ति एतेण निक्खेवि त्ति चउत्थरसायणा या निक्खेवेति । एवं उप्फोसणादि पच्छाकम्मं करेज्ज ।

इमम्मि कारणे अधिट्ठेज्जा-

वितियपदमणप्पज्झे, अहिट्ठे अविकोविते व अप्पज्झे ।
रायादिमंतिधम्मी, कहिवादिपराभिओगे य ॥ ४९ ॥

राया अण्णो वा अमच्चादि इड्ढिमंतो धम्मकही वादी वा रायाभियोगादिणा वा अधिट्ठेज्ज ।

इमा जयणा-

पीढफलएसु पुव्वं, तस्सऽसतीए उ झुसिर परिभुत्ते ।
पागडिएसु पमज्जिय, भावे पुण इस्सरे णातुं ॥ ५० ॥

पीठादि अज्झुसिरे पुव्व अधिट्ठेति, अज्झुसिराण असतीझुसिरे अधिट्ठेति, झुसिरा वि जे गिहीतक्खणपुव्वं परिभुत्ता, तत्थ निवसंतो पागडिएसु पमज्जिय निवसति, तत्थ गिहिवत्थं अवणेउं अप्पणो निसिज्जं दातुं अधिट्ठेति, रायादिइस्सराणि घरेसु जति पमज्जते तस्सचित्तो पमज्जति, अध कुकुडं ति मन्नति तो पमज्जति । एवं भावाभावं णाउं पमज्जति ण वा । नि० चू० १२ उ० ।

पीढफलगपडिबद्ध-पीठफलकप्रतिबद्ध-पुं० । पीठकमासनमादिशब्दात्फलकपट्टिकाऽऽदयस्तत्र प्रतिबद्धः । कारणं विनाऽपि ऋतुबद्धकाले पीठफलकपरिभोगिनि, ग० १ अधि० ।

पीढफलगसेज्जासंथार-पीठफलकशय्यासंस्तार-पुं० । काष्ठमयासनशय्याच्छादने, उपा० १ अ० ।

पीढमद्द-पीठमर्द-पुं० । पीठं मर्दयित्वा ये प्रासाऽऽसन्ना उपविशन्ति ते पीठमर्दाः । आव० १ अ० । आ० म० । राज्ञामास्थाने आसनाऽऽसीनसेवके वयस्ये, भ० ७ श० ६ उ० । कल्प० । ज्ञा० । औ० । आ० चू० ।

पीढया-पीठका-स्त्री० । प्रतिष्ठानपुरप्रतोल्या बहिर्देव्याम्, सा च प्रतिदिनचतुष्टयं परिणेतुर्विषयगृद्धस्य राज्ञो मारणार्थं विवाहवाटिकाग्रामवास्तव्यद्विजाऽऽराधिता प्रत्यतिष्ठत । ती० ३३ कल्प० ।

पीढसप्पि-( ण् ) पीठसर्पिन्-पुं० । प्रसर्पेण संचरणशीले पङ्गुविशेषे, जन्तुर्गर्भदोषात् पी ठसर्पित्वेनोत्पद्यते, जातो बा

कर्मदोषाद् भवति, स किल पाणिगृहीतकाष्ठः प्रसर्पतीति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

पीढाणीय-पीठानीक-न० । अश्वसैन्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

पीढिया-पीठिका-स्त्री० । उपवेशनाऽऽदिस्थानविशेषे, बृ० १ उ० २ प्रक० । " आसंदी पीढिया ।" पाइ० ना० २६६ गाथा ।

पीण-पीन-त्रि० । उपचिते जं० २ वक्ष० । जी० । स्थूले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । पुष्टे, जं० २ वक्ष० । पीवरे , रा० । ज्ञा० । " पीणमट्ठरमणिज्जगंडलेहा । " पीना उपचिता मृष्टा मसृणा रमणीया रम्या गण्डरेखा कपोलपाली यासां ताः पीनमृष्टरमणीयगण्डरेखाः । जी० ३ प्रति० । पीणमंसलकवोलदेसभागा ।" पीनौ अकृशोपेतौ मांसलावुपचितौ कपोलदेशौ गण्डभागौ मुखस्य देशरूपौ भागौ येषा ते पीनमांसलकपोलदेशभागा । अथवा कपोलयोर्देशभागाः कपोलदेशभागाः,कपोलावयवा इत्यर्थः । पीना मांसला कपोलदेशभागा येषा ते पीनमांसलकपोलदेशभागा । जी० ३ प्रति० । " पीणरइयसंठिया ।" पीनं पीवरं रचितं तथा जगत्स्थितिस्वाभाव्यात्, रतिदं वा संस्थितं संस्थानं यकाभ्या तौ पीनरचितसंस्थितौ पीनरतिदसंस्थितौ वा । जी० ३ प्रति० ४ उ० । " पीणुन्नयकक्खवक्खवत्थिप्पएसा ।" पीना उपचितावयवा उन्नता अभ्युन्नताः कक्षावक्षोवस्तिरूपा प्रदेशा यासां ता पीनोन्नतकक्षावक्षोवस्तिप्रदेशा । जी० ३ प्रति०४ अधि० । " रुंदा पीणा थूला य मंसला पीवरा थोरा । " पाइ० ना० ७३ गाथा । चतुरस्रे, दे० ना०६ वर्ग ५६ गाथा ।

पीणणिज्ज-प्रीणनीय-त्रि० । प्रीणयतीति प्रीणनीयम् । " कृत्यबहुलम् " इति वचनात् कर्त्तर्यनीयप्रत्ययः । प्रज्ञा० २० पद । रसरुधिराऽऽदिधातुसमताकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पीणत्त-पीनत्व-न० । स्थूलत्वे, प्रा० २ पाद ।

पीणाइय-पीनायिक-न० । पीना पामङ्गा, तया निर्वृत्तं पीनायिकम् । पामङ्गानिर्वृत्ते, ( रटिते ) " पीणाइयविरसरडियसद्देणं ।" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पीणिमा-पीनत्व-स्त्री० । " त्वस्य डिमात्तणौ वा " ॥ ८।२। ॥ १५४ ॥ इति त्वप्रत्ययस्य स्थाने डिमाऽऽदेशः । स्थूलत्वे, प्रा० २ पाद ।

पीणिय-प्रीणित-त्रि० । परिवृद्धे, दश० ७ अ० ।

पीथड-पीथड-पुं० । अर्बुदगिरितीर्थोद्धारकारके त्यवरिचएडसिंहपुत्रे,सं० । " तत्राऽऽयतीर्थस्योल्लो, महणसिंहभूः खलु । पीथडस्त्वितरस्याभूत्,त्यवरिचएडसिंहज ॥" ती० ७ कल्प ।

पीयग-पीयक-पुं० । वृक्षविशेषे, रा० । जं० ।

पीलण-पीलन-न० । इक्ष्वादेरिव ( आ० क० १ अ० ) यन्त्रे, सकृदीपद् वा प्रेरणे, दश०४ अ० । प्रश्न० ।

पीला-पीडा-स्त्री० । तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधनायाम्, दशा० ५ अ० १ उ० ।

पीलाकर-पीडाकर-त्रि० । पीडाकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

पीलिम-पीडिम-त्रि० । पीडावति, दश० ३ अ० ।

पीलिय-पीडित-त्रि० । यन्त्रैरिक्षुवत्कृतपीडे, औ० । स्था० । उत्त० । प्रश्न० ।

पीलु-पीलु-पुं० । एकास्थिकवृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । अनु० । रूपपूणिकायाम्, आ० म० १ अ० क्षीरे, अनु० । गजे, " पीलू गओ मयगलो, पायंगो सिंधुरो करेणू य । दोघट्टो दंती वा-रणो करी कुंजरो हत्थी ।" पाइ० ना० ६ गाथा ।

पीलुट्ठ-देशी-पृष्टे , ( दग्धे ) दे० ना० ६ वर्ग ५१ गाथा ।

पीवइत्ता-पीत्वा-पानं कृत्वेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

पीवर-पीवर-त्रि० । स्थूले, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । भ० । रा० । महति, प्रश्न० ५ संव० द्वार । ज्ञा० । प्रधाने, नि० चू० २ उ० । उपचिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मांसले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । "पीवरकोमलवरंगुलिया ।" पीवरा उपचिताः कोमला सुकुमारा वरा प्रमाणलक्षणोपेततया प्रधाना अङ्गुलयो यासां ताः पीवरकोमलवराङ्गुलिकाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " रुंदा पीणा थूला,य मंसला पीवरा थोरा ।" पाइ० ना० ७३ गाथा ।

पीवरगब्भा-पीवरगर्भा-स्त्री० । आसन्नाऽऽसवकालायाम्, ओघ० ।

पीवरपकोट्ठ-पीवरप्रकोष्ठ-पुं० । अकृशकलाचिके, औ० ।

पीवरसिरि-पीवरश्रीक-त्रि० । उपचितोपशमलक्ष्मीके, अनु० ।

पीवल-पीत-त्रि० । " विद्युत्पत्र-पीतान्धाल्लः " ॥८।२। १७३॥ इति स्वार्थे लः । प्रा०२ पाद । "पीते वो ले वा" ॥ ८। १ ।२१३॥ पीते तस्य वो वा भवति । स्वार्थे लकारे परे तस्य वः । प्रा० १ पाद ।

पीसंती-पीषंती-स्त्री० । शिलायां नीलामलकाऽऽदि प्रमृन्दत्याम्, पिं० । ओघ० ।

पीसण-पेषण-न० । घरट्टाऽऽदिना दलने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । नि० चू० । बृ० । सूत्र० ।

पीहेज्ज-स्पृहयेत्-क्रिया । त्रिभिः स्थानैर्देवा अभिलषेयु । स्था० ३ ठा० ३ उ० । ( इतिदेवशब्दे चतुर्थभागे २६०७ पृष्ठे उक्तम् )

पीहा-स्पृहा-स्त्री० । भोगेच्छायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । स्था० ।

पु-पु । अव्य० । प्रश्रवणे, आ० म० १ अ० । संस्कृतेरान्तःशरीरे, विशे० ।

पुअंड-देशी-तरुणे, दे० ना० ६ वर्ग ५३ गाथा ।

पुअंडअ-पौगण्ड-पुं० । अवस्थाभेदे, " जुअलो जुआ जुआणो, पुअंडओ वोद्रहो तरुणो ।" पाइ० ना० ६२ गाथा ।

पुआइणी-देशी-पिशाचगृहीतायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ५४ गाथा । उन्मत्तायाम्,दुःशीलायां च । दे०ना० ६ वर्ग ५४ गाथा ।

पुआई-देशी-पुं० । तरुणोन्मत्तपिशाचेषु, दे० ना० ६ वर्ग ८० गाथा ।

पुंगव-पुङ्गव-त्रि० । प्रधाने ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । " णियगाओ भवणाओ, णिग्गओ वण्हिपुंगवो ।" उत्त० २२ अ० ।

पुंछ- पुच्छ-न० । " वक्राऽऽदावन्तः" ॥ ८। १ । २६॥ इत्यागमरूपोऽनुस्वाराऽऽगमः । प्रा० १ पाद ।

पुंछण -प्रोञ्छन-न० । रजसा हरणे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्ठवेत्ता णो पुंछइ, ण पुच्छंतं वा साइज्जइ । नि० चू० ४ उ० ।

करणे ल्युट् । रजोहरणे, प्रोञ्छनशब्देन तु रजोहरणमुच्यते । आह च चूर्णिकृत्—" पापग्गहणेणं पापभंडयं पुंछणं रयहरणं ति वुच्चइ । " बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पुंछणी-प्रोञ्छनी-स्त्री० । निबिडतराच्छाऽऽदनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषे,"ओहाडणी हारग्गहणं सहतुज्जलक तु पुंछनी ।" इति । रा० । जी० ।

पुंछिअ-पोञ्छित-त्रि० । " उम्मुट्टं पुंछिअं फुसिअं । " पाइ० ना० १८८ गाथा ।

पुंज-पुञ्ज-पुं० । सशिखरे राशौ,विपा० १ श्रु० ६ अ० ।प्रज्ञा० । पुञ्जवत्पुञ्जः । स्कन्धे, अनु० ।

पुंजपव्वय-पुञ्जपर्वत-पु० । वीरप्रतिमाप्रधाने स्वनामख्याते पर्वते, ती० ४३ कल्प ।

पुंजाय-पुञ्ज-त्रि० । समुदाये, " पुंजायं पिंडलइयं ।" पाइ० ना० २०८ गाथा ।

पुंजीकड-पुञ्जीकृत-त्रि० । अपुञ्जाः पुञ्जाः कृता इति ( व्युत्पत्तिः ) वृत्ताऽऽकारधान्योत्करस्वरूपतामापादिते, सू० २ उ० । पिण्डीकृते, विशे० ।

पुंड-पुण्ड्र-पुं० । पुडि-रक् । इक्षुभेदे, माधवीलतायाम्, चित्रके,तिलकवृक्षे,क्षुद्रक्षत्रे,दैत्यभेदे च । वाच० । दश० । स्वनामख्याते विन्ध्यागिरिपादेदेशे, " भारहे वासे विंझगिरिपायमूले पुंडेसु जणवएसु सत्तदुवारे सुमहस्स रणो भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववज्जे ।" भ० १५ श० । स्था० । धवले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । आ० म० ।

पुंडइअ-देशी-पिण्डीकृतार्थे, दे० ना० ६ वर्ग ५४ गाथा ।

पुंडरीअ-पुण्डरीक-न० । व्याघ्रे, " इक्की पुक्की वग्घो, सद्दूलो पुंडरीओ य " पाइ० ना० ४४ गाथा । कमले च । " अंबुरुहं सयवत्तं, सरोरुहं पुंडरीअमरविंदं । राईवं तामरसं, महुप्पयं पंकयं नलिणं ॥ ११ ॥ " पाइ० ना० ११ गाथा ।

पुंडरीग-पुण्डरीक-न० । श्वेतपद्मे, जं० १ वक्ष० । ज्ञा० । श्वेतशतपत्रे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । रा० । कमले, संथा० । औ० । आ० म० । स० । कल्प० । आचा० ।

पुण्डरीकनिक्षेपः—

णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण संठाणे ।
भावे य अट्ठमे खलु, णिक्खेवो पुंडरीयस्स ॥१४४॥

( णामं ठवणेत्यादि) पौण्डरीकस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालगणनासंस्थानभावाऽऽत्मकोऽष्टधा निक्षेप. ।

तत्र नामस्थापने सुज्ञत्वादनादृत्य द्रव्यपौण्डरीकमभिधित्सुराह-

जो जीवो भविओ खलु,उववज्जिउकामो पुंडरीयम्मि ।
सो दव्वपुंडरीओ,भावम्मि वि जाणओ भणिओ ॥१४५॥

( जो जीवो इत्यादि ) य कश्चित्प्राणधारणलक्षणो जीवो भविष्यतीति भव्यः,तदेव दर्शयति उत्पतितुकाम समुत्पित्सुस्तथाविधकर्मोदयात्पौण्डरीकेषु श्वेतपद्मेषु वनस्पतिकायविशेषेष्वनन्तरभवे भावी स द्रव्यपौण्डरीकः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । भावपौण्डरीकं त्वागमतः पौण्डरीकपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त इति ।

एतदेव द्रव्यपौण्डरीकं विशेषतरं दर्शयितुमाह—

एगभविए य बद्धा-उए य अभिमुहियनामगोए य ।
एते तिन्नि वि देसा, दव्वम्मि य पोंडरीयस्स ॥१४६॥

एकेन भवेन गतेनानन्तरभव एव पौण्डरीकेपूत्पत्स्यते, स एकभविकस्तथा तदासन्नतरः पौण्डरीकेषु बद्धाऽऽयुष्कस्ततोऽप्यासन्नतमोऽभिमुखनामगोत्रोऽनन्तरसमयेषु यः पौण्डरीकेपूत्पद्यते । अनन्तरोक्ता एते त्रयो देशविशेषा द्रव्यपौण्डरीकेऽवगन्तव्या इति ।"भूतस्य भाविनो वा,भावस्य हि कारणं तु यल्लोके ।तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः,सचेतनाचेतनं कथितम् ॥१॥"इति वचनात् । इह च पुण्डरीककण्डरीकयोर्भ्रात्रोर्महाराजपुत्रयोः सदसदनुष्ठानपरायणतया शोभनाशोभनत्वमवगम्य तदुपमयाऽन्यदपि यच्छोभनं तत्पौण्डरीकमितरत्तु कण्डरीकमिति ।

( कण्डरीकराजकुमारवृत्तान्तम् ' कंडरीय ' शब्दे तृतीयभागे १७२ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम् ) तत्र च नरकवर्जासु तिसृष्वपि गतिषु ये शोभनाः पदार्थास्ते पौण्डरीका , शेषास्तु कण्डरीका इति ।

एतत्प्रतिपादयन्नाह-

तेरिच्छिया मणुस्सा, देवगणा चेव होंति जे पवरा ।
ते होंति पुंडरीया, सेसा पुण कंडरीया उ ॥ १४७ ॥

( तेरिच्छेत्यादि ) कण्ठ्या । ( तिरश्चां भेदाः, तिर्यक्त्वकारणानि च ' तिरिक्खजोणिय ' शब्दे चतुर्थभागे २३१८ पृष्ठादवगन्तव्यानि ) ( मनुष्यभेदान् ' मणुस्स ' शब्दे वक्ष्यामि ) ( देवानामस्तित्वं, तद्भेदाः, तत्स्वरूपम् , तेषामेकानेकशरीरत्वम्, तेषां स्थितिः,इत्यादिकं बहुतरम् ' देव ' शब्दे चतुर्थभागे २६०७ पृष्ठादारभ्यावलोकनीयम् )

तत्र तिर्यक्षु प्रधानस्य पौण्डरीकत्वप्रतिपादनार्थमाह-

जलयरथलयरखयरा, जे पवरा चेव होंति कंता य ।
जे य सभावेऽणुमया, ते होंती पुंडरीया उ ॥ १४८ ॥

( जलचरेत्यादि ) जलचरेषु मत्स्यकरिमकराऽऽदयः ( जलचरभेदाः ' जलयर ' शब्दे चतुर्थभागे ४२७ पृष्ठे गताः ) स्थलचरेषु सिंहाऽऽदयो बलवर्णरूपाऽऽदिगुणयुक्ता स्थलचराः ( 'थलयर' शब्दे तस्मिन्नेव भागे २३८६ पृष्ठे विस्तरतो निरूपिताः ) उर परिसर्पेषु मणिफणिनो ( उरःपरिसर्पभेदा 'उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिय ' शब्दे द्वितीयभागे ८५१ पृष्ठे गताः ) ( विशेषम् ' सप्प ' शब्दे वक्ष्यामि ) ( भुजपरिसर्पेषु बहुवक्तव्यता ' भुयपरिसप्प ' शब्दादवगन्तव्या ) भुजपरिसर्पेषु नकुलाऽऽदयः, खचरेषु हंसमयूराऽऽदयः । ( खचरभेदः ' खहयर ' शब्दे तृतीयभागे ७३४ पृष्ठादवगन्तव्यः ) एवमन्येऽपि स्वभावेन प्रकृत्या लोकानुमतास्ते च पौण्डरीका इव प्रधाना भवन्ति ।

मनुष्यगतौ प्रधानाऽऽविष्करणायाऽऽह-

अरिहंत चक्कवट्टी, चारण विज्जाहरा दसारा य ।
जे अन्ने इड्डिमंता, ते होंती पोंडरीया उ ॥ १४९

( अरिहंतेत्यादि ) सर्वातिशायनीं पूजामर्हन्तीति

ते निरुपमरूपाऽऽदिगुणोपेताः ( अर्हतां सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२४७ पृष्ठादारभ्यावलोकनीया) तथा चक्रवर्त्तिनः षट्खण्डभरतेश्वरा' ( चक्रवर्तिनां सर्वस्वम् ' चक्कवट्टि ( ण् ) ' शब्दे तृतीयभागे १०९६ पृष्ठादारभ्य द्रष्टव्यम्) तथा चारणश्रमणा बहुविधाऽऽश्चर्यभूतलब्धिकलापोपेता महातपस्विनः ( चारणानां भेदाः तद्वक्तव्यता च ' चारण ' शब्दे तृतीयभागे ११७३ पृष्ठे गता ) तथा विद्याधरा वैताढ्यपुराधिपतयः ( विद्याधरवक्तव्यता 'विज्जाहर' शब्दादव गन्तव्या ) तथा दशारा हरिवंशकुलोद्भवा ( दशार्हाणां सर्वम् ' दसार ' शब्दे चतुर्थभागे २४८५ पृष्ठे गतम् ) अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्येऽपीक्ष्वाकादयः परिगृह्यन्ते, एतदेव दर्शयति—ये चान्ये महर्धिमन्तो महेभ्याः कोटीश्वरास्ते सर्वेऽपि पौण्डरीका भवन्ति । तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्, ये चान्ये विद्याकलाकलापोपेतास्ते पौण्डरीका इति ।

साम्प्रतं देवगतौ प्रधानस्य पौण्डरीकत्वं प्रतिपादयन्नाह—

भवणवइवाणमंतर-जोतिसवेमाणियाण देवाणं ।
जे तेसिं पवरा खलु, ते होंती पोंडरीया उ ॥ १५० ॥

भवणेत्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां चतुर्णां देवनिकायानां मध्ये ये प्रवराः-प्रधाना इन्द्रेन्द्रसामानिकाऽऽदयस्ते प्रधाना इतिकृत्वा पौण्डरीकाभिधाना भवन्ति ।

साम्प्रतमचित्तद्रव्याणां यत्प्रधानं तस्य पौण्डरीकत्वप्रतिपादनायाऽऽह—

कंसाणं दूसाणं,मणिमोत्तियसिलप्पवालमादीणं ।
जे अ अचित्ता पवरा, ते होंती पोंडरीया उ ॥ १५१ ॥

कांस्यानां मध्ये जयघण्टाऽऽदीनि दूष्याणां चीनांशुकाऽऽदीनि, मणीनामिन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागाऽऽदीनि, रत्नानि मौक्तिकानां यानि वर्णसंस्थानप्रमाणाधिकानि, तथा शिलानां मध्ये पाण्डुकम्बलाऽऽदयः शिलास्तीर्थकृज्जन्माभिषेकसिंहासनाऽऽधाराः,तथा प्रवालानां यानि वर्णाऽऽदिगुणोपेतानि, आदिग्रहणाज्जात्यचामीकर तद्विकाराश्चाऽऽभरणविशेषाः परिगृह्यन्ते,तदेवमनन्तरोक्तानि कांस्याऽऽदीनि यानि प्रवराणि तान्यचित्तपौण्डरीकाण्यभिधीयन्त इति । मिश्रद्रव्यपौण्डरीकं तु तीर्थकृच्चक्रवर्त्त्यादय एव प्रधानकटककेयूराऽऽद्यलङ्कारालङ्कृता इति ।

द्रव्यपौण्डरीकानन्तरं क्षेत्रपौण्डरीकाभिधित्सयाऽऽह—

जाइं खेत्ताइं खलु, सुहाणुभावाइं होंति लोगम्मि ।
देवकुरुमादियाइं, ताइं खेत्ताइं पवराइं ॥१५२॥

यानि कानिचिदिह देवकुर्वादीनि शुभानुभावानि क्षेत्राणि तानि प्रवराणि पौण्डरीकाभिधानानि भवन्ति ।

साम्प्रतं कालपौण्डरीकप्रतिपादनायाऽऽह—

जीवा भवट्ठितीए, कायठितीए य होंति जे पवरा ।
ते होंति पोंडरीया, अवसेसा कंडरीया उ ॥१५३॥

' जीवा. ' प्राणिनो भवस्थित्या कायस्थित्या च ये 'प्रवरा' प्रधानास्ते पौण्डरीका भवन्ति, शेषास्त्वप्रधाना. कण्डरीका इति, तत्र भवस्थित्या देवा अनुत्तरोपपातिका. प्रधाना भवन्ति, तेषां यावद्भव शुभानुभावत्वात् कायस्थित्यां तु मनुष्याः शुभकर्मसमाचाराः सप्ताष्टभवग्रहणानि मनुष्येषु पूर्वकोट्यायुष्केष्वनुपरिवर्त्यानन्तरभवे त्रिपल्योपमायुष्केषूत्पाद्मनुभूय ततो देवेषूत्पद्यन्त इति कृत्वा ततस्ते कायस्थित्या पौण्डरीका भवन्ति, अवशिष्टास्तु कण्डरीका इति ।

कालपौण्डरीकानन्तरं गणनासंस्थानपौण्डरीकद्वयप्रतिपादनायाऽऽह—

गणणाए रज्जू खलु, संठाणं चेव होंति चउरंसं ।
एयाइं पोंडरीगा-इँ होंति सेसाइँ इयराइं॥१५४॥

गणनया-सङ्ख्यया पौण्डरीकं चिन्त्यमानं दशप्रकारस्य गणितस्य मध्ये ' रज्जु ' रज्जुगणितं प्रधानत्वात्पौण्डरीकं, दशप्रकार तु गणितमिदम्-" परिकम्म १, रज्जु २, रासी ३, ववहारे ४, तह कलासवन्ने ५. य । पुग्गल ६, जाव तावं ७, घणे य ८ घणवग्ग ९ वग्गे य १० ॥ १ ॥ " ( अस्या गाथाया व्याख्या ' गणिय ' शब्दे तृतीयभागे ८२४ पृष्ठे गता) संस्थानानां षण्णां मध्ये समचतुरस्रं संस्थानं प्रवरत्वात्पौण्डरीकमित्येवमेते द्वे अपि पौण्डरीके, शेषाणि तु परिकर्माऽऽदीनि गणितानि न्यग्रोधपरिमण्डलाऽऽदीनि च संस्थानानि ' इतराणि ' कण्डरीकाण्यप्रवराणि भवन्तीति यावत् ।

साम्प्रतं भावपौण्डरीकप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह—

ओदइए उवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए अ ।
परिणामसन्निवाए, जे पवरा ते वि ते चेव ॥१५५॥

औदयिके भावे तथौपशमिके क्षायिके क्षायोपशमिके पारिणामिके सान्निपातिके च भावे चिन्त्यमाने तेषु तेषां वा मध्ये ये ' प्रवराः ' प्रधाना ' तेऽपि ' औदयिकाऽऽदयो भावाः 'त एव' पौण्डरीका एवावगन्तव्या., तत्रौदयिके भावे तीर्थंकरा. (४ भागे ' तित्थयर ' शब्दे गता ) अनुत्तरोपपातिकसुरा ,तथाऽन्येऽपि सितशतपत्राऽऽदयः पौण्डरीका.,औपशमिके समस्तोपशान्तमोहा., क्षायिके केवलज्ञानिनः, क्षायोपशमिके विपुलमतिश्चतुर्दशपूर्वविल्परमावधयो व्यस्ताः समस्ता वा, पारिणामिके भावे भव्याः, सान्निपातिके भावे द्विकाऽऽदिसंयोगा. सिद्धाऽऽदिषु स्वबुद्ध्या पौण्डरीकत्वेन योजनीया , शेषास्तु कण्डरीका इति ।

साम्प्रतमन्यथा भावपौण्डरीकप्रतिपादनायाऽऽह—

अहवावि नाणदंसण-चरित्तविणए तहेव अज्झप्पे ।
जे पवरा होंति मुणी, ते पवरा पुंडरीया उ ॥ १५६ ॥

अथवाऽपि भावपौण्डरीकमिदम् । तद्यथा—सम्यग्ज्ञाने तथा सम्यग्दर्शने सम्यक्चारित्रे ज्ञानाऽऽदिके विनये तथा ' अध्यात्मनि ' च धर्मध्यानाऽऽदिके ये ' प्रवरा ' श्रेष्ठा मुनयो भवन्ति, ते पौण्डरीकत्वेनावगन्तव्यास्ततोऽन्ये कण्डरीका इति । ( ज्ञानदर्शनाऽऽदीनां सद्वत्वं स्वस्वस्थाने )

तदेवं सम्भविनमष्टधा पौण्डरीकस्य निक्षेपं प्रदर्श्याधुनेह येनाधिकारस्तमाविर्भावयन्नाह—

एत्थं पुण अहिगारो, वणस्सतीकायपुंडरीएणं ।
भावम्मि अ समणेणं, अज्झयणे पुंडरीअम्मि ॥१५७॥

' अत्र ' पुनर्दृष्टान्तप्रस्तावे अधिकारो ' व्यापार सचित्ततिर्यग्योनिकैकेन्द्रियवनस्पतिकायद्रव्यपौण्डरीकेण जल-

रुद्देण, यदि वा औदयिकभाववर्तिना वनस्पतिकायपौण्डरीकेण सितशतपत्रेण, तथा भावे 'श्रमणेन च' सम्यग्दर्शनचारित्रविनयाध्यात्मवर्तिना सत्साधुनाऽस्मिन्नध्ययने पौण्डरीकाऽऽख्येऽधिकार इति । गता निक्षेपनिर्युक्तिः।

अधुना सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेरवसरः, सा च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्तोऽतोऽस्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पोंडरीए णामऽज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते । १ । से जहाणामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरीकिणी पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा । २ । तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया, अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला वन्नमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा ।३। तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए उस्सिते रुइले वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए० जाव पडिरूवे—

( सुयं मे आउसंतेणमित्यादि ) अस्य चानन्तरसूत्रेण सह संबन्धो वाच्यः । स चायम्—( से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो त्ति ) तदेतदेव जानीत भयस्य त्रातारः । तद्यथा—श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम्, आदिसूत्रेण च सह संबन्धोऽयम् । तद्यथा—यद्भगवताऽऽख्यातं मया च श्रुतं तद्बुध्येतेत्यादिकम् । किं तद्भगवताऽऽख्यातमित्याह—इह प्रवचने सूत्रकृद्द्वितीयश्रुतस्कन्धे वा, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। पौण्डरीकाभिधानमध्ययन पौण्डरीकेण सितशतपत्रेणात्रोपमा भविष्यतीति कृत्वा, अतोऽस्याध्ययनस्य पौण्डरीकमिति नाम कृतम् । तस्य चायमर्थः—णमिति वाक्यालंकारे । प्रज्ञप्तः प्ररूपितः । १ । ( से जह त्ति ) तद्यथार्थः । स च वाक्योपन्यासार्थः । नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यते पुष्करिणीदृष्टान्तः । पुष्कराणि पद्मानि तानि विद्यन्ते यस्यामसौ पुष्करिणी, स्याद्भवेदेवंभूता । तद्यथा—बहु प्रचुरमगाधमुदकं यस्यां सा बहूदका, तथा बहु प्रचुरः सीयन्तेऽवबध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेयः कर्दमः, स यस्यां सा बहुसेया प्रचुरकर्दमा । बहुश्वेतपद्मसद्भावात् स्वच्छोदकसंभवाच्च बहुश्वेता वा, तथा बहुपुष्कला बहुसंपूर्णा प्रचुरोदकभूतेत्यर्थः । तथा लब्ध प्राप्तः पुष्करिणीशब्दान्वर्थतयाऽर्थो यया सा लब्धार्था, अथवा आस्थानमास्था प्रतिष्ठा, सा लब्धा यया सा लब्धाऽऽस्था, तथा पौण्डरीकाणि श्वेतशतपत्राणि विद्यन्ते यस्यां सा पौण्डरीकिणी, प्रचुरार्थे मत्वर्थीयोत्पत्तेर्बहुपद्मेत्यर्थः । तथा प्रसादः प्रसन्नता निर्मलजलता, सा विद्यते यस्याः सा प्रसादिका, प्रासादा वा देवकुलसन्निवेशास्ते विद्यन्ते यस्यां समन्ततः सा प्रासादिका, दर्शनीया शोभना सत्संनिवेशतो वा द्रष्टव्या दर्शनयोग्या, तथाऽऽभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि रूपाणि राजहंसचक्रवाकसारसाऽऽदीनि गजमहिषमृगयूथाऽऽदीनि वा जलान्तर्गतानि वा करिमकराऽऽदीनि वा यस्यां सा अभिरूपेति, तथा प्रतिरूपाणि प्रतिबिम्बानि विद्यन्ते यस्यां सा प्रतिरूपा । एतदुक्तं भवति—स्वच्छत्वात्तस्याः सर्वत्र प्रतिबिम्बानि समुपलभ्यन्ते, तदतिशयरूपतया वा लोकेन तत्प्रतिबिम्बानि क्रियन्ते इति सा प्रतिरूपेति । यदि वा—( पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूव त्ति ) पर्याया इत्येते चत्वारोऽप्यतिशयरमणीयत्वख्यापनार्थमुपात्ताः । २ । तस्याश्च पुष्करिण्याः, णमिति वाक्यालंकारे । तत्र तत्रेत्यनेन वीप्सापदेन पौण्डरीकैर्व्यापकत्वमाह—देशे देशे इत्यनेन त्वेकैकप्रदेशे प्राचुर्यमाह—तस्मिंस्तस्मिन्नित्यनेन तु नास्त्येवासौ पुष्करिण्याः प्रदेशो यत्र तानि न सन्तीति । यदि वा देशे देशे इत्येतत्प्रत्येकमभिसंबध्यते । तत्र तत्रेति कोऽर्थो ?, देशे देशे तस्मिंस्तस्मिन्निति च कोऽर्थः ?, देशैकदेश इति । यदि वा—अत्यादरख्यापनायैकार्थान्येवैतानि त्रीण्यपि पदानि । तेषु च पुष्करिण्याः सर्वप्रदेशेषु बहूनि प्रचुराणि पद्मान्येव वराणि श्रेष्ठानि पौण्डरीकाणि पद्मवरपौण्डरीकाणि, पद्मग्रहणं छत्रव्याघ्रव्यवच्छेदार्थं, पौण्डरीकग्रहणं श्वेतशतपत्रप्रतिपत्त्यर्थं, वरग्रहणमप्रधाननिवृत्त्यर्थं, तदेवंभूतानि बहूनि पद्मवरपौण्डरीकाणि ( बुइय त्ति ) उक्तानि प्रतिपादितानि, विद्यन्त इत्यर्थः । आनुपूर्व्येण विशिष्टरचनया स्थितानि, तथोच्छ्रितानि पङ्कजले अतिलङ्घ्योपरि व्यवस्थितानि, तथा रुचिर्दीप्तिस्तां लान्त्याददति रुचिलानि सदीप्तिमन्ति, तथा शोभनवर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति, तथा प्रासादीयानि दर्शनीयानि, अभिरूपाणि प्रतिरूपाणि । ३ । तस्याश्च पुष्करिण्याः सर्वतः पद्मावृतायाः, णमिति वाक्यालङ्कारे । बहुदेशमध्यभागे निरुपचरितमध्यदेशे एकं महत्पद्मवरपौण्डरीकमुक्तमानुपूर्व्येण व्यवस्थितमुच्छ्रितं रुचिलं वर्णगन्धरसस्पर्शवत्, तथा प्रासादीयं दर्शनीयम्, अभिरूपतरं प्रतिरूपतरमिति । ४ । सांप्रतमेतदेवानन्तरोक्तं सूत्रद्वयम्—( सव्वावंति च णं ति ) इत्यनेन विशिष्टमपरं सूत्रद्वयं द्रष्टव्यम्—

सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरीया बुइया अणुपुव्वुट्ठिया ऊसिया रुइला० जाव पडिरूवा, सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगं महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे ॥ १ ॥ अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति—तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं० जाव पडिरूवं । तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति बूया से पुरिसे अभिक्कमेति, तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमेइ, तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि निसन्ने पढमे पुरिसजाए ! ॥ २ ॥

अस्यायमर्थः-( सव्वावंति त्ति) सर्वस्या अपि तस्याः पुष्करिण्याः सर्वप्रदेशेषु यथोक्तविशेषणविशिष्टानि बहूनि पद्मानि तथा सर्वस्याश्च तस्या बहुमध्यदेशभागे यथोक्तविशेषणविशिष्टं महदेकं पौण्डरीकं स्थितं इति । उभयत्रापि चः समुच्चये । णमिति वाक्यालङ्कारे । १ । इति । अथानन्तरमेवंभूतपुष्करिण्याः पूर्वस्या दिशः कश्चिदेकः पुरुषः समागत्य तां पुष्करिणीं तस्याश्च तीरे तटे स्थित्वा तदेतत्पद्मं प्रासादीयाऽऽदिप्रतिरूपान्तविशेषणकलापोपेतं स पुरुषः पूर्वदिग्भागव्यवस्थितः, एवमिति वक्ष्यमाणनीत्या वदेत् ब्रूयात्-( अहमंसि त्ति ) अहमस्मि पुरुषः, किंभूतः ?-कुशलो हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिपुणस्तथा पापाड्डीनः पण्डितो धर्मज्ञो देशकालज्ञः क्षेत्रज्ञो व्यक्तो बालभावान्निष्क्रान्तः परिणतबुद्धिर्मेधावी प्लवनोत्प्लवनयोरुपायज्ञः, तथा-अबालो मध्यमवयाः षोडशवर्षोपरिवर्ती, मार्गस्थः सद्भिराचीर्णमार्गव्यवस्थितस्तथा सन्मार्गज्ञस्तथा मार्गस्य या गतिर्गमनं वर्तते तया यत्पराक्रमणं-विवक्षितदेशगमनं, तज्जानातीति पराक्रमज्ञः । यदि वा-पराक्रमः सामर्थ्यं, तज्ज्ञोऽहमात्मज्ञ इत्यर्थः । तदेवंभूतविशेषणकलापोपेतोऽहमेतत्पूर्वोक्तविशेषणकलापोपेतं पद्मवरपौण्डरीकं पुष्करिणीमध्यदेशावस्थितमहमुत् क्षेप्स्यामीति कृत्वेहागत इत्येतत्पूर्वोक्तं तत्प्रतीत्योक्त्वाऽसौ पुरुषस्तां पुष्करिणीमभिमुखं क्रामेत्, अभिक्रामेत् तदभिमुखं गच्छेद्यावद्यावच्चासौ तदवतरणाभिप्रायेणाभिमुखं क्रामेत्तावत्तावच्च, णमिति वाक्यालङ्कारे । तस्याश्च पुष्करिण्या महदगाधमुदकं तथा महांश्च सेयः कर्दमस्ततोऽसौ महाकर्दमोदकाभ्यामाकुलीभूतः प्रहीणः सद्विवेकेन रहितस्त्यक्त्वा तीरं सुब्व्यत्ययाद्वा तीरात्प्रहीणः प्रभ्रष्टोऽप्राप्तश्च विवक्षितं पद्मवरपौण्डरीकं तस्याः पुष्करिण्यास्तस्या वा यः सेयः, कर्दमस्तस्मिन्निषण्णो निमग्न आत्मानमुद्धर्तुमसमर्थस्तस्माच्च तीरादपि प्रभ्रष्टस्ततस्तीरपद्मयोरन्तराल एवावतिष्ठते, यत एवमतः(नो हव्वाए त्ति)नार्वाक् तटवर्त्त्यसौ भवति । (नो पाराए त्ति ) नापि विवक्षितप्रदेशप्राप्त्या पारगमनाय वा समर्थो भवति । एवमसावुभयभ्रष्टो मुक्तमुक्तोलीकवदनर्थायैव प्रभवतीत्ययं प्रथमः पुरुषः, पुरुष एव पुरुषजातः पुरुषजातीय इति ॥२॥

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए, अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति-तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं पासादीयं० जाव पडिरूवं, त च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति—पहीणतीरं अपत्तपउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्नं, तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसे अखेयन्ने अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं नं एस पुरिसे, अहं खेयन्ने कुसले० जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि, णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरीणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने दोच्चे पुरिसजाते ( सूत्रं ३ )॥

अहावरे तच्चे पुरिसजाते, अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति-तं एगं महं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं० जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए० जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना, अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, नो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए० जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने, तच्चे पुरिसजाए ॥ ( सूत्रं ४ ) ॥ अहावरे चउत्थे पुरिसजाए, अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति-तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं० जाव पडिरूवं, ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते० जाव सेयंसि णिसन्ने, तए णं से पुरिसे एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना० जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने० जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणिं जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए० जाव णिसन्ने, चउत्थे पुरिसजाए ॥ ( सूत्रं ५ )॥

अथवेति वाक्योपन्यासार्थे । अथ कश्चित्पुरुषो दक्षिणाविभागादागत्य तां पुष्करिणीं, तस्याश्च पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा तत्रस्थश्च पश्यति महदेकं पद्मवरपौण्डरीकमानुपू-

र्येण व्यवस्थितं प्रासादीयं यावत्प्रतिरूपम् । अत्र चास्मिन्नेव तीरे व्यवस्थितस्तं च पूर्वव्यवस्थितमेकं पुरुषं पश्यति, किंभूतम् ?-तीरात्परिभ्रष्टमनवाप्तपद्मवरपौण्डरीकमुभयभ्रष्टमन्तराल एवावसीदन्तं, दृष्ट्वा च तमेवमवस्थं पुरुषं ततोऽसौ द्वितीयः पुरुषस्तं प्राक्तनं पुरुषमेवं वदेत्- अहो इति खेदे । सर्वत्र णमिति वाक्यालङ्कारे द्रष्टव्यः । योऽयं कर्दमे निमग्नः पुरुषः सोऽखेदज्ञोऽकुशलोऽपण्डितोऽव्यक्तोऽमेधावी, बालो न मार्गस्थो न मार्गज्ञो नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः । अकुशलत्वाऽऽदिके कारणमाह-यद्यस्मादेष पुरुष एतत्कृतवान् , तद्यथाऽहं खेदज्ञः कुशल इत्यादि भणित्वा पद्मवरपौण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामीत्येवं प्रतिज्ञातवान् । न चैतत् पद्मवरपौण्डरीकम्, एवमनेन प्रकारेण यथाऽनेनोत्क्षेप्तुमारब्धमेवमुत्क्षेप्तव्यं यथाऽयं पुरुषो मन्यत इति । ततोऽहमेवास्योत्क्षेपणे कुशल इति दर्शयितुमाह-( अहमंसीत्यादि ०जाव दोच्चे पुरिसजाए त्ति ) सुगमम् ॥ ३ ॥ तृतीयं पुरुषमधिकृत्याऽऽह-(अहावरे तच्चे इत्यादि) सुगमम् । यावच्चतुर्थः पुरुषजात इति ॥ ४-५ ॥

साम्प्रतमपरं पञ्चमं तद्विलक्षणं पुरुषजातमधिकृत्याऽऽह-

अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने०जाव परक्कमण्णू अन्नतराओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं० जाव पडिरूवं, ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते०जाव पउमवरपोंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने,तए णं से भिक्खू तं एवं वयासी-अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना० जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो णो य खलु, एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने०जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा, उप्पयाहि खलु भो पउमवरपोंडरीया ! उप्पयाहि,अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए ॥ ( सूत्रं ६ ) ॥

( अह भिक्खू लूहे इत्यादि ) अथेत्यानन्तर्ये, चतुर्थपुरुषादयमनन्तरः पुरुषस्तस्यामूनि विशेषणानि-भिक्षणशीलो भिक्षुः-पचनपाचनाऽऽदिसावद्यानुष्ठानरहिततया निर्दोषाऽऽहारभोजी.तथा रूक्षो रागद्वेषरहितः;तौ हि कर्मबन्धहेतुतया स्निग्धौ,यथा हि स्नेहाभावाद् रजो न लगति तथा रागद्वेषाभावात्कर्मरेणुर्न लगत्यतस्तद्रहितो रूक्ष इत्युच्यते । तथा संसारसागरस्य तीरार्थी, तथा क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा । पूर्वं व्याख्यातानेव विशेषणानि , यावन्मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः . स चान्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वाऽऽगत्य तां पुष्करिणीं तस्याश्च तीरे स्थित्वा समन्तादवलोकयन् बहुमध्यदेशभागे तन्महदेकं पद्मवरपौण्डरीकं पश्यति । तांश्च चतुरः पुरुषान् पश्यति । यत्र च व्यवस्थितानिति,किंभूतान् ?, त्यक्ततीरानप्राप्तपद्मवरपुण्डरीकान् पङ्कजलावमग्नान् पुनस्तीरमप्यागन्तुमसमर्थान् दृष्ट्वा च तांस्तदवस्थान् ततोऽसौ भिक्षुः एवमिति-वक्ष्यमाणनीत्या वदेत् । तद्यथा-अहो इति खेदे, णमिति वाक्यालंकारे, इमे पुरुषाश्चत्वारोऽपि अखेदज्ञा यावन्नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः,यस्मात्ते पुरुषा एवं ज्ञातवन्तो यथा वयं पद्मवरपौण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामः उत्खनिष्यामः, न च खलु तत्पौण्डरीकमेवम्-अनेन प्रकारेण यथैते मन्यन्ते तथोत्क्षेतव्यम् । अपि त्वहमस्मि भिक्षू रूक्षो यावद्गतिपराक्रमज्ञः, एतद्गुणविशिष्टोऽहमेतत् पौण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामि-उत्खनिष्यामि समुद्धरिष्यामीत्येवमुक्त्वा असौ नाभिक्रामेत ता पुष्करिणीं न प्रविशेत् । तत्रस्थ एव यत्कुर्यात्तद्दर्शयति-तस्यास्तीरे स्थित्वा तथाविधं शब्दं कुर्यात् । तद्यथा-ऊर्ध्वमुत्पतोत्पत, खलुशब्दो वाक्यालंकारे, हे पद्मवरपौण्डरीक ! तस्याः पुष्करिण्या मध्यदेशादेवमुत्पतोत्पत । अथ तच्छब्दश्रवणादनन्तरं तदुत्पतितमिति । ६ ।

तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुकामः श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी स्वशिष्यानाह-

किट्टिए नाए समणाउसो !, अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति, भंते त्ति समणं भगव महावीरं निग्गंथा य निग्गंथीओ य वंदंति, नमंसंति, वंदेत्ता नमंसित्ता एवं वयासी-किट्टिए नाए समणाउसो ! । अट्ठं पुण से ण जाणामो समणाउसो ! त्ति , समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी-हंत समणाउसो ! आइक्खामि, विभावेमि, किट्टेमि, पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि, सेवेमि ॥ ( सूत्रं ७ ) ॥

कीर्तिते कथिते प्रतिपादिते मयाऽस्मिन् ज्ञाते उदाहरणे हे श्रमणा ! आयुष्मन्तोऽर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति भवद्भिः। एतदुक्तं भवति-नास्योदाहरणस्य परमार्थं यूयं जानीथ,एवमुक्ते भगवता ते बहवो निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च तं श्रमणं भगवन्तं महावीर ते निर्ग्रन्थाऽऽदयो वन्दन्ते कायेन, नमस्यन्ति तत् प्रव्हैः शब्दैः स्तुवन्ति, वन्दित्वा नमस्यित्वा चैवं वक्ष्यमाणं वदेयुः । तद्यथा-कीर्तितं प्रतिपादितं ज्ञातमुदाहरणं भगवता अर्थं पुनरस्य न सम्यक् जानीमः, इत्येवं पृष्टो भगवान् श्रमणो महावीरस्तान्निर्ग्रन्थाऽऽदीनेवं वदेत्-हन्तेति संप्रेषणे । हे श्रमणाः ! आयुष्मन्तो यद्भवद्भिरहं पृष्टस्तत्सोपपत्तिकमाख्यामि भवतां, तथा विभावयाम्याविर्भावयामि प्रकटार्थं करोमि, तथा कीर्तयामि, पर्यायकथनद्वारेणेति, तथा प्रवेदयामि प्रकर्षेण हेतुदृष्टान्तैश्चित्तसन्ततावारोपयामि । अथ वैकार्थिकानि चैतानि । कथं प्रतिपादयामीति दर्शयति-सहार्थेन दार्ष्टान्तिकेन वर्तत इति सार्थः पुष्करिणीदृष्टान्तस्तं, तथा सह हेतुना अन्वयव्यतिरेकरूपेण वर्तत इति सहेतुस्तं तथाभूतमर्थं प्रतिपादयिष्यामि, यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थितार्थाः पुष्करिणीकर्दमे दुरुत्तारे निमग्ना एवं वक्ष्यमाणास्तीर्थिका अपारगाः संसारसागरस्य तत्रैव निमज्जन्तीत्येवंरूपोऽर्थः सोपपत्तिकः प्रदर्शयि

प्यते, तथा सह निमित्तेन-उपादानकारणेन सहकारिकारणेन वा वर्तत इति सनिमित्तम्-सकारणं दृष्टान्तार्थं भूयो भूयोऽपरैर्हेतुदृष्टान्तैरुपदर्शयामि सोऽहं साम्प्रतमेव ब्रवीमि शृणुत यूयमिति ॥ ७ ॥

तदधुना भगवान् पूर्वोक्तस्य दृष्टान्तस्य यथास्वं दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह-

लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! पुक्खरिणी बुइया, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए बुइए,कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइए जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपोंडरीए बुइए, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए, अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया बुइया, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू बुइए, धम्मातित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे बुइए, धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइए, निव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए बुइए, एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइयं ॥ ( सूत्रम् ८ )

लोकमिति मनुष्यक्षेत्रम् । चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः खलुरिति वाक्यालङ्कारे, मयेत्यात्मनिर्देशः, योऽयं लोको मनुष्याऽऽधारस्तमात्मन्याहृत्य व्यवस्थाप्य अपाहृत्य वा हे आयुष्मन् ! श्रमण आत्मना वा मयाऽऽहृत्य न परोपदेशतः सा पुष्करिणी पद्माऽऽधारभूतोक्ता, तथा कर्म चाष्टप्रकारं यद्बलेन पुरुषपौण्डरीकाणि भवन्ति । तदेवंभूतं कर्म मयाऽऽत्मन्याहृत्य आत्मना वा आहृत्य अपाहृत्य वा । एतदुक्तं भवति-हे श्रमण आयुष्मन् ! सर्वावस्थाना निमित्तभूतं कर्माऽऽश्रित्य तदुदकं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं, कर्म चात्र दार्ष्टान्तिकं भविष्यति,तत्रेच्छामदनकामाः शब्दाऽऽदयो विषयास्ते एव भुज्यन्त इति भोगाः । यदि वा-कामा इच्छारूपा मदनकामास्तु भोगास्तान् मयाऽऽत्मन्याहृत्य सेयः कर्दमोऽभिहितः,यथा महति पङ्के निमग्नो दुःखेनाऽऽत्मानमुद्धरत्येवं विषयेष्वप्यासक्तो नाऽऽत्मानमुद्धर्तुमलमित्येतत्कर्दमविषययोः साम्यमिति । तथा जनं सामान्येन लोके, तथा जनपदे भवा जानपदा विशिष्टाऽऽर्यदेशोत्पन्ना गृह्यन्ते, ते चार्द्धषड्विंशतिजनपदोद्भवा इति । तांश्च समाश्रित्य मया दार्ष्टान्तिकत्वेनाङ्गीकृत्य तानि बहूनि पद्मवरपौण्डरीकाणि दृष्टान्तत्वेनाभिहितानि, तथा राजानमात्मन्याहृत्य तदेकं पद्मवरपौण्डरीकं दृष्टान्तत्वेनाऽभिहितम्,तथाऽन्यतीर्थिकान् समाश्रित्य ते चत्वारः पुरुषजाता अभिहिताः, तेषां राजपौण्डरीकोद्धरणे सामर्थ्यवैकल्यात् । तथा धर्मं च खलु चाऽऽत्मन्याहृत्य श्रमणाऽऽयुष्मन् ! स भिक्षुः रूक्षवृत्तिराभिहितस्तस्यैव चक्रवर्त्यादिराजपद्मवरपौण्डरीकोद्धरणे सामर्थ्यसद्भावाद्धर्मतीर्थं च खल्वाश्रित्य मया तत्तीरमुक्तम् । तथा सद्धर्मदेशनां चाऽऽश्रित्य मया स भिक्षुसम्बन्धी शब्दोऽभिहितः, तथा निर्वाणं मोक्षपदमशेषकर्मक्षयरूपमीषत्प्राग्भाराऽऽख्यं भूभागोपर्यवस्थितक्षेत्रखण्डं चाऽऽत्मन्याहृत्य स पद्मवरपौण्डरीकस्योत्पातोऽभिहित इति । सांप्रतं समस्तोपसंहारार्थमाह-एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एतल्लोकाऽऽदिकं च खल्वात्मन्याहृत्याऽऽश्रित्य मया श्रमणाऽऽयुष्मन् ! ( से ) एतत्पुष्करिण्यादिकं दृष्टान्तत्वेन किञ्चित्साधर्म्यादेवमेतदुक्तमिति ।

तदेवं सामान्येन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्योजना कृत्वाऽधुना विशेषेण प्रधानभूतराजदार्ष्टान्तिकं तदुद्धरणार्थत्वात्सर्वप्रयासस्येति दर्शयितुमाह-

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववन्ना । तं जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोत्ता वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे रहस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवइ, महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दयप्पिए सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे माणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजातरूवरतए आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते पडिपुण्णकोसकोट्ठागाराउहागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगयदुभिक्खमारिभयविप्पमुक्कं रायवन्नओ जहा "उववाइए"*०जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति। तस्स णं रन्नो परिसा भवइ,उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता इक्खागा इक्खागाइपुत्ता नाया नायपुत्ता कोरव्वा कोरव्वपुत्ता भट्टा भट्टपुत्ता माहणा माहणपुत्ता लेच्छइ लेच्छइपुत्ता पसत्थारो पसत्थपुत्ता सेणावई सेणावइपुत्ता । तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ । कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुयक्खाए सुपन्नत्ते भवइ ॥

( इह खलु इत्यादि ) इहास्मिन्मनुष्यलोके, खलुर्वाक्यालंकारे, इहास्मिन् लोके प्राच्यां प्रतीच्यां दक्षिणायामुदीच्यामन्यतरस्यां वा दिशि सन्ति विद्यन्ते एके केचन तथाविधा मनुष्या आनुपूर्व्येणेमं लोकमाश्रित्योत्पन्ना भवन्ति । तत्रे-

* औपपातिकग्रन्थे ।

चानुपूर्व्येण दर्शयति—तद्यथेत्युपन्यासार्थः, आराद्याता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, तत्र क्षेत्राऽऽर्या अर्धषड्विंशतिजनपदोत्पन्नाः, तद्व्यतिरिक्तास्त्वनार्या एके केचन भवन्ति। ते चानार्यदेशोत्पन्ना अमी द्रष्टव्याः। तद्यथा-

" सगजवणसवरबब्बर–कायमुरुंडोड्डगोड्डपक्कणिया।
अरवागहूणरोमय, पारसखसखासिया चेव ॥ १ ॥
डोंबिलयलउसबोक्कस, भिल्लंधपुलिंदकोंबभमररुया।
कोंचा य चीणचंचुय–मालव दमिला कुलग्घा य ॥ २ ॥
केकयकिरायहयमुह–खरमुह तह तुरगमेढयमुहा य।
हयकन्ना गयकन्ना, अन्ने य अणारिया बहवे ॥ ३ ॥
पावा य चंडदंडा, अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा।
धम्मो त्ति अक्खराइ, जेण ण णज्जंति सुमिणेऽवि ॥ ४ ॥ "

इत्यादि। तथोच्चैर्गोत्रं-इक्ष्वाकुवंशाऽऽदिकं येषां ते तथाविधा एके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः। तथा नीचैर्गोत्रं, सर्वजनावगीतं येषां ते तथा एके केचन नीचैर्गोत्रोदयवर्तिनो, न सर्वे, वाशब्दः पूर्ववदेव, ते चोच्चैर्गोत्रा नीचैर्गोत्रा वा कायो-महाकायः प्रांशुत्वं तद्विद्यते येषां ते कायवन्तः, तथा ह्रस्ववन्तो वामनककुब्जवडभाऽऽदय एके केचन तथाविधनामकर्मोदयवर्तिनः, तथा शोभनवर्णाः सुवर्णाः, प्रतप्तचामीकरचारुदेहाः, तथा दुर्वर्णाः—कृष्णरूक्षाऽऽदिवर्णा एके केचन, तथा सुरूपाः सुविभक्तावयवचारुदेहाः, तथा दुष्टरूपाः—दुरूपाः वीभत्सदेहाः, तेषां चोच्चैर्गोत्राऽऽदिविशेषणविशिष्टानां महान् कश्चिदेवैकस्तथाविधकर्मोदयाद्राजा भवति, स विशेष्यते-महाहिमवन्मलयमन्दरमहेन्द्राणामिव सारः-सामर्थ्यं विभवो वा यस्य स तथा इत्येवं राजवर्णको यावदुपशान्तडिम्बडमरं राज्यं प्रसाधयंस्तिष्ठतीति। तत्र डिम्बः-परानीकशृगालिकः ( डिम्बविशेषः 'डिंब' शब्दे चतुर्थभागे १७३५ पृष्ठे गतः ) डमर-स्वराष्ट्रक्षोभः ( डमरविचारः ' डमर ' शब्दे चतुर्थभागे १७३४ पृष्ठे कृतः ) पर्यायौ वैतावत्यादरख्यापनार्थमुपात्तौ इति। तस्य चैवंविधगुणसंपदुपेतस्य राज्ञ एवंविधा पर्षद्भवतीति। तद्यथा-उग्रास्तत्कुमाराश्चोग्रपुत्राः, एवं भोगभोगपुत्राऽऽदयोऽपि द्रष्टव्याः। शेषं सुगमं, यावत्सेनापतिपुत्रा इति। ( णवरं लेच्छइ त्ति ) लिप्सुकः स च वणिगादिः, तथा प्रशास्तारो बुद्ध्युपजीविनो मन्त्रिप्रभृतयः, तेषां च मध्ये कश्चिदेवैकः श्रद्धावान्, धर्मलिप्सु भवति, काममित्यवधृतार्थेऽवधृतमेतद्यथाऽयं धर्मश्रद्धालु, अवधार्य च तं धर्मलिप्सुतया श्रमणा ब्राह्मणा वा संप्रधारितवन्तः समालोचितवन्तो धर्मप्रतिबोधनिमित्तं तदन्तिकगमनाय तत्र चान्यतरेण धर्मेण-स्वसमयप्रसिद्धेन प्रज्ञापयितारो वयमित्येव नाम संप्रधार्य तं राजानं स्वकीयेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्याम एवं संप्रधार्य राज्ञोऽन्तिकं गत्वैवमूचुः। तद्यथा-एतद्यथाऽहं कथयिष्यामि एवमिति च वक्ष्यमाण नीत्या भवन्तो यूयं जानीत भयात्त्रातारो वा यथा येन प्रकारेण मयैष धर्मः स्वाख्यात सुप्रज्ञप्तो भवतीति। एवं तीर्थिकः स्वदर्शनानुरञ्जितोऽन्यस्याऽपि राजाऽऽदेः स्वाभिप्रायेणाऽऽदेशं ददाति। तत्राऽऽद्यः पुरुषजातस्तज्जीवतच्छरीरवादी राजानमुद्दिश्यैवं धर्मदेशना चक्रे। सूत्र० २ श्रु० १



अ०। (तं जहा-इत्याद्यवशिष्टं सूत्रम्-६ " तज्जीवतच्छरीरवाइ ( ण् ) " शब्दे चतुर्थभागे २१७३ पृष्ठे व्याख्यातम् )

प्रथमपुरुषानन्तरं द्वितीयं पुरुषजातमधिकृत्याऽऽह-

**अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिए त्ति आहिज्जइ। इह खलु पाईणं वा ६ जाव संतेगातेया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना। तं जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे एवं०जाव दुरूवा वेगे,तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया० एवं चेव णिरवसेसं०जाव सेणावइपुत्ता,तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवंति कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो से एवमायाणह भयंतारो! जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति ॥**

अथशब्द आनन्तर्यार्थे, प्रथमपुरुषानन्तरमपरो द्वितीयः पुरुष एव पुरुषजातः पञ्चभिः भूतैः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाऽऽख्यैश्चरति पाञ्चभौतिकः। पञ्च वा भूतानि अभ्युपगमद्वारेण विद्यन्ते यस्य स पञ्चभूतिको, मत्वर्थीयष्ठक्। स च सांख्यमतावलम्ब्याऽऽत्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसामर्थ्याभ्युपगमात् भूताऽऽत्मिकायाश्च प्रकृते सर्वत्र कर्तृत्वाभ्युपगमाद् द्रष्टव्यो, लोकायतमतावलम्बी वा नास्तिको भूतव्यतिरिक्तनास्तित्वाभ्युपगमादाख्यायते, प्रथमपुरुषादनन्तरमयं पञ्चभूताऽऽत्मवाद्यभिधीयते चेति। अत्र च प्रथमपुरुषगमेन "इह खलु पाईणं वा " इत्यादिको ग्रन्थः " सुपण्णत्ते भवति " इत्येतत्पर्यवसानोऽवगन्तव्य इति ॥

साम्प्रतं साङ्ख्यस्य लोकायतिकस्य चाभ्युपगमं दर्शयितुमाह-

**इह खलु पंच महब्भूता, जेहिं नो विज्जइ किरियाति वा अकिरियाति वा सुक्कडेति वा दुक्कडेति वा कल्लाणेति वा पावए ति वा साहु त्ति वा असाहु त्ति वा सिद्धि त्ति वा असिद्धि त्ति वा णिरए त्ति वा अणिरए त्ति वा अवि अंतसो तणमायमवि ॥**

इहास्मिन् संसारे द्वितीयपुरुषवक्तव्यताऽधिकारे वा, खलु शब्दो वाक्यालंकारे। पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विद्यन्ते। महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, तेषां च सर्वव्यापितयाऽभ्युपगमात् महत्त्वं, तानि च पञ्चैव अपरस्य षष्ठस्य क्रियाकर्तृत्वेनानभ्युपगमात्, यैर्हि पञ्चभिर्भूतैरभ्युपगम्यमानैः नः अस्माकं क्रिया परिस्पन्दाऽऽत्मिका चेष्टारूपा क्रियते, अक्रिया वा निर्व्यापाररूपतया स्थितिरूपा क्रियते। तथाहि-तेषां दर्शनं सत्त्वरजस्तमोरूपा प्रकृतिर्भूताऽऽत्मभूताः सर्वा अर्थक्रियाः करोति। "पुरुषः केवलमुपभुङ्क्ते,बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयति" इति वचनात्। बुद्धिश्च प्रकृतिरेव तद्विकारत्वात्। तस्याश्च प्रकृतेर्भूताऽऽत्मिकायाः सत्त्वरजस्तमसां चयापचयाभ्यां क्रियाक्रिये स्यातामिति कृत्वा भूतेभ्य एव क्रियाऽऽदीनि प्रवर्तन्ते, तद्व्यतिरेकेणापरस्याभावादिति भावः। तथा सुष्ठु कृतं सुकृतमेतच्च सत्त्वगुणाऽऽधिक्येन भवति, तथा दुष्टं कृतं दुष्कृतमेतदपि रजस्तमसोरुत्कटतया प्रवर्तते। एवं कल्याणमिति वा पापकमिति वा साध्विति वा असाध्विति वा इत्येनत्सत्त्वाऽऽदीनां गुणानामुत्कर्षानुत्कर्षतया यथा-

संभवमायोजनीयम् । तथेप्सितार्थनिष्ठानं सिद्धिर्विपर्ययस्त्वसिद्धिर्निर्वाणं वा-सिद्धिः, असिद्धिः-संसारः संसारिणां तथा नरकः पापकर्मणां यातनास्थानमनरकस्तिर्यङ्मनुष्याऽमराणामेतत्सर्वं सत्त्वाऽऽदिगुणाधिष्ठिता भूताऽऽत्मिका प्रकृतिर्विधत्ते। लोकायताभिप्रायेणापीहैव तथाविधसुपदुःखावस्थाने स्वर्गनरकाविती त्येवमन्तशस्तृणमात्रमपि यत्कार्यं तद्भूतैरेव प्रधानरूपाऽऽपन्नैः क्रियते । तथा चोक्तम्-"सत्त्वं लघु प्रकाशक-मिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१॥" इत्यादि । तदेवं सांख्याभिप्रायेणाऽऽत्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसामर्थ्याल्लोकायतिकाभिप्रायेण त्वात्मन एवाभावाद्भूतान्येव सर्वकार्यकर्तृणीत्येवमभ्युपगमः । तानि च समुदायरूपाऽऽपन्नानि नानास्वभावं कार्यं कुर्वन्ति ।

तं च पिहुद्देसेणं पुढो भूतसमवायं जाणेज्जा । तं जहा-पुढवी एगे महब्भूते,आऊ दुच्चे महब्भूत्ते, तेऊ तच्चे महब्भूते,वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पंचमे महब्भूते. इच्चेते पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणाइया अणिहणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासता आयछट्ठा पुण एगे एवमाहु-सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो ॥

तं च तेषां समवाय पृथग्भूतपदोद्देशेन जानीयात् । तद्यथा—पृथिव्येका काठिन्यलक्षणा महाभूतं, तथाऽऽपो द्रवलक्षणा महाभूतं,तथा तेज उष्णोद्द्योतलक्षणं तथा वायुर्हेनिकम्पलक्षणः,तथाऽवगाहदानलक्षणं सर्वद्रव्याऽऽधारभूतमाकाशमित्येवं पृथग्भूतो यः पदोद्देशस्तेन कायाऽऽकारतया यस्तेषां समवाय स एकत्वेऽपि लक्ष्यते,इत्येतानि पूर्वोक्तानि पृथिव्यादीनि,संख्या ह्युपादीयमाना संख्याऽन्तरं निवर्तयतीति कृत्वा न न्यूनानि नाप्यधिकानि;विश्वव्यापितया महान्ति, त्रिकालभवनाद्भूतानि तदेवमेतान्येव पञ्च महाभूतानि ।'प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कार-स्तस्माच्च गण षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्, पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ १ ॥ इत्येवक्रमेण व्यवस्थितान्यपरेण कालेश्वराऽऽदिना केनचिदनिर्मितान्यनिष्पादितानि, तथा परेणानिर्मापयितव्यानि, तथाऽकृतानि न केनचित्तानि क्रियन्ते , अभ्रेन्द्रधनुरादिवद्विस्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात्,तथा न घटवत्कृत्रिमाणि, कर्तृकरणव्यापारसाध्यानि न भवन्तीत्यर्थः। तथा परव्यापाराभावतया (नो) नैव कृतकानि अपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तौ भावः कृतक इति व्यपदिश्यते , तानि च विस्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात् कृतकव्यपदेशभाञ्जि न भवन्ति, तथाऽनाद्यनिधनानि, अवन्ध्यान्यवश्यकार्यकर्तृणि , तथा न विद्यते पुरोहितः कार्यं प्रति प्रवर्तयिता येषा तान्यपुरोहितानि, स्वतन्त्राणि स्वकार्यकर्तृत्वं प्रत्यपरनिरपेक्षाणि, शाश्वतानि नित्यानि वा, "न कदाचिदनीदृशं जगत्" इति वचनात् । तदेव भूतानि पञ्च महाभूतान्यात्मषष्ठानि पुनरेके एवमाहुः। आत्मा चाऽकिञ्चित्करः सांख्यानां, लोकायतिकाना पुनः कायाऽऽकारपरिणतान्येव भूतान्यभिव्यक्तचेतनानि आत्मव्यपदेशं भजन्त इति । तदेवं सांख्याभिप्रायेण सतो विद्यमानस्य प्रधानाऽऽदेर्नास्ति विनाशोऽत्यन्ताभावरूपो नाप्यसतः शशविषाणाऽऽदेः सम्भव समुत्पत्तिरस्ति, कारणे कार्यस्य विद्यमानस्यैवोत्पत्तिरिष्टा, नासतः, सर्वस्मात्सर्वस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । तथा चोक्तम्-" नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः । " इत्यादि । तथा असतः खरविषाणाऽऽदेरकरणादुपादानकारणस्य च मृत्पिण्डाऽऽदेर्घटार्थिनोपादानाऽऽदित्यादिभ्यश्च हेतुभ्यः कारणे सत्कार्यवादः ।

एतावताव जीवकाए, एतावताव अत्थिकाए, एतावताव सव्वलोए,एतं मुहं लोगस्स करणयाए,अवियंतसो तणमायमवि ।

तदेवमेतावानेव तावदिति सांख्यो लोकायतिको वा माध्यस्थ्यमवलम्बमान एवमेवाऽऽह । तद्यथा-अस्मद्युक्तिभिर्विचार्यमाणस्तावदेतावानेव जीवकायो, यदुत पञ्च महाभूतानि, यतस्तान्येव सांख्याभिप्रायेण प्रधानरूपतामापन्नानि सत्त्वाऽऽदिगुणोपचयापचयाभ्यां सर्वकार्यकर्तृण्यात्मा चाकिञ्चित्करत्वादसत्कल्प एव, लोकायतस्य तु स नास्त्येवेत्यत एतावानेव भूतमात्र एव जीवकाय , तथा एतावानेव भूतास्तित्वमात्र एवास्तिकायो नापरः कश्चित्तीर्थिकाभिप्रेत पदार्थोऽस्तीति । तथा एतावानेव सर्वलोको यदुत पञ्च महाभूतानि प्रधानरूपाऽऽपन्नानि, आत्मा चाकर्ता निर्गुणः सांख्यस्य, लोकायतिकस्य तु-पञ्चभूतात्मक एव लोक , तदतिरिक्तस्याऽपरस्य पदार्थस्याभावादिति । तथा एतदेव पञ्चभूतास्तित्वं मुखं कारणं लोकस्य,एतदेव च कारणतया सर्वकार्येषु व्याप्रियते । तथाहि-सांख्यस्य प्रधानाऽऽत्मभ्या सृष्टिरुपजायते। लोकायतिकस्य तु भूतान्येवान्तशस्तृणमात्रमपि कार्यं कुर्वन्ति, तदतिरिक्तस्यापरस्याभावादिति भावः।स चैवम् वाद्येकत्राऽऽत्मनोऽकिञ्चित्करत्वादन्यत्र चाऽऽत्मनोऽसत्त्वाद सदनुष्ठानैरप्यात्मा पापै कर्मभिर्न वध्यत इति मन्यते । तद् दर्शयितुमाह—

से किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे पयं पयावेमाणे अवि अंतसो पुरिसमवि किणित्ता घायइत्ता एत्थं पि जाणाहि णत्थिऽत्थ दोसो,ते णो एवं विप्पडिवेदेंति । तं जहा-किरियाइ वा०जावऽणिरएइ वा,एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा० जाव इति, ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा, दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिए वि आहिए ॥ १० ॥

(से किणं ति) स इति य कश्चित्पुरुष क्रयार्थी क्रीणन् किञ्चित् क्रयेण गृह्णंस्तथाऽपरं क्रापयंस्तथा प्राणिनो घ्नन् हिंसन् तथा परैर्घातयन् व्यापादयन्, तथा पचनपाचनाऽऽदिकां क्रियां कुर्वंस्तथाऽपरैश्च पाचयन्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् ( अनुमोदयन् ) क्रीणतः क्रापयतो घ्नतो घातयत पचत पाचयतश्चापरास्तथाऽप्यन्तश पुरुषमपि पञ्चेन्द्रियं विक्रीय घातयित्वा अपि पञ्चेन्द्रियघाते नास्ति दोषोऽत्र एवं जानीहि अवगच्छ, किं पुनरेकेन्द्रियवनस्पतिघात इत्यपिशब्दार्थः । ततश्चैवंवादिनः सांख्या बार्हस्पत्या वा (नो) नैवैतद्वक्ष्यमाण विप्रतिवेदयन्ति जानन्ति । तद्यथा-कि-

या परिस्पन्दाऽऽत्मिका सावद्यानुष्ठानरूपा, एवमक्रिया वा स्थानाऽऽदिलक्षणा यावदेवमेव विरूपरूपैरुच्चावचैर्नानाप्रकारैर्जलस्नानावगाहनाऽऽदिकैस्तथा प्राण्युपमर्दकारिभिः कर्मसमारम्भैर्विरूपरूपान् नानाप्रकारान् सुरापानमांसभक्षणागम्यगमनाऽऽदिकान् कामोपभोगान् समारभन्ते स्वतः, पराश्चोदयन्ति-नास्त्यत्र दोष इत्येवं प्रतार्यासत्कार्यकरणाय प्रेरयन्ति एवं च तेऽनार्या अनार्यकर्मकारित्वोदार्यान्मार्गाद्विरुद्ध मार्गं प्रतिपन्नाः विप्रतिपन्नाः। तथाहि-सांख्यानामचेतनत्वात्प्रकृतेः कार्यकर्तृत्वं नोपपद्यते, अचेतनत्वं तु तस्याश्चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति वचनात्, आत्मैव प्रतिबिम्बोदयन्यायेन करिष्यतीति चेत्तदपि न युक्तिसंगतम्, यतोऽकर्तृत्वादात्मनो नित्यत्वाच्च प्रतिबिम्बोदयो न युज्यते, किञ्च-नित्यत्वात्प्रकृतेर्महदादिविकारतया नोत्पत्तिः स्यात्। अपि च "नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः।" इत्याद्यभ्युपगमात्प्रधानाऽऽत्मनोरेव विद्यमानत्वात् महदहङ्काराऽऽदेरनुत्पत्तिरेव एकत्वाच्च प्रकृतेरेकाऽऽत्मवियोगे सति सर्वात्मनां वियोगः स्यादेकसंबन्धे वा सर्वात्मनां प्रकृतिसंयोगो न पुनः कस्यचित्तत्त्वपरिज्ञानात् प्रकृतिवियोगे मोक्षोऽपरस्य तु विपर्ययात्संसार इत्येवं जगद्वैचित्र्यं न स्यात् आत्मनश्चाकर्तृत्वे तत्कृतौ बन्धमोक्षौ न स्याताम्, एतच्च दृष्टेष्टबाधितम्। नापि कारणे सत्कार्यवादो, युक्तिभिरनुपपद्यमानत्वात्। तथाहि मृत्पिण्डावस्थायां घटोत्पत्तेः प्राग्घटसंबन्धिनां कर्मगुणव्यपदेशानामभावात्, घटार्थिना च क्रियासु प्रवृत्तेर्न कारणे कार्यमिति। लोकायतिकस्यापि भूतानामचेतनत्वात्कर्तृत्वानुपपत्तिः, कायाऽऽकारपरिणताना चैतन्याभिव्यक्त्यभ्युपगमे च मरणाभावप्रसङ्गः स्यात्तस्मान्न पञ्चभूताऽऽत्मकं जगदिति स्थितम्। अपिचेदं ज्ञानं स्वसंवित्तिसिद्धमात्मानं धर्मिणमुपस्थापयति, न च भूतान्येव धर्मित्वेन परिकल्पयितुं युज्यन्ते, तेषामचेतनत्वाद्। अथ कायाऽऽकारपरिणतानां चैतन्यं धर्मो भविष्यतीत्येतदप्ययुक्तम्, यतः कायाऽऽकारपरिणाम एव तेषामात्मानमधिष्ठातारमन्तरेण न भवितुमर्हति, निर्हेतुकत्वप्रसङ्गान्निर्हेतुकत्वे च नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति। तदेवंभूतव्यतिरिक्त आत्मा, तस्मिंश्च सति सदसदनुष्ठानतः पुण्यपापे, ततश्च जगद्वैचित्र्यसिद्धिरिति। एवं च व्यवस्थिते तेऽनार्याः साङ्ख्या लोकायतिका वा पञ्चमहाभूतप्रधानाभ्युपगमेन विप्रतिपन्ना यत्कुर्युस्तद्दर्शयितुमाह-( तं सद्दहमाणा इत्यादि ) तमात्मीयमभ्युपगमं पूर्वोक्तया नीत्या निर्युक्तिकमपि श्रद्दधानाः पञ्चमहाभूतात्मकप्रधानस्य सर्वकार्याणि उपगच्छन्ति, तदेव च सत्यमित्येवं प्रतियन्तः प्रतिपद्यमानास्तदेव चाऽऽत्मीयमभ्युपगमं रोचयन्तस्तद्धर्मस्याऽऽख्यातारं प्रशंसयन्तः। तद्यथा-स्वाख्यातो भवता धर्मोऽस्माकमयमत्यन्तमभिप्रेत इत्येवं ते तदध्यवसायाः-सावद्यानुष्ठानेनाप्यधर्मो न भवतीत्यध्यवसायिनः स्त्रीकामेषु मूर्च्छिता इत्येवं पूर्ववद् ज्ञेयं यावदन्तरे कामभोगेषु विषण्णा ऐहिकाऽऽमुष्मिकोभयकार्यभ्रष्टा नाऽऽत्मत्राणाय, नापि परेषामिति। भवत्येष द्वितीय पुरुषजातः पञ्चमहाभूताभ्युपगमिको व्याख्यात इति।

साम्प्रतमीश्वरकारणिकमधिकृत्याऽऽह-

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए इति आहिज्जइ, इह खलु पादीणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना। तं जहा-आयरिया वेगे० जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ० जाव सेणावइपुत्ता तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए० जाव जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ।

अथ द्वितीयपुरुषादनन्तरं तृतीय ईश्वरकारणिक आख्यायते, समस्तस्यापि चेतनाचेतनरूपस्य जगत ईश्वरः कारणं, प्रमाणं चात्र तनुभुवनकरणाऽऽदिक धर्मित्वेनोपादीयते, ईश्वरकर्तृकमिति साध्यो धर्मः, संस्थानविशेषत्वात्कूपदेव कुलाऽऽदिवत्, तथा स्थित्वा २ प्रवृत्तेर्वास्यादिवत्। उक्तं च-"अज्ञो जन्तुरनीशः स्या-दात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छे-त्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥ १॥" इत्यादि। तथा "पुरुष एवेदं सर्वं, यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादि। तथा चोक्तम्-"एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवद्॥ १॥" इत्यादि, तदेवमीश्वरकारणिक आत्माद्वैतवादी वा तृतीय पुरुषजात आख्यायते ( इह खलु इत्यादि ) इहैव पुरुषजातप्रस्तावे, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे प्राच्यादिषु दिक्ष्वन्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितः कश्चिदेवं ब्रूयात्। तद्यथा-राजानमुद्दिश्य तावद्यावत्स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो धर्मो भवति।

इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया पुरिसपज्जोतिता पुरिसअभिसमण्णागया पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहाणामए गंडे सिया सरीरे जाए सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठंति, एवमेव धम्मा पुरिसादिया ०जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे संवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया० जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया०जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया० जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया ०जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति। से जहाणामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए०जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया०जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए ०जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एव-

मेव धम्मावि पुरिसादिया॰ जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ॥

स चायम्-इह खलु धर्मा' स्वभावाश्चेतनाचेतनरूपा' पुरुष ईश्वर आत्मा वा कारणमादिर्येषां ते पुरुषाऽऽदिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा, तथा पुरुष एवोत्तरं कार्यं येषां ते पुरुषोत्तरा', तथा पुरुषेण प्रणीताः सर्वस्य तदधिष्ठितत्वात् तदात्मकत्वाद्वा, तथा पुरुषेण द्योतिताः प्रकाशीकृता' प्रदीपमणिसूर्याऽऽदिनेव घटपटाऽऽदय इति । ते च धर्मा जीवाना जन्मजरामरणव्याधिरोगशोकसुखदु ख जीवनाऽऽदिका, अजीवधर्मास्तु मूर्तिमतां द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शा अमूर्तिमतां च धर्माधर्माऽऽकाशानां गत्यादिका धर्मा', सर्वेऽपीश्वरकृता आत्माद्वैतवादे वाऽऽत्मविवर्ता, सर्वेऽप्येते पुरुषमेवाभिभूय अभिव्याप्य तिष्ठन्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तानाविर्भावयन्नाह-( से जहाणामए इत्यादि ) 'से' शब्दस्तच्छब्दार्थे, नामशब्द' संभावनायाम् । तद्यथा-नाम गण्डं स्याद्भवेत्, संभाव्यते च शरीरिणां संसारान्तर्गताना कर्मवशगाना गण्डाऽऽदिसमुद्भव, तच्च शरीरे जात शरीरजातम्-शरीरावयवभूतं, तथा-शरीरे वृद्धिमुपगतम्, शरीराभिवृद्धौ च तस्याभिवृद्धिः, तथा शरीरे अभिसमन्वागतं--शरीरमाभिमुख्येन व्याप्य व्यवस्थितं, न तदवयवोऽपि शरीरात्पृथग्भूत इति भावः । तथा—शरीरमेवाभिभूय आभिमुख्येन पीडयित्वा तिष्ठति । यदि वा—तदुपशमे शरीरमेवाऽऽश्रित्य तद्गण्डं तिष्ठति न शरीराद्बहिर्भवति । एतदुक्तं भवति-यथा तत्पिटकं शरीरैकदेशभूतं न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथग्दर्शयितुं शक्यते, एवमेवामी धर्माश्चेतनाचेतनरूपास्ते सर्वेऽपीश्वरकर्तृका न ते ईश्वरात्पृथक्कर्तुं पार्यन्ते । यदि वा—सर्वव्यापिन आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थाऽऽत्मनो ये केचन धर्मा' प्रादु'ष्यन्ति ते पृथक्कर्तुं न शक्यन्ते, यथा तद्गण्डं शरीरविकारभूतं तदपृथग्भूतं तद्विनाशे च शरीरमेवानुतिष्ठते, एवमेव सर्वेऽपि धर्मा' पुरुषाऽऽदिकाः पुरुषकारणिका पुरुषविकाररूपा वा न पुरुषात्पृथग्भवितुमर्हन्ति, तद्विकारापगमे चाऽऽत्मानमेवाऽऽश्रित्यावतिष्ठन्ते न तस्माद् बहिर्भवन्तीति शास्त्रे च दृष्टान्तप्राचुर्यमविरुद्धम् । यदि वा—अस्मिन्नर्थे बहवो दृष्टान्ता' संभवन्तीश्वरकर्तृत्ववादस्याऽऽत्माद्वैतवादस्य च सुप्रसिद्धत्वात् दृष्टान्तबहुत्वमित्याह—(से जहा इत्यादि) तद्यथा नामारतिश्चित्तोद्वेगलक्षणा स्याद्भवेत्, सा च शरीरजाता इत्यादि गण्डवन्नेया, दार्ष्टान्तिकेऽप्येवमेव, सर्वे धर्मा पुरुषाऽऽदिका पुरुषप्रभवा इत्यादि पूर्ववन्नेयम् । तथा तद् यथानाम वल्मीकं पृथ्वीविकाररूपं स्यात्, तच्च पृथिव्यां जातं पृथिवीसंबद्धं पृथिव्यभिसमन्वागतं पृथिवीमेवाभिसंभूय तिष्ठति, एवमेव यदेतच्चेतनाचेतनरूपं तत्सर्वमीश्वरकारणिकमात्मविवर्तरूपं वा नाऽऽत्मन' पृथग्भवितुमर्हति, पृथिव्या वल्मीकवत्, तथा तद्यथा नाम वृक्षोऽशोकाऽऽदिक' स्यात्स च पृथिवीजात इत्यादिदृष्टान्तदार्ष्टान्तिके पूर्ववदायोज्ये, तद् यथा नाम पुष्करिणी स्यात्-तडागरूपा भवेत्, साऽपि पृथिव्यामेव जातेत्यादि प्राग्वच्चर्चस्तथा तद्यथा नाम पुष्कलं प्रचुरमुदकपुष्कलमुदकप्राचुर्यं तच्च तद्धर्मत्वादुदकमेव यावदुदकमेवाभिभूय तिष्ठति, एव दार्ष्टान्तिकेऽप्यायोज्यम् । तथा तद्यथा नाम उदकबुद्बुद' स्याद्, अत्रापि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिके न तस्मादवयविनः पृथग्भूत इति सुगमम् ।

तदेवं यदीश्वरकृतत्वेनाभ्युपगम्यते तत्सर्वं तथ्यमपरं तु मिथ्या इत्येतदाविर्भावयन्नाह-

जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणीयं वियं जियं दुवालसंगं गणिपिडयं । तं जहा—आयारो, सूयगडो॰ जाव—दिट्ठिवातो । सव्वमेव मिच्छा, ण एयं तहियं, ण एय आहातहियं, इमं सच्चं, इमं तहियं, इमं आहातहियं, ते एवं सन्नं कुव्वंति, ते एवं सन्नं संठवेंति, ते एव सन्नं सोवट्ठवयंति, तमेवं ते तज्जाइयं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा । ते णो एव विप्पडिवेदेंति । तं जहा—किरियाइ वा॰ जाव अणिरएइ वा, एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवामेव ते अणारिया विपडिवन्ना एवं सद्दहमाणा॰ जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णे त्ति तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिए त्ति आहिए ॥ ११ ॥

यदपि चेदं संव्यवहारत' प्रत्यक्षाऽऽसन्नभूतं श्रमणाना यतीना निर्ग्रन्थानां निष्किञ्चनानामुद्दिष्ट तदर्थं प्रणीतं व्यञ्जितम्-तेषामभिव्यक्तीकृतं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं, तद्यथा आचार इत्यादि यावद् दृष्टिवाद, सर्वमेतन्मिथ्या, अनीश्वरप्रणीतत्वात्, स्वरुचिविरचितरथ्यापुरुषवाक्यवत्तथा नैतत्तथ्यमिथ्येत्यनेनाभूतोद्भावनत्वमाविष्कृतमचौरचौरत्ववत्, नैतत्तथ्यमित्यनेन तु सद्भूतार्थनिह्नवो यथा नास्त्यात्मेति, तथा नैतद्याथातथ्यम्-यथाऽस्थितोऽर्थ', न तथाऽवस्थितमिति भावः। अनेन सद्भूतार्थनिह्नवेनासद्भूतार्थाऽऽरोपणमाविष्कृतम् । तद्यथा -गामश्वं ब्रुवतोऽश्वं वा गामिति, एकार्थिकानि वैतानि शक्रेन्द्राऽऽदिवद् द्रष्टव्यानि । तदेवं यदेतद् द्वादशाङ्गं गणिपिटकं तदनीश्वरप्रणीतत्वान्मिथ्येति स्थितम्, इदं तु पुनरीश्वरकर्तृकत्वं नामाऽऽत्माद्वैतं वा सत्यं यथाऽवस्थितार्थप्रतिपादनात् । तथेदमेव तथ्यं सद्भूतार्थोद्भासनात्, तदेवं ते ईश्वरकारणिका आत्माऽद्वैतवादिनो वा, एवमनन्तरोक्तया नीत्या सर्वं तनुभुवनकरणाऽऽदिकम् ईश्वरकारणिकं, तथा सर्वं चेतनमचेतनं वाऽऽत्मविवर्तस्वभावम्, आत्मन एव सर्वाऽऽकारतयोत्पत्तेरित्येवं संज्ञान संज्ञा, तामेव कुर्वन्त्यन्येषा च ते स्वदर्शनानुरक्तमनसा संज्ञां संस्थापयन्ति, तथा-त एव एवंभूता संज्ञा वक्ष्यमाणेन न्यायेन निर्युक्तिकामपि सुष्ठु उप सामीप्येन तदाग्रहितया तदभिमुखा युक्तीः निनीषव' स्थापयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति । ते चैवं वादिनस्तमीश्वरकर्तृत्ववादमात्माद्वैतवादं वा नातिवर्तन्ते, तदभ्युपगमजातीयं च दुःखं दुःखहेतुत्वाद् दु खं नातिवर्तन्ते न त्रोटयन्ति वा । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-यथा शकुनिः पक्षिविशेषो लावकाऽऽदिक पञ्जरं नातिवर्तते पौन पुन्येन भ्रान्त्वा तत्रैव वर्तते, एवं तेऽप्येवंभूताभ्युपगमवादिनस्तदापादितकर्मबन्धं नातिवर्तन्ते, न वा त्रोटयन्ति । ते च स्वाग्रहाभिमानग्रहग्रस्ता नैतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति न सम्यक् जानन्ति । तद्यथेयं क्रिया सदनुष्ठानरूपेयं चाक्रिया तद्विपरीतेत्येवं स्वाग्रहिणो नान्यद

शोभनमशोभनं वा यावदयमनरक इत्येवं सदसद्विवेकरहितत्वाद्मावधारयन्त्येवमेव यथा कथञ्चित्ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैर्नानाप्रकारैः सावद्यानुष्ठानैर्द्रव्योपार्जनोपायभूतैर्द्रव्यमुपादाय विरूपरूपान्कामभोगानुच्चावचान् समाचरन्ति भोजनायोपभोगार्थमित्येवमनार्यास्ते विरुद्धं मार्गं प्रतिपन्ना विप्रतिपन्ना न सम्यग्वादिनो भवन्ति। तथाहि-"सर्वमीश्वरकर्तृकम्" इत्यत्राभ्युपगमे किमसावीश्वरः स्वत एवापरान् क्रियासु प्रवर्तयेदुतापरेण प्रेरितः?। तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा तद्वदन्येषामपि स्वत एव क्रियासु प्रवृत्तिर्भविष्यति किमन्तर्गडुनेश्वरपरिकल्पनेन?। अथासावप्यपरप्रेरितः,सोऽप्यपरेण,सोऽप्यपरेणेत्येवमनवस्थालता नभोमण्डलमालिनी प्रसर्पति। किं च-असावीश्वरो महापुरुषतया वीतरागतोपेतः सन्नैकान्नरकयोग्यासु क्रियासु प्रवर्तयत्यपरांस्तु स्वर्गापवर्गयोग्यास्विति?। अथ ते पूर्वशुभाशुभाचरितोदयादेव तथाविधासु तासु क्रियासु प्रवर्तन्ते,स तु निमित्तमात्रम्। एतदपि न युक्तिसङ्गतम्। यतः प्राक्तनाशुभप्रवर्तनमपि तदायत्तमेव । तथा चोक्तम्-"अज्ञो जन्तुः०" इत्यादि। अथ तदपि प्राक्तनमन्येन प्राक्तनतरेण कारितमिति, एवमनादिहेतुपरम्परेति,एवं च सति तत एव शुभाशुभे स्थाने भविष्यतः किमीश्वरपरिकल्पनेन?। तथा चोक्तम्-" शस्त्रौषधाऽऽदिसंबन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे।असंबद्धस्य किं स्थाणोः, कारणत्वं न कल्प्यते?॥१॥" इत्यादि। यच्चोक्तम्-सर्वं तनुभुवनकरणाऽऽदिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं संस्थानविशेषत्वात् देवकुलाऽऽदिवदित्येतदपि न युक्तिसङ्गतम्, यत एतदपि साधनं न भवदभिप्रेतमीश्वरं साधयति,तेन सार्धं व्याप्त्यसिद्धेः, देवकुलाऽऽदिके दृष्टान्तेऽनीश्वरस्यैव कर्तृत्वेनाभ्युपगमात्। न च संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं सिद्ध्यति, अन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणस्य साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धस्याभावात् । अथाविनाभावमन्तरेणैव संस्थानमात्रदर्शनात्साध्यसिद्धिः स्यात्,एवं च सत्यतिप्रसङ्गः स्यात्। उक्तं च—" अन्यथा कुम्भकारेण, मृद्विकारस्य कस्यचित्। घटाऽऽदेः करणात्सिद्धेर्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ॥ १ ॥ " इत्यादि । न चेश्वरकर्तृत्वे जगद्वैचित्र्यं सिध्यति, तस्यैकरूपत्वादित्युक्तप्रायमिति । आत्माद्वैतपक्षस्त्वत्यन्तमयुक्तिसङ्गतत्वान्नाऽऽश्रयणीयः । तथाहि—तत्र न प्रमाणं न प्रमेयं न प्रतिपाद्यं न प्रतिपादको न हेतुर्न दृष्टान्तो न तदाभासो भेदेनाऽवगम्यते, सर्वस्यैव जगत एकत्वं स्यादात्मनोऽभिन्नत्वात्, तदभावे च कः केन प्रतिपाद्यते?, इत्यप्रणयनमेव शास्त्रस्याऽऽत्मनश्चैकत्वाच्चत्कार्यमप्येकाकारमेव स्यादित्यतो निर्हेतुकं जगद्वैचित्र्यम्। तथा च सति-' नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा,हेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥ १ ॥ " इत्यादि । तदेवमीश्वरकर्तृत्वमात्माद्वैतपक्षश्च युक्तिभिर्विचार्यमाणो न कथञ्चिद् घटां प्राञ्चति। तथाऽपि एते स्वदर्शनमोहमोहितास्तज्जातीयाद् दुःखात् शकुनिः पञ्जरादिव नातिमुच्यन्ते, विप्रतिपन्नाश्च तन्प्रतिपादिकाभिर्युक्तिभिस्तदेव स्वपक्षं प्रनियन्ति, श्रद्दधतीति पूर्ववन्नेयम्। यावत् ( णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्ण त्ति ) इत्ययं तृतीयः पुरुषजात ईश्वरकारणिक इति। स ह्येवमाह-" यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन लिप्यते ॥ १ ॥ " इत्याद्यसमञ्जसभाषिनया त्यक्त्वा पूर्वसंयोगमप्राप्तो विवक्षितं स्थानमन्तराल एव कामभोगेषु मूर्छितो विषण्ण इत्यवगन्तव्यमिति।



सांप्रतं चतुर्थपुरुषजातमधिकृत्याऽऽह-

**अहावरे चउत्थे पुरिसजाए णियतिवाइए त्ति आहिज्जइ, इह खलु पाईणं वा तहेव० ६ जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए० जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ ॥**

अथ तृतीयपुरुषादनन्तरमपरश्चतुर्थः पुरुष एव पुरुषजातो नियतिवादिक आख्यायते प्रतिपाद्यते । स चैवमाह-नात्र कश्चित्कालेश्वराऽऽदिकः कारणं,नापि पुरुषकारः, समानक्रियाणामपि कस्यचिदेव नियतिबलादर्थसिद्धेरतो नियतिरेव कारणम्। उक्तं च-"प्राप्तव्यो नियतिबलाऽऽश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥ " इत्यादि।

नियतिवादी स्वमतमाह-

**इह खलु दुवे पुरिसा भवंति-एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे णो किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य पुरिसे णो किरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारणमावन्ना ॥**

इहाऽस्मिन् जगति, खलुशब्दो वाक्यालंकारे। द्वौ पुरुषौ भवतः। तत्रैकः क्रियामाख्याति । क्रिया हि देशाद्देशान्तरावाप्तिलक्षणा पुरुषस्य भवतीति। न कालेश्वराऽऽदिना चोदितस्य भवत्यपि तु नियतिप्रेरितस्य,एवमक्रियाऽपि। यदि तावत् स्वतन्त्रौ क्रियावादाक्रियावादं च समाश्रितौ तौ द्वावपि नियत्यधीनत्वात्तुल्यौ, यदि पुनस्तौ स्वतन्त्रौ भवतस्ततः क्रियाऽक्रियाभेदान्न तुल्यौ स्यातामित्यत एकार्थौ एककारणाऽऽपन्नत्वादिति,नियतिवशेनैव तौ नियतिवादमनियतिवादं चाऽऽश्रिताविति भावः। उपलक्षणार्थत्वाच्चास्यान्योऽपि यः कश्चित्कालेश्वराऽऽदिपक्षान्तरमाश्रयति सोऽपि नियतिचोदित एव द्रष्टव्य इति।

साम्प्रतं नियतिवादी परमतोद्विभावयिषयाऽऽह-

**वाले पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेयमकासि परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एवमकासि, एवं से वाले सकारणं वा परकारणं वा, एवं विप्पडिवेदेंति कारणमापन्ने ॥**

वालोऽज्ञः पुरुषकारकालेश्वरवादीत्यादिकः, पुनरिति विशेषणार्थे। तदेव दर्शयति-एवमिति वक्ष्यमाणनीत्या विप्रतिवेदयति जानीते कारणमापन्नः सुखदुःखयोः सुकृतदुष्कृतयोर्वा सकृत एव पुरुषकारः कालेश्वराऽऽदिर्वा कारणमित्येवमभ्युपपन्नो नान्यत् नियत्यादिकं कारणमस्तीति तदेवाऽऽह। तद्यथा-योऽहमस्मि दुःखामि शारीरं मानसं दुःखमनुभवामि, तथा शोचामीष्टानिष्टवियोगसंयोगकृतं शोकमनुभवामि , तथा ( तिप्पामि त्ति ) शारीरबलं क्षरामि तथा ( पीडामि त्ति )

सबाह्याभ्यन्तरया पीडया पीडामनुभवामि, तथा (परितप्पामि त्ति ) परितापमनुभवामि, तथा ( जूरामि त्ति ) अनार्यकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि, अनर्थायासौ विसूरयामीत्यर्थः । तदेवं यदहं दुःखमनुभवामि तदहमेवाकार्षं, परपीडया कृतवानस्मीत्यर्थः । तथा परोऽपि यद् दुःखशोका-ऽऽदिकमनुभवति मयि वाऽऽपादयति, तत् स्वयमेव कृतमिति । तदेव दर्शयति-(परो वेत्यादि) तथा परोऽपि यन्मा दुःखयति शोचयतीत्यादि प्राग्वन्नेयं तत्सर्वमहमकार्षमित्येवं द्वाभ्यामाकलितोऽज्ञो वा बाल एवं विप्रतिवेदयति जानीते स्वकारणं वा परकारणं वा सर्वं दुःखाऽऽदिपुरुषकारकृतमिति जानीते एवं पुरुषकारकारणमापन्न इति ।

तदेवं नियतिवादी पुरुषकारकारणवादिनो बालत्वमापाद्य स्वमतमाह-

मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एवमकासि, परो वा जं दुक्खइ वा० जाव परितप्पइ वा, णो परो एवमकासि, एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने, से बेमि पाईणं वा ६, जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगतियंति उवेहाए, णो एवं विप्पडिवेदेंति । तं जहा-किरियाति वा० जाव णिरए ति वा अणिरएति वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए ॥

मेधा मर्यादा, प्रज्ञा वा, तद्वान् मेधावी नियतिवादपक्षाश्रयी, एवं विप्रतिवेदयति जानीते, कारणमापन्न इति नियतिरेव कारणं सुखदुःखाऽऽद्यनुभवस्य, तद्यथा सोऽहमस्मि दुःखयामि शोचयामि तथा ( तिप्पामि त्ति ) क्षरामि ( पीडामि त्ति ) पीडामनुभवामि ( परितप्पामि त्ति ) परितापमनुभवामि नाहमेवमकार्षं दुःखम्, अपि तु नियतित एवैतन्मय्यागतं, न पुरुषकाराऽऽदिकृतं, यतो न हि कस्यचिदात्माऽनिष्टो येनानिष्टा दुःखोत्पादाऽऽदिका क्रिया समारभते, नियत्यैवासावनिच्छन्नपि तत्कार्यते येन दुःखपरम्पराभाग्भवति, कारणमापन्न इति परेऽप्येवमेव योजनीयम् । एवं सति नियतिवादी मेधावीति सोल्लुण्ठमेतत्, स किल नियतीवादी दृष्टं पुरुषकारं परित्यज्यादृष्टनियतिवादाऽऽश्रयेण महाविवेकीत्येवमुल्लुण्ठ्यते, स्वकारणं परकारणं च दुःखाऽऽदिकमनुभवन्नियतिकृतमेतदेवं विप्रतिवेदयति-जानाति नाऽऽत्मकृतं नियतिकारणमापन्नं, नियतिकारणं चानेकस्यासदनुष्ठानरतस्यापि न दुःखमुत्पद्यते, परस्य तु सदनुष्ठायिनोऽपि तद्भवति इत्यतो नियतिरेव कर्त्रीति । तदेव नियतिवादे स्थिते परमपि यत्किञ्चित्तत्सर्वं नियत्यधीनमिति दर्शयितुमाह-( से बेमीत्यादि ) सोऽहं नियतिवादी युक्तितो निश्चित्य ब्रवीमीति प्रतिपादयामि, ये केचन प्राच्यादिषु दिक्षु त्र-स्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयः स्थावराश्च पृथिव्यादयः प्राणाः प्राणिनस्ते सर्वेऽप्येवं नियतित एवौदारिकाऽऽदिशरीरसंघातमागच्छन्ति, नान्येन केनचित्कर्माऽऽदिना शरीरं प्राप्नुवन्ति, तथा बालकुमारयौवनस्थविरवृद्धावस्थाऽऽदिकं विविधपर्यायं नियतित एवानुभवन्ति, तथा नियतित एव विवेकं शरीरात्पृथग्भावमनुभवन्ति । तथा नियतित एव विविधं विधानम्-अवस्थाविशेषं कुब्जकाणखञ्जवामनकजरामरणरोगशोकाऽऽदिकं विधानमागच्छन्ति, तदेवं ते प्राणिनस्त्रसाः स्थावरा एवं पूर्वोक्तया नीत्या संगतिं यान्ति-नियतिमापन्ना नानाविधविधानभाजो भवन्ति । न एवं वा नियतिवादिनः ( संगइयं ति ) नियतिमाश्रित्य तदुत्प्रेक्षया नियतिवादोत्प्रेक्षया यत्किञ्चनकारितया परलोकाभीरवो ( नो ) नैव एतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति जानन्ति । तद्यथा-क्रिया-सदनुष्ठानरूपा, अक्रिया तु-असदनुष्ठानरूपा इत्यादि यावदेवं न नियतिवादिनस्तदुपरि सर्वं दोषजालं प्रक्षिप्य विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैर्विरूपरूपान् कामभोगान् भोजनाय उपभोगार्थं समारभन्त इति ।

एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा० जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा; चउत्थे पुरिसजाए णियइवाइए त्ति आहिए ॥

तदेवमेव पूर्वोक्तया नीत्या तेऽनार्या विरूपं नियतिमार्गं प्रतिपन्ना विप्रतिपन्ना, अनार्यत्वं पुनस्तेषां निर्युक्तिकस्यैव नियतिवादस्य समाश्रयणात् । तथाहि-असौ नियतिः किं स्वत एव नियतिस्वभावा उतान्यया नियत्या नियम्यते ?, किञ्चातः ?, तत्र यद्यसौ स्वयमेव तथास्वभावा सर्वपदार्थानामेव तथास्वभावत्वं किं न कल्प्यते ?, किं बहुदोषया नियत्या समाश्रितया ? । अथाऽन्यया नियत्या तथा नियम्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययेत्येवमनवस्था । तथा नियतेः स्वभावत्वान्नियतस्वभावया अनया भवितव्यं, न नानास्वभावयेति, एकत्वाच्च नियतेस्तत्कार्येणाप्येकाऽऽकारेणैव भवितव्यम्, तथा च सति जगद्वैचित्र्याऽभाव, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । तदेवं युक्तिभिर्विचार्यमाणा नियतिर्न कथञ्चिद् घटते । यदप्युक्तम्-द्वावपि तौ पुरुषौ क्रियाऽक्रियावादिनौ तुल्यौ, एतदपि प्रतीतिबाधितम्, यतस्तयोरेकः क्रियावादी, अपरस्त्वक्रियावादीति, कथमनयोस्तुल्यत्वम्, अथैकया नियत्या तथा नियतत्वात्तुल्यता अनयोः, एतच्च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, नियतेरप्रमाणत्वात् । अप्रमाणत्वं च प्राग्लेशतः प्रदर्शितमेव । यदप्युक्तम्-"यद् दुःखाऽऽदिकमहमनुभवामि तन्नाहमकार्षम्" इत्यादि । तदपि बालवचनप्रायम् । यतो जन्मान्तरकृतं शुभमशुभं वा तदिहोपभुज्यते, स्वकृतकर्मफलेश्वरत्वादसुमताम् । तथा चोक्तम्-

' यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते ॥ १ ॥ "

तथा—

" यदुपात्तमन्यजन्मनि, शुभमशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या ।
तच्छक्यमन्यथा नो, कर्तुं देवासुरैरपि हि ॥ २ ॥ "

तदेवं ते नियतिवादिनोऽनार्या विप्रतिपन्नास्तमेव निर्युक्तिकं नियतिवादं श्रद्दधानास्तमेव च प्रतीयन्त इत्यादि तावन्नेयं यावदन्तरा कामभोगेषु विषण्णा इति चतुर्थः पुरुषजातः समाप्तः ।

साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुराह-

इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणापरा णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता पहीणपुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्णा ( १२ सूत्रम् )।

इत्येते पूर्वोक्तास्तज्जीवतच्छरीरपञ्चमहाभूतेश्वरकर्तृत्वनियतिवादपक्षाऽऽश्रयिणश्चत्वारः पुरुषा नानाप्रकारा प्रज्ञा मतिर्येषां ते तथा. नाना-भिन्नश्छन्दः-अभिप्रायो येषां ते तथा, नानाप्रकारं शीलम् अनुष्ठानम् येषां ते तथा, नानारूपा दृष्टि-दर्शनं येषां ते तथा, नानारूपा रुचिः-चेतोऽभिप्रायो येषां ते तथा, नानाप्रकार आरम्भो-धर्मानुष्ठानं येषां ते तथा नानाप्रकारेण परस्परभिन्नेनाऽध्यवसायेन संयुक्ता धर्मार्थमुद्यता, प्रहीणः-परित्यक्तः पूर्वसंयोगो-मातृपितृकलत्रपुत्रसम्बन्धो यैस्ते तथा, तथा-आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो निर्दोषः पापलेश्यासंपृक्तस्तमार्यं मार्गमसंप्राप्ता इति पूर्वोक्तया नीत्या ते चत्वारोऽपि नास्तिकाऽऽद्यो (णो हव्वाए इति) परित्यक्तत्वान्मातापित्राऽऽदिसंबन्धस्य धनधान्यहिरण्याऽऽदिसञ्चयस्य च नैहिकसुखभाजो भवन्ति। तथा-( णो पाराए त्ति ) असंप्राप्तत्वादार्यस्य मार्गस्य सर्वोपाधिविशुद्धस्य प्रगुणमोक्षपद्धतिरूपस्य न संसारपारगामिनो भवन्ति, न परलोकसुखभाजो भवन्तीति, किं त्वन्तराल एव गृहवासार्यमार्गयोर्मध्यवर्तिन एव कामभोगेषु विषण्णा अध्युपपन्ना दुस्तारपङ्कमग्ना करिण इव विषीदन्तीति स्थितम्। उक्ताः परतीर्थिकाः।

साम्प्रतं लोकोत्तरं भिक्षावृत्तिं भिक्षुकं पञ्चमं पुरुषजातमधिकृत्याऽऽह-

से बेमि पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति। तं जहा-आयरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे,तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाणि भवंति । तं जहा-अप्पयरा वा भुज्जयरा वा, तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता सतो वा वि एगे णायओ अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता असतो वा वि एगे णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता ॥

यत्कामभोगेष्वसक्ताः सदन्तरा नोऽवसीदन्ति, पद्मवरपौण्डरीकोद्धरणाय च समर्थो भवति, तदेनदह प्रवीमीति। अस्य चार्थस्योपदर्शनाय प्रस्तावमारचयन्नाह-प्राचीनाऽऽदिकामन्यतरां दिशमुद्दिश्यैके केचन मनुष्या सन्ति भवन्ति। तद्यथा-आर्या आर्यदेशोत्पन्ना मगधाऽऽदिजनपदोद्भवा ,तथा-अनार्याः शकयवनाऽऽदिदेशोद्भवाः, तथा च उच्चैर्गोत्रोद्भवा इक्ष्वाकुहरिवंशाऽऽदिकुलोद्भवाः, तथा-नीचैर्गोत्रोद्भवाः-वर्णापसदसंभूताः, तथा-कायवन्त प्रांशवः,तथा-ह्रस्वा वामनकाऽऽदयः, तथा-सुवर्णा दुर्वर्णाः सुरूपाः कुरूपा वा एके केचन परवशा भवन्ति तेषां चार्याऽऽदीनाम्, णमिति वाक्यालङ्कारे, क्षेत्राणि शालिक्षेत्राऽऽदीनि वास्तूनि खातोच्छ्रिताऽऽदीनि तानि परिगृहीतानि स्वीकृतानि भवन्ति। तान्येव विशिनष्टि-अल्पतराणि स्तोकतराणि वा प्रभूततराणि वा भवन्ति। तथा-तेषामेव च जनजानपदाः परिगृहीता भवन्ति, तेऽप्यल्पतराः प्रभूततरा वा भवेयुः,तेषु चार्याऽऽदिविशेषणविशिष्टेषु तथाप्रकारेषु कुलेष्वागम्यैवंभूतानि गृहाणि गत्वा, तथा प्रकारेषु वा कुलेष्वागम्य जन्म लब्ध्वाऽभिभूय च विषयकषायाऽऽदीन् परीषहोपसर्गान् वा सम्यगुत्थानेनोत्थाय प्रव्रज्यां गृहीत्वैके केचन तथाविधसत्त्ववन्तो भिक्षाचर्यायां सम्यगुत्थिताः समुत्थिताः, तथा-सतो विद्यमाना नपि वा एके केचन महासत्त्वोपेता ज्ञातीन् स्वजनान् अज्ञातीन् परिजनांस्तथोपकरणं च कामभोगाङ्गं धनधान्यहिरण्याऽऽदिकं विविधं प्रकर्षेण हित्वा त्यक्त्वा भिक्षाचर्यायां सम्यगुत्थिता ,असतो वा ज्ञातीनुपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यामेके केचनापगतस्वजनविभवाः समुत्थिताः।

पुव्वमेव तेहिं णायं भवइ। तं जहा-इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति। तं जहा-खेत्तं मे वत्थू मे हिरन्नं मे सुवन्नं मे धणं मे धन्नं मे कंसं मे दूसं मे विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावतेयं मे सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे, एते खलु मे कामभोगा अहमवि एतेसिं ॥ से मेहावी पुव्वामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा। तं जहा-इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा, अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे से हंता भयंतारो ! कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ, एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ।

ये ते पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भिक्षाचर्यायामभ्युद्यता पूर्वमेव प्रव्रज्याग्रहणकाल एव नैरेतज्ज्ञातं भवति। तद्यथा-( इहेत्यादि ) इह जगति, खलुर्वाक्यालङ्कारे, अन्यदन्यदुद्दिश्य ममैतद्भोगाय भविष्यतीति एवममी प्रव्रज्या प्रतिपन्नाः प्रविविक्षिपुर्वो प्रवेदयति जानान्येवं परिच्छिन्दन्ति। तद्यथा-क्षेत्रं शालिक्षेत्राऽऽदिकं वास्तु खातोच्छ्रिताऽऽदिकं हिरण्यं धर्मलाभाऽऽदिकं सुवर्णं कनकं धनं गोमहिष्यादिकं धान्यं शालिगोधूमाऽऽदिकं कांस्यं कांस्यपात्राऽऽदिकं तथा विपुलानि प्रभूत-

तराणि धनकनकरत्नमणिमौक्तिकानि ( संगसिल त्ति ) मुक्ताशैलाऽऽदिकाः शिलाः प्रवालं विद्रुमं, यदि वा-( सिलप्पवालं ति ) श्रिया युक्तं प्रवालं श्रीप्रवालं धर्णाऽऽदिगुणोपेतं, तथा-( रत्तरयणं ति ) रक्तरत्नं पद्मरागाऽऽदिकं तथा सत्सारं शोभनसारमित्यर्थः । शूलमयणायिकं. तथा स्वापतेयं रिक्थं ( शुद्धं ) द्रव्यजातं सर्वमेतत्पूर्वोक्तं ( मे ) ममोपभोगाय भविष्यति, तथा शब्दा वेणवादयो, रूपाण्यङ्गनाऽऽदीनि, गन्धाः कोष्ठपुटाऽऽदयो, रसा मधुराऽऽदयो मांसरसाऽऽदयो वा, स्पर्शा मृद्वादयः, एते सर्वेऽपि खलु (मे) कामभोगाः, अहमप्येषां योगक्षेमार्थं प्रभविष्यामीत्येवं संप्रधार्य ॥ स मेधावी पूर्वमेवाऽऽत्मानं विजानीयादिदं पर्यालोचयेत् । तद्यथा-इह संसारे, खलु शब्दोऽवधारणे, इहैव अस्मिन्नेव जन्मनि मनुष्यभवे ममान्यतरद् दुःखं-शिरोवेदनाऽऽदिकमातङ्को वाऽऽशुजीवितापहारी शूलाऽऽदिक समुत्पद्यते,तमेव विशिनष्टि-अनिष्टः अकान्त अप्रियः अशुभोऽमनोज्ञोऽवनामयतीत्यवनामः-पीडाविशेषकारी दुःखरूपो,यदि वा-न मनागमनाक्(मे)मम नितरामित्यर्थं ,दुःखयतीति दुःखं,पुनरपि दुःखोत्पादनमत्यन्तदुःखप्रतिपादनार्थं, सुखलेशस्याऽपि परिहारार्थं च । (नो) नैव शुभः, अशुभकर्मविपाकाऽऽपादितत्वादिति । अत्र च यदुक्तमपि पुनरुच्यते तदत्यादरख्यापनार्थं तद्विशेषप्रतिपादनार्थं चेति । तदेवंभूतं दुःखं रोगाऽऽतङ्कं वा हन्त इति खेदे भयात्त्रातारो यूयं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्याऽऽदिकाः परिग्रहविशेषाः शब्दाऽऽदयो वा विषयास्तथा हे भगवन्तः ! कामभोगा यूयं मया पालिता परिगृहीताश्च ततो यूयमपीदं दुःखं रोगाऽऽतङ्कं वा (परियाइयह त्ति) विभागशः परिगृह्णीत यूयम्, अत्यन्तपीडयोद्विग्न पुनस्तदेव दुःखं रोगाऽऽतङ्कं वा विशेषणद्वारेणोच्चारयति, अनिष्टमप्रियमकान्तमशुभममनोज्ञममनाग्भूतमवनामकं वा दुःखमेवैतत्ततोऽशुभमित्येवंभूतं ममोत्पन्नं यूयं विभजताहमनेनातीव दुःखामीति दुःखित इत्यादि पूर्ववन्नेयम् इति । अतोऽमुष्मान्ममान्यतरस्माद् दुःखाद्रोगाऽऽतङ्काद्वा प्रतिमोचयत यूयम्, अनिष्टाऽऽदिविशेषणानि तु पूर्ववद्व्याख्येयानि । प्रथम प्रथमान्तानि पुनर्द्वितीयान्तानि, सांप्रत पञ्चम्यन्तानीति । न चायमर्थस्तेन दुःखितेनैवमेवेति, यथा प्रार्थितस्तथैव लब्धपूर्वो भवति । इदमुक्तं भवति-न हि ते क्षेत्राऽऽदयः परिग्रहविशेषा, नाऽपिशब्दाऽऽदय कामभोगास्तं दुःखित दुःखाद्विमोचयन्तीति ।

एतदेव लेशतो दर्शयत्ति-

इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ?, इति संखाएणं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो, से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेतं ।

(इह खलु इत्यादि) इहास्मिन्, खलु वाक्यालङ्कारे, ते कामभोगा अत्यन्तमभ्यस्ता न तस्य दुःखितस्य त्राणाय शरणाय वा भवन्ति । सुलालितानामपि कामभोगाना पर्यवसानं दर्शयितुमाह-( पुरिसे वा इत्यादि ) पुरि शयनात्पुरुष प्राणी, एकदा व्याध्युत्पत्तिकाले जराजीर्णकाले वाऽन्यस्मिन्वा राजाऽऽद्युपद्रवे तान्कामभोगान् परित्यजति, स वा पुरुषो द्रव्याऽऽद्यभावे तैः कामभोगैर्विषयोन्मुखोऽपि त्यज्यते,न चैवमव धारयति अन्ये मत्तो भिन्ना खल्वमी कामभोगाः, तेभ्य श्चान्योऽहमस्मि । तदेवं व्यवस्थिते किमिति वयं पुनरते ष्वनित्येषु परभूतेष्वन्येषु कामभोगेषु मूर्छा कुर्म इत्येवं केचन महापुरुषाः परिसंख्याय सम्यक् ज्ञात्वा कामभोगान्वयं विप्रजहिष्यामस्त्यक्ष्याम इत्येवमध्यवसायिनो भवन्ति। पुनरपरं वैराग्योत्पत्तिकारणमाह-( से मेहावी ) स मेधावी सश्रुनिक एतज्जानीयात् , तद्यथा-यदेतत्क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णशब्दाऽऽदिविषयाऽऽदिकं दुःखपरित्राणाय न भवतीत्यु ष्यन्यत् तदेतद्बाह्यतरं वर्तते ।

इणमेव उवणीयतरागं । तं जहा-माया मे पिता मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूता मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुहा मे पिया मे सहा मे सयणसंगथसंथुया मे, एते खलु मम णायओ अहमवि एतेसिं, एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा, अनिट्ठे० जाव दुक्खे णो सुहे से हंता भयंतारो ! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयह अणिट्ठं० जाव णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा० जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खातो रोयातंकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ ०जाव णो सुहाओ , एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ, तेसिं वावि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे ०जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं ०जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा ०जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खातो रोयातंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ ०जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ , अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति अन्नेन कडं अन्नो नो पडिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा, इह खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्विं णातिसंजोगाए विप्पजहति, णातिसंजोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति , अन्ने खलु णातिसंजोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग ! पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंजोगेहिं मुच्छामो ?, इति संखाए णं वयं णातिसंजोगं विप्पजहिस्सामो ॥

इदमेव चान्यद्वक्ष्यमाणमुपनीततरमासन्नतरं वर्तते, तद्यथा—मातापिताभ्राताभगिनीत्वादयो ज्ञातयः पूर्वापरसंस्तुता एते खलु ममोपकाराय ज्ञातयो भविष्यन्ति , अहमप्येतेषां स्नानभोजनाऽऽदिनोपकरिष्यामीत्येवं स मेधावी पूर्व-

मेवाऽऽत्मनैवं समभिजानीयादित्यादि, एवं पर्यालोचयत् क-
ल्पितवानिति वा, एतदध्यवसायी चासौ स्यादिति दर्शयि-
तुमाह-इहास्मिन्भवे मम वर्त्तमानस्याऽनिष्टाऽऽदिविशेषण-
विशिष्टो दुःखात्तङ्कः समुत्पद्येत ततोऽसौ तद्दुःखदु खितो
ज्ञातीनेवमभ्यर्थयेत् , तद्यथा-इमं ममान्यतरं दुःखाऽऽतङ्क-
मुत्पन्नं परिगृह्णीत, यूयमहमनेनोत्पन्नेन दु.खाऽऽतङ्केन पीड-
यिष्यामीत्यतोऽमुष्मान्मां परिमोचयत यूयमिति, न चै-
तत्तेन दुःखितेन लब्धपूर्वं भवति , न हि ते ज्ञातयस्तं
दु खान्मोचयितुमलमिति भाव. । नाप्यसौ तेषां दुःखमोचना-
यालमिति दर्शयितुमाह-( तेसिं वा वीत्यादि ) सर्वं प्राग्व-
द्योजनीयं, यावदेवमेव नोपलब्धपूर्वं भवतीति । किमित्येवं
नोपलब्धपूर्वं भवतीत्याह-( अएणस्स दुक्खमित्यादि ) सर्व-
स्यैव संसारोदरविवरवर्तिनोऽसुमत' स्वकृतकर्मोदयाद्यद् दुः-
खमुत्पद्यते, तदन्यस्य संबन्धि दुःखमन्यो मातापित्राऽऽदिकः
कोऽपि न प्रत्यापिबति, न तस्मात्पुत्राऽऽदेर्दुःखेनासह्येनात्यन्त-
पीडिताः स्वजनाः नापि तद् दु.खमात्मनि कर्तुमलम् । किमित्ये-
वमाशङ्क्याऽऽह-(असेण कडमित्यादि)अन्येन जन्तुना कषाय-
वशगेन इन्द्रियाऽनुकूलतयाऽभोगाभिलाषिणा ज्ञानाऽऽवृतेन
मोहोदयवर्तिना यत्कृतं कर्म तदुदयमन्यः प्राणी नो प्रतिसंवे-
दयति-नानुभवति, तदनुभवने ह्यकृताऽऽगमकृतनाशौ स्या-
ताम् । न चेमौ युक्तिसंगतौ , अतो यद्येन कृतं तत्सर्वं स
एवानुभवति । तथा चोक्तम्-"परकृतकर्मणि यस्मा-न्नाऽऽक्रा-
मति संक्रमो विभागो वा । तस्मात्सत्त्वानां कर्म, यस्य य-
त्तेन तद्वेद्यम् ॥ १ ॥" यस्मात्स्वकृतकर्मफलेश्वरा जन्तव-
स्तस्मादेतद्भवतीत्याह- (पत्तेयमित्यादि) एकमेकं प्रति प्रत्येकं
सर्वोऽप्यसुमान् जायते,तथा क्षीणे चाऽऽयुषि प्रत्येकमेव म्रिय-
ते,उक्तं च-"एकस्य जन्ममरणे,गतयश्च शुभाशुभा भवाऽऽव-
र्ते । तस्मादाकालिकहित-मेकेनैवाऽऽत्मन कार्यम् ॥१॥" इ
ति । तथा प्रत्येकं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णाऽऽदिकं परिग्रह श-
ब्दादींश्च विषयान्मातापितृकलत्राऽऽदिकं च त्यजति,तथा प्र-
त्येकमुपपद्यते युज्यते, परिग्रहस्वीकरणतया, तथा प्रत्येकं
झञ्झाकलहस्तद्ग्रहणात्कषाया परिगृह्यन्ते, ततः प्रत्ये-
कमेवासुमता मन्दतीव्रतया कषायोद्भवो भवति, तथा-सं
ज्ञानं संज्ञा-पदार्थपरिच्छित्तिः, साऽपि मन्दमन्दतरपटुपटु-
तरभेदात्प्रत्येकमेवोपजायते, सर्वज्ञादारतस्तरतमयोगेन म-
तेर्व्यवस्थितत्वात् । तथा-प्रत्येकमेव ( मन्न त्ति ) मननं
चिन्तन, पर्यालोचनमिति यावत् । तथा प्रत्येकमेव ( वि-
एणु त्ति ) विद्वांस्तथा प्रत्येकमेव सातासातरूपवेदना सु-
खदु.खानुभव । उपसंजिघृक्षुराह-( इति खलु इत्यादि ) इ-
त्येवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण यतो नान्येन कृतमन्यः प्रतिसंवे-
दयते प्रत्येकं च जातिजरामरणाऽऽदिकं तत खल्वमी ज्ञाति-
संयोगा.-स्वजनसंबन्धाः संसारचक्रवाले पर्यटतोऽत्यन्त-
पीडितस्य तदुद्धरणे न त्राणाय न त्राण कुर्वन्ति , नाप्य-
नागतसंरक्षणत' शरणाय भवन्ति, किमिति ?, यत पु-
रुष एकदा क्रोधोदयाऽऽदिकाले ज्ञातिसंयोगान् विप्रजहाति
परित्यजति, स्वजनाश्च न बान्धवा इति व्यवहारदर्शना-
त् . ज्ञातिसंयोगाचैकदा तदसदाचारदर्शनतः पूर्वमेव तं पु-
रुषं परित्यजन्ति, स्वसंबन्धादुत्तारयन्ति । तदेव व्यवस्थि-
ते एतद्भावयेत् , तद्यथा-अन्य खल्वमी ज्ञातिसंयोगा म-
त्तो भिन्ना इत्वरा एभ्यश्चान्योऽहमस्मि, तदेवं व्यवस्थिते
किमङ्ग ! पुनर्वयमन्यैरन्यैर्ज्ञातिसंयोगैर्मूर्छां कुर्मो ?, न तेषु
मूर्छा क्रियमाणा न्याय्या इत्येवं संख्याय ज्ञात्वा प्रत्या-
कलय्य वयमुत्पन्नवैराग्या ज्ञातिसंयोगांस्त्यक्ष्याम इत्येवं
कृताध्यवसायिनो विदितवेद्या भवन्तीति ।

साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वैराग्योत्पत्तिकारणमाह-

से मेहावी जाणेज्जा, बहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं ।
तं जहा-हत्था मे पाया मे बाहा मे उरू मे उदरं मे
सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वएणो मे तया
मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा मे
फासा मे ममाइज्जइ, वयाउ पडिजूरइ । तं जहा-आउओ
बलाओ वएणाओ तयाओ छायाओ सोयाओ० जाव
फासाओ सुसंधितो संधी विसंधी भवइ, वलियतरंगे
गाए भवइ, किएहा केसा पलिया भवंति, तं जहा-
जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अ-
णुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति, एयं संखाए से
भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तं
जहा-जीवा चेव,अजीवा चेव तसा चेव थावरा चेव ॥१३॥

स मेधावी स श्रुतिक एतद्वक्ष्यमाणं जानीयात्, तद्यथा-बा-
ह्यतरमेतद् यज्ज्ञातिसंबन्धनमिदमेवान्यदुपनीततरम्-आस-
न्नतरं,शरीरावयवानां भिन्नज्ञातिभ्य आसन्नतरत्वात् , तद्य-
था-हस्तौ ममाशोकपल्लवसदृशौ, तथा भुजौ करिकराऽ-
कारौ परपुरञ्जयौ प्रणयिजनमनोरथपूरकौ शत्रुशतजीविता-
न्तकरौ यथा मम न तथाऽन्यस्य कस्याऽपीत्येवं पादाव-
पि पद्मगर्भसुकुमारावित्यादि सुगमम् , यावत्स्पर्शा· स्प
र्शेन्द्रियं (ममाति) ममीकरोति, यादृङ्मे न तादृगन्यस्येति
भाव । एतच्च हस्तपादाऽऽदिकं स्पर्शेन्द्रियपर्यवसानं शरी-
रावयवसंबन्धित्वेन विवक्षितं यत्किमपि वयसः परिणा-
मात्कालकृतावस्थाविशेषात् ( परिजूरइ त्ति ) परिजीर्यते
जीर्णतां याति,प्रतिक्षणं विशरारुतां याति,तस्मिंश्च प्रतिसमयं
विशीर्यति शरीरे प्रतिसमयमसौ प्राणी एतस्माद् भ्रश्य-
ति, तद्यथा-आयुषः पूर्वनिबद्धात्समयादिहान्याऽपचीयते,
आवीचीमरणेन प्रतिसमयं मरणाभ्युपगमात् , तथा बला-
दपचीयते, तथाहि-यौवनावस्थायाश्च्यवमाने शरीरके प्र-
तिक्षणं शिथिलीभवत्सु सन्धिबन्धनेषु बलादवश्यं भ्रश्यते,
तथा वर्णा त्वचश्छायातोऽपचीयते । अत्र च सनत्कुमार-
दृष्टान्तो वाच्य' ( तं च 'सणंकुमार' शब्दे वक्ष्यामि ) त-
था जीर्यति शरीरे श्रोत्राऽऽदीनीन्द्रियाणि न सम्यक् स्ववि-
षयं परिच्छेत्तुमलं, तथा चोक्तम्-'वाल्यं वृद्धिर्वयो मेधा,
त्वक्चक्षु शुक्रविक्रमा । दशकेषु निवर्तन्ते, मन· सर्वेन्द्रि-
याणि च ॥ १ ॥" तथा च-विशिष्टवयोहान्या सुसन्धित·
सुबद्ध· सन्धिर्जानुकूर्पराऽऽदिको विसन्धिर्भवति, विगलितब-
न्धनो भवतीत्यर्थ.। तथा वलितरङ्गाऽऽकुलं सर्वतः शिराजाल-
वेष्टितमात्मनोऽपि शरीरमिदमुद्वेगकृद्भवति,किं पुनरन्येषाम्?।
तथा चोक्तम्-"वलिसन्ततमस्थिशेषितं शिथिलस्नायुवृतं कले-
वरम् । स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ताः कमनीय-

विग्रहा ॥ १ ॥ " तथा-कृष्णा केशा वयःपरिणामजलप्रक्षालिता धवलता प्रतिपद्यन्ते, तदेवं वयःपरिणामाऽऽपादितमन्मतिरेतद्भावयेत् । तद्यथा-यदपीदं शरीरमुदारं शोभनावयवरूपोपेतं विशिष्टाऽऽहारोपचितम्, एतदपि मयाऽवश्यं प्रतिक्षणं विशीर्यमाणमायुषः क्षये विप्रहातव्यं भविष्यतीत्येतदवगम्य शरीरानित्यतया संसारासारतां संख्याय अवगम्य परित्यक्तसमस्तगृहप्रपञ्चः निष्किञ्चनतामुपगम्य, स भिक्षुर्देहदीर्घसंयमयात्रार्थं भिक्षाचर्यायां समुत्थितः सन् द्विधा लोकं जानीयादिति । तदेवं लोकद्वैविध्यं दर्शयितुकाम आह । तद्यथा-जीवाश्च प्राणधारणलक्षणास्तद्विपरीताश्च अजीवाः-धर्माधर्माऽऽकाशाऽऽदयः, तत्र तस्य भिक्षोरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं जीवान् विभागेन दर्शयितुमाह-जीवा अप्युपयोगलक्षणा द्विधा । तद्यथा-त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः पृथिवीकायाऽऽदयः । तेऽपि सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकाऽऽदिभेदेन बहुधा द्रष्टव्याः, एतेषु चापरि बहुधा व्यापार प्रवर्तते ।

साम्प्रत तदुपमर्दकव्यापारकर्तॄन् दर्शयन्नाह-

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तसा थावरा पाणा ते सयं समारंभंति, अन्नेण वि समारंभावेंति, अन्नं पि समारभंतं समणुजाणंति । इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं परिगिण्हंति, अन्नेण वि परिगिण्हावेंति, अन्नं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति । इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो, कस्स णं तं हेउं ? . जहा पुव्वं तहा अवरं जहा अवरं तहा पुव्वं, अंजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव ॥

इहास्मिन् संसारे, खलुर्वाक्यालङ्कारे, गृहम्-अगारं तत्र तिष्ठन्तीति गृहस्थाः, ते च सहाऽऽरम्भेण-जीवोपमर्दकारिणा वर्तन्त इति सारम्भाः, तथा सह परिग्रहेण-द्विपदचतुष्पदधनधान्याऽऽदिना वर्तन्त इति सपरिग्रहाः, न केवलं त एवान्येऽपि सन्ति विद्यन्ते एके केचन श्रमणाः शाक्याऽऽदयः, ते च पचनपाचनाऽऽद्यनुमतेः सारम्भाः दास्यादिपरिग्रहाच्च सपरिग्रहाः, तथा ब्राह्मणाश्चैवंविधा एव, एतेषां च सारम्भकत्वं स्पष्टतरं सूत्रेणैव दर्शयति-य इमे प्रागुक्ता व्यावर्णितास्त्रसाः स्थावराश्च प्राणिनस्तान् स्वयमेव-अपरप्रेरिता एव समारभन्ते, तदुपमर्दकं व्यापारं स्वत एव कुर्वन्तीत्यर्थः, तथाऽन्यांश्च समारम्भयन्ति, समारम्भं कुर्वतश्चान्यान् समनुजानन्ति । तदेवं प्राणातिपातं प्रदर्श्य भोगाङ्गभूतं परिग्रहं दर्शयितुमाह-( इह खलु इत्यादि ) इह खलु गृहस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्ति श्रमणा ब्राह्मणाश्च, ते च सारम्भपरिग्रहत्वात् किं कुर्वन्तीति दर्शयति-य इमे प्रत्यक्षाः कामप्रधाना भोगाः कामभोगाः, काम्यन्त इति कामाः स्त्रीगात्रपरिष्वङ्गाऽऽदयो, भुज्यन्त इति भोगाः स्रक्चन्दनवादित्राऽऽदयः, त एते सचित्ताः सचेतना अचेतना वा भवेयुः, तदुपादानभूता वाऽर्थाः, तांश्च सचित्तानचित्तान् वाऽर्थांस्ते कामभोगार्थिनो गृहस्थाऽऽदयः स्वत एव परिगृह्णन्ति, अन्येन च परिग्राहयन्ति, अपरं च परिगृह्णन्तं समनुजानत इति । साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुराह-( इह खलु इत्यादि ) इह अस्मिन् जगति सन्ति विद्यन्ते गृहस्थास्तथाविधाः श्रमणा ब्राह्मणाश्च सारम्भाः सपरिग्रहा इत्येवं ज्ञात्वा स भिक्षुरेवमवधारयेद्, अहमत्राऽत्र खल्वनारम्भोऽपरिग्रहश्च,ये चामी गृहस्थाऽऽदयः सारम्भाऽऽदिगुणायुक्ताः तदेतन्निश्रया तदाश्रयेण च ब्रह्मचर्य-श्रामण्यमाचरिष्यामोऽनारम्भा अपरिग्रहाः सन्तो,धर्माऽऽधारदेहप्रतिपालनार्थमाहाराऽऽदिकृते सारम्भपरिग्रहगृहस्थनिश्रया प्रव्रज्यां करिष्याम इत्यर्थः । ननु च यदि तन्निश्रया पुनरपि विहर्तव्यं किमर्थं ते त्यज्यन्त इति जाताऽऽशङ्कः पृच्छति-कस्य हेतोः केन कारणेन ?, तदेतद्गृहस्थश्रमणब्राह्मणत्यजनमाभिहितमिति, आचार्योऽपि विदिताभिप्राय उत्तरं ददाति, यथा पूर्वम् आदौ सारम्भपरिग्रहत्वं तेषां तथा पश्चादपि सर्वकालमपि गृहस्थाः सारम्भाऽऽदिदोषदुष्टाः श्रमणाश्च केचन यथा पूर्वं गृहस्थभावे सारम्भाः सपरिग्रहास्तथा अपरस्मिन्नपि प्रव्रज्याऽऽरम्भकाले तथाविधा एव त इति, अधुनोभयपदाव्यभिचारित्वप्रतिपादनार्थमाह-यथा अपरम् अपरस्मिन् प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकाले तथा पूर्वमपि गृहस्थभावाऽऽदावपीति । यदि वा-कस्य हेतोस्तद्गृहस्थाऽऽद्याश्रयणं क्रियत इत्याह-यथा पूर्वं प्रव्रज्याऽऽरम्भकाले सर्वमेव भिक्षाऽऽदिकं गृहस्थाऽऽयत्तं तथा पश्चादपि, अतः कथं तु नामानवद्या वृत्तिर्भविष्यतीत्यतः साधुभिर्नाऽऽरम्भैः सारम्भाऽऽश्रयणं विधेयम् । यथा चैते गृहस्थाऽऽदयः सारम्भाः सपरिग्रहाश्च तथा प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्त इति दर्शयितुमाह-( अंजू इति ) व्यक्तमेतदेते गृहस्थाऽऽदयो,यदि वा-अञ्जू इति प्रगुणेन न्यायेन स्वरसप्रवृत्त्या सावद्यानुष्ठानेभ्योऽनुपरता परिग्रहाऽऽरम्भाच्च सत्संयमानुष्ठानेन चानुपस्थिता -सम्यगुत्थानमकृतवन्तो येऽपि कथञ्चिद्धर्मकरणायोत्थितास्तेऽप्युद्दिष्टभोजित्वात्सावद्याऽनुष्ठानपरत्वाच्च गृहस्थभावानुष्ठानमनतिवर्तमाना पुनरपि तादृशा एव गृहस्थकल्पा एवेति ।

साम्प्रतमुपसंहरति—

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं कुव्वंति इति संखाए दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा । से बेमि पाईणं वा० ६ जाव एवं से परिण्णायकम्मे, एवं से ववेयकम्मे, एवं से वि अंतकारए भवतीति मक्खायं ॥ १४ ॥

य इमे गृहस्थाऽऽदयस्ते द्विधाऽपि साऽऽरम्भसपरिग्रहत्वाभ्यामुभाभ्यामपि पापान्युपाददते,यदि वा-रागद्वेषाभ्यामुभाभ्यामपि, यदि वा-गृहस्थप्रव्रज्यापर्यायाभ्यामुभाभ्यां पापानि

कुर्वत इत्येवं संख्याय परिज्ञाय द्वयोरप्यन्तयोरारम्भ-परिग्रहयो रागद्वेषयोर्वा अदृश्यमानः अनुपलभ्यमानो, यदि वा—रागद्वेषयोर्यावन्तौ-अभावौ तयोरादिश्यमानो-रागद्वेषाभाववृत्तित्वेनापदिश्यमान. सन्निरयेवंभूतो भिक्षण-शीलोऽनवद्याऽऽहारभोजी सत्संयमानुष्ठाने रीयेत प्रवर्त्तेत, एतदुक्तं भवति-ये इमे ज्ञातिसंयोगा यश्चार्थं धनधान्याऽऽदिक. परिग्रहो यच्चेदं हस्तपादाऽऽद्यवयवयुक्तं शरीरं यच्च तदायु-र्वलवर्णाऽऽदिकं तत्सर्वमशाश्वतमनित्यं स्वप्नेन्द्रजालसदृश मसार, गृहस्थश्रमणब्राह्मणाश्च सारम्भाः सपरिग्रहाश्च, ए-तत्सर्वं परिज्ञाय सत्संयमानुष्ठाने भिक्षू रीयेतेति स्थितम्। स पुनरप्यहमधिकृतमेवार्थं विशेषिततरं सोपपत्तिकं ब्रवीमीति-तत्र प्रज्ञापकापेक्षया प्राच्यादिकाया दिशोऽन्यत-रस्या समायातः स भिक्षुर्द्वयोरप्यन्तयोरदृश्यमानतया स त्संयमे रीयमाणः सन् एवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण ज्ञपरिज्ञ-या परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय च परिज्ञात-कर्मा भवति । पुनरप्येवमिति परिज्ञातकर्मत्वाच्चापेतकर्मा भवति- अपूर्वस्याबन्धको भवतीत्यर्थः । पुनरेवमित्यबन्ध-कयोगनिरोधोपायतः पूर्वोपचितस्य कर्मणो निर्जरणान्त-कारकां भवतीति, एतच्च तीर्थकरगणधराऽऽदिभिर्ज्ञानज्ञैर्वि राख्यातमिति ।

कथं पुन' प्राणातिपातविरतिव्रताऽऽदिव्यवस्थितस्य कर्मोप-गमो भवतीत्युक्तम्?, यतस्तत्प्रवृत्तस्याऽऽत्मोपम्येन प्राणिनां पीडोत्पद्यते,तथा च कर्मवन्ध इत्येवं सर्व मनस्याधायाऽऽह—

तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकायहेऊ पएणत्ता, तं ज-हा-पुढवीकाए० जाव तसकाये, से जहाणामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जि-ज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलाविज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा० जाव लोमु-क्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्ख भयं पडिसंवेदेमि, इ-च्चेवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे पाणा सव्वे स-त्ता दंडेण वा० जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा प-रियाविज्जमाणा वा किलाविज्जमाणा वा उद्दविज्जमा-णा वा० जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेति, एवं नच्चा सव्वे पाणा० जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावे-यव्वा ण उद्दवेयव्वा; से बेमि जे य अतीता जे य प-डुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पन्नवेंति एवं परूवेंति-सव्वे पाणा० जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा, एस ध-म्मे धुवे णीतिए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए, एवं से भिक्खू विरते पाणाविवायातो० जाव विरते प-रिग्गहातो णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा णो अं-जणं णो वमणं णो धूवणे णो तं परिआविएज्जा ॥

तत्रेति कर्मवन्धप्रस्तावे, खलुर्वाक्यालंकारे, भगवता उ त्पन्नज्ञानेन तीर्थकृता षड्जीवनिकाया हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, तद्यथा-पृथिवीकायो यावत्त्रसकायोऽपीति, तेषां च पीड्य-मानाना यथा दुःखमुत्पद्यते तथा स्वसंवित्तिसिद्धेन दृष्टान्तेन दर्शयितुमाह—तद्यथा नाम मम असातं दु खं वक्ष्यमाणैः प्रका-रैरुत्पद्यते तथाऽन्येषामपीति, तद्यथा—दण्डेनास्थ्ना मुष्टिना लेलुना लोष्ठेन कपालेन कर्परेण आकोट्यमानस्य संको-च्यमानस्य हन्यमानस्य कशाऽऽदिभिस्तर्ज्यमानस्याङ्गुल्या-ऽऽदिभिस्ताड्यमानस्य कुड्याऽऽदावभिघाताऽऽदिना परि-तप्यमानस्याग्न्यादौ अन्येन वा प्रकारेण परिक्लाम्यमा-नस्य तथा अपद्राव्यमाणस्य मार्यमाणस्य यावल्लोमोत्खन-नमात्रमपि हिंसाकरं दु खं भयं च यन्मयि क्रियते न-त्सर्वमहं संवेदयामीत्येवं जानीहि । तथा सर्वे प्राणा जी-वा भूतानि सत्त्वा इत्येते एकार्थिकाः कथञ्चिद्भेदमाश्रि-त्य व्याख्येयाः, तथैतेषां दण्डाऽऽदिना कुट्यमानानां या-वल्लोमोत्खननमात्रमपि दुःखं प्रति संवेदयनामेतच्च हिंसा-कर दु.खं भयं चोत्पन्नं ते सर्वे प्राणिनः प्रतिसंवेदय-न्ति—साक्षादनुभवन्तीति, एवमात्मोपमया पीड्यमानानां जन्तूनां यतो दुःखमुत्पद्यतेऽत. सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्त-व्या न व्यापादयितव्या नाऽऽज्ञापयितव्या' बलात्कारेण व्या-पारे न प्रयोक्तव्या., तथा न परिग्राह्या न परितापयितव्या नापद्रावयितव्या। ॥ सोऽहं ब्रवीमि, एतच्च स्वमनीषिकतया किं तु सर्वतीर्थकराऽऽज्ञयेति दर्शयति-( जे अतीए इत्यादि ) ये केचन तीर्थकृत ऋषभाऽऽदयोऽतीता ये च विदेहेषु व-र्त्तमाना. सीमन्धराऽऽदयो ये चाऽऽगामिन्यामुत्सर्पिण्या भ-विष्यन्ति पद्मनाभाऽऽदयोऽर्हन्तोऽमरासुरनरेश्वराणां पूजा-र्हा भगवन्त ऐश्वर्याऽऽदिगुणकलापोपेताः सर्वेऽप्येवं ते व्य-क्तवाचा आख्यान्ति प्रतिपादयन्ति । एवं सदेवमनुजायां पर्षदि भाषन्ते, स्वत एव, न यथा बौद्धानां बोधिसत्त्वप्रभा-वात् कुड्याऽऽदिदेशनत इत्येवं प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति हेतुदृष्टान्तर-णाऽऽदिभि., एवं प्ररूपयन्ति नामाऽऽदिभिर्यथा सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि, एष धर्मः प्राणिरक्षणलक्षण. प्राग्व्यावर्णि-तस्वरूपो ध्रुवोऽवश्यंभावी नित्य. क्षान्त्यादिरूपेण शाश्वत इत्येवं चाभिसमेत्य केवलज्ञानेनावलोक्य लोकं चतुर्दश-रज्ज्वात्मकं खेदज्ञैस्तीर्थकृद्भिः प्रवेदित. कथित इत्येवं सर्वं ज्ञात्वा स भिक्षुर्विदितवेद्यो विरत. प्राणातिपाताद्यावत्प-रिग्रहादिति । एतदेव दर्शयितुमाह-(णो दंत इत्यादि) इह पूर्वोक्तमहाव्रतपालनार्थमनेनोत्तरगुणा. प्रतिपाद्यन्ते, तत्राप-रिग्रहो निष्किञ्चनः सन् साधुर्नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बाऽऽदि-काष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत् तथा नो अञ्जन सौवीराऽऽदिकं विभूषार्थमदद्यात्,तथा नो वमनविरेचनाऽऽदिका. क्रियाः कुर्यात्,तथा नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपनं कुर्यान्नापि कासाऽऽद्यपनयनार्थं तं धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति॥

साम्प्रतं मूलगुणोत्तरगुणप्रस्तावमुपसंजिघृक्षुराह-

से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अ-लोहे उवसंते परिनिव्वुडे णो आसंसं पुरतो करेज्जा इमेण मे

दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा णाएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जाया माया वुत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया कामभोगाण वसवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थ वि सिया एत्थ वि णो सिया ।

स मूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया-सावद्या विद्यते इत्यक्रियः,संवृताऽऽत्मकतया सापरायिककर्मानबन्धक इत्यर्थः, कुत एवंभूतः यतः प्राणिनामलूषकोऽहिंसकोऽनुपमर्दक इत्यर्थः, तथा न विद्यते क्रोधो यस्येत्यक्रोधः, एवममानोऽमायोऽलोभः कषायोपशमाच्चोपशान्तः शीतीभूतस्तदुपशमाच्च परिनिर्वृत इव परिनिर्वृतः । एवं तावदैहिकेभ्यः कामभोगेभ्यो विरतः पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शयति-( नो आसंसमित्यादि ) नो नैवाशंसां पुरस्कृत्यं मानेन विशिष्टतपसा जन्मान्तरे कामभोगावाप्तिर्भविष्यतीति एवंभूतामाशंसा न पुरस्कुर्यादिति । एतदेव दर्शयितुमाह-( इमेणमित्यादि ) अस्मिन्नेव जन्मन्यमुना विशिष्टतपश्चरणफलेन दृष्टेनामर्षौपध्यादिना तथा पारलौकिकेन च श्रुतेनार्द्रकधम्मिल्लब्रह्मदत्ताऽऽदीना विशिष्टतपश्चरणफलेन, तथा ( मएण व त्ति ) मनन ज्ञानं जातिस्मरणाऽऽदिना ज्ञानेन तथाऽऽचार्याऽऽदेः सकाशाद्विज्ञानेनावगतेन ममापि विशिष्टं भविष्यतीत्येवं नाऽऽशंसां विदध्यात्, तथाऽमुना सुचरिततपोनियमैर्ब्रह्मचर्यवासेन तथाऽमुना वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेणानुष्ठितेन इतोऽस्माद्भवाच्च्युतस्य प्रेत्य जन्मान्तरे स्यामहं देव, तत्रस्थस्य च मे वशवर्तिन कामभोगा भवेयु, अशेषकर्मवियुतो वा सिद्ध अदु खोऽशुभाशुभकर्मप्रकृत्यपेक्षयेत्येवभूतोऽहं स्यामागामिकाल इत्येवमाशंसा न विदध्यादिति । यदि वा-विशिष्टतपश्चरणाऽऽदिनाऽऽगामिनि काले ममाणिमा लघिमेत्यादिकाऽष्टप्रकारा सिद्धिर्भविष्यतीत्यनया च सिद्धया सिद्धोऽहमदु खोऽशुभो वा मध्यस्थ इत्येवं रूपामाशसां न कुर्यात् । तदकरणे च कारणमाह-( एत्थ वि इत्यादि ) अत्रापि विशिष्टतपश्चरणे सत्यपि कुतश्चिन्निमित्तादु दुष्प्रणिधानसद्भावे सति कदाचितिमद्धि स्यात्कदाचिच्च नैवाशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धि स्यात् । तथा चोक्तम्—"जे जत्तिया उ हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे ।" इत्यादि । यदि वा-अत्राप्यणिमाऽऽद्यष्टगुणकारणे तपश्चरणाऽऽदौ सिद्धि स्यात् कदाचिच्च न स्यात्, तद्विपर्ययोऽपि वा स्याद्, इत्येवं व्यवस्थिते प्रेक्षापूर्वकार्यकारिणां कथमाशंसा कर्तुं युज्यते, इति सिद्धिश्चाष्टप्रकारेयम्—( अणिमा १, लघिमा २, महिमा ३ प्राप्ति, ४, प्रकाम्यम् ५, ईशित्वम् ६, वशित्वम् ७, यत्र कामावसायित्वमिति ८ । तदेवमैहिकार्थमामुष्मिकार्थं कीर्तिवर्णश्लोकाऽऽद्यर्थं च तपो न विधेयमिति स्थितम् ।

साम्प्रतमनुकूलप्रतिकूलेषु शब्दाऽऽदिषु विषयेषु रागद्वेषाभावं दर्शयितुमाह—

से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए रूवेहिं अमुच्छिए गंधेहिं अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए फासेहिं अमुच्छिए विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू । जे इमे तसथावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभइ, णो अण्णेहिं समारंभावेंति,अन्ने समारभंतं न समणुजाणंति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू । जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हंति,णो अन्नेणं परिगिण्हावेंति, अन्नं परिगिण्हंतं पि ण समणुजाणंति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खु ॥

स भिक्षु सर्वाऽऽशंसारहितो वेणुवीणाऽऽदिषु शब्देष्वमूर्च्छितोऽगृद्धोऽनध्युपपन्नः,तथा-रासभाऽऽदिशब्देषु कर्कशेषु अद्विष्टः, एवं रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि वाच्यमिति । पुनरपि सामान्येन क्रोधाऽऽद्युपशमं दर्शयितुमाह-( विरए कोहाओ इत्यादि ) क्रोधमानमायालोभेभ्यो विरत इत्यादि सुगमम्, यावदिति । ( से महया आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खु त्ति ) स भिक्षुर्भवति यो महतः कर्मोपादानादुपशान्तः सत्संयमे चोपस्थितः सर्वपापेभ्यश्च विरतः प्रतिविरत इति । एतदेव च महतः कर्मोपादानाद्विरमणं साक्षाद्दर्शयितुमाह-( जे इमे इत्यादि ) ये केचन त्रसाः स्थावराश्च प्राणिनो भवन्ति, तान् सर्वानपि ( नो ) नैव स्वयं सत्साधवः समारभन्ते प्राण्युपमर्दकमारम्भं नारभन्त इति यावत्, तथा नान्यैः समारम्भयन्ते, न चान्यान् समारभमाणान् समनुजानत इत्येवं महतः कर्मोपादानादुपशान्तः प्रतिविरतो भिक्षुर्भवतीति । सांप्रत सामान्यतः सापरायिककर्मोपादानकामभोगनिवृत्तिमधिकृत्याऽह-( जे इमे इत्यादि ) ये केचनामी काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगास्ते च सचित्ता अचित्ता वा भवेयुस्तांश्च न स्वतो गृह्णीयान्नाप्यनेन ग्राहयेत्, नाप्यपरं गृह्णन्त समनुजानीयादित्येवं कर्मोपादानाद्विरतो भिक्षुर्भवतीति ।

साम्प्रतं सामान्यतः साम्परायिककर्मोपादाननिषेधमधिकृत्याऽऽह-

जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेति, णो अन्नेणं कारवेंति, अन्नं पि करेंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते । से भिक्खू जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु देसियं तं चेतियं सिया तं णो सयं भुंजइ,णो अण्णेण भुंजावेंति,अन्नं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ इति, से महतो अयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

( जं पि य इत्यादि ) यदपीदं संपर्येति तासु तासु गतिष्वनेन कर्मणेति सांपरायिकं, तच्च तत्प्रद्वेषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाशातनोपघातैर्बध्यते, तत्कर्म तत्कारणं वा न कृतकारितानुमतिभिः करोति स भिक्षुरभिधीयत इति । साम्प्रत भिक्षावि

शुद्धिमभित्याऽऽह-(से भिक्खू इत्यादि)स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जानीयात् ( अस्सिं पडियाए त्ति ) एतत्प्रतिज्ञयाऽऽहारदानप्रतिज्ञया,यदि वाऽस्मिन् पर्याये साधुपर्याये व्यवस्थितमेकं साधुं साधर्मिकं समुद्दिश्य कश्चिच्छ्रावकः प्रकृतिभद्रको वा साध्वाहारदानार्थं प्राणिनः प्रव्यक्तेन्द्रियान् भूतानि त्रिकालभावीनि जीवानायुष्कधरणलक्षणान्सत्त्वान्सदा सत्त्वोपेतान्समारभ्य तदुपमर्दकमारम्भं विधाय समुद्दिश्य तत्पीडा सम्यगुद्दिश्य, क्रीतं क्रयेण द्रव्यविनिमयेन ( पामिच्च त्ति ) उद्यतकमाच्छेद्यमित्यन्यस्मादाच्छिद्य, अनिसृष्टमिति परेणाननुसंकलितमभ्याहृतमिति साध्वभिमुखं ग्रामाऽऽदेरानीतमाहृत्योपेत्य साध्वर्थं कृतमुद्देशिकमित्येवंभूतमाहारजातं साधवे दत्तं स्यात्, तच्चा कामेन तेन परिगृहीतं स्यात्, तदेवं दोषदुष्टं च ज्ञात्वा स्वयं न भुञ्जीत, नाप्यपरेण भोजयेत्, न च भुञ्जानमपरं समनुजानीयादित्येवं दुष्टाऽऽहारदोषान्निवृत्तो भिक्षुर्भवतीत्यर्थः ।

से भिक्खू अह पुण एवं जाणेज्जा । * तं जहा-विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठा ते चेइयं सिया, तं जहा-अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं एहाणं धातीणं णातीणं राईणं दासाणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए सन्निहिसंचए किज्जति इहमेगेसि माणवाणं भोयणाए । तत्थ भिक्खू परकड परणिट्ठितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्ध सत्थाईयं सत्थपरिणामिय अविहिंसियं एसियं वेसियं सामुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजणवणलेवणभूय संजमजायामायावत्तियं विलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा, अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले ॥

अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि । तद्यथा—विद्यते तेषां गृहस्थानामेवम्भूतो वक्ष्यमाणः पराक्रम सामर्थ्यमाहारनिर्वर्तनं प्रत्यारम्भस्तेन च यदाहारजातं निर्वर्तितं यस्य चार्थाय यत्कृते तच्चेनितमिति दत्तं निष्पादितं स्याद्भवेत् । यत्कृते च निष्पादितं तत्स्वनामग्राहमाह । तद्यथा—आत्मन स्वनिमित्तमेवाऽऽहारादिपाकनिर्वर्तनं कृतमिति, तथा पुत्राऽऽद्यर्थं यावदादेशायाऽऽदिश्यते यस्मिन्नागते संभ्रमेण परिजनस्तदाशनदानाऽऽदिव्यापारे स आदेशः प्राघूर्णकस्तदर्थं वा पृथक् प्रहेणार्थं विशिष्टाऽऽहारनिर्वर्तनं क्रियते, तथा श्यामा रात्रिस्तस्यामशनमाशः श्यामाऽऽशस्तदर्थं,प्रातरशनं प्रातराशः, प्रत्यूषस्येव भोजन तदर्थं सन्निधिः संनिचयो विशिष्टाऽऽहारसंग्रहस्य संचयः क्रियते । अनेन चैतत्प्रतिपादित भवति-बालवृद्धग्लानाऽऽदिनिमित्तं प्रत्यूषाऽऽदिसमयेष्वपि भिक्षाऽटनं क्रियते, तस्य चायमभिहितः संभवः, स च संनिधिसंचय इहैकेषां मानवानां भोजनार्थं भवति, तत्र भिक्षुरुद्यतविहारी परकृतपरनिष्ठितमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमाहारमाहरेत्, अत्र च परकृतपरनिष्ठिते चत्वारो भङ्गा । तद्यथा—तस्य कृतं तस्यैव च निष्ठितं, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम्, अन्यस्य कृतं तस्यैव निष्ठितम्, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमित्ययं चतुर्थो भङ्ग सूत्रेणोपात्तः, अयं च शुद्धो द्वितीयश्चान्यस्य निष्ठितत्वात्तत्राऽऽधाकर्मौद्देशिकाऽऽदय उद्गमदोषाः षोडश तथोत्पादनादोषा धात्रीदूत्यादिकाः षोडशैव,तथैषणादोषाः शङ्किताऽऽदयो दश,एवमेभिर्द्वि चत्वारिंशद्दोषैरहितत्वाच्छुद्धम् । तथा शस्त्रमग्न्यादिकं तेनातीतं प्रासुकीकृतं शस्त्रपरिणामितमिति शस्त्रेण स्वकायपरकायाऽऽदिना निर्जीवीकृतं वर्णगन्धरसाऽऽदिभिश्च परिणमितं, हिंसां प्राप्तं हिंसितं विरूप हिंसितं विहिंसितं न सम्यक् निर्जीवीकृतमित्यर्थः, तत्प्रतिषेधादविहिंसितं निर्जीवमित्यर्थः । तदन्वेषितमन्वेषितं भिक्षाचर्याविधिना प्राप्तं, वैषिकमिति केवलसाधुवेषावाप्तं न पुनर्जात्याद्याजीवनतो निमित्ताऽऽदिना वोत्पादित,तदपि सामुदानिकं समुदानं भिक्षा समूहस्तत्र भवं सामुदानिकम्, एतदुक्तं भवति—मधुकरवृत्त्याऽवाप्तं सर्वत्र स्तोकं स्तोकं गृहीतमित्यर्थः । तथा प्रज्ञस्येद प्राज्ञं गीतार्थेनोपात्तमशनम् आहारजातं, तदपि वेदनावैयावृत्त्यादिके कारणे सति, तत्राऽपि प्रमाणयुक्तं नातिमात्रम् । प्रमाणं चेदम्-" अद्धमसणस्स सव्वं-जणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए । वाउपवियारणट्ठा,छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥१॥" इति । एतदपि न वर्णबलाऽऽद्यर्थं किन्तु यावन्मात्रेणाऽऽहारेण देह क्रियासु प्रवर्त्तते । तत्र दृष्टान्तद्वयमाह--तद्यथा-अक्षस्योपाञ्जनम् अभ्यङ्गो व्रणस्य च लेपनं प्रलेपस्तदुपमया आहारमाहरेत् । तथा चोक्तम्-" अब्भंगेण व संगडं. ण तरइ विगइ विणा उ जो साहू । सो रागदोसरहिओ मत्ताए विहिइ तं सेवे ॥ १ ॥ " एतदेव दर्शयति- संयमयात्राया मात्रा संयमयात्रामात्रा यावत्याऽऽहारमात्रया संयमयात्रा प्रवर्त्तते सा तथा तया-संयमयात्रामात्रया वृत्तिर्यस्य तत्तथा, तदपि विलप्रवेशपन्नगभूतेनाऽऽत्मनाऽऽहारमाहरेत् । एतदुक्तं भवति-यथाऽहिर्विलं प्रविशन् तूर्णं प्रविशत्येवं साधुनाऽप्याहारस्तत्स्वादमनास्वादयता शीघ्रं प्रवेसयितव्य इति । यदि वा-सर्पेणेवाऽऽहारो लब्ध्वा स्वादमभ्यवहार्यत इति । तदेवं चाऽऽहारजात दर्शयितुमाह-अन्नं भक्तमन्नकाले सूत्रार्थपौरुष्युत्तरकाल भिक्षाकाले प्राप्ते, पुर पश्चात्कर्म परिहृतं भवति यथोक्तभिक्षाऽटनेन, ग्रहणकालावाप्त भैक्ष परिभोगकाले भुञ्जीत, तथा पानकं पानकाले, नातितृषितो भुञ्जीत, नाप्यतिबुभुक्षितः पानकं पिबेदिति, तथा वस्त्रं वस्त्रकाले गृण्हीयादुपभोगं वा कुर्यात्, तथा लयनं गुहाऽऽदिकमाश्रयस्तस्य वर्षास्ववश्यमुपादानमन्यदा त्वनियमस्तथा शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं संस्तारकः, स च शयनकाले, तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वय निद्राविमोक्षो गीतार्थाना प्रहरमेकमिति ।

से भिक्खू मायन्ने अन्नयरं दिसं अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए, संति विरतिं उवसम निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं० जाव सत्ताणं अणुवाइं किट्टिए धम्मं ॥

स भिक्षुराहारोपधिशयनस्वाध्यायध्यानाऽऽदीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः सन् अन्यतरा दिशमनुदिशं वा प्रतिपन्नः समाश्रितो धर्ममाख्यापयेत्प्रतिपादयेत्,यथेन विधेय तद्यथा-

* इह पुस्तकान्तरे भूयान् पाठभेदो दृश्यते ।

यांगं विभजेद्धर्मफलानि च कीर्तयेत् आविर्भावयेत् ,तथ धर्मकथनं परहितार्थप्रवृत्तेन साधुना सम्यगुपस्थितेषु शिष्येषु अनुपस्थितेषु वा कौतुकाऽऽदिप्रवृत्तेषु शुश्रूषमाणेषु श्रोतुं प्रवृत्तेषु स्वपरहिताय प्रवेदयेत्प्रवेदयेत्प्रकथयेदिति यावत् । श्रोतुमुपस्थितेषु यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह-(संति विरइं इत्यादि ) शान्तिरुपशमः क्रोधजयस्तत्प्रधाना प्राणातिपाताऽऽदिभ्यो विरतिः शान्तिविरतिः । यदि वा शान्तिरशेषक्लेशोपशमरूपा तस्यै तदर्थं विरतिः शान्तिविरतिः ता कथयेत्तथा उपशममिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमरूपं रागद्वेषाभावजनितं तथा निर्वृतिं निर्वाणमशेषद्वन्द्वोपरमरूपं तथा ( सोयवियं ति ) शौचं तदपि भावशौचं सर्वोपाधिविशुद्धता व्रतामालिन्यम् ( अज्जवियं ति ) आर्जवममायित्वं तथा मार्दवं मृदुभावं सर्वत्र प्रश्रयवत्त्वं, विनयनम्रतेति यावत् । तथा-( लाघवियं ति)कर्मणा लाघवाऽऽपादनं कर्मगुरोर्वाऽऽत्मनः कर्मापनयनतो लघ्वस्थासंजननम् । साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण सर्वशुभानुष्ठानानां मूलकारणमाह अनिपतनं अनिपातः प्राण्युपमर्दनं तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपातिकस्तं सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत्सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्यानुविचिन्त्य वा कीर्त्तयेत्कथयेत् । इदमुक्तं भवति-सर्वप्राणिनां रक्षाभूतं धर्मं कथयेदिति ।

साम्प्रतं धर्मकीर्तनं यथा निरुपधि भवति तथा दर्शयितुमाह—

से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठ ए धम्ममाइक्खेज्जा । इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया ते एवं सव्वोवगता ते एवं सव्वोवरता ते एवं सव्वोवसंता ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि ॥

स भिक्षुः परकृतपरनिष्ठिताऽऽहारभोजी यथा क्रियाकालानुष्ठायी शुश्रूषत्सु धर्मं कीर्तयेत्,नान्नस्य हेतोर्ममायमीश्वरो धर्मकथाश्रवणो विशिष्टमाहारजातं दास्यतीति एतन्निमित्तं न धर्ममाचक्षीत । तथा पानवस्त्रलयनशयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत । अन्येषां वा विरूपरूपाणामुच्चावचानां कार्याणां कामभोगानां वा निमित्तं न धर्ममाचक्षीत, तथा ग्लानिमनुपगच्छन् धर्ममाचक्षीत , कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेत् , अपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति । धर्मकथाश्रवणफलदर्शनद्वारेणोपसंजिघृक्षुराह-( इह खलु तस्सेत्यादि ) इहाऽस्मिन् जगति, खलु वाक्यालंकारे । तस्य भिक्षोर्गुणवतोऽन्तिके समीपे पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं धर्मं श्रुत्वा निशम्य अवगम्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय वीराः कर्मविदारणसहिष्णवो ये चैवंभूतास्ते एवं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानुष्ठानतया सर्वस्मिन्नपि मोक्षकारणे सम्यग्दर्शनाऽऽदिके उप सामीप्येन गताः सर्वोपगताः, तथैव सर्वेभ्यः पापस्थानेभ्यः उपरता सर्वोपरता , तथा त एव सर्वोपशान्ता जितकषायतया शीतलीभूतास्तथा एव सर्वाऽऽत्मतया सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठानेनोद्यमं कृतवन्तो ये चैवंभूतास्तेऽशेषकर्मक्षयं कृत्वा परि समन्तान्निर्वृताः अशेषकर्मक्षयं कृतवन्त इति ब्रवीमिति पूर्ववत् ।

साम्प्रतमध्ययनोपसंहारार्थमाह—

एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे से जहेयं वुतियं · अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, एवं से भिक्खू परिण्णाय कम्मे परिण्णाय संगे परिण्णाय गेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेवं वयणिज्जे, तं जहा-समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा दंतेति वा गुत्तेति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विऊति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरट्ठीति वा चरणकरणपारविउ त्ति बेमि ॥ १५ ॥ इति बितियसुयक्खंधस्स पोंडरीयं नाम पढमज्झयणं सम्मत्तं ॥

एवमिति पूर्वोक्तविशेषणकलापविशिष्ट स भिक्षु पुनरपि सामान्यतो विशिष्यते धर्मे श्रुतचारित्राऽऽख्यस्तेनार्थी धर्मार्थी, यथाऽवस्थितं परमार्थतो धर्मं सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धर्मवित्तथा नियाग संयमो विमोक्षो वा कारणे कार्योपचारं कृत्वा तं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः, स चैवंभूत पञ्चमपुरुषजातस्तं चाऽऽश्रित्य यथेदं प्राक् प्रदर्शितं तत्सर्वमुक्तं, स च प्राप्तो वा स्यात्पद्मवरपौण्डरीकमनुप्राह्यं पुरुषविशेषं चक्रवर्त्यादिकं तत्प्राप्तिश्च परमार्थतः केवलज्ञानावाप्तौ सत्या भवति , साक्षाद्यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छित्ते , अप्राप्तो वा स्यान्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानैर्यस्ते समस्तैर्वा समन्वितः, स चैवंभूतः प्राग्व्यावर्णितगुणकलापोपेतो भिक्षुः परि समन्तात् ज्ञातं कर्म स्वरूपतो विपाकतस्तदुपादानतश्च येन स परिज्ञातकर्मा, तथा परिज्ञातः सङ्ग संबन्धः सबाह्याभ्यन्तरो येन स तथा परिज्ञातो निःसारतया गृहवासो येन स तथोपशान्त इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमात् , तथा समितः पञ्चभिः समितिभिस्तथा सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानाऽऽदिभिर्वा सहित समन्वितः सदा सर्वकालं यतः संयत प्राग्व्यावर्णितनियमकलापोपेत . स एवं गुणकलापाऽन्वित एतद्वचनीयः । तद्यथा-श्राम्यतीति श्रमणः समना वा, तथा मा प्राणिनो जहि-व्यापादयेत्येवं प्रवृत्तिरुपदेशो यस्य स माहनः, स ब्रह्मचारी वा ब्राह्मण , क्षान्तः स क्षमोपेतो , दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन , तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः , तथा मुक्त इव मुक्तः, तथा विशिष्टतपश्चरणोपेतो महर्षिः, तथा—मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनि , तथा-कृतमस्यास्तीति कृती पुण्यवान् परमार्थपण्डितो वा, तथा—विद्वान् सद्विद्योपेतः, तथा-भिक्षुः निरवद्याऽऽहारतया भिक्षणशीलः;तथा अन्तप्रान्ताऽऽहारत्वेन

रूक्षः, तथा संसारतीरभूतो मोक्षस्तदर्थी.तथा चर्यत इति चरणं मूलगुणाः , क्रियत इति करणम्-उत्तरगुणास्तेषा पारं तीरं पर्यन्तगमनं तद्वेत्तीति करणचरणपारविदिति। इतिशब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति तीर्थकरवचनादार्यः सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य एवं भणति—यथाऽहं न स्वमनीषिकया ब्रवीमीति ।

साम्प्रतं समस्ताध्ययनोपात्तदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तात्पर्यार्थं गाथाभिर्निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह—

उवमा य पुंडरीए, तस्सेव य उवचएण निज्जुत्ती ।
अधिगारो पुण भणिओ, जिणोवदेसेण सिद्धि त्ति ।१५८।
सुरमणुयतिरियनिरओ-वंगे मणुया पहू चरित्तम्मि ।
अवि य महाजणनेय-त्ति चक्कवट्टिम्मि अधिगारो ।।१५६।।
अवि य हु भारियकम्मा, नियमा उक्कस्स निरयठितिगामी ।
ते वि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति ।१६०।
जलमालकद्दमालं, बहुविहवल्लिगहणं च पुक्खरणिं ।
जंघाहि व बाहाहि व, नावाहि व त दुरवगाहं ।।१६१।।
पउमं उल्लंघेत्तुं, ओयरमाणस्स होइ वावत्ती ।
किं नत्थि से उवाओ, जेणुल्लंघेज्ज अविवन्नो ?।।१६२।।
विज्जा व देवकम्मं, अहवा आगासिया विउव्वणया ।
पउमं उल्लंघेत्तुं, न एस इणमो जिणक्खाओ ।। १६३ ।।
सुद्धप्पओगविज्जा, सिद्धा उ जिणस्स जाणणा विज्जा ।
भवियजणपोंडरीया, उ जाए सिद्धिगतिमुवेंति ।।१६४।।

( उवमा इत्यादि ) इहोपमा दृष्टान्तः पौण्डरीकेण श्वेतशतपत्रेण, कृत्स्नस्तस्येहाभ्यर्हितत्वात् , तस्यैव चोपचयेन सर्वावयवनिष्पत्तिर्यावद्विशिष्टोपायेनोद्धरणम् , दार्ष्टान्तिकाधिकारस्तु पुनरत्र भणित अभिहितश्चक्रवर्त्यादेर्भव्यस्य जिनोपदेशेन सिद्धिरिति, तस्यैव पूज्यमानत्वादिति । पूज्यत्वमेव दर्शयितुमाह-(सुरमणुए इत्यादि) सुराऽऽदिपु चतुर्गतिकेपु जन्तुपु मध्ये मनुजाश्चरित्रस्य सर्वसंवररूपस्य प्रभवः-शक्ता वर्त्तन्ते,न शेषा. सुराऽऽदयः,तेष्वपि मनुजेपु महाजननेतारश्चक्रवर्त्यादयो वर्तन्ते, तेपु प्रबोधितेपु प्रधानानुगामित्वात् इतरजन. सुप्रतिबोध एव भवतीत्यतोत्र चक्रवर्त्यादिना पौण्डरीककल्पेनाधिकार इति । पुनरप्यन्यथा मनुजप्राधान्यं दर्शयितुमाह-(अवि य हु इत्यादि) गुरुकर्माणोऽपि मनुजा आसंकलितनरकाऽऽयुषोऽपि नरकगमनयोग्या अपि तेऽप्येवंभूतात् जिनोपदेशात्तेनैव भवेन समस्तकर्मक्षयात् सिद्धिगामिनो भवन्तीति । तदेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तात्पर्यार्थं प्रदर्श्य दृष्टान्तभूतपौण्डरीकाऽधारायाः पुष्करिण्या दुरवगाहित्वं सूत्राऽऽलापकोपात्तं निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह-(जलमालेत्यादि ) जलमालामत्यर्थप्रचुरजलां, तथा कर्दममालाम् अप्रतिष्ठिततलतया प्रभूततरपङ्कां, तथा बहुविधवल्लिगहनां च पुष्करिणीं जङ्घाभ्यां वा बाहुभ्यां वा नावा वा दुस्तरा पुष्करिणीं,दृष्ट्वेति क्रियाध्याहार. । किं चान्यत्-( पउमं इत्यादि) । तन्मध्ये पद्मवरपौण्डरीकं गृहीत्वा समुत्तरतोऽवश्य व्यापत्ति. प्राणाना भवेत्, किं तत्र कश्चिदुपाय स नास्ति ?, येनोपायेन गृहीतकमलः सन् तां पुष्करिणीमुल्लङ्घयेदविपन्न इति । तदुल्लङ्घनोपायं दर्शयितुमाह- ( विज्जा वेत्यादि ) विद्या वा काचित्प्रज्ञप्त्यादिका देवता कर्म वाऽथवा-आकाशगमनलब्धिर्वा कस्यचिद्भवेत्तेनासावविपन्नो गृहीतपौण्डरीकः सन्नुल्लङ्घयेत्तां पुष्करिणीम् एप च जिनैरुपायः समाख्यात इति । सर्वोपसंहारार्थमाह-( सुद्धप्पे इत्यादि ) शुद्धप्रयोगविद्यासिद्धा जिनस्यैव विज्ञानरूपा विद्या नान्यस्य कस्यचिद्यथा विद्यया तीर्थकरदर्शितया भव्यजनपौण्डरीका सिद्धिमुपगच्छन्तीति । गतोऽनुगमः । साम्प्रतं नयास्ते च पूर्ववद् द्रष्टव्या इति । समाप्तं पौण्डरीकाऽऽख्यं द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनमिति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " प्रभुभणितपुण्डरीका-ऽध्ययनवत्सरो हि यत्राऽभूत् । दशपूर्विपुण्डरीक , स जयत्यष्टापदगिरीश· ॥ १ ॥ " ती० १७ कल्प । शत्रुञ्जये, ती० १ कल्प । भ० । व्याघ्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । " देवश्रीपुण्डरीकाऽऽख्य-भूभृच्छिखरशेखरम् । अलङ्करिष्णुः प्रासादं, श्रीनाभेय· श्रियेऽस्तु सः ॥१॥ " ती० १ कल्प । आ० क० । आदिदेवगणधरे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । स० । क्षीरवरद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पुष्कलावर्तविजये पुण्डरीकिण्या नगर्या महापद्मदत्तो राजाऽभवत्,तस्य पद्मावती राज्ञी बभूव, तस्याः कुक्षिसम्भूतौ पुण्डरीक-कण्डरीकनामानौ पुत्रौ जातौ, पितर्युपरते पुण्डरीको राजा जात., कण्डरीको युवराज इति । उत्त० । ज्ञा० । आव० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० । ( तयोः ' कण्डरीक ' शब्दे तृतीयभागे १७२ पृष्ठे वृत्तान्तमभापिषम् ) महाकुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । स्था० ।

**पुंडरीयगुम्म** पुण्डरीकगुल्म–न० । अष्टमदेवलोकविमाने, स० १८ सम० ।

**पुंडरीयणयण**–पुण्डरीकनयन–त्रि० । पुण्डरीकं सितपद्मं तद्वन्नयने येषा ते । कमलाक्षे , पुं० । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

**पुंडरीयणाय**–पुण्डरीकज्ञात–न० । पुष्कलावतीविजयमध्यगपुण्डरीकिणीनगरीराजपुण्डरीकवक्तव्यताप्रतिबद्धे एकोनविंशे ज्ञाताध्ययने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ( ' कंडरीक ' शब्दे तृतीयभागे १७२ पृष्ठे कथोक्ता )

**पुंडरीयदह**–पुण्डरीकह्रद–पुं० । जम्बूद्वीपे महाह्रदविशेषे, स्था० ६ ठा० । " पुंडरीयदहे दस जोयणसयाइं आयामेणं पण्णत्ते ।" पुण्डरीकह्रदो लक्ष्मीदेवीनिवासः शिखरी वर्षधरोपरिवर्तीति । स० १००० सम० । स्था० । " दो पुंडरीयद्दहा दो पुंडरीयद्दहवासिणीओ लच्छीओ देवीओ । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**पुंडरीया**–पुण्डरीका–स्त्री० । उत्तररुचकवास्तव्यायामुत्तरदिक्कुमार्याम् , जं० ५ वक्ष० । आ० म० ।

**पुंडे**–देशी–व्रजेत्यर्थे, दे० ना०६ वर्ग ५२ गाथा ।

**पुंढो**–देशी–गर्ते, दे० ना० ६ वर्ग ५२ गाथा ।

**पुंपुअ**–देशी–संगमे, दे० ना० ६ वर्ग ५२ गाथा ।

**पुंविसेस**–पुंविशेष–पुं० । पुरुषविशेषे, द्वा० ।

पुंवेय-पुम्वेद-पुं० । पुरुषवेदे, पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाषे, तद्विपाकवेद्ये कर्मणि च । प्रज्ञा० २३ पद । यत्पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषावत् स्त्रियामभिलाषा भवति स पुंवेदः । सू० १ उ० २ प्रक० ।

पुंसंजलण-पुंसंजलन-पुं० । पुरुषवेदे संज्वलनसंज्ञेषु क्रोधाऽऽदिषु कषायेषु, प० सं० ३ द्वार ।

पुंसकोइलग-पुंस्कोकिलक-पुं० । पुमांश्चासौ कोकिलश्च परपुष्टः पुंस्कोकिलः । स्था० १० ठा० । कोकिलपुरुषे, भ० १६ श० ६ उ० ।

पुक्कल-पुष्कल-त्रि० । विस्तीर्णे, सू० १ उ० २ प्रक० । अनार्यदेशविशेषे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

पुक्कली-पुक्कली-स्त्री० । पुक्कलाऽऽख्यानार्यदेशजदास्याम्, भ० ६ श० ३३ उ० ।

पुक्का-व्याहार-स्त्री० । हुष्टे, ( खोटो-चूमाट-गुजराती ) " पुक्काओ अलिअपोरुसालावा । " पाइ० ना० २८० गाथा ।

पुक्कार-पूत्कार-पुं० । पूदितिशब्दकरणे, " अप्पेगइया पुक्कारेंति । " रा० । विशे० ।

पुक्खर-पुष्कर-न० । पद्मे, आव० ४ अ० । सूत्र० । पद्मवरे, अनु० । चर्मपुटके, जं० १ वक्ष० । रा० । आ० म० । अजयमेरुसमीपे पुष्करिणीरूपे तीर्थभेदे, तत्र देवकृतं गोशीर्षचन्दनमय्या देवाधिदेवप्रतिमायाः कृते संग्रामार्थं प्रस्थितस्य उदायनस्य ग्रीष्माऽऽर्तसैन्यत्राणार्थं प्रभावतीदेवताविकुर्वितजलाऽऽप्यायितमासीदिति । नि० चू० १० उ० ।

पुक्खरकण्णिया-पुष्करकर्णिका-स्त्री० । पद्मबीजकोशे कमलमध्यभागे, स हि वृत्ता समोपरिभागा च । जं० १ वक्ष० । स्था० । औ० । पद्ममध्यगतायामुन्नतसमचित्रविन्दुकिन्याम्, प्रज्ञा० २ पद । " अहे पुक्खरकन्नियासंठाणसंठिया । " प्रज्ञा० २ पद ।

पुक्खरगय-पुष्करगत-न० । मृदङ्गमुरजाऽऽदिभेदभिन्नवाद्यविशेषविषयकविज्ञाने कलाभेदे, जं० २ वक्ष० । स० ।

पुक्खरदीव-पुष्करदीप-पु० । पुष्करवरद्वीपे जम्बूद्वीपाऽऽदिगणनया तृतीये, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

पुक्खरद्ध-पुष्करार्द्ध-न० । पुष्करवरद्वीपार्द्धे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

पुक्खरवरदीव-पुष्करवरदीप-न० । पुष्करवरोपलक्षितो द्वीप पुष्करवरद्वीपः । जम्बूद्वीपाऽऽदिगणनया तृतीये द्वीपे, जी० ।

संप्रति पुष्करवरद्वीपवक्तव्यतामाह-

कालोयं णं समुद्दं पुक्खरवरे णामं दीवे वट्टवलयागारसंठाणसठिते सव्वतो समंता संपरि० तहेव० जाव समचक्कवालसंठाणसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठाणसंठिते, पुक्खरवरेणं भंते ! दीवे केवतियं चक्कवालविक्खंभे णं केवतियं परिक्खेवे णं पण्णत्ते ? । गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं कोडी वा णउती खलु सयसहस्सा अउणाणउतिं भवे सहस्साइं अट्ठसया चउणवा परिरओ पुक्खरवरस्स से णं पउमवर एक्काए य वणसंडेणं दोण्ह वि वण्णओ ।

( कालोयं णं समुद्दमित्यादि ) कालोदं,णमितिवाक्यालङ्कारे, समुद्रं पुष्करवरो नाम द्वीपो वृत्तो वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितः सर्वत. समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति. ( पुक्खरवरे दीवे किं समचक्कवालसंठिए इत्यादि ) प्राग्वत् । विष्कम्भाऽऽदिप्रतिपादनार्थमाह-(पुक्खरवरे णं भंते ! दीवे इत्यादि)प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! षोडश योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण एका योजनकोटी द्विनवति शतं सहस्राणि एकोनवति सहस्राणि अष्टौ शतानि चतुर्नवतानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्त. । (से णमित्यादि) स पुष्करवरद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया अर्द्धयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति गम्यते; एकेन वनखण्डेन सर्वत. समन्तात् संपरिक्षिप्त., द्वयोरपि वर्णकः पूर्ववत् ।

अधुना द्वारवक्तव्यतामाह-

पुक्खरवरस्स णं भंते ! कति दारा पण्णत्ता । तं जहा-विजये, वेजयंते, जयंते, अपराजिते ।

( पुक्खरवरदीवस्स णमित्यादि ) पुष्करवरद्वीपस्य भदन्त ! कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-विजयं, वैजयन्तं, जयन्तम्, अपराजितम् ।

कहि णं भंते ! पोक्खरवरस्स दीवस्स विजये णामं दारे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पुक्खरदीवपुरच्छिमापेरंते पुक्खरोदं समुद्दं पुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं पुक्खरवरदीवस्स विजये णाम दारे पण्णत्ते, तं चेव सव्वं, एवं चत्तारि वि दारा सीया सीयोदा णत्थि भाणियव्वा ।

(कहि णं भंते इत्यादि) क्व भदन्त ! पुष्करवरद्वीपस्य विजय नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह- गौतम ! पुष्करवरद्वीपपूर्वार्द्धपर्यन्ते पुष्करोदस्य समुद्रस्य पश्चिमदिशि अत्र पुष्करवरद्वीपस्य विजय नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे वक्तव्या । एवं वैजयन्ताऽऽदिद्वारसूत्राण्यपि भावनीयानि, सर्वत्र च राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ( पुष्करवरद्वाराणां परस्परमन्तरम् ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ७३ पृष्ठे गतम् )

संप्रति नामनिमित्तप्रतिपादनार्थमाह-

पदेसा दोण्हं वि पुट्ठा जीवा दोसु वि भाणितव्वा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति पुक्खरवरं २ ? । गोयमा ! पुक्खरवरेणं देवे तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमरुक्खा पउमवणसंडा णिच्चं कुसुमिता जीवा चिट्ठंति, पउममहापउमरुक्खेसु तत्थ पउमपोंडरीया णामं दुवे देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति पुक्खरवरदीवे० २जाव णिच्चे ।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरद्वीप इति ?। भगवानाह–गौतम ! पुष्करवरद्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवः पद्मवृक्षाः पद्मानि अतिविशालतया वृक्षा इव पद्मवृक्षाः पद्मखण्डाः, पद्मवनानि, खण्डवनयोर्विशेषः प्राग्वत् । ( निच्चं कुसुमिया इत्यादि ) विशेषणजातं प्राग्वत् । तथा पूर्वार्द्धे उत्तरकुरुषु यः पद्मवृक्षः पश्चिमार्द्धे उत्तरकुरुषु यो महापद्मवृक्षस्तयोरत्र पुष्करवरद्वीपे यथाक्रमं पद्मपुण्डरीकौ देवौ महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिकौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती परिवसतः। तथा चोक्तम्–
" पउमे य महापउमे, रुक्खा उत्तरकुरुसु जंबुसमा । एएसु वसंति सुरा, पउमे तह पुंडरीए य ॥ १ ॥ " पद्मं च पुष्करमिति पुष्करवरोपलक्षितो द्वीपः पुष्करवरद्वीपः । " से एएणं " इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

संप्रति चन्द्राऽऽदित्यपरिमाणमाह–

पुक्खरवरेणं भंते ! दीवे केवइया चंदा पभासिंसु वा, केवइया पभासंति वा, केवइया पभासिस्संति वा, एवं पुच्छा ?।
" चोयालं चंदसयं, चउयालं चेव सूरियाण सयं ।
पुक्खरवरम्मि दीवे, चरंति एते पभासेंता ॥ १ ॥
चत्तारि सहस्साइं, बत्तीसं होंति चेव णक्खत्ता ।
छच्च सया बावत्तर–महग्गहा बारस सहस्सा ॥ २ ॥
छण्णउइ सयसहस्सा, चत्तालीसं भवे सहस्साइं ।
चत्तारिसया पुक्खरवरे, तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥ "
सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ।

(पुक्खरवरेत्यादि) पाठसिद्धं, नवरम् नक्षत्राऽऽदिपरिमाणमष्टाविंशत्यादि संख्यानि नक्षत्राऽऽदीनि चतुश्चत्वारिंशेन शतेन गुणयित्वा स्वयं परिभावनीयम्। उक्तं चैवंरूपं परिमाणमन्यत्राऽपि ।

" चोयालं चंदसयं, चोयालं चेव सूरियाण सयं ।
पुक्खरवरम्मि दीवे, चरंति एए पगासंति ॥ १ ॥
चत्तारि सहस्साइं, छत्तीसं चेव होंति नक्खत्ता ।
छच्च सया बावत्तर, महागहा बारस सहस्सा ॥ २ ॥
छन्नउइसयसहस्सा, चोयालीसं भवे सहस्साइं ।
चत्तारि वा सयाइं, तारागणकोडीकोडीणं ॥ ३ ॥ " इति ।

संप्रति मनुष्यक्षेत्रसीमाकारिमानुषोत्तर–
पर्वतवक्तव्यतामाह–

पुक्खरवरदीवस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं माणुसुत्तरनामं पव्वत्ते पण्णत्ते वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते जेणेव पुक्खरवरं दीवं दुहा विभयमाणं विभयमाणे चिट्ठति अब्भिंतर पुक्खरवरद्धं च बाहिरपुक्खरवरद्धं च।

( पुक्खरवरदीवस्स णमित्यादि ) पुष्करवरस्य . णमिति वाक्यालंकारे द्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे मानुषोत्तरनामा पर्वतः प्रज्ञप्तः, स च वृत्तो वृत्तं च मध्यपूर्णमपि भवति, यथा–कौमुदी शशाङ्कमण्डलं ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह–वलयाऽऽकारसंस्थानसंस्थितो यः पुष्करवरं द्वीपं द्विधा सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च विभजमानो विभजमानस्तिष्ठति, केनोल्लेखेन द्विधा विभजमानस्तिष्ठतीत्यत आह। तद्यथा–अभ्यन्तरपुष्करार्द्धं च, बाह्यपुष्करार्द्धं च। चशब्दौ समुच्चये। किमुक्तं भवति ?–मानुषोत्तरपर्वतादर्वाक् यत् पुष्करार्द्धं तत् अभ्यन्तरपुष्करार्द्धं तत् पुनस्तस्मान्मानुषोत्तरात् पर्वतात् परतः पुष्करार्द्धं तत् बाह्यपुष्करार्द्धमिति ।

अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते ! केवतियं चक्कवालेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता ?। गोयमा ! अट्ठजोयणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं कोडी बायालीसा तीस दोण्णि सया अगुणपण्णा पुक्खरमद्धपरिरओ उ, एवं स माणुस्सस्स णं खेत्तस्स।

( अब्भिंतरपुक्खरद्धेणमित्यादि ) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह गौतम ! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेण एका योजनकोटी द्वाचत्वारिंशत् शतसहस्राणि त्रिंशत् सहस्राणि द्वे योजनशते एकोनपञ्चाशे किंचिद्विशेषाधिके परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति–अब्भिंतरपुक्खरद्धे अब्भिंतरपुक्खरद्धे ? गोयमा ! अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं माणुसुत्तरेणं पव्वतेणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते। से तेणट्ठेणं गोयमा ! अब्भिंतरपुक्खरं अदुत्तरं च [illegible]

( से केणट्ठेणमित्यादि ) अथ केनार्थेन [illegible]

नक्खत्ताणं तु भवे, सोलाणि दुवे सहस्साणि ॥ २ ॥
अडयालसयसहस्सा, बावीसं चेव तह सहस्साइं ।
दो य सयपुक्खरद्धे, तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥"

इह सर्वत्र तारापरिमाणचिन्तायां कोटीकोट्यः, कोट्य एव द्रष्टव्या । तथा पूर्वसूरिव्याख्यातादपरे उच्छ्रयाङ्गुलप्रमाणमनुसृत्य कोटीं कोटीरिव समर्थयन्ते । उक्तं च-"कोडाकोडीसत्तंतरं तु मन्नति केइ थोवतया । अन्ने उस्सेहंगुल-माणं काऊण ताराणं ॥ १ ॥" इति । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । स्था० । पुष्करार्द्धद्वीपे भरतक्षेत्रवत् काल । स्था० ३ ठा० १ उ० । " जम्बूदीवे पुक्खरवरदीवद्धपुरच्छिमद्धे पच्चच्छिमद्धे तत्रो तित्था-मागहे, वरदामे, पभासे ।" स्था० ३ ठा० १ उ० । पुष्करवरद्वीपार्द्धपश्चिमार्द्धे तिस्रोऽन्तर्नद्य -ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी, गम्भीरमालिनी । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

**पुक्खरवरदीवड्ड**-पुष्करवरद्वीपार्द्ध-न० । पुष्कराणि पद्मानि तैर्वर, पुष्करवर, स चासौ द्वीपश्च पुष्करवरद्वीपस्तृतीयो द्वीपस्तस्यार्द्धं । मानुषोत्तरादचलादर्वाग्भागवर्तिपुष्करवरद्वीपखण्डे, ध० २ अधि० । द्वी० । स्था० । ल० । नं० । अनु० । सू० प्र० । आव० ।

पुक्खरवरदीवद्धपुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता बहुसमतुल्ला० जाव भरहे चेव एरवए चेव० जाव दो कुराओ पण्णत्ताओ-देवकुरा चेव, उत्तरकुरा चेव । तत्थ णं दो महतिमहालया महादुमा पण्णत्ता । तं जहा-कूडसामली चेव,पउमरुक्खे चेव । देवा गुरुले चेव, वेणुदेवे पउमे चेव० जाव छव्विहं पि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । पुक्खरवरदीवद्धपच्चत्थिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता । तं जहा-तहेव णाणत्तं कूडसामली चेव, महापउमरुक्खे चेव, देवा गरुले चेव वेणुदेवे,पुंडरीए चेव । पुक्खवरदीवड्ढे णं दो भरहाइं दो एरवयाइं०जाव दो मंदरा दो मंदरचूलिकाओ । पुक्खरवरस्स णं दीवस्स वेइया दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता, सव्वेसिं पि णं दीवसमुद्दाणं वेइयाओ दो गाउयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ताओ ॥

व्याख्या सुकरा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**पुक्खरसंवट्टग**-पुष्करसंवर्त्तक-पुं० । स्वनामख्याते महामेघे, अनु० । ( अस्य वक्तव्यता ' परमाणु ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५४० पृष्ठे गता )

**पुक्खरावत्त**-पुष्करावर्त्त-पुं० । जम्बूद्वीपप्रमाणे स्वनामख्याते महामेघे, नं० । विशे० ।

**पुक्खरिणी**-पुष्करिणी-स्त्री० । पुष्कराणि विद्यन्ते यत्र सा पुष्करिणी, रा० । जी० । वृत्ताऽऽकारया वाप्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । व्य० । प्रज्ञा० । नि० चू० । पुष्करवति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कर्दमप्रचुरजले, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० । जं० ।

पुष्करिणीवर्णक -

अथ पुष्करिणीसूत्रं यथा-" तत्थ ण वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहुईओ खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ पुक्खरिणीओ दीहियाओ गुंजालियाओ सराओ सरपंतीओ सरसरपंतीओ बिलपंतीओ अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ समतीराओ वयरामयपासाओ तवणिज्जतलाओ सुवण्णसुब्भरययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ सुउयारा सुहोत्ताराओ णाणामणितित्थसुबद्धाओ चाउक्कोणाओ अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछण्णपत्तभिसमुणालाओ बहुउप्पलकुमुयणलिणसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तफुल्लकेसरोवचियाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपुण्णाओ पडिहत्थभमंतमच्छकच्छभअणेगसउणिमिहुणयविअरिया पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ पत्तेयं पत्तेयं च वणसंडपरिक्खित्ताओ अप्पेगइयाओ आसवोदगाओ अप्पेगइयाओ वारुणोदगाओ अप्पेगइयाओ घओदगाओ अप्पेगइयाओ खोदोदगाओ अप्पेगइयाओ अमयरससोदगाओ अप्पेगइयाओ उदगरसेणं पण्णत्ताओ पासादीयाओ ४ ।

अत्र व्याख्या-(तस्सेत्यादि) प्राग्वत्, बह्वय क्षुद्रा अल्पात सरस्येना एव लघ्व्य क्षुल्लिका वाप्यश्चतुरस्राऽऽकारा पुष्करिण्यो वृत्ताऽऽकारा दीर्घिका सारण्य ता एव वक्रा गुञ्जालिका बहूनि केवलानि पुष्पावकीर्णकानि सरांसि, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, बहूनि सरांसि एकपङ्क्त्या व्यवस्थितानि सर पङ्क्ति ता बह्व्य सरपङ्क्तय । तथा येषु सरस्सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु एकस्मात्सरसोऽन्यत् तस्मादन्यत्रैवं संचारकपाटकेनोदक संचरति, सा सर सर पङ्क्तिस्ता बह्व्य सरसर.पङ्क्तयः बिलानीव बिलानि कूपास्तेषा पङ्क्तयो बिलपङ्क्तय । एताश्च सर्वा अपि कथंभूता इत्याह-अच्छा स्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशा., श्लक्ष्णा. श्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहि प्रदेशा रजतमयं रूप्यमयं कूलं यासा ता, तथा सम न गर्त्ता सद्भावतो विषम तीर तीरवर्त्ति जलापूरितस्थानं यासां ता समतीरा, तथा वज्रमया पाषाणा यासा तास्तया, तथा तपनीय हेमविशेषस्तन्मय तल यासा ता स्तथा । तथा ( सुवण्णसुब्भरययवालुयाओ इति ) सुवर्णं पीतहेम शुभ्रं रूप्यविशेष रजत प्रतीतं तन्मयो वालुका यासु ता सुवर्णशुभ्ररजतवालुका । तथा ( वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडाओ इति) वैडूर्यमणिमयानि स्फाटिकपटलमयानि स्फाटिकरत्नसंबन्धिपटलमयानि प्रत्यन्ततटानि तटसमीपवर्त्त्यभ्युन्नतप्रदेशा यासा तास्तथा । तथा सुखेनावतारो जलमध्ये प्रवेशनं यासु ता. स्वतता रास्तथा सुखेनोत्तारो जलाद् बहिर्विनिर्गमनं यासु ता सुखोत्तरा. । तत. पूर्वपदेन विशेषणसमास. । तथा नाना मणिभि. सुबद्धानि तीर्थानि यासा तास्तथा । अथ बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातो भार्याऽऽदिदर्शनात्, प्राकृतशैलीव शाद्वा ।(चाउक्कोणाओ इति) चत्वार कोणा यासा ता तथा दीर्घत्वं च "अत. समृद्ध्यादौ वा"॥८।१।४४॥ इति सूत्रेण प्राकृतलक्षणवशात् । एतच्च विशेषणं वापीकूपाश्च प्रति द्रष्टव्यम् । तेषामेव चतु कोणत्वसंभवात् न शेषाणा आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचै नीचैस्तरभावरूपेण सुष्ठु अतिशयेन यो जातो वप्र. केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरमलब्धस्तावं शीतलं जल यासु ता -आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजलास्तथा । तथा संछन्नानि जलेनान्तरितानि पत्रविशमृणालानि यासु ता तथा । इह बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्या-

नि,विशानि कन्दाः,मृणालानि पद्मजालानि, तथा बहूनामुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापौण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्राणां फुल्लानां विकस्वराणां केशरैः किंजल्कैः उपचिता भृताः,विशेषणव्यवस्थितया निपातः प्राकृतत्वात्। तथा षट्पदैः भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदाऽऽदीनि यासु ता. तथा,अच्छेन स्वरूपेन स्फटिकवत् शुद्धेन निर्मलेनाऽऽगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णाः. तथा "पडिहत्था" अतिरेकिता अतिप्रभूना इत्यर्थः। देशीशब्दोऽयं "पडिहत्थ मुद्दुमायं, अइरेगइयं च जाण आऊणं।" इति वचनात्। उदाहरणं चाऽत्र- घणपडिहत्थं गयणं,सराई नवसलिलसुद्दुमायाइं। अहिरेइय मह उण, चिंताए मणं तुहं विरहे॥१॥"इति। भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र ताः"पडिहत्थ" भ्रमन्मत्स्यकच्छपाः अनेकैः शकुनिमिथुनकैः प्रविचरिता इतस्ततो गमनेन सर्वतो व्याप्ता , नत पूर्वपदेन विशेषणसमासः. एता वाप्यादयः सरस्सरःपङ्क्तिपर्यवसानाः प्रत्येकं प्रत्येकम् इति एकम् एकं प्रति प्रत्येकमत्राभिमुख्ये प्रतिशब्दो,न वीप्साविवक्षायां पश्चात्प्रत्येकशब्दस्य द्विर्वचनमिति पद्मवरवेदिकाया. परिक्षिप्ता.प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च,अपिर्वाढार्थे वाढमेकका. काश्चन वाप्यादय आसवमिव चन्द्रहासाऽऽदिपरमासवमिव उदकं यासां ताः तथा अच्छेकिका. वारुणस्येव वारुणसमुद्रस्येव उदकं यासा ता अच्छेकिका क्षीरमिवोदकं यासा ता अन्येकिका. घृतमिवोदकं यासा ता अच्छेकिकाः क्षोद इव इक्षुरस इवोदकं यासा ता अच्छेकिका अमृतरससमरसम् उदकं यासा ता अमृतरससमरसरसोदका अच्छेकिका उदकेन स्वाभाविकेन प्रज्ञप्ताः, ( पासाईया ) इत्यादि प्राग्वत् । जं० १ वक्ष० । अनु० । वृत्ते वा जलाऽऽशयविशेषे,भ० ५ श० ७ उ०। प्रश्न०। औ०। जं०। विपा०। ( अञ्जनपर्वतगा पुष्करिण्यः 'अंजनग' शब्दे प्रथमभागे ४८ पृष्ठे दर्शिता. ) " पुक्खरिणी दीहिआ सरसी।" पाइ० ना० १३० गाथा।

**पुक्खरिणीपलास** पुष्करिणीपलाश–पुं०। पद्मिनीपत्रे, उत्त० ३२ अ०।

**पुक्खरोद**-पुष्करोद–पुं० । पुष्करवरद्वीपस्य परितः समुद्रे, चं० प्र० १६ पाहु० । स्था० । सू० प्र० । अनु० । स्था० ।

सम्प्रति विष्कम्भादिप्रतिपादनार्थमाह-

पुक्खरवरे णं दीवे पुक्खरोदे णाम समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणे०जाव संपरिक्खित्ता णं चिट्ठति । पुक्खरोदे णं भंते ! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! संखेज्जाति जोयणसयसहस्साति चक्कवालविक्खंभेणं संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साति परिक्खेवेणं पण्णत्ते । पुक्खरोदस्स णं भंते ! समुद्दस्स कति दारा पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता, तहेव सव्वं पुक्खरोदसमुद्दपुरिच्छिमपेरंते वरुणवरदीवपुरच्छिमद्धस्स पच्छिमेणं एत्थ णं पुक्खरोदस्स विजये नामं दारे पण्णत्ते । एवं सेसाण वि दारंतरम्मि संखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते, पदेसा जीवा य तहेव॥

( पुक्खरोदे णमित्यादि ) पुष्करोदो भदन्त ! समुद्रः कियत् चक्रवालविष्कम्भेण कियत् परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह—गौतम ! संख्येयानि योजनशतसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः । ( से णमित्यादि ) स पुष्करोदः समुद्रः एकया पद्मवरवेदिकया सामर्थ्यादष्टयोजनोच्छ्रयया जगत्युपरि भाविन्या एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः । (पुक्खरोदस्स णं भंते ! इत्यादि) पुष्करोदस्य भदन्त ! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह–गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा विजयं,वैजयन्तं,जयन्तमपराजितम्। क्व भदन्त ! पुष्करोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह–गौतम ! पुष्करोदसमुद्रस्य पूर्वार्द्धपर्यन्ते अरुणवरद्वीपपूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि अत्र पुष्करोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ,तच्च जम्बूद्वीपविजयद्वारवद्वक्तव्यं,नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदे समुद्रे (कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! पुष्करोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह–गौतम ! पुष्करोदसमुद्रस्य दक्षिणपर्यन्ते अरुणवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्योत्तरतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं तदपि जम्बूद्वीपगतवैजयन्तद्वारवदविशेषेण वक्तव्यं, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदे समुद्रे ( कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! पुष्करोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारम् ?। भगवानाह–गौतम ! पुष्करोदसमुद्रस्य पश्चिमपर्यन्ते अरुणवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तं, तदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत् , नवरं राजधानी अन्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे , (कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! पुष्करोदसमुद्रस्याऽपराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह—गौतम ! पुष्करोदसमुद्रस्योत्तरपर्यन्ते अरुणद्वीपस्योत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र पुष्करोदसमुद्रस्य अपराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्। एतदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवद्वक्तव्यम्, नवरं राजधान्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे, ( पुक्खरोदस्स णमित्यादि ) पुष्करोदस्य भदन्त ! समुद्रस्य द्वारस्य परस्परमेतत् कियत्या अबाधया अन्तरत्वाद् व्याघातरूपया प्रज्ञप्तम् ?। भगवानाह–गौतम ! संख्येयानि योजनशतसहस्राणि द्वारस्य परस्परमबाधया अनन्तरं प्रज्ञप्तम्।(पएसेत्यादि)प्रदेशजीवोपपातसूत्रचतुष्टयं तथैव पूर्ववत्। तच्चैवम्-"पुक्खरोदस्स णं भंते! समुद्दस्स पएसा अरुणवरं दीवं पुट्ठा ?। हंता पुट्ठा। तेणं भंते ! पुक्खरोदसमुद्दे अरुणवरदीवे ?। गोयमा ! पुक्खरोए णं समुद्दे नो अरुणवरे दीवे। अरुणवरस्स णं भंते ! दीवस्स पएसा पुक्खरोदं णं समुद्दं पुट्ठा ?। हंता पुट्ठा। तेणं भंते ! किं अरुणवरे दीवे पुक्खरोए समुद्दे ?। गोयमा ! अरुणवरे णं दीवे नो खलु ते पुक्खरोए समुद्दे। पुक्खरोदे णं भंते ! समुद्दे जीवा उद्दाइत्ता अरुणवरे दीवे पच्चायंति ?। गोयमा ! अत्थेगइया पच्चायंति अत्थेगइया नो पच्चायंति। अरुणवरे णं भंते ! दीवे जीवा उद्दाइत्ता पुक्खरोदे समुद्दे पच्चायंति ?। गोयमा ! अत्थेगइया पच्चायंति अत्थेगइया नो पच्चायंति।" अस्य व्याख्या प्राग्वत्।

संप्रति नामनिमित्तं विपृच्छिषुराह—

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति-पुक्खरोदे समुद्दे २ ?। गोयमा ! पुक्खरोदस्स णं समुद्दस्स उदगे अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं सिरिहरसिप्पभा य, तत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव पलितोवमट्ठि-

तीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं० जाव णिच्चे । पुक्खरोदे णं भंते ! समुद्दे केवतिया चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा ?। गोयमा ! संखेज्जा चंदा पभासेंसु वा, पभासंति वा, पभासिस्संति वा० जाव तारागणकोडिकोडीओ सोभिंसु वा, सोभंति वा, सोभिस्संति वा ।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते– पुष्करोद· समुद्र· पुष्करोद· समुद्र इति ?। भगवानाह–गौतम ! पुष्करोदस्य,णमिति पूर्ववत्,समुद्रस्य उदकमच्छम् अनाविलं पथ्यं न रोगहेतुजात्य न विजातिमत् तनु लघुपरिमाणं स्फटिकवर्णाऽऽभं स्फटिकरत्नच्छाय प्रकृत्या उदकरसं प्रशस्तम । श्रीधरश्रीप्रभौ चात्र पुष्करोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसत , ततस्ताभ्यां सपरिवाराभ्या गगनमिव चन्द्राऽऽदित्याभ्या ग्रहनक्षत्राऽऽदिपरिवारोपेनाभ्या तदुदकमवभासते इति पुष्करमिव उदक यस्यासौ पुष्करोदः । तथा चाऽऽह-( से एएणट्ठेणमित्यादि ) उपसंहारवाक्यम् ।(पुक्खरोए णं भंते ! समुद्दे कइ चंदा पभासिंसु वा इत्यादि ) पाठसिद्धम् । सर्वत्र संख्येयतया निर्वचनभावात् । जी० ३ प्रति० ।

पुक्खल–पुष्कल–त्रि० । सम्पूर्णे, ध० २ अधि० । आव० । सूत्र० । प्रचुरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आव० । समधिके, आ० चू० ५ अ० । औषधिनामनगरीप्रतिबद्धविजयक्षेत्रयुगले, ' दो पुक्खला " । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पुक्खलसंवट्टय–पुष्कलसंवर्त्तक–पु० । स्वनामख्याते महामेघे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ति० ।

पुक्खलावई–पुष्कलावती–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वे सीताया महानद्या उत्तरे ( स्था० ८ ठा० ) " दो पुक्खलावई ।" तयो , स्था० २ ठा० ३ उ० । उत्त० । दर्श० । आ० म० । कल्प० । पुण्डरीकिणीनगरीप्रतिबद्धे विजयक्षेत्रयुगले, " दो पुक्खलावई " स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे पुक्खलावई णामं चक्कवट्टिविजए पण्णत्ते ?। गोअमा ! णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीआए उत्तरेणं उत्तरिल्लस्स सीआमुहवणस्स पच्चच्छिमेणं एगसेलस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे पुक्खलावई णामं विजए पण्णत्ते, उत्तरदाहिणायए एवं जहा कच्छविजयस्स० जाव पुक्खलावई अ इत्थ देवे परिवसइ, एएणट्ठेणं ॥

पुष्कलावर्त्ते पुष्कलावती चक्रवर्तिविजयोऽपि बोध्य. । जं० ४ वक्ष० ।

पुक्खलावईकूड–पुष्कलावतीकूट–न० । महाविदेहे वर्षे एकशैलपर्वतस्य चतुर्थकूटे जं० ४ वक्ष० ।

पुक्खलावत्तकूड–पुष्कलावर्त्तकूट–न० । महाविदेहवर्षैकशैलपर्वतस्य तृतीये कूटे. जं० ४ वक्ष० ।

पुक्खलावत्तविजय–पुष्कलावर्त्तविजय–पु० । महाविदेहमध्यगसप्तमचक्रवर्त्तिविजये, जं० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे पुक्खलावत्ते णामं विजए पण्णत्ते ?। गोअमा ! णीलवंतस्स दाहिणेणं सीआए उत्तरेणं पंकावईए पुरच्छिमेणं एकसेलस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं पुक्खले णामं विजए पण्णत्ते, जहा–कच्छविजए तहा भाणियव्वं० जाव पुक्खले अ इत्थ देवे पलिओवमट्ठिइए परिवसइ से एएणट्ठेणं।

( कहि णमित्यादि ) सर्वं स्पष्टं नवरं पुष्कलावर्त्ते सप्तमो विजय., स एव चक्रवर्त्तिविजेतव्यत्वेन चक्रवर्तिविजय इत्युच्यते । जं० ४ वक्ष० ।

पुक्खलि–पुष्कलिन्–पु० । शङ्खश्रमणोपासके,स्था० ६ ठा० । ( वृत्तम् ' संख ' शब्दे वक्ष्यामि ) ।

पुग्गल–पुद्गल–पु० । पूरणगलनधर्माण पुद्गला । दश०१ अ० । समस्तपुद्गलास्तिकायं गतेषु परमाणुषु, प्रव० २५६ द्वार । पुद्गलास्तिकाये च । उत्त० २८ अ० । अमासे, " बहुअट्ठियं अणिमिसं बहुकंटयं ।" दश० ५ अ० १ उ० ।

पुग्गललहुया- पुद्गललघुता–स्त्री० । शरीरपुद्गलानां जाड्यापगमे, व्य० १ उ० ।

पुग्गलवग्गणा- पुद्लवर्गणा–स्त्री० । पुद्गलसमुदायविशेषे.क० प्र० १ प्रक० । ( "वग्गणा" शब्दे चैषा उपपादयिष्यते )

पुग्गलविवागिणी–पुद्गलविपाकिनी–स्त्री० । पुद्गलेषु शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाक उदयो यासा ता' पुद्गलविपाकिन्यः । शरीरपुद्गलेष्वेवाऽऽत्मीया शक्तिदर्शिकासु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० । ( ताश्च ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६७ पृष्ठ दर्शिता । )

पुच्छ–प्रच्छ–धा० । ज्ञीप्सायाम् , " प्रच्छे· पुच्छ " ॥८।४।९७॥ इति प्रच्छधातोः पुच्छाऽऽदेश । पुच्छइ । पृच्छति । प्रा० ४पाद ।

पुच्छण–प्रच्छन–न० । पृच्छायाम् , प्रोञ्छने च । निर्लेपीकरणे, नि०चू० ४ उ० । ( उच्चारप्रश्रवणं कृत्वा गुदं यो भिक्षुर्न प्रोञ्छते तस्य प्रायश्चित्तं 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे २३८० पृष्ठे उक्तम् )

पुच्छणकप्प–प्रच्छनकल्प–पुं० । पृच्छासामाचार्याम् , प०भा० ।

पुच्छणकप्पो अहुणा, जाइं पुच्छेज्ज संकियादिसु ।
ताहिं भण्णति इणमो, अहकम आणुपुव्वीए ॥
पदमक्खरमुद्देसं, संधी सुत्तत्थ तदुभयं चेव ।
घोसनिकाइतईहितसु–विमग्गितहेतुसब्भावं ॥
पदमादी जा घोसा, वुत्तत्था होंति एते सव्वे वि ।
हिणियम्मि णिकाएउं, पुच्छति तु णिकाईयं ॥
पुव्वावरेण ईहित, एयमए एव होति ण व होति ।
हेतूहिं कारणेहिं, तेसुवि मग्गिय एव तु मए त्ति ॥
सब्भावो अत्थो खलु, संदिद्धाइं तु पुच्छते ताई ।
एयाइं चिय कमसो, परियट्टे चेव अणुपेहे ॥

प० भा० १ कल्प । प० चू० ।

पुच्छणा–प्रच्छना–स्त्री० । विशोधितस्य सूत्रस्य मा भूद्विस्मरणमिति गुरो प्रश्नरूपे स्वाध्यायभेदे प्रव० ६ द्वार । औ० । दश० । स्था० । उत्त० । अनु० । ध० । गुरुसन्निधाविति प्रच्छनाविधिस्त्वेवमशरीराऽऽदिवार्ता प्रश्ने,नि० । "आसण्णगओ न पुच्छिज्जा, णेव सिज्जागओ कयाइ वि । आगम्मुक्कुडुओ संतो,

पुच्छिज्जा पंजलिउडो ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० । ध० र० । कालिकश्रुतस्य ३ पृच्छाभ्यः परं पृच्छति । ( ३३ गाथा 'कालियसुय' शब्दे तृतीयभागे ४६६ पृष्ठे गता ) अपुणरुत्तं जावतिओ कहिओ पुच्छति सा एगा पुच्छा। एत्थ चउभंगो। एकणिसेज्जा एका पुच्छा पच्छा सुद्धो, एका णिसेज्जा, अ-णेगाओ पुच्छाओ, एत्थ तिरहं सुत्तरहं वा परेण चउल-हुगा, अणेगा णिसिज्जा एगा पुच्छा विसुद्धो, अणेगा णि-सिज्जा अणेगा पुच्छा, तिरहं सत्तरहं वा परेण पुच्छंतस्स चउलहुगा।

अहवा तिषि सिलोगो,ततिसु णवकालिए तरेतिगा सत्त।
जत्थ य एग य समती, जावतियं वावि उग्गिरहे ॥३४॥

तिहिं सिलोगेहिं एगपुच्छाहिं णव सिलोगा भवंति । एवं कालियसुयस्स एगतरं दिट्ठे वाए सत्तसु पुच्छासु एगवी-सं सिलोगा भवंति । अहवा-जत्थ एगत्तं समप्पयति थों-वं बहुं वा सा एगा पुच्छा। अहवा-जत्तियं आयरिएण तरह उच्चारितं घेत्तुं सा एगा पुच्छा।

बितिया एगाढ सागा-रियादि कालगत असति वोच्छेदे।
एतेहिँ कारणेहिं, तिरह समरहं तहऽवरेण ॥ ३५ ॥

कंठ्या पूर्ववत्। कम्हा दिट्ठिवाए सत्त पुच्छाओ ?। अतो भगति—

नयवादसुहुमयाए, गणिभंगसुहुमे णिमित्ते य ।
मंथस्स य बाहुल्ला, सत्त कया दिट्ठिवादम्मि ॥ ३६ ॥

णेगमाऽऽदि सत्त णया एकेको तेसु तिविधो, तेहिं सभेदा जाव दव्वपरूवणा दिट्ठिवाए कज्जति सा णयवादसुहुमया भगति, तह परिकम्मेसु गणियसुहुमया, तहा परिमाणमा-दीसु वएणगंधरसफासेसु एगगुणकालगादिपज्जवभंगसुहुमता, तहा अट्ठंगमादि णिमित्तं बहुवित्थरत्तणतो दिट्ठिवायगंथस्स य बहु अत्तणतो सत्त पुच्छाओ कंठाओ।

सूत्रम्-

जे भिक्खू चउसु महामहेसु सज्झायं करेइ, करंतं वा साइज्जइ। तं जहा-इंदमहे १ खंदमहे २ जक्खमहे ३ भूत-महे ४ ॥ ११ ॥

रंधणपयणखाणपाणनृत्यदेवगेयप्रमोदे च महता महा महा तेसु जो सज्झायं करेइ तस्स चउलहुं।

सूत्रम्-

जे भिक्खू चउसु महापाडिवएसु सज्झायं करेइ,करंतं वा साइज्जइ ॥ तं जहा-सुगिम्हिया पाडिवए १, आसाढा पा-डिवए २,आसोयपाडिवए ३ कत्तियपाडिवए ४ ॥ १२ ॥

तेसिं चेव महामहाणं।

चउसुं चउ पाडिवए, तहेव तेसिं महामहासुं च ।
जे कुज्जा सज्झायं, सो पावति आणमादीणि ॥ ३७ ॥

जे चउरो पाडिवयदिवसा एतेसु वि करेंतस्स चउलहुं। च-उसु गाहा कंठ्या। के पुण ते महामहा उच्यन्ते-

आसाढी इंदमहो, कत्तियसुं गिम्हओ य बोधव्वा ।
एते महामहा खलु, एतेसिं जाव पाडिवया ॥ ३८ ॥

आसाढी आसाढपोरिणमाए, इदं लाडेसु सावणपोरिणमाए भवति इंदमहो,आसोयपुरिणमाए कत्तियपुरिणमाए चेव सुगि-म्हाओ, चेत्तपुरिणमाए एते अंतदिवसा गहिआ आदितो पुण जत्थ वि स राजनो दिवसातो महामहो पवत्तति, ततो दिवसातो आरब्भ जाव अंतदिवसो ताव सज्झातो ण कायव्वो,एएसिं चेव पुरिणमाणं अणंतरं जे बहुलपडिवया च-उरो ते वि वज्जेयव्वा ।

पडिसिद्धकाले करेंतस्स इमे दोसा-

अन्नतरपमादजुत्तं, छलेज्ज पडिणी जये तं तु ।
अट्ठोदहि होनी पुण, लभेज्ज जयणोपजुत्तम्मि ॥ ३९ ॥

सरागसंजतो सरागत्तणतो इंदियविसयादिअन्नयरे पमा-दजुत्तो हवेज्ज, विसेसतो महामहेसु तं पमायजुत्तं पडिणीय-देवया अप्पिड्ढिया खित्तादिछलणं करेज्ज, जयणाजुत्तं पुण साहुं जो अप्पिड्ढितो देवो अट्ठोदधीउ ऊणहि ति सो ण सक्कति छलेउं अट्ठसागरोवमट्ठितोतो पुण जयणाजुत्तं पि छ-लेति, अत्थि सेसा मिच्छं तं पि पुव्ववेरसंबंधसरणतो कोति छलेज्ज। चोदगाऽऽहा-" बारसविहम्मि वि तवे, सब्भितरबा हिरे कुसलदिट्ठे। ण वि अत्थि, ण वि य होही, सज्झाय-समो तवो कम्मं॥१॥' किम्महेसु संझासु वा पडिसिज्झ-ति। आचार्याऽऽह-

कामंसू उवओगो, तवोवहाणं अणुत्तरं भणितं ।
पडिसेहितम्मि कालं, तहा वि खलु कम्मबंधाय ॥४०॥

दिट्ठ महेसु सज्झायम्म पडिसेहकरणं पाडिवएसु किं पडिसिज्झइ ?। उच्यते-

विइयदिवसेसु छणं, पाडिवएसुं वि छणा पसज्जंति ।
मेहेवाउलतणतो, अ सारिताणं च संमाणो ॥ ४१ ॥

छणस्स उवसाहियं जं मज्जपाणादिगं तं सव्वं णोवभुत्तं तं पडिवयासुं उवभुंजंति अतो पडिवयासु वि छणो अ-णुसज्जति, अणं च मेहदिणेसु वाउलत्तणतो जे य मित्ताऽऽदि सारिता ते पडिवयासु संभारिज्जंति त्ति छणो ण वट्टति, तेसु वि ते चेव दोसा, तम्हा तेसु वि णो करेज्जा ।

वितियागाढे सागा-रियादि कालगत असति वोच्छेदे ।
एतेहिँ कारणेहिं, जयणाए कप्पती काउं ॥४२॥

कण्ठ्या पूर्ववत्।

सूत्रम्-

जे भिक्खू चाउकालं सज्झायं ण करेइ,ण करंतं वा सा-इज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू पोरिसिं सज्झायं उवइणावेइ, उवाणावेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कालियसुत्तस्स चउ सज्झायकाला, ते य चतुपोरिसिणि-प्फणा, ते उवातिणावेति त्ति, जो तेसु सज्झायं न करेइ. त-स्स चउलहुं, आणादिणो य दोसा।

गाहा-

अंतो अहोरत्तस्स उ, चउरो सज्झाय पोरिसीओ व ।
जे भिक्खू उवायणाती,सो पावति आणमादीणि ॥४३॥

अहोरत्तस्स अंतो अब्भंतरे, सेसं कंठं। नि०चू० १९ उ०। (४४ गाथा—' कालियसुय ' शब्दे तृतीयभागे ५००पृष्ठे गता)

आक्षेपे यदि स च नाम न सर्वाजीवो नमस्कारस्तर्हि स किंस्वरूपो जीवो नमस्कार. किं स्वरूपो वाऽनमस्कार इति पृच्छा ? । आ० म० १ अ० । विशे० । स्था० ।

पुच्छणी-पुच्छनी-स्त्री० । अविज्ञातस्य संदिग्धस्य चार्थस्य ज्ञानार्थं तदभियुक्तप्रेरणरूपायां भाषायाम् , भ० १० श० ३ उ० । मार्गाऽऽदेः कथञ्चित् सूत्रार्थयोर्वा प्रश्ने, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रश्ना० । संथा० । अवघाटिनीनामुपरि निविडतराऽऽच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीये, जी०। मूलटीकाकार 'ओहाडनीहार' ग्रहणं महत्तृणकं तु पुच्छनी इति । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पुच्छवाल-पुच्छवाल-पुं० । लाङ्गूलकेशे तं० ।

पुच्छा-पृच्छा-स्त्री० । प्रश्ने, दश० १ अ० । सामाचारीव्याख्यायाम्, आ० म० १ अ० । ( उसह ' शब्दे ११ पृष्ठे विवेचितमेतत् ) आहरणदोषभेदे, दश० ।

पुच्छाए कोणिओ खलु, निस्सावयणम्मि गोयमस्सामी ।
नाहियवाई पुच्छे, जीवत्थित्तं अणिच्छंतं ॥ ७७ ॥

पृच्छायां ' प्रश्न इत्यर्थ, ' कोणिक ' श्रेणिकपुत्र. खलूदाहरणम्-" जहा तेण सामी पुच्छिओ-चक्कवट्टिणो अपरिच्चत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा कहिं उववज्जंति ? । सामिणा भणियं-अहे सत्तमीए चक्कवट्टिणो उववज्जंति । ताहे भणइ-अहं कत्थ उववज्जिस्सामि ? । सामिणा भणियं-तुम छट्ठीपुढवीए । सो भणइ-अहं सत्तमीए किं न उववज्जिस्सामि ? । सामिणा भणियं-सत्तमीए चक्कवट्टिणो उववज्जंति । ताहे सो भणइ-अहं किं न होमि चक्कवट्टी ?, मम वि चउरासी दंतिसयसहस्साणि।सामिणा भणियं-तव रयणाणि निहीओ य णत्थि । ताहे सो कित्तिमाई रयणाइ करित्ता ओवातिउमारद्धो, तिमिस्सगुहाए पविसिउं पवत्तो, भणिओ य किरिमालएण-वोलीणा चक्कवट्टिणो वारस वि, विणस्सिहिसि तुम, वारिज्जंतो वि ण ठाइ, पच्छा कयमालएण आहओ, मओ य छट्ठि पुढविं गओ, एयं लोइयं । एत्थ लोगुत्तरे वि बहुस्सुआ आयरिया अट्ठाणि हेऊ य पुच्छियव्वा, पुच्छित्ता य सक्कणिज्जाणि समायरियव्वाणि , असक्कणिज्जाणि परिहरियव्वाणि । भणियं च-" पुच्छइ पुच्छावेह य, पंडियए साहवे चरणजुत्ते । मा मयलेवविलित्ता, पारत्तहियं ण जाणिहिह ॥ १ ॥ " उदाहरणदेशता पुनरस्याभिहितैकदेश एव प्रष्टुर्ग्रहात् तेनैव चोपसंहारादिति । एव तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातं पृच्छाद्वारम । अधुनैतत्प्रतिबद्धा द्रव्यानुयोगवक्तव्यतामपास्य गाथोपन्यासानुलोमतो निश्रावचनमभिधातुकाम आह-निश्रावचनद्वारम् । दश० । ( तच्च ' णिस्सावयण ' शब्दे चतुर्थे भागे २१४६ पृष्ठे गतम् ) अधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य व्याख्यायते-तत्रेद गाथादलम्-( ' णाहियवाइ ' इत्यादि ,) नास्तिकवादिन चार्वाकं पृच्छेज्जीवास्तित्वमनिच्छन्तं सन्तमिति गाथाऽर्थ । किं पृच्छेत् ?-

केणं ति नत्थि आया, जेण परोक्खे त्ति तव कुविन्नाणं ।
होइ परोक्खं तम्हा, नत्थि त्ति निसेहए को णु ? ॥७८॥

' केनेति ' केन हेतुना ? ' नास्त्यात्मा ' न विद्यते जीव इति पृच्छेत् ?, स चेद् ब्रूयात्-' येन परोक्ष ' इति येन प्रत्यक्षेण नोपलभ्यत इत्यर्थ , स च वक्तव्य-भद्र ! तव ' कुविज्ञानं ' जीवास्तित्वनिषेधकध्वनिनिमित्तत्वेन तन्निषेधकं भवति परोक्षम् , अन्यप्रमातृणामिति गम्यते, ' तस्माद् भवदुपन्यस्तयुक्त्या नास्तीति कृत्वा निषेधते को नु ? , विवक्षाऽभावे विशिष्टशब्दानुत्पत्ते. । इति गाथाऽर्थ. ॥ दश० १ अ० । ( पृच्छा प्रारम्भकाले जाता इति ' उसह ' शब्दे तृतीयभागे ११ पृष्ठे गतम् )

( मार्गे कथं पृच्छा कर्त्तव्येति 'विहार' शब्दे ) " कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिं च पुच्छावयंति आयरिया ? । सीसाणं तु हियट्ठा, विउलतरागं तु पुच्छाए ॥ १ ॥ " त्ति । अपृच्छतोऽपि शिष्यस्य हिताय तत्त्वमाख्येयमिति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

पुच्छिय-पृष्ट-त्रि० । ज्ञीप्सिते, दशा० १० अ० ।

पुच्छियट्ठ-पृष्टार्थ-पुं० । पृष्टोऽर्थो येन सः सांशयिकार्थप्रश्नकरणात् । दश० १ अ० । भ० । परस्परतः कृतप्रश्नविपर्यीकृतार्थे, भ० ११ श० ११ उ० । औ० । " गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा । " दर्श० ३ तत्त्व ।

पुच्छेयव्व-प्रष्टव्य-त्रि० । ज्ञीप्सितव्ये, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । भ० ।

पुज्ज-पूज्य-त्रि० । सर्वजनश्लाघ्ये , उत्त० १ अ० । पूजयितुमर्हे , उत्त० १ अ० । पञ्चा० । पूज्यं च वस्तु द्विविधम्-जीवरूपं जिनादि, अजीवरूपं च प्रतिमाऽऽदि । विशे० । ( 'णमोक्कार ' शब्दे चतुर्थभागे १८४८ पृष्ठे व्याख्यातम् )

पुज्जसत्थ-पूज्यशास्त्र-पुं० । पूज्यं सकलजनश्लाघाऽऽदिना पूजाऽर्हं शास्त्रमस्येति पूज्यशास्त्र । शास्त्रस्य विशेषेण पूजके विनीते । उत्त० १ अ० ।

पूज्यशास्तृक-पुं० । पूज्यः शास्ता गुरुरस्येति पूज्यशास्तृक. पूज्यस्याऽपि शास्तुर्विशेषेण पूजके । उत्त० १ अ० ।

पूज्यशस्त-त्रि० । पूज्यश्चासौ शस्तश्च पूज्यशस्तः । सर्वत्र प्रशंसाऽऽस्पदत्वेन पूज्ये, शस्ते च । उत्त० १ अ० ।

पुञ्ञ-पुण्य-न० । " न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञः " ॥ ८ । ४ । २९३ ॥ इति मागध्यां ण्यस्थाने ञ्ञकाराऽऽक्रान्तञ्ञकार । शुभकर्मणि, प्रा० ४ पाद ।

पुञ्ञकम्म-पुण्यकर्मन्-न० । " न्यण्योर्ञ्ञः "॥ ८ । ४ । ३०५ । इति पैशाच्यां ण्यस्थाने ञ्ञो भवति । 'पुञ्ञकम्मो ।' शुभकर्मणि, प्रा० ४ पाद ।

पुञ्ञाह-पुण्याह-न० । "न्यण्योर्ञ्ञः" ॥ ८ । ४ । ३०५ ॥ इति पैशाच्यां ण्यस्थाने ञ्ञ । प्रा० ४ पाद । " न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञः " ॥ ८ । ४ । २९३ ॥ इति मागध्यां ण्यस्थाने द्विरुक्तो ञकार । पुण्यतिथौ, प्रा० ४ पाद ।

पुट्टय-पोट्टज-त्रि० । जठरोद्भवे, तं० ।

पुट्टिल-पोट्टिल-पुं० । स्वनामख्याते अनगारे, स्था० ६ ठा० । पोट्टिलोऽनगारोऽनुत्तरोपपातिकाङ्गेऽधीतो हस्तिनागपुरवासी भद्राभिधानसार्थवाहीतनयो द्वात्रिंशद्भार्यात्यागी महावीरशिष्यो मासिक्या संलेखनया सर्वार्थसिद्धोपपन्नो महाविदेहात्सिद्धिगामी । अयं त्विह भरतक्षेत्रात्सिद्धिगामीति गदितस्त-

तोऽयमन्य. संभाव्यत इति । स्था० ८ ठा० । प्रियमित्रप्रम-ज्यादायके आचार्ये, आव० १ अ० ।

पुत्तो धणंजयस्सा, पुट्टिलपरिआइ कोडिसन्नट्ठे ।
नंदण छत्तगाए,पण (चउ) वीसाउं सयसहस्सा ॥४४९॥
पव्वज्ज पुट्टिले सय-सहस्स सव्वत्थ मासभत्तेणं ।
पुप्फुत्तरे उववन्नो. तओ चुओ माहणकुलम्मि ॥४५०॥

अक्षरार्थः स्पष्ट । भावार्थ कथातो ज्ञेयः—
" ततोऽपरविदेहेषु, मूकापुर्यां मही‌पतिः ।
धनञ्जयस्य धारिण्याः, पत्न्या कुक्षौ समीयिवान् ॥ १ ॥
चतुर्दशस्वप्नराजा-ऽऽख्यातचक्रधरर्द्धिकः ।
काले सा सुषुवे सूनुं, सर्वसम्पूर्णलक्षणम् ॥ २ ॥
प्रियमित्र इति नाम, पितृभ्यां तस्य निर्ममे ।
वर्द्धमान शशीवाऽऽप, सकलत्व द्विधाऽपि स ॥ ३ ॥
निर्विर्ण्ण कामभोगेभ्यः, पार्थिवोऽथ धनञ्जय. ।
प्रियमित्रं सुतं राज्ये, स्थापयित्वाऽग्रहीद् व्रतम् ॥ ४ ॥
मित्रवत्प्रियमित्रस्य. प्रतपैकमहोदये ।
चक्रप्रभृतिरत्नानि, क्रमादासंश्चतुर्दश ॥ ५ ॥
षट्खण्डविजये सोऽपि, प्राग्वदन्यान्यचक्रिवत् ।
कृतचक्राभिषेक स-लीलया राज्यमपालयत् ॥ ६ ॥
अन्यदा पोट्टिलाऽऽचार्यो-पान्ते धर्म निशम्य स' ।
सुतं राज्ये निवश्याऽथ, प्राव्राजीत्सर्वशत्रुजित् ॥ ७ ॥
वर्षकोटीं तपस्तेपे, शुक्रे सर्वार्थयानके ।
पूर्वलक्षचतुरशी-त्यायुर्मृत्वा सुरोऽभवत् ॥ ८ ॥
च्युत्वेह भरते छत्रा-यां पुर्यां जितशत्रुतः ।
भद्रादेव्या स उत्पेदे , नन्दनो नन्दनाऽऽह्वय ॥ ९ ॥
तं न्यस्यैवौवनं राज्ये, जिनशत्रुर्नराधिप ।
प्राव्राजीन्नन्दनो राज्यं, शशासेन्द्र इव क्षितौ ॥ १० ॥
चतुर्विंशत्यब्दलक्षीं, जन्मतोऽतीत्य नन्दन ।
पोट्टिलाऽऽचार्यपार्श्वेऽथ, संयमं स प्रपन्नवान् ॥ ११ ॥
मासोपवासैरब्दलक्षं, श्रामण्य स प्रकर्षयन् ।
विंशत्या स्थानकैः प्राग्व त्तीर्थकृत्कर्म निर्ममे ॥ १२ ॥ "
आ० क० १ अ० ।

पुट्ठ-पुष्ट-त्रि० । " घृस्यानुप्रेक्षणमृष्टे " ॥ ८ । २ । ३४ ॥ इति घृस्य ट्ठ । प्रा० २ पाद । उपचितमांसलतया पुष्टिभाजि, उत्त० ७ अ० । ज्ञा० । प्रदेशप्रक्षेपत पोषिते, भ० १३ श०६उ० । स्पृष्ट-त्रि० । " उदृत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । व्याप्त, आ० म० १ अ० । प्राञ्छिते सुघृष्ट, वृ० १ उ० २ प्रक० । आ० चू० । भ० । सूत्र० । छुप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स्था० । उत्त० । अभिद्रुते, उत्त० २ अ० । आश्लिष्टे, उत्त० २ अ० । स्पृश्यत इति स्पृष्टम् । तनौ रेणुवदालिङ्गितमात्रे, विशे० । (" पुट्ठं सुणेइ सद्द, रूवे पुण पासए अपुट्ठं तु । " ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५५६ पृष्ठे व्याख्यानम् ) कञ्चुकवच्छुप्ते, उत्त० ३ अ० । सूत्र० । जीवप्रदेशैरात्मीकृते कर्मणि, विशे० । भ० । सकृत् घनकुट्टितसूचीकलापवत् स्पर्शना प्राप्ते कर्मणि, प्रज्ञा० २० पद ५ द्वार ।

पुट्ठपुव्व-स्पृष्टपूर्व-त्रि० । आरब्धपूर्वे, आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० ।

पुट्ठलाभिय-पृष्टलाभिक-पुं० । पृष्टस्यैव हे साधो ! किं ते दीयते इत्यादिप्रश्नितस्य यो लाभ स यस्यास्ति स तथा । औ० । तथाविधभिक्षाभिग्रहग्राहिणि साधौ सूत्र०२श्रु०२ अ० ।

पुट्ठवागरण-पृष्टव्याकरण-न० । प्राश्निकानां सूत्रितानां सकृद् द्विर्वाऽभिधानरूपायां भाषायाम् , पञ्चा० १८ विव० ।

पुट्ठसेणियापरिकम्म-पृष्टश्रेणिकापरिकर्मन्-न० । दृष्टिवादस्य परिकर्मभेदे, स० १२ अङ्ग ।

पुट्ठापुट्ठ-स्पृष्टाऽस्पृष्ट-न० । दृष्टिवादसूत्रभेदे, स० १२ अङ्ग ।

पुट्ठि पुष्टि-स्त्री० । उपचीयमानपुण्यतायाम, पो० ३ विव० । चित्तस्य शुद्धस्य पुण्योपचये, ध० १ अधि० । परितोषे, षो० ४ विव० । जी० । पुण्योपचयकारणत्वात् श्रयोविशगौणानुज्ञाया भेदे, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

पृष्टि-स्त्री० । " स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे " ॥ ८ ४ ३२९ ॥ इति ऋत उः । प्रा० ४ पाद । पृच्छायाम् , स्था० २ठा० १उ० ।

पुट्ठिम-पुष्टिमत्-पुं० । वाणिजकग्रामे भद्राया सार्थवाह्याः स्वनामख्याते पुत्रे, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपद्य ततश्च्युत्वा महाविदेहे वर्षे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशाना तृतीये तथा षष्ठेऽध्ययने सूचितम् । अनु० ।

पुट्ठिया-पृष्टिजा-स्त्री० । पृष्टि. पृच्छा, ततो जाता पृष्टिजा । प्रश्नजनिते व्यापारे, स्था० २ ठा० ।

स्पृष्टिजा-स्त्री० । स्पृष्टि' स्पर्शनं, ततो जाता स्पृष्टिजा । स्पर्शजे क्रियाभेदे, स्था० २ ठा० । पृष्टं प्रश्न' वस्तु वा तदस्ति कारणत्वेन यस्या सा पृष्टिजा । प्रश्नजनिते क्रियाविशेषे, स्था० २ ठा० ।

स्पृष्टिका-स्त्री० । स्पृष्टिः स्पर्शनं तदस्तिकारणत्वेन यस्यां सा स्पृष्टिका । स्पर्शजे क्रियाविशेषे, स्था० २ ठा० । जीवाऽऽदीन् रागाऽऽदिना पृच्छत. स्पृशतो वा क्रियायाम् , स्था० ५ ठा० २ उ० । " पुट्ठिया किरिया दुविहा पण्णत्ता-जीवपुट्ठिया चेव, अजीवपुट्ठिया चेव । " आव० ४ अ० । " जीवपुट्ठिया जीवाधिगारं पुच्छति । रागदोसेणं अजीवाधिगारं वा । अहवा पुट्ठिय त्ति फरिसणकिरिया, सा वि जीवपुट्ठिया चेव अजीवपुट्ठिया चेव ।" आ० चू० ४ अ० । अहवा पुट्ठिया फरिसणकिरिया, तत्थ जीवफरिसणकिरिया इत्थी पुरिसणपुंसगं वा फरिसति । संघट्टियं ति भणियं होइ । अजीवेसु सुहफरिसित्तं मियलोभादिवत्थुजायं मोत्तिगादि वा रत्नजायं फरिसति ।' आव० १ अ० ।

पुड-पुट-पु० । न० । सम्बद्धे दलद्वये, स० ३० सम० । नि० चू० । कोष्ठपुटे, रा० ।

पुडइअ-देशी-पिण्डीकृतार्थे, दे० ना० ६ वर्ग ५४ गाथा ।

पुडग पुटक-न० । खल्लके, वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पुडपाग-पुटपाक-पुं० । कुष्ठिकानां कणिकाऽऽवेष्टितानामग्निना पचने,पाकविशेषनिष्पन्ने औषधविशेषे च । ज्ञा० १ श्रु०१३अ० ।

पुडभेयण-पुटभेदन-न० । " नाणा दिसाऽऽगयाणं, भिज्जति पुडा उ जत्थ भंडाणं । पुडभेयणं तयं ॥१॥ "
नानाप्रकाराभ्यो दिग्भ्य आगतानां भाण्डानां कुङ्कुमाऽऽदीनां

पुटा पचविक्रयार्थो भिद्यन्ते तत्पुटभेदनम् । क्रयाणकवाणिज्यप्रधाने नगरे, बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० ।

पुडाइणी-देशी-नलिन्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ५५ गाथा ।

पुडिंग-देशी-विन्दु-वदनयोः, दे० ना० ६ वर्ग ८० गाथा ।

पुढवादिघट्टणादि-पृथिव्यादिघट्टनादि-पुं० । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतु-पञ्चेन्द्रियाणा संघट्टनपरितापापद्रावणेषु, पञ्चा० १५ विव० ।

पुढवी-पृथिवी-स्त्री० । " उद्दत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । " पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत् " ॥ ८ । १ । ८८ ॥ इति मध्येकारस्याऽकारः । प्रा० १ पाद । " निशीथपृथिव्योर्वा " ॥ ८ । १ । २१६ ॥ इति थस्य ढः । प्रा० १ पाद । आधारकाठिन्यगुणे महाभूते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । ग० । गन्धतन्मात्रात्पृथिवीगन्धरसरूपस्पर्शशब्दवती । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । मृत्तिकायाम्, भ० १५ श० । सूत्र० । भुवि, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

नरकपृथिव्यः-

रायगिहे०जाव एवं वयासी-कइ णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रयणप्पभा० जाव अहे सत्तमा । भ० १३ श० १ उ० ।

अष्टमस्थाने, " ईसिप्पभारा पुढवी " इत्यधिकमष्टमा । स्था० १० ठा० । ( एता नरकपृथिव्यो ' णरग ' शब्दे चतुर्थभागे १६०४ पृष्ठे व्याख्याताः । गोत्राण्यासा ' णरग ' शब्दे चतुर्थभागे १६०४ पृष्ठे व्याख्यातानि )

पृथिवी चलेत्-

तिहिं ठाणेहिं देसेहिं पुढवी चलेज्जा । तं जहा-अहे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उराला पोग्गला णिवत्तमाणा देसं पुढवीए चलेज्जा, तए णं ते उराला पोग्गला णिवत्तमाणा देसं पुढवीए चलेज्जा, महोरए वा महिड्ढिए० जाव महेसक्खे, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे उम्मज्जणिमज्जियं करेमाणे देसं पुढवीए चलेज्जा, णागसुवण्णाण वा संगामंसि वट्टमाणंसि देसं पुढवीए चलेज्जा, इच्चेएहिं ठाणेहिं केवलकप्पा पुढवीए चलेज्जा । तं जहा-अहे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए गुप्पेज्जा, तए णं से घणवाए गुविए समाणे घणोदहिमेएज्जा, से घणोदहीए एइए समाणे केवलकप्पं पुढविं चालेज्जा, देवे वा महिड्ढिए० जाव महेसक्खे तहारूवस्स समणस्स माहणस्स वा इड्ढिं जुतिं जसं बलं वीरियं पुरिसक्कारपरक्कमं उवदंसेमाणे केवलकप्पं पुढविं चालेज्जा, देवासुरसंगामंसि वा वट्टमाणंसि केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा, इच्चेएहिं तिहिं ।

स्पष्टं केवलं देश इति भाग पृथिव्या रत्नप्रभाभिधानाया इति । ( अहे त्ति ) अध ( ओरालि त्ति ) उदारा बादरा निपतेयुर्विश्रसापरिणामात् ततो विचटेयुरन्यतो वाऽऽगत्य तत्र लगेयुर्यन्त्रमुक्तमहोपलवत् । ( तए ण ति ) ततस्ते निपतन्तो देश पृथिव्याश्चलयेयुरिति । पृथिवीदेशश्चलेदिति, महोरगः व्यन्तरविशेष ॥१॥ (महिड्ढिए) परिवाराऽऽदिना यावत्करणात् ( महज्जुइए ) शरीराऽऽदिदीप्त्या ( महाबले ) प्राणतो महानुभागे वैक्रियाऽऽदिकरणत' । (महेसक्खे) महेश इत्याख्या यस्येति उन्मज्जनिमग्निकामुत्पतनिपता कुतोऽपि, दर्पाऽऽदेः कारणात् कुर्वन् देशं पृथिव्याश्चलयेत्, स च चलेदिति ॥ २ ॥ नागकुमाराणा सुपर्णकुमाराणा च भवनपतिविशेषाणां परस्परं संग्रामे वर्त्तमाने जायमाने सति ( देसं ति ) देशश्चलेदिति । ( इच्चेएहिं इत्यादि ) निगमनमिति ॥ ३ ॥ पृथिव्या देशस्य चलनमुक्तमधुना समस्तायाम्तदाह-( तिहीत्यादि ) स्पष्ट, किन्तु केवलेव केवलकल्पा, ईषदूनता चेह न विवक्ष्यते, अत' परिपूर्णेत्यर्थः । परिपूर्णप्राया चेति पृथिवी भूः । ( अहे त्ति ) अधोघनवातस्तथाविधपरिणामो वातविशेषो गुप्येत व्याकुलो भवेत्क्षुभ्येदित्यर्थः । तत स गुप्त' सन् घनोदधि तथाविधपरिणामजलसमूहलक्षणमेजयेत् कम्पयेत् । ( तए णं ति ) । ततोऽनन्तरं स घनोदधिरेजितः कम्पितः सन् केवलकल्पा पृथिवीं चालयेत्, सा च चलेदिति । देवो वा ऋद्धिम्परिवाराऽऽदिरूपा, द्युतिं शरीराऽऽदेर्यशः पराक्रमकृता ख्यातिं बलं शरीरं वीर्यं जीवप्रभवं पुरुषकारं साभिमानव्यवसायनिष्पन्नफलं तमेव पराक्रममिति । बलवीर्याऽऽद्युपदर्शनं हि पृथिव्यादिचलनं विना न भवतीति तद्दर्शयन् तां चलयेदिति । देवाश्च वैमानिका इति असुरा भवनपतयस्तेषा भवप्रत्ययं वैर भवति । अभिधीयते च भगवत्याम्-"किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य, गमिस्संति य ?। गोयमा ! तेसि णं देवाणं भवपच्चइए वेराणुबंधे त्ति । " ततश्च संग्रामः स्यात्तत्र च वर्त्तमाने पृथ्वी चलेत्तत्र तेषां महाव्यायामत उत्पातनिपातसम्भवादिति । (इच्चेएहीत्यादि) निगमनमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

एकैकस्या ३-वलयानि-

एगमेगा णं पुढवी तिहिं वलएहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । तं जहा-घणोदहिवलएणं, घणवायवलएणं, तणवायवलएणं ॥

( एगमेगेत्यादि ) एकैका पृथिवी रत्नप्रभाऽऽदिका सर्वत । किमुक्तं भवति ?-समन्तादथवा दिक्षु विदिक्षु चेत्यर्थ, सम्परिक्षिप्ता वेष्टिता आभ्यन्तरं घनोदधिवलयं तत क्रमेणेतरे तत्र घन स्त्यानो हिमशिलावत् उदधिर्जलनिचय स चासौ स चेति घनोदधिः, स एव वलयमिव वलयं कटकं घनोदधिवलयं, तेन । एवमितरेऽपि, नवर घनश्चासौ वातश्च तथाविधपरिणामोपेतो घनवात एवं तनुवातोऽपि, तथाविधपरिणाम एवेति । भवन्त्यत्र गाथा -

"न वि य फुसंति अलोगं, चउसुं पि दिसासु सव्वपुढवीओ ।
संगहिया वलएहिं विक्खंभं तेसि वोच्छामि ॥ १ ॥
छ च्चेव १ अद्धपंचम २, जोयण अद्धं च ३ हुंति रयणाए ।
उदही १ घण २ तणुवाया, ३ जाहासंखण निद्दिट्ठा ॥२॥
तिभागो १ गाउयं चेव २, तिभागो गाउयस्स य ३ ।
आइधुवे पक्खेवो, अहो अहो जाव सत्तमियं ॥ ३ ॥"

इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । लोष्टाऽऽदिरहितायाम्, दश० ४ अ० । सत्या भामा भामेतिवत् । नदीतटभित्त्यादिरूपायां शुद्धपृथिव्याम्, प्रज्ञा० १ पद । जी० । पृथिवीकायिके सत्त्वे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । सुपार्श्वजिनमातरि, प्रव० ११ द्वार । पश्चिमरुचकवरपर्वतस्य हिमवत्कूटदिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ठा०

आ० क० । जं० । ईशानलोकपालसोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । स्फटिकाऽऽदिपृथ्वी सचित्ता अचित्ता वेति प्रश्ने, उत्तरम्-स्फटिकाऽऽदिपृथ्वी सचित्ता, " फलिहमणिरयणविद्दुम " इति वचनात् रत्नान्यचित्तानि भवन्ति, " सुवएणरययमणिमुत्तियसंखसिलप्पवालरयणाणि अचित्तानि " इत्यनुयोगद्वारसूत्रप्रान्तवचनादिति । १० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

पुढवीकाइय-पृथिवीकायिक-पुं० । पृथिव्येव कायो येषां ते पृथिवीकायिनः,समासान्तविधेस्त एव स्वार्थिककप्रत्ययात् पृथिवीकायिकाः । स्था० २ ठा० १ उ० । पृथिवी काठिन्याऽऽदिलक्षणा प्रतीता,सैव कायः शरीरं येषां ते पृथिवीकाया,,पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिका. स्वार्थे इकप्रत्ययः । पृथिवीकायजीवेषु एकेन्द्रियभेदेषु, प्रज्ञा० १ पद । दश० ।

अथ के ते पृथिवीकायिकाः ?। सूरिराह-

से किं तं पुढविकाइया ?। पुढविकाइया दुविहा पएणत्ता । तं जहा-सुहुमपुढविकाइया य, वादरपुढविकाइया य ।११।

पृथिवीकायिका द्विविधा· प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-सूक्ष्मपृथिवीकायिका वादरपृथिवीकायिकाश्च,सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः वादरनामकर्मोदयाद्वादराः, कर्मोदयजनिते खल्वेते सूक्ष्मवादरत्वेनापेक्षके बदरामलकयोरिव,सूक्ष्माश्च ते पृथिवीकायिकाश्च सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः, चशब्द स्वगतपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदसूचकः, वादराश्च ते पृथिवीकायिकाश्च बादरपृथिवीकायिकाः,अत्रापि चशब्दः स्वगतशर्करावालुकाऽऽदिभेदसंसूचकः,तत्र सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः समुद्गकपर्याप्तप्रक्षिप्तगन्धावयववत् सकललोकव्यापिनो, बादरा प्रतिनियतदेशचारिणः, तच्च प्रतिनियतदेशचारित्वं द्वितीयपदे प्रकटयिष्यते ।

तत्र सूक्ष्मपृथिवीकायिकानां स्वरूपं जिज्ञासुरिदमाह—

से किं तं सुहुमपुढविकाइया ? । सुहुमपुढविकाइया दुविहा पएणत्ता । तं जहा-पज्जत्तसुहुमपुढविकाइया य, अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइया य । सेत्तं सुहुमपुढविकाइया ॥ १२ ॥

अथ के ते सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः ?। सूरिराह सूक्ष्मपृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ता । तद्यथा-पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकाश्च, अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकाश्च । तत्र पर्याप्तिर्नाम आहाराऽऽदिपुद्गलग्रहणपरिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः, स च पुद्गलोपचयादुपजायते। किमुक्तं भवति? उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमसमये ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथाऽन्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्सम्पर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेष· आहाराऽऽदिपुद्गलखलरसरूपताऽऽपादनहेतुर्यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतुः, सा च पर्याप्ति· षोढा-आहारपर्याप्ति ,शरीरपर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्ति·,प्राणापानपर्याप्तिर्भाषापर्याप्तिर्मनः पर्याप्तिश्च। तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः, यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः, यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः , तथा चायमर्थोऽन्यत्रापि भङ्ग्यन्तरेणोक्तः । पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रायोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्तितेन वीर्येण तद्भावनयनशक्तिरिन्द्रियपर्याप्तिरिति । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यान् पुद्गलानादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः, यया तु भाषाप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिः, यया पुनर्मनःप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मनःपर्याप्तिः, एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां संज्ञिवर्जानां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां संज्ञिनां चतुःपञ्चषट्संख्या भवन्ति । उक्तञ्च प्रज्ञापनामूलटीकाकृता-एकेन्द्रियाणां चतस्रो विकलेन्द्रियाणां पञ्च संज्ञिनां षडिति, उत्पत्तिप्रथमसमय एव ता यथातथं सर्वा अपि युगपन्निष्पादयितुमारभ्यन्ते,क्रमेण च निष्ठामुपयान्ति। तद्यथा-प्रथममाहारपर्याप्तिस्ततः शरीरपर्याप्तिस्तत इन्द्रियपर्याप्तिरित्यादि। आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमयमेव निष्पत्तिमुपपद्यते; शेषास्तु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तेन कालेन। अथाऽऽहारपर्याप्ति· प्रथमसमय एव निष्पद्यते इति कथमवसीयते ?, उच्यते-यत आहारपदे द्वितीयोद्देशके सूत्रमिदम्-" आहारपजत्तीए अपजत्तए णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ?। गोयमा ! नो आहारए अणाहारए ।" इति । तत आहारपर्याप्त्याऽपर्याप्तो विग्रहगतावेवोपपद्यते, नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रमागतस्य प्रथमसमय एवाऽऽहारकत्वात् ,तत एकसामयिकी आहारपर्याप्तिनिवृत्तिः। यदि पुनरुपपातक्षेत्रमागतोऽपि आहारपर्याप्त्या पर्याप्तः स्यात्तत एवं सति व्याकरणसूत्रमित्थं भवेत्-" सिय आहारए सिय अणाहारए ।" यथा शरीराऽऽदिपर्याप्तिषु-" सिय आहारए सिय अणाहारए । " इति। सर्वासामपि च पर्याप्तीनां परिसमाप्तिकालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः, पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः "अभ्राऽऽदिभ्यः " ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इति मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः। पर्याप्तकाश्च ते सूक्ष्मपृथिवीकायिकाश्च पर्याप्तकसूक्ष्मपृथिवीकायिकाः। चशब्दो लब्धिपर्याप्तकरणपर्याप्तरूपस्वगतभेदद्वयसूचको, ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्ता अपर्याप्ताश्च ते सूक्ष्मपृथिवीकायिकाश्च अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकाः;चशब्द करणलब्धिनिवन्धनस्वगतभेदद्वयसूचकः । तथाहि-द्विविधा· सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ताः, तद्यथा-लब्ध्या,करणैश्च । तत्र ये अपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते ते लब्ध्यऽपर्याप्तकाः,ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियाऽऽदीनि न तावन्निवर्तयन्ति, अथ चावश्यं निवर्तयिष्यन्ति ते करणाऽपर्याप्ताः । उपसंहारमाह-(से त्तमित्यादि ) त एते सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः ।

तदेवं सूक्ष्मपृथिवीकायिकानभिधाय सम्प्रति बादरपृथिवीकायिकानभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

से किं तं बादरपुढविकाइया ? । बादरपुढविकाइया दुविहा पएणत्ता ? । तं जहा-सएहबादरपुढविकाइया य, खरबादरपुढविकाइया य ॥ १३ ॥

अथ के ते बादरपृथिवीकायिका· ? । सूरिराह-बादरपृथिवीकायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ता· । तद्यथा-श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिकाश्च, खरबादरपृथिवीकायिकाश्च । तत्र श्लक्ष्णा नाम चूर्णितलोष्टकल्पा मृदुपृथिवी तदात्मका जीवा अप्युपचारतः श्लक्ष्णास्ते च ते बादरपृथिवीकायिकाश्च श्लक्ष्ण·

वादरपृथिवीकायिका'। अथवा श्लक्ष्णा च सा वादरपृथिवी च सा काय· शरीर येषा ते श्लक्ष्णवादरपृथिवीकायास्त एव स्वार्थिके कप्रत्ययविधानात् श्लक्ष्णवादरपृथिवीकायिकाः,चश-ब्दो वक्ष्यमाणस्वगतानेकभेदसूचक ,खरा नाम पृथिवी सङ्घात-विशेषं काठिन्यविशेषं वाऽऽपन्ना तदात्मका जीवा अपि ख-रास्ते च ते वादरपृथिवीकायिकाश्च खरवादरपृथिवीका-यिका' । अथवा-पूर्ववत् प्रकारान्तरेण समासः, चशब्द· स्व गतवक्ष्यमाणचत्वारिंशद्भेदसूचक ।

से किं तं सण्हवादरपुढविकाइया ? । सण्हवादरपुढविका-इया सत्तविहा पन्नत्ता । तं जहा-किण्हमत्तिया,नीलमत्तिया, लोहियमत्तिया, हालिद्दमत्तिया, सुकिल्लमत्तिया,पंडुमत्तिया, पणगमत्तिया । से तं सण्हवादरपुढविकाइया ॥ १४ ॥

अथ के ते श्लक्ष्णवादरपृथिवीकायिका ? । सूरिराह-श्ल-क्ष्णवादरपृथिवीकायिका सप्तविधाः प्रज्ञप्ता । तदेव सप्तवि-धत्वं तद्यथेत्यादिनोपदर्शयति-कृष्णमृत्तिका कृष्णमृत्तिका रूपा, एवं नीलमृत्तिका, लोहितमृत्तिका, हारिद्रमृत्तिका, शुक्लमृत्तिका, इत्थं वर्णभेदेन पञ्चविधत्वमुक्तम्, पाण्डु-मृत्तिका नाम देशविशेषे या धूलिरूपा सती पाण्डु इति प्रसिद्धा तदात्मका जीवा अप्यभेदोपचारात् पाण्डुमृत्ति केत्युक्ता । ( पणगमट्टिय त्ति ) नद्यादिपूरप्लाविते देशे नद्यादि पूरेऽपगते यो भूमौ श्लक्ष्णमृदुरूपो जलमलापरपर्याय· प-ङ्कः सा पनकमृत्तिका तदात्मका जीवा अप्यभेदोपचारात् पनकमृत्तिका । निगमनमाह· ( सेत्तं सण्हवायरपुढविका-इया ) सुगमम् ।

से किं तं खरवादरपुढविकाइया ? । खरवादरपुढवि-काइया अणेगविहा पन्नत्ता । तं जहा-

"पुढवी य सक्करा वा-लुया य उवले सिला य लोणू से ।
अय तंब तउय सीसे, रुप्पसुवण्णे य वइरे य ॥ १ ॥
हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला सीसगंजणपवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय, वादरकाए मणिविहाणा ॥ २ ॥
गोमेज्जए य रुयए, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगयमसारगल्ले, भुयमोयग इंदनीले य ॥ ३ ॥
चंदण गेरुय हंसे, पुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पभ वेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ॥ ४ ॥"

जे यावण्णे य तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं असंपत्ता, तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा एतेसिं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं, संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसतस-हस्साइं, पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा । सेत्तं खरवायरपुढवि-काइया, सेत्तं वायरपुढविकाइया, सेत्तं पुढविकाइया । ( सूत्र १५ ) ॥

अथ के ते खरवादरपृथिवीकायिका ? । सूरिराह-ख-रवादरपृथिवीकायिका अनेकविधा प्रज्ञप्ताः, चत्वारिंश-द्भेदा मुख्यतः प्रज्ञप्ता इत्यर्थः । तानेव चत्वारिंशद्भेदानाह-" तं जहा-पुढवी य " इत्यादि गाथाचतुष्टयम् , पृ-थिवीति भामा सत्यभामावत् शुद्धपृथिवी च नदीतटभि-त्त्यादिरूपा चशब्द उत्तरभेदापेक्षया समुच्चये १ शर्करा-ल-घूपलशकलरूपा' २ वालुका सिकताः ३ उपल·-टङ्काऽऽद्यु-पकरणपरिकर्मणायोग्य· पाषाणः ४ शिला-घटनयोग्या देवकुलपीठाऽऽद्युपयोगी महान् पाषाणविशेष' ५ लवणं सा-मुद्राऽऽदि ६ ऊषो-यद्वशादूपरं क्षेत्रम् ७ अयस्ताम्रत्रपुसी-सकरूप्यसुवर्णानि प्रतीतानि १३ वज्रो हीरक १४ हरि-तालहिङ्गुलकमन·शिला' प्रतीता' १७ सीसकं पारदः १८ अञ्जनं सौवीराञ्जनाऽऽदि १९ प्रवालं-विद्रुमम् २० अभ्रप-टलं प्रसिद्धम् २१ अभ्रवालुका-अभ्रपटलमिश्रा वालुका २२ ( वायरकाये इति ) वादरपृथिवीकायेऽमी भेदा इति शेषः , ( मणिविहाणा इति ) चशब्दस्य गम्यमानत्वा-न्मणिविधानानि च--मणिभेदाश्च वादरपृथिवीकायभेदत्वे-न ज्ञातव्याः । तान्येव मणिविधानानि दर्शयति-( गोमि-ज्जए इत्यादि ) गोमेज्जक २३ चः समुच्चये, रुचकः २४ अङ्क २५ स्फटिक' २६ चः पूर्ववत् , लोहिताक्ष २७ मरकत २८ मसारगल्ल २९ भुजमोचक' ३० इन्द्रनील श्च ३१ चन्दनो ३२ गैरिको ३३ हंसगर्भः ३४ पुलकः ३५ सौगन्धिकश्च ३६ चन्द्रप्रभो ३७ वैडूर्यो ३८ जलकान्तः ३९ सूर्यकान्तश्च ४० । तदेवमाद्यगाथया पृथिव्यादयश्चतु र्दशभेदा उक्ता· , द्वितीयगाथयाऽष्टौ हरितालाऽऽदय', तृ-तीयगाथया गोमेज्जकाऽऽदयो नव, तुर्यया गाथया नवेति स-ङ्ख्यया चत्वारिंशत् ४० । ( जे यावण्णे तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा मणिभेदा पद्मरागाऽऽदयस्तेऽपि खरवादरपृथिवीकायत्वेन वेदितव्याः ।(ते समासओ इत्यादि) ते सामान्यतो वादरपृथिवीकायिका· समासतः सङ्क्षेपेण द्विविधा' प्रज्ञप्ता ।तद्यथा-पर्याप्तकाश्च अपर्याप्तकाश्च । तत्र ये· ऽपर्याप्तकास्ते स्वयोग्या· पर्याप्ती· साकल्येनासम्प्राप्ता इति। अथवा असम्प्राप्ता इति विशिष्टान् वर्णाऽऽदीन् अनुपगता· स्तथाहि-वर्णाऽऽदिभेदविवक्षायामेते न शक्यन्ते कृष्णाऽऽदि-वर्णभेदेन व्यपदेष्टुम्। किं कारणमिति चेत् ?,उच्यते-इह शरी-राऽऽदिपर्याप्तिषु परिपूर्णासु सतीषु वादराणा वर्णाऽऽदिविभा-ग प्रकटो भवति नापरिपूर्णासु, ते चापर्याप्ता उच्छ्वासपर्या-प्त्याऽपर्याप्ता एव म्रियन्ते ततो न स्पष्टतरवर्णाऽऽदिविभाग इ-त्याऽपर्याप्ता त्यसम्प्राप्ता इत्युक्तम् । ननु कस्मादुच्छ्वासपर्याप्त्यैवाऽपर्याप्ता म्रियन्ते नोऽर्वाक् शरीरेन्द्रियपर्याप्तिभ्यामपर्याप्ता अपि?। उच्य-ते-तस्मादागामिभवाऽऽयुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्वे एव देहिनो नाब-द्ध्वा,तच्च शरीरेन्द्रियपर्याप्तिभ्या पर्याप्तानां बन्धमायान्ति ना-न्यथा इति । अन्ये तु व्याचक्षते-सामान्यतो वर्णाऽऽदीनस-म्प्राप्ता इति,तच्च न युक्तं,यतः शरीरमात्रभाविनो वर्णाऽऽदयः, शरीरं च शरीरपर्याप्त्या सञ्जात इति(तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा इत्यादि ) तत्र ये ते पर्याप्तका' परिसमाप्तस्वयोग्यसमस्त-पर्याप्तय एतेषा वर्णादेशेन वर्णभेदविवक्षया, एवं गन्धादेशेन रसादेशेन स्पर्शादेशेन सहस्राग्रशः सहस्रसङ्ख्यया विधाना-नि भेदा । तद्यथा-वर्णाः कृष्णाऽऽदिभेदात्पञ्च,गन्धौ सुरभीत-रभेदाद्वौ,रसास्तिक्ताऽऽदय पञ्च,स्पर्शा मृदुकर्कशाऽऽदयोऽष्टौ,

एकैकस्मिंश्च वर्णाऽऽदौ तारतम्यभेदेनानेकेऽवान्तरभेदाः। तथाहि-भ्रमरकोकिलकज्जलाऽऽदिपु तरतमभावादित्यादिरूपतयाऽनेके कृष्णभेदाः,एवं नीलाऽऽदिष्वप्यायोज्यम्। तथा गन्धरसस्पर्शेष्वपि तथा परस्परं वर्णानां संयोगतो धूसरकर्बुरत्वाऽऽदयोऽनेके सङ्ख्याभेदाः,एवं गन्धाऽऽदीनामपि परस्परं गन्धाऽऽदिभिः समायोगादतो भवन्ति, वर्णाऽऽद्यादेशैः सहस्राग्रशो भेदाः। ( संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं इति ) संख्येयानि योनिप्रमुखाणि योनिद्वाराणि शतसहस्राणि। तथाहि-एकैकस्मिन् वर्णे गन्धे रसे स्पर्शे च संवृता योनिः पृथिवीकायिकानां, सा पुनस्त्रिधा-सचित्ता, अचित्ता, मिश्रा च। पुनरेकैका त्रिधा-शीता, उष्णा, शीतोष्णा। शीताऽऽदीनामपि प्रत्येकं तारतम्यभेदादनेकभेदत्वं केवलमेव विशिष्टवर्णाऽऽदियुक्ताः संख्याऽतीता अपि स्वस्थाने व्यक्तिभेदेन योनयो जातिमधिकृत्यैकैव योनिर्गण्यते, ततः संख्येयानि सप्तपृथिवीकायिकानां योनिशतसहस्राणि भवन्ति, तानि च सूक्ष्मबादरगतसर्वसंख्यया सप्त। ( पज्जत्तगनिस्साए इत्यादि ) पर्याप्तनिश्रया अपर्याप्तका व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते, कियन्त इत्याह-यत्रैक पर्याप्तस्तत्र नियमात्तन्निश्रया असंख्येयाः संख्यातीता अपर्याप्तकाः। उपसंहारमाह-( सेत्तमित्यास्यादि ) निगमनत्रयं सुगमम्। प्रज्ञा० १ पद। ( 'पिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२० पृष्ठे सचित्ताऽचित्तमिश्रपृथिवीपिण्डा उक्ताः )।

पृथिवीकायोद्देशः-

पुढवीए निक्खेवो, परूवणा लक्खणं परीमाणं।
उवभोगो सत्थं वे-यणा य वहणा निविची य ॥ ६८ ॥

प्राग् जीवोद्देशके जीवस्य प्ररूपणा किं न कृतेत्येतच्च नाशङ्कनीयं, यतो जीवसामान्यस्य विशेषाऽऽधारत्वाद्विशेषस्य च पृथिव्यादिरूपत्वात्सामान्यजीवस्य चोपभोगाऽऽदेरसभवात् पृथिव्यादिचर्चयैव तस्य चिन्तितत्वादिति। तत्र पृथिव्या नामाऽऽदिर्निक्षेपो वक्तव्यः, प्ररूपणा-सूक्ष्मबादराऽऽदिभेदा, लक्षणं साकारानाकारोपयोगकाययोगाऽऽदिकं, परिमाणम्-संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागमात्राऽऽदिकम्,उपभोग शयनाऽऽसनचङ्क्रमणाऽऽदिक, शस्त्रं स्नेहाम्लक्षाराऽऽदि,वेदनास्वशरीराव्यक्तचेतनानुरूपा सुखदुःखानुभवस्वभावा,वधः-कृतकारितानुमतिभिरुपमर्दनाऽऽदिकः, निवृत्तिः-अप्रमत्तस्य मनोवाक्कायगुप्त्याऽनुपमर्दाऽऽदिकेति समासार्थः।

व्यासार्थं तु निर्युक्तिकृद्यथाक्रममाह-

नामं ठवणा पुढवी, दव्वपुढवी य भावपुढवी य।
एसो खलु पुढवीए, निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ ६९ ॥

स्पष्टा। नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्याऽऽह—

दव्वं सरीरभविओ, भावेण य होइ पुढविजीवो उ।
जो पुढविनामगोयं, कम्मं वेएइ सो जीवो ॥ ७० ॥

तत्र द्रव्यपृथिवी आगमतो, नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नो आगमतस्तु पृथिवीपदार्थज्ञस्य शरीरं जीवापेतं तथा पृथिवीपदार्थज्ञत्वेन भव्यो-बालाऽऽदिः, ताभ्यां विनिर्मुक्तो द्रव्यपृथिवीजीवः-एकभविको बद्धाऽऽयुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, भावपृथिवीजीवः पुनर्यः पृथिवीनामाऽऽदिकर्मोदयेन वेदयति। गतं निक्षेपद्वारम्।

साम्प्रतं प्ररूपणाद्वारम्-

दुविहा य पुढविजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोयम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए,दो चेव य बायरविहाणा ॥ ७१ ॥

पृथिवीजीवा द्विविधाः-सूक्ष्मा बादराश्च। सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः,बादरनामकर्मोदयात् बादराः,कर्मोदयजनितं एवैषां सूक्ष्मबादरत्वं न त्वापेक्षिके बदरामलकयोरिव। तत्र सूक्ष्माः समुद्गकपर्याप्तप्रक्षिप्तगन्धावयववत्सर्वलोकव्यापिनः।

बादरास्तु मूलभेदाद् द्विविधा इत्याह-

दुविहा बायरपुढवी, समासओ सण्हपुढवि खरपुढवी।
सण्हा य पंचवण्णा, अवरा छत्तीसइविहाणा ॥ ७२ ॥

'समासतः' संक्षेपाद् द्विविधा बादरपृथिवी-श्लक्ष्णबादरपृथिवी खरबादरपृथिवी च, तत्र श्लक्ष्णबादरपृथिवी कृष्णनीललोहितपीतशुक्लभेदात्पञ्चधा, इह च गुणभेदाद् गुणभेदोऽभ्युपगन्तव्यः, खरबादरपृथिव्यास्त्वन्येऽपि षट्त्रिंशद्विशेषभेदाः सम्भवन्तीति।

तानाह-

पुढवी य सक्करा वा-लुगा य उवले सिला य लोणूसे।
अय तंव तउय सीसग, रुप्प सुवन्ने य वेरे य ॥७३॥
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सीसगंऽजण पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय, बायरकाए मणिविहाणा ॥७४॥
गोमेज्जए य रुयए, अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय मसारगल्ले, भुयमोयग इंदनीले य ॥ ७५ ॥
चंदप्पभ वेरुलिए, जलकंते चेव सूरकंते य।
एए खरपुढवीए, नामं छत्तीसयं होंति ॥ ७६ ॥

अत्र च प्रथमगाथया पृथिव्यादयश्चतुर्दश भेदाः परिगृहीताः, द्वितीयगाथया त्वष्टौ हरितालाऽऽदयः, तृतीयगाथया दश गोमेधकाऽऽदयः, तुर्यगाथया चत्वारः चन्द्रकान्ताऽऽदयः। अत्र च पूर्वगाथात्रयेण सामान्यपृथिवीभेदाः प्रदर्शिताः, उत्तरगाथाद्वयेन मणिभेदाः प्रदर्शिताः, एता स्पष्टा इति कृत्वा न विवृताः।

एवं सूक्ष्मबादरभेदान् प्रतिपाद्य पुनर्वर्णाऽऽदिभेदेन पृथिवीभेदान् दर्शयितुमाह-

वण्णरसगंधफासे, जोणिप्पमुहा हवंति संखेज्जा।
णेगाइं सहस्साइं, होंति विहाणम्मि एक्विक्के ॥ ७७ ॥

तत्र वर्णाः शुक्लाऽऽदयः पञ्च, रसास्तिक्ताऽऽदयः पञ्च, गन्धौ सुरभिदुरभी,स्पर्शा मृदुकर्कशाऽऽदयः अष्टौ,तत्र वर्णाऽऽदिके एकैकस्मिन्योनिप्रमुखा योनिप्रभृतयः संख्येया भेदा भवन्ति, संख्येयस्थानेकरूपत्वाद्विशिष्टसंख्यार्थमाह-अनेकानि सहस्राण्येकैकस्मिन्वर्णाऽऽदिके विधाने भेदे भवन्ति, योनितो गुणतश्च भेदानामिति। एतच्च सप्तयोनिलक्षप्रमाणत्वात् पृथिव्या एवं भावनीयमिति। उक्तं च प्रज्ञापनायाम्-"तत्थ णं" (१५) इत्यादि। (तच्चाऽस्मिन्नेव भागे ९७४पृष्ठे दर्शितम्) इह च संवृतयोनयः पृथिवीकायिका उक्ताः, सा पुनः सचित्ता अचित्ता मिश्रा वा, तथा पुनश्च शीता उष्णा शीतोष्णा वेत्येवमादिका द्रष्टव्येति।

एतदेव भूयो निर्युक्तिकृत् स्पष्टतरमाह—

वण्णम्मि य एक्केक्के, गंधम्मि रसम्मि तह य फासम्मि ।
नाणत्ती कायव्वा, विहाणए होइ एक्किक्कं ॥ ७८ ॥

वर्णाऽऽदिके एकैकस्मिन्विधाने भेदे सहस्राग्रशो नानात्वं विधेयम्,तथाहि-कृष्णो वर्ण इति सामान्यं,तस्य च भ्रमराङ्गारकोकिलगवलकज्जलाऽऽदिषु प्रकर्षाप्रकर्षविशेषाद्भेदः कृष्णः कृष्णतर. कृष्णतम इत्यादि,एवं नीलाऽऽदिष्वप्यायोज्यं,तथा रसगन्धस्पर्शेषु सर्वत्र पृथिवीभेदा वाच्या.। तथा-वर्णाऽऽदीनां परस्परसंयोगाद्धूसरकेसरकर्बुराऽऽदिवर्णान्तरोत्पत्तिरेवमुत्प्रेक्ष्य वर्णाऽऽदीना प्रत्येकं प्रकर्षाप्रकर्षतया परस्परानुवेधेन च बहवो भेदा वाच्याः ।

पुनरपि पर्याप्तकाऽऽदिभेदाद्भेदमाह—

जे बायरे विहाणा, पज्जत्ता तत्तिया अपज्जत्ता ।
सुहुमा वि होंति दुविहा, पज्जत्ता चेव अपजत्ता ॥७९॥

यानि बादरपृथिवीकाये विधानानि भेदा. प्रतिपादितास्तानि यावन्ति पर्याप्तकाना तावन्त्येवापर्याप्तकानामपि, अत्र भेदाना तुल्यत्व द्रष्टव्यं न तु जीवाना,यत एकपर्याप्तकाऽऽश्रयेणासंख्येया अपर्याप्तका भवन्ति, सूक्ष्मा अपि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विविधा एव, किं तु पर्याप्तकनिश्रया पर्याप्तका' समुत्पद्यन्ते,यत्र चैकोऽपर्याप्तकस्तत्र नियमादसंख्येया' पर्याप्तका. स्यु.। पर्याप्तिस्तु-" आहारसरीरिंदिय-ऊसासवओमणोऽहिनिव्वत्ती। होति जतो दलियाओ, करणं पइ सा उ पज्जत्ती ॥१॥ " जन्तु' समुत्पद्यमान. पुद्गलोपादानेन करणं निर्वर्तयति तेन च करणविशेषेणाऽऽहारमवगृह्य पृथग् खलरसाऽऽदिभावेन परिणतिं नयति स तादृक्करणविशेष आहारपर्याप्तिशब्देनोच्यते, एवं शेषपर्याप्तयोऽपि वाच्या., तत्रैकेन्द्रियाणामाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासाभिधानाश्चतस्रो भवन्ति,एताश्चान्तर्मुहूर्तेन जन्तुरादत्ते, अनाप्तपर्याप्तिरपर्याप्तकोऽवाप्तपर्याप्तिस्तु पर्याप्तक इति,अत्र च पृथिव्येव कायो येषामिति विग्रह ।

यथा सूक्ष्मबादराऽऽदयो भेदा. सिद्ध्यन्ति तथा प्रसिद्धभेदेनोदाहरणेन दर्शयितुमाह—

रुक्खाण गुच्छाणं, गुम्माण लयाण वल्लिवलयाणं ।
जह दीसइ नाणत्तं, पुढविकाए तहा जाण ॥ ८० ॥

यथा वनस्पतेर्वृक्षाऽऽदिभेदेन स्पष्ट नानात्वमुपलभ्यते, तथा पृथिवीकायिकेऽपि जानीहि,तथा वृक्षा -चूताऽऽदयो गुच्छा वृन्ताकीसल्लकीकर्पास्यादय',गुल्मानि-नवमालिकाकोरण्टकाऽऽदीनि, लता.-पुन्नागाशोकलताऽऽद्या., वल्ल्यस्त्रपुषीवालुङ्कीकोशातक्याद्या , वलयानि-केतकीकदल्यादीनि ।

पुनरपि वनस्पतिभेददृष्टान्तेन पृथिव्या भेदमाह—

ओसहि तण सेवाले, पणगविहाणे य कंद मूले य ।
जह दीसइ नाणत्तं, पुढवीकाए तहा जाण ॥ ८१ ॥

यथा हि वनस्पतिकायस्य ओषध्यादिको भेद एवं पृथिव्या अपि द्रष्टव्यः। तत्र ओषध्य शाल्याऽऽद्या , तृणानि दर्भाऽऽदीनि, सेवालं जलोपरि मलरूपं, पनक काष्ठाऽऽदावुल्लीविशेष पञ्चवर्ण', कन्द. सूरणकन्दादि', मूल-मुशीराऽऽदीति ।

एते च सूक्ष्मत्वान्नैकद्व्यादिका' समुपलभ्यन्ते, यत्संख्यास्तूपलभ्यन्ते तद्दर्शयितुमाह—

एक्कस्स दोण्ह तिण्ह व,संखेज्जाण व न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं,पुढविजियाणं असंखाणं ॥८२॥

स्पष्टा। कथं पुनरिदमवगन्तव्यं,सन्ति पृथिवीकायिका इति, उच्यते, तदधिष्ठितशरीरोपलब्धेरधिष्ठातरि प्रतीतिर्गवाश्वादाविव इत्येतद्दर्शयितुमाह—

एएहिं सरीरेहिं, पच्चक्खं ते परूविया होंति ।
सेसा आणागेज्झा, चक्खूफासं न जं इंति ॥ ८३ ॥

एभिरसंख्येयतयोपलभ्यमानैः पृथिवीशर्कराऽऽदिभेदाभिन्नै' शरीरैस्ते च शरीरिण शरीरद्वारेण प्रत्यक्षं साक्षात्प्ररूपिताः ख्यापिता भवन्ति , शेषास्तु सूक्ष्मा आज्ञाग्राह्या एव द्रष्टव्या , यतस्ते चक्षु स्पर्श नागच्छन्ति, स्पर्शशब्दो विषयाऽर्थ ।

प्ररूपणाद्वारानन्तर लक्षणद्वारमाह—

उवओगजोग अज्झव-साणे मतिसुय अचक्खुदंसे य ।
अट्ठविहोदयलेसा, सन्नुस्सासे कसाया य ॥ ८४ ॥

तत्र पृथिवीकायाऽऽदीना स्त्यानर्ध्युदयाद्यावती चोपयोगशक्तिरव्यक्ता ज्ञानदर्शनरूपेत्येवमात्मक उपयोगो लक्षणं, तथा योग.-कायाऽऽख्य एक एव, औदारिकतन्मिश्रकार्मणाऽऽत्मको वृद्ध्यष्टिकल्पो जन्तो सकर्मकस्याऽऽलम्बनाय व्याप्रियते, तथाऽध्यवसाया -सूक्ष्मा आत्मन परिणामविशेषा , ते च लक्षणम् , अव्यक्तचैतन्यपुरुषमन.समुद्भूतचिन्ताविशेषा इवानभिलक्ष्यास्तेऽभिगन्तव्या', तथा साकारोपयोगान्त पातिमतिश्रुताज्ञानसमन्विता' पृथिवीकायिका बोद्धव्या , तथा स्पर्शनेन्द्रियेणाचक्षुर्दर्शनानुगता बोद्धव्या , तथा ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽद्यष्टविधकर्मोदयभाजस्तावद्बन्धभाजश्च, तथा लेश्या—अध्यवसायविशेषरूपा कृष्णनीलकापोततैजस्यश्चतस्रस्ताभिरनुगता , तथा दशविधसंज्ञानुगता ,ताश्च आहाराऽऽदिका प्रागुक्ता एव तथा सूक्ष्मोच्छ्वासनि श्वासानुगता'। उक्तं च-" पुढविकाइया णं भंते ! जीवा! आणवन्ति वा, पाणवन्ति वा, ऊससन्ति वा, णीससंति वा ? गोयमा ! अविरहियं संतयं चेव आणवन्ति वा, पाणवन्ति वा,ऊससंति वा, नीससंति वा।" कषाया अपि सूक्ष्मा. क्रोधाऽऽदय । एवमेतानि जीवलक्षणाऽऽद्युपयोगाऽऽदीनि कषायपर्यवसानानि पृथिवीकायिकेषु संभवन्तीति, ततश्चैवंविधजीवलक्षणकलापसमनुगतत्वात् मनुष्यवत् सचित्ता पृथिवीति । ननु च तदिदमसिद्धमसिद्धेन साध्यते, तथाहि-न ह्युपयोगाऽऽदीनि लक्षणानि पृथिवीकायेषु व्यक्तानि समुपलक्ष्यन्ते,सत्यमेतद् ,अव्यक्तानि तु विद्यन्ते, यथा कस्यचित्पुंस' हृत्पूरकव्यतिमिश्रमदिराऽतिपानपित्तोदयाऽऽकुलीकृतान्त करणविशेषस्याव्यक्ता चेतना,न चैतावता तस्याचिद्रूपता,एवमत्राप्यव्यक्तचेतनासंभवोऽभ्युपगन्तव्य.;ननु चात्रोच्छ्वासाऽऽदिकमव्यक्तचेतनालिङ्गमस्ति,न चेह तथाविधं किञ्चिच्चेतनालिङ्गमस्ति नैतदेवम्,इहापि समानजातीयलतोद्भेदाऽऽदिकमर्शोमासाङ्कुरवच्चेतनाचिह्नमस्त्येव,अव्यक्तचेतनाना हि सम्भावितैकचेतनालिङ्गाना वनस्पतीनामिव चेतनाऽभ्युपगन्तव्येति, वनस्पतेश्च चैतन्यं विशिष्टर्तुपुष्पफलप्रदत्वेन स्पष्ट साधयिष्यते च, ततो व्यक्तोपयोगाऽऽदिलक्षणसद्भावात्सचित्ता पृथिवीति स्थितम् ।

ननु चाश्मलताऽऽदेः कठिनपुद्गलाऽऽत्मिकायाः कथश्चेतनत्वमित्यत आह–

अट्ठी जहा सरीर–म्मि अणुगयं चेयणं खरं दिट्ठं ।
एवं जीवाणुगयं, पुढविसरीरं खरं होइ ॥ ८५ ॥

यथाऽस्थि शरीरानुगतं सचेतनं खरं दृष्टमेवं जीवानुगतं पृथिवीशरीरमपीति । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

विप्रतिपत्तिनिरासार्थं पुनराह—

पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता । अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । ( १ सूत्र ) ।

'पुढवी चित्तमतमक्खाया' 'पुढवी' पृथिवी उक्तलक्षणा, चित्तवतीति चित्तं—जीवलक्षणं तदस्या अस्तीति चित्तवती, सजीवेत्यर्थः । पाठान्तरं वा–' पुढवी चित्तमत्तमक्खाया ।' अत्र मात्रशब्दः स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति, ततश्च चित्तमात्रा-स्तोकचित्तेत्यर्थः । तथा च प्रबलमोहोदयात्सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणां, तदभ्यधिकं द्वीन्द्रियाऽऽदीनामिति, 'आख्याता' सर्वज्ञेन कथिता, इयं च–' अनेकजीवा ' अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां पृथिवी देवतेत्येवमादिप्रवचनप्रामाण्यादिति । अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूताऽऽत्मापेक्षयेष्यत एव । यथाहुरेके–" एक एव हि भूताऽऽत्मा,भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव,दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ " अत आह–' पृथक्सत्त्वा ' पृथग्भूताः सत्त्वा-आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा, अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकयाऽनेकजीवसमाश्रितेति भावः । आह–यद्येवं जीवपिण्डरूपा पृथिवी ततस्तस्यामुच्चाराऽऽदिकरणे नियमतस्तदतिपाताद्हिंसकत्वानुपपत्तिरित्यसंभवी साधुधर्म इत्याह–' अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः ' शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहाय–परित्यज्यान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः । दश० ४ अ० ।

साम्प्रतं लक्षणद्वारानन्तरं परिमाणद्वारमाह–

जे बायरपज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते ।
सेसा तिन्नि वि रासी, वीसुं लोया असंखेज्जा ॥ ८६ ॥

तत्र पृथिवीकायिकाश्चतुर्द्धा, तद्यथा-बादरा पर्याप्ताः, अपर्याप्ताश्च । तथा सूक्ष्माः अपर्याप्ताः, पर्याप्ताश्च । तत्र ये बादराः पर्याप्तकास्ते संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागमात्रवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, शेषास्तु त्रयोऽपि राशयः प्रत्येकमसंख्येयाना लोकानामाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, यथानिर्दिष्टक्रमेण चैते यथोत्तरं बहुतरा । यत उक्तम्—
" सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्ता, बादरपुढविकाइया अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्ता असंखेज्जगुणा । "

प्रकारान्तरेणाऽपि राशित्रयस्य परिमाणं दर्शयितुमाह–

पत्थेण व कुडवेण व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वधण्णाइं ।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोया असंखेज्जा ॥ ८७ ॥

यथा प्रस्थाऽऽदिना कश्चित्सर्वधान्यानि मिनुयाद्,एवमसद्भावप्रज्ञापनाङ्गीकरणात् लोकं कुडवीकृत्याऽऽजन्म्योत्कृष्टावगाहनान् पृथिवीकायिकजीवान् यदि मिनोति ततोऽसंख्येयान् लोकान् पृथिवीकायिकाः पूरयन्ति ।

पुनरपि प्रकारान्तरेण परिमाणमाह–

लोगाऽऽगासपएसे, एक्केक्कं निक्खिवे पुढविजीवं ।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोगा असंखिज्जा ॥ ८८ ॥

स्पष्टा ।

साम्प्रतं कालतः प्रमाणं निर्दिदिक्षुः क्षेत्रकालयोः सूक्ष्मबादरत्वमाह–

निउणो य हवइ कालो, तत्तो निउणयरं हवइ खेत्तं ।
अंगुलसेढीमित्ते,ओसप्पिणिओ असंखिज्जा ॥ ८९ ॥

निपुणः सूक्ष्मः कालः समयाऽऽत्मकः,ततोऽपि सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति, यतोऽङ्गुलीश्रेणिमात्रक्षेत्रप्रदेशानां समयापहारेणासंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योऽपक्रामन्तीत्यतः कालात् क्षेत्रं सूक्ष्मतरम् ।

प्रस्तुतं कालतः परिमाणं दर्शयितुमाह–

अणुसमयं च पवेसो, निक्खमणं चेव पुढविजीवाणं ।
काए कायट्ठिइया, चउरो लोगा असंखेज्जा ॥ ९० ॥

तत्र जीवाः पृथिवीकायेऽनुसमयं प्रविशन्ति निष्क्रामन्ति च, एकस्मिन् समये कियतां निष्क्रमः प्रवेशश्च १-२, तथा विवक्षिते च समये कियन्तः पृथिवीकायपरिणताः सम्भवन्ति ३, तथा–कियती च कायस्थितिश्चेत्येते चत्वारो विकल्पा कालतोऽभिधीयन्ते, तत्रासंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाणा समयेनोत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, पृथिवीत्वेन परिणता अप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः, तथा–कायस्थितिरपि मृत्वा मृत्वाऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशपरिमाण कालं तत्र तत्रोत्पद्यन्त इति ।

एवं क्षेत्रकालाभ्यां परिमाणं प्रतिपाद्य परस्परावगाहप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

बायरपुढवीकाइय-पज्जत्तो अन्नमन्नमोगाढो ।
सेसा ओगाहंती, सुहुमा पुण सव्वलोयम्मि ॥ ९१ ॥

बादरपृथिवीकायिकः पर्याप्तो यस्मिन्नाकाशखण्डे अवगाढस्तस्मिन्नेवाऽऽकाशखण्डेऽपरस्यापि बादरपृथिवीकायिकस्य शरीरमवगाढमिति, शेषास्तु अपर्याप्तकाः पर्याप्तकनिश्रया समुत्पद्यमाना अनन्तरप्रक्रियया पर्याप्तकावगाढाऽऽकाशप्रदेशावगाढा , सूक्ष्माः पुनः सर्वस्मिन्नपि लोकेऽवगाढा इति ।

उपभोगद्वारम्–

चंकमणे य ठाणे, निसीयण तुयट्टणे कयकरणे ।
उच्चारे पासवणे, उवगरणाणं तु निक्खिवणे ॥ ९२ ॥
आलेवण पहरण भू–सणे य कयविकए किसीए य ।
भंडाणं पि य करणे, उवभोगविही मणुस्साणं ॥ ९३ ॥
एएहिँ कारणेहिं, हिंसंति पुढविकाइए जीवे ।
सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ॥ ९४ ॥

चङ्क्रमणोर्द्ध्वस्थाननिषीदनत्वग्वर्तनकृतकपुत्रककरणउच्चारप्रश्रवणउपकरणनिक्षेप आलेपनप्रहरणभूषणक्रयविक्रयकृषीकरणभण्डकघट्टमाऽऽदिपूपभोगविधिर्मनुष्याणां पृथिवीकायेन भवतीति । यद्येवं ततः किमित्यत आह–( एएहीत्या-

दि ) एभिश्च कर्मणाऽऽदिभिः कारणैः पृथिवीजीवान् हिंसन्ति ; किमर्थमिति दर्शयति-सातं सुखमात्मनोऽन्वेषयन्तः परदुःखान्यजानानाः कतिपयदिवसरमणीयभोगाऽऽशाकर्षितसमस्तेन्द्रियग्रामा विमूढचेतस इति,परस्य पृथिव्याश्रितजन्तुराशेः दुःखमसातलक्षणं तदुदीरयन्ति-उत्पादयन्तीत्यनेन भूदानजनितशुभफलोदयः प्रत्युक्त इति । अधुना शस्त्रद्वारम्-शस्यतेऽनेनेति शस्त्रम् । तच्च द्विधा-द्रव्यशस्त्रं, भावशस्त्रं च । द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदाद् द्विधैव ।

तत्र समासद्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाऽऽह-

हलकुलियविसकुद्दा-लालित्तियमिगसिंगकट्ठमग्गी य ।
उच्चारे पासवणे, एयं तु समासओ सत्थं ॥ ६५ ॥

तत्र हलकुलिकविषकुद्दालालित्रकमृगशृङ्गकाष्ठाग्न्युच्चारप्रश्रवणाऽऽदिकमेतत्समासतः संक्षेपतो द्रव्यशस्त्रम् ।

विभागद्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाऽऽह-

किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं ॥ ६६ ॥

किञ्चित्स्वकायशस्त्रं पृथिव्येव पृथिव्याः, किञ्चित्परकायशस्त्रमुदकाऽऽदि, तदुभयं किञ्चिदिति भूदकं मिलितं भुव इति । तच्च सर्वमपि द्रव्यशस्त्रं, भावे पुनरसंयमः दुष्प्रयुक्ता मनोवाक्कायाः शस्त्रमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

दव्वं सत्थग्गिविसं-नेहंबिल खारलोणमाईयं ।
भावो उ दुप्पउत्तो, वाया काओ अविरई य ॥ २३० ॥

द्रव्यमिति द्वारपरामर्शः, तत्र द्रव्यशस्त्रं खड्गाऽऽदि, अग्निविषस्नेहाम्लानि प्रसिद्धानि, क्षारलवणाऽऽदीनि अत्र तु क्षारः करीराऽऽदिप्रभवः, लवणं प्रतीतम्, आदिशब्दात् करीषाऽऽदिपरिग्रहः । उक्तं द्रव्यशस्त्रम् । अधुना भावशस्त्रमाह-भावस्तु दुःप्रयुक्तौ वाक्कायौ अविरतिश्च भावशस्त्रमिति, तत्र भावो दुःप्रयुक्त इत्यनेन द्रोहाभिमानेर्ष्याऽऽदिलक्षणो मनोदुःप्रयोगो गृह्यते, वाक्दुःप्रयोगस्तु हिंस्रपरुषाऽऽदिवचनलक्षणः, कायदुःप्रयोगस्तु धावनवल्गनाऽऽदिः, अविरतिस्त्वविशिष्टा प्राणातिपाताऽऽदिपापस्थानकप्रवृत्तिः एतानि स्वपरव्यापादकत्वात्कर्मबन्धनिमित्तत्वाद्भावशस्त्रमिति गाथार्थः ।

इह न भावशस्त्रेणाधिकारः, अपि तु द्रव्यशस्त्रेण, तच्च त्रिप्रकारं भवतीत्याह—

किंची सकायसत्थं, किंची परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे असंजमो सत्थं ॥ २३१ ॥

किञ्चित्स्वकायशस्त्रं यथा कृष्णा मृत्तीलाऽऽदिमृदः शस्त्रम्, एवं गन्धरसस्पर्शभेदे ऽपि शस्त्रयोजना कार्या तथा किञ्चित्परकायेति परकायशस्त्रं यथा पृथ्व्यप्तेजःप्रभृतीनाम् अप्तेजःप्रभृतयो वा पृथिव्याः । तदुभयं किञ्चिदिति किञ्चित्तदुभयं शस्त्रं भवति, यथा कृष्णा मृदुदकस्य स्पर्शरसगन्धाऽऽदिभिः पाण्डुमृदश्च यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति तदाऽसौ कृष्णमृदुदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति, एवं तु तद् द्रव्यशस्त्रं, तुशब्दोऽनेकप्रकारविशेषणार्थः, एतदनेकप्रकारं द्रव्यशस्त्रम्, भाव इति द्वारपरामर्शः, असंयमः शस्त्रं चरणस्येति गाथार्थः । एवं च परिगततायां पृथिव्यामुच्चाराऽऽदि कुर्वतोऽपि नास्ति तदतिपात इत्यहिंसकत्वोपपत्तेः संभवी साधुधर्म इति । एष तावदागमः, अनुमानमप्यत्र विद्यते—सात्मका विद्रुमलवणोपलाऽऽदयः पृथिवीविकाराः, समानजातीयाङ्कुरोत्पत्त्युपलम्भात्, देवदत्तमांसाङ्कुरवत् । एवमागमोपपत्तिभ्यां व्यवस्थितं पृथिवीकायिकानां जीवत्वम् । उक्तं च—

"आगमश्चोपपत्तिश्च, सपूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥
आगमो ह्याप्तवचन-माप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् ॥ २ ॥"

इत्यलं प्रसङ्गेन । दश० ४ अ० ।

वेदनाद्वारमाह-

पायच्छेयण भेयण, जंघोरु तहेव अंगुवंगेसुं ।
जह हुंति नरा दुहिया, पुढविकाए तहा जाण ॥६७॥

यथा पादाऽऽदिकेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु छेदनभेदाऽऽदिकया क्रियया नरा दुःखितास्तथा पृथिवीकायेऽपि वेदना जानीहि ।

यद्यपि पादशिरोग्रीवाऽऽदीन्यङ्गानि पृथिवीकायिकाना न सन्ति तथापि तच्छेदनानुरूपा वेदनाऽस्त्येवेति दर्शयितुमाह—

नत्थि य सिं अंगुवंगा, तयाणुरूवा य वेयणा तेसिं ।
केसिं चि उदीरंती, केसिं चऽतिवायए पाणे ॥६८॥

पूर्वार्द्धं गतार्थं, केषाञ्चित्पृथिवीकायिकाना तदारम्भिणः पुरुषा वेदनामुदीरयन्ति, केषाञ्चित्तु प्राणानप्यतिपातयेयुरिति तथाहि भगवत्यां दृष्टान्त उपात्तो यथा-चतुरन्तचक्रवर्तिनो गन्धपेषिका यौवनवर्तिनी बलवती आर्द्राऽऽमलकप्रमाणं सचित्तपृथिवीगोलकमेकविंशतिकृत्वो गन्धपट्टके कठिनशिलापुत्रकेण पिंष्यात्ततस्तेषा पृथिवीजीवाना कश्चित्संघट्टितः कश्चित्परितापितः कश्चिद्व्यापादितोऽपरः किल तेन शिलापुत्रकेण न स्पृष्टोऽपीति ।

वधद्वारमाह-

पवयंति य अणगारा, ण य तेहिं गुणेहिं जेहिं अणगारा ।
पुढविं विहिंसमाणा, न हु ते वायाहि अणगारा ॥६९॥
अणगारवाइणो पुढ-विहिंसगा निग्गुणा अगारिसमा ।
निद्दोस त्ति य मइला, विरइदुगंछाइ मइलतरा ॥१००॥

आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ( इदं गाथाद्वयम् 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २०७ पृष्ठे व्याख्यातम् )

केई सयं वहंती, केई अन्नेहिँ उ वहाविंती ।
केई अणुमन्नंती, पुढविकायं वहेमाणा ॥ १०१ ॥

स्पष्टा ।

तद्वधे अन्येषामपि तदाश्रिताना वधो भवतीति दर्शयितुमाह—

जो पुढविं समारंभइ, अन्नेऽवि य सो समारभइ काए ।
अनियाए अ नियाए, दिस्से य तहा अदिस्से य ॥१०२॥

यः पृथ्वीकायं 'समारभते' व्यापादयति स 'अन्यानपि' अप्कायद्वीन्द्रियाऽऽदीन् 'समारभते' व्यापादयति, उदुम्बरवटफलभक्षणप्रवृत्त तत्फलान्त प्रविष्टत्रसजन्तुभक्षणवदिति । तथा- (अणियाए य नियाए त्ति) अकारणेन कारणेन च, यदि वा-असङ्कल्पेन संकल्पेन च पृथिवीजन्तून् समारभते तदाऽऽ-

न्यांश्च 'दृश्यान्' दर्शनाऽऽदीन् 'अदृश्यान्' पनकादीन् समारभंते' व्यापादयतीत्यर्थः ।

एतदेव स्पष्टतरमाह-

पुढविं समारभंता, हणंति तन्निस्सिए य बहुजीवे ।
सुहुमे य बायरे य, पज्जत्ते या अपज्जत्ते ॥ १०३ ॥

स्पष्टा। अत्र च सूक्ष्माणां वधः परिणामाशुद्धत्वात्तद्विषय-निवृत्त्यभावेन द्रष्टव्य इति ।

विरतिद्वारमाह-

एवं वियाणिऊणं, पुढवीए निक्खिवंति जे दंडं ।
तिविहेण सव्वकालं, मणेण वायाए काएणं ॥ १०४ ॥

एवमनन्तरोक्तप्रकारानुसारेण पृथिवीजीवान् विज्ञाय तद्वधं कर्मबन्धं च विज्ञाय पृथिवीतो निक्षिपन्ति ये दण्डं-पृथिवीसमारम्भाद् व्युपरमन्ति, ते ईदृशा अनगारा भवन्तीत्युत्तरगाथायां वक्ष्यति, त्रिविधेनेति कृतकारितानुमतिभिः 'सर्वकालं' यावज्जीवमपि मनसा वाचा कायेनेति ।

अनगारभवने उत्कृशेयमाह-

गुत्ता गुत्तीहिं सव्वाहिं, समिया समिईहिं संजया ।
जयमाणगा सुविहिया, एरिसया हुंति अणगारा ॥१०५॥

तिसृभिर्मनोवाक्कायगुप्तिभिर्गुप्ताः,तथा पञ्चभिरीर्यासमित्यादिभिः समिताः, सम्यक्-उत्थानशयनचङ्क्रमणाऽऽदिक्रियासु यता संयता 'यतमाना' सर्वत्र प्रयत्नकारिणः, शोभनं विहितं-सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुष्ठानं येषां ते तथा, ते ईदृशा अनगारा भवन्ति, न तु पूर्वोक्तगुणा पृथिवीकायसमारम्भिणः शाक्याऽऽदय इति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः ।

अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदं सूत्रम्-

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति । ( १४ सूत्र ) आचा० ।

जीवा इति। उक्तं च- "रागद्दोसकसाएहिं, इंदिएहि य पंचहिं । दुहा वा मोहणिज्जेणं, अट्टा संसारिणो जिया ॥१॥" यदि वा-ज्ञानावरणीयादिना शुभाशुभेनाष्टप्रकारेण कर्मणा आर्तः, कः पुनरेवंविध इत्यत आह-लोकयतीति लोकः-एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवराशिरित्यर्थः,अत्र लोकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपर्यायभेदादष्टधा निक्षेपं प्रदर्श्याप्रशस्तभावोदयवर्तिना लोकेनेहाधिकारो वाच्यः, यस्माद्यावानेतः स सर्वोऽपि परिद्यूनो नाम परिपेलवो निस्सारः औपशमिकाऽऽदिप्रशस्तभावहीनः अव्यभिचारिमोक्षसाधनहीनो वेति। स च द्विधा द्रव्यभावभेदात्, तत्र सचित्तद्रव्यपरिद्यूनो जीर्णशरीरः स्थविरकः जीर्णवृक्षो वा, अचित्तद्रव्यपरिद्यूनो जीर्णपटाऽऽदिः, भावपरिद्यून औदयिकभावोदयात् प्रशस्तज्ञानाऽऽदिभावविकलः,कथं विकलः ?, अनन्तगुणपरिहाण्या । तथाहि-पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकेन्द्रियाः क्रमेण ज्ञानविकलाः, तत्र सर्वनिकृष्टज्ञानाः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकाः प्रथमसमयोत्पन्ना इति । उक्तं च-

सर्वनिकृष्टो जीव-स्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण ।
सूक्ष्मनिगोदापर्या-प्तकानां स च भवति विज्ञेयः ॥ १ ॥
तस्मात् प्रभृति ज्ञानवि-वृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् ।
लब्धिनिमित्तैः करणैः, कायेन्द्रियवाग्मनोदृग्भिः ॥ २ ॥"

स च विषयकषायार्त्तः प्रशस्तज्ञानद्यूनः किमवस्थो भवति इति दर्शयति-दुःसंबोध इति दुःखेन संबोध्यते-धर्मचरणप्रतिपत्तिं कार्यते इति दुःसंबोधो, मेतार्यवत् इति, यदि वा- दुःसंबोधो यो बोधयितुमशक्यो, ब्रह्मदत्तवत्, किमित्येवम् ?, यतः ( अविजाणए त्ति ) विशिष्टावबोधरहितः स चैवंविधः किं विदध्यात् इत्याह-अस्मिन् पृथिवीकायलोके प्रव्यथिते प्रकर्षेण व्यथिते,सर्वस्याऽऽरम्भस्य तदाश्रयत्वादिति प्रकर्षार्थः, तत्तत्प्रयोजनतया खननाऽऽदिभिः पीडिते नानाविधशस्त्राद् भीते वा 'व्यथ' भयचलनयोः' इति कृत्वा व्यथितं भीतमिति। ( तत्थ तत्थेति ) तेषु तेषु कृषिखननगृहकरणाऽऽदिषु पृथग्विभिन्नेषु कार्येषु उत्पन्नेषु पश्य इति विनेयस्य लोकाकार्यप्रवृत्तिः प्रदर्श्यते, निजात्मचेष्टया एतादृशेऽपि

सन्ति विद्यन्ते प्राणाः सत्त्वाः पृथग् पृथग्भावेनाङ्गुलासंख्येयभागस्वदेहावगाहनया पृथिव्याऽऽश्रिता.,सिता वा संबद्धा इत्यर्थः,अनेनैतत् कथयति-नैकदेवता पृथिव्यपि तु प्रत्येकशरीरपृथिवीकायाऽऽत्मिकेति,तदेवं सचेतनत्वमनेकजीवाधिष्ठितत्वं च पृथिव्या आविष्कृतं भवतीति । एतच्च ज्ञात्वा तदारम्भनिवृत्तान् दर्शयितुमाह-( लज्जमाणा पुढो पासत्ति ) लज्जा द्विविधा-लौकिकी, लोकोत्तरा च । तत्र लौकिकी स्नुषास्नुभटाऽऽदेः श्वशुरसंग्रामाविषया, लोकोत्तरा सप्तदशप्रकारः संयमः । तदुक्तम्-" लज्जा दया संजम बंभचेर। " इत्यादि । लज्जमाना. संयमानुष्ठानपराः, यदि वा—पृथिवीकायसमारम्भरूपादसंयमानुष्ठानाल्लज्जमाना पृथगिति प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनश्च , अतस्तान् लज्जमानान् पश्येत्यनेन शिष्यस्य कुशलानुष्ठानप्रवृत्तिविषय. प्रदर्शितो भवतीति । कुतीर्थिकास्त्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह-( अणगारा इत्यादि ) न विद्यते अगारं-गृहमेषामित्यनगारा-यतयः स्मो वयमित्येवं प्रकर्षेण वदन्त. प्रवदन्त इति, एके शाक्यादयो ग्राह्यास्ते च वयमेव जन्तुरक्षणपराः क्षपितकषायाज्ञानतिमिरा इति । एवमादिप्रतिज्ञामात्रमनर्थकमारटन्ति, यथा कश्चिदत्यन्तशुचिर्वोद्रश्चतुःषष्टिमृत्तिकास्नायी गोशवस्याशुचितया परित्यागं विधाय पुन. कर्मकरवाक्याच्चर्माऽस्थिपिशितस्नाय्वादेर्यथास्वमुपयोगार्थं सङ्ग्रहं कारितवान् , तथा च तेन शुच्यभिमानमुद्वहताऽपि किं तस्य परित्यक्तमेवमेतेऽपि शाक्याऽऽदयोऽनगारवादमुद्वहन्ति , न चानगारगुणेषु मनागपि प्रवर्त्तते, न च गृहस्थचर्या मनागप्यतिलङ्घयन्ति इति दर्शयति-यदसादिममिति सर्वजनप्रत्यक्षं पृथिवीकायं विरूपरूपैर्नानाप्रकारैः शस्त्रैर्हलकुद्दालखनित्राऽऽदिभिः पृथिव्याश्रयं कर्म-क्रिया समारभमाणा विहिंसन्ति, तथाऽनेन च पृथिवीकायसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारभमाणो व्यापारयन् पृथिवीकायं नानाविधै. शस्त्रै. व्यापादयन्ननेकरूपान् , तदाश्रितानुदकधनस्पत्यादीन् विविधं हिनस्ति, नानाविधैरुपायैर्व्यापादयतीत्यर्थ ।

एवं शाक्याऽऽदीनां पार्थिवजन्तुवैरिणामयनित्वं प्रतिपाद्य साम्प्रतं सुखाभिलाषितया कृतकारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायलक्षणा प्रवृत्तिं दर्शयितुमाह-

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ,अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ ( १५ सूत्र )।

तत्र पृथिवीकायसमारम्भे, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिना परिज्ञानं परिज्ञा, सा प्रवेदितेति। इदमुक्तं भवति-भगवतेदमाख्यातम्-यथैभिर्वक्ष्यमाणै. कारणैः कृतकारितानुमतिभि सुखैषिण. पृथिवीकायं समारभन्ते, तानि चामूनि-अस्यैव जीवितस्य परिपेलवस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं, तथा जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं च स्वसुखलिप्सुर्दु.खद्विड् स्वयमात्मनैव पृथिवीशस्त्रं समारभते, तथाऽन्यैश्च पृथिवीशस्त्रं समारम्भयति, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणानन्यांश्च स एव समनुजानीते, एवमतीतानागताभ्यां मनोवाक्कायकर्मभिरायोजनीयम् ।

तदेवं प्रवृत्तमतेर्यद्भवति तद्दर्शयितुमाह-

तं से अहिआए तं से अबोहीए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इह-मेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थ मारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, से बेमि अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे अप्पेगे पायमब्भे अप्पेगे पायमच्छे अप्पेगे गुप्फमब्भे अप्पेगे गुप्फमच्छे अप्पेगे जघमब्भे २ अप्पेगे जाणुमब्भे २ अप्पेगे ऊरुमब्भे २ अप्पेगे कडिमब्भे २ अप्पेगे णाभिमब्भे २ अप्पेगे उदरमब्भे २ अप्पेगे पासमब्भे २ अप्पेगे पिट्ठिमब्भे २ अप्पेगे उरमब्भे २ अप्पेगे हिययमब्भे २ अप्पेगे थणमब्भे २ अप्पेगे खंधमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे हत्थमब्भे २ अप्पेगे अंगुलिमब्भे २ अप्पेगे णहमब्भे २ अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे हणुमब्भे २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २ अप्पेगे दंतमब्भे २ अप्पेगे जिब्भमब्भे २ अप्पेगे तालुमब्भे २ अप्पेगे गलमब्भे २ अप्पेगे गंडमब्भे २ अप्पेगे कण्णमब्भे २ अप्पेगे णासमब्भे २ अप्पेगे अच्छिमब्भे २ अप्पेगे भमुहमब्भे २ अप्पेगे णिडालमब्भे २ अप्पेगे सीसमब्भे २ अप्पेगे संपसारए, अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति ( १६ सूत्र )

( तं से अहियाए तं से अबोहीए ) तत् पृथिवीकायसमारम्भणं ( से ) तस्य कृतकारितानुमतिभि पृथ्वीशस्त्रं समारभमाणस्याऽऽगामिनि काले अहिताय भवति,तदेव चाबोधिलाभायेति,न हि प्राणिगणोपमर्दनप्रवृत्तानामणीयसाऽपि हितेनाऽऽयत्या योगो भवतीत्युक्तं भवति, य. पुनर्भगवत. सकाशात्तच्छिष्यानगारेभ्यो वा विज्ञाय पृथ्वीसमारम्भं पापाऽऽत्मकं भावयति स एवं मन्यत इत्याह-( ' से तमित्यादि )' ' स ' ज्ञातपृथ्वीजीवत्वेन ' विदितपरमार्थः ' तं ' पृथ्वीशस्त्रसमारम्भमहित सम्यगवबुध्यमान. ' आदानीयं ' ग्राह्यं सम्यग्दर्शनाऽऽदि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य, केन प्रत्ययेनेति दर्शयति-' श्रुत्वा ' अवगम्य साक्षाद्भगवतोऽनगाराणां वा समीपे, तत. ' इह ' मनुष्यजन्मनि ' एकेषा ' प्रतिबुद्धतत्त्वाना साधूना ज्ञातं भवतीति, यत् ज्ञातं भवति तद्दर्शयितुमाह-( एसेत्यादि ) एष पृथ्वीशस्त्रसमारम्भ., खलुरवधारणे, कारणे कार्योपचारं कृत्वा ' नड्वलोदकं पादरोगः ' इति न्यायेनैष एव ग्रन्थः-अष्टप्रकारकर्मबन्ध., तथैष एव पृथ्वीसमारम्भो मोहहेतुत्वान्मोह. -कर्मबन्धविशेषो दर्शनचारित्रभेदोऽष्टविंशतिविध., तथैष एव मरणहेतुत्वान्मार.-आयुष्ककर्मक्षयलक्षण.,तथैष एव नरकहेतुत्वान्नरकः-सीमन्तकाऽऽदिर्भूभाग ,अनेन चासातावेदनीयमुपात्तं भवति, कथं पुन-

रेकप्राणिव्यापादनप्रवृत्तावष्टविधकर्मबन्धं करोतीति, उच्यते-मार्यमाणजन्तुज्ञानावरोधित्वात् ज्ञानाऽऽवरणीयं बध्नात्येवमन्यत्राप्यायोजनीयमिति, अन्यदपि तेषां ज्ञातं भवतीति दर्शयितुमाह-(इच्चत्थमित्यादि) इत्येवमर्थम् आहारभूषणोपकरणार्थं तथा परिवन्दनमाननपूजनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं च 'गृद्धो' मूर्च्छितो 'लोकः' प्राणिगणः, एवंविधेऽप्यतिदुरितनिचयविपाकफले पृथ्वीकायसमारम्भे अज्ञानवशान्मूर्च्छितस्त्वेतद्विधत्त इति दर्शयति-'यद्' यस्माद् 'इमं' पृथ्वीकायं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्म समारभमाणो हिनस्ति, पृथिवीकायसमारम्भेण च पृथिव्येव शस्त्रं स्वकायाऽऽदेः पृथिव्या वा शस्त्रं हलकुद्दालाऽऽदि तत्समारभते, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणश्चान्याननेकरूपान् 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियाऽऽदीन्विविधं हिनस्तीति । स्यादारेका, ये हि न पश्यन्ति न शृण्वन्ति न जिघ्रन्ति न गच्छन्ति कथं पुनस्ते वेदनामनुभवन्तीति श्रद्धातव्यम् ?, अमुष्यार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तमाह—( से बेमीत्यादि ) सोऽहं पृष्टो भवता पृथिवीकायवेदनां ब्रवीमि, अथवा-' से ' इति तच्छब्दार्थे वर्तते, यत्त्वया पृष्टस्तदहं ब्रवीमि, अपिशब्दो यथानामशब्दार्थे, यथा नाम कश्चिज्जात्यन्धो बधिरो मूकः कुष्ठी पङ्गुः अनभिनिर्वृत्तपाण्याद्यवयवविभागो मृगापुत्रवत् पूर्वकृताशुभकर्मोदयाद्धिताहितप्राप्तिपरिहारविमुखोऽतिकरुणां दशां प्राप्तः, तमेवंविधमन्धाऽऽदिगुणोपेतं कश्चित्कुन्ताग्रेण (अब्भे इति) आभिन्द्यात् तथाऽपरः कश्चिदन्धमाच्छिन्द्यात्, स च भिद्यमानाऽऽद्यवस्थायां न पश्यति न शृणोति मूकत्वान्नोच्चैरारटीति, किमेतावता तस्य वेदनाऽभावो जीवाऽभावो वा शक्यो विज्ञातुम् ?, एवं पृथिवीजीवा अप्यव्यक्तचेतना जात्यन्धबधिरमूकपङ्ग्वादिगुणोपेतपुरुषवदिति, यथा वा पञ्चेन्द्रियाणां परिस्पष्टचेतनानाम् ( अप्पेगे पायमब्भे इति ) यथा नाम कश्चित्पादमाभिन्द्यादाच्छिन्द्याद्वेत्येवं गुल्फाऽऽदिष्वप्यायोजनीयमिति दर्शयति, एवं जङ्घाजानूरुकटीनाभ्युदरपार्श्वपृष्ठोरोहृदयस्तनस्कन्धबाहुहस्ताङ्गुलिनखग्रीवाहनुकौष्ठदन्तजिह्वाताल्गलगण्डकर्णनासिकाऽक्षिभ्रूललाटशिरःप्रभृतिष्ववयवेषु भिद्यमानेषु छिद्यमानेषु वा वेदनोत्पत्तिर्लक्ष्यते, एवमेषामुत्कटमोहाज्ञानभाजां स्त्यानर्द्ध्याद्युदयादव्यक्तचेतनानामव्यक्तैव वेदना भवतीति ग्राह्यम् । अत्रैव दृष्टान्तान्तरं दर्शयितुमाह-( अप्पेगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए ) यथा नाम कश्चित् 'सम' एकीभावेन प्रकर्षेण प्राणानां मारणम्-अव्यक्तत्वाऽऽपादनं कस्यचित् कुर्यात्, मूर्च्छामापादयेदित्यर्थः, तथाऽवस्थं च यथा नाम कश्चिदपद्रापयेत् प्राणेभ्यो व्यपरोपयेत् न चासौ तां वेदनां स्फुटमनुभवति, अस्ति चाव्यक्ता तस्याऽसौ वेदनेति, एवं पृथिवीजीवानामपि द्रष्टव्यमिति ।

पृथिवीकायिकानां जीवत्वं प्रसाध्य तथा नानाविधशस्त्रसंपाते वेदनां चाऽऽविर्भाव्य अधुना तद्वधे बन्धं दर्शयितुमाह-

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि ( १७ सूत्र० ) ।

अत्र पृथिवीकाये शस्त्रं द्रव्यभावाभिन्नं, तत्र द्रव्यशस्त्रं स्वकायपरकायोभयरूपं, भावशस्त्रं त्वसंयमो दुःप्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणः, एतद् द्विविधमपि शस्त्रं समारभमाणस्येति एते खननकृष्याद्यात्मकाः समारम्भाः बन्धहेतुत्वेनापरिज्ञाता अविदिता भवन्ति, एतद्विपरीतस्य परिज्ञाता भवन्तीति दर्शयितुमाह-( एत्थेत्यादि ) अत्र पृथिवीकाये द्विविधमपि शस्त्रमसमारभमाणस्याऽव्यापारयत इति, एते प्रागुक्ताः कर्मसमारम्भाः परिज्ञाता विदिता भवन्ति, अनेन च विरत्यधिकारः प्रतिपादितो भवतीति, तामेव विरतिं स्वनामग्राहमाह-( तमित्यादि ) तं पृथिवीकायसमारम्भे बन्धं परिज्ञाय असमारम्भे वा अबन्धमिति मेधावी कुशलः एतत् कुर्यादिति दर्शयति-नैव पृथिवीशस्त्रं द्रव्यभावभिन्नं समारभेत, नापि तद्विषयोऽन्यैः समारम्भः कारयितव्यः, न चान्यान् पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् इति । एवं मनोवाक्कायकर्म्मभिरतीतानागतकालयोरप्यायोजनीयम् इति, ततश्चैवं कृतनिवृत्तिरसौ मुनिरिति व्यपदिश्यते, न शेष इति दर्शयन्नुपसंजिहीर्षुराह-( जस्सेत्यादि ) यस्य विदितपृथिवीजीववेदनास्वरूपस्यैते पृथिवीविषयाः कर्म्मसमारम्भाः खननकृष्याद्यात्मकाः कर्म्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, हुरवधारणे, स एव मुनिर्द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञातं कर्म-सावद्यानुष्ठानमष्टप्रकारं वा कर्म येन स परिज्ञातकर्मा, नाऽपरः शाक्याऽऽदिः, ब्रवीमि पूर्ववदिति शस्त्रपरिज्ञायां द्वितीय उद्देशकः समाप्तः । गतः पृथिव्युद्देशकः । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

सुत्तं-

जे भिक्खू पुढविकायस्स कलमायं वि समारंभइ, समारंभंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ एवं० जाव वणप्फइकायस्स १२।

कलमाय त्ति स्तोकप्रमाणं, अहवा कलो त्ति चणओ तप्पमाणमेत्तंपि जो विराहेति तस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा, एवं कढिणा उक्का ते तेउवाउपत्तेयवणस्सतिसु दाव पुण आउक्काए विंदुमित्त, वाउक्काए कलमेत्तं कहं ?, भण्णति—वत्थिपूरणो लब्भति ।

जे भिक्खु पुढविकायं, कलवंधमप्पमाणमेत्तमवी ।
आऊ तेऊ वाऊ, पत्तेयवणं विराहेज्जा ॥५७॥

कलधन्न त्ति चणगं धन्नं, सेसं कंठं ।

जा एते काए विराधेति-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराहणा तहा दुविहं ।
पावति जम्हा तेणं, एते उ पदे विवज्जेज्जा ॥५८॥

पुढवाऽऽदिविराहेंतस्स संजमविराहणा । आहारे त्ति पंडुरोगाऽऽदिसंभवे आयविराहणा, सेसं कंठं । सीसो पुच्छति-कलमेत्तहीणतरे विराधिते किं चउलहु न भवति आणादिया य दोसा ? ।

गुरू भणति-

कलमेत्तेणं चरिमे, एकम्मि वि घातियम्मि चउलहुगा ।

कलमेत्तं पुण जायइ, वणवज्जाणं असंखेहिं ॥६०॥

निमिमित्तं नेमं प्रदर्शनमित्यर्थः । वणस्सइकायमेत्तं वज्जि-त्ता सेसो गहियकायाणं असंखेज्जाणं जीवसरीराणं स-मुदयसमितिसमागमेणं कलमेत्तं लब्भति ।

इमं वणस्सतिकाए सरीरप्पमाणं—

एगस्स अणेगा चेव, कलाउ हीणाहिगं पि तु तरूणं ।
जा ता अद्धामलगा,लहुगा दुगुणा ततो वुड्ढी ॥ ६१ ॥

एगस्स पत्तेयवणस्सतिकाइयस्स असंखेज्जाण वा क-लधन्नप्पमाणमेत्तं सरीरं भवति, कलमेत्ताओ हीणं अहियं वा विराहेतस्स जाव अद्धामलगमेत्तं ताव चउलहुं, अ-ओ परं दुगुणवुड्ढीए जाव अट्ठवीसाहिए से चरिमं अणंते चउगुरुगाऽऽदि नेयव्वं ।

कारणे विराहेज्जा-

वितियं पढमे वितिए, पंचमे अद्धाणकज्जमादीसु ।
गेलण्णादी तइए, चउत्थकाए य सेहादी ॥ ६२ ॥

' वितियं अववादपदं, पढमे त्ति पुढविकाए, वितिए वि आ-उक्काइए. पंचमम्मि त्ति वणस्सतिकाइए, एएसु तिसु काएसु अद्धाणकज्जिमादिया जे पेढवत्तिया कारणा ते इहं दट्ठव्वा। तइए त्ति तेउक्काए जे दीहगिलाणादिकारणा भणिया, चउ त्थे त्ति वाउक्काइए जे सेहादिया कारणा भणिया ते इहं दट्ठव्वा । नि० चू० १२ उ० ।

संप्रति विनेयजनानुग्रहाय शेषवक्तव्यतासंग्रहार्थ-मिदं संग्रहणीगाथाद्वयमाह—

सरीरोगाहणसंघयण-संठाण कसाय होंति सण्णाओ ।
लेसिंदिय संघाए, सण्णी वेए य पज्जत्ती ॥१॥
दिट्ठी दंसण नाणे, जोगुवओगे तहा किमाहारे ।
उववाय ठिई समुग्घा-ए चयण गईरागई चेव ॥२॥

प्रथमतः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाना शरीराणि वक्तव्यानि, तदनन्तरमवगाहना, ततः संहननं, संहननानन्तरं संस्थानं, तत. कषायाः, ततः कति भवन्ति संज्ञा इति वक्तव्यं,ततो लेश्या , तदनन्तरमिन्द्रियाणि, तत. संघाताः, ततः किं संज्ञिनोऽसंज्ञिनो वा इति वक्तव्यम्, तदनन्तरं वेदो वक्तव्यः, ततः पर्याप्तयो यथा कति पर्याप्तयः सूक्ष्मपृथिवीकायिकानामित्यादि, पर्याप्तिग्रहणमुपलक्षणं, तेन तत्प्रतिपक्षभूता अपर्याप्तयोऽपि वक्तव्या इति द्रष्टव्यम्,तदनन्तरं दृष्टिर्वक्तव्या, ततो दर्शनं, तदनन्तरं ज्ञानं, ततो योग.,तत उपयोग , तथा किमाहारमाहारयन्ति सूक्ष्मपृथिवीकायिका इत्यादि वक्तव्यं, तदनन्तरमुपपात., ततः स्थिति., तत. समुद्घातः समुद्घातमधिकृत्य मरणं वक्तव्यमित्यर्थः, तदनन्तरं च्यवन, ततो गत्यागती इति सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिर्द्वाराणि ।

शरीरद्वारव्याख्यानार्थमाह—

तेसि णं भंते ! जीवा णं कति सरीरया पण्णत्ता ?। गोयमा ! तओ सरीरा पण्णत्ता । तं जहा—ओरालिए, तेयए, कम्मए ।

तेषा सूक्ष्मपृथिवीकायिकाना,णमिति वाक्यालंकारे,भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् !,कति शरीराणि प्रज्ञप्तानि ?।( जी०) त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि। इह शरीराणि पञ्च भवन्ति।तद्यथा— औदारिकम्,वैक्रियम्,आहारकम्,तैजसम्,कार्म्मणं च।(जी०) एतेषां पञ्चाना शरीराणा मध्ये यानि त्रीणि शरीराणि सूक्ष्मपृथिवीकायिकानां तानि नामग्राहमुपदर्शयति-(तं जहा-ओरालियेत्यादि ) वैक्रियाऽऽहारके तु तेषा न संभवः, स्वभावत एव तल्लब्धिशून्यत्वात् । जी० १ प्रति० ।

के महालए णं भंते ! पुढवीसरीरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमवाउसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमवाउसरीराणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमतेउसरीरे असंखेज्जाणं सुहुमतेउकाइयसरीराणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमआउसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमआउकाइयसरीराणं जावइया सरीरा से एगे सुहुमपुढवीसरीरे, असंखेज्जाणं सुहुमपुढवीकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे वादरे वाउसरीरे असंखेज्जाणं वादरवाउकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे वादरतेउसरीरे, असंखेज्जाणं वादरतेउकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे वादरआउसरीरे, असंखेज्जाणं वादरआउकाइयाणं जावइया सरीरा से एगे वादरपुढवीसरीरे, ए महालएणं गोयमा ! पुढवीसरीरे पण्णत्ते । भ० १९ श० ३ उ० ।

अधुनाऽवगाहनाद्वारमाह—

तेसि णं भंते ! जीवाणं के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलासंखेज्जतिभागं,उक्कोसेण वि अंगुलअसंखेज्जइभागं ।

सुगमम् , नवरं जघन्यपदोत्कृष्टपदयोस्तुल्यश्रुतावपि जघन्यपदादुत्कृष्ट पदमधिकमवसातव्यम् । जी० १ प्रति० ।

प्रकारान्तरेण पृथिवीकायिकावगाहनाप्रमाणमाह—

पुढवीकाइयस्स णं भंते ! के महालया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! से जहाणामए रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स वण्णगपेसिया तरुणी वलवं जुगवं जुवा अप्पायंका वण्णओ० जाव निपुणसिप्पोवगया णवरं चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयणिचियगत्तकाया न भण्णइ. सेसं तं चेव० जाव निपुणसिप्पोवगया तिक्खाए वइरामईए सण्हकरणीए तिक्खेणं वइरामएणं वट्टा वरएणं एगं महपुढवीकाइयं जतुगोलासमाणं गहाय पडिसाहरिय पडिसाहरिय पडिसंखिय पडिसंखिय०जाव इणामेव त्ति कट्टु त्ति सत्तक्खुत्तो उ पीसेज्जा. तत्थ णं गोयमा ! अत्थेगइया पुढवीकाइया आलद्धा अत्थेगइया णो आलद्धा अत्थेगइया संघट्टिया अत्थेगइया णो संघट्टिया अत्थेगइया परियाविया अत्थेगइया णो परियाविया अत्थेगइया उद्दविया अत्थेगइया णो उद्दविया अत्थेगइया पिट्ठा अत्थेगइया णो पिट्ठा । पुढवीकाइयस्स णं गोयमा ! ए महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ॥

( पुढवीत्यादि ) ( वण्णगपेसिय त्ति ) चन्दनपेषिका तरुणीति प्रवर्द्धमानवयाः बलवती सामर्थ्यवती ( जुगवं ति ) सुषमदुःषमाऽऽदिविशिष्टकालवती (जुवाणि त्ति) वयःप्राप्ता ( अप्पायंक त्ति ) नीरोगा ( वण्णश्रो त्ति ) अनेनेदं सूचितम् (थिरग्गहत्था दढपाणिपायपिट्ठंतरोरुपरिणयेत्यादि)इह च वर्णके-"चम्मेट्ठदुहण" इत्याद्यप्यधीतं तदिह न वाच्यम्,एतस्य विशेषणस्य स्त्रिया असम्भवात्। अत एवाऽऽह-(चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयनिचियगत्तकाया न भरणइ त्ति)। तत्र च चर्मेष्टकाऽऽदीनि व्यायामक्रियायामुपकरणानि तैः समाहतानि व्यायामप्रवृत्तावत एव निचितानि च घनीभूतानि गात्राण्यङ्गानि यत्र स तथाविधः कायो यस्या सा तथेति। ( तिक्खाए त्ति )। परुषायाम्। ( वइरामइए त्ति ) वज्रमय्यां, सा हि नीरन्ध्रा कठिना च भवति। (सराहकरणीए त्ति) श्लक्ष्णानि चूर्णरूपाणि द्रव्याणि क्रियन्ते यस्यां सा श्लक्ष्णकरणी पेषणशिला, तस्याम् ( वट्टावरएणं ति ) वर्त्तकवरेण लोष्टकप्रधानेन ( पुढविकाइयं ति ) पृथिवीकायिकसमुदयम्। ( जतुगोलासमाणं ति ) डिम्भरूपक्रीडनकजतुगोलकप्रमाणं, नातिमहान्तमित्यर्थः ( पडिसाहरिएत्यादि ) इह प्रतिसंहरणं शिलायाः शिलापुत्रकाच्च संहृत्य पिण्डीकरणं, प्रतिसंक्षेपण तु शिलायाः पतत संरक्षणम् ( अत्थेगइय त्ति ) सन्त्येके केचन ( आलिद्ध त्ति ) आश्लिष्टाः शिलायां शिलापुत्रके च लग्नाः ( संघट्टिय त्ति ) संघर्षिता । ( परिताविय त्ति ) पीडिताः ( उद्दविय त्ति ) मारिताः, कथं यतः ( पिट्ठ त्ति ) पिष्टाः ( ए महालिय त्ति ) ( एवं मह तीइ त्ति ) महति वाति सूक्ष्मेति भावः, यतो विशिष्टायामपि पेषणसामग्र्या केचिन्न पिष्टा नैव च छुप्ता अपीति ( अत्थेगइया संघट्टिय त्ति )। भ० १६ श० ३ उ०।

संहननद्वारमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंघयणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! छेवट्ठसंघयणा पण्णत्ता ।

तेषां भदन्त ! जीवाना शरीरकाणि किंसंहननानि प्रज्ञप्तानि ?। संहननं नाम अस्थिनिचयरूपं, तच्च षोढा । जी० १ प्रति०। ( संहननभेदान् 'संहनन' शब्दे वक्ष्यामि )

संप्रतिसंस्थानद्वारमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंठिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! मसूरचंदसंठिया पण्णत्ता ।

सुगमम्। नवरं (मसूरचंदसंठिया इति) मसूरकाऽऽख्यधान्यविशेषस्य यत् चन्द्राऽऽकृति दलं स मसूरकचन्द्रस्तद्वत् संस्थितानि। अत्रायं भावार्थः-इह जीवाना षट्संस्थानानि समचतुरस्राऽऽदीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि तेषामाद्यानि पञ्च संहननानि मसूरचन्द्रकाऽऽकारेण संभवन्ति,तल्लक्षणायोगात्तत इदं मसूरचन्द्राऽऽकारं संस्थानं हुण्डं प्रतिपत्तव्यं, सर्वत्रासंस्थितत्वरूपस्य तल्लक्षणस्य योगात्, जीवाना संस्थानान्तराभावाच्च। आह च मूलटीकाकारः-संस्थानं मसूरचन्द्रकसंस्थितमपि हुण्डं सर्वत्रासंस्थितत्वेन तल्लक्षणयोगात् जीवानां संस्थानान्तराभावाच्चेति। गतं संस्थानद्वारम्।

अधुना कषायद्वारमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति कसाया पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता। तं जहा-कोहकसाते,माणकसाते, मायाकसाते, लोभकसाए ।

तेषां भदन्त ! सूक्ष्मपृथिवीकायिकानां कति कषायाः प्रज्ञप्ताः ?। तत्र कषाया नाम कष्यन्ते हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारस्तमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः क्रोधाऽऽद्यः परिणामविशेषाः। तथा चाऽऽह-(गोयमेत्यादि) सुगमं, नवरं क्रोधोऽप्रीतिपरीणामो, मानो गर्वपरिणामो, माया निकृतिरूपा, लोभो गार्ध्यलक्षणः। एते च क्रोधाऽऽदयोऽमीषां मन्दपरिणामतयाऽनुपदर्शितबाह्यशरीरविकारा एवानाभोगतस्तथा तथा वैचित्र्येण भवन्तः प्रतिपत्तव्याः। गतं कषायद्वारम्।

संज्ञाद्वारमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सन्नाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-आहारसण्णा० जाव परिग्गहसण्णा ।

सुगमम्, नवरं संज्ञानं संज्ञा,सा च द्विधा-ज्ञानरूपा,अनुभवरूपा च। तत्र ज्ञानरूपा मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात्पञ्चप्रकारा, तत्र केवलसंज्ञा क्षायिकी,शेषास्तु क्षायोपशमिकाः अनुभवसंज्ञा स्वकृताऽऽसातवेदनीयाऽऽदिकर्मविपाकोदयसमुत्थाः इह प्रयोजनमनुभवसंज्ञया ज्ञानसंज्ञायास्तद्वारेण परिगृहीतत्वात्,तत्राऽऽहारसंज्ञानाम आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयप्रभवः खल्वात्मपरिणामविशेषः, एष चासातवेदनीयादयादुपजायते। भयसंज्ञा भयवेदनीयोदयजनितत्रासपरिणामरूपा, परिग्रहसंज्ञा लोभविपाकोदयसमुत्थमूर्छापरिणामरूपा मैथुनसंज्ञा वेदोदयजनितो मैथुनाभिलाषः। एताश्चतस्रोऽपि मोहनीयोदयप्रभवाः, एता अपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकानामव्यक्तरूपाः प्रतिपत्तव्याः। गतं संज्ञाद्वारम्।

अधुना लेश्याद्वारमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! तओ लेसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-कण्हलेसा,नीललेसा, काउलेसा ।

सुगमम् । नवरं लिश्यते श्लिष्यते आत्मा कर्म्मणा सहाऽनयेति लेश्या कृष्णाऽऽदिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभरूपः परिणामः। उक्तं च-" कृष्णाऽऽदिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते॥१॥" सा च षोढा। तद्यथा-कृष्णलेश्या १ नीललेश्या २ कापोतलेश्या ३ तेजोलेश्या ४ पद्मलेश्या ५ शुक्ललेश्या ६ आसां च स्वरूपं जम्बूफलखादकपट्पुरुषदृष्टान्तेनैवमवसेयम्।

" पंथा उवरिब्भट्ठा, छप्पुरिसा अडविमज्झयारम्मि।
जम्बूतरुस्स हेट्ठा, परोप्परं ते विचिंतेति ॥ १ ॥
निम्मूलखंधसाला, गोच्छे पक्के य सडियाइं।
जह एएसिं भावा, तह लेसाओ वि नायव्वा ॥ २ ॥"

अमीषां च सूक्ष्मपृथिवीकायिकानामतिसंक्लिष्टपरिणामत्वादेवेभ्यः सूक्ष्मेष्वनुत्पादाच्चाद्या एव तिस्रः कृष्णनीलकापोतरूपा लेश्या न शेषा इति। गतं लेश्याद्वारम्।

इदानीमिन्द्रियद्वारमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति इंदियाइं पन्नत्ताइं ?। गोयमा ! एगे फासिंदिए पन्नत्ते ।

इन्द्रियं नाम-इदु परमैश्वर्ये. "उदितः" इति नुम्। इन्दनादिन्द्र आत्मा सर्वोपलब्धिरूपपरमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गं चिह्नम विनाभावि इन्द्रियम् इन्द्रियमिति निपातनसूत्राद्रूपनिष्पत्तिः। तत्पञ्चधा। तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियं, चक्षुरिन्द्रियं,घ्राणेन्द्रियं, रसेन्द्रियं, स्पर्शनेन्द्रियं च। एकैकमपि द्विधा-द्रव्येन्द्रियम्, भावेन्द्रियं च। द्रव्येन्द्रियं द्विधा-निर्वृत्तिरूपम्, उपकरणरूपं च। निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्ट संस्थानविशेष। साऽपि द्विधा-बाह्या, अभ्यन्तरा च। तत्र बाह्या कर्णपर्प्पटिकाऽऽदिरूपा। सा च विचित्रा न प्रतिनियतरूपतया निर्देष्टुं शक्यते। (जी०) गोयमेत्यादि सुगमम्। गतमिन्द्रियद्वारम्।

अधुना समुद्घातद्वारम्-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पन्नत्ता ?। गोयमा ! तओ समुग्घाया पन्नत्ता। तं जहा-वेयणासमुग्घाते, कसायसमुग्घाए, मारणंतियसमुग्घाते ।

अनेकसमुद्घातसंभवे सूक्ष्मपृथिवीकायिकानां तान् पृच्छति-(तेसि णं भंते ! इत्यादि) सुगमम्। नवरं वैक्रियाऽऽहारकतैजसकेवलिसमुद्घाताभावे वैक्रियाऽऽदिलब्ध्यभावात्। गत समुद्घातद्वारम्।

संप्रति संज्ञिद्वारमाह-

ते णं भंते ! जीवा किं सन्नी, असन्नी ?। गोयमा ! नो सन्नी, असन्नी ।

ते सूक्ष्मपृथिवीकायिका ,णमिति वाक्यालंकारे,भदन्त ! जीवा. किं संज्ञिनोऽसंज्ञिनो वा.संज्ञानं संज्ञा भूतभवद्भाविभावपर्यालोचनं,सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः विशिष्टस्मरणाऽऽदिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थ , यथोक्तमनोविज्ञानविकला असंज्ञिन । अत्र भगवान्निर्वचनमाह-गौतम ! नो संज्ञिन, किं त्वऽसंज्ञिन , विशिष्टमनोलब्ध्यभावात्, हेतुवादोपदेशेनाऽपि न संज्ञिनोऽभिसंधारणपूर्विकाया करणशक्तेरभावात्, इहासंज्ञिन इत्येव सिद्धे नोसंज्ञिन इति प्रतिषेध , प्रतिषेधप्रधानो विधिरयमिति ज्ञापनार्थं प्रनिपाद्यस्य प्रकृतिसावद्यत्वादिति। गतं संज्ञिद्वारम्।

वेदद्वारमाह-

ते णं भंते ! जीवा किं इत्थिवेयया,पुरिसवेयया, नपुंसगवेयया ?। गोयमा ! नो इत्थिवेया, णो पुरिसवेया, नपुंसगवेया ॥

(इत्थिवेयगा इति) स्त्रिया वेदो येषा ते स्त्रीवेदका., एवं पुरुषवेदका नपुंसकवेदका इत्यपि भावनीयम्, तत्र स्त्रिया पुंस्यभिलाष स्त्रीवेद , पुस स्त्रियामभिलाष पुंवेद., उभयोरप्यऽभिलाषो नपुंसकवेद.। भगवानाह-गौतम ! न स्त्रीवेदका., न पुरुषवेदका , नपुंसकवेदका . संमूर्च्छिमत्वात्। "नारकसंमूर्च्छिमा नपुंसकाः" इति भगवद्वचनम्।

पर्याप्तिद्वारमाह—

तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ पज्जत्तीओ पन्नत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि पज्जत्तीओ पन्नत्ताओ । तं जहा-आहारपज्जत्ती, सरीरपज्जत्ती, इंदियपज्जत्ती, आणापाणुपज्जत्ती ॥

" तेसि णं भंते !" इत्यादि सुगमम्।

पर्याप्तिप्रतिपक्षा अपर्याप्तिस्तन्निरूपणार्थमाह-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति अपज्जत्तीओ पन्नत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि अपज्जत्तीओ पन्नत्ताओ । तं जहा-आहारअपज्जत्ती ०जाव आणापाणुअपज्जत्ती ।

(तेसि णं भंते ! इत्यादि) पाठसिद्धम्, नवरं चतस्रोऽप्यपर्याप्तयः करणापेक्षया द्रष्टव्याः लब्ध्यपेक्षया त्वेकैव प्राणापानपर्याप्तिर्यस्मादेवमागम इह लब्ध्यऽपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाक्, यत् आगामिभवाऽऽयुर्बध्वा म्रियन्ते सर्वे एव देहिन, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तानामेव बन्धमायान्तीति ॥

सम्प्रति दृष्टिमाह-

ते णं भंते ! जीवा किं सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ? । गोयमा ! णो सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, णो सम्मामिच्छादिट्ठी ॥

(तेसि णं इत्यादि) सुगमम्, नवरं सम्यग् अविपरीता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषा ते सम्यग्दृष्टय , मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्येषा भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् ते मिथ्यादृष्टय , एकान्तसम्यग्रूपमिथ्यारूपप्रतिपत्तिविकला सम्यग्मिथ्यादृष्टय। निर्वचनसूत्रम्-(गोयमेत्यादि) सुगमम्। नवरं सम्यग्दृष्टित्वप्रतिषेधः सास्वादनसम्यक्त्वस्यापि तेषामसंभवात्, सास्वादनसम्यक्त्ववतां तन्मध्ये उत्पादाभावात्, ते ह्यतिसंक्लिष्टपरिणामा सास्वादनसम्यक्त्वपरिणामस्तु मनाक् शुभ इति तन्मध्ये सास्वादनसम्यक्त्ववतामुत्पादाभावः, अत एव सदा संक्लिष्टपरिणामत्वात्तेषा सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वपरिणामोऽपि न भवति, नाऽपि सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सन् तन्मध्ये उत्पद्यते " न सम्ममिच्छो कुणइ कालं।" इति वचनात्। गतं दृष्टिद्वारम्।

अधुना दर्शनद्वारम्—

ते णं भंते ! जीवा किं चक्खुदंसणी,अचक्खुदंसणी,ओहिदंसणी, केवलदंसणी ?। गोयमा ! नो चक्खुदंसणी,अचक्खुदंसणी, नो ओहिदंसणी, नो केवलदंसणी ।

दर्शनं नाम सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि सामान्यावबोधस्तच्चतुर्धा। तद्यथा-चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्,अवधिदर्शनं,केवलदर्शनं च। तत्र सामान्यविशेषाऽऽत्मके वस्तुनि चक्षुषा दर्शनं रूपसामान्यपरिच्छेदश्चक्षुर्दर्शनम्,अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिः दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनम्,अवधेरेव दर्शनं रूपिसामान्यग्रहणम् अवधिदर्शनं,केवलमेव दर्शनं सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं, तत्र किमेषां दर्शनमिति जिज्ञासुः पृच्छति-(ते णं भंते ! इत्यादि) पाठसिद्धम्। नवरमचक्षुर्दर्शनित्वं स्पर्शनेन्द्रियापेक्षया शेषदर्शनप्रतिषेधः सुज्ञात। गतं दर्शनद्वारम्।

ज्ञानद्वारमाह-

ते णं भंते ! जीवा किं नाणी अन्नाणी ?। गोयमा ! नो नाणी अन्नाणी नियमा दुअन्नाणी । तं जहा-मतिअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य ॥

अज्ञानित्वं मिथ्यादृष्टित्वात्, तदपि चाज्ञानित्वं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानापेक्षया। तथा चाऽऽह-(नियमा दुअण्णाणीत्यादि) पाठसिद्धं.नवरं तदपि मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं च शेषजीववादराऽऽदिराश्यपेक्षयाऽत्यन्तमल्पीयः प्रतिपत्तव्यम्। यत उक्तम्-

" सर्वनिकृष्टो जीव-स्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण।
सूक्ष्मनिगोदापर्या-प्तानां स च भवति विज्ञेयः ॥ १ ॥
तस्मात् प्रभृति ज्ञानवि-वृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम्।
लब्धिनिमित्तैः करणैः, कायेन्द्रियवाङ्मनोदृग्भिः॥ २ ॥ "

योगद्वारमाह-

ते णं भंते! जीवा किं मणजोगी वइजोगी कायजोगी?। गोयमा! नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी ॥

पाठसिद्धम्। गतं योगद्वारम्।

अधुनोपयोगद्वारम्-

ते णं भंते! जीवा किं सागारोवउत्ता,अणागारोवउत्ता?। गोयमा! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि।

तत्रोपयोगो द्विविधः-साकारोऽनाकारश्च। तत्राऽऽकार: प्रतिवस्तु प्रतिनियतो ग्रहणपरिणामः, " आकारो उ विसेसो " इति वचनात्। सह आकारो यस्य येन वा स साकारो ज्ञानपञ्चकमज्ञानत्रिकम्,यथोक्ताऽऽकारविकलोऽनाकारः,स चक्षुर्दर्शनाऽऽदिको दर्शनचतुष्टयाऽऽत्मकः। उक्तं च-"ज्ञानाज्ञाने पञ्च, त्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः। चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः॥ १॥" तत्र क एषामुपयोग इति जिज्ञासु पृच्छति-(ते णं भंते! इत्यादि) निगदसिद्धं,नवरं साकारोपयोगोपयुक्ता मत्यज्ञानश्रुताज्ञानोपयोगापेक्षया अनाकारोपयोगोपयुक्ता असंख्यातप्रदेशाऽऽत्मका अचक्षुर्दर्शनोपयोगापेक्षया इति।

साम्प्रतमाहारद्वारमाह-

ते णं भंते! जीवा किमाहारमाहारेंति?। गोयमा! दव्वओ अणंतपदेसियाइं दव्वाइं,खेत्ततो असंखेज्जपदेसोगाढाइं, कालओ अण्णयरसमयट्ठितीयाइं, भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं।

सूक्ष्मपृथिवीकायिका ,णमिति वाक्यालंकारे। ( भंते ' जीवा किमाहारेंति)भदन्त! ते जीवाः किमाहारमाहारयन्ति?।भगवानाह-गौतम! द्रव्यतो द्रव्यस्वरूपपर्यालोचनायाम् अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याणि अन्यथा ग्रहणासंभवात्,न हि संख्यातप्रदेशाऽऽत्मका असंख्यातप्रदेशाऽऽत्मका वा स्कन्धा जीवस्य ग्रहणप्रायोग्या भवन्ति, क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढानि, कालतोऽन्यतरस्थितिकानि जघन्यस्थितिकानि, मध्यमस्थितिकानि उत्कृष्टस्थितिकानि चेति भावार्थः। स्थितिरिहाऽऽहारयोग्यस्कन्धपरिणामत्वे भावस्थानं प्रत्येतव्यमाह मूलटीकाकारः-कालतोऽन्यतरस्थितीनि तद्भावावस्थानेन जघन्याऽऽदिरूपां स्थितिमधिकृत्येति भावतो वर्णवन्ति गन्धवन्ति रसवन्ति स्पर्शवन्ति, प्रतिपरमाण्वेकैकवर्णगन्धरसद्विस्पर्शभावात्। जी० १ प्रति०। भ०।

जाइं भावओ वण्णमंताइं आहारेंति ताइं किं एगवण्णाइं आहारेंति, दुवण्णाइं आहारेंति, तिवण्णाइं आहारेंति, चउवण्णाइं आहारेंति पंचवण्णाइं आहारेंति?। गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइं पि दुवण्णाइं पि तिवण्णाइं पि चउवण्णाइं पि पंचवण्णाइं पि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कालाइं पि आहारेंति० जाव सुक्किलाइं पि आहारेंति। जाइं वण्णओ कालाइं पि आहारेंति ताइं किं एगगुणकालाइं पि आहारेंति० जाव अणंतगुणकालाइं आहारेंति?। गोयमा! एगगुणकालाइं पि आहारेंति० जाव अणंतगुणकालाइं पि आहारेंति, एवं० जाव सुक्किलाइं। जाइं भावतो गंधमंताइं आहारेंति ताइं किं एगगंधाइं आहारेंति दुगंधाइं आहारेंति?। गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च एगगंधाइं पि आहारेंति दुगंधाइं पि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च सुब्भिगंधाइं पि आहारेंति दुब्भिगंधाइं आहारेंति। जाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं आहारेंति ताइं किं एगगुणसुब्भिगंधाइं आहारेंति० जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं आहारेंति?। गोयमा! एगगुणसुब्भिगंधाइं पि आहारेंति० जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं पि आहारेंति, एवं दुब्भिगंधाइं पि रसा जहा वण्णा। जाइं भावतो फासमंताइं आहारेंति ताइं किं एगफासाइं आहारेंति० जाव अट्ठफासाइं आहारेंति?। गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च नो एगफासाइं आहारेंति नो दोफासाइं आहारेंति नो तिफासाइं आहारेंति, चउफासाइं आहारेंति, पंचफासाइं पि ०जाव अट्ठफासाइं पि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइं पि आहारेंति०जाव लुक्खाइं पि आहारेंति। जाइं फासतो कक्खडाइं पि आहारेंति ताइं किं एगगुणकक्खडाइं पि आहारेंति०जाव अणंतगुणकक्खडाइं आहारेंति?। गोयमा! एगगुणकक्खडाइं पि आहारेंति० जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारेंति, एवं० जाव लुक्खा नेयव्वा।

प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-(गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च त्ति) तिष्ठन्ति विशेषा अस्मिन्निति स्थानं सामान्यम् एकवर्णं द्विवर्णं त्रिवर्णमित्यादिरूपं तस्य मार्गणमन्वेषणं तत् प्रतीत्य, सामान्यचिन्तामाश्रित्येति भावार्थः। एकवर्णान्यपि द्विवर्णान्यपीत्यादि सुगमं, नवरं तेषामनन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानामेकवर्णत्वं द्विवर्णत्वमित्यादि व्यवहारनयमतापेक्षया; निश्चयनयमतापेक्षया त्वनन्तप्रादेशिकः स्कन्धोऽल्पीयानपि पञ्चवर्ण एव प्रतिपत्तव्यः। ( विहाणमग्गणं पडुच्चेत्यादि ) विविक्तमितरव्यवच्छिन्नं, धानं पोषणं स्वरूपस्य यत्तत् प्रतीत्य सामान्यचिन्तामाश्रित्य विधानं विशेषः कृष्णो नील इत्यादि प्रतिनियतो वर्णविशेष इति यावत्, तस्य मार्गणं तत् प्रतीत्य कालवर्णान्यप्याहारयन्तीत्यादि सुगमं,नवरमेतदपि व्यवहारतः प्रतिपत्तव्यम्,निश्चयतः पुनरवश्यं तानि पञ्चवर्णान्येव। (जाइं वणतो कालवण्णाइं इत्या-

दि ) सुगमम् । यावत्-(अनंतगुणलुक्खिलाइं पि आहारेंति ) एवं गन्धरसस्पर्शविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि ।

जाइं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं आहारेंति ताइं भंते ! किं पुट्ठाइं आहारेंति, अपुट्ठाइं आहारेंति ?। गोयमा ! पुट्ठाइं आहारेंति, नो अपुट्ठाइं आहारेंति । ताइं भंते ! किं ओगाढाइं आहारेंति, अणोगाढाइं आहारेंति ?। गोयमा ! ओगाढाइं आहारेंति, नो अणोगाढाइं आहारेंति । ताइं भंते ! किमणंतरोगाढाइं आहारेंति, परंपरोगाढाइं आहारेंति ?। गोयमा ! अणंतरोगाढाइं आहारेंति, नो परंपरोगाढाइं आहारेंति ।

( जाइं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं इत्यादि ) यानि भदन्त ! अनन्तगुणरूक्षाणि , उपलक्षणमेतत् एकगुणकालाऽऽदीन्यपि आहारयन्ति, तानि स्पृष्टानि आत्मप्रदेशस्पर्शविषयाण्याहारयन्ति, उतास्पृष्टानि ? । भगवानाह स्पृष्टानि, नो अस्पृष्टानि, तत्राऽऽत्मप्रदेशैः संस्पर्शनमात्मप्रदेशाऽवगाढक्षेत्राद् बहिरपि संभवति । ततः प्रश्नयति-( जाइं भंते ! इत्यादि ) यानि भदन्त ! स्पृष्टान्याहारयन्ति तानि किमवगाढानि आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावस्थायीनि, उत अनवगाढानि आत्मप्रदेशावगाढाऽवगाहनक्षेत्राद् बहिरवस्थितानि ? । भगवानाह-गौतम ! अवगाढान्याहारयन्ति नाऽनवगाढानि । यानि भदन्त ! अवगाढान्याहारयन्ति, तानि किमनन्तरावगाढानि । किमुक्तं भवति ?-येष्वात्मप्रदेशेषु यान्यव्यवधानेनावगाढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येवाहारयन्ति, उत परम्परावगाढानि एकद्वित्र्याद्यात्मप्रदेशव्यवहितानि ?, भगवानाह-गौतम ! अनन्तरावगाढानि, न परम्परावगाढानि ।

ताइं भंते ! किं अणूइं आहारेंति, बायराइं आहारेंति ?। गोयमा ! अणूइं पि आहारेंति, बायराइं पि आहारेंति ।

यानि भदन्त ! अनन्तरावगाढान्याहारयन्ति , तानि भदन्त ! अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याणि किमणूनि स्तोकान्याहारयन्ति, उत बादराणि प्रभूतप्रदेशोपचितानि ? । भगवानाह-अणून्यपि आहारयन्ति, बादराण्यपि आहारयन्ति, इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेवाऽऽहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया प्रज्ञापनामूलटीकाकारेणाऽपि व्याख्याते, इतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिते ।

ताइं भंते ! किं उड्ढं आहारेंति, अहे आहारेंति, तिरियं आहारेंति ?। गोयमा ! उड्ढं पि आहारेंति, अहे वि आहारेंति, तिरियं पि आहारेंति ।

भदन्त ! यानि अणून्यपि आहारयन्ति तानि किमूर्ध्वप्रदेशस्थितान्याहारयन्ति, अधस्तिर्यग्वा ? । इहोर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं यावति क्षेत्रे सूक्ष्मपृथिवीकायिकोऽवगाढस्तावत्येव क्षेत्रे तदपेक्षया परिभावनीयम् ? । भगवानाह-ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति ऊर्ध्वप्रदेशावगाढान्यप्याहारयन्ति , एवमधोऽपि, तिर्यगपि ।

ताइं भंते ! किं आदिं आहारेंति, मज्झे आहारेंति, पज्जवसाणे आहारेंति ?। गोयमा ! आदिं पि आहारेंति, मज्झे वि आहारेंति, पज्जवसाणे वि आहारेंति ।

यानि भदन्त ! उर्ध्वमप्याहारयन्ति, अधोऽप्याहारयन्ति, तिर्यगप्याहारयन्ति, तानि किमादावाहारयन्ति, मध्ये वाऽऽहारयन्ति, पर्यवसाने वा आहारयन्ति ?। अयमत्राभिप्रायः-सूक्ष्मपृथिवीकायिका हि अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदुपभोगोचितानि गृह्णन्ति ततः संशयः-किमुपभोगोचितस्य कालस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्याऽऽदौ प्रथमसमये आहारयन्ति, उत मध्यसमये, आहोस्वित् ! पर्यवसाने पर्यवसानसमये ?। भगवानाह-गौतम ! आदावपि, मध्येऽपि, पर्यवसानेऽपि आहारयन्ति । किमुक्तं भवति ?-उपभोगोचितकालस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्याऽऽदिमध्यावसानसमयेष्वाहारयन्ति इति ।

ताइं भंते ! किं सविसए आहारेंति, अविसए आहारेंति ?। गोयमा ! सविसए आहारेंति, नो अविसए आहारेंति ।

यानि भदन्त ! आदावपि मध्येऽपि पर्यवसानेऽप्याहारयन्ति तानि भदन्त ! किं स्वविषयाणि स्वोचिताऽऽहारयोग्यानि आहारयन्ति, उत अविषयाणि स्वोचिताऽऽहाराऽयोग्यानि आहारयन्ति ?। भगवानाह-गौतम ! स्वविषयाण्याहारयन्ति, नो अविषयाणि ।

ताइं भंते ! किं आणुपुव्विं आहारेंति, अणाणुपुव्विं आहारेंति ?। गोयमा ! आणुपुव्विं आहारेंति, नो अणाणुपुव्विं आहारेंति । ताइं भंते ! कति दिसं आहारेंति ?। गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं, उस्सण्णकारणं पडुच्च वण्णतो कालनील० जाव सुकिलाइं, गंधओ सुब्भिगंधाइं दुब्भिगंधाइं, रसतो० जाव तित्तमहुराइं, फासओ कक्खडमउय० जाव निद्धलुक्खाइं, तेसिं पोराणे वण्णगुणे० जाव फासगुणे वि परिणामतित्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अन्ने अपुव्वे वण्णगुणे गंधगुणे० जाव फासगुणे उप्पाएत्ता आतसरीरतोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति ।

यानि भदन्त ! स्वविषयाण्याहारयन्ति तानि भदन्त ! किमानुपूर्व्या आहारयन्ति, अनानुपूर्व्या आहारयन्ति ?। आनुपूर्वी नाम यथासन्नम् । ( जी० ) ( आनुपूर्वीभेदाः ' आणुपुव्वी ' शब्दे द्वितीयभागे १३० पृष्ठादारभ्य दर्शिताः ) तद्विपरीता अनानुपूर्वी । भगवानाह-गौतम ! आनुपूर्व्या, सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे वेदितव्या, प्राकृतत्वात्, यथा आचाराङ्गे-" अगणिं पुट्ठा " इत्यत्र आहारयन्ति, नो अनानुपूर्व्या ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्वा यथासन्नं नानिक्रम्याऽऽहारयन्तीति भावः । यानि भदन्त ! आनुपूर्व्या आहारयन्ति तानि भदन्त ! ( किं तिदिसिं ति ) तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् व्यवस्थितानि आहारयन्ति, चतुर्दिशि पञ्चदिशि षड्दिशि वा । इह लोकनिष्कुटपर्यन्ते जघन्यपदेऽपि त्रिदिग्व्यवस्थितमेव प्राप्यते, तद्विदिग्व्यवस्थितमेकदिग्व्यवस्थितं वा अतस्त्रिदिश आरभ्य प्रश्नः कृतः ?। भगवानाह-गौतम ! ( निव्वाघाएणं छद्दिसिं इत्यादि ) व्याघातो नाम-अलोकाऽऽकाशेन प्रतिस्खलनं व्याघातस्याऽभावो निर्व्याघातं, शब्दप्रथादा(प्रवादा)वव्ययं पूर्वपदार्थे नित्यमव्ययीभाव इत्यव्ययीभाव ,तेन तृतीयाया इति विकल्पेनाम्भावविधानात् पक्षेऽत्राम्भावः नियमादवश्यंतया षड्दिशि व्यवस्थितानि

पञ्चभ्यो दिग्भ्य आगतानीति भावः। द्रव्याण्याहारयन्ति,व्याघातं पुनः प्रतीत्य लोकनिष्कुटाऽऽदौ स्यात् कदाचित् त्रिदिशि त्रिसृभ्यो दिग्भ्य आगतानि कदाचिच्चतसृभ्य कदाचित् पञ्चभ्य।।काऽत्र भावनेति चेत्?। उच्यते -इह लोकनिष्कुटे पर्यन्ताधस्त्यप्रतराग्नेयकोणावस्थितो यदा सूक्ष्मपृथिवीकायिको वर्तते,तदा तस्याधस्तादलोकेन व्याप्तत्वात् अधोदिक् पुद्गलाभाव· आग्नेयकोणावस्थितत्वात् पूर्वदिक् पुद्गलाभावो दक्षिणदिक्पुद्गलाभावश्च। एवमध· पूर्वदक्षिणरूपाणां तिसृणां दिशामलोकेन व्यापनात् ता अपास्य या परिशेषा ऊर्द्धा अपरा उत्तरा च दिग्व्याहता वर्तते तत आगतान् पुद्गलान् आहारयन्ति, यदा पुनः स एव पृथिवीकायिकः पश्चिमां दिशमनुसृत्य वर्तते तदा पूर्वदिगभ्यधिका जाता, द्वे च दिशौ दक्षिणाधस्त्यरूपे अलोकेन व्याहते इति स चतुर्दिगागतान् पुद्गलानाहारयति, यदा पुनरूर्द्धं द्वितीयाऽऽदिप्रतरगतपश्चिमदिशमऽवलम्ब्य तिष्ठति तदा अधस्याऽपि दिगभ्यधिका लभ्यते,केवला दक्षिणैवैका पर्यन्तवर्तिनी अलोकेन व्याहतेति पञ्चदिगागतान् पुद्गलानाहारयति ( वण्णतो इत्यादि ) वर्णतः कालनीललोहितहारिद्रशुक्लानि, गन्धतः सुरभिगन्धानि दुरभिगन्धानि वा, रसतस्तिक्तानि यावत् मधुराणि, स्पर्शतः कर्कशानि यावत् रूक्षाणि, तेषामाहार्यमाणानां पुद्गलानां पुराणान् अपेतनान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणान् " विपरिणाइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता । " एतानि चत्वार्यपि पदानि एकार्थिकानि विनाशार्थप्रतिपादकानि नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुपात्तानि । विनाश्य किमित्याह– अन्यानपूर्वान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणान् उत्पाद्याऽऽत्मशरीरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् ( सव्वप्पणया ) सर्वाऽऽत्मना सर्वैराहाररूपान् पुद्गलानाहारयन्ति । गतमाहारद्वारम् । जी० १ प्रति० ।

यदाहरयति तच्चीयते–

ते णं भंते ! जीवा जमाहारेंति तं चिज्जंति, जं णो आहारेंति तं णो चिज्जंति, चिण्णे वा से उद्दाइ पलिसप्पति वा ?। हंता गोयमा ! ते णं जीवा जमाहारेंति, जं नो० जाव पलिसप्पंति वा ।

( नं चिज्जइ त्ति ) तत्पुद्गलजातं शरीरेन्द्रियतया परिणमतीत्यर्थ·।।(चिण्णे वा से उद्दाइ त्ति) चीर्णं वाऽऽहारित (से) तत् पुद्गलजातमपद्रवत्यपयाति विनश्यति,मलवत् सारश्चास्य शरीरेन्द्रियतया परिणमति एतदेवाऽऽह ( पलिसप्पइ त्ति) परिसर्पति च समन्ताद् गच्छतीति । भ०१९ श०३ उ०।

साम्प्रतमुपपातद्वारमाह–

ते णं भंते ! जीवा कतोहिंतो उववज्जंति-किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो उववज्जंति,देवेहिंतो उववज्जंति ?। गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो उववज्जंति, नो देवेहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणियपज्जत्तापज्जत्तेहिंतो असंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो मणुस्सेहिंतो अकम्मभूमिगअसंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो उववज्जंति, वक्कंति । उववाओ भाणियव्वो ।

भदन्त ! सूक्ष्मपृथिवीकायिका जीवाः कुतः केभ्यो जीवेभ्य उद्वृत्योत्पद्यन्ते-किं नैरयिकेभ्य इत्यादि प्रतीतम् ?। भगवानाह–गौतम ! नो नैरयिकेभ्य इत्यादि पाठसिद्धं नवरं देवनैरयिकेभ्य उत्पातप्रतिषेधो, देवनैरयिकाणां तथा भवस्वभावतया तन्मध्ये उत्पादासम्भवात् । ( जहा वक्कंतीए इति ) यथा प्रज्ञापनायां व्युत्क्रान्तिपदे तथा वक्तव्यम् । तच्चैवम्–तिर्यग्योनिभ्योऽप्युत्पादः पर्याप्तेभ्यो वा केवलमसंख्यातवर्षाऽऽयुष्कवर्जितेभ्यो मनुष्येभ्योऽपि अकर्मभूमिजान्तरद्वीपजासंख्यातवर्षाऽऽयुष्ककर्मभूमिजव्यतिरिक्तेभ्यः पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्तेभ्यो वेति । गतमुपपातद्वारम् ।

अधुना स्थितिद्वारमाह–

तेसि णं भंते ! जीवाणं केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

( तेसि णं भंते ! इत्यादि ) सुगमं, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमवसेयम् । गतं स्थितिद्वारम् ।

अधुना समुद्घातमधिकृत्य मरणं विचिन्तयिषुराह–

ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमुग्घातेणं किं समोहया मरंति,असमोहया मरंति । गोयमा ! समोहतावि मरंति, असमोहतावि मरंति ।

( ते णं भंते ! इत्यादि ) सुगमम् । उभयथापि मरणसंभवात्

च्यवनद्वारमाह–

ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति, कहिं उववज्जंति-किं नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु उववज्जति, देवेसु उववज्जंति ?। गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु उववज्जंति, नो देवेसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति । किं एगिंदिएसु उववज्जंति० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति ?। गोयमा ! एगिंदिएसु उववज्जंति० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, असंखेज्जवासाऽऽउयवज्जेसु पज्जत्तापज्जत्तएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु अकम्मभूमगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाऽऽउयवज्जेसु पज्जत्तापज्जत्तएसु उववज्जंति ।

ते सूक्ष्मपृथिवीकायिका भदन्त ! जीवा अनन्तरमुद्वृत्य सूक्ष्मपृथिवीकायिकभवादानन्तर्येणोद्वृत्येति भाव।क गच्छन्ति क्वोत्पद्यन्ते ?। एतेनाऽऽत्मनो गमनधर्मकतापर्यायान्तरमधिकृत्योत्पत्तिधर्मकता च प्रतिपादिता, तेन ये सर्वगतमनुत्पत्तिधर्मकं चाऽऽत्मानं प्रतिपन्नास्ते निरस्ता द्रष्टव्याः। तथारूपे सत्यात्मनि यथोक्तप्रश्नार्थासम्भवात् । ( किं नेरइएसु गच्छंति ) इत्यादि प्रतीतम्, भगवानाह–( नो नेरइएसु गच्छंति इत्यादि ) पाठसिद्धम् । ( जहा वक्कंतीए इति ) यथा प्रज्ञापनायां व्युत्क्रान्तिपदे च्यवनमुक्तं तथाऽत्रापि वक्तव्यं, तच्चोत्पादवत् भावनीयमिति । गतं च्यवनद्वारम् ।

अधुना गत्यागतिद्वारमाह–

ते णं भंते ! जीवा कतिगतिया,कति आगतिया पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुगतिया, दुआगइया ।

ते भदन्त ! जीवा कति गतिकाः कति गतयो येषां ते कतिगतिका., कतिभ्यो गतिभ्य आगतिर्येषां ते कत्यागतिका ?। भगवानाह-गौतम ! द्व्यागतिका',नरकगतेर्देवगतेश्च सूक्ष्मेषूत्पादाभावात् द्विगतिका,नरकगतौ देवगतौ च तत उद्वृत्तानामुत्पादाभावात् ।

परित्ता असंखेज्जा पएणत्ता समणाउसो ! सेत्तं सुहुमपुढविक्काइया ॥

परीताः प्रत्येकशरीरिणः असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् प्रज्ञप्ता. मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः। अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामाह-हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ( सेत्तं सुहुमपुढविक्काइया ) त एते सूक्ष्मपृथिवीकायिका उक्ता. ।

अधुना बादरपृथिवीकायिकानभिधित्सुराह—

से किं तं बायरपुढविकाइया बायरपुढवीकाइया दुविहा पएणत्ता । तं जहा-सण्हबादरपुढविकाइया, खरबायरपुढविकाइया ।

अथ के ते बादरपृथिवीकायिका ?। सूरिराह-बादरपृथिवीकायिका द्विविधा प्रज्ञप्ता'। तद्यथा—श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिका , खरबादरपृथिवीकायिकाश्च । श्लक्ष्णा नाम चूर्णितलोष्टकल्पा मृदुः पृथिवी, तदात्मका जीवा अपि उपचारात् श्लक्ष्णा', ते च ते बादरपृथिवीकायिकाश्च श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिका' । अथवा-श्लक्ष्णा च सा बादरपृथिवी च सा काय शरीरं येषा ते श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायास्त एव स्वार्थिके कप्रत्ययविधानात् श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिका.। खरा नाम पृथिवी संघातविशेषं काठिन्यविशेषं वाऽऽपन्ना तदात्मका जीवा अपि खरास्ते च ते बादरपृथिवीकायिकाश्च खरबादरपृथिवीकायिका । अथवा-पूर्ववत् प्रकारान्तरेण समास., चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । जी० १ प्रति० । (श्लक्ष्णबादरपृथिवीकायिका., तथा-खरबादरपृथिवीकायिकाश्च अस्मिन्नेव शब्दे ९७४ पृष्ठे उक्ताः )

श्लक्ष्णपृथिवीकायिकाना शरीराणि-

तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सरिगा पएणत्ता ?। गोयमा ! तओ सरीरगा पएणत्ता । तं जहा-ओरालिए, तेयए, कम्मए । तं चेव सव्वं, नवरं चत्तारि लेसाओ, अवसेसं जहा सुहुमपुढविकाइयाणं ।

" तेसि णं भंते ! जीवाणं " इत्यादिना शरीरावगाहनाऽऽदिद्वारकलापचिन्ता करोति । सा च पूर्ववत्, तथा चाऽऽह- " एव जो चेव सुहुमपुढविक्काइयाणं गमो सो चेव भाणियव्वो । " इति ( नवरमित्यादि ) इदं नानात्व लेश्याद्वारे चतस्रो लेश्या वक्तव्या , तेजोलेश्याया अपि संभवात् । तथाहि-व्यन्तराऽऽदय ईशानान्ता देवा भवनविमानाऽऽदावतिमूर्च्छया आत्मीयरत्नकुण्डलाऽऽदावप्युत्पद्यन्ते,ते च तेजोलेश्यावन्तोऽपि भवन्ति,यल्लेश्यश्च म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपजायते, "जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ" इति वचनात्। तत. कियत्कालमपर्याप्तावस्थायां तेजोलेश्याऽप्यवाप्यते इति चतस्रो वक्तव्या' ।

आहारो० जाव णियमा छद्दिसिं उववातो तिरिक्खजोणियमणुस्सेहिंतो देवेहिंतो० जाव सोधम्मीसाणेहिंतो ठिती जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ते णं भंते ! जीवा मारणंतियसमुग्घाएणं किं समोहया मरंति, असमोहया मरंति ?। गोयमा ! समोहता वि मरंति, असमोहता वि मरंति । ते णं भंते ! जीवा अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छइ कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु उववज्जंति पुच्छा ?। गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, मणुस्सेसु उववज्जंति, नो देवेसु उववज्जंति, तं चेव० जाव असंखेज्जवासाउयवज्जेहिंतो उववज्जंति । ते णं भंते ! जीवा कति गतिया कति आगतिया पएणत्ता ?। गोयमा ! दुगतिया तिआगतिया पएणत्ता, परित्ता असंखेज्जा पएणत्ता समणाउसो ! सेत्तं बायरपुढविकाइया । सेत्तं पुढविकाइया ।

आहारो नियमात् षड्दिशि बादराणां लोकमध्य एवोत्पाताभावात् , उपपातो देवेभ्योऽपि बादरेषु तदुत्पादविधानात् स्थितिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि देवेभ्योऽप्युत्पादात् , त्रयो गतय द्विगतयः पूर्ववत् । एतेऽपि च परीत्ताः प्रत्येकशरीरिणोऽसंख्येया प्रज्ञप्ता । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! " सेत्त " इत्याद्युपसंहारवाक्यम्। उक्ताः पृथिवीकायिका । जी० १ प्रति० ।

एकत साधारणशरीरं बध्नन्ति-

रायगिहे० जाव एवं वयासी-सिय भंते ! ०जाव चत्तारि पंच पुढवीकाइया एगयओ साधारणसरीर बंधति, एग २ तओ पच्छा आहारेंति वा, परिणामेंति वा, सरीरं वा बंधंति वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे, पुढवीकाइया णं पत्तेयाहारा पत्तेयपरिणामा पत्तेयं सरीरं बंधंति, बंधंतित्ता तओ पच्छा आहारेंति वा, परिणामेंति वा, सरीर वा बंधंति ॥

(रायगिहे इत्यादि) इह चेयं द्वारगाथा क्वचिद् दृश्यते- "सिय १ लेसा २ दिट्ठि ३ नाणे ४, जोग ५ वओगे ६ तहा किमाहारे ७ । पाणाइवाय ८ उप्पा-य ९ ट्ठिइ १० समुग्घाय ११ उव्वट्टी १२ ॥१॥" इति । अस्याश्चार्थो वनस्पतिदण्डकान्तोद्देशकार्थाधिगमादवगम्य एव, तत्र स्याद् द्वारे (सिय त्ति) स्याद्भवेद यमर्थ. । अथवा-पृथिवीकायिका प्रत्येकं शरीरं बध्नन्तीति सिद्ध, किं तु (सिय त्ति) स्यात्कदाचित् (० जाव चत्तारि पंच पुढविकाइय त्ति)चत्वार. पञ्च वा,यावत्करणात् द्वौ वा त्रयो वा, उपलक्षणत्वाच्चास्य बहुतरा वा पृथिवीकायिका जीवा ( एगओ त्ति ) एकत एकीभूय संयुज्येत्यर्थ , साधारणं शरीरं बध्नन्ति, बहूना सामान्यं शरीर बध्नन्ति, आदितस्तत्प्रायोग्यपुद्गलग्रहणत. । (आहारेंति व त्ति) । विशेषाहाराऽऽपेक्षया सामान्याऽऽहारस्याविशिष्टशरीरबन्धनसमय एव कृतत्वात् । ( सरीरं वा बंधंति त्ति ) आहारितपरिणामितपुद्गलै शरीरस्य पूर्वबन्धापेक्षया विशेषतो बन्धं कुर्वन्तीत्यर्थ । नायमर्थ. समर्थो,यत. पृथिवीकायिका प्रत्येकाऽऽहारा. प्रत्येकपरिणामाश्चातः प्रत्येकं शरीरं बध्नन्तीति, तत्प्रायोग्यपुद्ग-

संग्रहणतः, ततश्च ( आहारेंति इत्यादि ) एतच्च प्राग्वत्।

संज्ञाऽऽदि–

तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सण्णाति वा,पण्णाति वा, मणोइ वा, वईति वा, अम्हे णं आहारमाहारेंति ? । णो इणट्ठे समट्ठे,आहारेंति पुण ते। तेसि णं भंते! जीवाणं एवं सण्णाति वा० जाव वईति वा अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो ?। णो इणट्ठे समट्ठे पडिसंवेदेंति पुण ते ।

( एवं सण्णाइ व त्ति ) एवं वक्ष्यमाणोल्लेखेन संज्ञा व्यावहारिकार्थावग्रहरूपा मतिः, प्रवर्तत इति शेषः। ( पराणाइ व त्ति ) प्रज्ञा सूक्ष्मार्थविषया मतिरेव ( मणोइ व त्ति ) मनोद्रव्यस्वभावं ( वाईति व त्ति ) वाग्द्रव्यश्रुतरूपा ।

प्राणातिपाताऽऽदिद्वारे–

ते णं भंते ! जीवा किं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति , मुसावाए अदिण्णादाणे० जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति ?। गोयमा ! पाणाइवाए वि उवक्खाइज्जंति० जाव मिच्छादंसणसल्ले वि उवक्खाइज्जंति, जेसिं पि य णं जीवाणं ते जीवा एवमाहिज्जंति, तेसिं पि य णं जीवाणं णो विणाए णाणत्ते

( पाणाइवाए उवक्खाइज्जंतीत्यादि ) प्राणातिपाते, स्थिता इति शेष । प्राणातिपातवृत्तय इत्यर्थः। उपाख्यायन्ते अभिधीयन्ते, यच्चेह वचनाऽऽद्यभावेऽपि पृथिवीकायिकानां मृषावादाऽऽदिभिरुपाख्यानं तन्मृषावादाऽऽद्यविरतिमाश्रित्योच्यत इति। अथ हन्तव्याऽऽदि जीवानां का वार्तेत्याह–(जेसिं पि णं इत्यादि) येषामपि जीवानामतिपाताऽऽदिविषयभूतानां प्रस्तावात्पृथिवीकायिकानामेव संबन्धिनाऽतिपाताऽऽदिना। (ते जीव त्ति) तेऽतिपाताऽऽदिकारिणो जीवाः (एवमाहिज्जंनि त्ति ) अतिपाताऽऽदिकारिण एत इत्याख्यायन्ते, तेषामपि जीवानामतिपाताऽऽदिविषयभूतानां न केवलं घातकानां ( नो ) नैव विज्ञातमवगतं नानात्वं भेदो यदुत वयं वध्याऽऽदयः, एते तु वधकाऽऽदय इत्यमनस्कत्वात्तेषामिति। भ० १९ श० ३ उ०। ( पृथिवीकायिकानां स्थानानि ' ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे १६६७ पृष्ठे उक्तानि) "पुढवीकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए। तस्सेव विविहे पाणा, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ १ ॥" दश० ६ अ०। " सुद्धपुढवी न निसिएज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं।" दश० ८ अ०। ( पृथिवीकायिकस्य शरीरावगाहना कीदृग्दृढा कथं वा तस्यामाक्रम्यमाणायां वेदनेति 'सरीरोगाहणा' 'वेदणा' शब्दयो वक्ष्यते) यथा प्रस्थाऽऽदिना कश्चित्सर्वधान्यानि मिनुयादेवमसद्भावप्रज्ञापनाङ्गीकरणाल्लोकः कुडवीकृत्य जघन्योत्कृष्टावगाहनान् पृथिवीकायिकान् जीवान् यदि मिनोति ततः पृथिवीकायिका असंख्येयान् लोकान् पूरयन्तीत्याचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धप्रथमाध्ययनद्वितीयोद्देशकवृत्तौ स्थावरचतुर्णां त्वङ्गुलासंख्येयभागप्रमितिरवगाहनोक्ताऽत एते पृथिवीकायिका' कथं पूरयन्तीति प्रश्ने ?, उत्तरम्-प्रस्थदृष्टान्ते सामान्योक्तावपि प्रत्याकाशमेकैकपृथ्वीकायिकजीवकल्पनया (?) लोकरूपपल्यमरणं संस्पृश्यतेऽन्यथा प्रज्ञापनासूत्रवृत्त्यादिग्रन्थान्तरविरोध इति। ८२ प्र०। सेन० ३ उल्ला० ।

पुढवीजीव–पृथिवीजीव–पुं०। पृथिव्येव जीवः पृथिवीजीवः। उत्त० ३६ अ०। पृथिवीरूपे जीवे, पृथिव्याश्रिते वा जीवे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

पुढवीजोणिय–पृथिवीयोनिक–पुं०। पृथिवीजाते जीवे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०।

पुढवीणिस्सिय–पृथिवीनिश्रित–त्रि०। पृथिवीकायत्वेन परिणते, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

पुढवीथूभ–पृथिवीस्तूप–पुं० । पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः। पृथिवीसंघातावयवे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

पुढवीपइट्ठिय–पृथिवीप्रतिष्ठित–त्रि०। मनुष्याऽऽदौ पृथिवीसमाश्रिते, स्था० ८ ठा०। " पुढवीपइट्ठिया तसा थावरा पाणा। " भ० १ श० ६ उ०।

पुढवीपुप्फफलाहार–पृथिवीपुष्पफलाऽऽहार–त्रि०। पृथिवी पुष्पफलानि च कल्पद्रुमाणामाहारो येषां ते तथा। युगलिकमनुष्येषु, तं०।

पुढवीपुरी–पृथिवीपुरी–स्त्री० । अग्रहितराजराजधान्याम् , ती० २० कल्प।

पुढवीफास–पृथिवीस्पर्श–पुं०। पृथिव्याः शीतोष्णरूपायास्तीव्रवेदनोत्पादकः स्पर्शः संपर्कः। नरकपृथिवीसंपर्के, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

पुढवीभूसण–पृथिवीभूषण–न० । भूभूषणे, " पृथिवीभूषणं नाम, नगरं गतदूषणम्। " आ० क० ५ अ०।

पुढवीमय–पृथिवीमय–त्रि०। पृथिव्या विकारः पृथिवीमयः । पृथिवीकायिके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

पुढवीवइ–पृथिवीपति–पुं०। राजनि, "पंचमसरसंपन्ना,भवंति पुढवीवई । सूरा संगहकत्तारो, अणेगगणणायगा " ॥ १ ॥ स्था० ५ ठा० १ उ०।

पुढवीसंसिय–पृथिवीसंश्रित–त्रि०। पृथिव्या श्रिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

पुढवीसत्थ–पृथिवीशस्त्र–न०। पृथिव्येव शस्त्रं स्वकायाऽऽदेः पृथिव्या वा शस्त्रं हलकुद्दालाऽऽदि, तत्समारभते पृथिवीशस्त्रम्। पृथिवीहिंसासाधने, " पुढवी सत्थं समारभमाणे विरूवरूवे पाणभूए हिंसइ।" आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

पुढवीसिरी–पृथिवीश्री–स्त्री०। अञ्जूदारिकापूर्वभवजीवे,स्था०। इन्द्रपुरे नगरे पृथिवीश्री नाम गणिकाऽभूत्सा च बहून् राजकुमारवणिक्पुत्राऽऽदीन् मन्त्रचूर्णाऽऽदिभिर्वशीकृत्योदारान् भोगान् भुक्तवती षष्ठ्यां च गत्वा वर्द्धमाननगरे धनदेवसार्थवाहदुहिता अञ्जूरित्यभिधाना जाता। स्था० १० ठा०। ( ' अंजू ' शब्दे प्रथमभागे ५० पृष्ठे कथोक्ता )

पुढवीसिला–पृथिवीशिला–स्त्री०। पृथिवीरूपायां शिलायाम्, भ० २ श० १ उ०।

पुढवीसिलापट्टय–पृथिवीशिलापट्टक–पुं०। पृथिवीशिलारूपः पट्टक आसनविशेषः पृथिवीशिलापट्टकः । पृथिवीशिलामये आसनविशेषे, भ० २ श० १ उ०।

वर्णकः—

तेसु णं जातिमंडवएसु ०जाव सामलयामंडवएसु बहवे पुढवीसिलापट्टगा पण्णत्ता । तं जहा-हंसासणसंठिता कोंचासणसंठिता गरुलासणसंठिता उण्णयासणसंठिता पणगासणसंठिया परितासणसंठिया दीहासणसंठिता भद्दासणसंठिता पक्खासणसंठिता चमरासणसंठिया उसभासणसंठिया सीहासणसंठिया पउमासणसंठिया दिसासोत्थियासणसंठिया पण्णत्ता, तत्थ बहवे वरसयणाऽऽसणविसिट्ठसंठाणसंठिया पण्णत्ता, समणाउसो ! आईणगरूयबूरणवणीततूलफासमउया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला निप्पंका निक्कंकडछाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । आचा० ।

पुढवीसोय-पृथिवीशौच-न० । पृथिव्या शौचं मृत्तिकया शरीराऽऽदिभ्यो घर्षणोपलेपेनेति । जुगुप्सितमलगन्धयोरपनयने,
"एका लिङ्गे गुदे तिस्र-स्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त विज्ञेया, मृदः शुद्धौ मनीषिभिः ॥ १ ॥
एतच्छौचं गृहस्थाना, द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं वानप्रस्थाना, यतीना च चतुर्गुणम् ॥ २ ॥"
तदिह नाभिमतं गन्धाऽऽद्युपघातमात्रस्य शौचत्वेन विवक्षितत्वात् तस्यैव च युक्तियुक्तत्वादिति । स्था०५ ठा०३ उ० ।

पुढुम-प्रथम-त्रि० । "प्रथमे पथो वा" ॥ ८ । १ । ५५ ॥ इति प्रथमशब्दे पकारथकारयोरकारस्य युगपत्क्रमेण च उकारो वा । 'पुढुमं । पुढमं । पढुमं । पढमं ।' प्रा० । प्रा० १ पाद ।

पुढो-पृथक्-अव्य० । विभिन्ने, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । नानाशब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

पुढोछंद-पृथक्छन्द-त्रि० । पृथग् विभिन्नश्छन्दोऽभिप्रायो येषा ते पृथक्छन्दा । नानाभूतबन्धाध्यवसायस्थानेषु, "पत्तेयं सायं पुढो छंदा इह माणवा पुढो पवेदितं से अविहिंसमाणे।" आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । सूत्र० ।

पुढोजग-पृथग्जग-पु० । पृथग्भूते व्यवस्थिते, "जमिणं जगती पुढोजगा । (४ गाथा)" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

पुढोजण-पृथग्जन-पुं० । प्राकृतपुरुषे अनार्यकल्पे, "इच्चाहंसु पुढोजणा" (६ गाथा) सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

पुढोवम-पृथ्व्युपम-त्रि० । पृथिवीवत्सर्वसहे, "पुढोवमे धुणइ विगयगेहि, न सन्निहिं कुव्वति आसुपन्ने ।" स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाऽऽधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद् वा सत्त्वाधार इति । यदि वा-यथा पृथ्वी सर्वसहा एव भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहते । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

पुढोविमाय-पृथग्विमात्र-त्रि० । पृथग् विविधा मात्रा येषा ते । अनेकप्रकारेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । "दिव्वा उवसग्गा ४ पुढोविमाया ।" पृथग् विभिन्ना विविधा मात्रा हाऽऽस्याऽऽदिवस्तुरूपा येषु ते पृथग्विमात्राः । अथवा-पृथग्विधा मात्रा विमात्रा । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पुढोसत्त-पृथक्सत्त्व-त्रि० । पृथक् सत्त्वाः पृथग्भूता सत्त्वा आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा । दश० ४ अ० । सूत्र० । आचा० । अनेकजीवे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पुढोसिय-पृथक्श्रित-त्रि० । प्रत्येकं व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

पुण-पुनर्-अव्य० । विशेषणे, नं० । नि० चू० । प्रश्न० । स्था० । विशे० । उत्त० । विशेषद्योतने, विशे० । समुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आ० चू० । नि० चू० । दश० । भजनीयशब्दावधारणे, नि० चू० १ उ० । द्वितीयवारापेक्षायाम्, व्य० १ उ० । पादपूरणे, नि० चू० १ उ० ।

पुणब्भव पुनर्भव-पुं० । पुनरुत्पादे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पुन पुनर्जन्मनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पौनःपुन्येनोत्पादे, औ० ।

पुणरावित्ति-पुनरावृत्ति-स्त्री० । विपरिणामे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । मोक्षं गत्वाऽपि पुनः संसारपाते, "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तार परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारत" ॥ १ ॥ दश० १ अ० । स्या० ।

पुणरुत्त-पुनरुक्त-न० । शब्दार्थयोः पुनर्वचने,आ० म० १ अ० । त्रयोदशे निग्रहस्थानभेदे, स्या० । पुनरुक्तं द्विधा-शब्दतः, अर्थतश्च । तथाऽर्थाऽऽपन्नस्य पुनर्वचनं पुनरुक्तम् । तत्र शब्दतः पुनरुक्तं यथा-घटः कुटः कुम्भ इत्यादि । अर्थाऽऽपन्नस्य पुनर्वचनं यथा-पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्युक्तेऽर्थादेव गम्यते रात्रौ भुङ्क्ते इति । तत्रार्थाऽऽपन्नमपि यः साक्षादेव ब्रूयात् तस्य पुनरुक्तता । विपा० २ श्रु० १ उ० । विशे० । पुनरुक्तं त्रिविधम्-अर्थपुनरुक्तं, वचनपुनरुक्तम्, उभयपुनरुक्तं च । तत्रार्थपुनरुक्तं यथा-इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । वचनपुनरुक्तं यथा-सैन्धवमानय लवणं सैन्धवमानयेत्यादौ । उभयपुनरुक्तं यथा-क्षीरं क्षीरम् । बृ० १ उ० १ प्रक० । "वक्ता हर्षभयाऽऽदिभि-राक्षिप्तमना स्तुवंस्तथा निन्दन् । यत् पदमसकृद् ब्रूयात्, तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥ १ ॥" आ० १ अ० ८ अ० । औ० । अनु० । "अनुवादाऽऽदरवीप्सा-भृत्यार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्संभ्रमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥ १ ॥" आव० ४ अ० । सू० प्र० । "पुणरुत्तं कृतकरणे" ॥ ८ । २ । १७९ ॥ पुणरुत्तमिति कृतकरणे प्रयोक्तव्यम् । "पसुलिणीसहेहिं अगेहिं पुणरुत्तं ।" प्रा० २ पाद । "सज्झायज्झाणतवो-सहेसु उवएसथुइपमाणेसु । संतगुणकित्तणेसु य, न हुति पुणरुत्तदोसाओ ॥ १ ॥" पा० ।

पुणव्वसु-पुनर्वसु-पुं० । नक्षत्रविशेषे, ज्यो० ६ पाहु० । जं० । सू० प्र० । स्था० । विशे० । दशमतीर्थकरप्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ० । अनु० । स्था० । स० । षष्ठबलदेवस्य पूर्वभवधर्माऽऽचार्ये, ति० ।

पुणाइ-पुनर्-अव्य० । "नात्पुनर्यादाइ वा" ॥ ८ । १ । ६५ ॥ नञः परे पुनःशब्दे आदेरस्य आ-आइ इत्यादेशौ वा भ-

घतः। इति केवलस्यापि दृश्यत इति। पुणाइ। द्वितीयवारायाम्, प्रा० १ पाद।

पुणुई-स्त्री०। गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । श्वपचे, दे० ना० ६ वर्ग ३८ गाथा।

पुणो-पुनर्-अव्य०। स्वरूपावधारणे, नि० चू० २ उ०। विशेषणे, नि० चू० ३ उ०। वाक्यान्तरोपन्यासे, उत्त० ३६ अ०। पूर्वस्माद् विशेषे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

पुणोपुणो-पुनःपुनर्-अव्य०। बहुशः शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ अ०। "बहुसो त्ति वा भुज्जो त्ति वा पुणोपुणो त्ति वा एगहुं।" नि० चू० २ उ०। विपा०।

पुणोभव-पुनर्भव-पु०। पुनर्जन्मान्तरे, दश० ८ अ०।

पुणोय-पुनश्च-अव्य०। पुनरपीत्यर्थे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

पुण्ण-पूर्ण-त्रि०। भृते, भ० १ श० ६ उ०। "णईओ पुण्णाओ।" दश० ७ अ०। आ०म०। समस्ते, उत्त० १२ अ०। भ०। सूत्र०। सकलावयवयुक्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ०। यत्स्वरकलाभिः परिपूर्ण गीयते तत्पूर्णम्। रा०। जी०। स्था०। स्वरकलाभिः सर्वाभिरवियुक्तं कुर्वतः पूर्णम्। अनु०।

पूर्णाष्टकम्-

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम्।
सच्चिदानन्दपूर्णेन, पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥ १ ॥

अथ पूर्णत्वं वस्तुनो निरूपयति-

पूर्णता या परोपाधेः, सा याचितकमण्डनम्।
या तु स्वाभाविकी सैव, जात्यरत्नविभानिभा ॥ २ ॥
अवास्तवी विकल्पैः, स्यात् पूर्णताऽब्धेरिवोर्मिभिः।
पूर्णाऽऽनन्दस्तु भगवां-स्तिमितोदधिसन्निभः ॥ ३ ॥
जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णा कृष्णाहिजाङ्गली।
पूर्णाऽऽनन्दस्य तत्किं स्या-द्दैन्यवृश्चिकवेदना ॥ ४ ॥
पूर्यन्ते येन कृपणा-स्तदुपेक्षैव पूर्णता।
पूर्णाऽऽनन्दसुधास्निग्धा, दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
अपूर्णः पूर्णतामेति, पूर्यमाणस्तु हीयते।
पूर्णाऽऽनन्दस्वभावोऽयं, जगदद्भुतदायकः ॥ ६ ॥
परस्वत्वकृतोन्माथा, भूनाथा न्यूनतेक्षिणः।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य, न्यूनता न हरेरपि ॥ ७ ॥
कृष्णे पक्षे परिक्षीणे, शुक्ले च समुदञ्चति।
द्योतते सकलाध्यक्षा, पूर्णाऽऽनन्दविधोः कला ॥ ८ ॥

अष्ट० १ अष्ट०।

इक्षुवरसमुद्रदेवे, सू० प्र० १६ पाहु०। दाक्षिणात्यानां द्वीपकुमाराणामिन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ०। स०।

पुण्ण-पुण्य-न०। 'पुण' शुभे इति वचनात् पुणति शुभीकरोति, पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्। शुभकर्मणि, 'उणाऽऽदयो बहुलम्' ॥३।३।१॥ इति बाहुलकत्वादभावे क्यप्। उत्त० ५ अ०। शुभकर्मणि, स्था०। तच्च-सद्वेद्याऽऽदिद्विचत्वारिंशद्विधम्। यथोक्तम्-

"सायं १ उच्चागोयं २, नर ३तिरि ४देवाउ ५ नाम एया उ।
मणुयदुगं ७ देवदुगं ९ पंचिंदियजाइ १० तणुपणगं १५ ॥१॥
अंगोवंगतियं पि य १८, संघयणं वज्जरिसहनारायं १९।
पढमं चिय संठाणं, वन्नाइचउक्कसुपसत्थं २४ ॥ २ ॥
अगुरुलहु २५ पराघायं २६, उस्सासं २७ आयवं च २८ उज्जोयं २९।
सुपसत्था विहयगई ३०, तसाइदसगं च ४० णिम्माणं ४१ ॥३॥
तित्थयरेणं सहिया, बायाला पुन्नपगईओ।" इति।

एवं द्विचत्वारिंशद्विधमपि। अथवा-पुण्यानुबन्धिपापानुबन्धिभेदेन द्विविधमपि। अथवा-प्रतिप्राणिविचित्रत्वादनन्तभेदमपि पुण्यसामान्यादेकमिति। अथ कर्मैव न विद्यते, प्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वात् शशविषाणवदिति कुतः पुण्यकर्मसत्तेति? असत्यमेतत्। यतोऽनुमानसिद्धं कर्म तथाहि-सुखदुःखानुभूतेर्हेतुरस्ति कार्यत्वादङ्कुरस्येव बीजं यश्च हेतुत्वं तत्कर्म, तस्मादस्ति कर्मेति। स्यान्मतिः-सुखदुःखानुभूतेर्दृष्ट एव हेतुरिष्टानिष्टविषयप्राप्तिमयो भविष्यति किमिह कर्मपरिकल्पनया? न हि दृष्टं निमित्तमपास्य निमित्तान्तरान्वेषणं युक्तिरूपमिति, नैवं व्यभिचारात्। इह यो हि द्वयोरिष्टशब्दाऽऽदिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य तत्फले विशेषो दुःखानुभूतिमयो यश्चानिष्टसाधनसमेतयोरेकस्य तत्फले विशेषः सुखानुभूतिमयो नासौ हेतुमन्तरेण संभाव्यते। न च तद्धेतुक एवासौ युक्तः साधनानां विपर्यासादिति, पारिशेष्याद्विशिष्टहेतुमानसौ कार्यत्वाद् घटवत्, यश्च समानसाधनसमेतयोस्तत्फलविशेषहेतुस्तत्कर्म, तस्मादस्ति कर्मेति। आह च-"जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं। कज्जत्तणओ गोयम! घडो व्व हेऊ य से कम्मं ॥१६१३॥" (विशे०) किं च-अन्यदेहपूर्वकमिदं बालशरीरम्, इन्द्रियाऽऽदिमत्त्वात्, यदिहेन्द्रियाऽऽदिमत्तदन्यदेहपूर्वकं दृष्टं, यथा बालदेहपूर्वकं युवशरीरमिन्द्रियाऽऽदिमच्चेदं बालशरीरकं तस्मादन्यशरीरपूर्वकं, यच्छरीरपूर्वकं चेदं बालशरीरकं तत्कर्म, तस्मादस्ति कर्मेति। आह च-"बालसरीरं देह-न्तरपुव्वं इंदियाइमत्ताओ। जह बालदेहपुव्वो, जुव देहो पुव्वमिह कम्मं ॥१६१४॥" (विशे०) ननु कर्मसद्भावेऽपि पापमेवैकं विद्यते पदार्थो न पुण्यं नामास्ति, यत्तु पुण्यफलं सुखमुच्यते तत्पापस्यैव तरतमयोगादपकृष्टस्य फलं, यतः पापस्य परमोत्कर्षेऽत्यन्ताधमफलता, तस्यैव तरतमयोगापकर्षभिसस्य मात्रा परिवृद्धिहान्या यावत् प्रकृष्टापकर्षस्तत्र या काचित् पापमात्रा अव तिष्ठते तस्यामत्यन्तं शुभफलता पापापकर्षात्तस्यैव पापस्य सर्वाऽऽत्मना क्षयो मोक्षः, यथाऽत्यन्तापथ्याऽऽहारसेवनादनारोग्यं, तस्यैवापथ्यस्य किञ्चित्किञ्चिदपकर्षाद्यावत् स्तोकापथ्याऽऽहारस्तत्त्वमारोग्यकरं सर्वाऽऽहारपरित्यागाच्च प्राणमोक्ष इति। आह च-"पावुक्करिसेऽधमया, तरतमजोगावकरिसवो सुभया। तस्सेव खए मोक्खो, अपत्थभत्तोवमाणाओ ॥१६१०॥" (विशे०) अत्रोच्यते-यदुक्तमत्यन्तापचितात् पापात् सुखप्रकर्ष इति। तदयुक्तम्, यतो येयं सुखप्रकर्षानुभूतिः सा स्वानुरूपकर्मप्रकर्षजनिता प्रकर्षानुभूतित्वात्, दुःखप्रकर्षानुभूतिवत्, यथा हि दुःखप्रकर्षानुभूतिः स्वानुरूपपापकर्मप्रकर्षजनितेति त्वया ऽभ्युपगम्यते तथेयमपि सुखप्रकर्षानुभूतिरिति स्वानुरूपपुण्यकर्मप्रकर्षजनिता भविष्यतीति प्रमाणफलमिति। स्था० १ ठा०। छा०। (एतच्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५१ पृष्ठे अचलभ्रातुः संवादेन प्रतिपादितम्) (पुण्यतत्त्वम् 'तत्त' शब्दे चतुर्थभागे २१८० पृष्ठे गतम्)

पुण्याष्टकम्-

शासनोन्नतिकरणाद्धितोदयामुन्नतिं प्राप्नोति इत्युक्तं, तत्र किमहितोदयाऽप्युन्नतिरस्ति येनासौ सविशेषणाऽभिधीयते ?। उच्यते-अस्ति, यतः ( पुण्यजन्योन्नति' ) पुण्यापुण्यविचारे चत्वारो भङ्गा' भवन्ति। तद्यथा-पुण्यानुबन्धि पुण्यमित्येकः, पापानुबन्धि पुण्यमिति द्वितीय , पापानुबन्धि पापमिति तृतीयः, पुण्यानुबन्धि पापमिति चतुर्थः। तत्राऽऽद्यभङ्गप्रतिपादनायाऽऽह-पाठान्तरापेक्षया पुनरेवं संबन्धस्तीर्थकृन्नामकर्मण इति प्रागुक्तं,तच्च पुण्यं पुण्याऽऽदिविचारे च प्रागुक्ता एव चत्वारो भङ्गका भवन्ति । तत्राऽऽद्यभङ्गकाभिधानायाऽऽह-

गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-च्छोभनादधिकं नरः ।

याति यद्वत्सुधर्मेण, तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ १ ॥

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिदनिर्दिष्टनामा, नर इति योग' । किंभूताद्गेहाच्छोभनाद्रमणीयात्,किंभूतं गेहान्तरम् ?-अधिकं शोभनतर, नरो मानव , नरग्रहणं चेह विशिष्टचरणसाध्यपुण्ययोगत्वेन तस्य प्राधान्यख्यापनार्थम्। याति गच्छति, यद्वत् यथेति दृष्टान्त., सुधर्म्मेण पुण्यानुबन्धित्वाच्छोभन. कृपाऽऽदिधर्मजन्यत्वाद्धर्मश्चेति सुधर्म्मस्तेन, पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्म्मणेत्यर्थ. । तद्वदेव तथैव, भवान् मनुष्याऽऽदिजन्मनः शोभनस्वभावात्सकाशाद्भवं देवाऽऽदिभवं शोभनतरस्वभावं यातीति प्रकृतम्। यत्किल शुभमनुष्याऽऽदेर्जीवस्य पूर्वभवप्रपञ्चित कर्म्म मनुष्यत्वाऽऽदि शुभभावानुभवहेतुर्भवति तदनन्तर देवाऽऽदिगतिपरम्पराकारणं च तत् पुण्यानुबन्धि पुण्यमुच्यते । एतच्च ज्ञानपूर्वनिर्निदानकुशलानुष्ठानाद्भवति, भरताऽऽदेरिवेति । ( भरतवृत्तम् ' भरह ' शब्दे वक्ष्यामि )

अथ द्वितीयभङ्गकमाह-

गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-च्छोभनादितरन्नरः ।

याति यद्वदसद्धर्म्मात्, तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ २ ॥

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिन्नरो,यद्वद्यातीति संबन्ध । किंभूतात्किंभूतम् ?-शोभनाद्रमणीयादितरत् शोभन तद्वदेव तथैव असद्धर्मादसत्त्वशोभन पापानुबन्धित्वाद्धर्मश्च दयाऽऽदिधर्मजन्यत्वादित्यसद्धर्म , तस्मात् पापानुबन्धिपुण्यादित्यर्थ' भवाच्छोभनान्मनुष्याऽऽदेर्भवमशोभनं नरकाऽऽदिकमिति । यत्किल शुभमनुष्याऽऽदेर्जीवस्य पूर्वभवार्जितकर्म मानुषत्वाऽऽदि शुभभावानुभूतिहेतुर्भवति, तदनन्तरं नारकाऽऽदिभवपरम्पराकारणं च तत्पापानुबन्धि पुण्यमित्युच्यते, तच्च निदानात्ज्ञानदूषितात्धर्मानुष्ठानाद्भवति, ब्रह्मदत्ताऽऽदेरिवेति २ । ( ब्रह्मदत्तवृत्तम् ' बंभदत्त ' शब्दे वक्ष्यामि )

अथ तृतीयभङ्गकमाह—

गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-दशुभादधिकं नरः ।

याति यद्वन्महापापात्, तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ ३ ॥

गेहाद्गेहान्तरं यद्वत्कश्चिन्नरो याति, किंविधात् किंविधमित्याह-अशुभादरमणीयादधिकमशुभतरं,तद्वदेव महापापान्महच्च तत् पापानुबन्धित्वात् पापं चाशुभकर्मेति महापापं, तस्मात्पापानुबन्धिपापादित्यर्थ. । भवादशुभात्तिर्यगादेर्भवमशुभतर नारकाऽऽदिकमिति । यत्किल तिर्यगादेर्जीवस्य पूर्वजन्मोपात्तं कर्म तिर्यगाद्यशुभभावानुभवननिमित्तभूतं भवति तदनन्तरं नारकाऽऽद्यशुभगतिपरम्पराकारणं च तत्पापानुबन्धि पापमुच्यते. तथाविधविलाडाऽऽदेरिव, तच्च महाप्राणातिपाताऽऽदिहेतुकमिति ।

चतुर्थभङ्गकमधुना प्राह—

गेहाद्गेहान्तरं कश्चि-दशुभादितरन्नरः ।

याति यद्वत्सुधर्मेण, तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ ४ ॥

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिन्नरो यद्वद् याति, किंविधात्किंविधमित्याह अशुभादकमनीयादितरच्छोभनं, तद्वदेव सुधर्मेण कुशलानुष्ठानमिश्रनिर्निदानाऽऽदिकुशलानुष्ठानलक्षणेन भवादशुभतिर्यगादेर्भवं शुभं मनुष्याऽऽदिकमिति, यत्किल तिर्यगादेर्जीवस्य प्राग्भवार्जित कर्म तिर्यक्त्वाऽऽद्यशुभभावानुभूतिनिमित्तभूत भवति,तदनन्तरं देवाऽऽदिशुभगतिपरम्पराहेतुश्च तत्पुण्यानुबन्धि पापमुच्यते,चण्डकौशिकाऽऽदेरिव।(तद्वृत्तम् 'वीर' शब्दे वक्ष्यामि ) इह च भङ्गकनिर्देशे यद्यपि पापं प्रधानं तथापि पुण्यानुबन्धिहेतुत्वात् पुण्यानुबन्धकारिणि पापे शुभधर्मतामुपचर्य सुधर्मेण तद्वदेवोत्पाद्यमित्युक्तमिति ॥ ४ ॥

एवं फलतश्चतुर्द्धा कर्म व्यवस्थाप्योपदेशमाह—

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं, कर्तव्यं सर्वथा नरैः ।

यत्प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्वसंपदः ॥ ५ ॥

शुभं पुण्यं कर्मानुबध्नात्यनुसन्धत्ते यदेवं शीलं तत्शुभानुबन्धि, अत इति यतो गेहाद् गेहान्तरमित्यादिदृष्टान्तं प्रतिपादितं, शुभाशुभं कर्मफलमस्ति एतस्मात्कारणात्पुण्यं शुभकर्म कर्तव्यं विधेयं सर्वथा सर्वप्रकारैर्नरैर्मानवै , किंभूत तदित्याह-यत्प्रभावाद्यस्य सामर्थ्यादपातिन्योऽपतनशीला अविनश्वर्यो जायन्ते भवन्ति सर्वसंपद. समस्तनरामरनिर्वाणश्रिय इति ॥ ५ ॥

तत्पुनः शुभानुबन्धि पुण्यं कथं क्रियते ?, इत्याह—

सदागमविशुद्धेन, क्रियते तच्च चेतसा ।

एतच्च ज्ञानवृद्धेभ्यो, जायते नान्यतः क्वचित् ॥ ६ ॥

सदा सर्वकालम् । अथवा-सदागमस्त्रिकोटीदोषवर्जितत्वे न शोभनं शास्त्रं तेन विशुद्धं निर्मलीकृतं यत्तत्तथा तेन सदागमविशुद्धेन चेतसेति योग । क्रियते विधीयते, तच्च तत्पुन. शुभानुबन्धि पुण्यं, चेतसा मनसा, एतच्च एतत् पुनः सदागमविशुद्धं चेतो ज्ञानवृद्धेभ्यः श्रुतस्थविरेभ्य सम्यगुपासितेभ्यो, जायते संपद्यते, नान्यतो न पुनरन्यस्मात्कारणान्तरात् , क्वचिद्देशे काले पात्रे चेति । यद्यपि कालस्वभावनियतिकर्मपुरुषाऽऽकाराणां कारणभाव' सर्वत्र. तथापि कर्मक्षयोपशमे चित्तविशुद्धेरान्तरकारणे ज्ञानवृद्धसंपर्कस्य प्रधानकारणत्वात्तच्च ज्ञानवृद्धेभ्य इत्युक्तमिति ॥ ६ ॥

यदि विशुद्धं चेतो न भवति तत. किं स्यादित्याह-

चित्तरत्नमसंक्लिष्ट-मान्तरं धनमुच्यते ।

यस्य तन्मुषितं दोषै-स्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥ ७ ॥

चित्तं मनस्तद्रत्नमिव चित्तरत्नं,निर्मलस्वभावत्वोपाधिजनितविकारत्वादिसाधर्म्यात्, असंक्लिष्टं रागादिसंक्लेशवर्जितमान्तरमाध्यात्मिकं धनं वसु उच्यते अभिधीयते, यस्य देहिन तच्चित्तरत्नं, मुषितमपहृतं दोषै रागाऽऽदिभिस्तस्य देहिनः शिष्टा उद्धरिता विपत्तयो व्यसनानि, असंक्लिष्टचित्तरत्ना-

भावे हि हर्षविषादाऽऽदिरूपा कुगतिगमनरूपा वा विपत्तय एवावशिष्यन्त इति ॥ ७ ॥

अन्ये त्वमुं श्लोकं चास्य स्थाने पठन्ति-

**प्रकृत्या मार्गगामित्वं, सदपि व्यज्यते ध्रुवम् ।**
**ज्ञानवृद्धप्रसादेन, वृद्धिं चाऽऽप्नोत्यनुत्तराम् ॥ ७ ॥**

आगमविशुद्धं चित्तं ज्ञानवृद्धेभ्यः सकाशादुपजायत इत्युक्तम्, तच्चेदं किं सदुत्पद्यते,असद्वा ?। यदि सदिति पक्षः स न युक्तः, सतं उत्पादायोगात्,गगनस्येव सतोऽप्युत्पादे उत्पादाविरामप्रसङ्गात् । अथासदिति पक्षः । सोऽप्ययुक्तः,सर्वथा असत उत्पादाभावात्, गगनाम्भोरुहस्येवेति । अत्रोत्तरमाह- प्रकृत्या स्वभावेन मार्गगामित्वमागमविशुद्धत्वं, चेतस इति गम्यते । सदपि कथञ्चिद्विद्यमानमपि,अपिशब्दाद् व्यक्तित अविद्यमानमपि,अनेनैकान्तसत्त्वासत्त्वपक्षोक्तदोषः परिहृतो भवति।किमित्याह-व्यज्यते व्यक्तं भवति,ध्रुवं निश्चितम्,अनेन ज्ञानवृद्धप्रसादस्य मार्गगामित्वव्यञ्जकत्वं प्रत्यव्यभिचरिकारणतामाह-केनाभिव्यज्यते ?,इत्याह-ज्ञानेन बोधेन वृद्धा महान्तो ज्ञानं वा वृद्धं येषां ते ज्ञानवृद्धास्तेषां प्रसादः प्रसन्नता ज्ञानवृद्धप्रसादस्तेन,किमभिव्यक्तिमात्रमेव?,नेत्याह-वृद्धिं च विपुलता, चशब्दः समुच्चये,आप्नोति लभते,अनुत्तरामविद्यमानप्रधानतरां, मार्गगामित्वमिति प्रकृतमिति शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्त्तव्यमित्युक्तम् ।

अथ तदुपायोपदर्शनायाऽऽह-

**दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम् ।**
**विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥ ८ ॥**

दया कृपा भूतेषु सामान्यतो जीवेषु, वैराग्यं विरागता, द्वेषाभावाविनाभूतत्वाद्वैराग्यस्येति, विगतद्वेषता च, विधिर्विधानं शास्त्रोक्तो न्यायः श्रद्धासत्कारक्रमयोगाऽऽदिः,स विद्यते यत्र तद्विधिवत् ,इह यद्यपि विधिमदितिशब्दः सिद्धयति तथाऽप्यैन्द्राऽऽदिव्याकरणप्रवीणत्वाद्धारिभद्राऽऽचार्यस्य नापशब्दः शङ्कनीय इति । ( इन्द्रव्याकरणं कदा जातमिति 'इंदवागरण' शब्दे द्वितीयभागे ५४७ पृष्ठे निश्चितम् ) गृणन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवः साधवस्तेषां पूजनं भक्तपानवस्त्रपात्रप्रणामाऽऽदिभिरभ्यर्चनं गुरुपूजनं, विशुद्धा निरतिचारा शीलवृत्तिर्हिंसाऽनृतादत्ताब्रह्मपरिग्रहविरमणरूपकुशलानुष्ठानवर्तनं, चशब्द उक्तसमुच्चये, अनुक्तगुणान्तरसमुच्चये वा । किमेतदित्याह- पुण्यं शुभं कर्म्म पुण्यकर्म, बन्धहेतुत्वेनोपचारात् । किंभूतमित्याह- पुण्यानुबन्धि शुभकर्मसन्तानवत्,अद एतदनन्तरोदितम् । ननु दया भूतेषु इह भूतग्रहणमनर्थकं,यतो दया प्राणिगोचरैव दया हि दुःखितेषु भवति, दुःखितत्वं च प्राणिनामेवेति । अत्रोच्यते- न भूतग्रहणमचेतनव्यवच्छेदार्थमपि तु भूतसामान्यग्रहणार्थं, तेन सर्वभूतेषु तदुचितेषु दया विधेयेत्युक्तं भवति । आह च-" दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसायरम्मि दुक्खत्तं । अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणइ ॥१॥ " इति । द्वा० २४ अष्ट० । प्रति० । पञ्चा० । पं० व० ।

पुण्यानि-

नवविहे पुन्ने पन्नत्ते । तं जहा-अन्नपुन्ने,पाणपुन्ने वत्थपुन्ने लेणपुन्ने,सयणपुन्ने,मणपुन्ने,वयपुन्ने,कायपुन्ने, नमोकारपुन्ने । पात्रायान्नदानाद्यस्तीर्थकरनामाऽऽदिपुण्यप्रकृतिबन्धः स अन्नपुण्यम् एवं सर्वत्र नवरं(लेणं ति)लयनं गृहं,शयनं संस्तारकाऽऽदिः, मनसा गुणिषु तोषात् वाचा प्रशंसनात् कायेन पर्युपासनात् नमस्काराच्च यत्पुण्यं तन्मनःपुण्याऽऽदीति । उक्तं च-" अन्नपाने च वस्त्रं च, आलय शयनाऽऽसनम् । शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ॥ १ ॥" इति । स्था० ९ ठा० । सूत्र० । अभ्युदयप्राप्तौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ० । पुण्यप्रकृतौ, कर्म्म० ५ कर्म० । सुकृते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पवित्रे, ज्ञा० १श्रु० ८ अ० । नि० । संविग्नसाधुदानाऽऽदौ, तं० । " णत्थि पुन्ने न पावे य, णेवं सन्नं णिवेसए । अत्थि पुन्ने य पावे य, एवं सण्णं णिवेसए ॥१॥ " सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । पापः पापेन कर्मणा पुण्य पुण्येन कर्मणा । आ० म० १ अ० । " पुण्णं सुकयं च भागहेयं च । " पाइ० ना० १६७ गाथा ।

**पुन्नकंखिय**-पुण्यकाङ्क्षित-त्रि० पुण्ये काङ्क्षा संजाताऽस्येति पुण्यकाङ्क्षितः । पुण्यगृद्धे, तं० ।

**पुन्नकलस**-पूर्णकलश-पुं० । जलपरिपूर्णघटे,पञ्चा० ८ विव० । रा० । ध० ।

**पुन्नकलसमयणमुत्ति**-पूर्णकलशमदनमूर्ति-पुं० । उज्जयन्तपर्वते पूज्ये नेमिनाथे, श्रीउज्जयन्ते पुण्यकलशमदनमूर्तिः श्रीनेमिनाथः । ती० ४३ कल्प ।

**पुण्णकलसा**-पुण्यकलशा-स्त्री० । लाटदेशीये स्वनामख्याते ग्रामे, आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

**पुण्णकलसाऽऽदिट्ठवण**-पूर्णकलशाऽऽदिस्थापन-न० । पूर्णकलशानां मङ्गलदीपानां न्यासे, पञ्चा० ८ विव० ।

**पुण्णकलसाऽऽदिरूव**-पुण्यकलशाऽऽदिरूप-पुं० । जलपरिपूर्णघटपूर्वभागोद्धृतमृत्तिकाऽऽदिरूपे, जं०१ वक्ष० ।

**पुन्नकामय**-पुण्यकामक-त्रि० । पुण्ये तत्फलभूतेषु शुभकर्मणि कामो यस्य स पुण्यकामकः । पुण्येच्छुके, तं० ।

**पुण्णकूड**-पूर्णकूट-न० । कच्छदीर्घवैताढ्यपर्वतस्य अष्टमे कूटे, स्था० ९ ठा० । गन्धि लावतीदीर्घवैताढ्यपर्वतस्य षष्ठे कूटे, स्था० ९ठा० ।

**पुण्णघोस**-पूर्णघोष-पुं० । ऐरवते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति एकादशे तीर्थकरे, स० । ती० ।

**पुन्नचंद**-पूर्णचन्द्र-पुं० । भारतवर्षे समग्रायामपि मेदिन्याममारघातोद्घोषके राजनि, संथा० ।

**पुन्नट्ठापगड**-पुण्यार्थप्रकृत-त्रि० । साधुवादाङ्गीकरणेन पुण्यार्थकृते, दश० ।

**असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।**
**जं जाणेज्ज सुणिज्जा वा, पुन्नट्ठा पगडं इमं ॥ ४९ ॥**
**तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।**
**दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥**

एवं पुण्यार्थं,पुण्यार्थं प्रकृतं नाम-साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति । अत्राऽऽह-पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु

वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव,शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्ते , तथाहि-न पितृकर्माऽऽदिव्यपेहिनाऽऽत्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति,नैतदेवम् अभिप्रायापरिज्ञानात्,स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्येतरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याऽप्यनिषेधादिति, एतेनाऽदेयदानाभावः प्रत्युक्तः,दयस्यैव यदृच्छादानानुपपत्तेः कदाचिद्दपि वा दाने यदृच्छादानोपपत्तेः, तथा व्यवहारदर्शनात्,अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात् नचारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्तेः नासौ तदर्थ इत्यारम्भदोषायोगात्, दृश्यते च कदाचित्सूतकाऽऽदाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणाच्च दोष इत्यलं प्रसङ्गेन, अतद्गमनिकामात्रफलत्वात्प्रयासस्येति ॥४६॥ प्रतिषेधः पूर्ववत् ॥५०॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

पुण्णणिमित्त-पुण्यनिमित्त -न० । शुभकर्मनिबन्धने, पञ्चा० १५ विव० ।

पुण्णतिहि-पूर्णतिथि-स्त्री० । पूर्णासंज्ञकतिथौ, पञ्चमी दशमी पञ्चदशी च तिथिः पूर्णा उच्यते । पञ्चा० १५ विव० । जं० । ज्यो० ।

पुण्णपगइ-पुण्यप्रकृति-स्त्री० । जीवाऽऽह्लादजनिकायां शुभकर्मप्रकृतौ, कर्म० ५ कर्म० । प्रव० । (ताश्च सुरगत्याद्या द्वाचत्वारिंशत् 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६७ पृष्ठे दर्शिता )

पुण्णपगय-पुण्यप्रकृत-त्रि० । पुण्यार्थे साधिते, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

पुण्णपय-पुण्यपद-न० । पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं, तच्च तत्पद्यते गम्यतेऽनेनार्थ इति पदम्, पुण्यस्य वा पदं स्थानम् । पापपरिवर्जनाऽऽत्मके शब्दसंदर्भे, उत्त० १८ अ० ।

पुण्णपाल-पुण्यपाल-पुं० । पापायां नगर्यां चरमवर्षारात्रे स्थितस्य श्रीवीरस्य वन्दनार्थमागते अष्टादशस्वप्नपृच्छके , ती० २० कल्प० ।

पुण्णपाव-पुण्यपाप-न० । शुभाऽशुभकर्मणोः, उपा० । " णत्थि पुण्णे य पावे य, णेवं सन्नं णिवेसए । " इति । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । ( 'अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे ५२० पृष्ठे व्याख्यातम् )

पुण्णपिवासिय-पुण्यपिपासित-त्रि० । पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽपि पुण्येऽतृप्तिः,पुण्यपिपासा सा सञ्जाताऽस्येति पुण्यपिपासित । नित्यं पुण्याऽतृप्ते, तं० ।

पुण्णप्पभ-पूर्णप्रभ-त्रि० । इक्षुवरे समुद्रे तदधिपे देवे, सू० प्र० १६ पाहु० ।

पुण्णप्पमाण-पूर्णाऽऽत्ममान-त्रि० पूर्णप्रमाणे, पूर्णो वा जलेनाऽऽत्मनो मानं यस्य स पूर्णाऽऽत्ममान । जलपूर्णमाने, "सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी २ पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोसट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठइ ।" भ० १ श० ६ उ० ।

पुण्णभद्द-पूर्णभद्र-पुं० । दक्षिणयक्षनिकायेन्द्रे, स्था० ६ ठा० । यक्षनिकायभेदे, प्रज्ञा० २ पद । भ० । ति० । आ० चू० । पूर्णभद्राऽभिधानदेवनिवासात् पूर्णभद्रकूटम् । जम्बूद्वीपे भरतखण्डे दीर्घवैताढ्ये पष्ठकूटे, स्था० ६ ठा० । जं० । ऐरवतदीर्घवैताढ्यपर्वतस्य षष्ठे कूटे,स्था० ६ ठा० । अन्त० । आ० चू० । आ० म० । माल्यवद् वक्षस्कारपर्वतस्याऽष्टमे कूटे , जं० ४ वक्ष० । चम्पानगर्या उत्तरपूर्वदिग्भागे स्वनामके चैत्ये नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । विपा० । अन्त० । ज्ञा० । उपा० । औप० । आ० चू० । आ० म० । वाणिजग्रामे स्वनामख्याते गृहपतौ, स च वीरान्तिके प्रव्रज्य पञ्चवर्षपर्यायः विपुले पर्वते सिद्ध इति अन्तकृद्दशानाम् । अन्त० १ श्रु० ५ वर्ग २ अ० । स्थविरस्यार्यसम्भूतविजयस्य द्वादशशिष्याणां सप्तमे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

पुण्णमंत-पुण्यवत्-त्रि० । पुण्यमस्त्यस्य पुण्यवान् । "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः " ॥ ८ । २ । १५६ ॥ इति मतोः स्थाने मन्ताऽऽदेशः । पुण्यवान् । पुण्यविशिष्टे प्रा० २ पाद ।

पुण्णमासिणी-पौर्णमासी-स्त्री० । पूर्णो मासो यस्यां सा पौर्णमासी । प्रज्ञाऽऽदित्वात् स्वार्थेऽण् । अन्ये तु व्याचक्षते-पूर्णोऽमाश्चन्द्रमा अस्यामिति पौर्णमासी, अण् तथैव । प्राकृतत्वात्सूत्रे पुण्णमासिणी । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । एकायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

पौर्णमास्यः-

ता कहं ते पुण्णमासिणी आहिताति वदेज्जा ?। तत्थ खलु इमाओ वारस पुण्णमासिणीओ,वारस अमावासाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-साविट्ठी १, पोट्ठवती २, असोया ३, कत्तिया ४, मग्गसिरी ५, पोसी ६, माही ७, फग्गुणी ८, चेती ९, विसाही १०, जेट्ठामूली ११, आसाढी १२ ।

'ता' इति पूर्ववत् । कथं ? केन प्रकारेण केन नक्षत्रेण परिसमाप्यमाना इत्यर्थः, पौर्णमास्य आख्याताः, अत्र पौर्णमासीग्रहणममावास्योपलक्षणं, तेन कथममावास्या अपि आख्याता इति वदेत् । एवमुक्ते भगवानाह ( तत्थेत्यादि ) तत्र-तासां पौर्णमासीनाममावास्यानां च मध्ये जातिभेदमधिकृत्य खल्विमा द्वादश पौर्णमास्यो द्वादश चेमा अमावास्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-श्राविष्ठी प्रौष्ठपदी इत्यादि, तत्र श्रविष्ठा धनिष्ठा, तस्यां भवा श्राविष्ठी श्रावणमासभाविनी, प्रोष्ठपदा-उत्तरभद्रपदा तस्यां भवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासभाविनी, अश्वयुजि भवा आश्वयुजी अश्वयुग्मासभाविनी, एवं मासक्रमेण तत्तन्नामानुरूपनक्षत्रयोगात् शेषा अपि वक्तव्याः ।

सम्प्रति यैर्नक्षत्रैरेकैका पौर्णमासी परिसमाप्यते तानि पिपृच्छिषुराह-

ता साविट्ठिं णं पुण्णमासिं कति णक्खत्ता जोएंति ? । ता तिण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अभिई, समणो, धणिट्ठा ( १ ) ।

'ता' इति पूर्ववत्, श्राविष्ठीं पौर्णमासीं कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति, कति नक्षत्राणि चन्द्रेण सह यथायोगं संयुज्य परिसमापयन्ति ? भगवानाह-( ता तिण्णि इत्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत्, त्रीणि नक्षत्राणि युञ्जन्ति-त्रीणि नक्षत्राणि चन्द्रेण सह यथायोगं संयुज्य परिसमापयन्ति । तद्यथा-अभिजित्, श्रवणो, धनिष्ठा च । इह अवणधनिष्ठारूपे द्वे एव नक्षत्रे

श्राविष्ठी पौर्णमासी परिसमापयत केवलमभिजिन्नक्षत्रं श्रवणेन सह सम्बद्धमिति तदपि परिसमापयतीत्युक्तम्, कथमेतदवसीयते इति चेत् ?, उच्यते—इह प्रवचनप्रसिद्धममावास्यापौर्णमासीविषयचन्द्रयोगपरिज्ञानार्थमिदं करणम्—

" नाउमिह अमावासं जइ इच्छसि कम्मि होइ रिक्खम्मि ।
अवहारं ठाविज्जा, तत्तियरूवेहि संगुणए ॥ १ ॥
छावट्ठी य मुहुत्ता, विसट्ठिभागा य पंच पडिपुण्णा ।
बासट्ठिभागसत्त-ट्ठिगो य एक्को हवइ भागो ॥ २ ॥
एयमवहाररासिं इच्छ अमावाससंगुणं कुज्जा ।
नक्खत्ताणं एत्तो, सोहणगविहिं निसामेह ॥ ३ ॥
बावीसं च मुहुत्ता, छायालीसं विसट्ठिभागा य ।
एयं पुणव्वसुस्स य, सोहेयव्वं हवइ वुच्छं ॥ ४ ॥
बावत्तरं सयं फ-ग्गुणीण बाणउइय वे विसाहासु ।
चत्तारि अ बायाला, सोज्झा अह उत्तरासाढा ॥ ५ ॥
एयं पुणव्वसुस्स य, विसट्ठिभागसहियं तु सोहणगं ।
इत्तो अभिईआई, बिइयं वुच्छामि सोहणगं ॥ ६ ॥
अभिइस्स नव मुहुत्ता, विसट्ठिभागा य हुंति चउवीसं ।
छावट्ठी असमत्ता, भागा सत्तट्ठिछेयकया ॥ ७ ॥
उगुणट्ठं पोट्ठवया-तिसु चेव नवोत्तरं च रोहिणिया ।
तिसु नवनवएसु भवे, पुणव्वसू फग्गुणीओ य ॥ ८ ॥
पंचेव उगुणपन्नं, सयाइ उगुणुत्तराइं छच्चेव ।
सोज्झाणि विसाहासुं, मूले सत्तेव चोयाला ॥ ९ ॥
अट्ठसय उगुणवीसा, सोहणगं उत्तराण साढाणं ।
चउवीसं खलु भागा, छावट्ठी चुण्णियाओ य ॥ १० ॥
एयाइ सोहइत्ता, जं सेसं तं हविज्ज नक्खत्तं ।
इत्थं करेइ उडुवइ, सूरेण समं अमावासं ॥ ११ ॥
इच्छापुण्णिमगुणिओ, अवहारो सोत्थ होइ कायव्वो ।
तं चेव य सोहणगं, अभिई अइं तु कायव्वं ॥ १२ ॥
सुद्धम्मि य सोहणगे, जं सेसं तं हवेज्ज नक्खत्तं ।
तत्थ य करेइ उडुवइ, पडिपुण्णो पुण्णिमं विउलं ॥ १३ ॥ "

एतासां गाथानां क्रमेण व्याख्या—याममावास्यामिह—युगे ज्ञातुमिच्छसि—यथा कस्मिन्नक्षत्रे वर्तमाना परिसमाप्ता भवतीति तावद्रूपैर्यावन्त्योऽमावास्या अतिक्रान्तास्तावत्याः संख्याया इत्यर्थः, वक्ष्यमाणस्वरूपमवधार्यते—प्रथमतया स्थाप्यते इति न्यवधार्यो ध्रुवराशिः तमवधार्य राशिं पट्टिकाऽऽदौ स्थापयित्वा चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन संगुणयेत् ॥ १ ॥ अथ किंप्रमाणोऽमाववधार्यो राशिरिति तत्प्रमाणनिरूपणार्थमाह—( छावट्ठी गाहा २ ) षट्षष्टिर्मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च परिपूर्णा द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टितमो भागः, एतावत्प्रमाणोऽवधार्यराशिः, कथमेतावत्प्रमाणस्यास्योत्पत्तिरिति चेत् ? उच्यते—इह यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यां पर्वभ्यां किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१२४ । ५ । २ । अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यो राशिः पञ्चलक्षणो गुण्यते, जाता दश, तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन भागहरणं, तत्र छेद्यच्छेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना क्रियते जात उपरितनश्छेद्यो राशिः पञ्चकरूपोऽधस्तनो द्वाषष्टिरूपः, लब्धाः पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एतेन नक्षत्राणि कर्त्तव्यानीति नक्षत्रकरणार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागरूपैर्गुण्यन्ते, जातान्येकनवतिः शतानि पञ्चाशदधिकानि ९१५०, छेदराशिरपि द्वाषष्टिप्रमाणः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशत् शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, उपरितनो राशिर्मुहूर्ताऽऽनयनार्थं भूयः त्रिंशता गुण्यते, जाते द्वे लक्षे चतुःसप्ततिः सहस्राणि पञ्च शतानि २७४५००, तेषां चतुःपञ्चाशदधिकैकचत्वारिंशच्छतैर्भागहरणं, लब्धाः षट्षष्टिर्मुहूर्ताः ६६ शेषा अंशास्तिष्ठन्ति त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि ३३६ ततो द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं तानि द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि विंशतिः सहस्राणि अष्टौ शतानि द्वात्रिंशदधिकानि २०८३२, तेषामनन्तरोक्तेन छेदराशिना ४१५४ भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्च द्वाषष्टिभागा ५ शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिः, ततस्तस्या द्वाषष्ट्या अपवर्त्तना क्रियते, जात एककः, छेदराशेरपि द्वाषष्ट्याऽपवर्तनाया लब्धाः सप्तषष्टिः, तत आगतं षट्षष्टिर्मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इति, तदेवमुक्तमवधार्यं राशिप्रमाणम् ॥ २ ॥ संप्रति शेषविधिमाह—( एयमवहारे ३—इत्यादि ) एतमनन्तरोदितस्वरूपमवधार्यराशिमिच्छामावास्यासंगुणं—याममावास्यां ज्ञातुमिच्छसि तत्संख्यया गुणितं कुर्यात्, अत ऊर्ध्वं तु नक्षत्राणि शोधनीयानि, ततोऽत ऊर्ध्वं नक्षत्राणां शोधनकविधिं शोधनकप्रकारं वक्ष्यमाणं निशामयत आकर्णयत ॥ ३ ॥ तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकमाह—(बावीसं चेत्यादि ४) द्वाविंशतिर्मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः, एतत् एतावत्प्रमाणं पुनर्वसुनक्षत्रस्य परिपूर्णं भवति शोद्धव्यं, कथमेवंप्रमाणस्य शोधनकस्योत्पत्तिरिति चेत् ? उच्यते इह यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते तदैकं पर्वातिक्रम्य कतिपयास्तेनैकेन पर्वणा लभ्यन्ते ?, राशित्रयस्थापना—१२४ । ५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यो राशिः पञ्चकरूपो गुण्यते, जाताः पञ्चैव. " एकेन गुणितं तदेव भवति " इति वचनात्, तेषां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः पञ्च चतुर्विंशत्यधिकशतभागाः, ततो नक्षत्राऽऽनयनार्थमेतेऽष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागरूपैर्गुणयितव्या इति, गुणकारछेदराश्योर्द्विकेनापवर्तना, जातो गुणकारराशिर्नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, छेदराशिर्द्वाषष्टिः ६२, ततः पञ्च नवभिः पञ्चदशोत्तरैः शतैर्गुण्यन्ते, जातानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि ४५७५, छेदराशिर्द्विषष्टिलक्षणः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तथा पुष्यस्य ये त्रयोविंशतिः सप्तषष्टिभागाः प्राक्तनयुगचरमपर्वणि सूर्येण सह योगमायान्ति ते द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश शतानि षड्विंशत्यधिकानि १४२६, एतानि प्राक्तनात् पञ्चसप्तत्यधिकपञ्चचत्वारिंशच्छतप्रमाणात् शोध्यन्ते, शेषं तिष्ठन्ति एकत्रिंशत्शतानि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१४९, तत एतानि मुहूर्ताऽऽनयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते; जातानि चतुर्णवतिः सहस्राणि चत्वारि शतानि सप्तत्यधिकानि ९४४७०, तेषां छेदराशिना चतुःपञ्चाशदधिकैकचत्वारिंशच्छतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धा द्वाविंशतिर्मुहूर्ताः, शेषं तिष्ठन्ति त्रीणि सहस्राणि द्व्यशीत्यधिकानि ३०-

८२, एतानि द्वाषष्टिभागाऽऽनयनार्थं द्वाषष्ट्या गुरयन्ते, जातमेकं लक्षमेकनवति सहस्राणि चतुरशीत्यधिकानि १६१०८-४, तेषां छेदराशिना ४१५४ भागो ह्रियते,लब्धा. षट्चत्वारिंशत् मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागा, एषां पुनर्वसुनक्षत्रस्य शोधनकनिष्पत्तिः ॥४॥ शेषनक्षत्राणां शोधनकान्याह-(बावत्तरंसयमित्यादि ५)द्वासप्ततं द्विसप्तत्यधिकं शतं फल्गुनीनामुत्तरफल्गुनीना-शोध्यम्। किमुक्तं भवति?-द्विसप्तत्यधिकेन शतेन पुनर्वसुप्रभृतीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति । एवमुत्तरत्रापि भावार्थो भावनीयः,तथा विशाखासु विशाखापर्यन्तेषु नक्षत्रेषु शोधनकं द्वे शते द्विनवत्यधिके २६२,अथानन्तरमुत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि अधिकृत्य शोध्यानि चत्वारि शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि ४४२ ॥ ५ ॥ ( एयं पुणेत्यादि ६) एतत् अनन्तरोक्तं शोधनकं सकलमपि पुनर्वसुसत्कद्वाषष्टिभागसहितमवसेयम्। एतदुक्तं भवति- ये पुनर्वसुसत्का द्वाविंशतिर्मुहूर्त्तास्ते सर्वेऽप्युत्तरस्मिन् शोधनकेऽन्तःप्रविष्टाः प्रवर्तन्ते,न तु द्वाषष्टिभागाः, ततो यत् यत् शोधनकं शोध्यते तत्र तत्र पुनर्वसुसत्काः षट्चत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागा उपरितनाः शोधनीया इति, एतच्च पुनर्वसुप्रभृति उत्तराषाढापर्यन्तं प्रथमं शोधनकम् , अत ऊर्द्धमभिजिनमाद्यं कृत्वा द्वितीयं शोधनकं वक्ष्यामि ॥ ६ ॥ तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ( अभिइस्सेत्यादि गाथाचतुष्टयम् ७-८-९-१०) अभिजितो नक्षत्रस्य शोधनकं नव मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य सत्काश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिच्छेदकृता परिपूर्णा षट्षष्टिभागा , तथा एकोनषष्टम्-एकोनषष्ट्यधिकं शतं प्रोष्ठपदानाम्-उत्तरभद्रपदानां शोधनकम्। किमुक्तं भवति ?-एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनाभिजिदादीन्युत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति, एवमुत्तरत्रापि भावना कर्तव्या,तथा त्रिषु नवोत्तरेषु शतेषु राहिणिका रोहिणीपर्यन्तानि शुद्ध्यन्ति, तथा त्रिषु नवनवतेषु नवनवत्यधिकेषु शतेषु शोधितेषु पुनर्वसुपर्यन्तं नक्षत्रजातं शुद्ध्यति, नवैकोनपञ्चाशदधिकानि पञ्च शतानि प्राप्य फाल्गुन्यश्च-उत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति , विशाखासु-विशाखापर्यन्तेषु नक्षत्रेष्वेकोनसप्तत्यधिकानि षट् शतानि शोध्यानि ६६९, मूलपर्यन्ते नक्षत्रजाते सप्त शतानि चतुःचत्वारिंशदधिकानि शोध्यानि७४४, उत्तराषाढानाम-उत्तराषाढापर्यन्तानां नक्षत्राणां शोधनकमष्टौ शतानि एकोनविंशत्यधिकानि ८१९, सर्वेष्वपि च शोधनकेषूपरि अभिजितो नक्षत्रस्य संबन्धिनो मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागाश्चतुर्विंशति षट्षष्टिश्च चूर्णिका भागा एकस्य द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागाः शोधनीया ७ ८ ९ १० । (११ एयाइं इत्यादि) एतानि अनन्तरोदितानि शोधनकानि यथायोगं शोधयित्वा यच्छेषमवतिष्ठते तद्भवति नक्षत्रम् , एतस्मिंश्च नक्षत्रे करोति सूर्येण सममुडुपतिरमावास्यामिति । तदेवममावास्याविषयचन्द्रयोगपरिज्ञानार्थं करणमुक्तम्। सम्प्रति पौर्णमासीविषयचन्द्रयोगपरिज्ञानार्थं करणमाह-( १२-इच्छापुण्णिमेत्यादि ) यः पूर्वममावास्याचन्द्रनक्षत्रपरिज्ञानार्थमवधार्यराशिरुक्तः स एवात्रापि पौर्णमासीचन्द्रनक्षत्रपरिज्ञानविधौ ईप्सितपौर्णमासीगुणितो-या पौर्णमासी ज्ञातुमिष्टा तत्संख्यया गुणित कर्तव्यः, गुणिते च सति तदेव पूर्वोक्तं शोधनकं कर्तव्यं, केवलमभिजिदादिकं न तु पुनर्वसुप्रभृतिकं, शुद्धे च शोधनके यत् शेषमवतिष्ठते तत् भवेन्नक्षत्रं पौर्णमासीयुक्तम् , तस्मिंश्च नक्षत्रे करोति उडुपतिश्चन्द्रमा परिपूर्णां पौर्णमासीं विमलामिति । एष पौर्णमासीचन्द्रनक्षत्रपरिज्ञानविषयकरणगाथाद्वयाक्षरार्थः । ११-१२ । संप्रत्यस्यैव भावना क्रियते कोऽपि पृच्छति-युगस्याऽऽदौ प्रथमा पौर्णमासी श्राविष्ठी कस्मिन् चन्द्रनक्षत्रे परिसमाप्तिमुपैति ?, तत्र षट्षष्टिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इत्येवंरूपोऽवधार्यराशिर्ध्रियते, प्रथमायां किल पौर्णमास्यां पृष्टमित्येकेन गुणयते, एकेन च गुणितं तदेव भवति, ततस्तस्मादभिजितो नव मुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा इत्येवंपरिमाणं शोधनकं शोधनीयम् । तत्र षट्षष्टेर्नव मुहूर्ता शुद्धाः स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् , तेभ्य एको मुहूर्तो गृहीत्वा द्वाषष्टिभागीकृतस्ते च द्वाषष्टिरपि द्वाषष्टिभागराशौ पञ्चकरूपे प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः द्वाषष्टिभागास्तेभ्यश्चतुर्विंशतिः शुद्धाः स्थिताः पश्चात्त्रिचत्वारिंशत्तेभ्य एकं रूपमादाय सप्तषष्टिभागीक्रियते , ते च सप्तषष्टिरपि भागाः सप्तषष्टिभागैकमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता अष्टषष्टिः सप्तषष्टिभागाः , तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धा , स्थितौ पश्चात् द्वौ सप्तषष्टिभागौ . ततस्त्रिंशता मुहूर्तैः श्रवणः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् मुहूर्त्ताः । षड्विंशतिः, तत इदमागतं धनिष्ठानक्षत्रस्य त्रिषु मुहूर्तेषु गतेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिसंख्येषु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टिसंख्येषु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमा श्राविष्ठी पौर्णमासी परिसमाप्तिमियर्ति । यदा तु द्वितीया श्राविष्ठी पौर्णमासी चिन्त्यते तदा सा युगस्याऽऽदित आरभ्य त्रयोदशीति स ध्रुवराशिः ६६ । $\frac{5}{62}$ । $\frac{1}{67}$ , त्रयोदशभिर्गुण्यते, जातानि मुहूर्त्तानामष्टौ शतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि ८५८ एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चषष्टिर्द्वाषष्टिभागा , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः त्रयोदश सप्तषष्टिभागा ८५८ । $\frac{65}{62}$ । $\frac{13}{67}$ । तत्राष्टभिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कैः षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेको नक्षत्रपर्यायः शुद्धः ,ततः स्थिताः पश्चादेकोनचत्वारिंशन्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दश सप्तषष्टिभागाः ३९ । $\frac{40}{62}$ $\frac{14}{67}$ । ततो नवभिर्मुहूर्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिन्नक्षत्रं शुद्ध्यति स्थिताः पश्चात् त्रिंशत् मुहूर्त्ताः पञ्चदश मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चदश सप्तषष्टिभागाः ३ । $\frac{15}{62}$ $\frac{15}{67}$ । तेभ्यस्त्रिंशता श्रवणः शुद्धः , आगतम् एकोनविंशतिमुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु धनिष्ठाया द्वितीया श्राविष्ठी पौर्णमासी परिसमाप्तिमेति । यदा तु तृतीया श्राविष्ठी पौर्णमासी चिन्त्यते तदा सा युगाऽऽदित पञ्चविंशतितमेति स पूर्वोक्तो ध्रुवराशिः ६६ । $\frac{5}{62}$ । $\frac{1}{67}$ पञ्चविंशत्या गुण्यते , जातानि षोडश शतानि पञ्चाशदधिकानि १६५०,

एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चविंशं शतं द्वाषष्टिभागानाम् १२५. ए-कस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतिः सप्तषष्टिभागाः २५, तत्र षोडशभि· शतैरष्टात्रिंशदधिकैः १६३८, मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः ४८ एकस्य च द्वाष-ष्टिभागस्य द्वात्रिंशदधिकेन शतेन १३२, द्वौ नक्षत्रपर्यायौ शु-द्ध्यत . स्थिता पश्चात् द्वादश मुहूर्त्ता· १२, एकस्य च मुहूर्त्त स्य पञ्चसप्ततिर्द्वाषष्टिभागाः ७५. एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशति· सप्तषष्टिभागा· २७, ततो नवभिर्मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिन्नक्षत्रं शुद्ध्यति, स्थिता प-श्चात् त्रयोदश मुहूर्त्ताः १३। एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागाः ५०/६२ एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाविंशति· सप्त-षष्टिभागाः २८/६७, आगतं श्रवणनक्षत्रं षड्विंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकादशसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टि-भागस्यैकोनचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीयां श्रा-विष्ठीं पौर्णमासीं परिसमापयति, एव चतुर्थीं श्राविष्ठीं पौर्ण-मासीं धनिष्ठानक्षत्रं षोडशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्च-विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति, पञ्चमीं श्रा-विष्ठीं पौर्णमासीं श्रवणनक्षत्रं द्वादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिसङ्ख्येषु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाष-ष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमाप्तिं नयतीति । तदेवं यानि नक्षत्राणि श्राविष्ठीं पौर्णमासीं परिसमापयन्ति तान्युक्तानि ॥ १ ॥

सम्प्रति यानि प्रोष्ठपदीं परिसमापयन्ति तान्याह–

**ता पोट्ठवतिं णं पोसिमं कति णक्खत्ता जोएंति ?। ता तिणि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा–सतभिसया, पुव्वापोट्ठवती, उत्तरापोट्ठवया ॥ २ ॥**

( ता पोट्ठवइं णं इत्यादि ) ता इति पूर्ववत्, प्रोष्ठपदीं भाद्रपदीं, णमिति वाक्यालङ्कारे, पौर्णमासीं कति नक्ष-त्राणि युञ्जन्ति ?–कति नक्षत्राणि यथायोगं चन्द्रेण सह सं-युज्य परिसमापयन्तीत्यर्थः ?, एवं सर्वत्रापि युञ्जन्तीत्यस्य पदस्य भावना कर्त्तव्या । भगवानाह–( ता इत्यादि ) 'ता' इ-ति पूर्ववत्, त्रीणि नक्षत्राणि युञ्जन्ति, तद्यथा–शतभि-षक्, पूर्वप्रोष्ठपदा, उत्तरप्रोष्ठपदा च । तत्र प्रथमा प्रोष्ठप-दीं पौर्णमासीमुत्तरभद्रपदानक्षत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्त्तेषु ए-कस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु चतुष्षष्टौ स-प्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति नयति । द्वितीयां प्रोष्ठप-दीं पौर्णमासीं पूर्वभद्रपदानक्षत्रमष्टसु मुहूर्त्तेषु शेषेष्वेक-स्य च मुहूर्त्तस्यैकचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वा-षष्टिभागस्यैकपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिणमय-ति । तृतीयां प्रोष्ठपदीं पौर्णमासीं शतभिषक् पञ्चसु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्सु द्वाषष्टिभागेषु एस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, चतुर्थीं प्रोष्ठपदीं पौर्णमासीम् उत्तरभद्रपदानक्षत्रं चत्वारिंशति मु-हूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्यैकचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु ए-कस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषे-षु, पञ्चमीं प्रोष्ठपदीं पौर्णमासीं पूर्वभद्रपदानक्षत्रमेकविंश-तौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चपञ्चाशति द्वाषष्टिभागे-ष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकादशसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिणमयति ।

**ता आसोइं णं पुण्णिमं कति णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा–रेवती य, अस्सिणी य ॥३॥**

( ता आसोइं णमित्यादि ) आश्वयुजीं. णमिति वाक्या-लङ्कारे, पौर्णमासीं कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति ?। भगवानाह–( ता इत्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत् ये नक्षत्रे युङ्क्तः, तद्य-था–रेवती च, अश्विनी च। इहोत्तरभद्रपदानक्षत्रमपि काञ्चि-दाश्वयुजीं पौर्णमासीं परिसमापयति, परं तत्प्रौष्ठपदीमपि पौर्णमासीं परिसमापयति तत्रैव च लोके तस्य प्राधान्यं त-न्नाम्ना तस्याः पौर्णमास्या अभिधानात् अतस्तदिह न विवक्षितमित्यदोषः। तथाहि–प्रथमामाश्वयुजीं पौर्णमासीम-श्विनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च । द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति, द्वितीया-माश्वयुजीं पौर्णमासीं रेवतीनक्षत्रं सप्तदशसु मुहूर्त्तेष्वे-कस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वा-षष्टिभागस्य पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तृतीयामाश्व-युजीं पौर्णमासीमुत्तरभद्रपदानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्त्तेषु ए-कस्य च मुहूर्त्तस्य एकस्मिन् द्वाषष्टिभागे एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतु-र्थीमाश्वयुजीं पौर्णमासीं रेवतीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य द्वाषष्टिभाग-स्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, पञ्चमीमाश्वयुजीं पौर्णमासीमुत्तरभद्रपदानक्षत्रमेकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य दशसु सप्तष-ष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति ॥ ३ ॥

**ता कत्तियं णं पुण्णिमं कति णक्खत्ता जोएंति ? । ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा–भरणी य कत्तिया य ॥ ४ ॥**

( कत्तियं णमित्यादि ) कार्त्तिकीं पौर्णमासीं कति नक्ष-त्राणि युञ्जन्ति ?। भगवानाह–द्वे नक्षत्रे युङ्क्तः, तद्यथा—भरणी, कृत्तिका वा। इहाऽप्यश्विनीनक्षत्रमपि काञ्चित् का-र्त्तिकीं पौर्णमासीं परिसमापयति, परं तदाश्वयुज्यां पौर्ण-मास्या प्रधानमितीह तन्न विवक्षितं, तत्र प्रथमा कार्त्तिकीं पौर्णमासीं कृत्तिकानक्षत्रमेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्षु द्वाष-ष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, द्वितीयां कार्त्तिकीं पौर्णमासीं कृत्तिकानक्षत्रं षड्वि-शतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्यैकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकोनपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु शे-षेषु. तृतीयां कार्त्तिकीं पौर्णमासीमश्विनीनक्षत्रं सप्तसु मु-हूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, चतुर्थीं कार्त्तिकीं पौर्णमासीं कृत्तिकानक्षत्रं षोडशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वे-कस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु, शे-षेषु, पञ्चमीं कार्त्तिकीं पौर्णमासीं भरणीनक्षत्रं नव मुहूर्त्ते-ष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य

च द्वाषष्टिभागस्य नवसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति ॥ ४ ॥

ता मग्गसिरिं णं पुण्णिमं कइ णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-रोहिणी मग्गसिरो य ॥५॥

'ता' इति पूर्ववत्, कति नक्षत्राणि मार्गशीर्षी पौर्णमासीं युञ्जन्ति ? । भगवानाह—( ता दोण्णीत्यादि ) 'ता' इति प्राग्वत्, द्वे नक्षत्रे युङ्क्तः, तद्यथा-रोहिणिका, मृगशिरश्च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीं पौर्णमासीं मृगशिरोऽष्टसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य सम्बन्धिनो द्वाषष्टिभागस्य सप्तकेष्वेकषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, द्वितीयां मार्गशीर्षीं पौर्णमासीं रोहिणीनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तृतीयां मार्गशीर्षीं पौर्णमासीं रोहिणीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, चतुर्थीं मार्गशीर्षीं पौर्णमासीं मृगशिरोनक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयोदशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, पञ्चमीं मार्गशीर्षीं पौर्णमासीं रोहिणीनक्षत्रम् अष्टादशसु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिणमयति ॥ ५ ॥

ता पोसिं णं पुण्णिमं कति णक्खत्ता जोएंति ?। ता तिण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अद्दा,पुणव्वसू, पुस्सो ॥ ६ ॥

( ता पोसिं णमित्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत्, पौषीं, णमिति वाक्यालङ्कारे, पौर्णमासीं कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति ?। भगवानाह-( ता इत्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत्, त्रीणि नक्षत्राणि युञ्जन्ति । तद्यथा-आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्यश्च । तत्र प्रथमा पौषीं पौर्णमासीं पुनर्वसुनक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरेकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु, द्वितीयां पौषीं पौर्णमासीं एकोनविंशति मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्यैकविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तृतीयां पौषीं पौर्णमासीमधिकमासादर्वाक्तनीमार्द्रानक्षत्रं दशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्याष्टाचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु अधिकमाससमाविर्नी पुनस्तामेव तृतीया पौर्णमासीं पुष्यनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, चतुर्थी पौषीं पौर्णमासीं पुनर्वसुनक्षत्रं षोडशसु मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य अष्टसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, पञ्चमीं पौषीं पौर्णमासीं पुनर्वसुनक्षत्रं द्विचत्वारिंशति मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, परिसमाप्तिं नयति ॥ ६ ॥

ता माहिं णं पुण्णिमं कति णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अस्सेसा, महा य ॥ ७ ॥

( ता माहिं णमित्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत्, माघीं, णमिति वाक्यालङ्कारे, पौर्णमासीं कति नक्षत्राणि युञ्जति ?। भगवानाह ( ता दोण्णीत्यादि ) द्वे नक्षत्रे युङ्क्तः । तद्यथा-अश्लेषा, मघा च । चशब्दात्काश्चिन्माघीं पौर्णमासीं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रं काश्चित्पुष्यनक्षत्रं च । तद्यथा-प्रथमा माघीं पौर्णमासीं मघानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, द्वितीयां माघीं पौर्णमासीमश्लेषानक्षत्रमष्टसु मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य षोडशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तृतीयां माघीं पौर्णमासीं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य अष्टात्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वात्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, चतुर्थी माघीं पौर्णमासीं मघानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिषु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकोनविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, पञ्चमीं माघीं पौर्णमासीं पुष्यनक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति ॥ ७ ॥

ता फग्गुणिं णं पुण्णिमं कति णक्खत्ता जोएंति ?। ता दुण्णि नक्खत्ता। जोएंति तं जहा-पुव्वफग्गुणी,उत्तराफग्गुणी य ॥ ८ ॥

( ता फग्गुणिं णमित्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत्, फाल्गुनीं,णमिति वाक्यालङ्कारे, पौर्णमासीं कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति ? भगवानाह-( ता दोण्णीत्यादि ) 'ता' इति प्राग्वत्,द्वे नक्षत्रे, तद्यथा—पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमा फाल्गुनीं पौर्णमासीमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं विंशतौ मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टापञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, द्वितीया फाल्गुनीं पौर्णमासीं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्र द्वयोर्मुहूर्तयोरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तृतीया फाल्गुनीं पौर्णमासीमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य त्रयस्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, चतुर्थी फाल्गुनीं पौर्णमासीमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्र त्रयस्त्रिंशति मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य षष्टौ द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्याऽष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, पञ्चमीं फाल्गुनीं पौर्णमासीं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्र पञ्चदशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चविंशतौ द्वाषष्टिसङ्ख्येषु भागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु परिसमापयति ॥ ८ ॥

ता चित्तिं णं पुण्णिमं कति णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-हत्थो,चित्ता य ॥ ९ ॥

( ता चित्तिं णमित्यादि ) 'ता' इति पूर्ववत्, चैत्रीं पौर्णमासीं कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति ?। भगवानाह-( ता इत्यादि ) द्वे नक्षत्रे युङ्क्तः । तद्यथा-हस्त, चित्रा च । तत्र प्रथमा चैत्रीं पौर्णमासीं चित्रानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्तेष्वे-

एति,कुलोवकुलं वा जोएति,कुलेण वा उवकुलेण वा कुलो-वकुलेण वा जुत्ता साविट्ठी पुण्णिमा जुत्तातिवत्तव्वं सिया । ता पोट्ठवतिं णं पुण्णिमं किं कुलं जोएति,उवकुलं जोएति, कुलोवकुलं वा जोएति ? । ता कुलं वा जोएति, उवकुलं वा जोएति , कुलोवकुलं वा जोएति , कुलं जोएमाणे उत्तरापोट्ठवया णक्खत्ते जोएति , उवकुलं जोएमाणे पुव्वापुट्ठवया णक्खत्ते जोएति , कुलोवकुलं जोएमाणे सतभिसया णक्खत्ते जोएति । पोट्ठवतिं णं पुण्णमासिं णं कुलं वा जोएति,उवकुलं वा जोएति,कुलोवकुलं वा जोए-ति, कुलेण वा जुत्ता ३ पुट्ठवता पुण्णिमा जुत्ताति वत्तव्वं सिया। ता आसोइं णं पुण्णिमासिं णं किं कुलं जोएति, उ-वकुलं जोएति, कुलोवकुलं जोएति, णो लभति कुलोव-कुलं, कुलं जोएमाणे अस्सिणीणक्खत्ते जोएति, उवकुलं जोएमाणे रेवतीणक्खत्ते जोएति, आसोइं णं पुण्णिमं च कुलं वा जोएति, उवकुलं वा जोएति, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता अस्सादिणं पुण्णिमा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया, एवं णेतव्वाओ, पोसं पुण्णिमं जेट्ठामूलं पुण्णिमं च कुलोवकुलं पि जोएति, अवसेसासु णत्थि कुलोवकुलं ॥

( ता साविट्ठिं णमित्यादि ) ' ता ' इति पूर्ववत् , श्राविष्ठीं पौर्णमासीं किं कुलं युनक्ति उपकुलं युनक्ति कुलोपकुलं वा युनक्ति ? । भगवानाह—' ता कुलं वा ' इत्यादि, कुलं वा युनक्ति, वाशब्द समुच्चये, ततः कुलमपि युनक्तीत्यर्थः । एव-मुपकुलमपि कुलोपकुलमपि, तत्र कुलं युञ्जन् धनिष्ठानक्षत्रं युनक्ति, तस्यैव कुलं ( लतया ) प्रसिद्धस्य सत. श्राविष्ठ्यां पौर्णमास्या भावात् , उपकुलं युञ्जन् श्रवणनक्षत्रं युनक्ति, कुलोपकुलं युञ्जन् अभिजिन्नक्षत्रं युनक्ति, तद्धि तृतीयाया श्राविष्ठ्यां पौर्णमास्या द्वादशसु मुहूर्तेषु किञ्चित्समधिकेषु शेषेषु चन्द्रेण सह योगमुपैति, तत श्रवणेन सह सहच-रत्वात् स्वयमपि तस्या. पौर्णमास्या. पर्यन्तवर्त्तित्वात् तदपि तां परिसमापयतीति विवक्षितत्वात् युनक्तीत्युक्तम् । सम्प्रति उपसंहारमाह-( साविट्ठिं णमित्यादि ) यत एवं त्रिभिरपि कुलाऽऽदिभि श्राविष्ठ्या. पौर्णमास्या योजनाऽस्ति, तत श्राविष्ठीं पौर्णमासीं कुलं वा युनक्ति उपकुलं वा युनक्ति कुलोपकुलं वा युनक्तीति वक्तव्यं स्यात्-इति स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादनं कुर्यात् , यदि वा-कुलेन वा युक्ता सती श्राविष्ठी पौर्णमासी उपकुलेन वा युक्ता कुलोपकुलेन वा युक्तेति वक्तव्यं स्यात् , एवं शेषमपि सूत्रं निगमनीयं, यावत्-' एवं नेयव्वाओ ' इत्यादि, एवमुक्तेन प्रकारेण शेषा अपि पौर्ण-मास्यो नेतव्या.-पाठक्रमेण वक्तव्या., नवरं पौषीं पौर्णमासीं ज्येष्ठामूलीं च पौर्णमासीं कुलोपकुलमपि युनक्ति, अवशेषासु च पौर्णमासीषु कुलोपकुलं नास्तीति परिभाव्य वक्तव्या । सामेवम्-' ता कत्तियं णं पुण्णिमासिणीं किं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ ? । ता कुलं पि जोएइ उवकुलं पि जोएइ,नो लभेइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे कत्तिआणक्खत्ते जोएइ उ-,कुलं जोएमाणे भरणीनक्खत्ते जोएइ, ता कत्तिअं णं पुण्णिमं कुलं वा जोएइ उवकुलं वा जोएइ कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कत्तियपुण्णिमा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिआ ' इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावदाषाढीपौर्णमासीसूत्रपर्यन्त.। तथा चाऽऽह-'जाव आसाढी पुण्णिमा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया '। तदेवं पौर्ण मासी वक्तव्यतोक्ता । सू० प्र० १० पाहु० ५ पाहु० पाहु० । ( पौर्णमास्यानां चन्द्रयोगमधिकृत्य सन्निपातः ' अमावसा ' शब्दे प्रथमभागे ७४६ पृष्ठे गत. ) ( कियत्सु मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावस्या भवति-कियत्सु मुहूर्तेषु गते-षु अमावस्यात पौर्णमासीति ' अमावसा ' शब्दे प्रथमभागे ७४५ पृष्ठे गतम् ) " पंचसंवच्छरिए जुगे बावट्ठिं पु-ण्णिमाओ । " स० ६१ सम० । ( ' संवच्छर ' शब्दे व्याख्यास्यते )

पुण्णमेह-पूर्णमेघ-पुं० । पुष्कलाऽऽवर्त्तमेघे, आव० ४ अ० ।

पुण्णवत्थ पुण्यवस्त्र-न० । " हीरइ जं आणंदे, वत्थं तं पुण्णव-त्थं ति ।" पाइ० ना० २१२ गाथा । प्रमोदहृतवस्त्रे, दे० ना० ६ वर्ग ५३ गाथा ।

पुण्णसंभार-पुण्यसंभार-पुं० । तीर्थकरनामाऽऽदिशुभकर्मसं-चये, " अचिन्त्यपुण्यसंभार सामर्थ्यादेतदीदृशम् । तथा चो-त्कृष्टपुण्यानां नास्त्यसाध्यं जगत्त्रये ॥१॥ " द्वा० ३१ अष्ट० ।

पुण्णसेण-पूर्णसेन-पुं० । राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञो धार-ण्यां जाते स्वनामख्याते पुत्रे,(स च वीरान्तिके प्रव्रज्य षो-डशवर्षपर्यायं संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे विमाने उपप द्य महाविदेहे सेत्स्यतीति) अनुत्तरोपपातिकदशाना द्वितीय-वर्गे त्रयोदशे अध्ययने सूचितम् । अणु० ।

पुण्णा-पूर्णा-स्त्री० । पक्षस्य पञ्चम्या दशम्यां पञ्चदश्यां च तिथौ, सू० प्र० १० पाहु० १३ पाहु० पाहु० । चं० प्र० । द० प० । पूर्णभद्रस्य यक्षेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । ( अस्या पूर्वोत्तरभवकथा ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गता )

पुण्णाग-पुन्नाग-पुं० । पुमान् नाग इव श्रेष्ठः, प्रधानत्वात् स एव । स्वनामख्याते पुण्यप्रधाने,वृक्षभेदे, श्वेतोत्पले, जातीफ-ले, पाण्डुवर्णहस्तिनि, नरश्रेष्ठे च । वाच० । अनु० । प्रज्ञा० । कल्प० । आचा० ।

पुण्णाणुभाव-पुण्यानुभाव-पुं० । पुरुषाणां पुण्यविपाके, षो० ५ विव० ।

पुण्णाम पुन्नाग-पुं० । " पुन्नागभागिन्योर्गो म. " ॥ ८ । १ । १९० ॥ इति गस्य म. । स्वनामख्याते पुण्यप्रधाने वनस्पतौ प्रा० १ पाद ।

पुण्णाली-देशी-असत्याम् , दे० ना० ६ वर्ग ५३ गाथा ।

पुण्णिमा-पूर्णिमा-स्त्री० । पौर्णमास्याम्, आ०म० १ अ० । "पं-चसंवच्छरिए णं जुगे बावट्ठिं पुण्णिमाओ ।" स० ६१ सम० ।

पुण्णोदयसहाय-पुण्योदयसहाय-त्रि० । पुण्यानुभावसहिते, षो० १० विव० ।

पुण्णोवाय-पुण्योपाद-पुं० । पुण्योत्पादने, "दया भूतेषु वैरा-ग्यं विधिदानं यथोचितम् । विशुद्धा शीलवृत्तिश्च,पुण्योपायाः प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥ " षो० ४ विव० ।

रस्तत्र य. स्नेहः स बहुलो बहुर्येषां ते तथा । पुत्राऽऽदिपु बहुस्निग्धे, भ० ७ श० ६ उ० ।

पुत्तदार-पुत्रदार-न० । पुत्रकलत्रे, उत्त० १६ अ० ।

पुत्तदारपरिकिन्न-पुत्रदारपरिकीर्ण-त्रि० । विषयसेवनात् पुत्रकलत्राऽऽदिभि सर्वतो विक्षिप्ते, "पुत्तदारपरिकिन्नो मोहसंताणसंतओ (८ गाथा) ।" दश० १ चू० ।

पुत्तदोहल-पुत्रदौहृद-पु० । पुत्रे गर्भस्थे दोहृदमेव पुत्रदौहृद. । अन्तर्वत्न्या. फलाऽऽदावभिलापविशेषे,सूत्र०१ श्रु०४अ०२ उ० ।

पुत्तपोसि ( ण् )-पुत्रपोषिन्-त्रि० । "अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ।" पुत्रेच्छापूरणार्थं दासभावमापन्ने पुत्रपोषके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

पुत्तफल-पुत्रफल-न० । पुत्रलक्षणं फलं पुत्रफलम् । पुत्रो वा फलं यस्य कर्मणस्तत्पुत्रफलम् । पुत्ररूपे कर्मफले, पुत्रफलकरे कर्मणि च । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

पुत्तबहू-पुत्रवधू स्त्री० । पुत्रपत्न्याम्, "सुण्हा पुत्तवहू ।" पाइ० ना० २५२ गाथा ।

पुत्तभंड पुत्रभाण्ड-न० । पुत्ररूपे इष्टाऽऽधायके वस्तुनि, आ० म० १ अ० ।

पुत्तमंस-पुत्रमांस-पु० । सुनकलले,दश० । तदुपमया भोक्तव्यम्, अत्र उपमा दृष्टान्तः—पूत्युरुकोपमानत. खल्वन्नपानमुपभोक्तव्यमित्यत्रोदाहरणम्—" जहा एगेणं वाणियएणं दारिद्दुक्खाभिभूएणं कर्हि हिंडतेण रयणदीवं पावेत्ता तेल्लोक्कसुंदरा अणग्घया रयणा समासादिता, सो य ते चौराकुला दीहद्धाणभएण ण सक्कइ णिच्छादिऊण मुव्वओगभूमिमाणेउं, ततो सो बुद्धिकोसल्लेण ताणि एगम्मि पदेसे ठवेऊण जुन्ने जरपट्टाए घेत्तुं पट्ठिउं गहिल्लगवेसेण रयणवाणिओ गच्छइ त्ति, भावे तेण तिन्नि वारे जहा कोइ न वि उट्ठेति ताहे थिरत्तण पलाइओ अडवीए तिसाए गहितो जाव कुहियपाणियं छिल्लरम्मि विणट्ठं पासति, तत्थ बहवे हरिणाऽऽदयो मता, तेण तं सव्वं उदगं वसाजाया, ताहे तं तेणं अणणुस्ससियाए अणासायंतेण पीयं, नित्थारियाणि अणेण रयणाणि । एवं रतनट्ठाणगाणि णाणदंसनचरित्ताणि, चोरट्ठाणिआ विसया, कुहितोदगट्ठाणिआणि फासुगेसणिज्जाणि अंतपंताणि आहाराइयाणि आहारितेण ताहे तप्फलेण जहा वाणियगो इह भवे सुही जातो. एवं साहू वि सुही भविस्सइ 'त्ति' अडविट्ठाणीयं संसारं णित्थरेति त्ति ।" (२८ गाथा) दश० १ अ० ।

पुत्तलिआ-पुत्तलिका-स्त्री० । प्रतिकृतौ, "वाउल्ली पुत्तलिआ ।" पाइ० ना० ११७ गाथा ।

पुत्थ-देशी-नं० । मृदुनि, दे० ना० ६ वर्ग ५२ गाथा ।

पुधं-पृथक्-अव्य० । ' पृथकि धो वा " ॥ ८ । १ । १८८ ॥ पृथक्शब्दे थस्य धो वा भवति । भिन्ने, प्रा० १ पाद ।

पुन्नयन-पुण्यजन-पु० । यक्षे, "पुन्नयणा गुज्झया जक्खा ।" पाइ० ना० ६६ गाथा ।

पुन्नाअ-पुन्नाग-पु० । देववृक्षे, "पुन्नाओ सुरवल्ली ।" पाइ० ना० १४६ गाथा ।

पुप्पअ-देशी-न० । पीने, दे० ना० ६ वर्ग ५२ गाथा ।

पुप्फ-पुष्प-न० । पुष्प अच् । "कुसुमे,पुप्फाणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि य तहेव होंति पसवाणि । सुमणाणि य सुहुमाणि य, पुप्फाणं होंति एगट्ठा ॥ ३६ ॥ " दश० १ अ० । कल्प० । स्त्रीरजसि, विकासे, कुवेरस्य विमाने, नेत्ररोगभेदे च । स्वार्थे कन् । रत्नमयकङ्कणे, रसाञ्जने, शकट्याम्, कासीसे,च । वाच० । द्वा० ३ अष्ट० । ('अट्ठपुप्फी' शब्दे प्रथमभागे २४५ पृष्ठे उक्तानि अष्ट पूजोपयोगिकुसुमानि )

पुप्फअ-पुष्फक-पु० । फेने, "डिंडीरो पुप्फओ फेणो ।" पाइ० ना० १३२ गाथा ।

पुप्फकंत-पुष्फकान्त-पु० । दशमकल्पीयविमानभेदे, स० २० सम० ।

पुप्फकरंड-पुष्फकरण्ड-न० । हस्तशीर्षनगरस्योत्तरपश्चिमदिग्भागे स्वनामख्याते उद्याने,विपा० २ श्रु० १ अ० । आ० म० । आ० चू० ।

पुप्फकेउ-पुष्पकेतु-पु० । गङ्गातटस्थपुष्पभद्रपुरराजे, ती० ३५ कल्प । पुष्पचूडयोः पितरि, ती० ३५ कल्प । दर्श० । आव० । आ० क० । नं० । वृ० । अशीतितमे महाग्रहे, "दो पुप्फकेऊ ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । ऐरवतजे भविष्यति सप्तमे कुलकरे, स० ।

पुप्फचंगेरी-पुष्पचङ्गेरी-स्त्री० । पुष्पशिखावलिरचिताया चङ्गेर्याम्, नं० ।

पुप्फचारण-पुष्पचारण-पुं० । चारणभेदे, ये हि नानाद्रुमलतागुल्मपुष्पाण्युपादाय पुष्पसूक्ष्मजीवान् विराधयन्त. कुसुमतलदलावलम्बनसङ्गतय. । ग० ३ अधि० ।

पुप्फचिचिणिआ-पुष्पचायिनी-स्त्री० । मालाकारिण्याम्, "पुप्फचिचिणिआओ पुप्फलाईओ । " पाइ० ना० १०६ गाथा ।

पुप्फचूल-पुष्पचूड-पु० । अङ्गेषु चम्पास्वामिनि ब्रह्मदत्तपत्न्याश्चुलन्या भ्रातरि, उत्त० १३ अ० । गङ्गातटे पुष्पभद्रनगरराजपुष्पकेतुपुत्रे, स च स्वभगिन्या पुष्पचूडया भार्याभूतया सह विषयाऽऽसक्तः स्वमात्रा पुष्पवत्या देवीभूतया नरकदर्शनेन प्रतिबोधितः सन् आचार्याऽन्निकापुत्रोपदेशात् व्रतं जगृहे । आ० क० १ अ० । आव० । दर्श० । आ० चू० । आ० म० । ग० । ती० । नं० । भारते वर्षे विमलयशस. सुमङ्गलायां देव्यां जाते पुष्फचूलाभ्रातरि वङ्कचूलापरनामके पुत्रे, ती० ४२ कल्प ।

पुप्फचूला-पुष्पचूडा-स्त्री० । हस्तिशीर्षनगरे दीनशत्रुराजेन धारण्या देव्या जनितस्य सुबाहुकुमारस्य प्रधानभार्यायाम्, विपा० २ श्रु० १ अ० । पार्श्वनाथप्रवर्त्तिन्याम् ज्ञा० २ श्रु० ६ वर्ग १ अ० । कल्प० । ति० । ग० । आ० म० । आ० चू० । स० । उत्त० । [ 'पास' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ९०३ पृष्ठे पुष्फचूलाकथोक्ता )

पुप्फचूलिया-पुष्पचूलिका-स्त्री० । पूर्वोक्तार्थविशेषप्रतिपादिका पुष्पचूडा । न० । पा० । निरयाऽऽवलिकाश्रुतस्कन्धचतुर्थव-

गेरूपे विपाकश्रुतोपाङ्गे, जं० १ वक्ष० । " जइ णं भंते ! समणेणं भगवता उक्खेवश्रो० जाव दस श्रज्झयणा पन्नत्ता। तं जहा-सिरि " इत्यादयः । ( ते च स्वस्वस्थाने दर्शिताः ) नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ श्र० ।

पुप्फछज्जिया-पुष्पच्छादिका-स्त्री० । पुष्पैर्भृतायाम उपरि स्थगनिकायाम् , रा० ।

पुप्फजाइ-पुष्पजाति-स्त्री० । मालतीप्रभृतिपुष्पविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ श्र० ।

पुप्फणंदि ( ण् )-पुष्पनन्दिन्-पुं० । देवदत्तसार्थवाहस्य दुहितुर्देवदत्तायाः पत्यौ स्वनामख्याते राज्ञि, स्था० १० ठा० ।

पुप्फजुय-पुष्पयुत-पुं० । ऋषभदेवस्य पुत्रशतकान्तर्गते एकपञ्चाशत्तमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

पुप्फणालिया-पुष्पनालिका-स्त्री० । कुसुममध्यभागे, तं० ।

पुप्फणिज्जाससार-पुष्पनिर्यासंसार-पुष्परसप्रधाने आसवे , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पुप्फदंत-पुष्पदन्त-पुं० । पुष्पकलिकामनोहरदन्तत्वात्पुष्पदन्तः । ध०२ अधि० । सुविधिजिने,[ अस्य सर्वा वक्तव्यता 'तित्थयर'शब्दे चतुर्थभागे २२६१ पृष्ठे उक्ता।] "सुविहिपुप्फदंते णं अरहंए एगं धणुसयं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ।" स०१०० सम०। "सुविहिस्स णं पुप्फदंतस्स अरहओ पन्नत्तरिं जिणसया होत्था।" स० ७५ सम०। स्था० । " पुप्फदंते णं अरहा पंचमूले होत्था।" स्था० ५ ठा० १ उ० । ईशानस्य देवेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपतौ हस्तिराजनि, स्था० ५ ठा० १ उ० । बृहस्पतिशिष्ये गन्धर्वविशेषे, " श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ, जातौ शुभौ सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ । श्रीसोमसोमविजयाभिधवाचकेन्द्र , सत्कीर्तिकीर्तिविजयाभिधवाचकश्च ॥१॥ " कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

पुप्फदत्त-पुष्पदत्त-पुं० । वीरपुरनगरे जातस्य सुजातकुमारस्य पूर्वभवजीवे इपुकारनगरे ऋषभदत्तगृहपतिपुत्रे, विपा० २ श्रु० ३ श्र० ।

पुप्फपाय-पुष्पपात-पुं० । कुसुमपतने, पञ्चा० २ विव० ।

पुप्फपायवियडण-पुष्पपातविकटन-न० । कुसुमपतने सति शङ्काऽऽनिचाराऽऽलोचनायाम्, स्वाभिप्रायनिवेदनमात्रे च । पञ्चा० २ विव० ।

पुप्फपुंज-पुष्पपुञ्ज-पुं० । पुष्पसंभारे, " पुप्फपुञ्जोवयारकलितं करेंति ।' पुष्पपुञ्ज एव उपचारः पूजा पुष्पपुञ्जोपचारस्तेन कलितं युक्तम् । जी० ३ प्रति० ४ अधि० , रा० ।

पुप्फपुर-पुष्पपुर-न० । पाटलिपुत्रे नगरे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पुप्फपूरय-पुष्पपूरक-न० । पुष्परचनाविशेषे, औ० । पुष्पशेखरे , ज्ञा० १ श्रु० १६ श्र० ।

पुप्फप्पभ-पुष्पप्रभ-पुं० । अरुणोदसमुद्रे पञ्चानामावासानां चतुर्थे, द्वी० ।

पुप्फफलजंभय-पुष्पफलजृम्भक-पुं० । पुष्पफलोभयजृम्भके देवे, भ० ४ श० ८ उ० ; प्रश्न० ।

पुप्फफली-पुष्पफली-स्त्री० । कूष्माण्डायाम्, आ० म० १ अ० ।

पुप्फवलि-पुष्पवलि-पुं० । उपचारे, " उवयारो पुप्फबली ।" पाइ० ना० २०६ गाथा ।

पुप्फभद्द-पुष्पभद्र-न० । पुष्पकेतुनृपपालिते गङ्गातीरस्थे नगरभेदे, आ० चू० १ अ० । पुष्पपुरमित्यपरमस्य नाम । बृ० १ उ० २ प्रक० । पुष्पभद्रा इति स्त्रीत्वमपि । ग० २ अधि० । आ० चू० । आ० म० । ती० । दर्श० । आ० क० । आव० ।

पुप्फभूइ-पुष्पभूति-पुं० । सिन्धुवर्धननगरराजप्रवोधके, आचार्ये, आ० क० ४ अ० । ( कथा ' मुंडिवग ' शब्दे )

पुप्फमइ-पुष्पमति-स्त्री० । सुव्रतजिनस्य प्रथमशिष्ये, ति० ।

पुप्फमाला-पुष्पमाला-स्त्री० । ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम् , स्था० ८ ठा० । अधोलोकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम् , जं० ५ वक्ष० । ती० । आ० चू० । आ० म० । आ० क० ।

पुप्फमित्त-पुष्पमित्र-पुं० । स्थूणानगर्यां जाते वीरपूर्वभवजीवे , आ० म० १ अ० ।

पुप्फमिस्सियकेस-पुष्पमिश्रितकेश-पुं० । कुसुमवासितकुन्तले, तं० ।

पुप्फय-पुष्पक-न० । पुष्पाऽऽकृतिललाटाऽऽभरणे,जं० २ वक्ष० । ईशानेन्द्रस्य पारियानिके विमाने, जं० ५ वक्ष० । स्था० । औ० । विशे० ।

पुप्फलंबूसग-पुष्पलम्बूसक-पुं० । गण्डके, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पुप्फलाई-पुष्पलावी-स्त्री० । मालाकारिण्याम् , " पुप्फचिआओ पुप्फलाईओ ।" पाइ०ना० १०६ गाथा ।

पुप्फवई-पुष्पवती-स्त्री० । पुष्पभद्रनगरराजपुष्पकेतुमहिष्याम्, ग० २ अधि० । आ० क० । ती० । उत्त० । आ० म० । मणितोरणपुर्यां मितयशसो राज्ञः कन्यायाम् , उत्त० ६ अ० । विंशतितमतीर्थकरस्य प्रवर्तिन्याम्, स० । प्रव० । सुपुरुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा०१ उ० । तुङ्गिकानगर्या बहिरुत्तरपूर्वस्मिन् दिग्भागे चैत्ये,भ० २ श० ५ उ० ।

पुप्फवंत-पुष्पवन्त-पुं० । द्वि० व० । एकयोक्त्या चन्द्रसूर्ययोः, द्रव्या० ४ अध्या० ।

पुप्फवद्दलय-पुष्पवार्दलक-न० । पुष्पवृष्टियोग्यं वार्दलकम् । पुष्पवर्षके मेघे, रा० । पुष्पवृष्टिनिमित्ते, आ० म०१ अ०। तं० ।

पुप्फविहि-पुष्पविधि-पुं० । चम्पकाऽऽदिकायां पुष्पजातौ, बृ० १ उ० १ प्रक० । प्रश्न० । उपा० । ( 'आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रं गतम्)

पुप्फवुट्ठि-पुष्पवृष्टि-स्त्री० । पुष्पवर्षणे, आ० म० १ अ० ।

पुप्फसाल-पुष्पसाल-पुं० । वसन्तपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते गायके, आ० क० १ अ० । ( ' सोइंदिय ' शब्दे उदाहरणम् ) । मागधे गोब्बरग्रामे स्वनामख्याते गृहपतौ, आ० क० १ अ० । आ० म० ।

पुप्फसालसुय-पुष्पमालसुत-पुं० । मागधगोव्वरग्रामवास्तव्यपुष्पशालगृहपतिपुत्रे, आ० चू० १ अ० । ध० र० । ( विनयेऽयमुदाहरिष्यते )

पुप्फसिंह-पुष्पसिंह-पुं० । जम्बूद्वीपे पुष्कलावतीविजये मणितोरणपुर्यां मितयशसो राज्ञः पुत्रे, उत्त० ६ अ० ।

पुप्फसुहुम-पुष्पसूक्ष्म-न० । वटोदुम्बराणां पुष्पाणि तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणि पुष्पसूक्ष्माणि । पुष्पवर्णेषु अलक्षणीयेषु सूक्ष्मभेदेषु, स्था० ८ ठा० । दश० ।

से किं तं पुप्फसुहुमे ? । पुप्फसुहुमे पंचविहे पन्नत्ते । तं जहा-किण्हे० जाव सुकिल्ले अत्थि, पुप्फसुहुमे रुक्खसमाणवन्ने नामं पन्नत्ते , जे छउमत्थेणं० जाव पडिलेहियव्वे भवइ, से तं पुप्फसुहुमे ॥ ५ ॥

( से किं तं पुप्फसुहुमे ) अथ कानि तत् सूक्ष्मपुष्पाणि ?। गुरुराह-सूक्ष्मपुष्पाणि पञ्चविधानि प्रज्ञप्तानि, कृष्णानि यावत् शुक्लानि सन्ति , सूक्ष्मपुष्पाणि वृक्षसमानवर्णानि प्रसिद्धानि प्रज्ञप्तानि, यानि छद्मस्थेन यावत् प्रतिलेखितव्यानि भवन्ति । ( से तं पुप्फसुहुमे ) तानि सूक्ष्मपुष्पाणि । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

पुप्फसेन-पुष्पसेन-पुं० । पुष्पभद्रनगरराजे, आ० चू० १ अ० । पुष्पवतीपतौ पुष्पचूडपुष्पचूडापितरि, आ० म० १ अ० ।

पुप्फा-देशी-पितृष्वसरि, दे० ना० ६ वर्ग ५२ गाथा ।

पुप्फाइय-पुष्पाऽऽदिक-पु० । कुसुमधूपदीपप्रभृतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

पुप्फाराम-पुष्पाऽऽराम-पु० । पुष्पवाटिकायाम्, "अज्जुणस्स मालागारस्स रायगिहस्स नगरस्स बहिया एत्थ णं महं एगे पुप्फारामे होत्था ।" अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग ३ अ० ।

पुप्फारोवण-पुष्पाऽऽरोपण-पु०। पुष्पाणां देवस्य मस्तकेषु आरोपणे, ध० २ अधि० ।

पुप्फावकिण्णग-पुष्पावकीर्णक-त्रि० । पुष्पाणीव इतस्ततोऽवकीर्णानि विप्रकीर्णानि पुष्पावकीर्णानि इति व्युत्पत्तेः । आवलिकाबाह्ये विमाने, जी० ४ प्रति० ३ उ० ।

पुप्फासव-पुष्पाऽऽसव-पु० । धातकीपत्ररससाराऽऽसवे, जी० ४ प्रति० ३ अधि० । प्रज्ञा० ।

पुप्फाहार-पुष्पाहार-पु० । पुष्पमात्राऽऽहारे, औ० । नि० ।

पुप्फिम-पुष्पत्व-न० । "त्वस्य डिमा-त्तणौ वा " ॥ ८ ।२।१५४॥ इति त्वस्य डिमाऽऽदेशः । पुष्पधर्मे, प्रा० २ पाद ।

पुप्फिया-पुष्पिता-स्त्री० प्राणिनः संयमभावना पुष्पिताः सुखिताः भूयः संयमपरित्यागतो दुःखावाप्तिमुकुलनेन मुकुलिताः पुनस्तत्परित्यागेन पुष्पिताः प्रतिपाद्यन्ते ताः पुष्पिताः।नं०। पा० । निरयावलिकानां तृतीयवर्गाऽऽत्मके प्रश्नव्याकरणानामुपाङ्गे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० । जं० । " उवंगाणं पुप्फियाणं के अट्ठे पन्नत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव संपत्तेणं पुप्फियाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-"चंदे १ सूरे २ सुक्के ३,बहुपुत्तिया ४ पुन्नभद्दे ५ य माणिभद्दे ६ य।दत्ते ७ सिवे ८ य बलिया ९, अणाढीए १० चेव बोधव्वे ॥ १ ॥" नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० ।

पुप्पिका-स्त्री० । पितृष्वसरि, " पुप्पिआ पिउत्था । " पाइ० ना० २५३ गाथा ।

पुप्फुत्तरा-पुष्पोत्तरा-स्त्री०। शर्कराभेदे,जं०२वक्ष०। जी०। आ०।

पुप्फोदय-पुष्पोदक-न० । कुसुमवासिते जले,जं ३ वक्ष० । पुष्परसमिश्रे जले, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । आ० । औ० ।

पुप्फोवग-पुष्पोपग-त्रि० । पुष्पाणि कुसुमान्युपगच्छति इति पुष्पोपगः । बहलपुष्पे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

पुप्फोवयार-पुष्पोपचार-पु० । पुष्पप्रकारे,स० ३४ सम०।जं०।

पुमत्ता-पुंस्ता-स्त्री० । पुरुषत्वे, दशा० १० अ० । स्था० ।

पुमपन्नवणी-पुंप्रज्ञापनी-स्त्री० । पुरुषलक्षणप्रतिपादिकायां मोहनस्वरतादार्ढ्यमित्यादिरूपाया भाषायाम्, प्रज्ञा० ११पद ।

पुय-पुत-पुं० । अण्डकोशे, वृ० ३ उ० । प्रश्न० ।

पुयाइ-पुयादिन्-पुं० । पिशाचे, " ढयरा पुयाइणो पिण्णया परेया पिसल्लया भूआ ।" पाइ० ना० ३० गाथा ।

पुयावइत्ता-प्लावयित्वा-अव्य० । 'प्लुङ्'गतावितिवचनात् प्लावयित्वा अन्यत्र नीत्वा। प्रव्रज्याभेदे,यथाऽऽर्यरक्षितस्य। स्था० ५ ठा० ४ उ० ।

पूतयित्वा-स्त्री० । पूतं वा दूषणव्यपोहेन कृत्वा या सा पूतयित्वेति । स्था० ५ ठा० ४ उ० ।

पुर-पुर-न० । नगरे अन्तःपुरे,रा० । आ०चू०। ज्ञा० । नगराऽऽद्येकदेशभूते प्राकाराऽऽवृते नगरैकदेशे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

पुरओ-पुरतस्-अव्य० । पुर-तसिल् । " अतो डो विसर्गस्य" ॥ ८ । १ । ३७ ॥ इति अतः सेः स्थाने डो । 'पुरओ' । ' प्रा० १ पाद । अग्रत इत्यर्थे,पञ्चा० ३ विव० । दश०। दशा० । अनु० । उत्त० । आव० । नि० चू० । स० । आ० चू० । अग्रभागे, स्था० ४ ठा० २ उ० । ज्ञा० । आव० । " पुरओ य अग्गओ ।" पाइ० ना० २७४ गाथा ।

पुरओ कट्टु-पुरतः कृत्य-अव्य० । अग्रतः कृत्वेत्यर्थे, " मणं वा वयं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा अप्पुस्सुए ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० ।

पुरओकाउं-पुरस्कृत्य-अव्य० । प्रधानीकृत्येत्यर्थे, भ० २ श० १ उ० ।

पुरओपडिबद्ध-पुरतःप्रतिबद्ध-त्रि० । अग्रतः प्रतिबद्धेत्यर्थे प्रव्रज्याभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ० । (विशेषार्थस्तु ' पव्वज्जा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७३० पृष्ठे गतः )

पुरं-पुरस्-अव्य० । पूर्वकाले, समक्षे च । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पुरंटिरि-पुरण्टिरि-पु० । काकुतीराजधान्ये, ती० ५६ कल्प ।

पुरंदर-पुरन्दर-पु०। पुराणि दैत्यनगराणि दारयति विध्वंसयतीति पुरन्दरः। दैत्यनगरविध्वंसके इन्द्रे,उत्त० ४ अ० । स्था०।

शक्रेन्द्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । भ० । प्रज्ञा० । आ० म० । जी० । आ० चू० । सूत्र० । अनु० । स्वनामख्याते राजनि, ध० र० ।

गुणानुरागे पुरन्दरराजवक्तव्यता यथा—

गुणरागी गुणवंते, बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ ।
गुणसंगहे पवत्तइ, संपत्तगुणं न मइलेइ ॥ १६ ॥

गुणेषु धार्मिकलोकभाविषु रज्यतीत्येवंशीलो गुणरागी गुणवतो गुरुगुणभाजो यतिश्रावकाऽऽदीन् बहु मन्यते मनःप्रीतिभाजनं करोति । यथा-अहो धन्या एते, सुलब्धमेतेषां मनुष्यजन्मेत्यादि । तर्हि निर्गुणाग्निन्दतीत्यापन्नम्, यथा देवदत्तो दक्षिणेन चक्षुषा पश्यतीत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यवसीयते । तथा चाऽऽहुरेके-"शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः, दोषा वाच्या गुरोरपि।" इति । न चैतदेवं धार्मिकोचितमित्याह-निर्गुणानुपेक्षते-असंक्लिष्टचित्ततया तेषामपि निन्दां न करोति । यतः स एवमालोचयति—

" सन्तोऽप्यसन्तोऽपि परस्य दोषाः,
नोक्ताः श्रुता वा गुणमावहन्ति ।
वैराणि वक्तुः परिवर्द्धयन्ति,
श्रोतुश्च तन्वन्ति परां कुबुद्धिम् ॥ १ ॥"

" कालम्मि अणाईए, अणाइदोसेहिँ वासिए जीवे ।
जं पाविपइ गुणो वि हु, तं मन्नह भो महच्छरियं ॥ २ ॥
भूरिगुणा विरल च्चिय, एकगुणो वि हु जणो न सव्वत्थ ।
निद्दोसाण वि भद्दं, पसंसिमो थेवदोसे वि ॥ ३ ॥ "

इत्यादि संसारस्वरूपमालोचयन्नसौ निर्गुणानपि न निन्दति, किं तूपेक्षते, मध्यस्थभावेनाऽऽस्त इत्यर्थः । तथा गुणानां संग्रहे समुपादाने प्रवर्त्तते यतते, संप्राप्तमङ्गीकृतं गुणं सम्यग्दर्शनचिरत्यादिकं न मलिनयति न सातिचारं करोति, पुरन्दरराजवत् ।

" अत्थि सयलामरहिया, नयरी वाणारसी हरिपुरि व्व ।
निद्दलियसत्तुसेणो, तत्थ नरिंदो विजयसेणो ॥ १ ॥
तस्साऽसि कमलमाला, सुकमलमाल व्व गुणजुया देवी ।
पुत्तो पुरंदरो तह, पुरंदरो इव सुरूवधरो ॥ २ ॥
सो पगईए गुणरा-गसंगओ चंगओ सुसीलेण ।
अणवरयं सो गिज्जइ, पुररमणीहिं गुणप्पसरो ॥ ३ ॥
तस्स मइदाणपउरिस-वन्नणपउणो विमुक्कनियकिच्चो ।
अभिरमइ बिबुहमग्गण-सुहडजणो सयलनयरीए ॥ ४ ॥
तं च तहागुणभवणं, सुणिउं दट्ठुं च तम्मि अणुरत्ता ।
गाढं अन्ना निवइ-स्स पणइणी मालई नाम ॥ ५ ॥
पेसेइ नियंयधाइं, उज्जाणगयं भणेइ सा कुमरं ।
एगंतं काउ खण, मह वयणं सुणसु कारुणिय ! ॥ ६ ॥
कुमरेण वि तह विहिए, सा जंपइ निवइणो हियपदइया ।
मालइनामा देवी, भवस्स गंगेव सुपसिद्धा ॥ ७ ॥
सा तुह दंसणगुणसव-णपउणमयणुग्गअग्गिसंतत्ता ।
सिच्चउ कुमर ! वराए, तुमए नियसंगमजलेण ॥ ८ ॥
तं सुणिय चिंतइ इमो, अहह अहो मोहमोहिया जीवा ।
इहपरलोयविरुद्धे, वितहमकज्जे पयट्टंति ॥ ९ ॥
इय सविसाओ चिंतिय, तं धाइं भणइ नरवरंगरुहो ।
मज्झत्था होऊणं मह वयणं सुणसु खणमेगं ॥ १० ॥
परनरमित्ते वि कुलं-गणाण जुत्तो न होइ अणुराओ ।
जो पुण पुत्ते वि इमो, सो अइदूरं चिय विरुद्धो ॥ ११ ॥
सुकुलुब्भवनारीओ, परपुरिसं चित्तमित्तिलिहियं पि ।
रविमंडलं व दट्ठुं दिट्ठिं पडिसंहरंति लहुं ॥ १२ ॥
विच्छिन्नकन्नकरचर-णनासमवि वाससयपरिमाणं ।
परपुरिसं कुलनारी, आलवणाईहिँ वज्जेइ ॥ १३ ॥
इय भणिय तेण धाई, विसज्जिया तीइ कहइ सा सव्वं ।
तह वि हु अट्ठायमाणी, सा पेसइ दूइमन्नुन्नं ॥ १४ ॥
तत्तो विसन्नचित्तो, चिंतइ कुमरो इणेमि किं अप्पं ? ।
अहवा परघाओ वि व, पडिसिद्धो अप्पघाओ वि ॥ १५ ॥
जइ य कहिज्जइ रन्नो, इमा वराई तओ विणस्सेइ ।
ता देसंतरगमणं, जुत्तं मे सयलदोसहरं ॥ १६ ॥
इय वीमंसिय हियए, करकालयकरालकालकरवालो ।
नयरीओ निक्खंतो, कुमरो जा जाइ किं पि भुवं ॥ १७ ॥
ता मिलिओ तस्सेगो, दिओ भणइ कुमर ऽहं गमिस्सामि ।
सिरिसंडिब्भाविसइक्क-मंडणे नंदिपुरनयरे ॥ १८ ॥
कुमरो वि आह अहमवि, तत्थेव गमी अहो सुसत्थु त्ति ।
इय वुत्तु दोवि चलिया, अग्गे अग्गे अणुव्विग्गा ॥ १९ ॥
अह उच्छुरिओ बहुस—स्त्रमल्लदुल्ललियभिल्लसंघजुओ ।
पल्लिवई वज्जभुओ, इय भणिओ तेण निवतणओ ॥ २० ॥
मा भणसि जं न कहियं, रे रे एस ऽम्हि तुज्झ पिउसत्तू ।
तो खलभलियं विप्पं, संठविउं भणइ कुमरो वि ॥ २१ ॥
जं पिउरिउणो उचियं, तं बालो वि हु इमो जणो कुणउ ।
करुणारसो जइ परं, किं पि खणं नणु निवारेइ ॥ २२ ॥
इय सवियड्ढं कुमर-स्स भणिय धायभिऊण पल्लिवई ।
फुरियगुरुकोवविज्जू, वरिसइ सरविसरधाराहिं ॥ २३ ॥
खरमारुयलहरी इव, विहलावि य असिलयाइ ताउ लहुं ।
कुमरो किरणपओगा, चडिऊण रहम्मि चरडस्स ॥ २४ ॥
दाउं हियए पायं, करं करेणं गहित्तु अह भणइ ।
रे कत्थ हणामि तुमं, स आह सरणागया जत्थ ॥ २५ ॥
चिंतइ कुमरो इमिणा, वयणेण निवारए पहारमिमो ।
सरणागयाण गरुया, जेण न पहरंति भणियं च ॥ २६ ॥
नयणहीणहं दीणवयणहं करचरणपरिवज्जिहं,
बालवुड्ढवहुखंतिमंतहं विससियहं वाहियइं ।
रमणि समणवणिसरण-पत्तहं दीणहं दुहियं दुत्थियहं ।
जे निद्दया पहरति, आसत्तविकुलसत्तमइ फुड पायालि नयंति
इय भाविय सो मुक्को, पल्लिवई विन्नवेइ कुमरवरं ।
तुह अम्हि किंकरोऽहं, तुह आयत्तं सिरं मज्झ ॥ २८ ॥
इय सप्पणयं भणिउं, वज्जभुओ इच्छियं गओ देसं ।
कुमरो वि दिएण समं, कमेण नंदिउरमणुपत्तो ॥ २९ ॥
तत्थ य बहिरुज्जाणे, वीसमइ इमो समाहणो जाव ।
ताव वरलक्खणजुयं, ससहरकरधवलसिचयधरं ॥ ३० ॥
गुणगणजुत्तं इंतं, क पि नरं दट्ठु चिंतए कुमरो ।
एयारिसा सुपुरिसा, नूणं अरिहंति पडिवात्तिं ॥ ३१ ॥
तो अब्भुट्ठिय दूरा-उ पायमवधारह त्ति जंपेइ ।
उववेसिउं संठाणे, कयंजली विन्नवइ एवं ॥ ३२ ॥
सामि ! तुह दंसणेणं, जायं सफलं ममागमणमित्थ ।
जइ नाइरहस्सं ता, पहुचरियं सोउमिच्छामि ॥ ३३ ॥
अह सो निवसुयविणया- वज्जियहियओ इमं पसाहेइ ।
गुरुयं पि रहस्सं तुह, कहियव्वं किं पुण इमं ति ? ॥ ३४ ॥
इह नाइदूरे सि ढकूडसेलम्मि सिद्धबहुविज्जो ।
भूयाणंदो नामे-ण कुमार ! निवसामि ह सिद्धो ॥ ३५ ॥
मह अत्थि सारभूया, इक्का विज्जा अहाउयं थेवं ।
नाऊण अप्पणोऽहं चिंतिउमेवं समारद्धो ॥ ३६ ॥

पत्तस्स अभावाओ, विज्जं एयं करेमि कहमिरिंह ।
न य विज्जाए दाणं, उचियमपत्ते जओ भणियं ॥ ३७ ॥
मरिज्ज सह विज्जाए, काले पत्ते वरं विऊ ।
अपत्तं नेव वाइज्जा, पत्तं तु न विमाणए ॥ ३८ ॥
इय चिंतिरस्स मज्झं, निवेइओ तीइ चेव विज्जाए ।
गुणरासचंगगुणगण-कुलिओ तं चिय सुजोग त्ति ॥ ३६ ॥
तो तं दाउमहं तुह, समागओ गिरह भो महाभाग !।
जेण भवामो सुहिया, ओहरियभरु व्व भारवहा ॥ ४० ॥
एसा य महाविज्जा, विहिणा संसाहिया पइदिणं पि ।
ऊसीसयम्मि ठावइ, कणयसहस्सं निवंगरुह ! ॥४१॥
पायमिमीइ पभावा, संगामपराजयाइ न हु होइ ।
इंदियविसयाईयं, पि नज्जए वत्थुजायं च ॥ ४२ ॥
उल्लसिरविणयभरनमिर-मउलिकममेण निवइतणएण ।
संजोडियकरजुयले-ण तयणु इय वयणमुल्लवियं ॥ ४३ ॥
गंभीरा उवसंता, निम्मलगुणरयणरोहणसमाणा ।
बुद्धिलमिद्धिलमेया, गुणिजणअणुरायपरिकलिया ॥ ४४ ॥
परिभमिरभुवणकित्ती, परोवयारिक्कमाणसा भणियं ।
पहु ! तुम्हारिस चिय, जुग्गा एवं रहस्साणं ॥ ४५ ॥
बालाण सुतुच्छमई-ण सुद्धविन्नाणनाणरहियाणं ।
के अम्ह गुणा का अ-म्ह जुग्गया इय सुविज्जाणं ? ॥ ४६ ॥
किं तु गुरुपहि विहिया, पुरओ लहुणो वि हुंति कज्जकरा ।
रविणा अग्गे विहिओ,अरुणो वि हणेइ तिमिरभरं ।४७॥"

तथा-

शाखामृगस्य शाखायां, शाखां गन्तुं पराक्रमः ।
यत्पुनस्तीर्यतेऽम्भोधिः, प्रभाव. प्राभवो हि स. ॥ ४८ ॥
"अह भणइ सिद्धपुरिसो,जुग्गु च्चिय तं सि इय रहस्साणं ।
गुणराओ जस्सित्तिय-मित्तो विप्फुरइ चित्तम्मि ॥ ४६ ॥
जं दूरे ते गुणिणो, गुणगणधवलियअसेसमहिवलया ।
जेसिं गुणाणुराओ, वि ते वि विरला जओ भणियं ।५०।"
नागुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी ।
गुणी गुणानुरागी च, विरलः सरलो जन. ॥ ५१ ॥
"इय वुत्तु सबहुमाणं, तं विज्जं दाउ तस्स पभणेइ ।
भद्द ! इहं अडवीए, इगमासं सुद्धबंभधरो ॥ ५२ ॥
अट्ठउववासपुव्वं, कसिणचउद्दसिनिसिं इमं विज्जं ।
सम्मं साहिज्ज तओ, अइउग्गुवसग्गवग्गंते ॥ ५३॥
रणिरमणिवलयरसणा, पयडियअइदिव्वकंतनियरूवा ।
वरसु वरं ति भणंती, सिज्झिस्सइ तुह इमा विज्जा ॥ ५४ ॥
थिरकरणत्थं पच्छ वि, धरिज्ज बंभमिगमासमिय बुद्धुं।
जा गमिही सो सिद्धो, तो विन्नत्तो कुमारेण ॥ ५५ ॥
मह मित्तस्स इमस्स वि, दियस्स दिज्जउ इमा महाविज्जा ।
कयजयभूयाणंदो, भूयाणंदो वि जंपेइ ॥ ५६ ॥
भो कुमर ! एस विप्पो, मुहरो तुच्छो अवन्नवाई य ।
गुणरागेण विमुक्को, विज्जाए नेव जुग्गु त्ति ॥ ५७ ॥
अगुणम्मि नरे गुणरा-गवज्जिए गुणिअवन्नवाइम्मि ।
विज्जादाणं सप्पे, दुद्धपयाणं व दोसकरं ॥ ५८ ॥
किं च अपत्ते निहिया, विज्जा तस्सेव कुणइ अवयारं ।
विज्जादायगगुरुणो, गरुयं तह लाघवं जणइ ॥ ५६ ॥

तथाहि-

जह आमघडे निहिय नीरं लह होइ से विणासाय ।
तह अप्पाहारनर-स्स होइ विज्जा अणत्थाय ॥ ६० ॥
परिपूणगसमपत्ते, दिंतो विज्जं गुरू वि पावेइ ।
बहुविहकिलेसभारं, जणाववायाइदोसे य ॥ ६१ ॥
भत्तिभरनिब्भरेणं, कुमरेणं पुण वि पभणिए सिद्धो ।
दाऊण माहणस्स वि, विज्जं पत्तो सए ठाणे ॥ ६२ ॥
तो पुव्वोइयविहिणा, कुमरेण पसाहिया महाविज्जा ।
पयडीहोउं पभणइ, सिद्धाऽहं तुह सया भद्द ! ॥ ६३ ॥
किं तु दिओ कत्थ गओ, इच्चाइ तए न चिंतियव्वं पि ।
कालेण फुडं होही, इय भणिय तिरोहिया देवी ॥ ६४ ॥
हा हा किं से जायं, ति चिंतिरो काउ तीए विज्जाए ।
पच्छा सेवं कुमरो, पत्तो नंदिउरमज्झम्मि ॥ ६५ ॥
विज्जाविहिअचामी-यरेण बहुभोगदाणकलियस्स ।
मंतिसुएणं सिरिनं-दणेण जाया य से पीई । ६६ ॥
अह तत्थ पुरे सिरिसूर-राइणो मंदिरोवरि रमंती ।
बंधुमइनामधूया, हरिया केण वि अदिट्ठेण ॥ ६७ ॥
तो तव्विरहे राया, मुहुं मुहुं मुच्छए रुयइ बहुसो ।
सयलोऽपि रायलोओ, सपुरजणो आउलो जाओ ॥ ६८ ॥
तं दट्ठु तिलयमंती, भणेइ सिरिनंदणं निय पुत्तं ।
वच्छ ! नरनाहतणया-ऽऽणयणोवायं विचिंतेसु ॥ ६६ ॥
न हि तुह बुद्धिवरीए, विणा इमो वसणसागरो गरुओ ।
नित्थरिउं पारिज्जइ, नत्तो सिरिनंदणो भणइ ॥ ७० ॥
नाय ! तुमम्मि वि संते,मह सिसुणो को णु बुद्धिअवयासो ?।
उइए सहस्सकिरणे, रेहइ फुरियं न दीवस्स ॥ ७१ ॥
तिलयसचिवो वि जंपइ, न य एगंतो इमो अहं वच्छ !।
जं पिउणो तणएहिं, गुणाहिएहिं न होयव्वं ॥ ७२ ॥

जओ-

जडसभवो वि चंदा, पिच्छह उज्जोयए तिहुयणं पि ।
पंकुब्भवं ति कमलं, वहंति अमरा वि सीसेणं ॥ ७३ ॥
सिरिनंदणो य जंपइ, जइ एवं तो तुह प्पभावेण ।
नाओ मए उवाओ, एगो तीए समाणयणे ॥ ७४ ॥
मेरु व्व थिरो चंदु,व्व सोम्मओ कुंजरो व्व सोंडीरो ।
भाणु व्व गुरुपयावो, गंभीरो नीरनाहु व्व ॥ ७५ ॥
निवविजयसेणतणओ, पुरंदरो देसदंसणवसेण ।
बाणारसीपुरीओ, भमिरो पत्तो इहं अत्थि ॥ ७६ ॥
मह मित्तं सो नज्जइ, विचिट्ठिएहिं व सिद्धवरविज्जो ।
बंधुमईआणयणे, सत्तो जइ ताव सो चेव ॥ ७७ ॥
तोऽणुन्नाओ पिउणा, पत्तो सिरिनंदणो कुमरपासं ।
अब्भत्थिऊण निउणं, कुमरं आणेइ निवमूले ॥ ७८ ॥
विहिओचियपडिवत्तिं, तं भणइ निवो अहो पमाओ मे ।
नियमित्तविजयसेण-स्स नंदणो जमिह पत्तो वि ॥ ७६ ॥
न हु विन्नाओ संमा-णिओ य न वि तो भणेइ वरकुमरो ।
देव ! न वुत्तं जुत्तं, एवं तुम्हं जओ भणियं ॥ ८० ॥
गरुयाणं संमाणो, सु च्चिय जो माणसो पसाउ त्ति ।
बहिपडिवत्तीओ पुण, मायावीए पि दीसंति ॥ ८१ ॥
नत्तो भूसन्नाए, रन्ना सिरिनंदणो समाइट्ठो ।
तं वुत्तंतं कहिउं, कुमरं पइ जंपए एवं ॥ ८२ ॥
धीरवर ! चिंतिऊणं, इत्थ उवायं करेसु तं किं पि ।
जं अम्हे सयलजणा, देवो य सुनिव्वुओ होइ ॥ ८३ ॥
परकज्जकरणसज्जो, कुमरो वि पवज्जिऊण तं कज्जं ।
पत्तो नियम्मि भवणे, विहिणा सुमरेइ त विज्जं ॥ ८४ ॥

सा पक्खपक्खीभूया, पुट्ठा कुमरेण कहसु निवधूया ।
केणं हरिय त्ति तओ, सो भणइ इहऽत्थि वेयड्ढे ॥ ८५ ॥
गंधव्वसमिद्धाभिहपुर-सामी विज्जाहरो मणिकिरीडो ।
नंदीसरवरचलिओ, चंधुमई इह निएसीय ॥ ८६ ॥
मयणसरसल्लिओ सो, तं बालं हरिय धवलकूडनगे ।
पत्तो अह कुणमाणो, चिट्ठइ वीवाहसामग्गिं ॥ ८७ ॥
ता एयं सुविमाणं, आरोहसु जेण नेमि तं तत्थ ।
तेण वि तह चेव कए, नीओ कुमरो तहिं तीए ॥ ८८ ॥
दिट्ठो य तत्थ खयरो, चंधुमई अंसुपुन्ननयणजुयं ।
परिणयणं पत्थंतो, य इक्किओ नरवरसुएणं ॥ ८९ ॥
रे रे सरेसु सत्थं, सुट्ठु गविट्ठं करेसु जियलोयं ।
अविदियकम्मअवहर-णपवण संपइ विणट्ठो सि ॥ ९० ॥
तं सोऊणं खयरो, संभंतो विम्हिया य रायसुया ।
किमियं ति नियंतेहिं, दिट्ठो अमरु व्व निवतणओ ॥ ९१ ॥
नूणं चंधुमईए कुढियत्ते कोवि आगओ एस ।
इय चिंतिय करपगहिय-कोदंडो खेयरो भणई ॥ ९२ ॥
रे बाल ओसर लहुं मा मह सरपसरजलिरजलणम्मि ।
सलभु व्व देसु झंपं, ता हसिरो भणइ रायसुओ ॥ ९३ ॥
जो मुज्झइ कज्जेसुं तं चिय बाल भणंति समयविऊ ।
तं पुण तिहुयणपयडं, चंधुमईहरणओ तुज्झ ॥ ९४ ॥
किह तुह पहरेमि अहं, नियदुच्चरिएहिं चेव पहयस्स ? ।
जइ पुण अगव्वगव्वो, अज्ज वि ता पहरसु तुमेव ॥ ९५ ॥
तो कोवदट्ठउट्ठो, खयरो मुंचेइ निसियसरनियरं ।
धिज्जावलेण कुमरे-ण तं हयं निययबाणेहिं ॥ ९६ ॥
एयं खयरमुक्कं, नीरत्थेण हणेइ जलणत्थं ।
सप्पत्थं गरुडत्थे-ण वायवत्थेण मेहत्थ ॥ ९७ ॥
अह मुक्का अयगोला, खयरेणं बहुफुलिंगसयभीमो ।
घुणीकओ खणेणं पडिगोलेण निवसुएण ॥ ९८ ॥
इय असमसुहडभावं, चंधुमई पिच्छिरी निवसुयस्स ।
विद्धा मयणेण सरं-ण खयरो पुण कुमारेण ॥ ९९ ॥
गाढप्पहारविहुरो, खयरो सहस त्ति निवडिओ धरणिं ।
पवणाइणा पउणियं, निवपुत्तेणं पुणो भणियं ॥ १०० ॥
उट्ठेसु सुहड ! गिण्हसु, धणुमतणुपलो हवेसु रणसज्जो ।
कापुरिस च्चिय जम्हा, न संठवंते पुणो अप्पं ॥ १०१ ॥
तो सयुधमसुहडत्तण- हयहियओ खेयरो भणइ कुमरं ।
तुह किंकरु च्चिय अह, जं उचियं तं समाइससु ॥ १०२ ॥
निवइ नरिंदभूया, सुहडा घुम्मंति ते च्चिय जयम्मि ।
जे थुव्वंते एवं, दप्पुद्धरवइरियणेण ॥ १०३ ॥
अह तं बालं आसा-सिऊण गहिउं च जा नियंगरुहो ।
मंदिरपुरं पइ चलिही, तो भणियं मणिकिरीडेण ॥ १०४ ॥
कज्जप्पभिई भगिणी, चंधुमई मंच कुमर ! मह सामी ।
ता पसिय नियपएहिं, गहु मह नयरं पवित्तेसु ॥ १०५ ॥
दक्खिन्नसारयाए, गंधव्वसमिद्ध पुर गओ कुमरो ।
नियसयणपरमेट्ठी, तेण कया गरुयपडिवत्ती ॥ १०६ ॥
तत्तो नरिंदपुत्तो, सुत्तो खयरेण विन्नत्तीए य ।
पवरविमाणारूढो पत्तो मंदिरपुरासन्नं ॥ १०७ ॥
वद्धाविओ य गंतुं, पुरोहं खेयरेण नरनिवो ।
सो पुरलोगसमेओ, चलिओ कुमरस्स पच्चोणिं ॥ १०८ ॥
तो दिट्ठियहट्टसोहे, पुरे पविट्ठो महाविभूईए ।
कुमरो कुमरी य तहा, ओयरिउं वरविमाणाओ ॥ १०९ ॥
पणया य निवइचरणे, तेण वि अभिणंदिया पहिट्ठेण ।
सव्वो रन्नो सिट्ठो, खयरेणं कुमरवुत्तंतो ॥ ११० ॥
अइहरिसपवरवसेणं, सूरनिवेण पुरंदरो तत्तो ।
चंधुमइपाणिगहणं कराविओ गुरुविभूईए ॥ १११ ॥
वरपासायतलगओ, मणइच्छियसयलविसयदुल्ललिओ ।
दोगुंदुगु व्व अमरो, कुमरो अक्कमइ बहुकालं ॥ ११२ ॥
अन्नदिणे जाव इमो, चिट्ठइ भडकोडिसंकडत्थाणे ।
करकलियकणयदंडे-ण वित्तिणा ताव इय भणिओ ॥ ११३ ॥
देव ! तुह दंसणत्थी, बहि चिट्ठइ चउरवयणनामनरो ।
लहु मुंच मुंच इय कुम-रेणुत्ते सि पवेसिओ तेणं ॥ ११४ ॥
तं नियजणयपहाणं, जाणिय अवगूहियं च पुच्छेइ ।
कुसलं अम्मापिऊणं, एवं चिय आह सो किं तु ॥ ११५ ॥
तुह अइदुसहविरहे, जं ते पिउणो दुहं अणहवंति ।
बाहजलाऽऽविलनयणा, सव्वन्नू चेव तं मुणइ ॥ ११६ ॥
तं सुणिय विसन्नमणो, कुमरो पुच्छित्तु सूरनरनाहं ।
चंधुमईए सहिओ, हयगयरहसुहडपरिकलिओ ॥ ११७ ॥
संपइआगयसिरिविजय-सेणनिवविहियगरुयपरितोसो ।
अइसयविच्छड्डेणं, इमो पविट्ठो निय नयरिं ॥ ११८ ॥
कुमरो दइयासहिओ, पणओ अम्मापिऊण पयकमलं ।
तेहिं वि आसीवाए-हिं नंदिओ नंदिसहिएहिं ॥ ११९ ॥
अह हरिसियसयलजण-स्स निवइतणयस्स दंसणत्थं च ।
संपत्तो हेमंतो, फुडपयडियकुंदकुसुमभरो ॥ १२० ॥"
अत्रान्तरे क्षितिपतिं सविनयमुद्यानपालका एत्य ।
श्रीविमलबोधसुगुरो-रागमनमचीकथन्मुदैः ॥ १२१ ॥
तच्छ्रुत्वा धरणिधव-स्तेभ्यो दत्त्वा च दानमतिमानम् ।
युवराजपौरसाम-न्तसचिवश्रुद्धान्तपरिकलितः ॥ १२२ ॥
उद्दामगन्धसिन्धुर-मधिरूढ प्रौढभक्तिसंभारः ।
यतिपतिविनतिनिमित्तं, निरगच्छदतुच्छपरिवारः ॥ १२३ ॥
हृदयाऽऽकर्पितनिर्मथि-तरागरसरञ्जितैरिव प्रभम् ।
सिन्दूरसुपूरारुण-करचरणतलैर्विराजन्तम् ॥ १२४ ॥
पुरपरिघप्रतिमभुजं, सुरशैलशिलाविशालवक्षस्कम् ।
पार्वणमृगाङ्कवदनं, राजा मुनिराजमैक्षिष्ट ॥ १२५ ॥ (युग्मम्)
तत उत्तीर्य करीन्द्रा-दुन्मुच्य च चामराऽऽदि चिह्नानि ।
नत्वा गुरुपदकमलं, प्रोवाच सुवाचमिति हृष्टः ॥ १२६ ॥
किं युष्माभिर्भगव-न्निति मन्यपि रूपलावण्यमसरे ।
नृपवैभवोचितैरपि, सुदुष्करं व्रतमिदं जगृहे ॥ १२७ ॥
जगदे जगदेकहिते-न सूरिणा शृणु समाहितो भूप ! ।
सुजनहृदिघातिविस्तर-मस्त्यत्र पुरं भयाऽऽयत्तम् ॥ १२८ ॥
तस्मिन्नहं कुटुम्बी, संसारिकजीवनामकोऽभूवम् ।
सोदर्याश्च ममैव हि, नवनगरं वसन्ति सकलमपि ॥ १२९ ॥
तत्र च वयं वसन्तः, सर्वेऽप्येकेन निष्ठुरचित्तेण ।
निःशूकरन्ध्रशङ्के-न नयघनाम्नेन किल दृष्टाः ॥ १३० ॥

तदनु विषमविषमायितत्वेन समागच्छन्त्यस्मादमतुच्छ-मूर्च्छाः, निमीलन्ति लोचनानि, स्तम्भीभवन्ति अङ्गानि, विगलन्ति मतयः, न स्फुरन्ते कायाऽऽदिविभागाः, न परिजानंन्ति निजमपि स्वरूपं, तथाऽस्मादिनं गण्यन्ते हितोपदेशाः, न दृश्यन्ते समीपवर्त्तिनोऽपि, न विधीयन्ते शैत्यप्रतिपक्षाः नाख्यायन्ते, समीपवर्तिनोऽपि स्वजनव-

न्तानि , केचन काष्ठवन्निश्चेष्टा संजाताः , केचिदव्यक्तशब्देन घुर्घुरायमाणा लोलुठ्यन्ते महीपीठे, अपरे शून्यहृदया इतस्ततो वम्भ्रम्यन्ते, अन्ये तीव्रतरविषप्रसरसंभूतप्रभूतदाहवेदनापरिभूता निपतन्त्यतिप्रचुरदुःखदम्भोलौ, केचित्पुनरारसन्त्यव्यक्तवाग्भिर्न शक्नुवन्ति जल्पितुमपि स्फुटवचनैः, केचन पुनः कदाचन स्खलन्ति कदाचिन्निपतन्ति कदाचिन्मूर्च्छन्ति कदाचन स्वपन्ति कदाचिज्जाग्रति क्षणमेकं पुनश्च स्वपन्ति,विषाऽऽवेगात् अन्ये पुनः सदैव निर्भरं स्वपन्ति,न किमपि चेतयन्ते । एवं च तस्मिन् सकलेऽपि पुरे विषधरविषवेदनाऽभिभूते समागादेको महानुभागो विनीतविनयवृन्दपरिवारो महानरेन्द्रः तच्च तथाविधं पुरमालोक्य समुत्पन्नपुण्यकारुण्येन तेन वभाणिरे लोकाः, यथा-भो भो लोका मोचयामि वः सर्वानप्येतस्या महोरगविषवेदनायाः,यदि मयोपदिष्टां क्रियामाचरत । तैरुक्तम्-कीदृशी सा ?।गारुडिकक्रियापरिवृढ प्रोवाच-अहो लोकाः! प्रथममेव तावन्मामकीनशिष्यसन्दोहवेषवत्प्रतिपत्तव्यो वेषः,रक्षणीयाः सकलत्रिभुवनोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः, न वक्तव्यं सूक्ष्ममप्यलीकं, न ग्रहीतव्यमदत्तं, पालयितव्यं नवगुप्तिसनाथमजिह्मब्रह्मचर्यं, मोक्तव्यः स्वदेहेऽपि प्रतिबन्धः, वर्जनीयं रजन्यां चतुर्विधमप्याहारजातं, वस्तव्यं स्त्रीपशुपण्डकविरहितवसतिश्मशानगिरिगह्वरशून्यसदनकाननाऽऽदिषु कर्त्तव्यं भूमिकाष्ठशय्याऽऽसनं, परिभ्रमितव्यं युगमात्रदत्तलोचनैः , जल्पनीयं हितमितागर्हितनिरवद्यं वचः, भोक्तव्यमकृताकारितमननुमतमसंकल्पितं पिण्डजातं, निवारणीयं सदाऽप्यकुशलचिन्तायां मानसं, परिवर्जयितव्या सर्वथा राजाऽऽदिकथा , परित्यक्तव्यो दूरमकल्याणमित्रसंपर्कः, परिहरणीयः सर्वेण कुगारुडिकसंबन्धः, कर्तव्यानि यथाशक्ति सुदुश्चरतपश्चरणानि, बंभ्रमितव्यमनियतविहारेण, सोढव्याः सम्यग् परीषहोपसर्गाः तितिक्षणीयानि नीचदुर्भाषितानि,भवितव्यं सर्वसहेव सर्वसहैः । किं बहुना ? क्षणमप्यस्यां क्रियायां न प्रमाद्यं, तथा कर्त्तव्यो मदुपदिष्टस्य मन्त्रस्य निरन्तरं जापः , ततो निवर्तन्ते पूर्ववर्णितविषविकाराः ,उन्मीलन्ति निर्मलबुद्धयः ;किं बहुभाषितया ?,प्राप्यते परम्परया तदपि परमाऽऽनन्दपदमिति । एवं च तस्य वचनं महाराज ! कैश्चन विषाऽऽवेशविवशैर्न श्रुतमेव यैरपि श्रुतं तेषामप्येके उपहसन्ति,अन्येऽवधीरयन्ति, अपरे निन्दन्ति, केचन दुर्विदग्धत्वेन स्वशिल्पकल्पितानल्पकुविकल्पैः प्रतिघ्नन्ति, एके न श्रद्दधति, अपरे श्रद्दधाना अपि नानुतिष्ठन्ति, कचित्पुनर्लघुकर्माणो महाभागा युक्तियुक्तमिति श्रद्दधतेऽनुतिष्ठन्ति च । ततो मयाऽपि महाराज ! विषधरवेदनानिर्विण्णेनामृतमिव प्रतिपेदे तद्वचः, उररीकृतः सबहुमानं तत्समर्पितो वेषः, प्रारेभे चेमामतिदुष्करां क्रियां, तदेतन्मम व्रतग्रहणे कारणं समजनिष्ट । तदाकर्ण्याऽनवगतपरमार्थेन विजयसेनपार्थिवेन प्रणम्य पृष्टो भूयोऽपि मुनीन्द्रः -भगवन् ! कथं तत्तादृशविस्तारभवाऽऽवर्तनगरं सकलमपि सहोदरैर्वसति, कथमेकेन दर्वीकरेण सर्वेऽपि ते एकहेल दष्टाः , कथं चैक एव महानरेन्द्रवृन्दारकः सकलजननिर्विषत्वकरणे समर्थः , कथमेतादृशो विषनिर्घातनविधिरिति ?। ततः प्रोक्तं गुरुणा-महाराज ! नेदं बहिरङ्गं वचनमात्रं किं तु भव्यजनभववैराग्यकारणं समस्तमप्यन्तरङ्गभावार्थकलितम् । तथाहि-

" नैरयिकाऽऽदिभवाना-मावर्त्तो येन तत्र नरनाथ ! ।
संसारस्तेनेह न्यगा-दि नगरं भवाऽऽवर्त्तम् ॥ १ ॥
कर्मपरिणामराजः, सर्वेषां कालपरिणतिसमेतः ।
जनको येन ततोऽमी, जीवाः सर्वेऽपि सोदर्याः ॥ २ ॥
अत्र भवावर्तपुरे, त एव निवसन्त्यनन्तका जीवाः ।
एकेन विषधरेण च, ते दष्टा येन शृणु तच्च ॥ ३ ॥
अष्टमदस्थानफणो दृढरूढकुवासनामलिनदेहः ।
रत्यरतिचपलरसनो ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिडिम्भयुतः ॥ ४ ॥
कोपमहाविषकण्टक-विकरालो द्वेषरागनयनयुगः ।
मायागृद्धिमहाविष-दाढो मिथ्यात्वखरहृदयः ॥ ५ ॥
हास्याऽऽदिधवलदशनः,सपरिकरस्त्रिभुवनं दशति निखिलम्।
कृतचित्तबिलनिवासो, मोहमहाविषधरो भीमः ॥ ६ ॥
दष्टाश्च तेन जीवाः , मूर्च्छितवच्चेतयन्ति न हि कार्यम्।
मीलन्ते लोचनानि क्षणमात्रसुखानुभवनेन ॥ ७ ॥
अङ्गैरत्यधरैरिव, संचार्यन्ते च सेवकजनेन ।
लग्नाः करे न देवं, न गुरुं च मुणन्ति गतमतयः ॥ ८ ॥
किं मम युक्तमयुक्तं,किं वा मम कोऽहमिति तथाऽऽत्मानम् ।
न विदन्ति हितमपि तथा शृण्वन्ति न गुरुभिरुपदिष्टम् ॥९॥
समविषमाणि न सम्यक्, वीक्षन्ते नैव गुरुजनस्यापि ।
विदधत्यौचित्यं किल, मूला इव नालपन्ति परम् ॥ १० ॥
अतितीव्रविषाभिहताः, प्रोक्ता एकेन्द्रिया विगतचेष्टाः ।
अव्यक्तं च रसन्तो, लुठन्ति विकलेन्द्रिया धरणौ ॥ ११ ॥
ज्ञेयाश्च तन्त्रयुक्त्या, शून्याश्चेष्टा असज्ञिना राजन् ! ।
दाहाऽऽदिदु खदम्भो-लयस्तु नैरयिकजन्तूनाम् ॥ १२ ॥
येनासाताभिधलघु-भुजङ्गमस्यातिनिष्ठुरो दंशः ।
तेषां जातो छेत्रं, ज्ञेय सर्वत्र च विशेषः ॥ १३ ॥
अव्यक्तं विरसन्तः, करिकरभप्रभृतयो विनिर्दिष्टाः ।
स्खलनपतनाऽऽदिधर्माः, विज्ञेया मानवानां तु ॥ १४ ॥
जाग्रति ते प्रतिपन्ना विरतिं विषलाघवानुभावेन ।
भूयो मोहविषवशात् , स्वपन्ति परिमुक्तविरतिगुणाः ॥१५॥
अविरतनिद्रावसतः, स्वपन्ति देवाः सदेति सकलजने ।
मोहोरगविषविधुरे, गारुडिकं बाधत जिनेन्द्रम् ॥ १६ ॥
यतिजनकरणीयायां, सदा क्रियाया हि तदुपदिष्टायाम् ।
यदि विगलितप्रमादैः , क्रियते सिद्धान्तमन्त्रजपः ॥ १७ ॥
तत एकोऽपि समर्थो, मोहविषोच्छेदने त्रिभुवनस्य ।
निष्कारणबन्धुरसौ, भव्याना परमकारुणिकः ॥ १८ ॥
एवमवगम्य नरपति-रपूर्वसंवेगमुद्वहन् कमपि ।
भालस्थलमिलितकरः, प्रणम्य मुनिराजमित्यूचे ॥ १९ ॥
सत्यमिदं मुनिपुङ्गव !, वयमपि मोहविषधारिता अधिकम्।
आत्महितमियत्कालं, चेतितवन्तः किमपि नैव ॥ २० ॥
अधुना तु राजसौस्थ्यं, कृत्वाऽऽदत्स्ये व्रतं प्रभुपदान्ते ।
गुरुरप्याह नरेन्द्र !, क्षणमपि मा स्म प्रमादीस्त्वम् ॥ २१ ॥
तदनु पुरन्दरपुत्रे, राज्यभरं न्यस्य विजयसेननृपः ।
सामन्तकमलमाला-मन्त्र्यादियुतः प्रवव्राज ॥ २२ ॥
अथ मालत्यपि देवी, निजदुश्चरितं निवेद्य सुगुरूणाम् ।
कर्मवनगहनदहन-प्रतिमां दीक्षां समादत्त ॥ २३ ॥
नम्रसुरासुरकिन्नर-विद्याधरगीयमानशुभ्रयशाः ।
भव्योपकारहेतोः गुरुरप्यन्यत्र विजहार ॥ २४ ॥
"अह परिपालइ रज्जं, पुरन्दरो दरियवइरियलदलणो ।
अप्पुव्वचेइयाइं जिण्णुद्धारे य कारंतो ॥ २५ ॥

साहम्मियवच्छल्लम्मी, उज्जुओ निज्जिओ न करेसि हिं ।
पालंतो य पयाओ, पयाउ इव वसणवारणओ ॥ २६ ॥
कइया वि सो नरिंदो, बंधुमईसंजुओ सपरिवारो ।
ओलोयणोवविट्ठो जा पिच्छइ निययपुरलोहं ॥ २७ ॥
ता बहुयडिंभनयरे-हिं वेढिओ कोटिओ व्व मच्छीहिं ।
धूलीधूसरदेहो, निम्मियअइबहुचहलबोलो ॥ २८ ॥
दंडी खंडनिवसणो, कुद्धो धावंतओ चउदिसासु ।
दिट्ठो स मित्तविप्पो, जेण नाराहिया विज्जा ॥ २९ ॥
तं उवलक्खिय सरिया, विज्जा देवी निवेण इय भणइ ।
जणउवहासपरो वि-ज्जाइ विराहगो य इमो ॥ ३० ॥
तो कुवियाए वि मए, तुह दक्खिन्नेण मारिओ न इमो ।
सिक्खामित्तमियं पुण अह राया विन्नवइ एवं ॥ ३१ ॥
जइ वि इमो परिसगो, तहा वि सज्जं करेसु तं देवि ! ।
काऊण मह पसायं, खमेसु एयं तु अवराहं ॥ ३२ ॥
तो देवी तं विप्पं, सज्जीकाउं अदसणं पत्ता ।
सक्कारिय जहउचियं, रन्ना वि विसज्जिओ एसो ॥ ३३ ॥
इत्तो य चिरं कालं, पालियअकलंकचरणकरणगुणो ।
सो विजयसेणसमणो, अणंतसुक्खं गओ मुक्खं ॥ ३४ ॥
राया पुरंदरो वि हु, सिरिगुत्तं नंदणं ठविय रज्जे ।
सिरिविमलबोहकेवलि-पयमूले गिण्हइ चरित्तं ॥ ३५ ॥
जाओ कमेण गीओ, एगल्लविहारपडिमपडिवन्नो ।
कुरुदेसट्ठियगाम-स्स बाहि आयावणापरमो ॥ ३६ ॥
संठविय रुक्खपुग्गल-दिट्ठी सुहझाणलीणपरमप्पा ।
जा चिट्ठइ स महप्पा, वज्जभुएणं तु ता दिट्ठो ॥ ३७ ॥
तो कुविओ पज्जिवई, रे रे तइया मलित्तु मह माणं ।
गच्छिहिसि कत्थ इण्हिं, इय भणिय स निट्ठुरं पावो ॥३८॥
मुणिणो चउद्दिसिं भ, त्ति खित्तु तणकट्ठपत्तउक्केरं ।
पिंगलजालाभरभरिय-नहयलं जालए जलणं ॥ ३९ ॥
तो जह जह डज्झंतं, संकुडइ कलेवरं न सा जालं ।
तह तह मुणिणो वड्ढइ, झाणमसंकुडियसुहभावं ॥ ४० ॥
तत्तो चिंतइ रे जिय !, अणंतवाराउ ते सहियपुव्वो ।
इत्तो अणंतगुणदा-हदायगो निरयदहणो वि ॥ ४१ ॥
वणदवडुसहदुयासे, तिरिएसु विऽणंतसो तुमं जीव ! ।
दड्ढो परं अकाम त्तणेण न तए गुणो पत्तो ॥ ४२ ॥
इण्हिं सहंतस्स विसु द्धझाणिणो नाणिणो सकामस्स ।
तत्तो अणंतगुणिया, थेवेण वि निज्जरा तुज्झ ॥ ४३ ॥
ता सहसु जीव ! सम्मं, खणमित्तं काउ केवलं मित्तं ।
एयम्मि पज्जिताहे, अणंतकम्मक्खयसहाए ॥ ४४ ॥
इय सुहभावानलव-ड्ढकम्मगहणो पलित्तवहिगत्तो ।
स पुरंदररायरिसी, अंतगडो केवली जाओ ॥ ४५ ॥
वज्जभुओ वि हु अइगरु-यपावकारि त्ति परियणविमुक्को ।
एगागी नस्सतो, निसि पडिओ अंधकूवम्मि ॥ ४६ ॥
फलखुत्तसारखाइय-कीलयविद्धोयरो दुहक्कंतो ।
रुद्दज्झाणोवगओ, मरिउ पत्तो तमतमाए ॥ ४७ ॥
जत्थ य पुरंदररिसी, सिद्धो अमरेहिं तत्थ हिट्ठेहिं ।
महिमा विहिया परमा, गंधोदगवरिसणाईहिं ॥ ४८ ॥
बंधुमई वि हु अक्खु-द्धवंधुरं संजमं निसेवित्ता ।
वरनाणदंसणजुया, परमानंदं पयं पत्ता ॥ ४९ ॥
इत्यवेत्य गुणरागसंभवं,
श्रीपुरन्दरनृपस्य वैभवम् ।
तत्क्षमेव भविका गुणाकाराः,
धत्त चित्तनिलये कृताऽऽदाराः ॥ ५० ॥

इति पुरन्दरराजचरितम् । ध० र० १ अधि० १२ गुण । सुरपतौ, । " अक्खडलो सुरवई, पुरंदरो वासवो सुणासीरो । " पाइ० ना० २३ गाथा ।

**पुरंदरजसा-पुरन्दरयशस्**-स्त्री० । चम्पानगरीराजस्कन्दकभगिन्याम्, नि० चू० १६ उ० ।

**पुरंधी-पुरन्ध्री**-स्त्री० । भार्यायाम्, " जाया पत्ती दारा, घरिणी भज्जा पुरंधी य ।" पाइ० ना० ५७ गाथा ।

**पुरक्खड पुरस्कृत**-त्रि० । अवश्यप्राप्तव्यतयाऽग्रे कृते, पञ्चा० ४ विव० । चं० प्र० । प्रज्ञा० । अभिमुखे कृते, आ० म० १ अ० ।

**पुरक्खडभाव-पुरस्कृतभाव**-पुं० । भाविनो भावस्य योग्ये आभिमुख्ये, आव० ५ अ० ।

**पुरक्खाय-पुराख्यात**-त्रि० । पूर्वकथिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**पुरक्खार-पुरस्कार**-पुं० । पुरस्करणं पुरस्कारः सर्वकार्येष्वग्रतः स्थापने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । ध० ।

**पुरच्छा-पुरस्तात्**-अव्य० । पूर्वस्मिन्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दश० ।

**पुरच्छिम-पौरस्त्य**-त्रि० । अग्रभागे, चं० प्र० २० पाहु० । भ० । स्था० । पूर्वस्या दिशि, स्था० ८ ठा० । सू० प्र० ।

**पुरच्छिमदाहिणा-पूर्वदक्षिणा**-स्त्री० । अग्निकोणे, स्था० १० ठा० ।

**पुरच्छिमद्ध-पौरस्त्यार्द्ध**-न० । पौरस्त्यं पूर्वम् । पूर्वार्द्धे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**पुरच्छिमा-पूर्वा**-स्त्री० । प्राकृतशैल्या मागधदेशीभाषावृत्त्या वा साधुत्वम् । ऐन्द्र्यां दिशि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स्था० ।

**पुरच्छिमिल्ल-पौरस्त्य**-त्रि० । पूर्वदिग्वर्तिनि पर्वते, " चत्तारि अंजणगपव्वया पण्णत्ता । तं जहा-पुरच्छिमिल्ले० " इत्यादि । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

**पुरतोवाहत-पुरतोव्याहत**-न० । " जहा जीवे भंते ! नेरतिए जीवे ? । गोयमा ! जीवे सिय नेरतिए सिय अनेरतिए नेरतिए पुण नियमा जीवे ।" इति पूर्वोपात्तव्याप्तियुक्ते, आ० चू० १ अ० ।

**पुररक्ख-पुररक्ष**-पुं० । ग्रामरक्षके, " आरक्खो पुररक्खो ।" पाइ० ना० १६६ गाथा ।

**पुरव-पूर्व**-त्रि० । 'पूर्वस्य पुरवः' ॥८।४।२७०॥ पूर्वशब्दस्य शौरसेन्या पुरवाऽऽदेशो वा । 'पुव्व' शब्देऽभिहितार्थे, प्रा० ४ पाद ।

**पुरवइ-पुरपति**-पुं० । पुरस्य पतिः पुरपतिः । ग्रामाधिपतौ, आ० म० १ अ० ।

**पुरवर-पुरवर**-न० । नगरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । नगरैकदेशभूते, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । "पुरवरकवाडोवमे से वच्छे ।" पुरवरकपाटोपमं ( से ) तस्य वक्ष उरस्थलं, विस्तीर्णत्वादिति । उत्त० २ अ० । राजधानीरूपे प्रधाननगरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । ' पुरवरपरिघवट्ट ।" पुरवरपरिघवत् नगरार्गलावत् वर्तितौ वृत्तौ बाह्यवर्तितौ च बाहू यस्य स तथा । औ० । जं० ।

पुरवरधम्म-पुरवरधर्म पुं० । पुरवरं प्रति भिन्ने लौकिके धर्म, स च कश्चित्कश्चिद्विशिष्टोऽपि पौरभाषाप्रतिपादनाऽऽदिलक्षणः। दश० १ अ० ।

पुरस्सर-पुरस्सर-त्रि० । पूर्वस्मिन्, द्वा० २२ द्वा० । अग्रतः कृते, वाच० ।

पुरा-पुर-स्त्री० । " रो रा " ॥ ८ । १ । १६ ॥ इति रेफस्य रा इत्यादेशः । नगर्याम्, प्रा० १ पाद ।

पुरा-अव्य० । विवक्षितकालात्पूर्वस्मिन्, तं० । सूत्र० । भ० । विपा० । स्था० । प्राग्भवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । "पुव्वा तत्थेव जत्थ पुरा" आसीदित्यर्थः । नि० चू० ६ उ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । विशे० । " पुरा पोराणाणं कम्माण।" पुरा पूर्वकाले, कृतानामिति गम्यते । एवं पुराणानां चिरन्तनानाम् । विपा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० ।

पुराकड-पुराकृत त्रि० । जन्मान्तरोपात्ते,दश०६ अ० ।सूत्र० ।

पुराण-पुराण-त्रि० । पुरातने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० । चिरन्तने, बृ० २ उ० । बहुकालीने, स्था० ६ ठा० । अनेकभवोपात्तत्वेन चिरन्तने, उत्त० १ अ० । आचा० । पश्चात्कृतश्रमणभावे, व्य० ७ उ० । बृ० । पुरातनवस्तुविषये हेतौ, स्था० ६ ठा० । पुरातनवस्तुवक्तव्यताप्रतिबद्धे कथानकप्राये ग्रन्थे, ' अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥१॥ " आ० म० १ अ० ।

पुराणकुम्मास-पुराणकुल्माष-पुं० । पुराणाः प्रभूतकालं यावत्सञ्चिताः पुराणाश्च ते कुल्माषाश्च पुराणकुल्माषाः । पुरातनराजमाषेषु, उत्त० ८ अ० । प्रभूतवर्षधृते कुल्माषे, उत्त० ८ अ० ।

पुराणविणिज्जरा-पुराणविनिर्जरा-स्त्री० । चिरन्तनक्षपणायाम्, (३३ गाथा) आव० ४ अ० ।

पुराणसावग-पुराणश्रावक-पुं० । पुराणनिगृहीतान्यणुव्रतानि यस्य स श्रावकः । अविरतसम्यग्दृष्टौ, नि० चू० १६ अ० ।

पुराणा-पुराणा-स्त्री० पश्चात्कृतव्रतायां साध्व्याम्, व्य० ७ उ० ।

पुराहिवइ-पुराधिपति-पुं० । श्रेष्ठिनि, बृ० ४ उ० ।

पुरिम-पूर्व-त्रि० । " पूर्वस्य पुरिमः " ॥ ८ । २ । १३५ ॥ इति पूर्वस्य पुरिमाऽऽदेशः । प्राग्जाते, पञ्चा० ११ विव० । बृ० । उत्त० । "पुरिमपच्छिमाण तित्थयराणं ।"स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रस्फोटके, "छ प्पुरिमा नव खोडा ।" स्था० ६ ठा० । प्रव० ।

पुरिमड्ढ-पुरिमार्द्ध-पूर्वार्द्ध-न० । पुरिमं पूर्वं,तच्च तदर्द्धं च । दिनस्याऽऽद्ये प्रहरद्वये, पञ्चा० ५ विव० । पूर्वार्द्धे, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्याने,व्य० १ उ० । पं० व० । ध० । आव० । अथ पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानम्-' सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।" पूर्वं च तदर्द्धं च पूर्वार्द्धं दिनस्याऽऽद्यं प्रहरद्वयं, पूर्वार्द्धं प्रत्याख्याति पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानं करोति, पदार्थः पूर्ववत् । ( महत्तरागारेणं इति ) महत्तरं प्रत्याख्यानानुपालनलभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूतं पुरुषान्तरसाध्यं ग्लानचैत्यसङ्घाऽऽदिप्रयोजनं तदेवाऽऽकारः प्रत्याख्यानापवादो महत्तराकारस्तस्मादप्यन्यत्रेति योगः। यच्चात्रैव महत्तराकारस्याभिधानं न नमस्कारसहिताऽऽदौ तत्र कालस्याल्पत्वं महत्त्वं च कारणमाचक्षते । ध० २ अधि० । आ० चू० ।

पुरिमार्द्धशोध्या अतीचाराः । इदानीं येषु पुरिमार्द्धं प्रायश्चित्तं तान् गाथात्रयेणाऽऽह-

> ओह विभागुद्देसो-वगरणपूइयचिरठवियपागडिए।
> लोगुत्तरपरियट्टिय-पामिच्चपरभावकीए च ॥ ४० ॥
> सग्गामाहडदद्दर-जहन्नमालोहडुज्झरे पढमे ।
> सुहुमतिगिच्छासंथव-तिगमक्खियदायगोवहए ॥४१॥
> पत्तेयपरंपरठवि-यपिहियमीसेयणंतराईसु ।
> पुरिमड्ढं संकाए, ज संकइ तं समावज्जे ॥ ४२ ॥

ओघ सामान्योद्देशिकं, विभागोद्देशे उद्दिष्टोद्देशसमुद्देश उद्दिष्टसमादेशाऽऽख्यं विभागोद्देशिकप्रथमभेदचतुष्टयम्। उपकरणपूतिकाचिरस्थापनाप्रकटकरणम्। एषां द्वन्द्वः तस्मिन्, लोकोत्तरपरिवर्तितप्रामित्ययोः परभावक्रीते च। अत्रापि द्वन्द्वः। स्वग्रामाऽऽहृते दर्दरोद्भिन्ने जघन्यमालापहृते ( उज्झरे पढमे त्ति) अध्यवपूरको लाघवार्थिकत्वाद् यावदर्थिकमिश्राख्येऽध्यवपूरकप्रथमभेदे। इहापि द्वन्द्वः। सूक्ष्मचिकित्सा वचनसंस्तवः प्राग्भवपूर्वं पश्चात्संस्तवे उदकादिम्रक्षितमिश्रकर्दमं म्रक्षितरूपं पृथ्वी म्रक्षितम् उदकाहृतं तं (?)कुकुलीनत्कृष्य्याख्यत्रिविधम्रक्षितं चेति त्रिकं म्रक्षितमपि यत् लोठयन्ती रूतं विरलयन्ती कर्त्तयन्ती, दायकाय दत्ते तद्दायकोपहतम्। एषामपि द्वन्द्वः। तस्मिन्। यथोक्तम्-"बाले वुड्ढे मत्ते,उम्मत्ते थेविरे य जरिए य । एए तिसेसवज्जा एएसिं दायगोवहयं ॥१॥ " तदत्र पुरिमार्द्धप्रस्तावनादियम्, एतेभ्यो दायकेभ्यो ग्राहकाणामाचामाम्लप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात्।(पत्तेयपरंपरठवियपिहिय त्ति) सुपूर्लपः प्राकृतत्वात्। प्रत्येकशब्दस्य चोपलक्षणत्वात् सचित्तपृथिव्यादिषट्कायपरस्थापितपिहितेष्विति ज्ञेयम्। स्थापितं निक्षिप्तमुच्यते, बहुवचनात् संहृतछर्दितयोश्च। (मीसयणंतराईसु त्ति) सूत्रकत्वान् सूत्रस्य मिश्रपृथ्व्यादिषट्कायानन्तरनिक्षिप्तसंहृतोन्मिश्रापरिणतछर्दितेष्वित्यर्थः। उन्मिश्रापरिणतयोश्चानन्तरे विशेषणं योज्यम्। किं तर्हि मिश्रं षट्कायोन्मिश्रं,मिश्रषट्कायापरिणतं चेत्येव योज्यम्। एषु सर्वेषु पुरिमार्द्धप्रायश्चित्तशङ्कायां दोषमाशङ्कते,तस्याप्येकान्तदोषश्च प्रायश्चित्तमापद्यते। जीत०। कालाध्वातीतानामधिकीभूतानां वा भक्ताऽऽदीनामन्येषां वा परिष्ठापनीयाना प्रस्रवणानामविधिविवेचनायामशुद्धस्थण्डिलाऽऽदौ परित्यागे पुनः पुरिमार्द्धम्। जीत० ।

> एयं चिय सामन्नं, तवपडिमाऽभिग्गहाइयाणं पि ।
> निव्विइगाई पक्खिवय, पुरिसाइविभागओ नेयं ॥५१॥

एतदेव पुरिमार्द्धरूपं प्रायश्चित्तं सामान्य निर्विशेषं तपःप्रतिमाऽभिग्रहाऽऽदीनामपि। अयमर्थः तपो द्वादशविधं,यथा-"अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः । कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥१॥ प्रायश्चित्तं ध्यानं, वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः । स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमाभ्यन्तरं भवति ॥२॥" प्रतिमा अपि द्वादश ए मासिकी १ द्विमासिकी २ त्रैमासिकी ३ चतुर्मासिकी ४ पञ्चमासिकी ५

पक्खमासिकी ६ सप्तमासिकी ७ प्रथमसप्तरात्रिन्दिवा ८ द्वितीयसप्तरात्रिन्दिवा ९ तृतीयसप्तरात्रिन्दिवा १० अहोरात्रिकी ११ एकरात्रिकी १२ चेति। एतासामश्रद्धाने विपरीतप्ररूपणा च। अभिग्रहा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्ना, तेषामग्रहणे च पुरिमार्द्धम् एव प्रायश्चित्तम्। उत्तरार्द्धे तु (पक्खिय त्ति) उपलक्षितत्वात् पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकेषु निर्विकृतिकाऽऽदिकं पुरुषाऽऽदिविभागतो ज्ञेयम्। अयमर्थः-पाक्षिके चामाम्लं च निरन्तरकृत्यतपसो चाऽधिकं तप शक्त्यनुसारेण कुर्वतः क्षुल्लकस्य वृद्धस्याऽऽपुरिक्षेप (?) उपाध्यायस्य आचार्यस्याभक्तार्थचातुर्मासिके षष्ठमन्यद्वा यथाशक्त्यनुवचनात् क्षुल्लकाऽऽदीनां पश्चाद् दीना पुरिमार्द्धैकाशनाचाम्लचतुर्थषष्ठानि सांवत्सरिके चाष्टममन्यद्वा यथाशक्त्या तपः कुर्वतामेकाशनाचाम्लचतुर्थषष्ठाष्टमानि यथासंख्यं भवन्ति।

फिडिए सयमुस्सारिए, भग्गे वेगाइयंदणुस्सग्गे ।
निव्वीइयपुरिमेगा-सणाइं सव्वेसु चाऽऽयामं ॥ ५२ ॥

स्फिडिते स्वयमुत्सारिते भग्ने वा एकादिवन्दनोत्सर्गे निर्विकृतिकपुरिमैकाशनानि सर्वेषु वाऽऽचाम्लमिति। अथ भावार्थः-निद्राऽऽदिप्रमादवशतो गुरुभिः सह प्रतिक्रमणे स्फिटितेन न मिलितः, एकस्मिन्कायोत्सर्गे निर्विकृतिकं, द्वयोः पुरिमार्द्धं त्रिष्वेकाशनं, तथा गुरुभिरपारितेऽपि कायोत्सर्गे स्वयमात्मना प्रथममेव पारिते भग्ने वा कायोत्सर्गे अविनाशितेऽपि सर्वैर्विस्मरणीयमन्तराल एव पारिते एकद्वित्रिसंख्येयकायोत्सर्गे यथासंख्यं निर्विकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनानि, सर्वेष्वपि च कायोत्सर्गेषु स्फिटितत्वे भग्नत्वे च आचामाम्लम्। एवं वन्दनकेऽपि स्फिटितत्वपक्षश्रुत्पतितत्वे गुरोर्वन्दनकं ददानस्य स्वयमग्रतः प्रवृत्त., प्रवृत्ते कृतावकृतत्वेन भग्ने वा यथासंख्यमेकस्मिन् द्वयेषु त्रिषु सर्वेषु आचामाम्लम्। जीत०।

पुरिमताल-पुरिमताल-न०। उदितोदयनृपपालिते पुरविशेषे, आ० क० १ अ०। यत्र च महाबलो राजाऽऽसीत्। विपा० १ श्रु० ३ अ०। यत्र वा चित्रनामा महर्द्धिरासीत्। उत्त० १३ अ०। आ० चू०। आ० म०। कल्प०।

पुरिमपच्छिमग-पूर्वपश्चिमक-पुं०। पूर्वचरमे, स्था० ५ ठा० १ उ०। "पुरिमपच्छिमगाणं तित्थयराणं।" पुरिमा भरतैरावतेषु चतुर्विंशतिरादिमाः ते च पश्चिमकाश्चरमाः पुरिमपश्चिमकास्तेषां जिनानामर्हताम्। स्था० ५ ठा० १ उ०।

पुरिया-पुरिका-स्त्री०। नगर्याम्, आ० म० १ अ०।

पुरिल्ल-पौरस्त्य-त्रि०। "डिल्लडुल्लौ भवे" ॥८।२।१६३॥ इति भवेऽर्थे नाम्नः परो डिल्लप्रत्ययः। पुरोजाते प्रा० १ पाद। चू०। प्रवरे, दे० ना० ६ वर्ग ५३ गाथा।

पुरिल्लदेवा-देशी-असुरे, दे० ना० ६ वर्ग ५५ गाथा।

पुरिल्लपहाणा-देशी-अहिदंष्ट्रायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा।

पुरिस-पुरुष-पुं०। "पुरुषे रोः" ॥८।१।१११॥ इति रो रिः। प्रा० १ पाद। पुरि शयनात्पूर्णः सुखदुःखानां वा पुरुषः। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। नं०। आ० म०। जीवे, विशे०। सूत्र०। कल्प०। विशिष्टकर्मोदयाद्विशिष्टसंस्थानवच्छरीरवासिनि, ध० २ अधि०। मानवे, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। "मणुआ नरा मणुस्सा, मच्चा तह माणवा पुरिसा।" पाइ० ना० ६० गाथा।

निक्षेपः-

दव्वाभिलावचिंधे, वेए धम्मत्थभोगभावे य।
भावपुरिसो उ जीवो, भावे पगयं तु भावेणं ॥२०६०॥

(दव्व त्ति) द्रव्यपुरुषो विस्तरेण वक्ष्यमाणस्वरूपः, अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापः शब्दः, ततोऽभिलापपुरुषः पुंल्लिङ्गाभिधानमात्रपुरुष इति, घटः पट इत्यादिर्वा। चिह्नपुरुषस्तु पुरुषोऽपि पुरुषचिह्नोपलक्षितो यथा नपुंसकं श्मश्रुचिह्नम् इत्यादि। स्वशरीरेपि पुरुषवेदकर्मविपाकानुभावाद्वेदपुरुषः। धर्मार्जनव्यापाररतः साधुर्धर्मपुरुष। अर्थार्जनपरस्त्वर्थपुरुषः। समस्तभोगोपभोगसुखभाग् भोगपुरुषः। (भावे य त्ति) भावपुरुषश्च। चशब्दो नामाऽऽद्यनुक्तभेदसमुच्चयार्थः। तत्र भावे भावद्वारे विचार्ये भावपुरुषः कः? इत्याह-भावपुरुषस्तु जीवः। इदमुक्तं भवति-पूः शरीरं, पुरि शरीरे शेते इति निरुक्तिवशाद्भावपुरुषः पारमार्थिकः पुरुषो द्रव्याभिलापपुरुषाऽऽदिसर्वोपाधिरहितो निर्विशेषण... जीव एवोच्यते। तदिह प्रकृतं प्रस्तुतं भावेन भावपुरुषेण शुद्धेन जीवेन, तीर्थकरेणेत्यर्थः। तुशब्दादन्यैश्च वेदाऽऽदिपुरुषैर्गणधरैरिहाधिकारः। सूत्रतस्तेभ्योऽपि सामायिकस्य निर्गतत्वादिति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः॥ २०६०॥

विस्तरार्थं तु भाष्यकारः प्राऽऽह-

आगमओऽणुवउत्तो, इयरो दव्वपुरिसो तहा तइओ।
एगभवियाइतिविहो, मूलुत्तरनिम्मिओ वा वि ॥२०६१॥

इह नामस्थापनापुरुषौ नोक्तौ, तद्विचारस्यातिप्रतीतत्वात्। द्रव्यपुरुषस्तु द्वेधा-आगमतो नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतः पुरुषपदार्थज्ञः, तत्र चानुपयुक्तो द्रव्यपुरुष उच्यते। इतरस्तु नोआगमत इत्यर्थः द्रव्यपुरुषो ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्त्रिधा। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रव्यपुरुषौ द्रव्याऽऽवश्यकवदिवत् सुचर्च्यौ। तृतीयस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यपुरुषः पुनरप्येकभविकबद्धाऽऽयुष्काभिमुखनामगोत्रभेदात्त्रिविधः। अथवा-व्यतिरिक्तो द्विविधः। कथम्?-मूलगुणनिर्मितः, उत्तरगुणनिर्मितश्च। तत्र मूलगुणनिर्मितः पुरुषप्रायोग्याणि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तान्येव तदाकारवन्तीति॥ २०६१॥ उक्तो द्रव्यपुरुषः।

इदानीमभिलापचिह्नपुरुषौ प्राऽऽह-

अभिलावो पुंलिंगा-भिहाणमेत्तं घडो व्व चिंधे उ।
पुरिसागिई नपुंसो, वेओ वा पुरिसनेवत्थो वा ॥२०६२॥

अभिलापः शब्दस्तद्रूपः पुरुषोऽभिलापपुरुषः, यथा पुरुष इति पुंल्लिङ्गत्वस्याभिधानमात्रं, घट पट इत्यादिर्वा। चिह्ने चिह्नविषये पुरुषश्चिह्नपुरुषः, पुरुषाऽऽकृतिर्नपुंसकाऽऽत्मा श्मश्रुप्रभृतिपुरुषचिह्नयुक्तः। अथवा-वेदः पुरुषवेदश्चिह्नपुरुषः, इति चिह्नयते लक्ष्यते पुरुषोऽनेनेति कृत्वा। अथवा-पुरुषस्य संबन्धी वेषो यस्य स पुरुषवेषः इत्यादिरपि चिह्नमात्रेण पुरुषश्चिह्नपुरुष इति॥ २०६२॥

वेदधर्म्मपुरुषौ प्राह–

वेयपुरिसो तिलिंगो, वि पुरिसवेयाणुभूइकालम्मि ।
धम्मपुरिसो तयज्जण–वावारपरो जहा साहू ॥२०६३॥

स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गत्रयवृत्तिरपि प्राणी यदा तृणज्वालोपमविपाकं पुरुषवेदमनुभवति तदा पुरुषवेदानुभावमाश्रित्य पुरुषो वेदपुरुषः स्त्र्यादिरप्युच्यते । धर्म्मार्जनव्यापारपरो धर्म्मपुरुषो यथा साधुरिति ॥ २०६३ ॥

अर्थभोगपुरुषौ प्राऽऽह–

अत्थपुरिसो तयज्जण–परायणो मम्मणो व्व निहिपालो ।
भोगपुरिसो समज्जिय- विसयसुहो चक्कवट्टि व्व ॥२०६४॥

गतार्था । नवरं राजगृहनगरनिवासी रत्नमयवलीवर्दनिर्म्मापको मम्मणवणिगावश्यकवृत्तितोऽवसेय इति ॥२०६४॥

भावपुरुषमाह–

भावपुरिसो उ जीवो, सरीरपुरि सयणओ निरुत्तवसा ।
अहवा पूरणपालण–भावाओ सव्वभावाणं ॥ २०६५ ॥

भावपुरुषस्तु द्रव्याभिलापचिह्नाऽऽद्युपाधिरहितः शुद्धो जीवः। कुतः ?,पूः शरीरं, तत्र शयनान्निवसनात्पुरुष इत्येवंभूतनिरुक्तवशात्। अथवा–सर्वेषामपि स्वर्गमर्त्यपातालगतानां स्वर्गविमानः। वनशयनाऽऽसनयानवाहनदेहविभवाऽऽदिभावाना नानाभवेषु 'पृ' पालनपूरणयोः पूरणपालनभावाद्भावरूपः पारमार्थिकः पुरुषो भावपुरुषः शुद्धो जीव इति ॥ २०६५ ॥

कथं पुनः शुद्धो जीवो भावपुरुष ?, इत्याह–

दव्वपुरिसाइभेया, वि जं च तस्सेव होंति पज्जाया ।
तेणेह भावपुरिसो, सुद्धो जीवो जिणिंदो व्व ॥२०६६॥

न केवलं यथोक्तनिरुक्तवशाद्भावपुरुषो जीव उच्यते, यस्माच्च द्रव्याभिलापचिह्नाऽऽदिपुरुषभेदा अपि तस्यैव शुद्धजीवस्य पर्याया भवन्ति, तेनाऽऽद्यप्रकृतित्वाच्छुद्धो निर्विशेषणो जीव एवेह भावपुरुषो जिनेन्द्रवदिति ॥ २०६६ ॥

केन पुनः पुरुषेणेहाधिकारः ?, इत्याह–

पगयं विसेसओ ते–ण वेयपुरिसेहिँ गणहरेहिं च ।
सेसा वि जहासंभव-माउज्जा उभयवग्गे वि ॥२०६७॥

अनेकविधपुरुषप्ररूपणेऽत्र विशेषतः प्रकृत प्रस्तुतमधिकारस्तेन भावजीवरूपेण जिनेन्द्रेण श्रीमन्महावीरेण,तस्यैवार्थत सामायिकप्रणेतृत्वात्तथा सूत्रतस्तत्प्रणेतृभिर्वेदपुरुषैर्गणधरैश्चेहाधिकारः। आह–ननु जिनेन्द्रो यथा भावपुरुषः तथा सदैव धर्मव्यापारनिरतत्वाद्धर्मपुरुषोऽपि वर्तते, तथा चिह्नपुरुषोऽपि,पुरुषचिह्नयुक्तत्वात् एवं गणधरेषु अपि वाच्यं;ततश्च यथा भावपुरुषेण वेदपुरुषैश्चाधिकारः तथा धर्माऽऽदिपुरुषैरप्यधिकारोऽत्र वक्तुं युज्यत एव,इत्याशङ्क्याऽऽह–शेषा अपि धर्मपुरुषाऽऽदयो यथासंभवं तीर्थकरगणधरलक्षण उभयवर्गेऽप्यायोज्याः .ततः संभवद्भिर्धर्मपुरुषाऽऽदिभिरपीहाधिकारो वाच्य इति गाथासप्तकार्थः । विशे० । ' मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यश्मश्रुधृष्टता । स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥ " जीत० ।

पुरुषभेदाः–

तिविहा पुरिसा पण्णत्ता । तं जहा तिरिक्खजोणियपुरिसा, मणुस्सपुरिसा, देवपुरिसा । तिरिक्खजोणियपुरिसा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–जलचरा,थलचरा, खहचरा य । मणुस्सपुरिसा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा कम्मभूमिया,अकम्मभूमिया, अंतरदीवया । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

सम्प्रति पुरुषप्रतिपादनार्थमाह–

से किं तं तिरिक्खजोणियपुरिसा ?। तिरिक्खजोणियपुरिसा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–जलचरा,थलचरा,खहयरा य । इत्थिभेदो भाणियव्वो०जाव खहयरा; सेत्तं खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा । से किं तं मणुस्सपुरिसा ?। मणुस्सपुरिसा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा -कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अंतरदीवगा य । सेत्तं मणुस्स पुरिसा । से किं तं देवपुरिसा ?। देवपुरिसा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–भवणवासिणो, वाणमंतरा, जोतिसिया, वेमाणिया य । इत्थिभेदो भाणियव्वो० जाव सव्वट्ठसिद्धा ॥

अथ के ते पुरुषाः ?। पुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा तिर्यग्योनिकपुरुषाः,मनुष्यपुरुषा ,देवपुरुषाश्च ।(से किं तमित्यादि) अथ के ते तिर्यग्योनिकपुरुषाः?। तिर्यग्योनिकपुरुषास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा–स्थलचरपुरुषा ,जलचरपुरुषा , खचरपुरुषाश्च। मनुष्यपुरुषा अपि त्रिविधा । तद्यथा कर्मभूमकाः,अकर्मभूमका , अन्तरद्वीपकाश्च । देवसूत्रमाह- (से किं तं इत्यादि) अथ के ते देवपुरुषाः ?। देवपुरुषाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा-भवनवासिनो,वानमन्तराः ज्योतिष्काः,वैमानिकाश्च। भवनपतयोऽसुराऽऽदिभेदेन दशविधा वक्तव्याः। वानमन्तराः पिशाचाऽऽदिभेदेनाष्टविधा । ज्योतिष्काश्चन्द्राऽऽदिभेदेन पञ्चविधाः वैमानिका कल्पोपपन्नककल्पातीनभेदेन द्विविधा. । कल्पोपपन्नाः सौधर्मा' दिभेदेन द्वादशविधाः कल्पातीता ग्रैवेयकानुत्तरोपपातिकभेदेन द्विविधा.। तथा चाऽऽह- ( जाव अणुत्तरोववाइय त्ति) । जी०२ प्रति० । (स्थितिः 'ठिइ' शब्दे चतुर्थभागे १७२६ पृष्ठे उक्ता) (षड्विधः पुरुषोऽधमाधम इत्यादि 'इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ६१६ पृष्ठे गतम्) (प्रायश्चित्तार्हाणां कृतकरणाऽऽदिना व्याख्या 'पच्छित्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३६ पृष्ठे उक्ता) (मार्गे पृच्छनीयाः पुरुषाः 'विहार' शब्दे वक्ष्यन्ते)

शतवर्षाऽऽयु पुरुषस्वरूपम्–

आउसो ! से जहानामए केइ पुरिसे ण्हाए कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसि ण्हाए कंठे मालकडे आविद्धमणिसुवन्ने अहयसुमहग्घवत्थपरिहिए चंदणोक्किन्नगायसरीरे सरससुरहिगंधगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे नाणामणिकणगरयणकडगतुडियथंभियभूए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए हारुच्छयसुकयरइयवत्थे पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे मुद्दियापिंगलंगुलिए, नाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोचियमिसमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए, किं बहुणा, कप्परुक्खे विव अलंकियविभूसिए सुई य पयए भवित्ता अम्मापियरो अभि-

वंदइ। तए णं तं पुरिसं अम्मापियरो एवं वइज्जा-जीव पुत्ता ! वाससयं ति तं पि याइं तस्स नो बहुयं भवइ, कम्हा ?, वाससयं जीवंतो वीसं जुगाइं जीवइ १, वीसं जुगाइं जीवंतो दो अयणसयाइं जीवइ २, दो अयणसयाइं जीवंतो छउउसयाइं जीवइ ३, छउउसयाइं जीवंतो बारसमाससयाइं जीवइ ४, बारसमाससयाइं जीवंतो चउवीसं पक्खसयाइं जीवइ ५, चउवीसं पक्खसयाइं जीवंतो छत्तीसं राइंदिअसहस्साइं जीवति ६, छत्तीसं राइंदियसहस्साइं जीवंतो दस असीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवइ ७, दस असीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवंतो चत्तारि ऊसासकोडिसए सत्त य कोडीओ अडयालीसं च सयसहस्साइं चत्तालीसं च ऊसाससहस्साइं जीवइ ८, चत्तारि य ऊसासकोडिसए सत्त य कोडीओ अडयालीसं च सयसहस्साइं चत्तालीसं च ऊसाससहस्साइं जीवंतो अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ। कहं?, आउसो ! अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ ?। गोयमा ! दुब्बलाए खंडियाणं बलियाए छडियाणं खयरमुसलपच्चाइयाणं ववगयतुसकणियाणं अखंडाणं अप्फुडियाणं फलगसरियाणं एक्कक्कबीयाणं अद्धतेरसपलियाणं पत्थयणं, से वि य णं पत्थए मागहए कल्लं पत्थो, सायं पत्थो, चउसट्ठितंदुलसाहस्सीओ मागहओ पत्थो ।

(आउसो ! से जहा०) हे आयुष्मन् ! स यथानामको-यत्प्रकारनामा देवदत्ताऽऽदिनामेत्यर्थः। अथवा-( से इति ) सः यथेति दृष्टान्तार्थः। " नामे " इति सम्भावनायाम्, 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, कश्चित्पुरुषः स्नातः कृतस्नानः, स्नानानन्तरं कृतं निष्पादितं बलिकर्म स्वगृहदेवतानां पूजा येन स कृतबलिकर्मा, तथा कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तार्थं दुःस्वप्नादिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वात् येन स तथा, तत्र कौतुकानि मषीतिलकाऽऽदीनि, मङ्गलाऽऽदीनि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादीनि इति शिरसि उत्तमाङ्गे स्नातः-कृतस्नानः, पूर्वं देशस्नानमुक्तमिह तु सर्वस्नानमिति न पौनरुक्त्यम्। कण्ठे-ग्रीवायाम् ( मालकडे त्ति ) कृता माला पुष्पमाला येन सः कृतमालः, प्राकृतत्वात् 'मालकडे त्ति'। आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि येन स तथा । तत्र (मणि त्ति) मणिमयानि भूषणानि। एवं सुवर्णमयानीति। अहतं मलमूषिकादिभिरनुपहतं, प्रत्यग्रमित्यर्थः । सुमहार्घं बहुमूल्यं वस्त्रं परिहितं-परिगतं येन स तथा, चन्दनेन श्रीखण्डेनोत्कीर्णं चर्चितं गात्रं शरीरं येन स तथा, सरसेन रसयुक्तेन सुरभिगन्धेन सुष्ठु गन्धयुक्तेन गोशीर्षचन्दनेन हरिचन्दनेन ( अनीति ) अतिशयेन लिप्तं विलेपनरूपकृत गात्रं शरीरं यस्य स तथा, शुचिनी पवित्रे माला च पुष्पमाला वर्णकविलेपनं च मण्डनकारिकुङ्कुमाऽऽदिविलेपनं यस्य स तथा, कल्पितो विन्यस्तो हारोऽष्टादशसरिकोऽर्धहारो नवसरिकः, त्रिसरिकं प्रतीतमेव,यस्य स तथा। कटिसूत्रेण कट्याभरणविशेषेण सुष्ठु कृता शोभा यस्य स तथा। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः। अथ कल्पितहाराऽऽदिभिः कृता शोभा यस्य स तथा, पिनद्धानि-परिहितानि ग्रैवेयकाङ्गुलीयकानि कण्ठकाभरणोर्मिकाभरणानि येन स तथा। ( ललियंगय त्ति ) ललिताङ्के शोभमानशरीरे अन्यान्यपि ललितानि शोभनानि कृतानि न्यस्तानि आभरणानि सारभूषणानि यस्य स तथा। ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। नानामणिकनकरत्नानां कटकत्रुटितैर्हस्तबाह्वाभरणविशेषैर्बहुत्वात् स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ यस्य स तथा, अधिकरूपेण सश्रीकः सशोभनो यः स तथा, कुण्डलाभ्यां कर्णाऽऽभरणाभ्यामुद्योतितमुद्योतप्रापितमाननं मुखं यस्य स तथा, मुकुटदीप्तशिरस्कः हारेणावस्तृतमाच्छादित तेनैव सुष्ठु कृतं रतिदं च वक्षः उरो यस्यासौ अवस्तृतसुकृतरतिदवक्षाः, प्रलम्बेन- दीर्घेण प्रलम्बमानेन च सुष्ठु कृतं पटेनोत्तरीयमुत्तरासङ्गो येन स तथा, मुद्रिका अङ्गुल्याभरणानि ताभिः पिङ्गलाः कपिला अङ्गुलयो यस्य स तथा, नानामणिकनकरत्नैर्विमलानि विगतमलानि महार्हाणि महार्घाणि निपुणेन शिल्पिना ( ओवीय त्ति ) परिकर्मितानि ( मिसिमिसिंत त्ति ) दीप्यमानानि यानि विरचितानि निर्वृत्तानि सुश्लिष्टानि सुसन्धीनि विशिष्टानि अन्येभ्यो विशेषवन्ति लष्टानि मनोहराणि आविद्धानि परिहितानि वीरवलयानि येन स तथा, सुभटो हि यदि कश्चिदन्योऽप्यस्ति वीरव्रतधारी तदाऽसौ मां विजित्य मोचयत्वेतानि वलयानि स्पर्द्धयन् यानि कटकानि परिदधाति तानि वीरवलयानीत्युच्यन्ते। किं बहुना ?, वर्णितेनेति शेषः-कल्पवृक्ष इव अलंकृतो दलाऽऽदिभिर्विभूषितश्च फलादिभिः, एवमसावपि मुकुटाऽऽदिभिरलंकृतोऽपि भूषितो वस्त्राऽऽदिभिरिति शुचिपदं, पवित्रस्थानमित्यर्थः। भूत्वा भूय अम्बापितरौ अभिवादयते पादयोः प्रणिपातं करोतीत्यर्थः। ततोऽभिवादनानन्तरं, णमिति वाक्यालङ्कारे, तं पुरुषं स्वपुत्रलक्षणं मातापितरावेवं वदतां, कथत इत्यर्थः। हे पुत्र ! त्वं जीव! वर्षशतमिति तदपि च आ इति अलंकारे, तस्य वर्षशतायुःपुरुषस्य यदि तदायुर्वर्षशतप्रमाणं भवति तदा तस्य पुत्रस्य न बहुकं वर्षशताधिकं भवतिकस्मात्?, यस्माद्वर्षशतं जीवन् विंशतियुगानि जीवत्येव. निरुपक्रमाऽऽयुष्कत्वात्, तत्र युगं चन्द्राऽऽदिवर्षपञ्चाऽऽत्मकमिति १, विंशतियुगानि जीवन् पुरुषः द्वे अयनशते जीवति, तत्रायनं षण्मासाऽऽत्मकमिति २, द्वे अयनशते जीवन् जीवः षट् ऋतुशतानि जीवति, तत्र ऋतुर्मासद्वयाऽऽत्मकः ३, षट् ऋतुशतानि जीवन् जन्तुः द्वादश मासशतानि जीवति४ द्वादश मासशतानि जीवन् प्राणी चतुर्विंशतिपक्षशतानि जीवति२४००।५, चतुर्विंशतिपक्षशतानि जीवन् षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि जीवति सत्त्वः ३६०००।६, षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि जीवन् असुमान् दश मुहूर्तलक्षाणि अशीतिमुहूर्त्तसहस्राणि १०८०००० जीवति ७, दशलक्षमुहूर्तानि अशीतिमुहूर्त्तसहस्राणि जीवन् देहधारी चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि सप्तकोटि॰, अष्टचत्वारिंशच्छतसहस्राणि चत्वारिंशदुच्छ्वाससहस्राणि च जीवति देहभृत् ४०७४८४००००। ८, चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि यावच्चत्वारिंशदुच्छ्वाससहस्राणि जीवन् सार्द्धद्वाविंशतितन्दुलवाहान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् भुनक्ति। कथम् ?, हे आयुष्मन् हे सिद्धार्थनन्दन। सार्द्धद्वाविंशतितन्दुलवाहान् भुनक्ति संसारीति। तं०। ( प्रस्थकप्रमाणव्याख्या 'पत्थग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४२१ पृष्ठे गता )

एवं कवलः कतिभिस्तन्दुलैः स्यादित्याह-

**बिसाहस्सिएण कवले णं ।**

द्विसाहस्त्रिकेण तन्दुलेन कवलो भवति, तत्र गुञ्जाः कति भवन्ति ?. यथा एकविंशत्यधिकशतप्रमाणाः किञ्चिन्न्यूना एका गुञ्जा चेति ।

**बत्तीसं कवला पुरिसस्स आहारो१,अट्ठावीसं इत्थियाए२, चउवीसं पंडगस्स ३,एवामेव आउसो ! एयाए गणणाए दो असईओ पसई१,दो पसईओ सेइया होइ २,चत्तारि सेइया कुडओ ३,चत्तारि कुडया पत्थो४,चत्तारि पत्था आढगं५,सट्ठीए आढगाणं जहन्नए य कुंभे६,असीइआढगाणं मज्झिमे कुंभे७,आढगसयं उक्कोसए कुंभे८,अट्ठेव आढगसयाणि वाहो९। एएणं वाहप्पमाणेणं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ,ते य गणियनिद्दिट्ठा-"चत्तारि य कोडिसया, सट्ठिं चेव य हवंति कोडीओ। आसीइं च तंदुलस-यसहस्सा हवंति त्ति ।"मक्खायं ४६०८००००००[1] । तं एवं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजंतो अद्धछट्ठे मुग्गकुंभे भुंजइ, अद्धछट्ठे मुग्गकुंभे भुंजंतो चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजइ, चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजंतो छत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजइ, छत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजंतो छप्पडगसाडगसयाइं नियंसेइ , दोमासिएणं परियट्टएणं मासिएण वा परियट्टेणं बारस पडसाडगसयाइं नियंसेइ; एवामेव आउसो ! वाससयाउयस्स सव्वं गणियं तुलियं मवियं नेहलवणभोयणच्छायणं पि एयं गणियप्पमाणं दुविहं भणियं महरिसीहिं जस्सऽत्थि तस्स गणिज्जइ जस्स नत्थि तस्स किं गणिज्जइ। "ववहारगणियं दिट्ठं, सुहुमं निच्छयगयं मुणेयव्वं । जइ एयं न वि एयं,विसमा गणणा मुणेयव्वा ॥१॥"**

अनेन कवलमानेन पुरुषस्य द्वात्रिंशत्कवलरूप आहारो भवति १, स्त्रिया अष्टाविंशतिकवलरूप आहारः२, पण्डकस्य नपुंसकस्य चतुर्विंशतिकवलरूप आहारः ३। ( एवामेवे त्ति ) उक्तप्रकारेण वक्ष्यमाणप्रकारेण च हे आयुष्मन् ! एतया गणनया एतन्मानं भवति, अथासत्यादिमानपूर्वकम् अष्टाविंशतिसहस्राधिकलक्षतन्दुलमानं चतुःषष्टिकवलप्रमाणं प्रस्थ द्वयं प्रतिदिनं भुञ्जानः शतवर्षेण कति तन्दुलवाहान् कति तन्दुलांश्च भुनक्तीत्याह-( दो असईओ पसई इत्यादि ) धान्यभृतोऽवाङ्मुखीकृतो हस्तोऽसतीरयुच्यते द्वाभ्यामसतीभ्यां प्रसृतिः १,द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां सेतिका भवति २ चतसृभिः सेतिकाभिः कुडवः ३, चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः ४, चतुर्भिः प्रस्थैराढकः ५.षष्ट्या आढकैर्जघन्यकुम्भः ६,अशीत्याढकैर्मध्यम कुम्भ ७,आढकशतेनोत्कृष्टः कुम्भः८,अष्टभिराढकशतैर्वाहो भवति ९। अनेन वाहप्रमाणेन सार्द्धद्वाविंशतितन्दुलवाहान् भुनक्ति वर्षशतेनेति. ते च वाहोक्तनन्दुला गणित्वा संख्यां कृत्वा निर्दिष्टाः कथिताः, यथा चत्वारि कोटिशतानि षष्टिश्चैव कोटयः अशीतिस्तन्दुलशतसहस्राणि भवन्तीति आख्यातं कथितम्. एकेन. प्रस्थेन चतुःषष्टितन्दुलसहस्राणि भवन्ति,प्रस्थद्वयेनाष्टाविंशतिसहस्राधिकं लक्षं भवति. प्रतिदिनं द्विर्भोजनेन एतावन्ति तन्दुलान् भुनक्तीति अतोऽष्टाविंशतिसहस्राधिकं लक्षं वर्षशतेन षट्त्रिंशद्दिनसहस्रमानत्वात् षट्त्रिंशत्सहस्रैर्गुण्यन्ते शून्यानि पञ्च भवन्ति चत्वारि कोटिशतानि षष्टिः कोटयः अशीतिर्लक्षाणि तन्दुलानामिति । ( तं एव ति ) तदेव सार्द्धद्वाविंशतितन्दुलवाहान् भुञ्जन् सार्द्धपञ्चमुद्गकुम्भान् भुनक्ति. सार्द्धपञ्चकमुद्गकुम्भान् भुञ्जन् चतुर्विंशतिः स्नेहाऽऽढकशतानि भुनक्ति. चतुर्विंशतिस्नेहाऽऽढकशतानि भुञ्जन् षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणि भुनक्ति, षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणि भुञ्जन् षट्पटकशाटकशतानि ( नियंसेइ त्ति ) परिदधाति, द्वाभ्यां मासाभ्याम् (परियट्टएणं ति ) परावर्त्तमानत्वेनेति वा । अथवा-मासिकेन परावर्त्तत्वेन द्वादशपटशाटकशतानि (नियंसेइ त्ति) परिदधाति ( एवामेवेत्ति ) उक्तप्रकारेण हे आयुष्मन् ! वर्षशतायुषः पुरुषस्य सर्वं गणितं तन्दुलप्रमाणाऽऽदिना तुलितं पलप्रमाणाऽऽदिना मथितमसतिप्रसृत्यादिना प्रमाणेन। तत्किमित्याह-स्नेहलवणभोजनाऽऽच्छादनमिति । एतत्पूर्वोक्तं गणितप्रमाणं द्विधा भणितं महर्षिभिर्यस्य अन्तोऽस्ति तन्दुलाऽऽदिकं तस्य गण्यते, यस्य तु नास्ति तस्य किं गण्यते ?,न किमपि इति । " ववहार गाथा ।" व्यवहारगणितं दृष्टं स्थूलन्यायमङ्गीकृत्य कथितं सूक्ष्मं निश्चयगतं ज्ञातव्यं, यदि एतत् निश्चयगतं भवति तदा एतत् व्यवहारगणितं नास्त्येव, अतो विषमा गणना ज्ञातव्येति । तं० ।

**तत्थ पुरिसस्स अंता, आ ई ऊ ओ हवंति चत्तारि ।**
**ते चेव इत्थिआओ. हवंति ओकारपरिहीणा ॥ २ ॥**

'तत्र' तस्मिन् त्रिविधे नाम्नि ' पुरुषस्य ' पुंलिङ्गवृत्तेर्नाम्नः ' अंता ' अन्तवर्तीन्यक्षराणि चत्वारि भवन्ति । तद्यथा--आकार ईकार ऊकार ओकारश्चेत्यर्थः । एतानि विहाय नापरं प्राकृतपुंलिङ्गवृत्तेर्नाम्नोऽन्तेऽक्षरं सम्भवतीत्यर्थः । स्त्रीलिङ्गवृत्तेर्नाम्नोऽप्यन्ते आकारवर्जान्येतान्येवाकारेकारोकारलक्षणानि त्रीणि अक्षराणि भवन्ति । नापरमिति,अत्र चानन्तरगाथायाम 'इत्थीपुरिसमिति' निर्दिश्यापि यदिहाऽऽदौ पुंलिङ्गनाम्नो लक्षणकथनं तत्पुरुषप्राधान्यख्यापनार्थमिति गाथाऽर्थः ॥ २ ॥ अनु० ।

**पुरिसआसीविस**-पुरुषाऽऽशीविष-पु० । पुरुष आशीविष इव दोषविनाशनशीलतया पुरुषाऽऽशीविषः । दा० । शापसमर्थे पुरुषे, स्था० ६ ठा० ।

**पुरिसंतर**-पुरुषान्तर-न० । एकस्मात् पुरुषादपरस्मिन् पुरुषे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

**पुरिसंतरकड**-पुरुषान्तरकृत-न० । ( साधुप्रतिज्ञया साधुमुद्दिश्य गृहस्थेन क्रीतधौताऽऽदिकं वस्त्रं ) पुरुषान्तरेण कृतं तस्मिन्, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

**पुरिसक्कार**-पुरुषकार-पु० । साभिमानव्यवसायनिष्पन्नफले, स्था० ३ ठा० ४ उ० । पौरुषाभिमाने, चं० प्र० १६ पाहु० । स्था० । ज्ञा० । तं० । औ० । भ० । साधिताभिमतप्रयोजने पराक्रमे, सू०प्र० २० पाहु० । सोधर्मे, ठा० १७ ठा० । कर्मशत्रून् प्रति स्ववीर्योत्कर्षे, ग० १ अधि० । सू० प्र० । उपा० । दश० । स्था० । ( न पुरुषकारात् । नियतेरेवसर्वमिति ' णियइ ' शब्दे चतुर्थभागे २०८५ पृष्ठे नियतिवादिभिरुक्तम् , तत्रैवास्माभिः खण्डितम् )

१ नोट—४६०८०००००० ।

पुरुषकारोऽपि कारणं यस्मात् न पुरुषकारमन्तरेण किञ्चि-त्सिद्ध्यति । तथा चोक्तम्--

" न दैवमिति संचिन्त्य , त्यजेदुद्यममात्मनः ।
अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ॥ १ ॥

तथा-

उद्यमाच्चाहञ्चित्राङ्क !, नरो भद्राणि पश्यति ।
उद्यमात्कृमिकीटोऽपि, भिनत्ति महतो द्रुमान् ॥ २ ॥ "
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

पुरिसक्कारसकहा-पुरुषकारसत्कथा-स्त्री० । पुरुषकारस्यो-त्साहलक्षणस्य माहात्म्यप्रशंसने, ध० १ अधि० ।

पुरिसच्छाया-पुरुषच्छाया-स्त्री० । पुरुषस्य छाया यतो भ-वति । सूर्योदयमानस्य दृष्टिपथप्राप्ततायाम् ,चं० प्र० २ पाहु० ३ पाहु० पाहु० । सू० प्र० ।

पुरिसजाय-पुरुषजात-पुं० । पुरुष एव पुरुषजातः पुरुषजाती-ये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पुरुषप्रकारे, स्था० ३ अ० । भ० । स्थ० ।

पुरुषजाता वृक्षाः-

तओ रुक्खा पणत्ता । तं जहा-पत्तोवए फलोवए पुप्फो-वए ?। एवामेव तओ पुरिसजाता पणत्ता । तं जहा-पत्तो-वारुक्खसामाणा, पुप्फोवारुक्खसामाणा, फलोवारुक्ख-सामाणा २ । तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-नामपुरिसे, ठवणपुरिसे, दव्वपुरिसे ३ । तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-नाणपुरिसे,दंसणपुरिसे, चरित्तपुरिसे ४। तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-वेदपुरिसे, चिंधपुरिसे, अभिलावपुरिसे ५ । तिविहा पुरिसजाया पणत्ता । तं ज-हा-उत्तमपुरिसा, मज्झिमपुरिसा, जहन्नपुरिसा ६ । उत्त-मपुरिसा तिविहा पणत्ता । तं जहा-धम्मपुरिसा, भोगपु-रिसा, कम्मपुरिसा । धम्मपुरिसा--अरिहंता, भोगपुरिसा-चक्कवट्टी, कम्मपुरिसा-वासुदेवा ७। मज्झिमपुरिसा तिविहा पणत्ता । तं जहा-उग्गा, भोगा, रायण्णा ८ । जहन्नपुरिसा तिविहा पणत्ता । तं जहा-दासा, भयगा, भातिल्लगा ९ । ( १२८ सूत्र )

'तओ रुक्खा' इत्यादि सूत्रद्वयम् । पत्राण्युपगच्छति प्राप्नोति पत्रोपगः, एवमितरौ । एवमेवेति दार्ष्टान्तिकोपनयनार्थः,पुरुष जातानि-पुरुषप्रकारा यथा पत्राऽऽदियुक्तास्तेनोपकारमात्रवि-शिष्टविशिष्टतरोपकारकारिणोऽर्थिषु वृक्षाः , तथा लोको-त्तरपुरुषाः सूत्रार्थोभयदानाऽऽदिना यथोत्तरमुपकारविशेष-कारित्वात् तत्समाना मन्तव्याः । एवं लौकिका अपीति, इह च ' पत्तोवगं ' इत्यादिवाच्ये ' पत्तोवा ' इत्यादिकं प्राकृ-तलक्षणवशादुक्तम् । ' समाणे ' इत्यत्राऽपि च ' सामाणे ' इ-ति । अथ पुरुषप्रस्तावात् पुरुषान् सप्तसूत्र्या निरूपयन्ना-ह-' तओ ' इत्यादि कण्ठ्यं, नवरं नामपुरुषः पुरुष इति नामैव, स्थापनापुरुषः पुरुषप्रतिमाऽऽदि, द्रव्यपुरुषः पुरुष-त्वेन य उत्पत्स्यते उत्पन्नपूर्वो वेति, विशेषोऽस्याऽऽगमादू द्रष्टव्यो भवति । अत्र भाष्यगाथा--" आगमओऽणुवउत्तो, इयरो दव्वपुरिसो तिहा तओ । एगभवियाइ तिविहो, मूलुत्तरनिम्मिओ वा वि ॥ १ ॥ " मूलगुणनिर्मितः पु-रुषप्रायोग्याणि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तदाकारव-न्ति तान्येवेति । भावपुरुषभेदाः पुनर्ज्ञानपुरुषाऽऽदयः ज्ञान-लक्षणभावप्रधानपुरुषो ज्ञानपुरुषः । एवमितरावपि । वेदः पुरुषवेदः तदनुभवनप्रधानः पुरुषो वेदपुरुषः,स च स्त्री-पुंनपुंसकसम्बन्धिषु त्रिष्वपि लिङ्गेषु भवतीति । तथा पुरुष-चिह्नं --श्मश्रुप्रभृतिभिरुपलक्षितः पुरुषचिह्नपुरुषो , यथा नपुंसकं श्मश्रुचिह्नमिति । पुरुषवेदो वा चिह्नपुरुषस्तेन चि-ह्नयते पुरुष इति कृत्वेति, पुरुषवेषधारी वा स्त्र्यादिरिति, अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः-शब्दः स एव पुरुषः पुं-लिङ्गतया अभिधानात् , यथा घटः कुटो वेति । आह च--" अभिलावो पुंलिंगा-भिहाणमेत्तं घडो व चिंधे उ । पु-रिसाकिई नपुंसो, वेओ वा पुरिसवेसो वा ॥ १ ॥ वेयपुरि सो तिलिंगो-ऽविपुरओ वेदाइभूइकालम्मि " ॥ इति । ( 'ध-म्मपुरिस' त्ति)धर्म्मः क्षायिकचारित्राऽऽदिस्तदर्जनपराः पुरु-षाः धर्म्मपुरुषाः । उक्तं च--" धम्मपुरिसो तयज्जण-वावार-परो जह सुसाहू ।"इति । भोगा- मनोज्ञाः शब्दाऽऽदयस्तत्पराः पुरुषा भोगपुरुषाः १। आह च-" भोगपुरिसो समज्जिय-वि-सए सुहो चक्कवट्टि व्व ।"इति । कर्म्माणि- महारम्भाऽऽदिरूपा-णि नरकाऽऽयुष्काऽऽदीनीति । उग्रा भगवतो नाभेयस्य राज्यकाले ये आरक्षका आसन्,भोगास्तस्यैव गुरवः,राजन्या-स्तस्यैव वयस्याःतदुक्तम्-"उग्गा भोगा राय-न्न खत्तिया संग-हो भवे चउहा । आरक्खि गुरु वयंसा, सेसा जे खत्तिया ते उ ॥ १ ॥ " इति । तद्वंशजा अपि तद्व्यपदेशा इति । एषां च मध्यमत्वमत्युग्रत्वाजघन्यत्वाभ्यामिति । दासा--दा-सीपुत्राऽऽदयः, भृतकाः-मूल्यतः कर्मकराः, ( भाइल्लग त्ति , भागो विद्यते येषां ते भागवन्तः कृषकचातुर्थिकाऽऽदय इति ॥ उक्तं मनुष्यपुरुषाणां त्रैविध्यम् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

पुरुषप्रकारानेवाऽऽह-

तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-सुमणे, दुम्मणे, णो सुमणे णो दुम्मणे १। तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-गंता णामेगे सुमणे भवति, गंता णामेगे दुम्मणे भवति, गंता णामेगे णो सुमणे णो दुम्मणे भवति २। तओ पु-रिसजाया पणत्ता । तं जहा-जामीतेगे सुमणे भवति,जा-मीतेगे दुम्मणे भवति, जामीतेगे णो सुमणे णो दुम्मणे भवति ३। एवं जाइस्सामीतेगे सुमणे भवति० ३।४। तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा- अगंता णामेगे सुमणे भवति० ३।५। तओ पुरिसजाता पणत्ता । तं जहा-ण जामि एगे सु-मणे भवति० ३।६। तओ पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-ण जाइस्सामि एगे सुमणे भवति० ३।७। एवं आगंता णामेगे सुमणे भवति० ३।८। एमितेगे सुमणे भवति० ३, एस्सा-मीति एगे सुमणे भवति० ३ । एवं एएणं अभिलावेणं-

" गंता य अगंता य १, आगंता खलु तधा अणागंता २
चिट्ठितमचिट्ठित्ता ३, णिसिदित्ता चेव नो चेव ४ ॥ १ ॥
हंता य अंहता य ५, छिंदित्ता खलु तहा अछिंदित्ता ६ ।
बूतित्ता अबुतित्ता ७, भासित्ता चेव णो चेव ८ ॥ २ ॥
दच्चा य अदच्चा य ९, भुंजित्ता खलु तधा अभुंजित्ता १०
लंभित्ता अलंभित्ता ११, पीइत्ता चेव नो चेव १२ ॥ ३ ॥
सुत्तित्ता असुतित्ता १३, जुज्झित्ता खलु तहा अजुज्झित्ता १४
जतित्ता अजयित्ता य १५, पराजिणित्ता य नो चेव १६ ॥४॥
सद्दा १७ रूवा १८ गंधा १९, रसा २० य फासा २१ तहेव ठाणा
य । ( २१-६=१२६-१-१२७ )

निस्सीलस्स गरहिता, पसत्था पुण सीलवंतस्स ॥ ५ ॥
एवमिक्केक्के तिन्नि उ तिन्नि उ आलावगा भाणियव्वा ।
सद्दं सुणेत्ता णामेगे सुमणे भवति० ३, एवं सुणेमि त्ति० ३
सुणिस्सामीति० ३, एवं असुणेत्ता णामेगे सुमणे भवति० ३
न सुणेमीति० ३, ण सुणिस्सामीति० ३, एवं रूवाइं गंधाइं
रसाइं फासाइं, एक्केक्के छ छ आलावगा भाणियव्वा, १२७
आलावगा भवंति । ( १६० सूत्र )

( तओ पुरिसेत्यादि ) पुरुषजातानि-पुरुषप्रकाराः, सुष्ठु मनो यस्याऽसौ सुमनाः-हर्षवान्, रक्त इत्यर्थः-एवं दुर्मना दैन्याऽऽदिमान्, द्विष्ट इत्यर्थः । नो सुमना नो दुर्मनाः-मध्यस्थः, सामायिकवानित्यर्थः । सामान्यतः पुरुषप्रकारा उक्ताः, एतानेव विशेषतो गत्यादिक्रियाऽपेक्षया 'तओ' इत्यादिभिः सूत्रैराह-तत्र 'गत्वा' यात्वा क्वचिद्विहारदेशाऽऽदौ, नामेति सम्भावनायाम् एकः कश्चित् सुमना भवति-हृष्यति, तथैवान्यो दुर्मनाः शोचति, अन्यः सम एवेति, अतीतकालसूत्रमिव वर्तमानभविष्यत्कालसूत्रे, नवरं 'जामीतेगे' इत्यादिषु इतिशब्दो हेत्वर्थः । 'एवमगंता' इत्यादि प्रतिषेधसूत्राणि आगमनसूत्राणि च सुगमानि 'एवम्' एतेनानन्तरोक्ताभिलापेन शेषसूत्राण्यपि वक्ष्यन्ति । अथोक्तान्यनुक्तानि च सूत्राणि संगृह्णन् गाथापञ्चकमाह-( गंतेत्यादि ) गंता अगंता आगन्तेत्युक्तम्, ( अणागंत त्ति ) "अणागंता नामेगे सुमणे भवइ, अणागंता नामेगे दुम्मणे भवइ, अणागंता नामेगे नो सुमणे नो दुम्मणे भवइ ३, एवं न आगच्छामीति० ३, एवं न आगमिस्सामीति० ३ ।" ( चिट्ठित त्ति ) स्थित्वा ऊर्द्धस्थाने न सुमना दुर्मना अनुभयं च भवति, एवं-' चिट्ठामीति, चिट्ठिस्सामीति अचिट्ठित्ता ' इहापि कालत सूत्रत्रयम्, एवं सर्वत्र नवरं ' निषद्य ' उपविश्य ( नो चेव त्ति ) अनिषद्य अनुपविश्य ३, हत्वा-विनाश्य किञ्चित् ३, अहत्वा-अविनाश्य ३, छित्त्वा द्विधा कृत्वा ३, अच्छित्त्वा प्रतीतम् ३, ( बुइत्ति ) उक्त्वा-भणित्वा पदवाक्यादिकम् ३, ( अबुइत्त त्ति ) अनुक्त्वा ३, ( भासित्ते ति ) भाषित्वा-संभाष्य कञ्चन सम्भाषणीयम् ३, ( नो चेव त्ति ) ( अभासित्ता ) असंभाष्य कञ्च ३, ( दच्च त्ति ) दत्त्वा ३, अदत्त्वा ३, भुक्त्वा ३, अभुक्त्वा ३, लब्ध्वा ३, अलब्ध्वा ३, पीत्वा ३, ( नो चेव त्ति ) अपीत्वा ३, सुप्त्वा ३, असुप्त्वा ३ युद्ध्वा ३, अयुद्ध्वा ३, ( जइत्ति ) जित्वा परम् ३, अजित्वा परमेव ३ ( पराजिणित्ता ) भृशं जित्वा ३ परिभूय वा प्राप्य सुमना भवति, वर्द्धनकभाविमहाविसव्ययविनिर्मुक्तत्वात्, पराजितान् प्रतिवादिनः, सम्भावितानर्थविनिर्मुक्तत्वाद्वा, ( नो चेव त्ति ) अपराजित्य ३ ॥ ४ ॥ सद्देत्यादिगाथा ५ सूत्रत एव बोद्धव्या, प्रपञ्चितत्वात् तत्रैवास्या इति । ( एवमिक्के इत्यादि ) एवमिति गत्वाऽऽदिसूत्रोक्तक्रमेण एकैकस्मिन् शब्दाऽऽदौ विषये विधिप्रतिषेधाभ्यां प्रत्येकं त्रयस्त्रय आलापकाः-सूत्राणि कालविशेषाऽऽश्रयाः सुमनाः दुर्मना नो सुमना नो दुर्मना इत्येतत्पदत्रयवन्तो भणितव्याः । एतदेव दर्शयन्नाह-( सद्दमित्यादि ) भावितार्थम्, ' एवं रूवाइं गंधाइं ' इत्यादि, यथा शब्दे, विधिनिषेधाभ्यां त्रयस्त्रय आलापका भणिता एवं ' रूवाइं पासित्ता ' इत्यादयः त्रयस्त्रय एव दर्शनीयाः । एवञ्च यद्भवति तदाह-( एक्के इत्यादि ) एकैकस्मिन् विषये षडालापका भणितव्या भवन्तीति, तत्र शब्दे दर्शिता एव, रूपादिषु पुनरेवम्-रूपाणि दृष्ट्वा सुमना दुर्मना अनुभयम् १, एवं पश्यामीति २, एवं द्रक्ष्यामीति ३, एवम् अदृष्ट्वा ४, न पश्यामीति ५, न द्रक्ष्यामीति षट् ६ । एवं गन्धान् घ्रात्वा ६, रसानास्वाद्य ६, स्पर्शान् स्पृष्ट्वेति ६ । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

तओ पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा--सुत्तधरे, अत्थधरे, तदुभयधरे । ( १६९ सूत्र )

' तओ ' इत्यादि सुबोधम्, नवरमेते यथोत्तरं प्रधाना इति स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

पुरुषप्रकारानेव वृक्षाऽऽदिदृष्टान्तेनाऽऽह—

चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता । तं जहा--उण्णए नामेगे उण्णए १ उण्णते नाममेगे पणते २, पणते नाममेगे उण्णते ३, पणते नाममेगे पणते ४ । १ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-उण्णते नामेगे उण्णते, तहेव० जाव पणते नामेगे पणते । २ । चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता । तं जहा-उण्णते नाममेगे उण्णतपरिणते १, उण्णए नाममेगे पणतपरिणते २, पणते णाममेगे उण्णतपरिणते ३, पणए नाममेगे पणयपरिणए ४ । ३ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा- उण्णते नाममेगे उण्णयपरिणए० चउभंगो ४ । ४ । चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता । तं जहा--उण्णते नामेगे उण्णतरूवे० तहेव चउभंगो ४ । ५ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा--उण्णए नाममेगे० ४ । ६ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा--उण्णते नाममेगे उण्णतमणे उण्णए० ४ । ७ । एवं संकप्पे० ८, पण्णे० ९, दिट्ठी० १०, सीलायारे० ११, ववहारे० १२, परक्कमे० १३, एगे पुरिसजाए पडिवक्खो नत्थि । चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता । तं जहा--उज्जू नाममेगे उज्जू, उज्जू नाममेगे वंके० चउभंगो० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा--उज्जू नाममेगे० ४ । एवं जहा उण्णतपणतेहिं गमो तहा उज्जुवंकेहि वि भाणियव्वो० जाव परक्कमे । १६ । ( २३६ सूत्र )

कण्ठ्यं, किन्तु वृश्च्यन्ते छिद्यन्ते इति वृक्षाः, ते विवक्षया चत्वारः प्रज्ञप्ता भगवता । तत्र उन्नतः—उच्चो द्रव्यतया, नामेति सम्भावने, वाक्यालङ्कारे वा । एकः कश्चिद् वृक्षविशेषः,स एव पुनरुन्नतो-जात्याऽऽदिभावतोऽशोकाऽऽदिरित्येको भङ्गः । उन्नतो नाम द्रव्यत एव एक अन्यः प्रणतो जात्याऽऽदिभावविहीनो,निम्बाऽऽदिरित्यर्थः। इति द्वितीयः । प्रणतो नामैको द्रव्यतः,खर्व इत्यर्थः । स एव उन्नतो जात्याऽऽदिना भावेनाशोकाऽऽदिरिति तृतीय. । प्रणतो द्रव्यत एव खर्वः स एव प्रणतो जात्याऽऽदिहीनो निम्बाऽऽदिरिति चतुर्थः।अथवा· पूर्वमुन्नत.-तुङ्गः अधुनाऽप्युन्नतस्तुङ्ग एव इत्येवं कालापेक्षया चतुर्भङ्गीति १ । एवमित्यादि, एवमेव वृक्षवच्चत्वारि पुरुषजातानि—पुरुषप्रकारा अनगारा अगारिणो वा, उन्नतः पुरुषः कुलैश्वर्याऽऽदिभिर्लौकिकगुणैः शरीरेण वा गृहस्थपर्याये पुनरुन्नतो लोकोत्तरैर्ज्ञानादिभिः प्रव्रज्यापर्याये, अथवा-उन्नत उत्तमभवत्वेन पुनरुन्नत. शुभगतित्वेन कामदेवाऽऽदिवदित्येक. । ( तहेव त्ति) वृक्षसूत्रमिवेदम्, (जाव त्ति) यावत् 'पणए नामं एगे पणए त्ति' चतुर्थभङ्गकस्तावत् वाच्यं, तत्र उन्नतस्तथैव प्रणतस्तु ज्ञानविहाराऽऽदिहीनतया दुर्गतिगमनाद्वा शिथिलत्वे शैलकराजर्षिवत् ब्रह्मदत्तवद्वेति द्वितीय' । तृतीयः पुनरागतसंवेगः शैलकवत् मेतार्यवद्वा। चतुर्थ उदायिनृपमारवत्कालसौकरिकवद्वेति २ । एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसूत्रे सामान्यतोऽभिधाय तद्विशेषसूत्राण्याह—उन्नत. तुङ्गतया एको वृक्ष. उन्नतपरिणतः अशुभरसाऽऽदिरूपमनुन्नतत्वमपहाय शुभरसाऽऽदिरूपोन्नततया परिणत इत्येक., द्वितीये भङ्गे प्रणतपरिणत उक्तलक्षणोन्नतत्वत्यागात् , एतदनुसारेण तृतीयचतुर्थौ वाच्यौ, विशेषसूत्रता चास्य पूर्वमुन्नतत्वप्रणतत्वे सामान्येनाभिहिते इह तु पूर्वावस्थातोऽवस्थान्तरगमनेन विशेषिते इति । एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि परिणतसूत्रमवगन्तव्यमिति ४। परिणामश्च आकारबोधक्रियाभेदात् त्रिधा, तत्राऽऽकारमाश्रित्य रूपसूत्रं, तत्र उन्नतरूपः संस्थानावयवाऽऽदिसौन्दर्यात् ५, गृहस्थपुरुषोऽप्येवं प्रव्रजितस्तु संविग्नसाधुनेपथ्यधारीति ६, बोधपरिणामापेक्षाणि चत्वारि सूत्राणि तत्र उन्नतो जात्याऽऽदिगुणैरुच्चतया वा उन्नतमना.-प्रकृत्या औदार्याऽऽदियुक्तमना., एवमन्येऽपि त्रयः, एवमिति सङ्कल्पाऽऽदिसूत्रेषु चतुर्भङ्गिकातिदेशोऽकारि लाघवार्थं , संङ्कल्पो—विकल्पो मनोविशेष एव विमर्श इत्यर्थ., उन्नतत्व चास्यौदार्याऽऽदियुक्ततया सदर्थविषयतया वा ८, प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञा, सूक्ष्मार्थविवेचकत्वमित्यर्थ., तस्याश्चोन्नतत्वमविसंवादितया ९, तथा दर्शन दृष्टि.-चक्षुर्ज्ञानं नयमत वा, तदुन्नतत्वमप्यसंवादितयैवेति १०, क्रियापरिणामाऽपेक्षमतः सूत्रत्रयम् , तत्र शीलाऽऽचार., शील-समाधिस्तत्प्रधानस्तस्य वाऽऽचारः अनुष्ठानं शीलेन वा-स्वभावेनाऽऽचार इति, उन्नतत्वं चास्यादूषणतया । वाचनान्तरे तु शीलसूत्रमाचारसूत्रं च भेदेनाधीयत इति ११। व्यवहारः-अन्योऽन्यदानग्रहणाऽऽदिर्विवादो वा, उन्नतत्वमस्य श्लाघ्यत्वेनेति· १३, पराक्रम. पुरुषकारविशेषः , परेषा वा शत्रूणामाक्रमण, तस्योन्नतत्वमप्रतिहतत्वेन शोभनविषयत्वेन चेति १२ । उन्नतविपर्ययः सर्वत्र प्रणतत्व भावनीयमिति । (एगे पुरीस्यादि ) एतेषु मन.प्रभृतिषु सप्तसु चतुर्भङ्गिकासूत्रेषु एक एव पुरुषजाताऽऽलापकोऽध्येतव्य., प्रतिपक्षो—द्वितीयपक्षो दृष्टान्तभूतः वृक्षसूत्र नास्ति, नाध्येतव्यमिति यावत् । इह मनःप्रभृतीनां दार्ष्टान्तिकपुरुषधर्माणां दृष्टान्तभूतवृक्षेष्वसम्भवादिति । (उज्जु त्ति)ऋजुः—अवक्रो नामेति पूर्ववत्,एकः कश्चिद्वृक्षः,तथा ऋजुः अविपरीतस्वभाव औचित्येन फलाऽऽदिसम्पादनादित्येकः,द्वितीये द्वितीयं पदं 'वङ्क' इति वक्रः, फलाऽऽदौ विपरीतः, तृतीये प्रथमपदं वक्रः-कुटिलः, चतुर्थः सुज्ञानः, अथवा-पूर्वम् ऋजुः-अवक्रः,पश्चादपि ऋजुः अवक्रः, अथवा-मूले ऋजुरन्ते च ऋजुरित्येवं चतुर्भङ्गी कार्येत्येष दृष्टान्तः १। पुरुषस्तु ऋजु. अवक्रो बहिस्तात् शरीरगतिवाक्चेष्टाऽऽदिभिस्तथा ऋजुरन्तर्निर्मायत्वेन सुसाधुवदित्येकः, तथा ऋजुस्तथैव, 'वङ्क' इति तु वक्रः, अन्तर्मायित्वेन कारणवशप्रयुक्ताऽऽर्जवभाववदु साधुवदिति द्वितीयः, तृतीयस्तु कारणवशाद्दर्शितबहिरनार्जवोऽन्तर्निर्माय इति प्रवचनगुप्तिवृत्तसाधुवदिति, चतुर्थ उभयतो वक्रः, तथाविधशठवदिति, कालभेदेन वा व्याख्येयम् २ । अथ ऋजु ऋजुपरिणत इत्यादिका एकादश चतुर्भङ्गिका लाघवार्थमतिदेशेनाऽऽह-एवमित्यनेन ऋजुर्नाम ऋजुरित्यादिनोपदर्शितक्रमभङ्गकक्रमेण. यथेति-येन प्रकारेण परिणतरूपाऽऽदिविशेषणवक्रविशेषिततथेत्यर्थः, उन्नतप्रणताभ्यां परस्पर प्रतिपक्षभूताभ्या गमः—सदृशपाठः कृतः, 'तथा' तेन प्रकारेण परिणतरूपाऽऽदिविशेषिताभ्यामित्यर्थः, ऋजुवक्राभ्यामपि भणितव्यः। कियान् स इत्याह-(०जाव परक्कमे त्ति)ऋजुवक्रवृक्षसूत्रात् त्रयोदशसूत्रं यावदित्यर्थः तत्र च ऋजु२ऋजुपरिणत२ऋजुरूप२लक्षणानि षट् सूत्राणि वृक्षदृष्टान्तपुरुषदार्ष्टान्तिकस्वरूपाणि शेषाणि तु मनःप्रभृतीनि सप्त अदृष्टान्तानीति १३ । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

वस्त्रदृष्टान्तेन पुरुषभेदानाह—

चत्तारि वत्था पण्णत्ता । तं जहा-सुद्धे णामं एगे सुद्धे १, सुद्धे णामं एगे असुद्धे २, असुद्धे णामं एगे सुद्धे ३,असुद्धे णामं एगे असुद्धे ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-सुद्धे णामं एगे सुद्धे० चउभंगो ४ । एवं परिणतरूवे वत्था सपडिवक्खा । चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-सुद्धेणामं एगे सुद्धमणे०चउभंगो ४। एवं संकप्पे० जाव परक्कमे । ( ३३९ सूत्र )

( चत्तारि वत्थेत्यादि ) स्पष्टा, नवरं शुद्धं वस्त्रं निर्मलतन्त्वादिकारणाऽऽरब्धत्वात्, पुनः शुद्धमागन्तुकमलाभावादिति । अथवा—पूर्वं शुद्धमासीदिदानीमपि शुद्धमेव । विपक्षौ सुज्ञानावेवेति । अथ दार्ष्टान्तिकयोजना—(एवमेवेत्यादि ) शुद्धो जात्याऽऽदिना, पुनः शुद्धो निष्कर्मज्ञानाऽऽदिगुणतया कालापेक्षया वेति ।(चउभंगो त्ति) चत्वारो भङ्गा' समाहृताः चतुर्भङ्गी चतुर्भङ्गं वा, पुंलिङ्गता चाऽत्र प्राकृतत्वात् । तदयमर्थो-वस्त्रवच्चत्वारो भङ्गाः पुरुषेऽपि वाच्या इति । एवमिति यथा शुद्धात् शुद्धपदे परे चतुर्भङ्गं सदार्ष्टान्तिकं वस्त्रमुक्तमेवं शुद्धपदप्राक्पदे परिणतपदे रूपपदे च चतुर्भङ्गानि वस्त्राणि ( सपडिवक्ख त्ति) सप्रतिपक्षाणि सदार्ष्टान्तिकानि वाच्यानीति । तथाहि-"चत्तारि वत्था पण्णत्ता। तं जहा-सुद्धे नामं एगे सुद्धपरि·

णए " चतुर्भङ्गी । एवमेवेत्यादि, पुरुषजातसूत्रचतुर्भङ्गी । "एवं सुद्धे नाम एगे सुद्धरूवे" । चतुर्भङ्गी, एवं पुरुषेणाऽपि, व्याख्या तु पूर्ववत् । ( चत्तारीत्यादि ) शुद्धो बहिः शुद्धमना अन्त एवं शुद्धसङ्कल्पः शुद्धप्रज्ञः शुद्धदृष्टिः शुद्धशीलाऽऽचारः शुद्धव्यवहारः शुद्धपराक्रम इति वक्तव्यः पुरुषा एव चतुर्भङ्गवन्तो वाच्याः, व्याख्या च प्रागिवेति । अत एवाऽऽह-एवमित्यादि ।

पुरुषभेदाधिकार एवेदमाह—

चत्तारि सुता पण्णत्ता । तं जहा-अतिजाते, अणुजाते, अवजाते, कुलिंगाले । ( २४० सूत्र ) चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-सच्चे नामं एगे सच्चे, सच्चे नामं एगे असच्चे० ४, एवं परिणते ०जाव परक्कमे । चत्तारि वत्था, पण्णत्ता, तं जहा-सुती नामं एगे सुती, सुई नामं एगे असुई चउभंगो ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-सुती णामं एगे सुती० चउभंगो. एवं जहेव सुद्धेणं वत्थेणं भणितं तहेव सुतिणा वि०जाव परक्कमे ।(२४१सूत्र) चत्तारि कोरवा पण्णत्ता । तं जहा-अंबपलंबकोरवे, तालपलंबकोरवे, वल्लिपलंबकोरवे, मेंढविसाणकोरवे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-अंबपलंबकोरवसमाणे, तालपलंबकोरवसमाणे, वल्लिपलंबकोरवसमाणे, मेंढविसाणकोरवसमाणे । ( २४२ सूत्र )

सुता.—पुत्राः ( अइजाए त्ति ) पितुः सम्पदमतिलङ्घ्य जात.-सवृत्तोऽतिक्रम्य वा तां यात.-प्राप्तो विशिष्टतरसम्पदं समृद्धतर इत्यर्थः, इत्यतिजातोऽतियातो वा, ऋषभवत् । तथा-( अणुजाए त्ति ) अनुरूपः सम्पदा पितुस्तुल्यो जातोऽनुजात., अनुगतो वा पितृविभूत्याऽनुयातः, पितृसम इत्यर्थ., महायशोवत्, आदित्ययशसा पित्रा तुल्यत्वात्तस्य, तथा ( अवजाए त्ति ) अप इत्यपसदो हीनः पितु' सम्पदो जातोऽपजातः, पितु. सकाशादीषद्धीनगुण इत्यर्थ.. आदित्ययशोवत्, भरताऽपेक्षया तस्य हीनत्वात् । तथा ( कुलिंगाले त्ति ) कुलस्य-स्वगोत्रस्याङ्गार इवाङ्गारो दूषकत्वादुपतापकत्वाद्वेति, कण्डरीकवत् । एवं शिष्यचातुर्विध्यमप्यवसेयं, सुतशब्दस्य शिष्येष्वपि प्रवृत्तिदर्शनात् । तत्रातिजातः सिंहगिर्यपेक्षया वैरस्वामिवत् । अनुजातः शय्यंभवापेक्षया यशोभद्रवत् । अपजातो भद्रबाहुस्वाम्यपेक्षया स्थूलभद्रवत् । कुलाङ्गारः कूलवालकवदुदायिनृपमारकवद्वेति । तथा ( चत्तारीत्यादि ) सत्यो यथावद्वस्तुभणनाद् यथाप्रतिज्ञातकरणाच्च, पुनः सत्यः संयमित्वेन सद्भ्यो हितत्वात्, अथवा-पूर्वं सत्य आसीदिदानीमपि सत्य एवेति चतुर्भङ्गी । एवंप्रकारसूत्राण्यतिदिशन्नाह-' एवं ' इत्यादि व्यक्त, नवरमेवं सूत्राणि-" चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-सच्चे नाम एगे सच्चपरिणए०४,एवं सच्चरूवे०४,सच्चमणे०४,सच्चसकप्पे०४, सच्चपण्णे०४,सच्चदिट्ठी०४, सच्चसीलायारे०४,सच्चववहारे०४,सच्चपरक्कमे त्ति ४।"पुरुषाधिकार एवेदमपरमाह-,चत्तारि वत्थेत्यादि) शुचि-पवित्रं स्वभावेन, पुनः शुचि संस्कारेण कालभेदेन वेति । पुरुषचतुर्भङ्ग्यां शुचिः पुरुषोऽपूतिशरीरतया, पुनः शुचिः स्वभावेनेति । 'सुइपरिणए सुइरूवे' इत्येतत्सूत्रद्वयं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपेतम्, 'सुइमणे'इत्यादि च पुरुषमात्राऽऽश्रितमेव सूत्रसप्तकमतिदिशन्नाह-एवमित्यादि कण्ठ्यम् । पुरुषाधिकार एवेदमपरमाह-( चत्तारि कोरवे इत्यादि ) तत्र आम्रः-चूत तस्य प्रलम्बः-फलं तस्य कोरकं-तन्निष्पादकं मुकुलम्-आम्रप्रलम्बकोरकम्, एवमन्येऽपि, नवरम्-तालो वृक्षविशेषः, वल्ली-कालिङ्ग्यादिका, मेण्ढविषाणा-मेषशृङ्गसमानफला वनस्पतिजातिः,आउ (तु) लिविशेष इत्यर्थः । तस्याः कोरकमिति विग्रहः, एतान्येव चत्वारि दृष्टान्ततयोपात्तानीति चत्वारीत्युक्तम्, न तु चत्वार्येव लोके कोरकाणि, बहुतरोपालम्भादिति । ' एवेत्यादि ' सुगमं, नवरमुपनय एवं यः पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकारफलं जनयत्यसावाम्रप्रलम्बकोरकसमानः, यस्त्वतिचिरेण सेवकस्य कष्टेन महदुपकारफलं करोति स तालप्रलम्बकोरकसमानः, यस्तु अक्लेशेनाचिरेण च ददाति स वल्लीप्रलम्बकोरकसमान., यस्तु सेव्यमानोऽपि शोभनवचनान्येव ब्रूते, उपकारं तु न कञ्चन करोति स मेण्ढविषाणकोरकसमानः, तत्कोरकस्य सुवर्णवर्णत्वादखाद्यफलदायकत्वाच्चेति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

फलदृष्टान्तेन पुरुषानाह-

चत्तारि फला पण्णत्ता । तं जहा-आमे णामं एगे आममहुरे १, आमे णाममेगे पक्कमहुरे २, पक्के णाममेगे आममहुरे ३, पक्के णाममेगे पक्कमहुरे ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-आमे णाममेगे आममहुरफलसमाणे० ४ । ( २५३ सूत्र )

तद्विशेषभूतपुरुषनिरूपणाय फलसूत्रम् । आमम्-अपक्वं सत् आममिव मधुरम् आममधुरमीषन्मधुरमित्यर्थः, तथा आमं सत् पक्वमिव मधुरमत्यन्तमधुरमित्यर्थ., तथा पक्वं सत् आममधुरं प्राग्वत्, तथा पक्व सत् पक्वमधुरं प्राग्वदेवेति । पुरुषस्तु आमो-वयःश्रुताभ्यामव्यक्तः आममधुरफलसमानः, उपशमाऽऽदिलक्षणस्य माधुर्यस्याऽल्पस्यैव भावात्, तथा आम एव पक्वमधुरफलसमानः-पक्वफलवन्मधुरस्वभावः, प्रधानोपशमाऽऽदिगुणयुक्तत्वादिति, तथा पक्वोऽन्यो वयःश्रुताभ्यां परिणतः आममधुरफलसमानः, उपशमाऽऽदिमाधुर्यस्याल्पत्वात्, तथा पक्वस्तथैव, पक्वमधुरफलसमानोऽपि तथैवेति । अनन्तरं पक्वमधुर उक्तः, स च सत्यगुणयोगात् भवतीति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पुरुषाधिकारादेवापरथा पुरुषसूत्राणि चतुर्दश—

चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-आवातभद्दते णाममेगे णो संवासभद्दते १, संवासभद्दए णाममेगे णो आवातभद्दए २, एगे आवातभद्दते वि संवासभद्दए वि ३, एगे णो, आवायभद्दते नो वा संवासभद्दए० ४ । १ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-अप्पणो नाममेगे वज्जं पासति णो परस्स, परस्स णाममेगे वज्जं पासति०

४ । २ । चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-अप्पणो णाममेगे वज्जं उदीरेइ णो परस्स० ४ । ३ । अप्पणो नाममेगे वज्जं उवसामेति णो परस्स० ४ । ४ । चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-अब्भुट्ठेइ नाममेगे णो अब्भुट्ठावेति ।५। एवं वंदति णाममेगे णो वंदावेइ ।६। एवं सक्कारेइ ७ सम्माणेति ८, पूएइ ९, वाएइ १०, पडिपुच्छति ११, पुच्छइ १२, वागरेति १३, सुत्तधरे णाममेगे णो अत्थधरे, अत्थधरे नाममेगे णो सुत्तधरे । १४ । ( २५५ सूत्र )

सुगमानि, नवरमापतनमापातः-प्रथममीलकः, तत्र भद्रको-भद्रकारी दर्शनाऽऽलापाऽऽदिना सुखकरत्वात्, संवासः-चिरं सहवासस्तस्मिन्नभद्रको हिंसकत्वात् संसारकारणनियोजकत्वाद्वेति, संवासभद्रकः सह संवसतामत्यन्तोपकारितया नो आपातभद्रकः अनालापकठोराऽऽलापाऽऽदिना, एवं द्वावन्यौ । ( वज्जं ति ) वर्ज्यत इति वर्ज्यम्, अवद्यं वा अकारलोपात्, वज्रवद्वज्रं वा गुरुत्वाद्धिंसाऽनृताऽऽदि पापं कर्म्म तदात्मनः सम्बन्धि कलहादौ पश्यति, पश्चात्तापान्वितत्वात्, न परस्य, तं प्रत्युदासीनत्वात्, अन्यस्तु परस्य नाऽऽत्मनः, साभिमानत्वात्, इतर उभयोः, निरनुशयत्वेन यथावद्वस्तुबोधात्, अपरस्तु नोभयोर्विमूढत्वात् इति । दृष्ट्वा चैक आत्मनः सम्बन्धि अवद्यमुदीरयति—भणति यदुत मया कृतमेतदिति,उपशान्तं वा पुनः प्रवर्त्तयति,अथवा-वज्रं कर्म्म तदुदीरयति-पीडोत्पादनेन उदये प्रवेशयतीति । एवमुपशमयति—निवर्त्तयति पापं कर्म्म वा । ( अब्भुट्टेइ त्ति ) अभ्युत्थानं करोति न कारयति परेण, संविग्नपाक्षिको लघुपर्यायो वा, कारयत्येव गुरुः, उभयवृत्तिर्वृषभाऽऽदिः, अनुभयवृत्तिर्जिनकल्पिकोऽविनीतो वेति । एवं वन्दनाऽऽदिसूत्रेष्वपि नवरं वन्दते द्वादशाऽऽवर्त्ताऽऽदिना, सत्करोति वस्त्राऽऽदिदानेन, संमानयति स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणेन, पूजयति उचितपूजाद्वयैरिति, वाचयति-पाठयति, ( नो वायावेइ ) आत्मानमन्येनेति उपाध्यायाऽऽदिः, द्वितीये शैक्षकः, तृतीये कश्चित् ग्रन्थान्तरेऽनधीती, चतुर्थे जिनकल्पिकः । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

भृतकदृष्टान्तमाविर्भावयति—

चत्तारि भायगा पसत्ता । तं जहा-दिवसभयते, जत्ताभयते, उच्चत्तभयते, कब्बालभयते । (२७१ सूत्र) चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता ।तं जहा-संपागडपडिसेवी णामेगे णो पच्छपडिसेवी, पच्छपडिसेवी णामेगे णो संपागडपडिसेवी, एगे संपागडपडिसेवी वि पच्छणपडिसेवी वि, एगे णो संपागडपडिसेवी, णो पच्छणपडिसेवी । (२७२ सूत्र )

भ्रियते पोष्यते स्मेति भृतः, स एवानुकम्पितो भृतकः, कर्मकर इत्यर्थः । प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्म्मकरणार्थं यो गृह्यते स दिवसभृतकः १ । यात्रा-देशान्तरगमनं तस्यां सहाय इति भ्रियते यः स यात्राभृतकः २ । मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं-यथावसरं कर्म्म कार्यते स उच्चताभृतकः३, कब्बाडभृतकः क्षितिखानक ओडाऽऽदिर्यस्य स्वं कर्मार्प्यते द्विहस्ता त्रिहस्ता वा त्वया भूमिः खनितव्यैतावत्ते धनं दास्यामीत्येवनियम्येति । इह गाथे-

" दिवसभयओ उ घेप्पइ, छिन्नेण धणेण दिवसदेवसियं ।
जत्ता उ होइ गमणं, उभयं वा पत्तियधणेणं ॥ १ ॥
कब्बालओडमाई, हत्थमियं कम्म पत्तियधणेणं ।
एत्चिरकालुच्चत्ते, कायव्वं कम्मजं बेति ॥ २ ॥"

उक्तं लौकिकस्य पुरुषविशेषस्यान्तरम्,अधुना लोकोत्तरस्य तस्यान्तरप्रतिपादनाय प्रतिषेविसूत्रम्, तत्र संप्रकटम् अगीतार्थसमक्षमकल्प्यभक्ताऽऽदिप्रतिषेवितुं शीलं यस्य स संप्रकटप्रतिसेवीत्येवं सर्वत्र, नवरं प्रच्छन्नमगीतार्थासमक्षम् ; अत्र चाऽऽद्ये भङ्गकत्रये पुष्टाऽऽलम्बनो बकुशाऽऽदिः निरालम्बनो वा पार्श्वस्थाऽऽदिः द्रष्टव्यः । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

दीनाऽऽदिभेदमाह—

चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-दीणे णाममेगे दीणे, दीणे णाममेगे अदीणे,अदीणे णाममेगे दीणे, अदीणे णाममेगे अदीणे । चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-दीणे णामेगे दीणपरिणए, दीणे णामेगे अदीणपरिणए, अदीणे णामेगे दीणपरिणए, अदीणे णामेगे अदीणपरिणए २ । चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-दीणे णामेगे दीणरूवे० (४) ३ । एवं दीणमणे० ४ । ४ । दीणसंकप्पे० ४ । ५। दीणपन्ने०४।६। दीणदिट्ठी०४।७। दीणसीलायारे० ४। ८। दीणववहारे० ४।९। चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-दीणे णाममेगे दीणपरक्कमे, दीणे णामेगे अदीणपरक्कमे० [४]।१० । एवं सव्वेसिं चउभंगो भाणियव्वो ।

दीनो दैन्यवान्, क्षीणोर्जितवृत्तिः पूर्वं पश्चादपि दीन एव,अथवा-दीनो बहिर्वृत्त्या पुनर्दीनोऽन्तर्वृत्त्या इत्यादिश्चतुर्भङ्गी १ । तथा दीनो बहिर्वृत्त्या म्लानवदनत्वाऽऽदिगुणयुक्तशरीरेणेत्यर्थः। एवं प्रज्ञासूत्रं यावदादिपदं व्याख्येयं,दीनपरिणतः अदीनः सन् दीनतया परिणतोऽन्तर्वृत्त्या इत्यादिश्चतुर्भङ्गी ।२। तथा दीनरूपो मलिनजीर्णवस्त्राऽऽदिनेपथ्यापेक्षया । ३ । तथा दीनमनाः स्वभावत एवानुन्नतचेताः।४। दीनसंकल्प उन्नतचित्तस्वाभाव्येऽपि कथञ्चिद्धीनविमर्शः ।५। तथा दीनप्रज्ञः हीनसूक्ष्मार्थाऽऽलोचनः ।६। तथा दीनश्चित्तादिभिरेवमुत्तरत्रापि आदिपदं, तथा दीनदृष्टिर्विच्छायचक्षुः।७। तथा दीनशीलसमाचारो हीनधर्मानुष्ठानः ।८। तथा दीनव्यवहारो दीनान्योऽन्यदानप्रतिदानाऽऽदिक्रियः, हीनविवादो वा ।९। तथा दीनपराक्रमो-हीनपुरुषकार इति ।१०।

दीनो दीनवृत्तिः—

चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-दीणे णामेगे दीणवित्ती०४।११। एवं दीणजाई१२,दीणभासी १३, दीणोभासो १४ । चत्तारि पुरिसजाया पसत्ता । तं जहा-दीणे णामेगे दीणसेवी० [४]।१५। एवं दीणे णामेगे दीणपरियाए० १६। एवं दीणे णामेगे दीणपरियाले० [४] ।१७। सव्वत्थ चउभंगो । [ २६९ सूत्र ]

तथा दीनस्येव वृत्तिर्वर्त्तनं-जीविका यस्य स दीनवृत्तिः।११। एवं दीनं दैन्यवन्तं पुरुषं दैन्यवद्वा यथा भवति तथा याचत इत्येवंशीलो दीनयाची, दीनं वा यातीति दीनयायी, दीना वा-हीना जातिरस्येति दीनजातिः।१२। तथा दीनवद्दीन वा भाषते दीनभाषी।१३। दीनवदवभाषते प्रतिभाति अवभाषते वा याचत इत्येवंशीलो दीनावभासी, दीनावभाषी वा । १४। तथा दीनं नायकं सेवत इति दीनसेवी। १५ । तथा दीनस्येव पर्यायोऽवस्था प्रव्रज्याऽऽदिलक्षणा यस्य स दीनपर्यायः।१६। ( दीनपरियाले त्ति ) दीनः परिवारो यस्य स तथा। १७। (स व्यत्थ चउभंगो त्ति ) सर्वसूत्रेषु चत्वारो भङ्गा द्रष्टव्या इति पुरुषजाताधिकारवत्येवेयमष्टादशसूत्री ।

आर्यो नामैकः—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा--अज्जे णामेगे अज्जे० ४।१। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-अज्जे णामेगे अज्जपरिणए०४।२। एवं अज्जरूवे०३। अज्जमणे ४। अज्ज संकप्पे०५। अज्जपण्णे०६। अज्जदिट्ठी०७। अज्जसीलायारे०८ । अज्जववहारे०९ । अज्जपरक्कमे०१० । अज्जवित्ती० ११। अज्जजाई०१२ । अज्जभासी० १३ । अज्जओभासी० १४ । अज्जसेवी०१५ । एवं अज्जपरियाए०१६ । अज्जपरियाले० १७। एवं सत्तरस आलावगा० १७ । जहा दीणेणं भणिया तहा अज्जेण वि भाणियव्वा । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-अज्जे णामेगे अज्जभावे, अज्जे णामेगे अणज्जभावे, अणज्जे णामेगे अज्जभावे, अणज्जे णामेगे अणज्जभावे ॥ १८ ॥ [ २८० सूत्र ]

गतार्थो। नवरम्, आर्यो नवधा । यदाह-" खेत्ते जाई कुल कम्म सिप्प भासाए नाणचरणे य । दसणआयरिय नवहा, मिच्छा सग जवण खसमाई ॥ १ ॥ " इति । तत्र आर्यः क्षेत्रतः, पुनरार्यः पापकर्मवर्हिर्भूतत्वेनापाप इत्यर्थः । एवं सप्तदश सूत्राणि नेयानि । तथा आर्यभाव क्षायिकाऽऽदिज्ञानाऽऽदियुक्तः अनार्यभावः क्रोधाऽऽदिमानिति । पुरुषजातप्रकरणमेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकार्थोपेतमाविकथासूत्रादभिधीयते, पाठसिद्ध चैतत् ।

जातिकुलसंपन्नाः—

चत्तारि उसभा पण्णत्ता । तं जहा–जाइसंपन्ने,कुलसंपन्ने,बलसंपन्ने,रूवसंपन्ने। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । त जहा -जाइसपन्ने, कुलसंपन्ने,वलसंपन्ने, रूवसपन्ने १। चत्तारि उसभा पण्णत्ता । तं जहा--जाइसंपण्णे णाममेगे नो कुलसंपन्ने, कुलसंपन्ने णाममेगे णो जाइसपण्णे, एगे जाइसपण्णे वि कुलसंपण्णे वि, एगे णो जाइसपण्णे नो कुलसंपण्णे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा—जाइसपण्णे णाममेगे०४।२। चत्तारि उसभा पण्णत्ता। तं जहा–जाइसंपन्ने नाममेगे नो बलसंपन्ने । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–जाइसपन्ने० ४ ।३। चत्तारि उसभा पण्णत्ता । तं जहा–जाइसंपन्ने नाममेगे नो रूवसंपन्ने० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जाइसंपण्णे णाममेगे णो रूवसंपण्णे, रूवसंपण्णे नाममेगे० ४।४। चत्तारि उसभा पण्णत्ता । तं जहा–कुलसंपन्ने नाममेगे नो बलसंपन्ने० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–कुलसंपन्ने नाममेगे नो बलसंपन्ने० ४ । ५। चत्तारि उसभा पण्णत्ता । तं जहा–कुलसंपण्णे णाममेगे णो रूवसंपण्णे० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–कुलसंपन्ने नाममेगे० ४ । ६। चत्तारि उसभा पण्णत्ता । तं जहा–बलसंपण्णे णाममेगे णो रूवसंपण्णे०४, एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–बलसंपन्ने नाममेगे० ६ । ७ ।

नवरम् , ऋषभा-बलीवर्द्दाः, जातिः-गुणवन्मातृकत्वं, कुलं गुणवत्पितृकत्व, बलम्-भारवहनाऽऽदिसामर्थ्यं, रूप शरीरसौन्दर्यमिति । पुरुषास्तु स्वयं भावयितव्याः। अनन्तरदृष्टान्तसूत्राणि तु सपुरुषदार्ष्टान्तिकानि जात्याऽऽदीनि चत्वारि पदानि भुवि विन्यस्य षण्णां द्विकसंयोगानाम् " जाइसपन्ने नो कुलसंपन्ने " इत्यादिना स्थानभङ्गकक्रमेण षडेव चतुर्भङ्गिका कृत्वा समवसेयानि।

हस्तिसदृशाः —

चत्तारि हत्थी पण्णत्ता । तं जहा–भद्दे मंदे,मिए, संकिण्णे। एवामेव चत्तारि पुरिजाया पण्णत्ता । तं जहा-भद्दे, मंदे, मिए, संकिण्णे । चत्तारि हत्थी पण्णत्ता। तं जहा–भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे, भद्दे णाममेगे मियमणे, भद्दे णाममेगे संकिण्णमणे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–भद्दे णाममेगे भद्दमणे, भद्दे णाममेगे मंदमणे, भद्दे णाममेगे मियमणे, भद्दे णाममेगे संकिण्णमणे । चत्तारि हत्थी पण्णत्ता । तं जहा–मंदे णाममेगे भद्दमणे । मंदे णाममेगे मंदमणे, मंदे णाममेगे मियमणे, मंदे णाममेगे संकिण्णमणे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–मंदे णाममेगे भद्दमणे० तं चेव। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता । त जहा–मिते णाममेगे भद्दमणे, मिते णाममेगे मंदमणे , मिते णाममेगे मियमणे , मिते णाममेगे संकिण्णमणे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा–मिते णाममेगे भद्दमणे तं चेव। चत्तारि हत्थी पण्णत्ता । तं जहा–संकिण्णे णाममेगे भद्दमणे, संकिण्णे णाममेगे मंदमणे, संकिण्णे नाममेगे मियमणे, संकिण्णे णाममेगे संकिण्णमणे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–संकिण्णे णाममेगे भद्दमणे तं चेव० जाव संकिण्णे णाममेगे संकिण्णमणे ॥

" मधुगुलियपिंगलक्खो, अणुपुव्वसुजायदीहणंगूलो ।

पुरओ उदग्गधीरो, सव्वंगसमाधितो भद्दो ॥ १ ॥'
चलबहलविसमचम्मो, थूलसिरो थूलएण पेएण ।
थूलणहदंतबालो, हरिपिंगललोयणो मंदो ॥ २ ॥
तणुओ तणुयग्गीवो, तणुयतओ तणुयदंतणहबालो ।
भीरू तत्थुव्विग्गो, तासी य भवे मिए णामं ॥ ३ ॥
एतेसिं हत्थीणं, थोवं थोवं तु जो हरति हत्थी ।
रूवेण व सीलेण व, सो संकिण्णो त्ति नायव्वो ॥ ४ ॥
भद्दो मज्जइ सरए, मंदो उण मज्जते वसंतम्मि ।
मिउ मज्जति हेमंते, संकिण्णो सव्वकालम्मि ॥ ५ ॥"

हस्तिसूत्रे भद्राऽऽदयो हस्तिविशेषा वक्ष्यमाणलक्षणा वनाऽऽदिविशेषिताश्च । यदाह-'भद्रो मन्दो मृगश्चेति विज्ञेयास्त्रिविधा गजाः । वनप्रचारसारूप्य-सत्वभेदोपलक्षिता.'॥ ॥ इति । तत्र भद्रो हस्ती भद्र एव धीरत्वाऽऽदिगुणयुक्तत्वात् १,मन्दो मन्द एव धैर्य्यवेगाऽऽदिगुणेषु मन्दत्वात्२ मृगो मृग एव तनुत्वभीरुत्वाऽऽदिना, संकीर्णः किञ्चिद्भद्राऽऽदिगुणसंयुक्तत्वात् संकीर्ण एवेति । पुरुषोऽप्येवं भावनीय' । उत्तरसूत्राणि तु चत्वारि सदाष्टान्तिकानि भद्राऽऽदिपदानि चत्वारि तदधः-क्रमेण चत्वार्येव भद्रमन प्रभृतीनि च विन्यस्य " भद्दे णामेगे भद्दमणे " इत्यादिना क्रमेण समवसेयानि । तत्र भद्रो जात्याऽऽकाराभ्यां प्रशस्तः,तथा भद्रं मनो यस्य । अथवा-भद्रस्येव मनो यस्य स तथा, धीर इत्यर्थ. । मन्दं मन्दस्येव वा मनो यस्य स तथा नात्यन्तधीर. । एवं मृगमना भीरुरित्यर्थ । संकीर्णमना भद्राऽऽदिचित्रलक्षणोपेतमना विचित्रचित्त इत्यर्थः । पुरुषास्तु वक्ष्यमाणभद्राऽऽदिलक्षणानुसारेण प्रशस्ताप्रशस्तस्वरूपा मन्तव्या इति । भद्राऽऽदिलक्षणमिदम्-'महुगाथा' मधुगुटिकेव-क्षौद्रवटिकेव पिङ्गले पिङ्गे अक्षिणी-लोचने यस्य स तथा, आनुपूर्व्येण परिपाट्या सुष्ठु जात -उत्पन्नो यः सोऽनुपूर्वसुजात., स्वजात्युचितकालक्रमजातो हि बलरूपाऽऽदिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीर्घलाङ्गूलश्च-दीर्घपुच्छ इति स तथा, अनुपूर्वेण वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरलक्षणेन सुजात दीर्घं लाङ्गूलं यस्य स तथेति, पुरत.-अग्रभागे उदग्र उन्नतः, तथा धीरः-अक्षोभः, तथा सर्वाण्यङ्गानि सम्यक्-प्रमाणलक्षणोपेतत्वेन आहितानि व्यवस्थितानि यस्य स सर्वाङ्गसमाहितो भद्रो नाम गजविशेषो भवतीति । 'चलगाहा । चलं-श्लथ बहलं स्थूलं विषमं-वलियुक्त चर्म यस्य स तथा, स्थूलशिराः, स्थूलकेन ( पेएण त्ति ) पेचकेन पुच्छमूलेन युक्तः स्थूलनखदन्तबालो, हरिपिङ्गललोचनः सिंहवत् पिङ्गाक्षो मन्दो गजविशेषो भवतीति । तणु गाहा ?' तनुकः—कृशः तनुग्रीव. तनुत्वक्-तनुचर्मा तनुकदन्तनखवालः, भीरुः-भयशीलः स्वभावतस्त्रस्तो भयकारणवशात् स्तब्धकर्णकरणाऽऽदिलक्षणोपेतो भीत एव उद्विग्नः कष्टविहाराऽऽदावुद्वेगवान् स्वयं त्रस्तः परानपि त्रासयतीति त्रासी च भवेन्मृगो नाम गजभेद इति 'एएसिं गाहा ।''भद्दो गाहा ।' कण्ठ्ये । तथा 'दतेहिं' हवइ भद्दो, मंदो हत्थेण आहवइ हत्थी । गत्ताधरेहि य मिओ, संकिण्णो सव्वओ हवइ ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० २ उ०

| भ | मं | मृ | स |
|---|---|---|---|
| भ | भ | भ | भ |
| मं | म | मं | म |
| मृ | मृ | मृ | मृ |
| सं | मं | स | सं |

अधुना पुरुषजातप्रधानतया कायविशेषमाह--

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-किसे णाममेगे किसे,किसे णाममेगे दढे, दढे णाममेगे किसे, दढे णाममेगे दढे । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-किसे णाममेगे किससरीरे, किसे णाममेगे दढसरीरे, दढे णाममेगे किससरीरे, दढे णाममेगे दढसरीरे ४ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-किससरीरस्स णाममेगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ णो दढसरीरस्स, दढसरीरस्स णाममेगस्स णाणदंसणे समुप्पज्जइ णो किससरीरस्स, एगस्स किससरीरस्स वि नाणदंसणे समुप्पज्जइ दढसरीरस्स वि , एगस्स णो किससरीरस्स नाणदंसणे समुप्पज्जइ णो दढसरीरस्स । ( २८३ सूत्र )

( चत्तारि पुरिसेत्यादि ) कण्ठ्यं, नवरं कृशस्तनुशरीरः पूर्वं पश्चादपि कृश एव, अथवा-कृशो भावेन हीनसत्त्वाऽऽदित्वात्पुन. कृशः शरीराऽऽदिभिरेवं दृढोऽपि विपर्ययादिति, पूर्वसूत्रार्थविशेषाऽऽश्रितमेव द्वितीयं सूत्रं, तत्र कृशो भावतः, शेषं सुगमम् ) कृशस्यैव चतुर्भङ्ग्या ज्ञानोत्पादमाह ( चत्तारीत्यादि ) व्यक्तं, किन्तु कृशशरीरस्य विविधतपसा भावितस्य शुभपरिणामसम्भवेन तदावरणक्षयोपशमादिभावात्, ज्ञान च दर्शनञ्च ज्ञानदर्शनं ज्ञानेन वा सह दर्शनं ज्ञानदर्शन छाद्मस्थिकं कैवलिकं वा, तत्समुत्पद्यते, न दृढशरीरस्य, तस्य हि उपचितत्वेन बहुमोहतया तथाविधशुभपरिणामाभावेन क्षयोपशमाऽऽद्यभावादित्येकः । तथा-मन्दसंहननस्याल्पमोहस्य दृढशरीरस्यैव ज्ञानदर्शनमुत्पद्यते स्वस्थशरीरतया मन स्वास्थ्येन शुभपरिणामभावतः क्षयोपशमाऽऽदिभावान्न कृशशरीरस्यास्वास्थ्यादिति द्वितीय. । तथा कृशस्य दृढस्य वा तदुत्पद्यते विशिष्टसंहननस्याल्पमोहस्योभयथाऽपि शुभपरिणामभावात् कृशत्वदृढत्वेनापेक्षत इति तृतीयः । चतुर्थ. सुज्ञातः ज्ञानदर्शनयोरुत्पाद उक्त. । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

चत्तारि पुरिसजाता पण्णत्ता । तं जहा-तहेनाममेगे,नोतहे नाममेगे,सोवत्थी नाममेगे,पधाणे नाममेगे ४ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-आयंतकरे नाममेगे णो परंतकरे ।१। परंतकरे णाममेगे णो आतंतकरे २, एगे आतंतकरे वि परंतकरे वि ३, एगे णो आतंतकरे णो परंतकरे ४ । २ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-आततमे णाममेगे नो परंतमे,परतमे नाममेगे,नो आतंतमे०४।३। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-आयंदमे नाममेगे णो परंदमे० ४।४। [ २८७ सूत्र ]

"चत्तारि" इत्यादिभिश्चतुर्भिश्चतुर्भङ्गीसूत्रैः स्वरूपं दर्शयति । कण्ठ्यानि चैतानि, केवलं (तह त्ति) सेवकः सन् यथैवाऽऽदिश्यते तथैव य प्रवर्त्तते स तथा,अन्यस्तु नो तथैवान्यथाऽपीत्यर्थ इति नोतथः, तथा स्वस्तीत्याह,चरति वा सौवस्तिक., प्राकृतत्वात्ककारलोपे दीर्घत्वेच'सोवत्थी' माङ्गलिकाभिधायी मागधाऽऽदिरन्यः । एतेषामेवाऽऽराध्यतया प्रधानः प्रभुरन्य

इति । (आन्तकरे त्ति) आत्मनोऽन्तमवसानं भवस्य करोतीत्यात्मान्तकरः, नो परस्य भवान्तकरो, धर्म्मदेशनाऽनासेवकः प्रत्येकबुद्धाऽऽदि १, तथा परस्य भवान्तं करोति मार्गप्रवर्त्तनेन परान्तकरो, नाऽऽत्मान्तकरोऽचरमशरीर आचार्याऽऽदि २, तृतीयस्तु तीर्थकरोऽन्यो वा ३ चतुर्थो दु षमाऽऽचार्याऽऽदि ४, अथवाऽऽत्मनोऽन्तं मरणं करोतीत्यात्मान्तकरः एवं परान्तकरोऽपि । इह प्रथम आत्मवधको द्वितीयः परवधकः, तृतीय उभयहन्ता चतुर्थस्त्ववधक इति । अथवाऽऽत्मतन्त्रः सन् कार्याणि करोतीत्यात्मतन्त्रकरः, एवं परतन्त्रकरोऽपि । इह तु प्रथमो जिनो, द्वितीयो भिक्षुः, तृतीय आचार्याऽऽदिः, चतुर्थः कार्यविशेषापेक्षया शठ इति । अथवा आत्मतन्त्रम् आत्मायत्तं धनगच्छाऽऽदि करोतीत्यात्मतन्त्रकरः एवमितरोऽपि भङ्गयोजना स्वयमूह्येति तथाऽऽत्मानं तमयति खेदयतीत्यात्मतमः-आचार्याऽऽदिः, परं शिष्याऽऽदिकं तमयतीति परतमः सर्वत्र प्राकृतत्वादनुस्वारः । अथवा आत्मनि तमः-अज्ञानं क्रोधो वा यस्य स आत्मतमाः, एवमितरेऽपि, तथा आत्मानं दमयति शमवन्तं करोति शिक्षयति वेत्यात्मदमः, आचार्योऽश्वदमकाऽऽदिर्वा, एवमितरेऽपि, नवरं परः शिष्योऽश्वाऽऽदिर्वा । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आत्मनः अलमस्तु—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–अप्पणो णाममेगे अलमंथू भवइ नो परस्स, परस्स णाममेगे अलमंथू भवइ नो अप्पणो, एगे अप्पणो वि अलमंथू भवइ, परस्स वि, एगे णो अप्पणो अलमंथू भवइ णो परस्स १।

व्यक्तानि, केवलम् अलमस्तु निषेधो भवतु य एवमाह सोऽलमस्त्वित्युच्यते, निषेधक इत्यर्थः । स चात्मानो दुर्नयेषु प्रवर्त्तमानस्यैको निषेधकः । अथवा (अलमंथु त्ति) समयभाषया समर्थोऽभिधीयते, तत आत्मनो निग्रहसमर्थः कश्चिदिति ।

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता । तं जहा–उज्जू णाममेगे उज्जू, उज्जू णाममेगे वंके, वंके णाममेगे उज्जू, वंके णाममेगे वंके २। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–उज्जू णाममेगे उज्जू० ४ । ३ ।

एको मार्ग ऋजुः आदौ, अन्तेऽपि ऋजुः अथवा-ऋजुः प्रतिभाति तत्त्वतोऽपि ऋजुरेवेति पुरुषस्तु ऋजुः पूर्वापरकालापेक्षया, अन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वापेक्षया वेति । क्वचित्तु- 'उज्जू णाम एगे उज्जुमणे त्ति'' पाठः । सोऽपि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वापेक्षया व्याख्येयः ॥ ३ ॥

चत्तारि मग्गा पण्णत्ता । तं जहा–खेमे णाममेगे खेमे, खेमे णाममेगे अखेमे० ४ । ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-खेमे णाममेगे खेमे० ४ । ५ । चत्तारि मग्गा पण्णत्ता । तं जहा–खेमे णाममेगे खेमरूवे, खेमे णाममेगे अखेमरूवे० ४ । ६ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–खेमे णाममेगे खेमरूवे० ४। ७ ।

क्षेमो नामैको मार्ग आदौ निरुपद्रवतया, पुनः क्षेमोऽन्ते तथैव, प्रसिद्धितत्त्वाभ्यां वा । एवं पुरुषोऽपि क्रोधाऽऽद्युपद्रवरहिततया क्षेम इति । क्षेमो भावतोऽनुपद्रवत्वेन क्षेमरूप आकारेण मार्गः । पुरुषस्तु प्रथमो भावद्रव्यलिङ्गयुक्तः साधुर्द्वितीयः कारणिको द्रव्यलिङ्गवर्जितः साधुरेव, तृतीयो निह्नवः, चतुर्थोऽन्यतीर्थिको गृहस्थो वेति ७ ।

शम्बूकाः—

चत्तारि संबुक्का पण्णत्ता । तं जहा–वामे णाममेगे वामावत्ते, वामे णाममेगे दाहिणावत्ते, दाहिणे णाममेगे वामावत्ते, दाहिणे णाममेगे दाहिणावत्ते ८ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–वामे णाममेगे वामावत्ते० ४। ९ ।

शम्बूकः-शङ्खो वामो वामपार्श्वव्यवस्थितत्वात्प्रतिकूलगुणत्वाद्वा वामाऽऽवर्त्तः प्रतीतः । एवं दक्षिणावर्तोऽपि, दक्षिणो दक्षिणपार्श्वनियुक्तत्वादनुकूलगुणत्वाद्वेति ८ । पुरुषस्तु वामः प्रतिकूलस्वभावतया वाम एवाऽऽवर्त्तते-प्रवर्तत इति वामाऽऽवर्तो विपरीतप्रवृत्तेरेकोऽन्यो वाम एव स्वरूपेण कारणवशाद्दक्षिणाऽऽवर्तोऽनुकूलप्रवृत्तिः, अन्यस्तु दक्षिणोऽनुकूलस्वभावतया कारणवशाद्वामाऽऽवर्तोऽननुकूलप्रवृत्तिरित्येवं चतुर्थोऽपीति ।

धूमशिखाः-

चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता० ४। १०। एवामेव चत्तारि इत्थियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता० ४ । ११ । चत्तारि अग्गिसिहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता० ४ । १२ । एवामेव चत्तारि इत्थियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता० ४ । १३। चत्तारि वायमंडलिया पण्णत्ता । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता० ४। १४ । एवामेव चत्तारि इत्थीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–वामा णाममेगा वामावत्ता० ४ । १५ । चत्तारि वणसंडा पण्णत्ता । तं जहा–वामे णाममेगे वामावत्ते० ४। १६ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा–वामे णाममेगे वामावत्ते० ४ । १७ । ( २८९ सूत्र )

धूमशिखा वामा वामपार्श्ववर्तितयाऽननुकूलस्वभावतया वा वामत एवाऽऽवर्त्तते या तथा वलनात्सा वामावर्त्ता १० स्त्री पुरुषवद् व्याख्येया, कम्बुदृष्टान्ते सत्यपि धूमशिखाऽऽदिदृष्टान्तानां स्त्रीदार्ष्टान्तिके शब्दसाधर्म्येणोपपन्नतरत्वाद्भेदेनोपादानमिति ११। एवामग्निशिखाऽपि १३। वातमण्डलिका मण्डलेनोर्द्ध्वप्रवृत्तो वायुरिति । इह च स्त्रियो मालिन्योपतापचापलस्वभावा भवन्तीत्यभिप्रायेण तासु धूमशिखाऽऽदिदृष्टान्तत्रयोपन्यास इति । उक्तं च-'' चवला मइलणसीला, सिणेहपरिपूरिया वि तावेइ । दीवयसिह व्व महिला, लद्धप्पसरा भयं देइ ॥ १ ॥'' इति । १५ । वनखण्डस्तु शिखावत् नवरं वामावर्तो वामवलनेन जातत्वाद्वायुना वा तथा धूयमानत्वादिति । १६ । पुरुषस्तु पूर्ववदिति । १७ । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

संप्रकटप्रतिसेविनः-

चत्तारि पुरिसजाया पणत्ता । तं जहा-संपागडपडिसेवी णाममेगे,पच्छण्णपडिसेवी णाममेगे, पडुप्पण्णणंदी णाममेगे, णिस्सरणणंदी णाममेगे १ ।

सुगमा च। नवरं कश्चित्साधुर्गच्छवासी संप्रकटमेव-अगी-नार्थप्रत्यक्षमेव प्रतिसेवते मूलगुणानुत्तरगुणान् वा दर्पत. कल्पेन वेति संप्रकटप्रतिसेवीत्येकः। एवमन्य. प्रच्छन्नं प्रति सेवत इति प्रच्छन्नप्रतिसेवी अन्यस्तु प्रत्युत्पन्नेन लब्धेन वस्त्र शिष्याऽऽदिना प्रत्युत्पन्नो वा जात. सन् शिष्याऽऽचार्याऽऽदिरू पेण नन्दति य स प्रत्युत्पन्ननन्दी,अथवा-नन्दन नन्दिरानन्द., प्रत्युत्पन्नेन नन्दिर्यस्य स प्रत्युत्पन्ननन्दिः, तथा प्राघूर्णकशि-ष्याऽऽदीनामात्मनो वा नि.सरणेन गच्छाऽऽदेर्निर्गमेन नन्दति यो नन्दिर्वा यस्य स तथा। पाठान्तरे तु-प्रत्युत्पन्न यथालब्ध सेवते-भजत नानुचितं विवेचयतीति प्रत्युत्पन्नसेवीति ।

सेनाः-

चत्तारि सेणाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-जइत्ता णाममेगा णो पराजिणित्ता, पराजिणित्ता णाममेगा णो जइत्ता, एगा जइत्ता वि पराजिणित्ता वि, एगा णो जइत्ता णो पराजिणित्ता २ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-जइत्ता णाममेगे णो पराजिणित्ता० ४। ३ । चत्तारि सेणाओ पण्णत्ताओ। त जहा-जइत्ता णाममेगा जयइ,जइत्ता णाममेगा पराजिणइ, पराजिणित्ता णाममेगा जयइ, पराजिणित्ता णाममेगा पराजिणइ ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। त जहा-जइत्ता णाममेगो जयइ० ४ । ५ । (२९२ सूत्र)

( जइत्त त्ति) जेत्री जयति रिपुबलम् एका न पराजेत्री-न पराजयते रिपुबलात् भज्यते, द्वितीया तु पराजेत्री-परेभ्यो भङ्गभाक् अत एव नो जेत्रीति, तृतीया कारणवशादुभय स्वभावेति, चतुर्थी त्वविजिगीषुत्वादनुभयरूपेति । पुरुष. साधु. स जेता परीषहाणां न तेभ्य पराजेता-उद्विजते इत्यर्थ. महावीरवदिति एको, द्वितीय कण्डरीकवत्, तृतीयस्तु कदाचिज्जेता कदाचित्कर्म्मवशात् पराजेता, शैलकराजर्षिवत्, चतुर्थस्तु अनुत्पन्नपरीषह.। जित्वा एकदा रिपुबल पुनरपि जयतीत्येका अन्या जित्वा पराजयते भज्यते, अन्या पराजित्य-परिभज्य पुनर्जयति, चतुर्थी तु पराजित्य परिभज्यैकदा पुनः पराजयते, पुरुषस्तु परीषहाऽऽश्रित्यैवं चिन्तनीय इति।

जतभ्याश्चेह नरवत. व.पाया एवेति तत्स्वरूपं दर्शयितुका-म क्रोधस्योत्तरत्रोपदर्शयिष्यमाणत्वान्मायाऽऽदिकषायत्रय प्रकरणमाह-

चत्तारि केअणा पण्णत्ता। तं जहा-वंसीमूलकेअणए, मेंढविसाणकेअणए, गोमुत्तिकेअणए, अवलेहणियाके-अणए । एवामेव चउव्विहा माया पण्णत्ता। तं जहा-वंसीमूलकेअणासमाणा० जाव अवलेहणियाकेअणासमाणा, वंसीमूलकेअणासमाणं मायं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ, मेंढविसाणकेअणासमाणं मायम-णुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ, गोमुत्ति० जाव कालं करेइ, मणुस्सेसु उववज्जइ, अवले-हणिया०जाव देवेसु उववज्जइ ॥

(चत्तारीत्यादि) प्रकटं, किन्तु केतनं-सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वंशादिदलक, तच्च वक्रं भवति, केवलमिह सामान्येन वक्र वस्तु केतनं गृह्यते,तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनमेवं सर्वत्र, नवरं मेण्ढविषाणं-मेषशृङ्गं, गोमूत्रिका प्रतीता।(अवलेहणिय त्ति)अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्या प्रतन्वी त्वक् साऽवले-खनिकेति । वंशीमूलकेतनकादिसमता तु मायायास्तद्वताम नार्जवभेदात् । तथाहि-यथा वंशीमूलमतिगुपिलवक्रमेवं कस्यचिन्माया,ऽपीत्येवमल्पाल्पतराल्पतमानार्जवत्वेनान्याऽपि भावनीयेति । इयं चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्याना-ऽऽवरणसंज्वलनरूपा क्रमेण ज्ञेया, प्रत्येकमित्यन्ये, तेनै-वानन्तानुबन्धिन्या उदयेऽपि देवत्वाऽऽदि न विरुध्यते, एवं मानाऽऽदयोऽपि वाचनान्तरे तु-"पूर्वं क्रोधमानसूत्राणि ततो मायासूत्राणि,तत्र क्रोधसूत्राणि-"चत्तारि राईओ पण्णत्ताओ। तं जहा-पव्वयराई, पुढविराई, रेणुराई, जलराई । एवामेव चउव्विहे कोहे" इत्यादि मायासूत्राणि वाऽधीतानि, फलसूत्रे अनुप्रविष्टस्तदुदयवर्तीति ।

स्तम्भपुरुषाः-

चत्तारि थंभा पण्णत्ता। तं जहा-सेलथंभे, अट्ठिथंभे, दारुथंभे, तिणिसलयाथंभे । एवामेव चउव्विहे माणे पण्णत्ते । त जहा-सेलथंभसमाणे० जाव तिणिसलयाथंभसमाणे, सेलथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ, एवं० जाव तिणिसलयाथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ ॥

शिलाविकार. शैल . स चासौ स्तम्भश्च स्थाणुः शैलस्तम्भः, एवमन्येऽपि, नवरमस्थि दारु च प्रतीतम्, तिनिशो. वृक्षविशेषस्तस्य लता-कम्बा तिनिशलता, सा चात्यन्तमृद्वीति। मानस्यापि शैलस्तम्भाऽऽदिसमानता तद्वतो नमानाभावविशेषात् ज्ञेयेति, मानोऽप्यनन्तानुबन्ध्याऽऽदिरूप. क्रमेण दृश्य., तत्फलसूत्रं व्यक्तम् ।

वस्त्राणि-

चत्तारि वत्था पण्णत्ता। तं जहा-किमिरागरत्ते, कद्दमरागरत्ते, खंजणरागरत्ते, हलिद्दरागरत्ते । एवामेव चउव्विहे लोभे पण्णत्ते। तं जहा-किमिरागरत्तवत्थसमाणे, कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे, खंजणरागरत्तवत्थसमाणे, हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणे। किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, नेरइएसु उववज्जइ, तहेव० जाव हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, देवेसु उववज्जइ। ( २९३ सूत्र )

कृमिरागे वृद्धसम्प्रदायोऽयम्-मनुष्याऽऽदीनां रुधिरं गृहीत्वा केनाऽपि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते, ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते, ते च वाताऽभिलाषिणः छिद्रनिर्गता आसन्ना भ्रमन्तो निर्हारिलाला मुञ्चन्ति, ताः कृमिसूत्रं भण्यते तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति । अन्ये भणन्ति-ये रुधिरे कृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे काश्चित् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति, स च रसः कृमिरागो भण्यते अनुत्तारीति । तत्र कृमीणां रागो रञ्जकरसः कृमिरागस्तेन रक्तं कृमिरागरक्तम् । एव सर्वत्र नवरं कर्दमो गोवाटादीनां खञ्जनं-दीपाऽऽदीनां हरिद्रा प्रतीतैवेति । कृमिरागाऽऽदिरक्तवस्त्रसमानता च लोभस्यानन्तानुबन्ध्याऽऽदितद्भेदवतां जीवानां क्रमेण हीनहीनतरहीनतमानुबन्धित्वात् । तथाहि—कृमिरागरक्तं वस्त्रं दग्धमपि न रागानुबन्धं मुञ्चति, तद्भस्मनोऽपि रक्तत्वात् । एवं यो मृतोऽपि लोभानुबन्धं न मुञ्चति तस्याभिधीयते लोभः कृमिरागरक्तवस्त्रसमानोऽनन्तानुबन्धी चेति । एव सर्वत्र भावना कार्येति । फलसूत्रं स्पष्टम् ।

इह कषायप्ररूपणा गाथाः—

जलरेणुपुढविपव्वय राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठिय-सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १ ॥
मायावलेहिगोमु त्तिमेंढसिंगघणवसमूलसमा ।
लोभो हलिद्दखंजण- कद्दमकिमिरागसारिच्छो ॥ २ ॥
पक्खचउमासवच्छर-जावज्जीवाणुगामिणो कमसो ।
देवनरतिरियनारय-गइसाहणहेयवो भणिया ॥ ३ ॥"
इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

चत्तारि पक्खी पण्णत्ता । तंजहा-रुयसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने, रूवसंपन्ने नाममेगे णो रुयसंपन्ने, एगे रूवसंपन्ने वि रुतसंपन्ने वि, एगे णो रुयसंपन्ने नो रूवसंपन्ने । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-रुयसंपन्ने नाममेगे नो रूवसंपन्ने० ४ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-पत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ, पत्तियं करेमीतेगे अपत्तियं करेइ, अपत्तियं करेमीतेगे पत्तियं करेइ, अपत्तियं करेमीतेगे अपत्तियं करेइ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-अप्पणो णाममेगे पत्तियं करेइ णो परस्स, परस्स णाममेगे पत्तियं करेइ णो अप्पणो० (४) चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-पत्तियं पवेसामीतेगे पत्तियं पवेसेइ, पत्तियं पवेसामीतेगे अपत्तियं पवेसेइ० ४ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-अप्पणो णाममेगे पत्तियं पवेसेइ णो परस्स० परस्स० ४ । (३१२ सूत्र) चत्तारि रुक्खा पण्णत्ता । तं जहा-पत्तोवए, पुप्फोवए, फलोवए, छायोवए । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-पत्तोवारुक्खसमाणे पुप्फोवारुक्खसमाणे, फलोवारुक्खसमाणे, छाओवारुक्खसमाणे । (३१३ सूत्र)

अधुना तद्वतः पुरुषान् सदृष्टान्तान् "चत्तारि पक्खी" इत्यादिना "अत्थमियत्थमिए" इत्येतदन्तेन ग्रन्थेनाऽऽह—व्यक्तश्चायम्, नवरं रुतं रूपं च सर्वेषामेव पक्षिणामस्त्यवस्ते विशिष्टे एवेह प्राह्ये, ततो रुतं मनोज्ञः शब्दः, तेन सम्पन्नः एकः पक्षी, न च रूपेण-मनोज्ञेनैव, कोकिलवत् । रूपसंपन्नो नो रुतसंपन्नः, प्राकृतशुकवत् । उभयसंपन्नो मयूरवत् । अनुभयस्वभावः काकवदिति । पुरुषोऽत्र यथायोगं मनोज्ञशब्दः प्रशस्तरूपश्च प्रियवादित्वसद्वेषत्वाभ्याम्, साधुर्वा सिद्धान्तप्रसिद्धशुद्धधर्मदेशनाऽऽदिस्वाध्यायप्रबन्धवान् लोचविरलवालोत्तमाङ्गतातपस्तनुतनुत्वमलमलिनदेहताऽल्पोपकरणताऽऽदिलक्षणसुविहितसाधुरूपधारी वा योज्य इति । (पत्तियं ति) प्रीतिरेव प्रीतिकं स्वार्थिककप्रत्ययोपादानेऽपि रूढ्यैनपुंसकतेति, तत्करोमि, प्रत्ययं वा करोमीति परिणतः प्रीतिकमेव प्रत्ययमेव वा करोति स्थिरपरिणामत्वात् उचितप्रतिपत्तिनिपुणत्वात् सौभाग्यवत्त्वाच्चेति । अन्यस्तु प्रीतिकरणे परिणतोऽप्रीतिं करोति उक्तवैपरीत्यादिति । अपरोऽप्रीत्यौ परिणतः प्रीतिमेव करोति संजातपूर्वभावनिवृत्तत्वात् । परस्य वा अप्रीतिहेतुतोऽपि प्रीत्युत्पत्तिस्वभावत्वादिति । चतुर्थः सुज्ञानः आत्मन एकः कश्चित् प्रीतिकमानन्दं भोजनाऽऽच्छादनाऽऽदिभिः करोत्युत्पादयत्यात्मार्थप्रधानत्वान्न परस्य, अन्य परस्य परार्थप्रधानत्वान्नाऽऽत्मनोऽपर उभयस्याप्युभयार्थप्रधानत्वादितरो नोभयस्याप्युभयार्थशून्यत्वादिति, आत्मनः प्रत्ययं प्रतीतिं करोति न परस्येत्याद्यपि व्याख्येयमिति । (पत्तियं पवेसेमि त्ति) प्रीतिकं प्रत्ययं वा अयं करोतीत्येवं परस्य चित्ते विनिवेशयामीति परिणतस्तथैवैकः प्रवेशयतीत्येक इति । सूत्रशेषोऽनन्तरसूत्र च पूर्ववत् । पत्राणि-पर्णान्युपगच्छतीति पत्रोपगो बहलपत्र इत्यर्थः । एवं शेषा अपि । पत्रोपगाऽऽदिवृक्षसमानता तु पुरुषाणां लोकोत्तराणां लौकिकानां चाऽर्थिषु तथाविधोपकाराकरणेन स्वस्वभावलाभ एव पर्यवसितत्वात् १; सूत्रदानाऽऽदिनोपकारकत्वाद् २; अर्थदानाऽऽदिना महोपकारकत्वाद् ३; अनुवर्त्तनापायसंरक्षणाऽऽदिना स ततोऽपसेव्यत्वाच्च ४, क्रमेण द्रष्टव्येति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

उदितोदिताः-

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-उदिओदिए णाममेगे, उदियत्थमिए णाममेगे, अत्थमिओदिए णाममेगे, अत्थमियत्थमिए णाममेगे । भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी णं उदिओदिए, बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी उदियत्थमिए, हरिएसबले णाममणगारे णं अत्थमिओदिए, काले णं सोयरिए अत्थमियत्थमिए । (३१५ सूत्र)

उदितश्चासावुन्नतकुलबलसमृद्धिनिरवद्यकर्मभिरभ्युदयवान् उदितश्च परमसुखसंदोहोदयेनेत्युदितोदितो यथा भरत', उदितोदितत्व चास्य प्रसिद्धम् १, तथा उदितश्चासौ तथैव अस्तामितश्च भास्कर इव सर्वसमृद्धिभ्रष्टत्वात् दुर्गतिगतत्वाच्चेति उदितास्तमितो ब्रह्मदत्तचक्रवर्तीव । स हि पूर्वमुदित उन्नतकुलोत्पन्नत्वाऽऽदिना स्वभुजोपार्जितसा·

प्राज्यत्वेन च पश्चादस्तमितः, अनथाविधकारणकुपित ब्राह्मणप्रयुक्तपशुपालधनुर्गोलिकाप्रक्षेपणोपायप्रस्फोटिताक्षिगोलकतया मरणानन्तराप्रतिष्ठानमहानरकमहावेदनाप्राप्ततया चेति २। तथा अस्तमितश्चासौ हीनकुलोत्पत्तिदुर्भगत्वदुर्गन्धत्वाऽऽदिना उदितश्च समृद्धिकीर्तिसुगतिलाभाऽऽदिनेति अस्तमितोदितो यथा-हरिकेशबलाभिधानोऽनगारः, स हि जन्मान्तरोपात्तनीचैर्गोत्रकर्मवशावाप्तहरिकेशाभिधान चाण्डालकुलतया दुर्भगतया दरिद्रतया च पूर्वमस्तमितवाऽऽदित्य इवानभ्युदयवत्त्वादस्तमित इति,पश्चात्तु प्रतिपन्नप्रव्रज्यो निष्प्रकम्पचरणगुणाऽऽवर्जितदेवकृतसान्निध्यतया प्राप्तप्रसिद्धितया सुगतिगयतया च उदित इति ३। तथा अस्तमितश्चासौ सूर्य इव दुष्कुलतया दुष्कर्मकारितया च कीर्तिसमृद्धिलक्षणतेजोविवर्जितत्वादस्तमितश्च दुर्गतिगमनादिस्त्यस्तमितास्तमितो, यथा कालाभिधानः सौकरिकः, स हि सूकरैश्चरति मृगया करोतीति यथार्थः सौकरिक एव दुष्कुलोत्पन्नः प्रतिदिनं महिषपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमितः पश्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति ४। 'भरहे'त्यादि तूदाहरणसूत्र भावितार्थमेवेति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-उच्चे णाममेगे उच्चच्छंदे, उच्चे णाममेगे णीयच्छंदे, णीए णाममेगे उच्चच्छंदे णीए णाममेगे णीयच्छंदे। ( ३१८ सूत्र )

उच्चः पुरुषः शरीरकुलविभवाऽऽदिभिः, तथा-उच्चच्छन्दः उन्नताभिप्रायः,औदार्याऽऽदियुक्तत्वात्। नीचच्छन्दस्तु विपरीतो नीचोऽप्युच्चविपर्ययादिति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

यानानि—

चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते, अजुत्ते णाममेगे जुत्ते, अजुत्ते णाममेगे अजुत्ते। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते, जुत्ते णाममेगे अजुत्ते,० ४। चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणए, जुत्ते णाममेगे अजुत्तपरिणए० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तपरिणए० ४। चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे, जुत्ते णाममेगे अजुत्तरूवे, अजुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तरूवे० ४। चत्तारि जाणा पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्तसोभे० ४। चत्तारि जुग्गा पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते० ४। एवं जहा-जाणेण चत्तारि अलावगा तहा जुग्गेण वि, पडिवक्खो तहेव पुरिसजाया ०जाव सोभे त्ति।

( चत्तारीत्यादि ) कण्ठ्यश्चायं, नवरं यानं-शकटाऽऽदि, तद्युक्तं बलीवर्दाऽऽदिभिः पुनर्युक्तं-सङ्गतं समग्रसामग्रीकं वा पूर्वापरकालापेक्षया वेत्येकम् अन्यत् युक्तं तथैवायुक्तं तूक्तविपरीतत्वादिति। एवमितरौ। पुरुषस्तु युक्तो धनाऽऽदिभिः पुनर्युक्त उचितानुष्ठानैः सद्भिर्वा, पूर्वकाले वा युक्तो धनधर्मानुष्ठानाऽऽदिभिः पश्चादपि तथैवेति चतुर्भङ्गी। अथवा-युक्तो द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन चेति प्रथमः साधुः, द्रव्यलिङ्गेन नेतरेणेति द्वितीयो निह्नवाऽऽदिः, न द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन तु युक्त इति तृतीयः,प्रत्येकबुद्धाऽऽदिः,उभयवियुक्तश्चतुर्थो गृहस्थाऽऽदिरिति। एवं सूत्रान्तराण्यपि, नवरं युक्तं गोभिर्युक्तपरिणतं तु अयुक्तं सत्सामग्र्या युक्ततया परिणतमिति। पुरुष पूर्ववत्, युक्तरूपं सगनस्वभावं प्रशस्तं वा युक्तं युक्तरूपमिति। पुरुषपक्षे तु युक्तो धनाऽऽदिना ज्ञानाऽऽदिगुणैर्वा युक्तरूप उचितवेषः सुविहितनेपथ्यो वेति, तथा युक्तं तथैव युक्तं शोभते युक्तस्य वा शोभा यस्य तत् युक्तशोभमिति। पुरुषस्तु युक्तो गुणैस्तथा युक्ता-उचिता शोभा यस्य स तथेति,युग्यम्-वाहनम् अश्वादि, अथवा गोल्लविषये जम्पानं द्विहस्तप्रमाणं चतुरस्रं सवेदिकमुपशोभितं युग्यकमुच्यते, तद्युक्तमारोहणसामग्र्या पर्याणाऽऽदिकया पुनर्युक्तं वेगाऽऽदिभिरित्येव यानवद् व्याख्येयम्। एतदेवाऽऽह-( एवं जहेत्यादि ) प्रतिपक्षो दार्ष्टान्तिकस्तथैव। कोऽसावित्याह- (पुरिसजाय त्ति ) पुरुषजातानीत्येवपरिणतरूपशोभसूत्रचतुर्भङ्गिकाः सप्रतिपक्षा वाच्याः,यावच्छोभसूत्रचतुर्भङ्गी। यथा- ( अजुत्ते णाम एगे अजुत्तसोभे ) एतदेवाऽऽह-( ०जाव सोभे त्ति )।

सारथयः—

चत्तारि सारही पण्णत्ता। तं जहा-जोयावइत्ता णाममेगे णो विजोयावइत्ता,विजोयावइत्ता णाममेगे णो जोयावइत्ता, एगे जोयावइत्ता वि विजोयावइत्ता वि, एगे णो जोयावइत्ता णो विजोयावइत्ता ४। एवामेव चत्तारि हया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते,जुत्ते णाममेगे अजुत्ते०४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते,एवं जुत्तपरिणए, जुत्तरूवे,जुत्तसोभे, सव्वेसिं पडिवक्खो पुरिसजाया। चत्तारि गया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-जुत्ते णाममेगे जुत्ते०४। एवं जहा हयाणं तहा गयाण वि भाणियव्वं, पडिवक्खो तहेव पुरिसजाया। चत्तारि जुग्गारिया पण्णत्ता। तं जहा-पंथजाई णाममेगे णो उप्पहजाई, उप्पहजाई णाममेगे णो पंथजाई, एगे पंथजाई वि उप्पहजाई वि,एगे णो पथजाई णो उप्पहजाई। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया।

सारथिः-शाकटिको, योजयिता शकटे गवादीनां न वियोजयिता-मोक्ता, अन्यस्तु वियोजयिता न तु योजयितेति। एवं शेषावपि,नवरं चतुर्थं खटयत्येवेति,अथवा-योक्त्रयन्तं प्रयुङ्क्ते य स योक्त्रापयिता वियोक्त्रयत, प्रयोक्ता तु वियोक्त्रापयितेति। लोकोत्तरपुरुषविवक्षायां तु सारथिरिव सारथिर्योजयिता-संयमयोगेषु साधूना प्रवर्त्तयिता, वियोजयिता तु तेषामेवानुचितानां निवर्त्तयितेति, यानसूत्रवत् हयगजसूत्राणीति। ( जुग्गारिय त्ति )। युग्यस्य चर्या-वहनं गमनमित्यर्थः।

क्वचित्तु-"जुग्गायरिय त्ति" पाठः । तत्राऽपि युग्याचर्येति पथयाय्येकं युग्य भवति नोत्पथयायीत्यादिश्चतुर्भङ्गी. इह च युगस्य चर्याद्वारेणैव निर्देशे चतुर्विधत्वेनोक्तत्वात्तच्चर्याया एवोद्देशेनोक्तं चातुर्विध्यमवसेयमिति । भावयुग्यपक्षे तु युग्य मिव युग्यं संयमयोगभरवोढा साधुरेव, स च पथि याय्यप्र मत्त उत्पथयायी लिङ्गावशेष उभययायी प्रमत्तश्चतुर्थः सिद्धः, क्रमेण सदसदुभयानुभयानुष्ठानरूपत्वात् । अथवा पथ्युत्पथयोः स्वपरसमयरूपत्वात् यायित्वस्य च गत्यर्थत्वेन बोधप र्यायत्वात् स्वसमयपरसमयबोधापेक्षयेयं चतुर्भङ्गी नेयेति ।

पुष्पाणि—

चत्तारि पुप्फा पन्नत्ता । तं जहा-रूवसंपन्ने णाममेगे णो गंधसंपन्ने. गंधसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने, एगे रूवसंपन्ने वि गंधसंपन्ने वि, एगे णो रूवसंपन्ने णो गंधसंपन्ने । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-रूवसंपन्ने णाममेगे,णो सीलसंपन्ने० ४ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे णो कुलसंपन्ने०४ ।१। चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे णो वलसंपन्ने, वलसंपन्ने णाममेगे णो जाइसंपन्ने०४ ।२। एवं जाईए रूवेण० ४ चत्तारि आलावगा ।३। एवं जाईए सुएण य०४।४। एव जाईए सीलेण०४।५। एवं जाईए चरित्तेण०४।६। एवं कुलेण य वलेण० ४ ।७। एवं कुलेण रूवेण य० ४। ८। कुलेण सुएण य० ४। ९। कुलेण य सीलेण य०४।१०। कुलेण य चरित्तेण य०४।११। चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-वलसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने० ४।१२। एवं वलेण य सुएण य०४।१३। एवं वलेण य सीलेण य० ४।१४ । एवं वलेण य चरित्तेण य० ४।१५। चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तं जहा-रूवसंपन्ने णाममेगे णो सुयसंपन्ने० ४।१६। एवं रूवेण य सीलेण य०४।१७। रूवेण य चरित्तेण य० ४।१८। चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-सुयसंपन्ने णाममेगे, णो सीलसंपन्ने० ४।१९। एव सुएण य चरित्तेण य० ४।२०। चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-सीलसंपन्ने णाममेगे णो चरित्तसंपन्ने०४।२१। एए एक्कवीसं भंगा भाणियव्वा ।

एकं पुष्पं रूपसम्पन्नं न गन्धसम्पन्नमाकुलीपुष्पवत्, द्वितीयं च बकुलस्येव, तृतीय जातेरिव, चतुर्थं बदर्यादेरिवेति, पुरुषो रूपसम्पन्नो रूपवान् सुविहितरूपयुक्तो वेति । ७ जाति ६ कुल ५ बल ४ रूप ३ श्रुत २ शील १ चारित्रलक्षणेषु सप्तसु पदेषु एकविंशतौ द्विकसंयोगेषु एकविंशतिरेव चतुर्भङ्गिकाः कार्या , सुगमाश्चेति ।

फलानि—

चत्तारि फला पन्नत्ता । तं जहा-आमलगमहुरे,मुद्दियामहुरे, खीरमहुरे, खंडमहुरे, । एवामेव चत्तारि आयरिया पन्नत्ता । तं जहा-आमलगमहुरफलसमाणे० जाव खंडमहुरफलसमाणे, चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-आयवेयावच्चकरे नाममेगे णो परवेयावच्चकरे० ४ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-करेइ णाममेगे वेयावच्चं णो पडिच्छइ. पडिच्छइ णाममेगे वेयावच्चं नो करेइ० ४ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-अट्ठकरे णाममेगे णो माणकरे, माणकरे णाममेगे णो अट्ठकरे, एगे अट्ठकरे वि माणकरे वि, एगे णो अट्ठकरे णो माणकरे । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा गणट्ठकरे णाममेगे णो माणकरे०४ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-गणसंगहकरे णाममेगे णो माणकरे०४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-गणसोभकरे णामं एगे णो माणकरे० ४ । चत्तारि पुरिसजया पण्णत्ता । तं जहा-गणसोहिकरे णाममेगे णो माणकरे० ४ । चत्तारि पुरिसजया पण्णत्ता । तं जहा -रूवं णाममेगे जहइ नो धम्मं, धम्मं णाममेगे जहइ नो रूवं, एगे रूवं पि जहइ धम्मं पि जहइ, एगे णो रूवं जहइ णो धम्मं जहइ ४ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-धम्मं णाममेगे जहइ णो गणसंठिइं० ४ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-पियधम्मे णाममेगे णो दढधम्मे, दढधम्मे णाममेगे णो पियधम्मे, एगे पियधम्मे वि दढधम्मे वि, एगे णो पियधम्मे णो दढधम्मे ।

आमलकमिव मधुरं यदन्यत् आमलकमेव वा मधुरमामलकमधुरम् । ( मुद्दिय त्ति ) मृद्वीका-द्राक्षा तद्वत्सैव वा मधुरं मृद्वीकामधुरम् । क्षीरवत् खण्डवच्च मधुरमिति विग्रहः । यथैतानि क्रमेणेषद्बहुबहुतरबहुतममाधुर्यवन्ति तथा ये आचार्या ईषद्बहुबहुतरबहुतमोपशमाऽऽदिगुणलक्षणमाधुर्यवन्तस्ते तत्समानतया व्यपदिश्यन्त इति । आत्मवैयावृत्यकरोऽलसो विसम्भोगिको वा परवैयावृत्यकरः स्वार्थनिरपेक्ष स्वपरवैयावृत्यकर स्थविरकल्पिक कोऽपि उभयनिवृत्तोऽनशनविशेषप्रतिपन्नकाऽऽदिरिति, करोत्येवैकः वैयावृत्य निःस्पृहत्वात् १, प्रतीच्छत्येवान्य आचार्यत्वग्लानत्वाऽऽदिना २, अन्य करोति प्रतीच्छति च स्थविरकल्पिकविशेषः ३, उभयनिवृत्तस्तु जिनकल्पिकाऽऽदिरिति ४। ( अट्ठकरे त्ति ) अर्थान् हिताहितप्राप्तिपरिहाराऽऽदीन् राजादीनां दिग्यात्रादौ तथोपदेशतः करोतीत्यर्थकरो मन्त्री, नैमित्तिको वा, स चार्थकरो नामैको न मानकरः । कथमहमनभ्यर्थित कथयिष्यमीत्यवलेपवार्जितः । एवमितरे अय । अत्र च व्यवहारभाष्यगाथा—" पुट्ठापुट्ठो पढमो, जत्ताइ हियाहियं परिकहेइ । तइओ पुट्ठो सेसा, उ णिप्फला, एव गच्छे वि ॥ १ ॥ " इति । गणस्य--साधुसमुदायस्याऽर्थान्-प्रयोजनानि करोतीति गणार्थकरः आहाराऽऽदिभिरुपष्टम्भकः, न च मानकरोऽभ्यर्थनानपेक्षत्वात् । एवं त्रयोऽन्ये । उक्तं च-" आहारउवहिसयणा-इएहिं गच्छस्सुवग्गहं कुणइ । बीओ न जाइ माण, दोन्नि वि तइओ न उ चउत्थो ॥ १ ॥ " इति । अथवा--(नो माणकरे त्ति) ग-

च्छार्थकरोऽहमिति न मन्यतीति । अनन्तरं गणस्यार्थ उक्तः, स च सङ्ग्रहेऽत आह-(गणसंगहकरे त्ति) गणस्याऽऽहारादिना ज्ञानाऽऽदिना च सङ्ग्रहं करोतीति गणसंग्रहकरः।शेषं तथैव। उक्तं च-"सो पुण गच्छस्सऽट्ठो,उ संगहो तस्स संगहो दुविहो। दव्वे भावे नियमा,उ होति आहारणाणाऽऽदी॥१॥" आहारोपधिशय्याज्ञानाऽऽदीनीत्यर्थः,न मायति,गणस्यानवद्यसाधुसामाचारीप्रवर्तनेन वादिधर्मकथिनैमित्तिकविद्यासिद्धत्वाऽऽदिना वा शोभाकरणशीलो गणशोभाकरी, नो मान करोऽभ्यर्थनाऽनपेक्षितया मदाभावेन वा, गणस्य यथायोगं प्रायश्चित्तदानादिना शोद्धि-शुद्धिं करोतीति गणशोधिकरः। अथवा-शङ्किते भक्ताऽऽदौ सति गृहिकुले गत्वाऽनभ्यर्थितो भक्तशुद्धिं करोति यः स प्रथमः, यस्तु मानान्न गच्छति स द्वितीयः, यस्त्वभ्यर्थितो गच्छति स तृतीयः, यस्तु नाभ्यर्थनाऽपेक्षी नापि तत्र गन्ता स चतुर्थ इति। रूपं-साधुनेपथ्यं जहाति-त्यजति कारणवशात् न धर्मं-चारित्रलक्षणं बोटिकमध्यस्थितमुनिवत्, अन्यस्तु धर्मं न रूपं निह्नववत्, उभयमपि उत्प्रव्रजितवत्, नोभय सुसाधुवत्,धर्मं त्यजत्येको जिनाऽऽज्ञारूपं न गणसंस्थितिं-स्वगच्छकृता मर्यादाम्। इह कैश्चिदाचार्यैः तीर्थकरानुपदेशेन संस्थितिः कृता, यथा-नास्माभिर्महाकल्पाद्यतिशयश्रुतमन्यगणसत्काय देयमिति, एवं च योऽन्यगणसत्काय न तद्ददाविति स धर्मं त्यजति न गणस्थितिं, जिनाऽऽज्ञाननुपालनात्, तीर्थकरोपदेशो ह्येवं-सर्वेभ्यो योग्येभ्यः श्रुतं दातव्यमिति प्रथमो, यस्तु ददाति स द्वितीयः, यस्त्वयोग्येभ्य. तद्ददाति स तृतीयः, यस्तु श्रुताव्यवच्छेदार्थं तदव्यवच्छेदसमर्थस्य परशिष्यस्य स्वकीयदिग्बन्धं कृत्वा श्रुतं ददाति तेन न धर्मो नापि गणसंस्थितिस्त्यक्तेति स चतुर्थ इति। उक्तञ्च-" सयमेव दिसाबंधं, काऊण पडिच्छगस्स जो देइ। उभयमवलंबमाणं, कामं तु तयं पि पूएमो॥ १ ॥" इति। प्रियो धर्मो यस्य तत्र प्रीतिभावेन सुखेन च प्रतिपत्तेः स प्रियधर्मा, न च दृढो धर्मो यस्य; आपद्यपि तत्परिणामाऽविचलनात्, अक्षोभत्वादित्यर्थः। स दृढधर्मेति। उक्तञ्च-"दसविहवेयावच्चे, अण्णतरे खिप्पमुज्जमं कुणइ। अच्चंतमणेव्वाही, धिइविरियकिसो पढमभंगो ॥ १ ॥" अन्यस्तु दृढधर्मा अङ्गीकृतापरित्यागात्र तु प्रियधर्मा, कष्टेन धर्मप्रतिपत्तेः। इतरौ तु सुज्ञानौ। उक्तं च-"दुक्खेण उ गाहिज्जइ, बीओ गहियं तु नेइ जा तीरं। उभय तो कल्लाणो, तइओ चरमो उ पडिकुट्ठो"॥१॥ स्था०४ ठा०३उ०।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-पियधम्मे नामं एगे नो दढधम्मे, दढधम्मे नामं एगे नो पियधम्मे, एगे पियधम्मे वि दढधम्मे वि, एगे नो पियधम्मे नो दढधम्मे ॥

अस्य संबन्धमाह—

धम्मो नो जहियव्वो, गणसंठितिमित्थ नो पसंसामो ।
जस्स पिओ सो धम्मो,सो न जहति तस्सिमो जोगो ७९२

अनन्तरसूत्रे इदमुक्तम्-" गणसंठितिं नामेगे जहति नो धम्मं।" तत्र यस्य प्रियो धर्मः स एवं चिन्तयति-धर्मो न त्यक्तव्यो, गणसंस्थितिमत्र न प्रशंसाम, एवं चिन्तयित्वा धर्मं न जहाति। एष तस्य प्रियधर्मसूत्रस्य योगः।

सम्प्रति प्रियधर्माऽऽदिव्याख्यानार्थमाह-

वेयावच्चेण मुणी, उवचिट्ठइ संगहेण पियधम्मो ।
उवचिट्ठइ दढधम्मो, सव्वेसिं निरतियारो य ॥७९३॥

प्रियधर्मा मुनिर्यावत् द्रव्यतः आहारादिना, भावतो वाचनाऽऽदिना येन सगृह्यते तावत् वैयावृत्त्येन तस्योपतिष्ठते, नान्यदा, अन्यस्य वा; दृढधर्मः सर्वेषामविशेषेण वैयावृत्त्येनोपतिष्ठते तावत्सर्वत्र च निरतिचारः।

संप्रति भङ्गयोजनामाह-

दसविहवेयावच्चे, अन्नयरे खिप्पमुज्जमं कुणइ ।
अच्चंतमणिव्वाही, धितिविरियकिसे पढमभंगो ॥ ७९४ ॥

यो दशविधस्य वैयावृत्त्यस्य वक्ष्यमाणस्यान्यतरस्मिन् वैयावृत्ये प्रियधर्मतया क्षिप्रमुद्यमं करोति, केवलमदृढधर्मतया अत्यन्तमनिर्वाही तस्मिन् धृतिवीर्यकृशे प्रथमभङ्गः।

दुक्खेण उ गाहिज्जइ, बिइओ गहियं तु नेइ जा तीरं ।
उभयत्तो कल्लाणो, तइओ चरिमो अ परिकुट्ठो ॥७९५॥

द्वितीयस्तु प्रियधर्मत्वात् दुःखेन महता कष्टेन प्रथमतो वैयावृत्त्यं ग्राह्यते, गृहीतं तु यावत्प्रतिज्ञायास्तीरं तावन्नयति। उभयतः कल्याणस्तृतीयः। चरमो न प्रियधर्मो नाऽपि दृढधर्म इत्येवंरूपो गच्छे प्रतिकुष्टो निराकृतः। व्य० १० उ०।

आत्मम्भरिः-

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-आयंभरे णाममेगे णो परंभरे, परंभरे णाममेगे णो आयंभरे, एगे आयंभरे वि परंभरे वि, एगे णो आयंभरे णो परंभरे ॥

( चत्तारीत्यादि ) आत्मानं बिभर्ति पुष्णातीति आत्मम्भरिः,प्राकृतत्वात् 'आयंभरे' इति। तथा परं बिभर्तीति परम्भरिरिति, प्राकृतत्वात् परंभरे, इति। तत्र प्रथमभङ्गे स्वार्थकारक एव स च जिनकल्पिकः। द्वितीय परार्थकारक एव। स च भगवानर्हंस्तस्य विवक्षया सकलस्वार्थसमाप्तेः वरप्रधानप्रयोजनप्रापणप्रवणप्राधितत्वात्। तृतीये स्वपरार्थकारी, स च स्थविरकल्पिको विहितानुष्टानतः स्वार्थकरत्वाद्विधिवत्सिद्धान्तदेशनातश्च परार्थसम्पादकत्वात्। चतुर्थे तूभयानुपकारी,स च मुग्धमतिः कश्चिद् यथाच्छन्दो वेति। एवं लौकिकपुरुषोऽपि योजनीयः।

दुर्गतः-

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-दुग्गए णाममेगे दुग्गए, दुग्गए णाममेगे सुग्गए,सुग्गए णाममेगे दुग्गए, सुग्गए णाममेगे सुग्गए। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-दुग्गए णाममेगे दुव्वए, दुग्गए णामं एगे सुव्वए, सुग्गए णाममेगे दुव्वए, सुग्गए णामं एगे सुव्वए ४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-दुग्गए णाममेगे दुप्पडियाणंदे, दुग्गए णाममेगे सुप्पडियाणंदे० ४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-दुग्गए णाममेगे दुग्गइगामी, दुग्गए णाममेगे सुगइगामी० ४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-दुग्गए णाममेगे दुग्गइं गए,दुग्गए णाममेगे सुगइं गए० ४।

उभयानुपकारी च दुर्गत एव स्यादिति दुर्गतसूत्रम् । दुर्गतो-दरिद्रः, पूर्वं धनविहीनत्वात् ज्ञानाऽऽदिरत्नविहीनत्वाद्वा, पश्चादपि तथैव दुर्गत एवेति । अथवा-दुर्गतो द्रव्यतः पुनर्दुर्गतो भावत इति प्रथमः, एवमन्ये त्रयो, नवरं सुगतो द्रव्यतो धनी भावतो ज्ञानाऽऽदिगुणवानिति, दुर्गतः कोऽपि व्रती स्यादिति दुर्गतसूत्रम् । दुर्गतो-दरिद्रः दुर्व्रतोऽसम्यग्व्रतः, अथवा दुर्व्ययः आयनिरपेक्षव्ययः, कुस्थानव्ययो चेति एकः । अन्यो दुर्गतः सन् सुव्रतो निरतिचारनियमः, सुव्ययो वा औचित्यप्रवृत्तेरिति । इतरौ प्रतीतौ । दुर्गतस्तथैव दुःप्रत्यानन्द उपकृतेन कृतमुपकारं यो नाभिमन्यते, यस्तु मन्यते तं स सुप्रत्यानन्द इति दुर्गतो-दरिद्रः सन् दुर्गतिं गमिष्यतीति दुर्गतिगामीत्येवमन्येऽपि; नवरं सुगतिं गमिष्यतीति सुगतिगामी, सुगत ईश्वर इत्यर्थः । दुर्गतस्तथैव दुर्गतिं गतः या ब्राजनकुपिततन्मारणप्रवृत्तद्रमकवत्, एवमन्ये त्रयः ।

तम —

चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता । तं जहा-तमे णामं एगे तमे, तमे णामं एगे जोई, जोई णाममेगे तमे, जोई णाममेगे जोई । चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता । तं जहा-तमे नाममेगे तमबले, तमे नाममेगे जोतिबले, जोती नाममेगे तमबले, जोती नाममेगे जोतीबले । चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता । तं जहा-तमे नाममेगे तमबलपलज्जणे, तमे नाममेगे जोतीबलपलज्जणे० ४ ।

तम इव तमः पूर्वमज्ञानरूपत्वादप्रकाशत्वाद्वा पश्चादपि तम एवेत्येकः, अन्यस्तु तमः पूर्वं पश्चाज्ज्योतिरिव ज्योतिः उपार्जितज्ञानत्वात् प्रसिद्धिप्राप्तत्वाद्वा । शेषौ सुज्ञानौ । तमः-कुकर्मकारितया मलिनस्वभावस्तमः- अज्ञातं बलं सामर्थ्यं यस्य तमः-अन्धकारं वा तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा । असदाचारवानज्ञानी रात्रिचरो वा चौराऽऽदिरित्येकः । तथा तमस्तथैव ज्योतिः ज्ञानं बलं यस्य आदित्याऽऽदिप्रकाशो वा ज्योतिस्तदेव तत्र वा बलं यस्य स तथा, अयं चासदाचारो ज्ञानवान् दिनचारी वा चौराऽऽदिरिति द्वितीयः । ज्योतिः सत्कर्मकारितयोज्ज्वलस्वभावस्तमोबलस्तथैव, अयं च सदाचारवान् अज्ञानी कारणान्तराद्वा रात्रिचर इति तृतीयः । चतुर्थः सुज्ञानः । अयञ्च सदाचारवान् ज्ञानी दिनचरो वेति । तथा तमस्तथैव (तमबलपलज्जणे त्ति) तमो मिथ्याज्ञानमन्धकारं वा तदेव बलं तत्र वा, अथवा- तमस्युक्तरूपे बले च सामर्थ्ये प्ररज्यते रतिं करोतीति तमोबलप्ररञ्जन । एवं ज्योतिर्बलप्ररञ्जनोऽपि, नवरं ज्योतिः सम्यग्ज्ञानमादित्याऽऽदि प्रकाशो वेति एवमितरावपि । इहापि त एव पूर्वोक्ताः पुरुषविशेषाः प्ररञ्जनविशेषिता द्रष्टव्याः । अथवा- तमस्तथैवाप्रसिद्धो वा तमोबलेनान्धकारबलेन संचरन् प्रलज्जते इति तमोबलप्रलज्जनः प्रकाशचारी । एवमितरोऽपि, नवरं द्वितीयोऽन्धकारचारी, तृतीयः प्रकाशचारी, चतुर्थः कुतोऽपि कारणादन्धकारचार्येवेति । "पज्जलणे त्ति" क्वचित्पाठः तत्राज्ञानबलेनान्धकारबलेन वा ज्ञानबलेन वा प्रकाशबलेन वा प्रज्वलति-दर्पितो भवति अवष्टम्भं करोति यः स तथेति ।

परिज्ञातकर्मा-

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-परिण्णायकम्मे णाममेगे णो परिण्णायसण्णे, परिण्णायसण्णे णाममेगे णो परिण्णायकम्मे, एगे परिण्णायकम्मे वि परिण्णायसण्णे वि, एगे नो परिण्णायकम्मे नो परिण्णायसण्णे । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-परिण्णायकम्मे णाममेगे णो परिण्णायगिहावासे, परिण्णायगिहावासे णामं एगे णो परिण्णायकम्मे०४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-परिण्णायसण्णे णाममेगे णो परिण्णायगिहावासे, परिण्णायगिहावासे णाममेगे०४। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-इहत्थे णाममेगे णो परत्थे, परत्थे णाममेगे णो इहत्थे० ४ ।

परिज्ञातानि-ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽवगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृतानि कर्माणि कृष्यादीनि येन स परिज्ञातकर्मा (नो) न च परिज्ञाताः संज्ञा आहारसंज्ञाऽऽद्या येन स परिज्ञातसंज्ञः, अभावितावस्थः-प्रव्रजितः श्रावको वेत्येकः १। परिज्ञातसंज्ञः सद्भावनाभावितत्वान्न परिज्ञातकर्मा कृष्याद्यनिवृत्ते श्रावक इति द्वितीयः, तृतीय साधुः, चतुर्थः असंयत इति । परिज्ञातकर्मा-सावद्यकरणकारणानुमतिनिवृत्तः-कृष्यादिनिवृत्तो वा न परिज्ञातगृहावासोऽप्रव्रजित इत्येकः, अन्यस्तु परिज्ञातगृहावासो न त्यक्ताऽऽरम्भो दुःप्रव्रजित इति द्वितीय, तृतीयः साधुः, चतुर्थोऽसंयतः, त्यक्तसंज्ञो विशिष्टगुणस्थानकत्वादत्यक्तगृहावासो गृहस्थत्वादेकः, अन्यस्तु परिहृतगृहावासो यतित्वादभावितत्वाच्च परिहृतसंज्ञः, अन्य उभयथा, अन्यो नोभयथेति । इहैव जन्मनि अर्थः- प्रयोजनं भोगसुखाऽऽदि आस्था वा इदमेव साध्विति बुद्धिर्यस्य स इहार्थ इहास्थो वा भोगपुरुष इह लोकप्रतिबद्धो वा, परत्रैव जन्मान्तरे अर्थः आस्था वा यस्य स परार्थः परास्थो वा साधुर्बालतपस्वी वा । इह परत्र च यस्यार्थ आस्था वा स सुश्रावक उभयप्रतिबद्धो वा उभयप्रतिबेधवान् कालसौ(शौ)करिकादिर्मूढो वेति । अथवा- इहैव विवक्षिते ग्रामाऽऽदौ तिष्ठतीति इहस्थः तत्प्रतिबन्धाच्च परस्थोऽन्यस्तु परत्र प्रतिबन्धात् परस्थ, अन्यस्तूभयस्थोऽन्यः सर्वाप्रतिबद्धत्वादनुभयस्थ साधुरिति ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-एगेणं णाममेगे वड्ढइ एगेणं हायइ, एगेणं णाममेगे वड्ढइ दोहिं हायइ, दोहिं णाममेगे वड्ढइ एगेणं हायइ, एगे दोहिं णाममेगे वड्ढइ दोहिं हायइ ॥

एकेनेति, श्रुतेन एकः कश्चिद्वर्द्धते एकेनेति सम्यग्दर्शनेन हीयते । यथोक्तम्-"जह जह बहुस्सुओ स-मओ य सीसगणसंपरिवुडो य । अविणिच्छिओ य समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ" ॥१॥ इति एकः । तथा एकेन श्रुतेनैवान्यो वर्द्धते द्वाभ्यां सम्यग्दर्शनविनयाभ्यां हीयत इति द्वितीयः, द्वाभ्यां श्रुतानुष्ठानाभ्यामन्यो वर्द्धते एकेन सम्यग्दर्शनेन हीयत इति तृतीयः, द्वाभ्यां श्रुतानुष्ठानाभ्यामन्यो वर्द्धते द्वाभ्यां सम्यग्दर्शनविनयाभ्यां हीयत इति चतुर्थः । अथवा- ज्ञानेन वर्द्धते रागेण हीयत इत्येकः, अन्यो ज्ञानेन वर्द्धते रागद्वेषाभ्यां हीयत इति द्वितीयः, अन्यो ज्ञानसंयमाभ्यां वर्द्धते रागेण हीयत इति तृतीय, अन्यो ज्ञानसंयमाभ्यां वर्द्धते राग-

क्षेषाभ्यां हीयत इति चतुर्थ. । अथवा-क्रोधेन वर्द्धते मायया हीयते क्रोधेन वर्द्धते मायालोभाभ्यां हीयते क्रोधमानाभ्यां वर्द्धते मायया हीयते क्रोधमानाभ्यां वर्द्धते मायालोभाभ्यां हीयत इति ।

प्रकन्थकाः—

चत्तारि पकंथगा पन्नत्ता । तं जहा-आइन्ने णाममेगे आइन्ने, आइन्ने नाममेगे खलुंके, खलुंके णाममेगे आइन्ने, खलुंके णाममेगे खलुंके ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता । तं जहा-आइन्ने णाममेगे आइन्ने० चउभंगो । चत्तारि पकंथगा पन्नत्ता । तं जहा-आइन्ने णाममेगे आइन्नयाए विहरइ, आइन्ने णाममेगे खलुंकयाए विहरइ० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-आइन्ने णाममेगे आइन्नत्ताए विहरइ० चउभंगो । चत्तारि पकंथगा पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे णो कुलसंपन्ने० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णामं एगे० चउभंगो । चत्तारि कंथगा पएणत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे । णो बलसंपन्ने० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे णो बलसंपएणे० ४ । चत्तारि कंथगा पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपएणे णाममेगे णो रूवसंपन्ने०४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे णो रूवसंपन्ने० ४ । चत्तारि कंथगा पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपन्ने० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-जाइसंपन्ने० ४ । एवं कुलसंपन्नेण य, बलसंपन्नेण य०४ । कुलसंपन्नेण य रूवसंपन्नेण य० ४ । कुलसंपन्नेण य जयसंपन्नेण य ०४ । एवं बलसंपन्नेण य रूवसंपन्नेण य०४ । बलसंपन्नेण य जयसंपन्नेण य ४ । सव्वत्थ पुरिसजाया पडिवक्खो । चत्तारि कंथगा पन्नत्ता । तं जहा--रूवसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपन्ने० ४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-रूवसंपन्ने णाममेगे णो जयसंपन्ने० ४ ।

प्रकन्थकाः, पाठान्तरत कन्थका वा-अश्वविशेषाः, आकीर्णो व्याप्तो जवाऽऽदिगुणैः पूर्वं पश्चादपि तथैव । अन्यस्त्वाकीर्णः पूर्वं पश्चात् खलुङ्को-गलिरविनीत इति । अन्यः पूर्वं खलुङ्कः पश्चादाकीर्णो-गुणवानिति चतुर्थः । पूर्वं पश्चादपि खलुङ्क एवेति । आकीर्णो-गुणवान् आकीर्णतया गुणवत्तया विनयवेगाऽऽदिभिरित्यर्थः । वहति प्रवर्त्तते, विहरतीति पाठान्तरम् । शाकीर्णोऽन्य आरोहदोषेण खलुङ्कतया गलितया वहति, अन्यस्तु खलुङ्क आरोहकगुणात् आकीर्णगुणतया वहति । चतुर्थः प्रतीत. । सूत्रद्वयेऽपि पुरुषाः दार्ष्टान्तिका योज्याः, सूत्रे तु कश्चिन्नोक्ताः, विचित्रत्वात् सूत्रगतेरिति ५ । जाति४कुल३बल२रूप१जयपदेषु दशभिर्द्विकसंयोगैर्दशैव प्रकन्थकदृष्टान्तचतुर्भङ्गीसूत्राणि, प्रत्येकं



तान्येवानुसरन्ति सन्ति दश दार्ष्टान्तिकपुरुषसूत्राणि भवन्तीति, नवरं जयः-पराभिभव इति ।

सिंहतया—

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-सीहत्ताए णाममेगे निक्खंते सीहत्ताए विहरइ, सीहत्ताए णाममेगे निक्खंते सियालत्ताए विहरइ, सियालत्ताए णाममेगे निक्खंते सीहत्ताए विहरइ, सियालत्ताए णाममेगे निक्खंते सियालत्ताए विहरइ । ( ३२७ सूत्र )

सिंहतया-ऊर्जवृत्त्या निष्क्रान्तो गृहवासात् तथैव च विहरति उद्यतविहारेणेति । शृगालतया दीनवृत्त्येति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

तिर्यग्लोकाधिकारात्तत्सम्भवं संयताऽऽदि पुरुषं भेदैराह-

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-हिरिसत्ते हिरिमणसत्ते चलसत्ते थिरसत्ते । ( ३३० सूत्र )

( चत्तारि इत्यादि) ह्रिया-लज्जया सत्त्वं-परीषहाऽऽदिसहने रणाङ्गणे वा अवष्टम्भो यस्य स ह्रीसत्त्वः । तथा ह्रिया हसिष्यन्ति मामुत्तमकुलजातं जना इति लज्जया मनस्येव न काये रोमहर्षकम्पाऽऽदिभयलिङ्गोपदर्शनात् सत्त्वं यस्य स ह्रीमनःसत्त्वः, चलम्-अस्थिर परीषहाऽऽदिसम्पाते ध्वंसात्सत्त्व यस्य स चलसत्त्वः, एतद्विपर्ययात्स्थिरसत्त्व इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-वणकरे नाममेगे नो वणपरिमासी, वणपरिमासी णाममेगे नो वणकरे, एगे वणकरे वि वणपरिमासी वि, एगे नो वणकरे नो वणपरिमासी वि १ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-वणकरे णाममेगे नो वणसारक्खी०४।२ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-वणकरे णाममेगे नो वणसंरोही० ४।३ । चत्तारि वणा पन्नत्ता । तं जहा-अंतो सल्ले णाममेगे णो बाहिं सल्ले० ४ । १ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-अंतो सल्ले णाममेगे णो बाहिं सल्ले० ४ । २ । चत्तारि वणा पन्नत्ता । तं जहा-अंतो दुट्ठे नाममेगे नो बाहिं दुट्ठे, बाहिं दुट्ठे नाममेगे नो अंतो दुट्ठे० ४ । ३ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । त जहा-अंतो दुट्ठे नाममेगे नो बाहिं दुट्ठे० ४ । ४ ।

अथाऽऽत्मचिकित्सकान् भेदतः सूत्रत्रयेणाऽऽह-'चत्तारि' इत्यादि कण्ठ्यानन्तरं व्रणं देहे क्षतं स्वयं करोति रुधिराऽऽदिनिर्गालनार्थमिति व्रणकरो नो-नैव व्रणं परिमृशतीत्येवंशीलो व्रणपरिमर्शीत्येकः । अन्यस्त्वन्यकृतं व्रण परिमृशति न च तत् करोतीति । एवं भावव्रणम्-अतिचारलक्षणं करोति कायेन न च तदेव परिमृशति—पुनः पुनः संस्मरणेन स्पृशति । अन्यस्तु तत्परिमृशत्यभिलाषाच्च न करोति कायतः संसारभयाऽऽदिभिरिति । व्रणं करोति न च तत्पट्टबन्धाऽऽदिना संरक्षति, अन्यस्तु कृत संरक्षति न च करोति, भावव्रणं त्वाश्रित्यातिचारं करोति न च तं सानुबन्ध भवन्त कुशीलाऽऽदिसं-

सर्गतश्चिदानपरिहारतो रक्षत्येकोऽन्यस्तु पूर्वकृतातिचारं ति दानपरिहारतो रक्षति नवं च न करोति, 'नो' नैव व्रणं संरोहयत्यौषधदानाऽऽदिनेति व्रणसंरोही, भावव्रणापेक्षया तु नो व्रणसंरोही प्रायश्चित्ताप्रतिपत्तेः, व्रणसंरोही पूर्वकृताऽतिचारप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या, नो व्रणकरोऽपूर्वातिचाराकारित्वादिति । उक्ता आत्मचिकित्सकाः । अथ चिकित्स्यं व्रणं दृष्टान्तीकृत्य पुरुषभेदानाह--( चत्तारीत्यादि ) चतुःसूत्री सुगमा, नवरम् , अन्त -मध्ये शल्यं यस्य अदृश्यमानमित्यर्थः ; तत्तथा । ( बाहिं सल्ले त्ति ) यच्छल्यं व्रणस्यान्तरल्पं बहिस्तु बहु तद् बहिरिव बहिरित्युच्यते अन्तो बहिः शल्यं यस्य तत्तथा, यदि पुनः सर्वथैव तत्ततो बहिः स्यात्तदा शल्यमेव न स्यादुद्धृतत्वे वा भूतभावितया स्यादपीति २, यत्र पुनरन्तर्बहु बहिरप्युपलभ्यते तदुभयशल्यम् ३, चतुर्थं शून्य इति ४। गुरुसमक्षमनालोचितत्वेनान्तः शल्यमतिचाररूपं यस्य स तथा, बहिः शल्यमालोचिततया यस्य तत्तथा, अन्तर्बहिश्च शल्यमालोचितानालोचितत्वेन यस्य स तथा। चतुर्थः शून्यः । अन्तर्दुष्टं व्रणं लूताऽऽदिदोषतो,न बहिः रागाऽऽद्यभावेन सौम्यत्वात् ४। पुरुषस्तु अन्तर्दुष्टः शठतया संवृताऽऽकारत्वात् न बहिरित्येकः, अन्यस्तु कारणेनोपदर्शितवाक्पारुष्याऽऽदित्वात् बहिरेवेति।

श्रेयान्—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । त जहा- सेयंसे नाममेगे सेयंसे, सेयंसे नाममेगे पावंसे, पावंसे नाममेगे सेयंसे, पावंसे नाममेगे पावंसे १। चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-- सेयंसे नाममेगे सेयंसे त्ति सालिसए, सेयंसे नाममेगे पावंसे त्ति सालिसए० ४ । २ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा—सेयंसे त्ति णाममेगे सेयंसे त्ति मण्णइ,सेयंसे त्ति नाममेगे पावंसे त्ति मण्णइ० ४ । ३ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-सेयंसे नाममेगे सेयंसे त्ति सालिसए मन्नइ, सेयंसे नाममेगे पावंसे त्ति सालिसए मन्नइ० ४ । ४ ।

पुरुषाधिकारात् तद्भेदप्रतिपादनाय षट्सूत्री, कण्ठ्या च , किन्तु अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयानेकः प्रशस्यभावसद्बोधत्वात् पुनः श्रेयान् प्रशस्तानुष्ठानत्वात् साधुवदित्येकः १ , अन्यस्तु श्रेयांस्तथैव अतिशयेन पापः पापीयान् , स चाविरतत्वेन दुरनुष्ठायित्वादिति २, अन्यस्तु पापीयान् भावतो मिथ्यात्वाऽऽदिभिरुपहतत्वात् कारणवशात् सदनुष्ठायित्वाच्च श्रेयान् उदायिनृपमारकवत् ३, चतुर्थः स एव कृतपाप इति ४ । अथवा-श्रेयान् गृहस्थत्वे निष्क्रमणकाले वा पुनः श्रेयान् प्रव्रज्याया विहारकाले वेत्येवमन्येऽपि । श्रेयानेको भावतो, द्रव्यस्तु श्रेयान्-प्रशस्यतर इति एवं बुद्धिजनकत्वेन सदृशकोऽन्यन श्रेयसा तुल्यो न तु सर्वथा श्रेयानेवेति एक , अन्यस्तु भावत श्रेयानपि द्रव्यत पापीयानित्येव बुद्धिजनकत्वेन सदृशकोऽन्येन पापीयसा समानो न तु पापीयानेवेति द्वितीयः २, भावत पापीयानप्यन्यः संवृताऽऽकारतया श्रेयानित्येवं बुद्धिजनकतया सदृशकोऽन्येन श्रेयसेति तृतीयः । चतुर्थः सुज्ञान । श्रेयानेकः सद्वृत्तत्वात् श्रेयानित्येवमात्मानं मन्यते यथावद्बोधाल्लोकेन वा मन्यते विशदशुभानुष्ठानात् । इह च-"मन्निज्जइ" इति वक्तव्ये प्राकृतत्वेन "मन्नइ" इत्युक्तं, श्रेयानप्यन्य आत्मन्यरुचिपरायणत्वात् पापीयानित्यात्मानं मन्यते, स एव वा पूर्वोपलब्धतद्दोषेण जनेन मन्यते दृढप्रहारिवत् १ , पापीयानप्यपरो मिथ्यात्वाऽऽद्युपहततया श्रेयानित्यात्मानं मन्यते, कुतीर्थिकवत्, तद्भक्तेन वेति २, पापीयानन्योऽविरतिकत्वात् पापीयानित्यात्मानं मन्यते, सद्बोधत्वात् , असंयतो वा मन्यते, सयनलोकेनेति ३, श्रेयानेको भावतो द्रव्यतस्तु किञ्चित्सदनुष्ठायित्वात् श्रेयानित्येवं विकल्पजनकत्वेन सदृशकोऽन्येन श्रेयसा मन्यते-ज्ञायते जनेनेति विभक्तिपरिणामाद्वा सदृशकमात्मानं मन्यत इति एव शेषाः ४।

आख्यायकः—

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा—आघवइत्ता नाममेगे नो परिभावइत्ता, परिभावइत्ता णाममेगे नो आघवइत्ता० ४ । ५ । चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा--आघवइत्ता णाममेगे नो उंछजीविसपन्ने, उंछजीविसंपन्ने नाममेगे नो आघवइत्ता० ४ । ६ ।

(आघवइत्ते त्ति) आख्यायकः-प्रज्ञापकः प्रवचनस्य एकः कश्चिन्न च प्रविभावयिता प्रभावयिता प्रभावकः शासनस्य उदारक्रियाप्रतिभाऽऽदिरहितत्वात् प्रविभाजयिता वा प्रवचनार्थस्य नयोत्सर्गाऽऽदिभिर्विवेचयितेति । अथवा-आख्यायकः सूत्रस्य प्रविभावयिता प्रविभाजयिता वाऽर्थस्येति, आख्यायकः एकः सूत्रार्थस्य न चोञ्छजीविकासम्पन्नो नैषणानिरत इत्यर्थः। स चापन्नः संविग्नः संविग्नपाक्षिको वा । यदाह—

"हुज्जहु वसणं पत्तो, सरीरदुब्बलयाए असमत्थो ।
चरणकरणे असुद्धे, सुद्धं मग्गं परूवेज्जा ॥ १ ॥

तथा—

"ओसन्नो वि विहारे, कम्मं सिढिलेइ सुलहबोही य ।
चरणकरणं विसुद्धं, उववूहंतो परूवेंतो ॥ २ ॥"

( शरीरदौर्बल्येनाऽसमर्थः व्यसनं प्राप्तो भवेत् ) ( तथाऽपि ) अशुद्धे चरणकरणे शुद्धं मार्गं प्ररूपयेत् ॥ १ ॥ विहारेऽवसन्नोऽपि कर्म शिथिलयति सुलभबोधिश्च विशुद्धं चरणकरणमुपबृंहयन् प्ररूपयंश्च ॥ २ ॥ इत्येकः, द्वितीयो यथाच्छन्दः, तृतीयः साधुः, चतुर्थो गृहस्थाऽऽदिरिति । पूर्वसूत्रे साधुलक्षणपुरुषस्याऽऽख्यायकत्वोञ्छजीविकासम्पन्नत्वलक्षणा गुणविभूषोक्ता । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

मेघदृष्टान्तः—

चत्तारि मेहा पण्णत्ता । तं जहा—गज्जित्ता नाममेगे णो वासित्ता, वासित्ता नाममेगे णो गज्जित्ता, एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि, एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता १ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । त जहा—गज्जित्ता नाममेगे णो वासित्ता० ४ । २ । चत्तारि मेहा पण्णत्ता । तं जहा—गज्जित्ता नाममेगे णो विज्जुयाइत्ता, विज्जुयाइत्ता नाममेगे० ४ । ३ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा—गज्जित्ता नाममेगे णो विज्जुयाइत्ता० ४ । ४ । चत्तारि मेहा पण्णत्ता । तं जहा—वासित्ता नाममेगे णो

विज्जुयाइत्ता० ४ । ५ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-वासित्ता णाममेगे णो विज्जुयाइत्ता० ४ । ६ । चत्तारि मेहा पण्णत्ता । तं जहा-कालवासी नाममेगे णो अकालवासी० ४ । ७ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-कालवासी नाममेगे णो अकालवासी०४ । ८ । चत्तारि मेहा पण्णत्ता । तं जहा-खेत्तवासी नाममेगे णो अखेत्तवासी० ४ । ९ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-खेत्तवासी नाममेगे णो अखेत्तवासी० ४ । १० ।

" चत्तारि मेहेत्यादीनि " सुगमानि च, नवरं मेघाः-पयोदाः, गर्जिताः गर्जिनकृत्, नो वर्षिता न प्रवर्षणकारीति १ एवं कश्चित्पुरुषो गर्जिनेव, गर्जिता दानज्ञानव्याख्यानानुष्ठानशत्रुनिग्रहाऽऽदिविषये उच्चैः प्रतिज्ञावान्,नो-नैव वर्षितेव वर्षिता-वर्षकोऽभ्युपगतसम्पादक इत्यर्थः । अन्यस्तु कार्यकर्त्ता न चोच्चैः प्रतिज्ञावानिति । एवमितरावपि नेयाविति २ । ( विज्जुयाइत्त त्ति ) विद्युत्कर्ता ३ । एवं पुरुषोऽपि कश्चिदुच्चैः प्रतिज्ञाता, न च विद्युत्कारतुल्यस्य दानाऽऽदिप्रतिज्ञातार्थाऽऽरम्भाऽऽडम्बरस्य कर्ता; अन्यस्त्वारम्भाऽऽडम्बरस्य कर्त्ता न प्रतिज्ञातेति । एवमन्यावपीति ४,वर्षिता कश्चिद् दानाऽऽदिभिर्न तु तदारम्भाऽऽडम्बरकर्त्ता, अन्यस्तु विपरीतोऽन्य उभयथा अन्यो न किञ्चिदिति ५,६, कालवर्षी अवसरवर्षीति । एवमन्येऽपि ७, पुरुषस्तु कालवर्षीव कालवर्षी-अवसरे दानव्याख्यानाऽऽदिपरोपकारार्थप्रवृत्तक एकः, अन्यस्त्वन्यथेति । एवं शेषौ ८ । क्षेत्रं धान्याऽऽद्युत्पत्तिस्थानम् ९, पुरुषस्तु क्षेत्रवर्षी च क्षेत्रवर्षी-पात्रे दानश्रुताऽऽदीनां निक्षेपकः, अन्यो विपरीतोऽन्यस्तथाविधविवेकविकलतया महौदार्यात् प्रवचनप्रभावनाऽऽदिकारणतो वा उभयस्वरूपोऽन्यस्तु दानाद्यप्रवृत्तकः १० । इति । स्था० ४ ठा०४ उ० ।

चत्तारि गोला पण्णत्ता । तं जहा-मधु(हु)सित्थगोले,जउगोले दारुगोले, मट्टियागोले । २४ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-मधुसित्थगोलसामाणे० ४ । २५ । चत्तारि गोला पण्णत्ता । तं जहा—अयगोले, तउगोले, तंवगोले, सीसागोले, २६ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा—अयगोलसमाणे० जाव सीसगोलसमाणे. २७ । चत्तारि गोला पण्णत्ता । तं जहा—हिरण्णगोले,सुवण्णगोले,रयणगोले, वयरगोले, १८,एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-हिरण्णगोलसमाणे० जाव वयरगोलसमाणे । २९ ॥

(चत्तारीत्यादि) मधुसि(क्थ)त्थं-मदनं,तस्य गोलो-वृत्तपिण्डो मधुसि(क्थ)त्थगोलः । एवमन्येऽपि, नवरं जतु—लाक्षा, दारुमृत्तिके प्रसिद्धे । २४ । इति । यथैते गोला मृदु—कठिनकठिनतरकठिनतमाः क्रमेण भवन्त्येवं ये पुरुषा परीषहाऽऽदिषु मृदुदृढतरदृढतमसत्त्वा भवन्ति ते मधुसि(क्थ) त्थगोलकसमाना इत्यादिभिर्व्यपदेशैर्व्यपदिश्यन्त इति २५ । अयोगोलाऽऽदय. प्रतीताः २६ । एतैश्चाऽयोगोलकाऽऽदिभि. क्रमेण गुरुगुरुतरगुरुतमात्यन्तगुरुभिरारम्भादिविचित्रप्रवृत्त्युपार्जितकर्मभारा ये पुरुषा भवन्ति ते अयोगोलकसमाना इत्यादिव्यपदेशवन्तो भवन्ति पितृमातृपुत्रकलत्रगतस्नेहभारतो वेति २७ । हिरण्याऽऽदिगोलेषु क्रमेणाल्पगुणगुणाधिकगुणाधिकतरगुणाधिकतमेषु पुरुषा. समृद्धितो ज्ञानाऽऽदिगुणतो वा समानतया योज्याः, २८।२९ ।

असिपत्राऽऽदीनि—

चत्तारि पत्ता पण्णत्ता । तं जहा-असिपत्ते,करपत्ते,खुरपत्ते, कलंवचीरियापत्ते ३० । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-असिपत्तसमाणे० जाव कलंवचीरियापत्तसामाणे ३१ ।

पत्राणि-पर्णानि तद्वत् प्रतनुतया यानि अस्यादीनि तानि पत्राणीति, असिः-खड्गः, स एव पत्रमसिपत्रं करपत्रं-क्रकचं येन दारु छिद्यते, क्षुरः-छुरः, स एव पत्रं क्षुरपत्रं, कदम्बचीरिकेति शस्त्रविशेष इति ३० । तत्र द्राक् छेदकत्वादसेर्यः पुरुषो द्रागेव स्नेहपाशं छिनत्ति, सोऽसिपत्रसमानः, अवधारितदेववचनसनत्कुमारचक्रवर्तिवत्, यस्तु पुनः पुनरुच्यमानो भावनाऽभ्यासात् स्नेहतरुं छिनत्ति स करपत्रसमानस्तथाविधश्रावकवत् करपत्रस्य हि गमनाऽऽगमनाभ्यां कालक्षेपेण छेदकत्वादिति, यस्तु श्रुतधर्ममार्गोऽपि सर्वथा स्नेहच्छेदासमर्थो देशविरतिमात्रमेव प्रतिपद्यते स क्षुरपत्रसमानः, क्षुरो हि केशाऽऽदिकमल्पमेव छिनत्तीति, यस्तु स्नेहच्छेदं मनोरथमात्रेणैव करोति स चतुर्थः अविरतसम्यग्दृष्टिरिति, अथवा—यो गुर्वादिषु शीघ्रमन्दमन्दतरमन्दतमतया स्नेहं छिनत्ति स एवमपदिश्यते ३१ ।

चत्तारि कडा पण्णत्ता । तं जहा-सुंबकडे, विदलकडे, चम्मकडे,कंवलकडे ३२ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-सुंबकडसमाणे० जाव कंवलकडसमाणे ३३ ।

( २४९ सूत्र )

कम्बाऽऽदिभिराताननवितानभावेन निष्पाद्यते यः स कटः, कट इव कट इत्युपचाराच्चन्वादिमयोऽपि कट एवेति । तत्र ( सुंबकडे त्ति ) तृणविशेषनिष्पन्नः । ( विदलकडे त्ति ) वंशशकलकृतः । (चम्मकडे त्ति) वर्ध्रव्यूतमञ्चकाऽऽदि. । ( कंवलकडे त्ति ) कम्बलमेवेति ३२ । एतेषु चाल्पबहुबहुतरबहुतमाऽवयवप्रतिबन्धेषु पुरुषा योजनीयाः । तथाहि-यस्य गुर्वादिष्वल्पः प्रतिबन्ध. स्वल्पव्यलीकाऽऽदिनाऽपि विगमात्स सुम्बकटसमान इत्येवं सर्वत्र भावनीयमिति ३३ । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

निष्कृष्ट'—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-णिकट्ठे नाममेगे णिकट्ठे, णिकट्ठे नाममेगे अणिकट्ठे० ४ । ३९ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-णिकट्ठे नाममेगे णिकट्ठप्पा, णिकट्ठे नाममेगे अणिकट्ठप्पा० ४ । ४० ।

निष्कृष्टो-निष्कर्षितस्तपसा कृशदेह इत्यर्थः । पुनर्निष्कृष्टो भावतः कृशीकृतकषायत्वादेवमन्ये त्रय इति । ३९ । एतद्भावनार्थमेवानन्तर सूत्रम्-निष्कृष्टः कृशशरीरतया तथा निष्कृष्ट आत्मा कषायाऽऽदिनिर्मथनेन यस्य स तथेत्येवमन्ये

त्रय इति । अथ निष्कृष्टः-तपसा कृशीकृतः पूर्वं पश्चादपि तथै-वेत्येवमादिसूत्रं व्याख्येयम्, द्वितीयं तु यथोक्तमेवेति ४० ।

बुधः—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-बुहे नाममेगे बुहे, बुहे नाममेगे अबुहे० ४ । ४१ । चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-बुहे नाममेगे बुहहियए० ४ । ४२ ।

बुधो बुधत्वकार्यभूतसत्क्रियायोगात् । उक्तं च-"पठकः पाठ-कश्चैव, ये चान्ये तत्त्वचिन्तकाः । सर्वे व्यसनिनो राजन् !, य-क्रियावान् स पण्डितः॥१॥" इति । पुनर्बुध.-सविवेकमनस्त्वा-दित्येकः, अन्यो बुधस्तथैव, अबुधस्त्वविविक्तमनस्त्वादपर-स्त्वबुधोऽसत्क्रियत्वाद् बुधो विवेकवच्चित्तत्वाच्चतुर्थ उभयनि-षेधादिति ४१ । अनन्तरसूत्रेणैतदेव व्यक्तीक्रियते-बुध-सत्क्रियत्वात्, बुधं हृदयं-मनो यस्य स बुधहृदयो विवेच-कमनस्त्वात्, अथवा-बुधः शास्त्रज्ञत्वात्, बुधहृदयस्तु कार्ये-षु अमूढलक्षणत्वादित्येकः । एवमन्ये त्रय ऊह्या ४२ ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-आयणुकंपए णाम-मेगे नो पराणुकंपए० ४ । ४३ । ( ३५२ सूत्र )

आत्मानुकम्पकः-आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पि-को वा परानपेक्षो वा निर्घृणः, परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थंकर आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्यवत्, उभयानुक-म्पकः स्थविरकल्पिक उभयाननुकम्पकः-पापाऽऽत्मा काल (सौ) शौकरिकाऽऽदिरिति ४३ । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

उदकानि—

चत्तारि उदगा पण्णत्ता । तं जहा-उत्ताणे णाममेगे उत्ता-णोदए, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोदए, गभीरे णाममेगे उ-त्ताणोदए, गंभीरे णाममेगे गंभीरोदए १ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-उत्ताणे णाममेगे उत्ताणहि-यए, उत्ताणे णाममेगे गंभीरहियए० ४ । २ । चत्तारि उदगा प-ण्णत्ता । तं जहा-उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी० ४ । ३ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी० ४ । ४ । चत्तारि उदही पण्णत्ता । तं जहा-उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदही, उत्ताणे णाममेगे गंभीरो-दही० ४ । ५ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-उत्ताणे णाममेगे उत्ताणहियए० ४ । ६ ।

चत्तारीत्यादीनि, व्यक्तानि च, किन्तु उदकानि-जलानि प्र-ज्ञप्तानि, तत्रोत्तान नामैकं तुच्छत्वात् प्रतलमित्यर्थः पुनरुत्तानं स्वच्छतयोपलभ्यमध्यस्वरूपत्वादुदक-जलम्, ( उत्ताणोदए त्ति व्यस्तोऽयं निर्देश प्राकृतशैलीवशाद समस्त इवावभा-सते, न च मूलोपात्तेनोदकशब्देनाय गतार्थो भविष्यतीति वाच्यं, तस्य बहुवचनान्तत्वेनेहासंबध्यमानत्वात्, साक्षादु-दकशब्दे च सति किं तस्य वचनपरिणामादनुकर्षणेनेत्येव मुदधिसूत्रेऽपि भावनीयमिति । तथोत्तान तथैव गम्भीरमु-दकं बहुलत्वादनुपलभ्यमानस्वरूप, तथा गम्भीरमगाधं प्रचु-रत्वादुत्तानमुदकं स्वच्छतयोपलभ्यमध्यस्वरूपत्वात् तथा गम्भीरमगाधत्वात् पुनर्गम्भीरमुदकं बहुलत्वादिति, पुरुषस्तु उत्तानोऽगम्भीरो बहिर्दर्शितमददैन्याऽऽदिजन्यविकृतकायवा-क्चेष्टत्वादुत्तानहृदयस्तु दैन्याऽऽदियुक्तगुह्यधरणासमर्थचित्त-त्वादित्येकः, अन्य उत्तान कारणवशाद् दर्शितविकृतचेष्टत्वात् गम्भीरहृदयस्तु स्वभावेनोत्तानहृदयविपरीतत्वात् तृतीयस्तु गम्भीरो दैन्याऽऽदिवत्त्वेऽपि कारणवशात् संवृताऽऽकारतया उत्तानहृदयस्तथैव चतुर्थः प्रथमविपर्ययादिति । तथा उत्तान प्रतलत्वादुत्तानमवभासते स्थानविशेषात् तथोत्तान तथैव गम्भीरमगाधमवभासते संकीर्णाऽऽश्रयत्वाऽऽदिना २, तथा ग-म्भीरम्-अगाधमुत्तानावभासि तु विस्तीर्णस्थानाऽऽश्रयत्वा-ऽऽदिना । तथा गम्भीरमगाधं गम्भीरावभासि तथाविधस्था-नाऽऽश्रितत्वाऽऽदिनैवेति, पुरुषस्तूत्तानस्तुच्छ उत्तान एवाऽव-भासते प्रदर्शिततुच्छत्वविकारत्वात् , द्वितीयः संवृतत्वात्, तृतीयः कारणतः । दर्शितविकारत्वाच्चतुर्थः सुज्ञानः ।

उदधिसूत्रम्-

चत्तारि उदधी पण्णत्ता । तं जहा—उत्ताणे णाममेगे उ-त्ताणोभासी, उत्ताणे णाममेगे गंभीरोभासी० ४ । ७ । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा--उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोभासी० ४ । ८ । ( ३५८ सूत्र )

तथा—उदकसूत्रद्वयवदुदधिसूत्रद्वयमपि सदार्ष्टान्तिकम वसेयमिति । अथवा-उत्तान. सगाधत्वादेक. उदधिः-उद-धिदेशः पूर्वं पश्चादपि उत्तान एव वेलाया बहिः समुद्रे एवभावात् द्वितीयस्तूत्तान. पूर्वं पश्चाद् गम्भीरो वेलाऽऽगमे-नागाधत्वात् तृतीयस्तु गम्भीर. पूर्वं पश्चाद्वेलाविगमेनो-त्तान उदधिश्चतुर्थः सुज्ञान. ।

समुद्रप्रस्तावात् तत्तरकान् सूत्रद्वयेनाऽऽह—

चत्तारि तरगा पण्णत्ता । तं जहा-समुद्द तरामीतेगे समुद्दं तरइ, समुद्द तरामीतेगे गोपत तरइ, गोपत तरामीत (ते)गे० ४ । १ । चत्तारि तरगा पण्णत्ता । त जहा-समुद्द तरित्ता णाममेगे समुद्दे विसीयइ, समुद्दं तरेत्ता णाममेगे गोपदे विसी-दति, गोपदे तरेत्ता णाममेगे० ४ । २ । ( ३५६ सूत्र )

" चत्तारि तरगेत्यादि " व्यक्त, नवरं तरन्तीति तरा-स्त एव तरका., समुद्र समुद्रवत् दुस्तरं सर्वविरत्यादि-कं कार्यं तरामि करोमीत्येवमभ्युपगम्य तत्र समर्थत्वादे-कः समुद्रं तरति तदेव समर्थयतीत्येक., अन्यस्तु तदभ्यु-पगम्यासमर्थत्वाद्गोष्पद तत्कल्प देशविरत्यादिकमल्पतम तरति निर्वाहयतीति, अन्यस्तु गोष्पदप्रायमभ्युपगम्य वीर्या-तिरेकात्समुद्रप्रायमपि साधयतीति चतुर्थ. प्रतीत. १। समुद्र-प्रायं कार्यं तरित्वा निर्वाह्य समुद्रप्राये प्रयोजनान्तरे विषी-दति, न तद् निर्वाहयति विचित्रत्वात् क्षयोपशमस्येति, ए-वमन्ये त्रय इति ।

कुम्भाः—

चत्तारि कुम्भा पण्णत्ता । तं जहा-पुण्णे णाममेगे पुण्णे, पुण्णे णाममेगे तुच्छे, तुच्छे णाममेगे पुण्णे, तुच्छे णा-ममेगे तुच्छे । एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण-

तं जहा--पुन्ने णाममेगे पुन्ने० ४। चत्तारि कुंभा पएणत्ता। तं जहा-पुन्ने नाममेगे पुन्नोभासी पुन्ने नाममेगे तुच्छो-भासी, तुच्छे णाममेगे पुन्नोभासी, तुच्छे णाममेगे तुच्छो-भासी। चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता। तं जहा-पुन्ने णाममेगे पुन्नोभासी० ४। चत्तारि कुम्भा पण्णत्ता। तं जहा-पुन्ने णाममेगे पुन्नरूवे, पुन्ने नाममेगे तुच्छरूवे० ४। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। जहा-पुन्ने णाममेगे पुन्नरूवे० ४। चत्तारि कुंभा पण्णत्ता। तं जहा-पुन्ने वि एगे पियट्ठे, पुन्ने वि एगे अवदले। तुच्छे वि एगे पियट्ठे, तुच्छे वि एगे अवदले। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता। तं जहा-पुन्ने वि एगे पियट्ठे० ४। तहेव चत्तारि कुम्भा पन्नत्ता। तं जहा-पुन्ने वि एगे विस्संदइ, पुन्ने वि एगे णो वि-स्संदइ, तुच्छे वि एगे विस्संदइ, तुच्छे वि एगे णो वि-स्संदइ। एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता। तं जहा-पुन्ने वि एगे विस्संदइ० ४। तहेव चत्तारि कुंभा पन्नत्ता। तं जहा-भिन्ने, जज्जरिए, परिस्साई, अपरिस्साई। एवामेव चउव्विहे चरित्ते पन्नत्ते। त जहा-भिन्ने० जाव अपरिस्सा-ई। चत्तारि कुंभा पन्नत्ता। तं जहा-महुकुंभे णाममेगे म-हुप्पिहाणे, महुकुंभे णाममेगे विसप्पिहाणे, विसकुम्भे णाम मेगे महुप्पिहाणे, विसकुंभे णाममेगे विसप्पिहाणे। एवामे-व चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता। तं जहा-मधुकुंभे णाम-मेगे मधुप्पिहाणे० ४।

"हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्चं।
जम्मि पुरिसम्मि विज्जइ, से मधुकुंभे महुपिहाणे ॥ १ ॥
हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य कडुयभासिणी णिच्चं।
जम्मि पुरिसम्मि विज्जइ, से मधुकुंभे विसपिहाणे ॥ २ ॥
जं हिययं कलुसमयं, जीहा वि य महुरभासिणी णिच्चं।
जम्मि पुरिसम्मि विज्जइ, से विसकुंभे महुपिहाणे ॥ ३ ॥
जं हिययं कलुसमयं, जीहा वि य कडुगभासिणी णिच्चं।
जम्मि पुरिसम्मि विज्जइ, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥४॥"
( ३६० सूत्र )

पुरुषानेव कुम्भदृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषुः सूत्रप्रपञ्च-माह—सुगमश्चायं, नवरं पूर्णः—सकलावयवयुक्तः प्र माणोपेतो वा पुनः पूर्णो—मध्वादिभृत., द्वितीये भङ्गे तुच्छो—रिक्तः, तृतीये तुच्छः-अपूर्णावयवो लघुर्वा, चतु र्थे तुच्छः। अथवा-पूर्णो भृतः पूर्वं पश्चादपि पूर्ण इत्येवं चारपाठोऽपि १। पुरुषस्तु पूर्णो जात्यादिभिर्गुणैः पुन पूर्णो ज्ञानाऽऽदिभिरिति। अथवा पूर्णो धनेन गुणैर्वा पूर्वं पश्चादपि तै. पूर्ण एवेति एवं शेषा अपि। २। पूर्णोऽवयवे-दंपादिना वा पूर्ण एवावभासते द्रष्टृणामिति पूर्णावभा-सीत्येक., अन्यस्तु पूर्णोऽपि कुतश्चिद्दैन्योपदर्शितप्रयोजनाऽ-

साधकत्वादेस्तुच्छोऽवभासते, एवं शेषौ ३। पुरुषस्तु पूर्णो धनश्रुताऽऽदिभिस्तद्विनियोगाच्च पूर्ण एवावभासते, अन्यस्तु तद्विनियोगात् तुच्छ एवावभासते, अन्यस्तुच्छोऽपि क-थमपि प्रस्तावोचितप्रवृत्तेः पूर्णवदवभासते, अपरस्तु तुच्छो धनश्रुताऽऽदिरहितोऽत एव तद्विनियोजकत्वात् तुच्छाव-भासीति० ४। तथा-पूर्णो नीराऽऽदिना पुनः पूर्णं पुण्यं वा प-वित्रं रूपं यस्य स तथेति प्रथम, द्वितीये तुच्छं-हीनं रूपम् आकारो यस्य स तुच्छरूपः। एव शेषौ ५। पुरुषस्तु पूर्णो ज्ञाना-ऽऽदिभिः पूर्णरूप. पुण्यरूपो वा विशिष्टरजोहरणाऽऽदिद्र-व्यलिङ्गसद्भावात् सुसाधुरिति, द्वितीयभङ्गे तुच्छरूपः कार-णात् त्यक्तलिङ्ग. सुसाधुरेवेति, तृतीये तुच्छो-ज्ञानादिविहीनो निह्नवादिः, चतुर्थो ज्ञानाऽऽदिद्रव्यलिङ्गहीनो गृहस्थाऽऽदिरि ति ६। तथा पूर्णस्तथैव, अपिस्तुच्छापेक्षया समुच्चयार्थः, एकः क श्चित् प्रियाय प्रीतये अयमिति प्रियार्थः कनकाऽऽदिमयत्वा-त्सार इत्यर्थः, तथा अपदलम्-अपसदं द्रव्य कारणभूतं मृत्ति-काऽऽदि यस्यासावपदलोऽवदलति वा दीर्यत इत्यवदल आ-मपक्वतया असार इत्यर्थः, तुच्छोऽप्येवमेवेति ७। पुरुषो ध-नश्रुताऽऽदिभिः पूर्णः प्रियार्थः कश्चित् प्रियवचनदानाऽऽदिभिः प्रियकारी सार इति, अन्यस्तु न तथेत्यपदलः परोपकारं प्रत्ययोग्य इति। तुच्छोऽप्येवमेवेति ८। पूर्णोऽपि जलाऽऽदे-र्विष्यन्दते-श्रवति, इह तुच्छस्तुच्छजलाऽऽदिः, स एव विष्य-न्दते, अपि. सर्वत्र समुच्चये प्रतियोग्यपेक्षयेति ९। पुरुषस्तु पूर्णोऽप्येको विष्यन्दते-धनं ददाति श्रुतं वाऽन्यो नेति तु-च्छोऽप्यल्पवित्ताऽऽदिरपि धनश्रुताऽऽदि विष्यन्दते अन्यो नैवे-ति १०। तथा भिन्नः-स्फुटितो जर्जरितो-राजीयुक्तः प-रिश्रावी-दुष्पक्वत्वात् क्षरकः अपरिश्रावी कठिनत्वादिति ११। चारित्रं तु भिन्नं मूलप्रायश्चित्ताऽऽपत्त्या जर्जरितं छेदाऽऽदिप्रा-प्त्या परिश्रावि सूक्ष्मातिचारतया, अपरिश्रावि निरतिचार-तयेति। इह च पुरुषाधिकारेऽपि यच्चारित्रलक्षणपुरुषध-र्मभणन तद्धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदादनवद्यमवगन्तव्यमि-ति १२। तथा मधुनः-क्षौद्रस्य कुम्भो मधुकुम्भो, मधुभृ-त मध्वेव वा पिधान स्थगनं यस्य स मधुपिधानः। एवम-न्ये त्रय. १३। पुरुषसूत्र स्वयमेव 'हियय' मित्यादि—गाथाचतुष्टयेन भावितमिति. तत्र हृदय-मनः अपापम् अहिंस्रम्-अकलुषम् अप्रीतिवर्जितमिति, जिह्वापि च मधुर-भाषिणी नित्यं यस्मिन् पुरुषे विद्यते स पुरुषो मधुकुम्भ इव मधुकुम्भो मधुपिधान इव मधुपिधान इति प्रथमभङ्ग-योजना। तृतीयगाथायां यत् हृदयं कलुषमयम्-अप्रीत्या-त्मकमुपलक्षणत्वात् पापं च जिह्वा या मधुरभाषिणी नित्यं तत्सा चेति गम्यते, यस्मिन् पुरुषे विद्यते स पुरुषो विष-कुम्भो मधुपिधानस्तत्साधर्म्यादिति १४। स्था०४ ठा० ४ उ०।

मित्राऽऽदिदृष्टान्तः-

चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता। तं जहा-मित्ते नाममेगे मित्ते, मित्ते नाममेगे अमित्ते, अमित्ते नाममेगे मित्ते, अमित्ते नाममेगे अमित्ते। चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता। तं जहा-मित्ते नाममेगे मित्तरूवे० ४ चउभंगो। चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता। तं जहा-मुत्ते नाममेगे मुत्ते, मुत्ते नाममेगे अमुत्ते० ४। चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता। तं जहा-मुत्ते नाममेगे मुत्त-रूवे० ४।

( चत्तारीत्यादि ) स्पष्टा चेयं, नवरं मित्रमिह लोकोपकारित्वात्, पुनर्मित्रं परलोकोपकारित्वात् सद्गुरुवत् । अन्यस्तु मित्रं स्नेहपरत्वादमित्रं परलोकसाधनविध्वंसात्कलत्राऽऽदिवत् । अन्यस्त्वमित्रः प्रतिकूलत्वात् मित्रं निर्वेदनोत्पादनेन परलोकसाधनोपकारित्वाद्विनीतकलत्राऽऽदिवत्, चतुर्थोऽमित्रः प्रतिकूलत्वात् पुनरमित्रः संक्लेशहेतुत्वेन दुर्गतिनिमित्तत्वात् पूर्वापरकालापेक्षया चेदं भावनीयमिति । तथा "मित्रमन्तः स्नेहवृत्त्या मित्रस्यैव रूपमाकारो बाह्योपचारकारणत्वात् यस्य स मित्ररूप इत्येकः, द्वितीयः अमित्ररूपो बाह्योपचाराभावात्, तृतीयोऽमित्रः स्नेहवर्जितत्वादिति, चतुर्थः प्रतीतः । तथा मुक्तः त्यक्तसंगो द्रव्यत पुनर्मुक्तो भावतोऽभिष्वङ्गाभावात् सुसाधुवत्, द्वितीयोऽमुक्तः साभिष्वङ्गत्वाद्रङ्कवत्, तृतीयोऽमुक्तो द्रव्यतो भावतस्तु मुक्तो राज्यावस्थोत्पन्नकेवलज्ञान भरतचक्रवर्तिवत्, चतुर्थो गृहस्थ, कालापेक्षया चेदं द्रष्टव्यमिति, मुक्तो निरभिष्वङ्गतया मुक्तरूपो वैराग्यपिशुनाऽऽकारतया यतिरिवेत्येकः, द्वितीयोऽमुक्तरूपः उक्तरूपविपरीतत्वात् गृहस्थावस्थायां महावीर इव, तृतीयो मुक्तः साभिष्वङ्गत्वात् शठयतिवत्, चतुर्थो गृहस्थ इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

ह्रीसत्त्वाऽऽदिपुरुषाः—

पंच पुरिसजाया पएणत्ता । तं जहा–हिरिसत्ते, हिरिमणसत्ते, चलसत्ते, थिरसत्ते, उदयणसत्ते ।

( पच पुरिसेत्यादि ) ( हिरिसत्ते ) ह्रिया-लज्जया सत्त्वं परीषहेषु साधोः संग्रामाऽऽदावितरस्य वा अवष्टम्भोऽविचलत्व यस्याऽसौ ह्रीसत्त्व, तथा ह्रियाऽपि मनस्येव सत्त्वं न देहे शीताऽऽदिषु कम्पाऽऽदिविकारभावात् स ह्रीमनःसत्त्व., चलं भङ्गुर सत्त्वं यस्य स तथा, एतद्विपर्ययात् स्थिरसत्त्व., उदयनमुदयगामि प्रवर्द्धमानं सत्त्वं यस्य स तथा । स्था०५ ठा०१ उ० ।

अर्थकरो गणेशः—

चत्तारि पुरिसजाया पएणत्ता । त जहा–अट्ठकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे नामं एगे नो अट्ठकरे २, एगे अट्ठकरे वि माणकरे वि ३, एगे नो अट्ठकरे णो माणकरे ४ ।

एतत्प्रभृतीनां च पुरुषजातसूत्राणामयं संबन्ध.—

ववहारकोविदप्पा, तदट्ठे नो पमायए जोगे ।
मायहु तदुज्जमंते, कुणमाणं एस संबंधो ॥ १ ॥

पञ्चविधव्यवहारकोविदात्मा तदर्थे-व्यवहारार्थे योगे न मनोवाक्कायात्प्रमाद्यति, न व्यवहारविषये प्रमादमाचरतीति-भावः । 'मायहु' निश्चितं तस्मिन् व्यवहारे उद्यच्छति उद्यमं कुर्वेति, मानमहमकार्षमिति ज्ञापयन्येवमादीनि सूत्राणि, एष पुरुषजातसूत्राणां सम्बन्धः ।

प्रकारान्तरेण सम्बन्धमाह—

वुत्ता वा पुरिसजाया, अत्थओ न चि गंथओ ।
तेसिं परूवणत्थं, तदिदं सुत्तमागयं ॥ २ ॥

वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतने । अथवा-अनेन व्यवहारसूत्रेण अर्थतः पुरुषजाता उक्ताः-सूचिना., न वै ग्रन्थतः उक्ताः, तेषां प्ररूपणार्थं तदिद सूत्रं-पुरुषजातसूत्रमागतम् । अस्याक्षरगमनिका तु प्रतीता ।

विस्तरार्थं भाष्यकृदाह—

पुरिसजाया चउरो, विभासियव्वा उ आणुपुव्वीए ।
अत्थकरे माणकरे, उभयकरे नो य उभयकरे ॥ ३ ॥

अधिकृतभङ्गसूचिताश्चत्वारः पुरुषा इमे आनुपूर्व्या-परिपाट्या विभाषितव्याः । तद्यथा-प्रथमभङ्गे अर्थकरः, द्वितीय भङ्गे मानकरः, तृतीये उभयकरः, चतुर्थे नोभयकरः ।

चतुष्टयम्—

पढमतइया य एत्थं, तू सफला निप्फला दुवे इयरे ।
दिट्ठंतो सगतेणा, सेवंता अन्नरायाणं ॥ ४ ॥

अत्र एष चतुर्षुपुरुषेषु मध्ये प्रथमतृतीयौ सफलौ, इतरौ द्वितीयचतुर्थौ निष्फलौ । एतेषु चतुर्ष्वपि दृष्टान्तोऽन्यराजानं सेवमाना शकस्तेना ।

तमेव दृष्टान्तमभिधित्सुराह—

उज्जेणी नगराय, नीया गव्वा न सुट्ठु सेवेंति ।
वित्तिअदाणं चोज्जं, निव्विसया अएणनिवसेवा ॥५॥
धावइ पुरतो तह म-ग्गतो य सेवइ य आसणं नीयं ।
भूमीए वि निसीयइ, इंगियकारी उ पढमो उ ॥ ६ ॥
चिक्खल्ले अमया पुरतो, उ गतो से एगो नवरि सेवंतो ।
तुट्ठेण तहा रण्णा, वित्ती उ सुपुक्खला दिन्ना ॥ ७ ॥

यदा कालिकाऽऽचार्येण शका आनीतास्तदा उज्जयिन्या नगार्यां शको राजा जातः, तस्य निजका-आत्मीया एषोऽस्माक ज्ञात्या सदृश इति गर्वात् तं राजानं न सुष्ठु सेवन्ते, ततो राजा तेषां वृत्ति नादात्, अवृत्तिकाश्च ते चौर्यं कर्तुं प्रवृत्ता, ततो राजा बहुभिर्जनैर्विज्ञप्तेन निर्विषयाः कृताः । ततस्तैर्देशान्तरं गत्वा अन्यस्य नृपस्य सेवां कर्तुमारब्धाः, तत्रैक पुरुषो राज्ञा आज्ञप्तश्च, यदि राजाऽऽसनं प्रजानाति तथापि स नीचमासनमाश्रयते कदाचिच्च राज्ञ पुरतो भूमावपि निषीदति, राज्ञश्च इङ्गितं ज्ञात्वा अनाज्ञप्तोऽपि विवक्षितप्रयोजनकारी । अन्यदा च राजा पानीयस्य कर्दमस्य मध्येन धावित., शेषश्च भूयान् लोको निःकर्दमेन प्रदेशेन गन्तुं प्रवृत्त. स पुनः शकपुरुषोऽश्वस्याग्रत पानीयेन कर्दमेन च सेव्यमान एकः ( से ) तस्य पुरतो धावति । ततस्तस्य राज्ञा तुष्टेन सुपुष्कला-अतिप्रभूता वृत्तिर्दत्ता ।

बितिओ न करे अट्ठं, माणं च करेइ जाइकुलमाणी ।
न निवसति भूमीए, न य धावति तस्स पुरतो उ ॥८॥

द्वितीयः पुरुषोऽहमपि राजवंशिक इति गर्वाद् न कमप्यर्थं राज्ञः प्रयोजनं करोति जातिकुलमानी सन् मानं च भूयासमात्मनि करोति, न च भूमौ निवसति, न च तस्य राज्ञ पुरतो धावति ।

तृतीयमाह—

सेवति ठितो वि दिएणे, वि आसणं पेसितो कुणइ अट्ठं ।
इइ उभयकरो तइओ, जुज्झइ य रणे समाभट्ठो ॥९॥

तृतीय. पुरुषो राजान प्रथमपुरुषवत् सेवते, नवरमश्वस्य पुरतो न धावति किं तु पृष्ठतः, तथा ऊर्ध्वस्थितः सेवते । वितीर्णे आसने स्थितोऽप्युपविष्टोऽपि आसन सेवति न भूमौ निषीदति । तथा प्रेषित. सन् अर्थं करोति, नाऽप्रेषितो

मानवशादिति । एवमेष उभयकर । रणे च संभ्रमे च-राज पुत्र इति समाभावितो युध्यते ।

उभयनिसेहो चउत्थे,बिइयचउत्थेहि तत्थ उ न लद्धा ।
वित्ती इयरेहिं लद्धा, दिट्ठंतस्सेम उवणेओ ॥ १० ॥

चतुर्थे पुरुषे उभयस्य अर्थस्य समानस्य च निषेधः । तत्र द्वितीयचतुर्थाभ्यां वृत्तिर्न लब्धा, इतराभ्यां प्रथमतृतीयाभ्यां लब्धा । दृष्टान्तस्य एष वक्ष्यमाण उपनयः ।

तमेवाऽऽह-

एमेवाऽऽयरियस्स वि, कोई अट्ठं करेइ न य माणं ।
ए [illegible] उवमाणो, वेयावच्चं दसविहं तु ॥११॥
अहवा अब्भुट्ठाणं, आसणकितिमत्तपायसंथारो ।
उववाया य बहुविहा, इच्चाइ हवंति अट्ठा उ ॥१२॥

एवमेव-शकपुरुषदृष्टान्तगतेन प्रकारेण, कोऽप्याचार्यस्यार्थं करोति, न च मानम् । अर्थो वक्ष्यमाणसूत्रेणोच्यमानः । कः पुन. स इत्याह-दशविध वैयावृत्यम् । अथवा-समागच्छतोऽभ्युत्थानमासनदानं, कृतिकर्म-विश्रामणा, यथा खेल मुच्चारमात्रकस्य श्लेष्ममात्रकस्य चोपनयः, संस्तारकस्य करणमुपपताश्च समीपभवनलक्षणा बहुविधास्तत्प्रयोजनभेदतोऽनेकप्रकारा इत्यादयोऽर्था भवन्ति ।

बितिओ माणकरे तू, को पुण माणो हवेज्ज तस्स इमो ।
अब्भुट्ठाणाऽऽभत्थणा, होइ पसंसा य एमादी ॥१३॥

द्वितीयो भवति मानकरः । कः पुनस्तस्य मानः ? । उच्यते अयं वक्ष्यमाणः । तमेवाऽऽह-(अब्भुट्ठाणमित्यादि)आगच्छतोऽभ्युत्थानं न कृतं, यदि वा-न मेऽभ्यर्थयति वा कृता मम प्रशंसा इत्यादि ।

तइओभय नोभयतो, चउत्थओ, दो वि निप्फलगा ।
सुत्तत्थोभयनिज्जर-लाभो, दोण्ह भवे तत्थ ॥ १४ ॥

तृतीय उभयकरोऽर्थकरो मानकरश्चतुर्थो नोभयकर , तत्र द्वौ द्वितीयचतुर्थौ *उभयनिर्जरालाभाभावात् । तथाहि-न तयोराचार्या. सूत्रमर्थमुभयं वा प्रयच्छन्ति,नाऽपि ते निर्जरां प्राप्नुतः, द्वयोः प्रथमतृतीययोः सूत्रार्थोभयनिर्जरालाभोऽर्थकारितया सर्वस्याऽपि सम्भवात् । तस्मात्प्रथमतृतीयाभ्यामिव वर्तितव्यं, न द्वितीयचतुर्थाभ्यामिव । * निष्फलौ ।

सूत्रम्—

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-गणट्ठकरे नामं एगे नो माणकरे, माणकरे नामं एगे नो गणट्ठकरे, एगे गणट्ठकरे वि माणकरे वि, एगे नो गणट्ठकरे नो माणकरे । अस्याक्षरगमनिका सुप्रतीता ।

प्रपञ्चं भाष्यकृदाह—

एमेव होंति भंगा, चत्तारि गणट्ठकारिणो जइणो ।
रण्णो सारूविय दे-वचिंतगा तत्थ आहरणं ॥ १५ ॥

एवमेव-अनन्तरसूत्रोक्तप्रकारेण गणार्थकारिणोऽपि यतेश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति । ते च सूत्रतः स्पष्टा एव । तेषु च चतुर्ष्वपि पुरुषजातेषु ये सारूपिका यतेः समानरूपधारिणो मुण्डितशिरस्का भिक्षाऽऽटनशीला इत्यादिप्रागुक्तस्वरूपाः देवचिन्तका नाम -ये शुभाशुभं राज्ञः कथयन्ति, ते आहरणं-दृष्टान्तः ।

तमेव भावयति -

पुट्ठा पुट्ठो पढमो, उ साहई न उ करेइ माणं तु ।
बितिओ माण करेई, पुट्ठो वि न साहई किंचि ॥ १६ ॥
तइओ पुट्ठो साहइ, नापुट्ठ चउत्थ नेव सेवइ तु ।
दो सफला दो अफला, एवं गच्छे वि नायव्वा ॥१७॥

प्रथमो राज्ञा पृष्टोऽपृष्टो वा यस्मात् शुभाऽशुभं वा साधयति, न तु मानं करोति । द्वितीयो मानं करोति न च मानादेव पृष्टोऽपि किञ्चित्कथयति । तृतीयः पृष्टः साधयति नापृष्टः । चतुर्थः सेवते एव राजानं नेति । अथ द्वौ प्रथमतृतीयौ सफलौ, द्वौ च द्वितीयचतुर्थावफलौ । एवम्-अमुना दृष्टान्तगतेन प्रकारेण गच्छे द्वौ प्रथमतृतीयौ सफलौ, द्वौ च द्वितीयचतुर्थावफलौ च ज्ञातव्यौ ।

तेषां चतुर्णामपि स्वरूपमाह—

आहारउवहिसयणा-इएहिं गच्छस्सुवग्गहं कुणइ ।
बिइओ माणं उभयं, च तइय नोभय चउत्थो उ ॥ १८ ॥

प्रथम आहारोपधिशयनाऽऽदिभिर्गच्छस्योपग्रहं करोति न मानं, द्वितीयो मानं, तृतीय उभयं-गच्छस्योपग्रहं मानं च, चतुर्थो नोभयं-न गच्छस्योपग्रहं नापि मानमिति ।

सूत्रम्-

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-गणसंगहकरे नामं एगे नो माणकरे, एगे माणकरे नो गणसंगहकरे,एगे गणसंगहकरे वि माणकरे वि, एगे नो गणसंगहकरे नो माणकरे ।

अस्य संबन्धमाह-

सो पुण गणस्स अट्ठो, संगहो तत्थ संगहो दुविहो ।
दव्वे भावे तियगा, उ दोन्नि आहार नाणादी ॥ १९ ॥

अनन्तरसूत्रे गणार्थकर उक्तः, स पुनर्गणस्यार्थः संग्रहकर., तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम् । तत्र संग्रहो द्विधा-द्रव्यतो,भावतश्च । तत्र द्रव्ये भावे च द्वौ त्रिकौ द्रष्टव्यौ । तद्यथा—आहाराऽऽदित्रिकं द्रव्ये, ज्ञानाऽऽदित्रिकं भावे ।

तदेव संग्रहं व्याख्याय संग्रहकरत्वयोजनामाह-

आहारोवहिसेज्जा-इएहिं दव्वम्मि संगहं कुणइ ।
सीसे पडिच्छे वाए, भावेण तरंति जाहि गुरू ॥२०॥

द्रव्यत संग्रहं करोति आहारोपधिशय्याऽऽदिभिः,अत्राऽऽदिशब्द आहाराऽऽदीनां स्वगतानेकभेदसूचकः । भावेन यदा गुरवः शक्नुवन्ति तदा शिष्यान् प्रतीच्छिकान्वा वाचयन्ति । एष प्रथमः पुरुषः । द्वितीयो मानं करोति न तु द्रव्यतो भावतो वा गणस्य संग्रह, तृतीय उभयं, चतुर्थो नोभयमिति ।

सूत्रम्-

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-गणसोहकरे नामं एगे नो माणकरे, एगे माणकरे नो गणसोहकरे, एगे गणसोहकरे वि माणकरे वि , एगे नो गणसोहकरे नो माणकरे ॥

अत्र भाष्यम्-

एवं गणसोहम्मि वि, चउरो पुरिसा हवंति नायव्वा ।
सो भावेति गणं खलु, इमेहिं ते कारणेहिं तु ॥२१॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण शोभायामपि कर्त्तव्यायां चत्वारः पुरुषा भवन्ति-ज्ञातव्या, ते च सूत्रपाठसिद्धा एव गणशोभाकरो नाम यो गणं शोभयति । ते च गणं शोभयन्ति । शोभा खलु एभिः-वक्ष्यमाणैः कारणैः-प्रयोजनैर्वादाऽऽदिभिः ।

तानेव वादाऽऽदीन् दर्शयति-

गणसोभी खलु वादी, उद्देसे सो उ पढमए भणितो ।
धम्मकहि निमित्ती वा, विज्जातिसएण वा जुत्तो ॥२२॥

गणं वादप्रदानतः शोभयतीत्येवंशीलो गणशोभी खलु वादी, स च वादेन यथा गणं शोभयति तथा प्रथमे उद्देशके भणितः । न केवलं वादी गणशोभी किं तु धर्मकथी । तथाहि-धर्मकथासरकस्वरूपमाक्षेपतः कथयितुं जनयति गणस्य महतीं शोभां, तथा निमित्ती अतीताऽऽदिनिमित्तकथनतो, विद्याऽतिशयेन वा युक्तो गणशोभी, महतोऽपि संघप्रयोजनस्य विद्याप्रभावतः साधनात् ।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-गणसोहिकरे नामं एगे नो माणकरे, एगे माणकरे नो गणसोहिकरे, एगे माणकरे वि गणसोहिकरे वि, एगे नो गणसोहिकरे नो माणकरे ॥

अत्र भाष्यम्-

एवं गणसोहिकरो, चउरो पुरिसा हवंति विन्नेया ।
किह पुण गणस्स सोहिं, करेज्ज सो कारणा एहिं ॥२३॥

एवम्-उक्तप्रकारेण शोधिकराश्चत्वारः पुरुषा भवन्ति-विज्ञेयाः। कथं पुनः स प्रथमः तृतीयो वा गणस्य शोधिं कुर्यात् ?। सूरिराह-एभिः-वक्ष्यमाणैः कारणैरोजस्वित्वादिभिः।

तान्येवाऽऽह-

एगदवे संघाडे-ण लद्धमाऽऽलोअणाए संका उ ।
ओयस्सि सम्मओ सं-थुओ य तं दुप्पवेसं च ॥ २४ ॥

एकस्मिन् गृहे अनेकैः सङ्घाटकैः एकं द्रव्य लब्धम् । तद्यथा-एकेन सङ्घाटकेन एकस्मिन् गृहे पूपलिका लब्धाः । अन्येनापि सङ्घाटकेन तस्मिन्नेव गृहे तादृश्य एव पूपलिकाः लब्धाः । एवं तृतीयेन चतुर्थेन पञ्चमेन वा लब्धाः । ते, सन्निवृत्तैर्गुरुसमीपमागत्याऽऽलोचितं, दर्शिताश्च पूपलिकाः, ततो जाता सर्वेषां शङ्का, उद्गमाशुद्धा भवेयुः । एवं शङ्किते गत्वा तद् गृहं द्रष्टव्यं, किं युष्माकं गृहेऽद्य संखडिभक्तलाभनकं समागतम्, अथवा-प्राघूर्णकाः समागताः, यदि वा-साधूनामर्थाय कृताः क्रीता वा । तत्र गृहे भिक्षावेलायां न कोऽपि प्रवेशं लभते, तत्र साधुरेक ओजस्वी मानुषाणां संस्तुतः, संस्तुततया च तस्मिन् गृहे संमतोऽनिवारितप्रसरस्तत् दुःप्रवेशं गृहं प्रविशति, प्रविश्य च निःशङ्कितं करोति । अत्र योऽप्रेषितो गत्वा निःशङ्कितः शीघ्रमागच्छति स प्रथमः पुरुषजातः । यस्तु मानेन गच्छति एवं नो धर्मं जहति ...... (?) ।

अस्य संबन्धमाह-

हेट्ठाणंतरसुत्ते, गणसोही एस सुत्तसंबंधो ।
सोहि त्ति व धम्मो त्ति व, एगट्ठं सो दुहा होइ ॥ २५ ॥

अधस्तने अनन्तरसूत्रे गणस्य शोधिरुक्ता । शोधिरिति वा धर्म इति वा एकार्थम् । स च धर्मो द्विधा भवति-रूपतो भावतश्च । तत्र तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रमित्येष सूत्रसंबन्धः॥

सम्प्रति रूपधर्मव्याख्यानार्थमाह-

रूवं होति सलिंगं, धम्मो नाणादियं तियं होइ ।
रूवेण य धम्मेण य, जढमजढे भंग चत्तारि ॥ २६ ॥

रूपं नाम भवति साधुलिङ्गं रजोहरणाऽऽदि, धर्मो-ज्ञानाऽऽदिकं त्रिकम् । रूपेण धर्मेण च त्यक्तेऽत्यक्ते च भङ्गाश्चत्वारः । ते च सूत्रपाठसिद्धा एव ।

तेषां विषयविभागमाह-

रूवजढमसलिंगे, धम्मजढे खलु तहा सलिंगम्मि ।
उभयजढो गिहिलिंगे, उभओ सहिओ सलिंगेणं ॥२७॥

रूपं त्यक्तं येन स रूपत्यक्तः, सुखाऽऽदिदर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः । सोऽस्त्यस्य लिङ्गे द्रष्टव्यः । इयमत्र भावना-भावतो ज्ञानाऽऽदित्रिकसमन्वित, कारणवशेनान्यलिङ्गं गृहिलिङ्गं वा यः प्रतिपद्यते । अत्र निदर्शनं यथा-कोऽपि राजा महामिथ्यादृष्टिर्नास्तिकवादी वावदूकः पण्डिताभिमानी दर्शनिभिः सह वादं दत्त्वा तद्वादमुपजीव्य दर्शनिनो हीलयति, अन्यदा साधूनुपद्रावयितुं प्रवृत्तो, मया सह वादो दीयतां, तत्रैकः साधुर्वादिलब्धिसंपन्नः, अवरतसिंधानात् प्रभूत, संघस्यापभ्राजनेति अन्यलिङ्गं गृहिलिङ्गं वा कृत्वा राज्ञः समीपे वादेनोपस्थितः, प्रवृत्तो द्वयोरपि वादः, तत्र राजा अल्पशक्तिकत्वात् स्वपक्षं निर्वाहयितुमशक्नुवन् हीलनां तस्य कृतवान्, तत स वाददर्पस्फेटनाय तस्य राज्ञो मूर्द्धानम् पदेनाऽऽक्रम्याऽऽकाशेन वायुरिव पलायित्वा स्वस्थान गत ।

एतदेवाऽऽह-

तस्स पंडियमाणिस्स, बुद्धिलस्स दुरप्पणो ।
मुद्धं पाएण अक्कम्म, वादी वाउरिवाऽऽगतो ॥ २८ ॥

तस्य नास्तिकवादिनो राज्ञः पण्डितमानिनो बुद्धिपरस्य बुद्धिं लाति-उपजीवति इति बुद्धिलः, तस्य दुरात्मनो मूर्द्धानं पादेनाऽऽक्रम्य वादी वायुरिव पलायित्वा स्वस्थानमागतः । एषः प्रथमः पुरुषः । द्वितीयो धर्मत्यक्तो न रूपत्यक्त इत्येव रूपः खलु सलिङ्गे प्रतिपत्तव्यः। स च पार्श्वस्थाऽऽदीनामन्यतमो, निष्कारणप्रतिसेवी, अवधावितुकामो वा वेदितव्यः । तस्य भावतस्त्यक्तधर्मत्वात्स्वलिङ्गस्य च धारणादिति । (उभयजढो गिहिलिंगे इति ) उभयत्यक्तो मिथ्यादृष्टिर्गृहिलिङ्गे वर्त्तमानः । उभयसहितः स्वलिङ्गेन सहितो, ज्ञानाऽऽदित्रिकोपेतश्च ।

सूत्रम्-

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-गणसंठितिं नाममेगे जहति नो धम्मं, धम्मं नामेगे जहति नो गणसंठितिं, एगे धम्मं पि जहति गणसंठितिं पि जहति, एगे नो धम्मं जहति नो गणसंठितिं ।

अत्र भाष्यम्-

गणसंठिति धम्मे वा, चउरो भंगा हवंति नायव्वा ।
गणसंठिती असिस्से, महकप्पसुयं न दायव्वं ॥ २९ ॥

पूर्वप्रकारेण गणसंस्थितौ धर्मे च भङ्गाश्चत्वारो भवन्ति ज्ञातव्याः, ते च तत्र पाठसिद्धा एव । गणसंस्थितिर्नाम गणस्य मर्यादा, यथा अशिष्ये-अयोग्ये शिष्ये महाकल्पश्रुतं न दातव्यम् ।

संप्रति चतुर्णामपि भङ्गानां विषयविभागमाह—

सातिसयं इयरं वा, अन्नगणच्चे न देमऽज्झयणं ।
इई गणसंठितीओ, करेंति सच्छंदतो केई ॥२०॥
पत्ते दत्तो पढमो, बितितो भंगो न कस्सइ वि दत्ते ।
जो पुण अपत्तदाई, तइओ भंगो उ तं पप्प ॥ २१ ॥
सयमेव दिसाबंधं, काऊण पडिच्छगस्स जो देइ ।
उभयमवलंबमाणं, कामं तु तगं पि पुज्जामो ॥ २२ ॥

सातिशयं-देवेन्द्रोपपातिकाऽऽदि, इतरद्वा-महाकल्पश्रुतम्, अन्यद्वा-अध्ययनमन्यगणसत्कस्य न दातव्यमिति । एवंप्रकारा गणसंस्थिती स्वच्छन्दं तीर्थकरानुपदेशेन कुर्वन्ति । तत्रैवं गणसंस्थितौ कृतायां योऽन्यगणसत्कोऽपि पात्रे महाकल्पश्रुताऽऽदिकमध्ययनं ददाति तेन गणसंस्थितिस्त्यक्ता, न धर्मः, तीर्थकरोपदेशे वर्तमानत्वात् । एष हि भगवता तीर्थकृतामुपदेशः-सर्वस्यापि पात्रस्याविशेषेण दातव्यः । यस्तु गणसंस्थितौ कृतायां न कस्यापि परगणसत्कस्य पात्रस्य ददाति तं प्राप्य द्वितीयो भङ्गः । यः पुनरपात्रस्य दाता तं प्राप्य तृतीयो भङ्गः, तेन गणस्थितेः तीर्थकराऽऽज्ञाखण्डनतो धर्मस्य च त्यक्तत्वात् । यस्त्वनयोर्व्यवच्छेदं पश्यन् मेधावी प्रवचनोपग्रहकरो भविष्यतीत्यादिगुणसमन्वितं प्रातीच्छिकमुपलभ्य तस्य तस्य स्वयमेवं निजं दिग्बन्धं कृत्वा सातिशयमन्यद्वा अध्ययनं ददाति, तमप्यास्तां प्रथमभङ्गवर्तिनमित्यपिशब्दार्थः । उभयं गणसंस्थितिं धर्मं चावलम्बमानं पूजयाम. । एष चतुर्थः । व्य० १० उ० ।

पुरिसजुग-पुरुषयुग-न० । पुरुषाः शिष्यप्रशिष्याऽऽदिक्रमव्यवस्थिता युगानीव-कालविशेषा इव क्रमसाधर्म्यात् पुरुषयुगानि । स० ४४ सम० । शिष्याऽऽदिक्रमप्राप्ते पुरुषान्तरे, व्य० ३ उ० । कल्प० । स्था० । ( कस्मात् पुरुषयुगात्कस्य तीर्थकरस्य कियती युगान्तकृद्भूमिरिति 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२७१ पृष्ठे उक्तम् )

पुरिसजेट्ठ-पुरुषज्येष्ठ-पु० । पुरुषः एव ज्येष्ठ. पुरुषज्येष्ठः । स्त्र्यपेक्षया प्रशस्ते पुरुषे, पञ्चा० १७ विव० ।

सर्वेषामपि तीर्थकृतां पुरुषस्य साधोः स्त्रियः साध्व्यो वन्दनं ददति । तथा चाऽऽह—

सिज्जायरपिंडम्मि य, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
किंतिकम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणं पि ॥१०॥

पञ्चा० १७ विव० । ( अस्या ( १० ) गाथाया व्याख्या 'अट्ठियकप्प' शब्दे प्रथमभागे २५५ पृष्ठे गता )

पुरिसत्थ-पुरुषार्थ-पुं० । धर्मार्थकाममोक्षेषु, पं० व० १ द्वार । इच्छाविषयेषु, "अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, धर्मस्य दानं च दया दमश्च । कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियासु ॥ १ ॥" स्था० ३ ठा० ३ उ० ।



पुरिसद्देय-पुरुषाद्वैत-न० । द्वयोर्भावो द्विता, तस्या भवम्, नैव वा द्वैतं पुरुषस्याद्वैतम् । पुरुषैकत्वे, तच्च-विशिष्टं केवलं रागाऽऽदिवासनारहितमवबोधमात्रं वा, बोधस्वलक्षणं वाऽऽत्मानं वदतां वेदान्तिनामभिप्रेतम् । षो० १६ विव० ।

पुरिसधम्म-पुरुषधर्म-पुं० । प्राकृतपुरुषाणां ज्ञानपर्यायलक्षणे पुरुषे, "पुरिसधम्माओ वा मे उच्चरिए अहोवहिए णाणदंसणे समुप्पन्ने ।" स्था० १० ठा० ।

पुरिसनाण-पुरुषज्ञान-न० । किमयं प्रतिवादी पुरुषः सांख्यः सौगतोऽन्यो वा तथा प्रतिभाऽऽदिमानितरो वेति परिभावने, अयं च मतिसंपद्भेदः । उत्त० १ अ० ।

पुरिसपरिण्णाण-पुरुषपरिज्ञान-न० । किं नयोऽयं वाद्यादिरिति परिज्ञाने, प्रयोगसम्पद्भेद एष. । स्था० ८ ठा० ।

पुरिसपुंडरीय-पुरुषपुण्डरीक-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते षष्ठे वासुदेवे, आव० १ अ० । प्रव० । ति० । सुखार्थिनां पुरुषाणां पूज्ये सेव्ये च तीर्थकराऽऽदौ, स्था० ६ ठा० । औ० । शषो. सः ॥८।१।२६०॥ इति स. । प्रा० ।

पुरिसपुर-पुरुषपुर-न० । स्वनामख्याते नगरे, पाटलिपुरनगरे मुरुण्डो नाम राजा, तदीयदूतस्य पुरुषपुरे नगरे गमनं, तत्र सचिवेन सह मीलनं, तेन च तस्याऽऽवासोऽदायि । ततो राजानं द्रष्टुमागतो, रक्तपटा अपशकुना भवन्तीति कृत्वा स दूतो न राजभवनं प्रविशति । बृ० १ उ० ३ प्रक० । आव० ।

पुरिसप्पणीय-पुरुषप्रणीत-त्रि० । ईश्वरेण आत्मना वा प्रणीते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । सर्वत्र लवरामवन्द्रे ॥८।२।७९॥ इति रलुकि । समासे वा ॥८।२।९७॥ पद्वित्वम् । प्रा० ।

पुरिसमेह-पुरुषमेध-पु० । पुरुषयज्ञे, व्य० १ उ० ।

पुरिसरयण-पुरुषरत्न-न० । पुरुषाणां मध्ये रत्न इवोत्कृष्टे पुरुषे, अङ्ग० । पुरुषे रोः ॥८।१।१११॥ इति इः ॥ प्रा० । इमाश्लाघा-रत्ने० ॥ ८।२।१०१॥ इति नात् पूर्वमत् ॥ प्रा० ।

पुरुषरत्नानि—

के ते भयवं ! पंच पुरिसरयणा पन्नत्ता । जंबू ! आयरियपुरिसरयणे १, उवज्झायपुरिसरयणे २, पवत्तियपुरिसरयणे ३, थेरे पुरिसरयणे ४, रायणिए पुरिसरयणे ५ । एए पंच पुरिसरयणा । कहं णं भंते ! साहूणं मज्झे आयरिए० जाव रायणिए पुरिसरयणे, अन्ने पंचमहव्वयधरणसीला साहू पुरिसरयणा ण हवंति ? । जंबू ! ते वि पुरिसरयणा, परं आयरियाणं परंपराए वा उववन्ने समणसंघे संकाकंखाइदोसरहिए विहरंति अओ ते पुरिसरयणे । अङ्ग० ।

पुरिसलक्खण-पुरुषलक्षण-न० । सामुद्रिकप्रसिद्धपुंलक्षणपरिज्ञानलक्षणे कलाभेदे, जं० २ वक्ष० । सूत्र० । स० । ज्ञा० ।

पुरिसलिंगसिद्ध-पुरुषलिङ्गसिद्ध-पुं० । पुँल्लिङ्गशरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिते सति सिद्धे, नं० । पा० ।

पुरिसवग्घ-पुरुषव्याघ्र-पुं० । पुरुषेषु व्याघ्र इव शूरतया पुरुषव्याघ्रः । रा० । रोषे सति रौद्ररूपे पुरुषे, औ० ।

पुरिसवयण-पुरुषवचन-न० । घटः पट इत्यादिरूपे पुंवचने, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

पुरिसवर-पुरुषवर-पुं० । पुरुषाणां मध्ये प्रधाने, औ० । स्था० ।

पुरिसवरगंधहत्थि(ण्)-पुरुषवरगन्धहस्तिन्-पुं० । तीर्थकरे, भ० । पुरुष एव वरगन्धहस्ती पुरुषवरगन्धहस्ती, यथा गन्धहस्तिनो गन्धेनापि समस्तेतरद्वहस्तिनो भज्यन्ते तथा भगवतस्तद्देशविहरणेन ईतिपरचक्रदुर्भिक्षडमरमरकाऽऽदीनि दुरितानि नश्यन्तीति पुरुषवरगन्धहस्तीत्युच्यते इति । पुरुषोत्तमे, भ० १ श० १ उ० । कल्प० । रा० ।

प्रणिपातदण्डकनवमसूत्रम्—

पुरिसवरगंधहत्थीणं ॥ ६ ॥

पुरुषवरगन्धहस्तिभ्य इति । पुरुषाः पूर्ववदेव, ते वरगन्धहस्तिन इव-गजेन्द्रा इव क्षुद्रगजनिराकरणाऽऽदिना धर्म्मसाम्येन पुरुषवरगन्धहस्तिनः, यथा गन्धहस्तिना गन्धेनैव तद्देशविहारिणः क्षुद्रशेषगजा भज्यन्ते, तद्वदेतेऽपि, परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतयः सर्वे एवोपद्रवगजा अचिन्त्यपुण्यानुभावतो भगवद्विहारपवनगन्धादेव भज्यन्त इति, न चैकानेकस्वभावत्वे वस्तुन एवमप्यभिधानक्रमाऽभावः, सर्वगुणानामन्योऽन्यसंवलितत्वात् पूर्वोऽनुपूर्व्योऽऽद्यभिधेयस्वभावत्वाद्, अन्यथा तथाऽभिधानाऽप्रवृत्ते, नैवमभिधेयमपि तथाऽक्रमवदसदित्युक्तवद्, अक्रमवचनासिद्धेः, क्रमाऽक्रमव्यवस्थाऽभ्युपगमाच्च, अन्यथा न वस्तुनिबन्धना शब्दप्रवृत्तिरिति स्तववैयर्थ्यमेव, ततश्चान्धकारनृत्तानुकारी प्रयास इति, पुरुषवरगन्धहस्तिन इति ॥ ६ ॥ ल० । ध० ।

पुरिसवरपुंडरीय-पुरुषवरपुण्डरीक-न० । तीर्थकरे, वरपुण्डरीकं प्रधानधवलसहस्रपत्रं पुरुषो वरपुण्डरीकमिवेति पुरुषवरपुण्डरीकम् । धवलत्वं चास्य भगवतः सर्वाशुभमलीमसरहितत्वात् सर्वैश्च शुभानुभावैः शुद्धत्वात् । अथवा-पुरुषाणां तत्सेवकजीवानां वरपुण्डरीकमिव-वरच्छत्रमिव यः सन्तापाऽऽतपनिवारणसमर्थत्वाद् भूषाकारणत्वाच्च स पुरुषवरपुण्डरीकमिति । भ० १ श० १ उ० । सूत्र० । स० । जी० । रा० । कल्प० । पुरुषो वरपुण्डरीकमिव संसारजलाऽऽसङ्गाऽऽदिना धर्मकलापेन पुरुषवरपुण्डरीकम् । ध० २ अधि० ।

प्रणिपातदण्डकाष्टमसूत्रम्—

पुरिसवरपुंडरीयाणं ॥ ८ ॥

यथा पुण्डरीकाणि पङ्के जातानि जले वर्द्धितानि तदुभयं विहाय वर्तन्ते, प्रकृतिसुन्दराणि च भवन्ति, निवासो भुवनलक्ष्म्या आयतनं चक्षुराद्यानन्दस्य, प्रवरगुणयोगतो विशिष्टतिर्यग्नरामरैः सेव्यन्ते, सुखहेतूनि भवन्ति च; तथैतेऽपि भगवन्तः कर्म्मपङ्के जाता दिव्यभोगजलेन वर्द्धिता उभयं विहाय वर्त्तन्ते, सुन्दराश्चातिशययोगेन, निवासो गुणसंपदः, हेतवो दर्शनाऽऽद्यानन्दस्य, केवलाऽऽदिगुणभावेन भव्यसत्त्वैः सेव्यन्ते, निर्वाणनिबन्धनं च जायन्त इति नैव भिन्नजातीयोपमायोगेऽप्यर्थतो विरोधाभावेन यथोदितदोषसंभव इति, एकानेकस्वभाव च वस्तु, अन्यथा तत्त्वतासिद्धेः, सत्त्वामूर्त्तत्वचेतनत्वाऽऽदिधर्मरहितस्य जीवत्वाऽऽद्ययोग इति न्यायमुद्रा, न सत्त्वमेवामूर्त्तत्वाऽऽदि, सर्वत्र तत्प्रसङ्गात्, एवं च मूर्त्तत्वाऽऽद्ययोगः, सत्त्वविशिष्टमाऽपि न, विशेषणमन्तरेणातिप्रसङ्गात्, एवं नाभिन्ननिमित्तत्वात्ते विरोध इति पुरुषवरपुण्डरीकाणि ॥ ८ ॥ ल० । ध० ।

पुरिसवरपुंडरीओ, अरहा इव सव्वपुरिससीहाणं ॥ ( ५ )

( पुरिसवर त्ति ) पुरुषाणां मध्ये वरः पुरुषवरः, पुरुषवराणां मध्ये पुण्डरीकमिव-कमलमिव, यथा पुण्डरीकं जले जातं जले च वृद्धिमुपगतं न पङ्केन लिप्यते, नापि जलेन, किं तु जलोपरि वर्त्तेव भवति, एवमर्हापि तीर्थकरः, कामैर्जातो भोगैर्वृद्धिमुपगतो न कामैर्लिप्तो नापि भोगैः, किं तु त्रिभुवनोपर्येव जातः, पुण्डरीकमातपत्रं पुरुषवराणां पुण्डरीकमिव आतपत्रमिव, तद्धि आतपं निवारयति, अर्हापि कर्म्माऽऽतपनिवारणसमर्थत्वात्तेनोपमीयते । यदि वा-पुण्डरीकश्चित्रकः पुरुषवराणां मध्ये पुण्डरीक इव, यथा स केनापि पशुजातीयेन न पराभूयते, एवमर्हापि त्रिपदपशिकैस्त्रिभिः पापपिण्डकशतैर्न कदाऽपि पराभूयत इति । संथा० । ध० । स० ।

पुरिसवाइ (ण्)-पुरुषवादिन्-पुं० । ईश्वरवादिनि, सम्म० । अन्यस्त्वाह-पुरुष एवैकः सकललोकस्थितिसर्गप्रलयहेतुः प्रलयेऽप्यलुप्तज्ञानातिशयशक्तिरिति । तथा चोक्तम्-" ऊर्णनाभ इवांशूनां, चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् । प्ररोहाणामिव प्लक्षः, स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥१॥" इति । तथा-"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादि । ऊर्णनाभोऽत्र कर्मटको व्याख्यातः । अत्र यथा सकललोकस्थितिसर्गप्रलयहेतुता ईश्वरस्यैवं पुरुषवादिभिः पुरुषस्येष्टा । विशेषस्तु समवायाऽऽद्यपरकारणसव्यपेक्ष ईश्वरो जगति वर्तयत्ययं तु केवल एव, अस्यं चेश्वरस्येव जगद्धेतुताऽयुक्ता । तथाहि—"पुरुषो जन्मिनां हेतु-र्नोत्पत्तिविकलत्वतः । गगनाम्भोजवत् सर्व-मन्यथा युगपद् भवेत् ॥ १ ॥" सम्म० ३ काण्ड । स्था० ।

पुरिसवि(च)जयविभंग-पुरुषवि(च)जयविभङ्ग-पुं० । पुरुषा विचीयन्ते मृग्यन्ते विज्ञानद्वारेणान्वेष्यन्ते येन स पुरुषविचयः, पुरुषविजयो वा केषाञ्चिदल्पसत्त्वानां तेन ज्ञानबलेनावधिप्रयुक्तेनानर्थानर्थानुबन्धेन विजयादिति । स च विभङ्गवद् अवधिज्ञानविपर्ययवद्विभङ्गो ज्ञानविशेषः । पुरुषविचयश्चासौ विभङ्गश्च पुरुषविचयविभङ्गः । ज्ञानविशेषे, सूत्र० । '

त्रयोदशसु क्रियास्थानेषु यथाभिहितं पापस्थानं तद्वि-

भणिषुराह—

अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि, इह खलु णाणापण्णाणं णाणाछंदाणं णाणासीलाणं णाणादिट्ठीणं णाणारुईणं णाणाऽऽरंभाणं णाणाऽज्झवसाणसंजुत्ताणं णाणाविहपावसुयज्झयणं एवं भवइ ।

( अदुत्तरमित्यादि ) अस्मात्त्रयोदशक्रियास्थानप्रतिपादनादुत्तरं यदत्र न प्रतिपादितं तदधुनोत्तरभूतेनानेन सूत्रसंद-

मैण प्रतिपाद्यते । यथाऽऽचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे यदभिहितं तदुत्तरभूताभिश्चूलिकाभिः प्रतिपाद्यते, तथा चिकित्साशास्त्रे मूलसंहितायां श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकायां यदभिहितं तदुत्तरेऽभिधीयते, एवमन्यत्रापि छन्दश्चित्यादावुत्तरसद्भावोऽवगन्तव्यः, तदिहापि पूर्वेण यदभिहितं तदनेनोत्तरग्रन्थेन प्रतिपाद्यत इति । चः समुच्चये, णमिति वाक्यालङ्कारे , पुरुषा विचीयन्ते-मृग्यन्ते विज्ञानद्वारेणान्वेष्यन्ते येन स पुरुषविचयः, पुरुषविजयो वा. केषाञ्चिदल्पसत्त्वानां तेन ज्ञानलवेनाविधिप्रयुक्तेनानर्थानुबन्धिना विजयादिति , स च विभङ्गवदवधिविपर्ययवद्विभङ्गो-ज्ञानविशेषः पुरुषविचयश्चासौ विभङ्गश्च पुरुषविचयविभङ्गस्तमेवंभूतं ज्ञानविशेषमाख्यास्यामि-प्रतिपादयिष्यामि । यादृशानां चासौ भवति तां लेशतः प्रतिपादयितुमाह-( इह खलु इत्यादि ) इह-जगति मनुष्यक्षेत्रे प्रवचने वा नानाप्रकारा विचित्रक्षयोपशमात् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, सा चित्ता येषां ते नानाप्रज्ञाः, तथा चाऽल्पाल्पतराल्पतमया चिन्त्यमानाः पुरुषाः षट्स्थानपतिता भवन्ति, तथा छन्दोऽभिप्रायः स नाना येषां ते तथा तेषां, नानाशीलानां तथा नानारूपा दृष्टि-अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा तेषामिति,तेषा च त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रमाणमवगन्तव्यं, तथा नाना रुचिर्येषां ते नानारुचयः । तथाहि-आहारविहारशयनाऽऽसनाऽऽच्छादनाऽऽभरणयानवाहनगीतवादित्राऽऽदिषु मध्येऽन्यस्याऽन्याऽन्यस्यान्या रुचिर्भवति,तेषां नानारुचीनामिति । तथा नानाऽऽरम्भाणां कृषिपाशुपाल्यविपणिशिल्पकर्मसेवाऽऽदिष्वन्यतरमाऽऽरम्भेणेति,तथा नानाऽऽध्यवसायसंयुतानां शुभाध्यवसायभाजामिहलोकमात्रप्रतिबद्धानां परलोकनिष्पिपासानां विषयतृषितानामिदं नानाविधं पापश्रुताध्ययनं भवति ।

तं जहा-भोमं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरं लक्खणं वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कुडलक्खणं तित्तिरलक्खणं वट्टगलक्खणं लावयलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भाकरं मोहणाकरं आहव्वणिं पागसासणिं दव्वहोमं खत्तियविज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं बहस्सइचरियं उक्कापायं दिसादाहं मियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुवुट्ठिं केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं रुहिरवुट्ठिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवागिं सोवरिं दामिलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं उवतिणिं उप्पयणिं जंभणिं थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमिणिं; एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति पाणस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स हेउं पउंजंति लेणस्स हेउं पउंजंति सयणस्स हेउ पउंजंति, अन्नेसिं वा विरूवरूवाणं कामभोगाण हेउं पउंजंति, तिरिच्छं ते विज्जं सेवेंति, ते अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किव्विसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ततोऽवि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमअंधयाए पच्चायंति ॥ ३० ॥

तद्यथा-भूमौ भवं भौमं-निर्घातभूकम्पादिकं, तथोत्पातं कपिहसिताऽऽदिक,तथा स्वप्नं-गजवृषभसिंहाऽऽदिकं, तथा अन्तरिक्षम्-अमोघाऽऽदिकं, तथा अङ्गे भवमाङ्गम्-अक्षिबाहुस्फुरणाऽदिकं,तथा स्वरलक्षणं-काकस्वरगम्भीरस्वराऽदिकं, तथा लक्षणम्-यवमत्स्यपद्मशङ्खचक्रश्रीवत्साऽऽदिकं, व्यञ्जनं-तिलकमाषाऽदिकं,तथा स्त्रीलक्षणं-रक्तकरचरणाऽदिकम्, एवं पुरुषाऽदीनां काकिणीरत्नपर्यन्तानां लक्षणप्रतिपादकशास्त्रपरिज्ञानमवगन्तव्यम् । तथा मन्त्रविशेषरूपा विद्याः, तद्यथा-दुर्भगमपि सुभगमाकरोति सुभगाकरां, तथा सुभगमपि दुर्भगमाकरोति दुर्भगाकरां, तथा गर्भकरां-गर्भाऽऽधानविधायिनीं, तथा मोहो-व्यामोहो वेदोदयो वा तत्करणशीलामाथर्वणीमाथर्वणाभिधानां सद्योऽनर्थकारिणीं विद्यामधीयते.तथा पाकशासनीमिन्द्रजालसंज्ञिका, तथा नानाविधैर्द्रव्यैः करवीरपुष्पाऽऽदिभिर्मधुघृताऽऽदिभिर्वोच्चाटनाऽऽदिकैः कार्यैर्होमो-हवनं यस्यां सा द्रव्यहवना तां, तथा क्षत्रियाणां विद्या धनुर्वेदाऽऽदिका अपरा वा या स्वगोत्रक्रमेणाऽयाता तामधीत्य प्रयुञ्जते, तथा नानाप्रकारं ज्योतिषमधीत्य व्यापारयतीति दर्शयति-( चंदचरियमित्यादि ) चन्द्रस्य-ग्रहपतेश्चरितं चन्द्रचरितमिति, तच्च वर्णसंस्थानप्रमाणप्रभानक्षत्रयोगराहुग्रहाऽऽदिकं, सूर्यचरितं त्विदम्-सूर्यस्य मण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्द्योतापकाशराहूपरागाऽऽदिकं, तथा शुक्रचारो वीथीत्रयचाराऽऽदिकः, तथा बृहस्पतिचारः शुभाशुभफलप्रदः संवत्सरराशिपरिभोगाऽऽदिकश्च, तथा उल्कापाता दिग्दाहाश्च वायव्याऽदिषु मण्डलेषु भवन्तः शस्त्राग्निक्षुत्पीडाविधायिनो भवन्ति, तथा मृगा-हरिणशृगालाऽऽद्य आरण्यास्तेषां दर्शनरुतं ग्रामनगरप्रवेशाऽदौ सति शुभाशुभं यत्र चिन्त्यते तन्मृगचक्रम्, तथा वायसाऽऽदीनां-पक्षिणां यत्र स्थानदिक्स्वराऽश्रयेणाऽशुभशुभफलं चिन्त्यते तद्वायसपरिमण्डलं, तथा पांशुकेशमांसरुधिराऽऽदिवृष्टयोऽनिष्टफलदा यत्र शास्त्रे चिन्त्यते तत्तदभिधानमेव भवति, तथा विद्या नानाप्रकाराः , क्षुद्रकर्मकारिण्यः, ताश्चेमाः-वैताली नामविद्या नियताक्षरप्रतिबद्धा, सा च किल कतिभिर्जपैर्दण्डमुत्थापयति, तथा अर्धवैताली तमेवोपशमयति, तथा-अवस्वापिनी तालोद्घाटनी श्वपाकी शाम्बरी तथा-अपरा-द्राविडी कालिङ्गी गौरी गान्धार्यवपतन्युत्पतनी जृम्भिणी स्तम्भनी श्लेषणी आमयकरणी विशल्यकरणी प्रक्रामणी अन्तर्धानकरणी इत्येवमादिका विद्या अधीयते । आसां चार्थः संज्ञातोऽवसेय इति, नवरं शाम्बरीद्राविडीकालिङ्ग्यस्तद्देशोद्भवास्तद्भाषानिबद्धा वा चित्रफलाः । अवपतनी तु जपन्त्यत एव पतत्यन्यं वा पातयत्येवमुत्पतन्यपि द्रष्टव्या । तदेवमेवमादिका विद्या, आदिग्रहणात्प्रज्ञप्त्यादयो गृह्यन्ते । एताश्च विद्याः पाखण्डिकाः अविदितपरमार्था गृहस्था वा स्वयूथ्या वा द्रव्यलिङ्गधारिणोऽन्नपानाऽऽद्यर्थं प्रयुञ्जन्ति, अन्येषां वा विरूपरूपाणाम्-उच्चावचानां शब्दाऽऽदीनां कामभोगानां कृते प्रयुञ्जन्ति । सामान्येन विद्याऽऽसेवनमनिष्टकारीति दर्शयितुमाह-( तिरिच्छमित्यादि ) तिरश्चीनाम्-अननु-

कूलां सदनुष्ठानप्रतिघातिका ते अनार्यो-विप्रतिपन्ना विधा सेवन्ते, ते च यद्यपि क्षेत्राऽऽर्या भाषार्यास्तथाऽपि मिथ्यात्वोपहतबुद्धयोऽनार्यकर्मकारित्वादनार्या एव द्रष्टव्याः, ते च स्वाऽऽयुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वा यदि कथञ्चिद्देवलोकगामिनो भवन्ति ततोऽन्यतरेषु आसुरीयकेषु किल्बिषिकाऽऽदिषु स्थानेषूत्पत्स्यन्ते, ततोऽपि विप्रमुक्ताश्च्युताः, यदि वा—मनुष्येषूत्पद्यन्ते, तत्र च तत्कर्मशेषतयैडमूकत्वेनाऽथक्षमाषिणस्तमस्त्वेनान्धतया मूकतया वा प्रत्यागच्छन्ति, ततोऽपि नानाप्रकारेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषूत्पद्यन्ते ।

साम्प्रतं गृहस्थानुद्दिश्याधर्मपक्षसेवनमुच्यते—

से एगइओ आयहेउं वा णायहेउं वा सयणहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उवचरए २, अदुवा पडिपहिए ३, अदुवा संधिच्छेदए ४, अदुवा गंठिच्छेदए ५, अदुवा उरब्भिए ६, अदुवा सोवरिए ७, अदुवा वागुरिए ८, अदुवा साउणिए ९, अदुवा मच्छिए १०, अदुवा गोघायए ११, अदुवा गोवालए १२, अदुवा सोवणिए १३, अदुवा सोवणियंतिए १४ ।

( से एगइओ इत्यादि ) स एकः कदाचिन्निस्त्रिंशः सांप्रतापेक्षी अपगतपरलोकाध्यवसायः कर्मपरतया भोगलिप्सुः संसारस्वभावानुवर्त्यात्मनिमित्तं वेत्येतान्यनुगामुकाऽऽदीन्यकर्त्तव्यहेतुभूतानि चतुर्दशाऽसदनुष्ठानानि विधत्ते, तथा-ज्ञातयः-स्वजनास्तन्निमित्तं तथाऽगारनिमित्तं-गृहसंस्करणार्थं सामान्येन वा कुटुम्बार्थं-परिवारनिमित्तं वा-दासीदासकर्मकराऽऽदिपरिकरकृते, तथा ज्ञात एव ज्ञातकः-परिचितस्तं समुद्दिश्य, तथा सहवासिकं वा प्रातिवेश्मिकं निश्रीकृत्यैतानि वक्ष्यमाणानि कुर्यादिति संबन्धः । तानि च दर्शयितुमाह—( अदुवेत्यादि ) अथवेत्येवंवक्ष्यमाणापेक्षया पक्षान्तरोपलक्षणार्थं, गच्छन्तमनुगच्छतीत्यनुगामुकः, स चाऽकार्याध्यवसायेन विवक्षितस्थानकालाऽऽद्यपेक्षया विरूपकर्त्तव्यचिकीर्षुस्तं गच्छन्तमनुगच्छति, अथवा-तस्यापकर्त्तव्यस्यापकारावसरापेक्ष्युपचरको भवति, अथवा-तस्य प्रातिपथिको भवति प्रतिपथं संमुखीनमागच्छति, अथवा-आत्मस्वजनार्थं सन्धिच्छेदको भवति चौर्यं प्रतिपद्यते, अथवोरभ्रैर्मेषैश्चरत्यौरभ्रिकः । अथवा सौकरिको भवति, अथवा शकुनिभिः-पक्षिभिश्चरतीति शाकुनिकः, अथवा वागुरया मृगाऽऽदिबन्धनरज्ज्वा चरति वागुरिकः, अथवा-मत्स्यैश्चरति मात्स्यिकः, अथवा-गोपालभावं प्रतिपद्यते, अथवा-गोघातकः स्यात्, अथवा—श्वभिश्चरति शौवनिकः, शुनां परिपालको भवतीत्यर्थः, अथवा—( सोवणियंतिए ) श्वभिः पापर्द्धिं कुर्वन्मृगाऽऽदीनामन्तं करोतीत्यर्थः ।

तदेवमेतानि चतुर्दशाऽप्युद्दिश्य प्रत्येकमादित प्रभृति विवृणोति—

एगइओ आणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥१॥ से एगइओ उवचरयभावं पडिसंधाय तमेव उवचरियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ २ ॥

तत्रैकः कश्चिदात्माऽऽद्यर्थमपरस्य-गन्तुर्ग्रामान्तरं किञ्चिद् द्रव्यजातमवगम्य तदादित्सुस्तस्यैवानुगामुकभावं प्रतिसंधाय सह गन्तृभावेनाऽऽनुकूल्यं प्रतिपद्य विवक्षितवञ्चनावसरकालाऽऽद्यपेक्षी तमेव गच्छन्तमनुव्रजति, तमेव वाभ्युत्थानविनयाऽऽदिभिरत्यन्तोपचारैरुपचर्यानुव्रज्य च विवक्षितमवसरं लब्ध्वा तस्याऽसौ हन्ता दण्डाऽऽदिभिः, तथा छेत्ता खड्गाऽऽदिना हस्तपादाऽऽदेः, तथा भेत्ता वज्रमुष्ट्यादिना, तथा लुम्पयिता केशाऽऽकर्षणाऽऽदिकदर्थनतः, तथा-विलुम्पयिता कशाप्रहाराऽऽदिभिरत्यन्तदुःखोत्पादनेन, तथाऽपद्रावयिता जीविताद् व्यरोपणतो भवतीत्येवमादिकं कृत्वाऽऽहारमाहारयत्यसौ । एतदुक्तं भवति-गलकर्त्तकः कश्चिदन्यस्य धनवतोऽनुगामुकभावं प्रतिपद्य तं बहुविधैरुपायैर्विश्रम्भे पातयित्वा भोगार्थी-मोहान्धः साम्प्रतेक्षितया तस्य रिक्थवतोऽपकृत्याऽऽहाराऽऽदिका भोगक्रिया विधत्ते । इत्येवमसौ महद्भिः क्रूरैः कर्मभिः-अनुष्ठानैर्महापातकभूतैर्वा तीव्रानुभावैर्दीर्घस्थितिकैरात्मानमुपाख्यापयिता भवति, तथा स्वयमसौ महापापकारीत्येवमात्मानं लोके ख्यापयति, अष्टप्रकारैः कर्मभिरात्मानं तथा बन्धयति यथा लोके तद्विपाकाऽऽपादितेनावस्थाविशेषेण सता नारकतिर्यङ्नरामररूपतयाऽऽख्यात इति ॥१॥ तदेवमेकः कश्चिदकर्त्तव्याभिसन्धिना परस्य स्वापतेयवतस्तद्वञ्चनार्थमुपचरकभावं प्रतिसंधाय प्रतिज्ञाय पश्चात्तं नानाविधैर्विनयोपायैरुपचरति, उपचर्य च विश्रम्भे पातयित्वा तद्द्रव्यार्थी तस्य हन्ता छेत्ता भेत्ता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसावात्मानं महद्भिः-बृहद्भिः पापैः कर्मभिः उपाख्यापयिता भवतीति ॥ २ ॥

से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ३ ॥ से एगइओ संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता० जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ४ ॥

अथैकः कश्चित्प्रतिपथेन अभिमुखेन चरतीति प्रातिपथिकस्तद्भावं प्रतिपद्यापरस्यार्थवतस्तदेव प्रातिपथिकत्वं कुर्वन् प्रतिपथे स्थित्वा तस्यार्थवतो विश्रम्भतो हन्ता छेत्ता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसावात्मानं पापैः कर्मभिः ख्यापयतीति ॥३॥ अथैकः कश्चिद्विरूपकर्मणा जीवितार्थी संधिच्छेदकभावं-खात्रखननत्वं प्रतिपद्याऽनेनोपायेनाऽऽत्मानमहं कर्त्तयिष्यामि इत्येवं प्रतिज्ञां कृत्वा तमेव प्रतिपद्यते, ततोऽसौ सन्धिं छिन्दन् खात्रं खनन् प्राणिनां छेत्ता भेत्ता विलुम्पयिता भवतीति, एतच्च कृत्वाऽऽहारमाहारयतीति । एतच्चोपलक्षणमन्यांश्च कामभोगान् स्वतो भुङ्क्तेऽन्यदपि ज्ञातिगृहादिकं पालयतीत्येवमसौ महद्भिः पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयतीति ॥

से एगइओ गंठिच्छेदभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता ० जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ५ ॥ से एगइओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता० जाव उवक्खाइत्ता भवइ । एसो अभिलावो सव्वत्थ ॥ ६ ॥

अथैकः कश्चिदसदनुष्ठायी घुर्घुराऽऽदिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्य तमेवानुयाति । शेषं पूर्ववत् ॥ ५ ॥ अथैकः कश्चिदध मैकर्मवृत्तिरुरभ्रा उरणकास्तैश्चरति यः स औरभ्रिकः, स च तद्रूपया तन्मांसाऽऽदिना वाऽऽत्मानं वर्त्तयति, तदेवमसौ त द्भावं प्रतिपद्योरभ्रं वा अन्यं वा त्रसं प्राणिनं स्वमांसपुष्ट्यर्थं व्यापादयति, तस्य वा हन्ता छेत्ता भेत्ता भवतीति, शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

से एगइओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्ण-तरं वा तसं पाणं० जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ७ ॥ से एग-इओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा अन्नतरं वा तसं पाणं हंता० जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ८ ॥

अत्रान्तरे सौकरिकपदं, तच्च स्वबुद्ध्या व्याख्येयम् । सौकरिकाः—श्वपचाश्चाण्डालाः, खट्टिका इत्यर्थः ॥ ७ ॥ अथैकः कश्चित्—क्षुद्रसत्त्वो वागुरिकभावं लुब्धकत्व प्रतिसन्धाय-प्रतिपद्य वागुरया मृगं हरिणमन्यं वा त्रसं प्राणिनं शशाऽऽदिकमात्मवृत्त्यर्थं स्वजनाऽऽद्यर्थं वा व्यापादयति, तस्य च हन्ता छेत्ता भेत्ता भवति । शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

से एगइओ साउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा अ-न्नतरं वा तसं पाणं हंता०जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ९ ॥ से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं अन्नतरं वा तसं पाणं हन्ता ० जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ १० ॥

अथैकः कश्चिदधमो-पापजीवी शकुनाः—लावकाऽऽदयस्तै-श्चरति शाकुनिकस्तद्भावं प्रतिसंधाय तन्मांसाऽऽद्यर्थी शकु नमन्यं वा त्रसं व्यापादयति, तस्य च हननाऽऽदिकां क्रि-यां करोतीति । शेषं पूर्ववत् ॥ ९ ॥ अथैकः कश्चिदधमाध-मो मात्स्यिकभावं प्रतिपद्य मत्स्यं वाऽन्यं जलचरप्राणिनं व्यापादयेद्धननाऽऽदिका वा क्रियाः कुर्यात् शेषं सुगमम् ॥ १० ॥

से एगइओ गोघायभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता०जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ११ ॥ से एगइओ गोवालभावं पडिसंधाय तमेव गोवालं वा परिजविय परिजविय हंता०जाव उवक्खाइत्ता भ-वइ ॥ १२ ॥

अथैकः कश्चित्क्रूरकर्मकारी गोघातकभावं प्रतिपद्य गाम-न्यतरं वा त्रसं प्राणिनं व्यापादयेत्तस्य च हननाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्यादिति ॥ ११ ॥ अथैकः कश्चिद्गोपालकभावं प्रतिपद्य कस्याश्चिद्गोः कुपितः सन् तां गां परिविच्य पृथक् कृत्वा तस्या हन्ता छेत्ता भेत्ता भूयो भूयो भवति । शेषं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय तमेव सुणगं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता ०जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ १३ ॥



से एगइओ वणियंतियभावं पडिसंधाय तमेव मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता०जाव आहारं आहारे-ति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ । १४ । ( ३१ सूत्र )

अथैकः कश्चिज्जघन्यकर्मकारी शौवनिकभावं प्रतिपद्य-सा-रमेयपापर्द्धिभावं प्रतिपद्य तमेव श्वानं तेन वा परं मृग-सूकराऽऽदिकं त्रसं प्राणिनं व्यापादयेत्तस्य च हननाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्यादिति ॥ १३ ॥ अथैकः कश्चिदनार्यो-निर्विवेकः (सोवणियंतियभावं ति ) श्वभिश्चरति शौवनिकः अन्तो-ऽस्यास्तीत्यन्तिकोऽन्ते वा चरत्यान्तिकः पर्यन्तवासीत्यर्थः, शौवनिकश्चासावान्तिकश्च सौवनिकाऽऽन्तिकः—क्रूरसार-मेयपरिग्रहः प्रत्यन्तनिवासी च प्रत्यन्तनिवासिभिर्वा श्व-भिश्चरतीति तदसौ तद्भावं प्रतिसन्धाय-दुष्टसारमेयपरि-ग्रहं प्रतिपद्य मनुष्यं वा कञ्चन पथिकमभ्यागतमन्यं वा मृगसूकराऽऽदिकं त्रसं प्राणिनं हन्ता भवति । अयं च ता-च्छीलिकस्तृन् । लुट्प्रत्ययो वा द्रष्टव्यः । सूचि तु साध्या-हारं प्राग्वद् व्याख्येयम् । तद्यथा-पुरुषं व्यापादयेत्तस्य च हन्ता छेत्ता इत्यादि, तृन्लुट्प्रत्ययौ प्रागपि योजनी-याविति । तदेवमसौ महाक्रूरकर्मकारी महद्भिः कर्मभिरा-त्मानमुपख्यापयिता भवतीति १४ ॥ ३१ ॥ उक्ताऽसदाजी-वनोपायभूता वृत्तिः ।

इदानीं कश्चित् कुतश्चिन्निमित्तादभ्युपगमं याति—

से एगइओ परिसामज्झाओ उट्ठित्ता अहमेयं हणामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं लावगं वा कवोयगं वा कविंजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता ०जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खल-दाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ, अन्नेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं वि अन्न समणुजाणइ, इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ।

अयं चात्र पूर्वस्माद्विशेषः-पूर्वत्र वृत्तिः प्रतिपादिता प्रच्छन्नं वा प्राणव्यपरोपणं कुर्यात्, इह तु कुतश्चिन्निमित्तात्सा-ज्जनमध्ये प्राणिव्यापादनप्रतिज्ञां विधायोद्यच्छत इति दर्श-यति-अथैक कश्चिन्मांसादनेच्छया-व्यसनेन क्रीडया कु-पितो वा पर्षदो मध्यादभ्युत्थायैवम्भूतां प्रतिज्ञां विदध्यात् । यथाऽहमेनं वक्ष्यमाणं प्राणिनं हनिष्यामीति प्रतिज्ञां कृत्वा पश्चात्तित्तिराऽऽदिकं हन्ता भेत्ता छेत्तेति ताच्छीलिकस्तृन् लुट्प्रत्ययो वा, तस्य वा हन्तेत्यादि, यावदात्मानं पापेन कर्मणा व्यापयिता भवतीति । इह चाधर्मपाक्षिकेष्वभिधी-यमानेषु सर्वेऽपि प्राणिद्रोहकारिणः कथञ्चिदभिधातव्यास्त-त्र पूर्वमनपराधकृद्धा अभिहिताः । साम्प्रतमपराधकृद्धान् दर्शयितुमाह—( से एगइओ इत्यादि ) अथैकः कश्चित्प्रकृत्या क्रोधनोऽसहिष्णुतया केनचिदादीयत इत्यादानं शब्दाऽऽदिकं कारणं तेन विरुद्धः समानः परस्यापकुर्यात्, शब्दाऽऽदानेन यत्केनचिदाक्रुष्टो निन्दितो वाचा विरुध्येत, रूपाऽऽदानेन तु

भस्तं कञ्चन दृष्ट्वाऽपशकुनाध्यवसायेन कुप्यते। गन्धरसाऽऽदिकं स्वादानं सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—अथवा खलस्य कुथिताऽऽदिविशिष्टस्य दानं खलस्य वाऽल्पधान्याऽऽदेर्दानं खलदानं तेन कुपितः,अथवा-सुरायाः स्थालकं-कोशकाऽऽदि तेन विवक्षितलाभाऽभावात् कुपितः गृहपत्यादेरेतत् कुर्यादित्याह-स्वयमेवाग्निकायेनाग्निना तत्सस्यानि खलकवर्तीनि शालि-व्रीह्यादीनि ध्यामयेद्दहेदन्येन वा दाहयेद्दहतो वाऽन्यान्समनुजानीयादित्येवमसौ महापापकर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीति।

साम्पतमन्येन प्रकारेण पापोपादानमाह—

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूरा(उ)ओ कप्पेति, अन्नेण वि कप्पावेति, कप्पंतं पि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया ०जाव भवइ।

अथैकः कश्चित्केनचित् तु खलदानाऽऽदिनाऽऽदानेन गृहपत्यादेः कुपितस्तत्संबन्धिन उष्ट्राऽऽदेः स्वयमेवात्मना परश्वाऽऽदिना ( घूराओ त्ति ) जङ्घा खलका वा कल्पयति छिनत्यन्येन वा छेदयति, अन्यं वा छिन्दन्तं समनुजानीते, इत्येवमसावात्मनं पापेन कर्मणोपाख्यापयिता भवति।

किं च—

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ,अन्नेण वि झामावेइ, झामंतं पि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया ०जाव भवइ।

अथैकः कश्चित्केनचिन्निमित्तेन गृहपत्यादेः कुपितस्तत्सम्बन्धिनामुष्ट्राऽऽदीना शालागृहाणि ( कंटकबोंदियाए त्ति ) कण्टकशाखाभिः प्रतिविधाय-पिहित्वा स्थगित्वा स्वयमेवाग्निना दहेत्। शेष पूर्ववत्।

अपि च—

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा कुंडलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ, अन्नेण वि अवहरावइ,अवहरंतं पि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया ०जाव भवइ।

अथैकः कश्चित्केनचिदादानेन कुपितो गृहपत्यादेः सम्बन्धि कुण्डलाऽऽदिक द्रव्यजातं स्वयमेवापहरेच्छेषं पूर्ववत्।

साम्पतं पाखण्डिकोपरि कोपेन यत्कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह—

से एगइओ केणइ वि आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिं वा भिसिगं वा चेलग वा चिलिमिलिगं वा चम्मगं वा छेयणगं वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरति ०जाव समणुजाणइ, इति से महया ०जाव उवक्खाइत्ता भवइ॥

( से एगइओ इत्यादि ) अथैकः कश्चित्स्वदर्शनानुरागेण वा वादपराजितो वाऽन्येन वा केनचिन्निमित्तेन कुपितः सन्नेतत्कुर्यादित्याह। तद्यथा—श्राम्यन्तीति श्रमणास्तेषामन्येषामपि तथाभूतानां केनचिदादानेन कुपितः सन् दण्डकाऽऽदिकमुपकरणजातमपहरेत्, अन्येन वा हारयेत् अन्यं वा हरन्तं समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत्। एवं तावद्विरोधिनोऽभिहिताः।

साम्प्रतमितरेऽभिधीयन्ते—

से एगइओ णो वितिगिंछइ। तं जहा–गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेइ,०जाव अन्नं पि झामंतं समणुजाणइ, इति से महया ०जाव उवक्खाइत्ता भवति।

( से एगइओ इत्यादि ) अथैकः कश्चित् दृढमूढतया ( नो वितिगिंछइ त्ति ) न विमर्षति-न मीमांसते यथाऽनेन कृतेन ममाऽमुत्राऽनिष्टफलं स्यात्, तथा मदीयमिदमनुष्ठानं पापानुबन्धीत्येव न पर्यालोचयति, तद्भावाऽऽपन्नश्च यत्किञ्चनकारितया इहलोकपरलोकविरोधिनीः क्रियाः कुर्यात्। एतदेवोद्देशतो दर्शयति, तद्यथा—गृहपत्यादेर्निर्निमित्तमेव-तत्कोपमन्तरेणैव स्वयमेवाऽऽत्मनाऽग्निकायेन अग्निना औषधीः-शालिव्रीह्यादिका ध्यामयेद् दहेत् तथाऽन्येन दाहयेद्दहन्त च समनुजानीयादित्यादि।

से एगइओ णो वितिगिंछइ। तं जहा–गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूरा(उ)ओ कप्पेइ,अन्नेण वि कप्पावेति,अन्न पि कप्पंतं समणुजाणइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ। तं जहा–गाहावतीण वा गहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा ०जाव गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाहिं पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ ०जाव समणुजाणइ। से एगइओ णो वितिगिंछइ। तं जहा–गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा १जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ०जाव समणुजाणइ। से एइओ णो वितिगिंछइ। तं जहा–समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा ०जाव चम्मच्छेदणगं वा सयमेव अवहरइ०जाव समणुजाणइ, इति से महया ०जाव उवक्खाइत्ता भवइ।

तथेहामुत्र च दोषाऽपर्यालोचको निस्त्रिंशतया गृहपत्यादिसंबन्धिनां क्रमेलकाऽऽदीना जङ्घाऽऽदीनवयवाँश्छिन्द्यात्। तथा शालां दहेत्, तथा गृहपत्याऽऽदेः सम्बन्धि कुण्डलमणिमौक्तिकाऽऽदिकमपहरेत्। तथा श्रमणब्राह्मणाऽऽदीना दण्डाऽऽदिकमुपकरणजातमपहरेदित्येवं प्राकृता एवाऽऽलापका आदानकुपितस्य ये अभिहितास्त एव तदभावेनाभिधातव्या इति।

साम्प्रतं विपर्यस्तदृष्टय आगाढमिथ्यादृष्टयोऽभिधीयन्ते—

से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा णाणाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ, अदुवा णं अच्छ-राए आफालित्ता भवइ,अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ,का-लेण वि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा०जाव णो दवा-वेत्ता भवइ, जे इमे भवंति वोनमंता भारकंता अलसगा वे-सलगा किवणगा ( निउज्ञमाणगा ) समणगा पव्वयंति।

अथैकः कश्चिदभिगृहीतमिथ्यादृष्टिरभद्रकः साधुप्रत्यनीकत या श्रमणाऽऽदीनां निर्गच्छतां प्रविशतां वा स्वतश्च निर्गच्छन् प्र-विशन् वा नानाविधैः पापोपादानभूतैः कर्मभिरात्मानमुपख्या-पयिता भवतीति। एतदेव दर्शयति-अथवेत्ययमुत्तरापेक्षया प-क्षान्तरोपग्रहार्थः कश्चित्साधुदर्शने सति मिथ्यात्वोपहतदृष्टित याऽपशकुनोऽयमित्येवं मन्यमानः सन् दृष्टिपथादपसारयन् सा धुमुद्दिश्यावज्ञयाऽप्सरायाः-चप्पुटिकाया. आस्फालयिता भ-वति। अथवा-तत्तिरस्कारमापादयन् परुषं वचो ब्रूयात्। तद्य-था-ओदनमुण्ड! निरर्थककायक्लेशपरायण! दुर्बुद्धे! अपसराग्र तस्तदसौ भ्रकुटीं विदध्यादसत्यं वा ब्रूयात् तथा भिक्षाकाले-नापि (से) तस्य भिक्षोरन्येभ्यो भिक्षाचरेभ्योऽनु-पश्चात्प्रवि-ष्टस्य सतोऽत्यन्तदुष्टतयाऽन्नाऽऽदेर्नो दापयिता भवति अपर च दानोद्यतं निषेधयति तत्प्रत्यनीकतया; एतच्च ब्रूते-ये इमे पाषण्डिका भवन्ति त एवंभूता भवन्तीत्याह-(बोध ति)तृण काष्ठहाराऽऽदिकमधमकर्म तद् विद्यते तेषां ते तद्वन्तः, तथा भारेण-कुटुम्बभारेण पोट्टलिकाऽऽदिभारेण वाऽऽक्रान्ताः-प-राभग्नाः सुखलिप्सवोऽलसाः क्रमाऽऽगतं कुटुम्बं पालयितुम समर्थास्ते पाषण्डव्रतमाश्रयन्ति। तथाचोक्तम्-"गृहाऽऽश्रम परो धर्मः,न भूतो न भविष्यति। पालयन्ति नरा धन्याः, क्लीबा-पाषण्डमाश्रिताः ॥ १ ॥" इत्यादि। तथा ( वेसलग त्ति ) वृषला अधमाः शूद्रजातयस्त्रिवर्गप्रतिचारकास्तथा, कृपणा-क्लीबाः-अकिञ्चित्कराः श्रमणा भवन्ति-प्रव्रज्यां गृह्णन्तीति।

साम्प्रतमेषामगारिकाणामत्यन्तविपर्यस्तमतीनामसद्वृत्त-माविर्भावयन्नाह—

ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिवूहेंति, नाइ ते पर-लोगस्स अट्ठाए किंचि वि सिलीसंति, ते दुक्खंति, ते सो-यंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टंति ते परितप्पंति ते दु-क्खणजूरणसोयणतिप्पणपिट्टणपरितिप्पणवहबंधणपरिकि लेसाओ अप्पडिविरया भवंति; ते महया आरंभेण ते म-हया समारंभेणं ते महया आरंभसमारंभेणं विरूवरूवेहिं पा-वकम्मेहिं किच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजि-त्तारो भवंति। तं जहा-अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले व-त्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले सपु-व्वावरं च णं ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपाय-च्छित्ते सिरसा ण्हाए कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवन्ने क-प्पियमालामउलीपडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्ल-दामकलावे अहतवत्थपरिहिए चंदणोक्खित्तगायसरीरे महतिमहालियाए कूडागारसालाए महतिमहालयंसि सी-हासणंसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे सव्वराइएणं जोइणा झि-यायमाणेणं महया हयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघण-मुइंगपडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ॥

( ते इणमेव इत्यादि ) ते हि-साधुवर्गापवादिनः सद्धर्मप्र-त्यनीका इदमेव जीवितं परापवादोद्घट्टनजीवितं धिग्-जीवितं कुत्सितं जीवित स।धुजुगुप्सापरायणं संप्रति बृं-हन्ति, एतदेवासद्वृत्तजीवितं प्रशंसन्तीति भावः। ते चे-हलोकप्रतिबद्धाः साधुजुगुप्साजीविनो मोहान्धाः साधू-नपवदन्ति, नापि च ते पारलौकिकस्यार्थस्य साधनम्—अनुष्ठानं किञ्चिदपि-स्वल्पमपि श्लिष्यन्ति-समाश्रयन्ति, केवलं ते परान्-साधून् वागादिभिरनुष्ठानैर्दुःखयन्ति-पीडा-मुत्पादयन्ति आत्मनः परेषां च, तथा, तेऽज्ञानान्धास्तथा तत्कुर्वन्ति येनात्मिकं शोचन्ते, परानपि शोचयन्ति-दुर्भा-षिताऽऽदिभिः शोकं चोत्पादयन्ति,तथा ते परान् (जूरयंति) गर्हन्ति, तथा ( तिप्पंति ) सुखाच्च्यावयन्त्यात्मानं परां-श्च, तथा ते वराका अपुष्टधर्माणोऽसदनुष्ठानाः स्वतः पीड्य न्ते परांश्च पीडयन्ति, तथा ते पापेन कर्मणा परितप्य-न्ते-अन्तर्दह्यन्ते परांश्च परितापयन्ति। तदेवं तेऽसद्वृत्तयः सन्तो दुःखनशोचनाऽऽदिक्लेशादप्रतिविरताः सदा भवन्ति। एवंभूताश्च सन्तस्ते महताऽऽरम्भेण-प्राणिव्यापादनरूपेण तथा महता समारम्भेण—प्राणिपरितापनरूपेण, तथो—भाभ्यामप्यारम्भसमारम्भाभ्यां विरूपरूपैश्च नानाप्रकारैः सावद्यानुष्ठानैः पापकर्मकृत्यैरुदारानत्यन्तोद्भटान्समग्रसा मग्रीकान् मधुमद्यमांसाऽऽद्युपेतान् मानुष्यकान्-मानु-ष्यभवयोग्यान् भोगेभ्योऽप्युत्कटान् भोगभोगान् ते साव-द्यानुष्ठायिनो भोक्तारो भवन्ति। एतदेव दर्शयितुमाह-( तं जहेत्यादि ) तद्यथेत्युपदर्शने। अन्नमन्नकाले यथेप्सितं तस्य पापानुष्ठानात्संपद्यते,एव पानवस्त्रशयनाऽऽसनाऽऽदिकमपि। सर्वमेतद्यथाकालं सपूर्वापरं संपद्यते, सह पूर्वेण-पूर्वाह्णक-र्तव्येन अपरेण-चापराह्णकर्तव्येन, यदि वा—पूर्वं यत्क्रि-यते स्नानाऽऽदिकं तथा परं च यत्क्रियते विलेपनभोजनाऽऽ दिकं तेन सह वर्तत इति सपूर्वापरम्। इदमुक्तं भवति—यद्यदा प्रार्थ्यते तत्तदा संपद्यत इति, अभिलषितार्थप्राप्ति-मेव लेशतो दर्शयितुमाह। तद्यथा-विभूत्या स्नातस्तथा कृ-तं देवताऽऽदिनिमित्तं बलिकर्म येन स तथा, तथा कृतानि कौतुकान्यवतारणकाऽऽदीनि मङ्गलानि च सुवर्णचन्दनदध्य-क्षतदूर्वासिद्धार्थकाऽऽदर्शकस्पर्शनाऽऽदीनि,तथा दुःस्वप्नाऽ-दिप्रतिघातकानि प्रायश्चित्तानि येन स कृतकौतुकमङ्गलप्राय-श्चित्तः, तथा कल्पितश्चासौ मालाप्रधानो मुकुटश्च २, स तथा विद्यते यस्य स भवति कल्पितमालामुकुटी, तथा प्रतिब-द्धशरीरो दृढावयवकायो युवेत्यर्थः। तथा-( वग्घारियं ति ) प्रलम्बितं श्रोणीसूत्र कटिसूत्रं मल्लदामकलापश्च येन स तथा, तदेवमसौ शिरसि स्नातः नानाविधविलेपनावलि-प्तश्च कण्ठे कृतमालस्तथाऽपरयथोक्तभूषणभूषितः सन्महः-त्यामुच्छ्रायाम्—( महालियाए सि [illegible] ...गार-शालायां तथा महति महालये [illegible]
ऽऽसने समुपविष्ट स्त्रीगुल्मेन
रेण संपरिवृतो-वेष्टितो य

नाट्यगीतवादित्रतन्त्र्यादिरवेणोदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान्भुञ्जानो विहरति—प्रविचरति, विजृम्भतीत्यर्थः ।

तस्स णं एगमवि आणावेमाणस्स ०जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठति , भणह देवाणुप्पिया ! किं करेमो ?, किं आहारेमो ?, किं उवणेमो ?, किं आचिट्ठामो ?, किं भे हियं इच्छियं ?, किं भे आसगस्स सयइ ?, तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति–देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे, अन्ने वि य णं उवजीवंति । तमेव पासित्ता आरिया वयंति–अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे अतिधुन्ने अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ ।

तस्य च कचित्प्रयोजने समुत्पन्ने सति एकमपि पुरुषमाज्ञापयतो यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषा अनुक्ता एव समुपतिष्ठन्ते । ते च किं कुर्वाणाः ?, एतद्वक्ष्यमाणमूचुः । तद्यथा—भण—आज्ञापय स्वामिन् ! धन्या वयं येन भवताऽप्येवमादिश्यन्ते किं कुर्मः ? , इत्यादि सुगमम् । यावद्भवतेप्सितमिति, तथा किं च ते युष्माकमास्यकस्य मुखस्य स्वदते स्वादु प्रतिभाति?, यदि वा–यदेवास्य भवदीयाऽऽस्यस्य स्वदति निर्गच्छति तदेव वय कुर्म इति । तथा तमेवेत्यादि । तमेव राजान तथा क्रीडमानं दृष्ट्वा अन्येऽनार्या एवं वदन्ति । तद्यथा–देवः खल्वयं पुरुषस्तथा देवस्नातको देवश्रेष्ठो बहूनामुपजीव्यः,तथा–तमेवं साम्प्रतेक्षितया सदनुष्ठायिनं दृष्ट्वा आर्या–विवेकिनः सदाचारवन्त एव ब्रुवते । तद्यथा–अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खल्वयं पुरुषो,हिंसाऽऽदिक्रियाप्रवृत्त इत्यर्थः, तथा धूयते–रेणुवद्वायुना ससारचक्रवाले भ्राम्यते येन तद्धूतं–कर्म, औणाऽऽदिको नक्प्रत्ययः । अतीव—प्रभूतं धूतमष्टप्रकार कर्म यस्य सोऽतिधूतः , तथाऽतीवाऽऽत्मनः पापैः कर्मभिः रक्षा यस्य सोऽत्यात्मरक्ष , तथा दक्षिणस्यां दिशि गमनशीलो दक्षिणगामुकः । इदमुक्तं भवति–यो हि क्रूरकर्मकारी साधुनिन्दापरायणस्तद्दाननिषेधकः स दक्षिणगामुको भवति—दाक्षिणात्येषु नरकतिर्यग्मनुष्यामरेषु उत्पद्यते, तादृग्भूतश्चायमतो दक्षिणगामुक इत्युक्तम् । इदमेवाऽऽह–(नेरइए इत्यादि) नरकेषु भवो नारक , कृष्णः पक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिक , तथा आगामिनि काले नरकादुद्वृत्तो दुर्लभबोधिकश्चायं बाहुल्यन भविष्यति । इदमुक्त भवति—दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिग अप्रशस्ता गतिषु नरकगति , पक्षयो कृष्णपक्ष , [illegible] यस्येन्द्रियानुकूलवर्तिन -परलोकनिस्पृहमते साधुप्रद्वेषिणो दानान्तरायविधायिनो द्विगादिकमप्रशस्त दर्शनम् , अन्यदपि यदप्रशस्त तिर्यग्गत्यादिकमबोधिलाभाऽऽदिक च तद्योजनीयमस्येति । एतद्विपरीतस्य तु विषयनिःस्पृहस्य इन्द्रियाननुकूलस्य परलोकभीरोः साधुप्रशंसापरः सदनुष्ठानरतस्याऽदक्षिणगामुकत्वं सुदेवत्व शुक्लपाक्षिकत्वं तथा सुमानुषत्वाऽऽयातस्य सुलभबोधित्वमित्येवमादिकं सद्धर्मानुष्ठायिन सर्व भवतीति ।

साम्प्रतमुपसजिघृक्षुराह—

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठियावेगे अभिगिज्झति,अणुट्ठियावेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा अभिगिज्झति, एस ट्ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुन्ने अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहु, एस खलु पढमस्य ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए । ( २२ सूत्र )

इत्येतस्य पूर्वोक्तस्य स्थानस्य ऐश्वर्यलक्षणस्य शृङ्गारमूलस्य सांसारिकस्य परित्यागबुद्ध्या एके–केचन विपर्यस्तमतयः पाषण्डिकोत्थानेनोत्थिताः परमार्थमजानाना ( अभिगिज्झति त्ति ) आभिमुख्येन लुभ्यन्ते लोभवशगा भवन्तीत्यर्थः । तथा एके केचन साम्प्रतेक्षिणस्तस्मात् स्थानादनुपस्थिता गृहस्था एव सन्तः ( अभिझंझ त्ति ) झंझा—तृष्णा तदातुराः सन्तोऽर्थेष्वत्यर्थं लुभ्यन्ते, यत एवमतोऽद स्थानमनार्यानुष्ठानपरत्वादनार्यं महापुरुषानुचीर्णं न भवति,तथा न विद्यते केवलमस्मिन्नित्यकेवलमशुद्धमित्यर्थः । तथैतत्पुरुषाऽऽचीर्णत्वादपरिपूर्णं सद्गुणविरहात्तुच्छमित्यर्थः। तथा न्यायेन चरति नैयायिकं, न नैयायिकमनैयायिकम्—असन्न्यायवृत्तिकमित्यर्थः । तथा 'सं ले गे' संवरणे, शोभनं लगनं-संवरणम् इन्द्रियसंयमरूप संलगस्तद्भावः संलगत्वं न विद्यते संलगत्वमस्मिन्नित्यसंलगत्वम् , इन्द्रियासंवरणरूपमित्यर्थः । यदि वा–शल्यवच्छल्यं—मायानुष्ठानमकार्यं तद्गायति—कथयति, तच्छल्यग यत्परिज्ञानं तन्नास्तीत्यशल्यगत्वमिति । तथा न विद्यते सिद्धेर्मोक्षस्य विशिष्टस्थानोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिंस्तदसिद्धिमार्गं, तथा न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रच्युतिलक्षणाया मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राऽऽत्मको यस्मिंस्तदमुक्तिमार्गं, तथा न विद्यते परिनिर्वृतेः परिनिर्वाणस्याऽऽत्मस्वास्थ्याऽऽपत्तिरूपस्य मार्गः-पन्था यस्मिन् स्थाने तदपरिनिर्वाणमार्गं,तथा न विद्यते सर्वदुःखानां शारीरमानसानां प्रक्षयमार्गः सदुपदेशाऽऽत्मको यस्मिंस्तदसर्वदुःखप्रक्षीणमार्गं, कुत एवंभूतं तत्स्थानमित्याशङ्क्याऽऽह–(एगंतेत्यादि) एकान्तेनैव तत्स्थानं यतो मिथ्याभूत मिथ्यात्वोपहतबुद्धीना यतस्तद्भवत्यत एवासाधुरसद्वृत्तत्वात् न ह्यय सत्पुरुषसेवितः पन्थाः येन विषयान्धाः प्रवर्तन्त इति । तदय प्रथमस्य स्थानस्याऽधर्मपाक्षिकस्य पापोपादानभूतस्य विभङ्गो–विभागो विशेषः स्वरूपमिति यावत् ५७ ।

साम्प्रतं द्वितीय धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्याऽऽह—

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ–इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवति । तं जहा–आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति, एसो आलावगो जहा पोंडरीए तहा णेतव्वो, तेणेव अभिलावेण० जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि । एस ठाणे आरिए केवले० जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे ए-

गंतसम्मे साहु, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए । ( ३३ सूत्र )

(अहावरेत्यादि) अथेति-अधर्मपाक्षिकस्थानादनन्तरमयमपरो द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपाक्षिकस्य पुण्योपादानभूतस्य विभङ्गो-विभागः स्वरूपं समाधीयते-सम्यगाख्यायते । तद्यथा-प्राचीनं प्रतीचीनमुदीचीनं दक्षिणं वा दिग्विभागमाश्रित्य सन्ति विद्यन्ते एके केचन कल्याणपरम्पराभाजः मनुष्याः, पुरुषाः ते च वक्ष्यमाणस्वभावा भवन्ति । तद्यथेत्ययमुपप्रदर्शनार्थः, आर्या एके-केचनाऽऽर्यदेशोत्पन्नास्तथा अनार्याः शकयवनशबरबर्बराऽऽदय इत्याद्येवं यथा पौण्डरीकाध्ययने तथेहाऽपि सर्वं निरवयवं भणितव्यम् । ( तच्च 'पुंडरीय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् ) यावत्ते एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण सर्वेभ्यः पापस्थानेभ्य उपशान्ता., तथा अनः एव सर्वाऽऽत्मतया परिनिर्वृता इत्यहमेवं ब्रवीमि । तदेवमेतत्स्थानं कैवलिकं प्रतिपूर्णं नैयायिकमित्यादि प्राग्व्यावर्णितविपर्ययेण नेयं यावद् द्वितीयस्य स्थानस्य धार्मिकस्यैव विभङ्गो-विभागः-स्वरूपमाख्यातमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतं धर्माऽधर्मयुक्तं तृतीयं स्थानमाश्रित्याऽऽह—

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुईरहस्सिता ०जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो मुज्जो एलमूयत्ताए तमूत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले ०जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए । [ ३४ सूत्र ]

अथापरस्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाऽऽख्यस्य विभङ्गो-विभागः-स्वरूपमाख्यायते-अत्र चाधर्मपक्षेण युक्तोऽधर्मपक्षो-मिश्र इत्युच्यते, तत्राऽधर्मस्येह भूयिष्ठत्वादधर्मपक्ष एवायं द्रष्टव्यः। एतदुक्तं भवति-यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काश्चित्-तथाप्रकारा प्राणातिपाताऽऽदिविनिवृत्तिं विदधति, तथाऽप्याशयाशुद्धत्वादभिनवे पित्तोदये सति शर्करामिश्रक्षीरपानवद्गुरप्रदशर्करादिवदविवक्षितार्थासाधकत्वान्निरर्थकतामापद्यन्ते, नतो मिथ्यात्वानुभावात् मिश्रपक्षोऽप्यधर्म एवावगन्तव्य इति । एतदेव दर्शयितुमाह-( जे इमे भवंतीत्यादि ) ये इमे अनन्तरमुच्यमाना अरण्ये चरन्तीत्यारण्यिकाः कन्दमूलफलाशिनस्तापसाऽऽदयो, ये चावसथिका आवसथा-गृहं तेन च रन्तीत्यावसथिका गृहिणः, ते च कुतश्चित् पापस्थानान्निवृत्ता अपि प्रबलमिथ्यात्वोपहतबुद्धयः, ते यद्यप्युपवासाऽऽदिना महता कायक्लेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथाऽपि त आसुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषिकेषूत्पद्यन्त इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयं यावत्ततश्च्युता मनुष्यभवं प्रत्यायाता एलमूकत्वेन तमोऽन्धतया जायन्ते । तदेवमेतत्स्थानमनार्यमकेवलम् असंपूर्णमनैयायिकमित्यादि यावदेकान्तमिथ्याभूत सर्वथैनदसाध्विति. तृतीयस्थानस्य मिश्रकस्याख्यो विभङ्गो-विभागः स्वरूपमाख्यातमिति । उक्तान्यधर्मधर्ममिश्रस्थानानि ॥ ३४ ॥

साम्प्रतं तदाश्रिताः स्थानिनोऽभिधीयन्ते, यदि वा-प्राक्तनमेवान्येन प्रकारेण विशेषिततरमुच्यते-तत्राऽऽद्यमधार्मिकस्थानकमाश्रित्याऽऽह—

अहाऽवरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा, पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति-गिहत्था महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया, अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोई अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ।

अथापरः-अन्यः प्रथमस्य स्थानस्याऽधर्मपाक्षिकस्य विभङ्गो विभागः स्वरूपं व्याख्यायते- ( इह खलु इत्यादि ) सुगमं, या वन्मनुष्या एवं स्वभावा भवन्तीति । एते च प्रायो गृहस्था एव भवन्तीत्याह-( महेच्छा इत्यादि ) महती-राज्यविभवपरिवाराऽऽदिका सर्वातिशायिनी इच्छा-अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते महेच्छाः, तथा महानारम्भो-वाहनोदूमण्डलिकागन्त्रीप्रवाहकृषिषण्डपोषणाऽऽदिको येषां ते महाऽऽरम्भाः, ये चैवंभूनास्ते महापरिग्रहाः-धनधान्यद्विपदचतुष्पदवास्तुक्षेत्राऽऽदिपरिग्रहवन्तः क्वचिदप्यनिवृत्ता. अत एवाधर्मेण चरन्तीत्यधार्मिका., तथाऽधर्मिष्ठा निस्त्रिंशकर्मकारित्वादधर्मबहुला., तत्राधर्मे कर्त्तव्ये अनुज्ञा-अनुमोदनं येषां ते भवन्त्यधर्माऽनुज्ञा., एवमधर्मम् आख्यातुं शीलं येषां ते तथा, एवमधर्मप्रायजीविन, तथा अधर्ममेव प्रविलोकयितुं शीलं येषां ते भवन्त्यधर्मप्रविलोकिनः, तथाऽधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यन्त इति अधर्मप्ररञ्जः ।"रलयोरैक्यम्" इति रस्य स्थाने लकारोऽत्र कृत इति, तथाऽधर्मशीला अधर्मस्वभावास्तथाऽधर्माऽऽत्मकः समुदाचारो यत्किञ्चनानुष्ठानं येषां ते भवन्त्यधर्मशीलसमुदाचारा., तथाऽधर्मेण-पापेन सावद्यानुष्ठानेनैव दहनाङ्कननिर्लाञ्छनाऽऽदिकेन कर्मणा वृत्तिर्वर्तनं कल्पयन्तः-कुर्वाणा विहरन्तीति-कालमतिवाहयन्ति ।

पापानुष्ठानमेव लेशतो दर्शयितुमाह—

हण छिन्द भिन्द विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कुंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए० जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कोहाओ० जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया, सव्वाओ एहाणुम्मद्दणवण्णगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसियासंदमाणियासयणासणजाणवाहण भोग भोयणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ हिरण्णसुवण्णधणधण्णमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए

सव्वाओ करणकारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, स-
व्वाओ पयणपयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, स-
व्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणताडणवहबंधपरिकिलेसाओ अ-
प्पडिविरया जावज्जीवाए, जे आवन्ने तहप्पगारा जे सावज्जा
अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा जे अणारिएहिं
कज्जंति ततो अप्पडिविरया जावज्जीवाए ।

( हण छिंद भिंद इत्यादि ) स्वत एव हननाऽऽदिका क्रियाः कुर्वाणा अपरेषामप्युपघातात्मकमुपदेशं ददति, तत्र हननं- दण्डाऽऽदिभिस्ताडनं कारयन्ति, तथा छिन्धि कर्णाऽऽदिकं, भिन्धि शूलाऽऽदिना, विकर्तकाः-प्राणिनामजिनापनेतारोऽत एव लोहितपाणयः; तथा चण्डा रौद्रा-निस्त्रिंशाः क्षुद्राः क्षुद्रकर्मकारित्वात्, तथा साहसिका-असमीक्षितकारिणः, तथा उत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटाऽऽदिभिः सातिसम्प्रयोगो-गार्ध्यं तेन बहुलास्तत्प्रचुरास्ते तथा, तत्रोत्कुञ्चनं शूलाऽऽद्यारोपणार्थमुत्कुञ्चनं वञ्चनं-प्रतारणं, तद्यथा-अभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धार्मिकवञ्चनया वञ्चितः मायावञ्चनबुद्धिः प्रायो वणिजामिव निकृतिस्तु बकवृत्त्या कुर्कुटाऽऽदिकरणेन दम्भप्रधानवणिक्श्रेष्ठिवत्साध्वाकारेण परवञ्चनार्थं गलकर्तकानामिवावस्थानं, देशभाषानेपथ्याऽऽदिविपर्ययकरणं कपटं यथा आषाढभूतिना नटेनवाऽपराऽपरवेषपरावृत्त्याऽऽचार्योपाध्यायसङ्घाटकाऽऽत्मार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः, कूटं तु कार्षापणतुलाप्रस्थाऽऽदेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणम्, एतैरुत्कुञ्चनाऽऽदिभिः सहातिशयेन सम्प्रयोगः, यदि वा-सातिशयेन द्रव्येण-कस्तूरिकाऽऽदिनाऽपरस्य द्रव्यस्य सम्प्रयोगः सातिसम्प्रयोगस्तद्बहुलास्तत्प्रधाना इत्यर्थः । उक्तं च-" सो होइ सातिजोगो, दव्वं जं छादियऽण्णदव्वेसु । दोसगुणावयणेसु य, अत्थविसंवायणं कुणइ ॥१॥ " एते चोत्कुञ्चनाऽऽदयो मायापर्याया इन्द्रशक्राऽऽदिवत् कथञ्चित् क्रियाभेदेऽपि द्रष्टव्याः । तथा दुष्टं शीलं येषां ते दुःशीलाश्चिरमुपचरिता अपि क्षिप्रं विसंवदन्ति, दुःखानुनेयाः; दारुणस्वभावा इत्यर्थः । तथा दुष्टानि व्रतानि येषां ते तथा, यथा मांसभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूतसत्त्वोपघातेन मांसप्रदानम्, अन्यदपि नक्तभोजनाऽऽदिकं तेषां दुष्टव्रतमिति, तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरे मधुमद्यमांसाऽऽदिकमभ्यवहरिष्यामीत्येवमज्ञानान्धा जन्मान्तरविधित्सया स्नानदानमेव व्रतं गृह्णन्ति, तथा दुःखेन प्रत्यानन्द्यन्ते दुष्प्रत्युपनन्द्याः । इदमुक्तं भवति-तैरानन्दितेनापरेण केनचित्प्रत्युपकारवता गर्वाऽऽध्माता दुःखेन प्रत्यानन्द्यन्ते, यदि वा-सत्यप्युपकारे प्रत्युपकारभीरवो नैवाऽऽनन्द्यन्ते प्रत्युत-शठतयाऽपकारे दोषमेवोत्पादयन्ति, तथा चोक्तम्-" प्रतिकर्तुमशक्तिष्ठाः, नराः पूर्वोपकारिणाम् । दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति, मद्गूनामिव वायसाः ॥ १ ॥ " यत एवमतोऽसाधवस्ते पापकर्मकारित्वात्, तथा यावज्जीव-यावत्प्राणधारणं सर्वस्मात्प्राणातिपातादप्रतिविरता लोकनिन्दनीयादपि ब्राह्मणघाताऽऽदेरविरता इति सर्वग्रहणम् एव सर्वस्मादपि कूटसाक्ष्याऽऽदेरप्रतिविरता इति, तथा सर्वस्मात्क्षीयालाऽऽदेः परद्रव्यापहरणादविरता तथा सर्वस्मात्परस्त्रीगमनाऽऽदेर्मैथुनादविरता एवं सर्वस्मात्परिग्रहाद् यावत्परोपकरणादप्यविरताः, एवं सर्वस्मात् क्रोधमानमायालोभेभ्योऽविरताः, तथा प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशुन्यपरपरिवादाऽरतिरतिमायामृषावादमिथ्यादर्शनशल्याऽऽदिभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यो यावज्जीवं येऽप्रतिविरता भवन्ति इति । तथा सर्वस्मात्स्नानोन्मर्दनवर्णकविलेपनशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमाल्यालङ्कारात्कामाक्रान्तमोहजनितादप्रतिविरता यावज्जीवमेवेति । इह च वर्णकग्रहणेन वर्णविशेषाऽऽपादकं लोध्राऽऽदिकं गृहीतं, तथा सर्वतः-शकटरथाऽऽदेर्यानविशेषाऽऽदिकात्प्रतिविस्तरविधेः परिकररूपादपरिग्रहादप्रतिविरताः, इह च शकटरथाऽऽदिकमेव यानं शकटयानं, युग्यं-पुंस्त्वाऽऽदिप्रसिद्धमाकाशयानं (गिल्लि त्ति) पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता झोलिका । (थिल्लि त्ति) वेगसरद्वयविनिर्मिता यानविशेषः । तथा-( संदमाणिय त्ति ) शिबिकाविशेष एव, तदेवमन्यस्मादपि यस्माद्-परिग्रहादुपकरणभूतादविरताः, तथा सर्वतः-सर्वस्मात् क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो माषकार्धमाषकरूपकार्षापणाऽऽदिभिः पणार्थविनिमयाऽऽत्मकः संव्यवहारस्तस्मादविरता यावज्जीवमेवेति, तथा सर्वस्माद्धिरण्यसुवर्णाऽऽदेः प्रधानपरिग्रहादविरताः, तथा कूटतुलाकूटमानाऽऽदेरविरताः, तथा सर्वतः प्राणिनामुपताप्याऽऽरम्भात्, करणमन्येन च यत्किञ्चित्कारयन्ति तस्मादविरताः, तथा पचनपाचनतः तथा कण्डनकुट्टनपिट्टनतर्जनताडनवधबन्धाऽऽदिना यः परिक्लेशः प्राणिनां तस्मादविरताः । साम्प्रतमुपसंहरति-ये चान्ये तथाप्रकाराः परपीडाकारिणः सावद्याः कर्मसमारम्भा अबोधिकाः-बोधाभावकारिणः तथा परप्राणपरितापनकराः गोग्रामबन्दिग्रहग्रामघाताऽऽत्मका येऽनार्यैः क्रूरकर्मभिः क्रियन्ते, ततोऽप्रतिविरता यावज्जीवमेवेति ।

पुनरन्यथा बहुप्रकारमधार्मिकपदं प्रतिपिपादयिषुराह-

से जहाणामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथगमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउजंति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावगकवोतकविंजलमियमहिसवराहगाहगोहकुम्मसिरिसिवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउजंति, जावि य से बाहिरिया परिसा भवइ । तं जहा-दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा भाइल्लेइ कम्मकरएइ वा भोगपुरिसेइ वा तेसिं पि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ । तं जहा-इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोडियं करेह, इमं हत्थच्छिन्नयं करेह, इमं पायच्छिन्नयं करेह, इमं कन्नच्छिन्नयं करेह, इमं नक्कओट्ठसीसमुहच्छिन्नयं करेह, इमं वेयगच्छहिय अंगछहिय पक्खाफोडियं करेह, इमं णयणुप्पाडियं करेह, इमं दंसणुप्पाडियं वसणुप्पाडियं जिब्भुप्पाडियं ओलंबियं करेह, घसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइयं करेह, सूलाभिन्नयं करेह, खारवत्तियं करेह, वज्झवत्तियं करेह, सीहपुच्छियगं करेह, वसभप-

च्छियगं करेह, दवग्गियगं कागणिमंसक्खावियगं भत्तपाणनिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अन्नयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह।

तत्र इत्युपप्रदर्शनार्थो नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यते अस्मिन्विचित्रे संसारे केचनैवंभूताः पुरुषा ये कलममसूरतिलमुद्गाऽऽदिषु पचनपाचनाऽऽदिकया क्रियया स्वपरार्थमयता अप्रयत्नवन्तो निष्कृपाः क्रूरा मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति, सिंचेव अनपराधिष्वेव दोषमारोप्य दण्डो मिथ्यादण्डस्तं विदधाति, तथैवमेव प्रयोजन विनैव तथाप्रकाराः पुरुषा निष्करुणा जीवोपघातनिरतास्तित्तिरवर्तकलावकाऽऽदिषु जीवनप्रियेषु प्राणिष्वयताः क्रूरकर्माणो मिथ्या दण्डं प्रयुञ्जन्ति। तथा च क्रूरधियां "यथा राजा तथा प्रजाः" इति प्रवादात् परिवारोऽपि तथाभूत एव भवतीति तथा दर्शयितुमाह-(जावि य से इत्यादि) याऽपि च तेषां बाह्या पर्षद्भवति। तद्यथा-दासः स्वदासीसुतः, प्रेष्यः प्रेषणयोग्यो भृत्यदेश्यो, भृतको वेतनेनोदकाऽऽद्यानयनविधायी, तथा भागिको यः षष्ठांशाऽऽदिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते, कर्मकर प्रतीतः, तथा नायकाऽऽश्रित कश्चिद्भोगपरः, तदेवं ते दासाऽऽदयोऽन्यस्य लघावप्यपराधे गुरुतरं दण्ड प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च। स च नायकस्तेषां दासाऽऽदीनां बाह्यपर्षद्भूतानामन्यतरस्मिंस्तथा लघावप्यपराधे शब्दश्रवणाऽऽदिके गुरुतरं दण्डं वक्ष्यमाणं प्रयुङ्क्ते। तद्यथा-इमं दास प्रेष्याऽऽदिकं वा सर्वस्वापहारेण दण्डयत यूयमित्यादि सूत्रसिद्धं यावदिममन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत यूयम्।

जाऽवि य से अब्भिंतरिया परिसा भवइ। तं जहा-मायाइ वा पियाइ वा भायाइ वा भगिणीइ वा भज्जाइ वा पुत्ताइ वा धूताइ वा सुण्हाइ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिवत्तेइ, सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ, जहा मित्तदोसवत्तिए ०जाव अहिए परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति, सोयंति, जूरंति, तिप्पंति, पिट्टंति, परितप्पंति. ते दुक्खणसोयणजूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति।

याऽपि च क्रूरकर्मवतामभ्यन्तरा पर्षद्भवति। तद्यथा-माता पित्रादिका, मित्रदोषप्रत्ययिकक्रियास्थानवद् नेय यावदहितोऽयमस्मिन् लोके इति। तथाहि-आत्मनोऽपथ्यकारी परस्मिन्नपि लोके, तदेव ते मातापित्रादीनां स्वल्पापराधिनामपि गुरुतरदण्डाऽऽपादनतो दु:खमुत्पादयन्ति, तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयन्ति शोकयन्ति इत्येवं ते प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पादकाः यावद्वधबन्धपरिक्लेशादप्रतिविरता भवन्ति।

ते च विषयाऽऽसक्ततया एवं कुर्वन्ति इति, एतद् दर्शयितुमाह—

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना ०जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइत्ता वेराययणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहाणामए अयगोलेइ वा सेलगोलेइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ। (३५)

(एवमेव इत्यादि) एवमेव पूर्वोक्तस्वभावाः एवं ते निष्कृपा निरनुक्रोशा बाह्याभ्यन्तरपर्षद्यपि कर्णनासाविकर्तनाऽऽदिना दण्डपातनस्वभावाः स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः। यदि वा—स्त्रीषु मदनकामविषयभूतासु, कामेषु च शब्दाऽऽदिषु इच्छाकामेषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः, एते च शक्रपुरन्दराऽऽदिवत्पर्यायाः कथञ्चिद्भेद वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः, ते च भोगाऽऽसक्ता व्यपगतपरलोकाऽध्यवसाया यावद्वर्षाणि चतुः पञ्च षट् सप्त वा दश वाऽल्पतरं वा कालं प्रभूततरं वा कालं भुक्त्वा भोगभोगान् इन्द्रियानुकूलान् मधुमद्यमांसपरदारासेवनरूपान् भोगाऽऽसक्ततया च परपीडोत्पादनतो वैराऽऽयतनानि वैरानुबन्धानजुप्रसूयोत्पाद्य-विधाय तथा संचयित्वा संचिन्त्योपचित्य बहूनि प्रभूततरकालस्थितिकानि क्रूराणि क्रूरविपाकानि नरकाऽऽदिषु यातनास्थानेषु क्रकचपाटनशाल्मलीवृक्षारोहणतप्तत्रपुपानाऽऽत्मकानि कर्माण्यष्टप्रकाराणि, बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मगुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठाना भवन्तीत्युत्तरक्रिययाऽपादितबहुवचनरूपयेति सम्बन्धः। अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह-(से जहाणामए इत्यादि) तद्यथानामाऽयोगोलकोऽयस्पिण्डः शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं वा-उदके प्रक्षिप्त समानः सलिलतलमतिवर्त्य-अतिलङ्घ्याधो धरणीतलप्रतिष्ठानो भवति। अधुना दार्ष्टान्तिकमाह—(एवमेवेत्यादि) यथाऽसावयोगोलको वृत्तत्वाच्छीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथाप्रकार पुरुषजात। तमेव लेशतो दर्शयति-वज्रवद्वज्र गुरुत्वात्कर्म तद्बहुल—तत्प्रचुरः वध्यमानककर्मगुरुरित्यर्थः, तथा धूयत इति धूतं-प्राग्बद्ध कर्म तत्प्रचुरः, पुन सामान्येनाऽऽह—पङ्कयति इति पङ्कम्—पापं तद्बहुल, तथा तदेव कारणतो दर्शयितुमाह—वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुर, तथा (अपत्तियं ति) मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानः, तथा दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कट, तथा निकृति—माया वेषभाषापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मय, तथा सातिबहुल इति, सातिशयेन द्रव्येणापरस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोग सातिस्तद्बहुल तत्कृत्यप्रचुर, तथाऽयश -अश्लाघा असद्वृत्ततया निन्दा, यानि यानि पराऽपकारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनाऽऽदिषु अयशोभाग्भवतीति। स एवंभूत पुरुष कालमासे—स्वायुषः क्षये काले कृत्वा पृथि-

ण्याः-इत्यमभाऽऽदिकायास्तलमतिपर्यन्तं-योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्य नरकतलमतिष्ठानोऽसौ भवति ।

नरकस्वरूपनिरूपणायाऽऽह—

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधकारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा णरएसु वेयणाओ ।

एवमिति वाक्यालङ्कारे ते नरका सीमन्तकाऽऽदिका बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्ये वृत्ता बहिरपि चतुरस्रा अधश्च क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः । एतच्च संस्थानं पुष्पावकीर्णानाधिकृत्योक्तम्, तेषामेव प्रचुरत्वात्, आवलिकाप्रविष्टास्तु वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थाना एव भवन्ति, तथा नित्यमेवान्धकारतमसः येषु ते नित्यान्धकारतमसाः । क्वचित्पाठो-निच्चान्धकारतमसा इति, मेघपटलाऽऽच्छन्नराजन्यामपि तदपेक्षया बहुलतमोबहुला, तथा व्यपगतो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिःपथो येषां ते तथा पुनरप्यनिष्टाऽऽपादनार्थं तेषामेव विशेषणान्याह-( मेदवसेत्यादि ) दुष्कृतकर्मकारिणा ते नरकास्तद्वदु खोत्पादनार्थमभूता भवन्ति।तद्यथा-मेदोवसामांसरुधिरपूयाऽऽदीनां पटलानि तद्वस्तैर्लिप्तानि विच्छिलीकृतान्यनुलेपनतलानि अनुलेपनप्रधानानि तलानि येषां ते तथा, अशुचयो विष्ठाऽऽद्युपलेपप्रधानत्वादत एव विश्रा. कुथितमांसाऽऽदिकलपकर्दमाऽऽवलिप्तत्वात्, एव परमदुर्गन्धा कुथितगोमायुकलेवरादपि अत्यन्तगन्धाः, तथा कृष्णाग्निवर्णाभा रूपतः, स्पर्शस्तु कर्कशः कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकतरः स्पर्शो येषां ते तथा किं बहुना?, अतीव दुःखेनाधिसह्यन्ते, किमिति?, यतस्ते नरका पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनत्वादशुभाः तत्र च सत्त्वानामशुभकर्मकारिणामुत्पन्नरूढघातिनो च वक्ष्यमाणवेदना तीव्रा अतिदुःसहवेदना शारीराः प्रादुर्भवन्ति ।

णो चेव णरएसु नेरइया णिद्दायंति वा, पयलायंति वा, सुइं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते, ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णेरइया वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति (चिट्ठंति)। ( २६ सूत्र )

तया च वेदनयाऽभिभूतास्तेषु नरकेषु नारका नैवाक्षिनिमेषमपि कालं निद्रायन्ते, नाप्युपविष्टाऽऽवस्था ऽऽलसकांचनरूपामीषन्निद्रामवाप्नुवन्ति, न ह्येवभूतवेदनाऽभिभूतस्य निद्रालाभो भवतीति दर्शयति, तामुज्ज्वलां तीव्रानुभावेनोत्कटामित्यादिविशेषणविशिष्टां यावद्वेदयन्त्यनुभवन्तीति ॥ २६ ॥

अथ सावद्ययोगोलकपाषाणदृष्टान्तः शीघ्रमधोनिमज्जनार्थप्रतिपादकः प्रदर्शितोऽधुना शीघ्रपातार्थप्रतिपादकमेवापरं दृष्टान्तमधिकृत्याऽऽह—

से जहाणामए रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्मं मारातो मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए, णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ, एस ठाणे अणारिए अकेवले ०जाव असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए । [ २७ सूत्र ]

( से जहाणामए इत्यादि ) तद्यथानाम कश्चिद् वृक्षः पर्वताग्रे जातो मूले छिन्नः शीर्षे यथा निम्ने पतति , एवमसावप्यनायुष्कर्मकारी नाकर्मवानिति, शीघ्रमेव नरके पतति, ततोऽप्युद्वृत्तो गर्भाद्गर्भमवश्यं याति न तस्य किञ्चित्त्राणं भवति, यावदागामिन्यपि कालेऽसौ दुर्लभधर्मप्रतिपत्तिर्भवतीति । साम्प्रतमुपसंहरन्नि—( एस ठाणे इत्यादि ) सदेतत्स्थानमनार्यं पापानुष्ठानपरत्वाद्यावदेकान्तमिथ्यारूपमसाधु । तदेवं प्रथमस्याधर्मपाक्षिकस्य स्थानस्य विभङ्गो विभागः स्वरूपमेवं व्याख्यातं ॥ २७ ॥

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति । तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा ०जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वतो पाणातिवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए०जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति ततो विपडिविरता जावज्जीवाए ।

अथाऽपरस्य द्वितीयस्य विभङ्गो विभागः स्वरूपमेव वक्ष्यमाणनीत्या व्याख्यायते । तद्यथा-( इह खलु इत्यादि ) प्राच्यादिषु मध्येऽन्यतरस्यां दिशि सन्ति विद्यन्ते, ते चैवंभूता भवन्तीति । तद्यथा-न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा, तथा अपरिग्रहा निष्किञ्चनाः, धर्मेण चरन्तीति धार्मिका, यावद्धर्मेणैवाऽऽत्मनो वृत्तिं परिकल्पयन्ति, तथा सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः सर्वस्मात्प्राणातिपाताद्विरता एव यावत्परिग्रहाद्विरता इति । तथा ये चान्ये तथाप्रकाराः सावद्या आरम्भा यावदबोधिकाः प्राणिपरितापकाः तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि विरता इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ( अनगारवर्णकं 'अणगारगुण' शब्दे प्रथमभागे २७८ पृष्ठे उक्तः )

एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तं जहा—महड्डिएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्डिया महज्जुतिया०जाव महासुक्खाऽऽहारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी

पलंववणमालधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेण दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्डीए दिव्वाए जुतीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेण तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति, एस ठाणे आ(य)रिए० जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए। ( ३८ सूत्र )

*एके पुनरेकयाऽर्चया एकेन शरीरेणैकस्माद्वा भवात्सिद्धि गतिं गन्तारो भवन्ति, अपरे पुनस्तथाविधपूर्वकर्मावशेषे सति तत्कर्मवशगा कालं कृत्वा अन्यतमेषु वैमानिकेषु देवेषूत्पद्यन्ते, तत्रेन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशल्लोकपालपार्षदात्मरक्षप्रकीर्णेषु नानाविधसमृद्धिषु भवन्तीति, नन्वाऽभियोगिककिल्विषिकाऽऽदिष्विति। एतद्देवाऽऽह-(तं जहेत्यादि) तद्यथा महद्र्ध्यादिषु देवलोकेषूत्पद्यन्ते। देवास्त्वेवंभूता भवन्तीति दर्शयति- ( ते णं तत्थ देवा इत्यादि ) ते देवा नानाविधतपश्चरणोपात्तशुभकर्माणो महद्धर्यादिगुणोपेता भवन्तीत्यादिक सामान्यगुणवर्णकः, ततो हारविराजितवक्षस इत्यादिक आभरणवस्त्रपुष्पवर्णक । पुनरतिशयाऽऽपादनार्थं दिव्यरूपाऽऽदिप्रतिपादनं चिकीर्षुराह-(दिव्वेणं रूवेणमित्यादि)दिवि भवं दिव्यं, तेन रूपेणोपपेता यावद्दिव्यया द्रव्यलेश्ययोपपेता दशाऽपि दिशः समुद्द्योतयन्त ., तथा प्रभासयन्तोऽलङ्कुर्वन्तो गत्या देवलोकरूपया कल्याणाः-शोभना गत्या वा शीघ्ररूपया प्रशस्तविहायोगतिरूपया वा कल्याणाः, तथा स्थित्या उत्कृष्टमध्यमया कल्याणास्ते भवन्ति, तथाऽऽगामिनि काले भद्रका शोभनमनुष्यभवरूपसंपदुपपेता', तथा सद्धर्मप्रतिपत्तारश्च भवन्तीति। तदेतत्स्थानमार्यमेकान्तेनैव सम्यग्भूत सुसाध्विवतीत्येतद् द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपाक्षिकस्य विभङ्ग एवमाख्यात. । ३८।*

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ इह खलु पाईणं वा० ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति। तं जहा-अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया० जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला सुव्वया सुपडियाणंदा साहू एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरता जावज्जीवाए एगच्चाओ अप्पडिविरया० जाव जे यावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति, ततो वि एगच्चाओ अप्पडिविरया।

*अथापरस्य तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाऽऽख्यस्य विभङ्ग समाख्यायते—( इह खलु इत्यादि ) एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद्धर्माधर्माभ्यामुपपेत तथापि धर्मभूयिष्ठत्वाद्धार्मिकपक्ष एवावतरति। तद्यथा—बहुषु गुणेषु मध्यपतितो दोषो नाऽऽत्मानं लभते, कलङ्क इव चन्द्रिकायाः, तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवो नोदक कलुषयितुमलम्, एवमधर्मोऽपि धर्ममिति स्थितं धार्मिकपक्ष एवायम्। इहास्मिम् जगति प्राच्यादिषु दिक्षु एके केचन शुभकर्माणो मनुष्या भवन्तीति। तद्यथा-अल्पाः स्तोका. परिग्रहाऽऽरम्भेष्विच्छा-अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा एवंभूता धार्मिकवृत्तयः प्रायः सुशीलाः सुव्रता. सुप्रत्यानन्दाः साधवो भवन्तीति। तथैकस्मात् स्थूलात् संकल्पकृतात् प्रतिनिवृत्ता एकस्माच्च सूक्ष्मादारम्भजादप्रतिनिवृत्ता एव शेषाण्यपि व्रतानि संयोज्यानि इति। एतस्मादपि सामान्येन निवृत्ता इत्यतिदिशन्नाह-( जे यावन्ने इत्यादि)ये चान्ये सावद्या नरकाऽऽदिगमनहेतवः कर्मसमारम्भास्तेभ्य एकस्माद्यन्त्रपीडननिर्लाञ्छनकर्पीवलाऽऽदेर्निवृत्ता एकस्माच्च कर्यविक्रयाऽऽदेरनिवृत्ता इति।*

*ताश्च विशेषतो दर्शयितुमाह—*

से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुरनागसुवन्नजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा इणमेव निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्खिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे उसियफलिहा अवंगुयदुवारा अचियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति, बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाएत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तं जहा-महड्ढिएसु महज्जुइएसु ०जाव महासुक्खेसु सेसं तहेव०जाव एस ठाणे आ(य)रिए ०जाव एगंतसम्मे साहू। तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवं आहिए।

*( से जहेत्यादि ). विशिष्टोपदेशार्थं श्रमणानुपासते सेवन्त इति श्रमणोपासका., ते च श्रमणोपासनतोऽभिगतजीवाजीवस्वभावा, तथोपलब्धपुण्यपापा.।*इह च प्रायः सूत्राऽऽदर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते न च टीकासंवाद्येकोऽप्यस्माभिरादर्शः समुपलब्धोऽत एकमादर्शमङ्गीकृत्याऽस्माभिर्विवरण क्रियते इत्येतदवगम्य सूत्रविसंवाददर्शनाच्चित्त-*

व्यामोहो न विधेय इति* । ते श्रावकाः प्रतिज्ञातबन्धमोक्षस्वरूपाः सन्तो न धर्माच्च्याव्यन्ते मेरुरिव निष्प्रकम्पा दृढमार्हते दर्शनेऽनुरक्ताः । अत्र चार्थे सुखप्रतिपत्त्यर्थं दृष्टान्तभूतं कथानकम् । तद्येदम्—राजगृहे नगरे कश्चिदेकः परिव्राट् विद्यामन्त्रौषधिलब्धसामर्थ्यः परिवसति , स च विद्याऽऽदिबलेन पत्तने पर्यटन् यां यामभिरूपतरामङ्गनां पश्यति तां तामपहरति, तत सर्वैर्नागरैः राज्ञे निवेदितम् । यथा देव ! प्रत्यहं पत्तनं मुष्यते केनापि, नीयते सर्वसारमङ्गनाजनोऽपि, यस्तस्यानभिमतः सोऽत्र केवलवमास्ते , तदेवं क्रियतां प्रसादस्तदन्वेषणेनेति । राज्ञाऽभिहितं-गच्छत यूयं विश्रब्धा भवताऽवश्यमहं तं दुरात्मानं लप्स्ये । किञ्च-यदि पञ्चभिरहोभिर्न लभे चौरं विमर्षयुक्तोऽपि च त्यक्ष्याम्यात्मानमहं ज्वालामालाकुले वह्नौ । तदेवं कृतप्रतिज्ञं राजानं प्रणम्य निर्गता नागरिकाः । राज्ञा च सविशेषं नियुक्ता आरक्षकाः । आत्मनाऽप्येकाकी खड्गखेटकसमेतोऽन्वेष्टुमारब्धो, न चोपलभ्यते चौरः ततो राज्ञा निपुणतरमन्वेषयता पञ्चमेऽहनि भोजनताम्बूलगन्धमाल्याऽऽदिकं गृह्णन् रात्रौ स्वनो निर्गतेनोपलब्ध स परिव्राट्, तत्पृष्ठगामिना नगरोद्यानवृक्षकोटरप्रवेशेन गुहाभ्यन्तरं प्रविश्य व्यापादित. । तदनन्तरं समर्पितं यद्यस्य सत्कमङ्गनाजनोऽपीति । तत्र चैका सीमन्तिनी अत्यन्तमौषधिभिर्भाविता नेच्छत्यात्मीयमपि भर्त्तारं, ततस्तद्विद्भिरभिहितम् यथाऽस्याः परिव्राट्सत्कान्यस्थीनि दुग्धेन सह संघृष्य यदि दीयन्ते तदेयं तदाग्रहं मुञ्चति, ततस्तत्स्वजनैरेवमेव कृतं, यथा यथा चासौ तदस्थ्यभ्यवहार विधत्ते तथा तथा तत्स्नेहानुबन्धोऽपैति, सर्वास्थिपाने चापगतः प्रेमानुबन्धः, तदानुरक्ता निजे भर्त्तरि । तदेवं यथाऽसावत्यन्तं भाविना तेन परिव्राजा नेच्छत्यपरमेवं श्रावकजनोऽपि नितरा भाविताऽऽत्मा मौनीन्द्रशासने न शक्यते अन्यथा कर्तुम् , अत्यन्तं सम्यक्त्वौषधेन वासितत्वादिति । पुनरपि श्रावकान् विशिनष्टि-( ०जाव उसियफलिहा इत्यादि ) उच्छ्रितानि स्फटिकानीव स्फटिकानि-अन्तःकरणानि येषा ते तथा । एतदुक्त भवति—मौनीन्द्रदर्शनावाप्तौ सत्यां परितुष्टमानसा इति, तथा अप्रावृतानि द्वाराणि यैस्ते तथा , उद्घाटितगृहद्वारास्तिष्ठन्ति । अचियत्तोऽनभिमतोऽन्तःपुरप्रवेशवत्परगृहद्वारप्रवेशोऽन्यतीर्थिकप्रवेशो येषां ते तथा, अनवरतं श्रमणानुदुक्तविहारिणो निर्ग्रन्थान् प्रासुकेनैषणीयेनाशनाऽऽदिना तथा पीठफलकशय्यासंस्तारकाऽऽदिना च प्रतिलाभयन्तस्तथा बहूनि वर्षाणि शीलव्रतगुणव्रतप्रत्याख्यानपौषधोपवासैरात्मानं भावयन्तस्तिष्ठन्ति । तदेवं ते परमश्रावकाः प्रभूतकालमणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतानुष्ठायिनः सधूनामौषधवस्त्रपात्राऽऽदिनोपकारिण. सन्तो यथोक्तं यथाशक्ति सदनुष्ठानं विधायोत्पन्ने वा कारणेऽनुत्पन्ने वा भक्तं प्रत्याख्यायाऽऽलोचितप्रतिक्रान्ता. समाधिप्राप्ता. सन्तः कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते इति । एतानि चाभिगतजीवाजीवाऽऽदिकानि पदानि हेतुहेतुमद्भावेन नेतव्यानि । तद्यथा-यस्मादभिगतजीवाजीवास्तस्मादुपलब्धपुण्यपापाः, यस्मादुपलब्धपुण्यपापास्तस्मादुच्छिन्नमनस. । एवमुत्तरत्रापि एकैकं पदं त्यजद्भिरेकैकं चोत्तरं गृह्णद्भिर्वाच्यं , ते च परेण पृष्टा अपृष्टा वा एतद्ब्रू । तद्यथा—अयमेव मौनीन्द्रोक्तो मार्गः सदर्थः शेषस्त्वनर्थो, यस्मादेवं प्रतिपद्यन्ते तस्मात्ते समुच्छिन्नमनसः सन्तः साधुधर्मं श्रावकधर्मं च प्रकाशयन्तो विशेषेणैकादशोपासकप्रतिमाः स्पृशन्तो विहरन्तोऽष्टमीचतुर्दश्यादिषु पौषधोपवासाऽऽदौ साधून् प्रासुकेन प्रतिलाभयन्ति , पाश्चात्ये च काले संलिखितकायाः संस्तारकश्रमणभाव प्रतिपद्य भक्तं प्रत्याख्यायाऽऽयुषः क्षये देवेषूत्पद्यन्ते , ततोऽपि च्युताः सुमानुषभावं प्रतिपद्य तत्रैव भवेऽष्टसु सप्तस्वष्टसु वा भवेषु सिद्ध्यन्तीति । तदेतत्स्थानं कल्याणपरम्परया सुखविपाकमिति कृत्वाऽऽर्यमिति । अयं विभङ्गस्तृतीयस्य मिश्रकाऽऽख्यस्याऽऽख्यात इति । उक्ता धार्मिका., अधार्मिकास्तदुभयरूपाश्चाभिहिताः ।

साम्प्रतमेतदेव स्थानत्रिकमुपसंहारद्वारेण संक्षेपतो विभणिषुराह—

**अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ । तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए०जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरई एस ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे । एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ट्ठाणे आरंभणोआरंभट्ठाणे एस ठाणे आ (य) रिए ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू । ( ३६ सूत्र )**

( अविरइं इत्यादि ) येयमविरतिरसंयमरूपा सम्यक्त्वाभावान्मिथ्यादृष्टेर्द्रव्यतो विरतिरप्यविरतिरेव,तां प्रतीत्य आश्रित्य बालवद्बालोऽज्ञः सदसद्विवेकविकलत्वात् इत्येवमाधीयते व्यवस्थाप्यते आख्यायते वा , तथा विरतिं च प्रतीत्य—आश्रित्य पापाड्डीनः पण्डितः परमार्थज्ञो वेत्येवमाधीयते आख्यायते वा, तथा विरताविरतिं चाऽऽश्रित्य बालपण्डित इत्येतत्प्राग्वदायोज्यमिति । किमित्यविरतिविरत्याश्रयेण बालपण्डितपाण्डित्याऽऽपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह-( तत्थ णमित्यादि ) तत्र पूर्वोक्तेषु-स्थानेषु येयं सर्वाऽऽत्मना सर्वस्मात् अविरतिर्विरतिपरिणामाभावः , एतत्स्थानं सावद्याऽऽरम्भस्थानमाश्रयः एतदाश्रित्य सर्वाण्यपि कार्याणि क्रियन्ते । यत एवमत एतदनार्यं स्थानं नि.शूकतया यत्किमनकारित्वाद्यावदसर्वदु.खप्रक्षीणमार्गोऽय तथैकान्तमिथ्यारूपोऽसाधुरिति । तत्र चेयं विरति. सम्यक्त्वपूर्विका सावद्याऽऽरम्भान्निवृत्तिः सा स्थगितद्वारत्वात् पापानुपादानरूपेति । एतद्देवाऽऽह-तदेतत्स्थानम् अनारम्भस्थानं सावद्यानुष्ठानरहितत्वात्संयमस्थान.तथा चैतत्स्थानमार्यस्थानम् । आरायातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यं,तथा सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गोऽशेषकर्मक्षयपथ. इति । तथैकान्तसम्यग्भूत. । एतदेवाऽऽह-साधुरिति, साधुभूतानुष्ठानात्साधुरिति । तत्र च येयं विरताविरतिरभिधीयते सैषा मिश्रस्थानभूता,तदेतदारम्भानारम्भरूपस्थानमेतदपि कथञ्चिदार्यमेव,पारम्पर्येण सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गः, तथैकान्तसम्यग्भूतः साधुश्चेति । तदेवमनेकविधोऽयमधर्मपक्षो धर्मपक्षस्तथा मिश्रपक्षश्चेति संक्षेपेणाभिहितः पक्षत्रयसमाश्रयणेन । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रति० ।

पुरिसविज्जा-पुरुषविद्या-स्त्री० । क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयापरनामके षष्ठे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० । उत्त० ।

पुरिसवेय-पुरुषवेद-पुं० । श्लेष्मोदयाद्यम्लाभिलाषवत् पुंसः स्त्रियामभिलाषनिबन्धने कर्मभेदे , कर्म० ६ कर्म० । पं०सं० । औ० । प्रज्ञा० । (पुंवेदस्य प्ररूपणा 'णोकसायवेयणिज्ज' शब्दे चतुर्थभागे २१६१ पृष्ठे गता )

पुरिससीह-पुरुषसिंह-पुं० । तीर्थकरे. सिंह इव सिंहः, पुरुषश्चासौ सिंहश्चेति पुरुषसिंहः । लोकेन हि सिंहे शौर्यमतिप्रकृष्टमभ्युपगतमतः शौर्ये स उपमानं कृतः; शौर्यं तु भगवतो बाल्ये प्रत्यनीकदेवेन भाष्यमाणस्याभीतत्वात् कुलिशकठिनमुष्टिप्रहारप्रहतिप्रवर्द्धमानामरशरीरकुब्जताकरणाच्च । भ० १ श० १ उ० । ल० ।

प्रणिपातदण्डकसप्तमसूत्रम्-

पुरिससीहाणं ॥ ७ ॥

पुरुषसिंहेभ्य इति । पुरुषाः प्राग्व्यावर्णितनिरुक्तास्ते सिंहा इव प्रधानशौर्याऽऽदिगुणभावेन ख्याताः पुरुषसिंहाः, ख्याताश्च कर्म्मशत्रून्प्रति शूरतया तदुच्छेदनं प्रति क्रौर्येण क्रोधाऽऽदीन् प्रति असहनतया रागाऽऽदीन्प्रति वीर्ययोगेन तपःकर्म प्रति वीरतया अवज्ञैषां परीषहेषु न भयमुपसर्गेषु न चिन्ताऽपीन्द्रियवर्गे न खेदः संयमाध्वनि निष्प्रकम्पता सद्ध्यान इति । न चैवमुपमा मृषा, तद्द्वारेण तत्त्वतः तदसाधारणगुणाभिधानात्, विनयविशेषानुग्रहार्थमेतत्, इत्थमेव केषाञ्चिद्गुणप्रतिपत्तिदर्शनात् चित्रो हि सत्त्वानां क्षयोपशमः, ततः कस्यचित्कथञ्चिदाशयशुद्धिभावात् । यथाभव्यं व्यापकश्चानुग्रहविधि ,उपकार्यात्प्रत्युपकारलिप्साऽभावेन महत्तां प्रकर्षनात्, महापुरुषप्रणीतश्चाधिकृतदण्डकः, आदिमुनिभिरर्हच्छिष्यैर्गणधरैः प्रणीतत्वात् , अत एवैष महागम्भीरः सकलन्यायाऽऽकरः भव्यप्रमोदहेतुः परमार्षरूपो निदर्शनमन्येषामिति, व्याख्यमेतद्यदुत पुरुषसिंहा इति ॥ ७ ॥ ल० । स्था० । औ । जी० । ध० । रा० । स० । कल्प० । सूत्र० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते पञ्चमे वासुदेवे, स० । आव० । धर्मजिनसमये च सोऽभवत् । ति० । प्रव० । " पुरिससीहेणं वासुदेवे दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववन्ने।" स्था० १० ठा०। " पुरिससीहेणं वासुदेवे दस वाससयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता पंचमाए पुढवीए नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने । " अत्र सूत्रविरोधश्चिन्त्यः । स० १००००० सम० ।

पुरिससेण-पुरुषसेन-पुं० । द्वारवत्यां वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तकृद्दशानां चतुर्थे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । श्रेणिकस्य धारण्यां जाते पुत्रे,वीरान्तिके प्रव्रज्य षोडश वर्षाणि श्रामण्यपर्यायः मृत्वा अपराजिते उपपन्नः च्युत्वा महाविदेहे क्षेत्रे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशानां प्रथमे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचितम् । अणु० १ श्रु० १ वर्ग ४ अ० ।

पुरिसा-पुरुषा-स्त्री० । ब्रह्मया लिपेः भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पुरिसाइण्ण-पुरुषाऽऽकीर्ण-त्रि० । पुरुषबहुले, नि० चू० १ उ० । सर्वत्र ल० । ८ । २ । ७६ । रलोपे णद्वित्वम् । प्रा० ।

पुरिसादाणीय-पुरुषादानीय-पुं० । पुरुषाणां मध्ये आदानीयः पुरुषाऽऽदानीयः । भ० ५ श० ६ उ० । स्था० । स० । पुरुषाणां मध्ये आदीयते इत्यादानीय उपादेय इत्यर्थः । स्था० ८ ठा० । पुरुषश्चासौ आदानीयश्च आदेयवाक्यतया आदेयनामतया च पुरुषाऽऽदानीयः।पुरुषप्रधाने.कल्प० १ अधि०७ क्षण। स० । नि० । पार्श्वनाथो हि पुरुषाऽऽदानीय इत्युच्यते, "तचेव पासेणं अरहा पुरिसादाणीए।" इत्यादि सूत्रेषु व्यवहारात् । स्था० ६ ठा० । मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया आश्रयणीयाः पुरुषाऽऽदानीयाः । महतोऽपि महीयसि,सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

पुरिसाधम-पुरुषाधम-पुं० । पुरुषाणां मध्येऽधमे, सू० ३ उ० । शषोः सः । ८ । १ । २६० । इति । सः । प्रा० ।

पुरिसासीविस-पुरुषाशीविष-पुं० । आशीविषः-सर्पः पुरुषश्चासावाशीविषश्च पुरुषाऽऽशीविषः, कोपसाफल्यकरणसामर्थ्यात् । सर्पोपमे पुरुषे, औ० ।

पुरिसुत्तम-पुरुषोत्तम-पुं० । तीर्थकरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ल० ।

पुरिसोत्तम-पुरुषोत्तम-पुं० । पुरुषाणां मध्ये तेन तेन रूपाऽऽदिनाऽतिशयेनोद्भूतत्वादूर्ध्ववर्त्तित्वादुत्तमः पुरुषोत्तमः । भ० १ श० १ उ० । स० । स्था० । कल्प० । सूत्र० । रा० । ध० । पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमः । तीर्थकरे, भगवन्तो हि संसारमप्यावसन्त. सदा परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः कृतज्ञतापतयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिन इति भवन्ति पुरुषोत्तमाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । उत्त० ।

प्रणिपातदण्डकषष्ठसूत्रम्—

पुरिसोत्तमाणं ॥ ६ ॥

पुरि शयनात् पुरुषाः सत्त्वा एव, तेषां उत्तमाः सहजतया भव्यत्वादिभावतः प्रधानाः पुरुषोत्तमाः । तथा ह्याकालमेते परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था उचितक्रियावन्तोऽदीनभावाः सफलारम्भिणः अदृढानुशयाः कृतज्ञतापतयोऽनुपहतचित्ता देवगुरुबहुमानिनस्तथा गम्भीराशया इति । न सर्वे एवंविधाः,खुङ्क(ङ्क)(ङ्कं) ङ्का)(ङ्का)कानां व्यत्ययोपलब्धेः,अन्यथा खुङ्क(ङ्क) ङ्क।(ङ्का)(ङ्का)काभाव इति।नाशुद्धमपि जात्यरत्नं समानमजात्यरत्नेन, न चेतरदितरेण, तथा संस्कारयोगे सत्युत्तरकालमपि तद्भेदोपपत्तेः, न हि काचः पद्मरागी भवति, जात्यनुच्छेदेन गुणप्रकर्षाभावादित्थं चैतदेवं प्रत्येकबुद्धाऽऽदिवचनप्रामाण्यात्तद्भेदानुपपत्तेः, न तुल्यभाजनतायां तद्भेदो न्याय्य इति । न चात एवमुक्तावपि विशेषः, कृत्स्नकर्मक्षयकार्यत्वात्, तस्य चाविशिष्टत्वात्, दृष्टश्च दरिद्रेश्वरयोरप्यविशिष्टो मृत्युः, आयुःक्षयाविशेषात्, न चैतावता तयोः प्रागप्यविशेषः, तदन्यहेतुविशेषाभिदर्शनमात्रमेतदिति पुरुषोत्तमाः ॥६॥ ल० ।"जहा से पुरिसोत्तमे" । अत्र पुरुषोत्तमो रथनेमिः । दश० २ अ० । ऋषभपुत्राणां शतसङ्ख्याकानां पञ्चचत्वारिंशे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । अनन्तजिनकालभाविनि (स० ५६ सम०) चतुर्थवासुदेवे, स० । आव० । प्रव० । प्रधाने, त्रि०

पुरुषोत्तमो हि धर्मः सर्वतीर्थकृत्संमतः । पञ्चा० १७ विव० ।

गुणानुरागकथनपूर्वकं पुरुषोत्तमचरितम्—

गुणलेसं पि पसंसइ,
गुरुगुणबुद्धीइ परगयं एसो ।
दोसलवेण वि नियगं,
गुणनिवहं निग्गुणं गणइ ॥ १२१ ॥

( ध० र० ) ( अस्या व्याख्या गुणानुरागि शब्दे तृतीय भागे ६३२ पृष्ठे द्रष्टव्या )

पुरुषोत्तमचरितमित्थम्—

" अत्थि सुरट्ठाविसए, बारवई नाम पुरवरी रम्मा ।
कंचणमणिमयमंदिर-पाया रायणरयणिम्मवया ॥ १ ॥
तत्थ य हरिकुलनहयल-हरिणंको अरिसमूहमयमयणो ।
महुमयणो नाम निवो, दाहिणभरहद्धरज्जधरो ॥ २ ॥

तत्थ कया वि हु विहुणिय-भइघणघणघाइकम्मपब्भारो ।
दुरियद्दुमदवनेमी, अरिट्ठनेमी समोसरिओ ॥ ३ ॥
सिरिरेवयगिरिसंठिय-उज्जाणे नंदणम्मि रमणीए ।
सुररइयसमोसरणे, उवविट्ठो देसणं काउं ॥ ४ ॥

तत्तो निउत्तपुरिसा, जिणआगमणं मुणेवि हिट्ठमणो ।
चलिओ भरहद्धवई, वंदणहेउ जिणिंदस्स ॥ ५ ॥
चलिया तेण समा णं, दस वि दसारा समुद्दविजयाई ।
तह चेव महावीरा, पंच वि बलदेवपामुक्खा ॥ ६ ॥

सोलस रायसहस्सा, संचलिया उग्गसेणनिवपमुहा ।
इगवीस सहस्साइं, वीरसेणपमुहाण वीराणं ॥ ७ ॥
दुद्दंतकुमाराणं, सट्ठिसहस्साण संवपमुहाणं ।
पज्जुन्नप्पमुहाओ, अद्धुट्ठकुमारकोडीओ ॥ ८ ॥

छप्पन्नं च सहस्सा, महसेणपमुहबलवगाणं पि ।
अन्नो वि सिट्ठमाई, नागरलोगो अणेगविहो ॥ ९ ॥
इत्तो सोहम्मवई, विसद्धु मणं ओहिणा मुणेऊण ।
गाढं हरिसियहियओ, सहागओ भणइ निवअभरे ॥ १० ॥

हंहो पिच्छह पिच्छह, एए किर केसवा महाभागा ।
गुरुगुणबुद्धीइ नयं-ति परगयं गुणलवं पि सया ॥ ११ ॥
सिसुणो इव खलु पहुणो, जह तह जंपति इय विचिंतेउं ।
सिग्घं परिक्खणत्थं, एगो अमरो इहं पत्तो ॥ १२ ॥

ओसरणगमणमग्गे, गयजीय परसकुरहिगंधड्ढं ।
वियसियमुहसियदंतं, एगं साणं विउव्वेइ ॥ १३ ॥
तग्गंधेणऽभिभूयं, सिन्नं सयल पि अन्नओ हुत्तं ।
वढपिहियवयणनासा-उडं फुड गंतुमारद्धं ॥ १४ ॥

कण्हो पुण गच्छंतो, तेणेव पहेण वट्ठु नं साणं ।
[illegible]गुणगहण म्मि लालसो जंपए एवं ॥ १५ ॥
एयस्स कसिणसाण-स्स आणणे सेयदंतघणपंती ।
एसा मरगयथाले, मुत्तामालेव कह सहइ ! ॥ १६ ॥

इइ नाउं हरिचरियं, कह वि न दोसं वयंति सप्पुरिसा ।
सो जायपच्चओ सुर-वइम्मि पयडेइ नियरूवं ॥ १७ ॥
परगुणगहणरयाणं, बहुसो थुणिउं हरिं सयहुमाणं ।
असिवोवसमणभेरिं, च दाउ अमरो गओ सग्गं ॥ १८ ॥

तत्तो कण्हो पत्तो, ओसरणे जिणवरं नमिय विहिणा ।
उचियट्ठाणे निसियइ, इय सामी कहइ धम्मकहं ॥ १९ ॥
भो भविया ! भवगहणे, दुलहं कह कह वि लहिय सम्मत्तं ।
तस्स विसुद्धिनिमित्तं, संतगुणपसंसणं कुणह ॥ २० ॥
जह सयलतत्तविसया, अरुई सम्मत्तनासिया भणिया ।
तह संतगुणाणुववू-हणा वि अइयारसंजणणी ॥ २१ ॥
जइ संता वि न हु गुणा, पसंसणं पाउणंति सत्ताणं ।
तो बहुकिलेससज्झा-ण को ताण आयरं कुज्जा ? ॥ २२ ॥
तो नाणाईविसए, गुणलेसं जत्थ अत्थियं पासे ।
समत्तंगं अवगम्म तत्थ संसिज्ज तावइयं ॥ २३ ॥
जो पुण मच्छरवसओ, पमाइओ वा गुणे न संसिज्ज ।
संते वि सो दुहाइ, पावइ भवदेवसूरि व्व ॥ २४ ॥
पुच्छेइ हरी भयवं !, भवदेवो नाम एस को सूरी ? ।
भणइ पहू इह भरहे, आसि पुरा एस मुणिनाहो ॥ २५ ॥
बुद्धीइ सुरगुरुसमो, नवरं चरणम्मि ईसिसिढिलमणो ।
तस्स य एगो सीसो, नामेणं बंधुदत्तु त्ति ॥ २६ ॥
सो पुण निम्मलचरणो, सुद्धमई वायलद्धिसंपन्नो ।
तक्कागमे य कुसलो, अमच्छरिल्लो विणीओ य ॥ २७ ॥
तो तस्स पायमूले, जिणसमयवियक्खणा समणसंघा ।
सत्थवियड्ढा सड्ढा—विणयपणया कयंजलिणा ॥ २८ ॥
निसुणंति जिणिंदागम-मुवउत्तमणा तह त्ति जंपंता ।
पकुणंति य बहुमाणं, पवित्तचारित्तजुत्तु त्ति ॥ २९ ॥
तो भवदेवो सूरी, मच्छरभरिओ विचिंतए हियए ।
मं मुत्तु इमे मुद्धा, किं एयं पज्जुवासंति ! ॥ ३० ॥
अहवा मुद्धा मुणिणो, गिहिणो व इमे कुणंतु जं किं पि ।
एस उण कीस सीसो, तहा मए दिक्खिओ वि फुडं ! ॥ ३१ ॥
तह बहुसुओ मइ च्चिय, कओ वि तह गुरुगुणेसु ठाविओ वि ।
म अवगणिउं एवं, वड्ढइ परिसाइ भेयम्मि ॥ ३२ ॥
नरनाहम्मि जियंते, न छत्तभंगो हवेइ एसो वि ।
एएण अणज्जेणं, मज्झे न सुओ जणपवाओ ॥ ३३ ॥
जइ सपइ वारिज्जइ, इमो मए धम्मकहणमाईयं ।
तो मच्छरि त्ति लोगो, सुद्धो मं भणए एस ॥ ३४ ॥
ता काउ उवेह च्चिय, इमम्मि सूहम्मि इणिह मह उचिया ।
इय जा मच्छरपुन्नो, सो सूरी गमइ कइवि दिणे ॥ ३५ ॥
ता पाडलिपुरनयरा- संघाएसेण तस्स पासम्मि ।
पत्तो मुणिसंघाडो, मुणी वि अब्भुट्ठिओ सो वि ॥ ३६ ॥"
अथ तस्य यतिपसेर्येत्ति-जनस्य कृत्या यथोचितं सर्वम् ।
मुनिसङ्घा (संघा)टक एवं, संघादेशं न्यवीवदत् ॥ ३७ ॥
अत्राऽवज्ञातगुरु-र्विदुराऽऽख्यो ऽप्यत्रालिङ्गिकस्तत्र ।
स्वैरं विजहार चिरं, पड्दर्शनविप्लुतिं कुर्वन् ॥ ३८ ॥

तथाहि—

काणादानमदान् प्रनष्टधिषणाऽऽधिक्यानवाक्यान् बहून्,
शाक्याँस्तर्कवचोविचारविमुखान् सांख्यानसंख्यानपि ।
कौलान् अप्रबलान् निरस्तयशसो मीमांसकान् ध्वंसकान्,
कुर्वन् वारणवद्विशङ्कमचरत्सर्वत्र गर्वोद्धुरः ॥ ३९ ॥
संप्रति जैनमुनीन्द्रैः सार्द्धं स्पर्द्धां चिकीर्षते दुष्ट ।
तद्दर्शनकृत्यमिदं, कर्तुं तत्रैत लघु यूयम् ॥ ४० ॥
"इय सोउं सो सूरी, जा चलिओ पाडलीपुराभिमुहं ।

पवयणपभावणत्थं, ना जाया अभिमुहा छीया ॥ ४१ ॥
वामा खेमा लाभ-म्मि दाहिणा पच्छिमा नियत्तेइ ।
छीया नूणमभिमुहा, कयं पि कज्जं विणासेइ ॥ ४२ ॥
इय चिंतिऊण सूरी, विहारकरणाउ उवरओ सहसा ।
तो भणियं आगंतुय-मुणिसंघाडेण वयणमिणं ॥ ४३ ॥
जइ तुम्हाण विहारो, सउणअभावा उ तत्थ न हु जाओ ।
ता बंधुदत्तसाहुं, लहु पेसह वायलद्धिल्लं ॥ ४४ ॥
तो सूरिणा बहुविहं, विचिंतिउं सो विसज्जिओ तत्थ ।
पत्तो थोवदिणेहिं, सुसउणपरिवड्डिउच्छाहो ॥ ४५ ॥
दिट्ठो तत्थ नरिंदो, कया पइन्ना इमा दुवेहिं पि ।
जो जेण नूण जिप्पइ, स तस्स सीसो हवेउ त्ति ॥ ४६ ॥
तं बंधुदत्तमुणिणा, सियवायविसुद्धिविहवेणं ।
बहुवयणवित्थरेणं, वायम्मि पराजिओ विदुरो ॥ ४७ ॥
लद्धं च विजयपत्तं, विदुरो पव्वाविओ तया चेव ।
वियसियमुहकमलेणं, पसंसिओ सयलसंघेण ॥ ४८ ॥
विदुरविणेयसमेओ, पए पए बुहजणेण थुव्वंतो ।
तो बंधुदत्तसाहू, पत्तो नियसूरिपासम्मि ॥ ४९ ॥
तं तु पुण मच्छरवसा, न मणागं पि हु पसंसिओ एस ।
न य दिट्ठो सम्मिणेहं, आलविओ सहरिसं नेव ॥ ५० ॥
हा जइ गुरुणो वि मए,न रंजिया मंदबुद्धिकलिएण ।
ता सेसाण गुणाणं, समज्जणेणं हवउ मज्झ ॥ ५१ ॥
इय चिंताउलचित्तो, हिययम्मि वहंतओ महाखेयं ।
तप्पभिइ बंधुदत्तो, जाओ गुण अज्जणे विमुहो ॥ ५२ ॥
अकयनियदोससुद्धी, भवदेवमुणीसरो वि मरिऊण ।
पयडबहुकिब्बिसेसुं, किब्बिसिएसुं सुरो जाओ ॥ ५३ ॥
तयणु दरिद्दियदियवं-दणो उ सो मूयओ समुप्पन्नो ।
कह कह वि लद्धियदोहिं, काउ तव सग्गमणुपत्तो ॥ ५४ ॥
इय सोउ कण्हपमुहा,लोया भवदेवसूरिणो चरियं ।
चरियं जाया पमुइय-हियया परगुणगहणिक्कनलिच्छा ॥५५॥
भुज्जो भुज्जो नेमिं,पणमिय पत्ता सएसु ठाणेसु ।
समणगणसंपरिवुडो, विहरइ अन्नत्थ सामी वि ॥ ५६ ॥

> इति स्फुरद्दोषलतालवित्रं,
> निशम्य विष्णो रुचिरं चरित्रम् ।
> दुष्कर्मनीरौघमिदानिदाघं,
> सुसाधवो धत्त गुणानुरागम् ॥ ५७ ॥ "

इति पुरुषोत्तमचरित्रम् । ध० र० ३ अधि० ६ गुण ।

**पुरिसोत्तमणाभिसंभव-पुरुषोत्तमनाभिसम्भव-पुं०** । ब्रह्मणि, " नमिऊण परमपुरिसं, पुरिसोत्तमणाभिसंभवं देव । वुच्छं पाइअलच्छि त्ति, नाममालं निसामेह ॥ १ ॥ " पाइ० ना० १ गाथा ।

**पुरिसोत्तमप्पणीय-पुरुषोत्तमप्रणीत-त्रि०** । उत्तमपुरुषगदिते, पञ्चा० ७ विव० ।

**पुरिसोत्तर-पुरुषोत्तर-त्रि०** । पुरुषप्रधाने,सू० १ उ० ३ प्रक० ।

**पुरी-पुरी-स्त्री०** । नगर्याम्, स्वनामख्याते नगरीभेदे, पश्चा दुत्पादित. स्वामी, प्राप्तो नाम्ना पुरिं पुरीम् । आ० क०१अ० ।

**पुरीस-पुरीष-न०** । विष्ठायाम् , तं० । स्था० । उच्चारे, आव० ४ अ० । "शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते । " आ० म० १ अ० ।

**पुरीसणिरोह-पुरीषनिरोध-पुं०** । विड्उत्सर्गमलनिरोधे, मूत्र निरोधे चक्षुरुपघातो भवति । पुरीषनिरोधे च जीवितोपघातः । पं० चू० १ कल्प ।

**पुरुपुरिआ-देशी**—उत्कण्ठायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ५५ गाथा ।

**पुरुहूअ-देशी**—घूके, दे० ना० ६ वर्ग ५५ गाथा ।

**पुरेकड-पुरस्कृत-त्रि०** । जन्मान्तरोपात्ते, दश० ८ अ० । सू० प्र० । आचा० । जन्मान्तरोपार्जिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । जन्मशतोपात्ते कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

**पुरेकम्म ( ण् )-पुरःकर्मन्-न०** । पुरो दानात् पूर्वं कर्म हस्तधावनाऽऽदि यत्र तत्पुरःकर्म । प्रश्न० ५ संव० द्वार । भिक्षादानादग्रतः कृते प्रक्षालनाऽऽदिके कर्मणि आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । भक्तदानात्प्राग्यतिनिमित्ते हस्ताऽऽदिधावने, ध० ३ अधि० । पं० चू० । पं० भा० । हस्तेन साधुनिमित्तं प्राक् कृतजलोज्झनव्यापारे, दश० ५ अ० १ उ० । " पुरओ कयं जं तु त पुरेकम्मं । " भिक्षायाः पुरतः-प्रथममेव यत्कृतं कर्म कर-प्रक्षालनाऽऽदि तत्पुरः कर्माभिधीयते । ओघ० ।

अथ पुरःकर्मद्वारमाह—

> पुरकम्मम्मि य पुच्छा, किं कम्माऽऽरोवणा परीहरणा ।
> एएसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ ६७९ ॥

पुरःकर्मणि पृच्छा कर्त्तव्या । तद्यथा—किं पुरःकर्म ?,कस्य वा पुरःकर्म ? का वा पुरःकर्मण्यारोपणा, कथं वा पुरःकर्मण. परिहरणं क्रियते ?। एतेषां चतुर्णामपि पदानां प्रत्येकमहं प्ररूपणा वक्ष्ये ।

तत्र किमिति द्वारस्य प्ररूपणां चिकीर्षुः प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

> जइ जं पुरतो कीरइ, एवं उट्ठाणगमणमादीणि ।
> होंति पुरेकम्मं ते, एमेव य पुव्वकम्मे वि ॥ ६८० ॥

परः प्राऽऽह यदि साधोर्भिक्षार्थिनो गृहाङ्गणमागतस्य यत् पुरोऽग्रतः क्रियते तत्पुरःकर्मेति व्यवह्रियते, एवं ते तव यानि दायिकस्योत्थानगमनाऽऽदीनि कर्माणि साधोरग्रतः क्रियमाणानि तानि सर्वाण्यपि पुरःकर्म भवति । अथ पूर्वार्थवाचकः पुरःशब्द इहाधिक्रियते, एवमेव च पूर्वकर्मण्यपि द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति?-पुरः साधोरागमनात्पूर्वं कर्म पुरःकर्मेत्यस्यामपि व्युत्पत्तौ यान्युत्थानाऽऽदीनि पूर्वं कृतानि तानि पुरःकर्म प्राप्नुवन्ति ।

यदि नामैवं ततः का नो हानिरितिचेत् ?, उच्यते—

> एवं फासुमफासुं, न विज्जए य काइ सोही ते ।
> हंदि हु बहूणि पुरतो, कीरंति कयाणि पुव्वं च ॥६८१॥

एवं द्विधाऽपि समासे क्रियमाणे प्रासुकमप्रासुकं वा न विद्यते न ज्ञायते,सर्वस्याऽप्युत्थानगमनाऽऽदिचेष्टयोः पुरःकर्मत्वप्राप्तेः

अज्ञायमाने च प्राशुकाप्राशुकविभागे शोधिरपि काचिन्नास्ति (ते) तथाभिप्रायेण,तस्याश्चाभावे चारित्रस्याप्यभावः । हन्दी· त्युपप्रदर्शने.गुरित्यामन्त्रणे.ततश्चैवं हे आचार्य ! बहूनि पुरतः क्रियन्ते, बहूनि च दायकेन पूर्वं कृतानि, तानि सर्वाण्यपि पुरःकर्म प्राप्नुवन्ति ।

अत्र सूरिः प्रतिवचनमाह—

कामं खलु पुरसद्दो, पच्चक्खपरोक्खतो दुहा होइ ।
तह वि य न पुरेकम्मं,पुरकम्मं नोदग ! इमं तु ॥ ९८२॥

काममनुमतं,खलुशब्दोऽवधारणे,अनुमतमेवास्माकं, यत्पुर · शब्दः प्रत्यक्षपरोक्षतो द्विधा भवति-यदा पुरोऽग्रतः कर्म पुरः कर्मेति व्युत्पत्तिराश्रीयते तदा प्रत्यक्षार्थवाचकः पुरःशब्दः,य· दि तु पुरःकर्म तदा परोक्षार्थवाचकः।एवं पुरःशब्दस्य प्रत्यक्ष· परोक्षार्थवाचकतया यद्यप्युत्थानाऽऽदीनि पुरःकर्म प्राप्नुवन्ति तथापि तानि पुरःकर्म न भवन्ति, किं तु पुर.कर्म हे नोदक ! इदं वक्ष्यमाणं भवति।

तदेवाऽऽह—

हत्थं वा मत्तं वा, पुव्विं सीतोदएण जं धोवे ।
समणट्ठाए दाता, पुरकम्मं तं वियाणाहि ॥ ९८३ ॥

हस्तं वा मात्रकं वा पूर्वं भिक्षादानात् प्रथमं शीतोदकेन सचित्तजलेन यद्दाता श्रमणार्थं धावति प्रक्षालयति तत्पुरः— कर्म विजानीहि,न शेषमुत्थानगमनाऽऽदिकम्, तथा समयप· रिभाषया रूढत्वात्। गतं किमितिद्वारम्।

अथ कस्येति द्वारस्य प्ररूपणामाह—

कस्स त्ति पुरेकम्मं, जइणो तं पुण पभू सयं कुज्जा ।
अहवा पभुसंदिट्ठो, सो पुण सुहि पेस बंधू वा ॥ ९८४ ॥

कस्य पुन. पुर.कर्म भवतीति पृच्छाया निर्वचनम्-यतेस्तत्प· रिहारिणः साधोः पुर कर्म मन्तव्य,तद्वितरेषा दोषत्वेनानभ्यु· पगमात्।तत्पुन. पुरःकर्म प्रभुर्गृहस्वामी स्वयमेव कुर्यात्।अ· थवा-प्रभुसंदिष्टः प्रभुणा आदिष्टः । स पुन. प्रभुसंदिष्टस्त्रिधा। तद्यथा-सुहृत् मित्र,प्रेष्यो दासाऽऽदिः,बन्धुर्माता भगिन्यादि।

अथ पुरःकर्मण· सभवमाह—

दमए पमाणपुरिसे, जाए पंतीएँ ताएँ मोत्तूणं ।
सो पुरिसो तं वऽन्न, तं दव्वं अन्नो अन्नं वा ॥ ९८५ ॥

संखड्या पङ्क्तिपरिवेषणे नियुक्तः कोऽपि द्रमकः कर्मकरः, एतेन प्रभुसंदिष्टग्रहणम्।प्रमाणपुरुषो वा देयद्रव्यस्वामी,अने न च प्रभुग्रहणम्।ततश्च दाता प्रभुर्वा प्रभुसंदिष्टो वा यस्या पङ्क्तौ पुरःकर्म कृतवान् तामुक्त्वा यद्यन्या पङ्क्तिं सङ्काम· ति तदा यदि परिणतहस्तस्तत. कल्पते। अत्र चाष्टौ भङ्गा भवन्ति-स पुरुष. तां पङ्क्तिमन्या वा पङ्क्तिं, तद् द्रव्यमन्यद् द्रव्य वा, इत्यनेन चत्वारो भङ्गाः सूचिता.। एवमन्यपुरुष इ· त्यनेनाऽपि चत्वारो भङ्गाः सूच्यन्ते।एवमेतेऽष्टौ भङ्गा.।

एतानेवाष्ट भङ्गान् स्पष्टयति—

सो तं ताए अन्ना-एँ विइअओ अन्न तीएँ दो वऽन्ने ।
एमेव य अन्नेण वि, भंगा खलु होंति चत्तारि ॥९८६॥

स पुरुषस्तद् द्रव्य तस्या पङ्क्ताविति प्रथम.१,स पुरुषः तद् द्रव्यमन्यस्या पङ्क्ताविति द्वितीय २।स पुरुषोऽन्यद् द्रव्यं त· स्या पङ्क्ताविति प्रथमः१, स पुरुषस्तद् द्रव्यमन्यस्यां पङ्क्ता विति द्वितीयः २, स पुरुषोऽन्यद् द्रव्य तस्यां पङ्क्ताविति तृ· तीयः ३.स पुरुषोऽन्यद् द्रव्यमन्यस्यां पङ्क्ताविति चतुर्थः ४। अत्र च द्वे अपि द्रव्यपङ्क्ती अन्ये इति। एवमेवान्यपुरुषपदेना- ऽपि चत्वारो भङ्गा भवन्ति।तद्यथा-अन्यपुरुषस्तद् द्रव्यं त· स्यां पङ्क्तौ ५, अन्यः पुरुषस्तद् द्रव्यम् अन्यस्यां पङ्क्तौ ६, अन्य· पुरुषः अन्यद् द्रव्यं तस्यां पङ्क्तौ ७, अन्यः पुरुषः अन्यत् द्रव्यम् अन्यस्यां पङ्क्तौ ८।

एतेषां मध्ये येषु यथा कल्पते तदेतद्दर्शयति—

कप्पइ समेसु तह स-त्तमम्मि तइयम्मि छिन्नवावारे।
अत्तट्ठियम्मि दोसुं, सव्वत्थ य मयसु करमत्ते ॥९८७॥

समेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमेषु गृहीतुं कल्पते । तथाहि-द्वि· तीये तावदन्यस्यां पङ्क्तौ संक्रान्तत्वेन द्रव्यमपि वक्ष्यमाणनी· त्या, चतुर्थे तु द्रव्यान्तरत्वेनान्यस्यां पङ्क्तौ दीयमानत्वेन च, षष्ठे तु पुरुषान्तरेणाऽपरस्यां पङ्क्तौ तद् द्रव्यं दीयत इति हेतोः,अष्टमे तु तिसृणामपि पुरुषद्रव्यपङ्क्तीनामन्यत्वेन परिस्फुटमेव कल्पत इति । तथा सप्तमेऽपि भङ्गे कल्पत ए· व, पुरुषान्तरेणान्यद्रव्यस्य दीयमानत्वात्। तृतीये तु छिन्न व्यापारे सति कल्पते, यः साधुदानार्थे हस्तमात्रकप्रक्षालन व्यापारः कृत. स यदा व्यापारान्तरेण छिन्नो भवति तदा तेनैव पुरुषेणान्यत् द्रव्यं तस्यां पङ्क्तौ दीयमानं कल्पत इति भावः। द्वयोः प्रथमपञ्चमयोर्यदि तद् द्रव्यं तेनाऽऽत्मा· र्थितं भवति तत कल्पते,नान्यथा। सर्वत्र चाष्टस्वपि भङ्गेषु करमात्रके भज—विकल्पय, यदि हस्तौ वा मात्रकं वा स· स्निग्धमुदकार्द्रं वा न भवति ततः कल्पते, अन्यथा तु ने· त्येवं भजना कर्त्तव्येत्यर्थः ।

अथ किमर्थं पुर'कर्म करोतीत्याह—

अच्चुसिणे चिक्कणे वा, कूरे धुविउं पुणो पुणो देइ ।
आयम्मिऊण पुव्वं, दइज्ज जइणं पढमयाए ॥ ९८८ ॥

परिवेषणं कुर्वतो यद्यत्युष्णश्चिक्कणो वा कूरस्तत एकत्र हस्तदाहभयादपरत्र हस्ते विलग्नान् कुण्डकाऽऽदिशित- नोदकेन स दाता पुनः पुनर्धौत्वा हस्तमार्द्रीकृत्य ददाति, प· रिवेषयतीत्यर्थः।साधोरप्यागतस्य तथैव यदि भिक्षां ददाति तदा पुरःकर्म भवति । यदि वा-पूर्वमाचम्य हस्तं मात्रकं वा प्रक्षाल्य प्रथमत एव यतीनां दद्यात् ततोऽन्येभ्यः परिवेषये· त् तदापि पुर.कर्म भवति ।

एवं पुर.कर्मणि कृते यद् यत्र कल्पते तदेव निर्युक्तिगाथया दर्शयति—

दाऊण अन्न दव्वं,कोई दिज्जा पुणो वि तं चेव ।
अत्तट्ठिय संकामिय- गहणं गीयत्थ संविग्गे ॥ ९८९ ॥

तदनेषणाकृतं द्रव्यं मुक्त्वा अन्यस्मै द्रव्यं दत्वा परि- वेष्य कश्चित्तदेवानेषणाकृतं द्रव्य पुनरपि तस्यामन्यस्या वा पङ्क्तौ साधूना दद्यात्, एव छिन्नव्यापारे आत्मार्थित सत् कल्पते, अथवा—( संकामिय त्ति ) तदनेषणाकृतं द्रव्य स दाता अन्यस्मै परिवेषयेत्, स यदि दद्यात् तत एवं संका· मितं सत् कल्पते । एतच्च ग्रहणं गीतार्थस्यानुज्ञातं, यतो गीतार्थस्तद् द्रव्यमित्थं गृह्णानोऽपि संविग्नो भवति ।

एतदेवान्यपदं भाष्यकारो भावयति—

गीयत्थग्गहणेणं, अत्तट्ठियमाइ गेण्हई गीतो ।

संविग्गगगहणेणं, तं गिएहंतोऽवि संविग्गो ॥ ९९० ॥

गीतार्थग्रहणेन कृतेनैतज्ज्ञापितं, यदात्मार्थितम्, आदि-शब्दात् संक्रामितं च, तदागमप्रमाणतो गीतार्थ एव गृह्णाति, नागीतार्थः। संविग्नग्रहणेन तु तदात्मार्थिताऽऽदि गृह्णानोऽपि गीतार्थः संविग्नो भवति, नासंविग्न इत्युक्तं भवति।

इत्थं पुनः पुरतः कर्म भवतीति दर्शयति—

पुरतो वि हु जं धोयं, अत्तट्ठाए न तं पुरेकम्मं ।
उद (उ) अल्लं, ससिणि-द्धगं च सुक्के तर्हि गहणं ॥९९१॥

यत्पुरतोऽपि साधोरग्रतोऽप्यात्मार्थं धौतं तत्पुरःकर्म न भवति, किं तु तदुदकाऽऽर्द्रं सस्निग्धं वा मन्तव्यम्। उदकाऽऽर्द्रं बिन्दुसहितं, सस्निग्धं बिन्दुरहितं, तस्मिन्नुभयेऽपि शुष्के परिणते ग्रहणं कर्त्तव्यम्।

पुरःकर्मोदकाऽऽर्द्रयोर्विशेषमाह—

तुल्ले वि समारंभे, सुक्के गहणेक एकपडिसेहो ।
अन्नत्थ छूढ ताविय, अत्तट्ठा होइ खिप्पं तु ॥ ९९२ ॥

उदकाऽऽर्द्रपुरःकर्मणोः तुल्येऽप्यप्कायसमारम्भे एकस्मिन्नुदकाऽऽर्द्रे शुष्के सति ग्रहणम्, एकस्मिन् पुरःकर्मणि पुनः शुष्केऽप्यनात्मार्थिने ग्रहणस्य प्रतिषेधः। तथाहि-संयतार्थं द्वाभ्यां पृथक् पृथक् पक्षौ पुरःकर्म कृतं, तच्च परिणतम् उदकाऽऽर्द्रसस्निग्धौ न स्त, परं येनाऽऽत्मार्थितं तस्य हस्तात् कल्पते, येन तु नाऽऽत्मार्थितं तस्य हस्तान्न कल्पते। एवं चिरकालिके पुरःकर्मण्युक्तम्। यत्र तु हस्तौ भाजनं वा तत्क्षणमेव अन्यत्र तत्काऽऽर्द्रे प्राशुकद्रव्ये प्रक्षिप्तमग्निना वा तापितं तत्राऽऽत्मार्थिते क्षिप्रमपि ग्रहणं कर्तव्यम्। गतं कस्येति द्वारम्।

अथाऽऽरोपणाद्वारमाह—

चाउम्मासुक्कोसे, मासिय मज्झे य पंचग जहन्ने ।
पुरकम्मे उदउल्ले, ससिणिद्धाऽऽरोवणा भणिया ॥९९४॥

उदकसमारम्भे पुरःकर्मोत्कृष्टमपराधपदम्, उदकाऽऽर्द्रं मध्यमं, सस्निग्धं जघन्यम्। उत्कृष्टे चत्वारो मासा लघवः, मध्यमे लघुमासिकं, जघन्ये पञ्च रात्रिन्दिनानि। एवं पुरःकर्मोदकाऽऽर्द्रसस्निग्धेषु यथाक्रममारोपणा भणिता।

अथ परिहरणाद्वारमाह—

परिहरणाऽवि य दुविहा, विहि अविहीए अ होइ नायव्वा ।
पढभिक्खुगस्स सव्वं, बिइयस्स य तम्मि गच्छम्मि ॥९९४॥
तइयस्स जावजीवं, चउत्थस्स य तं न कप्पए दव्वं ।
तद्दिवस एगगहणे, नियट्टगहणे य सत्तमए ॥ ९९५ ॥

परिहरणाऽपि च द्विविधा-विधिपरिहरणा, अविधिपरिहरणा च भवति ज्ञातव्या। अविधिपरिहरणा सप्तविधा-तत्र प्रथमस्य नोदकस्य सर्वमपि द्रव्यजातं स्वगच्छे परगच्छे च यावज्जीवमकल्पनीयं, द्वितीयस्य तु तस्मिन्नेव गच्छे यावज्जीवं, तृतीयस्य यावज्जीवं तस्यैवैकस्य साधोः सर्वमपि द्रव्यजातं, चतुर्थस्य तु तत् द्रव्यमेकं यावज्जीवं, पञ्चमस्य तु तद्दिवसं सर्वद्रव्याणि, षष्ठस्य तु तस्यैवैकद्रव्यस्य ग्रहणं न कल्पते, सप्तमस्य निवृत्तः सन् स एव साधुः परिणतेन हस्तेन ग्रहणं करोत्वित्यभिप्रायः।

अथैतेषामेव पराभिप्रायान् व्याख्यानमाह—

पढमो जावज्जीवं, सव्वेसिं संजयाण सव्वाइं ।
दव्वाणि निवारेई, बीओ पुण तम्मि गच्छम्मि ॥९९६॥

प्रथमो नोदको यस्मिन् गृहे पुरःकर्म कृतं तत्र यावदसौ पुरःकर्मकारी दाता तदर्थं च तत्पुरःकर्म कृतं ततो यावज्जीवति तावत् स्वगच्छपरगच्छसत्का ( क्ता ) नां सर्वेषां संयतानां सर्वाणि द्रव्याणि निवारयति ; द्वितीयः पुनः तस्मिन् गच्छे सर्वेषामपि साधूनां यावज्जीवं सर्वद्रव्याणि निवारयति।

तइओ यावज्जीवं त-स्सेवेगस्स सव्वदव्वाइं ।
वारेइ चउत्थो पुण, तस्सेवेगस्स तं दव्वं ॥ ९९७ ॥

तृतीयो ब्रवीति-यदर्थं पुरःकर्म कृतं तस्यैवैकस्य यावज्जीवं सर्वद्रव्याणि न कल्पन्ते, चतुर्थस्तु तदेवैकं द्रव्यं तस्यैवैकस्य यावज्जीवं वारयति।

सव्वाणि पंचमो तं, दिणं तु तस्सेव छट्ठो तं दव्वं ।
सत्तमओ नियट्टंतो, गिण्हइ तं परिणयकरम्मि ॥९९८॥

पञ्चमो ब्रवीति-तदेवैकं दिन सर्वाणि द्रव्याणि तदीयगृहे न कल्पन्ते। षष्ठो ब्रूते—तदेवैकं द्रव्यं तस्य गृहे तद्दिनं न गृह्यते। सप्तमः प्राह—परिणतकरे परिणताप्काये सति हस्ते भिक्षामटित्वा निवर्तमानस्तत्रैव गृहे स साधुः सर्वद्रव्याणि गृह्णातु न कश्चिद्दोषः।

इत्थं परैरुक्ते सति सूरिराह—

एगस्स पुरेकम्मं, वत्तं सव्वे वि तत्थ वारेंति ।
दव्वस्स य दुल्लभता, परिचत्तो गिलाणओ तेहिं ॥९९९॥

एकस्य साधोरर्थाय पुरःकर्म यत्र वृत्तं संजातं तत्र ये सर्वेषामेकस्य वा सर्वद्रव्याणि। उपलक्षणत्वादेकमपि द्रव्यं, यावज्जीवं तद्दिनं वा वारयन्ति, तैर्द्रव्यस्य ग्लानप्रायोग्यस्यान्यत्र दुर्लभतया ग्लानः परित्यक्तो मन्तव्यः।

एतदेव सविशेषमाह—

जेसिं एसुवएसो, आयरिया तेहिं उ परिचत्ता ।
खमगा पाहुणगा वि य, सुव्वत्तमजाणगा ते तु ॥ १००० ॥

येषां यथाच्छन्दवादिनामेष सर्वद्रव्यग्रहणाऽऽदिप्रतिषेधरूप उपदेशस्तैराचार्याः क्षपकाः प्राघूर्णकाश्च परित्यक्ता द्रष्टव्याः, तत्प्रायोग्यस्य घृताऽऽदिद्रव्यस्यान्यत्र दुर्लभत्वात्। ते च सुव्यक्तं परिस्फुटम् अज्ञा मूर्खाः, अतस्यवेदित्वात्, स्वच्छन्दप्ररूपणानिष्पन्नं चामीषां चतुर्गुरु प्रायश्चित्तम्।

तत्र ये सर्वानपि साधून् परिहारं कारयन्ति ते स्वपक्षसाधनसमर्थं विधिमाह—

अद्दाणनिग्गयाई, उब्भामग खमग अक्खरे रेखा ।
मग्गण कहण परंपर, सुव्वत्तमजाणगा ते वि ॥१००१॥

यत्र गृहे पुरःकर्म कृतं, तत्राध्वनिर्गताऽऽदय उद्भ्रामका वा यदि ग्रामे भिक्षाऽटनशीला अजानन्तो मा प्राविक्षन्निति कृत्वा क्षपकस्तत्र स्थाप्यते। अथ नास्ति क्षपकस्ततः कुड्याऽऽद्यक्षराणि लिख्यन्ते-यथाऽत्र पुरःकर्म कृतं, न केनापि भिक्षा ग्राह्येति। अथ तावदक्षराणि लिखितुं न जानीतस्ततः रेखा कर्तव्या, अथ कृताऽपि सा केनाऽपि न ज्ञायते ततोऽपरेषां साधूनां मार्गणं कृत्वा मिलितानां कथनीयम्-अमुष्मिन् गृहे पुरःकर्म कृतं, तेऽपि परम्परया सर्वसाधून् ज्ञापयन्ति इत्थं ये ( सुव्यक्तं ) सुव्यक्तं तेऽप्यज्ञा मन्तव्याः।

अथैतदेव भावयति—

उब्भामगमणुब्भामग-सगच्छपरच्छजाणणट्ठाए ।
अत्थइ तहियं खमए,तस्सऽसइ स एव संघाडो॥१००२॥
जइ एगस्स वि दोसा,अक्खरए उ ताई मन्न तो रेखा ।
जइ फुसणसंकदोसा, हिंडंता चेव साहंति ॥ १००३ ॥

उद्भ्रामकाणां बाह्यग्रामे भिक्षाऽटनं विधायापर्याप्ते तत्रैव भिक्षामटतामनुद्भ्रामकाणां मौलग्रामे भिक्षापरिभ्रमणशीलानां स्वगच्छीयानां परगच्छीयानां च सर्वेषां ज्ञापनार्थं क्षपकस्तद्गृहे निषण्णस्तिष्ठति, स च यः सङ्घाटकस्तत्राऽऽगच्छति, तस्य तस्य कथयति-अत्र पुरःकर्म कृतं वर्त्तते । अथ नास्ति क्षपकः, पारणकं वा तस्य तद्दिने, ततो यदर्थं पुरःकर्म कृतं, स एव सङ्घाटकस्तत्र तिष्ठति । अथ तयोरेकः प्रथमद्वितीयपरीषहपीडितो न शक्नोति स्थातुं, ततः स प्रतिश्रयं व्रजति, द्वितीयस्तु तत्राऽऽस्ते, अथैकस्य तस्य तिष्ठतः स्त्रीसमुत्थाऽऽदयो दोषाः ततः कुड्याऽऽदिषु पुरःकर्मकरणसूचकान्यक्षराणि लिख्यन्ते, अथ न तु नैव तान्यक्षराणि सर्वेऽपि लिखितु जानते, ततः साधुज्ञानसाङ्केतिकी रेखा करणीया । यदि तस्याः स्पर्शना-पादोपघातेन मर्दना, तद्विषया आशङ्कादोषा भवेयुः । बहुवचननिर्देशादन्यामपि रेखां करोतीत्याशङ्कापरिग्रहः ततस्तावेव साधू भिक्षामटन्तौ अपरेषा साधूनां कथयतः, तेऽपि हिण्डमाना एव परम्परया सर्वसाधूनां कथयन्ति, इत्थं येषां परिहरणविधिस्ते सुव्यक्तमज्ञा मन्तव्याः ।

उपसंहरन्नाह—

एसा अविही भणिया, सत्तविहा खलु इमा विही होइ ।
तत्थाऽऽई चरिमदुए, अत्तट्ठियमाइ गीयस्स ॥१००४॥

एषा अविधिपरिहरणा सप्तविधा भणिता, इय तु वक्ष्यमाणा विधिपरिहरणा भवति । सा चाष्टविधा-तत्र यदाद्यं पदं, यच्चरममन्तिमं प्रकारद्वयं, तेषु त्रिषु भेदेषु आत्मार्थिते, आदिशब्दात्संक्रामिते च सति गीतार्थस्य ग्रहणं भवति । एतच्च यथास्थानं भावयिष्यते ।

के पुनस्ते अष्टौ भेदाः?, उच्यते—

एगस्स बीयगहणे, पसज्जणा तत्थ होइ कप्पट्ठी ।
वारण ललियासणिओ,गंतूणं कम्म हत्थ उप्फासे॥१००५॥

'एगस्स त्ति' विभक्तिव्यत्ययादेकेन पुरःकर्मणि कृते यदि द्वितीयो ददाति तदा तस्य द्वितीयस्य हस्ताद् ग्रहणे च विधिर्वक्तव्यः । (पसज्जण त्ति) अगीतार्थाभिप्रायेण (तत्थ त्ति) तत्र द्वितीयेऽपि दायके प्रसज्जना प्रसङ्गदोषो भवतीति वक्तव्यम् । (कप्पट्ठि त्ति) कल्पस्थिकास्तरुणस्त्रियः केलिप्रियतयाऽभीक्ष्णं पुरःकर्म यथा कुर्वन्ति तथा निरूपणीयम् । (वारणललियासणिउ त्ति) यदि साधु -त्व मा देहि एषा दास्यतीत्यविधिना पुरःकर्मकारिणीं वारयति तदा ललिताशनिक इति गण्यते । (गंतूणं ति) गत्वा प्रतिनिवृत्तायास्मै दास्यामीति बुद्ध्या यदि दाता हस्तगृहीतया भिक्षया तिष्ठति तदा न कल्पते ( कम्म त्ति) द्रव्यभावभेदभिन्नं पुरःकर्म भवति ( हत्थ त्ति ) तत्र पुरःकर्मणि किं हस्ते उपघात उत मात्रके इत्यादि चिन्तनीयम् । ( उप्फास त्ति) उत्स्पर्शन—छन्दनं तद् वक्ष्यमाणविषयं वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुराह-

एगेण समारद्धे अन्नो पुण जो तहिं सयं देति ।
जति अजाणगा हवंती, परिहरितव्वं पयत्तेणं ॥१००६॥

एकेन साधुना प्रतिषिद्धे तद् द्रव्यं यद्यन्यं स्वयमेव कश्चिद् ददाति तदा यद्यज्ञा अगीतार्था अगीतार्थमिश्रा वा भवन्ति ततः प्रयत्नेन परिहर्तव्यम् ।

इदमेव व्यतिरेकेणाऽऽह—

समणेहिँ अ भणंतो,गिहिभणिओ अप्पणो व छंदेणं ।
मोत्तुं अजाणगमीसे, गिण्हंता जाणगा साहू ॥१००७॥

पुरःकर्मकारिणि प्रतिषिद्धे श्रमणैः साधुभिर्भण्यमानो यद्यन्यो दाता गृहिणा केनाऽपि भणित आत्मनो वा छन्देनाभिप्रायेण ददाति तदा मुक्त्वा अज्ञान् अगीतार्थान् मिश्रांश्च गीतार्थमिश्रान् ज्ञायका गीतार्थास्तद् द्रव्यमात्मार्थितं गृह्णन्ति

अथ किमर्थमगीतार्थेषु तद् गृह्यते इति संबन्धाऽऽयातं प्रसज्जनाद्वारं विवृण्वन् तावदगीतार्थाभिप्रायमाह—

अम्हट्ठ समारद्धे, तं दव्वऽन्नेण किह णु निद्दोसं ।
सविसऽन्नाऽऽहरणेणं,मुज्झइ एवं अजाणंतो ॥१००८॥

अस्माकमर्थायाप्काये समारब्धे सति दायकेन यद् द्रव्यं गृहीतं तदन्येन दीयमानं कथं नु निर्दोषं, सदोषमेवेति भावः। सविषान्नाऽऽहरणेन सविषं यदन्नं तद्दृष्टान्तेन । यथा हि वैरिणोऽर्थाय केनचिद् विषयुक्तं भक्तं कृतं, तदन्येन दीयमानं किं सदोषं न भवति?, एवमस्मदर्थमुदकस्याऽऽरम्भं कृत्वा या भिक्षा गृहीता तां यद्यन्यो ददाति तदा किं दोषो न प्रसज्यते?, इत्येवमजानन्नगीतार्थो मुह्यति, न पुनर्भावयति-यथा तदन्येन दीयमानं पुरःकर्मैव न भवति ।

यत एवमतोऽगीतार्थेषु विधिमाह—

एगेण समारद्धे, अन्नो पुण जो तहिं सयं देइ ।
जइ जाणगा उ साहू, परिभोत्तु जे सुह होइ ॥१००९ ॥

एकेन पुरःकर्मणि समारब्धे यदन्यः स्वयं ददाति, यदि च ज्ञायका गीतार्थाः साधवस्ततः परिभोक्तुं 'जे' इति पादपूरणे, सुखं भवति, परिभोक्तव्य तदिति भावः ।

अथवा—

गीयत्थेसु वि भयणा, अन्नो अन्नं च तेण मत्तेणं ।
विप्परिणयम्मि कप्पइ,ससिणिद्धुदउल्ल पडिकुट्ठा ॥१०१०॥

गीतार्थेष्वपि भजना । कथम्?, इत्याह-अन्य पुरुषोऽन्यद्वा द्रव्य तेन पुरःकर्मकृतेन मात्रकेण यदि ददाति, तदा विपरिणतेऽप्काये आत्मार्थिते च सति कल्पते, यदि तु सस्निग्धमुदकाऽऽर्द्रं वा दायकस्य पाणितलं भवति ततः प्रतिकुष्टा सा भिक्षा, न कल्पत इत्यर्थः ।

अथ कल्पस्थितिकाद्वारं व्याख्याति—

तरुणीउ पिंडियाओ, कंदप्पा जइ करे पुरेकम्मं ।
पढमबिइयासु मोत्तुं, सेसे आवज्ज चउलहुगा ॥१०११॥

काश्चित्तरुण्यो युवतयः पिण्डिता एकत्र मिलिताः साधुं समायान्तं दृष्ट्वा परस्परं जल्पन्ति-एतेषां साधवेतदर्थे चैतेन

हस्तेन मात्रकेण वा दीयमानं न कल्पते, अतः पश्या मस्तावदेतमस्माभिः खलीकृतः किमेष करोतीत्येकया तासां मध्यादुत्थाय पुरःकर्म कृतं, ततः साधुः प्रतिनिवर्तितुं लग्नः द्वितीया ब्रवीति-प्रतीक्षस्व भगवन्! अहं ते दास्यामि। ततो भूयोऽप्यागतस्य तस्य तयाऽपि पुरःकर्म कृतम्, ततः प्रतिनिवर्त्तमानं यदि तृतीया काचिदाह्वयति तदा ज्ञातव्यं यथैता मां खलीकुर्वन्ति ततो न प्रतिनिवर्तितव्यम्। अत एवाऽऽह-यदि ताः कन्दर्पात्पुरःकर्म कुर्वीरन् ततः प्रथमद्वितीये तरुण्यौ मुक्त्वा शेषाभिराकारितः प्रतिनिवर्त्तमान आपद्यते चतुर्लघुकम्।

अथ वारणललिताशनिकद्वारं व्याचष्टे—

पुरेकम्ममिम कयम्मी, जइ भणइ मा तुमं इमा देउ।
संकापदं च होज्जा, ललियासणिउ व्व मुव्वत्तं ।१०१२।

पुरःकर्मणि कृते यदि साधुना दात्री भण्यते-मा दास्त्वम् इयं ददातु। ततः सा चिन्तयति-अहं विरूपा वृद्धा वा अतो नास्मै प्रतिभासे, इयं तु सुरूपा यौवनमधिरूढा प्रतिभासते। शङ्कापदं वा तस्याश्चेतसि वा भवेत्-किमेष एतया सह घटितो यदेवमस्याः पार्श्वात् भिक्षा ग्रहीतुमिच्छति?। यदि वा ब्रूयात्-भवान् सुव्यक्तं ललिताशनिको लक्ष्यते यदेव यथाभिलषिता परिवेषिकामभिलषसि।

अथ गत्वेति द्वारं व्याख्यानयति—

गंतूण परिनियत्तो, सो वा अन्नो व से तयं देइ।
अन्नस्स व दिज्जिहिई, परिहरियव्वं पयत्तेणं ॥१०१३॥

कृतपुरःकर्मा दायको भिक्षां ददानः साधुना प्रतिषिद्धश्चिन्तयति-यदि एष साधुरस्यां गृहपङ्क्तौ गत्वा प्रतिनिवृत्तः समायास्यति तदा दास्यामीति तत्तद् द्रव्यं स वा अन्यो वा दायकः (से) तस्य साधोर्ददाति तदा न कल्पते। अथ यद्येष न गृह्णाति ततोऽन्यस्य साधोर्दास्यते इति संकल्पयति। ततस्तेनापि परिहर्त्तव्यं तद्भक्तं प्रयत्नेन। एषा निर्युक्तिगाथा।

अस्या एव व्याख्यानमाह—

पुरेकम्मम्मि कयम्मि, पडिसिद्धो जइ भणिज्ज अन्नस्स।
दाहं ति पडिनियत्ते, तस्स व अन्नस्स व न कप्पे ।१०१४।

पुरःकर्मणि कृते प्रतिषिद्धो दायको यदि भणेत् अन्यस्मै साधवे दास्यामीति, ततः प्रतिनिवृत्तस्य तस्य वा अन्यस्य वा न कल्पते।

तथा—

भिक्खयरस्सऽन्नस्स व, पुव्वं दाऊण जइ दए तस्स।
सो दाया तं वेलं, परिहरियव्वो पयत्तेण ॥ १०१५ ॥

पुरःकर्मणि कृते पूर्वमन्यस्य भिक्षाचरस्य भिक्षां दत्त्वा पश्चाद्विच्छिन्नव्यापारस्तस्य साधोर्भिक्षां दद्यात्, स दाता तस्यां वेलायां प्रयत्नेन परिहर्त्तव्य इति।

अमुमेवार्थं किञ्चिद्विशेषयुक्तमाह—

अन्नस्स व दाहामि ति, अन्नस्स वि संजयस्स न वि कप्पे।
अच्चट्ठिए व चरगा-इणं व दाहं ति तो कप्पे ॥१०१६॥

अन्यस्मै वा साधवे दास्यामीति यदि इति संकल्पयति तदा अन्यस्यापि संयतस्य नैव कल्पते। अथाऽऽत्मार्थयति चरकाऽऽदीनां वा दास्यामि इति संकल्पयति, ततः परिणते हस्ते मात्रके वा कल्पते।

अथ कर्मेति द्वारं विवृणोति—

दव्वेण य भावेण य, चउक्कभयणा भवे पुरेकम्मं।
सागारिय भावपरिणय, तइओ भावे य कम्मे य ॥१०१७॥
सुन्नो चउत्थभंगो, मज्झिल्ला दो वि वी पडिकुट्ठा।
संपत्ताइ वि असती, गहणपरिणते पुरेकम्मं ॥ १०१८ ॥

द्रव्येण च भावेन च चतुष्कभजना-चतुर्भङ्गीरचना पुरःकर्मणि भवति। तद्यथा-द्रव्यतः पुरःकर्म न भावतः १, भावतः पुरःकर्म न द्रव्यतः २, द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि पुरःकर्म ३, न द्रव्यतो न भावतः पुरःकर्म ४। अथामीषां भावना (सागारिय त्ति) शौचवादिनोऽभाविताश्च गृहस्थास्ते पुरःकर्मणि कृते यदि न गृह्णते ततोऽशुचयोऽमी इति मन्येरन् इत्थं सागारिकभयात्पुरःकर्मकृतेन हस्ताऽऽदिना भक्ताऽऽदि गृहीत्वाऽपि परिष्ठापयतो द्रव्यतः पुरःकर्म भवति न भावत इति १। (भावपरिणय त्ति) भिक्षामवतरन् पुरःकर्म कृतं भक्ताऽऽदि गृहीष्ये इति भावेन परिणतस्तथाऽपि पुरःकर्म कृतं न लब्धमिति भावतः पुरःकर्म न द्रव्यत इति २। (तइओ भावे य कम्मे य त्ति) पुरःकर्म कृत गृहीष्यामीति भावपरिणतो भिक्षामवतीर्णः प्राप्तं च तेन पुरःकर्मेति तृतीयो भङ्गः ३। चतुर्थस्तु पुरःकर्म प्रतीत्योभयथाऽपि शून्यः ४। अयं चात्र निरवद्यः प्रतिपत्तव्यः। मध्यमौ द्वितीयतृतीयभङ्गौ द्वावपि प्रतिकुष्टौ प्रतिषिद्धौ भावस्याविशुद्धत्वात्। प्रथमभङ्गस्तु शुद्ध इव मन्तव्यः प्रयोजनापेक्षत्वात्। द्वितीयभङ्गे तु (संपत्ताइ वि असती गहणपरिणए पुरेकम्मं ति) द्रव्यतः संप्राप्तावसत्यामपि भावतो ग्रहणपरिणतस्य पुरःकर्म भवति।

अस्यैव निर्युक्तिगाथाद्वयस्य भावार्थमोक्षपरिहाराभ्यां स्पष्टयितुमाह—

पुरकम्मम्मि कयम्मी, जइ गिण्हइ जइ न तस्स तं होइ।
एवं खु कम्मबंधो, चिट्ठइ लोए य बंभवहो ॥ १०१९ ॥

पुरःकर्मणि कृते यदि गृह्णाति, यदि च तस्य यतेस्तत्पुरःकर्मग्रहणं प्रति भावो भवति, तदा तृतीयभङ्गो भवतीति वाक्यशेषः। पुरःकर्मदोषस्तावद् दायकस्य न भवति। कृतोऽपि चाऽसौ प्रथमभङ्गे साधोर्गृह्णतोऽपि यदि न भवति। एवं खुरवधारणे। पुरःकर्मकृतः कर्मबन्धो दायकग्राहकयोरस्थितस्तटस्थ एव तिष्ठति, यथा लोके ब्रह्मवधः। "इम लोइयं उदाहरणं-इंदेण उडंक(उदङ्क)रिसिपत्ती रूववती दिट्ठा, तओ अज्झोववन्ना, तीए समं अहिगमं गतो, सो तओ निग्गच्छंतो रिसिणा दिट्ठो, रुट्ठेण रिसिणा तस्स सावो दिन्नो-जम्हा तुमे अग (म्मा) स्सा रिसिपत्ती अभिगया तम्हा ते बंभवज्झा उवट्ठिया, सो तीए भीओ कुरु(क्खे)खेत्त पविट्ठो, सा बंभवज्झा कुरुक्खेत्तस्स पासओ भमइ, सो वि तीउ भया न नीति इंदेण विणा सुन्नं इदट्ठाणं, ततो सव्वे इद मग्गमाणा(ओहिणा) जाणिऊण कुरुक्खेत्ते उवट्ठिया भणंति-एहि सणाहं कुरु देवलोगं। सो भणइ-मम उ निग्गच्छंतस्स बंभवज्झा लग्गइ, ततो सा देवेहिं बंभवज्झा चउरा विहत्ता, एको विभागो इत्थीणं रिउकाले, बीओ उदगकाइयं निसिरंतस्स, तइओ बम्हणस्स सुरापाणे, चउत्थो गुरुपत्तीए अभिगमे। सा बंभवज्झा एएसु ठिआ, इंदो वि देवलोगं गओ। एय तुब्भं पि पुरेकम्मकओ कम्मबंधदोसो।" ब्रह्महत्यावदेकगतो भवति। * १ त्रिलक्षं।

पर

संपत्तीइ वि असती, पु[illegible] वि य

एवं खु पुरेकम्मं, ठवणा मित्तं तु चोएइ ॥१०२०॥

यदि समाप्तावसत्यामपि द्वितीयभङ्गे साधोः पुरःकर्म न भवति तत एव खलु 'वधारणे इत्थमेव मदीयमनसि प्रतिष्ठितम्, यदेतत्पुरःकर्म तत् स्थापनामात्रम्, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् प्ररूपणामात्रमेवेदमिति नोदयति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तमेवं पुरःकर्मकृतः कर्मबन्धस्तदवस्थ एव तिष्ठति, तत्र तिष्ठतु नाम न कदाचिदस्माकं क्षतिरुपजायते, तथा चात्र तदुक्तमेव दृष्टान्तमभ्यूह्यास्माभिः स्वाभिमतमर्थं साधयितुमिदमुच्यते—

इंदेण बंभवज्झा, कया तओ भीओ ताएँ नासंतो ।
कुरुखेत्ते य पविट्ठो, मा वि य हि पडिच्छए तं तु ॥१०२१॥
निग्गच्छे पुणो वि गिण्हे, कुरुखेत्तं एत्थ संजमो अम्हं ।
जइ ततो नीइ जीवो, घेप्पइ तो कम्मबंधेण ॥१०२२॥

इन्द्रेण ब्रह्महत्या कृता, ततो भीतः सन् तस्या नश्यन् कुरुक्षेत्रं प्रविष्टः, साऽपि ब्रह्महत्या तमिन्द्रं बहिः प्रतीक्षते, यद्यसौ कुरुक्षेत्रात् निर्गच्छेत् पुनरपि गृह्णीत । कुरुक्षेत्रमत्र संयमोऽस्माकं, यदि ततः कुरुक्षेत्रात् द्वितीयतृतीयभङ्गयोरशुभाध्यवसायपरिणतो जीवो निर्गच्छति, ततो गृह्यतेऽसौ कर्मबन्धेन ब्रह्महत्याकल्पेन अनिर्गतस्तु प्रथमचतुर्थभङ्गयोर्न गृह्यते । यच्चोक्तम्-स्थापनामात्रं पुरःकर्म तदपि न संगच्छते । कुत इति चेदुच्यते—

जे जे दोसाययणा, ते ते सुत्ते जिणेहिँ पडिकुट्ठा ।
ते खलु अणायरंतो, सुद्धो इहरा तु भइयव्वो ॥१०२३॥

यानि यानि दोषाणां प्राणातिपाताऽऽदीनामायतनानि पुरःकर्मप्रभृतीनि तानि तानि सूत्रे जिनैर्भगवद्भिः प्रतिकुष्टानि, अतस्तानि खलु दोषाऽऽयतनानि अनाचरन् साधुः शुद्धो मन्तव्यः, इतरथा तु समाचरन् भक्तव्यः ।

पर प्राऽऽह—

का भयणा जइ कारणे, जयणाए अकप्प किंचि पडिसेवे ।
तो सुद्धो इहरा पुण, न सुज्झए दप्पओ सेवं ॥१०२४॥

का पुनर्भजना विकल्पना ? । सूरिराह-कारणे यतनया पुरःकर्माऽऽदि किञ्चिदकल्प्यं यदि प्रतिसेवते ततः शुद्धः, इतरथा पुनरयतनया दर्पेण वा सेवमानो न शुद्ध्यति ।

अथ पुरःकर्मवर्जने कारणमुपदर्शयति—

समणुन्नापरिसंकी, अवि य पमग गिहीण वारिंति ।
गिण्हंति असढभावा, सविसुद्धं एसियं समणा ॥१०२५॥

समनुज्ञातपुरःकर्मकृतं गृह्णाना वयमिति अनुमतिस्तत्परिशङ्किनास्तद्दोषभीता पुरःकर्म परिहरन्ति । अपि च-यदि पुरःकर्मकृता भिक्षा गृह्यते, ततो गृहिणा भूयः पुरःकर्मकरणे प्रसङ्गो भवति, अतस्तं वारयन्ति, तदग्रहणेनार्थात्प्रतिषेधयन्तोऽशठभावाः सन्तः श्रमणाः सविशुद्धमेषणीयं गृह्णन्ति ।

अथ हस्तद्वारं विवृणोति—

किं उवघाओ हत्थे, मत्ते दव्वे उयाहु उदगम्मि ।
तिसु वि य ठाणा सुद्धा, उदगम्मीऽणेसणा भणिया ॥१०२६॥

शिष्यः प्रश्नयति पुरःकर्मणि कृते किं हस्ते उपघातोऽनेषणीयता, उत मात्रके, आहोस्वित् द्रव्ये, उताहो उदके ? । सूरिराह-हस्तमात्रकद्रव्याणि त्रीण्यपि स्थानानि शुद्धानि, नैतान्यनेषणीयानि, किं तु उदके अनेषणीयता भणिता ।

अत्रैवोपपत्तिमाह—

जम्हा उ हत्थमत्ते-हि कप्पती तेहिँ चेव तं दव्वं ।
अत्तट्ठिय परिभुत्तं, परिणत तम्हा दगमणेसिं ॥१०२७॥

यस्मात्ताभ्यामेव हस्तमात्रकाभ्यां तदेव द्रव्यमात्मार्थितं सत् परिभुक्तशेषं वा परिणते अप्काये कल्पते, तस्मादुदकमेवानेषणीयं न हस्तमात्रकद्रव्याणीति । एवमशनाऽऽदिविषयो विधिरुक्तः ।

सम्प्रति वस्त्रविषयं तमेवाऽऽह—

किं उवघातो धोए, रत्ते चोक्खे सुइम्मि वि कयम्मि ।
अत्तट्ठिय संकामिय, गहणं गीयत्थसंविग्गे ॥१०२८॥

धौतं मलिनं सत्प्रक्षालितं, रक्तं धातुप्रभृतिद्रव्यैः रक्तीकृतं, चोक्षं रजकपार्श्वाद्दतीवोज्ज्वलं कारितं, शुचिकमशुच्यादिनोपलिप्तं सत् पवित्रीकृतम् । एतानि साध्वर्थं वस्त्रे कृतानि भवेयुः । ततश्च शिष्यः पृच्छति-किं धौते उपघातः, उत रक्ते, उताहो चोक्षे, आहोस्वित् शुचीकृते ? । अत्राऽपि तदेव निर्वचनम्-नैतेषां चतुर्णामेकतरस्मिन्नप्युपघातः किं तूदक एव, यत एतदपि साधूनां प्रतिषिद्धं सद्यदात्मार्थितं संक्रामितं वा अन्यस्मै दत्तं, ततो गीतार्थसंविग्नस्य ग्रहणं भवति नान्यस्य ।

किमर्थमेतद्ग्रहणमिति चेत् ?, उच्यते—

गीयत्थगहणेणं, अत्तट्ठियमाइ गिण्हई गीतो ।
संविग्गगहणेणं, तं गिण्हंतो वि संविग्गो ॥१०२९॥

गीतार्थग्रहणेनैव ज्ञाप्यते आत्मार्थितं संक्रामितं वा गीतार्थो गृह्णाति नागीतार्थः संविग्नग्रहणेन तदात्मार्थिताऽऽदिकं गृह्णन्नपि संविग्नोऽसौ नासंविग्न इति सूच्यते ।

उत्स्पर्शनद्वारं व्याचष्टे—

एमेव य परिभुत्ते, नवे य तंतुग्गए अधोयम्मि ।
उप्फुसिऊणं देंते, अत्तट्ठिएँ सेविए गहणं ॥१०३०॥

यद्वस्त्रं गृहिणा परिधानाऽऽदिना परिमलितं तत्परिभुक्तं तद्विपरीतं नवं तन्तुभ्य उद्गतमात्रं, ततः परिभुक्तं नवं वा तन्तूद्गतम् अधौतं सद् यद् उत्स्पृश्योदकेनाभ्युक्षणं दत्त्वा प्रदाति तत्राप्येवमेव द्रष्टव्यं, न कल्पते इत्यर्थः । आत्मार्थितम्, आत्मना वा सेवितं परिभुक्तं, ततो ग्रहणं कर्त्तव्यम् । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

जे भिक्खू पुरेकडेण वा हत्थेण वा मत्तेण वा दव्वीएण वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

इमो सुत्तत्थो—

हत्थेणं मत्ते य, पच्छापुरकम्मएण गेण्हती जो उ ।
आहारउवहिमादी, सो पावति आणमादीणि ॥ ८२ ॥

पुरस्तात्कर्म पुरःकर्म, 'पुरेकम्मकएण हत्थेण मत्तेण य चउभङ्गो । पढमभंगे दो चउलहुया, बितियततिएसु एक्केक्कं चउलहु, चरिमो सुद्धो । उदउल्ल तिसु वि भङ्गेसु मासलहुया, ससणिद्धसु तिसु भङ्गेसु पच्छातितिया ।" नि० चू० १२ उ० । ध० । कल्प० । जीतानुसारेण पुरःकर्मणि आचामाम्लं प्रायश्चित्तम् । जीत० ।

जे भिक्खू उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा हत्थेण वा मत्तेण वा दविएण वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ एवं उदउल्ले ४१, ससणिद्धे ४२, ससरक्खे ४३, मट्टिया ४४, ऊसे ४५, लोणे य ४६, हरियाले ४७, मणोसि(लाए)णे ४८, रस्सगए ४९, गेरू य ५०, सेटिए ५१, हिंगुलु ५२, अंजणे ५३, लोद्धे ५४, कुक्क(कु)सा ५५, पिट्ठ ५६, कंद ५७, मूल ५८, सिंगबेरे य ५९, पुप्फकं ६०, कुट्ठं ६१, एए एकवीसं भवे इत्था पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ६१ ॥

गिहिणा सचित्तोदगेण अप्पणट्ठा धोयं हत्थाऽऽदि अपरिणयं उदउल्लं भवति . पुढवीमओ मत्तओ कंसमय भायणं, अंजणमिति सोवीरयं, रसजणं वा ; जे पुढविपरिणामाव त्थिया जेण सुवण्णं वणिज्जति, सोरट्ठिया तुवरि मट्टिया भ ण्णति तंदुलपिट्ठं आमं असत्थोवहततंदुलाण कुक्कुसा सचित्तवणस्सती, तुसोओ कुट्टो भण्णति. असंसट्ठ अणुवलित्त ।

उद (उल्ले) मट्टिया वा, रस्सगते चेव होति बोधव्वे ।
हरिताले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ २८२ ॥
गेरुयवण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुकुसकते वा ।
कुट्ठमसंसट्ठे वा, णेतव्वे आणुपुव्वीए ॥ २८३ ॥
एत्तो एगतरेणं, हत्थेणं दव्विभायणेणं वा ।
जे भिक्खू असणादी, पडिगाहे आणमाणदीणि ॥ २८४ ॥
उदउल्लादीए तू , हत्थे मत्ते य होति चतुभंगो ।
पुढवी आउ वणस्सति, मीसे संजोग पच्छित्तं ॥ २८५ ॥

हत्थे उदउल्ले मत्ते उदउल्ले, हत्थे उदउल्ले णो य मत्ते, णो हत्थे मत्ते, णो हत्थे णो मत्ते । एवं पुढवादिसु चउभंगो । एते चउरो भङ्गा-पुढवीआउवणस्सतिसु संभवंति, णो सेसकाएसु । मीसेसु वि चउभंगा कायव्वा, संजोगपच्छित्तं, पढमभंगे दो मासलहुं, सेसेसु एक्केक्कं, चरिमो-सुद्धो । अहवा मीसे संजोगपच्छित्तं ति । सचित्ता आउणा उदउल्लो हत्थो मासलहु । पुढविकायगतो मत्तो, एत्थ ज पच्छित्तं तं संजोगपच्छित्तं भवति । एव सर्वत्र योज्यम् ।

असंसिट्ठे इमं कारणं—

मा किर पच्छाकम्मं, होज्ज असंसट्ठगं तओ वज्जं ।
करमत्तेहिं तु तम्हा, संसट्ठेहिं भवे गहणं ॥ २८६ ॥

कारणे गहणं—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोधए वा, जतणागहणं तु गीतत्थे ॥ २८७ ॥

तत्र जयणाए गहणं ति जयणाए पणगपरिहाणीए मासलहुं पत्तो, ततो गेण्हंति । नि० चू० ४ उ० ।

पुरकम्मिया-पुरःकर्म्मिका-स्त्री० । पुरः प्रथमं कर्म यस्यां सा पुरःकर्मिका । पुरःकर्मदूषणदुष्टायाम्, ध० ३ अधि० ।

पुरेवाय-पुरोवात-पुं० । पूर्वदिक्सम्बधिनि वाते, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० ।

पुरेसखडि-पुरःसंखडि-पुं० । जातनामकरणविवाहाऽऽदिके आभ्युदयिके कार्ये क्रियमाणायां संखडौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० ।

पुरेसंथुय-पुरःसंस्तुत-पुं० । आतृव्याऽऽदौ प्राकृतपरिचये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० । पितृव्याऽऽदौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

पुरोकाउं-पुरस्कृत्य-अव्य० । अङ्गीकृत्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

पुरोग-पुरोग-पुं० । पुरःसरे नायके, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पुरोवग-पुरोपग-पुं० । राजवृक्षे, आचा० ।

पुरोहड-पुरोहृत-न० । रमणीयसंयतीप्रायोग्यविचारभूमिके, बृ० २ उ० । अग्रद्वारे, ओ० । असमे, दे० ना० ६ वर्ग १५ गाथा ।

पुरोहय-पुरोधस्-पुं० शान्तिकारिणि, स्था० ६ ठा० ।

पुरोहिय-पुरोहित-पुं० । पौरजानपदयुक्तस्य राज्ञो होमाऽऽदिनाऽशिवाऽऽद्युपद्रवप्रशमने, बृ० ३ उ० । स्था० । ज्ञा० । प्रश्न० । रा० । प्रव० । "जो होम(म्म)जवादिएहिं असिवादि पसमेति सो पुरोहितो ।" नि० चू० ४ उ० ।

पुरोहियरयण-पुरोहितरत्न-न० । पुरोहितः शान्तिकर्माऽऽदिकारी स एव स्वजातिमध्ये समुत्कर्षयन् रत्नं निगद्यते । पुरोहितानामुत्कृष्टे, "एगमेगस्स णं चक्कवट्टिस्स चउद्दस रयणा इत्थीरयणे गाहावइरयणे पुरोहियरयणे० ।" स० १४ सम० । आ० म० । स्था० ।

पुलअ-दृश्-धा० । प्रेक्षणे, "दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ वज्ज सव्वव-देक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोअ-पुलए निआवआस-पासा." ॥ ८।४।१८१ ॥ इति दृशेः पुलअ आदेशः । 'पुलअइ' । पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

पुलआअ-उल्लस-धा० । उल्लासे, " उल्लसेरूसलोसुंभ-णिल्लस-पुलआअ-गुंजोल्लारोआ." ॥ ८।४।२०२ ॥ इति उत्पूर्वस्य लसते. 'पुलआअ' आदेश । 'पुलआअइ' । उल्लसति । प्रा० ४ पाद ।

पुलइअ-पुलकित-त्रि० । रोमाञ्चे, " रोमचिअं आरेइअं, उससिअं पुलइअ च कंटइअं । " पाइ० ना० ७६ गाथा ।

दृष्ट-त्रि० । दृष्टे, " सच्चविअ-दिट्ठ-पुलइअ-निअच्छिआइं निहालिअत्थम्मि । " पाइ० ना० ७८ गाथा ।

पुलंपुल-पुलम्पुल-न० । अनवरते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पुलंपुलप्पभूय-पुलपुलप्रभूत-त्रि० । अनवरतोद्भूते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

पुलग-पुलक-पुं० । रत्नविशेषे, आ० म० १ अ० । सूत्र० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । लवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । नि० । विपा० ।

पुलगकंड-पुलककाण्ड-न० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पुलकरत्नमये काण्डे, "रयणप्पभाए पुढवीए पुलयकंडे दस जोयणसयाइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।" स्था० १० ठा० । स० ।

पुलगसार-पुलकसार-पुं० । वर्णातिशये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० ।

पुला-पुला-स्त्री० । लघुतरस्फोटिकासु पुलाकिकासु, स्था० १० ठा० ।

**पुलाकिमिय-पुलाकृमिक-पुं०** । पायुप्रदेशोत्पन्नेषु कृमिषु, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

**पुलाग-पुलाक-पुं०** । वल्लचणकाऽऽदिकेऽसारे, उत्त० ८ अ० । आचा० । भ० । प्रथमे चारित्रिणि, दर्श० ४ तत्त्व ।

धन्नमसारं भन्नइ, पुलायसद्देण तेण जस्स समं ।
चरणं सो हु पुलाओ, लद्धीसेवाहिं सो य दुहा ॥७२०॥

पुलाकशब्देन असारं निःसार धान्य तन्दुलकणशून्यं पलञ्जिरूपं भण्यते, तेन पुलाकेन समं सदृशं यस्य साधोश्चरणं चारित्र भवति स पुलाकः, पुलाक इव पुलाक इति कृत्वा । अयमर्थः-तपःश्रुतहेतुकयोः सङ्घाऽऽदिप्रयोजने सबलवाहनस्य चक्रवर्त्यादेरपि चूर्णने समर्थाया लब्धेरुपजीवनेन ज्ञानाऽऽद्यतिचाराऽऽसेवनेन वा सकलसंयमसारगलनात्पलाञ्जिवन्निःसारो यः स पुलाकः । स च द्विधा-लब्ध्या, सेवया च । लब्धिपुलाकः, सेवापुलाकश्चेत्यर्थः । तत्र लब्धिपुलाको देवेन्द्रर्द्धिसमसमृद्धिको लब्धिविशेषयुक्तः । यदाह-" संघाइआण कज्जे, चुण्णेज्जा चक्कवट्टिमवि जीए । तीए लद्धीएँ जुओ, लद्धिपुलाओ मुणेयव्वो ॥ १ ॥ " अन्ये त्वाहुरासेवनतो यो ज्ञानपुलाकस्तस्येयमीदृशी लब्धिः, स एव च लब्धिपुलाको, न तद्व्यतिरिक्तः कश्चिदपर इति । आसेवापुलाकस्तु पञ्चविधः-ज्ञानपुलाकः, दर्शनपुलाकश्चारित्रपुलाकः, लिङ्गपुलाकः, यथासूक्ष्मपुलाकश्च । तत्र स्खलितमिलिताऽऽदिभिरतिचारैर्ज्ञानमाश्रित्याऽऽत्मानमसारं कुर्वन् ज्ञानपुलाकः, एवं कुदृष्टिसंस्तवाऽऽदिभिर्दर्शनपुलाक, मूलोत्तरगुणप्रतिषेधनया चारित्रविराधनकश्चरणपुलाकः, यथोक्तलिङ्गाधिकग्रहणान्निःकारणान्यलिङ्गकरणाद्वा लिङ्गपुलाकः, किञ्चित्प्रमादान्मनसा अकल्प्यग्रहणाद्वा यथासूक्ष्मपुलाकः । अन्यत्र पुनरेवमुक्तम्-" अहासुहुमो य एएसु चेव चउसु वि जो थोवथोव विराहेइ त्ति । " प्रव० ६३ द्वार । व्य० । पं० भा० । भ० । सूत्र० । बृ० । कल्प० । स्था० । उत्त० ।

पुलाकाः-

पुलाए पंचविहे पन्नत्ते । तं जहा-णाणपुलाए, दंसणपुलाए, चरित्तपुलाए, लिंगपुलाए, अहासुहुमपुलाए नाम पंचमे ।२।

पुलाकस्तन्दुलकणशून्या पलञ्जिस्तद्वत् यस्तपःश्रुतहेतुकायाः सङ्घाऽऽदिप्रयोजने चक्रवर्त्त्यादेरपि चूर्णनसमर्थाया लब्धेरुपजीवनेन ज्ञानाऽऽद्यतिचाराऽऽसेवनेन वा संयमसाररहितः स पुलाकः । अत्रोक्तं जिनप्रणीतादागमात्-सदैवाप्रतिपातिनो ज्ञानानुसारेण क्रियाऽनुष्ठायिनो लब्धिमुपजीवन्तो निर्ग्रन्थाः पुलाका भवन्तीति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । उत्त० । ( पुलाकस्य सर्वाणि द्वाराणि ' णियंठ ' शब्दे चतुर्थभागे २०३४ पृष्ठे उक्तानि )

**पुलागभत्त-पुलाकभक्त-न०** । निःसाराऽऽहारे, निष्पावाऽऽदिधान्ये निर्ग्रन्थ्याः पात्रे पुलाकभक्तं प्रतिगृहीतं स्यात् । बृ० ।

निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य तेणेव संथरिज्जा, तओ कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए, अह से य न संथरिज्जा, तओ से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए ॥ ५४ ॥

अस्य संबन्धमाह-

पु(उ)त्तरिय पच्चयट्ठा, सुत्तमिणं मा हु हुज्ज वहिभावो ।
जससंरक्खणमुभए, सुत्तारंभो उ वइणीए ॥३६५॥

लोकोत्तरिका(नां)नाम परिणामकातिपरिणामकानां प्रत्ययार्थं सूत्रमिदमनन्तरमुक्तं, मा तेषां बहिर्भावो भवेदिति कृत्वा । अयं तु व्रतिनीविषयः प्रस्तुतसूत्रस्याऽऽरम्भः उभये लोके लोकोत्तरे च यशःसंरक्षणार्थं क्रियते । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य (५४ सूत्रस्य) व्याख्या-निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टाया अन्यतरत् धान्यगन्धरसफलकानां त्रिविकटदुग्धाऽऽदिरूपाणामेकतरं पुलाकभक्तं प्रतिगृहीतं स्यात्, सा च तेनैव भक्तेन संस्तरेत् दुर्भिक्षाऽऽद्यभावान्निर्वहेत् । ततः कल्पते तस्याः तद्दिवस तेनैव भक्तार्थेन पर्युषितं निर्वाहयितुं नो ( से ) तस्याः कल्पते द्वितीयमपि वारं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुम् । अथास्या न संस्तरेत्, ततः कल्पते तस्या द्वितीयमपि वारं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुम् । इति सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिभाष्यविस्तरः-

तिविहं होइ पुलागं, धन्ने गंधे य रसपुलाए य ।
चउगुरुगाऽऽयरियाई, समणीणुद्धहरगहणे ॥ ३६६ ॥

त्रिविधं पुलाकं भवति । तद्यथा-धान्यपुलाकं, गन्धपुलाकं रसपुलाकं चेति । एतत्सूत्रमाचार्यः प्रवर्त्तिन्या न कथयति चतुर्गुरु, आदिशब्दात्प्रवर्त्तिनी निर्ग्रन्थीनां न कथयति चतुर्गुरु, निर्ग्रन्थ्यो न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु, श्रमणीनामप्यूर्द्धहरे सुभिक्षे पुलाकं गृह्णतीनां चतुर्गुरु ।

अथ त्रीण्यपि धान्यपुलाकाऽऽदीनि व्याचष्टे-

निप्फावाई धन्ना, गंधे वाइंगपलंडुलसुणाई ।
खीरं तु रसपुलाओ, चिंचिणिदक्खारसाई य ॥ ३६७ ॥

निष्पावा वल्लास्तदादीनि धान्यानि पुलाकं, तथा 'वाइंगं' विकटं, पलाण्डुलसुने च प्रतीते, तदादीनि यान्युत्कटगन्धानि तद् गन्धपुलाकम्, यत्पुनः क्षीरं, ये च चिञ्चिणिकाया गोस्तनिकाया रसो वा आदिशब्दादपरमपि यद् मुक्तमतीसारयति तत्सर्वमपि रसपुलाकम् ।

अथ किमर्थमेतानि पुलाकान्युच्यन्ते ?, इत्याह-

आहारिया असारा, करेंति वा संजमाउ णिस्सारं ।
निस्सारं च पवयणं, दट्ठुं तस्सेविणिं विंति ॥ ३६८ ॥

इह पुलाकमसारमुच्यते, तत आहारितानि वल्लाऽऽदीनि यतोऽसाराणि सन्ति ततः पुलाकानि भण्यन्ते, संयमाद्वा संयममङ्गीकृत्य यतः क्षीराऽऽदीनि निस्सारां साध्वीं कुर्वन्ति, ततस्तान्यपि पुलाकानि, प्रवचनं वा निस्सारं, तथा विकटाऽऽदीनां सेवनशीलां संयतीं दृष्ट्वा जना ब्रुवते ततस्तानि पुलाकान्युच्यन्ते ।

पञ्च दोषानाह-

आणाइणो य दोसा, विराहणा मज्जगंधमय खिंसा ।
निग्गहणे गेलन्नं, पडिगमणाईणि लज्जाए ॥ ३६९ ॥

एषां त्रयाणामपि पुलकानां ग्रहणे आज्ञाऽऽदयो दोषाः, विराधना संयमाऽऽत्मविषया भवति, तथा गन्धपुलाके पीते सति मद्यगन्धमाघ्राय मदविह्वलां वा तां दृष्ट्वा लोकः खिं-

सां कुर्यात्, धान्यपुलाके पुनराहारिते वायुकायः प्रभूतो निर्गच्छति, ततो यदि भिक्षार्थं प्रविष्टा तस्य निरोधं करोति तदा ग्लानत्वं भवेत्,अथ वायुकायं करोति तत उड्डाहो भवेत् उड्डाहिता च लज्जया प्रतिगमनाऽऽदीनि कुर्यात्, एवं रसपुलाकेऽपि क्षीराऽऽदौ पीते भिक्षां प्रविष्टा यदि संज्ञामागच्छन्तीं निरुणद्धि ततो ग्लानत्वम् , अथ न निरुणद्धि ततो व्युत्सृजन्ती केनाऽपि दृष्टा लज्जया प्रतिगमनाऽऽदीनि कुर्यात्।

किं च—

वसहीए वि गरहिया,किं पुण इत्थी बहुजणम्मि सक्खीवा।
लाहुक्क पेल्लणया, लज्जानासो पसंगो य ॥ ३७० ॥

स्त्री निर्ग्रन्थी सक्षीवा मद्यमदयुक्ता वसतावपि वसन्ती गर्हिता,किं पुनर्बहुजने पर्यटन्ती। तथाहि-तां मदविकलाम् आपतन्तीं प्रपतन्तीमालमालामिव प्रलपन्तीं दृष्ट्वा लोकः प्रवचनस्य लाघुक्यं लाघवं कुर्यात् । अहो मतं बालं पाखण्डमिदमित्यादि । मदेन वाऽचेतना संजाता सती प्रार्थनीया सा भवति, तत उद्भ्रामकाऽऽदयस्तस्याः प्रेरणं कुर्युः, मदवशेन यदपि तदपि प्रलपन्त्या लज्जानाशो भवेत् , ततः प्रतिसेवनाऽऽदावपि प्रसङ्गः स्यात् ।

घुन्नइ गई सदिट्ठी, जहा य रत्ता सि लोयणकवोला ।
अरहइ एस धुताई, णिसेवई सज्झए गेहे ॥ ३७१ ॥

तां तथा मदभावितां दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्-यथाऽस्या गतिः सदृष्टियुक्ता घूर्णते, यथा चाऽस्या लोचनकपोला रक्ता दृश्यन्ते, तथा नूनमर्हत्येषा धुताकी देशीवचनत्वादुद्भ्रामिकी, ईदृशीं विडम्बनामनुभवितुं या सध्वजानि गेहानि कल्पपालगृहाणि निषेवते। त्रिविधेऽपि पुलाके यथायोगममी दोषाः।

छक्कायाण विराहण, वाउभय निसग्गओ अवन्नो अ ।
उज्झावणमुज्झंती, सइ असइ दवम्मि उड्डाहो ॥ ३७२॥

मदविह्वला षण्णामपि कायानां विराधना कुर्यात् धान्यपुलाकेन क्षीरेण वा भुक्तेन वायुकायः,उभयं च संज्ञाकायिकीरूपं न सा गच्छेत् , ततो भिक्षां हिण्डमाना यदि तेषां निसर्गं करोति ततः प्रवचनस्यावर्णो भवेत् , परावग्रहे वा व्युत्सृष्टे पुरीषाऽऽदिकमवग्रहस्वामिनस्तस्याः पार्श्वात् उज्झापयन्ति, स्वयमेव वा ते गृहस्था उज्झन्ति । ( सइ असइ दवम्मि उड्डाह त्ति ) अस्ति द्रवं परकलुषं स्तोकं वा, नास्ति वा मूलत एव द्रवं,तत उभयथाऽपि प्रवचनस्योड्डाहो भवेत्।

कल्ले अह सक्खीवा, आसी णं संखवाइभज्जा वा ।
भग्गा णाए सुविही, दुद्दिट्ठ कुलं सि गरिहा य ॥३७३॥

कल्ये—अन्यस्मिन् दिने , अथेत्युपदर्शने, इयं सक्षीवा मद्यमदयुक्ता आसीत्, णमिति वाक्यालङ्कारे एवं गन्धपुलाकभुक्तवतीं जना उपहसन्ति । वायुकायशब्दं च श्रुत्वा ब्रवीरन् अहो इयं शङ्खवादकस्य भार्या पूर्वमासीत्। यद्वा-भग्ना अनया इत्थं वायुकायेनाश्रान्तं पूरयन्त्या सुविही अङ्गणमण्डपिका एवं प्रपञ्चयेयुः। ( दुद्दिट्ठकुलं सि गरिहा य त्ति ) दुर्दृष्टधर्माणोऽमी , कुलगृहं चैताभिरात्मीयं मलिनीकृतमेवं गर्हा भवति, ततश्च प्रतिगमनाऽऽदयो दोषाः।

यत एवमतः—

जहिँ एरिसो आहारो,तहिँ गमणे पुव्ववण्णिया दोसा।
गहणं च अणाभोए,ओमे तह कारणेहिँ गया ।३७४।

यत्र विषये ईदृशं पुलाक आहारो लभ्यते तत्र निर्ग्रन्थीभिर्नैव गन्तव्यं,यदि गच्छन्ति तदा त एव पूर्ववर्णिता दोषाः। अथवा-अशिवाऽऽदिभिः कारणैर्गता भवेयुः तत्र चानाभोगेन पुलाकभक्तस्य ग्रहणं भवेत्।

ततः किमित्याह—

गहियमणाभोगेणं, वाइगवज्जं तु सेस वा भुंजे ।
मिच्छुप्पियं तु भुत्तं, जा गंधो ता न हिंडंती ॥ ३७५ ॥

यद्यनाभोगेन पुलाकं गृहीतं भवति तदा ( वाइगं ) विकटं तद्वर्जयित्वा शेषं वा विभाषया भुञ्जीरन् । किमुक्तं भवति? यदि तदपर्याप्तमन्यच्च भक्तं लभ्यते तदा न भुञ्जते, किं तु तत्परिष्ठाप्यान्यद्भक्तं गृह्णन्ति। अथ पर्याप्तं, तदा भुञ्जते, भुक्त्वा च तेनैव भक्तार्थेन पर्युषयन्ति, विकटं तु सर्वथैव न भोक्तव्यं, म्लेच्छप्रियं नाम-पलाण्डु, तत्पुनर्भुक्तं, यावत् तदीयो गन्ध आगच्छति तावन्न हिण्डन्ते ।

कारणगमणे वि तहिं, पुव्वं घेत्तूण पच्छ तं चेव ।
हिंडण पेल्लण विइए, ओमे तह पाहुणट्ठा वा ॥ ३७६ ॥

अवमाऽऽदिकारणैर्गतायामपि मद्यपलाण्डुलसुनान्येकान्तेन प्रतिषिद्धानि,अथ पूर्वमनाभोगाऽऽदिना गृहीत,ततः पुलाकं गृहीत्वा पश्चात्तदेव भुक्त्वा तेनैव भक्तार्थेन तद्दिवसमासते, न भूयो भिक्षामटन्ते । द्वितीयपदे द्वितीयमपि वारं भिक्षार्थं प्रविशेत् , अवमं-दुर्भिक्षं तत्र पर्याप्तं न लभ्यते , प्राघुणका वा संयत्यः समायाताः , ततो भूयोऽपि भिक्षां हिण्डनं कुर्वाणानामियं यतना ( पिल्लण त्ति ) धान्यपुलाके आहारिते यदि वायुकाय आगच्छेत् तत एकं पुनः पार्श्वे प्रेर्य वायुकायं निसृजन्ति, उभयलक्षणमिदम्-तेन यदा संज्ञासंभवः तदा यद्यन्यासां संयतीनामासन्ना वसतिस्तदा तत्र गन्तव्यं, तदभावे भावितायाः श्राद्धिकायाः पुरोहडाऽऽदौ व्युत्सर्जनीयम् ।

एसेव गमो नियमा, तिविहपुलागम्मि होइ समणाणं ।
णवर पुण णाणत्तं, होइ गिलाणस्स वइयाए ॥ ३७७ ॥

एष एव गमः-प्रकारो नियमात् त्रिविधेऽपि पुलाके श्रमणानामपि भवति, नवरं पुनरत्र नानात्वं, ग्लानस्य दुग्धाऽऽदिकमानेतुं व्रजिकायां साधवो गच्छेयुस्तत्र च गताः, संस्तरन्त आत्मयोग्यं रसपुलाकं न गृह्णन्ति , अथ न संस्तरन्ति, ततः क्षीराऽऽदिकं भुक्त्वा न भूयो भिक्षामटन्ति, कारणे तु भूयोऽप्यटन्तस्तथैव यतनां कुर्वन्ति । बृ० ५ उ० ।

पुलागलद्धि-पुलाकलब्धि-स्त्री० । पुलाकत्वनिबन्धने लब्धिभेदे, प्रव० २७० द्वार । ( ' पुलाग ' शब्दे लक्षणं गतम् )

पुलागविपुलाय-पुलाकविपुलाक-पुं०। संयमासारताऽऽपादकदोषरहिते, "पुल(लाग)विपुलाए कयविक्कयसंनिहिओविरए सव्वसंगावगए जे स भिक्खू।" दश० १० अ० ।

पुलासिअ-देशी-अग्निकणे, दे०ना० ६ वर्ग ५५ गाथा।

पुलिअ-पुलित-न० । गतिविशेषे, औ० ।

पुलिंद-पुलिन्द-पुं० । अनार्यदेशविशेषे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ० । प्रश्न० । रा० । प्रव० । प्रज्ञा० । आव० । नि० चू० ।

पुलिश-पुरुष-पु० । " रसोर्लशौ " ॥ ८ । ४ । २८८ ॥ इति मा-

गथ्यां रेफस्य लः, सस्य शः । पुंसि । प्रा० ४ पाद ।

पुलुट्टय-प्लुष्ट-त्रि० । दग्धे, " पुलुट्टयं पउलिअं दड्ढं । " पाइ० ना० २०० गाथा ।

पुलोए-दृश्-धा० । दर्शने, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोए-पुलए-निआवआस-पासाः " ॥ ८ । ४ । १८१ ॥ इति दृशधातोः 'पुलोए' इत्यादेशः । पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

पुलोमतणया-पुलोमतनया-स्त्री० । इन्द्राण्याम्, " पुलोमतणया सई य इदाणी ।" पाइ० ना० ६८ गाथा ।

पुलोमी-पौलोमी-स्त्री० । "उत्सौन्दर्यादौ" ॥८।१।१६०॥ इत्यौत उत्वम् । इन्द्रपत्न्यां पुलोमजायाम् , प्रा० १ पाद ।

पुल्लिंग-पुलिङ्ग-पुं० । लिङ्गानुशासनाऽऽदिसूत्रे, "पुल्लिङ्गं कट ण०"(लिङ्गानु० १ सू०) इति पुल्लिङ्गमिति सानुस्वारं सानुनासिकं वा युक्तमिति प्रश्ने, उत्तरम्-" तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ" ॥ १।३।१४ ॥ (हैम०) इति सूत्रेणानुस्वारानुनासिकावुभावपि स्त इति । १४२ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

पुल्ली-देशी-व्याघ्रसिंहयोः, दे० ना० ६ वर्ग ७६ गाथा । " इल्ली पुल्ली वग्घो,सद्दूलो पुंडरीओ य ।"पाइ० ना० ४४ गाथा ।

पुवंत-प्लवत्-त्रि० । गच्छति, प्लुङ् गताविति वचनात् । भ० १५ श० । शत्रानशः । ८ । ३ । १८१ ॥ इति न्तः । प्रा० ।

पुव्व-पूर्व-पुं० । प्रथमे, आदौ, दर्श० २ तत्त्व । ज्यो० । विशे० । सूत्र० । प्राचि, उत्त० २ अ० । स० । पूर्वजन्मनि, उत्त० २ अ० । आचा० । अनु० । आव० । आतु० ।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले दिसि तावखेत्ते य ।
पन्नवगपुव्ववत्थू, पाहुडअइपाहुडे भावे ॥ १६० ॥

नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यपूर्वम्- अङ्कुराद्बीजं, दध्नः क्षीरं, फाणितादिक्षुरस इत्यादि, क्षेत्रपूर्वं-यवक्षेत्राच्छालिक्षेत्रं, तत्पूर्वकत्वात्तस्य, अपेक्षया चान्यथाऽप्यदोषः, कालपूर्वं-पूर्वः कालः शरदः प्रावृट् रजन्या दिवस इत्यादि, आवलिकाया वा समय इत्यादि, दिक्पूर्वं-पूर्वा दिगियं च रुचकापेक्षया, तापक्षेत्रपूर्वम्-आदित्योदयमधिकृत्य यत्र या पूर्वा दिक् । उक्तं च-" जस्स जतो आदिच्चो, उदेति सा तस्स होइ पुव्वदिसा । " इत्यादि । प्रज्ञापकपूर्वं-प्रज्ञापकं प्रतीत्य पूर्वा दिक् यदभिमुखः पवासौ सैव पूर्वा , पूर्वपूर्वं-चतुर्दशानां पूर्वाणामाद्यं, तच्च उत्पादपूर्वम् , एवं वस्तुप्राभृतातिप्राभृतेष्वपि योजनीयम् । अप्रत्यक्षस्वरूपाणि चैतानि । भावपूर्वम्— आद्यो भाव ; स चौदयिक इति गाथाऽर्थः । दश० २ अ० । भ० । चतुरशीतिलक्षगुणिते पूर्वे, अनु० । आचा० । जं० । कर्म० । भ० । ( ' जीवाजीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५५६ पृष्ठेऽस्यार्थः) " तिविहे पुव्वे पण्णत्ते । तं जहा-तीते, पडुप्पन्ने, अणागए । " स्था० ३ ठा० ४ उ० । पूपालनपूरणयोरित्यस्य धातोः पूर्यते—प्राप्यते पाल्यते च येन कार्यं तत्पूर्वम् , औणाऽऽदिको वक्प्रत्ययः । कारणे, " महपुव्वं जेण सुयं । " न० । ज्ञा० । पूर्वं करणात्पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽऽदिषु दृष्टिवादान्तर्गतेषु, स्था० ४ ठा० १ उ० । प० चू० । " चउद्दसपुव्विणो एकारसंगिणो ।" चतुर्दशपूर्विणो द्वादशाङ्गित्वे उक्ते चतुर्दशपूर्वित्वं तथाऽपि आगतमेव पूर्वाणां प्राधान्यख्यापनार्थमिदं विशेषणं , प्राधान्यं च पूर्वाणां पूर्वं प्रणयनात् महाप्रमाणत्वात् अनेकविद्यामन्त्रमयत्वाच्च । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पूर्वानुपूर्वीति । अनु० । परिपाट्याम्, स्थ० १ उ० ।

पुव्वंग-पूर्वाङ्ग-पु० । प्रथमदिवसे, जं० ७ वक्ष० । कल्प० । ज्यो० । चतुरशीतिवर्षलक्षप्रमाणे कालविशेषे, आ० म० १ अ० । "चउरासीईवाससयसहस्साणि से एगे पुव्वंगे ।" भ० ६ श० ६ उ० । ज्यो० । जं० । कर्म० । चं० प्र० । अनु० । स्था० । ( अत्र विस्तरः ' जीवाजीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५५६ पृष्ठे गतः )

पुव्वकड-पूर्वकृत-त्रि० । पूर्वमन्येषूपात्ते,सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । पूर्वसञ्चिते, ओघ० । प्रश्न० ।

पुव्वकम्म-पूर्वकर्मन्-न० । प्राक्कर्तव्ये प्रत्युपेक्षणाऽऽदिके कर्मणि, " जं पुव्वकम्मं तं पच्छाकम्मं जं पच्छाकम्मं तं पुव्वकम्मं तं भिक्खू पडियाए वट्टमाणा करेज्जा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । पूर्वकृतकर्मणि,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पूर्वकर्मोदयोपगते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पुव्वकय-पूर्वकृत-त्रि० । पूर्वमेव निरावृते, " पुव्वकयकम्मपरिभावणाइ ।" पूर्वकृतं प्रथममर्जितं यत्कर्म तस्य परि-समन्तात् भावना । आतु० । " पुव्वकयकम्मसंचओवतत्ता ।" पूर्वकृतकर्मणां सञ्चयेनोपतप्ता आपन्नसन्तापा ये ते तथा । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पुव्वकालिय-पूर्वकालिक-त्रि० । प्राक्कालिके, "पुव्वकालियवयणदच्छे । " वक्तुकामस्य वचनात् यत्पूर्वमुत्तरमभिधीयते पराभिप्रायं लक्षयित्वा तत्पूर्वकालिकं वचनं तत्र ये दक्षास्ते तथा वा पूर्वकालिकानामर्थानां वचनेऽदक्षाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पुव्वकीलिय-पूर्वक्रीडित-न० । गृहस्थावस्थायां पुरा कृते पूताऽऽदिक्रीडने, उत्त० १६ अ० । प्रश्न० । स्त्र्यादिभिः पूर्वकालभाविद्यूतदुरोदराऽऽदिरमणे, उत्त० १६ अ० ।

पुव्वगणिय-पूर्वगणित-न० । प्राक्प्रतिसंख्याते,ज्यो०१पाहु० ।

पुव्वगय-पूर्वगत-न० । पूर्वाणि दृष्टिवादाङ्गभागभूतानि तेषु गतं प्रविष्टं तदभ्यन्तरीभूतं तत्स्वरूपं यच्छ्रुतं तत्पूर्वगतम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । दृष्टिवादान्तर्गतश्रुताधिकारविशेषे, न० । ( पूर्वगतम् ' दिट्ठिवाय ' शब्दे चतुर्थभागे २५१४ पृष्ठे गतम् )

" उप्पाए पयकोडी, अग्गे णीयम्मि छण्णउइलक्खा ।
विरियम्मि सयरिलक्खा,सट्ठि लक्खा उ अत्थि नत्थिम्मि ॥३॥
एगपऊणा कोडी, नाणपवायम्मि होइ पुव्वम्मि ।
एगा पयाण कोडी, छ च सया सच्चवायम्मि ॥ ४ ॥
छव्वीसं कोडीओ, आयपवायम्मि होइ पयसंखा ।
कम्मपवाए कोडी, असीइलक्खेहिं अब्भहिया ॥ ५ ॥
चुलसीइसयसहस्सा, पच्चक्खाणम्मि वण्णिया पुव्वे ।
एक्का पयाण कोडी, दससहस्सअहिया य अणुवाए ॥ ६ ॥
छव्वीसं कोडीओ, पयाण पुव्वे अ बंभनामम्मि ।
पाण उम्मि य कोडी, छप्पनलक्खेहिं अब्भहिया ॥ ७ ॥

नव कोडीओ संखा, किरियविसालम्मि वण्णिया गुरुणा ।
अद्धत्तेरस लक्खा, पयसंखा बिंदुसारम्मि ॥८॥" स्था० ४ ठा० १ उ० । सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियन्ते इति पूर्वाणि उत्पादपूर्वाऽऽदीनि चतुर्दश तेषु गतोऽभ्यन्तरीभूतः तत्स्वभावः । पूर्वस्वभावे दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

पूर्वाणां विच्छेदकालः—

" वो(वो)लीणम्मि सहस्से, वरिसाणं वीरमोक्खगमणाउ ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥ ८०१ ॥
वरिससहस्से पुण्णे, तित्थोग्गालीएँ वद्धमाणस्स ।
नासिहि ई पुव्वगतं, अणुपरिवाडीएँ जं जस्स"॥८०२॥ति० ।

पुव्वगहिय-पूर्वगृहीत-त्रि० । प्राक्कालोपात्ते, " पुव्वगहिएण छंदेण गुरुआणाए । " पञ्चा० १२ विव० ।

पुव्वजाइ-पूर्वजाति-स्त्री० । प्राक्तनजन्मनि,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पुव्वट्ठाण-पूर्वस्थान-न० । पूर्वमिति द्वन्द्वं वधूवराऽऽदिकं, तत्स्थानम् । दम्पत्युपवेशनार्हवेदिकायाम् , आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

पुव्वणिज्जुत्त-पूर्वनियुक्त-त्रि० । पूर्वकाले व्यापारिते, पञ्चा० १२ विव० ।

पुव्वणिवाय-पूर्वनिपात-पुं० । पूर्वदेशकालवृत्तिताऽऽपादने,केचिदाचार्या आहुः-"यदल्पाच्तरं तत्पूर्वं निपतति।"यथा-प्लक्षन्यग्रोधौ अन्ये आहुः—यथा मातापितरौ, वासुदेवार्जुनौ इत्यादि । नि० चू० १ उ० ।

पुव्वणिसिद्ध-पूर्वनिषिद्ध-त्रि० । प्राक्कालनिवारिते, पञ्चा० १२ विव० ।

पुव्वण्ह-पूर्वाह्ण-न० । "सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः " ॥ ८ । २ । ७५ ॥ इति हकाराऽऽक्रान्तणकारस्य णकाराऽऽक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । दिनस्यार्धे-प्रहरद्वये, स्था० ४ ठा० २ उ० । आ० चू० । आव० । आ० म० ।

पुव्वण्णत्थ-पूर्वन्यस्त-त्रि० । प्रागुपन्यस्ते, रा० ।

पुव्वतव-पूर्वतपस्-न० । सरागावस्थायां भावितनपस्यायाम्, वीतरागावस्थापेक्षया सरागावस्थायाः पूर्वकालभावित्वात् । भ० २ श० ५ उ० ।

पुव्वत्त-पूर्वत्व-न० । पूर्वकालयोगित्वे, नं० ।

पुव्वदारियणक्खत्त-पूर्वद्वारिकनक्षत्र-न० । पूर्वं द्वार येषामस्ति तानि पूर्वद्वारिकाणि । पूर्वस्यां दिशि येषु गच्छतः शुभं भवति तेषु नक्षत्रेषु, स० ७ सम० । " कत्तिआइआ सत्त नक्खत्ता पुव्वदारिआ । " स्था० ७ ठा० ।

पुव्वदेस-पूर्वदेश-पुं० । मथुरात आरभ्य समुद्रपर्यन्तेषु देशेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

पुव्वधर-पूर्वधर-पुं० । पूर्वाणि धारयन्तीति पूर्वधराः । दशचतुर्दशपूर्ववित्सु, विशे० । आव० । पा० ।

पुव्वपडिवण्णय-पूर्वप्रतिपन्नक-पुं० । पूर्वप्रतिश्रुते, स्था० ।

पुव्वपद-पूर्वपद-न० । उत्सर्गपदे, "पुव्वपदं उस्सग्गपदं,अवरपद अववादपयं । " नि० चू० १ उ० ।

पुव्वपविट्ठ-पूर्वप्रविष्ट-त्रि० । पूर्वमेव क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रविष्टेषु, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पुव्वपुरिस-पूर्वपुरुष-पुं० । अतीतनरे,ज्ञा० १ श्रु०१ अ० । नि० ।

पुव्वप्पओग-पूर्वप्रयोग-पुं० । वाणस्येव सकर्मतायां गतिपरिणामवत्त्वे, भ० ७ श० १ उ० । प्रवृत्तव्यापार एव नापूर्वव्यापारनियोजने, पञ्चा० १० विव० ।

पुव्वप्पओगपच्चइय-पूर्वप्रयोगप्रत्ययिक-पुं० । पूर्वः प्राक्कालाऽऽसेवितः प्रयोगो जीवव्यापारो वेदनाकषायाऽऽदिसमुद्घातरूप. प्रत्ययः—कारणं यत्र शरीरबन्धे स तथा स एव प्रत्युत्पन्नप्रयोगप्रत्ययिकः । तस्मिन् , भ० ८ श० ६ उ० ।

पुव्वपुत्तसिणेहाणुराय-पूर्वपुत्रस्नेहानुराग-पुं० । प्रथमगर्भाधानकालसम्भवे पुत्रस्नेहलक्षणेऽनुरागे भ० ६ श० ३३ उ० ।

पुव्वफग्गुणी-पूर्वफाल्गुनी-स्त्री० । द्वितारे नक्षत्रभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । सू० प्र० । जं० । स० ।

पुव्वबद्धवेर-पूर्वबद्धवैर-त्रि० । पूर्वं भवान्तरेऽनादिकाले वा बद्धं निकाचितं वैरममित्रभावो येषां ते तथा । जन्मान्तरबद्धवैरभावे शत्रौ, स० ३४ सम० ।

पुव्वबंधव-पूर्वबान्धव-पुं० । जन्मान्तरबन्धुनि,आ०चू० १ अ० ।

पुव्वभणिय-पूर्वभणित-त्रि० । पूर्वप्रतिपादिते,ज्यो०२ पाहु० ।

पुव्वभद्दवया-पूर्वभाद्रपदा-स्त्री० । द्वितारे नक्षत्रभेदे, ज्यो० २ पाहु० । स्था० । "पुव्वा(व्व)भद्दवया नक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते ।" पं० सं० १ द्वार ।

पुव्वभव-पूर्वभव-पुं० । पूर्वजन्मनि, " पुव्वभवजणियनेहपीतियबहुमाणे ।" पूर्वभवे पूर्वजन्मनि जनिता जाता स्नेहात् प्रीतिः प्रियत्वं, न कार्यवशादित्यर्थः बहुमानश्च गुणानुरागस्ताभ्यां सकाशाज्जातः शोकः चित्तखेदो विरहसद्भावेन यस्य स पूर्वभवजनितस्नेहप्रीतिबहुमानः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स० ।

पुव्वभवचरियणिबद्ध-पूर्वभवचरितनिबद्ध-न० । चरमतीर्थकरमहावीरपूर्वमनुष्यभवचरितनिबद्धे नाटकभेदे, रा० ।

पुव्वभविय-पूर्वभविक-पुं० । पूर्वभवभाविनि, " पुव्वभवियवेरेण, अहवा रागेण रंजितो संतो ।" व्य० १ उ० । " एएसि णं चउव्वीसाए तित्थगराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामधेज्जा भविस्संति ।" स० ।

पुव्वभाग-पूर्वभाग-न० । अग्रे,स्था०६ठा० । दिवसस्य पूर्वभागश्चन्द्रयोगस्याऽऽदिमधिकृत्य विद्यते येषां तानि पूर्वभागानि । पूर्वाह्णे चन्द्रयोगसङ्गतेषु नक्षत्रेषु , सू० प्र० १० पाहु० २ पाहु० पाहु० ।

पुव्वरत्त-पूर्वरात्र-पुं० । रात्रेः पूर्वभागे, विपा० १ श्रु० १ अ० । रात्रे. प्रथमे यामे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

पुव्वरत्तावरत्तकालसमय-पूर्वरात्रापररात्रकालसमय-पुं० । पूर्वरात्रश्च रात्रेः पूर्वो भागोऽपररात्रश्च रात्रेरपरो भागस्तावेव कालः समयोऽवसरो जागरिकायाः । स्था० ३ ठा० २ उ० । रात्रेः पूर्वभागे पश्चाद् भागे च । विपा० १ श्रु० ६ अ० । प्रदोषसमये प्रातःसमये च, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पूर्वरात्रश्चासौ अपररात्रश्चेति पूर्वरात्रापररात्रः, स एव कालसमय कालविशेषः । रात्रेः पश्चिमे भागे, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ४ अ० । पूर्वरात्रश्चासावपररात्रश्च पूर्वरात्रापररात्रः, स एव काललक्षणः समयः न तु समाचाराऽऽदिलक्षणः समयः

पूर्वरात्रापररात्रकालसमयः । मध्यरात्रे, " पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा । " इह चार्षत्वादेकरेफलोपेन अपररात्रशब्दोऽयमिति । शा० १ श्रु० १ अ० । पूर्वरात्रश्च रात्रेः पूर्वो भागोऽपररात्रश्च अपकृष्टा रात्रिः, पश्चिमस्तद्भाग इत्यर्थः । तल्लक्षणो यः कालः-समयः कालाऽऽत्मकः समयः स तथा तत्र । अथवा—पूर्वरात्रापररात्रकालसमय इत्यत्र रेफलोपात् " पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि त्ति " स्यात् । भ० २ श० १ उ० । "जो पुव्वरत्तावरत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं, " । यः साधुः पूर्वरात्रापररात्रे काले रात्रौ प्रथमचरमयोरेवार्थम् । दश० २ चू० ।

पुव्वरय-पूर्वरत-न० । पूर्वं कृतं रतं—मैथुनं पूर्वरतम् । उत्त० १६ अ० । गृहस्थावस्थायां स्त्रीसंभोगानुभवने, स्था० ६ ठा० । गृहस्थावस्थालक्षणे पूर्वस्मिन् काले स्त्र्यादिभिः सह विषयानुभवने, उत्त० १६ अ० ।

पुव्ववं-पूर्ववत्-न० । विशिष्टं पूर्वोपलब्धं चिह्नमिह पूर्वमुच्यते तदेव ,निमित्तरूपतया यस्यास्ति तत्पूर्ववत् , तद्द्वारेण गमकमनुमानं पूर्ववत् । अनु० । कारणात्कार्यानुमाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । (' से किं तं पुव्ववं ' इत्यादि सूत्रं सव्याख्यानम् ' अणुमाण ' शब्दे प्रथमभागे ४०३ पृष्ठे गतम् )

पुव्वविदेह-पूर्वविदेह-पुं० । पूर्वश्चासौ विदेहश्चेति । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थिते महाविदेहस्यैकदेशीभूते ( जं० ४ वक्ष० ) क्षेत्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । यत्रेदानीं सीमन्धरः प्रभुः । आ० क० ४ अ० । तच्च क्षेत्रमकर्मभूमित्वात्सदा सुषमदुःषमा विराजते । स्था० २ ठा० ३ उ० । अनु० । " दो पुव्वविदेहाइं । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पुव्वविदेहकूड-पूर्वविदेहकूट-न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य पूर्वविदेहप्रतिकूटे, जं० ४ वक्ष० ।

पुव्ववेरिय-पूर्ववैरिक-पुं० । जन्मान्तरीयशत्रौ, " यं दृष्ट्वा वर्द्धते क्रोधः, स्नेहश्च परिहीयते । स विज्ञेयो मनुष्येण, एष मे पूर्ववैरिकः ॥ १ ॥ " आ० म० १ अ० ।

पुव्वसंगइय-पूर्वसङ्गतिक-पुं० । पूर्वं पूर्वकाले सङ्गतिर्मित्रत्वं येन सह स पूर्वसङ्गतिकः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जन्मान्तरीयमित्रे, भ० ७ श० ६ उ० । " गोयमाइसमणे भगवं महावीरे पुव्वसंगइयं कतं । " भ० २ श० १ उ० । गृहस्थत्वे परिचिते, भ० ३ श० १ उ० ।

पुव्वसंजोग-पूर्वसंयोग-पुं० । मातापित्रादिसंबन्धे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । धनधान्यस्वजनाऽऽदिभिः संयोगे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आचा० ।

पुव्वसंथव-पूर्वसंस्तव-पुं० । मात्रादिकल्पनया परिचयकरणे, पिं० । नि० चू० । दर्श० । आचा० । ( ' संथव ' शब्दे एव व्याख्यास्यामि )

पुव्वसंथुय-पूर्वसंस्तुत-पुं० । श्रामण्यप्रतिपत्तिकालात् पूर्वमेव कृतपरिचये, उत्त० । पूर्वं वाचनाऽऽदिकालादारतो न तु वाचनाऽऽदिकाल एव, तत्कालविनयस्य कृतप्रतिक्रियारूपत्वेन तथाविधप्रसादाजनकत्वात् , संस्तुता विनयविषयत्वेन परिचिताः सम्यक् स्तुता वा सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनाऽऽदिभिः पूर्वसंस्तुताः । उत्त० १ अ० ।

सामण्णे जे पुव्वं, दिट्ठा भट्ठा व परिजिता वा वि ।
ते हुंति पुव्वसंथुय, जे पच्छा एतरा होंति ॥ २८३ ॥

सामण्णप्रतिपत्तिकालात् पूर्वं पश्चाद्वा अहवा-सामण्णकाले चेव चिंतिज्जंति ।

गाहा—

अद्धया विहरंतेणं, संथुता पुव्वसंथुता ।
संपदं विहरंतेणं, संथुता पच्छसंथुता ॥ २८४ ॥

अतीतवर्त्तमानकाल प्रतीत्य भावयितव्यम् । नि० चू० २ उ० । उत्त० ।

पुव्वसमास-पूर्वसमास-पुं० । उत्पातपूर्वाऽऽदिद्वयादिसंयोगे, कर्म० १ कर्म० ।

पुव्वसुय-पूर्वश्रुत-न० । पूर्वाणि च तत् श्रुतं पूर्वश्रुतम् । पूर्वगते श्रुते, प्रश्न० १ पद । आ० म० ।

पुव्वसूर-पूर्वसूर-पूर्वाह्णे, आ० म० १ अ० ।

पुव्वसूरि-पूर्वसूरि-पुं० । चिरन्तनाऽऽचार्ये, जी० २४ अधि० । आ० म० । पूर्वाऽऽचार्ये, पञ्चा० १८ विव० । उद्युक्तविहारि चिरन्तनाऽऽचार्ये, जी० १ अधि० ।

पुव्वसेवा-पूर्वसेवा-स्त्री० । अनुयोगप्रासादात्प्रथमभूमिकायाम्, यो० विं० ।

तत्क्रमस्त्वेवम्—

पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञै-र्गुरुदेवाऽऽदिपूजनम् ।
सदाचारस्तपोमुक्त्य-द्वेषश्चेह प्रकीर्तिता ॥ १०६ ॥

पूर्वसेवा तु योगप्रासादप्रथमभूमिकारूपा पुनस्तन्त्रज्ञैः सम्यगधिगतशास्त्रैः प्रकीर्तिता इत्युत्तरेण योगः । कीदृशीत्याह -गुरुदेवाऽऽदिपूजन वक्ष्यमाणरूपम् १, तथा-सदाचारः २, तपः ३, मुक्त्यद्वेषश्च ४ । इह योगचिन्तायां प्रकीर्तिता निरूपिता ॥१०६॥ यो० विं० । ( गुरुदेवादिपूजाविधिं पूया'शब्दे वक्ष्यामि )

पुव्वहर-पूर्वधर-पुं० । पूर्वाणि धारयतीति पूर्वधरः । प्रथमचतुर्दशपूर्वविदि,यथा पूर्वधरो जायते स पूर्वधरलब्धिरित्युच्यते । आ० म० १ अ० । घटिकाद्वयमध्ये आनुपूर्व्यनानुपूर्वीभ्यां चतुर्दशपूर्वगणनलब्धिमन्तश्चतुर्दशपूर्वभृतश्चतुर्दश पूर्वाणि गणयन्ति, तत् स्मरणमात्रेण,वाङ्मात्रेण वेति प्रश्ने, उत्तरम्—चतुर्दशपूर्वधराश्चतुर्दश पूर्वाणि तात्वोष्ठपुटव्यापारं विना योगजन्यैश्वर्यात् घटिकाद्वये गणयन्ति । यदुक्तं परिशिष्टपर्वणि-"सोऽप्युवाच महाप्राणः,ध्यानमारब्धमर्हित यत् । साधयेत् द्वादशभिर्वर्षैर्नागमिष्याम्यहं ततः ॥ १ ॥ " ६१ प्र० । सेन ३ उल्ला० । यथा चतुर्दशपूर्वधरा दशपूर्वधरा नवपूर्वधरा वा दृश्यन्ते, तथा द्विपूर्वधराश्च तु पूर्वधरा. पञ्चपूर्वधरा भवन्ति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—जीतकल्पसूत्रात्राधारप्रकरणाऽऽगमपूर्वान्तस्य श्रुतव्यवहारस्योक्तत्वात्रेकद्व्यादिपूर्वधरा अपि भवन्तीति ज्ञायते । २६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

पुव्वहसिया-पूर्वहसिता-स्त्री० । यया सह पूर्वं हसितमासीत् तादृश्यां स्त्रियाम् , व्य० ७ उ० ।

पुव्वा-पूर्वा-स्त्री० । प्राचीनायां दिशि, स्था० ६ ठा० । येषां यस्यां दिशि सूर्यं उद्गच्छति सा तेषां पूर्वा । आ० म० १ अ० ।

स्था० । आव० । " जस्स जओ आइच्चो, उदेइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा" (४७ गाथा) आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अस्या गाथाया व्याख्या ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे विस्तरतो गता । प्रज्ञापकापेक्षया पूर्वदिङ्निरूपणमपि तत्रैव )

पुव्वाउत्त-पूर्वाऽऽयुक्त-त्रि० । पूर्वं तदागमनकालात् प्राक् आयुक्तं रन्धनस्थाल्यादौ प्रक्षिप्तं पूर्वाऽऽयुक्तम् । स्वार्थमेव साधुआरब्धे,पञ्चा० १० विव० । पूर्वाऽऽयुक्तश्चाउलोदनः पूर्वाऽऽयुक्त इति । व्य० ५ उ० । कल्प० । ( 'खायविहि ' शब्दे चतुर्थभागे २००४ पृष्ठे विस्तरो गतः )

पुव्वाह-देशी-पीने, दे० ना० ६ वर्ग ५२ गाथा ।

पुव्वाणुपुव्वी-पूर्वानुपूर्वी-स्त्री० । क्रमे, रा० । पूर्वस्यानुपूर्वः पूर्वानुपूर्वः "एत्थ णिदरिसणं पकंगस्स दो अणुत्तियं तिगस्स पुव्वा दुवस्स तिण्णि अणुत्ते य चउक्कस्स पुव्वा ।"एवं स चेत्र । "अहवा-पुव्वेव अनुपूर्वः स एव पूर्व. पूर्वानुपूर्वी । नि० चू० २० उ० ।

पुव्वायरणाभंग-पूर्वाऽऽचरणाभङ्ग-पुं० । बहोः कालात्प्रवृत्तायाः प्रवृत्तेर्विनाशे, जी० १ अधि० ।

पुव्वायरिय-पूर्वाऽऽचार्य-पुं० । अतीतसूरौ, नि० चू० १ उ० । पञ्चा० ।

पुव्वायामणया-पूर्वयामन-न० । पूर्वस्यां सीमन्धर. प्रभुः । आ० क० । तत्र क्षेत्रे कर्मभूमित्वात्सदा सुषमसुषमद्धयां विराजते । क्षेत्रविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

पुव्वावर-पूर्वापर-न० । पूर्वाणि च पराणि च पूर्वापरं, समाहारप्रधानो द्वन्द्वः । पूर्वापरसमुदाये, नं० ।

पुव्वावरसंजुत्त-पूर्वापरसंयुक्त-न० । पूर्वं सूत्रनिबद्धे पश्चात्सूत्रेण विरुध्यमाने, "पुव्वं सुत्तणिवद्धो पच्छा सुत्तेण विरुज्झमाणो पुव्वावरसंजुत्तं भवति । " नि० चू० ११ उ० ।

पुव्वासाढ-पूर्वाषाढ-पुं० । अम्भोदेवताके चतुस्तारे नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० । अनु० । स्था० ।

पुव्वाहुत्त-पूर्वाभिमुख-त्रि० । " सोऊण पुव्वाहुत्तो द्वायइ । " प्राचीदिगभिमुखे, आव० ४ अ० ।

पुव्वि-पूर्व-न० । पूर्वस्मिन् काले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । आचा० ।

पूर्विन्-पुं० । पूर्वधरे, प्रव० १ द्वार । प्रज्ञा० ।

पुव्विपच्छासंथव-पूर्वपश्चात्संस्तव-पुं० । "पुव्विं पच्छा य संथवे ।" पूर्वं दानात्प्राक् पश्चाच्च संस्तवो दातुः श्लाघा पूर्वपश्चात्संस्तवः । पञ्चा० १३ विव० । आचा० ।

पुव्विल्ल-पूर्व-त्रि० । पूर्वशब्दात्स्वार्थे इल्ल. । " अहं ते पुव्विल्लो अंते पालो तादे तस्स अट्ठाहियमहिमं करेइ । " पूर्वस्मिन्, आ० म० १ अ० ।

पुव्वुट्ठाइ-पूर्वोत्थायिन्-पुं० । पूर्वं प्रव्रज्याऽवसरे संयमानुष्ठानेनाद्यातु श्रीद्मस्येति पूर्वोत्थायी । प्रव्रज्यासमये एव संविग्ने." जो पुव्वुट्ठाई पच्छा निवाती । " आचा० १ श्रु० ५ स० ३ उ० ।

पुव्वुत्तरा-पूर्वोत्तरा-स्त्री० । ईशानकोणे, व्य० ७ उ० ।

पुव्वुप्पण्ण-पूर्वोत्पन्न-त्रि० । चिरप्ररूढे, " पुव्वुप्पणाउ न

वा, न हुंति अणाउ छम्मासं । " ज्यो० ६ पाहु० ।

पुव्वोइय-पूर्वोदित-त्रि० । प्राग्भणिते , सू० १ उ० ३ प्रक० । पूर्वोदिते, पञ्चा० ६ विव० ।

पुअ-प्र(प्)च्छ्-धा० । "छस्य श्चोऽनादौ" ॥ ८ । ४ २९ ॥ मागध्यामनादौ वर्त्तमानस्य छस्य श्चः । " पुश्चदि । " पृच्छति । प्रा० ४ पाद ।

पुस-मृज्-शुद्धौ, " मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-रोसाणाः " ॥ ८ । ४ । १०५ ॥ इति मृजतेः पुसाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद ।

पुस्स-पुष्य-पुं० । बृहस्पतिदेवताके नक्षत्रविशेषे, ज्यो० ६ पाहु० । अनु० । विशे० । चं० प्र० । " दो पुस्सा । " स्था० ३ ठा० ३ उ० । सू० प्र० । " पुस्सनक्खत्ते तितारे । " स० ३ सम० । पुष्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरम् । यदाहुः-" अपि द्वादशमे चन्द्रे, पुष्यः सर्वार्थसाधकः । " आ० १ श्रु० ८ अ० । ऋषिभेदे च । जं० ७ वक्ष० ।

पुस्सजोय-पुष्ययोग-पुं० । उपलक्षणत्वात् पुष्याऽऽदिनक्षत्राणां चन्द्रेण सह पश्चिमाग्रिमोभयप्रमर्दकाऽऽदियोगेषु,स० ३ अङ्क ।

पुस्समाणव-पुष्यमानव-पुं० । मागधे, ओघ० । लोकप्रसिद्धे लक्षणविशेषे च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पुस्सायण-पुष्यायन-पुं० । पुष्यनामकर्षेर्युवापत्ये, सू०प्र० १० पाहु० ११ पाहु० पाहु० । जं० । चं० प्र० ।

पुह-पृथक्-अव्य० । " पृथकि धो वा " ॥ ८ । १ । १८८ ॥ पृथक्शब्दे थस्य धो वा भवति । पिधं । पुधं । पिहं । पुहं । भिन्ने, प्रा० १ पाद ।

पुहई-पृथिवी-स्त्री० । " उद्दत्वादौ " ॥ ८ । १ । १३१ ॥ इति ऋत उत्वम् । प्रा० १ पाद । " पथि पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिकहरिद्रा-बिभीतकेष्वत् " ॥ ८ । १ । ८८ ॥ इतीतोऽत् । प्रा० १ पाद । आ० म० । पश्चिमदिग्रुचकवास्तव्यायां दिक्कुमार्याम्, आ० चू० १ अ० । ति० । आद्यानां त्रयाणां गणभृतां मातरि, आ० म० १ अ० । आ० चू० । तृतीयवासुदेवस्य मातरि च । स० । ति० । सुपार्श्वजिनमातरि, ति० ।

पुहत्त-पृथक्त्व-न० । विस्तारे,प्रज्ञा० १५ पद । पार्थक्ये,अनु० । बहुत्वे, भ० ५ श० ६ उ० । पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची । यदाह चूर्णिकृत्-'पुहु(ह)त्तशब्दो बहुत्ववाची ।' क० प्र० १ प्रक० । पृथक्त्वशब्दो बहुत्ववाची, बहुत्वं चेह पञ्चविंशतिरूपं द्रष्टव्यम् । सिद्धप्राभृतटीकायाम्, न० । ग्रन्थविभागेन वाले, आ० म० १ अ० । नैयायिकसंमते गुणभेदे, सम्म० । संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशादिदं पृथगित्युपादीयते तत् अपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वं नाम गुण इति काणादाः. घटाऽऽदिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्सुखाऽऽदिवदिति व्यवस्थिताः । अत्र तावद्धेतोरसिद्धता, परस्परस्वरूपव्यावृत्तरूपाऽऽदिव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पृथक्त्वगुणस्याध्यक्षे प्रतिभासनेन घटाऽऽदिविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वस्यासिद्धेः अत एवोपलक्षणप्राप्तत्वेनाभ्युपगतस्यानुपलम्भादसत्त्वम् । न च पृथगिति विकल्पप्रत्ययावसेयत्वेन तस्य सत्त्वं सजातीयविजातीयव्यावृत्तरूपाऽऽद्यनुभवनिबन्धनात् तस्य व्यावृत्तावभासतां स्वस्वभावव्यवस्थितेः, अन्यथा स्वतो व्यावृत्तरूपाणां

पृथक्त्वाऽऽदिवशात्तेषां पृथक्रूपतासिद्धेः पृथक्त्वाऽऽदेर्भिन्नाभिन्नपृथग्रूपताकरणे अकिञ्चित्करत्वात् भेदपक्षे संबन्धासिद्धेः, अभेदपक्षे तु पृथक्रूपस्य भावस्योत्पत्तेर्थान्तरभूतपृथक्त्वगुणकल्पनावैयर्थ्यात् तत एव पृथग्व्यवहारसिद्धेः हेतोरनैकान्तिकत्वम् । किं च । यथा—परस्परव्यावृत्ताऽऽत्मतया सुखदुःखाऽऽदिषु गुणेषु पृथगिति प्रत्ययविषयता, पृथक्त्वगुणाभावेऽपि गुणेषु गुणासम्भवात्, तथा घटाऽऽदिष्वपि भविष्यतीति अनैकान्तिकता परिस्फुटैव । न च गुणेषु पृथगिति प्रत्ययो भाक्तो, मुख्यप्रत्ययाविशिष्टत्वात्, पृथगिति अपोद्धारव्यवहारस्य स्वरूपविभिन्नपदार्थनिबन्धनत्वात् परोपन्यस्तानुमाने प्रतिज्ञाया, अनुमानबाधा । तथा च प्रयोगः-ये परस्परव्यावृत्ताऽऽत्मानस्ते व्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधाराः यथा सुखाऽऽदय परस्परव्यावृत्ताऽऽत्मानश्च घटाऽऽदयः स्वभावहेतुरेकस्यानेकवृत्त्यनुपपत्तिः, संबन्धाभावश्च समवायस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात् सुखाऽऽदिषु तद्व्यवहाराभावप्रसक्तिश्च विपर्यये बाधकं प्रमाणम् । तन्न पृथक्त्व गुण, तत्साधकप्रमाणाभावाद्बाधकोपपत्तेश्चेति व्यवस्थितम् । सम्म० ३ काण्ड। अनुयोगभेदे, स्था० १० ठा० । पृथक्त्वं भेदो द्विवचनबहुवचने इत्यर्थः । तदनुयोगो यथा-"धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायदेसे धम्मत्थिकायप्पदेसा ।" इह सूत्रे धर्मास्तिकायप्रदेशा इत्येतद्बहुवचनं तेषामसंख्यातत्वख्यापनार्थमिति । स्था० १० ठा० । पृथक्त्वम्-"एगो खिय" ( २२८३गाथा ) विशे० ।

पुहत्तभाव-पृथक्त्वाभाव-पुं० । प्रतिसूत्रमविभागेन चक्रमाणविभागाभावेन प्रवर्त्तने प्ररूपणे, विशे० ।

पुहत्तवियक्क-पृथक्त्ववितर्क-पुं० । पृथक्त्वेनैतद्द्रव्याऽऽश्रितानामुत्पादाऽऽदिपर्यायाणा भेदेन विकल्पे, ग० १ अधि० ।

पुहत्तवियक्कसवियार-पृथक्त्ववितर्कसविचार-न० । पृथग्भाव. पृथक्त्व नानात्वं, वितर्कः श्रुतज्ञानं द्वादशाङ्गं, विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः, व्यञ्जनमभिधानं, तद्विषयो यो मनोवाक्कायलक्षणो योगः, संक्रान्तिः परस्परतः परिवर्त्तनं, पृथक्त्वेन वितर्कस्यार्थव्यञ्जनयोगेषु सक्रान्तिर्विचारोऽस्मिन्नस्ति तत्पृथक्त्ववितर्कविचारम् । शुक्लध्यानभेदे, सम्म० । तथा ह्यसावुत्तमसंहननात् भावयति विजृम्भितपुरुषकारवीर्यसामर्थ्यः संहृताशेषचित्तव्याक्षेपः कर्मप्रकृतीः स्थित्यनुभागाऽऽदिभिर्ह्रासयन् महासंवरसामर्थ्यतो मोहनीयमचिन्त्यसामर्थ्यमशेषमुपशमयन् क्षपयन् वा द्रव्यपरमाणु भावपरमाणुं चैकमवलम्ब्य द्रव्यपर्यायार्थाद् व्यञ्जनं व्यञ्जनाद्वाऽर्थे योगाद् योगान्तरं व्यञ्जनाच्च व्यञ्जनान्तरं च सक्रामन् पृथक्त्ववितर्कसविचारम् । सम्म० ३ काण्ड । आव० । भ० । दर्श० ।

पुहत्तसद्द-पृथक्त्वशब्द-पुं० पृथक्त्वेनानेकत्वेन कोऽर्थो नानातूर्याऽऽदिद्रव्ययोगेन यः स्वरो यमलशङ्खाऽऽदिशब्दवत् स पृथक्त्व इति, स चासौ शब्दश्चेति । शब्दभेदे, स्था० १० ठा० ।

पुहत्ताणुओग-पृथक्त्वानुयोग-पुं० । आर्यवज्रस्वामिभिः पृथक्त्वेन स्थापितेऽनुयोगे, " तेणारेण पु(ह)हुत्त, कालिय सुयदिट्ठिवाए य । " ( २२८४ गाथा ) विशे० ।

पुहवी-पृथ्वी-स्त्री० । नन्वीतुल्यत्वात्संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उकार । प्रा० २ पाद । राज्ञः शातवाहनस्याग्रमहिष्याम्, व्य० ६ उ० । भूमौ च । " पच्चमसरमताओ, हवंति पुहवी ए । " अनु० । आचा० । ( अस्याः स्वरूप 'भूगोल' शब्दे )

पुहवीचंद-पृथ्वीचन्द्र-पुं० । अयोध्याराजहरिसिंहपुत्रे, ध०र० । तच्चरितं पुनरिदम्—

" अत्थिह पुरी अउज्झा, उज्झायसएहिँ भूसिया सययं ।
नयवंतपढमसीहो, नरनाहो तत्थ हरिसीहो ॥ १ ॥
नयणविलासविणिज्जिय-पउमा पउमावई पिया तस्स ।
पुत्तो पुहवीचंदो, चंदुज्जलभूरिजसपसरो ॥ २ ॥
सो मुणिदंसणघससरि-यपुव्वभवविहियबाळचारित्तो ।
उरगविसभोगिभोग,व्व कामभोगे चयइ दूरं ॥ ३ ॥
न कुणइ उब्भडवेसं, सिंगारगिरं न जंपइ कयावि ।
मित्तेहिँ वि न वि कीलइ, न दमइ दुद्दमकरितुरंगे ॥ ४ ॥
मायपिइभत्तिजुत्तो, मुणिपयभत्तो जिणच्चणुज्जुत्तो ।
परमत्थसत्थनिवहं, चिंतंतो चिट्ठइ सया वि ॥ ५ ॥
तयणु विचिंतइ राया, कह नाम इमो नरिंदसुयजुग्गे ।
भोगोवभोगमग्गे, लग्गिस्सइ मयणसमरूवो ॥ ६ ॥
नवजुव्वणपारंभे, स लहिज्जइ निवसुयाण जियलोए ।
सिंगारहारि चरियं, रिउविजओ उज्जमो धणियं ॥ ७ ॥
एस पुण मुणिवरो इव, सत्थविचिंतणपरो पसममणो ।
होही गम्मी उज्झिय-परक्कमो दुव्विणीयाण ॥ ८ ॥
ता जुत्तमिणं संपइ, कारेमि कलत्तसंगह एय ।
सयमेव तव्वसगओ, काही सव्वं पि ज भणियं ॥ ९ ॥
ता छेओ ता माणी, ता धम्मी ता वउज्जओ सोमो ।
जाव घरनडु व्व नरो, न भासिओ दढमहेलाहिं ॥ १० ॥
इय चिंतिय सप्पणयं, परिणयणत्थं निवो भणइ कुमरं ।
जणयाणुरोहओ सो, त पडिवज्जइ अकामो वि ॥ ११ ॥
तयणु कुमरेण समगं, महंतसामंतकुलपसूयाणं ।
अट्ठण्ह कन्नयाणं, पाणिग्गहणं कारावेइ ॥ १२ ॥
वज्जिरमंगलतूरे, वीवाहमहूसवे पयट्टंते ।
नच्चंतयम्मि तरुणी-जणम्मि लोए पहिट्ठमणे ॥ १३ ॥
पुहवीचंदकुमारो, निज्जियमारो विवेयगुणसारो ।
चिट्ठइ मज्झत्थमणो, अरत्तदुट्ठो जहा समणो ॥ १४ ॥
चिंतइ य अहह गहणं, मोहमहारायविलसियं एयं ।
जेण जणो वि नडिज्जइ, असुणियतत्तो मुहा एसो ॥ १५ ॥
गीय पलावप्पाय, देहपरिस्समकरं फुडं नट्टं ।
गुरुभाराऽलंकारा, भोगुवभोगा किलेसकरा ॥ १६ ॥
जणयाणं अहो मोहो. ज कइवयदिणकयम्मि संवासे ।
खिज्जंति मज्झ कज्जे, एवं अहनिविडनेहेण ॥ १७ ॥
रभागब्भ असारे, इह संसारे खणं पि न हु जुत्तं ।
रमिउं विन्नायजिण-दसमयनत्ताण सत्ताण ॥ १८ ॥
अहनिविडो निब्बंधो, अम्मापियराण इत्य वत्थुम्मि ।
मह विरह खणमवि न हु, सहंति गुरुनेहनडिया ते ॥ १९ ॥
पेमभरपरवसाओ, परिणीयाओ इमाउ बालाओ ।
मुच्छंतीओ संपइ, मोहा उ वहंति दुहियाओ ॥ २० ॥
मोही अन्नो वि जणो, निंदइ मं पव्वयंतमित्ताहे ।
तायाणुरोहओही, अहयं कह संकडे पडिओ ? ॥ २१ ॥
किं पि न विणट्ठमहवा, इण्हि पि इमा उ जइ विबोहेमि ।
लहुकम्मयाए विक्ख, कयावि सव्वा उ गिण्हंसि ॥ २२ ॥
जइ पव्वयामि अहयं, पियरो पडिबोहिउ जिणमयम्मि ।
तो सव्वेसिमिमेसिं, उभयरिय हुज्ज निच्छयओ ॥ २३ ॥
इय चिंतिय निव्वत्तिय-दिणकरणिज्जो पियाहिँ सह कुमरो ।

रहगेहगओ उचिय—ट्ठाणासीणो भणइ एवं ॥ २४ ॥
इह भोगा विसमिव मुह-महुरा परिणामदारुणविवागा ।
सिवनयरमहागोउर-निविडकवाडोवमा भोगा ॥ २५ ॥
भोगा सुतिक्खबहुदु-क्खलक्खदवहुयवहिंधणसमाणा ।
धम्मदुड्डुमउम्मूलखण-समीरलहरीसमा भोगा ॥ २६ ॥
किं च—
जं भुत्तमणाइभवे, जीवेणाहारभूसणाईयं ।
एगत्थ पुंजियं तं, अइरेइ धराधरं धरणिं ॥ २७ ॥
पीयाइँ जाइँ सुमणो-रमाइँ पाणाइँ पाणिणो पुव्विं ।
विज्जंति ताइ न हु तत्ति-याइ सलिलाइ जलहीसु ॥ २८ ॥
पुप्फाणि फलाणि दला-णि जाणि भुत्ताणि पाणिणा पुव्विं ।
विज्जंति न तिहुयणतरु-गणेसु किर वट्टमाणेसु ॥ २९ ॥
अवि य—
भुत्तूणं सुइसुंदरे सुरवहूसंदोहदेहाइए,
भोए सायरपल्लमाणमणहे देवत्तणे जं नरो ।
रज्जंतित्थिकलेवरेसु असुईपुण्णेसु रिट्ठोवमा,
मन्ने तित्तिकरा जियाण न चिरं भुत्ता वि भोगा तओ ॥३०॥
ता पडिवुज्झह वुज्झह, मा भोगपरव्वसं मणं काउं ।
दुत्तरअणोरभवजल-निहिम्मि परिभमह दुक्खत्ता ॥ ३१ ॥
इय सोउं कुमरवयणं, ताउ पवुद्धाउ निवइधूयाओ ।
विसयविरत्तमणाओ, कयंजलीओ भणंति इमं ॥ ३२ ॥
सामिय ! अवितहमेयं, जं तुमए जंपियं परं कहसु ।
को परिहरणोवाओ, विसयाण कहेइ तो कुमरो ॥ ३३ ॥
सुहगुरुगिराइ अकलं-कचरणआसेवणं तओ जाओ ।
पभणंति सामि ! अम्हे, दिक्खाए लहुवि सज्जेसु ॥ ३४ ॥
तुह घरिणीसद्देणं, वयं कयत्था उ अज्ज जायाओ ।
संपइ पुण गिहवासे, न खणं पि रइं लहेमु त्ति ॥ ३५ ॥
तुट्ठो भणइ कुमारो, जुत्तमिणं तुम्ह य विवेयाणं ।
किं तु समाहिजुयाओ, गुरुआगमणं पडिक्खेह ॥ ३६ ॥
समए वयमवि एवं, कहामो ताउ जं पवज्जंति ।
परियणमुहाउ एयं, हरिसीहनिवेण विन्नायं ॥ ३७ ॥
तो तेण चिंतियमिणं, वसीकओ नेव एस महिलाहिं ।
नवरं इमिणा चरणु ज्जुयाउ एयाउ विहियाओ ॥ ३८ ॥
तो ससिणेहं पभणिय, इमं निउंजेमि रज्जदंडम्मि ।
जं तव्वाउलयाए, वीसारइ धम्मवत्तं पि ॥ ३९ ॥
इय निच्छिय तेणुत्तो, कुमारो बहुरज्जगहणविसयम्मि ।
पडिकूलिउमचयंतो, पिउवयणं सो सुदक्खिन्नो ॥ ४० ॥
चिंतइ अहो विरुद्धं, रज्जग्गहणं तवुज्जुयमईणं ।
सागरगमणमणाणं, हिमवंताभिमुहगमणं व ॥ ४१ ॥
निव्वंधो पुण पिउणो, लक्खिज्जइ गुरुतरो इहऽत्थम्मि ।
दुप्पडियारा गुरुणो, न लंघियव्वा सयन्नेहिं ॥ ४२ ॥
संभाविज्जइ पच्छा, वि पत्थणा एरिसी किर इमस्स ।
धम्मायरियाऽऽगमणं, पडिक्खियव्वं मए वि धुवं ॥ ४३ ॥
ता परमपीइपउणं, पिउणो वयणं करेमि अहमिण्हिं ।
इय चिंतिय पडिवज्जइ, कुमरो निवसासणं सिरसा ॥ ४४ ॥
तो पुहविचंदकुमरं, असेससामंतमंतिसंजुत्तो ।
अभिसिंचिय रज्जभरे, कयकिच्चो नरवई जाओ ॥ ४५ ॥
नरराया पुण तीए रायसिरीए न रंजिओ किं पि ।
कुणइ तहा वि पवित्तिं, उचियं जणयाणुरोहेणं ॥ ४६ ॥
रज्ज वसणविरहियं, विहिय मुक्काउ सयलगुत्तीओ ।
घुट्ठी य अमोघाओ, सयले नियमंडले तेण ॥ ४७ ॥
पायं अओ वि जणो, विहिओ जिणसासणम्मि अइभत्तो ।
सच्चं च वयणमेयं, जह राया तह पया होइ ॥ ४८ ॥
कइया वि सभाऽऽसीणो,स विन्नत्तो पभणिओ जहा देव!।
तुह दंसणं समीहइ, देसंतरवाणिओ सुधणो ॥ ४९ ॥
मुंचसु इय निवभणिए, सो मुक्को विन्नत्तो तओ सुधणो ।
नमिऊण पुहइनाहं, उचियट्ठाणम्मि आसीणो ॥ ५० ॥
रन्ना भणियं भो सि-ट्ठि ! कहसु कत्तो समागओऽसि इहं? ।
भमिरेण महिं कत्थ वि, किं दिट्ठं अच्छरिज्जं च ? ॥ ५१ ॥
सिट्ठी वि आह सामिय !,गयपुरनगराउ आगओऽम्हि इहं ।
भुवणजणविम्हयकरं,अच्छरियं पुण इमं दिट्ठं ॥ ५२ ॥
तथाहि—
आसिह गयपुरनयरे, बहुरयणो रयणसंचओ सिट्ठी ।
भज्जा सुमंगला से, पुत्तो गुणसायरो नाम ॥ ५३ ॥
अह रयणसंचएणं,पसरियनवजुव्वणस्स तस्स कए ।
अट्ठण्ह नयरसिट्ठी-ण अट्ठ धूयाउ वरियाओ ॥ ५४ ॥
अन्नदिणे ओलोयण-ट्ठिएण गुणसायरेण रायपहे ।
भिक्खट्ठं पुरमज्झे, पविसंतो मुणिवरो दिट्ठो ॥ ५५ ॥
कत्थ वि एरिसरूवं, पुरा वि मे पिच्छियं ति चिंतंतो ।
परिपालियचरणभरं, पुव्वभवं संभरइ सो उ ॥ ५६ ॥
अइनिव्वंधेण तओ, वयगहणकए स पुच्छए पिउणो ।
रुयमाणी दीणमणा, से जणणी भणइ तो एयं ॥ ५७ ॥
जइ वि तुह वच्छ ! चित्तं,खणं पि न रइं गिहे कुणइ तह वि ।
नवपरिणीयनियमुहइं-सणेण रंजेसु ते हिययं ॥ ५८ ॥
तयणुव्वयगहणविसए, तहंऽतरायं न किं पि काहामो ।
इय जणणीए वयणं, तह त्ति पडिवज्जए सो वि ॥ ५९ ॥
वेवाहियसिट्ठीणं, कहावियं रयणसंचएण इमं ।
परिणयणाणंतरमे-व मह सुओ गिण्हही दिक्खं ॥ ६० ॥
तं सोउं ते वाउल-हियया मंतंति किं पि ता धूया ।
जंपंति किमिह ताया !, कन्ना दिज्जंति वारदुगं ॥ ६१ ॥
सो च्चिय भत्ता जं सो,करिस्सए तं वयं पि काहामो ।
तेणं च अपरिणीया, न करिस्सामो वरं अवरं ॥ ६२ ॥
इय सोउं पुत्तिवयणं, ते सव्वे सिट्ठिणो पहिट्ठमणा ।
गुणसायरेण कारं-ति पाणिगहणं नियसुयाणं ॥ ६३ ॥
गिज्जंतबहुलधवले, वीवाहमहे पयट्टमाणम्मि ।
कयमयलजणक्खेवे, पुरओ नट्टम्मि वट्टंते ॥ ६४ ॥
गुणसायरो वि नासा-निहियच्छो रुद्धइंदियवियारो ।
चिंतइ एगग्गमणो, समणो होहं सुए अहयं ॥ ६५ ॥
एवं तवं करिस्सं, एवं इ गुरूण विणयमरं ।
इय संजमे जइस्सं, इय झाइस्सं सुहज्झाणं ॥ ६६ ॥
इय चिंतंतो निहुय, सुमरंतो पुव्वभवसुयरहस्स ।
उल्लसियसियज्झाणो, संपत्तो केवलं नाणं ॥ ६७ ॥
ताओ वि नववहूओ, तह निच्चललोयणं तमेगग्गं ।
पेहंति पहिट्ठाओ, लज्जामुउलियनयणाओ ॥ ६८ ॥
चिंतंति अहो धन्नो,उवसमलच्छीइ रजिओ धणियं ॥
अम्हासु कहं रज्जइ, सज्जो सावज्जभरियासु ॥ ६९ ॥
वयमवि सुपुन्नपुन्ना, जं लद्धो एस सुगुणधणअहो ।
सिवनयरसत्थवाहो, भवरन्नविलंघणसमत्थो ॥ ७० ॥
एयाणुमग्गलग्गा, सम्मं धम्मं सुनिम्मलं चरिउं ।
काहामो भूरिभवु-ब्भवाण दुक्खाण वुच्छेयं ॥ ७१ ॥

एवं विचिंतिरीओ, अणुमोयंतीउ सुद्धभावाओ ।
पत्ताउ केवलसिरिं, खणेण ताओ वि सव्वाओ ॥ ७२ ॥
तव्वेलं चिय जयरव-विमिस्सपडुपडहसद्दभरियगहं ।
चीलंतकणकुंडल-सुरमंडलमागयं तत्थ ॥ ७३ ॥
पडिवन्नदव्वलिंगं, तं मुणिपवरं नमेइ सुरसंघो ।
केवलमहिमं परमं, करेइ हरिसं सुपडिपुन्नो ॥ ७४
दट्ठूण तं च चित्तं, सुमंगला रयणसंचओ सिट्ठी ।
गुरुसंवेगोवगओ, संपत्तो झत्ति वरनाणं ॥ ७५ ॥
इय पिच्छिवि अच्छरियं, राया सिरिमेहरो सपरियारो ।
पत्तो तहिं वि पणमिय, सुमुणि पुरओ समासीणो ॥ ७६ ॥
अहयं पि पुव्वपेसिय-वरवाहणजाणपरियणो देव ! ।
इह आगंतुमणो वि हु, पत्तो कोऊहलेण तहिं ॥ ७७ ॥
नियचरियकहणपुव्वं, तेणुत्तोऽहं जहा तुमं सुधण ! ।
उज्झाए गंतुमणो, पत्तो पुण कोउगेण इह ॥ ७८ ॥

तथाहि—

दूर पत्तो सत्थो, पुणरवि सुलहइ न एरिसं पुन्न ।
इय चिंतावाउलिओ, न तरसि गंतुं न वा ठाउं ॥ ७९ ॥
ता किंचियमित्तमिणं, चित्तं इहरि क्खिवइ ( पुणो ) ज ते ।
इच्छसि इत्तो अब्भा-हियमुभयं तत्थ संपत्तो ॥ ८० ॥
इय सम्म आयन्निय, नमिय गुरुं इह समागओऽम्हि कमा ।
सपइ अच्छरियकर, पहु ! तुह पासं समणुपत्तो ॥ ८१ ॥
इय निसुणंतो गुरुतर-गुणाणुरागाइरेगओ राया ।
आणंदमुह्वियमणो, चिंतिउमेवं समारद्धो ॥ ८२ ॥
सव्वगुणसायरो सो, महाणुभावो महामुणी जेण ।
तह साहिय सकज्जं, निज्जियमोहाणुबंधेण ॥ ८३ ॥
धन्नाणं भजियमो-हनिविडनिगडाण भोगसामग्गी ।
न तरइ काउ धम्मे-तरायमच्चंततुंगा वि ॥ ८४ ॥
हा कह जाणतु च्चिय, पडिओऽहं रज्जकूडजनम्मि ।
गुरुजणदक्खिन्नवसा-वभारसामन्नदंति व्व ॥ ८५ ॥
कइया सहेलपरिमु-क्कसयलभोगोवभोगजोगाणं ।
धम्मधराण मुणीणं, मज्झे गणण लहिस्सामि ॥ ८६ ॥
कइया गुरुपयपणओ, नाणचरित्ताण भायणं होइ ।
कइया सम्मं सहिहं उवसग्गं परिसहुप्पीलं ॥ ८७ ॥
इच्चाइ चिंतयंतो, अपुव्वकरणक्कमेण स महप्पा ।
सिवपयगमनिस्सेणिं, खवगस्सेणिं समारूढो ॥ ८८ ॥
सियझाणघणेण खणे-ण तेण घणघाइकम्मसंघाय ।
संचुण्णिऊण संप-त्तमुत्तम केवलं नाण ॥ ८९ ॥
अह तत्थ सुहम्मवई, पत्तो अप्पितु दव्वलिंग से ।
पणमित्तु चलणजुयलं, केवलिमहिमं करेसी य ॥ ९० ॥
तं दट्ठु हरिसीहो, राया पउमावई ( य ) सह तत्थ ।
सपत्तो जपंतो, अहो किमेय किमेयं ति ॥ ९१ ॥
ताओ वि तस्स भज्जा-उ तत्थ हरिसेण आगया उ लहुं ।
संवेगपरिगयाओ, केवलनाणं च पत्ताओ ॥ ९२ ॥
२४ त गुणसायर-केवलिकहिय महतमच्छेर ।
सो सुधणसत्थवाहो, विम्हियचित्तो विचिंतेइ ॥ ९३ ॥
अह पुच्छइ नरनाहो, भयवं ! किं तुम्ह उवरि अम्हाण ।
अइगुरुओ पडिबंधो, तो इय जंपइ समणसीहो ॥ ९४ ॥
तं निव ! चंपाइ पुरा, जयराया पियमई पिआ हुत्था ।
कुसुमाउहु त्ति नामे-ण नंदणो तुज्झ अहमासि ॥ ९५ ॥
संजमगुणेण तुम्मे, विजयविमाणे सुरा समुप्पन्ना ।
अहयं पुण सव्वट्ठे, संजोगो पुण इह जाओ ॥ ९६ ॥
तो मज्झ उवरि गुरुओ, नेहो तुम्हाण इय सुणंताण ।
ताणं जाय जाई-सरणं तह केवलं नाण ॥ ९७ ॥
तेसिं पि कया महिमा, सुरवइणा भत्तिभारनमिरेण ।
जाओ परमाणंदो, नयरीए अखिलजणपुज्जो ॥ ९८ ॥
अह सुधणसत्थवाहो, मुणीसर नमिय पुच्छए एवं ।
तुम्ह गुणसायरस्स य, ममाणगुणया कहमिवेसा ! ॥ ९९ ॥
साहइ तओ मुणिंदो,पुव्वभवे एस कुसुमकेउ त्ति ।
मह नंदणो अहेसी, वयं गहेसी मए सद्धिं ॥ १०० ॥
मम समणुचिन्नधम्मो, तणुइयकम्मोऽणुभूयसुरजम्मो ।
सो कुसुमकेउतियसो, सुंदरगुणसायरो जाओ ॥ १०१ ॥
पुन्नं सुहाणुबंधं, समपरिणामेण पुट्ठमम्हेहिं ।
समसुह परपराए, परिणयमेवं तओ अम्हे । १०२ ॥
एयाओ वि बहुओऽ-णंतरभवमारियाउ दुण्ह पि ।
कयसंजमाउऽणुत्तर-सुरेसु वसिऊण सुहजोगा ॥ १०३ ॥
जायाओ जायाओ, एवं भवियव्वयानिओगेण ।
संपत्ताओ केवलि-सिरिं च सामग्गिजोगेण ॥ १०४ ॥
इय सोउ पडिबुद्धो, सुधणो वि सुभावयत्तमणुपत्तो ।
अन्नो वि बहु लोगो, सुचरियचरणुज्जुओ जाओ ॥ १०५ ॥
हरिणा हरिसीहसुओ, ठविओ रज्जम्मि तयणु हरिसेणो ।
पुहईचंदरिसी वि हु, सुचिरं विहरिय सिवं पत्तो ॥ १०६ ॥
पृथ्वीचन्द्रक्षितिपचरितं संनिशम्येति सम्यक्,
तातभ्रातृस्वजनदयितामुख्यलोकोपरोधात् ।
दीक्षाऽऽदानप्रगुणमतयो गेहवासेऽपि सन्तो,
भव्या-लोकास्त्यजत सततं कामभोगेषु शक्तिम् ॥ १०७ ॥
इति पृथ्वीचन्द्रनरेन्द्रकथा । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० ।

पुहवीचल-पृथिवीचल-पुं० । अनङ्गमञ्जरीपितरि स्वनामख्याते नरनाथे, दर्श० ३ तत्त्व । सोपारकपट्टनराजे अट्टनमल्लप्रेक्षके, आव० ४ अ० ।

पुहवीस--पृथ्वीश-पुं० । राजनि, "न युवर्णस्यास्वे" ॥ ८ । १ । ६ ॥ इति सन्धिनिषेधे अस्वे इति पर्युदासात्-पुहवीसो । प्रा० १ पाद ।

पुहुत्त-पृथुत्व-न० । विस्तारे, स्था० ४ ठा० २ उ० । समयपरिभाषया द्विप्रभृतावानवतौ, विशे० । भेदे द्विवचनबहुवचनयोः तदनुयोगोऽपि तथा, यथा-" धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायद्देसे धम्मत्थिकायप्पदेसा ।" इह सूत्रे धर्मास्तिकायप्रदेशा इत्येतद् बहुवचन तेषामसंख्यातत्वख्यापनार्थमिति । स्था० १० ठा० ।

पूअ--देशी-दधनि, दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा ।

पूइ-पूति-स्त्री० । नासाकोथलक्षणे रोगविशेषे, ( २०८ गाथा ) विशे० । दुर्गन्धतायाम्, अनु० । मांसाऽऽदौ, आव० ५ अ० । वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

पूइकड-पूतिकृत-न० । आधाकर्माऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

पूइकण्णी-पूतिकर्णी-स्त्री० । पूतिपरिपाकत, कुथितगन्धा कृमिकुलाऽऽकुलत्वादुपलक्षणमेतत् तथाविधौ कर्णौ-श्रुती यस्याः । पक्वरक्तं वा पूतिः तयाऽऽत्तौ कर्णौ यस्याः सा पूतिक-

र्णी । उत्त० १ अ० । सटितकर्णयोम्, उत्त० । 'जहा सुणी पूइकण्णी ' उत्त० १ अ० ।

पूइकम्म-पूतिकर्मन्-न० । पूति-अपवित्रं तस्य कर्म, पवित्रस्य सतोऽपवित्रभक्ताऽऽदिमीलनेन करणं पूतिकर्म, तद्योगाद् भक्ताऽऽद्यपि पूतिकर्म । पञ्चा० १३ विव० । सम्भाव्यमानाऽऽधाकर्मावयवसम्मिश्रे, दश० ५ अ० १ उ० । आधाकर्माऽऽद्यविशुद्धकोट्यवयवेनाऽपि संपृक्ते, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ग० । यथा शुचिः पयोघटोऽपि एकेन मद्यबिन्दुनाऽशुचिः स्यात्, तथा पूतिकर्मणा विशुद्धाऽऽहारमपि आधाकर्मिकयोगात् पूतिकं स्यात् । अयं तृतीयो दोषः । उत्त० २४ अ० । आचा० । पं० चू० । ध० । ग० । दर्श० । पं० व० । वृ० ।

सम्प्रति पूतिद्वारं वक्तव्यम् । पूतिश्चतुर्विधा । तद्यथा-नामपूतिः स्थापनापूतिर्द्रव्यपूतिर्भावपूतिश्च । तत्र नामस्थापने सुज्ञानत्वादनादृत्य द्रव्यभावपूती प्रतिपादयति—

पूईकम्मं दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
दव्वम्मि छगणधम्मिय, भावम्मि य बायरं सुहुमं ॥२४३॥

' पूतिकम्मे ' पूतीकरणं द्विधा । तद्यथा—' द्रव्ये ' द्रव्यविषयं ' भावे ' भावविषयं, तत्र द्रव्ये 'छगणधार्मिकः' गोमयोपलक्षितो धार्मिको दृष्टान्त. । भावविषयं पुनर्द्विधा-बादरं, सूक्ष्मं च । इह यद् द्रव्यस्य पूतिकरणं तद् द्रव्यपूतिः, येन पुनर्द्रव्येण भावस्य पूतिकरणं तद् द्रव्यमप्युपचाराद् भावपूतिः, ततो वक्ष्यमाणमुपकरणाऽऽदि भावपूतित्वेनाऽभिधीयमानं न विरुध्यते ।

तत्र प्रथमतो द्रव्यपूतिलक्षणमाह—

गंधाइगुणसमिद्धं, जं दव्वं असुइगंधदव्वजुयं ।
पूइ त्ति परिहरिज्जइ, तं जाणसु दव्वपूइ त्ति ॥ २४४ ॥

इह यत् पूर्वं स्वरूपतो ' गन्धाऽऽदिगुणविशिष्टं ' सुरभिगन्धाऽऽदिगुणविशिष्टमपि, अपिरत्र सामर्थ्याद्गम्यते, पश्चादशुचिगन्धद्रव्ययुक्तं सत् पूतिरिति परिह्रियते, तद् द्रव्यं जानीहि द्रव्यपूतिरिति ।

अत्रार्थे गाथाद्वयेनोदाहरणमाह—

गोट्ठिनिउत्तो धम्मी, सहाऍ आसन्नगोट्ठिभत्ताए ।
समियसुरवल्लमीसं, अजिन्न सन्ना महिसिपोहो ॥२४५॥
संजायलित्तभत्ते, गोट्ठिगगंधो त्ति वल्लनखियाओ ।
उक्खणिय अन्न छगणे-ण लिंपणं दव्वपूई उ ॥२४६॥

समिल्लं नाम पुरं, तत्र बहिरुद्याने सभाकलितदेवकुलिकायां माणिभद्रो नाम यक्ष., अन्यदा च तस्मिन् पुरे शीतलकाभिधमशिवमुपतस्थे, तत कैश्चित्तस्य यक्षस्योपयाचितकमिदं यद्यस्मादशिवाद्वयं निस्तरामस्ततस्तवैकं वर्षमष्टम्याऽऽदिषूद्यापनिकां करिष्यामः, ततो निस्तीर्णाः कथमपि तस्मादशिवात्, आतश्च तेषां चेतसि चमत्कारो यथा नूनमयं स प्रातिहार्यो यक्ष इति । ततो देवशर्माभिधो भाटकप्रदानेन पूजाकारको ब्रमणे, यथा वर्षमेकं यावदष्टम्यादिषु प्रातरेव यक्षसभां गोमयेनोपलिम्पेः, येन तत्र पवित्रीभूतायां वयमागत्योद्यापनिकां कुर्म., तथैव तेन प्रतिपन्नं, ततः कदाचित् द्वयोद्यापनिका भविष्यतीति कृत्वा सभोपलेपनार्थमनुद्गत एव सूर्ये कस्याऽपि कुटुम्बिनो गोपाटके छगणग्रहणाय प्रविवेश,



तत्र च केनाऽपि कर्मकरेण रात्रौ मण्डकवल्लसुराऽऽद्यभ्यवहारतो जाताऽजीर्णेन पश्चिमरात्रिभागे तस्मिन्नेव गोपाटके क्वचित्प्रदेशे दुर्गन्धमजीर्णं पुरीषं व्युदसर्जि, तस्य चोपरि कथमपि महिषी समागत्य छगणपोहं मुक्तवती, ततस्तेन स्थगितं तदजीर्णं पुरीषं देवशर्मणा न ज्ञातमिति, देवशर्मा तं छगणपोहं सकलमपि तथैव गृहीत्वा तेन सभामुपलिप्तवान्, उद्यापनिकाकारिणश्च जना नानाविधमोदनाऽऽदिकं भोजनमानीय यावद् भोजनार्थं तत्रोपविशन्ति, तावत्तेषामतीव दुरभिगन्धः समायातः, ततः पृष्टो देवशर्मा, यथा कुतोऽयमशुचिगन्धः समायाति ? इति । तेनोक्तं न जाने, ततस्तैः सम्यक् परिभावयद्भिरुपलेपनमध्ये वल्लाऽऽद्यवयवा दृष्टिशिरे सुरागन्धश्च निर्ज्ञातः, ततो ज्ञातं यदुपलेपनमध्ये पुरीषमवतिष्ठते इति, तत सर्वं भोजनमशुचीतिकृत्वा परित्यक्तम्, उपलेपनं च समूलमुत्खातम्, अन्येन च गोमयेन सभोपलेपिता, भोजनाऽऽदिकं चान्यत् पक्त्वा भुक्तमिति । सूत्रं सुगमं, नवरं धर्मी धार्मिकः ( ' समिय ' त्ति ) मण्डका. ' सन्ना ' पुरीषम्, अत्र यदुपलेपनं, यच्च तत्र न्यस्तं भोजनाऽऽदिकं, तत्सर्वं द्रव्यपूतिः । उक्ता द्रव्यपूतिः ।

अथ भावपूतिमाह—

उग्गमकोडीअवयव-मित्तेण वि मीसियं सुसुद्धं पि ।
सुद्धं पि कुणइ चरणं, पूइं तं भावओ पूई ॥ २४७ ॥

'उद्गमस्य' उद्गमदोषजालस्य याः कोटयोऽंशाः विभागा आधाकर्माऽऽदिरूपा भेदा इत्यर्थः । ताश्च द्विधा-विशोधयोऽविशोध्यश्च । तत्रेहाविशोधयो ग्राह्याः, तासामविशोधिरूपाणामुद्गमकोटीनामवयवमात्रेणापि मिश्रितमशनाऽऽदिकं स्वरूपतः ' सुशुद्धमपि ' उद्गमाऽऽदिदोषरहितमपि सत् यद् भुज्यमानं चरणं ' शुद्धमपि ' निरतिचारमपि पूतिं करोति, तदशनाऽऽदिकं भावपूति. । ' उग्गमकोडी ' इत्युक्तम् ।

ततस्ता एवोद्गमकोटीरभिधित्सुराह—

आहाकम्मुद्देसिय, मीसं तह बायरा य पाहुडिया ।
पूई अज्झोयरओ, उग्गमकोडी भवे एसा ॥ २४८ ॥

आधाकर्म सकलं तथा औद्देशिकं यावदर्थिकं मुक्त्वा शेषं कर्मौद्देशिकं ' मिश्रं ' पाखण्डिसाधुमिश्रजातं बादरा च प्राभृतिका ' पूति ' भावपूति. अध्यवपूरकश्चोत्तरभेदद्वयाऽऽत्मकः, एषा भवति उद्गमकोटिरविशोधिकोटिरूपा ।

तदेवं भावपूतिं स्वरूपत उपदर्श्य सम्प्रति भेदत आह—

बायरसुहुमं भावे, उ पूइयं सुहुममुवरि वोच्छामि ।
उवगरणे भत्तपाणे, दुविहं पुण बायरं पूइं ॥ २४९ ॥

'भावे ' भावविषया पूतिर्द्विविधा । तद्यथा-बादरा, सूक्ष्मा च । सूत्रे च नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तत्र सूक्ष्मां भावपूतिमुपरि वक्ष्ये । बादरा पुनर्द्विधा । तद्यथा—' उपकरणे ' उपकरणविषया, ' भक्तपाने ' भक्तपानविषया ।

तत्र भक्तपानपूतिं सामान्यतो व्याचिख्यासुराह—

चुल्लुक्खलिया डोए, दव्वी छूढे य मीसगं पूइ ।
डाए लोणे हिंगू, संकामण फोडणे धूमे ॥ २५० ॥

'चुल्ली ' प्रतीता, ' उखा ' स्थाली, ' डोयः ' बृहद्दारुहस्तकः, महांश्चट्टुक इत्यर्थः, ' दर्वी ' लघीयान् दारुहस्तकः, प-

तानि च सर्वाण्याधाकर्माऽऽदिरूपाणि द्रष्टव्यानि, सर्वत्रापि च तृतीयार्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थ —एतैः सम्मिश्र शुद्धमपि यदशनाऽऽदि तत् पूति ,तत्र चुल्ल्युखाभ्यां मिश्रिताभ्यां कृत्वा रन्धनेन। यद्वा—तत्र स्थापनेन, तथा 'डायं' शाकांलवणं हिङ्गु च प्रतीतम्, एतैराधाकर्मिकैः सम्मिश्रं पूतिः । तथा संक्रामणस्फोटनधूमैः ' इति, तत्र संक्रामणम्—आधाकर्म भक्ताऽऽदिखरण्टिते स्थाल्यादौ शुद्धस्याशनाऽऽदेः पचन मोचनं वा,यद्वा-दारुहस्तेनाऽऽधाकर्मणाऽन्यत्र स्थाल्यां सञ्चारणं, स्फोटनम्-आधाकर्मणा राजिकाऽऽदिना संस्कारकरणं,धूमः हिङ्ग्वादिसत्को वघारः ।

एतामेव गाथा व्याचिख्यासुः प्रथमत उपकरणशब्दं व्याख्यानयति—

सिज्झंतस्सुवयारं, दिज्जंतस्स व करेइ जं दव्वं ।
तं उवकरण चुल्ली, उक्खा दव्वी य डोयाई ॥ २५१ ॥

( पिं० ) (अस्या. व्याख्या ' उवगरण ' शब्दे २ द्वितीयभागे ८७७ पृष्ठे गता । )

तत्र चुल्ल्युखयो' स्थितमशनाऽऽदिकमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

चुल्लुक्खा कम्माई, आइमभंगेसु तीसु वि अकप्पं ।
पडिकुट्ठं तत्थऽत्थ, अन्नत्थगयं अणुन्नायं ॥ २५२ ॥

इह चुल्ल्युखे कदाचिद् द्वे अप्याधाकर्मिके आधाकर्मिककर्दमसम्मिश्रे वा भवेतां, कदाचिदेकतरा काचित् , तत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तद्यथा—चुल्ली आधाकर्मिकी उखा च १, चुल्ली आधाकर्मिकी नोखा २, उखा आधाकर्मिकी न चुल्ली ३, नोखा आधाकर्मिकी नापि चुल्ली ४ । तत्राऽऽदिमेषु त्रिष्वपि भङ्गेषु रन्धनेनावस्थानमात्रेण वा स्थितमकल्प्यं पूतिदोषात् । अकल्प्यस्यापि तस्य विषयविभागेन कल्प्यतामकल्प्यता चाऽऽह-'तत्र' चुल्ल्यादौ रन्धनेनान्यतो वाऽऽनीय स्थापनेन स्थितं सत् 'प्रतिकुष्ट' निराकृतम्, अन्यत्र गतं पुनस्तदेवानुज्ञातं तीर्थकराऽऽदिभि. । इयमत्र भावना- यदि तत्र राद्धम्, अथवा—अन्यत समानीय स्थापित ततो यदि तदेवान्यत्र स्वयोगेन नीतं भवति न साध्वर्थं तर्हि कल्पते ।

तदेवं चुल्ल्युखास्थितस्य कल्प्याकल्प्यविधिमुपदर्श्य, सम्प्रति चुल्ल्याद्युपकरणानां पूतिभावं दिदर्शयिषु. " चुल्लुक्खलिया डोए"(२५०) इति पूर्वोक्तगाथाऽवयवं व्याख्यानयति—

कम्मियकद्दममिस्सा, चुल्ली उक्खा य फड्डगजुया उ ।
उवगरणपूइमेय, डोए दंडे व एगयरे ॥ २५३ ॥

आधाकर्मिकेन कर्दमेन या मिश्रा । किमुक्तं भवति ?-कियता शुद्धेन कियता चाऽऽधाकर्मिकेण या निष्पादिता चुल्ली उखा च सा आधाकर्मिककर्दममिश्रा, कथम् ? इति, आह-( फड्डगजुया उ त्ति ) अत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः—यतः फड्ड(के)गेन आधाकर्मिकेन कर्दमखूत्रकेन युता तत आधाकर्मिककर्दममिश्रा, सा इत्थंभूता उपकरणपूतिः,तथा ' डोए ' इति । एकदेशे समुदायशब्दोपचारात् ' डोय ' इत्युक्ते डोयस्याग्रभागो गृह्यते, तस्मिन् , यद्वा—दण्डे एकतरस्मिन्नाधाकर्मणि स दारुहस्तक' पूतिर्भवति , एवमनया दिशा अन्यस्याप्युपकरणस्य पूतित्वं भावनीयं, तत्र चुल्ल्युखाविषये कल्प्याकल्प्यविधिरनन्तरमेवोक्तो दारुहस्तके चाऽऽधाकर्मणि पूतिरूपे वा स्वयोगेन स्थाल्या बहिष्कृते स्थाल्यां स्थितमशनाऽऽदि कल्पते, न तु तेन सम्मिश्रमिति ।

' सम्प्रति ' " दव्वी छूढे य " इति व्याचिख्यासुराह—

दव्वीछूढे त्ति जं वुत्तं, कम्मदव्वीएँ जं दए ।
कम्मं वट्टिय सुद्धं तु, घट्टए हारपूइयं ॥ २५४ ॥

'दव्वी छूढं'(२५०) इति यद् प्रागुक्त तस्यायमर्थः-'कर्मदर्व्या, आधाकर्मिकदर्व्या यत् शुद्धमप्यशनाऽऽदिक घट्टयित्वा ददाति तद् ' आहारपूति' ' भक्तपूतिः । सा चेद्दर्वी स्थाल्या' सकाशान्निष्काशिता तर्हि स्थाल्याः सत्कं कल्पते, यद्वा' मा भूदाधाकर्मिकी दर्वी, केवलं शुद्धयाऽपि दर्व्या यदि पूर्वमाधाकर्मिकं ' घट्टयित्वा ' चालयित्वा पश्चादाधाकर्मावयवखरण्टितया यदपर शुद्धमपि भक्ताऽऽदिकं घट्टयति, घट्टयित्वा च ददाति तदप्याहारपूति. । अस्या च दर्व्या स्थाल्या निष्काशितायामपि पाश्चात्यं स्थालीभक्तं न कल्पते, आधाकर्मावयवमिश्रितत्वात् ।

" डाए "( २५० गा० ) इत्याद्युत्तरार्द्धं व्याचिख्यासुराह-

अत्तट्ठिय आयाणे, डायं लोणं च कम्म हिंगुं वा ।
तं भत्तपाणपूई, फोडण अन्नं व जं छुहइ ॥ २५५ ॥
संकामेउं कम्मं, सिद्धं जं किंचि तत्थ छूढं वा ।
अंगारधूमि थाली, वेसण हेट्ठा मुणिहि धूमो ॥ २५६ ॥

आत्मार्थम् ' आदाने' तक्राऽऽदिपाकारऽऽम्भकरणरूपे सति यदाधाकर्मिकं ' डायं ' शाक. यदि वा-लवणं, यद्वा-हिङ्गु, अन्यथा स्फोटनं राजिकाजीरकाऽऽदि तत् तक्राऽऽदिकं तेन सम्मिश्रं भक्तपानपूति । एतेन " डाए लोणे हिंगू फोडणं" इति व्याख्यातम् । तथा यस्या स्थाल्यां राद्धमाधाकर्म तदन्यत्र संक्रमय्य प्रतिक्षिप्य तस्यामेव स्थाल्यामकृतकल्पत्रयाया यदात्मार्थं सिद्ध किञ्चित् , यद्वा—तत्र प्रक्षिप्त तदपि भक्तपानपूति., अनेन " संकमणं, " ति व्याख्यातं. तथा ' अङ्गारेषु ' निर्धूमाग्निरूपेषु ' वेसने ' वेसनग्रहणमुपलक्षणम् . तेन वेसनहिङ्गुजीरकाऽऽदौ प्रक्षिप्ते सति यो धूम उच्छलति स वेसनाङ्गारधूम इति ज्ञातव्य , पूर्वगाथाया धूम इत्यस्य पदस्यायमर्थो भावनीय इत्यर्थः वेसन शब्दस्य च व्यस्तः सम्बन्ध आर्षत्वात् , अङ्गाराऽऽदीना च मध्ये एकं द्वे त्रीणि वाऽऽधाकर्मिकाणि द्रष्टव्यानि, अनेन च धूमेन या व्याप्ता स्थाली तक्राऽऽदिकं वा तदपि पूतिः। उक्ता बादरपूति. ।

अथ सूक्ष्मपूतिमाह—

इंधणधूमेगंधे-अवयवमाईहिँ सुहुमपूई उ ।
सुंदरमेय पूई, चोयग भणिए गुरू भणइ ॥ २५७ ॥

अत्रैकारद्वयस्य छन्दोऽर्थत्वादादिशब्दस्य व्यत्ययान्मकारस्य चालाक्षणिकत्वादेवं निर्देशो द्रष्टव्यः-'इन्धनधूमगन्धाऽऽद्यवयवै., इति, इन्धनग्रहणं चोपलक्षण.ततोऽङ्गारा अपि गृह्यन्ते, आदिशब्देन च बाष्पपरिग्रह. । ततोऽयमर्थः-इन्धनाङ्गाराऽवयवधूमगन्धबाष्पैराधाकर्मसम्बन्धिभि सम्मिश्रं यत् शुद्धमशनाऽऽदिकं तत् सूक्ष्मपूतिः । एषां च किल सूक्ष्मपूतित्वं

आगमे निषिध्यते, ततश्चोदक आह-'सुन्दरं' युक्तमेनां पूतिं वर्जयितुं, तर्कि नाऽऽगमे निषिध्यते ?। एवं परेणोक्ते गुरुर्भणति—

इंधनधूमेगंधे-अवयवमाई न पूइयं होइ ।
जेसिं तु एस पूई, सोही न वि विज्जए तेसिं ॥२५८॥

अत्रापि पदयोजना प्रागिव। ततोऽयमर्थः-इन्धनाङ्गारावयवधूमगन्धवाष्पैराधाकर्मसम्बन्धिभिर्मिश्रं पूतिर्न भवति, येषा तु मतेन पूतिर्भवति तेषां मतेन साधोः शुद्धिः सर्वथा न विद्यते ।

एतदेव भावयति—

इंधनअगणीअवयव, धूमो बप्फो य अन्नगंधो य ।
सव्वं फुसंति लोयं, भन्नइ सव्वं तओ पूई ॥ २५९ ॥

इन्धनाग्न्यवयवाः सूक्ष्मा ये धूमेन सहादृश्यमाना गच्छन्ति, तथा धूमो बाष्पोऽन्नगन्धश्च, एते सर्वेऽपि प्रसरन्तः किल सकलमपि लोकं स्पृशन्ति, तत्पुद्गलानां सकलमपि लोकं याधक्रमणसम्भवात्, ततस्तवाभिप्रायेण सर्वमपि पूतिरापद्यते, तथा च सति साधोः कथं शुद्धिः ? इति ।

अत्र परः प्रागुक्तविरोधं दर्शयन् स्वपक्षं समर्थयति—

नणु सुहुमपूइयस्सा,पुव्वुद्दिट्ठस्सऽसंभवो एवं ।
इंधणधूमाईहिं, तम्हा पूइ त्ति सिद्धिमिणं ॥ २६० ॥

ननु यदीन्धनाग्न्यवयवाऽऽदिभिः पूतिर्न भवेत्, एवं सति तर्हि पूर्वोद्दिष्टस्य "भावम्मि उ बायरं सुहुमं" इत्येवमुक्तस्य सूक्ष्मपूतेरसम्भवः प्राप्नोति, अन्यस्य सूक्ष्मपूतेरभावात्-तस्मात् सिद्धमिदं यदुत इन्धनधूमाऽऽदिभिः सम्मिश्रं पूतिः सूक्ष्मपूतिरिति ।

अत्र गुरुराह—

चोयग ! इंधणमाई-हिँ चउहि वी सुहुमपूइयं होइ ।
पन्नवणामित्तमियं, परिहरणा नत्थि एयस्स ॥ २६१ ॥

'हे चोदक !' प्रेरक ! इन्धनाऽऽदिभिः' इन्धनाग्न्यवयवधूमबाष्पगन्धैश्चतुर्भिरपि स्पृष्टं सूक्ष्मपूतिर्भवति, नात्र कश्चिद्विवादः, एतामेव च सूक्ष्मपूतिमधिकृत्य प्रागुक्तम् ( भावम्मि उ बायरं सुहुम इति ) केवलमिदं सूक्ष्मपूतित्वेन भणनं प्रज्ञापनामात्रं, परिहरणं पुनस्तस्याः सूक्ष्मपूतेर्नास्ति, अशक्यत्वात् ।

एतदेव प्रपञ्चयति—

सज्झमसज्झं कज्जं, सज्झं साहिज्जए न उ असज्झं ।
जो उ असज्झं साहइ,किलिस्सइ न तं च साहेइ॥२६२॥

इह द्विविधं कार्यं साध्यमसाध्यं च शक्यमशक्यं चेत्यर्थः, तत्र साध्यं साध्यते न त्वसाध्य,यस्त्वसाध्यं युष्मादृशः साधयति स नियमात् क्लिश्यते, न च तत्कार्यं साधयति, अविद्यमानोपायत्वात्, एषोऽपि चानन्तरोक्तः सूक्ष्मपूतिरशक्यपरिहारः, ततो न परिह्रियते ।

सम्प्रति परः "बायरं सुहुमं ति" समर्थयमानोऽपरं सूक्ष्मपूतिं तस्य परिहरणं च शक्यं प्रतिपादयति—

आहाकम्मियभायण-पप्फोडण काय अकयए कप्पे ।
गहियं तु सुहुमपूई, धोवणमाईहिँ परिहरणा ॥२६३॥

यत्र भाजने गृहीतमाधाकर्म तस्मिन् भाजने आधाकर्मपरित्यागानन्तरं 'प्रस्फोटनं कृत्वा हस्तेनाऽऽस्फालनाऽऽदिना सर्वानप्याधाकर्मावयवानपसार्य अकृते 'कल्पे'कल्पत्रये यद् गृहीतं तत्सूक्ष्मपूतिर्भवति,कतिपयोद्धरितसूक्ष्माऽऽधाकर्मावयवमिश्रणसम्भवात्, तस्य च सूक्ष्मपूतेः परिहरणं धावनाऽऽदिभिः,किमुक्तं भवति ?-पात्रस्याऽऽधाकर्मिकपरित्यागानन्तरं कल्पत्रयधावनेन प्रक्षालनं क्रियते तर्हि सूक्ष्मपूतिर्न भवति, तत एवं सूक्ष्मपूतेः परिहरणमपि घटते, तस्मादिदमेव सूक्ष्मपूतिस्वरूपमुच्यतामिति भावः। तदेतदयुक्तम्। यत इयं बादरपूतिरेव, तथाहि—गृहीतोऽस्ति तस्याऽऽधाकर्मणः सत्कैः स्थूलैः सिक्थाऽऽद्यवयवैः, तन्मिश्रं सत्कथं स सूक्ष्मपूतिः ?।

किञ्च—

धोयं पि निरावयवं, न होइ आहच्च कम्मगहणम्मि ।
न य अदव्वा उ गुणा, भन्नइ सुद्धीकओ एवं ॥२६४॥

कदाचित् 'कर्मग्रहणे' आधाकर्मिकग्रहणे सति तत्परित्यागानन्तरं पश्चात् ' धौतमपि ' प्रक्षालितमपि पात्रं सर्वथा न निरवयवं भवति, पश्चादपि गन्धस्योपलभ्यमानत्वात्, अथ गन्ध एव केवल उपलभ्यते न तु तदवयवा. कश्चिदस्तीति ब्रूषे, तत आह—न च ' अद्रव्याः ' द्रव्यरहिताः गुणाः गन्धाऽऽदयः सम्भवन्ति , ततो गन्धोपलम्भादवश्यं तत्र धौतेऽपि केचन सूक्ष्मा अवयवा द्रष्टव्याः, ततो भण्यते—'एवमपि ' अपिरत्र सामर्थ्याद्गम्यते, भवत्परिकल्पितप्रकारेणापि कुतः सूक्ष्मपूतेः ' शुद्धिः ' परिहारो ?, नैव कथञ्चन इति भावः, तस्मात्पूर्वोक्त एव सूक्ष्मपूतिः, तस्य च प्रज्ञापनामात्रं, न तु परिहरणं कर्तुं शक्यमिति स्थितम्। ननु यदि स परमार्थतः सूक्ष्मपूतिस्ततस्तस्याऽपरिहारे नियमादशुद्धिः प्राप्नोति,सोऽपि च सूक्ष्मपूति. सकललोकव्यापीष्यते, गन्धाऽऽदिपुद्गलानां क्रमेण सकललोकव्यापनसम्भवात्, ततो यदा नदा वा क्वाप्याधाकर्मसम्भवे सर्वेषामपि साधूनामशुद्धिः प्राप्नोतीति,नैष दोषो,गन्धाऽऽदिपुद्गलानां चरणभ्रंशाऽऽपादनसामर्थ्यायोगात्. न चैतदनुपपन्नं, लोकेऽपि तथा दर्शनात् ।

तथाहि—

लोए वि असुइगंधा, विपरिणया दूरओ न दूसंति ।
न य मारंति परिणया, दूरगयाओ विसावयवा ॥२६५॥

लोकेऽपि अशुचिगन्धाः, अशुचिसत्का गन्धपुद्गला दूरत आगता विपरिणताः सन्त स्पृष्टाः अपि ' न दुष्यन्ति ' न स्पृष्टिदोषमशुचिस्पर्शनरूपं लोकप्रसिद्धं जनयन्ति, न च विषावयवा अपि दूरगताः सन्तः ' परिणताः ' पर्यायान्तरमापन्ना मारयन्ति. तथेहाप्याधाकर्मण सम्बन्धिनो गन्धाऽऽदिपुद्गला दूरतः समागच्छन्तो विपरिणता न चरणप्राणान् विनाशयितुमीशाः, नाप्याधाकर्मसंस्पर्शलक्षणं दोषं जनयन्तीति ।

तदेवमिन्धनाऽऽद्यवयवापेक्षया यः सूक्ष्मपूतिस्तमपरिहार्यं प्रतिपाद्य सम्प्रति शेषद्रव्यपूतिं परिहार्यं प्रतिपादयति—

सेसेहि उ दव्वेहिं, जावइयं फुसइ तत्तियं पूई ।
लेवेहिँ तिहि उ पूई, कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥२६६॥

शेषैः इन्धनाऽऽद्यवयवव्यतिरिक्तैः शाकलवणाऽऽदिभिर्यावत् स्थाल्यादिपरिमितं द्रव्यं स्पृष्टं भवति तावत्प्रमाणं पूतिः,तथा त्रिभिर्लेपैः पूतिः। इयमत्र भावना—स्थाल्यां किलाऽऽधाकर्म-

राद्धं, ततस्तस्या अपनीतम्, अपनीते च तस्मिन् या पा त्र्यात्या खरण्टिः सा एको लेपः, ततस्तस्यामेव स्थाल्यामकृतकल्पत्रयाया शुद्धं राद्धं पूतिः, एवं वारद्वयमन्यदपि राद्धं पूतिः, चतुर्थे तु वारे राद्धं न पूतिः,अथाऽऽत्मयोगेन यदि गृहस्थाः तस्याः स्थाल्याः निःशेषावयवापगमाय कल्पत्रयं ददाति तर्हि का वार्ता ?, तत आह-कल्पते तस्यां स्थाल्यां शुद्धमशनाऽऽदि राद्धं, यदि ' कल्पे ' प्रक्षालने त्रिगुणे-त्रिसङ्ख्ये कृते सति राद्धयति न शेषकालम् ।

एतदेव भावयति—

इंधणमाई मोत्तुं, चउरो सेसाणि होंति दव्वाइं ।
तेसिं पुण परिमाणं, तयप्पमाणाउ आरब्भ ॥ २६७ ॥

इन्धनावयवाऽऽदीनि चत्वारि पूर्वोक्तानि मुक्त्वा शेषाणि 'द्रव्याणि ' अशनाऽऽदीनि पूतिकरणप्रवणानि ज्ञातव्यानि तेषां च शुद्धाशनाऽऽदिपूतिकरणविषये परिमाणं त्वक्प्रमाणादारभ्य द्रष्टव्यम् । इयमत्र भावना-तण्डुलाऽऽदीन्याधाकर्मणां गन्धाऽऽदिचतुष्टयं परिहृत्य शेषं त्वगवयवमात्रमप्यादौ कृत्वा यद्वर्त्तते तेन स्पृष्ट शुद्धमप्यशनाऽऽदि पूतिर्भवतीति ।

सम्प्रति दातृगृहं साधुपात्रं चाऽऽश्रित्य पूतिविषयं कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

पढमदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिसवाणि पूइयं होइ ।
पूईसु तिसु न कप्पइ, कप्पइ तइओ जया कप्पो ।२६८।

इह यस्मिन् दिने यत्र गृहे कृतमाधाकर्म तत्र तस्मिन् दिने ' कर्म ' आधाकर्म व्यक्तमेतत्, शेषाणि तु त्रीणि दिनानि पूतिर्भवति, तद् गृहं पूतिदोषवद्भवतीत्यर्थः, तत्र च पूतिषु पूतिदोषवत्सु त्रिषु दिनेषु आधाकर्मदिने च सर्वसङ्ख्यया चत्वारि दिनानि यावन्न कल्पते, साधुपात्रे च पूतिभूते तदा शुद्धमशनाऽऽदि ग्रहीतुं कल्पते, यदा तृतीयः कल्पो दत्तो भवति, न शेषकालं, पूतिदोषसम्भवात् ।

सम्प्रत्याधाकर्मपूतिं च वैविक्त्येन प्रतिपादयन्नुपसंहरति—

समणकडाहाकम्मं, समणाणं जं कडेण मीसं तु ।
अहार उवहि वसही, सव्वं त पूइयं होइ ॥ २६९ ॥

श्रमणानामर्थाय कृतमहारोपधिवसत्यादिकं यत् तत्सर्वमाधाकर्म, यत्पुनः श्रमणानामर्थाय कृतेनाधाऽऽकर्मणा मिश्रमाहाराऽऽदि तत्सर्वं पूतिर्भवति।

सम्प्रति परिज्ञानोपायमाह—

सङ्खस थे (थो) वदिवसे-सुखंडी आसि संघभत्तं वा ।
पुच्छित्तु निउणपुच्छं, संलावाओ वऽगारीणं ॥२७०॥

इह प्रथमत आगतेन श्राद्धगृहे तथाविधं किमपि सङ्खड्यादि चिह्नमुपलभ्य पूतिदोषसंशयभावे श्राद्धस्य पार्श्वे उपलक्षणमेतत्, श्राविकाऽऽदेश्च पार्श्वे निपुणपृच्छं प्रष्टव्यं, यथा-युष्माकं गृहे ' स्तोकदिवसेषु ' स्तोकदिवसमध्ये, प्रभूतदिवसातिक्रमेण पूतिदोषो न सम्भवतीति स्तोकदिवसग्रहणं, ' सङ्खडि., ' वीवाहाऽऽदिप्रकरणरूपा सङ्घभक्तं वा दत्तमासीत् ?, सङ्खड्या वा साधुनिमित्तं किमपि कृतम् आभवत् ?, ततस्तद्दिनादर्वाग् दिनत्रयं पूतिरितिकृत्वा परिहर्त्तव्यं, चतुर्थाऽऽदिषु तु दिनेषु परिग्राह्यम्, अथवा-काऽपि प्रश्नमन्तरेणाप्यगारिणीना संलापात् पूतिरपूतिर्वेति ज्ञातव्यं ता हि अपृष्टा एवान्यमुद्दिश्य कथयन्ति, यथाऽस्माकं श्वः परतरे वा दिने सङ्घभक्तं दत्तमासीत् , यद्वा-सङ्खडिः सङ्खड्यां च कृतं साध्वर्थं प्रभूतमशनाऽऽदिकमिति, तत एव तासां संलापानाकर्ण्य पूत्यपूती ज्ञात्वा परिहारग्रहणे कार्ये। उक्तं पूतिद्वारम् । पिं० ।

जे भिक्खू पूइकम्मं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥४७॥

जे भिक्खू पूइकम्मं भुंजति, चावत्तं विगट्ठं कुहितं पूतिं भवति,इह पुण समये विसुद्धं आहाराऽऽति अविसोधिकोडिदोसजुएण संमिस्सं पूतियं भवति । नि० चू० १ उ० । जीतानुसारेण पूतिकर्मणि क्षपणं प्रायश्चित्तम्। जीत० ।

**पूइकम्मिया**-पूतिकर्मिका-स्त्री० । आधाकर्मिकमुद्रया पूरितछिद्रायां वसतौ , वृ० १ उ० २ प्रक० ।

**पूइकुहिय**-पूतिकुथित-न० । स्वस्वभावचलिते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

**पूइमस**- पूतिमांस-न० । दुष्टपिशिते, पञ्चा० १६ विव० ।

**पूइमंसाइ**-पूतिमांसाऽऽदि-पुं० । दुष्टपिशितमेदःप्रभृतौ,पञ्चा० १६ विव० ।

**पूइय**-पूतिक-त्रि० । जीर्णतया कुथितप्राये, आ० १ श्रु० ६ अ० । दुर्गन्धे, तं० । पूतिकर्मदोषदुषिते, स्था० ६ ठा० । तं० ।

**पूजित**-त्रि० । पुष्पैर्मानिते ; आ० १ श्रु० १ अ० । अर्जिते, उत्त० ४ अ० " सदेवगंधव्वमणुस्सपूइए चइत्तु देहं। " मनुष्यैः पूजिता (तो) भवति । उत्त० १ अ० ।

**पूइयचम्म**-पूजितचर्मन्-न० । शुभाऽजिने तं० ।

**पूइयच्छिद्दय**-पूतिकच्छिद्रक-त्रि० । अपवित्रलघुविवरवृद्धविवरे, तं० ।

**पूइयणास**- पूतिकनास-त्रि० । अपवित्रनासिके, तं० ।

**पूइयदेह**-पूतिकदेह-त्रि० । दुर्गन्धिगात्रे, तं० ।

**पूइयपूयय**-पूजितपूजक-त्रि० । लोके पूजितस्य पूजाकारके, आ० म० १ अ० ।

**पूइयपूया**-पूजितपूजा-स्त्री० । पूजितस्य सतः सङ्घस्य पूजायाम्, पञ्चा० ८ विव० । आ० म० ।

**पूइयमंत**-पूतिमत-त्रि० । अपवित्रमये, तं० ।

**पूउरिअ**-देशी-कार्ये, दे० ना० ६ वर्ग ५७ गाथा ।

**पूण**- देशी-हस्तिनि, दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा ।

**पूणउ**-देशी-पूर्वे, नि० चू० १ उ० ।

**पूणिया**-पूणिका-स्त्री० । रुतसम्बन्धिन्यां ग्रन्थिकायाम्,लाटदेशे, रुतसम्बन्धिनी या पूणिकेति प्रसिद्धा सैव महाराष्ट्रकविषये पेलुरित्युच्यते । विशे० ।

**पूणी**-देशी-तूललतायाम् , यन्मध्यात्सूत्रतन्तुर्निःसरति । दे० ना० ६ वर्ग ५५ गाथा ।

**पूतरक**-पूतरक-पु० । शोल्लाकभ्रमरिकाच्छेदनकाऽऽदिषु क्षुद्रजन्तुषु, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

**पूतिणिव्वलणमास**-पूतिनिर्वलनमास-पु० । पूतिर्दुर्गन्धिस्तत

स्य निर्वलनं—स्फेटनं तत्प्रधानो मासः पूतिनिर्वलनमासः। प्रमोदमासे,यत्र निरूढप्रायश्चित्तो जनः प्रमोदते । व्य०३ उ०।

पूतिपिण्णाग-पूतिपिण्याक-न०। कुथितखले, आचा० २श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

पूय-पूत-त्रि०। पवित्रे, अष्ट० ३२ अष्ट०।

पूय-न०। पक्के रुधिरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। स०। ज्ञा०। आचा०। " पक्कं सोणियं पूयं भण्णति।" नि० चू० ३ उ०।

पूयग-पूतग-न०। शुभगन्धवति पुरीषे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ०।

पूयट्ठाण-पूजास्थान-न० । पूजायाः स्थानं पूजास्थानम्। पूजाऽर्हे, दश० १ अ०।

पूयट्ठि ( ण् )-पूजार्थिन्-त्रि०।पूजामर्थयते य. सःपूजार्थी। पूजाकामे, स० ३० सम०।

पूयण-पूजन-न०। वस्त्रपात्राऽऽदिना (सूत्र० १ श्रु० १० अ०। उत्त०। दश०)सत्कारे,सूत्र० १ श्रु० १२अ०। आचा०। वस्त्रपात्राऽऽदिलाभे,सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। दश०। सत्कारपुरस्कारे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। गन्धमाल्याऽऽदिभिरभ्यर्चने,आव० ४ अ०। सूत्र०। द्रविणदानान्नपानसत्कारप्रणामसेवाविशेषरूपे, आचा०१ श्रु० १ अ० १ उ०। यथाक्रमं गुर्वादीनामाहारसंपादनविनयकरणे, ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिषु पञ्चस्वाचारेषु यथायोगमुद्यच्छतामुपबृंहणे, व्य० ३ उ०।

पूयणकाम-पूजनकाम-त्रि० । सत्कारपुरस्काराभिलाषिणि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

पूयणट्ठि(ण्)-पूजनार्थिन्-त्रि०। पूजनं वस्त्रपात्राऽऽदिना तेनार्थः पूजनार्थः, स विद्यते यस्यासौ पूजनार्थी। पूजाप्रार्थके, सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

पूयणमाउच्चारण-पूजनाऽऽद्युच्चारण-न०। पूजाप्रभृतिपदाभिधाने, पञ्चा० १० विव०।

पूयणवत्तिया स्त्री० । पूजनप्रत्यय-न०। पूजननिमित्ते, पूजनं च गन्धमाल्याऽऽदिभिरभ्यर्चनम्। ध० २ अधि०। ल०। प्रति०।

पूयणा-पूतना-स्त्री० । दुष्टव्यन्तर्याम् , पिं०। अपत्यमारिकाया गड्डुरिकायाम् , पिं०।

पूयणासुय-पूजनाऽऽस्वादक-पुं०। पूजनं देवाऽऽदिकृतमशोकाऽऽदिकमास्वादयत्युपभुङ्क्ते इति पूजनाऽऽस्वादकः। समवसरणे देवाऽऽदिकपूजोपभोगिनि,"अणुसासणं पुढो पाणीवसुमं पूयणासुते।" सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

पूयणिज्ज-पूजनीय-त्रि०। पुष्पैरर्चनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०। पञ्चा०। औ०।

पूयपाव-पूतपाप-त्रि०। विशुद्धमासे, अपगतपापे, विशे०।

पूयफली-पूगफली-स्त्री०। (सोपारी) वृक्षविशेषे, " पूयफली खज्जूरी,णोधव्वा नालिएरी य।" भ० ८ श० ३ उ०। प्रज्ञा०।

पूयलिया-पूपलिका-स्त्री०। स्नेहदग्धताविकायाम् परिपक्वपोततः। परिपक्के पूपे,ध० २ अधि०। आचा०। अपूपाऽऽदिके, वृ० १ उ० ३ प्रक०।

पूयली-पूतपटी-स्त्री०। पूतपट्याम् , भ० १५ श०।

पूया-पूजा-स्त्री०। 'पूज' पूजायाम् अस्मात् " गुरोश्च हलः " ॥८।३।१०३॥ इत्यप्रत्ययान्तस्य पूजनं पूजा । प्रशस्तमनोवाक्कायचेष्टायाम्, आव० ३ अ० । स० । सत्कारे पञ्चा० ६ विव०। गायत्र्यादिपाठपूर्वके सन्ध्याऽर्चने, अनु०। पुष्पाऽऽदिभिरर्चने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । गन्धमाल्यवस्त्रपात्रान्नपानप्रदानाऽऽदिसत्कारे, द्वा० २ अष्ट०। सञ्चा०। यथौचित्येन पुष्पफलाऽऽहारवस्त्राऽऽदिभिरुपचारे, प्रव० १० द्वार। स्था०। स्तवाऽऽदिभिः सपर्यायाम्, दर्श० १ तत्त्व। (प्रतिष्ठितस्य जिनबिम्बस्य पूजाविधिः समग्रोऽपि ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२७७ पृष्ठे उक्तः )( ' अट्ठपुप्फी ' शब्दे प्रथमभागे २४५ पृष्ठे तत्पूजोक्ता ) (सिद्धबलिविधानमपि 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२७४ पृष्ठे उक्तम्) (पूजार्थं गणं न धरेत् इति 'गणधर'शब्दे तृतीयभागे ८३२ पृष्ठे उक्तम्) प्रोतपुष्पै पूजा-प्रोतपुष्पैः पूजनाक्षराणि साम्प्रतं श्राद्धदिनकृत्यसत्कानि ज्ञातानि सन्ति १० । तथा ईदृग्दिने अस्वाध्यायविषये वृद्धैरनाचरणमेव निमित्तमवसीयते ।११। ही० ३ प्रका०। ( कुमारपाल राजेन हेमाचार्यस्य सुवर्णकमलैः पूजा कृता इति ' गुरुपूया ' शब्दे ३ भागे ९४४ पृष्ठे गतम् ) ( द्रव्यपूजानिषेधः साधूनाम् ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२१७ पृष्ठे दर्शितः )

अथ द्रव्यपूजोपस्काररूपं भावपूजास्वरूपभावनोपचाररूपं भावपूजाष्टक वितन्यते-तत्र गृहस्थोऽनेकसंसारभारत्रस्त. कदाचित् निर्विकाराऽऽनन्दरूपा जिनमुद्रां विलोक्य प्राप्तवैराग्यो भवोद्विग्नः सर्वसंयमत्यागाभिलाषया परमसंवररूपं परमेश्वरं सद्भक्त्या पूजयति. स्वयोगस्वपरिग्रहाऽऽदिकं सर्वथा त्यक्तुमसमर्थः सर्वमपि तीर्थङ्करभक्तियुक्तं करोति, ततश्च आत्मा स्वगुणपरिणतः स्वरूपसाधनरूपा भावपूजा करोति, तत्स्वरूपा नामत. पूजा इति कथनम्,स्थापनातः तल्लिङ्गाऽऽचरणम्, द्रव्यतः चन्दनाऽऽदिभि. शून्योपयोगेन च, भावतः गुणैकत्वरूपा, सा व्याख्यायते—

दयाऽम्भसा कृतस्नानः, सन्तोषशुभवस्त्रभृत् ।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाऽऽशयः ॥ १ ॥

भक्तिश्रद्धानघुसृणो-न्मिश्रपाटीरजद्रवैः ।
नवब्रह्माङ्गतो देवं, शुद्धमात्मानमर्चय ॥ २ ॥ ( युग्मम् )

युग्मतो व्याख्यानं दर्शयति—हे उत्तम ! एवंविधं शुद्धात्मानम्, अनन्तज्ञानाऽऽदिपर्यायम् आत्मारूपं देवं नवप्रकारब्रह्मरूपाङ्गतः अर्चय—पूजय। कीदृशो भूत्वा ?, इत्याह—दया-द्रव्यभावस्वपरप्राणरक्षणरूपा,सा एव अम्भ.-जलं पानीयं, तेन कृत स्नानं पावित्र्यं येन स., सन्तोषः पुद्गलभावपिपासाशोकाभावरूपः स एव शुभवस्त्राणि तेषां भृत्-धारकः विवेक स्वपरविभजनरूप ज्ञान तदेव तिलकं तेन भ्राजी शोभमान. । पुन. कथंभूत ?—भावना अर्हद्गुणैकत्वरूपा तया पावनः—पवित्र आशयोऽभिप्रायः यस्य स., पुनर्भक्तिःराराध्यता श्रद्धा-प्रतीतिः—" एस अट्ठे परमट्ठे " एवंरूपा तद्रूपघुसृणेन उन्मिश्रं पाटीरज, तस्य द्रवः, तैः शुद्धाऽऽत्मा परमेश्वर, स्वकीयाऽऽत्माऽपि, दीव्यति स्वरूपे इति

देवः, तम् अर्चय—पूजय, तद्भक्तिरतो भव इति ॥ १ ॥ २

अथ अनुक्रमेण पूजाप्रकारानाह—

क्षमा पुष्पस्रजं धर्म-युग्मक्षौमद्वयं तथा ।
ध्यानाऽऽभरणसारं च, तदङ्गे विनिवेशय ॥ ३ ॥

हे भव्य ! तदङ्गे आत्मस्वरूपरूपे अङ्गे क्षमा क्रोधोपशम-स्तां वचनधर्मक्षमारूपा-पुष्पस्रजं पुष्पमालां निवेशय-स्थापय, तथा-तथैव धर्मयुग्मं-श्रावकसाधुरूपं श्रुतचारित्ररूपं वा क्षौमद्वयं-वस्त्रद्वयं निवेशय, पुनर्ध्यानं धर्मशुक्लं तदेव आभरणस्य सारं प्रधानं परमब्रह्माणि निवेशय, इत्येवं गुणपरिणमनरूपां पूजां कुरु ॥ ३ ॥

मदस्थानभिदात्यागै-र्लिखाग्रे चाष्टमङ्गलीम् ।
ज्ञानाग्नौ शुभसंकल्प-काकतुण्डं च धूपय ॥ ४ ॥

मदः-मानोन्मादः तस्य स्थानानि, तान्येव भिदा भेदा तेषां त्यागैः-वर्जनैरष्टमङ्गलीमग्रे लिख । तथा—ज्ञानाऽग्नौ शुभसंकल्पः-शुभरागपरिणामस्तद्रूपं काकतुण्डं-कृष्णागुरु धूपय इत्यनेन रागाऽध्यवसायाः शुभाः पुण्यहेतवः सिद्धि-साधने त्याज्या एव, अतः ज्ञानबलेन तेषां त्यागो भवति ॥४॥

प्राग्धर्मलवणोत्तारं, धर्मसंन्यासवह्निना ।
कुर्वन् पूरय सामर्थ्य-राजन्नीराजनाविधिम् ॥ ५ ॥

अत्राऽऽत्मस्वरूपार्चने 'धर्मसंन्यासवह्निना' धर्मः'स्वरूपसत्ता-सहजपरिणामिकलक्षणः चन्दनगन्धतुल्यः तस्य सम्यग् न्यासः-स्थापनं,स एव वह्निः, तेन प्राक् पूर्वसाधनरूपः धर्मः सविकल्पभावनारूपः तदेव लवणं तस्योत्तारो-निवारणं, निर्विकल्पकसमाधौ साधकस्याऽपि सविकल्पकधर्मस्य त्याग एव भवति। एवं भावरूपमपवादसाधनरूप लवणोत्तार कुर्वन्, 'सामर्थ्यराजन्नीराजनाविधिं' पूर्वं सामर्थ्ययोगरूपा राजत् शोभमाना नीराजना-आरात्रिका तस्या विधिस्तं पूरय, सामर्थ्ययोगरूपं च—यत्र कर्मबन्धहेतुषु प्रवर्त्तमानवीर्यस्य न तादृग् प्रवृत्तिः, साऽऽत्मधर्मसाधनाऽनुभवैकत्वे प्रवर्त्तमानो निष्प्रयासत्वेन प्रवर्त्तते स योगः सामर्थ्यं उच्यते ॥ ५ ॥

स्फुरन्मङ्गलदीपं च, स्थापयाऽनुभवं पुरः ।
योगनृत्यपरस्तौर्य-त्रिक*संयमवान् भव ॥ ६ ॥

चः-पुनः स्फुरत् देदीप्यमानं मङ्गलदीपं मङ्गलं सर्वद्रव्यभावोपद्रवमुक्तं, दीप-भावप्रकाशम्, अनुभवं स्पर्शज्ञानम् आत्मस्वभावाऽऽस्वादनयुक्तं ज्ञानं, पुरः-अग्रे स्थापय । योगाः मनोवाक्कायरूपास्तेषां साधनप्रवर्त्तनरूपं नृत्यं, तत्र तत्परः सोद्यमः सन् परमात्मध्यानधारणाध्यानसमाधि[illegible] संयमः तद्वान् भव, इत्यनेन आभ्यन्तरपूजया तत्त्वाऽऽनन्दमयं च चैतन्यलक्षण स्वात्मान तद्रूपं कुरु ॥ ६ ॥

उल्लसन्मनसः सत्य-घण्टां वादयतस्तव ।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥ ७ ॥

इत्थं भावपूजारतस्य तव महोदयः-मोक्षः करक्रोडे-हस्ततले अस्ति । किं कुर्वतः ?-उल्लसन्मनसः-प्रसन्नचित्तस्य सत्पर्यायरूपां 'घण्टां वादयतः' शब्द कुर्वत इत्यनेन सहर्षसत्यमनोल्लासघण्टां नादयतः सतः पूर्वोक्तपूजाकरणेन सर्वशक्तिप्रादुर्भावरूपो मोक्षो भवति ॥ ७ ॥

* मेघाऽऽघोष—मृदङ्ग - शङ्ख ।

द्रव्यपूजोचिता भेदो-पासना गृहमेधिनाम् ।
भावपूजा तु साधूना-मभेदोपासनाऽऽत्मिका ॥ ८ ॥

गृहमेधिनां-गृहस्थानां भेदोपासनारूपा आत्मन सकाशात् अर्हन्-परमेश्वरः भिन्नः निष्पन्नाऽऽनन्दचिद्विलासी,तदुपासना-सेवना निमित्ताऽऽलम्बनरूपा द्रव्यपूजा उचिता-योग्या तु-पुनः साधूनामभेदोपासनाऽऽत्मिका परमात्मना स्वात्माऽभेदरूपा भावपूजा उचिता । यद्यपि सविकल्पकभावः पूजा गुणस्मरणबहुमानोपयोगरूपा भावपूजा गृहिणां भवति, तथाऽपि निर्विकल्पोपयोगस्वरूपैकत्वरूपा भावपूजा निर्ग्रन्थानामेव । एवम्—आश्रवकषाययोगचापल्यपरावृत्तिरूप-द्रव्यपूजाऽभ्यासेन अर्हद्गुणस्वात्मधर्मैकत्वरूपभावपूजावान् भवति, तेन च तन्मयतां प्राप्य सिद्धो भवति, इत्येवं साधनेन साध्योपयोगयुक्तेन सिद्धिः-निष्कर्मता भवति ॥८॥ इति व्याख्यातं भावपूजाष्टकम् । अष्ट० २६ अष्ट० ।

"माता पिता कलाचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥ ११० ॥"

( 'गुरुवग्ग 'शब्दे तृतीयभागे ६४४ पृष्ठे दर्शितोऽयम्)

गुरुवर्गपूजाविधिर्दर्श्यते—

पूजनं चास्य विज्ञेयं, त्रिसंध्यं नमनक्रिया ।
तस्यानवसरेऽप्युच्चै-श्चेतस्यारोपितस्य तु ॥ १११ ॥

पूजन च पूजनं पुनः, अस्य-गुरुवर्गस्य, विज्ञेयमवगन्तव्यम् । किमित्याह-"त्रिसंध्यं" संध्यात्रयाऽऽराधनेन "नमनक्रिया" प्रमाणरूपा । यदि कथञ्चित्सन्निधावसौ प्रणन्तुं न पार्यते, तदा किं कृत्यमित्याह-" तस्य " गुरुवर्गस्य, " अनवसरेऽपि " तथाविधप्रघट्टकवशात्कि पुनरवसर इत्यपिशब्दार्थः । " उच्चैः " अत्यर्थं " चेतसि " मनसि " आरोपितस्य तु " पूर्ववद् गुरुवर्गस्य पूजनमिति ।

तथा—

अभ्युत्थानाऽऽदियोगश्च, तदन्ते निभृताऽऽसनम् ।
नामग्रहश्च नास्थाने, नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥ ११२ ॥

अभ्युत्थानाऽऽदियोगोऽभ्युत्थानाऽऽसनप्रदानस्थितपर्युपासनाऽऽदिविनयव्यापाररूपः, चः समुच्चये, तदन्ते गुरुवर्गान्ते, निभृताऽऽसनमप्रगल्भतयाऽवस्थानम्,नामग्रहश्च नामोच्चारणरूपः, न-नैव,अस्थाने मूत्रपुरीषोत्सर्गाऽऽदिस्थानरूपे,न-नैव, अवर्णश्रवणमवर्णवादाऽऽकर्णनम् , क्वचित्परपक्षमध्यास्थानेऽपीति ।

तथा—

साराणां च यथाशक्ति, वस्त्राऽऽदीनां निवेदनम् ।
परलोकक्रियाणां च, कारणं तेन सर्वदा ॥ ११३ ॥

साराणां चोत्कृष्टानाम्, यथाशक्ति यस्य यावती शक्तिस्तथा-वस्त्राऽऽदीनां वसनभोजनालङ्काराऽऽदीनाम्, निवेदनं-समर्पणम् , तथा परलोकक्रियाणां च देवातिथिदीनानाथप्रतिपत्तिप्रभृतीनाम् , कारणं-विधापनम् , तेन गुरुवर्गेण, सर्वदा सर्वकालम् ।

तथा—

त्यागश्च तदनिष्टानां, तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं, माहुर्धर्माऽऽद्यपीडया ॥ ११४ ॥

त्यागश्च-प्रोज्झनम्, तदनिष्टानां-गुरुवर्गाऽसंमतानां व्यवहाराणाम्, तदिष्टेषु-गुरुवर्गप्रियेषु व्यवहारेष्वेव प्रवर्त्तनम्। अत्रापवादमाह- "औचित्येन तु" औचित्यवृत्त्या पुनः "इदं" पूजनं "ज्ञेयं प्राहुः" उक्तवन्तः पूर्वे, औचित्यमेव व्यनक्ति-धर्माऽऽद्यपीडया-धर्माऽऽदीनां पुरुषार्थानामबाधया, यदि, तदनिष्टेभ्यो निवृत्तौ तदिष्टेषु च प्रवृत्तौ धर्माऽऽदयः पुरुषार्था बाध्यन्ते,तदा न तन्निवृत्तिपरेण भाव्य,किं तु पुरुषार्थाऽऽराधनपरेणैव, अतिदुर्लभत्वात्पुरुषार्थाऽऽराधनकालस्येति ॥

तथा—

तदासनाऽऽद्यभोगश्च, तीर्थे तद्वित्तयोजनम् ।
तद्विम्बन्यासमसंस्कारः, ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥११५॥

तदासनाऽऽद्यभोगश्च-गुरुवर्गस्याऽऽसनशयनभोजनपात्राऽऽदीनामभोगोऽपरिभोगः,तीर्थे-देवताऽऽयतनाऽऽदौ, तद्वित्तयोजनम्-अलङ्काराऽऽदिगुरुवर्गद्रव्यनियोजनम्,अन्यथा-तत्स्वयंग्रहे गुरुवर्गमरणाऽऽद्यनुमतिप्रसङ्गः स्यात्। तद्विम्बन्यासंसस्कारः तस्य गुरुवर्गस्य यो विम्बन्यासः प्रतिविम्बस्थापनारूपस्तस्य संस्कारो धूपपुष्पाऽऽदिपूजारूपः,तत्कारितदेवताऽऽदेः पूजारूप इत्यन्ये । ऊर्ध्वदेहक्रिया-गुरुदेवपूजनाऽऽदिमृतकार्यकरणरूपा, परा-दर्शिताऽऽदरा ।

अथ देवपूजाविधिमाह—

पुष्पैश्च बलिना चैव, वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं, शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥ ११६ ॥

पुष्पै-र्जातिशतपत्रिकाऽऽदिसंभवैः,बलिना-पक्वान्नफलाऽऽद्युपहाररूपेण, वस्त्रै-र्वसनैः, स्तोत्रैः-स्तवनैः। चशब्दौ चैवशब्दश्च समुच्चयार्थाः। शोभनैरादरोपहितत्वेन सुन्दरैः, देवानाम्-आराध्यमानानाम्, पूजनं ज्ञेयम्। कीदृशमित्याह-शौचश्रद्धासमन्वितम्-शौचेन शरीरवस्त्रव्यवहारशुद्धिरूपेण श्रद्धया च—बहुमानेन समन्वितं-युक्तमिति ।

एतच्च—

अविशेषेण सर्वेषा-मधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया य-त्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥ ११७॥

अविशेषेण—साधारणवृत्त्या, सर्वेषां-पारगतसुगतहरहरिहिरण्यगर्भाऽऽदीनाम्। पक्षान्तरमाह-अधिमुक्तिवशेन,वा-अथवा, यस्य यत्र देवतायामतिशयेन श्रद्धा तद्वशेन । कुत इत्याह ?-" गृहिणाम् " अद्याऽपि कुतोऽपि मतिमोहादनिर्णीतदेवताविशेषाणां " माननीया " गौरवार्हाः " यत् " यस्मात् ' सर्वे देवाः " उक्तरूपाः " महात्मनां " परलोकप्रधानतया प्रशस्ताऽऽत्मनामिति ।

एतदपि कथमित्याह ?—

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधाः, दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ११८ ॥

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति-नमस्कुर्वते । व्यतिरेकमाह-" नैकं " कञ्चन " देवं समाश्रिताः " प्रतिपन्ना वर्त्तन्ते, यतो-" जितेन्द्रियाः -निगृहीतदर्पाः " जितक्रोधाः " अभिभूतकोपाः " दुर्गाणि " नरकपाताऽऽदीनि व्यसनानि " अतितरन्ति " व्यतिक्रामन्ति ते—सर्वदेवनमस्कर्तारः ।

ननु नैव ते लोके व्यवह्रियमाणाः सर्वेऽपि देवा मुक्तिपथप्रस्थितानामनुकूलाऽऽचरणा भवन्तीति कथमविशेषेण नमस्का (स्क)रणीयतेत्याशङ्क्याऽऽह—

चारिसंजीवनीचार-न्याय एष मतो मतः ।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्या-द्विशेषेणाऽऽदिकर्मणाम् ॥ ११९ ॥

चारिः प्रतीतरूपाया मध्ये संजीवन्यौषधिविशेषश्चारिसंजीवनी, तस्याश्चारश्चरणं स एव न्यायो दृष्टान्तश्चारिसंजीवनीचारन्यायः; एषोऽविशेषेण देवतानमस्का(स्क)रणीयतोपदेशः, सतां विशिष्टानाम्, मतः—अभिप्रेतः ।

"भावार्थस्तु कथागम्यः, स चायमभिधीयते ।
अस्ति स्वस्तिमती नाम, नगरी नागराऽऽकुला ॥ १ ॥
तस्यामासीत्सुता काचिद्, ब्राह्मणस्य तथा सखी ।
तस्यामेव परं पात्रं, सदा प्रेम्णो गतावधे ॥ २ ॥
तयोर्विवाहवशतो, भिन्नस्थाननिवासिनो ।
जज्ञेऽन्यदा द्विजसुता, जाता चिन्तापरायणा ॥ ३ ॥
कथमास्ते सखीत्येवं, ततः प्राघूर्णिका गता ।
दृष्टा विषादजलधौ, निमग्ना सा तया ततः ॥ ४ ॥
पप्रच्छ किं त्वमत्यन्त-विच्छायवदना सखी ? ।
तयोचे पापसद्माऽहं, पत्युर्दुर्भगता गता ॥ ५ ॥
मा विषीद विषादोऽयं, निर्विशेषो विषात्सखि ! ।
करोम्यनड्वाहमहं पतिं ते मूलिकाबलात् ॥ ६ ॥
तस्याः सा मूलिकां दत्त्वा, सन्निवेशं निजं ययौ ।
अप्रीतमानसा तस्य, प्रायच्छत्तामसौ ततः ॥ ७ ॥
अभूद्गौरुद्धुरस्कन्धो, झगित्येव च सा हृदि ।
विद्राणैष कथं सर्व-कार्याणामक्षमो भवेत् ? ॥ ८ ॥
गोयूथान्तर्गतो नित्यं, बहिश्चारयितुं नक ।
तयाऽऽरब्धो वटस्याधः, सोऽन्यदा विश्रमं गतः ॥ ९ ॥
तच्छाखायां नभश्चारि-मिथुनस्य कथञ्चन ।
विश्रान्तस्य मिथो जल्प प्रक्रमे रमणोऽब्रवीत् ॥ १० ॥
नात्रैष गौः स्वभावेन, किं तु वैगुण्यतोऽजनि ।
पत्नी प्रतिबभाषे सा, पुनर्नासौ कथं भवेत् ? ॥ ११ ॥
मूलान्तरोपयोगेन, क्वाऽऽस्ते साऽस्यतरोरधः ।
श्रुत्वैतत्सा पशोः पत्नी पश्चात्तापितमानसा ॥ १२ ॥
अभेदज्ञस्ततश्चारिं, सर्वां चारयितुं तकाम् ।
प्रवृत्ता मूलिकाभोगा-त्सद्योऽसौ पुरुषोऽभवत् ॥ १३ ॥
अजानानो यथा भेदं मूलिकायास्तथा पशुः ।
चारितः सर्वतश्चारिं, पुनर्नृत्वोपलब्धये ॥ १४ ॥
तथा धर्मगुरुः शिष्यं, पशुप्रायं विशेषतः ।
प्रवृत्तावक्षमं ज्ञात्वा, देवपूजाऽऽदिके विधौ ॥ १५ ॥
सामान्यदेवपूजाऽऽदौ, प्रवृत्तिं कारयन्नपि ।
विशिष्टसाध्यसिद्ध्यर्थं,न स्याद् दोषी मनागपि ॥१६॥" इति।

विपक्षे बाधामाह—( न ) नैव " अन्यथा " चारिसंजीवनीचारन्यायमन्तरेण "अत्र" देवपूजनाऽऽदौ प्रस्तुते "इष्टसिद्धिः " विशिष्टमार्गावतारूपा " स्यात् " भवेत् । अयं चोपदेशो यथा येषां दातव्यस्तदाह—" विशेषेण " सम्यग्दृष्ट्याद्युचितदेशनापरिहाररूपेण " आदिकर्मणां " प्रथममेवाऽऽरब्धस्थूलधर्माऽऽचाराणाम्। न ह्यत्यन्तमुग्धतया कञ्चन देवताऽऽदिविशेषमजानाना विशेषप्रवृत्तेरद्यापि योग्याः, किं तु सामान्यरूपायां एवेति ।

तर्हि कदा विशेषप्रवृत्तिरनुमन्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

गुणाऽऽधिक्यपरिज्ञाना-द्विशेषेऽप्येतदिष्यते ।

अद्वेषेण तदन्येषां, वृत्ताऽऽधिक्ये तथाऽऽत्मनः ॥१२०॥

गुणाऽऽधिक्यपरिज्ञानाद्देवताऽन्तरेभ्यो गुणाधिकस्य गुणवृद्धेरवगमात् विशेषेऽप्यर्हदादौ किं पुन सामान्येन । एतत्पूजनमिष्यते । कथमित्याह—" अद्वेषेण " अमत्सरेण, " तदन्येषां " पूज्यमानदेवताव्यतिरिक्तानां देवतान्तराणां " वृत्ताऽऽधिक्ये " आचाराधिक्ये सति । "तथा" इति विशेषणसमुच्चये । " आत्मनः " स्वस्य देवताऽन्तरागि प्रतीत्येति ।

गुरुदेवाऽऽदिपूजनमित्यत्राऽऽदिशब्दप्रगृहीतं पूजनीयान्तरमधिकृत्याऽऽह—

पात्रे दीनाऽऽदिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥ १२१ ॥

पात्रे-दायकलोकरक्षाकारे निर्दिश्य(श्य)मान(न)लक्षणे,दीनाऽऽदिवर्गे च भणिष्यमाणरूप एव दानं-स्वविभवातिसर्गरूपम्, विधिवद्विधियुक्तम्, इष्यते मनिमद्भिः । कथमित्याह-"पोष्यवर्गाविरोधेन " मातापित्रादिपोषणीयलोकस्य वृत्तेरनुच्छेदनेन, " न विरुद्धं " न दायकग्राहकयोर्धर्मबाधाकारि हलमुसलाऽऽदिवत् । " स्वतश्च " स्वात्मना च " यत् " दीयमानमिति ।

एतदेव भावयति—

व्रतस्था लिङ्गिनः पात्र-मपचास्तु विशेषतः ।
स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्तन्ते ये सदैव हि ॥ १२२ ॥

व्रतस्था:-हिंसाऽनृतादिपापस्थानविरतिमन्तः, लिङ्गिनो-व्रतसूचकतथाविधनेपथ्यवन्त , पात्रम्, अविशेषेण वर्तन्ते । अत्राऽपि विशेषमाह-अपचास्तु स्वयमेवापाचका ,पुनरुपलक्षणत्वात्परैरपाचयितार पच्यमानाननुमन्तारश्च लिङ्गिन एव, विशेषतो विशेषेण पात्रमिति । तथा स्वसिद्धान्ताविरोधेन-स्वशास्त्रोक्तक्रियाऽनुल्लङ्घनेन वर्तन्ते-चेष्टन्ते ये सदैव हि- सर्वकालमेवेति ।

दीनान्धकृपणा ये तु, व्याधिग्रस्ता विशेषतः ।
निःस्वाः क्रियाऽन्तराशक्ताः,एतद्वर्गो हि मीलकः॥१२३॥

दीनान्धकृपणा'—दीना -क्षीणसकलपुरुषार्थशक्तय अन्धा. नयनरहिता कृपणा -स्वभावत एव सता कृपास्थानम् । ये तु ये च.व्याधिग्रस्ताः-कुष्ठाऽऽद्यभिभूता., विशेषतोऽत्यन्तम्, तथा-नि.स्वा-निर्धनाः । कीदृशा एत इत्याह-"क्रियाऽन्तराशक्ताः" निर्वाहहेतुव्यापारान्तरासमर्था इति प्राणिविशेषा । किमित्याह-' एतद्वर्ग " दीनाऽऽदिवर्गो य प्रागुद्दिष्ट., हि पादपूरणार्थ , मीलकः दीनाऽऽदीनामेवेति ।

" विधिवत् " ( १२१ ) इत्युक्तमथ तदेव व्याचष्टे—

दत्तं यदुपकाराय, द्वयोरप्युपजायते ।
नाऽऽतुरापथ्यतुल्यं तु, तदेतद्विधिवन्मतम् ॥ १२४ ॥

दत्त-वितीर्णम्, यदन्नादि उपकाराय—अनुग्रहाय, द्वयोरपि दायकग्राहकयोरुपजायते, न पुनरेकस्यैवेत्यपिशब्दार्थ । व्यतिरेकमाह-न-नैव,आतुरापथ्यतुल्यं तु-ज्वराऽऽदिरोगविधुरस्य घृताऽऽदिदानसदृश पुनः यन्मुसलहलाऽऽदि तद्दायकग्राहकयारपकारि, एतदुक्त विधिवन्मतमभीष्टम् ।

दानाऽऽदीनामपि प्रकारान्तरेण पूजात्वमेव । अथ दानमेव स्तुवन्नाह—

धर्मस्याऽऽदिपदं दानं, दानं दारिद्र्यनाशनम् ।
जनप्रियकरं दानं, दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥ १२५ ॥

धर्मस्य-श्रेयोरूपस्य, आदिपदं प्रथमस्थानम् , दानमुक्तलक्षणम् , दानं दारिद्र्यनाशनम् , इहपरभवयोर्लाभान्तरायकर्मोपघातेन विशिष्टलाभसंभवाद्दौर्गत्यापोहकारि जनप्रियकरं लोकसन्तोषहेतुर्दानम् , दानं कीर्त्यादिवर्धनं कीर्तिः स्वचित्तसन्तोषजनसौभाग्याऽऽदिवृद्धिहेतु., यदत्र पुनः पुनर्दानशब्दोच्चारणं तदत्यन्तःऽऽदरणीयताख्यापनार्थमिति । यो० बिं० ।

ईसरतलवरमाडं-बियाण सिवइंदखंदविण्हूणं ।
जा किर कीरइ पूया, सा पूया दव्वतो होइ ॥ ३१५ ॥

ईश्वरश्च-द्रव्यपतिः, तलवरश्च—प्रभुस्थानीयो नगराऽऽदिचिन्तक , मडम्बं—जलदुर्गं,तस्मिन् भवो माडम्बिक',तद्धोक्ता, स च. ईश्वरतलवरमाडम्बिकास्तेषा, तथा शिवश्च शम्भुरिन्द्रश्च—पुरन्दर , स्कन्दश्च—स्वामिकार्त्तिकेय', विष्णुश्च—वासुदेव. शिवेन्द्रस्कन्दविष्णवस्तेषां , या किल क्रियते पूजा सा पूजा द्रव्यतो द्रव्यनिक्षेपमाश्रित्य भवति । द्रव्यपूजेति योऽर्थ . किलशब्दस्त्विहापारमार्थिकत्वख्यापकः, द्रव्यतोऽपि हि भावपूजाहेतुरेव पूजोच्यते, इयं तु द्रव्यार्थमप्रधाना वा पूजेति द्रव्यपूजा , अतोऽपारमार्थिक्येव , एतदभिधानं तु द्रव्यशब्दस्यानेकार्थत्वसूचकमिति गाथाऽर्थः ।

भावपूजामाह—

तित्थगरकेवलीणं, सिद्धाऽऽयरियाण सव्वसाहूणं ।
जा किर कीरइ पूया, सा पूया भावतो होइ ॥ ३१६ ॥

तीर्थकराश्च-अर्हन्त , केवलिनश्च-सामान्येनैवोत्पन्नकेवला' अतीर्थकरकेवलिनस्तेषां, सिद्धाऽऽचार्याणां प्रतीतानां, तथा सर्वसाधूनां च ?-या किल क्रियते-विधीयते पूजा सा पूजा भावतो—भावनिक्षेपमाश्रित्य भवति, किलशब्दः परोक्षाऽऽप्तवादसूचक । तीर्थकराऽऽदिपूजा हि सर्वाऽपि क्षायोपशमिकाऽऽदिभाववर्तिन एव भवतीति भावपूजैव, यत्तु पुष्पाऽऽदिपूजाया द्रव्यस्तवत्वमुक्तं तद् द्रव्यैः -पुष्पाऽऽदिभिः स्तव इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य सपूर्णभावस्तवकारणत्वेन वेति गाथाऽर्थ. ।

सम्प्रति प्रस्तुतोपयोग्याह—

जे किर चउदसपूव्वी, सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा ।
जा तेसिं पूया खलु,सा भावे ताएँ अहिगारो ॥ ३१७ ॥

ये प्राग्वत् , किलेति वाक्यालङ्कारे, चतुर्दशपूर्विणश्चतुर्दशपूर्वधरा. सर्वाणि समस्तानि यान्यक्षराणि अकाराऽऽदीनि तेषां सन्निपातनं—तत्तदर्थाभिधायकतया साङ्गत्येन घटनाकरणं सर्वाक्षरसन्निपात., स विद्यतेऽधिगमविषयतया येषां तेऽमी सर्वाक्षरसन्निपातिनः निपुणा -कुशला , या तेषां चतुर्दशपूर्विणां पूजा उचितप्रतिपत्तिरूपा,उपलक्षण चेयं शेषबहुश्रुतपूजायाः, प्राधान्याख्यापनार्थं एषोपादानं, खलु निश्चित, सा भावे—भावविषया, तया—बहुश्रुतपूजालक्षणया भावपूजयेहाऽधिकार. प्रकृतमिति गाथाऽर्थ । इत्युक्तो नामनिष्पन्नि

क्षेपः । उत्त० ११ अ० । 'एहवणविलेवण' इति गाथात्रये ध्वजाऽष्टमङ्गलकौ न दृश्येते, साम्प्रतं तु ध्वजाऽवसरे तु तौ क्रियेयातां, तत्र किं कारणमिति प्रश्ने, उत्तरम्—"एहवणविलेवण" इत्यादिगाथामध्ये ध्वजाऽष्टमङ्गलकयोरुपलक्षणेन च ग्रहणं बोध्य, यत आत्मीयानामवच्छिन्नपरम्परागतः स्नात्राऽऽदिविधिर्निर्मूलो न भवतीति सम्भाव्यते इति । सेन० २ उल्ला० । सप्तदशभेदपूजाकरणं दिवसे शुद्धयति, किं वा रात्रावपीति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तदशभेदपूजाकरणं दिवस एव शुद्धयति, न तु रात्रौ । तीर्थाऽऽदौ तु यत् कदाचित् पूजाकरण तत्तु कारणिकमिति । ११६ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा सप्तदशभेदपूजायां क्रियमाणायां पूजा पूजां प्रति स्थालीमध्ये कलशो ध्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पूजां पूजां प्रतिस्थालीमध्ये कलशो धरणीय एवंविधनियमो ज्ञातो नास्ति । यदा यद्वस्तुनः पूजा तदा तद्वस्तुमोचनप्रवृत्तिः स्थालीमध्ये दृश्यत इति । २११ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । चतुर्दशीपूजां कृत्वा स्थालीमध्ये प्रदीपं मुक्त्वा ऊर्द्धस्था मायन्ति, किं तत्र प्रदीपाधिकारोऽस्ति, अथवा-नास्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-चतुर्दशीपूजातः पश्चात्स्थालीमध्ये प्रदीपो मुच्यते एवेति ज्ञातो नियमो नास्तीति । २१२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । साधूनां भावपूजाकथिनाऽस्ति, प्रतिष्ठाऽऽदावञ्जनशलाकाकरणे तु द्रव्यपूजा जायते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-साधूनां बाहुल्येन भावपूजा, श्राद्धानां च बाहुल्येन द्रव्यपूजा कथिताऽस्ति परमत्रैकान्तो ज्ञातो नास्ति । यतः श्रीस्थानाङ्गसूत्रे—"पूए नामेगे पूजावेइ" इति चतुर्भङ्गिकाऽस्ति, एतस्या अर्थकरणे यतीनामेकान्तद्रव्यपूजानिषेधो ज्ञातो नास्ति, यतोऽङ्गरागेण यतिपतीनां पूजा क्रियते, साऽपि द्रव्यपूजा भवतीति । ४४७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । अथ ग० माणिक्यविजयकृतप्रश्नौ तदुत्तरे च-यथा श्राद्धः स्वहस्तेन पुष्पाणि त्रोटयित्वा पूजा करोतीति कुत्र ग्रन्थेऽस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-श्रीशान्तिनाथचरित्रे श्राद्धो वाटिकात स्वयं पुष्पाणि गृहीत्वा पूजां करोतीत्यक्षराणि दृश्यन्ते । ४७५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । श्राद्धोऽभिमानेनान्यपूजास्पर्द्धया वा सप्तदशभेदपूजा करोति, तस्य किं फलं भवतीति प्रश्ने, उत्तरम्-मुख्यवृत्त्याऽभिमानाऽऽदिकं विना केवलवीतरागभक्त्या पूजा क्रियते, यदि कश्चिदभिमानाऽऽदिना पूजा करोति तदा तस्य न तथाविधं फलमिति । ४६२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । त्रिकालवेलायां पूजा या क्रियते सा त्रिकालपूजा कथ्यते, कारणविशेषे तु न्यूनाधिककालेऽपि कृता सैव कथ्यते इति । सेन० ४ उल्ला० । त्रिकालपूजाकरणे प्रभाते पुष्पमालाऽऽदिनिर्माल्यमपास्य सर्वस्नानेन वासपूजा क्रियते, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-प्रभाते पुष्पमालाऽऽदिनिर्माल्यमनपास्य श्राद्धा वासपूजा कुर्वन्तो दृश्यन्ते, सर्वस्नानकरणेऽप्येकान्तो ज्ञातो नास्ति, हस्तपादप्रक्षालनेन शुद्धयतीति । ३६७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

पूयाइ-पूजाऽऽदि-पुं० । पूजासत्कारप्रभृतौ, पञ्चा० ८ विव० ।

पूयाकम्म-पूजाकर्मन्-न० । पूजाया. कर्म पूजाकर्म । पूजाक्रियायाम्, पूजैव कर्म । कृतिकर्मणि आव० ३ अ० । ( पूजाकर्मापि द्विधा 'किइकम्म' शब्दे तृतीयभागे ५०८ पृष्ठेऽस्ति )

पूयापणिहाण-पूजाप्रणिधान-न० । पूजा-अर्चनं तत्र प्रणिधानम् । पूजां करोमि इत्येवंविधे ऐकाग्र्ये, पञ्चा० ४ विव० ।

पूयापच्चासग-पूजापञ्चाशक-न० । पूजाप्रतिपादके हरिभद्रसूरिविरचिते पञ्चाशद्गाथाऽऽत्मके ग्रन्थे, "विहिणा उ कीरमाणा, सव्वा वि अ फलवई भवे चेट्ठा । इहलोइया वि किं पुण, जिणपूआ उभयलोगहिआ ॥ १ ॥" ध० २ अधि० ।

पूयाभत्त-पूजाभक्त-न० । पूज्यानामर्थाय निष्पादिते पूज्येभ्यः प्रदत्ते भक्ते, बृ० ।

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए णिसट्ठे पाडिहारिए तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २५ ॥

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्धः ?, इत्याह—

दव्वे छिण्णमछिण्णं, न कप्पते कप्पए य इति वुत्तं ।
इदमन्ने पुण भावे, अव्वोच्छिन्नम्मि पडिसिद्धं ॥३५५॥

द्रव्यत.—छिन्नं-विभक्तं सदंशिकाद्रव्यं कल्पते तदेवाच्छिन्नमविभक्तं न कल्पते इति प्रोक्तम् । इदं पुनरन्यस्मिन् सूत्रे सागारिकस्याव्यवच्छिन्ने भावे प्रतिषिद्धं, न कल्पते इत्यर्थः ।

अविसेसिओ व पिंडो, हेट्ठिमसुत्तेसु एसमक्खातो ।
इह पुण तस्स विभागो, सो पुण उवकरण भत्तं वा ॥३५६॥

अथवा-अधस्तनसूत्रेषु अविशेषितो भागरहित एव सागारिकपिण्ड आख्यातः, इह पुनः-प्रस्तुतसूत्रे तस्य सागारिकपिण्डस्य विभाग उच्यते । कथमित्याह-स पुनः-पिण्ड उपकरणं वा भवेत्, भक्तं वा । इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य ( २५ सूत्रस्य ) व्याख्या—सागारिकस्य ये पूज्याः स्वामिकलाऽऽचार्याऽऽदयस्तदर्थं भक्तमशनाऽऽदि पूज्यभक्तम् । तत्रोद्देश.-संकल्पस्तेन निर्वृत्तमौद्देशिकं, तानेव पूज्यानुद्दिश्य कृतमित्यर्थ. । ततस्तेषामेव प्राभृतिकायां तं चेतति, ढौकनीकृतमुपनीतमिति भावः । तथा सागारिकस्योपकरणजातं वस्त्रं कम्बलाऽऽदिकं पूज्यानामर्थाय निष्ठितं-निष्पादितं, ततो निसृष्टं पूज्येभ्यः प्रदत्तं, तच्च-भक्तमुपकरणं, यतिभ्य. प्रातिहारिकदत्तं भक्तावशेषं सदिदं भूयोऽप्यस्माकं प्रत्यर्पणीयमिति भावः । तदेवंप्रकार संयतानां सागारिको वा दद्यात्, सागारिकस्य परिजनो वा दद्यात्, किं कल्पते न वेत्याह—तस्मात् पूज्यभक्तात् पूज्योपकरणाद्वा प्रातिहारिकं दद्यात्, परं न कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सूत्राऽर्थः ॥ २५ ॥

अथ भाष्यम्—

संबंधी सामि गुरू, पासंडी वा वि तं समुद्दिस्स ।
पूया भक्तिवत्तं ति य, पहुगभत्तं च एगट्ठा ॥ ३५७ ॥

सागारिकस्यैव यः सम्बन्धी पितृव्यमातुलाऽऽदिर्यो वा तस्य स्वामी प्रभुर्गुरुर्वा कलाऽऽचार्यः, यस्य वा पाखण्डिनो भक्तिः स पूज्य उच्यते, तं समुद्दिश्य कृतं तत्पूज्यभक्तमुच्यते, तत्र भेदपर्यायैर्व्याख्या निर्वचनादेकार्थिकान्याह-पूज्यभक्तम्, उत्क्षिप्तभक्तं, पट्टकभक्तम्, एतान्येकार्थानि पदानि ।

चेइय कडमेगट्ठं, पाहुडिय पहेणगं च एगट्ठा ।
उवगरणं वत्थादी, जाव विभागो उ जोगं वा ॥ ३५८ ॥

चेतितं, कृतं चेत्येकार्थः । प्राभृतिका प्रहेणकमिति एकार्थे । उपकरणं-वस्त्राऽऽदिकं, वस्त्रं, चेह क्षौमिकं गृह्यते, तच्च परिधाने प्रावरणे वा पूज्यानां दातव्यम् । आदिग्रहणात्पादखण्डन. प्रतिग्रहो वा कम्बलं वा, एकादशप्रतिमां प्रतिपित्सोर्वा रजोहरणं दातव्यम् । एवमादिको यावान् विभागो घटते, यद्वा-यद्यस्योपकरणं योग्यं तद्वक्तव्यम् ।

निट्ठिय कड च उक्को-सऋं च दिण्णं तु जाणसु णिसट्ठं ।
भुत्तुव्वरियं पडिहा-रितं तु इयरं पुणो चत्तं ॥ ३५९ ॥

निष्ठित कृतमित्येकोऽर्थ, यद्वा—यदुत्कृष्टं वस्त्राऽऽदि आप्तमितिकृत्वा निष्ठितमुच्यते । यत्तु दत्तं तन्निसृष्टं जानीहि । भुक्तोद्वरितं भूयोऽस्माकं प्रत्यर्पणीयमिति यत्प्रतिज्ञात तत्प्रातिहारिकम्; इतरत्पुनरप्रातिहारिकं सागारिकेण भक्तमुपकरणं वा यत् त्यक्त, निर्दयतया दत्तमित्यर्थः । एवंविधं प्रातिहारिकदत्त शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा न गृहीतव्यम् ।

सूत्रम्—

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए० जाव पाडिहारिए, तं नो सागारियस्स परिजणो देज्जा, सागारियस्स पूया देज्जा, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २६ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरम् अन्यं न सागारिकजनो दद्यात् किं तु सागारिकस्य पूज्यः संबन्धी स्वाम्यादिर्दद्यात्,तथापि न कल्पते, प्रातिहारिकतया दत्तमितिकृत्वा सागारिकपिण्ड त्वात् ।

सूत्रम्—

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइयाए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ २७ ॥

अयमप्रातिहारिकतया सागारिकपिण्डो न भवति, परं सागारिकस्तत्परिजनो वा ददातीति कृत्वा प्रक्षेपकाऽऽदिदोषसद्भावान्न कल्पते ।

सूत्रम्—

सागारियस्स पूयाभत्ते०जाव अपाडिहारिए तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परियणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२८॥

अत्र सागारिकेण दत्तं तत्पूज्योऽप्रातिहारिकं ददातीति कृत्वा कल्पते, पर द्वितीयपदे, नोत्सर्गतः ।

यत आह—

पूयाभत्ते चेतिएँ, उवकरणे णिट्ठिते णिसट्ठे य ।
तं पि न कप्पति घेत्तुं, पक्खेवगमादिणो दोसा ॥३६०॥

पूज्यानामर्थाय यद्भक्त चेतितं-कृतं, यच्चोपकरणं निष्ठितं, तत्तेभ्यो निसृष्टमप्रातिहारिकतया प्रदत्तं, तदपि न कल्पते ग्रहीतुं, प्रक्षेपकाऽऽदयो दोषा भद्रकप्रान्तकृता अभूवन्निति । बृ० २ उ० ।

पूयारिह-पूजाऽर्ह-त्रि० । पूजामर्हतीति पूजाऽर्हः । पूजयितुमर्हे, आ० म० १ अ० ।

पूयाविहि-पूजाविधि-पुं० । पूजाप्रतिपादके स्वनामख्याते ग्रन्थे, ध० २ अधि० ।

पूयासक्कार-पूजासत्कार-पुं० । पूजा स्तवाऽऽदिरूपा तत्पूर्वका सत्कारो वस्त्राभ्यर्चनम् । पूजायां वा आदरः पूजासत्कारः । स्तवाऽऽदिरूपे सत्कारे स्था० ६ ठा० ।

पूयासक्कारथिरीकरणट्ठया – पूजासत्कारस्थिरीकरणार्थता-स्त्री० । पूजासत्कारयोः पूर्वप्राप्तयोः स्थिरताहेतौ, अस्थिरयोः पूजासत्कारयोः स्थिरीकरणार्थे, भ० १५ श० ।

पूयासक्कारलाभट्ठि (ण्)-पूजासत्कारलाभार्थिन्-त्रि० । पूजाऽऽद्यर्थं क्रियासु प्रवर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

पूयाहज्ज-पूजाऽऽहार्य-त्रि० । पूजिनपूजके,स्था०५ ठा०३उ० ।

पूर-पूरि-धा० । पृ-णिच् । पूरणे, "पूरेः अग्घाडाग्घवोद्घुमाऽऽङ्गुमाहिरेमाः" ॥ ८।४।१६९ ॥ इति पूरेरग्घाडाऽऽद्यः पञ्चाऽऽदेशाः । अग्घाडइ । उग्घवइ । उद्धुमइ । अङ्गुमइ । अहिरेमइ । पूरइ । पूरयते । प्रा० ४ पाद ।

पूर-पुं० । पूरणे,स्था० ४ ठा० ४ उ० । नदीप्रवाहे,बृ० ४ उ० ।

पूरंतिया-पूरयन्तिका-स्त्री० । पर्षद्भेदे, सा च यदा राजा निर्गच्छति तस्मिन् निर्गते यः कोऽपि महान् जनः स सर्वोऽपि राज्ञो ढौकते यावद् गृहं नायाति, सा पर्षद् पूरयन्तिका । बृ० १ उ० १ प्रक० ।

पूरग-पूरक-पुं० । पूरयतीति पूरक । आ० चू० १ अ० । अन्तर्वृत्तौ प्राणायामे, द्वा० २२ द्वा० ।

पूरण-पूरण-न० । पूरेः ल्युट् । पालने,पारगमने "पारणं ति वा पूरणं ति वा पालणं ति वा पारगमणं ति वा एगट्ठा ।" आ० चू० ५ अ० । पूरयतीति पूरणः । पूरके, त्रि० । चमरस्य सुरेन्द्रस्य पूर्वभवजीवे, जम्बूद्वीपे भारते वर्षे विन्ध्यगिरिपादमूले बेभेलसन्निवेशे जाते गृहपतौ, भ० ३ श० २ उ० । उपा० । ( 'चमर' शब्दे तृतीयभागे ११२२ पृष्ठे कथोक्ता ) दशानां दशाङ्गीयानामष्टमे, अन्त० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । सूर्ये, दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा । सलिलावतीविजये वीतशोकायां राजधान्यां नृपस्य बलस्य धारण्यां जाते पुत्रे च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पूरयंत-पूरयत्-न० । शब्दव्याप्तं कुर्वन्नित्यर्थः । तत्रिमितं, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

पूरित्तए-पूरयितुम्-अव्य० । पूरणं कर्तुमित्यर्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

पूरिगा-पूरिका-स्त्री० । पूर्यते स्तोकैरपि तन्तुभिः पूर्णा भवतीति पूरिका । स्थूलगुणमयपटे, जीत० । बृ० ।

पूरिम-पूरिम-न० । पूरेण पूरणेन निर्वृत्तं पूरिमम् । मृण्मये अनेकच्छिद्रवंशशलाकाऽऽदिपञ्जरे च । पत्रपुष्पे पूर्यते । स्था०४ठा०

४ उ०।येन वंशशलाकाऽऽदिमयपञ्जराऽऽदि पूर्यते।रा०। यच्छुषिछद्रे निवेशेन पूर्यते। जं० १ वक्ष०। जी०। येन कूर्ताऽऽदि वा पूर्यते।ज्ञा०१श्रु० १ अ० ।दशा० ।आचा० । पित्तलाऽऽदिमयप्रतिभावद्धरिमे पदार्थे, ग० २ अधि० ।अनु० । ज्ञा० । आचा० ।

पूरिमा-पूरिमा-स्त्री० । गान्धारग्रामस्य तृतीयमूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

पूरी-देशी—तन्तुवायोपकरणे,दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा।

पूरोट्टि-देशी—अवकरे, दे० ना० ६ वर्ग ५७ गाथा।

पूलिय-पूलित-न० । तृणसमुदायग्रन्थौ, नि०चू० १ उ० ।

पूव-पूप-पुं० । अपूपे, (पुआ) बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पूवलग-पूपलग-पुं० । मिष्टपूपे, नि० चू० १ उ० ।

पूवलिकाखायय-पूपलिकाखादक-पुं० भाषणवेलायां चवचवाशब्दकारके,बृ० १ उ० ३ प्रक० । (पूपलिकाखादकस्य स्वरूपम् 'पडिबद्धसिज्जा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३३० पृष्ठे गतम् )

पूविगा-पूपिका-स्त्री० । तिलमोदके, नि० चू० १६ उ० ।

पूस-पुष्य-पु । "लुप्त य र व श ष स ां श ष सां दीर्घ" ॥८ । १ । ४३॥ इति लुप्तसकारस्योपूर्वस्य दीर्घः । प्रा० १पाद । बृहस्पतिदेवताके नक्षत्रभेदे,अनु० । स्था०। "दो पूसा"। स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्यो० । सातवाहन-शुकयोः,दे०ना० ६ वर्ग ८० गाथा।

पूषन्-पुं० । सूर्ये,स्वनामख्याते देवविशेषे,जं० ७ वक्ष०। ति० ।

पुष-धा० । पुष्टौ, "रुषाऽऽदीनां दीर्घः" ॥८ । ४ । २३६ ॥ इति पुषो दीर्घः । 'पूसइ ।' पुष्यति । प्रा० ४ पाद ।

पूसअ-पूष्यक-पु० । शुके, "कणइल्लो पूसओ कीरो ।" पाइ० ना० १२५ गाथा ।

पूसगिरि-पुष्पगिरि-पुं० । गिरिभेदे, कल्प० १ अधि०१क्षण ।

पूसफली-पुष्पफली-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पूसमाणव-पुष्पमाणव-पुं०। नग्नाऽऽचार्ये,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । मागधे, कल्प० १ अधि० ५ क्षण । जं० । भ० ।

पूसमित्त-पुष्पमित्र-पुं० । तगरायां नगर्यां कस्यचिदाचार्यस्य स्वनामख्याते शिष्ये, व्य० ३ उ० । सद्दवर्धननगरराजमुण्डिपकाराजोपदेशकवसुभूत्याचार्यशिष्ये, बहुश्रुते, आ० चू० ४ अ० । आर्यरक्षितसूरिशिष्ये, तद्गच्छे हि त्रयः पुष्पमित्राः-दुर्बलिकापुष्पमित्रः, वस्त्रपुष्पमित्रः, घृतपुष्पमित्रश्चेति । आव० १ अ० । आ० चू० । थूणानामसन्निवेशजाते ब्राह्मणविशेषे वीरजिनपूर्वभवजीवे, आ० चू० १ अ० ।

पूसमित्तिय-पुष्पमित्रीय-पुं० । स्थविराद्धारितसगोत्रान्निर्गतस्य चारणगणस्य चतुर्थे कुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

पूसाण-पूषन्-पुं० । "पुंस्यन आणो राजवच्च" ॥ ८ ॥३ ॥ ५६॥ इति पुंल्लिङ्गे वर्तमानस्यान्नन्तस्य स्थाने आणाऽऽदेशः। 'पुसाणो ।' सूर्ये, प्रा० ३ पाद ।

पेअवण-प्रेतवन-न० । श्मशाने, " पेअवणं पिउवणं मसाणं च ।" पाइ० ना० १५८ गाथा ।

पेआल-देशी-प्रमाणे, दे० ना० ६ वर्ग ५७ गाथा ।

पेआहिव-प्रेताधिप-पु० । यमे, " पेआहिवो कयंतो, कीणासो अंतओ जमो कालो । " पाइ० ना० २४ गाथा ।

पेंड-देशी-खण्डवलययोः, दे० ना० ६ वर्ग ८१ गाथा ।

पेंडअ-देशी-तरुणे, षण्डे, दे० ना० ६ वर्ग ५३ गाथा ।

पेंडधव-देशी-खड्गे, दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा ।

पेंडवाल-देशी-पिण्डीकृतार्थे, दे० ना० ६ वर्ग ५४ गाथा ।

पेंडल-देशी-रसे, दे० ना० ६ वर्ग ५८ गाथा ।

पेंडार-देशी-गोपे, देवराजस्य महिषीपाले, दे० ना० ६ वर्ग ५८ गाथा ।

पेंढा-देशी-मथे, दे० ना० ६ वर्ग ५० गाथा ।

पेइयंग-पैतृकाङ्ग-न० । शुक्रविकारबहुले शरीराङ्गे, भ० ।

कइ णं भंते ! पेइयंगा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तओ पेइयंगा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठिअट्ठिमिंजाकेसमंसु (श्मश्रु) रोमनहे ।

( पेइयंग त्ति ) पैतृकाङ्गानि, शुक्रविकारबहुलानीत्यर्थः । ( अट्ठिमिंज त्ति ) अस्थिमध्यावयवः, केशाऽऽदिकं बहुसमानरूपत्वादेकमेव। उभयव्यतिरिक्तानि तु शुक्रशोणितयोः समविकाररूपत्वात् पितृमात्रोः साधारणानीति। भ०१ श०७ उ०।

पेऊस-पीयूष-न० । " इत्पीयूषाऽऽपीड-विभीतक-कीदृशेदृशे" ॥ ८ । १ ॥ १०५॥ इतीत इत्वम् । 'पेऊसं ।' अमृते, प्रा० १ पाद ।

पेक्खण-प्रेक्षण-न० । दृशिरुत्प्रेक्षणे । प्रत्यक्षस्य प्रकृष्टे वेक्षणे, प्रा० ४ पाद ।

पेक्खिदुं-प्रेक्षितुम्-अव्य० । द्रष्टुमित्यर्थे, "अमच्चलक्खणं पेक्खिदु इदाण्व आगअद्धि "। ( ३०२ सूत्र ) प्रा० ४ पाद ।

पेक्खिय-प्रेक्षित-त्रि० । प्रत्युपेक्षिते, नि० चू० २ उ० । अवलोकने, व्य० १० उ० । स्था० ।

पेच्च-प्रेत्य-अव्य० । जन्मान्तरे, आचा० १ श्रु० १ अ० । परलोके, विशे० । सूत्र० ।

पेच्चभव-पेत्यभव-पु०। जन्मान्तरे,ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशे० । (अथ विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविशति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यादिवेदवाक्यजनितसन्देहभाज इन्द्रभूते 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १७६ पृष्ठे समाधानम् )

पेच्चभाव-प्रेत्यभाव-पुं० । संसारे, स्था० । परलोकसद्भावे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

पेच्चभाविय-प्रेत्यभाविक-त्रि० । प्रेत्य—जन्मातरे भवति शुद्धफलतया परिणमयतीत्येवंशीलं प्रेत्यभाविकम् । जन्मान्तरे शुभफलजनके, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

पेच्चसण्णा-प्रेत्यसंज्ञा-स्त्री० । मृत्वा पुनर्जन्मनि, आ० म० १ अ० ।

पेच्छ-दृश्-धा० । प्रेक्षणे, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौ अक्खावक्खावअक्ख-पुलोए-पुलए-निआवआस-पासाः " ॥ ८ । ४ । १८१ ॥ इति दृशेः पेच्छाऽऽदेशः । ' पेच्छइ । ' पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

पेच्छअ-देशी-दृष्टमात्राभिलाषिणि, दे० ना० ६ वर्ग ५८ गाथा।

पेच्छंत-प्रेक्षमाण-त्रि० । पश्यति, प्रा० ४ पाद ।

पेच्छक-प्रेक्षक-त्रि० । दर्शके, आव० ४ अ० ।

पेच्छण-प्रेक्षण-न०। नानाविधवंशखेलकाऽऽदिसंबन्धिनि कौतुकदर्शने,प्रश्न० ४ संव० द्वार । प्रेक्षणके,ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

पेच्छणग-प्रेक्षणक-न० । प्रेक्षाविधौ, "पेच्छणगा वि णट्टाईं ।" पञ्चा० ६ विव० ।

पेच्छणघरग-प्रेक्षणगृहक-न०। प्रेक्षणं प्रेक्षणकम् , तद्गृहम् । ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । प्रेक्षणकभवने, यत्राऽऽगत्य प्रेक्षणकानि विदधति निरीक्षन्ते च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज० । रा० । स्था० । आ० म० ।

पेच्छणघरमंडव-प्रेक्षणगृहमण्डप-पुं० । प्रेक्षाभवनमण्डपे,रा०।

पेच्छणिज्ज-प्रेक्षणीय-त्रि० । द्रष्टव्ये, "उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा ।" सौभाग्यातिशयादुत्तानिकैरनिमिषितैर्नयनैः-लोचनैः प्रेक्षणीया । औ० ।

पेच्छा-प्रेक्षा-स्त्री० । प्रेक्षणके, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

पेच्छाघरमंडव-प्रेक्षागृहमण्डप-पुं० । प्रेक्षा प्रेक्षणं, तदर्थं गृहरूपा मण्डपाः प्रेक्षागृहमण्डपाः । स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रेक्षणकगृहकेषु,यत्राऽऽगत्य प्रेक्षणकानि विदधति निरीक्षन्ते च । रा० । ज० ।

पेच्छिऊण-प्रेक्ष्य-अव्य० । दृष्ट्वेत्यर्थे, "पेच्छिऊण कीलंतं ।" पञ्चा० ७ विव० ।

पेज्ज-प्रेमन्-न० । प्रियस्य भावः कर्म वा प्रेम । अनभिव्यक्तमायालोभस्वभावे अभिष्वङ्गमात्रे, दशा० ६ अ० । स्नेहविशेषे, प्रव० ४१ द्वार । स्था० । ज्ञा० । "एगे पेज्जे ।" स्था० १ ठा० । पुत्रकलत्रधनधान्याऽऽद्यात्मीयेषु रागे, भ० १२ श० ५ उ० । स्था० । दर्श० । सूत्र० । स चानर्थहेतुरिति उक्तम्-"रागः संपाद्यमानोऽपि,तापयत्येव देहिनम् । कोटरस्थो*ज्वलन्नरण्ये, दावानल इव द्रुमम् ॥ १ ॥" दर्श० १ तत्त्व । *यथा दीसो,

संदंसणेण पीई, पीई उ रई रई उ वीसंभो ।
वीसंभाओ पणओ, पंचविहं वड्ढए पेज्जं ॥

संदर्शनेनोभयोरपि प्रथमतः प्रीतिरुपजायते, ततः प्रीत्या रतिः-चित्तविश्रान्तिः, रतेश्च विश्रम्भो-विश्वासः,विश्वासाच्च मिथः कथादि कुर्वतोः प्रणयोऽशुभे रागो जायते,एवं पञ्चविधं पञ्चभिः प्रकारैः प्रेम वर्द्धते । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

प्रेयस्-त्रि० । अतिशयेन प्रिये,औ० । प्रकर्षेण वा इज्या पूजाऽस्येति प्रेज्यम् । पूज्ये, औ० ।

प्रेदर्य-त्रि० । नेतव्ये, औ० ।

पेय-त्रि० । "वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्ज "॥ ८ । १ ॥ २४८॥ इति यस्य ज्जः । प्रा० १ पाद । जलमद्यदुग्धाऽऽदौ,ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । प्रश्न० । पातव्यपदार्थे, वाच० ।

पेज्जदोसाणुगय-प्रेमद्वेषानुगत-त्रि० । प्रेमद्वेषाभ्यामनुगतः । उत्त० पाई० ४ अ० । रागद्वेषानुगते, उत्त० ४ अ० ।

पेज्जबंधण-प्रेमबन्धन-न० । बन्धभेदे, प्रेम्णः प्रेमलक्षणविकारसम्पादकमोहनीयकर्म्मपुद्गलराशेर्बन्धनं जीवप्रदेशेषु योगप्रत्ययतः प्रकृतिस्वरूपतया प्रदेशरूपतया च सम्बन्धनम्। तथा-कषायप्रत्ययतः स्थित्यनुभागविशेषाऽऽपादनं च प्रेमबन्ध । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पेज्जवत्तिया-प्रेम(वृत्तिका)प्रत्यया-स्त्री० । प्रेम-रागो वृत्तिर्वर्त्तनरूपः प्रत्ययो वा हेतुर्यस्याः सा प्रेमवृत्तिका, प्रेमप्रत्यया वा । स्था० । मूर्छाभेदे, मूर्छा द्विविधा-" पेज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया चेव । पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा पन्नत्ता । माए चेव,लोभे चेव ।"स्था०२ठा०४ उ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने) रागप्रत्ययायां क्रियायाम् , स्था० ५ ठा० २ उ० । आव० । "पेज्जं नाम" राग इत्यर्थः । अथवा-"त वयणं उदाहरति,करेति वा, जेण परस्स रागो भवति ।" आ० चू० ४ अ० ।

पेज्जविहि-पेयविधि-पुं० । पेयाऽऽहारप्रकारे, उपा० १ अ० ।

पेज्जल-देशी-वैपुल्ये, दे० ना० ६ वर्ग ७ गाथा

पेट्ट-पेट्ट-न० । उदरे, दर्श० १ तत्त्व ।

पेडइअ-देशी-कणाऽऽदिविक्रेतरि वणिजि, दे० ना० ६ वर्ग ५६ गाथा ।

पेडा-पेटा-स्त्री० । मञ्जूषायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । जनप्रतीते वंशदलमय वस्त्राऽऽदिस्थाने सा च चतुरस्रा भवति ततश्च साधुरभिग्रहविशेषाद्यस्यां गोचरचर्यायां ग्रामाऽऽदिक्षेत्रं पेटावच्चतुरस्रं विभजन्विहरति । तादृशि गोचरचर्याभेदे, स्था० ६ ठा० । बृ० । ग० । ध० । उत्त० । दशा० ।

पेड्डा-देशी-भित्ति द्वार महिषीषु, दे० ना० ६ वर्ग ८० गाथा

पेढ-पीठ-पुं० । "नीड पीठे वा" ॥ ८ । १ । १०६॥ इतीत्वम् । प्रा० १ पाद । "धातुपाषाणकाष्ठैश्च, त्रिविधः पीठ उच्यते " स्थानविशेषे, वाच० ।

पेढाइहर-पीठाऽऽदिधर-पुं० । कल्पपीठनिर्युक्तिज्ञातरि, पं० व० ४ द्वार ।

पेढाल-पेढाल-पुं० । दढभूमिनामकाक्षदेशीयजनपदीये, आव० १ अ० । "ततो सामी दढभूमिं गतो, तीसे बाहिं पेढालं नाम उज्जाणं, तत्थ पोलास नाम चेइयं" आव० १ अ० । "दढभूमी बहुमेच्छा, पेढालग्गाममागतो भयवं ।" दढभूमिर्नाम बहुम्लेच्छा, तत्र पेढाल नाम ग्रामं गतो भगवान् । आ० म० १ अ० । आ० चू० । आ० क० । चेटकदुहितुः सुज्येष्ठाया पुत्रस्य महेश्वरव्यन्तरत्वेन जनिष्यमाणस्य विद्याशिलके स्वनामख्यात विद्यासिद्धे, आव० १ अ० । भविष्यति भरतक्षेत्रजे अष्टमे जिने, प्रव० ७ द्वार । ती० । आव० । गोलाऽऽकारे, "पेढालनिअक्कलचट्टलाइं परिमंडलत्थम्मि ।" पाइ० ना० ८४ गाथा ।

पेढालपुत्त-पेढालपुत्र-पुं० । भरतक्षेत्रे आगामिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति अष्टमे जिने, स० ६ समः । ति० । पार्श्वापत्यीये स्वनामके स्थविरे, स्था० ६ ठा० । तेन सह गौतमर्षिसम्वाद इत्थं नालन्दीयेऽध्ययने उक्तम्-

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नाम नयरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे, वण्णओ-०जाव पडिरूवे । तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहि, उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ

णं णा(ना)लंदा*नामं बाहिरिया होत्था, अणेगभवणसयसन्निविट्ठा० जाव पडिरूवा ॥१॥ तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था. अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविपुलभवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइण्णे बहुधणबहुजायरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था ॥ २ ॥

सूत्रार्थस्त्वयम्-सप्तम्यर्थे तृतीया, यस्मिन्काले यस्मिन्नवसरे राजगृहं नगरं यथोक्तविशेषणविशिष्टमासीत्, तस्मिन् काले तस्मिंश्च समये इदमभिधीयते । राजगृहमेव विशिनष्टि-प्रासादाः संजाता यस्मिंस्तत्प्रासादितमाभोगमद्धा, अत एव दर्शनीयं-दर्शनयोग्यं दृष्टिसुखहेतुत्वात्, तथाऽऽभिमुख्येन रूपं यस्य तदभिरूपं तथा-अप्रतिरूपमनन्यसदृशं, प्रतिरूपं वा प्रतिबिम्बं वा स्वर्गनिवासस्य, तदेवंभूतं राजगृहं नाम नगरं 'होत्थ' त्ति, आसीत्, (तद्वर्णकः 'रायगिह' शब्दे वक्ष्यते) यद्यपि तत्कालत्रयेऽपि सत्तां बिभर्त्ति तथाऽप्यतीताऽऽख्यानकसमाश्रयणादासीदित्युक्तम् । तस्य च राजगृहस्य बहिरुत्तरपूर्वस्यां दिशि नालन्दा नामबाहिरिका आसीत्, सा चानेकभवनशतसन्निविष्टा—अनेकभवनशतसंकीर्णेत्यर्थः ॥ १ ॥ सूत्र ।

* ( नालन्दा चैवं व्युत्पाद्यते—प्रतिषेधवाचिनो नकारस्य तदर्थस्यैवालंशब्दस्य ' डुदाञ् दाने ' इत्येतस्य धातोर्मीलनेन नालं ददातीति नालन्दा । इदमुक्तं भवति-प्रतिषेधप्रतिषेधेन धात्वर्थस्यैव प्राकृतत्वं गमनात्सदाऽर्थिभ्यो यथाऽभिलषितं ददातीति नालंदा-राजगृहनगरबाहिरिका,तस्यां भवं नालन्दीयमिदमध्ययनं, अनेन चाऽभिधानेन समस्ताऽप्युपोद्घात उपक्रमरूप आवेदितो भवति-तत्स्वरूपं च पर्यन्ते स्वत एव निर्युक्तिकारः ' पासावच्चिज्जे ' इत्यादिगाथया निवेदयिष्यतीति ।

साम्प्रतं शब्दविनमलंशब्दस्य निक्षेपं नाद्यौ परित्यज्य कर्तुमाह—

णामअलं ठवणअलं, दव्वअलं चेव होइ भावअलं ।
एसो अलसद्दम्मि उ, निक्खेवो चउविहो होइ ॥२०१॥

तत्र-समानोमाः प्रतिषेधवाचकाः । तद्यथा-अगौ अघट इत्यादि नकारः प्रायो द्रव्यस्यैव प्रतिषेधवाचीति अलं दानेन सहास्य प्रयोगाभावः, माकारस्तु गमनक्रियाया निषेधं विधत्ते, तद्यथा-मा कार्षीत्पापकार्यं, मामंस्थाः संकल्पानो, गुणश्रिश्चितविशेष पीतावीत्यादि । नोकारस्तु देशनिषेधे सर्वनिषेधे च वर्त्तते, तद्यथा-नोघटो घटैकदेशे घटैकदेशनिषेधेन, तथा हास्याऽऽस्यो नोकषायाः कषायमोहनीयैकदेशभूताः, नकारस्तु समस्तद्रव्यदेशयोः प्रतिषेधाऽभिधायी, तद्यथा-न द्रव्यं न कर्म न गुणोऽभावः, तथा नाकर्द, न ह-रामि, न करिष्यामीत्यादि । तथाऽन्यैरप्युक्तम्—

" न तैजसो याति न चाऽपि-हन्ति पदाभ्यसंयुक्तम् ।
... नृपं ... ... [illegible] ॥ १ ॥ "
२७।

किं चान्यत्—

" गतं न गम्यते ताव—दगतं नैव गम्यते ।
गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं तु गम्यते ॥ १ ॥ "

इत्यादि । तदेवमत्र नकारः प्रतिषेधविधायकोऽप्युपात्तः, अलंशब्दोऽपि यद्यपि ' अलंपर्याप्तिवारणभूषणेष्वपीति , त्रिष्वर्थेषु पठ्यते , तथाऽपीह प्रतिषेधवाचकेन नञा साहचर्यात्प्रतिषेधार्थ एव गृह्यते, तत्र चालंशब्दे नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधो निक्षेपो भवति, तत्र नामालम्-यस्य चेतनस्य अचेतनस्य वा अलमिति नाम क्रियते, स्थापनाऽलं तु - यत्र क्वचिच्चित्रपुस्तकाऽऽदौ पापनिषेधं कुर्वन्साधुः स्थाप्यते, द्रव्यनिषेधस्तु -नोआगमतो ज्ञशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्य चौराऽऽद्याहृतस्यैहिकापायभीरुणा यो निषेधः क्रियते स द्रव्यनिषेधः, एव द्रव्येण द्रव्याद् द्रव्ये वा निषेध. ॥ २०१ ॥

भावनिषेधं तु स्वत एव निर्युक्तिकारोऽलंशब्दस्य संभविनमर्थं दर्शयन्विभणिषुराह—

पज्जत्तीभावे खलु, पढमो बीओ भवे अलंकारे ।
ततितो उ पडीसेहे, अलसद्दो होइ नायव्वो ॥२०२ ॥

पर्याप्तिभावः—सामर्थ्यं, तत्राऽलंशब्दो वर्त्तते, अलं मल्लो मल्लाय, समर्थ इत्यर्थः , लोकोत्तरेऽपि " नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा "। अन्यैरप्युक्तम्-"द्रव्यास्तिकरथाऽऽरूढः, पर्यायोद्यतकार्मुकः । युक्तिसन्नाहवान् वादी, कुवादिभ्यो भवत्यलम् ॥ १ ॥ " अयं प्रथमोऽलंशब्दार्थो भवति, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, द्वितीयस्त्वर्थोऽलङ्कारे-अलङ्कारविषये भवेत्, सभावनायां लिङ्, तद्यथा—अलङ्कृतं देवदेवेन स्वकुलं जगच्च नाभिसूनुना इत्यादि । तृतीयस्त्वलंशब्दार्थः प्रतिषेधे ज्ञातव्यो भवति , तद्यथा—अलं मे गृहवासेन। तथा ' अलं पापेन कर्मणा । ' उक्तं च-" अलं कुतीर्थैरिह पर्युपासितै-रलं वितर्काऽऽकुलकाहलैर्मतैः। अलं च मे कामगुणैर्निषेवितै-र्भयंकरा ये हि परत्र चेह च ॥ २०२ ॥ "

(मूलसूत्र)(तत्थ) तस्यां च नालन्दायाम् लेपो नाम 'गृहपतिः' कुटुम्बिक आसीत् स चाऽऽढ्यो दीप्त -तेजस्वी 'वित्तः' सर्वजनविख्यातो विस्तीर्णविपुलभवनशयनाऽऽसनयानवाहनाऽऽकीर्णो बहुधनबहुजातरूपरजतः, आयोगाः-अर्थोपाया यानपात्रोष्ट्रमण्डलिकाऽऽदयः,तथा प्रयोजनं प्रयोगः—प्रायोगिकत्वं तैरायोगप्रयोगैः संप्रयुक्तः—समन्वितः, तथेनश्चैतस्य विक्षिप्तप्रचुरभक्तपानो बहुदास्याऽऽदिपरिवृतो बहुजनस्यापरिभूतश्चासीत्। तदियता विशेषणकदम्बकेनैहिकगुणाऽऽविष्करणेन द्रव्यसंपदभिहिता ॥ २ ॥

अधुनाऽऽमुष्मिकगुणाऽऽविर्भावेन भावसंपदभिधीयते—

से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था, अभिगयजीवाजीवे ०जाव विहरइ, निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे अट्ठिमिंजापेम्माणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे

अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पावयदुवारे चियत्तंतेउरप्परेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ ॥ ३ ॥

(से ण लेवे इत्यादि) णमिति वाक्यालङ्कारे, स लेपाऽऽख्यो गृहपतिः श्रमणान्—साधूनुपास्ते-प्रत्यह सेवत इति श्रमणोपासकः,तदनेन विशेपणेन तस्य जीवाऽऽदिपदार्थाऽऽविर्भावकश्रुतज्ञानसंपदावेदिता भवति, एतदेव दर्शयति—अभिगतजीवाजीवेत्यादिना ग्रन्थेन यावदसहायोऽपि देवासुराऽऽदिभिर्देवगणैरनतिक्रमणीय.—अनतिलङ्घनीयो धर्मादप्रच्यावनीय इति यावत्, तदियता विशेपणकलापेन तस्य सम्यग्ज्ञानित्वमावेदितं भवति। साम्प्रतं तस्य विशिष्टसम्यग्दर्शनित्व प्रतिपादयितुमाह—('निग्गंथे' इत्यादि) निर्ग्रन्थे—आर्हते प्रवचने निर्गता शङ्का देशसर्वरूपा यस्य स नि शङ्क, 'तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनै. प्रवेदितम्' इत्येवं कृताध्यवसायः, तथा निर्गता काङ्क्षा—अन्यान्यदर्शनग्रहणरूपा यस्याऽसौ निराकाङ्क्षः, तथा निर्गता विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा यस्यासौ निर्विचिकित्सः, यत एवमतो लब्धः—उपलब्धोऽर्थः—परमार्थरूपो येन स लब्धार्थो ज्ञानतत्त्व इत्यर्थः, तथा गृहीतः स्वीकृतोऽर्थो—मोक्षमार्गरूपो येन स गृहीतार्थः,तथा—विशेषतः पृष्टोऽर्थो येन स पृष्टार्थो,यत एवमतो विनिश्चितार्थः, ततोऽभिगतः—पृष्टनिर्वचनत. प्रतीतोऽर्थो येन सोऽभिगतार्थः, तथा-अस्थिमिञ्जा-अस्थिमध्यं यावत् स धर्मे प्रेमानुरागेण रक्तः अत्यन्तं सम्यक्त्ववासितान्तश्चेता इति यावत्,एतदेवाऽऽविर्भावयन्नाह-'अयमाउसो!'इत्यादि। केनचिद्धर्मसर्वस्व पृष्ट. सन्नेनदाचष्टे, तद्यथा—भो आयुष्मन्निदं नैर्ग्रन्थं मौनीन्द्रप्रवचनमर्थ.—सद्भूतार्थ. तथा प्ररूपणतया,तथेदमेवाऽऽह-अयमेव परमार्थ ,कपतापच्छेदैरस्यैव शुद्धत्वेन निर्घटितत्वात्, शेपस्तु सर्वोऽपि लौकिकतीर्थिकपरिकल्पितोऽनर्थ., तदनेन विशेषणकदम्बकेन सम्यक्त्वगुणाऽऽविष्करणं कृतं भवति। साम्प्रतं तस्यैव सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां कृतो यो गुणस्तदाविष्करणायाऽऽह—('उस्सिय' इत्यादि) उच्छ्रितं-प्रख्यातं स्फटिकवन्निर्मलं यशो यस्याऽसावुच्छ्रितस्फटिक., प्रख्यातनिर्मलयशा इत्यर्थ. तथा-अप्रावृतम्—अस्थगितं द्वारं—गृहमुख यस्य सोऽप्रावृतद्वारः, इदमुक्तं भवति—गृहं प्रविश्य परतीर्थिकोऽपि यद्यत्कथयति तत्तदसौ कथयतु, न तस्य परिजनोऽप्यन्यथा भावयितुं सम्यक्त्वाच्च्यावयितुं शक्यत इति यावत्। तथा राज्ञा वल्लभान्त.पुरद्वारेषु प्रवेष्टुं शीलं यस्य स तथा। इदमुक्तं भवति—प्रतिषिद्धान्यजनप्रवेशान्यपि यानि स्थानानि भाण्डागारान्तःपुराऽऽदीनि तेष्वप्यसौ प्रख्यातश्रावकाऽऽख्यगुणत्वेनास्खलितप्रवेशः, तथा चतुर्दश्यष्टम्यादिषु तिथिषूपदिष्टासु—महाकल्याणकसंबन्धितया पुण्यतिथित्वेन प्रख्यातासु तथा पौर्णमासीषु च तिसृष्वपि चतुर्मासकतिथिष्वित्यर्थः, एवंभूतेषु धर्मदिवसेषु सुष्ठु—अतिशयेन प्रतिपूर्णो यः पौषधो-व्रताभिग्रहविशेषस्त प्रतिपूर्णम्—आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पौषधमनुपालयन् सम्पूर्णं श्रावकधर्ममनुचरति, तदनेन विशेपणकलापेन विशिष्टं देशचारित्रमावेदितं भवति। साम्प्रतं तस्यैवोत्तरगुणख्यापनेन दानधर्ममधिकृत्याऽऽह-'समणे निग्गंथे' इत्यादि सुगम यावत्'पडिलाभेमाणे' त्ति। साम्प्रत तस्यैव शीलतपोभावनाऽऽत्मकं धर्ममावेदयन्नाह-(बहूहिमित्यादि) बहुभि'—शीलव्रतगुणविरमणप्रत्याख्यानपौषधोपवासैस्तथा यथा परिगृहीतैश्च तपःकर्मभिरात्मानं भावयन्, एवं चानन्तरोक्तया नीत्या विहरति—धर्ममाचरंस्तिष्ठति, चः समुच्चये। णमिति वाक्यालङ्कारे ॥ ३ ॥

तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सेसदविया नामं उदगसाला होत्था, अणेगखंभसयसन्निविट्ठा पासादीया॰जाव पडिरूवा, तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ॥ ४ ॥

तस्य चैवंभूतस्य लेपोपासकस्य गृहपतेः सम्बन्धिनी नालन्दायाः पूर्वोत्तरस्यां दिशि शेपद्रव्याभिधाना-गृहोपयुक्तशेपद्रव्येण कृता शेपद्रव्येत्येतदेवाभिधानमस्या उदकशालायाः सैवंभूताऽऽसीदनेकस्तम्भशतसन्निविष्टा प्रासादीया दर्शनीयाऽभिरूपा प्रतिरूपेति,तस्याश्चोत्तरपूर्वदिग्विभागे हस्तियामाख्यो वनखण्ड आसीत् कृष्णावभास इत्यादिवर्णकः ॥ ४ ॥

तंसि च णं गिहपदेसम्मि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-आउसंतो! गोयमा! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च आउसो! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवायं, भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-अवियाइ आउसो! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो सवायं, उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-॥ ५ ॥

तस्मिंश्च वनखण्डगृहप्रदेशे भगवान् गौतमस्वामी श्रीवर्धमानस्वामिगणधरो विहरति। अथानन्तरं भगवान् गौतमस्वामी तस्मिन्नारामे सह साधुभिर्व्यवस्थित., अथानन्तरं णमिति वाक्यालंकारे, उदकाऽऽख्यो निर्ग्रन्थः पेढालपुत्रः पार्श्वापत्यस्य पार्श्वस्वामिशिष्यस्यापत्यं शिष्यः पार्श्वापत्यीय, स च मेतार्यो गोत्रेण, येनैवेति सप्तम्यर्थे तृतीया। यस्यां दिशि यस्मिन्वा प्रदेशे भगवान् श्रीगौतमस्वामी तस्यां दिशि तस्मिन्वा प्रदेशे समागत्येदं वक्ष्यमाणं प्रोवाचेति।

अत्र निर्युक्तिकारोऽध्ययनोत्थानं तात्पर्यं च गाथया दर्शयितुमाह—

पासावच्चिज्जो पु-च्छियाइओ अज्जगोयमं उदगो।
सावगपुच्छा धम्मं, सोउं कहियम्मि उवसंता ॥ २०५ ॥

(पासावच्चीत्यादि) पार्श्वनाथशिष्य उदकाभिधान आर्यगौतमं पृष्टवान्.किं तत्,श्रावकगतं-श्रावकविषयं प्रश्नं, तद्यथा-भो इन्द्रभूते! साधोः श्रावकाणुव्रतदाने सति स्थूलप्राणा-

तिपाताऽऽदिविषये तदन्येषां सूक्ष्मबादराणां प्राणिनामुपघाते सत्यारम्भजनिते तदनुमतिप्रत्ययजनित. कर्मबन्धः कस्मान्न भवति ? । तथा-स्थूलप्राणातिपाताऽऽदिविषये व्रतिनस्तमेव पर्यायान्तरगतं व्यापादयतो नागरिकवधनिवृत्तस्य तमेव बहिःस्थं व्यापादयत इव तद्व्रतभङ्गजनितः कर्मबन्धः कस्मान्न भवतीत्येतत्प्रश्नस्योत्तरं गृहपतिचौरग्रहणविमोक्षणोपमया दत्तवान्, तच्च श्रावकप्रश्नस्यौपम्यं गौतमस्वामिना कथितं श्रुत्वोदकाऽऽख्यो निर्ग्रन्थ उपशान्तः-अपगतसंदेहः संवृत्त इति। सांप्रतं सूत्रमनुश्रियते-स उदको गौतमस्वामिसमीपं समागत्य भगवन्तमिदमवादीत् । तद्यथा-आयुष्मन् गौतम ! अस्ति मम विद्यते कश्चित्प्रदेशः प्रष्टव्यः, तत्र संदेहात् , तं च प्रदेशं यथाश्रुतं भवता यथा च भगवता संदर्शितं तथैव मम व्यागृणीहि-प्रतिपादय । एवं पृष्टः स चायं भगवान्, यदि वा सह वादेन सवादं पृष्टः सद्वाचं वा शोभनभारतीकं वा प्रश्नं पृष्टस्तमुदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत् । तद्यथा अपि च-आयुष्मन्नुदक ! श्रुत्वा भवदीयं प्रश्नं निशम्य चावधार्य च गुणदोषविचारणतः सम्यगहं ज्ञास्ये, तदुच्यतां विश्रब्धं भवता स्वाभिप्रायः ' सवायं ' सद्वाचं सवादं वा उदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत् ॥ ५ ॥

**आउसो गोयमा ! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइ समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खावेंति णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणं विमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं,एवं एहं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ,एवं एहं पच्चक्खावेमाणाणं दुप्पच्चक्खावियव्वं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्ण, कस्स णं तं हेउं?,संसारिया खलु पाणा थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति,थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ ६ ॥**

तद्यथा-भो गौतम ! अस्तीत्ययं विभक्तिप्रतिरूपको निपात इति बह्वर्थवृत्तिर्गृहीतस्ततश्चायमर्थः-सन्ति-विद्यन्ते कुमारपुत्रा नाम निर्ग्रन्था युष्मदीयं प्रवचनं प्रवदन्तः।तद्यथा-गृहपतिं श्रमणोपासकमुपसंपन्नं नियमायोत्थितमेव प्रत्याख्यापयन्ति प्रत्याख्यानं कारयन्ति, तद्यथा-स्थूलेषु प्राणिषु दण्डयतीति दण्डः-प्राण्युपमर्दस्तं निहाय-परित्यज्य प्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वन्ति । तामेवापवदति-नान्यत्रेति, स्वमनीषिकाया अन्यत्र राजाऽऽद्यभियोगेन यः प्राण्युपघातो न तत्र निवृत्तिरिति । तत्र किल स्थूलप्राणिविशेषणात्तदन्येषामनुमतिप्रत्ययदोष. स्यादित्याशङ्कावानाह-(गाहावइ इत्यादि)अस्य चार्थमुत्तरत्राऽऽविर्भावयिष्यामः । येनाभिप्रायेणोदकश्चोदितवाँस्तमाविष्कुर्वन्नाह-( एव एहमित्यादि ) एहमिति वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा , एवमेव त्रसप्राणिविशेषणत्वेनापरत्रसभूतविशेषणरहितत्वेन प्रत्याख्यानं गृह्णतां श्रावकाणां दुष्प्रत्याख्यानं भवति, प्रत्याख्यानभङ्गसद्भावात्तथैवमेव प्रत्याख्यापयतामपि साधूनां दुष्टं प्रत्याख्यानदानं भवति । किमित्यत आह-एवं ते श्रावकाः प्रत्याख्यानं गृह्णन्तः साधवश्च परं प्रत्याख्यापयन्त. स्वां प्रतिज्ञामतिचरन्ति-अतिलङ्घयन्ति।(कस्स णं हेउ ति ) प्राकृतशैल्या कस्माद्धेतोरित्यर्थः? । तत्र प्रतिज्ञाभङ्गकारणमाह-( संसारिया इत्यादि ) संसारो विद्यते येषां ते सांसारिकाः । खलुरलङ्कारे, प्राणिनो--जन्तवः स्थावराः प्राणिनः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सन्तोऽपि तथाविधकर्मोदयात्त्रसतया-त्रसत्वेन द्वीन्द्रियाऽऽदिभावे प्रत्यायान्ति-उत्पद्यन्ते , तथा त्रसा अपि स्थावरतयेत्येवं च परस्परगमने व्यवस्थिते सत्यवश्यंभावी प्रतिज्ञाविलोप. । तथाहि—नागरिको मया न हन्तव्य इत्येवंभूता येन प्रतिज्ञा गृहीता, स यदा बहिरारामाऽऽदौ व्यवस्थितं नागरिकं व्यापादयेत्किमेतावता तस्य न भवेत्प्रतिज्ञाविलोपः ? । एवमत्रापि येन त्रसवधनिवृत्तिः कृता स यदा तमेव त्रसं प्राणिनं स्थावरकायस्थितं व्यापादयेत्किं तस्य न भवेत् प्रतिज्ञाविलोप. ?, भवेदेवेत्यर्थः । एवमपि त्रसस्थावरकाये समुत्पन्नानां त्रसानां यदि तथाभूतं किञ्चिदसाधारणं लिङ्गं स्यात्ततस्ते त्रसाः स्थावरत्वेनाप्युत्पन्ना. शक्यन्ते परिहर्तुं, न च तदस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह-( थावरकायाओ इत्यादि ) स्थावरकायात्सकाशाद्विविधम्-अनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण मुच्यमानाः स्थावरकायाऽऽयुषा तद्योग्यैश्चापरैः कर्मभिः सर्वाऽऽत्मना त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, तथा त्रसकायादपि सर्वाऽऽत्मना विमुच्यमानास्तत्कर्मभि. स्थावरकाये समुत्पद्यन्ते,तत्र चोत्पन्नानां तथाभूतत्रसलिङ्गाभावात्प्रतिज्ञालोप इत्येतत्सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-( तेसिं च णमित्यादि)तेषां-त्रसानां स्थावरकाये समुत्पन्नानां गृहीतत्रसप्राणातिपातविरतेः श्रावकस्याप्यारम्भप्रवृत्तत्वेनैतत्स्थावराऽऽख्यं घात्य स्थानं भवति, तस्मादनिवृत्तत्वात्तस्येति ॥ ६ ॥

**एवं एहं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खायं भवइ,एवं एहं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पइण्णं,णण्णत्थ अभिओगेणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं, एवामेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति अयं पि णो उवएसे णो णेआउए भवइ, अवियाइं आउसो गोयमा ! तुब्भं पि एवं रोयइ ॥ ७ ॥**

तदेवं व्यवस्थिते नागरिकदृष्टान्तेन त्रसमेव स्थावरत्वेनायातं व्यापादयतोऽवश्यंभावी प्रतिज्ञाविलोपो,यतस्तत एव मदुक्तया वक्ष्यमाणनीत्या प्र(त्या)ख्यानं कुर्वता सुप्रत्याख्यातं भवत्येवमेव च प्रत्याख्यापयतां सुप्रत्याख्यापितं भवति, एवं च ते प्रत्याख्यापयतो नातिचरन्ति स्वीयां प्रतिज्ञामित्येतद्दर्शयितुमाह—(णण्णत्थेत्यादि) तत्र गृहपतिः प्रत्याख्यानमेवं गृह्णाति । तद्यथा-त्रसभूतेषु वर्तमानकाले त्रसत्वेनोत्पन्नेषु प्राणिषु दण्डयतीति दण्ड -प्राण्युपमर्दस्तं विहाय-परित्यज्य प्रत्याख्यानं करोति, तदिह भूतत्वविशेषणात्स्थावरपार्यायाऽऽपन्नवधेऽपि न प्रतिज्ञाविलोपः । तथा नान्यत्राभियोगेनेति राजाऽऽद्यभियोगादन्यत्र, प्रत्याख्यानमिति तथा गृहपतिचौरविमोक्षणतयेति, एतच्च भवद्भिः सम्यगुक्तम् एतदपि त्रसकाये भूतत्वविशेषणमभ्युपगम्यतामिति एतदभ्युपगमेऽपि हि यथा क्षीरविकृतिप्रत्याख्यायिनो दधिभक्षणेऽपि न प्रतिज्ञाविलोपः।तथा त्रसभूताः सत्त्वा न हन्तव्या इत्येवंप्रतिज्ञावतः स्थावरहिंसायामपि न प्रत्याख्यानातिचार. । तदेव विद्यमाने सति भाषायाः प्रत्याख्यानवाचः पराक्रमे भूतविशेषणाद्दोषपरिहारसामर्थ्ये एवं पूर्वोक्तया

नीत्या सति दोषपरिहरणोपाये ते केचन क्रोधाद्वा लोभाद्वा परं श्रावकाऽऽदिकं निर्विशेषणमेव प्रत्याख्यापयन्ति, तेषां प्रत्याख्यानं ददतां मृषावादो भवति, गृह्णतां चावश्यंभावी व्रतविलोप इति । तदेवमयमपि नः-अस्मदीयोपदेशाऽभ्युपगमो भूतत्वविशेषणविशिष्टः पक्षः किं भवतां ( नो ) नैव नैयायिको-न्यायोपपन्नो भवति ?। इदमुक्तं भवति-भूतत्वविशेषणेन हि त्रसान् स्थावरोत्पन्नान् हिंसतोऽपि न प्रतिज्ञाऽतिचार इत्यपि चैतदायुष्मन् गौतम ! तुभ्यमपि रोचते ॥ ७ ॥

सवायं भगवं गोयमे ! उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-आउसंतो ! उदगा ! नो खलु अम्हे एवं रोयइ, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति-०जाव परूवेंति, णो खलु ते समणा वा णिग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा, जेहिं वि अन्नेहिं जीवेहिं पाणेहिं भूएहिं सत्तेहिं संयमयंति ताण वि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेउ ?, संसारिया खलु पाणा तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं ॥ ८ ॥

एवमेतद्यथा मया व्याख्यातम् । एवमभिहितो गौतमः सद्वाचं सवादं वा तमुदकं पेढालपुत्रमेवं वक्ष्यमाणमवादीत् , तद्यथा-नो खल्वायुष्मन्नुदक ! अस्मभ्यमेतदेव यदुत त्वयोच्यते तद्रोचत इति । इदमुक्तं भवति-यदिदं त्रसकायविरतौ भूतत्वविशेषणं क्रियते, तन्निरर्थकतयाऽस्मभ्यं न रोचत इति तदेवं व्यवस्थिते भो उदक ! ये ते श्रमणा वा ब्राह्मणा वा एवंभूतशब्दविशेषणत्वेन प्रत्याख्यानमाचक्षते, परैः पृष्टा इत्थमेव भाषन्ते प्रत्याख्यानं स्वतः कुर्वन्तः कारयन्तश्चैवमिति-सविशेषणं प्रत्याख्यानं भाषन्ते, तथैवमेव-सविशेषणप्रत्याख्यानप्ररूपणावसरे सामान्येन प्ररूपयन्ति , एवं च प्ररूपयन्तो न खलु ते श्रमणा वा निर्ग्रन्था वा यथार्थां भाषां भाषन्ते,अपि त्वनुतापयतीत्यनुतापिका तां,तथाभूतां च खलु ते भाषां भाषन्ते, अन्यथा भाषणे ह्यपरेण जानता बोधितस्य सतोऽनुतापो भवतीत्यतोऽनुतापिकेत्युच्यत इति । पुनरपि तेषां सविशेषणप्रत्याख्यानतामुल्वणदोषोद्भिभावयिषयाऽऽह-(अब्भाइक्खंति इत्यादि,ते हि सविशेषणप्रत्याख्यानवादिनो यथावस्थितं प्रत्याख्यानं ददतः साधून् गृह्णतश्च श्रमणोपासकानभ्याख्यान्ति-अभूतदोषोद्भावनतोऽभ्याख्यानं ददति । किं चान्यत्-(जेहिं वीत्यादि)येष्वप्यन्येषु प्राणिषु-भूतेषु जीवेषु सत्त्वेषु विषयभूतेषु विशिष्य ये संयमं कुर्वन्ति संयमयन्ति । तद्यथा-ब्राह्मणो न मया हन्तव्य इत्युक्ते स यदा वर्णान्तरे तिर्यक्षु वा व्यवस्थितो भवति , तद्वधे ब्राह्मणवध आपद्यते , भूतशब्दाविशेषणात्तदेवं तान्यपि विशेषयन्तानि सूकरो मया न हन्तव्य इति एवमादीनि तेभूतशब्दविशेषणवादिनोऽभ्याख्यान्ति-दूषयन्ति । किमित्यत आह-(कस्स णमित्यादि) कस्माद्धेतोस्तदसद्भूतं दूषणं भवतीति ?। यस्मात्सांसारिका' खलु प्राणाः परस्परजातिसंक्रमणभाजो यतस्ततस्त्रसाः प्राणिनः स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति, स्थावराश्च त्रसत्वेनेति । त्रसकायाश्च सर्वाऽऽत्मना त्रसाऽऽयुष्कं परित्यज्य स्थावरकाये तद्योग्यकर्मोपादानादुत्पद्यन्ते,तथा स्थावरकायाश्च तदायुष्काऽऽदिना कर्मणा विमुच्यमानाःत्रसकाये समुत्पद्यन्ते,तेषां च त्रसकाये समुत्पन्नानां स्थानमेतत्त्रसकायाऽऽख्यमघात्यम्-अघातार्हं भवति । यस्मात्तेन श्रावकेण त्रसानुद्दिश्य स्थूलप्राणातिपातविरमणं कृतं, तस्य तीव्राध्यवसायोत्पादकत्वाच्च लोकगर्हितत्वाच्चेति । तत्रासौ स्थूलप्राणातिपातान्निवृत्तस्तन्निवृत्त्या च त्रसस्थानमघात्यं वर्तते, स्थावरकायाच्चानिवृत्त इति तद्योग्यतया तत्स्थानं घात्यमिति । तदेवं भवदभिप्रायेण विशिष्टसत्त्वोद्देशेनाऽपि प्राणातिपातनिवृत्तौ कृतायामपरपर्यायाऽऽपन्न प्राणिन व्यापादयतो व्रतभङ्गो भवति, ततश्च न कस्यचिदपि सम्यग्व्रतपालनं स्यादित्येवमभ्याख्यातमसद्भूतदोषोद्भावनं भवन्तो ददति । यदपि भवद्भिर्वर्तमानकालविशेषणत्वेन किलाऽयं भूतशब्द उपादीयतेऽसावपि व्यामोहाय केवलमुपतिष्ठते । तथाहि-भूतशब्दोऽयमुपमानेऽपि वर्तते । तद्यथा-देवलोकभूतं नगरमिदं, न देवलोक एव तथाऽत्रापि त्रसभूतानां त्रससदृशानामेव प्राणातिपातनिवृत्तिः कृता स्यान्न तु त्रसानामिति। अथ तादर्थ्ये भूतशब्दोऽयं, यथा शीतीभूतमुदकं शीतमित्यर्थः । एवं त्रसभूतास्त्रसत्वं प्राप्तास्तथा च सति त्रसशब्देनैव गतार्थत्वात्पौनरुक्त्यं स्यात् । अथैवमपि स्थिते भूतशब्दोपादानं क्रियते, तथा च सत्यतिप्रसङ्गः स्यात् । तथाहि-क्षीरभूतविकृतेः प्रत्याख्यानं करोम्येवं घृतभूत मे ददस्वैवं घटभूत' पटभूत इत्येवमादावप्यायोज्यमिति ॥ ८ ॥

तदेवं निरस्ते भूतशब्दे सत्युदक आह—

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह-तसपाणा तसा आउ अन्नहा ?। सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी--आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह-तसभूता पाणा तसा ते वयं वयामो तसा पाणा,जे वयं वयामो तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा,एए संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो ! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ, तसभूया पाणा तसा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ, तसा पाणा तसा, ततो एगमाउसो ! पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह अयं पि भेदो से णो णेआउए भवइ ॥ ९ ॥

सद्वाचं सवादं वा उदक. पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत् । तद्यथा-हे आयुष्मन् गौतम ! कतरान्प्राणिनो यूयं वदथ त्रसा एव ये प्राणाः प्राणिनस्त एव त्रसाः प्राणा इति, उतान्यथेति, एवंपृष्टो भगवान् गौतमस्तमुदकं सद्वाचं पेढालपुत्रमेवमवादीत् । तद्यथा-आयुष्मन्नुदक ! यान्प्राणिनो यूयं वदथ त्रसभूतास्त्रसत्वेनाऽऽविर्भूता. प्राणिनो नातीता नाप्येष्याः,किं तु ?,वर्तमानकाल एव त्रसाः प्राणा इति, तानेव वयं वदामः त्रसास्त्रसत्वं प्राप्तास्तत्कालवर्तिन एव त्रसाः प्राणा इति ।

एतदेव व्यत्ययेन विभणिषुराह-( जे वयमित्यादि ) यान्वयं वदामस्त्रसा एव प्राणास्त्रसाः प्राणास्तानेव यूयमेवं वदथ त्रसभूता एव प्राणास्त्रसभूताः प्राणाः, एवं च व्यवस्थिते एते अनन्तरोक्ते द्वे अपि स्थाने एकार्थे-तुल्ये भवतो न ह्यत्रार्थभेदः कश्चिदस्त्यन्यत्र शब्दभेदादिति, एवं च व्यवस्थिते किमायुष्मन् ? युष्माकमयं पक्षः सुष्ठु प्रणीततरो-युक्तियुक्तः प्रतिभासते ?। तद्यथा—त्रसभूता एव प्राणास्त्रसभूताः प्राणा इति, अयं तु पक्षो दुष्प्रणीततरो भवति प्रतिभासते भवताम् ?। तद्यथा-त्रसा एव प्राणास्त्रसाः प्राणाः,सन्ति चैकार्थत्वेन भवतां कोऽयं व्यामोहो ?, येन शब्दभेदमाश्रित्यात एकं पक्षमाक्रोशथ, द्वितीयं त्वभिनन्दथ इति । तदेवमपि तुल्येऽप्यर्थे सत्येकस्य पक्षस्याऽऽक्रोशनमपरस्य सविशेषणपक्षस्याभिनन्दनमित्ययेव दोषाभ्युपगमो भवतां नो नैयायिको-न न्यायोपपन्नो भवत्युभयोरपि पक्षयोः समानत्वात्, केवलं सविशेषणपदे भूतशब्दोपादानं मोहमावहतीति ॥ ६ ॥

अन्यच्च भवताऽस्माकं प्राग्दोषोद्भावनमकारि । तद्यथा त्रसानां वधनिवृत्तौ तदन्येषां वधानुमतिः स्यात् साधोः, तथा भूतशब्दानुपादानेऽन्तरमेव त्रसं स्थावरपर्यायाऽपन्नं व्यापादयतो व्रतभङ्ग इत्येतत्कुचोद्यजातं परिहर्तुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइआ मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, सावयं एहं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं संखवेंति ते एवं संखं ठवयंति ते एवं सखं ठावयंति नन्नत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तमेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तं पि तेसिं कुसलमेव भवइ ॥ १० ॥

( भगवं च णमित्यादि ) णमिति वाक्यालङ्कारे । भगवान् गौतमस्वामी, चशब्दः पुनः शब्दार्थे । पुनराह । तद्यथा-सन्ति विद्यन्ते एके केचन लघुकर्माणो मनुष्याः प्रव्रज्यां कर्तुमसमर्थाः,तद्व्यतिरेकेणैव धर्मं चिकीर्षवस्तेषां चैवमध्यवसायिनां साधोर्धर्मोपदेशश्रवणस्याग्रत इदमुक्तपूर्वं भवति । तद्यथा-भोः साधो ! न खलु वयं शक्नुमो मुण्डा भवितुं प्रव्रज्यां ग्रहीतुमगाराद्-गृहादनगारता-साधुभावं प्रतिपत्तुं, वयं त्वानुपूर्व्येण क्रमशो गोत्रस्येति गा वायत इति गोत्रं साधुत्वं तस्य साधुभावस्य पर्यायेण परिपाल्याऽऽत्मानमनुश्लेषयिष्यामः । इदमुक्तं भवति-पूर्वं देशविरतिरूपतया श्रावकधर्मं गृहस्थयोग्यमनिन्द्यमनुपालयामस्ततोऽनुक्रमेण पश्चाच्छ्रमणधर्ममिति । तत एवं ते संख्यां व्यवस्थां श्रावयन्ति प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः प्रकाशयन्ति । तद्यथा-नान्यत्राभियोगेन, स चाभियोगो राजाऽभियोगो गणाभियोगो बलाभियोगो देवताऽभियोगो गुरुनिग्रहश्चेत्येवमादिनाऽभियोगेन व्यापादयतोऽपि त्रसं न व्रतभङ्गः । तथा-गृहपतिचोरविमोक्षणतयेत्यस्यायमर्थः-कस्यचिद्गृहपतेः षट् पुत्राः, तैश्च सत्यपि पितृपितामहक्रमाऽऽयति महति वित्ते तथाविधकर्मोदयाद्राजकुलभाण्डागारे चौर्यमकारि, राजपुरुषैश्च भवितव्यतानियोगेन गृहीताम्ते इत्येके । परे त्वन्यथा व्याचक्षते, तद्यथा-

रत्नपुरे नगरे रत्नशेखरो नाम राजा,तेन च परितुष्टेन रत्नमालाऽग्रमहिषीप्रमुखान्तःपुरस्य कौमुदीप्रचारोऽनुज्ञातः, तदर्गस्य नागरलोकेनापि राजानुमत्या स्वकीयस्य स्त्रीजनस्य तथैव क्रीडनमनुमतं, राज्ञा च नगरे सडिण्डिमशब्दमाघोषितम् । तद्यथा-अस्तमनोपरि कौमुदीमहोत्सवे प्रवृत्ते यः कश्चित्पुरुषः समुपलभ्यते नगरमध्ये तस्याविज्ञप्तिकः शरीरनिग्रहः क्रियते इत्येवं च व्यवस्थिते सत्येकस्य वणिजः षट् पुत्राः, ते च कौमुदीदिने क्रयविक्रयसंव्यवहारव्यग्रतया तावत्स्थिता यावत्सविताऽस्तमुपगतः, तदनन्तरमेव स्थगितानि च नगरद्वाराणि तेषां च तत्कालात्ययान्न निर्गमनमभूत्, ततस्ते भयसंभ्रान्ता नगरमध्य एवाऽऽत्मानं गोपयित्वा स्थितास्ततो निष्क्रान्ते कौमुदीप्रचारे राज्ञाऽऽरक्षिकाः समाहूयाऽऽदिष्टा यथा सम्यक् निरूपयत यूयं नात्र नगरे कौमुदीचारे कश्चित्पुरुषो व्यवस्थित इति । तैरप्यारक्षिकैः सम्यक् निरूपयद्भिरुपलभ्य षड्वणिक्पुत्रवृत्तान्तो यथावस्थित एव राज्ञे निवेदितः । राज्ञाऽप्याज्ञाभङ्गकुपितेन तेषां षण्णामपि वधः समादिष्टः । ततस्तत्पिता पुत्रवधसमाकर्णनगुरुशोकविह्वलोऽकाण्डाऽऽपतितकुलक्षयोद्भ्रान्तलोचनः किंकर्त्तव्यतामूढतयाऽगणितविधेयाविधेयविशेषो राजानमुपस्थितोऽवादीच्च गद्गदया गिरा । यथा-मा कृथा देवास्माकं कुलक्षयं, गृह्यतामिदमस्मदीयं कुलक्रमाऽऽयातं स्वभुजोपार्जितं प्रभूतं द्रविणजातं, मुच्यतां मुच्यताममी षट् पुत्राः, क्रियतामयमस्माकमनुग्रह इति । एवमभिहितो राजा तद्वचनमनाकर्ण्य पुनरपि सविशेषमादिदेश-असावपि वणिक्सर्ववधाऽऽशङ्की सर्वमोचनानभिप्रायं राजानमवेत्य पञ्चानां मोचनं याचितवान्, तानप्यसौ राजा न मोक्तुमना इत्येवमभिगम्य चतुर्मोचनकृते सादरं विज्ञप्तवांस्तं, तथापि राजा तमनादृत्य कुपितवदन एव स्थितः, ततस्त्रयाणां विमोचने कृताऽऽदरस्तत्पिताऽभूत्, तानप्यमुञ्चन्तं राजानं ज्ञात्वा वणिक्स्वापराधो द्वयोर्मोचनं प्रार्थितवान् । तत्राप्यवज्ञाप्रधानं नृपतिमवगम्य ततः पौरमहत्तमसमेतो राजानमेवं विज्ञप्तवान् । तद्यथा-देव ! अकाण्ड एवास्माकं कुलक्षयः समुपस्थितः, तस्माच्च भवन्त एव त्राणायालमतः क्रियतामेकमत्पुत्रविमोचनेन प्रसाद इति भणित्वा पादयोः सपौरमहत्तमः पतितो, राज्ञाऽपि संजाताऽनुकम्पेन मुक्तस्तदेको ज्येष्ठपुत्र इति । तदेवमस्य दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकयोजनेयम् । तद्यथा-साधुनाऽभ्युपगतसम्यग्दर्शनमवगम्य श्रावकमखिलप्राणातिपातविरतिग्रहणं प्रति चोदितोऽप्यशक्तितया यदा न सर्वप्राणातिपातविरतिं प्रतिपद्यते, यथाऽसौ राजा वणिजाऽत्यर्थं विज्ञापितोऽपि न षडपि पुत्रान् मुमुक्षति, नापि पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यान् पुत्रानिति । तत एकविमोक्षणेनाऽऽत्मानं कृतार्थमिव मन्यमानः स्थितोऽसावेवं साधोरपि श्रावकस्य यथाशक्ति व्रतं गृह्णतस्तदनुरूपमेवाणुव्रतदानमविरुद्धमिति, यथा च तस्य वणिजो न शेषपुत्रवधानुमतिलेशोऽप्यस्त्येवं साधोरपि न शेषप्राणिवधानुमतिप्रत्ययजनितः कर्मबन्धो भवति , किं तर्हि ?, यदेव व्रतं गृहीत्वा यानेव सत्त्वान् बादरान् संकल्पजप्राणिवधनिवृत्त्या रक्षति तन्निमित्तः कुशलानुबन्ध एवेत्येतत्सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-( तसेहिमित्यादि ) त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियाऽऽदयस्तेभ्यः सकाशान्निधाय निहाय वा परित्यज्येति यावत् । कम् ?—दण्डयतीति दण्डस्तं परित्यज्य, त्रसेषु प्राणातिपातविरतिं गृहीत्वेत्यर्थः, तदपि च त्रसप्राणातिपातविरमणव्रतं

तेषां देशविरतानां कुशलहेतुत्वात्कुशलमेव भवति ॥ १० ॥

यच्च प्रागभिहितं, तद्यथा-नमेव त्रसं स्थावरपर्यायाऽऽपन्नं नागरिकमिव अहि'स्थं व्यापादयतोऽवश्यंभावी व्रतभङ्ग इत्येतत् परिहर्तुकाम आह—

तसा वि वुचंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति । थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगयं भवइ थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, थावरकायट्ठिइया ते तओ आउय विप्पजहंति, तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति,ते तसा वि वुच्चंति,ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ॥११॥

(तसा वीत्यादि त्रसा अपि द्वीन्द्रियाऽऽदयोऽपि त्रसा इत्युच्यन्ते च त्रसा त्रससंभारकृतेन कर्मणा भवन्ति,संभारो नाम-अवश्यंतया कर्मणो विपाकानुभवेन वेदनं,तथेह त्रसनामप्रत्येकनामेत्यादिकं नामकर्माभ्युपगतं भवति,त्रसत्वेन यत्परिबद्धमायुष्कं तद्यदोदयप्राप्तं भवति तदा त्रससंभारकृतेन कर्मणा त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते, न तदा कथञ्चित्स्थावरत्वव्यपदेशो, यदा च तदायु परिक्षीणं भवति, णमिति वाक्यालङ्कारे, त्रसकायस्थितिकं च कर्म यदा परिक्षीणं भवति, तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतः सातिरेकसहस्रद्वयसागरोपमपरिमाणं, तदा ततस्त्रसकायस्थितेरभावात्तदायुष्कं ते परित्यजन्ति,अपराण्यपि तत्सहचरितानि कर्माणि परित्यज्य स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति,स्थावरा अपि स्थावरसंभारकृतेन कर्मणा तत्रोत्पद्यन्ते, स्थावराऽऽदि नाम च तत्राभ्युपगतं भवति । अपराण्यपि तत्सहचरितानि सर्वाऽऽत्मना त्रसत्वं परित्यज्य स्थावरत्वेनोदयं यान्ति इत्येवं च व्यवस्थिते कथं स्थावरकायं व्यापादयतो गृहीतत्रसकायप्राणातिपातनिवृत्तेः श्रावकस्य व्रतभङ्ग इति । किं चान्यत्—( थावराउयं च णमित्यादि ) यदा तदपि स्थावराऽऽयुष्कं परिक्षीणं भवति तथा स्थावरकायस्थितिश्च, सा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतोऽनन्तकालमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता इति, ततस्तत्कायस्थितेरभावात्तदायुष्कं परित्यज्य भूयः पुनरपि पारलौकिकत्वेन स्थावरकायस्थितेरभावात् त्रसत्वेन सामर्थ्यात्प्रत्यायान्ति , तेषां च त्रसानामन्वर्थिकान्यभिधानान्यभिधातुमाह—(ते पाणा वि इत्यादि)ते त्रससंभारकृतेन कर्मणा समुत्पन्नाः सन्तः सामान्यसंज्ञया प्राणा अप्युच्यन्ते।तथा विशेषतः-'त्रस'भयचलनयोः, इतिधात्वर्थानुगमाद्भयचलनाभ्यामुपेतास्त्रसा अप्युच्यन्ते, तथा महान् कायो येषां ते महाकाया योजनलक्षप्रमाणशरीरविकुर्वणात् , तथा चिरस्थितिका अप्युच्यन्ते, भवस्थित्यपेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाऽऽयुष्कसद्भावात्, ततस्त्रसपर्यायव्यवस्थितानामेव प्रत्याख्यानं तेन गृहीतं, न तु स्थावरकायत्वेन व्यवस्थितानामपीति । यस्तु नागरिकदृष्टान्तो भवतोपन्यस्तोऽसावपि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात्केवलं भवतोऽनुपासितगुरुकुलवासित्वमाविष्करोति । तथाहि—नगरधर्मैरुपयुक्तो नागरिकः, स च मया न हन्तव्य इति प्रतिज्ञां गृहीत्वा यदा तमेव व्यापादयति बहिःस्थितं पर्यायाऽऽपन्नं तदा तस्य किल व्रतभङ्ग इति भवत' पक्ष इति, स च न घटते, यतो यो हि नगरधर्मैरुपेतः स बहिःस्थोऽपि नागरिक एवात' पर्यायाऽऽपन्न इत्येतद्विशेषणं नोपपद्यते, अथ सामस्त्येन परित्यज्य नगरधर्मानसौ वर्तते, अतस्तमेवेत्येतद्विशेषणं नोपपद्यते, तदेवमत्र त्रसः सर्वाऽऽत्मना त्रसत्वं परित्यज्य यदा स्थावरः समुत्पद्यते तदा पूर्वपर्यायपरित्यागादपरपर्यायाऽऽपन्नत्वात् त्रस एवासौ न भवति । तद्यथा-नागरिकः पल्लयां प्रविष्टस्तद्धर्मोपेतत्वात्पूर्वधर्मपरित्यागाच्च नागरिक एवासौ न भवतीति ॥ ११ ॥

पुनरप्यन्ययोदक. पूर्वपक्षमारचयितुमाह—

सवायं उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो गोयमा ! णत्थि णं से केइ परियाए जं णं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरए वि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति,तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति,थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं ॥ १२ ॥

( सवायं उदए इत्यादि ) सद्वाचं सवादं वा उदकः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत् । तद्यथा-आयुष्मन् गौतम ! नास्त्यसौ कश्चित्पर्यायो यस्मिन्नेकप्राणातिपातविरमणेऽपि श्रमणोपासकस्य विशिष्टविषयमेव प्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वतो दण्डः प्राण्युपमर्दनरूपो निक्षिप्तपूर्वः-परित्यक्तपूर्वो भवति । इदमुक्तं भवति—श्रावकेण त्रसपर्यायमेकमुद्दिश्य प्राणातिपातविरतिव्रतं गृहीतं, संसारिणा च परस्परगमनसंभवात्, ते च त्रसा' सर्वेऽपि किल स्थावरत्वमुपगता', ततश्च त्रसानामभावान्निर्विषयं यत्प्रत्याख्यानमिति। एतदेव प्रश्नपूर्वकं दर्शयितुमाह—( कस्य णं त हेउमित्यादि ) णमिति वाक्यालङ्कारे कस्य हेतोरिदमभिधीयते, केन हेतुनेत्यर्थः । सांसारिकाः प्राणा परस्परसंसरणशीला यतस्तत. स्थावराः सामान्येन त्रसतया प्रत्यायान्ति, त्रसा अपि स्थावरतया प्रत्यायान्ति । तदेवं संसारिणां परस्परगमनं प्रदर्श्याधुना यत्परेण विवक्षितं तदाविष्कुर्वन्नाह-( थावरकायाओ इत्यादि ) स्थावरकायाद्विप्रमुच्यमाना स्वायुषा तत्सहचरितैश्च कर्मभिः सर्वे निरवशेषास्त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, त्रसकायादपि तदायुषा विप्रमुच्यमानाः सर्वे स्थावरकाये समुत्पद्यन्ते, तेषा च त्रसानां सर्वेषां स्थावरकायसमुत्पन्नानां स्थानमेतद् घात्यं वर्तते,तेन श्रावकेण स्थावरकायवधनिवृत्तेरकरणादतः सर्वस्य त्रसकायस्य स्थावरकायत्वेनोत्पत्तेर्निर्विषयं तस्य श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तिरूपं प्रत्याख्यानं प्राप्नोति । तद्यथा-केनचिद् व्रतमेवंभूतं गृहीतम् । यथा-मया नगरनिवासी न हन्तव्यस्तत्रोद्वसितं नगरमतो निर्विषयं तत्तस्य प्रत्याख्यानम्, एवमत्रापि सर्वेषां त्रसानामभावान्निर्विषयत्वमिति ।१२।

एवमुदकेनाभिहिते सति तदभ्युपगमेनैव गौतमस्वामी दूषयितुमाह—

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-णो खलु आउसो ! अस्साकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव

अणुप्पवादेणं अत्थि णं मे परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते भवइ, कस्स णं तं हेउं ?, संसारिया खलु पाणा, तसा, वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्त, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जन्नं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह-णत्थि णं से केइ परियाए जं से समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ १३ ॥

( सवायमित्यादि ) सद्वाचं, सवादं वा तमुदकं पेढालपुत्रं गौतमस्वाम्येवमवादीत्। तद्यथा—नो खल्वायुष्मन्नुदक ! अस्माकमित्येतन्मगधदेशे आगोपालाङ्गनाऽऽदिप्रसिद्धं संस्कृतमेवोच्चार्यते तदिहापि तथैवोच्चारितमिति, तदेवमस्माकं संवन्धिना वक्तव्येन नैतदशोभनं, किं तर्हि ?, युष्माकमेवानुप्रवादेनैतदशोभनम् । इदमुक्तं भवति-अस्मद्वक्तव्येनास्य चोद्यस्यानुत्थानमेव । तथाहि-नैतद् भूतं न च भवति नापि कदाचिद्भविष्यति यदुत सर्वेऽपि स्थावरा निर्लेपतया त्रसत्वं प्रतिपद्यन्ते, स्थावराणामानन्त्यात्त्रसानां चासंख्येयत्वेन तदाधारत्वानुपपत्तेरित्यभिप्राय । तथा त्रसा अपि सर्वेऽपि न स्थावरत्वं प्रतिपन्ना न प्रतिपद्यन्ते नापि प्रतिपत्स्यन्ते । इदमुक्तं भवति—यद्यपि विवक्षितकालवर्तिनस्त्रसाः कालपर्यायेण स्थावरकायत्वेन यास्यन्ति तथाऽप्यपरापरत्रसोत्पत्त्या त्रसजात्यनुच्छेदान्न कदाचिदपि त्रसकायशून्यः संसारो भवतीति, तदेवमस्मन्मतेन चोद्यानुत्थानमेव, अभ्युपगम्य च भवदीयं पक्षं युष्मदभ्युपगमेनैव परिह्रियते तदेव पराभिप्रायेण परिहरति-अस्त्यसौ पर्यायः स चायम्-भवदभिप्रायेण यदा सर्वेऽपि स्थावरास्त्रसत्वं प्रतिपद्यन्ते यस्मिन्पर्याये अवस्थाविशेषे श्रमणोपासकस्य कृतत्रसप्राणातिपातनिवृत्तेः सतः त्रसत्वेन च भवदभ्युपगमेन सर्वप्राणिनामुत्पत्तेः तैश्च सर्वप्राणिभिस्त्रसत्वेन भूतैरुत्पन्नैः करणभूतैः तेषु वा विषयभूतेषु दण्डो निक्षिप्तः-परित्यक्तः। इदमुक्तं भवति-यदा सर्वेऽपि स्थावराः भवदभिप्रायेण त्रसत्वेनोत्पद्यन्ते तदा सर्वप्राणिविषयं प्रत्याख्यानं श्रमणोपासकस्य भवतीति । एतदेव प्रश्नपूर्वकं दर्शयितुमाह—( कस्स णं हेउमित्यादि ) सुगमं, यावत्त्रसकाये समुत्पन्नानां स्थानमेतदघात्यम्-अघातार्हं तत्र विरतिसद्भावादित्यभिप्रायः। ते च त्रसा नरकतिर्यङ्नरामरगतिभाजः सामान्यसंज्ञया प्राणिनोऽप्यभिधीयन्ते । तथा विशेषसंज्ञया भयचलनोपेतत्वात्त्रसा अप्युच्यन्ते । तथा महान् कायः शरीरं येषां ते महाकायाः, वैक्रियशरीरस्य योजनलक्षप्रमाणत्वादिति । तथा चिरस्थितिकाः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिमाणत्वाद्भवस्थितेः, तथा ते प्राणिनस्त्रसा बहुतमा भूयिष्ठा यैः श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, त्रसानुद्दिश्य तेन प्रत्याख्यानस्य ग्रहणात्तदभ्युपगमेन च सर्वस्थावराणां त्रसत्वेनोत्पत्तेरतस्तेऽल्पतरकाः प्राणिनो यैः करणभूतैः श्रावकस्याप्रत्याख्यानं भवति । इदमुक्तं भवति-अल्पशब्दस्याभाववाचित्वान्न सन्त्येव ते येष्वप्रत्याख्यानमित्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ( से ) तस्य श्रमणोपासकस्य महतस्त्रसकायादुपशान्तस्य-उपरतस्य प्रतिविरतस्य सतः सुप्रत्याख्यानं भवतीति संबन्धः, तदेवं व्यवस्थिते, णमिति वाक्यालङ्कारे, यद्यूयं वदथ अन्यो वा कश्चित्तद्यथा-नास्त्यसावित्यादि सुगमम्, यावत् ( णो णेयाउए भवइ त्ति) ॥१३॥

साम्प्रतं त्रसानां स्थावरपर्यायाऽऽपन्नानां व्यापादनेनापि न व्रतभङ्गो भवतीत्यर्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तत्रयमाह—

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा आउसंतो ! नियंठा इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ आ(अ)णगारियं पव्वइए एसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति, एएसि णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा०जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारमावसेज्जा ? । हंता वसेज्जा, तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भंगे भवइ ? । णो तिणट्ठे समट्ठे, एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भंगे भवइ, से एवमायाणह ?, णियंठा ! एवमायाणियव्वं ॥ १४ ॥

( भगवं च णमित्यादि ) णमिति वाक्यालङ्कारे । चशब्दः पुनःशब्दार्थे, पुनरपि भगवान् गौतमस्वाम्येवाह-सौख्यस्यपरिहरणार्थमपरानपि ततः स्थविरान् साक्षिणः कर्तुमिदमाह-निर्ग्रन्थाः! युष्मत्स्थविराः खलु प्रष्टव्यास्तद्यथा-आयुष्मन्तो निर्ग्रन्थाः! युष्माकमप्येतद्वक्ष्यमाणमभिमतमाहोस्विन्नेति । अथ छद्मेन चेदमाह- युष्माकमप्येतदभिप्रेतं यदहं वच्मि। तद्यथा-शान्तिरुपशमस्तत्प्रधाना एके केचन मनुष्या भवन्ति, न नारकतिर्यग्देवाः किं तर्हि ? मनुष्याः, तेऽपि नाकर्मभूमिजा नाऽपि म्लेच्छा अनार्या वा, तेषां चार्यदेशोत्पन्नानामुपशमप्रधानानामेतदुक्तपूर्वं भवति, अयं व्रतग्रहणविशेषो भवति । तद्यथा—ये इमे मुण्डा भूत्वाऽगारात्-गृहान्निर्गत्यानगारतां प्रतिपन्नाः, प्रव्रजिता इत्यर्थः । एतेषां चोपर्यामरणान्तं मया दण्डो निक्षिप्तः—परित्यक्तो भवति । इदमुक्तं भवति-कश्चित्तथाविधो मनुष्यो यतीनुद्दिश्य व्रतं गृह्णाति, तद्यथा-न मया यावज्जीवं यतयो हन्तव्याः, तथा ये चेमेऽगारं-गृहवासमावसन्ति तेषां दण्डो निक्षिप्त इत्येवं केषाञ्चिद् व्रतग्रहणविशेषे व्यवस्थिते सति इदमपदिश्यते—तत्र केचन श्रमणाः प्रव्रजिताः कियन्तमपि कालं प्रव्रज्यापर्यायं प्रति-

पादय, तमेव कालविशेषं दर्शयति-यावद्वर्षाणि चत्वारि पञ्च वा षड् दश वा, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्योऽपि कालविशेषो द्रष्टव्यः । तमेवाऽऽह-अल्पतरं वा प्रभूततरं वा कालं तथा देशं च ( दूइज्जइ त्ति ) विहृत्य कुतश्चित् कर्मोदयात्तथाविधपरिणतेरगारं-गृहवासं वसेयुर्गृहस्था भवेयुरित्येवंभूतः पर्यायः किं सम्भाव्यते ?, उत नेत्येवं पृष्टा निर्ग्रन्थाः प्रत्यूचुः-हन्त ! गृहवासं व्रजेयुस्तस्य च यतिवधगृहीतव्रतस्य तं गृहस्थं व्यापादयतः किं व्रतभङ्गो भवेत्?उत नेति । आहुः-नेति,एवमेव श्रमणोपासकस्यापि त्रसेषु दण्डो निक्षिप्तो न स्थावरेष्विति, अतस्तं स्थावरपर्यायाऽऽपन्नं व्यापादयतस्तत्प्रत्याख्यानभङ्गो न भवतीति ॥ १४ ॥

साम्प्रतं पुनरपि पर्यायाऽऽपन्नस्यान्यथात्वं दर्शयितुं द्वितीयं दृष्टान्तं प्रत्याख्यातृविषयगतं दर्शयितुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो ! नियंठा !, इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? । हंता उवसंकमेज्जा । तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मं आइक्खियव्वे ? । हंता आइक्खियव्वे । किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा-इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्ल(ग)कत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमो त्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ?। हंता वएज्जा । किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ?। हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावित्तए ? । हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए ? । हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए ? । हंता कप्पंति । तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं०जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? । हंता णिक्खित्ते । से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा०जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ?। हंता वएज्जा । तस्स णं सव्वपाणेहिं०जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ? । णो इणट्ठे समट्ठे से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं ०जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं०जाव सत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं०जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, परेणं असंजए आरेणं संजए, इयाणिं असंजए, असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं० जाव सत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ, से एवमायाणह ? णियंठा !, से एवमायाणियव्वं ॥ १५ ॥

( भगवं च णमित्यादि ) भगवानेव गौतमस्वाम्येवाऽऽह । तद्यथा-गृहस्थाः यतीनामन्तिके समागत्य धर्मं श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्य तदुत्तरकालं संजातवैराग्याः प्रव्रज्यां गृहीत्वा पुनस्तथाविधकर्मोदयात्तामेव त्यजन्ति, ते च पूर्वं गृहस्थाः-सर्वाऽऽरम्भप्रवृत्तास्तदारतः प्रव्रजिताः सन्तो जीवोपमर्दपरित्यक्तदण्डाः पुनः प्रव्रज्यापरित्यागे सति नो परित्यक्तदण्डाः, तदेवं तेषां प्रत्याख्यातॄणां यथाऽवस्थात्रयेऽप्यन्यथात्वं भवत्येवं त्रसस्थावरयोरपि द्रष्टव्यम् । एतच्च" भगवं च णमुदाहु" इत्यादेर्ग्रन्थस्य "से एवमायाणियव्वं" इत्येतत्पर्यवसानस्य तात्पर्यम् । अक्षरघटना तु सुगमेति स्वबुद्ध्या कार्या ।

तदेवं द्वितीयं दृष्टान्तं प्रदर्श्याधुना तृतीयं दृष्टान्तं परतीर्थिकोद्देशेन दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु णियंठा ! खलु पुच्छियव्वा-आउसंतो नियंठा ! इह खलु परिव्वाइया वा परिव्वाइआओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मं सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? । हंता उवसंकमेज्जा । किं तेसिं तहप्पगारेणं धम्मे आइक्खियव्वे ? । हंता आइक्खियव्वे । तं चेव उवट्ठावित्तए०जाव कप्पंति ? । हंता कप्पंति । किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ? । हंता कप्पंति । तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तं चेव०जाव अगारं वएज्जा ? । हंता वएज्जा । ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ? । णो इणट्ठे समट्ठे से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पंति संभुंजित्तए, से जे से जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति संभुंजित्तए, परेणं अस्समणे आरेणं समणे इयाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाणं निग्गंथाणं संभुंजित्तए, से एवमायाणह ? णियंठा !, से एवमायाणियव्वं ॥ १६ ॥

( भगवं च णमुदाहुरित्यादि०जाव से एवमायाणियव्वं ति ) उत्तानार्थम् । तात्पर्यार्थस्त्वयम्-पूर्वं परिव्राजकाऽऽदयः सन्तोऽसंभोग्याः साधूनां गृहीतश्रामण्याः साधूनां संभोग्याः संवृत्ताः पुनस्तदभावे त्वसंभोग्या इत्येवं पर्यायाऽन्यथात्वं त्रसस्थावराणामप्यायोजनीयमिति ॥ १६ ॥

तदेव दृष्टान्तत्रये—प्रथमे दृष्टान्ते हन्तव्यविषयभूतो यतिगृहस्थभावेन पर्यायभेदो दर्शितो, द्वितीये दृष्टान्ते प्रत्याख्यातृविषयगतो गृहस्थयतिपुनर्गृहस्थभेदेन पर्यायभेदः प्रदर्शितः, तृतीये तु दृष्टान्ते परतीर्थिकसाधुभावो निष्क्रमणभेदेन संभोगासंभोगद्वारेण पर्यायभेदव्यवस्थापित इति । तदेवं दृष्टान्तप्राचुर्येण निर्दोषां देशविरतिं प्रसाध्य पुनरपि तद्गतमेव विचारं कर्तुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वय णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं

अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं थूलगं अदिन्नादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु ममऽट्ठाए किंचि करेह वा, करावेह वा, तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो, ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चारुहित्ता, ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया-सम्मं कालगत त्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते अप्पयरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ, इति से महयाओ जं णं तुब्भे वयह तं चेव ०जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ १७ ॥

( भगवं च णमुदाहुरित्यादि ) पुनरपि गौतस्वामी उदकं प्रतीदमाह । तद्यथा-बहुभिः प्रकारैस्त्रससद्भावः संभाव्यते, ततश्चाशून्यस्तैः संसारस्तदशून्यत्वेन निर्विषयं श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तिरूपं प्रत्याख्यानम् । तदधुना बहुप्रकारत्रससंभूत्याऽशून्यतां संसारस्य दर्शयति । भगवानाह-सन्ति-विद्यन्ते शान्तिप्रधाना वा एके केचन श्रमणोपासका भवन्ति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवति-संभाव्यते च श्रावकाणामेवंभूतस्य वचसः संभव इति । तद्यथा-न खलु वयं शक्नुमः प्रव्रज्यां ग्रहीतुं, किं तु ?, वय, णमिति वाक्यालंकारे, चतुर्दश्यष्टमीपौर्णमासीषु संपूर्णं पौषधमाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पौषधं सम्यगनुपालयन्तो विहरिष्यामः, तथा-स्थूलप्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहं प्रत्याख्यास्यामो द्विविधमिति कृतकारितप्रकारद्वयेनानुमतेः श्रावकस्याप्रतिषिद्धत्वात्, तथा-त्रिविधेनेति मनसा वाचा कायेन च, तथा मा इति निषेधे, खलु इति वाक्यालङ्कारे, मदर्थं पचनपाचनाऽऽदिकं पौषधस्य मम कृते मा कार्षुः, तथा परेण मा कारयत, तत्राप्यनुमतावपि सर्वथा यत्संभवि तत्प्रत्याख्यास्यामः, ते एवंभूतकृतप्रतिज्ञाः सन्तः श्रावकाः अभुक्त्वा अपीत्वा अस्नात्वा च पौषधोपेतत्वादासन्दीपीठिकातः प्रत्यारुह्य-अवतीर्य सम्यक् पौषधं गृहीत्वा कालं कृतवन्तः, ते तथा प्रकारेण कृतकालाः सन्तः किं सम्यक्कृतकाला उताऽसम्यगिति ?, कथं वक्तव्यं स्यादिति ? एवं पृष्टैर्निर्ग्रन्थैरवश्यमेवं वक्तव्यं स्यात्-सम्यक्कालगता इत्येव च कालगतानामवश्यं भावी तेषां देवलोकेषूत्पादः, तदुत्पन्नश्च त्रस एव, ततश्च कथं निर्विषयता प्रत्याख्यानस्योपासकस्येति ॥ १७ ॥

पुनरप्यथा श्रावकोद्देशेनैव प्रत्याख्यानस्य विषयं प्रदर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ, णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ०जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु०जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं णं अपच्छिममारणंतिय-संलेहणाजू(झू)सणाजू(झू)सिया भत्तपाणं पडियाइक्खिया० जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो०जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं, मा खलु ममऽट्ठाए किंचि वि०जाव आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता एते तहा कालगया, किं वत्तव्वं सिया सम्मं कालगय त्ति ?, वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति ०जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ १८ ॥

(भगवं च णमित्यादि) गौतमस्वाम्येवाऽऽह । तद्यथा-सन्ति विद्यन्ते एके केचन श्रमणोपासकाः, तेषां चैतदुक्तपूर्वं भवति । तद्यथा-खलु न शक्नुमो वय प्रव्रज्यां ग्रहीतुं, नाऽपि चतुर्दश्यादिषु सम्यक् पौषधं पालयितुं, वयं चापश्चिमया संलेखनाक्षपणया क्षपितकायाः, यदि वा—संलेखनाजोषणया-सेवनया जोषिता—सेविता उत्तमार्थगुणैरित्येवंभूताः सन्तो भक्तपानं प्रत्याख्याय कालं दीर्घकालमनवकाङ्क्षमाणा विहरिष्यामः । इदमुक्तं भवति-न वयं दीर्घकालं पौषधाऽऽदिकं व्रतं पालयितु समर्थाः, किं तु वयं-सर्वमपि प्राणातिपाताऽऽदिकं प्रत्याख्याय संलेखनया संलिखितकायाश्चतुर्विधाऽऽहारपरित्यागेन जीवितं परित्यक्तुमलमिति । एतत्सूत्रेणैव दर्शयति-( सव्वं पाणाइवायमित्यादि ) सुगमम् । यावत्ते तथा कालगताः किं वक्तव्यमेतत्स्यात्सम्यक् ते कालगता इति ?, एवं पृष्टा निर्ग्रन्था एतदूचुर्यथा ते सन्मनसः—शोभनमनसस्ते कालगता इति, ते च सम्यक् संलेखनया यदा कालं कुर्वन्ति तदाऽवश्यमन्यतमेषु देवलोकेषूत्पद्यन्ते, तत्र चोत्पन्ना यद्यपि ते व्यापादयितुं न शक्यन्ते तथापि त्रसत्वात्ते श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते ॥ १८ ॥

पुनरप्यन्यथा प्रत्याख्यानस्य विषयमुपदर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति । तं जहा-महइच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया०जाव दुप्पडियाणंदा ०जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउगं विप्पजहंति, ततो भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते बहुयरगा आयाणसो, इति से महयाओ णं जं णं तुब्भे वदह तं चेव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ १७ ॥

(भगवं च णं उदाहुरित्यादि) भगवानाह-एके केचन मनुष्या एवंभूता भवन्ति । तद्यथा-महेच्छा महारम्भा महापरिग्रहा इत्यादि सुगमं, यावदेतेषु वा श्रमणोपासकस्याऽऽदीयत इत्यादानं प्रथमव्रतग्रहणं तत आरभ्याऽऽमरणान्ताद् दण्डो निक्षिप्तः परित्यक्तो भवति । ते च तादृग्विधास्तत्साङ्ग्रहात्कालात्यये स्वायुष विजहन्ति, त्यक्त्वा त्रसजीवितं ते भूयः-पुनः स्वकर्म-स्वकृतं किल्विषमादाय गृहीत्वा दुर्गतिगामिनो भवन्ति । एतदुक्तं भवति-महाऽऽरम्भपरिग्रहत्वात्ते मृताः, पुनरन्यतरपृथिव्या नारकत्वेन [illegible], ते च सामान्यसंज्ञया प्राणिनो विशेषसंज्ञ-

या असा महाकायाः चिरस्थितिका इत्यादि पूर्ववद्यावत् ( णो णेयाउए त्ति ) ॥ १६ ॥

पुनरप्यन्येन प्रकारेण प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति । तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया०जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउगं विप्पजहंति ते तओ भुज्जो सगमादाए सोग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति०जाव णो णेयाउए भवइ ॥ २० ॥

( भगवं च णं उदाहुरित्यादि ) पूर्वोक्तेभ्यो महारम्भपरिग्रहवदादिभ्यो विपर्यस्ताः सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्द्राः साधव इत्यादि सुगमं यावत् " णो णेयाउए भवइ त्ति । " एते च सामान्यश्रावकाः, तेऽपि त्रसेष्वेवान्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते, ततोऽपि न निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति ॥ २० ॥

किञ्चान्यत्—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति । तं जहा—अप्पेच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया० जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, तओ भुज्जो सगमादाए सोग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति०जाव णो णेयाउए भवइ ॥ २१ ॥

(भगवं च णं उदाहुरित्यादि) सुगमम् । यावत् (णो णेयाउए त्ति) एते चाल्पेच्छाऽऽदिविशेषणविशिष्टा अवश्यं प्रकृतिभद्रतया सद्गतिगामित्वेन त्रसकायेषूत्पद्यन्ते इति द्रष्टव्यम् ॥२१॥

किञ्चान्यत्—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया मणुस्सा भवंति । तं जहा—आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया पाणभूयजीवसत्तेहिं , अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वो, अन्ने हंतव्वा,० जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं०जाव उववत्तारो भवंति, तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति०जाव णो णेयाउए भवइ ॥ २२ ॥

( भगवं च णं उदाहुरित्यादि ) गौतमस्वाम्येव प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह-एके केचन मनुष्या एवंभूता भवन्ति । तद्यथा-अरण्ये भवा आरण्यकास्तीर्थिकविशेषाः, तथा आवसथिकास्तीर्थिकविशेषा एव,तथा ग्रामनिमन्त्रिकाः, तथा (कण्हुई रहस्सिय त्ति) क्वचित्कार्ये रहस्यकाः, क्वचिद्रहस्यकाः, एते सर्वेऽपि तीर्थिकविशेषाः, च नो बहु संयता हस्तपादाऽऽदिक्रियासु तथा-ज्ञानाऽऽवरणीयावृतत्वाच्च बहुविरताः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेभ्यस्तत्स्वरूपापरिज्ञानाद्वधादविरता इत्यर्थः । ते तीर्थिकविशेषा बहुसंयताः स्वतोऽविग्ना आत्मना सत्यामृषाणि वाक्यान्येवमिति वक्ष्यमाणरीत्या वियुञ्जन्ति । " एवं विप्पडिवेदेंति " क्वचित्पाठः, अस्यायमर्थः—एवंविधप्रकारेण परेषां प्रतिवेदयन्ति—ज्ञापयन्ति, तानि पुनरेवंभूतानि वाक्यानि दर्शयति । तद्यथा—अहं न हन्तव्योऽन्ये पुनर्हन्तव्याः तथाऽहं नाज्ञापयितव्यः, अन्ये पुनराज्ञापयितव्या इत्यादीन्युपदेशवाक्यानि वदन्ति । ते चैवमेवोपदेशदायिनः स्त्रीकामेषु मूर्च्छिता गृद्धा अध्युपपन्ना यावद्वर्षाणि चतुःपञ्चमानि वा षड्दशमानि वा अतोऽप्यल्पतरं वा प्रभूततरं वा कालं भुक्त्वोत्कटा भोगा भोगभोगास्तास्ते तथाभूता, किञ्चिदज्ञानतपःकारिणः कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेष्वासुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषेष्वसुरदेवाधमेषु स्थानेषूपपत्तारो भवन्ति । यदि वा—प्राण्युपमर्दोपदेशदायिनो भोगाभिलाषुका असूर्येषु-नित्यान्धकारेषु किल्बिषप्रधानेषु नरकस्थानेषु ते समुत्पद्यन्ते, ते च देवा नारका वा त्रसत्वं न व्यभिचरन्ति, तेषु च यद्यपि द्रव्यप्राणातिपातो न संभवति, तथापि ते भावतो यः प्राणातिपातस्तद्विरतेर्विषयतां प्रतिपद्यन्ते ततोऽपि च देवलोकाच्च्युता नरकोद्वृत्ताः क्लिष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु तथाविधमनुष्येषु चैडमूकतया समुत्पद्यन्ते,तथा(तमोरूवत्ताए त्ति) अन्धबधिरतया प्रत्यायान्ति, ते चोभयोरप्यवस्थयोस्त्रसत्वं न व्यभिचरन्ति , इत्यतो न निर्विषयं प्रत्याख्यानम्, एतेषु च द्रव्यतोऽपि प्राणातिपातः संभवतीति ॥ २२ ॥

साम्प्रतं प्रत्यक्षसिद्धमेव विरतेर्विषयं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए०जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति,करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति-ते महाकाया ते चिरट्ठिइया ते दीहाउया ते बहुयरगा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ,०जाव णो णेयाउए-भवइ ॥ २३ ॥

( भगवं च णं उदाहुरित्यादि ) भगवानाह—यो हि प्रत्याख्यानं गृह्णाति तस्माद्दीर्घाऽऽयुष्काः प्राणाः—प्राणिनः, ते च नारकमनुष्यदेवा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च सम्भवन्ति, ततः कथं निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति । शेषं सुगमम् । ( ०जाव णो णेयाउए भवइ ) ॥ २३ ॥

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा समाउया,जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए०जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ,ते सयमेव कालं करेंति,(कालं)करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, तसा वि वुच्चंति,ते महाकाया से समाउया ते बहुयरगा,जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ,०जाव णो णेयाउए भवइ ॥ २४ ॥

एवमुत्तरसूत्रमपि तुल्याऽऽयुष्कविषय समानयोगक्षेमत्वाद् व्याख्येयम् ॥ २४ ॥

भगवं च णं उदाहु संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए०जाव दंडे णिक्खित्ते भवइ, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुयरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ०जाव णो णेयाउए भवइ ॥ २५ ॥

तथाऽल्पाऽयुष्कसूत्रमप्यतिस्पष्टत्वात् सूत्रसिद्धमेव। इयांस्तु विशेषो-यावत्ते न म्रियन्ते तावत्प्रत्याख्यानस्य विषयाः, मृतेषु वा समुत्पन्नाः सन्तो, विषयतां प्रतिपद्यन्ते इति ॥ २५ ॥

पुनरपि श्रावकाणामेव दिग्व्रतसमाश्रयणतः प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगइया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-णो खलु वयं संचाएमो मुंडे भवित्ता०जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए, णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिमं० जाव विहरित्तए, वयं च णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्था पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता०जाव सव्वपाणेहिं ०जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि, तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो ०जाव तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि ०जाव अयं पि भेदे से० ॥ २६ ॥

( भगवं च णमित्यादि ) सुगमं यावत् ( वयं णं सामाइयं देसाऽवकासियं ति ) देशेऽवकाशो देशावकाशः, तत्र भवं देशावकाशिकम् । इदमुक्तं भवति—पूर्वगृहीतस्य दिग्व्रतस्य योजनशताऽऽदिकस्य यत्प्रतिदिनं संक्षिप्ततरं योजनगव्यूतिपत्तनगृहमर्यादाऽऽदिकं परिमाणं विधत्ते तद्देशावकाशिकमित्युच्यते। तदेव दर्शयति-( पुरत्था पाईणमित्यादि ) प्रातरेव प्रत्याख्यानावसरे दिगाश्रितमेवंभूतं प्रत्याख्यानं करोति, तद्यथा—प्राचीनं—पूर्वाभिमुखं प्राच्यां दिश्येतावन्मयाऽद्य गन्तव्यं, तथा प्रतीचीनं—प्रतीच्यामपरस्यां दिशि, तथा दक्षिणाभिमुखं—दक्षिणस्यामेवमुदीच्यां दिश्येतावन्मयाऽद्य पञ्चयोजनमात्रं तदधिकमूनतरं वा गन्तव्यमित्येवंभूतं स प्रतिदिनं प्रत्याख्यानं विधत्ते, तेन च गृहीतदेशावकाशिकेनोपासकेन सर्वप्राणिभ्यो गृहीतपरिमाणात्परेण दण्डो निक्षिप्तः परित्यक्तो भवति। ततश्चासौ श्रावकः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु क्षेमंकरोऽहमस्मि इत्येवमध्यवसायी भवति, तत्र गृहीतपरिमाणे देशे ये आरेण त्रसाः प्राणा येषु श्रमणोपासकस्याऽऽदान इत्यादेराऽऽमरणान्तो दण्डो निक्षिप्तः—परित्यक्तो भवति, ते च त्रसाः प्राणाः स्वाऽऽयुष्कं परित्यज्य तत्रैव गृहीतपरिमाणदेशे पञ्चयोजनाऽऽदिदेशाभ्यन्तर एव त्रसाः प्राणास्तेषु प्रत्यायान्ति । इदमुक्तं भवति-गृहीतपरिमाणदेशे त्रसाऽऽयुष्कं परित्यज्य त्रसेष्वेवोत्पद्यन्ते, ततश्च तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवत्युभयथापि त्रसत्वसद्भावात् । शेषं सुगमं, यावत् ( णो णेयाउए भवतीति ) ॥ २६ ॥

तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति , विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव०जाव थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा ते चिरट्ठिइया ०जाव अयं पि भेदे से० ॥२७॥ तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे०तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि०जाव अयं पि भेदे से० ॥ २८ ॥ तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए ०तेसु पच्चायंति, तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि ०जाव अयं पि भेदे से णो ० ॥ २९ ॥ तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणट्ठाए ते पाणा वि ०जाव अयं पि भेदे से णो ० ॥ ३० ॥ तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए ०तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि० जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ ३१ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए०तेसु पच्चायंति, तेहिं समणो-

वासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि ०जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ ३१ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ०जाव ते पाणा वि ०जाव अयं पि भेदे से णो० ॥ ३३ ॥ तत्थ ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि ०जाव अयं पि भेदे से णो णेयाउए भवइ ॥ ३४ ॥

एवमन्यान्यप्येवं सूत्राणि द्रष्टव्यानि सर्वाण्यपि, नवरं तत्र प्रथमे सूत्रे तदेव यद्व्याख्यातं, तच्चैवंभूतम्। तद्यथा—गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते गृहीतपरिमाणदेशस्थास्तेष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते । तथा द्वितीयं सूत्रं त्वाराद्देशवर्तिनस्त्रसा आराद्देशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते ॥ २७ ॥ तृतीये त्वाराद्देशवर्तिनस्त्रसा गृहीतपरिमाणाद्देशाद् बहिर्ये त्रसाः स्थावराश्च तेषूत्पद्यन्ते ॥ २८ ॥ तथा चतुर्थसूत्रे त्वाराद्देशवर्तिनो ये स्थावरास्ते तद्देशवर्तिष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते ॥ २९ ॥ पञ्चमं सूत्रं तु आराद्देशवर्तिनो ये स्थावरास्तेषु तद्देशवर्तिष्वेव स्थावरेषूत्पद्यन्ते ॥ ३० ॥ षष्ठं सूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये स्थावरास्ते गृहीतपरिमाणास्तेषु त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते ॥ ३१ ॥ सप्तमसूत्रं त्विदम्—परदेशवर्तिनो ये त्रसस्थावरास्ते आराद्देशवर्तिषु त्रसेषूत्पद्यन्ते ॥ ३२ ॥ अष्टमसूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये त्रसस्थावरास्ते आराद्देशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते ॥ ३३ ॥ नवमसूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये त्रसस्थावरास्ते परदेशवर्तिष्वेव त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते । एवमनया प्रक्रियया नवापि सूत्राणि भणनीयानि । तत्र यत्र यत्र त्रसास्तत्राऽऽदानशः—आदेरारभ्य श्रमणोपासकेनाऽऽमरणान्तो दण्डस्त्यक्त इत्येवं योजनीयं, यत्र तु स्थावरास्तत्रार्थाय दण्डो न निक्षिप्तः—न परित्यक्तोऽनर्थाय च दण्डः परित्यक्त इति । शेषाक्षरघटना तु स्वबुद्ध्या विधेयेति ॥ ३४ ॥

तदेवं बहुभिर्दृष्टान्तैः सविषयतां श्रावकप्रत्याख्यानस्य प्रसाध्याधुनाऽत्यन्तासंबद्धतां चोद्यस्य सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु ण एतं भूयं ण एतं भव्वं ण एतं भविस्संति जं णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा वि वोच्छिज्जिहिंति, तसा पाणा भविस्संति, अव्वोच्छिन्नेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जं णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए ०जाव णो णेयाउए भवइ ॥ ३५ ॥

( भगवं च णं उदाहुरित्यादि ) भगवान् गौतमस्वाम्युदकं प्रत्येतदाह । तद्यथा—नैतद्भूतमनादिके काले प्रागतिक्रान्ते नाप्येतद्देशेऽनन्ते काले भाव्यं, नाप्येतद्वर्तमानकाले भवति । ये त्रसाः प्राणाः सर्वथा निर्लेपतया स्वजात्युच्छेदेनोच्छेत्स्यन्ति—स्थावरा भविष्यन्ति इति । तथा स्थावराश्च प्राणिनः कालत्रयेऽपि नैव समुच्छेत्स्यन्ति—त्रसा भविष्यन्ति, यद्यपि च तेषां परस्परसंक्रमेण गमनमस्ति तथापि न सामस्त्येनान्यतरेषामितरत्र सद्भावः। तथाहि-न ह्येवंभूतः संभवोऽस्ति यदुत प्रत्याख्यायिनमेकं विहाय परेषां नारकाणां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां तिरश्चां मनुष्यदेवानां च सर्वदाऽप्यभाव. । एवं च त्रसविषयं प्रत्याख्यानं निर्विषयं भवति, यदि तस्य प्रत्याख्यानिनो जीवत एव सर्वेऽपि नारकाऽऽदयस्त्रसाः समुच्छिद्यन्ते न चास्य प्रकारस्य संभवोऽस्त्युक्तन्यायेनेति स्थावराणां चानन्तानामनन्तत्वादेव नासंख्येयेषु त्रसेषूत्पाद इति सुप्रतीतमिदं, तदेवमव्यवच्छिन्नैस्त्रसैः स्थावरैश्च प्राणिभिर्यद्वदत यूयमन्यो वा कश्चिद्वदति । तद्यथा—नास्त्यसौ पर्यायो यत्र [illegible] सविषयोऽपि दण्डपरित्याग इति, तदेतदुक्तनीत्या सर्वमशोभनमिति ॥ ३५ ॥

साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुराह—

भगवं च णं उदाहु आउसंतो ! उदगा जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासेइ मित्ति मन्नति आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्ति मन्नंति आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पहारेत्थगमणाए ॥ ३६ ॥

( भगवं च णं उदाहुरित्यादि ) गौतमस्वाम्याह-आयुष्मन्नुदक ! यः खलु श्रमणं वा यथोक्तकारिणं माहनं वा सद्ब्रह्मचर्योपेतं परिभाषते-निन्दति मैत्रीं मन्यमानोऽपि, तथा सम्यग्ज्ञानमागम्य, तथा दर्शनं चारित्रं च पापानां कर्मणामकरणाय समुत्थितः, स खलु लघुप्रकृतिः पण्डितंमन्यः परलोकस्य सुगतिलक्षणस्य तत्कारणस्य वा सत्संयमस्य पलिमन्थाय—तद्विलोडनाय तद्विघाताय तिष्ठति । यस्तु पुनर्महासत्त्वो—रत्नाकरवद् गम्भीरो न श्रमणाऽऽदीन् परिभाषते,तेषु च परमां मैत्रीं मन्यते, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यनुगम्य,तथा पापानां कर्मणामकरणायोत्थितः स खलु परलोकविशुद्ध्याऽवतिष्ठते । अनेन च परपरिभाषावर्जनेन यथावस्थितार्थस्वरूपदर्शनतो गौतमस्वामिना स्वौद्धत्यं परिहृतं भवति, तदेवं यथावस्थितमर्थं गौतमस्वामिनाऽभिहितोऽप्युदक. पेढालकपुत्रो यदा भगवन्तं गौतममनाद्रियमाणो यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं गमनाय संप्रधारितवान् ॥ ३६ ॥

तं चैवमभिप्रायमुदकं दृष्ट्वा भगवान्गौतम स्वाम्याह । तद्यथा—

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सोवि ताव तं आढाइ, परिजाणाति, वदति, नमंसति, सक्कारेइ, सम्माणेइ॰जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति ॥ ३७ ॥

आयुष्मन्नुदक ! यः खलु तथाभूतस्य श्रमणस्य ब्राह्मणस्य वाऽन्तिके-समीपे एकमपि योगक्षेमाय पद्यते-गम्यते येनार्थस्तत्पदं योगक्षेमपदं, किंभूतम्?, आर्यम्-आर्यानुष्ठानहेतुत्वादार्यं, तथा धार्मिकं तथा शोभनवचनं सुवचनं-सद्गतिहेतुत्वात्तदेवंभूतं पदं श्रुत्वा-निशम्यावगम्य चाऽऽत्मन एव तदनुत्तरं योगक्षेमपदमित्येवमवगम्य सूक्ष्मया कुशाग्रीयया बुद्ध्या प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य, तद्यथा-अहमनेनैवंभूतमर्थपदं लम्भितः-प्रापितः सन्नसावपि तावल्लौकिकस्तमुपदेशदातारमाद्रियते-पूज्योऽयमित्येव जानाति, तथा कल्याणं मङ्गलं देवतामिव स्तौति-पर्युपास्ते च, यद्यप्यसौ पूजनीयः किमपि नेच्छति तथाऽपि तेन तस्य परमार्थोपकारिणो यथाशक्ति विधेयम् ॥ ३७ ॥

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—एतेसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविन्नायाणं अव्वोगडाणं अणिगूढाणं अविच्छिन्नाणं अणिमिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइयं,एतेसि णं भंते ! पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए॰जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि,रोएमि, एवमेव से जहेयं तुब्भे वदह ॥ ३८ ॥

तदेवं गौतमस्वामिनाऽभिहित उदक इदमाह—तद्यथैतेषां पदानां पूर्वमज्ञानतया+श्रवणतया बोध्या चेत्यादिना विशेषणकदम्बकेन न श्रद्धानं कृतवान् । साम्प्रतं तु युष्मदन्तिके विज्ञायैनमर्थं श्रद्दधेऽहम् ॥ ३८ ॥

तए णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-सद्दहाहि णं अज्जो ! पत्तियाहि णं अज्जो ! रोएहि णं अज्जो ! एवमेयं जहा णं अम्हे वयामो, तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ ३९ ॥

एवमवगम्य गौतमस्वाम्युदकमेवाह-यथाऽस्मिन्नर्थे श्रद्धानं कुरु,नान्यथा सर्वज्ञोक्तं भवतीति मत्वा, पुनरप्युदक एवमाह दृष्टमेवैतन्मे, किं त्वमुष्माच्चातुर्यामिकाद्धर्मात्पञ्चयामिकं धर्मं सम्प्रति सप्रतिक्रमणमुपसंपद्य विहर्तुमिच्छामि ॥ ३९ ॥

तए णं से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करित्ता वंदइ, नमंसति वंदित्ता नमंसतित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं एवं वयासी-अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करे(ह)हि, तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जमाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ त्ति बेमि ॥ ४० ॥

ततोऽसौ गौतमस्वामी तं गृहीत्वा तीर्थकरान्तिकं जगाम, उदकश्च भगवन्तं वन्दित्वा पञ्चयामिकधर्मग्रहणायोत्थितो, भगवताऽपि तस्य सप्रतिक्रमणः पञ्चयामो धर्मोऽनुज्ञातः, स च तं तथाभूतं धर्ममुपसंपद्य विहरतीति । इति परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् , सुधर्मस्वामी स्वशिष्यानिदमाह । तद्यथा-सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवदन्तिके श्रुतमिति । सूत्र॰ २ श्रु॰ ७ अ॰। वाणिजकग्रामे पेढालगृहपतिना भद्रायां जनिते स्वनामख्याते पुरुषे,स च द्वात्रिंशत्कन्याः परिणीय वीरान्तिके प्रव्रज्य बहुवर्षाणि प्रव्रज्यां परिपाल्य संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे विमाने उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीत्यनुत्तरोपपातिकदशानां तृतीये वर्गे अष्टमाध्ययने सूचितम् । अणु॰ । स्था॰ ।

पेढिया-पीठिका-स्त्री॰ । ग्रन्थभूमिकायाम् , यस्यामुक्तायामेव ग्रन्थार्थोऽवतिष्ठते । आ॰ म॰ १ अ॰ । रा॰ । नि॰ चू॰ ।

पेढिपाय-प्रतिपाद-पु॰ । मूलपादाना प्रतिविशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादेषु, " णाणामणिमया पेढीपादा । " जी॰ ३ प्रति॰ ४ अधि॰ । ( अत्र प्राकृतव्याकरण चिन्त्यम् )

पेण्डव-प्रस्थाप-धा॰ । प्रस्थानकारणे, " प्रस्थापेः पट्ठवपेण्डवौ " ॥ ८ । ४ । ३७ ॥ इति प्रपूर्वस्य तिष्ठतेर्ण्यन्तस्य पेण्डवाऽऽदेशः । प्रा॰ ४ पाद ।

पेम-प्रेमन्-न॰ । अभिष्वङ्गलक्षणे रागे, औ॰ । मायालोभरूपे ( उत्त॰ ६ अ॰ ) स्नेहे, स्था॰ ३ ठा॰ २ उ॰ । " प्रथमतरमथेदं चिन्तनीयं न वाऽऽसीद् , बहुजनदयिते न प्रेम कृत्वा जनेन । हतहृदय निरास क्लीब ! खिन्नप्यसे किं,न हि जडगततोये सेतुबन्धाः क्रियन्ते ॥ १ ॥ " आचा॰ १ श्रु॰ २ अ॰ ५ उ॰ ।

कन्नसुक्खेहिँ सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहिआसए ॥ २६ ॥

कर्णसौख्यहेतवः-कर्णसौख्याः शब्दाः वेणुवीणाऽऽदिसम्बन्धिनस्तेषु प्रेम-रागं न अभिनिवेशयेत् , न कुर्यादित्यर्थः । तथा दारुणमनिष्टं, कर्कशं-कठिनं, स्पर्शमुपनतं सन्तं कायेन अधिसहेत न तत्र द्वेषं कुर्यादिति,अनेनाऽऽद्यन्तयो रागद्वेषनिराकरणेन सर्वेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषप्रतिषेधो वेदितव्यः । इति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ दश॰ ८ अ॰ ।

पेमरागरत्त-प्रेमरागरक्त-त्रि॰ । कामरागग्रथिलीकृते, तं॰ ।

पेमाबंध-प्रेमाबन्ध-पु॰ । प्रेमरूपे आ-समन्ताद् बन्धे प्रेम्णो ब-

न्धाभावे, 'गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते,निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः । समुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि ! गतांस्ताश्च दिवसा-न्न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ? ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

पेम्म-प्रेमन्-न० । 'तैलाऽऽदौ' ॥ ८ । २ । ९८ ॥ इति मद्वित्वम् । "पेम्म ।" राग प्रा० २ पाद ।

पेय-प्रेत-पुं० । मृते, व्यन्तरविशेषे च । भ० ३ श० ७ उ० ।

प्रेयस्-त्रि० । अतिशयेन प्रिये, औ० । स्त्रियां प्रेयसी । औ० ।

पेयकाइय-प्रेतकायिक-पुं० । व्यन्तरविशेषे,भ० ३ श० ७ उ० ।

पेयदेवलकाइय-प्रेतदेवलकायिक-पुं० । प्रेतसत्कदेवनानां सम्बन्धिनि, भ० ३ श० ७ उ० ।

पेया-पेया-स्त्री० । अल्पतण्डुलसहिते राद्धे दुग्धे, ध० २ अधि० । दुग्धकाञ्जिके, प्रव० ४ द्वार । वाद्यविशेषे, रा० ।

पेयाल-पेयाल-न० । प्रमाणे, नं० । आ० म० । व्य । अपरिज्ञाने अन्तर्गमने, आ० चू० १ अ० । " निवग्गसुत्तत्थगहणपेयाला उभयलोगफलवती । " आ० क० १ अ० । सारे प्रधाने, " पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा । " सारा-प्रधाना. स्थूलत्वेन शक्यव्यपदेशात् । उपा० १ अ० ।

पेरंत-पर्यन्त-पुं० । " पत. पर्यन्ते " ॥ ८ । २ । ६५ ॥ इत्येकारात्परस्य र्यस्य रः । ' पेरंतो । ' अवयविन' सर्वान्तिमप्रदेशे, प्रा० २ पाद । " परिजूरियपेरंतं । " वसन्तसमये परिजीर्णपर्यन्तम् । अनु० । " छेआ पेरंत अहंतो । " पाइ० ना० १७३ गाथा ।

पेरंतवच्च-पर्यन्तवर्चस्-न० । मण्डपे गृहे, " मण्डवं पेरंतवच्चं भवति, सव्वं वा सीयाणं सीताणस्स वा पेरंतवच्चं भवति ।" नि० चू० ३ उ० ।

पेरज्झ-पारवश्य-न० । पराधीनत्वे, भ० ७ श० ८ उ० ।

पेरण-देशी-ऊर्ध्वस्थाने, दे० ना० ६ वर्ग ५७ गाथा ।

पेरिज्ज-देशी-साहाय्ये, दे० ना० ६ वर्ग ५८ गाथा ।

पेरित-प्रेरित-त्रि० । प्रणुन्ने, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आव० । चा० । नि० चू० ।

पेलव-पेलव-पुं० । सुकुमारे, औ० । कोमले, जं० ३ वक्ष० । निःसत्त्वे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । "सिणेहा पेलवा होइ ।" गणाजिर्गते यस्यापि गणस्याऽऽचार्यस्य वा स्नेहः परस्परं पेलवः प्रतनुर्भवति । व्य० १० उ० । मृदुनि, ' कोमलयं सुहफासं, सोमालं पेलवं मउयं ।" पाइ० ना० ८८ गाथा ।

पेलवत्तण-पेलवत्व-न० । मृदुत्व-लघुत्वे, आ० १ श्रु०१ अ० ।

पेलवाइरेग-पेलवातिरेक-पुं० । मृदुत्वलघुत्वगुणे, "हयलालापेलवाइरेगं ।" हयलाला-अश्वलाला तस्या अपि पेलवामतिरेकेण हयलालपेलवातिरेकं बाहुलकादेवं समासः । विशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणैरुपेतम् । आव० १ अ० ।

पेलु-पेलुक-न० । पूणिकया वलिते रुते, बृ० १ उ० ३ प्रक० । नि० चू० । लाटदेशे रूतसम्बन्धिनी या पूणिका इति प्रसिद्धा सैव महाराष्ट्रविषये पेलुरित्युच्यते । विशे० ।

पेलुकरण-पेलुकरण-न० । लाटदेशे रूतसम्बन्धिनी या पूणिकेति प्रसिद्धा सैव महाराष्ट्रकविषये पेलुरित्युच्यते, तस्याः करणं निर्वर्तकम् । वंशाऽऽदिमय्यां शलाकायाम्, यया पेलुः क्रियते । विशे० ।

पेलुग-पेलुक-न० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पेलेज्जा-प्रेरयेत्-क्रिया । संयमभारं बलादपहत्याऽऽपातयेत् । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पेल्ल-क्षिप्-धा० । प्रेरणे, " क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परीघत्ताः " ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इति क्षिपे पेल्लाऽऽदेशः । प्रा० ४ पाद ।

पेल्ल त्रि० । दरिद्रे, "पेल्लस्स तेण कप्पति ।" पेल्लो दरिद्रो । नि० चू० १ उ० ।

पेल्लग-प्रेरक-पुं० । श्वगवीनां स्वगृहे प्रविशन्तीनां निवारके,बृ० १ उ० २ प्रक० । सार्थाऽधिपस्य सार्थस्य प्र. त्तक, नि० चू० । १६ उ० ।

पेल्लण-प्रेरण-न० । चोदने, नि० चू० १७ उ० ।

पेल्लणया-प्रेरणा-स्त्री० । विषयार्थिना प्रेरणे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पेल्लिअ-देशी-पीडिते, दे० ना० ६ वर्ग ५७ गाथा ।

पेल्लिय-प्रेरित-त्रि० । पातिते, व्य० २ उ० ।

पेस-प्र-ईक्ष्-धा० । दर्शने, प्रा० । पेच्छइ । " छस्य श्चोऽनादौ " ॥ ८ । ४ । २९५ ॥ इति छस्य श्च' मागध्याम् । " तिरिश्चि पेश्चदि ।" तिर्यक् प्रेक्षते । प्रा० ४ पाद ।

पेस-प्रेष्य-पुं० । स्त्री० । यलोप. । "न दीर्घाऽनुस्वारात्" ॥ ८ । २ । ९२ ॥ इति सस्य प्राप्त द्वित्वं न । प्रा० २ पाद । प्रेषणयोग्ये,सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आदेश्ये,प्रश्न० २ आश्र० द्वार । कर्मकरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । प्रेषणयोग्ये भृत्याऽऽदौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । तथाविधप्रयोजनेषु आज्ञप्तिकरे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । नगरान्तराऽऽदिषु प्रेष्यन्ते । आ० १ श्रु० २ अ० । सिन्धुविषये एव सूक्ष्मचर्मणि पशौ तच्चर्मनिष्पन्न वस्त्रे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

पेसग-प्रेष्य-पुं० । स्त्री० । कर्मकरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पेसगजण-प्रेषकजन-पुं० । प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

पेसगपेसग-प्रेष्यप्रेष्य-पुं० । कर्मकरस्य कर्मकरे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

पेसण-प्रेषण-न० । व्यापारणे बृ० १ उ० ३ प्रक० । नियोजने । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । भृत्याऽऽदेर्विवक्षितक्षेत्राद् बहिःप्रयोजनाय व्यापारणे, प्रव० । कार्ये, दे० ना० ६ वर्ग ५७ गाथा ।

पेसणआरी-देशी-दूत्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ५९ गाथा ।

पेसता-प्रेष्यता-स्त्री० । आदेश्यतायाम्, भ० १२ श० ७ उ० ।

पेसपडिमा-प्रेष्यप्रतिमा-स्त्री० । नव मासान् प्रेष्यैरप्यारम्भं न कारयतीति नवम्यामुपासकप्रतिमायाम्, ध० २ अधि० ।

पेसपसुणिमित्त-प्रेष्यपशुनिमित्त-न० । कर्मकरगवादिहेतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पेसप्पओग-प्रेष्यप्रयोग-पुं० । प्रेष्यस्य-आदेश्यस्य प्रयोगः । वि-

वक्षिप्तक्षेत्राद् बहिः प्रयोजनाय स्वयं गमने व्रतभङ्गभयाऽऽपन्नस्य व्यापारणे, पञ्चा० १ विव० । ध० ।

पेसयंतिया-पेषयन्तिका-स्त्री० । गोधूमाऽऽदीनां घरट्टाऽऽदिना पेषणकारिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

पेसल-पेशल-त्रि० । सुन्दरे, ज्ञा० १ ज्ञा० । शोभने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । उत्त० । मनोज्ञे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० । सूत्र० । "धम्मं च पेसलं नच्चा तं पट्ठविज्ज भिक्खं ।" प्रति० । मिष्टवाक्ये विनयाऽऽदिगुणसमन्विते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "ललिअं वग्गुं मंजुं, मंजुलयं पेसलं कलं महुरं ।" पाइ० ना० ८८ गाथा ।

पेसलेस-प्रेमलेस-न० । प्रेषचर्मसूक्ष्मपक्ष्मनिष्पन्ने वस्त्रविशेषे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० । नि० चू० ।

पेसवणप्पओग-प्रेषणप्रयोग-पुं० । बलाद् विनियोज्य, प्रेष्यस्तस्य प्रयोगः । अभिगृहीतप्रवीचारदेशव्यतिक्रमभयात्त्वयाऽवश्यमेव गत्वा मम गवाऽऽद्यानेयमिति, इदं वा तत्र कर्त्तव्यमित्येवंभूते देशावकाशिकव्रतातिचारे, ध० २ अधि० । उपा० । आव० ।

पेसविअ-प्रेषित-त्रि० । प्रस्थापिते, " पेसविअं पट्ठविअं । " पाइ० ना० २०१ गाथा ।

पेसाय-पैशाच-पुं० । सुप्तप्रमत्तकन्याग्रहणाऽऽत्मके विवाहभेदे, ध० १ अधि० । पिशाचसम्बन्धिनि, सू० २ उ० ।

पेसिय-प्रेषित-त्रि० । प्रेषिते, " दुओ पेसिओ । " आ० म० १ अ० ।

पेसी-पेशी-स्त्री० । घनस्वरूपे मांसखण्डे, तं० । दीर्घाऽऽकारे वृत्तमध्यावयवे, नि० चू० १५ उ० । फल्याम्, आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० २ उ० । तं० । वृ० ।

पेसुण्ण-पैशुन्य-न० । परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्योद्घाटने, प्रज्ञा० २१ पद । औ० । प्रच्छन्नमसद्दोषाऽऽविष्करणे, दशा० ६ अ० । प्रव० । परगुणाऽसहनतया तद्दोषोद्घट्टने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । पिशुनकर्मणि, रा० । प्रश्न० । स्था० । ज्ञा० । ( अत्रार्थे 'पावट्ठाण' शब्दोऽवलोकनीयः )

' अट्ठारस पावठाणगाइ त्ति ' सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमं द्वारमाह—

सव्वं पाणाइवायं १,
आलिय२ मदत्तं च ३ मेहुणं सव्वं ४ ।
सव्वं परिग्गहं ५ तह,
राईभत्तं ६ च वोसिरिमो ॥ ६५ ॥
सव्वं कोहं ७ माणं ८,
मायं ९ लोहं १० च राग ११ दोसे १२ य ।
कलहं १३ अब्भक्खाणं १४,
पेसुन्नं १५ परपरीवायं १६ ॥ ६६ ॥
मायामोसं १७ मिच्छा-
दंसणसल्लं १८ तहेव वोसरिमो ।
अंतिमऊसासम्मी,
देहं पि जिणाइपच्चक्खं ॥ ६७ ॥

सर्वं सप्रभेदं प्राणातिपात १ तथा सर्वमलीक—मृषावाद २ तथा सर्वमदत्तम्-अदत्ताऽऽदानं ३, तथा सर्वं मैथुनं ४, तथा सर्वं परिग्रहं ५, तथा सर्वं रात्रिभक्तं च-रजनि(नी)भोजनं ६, व्युत्सृजामः—परिहरामः । तथा सर्वं क्रोधं ७, मानं ८, मायां ९, लोभ च १०, रागद्वेषौ च ११-१२, तथा कलहम् १३ अभ्याख्यान १४, पैशुन्य १५, परपरिवाद, १६, मायामृषां १७, मिथ्यात्वदर्शनशल्य च १८, तथैव सप्रभेदं व्युत्सृजामः । एतान्यष्टादश पापहेतुत्वे स्थानकानि पापस्थानकानि । न केवलमेतान्येव, किं तु अन्तिमे उच्छ्वासे, परलोकगमनसमये इत्यर्थः । देहमपि निजं शरीरमिति व्युत्सृजामस्तत्राऽपि ममत्वमोचनात्, जिनाऽऽदिप्रत्यक्षं-तीर्थकरसिद्धाऽऽदीनां समक्षमिति । तत्र प्राणातिपातमृषावादादत्ताऽऽदानमैथुनपरिग्रहरात्रिभक्तक्रोधमानमायालोभाः प्रतीताः, तथा रागोऽनभिव्यक्तमायालोभलक्षणस्वभावमेदमभिष्वङ्गमात्रम् । (दोसो त्ति) द्वेषणं द्वेषः, दूषणं वा दोषः, स चानभिव्यक्तक्रोधमानलक्षणभेदः स्वभावोऽप्रीतिमात्रम् । कलहो-राटी अभ्याख्यानं-प्रकटमसद्दोषाऽऽरोपणं, पैशुन्य पिशुनं कर्म, प्रच्छन्नं सदसद्दोषाऽऽविर्भावनम् । तथा परेषा परिवादः परपरिवादो, विकत्थनमित्यर्थः । तथा माया च—निकृतिः, मृषा च मृषावादः, मायया वा सह मृषा मायामृषा, प्राकृतत्वात्-"मायामोसं वा " दोषद्वययोगदोषोपलक्षणं, वेशान्तरकरणेन लोकप्रतारणमित्यन्ये । तथा मिथ्यादर्शनं—विपर्यस्ता दृष्टिः, तदेव तोमराऽऽदिशल्यमिव शल्यं, दुःखहेतुत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति । स्थानाङ्गे च रात्रिभोजनं पापस्थानमध्ये न पठितं, किं तु परपरिवादाग्रतोऽरतिरतिः, तस्य चायमर्थः-अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजश्चित्तविकार उद्वेगलक्षणः, रतिश्च तथाविधाऽऽनन्दरूपा, अरतिरतिरित्येकमेव विवक्षितं, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव विषयान्तरापेक्षयाऽरतिं व्यपदिशन्ति । एवमरतिमेव रतिमित्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति । ततो रागपदस्थाने "पिज्ज" पदं च पठन्ति । तत्र च प्रियस्य भावः कर्म वा प्रेम, अर्थस्तु रागपदवाच्य एवेति । प्रव० २३७ द्वार ।

पेहण-प्रेक्षण-न० । अवलोकने, "चारुपेहणी ।" उत्त० २२ अ० ।

पेहमाण-प्रेक्षमाण-त्रि० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । प्रकर्षेण पश्यति, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० । आ० म० । दृश्यवस्तूनि पश्यति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० ।

पेहा-प्रेक्षा-स्त्री० । बुद्धौ, उत्त० १ अ० । चिन्तायाम्, आव० ४ अ० । प्रत्युपेक्षणायाम्, वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

पेहाअसंजम-प्रेक्षाऽसंयम-पुं० । प्रेक्षायामसयमो यः स तथा । असंयमभेदे, स च स्थानोपकरणाऽऽदीनि अप्रत्युपेक्षणमविधिप्रत्युपेक्षणं वा । स० १७ सम० ।

पेहाए-प्रेक्ष्य-अव्य० । दृष्ट्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

पेहादोस-प्रेक्षादोष-पुं० । कायोत्सर्गदोषविशेषे, प्रव० ।

अणुपेहंतो तह वा-नरो व्व चालेइ हुट्ठपुडे ॥१६॥

अनुप्रेक्षमाणो नमस्काराऽऽदिकं चिन्तयन्कुत्सर्गतो वानर इव चालयत्योष्ठपुटाविति प्रेक्षादोष इत्येकोनविंशतिः । प्रव० ५ द्वार ।

पेहामंडव-प्रेक्षामण्डप-पुं० प्रेक्षणार्थमण्डपे, प्रव० २६९ द्वार ।

पेहिय-प्रेक्षित-त्रि० । दृष्टे, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० । भावे क्तः । वक्रावलोकने, उत्त० ३२ अ० । नि० चू० ।

प्रेत्य-अव्य० । दृष्ट्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

पेहुण-पेहुण-न० । पिच्छे, " पिच्छाइ पेहुणाइं । " पाइ० ना० १२६ गाथा । दे० ना० ।

पेहुणग-पेहुणक-न० । मयूरपिच्छकृतव्यजने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० । मयूराङ्गमध्या पिच्छायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक० । दश० । जं० ।

पेहुणमिंजिया-पेहुणमिञ्जिका-स्त्री० । मयूरपिच्छमध्यवर्तिन्यां मिञ्जायाम्, जं० १ वक्ष० । आ० म० । प्रज्ञा० ।

पेहुणहत्थग-पेहुणहस्तक-पुं० । मयूराऽऽदिपिच्छसमूहे, दश० ४ अ० । मयूरपिच्छकृतव्यजने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

पोअ-पोत-पुं० । बालके, "डहरा डिंभो चुल्लो, सिसू सिलंबो य अब्भओ पोओ । " पाइ० ना० ५८ गाथा । जलवहनमार्गे, " पोआ वहण । " पाइ० ना० २७२ गाथा । ध्ववृक्ष-लघुसर्पयोः, दे० ना० ६ वर्ग ८१ गाथा ।

पोअइ-दशी—मुक्तभयं, पगड च । दे० ना० ६ वर्ग ६१ गाथा ।

पोअत-देशी—शपथ, दे० ना० ६ वर्ग ६२ गाथा ।

पोअइआ-स्त्री० । निद्रालुतायाम्, " पोअइआ य वयर्ली मयार्ली य । " पाइ० ना० १४८ गाथा । निद्राकरलतायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ६३ गाथा ।

पोअलअ-देशी-आश्विनमासोत्सवाऽपूपयो, बालवसन्त इत्यन्ये । दे० ना० ६ वर्ग ८१ गाथा ।

पोआअ-देशी-ग्रामप्रधानपुरुषे, दे० ना० ६ वर्ग ६० गाथा ।

पोआई-पोताकी-स्त्री० । शकुन्तिकायाम, परिव्राजकप्रयुक्ते (आ० चू० १ अ०) विद्याविशेषे च । आ० क० १ अ० ।

पोआल-देशी—वृषभे, दे० ना० ६ वर्ग ६२ गाथा ।

पोइअ-प्रोत-त्रि० । 'परोवेलुं' ( गुजराती ) " आविअ पाइअ " पाइ० ना० २६८ गाथा । कान्दिवके, खद्योते इत्यन्ये । दे० ना० ६ वर्ग ६३ गाथा ।

पोइआ-देशी—निद्राकरलतायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ६३ गाथा ।

पोइय-पोतित-देशी—इतस्ततः स्पन्दिते, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पोई-पोयी-स्त्री० । ताम्बूलाऽऽकृतिपर्णे लघुकलायतुल्यफले शाकत्वेनोपयुक्तवल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पोउआ-देशी—करीषाग्नौ, दे० ना० ६ वर्ग ६१ गाथा ।

पोंड-पौण्ड-न० । "पोंडा वमणी तस्स फल" नि० चू० ३ उ० । फले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । महा० । पुष्पे च । उत्त० ३ अ० । यूथाधिपतौ, दे० ना० ६ वर्ग ६० गाथा ।

पोंडवद्धणिया-पौण्डवर्द्धनिका-स्त्री० । गोदासगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० ३ अधि० ८ क्षण ।

पोंडय-पौण्डज-न० । वनीफलात्पुष्पजे कार्पासिक, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नि० चू० ।

पोंडरीग-पुण्डरीक-न० । शताम्बुजे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रज्ञा० । लोमपक्षिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । भगवत ऋषभस्याऽऽदिगणधरे, व्य० ४ उ० । क्षीरवरद्वीपाधिपतौ, स्था० १० ठा० । पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीराजमहापद्मपुत्रे, आ० चू० ४ अ० । आव० । आ० म० । सूत्रकृताङ्गाध्ययनभेदे, आ० चू० १ अ० । सूत्र० । एकोनविंशे ज्ञाताध्ययने, स० १९ सम० । सप्तमदेवलोकीये विमानभेदे, स० ८ सम० ।

पोंडरीगतव-पुण्डरीकतपस्-न० । चैत्रपौर्णमास्यां, पुण्डरीकपूजायुत उपवासाऽऽद्यन्यतरस्मिन् तपसि, पञ्चा० १९ विव० ।

पोंडरीगिणी-पुण्डरीकिणी-स्त्री० । पुण्डरीकाणि-श्वेतपद्मानि-विद्यन्ते यस्यां सा पुण्डरीकिणी । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पुष्करिण्याम्, जम्बूद्वीप मन्दरस्योत्तरेण लक्ष्मीदेव्यावासभूते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आ० चू० । जम्बूद्वीपे पुष्कलावर्तविजयस्थयुगलराजधानीयुगल, ' दो पोंडरीगिणीओ । " स्था० २ ठा० ३ उ० । आ० चू० । आ० म० । जं० । आ० क० ।

पोण्डरीकिणी-स्त्री० । पौण्डरीकाणि—श्वेतशतपत्राणि विद्यन्ते यस्यां सा पौण्डरीकिणी । प्राचुर्ये मत्वर्थीय इनि । बहुपद्मायाम्, ( सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ) पाश्वमाञ्जनाद्रेरुत्तरदिग्वर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, ती० ३३ कल्प० । द्वी० । महाविदेहमध्यनगरीभेदे, विपा० २ श्रु० २ अ० ।

पोक्क-व्याहृ-वि आ-हृ-धा० । कथने, " व्याहृगे कोक्कपोक्कौ " ॥ ८ । ४ । ७६ ॥ इति व्याहरते पोक्काऽऽदेश । पोक्कइ । व्याहरति । प्रा० ४ पाद । अग्रे स्थूलोन्नत, उत्त० १२ अ० ।

पोक्कनास-पोक्कनास-त्रि० । पोक्का-अग्रे स्थूलोन्नता मध्ये निम्ना नासा यस्य स पोक्कनास । चिप्पटनासे, उत्त० १२ अ० ।

पोक्करिय-पूत्कारित-न० । भावे क्त । आहूते, "तओ मरणभीयाए पोक्करियं ।" दर्श० ३ तत्त्व ।

पोक्काण-पोक्काण-पुं० । म्लेच्छजातीये मनुष्ये, म्लेच्छभेदे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

पोक्कार-पूत्कार-पुं० । आह्वाने, विशे० ।

पोक्खर-पुष्कर-न० । " ष्क स्कयोर्नाम्नि " ॥ ८ । २ । ४ ॥ इति ष्कस्य खः । प्रा० २ पाद । खद्वित्वम् । खस्य कः । "ओत्संयोगे " ॥ ८ । १ । ११६ ॥ इति उकारस्यौकार । प्रा० १ पाद । कमले, नि० चू० १२ उ० ।

पोक्खरिणी-पुष्करिणी-स्त्री० । पुष्करवत्यां चतुष्कोणायां वाप्याम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "असोगवणियाए आगन्ता पोक्खरिणी खणावेत्त । " आव० ६ अ० । स्था० ।

पोक्खल-पुष्कर-न० । पद्मकेसरे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

पोक्खलच्छिब्भय-पुष्करच्छिब्भक-न० । जलरुहभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

पोक्खलपाल-पुष्करपाल-पुं० । वज्रसेननृपपुत्रे, आ० चू० १ अ० ।

पोक्खलविभाग पुष्करविभाग-पुं० । पद्मकन्दे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

पोक्खलि-पुष्कलि-पुं० । श्रावस्तीवास्तव्ये शतकापरनामके श्रावके भ० ८ श० १ उ० । ( 'संख' शब्देऽस्य कथां वक्ष्यामि )

पोग्गल-पुद्गल-पुं० । पूरणगलनधर्माः पुद्गलाः । "ओत्संयोगे" ॥ ८ । १ । ११६ ॥ इत्युकारस्यौकारः । परमाणुद्विप्रदेशिकाऽऽदौ द्रव्यविशेषे, आ० म० १ अ० । प्रा० । "स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दमूर्त्तस्वभावकाः । सङ्घातभेदनिष्पन्नाः, पुद्गला जिनभाषिताः ॥ १ ॥" दर्श० ४ तत्त्व ।

पुद्गलानां लक्षणमाह—

सद्दऽन्धयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ वा ।

वण्णगंधरसा फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १२ ॥

शब्दो-ध्वनिरूपः,पौद्गलिकः तथा-अन्धकारं तदपि पुद्गलरूपं, तथा उद्द्योतो-रत्नाऽऽदीनां प्रकाशः, तथा प्रभा-चन्द्राऽऽदीनां प्रकाशः,तथा छाया-वृक्षाऽऽदीनां छाया शैत्यगुणा,तथा आतपो रविरुष्णप्रकाशः, इति पुद्गलस्वरूपं, वाशब्दः समुच्चये, वर्णगन्धरसस्पर्शाः पुद्गलानां लक्षणं ज्ञेयम् । वर्णाः-शुक्लपीतहरितरक्तकृष्णाऽऽदयः,गन्धः-दुर्गन्धसुगन्धाऽऽत्मको गुणः,रसाः षट्-तीक्ष्णकटुककषायाऽऽम्लमधुरलवणाऽऽद्याः, स्पर्शाः-शीतोष्णखरमृदुस्निग्धरूक्षलघुगुर्वादयः,एते सर्वेऽपि पुद्गलास्तिकायस्कन्धलक्षणा वाच्याः ज्ञेया इत्यर्थः, एभिर्लक्षणैरेव पुद्गला लक्ष्यन्त इति भावः । उत्त० २८ अ० ।

वर्णाऽऽदिकगुणैर्भेदो, ज्ञायते पुद्गलस्य च । ( २० )

( वर्णेति ) वर्णगन्धरसस्पर्शाऽऽदिकगुणैः पुद्गलद्रव्यस्य अन्येभ्यो धर्माऽऽदिद्रव्येभ्यो भेदो ज्ञायते । वर्णाः पञ्च-शुक्लपीतहरितरक्तकृष्णभेदात् । गन्धौ द्वौ-सुरभ्यसुरभी चेति । रसाः षट्-तिक्तकटुककषायाम्लमधुरलवणभेदात् । स्पर्शा अष्टौ-शीतोष्णे,खरमृदू, लघुमहती,स्निग्धरूक्षे च ॥" इति । सर्वमप्येतत्पुद्गलभेदाद्भिद्यते । द्रव्या० १० अध्या० ।

पुद्गलास्तिकायभेदः । पुद्गलाश्चतुर्विधाः—

खंधा, खंधदेसा,खंधप्पएसा,परमाणुपोग्गला । ते समासओ पंचविहा पण्णत्ता । त जहा-वण्णपरिणया, गंधपरिणया, रसपरिणया,फासपरिणया, संठाणपरिणया । प्रज्ञा० १ पद ।

( 'अजीव' शब्दे प्रथमभागे २०४ पृष्ठे सव्याख्यानमेतद् दर्शितम् )

पुद्गल( अनन्ता

एगपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । एवमेगसमयट्ठितिया एगगुणकालगा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ०जाव एगगुणलुक्खा पुग्गला अणंता पण्णत्ता ।

( एगप्पएसोगाढेत्यादि ) सुगमम् । नवरमेकत्र प्रदेशे-क्षेत्रस्यांशविशेषे अवगाढा आश्रिता एकप्रदेशावगाढाः, ते च परमाणुरूपाः स्कन्धरूपाश्चेति । एवं वर्ण ५ गन्ध २ रस ५ स्पर्श ८ भेदविशिष्टाः पुद्गला वाच्याः । अत एवोक्तम्-"जाव एगगुणलुक्खेत्यादि ।" स्था० १ ठा० । ( 'जीवा ण दुट्ठाण०' स्था० २ ठा० ४ उ । 'जीवा ण तिट्ठाण० स्था० ३ ठा० ४ उ० । जीवा णं चउट्ठाण०' स्था० ४ ठा ४ उ० । 'जीवा णं पचट्ठाण०' स्था० ५ ठा० ३ उ० । 'जीवा णं छट्ठाण०' स्था० ६ ठा० । "जीवा णं सत्तट्ठाण०' स्था० ७ ठा० । 'जीवा णं अट्ठट्ठाण०' स्था० ८ ठा० । 'जीवा णं नवट्ठाण०' स्था० ९ ठा० । 'जीवा ण दसट्ठाण० ' स्था० १० ठा० । इत्यादिसूत्राणि 'पावकम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८७८ पृष्ठे गतानि )

पुद्गलान् द्रव्यक्षेत्रकालभावैः द्विस्थानकावतारेण निरूपयन्नाह । अनन्ताः—

दुपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता, दुपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । एवं०जाव दुगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता ।

"दुपएसि" इत्यादि सूत्रत्रयोविंशतिः, सुगमा चेयं नवरं यावत्करणात् "दुसमयट्ठिइ" इत्यादिसूत्राण्येकविंशतिर्वाच्यानि । कालं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदान्वर्णगन्धरसस्पर्शांश्चाश्रित्येति । वाचना चैवम्-"दुसमयट्ठि(इ)या पोग्गलेत्यादि ।" स्था० २ ठा० ४ उ० ।

पुद्गलस्कन्धान् प्रति त्रिस्थानकमाह—

तिपएसिया खंधा अनंता पण्णत्ता । एवं०जाव तिगुणलुक्खपोग्गला अणंता पण्णत्ता ।

( तिपएसिएत्यादि ) स्पष्टमिति । सर्वसूत्रेषु व्याख्यातशेषं कर्तव्यम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

चतुःप्रदेशिकाः—

चउप्पएसिया खंधा अनंता पण्णत्ता । चउप्पएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । चउसमयट्ठिईया पोग्गला अणंता पण्णत्ता । चउगुणकालगा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । ०जाव चउगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पञ्च पुद्गला अनन्ताः—

पंचपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता । पंचपएसोगाढा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । ०जाव पचगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

षट्प्रदेशिकाः पुद्गला अनन्ताः—

छप्पएसिया णं खंधा अणंता पण्णत्ता । छप्पएसोगाढा पोग्गला अणं० प०,छसमयट्ठिइया पोग्गला अणं० प०, छग्गुणकालगा पोग्गला ०जाव छग्गुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । स्था० ६ ठा० ।

पुद्गला—

सत्तपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता । सत्तपएसोगाढा पोग्गला ०जाव सत्तगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । स्था० ७ ठा० ।

अष्टप्रदेशिका—

अट्ठपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता । अट्ठपएसोगाढा पोग्गला० जाव अट्ठगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पण्णत्ता । स्था० ८ ठा० ।

नवप्रदेशिकाः—

नवपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता । नवपदेसोगाढा पुग्गला अणंता पण्णत्ता । नवगुणलुक्खा पुग्गला अणंता पण्णत्ता । स्था० ९ ठा० ।

दशप्रदेशिकाः—

दसपएसिया खंधा अणंता पण्णत्ता । दसपएसोगाढा पुग्गला अणंता पण्णत्ता । दससमयट्ठिइया पोग्गला अणंता

पन्नत्ता । दसगुणकालगा पोग्गला अणंता पन्नत्ता । एवं वएणेहिं गंधेहिं रसेहिं फासेहिं०जाव दसगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पन्नत्ता ।

" दसेत्यादि " सूत्रवृन्दं, सुगमं च, नवरं दशप्रदेशा येषां ते तथा, त एव दशप्रदेशिका दशाणुकाः स्कन्धाः समुच्चया इति द्रव्यतः पुद्गलचिन्ता, तथा दशप्रदेशेष्वाकाशस्यावगाढा आश्रिता दशप्रदेशावगाढा इति क्षेत्रतः, तथा दशसमयान् स्थितिर्येषां ते तथेति कालतः, तथा दशगुण एकगुणकालापेक्षया दशाभ्यस्तः कालो-वर्णविशेषो येषां ते दशगुणकालकाः, एवमन्यैश्चतुर्भिर्वर्णैर्द्वाभ्यां गन्धाभ्यां पञ्चभी रसैरष्टाभिः स्पर्शैर्विशेषिता. पुद्गला अनन्ता वाच्याः । अत एवाऽऽह-( एवमित्यादि ) " ० जाव दसगुणलुक्खा पोग्गला अणंता पन्नत्ता ।" इत्यनेन भावतः पुद्गलचिन्तायां विंशतितम आलापको दर्शित । इह चानन्तशब्दोपादानेन वृद्ध्यादिशब्देन चानन्तमङ्गलमभिहितमयं चानन्तशब्द इह सर्वाध्ययनानामन्ते पठित इति सर्वेष्वप्यन्तमङ्गलतया बोद्धव्य इति तदेव निगमितमनुगमद्वाराशभूत सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिद्वाराणि तु सर्वाध्ययनेषु प्रथमाध्ययनवदनुगमनीयानि । स्था० १० ठा० ।

द्वाभ्यां स्थानाभ्यां पुद्गलाः भिद्यन्ते परिशटन्ति—

दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहन्नंति । तं जहा-सयं वा पोग्गला साहन्नंति,परेण वा पोग्गला साहन्नंति । दोहिं ठाणेहिं पोग्गला भिज्जंति । तं जहा-सयं वा पोग्गला भिज्जंति, परेण वा पोग्गला भिज्जंति । दोहिं ठाणेहिं पोग्गला परिसडंति । तं जहा-सयं वा पोग्गला परिसडंति,परेण वा पोग्गला परिसडंति, एवं परिवडंति, विद्धंसंति ।

( दोहीत्यादि ) सूत्रपञ्चक कण्ठ्यं, नवरं स्वयं चेति स्वभावेन वा अभ्राऽऽदिष्विव पुद्गलाः संहन्यन्ते-सम्बध्यन्ते कर्म्मकर्तृप्रयोगोऽयं,परेण वा पुरुषाऽऽदिना वा संहन्यन्ते-संहता क्रियन्ते कर्म्मप्रयोगोऽयम्, एवं भिद्यन्ते विघटन्ते यथा परिपतन्ति पर्वतशिखराऽऽदेरिवेति परिशटन्ति कुष्ठाऽऽदेर्निमित्तादङ्गुल्यादिवत् विध्वस्यन्ते-विनश्यन्ति घनपटलवदिति ॥ ५ ॥

पुद्गलानेव द्वादशसूत्राणि निरूपयन्नाह—

दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-भिन्ना चेव,अभिन्ना चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-भिउरधम्मा चेव, नो भिउरधम्मा चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-परमाणुपोग्गला चेव, नो परमाणुपोग्गला चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-सुहुमा चेव, बायरा चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-बद्धपासपुट्ठा चेव , नो बद्धपासपुट्ठा चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-परियादितच्चेव, अपरियादितच्चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-अत्ता चेव, अणत्ता चेव । दुविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-इट्ठा चेव,अणिट्ठा चेव । एवं कंता,पिया, मणुन्ना, मणामा ।

( दुविहेत्यादि ) भिन्नाः-विघटिता इतरे त्वभिन्नाः स्वयमेव भिद्यन्ते इति भिदुराः, भिदुरत्व धर्मो येषां ते भिदुरधर्माणः, अन्तर्भूतभावप्रत्ययोऽयम् । प्रतिपक्षः प्रतीत एवेति । परमाणवस्तेऽणवश्चेति परमाणवः नो परमाणवः स्कन्धाः सूक्ष्माः येषां सूक्ष्मः परिणामः शीतोष्णस्निग्धरूक्षलक्षणाश्चत्वार एव स्पर्शास्ते च भाषाऽऽदयः । बादरास्तु येषां बादर परिणामः पञ्चाऽऽदयश्च स्पर्शाः ते चौदारिकाऽऽदयः ४ पार्श्वेन स्पृष्टाः देहत्वचा छुप्ताः रेणुवत् पार्श्वस्पृष्टाः ततो बद्धाः गाढतरसंश्लिष्टास्तनौ तोयवत् पार्श्वतः स्पृष्टाश्च ते बद्धाश्चेति राजदन्ताऽऽदित्वात् बद्धपार्श्वस्पृष्टाः । आह च-"पुट्ठं रेणुं व तणुम्मि बद्धमप्पीकय पएसेहिं ।"इति । एते च घ्राणेन्द्रियाऽऽदिग्रहणगोचरा तथा नो बद्धाः किं तु पार्श्वस्पृष्टा इत्येकपदनिषेधे श्रोत्रेन्द्रियग्रहणगोचराः । यत उक्तम्-" पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु । गंधं रसं च फासं, बद्धं पुट्ठं वियागरे ॥ १ ॥" इति । उभयपदनिषेधे श्रोत्राऽऽद्यविषयाश्चक्षुर्विषयाश्चेति । इयमिन्द्रियापेक्षया बद्धपार्श्वस्पृष्टता पुद्गलानां व्याख्याता,एवं जीवप्रदेशापेक्षया परस्परापेक्षया च व्याख्येयेति । (परियाइय त्ति) विवक्षितपर्यायमतीताः पर्याप्ता वा सामस्त्यगृहीताः कर्मपुद्गलवत् प्रतिषेध. सुज्ञातः । आत्ता-गृहीता स्वीकृता जीवेन परिग्रहमात्रतया शरीराऽऽदितया वा इष्यन्ते स्म अर्थं क्रियार्थिभिरितीष्टाः कान्ताः-कमनीयाः विशिष्टवर्णाऽऽदियुक्ताः प्रियाः प्रीतिकरा इन्द्रियाऽऽह्लादका मनसा ज्ञायन्ते शोभना एत इत्येवं विकल्पमुत्पादयन्त शोभनत्वप्रकर्षाऽऽद्येते मनोज्ञा.-मनसो मता. वल्लभाः सर्वस्याप्युपभोक्तुः सर्वदा च शोभनत्वप्रकर्षादेव निरुक्तिविधिना—( मणामा इति १२ ) व्याख्यानान्तर त्वेवम्—इष्टा—वल्लभा सदैव जीवानां सामान्येन कान्ताः—कमनीयाः सदैव तद्भावेन प्रिया अद्वेष्याः सर्वेषामेव मनोज्ञाः-कथयाऽपि मनोरमा,मन आमा—मनःप्रियाश्चिन्तयाऽपीति विपक्ष. सुज्ञातः सर्वत्रेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

त्रिभि प्रकारैः स्थानैरच्छिन्नाः पुद्गलाश्चलन्ति—

तिहिं ठाणेहिं अच्छिन्ने पोग्गले चलेज्जा । तं जहा-आहारिज्जमाणे वा पोग्गले चलेज्जा,विउव्वमाणे वा पोग्गले चलेज्जा,ठाणाओ ठाणं संकामेज्जमाणे वा पोग्गले चलेज्जा ।

( तिहीत्यादि ) छिन्नाः खड्गाऽऽदिना पुद्गला. समुदायात् चलन्त्येवेत्यत आह-" अच्छिन्नपुद्गल इति । "( आहारिज्जमाणे त्ति ) आहारतया जीवेन गृह्यमाण. स्वस्थानाच्चलति जीवेनाऽऽकर्षणात्,एव विक्रियमाणो विक्रियकरणवशवर्त्तितयेति, स्थानात् स्थानान्तर सङ्क्रम्यमाणो हस्ताऽऽदिनेति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

स्थानैरच्छिन्नाः पुद्गलाश्चलन्ति । इन्द्रियार्थाश्च पुद्गलधर्मा इति । पुद्गलस्वरूपमाह—

दसहिं ठाणेहिं अच्छिन्ने पुग्गले चलेज्जा—आहारिज्जमाणे वा चलेज्जा, परिणामिज्जमाणे वा चलेज्जा,ओस्सस्सिज्जमाणे वा चलेज्जा, परियावेज्जमाणे वा चलेज्जा,निस्ससिज्जमाणे वा चलेज्जा, वेदिज्जमाणे वा चलेज्जा, निज्जरिज्जमाणे वा चलेज्जा, विउव्विज्जमाणे वा चलेज्जा, जक्खाइट्ठे वा चलेज्जा, वातपरिगए वा चलेज्जा ।

( दसहीत्यादि ) स्पष्ट, नवरम् ( अच्छिद्यं त्ति ) अच्छिद्यः-अपृथग्भूतः शरीरे विवक्षितस्कन्धे वा संबद्ध एव चलेत् स्थानान्तरं गच्छेत् ( आहारिज्जमाणे त्ति ) आह्रियमाणः—खाद्यमानः पुद्गल आहारे वा अभ्यवह्रियमाणे सति पुद्गलश्चलेत् परिणम्यमानः पुद्गल एवोदराग्निना खलरसभावेन परिणम्यमाने वा भोजने उच्छ्वास्यमान उच्छ्वासवायुपुद्गल उच्छ्वास्यमाने वा उच्छ्वसिते क्रियमाणे एव निःश्वस्यमानो निःश्वस्यमाने वा वेद्यमानो निर्जीर्यमाणश्च कर्मपुद्गलः । अथवा-वेद्यमाने निर्जीर्यमाणे च कर्मणि वैक्रियमाणो वैक्रियशरीरतया परिणम्यमानो वैक्रियमाणे वा शरीरे परिचार्यमाणो मैथुनसंज्ञया विषयीक्रियमाणः शुक्रपुद्गलाऽऽदिपरिचार्यमाणे वा भुज्यमाने स्त्रीशरीराऽऽदौ शुक्राऽऽदिरेव यक्षाऽऽविष्टो-भूताऽऽद्यधिष्ठितो यक्षाऽऽविष्टे वा सति पुरुषे यक्षाऽऽवेशे वा सति तच्छरीरलक्षणः पुद्गलो वातपरिगतो देहगतवायुप्रेरितो वातपरिगते वा देहे सति बाह्यवातेन चोत्क्षिप्त इति । स्था० १० ठा० ।

परमाणुपुद्गलः किं सार्द्धः समध्यः, एवं द्विप्रदेशिको यावदनन्तप्रदेशिकः—

दुपदेसिए पुच्छा ?। गोयमा! सअड्ढे णो अणड्ढे । तिपदेसिए जहा परमाणुपोग्गले । चउप्पदेसिए जहा दुपदेसिए । पंचपदेसिए जहा तिपदेसिए । छप्पएसिए जहा दुपदेसिए । सत्तपएसिए जहा तिपदेसिए । अट्ठपएसिए जहा दुपदेसिए । णवपदेसिए जहा तिपदेसिए । दसपदेसिए जहा दुपदेसिए । संखेज्जपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय सअड्ढे, सिय अणड्ढे, एवं असंखेज्जपएसिए वि । एव अणंतपदेसिए वि ।

( परमाणु इत्यादि ) ( सिय अणड्ढे त्ति ) यः समसङ्ख्यप्रदेशाऽऽत्मकः स्कन्धः स सार्द्धः, इतरस्त्वनर्द्ध इति ।

परमाणवः सार्द्धाः—

परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं सअड्ढा अणड्ढा ? । गोयमा ! अणड्ढा वा अणड्ढा वा, एवं० जाव अणंतपदेसिया । परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सेए णिरेए ?। गोयमा ! सिय सेए सिय णिरेए । एवं० जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं सेया णिरेया ?। गोयमा ! सेया वि, णिरेया वि । एवं० जाव अणंतपदेसिया । परमाणुपोग्गले णं भंते सेए कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । परमाणुपोग्गले णं भंते ! णिरेए कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं; एवं ०जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गले णं भंते ! सेया कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! सव्वद्धं । परमाणुपोग्गला णं भंते ! णिरेया कालओ केवचिरं होइ । गोयमा ! सव्वद्धं एवं० जाव अणंतपदेसिया ।

( परमाणुपोग्गलेत्यादि ) यदा बहवोऽणवः समसंख्या भवन्ति तदा सार्द्धाः, यदा तु विषमसंख्यास्तदा अनर्द्धाः, संघातभेदाभ्यामनवस्थितस्वरूपत्वात्तेषामिति । पुद्गलाधिकारादेवेदमुच्यते-( परमाणु इत्यादि । ( सेए त्ति ) चलः, सैजत्वं चोत्कर्षतोऽप्यावलिकाऽसंख्येयभागमात्रमेव, निरेजतया औत्सर्गिकत्वादत एव निरेजत्वमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयं कालमिति । ( निरेए त्ति ) निश्चलः बहुत्वसूत्रे ( सव्वद्धं ति ) सर्वाद्धां-सर्वकाल परमाणवः सैजाः सन्ति, न हि कश्चित्स समयोऽस्ति कालत्रयेऽपि यत्र परमाणवः सर्व एव न चलन्तीत्यर्थः । एवं निरेजा अपि सर्वाद्धामिति । भ० २५ श० ४ उ० । ( अत्र निर्ग्रन्थीपुत्रं प्रति नारदपुत्रस्य प्रश्नः 'णियंठिपुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २०८८ पृष्ठे उक्तः ) (परमाणवः सार्द्धाः समध्या इत्यनन्तरमेवोक्तम् )

परमाणुपुद्गलानामन्तरम् । तत्र परमाण्वादीनां सैजत्वाऽऽद्यन्तरमाह—

परमाणुपोग्गलस्स णं भंते ! सेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ ?। गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समय, उक्कोसेणं असंखेज्जइकालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जकालं । णिरेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ ? । गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जइकालं । दुपदेसियस्स णं भंते ! खंधस्स पुच्छा?। गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं । णिरेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ ? । गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं । आवलियाए असंखेज्जइभागं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एकं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं; एवं ०जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोग्गला णं भंते ! सेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? । गोयमा ! णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? । गोयमा ! णत्थि अंतरं, एवं ०जाव अणंतपदेसियाणं खंधाणं ।

(परमाणु इत्यादि) (सट्ठाणंतरं पडुच्च त्ति)स्वस्थानं परमाणोः परमाणुभाव एव,तत्र वर्त्तमानस्य यदन्तरं चलनस्य व्यवधानं निश्चलत्वभवनलक्षणं तत्स्वस्थानान्तर,तत्प्रतीत्य (जहन्नेण एकं समयं ति) निश्चलता जघन्यकाललक्षणम् (उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ति) निश्चलनाया एवोत्कृष्टकाललक्षणं,तत्र जघन्यतोऽन्तरं परमाणुरेकं समयं चलनादुपरम्य पुनश्चलतीत्येवम्, उत्कर्षतश्च स एवासङ्ख्येयं काल कचित्स्थिरो भूत्वा पुनश्चलतीत्येवंदृश्यमिति । (परट्ठाणंतर पडुच्च त्ति ) परमाणोर्यत्परस्थाने द्व्यणुकाऽऽद्यावन्तर्भूतस्यान्तरं चलनव्यवधानं तत्परस्थानान्तरं, तत्प्रतीत्य ( जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ति ) परमाणुपुद्गलो हि भ्रमन् द्विप्रदेशाऽऽदिकस्कन्धमनुप्रविश्य जघन्यतः तेन सहैकं समयं स्थित्वा पुनर्भ्राम्यति, उत्कर्षतस्तु सङ्ख्येयं कालं द्विप्रदेशाऽऽदितया स्थित्वा पुनरेकतया भ्राम्यतीति ( नि-

रेयस्सेत्यादि ) निश्चल सन् जघन्यतः समयमेकं परिभ्रम्य पुनर्निश्चलस्तिष्ठति, उत्कर्षतस्तु निश्चलतः सन्नावलिकाया असङ्ख्येयं भागं चलनोत्कृष्टकालरूप परिभ्रम्य पुनर्निश्चलः एव तिष्ठतीति स्वस्थानान्तरमुक्तम्। परस्थानान्तरं तु निश्चलः सन् ततः स्थानाच्चलितो जघन्यतो द्विप्रदेशाऽऽदौ स्कन्धे एकं समयं स्थित्वा पुनर्निश्चल एव तिष्ठति । उत्कर्षतस्त्वसङ्ख्येयं कालं तेन सह स्थित्वा पृथग्भूत्वा पुनस्तिष्ठति (दुपएसियस्सेत्यादि ) ( उक्कोसेणं अणंतं कालं ति ) कथं द्विप्रदेशिकः संश्चलितस्ततोऽनन्तैः पुद्गलैः सह कालभेदेन सम्बन्धं कुर्वन्ननन्तेन कालेन पुनस्तेनैव परमाणुना सह सम्बन्धं प्रतिपद्य पुनश्चलतीत्येवमिति।

सैजाऽऽदीनामेवाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं सेयाणं णिरेयाण य कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा परमाणुपोग्गला सेया, णिरेया असंखेज्जगुणा एवं०जाव असंखेज्जपएसियाणं खंधाणं । एएसि णं भंते ! अणंतपदेसियाणं सेयाण य निरेयाण य कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा णिरेया सेया अणंतगुणा । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाणं खंधाणं सेयाण य णिरेयाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए अणंतपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा । परमाणुपोग्गला सेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा । संखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । असंखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । परमाणुपोग्गला णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । संखेज्जपएसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा । असंखेज्जपएसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । पदेसट्ठयाए एवं चेव, णवरं परमाणुपोग्गला अपदेसट्ठयाए भाणियव्वा । संखेज्जपएसिया खंधा णिरेया पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तं चेव । दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए ते चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा । अणंतपदेसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ते चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला सेया दव्वट्ठअपएसट्ठयाए अणंतगुणा । संखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ते चेव, पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा। परमाणुपोग्गला णिरेया दव्वट्ठयाए अपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा; । असंखेज्जपएसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा; ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

( एएसि णमित्यादि ) ( णिरेया असंखेज्जगुणेत्ति ) स्थितिक्रियाया औत्सर्गिकत्वाद् बहुत्वमिति अनन्तप्रदेशिकेषु सैजा अनन्तगुणाः, वस्तुस्वभावात् । एतदेव द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थैर्निरूपयन्नाह-( एएसि णमित्यादि ) तत्र द्रव्यार्थतायां सैजत्वनिरेजत्वाभ्यामष्टौ पदानि । एवं प्रदेशार्थतायामप्युभयार्थतायां तु चतुर्दश, सैजपक्षे, निरेजपक्षे च परमाणुषु द्रव्यार्थाप्रदेशार्थपदयोर्द्रव्यार्थाप्रदेशार्थेत्येवमेकीकरणेनाभिलापात् । अथ "पएसट्ठयाए एवं चेव त्ति" अत्रातिदेशे यो विशेषोऽसावुच्यते, नवरम् ( परमाणु इत्यादि ) परमाणुपदे प्रदेशार्थतायाः स्थानेऽप्रदेशार्थतयेति वाच्यमप्रदेशत्वात्परमाणूनां तथा द्रव्यार्थतासूत्रे संख्यातप्रदेशिका निरेजाः निरेजपरमाणुभ्यः संख्यातगुणा उक्ताः । प्रदेशार्थतासूत्रे तु तेभ्योऽसंख्येयगुणा वाच्याः यतो निरेजपरमाणुभ्यो द्रव्यार्थतया निरेजसंख्यातप्रदेशिकाः संख्यातगुणा भवन्ति, तेषु च मध्ये बहूनामुत्कृष्टसंख्यातकप्रमाणप्रदेशत्वान्निरेजपरमाणुभ्यस्ते प्रदेशतोऽसंख्येयगुणा भवन्ति, उत्कृष्टसंख्यातकस्योपर्येकप्रदेशप्रक्षेपेऽप्यसंख्यातकस्य भावादिति ।

अथ परमाण्वादीनामेव सैजत्वाऽऽदि निरूपयन्नाह—

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं देसेए, सव्वेए, णिरेए ? । गोयमा ! णो देसेए, सिय सव्वेए, सिय णिरेए । दुपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा । गोयमा ! सिय देसेए, ' सिय ' सव्वेए, सिय णिरेए, एवं०जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया, णिरेया ? । गोयमा ! णो देसेया, सव्वेया वि, णिरेया वि । दुपदेसिया णं भंते ! खंधा पुच्छा ? । गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि णिरेया वि; एवं ०जाव अणंतपदेसिया । परमाणुपोग्गले णं भंते ! सव्वेए कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । णिरेए कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जइकालं । दुपदेसिए णं भंते ! खंधे देसेए कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । सव्वेए कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । णिरेए कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, एवं ०जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गला णं भंते ! सव्वेया कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! सव्वद्धं । णिरेया कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! सव्वद्धं । दुपदेसिया णं भंते ! खंधा देसेया कालओ

केवचिरं होइ ?। गोयमा ! सव्वद्धं। सव्वेया कालओ केवचिरं होइ ?। सव्वद्धं । णिरेया केवचिरं होइ ?। सव्वद्धं । एवं० जाव अणंतपदेसिया । परमाणुपोग्गलस्स णं भंते ! सव्वेयस्स कालओ केवचिरं अंतर होइ ? । गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच जहणेणं एकं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एकं समयं, उक्कोसेणं एवं चेव । णिरेयस्स केवइ० ? । सट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एकं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एक्क समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । दुपदेसियस्स णं भंते ! खंधस्स देसेयस्स केवइयं कालं अतरं होइ ? । गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एक्क समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एकं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं । सव्वेयस्स केवइयं काल ? । एवं चेव जहा देसेयस्स । णिरेयस्स केवइयं कालं ? । सट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एक्क समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहणेणं एक्क समयं, उक्कोसेणं अणंत कालं एवं० जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोग्गलाणं भंते ! सव्वेयाणं केवइयं कालं अतरं होइ ?। गोयमा ! णत्थि अंतरं । णिरेयाणं केवइय० ?। णत्थि अंतरं । दुपदेसियाणं भंते ! खंधाणं देसेयाणं केवति कालं० ? । णत्थि अंतरं । सव्वेयाणं केवइ० ?। णत्थि अंतरं । णिरेयाणं केवइ० ? । णत्थि अंतरं । एवं०जाव अणंतपदेसियाणं ।

अल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं सव्वेयाणं णिरेयाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा परमाणुपोग्गला सव्वेया, णिरेया असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! दुपदेसियाणं खंधाणं देसेयाणं सव्वेयाण णिरेयाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा दुपदेसिया खंधा सव्वेया, देसेया असंखेज्जगुणा , णिरेया असंखेज्जगुणा, एवं ०जाव असंखेज्जपएसियाणं खंधाणं । एएसि णं भंते ! अणंतपदेसियाणं खंधाणं देसेयाणं सव्वेयाणं णिरेयाण य कयरे कयरे०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा सव्वेया , णिरेया अणंतगुणा, देसेया अणंतगुणा । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाणं देसेयाणं सव्वेयाणं णिरेयाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरे०जाव विसेसाहिआ वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए, अणंतपदेसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, अणंतपदेसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । परमाणुपोग्गला सव्वेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, परमाणुपोग्गला णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा पदेसट्ठयाए, एवं दव्वट्ठपदेसट्ठयाए वि, णवरं परमाणुपोग्गला अपदेसट्ठयाए भाणियव्वा । संखेज्जपएसिया खंधा णिरेया पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तं चेव । दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए ते चेव, पएसट्ठयाए अणंतगुणा , अणंतपदेसिया खंधा णिरेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा , ते चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा , अणंतपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ते चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, परमाणुपोग्गला सव्वेया दव्वट्ठअपएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, संखेज्जपएसिया देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, परमाणुपोग्गला णिरेया दव्वट्ठअपएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, संखेज्जपदेसिया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया णिरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

(परमाणु इत्यादि) इह सर्वेषामल्पबहुत्वाधिकारे द्रव्यार्थताया परमाणुपदस्य सर्वैजत्वनिरेजत्वविशेषणात् संख्येयाऽऽदीनां तु त्रयाणां प्रत्येकं देशैजसर्वैजनिरेजत्वैर्विशेषणादेकादश पदानि भवन्त्येवं प्रदेशार्थतायामपि, उभयार्थतायां त्वेतान्येव विंशतिः, सर्वैजपदे निरेजपदे च परमाणुषु द्रव्यार्थप्रदेशार्थपदयोर्द्रव्यार्थाप्रदेशार्थतेत्येवमेकीकरणेनाभिलापादिति । भ० २५ श० ४ उ० ।

परमाणुपुद्गल एजते वेपते—

परमाणुपोग्गलं णं भंते ! एयइ वेयइ०जाव तं तं भावं प-

रिणमइ ? । गोयमा ! सिय एयइ वेयइ०जाव परिणमइ सिय णो एयइ ०जाव णो परिणमइ । दुपदेसिए णं भंते ! खंधे एयइ ०जाव परिणमइ ? गोयमा ! सिय एयइ०जाव परिणमइ, सिय नो एयइ०जाव नो परिणमइ,सिय देसे एयइ देसे नो एयइ । तिपएसिए णं भंते! खंधे एयइ ? । गोयमा ! सिय एयइ, सिय नो एयइ, सिय देसे एयइ नो देसे एयइ, सिय देसे एयइ सिय नो-देसा एयंति,सिय देसा एयंति नो देसे एयइ । चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे एयइ ?। गोयमा ! सिय एयइ, सिय नो एयइ, सिय देसे एयइ णो देसे एयइ सिय देसे एयइ, णो देसा एयंति, सिय देसा एयंति नो देसे एयइ, सिय देसा एयंति नो देसा एयंति । जहा चउप्पदेसिओ तहा पंचप्पएसिओ०जाव तहा अणंतपएसिओ ॥

( परमाणुमित्यादि ) ( सिय एयइ त्ति ) कदाचिदेजते कदाचित्कत्वात्सर्वपुद्गलेष्वेजनाऽऽदिधर्म्मस्य द्विप्रदेशिके त्रयो विकल्पा -स्यादेजन, स्यादनेजनं, स्याद्देशेनैजनं, देशेनानेजनं चेति ३, द्व्यंशत्वात्तस्येति । त्रिप्रदेशके पञ्च आद्यास्त्रयस्त एव द्व्यणुकस्यापि तदीयस्यैकस्यांशस्य तथाविधपरिणामेनैकदेशतया विवक्षितत्वात् । तथा देशस्य एजन देशयोश्चानेजनमिति चतुर्थ, तथा देशयोरेजनं देशस्य चानेजनमिति पञ्चमः । एवं चतुःप्रदेशकेऽपि, नवरं षट्, तत्र षष्ठोदेशयोरेजन, देशयोरेव चानेजनमिति ।

द्विप्रदेशिकाऽऽदयः कथं परमाण्वादिकं स्पृशन्ति ?—

परमाणुपोग्गले णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा उग्गाहेज्जा ?। हंता उग्गाहेज्जा । से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा, भिज्जेज्ज वा ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ, एवं०जाव असंखेज्जपएसिओ । अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे असिधारं वा खुरधारं वा उग्गाहेज्जा ? । हंता उग्गाहेज्जा । से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा, भिज्जेज्ज वा ? । गोयमा ? अत्थेगइए छिज्जेज्ज वा,भिज्जेज्ज वा,अत्थेगइए णो छिज्जेज्ज वा, णो भिज्जेज्ज वा । एवं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेण तहिं,णवरं झियाएज्ज भाणियव्वं, एवं पुक्खलसंवट्टस्स महामेहस्स मज्झं मज्झेणं तहिं उल्ले सिया, एवं गंगाए महाणईए पडिसोयं हव्वमागच्छेज्जा, तहिं विणिहायमावज्जेज्जा,उदगावत्तं वा उदगबिंदुं वा उग्गाहेज्जा, से णं तत्थ परियावज्जेज्जा ।

पुद्गलाधिकारादेवेदं सूत्रवृन्दम् ( परमाणु इत्यादि ) ( उग्गाहेज्ज त्ति ) अवगाहेत-आश्रयेत, छिद्यते-द्विधाभावं यायात्, भिद्येत-विदारणमात्रं यायात् । ( नो खलु तत्थ सत्थ कमइ त्ति) परमाणुत्वाद्,अन्यथा परमाणुत्वमेव न स्यादिति । ( अत्थेगइए छिज्जेज्ज त्ति ) तथाविधबादरपरिणामत्वात् । ( अत्थेगइए नो छिज्जेज्ज त्ति ) सूक्ष्मपरिणामत्वात् । ( उल्ले सिय त्ति ) । आर्द्रो भवेत् । ( विणिहाय मावज्जेज्ज त्ति ) प्रतिस्खलनमापद्येत ( परियावज्जेज्ज त्ति ) पर्य्यापद्येत-विनश्येत् ।

दुपएसिए णं भंते ! खंधे किं सअड्ढे समज्झे सपएसे, उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपएसे ? । गोयमा ! सअड्ढे अमज्झे सपएसे, णो अणड्ढे णो समज्झे णो अपएसिए । तिपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! अणड्ढे समज्झे सपएसे , नो सअड्ढे नो अमज्झे नो अपएसे जहा दुपएसिओ तहा जे समा ते भाणियव्वा , जे विसमा ते जहा तिपएसिओ तहा भाणियव्वो । संखेज्जपएसिए णं भंते ! खंधे किं सअड्ढे पुच्छा ? । गोयमा ! सिय सअड्ढे अमज्झे सपएसे, सिय अणड्ढे समज्झे सपएसे , जहा संखेज्जपएसिओ तहा असंखेज्जपएसिओ वि अणंतपएसिओ वि । परमाणुपोग्गले णं भंते ! परमाणुपुग्गलं फुसमाणं किं देसेणं देसं फुसइ , देसेणं देसे फुसइ , देसेणं सव्वं फुसइ, देसेहिं देसं फुसइ, देसेहिं देसे फुसइ, देसेहिं सव्वं फुसइ , सव्वेणं देसे फुसइ , सव्वे ण देसे फुसइ , सव्वेण सव्वं फुसइ ? । गोयमा ! नो देसेण देसं फुसइ, नो देसेणं देसे फुसइ, नो देसेणं सव्वं फुसइ , नो देसेहिं देसं फुसइ , नो देसेहिं देसे फुसइ, नो देसेहिं सव्वं फुसइ , नो सव्वेणं देसं फुसइ, नो सव्वेण देसे फुसइ, सव्वेणं सव्वं फुसइ । परमाणुपोग्गले दुपएसियं फुसमाणे सत्तमनवमेहिं फुसइ । परमाणुपोग्गले तिपएसियं फुसमाणे णिप्पच्छिमएहिं तिहिं फुसइ जहा परमाणुपोग्गले तिपएसियं । फुसाविओ, एवं फुसावेयव्वो ०जाव अणंतपएसिओ दुपएसिए णं भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं फुसमाणे पुच्छा ? । तइयनवमेहिं फुसइ , दुपएसिओ दुपएसियं फुसमाणो पढमतइयसत्तमनवमेहिं फुसइ , दुपएसिओ तिपएसियं फुसमाणो आदिल्लएहि य पच्छिल्लएहिं तिहिं फुसइ, मज्झिमएहिं तिहिं वि पडिसेहेयव्वं । दुपएसिओ जहा तिपएसियं । फुसाविओ , एवं फुसावेयव्वो ०जाव अणंतपएसियं । तिपएसिए णं भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं फुसमाणे पुच्छा ? । तइयछट्ठणवमेहिं फुसइ, तिपएसिओ दुपएसियं फुसमाणो पढमएणं तइयएणं चउत्थछट्ठसत्तमनवमेहिं फुसइ तिपएसिओ तिपएसियं फुसमाणो सव्वेसु वि ठाणेसु फुसइ जहा तिपएसिओ तिपएसियं फुसाविओ, एवं तिपएसिओ०जाव अणंतपएसिएणं संजोएयव्वो, जहा तिपएसिओ , एवं ०जाव अणंतपएसिओ भाणियव्वो ।

( दुपएसिए इत्यादि ) यस्य स्कन्धस्य समाः प्रदेशाः

स सार्द्धो, यस्य तु विषमाः स समध्यः, संख्येयप्रदेशाऽऽदिस्तु स्कन्धः समप्रदेशिक इतरश्च तत्र यः समप्रदेशिकः स सार्द्धोऽमध्यः, इतरस्तु विपरीत इति । (परमाणुपोग्गले णं भंते ! इत्यादि) "किं देसेणं देसं" इत्यादयो नव विकल्पाः। तत्र देशेन स्वकीयेन देशं तदीय स्पृशति देशेनेत्यनेन देशं देशान् सर्वमित्येवं शब्दत्रयपरेण त्रय एवं देशैरित्यनेन ३,सर्वेणेत्यनेन च त्रय एवेति । अत्र च सर्वेण सर्वमित्येक एव घटते, परमाणोर्निरंशत्वेन शेषाणामसम्भवात् । ननु यदि सर्वेण सर्वं स्पृशति इत्युच्यते तदा परमाण्वोरेकत्वापत्तेः कथमपरापरपरमाणुयोगेन घटाऽऽदिस्कन्धनिर्वृत्तिरिति २। अत्रोच्यते-सर्वेण सर्वं स्पृशतीति कोऽर्थः ?, स्वात्मना तावन्योन्यस्य लगतो न पुनरर्द्धाऽऽद्यशेन अर्द्धाऽऽदिदेशस्य तयोरभावाद् घटाऽऽद्यभावापत्तिस्तु तदैव प्रसज्येत यदा तयोरेकत्वापत्तिर्भवति, न च तयोः सा, स्वरूपभेदात् । ( सत्तमनवमेहिं फुसइ त्ति) सर्वेण देशं सर्वेण सर्वमित्येताभ्यामित्यर्थः, तत्र यदा द्विप्रदेशिकः प्रदेशद्वयावस्थितो भवति तदा तस्य परमाणुः सर्वेण देशं स्पृशति, परमाणोस्तद्देशस्यैव विषयत्वात्, यदा तु द्विप्रदेशिकः परिणामसौक्ष्म्यादेकप्रदेशस्थो भवति तदा तं परमाणु सर्वेण सर्वं स्पृशतीत्युच्यते । ( णिपच्छिमएहिं तिहिं फुसइ त्ति ) त्रिप्रदेशे कमसौ स्पृशत्रिभिरन्त्यैः स्पृशति, तत्र यदा त्रिप्रदेशिक प्रदेशत्रयस्थितो भवति तदा तस्य परमाणुः सर्वेण देशं स्पृशति, परमाणोस्तद्देशस्यैव विषयत्वात् यदा तु तस्यैकत्र प्रदेशे द्वौ प्रदेशावन्यत्र एकोऽवस्थितः स्यात्तदा एकप्रदेशस्थित परमाणुद्वयस्य परमाणो स्पर्शविषयत्वेन सर्वेण देशौ स्पृशतीत्युच्यते , ननु द्विप्रदेशिकेऽपि युक्तोऽय विकल्पस्तत्राऽपि प्रदेशद्वयस्य स्पृश्यमानत्वात्, नैवम् । यतस्तत्र द्विप्रदेशमात्र एवावयवीति कस्य देशौ स्पृशति, त्रिप्रदेशिके तु त्रयापेक्षया द्वयस्पर्शने एकोऽवशिष्यते, ततश्च सर्वेण देशौ त्रिप्रदेशिकस्य स्पृशतीति व्यपदेशः साधुः स्यादिति, यदा त्वेकप्रदेशावगाढोऽसौ तदा सर्वेण सर्वं स्पृशतीति स्यादिति । ( दुपएसिए णमित्यादि ) ( तइयनवमेहिं फुसइ त्ति ) यदा द्विप्रदेशिको द्विप्रदेशस्थस्तदा परमाणुदेशेन सर्वं स्पृशतीति तृतीयः, यदा त्वेकप्रदेशावगाढोऽसौ तदा सर्वेण सर्वमिति नवमः । (दुपएसिओ दुपएसियमित्यादि) यदा तु द्विप्रदेशिको प्रत्येक द्विप्रदेशावगाढो तदा देशेन देशमिति प्रथमः, यदा त्वेक एकत्रान्यस्तु द्वयोस्तदा देशेन सर्वमिति तृतीय ।तथा सर्वेण देशमिति सप्तमः । नवमस्तु प्रतीत एवेति । अनया दिशाऽन्येऽपि व्याख्येया इति । भ० ५ श० ७ उ० ।

स्थानैः पुद्गला बहिर्न गच्छन्ति—

चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचाएइ बहिया लोगंता गमणयाए गइअभावेणं निरुवग्गहयाए लुक्खत्ताए लोगाणुभावेणं ।

( चउहीत्यादि ) व्यक्तं, परमन्येषा गतिरेव नास्तीति "जीवा य पोग्गला य " इत्युक्तम्-(नो संचाए त्ति) न शक्नुवन्ति नालं ( बहिय त्ति) बहिस्तात्-लोकान्तात्, अलोकमित्यर्थः । गमनतायै-गमनाय , गन्तुमित्यर्थः । गत्यभावेन लोकान्तात् परतस्तेषा गतिलक्षणस्वभावाभावादधो दीपशिखावत्तथा निरुपग्रहतया धर्मास्तिकायाभावेन तज्जनितगत्युपष्टम्भाभावात् गन्त्र्याऽऽदिरहितपङ्गुवत् , तथा रूक्षतया सिकतामुष्टिवत् लोकान्तेषु हि पुद्गला रूक्षतया तथा परिणमन्ति यथा परतो गमनाय नाल कर्मपुद्गलानां तथा भावे जीवा अपि सिद्धास्तु निरुपग्रहतया वेति.लोकाऽनुभावेन-लोकमर्यादया विषयक्षेत्रादन्यत्र मार्त्तण्डमण्डलवादिति । स्था० ४ ठा० ६ उ० । ( मार्तण्डमण्डलं भ्रमन् स्वक्षेत्र एवावतिष्ठत इति राद्धान्तः । अत्र विशेषो ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे " जस्स जओ आइच्चो " ( ४७ ) इत्यादिगाथाभिर्दर्शितः । नवीनास्तु मार्तण्डमण्डले भ्रमणाभावं कल्पयन्ति ) ( परमाणुपुद्गलानामन्तरम् ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ७८ पृष्ठे गतम् ) ( द्रव्यक्षेत्रावगाहनाभावस्थानाऽऽयुषां पुद्गलानामल्पबहुत्वम् " अप्पाबहुय " शब्दे प्रथमभागे ६४८ पृष्ठे उक्तम् ) ( क्षेत्रानुपाताऽऽदिनाऽल्पबहुत्वम् ' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६४६ पृष्ठे उक्तम् ) अचित्ता अपि पुद्गला अवभासन्त इति ' अएणउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे ४४८ पृष्ठे उक्तम् )

महाकर्मणो यावद् महावेदनस्य
सर्वतः पुद्गला बध्यन्ते-

से नूणं भंते ! महाकम्मस्स महासवस्स महाकिरियस्स महावेयणस्स सव्वओ पोग्गला वज्झंति, सव्वओ पोग्गला चिज्जंति, सव्वओ पोग्गला उवचिज्जंति, सया समियं पोग्गला वज्झंति,सया समियं पोग्गला चिज्जंति, सया समियं पोग्गला उवचिज्जंति , सया समियं च णं तस्स आया दुरूवत्ताए दुवण्णत्ताए दुगंधत्ताए दुरसत्ताए दुफासत्ताए अणिट्ठत्ताए अकंतअप्पियअसुभअमणुण्णअमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अहिज्झियत्ताए अहत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खत्ताए, नो सुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति? हंता गोयमा !। महाकम्मस्स तं चेव। से केणं ?। गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स अहतस्स वा धोयस्स वा तंतुगयस्स वा आणुपुव्वीए परिभुंजमाणस्स सव्वओ पोग्गला वज्झंति सव्वओ पोग्गला चिज्जंति ०जाव परिणमंति, से तेणट्ठेणं । से णूणं भंते ! अप्पासवस्स अप्पकम्मस्स अप्पकिरियस्स अप्पवेयणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति, सव्वओ पोग्गला छिज्जंति, सव्वओ पोग्गला विद्धंसंति,सव्वओ पोग्गला परिविद्धंसंति सया समियं पोग्गला भिज्जंति,छिज्जंति,विद्धंसंति,परिविद्धंसंति,सया समियं च णं तस्स आया सुरूवत्ताए पसत्थं नेयव्व० जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?। हंता गोयमा !०जाव परिणमइ। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जहानामए वत्थस्स जल्लियस्स वा पंकियस्स वा मइल्लियस्स वा रतिल्लियस्स वा आणुपुव्वीए परिकम्मिज्जमाणस्स सुद्धेणं वारिणा धोव्वमाणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति ०जाव परिणमंति, से तेणट्ठेणं ।

( महाकम्मस्सेत्यादि ) महाकर्मणः स्थित्याद्यपेक्षया महा-

क्रियस्य अलघुकायिक्याद्क्रियस्य महाश्रवस्य वृद्धाग्नि-ध्यात्वाऽऽद्विकर्मबन्धहेतुकस्य महावेदनस्य महापीडस्य भवेत —सर्वासु दिक्षु सर्वान् वा जीवप्रदेशानाश्रित्य बध्यन्ते आसङ्कलनमश्रीयन्ते बन्धनत उपचीयन्ते निषेकरचनतः, अथवा-बध्यन्ते बन्धनतश्चीयन्ते निधत्तत उपचीयन्ते निकाचनत । (सया समिय त्ति) सदा-सर्वदा सदात्वं च व्यवहारतोऽसातत्येऽपि स्यादित्यत आह-समितं संततं( तस्स आय त्ति)।यस्य जीवस्य पुद्गला बध्यन्ते तस्याऽऽत्मा-बाह्याऽऽत्मा-शरीरमित्यर्थः । ( अणिट्ठत्ताए त्ति ) इच्छाया अविषयतया । (अकंतत्ताए त्ति) असुन्दरतया (अप्पियत्ताए त्ति) अप्रेमहेतुतया (असुभत्ताए त्ति) अमङ्गलतयेत्यर्थः । (अमणुन्नत्ताए त्ति) न मनसा भावतो ज्ञायते सुन्दरोऽयमित्यमनोज्ञस्तद्भावस्तत्ता तया ( अमणामत्ताए त्ति ) न मनसा अम्यते - गम्यते संस्मरणतोऽमनोम्यस्तद्भावस्तत्ता तया । ( अणिच्छियत्ताए त्ति ) अनीप्सिततया प्राप्तुमवाञ्छितत्वेन । ( अभिज्झियत्ताए त्ति ) भिध्या-लोभ , सा संजाता यत्र स भिध्यितो, न भिध्यितोऽभिध्यितस्तद्भावस्तत्ता तया । ( अहत्ताए त्ति ) जघन्यतया । ( नो उड्ढत्ताए त्ति ) न मुख्यतया । ( अहयस्स त्ति ) अपरिभुक्तस्य । ( धोयस्स त्ति ) प्रक्षालितस्य ( तंतुगयस्स व त्ति ) तन्त्रोस्तुरीवेमाऽऽदेरपनीतमात्रस्य " वज्झंती " त्यादिना पदत्रयेणेह वस्त्रस्य पुद्गलानां यथोत्तरं सबन्धप्रकर्ष उक्तः । ( भिज्जंति त्ति ) प्राक्तनसम्बन्धविशेषत्यागात् । ( विद्धंसंति त्ति ) ततोऽध पातात् ( परिविद्धंसंति त्ति ) निःशेषतया पातात् । ( जल्लियस्स त्ति ) यल्लितस्य-यानलगनधर्मोपेतमलयुक्तस्य । ( पंकियस्स त्ति ) आर्द्रमलोपेतस्य ( मइलियस्स त्ति ) कठिनमलयुक्तस्य । ( रइल्लियस्स त्ति ) रजोयुक्तस्य ( परिकम्मिज्जमाणस्स त्ति) क्रियमाणशोधनार्थोपक्रमस्य । भ० ६ श० ३ उ० ।

अचित्ताः पुद्गला प्रयोगपरिणताः—

तिविहा पोग्गला पन्नत्ता । तं जहा-पओगपरिणया, मीसापरिणया, वीससापरिणया ॥

( तिविहा पुग्गलेत्यादि ) प्रयोगपरिणता-जीवव्यापारेण तथाविधपरिणतिमुपनीता यथा पटाऽऽदिषु कर्माऽऽदिषु वा ( मीस त्ति ) प्रयोगविश्रसाभ्यां परिणता यथा पटपुद्गला एव प्रयोगेण पटतया विश्रसा परिणामेण चाभोगेऽपि पुराणतयेति विश्रसास्वभावतस्तत्परिणता अभ्रेन्द्रधनुरादिवदिति । पुद्गलप्रस्तावाद्विश्रसापरिणतपुद्गलरूपाणाम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । ( ' परिणाम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६०२ पृष्ठे उक्तमेतद्भेददर्शकसूत्रकम् ) ( सुरभिगन्धपुद्गला दुरभिगन्धपुद्गलतया परिणमन्तीति ' परिणाम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम् )

सरूपाः सकर्मलेश्याः पुद्गलाः—

अत्थि णं भंते ! सरूवि सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासंति० ४ ? । हंता अत्थि । कयरे भंते ! सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासंति ०जाव पभासंति ४ ? । गोयमा ! जाइं इमाओ चंदिमसूरियाण देवाणं विमाणेहिंतो लेस्साओ बहिया अभिनिस्सडाओ पभासेंति, एएणं गोयमा ! ते सरूवी सकम्मलेस्सा पोग्गला ओभासंति ॥

( अत्थि ) णमित्यादि ( सरूवि त्ति ) सह रूपेण मूर्ततया ये ते सरूपिणो वर्णाऽऽदिमन्तः । ( सकम्मलेस्स त्ति ) पूर्ववत् पुद्गलाः स्कन्धरूपा । ( ओभासंति त्ति ) प्रकाशन्ते । ( लेस्साओ त्ति ) तेजांसि ( बहिया अभिनिस्सडाओ त्ति ) बहिस्तादभिनिःसृता-निर्गताः । इह च यद्यपि चन्द्राऽऽदिविमानपुद्गला एव पृथिवीकायिकत्वेन सचेतनत्वात् सकर्मलेश्यास्तथापि तन्निर्गतप्रकाशपुद्गलानां तद्धेतुकत्वेनोपचारात् सकर्मलेश्यात्वमवगन्तव्यमिति ।

पुद्गलाधिकारादिदमाह नैरयिकाणां कियन्तः पुद्गला आगच्छन्ति—

णेरइयाणं भंते ! किं अत्ता पोग्गला अणत्ता पोग्गला ? । गोयमा ! णो अत्ता पोग्गला, अणत्ता पोग्गला । असुरकुमाराणं भंते ! किं अत्ता पोग्गला, अणत्ता पोग्गला ? । गोयमा ! अत्ता पोग्गला णो अणत्ता पोग्गला, एवं०जाव थणियकुमाराणं । पुढवीकाइयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अत्ता वि पोग्गला, अणत्ता वि पोग्गला, एवं-०जाव मणुस्साणं वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं, जहा असुरकुमाराणं । णेरइयाणं भंते ! किं इट्ठा पोग्गला, अणिट्ठा पोग्गला ? । गोयमा ! णो इट्ठा पोग्गला, अणिट्ठा पोग्गला, जहा अत्ता भणिया एवं इट्ठा वि कंता वि पिया वि मणुण्णा वि भाणियव्वा, एए पंच दंडगा ॥

( नेरइयाणमित्यादि ) ( अत्त त्ति, आ—अभिविधिना त्रायन्ते दुःखात्संरक्षति सुखं चोत्पादयन्ति इति आत्राः, आप्ता वा एकान्तहिताः, अत एव रमणीया इति वृद्धैर्व्याख्यातम् । एते च मनोज्ञाः प्राग्व्याख्यातास्ते इष्या तथा ( इट्ठेत्यादि ) प्राग्वत् । भ० १४ श० ६ उ० ।

जीवः पुद्गली, अपुद्गलो वा ?—

जीवे णं भंते ! किं पोग्गली, पोग्गले ? । गोयमा ! जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि ? । गोयमा ! से जहानामए छत्तेणं छत्ती, दंडेणं दंडी, घडेणं घडी, पडेणं पडी, करेणं करी, एवामेव गोयमा ! जीवे वि सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च पोग्गली, जीवं पडुच्च पोग्गले, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि । नेरइए णं भंते ! किं पोग्गली, पोग्गले ? । एवं चेव । एवं ०जाव वेमाणिए नवरं जस्स जइ इंदियाइं तस्स तइ भाणियव्वाइं । सिद्धे णं भंते ! किं पोग्गली, पोग्गले ? । गोयमा ! नो पोग्गली, पोग्गले । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! जीवं पडुच्च, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ—सिद्धे णो पोग्गली, पोग्गले । सेवं भंते भंते त्ति ॥

( जीवे णमित्यादि ) ( पोग्गली व त्ति ) पुद्गलाः श्रो-

त्वाऽऽदिरूपा विद्यन्ते यस्याऽसौ पुद्गली ( पुग्गले वि त्ति ) पुद्गल इति संज्ञा जीवस्य ततस्तद्योगात्पुद्गल इति । एतदेव दर्शयन्नाह-( से केणेत्यादि ) । भ० ८ श० १० उ० । ( जीवानां पापकर्मतया पुद्गलोपचयः ' पावकम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८७९ पृष्ठे उक्तः ) ( देवो बाह्यपुद्गलानादाय प्रभुरागन्तुमिति 'गंगदत्त' शब्दे तृतीयभागे ७८० पृष्ठेऽस्ति )

नैरयिकाणां निर्जरापुद्गले आसि-
तुं त्वग्वर्तितु वा कल्पते—

गोरइयाणं भंते ! पावे कम्मे जे य कडे एवं चेव एवं ०जाव वेमाणियाणं । णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति, तेसि णं भंते ! पोग्गलाणं सेयकालंसि कइभागं आहारेंति, कइभागं णिज्जरेंति ? । मागंदियपुत्ता ! असंखेज्जइभागं आहारेंति, अणंतभागं णिज्जरेंति । चक्किया णं भंते ! केइ तेसु णिज्जरापोग्गलेसु आसइत्तए वा ०जाव तुयट्टित्तए वा ? । णो इणट्ठे समट्ठे, अणाहारमेयं बुइयं समणाउसो !, एवं ०जाव वेमाणियाणं, सेवं भंते भंते त्ति ।

( णेरइया इत्यादि ) ( सेयकालंसि त्ति ) एष्यति काले ग्रहणानन्तरमित्यर्थः । ( असंखेज्जइभागं आहारेंति त्ति ) गृहीतपुद्गलानामसंख्येयभागमाहारीकुर्वन्ति, गृहीतानामेवानन्तभागं निर्जरयन्ति मूत्राऽऽदिवत्त्यजन्ति । ( चक्किय त्ति ) शक्नुयात् । ( अणाहरणमेयं बुइयं ति ) आध्रियते अनेनेत्याधरणमाधारस्तन्निषेधोऽनाधरणमाधर्त्तुमक्षमम् , एतन्निर्जरापुद्गलजातम् उक्तं जिनैरिति । भ० १८ श० ३ उ० ।

एष पुद्गलः अतीतोऽनागतः भविष्यंश्च—

एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंत सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया । एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पण्णं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं । एस णं भंते ! पोग्गले अणागयमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं । एवं खंधेण वि तिण्णि आलावगा, एवं जीवेण वि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा ।

( एस णं भंते ! इत्यादि ) ( पोग्गले त्ति ) परमाणुरुत्तरत्र स्कन्धग्रहणात् । ( तीतं ति ) अतीतम् । इह च " सर्वेऽध्वभागकालाः " इत्यनेनाऽऽधारे द्वितीया । ततश्च सर्वस्मिन्नतीत इत्यर्थः । ( अणंतं ति ) अपरिमाणमनादित्वात् । ( सासयं ति ) सदा विद्यमानं, न हि लोकोऽतीतकाले न कदाचिच्छून्य इति ( समयं ति ) कालम् ( भुवि त्ति ) अभूत् , इति, एतद्वक्तव्यं स्यात् , सद्भूतार्थत्वात् । ( पडुप्पण्णं ति ) प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमित्यर्थो वर्तमानस्याऽपि शाश्वतत्वं सदा भावादेवमनागतस्याऽपीति । अनन्तरं स्कन्ध उक्तः, स्कन्धश्च-सप्रदेशोऽपेक्षया जीवोऽपि स्यादिति, जीवसूत्रम् । भ० १ श० ४ उ० । ( अवशेषं विषयम् ' पोग्गलत्थिकाय ' शब्दे वक्ष्यामि ) समयपरिभाषया मांसे, ( २३५ गाथा ) विशे० । व्य० । नि० चू० । " पोग्गला तिण्णि—जलयरं, थलयरं, खहयरं च । नि० चू० १ उ० । आलम्भिकायां नगर्यां शङ्खवनस्योद्यानस्याऽदूरसामन्ते परिवसति परिव्राजके, भ० ११ श० १२ उ० । ( पुद्गलपरिव्राजकवक्तव्यता ' इसिभद्दपुत्त ' शब्दे द्वितीयभागे ६३४ पृष्ठे गता )

ता जे णं पोग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति त से णं पोग्गला संतप्पंति, ते णं पोग्गला संतप्पमाणा तदणंतराइं बाहिराइं पोग्गलाइं संतावेंतीति । एस णं से समिते तावक्खेत्ते, एगे एवमाहंसु १। एगे पुण एवमाहंसु—ता जे णं पोग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति ते णं पोग्गला नो संतप्पंति । ते णं पोग्गला असंतप्पमाणा तदणंतराइं बाहिराइं पोग्गलाइं णो संतावेंतीति । एस णं से समिते तावक्खेत्ते, एगे एवमाहंसु २। एगे पुण एवमाहंसु-ता जे णं पोग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति ते णं पोग्गला अत्थेगतिया संतप्पंति, अत्थेगतिया णो संतप्पंति, तत्थ अत्थेगइआ संतप्पमाणा तदणंतराइं बाहिराइं पोग्गलाइं अत्थेगतियाइं संतावेंति, अत्थेगतियाइं णो संतावेंतीति । एस णं से समिते तावक्खेत्ते, एगे एवमाहंसु ३ । वयं पुण एवं वदामो—ता जाओ इमाओ चंदिमसूरियाणं देवाणं विमाणेहिंतो लेसाओ उच्छूढाओ अभिणिसट्ठाओ बाहिता पतावेंति, एतासि णं लेसाणं अंतरेसु अण्णतरीओ छिण्णलेस्साओ संमुच्छंति, तते णं ताओ छिण्णलेस्साओ संमुच्छियाओ समाणीओ तदणंतराइं बाहिराइं पोग्गलाइं संतावेंतीति । एस णं से समिते तावक्खेत्ते । ( सूत्र ३० )

'ता जेणं' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, ये, णमिति वाक्यालङ्कारे, पुद्गलाः सूर्यस्य लेश्यां स्पृशन्ति, ते पुद्गलाः सूर्यलेश्यासस्पर्शत. सन्तप्यन्ते-सन्तापमनुभवन्ति, सन्तप्यन्त इति कर्मकर्तरि प्रयोगः । ते च पुद्गलाः सन्तप्यमानाः तदनन्तरान् तेषां सन्तप्यमानानां पुद्गलानामव्यवधानेन ये स्थिताः पुद्गलास्ते तदनन्तरास्तान् बाह्यान् पुद्गलान्, सूत्रे च नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात् । सन्तापयन्ति, इतिशब्दः प्रस्तुतवक्तव्यतापरिसमाप्तिसूचकः । ' एस णं ' इत्यादि, एतत् एवंस्वरूपं ( से ) तस्य सूर्यस्य समितम्-उपपन्नं तापक्षेत्रम् । अत्रोपसंहारमाह-' एगे एवमाहंसु ' १, एके पुनरेवमाहुः-'ता ' इति पूर्ववत्, ये, णमिति प्राग्वत्, पुद्गलाः सूर्यस्य लेश्यां स्पृशन्ति ते पुद्गला न सन्तप्यन्ते—न सन्तापमनुभवन्ति, यश्च पीठफकाऽऽदीनां सूर्यलेश्यासंस्पृष्टानां सन्ताप उपलभ्यते स तदाऽऽश्रितानां सूर्यलेश्यापुद्गलानामेव स्वरूपेण, न पीठफलकाऽऽदिगतानां पुद्गलानामिति न प्रत्यक्षविरोधः । ते, णमिति प्राग्वत्, पुद्गला असन्ताप्यमानास्तदनन्तरान् बाह्यान् पुद्गलांश्च सन्तापयन्ति—नोष्णीकुर्वन्ति, स्वतस्तेषामसंतप्तत्वात्, इतिशब्दः प्राग्वत् व्यक्तः, 'एस णं ' इत्यादि एतत्—एवंस्वरूपं ' से ' तस्य सूर्यस्य तापक्षेत्रं समितम्—उपपन्नमिति । अत्रोपसंहारमाह-( एगे एवमाहंसु २, ) एके पुनरेवमाहुः—' ता ' इति पूर्ववत् , णमिति प्राग्वत् ये पुद्गलाः सूर्यस्य लेश्यां स्पृशन्ति ते पु-

द्गला अस्तीति प्राकृतत्वान्निपातत्वाद्वा सन्ति एकका' केचन पुद्गला ये सूर्यलेश्यासंस्पर्शेन सन्तप्यन्ते-सन्तापमनुभवन्ति, तथा सन्त्येकका: केचन पुद्गला ये न सन्तप्यन्ते, तत्र ये सन्त्येकका सन्तप्यमानास्ते तदनन्तरान् बाह्यान् पुद्गलान् अस्त्येतत् यत् एककान्-काश्चित्सन्तापयन्ति, अस्त्येतद्यदेककान्-काश्चिन्न सन्तापयन्ति, इतिशब्दः पूर्ववत् 'एस णं' इत्यादि, एतत्-एवस्वरूप, 'से' तस्य सूर्यस्य समितम्-उपपन्नं तापक्षेत्रम्। अत्रोपसंहारमाह-( एगे एवमाहंसु ३ ) एताश्चित्रोऽपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपास्तथा च एता व्युदस्य भगवान् भिन्न स्वमतमाह-, 'वयं पुण' इत्यादि, वय पुनरेवं-वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः। तमेव प्रकारमाह-"ता जईए(जाओ इमाओ)" इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, या इमाः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाश्चन्द्रसूर्याणां देवानां सत्केभ्यो विमानेभ्यो लेश्या उच्छूढा., एतदेव व्याचष्टे-अभिनिःसृतास्ताः प्रतापयन्ति-बाह्य यथोचितमाकाशवर्ति प्रकाश्यं प्रकाशयन्ति, एतासां चेत्थं विमानेभ्यो नि:सृतानां लेश्यानामन्तरेषु अपान्तरालेष्वन्यतराश्छिन्नलेश्याः सम्मूर्च्छन्ति, ततस्ता मूलच्छिन्ना लेश्या सम्मूर्च्छिताः सत्यस्तदनन्तरान् बाह्यान् पुद्गलान् सन्तापयन्ति, इतिशब्दः पूर्ववत्, एस णं 'इत्यादि, एतत्-एवस्वरूपं, 'से' तस्य सूर्यस्य समितम्-उपपन्नं तापक्षेत्रमिति। तदेवं तापक्षेत्रस्य स्वरूपसम्भव उक्तः। सू०प्र० ६'पाहु०। (नैरयिकाऽऽदीनां कतिविधा पुद्गला भिद्यन्ते चीयन्ते इत्यादि 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५३६ पृष्ठे उक्तम्)

**पोग्गलकाय-पुद्गलकाय-पुं०।** प्राणिशरीरे, "वाउकाएण फुडं पोग्गलकायं।" स्था० ७ ठा०।

**पोग्गलक्खेव-पुद्गलक्षेप-पुं०।** नियन्त्रितक्षेत्राद् बहिः स्थितस्य कस्यचिल्लोष्टाऽऽदिक्षेपणेन स्वकार्यस्मरणे देशावकाशिकव्रतातिचारे, ध० २ अधि०।

**पोग्गलजोणिय-पुद्गलयोनिक-त्रि०।** पुद्गलाः शीताऽऽदिस्पर्शा योनिः येषां ते तथा। शीताऽऽदियोनिजनितेषु, भ०१४ श०६उ०।

**पोग्गलट्ठिइय-पुद्गलस्थितिक-त्रि०।** पुद्गला आयुष्ककर्मपुद्गला स्थितिर्येषां ते तथा। पुद्गलजनितस्थितिकेषु, भ० १४ श० ६ उ०।

**पोग्गलत्थिकाय-पुद्गलास्तिकाय-पुं०।** पूरणगलनधर्माण पुद्गलाः,पृषोदराऽऽदित्वादिष्टरूपसिद्धिः। कल्प०१ अधि०४ क्षण। पुद्गलाः-परमाण्वादयः। अनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तास्ते हि इतश्चेतश्च द्रव्याद्गलन्ति-त्रियुज्यन्ते, कि [illegible] संयोगतः पूरयन्तीति भाव'। ते च तेऽस्तिकायाश्चेति समासः। "स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दमूर्तिस्वभावकाः। संघातभेदनिष्पन्नाः, (पुद्गला) जिनदेशिताः॥१॥" इत्युक्तलक्षणेषु द्रव्येषु,आव०४ अ०। स०।

पुद्गलास्तिकायस्य लक्षणानि—

पोग्गलत्थिकाए पुच्छा ? गोयमा ! पोग्गलत्थिकाए णं जीवाणं ओरालियवेउव्वियआहारगतेयाकम्मा सोइंदियचक्खिदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियमणजोगवइजोगकायजोगआणापाणाणं च गहणं पवत्तंति, गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए।

( पोग्गलत्थिकाए णमित्यादि ) इहौदारिकाऽऽदिशरीराणां श्रोत्रेन्द्रियाऽऽदीनां मनोयोगान्तानामानप्राणानां च ग्रहणं प्रवर्त्तत इति वाक्यार्थः। पुद्गलमयत्वादौदारिकाऽऽदीनामिति। भ० १३ श० ४ उ०।

पुद्गलास्तिकायस्य पर्याया:—

पोग्गलत्थिकायस्स णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता। तं जहा-पोग्गलेति वा, पोग्गलत्थिकाए ति वा परमाणुपोग्गले ति वा दुपदेसिए ति वा तिपदेसिए ति वा ०जाव असंखेज्जपएसिए ति वा अणंतपएसिए ति वा खंधे जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते पोग्गलत्थिकायस्स अभिवयणा पण्णत्ता, सेव भंते ! भंते त्ति ॥ भ० २० श० २ उ०। ( एकः पुद्गलास्तिकाय सहत्य स्कन्धो भवति ) ( पुद्गलानां वर्णगन्धाऽऽदीन् 'वण्ण' शब्दे वक्ष्यामि )

पोग्गलत्थिकाए पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासए अवट्ठिए ०जाव दव्वओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं, खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते, कालओ ण कयावि णासि ०जाव निच्चे, भावओ वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते, गुणओ गहणगुणे ॥

पुद्गलास्तिकायश्च तयोस्तत्रैव भावादिति। ( गहणगुणे त्ति ) ग्रहणम्-औदारिकशरीराऽऽदितया ग्राह्यता, इन्द्रियाग्राह्यता वा वर्णाऽऽदिमत्त्वात् परस्परसम्बन्धलक्षणं वा तद्गुणो धर्मो यस्य स तथा। स्था०५ ठा० ३ उ०। ( लोकस्य क कस्यां कस्यां दिशि पुद्गलाश्चीयन्ते इति 'दव्व' शब्दे चतुर्थभागे २४६४ पृष्ठे उक्तम् )

एक पुद्गलास्तिकायप्रदेशः—

एगे भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पएसे किं दव्वं १, दव्वदेसे २, दव्वाइं ३, दव्वदेसा ४, उदाहु-दव्वं च दव्वदेसे य ५, उदाहु-दव्वं च दव्वदेसा य ६, उदाहु-दव्वाइं च दव्वदेसे य ७, उदाहु-दव्वाइं च दव्वदेसा य ८ ?। गोयमा ! सिय दव्वं, सिय दव्वदेसे, नो दव्वाइं, नो दव्वदेसा, नो दव्वं च दव्वदेसे य, नो दव्वं च दव्वदेसा य, नो दव्वाइं च दव्वदेसे य, नो दव्वाइं च दव्वदेसा य। दो भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पएसा किं दव्वं, दव्वदेसे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय दव्वं, सिय दव्वदेसे, सिय दव्वाइं, सिय दव्वदेसा, सिय दव्वं च दव्वदेसे य, नो दव्वं च दव्वदेसा य, सेसा पडिसेहेयव्वा। तिण्णि भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पएसा किं दव्वं, दव्वदेसे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय दव्वं १, सिय दव्वदेसे २, एवं सत्त भंगा भाणियव्वा०जाव सिय दव्वाइं च दव्वदेसे य, नो दव्वाइं च दव्वदेसा य। चत्तारि भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पएसा, किं दव्वं दव्वदेसे पुच्छा ?। गोयमा ! सिय दव्वं, सिय दव्वदेसे, अट्ठवि भंगा भाणियव्वा

०जाव सिय दव्वाइं च दव्वदेसा य, जहा चत्तारि भणिया, एव पच छ सत्त० जाव संखेज्जा असंखेज्जा अणता । भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पएसा किं दव्वं दव्वदेसे य, एव चेव० जाव सिय दव्वाइं च दव्वदेसा य ।

( एगे भंते ! पोग्गलत्थिकाए इत्यादि ) पुद्गलास्तिकायस्य एकाणुकाऽऽदिपुद्गलराशेः प्रदेशो—निरंशोऽश. पुद्गलास्तिकायप्रदेश'-परमाणुः द्रव्यं गुणपर्याययोगि द्रव्यदेशो-द्रव्यावयव'। एवमेकत्वबहुत्वाभ्यां प्रत्येकं विकल्पाश्चत्वारो द्विकसंयोगा अपि चत्वार एवेति प्रश्न' । उत्तर तु स्याद् द्रव्यं द्रव्यान्तरासम्बन्धे सति , स्याद् द्रव्यदेशो द्रव्यान्तरसम्बन्धे सति, शेषविकल्पानां तु प्रतिषेधः, परमाणोरेकत्वेन बहुत्वस्य द्विकसंयोगस्य चाऽभावादिति । ( दो भंते ! इत्यादि ) इहाऽष्टासु भङ्गकेषु मध्ये आद्याः पञ्च भवन्ति, न शेपास्तत्र द्वौ प्रदेशौ स्याद् द्रव्यं, कथ ?, यदा तौ द्विप्रदेशिकस्कन्धतया परिणतौ तदा द्रव्यं १, यदा तु द्व्यणुकस्कन्धभावगतावेव तौ द्रव्यान्तरसम्बन्धमुपगतौ तदा द्रव्यदेशः २, यदा तु तौ द्वावपि भेदेन व्यवस्थितौ तदा द्रव्ये ३ , यदा तु तावेव द्व्यणुकस्कन्धतामनापद्य द्रव्यान्तरेण सम्बन्धमुपगतौ तदा द्रव्यदेशौ ४. यदा पुनस्तयोरेकः केवलतया स्थितो, द्वितीयश्च द्रव्यान्तरेण सम्बद्धस्ततो द्रव्य च द्रव्यदेशश्चेति पञ्चमः ५। शेषविकल्पानां तु प्रतिषेधोऽसम्भवादिति । ( तिन्नि भंते ! इत्यादि ) त्रिपु प्रदेशेष्वष्टमविकल्पवर्ज्जा सप्त विकल्पा सम्भवन्ति । तथाहि-यदा त्रयोऽपि त्रिप्रदेशिकस्कन्धतया परिणतास्तदा द्रव्यं १, यदा तु ते त्रिप्रदेशिकस्कन्धतापरिणता एव द्रव्यान्तरसम्बन्धमुपगतास्तदा द्रव्यदेश. २, यदा पुनस्ते त्रयोऽपि भेदेन व्यवस्थिता द्वौ वा द्व्यणुकीभूतावेकस्तु केवल एव स्थितस्तत. ( दव्वाइं ति ३, ) यदा तु ते त्रयोऽपि स्कन्धतामगता एव द्वौ वा द्व्यणुकीभूतावेकस्तु केवल एवमित्येवं द्रव्यान्तरेण सम्बद्धास्तदा ( दव्वदेसा इति ४ ) यदा तु तेषां द्वौ द्व्यणुकतया परिणतावेकश्च द्रव्यान्तरेण सम्बद्धोऽथवा एक. केवल एव स्थितौ द्वौ तु द्व्यणुकतया परिणतस्य द्रव्यान्तरेण सम्बद्धौ तदा ( दव्वं च दव्वदेसे य त्ति ५ ) यदा तु तेषामेक. केवल एव स्थितौ द्वौ च भेदेन द्रव्यान्तरेण सम्बद्धौ तदा ( दव्वं च दव्वदेसा य त्ति ६ ) यदा पुनस्तेषा द्वौ भेदेन स्थितावेकश्च द्रव्यान्तरेण सम्बद्धस्तदा (दव्वाइं च दव्वदेसे य त्ति ७ ) अष्टमविकल्पस्तु न सम्भवति, उभयत्र त्रिपु प्रदेशेपु बहुवचनाभावात् , प्रदेशचतुष्टयाऽऽदौ त्वष्टमोऽपि सम्भवत्युभयत्राऽपि बहुवचनसद्भावादिति । भ० ८ श० १० उ० ।

पोग्गलदव्व-पुद्गलद्रव्य-न० । पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः, पुद्गलाश्च ते द्रव्याणि च तानि पुद्गलद्रव्याणि । दश० १ अ० ।

पोग्गलपडिघाय-पुद्गलप्रतिघात-पुं० ।अणवादीना पुद्गलाना स्खलने स्था० ।

तिविहे पोग्गलपडिघाए पणत्ते । तं जहा-परमाणुपोग्गले परमाणुपोग्गलं पप्प पडिहम्मेज्जा लुक्खत्ताए वा पडिहम्मेज्जा लोगंते वा पडिहम्मेज्जा ।

( तिविहेत्यादि ) पुद्गलानामणवादीना प्रतिघात —स्खलनं पुद्गलप्रतिघात',परमाणुश्चासौ पुद्गलश्च परमाणुपुद्गल',स तद् अनन्तरं प्राप्य प्रतिहन्येत-गते. प्रतिघातमापद्येत रूक्षतया वा तथाविधपरिणामान्तराद्वतितः प्रतिहन्येत लोकान्ते वा परतो धर्मास्तिकायाभावादिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

पोग्गलपरिणाम-पुद्गलपरिणाम-पु० । पुद्गलाना पर्यायभूते चतुर्विधे परिणामे, स्था० ।

चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पणत्ते । तं जहा-वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे ।

( चउव्विहेत्यादि ) परिणाम'-अवस्थातोऽवस्थान्तरगमनं, न च सर्वथा विनाश.। उक्त च-" परिणामो ह्यर्थान्तर-गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाश., परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥ " इति । तत्र वर्णस्य कालाऽऽदेः परिणामोऽन्यथाभवन, वर्णेन वा कालाऽऽदिनेतरत्यागेन पुद्गलस्य परिणामो, वर्णपरिणामः, एवमन्येऽपि ॥ ६ ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० । (इन्द्रियविषयः पुद्गलपरिणाम. 'परिणाम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६०२ पृष्ठे गत. )

नैरयिकाणां यावद्वैमानिकानामिष्टाऽनिष्टपुद्गलपरिणामः—

णेरइया दसट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-अणिट्ठा सद्दा अणिट्ठा रूवा अणिट्ठा गंधा अणिट्ठा रसा अणिट्ठा फासा अणिट्ठा गई अणिट्ठा ठिई अणिट्ठे लावण्णे अणिट्ठे जसो कित्ति अणिट्ठे उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमे । असुरकुमारा दस ट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-इट्ठा सद्दा इट्ठा रूवा ०जाव इट्ठउट्ठाणे कम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमे, एवं ०जाव थणियकुमारा । पुढवीकइया छ ट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । त जहा-इट्ठाणिट्ठफासा इट्ठाणिट्ठगई, एवं ०जाव परक्कमे, एवं ०जाव वणस्सइकाइया । बेइंदिया सत्त ट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-इट्ठाणिट्ठरसा, सेसं जहा एगिंदिया । तेइंदिया अट्ठ ट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-इट्ठाणिट्ठगंधा,सेसं जहा बेइंदियाणं । चउरिंदियाणं छ ट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-इट्ठाणिट्ठरूवा, सेसा जहा तेइंदियाणं । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस ट्ठाणाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-इट्ठाणिट्ठसद्दा ०जाव परक्कमे । एवं मणुस्सा वि । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

तत्र ( अणिट्ठागइ त्ति ) अप्रशस्तविहायोगतिनामोदयसम्पाद्या नरकगतिरूपा वा (अणिट्ठा ठिइ त्ति) नरकावस्थानरूपा नरकाऽऽयुष्करूपा वा ( अणिट्ठे लावण्णे त्ति ) लावण्यं शरीराऽऽकृतिविशेष. । " अणिट्ठे जसो कित्ति त्ति " प्राकृतत्वादनिष्टेति द्रष्टव्य , यशसा सर्वदिग्गामिप्रख्यातिरूपेण पराक्रमकृतेन वा सह कीर्त्तिरेकदिग्गामिनी प्रख्यातिर्दानफलभूता वा,यश. कीर्त्ति. अनिष्टत्व च तस्या दुः-

ख्यातिरूपत्वात् । ( अणिट्ठे उट्ठाणेत्यादि ) उत्थानाऽऽद्या वीर्यान्तरायक्षयोपशमाऽऽदिजन्यवीर्यविशेषाः, अनिष्टत्वं च तेषां कुत्सितत्वादिति । (पुढवीकाइयेत्यादि) ( छट्ठाणाइं ति) पृथिवीकायिकानामेकेन्द्रियत्वेन पूर्वोक्तदशस्थानकमध्ये शब्दरूपगन्धरसा न विषय इति स्पर्शाऽऽदीन्येव षट् ते प्रत्यनुभवन्ति । ( इट्ठाणिट्ठाफास त्ति ) सातासातोदयसम्भवाच्छुभाशुभक्षेत्रोत्पत्तिभावाच्च । ( इट्ठाणिट्ठा गइ त्ति ) यद्यपि तेषां स्थावरत्वेन गमनरूपा गतिर्नाऽस्ति स्वभावतस्तथाऽपि परप्रत्यया सा भवन्ती शुभाऽशुभत्वेनेष्टाऽनिष्टव्यपदेशार्हा स्यात् । अथवा-यद्यपि पापरूपत्वात्तिर्यग्गतिरनिष्टैव स्यात्तथाऽपि ईषत्प्राग्भाराऽप्रतिष्ठानाऽऽदिक्षेत्रोत्पत्तिद्वारेणेष्टाऽनिष्टा गतिस्तेषां भावनीयेति । " एवं० जाव परक्कमे त्ति" वचनादिदं दृश्यम्—" इट्ठाणिट्ठा ठिई " सा च गतिवद्भावनीया । ( इट्ठाणिट्ठे लावण्णे ) इद च मण्यन्धपाषाणाऽऽदिषु भावनीयम् । ( इट्ठाणिट्ठे जसो कित्ती ) इयं सत्प्रख्यात्यसत्प्रख्यातिरूपा मण्यादिष्वेवावसेयेति । ( इट्ठाणिट्ठे उट्ठाण०जाव परक्कमे त्ति ) उत्थानाऽऽदि च यद्यपि तेषां स्थावरत्वान्नास्ति तथाऽपि प्राग्भवाऽनुभूतोत्थानाऽऽदिसंस्कारवशात्तदिष्टमनिष्टं चावसेयमिति । ( बेंदिया सत्त ट्ठाणाइं ति ) शब्दरूपगन्धानां तदविषयत्वाद्रसस्पर्शाऽऽदिस्थानानि च, शेषाणि एकेन्द्रियाणामिवेष्टाऽनिष्टाऽवसेयानि, गतिस्तु तेषां त्रसत्वाद्गमनरूपा द्विविधाऽप्यस्ति, भवगतिस्तूत्पत्तिस्थानविशेषेणेष्टाऽनिष्टाऽवसेयेति । भ० १४ श० ५ उ० ।

पुद्गलपरिणामः—

**कइविहे णं भंते ! पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पोग्गलपरिणामे पण्णत्ते । तं जहा-वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे,रसपरिणामे, फासपरिणामे,संठाणपरिणामे । वण्णपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-कालवण्णपरिणामे०जाव सुक्किल्लवण्णपरिणामे । एवं एएणं अभिलावेणं गंधपरिणामे दुविहे, रसपरिणामे पंचविहे, फासपरिणामे अट्ठविहे । संठाणपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-परिमंडलसंठाणपरिणामे ०जाव आययसंठाणपरिणामे ।**

( कइविहे णमित्यादि ) (वण्णपरिणामे त्ति ) यत्कृष्णो वर्णान्तरत्यागाद्वर्णान्तर यात्यसौ वर्ण्णपरिणाम इत्येवमन्यत्राऽपि ( परिमंडलसंठाणपरिणामे त्ति ) इह परिमण्डल संस्थानं वलयाऽऽकारं, यावत्करणाच्च-"वट्टसंठाणपरिणामे तंससंठाणपरिणामे चउरंससंठाणपरिणामे, त्ति " दृश्यम् । भ० ८ श० १० उ० । पुद्गलद्रव्याणां च दशविध परिणामः, तद्यथा-बन्धनगतिसंस्थानभेदवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुशब्दरूप इति । तत्र बन्धः स्निग्धरूक्षत्वात्, गतिपरिणामो देशान्तरप्राप्तिलक्षणः, संस्थानपरिणामः परिमण्डलाऽऽदिकः पञ्चधा, भेदपरिणामः-खण्डप्रतरचूर्णकानुतटिकोत्कारिकाभेदेन पञ्चधैव । खण्डाऽऽदिस्वरूपप्रतिपादकं चेदं गाथाद्वयम् । तद्यथा—

"खंडेहि खंडभेयं, पयरब्भेयं जहब्भपडलस्स ।
चुण्णं चुण्णियभेयं, अणुतडियं वंसवक्कलियं ॥ १ ॥
दुंदुम्मि समारोहे, भेए उक्केरिया य उक्केरं ।
वीससपओगमीसग-संघायविओगविविहगमो ॥ २ ॥ "

वर्णपरिणामः पञ्चानां श्वेताऽऽदीनां वर्णानां परिणतिस्तद्द्व्यादिसंयोगपरिणतिश्च,एतत्स्वरूपं च गाथाभ्योऽवसेयम् । ताश्चेमा.—

"जइ कालगमेगगुणं,सुकिलयं पि हविज्ज बहुयगुणं ।
परिणामिज्जइ कालं, सुक्केण गुणाहियगुणेण ॥ १ ॥
जइ सुक्किलमेगगुणं, कालगदव्वं तु बहुगुणं जइ य ।
परिणामिज्जइ सुक्कं, कालेण गुणाहियगुणेण ॥ २ ॥
जइ सुक्कं एक्कगुणं, कालगदव्वं पि एक्कगुणमेव ।
कावोय परिणामं, तुल्लगुणत्तेण संभवइ ॥ ३ ॥
एव पंच वि वण्णा, संजोएणं तु वण्णपरिणामो ।
एक्कत्तीसं भंगा, सव्वेऽवि य ते मुणेयव्वा ॥ ४ ॥
एमेव य परिणामो, गंधाण रसाण तह य फासाणं ।
संठाणाण य भणिओ, संजोगेणं बहुविगप्पो ॥ ५ ॥

एकत्रिंशद्भङ्गा एव पूर्यन्ते-दश द्विकसंयोगाः दश त्रिकसंयोगाः, पञ्च चतुष्कसंयोगाः, एकः पञ्चकसंयोगः, प्रत्येक वर्णाश्च पञ्चेति । अगुरुलघुपरिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः, शब्दपरिणामस्ततविततघनशुषिरभेदाच्चतुर्धा, तथा ताल्वोष्ठपुटव्यापाराऽऽद्यभिनिवर्त्यश्च अन्येऽपि च पुद्गलपरिणामाश्छायाऽऽदयो भवन्ति । ते चामी—

' छाया य आयवो वा, उज्जोओ तह य अंधकारो य ।
एसो उ पुग्गलाणं, परिणामो फंदणा चेव ॥ १ ॥
सीया णाइपगासा, छाया णाइच्चिया बहुविगप्पा ।
उण्हो पुण प्पगासो, णायव्वो आयवो नाम ॥ २ ॥
न वि सीओ न वि उण्हो, समो पगासो य होइ उज्जोओ ।
कालं मइल तम पि य, वियाण तं अंधयारं ति ॥ ३ ॥
दव्वस्स चलण प्पफं-दणा उ सा पुण गई उ निद्दिट्ठा ।
वीससपओगमीसा, अत्तपरेणं तु उभओऽवि ॥ ४ ॥"

तथाऽभ्रेन्द्रधनुर्विद्युदादिषु कार्येषु यानि पुद्गलद्रव्याणि परिणतानि तद्विस्रसाकरणमिति ॥ ८ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

पोग्गलपरियट्ट-पुद्गलपरिवर्त्त-पुं० । पुद्गलानां-रूपिद्रव्याणामाहारकवर्जितानामौदारिकाऽऽदिप्रकारेण गृह्णत एकजीवापेक्षया परिवर्तन-सामस्त्येन स्पर्शः पुद्गलपरिवर्तः स च यावता कालेन भवति इति स कालोऽपि पुद्गलपरिवर्त्तः । अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपे कालभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अनु० । प० स० ।

पुद्गलपरावर्त्तप्ररूपणा—

**रायगिहे ०जाव एव वयासी-दो भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति, एगयओ साहणित्ता किं भवइ ? । गोयमा ! दुपदेसिए खंधे भवइ, से भिज्जमाणे दुहा कज्जइ, एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ परमाणुपोग्गले भवइ । तिण्णि भंते ! परमाणुपोग्गला एगयओ साहणिचए किं**

भवइ ? । गोयमा ! तिपदेसिए खंधे भवइ । से भिज्जमाणे दुहा वि तिविहा वि कज्जइ, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, तिहा कज्जमाणे तिन्नि परमाणुपोग्गला भवंति । चत्तारि भंते ! परमाणुपोग्गला पुच्छा ? । गोयमा ! चउप्पदेसिए खंधे भवइ, से भिज्जमाणे दुहा वि तिहा वि चउहा वि कज्जइ, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ, अहवा-दो दुपदेसिया खंधा भवंति,तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए,खंधे भवइ, चउहा कज्जमाणे चत्तारि परमाणुपोग्गला भवंति । पंच भंते ! परमाणुपोग्गला पुच्छा ? । गोयमा ! पंचपएसिए खंधे भवइ, से भिज्जमाणे दुहा वि तिहा वि चउहा वि पंचहा वि कज्जइ, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवंति, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, पंचहा कज्जमाणे परमाणुपोग्गला भवंति । छब्भंते ! परमाणु पुच्छा ?। गोयमा ! छप्पदेसिए खंधे भवइ, से भिज्जमाणे दुहा वि तिहा वि० जाव छव्विहा वि कज्जइ, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ पंचपएसिए खंधे भवइ, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवइ, अहवा-दो तिपदेसिया खंधा भवंति, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ, अहवा-तिन्नि दुपदेसिया खंधा भवंति, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिया खंधा भवंति, पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, छहा कज्जमाणे छ परमाणुपोग्गला भवंति । सत्त भंते ! परमाणुपोग्गला पुच्छा ?। गोयमा ! सत्तपएसिए खंधे भवइ, से भिज्जमाणे दुहा वि ०जाव सत्तविहा वि कज्जइ । दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ छप्पएसिए खंधे भवइ १, अथवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ पंचपएसिए खंधे भवइ २ अहवा-एगयओ तिपदेसिए खंधे एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ३, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवइ ४, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ५, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो तिपदेसिया खंधा भवंति ६, अहवा-एगयओ दो दुपदेसिया खंधा एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ ७, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ चउप्पएसिए खंधे भवइ ८, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ ९, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ तिन्नि दुपदेसिया खंधा भवंति १०, पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ ११, अहवा-एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवंति १२, छहा कज्जमाणे एगयओ पंच परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, १३, सत्तहा कज्जमाणे सत्त परमाणुपोग्गला भवंति १४ । अट्ठ परमाणुपोग्गला पुच्छा ? । गोयमा ! अट्ठपदेसिए खंधे भवइ ०जाव दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ सत्तपदेसिए खंधे भवइ १, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, एगयओ छप्पएसिए खंधे भवइ २, अहवा-एगयओ तिपदेसिए खंधे एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवइ ३, अहवा-दो चउप्पदेसिया खंधा भवंति ४, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला भवंति, एगयओ छप्पदेसिए खंधे भवइ ५, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवइ ६, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ तिपदेसिए खंधे एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ७, अहवा-एगयओ दो दुपदेसिया खंधा एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ८, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, एगयओ दो तिपदेसियाइं खंधाइं भवंति ९, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवइ १०, अहवा-एगयओ दोन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ११, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दो तिपदेसिया खंधा भवंति १२, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवंति, एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ १३, अहवा-चत्तारि दुपदेसिया खंधा भवंति १४, पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि

परमाणुपोग्गला एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ १५, अहवा-एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ १६, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ तिन्नि दुपदेसिया खंधा भवंति १७, छहा कज्जमाणे एगयओ पंच परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति १८, अहवा-एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवंति १९, सत्तहा कज्जमाणे एगयओ छ परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे भवति २० , अट्ठहा कज्जमाणे अट्ठ परमाणुपोग्गला भवंति २१ । णव भंते ! परमाणुपोग्गला पुच्छा ? । गोयमा ! ०जाव णवहा कज्जइ, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ अट्ठपएसिए खंधे भवइ, एवं एक्केक्कसंचारिएहिं ०जाव अहवा-एगयओ चउप्पदेसिए खंधे एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवति ४, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ सत्तपएसिए खंधे भवइ ५, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ छप्पदेसिए खंधे भवइ ६, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ तिपदेसिए खधे एगयओ पंचपदेसिए खधे भवइ ७, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो चउप्पदेसिया खधा भवंति ८, अहवा-एगयओ दुपदेसिए एगयओ तिपदेसिए एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ९, अहवा-तिन्नि तिपदेसिया खंधा भवति १०, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ छप्पएसिए खंधे भवति ११, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ पचपदेसिए खधे भवइ १२, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खंधे एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ १३, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवति,एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ, १४, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खधे एगयओ दो तिपदेसिया खंधा भवंति १५, अहवा-एगयओ तिन्नि दुपदेसिया खंधा एगयओ तिपदेसिए खंधे भवति १६, पंचहा कज्जमाणे एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ पंचपदेसिए खंधे भवति १७, अहवा-एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खधे एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवति १८,अहवा-एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ दो तिपदेसिया खंधा भवति १९, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दो दुपदेसिया खंधा एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ २०, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ चत्तारि दुपदेसिया खंधा भवंति २१, छहा कज्जमाणे एगयओ पच परमाणुपोग्गला एगयओ चउप्पदेसिए खधे भवइ २२. अहवा-एगयओ चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ तिपदेसिए खधे भवइ२३, अहवा-एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ तिन्नि दुपदेसिया खंधा भवंति २४, सत्तहा कज्जमाणे एगयओ छ परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खधे भवइ २५, अहवा- एगयओ पंच परमाणुपोग्गला एगयओ दो दुपदेसिया खंधा भवंति २६, अट्ठहा कज्जमाणे एगयओ सत्त परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ २७,णवहा कज्जमाणे णव परमाणुपोग्गला भवंति २८ । दस भंते ! परमाणुपोग्गला पुच्छा ?। गोयमा !०जाव दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ णवपदेसिए खंधे भवइ १, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ अट्ठपदेसिए खधे भवइ २, एवं एक्केक्कं संचारेंतेहिं० जाव अहवा-दो पंच पदेसिया खधा भवंति ५, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ अट्ठपदेसिए खंधे भवइ ६, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खधे एगयओ सत्तपदेसिए खंधे भवइ ७, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खंधे भवइ, एगयओ छप्पदेसिए खंधे भवइ ८, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गला एगयओ चउप्पदेसिए खधे एगयओ पचपदेसिए खंधे भवइ ९,अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ तिपदेसिए खंधे एगयओ पचपदेसिए खंधे भवइ ५, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ दो चउप्पदेसिया खंधा भवंति ६, अहवा-एगयओ दो तिपदेसिया खधा एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ७, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ सत्तपदेसिए खंधे भ० १, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ छप्पएसिए खंधे भवइ २, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ तिपदेसिए खधे एगयओ पचपदेसिए खंधे भवइ ३, अहवा-एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ दो चउप्पदेसिया खंधा भवंति ४, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ तिपदेसिए खंधे एगयओ चउप्पदेसिए खंधे भवइ ५, अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ तिन्नि तिपदेसिया खधा भवंति ६, अहवा-एगयओ तिन्नि दुपदेसिया खंधा एगयओ चउप्पदेसिए खधे भवइ ७,अहवा-एगयओ दो दुपदेसिया खधा एगयओ दो तिपदेसिया

खंधा भवंति ८, पंचहा कज्जमाणे एगयत्र्यो चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो छप्पएसिए खंधे भवइ ६, अहवा-एगयत्र्यो तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे भवइ, एगयत्र्यो पंचपदेसिए खंधे भवइ १०, अहवा-एगयत्र्यो तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे एगयत्र्यो चउप्पदेसिए खंधे भवइ ३, अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दो दुपदेसिया खंधा एगयत्र्यो चउप्पदेसिए खंधे भवइ ४, अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो दो तिपदेसिया खंधा भवंति ५, अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो तिन्नि दुपदेसिया खंधा एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे भवइ ६, अहवा-पंच दुपदेसिया खंधा भवंति ७, छहा कज्जमाणे एगयत्र्यो पंच परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो पंचपएसिए खंधे भवइ १, अहवा-एगयत्र्यो चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो चउप्पएसिए खंधे भवइ २, अहवा-एगयत्र्यो चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दो तिपदेसिया खंधा भवन्ति ३, अहवा-एगयत्र्यो तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दो दुपदेसिया खंधा एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे भवइ ४, अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो चत्तारि दुपदेसिया खंधा भवंति ५, सत्तहा कज्जमाणे एगयत्र्यो छप्परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो चउप्पएसिए खंधे भवइ १, अहवा-एगयत्र्यो पंच परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे भवइ २, अहवा-एगयत्र्यो चत्तारि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो तिन्नि दुपदेसिया खंधा भवंति ३, अट्ठहा कज्जमाणे एगयत्र्यो सत्त परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे भवइ ४, अहवा-एगयत्र्यो छ परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दो दुपदेसिया खधा भवंति ५, णवहा कज्जमाणे एगयत्र्यो अट्ठ परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए खधे भवइ ६, दसहा कज्जमाणे दस परमाणुपोग्गला भवंति । संखेज्जा णं भंते ! परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो साहणंति एए किं भवंति ? । गोयमा ! संखेज्जपएसिए खंधे भवइ,से भिज्जमाणे दुहा वि ०जाव दसहा वि संखेज्जहा वि कज्जइ,दुहा कज्जमाणे एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ १,अहवा-एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ २, अहवा-एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे०३, एवं०जाव अहवा-एगयत्र्यो दसपदेसिए खंधे भवइ,एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ, अहवा-दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति ११ । तिहा कज्जमाणे एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो संखेज्जपएमिए खंधे भवइ ६, अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपदेसिए खंधे भवइ २ । अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ ३, एवं ०जाव अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो दसपएसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएमिए खंधे भवइ १० । अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो दो संखेज्जपएमिया खंधा ११ । अहवा-एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति १२। एवं ०जाव अहवा-एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो दो संखेज्जपएसिया खधा भवंति २०, अहवा-तिन्नि संखेज्जपएसिया खंधा भवंति २१ , चउहा कज्जमाणे एगयत्र्यो तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ, अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएमिए खंधे भवइ २ । अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो तिपदेसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएमिए खंधे भवइ ३, एवं०जाव अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दसपएसिए खंधे एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खधे भवइ १० । अहवा-एगयत्र्यो दो परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति ११ । अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो दुपदेसिए खंधे एगयत्र्यो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति१२। एवं०जाव अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो दसपएसिए खधे एगयत्र्यो दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति २०। अहवा-एगयत्र्यो परमाणुपोग्गले एगयत्र्यो तिन्नि संखेज्जपएसिया खधा भवंति २१ अहवा-एगयत्र्यो दुपदेसिए खधे एगयत्र्यो तिन्नि संखेज्जपएसिया खंधा भवंति । एवं० जाव अहवा-एगयत्र्यो दसपएसिए खंधे एगयत्र्यो तिन्नि संखेज्जपएसिया खधा भवंति । एव एएणं कमेण पंचसंजोगो वि भाणियव्वो०जाव णव संजोगा । दसहा कज्जमाणे एगयत्र्यो णव परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ १। अहवा-एगयत्र्यो अट्ठ परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो दुपदेसिए एगयत्र्यो संखेज्जपएसिए खंधे भवइ २ । एवं एएणं कमेणं एक्केको पूरेयव्वो० जाव अहवा-एगयत्र्यो दसपएसिए खंधे भवइ, एगयत्र्यो णव संखेज्जपएसिया खंधा भवंति,अहवा-दस संखेज्जपएसिया खंधा भवंति ६१। संखेज्जहा कज्जमाणे संखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति । असंखेज्जहा णं भंते! परमाणुपोग्गला एगयत्र्यो साहणंति एगयत्र्यो साहणित्ता किं भवंति ? । गोयमा ! असंखेज्जपएसिए खंधे भवति । से भिज्जमाणे दुहा वि०जाव दसहा वि संखेज्जहा वि

असंखेज्जहा वि कज्जइ । दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ, एवं ०जाव अहवा-एगयओ दसपएसिए खंधे भवइ, एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ सखेज्जपएसिए खंधे एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ ११ । अहवा-दो असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति १२ । तिहा-कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ असंखेज्जपएसिया खधा भवंति १ । अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवति । एव० जाव अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दसपएसिए खंधे एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ १० । अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे एगयओ असखेज्जपएसिए खंधे भवइ ११ । अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो संखेज्जपएसिया खंधा भवंति १२ । अहवा-एगयओ दुपदेसिए खधे एगयओ दो असखेज्जपएसिया खंधा भवंति १३ । एवं ०जाव अहवा-एगयओ संखेज्जपएसिए खधे एगयओ दो असंखेज्जपदेसिया खंधा भवंति २२ । अहवा-तिन्नि असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति २३, चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ । एवं चउक्कसंजोगो ०जाव दसकसंजोगो एवं जहेव असखेज्जपएसियस्स णवरं असंखेज्जयं एगं अब्भहियं जाणियव्व ०जाव अहवा-दस असंखेज्जपएसिया खंधा भवंति । संखेज्जहा कज्जमाणे एगयओ सखेज्जा परमाणुपोग्गला एगयओ असखेज्जपएसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ सखेज्जा दुपएसिया खंधा एगयओ असखेज्जपएसिए खंधे भवइ, एवं ०जाव अहवा-एगयओ संखेज्जा दसपएसिया खंधा एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ, अहवा-एगयओ संखेज्जा संखेज्जपएसिया खंधा एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे भवइ, अहवा-संखेज्जा असंखेज्जपएसिया खंधा भवति । असंखेज्जहा कज्जमाणे असंखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति । अणंता णं भंते ! परमाणुपोग्गला ०जाव किं भवंति ? । गोयमा ! अणंतपएसिए खंधे भवइ, से भिज्जमाणे दुहा वि तिहा वि ०जाव दसहा वि संखेज्जहा असंखेज्जहा अणंतहा वि कज्जइ, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवइ एवं ०जाव अहवा दो अणंतपदेसिया खंधा भवंति, तिहा कज्जमाणे एगयओ दो परमाणुपोग्गला एगयओ अणंतपएसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवइ ०जाव अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ असंखेज्जपएसिए खंधे एगयओ अणंतपएसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दो अणंतपएसिया खंधा भवंति, अहवा-एगयओ दुपदेसिए खंधे एगयओ दो अणंतपएसिया खधा भवति । एवं ०जाव एगयओ दसपएसिए खंधे एगयओ दो अणंतपदेसिया खंधा भवंति । अहवा-एगयओ संखेज्जपएसिए खंधे एगयओ दो अणंतपएसिया खंधा भवंति । अहवा-एगयओ असखेज्जपएसिए खधे एगयओ दो अणंतपदेसिया खंधा भवंति । अहवा-एगयओ संखेज्जपदेसिए खधे एगयओ दो अणंतपएसिया खंधा भवंति । अहवा-तिन्नि अणंतपदेसिया खधा भवंति २५ । चउहा कज्जमाणे एगयओ तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवइ । एवं चउक्कसंजोगो ०जाव असंखेज्जसजोगो । एए सव्वे जहेव असखेज्जाणं भणिया तहेव ०जाव अणंताण वि भाणियव्व णवरं एक्कं अणंतगं अब्भहियं भाणियव्वं ०जाव अहवा एगयओ संखेज्जा संखेज्जपदेसिया खंधा एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ सखेज्जा अणंतपदेसिए खंधा एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवइ । अहवा-संखेज्जा अणंतपदेसिया खंधा भवंति । असंखेज्जहा कज्जमाणे एगयओ असंखेज्जा परमाणुपोग्गला एगयओ अणंतपदेसिए खंधे भवइ । अहवा-एगयओ असंखेज्जा दुपएसिया खंधा एगयओ अणंतपएसिए खंधे भवइ ०जाव अहवा एगयओ असंखेज्जा सखेज्जपएसिया खधा एगयओ अणंतपदेसिए खधे भवइ । अहवा-एगयओ असखेज्जा असखेज्जपएसिया खधा एगयओ अणंतपदेसिए खधे भवइ । अहवा-एगयओ असंखेज्जा अणंतपदेसिया खधा भवति । अणंतहा कज्जमाणे अणंता परमाणुपोग्गला भवंति ८७५। एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं साहणणाभेदाणुवाएणं अणंताणं पोग्गलपरियट्टाणं अणंताणंता पोग्गलपरियट्टा समणुगंतव्वा भवतीतिमक्खाया ? । हंता गोयमा ! एएसि णं परमाणुपोग्गलाणं साहणणाभेदाणु ०जाव मक्खाया ।

( एगयओ त्ति ) एकत्वतः-एकतयेत्यर्थः । ( साहन्नंति त्ति ) संहन्येते-संहतौ भवत इत्यर्थः । द्विप्रदेशिकस्कन्धस्य भेदे एको विकल्पः, त्रिप्रदेशिकस्य द्वौ, चतुःप्रदेशिकस्य चत्वारः, पञ्चप्रदेशिकस्य षट्, षट्प्रदेशिकस्य दश, सप्तप्रदेशिकस्य चतुर्दश, अष्टप्रदेशिकस्यैकविंशतिः, नवप्रदेशिकस्याष्टाविंशतिः, दशप्रदेशिकस्य चत्वारिंशत्, सं-

ख्यातप्रदेशिकस्य द्विधा भेदे ११ त्रिधा भेदे २१ चतुर्धा भेदे ३१ पञ्चधा भेदे ४१ षोढात्वे ५१ सप्तधात्वे ६१ अष्टधात्वे ७१ नवधात्वे ८१ दशधात्वे ९१ संख्यातभेदत्वे त्वेक एव । विकल्पमेवाऽऽह-(संखेज्जहा कज्जमाणे संखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति त्ति) असंख्यातप्रदेशिकस्य तु द्विधाभावे १२ त्रिधात्वे २३ चतुर्द्धात्वे ३४ पञ्चधात्वे ४५ षोढात्वे ५६ सप्तधात्वे ६७ अष्टधात्वे ७८ नवधात्वे ८९ दशभेदत्वे १०० संख्यातभेदत्वे द्वादश १२ संख्यातभेदकरणे त्वेक एव । तमेवाऽऽह-(असंखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति त्ति ) अनन्तप्रदेशिकस्य तु द्विधात्वे १३ त्रिधात्वे २५ चतुर्द्धात्वे ३७ पञ्चधात्वे ४९ षड्धात्वे ६१ सप्तधात्वे ८५ नवधात्वे ९७ दशभेदत्वे १०९ संख्यातत्वे १२ असंख्यातत्वे १३ अनन्तभेदकरणे त्वेक एव विकल्पः । तमेव आह-( अणंतहा कज्जमाणे इत्यादि ) "दो भंते ! परमाणुपोग्गला साहणंति " इत्यादिना पुद्गलानां प्राक् संहननमुक्तम्-" से भिज्जमाणे दुहा कज्जइ " इत्यादिना च तेषामुक्तोऽथ तावेवाभिलाऽऽह-(एएसि णमित्यादि ) एतेषामनन्तरोक्तस्वरूपाणां परमाणुपुद्गलानां , परमाणूनामित्यर्थः । ( साहणणाभेदाणुवाएणं ति ) " साहणणं ति " प्राकृतत्वात्संहननं-सङ्घातो, भेदश्च-वियोजनं, तयोरनुपातो योगः संहननभेदानुपातस्तेन सर्वपुद्गलद्रव्यैः सह परमाणूनां संयोगेन वियोगेन चेत्यर्थः । ( अणंताणंत त्ति ) अनन्तेन गुणिता अनन्ता अनन्तानन्ता; एकोऽपि हि परमाणुर्द्व्यणुकाऽऽदिभिरनन्ताणुकान्तैर्द्रव्यैः सह संयुज्यमानोऽनन्तान्परिवर्त्तान्लभते, प्रतिद्रव्यं, परिवर्तभावात्, अनन्तत्वाच्च परमाणूनां, प्रतिपरमाणु चानन्तत्वात्परिवर्तानां परमाणुपुद्गलपरिवर्तानामनन्तानन्तत्वं द्रष्टव्यमिति ।(पुग्गलपरियट्ट त्ति)पुद्गलैः-पुद्गलद्रव्यैः सह परिवर्त्ताः-परमाणूनां मीलनानि पुद्गलपरिवर्त्ताः समनुगन्तव्या-अवगन्तव्या भवन्ति,इति हेतोराख्याताः-प्ररूपिताः, भगवद्भिरिति गम्यते । मकारश्च प्राकृतशैलीप्रभवः । दण्डकः । अथ पुद्गलपरावर्त्तस्यैव भेदाभिधानायाऽऽह—

कइविहे णं भंते ! पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते ? । गोयमा ! सत्तविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते । तं जहा-ओरालियपोग्गलपरियट्टे, वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे, तेयापोग्गलपरियट्टे, कम्मापोग्गलपरियट्टे, मणपोग्गलपरियट्टे, वइपोग्गलपरियट्टे, आणापाणुपोग्गलपरियट्टे ।

( कइविहे णमित्यादि ) ( ओरालियपोग्गलपरियट्टे त्ति ) औदारिकशरीरे वर्त्तमानेन जीवेन यदौदारिकशरीरप्रायोग्यद्रव्याणामौदारिकशरीरतया सामस्त्येन ग्रहणमसावौदारिकपुद्गलपरिवर्त्तः, एवमन्येऽपि ।

णेरइयाणं भंते ! कइविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते ? । गोयमा ! सत्तविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते । तं जहा-ओरालियपोग्गलपरियट्टे, वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे, ०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टे, एवं ०जाव वेमाणियाणं ।

( नेरइयाण त्ति ) नारकजीवानाम् अनादौ संसारे संसरतां सप्तविधः पुद्गलपरावर्त्तः प्रज्ञप्त. । भ० १२ श० ४ उ० ।

तिविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते । तं जहा-अतीते,पडुपन्ने-अणागए । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्त्तं गाथात्रयेण निरूपयितुकामः प्रथमं तावत्तस्यैव भेदान्, परिमाणं चाऽऽह—

दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो ।
होइ अणंतुस्सप्पिणि-परिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयः, क्षेत्रे क्षेत्रविषयः , काले कालविषयः , भावे भावविषयः, इत्थं चतुर्धा—चतूरूपः पुद्गलपरावर्त्तो भवतीत्युत्तरेण संटङ्कः । पुनरेकैको द्रव्याऽऽदिको द्विविधो-द्विप्रकारो भवति । द्वैविध्यमाह—( बायरो सुहुमो त्ति ) बादरसूक्ष्मभेदभिन्नः । अयमर्थः—द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तो द्वेधा-बादरः, सूक्ष्मश्च । क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तो द्वेधा—बादरः, सूक्ष्मश्च । कालपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादरः, सूक्ष्मश्च । भावपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादरः, सूक्ष्मश्च । कियत्कालप्रमाण· पुनरयमेकैक इत्याह—( होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो त्ति ) भवति—जायते, उत्सर्पन्ति प्रतिसमय कालप्रमाणं जन्तूनां शरीराऽऽयुःप्रमाणाऽऽदिकमपेक्ष्य वृद्धिमनुभवन्तीत्युत्सर्पिण्यः , ततोऽनन्ता उत्सर्पिण्यः, उपलक्षणत्वादवसर्पन्ति प्रतिसमय कालप्रमाणं जन्तूनां शरीराऽऽयुःप्रमाणाऽऽदिकमपेक्ष्य हानिमनुभवन्तीत्यवसर्पिण्यः, ताश्च परिमाणं यस्य सोऽनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपरिमाणः,पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः , तेषां पुद्गलानां चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूनां परावर्तं औदारिकाऽऽदिशरीरतया गृहीत्वा मोचनं यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्त्तः । यद्यपि क्षेत्राऽऽदिविषयस्य पुद्गलपरावर्तरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति , तथाऽप्यन्यथा व्युत्पादितस्याऽपिशब्दस्याऽन्यथागोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात्समयप्रसिद्धमर्थं विषयीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति ॥ ८६ ॥

द्रव्यपुद्गलपरावर्तो बादरः सूक्ष्मश्च भवतीत्युक्तम् । अतः क्रमप्राप्त बादरसूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

सूचकत्वात्सूत्रस्य औदारिकाऽऽदिसप्तकेन औदारिकपरमाणूनौदारिकशरीरतया, आदिशब्दाद्वैक्रियपरमाणून् वैक्रियशरीरतया, तैजसपरमाणूंस्तैजसशरीरतया, कार्मणपरमाणून् कार्मणशरीरतया, भाषापरमाणून् भाषात्वेन, प्राणापानपरमाणून् प्राणापानतया , मनोवर्गणापरमाणून् मनस्त्वेन । न पुनराहारकशरीरमप्यत्र ग्राह्यं, कादाचित्कत्वात्तल्लाभस्येति । स्पृष्ट्वा परिणमय्य तथा परिणामं नीत्वा एकजीवो—विवक्षितैकसत्त्वो मुञ्चति—त्यजति सर्वाणूंश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकवर्तिसमस्तपरमाणून् । ( जत्तियकालि त्ति ) यावता कालेन विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—" व्यत्ययोऽप्यासामिति ।" स इत्थं पुद्गलस्पर्शमानेनोपमित कालविशेषः स्थूलो-बादरः ( दव्वि त्ति ) द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति प्रक्रम. । इह किल संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणैः सकललोकवर्तिनः सर्वानपि पुद्गलान् यावता कालेन औदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरभाषाप्राणापानमनःकार्म-

णशरीरलक्षणपदार्थसत्तकभावेन यथास्वं परिणमय्य मुञ्चति स तावत्प्रमाणः कालो द्रव्यतो बादरः पुद्गलपरावर्तो भवतीति तात्पर्यम्। इत्यभिहितो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तः। इदानीं सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह-( सुहुमो सगन्नयर त्ति ) सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति सम्बन्धः। कथमित्याह-सप्तकान्यतरस्मात्—सप्तकान्यतरेण, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्। इदमत्र हृदयम्—सप्तानामौदारिकवैक्रियतैजसभाषाप्राणापानमनःकार्मणमध्यादन्यतरेण पुनरेकेन केनचिदौदारिका-ऽऽदिना पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण सकललोकवर्तिपुद्गलानां स्पर्शने औदारिकाऽऽदिशरीरतया गृहीत्वा मोचने सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति। विवक्षितभेदाविशेषैः बहुभिर्भेदैः परिणमिता अपि न गृह्यन्त इति। एके त्वाचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति। तथाहि—यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीरवैक्रियशरीरतैजसशरीरकार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति। यदा पुनरौदारिकाऽऽदिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचिच्छरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेषशरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्ते एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥ ८७ ॥ उक्तो द्वेधाऽपि द्रव्यपुद्गलपरावर्तः।

सम्प्रति क्षेत्रकालभावपुद्गलपरावर्तान् बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नान्निरूपयन्नाह—

**लोगपएसोसप्पिणि-समया अणुभागबंधठाणा य।**
**जह तह कममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥**

लोकस्य-चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य प्रदेशा-निर्विभागा भागा लोकप्रदेशाः। तथोत्सर्पिणीशब्देनावसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते, दिनग्रहणे रात्र्युपलक्षणवत्, तयोः समयाः परमनिकृष्टकालविशेषा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाः, समयस्वरूपं च पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्तादुत्पलपत्रशतभेदोदाहरणाच्चावसेयम्। ततो लोकप्रदेशाश्चोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्चेति द्वन्द्वः। तथाऽनुभागस्य-रसस्य बन्धो बन्धनं तस्य निमित्तभूतानि स्थानानि कषायोदयविशेषलक्षणान्यनुभागबन्धस्थानानि अनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानीत्यर्थः। च-समुच्चये। ततश्चैते प्रत्येक त्रयोऽपि पदार्था यदा मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्यथा तथा मरणेन—क्रमोत्क्रमाभ्यां प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा-व्याप्ता भवन्ति तदा ( खित्ताइथूल त्ति ) क्षेत्रपुद्गलपरावर्तकालपुद्गलपरावर्तभावपुद्गलपरावर्ताः स्थूला-बादरा भवन्ति। यदा पुनस्त एव लोकाऽऽकाशप्रदेशा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि चेति प्रत्येकं त्रयोऽपि पदार्थाः क्रममरणेन पूर्वस्पृष्टाऽऽकाशप्रदेशाऽऽदिभ्योऽव्यवधानतः प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा भवन्ति तदा क्षेत्रपुद्गलपरावर्तकालपुद्गलपरावर्तभावपुद्गलपरावर्ताः ( इयर त्ति ) इतरे-सूक्ष्मा भवन्तीति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्—यदाऽनन्तभवभ्रमणशीलो जन्तुरनन्तरेषु-व्यवहितेषु चापराऽपराऽऽकाशप्रदेशेषु म्रियमाणः सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान्मरणेन स्पृशति तदा बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवति, नवरं येष्वपरप्रदेशवृद्धिरहितेषु पूर्वावगाढेष्वेव नभःप्रदेशेषु मृतस्ते न गण्यन्तेऽपूर्वास्तु दूरव्यवहिता अपि स्पृष्टा गण्यन्त

एवेति। कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण चानन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरकालपुद्गलपरावर्तो भवति, केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदाऽपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेकादिद्वितीयाऽऽदिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति। भावतः पुद्गलपरावर्त उच्यते—अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि मन्दप्रवृद्धप्रवृद्धतराऽऽदिभेदेनाऽसंख्येयानि वर्तन्ते, एतेषां चासंख्येयत्वप्रमाणमुत्तरत्र वक्ष्यामः। ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेणोत्क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति तदा बादरो भावपुद्गलपरावर्तो भवति; अत्राऽपि यदध्यवसायस्थानमेकदा मरणेन स्पृष्टं तदेवान्यदाऽपि यदि स्पृशति तदा तन्न गण्यते, अपूर्वं तु दूरव्यवहितमपि स्पृष्टं गण्यत एवेति भाविता बादराः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तकालपुद्गलपरावर्तभावपुद्गलपरावर्ताः। साम्प्रतमेत एव सूक्ष्मा भाव्यन्ते-इह येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जन्तुरेकदा मृतस्तेभ्योऽनन्तरव्यवस्थितेष्वेव नभःप्रदेशेष्वन्यदाऽपि यदि म्रियतेऽपरस्यां वेलायां तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेष्वन्यस्यां वेलायाम् तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेष्वन्यस्यां तु वेलायाम् तेषामप्यनन्तरेष्वन्येष्वेवं तावन्नेय यावदित्थमपरापरेषु नैरन्तर्यव्यवस्थितेषु नभःप्रदेशेषु क्रमेण म्रियमाणो जन्तुः सर्वानपि लोकाऽऽकाशप्रदेशान् स्पृशति, ये चापरप्रदेशवृद्धिरहिताः पूर्वावगाढा एव दूरव्यवस्थिता वाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टास्ते च न गण्यन्ते तदा सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त इति। पञ्चसंग्रहशास्त्रे तु सूक्ष्मबादरभेदतो द्विविधोऽपि क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः इत्थं व्याख्यातः—यथा—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्य सर्वप्रदेशेषु प्रत्येकं यावता कालेनैकजीवो मृतो भवति। कोऽर्थः?—यावन्तो लोकाऽऽकाशप्रदेशास्ते प्रदेशे प्रदेशे क्रमोत्क्रमाभ्यां मरणं कुर्वाणेन यदा सर्वे व्याप्ता भवन्ति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः, सूक्ष्मस्तु-यावता कालेन प्रथमप्रदेशानुबद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, कोऽर्थः?—यत्राऽऽकाशप्रदेशे मृतस्तदनन्तरप्रदेशक्रमेण यदा सर्वेऽपि लोकाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन व्याप्ता भवन्ति तदाऽसौ भवति, व्यवहितेषु च मरणं न गण्यते। यद्यपि जीवस्यैकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति तथाऽपि जीवावगाहनावस्थानाना प्राधान्येनैकः पकल्प्यते, तस्मादूगणनाप्रवृत्तिः, अमुना च प्रकारेण प्रभूतकालख्यापनं कृत भवतीति। सूक्ष्मस्तु कालपुद्गलपरावर्तस्तदा भवति यदोत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या वा प्रथमसमये कश्चिन्मृतस्ततः पुनरपि समयोनविंशतिकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुः कालान्तरेण तस्या एव द्वितीयसमये म्रियते पुनरपि कदाचित्तथैव ताभिरतिक्रान्ताभिस्तस्या एव तृतीयसमये, एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठाऽऽदिसमयक्रमेणानन्तानन्तैर्भवैर्यावत्सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानयोः समया मरणेन व्याप्ता भवन्ति। ये तु प्रथमाऽऽदिसमयक्रममुल्लङ्घ्य व्यवहितसमयाः पूर्वस्पृष्टा वा मरणेन व्याप्तास्ते तु

न गृह्यन्त एवेति । सूक्ष्मो भावपुद्गलपरावर्त उच्यते-इह किलाऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि बध्यमानकर्मपुद्गलेषु यादृशाऽनुभागपलिच्छेदनिर्वर्तकानि असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि मन्दप्रवृद्धप्रवृद्धतराऽऽदिभेदतो वर्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदये वर्तमानः कश्चिज्जन्तुर्मृतः, ततः कदाचित् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाऽधिकाऽनुभागपलिच्छेदजनके वर्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद्विशेषाऽधिकाऽनुभागपलिच्छेदजनके तृतीये, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाऽधिकाऽनुभागपलिच्छेदजनकाऽध्यवसायस्थानकेषु वर्तमानस्य मरणे तावद्वाच्यं यावत्सर्वोत्कृष्टाऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्तानन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्तीति व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति ॥ ८८ ॥ व्याख्यातं सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तस्वरूपम् । कर्म० ५ कर्म० ।

**पोग्गलपरियट्टो इह, दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो ।**

**एक्केक्को पुण दुविहो, बायरसुहुमत्तभेएणं ॥ ३५ ॥**

इहास्मिन्-पारमेश्वरे प्रवचने पुद्गलपरावर्तो द्रव्याऽऽदितो द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतश्चतुर्विधः-चतुःप्रकारो ज्ञातव्यः । तद्यथा-द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः, क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः, कालपुद्गलपरावर्त्तः, भावपुद्गलपरावर्त्तश्च । 'मुणेयव्वो' इत्यत्र "ज्ञो जाणमुणौ" ॥ ८।४।७ ॥ इति प्राकृतलक्षणाज्ज्ञातेर्मुण इत्यादेशः, पुनरप्येकैकः पुद्गलपरावर्त्तो बादरसूक्ष्मत्वभेदेन द्विधा-द्विप्रकारः, तद्यथा-बादरः, सूक्ष्मश्च ॥ ३५ ॥

तत्र बादर-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तावाह—

**संसारम्मि अडंतो, जावय कालेण फुसिय सव्वाणू ।**

**इगु जीवु मुयइ बायर, अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥३६॥**

संसरन्ति प्राणिनोऽस्मिन्निति संसारः-चतुर्दशरज्ज्वात्मकं क्षेत्रं, तस्मिन् संसारे अटन्—परिभ्रमन्नेको जीवः, सकलेऽपि संसारे ये केचन परमाणवस्तान् सर्वानपि यावता कालेन स्पृष्ट्वा मुञ्चति—औदारिकादिरूपतया परिभुज्य परिभुज्य परित्यजति, तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः। किमुक्तं भवति ?-यावता कालेनैकेन जीवेन सर्वेऽपि जगद्वर्त्तिनः परमाणवो यथायोगमौदारिकवैक्रियतैजसकार्मणभाषाप्राणापानमनस्त्वेन परिभुज्य परित्यक्तास्तावान् कालविशेषो बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः ।

सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तमाह—

( अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो ) औदारिकाऽऽदीनां शरीराणामन्यतमस्मिन् शरीरे स्थितः सन् यावता कालेनैकोऽपि जीवः संसारं परिभ्रमन् सर्वानप्यणून् स्पृष्ट्वा—परिभुज्य मुञ्चति, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः । इयमत्र भावना—यावता कालेन सर्वेऽपि लोकाऽऽकाशभाविनः परमाणव औदारिकाऽऽद्यन्यतमैकविवक्षितशरीररूपतया परिभुज्य निष्ठां नीयन्ते, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः, पुद्गलानां परमाणूनामौदारिकाऽऽदिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त-परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्गलपरावर्त्तः, इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अनेन च व्युत्पत्ति-निमित्तेन स्वैकार्थसमवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानत्वरूपं लक्ष्यते, तेन क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्ताऽऽदौ पुद्गलपरावर्त्तनाऽभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्याऽनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानत्वरूपस्य विद्यमानत्वात्पुद्गलपरावर्त्तशब्दः प्रवर्त्तमानो न विरुध्यते । यथा गोशब्दः पूर्वं गमने व्युत्पादितः, तेन च गमनेन-व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्थसमवायिखुरककुद्लाङ्गूलसास्नाऽऽदिमत्त्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तमुपलक्ष्यते, ततो गमनरहितेऽपि गोपिण्डे प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावाद् गोशब्दः प्रवर्त्तते इति । अस्मिंश्च सूक्ष्मे द्रव्यपुद्गलपरावर्त्ते विवक्षितैकशरीरव्यतिरेकेणाऽन्यशरीरतया ये परिभुज्य परिभुज्य परित्यज्यन्ते ते न गण्यन्ते, किं तु प्रभूतेऽपि काले गते सति विवक्षितैकशरीररूपतया परिणम्यन्ते, त एव गण्यन्ते । तदेवमुक्तः सूक्ष्म-बादरभेदभिन्नो द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तः ॥ ३६ ॥

सम्प्रति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नं क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तमाह—

**लोगस्स पएसेसुं, अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।**

**खेत्तम्मि बायरो सो, सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥ ३७ ॥**

लोकस्य—चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्याऽनन्तरपरम्पराविभक्तिभ्याम्, अनन्तरप्रकारेण परम्पराप्रकारेण च, सर्वेषु प्रदेशेष्वेकस्य जीवस्य मृतस्य यावान् कालविशेषो भवति, स तावान् क्षेत्रविषयो बादरपुद्गलपरावर्त्तः । किमुक्तं भवति ?—यावता कालेनैकेन जीवेन क्रमेणोत्क्रमेण वा यत्र तत्र म्रियमाणेन सर्वेऽपि लोकाऽऽकाशप्रदेशा मरणसंस्पृष्टा क्रियन्ते, स तावान्कालविशेषः क्षेत्रबादरपुद्गलपरावर्त्तः ।

सम्प्रति क्षेत्रसूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तमाह—

'सुहुमो उ अणंतरमयस्स' चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य सर्वेषु प्रदेशेष्वनन्तरमृतस्यैकस्य जीवस्य यावान् कालविशेषः स तावान् सूक्ष्मः—सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तो भवति । इयमत्र भावना-यद्यपि जीवस्याऽवगाहना जघन्याऽपि असंख्येयप्रदेशाऽऽत्मिका भवति, तथाऽपि विवक्षिते कस्मिंश्चिद्देशे म्रियमाणस्य विवक्षितः कश्चिदेकः प्रदेशोऽवधिभूतो विवक्ष्यते, ततस्तस्मात्प्रदेशादन्यत्र देशान्तरे ये नभःप्रदेशा मरणेनाऽऽव्याप्यन्ते, ते न गण्यन्ते, किं त्वनन्तेऽपि काले गते सति विवक्षितात्प्रदेशादनन्तरो यः प्रदेशो मरणेन व्याप्तो भवति, स गण्यते, तस्मादप्यनन्तरो यः प्रदेशो मरणेन व्याप्तः स गण्यते । एवमानन्तर्यपरम्परया यावता कालेन सर्वेऽपि लोकाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टा भवन्ति, तावत्कालविशेषः सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः, उक्तो बादरसूक्ष्मभेदभिन्नः क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तः ॥ ३७ ॥

सम्प्रति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नं कालपुद्गलपरावर्त्तमाह—

**उस्सप्पिणिसमएसु, अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।**

**कालम्मि बायरो सो, सुहुमो उ अणंतरमयस्स ॥ ३८ ॥**

इहोत्सर्पिणीग्रहणेनाऽवसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते । ततोऽयमर्थः—उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि अनन्तरपरम्पराविभक्तिभ्याम्—अनन्तरप्रकारेण परम्पराप्रकारेण च मृतस्य यावान् कालो भवति, तावान् बादरः कालपुद्गलपरावर्त्तः । किमुक्तं भवति—यावता कालेनैको जीवः सर्वा-

नप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयान् क्रमेणोत्क्रमेण वा मरणेन व्याप्तान् करोति , तावान्कालविशेषो- बादरपुद्गलपरावर्त्तः ।

सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तमाह—

( सुहुमो उ अणंतरमयस्स ) समस्तेष्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेष्वनन्तरमृतस्य , उत्सर्पिणीप्रथमसमयादारभ्य , ततः परं क्रमेण मृतस्यैकस्य जीवस्य यावान् कालविशेषो भवति , तावान् सूक्ष्मः—सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तः । अत्राऽपीयं भावना-इहोत्सर्पिणीप्रथमसमये कश्चिज्जीवो मृत्युमुपागतः ततो यदि समयोनविंशतिसागरोपमकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुरुत्सर्पिणीद्वितीय समये म्रियते , तदा स द्वितीयः समयो मरणस्पृष्टो गण्यते, शेषास्तु समया मरणस्पृष्टा अपि सन्तो न गण्यन्ते । यदि पुनस्तस्मिन्नुत्सर्पिणीद्वितीयसमये न म्रियते , किन्तु समयान्तरे, तदा सोऽपि न गृह्यते; किं त्वनन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु यदोत्सर्पिणीद्वितीयसमये एव मरिष्यति तदा समयो गण्यते । एवमानन्तर्यप्रकारेण यावता कालेन सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया मरणव्याप्ता भवन्ति , तावान् कालविशेषः सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त्तः , उक्तो बादरसूक्ष्मभेदभिन्न कालपुद्गलपरावर्त्तः ॥ ३८ ॥

साम्प्रतं बादर-सूक्ष्मभेदभिन्नं भावपुद्गलपरावर्त्तमाह—

अणुभागट्ठाणेसुं, अणंतरपरंपराविभत्तीहिं ।
भावम्मि बायरो सो, सुहुमो सव्वेसणुक्कमसो ॥ ३९ ॥

इहानुभागस्थानानि कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारे बन्धनकरणे अनुभागबन्धविचारे "एकज्झवसायसमज्जियस्स दलियस्स किं रसो तुल्लो ?। " इत्यादिना ग्रन्थेन स्वयमेव वक्ष्यति, तानि चाऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि तेषां चानुभागस्थानानां निष्पादका ये कषायोदयरूपा अध्यवसायविशेषास्तेऽप्यनुभागस्थानमित्युच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात् । ते चाऽप्यनुभागबन्धाध्यवसाया असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः । सम्प्रत्यक्षरयोजना—अनुभागस्थानेषु—अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेषु असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणेषु सर्वेष्वपि यावता कालेनैको जीवोऽनन्तरपरम्पराऽरूपे ये विभक्ती-विभागौ, ताभ्यामानन्तर्येण पारम्पर्येण चेत्यर्थः । मृतो भवति, तावान् कालविशेषो बादरभावपुद्गलपरावर्त्तः । किमुक्तं भवति ?—यावता कालेन क्रमेणोत्क्रमेण वा सर्वेष्वप्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानेषु वर्त्तमानो मृतो भवति तावत्कालो बादरभावपुद्गलपरावर्त्तः ।

सूक्ष्मं भावपुद्गलपरावर्त्तमाह—

( सुहुमो सव्वेसणुक्कमसो ) सर्वेष्वनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानेष्वनुक्रमशः-परिपाट्या यावता कालेन मृतो भवति, तावत्कालः सूक्ष्म.-सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त्तः। इयमत्र भावना-कश्चिज्जन्तुः सर्वजघन्ये कषायोदयरूपे अध्यवसाये वर्त्तमानो मृतः, ततो यदि स एव जन्तुरनन्तेऽपि काले गते सति प्रथमादनन्तरे द्वितीयेऽध्यवसायस्थाने वर्त्तमानो म्रियते, तन्मरणं गण्यते,न शेषाण्युत्क्रमभावीन्यनन्तान्यपि मरणानि । ततः कालान्तरे भूयोऽपि यदि द्वितीयस्मादनन्तरे तृतीयेऽध्यवसायस्थाने वर्त्तमानो म्रियते, तदा तृतीयं मरणं गण्यते । न शेषाण्यपान्तरालभावीन्यनन्तान्यपि मरणानि । एवं क्रमेण सर्वाण्यप्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि यावता कालेन मरणेन स्पृष्टानि भवन्ति, तावान् कालविशेषः सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त्तः। इह सर्वोऽपि बादरपुद्गलपरावर्तप्ररूपणा विनेयानां सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तप्ररूपणा सुखाधिगतिनिमित्तं कृता, न हि कोऽपि बादरपुद्गलपरावर्त्तः क्वचिदपि सिद्धान्तप्रदेशे प्रयोजनवानुपलभ्यते, केवलं तस्मिन् प्ररूपिते सति सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्त. प्ररूप्यमाणो विनेयैः सुखेनाऽधिगम्यते, इति तत्प्ररूपणा क्रियते । तथा इह चतुर्णामपि सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्तानां परमार्थतो न कश्चिद्विशेष., तथाऽपि जीवाभिगमाऽऽदौ पुद्गलपरावर्त्तः क्षेत्रतो बाहुल्येन गृहीतः, क्षेत्रतो मार्गणायां तस्योपादानात् । तथा च तत्सूत्रम्-" जे से साइए सपज्जवसिए मिच्छादिट्ठी से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।" इत्यादि । तत इहाऽपि पुद्गलपरावर्त्तग्रहणे क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तो ग्राह्य इति ॥ प० सं० २ द्वार ।

एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता ?। गोयमा ! अणंता । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा?।एवं चेव। एवं०जाव वेमाणियस्स । एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवइया वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा अतीता ?। गोयमा ! अणंता, एवं जहेव ओरालियपोग्गलपरियट्टा तहेव वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा भाणियव्वा, एवं० जाव वेमाणियस्स, एवं ०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टा, एए एगइया सत्त दंडगा भवंति । णेरयाणं भंते ! केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता,गोयमा ! अणंता । केवइया पुरक्खडा ?। अणंता, एवं ०जाव वेमाणियाणं, एवं वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा वि, एवं ०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टा वि ०जाव वेमाणियाणं, एवं एए पोहत्तिया सत्त चउव्वीसदंडगा । एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता ?। णत्थि एक्को वि । केवइया पुरक्खडा ?। णत्थि एक्को वि । एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा ?। एवं चेव । एवं०जाव थणियकुमारत्ते जहा असुरकुमारत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स पुढविकाइयत्ते केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता ?। अणंता । केवइया पुरक्खडा ?। कस्सइ अत्थि,कस्सइ णत्थि,जस्सत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, एवं ०जाव मणुस्सत्ते, वाणमंतरजोइसियवेमाणियत्ते

जहा असुरकुमारत्ते । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स णेरइयत्ते केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा ? । एवं जहा णेरइयस्स वत्तव्वया भणिया तहा असुरकुमारस्स वि भाणियव्वा ०जाव वेमाणियत्ते, एवं ०जाव थणियकुमारस्स । एवं पुढविकाइयस्स वि, एवं ०जाव वेमाणियस्स । सव्वेसिं एक्को गमओ । एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवइया वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा अतीता ? । अणंता । केवइया पुरक्खडा ? । एगुत्तरिया ०जाव अणंता वा । एवं ०जाव थणियकुमारत्ते । पुढवीकाइयत्ते पुच्छा ? । णत्थि एक्को वि । केवइया पुरक्खडा ? । णत्थि एक्को वि, एवं जत्थ वेउव्वियसरीरं अत्थि तत्थ एगुत्तरियाओ, जत्थ णत्थि तत्थ जहा पुढविकाइयत्ते तहा भाणियव्वं ०जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते, तेयापोग्गलपरियट्टा कम्मापोग्गलपरियट्टा सव्वत्थ एगुत्तरिया भाणियव्वा. मणपोग्गलपरियट्टा सव्वेसु पंचिंदिएसु एगुत्तरिया, विगलिंदिएसु णत्थि, वइपोग्गलपरियट्टा एव चेव, णवरं एगिंदिएसु णत्थि भाणियव्वा, आणापाणुपोग्गलपरियट्टा सव्वत्थ एगुत्तरिया, एवं ०जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते । णेरइयाणं भंते ! णेरइयत्ते केवइया ओरालियपोग्गलपरियट्टा अतीता ? । णत्थि । केवइया पुरक्खडा ? । णत्थि एक्को वि, एवं ०जाव थणियकुमारत्ते । पुढविकाइयत्ते पुच्छा ? । अणंता । केवइया पुरक्खडा ? । अणंता, एवं ०जाव मणुस्सत्ते वाणमंतरजोइसियवेमाणियत्ते जहा णेरइयत्ते, एवं सत्त वि पोग्गलपरियट्टा भाणियव्वा, जत्थ अत्थि तत्थ अतीता वि, पुरक्खडा वि अणंता भाणियव्वा, जस्स णत्थि तस्स दो वि णत्थि भाणियव्वा, ०जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते केवइया आणापाणुपोग्गलपरियट्टा अतीता ? । अणंता, केवइया पुरक्खडा ? । अणंता ।

( एगमेगस्सेत्यादि ) अतीता अनन्ता अनादित्वात् अतीतकालस्य जीवस्य चानादित्वात् अपरापरपुद्गलग्रहणस्वरूपत्वाच्चेति । ( पुरक्खडे त्ति ) पुरस्कृता भविष्यन्ति । ( कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि त्ति ) कस्यापि जीवस्य दूरभव्याऽभव्यस्य वा ते सन्ति कस्यापि न सन्ति, उद्धृत्य यो मानुषत्वमासाद्य सिद्धिं यास्यति संख्येयैरसंख्येयैर्वा भवैर्यास्यति य. सिद्धिं तस्यापि परिवृत्तो नास्त्यनन्तकालपूर्यत्वात् ( तस्सेत्ति) (एगत्तिय त्ति) एकत्विका एकनारकाऽऽद्याश्रिताः । (सत्त त्ति) औदारिकाऽऽदिसप्तविधपुद्गलविषयत्वात् सप्तदण्डकाश्चतुर्विंशतिदण्डका भवन्ति । एकत्वपृथक्त्वदण्डकानां चायं विशेष.-एकत्वदण्डकेषु पुरस्कृतपुद्गलपरावर्त्ता. कस्यापि न सन्त्यपि बहुत्वदण्डकेषु तु ते सन्ति जीवसामान्याऽऽश्रयणादिति । (एगमेगस्सेत्यादि नत्थि एक्को वि त्ति ) नारकत्व वर्त्तमानस्यौदारिकपुद्गलग्रहणाभावादिति । ( एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते इत्यादि ) इह च नैरयिकस्य वर्त्तमानकालीनस्य असुरकुमारत्वे चातीतानागतकालवन्धिनि ( एगुत्तरिया० जाव अणंता व त्ति ) अनेनेदं सूचितम्-"कस्सइ अत्थि, कस्सइ नत्थि, जस्सऽत्थि तस्स जहन्नेण एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेण संखेज्जा वा अणंता व त्ति । एव जत्थ वेउव्वियसरीरं तत्थ एगुत्तरिउ त्ति ।" यत्र वायुकाये मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु व्यन्तरादिषु च वैक्रियशरीर तत्रैकी वेत्यादिवाच्यमित्यर्थः । ( जत्थ नत्थीत्यादि ) यत्राऽप्कायाऽऽदौ नास्ति वैक्रियं तत्र यथा पृथिवीकायिकत्वे तथा वाच्यं, न सन्ति वैक्रियपुद्गलपरावर्त्ता इति वाच्यमित्यर्थः । (तेयापोग्गलेत्यादि) तैजसकार्मणपुद्गलपरावर्त्ता भविष्यन्त एकाऽऽद्यः सर्वेषु नारकाऽऽदिजीवपदेषु पूर्ववद्वाच्याः, तैजसकार्मणयोः सर्वेषु भावादिति । ( मणपोग्गलेत्यादि ) मन पुद्गलपरावर्त्ताः पञ्चेन्द्रियेष्वेव सन्ति, भविष्यन्तश्च ते एकोत्तरिकाः पूर्ववद्वाच्याः ।( विगलिन्दिएसु नत्थि त्ति ) विकलेन्द्रियग्रहणेन चैकेन्द्रिया अपि ग्राह्या , तेषामपीन्द्रियाणामसंपूर्णत्वान्मनोवृत्तेश्चाऽभावादतस्तेष्वपि मनःपुद्गलपरावर्त्ता न सन्ति (वइपुग्गलपरियट्टा एवं चेव त्ति) तैजसाऽऽदिपरिवर्त्तवत्सर्वनारकाऽऽदिजीवपदेषु वाच्याः, नवरमेकेन्द्रियेषु वचनाभावान्न सन्तीति वाच्याः । " नेरइयाणं " इत्यादिना पृथक्त्वदण्डकानाह— '० जाव वेमाणियाणं ' इत्यादिना पर्यन्तिमदण्डको दर्शित. ।

अथौदारिकाऽऽदिपुद्गलपरावर्त्तानां स्वरूपमुपदर्शयितुमाह—

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-ओरालियपोग्गलपरियट्टे, ओरालियपोग्गलपरियट्टे ? । गोयमा ! जं णं जीवेणं ओरालियसरीरे वट्टमाणेणं ओरालियसरीरपाउग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गहियाइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिणिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं परियाइयाइं परिणामियाइं णिज्जिण्णाइं णिसिरियाइं निसिट्ठाइं भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-ओरालियपोग्गलपरियट्टे ओरालियपोग्गलपरियट्टे, एवं वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे वि, णवरं वेउव्वियसरीरे वट्टमाणेणं वेउव्वियसरीरपाउग्गाइं, सेसं तं चेव । एवं ०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टे वि, णवरं आणापाणुपाओग्गाइं सव्वदव्वाइं आणापाणुत्ताए सेसं तं चेव ।

( से केणऽट्ठेणमित्यादि ) ( गहियाइं ति ) स्वीकृतानि ( बद्धाइं ति ) जीवप्रदेशैरात्मीकरणात् । कुत इत्याह—( पुट्ठाइं ति ) यतः पूर्वं स्पृष्टानि, तनौ रेणुवत् , अथवा-पुष्टानि—पोषितान्यपरापरग्रहणत. । ( कडाइं ति ) पूर्वपरिणामापेक्षया परिणामान्तरेण कृतानि । ( पट्ठवियाइं ति ) प्रस्थापितानि—स्थिरीकृतानि जीवेन । ( निविट्ठाइं ति ) यत. स्थापितानि ततो निविष्टानि जीवे स्वयम् ( अभिनिविट्ठाइं ति ) अभिविधिना निविष्टानि, सर्वाण्यपि जीवे लग्नानीत्यर्थ. । ( अभिसमन्नागयाइं ति ) अभिविधिना सर्वाणीत्यर्थ. । समन्वागतानि—संप्राप्तानि जीवेन रसानुभूतिं समाश्रित्य ( परियाइयाइं ति ) पर्याप्तानि—जीवेन सर्वावयवैरात्तानि तद्रसाऽऽदानद्वारेण । ( परिणामियाइं ति ) रसानुभूतित एव परिणामान्तरमापादितानि । ( निज्जिण्णाइं

ति )। क्षीणरसीकृतानि । ( निसिरियाइ ) जीवप्रदेशेभ्यो निःसृतानि । कथम् ?-( निसिट्ठाइं ति ) जीवेन निसृष्टानि-स्वप्रदेशांस्त्याजितानि । इहाऽऽद्यानि चत्वारि पदानि औदारिकपुद्गलानां ग्रहणविषयाणि, तदुत्तराणि तु पञ्च स्थितिविषयाणि, तदुत्तराणि तु चत्वारि विगमविषयाणीति ।

अथ पुद्गलपरावर्त्तानां निर्वर्त्तनकालं तदल्पबहुत्वं च दर्शयन्नाह—

ओरालियपोग्गलपरियट्टे णं भंते ! केवइयं कालं णिव्वत्तिज्जइ ? । गोयमा ! अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं एवइयकालस्स णिव्वत्तिज्जइ । एवं वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे वि, एवं०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टे वि । एयस्स णं भंते ! ओरालियपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकालस्स वेउव्वियपोग्गल०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकालस्स कयरे कयरेहिंतो०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे कम्मगपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकाले, तेयापोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, ओरालियपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, आणापाणुपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, मणपोग्गलपरियट्टणिव्वत्त(ट्ट)णाकाले अणंतगुणे, वइपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे, वेउव्वियपोग्गलपरियट्टणिव्वत्तणाकाले अणंतगुणे ।

( ओरालिएत्यादि ) ( केवइयकालस्स त्ति ) कियता कालेन निर्वर्त्यते । ( अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं ति ) एकस्य जीवस्य ग्राहकत्वात् पुद्गलानां चानन्तत्वात् पूर्वगृहीतानां च ग्रहणस्यागण्यमानत्वादनन्ता अवसर्पिण्य इत्यादि सुष्ठूक्तमिति । ( सव्वत्थोवे कम्मगपोग्गलेत्यादि ) सर्वस्तोकः कार्म्मणपुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकालः, ते हि सूक्ष्मा बहुतमपरमाणुनिष्पन्नाश्च भवन्ति, ततस्ते सकृदपि बहवो गृह्यन्ते, सर्वेषु च नारकाऽऽदिपदेषु वर्त्तमानस्य जीवस्य तेऽनुसमयं ग्रहणमायान्तीति स्वल्पकालेनापि तत्सकलपुद्गलग्रहणं भवतीति । ततस्तैजसपुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणो, यतः स्थूलत्वेन तैजसपुद्गलानामल्पानामेकदा ग्रहणम्, एकदाग्रहणे चाल्पप्रदेशनिष्पन्नत्वेन तेषामल्पानामेव तदणूनां ग्रहणं भवत्यतोऽनन्तगुणोऽसाविति । तत औदारिकपुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणो, यत औदारिकपुद्गला अतिस्थूराः, स्थूराणां चाल्पानामेवैकदा ग्रहणं भवति, अल्पतरप्रदेशाश्च ते ततस्तद्ग्रहणेऽप्येकदाऽल्पा एवाणवो गृह्यन्ते, न च कार्म्मणतैजसपुद्गलवत्तेषां सर्वपदेषु ग्रहणमस्त्यौदारिकशरीरिणामेव तद्ग्रहणादतो बृहतैव कालेन तेषां ग्रहणमिति तत आनप्राणपुद्गलपरिवर्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणो, यद्यपि हि औदारिकपुद्गलेभ्य आनप्राणपुद्गलाः सूक्ष्माः बहुप्रदेशिकाश्चेति तेषामल्पकालेन ग्रहणं सम्भवति, तथाऽप्यपर्याप्तकावस्थायां तेषामग्रहणात् पर्याप्तकावस्थायामप्यौदारिकशरीरपुद्गलापेक्षया तेषामल्पीयसामेव ग्रहणात् न शीघ्रं तद्ग्रहणमित्यौदारिकपुद्गलपरिवर्तनिर्वर्त्तनाकालादनन्तगुणः ता न प्राणपुद्गलपरिवर्तनिर्वर्तनाकालस्येति, ततो मनःपुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणः, कथं, यद्यप्यानप्राणपुद्गलेभ्यो मनःपुद्गलाः सूक्ष्मा बहुप्रदेशाश्चेत्यल्पकालेन तेषां ग्रहणं भवति तथाऽप्येकेन्द्रियाऽऽदिकायस्थितिवशान्मनसश्चिरेण लाभात् मानसपुद्गलपरिवर्तो बहुकालमवाप्य इत्यनन्तगुण उक्तः, ततोऽपि वाक्पुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणः, कथं, यद्यपि मनसः सकाशाद्भाषा शीघ्रतरं लभ्यते द्वीन्द्रियाऽऽद्यवस्थायां च भवति तथाऽपि मनोद्रव्येभ्यो भाषाद्रव्याणामतिस्थूलतया स्तोकानामेवैकदा ग्रहणात्ततोऽनन्तगुणो वाक्पुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकाल इति, ततोऽपि वैक्रियपुद्गलपरिवर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणो वैक्रियशरीरस्यातिबहुकाललभ्यत्वादिति ।

पुद्गलपरिवर्त्तानामेवाल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

एएसि णं भंते ! ओरालियपोग्गलपरियट्टाणं ०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टाण य कयरे कयरेहिंतो०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वेउव्वियपोग्गलपरियट्टा वइपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, मणपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा०जाव आणापाणुपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, ओरालियपोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, तेयापोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा, कम्मापोग्गलपरियट्टा अणंतगुणा; सेवं भंते ! त्ति भगवं जाव० विहरइ ।

( एएसि णमित्यादि ) सर्वस्तोका वैक्रियपुद्गलपरिवर्त्ता बहुतमकालनिर्वर्तनीयत्वात्तेषां, ततोऽनन्तगुणा वाग्विषया अल्पतरकालनिर्वर्त्यत्वादेव पूर्वोक्तयुक्त्या बहुबहुतरा. क्रमेणान्येऽपि वाच्या इति । भ० १२ श० ४ उ० । आचा० । महा० । पञ्चा० । कर्म० । यो०बिं० । स्था० ।

**पोग्गलपरिसाड**–पुद्गलपरिशाट–पुं० । पुद्गलानां परिशटनकरणभेदे, ( ६४ गाथा ) क० प्र० २ प्रक० ।

**पोग्गलपेल्लण**–पुद्गलप्रेरण–न० । पुद्गलाः-परमाणवस्तत्संघातसमुद्भवा-बादरपरिणामं प्राप्ता लोष्टाऽऽदयोऽपि तेषां प्रेरणं क्षेपणम् । देशावकाशिकव्रतस्य पञ्चमेऽतिचारे, ध० २ अधि० ।

**पोग्गलविवागिणी**–पुद्गलविपाकिनी–स्त्री० । पुद्गलविषये विपाकः-फलदानाभिमुख्यं पुद्गलविपाकः, स विद्यते यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः । पुद्गलविषयकफलप्रदानाभिमुख्यासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । ( ताश्च षड्विंशतिः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६८ पृष्ठे दर्शिताः )

**पोग्गलायण**–पुद्गलायन–न० । कौत्सगोत्रीयपुद्गलनामर्षेपत्ये, स्था० ७ ठा० ।

**पोग्गलि ( ण् )**–पुद्गलिन्–पुं० । पुद्गलाः-श्रोत्राऽऽदिरूपा विद्यन्ते यस्य स पुद्गली । श्रोत्राऽऽदिरूपपुद्गलशालिनि, "जीवे णं भंते ! पोग्गली पोग्गले ।" भ० ८ श० १० उ० ।

**पोग्गलिय**–पौद्गलिक–त्रि० । पुद्गलाऽऽत्मके पुद्गलस्वरूपग्राहिणि, अष्ट० १६ अष्ट० । शाल्योदने, पिं० ।

**पोच्च**–देशी–सुकुमारे, दे० ना० ६ वर्ग ६० गाथा ।

पोच्चड-पोच्चड-त्रि० । असारे, आ० १ श्रु० ३ अ० । मलिने, नि० चू० ११ उ० । विलीने, आ० १ श्रु० ८ अ० ।

पोट्ट-पोट्ट-न० । देशी-उदरे,आ० क० १ अ० । दे० ना० । आ० म० । आ० चू० । जठरे, उपा० २ अ० ।

पोट्टलिय-पोट्टलिक-पुं० । पोट्टलिकावाहके,नि० चू० १६ उ०।

पोट्टलिया-पोट्टलिका-स्त्री० । पोटली इति ख्याते वस्तुकस्वलाऽऽदिमये वेष्टनके, भ० १ श० ६ उ० ।

पोट्टसालग-पोट्टशालक-पुं० ।लोहपट्टबद्धपोट्टजम्बूवृक्षशालायोगाच्च पोट्टशालकः । जीवाजीवराशिद्वयप्ररूपके नोजीवाख्यतृतीयराशिस्थापकगोष्ठामाहिलेन पराजिते परिव्राजकविशेषे, स्था० ७ ठा० ।

"इहान्तरञ्जिकापुर्यां, बलश्रीरभवन्नृपः ।
तत्र भूतगुहोद्याने, तस्थुः श्रीगुप्तसूरयः ॥ १ ॥
तच्छिष्यो रोहगुप्ताऽऽख्यो, ग्रामेऽन्यत्र स्थितोऽभवत् ।
समागच्छत्युपाचार्यं,स च प्रायेण वन्दितुम् ॥२॥
परिव्राट् वादिराट् कोऽपि, तत्राऽऽयातः कुतोऽपि हि ।
पोट्टे बध्वाऽयसः पट्टं, जम्बूशालां करेऽवहन् ॥ ३ ॥
पृष्टः किमेतदूचेऽथ, पोट्ट स्फुटति विद्यया ।
बद्धस्ततोऽयसः पट्टो, जम्बूशाला च मत्करे ॥ ४ ॥
जम्बूद्वीपसमस्तेऽपि, समानः कोऽपि नास्ति मे ।
पटहं वादयामास, स गर्वाद्वादिनः प्रति ॥ ५ ॥
पोट्टे पट्टः करे शाला, पोट्टशालोऽथ सोऽभवत् ।
वारितो रोहगुप्तेन, पटहस्तस्य वाद्यहम् ॥ ६ ॥
गुरूणां स तदाचख्यौ, गुरवोऽप्यवदँस्ततः ।
न भव्यं विदधे वत्स !, यतोऽसौ विद्यया बली ॥ ७ ॥
वादे पराजितोऽप्येष, विद्यया युध्यतेऽधिकम् ।"
आ० क० १ अ० ।

तस्स इमाओ सत्त विज्जाओ, तं जहा, भाष्यगाथा—

विच्छुय सप्पे मूसग, मिगी वराही य कायपोआई ।
एयाहिं विज्जाहिं, सो उ परिव्वायओ कुसलो ॥१३७॥

तत्र वृश्चिकेति वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते, सर्पेति सर्पप्रधाना, 'मूसग' त्ति मूषकप्रधाना, तथा मृगी नाम विद्या मृगीरूपेणोपघातकारिणी, एवं वाराही च, 'कागपोत्ति त्ति' काकविद्या, पोताकीविद्या च, पोताक्यः शकुनिका भण्यन्ते, एतासु विद्यासु एताभिर्वा विद्याभिः स परिव्राजकः कुशल इति गाथाऽर्थः ॥

सो भणइ—किं सक्का पत्ताहे निलुक्किउं ?, ततो सो आयरिएण भणिओ—पढियसिद्धाउ इमाउ सत्त पडिपक्खविज्जाओ गेण्ह, तं जहा । भाष्यगाथा—

मोरी नउलि बिराली, वग्घी सीही उलूगि ओवाई ।
एयाओ विज्जाओ, गेण्ह परिव्वायमहणीओ ॥ १३८ ॥

मोरी नकुली बिराली व्याघ्री सिंही च उलूकी ('ओवाइ' त्ति ) ओलावयप्रधाना, एता विद्या गृहाण परिव्राजकमथिन्य इति गाथाऽर्थः ॥ "रयहरणं च से अभिमंतेउं दिण्णं, जइ अन्नं पि उट्ठेइ, तो रयहरणं भमाडिज्जासि, तो अजेयो होहिसि, इंदेणाऽवि सक्किहिसि नो जेतुं, ताहे ताओ विज्जाओ गहाय गओ सभं, भणियं चाऽणेण—एस किं जाणति ?, एयस्स चेव पुव्वपक्खो होउ, परिव्वाओ चिंतेइ—एए निउणा तो एयाए चेव सिद्धंतं गेण्हामि, जहा मम दो रासी, तं जहा—जीवा य, अजीवा य । ताहे इयरेण चिंतियं—एतेण अम्ह चेव सिद्धंतो गहिओ , तेण तस्स बुद्धिं परिभूय तिन्नि रासी ठविया—जीवा, अजीवा, नोजीवा । तत्थ जीवा संसारत्था, अजीवा घडाऽऽदी, नोजीवा घिरोलियाछिन्नपुच्छाई , दिट्ठंतो दंडो , जहा दंडस्स आदि मज्झं अग्गं च , एवं सव्वे भावा तिविहा, एवं सो तेण निप्पट्ठपसिणवागरणो कओ , ताहे सो परिव्वायओ रुट्ठो विच्छुए मुयइ, ताहे सो तेसिं पडिवक्खे मोरे मुयइ, ताहे तेहिं हएहिं विच्छिएहिं पच्छा सप्पे मुयइ, इयरो तेसिं पडिघाए नउले मुयइ, ताहे उंदरे तेसिं मज्जारे, मिए तेसिं वग्घे, ताहे सूयरे तेसिं सीहे, काके तेसिं उलूगे, ताहे पोयागी मुयइ, तेसिं ओलाई , एवं जाहे न तरइ ताहे गद्दभी मुक्का । तेण य सा रयहरणेण आहया, सा परिवायगस्स उवरिं छेरित्ता गया , ताहे सो परिवायगो हीलिज्जंतो निच्छूढो , ततो सो परिव्वायगं पराजिणित्ता गओ आयरियसगासं , आलोएइ—जहा जिओ एवं, आयरिया आह—कीस तए उट्ठिएण न भणियं ?—नत्थि त्ति तिन्नि रासी , एयस्स मए बुद्धिं परिभूय पण्णविया, इयाणिं पि गंतुं भणाहि—सो नेच्छइ, मा मे ओहावणा होउ त्ति, पुणो पुणो भणिओ भणइ—को वा एत्थ दोसो ?, जइ तिन्नि रासी भणिया, अत्थि चेव तिन्नि रासी , आयरिया आह—अज्जो ! असब्भावो, तित्थगरस्स आसायणा य , तहा वि न पडिवज्जइ , ततो सो आयरिएण समं वायं लग्गो , ताहे आयरिया राउलं गया भणंति—तेण मम सिस्सेण अवसिद्धंतो भणिओ । अम्हं दुवे चेव रासी , इयाणिं सो विप्पडिवन्नो, तो तुब्भे अम्हं वायं सुणेह । पडिस्सुयं राइणा , ततो तेसिं रायसभाए रायपुरओ आवडियं , जहेगदिवसं उट्ठाय २ छम्मासा गया , ताहे राया भणइ—मम रज्जं अवसीदति, ताहे आयरिएहिं भणियं—इच्छाए मए एच्चिरं कालं धारिओ , एत्ताहे पासह कल्लं दिवसं आगए निगिण्हामि , ताहे पभाए भणइ—कुत्तियावणे परिक्खिज्जउ , तत्थ सव्वदव्वाणि अत्थि, आणेह जीवे अजीवे नोजीवे य , ताहे देवयाए जीवा अजीवा य दिण्णा, नोजीवा नत्थि, एवमादि चोयालसएण पुच्छाणं निग्गहिओ ॥"

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह भाष्यकारः—

सिरिगुत्तेणऽवि छलुगो,छम्मासे कड्डिऊण वाये जिओ ।
आहरणकुत्तियावण, चोयालसएण पुच्छाणं ॥ १३९ ॥

निगदसिद्धा , " नवरं चोयालसयं-तेण रोहेण छम्मूलपयत्था गहिया , तं जहा--दव्वगुणकम्मसामन्नविसेसा छट्ठओ य समवाओ , तत्थ दव्वं नवहा , तं जहा-भूमी उदयं जलणो पवणो आगासं कालो दिसा अप्पओ मणो य त्ति , गुणा सत्तरस, तं जहा-रूयं रसो गंधो फासो संखा परिमाणं पुहुत्तं संजोगो विभागो परापरत्तं बुद्धी सुहं दुक्खं इच्छा दोसो पयत्तो य , कम्मं पंचहा-उक्खे-

वयं अवक्कोवयं आउंचणं पसारणं गमणं च, सामणं तिविहं--महासामण्णं १ सत्तासामण्णं त्रिपदार्थसत्बुद्धिकारि २ सामण्णविसेसो द्रव्यत्वाऽऽदि ३। अन्ये त्वेव व्याख्यानयन्ति--त्रिपदार्थसत्कारी सत्ता, सामण्णं द्रव्यत्वाऽऽदि, सामण्णविसेसो पृथिवीत्वाऽऽदि, विसेसा अंता ( अणंता य ) इह पच्चयहेऊ य समवाओ, एए छत्तीसं भेया। एत्थ एक्केक्के चत्तारि भंगा भवंति, तं जहा--भूमी अभूमी नोभूमी नोअभूमी, एवं सव्वत्थ, तत्थ कुत्तियावणे भूमी मग्गिया लेट्ठुओ लद्धो अभूमीए पाणियं. नोभूमीए जलाऽऽइ तु नो राइयन्तर, नोअभूमीए लेट्ठुए चेव एवं सव्वत्थ ॥"

आह च भाष्यकारः--

जीवमजीवं दाउं, णोजीवं जाइओ पुणोऽजीवं।

देइ चरिमम्मि जीवं, न उ णोजीवं सजीवदलं ॥१४०॥

ततो निग्गहिओ छलुगो, गुरुणा से खेलमल्लो मत्थए भग्गो। ततो निद्धाडिओ, गुरू वि पूतिओ णगरे य घोसणयं कयं--वद्धमाणसामी जयइ त्ति ॥"

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह भाष्यकारः--

वाए पराजिओ सो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेणं।

घोसावियं च णयरे, जयइ जिणो वद्धमाणो त्ति ॥१४१॥

निगदसिद्धा, "तेणाऽवि सरक्खरडियएणं चेव वइसेसियं पणीयं, तं च अण्णमण्णेहिं खाइ णीयं, तं चोलूयपणीयन्ति वुच्चइ, जओ सो गोत्तेणोलूओ आसि॥" आव० १ अ०।

**पोट्टसारणी-पोट्टसारणी**-स्त्री०। अतीसाराऽऽख्ये रोगभेदे, आ० क० ४ अ०। आव०।

**पोट्टसीसवेयणा-पोट्टशीर्षवेदना**-स्त्री०। ६ त०। उदरमस्तकवेदनायाम्, जं० २ वक्ष०।

**पोट्टिल-पोट्टिल**-पुं०। उत्सर्पिण्यां भारते वर्षे भविष्यति चतुर्थे तीर्थंकरे, स०। ती०। प्रव०। ति०। पुट्टिल इति प्रकरणे उक्तवक्तव्यताके आचार्ये, आ०क० १ अ०। आ०चू०। आ० म०। वीरस्य प्रयोक्षिबद्धवानां प्रथमभवजीवे, स०।

समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामण्णपरियागं पाउणित्ता सहस्सारे कप्पे सव्वट्ठविमाणे देवत्ताए उववन्ने ॥

(समणेत्यादि) किल भगवान् पोट्टिलाऽभिधानो राजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटीं प्रवर्ज्यां पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः, ततो नन्दनाऽभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति तृतीयः। तत्र वर्षलक्षं सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थः। ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाऽभिधानायाः कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमः। ततस्त्र्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्यायाः कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थकरतया च जात इति षष्ठः। उक्तभवग्रहणं हि विना नान्यद्भवग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भवग्रहणादिदं षष्ठं, तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते, तीर्थकरभवग्रहणात्षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति। स० १०००००० सम०। हस्तिनापुरे भद्रायां जाते तत्पुत्रे, स च धीरान्तिके प्रव्रज्य मासिकया संलेखनया मृत्वा सर्वार्थसिद्धे उपपद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशानां तृतीयवर्गस्य नवमेऽध्ययने सूचितम्। अनु० १ श्रु० ३ वर्ग० १ अ०।

**पोट्टिला-पोट्टिला**-स्त्री०। तेतलिपुरनगरे कनकरथस्य राज्ञोऽमात्यस्य तेतलिपुत्रस्य सभये कलादस्य मूषिकारदारकस्य दुहितरि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। आ०चू०। आ०म०। ('तेतलिसुय' शब्दे चतुर्थभागे २३५२ पृष्ठे कथोक्ता)

**पोट्टिलायरिय-पोट्टिलाचार्य**-पुं०। पुट्टलशब्दे उक्ते वीरप्रयोविंशभवजीवप्रियामित्रदीक्षाग्राहकमुनौ, कल्प० १ अधि० २ क्षण।

**पोट्ठवती-प्रोष्ठपदी**-स्त्री०। प्रोष्ठपदा उत्तरभाद्रपदा तस्यां भवा प्रोष्ठपदी। भाद्रपदमासभाविन्याम्, चं० प्र० १० पाहु० ५ पाहु० पाहु०। सू० प्र०। जं०।

**पोडइल-पोठइल**-न०। तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

**पोडिअ-देशी**-पूर्णतायाम्, दे० ना० ६ वर्ग २८ गाथा।

**पोढ-पौढ**-त्रि०। समर्थे, व्य० ५ उ०। विशे०। "पक्का सहा समत्था य, पकला पच्चला पोढा।" पाइ० ना० ३६ गाथा।

**पोणय-देशी**-त्रि०। असत्याऽऽवदेहनिष्पन्ने पूयमाने, नि० चू० १ उ०।

**पोणिआ-देशी**-सूतभृतकौ, दे० ना० वर्ग ६१ गाथा।

**पोत-पोत**-पुं०। प्रवहणे, बृ० ४ उ०। 'पोतं वहावेति।' नि० चू० १ उ०। व्य०। प्रश्न०। निवसने, अनु०। वस्त्रे चिलिमिलिकायाम्, बृ० २ उ०। वस्त्रचिलिमिलिकायाम्, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

**पोतकम्म-पोतकर्मन्**-न०। पोतं वस्त्रमित्यर्थ, तत्र कर्म पोतकर्म। वस्त्रे, पल्लवनिष्पन्नाडिउल्लियारूपे कर्मणि ग० २ अधि०।

**पोतग-पोतक**-न०। ताड्याऽऽदिपत्रसंघातनिष्पन्ने, आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

**पोतघाय-पोतघात**-पुं०। यानपात्रभङ्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

**पोतणपुर-पोतनपुर**-न०। स्वनामख्याते नगरे, यत्र पोतनपुरे परतीर्थिभिः सह वाद उपस्थितः, ततस्तैः सह सद्वादं दत्त्वा महतीं जिनशासनप्रभावनां कृत्वा भगवान् निर्वृत्त। बृ० ६ उ०। "इहास्ति पोतनपुरं, नगरं जितसागरम्। भूरिश्रीजिनसद्मोभिः, नाथूताखिलजन्तुकम् ॥ १ ॥" आ० क० १ अ०। ('तिविट्ठु' शब्दे चतुर्थभागे २३२४ पृष्ठे विस्तरः) "पोतणपुरे णगरे सोमचंदो राया, तस्स धारिणी देवी, पोतण नाम आसमपदं।" आ० चू० १ अ०।

**पोतणा-पोतना**-स्त्री०। महाविदेहीय नगरीभेदे, आ०चू० ४ अ०।

**पोतपूसमित्त-पोतपुष्पमित्र**-पुं०। दुर्बलिकापुष्यमित्रगच्छीये स्वनामख्याते साधौ, आ० चू० १ अ०।

**पोतय-पोतक**-न०। कार्पासिके, बृ०२ उ०। शणाऽऽदिवल्को पात्रे, नि० चू० १ उ०। आ० चू०।

पोता-पोता-स्त्री० । शाटिकायाम् , विशे० ।

पोतिय-पौतिक-न० । पोतमेव पौतिकम् । कार्पासिके, स्था० ५ ठा० ३ उ० । ब्रा० ।

पोतिय-पुं० । वस्त्रधारिणि वानप्रस्थे, औ० । भ० । नि० ।

पोत्त-पौत्र-पुं० । पुत्रस्यापत्ये, भ० १२ श० २ उ० । वस्त्रे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

पोत्तअ-देशी-वृषे, दे० ना० ६ वर्ग ६२ गाथा ।

पोत्तखेल-पोतखेल-पुं० । गोरसभावितायां तुवरवृत्तगुटिकायाम्, 'गुलति तुवरुक्खबुत्तगुलियाओ कज्जंति गोरसभावितो पोत्तखेलो भरणति ।" नि० चू० १२ उ० ।

पोत्ती-देशी-काचे, दे० ना० वर्ग ६० गाथा ।

पोत्तुल्लया-पोतपुत्तलिका-स्त्री० । वस्त्रमयपुत्रिकायाम् , परिधानवस्त्रे. ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

पोत्थ-पुस्त-न० । "ओत्संयोगे" ॥ ८ । १ । ११६ ॥ इत्युत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । लेप्ये, विशे० । पुस्तके, ग० २ अधि० ।

पोत्थकम्म-पुस्तकर्मन्-न० । पुस्तं ताडपत्राऽऽदि, तत्र कर्म । पुस्तच्छेदनिष्पन्ने रूपके, अथवा—पुस्तमिह संपुटकरूपं गृह्यते,तत्र कर्म्म । पुस्तकमध्ये वर्त्तिकालिखिते रूपके,अनु० । आचा० ।

पोत्थकार-पुस्तकार-पुं० । पुस्तकशिल्पोपजीविनि, अनु० ।

पोत्थग-पुस्तक-न० । लेप्ये, स्था० । ध० ।दश० नि०चू० । प० व० । जीत० ।

तच्च पञ्चविधम्—

गंडी कच्छवि मुट्ठी, संपुडक फलए तहा छिवाडी य ।
एयं पोत्थयपणय,पण्णत्तं वीयरागेहिं ॥१॥ स्था०४ ठा०२ उ०।

( एषां स्वरूपं , स्वस्वशब्दे द्रष्टव्यम् । )

अथ पुस्तकपञ्चके तावद्दोषानुपदर्शयति —

संघंस अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिन्नं ।
संकामणपलिमंथो, पमाएँ परिकम्मणा लिहणा ॥१४७॥

पुस्तकाऽऽदिकं ग्रामान्तरं नयत स्कन्धे संघर्षः स्यात् , ततश्च व्रणोत्पत्त्यादयो दोषा , शुषिरत्वाच्च तत्र प्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति , भारो मार्गे गच्छतो भवेत् । अधिकरणं च कुन्थुपनकाऽऽदिसंसक्तिलक्षणं भवति । यद्वा-तत्पुस्तकं स्तेनैरपह्रियेत, ततोऽधिकरण, तीर्थकरैरदत्तश्चायमुपधि , स्थानान्तरं च पुस्तकं संक्रामयतः परिमन्थ', प्रमादो —नाम पुस्तके लिखितमस्तीति कृत्वा न गुणयति, अगुणनाच्च सूत्रनाशाऽऽदयो दोषाः । परिकर्म्मणायां च सूत्रार्थ परिमन्थो भवति । अक्षरलेखनं च कुर्वतः कुन्थुप्रभृतित्रसप्राणिव्यपरोपणेन कृकाटिकाऽऽदिबाधया च संयमात्मविराधना ।

किं च—

पोत्थग जिणदिट्ठंतो, वागुर लेवे य जाल चक्के य ।
लोहिय लहुगा आणा- दि मुयणे संघट्टणा बाधे ।४१८।

पुस्तके शुषिरतया यो जन्तूनामुपघातस्तत्र जिनैः -तीर्थकृद्भिर्वागुरया लेपेन जालेन चक्रेण च दृष्टान्त' कृतः (लोहिय त्ति) यदि तेषां पुस्तकान्तर्गतानां जन्तूनां लोहितं-रुधिरं भवेत् ततः पुस्तकबन्धनकाले अक्षराणि परिस्पर्शात् तत् रुधिरं परिगलेत् । ( लहुग त्ति ) यावतो वारांस्तत्पुस्तकं बध्नाति मुञ्चति वा अक्षराणि वा लिखति तावन्ति चतुर्लघूनि,आज्ञाऽऽदयश्च दोषा. । पुस्तकस्य मोचने बन्धे च संघट्टनम् उपलक्षणत्वात् परितापनमपद्रावणं वा यदापद्यते, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति-

चउरंगवग्गुरापरि-वुडो वि फिट्टेज्ज अवि मिगोऽरण्णे ।
छीरखउरलेवे वा, पडिओ सउणो पलाएज्जा ॥ १४६ ॥

चतुरङ्गसेनारूपा वागुरा, तया परिवृतोऽपि—समन्ताद्वेष्टितोऽपि मृगोऽपीति सभावनाया, संभाव्यतेऽयमर्थो—यत्तथाविधवलताऽऽदिगुणोपेतो मृगोऽऽरण्ये तादृशादपायात्स्फिटेत् , न पुन पुस्तकपत्रान्तरप्रविष्टा जीवाः स्फिटेयु. । तथा शकुन्त पक्षी, स चेह मक्षिकाऽऽदिः क्षीरे वा-दुग्धे, खपुरे वा-चिक्कणद्रव्ये, लेपे वा अवश्रावणाऽऽदौ पतितोऽपि पलायेत् , न पुनः पुस्तकजीवास्ततः पलायितुं शक्नुयु. ।

सिद्धत्थगजालेणं, गहितो मच्छो वि णिप्फडेज्जाहि ।
तिलकीडगा व चक्के, बला पलाए न ते जीवा ॥१५०॥

सिद्धार्था सर्षपा तेऽपि येन जालेन गृह्यन्ते तत् सिद्धार्थकजाल,तेनाऽपि गृहीतो मत्स्य कदाचिन्निस्फिटत् । तथा चक्रे-तिलपीडनयन्त्रे प्रविष्टास्तिलकीटका वा निर्गच्छेयुः , न च ते जीवास्ततः पुस्तकान्निर्गन्तु शक्नुयु ।

जइ तेसिं जीवाणं,तत्थ गयाणं तु लोहियं होज्जा ।
पीलिज्जंते धणियं, गलेज्ज त अक्खरे फुसितं ॥१५१॥

यदि तेषा तत्र गताना पुस्तकपत्रान्तरे वा स्थितानां जीवानां कुन्थुप्रभृतीनां लोहितं भवेत्. ततः पुस्तकबन्धनकाले तेषां 'धणियं ' गाढतर पीड्यमानाना तदनन्तरोक्तं रुधिरमक्षराणि स्पृष्ट्वा बहि· परिगलेत् ।

अत एव—

जत्तियमित्ता वारा-उ मुचइ बधई व जति वारा ।
जति अक्खराणि लिहती,तति लहुगा ज च आवज्जे।१५२।

यावन्मात्रान् वारान् पुस्तक मुञ्चति छोटयति, यावतो वाराश्च बध्नाति । 'यति वा ' यावन्ति अक्षराणि लिखति ' तति त्ति' तावन्ति चतुर्लघूनि, यच्च कुन्थुपनकादीनां संघट्टनं परितापनमपद्रवणं वा आपद्यते , तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् । बृ० ३ उ० ।

इमं पोत्थगपणगं । गाहा—

गंडी कच्छवि मुट्ठी, सपुड पिहुलो तहा छिवाडी य ।
साली वीही कोदव, रालओ रण्णतणाई पणगं त्र ॥१५४॥

दीहो बाहल्लपुहत्तेण तुल्लो चउरसो गंडी पोत्थगो, अन्ने

तणुओ मज्झे पिहुलो अप्पबाहल्लो कच्छवी, चउरंगुलो दीहो वा वृत्ताकृती मुट्ठीपोत्थगो, अहवा-चउरंगुलदीहो चउरंसे मुट्ठीपोत्थगो। दुगाइफलगा संपुडं। दीहो हस्सो वा पिहुलो अप्पबाहल्लो छिवाडी, अहवा-तणुपत्तेहिं उस्सीओ छिवाडी। 'रालउ त्ति' कंगुपललसमगाइ आरन्नतणा।

गाहा—

अप्पाडिलेहियदूसे, तूली उवहाणगं च नायव्वं।
गंडुवहाणाऽऽलिंगिणि, मसूरए चेव पोत्तमए ॥ २६ ॥

एगमहुकलेरगा तूली अक्कडोडुगाइतूलभरिया वा तूली, रूयादिपुन्नसिरोवहाणमुवहाणग, तस्सोवरि गंडपदेसे जा दिज्जति सा गंडुवधाणिगा, जाणुकोप्परादिसु जा दिज्जति सा आलिंगिणी, चम्मवत्थकत वा वट्टरूयादिपुन्नं विवसणं मसूरगो। इमं दुप्पडिलेहियपणगं। नि० चू० १२ उ०।

पुस्तकलेखने फलम्—

जिनवचनं दुःषमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाऽऽचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तं, ततो जिनवचनबहुमानिना तल्लेखनीयं, वस्त्राऽऽदिभिरभ्यर्चनीयं च। यदाह—"न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति, न मूकता नैव जडस्वभावम्। न चान्धता बुद्धिविहीनता च, ये लेखयन्तीह जिनस्य वाक्यम्॥ १॥" जिनाऽऽगमपाठकाना भक्तितः सन्मानं च। यदाह-" पठति पाठयते पठतामसौ, वसनभोजनपुस्तकवस्तुभिः। प्रतिदिन कुरुते य उपग्रहं, स इह सर्वविदेव भवेन्नरः॥१॥" लिखिताना च पुस्तकाना संविग्नगीतार्थेभ्यो बहुमानपूर्वकं व्याख्यार्पणं, व्याख्यापनार्थं दानं, व्याख्यायमानानां च प्रतिदिनं पूजापूर्वकं श्रवणं चेति। ध०२अधि०। पुस्तकानां श्रीकल्पाऽऽद्यागमजिनचरित्राऽऽदिसत्कानां न्यायार्जितवित्तेन विशिष्टपत्रविशुद्धाक्षराऽऽदियुक्त्या लेखनम्। तथा वाचनं संविग्नगीतार्थेभ्यः प्रौढाऽऽडम्बरैः प्रत्यह पूजाऽऽदिबहुमानपूर्वकं व्याख्यापनम्, उपलक्षणत्वात्तद्वाचनश्रवणाऽऽदिकृता वस्त्राऽऽदिभिरुपष्टम्भदानम्। यत-"ये लेखयन्ति जिनशासनपुस्तकानि, व्याख्यानयन्ति च पठन्ति च पाठयन्ति। शृण्वन्ति रक्षणविधौ च समाद्रियन्ते, ते मर्त्यदेवशिवशर्म नरा लभन्ते ॥ १॥ " इत्यादि पूर्वं जिनाऽऽगमे धनवपनाधिकारे प्रदर्शितमेवेति। ( ७० श्लोक ) ध० २ अधि०।

कदा पुस्तकाऽऽरूढः सिद्धान्तो जात —

समणस्स भगवओ महावीरस्स ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइ विइक्कताइ, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ। वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसइ॥ १४८॥

तत्र भगवतो निर्वृतस्य नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि, दशमस्य च वर्षशतस्यायमशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति, यद्यपि एतस्य सूत्रस्य व्यक्त्या भावार्थो न ज्ञायते, तथापि यथा पूर्वटीकाकारैर्व्याख्यात तथा व्याख्यायते। तथाहि-अत्र केचिद्वदन्ति-यत्कल्पसूत्रस्य पुस्तकलिखनकाल ज्ञानाय इदं सूत्रं श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः लिखित, तथा चायमर्थो यथा—श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनवमवर्षशतातिक्रमे पुस्तकाऽऽरूढः सिद्धान्तो जातः तदा कल्पोऽपि पुस्तकाऽऽरूढो जात इति। तथोक्तम्—

" वलहीपुरम्मि नयरे, देवड्डिप्पमुहसयलसंघेहिं।
पुत्थे आगमलिहिओ, नवसयअसीइ वीराओ ॥ १ ॥"

अन्ये वदन्ति—

"नवशत्यशीतिवर्षे, वीरसेनाङ्गजार्थमानन्दे।
सङ्घसमक्षं समहं, प्रारब्ध वाचितुं विज्ञैः ॥ १ ॥ "

इत्याद्यन्तर्वाच्यवचनात् श्रीवीरनिर्वाणात् अशीत्यधिकनवशतवर्षातिक्रमे कल्पस्य सभासमक्षं वाचना जाता, ता ज्ञापयितुमिदं सूत्रं न्यस्तमिति। तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति। ( वायणंतरे त्ति ) वाचनान्तरे पुनरयं त्रिनवतितमः संवत्सरः कालो गच्छतीति दृश्यते। अत्र केचिद्वदन्ति-वाचनान्तरे कोऽर्थः?, प्रत्यन्तरे " तेणउए "इति दृश्यते, यत्कल्पस्य पुस्तके लिखनं, पर्षदि वाचनं वा अशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे इति क्वचित्पुस्तके लिखितं तत्पुस्तकान्तरे त्रिनवत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे इति दृश्यते इति भावः। अन्ये पुनर्वदन्ति "अशीत्ययम्"-अशीतितमे संवत्सरे इति कोऽर्थः ? पुस्तके कल्पलिखनस्य हेतुभूतः। अयं श्रीवीरात् दशमस्य शतस्य अशीतितमसंवत्सरलक्षणः कालो गच्छति " वायणंतरे " इति कोऽर्थः ? एकस्याः पुस्तकलिखनरूपाया वाचनाया अन्यत् पर्षदि वाचनरूपं यद्वाचनान्तरं तस्य पुनर्हेतुभूतो दशमस्य शतस्यायं त्रिनवतितमः संवत्सरः। तथा चायमर्थः-नवशताशीतितमवर्षे कल्पसूत्रस्य पुस्तके लिखनं नवशतत्रिनवतितमवर्षे च कल्पस्य पर्षद्वाचनेति। तथोक्तं श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे-"वीरात्त्रिनन्दाङ्क ९९३ शरद्यचीकरत्, त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः। यस्मिन्महं संसदि कल्पवाचना-माद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते?॥ १॥ " पुस्तकलिखनकालस्तु यथोक्त प्रतीत एव-" वलहीपुरम्मि नयरे।" इत्यादि वचनात्। तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति। कल्प० १ अधि० ६ क्षण। ( शाश्वतप्रतिमावर्णकम् ' विजयदेव ' वक्तव्यतायां वक्ष्यामि )

पोत्थार–पुस्तककार–पु०। पुस्तककरणशिल्पोपजीविनि,जी० ३ प्रति ४ अधि०।

पोत्थी–पुस्ती–स्त्री०। पोतकन्यकायां ब्रह्मदत्तचक्रिभार्यायाम्, उत्त० १३ अ०।

पोद्दाम–प्रोद्दाम–त्रि०। प्रबलतरे, प्रति०।

पोप्फल–पूगफल–न०। " ओत्पूतर-बदर नवमल्लिका नवफालिका-पूगफले "॥८।१।१७०॥ इति सस्वरव्यञ्जनेन सहोत। "सोपारी" इति प्रसिद्धे फलभेदे, स्त्रीत्वमप्यत्र-' पोप्फली।' प्रा० १ पाद।

पोम–पद्म–न०। " ओत्पद्मे " ॥ ८।१। ६१ ॥ इति आदेरत ओत्वम्। प्रा० १ पाद। कुसुम्भके, नि० चू० १ उ०।

पोमर–देशी–कौसुम्भरक्ते वस्त्रे, दे० ना० ६ वर्ग ६३ गाथा।

पोमिल–पोमिल–पु०। स्थविरस्याऽऽर्यवज्रसेनस्य स्वनामख्याते स्थविरे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

पोय–पोत–पु०। न०। लघुबालकयोग्ये वस्त्रखण्डे, पिं०। आचा०। वस्त्रे, स्था० ३ ठा० १ उ०। ( अत्र विशेषः लक्षण च 'वायण' शब्दे चतुर्थभागे २७५० पृष्ठे गतम् ) सागरप्रवहणे, आ० म० १ अ०। विपा०। बोहित्थे, आव० ४ अ०। शिशौ, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

पोयण-पोतन-न० । आत्मनि प्रवेशने,आ०म० १ अ० । सूत्र० । आश्रमविशेषे, आ० म० १ अ० ।

पोयणपुर-पोतनपुर-न० । प्रसन्नचन्द्रराजपालिते नगरभेदे, आ० म० १ अ० । आव० । तत्रैव वज्रसिंहो नाम राजाऽभवत् । दर्श० १ तत्त्व । उत्त० । "आसी य पोयणपुरे,अज्जा नामेण पुप्फचूल त्ति । तीसे धम्मायरिओ, बहुस्सुओ अणियापुत्तो ॥ १ ॥" संथा० । व्य० ।

पोयय-पोतज-पुं० । पोतवद् वस्त्रवज्जरायुवर्जिततया शुद्धदेहाद् योनिविशेषाज्जाताः पोताऽऽदिवद्बोहित्थाज्जाता· पोता इव वा वस्त्रसंमार्जिना इव जाता· पोतजाः । भ०७ श०५ उ० । "अन्येष्वपि दृश्यते" ॥ ३।२।१०१ ॥ इति डप्रत्यय.। जनेरिति वचनात् । हस्तिवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतिषु, दश० ४ अ० । जी० । सूत्र० । प्रतिबन्धभेदे,तत्राय हस्त्यादिरयमिति वा प्रतिबन्धः स्यात् । स्था० ६ ठा० ।

पोतक-पुं० । बालके, वस्त्रे च । अथवा-पोतको बालक इति वा । अथवा-पोतक वस्त्रमिति वा प्रतिबन्धः स्यात् । स्था० ६ठा० । सूत्र० ।

पोयाई-पोताकी-स्त्री० । शकुनिकायाम्, सहस्रशः शकुनिविकुर्वाणारूपे परिव्राजकविद्याभेदे, आ० म० १ अ० । विशे० ।

पोर-पौर-त्रि० । पुरजाते, प्रा० १ पाद ।

पूतर-पुं० । "ओत्पूतर बदर-नवमालिका नवफलिका-पूगफले" ॥ ८ । १ । १७० ॥ इति पूतरशब्दे आदेः स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन सहोत् । क्षुद्रप्राणिभेदे, प्रा० १ पाद ।

पोरकच्च-पौरकृत्य-न० । द्वासप्ततिकलानामन्यतमे पौराणां परिपालनाऽऽत्मके कलाभेदे, स० ।

पोरकव्व-पुरःकाव्य-न० । पुरतः पुरतः काव्ये । शीघ्रकवित्वे, ज० २ वक्ष० । ज्ञा० ।

पोरग-पर्वक-न० । हरितवनस्पतिभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

पोरच्छ-पुं० । दुर्जने , " पोरच्छो पिसुणो म-च्छरी खलो मुहुमुहो य उप्फालो ।" पाइ० ना० ७२ गाथा । दे० ना० ।

पोरजाय-पर्वजात-न० पर्वसमुत्पन्ने , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

पोरवाल-पौरपाट-पुं० । वैश्यजातिविशेषे , ती० ४ कल्प ।

पोरबीय-पर्वबीज-न० । पर्वमात्रबीजजन्ये वनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । सूत्र० । इक्ष्वादौ , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

पोरय-देशी-क्षेत्रे , दे० ना० ६ वर्ग २६ गाथा ।

पोरयाम-पर्वाऽऽयाम-न०। अङ्गुष्ठपर्वणि प्रतिष्ठितायाः प्रदेशिन्यास्तदपान्तराले तावत्प्रमाणाऽऽयामे, बृ० ३ उ० ।

पोराण-पुराण-त्रि० । पुरातने , औ० । पूर्वमुत्पन्ने , नि० चू० ४ उ० । प्राग्भावे, पूर्वं जाते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । दशा० । अतीतकालभाविनि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । जरठे, विपा० १ श्रु० १ अ० । दशा० । ग्रन्थविशेष, " तित्थयरभासितो जस्सत्थो गथ। गणधरनिबद्धो तं पोराणं । अहवा-पापबद्धं पोराणं।" नि० चू० ११ उ० । पुराणो वृद्धः पुराणं वा शास्त्रविशेषस्तज्ज्ञो निपुणप्रायो भवतीति । नैपुणकभेदे, स्था० ६ ठा० । पुराणेषु भवं पौराणम् । रा० । पुराणजाते, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पुराणायामवस्थाया जाते, व्य० १ उ० ।

पोराणदुद्धर-पौराणदुर्द्धर-पुं० । पौराणमिव पौराणं यादृशमतीतद्वयोर्मासात् तादृशमिदानीमप्यतिबहुत्वेनेति भावः । दुर्द्धरतया भङ्गाऽऽकुलतया प्राकृतजनैर्द्धारयितुमशक्यं धरतेऽर्थात् प्रवचनमिति पौराणदुर्द्धरः । तथाविधे विशिष्टप्रावचनिके, व्य० ३ उ० ।

पोराणिय-पौराणिक-पुं० । पुराणवेत्तरि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । पुराणैस्तीर्थंकरगणधरलक्षणैः पूर्वपुरुषैः प्रणीते, सू० ४ उ० ।

पोरिसग्घी-पौरुषघ्नी-स्त्री० । "प्रवज्यां प्रतिपन्नो य-स्तद्विरोधेन वर्त्तते। असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नीति कीर्त्तिता ॥१॥" ('गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे १००७ पृष्ठे वर्णिता।) भिक्षाभेदे, ध० ३ अधि० । हा० ।

पोरिसी-पौरुषी-स्त्री० । पुरुषः प्रमाणमस्या· सा पौरुषी । ध० २ अधि० । पुरुषप्रमाणायां छायायाम् , आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । तत्प्रमित· कालोऽपि पौरुषी । प्रहरे, प्रव० ४ द्वार ।

कतिकाष्ठा किंप्रमाणा पौरुषीच्छाया—

ता कतिकट्ठं ते सूरिए पोरिसीच्छायं णिव्वत्तेति आहितेति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ तिण्णि पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु ।

'ता कइकट्ठं ते' इत्यादि पूर्ववत् । कति—किंप्रमाणा काष्ठा—प्रकर्षो यस्याः सा कतिकाष्ठा, तां कतिकाष्ठां—किंप्रमाणां ? । ते—तव मते सूर्यं पौरुषीं पुरुषे भवा पौरुषी तां पौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति-निर्वर्त्तयन्नाख्यात इति वदेत् ? । किंप्रमाणां पौरुषीच्छायामुत्पादयन् सूर्यो भगवान् त्वया आख्यात इति वदेदिति सङ्क्षेपार्थः । एवं प्रश्ने कृते भगवानेतद्विषये यावन्त्य प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति—'तत्थ' इत्यादि, तत्र-तस्या पौरुष्याः छायाया· प्रमाणचिन्तायां प्रथमतस्तावदिमास्तापक्षेत्रस्वरूपविषया· खलु तिस्रः प्रतिपत्तय· प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—तत्र—तेषां त्रयाणां परतीर्थिकाना मध्ये एके प्रथमा एवमाहुः । सू० प्र० ६ पाहु० । (पुद्गलाः संतप्यन्ते सूर्यलेश्यातो, न वेति 'पोग्गल शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११०५ पृष्ठे गतम् ।)

सम्प्रति किंप्रमाणा पौरुषीच्छायां निर्वर्त—
यतीत्येतत् बोद्धुकामः पृच्छन्नाह—

ता कतिकट्टं ते सूरिए पोरिसीच्छायं णिव्वत्तेति आहितेति वदेज्जा ? । तत्थ खलु इमाओ पणवीसं पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु-ता अणुसमयमेव सूरिए पोरिसिच्छायं णिव्वत्तेइ आहितेति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु १ । एगे पुण एवमाहंसु-ता अणुमुहुत्तमेव सूरिए पोरिसिच्छायं णिव्वत्तेति आहितेति वदेज्जा, एतेणं अ-

भिलावेणं णेतव्व, ता जाओ चेव ओयसंठितीए पणुवीसं पडिवत्तीओ ताओ चेव णेतव्वाओ, ०जाव अणुउस्सप्पिणीमेव सूरिए पोरिसीच्छायं णिव्वत्तेति आहितात्ति वदेज्जा, एगे एवमाहंसु । वयं पुण एवं वदामो-ता सूरियस्स णं उच्चत्तं च लेसं च पडुच्च छाउद्देसे उच्चत्तं च छायं च पडुच्च लेसुद्देसे लेसं च छायं च पडुच्च उच्चत्तोद्देसे, तत्थ खलु इमाओ दुवे पडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु ता अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिविसंसि सूरिए चउपोरिसीच्छाय णिव्वत्तेइ, अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिवसंसि सूरिए दुपोरिसीच्छायं णिव्वत्तेति, एगे एवमाहंसु ?, एगे पुण एवमाहंसु ता अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिवसंसि सूरिए दुपोरिसीच्छायं णिव्वत्तेति अत्थि णं से दिवसे जंसि दिवसंमि सूरिए नो किंचि पोरिसिच्छायं णिव्वत्तेति २, तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिवसंसि सूरिए चउपोरिसियं छायं णिव्वत्तेति, अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिवसंसि सूरिए दोपोरिसियं छायं निव्वत्तेइ, ते एवमाहंसु-ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसिए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति, जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, तेसिं च णं दिवसंसि सूरिए चउपोरिसियं छाय निव्वत्तेति, ता उग्गमणमुहुत्तंसि य अत्थमणमुहुत्तंसि य लेसं अभिवड्ढेमाणे नो चेव णं णिव्वुड्ढेमाणे, ता जता णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति, तंसि च णं दिवसंसि सूरिए दुपोरिसियं छायं निव्वत्तेइ, तं जहा-उग्गमणमुहुत्तंसि य अत्थमणमुहुत्तंसि य, लेसं अभिवड्ढेमाणे नो चेव णं निव्वुड्ढेमाणे १, तत्थ णं जे ते एवमाहंसु ता अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिवसंसि सूरिए दुपोरिसियं छायं णिव्वत्तेइ, अत्थि णं से दिवसे जंसि णं दिवसंसि सूरिए णो किंचि पोरिसियं छायं णिव्वत्तेति ते एवमाहंसु, ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसिए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति, तंसि च णं दिवसंसि सूरिए दुपोरिसियं छायं णिव्वत्तेति, तं जहा-उग्गमणमुहुत्तंसि अत्थमणमुहुत्तंसि य लेसं अभिवड्ढेमाणे णो चेव णं णिव्वुड्ढेमाणे, ता जया णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवति, जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तंसि च णं दिवसंसि सूरिए णो किंचि पोरिसीए छायं णिव्वत्तेति, तं जहा-उग्गमणमुहुत्तंसि य अत्थमणमुहुत्तंसि य, नो चेव णं लेसं अभिवुड्ढेमाणे वा निव्वुड्ढेमाणे वा । ता कइ कट्ठ ते सूरिए पोरिसीच्छायं निव्वत्तेइ आहिय त्ति वइज्जा ? । तत्थ इमाओ छण्णउइपडिवत्तीओ पण्णत्ताओ, तत्थेगे एवमाहंसु-अत्थि णं ते से देसे जंसि णं देसंसि सूरिए एगपोरिसियं छायं निव्वत्तेइ, एगे एवमाहंसु, एगे पुण एवमाहंसु-ता अत्थि णं से देसे जंसि देसंसि सूरिए दुपोरिसियं छायं णिव्वत्तेति, एवं एवं एतेणं अभिलावेणं णेतव्वं, ०जाव छण्णउतिं पोरिसियं छायं णिव्वत्तेति, तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता अत्थि णं देसे जंसि णं देसंसि सूरिए एगपोरिसिय छायं णिव्वत्तेति, ते एवमाहंसु-ता सूरियस्स णं सव्वहेट्ठिमातो सूरप्पडिहितो वहित्ता अभिणिसट्ठाहिं लेसाहिं ताडिज्जमाणाहिं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ जावतियं सूरिए उड्ढं उच्चत्तेणं एवतियाए एगाए अद्धाए एगेणं छायाणुमाणप्पमाणेणं उमाए तत्थ से सूरिए एगपोरिसियं छायं णिव्वत्तेति, तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता अत्थि णं से देसे जंसि णं देसंसि सूरिए दुपोरिसिं छायं णिव्वत्तेति ते एवमाहंसु-ता सूरियस्स णं सव्वहेट्ठिमातो सूरियपडिधीतो वहित्ता अभिणिसट्ठिताहिं लेसाहिं ताडिज्जमाणीहिं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो जावतिय सूरिए उड्ढं उच्चत्तेणं एवतियाहिं दोहिं अद्धाहिं दोहिं छायाणुमाणप्पमाणेहिं उमाए एत्थ णं से सूरिए दुपोरिसियं छायं णिव्वत्तेति, एवं णेयव्व०जाव तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता अत्थि णं से देसे जंसि णं देसंसि सूरिए छण्णउतिं पोरिसियं छाय णिव्वत्तेति ते एवमाहंसु-ता सूरियस्स णं सव्वहिट्ठिमातो सूरप्पडिधीओ वहित्ता अभिणिसट्ठाहिं लेसाहिं ताडिज्जमाणीहिं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो जावतियं सूरिए उड्ढं उच्चत्तेणं एवतियाहिं छण्णवतीए छायाणुमाणप्पमाणेहिं उमाए एत्थ णं से सूरिए छण्णउतिं पोरिसियं छायं णिव्वत्तेति एगे एवमाहंसु, वय पुण एवं वदामो-सातिरेगअउणट्ठिपोरिसीणं सूरिए पोरिसीछायं णिव्वत्तेति, अवड्ढपोरिसी णं छाया दिवसस्स किं गते वा, सेसे वा ?। ता तिभागे गते वा सेसे वा, ता पोरिसी णं छाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा ? । ता चउब्भागे गते वा सेसे वा । ता दिवड्ढपोरिसी णं छाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा ?। ता पंच-

मभागे गते वा सेसे वा, एवं अद्धपोरिसिं छोढुं पुच्छा दिवसस्स भागं छोढुं वा करणं०जाव ता अद्धअउणासट्ठिपोरिसीछाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा ? । ता एगूणवीससतभागे गते वा सेसे वा, ता अउणसट्ठिपोरिसी णं छाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा वावीससहस्सभागे गते वा सेसे वा, ता सातिरेगअउणसट्ठिपोरिसी ण छाया दिवसस्स किं गते वा सेसे वा ? । ता णत्थि किंचि गते वा सेसे वा, तत्थ खलु इमा पणवीसनिविट्ठा छाया पण्णत्ता । तं जहा-खंभच्छाया, रज्जुच्छाया, पागारच्छाया, पासायच्छाया, उवग्गच्छाया, उच्चत्तच्छाया, अणुलोमच्छाया आरुभिता,समा,पडिहता, खीलच्छाया,पक्खच्छाया, पुरतो उदया, पुरिमकंठभाउवगेता, पच्छिमकंठभाउवगता, छायाणुवादिणी, किट्ठाणुवादिणीछाया, छायच्छाया, गोलच्छाया, तत्थ णं गोलच्छाया अट्ठविहा पण्णत्ता । तं जहा-गोलच्छाया अवद्धगोलच्छाया गाढलगोलच्छाया अवद्धगाढलगोलच्छाया गोलावलिच्छाया, अवड्ढगोलावलिच्छाया,गोलपुंजच्छाया, अवद्धगोलपुंजच्छाया। ( सूत्र ३१ )

'ता कइकट्ठ ते' इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत्, कातिकाष्ठां-किंप्रमाणा भगवन्! त्वया सूर्यः पौरुषीच्छायां निर्वर्त्तयन्नाख्यात इति वदेत् ?। एवमुक्ते भगवान् प्रथमतो लेश्यास्वरूपविषये यावन्त्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयस्तावतीरुपदर्शयति-' तत्थ खलु ' इत्यादि, तत्र-तस्या पौरुष्या छायाया विषये लेश्यामधिकृत्य खल्विमा. पञ्चविंशतिः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-तत्र-तेषां पञ्चविंशते. परतीर्थिकानां मध्ये एके एवमाहुः-ता इति पूर्ववत्, अनुसमयमेव-प्रतिक्षणमेव सूर्यः पौरुषीच्छायाम् . इह लेश्यावशत. पौरुषीच्छाया भवतीति ततः कारणे कार्योपचारात् पौरुषीच्छायेति लेश्या द्रष्टव्या, ता निर्वर्तयति निर्वर्त्तयन्नाख्यात इति वदेत् । किमुक्तं भवति ?—प्रतिक्षणमन्यामन्या सूर्यो लेश्या निर्वर्त्तयन् आख्यात इति वदेत् । अत्रोपसंहारः—' एगे एवमाहंसु, ' ( एवमित्यादि ) एवम्—उक्तेन प्रकारेण एतेन—*अनन्तरोदितेनाऽभिलापेन सूर्यपाठगमेन या एव ओ*जःसंस्थितौ पञ्चविंशति' प्रतिपत्तय उक्ताः ता एव क्रमेणात्रापि नेतव्या । ( ताश्च 'ओयसंठिइ' शब्दे द्वितीयभागे ६२ पृष्ठे दर्शिताः ।) तावद्यावच्चरमप्रतिपत्तिप्रतिपादकमिदं सूत्रम्-'*एगे पुण एवमाहंसु-ता अणु ओसप्पि*णिउस्सप्पिणिमेव सूरिए ' इत्यादि । मध्यमास्त्वालापका एवं ज्ञातव्या.-' एगे पुण एवमाहंसु ता अणुमुहुत्तमेव सूरिए पोरिसिच्छायं निव्वत्तेइ आहियत्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु ' इत्यादि । तदेव लेश्याविषयाः पञ्चप्रतिपत्तीरुपदर्श्य सम्प्रति तद्विषयं स्वमतमाह-' वयं पुण ' इत्यादि, वयं पुनरेवं वदामः, कथमित्याह—' ता सूरियस्स णं ' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत्, सूर्यस्य, णमिति वाक्यालङ्कारे, उच्चत्वं लेश्या च प्रतीत्य छायोद्देशः । किमुक्तं भवति ?-यथा सूर्यः उच्चैरुच्चैस्तरामधिरोहति यथा च मध्याह्नादूर्ध्वं नीचैर्नीचैस्तरामतिक्रामति एतदपि लौकिकव्यवहाराऽऽपेक्षया उच्यते, लौकिका हि प्रथमतो दूरतरवर्तिनं सूर्यम् उदयमानमतिनीचैस्तरां पश्यन्ति,, तत. प्रत्यासन्नं प्रत्यासन्नतरं भवन्तमुच्चैरुच्चैस्तरां मध्याह्नादूर्ध्वं च क्रमेण दूरं दूरतरं भवन्तं नीचैर्नीचैस्तरामिति, तथा यथा लेश्याः सञ्चरन्ति , तद्यथा-अतिनीचैस्तरां वर्तमाने सूर्ये सर्वस्याऽपि प्रकाश्यस्य वस्तुन उपरि प्लवमाना वस्तुनो दूरतः परिपतन्ति, ततः प्रकाश्यस्य वस्तुनो महती महत्तरा छाया भवति, उच्चैरुच्चैस्तरा वर्द्धमाने सूर्ये प्रत्यासन्ना' प्रत्यासन्नतराः परिपतन्ति, *ततः प्रकाश्यस्य वस्तुनो हीना हीनतरा छाया भवति*, तत एव तथा तथा वर्त्तमानं सूर्यस्योच्चत्वं लेश्यां च प्रतीत्य छायाया अन्यथा भवन्त्या उद्देशो ज्ञातव्यः; इह प्रतिक्षणं तत्तत्पुद्गलोपचयेन तत्तत्पुद्गलहान्या वा यत् छायाया अन्यत्वं तत्केवल्येव जानाति, छद्मस्थस्तूद्देशत' । तत उक्तम् छायोद्देश इति' ' उच्चत्तं च छायं च पडुच्च लेसोद्देस ' इति । तथा तथा विवर्त्तमानं सूर्यस्योच्चत्वं छायां च हीनां हीनतरामधिकामधिकतरां च तथा तथा भवन्तीं प्रतीत्य—आश्रित्य लेश्यायाः—प्रकाश्यस्य वस्तुनः प्रत्यासन्नं प्रत्यासन्नतर दूरं दूरतरं वा परिपतन्त्या उद्देशो ज्ञातव्यः । तथा ' लेसं च छाय च पडुच्च उच्चत्तोद्देसे ' इति , लेश्यां-प्रकाश्यस्य वस्तुनो दूर दूरतरमासन्नमासन्नतरं परिपतन्तीं छायां च हीनां हीनतरामधिकामधिकतरां च तथा तथा भवन्तीं प्रतीत्य सूर्यगतस्योच्चत्वस्य तथा तथा विवर्त्तमानस्योद्देशो ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?-त्रीण्यप्येतानि प्रतिक्षणमन्यथाऽन्यथा विवर्त्तन्ते , तत एकस्य द्वयस्य वा तथा तथा विवर्त्तमानस्योद्देशत उपलम्भादितरस्याऽप्युद्देशतोऽवगम. कर्त्तव्य इति । तदेवं लेश्यास्वरूपमुक्तम्। सम्प्रति पौरुष्याश्छायाया. परिमाणविषये परतीर्थिकप्रतिपत्तिसम्भव कथयति—( तत्थेत्यादि ) तत्र—तस्या पौरुष्याश्छायायाः परिमाणचिन्तायां विषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती प्रज्ञप्ते । तद्यथा-तत्र-तेषां द्वयाना परतीर्थिकानां मध्ये एके एवमाहु.-अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे सूर्य उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमनमुहूर्त्ते च चतुष्पौरुषीं-चतुष्पुरुषप्रमाणां,पुरुषग्रहणमुपलक्षणं, तेन सर्वस्याऽपि प्रकाश्यस्य वस्तुनश्चतुर्गुणां छायां निर्वर्त्तयति, अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमनमुहूर्त्ते च द्विपौरुषीं—द्विपुरुषप्र*माणां छायां सूर्यो* निर्वर्त्तयति , अत्राऽपि पुरुषग्रहणमुपलक्षणं, तत. सर्वस्याऽपि वस्तुन. प्रकाश्यस्य द्विगुणां छायां निर्वर्तयतीति द्रष्टव्यम् । अत्रोपसहारः—' एगे एवमाहंसु ' १, एके पुनरेवमाहु.—'ता' इति पूर्ववत्, अस्ति स दि*वसो यस्मिन् दिवसे उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमनमुहूर्त्ते* च सूर्यो द्विपौरुषीं-पुरुषद्वयप्रमाणा छायां निर्वर्त्तयति, पुरुषग्रहणस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्याऽपि प्रकाश्यवस्तुनो द्विगुणां छायां निर्वर्त्तयतीत्यर्थः , तथा अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे सूर्योऽस्तमनमुहूर्त्ते उद्गमनमुहूर्त्ते च न काञ्चिदपि पौरुषीं छाया निर्वर्त्तयति । सम्प्रत्येते एव मते भावयति-(तत्थेत्यादि) तत्र-तेषां द्वयानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः-अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे चतुष्पौरुषीं छायां सूर्यो निर्वर्त्तयति , अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे सूर्यो द्वि-

पौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति । एवं स्वमतविभावनाऽर्थमाहु -'ता जया णं' इत्यादि, तत्र यदा यस्मिन् काले , णमिति वाक्याऽलङ्कारे, सर्वाऽभ्यन्तरं मण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्त उत्कर्षकोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति , जघन्या द्वादशमुहूर्ता रात्रिः, तस्मिंश्च दिवसे सूर्यश्चतुष्पौरुषीं—चतुष्पुरुषप्रमाणां छायां निर्वर्त्तयति । तद्यथा-उद्गमनमुहूर्त्तेऽस्तमनमुहूर्त्ते च स चोद्गमनमुहूर्त्तेऽस्तमनमुहूर्त्ते च चतुष्पौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति, लेश्यामभिवर्द्धयन् प्रकाश्यवस्तुन उपरि प्लवमाना दूर दूरतरं परिक्षिपन् नो चैव-नैव निर्वेष्टयन्-प्रकाश्यवस्तुन उपरि प्लवमाना प्रत्यासन्नं प्रत्यासन्नतरं परिक्षिपन् तथा सति छायाया हीनहीनतरत्व सम्भवात् ' ता जया णं ' इत्यादि, तत्र यदा सर्वबाह्य मण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्ता उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति , जघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः, तस्मिंश्च दिवसे सूर्यो द्विपौरुषीं-पुरुषद्वयप्रमाणां छाया निर्वर्त्तयति । तद्यथा-उद्गमनमुहूर्त्ते अस्तमनमुहूर्त्ते च, स च तदा द्विपौरुषीं छाया निर्वर्त्तयति , लेश्यामभिवर्द्धयन् नो चैव निर्वेष्टयन्, अस्य वाक्यस्य भावाऽर्थः प्राग्वद् भावनीय. । तथा तत्र-तेषां त्रयाना मध्ये ये वादिन एवमाहु -अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे स सूर्यो द्विपौरुषीं छायां निर्वर्तयति अस्ति स दिवसो यस्मिन् दिवसे सूर्यो न काञ्चिदपि पौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति,त एवं स्वमतविभावनार्थमाचक्षते-'ता जया णं' इत्यादि , तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्त उत्कर्षकोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति , जघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः , तस्मिंश्च दिवसे सूर्यो द्विपौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति । तद्यथा—उद्गमन मुहूर्त्तेऽस्तमनमुहूर्त्ते च, स च तदानीं द्विपौरुषीं छाया निर्वर्त्तयति लेश्यामभिवर्द्धयन् नो चैव निर्वेष्टयन्, ' ता जया णं ' इत्यादि , तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे सूर्यः सर्वबाह्यं मण्डलमुपसङ्क्रम्य चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठाप्राप्ता उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, जघन्यो द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसस्तस्मिंश्च दिवसे उद्गमनमुहूर्त्तेऽस्तमनमुहूर्त्ते च सूर्यो न काञ्चिदपि पौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति , ' नो चेव णं ' इत्यादि , न च—नैव तदानीं सूर्यो लेश्यामभिवर्द्धयन् भवति निर्वेष्टयन् वा अभिवर्द्ध ( य ) ने अधिकाऽधिकतरायाः निर्वेष्ट ( य ) ने हीनहीनतरायाश्छायायाः सम्भवप्रसङ्गात् । तदेवं परतीर्थिकप्रतिपत्तिद्वय श्रुत्वा भगवान् गौतम स्वमत पृच्छति-' ता कइकट्ठं ' इत्यादि, यद्येवं परतीर्थिकाना प्रतिपत्ती ' ता ' तर्हि भगवन् ! स्वमतेन त्वया कतिकाष्ठां-किंप्रमाणा सूर्यः पौरुषीं छाया निर्वर्त्तयन् आख्यात इति वदेत् ? । तत्र भगवान् स्वमतेन देशविभागतः पौरुषीं छाया तथा तथा अनियतप्रमाणां वदयति , परतीर्थिकास्तु प्रतिनियतामेव प्रतिदिवसं देशविभागेनेच्छन्ति, तत. प्रथमतस्तन्मतान्येवोपदर्शयति— , तत्थेत्यादि, तत्र—तस्मिन् देशविभागेन प्रतिदिवसं प्रतिनियतायाः पौरुष्याश्छायाया विषये षण्णवतिः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ता. । तद्यथा-तत्र-तेषा षण्णवतेः परतीर्थिकाना मध्ये एके एवमाहु.-'ता' इति पूर्ववत्, अस्ति स देशो यस्मिन् देशे सूर्य आगत सन् एकपौरुषीम्-एकपुरुषप्रमाणां, पुरुषग्रहणमुपलक्षणं सर्वस्याऽपि प्रकाश्यवस्तुनः,स्वप्रमाणा छाया निर्वर्त्तयति । अत्रोपसंहार.-'एगे एवमाहंसु १, ' एके पुनरेवमाहुः—अस्ति स देशो यस्मिन् देशे समागतः सूर्यो द्विपौरुषीं-द्विपुरुषप्रमाणां, पुरुषग्रहणस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्याऽपि वस्तुनः प्रकाश्यस्य द्विगुणामित्यर्थः, छाया निर्वर्त्तयति , अत्रोपसंहार.-' एगे एवमाहंसु ' २ ' ' एवं ' इत्यादि, एवम् उक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन-सूत्रपाठगमनेन शेषप्रतिपत्तिगतमपि सूत्रं नेतव्यं तावद्यावच्चरमप्रतिपत्तिगतं सूत्रं , तदेव खण्डशो दर्शयति-' छन्नउ ' इत्यादि , एतच्चैव परिपूर्णं द्रष्टव्यम्- " एगे पुण एवमाहंसु, अत्थि णं से देसे जंसि णं देसंसि सूरिए छन्नउइपोरिसिं छायं निव्वत्तइ आहिय त्ति वएज्जा, एगे एवमाहंसु " मध्यमप्रतिपत्तिगतास्त्वालापकाः सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीया. सम्प्रत्येतासामेव षण्णवतिप्रतिपत्तीनां भावनिकां चिकीर्षुराह-' तत्थ ' इत्यादि, तत्र-तेषा षण्णवतिपरतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः-अस्ति स देशो यस्मिन् देशे समागतः सूर्य' एकपौरुषीं-प्रकाश्यवस्तुनः स्वप्रमाणां छायां निर्वर्त्तयति, त एवं स्वमतविभावनार्थमाहुः-' ता सूरियस्स णं ' । इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत् , सूर्यस्य सर्वाऽधस्तनात् सूर्यप्रतिधे'-सूर्यप्रतिधानात् , सूर्यनिवेशादित्यर्थः । बहिर्निःसृताया लेश्यास्ताभिः ( ताडिज्जमाणाहिं ति ) ताड्यमानाभिरस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् यावति सूर्य ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन व्यवस्थित एतावताऽध्वना. सूत्रे चाध्वशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देश प्राकृतत्वात् , एकेन च छायाऽनुमानप्रमाणेन प्रकाश्यस्य वस्तुनो यदुद्देशत. प्रमाणमनुमीयते तेन, इहाऽऽकाशदेशे सूर्यसमीपे प्रकाश्यस्य वस्तुनः प्रमाणं नैव साक्षात् परिग्रहीतु शक्यते, किन्तु देशतोऽनुमानेन ततश्छायाऽनुमानप्रमाणेनेत्युक्तम्, ( उमाए त्ति ) अवमित' परिच्छिन्नो यो देश -प्रदेशो यस्मिन् प्रदेशे आगत' सन् सूर्य एकपौरुषीं, पुरुषग्रहणस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्य प्रकाश्यस्य वस्तुन., प्रमाणभूता छायां निर्वर्त्तयति । इयमत्र भावना—प्रथमत उदयमाने सूर्ये या लेश्या विनिर्गत्य प्रकाशमाश्रितास्ताभिः प्रकाश्यवस्तुदेशे ऊर्ध्वं क्रियमाणाभि. किञ्चित्पूर्वाऽभिमुखमवनताभि प्रकाश्येन च वस्तुना यः सम्भाव्यते परिच्छिन्न आकाशप्रदेशः तत्राऽऽगत' सूर्यः प्रकाश्यवस्तुप्रमाणां छाया निर्वर्त्तयति । एवमुत्तरत्राऽपि भावना कार्या, ( तत्थेत्यादि ) तत्र ये ते वादिन एवमाहु -अस्ति स देशो यस्मिन् देशे समागतः सूर्यो द्विपौरुषीं छायां निर्वर्त्तयति त एवं स्वमतविस्फारणार्थमाहु.—( ता सूरियस्स णमित्यादि ) ' ता ' इति पूर्ववत् सूर्यस्य सर्वाऽधस्तात् सूर्यप्रतिधे.—सूर्यनिवेशाद्बहिर्निःसृताभिर्लेश्याभिस्ताड्यमानाभिरस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागादूर्ध्वमुच्चत्वेन व्यवस्थितः एतावद्भ्या द्वाभ्यामद्धाभ्या द्वाभ्या छायाऽनुमानप्रमाणाभ्यां प्रकाश्यवस्तुप्रमाणाभ्यामवमित'—परिच्छिन्नो यो देशस्तत्र समागतः सूर्यो द्विपौरुषीं-प्रकाश्यवस्तुनो द्विगुणा छाया निर्वर्त्तयति, एवमेकैकप्रतिपत्तावेकैकच्छायाऽनुमानप्रमाणवृद्ध्या तावन्नेतव्यं यावत्षण्णवतितमा प्रतिपत्ति , तद्गतानि च सूत्राणि स्वयं परिभावनीयानि, सुगमत्वात् , तदेवमुक्ताः परतीर्थिकप्रतिपत्तयः । सम्प्रति स्वमतमुपदर्शयति—' वय पुण ' इत्यादि, वय पुनरेवं-वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामः, तमेव प्रकारमाह-( साइरेगेत्यादि ) सूर्य उद्गमसमये अस्तमनसमये च सातिरेकैकोनषष्टिपुरुषप्रमाणां छायां निर्व-

त्तेयति । एतदेव विभावयिषुराह—'ता अवड्ढे' इत्यादि. अपगतमर्द्धं यस्याः सा अपार्द्धा, सा चाऽसौ पौरुषी च अपार्द्धपौरुषी छाया, पुरुषग्रहणस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्याऽपि वस्तुनः प्रकाश्यस्याऽर्द्धप्रमाणा छाया एवमुत्तरत्राप्युपलक्षणव्याख्यानं द्रष्टव्यं, दिवसस्य किंगते-कतमे भागे गते शेषे वेति कतितमे भागे शेषे भवति ? । भगवानाह— ता'इत्यादि,'ता' इति पूर्ववत् दिवसस्य त्रिभागे गते भवति,दिवसस्य त्रिभागे वा शेषे ( ता इत्यादि ) पौरुषी पुरुषप्रमाणा, प्रकाश्यस्य वस्तुन स्वप्रमाणा इत्यर्थः । छाया किं गते—कतितमे भागे गते, शेषे वेति-कतितमे वा भागे शेषे भवति ? । भगवानाह-दिवसस्य चतुर्भागे गते चतुर्भागे शेषे वा, प्रकाश्यस्य वस्तुनः स्वप्रमाणभूता छाया अन्यत्र ग्रन्थान्तरे सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमधिकृत्योक्ता । तथा च नन्दिचूर्णिग्रन्थः—'पुरिस त्ति संकू पुरिससरीर वा, ततो पुरिसे निप्फन्ना पोरिसी, एवं सव्वस्स वत्थुणो यदा सप्पमाणा छाया भवति तदा पोरिसी हवइ. एवं पोरिसीपमाणं उत्तरायणस्स अंते दक्खिणायणस्स आईए इक्कं दिणं भवइ, अतो परं अद्धा एगसट्ठिभागा अंगुलस्स दक्खिणायणे वड्ढंति, उत्तरायणे हस्सति, एवं मंडले मंडले अन्ना पोरिसी " इति । तत इदं सकलमपि पौरुषीविभागप्रमाणप्रतिपादनं सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमधिकृत्यावसेयं, तथा ' ता ' इति पूर्ववत् , द्वयर्द्धपौरुषी—सार्द्धपुरुषप्रमाणा छाया दिवसस्य किंभागे कतितमे भागे गते भवति, किं शेषे वा-कतितमे वा भागे शेषे ? । भगवानाह ' ता ' इति पूर्ववत् , दिवसस्य पञ्चमे भागे गते वा भवति, शेषे वा पञ्चमे भागे, ( एवमित्यादि ) एवमुक्तेन प्रकारेण अर्द्धपौरुषीम् अर्द्धपुरुषप्रमाणा छायां क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा पृच्छा—पृच्छासूत्रं द्रष्टव्यं, ' दिवसभागं ' ति पूर्वपूर्वसूत्रापेक्षया एकैकमधिकं दिवसभागं क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा व्याकरणम्-उत्तरसूत्रं ज्ञातव्यम् । तद्यथा " विपोरिसी णं छाया किं गए वा सेसे वा?,ता छब्भागगए वा सेसे वा,ता अड्ढाइज्जपोरिसी णं छाया किं गए वा सेसे वा ?, ता सत्तभागगए वा सेसे वा " इत्यादि । एतच्च एतावत् तावत् यावत् ' ता उगुणट्ठी ' इत्यादि सुगमं, सातिरेकैकोनषष्टिपौरुषी तु छाया दिवसस्य प्रारम्भसमये पर्यन्तसमये वा, तत आह—' ता नत्थि किंचि गए वा सेसे वा ' इति, सम्प्रति छायाभेदान् व्याचष्टे-( तत्थेत्यादि ) तत्र तस्यां छायाया विचार्यमाणायां त्वियं पञ्चविंशतिविधा' छायाः प्रज्ञप्ताः ? । तद्यथा—( खंभच्छायेत्यादि ) प्रायः सुगमं, विशेषव्याख्यानं चामीषां पदानां शास्त्रान्तराद्यथासम्प्रदायं वाच्यं, गोलच्छायेत्युक्तं, ततस्तामेव गोलच्छाया भेदत आह—(तत्थेत्यादि) तत्र-तासां पञ्चविंशतिच्छायानां मध्ये खल्वियं गोलच्छाया अष्टविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा—'गोलच्छाया ' गोलमात्रस्य छाया गोलच्छाया,अपार्द्धस्य— अर्द्धमात्रस्य गोलस्य छाया अपार्द्धगोलच्छाया, गोलानामावलिर्गोलावलिस्तस्या छाया गोलावलिच्छाया, अपार्द्धाया'-अपार्द्धमात्राया गोलावलेश्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया, गोलानां पुञ्जो गोलपुञ्जो, गोलोत्कर इत्यर्थः तस्य छाया गोलपुञ्जच्छाया, अपार्द्धस्य-अर्द्धमात्रस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया। सू० प्र० ६ पाहु० ।

श्रावणशुक्लसप्तम्याम्—

"आसाढबहुलपक्खे भद्दवए कत्तिए य पोसे य । फग्गुणवइसाहेसु य, नायव्वा ओमरत्ता उ ॥"...

"सावणसुद्धसत्तमीए णं सूरिए सत्तावीसंगुलियं पोरिसिच्छायं णिव्वत्तइत्ता णं दिवसखेत्तं निवड्ढमाणे रयणिखेत्तं अभिणिवड्ढमाणे चारं चरइ ।

श्रावणमासस्य शुद्धसप्तम्यां सूर्यः सप्तविंशत्यङ्गुलिकां, हस्तप्रमाणशङ्कोरिति गम्यते, पौरुषीछायां निर्वर्त्य दिवसक्षेत्रं रविकरप्रकाशमाकाशं निवर्द्धयन्-प्रकाशहान्या हानिं नयन् रजनिक्षेत्रमन्धकाराऽऽक्रान्तमाकाशमभिवर्द्धयन्-प्रकाशहानिवृद्धिं नयन् चारं चरति- व्योममण्डले भ्रमणं करोति । अयमत्र भावार्थः-इह किल स्थूलन्यायमाश्रित्य आषाढ्यां चतुर्विंशत्यङ्गुलप्रमाणा पौरुषी छाया भवति, दिनसप्तके सातिरेकच्छायाङ्गुलं वर्द्धते । ततश्च श्रावणशुद्धसप्तम्यामङ्गुलत्रयं वर्द्धते, सातिरेकैकविंशतितमदिनत्वात्, तस्याः तदेवमाषाढ्याः सातिरेकैरङ्गुलैः सह सप्तविंशतिरङ्गुलानि भवन्ति; निश्चयतस्तु कर्कसंक्रान्तेरारभ्य यत् सातिरेकैकविंशतितमं दिनं तत्रोक्तरूपा पौरुषीछाया भवति ॥ स० २७ सम० । ध० ।

कर्कसंक्रान्तौ पूर्वाह्णेऽपराह्णे वा यदा शरीरप्रमाणच्छाया स्यात्तदा पौरुषी, तदुक्तः कालोऽपि पौरुषीप्रहर इत्यर्थः तद्रेखां याम्योत्तराऽऽयतां यदा देहच्छायापर्यन्तः स्पृशति तदा सर्वदिनेषु पौरुषी । यद्वा-पुरुषस्योर्द्ध्वस्य दक्षिणकर्णनिवेशिनार्कस्य दक्षिणाऽयनाऽऽद्यदिने यदा जानुच्छाया द्विपदा तदा पौरुषी । यथा—

आसाढमासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया ।

चित्ताऽऽसोएसु मासेसु, तिपया होइ पोरिसी ॥ १ ॥ "

हानिवृद्धी त्वेवम्—

" अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेणं तु दुअंगुलं ।

वड्ढए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥ १ ॥ " इति ।

" साहुवयणेणं " इत्यत्र च पादोनप्रहरेणाप्यधिकार , अतस्तत्र पौरुषीछायोपरि प्रक्षेपोऽयम्—" जिट्ठामूले आसाढसावणे छहिऽगुलेहि पडिलेहा । अट्ठहि बिअतइअम्मी, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥१॥ " पौरुषीप्रत्याख्यानसमानप्रत्याख्याना सार्द्धपौरुषी त्वेवम्-" पोसे तणुछायाए, नवहिं पएहिं तु पोरिसी सड्ढा । तावेक्केक्का हाणी, जावासाढे पया तिन्नि ॥ १ ॥ " पूर्वार्द्धेऽग्रे वक्ष्यमाणोऽपि प्रमाणप्रस्तावादिहैव विक्षेप', " पोसे विहत्थिछाया, बारस अंगुलपमाणपुरिमड्ढं । मासे दुअंगुलहाणी, आसाढे निट्ठिआ सव्वे॥१॥" ध० २ अधि० । सुखावबोधार्थं स्थापना चैषाम्—

| मासाः १२ | | पद | अङ्गुल | अङ्गुल | पद | अङ्गुल | पद | अङ्गुल | पद | अङ्गुल |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आषाढ | १ | २ | ० | ६ | २ | ६ | ३ | ० | ० | ० |
| श्रावणः | २ | २ | ४ | ६ | २ | १० | ४ | ० | ० | २ |
| भाद्रपद | ३ | २ | ८ | ८ | ३ | ४ | ५ | ० | ० | ४ |
| आश्विन. | ४ | ३ | ० | ८ | ३ | ८ | ६ | ० | ० | ६ |
| कार्तिक. | ५ | ३ | ४ | ८ | ४ | ० | ७ | ० | ० | ८ |
| मार्गशीर्षः | ६ | ३ | ८ | १० | ४ | ६ | ८ | ० | ० | १० |
| पौष | ७ | ४ | ० | १२ | ४ | १० | ६ | ० | ० | १२ |
| माघ | ८ | ३ | ८ | १० | ४ | ६ | ८ | ० | ० | १० |
| फाल्गुन | ६ | ३ | ४ | ८ | ४ | ० | ७ | ० | ० | ८ |
| चैत्रः | १० | ३ | ० | ८ | ३ | ८ | ६ | ० | ० | ६ |
| वैशाख | ११ | २ | ८ | ८ | ३ | ४ | ५ | ० | ० | ४ |
| ज्येष्ठ | १२ | २ | ४ | ६ | २ | १० | ४ | ० | ० | २ |

सम्प्रति पौरुषीपरिमाणप्रतिपादकमेकाविंशतितमप्राभृतं विवक्षुराह—

पव्वे पन्नरसगुणे, तिहिसहिए पोरसीएँ आणयणे।
छलसीइसयविभत्ते, जं लद्धं तं वियाणाहि॥ १॥
जइ होइ विसम लद्धं, दक्खिणमयणं हविज्ज नायव्वं।
अह हवइ समं लद्धं, नायव्वं उत्तरं अयण॥ २॥

युगमध्ये यस्मिन् पर्वणि यस्यां तिथौ पौरुषीपरिमाणं ज्ञातुमिष्टं ततः पूर्वं युगादित आरभ्य यानि पर्वाणि अतिक्रान्तानि तानि ध्रियन्ते धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते,गुणयित्वा च विवक्षितायास्तिथेर्या· पूर्वमतिक्रान्तास्तिथयस्ताभिः सहितानि क्रियन्ते, कृत्वा च षडशीत्यधिकेन तेपां भागो ह्रियते इहैकस्मिन्नयने ऽयशीत्यधिकमण्डलशतपरिमाणे चन्द्रनिष्पादिताना तिथीना षडशीत्यधिकं शतं भवति, ततस्तेन भागहरण, हृते च भागे यल्लब्धं तत् विजानीहि—सम्यगवधारयेत्यर्थ·। तत्र यदि विषमं भवति, तद् यथा एककस्त्रिकः पञ्चक· सप्तको नवको वा तदा तत्पर्यन्तवर्ति दक्षिणमयनं ज्ञातव्यम्। अथ भवति। लब्धं समं, तद्यथा—द्विकश्चतुष्क· षट्कोऽष्टको दशको वा तदा तत्पर्यन्तवर्ति उत्तरायणमवसेयम्। तदेवमुक्ता दक्षिणायनोत्तरायणपरिज्ञानोपाया·।

सम्प्रति षडशीत्याधिकेन शतेन भागे हृते यच्छेपमवतिष्ठते, यदि वा-भागासम्भवे यत् शेपं तिष्ठति तद्गतविधिमाह—

अयणगए तिहिरासी, चउग्गुणे पव्वपायभइयम्मि।
जं लद्धमंगुलाणि य, खयवुड्ढी पोरिसीए उ॥ ३॥

यो भागासभवेन शेषत्वतोऽयनगतस्तिथिराशिर्वर्तते स चतुर्भिर्गुण्यते, गुणयित्वा च पर्वपादेन युगमध्ये यानि सर्वसंख्यया पर्वाणि चतुर्विंशत्यधिकशतसंख्यानि तेषा पादेन—चतुर्थांशेन, एकत्रिंशता इत्यर्थ·। तेषा भागे हृते यल्लब्धं तान्यङ्गुलानि, अङ्गुलांशाश्च पौरुष्या· क्षयवृद्ध्या ज्ञातव्यानि, दक्षिणायनपदध्रुवराशेरुपरि वृद्धौ ज्ञातव्यानि, उत्तरायणे पदध्रुवराशेः क्षय इत्यर्थ·, अथैवभूतस्य गुणकारस्य भागहारस्य वा कथमुत्पत्तिः?, उच्यते-यदि षडशीत्यधिकेन शतेन चतुर्विंशतिरङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वा प्राप्यन्ते,तत एकस्या तिथौ का वृद्धिः क्षयो वा?। राशित्रयस्थापना—१८६, २४,१। अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमो राशिश्चतुर्विंशतिरूपो गुण्यते, जात· स तावानेव, तत आद्येन राशिना षडशीत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते, तत्रोपरितनराशे· स्तोकत्वात् भागो न लभ्यते, तत· छेद्यछेदकराश्यो षट्केनापवर्तना, जात उपरितनो राशिश्चतुष्करूपोऽधस्तन एकत्रिंशत्, लब्धमेकस्या तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागाः क्षये वृद्धौ चेति चतुष्को गुणकार उक्त एकत्रिंशद्भागहार इति।

इह यल्लब्धं तान्यङ्गुलानि क्षये वृद्धौ वेत्युक्तं, तत्र कस्मिन्नयने कियत्प्रमाणराशेरुपरि वृद्धौ कस्मिन् वा अयने किं प्रमाणराशे क्षये इत्येतन्निरूपणार्थमाह—

दक्खिणवुड्ढी दुपया-उ अंगुलाण तु होइ नायव्वा।
उत्तरअयणे हाणी, कायव्वा चउहि पायाहिं॥ ४॥

दक्षिणायने द्विपादयोः-पदद्वयस्योपरि अङ्गुलाना वृद्धिर्ज्ञातव्या। उत्तरायणे चतुर्भ्यः पादेभ्यः सकाशादङ्गुलाना हानिः। तत्र युगमध्ये प्रथमे संवत्सरे दक्षिणायने ततो दिवसादारभ्य वृद्धिस्तन्निरूपयति—

सावणबहुलपडिवए, दुपया पुण पोरसी धुवं होइ।
चत्तारि अंगुलाइं, मासेण य वड्ढए तत्तो॥ ५॥
एकत्तीसइभागा, तिहिए पुण अंगुलस्स चत्तारि।
दक्खिणअयणे वुड्ढी, जाव चत्तारि उ पयाइँ॥ ६॥

युगस्य प्रथमे संवत्सरे श्रावणमासि बहुलपक्षे प्रतिपदि पौरुषी द्विपदा-पदद्वयप्रमाणा ध्रुवराशिर्भवति,ततस्तस्या· प्रतिपद आरभ्य प्रतितिथिक्रमेण तावद्वर्द्धते यावन्मासेन सूर्यमासेन सार्द्धत्रिंशदहोरात्रप्रमाणेन चन्द्रमासापेक्षया एकत्रिंशता तिथिभिरित्यर्थ· ( एकतीसेत्यादि ) यत एकस्या तिथौ चत्वार एकत्रिंशद्भागा वर्द्धन्ते, एतच्च प्रागेव भावितं, परिपूर्णे तु दक्षिणायने वृद्धि· परिपूर्णानि चत्वारि पदानि, ततो मासेन-सूर्यमासेन सार्द्धे त्रिंशदहोरात्रप्रमाणेन एकत्रिंशत्तिथ्यात्मकेनेत्युक्तम्। तदेवमुक्ता वृद्धि·।

सम्प्रति हानिमाह—

उत्तरअयणे हाणी, चउहिं पायाहिँ जाव दो पाया।
एवं तु पोरिसीए, वुड्ढिखया होंति नायव्वा॥ ७॥

युगस्य प्रथमसवत्सरे उत्तरायणे माघमासबहुलपक्षे सप्तम्या आरभ्य चतुर्भ्यः पादेभ्य· सकाशात् प्रतितिथि एकत्रिंशद्भागचतुष्टयहानिस्तावदवसेया यावदुत्तरायणपर्यन्ते द्वौ पादौ पौरुषीति। एवं प्रथमसंवत्सरगतो विधि·। द्वितीये सवत्सरे श्रावणे मासि बहुलपक्षे त्रयोदशीमादौ कृत्वा वृद्धि·,माघमासे शुक्लपक्षे चतुर्थीमादिं कृत्वा क्षय। तृतीये संवत्सरे श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशमी वृद्धेरादि, माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपत् क्षयस्याऽऽदि·। चतुर्थसवत्सरे श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तमी वृद्धेरादि, माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदशी क्षयस्याऽऽदिः। पञ्चमे संवत्सरे (वुड्ढिखया होंति नायव्वा)एवमुक्तेन प्रकारेण पौरुष्याम् पौरुषीविषयौ वृद्धिक्षयौ यथाक्रमं दक्षिणायने उत्तरायणे च वेदितव्यौ। तदेवमुक्तं करणम्।

सम्प्रतिकरणस्य भावना क्रियते—

कोऽपि पृच्छति-युगे आदित आरभ्य पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्या तिथौ कतिपदा पौरुषी भवति?। तत्र चतुरशीतिर्ध्रियते, तस्याश्चाधस्तात् पञ्चम्यां तिथौ पृष्टमिति पञ्च चतुरशीतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि द्वादश शतानि षष्ट्यधिकानि १२६०। तेषु मध्येऽधस्तना पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५। तेषां षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाः षट् आगतं षट् अयनानि अतिक्रान्तानि, सप्तममयनं वर्तते, तद्गत च शेषमेकोनपञ्चाशदधिक शतं तिष्ठति तत् चतुर्भिर्गुण्यते,जातानि पञ्च शतानि षण्णवत्यधिकानि५९६। तेषामेकत्रिंशता भागहरणे लब्धा एकोनविंशति १९, शेषा· तिष्ठन्ति सप्त, तत्र द्वादशाङ्गुलानि पाद एकोनविंशतेर्द्वादशभिः पदं लब्ध, शेषाणि तिष्ठन्ति सप्ताङ्गुलानि, षष्ठ चायनमुत्तरायणं, तच्च गतं, सप्तमं च दक्षिणायन वर्तते, ततः पदमेकं सप्ताङ्गुलानि पदद्वयप्रमाणे ध्रुवराशौ प्रक्षिप्यते, जाता·

नि त्रीणि पदानि सप्त अङ्गुलानि, ये च सप्त एकत्रिंशद् भागाः शेषीभूता वर्तन्ते, तान् यवान् कुर्मः, तत्राष्टौ यवा अङ्गुले इति, ते सप्त अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताः षट्पञ्चाशत् ५६. तस्य एकत्रिंशता भागे हृते लब्ध एको यवः, शेषास्तिष्ठन्ति यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद् भागाः, आगतं पञ्चाशीतितमे पर्वणि पञ्चम्यां त्रीणि पदानि सप्त अङ्गुलानि एको यवः, एकस्य च यवस्य पञ्चविंशतिरेकत्रिंशद्भागा इत्येतावती पौरुषीति । तथा अपरः कोऽपि पृच्छति—सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां प्रतिपदा पौरुषीति ; तत्र षण्णवतिर्ध्रियते, तस्याधस्तात् पञ्चमी षण्णवतिश्च पञ्चदशभिर्गुण्यते, जातानि चतुर्दश शतानि चत्वारिंशदधिकानि १४४०, तेषां मध्येऽधस्तु ता एव प्रक्षिप्यन्ते, जातानि चतुर्दश शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि १४४५, तेषां च षडशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धानि सप्त अयनानि, शेषं तिष्ठति त्रिचत्वारिंशदधिकं शतं १४३, तत् चतुर्भिर्गुण्यते, जातानि द्विसप्तत्यधिकानि पञ्च शतानि,५७२, तेषामेकत्रिंशता भागो ह्रियते,लब्धान्यष्टादशाङ्गुलानि १८,तेषा मध्ये द्वादशभिरङ्गुलैः पदमेति,लब्धमेकं पद षट् अङ्गुलानि,उपरि चांशा उद्धरन्ति चतुर्दश,ते यवाऽऽनयनार्थमष्टभिर्गुण्यन्ते,जातं द्वादशोत्तरं शतम् ११२, तस्यैकत्रिंशता भागे हृते लब्धास्त्रयो यवाः, शेषास्तिष्ठन्ति यवस्य एकोनविंशतिरेकत्रिंशद् भागाः, सप्त वा यवान्यतिक्रान्तानि, अष्टमं वर्तते, अष्टम चायनमुत्तरायणम् , उत्तरायणे च पदे चतुष्करूपात् ध्रुवराशेर्हानिर्वक्तव्या, तत एकं पदं, सप्त अङ्गुलानि,त्रयो यवा एकस्य च यवस्य एकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागा इति पदचतुष्टयान्यायान्यतो शेष तिष्ठति द्वे पदे चत्वारि अङ्गुलानि त्रयो यवा एकस्य च यवस्य एकोनविंशतिरेकत्रिंशद्भागा द्वादश एकत्रिंशद्भागाः, एतावती युगाऽऽदितः सप्तनवतितमे पर्वणि पञ्चम्यां पौरुषीति । एवं सर्वत्र भावनीयम् ।

सम्प्रति पौरुषीपरिमाणदर्शनतोऽयनगतपरिमाणज्ञापनार्थं करणमाह—

**वुड्डी वा हाणी वा, जावइया पोरिसीएँ दिट्ठा उ ।**
**तत्तो दिवसगएणं, जं लद्धं तं खु अयणगयं ॥ ८ ॥**

पौरुष्यां यावती वृद्धिर्हानिर्वा दृष्टा ततः सकाशात् दिवसगतेन प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन वा त्रैराशिककर्मानुसारेण ततो यल्लब्धं तत् अयनं गतम्, अयनस्य तावत् प्रमाणं गतं वेदितव्यम् । एष करणगाथाऽक्षरार्थः ।

भावना त्वियम्—

तत्र दक्षिणायने पदद्वयस्योपरि चत्वारि अङ्गुलानि वृद्धौ दृष्टानि, ततः कोऽपि पृच्छति-कियद् गतं दक्षिणायनस्य ?, अत्र त्रैराशिककर्मावतारो-यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते,ततश्चतुर्भिरङ्गुलैः कति तिथीर्लभामहे? राशित्रयस्थापना-४,१,४ । अत्रान्त्यो राशिरङ्गुलरूप इत्येकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते, जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४.तस्य चतुष्करूपेणाऽऽदिराशिना भागो ह्रियते,लब्धा एकत्रिंशत्तिथयः, आगतं दक्षिणायने एकत्रिंशत्तमायां तिथौ चतुरङ्गुलपौरुष्यां वृद्धिरिति । तथा-उत्तरायणे पदचतुष्टयादङ्गुलाष्टकहीनं पौरुष्या उपलभ्य कोऽपि पृच्छति—किं गतमुत्तरायणस्य ?। अत्रापि त्रैराशिकं,यदि चतुर्भिरङ्गुलस्यैकत्रिंशद्भागैरेका तिथिर्लभ्यते,ततोऽष्टभिरङ्गुलैः कति तिथयो लभ्यन्ते ?। राशित्रयस्थापना ४,१,८, अत्रान्त्येन राशिरेकत्रिंशद्भागकरणार्थमेकत्रिंशता गुण्यते,ततो जाते द्वे शते अष्टाचत्वारिंशदधिके २४८, ताभ्यां मध्यो राशिरेककरूपो गुण्यते, जाते त एव द्वे शते अष्टाचत्वारिंशदधिके २४८, तयोराद्येन राशिना चतुष्करूपेण भागहरणं, लब्धा द्वाषष्टिः आगतमुत्तरायणे द्वाषष्टितमायां तिथौ अष्टावङ्गुलानि पौरुष्यां हीनानीति । ज्यो० २१ पाहु० ।



चैत्राऽऽश्विनपूर्णमासीषु पौरुषीमानम्—

**चेत्तासोए पुण्णमासीसु सइ छत्तीसंगुलियं सूरिए पोरिसीछायं निव्वत्तेइ ।**

यदि अश्वयुजः पौर्णमास्यां षट्त्रिंशदङ्गुलिका पौरुषी छाया भवति तदा कार्तिकस्य कृष्णसप्तम्यामङ्गुलस्य वृद्धिं गतत्वात्सप्तत्रिंशदङ्गुलिका भवतीति । स० ३० सम० ।

कार्तिकबहुलसप्तम्याम्—

**कत्तियबहुलसत्तमीए णं सूरिए सत्ततीसंगुलियं पोरिसीछायं निव्वत्तइत्ता णं चारं चरइ ।**

फाल्गुनपूर्णिमायाम्—

**फग्गुणपुण्णमासिणीए णं सूरिए चत्तालीसंगुलियं पोरिसीछायं निव्वत्तइत्ता णं चारं चरइ । एवं कत्तियाए वि पुण्णिमाए ।**

( फग्गुणपुण्णमासिणीए त्ति ) अत्राध्येयं कथम् ?, उच्यते-"पोसे मासे चउप्पया" इति वचनात्, पौषीपौर्णमास्यामष्टचत्वारिंशदङ्गुलिका सा भवति,ततो माघे चत्वारि,फाल्गुने च चत्वारि अङ्गुलानि पतितानीत्येवं फाल्गुनपौर्णमास्यां चत्वारिंशदङ्गुलिका पौरुषी छाया भवति । कार्तिक्यामप्येवमेव । यतः-" चेत्तासोएसु मासेसु,तिपया होइ पोरिसी ।" इत्युक्तम्। ततः पदत्रयस्य षट्त्रिंशदङ्गुलप्रमाणस्य कार्तिकमासादिक्रमे चतुरङ्गुलवृद्धौ चत्वारिंशदङ्गुलिका सा भवतीति । स० ४० सम० । ओघ० । प० व० । ( 'पमाणकाल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४७८ पृष्ठे दर्शिता । ) ( पौरुषीकृत्यानि ' पडिक्कियाकिरिया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तानि । )

**चउपोरिसिओ दिवसो,राई चउपोरिसी चेव ॥२०६६॥**

तत्र चतसृभिः पौरुषीभिर्दिवसो भवति, एवं रात्रिरपि । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥ २०६६ ॥

ननु पौरुष्याः किं मानम् ?, इति विनेयप्रश्नमाशङ्क्य भाष्यकारः प्राऽऽह—

**पोरिसिमाणमनियर्य, दिवसनिसावुड्ढिहाणिभावाओ ।**
**हीणं तिन्नि मुहुत्त--द्धपंचमा माणमुक्कोसं ॥२०७०॥**

न नियतं मानमस्ति पौरुष्याः । कुतः ? , दिवसनिशावृद्धिहानिभावात् । इदमुक्तं भवति-दिवसस्य रात्रेर्वा चतुर्थो भाग पौरुषी भण्यते । ततश्चेयं दिवसस्य रात्रेर्वा वृद्धिहानिभ्यां वृद्धा हीना च भवति । तत्र दिवससम्बन्धिन्याः पौरुष्याः सर्वहीनं जघन्यमानमिह त्रयो मुहूर्त्ताः पदिका मकरसङ्क्रान्तिदिने द्रष्टव्यम्, रात्रिसम्बन्धिन्या

अपि जघन्यमिदमेव मानम्, केवलं कर्कसङ्क्रान्तिरजन्यां मन्तव्यम् । उत्कृष्टं तु मानमस्या अर्धपञ्चममुहूर्त्ता नव घटिका दिवससम्बन्धिन्याः कर्कसङ्क्रान्तौ, रात्रिसम्बन्धिन्यास्तु मकरसङ्क्रान्ताविति ॥ २०७० ॥

जघन्यायाः पौरुष्या उत्कृष्टायाश्च प्रारभ्य प्रतिदिन किंस्विद् वर्द्धते, किं वा हीयते ?, इत्याशङ्कयाऽऽह—

वुड्डी वावीसुत्तर-सयभागो पइदिणं मुहुत्तस्स ।
एवं हाणी वि मया, अयणदिणभागओ नेया ॥२०७१॥

इह जघन्यपौरुष्या प्रतिदिन वृद्धिर्भवति । कियती ?, इत्याह- मुहूर्त्तस्य द्वाविंशत्युत्तरशततमो भागः, उत्कृष्टपौरुष्यास्तु प्रतिदिन हानिर्भवति, साऽपि चैवमेव मता, मुहूर्त्तस्य द्वाविंशत्युत्तरशततमो भाग इत्यर्थः । इयं च पौरुष्या वृद्धिहानिश्चोत्तरायण-दक्षिणायन-दिनभागतो ज्ञेया । इदमत्र हृदयम्-षड्भिर्मासैस्तावदुत्तरायणं दक्षिणायनदिनभागतो ज्ञेयं भवति, एवं दक्षिणायनमपि । तत्रोत्तरायणे प्रतिदिन चतुर्भिः पानीयपलैर्वर्द्धमानानां दिवसानामुत्कृष्टदिवसे षड् मुहूर्त्ता वर्द्धन्ते, रात्रीणां त्वनयैव हान्या हीयमानानां सर्वहीनायां रात्रौ षड् मुहूर्त्ता हीयन्ते । एवं दक्षिणायनेऽपि, नवरं रात्रेः षड् मुहूर्त्ता वर्द्धन्ते, दिवसस्य तु हीयन्त इति व्यत्ययोऽवगन्तव्यः । ततश्चैव सति षड्भिः षड्भिर्मासैर्दिन-रजन्योर्यथायोगं षड् मुहूर्त्ता वर्धन्ते, हीयन्ते च । मासेन त्वेकस्य मुहूर्त्तस्य वृद्धि-हानी । सूर्यसंवत्सरस्तु षट्षष्ट्यधिकैस्त्रिभिर्दिनशतैर्भवति । ततश्चैकैकमयनं त्र्यशीत्यधिकदिनशतेनाऽतिक्रामति । मासे तु सूर्यसम्बन्धिनि सार्धत्रिंशद्दिनानि भवन्ति, यश्च मासे मुहूर्तो वर्धते तस्यैतैः सार्धत्रिंशद्दिवसैर्भागो ह्रियते, मुहूर्त्तस्तु द्विघटिकामानो भवति, अत एकैकस्या अपि घटिकाया एकषष्टिभागाः कल्प्यन्ते । ततो घटिकाद्वय एकषष्टिभागानां द्वाविंशं शतं भवति । सार्धत्रिंशद्दिनमाने च मासे रात्रिंदिनपौरुषीणामपि प्रत्येकं द्वाविंशं शतं भवति । अत एतेन द्वाविंशेन शतेन मुहूर्त्तगतघटिकैकषष्टिभागानां द्वाविंशस्य शतस्य भागे हृत एकैको द्वाविंशशततमो घटिकैकषष्टिभागः समागच्छति । स च प्रतिदिनमेकैकस्या दिन-रात्रिपौरुष्या यथायोगं वर्धते, हीयते चेति । अतः साधूक्तम्' 'वुड्डी वावीसुत्तर' इत्यादि ॥ २०७१ ॥

अथवा-प्रकारान्तरेणाऽस्यस्याऽर्थस्याऽवबोधार्थमाह—

उक्कोस-जहन्नाणं, जदंतरालमिह पोरिसीणं तं ।
तसीयसयविभत्तं, वुड्डिं हाणिं च जाणाहि ॥२०७२॥

उत्कृष्टा नवघटिकाप्रमाणा पौरुषी, जघन्या तु षड्घटिकाप्रमाणेत्युक्तमेव । एतयोश्च जघन्योत्कृष्टयोः पौरुष्योर्यद् घटिकात्रयलक्षणमन्तरालं तद्यनगतत्र्यशीतिशतविभक्तं प्रतिदिनं पौरुष्या वृद्धिं हानिं च जानीहि । इदमुक्तं भवति-त्र्यशीतेन दिनशतेन तिस्रो घटिका वर्धन्ते हीयन्ते वा पौरुष्याः, तर्हि प्रतिदिन तस्याः किं वर्धते हीयते वा ?, इत्यस्य जिज्ञासायां घटिकात्रयस्य त्र्यशीतेन भागो ह्रियते, तत एकैका घटिकैकषष्टिभिर्भागैः क्रियते, ततस्त्र्यशीत्यधिकं शतमेकषष्टिभागानां भवति, तस्य च त्र्यशीतेनैव त्रिनशतेन भागे हृते प्रतिदिनमेकषष्टिभागो वृद्धौ हानौ वा पौरुष्या लभ्यत इति स एवाऽर्थः, अस्याप्येकस्यैकषष्टिभागस्य मुहूर्त्तद्वाविंशशततमभागरूपत्वादिति । विशे० ।

तत्र पौरुष्येव न ज्ञायते किं प्रमाणा ?, अतस्तत्प्रतिपादनायाऽऽह—

पोरिसिपमाणकालो, निच्छयववहारओ जिणक्खाओ ।
निच्छयओ करणजुओ, ववहारमतो परं वोच्छं ॥२८१॥

पौरुष्याः प्रमाणकालो द्विविधः; निश्चयतो व्यवहारतश्च ज्ञातव्यः, तत्र निश्चयतो—निश्चयनयाऽभिप्रायेण करणयुक्तो गणितन्यायात्, अतः परं व्यावहारिको—व्यवहारनयमतेन वक्ष्ये ।

तत्र निश्चयपौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाऽऽह—

अयणाई य दिणगणे, अट्ठगुणेगट्ठिभाइए लद्धं ।
उत्तरदाहिणमाई, पोरिसि पयसुज्झपक्खेवा ॥ २८२ ॥

दक्षिणायने उत्तरायणदिनानि, उत्तरायणे दक्षिणायनदिनानि मीलयित्वा गण्यन्ते, स राशिरष्टभिर्गुण्यते, एकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धेऽङ्गुलानि, द्वादशाङ्गुलैः पादः यावता भवति (उत्तर त्ति)मकरदिने ४ पादाः । (दाहिण त्ति कर्कदिने २ पादौ, शेषेषु पदशुद्धिप्रक्षेपौ ।

व्यवहारतोऽधुना पौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाऽऽह—

आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरिसी ॥ २८३ ॥

आषाढे मासे पौर्णमास्या द्विपदा पौरुषी भवति, पदं च द्वादशाङ्गुलं ग्राह्यं, पौषे मासे पौर्णमास्या चतुष्पदा पौरुषी भवति, तथा चैत्राश्वयुजपौर्णमास्या त्रिपदा पौरुषी भवति ।

अधुना कियती वृद्धिः कियत्सु दिनेषु कियती वा हानिरित्येतत्प्रतिपादयन्नाह—

अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेण तु दुअंगुलं ।
वड्डए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥ २८४ ॥

आषाढपौर्णमास्या आरभ्याङ्गुलं सप्तरात्रेण वर्द्धते, पक्षेण तु अङ्गुलद्वयं वर्धते, तथा मासेनाङ्गुलचतुष्टयं वर्द्धते, इयं च वृद्धिरुत्तरोत्तरं तावज्ज्ञेया यावत्पौषमासपौर्णमास्यां पदचतुष्टयेन पौरुषी जायते, हानिरपि पौर्णमास्याः परत एवमेव च द्रष्टव्या, यदुताङ्गुलं सप्तरात्रेणापह्रियते, पक्षेणाङ्गुलद्वयं, मासेनाङ्गुलचतुष्टयम्, एवमियं हानिरुत्तरोत्तरं तावज्ज्ञेया यावदाषाढपौर्णमास्या द्विपदा पौरुषी जायेत । स्थापना चेयम्-"आसाढपुण्णिमाए पद २ पोरुसी, सावणपुण्णिमाए पद २ अंगुल ४, भद्दवयपुण्णिमाए पद २ अंगुल ८, आसोयपुण्णिमाए पद ३, कत्तियपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ४, मग्गसिरपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ८, पोसपुण्णिमाए पद ४, एत्तिअं जाव वुड्डी होइ । माहपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ८, फग्गुणपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ४, चेत्तपुण्णिमाए पद ३, वइसाहपुण्णिमाए पद २, अंगुल ८, जेट्ठपुण्णिमाए पद २ अंगुल ४, आसाढपुण्णिमाए पद २ इत्तियं जाव हाणी । भावत्थो इमोसावणस्स पढमदिवसाओ आरब्भ वुड्डी जदा भवति तदा दिवसे दिवसे अंगुलस्स सत्तमो भागो किंचिदूणो वड्डइ,

इमं भणिअं होइ-सावणस्स पढमदिवसे दोहिं पएहिं पोरिसी होइ अंगुलस्स सत्तमेण भागेण किंचिण्णूणेण अहिया, एव बितियदिवसे दो पयाइं दो अ सत्तमभागा अंगुलस्स किंचिण्णूणा, एवं पयाए वुड्ढीए ताव जाव सावणपुण्णिमाए दो पयाइं चत्तारि य अंगुलाइं वुड्ढी जाया, एवं इमाइ कमं वुड्ढीए ताव नेयव्व जाव पोसमासपुण्णिमा। तत्थ चउप्पया पोरिसी, ततो परं माहपढमदिवसाउ आरब्भ हाणीएतेण चेव कमेण नायव्वा०जाव आसाढपुण्णिमा।" आह-इदमुक्तं सप्तभिर्दिवसैरङ्गुलं वर्द्धते,तथा पक्षेणाङ्गुलद्वय वर्द्धते इत्युक्तं, तदयं विरोधः कुतो ?, यदा पक्षेणाङ्गुलद्वयं वर्द्धते तदाऽङ्गुलं सप्तभिः सार्द्धैर्दिवसैर्वर्द्धते ?। आचार्यस्त्वाह-सत्यमेतत् , किन्त्वनेनैव तत्प्रख्याप्यते-वरं किञ्चिद् वृद्धायां पौरुष्यां पारितं मा भून्न्यूनायां, प्रत्याख्यानभङ्गभयात् , न्यूनता च पौरुष्यामेवं भवति, यदि याऽसौ मातुमारब्धा छाया, तस्यां यदि प्रदीर्घायां भुङ्क्ते तदा न्यूना पौरुषी, अधिका च तदा भवति यदा सा छाया स्वल्पा भवतीति।

अधुना येषु मासेष्वहोरात्राणि पतन्ति तान् मासान् प्रतिपादयन्नाह—

आसाढबहुलपक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुणवइसाहेसु य, बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ॥ २८५ ॥

आषाढस्य मासस्य बहुलपक्षे-कृष्णपक्षेऽहोरात्रं पतति, तथा भाद्रपदबहुलपक्षे कार्तिकबहुलपक्षे पौषबहुलपक्षे फाल्गुनबहुलपक्षे वैशाखबहुलपक्षे चाहोरात्राणि पतन्ति। 'ओमरत्तं ' अहोरात्रं न च तैरहोरात्रैः पतद्भिरपि पौरुष्या न्यूनता वेदितव्या, अस्याऽर्थस्य ज्ञापनार्थमिदमुक्तम्।

एवं तावत्पौरुष्याः प्रमाणमुपगतं, या तु पुनश्चरमपौरुषी सा कियत्प्रमाणा भवतीत्यतस्तत्स्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह—

जेट्ठामूले आसा-ढसावणे छहिँ ऽङ्गुलेहिँ पडिलेहा।
अट्ठहिँ बीअतियम्मि य,तइए दस अट्ठहि चउत्थे ।२८६।

ज्येष्ठामूले मासे तथाऽऽषाढश्रावणे षड्भिरङ्गुलैर्यावद्याऽपि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। ( अट्ठहिँ बीअतियम्मि त्ति ) भाद्रपदे आश्वयुजे कार्तिके चाऽस्मिन् द्वितीयत्रिकेऽष्टभिरङ्गुलैर्यावद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। ( तइए दस त्ति ) मार्गशिरे पौषे माघे च एतस्मिन् तृतीये त्रिके दशभिरङ्गुलैर्यावद्याऽपि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। ( अट्ठहिं चउत्थे त्ति ) फाल्गुने चैत्रे वैशाखे च अस्मिश्चतुर्थे त्रिकेऽष्टभिरङ्गुलैर्यावन्न पूर्यते पौरुषी तावच्चरमपौरुषी भवति ॥ ओघ०।

**पोरिसीपच्चक्खाण**-पौरुषीप्रत्याख्यान-न०। प्रथमपौरुष्यां चतुर्विधाऽऽहारप्रत्याख्याने, तत्प्रत्याख्याने षट् ६ आकाराः। प्रव० ४ द्वार।

नमु (का) कारपोरिसीए, पुरिमड्ढेगासणेगठाणे य।
आयंबिल ऽभत्तट्ठे, चरमे य अभिग्गहेविगई ॥ १५९७ ॥
दो छच्च सत्त अट्ठ, सत्तट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि।
चउ पंच अट्ठ नवयं, पत्तेयं पिंडए नवए ॥ १५९८ ॥
दोच्चेव नमुक्कारे, आगाग छच्च पोरिसीए उ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे, एगासणगम्मि अट्ठेव ॥ १५९९ ॥
सत्तेगट्ठाणस्स उ, अट्ठेवायंबिलम्मि आगारा।
पंचेव अभत्तट्ठे, छप्पाणे चरिमि चत्तारि ॥ १६०० ॥
पंच चउरो अभिग्गहि, निव्वीए अट्ठ नव य आगारा।
अप्पाउरण पचउ,हवंति सेसेसु चत्तारि।१६०१।आव०।

('आसां गाथानामर्थः 'पच्चक्खाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०४ पृष्ठे गतः।) षट् चेति पौरुष्यां तु, इह च पौरुषी नाम—प्रत्याख्यानविशेषः, तस्यां षट् आकारा भवन्ति।

इह चेदं सूत्रम्—

पोरिसिं पच्चक्खाति, उग्गते सूरे चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साधुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

अनाभोगसहसाकारसंगतिः पूर्ववत् , प्रच्छन्नकालाऽऽदीनां त्विदं स्वरूपम्—"पच्छण्णातो दिसा उ रएण रेणुणा पव्वएण वा अण्णएण वा अंतरिते सूरो ण दीसति, पोरिसी पुण्णत्ति कातुं पारितो, पच्छा णातं, ताहे ठाइतव्वं ण भग्गं, जति भुंजति तो भग्गं, एवं सव्वेहि वि, दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हि वि खेत्ते दिसामोहो भवति, सो पुरिमं पच्छिमं दिसं जाणति, एवं सो दिसामोहेण अइरुग्गइं पि सूरं दट्ठु उस्सूरीभूतं ति मएणति, णाते ठाति, साधुणो भणंति—उग्घाड पोरिसी ताव सो पजिमितो, पारित्ता मिणत्ति, अण्णो वा मिणइ, तेणं से भुंजंतस्स कहितं ण पूरितं ति, ताहे ठाइदव्वं, समाधी णाम तेण य पोरिसी पच्चक्खाता, आसुकारितं च दुक्खं जातं अण्णस्स वा, ताहे तस्स पसमणणिमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा दिज्जति, एत्थंतरा णाते तहेव विवेगो।" सप्तैव च पुरिमार्द्धे-पुरिमार्द्धं प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यानं गृह्यते, तत्र सप्त आकारा भवन्ति। इह च इदं सूत्रम्—'सूरे उग्गते ' इत्यादि, षडाकारा गतार्थाः, नवरं महत्तराकारः सप्तमः, असावपि सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्याने साकारे कृताधिकारे अत्रैव व्याख्यात इति न प्रतन्यते। आव० ६ अ०। ध०। पञ्चा०। स० प्र०।

" पोरिसिं पच्चक्खाइ " इत्यादि आवश्यकषष्ठाध्ययनसूत्र.६ एवमपि व्याख्यातः—

पुरुषः प्रमाणमस्याः सा पौरुषी छाया, तत्प्रमितः कालोऽपि पौरुषी,प्रहर इत्यर्थः। तां प्रत्याख्याति। अत्र च " कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे " ॥२।२।५॥ इति द्वितीया। ततः पौरुषीं यावत् प्रत्याख्यानं करोतीत्यर्थः। एवमन्यत्राऽपि, कथं चतुर्विधमप्याहारमशनाऽऽदिकं व्युत्सृजतीति ?। अन्यत्रानाभोगाऽऽद्याकारेभ्यस्तत्रानाभोगसहसाकारौ पूर्ववदन्यत्र प्रच्छन्नकालात् दिग्मोहात् साधुवचनात् , सर्वसमाधिप्रत्ययाकाराच्च। प्रच्छन्नता च कालस्य घनतरघनाघनपटलेन विस्फुरद्रजसा गुरुतरगिरिणा चान्तरितत्वात् दिवाकरो न दृश्यते, तत्र पौरुषीं पूर्णां ज्ञात्वा भुञ्जानस्यापूर्णायामपि पौरुष्यां न भङ्गः, ज्ञात्वा तु अर्द्धभुक्तेनाऽपि तथैव स्थातव्यं

यावत्पौरुषी पूर्णा भवति, पूर्णायां ततः परं भोक्तव्यम् । अपूर्णा पौरुषीति तु ज्ञाने तु भुञ्जानस्य भङ्ग एवेति । दिग्मोहस्तु यदा पूर्वामपि पश्चिमेति जानाति तदाऽपूर्णायामपि पौरुष्यां भुञ्जानस्य न भङ्गः। कथमपि मोहोपगमे तु पूर्ववदर्द्धभुक्तेनापि स्थातव्यम् , अन्यथा तु भङ्ग एवेति । तथा साधुवचनम्-"उग्घाटा पौरुषी" इत्यादिक विभ्रमकारणं, तत् श्रुत्वा भुञ्जानस्य न भङ्गो, भुञ्जानेन तु ज्ञाते अन्येन वा केनापि निवेदिते पूर्ववत् तथैव स्थातव्यम् । तथा कृतपौरुषीप्रत्याख्यानस्य सहसा संजाततीव्रशूलाऽऽदिदुःखतया। समुत्पन्नयोरार्तरौद्रध्यानयोः सर्वथा निराशः सर्वसमाधिः, स एव प्रत्ययः कारणं, स एवाऽऽकारः प्रत्याख्यानापवादसर्वसमाधिप्रत्ययाकारः। पौरुष्यामपूर्णायामप्यकस्मात् शूलाऽऽदिव्यथायामुत्पन्नायां तदुपशमनायौषधपथ्याऽऽदिकं भुञ्जानस्य न प्रत्याख्यानभङ्ग इति भावः । वैद्याऽऽदिर्वा कृतपौरुषीप्रत्याख्यानोऽन्यस्याऽऽतुरस्य समाधिनिमित्तं यदा अपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्गः, अर्द्धभुक्ते त्वातुरस्य समाधौ मरणे चोत्पन्ने सति तथैव भोजनत्यागः । सार्द्धपौरुषीप्रत्याख्यान पौरुषीवद्वाच्यं, तस्य तदन्तर्गतत्वादिति । प्रव० ४ द्वार। श्राद्धानां पौरुष्यादिप्रत्याख्यानं चतुर्विधाऽऽहारमेव भवति, अन्यथाऽपि वेत्यत्र " निसिपोरिसिपुरिमेगा—सणाइसड्ढाण दुतिचउहा।'' इति भाष्यवचनात् द्विविधाऽऽहार त्रिविधाऽऽहारं चतुर्विधाऽऽहारं वा कर्तुं कल्पते ॥५॥ ह्री० ३ प्रका० ।

पोरिसीमंडल-पौरुषीमण्डल-न०। पुरुषः-शङ्कुः, पुरुषशरीरं वा, तस्मान्निष्पन्ना पौरुषी । " तत आगतः " ॥ ४ । ३ । ७४ ॥ इत्यण् । आह चूर्णिकृत्-" पुरिसो त्ति संकू । ' न० । पुरुषशङ्कुः शरीरं वा तस्मान्निष्पन्ना पौरुषी । पा० । ( अत्र विशेषव्याख्यानम् ' पडिक्कमण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०४ पृष्ठे गतम् । )

पोरिसीय-पौरुषिक-न०। पुरुषः परिमाणमस्येति पौरुषिकम्। पुरुषपरिमिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

पोरेवच्च-पौरपत्य-न०। पुरस्य पति पुरपतिः, तस्य कर्म पौरपत्यम्। सर्वेषामग्रेसरत्वे,जी० ३ प्रति० ४ अधि० । पुरोवर्त्तित्वे, विपा० १ श्रु०१ अ० । स० । जं० । ज्ञा० । जी० । प्रज्ञा० । सर्वेषामात्मीयानां मध्येऽग्रेसरत्वे, आ०म०१ अ० । औ० । भ० ।

पोल-पोल-न० । शुषिरे, प० व० २ द्वार।

पोलच्च-देशी-खेटितभूमौ, दे० ना० ६ वर्ग ६३ गाथा ।

पोलहुण-प्रोल्लण्ठ-न० । प्रकर्षेण द्विस्त्रिर्वोल्लङ्घने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

पोलमराय-पोलमराज-पु०। काकृतीये नृपभेदे, ती०४६कल्प।

पोलास-पोलास-न० । श्वेताम्ब्यां नगर्यां स्वनामख्याते उद्याने, स्था० ७ ठा० । " पोलासं उज्जाणं, तत्थ अज्जासाढा नाम आयरिया । " उत्त० ४ अ० । आ० चू० । कल्प० ।

पोलासपुर-पोलासपुर-न० ।पुरभेदे, यत्र सद्दालपुत्र आसीत्। " पोलासपुरं णाम णयरं,सहस्संबवणे उज्जाणे जियसत्तू राया, तत्थ णं पोलासपुरे णयरे सद्दालपुत्ते णामं कुम्भकारे। " आ० म० १ अ० । उपा० । आ० चू० । स्था० । अन्त० ।

पोलासाढ-पोलासाढ-न० । श्वेताम्बिकायां नगर्यां पोलासोद्याने स्वनामख्याते चैत्ये, यत्राऽऽर्याषाढादयो व्याक्तिका निह्नवा जाताः । विशे० ।

पोलिअ-देशी-सैनिके, दे० ना० ६ वर्ग ६२ गाथा ।

पोलिंदी-पोलिन्दी-स्त्री० । पुलिन्दसम्बन्धिन्या ब्राह्म्या लिपेर्भेदे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार ।

पोलिया-पोलिका-स्त्री० । बह्वीभिस्तिलैर्निष्पादितायाम् , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । आव० ।

पोल्ल-पोल-त्रि० । रिक्ते, तं० । " पोल्ले य मुट्ठी जह से असारे, अयंतिए कूडकहावणे य । राढावणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥ ४२ ॥ " उत्त० २० अ० ।

पोल्लगमुट्ठि-पोल्लकमुष्टि-स्त्री० । रिक्तमुष्टौ, " तं० । रिक्तमुट्ठी विव बाललोभणिज्जाओ " ( स्त्रियः ) रिक्तमुष्टिवत्-पोल्लकमुष्टिवत् बाललोभनीया अव्यक्तजनलोभनयोग्याः, वल्कलचीरीतापसवत् । तं० ।

पोस-पौष-पुं० । भावे घञ्प्रत्ययः । पोषणे, प्रव० ६ द्वार । तदर्थितो वा पोषयतीति पोषः, तेन सेव्यमानेन पुष्यत इति पोषः, आत्मान वा तेन पोषयतीति पोष० । मृगीपदे, नि० चू० ६ उ० ।

पोस-पुं० । पुस उत्सर्गे, पुसति-पुरीषमुत्सृजति अनेनेति । अपानदेशे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

पौष-पु० । पुष्यनक्षत्रयुक्तपूर्णिमान्तके मासभेदे, स० २९ सम० । आ० म० । " हेमंतो पोस-मग्गसिरो । " पाइ० ना० २०७ गाथा ।

पोसंत-पोषान्त-न० । ६ त० । मृगीपदस्य( योनेः ) अभ्यन्तरे प्रान्ते, नि० चू० ६ उ० ।

पोसण-पोषण-न । भरणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । प्रतिजागरणकरणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अर्थदानाऽऽदिना सम्माने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । पयसाऽऽदिदानेन पुष्टीकरणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

पोसन-न० । पुस उत्सर्गे इति धातोरनटि पोसनम् । अपाने, जं० २ वक्ष० ।

पोसय-पोषक-त्रि० । रक्षके, पश्वादिपोषके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । ये तित्तिरकुक्कुटमयूरान् पोषयन्ति । व्य० २ उ० । स्था० । पं० चू० ।

पोसक-पुं० । पायौ, बृ० ४ उ० ।

पोसवत्थ-पोषवस्त्र-न० । कामं पुष्यतीति पोषं, कामोत्पादकारि शोभनमित्यर्थः । तच्च तद् वस्त्रं च । मनोहरवस्त्रे, " अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति । " तद्भीक्ष्णमनवरतं तेन शिथिलाऽऽदिव्यपदेशेन परिदधति स्वाभिप्रायमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधान शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्ति ( स्त्रियः ) सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

पोसह-पोषध-पुं०। पोषं-पुष्टिं प्रक्रमाद् धर्मस्य धत्ते करोतीति

पोषधः। अष्टमीचतुर्दशीपौर्णमास्यमावास्यापर्वदिनानुष्ठेये व्रतविशेषे, ध० २ अधि०। सूत्र०। स्था०। औ०। प्रव०। तं०। दश०। अनु०। भ०। स०। पञ्चा०। दशा०।

विधिसूत्रम्—

पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते। तं जहा–आहारपोसहे, सरीरसक्कारपोसहे, बंभचेरपोसहे, अव्वावारपोसहे (११)

इह पौषधशब्दो रूढ्या पर्वसु वर्तते, पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात्पर्व, धर्मोपचयहेतुत्वादित्यर्थः, पौषधे उपवसनं पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवास इति। अयं च पौषधोपवासश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा—आहारपौषध, आहारः प्रतीतस्तद्विषयस्तन्निमित्तं पौषध आहारपौषधः, आहारनिमित्तं धर्मपूरणं पर्वेति भावना। एवं शरीरसत्कारपौषधः, ब्रह्मचर्यपौषधः, अत्र चरणीयं चर्यम्, "अचो यत्" ॥ ३।१।९७ ॥ इत्यस्मादधिकारात् "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे" ॥ ३।१।१०० ॥ इति यत्। ब्रह्म–कुशलानुष्ठानम्। यथोक्तम्–"ब्रह्म वेदा ब्रह्म तपो, ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम्।" ब्रह्म च तच्चर्यं चेति समासः, शेषं पूर्ववत्। तथा अव्यापारपौषधः। "एत्थ पुण भावत्थो इमो–आहारपोसहो दुविहो–देसे, सव्वे य। देसे अमुगा विगती आयंबिलं वा एक्कसिं वा दो वा, सव्वे चउव्विहो वि आहारो अहोरत्तं पच्चक्खाओ, सरीरसक्कारपोसहो–ण्हाणुव्वट्टणवण्णगविलेवणपुप्फगंधतंबोलाणं वत्थाभरणाण य परिच्चागो य, सो वि देसे सव्वे य। देसे अमुगं सरीरसक्कारं करेमि, अमुगं न करेमि त्ति। सव्वे अहोरत्तं। बंभचेरपोसहो देसे सव्वे य, देसे दिवा रत्तिं वा एक्कसिं दो वा वारे त्ति, सव्वे अहोरत्तिं बंभयारी भवति, अव्वावारे पोसहो दुविहो—देसे सव्वे य, देसे अमुगं वावारं न करेमि, सव्वे सयलवावारे हलसगडघरपरक्कमादीओ न करेति, एत्थ जो देसपोसहं करेइ सामाइयं करेइ वा न वा, जो सव्वपोसहं करेइ सो नियमा कयसामाइओ, जदि न करेति तो नियमा वंचिज्जति, तं कहिं ?, चेइयघरे साहुमूले वा घरे वा पोसहसालाए वा उम्मुक्कमणिसुवण्णो पढंतो पोत्थगं वा वायंतो धम्मज्झाणं झायइ, जहा एए साहुगुणा अहं असमत्थो मंदभग्गो धारेउं विभासा।" आव० ६ अ०।

संपूर्णो विधिः पौषधस्य–

आहारतनुसत्कारा–ब्रह्मसावद्यकर्मणाम्।
त्यागः पर्वचतुष्टय्यां, तद्विदुः पौषधव्रतम् ॥ ३९ ॥

पर्वचतुष्टयी–अष्टमीचतुर्दशीपूर्णिमाऽमावास्यालक्षणा, तस्याम्, आहारः प्रतीतः, तनुसत्कारः–स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपनपुष्पगन्धविशिष्टवस्त्राऽऽदिः, अब्रह्म–मैथुनं, सावद्यकर्म–कृषिवाणिज्याऽऽदि, एतेषां यस्त्यागस्तत्पौषधव्रतं विदुर्जिना इत्यन्वयः। यतः सूत्रम्–"पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–आहारपोसहे, सरीरसक्कारपोसहे, बंभचेरपोसहे, अव्वावारपोसहे (११ आव० ६ अ०)" त्ति। तत्र पोषं–पुष्टिं प्रक्रमाद्धर्मस्य धत्ते इति पोषधः, स एव व्रतं पोषधव्रतमित्यर्थः, पोषधोपवास इत्यप्युच्यते, तथाहि–पोषध उक्तनिर्वचनोऽष्टम्यादिपर्वदिनाऽनुष्ठेयो व्रतविशेषस्तेनोपवसनम्–अवस्थानं पोषधोपवासः, अथवा–पोषधः अष्टम्यादिपर्वदिवसः उपेति सह उपावृत्तदोषस्य सतो गुणैराहारपरिहाराऽऽदिरूपैर्वास उपवासः। यथोक्तम्–"उपावृत्तस्य दोषेभ्यः, सम्यग्वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणम् ॥१॥" इति। ततः पोषधेषूपवासः पौषधोपवासः, आवश्यकवृत्ताविर्थं व्याख्यातत्वात्, तथाहि—"इह पौषधशब्दो रूढ्या पर्वसु वर्तते, पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात्पर्व धर्मोपचयहेतुत्वादित्यर्थः। पोषधेषूपवसनं पोषधोपवासः–नियमविशेषाभिधानं चेदमिति।" इयं च व्युत्पत्तिरेव, प्रवृत्तिस्तस्य शब्दस्याऽऽहाराऽऽदिचतुष्कवर्जनेषु, समवायाङ्गवृत्तौ श्रीअभयदेवसूरिभिरेवमेव व्याख्यानत्वात्। पोषधश्च आहार१शरीरसत्कार२ब्रह्मचर्या३ऽव्यापार४भेदाच्चतुर्धा, एकैकोऽपि देशसर्वभेदाद् द्विधेत्यष्टधा, तत्राऽऽहारपोषधो—देशतो विवक्षितविकृतेरविकृतेराचाम्लस्य वा सकृदेव द्विरेव वा भोजनमिति, सर्वतस्तु चतुर्विधस्याप्याहारस्याहोरात्रं यावत्प्रत्याख्यानं १, शरीरसत्कारपोषधो–देशतः शरीरसत्कारस्यैकतरस्याकरणं, सर्वतस्तु सर्वस्याऽपि तस्याकरणं २, ब्रह्मचर्यपोषधोऽपि देशतो दिवैव रात्रावेव सकृदेव द्विरेव वा स्त्रीसेवां मुक्त्वा ब्रह्मचर्यकरणं, सर्वतस्तु अहोरात्रं यावत् ब्रह्मचर्यपालनं ३. कु (अ) व्यापारपोषधस्तु देशत एकतरस्य कस्याऽपि कुव्यापारस्याकरणं, सर्वतस्तु सर्वेषां कृषिसेवावाणिज्यपाशुपाल्यगृहकर्मादीनामकरणम् ४। इह च देशतः कुव्यापारनिषेधे सामायिकं करोति वा न वा, सर्वतस्तु कुव्यापारनिषेधे नियमात्करोति सामायिकम्, अकरणे तु तत्फलेन वञ्च्यते सर्वत पोषधव्रतं च चैत्यगृहे वा साधुमूले वा गृहे वा पौषधशालायां वा त्यक्तमणिसुवर्णाऽऽद्यलङ्कारो व्यपगतमालाविलेपनवर्णकः परिहृतप्रहरणः प्रतिपद्यते, तत्र च कृते पठति, पुस्तकं वाचयति, धर्मध्यानं ध्यायति, यथा एतान् साधुगुणानहं मन्दभाग्यो न समर्थो धारयितुमिति आवश्यकचूर्णिश्रावकप्रज्ञप्तिवृत्त्याद्युक्तो विधिः। योगशास्त्रवृत्तौ त्वयमधिकः। तथाहि–"यद्याहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्यपोषधवत्कुव्यापारपोषधमप्यन्यत्रानाभोगेनेत्याद्याकारोच्चारणपूर्वकं प्रतिपद्यते, तदा सामायिकमपि सार्थकं भवति, स्थूलत्वात्पोषधप्रत्याख्यानस्य, सूक्ष्मत्वाच्च सामायिकव्रतस्येति। तथा पोषधवताऽपि सावद्यव्यापारो न कार्य एव, ततः सामायिकमकुर्वंस्तल्लाभाद् भ्रश्यतीति, यदि पुनः सामाचारीविशेषात् सामायिकमिव द्विविधं त्रिविधेनेत्येवं पोषधं प्रतिपद्यते, तदा सामायिकार्थस्य पोषधेनैव गतत्वान्न सामायिकमत्यन्तं फलवत् यदि परं पोषधसामायिकलक्षणं व्रतद्वयं प्रतिपन्नं मयेत्यभिप्रायात्फलवदिति।" एतेषां चाऽऽहाराऽऽदिपदानां चतुर्णां देशसर्वविशेषितानामेकद्व्यादिसंयोगजा अशीतिर्भङ्गा भवन्ति। तथाहि–एककसंयोगाः प्रागुक्ता एवाष्टौ। द्विकसंयोगाः षट् एकैकस्मिंश्च द्विकयोगे–देसे देसे १ देसे सव्वे २ सव्वे देसे ३ सव्वे सव्वे ४ एवं चत्वारश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, सर्वे चतुर्विंशतिः २४। त्रिकयोगाश्चत्वारो भवन्ति, एकैकस्मिंश्च त्रिकयोगे देशसर्वापेक्षया—देसे देसे देसे १ देसे देसे सव्वे २ देसे सव्वे देसे ३ देसे सव्वे सव्वे ४ सव्वे देसे देसे ५ सव्वे देसे सव्वे ६ सव्वे सव्वे देसे ७ सव्वे

सव्वे सव्वे ८ एवमष्टावष्टौ भवन्ति, सर्वे द्वात्रिंशत् ३२। चतुष्कयोगे एकः, तत्र देशसर्वापेक्षया षोडश१६भङ्गाः—देसे देसे देसे देसे १ देसे देसे देसे सव्वे २ देसे देसे सव्वे देसे ३ देसे देसे सव्वे सव्वे ४ देसे सव्वे देसे देसे ५ देसे सव्वे देसे सव्वे ६ देसे सव्वे सव्वे देसे ७ देसे सव्वे सव्वे सव्वे ८ सव्वे देसे देसे देसे ९ सव्वे देसे देसे सव्वे १० सव्वे देसे सव्वे देसे ११ सव्वे देसे सव्वे सव्वे १२ सव्वे सव्वे देसे देसे १३ सव्वे सव्वे देसे सव्वे १४ सव्वे सव्वे सव्वे देसे १५ सव्वे सव्वे सव्वे सव्वे १६ एवं सर्वेषां मीलने ८० अशीतिर्भङ्गाः स्युः स्थापना यन्त्रकाणि चेमानि—

एतेषां मध्ये पूर्वाऽऽचार्यपरम्परया समाचारीविशेषेणाऽऽहारपोषध एव देशसर्वभेदाद् द्विधाऽपि सम्प्रति क्रियते, निरवद्याऽऽहारस्य सामायिकेन सहाविरोधदर्शनात्।

पोषधस्याऽशीतिभङ्गयन्त्रकाणि—

एकसंयोगा देशत ४-आ० पो० दे० १, स० पो० दे० २, बं० पो० दे० ३। एकैकभङ्गाः सर्वत. ४—आ० पो० स० ५, स० पो० स० ६, बं० पो० स० ७। सर्वसामायिकव्रतवता साधुना—अ० पो० दे० ४, अ० पो० स० ८। उपधानतपोवाहिश्रावकेणाप्याहारग्रहणात्। शेषास्त्रयः पोषधाः सर्वत एवोच्चार्यन्ते, देशतस्तैः प्रायः सामायिकस्य विरोधात्, यतः सामायिके—आहारशरीरयोगे ४—आ० पो० दे० स० पो० दे० १, आ० पो० दे० स० पो० स० २, आ० पो० स० स० पो० दे० ३, आ० पो० स० स० पो० स० ४। आहारब्रह्मयोगे-आ० पो० दे० बं० पो० दे० ५, आ० पो० दे० ब० पो० स० ६, आ० पो० स० बं० पो० दे० ७, आ० पो० स० ब० पो० स० ८। आहारव्यापारयोगे ४—आ० पो० दे० अ० पो० दे० ९, आ० पो० दे० अ० पो० स० १०, आ० पो० स० अ० पो० दे० ११, आ० पो० स० अ० पो० स० १२। शरीरब्रह्मयोगे ४-स० पो० दे० बं० पो० दे० १३, स० पो० दे० बं० पो० स० १४, स० पो० स० बं० पो० दे० १५, स० पो० स० बं० पो० स० १६। शरीरव्यापारयोगे ४— स० पो० दे० अ० पो० दे० १७, स० पो० दे० अ० पो० स० १८, स० पो० स० अ० पो० दे० १९, स० पो० स० अ० पो० स० २०। ब्रह्माव्यापारयोगे ४—बं० पो० दे० अ० पो० दे० २१, बं० पो० दे० अ० पो० स० २२, बं० पो० स० अ० पो० दे० २३, ब० पो० स० अ० पो० स० २४। आहाराऽऽदिचतुर्णां त्रिकयोगे भङ्गाः ४। तत्रैकैकस्मिन्-दे० दे० दे० इत्याद्यष्टयोजने ३२। आहारशरीरब्रह्मयोगिकस्य दे० दे० दे० इत्यादियोगेऽष्टौ-आ० पो० दे० स० पो० दे० ब० पो० दे० १, आ० पो० दे० स० पो० दे० ब० पो० स० २, आ० पो० दे० स० पो० स० बं० पो० दे० ३, आ० पो० दे० स० पो० स० ब० पो० स० ४, आ० पो० स० स० पो० दे० ब० पो० दे० ५, आ० पो० स० स० पो० दे० ब० पो० स० ६, आ० पो० स० स० पो० स० ब० पो० दे० ७, आ० पो० स० स० पो० स० ब० पो० स० ८। आहारशरीरव्यापारयौगिकस्य दे० दे० दे० इत्यादियोगेऽष्टौ यथा—आ० पो० दे० स० पो० दे० अ० पो० दे० ९, आ० पो० दे० स० पो० दे० अ० पो० स० १०, आ० पो० दे० स० पो० स० अ० पो० दे० ११, आ० पो० दे० स० पो० स० अ० पो० स० १२, आ० पो० स० स० पो० दे० अ० पो० दे० १३, आ० पो० स० स० पो० दे० अ० पो० स० १४, आ० पो० स० स० पो० स० अ० पो० दे० १५, आ० पो० स० स० पो० स० अ० पो० स० १६। 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' इत्युच्चार्यते, शरीरसत्काराऽऽदिश्रये तु प्रायः सावद्यो योगः स्यादेव, निरवद्यदेहसत्कारव्यापारावपि विभूषाऽऽदिलोभनिमित्तत्वेन सामायिके निषिद्धावेव, आहारस्य त्वन्यथा शक्त्यभावे धर्माऽनुष्ठाननिर्वाहार्थं साधुवदुपासकस्याप्यनुमतत्वात्। उक्तं चाऽऽवश्यकचूर्णौ-आहारब्रह्माव्यापारयौगिकस्य दे० दे० दे० इत्यादियोगेऽष्टौ यथा-आ० पो० दे० ब० पो० दे० अ० पो० दे० १७, आ० पो० दे० बं० पो० दे० अ० पो० स० १८, आ० पो० दे० बं० पो० स० अ० पो० दे० १९, आ० पो० दे० ब० पो० स० अ० पो० स० २०, आ० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० दे० २१, आ० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० स० २२, आ० पो० स० बं० पो० स० अ० पो० दे० २३, आ० पो० स० ब० पो० स० अ० पो० स० २४। शरीरब्रह्माव्यापारयौगिकस्य पूर्ववत् अष्ट भङ्गाः - स० पो० दे० ब० पो० दे० अ० पो० दे० २५, स० पो० दे० बं० पो० दे० अ० पो० स० २६, स० पो० दे० बं० पो० स० अ० पो० दे० २७, स० पो० दे० बं० पो० स० अ० पो० स० २८, स० पो० स० ब० पो० दे० अ० पो० दे० २९, स० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० स० ३०, स० पो० स० बं० पो० स० अ० पो० दे० ३१, स० पो० स० बं० पो० स० अ० पो० स० ३२। चतुःसंयोगिकस्य दे० दे० दे० दे० इत्यादियोगे १६ भङ्गाः ८-आ० पो० दे० स० पो० दे० बं० पो० दे० अ० पो० दे० १, आ० पो० दे० स० पो० दे० ब० पो० दे० अ० पो० स० २, आ० पो० दे० स० पो० दे० बं० पो० स० अ० पो० दे० ३, आ० पो० दे० स० पो० दे० बं० पो० स० अ० पो० स० ४, आ० पो० दे० स० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० दे० ५, आ० पो० दे० स० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० स० ६, आ० पो० दे० स० पो० स० ब० पो० स० अ० पो० दे० ७, आ० पो० दे० स० पो० स० बं० पो० स० अ० पो० स० ८, आ० पो० स० स० पो० दे० बं० पो० दे० अ० पो० दे० ९, आ० पो० स० स० पो० दे० बं० पो० दे० अ० पो० स० १०, आ० पो० स० स० पो० दे० ब० पो० स० अ० पो० दे० ११, आ० पो० स० स० पो० दे० ब० पो० स० अ० पो० स० १२, आ० पो० स० स० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० दे० १३, आ० पो० स० स० पो० स० बं० पो० दे० अ० पो० स० १४, आ० पो० स० स० पो० स० बं० पो० स० अ० पो० दे० १५, आ० पो० स० स० पो० स० ब० पो० स० अ० पो० स० १६।

पोषधव्रताधिकारे तु " न सत्तिओ करिज्जा, तयो अ ज वच्चिओ समासेणं । देसावगासिएणं, जुत्तो सामाइएणं वा ॥ १ ॥" निशीथभाष्येऽप्युक्तं पौषधिनमाश्रित्य-" उद्दिट्ठकडं पि सो भुंजे " इति, चूर्णौ च " जं च उद्दिट्ठकडं तं कडसामाइओऽवि भुंजे " इति। इदं च पोषधसहितसामायिकापेक्षयैव संभाव्यते, केवलसामायिके तु मुहूर्तमात्रमानत्वेन पूर्वाऽऽचार्यपरम्पराऽऽदिनाऽऽहा-

रग्रहणस्याक्रियमाणत्वात्, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णावप्युक्तम्—" जइ देसओ आहारपोसहिओ तो भत्तपाणस्स गुरुसक्खिअं पाराविता आवस्सिअं करित्ता ईरिआसमिईए गतु घरं इरियावहिअं पडिक्कमइ, आगमणालोअणं च करेइ, चेइए वंदेइ तओ संडासयं पमज्जित्ता पाउंछणे निसीअइ, भायणं पमज्जइ, जहोचिए अ भोअणे परिवेसिए पंच मंगलमुच्चारेइ, सरेइ पच्चक्खाणं, तओ वयणं पमज्जित्ता· " असुरसुरं अचवचवं, अदुअमविलंबिअं अपरिसाडिं । मणवयणकायगुत्तो, भुंजइ साहु व्व उवउत्तो ॥ १ ॥" जायामायाए भुच्चा फासुअजलेण मुहसुद्धिं काउं नवकारसरणेण उट्ठाइ, देवे वंदइ, वंदणयं दाउ संवरणं काऊण पुणो वि पोसहसालाए गंतुं सज्झायंतो चिट्ठइ " त्ति । अतो देशपोषधे सामायिकसद्भावे यथोक्तविधिना भोजनमागमानुमतमेव दृश्यते । पोषधग्रहणपालनपारणविधिस्त्वयम्– " इह जम्मि दिणे सावओ पोसहं लेइ, तम्मि दिणे घरवावारं वज्जिअ पोसहसालाए गहियपोसहजुग्गोवगरणो पोसहसाल साहुसमीवे वा गच्छइ, तओ अंगपडिलेहणं करिय, ( अङ्गप्रतिलेखना पञ्चविंशतिः । ताश्च ' पडिलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४१ पृष्ठे "दिट्ठिपडिलेह एगा० " इत्यादिगाथाभ्यां प्रतिपादिताः । ) उच्चारपासवणे थंडिलं पडिलेहिय, ( उच्चारप्रश्रवणस्थण्डिलानां प्रतिलेखना ' पडिलेहणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४८ पृष्ठे गता । ) गुरुसमीवे नवकारपुव्वं वा ठवणायरियं ठावइत्ता, ( ' ठवणायरिय ' शब्दे· चतुर्थभागे १६६३ पृष्ठे तत्स्थापनविधिर्गतः।) इरियं पडिक्कमिय खमासमणेण वंदिय, पोसहमुहपत्तिं पडिलेहइ । तओ खमासमणं दाउं उद्धट्ठिओ भणइ-'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पोसहं संदिसावेमि ' बीयखमासमणेण ' पोसहं ठामि ' त्ति भणिय नमुक्कारपुव्वं पोसहमुच्चारेइ ' करेमि भंते ! पोसहं आहारपोसहं सव्वओ देसओ वा, सरीरसक्कारपोसहं सव्वओ, बंभचेरपोसहं सव्वओ, अव्वावारपोसहं सव्वओ चउव्विहे पोसहे ठामि०जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ' एवं पुत्तिपेहणपुव्वं खमासमणदुगेण सामाइअं करिय पुणो खमासमणदुगेण जइ वरिसारत्तो तओ कट्ठासणगं सेसट्ठमासेसु पाउंछणगं संदिसाविअ खमासमणदुगेण सज्झायं करेइ । तओ पडिक्कमणपुव्वं करिय खमासमणदुगेण बहुवेलं संदिसाविय खमासमणपुव्वं पडिलेहणं करेमि त्ति भणिय, मुहपत्तिं पाउंछणगं परिहरणं च पेहिय, साविया वि पुण पुत्तिं पाउंछणगमुत्तरीयं कंचुगं साडियं च पेहिय, खमासमणं दाउं भणइ-'इच्छाकारि भगवन् ! पडिलेहणा पडिलेहावउ' तओ इच्छंति भणिय, ठवणायरियं पेहिय, ठविय, खमासमणपुव्वं उवहिमुहपत्तिं पेहिय खमासमणदुगेण उवहिं संदिसाविय वत्थकंबलाइ पडिलेहेइ, तओ पोसहसालं जयणाए पमज्जिय, कज्जयं उद्धरिय, परिट्ठविय, इरिय पडिक्कमिय गमणागमणमालोइय खमासमणपुव्वं मंडलीए साहु व्व सज्झायं करेइ, तओ पढइ गुणइ पोत्थय वा वाएइ०जाव पउणपोरिसी, तओ खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय तहेव सज्झायइ०जाव कालवेला, जइ देवा वंदियव्वा हुंति, तो आवस्सियापुव्वं चेइयहरे देवे वंदइ, जइ पारणइ तो पच्चक्खाणे पुण्णे खमासमणपुव्वं पुत्तिं पेहिय खमासमण दाउं भणइ-" पारावह पोरिसी पुरिमड्ढो वा चउआहारकओ तिहारकओ आसि, निव्वीएणं आयंबिलेणं एगासणेणं पाणाहारेण वा जा काइ वेला तीए, तओ देवे वंदिअ सज्झायं करिय नियगिहे गंतु जइ हत्थसयाओ बाहिं तो इरियं पडिक्कमिय आगमणमालोइय अहासंभवं अतिहिसंविभागवयं फासिय निच्चले आसणे उवविसिय हत्थे पाए मुहं च पडिलेहित्ता नमुक्कारं भणिय फासुयमरत्तदुट्ठो जिमेइ, पोसहसालाए वा पुव्वसंदिट्ठनियसयणेहिं आणियं, नो भिक्खं हिंडइ । तओ पोसहसालाए गंतुं इरियं पडिक्कमिय देवे वंदिय वंदणं दाउं तिहारस्स चउहारस्स वा पच्चक्खाइ, जइ सरीरचिंताए अट्ठो तो आवस्सियं करिय साहु व्व उवउत्तो निज्जीवे थंडिले गंतुं विहिणा उच्चारपासवणं वोसिरिय सोयं करिय पोसहसालाए आगंतु इरियं पडिक्कमिय खमासमणपुव्वं भणइ-'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! गमणागमण आलोयउ इच्छं वसति हुंता आवसी करी अवरदक्खिणदिसि जाइउ दिसालोअ करिय अणुजाणह जस्सुग्गह ।त्ति भणिय, संडासए थंडिलं च पमज्जिअ, उच्चारपासवणं वोसिरिय, निसीहियं करिय, पोसहसालाए पविट्ठा, आवंतजंतेहिं जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।' तओ सज्झायं करेति ०जाव पच्छिमपहरो, तओ खमासमणपुव्वं पडिलेहणं करेमि, बीयखमासमणेणं पोसहसालं पमज्जेमि त्ति भणिय सावओ पुत्तिं पाउछणग पहिरणगं च पेहेइ , साविया पुण पुत्तिं पाउछणगं साडिअं कंचुगमुत्तरीयं च पेहेइ , तओ ठवणायरिय च पेहिय, पोसहसालं पमज्जिय खमासमणपुव्वं उवहिमुहपत्तिं पेहिय खमासमणेण मंडलीए जाणुट्ठिओ सज्झायं करिय वंदणं दाउं पच्चक्खाणं करिय खमासमणदुगेण उवहिं संदिसाविय वत्थकंबले पडिलेहिय सज्झायं करेइ, जो पुण अभत्तट्ठी सो सव्वावेहिअते पहिरणगं, साविया पुण गोसि व्व उवहिं पडिलेहेइ, कालवेलाए पुण खमासमणपुव्व सज्झाए अंतोवहिं च बारस बारस काइयउच्चारभूमीओ पेहेइ । यतः– " बारस बारस तिन्नि अ, काइअउच्चारकालभूमीओ । अंतोबहिं अहिआसे, अणहिआसेण पडिलेहा ॥ १ ॥ "

स्थापना–

बडी नीति संथारानइं समीपि–आगाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहियासे १, आगाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहियासे २, आगाढे दूरे उच्चारे पासवणे अणहियासे ३ । लघुनीति–आगाढे आसन्ने पासवणे अणहियासे १, आगाढे मज्झे पासवणे अणहियासे २, आगाढे दूरे पासवणे अणहियासे ३ । उपाश्रय नां बार मांहि लइं पासइं–आगाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे १ , आगाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे २, आगाढे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे ३ । उपाश्रयद्वार बाहिर लइं पासइ आगाढे आसन्ने पासवणे अहियासे १, आगाढे मज्झे

पासवणे अहियासे २, आगाढे दूरे पासवणे अहियासे ३। अणागाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहियासे १, अणागाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे २, अणागाढे दूरे उच्चारे पासवणे अणहियासे ३। अणागाढे आसन्ने पासवणे अणहियासे १, अणागाढे मज्झे पासवणे अणहियासे २, अणागाढे दूरे पासवणे अणहियासे ३। स्थण्डिलस्थाने-अणागाढे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहियासे १, अणागाढे मज्झे उच्चारे पासवणे अहियासे २, अणागाढे दूरे उच्चारे पासवणे अहियासे ३। अणागाढे आसन्ने पासवणे अहियासे १, अणागाढे मज्झे पासवणे अहियासे २, अणागाढे दूरे पासवणे अहियासे ३। तओ पडिक्कमणं करिय सइ संभवे साहूणं विस्सामणा खमासमणं दाऊण सज्झाय करेइ, ०जाव पोरिसी, तओ खमासमणपुव्व भणइ—इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! बहुपडिपुन्ना पोरिसी राइसंथारए ठामि, तओ देवे वंदिय सरीरचिंतं सोहिय सव्व बाहिरुवहिं पेहिय जाणुवरिं संथारुत्तरपट्टं मेलिय जओ पाए भूमिं पमज्जिय सणियं संथरइ, तओ वामपाएण संथार संघट्टिय पुत्ति पेहिय निसीहीइ नमो खमासमणाणं अणुजाणह जिट्ठिज्ज त्ति भणतो संथारए उवविसिय नमुक्कारतिअं तिन्नि वारे सामाइय कड्डिय-

" अणुजाणह परमगुरू, गुरुगुणरयणेहिं मंडियसरीरा।
बहुपडिपुन्ना पोरिसि, राईसंथारए ठामि ॥ १ ॥
अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेण।
कुक्कुडिपायपसारण, अतरंत पमज्जए भूमिं ॥ २ ॥
संकोइयसंडासा, उव्वट्टंते य कायपडिलेहा।
दव्वाई उवओगं, ऊसासनिरुंभणाऽऽलोए ॥ ३ ॥
जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्स इमाए रयणीए।
आहारमुवहिदेह, सव्व तिविहेण वोसिरियं ॥ ४ ॥ "

चत्तारि मंगलमिच्चाइभावणाभाविय नमुक्कारं समरंतो रओहरणाइणा सरीरगं संथारगस्सुवरिभाग च पमज्जिअ वामपासेण बाहूवहाणेण सुयइ, जइ सरीरचिंताए अट्ठो संथारगं अन्नेण संघट्टाविय आवस्सियं करिय पुव्वपेहियथण्डिले काइअं वोसिरिय इरियं पडिक्कमिय गमणागमणमालोइअ जहन्नेण वि तिन्नि गाहाओ सज्झाइय नमुक्कारं समरंतो तहेव सुयइ। पच्छिमजामे इरिय पडिक्कमिय 'कुसुमिणदुसुमिणकाउस्सग्गं' चिइवंदणं च काउं आयरियाइ वंदिय सज्झाय करेइ, जाव पडिक्कमणवेला, तओ पुव्वं व पडिक्कमणाइ जाव मंडलीए सज्झाअ करिअ जइ पोसह पारिउकामो तो खमासमणं दाउं भणइ—' इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! मुहपुत्तिं पडिलेहेमि।' गुरू भणइ—' पडिलेहह ' तओ पुत्तिं पेहिय खमासमणं दाउ भणइ-' इच्छाकारेण संदिसह पोसह पारउ ?। गुरू भणइ-' पुणो वि कायव्व' (व्वो) बीयखमासमणेणं भणइ ' पोसह पारिओ। ' गुरू भणइ-' आयारो न मुत्तव्वो।' तओ उद्धट्ठिओ नमुक्कारं भणिअ जाणुट्ठिओ भूमिट्ठियसिरो भणइ—

" सागरचंदो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो।
जेसिं पोसहपडिमा, अखंडिआ जीवियंते वि ॥ १ ॥
धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंद कामदेवा य।
जेसिं पसंसइ भयवं, दढव्वय तं (दढव्वयत्तं) महावीरो ॥२॥"

पोसहविधे लीधउँ विधे पारिओ विधि करतां जइ काई अविधिखंडनविराधना मने वचने कायाइं तस्स मिच्छामि दुक्कडं " एवं सामाइअ पि, नवरं—

सामाइयवयजुत्तो, जाव मणे होइ नियमसंजुत्तो।
छिंदइ असुहं कम्मं, सामाइअ जत्तिआ वारा ॥ १ ॥
छउमत्थो मूढमणो, कित्तिअमित्त च संभरइ जीवो।
जं च (न) सुमरामि अहं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥ २ ॥
सामाइअपोसहसु-ट्ठिअस्स जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो संसारफलहेऊ ॥ ३ ॥

तओ सामायिक विधइं लिधउँ इच्वाई भणइ, एवं दिवसपोसह पि, नवरं—' जाव दिवसं पज्जुवासामि, त्ति भणइ, देवसिआइपडिक्कमणे कए पारेउ कप्पइ। रात्रिपोषधमप्येव, नवरं मज्झण्हाओ परओ जाव दिवसस्स अंतोमुहुत्तो ताव घिप्पइ, तहा 'दिवसं सेसं रत्तिं पज्जुवासामि ' त्ति भणइ, पोसहपारणए साहुसंभवे नियमा अतिहिसंविभागवय फासिय पारेयव्वं।" अत्र च पर्वचतुष्टयीति तस्यामवश्यकर्त्तव्यत्वोपदर्शनार्थमुक्ता, न तु तस्यामेवेति नियमदर्शनाय " सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए तहा जोगो। अट्ठमिचउद्दसीसुं, निअमेण हविज्ज पोसहिओ ॥ १ ॥ " इति। आवश्यकचूर्ण्यादौ तथा दर्शनात्। न च ' चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालेमाणा ' इति सूत्रकृताङ्गादौ श्रावकवर्णनाधिकारीयावदर्शनादष्टम्यादिपर्वस्वेव पोषध कार्यो न शेषदिवसेष्विति वाच्य, विपाकश्रुताङ्गे सुबाहुकुमारकृतपौषधत्रयाऽभिधानात्, तथा च सूत्रम्-"तए णं से सुबाहुकुमारे अन्नया कयाइ चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासीसु०जाव पोसहसालाए पोसहिए अट्ठमभत्तिए पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ " इति। एतद्व्रतफल त्वेवमुक्तम्-" कचणमणिसोवाणं, थंभसहस्सुस्सिअं सुवण्णतलं। जो कारिज्ज जिणहरं, तओ वि तवसंजमो अहिओ ॥ १ ॥" एकस्मिन् सामायिके मुहूर्त्तमात्रे " बाणवई कोडीओ " इति गाथया प्रागुक्तलाभः, स त्रिंशन्मुहूर्त्तमानेऽहोरात्रपौषधे त्रिंशद्गुणो बादरवृत्त्या। स चायम्—"सत्तत्तरि सत्त सया, सतहत्तरि सहसलक्खकोडीओ। सगवीस कोडिसया, नवभागा सत्त पलिअस्स ॥ १ ॥" अङ्कतोऽपि—२७७७७७७७७७७ ⁷⁄₉ एतावत्पल्यायुर्बन्ध एकस्मिन् पोषधे ॥ ३६ ॥ इति प्रतिपादितं तृतीयं शिक्षापदव्रतम्। ध० २ अधि०।

पौषधमेव स्वरूपतो दर्शयन्नाह—

पोसेइ कुसलधम्मे, जं ताऽऽहाराइचागऽणुट्ठाणं।
इह पोसहो त्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणेव ॥ १४ ॥

अथ पोषधं तत्त्वतो निरूप्य भेदतस्तान्निरूपयन्नाह—

आहारपोसहो खलु, सरीरसक्कारपोसहे चेव।
बंभऽव्वावारेसु य, एयगया धम्मवुड्ढि त्ति ॥ १५ ॥

पञ्चा० १० विव०। स्था०। आ० चू०। ('उवासगपडिमा' शब्दे २ भागे ११०३ पृष्ठे व्याख्या गता।)

अस्यातिचाराः—

तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा । तं जहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारे १, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारे २, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमी ३, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमी ४ । पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया । उपा० १ अ० ।

( एषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने ) प्रव० । अत्र हीरविजयसूरिं प्रति प्रश्नः—पौषधवत्यो नार्योऽध्वनि देवगुरुगुणगानं कुर्वन्तीति क्वास्ति ?, अत्र नेयं शास्त्रोक्ता रीतिरिति बोध्यम् । १० प्र० । ही० ३ प्रका० । श्राद्धस्य गृहे पौषधोच्चारः—तथा श्राद्धो गुरुमुखेन पौषधमुच्चारयति, तदा गमनाऽऽगमने आलोचयति न वेति, अत्र यदि स्वयं पौषधकरणानन्तरं गमनाऽऽगमने कृते भवस्तदा गुरुमुखेन पौषधकरणाऽवसरे ते आलोचयति नान्यथेति । ६ प्र० । ही० ३ प्रका० । तथा पौषधे शकलातसंस्तारिकं व्यापारयितुं कल्पते, न वेति ?, तथा तंबोलो भक्षयितु कल्पते, न वेति ?, तथा जेमनोपकरणानि कथं गृह्यन्ते ?, यतस्तत्र मुत्कलानीतं वस्तु कल्पते, न वेति ?, अत्र शकलातसंस्तारिकं पौषधमध्ये व्यापारयितुं कल्पते, तथा तंबोलो लवङ्गकाष्ठिकाऽऽदिकः कारणे पौषधमध्ये भक्षयितु कल्पते, तथा मुत्कलानीतोपकरणाना शुद्ध्यमाननानिषेधो ज्ञातो नास्तीति ॥ ११ प्र० । ही० ४ प्रका० । पौषधे उच्चारिते सामायिकोच्चारणम्—पौषधे उच्चारिते कः सावद्यव्यापारः स्थितो वर्तते यदर्थं सामायिकमुच्चार्यते, तथा पौषधे देशावकाशिकं नोच्चार्यते, सामायिके चोच्चार्यते, तत्र किं प्रयोजनम् ?, इति । अत्र पौषधकरणाऽनन्तरं यत्सामायिकमुच्चार्यते तत्स्वजापतितनवमयनाऽऽराधनार्थं, यत्पुनर्देशावकाशिकं न क्रियते तत् पौषधिको निरवद्यतया गमनाऽऽदौ प्रवर्त्तते, तेन तत्करणे किं प्रयोजनमिति, सामायिकमध्ये देशावकाशिककरणं तु सामायिके द्विघटिकामाने पारितेऽपि ततः परं विरतिकरणार्थम् । इति ॥ २३ प्र० । ही० ४ प्रका० । पौषधिकस्य मस्तकवन्धाऽऽदि—पौषधिकः श्राद्धो वस्त्रेण मस्तकं बन्धयित्वा देवगृहमध्ये गत्वा देववन्दनं करोति न वेति ?, अत्र पौषधिकश्राद्धस्य मुख्यवृत्त्या मस्तकवन्धनाधिकारो नास्ति, कारणे पुन "कालीओ" इति प्रसिद्धवस्त्रेण बन्धनं देवगृहमध्ये देववन्दनाऽऽदिक्रियायां क्रियमाणाया दृष्टिर्न विलोक्यते, शास्त्रे विशेषो ज्ञातो नाऽस्तीति ॥ ३३ प्र० । ही० ४ प्रका० । तथा अन्यतीर्थीयैः कश्चिद्यदि पौषधमुच्चारयति, तदा किं नन्दिं विनाऽप्युच्चार्यते, उत नन्दिसहितमेवेति अत्र अन्यतीर्थीय कश्चित्पौषधमुच्चारयति तदा नन्दिं विनाऽपि उच्चार्यते तदाधिक्य निषेधः कोऽपि ज्ञातो नास्तीति ॥ ३६ प्र० । तथा पौषधिकश्राद्धो यदाहारं गृह्णाति तदा तस्य जेमनानन्तरं चैत्यवन्दनाऽवसरात् पानीयं पातुं शुद्ध्यति, न वा ?, तथा रात्रौ दिवसपौषधिकः आहारग्राहकपौषधिकः सन्ध्यासमयप्र-

तिलेखनां केनानुक्रमेण करोतीति ?, अत्र पौषधिकश्राद्धस्याऽऽहारग्रहणानन्तरं चैत्यवन्दनायां कृतायामेव पानीयं पातुं शुद्ध्यति, नान्यथा, यतः पौषधमध्ये श्राद्धस्याऽपि बह्वी क्रियातिर्यतिवदेव वर्तते, तथा आहारग्राहकपौषधिकः सन्ध्यासमये प्रतिलेखनायां मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य परिधानांशुकं परिवृत्य-"पडिलेहणा पडिलेहावो" इत्यादेशं मार्गयित्वा तत्कृत्यं च विधाय उपधिं मुखपट्टीं प्रतिलिख्य स्वाध्यायं कृत्वा वन्दनकद्वयं दत्त्वा प्रत्याख्यानं कृत्वा० " उपधिं संदिसावुं उपधि पडिलेहुं ।" इत्यादेशद्विकं क्षमाश्रमणद्विकेन मार्गयतीति सामाचारी वर्तते, उपधानपौषधिकस्यायं विशेषः—यत्पानीयपानानन्तरं गुरुपार्श्वे स्थापनाऽऽचार्यपार्श्वे वा मुखवस्त्रिकां प्रतिलिख्य वन्दनकद्वयं दत्त्वा च प्रत्याख्यानं करोति, न पुनः प्रतिलेखनासमये वन्दनकदानप्रत्याख्याने करोति, अन्यदन्तरं तु ज्ञातं नास्तीति ॥ ३७ प्र० । तथा रात्रिपौषधिकः प्रश्रवणोच्चारभूम्योः कति मण्डलकानि करोतीति ?, अत्र रात्रिपौषधिकः प्रश्रवणोच्चारपरिष्ठापनभूम्योश्चतुर्विंशतिमण्डलकानि करोति, द्वादश मध्ये द्वादश बहिश्च, "बारस बारस तिन्नि अ ।" इति वचनादिति ॥ ३८ प्र० । तथा यः संध्याया रात्रिपौषधं करोति स तदुच्चारणानन्तरं पानीयं पिबति, न वेति ?, अत्र यः सन्ध्याया रात्रिपौषधं करोति तस्याऽऽहारपौषधः सर्वेन एवोच्चार्यते, न देशतस्तेन दिवसपौषधो भवतु, मा वा, परं रात्रिपौषधकरणानन्तरं स पानीयं न पिबतीति ॥ ३९ प्र० । तथा—त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्याननिर्विकृतिकैकाशनकद्व्यशनकेषु कृतेषु आर्द्रशाकभक्षणं शुद्ध्यति, न वेति ?, अत्र निर्विकृताऽऽदिषु त्रिविधाऽऽहारप्रत्याख्यानेषु एकान्तेन आर्द्रशाकभक्षणनिषेधो ज्ञातो नास्ति, संवरार्थं न गृह्णाति तदा वरमिति ॥ ४० प्र० । तथा दिवसपौषधिकः सन्ध्यासमयप्रतिलेखनां कृत्वा यदि रात्रिपौषधं करोति तदा किं प्रतिलेखनादेशान् पुनरपि मार्गयति ?, उत प्राग्मार्गितैरेव तैः शुद्ध्यतीति, अत्र प्रतिलेखनादेशाः पुनर्मार्गिता विलोक्यन्ते इति ॥ ४१ प्र० । ही० ४ प्रका० । पौषधे पारणम्—पौषधसामायिकयोर्ग्रहणानन्तरं तयोः पारणकालेऽप्राप्ते ग्राहकशरीरे क्षामतायां किं विधेयमिति ? अत्र पौषधसामायिकयोः पारणकालेऽप्राप्ते यदि ग्राहकस्य शरीरे क्षामता भवति, तदा समीपस्था अन्यवेलाया प्राप्तायां पारणविधिं श्रावयन्ति, यावच्च न श्रावितस्तावत् महतीं विराधनां कर्तुं न ददतीति संभाव्यते इति ॥ ४३ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

तथा-पौषधोच्चारपाठे-"देसउ" इति पदमाहारपौषधे एव वर्तते न तु शरीरसत्काराऽऽदिपौषधेषु, तेन स्वयं स्वशरीरे वैयावृत्त्यविलेपनाऽऽदे करणं कारापणं च कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पौषधिकानां कारणमन्तरेण स्वयं विलेपनाऽऽदि कर्तुं कारयितुं च न कल्पते, यद्यन्यः कश्चित्कृत्वा करोति तदा कल्पतेऽपीति । ७० प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा-पौषधप्रतिपन्ना श्राविका गुरोः पुरः गहुंलिकां कुर्वन्ति, न वा, इत्यस्मिन् वार्तिकं प्रश्ने, उत्तरम्—इत्यस्मिन्स्थाने शुद्ध्यतीति । १६३ प्र० । सेन० २ उल्ला० । तथा गणीनां पुरः श्राद्धाः श्राद्ध्यः पौषधादेशं मार्गयन्ति, तदा गणय आदेशं ददति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—उपधानाऽऽदिविशेष-

क्रिया विना पौषधं कुर्व्वतां श्राद्धाऽऽदीना गणय आदेशं न द-
दाति, श्राद्धाऽऽद्यस्त्वादेशं मार्गयित्वा पोषधाऽऽदिक्रियां कुर्व-
न्तीति वृद्धपरम्पराऽस्तीति । ४६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा
पोषधदिने श्राद्धः प्रतिक्रमणं कृत्वा देवान् वन्दित्वा पश्चा-
त्पौषधं करोति, तथा कृतपौषधः शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने,
उत्तरम्—पौषधं कालवेलायां कृत्वा प्रतिक्रमण च कृत्वा
देवान् वन्दत इति विधिः, कालातिक्रमाऽऽदिकारणवशात्तु
पूर्व्वं देवान् वन्दित्वा पश्चात्पौषधं गृह्णातीति । १२५ प्र० ।
सेन० ३ उल्ला० । तथा-पौषधवतां श्राद्धानां कर्पूराऽऽदिभि-
कल्पाऽऽदिपुस्तकपूजा पौषधवतीनां श्राद्धानां च गूँहलिकान्यू-
ञ्छनकाऽऽदिकरण शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने,उत्तरम्-पौषधवती
ना श्राद्धानां कर्पूराऽऽदिभिः कल्पाऽऽदिपुस्तकपूजा न घटते,द्र
व्यस्तवरूपत्वात्, गुरुपारम्पर्येणाऽपि तथाऽदृष्टत्वाच्च, एवं
पौषधवतीनां श्राद्धानां गूँहलिकन्यूँञ्छनकाऽऽद्याश्रित्यापि ज्ञेय-
मिति । १७० प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा पौषधपारणानन्तरं
स्त्रीसेवनेन पौषधस्य दूषणं लगति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—
पौषधस्य दूषणं न लगति, परं पर्व्वतिथिविराधना भवतीति
॥ २१६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा देशावकाशिकं पौ-
षधस्थाने क्रियते, तत्र कः क्रियाविधिः ? । तथा-देशावका-
शिकमध्ये पूजास्नात्राऽऽदिकं सामायिक कर्तुं कल्पते, न वेति
प्रश्ने, उत्तरम्– देशावकाशिके "देसावगासिअं उवभोगपरि
भोगं पच्चक्खामि"इत्याद्येवाऽऽचारविधिस्तथा स्वचिन्तिता-
नुसारेण पूजास्नात्राऽऽदिक सामायिकं च क्रियते, न कश्चिदे-
कान्त इति । २२१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा—पौषधे
पारिते सामायिकपारणमुखवस्त्रिकायां प्रतिलिख्यमानायां
पञ्चेन्द्रियच्छिन्दने जाते सति पौषधपारणे मुखवस्त्रिका पुन.
प्रतिलेखिता विलोक्यते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पौषध. पुन
पारितो विलोक्यते इति । २४२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा–
"उम्मुक्कभूसणगो" इत्यक्षरानुसारेण पौषधमध्ये श्राद्धा
नामाभरणमोचनमुक्तमस्ति,साम्प्रतं तु ते परिदधाति,तत्कथमि
ति प्रश्ने, उत्तरम्-उत्सर्गमार्गेण यदि सर्व्वतः पौषध प्रतिप
द्यते तदा तन्मोचनमेव युक्तं, विभूषालोभाऽऽदिनिमित्तत्वेन
सामायिके तयोरपि निषिद्धत्वादिति वचनात् यदि देशत. क-
रोति तदा तत्परिधानमपि भवतीति । ३६५ प्र० । सेन० ३
उल्ला०।तथा-"मज्झण्हाओ परओ०जाव दिवसस्स अंतो मुहु-
त्तो ताव घिप्पइ"इति सामाचारीमध्ये विद्यते,तेन तृतीयया-
मादर्वाक् मध्याह्नात्परत रात्रिपौषध· कर्तुं कल्प[illegible] प्र
श्ने,उत्तरम्-मध्याह्नात्परत. पौषध[illegible] प्र[illegible] शु [illegible], पर साम्प्र
तीनप्रवृत्त्या प्रतिलेखनात [illegible] न कार्यते, किं तु परत इति
। ३०२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा-घटिकाद्वयाऽऽदिशेषरा
त्रिसमये पौषधं करोति कश्चित्, कश्चिच्च वस्त्राङ्गप्रतिले
खना कृत्वा तत्करोति, तयोर्मध्ये क शास्त्रोक्तविधिरिति प्र-
श्ने, उत्तरम्-पश्चात्यरात्रौ पौषधकाले पौषधविधानमिति
मौलो विधिः,कालातिक्रमे तद्विधानं त्वापवादिकमिति ।३१२
प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा पौषधिकस्य भोजनाक्षराणि क
सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्—पौषधिकस्य भोजनाक्षराणि पञ्चा
शकचूर्णौ, श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रचूर्ण्यादौ व्यक्तानि सन्ती-
ति । ३३७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथा सिद्धान्ते "पडिपुण्ण
पोसहं पालेमाणे" इति पाठ., टीकायां प्रतिपूर्णमहोरात्रमि-
ति व्याख्यातं, तत. केवलदिवसपौषधाक्षराणि क सन्ती-
ति प्रश्ने, उत्तरम्-उत्तराध्ययनसूत्रपञ्चमाध्ययने-"अगारिसा
माइअगाइं" एतद्गाथावृत्त्यनुसारेण प्रतिपूर्णपौषधकरणं प्रा-
यिकं ज्ञेयमिति ।३३६ । प्र० । पौषधिकः पट्टपट्टिकालिखितप्रति-
मा वासेन पूजयति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पौषधिकः कारणं
विना पट्टाऽऽदिकं न पूजयतीति ज्ञेयमिति ।३४० प्र०। सेन०३ उ-
ल्ला०। तथा-द्वादशव्रतपौषधवहने श्राद्धाना प्रारम्भवासरे कि-
माचामाम्लं कार्यते,अथवा-एकाशनकं तथा भोजने चाऽऽर्द्रशा
काऽऽदिग्रहण कल्पते,न वेति प्रश्ने.उत्तरम्-श्राद्धाना द्वादशव्र-
तपौषधवहने यथाशक्ति तपो विधेयं, तथाऽऽर्द्रशाकभक्षणं तु
कारणं विना न कल्पते इति । ३६८ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।
तथा—पौषधकारिण· श्राद्धा· कियतीं भुवं यावद्यान्तीति प्र-
श्ने, उत्तरम्—पौषधकारिण· श्राद्धा ईर्यासमित्यादिना ध-
र्मार्थे यथेष्टं व्रजन्ति , न चात्र भूमागनियम इति । ३६४ प्र० ।
सेन० ३ उल्ला० । तथा—पौषधक कर्तुकामस्योपवासं कर्तुका-
मस्य च रात्रौ सुखभक्षिकाभक्षणं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उ-
त्तरम्—पौषधोपवासं कर्तुकामस्य श्राद्धस्य मुख्यवृत्त्या रात्रौ
सुखभक्षिकाभक्षणं न कल्पते, यस्य तु सर्वथा तद्विना न
चलति, स प्रथमरात्रिप्रहरद्वयं यावत्कदाचित्सुखभक्षिकां भ
क्षयति, तथा पौषधस्योपवासस्य वा भङ्गो न भवति, यदि
तु तत्कालानन्तरं भक्षयति, तदा भङ्गो भवतीति । ४५३ प्र० ।
सेन० ३ उल्ला० ।अथ गणिज्ञानसागरकृतप्रश्नस्तदुत्तरं च य-
था—अन्यग्रामादागत्य पौषधं लात्वा पुनस्तत्र याति, न वेति
प्रश्ने, उत्तरम्—पौषधविधिना याति,तदा निषेधो ज्ञातो ना-
स्तीति । ४८५ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । तथैकप्रहरदिवसघटना-
दनु पौषधग्रहणं शुद्ध्यति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्—प्रहरदि-
वसानन्तु पौषधग्रहण न शुद्ध्यतीति परम्पराऽस्तीति । ४६४
प्र० । सेन० ३ उल्ला० । अथ देवगिरिसंघकृतप्रश्न· तदुत्तरं
च । यथा-ये श्राद्धा दैवसिकपौषधं गृहीत्वा पश्चात्संध्यायां
मावश्यकं यदा रात्रिपौषधं गृह्णन्ति तदा पौषधसामायिकक-
रणानन्तरं "सज्झाय करुं, बहुवेल करस्युं, उपधि पडिलेहुँ" इ-
त्यादेशान् मार्गयन्ति, किं वा "सज्झाय करुं" इत्यनेन सरतीति
प्रश्ने, उत्तरम्-'सज्झाय करुं"। इत्यादेशमार्गणेन सरति,बहुवे-
लादेशमार्गणनियमस्तु ज्ञातो नास्ति, यत स प्रातर्मार्गितो-
ऽस्तीति बोध्यम् । ६० प्र० । सेन० ४ उल्ला० । तथोज्जयिनीसं-
घकृतप्रश्न तदुत्तर च—यथा कश्चित्पौषधिकश्रावको गु
रोरर्धपौरुषीचैत्यवन्दनवेलायामुपसर्गहरस्तोत्र कथयति, न
वेति प्रश्ने, उत्तरम्-पौषधिकश्राद्धो गुर्वग्रेऽर्धपौरुषीचैत्यव-
न्दने उपसर्गहरस्तोत्र कथयतीति निषेधो ज्ञातो नास्ति, वृ-
द्धपरम्परया प्रवृत्तिरपि दृश्यते इति ८५ प्र० । सेन० ४
उल्ला० । तथा-पौषधमध्ये सामायिकमध्ये चर्चालापकहु
ण्डिका वाच्यते , न वेति प्रश्ने , उत्तरम्—मा मनसि
वाच्यते , न तु वाढस्वरेण, सिद्धान्तालापकगर्भितत्वादिति
। १०१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । तथा—पौषधे सामायिके च श-
तहस्ताद् वहिर्गमने ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गमनाऽऽगमनाऽऽ-
लोचन क्रियते,नवेति प्रश्ने, उत्तरम्-पौषधमध्ये शतहस्ताद् ब-
हिर्गमनानन्तरमीर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गमनाऽऽगमनाऽऽलोच
नविधिर्दृश्यते, सामाचार्यामपि कथितमस्ति, सामायिके तु श-
तहस्तान्तर्बहिर्गमनमेव नोक्तमिति । ११३ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

तथा-श्राद्धाः पौषधमध्ये सान्ध्यप्रतिलेखनाः काजकोद्धरणं कदा कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-श्राद्धाः पौषधमध्ये सान्ध्यप्रतिलेखनादेशौ मार्गयित्वा प्रोञ्छनकं च रवणकं च प्रतिलिख्य यद्येकाशनकं तदा परिधानांशुकं परावृत्य " पडिलेहा पडिलेहणा हाओ" इत्यादेशमार्गणं विधाय च काजकोद्धरणं कुर्वन्तीति श्राद्धविधिप्रमुखग्रन्थेषु प्रोक्तमस्ति, पश्चादुपधिं प्रतिलिख्य काजकं निष्कास्य परिष्ठापयन्तीति परम्पराऽस्तीति । १४५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० । अथ उणीयारसंघकृतप्रश्नः, तदुत्तरं च । यथा-वृद्धिकल्पादिने पोषधकरणे लाभः,पूजाकरणे वेति प्रश्ने, उत्तरम्—मुख्यवृत्त्या पौषधकरणे महान् लाभः, कारणविशेषे तु यथा प्रस्तावो भवति तथा करणे लाभ एवास्ति, यतो जिनशासने एकान्तवादो ज्ञातो नास्तीति । १५१ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

**पोसहपडिमा-पौषधप्रतिमा**-स्त्री० । चतुरो मासांश्चतुःपर्व्यां पर्वप्रतिमाऽनुष्ठानखण्डितं पौषधं पालयतीति । चतुर्थ्यांमुपासकप्रतिमायाम् , ध० २ अधि० । प्रश्न० ।

इह यद्वर्जयत्यसौ तदाह—

अप्पडिदुप्पलेहिय-सेज्जासथारयाइ वज्जेति ।
सम्म च अणणुपालण-माहाराऽऽदीसु एयम्मि ॥ १६ ॥

'अप्पडि त्ति' पदावयवे पदसमुदायोपचारात् 'अप्पडिलेहिय त्ति' दृश्यम् । ततश्चाप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकाऽऽदि वर्जयति परिहरति । तत्राप्रत्युपेक्षितमनिरीक्षितं, दुष्प्रत्युपेक्षितं दुर्निरीक्षितं, शय्या-शयनं, तदर्थः संस्तारकः-कम्बल्यादिखण्डम् । अथवा-शय्या-वसतिः, सर्वाङ्गीणशयनं वा, संस्तारकश्च ततो लघुतर इति । समाहारद्वन्द्वात् शय्यासंस्तारकम् । आदिशब्दादप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारकमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रस्रवणभूमिमप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवणभूमिं चेति । सम्यग्यथागमं च अननुपालनमनाराधन भोजनाऽऽद्यौत्सुक्याऽऽदिभि । आहाराऽऽदिष्विति सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वादाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारपोषधानाम् , एतस्मिन्निति पोषधे, वर्जयतीति प्रकृतमिति । तदेवमियं पोषधप्रतिमा ग्रन्थान्तराऽभिप्रायेणाऽष्टम्यादिपर्वसु सम्पूर्णपौषधाऽनुपालनारूपोत्कर्षतश्चतुर्मासप्रमाणा भवति । इति गाथाऽर्थः ॥ १६ ॥ पञ्चा० १० विव० ।

**पोसहवय-पौषधव्रत**-न० । पौषध एव व्रत पौषधव्रतम् । पौषधोपवासे, ध० ।

आहारतनुसत्कारा-ब्रह्मसावद्यकर्मणाम् ।
त्यागः पर्वचतुष्टय्यां,तद्विदुः पोषधव्रतम् ॥३८॥ ध०१अधि० ।

(अस्य व्याख्या पोसह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११३३ पृष्ठे गता ।)

**पोसहविहि-पोषधविधि**-पुं० । पोषं—पुष्टिं धर्मस्य दधातीति पौषधस्तस्य विधिः । आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारे, आतु० ।

**पोसहसाला-पौषधशाला**-स्त्री० । पौषधं-पर्वदिनाऽनुष्ठानम् उपवासाऽऽदि, तस्य शाला गृहविशेष पौषधशाला । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पौषधाऽऽदिग्रहणार्थे साधारणस्थाने, ध० । तथा पौषधशालाया श्राद्धाऽऽदीनां पौषधाऽऽदिग्रहणार्थं साधारणस्थानस्य निरवद्यधर्मिजनाऽऽकीर्णस्थानविधापन सा च धर्मिजनार्थं कारिता प्रगुणिता च निरवद्यत्वेन यथावसरं साधूनामप्युपाश्रयत्वेन प्रदेया, तद्दानस्य महाफलम् । यतः-
" जो देइ उवसयं जइ-वराण तवणिअमजोगजुत्ताणं । तेणं दिण्णा वत्थ-ऽन्नपत्तसयणासणविगप्पा ॥" ध० २ अधि० । आ० म० ।

**पोसहिय-पौषधिक**-पुं० । कृतोपवासाऽऽदौ श्रावके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

**पोसहोववास-पौषधोपवास**-पुं० । पोषं—पुष्टिं कुशलधर्माणां धत्ते यदाहारत्यागाऽऽदिकमनुष्ठानं तत्पौषधम् । अथवा—पौषधं पर्वदिनमष्टम्यादि, तत्रोपवास उक्तार्थः पौषधोपवास इति । तेनोपवसनम्-अवस्थानमहोरात्रं यावदिति पौषधोपवास इति । स० ११ सम० । स्था० । पर्वदिनोपवसने, भ० ८ श० ५ उ० । आहाराऽऽदित्यागपौषधरूपे उपवासे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । पञ्चा० । ( चातुर्विध्यमस्य 'पोसह' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे ११३३ पृष्ठे उक्तम् )

**पोसहोववासणिरय-पौषधोपवासनिरत**-पुं० । स्त्री० । पौषधोपवासाऽऽसक्ते, स० ११ सम० ।

**पोसाऽऽसाढ-पौषाऽऽषाढ** पुं० । पौषाऽऽषाढमासद्वन्द्वे, "पोसासाढेसु णं मासेसु सइ उक्कोसेणं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ, सइ उक्कोसेणं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवइ । " स० १८ सम० ।

**पोसिअ-देशी**-दुःस्थे, दे० ना० ६ वर्ग ६१ गाथा ।

**पोसित**-त्रि० । पुष्टिं नीते, उत्त० २७ अ० ।

**प्रोषित**-त्रि० । प्रवासं गते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**पोसी-पौषी**-स्त्री० । पुष्येण नक्षत्रेण युक्ता पूर्णिमा पौषी, पौषे भवा वा पौषी । पौषमासभाविन्यां पौर्णमास्याम्, अमायां च । चं० प्र० १० पाहु० । जं० । सू०प्र० ।

**पोह-प्रौह**-पुं० । हस्तिगुल्फे, है० ।

**पोहण-देशी**-लघुमत्स्ये, दे० ना० ६ वर्ग ६२ गाथा ।

**पोहत्तियसुत्त-पृथक्त्विकसूत्र**-न० । पृथक्त्वसूत्रेषु बहुवचनान्तसूत्रेषु भ० ५ श० ४ उ० ।

**प्रयावदी-प्रजापति**-पुं० । "वाऽधोरो लुक्" ॥८।४।३६८॥ इति रलुग्वा । ब्रह्मणि,दक्षाऽऽदौ च। "जइ सो घडदि प्रयावदी,केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु । जेत्थु वि तेत्थु एत्थु वि जगि,भण तो तेहि सारिक्खु ॥ १ ॥ " प्रा० ४ पाद । यदि स घटयति प्रजापतिः कुत्राऽपि लिखित्वा शिक्षाम् । यत्राऽपि तत्राऽप्यत्र जगति भण तस्याः सादृश्यम् । ( सूत्र ४०४ ) प्रा० ४ पाद ।

**प्रस्स-दृश्**-धा० । प्रेक्षणे,"दृशेः प्रस्सः " ॥ ८।४।३९३ ॥ इति अपभ्रंशे दृशेर्धातोः'प्रस्स' आदेशः । 'प्रस्सदि ।' पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

**प्राइम्व-प्रायस्**-अव्य० । ' प्राउ 'शब्दार्थे , प्रा० ४ पाद ।

**प्राइव-प्रायस्**-अव्य० । 'प्राउ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

**प्राउ-प्रायस्**-अव्य० । बाहुल्ये, " प्रायसः प्राउ—प्राइव—प्राइम्व-पग्गिम्वा." ॥ ८।४।४१४ ॥ अपभ्रंशे प्रायस इत्येतस्य प्राउ प्राइव प्राइम्व पग्गिम्व इत्येते चत्वार आदेशा भवन्ति ॥

* "अन्ने ते दीहर लोअण, अन्नु तं भुअ जुअलु ।
अन्नु स घणथणहारु तं अन्नु जि मुहकमलु ॥ १ ॥
अन्नु जि केसकलावु, सु अन्नु जि प्राउ विहि ।
जेण णिअम्बिणि घडिअ, स गुणलावण्णणिहि ॥ २ ॥
प्राइव मुणिहिंवि भंतडी, तें मणिअणा गणंति ।
अखइ निरामइ परमपइ, अज्ज वि लउ न लहंति ॥ ३ ॥
अंसुजले प्राइम्व गोरिअ-हे सहि ! उव्वत्ता नयणसर ।
तें सम्मुह संपेसिआ, दिंति तिरिच्छी घत्त पर ॥ ४ ॥
एसी पिउ रूसेसु हउँ, रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पगिगम्व पइ मणोरहइँ, दुक्करु दइउ करेइ ॥५॥" प्रा० ४ पाद ।

प्रिय-प्रिय-त्रि०। "वाऽधो रो लुक्" ॥ ८ ।४ । ३९८॥" इति र-लुग्वा अपभ्रंशे । "जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि मज्झु प्रियेण । " प्रा० ४ पाद ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
पकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

* अन्ये ते दीर्घलोचने , अन्यत्तद् भुजयुगलम् ।
अन्यः स घनस्तनभार-स्तदन्यदेव मुखकमलम् ॥ १ ॥
अन्य एव केशकलापः, स अन्य एव प्रायो विधिः ।
येन नितम्बिनी घटिता' सा गुणलावण्यनिधिः ॥ २ ॥
प्रायो मुनीनामपि भ्रान्ति-स्तेन मणिकान् गणयन्ति ।
अक्षये निरामये परम-पदेऽद्यापि लय न लभन्ते ॥ ३ ॥
अश्रुजलेन प्रायो गौर्य्याः , सखि ! उद्वृत्ते नयनसरसी ।
तेन ( अपरेण ) सम्मुखे सम्प्रेषिते दत्तस्तिर्यग्घात केवलम् ॥ ४ ॥
एष्यति प्रियो रुषिष्या—म्यहं रुष्टां मामनुनयति ।
प्राय एतान्मनोरथान् , दुष्करान् दयिता करोति ॥ ५ ॥

# फकारः

फ-फ-पु० । प फ़ल-ड' । पारदर्शने, देवे, न्याये, ज्ञाने, नीरधौ, अर्के, माहेन्द्रे, जालके, अहे· फूत्कारे च । अयने, बीजे, फले, निष्फले, ध्वनौ, वक्रवर्त्मनि, लाभे, लोभे, विपर्यये, मूर्तौ, अयने, एका० । रूक्षकथने, झञ्झावाते, वर्द्धके, जृम्भाऽऽविष्कारे, फलभागे च । न० । वाच० । परोक्षे, हिते च । त्रि० । एका० ।

फंद-स्पन्द-ईषत्कम्पे, भ्वादि० आत्म० अक० सेट् इदित् । "स्पस्पयो· फः ॥ ८ । २ । ५३ ॥" इति प्राकृतसूत्रेण स्पस्य फः । फंदइ । प्रा० २ पाद । "इमे य बद्धा फंदंति, मम हत्थ ज्जमागया" अस्थितिधर्मतया गत्वरा दृश्यन्ते सुरक्षिता अपि यान्तीत्यर्थ· । ( ४५ गाथा ) उत्त० १४ अ० ।

फंदंत-स्पन्दमान-त्रि० । ईषच्चलति, स्था० ६ ठा० । "फंदंते वि ण मुच्चए ताहे ।" स्पन्दमानोऽपि ततः पाशान्न मुच्यते । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

फंदण-स्पन्दन-न० । किञ्चिच्चलने, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

फंदिय-स्पन्दित-त्रि० । ईषच्चालिते, जं० १ वक्ष० । वीणामधिकृत्य-"फंदियाए" स्पन्दितायां नखाग्रेण स्वरविशेषोत्पादनार्थमीषच्चालितायाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । "चुलुचुलिअं फंदिअं फुरिअं ।" पाइ० ना० १६० गाथा ।

फंफसअ-देशी-लताभेदे, दे० ना० ६ वर्ग० ८३ गाथा ।

फंस-स्पृश-स्पर्शे, तुदा०-पर०—सक० । अनिट् । "स्पृशः फास-फस-फरिस—छिव —छिहालुङ्खालिहाः" ॥ ८ । ४ । १८२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशतेरेते सप्ताऽऽदेशाः । 'फासइ । फसइ । फरिसइ ।' प्रा० ४ पाद ।" फरिसो फसो"। पाइ० ना० २४० गाथा ।

विसंवद-विरोधे, "विसंवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः" ॥ ८ । ४ । १२६ । इति प्राकृतसूत्रेण विसंपूर्वस्य वदेः फंस आदेश । प्रा० ४ पाद ।

फंसण-देशी-युक्तमलिनयोः, दे० ना० ६ वर्ग० ८७ गाथा ।

फंसुली-देशी-नवमालिकायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ८२ गाथा ।

फकवई-भगवती-स्त्री० । भगोपेतायाम् "चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्यद्वितीयौ" ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पैशाच्यां फः । प्रा० ४ पाद ।

फग्गु-फल्गु-त्रि० । फल गुक् च । रम्ये. सारे, निरर्थके, वाच० । निस्सारे, आ० म० १ अ० । अल्पे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । धूलिरूपे चूर्णभेदे, काको(दु)डुम्बरिकायाम् , गया तीर्थस्थनद्याम् , वाच० । अजितजिनस्य स्वनामख्यातायां प्रथमाऽऽर्यिकायां च । स्त्री० । "फग्गू अजियस्स ।" ति० । स० । प्रव० । वसन्तसमये मिथ्यावाक्ये च । पुं० । वाच० ।

फग्गुण-फाल्गुन-पुं० । फल्गुश्चूर्णभेदो नीयतेऽस्मिन् । नी-डः। फाल्गुने मासे, फल-उनन्-गुक् च स्वार्थे प्रज्ञाऽऽद्यण् । अर्जुने मध्यमपाण्डवे. वाच० । फाल्गुनी पौर्णमासी अत्र । मासे अण् । चैत्रावधिके द्वादशे मासे, वर्षस्य हि चैत्राऽऽदित्वम । वाच० । "फग्गुणे अब्भसंघडा" । स्था० ४ ठा० ४ उ० । "सिसिरो फग्गुणमाहो ।" पाइ० ना० २०७ गाथा । आ० म० । स० ।

फग्गुणी-फाल्गुनी-स्त्री० । फल-उनन्-गुक्-गौराऽऽदि-ङीप् । काकोडुम्बरिकायाम् , अश्विन्यवधिके भगदेवताके एकादशे, अर्यमदेवताके द्वादशे नक्षत्रे च । वाच० । "महा य दो फग्गुणीओ य ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । अनु० । श्रावस्त्यां नगर्यां वास्तव्यस्य शालेतिकापितुर्गृहपतेः स्वनामख्याताया भार्यायाम् , ( तत्कथोपासकदशाया दशमेऽध्ययने 'सालेइयापिया' शब्दे द्रष्टव्या ) फल-उनन्-गुक् च, स्वार्थे प्रज्ञाऽऽद्यण् , ङीप् । अश्विन्यवधिके एकादशे, द्वादशे नक्षत्रे च । फल्गुनीभिर्युक्ता पौर्णमासी अण् । चान्द्रफाल्गुनमासपौर्णमास्याम् , वाच० । सू० प्र० १० पाहु० ६ पाहु०पाहु० । जं० । च० प्र० ।

फग्गुमई-फल्गुमती-स्त्री० । कस्याञ्चिदटव्यां निवसतोरुत्कलकलिङ्गाभिधानयोर्भ्रात्रोश्चौर्य्यवृत्त्या जीवतोः स्वनामख्याताया भगिन्याम् , आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० । ( तत्कथा द्रव्यशय्योदाहरणावसरे 'सिज्जा' शब्दे वक्ष्यते )

फग्गुमित्त-फल्गुमित्र-पुं० । आर्य्यपुष्पगिरेः शिष्ये आचार्यधनगिरेर्गुरौ गौतमसगोत्रे स्वनामख्याते स्थविरे, "थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगुत्तस्स अज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण । "वंदामि फग्गुमित्तं, गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं ।" कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

फग्गुरक्खिय-फल्गुरक्षित-पुं० । दशपुरनगरस्थसोमदेवद्विजात् रुद्रसोमाया भार्य्यायामुत्पन्ने आर्य्यरक्षितस्याऽऽचार्य्यस्यानुजे स्वनामख्याते श्रमणे, (तत्कथा 'अज्जरक्खिय' शब्दे प्रथमभागे २१२ पृष्ठे गता ) "माया य रुद्दसोमा. पिया य नामेण सोमदेवु त्ति । भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिया ॥ ७७५ ॥" आव० १ अ० । दर्श० । विशे० । आ० म० । स्था० । आ० चू० ।

फग्गुसिरि-फल्गुश्री-पु० । अस्यामवसर्पिण्यां दुष्षमायामन्ते भविष्यस्य चरमयुगप्रधानस्य दुःप्रसहाचार्यस्य गच्छस्य स्वनामख्याते श्रमणे, तादृश्यां स्वनामख्यातायां श्रमण्याम् , ति० ।

"दुप्पसहो अणगारो, नामेण अपच्छिमो पवयणस्स । फग्गुसिरी नामेण, साविय समणाण पच्छिमया" ॥ ३१ ॥ नि० । जिनदत्तश्रावकस्य स्वनामख्याताया श्राविकायाम् , स्त्री० । "तं पि णं जिणदत्तफग्गुसिरीनामं सावगमिहुणं ।" महा० ४ अ० ।

फग्गू-देशी-वसन्तोत्सवे, दे० ना० ६ वर्ग ८२ गाथा ।

फड-देशी-अहिसर्वाङ्गफणयोः , दे० ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

फट-पुं० । स्फुट विकाशे । अच् । सर्पाणां फणायाम् ,वाच० । उपा० २ अ० । भ० । ज्ञा० ।

स्फड-परिहासे, चुरा० उभ० सक० सेट् इदित् । स्फण्ड-यति । अपस्फण्डत् । वाच० ।

फडण-स्फटन-न० । विशोधने , नि० चू० ३ उ० । " भोओ फडा फणत्थे । " पाइ० ना० १५१ गाथा ।

फडाडोव-स्फटाऽऽटोप-पुं० । फणाऽऽडम्बरे, "फडाऽऽडोवक-रणदक्खं ।" उपा० २ अ० । फणासंरम्भे, भ० १५ श० । ज्ञा० ।

फडिय-स्फटिक-पुं० । स्फटिरिव कायति इवार्थे कन् । स्वनामख्याते स्वच्छे मणौ, वाच० । स्फटिकनिभे वस्त्रे च । "फ-डिगपाहाणणिभा ।" स्फटिका अच्छा इत्यर्थः । स्फटिकनिभं वस्त्रम् । नि०चू०७ उ० । स्वार्थे अण्-स्फाटिकमप्यत्र । वाच० ।

फडीय-स्फटीक-पुं० । ' फडिय ' शब्दार्थे, नि० चू० ७ उ० ।

फड्ड-स्पर्द्ध-पु० । समुदाये, आ० चू० १ अ० । संघर्षे, धा० । पराभिभवेच्छायाम् , वाच० ।

फड्डग-स्पर्द्धक-न० । स्पर्द्धः, संघर्षः, समुदायः, पिण्ड इत्यन-र्थान्तरम् । स्पर्द्ध एव स्पर्द्धकम् । समुदाये, आ० चू० १ अ० । " तत्थ पव्वइयगा फड्डगेहिं एंति । " आ० म० १ अ० । स्प-र्द्धन्त इवोत्तरवृद्ध्या वर्गणा अत्रेति स्पर्द्धकम् । ' कृद्बहुलम् ।" इतिवचनादधिकरणे घ । वर्गणासमुदाये, क० प्र० १ प्रक० । कर्म० । अथ स्पर्द्धक इति कः शब्दार्थः ?। उच्यते-एकोत्तरवी-र्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्द्धन्ते वर्गणा यत्र तत् । कर्म०५ कर्म० । अथ किमिदं स्पर्द्धकमिति ?,उच्यते-इह तावदनन्तानन्तैः पर-माणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति , तत्र चैकैकस्मिन् स्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः-परमाणुस्तस्याऽपि रसः, केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रस-विभागान् प्रयच्छतीति,अपर एकाधिकान्, अन्यस्तु द्व्यधिका न्, एवमेकोत्तरया वृद्ध्या तावज्ञेयं,यावदन्यः परमाणुः सिद्धा-नन्तभागेनाभव्येभ्योऽनन्तगुणेनाधिकान् रसभागान् प्रयच्छ-ति, तत्र जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषां समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणा इत्युच्यते, अन्येषां त्वेकाधि करसभागयुक्तानां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां तु द्व्यधिकरसभागयुक्तानां समुदायः तृतीया वर्गणा । एवम-नया दिशा एकैकरसविभागवृद्धानां परमाणूनां समुदायरू पा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पाः अभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः, एतासां च समुदायः स्पर्द्धकमुच्यते इत ऊर्द्धमे-कोत्तरया निरन्तरं वृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैस्ततस्तेनैव क्रमेण तत प्रभृति द्वितीयं स्पर्द्धकमारभ्यते, एवमेव च तृतीयम् , ए वं तावद्वाच्यं यावदनन्तानि स्पर्द्धकानि, तेभ्य एव चेदानीं प्रथमाऽऽदिवर्गणा गृहीत्वा विशुद्धिप्रकर्षवशादनन्तगुणहीन-रसाः कृत्वा पूर्ववत् स्पर्द्धकानि करोति , न चैवंभूतानि कदाचनापि पूर्वं कृतानि, ततोऽपूर्वाणि इत्युच्यन्ते । पं० सं० १ द्वार । आ० चू० । गवाक्षजालाऽऽदिद्वारविनिर्ग-तप्रदीपप्रभाया इवावधिज्ञानप्रभायाः प्रतिनियते विच्छे-दविशेषे, तथा चाऽऽह जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः स्वोप-ज्ञभाष्यटीकायाम्-" स्पर्द्धकोऽयमवधिविच्छेदविशेषः " इ-ति । नं० । अपवरकाऽऽदिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्था-नानीवावधिज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमजन्यान्यवधिज्ञाननिर्गम-स्थानानीह फड्डकान्युच्यन्ते । विशे० । आ०म० ।

फड्डगफड्डपवेस-स्पर्द्धकस्पर्धप्रवेश-त्रि० । स्पर्द्धकस्पर्धकैः प्र-विशत्सु,न पुनः सर्वेऽप्येकत्र पिण्डीभूयेति भावः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

फड्डगणिद्देस-स्पर्द्धकनिर्देश-पु० । स्पर्द्धकप्ररूपणायाम् , क० प्र० २ प्रक० ।

फड्डगवई-स्पर्द्धकपति-पु० । चौराणां मूलपल्लीवशवर्त्तिनी नामन्यासां पल्लीनां पत्यौ, मूलपल्लीं मुक्त्वा या अन्याः पल्ल्य-स्तासामधिपतयो मूलपल्लीवशवर्तिनः स्पर्द्धकपतय उच्यन्ते । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

फड्डगावहि-स्पर्द्धकावधि-पु० । अपवरकजालकान्तरस्थप्र-दीपप्रभोपमे अवधिज्ञानभेदे, " जालंतरत्थदीव-प्पहोवमे फ-ड्डगावही होइ । चित्तो विमलो मंदो, मलीमसो मीसरूवो य ॥१॥ " नि०चू० १ उ० । ( तद्वक्तव्यता ' ओहि ' शब्दे तृती-यभागे १४४ पृष्ठे गता )

फड्डाल-स्पर्द्धवत्-त्रि० । " आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्ते-र मणा मतोः " ॥ ८ । २ । १५६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने आलाऽऽदेश । सघर्षवति, प्रा० २ पाद ।

फण-फण-पु० । स्त्री० । फण-अच् । दर्व्याकारे संकोचवि-काशवति सर्पमस्तके , वाच० । " सत्थिपलंछणफणंकियप-डागा । " आव० ४ अ० । " भोओ फडा फणत्थे । " पाइ० ना० १५१ गाथा । गतौ, अनायासेनोत्पत्तौ, धा० । वाच० ।

फणण-फणन-न० । क्राथने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

फणस-पनस-पुं० । पन्-असच् । " पाटि-परुष-परि-घ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फः " ॥ ८ । १ । २३२ ॥ इति सूत्रेण फ. । प्रा० १ पाद । कण्टकिफले, वाच० । बहुबीजके वृक्षभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

फणि ( न् )-फणिन्-पु० । फणाऽस्त्यस्य इति । सर्पे, फ-णवदादयोऽप्यत्र । वाच० । चिट्ठइ फणी ।" प्रा०१ पाद । स्था० । तद्रूपे लाञ्छने च । प्रव० २६ द्वार । " उरओ अही भुअगो, भुअगमो फणी भुअयो ।" पाइ०ना० २६ गाथा ।

फणिकेउ-फणिकेतु-पु० । नागराजे , टिपुरीवर्णकमधि-कृत्य " दक्षिणे जयति चेल्लणपार्श्वो, भात्युदक् तदपरः फ-णिकेतु । " ती० ४२ कल्प ।

फणिह-फणिह-पु० । कङ्कते, ग० २ अधि० । " संडासगं च फणि (लि) हं च ।" फणिहं केशसंयमनार्थं कङ्कतम् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

फणुज्जय-फणोद्यत-पु० । हरितवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा०१पद ।

फरअ-देशी-फलके, दे० ना० ६ वर्ग ८२ गाथा ।

फरसुराम-परशु(र्शु)राम-पुं० । परशुधारी रामः । शाक० । जमदग्निपुत्रे स्वनामख्याते ब्राह्मणे, येन सप्तकृत्वः क्षत्रिया व्या पादिता. । ( तत्कथा ' जमदग्गि, ' शब्दे चतुर्थभागे १४०१ पृष्ठे गता) "पर्शुरामः सप्तकृत्वः, क्षितिं निःक्षत्रियां व्यधात् ।" आ०क० १ अ० । रा० ।

फरिस-स्पर्श-पुं० । त्वक्संयोगे, "फरिसो फंसो" पाइ० ना० २४० गाथा ।

स्पृश-धा० । स्पर्शे, प्रा० ४ पाद ।

फरुस-परुष-न० । पृ-उषन् । "पाटि परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फः" ।८।१।२३२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पस्य फः । प्रा० १ पाद । निष्ठुरवचने, वाच० । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० । प्रश्न० । औ० । मर्मोद्घाटनपरे वाक्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । परुषं वचः परचेतोविकारीति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । पीडाकारिवचने च । "णया वि किंचि फरुसं वएज्जा ।" सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । कर्मसंश्लेषाद् यावाज्जिर्ममत्वा-दल्पसत्त्वैरनुष्ठेयत्वात्कर्कशमन्तप्रान्ताऽऽहारोपभोगाद्वा परुषम् । संयमे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । "ओए तहीयं फरुसं वियाणे ।" सूत्र० १ श्रु० १४ उ० । तीव्रे, "फरुसा उदीरिया ।" आचा० २ श्रु० ४ चू० । कठोरे, उत्त० १ अ० । "कढिणा य कक्कसा निद्-ठुरा खरा खप्पुरा फरुसा ।" पाइ० ना० ७४ गाथा । परुषं कर्कशमिति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्र० । उत्त । ज्ञा० । "पुट्ठे फरुसेहि माहणे ।" परुषैर्दण्डकशाऽऽदिभिः वाग्भिर्वा । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । दुष्टे, "फरुसाइं दुतितिक्खाइं ।" परुषाणि कर्कशानि दुष्टानि वा । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अनार्ये पीडाकारिणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "फरुसियं णो वदेति ।" परुषतां कर्कशतां पीडाकारितामिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । चित्रवर्णे च । त्रि० । नीलीझिण्टयाम्, वाच० ।

फरुसग-परुषक-पुं० । कुम्भकारे, 'फरुसग' शब्देन समयप्रसिद्धया कुम्भकारोऽभिधीयते । विशे० । बृ० ४ उ० । नि० चू० । ( तद्वक्तव्यता 'थीणद्धि' शब्दे चतुर्थभागे २४१२ पृष्ठे गता )

फरुसत्त-परुषत्व-न० । निष्ठुरभाषितायाम्, व्य० १ उ० ।

फरुसधरिसणा-परुषधर्षणा-स्त्री० । निष्ठुरवचननिर्भर्त्सने, औ० । प्रश्न० ।

फरुसभासि (ण्)-परुषभाषिन्-पुं० । निष्ठुरभाषिणि, व्य० १ उ० ।

फरुसवयण-परुषवचन-न० । जन्मकर्माऽऽद्युद्घट्टनत दुष्टशैक्षेत्यादिनिष्ठुरवचनाऽऽत्मके वचनभेदे, स्था० ६ ठा० । प्रव० । बृ० । 'फरुसवेद्दवज्जियं ।' नि० चू० १ उ० ।

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥ १ ॥

तथैव परुषा भाषा निष्ठुरा-भावस्नेहरहिता, गुरुभूतोपघातिनी-महाभूतोपघातवती, यथा कश्चित्कस्यचित् कुलपुत्रत्वेन प्रतीतस्तदा त दासमित्यभिदधतः, सर्वथा सत्याऽपि सा वाह्यार्था तथाभावमङ्गीकृत्य न वक्तव्या, यतो यस्या भाषायाः सकाशात् पापस्याऽऽगमः-अकुशलबन्धो भवतीति सूत्रार्थः । दश० ७ अ० ।

अथ परुषवचनमाह—

दुविहं च फरुसवयणं, लोइय लोउत्तरं समासेणं ।
लोउत्तरियं ठप्पं, लोइय वोच्छेमिमं णायं ॥ ४० ॥

द्विविधं परुषवचनं समासतो भवति-लौकिकं, लोकोत्तरिकं च । तत्र लोकोत्तरिकं स्थाप्य, पश्चाद्भणिष्यत इत्यर्थः । लौकिकं तु परुषवचनमिदानीमेव वक्ष्ये, तत्रेदं ज्ञातं भवति ।

अन्नोन्नसमणुरत्ता, वाहस्स कुडुंबियस्स वि य धूया ।
तासिं च फरुसवयणं, आमिसपुच्छा समुप्पण्णं ॥४१॥

व्याधस्य, कुटुम्बिनोऽपि च 'धूता' दुहितरौ अन्योन्यं समनुरक्ते, परस्परं सख्यौ इत्यर्थः । तयोश्च परुषवचनमामिषपृच्छया समुत्पन्नम् ।

कथमिति चेत् ?, उच्यते—

केणाऽऽणीतं पिसियं, फरुसं पुण पुच्छिया भणति वाही ।
किं खु तुमं पिताए, आणीयं उत्तरं ओच्छं ॥ ४२ ॥

व्याधदुहित्रा पुद्गलमानीतं, ततः कुटुम्बिदुहित्रा सा भणिता-केनेदं पिशितमानीतम् ?, ततो व्याधी-व्याधदुहिता पृष्टा सती परुषवचनं भणति—किं खु त्वदीयेन पित्रा आनीतम् । कुटुम्बिदुहिता भणति—किं मदीयपिता व्याधो, येन पुद्गलमानयेत् । एवं लौकिकं परुषवचनम् । अथोत्तरं-लोकोत्तरिकं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेवाऽऽह—

फरुसम्मि चंडरुद्दा, अवंतिलाभे य सेह उत्तरिए ।
आलत्ते वाहित्ते, वावारिएँ पुच्छिएँ णिसिट्ठे ॥ ४३ ॥

परुषवचने चण्डरुद्र उदाहरणम्-अवन्त्यां-नगर्यां शैक्षस्य लाभस्तस्य सजातम् । इति तदुदाहरणस्यैव सूत्रकृता एतल्लोकोत्तरिकं परुषवचनम् । एतच्चैतेषु स्थानेषूत्पद्यते ( आलत्ते इत्यादि ) आलप्तो नाम-अय किं तव वर्तते ?, इत्येवमाभाषितः । व्याहृतः-इत एहीत्येवमाकारितः । व्यापारितः-इदमिदं च कुर्विति नियुक्तः । पृष्टः-किं कृतं किं वा न कृतमित्यादि पर्यनुयुक्तः । निसृष्टो-गृहाण भुङ्क्ष्व पिबेत्येवमादिष्टः । एतेषु पञ्चसु स्थानेषु परुषवचनं सम्भवति । इतिनिर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनां विवरीषुश्चण्डरुद्रदृष्टान्तं तावदाह—

ओसरणे सवयंसो, इब्भसुतो वत्थभूसियसरीरो ।
दोसाण चंडरुद्दे, एस पवंचेति अम्हे ति ॥ ४४ ॥
भूतिं आणय आणीते, दिक्खितो कंदिउं गता मित्ता ।
वच्चोसरणे पंथं, पेहावय दंडगाऽऽहट्टो ॥ ४५ ॥

उज्जयिन्यां नगर्यां रथयात्रोत्सवे 'ओसरणे' बहूनां साधूनाम् एकत्र मीलकः समजनि, तत्र सवयस्यो वस्त्रभूषितशरीर इभ्यसुतः साधूनामन्तिके समायातो भणति-मां प्रव्राजयत । ततः साधवः चिन्तयन्ति-एष प्रपञ्चयति-विप्रतारयत्यस्मानिति । तैश्चण्डरुद्राऽऽचार्यस्य दर्शनं कृतं, घृष्यतां कलिना कलिरिति कृत्वा । ततश्चण्डरुद्रस्योपस्थितः-प्रव्राजयत मामिति । ततस्तेनोक्तम्-भूतिं-क्षारमानय । ततस्तेन भूतावानीतायां लोचं कृत्वा दीक्षितस्ततस्तदीयानि मित्राणि क्रन्दित्वा-प्रभूतं रुदित्वा स्वस्थानं गतानि । वृत्ते च समवसरणे चण्डरुद्रः शैक्षो भणितः-पन्थानं प्रत्युपेक्षस्व येन प्रभाते व्रजाम, ततः प्रत्युपेक्षिते पथि प्रभाते पुरतः शैक्षपृष्ठतश्चण्डरुद्रो (वयति) व्रजति । स च शैक्षो गच्छन् स्थाणावास्फिटितस्ततश्चण्डरुद्रो रुष्टो-दुष्ट शैक्ष इति भणन् शिरसि दण्डकेन ताडयति । शैक्षो मिथ्या दुष्कृतं करोति, भणति च-सम्यगायुक्तो गमिष्यामि । ततश्चण्डरुद्रस्तदीयोपशमेन आवृत्तश्चिन्तयति-अहो अस्याभिनवदीक्षितस्यापि कियान् शमप्रकर्षो, मम

तु मन्दभागस्य चिरप्रव्रजितस्याप्येवंविधः परमकोटिमुपगतः क्रोध इति परिभावयति, क्षपकश्रेणिमधिरूढस्य केवलज्ञानमुत्पेदे । एवं चण्डरुद्रस्य दुष्ट शैक्ष इत्यादिभणनमिव परुषवचनं मन्तव्यम् ।

अथाऽऽलप्ताऽऽदिपदेषु परुषं भवतीति यदुक्तं तस्य व्याख्यानमाह—

तुसिणीए हुंकारे, किं ति व किं चडगरं करेसि त्ति ।
किं णिव्वुत्ति ण देसी, केवतियं वावि रडसि त्ति ॥४६॥

आचार्याऽऽदिभिरालप्तो-व्याहृतो व्यापादितः पृष्टो निसृष्टो वा तूष्णीको भवति, हुङ्कारं वा करोति, किमिति वा भणति, किं वा चटकर करोषीति ब्रवीति, किं निवृत्तिं न ददासीति ब्रूते, कियद्वा रटिष्यसीति भणति । एते सर्वेऽपि परुषवचनप्रकाराः ।

अथैतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह—

मासो लहुओ गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहु गुरुगा ।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेदो मूल तह दुगं च ॥ ४७ ॥

लघुको मासो गुरुको मासश्चत्वारो मासा गुरवः षण्मासा लघवः षण्मासा गुरवः छेदो मूलं, तथा द्विकमनवस्थाप्यं पाराञ्चिकं चेति ।

एतदेव प्रायश्चित्तं चारणिकया गाथाद्वयेन दर्शयति—

आयरिएणाऽऽलित्तो, आयरिओ चेव तुसिणिओ लहुओ ।
रडसि त्ति छग्गुरुं तं, वाहित्तू गुरुगाऽऽदिछेदंतं ॥४८॥
लहुगाई वावारिते, मूलंतं गुरुगाई पुच्छिए णवमं ।
णीसट्ठे छसु पदेसु, छल्लहुगाऽऽदि तु चरिमंत ॥ ४९ ॥

आचार्येणाऽऽलप्त आचार्य एव तूष्णीको भवति मासा लघु । अथवा-हुङ्काराऽऽदिक रटसीति पर्यन्तं करोति तदा षड्गुरुकान्तम् । तद्यथा—हुङ्कार करोति मासगुरुकमिति । भाषते न मस्तकेन वन्दे इति ब्रवीति चतुर्लघु । किं चटकरं करोषीति ब्रुवाणस्य चतुर्गुरु । किं निवृत्तिं न ददासि इति भाषमाणस्य षड् लघु । कियन्तं वा कालं रटसीति ब्रुवतः षड्गुरु । व्याहृतस्य तूष्णीकताऽऽदिषु मासगुरुकादारब्धं छेदान्त ज्ञेयम् ॥ व्यापारितस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलान्तम् । पृष्टस्य चतुर्गुरुकादारब्धं नवममनवस्थाप्यम् । निसृष्टस्य इदं गृहाण भुङ्क्ष्व द्रव्यायुक्तस्य षट्स्वपि तूष्णीकाऽऽदिपदेषु षड्लघुकादारब्धं चरम-पाराञ्चिक तदन्त ज्ञातव्यम् । एवमाचार्येणाऽऽचार्यस्याऽऽलप्ताऽऽदिपदेषु शोधिरुक्ता ।

अथ वाऽऽचार्येणैवाऽऽलप्ताऽऽदीनाम् उपाध्यायप्रभृतीनां शोधिं दर्शयितुमाह—

एवमुवज्झाएणं, भिक्खू थेरेण खुड्डएणं च ।
आलत्ताइपएहिं, इक्किकपयं तु हारिज्जा ॥ ५० ॥

एवम्-आचार्यवत् उपाध्यायेन भिक्षुणा स्थविरेण क्षुल्लकेन च सममालप्ताऽऽदिपदैः प्रत्येकं तूष्णीकताऽऽदिप्रकारषट्के यथाक्रमम् एकैकं प्रायश्चित्तपदं ह्रासयेत् । तद्यथा-आचार्यो उपाध्यायमनुरूपेणाऽभिलापेनालपति ततो यद्युपाध्याय, तूष्णीक आस्ते तदा गुरुभिन्नमासः । हुङ्कारं करोति मासलघु । एवं यावत्किमेतावत्कालमारटसीति भणतः षड्लघु । व्याहृतस्यैतेष्वेव तूष्णीकाऽऽदिषु लघुमासादारब्ध षड्गुरुकान्तम् । व्यापारितस्य गुरुमासाऽऽदिकं छेदान्तम् । पृष्टस्य चतुर्लघुकाऽऽदिकं मूलान्तम् । निसृष्टस्य चतुर्गुरुकाऽऽदिकमनवस्थाप्यान्तं द्रष्टव्यम् । एवमाचार्येणैव भिक्षोरालप्ताऽऽदिषु पदेषु लघुभिन्नमासादारब्धं मूलान्तम् । स्थविरस्य गुरुविंशतिरात्रिन्दिवादारब्धं छेदान्तम् । क्षुल्लकस्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवादारब्धं षड्गुरुकान्तं प्रायश्चित्त प्रतिपत्तव्यम् । एष तावदाचार्यस्याऽऽचार्याऽऽदिभिः पञ्चभि पदै सम चारणिका दर्शिता ।

साम्प्रतमुपाध्यायाऽऽदीनां चतुर्णामप्याचार्याऽऽदिपदपञ्चकेन चारणिका दर्शयति—

आयरियादभिसेगो, एकगहीणो तहिकिणा भिक्खू ।
थेरो तु तहेक्केणं, थेरा खुड्डो वि एक्केणं ॥ ५१ ॥

आचार्यादभिषेक-उपाध्याय आलापकाऽऽदिपदानि कुर्वाणश्चारणिकायामेकेन प्रायश्चित्तपदेन हीनो भवति । तद्यथा—उपाध्याय आचार्यमालपति—क्षमाश्रमणाः कथं वर्त्तन्ते ?. इत्यादि । एवमालप्ते तूष्णीक आस्ते भिन्नमासो गुरुकम् । हुङ्कारं करोति मासलघुकाऽऽदिकं मूलान्तम्, निसृष्टस्य वा । एवं तेनैव चारणिकाक्रमेण तावन्नेय यावदुपाध्यायेनाऽऽचार्यस्य निसृष्टस्य किमेतद्वारटसीति ब्रुवाणस्यानवस्थाप्यम् । अथोपाध्याय उपाध्यायमालपति तत आलप्ताऽऽदिषु पञ्चसु पदेषु तूष्णीकताऽऽदिभिः षड्भिः पदैः प्रत्येक चार्यमाणैर्लघुभिन्नमासादारब्धं मूले तिष्ठति । एवमुपाध्यायेनैव भिक्षोरालप्ताऽऽदिषु पदेषु तूष्णीकताऽऽदिभिरेव पदैर्गुरुविंशतिरात्रिन्दिवादारब्ध, छेदान्तम् ॥ स्थविरस्य लघुविंशतिरात्रिन्दिवादारब्धं षड्गुरुकान्तम् । क्षुल्लकस्य पञ्चदशरात्रिन्दिवादारब्धं षड्लघुकान्तं द्रष्टव्यम् । यदा तु भिक्षुराचार्याऽऽदीनालपति तत उपाध्यायाऽऽदेरेकेन पदेन (न) हीनो भवति, सर्वचारणिकाप्रयोगेण लघुकं-पञ्चदशरात्रिन्दिवादारब्धं प्रायश्चित्तं मूले तिष्ठतीत्यर्थः ॥ यदा तु स्थविर आलपति तदा भिक्षोरेकेन पदेन हीनो भवति, सर्वचारणिकाप्रयोगेण गुरुरात्रिन्दिवादारब्धं छेदे तिष्ठतीत्यर्थः ॥ यदा तु क्षुल्लक आचार्याऽऽदीनालपति तदा सोऽप्येकेन पदेन हीनो भवति । तद्यथा-क्षुल्लक आचार्यमालपति यथाचार्यं तूष्णीकाऽऽदीनि पदानि करोति तत आलप्ताऽऽदिषु पञ्चसु पदेषु लघुविंशतिरात्रिन्दिवादारब्धं षड्गुरुके तिष्ठति । एव क्षुल्लकेनैवोपाध्यायस्याऽऽलप्ताऽऽदिषु पदेषु तूष्णीकताऽऽदिभिः षड्भिः पदैः प्रत्येक चार्यमाणैर्गुरुपञ्चदशकादारब्ध षड्लघुकान्तम् । भिक्षोर्लघुपञ्चदशकादारब्धं चतुर्गुरुकान्तम् । स्थविरस्य गुरुदशकादारब्धं चतुर्लघुकान्तम् । क्षुल्लकस्य लघुदशकादारब्धं मासगुरुकान्तं प्रायश्चित्तं भवति । एव सर्वचारिकाप्रयोगेण लघुदशकादारब्धं षड्गुरुके तिष्ठतीति । एव तावन्निर्ग्रन्थानामुक्तम् ।

अथ निर्ग्रन्थीनामतिदिशन्नाह—

भिक्खुसरिसी तु गणिणी, थेरसरिच्छी तु होइ अभिसेगा ।
भिक्खुणि खुड्डसरिच्छी, गुरुलहुपणगाइ दो इयरा ॥५२॥

इह निर्ग्रन्थीवर्गेऽपि पञ्च पदानि । तद्यथा-प्रवर्त्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका च । तत्राऽत्र गणिनी प्रवर्त्तिनी, सा भिक्षुसदृशी मन्तव्या । किमुक्तं भवति ?-प्रवर्त्तिनी-

प्रभृतीनां पञ्चानामन्यतमामालस्याऽऽदिभिः प्रकारैरालपति, सा चालप्यमाना तूष्णीकाऽऽदिपदषट्कं करोति,ततो भिक्षावालपति यदाचार्याऽऽदीनां प्रायश्चित्तमुक्तं तत्तासां प्रवर्त्तिनीप्रभृतीनां मन्तव्यम् । अथाभिषेका प्रवर्तिन्यादीनामन्यतरामालपति, सा च तूष्णीकाऽऽदिपदानि करोति, तत. स्थविरे आलपति यदाचार्याऽऽदीनां प्रायश्चित्तमुक्तं तत् तासां द्रष्टव्यम् । अत एवाऽऽह—स्थविरसदृशा अभिषेका भवति । अथ भिक्षुणी प्रवर्तिनीप्रभृतिकामालपति, सा च तूष्णीकाऽऽदीनि करोति,ततः क्षुल्लके आलपति यदाचार्याऽऽदीनां प्रायश्चित्तमुक्तं तत्तासामपि यथाक्रमं ज्ञेयम् । अत एवाऽऽह-भिक्षुणी क्षुल्लकसदृशी । अथ स्थविरा प्रवर्तिनीप्रभृतिकामालपति, ततःप्रवर्तिन्या तूष्णीकाऽऽदिपदषट्कं कुर्वाणाया गुरुपञ्चदशकाऽऽदिकं षड्लघुकान्तम् । अभिषेकाया लघुपञ्चदशकाऽऽदिकं चतुर्गुरुकान्तम् । भिक्षुण्या गुरुदशकाऽऽदिकं चतुर्लघुकान्तम् । स्थविरायाः लघुदशकाऽऽदिकं मासगुरुकान्तं क्षुल्लिकाया गुरुपञ्चकाऽऽदिकं मासलघुकान्तं ज्ञेयम् । अथ क्षुल्लिकाप्रवर्तिनीप्रभृतिकामालपति, सा च तूष्णीकाऽऽदीनि पदानि करोति, ततः प्रवर्तिन्या लघुपञ्चदशकाऽऽदिकं चतुर्गुरुकान्तम् । अभिषेकाया गुरुदशकाऽऽदि चतुर्लघुकान्तम् । भिक्षुण्या लघुदशकाऽऽदिकं मासगुरुकान्तम् । स्थविराया गुरुपञ्चकाऽऽदिकं मासलघुकान्तम् । क्षुल्लिकाया लघुपञ्चकाऽऽदिकं गुरुभिन्नमासान्तं मन्तव्यम् । अपर एवाऽऽह-(गुरुलहुपणगाइ दो इयर त्ति) इतरे स्थविराक्षुल्लके तयोर्द्वयोरपि यथाक्रमं गुरुपञ्चकाऽऽदिकं लघुपञ्चकाऽऽदिकं च प्रायश्चित्तं भवति । इह परुषग्रहणेन निष्ठुरककर्कशे अपि सूचिते ।

ततस्तयोः प्रायश्चित्तं दर्शयितुं परुषस्य च प्रकारान्तरेण शोधिमभिधातुमाह—

लहुओ उ लहुस्सगम्मी, गुरुगो आगाढफरुसवयमाणो ।
निट्ठुरकक्कसवयणे, गुरुगा य ततो कओ जं वा ॥५३॥

लघुस्वके स्तोके परुषवचने सामान्यतोऽभिधीयमाने मासलघु, आगाढपरुषं वदतो मासगुरु , निष्ठुरवचने कर्कशवचने च चत्वारो गुरुकाः , यच्च ते परुषभणिता प्रद्वेषतः करिष्यन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ किमिदं निष्ठुरं किं वा कर्कशमित्याशङ्काऽवकाश विलोक्याऽऽह—

निव्वेद पुच्छितम्मी, उब्भामइल त्ति निट्ठुरं सव्वं ।
मेहुणसंसट्ठं क-क्कसाइ णिव्वेद साहेति ॥ ५४ ॥

कयाऽपि महेलया कोऽपि साधुः पृष्टः—केन निर्वेदेन त्वं प्रव्रजित' । स प्राऽऽह-मदीया भोजिका उद्भ्रामिका दुःशीला अतोऽहं प्रव्रजित. । एवमादिकं सर्वमपि निष्ठुरमुच्यते । तथा मैथुने संसृष्टं विलीनभावं दृष्ट्वा प्रव्रजितोऽहम् । एवं निर्वेद यत्कथयति तदेवमादीनि तानि कर्कशानि ।

इदमेव व्याचष्टे—

मयं व जं होइ रयावसाणे,
तं चिक्कणं गुज्झ मलं झरंतं ।
अंगेसु अंगाइँ णिगूहयंती,
णिव्वेयमेयं मम जाण सोम्मे ! ॥ ५५ ॥

सखेद णीसट्ठ विमुक्कगत्तो,
भारेण छिन्नो ससई व दीहं ।
हीओ मि जं आसि रयावसाणे,
अणेगसो तेण दमं ( वयं ) पवण्णो ॥ ५६ ॥

यत् रतावसाने मृतमिव भवति तदेवंविध गुह्यं चिक्कणं मलं क्षरत्-परिगलत् भार्या चात्मीयेष्वङ्गेषु आत्मा चान्येवाङ्गानि जुगुप्सनीयतया निगूहयन्ती मया दृष्टा, एतन्मे निर्वेदं-निर्वेदकारणं हे सौम्ये ! जानीहि ॥ तथा सखेदम् ('नीसट्ठं.)अत्यर्थं विमुक्तगात्रः-शिथिलीकृताङ्गो भारेण छिन्नः-त्रुटितो भारवाहको यथा दीर्घं निःश्वसति तथा अहमपि रतावसाने यदनेकश एवंविध आसम्-अभूवम् , तदतीव हीतो-लज्जितः, तेन-निर्वेदेन ( दम )संयमम् । पाठान्तरेण-व्रतं वा, प्रपन्नोऽहम् । गतं परुषवचनम् । बृ० ६ उ० ।

तथा च निशीथसूत्रम्—

जे भिक्खू लहुस्सग फरुसं वयइ,वयंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

लहुस्सं-ईषदल्प-स्तोकमिति । यावत् फरुसं णेहवज्जियं अण्णं साहु वदति-भाषते इत्यर्थः । तं फरुस ।

चउव्विहं तं—

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य लहुस्सगं भवे फरुसं ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३७ ॥

एतेसिं दव्वखेत्तकालाणं ।

जहासंखं इमं वक्खाणं—

दव्वम्मि वत्थपत्ता-ऽऽदिएसु खेत्ते संथारवसधिमादीसु ।
काले तीतमणागत, भावे भेदा इमे होंति ॥ ३८ ॥

आदिग्गहणेणं डगलगसूइपिप्पलगाऽऽदओ वि घेप्पंति ।

" दव्वे वत्थपत्तादिएसु ति " अस्य व्याख्या—

वत्थाऽऽदिमपस्संतो, भणाति को णु सुवती मह तेणं ?।
खेत्ते को मं ठाए, चिट्ठति मा वा इहं ठाहि ॥ ३९ ॥

वत्थपत्तसूइगाऽऽदि अप्पणो वया अपस्सतो एवं भणाति-मह अरिधति काइ इमस्सामावेण को णिद्द लभति, इमस्स भावेण वा महं तेणं हडं. एवं दव्वओ लहुस्सयं फरुसं भासति । खेत्तओ लहुस्सय फरुसं-तस्स संथारभूमीए किंचि ठिय पासित्ता भणति-को मम संथारगभूमीए ठाति अप्पं जाणमाणो ?, अथवा मामसंथारगभूमीए ठाहि ।
(३८गा०) "काले तीतमणागतेति" अस्य व्याख्या । गाहा-

गंतव्वस्स न कालो, सुहसुत्ता केण बोहिता अम्हे ? ।
हीणाहिएँ काल वा, केण कयमिणं हवति गतव्व ॥४०॥

ते साहुणो पगे गंतुमणा, ततो उट्ठाविज्जंतो भणति—गनव्वस्स ण कालो अज्जवि, सुहसुत्ता केण वेरिएण अघसेण पडिबोहिया अम्हे ?, अथवा—हीणं अधियं वा काल केण कयमिणं ?, तं च इमं भवति काले हीणातिरित्तं गंतव्वं ।

गाहा—

ओमहपडिलेहपरिणा-पाओसियसुवणभिक्खमज्झाए ।
हीणातिरित्तकरणे, एमादी वादितो फरुसं ॥ ४१ ॥

गिलाणस्स ओसहट्ठाए गंतव्वे हीणातिरित्तं, अहवा-आयरिया पसणाऽऽदिणिमित्ते गिलाणोसहं।वओग वा पच्चू-

मावरणहेसु पडिलेहण पडुच्च परिसेति जेण पोरिसिमादियं पच्चक्खायं तस्स पारेउकामस्स भत्ताऽऽदीणं वा गंतुकामस्स उग्घाडणे त्ति,भत्तपच्चक्खायस्स वा समाहिपाणगाऽऽदि आणेयव्वा हीणाधिक कतं, पादोसिय वा काउं सुविउं सु विउकामाणं भिक्खं वा हिंडिउकामाणं सज्झाए पट्ठवणवेलं पडुच्च कालवेल वा, एवमादिसु कारणेसु हीणाधिकं करेंतो वाइओ फरुस वएज्जा ।

अहवा इमो फरुसवयणुप्पायप्पगारो—

गच्छसि ण ताव कालो,लभसु धितिं किं चडप्पडस्सेवं ?।
अतिपच्छा सि विसुद्धो,किं वऽज्झसितं. एएतव्वं ॥ ४२ ॥

गुरुणा पुव्वं संदिट्ठो ओसहातिगमणे अत्थं, तत्थेव गंतुकामं साधु पुच्छति–गच्छसि ?, सो पुच्छितो साधू फरुसं वयति-ण ताव कालो, लभसु धिर्ति, किं चडप्पडस्सेव ?। अहवा–सो चेवं पुच्छिओ भणति—पच्छद्धं कंठं ।

एस गाहत्थो पडिलेहणाऽऽदिपदेसु जत्थ जुज्जते तत्र तत्र सर्वत्र योज्य ।

अथवा-दव्वाऽऽदिणिमित्तं एव फरुसं भासति—

वत्थं वा पायं वा, गुरूण जोगं तु केणिमं लद्धं ? ।
किं वा तुमं जतिस्ससि, इति पुट्ठो वेति तं फरुस ॥ ४३ ॥

एगेण अभिग्गहाणभिग्गहेण साहुणा गुरुपाउग्गं वत्थं पत्तं संथारगाऽऽदि उग्गमियं,तमण्णेण साहुणा दिट्ठं,तेण सो उग्गामेंतसाहू पुच्छिओ—केणुग्गमितं ?, सो भणति—मया । त्व चात्मा.,पाषाणवज्जडो अलद्धिमा लब्भसि, एवं फरुसमाह ।

इदार्णी खेत्तं पडुच्च गाहा—

खेत्त महा जणजोग्गं, वसधी संथारगा य पाओग्गा ।
केणुग्गमिता एते, तहेव फरुसं वदे पुट्ठो ॥ ४४ ॥

क्षेत्रेऽप्येवं ।

इदाणिं तीतमणागतकालं पडुच्च गाहा—

उउवासमुहो कालो, तीतो केणेस जाइओ अम्हं ?।
जो एस्सति वा एस्से, तहेव फरुसं वदे अहवा ॥ ४५ ॥

उदु त्ति उदुबद्धकालो,वास त्ति वासकालो ।अहवा–उदु त्ति रिऊ, तस्मिं वासः सुखेन उडवासः सुखः । शेषं कण्ठ्य ।

दव्वाऽऽदिसु पच्छित्त भणति—

दव्वे खेत्ते काले, मासो लहुओ उ तीसु वि पदेसु ।
तक्कालविसुद्धो वा, आयरियादी चतुण्हं पि ॥ ४६ ॥

दव्वखेत्तकालनिमित्तं फरुसं वयंतस्स दोहिं वि लहू ।

इदाणिं भावफरुसं—

भावे पुण कोधाऽऽदी,कोहाऽऽदि विणा तु किं भवे फरुसं?।
उवयारो पुण कीरति, दव्वाति समुप्पत्ती जेण ॥ ४७॥

पुणसद्दो विसेसणे, किं विशेषयति ? । भणति—दव्वाऽऽदिएसु वि कोहाऽऽदिभावो भवति, इह तु दव्वाऽऽदिणिरवेक्खो कोहाऽऽदिभावो घेप्पइ । एवं विशेषयति । दव्वाऽऽदिसु वि कोहाऽऽदिणा विणा फरुसं ण भवति। चोदग आह–सो किमिति दव्वाऽऽदिफरुसं, भणति-भावफरुसमेव भवइ ?। आचार्य आह–द्रव्यादीनाम् उपचारणमात्रं,यतस्ते क्रोधादयः द्रव्यादिसमुत्था भवन्तीत्यर्थः।

भावफरुसउप्पत्तिकारणभेदा इमे—

आलत्ते वाहित्ते, वावारिते पुच्छिते णिसट्ठे य ।
फरुसवयणम्मि एए, पंचेव गमा मुणेयव्वा ॥ ४८ ॥

आलत्ते वाहित्ते वावारिते एषा अयाणां व्याख्या—

आलावो देवदत्ता-दि किं भो ति किं वदे देति ।
वाहरणं एहि इओ,वावारण गच्छ कुण वा वि ॥ ४६ ॥

कंठा ।

पुच्छणिसट्ठाण दुवण्ह वि इमा व्याख्या—

पुच्छा कताकतेसुं, आगतकत्तातुरादीहिं ।
णिमिरण इंदसु भुंजसु, पियसु वा एतिमं भत्तं ॥ ५० ॥

कंठा । नि०चू० २ उ० ।

फरुसवयणे इमे दोसा—

एतेसामण्णतरं, जे भिक्खू लहुस्सगं वदे फरुसं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ५८ ॥

कारणाओ पुण भासेज्जा वि—

वितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वा वइज्ज खरसज्झे ।
अणुसासणा वदेसी, वएज्ज व विकिंचणट्ठाए ॥ ५६ ॥

खित्ताइचित्तो भणेज्ज वा, भणिया वा आयरियादि, खरसज्झा वा भणेज्जा, अन्नहा नवाइ मृदू वि अनुसासणं पडुच्च भणेज्ज, मालवसिंधुदेसवासभावेण फरुसभासी पंडगाऽऽदि वा विकिंचितव्वो फरुसवयणेणं, सो य फरुसावितो असहमाणो गच्छइ । नि०चू० २ उ० ।

भदन्तं प्रति परुषवाक्यनिषेधो यथा । सूत्रम्—

जे भिक्खू भदंतं फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

गाहा—

जं लहुसगं तु फरुसं, वितिउद्देसम्मि वणितं पुव्विं ।
ते चेव य आगाढं, दसमुद्देसम्मि नायव्वं ॥ ३४ ॥

जहा वितिउद्देसे फरुसं तहा इहं पि उस्सग्गववातेहिं वत्तव्वं, णवरं इह आयरियसुत्तणिवाओ—

जे भिक्खू भदंतं आगाढ फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ।३।

गाहासुत्रम्—

एसेव गमो णियमा, मीसगसुत्ते वि होति घेतव्वो ।
आगाढफरुसमीसे, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ३५ ॥

जो एतेसु दोसु पुव्वुत्तेसु सुत्तेसु गमो सो चेव इह मीसगसुत्ते गमो दट्ठव्वो, णवर संजोगपच्छित्तं भाणियव्वं । नि० चू० १० उ० ।

फरुससाला–परुषशाला–स्त्री० । कुम्भकारशालायाम् , वृ० ३ उ० ।

फरुसासि ( ण् ) –परुषाशिन्–पु० । रूक्षाशिनि, " फरुसासी लट्ठिगहा । " परुषाशिनो रूक्षाशितया च प्रकृतिक्रोधनाः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

फल–फल–न० । गतौ, भ्वादि० पर० सक० सेट् । फलति । अफालीत् । ज्वला० कर्तरि वाऽणः । फलः । फालः । वाच० । आ० चू० ।

फल-न०। फल अच्। वृक्षाऽऽदीनां शस्ये,वाच०। फलानि नालिकेरदाडिमाऽऽदीनि। पञ्चा०८ विव०।'फला पतड्डिया।'तं०। प्रश्न०। फलं त्रपुष्याऽऽदीति। स्था०६ ठा०। विपा०। उत्त०। सूत्र०। (फलभेदनिरूपणाय फलसूत्रम् (७५३)। 'पुरिसजाय' शब्दे अत्रैव भागे १०१८ पृष्ठे समुक्तम्) लाभे, उद्देश्ये, जातीफले, त्रिफलायाम्, कक्कोले, बाणाग्रे, फाले, दाने, मुष्के, फलके, वाच०। काष्ठफलके, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। कार्ये, बृ० १ उ० २ प्रक०। स०। सूत्र०। आव०। साध्ये, पञ्चा० ८ विव०। प्रयोजने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। दर्श०। भ०। नि० चू०। विपा०। ज्ञा०। विशे०। वेगे च। रयो वेगश्चेष्टाऽनुभवः फलमित्यनर्थान्तरम्। आव० १ अ०। कुटजवृक्षे, पुं०। वाच०। (संवेगाऽऽदीनां फलानि संवेगाऽऽदिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

फलग-फलक-न०। फलमेव फलकम्। फलशब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। शयनोपयोगिन्येकपट्टाऽऽदिरूपे प्रतले आयते काष्ठनिर्मिते वस्तुनि, बृ० ३ उ०। आचा०। उत्त०। शयनं खट्वाफलकाऽऽदि। आचा०१ श्रु० १ अ० ५ उ०। स्था०। अवष्टम्भनार्थे काष्ठविशेषे, औ०। भ०। उपा०। प्रश्न०। "पीढफलगसेज्जासंथारएणं।" रा०। ज्ञा०। स्था०। "फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था" फलकमिव काष्ठशकलमिवेति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। "ते भिन्नदेहा फलगं व तट्ठा।" फलकमिवोभाभ्यां क्रकचाऽऽदिनाऽवतष्टाः। सूत्र०१श्रु०५अ०१ उ०। संपुटफलके,स्था०४ ठा०२ उ०। खेटके,द्यूतोपकरणविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार। फलकानि संपुटफलकानि खेटकानि वा अवष्टम्भनानि वा द्यूतोपकरणानि वा। औ०। जं०। सोपानाङ्गभूते काष्ठाऽऽदिपट्टे,"सुवण्णरुप्पमया फलगा।" जी० ३ प्रति०४ अधि०। आ०म०। पट्टिकायाम्,उत्त०१अ०। फलकं पट्टिका,यस्यां लिखित्वा पठ्यते। समवसरणफलके च। ध०।तच्च कारणे अवष्टम्भार्थं भवति उत्सर्गतश्च साधूनामवष्टम्भो न युक्तः, प्रत्युपेक्षितेऽपि स्तम्भाऽऽदौ कुन्थुपिपीलिकाऽऽदिजन्तुसंचारस्य दुर्वारत्वात्, यतः-"अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा,पडिलेहा न सुज्झई। तम्हा हट्ठपहट्ठस्स,अवट्ठंभो न कप्पई ॥१॥" इति। ग्लान्यादिकारणे तु घनमसृणाऽऽदिगुणोपेते फलके पाषाणमये स्तम्भे सुधामृष्टे कुड्ये कुड्यसंलग्नोपधिविण्टलिकाया वाऽवष्टम्भीतेति। "अतरंतस्स उ पासंगा, जेणं दुक्खति तेण ऽवट्ठंभे। संजमपेट्ठीथंभे, सेले उ तह कुड्डविट्टलिए ॥१॥" ध०३ अधि०। चर्ममये अस्त्रप्रतिघातनिवारके स्फुरके, पदार्थभेदे, वाच०। "भरिएहिं फलएहिं।"हस्तपाशितैः स्फुरकैः। विपा० १ श्रु० ८ अ०। ज्ञा०। आचा०।

फलगपट्टिया-फलकपट्टिका-स्त्री०। काष्ठाऽऽदिपट्टिकायाम्, "फलगपट्टियाए सिरिकंताए रूवं लिहिऊण दंसेइ।" आ० म० १ अ०।

फलगमग्ग-फलकमार्ग-पुं०। मार्गभेदे, यत्र कर्दमाऽऽदिभयात्फलकैर्गम्यते। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

फलगसेज्जा-फलकशय्या-स्त्री०। फलकं प्रतलमायतं काष्ठं तद्रूपा शय्या फलकशय्या। फलकरूपायां शय्यायाम्, स्था० ६ ठा०।

फलगावतट्ठि (ण्)-फलकावकृष्टिन्-पुं०। फलकवत् वास्याऽऽदिभिरुभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चावकृष्टः फलकावकृष्टी। आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। फलकवद्दुर्बलशरीरे, "अहिज्झममाणे फलगावतट्ठी।" फलकवदवकृष्टः यथा फलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं घट्टितं सत्तनु भवति, अरक्तद्विष्टो वा समवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहस्तनुर्दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्चेति। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

फलकाऽऽपदर्थिन्-पुं०। फलं कर्मक्षयरूपं तदेव फलकं,तेनाऽऽपदि संसारभ्रमणरूपायामर्थः प्रयोजनं फलकाऽऽपदर्थः, स विद्यते यस्यासौ फलकाऽऽपदर्थी। संसारभ्रमणरूपायामापदि कर्मक्षयरूपफलेनार्थिनि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

फलकावस्थायिन्-पुं०। तक्ष्यमाणोऽपि दुर्वचनवास्यादिभिः कषायाऽभावतया फलकवदवतिष्ठते तच्छीलश्चेति फलकावस्थायी। वासीचन्दनकल्पे, "समाहियच्चे फलगावतट्ठी।" आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

फलचारण-फलचारण-पुं०। नानाद्रुमलतागुल्मपुष्पाण्युपादाय पुष्पसूक्ष्मजीवानविराधयन् कुसुमतलदलावलम्बनसङ्गततया पुष्पचारणः। चारणभेदे, ग० २ अधि०। प्रव०।

फलप्परूवणा-फलप्ररूपणा-स्त्री०। फलं कार्यं तस्य प्ररूपणा प्रज्ञापना फलप्ररूपणा। कार्यप्रज्ञापनायाम्, ध० १ अधि०।

फलप्पहाण-फलप्रधान-त्रि०। सफले, न०।

फलभाव-फलभाव-पुं०। कार्यभावे, "हेउफलभावओ हुंति।" फलभावतः कार्यभावेन। पं०व० १ द्वार।

फलभोयण-फलभोजन-न०। फलान्याम्राऽऽदीनि तेषां भोजनम्। फलं त्रपुष्याऽऽदि, तस्य भोजनम्। भुज्यत इति भोजनमिति कृत्वा तदेव वा भोजनम्। फलभोजनं फलस्य भक्षणे, फलरूपे भक्षणे च। स्था० ६ ठा०।

फलवं-फलवत्-त्रि०। साध्यसाधके, "सव्वं चिय फलवई भवइ चेट्ठा।" पञ्चा० ४ विव०।

फलवड्ढिय-फलवर्द्धिक-न०। मेतार्यनगरसमीपस्थे(सांप्रतं फलोधीति ख्याते)नगरभेदे, तत्रत्ये चैत्ये च। तच्चैत्यस्थे पार्श्वनाथे, पुं०। फलवर्द्धिकनगरस्थायां स्वनामख्यातायां देव्यां च। स्त्री०। ती०।

तद्वक्तव्यता यथा—

"सिरिफलवद्धि(ड्ढि)अचेइय-परिट्ठियं पणमिऊण पासजिणं।
तस्सेव वेमि कप्पं, जहासुअं दलिअकलिदप्पं ॥ १ ॥"

अत्थिसवलखीणदोसमेडत्तयनगरसमीवट्ठिओ वीरभवणाइनाणाविहदेवालयाभिरामो फलवद्धी नाम गामो, तत्थ फलवद्धीनामधिज्जाए देवीए भवणमुत्तुंगसिहरं चिट्ठइ, सो अ रिद्धिसमिद्धोवि कालक्कमेण उवसयाओ संजाओ, तहा वि तत्थ किच्चिआवि वाणिअगा आगंतूण अवसिंसु तेसु एगो सिरिसिरिमालवंसमुत्तामणी धम्मिअलोअगामगामणी "धंधलो" नाम परमसावओ हुत्था। बीओ अ तारिसगुणो चेव ओसवालकुलनहयलनिसाकरो सिवंकरो नाम। ताण दुण्हं पि पभूआओ गावीओ आसि। तासिं मज्झे एगा धंधलस्स धेणू पइदियं दुज्झंती वि दुद्धं न देइ। तओ धंधलेण गोवालो पुच्छिओ-किंमेसा धेणू तुमए चेव बाहिरे दुज्झइ,अन्नेण वा केणावि,जेण सा न दुद्धं देइ ?। तओ गोवालेण सवथाई काऊण अप्पा निरवराहीकओ। तओ गोवालेण सम्मं निरिक्खंतेणं एगया उच्चरयडस्स उवरिं बोरिंतओ समीवे चउहिंवि थणेहिं खीरं झरंती दिट्ठा सा सुरही।

एवं पइदिणं पिच्छंतेण वलिआ धंधलस्स । तेण चिंतिअं—नूणं कोइ इत्थ जक्खाइदेवयाविसेसो भविस्सइ भूमिमज्झट्ठिओ। तओ गिहमागएण तेण सुहपसुत्तेण रत्तीए सुमिणओ उवलद्धो । जहा—एगेण पुरिसेण वुत्तं-इत्थ रयडए भयवं पासनाहो गब्भहरदेवलियामज्झे चिट्ठइ, तं थाहिं निकासिऊण पूएहि । तओ धंधलेण पहाए वुट्ठेण सिवंकरस्स निवेइयो सुमिणवुत्तंतो । तओ दोहिं पि कोऊहलाउलियमाणसेहिं वलिपूआविहाणपुव्वं उद्देहि रयडभूमिं खणावित्ता कड्ढिओ गब्भहरदेउलियासहिसतफणिफणामंडिओ भयवं पाससामी, पइदिअहं पूयंति महया इड्ढीए ते दोवि । एवं पूइज्जंते भुवणनाहे पुणो विअहिट्ठायगेहिं सुमिणे आइट्ठ तेसिं । जहा-तत्थेव पएसे चेइअं कारावेह त्ति । तओ तेहिं पहिट्ठचित्तेहिं दोहिं वि निअविहवाणुसारेण चेइअं काराविउमाढत्तं । पयट्टिआ सुत्तहारा कम्मट्ठाणेसु जाव अग्गमंडले निप्पन्ने, तेसिं अप्पट्ठिअत्तेण दव्वेणं निद्धणअसमत्थयाए नियत्तो कम्मट्ठाओ, तओ धणियं आवन्ना दो वि परमोदासया। तयणंतरे रयणीए पुणो वि अहिट्ठायगसुरेहिं सुमिणे भणियं, जहा-अइप्पभाए अलवंतेसु काएसु देवस्स अग्गओ दम्माणं सत्थिअं पइदिणं पिच्छस्सह, ते दम्मा केइ अकज्जे वइयत्त त्ति । तेहिं तहेव दिट्ठे, ते दम्मे घित्तूण सेसकम्मट्ठायं कारवेउमाढत्तं जाव पडिपुण्णा पच वि मंडवा य लहुमंडवा य, तिहुयणजणचित्तचमुक्कारकारए बहुनिप्पन्नम्मि चेइअम्मि तेसिं पुत्तेहिं चिंतिअं कत्तो एअ दव्व संपज्जइ,ज अविच्छेए कम्मट्ठायं उप्पस्सइ त्ति! अहएमि दिणे अइप्पहाए चेव खंभाइअंतरिआ होऊण निहुअं दट्ठुमारद्धा, तम्मि दिवसे देवेहिं न पूरिअं दम्माणं सत्थिअं, आसन्नं च मिच्छरज्ज नाऊण पयत्तेण आराहिया वि अहिट्ठायगा न पूरिंसु दिव्व ति विउं तदवत्थो चेइयकम्मट्ठाओ। एगारससएसु इक्कासीइसमहिएसु ११८१ विक्कमाइ (च) वरिसेसु अइक्कंतेसु रायगच्छमंडणसिरीसीलभद्दसूरिपट्टपइट्ठिएहिं महावाईंदियवरगुणविंदविजयपत्तपइट्ठेहिं सिरिधम्मघोससूरिहिं पासनाहचेइअसिहरे चउव्विहसंघसमक्ख पइट्ठा कआ । कालंतरेण कलिकालमाहप्पेण कलिप्पिआ वंतरा-हवंति अथिरचित्ता य त्ति पमायपरवसेसु अहिट्ठायगेसु सुरत्ताणसहावुद्दाणेण दिन्न फुरमाणं, जहा—एअस्स देवभवणस्स केणावि भगो न कायव्वो त्ति , अन्न च विव किर भयवओ अहिट्ठायगा न सहति त्ति संघेण बिंबंतर न ठाविअ, विगलिअगस्स वि भगवओ मह्याइ माहप्पाइ उवलब्भति.पइवरिस च पोसबहुलदसमीए जम्मकल्लाणयदिणे चाउद्दिसाओ वि सावयसंघा आगतूण नच्चगीअनट्टवाइअकुसुमाभरणरोहणइदपयाईहिं मणहरजत्तामहिम कुणंता सघपूआईहिं सासण पभाविंता निद्दलति दूसमासमयविलसियाइ वि ठवति गुरुअं सुकृतससार, इत्थ य चेइए धरणिंदपउमावईखित्तवाला अहिट्ठायगा संघस्स विग्घपब्भार उवसामिंति.पणयओ आण मणोरहे अ पूरिंति, इब्भोचिअ थिप्पिरपईवहत्थ पुरिस चेइअमज्झे संचरंत पासति, समाहिअमणा इत्थ रतिं वुत्था भविअजणा एअम्मि महाति त्थभूए पासनाहदिट्ठे कलिकुंडकुक्कडेसरसिरिपव्वयसंखेसरभेरीसयमहुराणारसीअहिच्छत्ताथंभणयअज्जाहरपव्वयनयरदेवपट्टणकरेहडयनागहहसिरिपुरसामिणिचारुपट्टीपुरी उज्जेणीसु सुद्धदंसतीहरिकिंखिलिंढयाइट्ठाणवट्टमाणपासनाहपडिमाणं करिज्ज जत्ता कया हवइ त्ति सपदायपुरिसाणं उवएसो ।

"इअ फलवद्धिपुरट्ठिअ-पासजिणिंदस्स कप्पमविअप्पं ।
निसुणताणं भव्वा-ण होउ कल्लाणनिप्फत्ती ॥ १ ॥"
"इत्यासजनस्य मुखात् , किमप्युपादाय सप्रदायलवम् ।
ग्रथितं जिनप्रभसूरिभिः, कल्प फलवर्द्धिपार्श्वविभोः ॥२॥"
ती० ५४ कल्प ।

फलवाइण्-फलवादिन्-पुं० । फलवदनशीले, "दुग्गई फलवाईणं ।" सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

फलविंटिय-फलवृन्तिक-पुं० । फलवृन्तोद्भवे त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

फलविवाग-फलविपाक-पुं० । फलरूपो विपाकः फलविपाकः । फलरूपविपाके, स० ।

से समासओ दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-दुहविवागे, सुहविवागे य ।

फलस्य कार्यस्य विपाको व्यक्तीकरणम् । फलस्य व्यक्तीकरणे, स०५५सम० । फलमिव वृत्तसाध्यमिव विपाक· कर्मणामुदयः फलविपाकः।कर्मणामुदये,प्रश्न०१आश्र०द्वार । फलस्येवाऽलावुकाऽऽदेः विपाको विपच्यमानता रसप्रकर्षावस्था फलविपाकः । कर्म्मणां रसप्रकर्षावस्थायाम् , भ० ६ श० ३३ उ० ।

फलविसेस-फलविशेष-पु० । भोगाऽऽदिके साध्यभेदे, "भोगाइ फलविसेसा ।" पञ्चा० ६ विव० ।

फलविहि-फलविधि-पुं० । फलप्रकारे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "फलविहिपरिमाणं करेइ ।" उपा० १ अ० । ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रम् )

फलसाहण-फलसाधन-न० । फलार्थमारम्भप्रवर्त्तने, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

फलसुरा-फलसुरा-स्त्री० । तालफलद्राक्षाखर्जूरादिनिष्पन्ने सुराभेदे, बृ० २ उ० ।

फलहि-फलधि-पुं० । हलावयवभेदे, "एक्केणं हत्थेणं हलं वाहेइ, एक्केणं फलही उप्पाडेइ ।" उत्त० ३ अ० ।

फलही-देशी-कार्प्पासे, दे०ना०६ वर्ग ८२ गाथा ।

फलाकिट्ठि-फलाऽऽकृष्टि-स्त्री० । स्त्रीणां चतुष्षष्टिकलास्वन्यतमे कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

फलावचगजोग-फलावञ्चकयोग-पु० "फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगत । सानुबन्धफलावाप्ति-र्धर्मसिद्धौ सता मता" ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे योगभेदे, षो० ।

फलावह-फलाऽऽवह-त्रि० । फलसंयुक्ते, षो० १५ विव० ।

फलासव-फलाऽऽसव-पु०। मद्यभेदे,"फलासवेइ वा ।"प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

फलाहार-फलाऽऽहार-पुं०। तापसभेदे,नि०१ श्रु०३ वर्ग३अ०।

फलिअ-फलित-त्रि० । "फुलिअ फलिअ च दलिअ, उद्दलिअं ।" पाइ० ना० १८१ गाथा ।

फलिआरी-देशी-दूर्वायाम्, दे०ना० ६ वर्ग ८३ गाथा।

फलिणी-फलिनी-स्त्री०। प्रियङ्गौ, " फलिणी पियमा पियं-गू य।" पाइ०ना० १४ गाथा।

फलिह-परिघ-पुं०। परि-हन्-क-नि:। " पाटि—परुष-परिघ—परिखा-पनस-पारिभद्रे फः " ॥ ८।१।२३२॥ इति प्राकृतसूत्रेण फ.। प्रा० १ पाद। " हरिद्राऽऽदौ लः " ॥८।१।२५४॥ इति प्राकृतसूत्रेण लः। प्रा० १ पाद। मार्गपरिहननात् परिघः। नगरद्वाराऽऽदिसम्बन्धिन्यामर्गलायाम्, नं०।दश०।" असिवे णो फलिहा।" पाइ० ना० २४० गाथा। " अग्गला फलिहो।" पाइ०ना० २६७ गाथा। नि०चू०। औ०। रा०। प्रश्न०। ज्ञा०। स्था०। अर्गलादण्डे च। औ०।

फलिक-न०। प्रहेणकाऽऽदौ, " फलियं पहेणगाई।" स्था० ३ ठा० ३ उ०। धमनीवृक्षे, तत्फले च। अनु०।

स्फटिक-पुं०। स्फटीव कायति, इवार्थे कन्। " पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस—पारिभद्रे फः " ॥८।१।२३२॥ इति प्राकृतसूत्रेण पस्य फः। प्रा० १ पाद। " निकष—स्फटिक—चिकुरे हः " ॥८।१।१८६॥ इति प्राकृतसूत्रेण कस्य ह्.। प्रा० १ पाद। " स्फटिके लः " ॥८।१।१९७॥ इति प्राकृतसूत्रेण टस्य लः। प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते मणिभेदे, स्था० १० ठा०। रा०। सूत्र०। उत्त०। प्रश्न०। ज्ञा०। उत्त०। स्फटिकमये रत्नप्रभायाः पृथिव्याः स्वनामख्याते काण्डे, स्था० १० ठा०। स्फटिकमिव स्फटिकम्। अन्तःकरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। स्फटिकमिव स्वच्छत्वात् स्फटिकम्। आकाशे, भ० १६ श० ३ उ०।

फलिहकूड-स्फटिककूट-न०। जम्बूद्वीपस्य गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्याधोलोकनिवासिन्या भोगंकराया दिक्कुमार्या निवासभूते स्फटिकरत्नमये स्वनामख्याते कूटे, स्था० ८ ठा०। जं०। कुण्डलवरद्वीपस्थस्य कुण्डलशैलस्योत्तरस्यां दिशि स्थिते स्वनामख्याते कूटे, द्वी०। रुचकद्वीपस्थरुचकपर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि स्थिते स्वनामख्याते कूटे च। द्वी०।

फलिहगिरि-स्फटिकगिरि-पुं०। कैलाशे, " फलिहगिरी केलासो।" पाइ० ना० १७८ गाथा।

फलिहमल्ल-स्फटिकमल्ल-पुं०। भृगुकच्छादागते उज्जयिनीनगरस्थेनाऽट्टणमल्लेन सह कृतयुद्धे स्वनामख्याते मल्ले, आव० ४ अ०।

फलिहा-परिखा-स्त्री०। परितः खन्यते खन-डः। " पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फः"॥८।१।२३२॥ इति प्राकृतसूत्रेण फ.। प्रा० १ पाद। " हरिद्राऽऽदौ लः " ॥ ८। १। २५४॥ इति प्राकृतसूत्रेण लः। प्रा० १ पाद। पुराऽऽदौ रिपुप्रभृतीनां दुष्प्रवेशनासिद्धये गर्त्तरूपायां वेष्टनाऽऽकारभूमौ, वाच०। परिखा, खातं, वलयमिति। ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। सा चाध उपरि च समखातेति। औ०। रा०। उपरि विशाला अधः संकुचितेति। प्रज्ञा० २ पद। परिखोपरि विशाला अधः संकुचिता, खातेति तूभयत्रापि सममिति। जी० ३ प्रति० ३ अधि०। आचा०।

फलिहोवहड-फलिकोपहृत-न०। उपहृतमुपहितं भोजनस्थाने ढौकितं, भक्तमिति भावः। फलिकं प्रहेणकाऽऽदि, तच्च तदुपहृतं चेति फलिकोपहृतम्। अवगृहीताभिधानपञ्चमपिण्डैषणाविषयभूते उपहृतभेदे, व्य०।

यदाह व्यवहारभाष्ये—

फलियं पहेणगाई, वंजणभक्खेहिं वा विरहियं तु।
भोत्तुमणस्सावहियं,पंचमपिंडेसणा एसा॥ व्य० २ उ०।

फली-देशी-लिङ्गवृषयोः, दे०ना० ६ वर्ग ८६ गाथा।

फलुस्सुक-फलौत्सुक्य-न०। अभ्युदयाऽऽशंसायाम्, द्वा० २१ द्वा०।

फलोवागय-फलोपगत-पुं०। फलान्युपगच्छतीति फलोपगः फलोपगतो वा। 'फलोवगय' इत्येवं वाच्यम्। " फलोवा " इति प्राकृतलक्षणवशात्। बहलफले वृक्षभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ०। "फलोवागएसु वा।"आचा०२ श्रु० २ चू०३ अ०।

फलोवारुक्खसमाण-फलोपगतवृक्षसमान-पुं०। 'फलोवगयरुक्खसमाण इति वाच्ये 'फलोवारुक्खसमाण' इति प्राकृतलक्षणवशात्। पुरुषभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

फल्ल-फल्य-न०। फलाय हितं यत्। पुष्पे,वाच०। फलाय हितः फल्यः। सौत्रिके वस्त्रे, बृ० १ उ० ३ प्रक०।

फव्वीह-देशी-लाभे, 'फव्वीहामो कहंम्हे।' "फव्वीहामो त्ति" देशीपदत्वात् यदृच्छया भक्तपानं लभामहे। बृ० १ उ०३ प्रक०।

फसल-देशी-सार-स्थासकयोः, दे० ना० ६ वर्ग ८७ गाथा। ( काबर चित्र गुजराती ) " फसलं सबलं सारं, किम्मीरं चित्तलं च बोगिल्लं।" पाइ०ना० ६४ गाथा।

फसलाणिअ-देशी-कृतविभूषे, दे० ना० ६ वर्ग ८३ गाथा।

फसलिअ-देशी-कृतविभूषे, दे०ना० ६ वर्ग ८३ गाथा।

फसुल-देशी-मुक्ते, दे०ना० ६ वर्ग ८२ गाथा।

फा-फा-स्त्री०। मृगमारीचे, फणायाम्, भषणे, निष्ठुरोक्तौ, कलायाम्, केकायाम्, उत्कण्ठायाम्, तनौ च। " फावंतो मृगमारीचे,फा फणा भषणे च फा।" एका०। अथवा स्त्रियाम्। "निष्ठुरोक्तिकलाकेको-त्कण्ठातनुषु कथ्यते।" एका०।

फाइ-स्फाति-स्त्री०। स्फाय-भावे क्तिन्। वृद्धौ,वाच०। "फातीए मुच्छाए।" नि० चू० १ उ०।

फाईकय-स्फातीकृत-त्रि०। स्फीतिमुपनीते, " फाईकयमप्पमत्तेहिं।" आ० म० १ अ०।

फाणिय-फाणित-न०। फण-णिच् क्तः। गुडविकारभेदे वाच०। फाणितो द्रवगुडः। ध० २ अधि०। प्रज्ञा०। औ०। दश०। फाणितं गुडपानकम्। पिं०। 'फाणयं वा'उदकेन द्रवीकृतो गुडः कथितो वा। आचा०२श्रु०१चू०१ अ०४ उ०। द्रविकः पिण्डगुड एव पानीयेन द्रावितः, एतदुभयमपि फाणितमुच्यते। बृ० २ उ०। " फाणियाणि वोच्छि।" द्रवगुडे, पिं०। " फाणिओ गुडो भण्णति। सो दुविहो—द्रवगुडो, खंडगुडो वा।" नि०चू०४ उ। क्वाथे, "णिफ्फाणियाइ वा।" फाणितं क्वाथ इति। प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०। पञ्चा०।

फाणियगुल-फाणितगुड-पुं० । द्रवगुडे, भ० १८ श० ५ उ० ।

फारुसिय-पारुष्य-न० । परुषतायाम् , "फारुसियं समादियं ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

फाल-पाट-धा० । पट्-णिच् । "पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फ " ॥ ८ । १ । २३२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण णयन्तस्य पाटेः पस्य फाऽऽदेशः । प्रा० १ पाद । "चपेटापाटौ वा " ॥ ८ । १ । १९८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पाटेर्ण्यन्तस्य टस्य लो वा । 'फालइ । फालेइ । फाडइ । फाडेइ । ' प्रा० १ पाद ।

फाल-न० । फलाय-शस्याय हितम् । अण् । फल्यते-विदार्य्यते भूमिरनेन वा घञ् । स्वनामख्याते लाङ्गलमुखस्थे लौहभेदे, वाच० । " फालसरिसजीहं । " फाल-द्विपञ्चाशत्पलप्रमाणलोहमयो दिव्यविशेषः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । " फालसरिसा से दंता ।" फाला लोहमयकुशास्तत्सदृशाः, दीर्घत्वात् । उपा० २ अ० । फालमस्त्यस्य अच् । बलदेवे, महादेवे च । पुं० । फलस्य विकारः अण् । कार्पासवस्त्रे, त्रि० । फालकरणके दिव्यपरीक्षाभेदे, न० । फलेषु भवः अण् । जम्बीरबीजाऽऽदौ, पु । वाच० ।

फालण-स्फाटन-न० । विदारणे, आव० ६ अ० । प्रश्न० । स० ।

फालि-फालि-स्त्री० । शाखायम् , "संबलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढा ।" संथा० । खण्डे, "अंबपेसियं वा । " आम्रपेशी आम्रफाली । आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० २ उ० ।

फालिअ-पाटित-त्रि० । द्विधाकृते, " फालिअ ओरंपिअं च ओरत्तं । " पाइ० ना० १९८ गाथा ।

फालित्ता-स्फालयितृ-त्रि० । स्फालनकर्त्तरि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

फालिय-फालिक-न० । महार्घमूल्ये वस्त्रभेदे, " फालियाणि वा ।" आचा० १ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

स्फाटित-त्रि० । विदारिते, उत्त० १९ अ० । आव० । प्रश्न० ।

स्फाटिक-न० । रत्नविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । आ० म० ।

फालियवण्णाभ- स्फटिकवर्णाभ-त्रि० । स्फटिकवर्णवदाभा यस्य स तथा । स्फटिकवर्णसदृशवर्णोपेते, भ० १२ श० ।

फालिहद्द-पारिभद्र -पुं० । परितो भद्रमस्त्यस्य प्रज्ञाऽऽद्यण् । "पाटि-परुष परिघ परिखा पनस-पारिभद्रे फ " ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण फ । प्रा० १ पाद । " हरिद्राऽऽदौ ल " ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति ल । प्रा० १ पाद । वृक्षभेदे, वाच० ।

फाली-फाली-स्त्री० । 'फालि' शब्दार्थे, सथा० ।

फास-स्पर्श-पुं० । ग्रहणे, स्तेये च । चुरा०-उभ०-सक० सेट् । सर्वत्र लवराम(च)वन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण संयुक्तस्योपरिस्थितस्य रस्य लुक् । प्रा० २ पाद । "लुप्त य र-व श ष-सां दीर्घः " ॥ ८ । १ । ४३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण रलोपे कृते शकारात्पूर्वस्य दीर्घः । प्रा० १ पाद । " र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वे इकारो वा । प्रा० २ पाद । फासइ । फरिसइ । स्पर्शयति । अपस्पर्शत् । वाच० । स्पृशतीति स्पर्शः । स्पर्शेन्द्रिये, विशे० । प्रज्ञा० । सम्म० । 'स्पृश' स्पर्शे । स्पृश्यते । छुप्यत इति स्पर्शः । "अकर्त्तरि च०" ॥ ३ । ३ । १९ ॥ इति घञ्प्रत्ययः । प्रज्ञा० २३ पद । स्था० । त्वगिन्द्रियग्राह्ये पृथिव्युदकज्वलनवृत्तिके, सम्म० । स्पर्शनकरणविषये, स्था० १ ठा० । कर्कशाऽऽदिके गुणभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । स० । आ० म० । औ० । प्रा० । प० सं० । कर्म० । " फासाइं पडिसवेइ ।' स्था० २ ठा० २ उ० । आ० म० । जी० । भ० । " विराहणा फासभावबंधो य । " नि० चू० १७ उ० । ते चाष्टौ कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात् । विशे० । आचा० । पं० स० । उत्त० । अनु० । प्रव० । प्रज्ञा० ।

अट्ठ फासा पण्णत्ता । तं जहा—कक्खडे, मउए, गुरुए, लहुए, सीए, उसिणे, निद्धे, लुक्खे । स्था० ८ ठा० ।

स्पर्शाः संबाधनाऽऽलिङ्गनचुम्बनाऽऽदिका इति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । ते च प्रत्येकं द्विविधाः—

दुविहा फासा पण्णत्ता । तं जहा—अत्ता चेव, अणत्ता चेव ०जाव मणामा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

" एगे फासे । " एकत्वं सामान्यतः सजातीयविजातीयव्यावृत्तरूपापेक्षया वा भावनीयम् । स्था० १ ठा० ।

स्पर्शवर्णकश्च मणीनधिकृत्य—

तेसि णं मणीणं इमेयारूवे फासे पण्णत्ते । से जहानामए आईणेइ वा, रूएइ वा, बूरेइ वा, नवणीएइ वा, हंसतूणीएइ वा, सिरीसकुसुमनिचएइ वा, बालकुसुमपत्तरासीइ वा । प्रज्ञा० २३ पद । रा० ।

स्पृश्यते—स्पर्शेन्द्रियेणानुभूयते इति स्पर्शः । उपतापे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । दंशमशकाऽऽदिके परीषहोपसर्गाऽऽत्मके दुःखविशेषे , सूत्र० ।

एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुस्सहिया सया ।

हत्थीसरसंविता, कीवाऽवस गया गिहं ॥ १७ ॥

सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । ( अस्या व्याख्यानम् 'परिसह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६४८ पृष्ठे गतम् ) नरकाऽऽदिके दुःखविशेषे, " पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । गाढप्रहाराऽऽदिजनिते दुःखविशेषे, " फासा य असमंजसा । " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए ।

अथवा-तेषु ग्रामाऽऽदिषु स्थानेषु तिष्ठतो गच्छतो वा स्पर्शाः दुःखविशेषा आत्मसंवेदनीयाः स्पृशन्ति—अभिभवन्ति, ते चतुर्विधाः । तद्यथा-घट्टनतक्षणकण्डनाऽऽदेः पतनता, अभिमूर्छाऽऽदिना स्तम्भनता, वाताऽऽदिना श्लेषणता, तालुनः पाताद्वाङ्गुल्यादेर्वा स्यात्, यदि वा-वातपित्तश्लेष्माऽऽदिक्षोभात् स्पर्शाः स्पृशन्ति । अथवा-निष्किञ्चनतया तृणस्पर्शदंशमशकशीतोष्णाऽऽद्यापादिताः स्पर्शाः दुःखविशेषाः कदाचित्स्पृशन्ति-अभिभवन्ति, तैश्च स्पृष्टः परीषहैस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्योऽधिसहेत नरकाऽऽदिदुःखभावनयाऽवश्यकर्मोदयाऽऽपादितं पुनरपि मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य सम्यक्तितिक्षेतेति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

अचेल तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेंति ।

अचेलं कश्चिद् ग्रामाऽऽदौ स्वकम्बलाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः परुषास्तृणैर्वा जनिताः स्पर्शा दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृशन्ति, तांश्च सम्यगदीनमनस्कोऽधिसहत इति संबन्धः । तथा शीतस्पर्शाः स्पृशन्त्युपतापयन्ति, तेज उष्णस्तत्स्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्त्येतेषां तु परीषहाणामेकतरेऽविरुद्धा दंशमशकतृणस्पर्शाऽऽदयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णाऽऽदिपरीषहाणां वा परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादुःष्युः, प्रत्येकं बहुवचननिर्देशश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्थासंसूचक, इत्येतदेव दर्शयति-विरूपं-वीभत्सं मनोऽनाह्लादि विविधं वा मन्दाऽऽदिभेदाद् रूपं स्वरूप येषां ते विरूपरूपाः । के ते ?-स्पर्शाः दुःखविशेषाः, तदापादकास्तृणाऽऽदिस्पर्शा वा, तान् सम्यक् करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । दुःखोत्पादके शीतोष्णाऽऽदिके, " ससहफासा फरुसा वुदीरिया । " आचा० २ श्रु० ४ चू० । स्पृश्यतेऽनेन वस्तुतत्त्वमिति स्पर्शः । वस्तु तत्त्वज्ञाने, षो० १२ विव० । ( स्पर्शलक्षणम् ' दिक्खा ' शब्दे चतुर्थभागे २५०८ पृष्ठे गतम् ) अन्योऽन्यं संघट्टने, बृ० १ उ० २ प्रक० । सम्पर्के, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अभिभवे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । आराधने, " फासेइ अणुत्तरं करणं । " स्पृशत्याराधयति । बृ० २ उ० २ प्रक० । पालने, "तिविहेण फासयते । " स्पृशन् पालयन्निति । भ० १५ श० ७ उ० । पञ्चा० । ग्रहणे, रोगे, युद्धे, गुप्तचरे उपतापके, वायौ, वाच० । अष्टाशीतिमहाग्रहेष्वन्यतमे स्वनामख्याते महाग्रहे, " दो फासा । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

फासंत-स्पृशत्-त्रि० । पालयति, पञ्चा० १० विव० ।

फासकरण-स्पर्शकरण-न० । प्रयोगकरणभेदे, तच्च विशिष्टेषु भोजनाऽऽदिषु सत्सु यद्विशिष्टाऽऽपादनम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

फासकीव-स्पर्शक्लीव-पुं० । क्लीबभेदे, " गोवालगकंचुओ फासे फासकीवो तं पाउणित्ता अप्पणो गोवालकंचुयं काउं उव्वट्टणाइ करेइ । " नि० चू० ४ उ० ।

फासजोग-स्पर्शयोग-पुं० । स्पर्शो ज्ञानं, तेन योग सम्बन्धः स्पर्शयोगः । ज्ञानसम्बन्धे, षो० १२ विव० ।

फासण-स्पर्शन-न० । स्पृश ल्युट् । ग्रहणे, स्पर्शे च । वाच० । दुःखने, " एयाइं फासाइं फुसंति बालं । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । इन्द्रियभेदे, प्रव० ६७ द्वार । णिच् ल्युट् । स्पर्शने, दाने च । स्पृश-कर्त्तरि ल्युट् । वायौ, पुं० । वाच० ।

फासणकिरिया-स्पर्शनक्रिया-स्त्री० । क्रियाभेदे, आ० चू० । स्पर्शनक्रिया द्विविधा—जीवस्पर्शनक्रिया, अजीवस्पर्शनक्रिया । तत्र जीवस्पर्शनक्रिया—स्त्रीपुंनपुंसकं वा स्पृशति, संघट्टयतीत्यर्थः । अजीवस्पर्शनक्रिया-सुखस्पर्शार्थे मृगलोमाऽऽदिवस्त्रजातं, मुक्ताऽऽदि वा रत्नजातं स्पृशतीति । आ० चू० ४ अ० ।

फासणा-स्पर्शना-स्त्री० । स्पर्शे, प्राप्तौ, स्पर्शना प्राप्तिरवगाहो लम्भ इति । आ० चू० ६ अ० । क्षेत्रस्पर्शनयोरयं विशेषः-क्षेत्रमवगाहाऽऽक्रान्तप्रदेशमात्रम् । स्पर्शना तु प्रदेशाद्बहिरपि भवति । तथा च परमाणुद्रव्यमाश्रित्य तावदवगाहना-स्पर्शयोर्विशेषविविदिषयाऽऽह—

अवगाहणाइरित्तं, पि फुसइ बाहिं जहाऽणुणोऽभिहियं ।
एगपएसं खेत्तं, सत्तपएसा य से फुसणा ॥ ४३२ ॥

इह यत्रावगाढस्तत् क्षेत्रमुच्यते, यस्त्ववगाहनातो बहिरप्यतिरिक्तं क्षेत्रं स्पृशति सा स्पर्शनाऽभिधीयते, इति क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषः, यथा परमाणोः, आगमे यत्रैकस्मिन्प्रदेशेऽवगाढः, तदेकप्रदेशं क्षेत्रमभिहितम्, सप्तप्रदेशा तु ( से ) तस्य स्पर्शना प्रोक्ता, यत्रैकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढस्तम् अन्यांश्च षट्दिक्संबन्धिनः षट् नभःप्रदेशान् परमाणुः स्पृशतीति कृत्वेति ॥ ४३२ ॥

प्रकारान्तरेणापि क्षेत्रस्पर्शनयोर्भेदमाह—

अहवा जत्थोगाढो, तं खेत्तं विग्गहे मया फुसणा ।
खेत्तं च देहमित्तं, संचरओ होइ से फुसणा ॥ ४३३ ॥

पाठसिद्धैव । विशे० । ( स्पर्शनाद्वारम् ' आणुपुव्वी ' शब्दे द्वितीयभागे १३५ पृष्ठे गतम् ) ( ' परमाणुपोग्गल ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११०० पृष्ठे स्पर्शनासूत्रं गतम् )

अथ नानाजीवानधिकृत्य क्षेत्रस्पर्शने प्राऽऽह—

होंति असंखेज्जगुणा, नानाजीवाण खेत्तफुसणाओ (४३४)

एकस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानिजीवस्य ये क्षेत्रस्पर्शने, ताभ्यां सकाशाद् नानाऽऽभिनिबोधिकजीवाना याः क्षेत्रस्य स्पर्शनास्ता असंख्येयगुणाः, नानाऽऽभिनिबोधिकजीवानां सर्वेषामसंख्येयत्वादिति भावः । विशे० ।

स्पर्शनामेवाऽधिकृत्याऽऽह—

लोयंते भंते ! अलोयंतं फुसइ, अलोयंतेऽवि लोयतं फुसइ ? । हंता गोयमा ! लोयंते अलोयंतं फुसइ, अलोयंतेऽवि लोयंतं फुसइ । तं भंते ! किं पुट्ठं फुसइ, अपुट्ठं फुसइ० जाव नियमा छद्दिसिं फुसइ ? । दीवंते भंते ! सागरंतं फुसइ, सागरंते वि दीवंतं फुसइ ? । हंता० जाव नियमा छद्दिसिं फुसइ, एवं एएणं अभिलावेणं उदयंते पोयंतं, छिद्दंते दूसंतं, छायंते आयवंतं० जाव णियमा छद्दिसिं फुसइ ॥

( लोयंते भंते ! अलोयंतमित्यादि ) लोकान्तः सर्वतो लोकावसानम्, अलोकान्तस्तु तदनन्तर एवेति । इहाऽपि ( पुट्ठं फुसइ इत्यादि ) सूत्रप्रपञ्चो दृश्योऽत एवोक्तं ( जाव नियमा छद्दिसिं ति ) एतद्भावना चैवम्-स्पृष्टमलोकान्तं स्पृशति, स्पृष्टत्वं च व्यवहारतो दूरस्थस्याऽपि दृष्टम्, यथा-चक्षु स्पर्श इत्यत उच्यते, अवगाढम्-आसन्नमित्यर्थः, अवगाढत्वञ्चाऽऽसत्तिमात्रमपि स्यादत उच्यते, अनन्तरावगाढमव्यवधानेन सम्बद्धं न तु परम्परावगाढं शृङ्खलाकटिका इव परस्परसम्बद्धं, तच्चाऽणुं स्पृशति, अलोकान्तस्य क्वचिद्विवक्षया प्रदेशमात्रत्वेन सूक्ष्मत्वात् बादरमपि स्पृशति, क्वचिद्विवक्षयैव बहुप्रदेशत्वेन बादरत्वात्, तम् ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च स्पृशति, ऊर्ध्वादिदिक्षु लोकान्तस्याऽलोकान्तस्य च भावात् । तं चाऽऽदौ मध्येऽन्ते च स्पृशति, कथमधस्तिर्यगूर्ध्वलोकप्रान्तानामादिमध्यान्तकल्पनात् तं च स्वविषये स्पृशति । स्पृष्टाऽवगाढाऽऽदौ नाविषये

विति तं वाऽऽनुपूर्व्या स्पृशति । आनुपूर्वी चेह प्रथमे स्थाने लोकान्तस्ततोऽनन्तरं द्वितीये स्थाने अलोकान्त इत्येवमवस्थानतया स्पृशति । अन्यथा तु स्पर्शनैव न स्यात्तं च षट्सु दिक्षु स्पृशति, लोकान्तस्य पार्श्वतः सर्वतोऽलोकान्तस्य भावात् । इह च विदिक्षु न स्पर्शनाऽस्ति । दिशां लोकविष्कम्भप्रमाणत्वाद्विदिशां च तत्परिहारेण भावात् । एवं द्वीपान्तसागरान्ताऽऽदिसूत्रेषु स्पृष्टाऽऽदिपदभावना कार्या, नवरं द्वीपसागरान्तादिसूत्रे " छद्दिसि " इत्यस्यैवम्भावना— योजनसहस्रावगाढा द्वीपाश्च समुद्राश्च भवन्ति, ततश्चोपरितनानधस्तनांश्च द्वीपसमुद्रान् प्रदेशानाश्रित्योर्ध्वोऽधो दिग्द्वयस्य स्पर्शना वाच्या, पूर्वाऽऽदिदिशा तु प्रतीतैव, समन्ततस्तेषामवस्थानात् । ( उदयंते पोयंतं ति ) नद्यादुदकान्तः पोतान्तं नौपर्यन्तमानमिद्धाप्युच्छ्रयाऽपेक्षया ऊर्ध्वदिक्स्पर्शना वाच्या । जलनिमज्जने चेति ( छिद्दंते दूसंतं ति ) छिद्रान्तो दूष्यान्त वस्त्रान्तं स्पृशति ; इहाऽपि षड्दिक्स्पर्शना भावना वस्त्रोच्छ्रयाऽपेक्षया, अथवा—कम्बलरूपवस्त्रपोट्टलिकायां तन्मध्योत्पन्नजीवमक्षणेन तन्मध्यरन्ध्राऽपेक्षया लोकान्तसूत्रवत् षड्दिक्स्पर्शना भावयितव्या । ( छायंते आयवंतं ति ) इह छायाभेदेन षड्दिग्भावनैवम्—आतपे व्योमवर्तिपक्षिप्रभृतिद्रव्यस्य या छाया तदन्त आतपान्तं चतसृषु दिक्षु स्पृशति, तथा तस्या एव छायाया भूमेः सकाशात् तद् द्रव्य यावदुच्छ्रयोऽस्ति । ततश्च छायान्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशति । अथवा-प्रासादवरण्डिकाऽऽदेर्या छाया तस्या भित्तेरवतरन्त्या आरोहन्त्या वा; अन्त आतपान्त मूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति भावनीयम् । अथवा—तयोरेव छायाऽऽतपयोःपुद्गलानामसङ्ख्येयप्रदेशावगाहित्वादुच्छ्रयसद्भावस्तत्सद्भावाच्चोर्ध्वोऽधोविभागस्ततश्च छायान्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति । भ० १ श० ६ उ० ।

परमाणुपोग्गले णं भंते वाउयाए णं फुडे, वाउयाए वा परमाणुपोग्गले णं फुडे ? । गोयमा ! परमाणुपोग्गले वाउयाए णं फुडे, णो वाउयाए पोग्गले णं फुडे । दुपदेसिए णं भंते ! खंधे वाउयाए णं एवं चेव । एवं०जाव असंखेज्जपएसिए । अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे वाउयाए पुच्छा ? । गोयमा ! अणंतपएसिए खंधे वाउयाए णं फुडे वाउयाए अणंतपएसिए णं खंधे णं सिय फुडे, सिय णो फुडे । वत्थी णं भंते ! वाउयाए णं फुडे वाउयाए वत्थिणा फुडे ? । गोयमा ! वत्थी वाउयाए णं फुडे, णो वाउयाए वत्थिणा फुडे ।

( वाउयाए णं फुडे त्ति ) परमाणुपुद्गलो वायुकायेन स्पृष्टो व्याप्तो मध्ये क्षिप्त इत्यर्थः । " नो वाउयाए " इत्यादि । नो वायुकायः परमाणुपुद्गलेन स्पृष्टो व्याप्तो मध्ये क्षिप्तो वायोर्महत्त्वादणोश्च निःप्रदेशत्वेनातिसूक्ष्मतया व्यापकत्वाभावादिति । ( अणंतपएसिए णमित्यादि ) अनन्तप्रदेशिकः स्कन्धो वायुना व्याप्तो भवति, सूक्ष्मतरत्वात् तस्य, वायुकायः पुनरनन्तप्रदेशिकस्कन्धेन स्याद् व्याप्तः स्यान्न व्याप्तः । कथम् ?, यदा वायुस्कन्धापेक्षया महानसौ भवति तदा वायुस्तेन व्याप्तो भवत्यन्यदा तु नेति । ( वत्थीत्यादि ) वस्तिर्दृतिः वायुकायेन स्पृष्टो व्याप्तः सामस्त्येन तद्विवरपरिपूरणाद्यो वायुकायो वस्तिना स्पृष्टो, यस्तेर्वायुकायस्य परित एव भावात् । भ० १८ श० १० उ० । ( आकाशथिग्गलस्पर्शः ' आगासथिग्गल ' शब्दे द्वितीयभागे ६६ पृष्ठे उक्तः )

धर्मास्तिकायाऽऽदीनां स्पर्शो यथा—

एगे भंते ! धम्मत्थिकायप्पएसे केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! जहण्णपदे तिहिं, उक्कोसपदे छहिं । केवइएहिं अहम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! जहण्णपदे चउहिं, उक्कोसपदे सत्तहिं । केवइएहिं आगासत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! सत्तहिं । केवइएहिं जीवत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! अणंतेहिं । केवइएहिं पोग्गलत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! अणंतेहिं । केवइएहिं अद्धासमएहिं पुट्ठे ? । सिय पुट्ठे सिय णो पुट्ठे जइ पुट्ठे णियमं अणंतेहिं ।

( धम्मत्थिकायप्पएसे इत्यादि ) ( जहण्णए तिहिं ति ) जघन्यपदं लोकान्तनिष्कुटरूप, यत्रैकस्य धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशस्यातिस्तोकैरन्यैः स्पर्शना भवति । तच्च भूम्यासन्नापवरककोणदेशप्राय इहोपरितनेनैकेन द्वाभ्यां च पार्श्वत एको विवक्षितप्रदेशः स्पृष्ट एव जघन्येन त्रिभिरिति । ( उक्कोसपए छहिं ति ) विवक्षितस्यैक उपर्येकोऽधश्चत्वारो दिक्षु इत्येवं षड्भिरिह प्रतरमध्ये, ( जहण्णपदे चउहिं ति ) धर्मास्तिकायप्रदेशो जघन्यपदेऽधर्मास्तिकायप्रदेशैश्चतुर्भिः स्पृष्ट इति । कथम् ? । तथैव त्रयश्चतुर्थस्तु धर्मास्तिकायप्रदेशस्थानस्थित एवेति । उत्कृष्टपदे सप्तभिरिति कथम् ? । षड्दिक्षु षट् सप्तमस्तु धर्मास्तिकायप्रदेशस्य एवेति २ । आकाशप्रदेशैः सप्तभिरेव लोकान्तेऽपि अलोकाऽऽकाशप्रदेशाना विद्यमानत्वात् ३ । ( केवतिएहिं जीवत्थिकायप्पएसेत्यादि ) ( अणंतेहिं ति ) अनन्तैरनन्तजीवसम्बन्धिनामनन्तानां प्रदेशानां तत्रैकधर्मास्तिकायप्रदेशे पार्श्वतश्च दिक्क्रियाऽऽदौ विद्यमानत्वादिति ४ । एवं पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरपि ५ । ( केवइएहिं अद्धासमएहिं इत्यादि ) अद्धासमयः समयक्षेत्र एव न परतोऽतः स्यात् स्पृष्ट स्यान्नेति । ( जइ पुट्ठे नियमं अणंतेहिं ति ) अनादित्वादद्धासमयानाम् । अथवा- वर्तमानसमयाऽऽलिङ्गितान्यऽनन्तानि द्रव्याण्यनन्ता एव समया इत्यनन्तैरते स्पृष्टा इत्युच्यते इति ।

एगे भंते ! अहम्मत्थिकायप्पएसे केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! जहण्णपदे चउहिं उक्कोसपदे सत्तहिं । केवइएहिं अहम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! जहण्णपदे तिहिं, उक्कोसपदे छहिं । सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स ॥

अधर्मास्तिकायप्रदेशस्य शेषाणां प्रदेशैः स्पर्शना धर्मास्तिकायप्रदेशस्पर्शनानुसारेणावसेया ।

एगे भंते ! आगासत्थिकायप्पएसे केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! सिय पुट्ठे, सिय णो पुट्ठे, जइ पुट्ठे जहण्णपदे एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा, उक्कोसपदे सत्तहिं । एवं अहम्मत्थिकायप्पएसेहिं वि । केवइएहिं आगासत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! छहिं । केवइएहिं जी-

चत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ? । गोयमा ! सिय पुट्ठे,सिय णो पुट्ठे, जइ पुट्ठे णियमं अणंतेहिं, एवं पोग्गलत्थिकायप्पदेसेहिं वि, अद्धासमएहिं ॥

(एगे भंते ! आगासत्थिकायप्पएसे इत्यादि ) सिय पुट्ठे त्ति ) लोकमाश्रित्य ( सिय नो पुट्ठे त्ति ) अलोकमाश्रित्य ( जइ पुट्ठे इत्यादि ) यदि स्पृष्टस्तदा जघन्यपदे एकेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्टः। कथम् ?। एवंविधलोकान्तवर्त्तिना धर्मास्तिकायैकप्रदेशेन शेषधर्मास्तिकायप्रदेशेभ्यो निर्गतेनैकेऽग्रभागवर्त्यलोकाऽऽकाशप्रदेशा' सन्ति स त्रिभिर्धर्मास्तिकायप्रदेशैः स्पृष्टः,स चैवम्-यस्त्वेवं लोकान्ते कोणगतो व्योमप्रदेशोऽसावेकेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन तदवगाढेनान्येन च उपरिवर्त्तिनाऽधोवर्त्तिना वा, द्वाभ्यां च दिग्द्वयावस्थिताभ्यां स्पृष्ट इत्येव चतुर्भिः, यश्चाध उपरि च तथा दिग्द्वये तत्रैव वर्त्तमानेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्ट स पञ्चभिर्यः पुनरध उपरि च तथा दिक्त्रये तत्रैव वर्त्तमानेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्टः स षड्भिः यश्चाध उपरि च तथा दिक्चतुष्टये तत्रैव वर्त्तमानेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्टः स सप्तभिर्धर्मास्तिकायप्रदेशैः स्पृष्टो भवतीति १, एवमधर्मास्तिकायप्रदेशैरपि २, ( केवइएहिं आगासत्थिकायप्पएसेहिं छहिं ति ) एकस्य लोकाऽऽकाशप्रदेशस्याऽलोकाऽऽकाशप्रदेशस्य वा, षड्दिग्व्यवस्थितैरेव स्पर्शनात् षड्भिरित्युक्तम ३। जीवास्तिकायसूत्रे-(सिय पुट्ठे त्ति) यद्यसौ लोकाऽऽकाशप्रदेशो विवक्षितस्ततः स्पृष्टः (सिय नो पुट्ठे त्ति) यद्यसावलोकाऽऽकाशप्रदेशविशेषस्तदा न स्पृष्टो जीवानां तत्राभावादिति ४। एवम्-पुद्गलाऽद्धाप्रदेशैः ६।

एगे भंते ! जीवत्थिकायप्पएसे केवइएहिं धम्मत्थिकायपुच्छा ?। जहण्णपदे चउहिं,उक्कोसपदे सत्तहिं;एवं अहम्मत्थिकायप्पदेसेहिं वि । केवइएहिं आगासत्थिकायपुच्छा ? । सत्तहिं । केवइएहिं जीवत्थिकायपुच्छा ? । सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स ॥

(एगे भंते ! जीवत्थिकायप्पएसे इत्यादि) जघन्यपदे लोकान्तकोणलक्षणे सर्वाल्पत्वात्तत्र स्पर्शकप्रदेशानां चतुर्भिरिति। कथम् ?, अध उपरि वा, एको द्वौ च दिशोरेकस्तु यत्र जीवप्रदेश एवावगाढ इत्येवम्। एकश्च जीवास्तिकायप्रदेश एकत्राऽऽकाशप्रदेशाऽऽदौ केवलिसमुद्घात एव लभ्यत इति। (उक्कोसपए सत्तहिं ति) पूर्ववत् १, ( एवं अहम्मेत्यादि ) पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम्।

एगे भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पदेसे केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पएसेहिं ? । एव जहेव जीवत्थिकायस्स ॥

धर्मास्तिकायाऽऽदीनां ४, पुद्गलास्तिकायस्य चैकैकप्रदेशस्य स्पर्शनोक्ता।

अथ तस्यैव द्विप्रदेशाऽऽदिस्कन्धानां तां दर्शयन्नाह—

दो भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पदेसा केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठा ? । गोयमा ! जहण्णपदे छहिं, उक्कोसपदे वारसहिं । एवं अहम्मत्थिकायप्पदेसेहिं वि । केवइएहिं आगासत्थिकायपुच्छा ? । गोयमा ! वारसहिं,सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स ॥

इह यद्बिन्दुद्वयं तत्परमाणुद्वयमिति मन्तव्यम्, तत्र चार्वाचीनः परमाणुर्धर्मास्तिकायप्रदेशेन अर्वाक् स्थितेन स्पृष्टः परभागवर्ती च परतः स्थितेनैवं द्वौ, तथा ययो· प्रदेशयोर्मध्ये परमाणु स्थाप्येते तयोरग्रेतनाभ्यां तौ स्पृष्टावेकेनैको द्वितीयेन च द्वितीय इति चत्वारो द्वौ चावगाढत्वादेव स्पृष्टावित्येव षट्। ( उक्कोसपए वारसहिं ति ) कथम् ?, परमाणुद्वयेन द्वौ प्रदेशावगाढत्वात्स्पृष्टौ द्वौ चाधस्तनानुपरितनौ च द्वौ पूर्वापरपार्श्वयोश्च द्वौ द्वौ दक्षिणोत्तरपार्श्वयोश्चैकैक इत्येवमेते द्वादशेति । एवमधर्मास्तिकायप्रदेशैरपि २। ( केवतिएहिं आगासत्थिकायप्पएसेहिं वारसहिं ति ) इह जघन्यपद नास्ति लोकान्तेऽप्याकाशप्रदेशानां विद्यमानत्वादिति द्वादशभिरित्युक्तम् ३ ( सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स त्ति) अयमर्थः-"दो भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पएसा केवइएहिं जीवत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठा ? । गोयमा ! अणंतेहिं ४।" एवं पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरपि ५, अद्धासमयैः स्यात्स्पृष्टौ स्यान्न, यदि स्पृष्टौ तदा नियमादनन्तैरिति ६।

तिण्णि भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पदेसा केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पदेसेहिं पुट्ठा ? । गोयमा ! जहण्णपदे अट्ठहिं उक्कोसपदे सत्तरसहिं; एवं अहम्मत्थिकायप्पदेसेहिं वि । केवइएहिं आगासत्थि०? । सत्तरसहिं,सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । एवं एएणं गमएणं भाणियव्वा ०जाव दस, णवरं जहण्णपदे दोण्णि पक्खिवियव्वा, उक्कोसेणं पंच । चत्तारि पोग्गलत्थिकाय० ? । जहण्णपदे दसहिं,उक्कोसपदे वावीसाए। पंचपोग्गलत्थिकाय०? । जहण्णपदे वारसहिं,उक्कोसपदे सत्तावीसाए। छपोग्गलत्थिकाय०?।जहण्णपदे चउद्दसहिं, उक्कोसेणं वत्तीसाए। सत्तपोग्गलत्थिकाय०?। जहण्णपदे सोलसहिं, उक्कोसपदे सत्ततीसाए। अट्ठपोग्गलत्थिकाय० ?। जहण्णपदे अट्ठारसहिं, उक्कोसपदे वायालीसाए । णव पोग्गलत्थिकाय०? । जहण्णपदे वीसाए,उक्कोसपदे सीयालीसाए। दसपोग्गलत्थिकाय० ? । जहण्णपदे वावीसाए, उक्कोसपदे वावण्णाए । आगासत्थिकाय०? । सव्वत्थ उक्कोसगं भाणियव्वं ॥

( तिण्णि भंते ! इत्यादि ) (जहण्णपए अट्ठहिं ति ) कथम् ?, पूर्वोक्तनयमतेन अवगाढप्रदेशास्त्रिधा अधस्तनोऽपि उपरितनोऽपि वा त्रिधा द्वौ पार्श्वत इत्येवमष्टौ । ( उक्कोसपए सत्तरसहिं ति ) प्राग्वद्भावनीयम्। इह च सर्वत्र जघन्यपदे विवक्षितपरमाणुभ्यो द्विगुणा द्विरूपाधिकाश्च स्पर्शकप्रदेशा भवन्ति उत्कृष्टपदे तु विवक्षितपरमाणुभ्य पञ्चगुणा द्विरूपाधिकाश्च ते भमन्ति, तत्र चैकाणोर्द्विगुणत्वे द्वौ द्वयसहितत्वे चत्वारो जघन्यपदे स्पर्शकाः प्रदेशा. उत्कृष्टपदे त्वेकाणोः पञ्चगुणत्वे द्विकसहितत्वे च सप्तस्पर्शकाः प्रदेशा भवन्ति,एवं द्व्यणुकत्र्यणुकाऽऽदिष्वपि। एतदेवाऽऽह-(एव एएणं गमेणं इत्यादि ) ( आगासत्थिकायस्स सव्वत्थ उक्कोसपयं भाणियव्वं ति ) सर्वत्र एकप्रदेशिकाऽऽद्यनन्तप्रदेशिकान्ते सूत्रगणे उत्कृष्टपदमेव न जघन्यकमित्यर्थः, आकाशस्य सर्वत्र विद्यमानत्वादिति।

संखेज्जा णं भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पदेसा केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पदेसेहिं पुच्छा ? । जहएणपदे तेणेव संखेज्जएणं दुरूवाहिएणं, उक्कोसपदे तेणेव संखेज्जएणं पंचगुणेणं दुरूवाहिएण । केवइएहिं अहम्मत्थिकाएहिं०? एवं चेव । केवइएहिं आगासत्थिकाय० ?। तेणेव संखेज्जएणं पंचगुणेणं दुरूवाहिएणं । केवइएहिं जीवत्थिकाय० ? ।अणंतेहिं । केवइएहिं पोग्गलत्थिकाय० ?। अणंतेहिं । केवइएहिं अद्धासमएहिं० ?। सिय पुट्ठे,सिय णो पुट्ठे०जाव अणंतेहिं। असंखेज्जा भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पदेसा केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पदेसेहिं० ?। जहएणपदे तेणेव असंखेज्जएणं दुगुणेणं दुरूवाहिएणं, उक्कोसपदे तेणेव असंखेज्जएणं पंचगुणएणं दुरूवाहिएणं,सेस जहा संखेज्जाणं०जाव णियमं अणंतेहिं ।

( संखेज्जा भंते ! इत्यादि ) ( तेणेव त्ति ) यत्संख्येयकमयस्कन्धस्तेनैव प्रदेशसंख्येयकेन द्विगुणेन द्विरूपाधिकेन स्पृष्टः। इह भावना-विंशतिप्रदेशिकः स्कन्धो लोकान्ते एकप्रदेशे स्थितः, स च नयमतेन विंशत्यावगाढप्रदेशैर्विंशत्यैव च नयमतेनैवाधस्तनैरुपरितनैर्वा, प्रदेशैर्द्वाभ्यां च पार्श्वप्रदेशाभ्यां स्पृश्यत इति । उत्कृष्टपदे तु विंशत्या निरुपचरितैरवगाढप्रदेशैः, एवमधस्तनै २० रुपरितनैः २० पूर्वापरपार्श्वयोश्च विंशत्या २ द्वाभ्यां च दक्षिणोत्तरपार्श्वस्थिताभ्यां स्पृष्टस्ततश्च विंशतिरूपः संख्याताणुकः स्कन्धः पञ्चगुणया विंशत्या प्रदेशाना प्रदेशद्वयेन च स्पृष्ट इति । अत एवोक्तम्-( उक्कोसपदे तेणेव संखेज्जएणं पचगुणेण दुरूवाहिएण ति ) " असंखेज्ज " इत्यादौ षट्सूत्री तथैव ।

अणंता भंते ! पोग्गलत्थिकायप्पदेसा केवइएहिं धम्मत्थिकाय० ?। एवं जहा-असंखेज्जा तहा अणंता णिरवसेसं ।

" अणंता भंते ! " इत्यादिरपि षट्सूत्री तथैव, नवरमिह यथा जघन्यपदे औपचारिका अवगाढप्रदेशा अधस्तना उपरितना वा तथोत्कृष्टपदेऽपि, न हि निरुपचरिता अनन्ता आकाशप्रदेशा अवगाहन्त सन्ति, लोकस्याप्यसंख्यातप्रदेशाऽऽत्मकत्वादिति । इह च प्रकरणे इमे वृद्धोक्तगाथे भवतः-

" धम्माइपएसेहिं, दुपएसाई जहरणयपयम्मि ।
दुगुणदुरुवहिएण, तेणेव कहं तु हु फुसेज्जा ? ॥ १॥
एत्थ पुण जहरणयपयं, लोगंते तत्थ लोगमालिहिउ ।
फुसणा दावेयव्वा, अहवा खंभाइकोणीए ॥ २ ॥ " इति ।

एगे भंते ! अद्धासमए केवइएहिं धम्मत्थिकायप्पदेसेहिं पुट्ठे० ?। सत्तहिं केवइएहिं अहम्मत्थिकायप्पएसेहिं पुट्ठे ?। एव चेव। एव आगासत्थिकाय पएसेहिं० ?। केवइएहिं जीवत्थिकायप्पएसेहिं० ?। अणंतेहिं । एव०जाव अद्धासमएहिं।

( एगे भंते ! अद्धासमए इत्यादि ) इह वर्त्तमानसमयविशिष्ट समयक्षेत्रमध्यवर्ती परमाणुरद्धासमयो ग्राह्य । अन्यथा तस्य धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशैः सप्तभिः स्पर्शना न स्यादिह च जघन्यपद नास्ति मनुष्यक्षेत्रे मध्यवर्त्तित्वादद्धासमयस्य, जघन्यपदस्य च लोकान्त एव सम्भवादिति । तत्र सप्तभिरिति कथम् ?। अद्धासमयविशिष्टं परमाणुद्रव्यमेकत्र धर्मास्तिकायप्रदेशेऽवगाढमन्ये च तस्य षट्सु दिक्ष्विति सप्तेति, जीवास्तिकायप्रदेशैरानन्तैरेकप्रदेशेऽपि तेषामनन्तत्वात्। ( एवं ०जाव अद्धासमयेहिं ति ) इह यावत्करणादिद सूचितम्-एकोऽद्धासमयोऽनन्तैः पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरद्धासमयैश्च स्पृष्ट इति । भावना चास्यैवम्-अद्धासमयविशिष्टमणुद्रव्यमद्धासमय', स चैकः पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरनन्तैः स्पृश्यते, एकद्रव्यस्थाने पार्श्वतश्चानन्तानां पुद्गलाना सद्भावात्, तथा अद्धासमयैरनन्तै रसौ स्पृश्यते, अद्धासमयविशिष्टानामनन्तानामप्यणुद्रव्याणामद्धासमयत्वेन विवक्षितत्वात्, तेषा च तस्य स्थाने तत्पार्श्वतश्च सद्भावादिति । धर्मास्तिकायाऽऽदीना प्रदेशत स्पर्शनोक्ता ।

अथ द्रव्यतस्तामाह—

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केवइएहिं धम्मत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठे ?। णत्थि एक्केण वि । केवइएहिं अहम्मत्थिकायप्पदेसेहिं० ?।असंखेज्जेहिं । केवइएहिं आगासत्थिकायप्पदेसेहिं० ?। असंखेज्जेहिं । केवइएहिं जीवत्थिकायप्पदेसेहिं० ?। अणंतेहिं। केवइएहिं पोग्गलत्थिकायप्पदेसेहिं० ? । अणंतेहिं । अद्धासमयेहिं सिय पुट्ठे, सिय णो पुट्ठे, जइ पुट्ठे णियमा अणंतेहिं।

( धम्मत्थिकाए णमित्यादि ) ( नत्थि एगेण वि त्ति ) सकलस्य धर्मास्तिकायद्रव्यस्य प्रश्नितत्वात्तद्व्यतिरिक्तस्य च धर्मास्तिकायप्रदेशस्याभावादुक्तम्, नास्ति-न विद्यते अयं पक्षो यदुत एकेनापि धर्मास्तिकायप्रदेशेनाऽसौ धर्मास्तिकायः स्पृष्ट इति, तथा धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायप्रदेशैरसंख्येयैः स्पृष्टः धर्मास्तिकायस्पर्शनत एव व्यवस्थितत्वादधर्मास्तिकायसम्बन्धिनामसंख्यातानामपि प्रदेशानामिति,आकाशास्तिकायप्रदेशैरप्यसंख्येयैः असंख्येयप्रदेशस्वरूपलोकाऽऽकाशप्रमाणत्वाद्धर्मास्तिकायस्य, जीवपुद्गलप्रदेशैस्तु धर्मास्तिकायोऽनन्तैः स्पृष्टस्तद्व्याप्त्या धर्मास्तिकायस्यावस्थितत्वात्तेषा चानन्तत्वादद्धासमयैः पुनरसौ स्पृष्टश्चास्पृष्टश्च, तत्र, य स्पृष्टः सोऽनन्तैरिति ६।

अहम्मत्थिकाए णं भंते ! केवइएहिं धम्मत्थिकाय० ?। असंखेज्जेहिं । केवइएहिं अहम्मत्थि० ?। णत्थि एक्केण वि। सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स ।

एवमधर्मास्तिकायस्य ६,आकाशास्तिकायस्य६ जीवास्तिकायस्य ६, पुद्गलास्तिकायस्य ६, अद्धासमयस्य च ६, सूत्राणि वाच्यानि, केवलं यत्र धर्मास्तिकायाऽऽदिस्तत्प्रदेशैरेव चिन्त्यते तत्स्वस्थानमितरच्च परस्थानं, तत्र स्वस्थाने (नत्थि एगेण वि पुट्ठे) इति निर्वचनं वाच्यम्, परस्थाने च धर्मास्तिकायाऽऽदित्रयसूत्रेषु ३ असंख्येयैः स्पृष्ट इति वाच्यम्, असंख्यातप्रदेशत्वाद्धर्मास्तिकायादेस्तत्स्पृष्टाऽऽकाशस्य च जीवाऽऽदित्रयसूत्रेषु चानन्तैः स्पृष्ट इति वाच्यम्, अनन्तप्रदेशत्वात्तेषामिति ।

एतदेव दर्शयन्नाह—

एवं एएणं गमएणं सव्वे वि सट्ठाणएणं णत्थि एक्केण वि पुट्ठा, परट्ठाणेहिं आदिल्लएहिं तिहिं असंखेज्जएहिं

भाणियव्वं, पच्छिल्लएसु तिसु अणंता भाणियव्वा ०जाव अद्धासमओ त्ति । केवइएहिं अद्धासमएहिं पुट्ठे ?। णत्थि एक्केण वि ।

इह चाऽऽकाशसूत्रेऽयं विशेषो द्रष्टव्यः-आकाशास्तिकायो धर्मास्तिकायाऽऽदिप्रदेशैः स्पृष्टश्चास्पृष्टश्च, तत्र यः स्पृष्टः सोऽसंख्येयैर्धर्माधर्मास्तिकाययोः प्रदेशैः जीवास्तिकायाऽऽदीनां त्वनन्तैरिति । ( ०जाव अद्धासमउ त्ति ) अद्धासमयसूत्रं यावत्सूत्राणि वाच्यानीत्यर्थः । " जाव केवइएहिं " इत्यादौ यावत्करणादद्धासूत्रे आद्यं पदपञ्चकं सूचितं, षष्ठं तु लिखितमेवाऽऽस्ते, तत्र तु ( नत्थि एगेण वि त्ति ) निरुपचरितस्याऽद्धासमयस्यैकस्यैव भावात्, अतीतानागतसमययोश्चानिष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वाच्च समयान्तरेण स्पृष्टताऽस्तीति । भ० १३ श० ४ उ० ।

स्पर्शनाधिकारादधोलोकाऽऽदीनां धर्मास्तिकायाऽऽदिगतां स्पर्शनां दर्शयन्नाह—

अहेलोए णं भंते ! धम्मत्थिकायस्स केवइयं फुसइ ?। गोयमा ! सातिरेगं अद्धं फुसइ । तिरियलोए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! असंखेज्जइभागं फुसइ । उड्ढलोए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! देसूणं अद्धं फुसइ ।

( अहेलोए णमित्यादि ) ( सातिरेगमद्धं ति ) लोकव्यापकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य सातिरेकसप्तरज्जुप्रमाणत्वाच्चाधोलोकस्य ( असंखेज्जइभागं ति ) असङ्ख्यातयोजनप्रमाणस्य धर्मास्तिकायस्याष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्लोकोऽसंख्यातभागवर्त्तीति तस्यासावसङ्ख्येयभागं स्पृशतीति ( देसोणं अद्धं ति ) देशोनसप्तरज्जुप्रमाणत्वादूर्द्ध्वलोकस्येति ।

इमा णं भंते ! रयणप्पभा णं पुढवी धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ, असंखेज्जइभागं फुसइ, संखेज्जे भागं फुसइ, असंखेज्जे भागं फुसइ, सव्वं फुसइ ?। गोयमा ! णो संखेज्जइभागं फुसइ, असंखेज्जइभागं फुसइ, णो संखेज्जे भागं फुसइ, णो असंखेज्जेभागं फुसइ, नो सव्वं फुसइ, इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदही धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ ? । गोयमा ! जहा रयणप्पभाए तहा घणोदहिघणवायतणुवाया वि । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवासंतरे धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसइ, असंखेज्जइभागं फुसइ पुच्छा ?। गोयमा ! संखेज्जइभागं फुसइ, णो असंखेज्जइभागं फुसइ, नो संखेज्जे भा०, नो असंखेज्जे भा०, नो सव्वं फुसइ, उवासंतराइं सव्वाइं जहा रयणप्पभाए पुढवीए वत्तव्वया भणिया एवं ०जाव अहे सत्तमाए जंबूदीवाइया दीवा लवणसमुद्दाइया समुद्दा, एवं सोहम्मे कप्पे ०जाव ईसिप्पब्भाराए पुढवीए ते सव्वे वि असंखेज्जइभागं फुसइ । सेसा पडिसेहेयव्वा । एवं अधम्मत्थिकाए, एवं लोयागासे वि । गाहा—

" पुढवोदहीघणतणू-कप्पा गेवेज्जऽणुत्तरा सिद्धी ।
संखेज्जइभागं अं-तरेसु सेसा असंखेज्जा ॥ १ ॥ "

( इमा णं भंते ! इत्यादि ) इह प्रतिपृथिवि पञ्च सूत्राणि, देवलोकसूत्राणि द्वादश, ग्रैवेयकसूत्राणि त्रीणि, अनुत्तरेषत्प्राग्भारसूत्रे द्वे । एवं द्विपञ्चाशत्सूत्राणि । धर्मास्तिकायस्य किं सङ्ख्येयं भागं स्पृशन्तीत्याद्यभिलापेनावसेयानि, तत्राऽवकाशान्तराणि सङ्ख्येयभागं स्पृशन्ति, शेषास्त्वसंख्येयभागमिति, निर्वचनम् । एतान्येव सूत्राण्यधर्मास्तिकायलोकाऽऽकाशयोरिति । इहोक्तार्थसङ्ग्रहगाथा भावितार्थैव । भ० २ श० १० उ० ।

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स पदेसा लवणसमुद्दं पुट्ठा ?। हंता पुट्ठा । ते णं भंते ! किं जंबूदीवे दीवे लवणसमुद्दे ?। गोयमा ! जंबूदीवे णं दीवे नो खलु ते लवणसमुद्दे । लवणसमुद्दस्स पदेसा जंबूदीवं दीवं पुट्ठा ?। हंता पुट्ठा । ते णं भंते ! किं लवणसमुद्दे जंबूदीवे दीवे ? । गोयमा ! लवणा णं समुद्दे नो खलु ते जंबूदीवे दीवे ।

जम्बूद्वीपस्य,णमिति पूर्ववत् । भदन्त ! द्वीपस्य प्रदेशाः-स्वसीमागतचरमरूपा लवणसमुद्रं स्पृष्टाः । कर्त्तरि क्तप्रत्ययः । स्पृष्टवन्तः ?, काक्वा पाठ इति प्रश्नार्थत्वावगतिः । पृच्छतश्चायमभिप्रायः-यदि स्पृष्टास्तर्हि वक्ष्यमाणं पृच्छ्यते, नो चेत् तर्हि नेति भावः । भगवानाह-( हंतेत्यादि ) हन्तेति प्रत्यवधारणे, स्पृष्टाः । एवमुक्ते भूयः पृच्छति-( ते णमित्यादि ) ते भदन्त ! स्वसीमागतचरमरूपाः प्रदेशाः किं जम्बूद्वीपः, किं वा लवणसमुद्रः ?। इह यत् येन स्पृष्टं तत् किञ्चित् तद्व्यपदेशमश्नवदुपलब्धं, यथा सुराष्ट्रेभ्यः संक्रान्तो मगधदेशं मागध इति, किञ्चित् पुनर्न तद्व्यपदेशभाक्, यथा तर्जन्या संस्पृष्टा ज्येष्ठाऽङ्गुलिर्ज्येष्ठैवेति इहापि च जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्रं स्पृष्टवन्तस्ततो व्यपदेशचिन्तायां संशय इति प्रश्नः ?। भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे एव,णमिति निपातस्यावधारणार्थत्वात् ते चरमप्रदेशा द्वीपो जम्बूद्वीपसीमावर्त्तित्वात् न खलु ते जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा जम्बूद्वीपसीमानमतिक्रम्य लवणसमुद्रसीमानमुपगताः, किं तु-स्वसीमागता एव लवणसमुद्रं स्पृष्टवन्तः;ततस्तटस्थतया संस्पर्शभावात् तर्जन्या संस्पृष्टा ज्येष्ठाऽङ्गुलिरिव ते स्वव्यपदेशं भजन्ते,न व्यपदेशान्तरम् । तथा चाऽऽह-नो खलु जम्बूद्वीपचरमप्रदेशा लवणसमुद्र , एवम् ( लवणस्स णं भंते ! समुद्दस्स पदेसा इत्यादि ) लवणविषयमपि सूत्रं भावनीयम् । जी० ३ प्रति० ।

जंबूदीवे णं भंते ! दीवे किएणा फुडे , कइहिं वा काएहिं फुडे, किं धम्मत्थिकाएणं ०जाव आगासत्थिकाएणं फुडे ?। गोयमा ! णो धम्मत्थिकाए णं फुडे, धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे, धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे । एवं अधम्मत्थिकायस्स वि, आगासत्थिकायस्स वि, पुढविक्काएणं फुडे ०जाव वणस्सइकाए णं फुडे, तसकाएणं सिय फुडे, सिय नो फुडे, सिय अद्धासमए णं फुडे । एवं लवणसमुद्दे

धायइसंडे दीवे, कालोए समुद्दे, अब्भिंतरपुक्खरद्धे बाहिरपुक्खरद्धे एवं चेव, नवरं अद्धासमएणं नो फुडे, एवं०जाव सयंभूरमणसमुद्दे ।

एवं जम्बूद्वीपाऽऽदिविषयाण्यपि सूत्राणि भावनीयानि, नवरं बहिः पुष्करार्द्धचिन्तायाम् ( अद्धासमए णं नो फुडे इति ) अद्धासमयो य. अर्द्धतृतीयसमुद्रान्तर्वर्ती न बहिरेतच्च धर्मसङ्ग्रहणिटीकायां भावितं. ततो बहिर्द्वीपसमुद्राणामद्धासमयस्पर्शनप्रतिषेधः जम्बूद्वीपे लवणे गाहा—

एसा परिवाडी इमाहिं गाहाहिं अणुगंतव्वा । तं जहा—
" जंबूदीवे लवणे, धायइकालोयपुक्खरे वरुणे ।
खीरघयखोयनंदिय-अरुणवरे कुंडले रुयए ॥ १ ॥ "

सर्वद्वीपसमुद्राणामभ्यन्तरवर्ती जम्बूद्वीपस्तत्परिकरो लवणसमुद्रः, तदनन्तरं धातकीखण्डाभिधानो द्वीपस्ततः कालोदः समुद्रस्तदनन्तरं पुष्करवरो द्वीपः, अत ऊर्ध्वं द्वीपसदृशनामानः समुद्राः. ततः पुष्करवरसमुद्रः, तदनन्तरं वरुणवरो द्वीपो वरुणोदः समुद्रः, क्षीरवरो द्वीपः क्षीरोदः समुद्रः, घृतवरो द्वीपो घृतोदः समुद्रः, इक्षुवरो द्वीपः इक्षुवरः समुद्रः, नन्दीश्वरो द्वीपो नन्दीश्वरः समुद्रः । एतेऽष्टावपि च समुद्रा एकप्रत्यवतारा एकैकरूपा इति भावः । अत ऊर्द्धं तु द्वीपाः समुद्राश्च त्रिप्रत्यवताराः । तद्यथा-(अरुण इति ) अरुणोऽरुणवरोऽरुणवरावभासः, कुण्डलः कुण्डलवरः कुण्डलवरावभासः, रुचको रुचकवरो रुचकवरावभास इत्यादि । एष चात्र क्रमः- नन्दीश्वरसमुद्रानन्तरमरुणद्वीपोऽरुणसमुद्रस्ततोऽरुणवरो द्वीपोऽरुणवरः समुद्र इत्यादि ।

कियन्तः खलु नामग्राहं द्वीपसमुद्रा वक्तुं शक्यन्ते, ततस्तन्नामसंग्रहमाह—

" आभरणवत्थगंधे, उप्पलतिलए य पउमनिहिरयणे ।
वासहरदहनईओ, विजयावक्खारकप्पिंदा ॥ २ ॥
कुरुमंदिरआवासा, कूडा नक्खत्तचंदसूरा य ।
देवे नागे जक्खे, भूए य सयंभुरमणे य ॥ ३ ॥ "

एवं जहा बाहिरपुक्खरद्धे भणिए तहा ०जाव सयंभूरमणे समुद्दे०जाव अद्धासमए णं णो फुडे ।

" आभरणवत्थेत्यादि " गाथाद्वयम् । यानि कानिचिदाभरणनामानि हाराऽर्द्धहाररत्नावलिकनकावलिकादीनि, यानि च वस्त्रनामानि चीनांशुकप्रभृतीनि, यानि च गन्धनामानि कोष्ठपुटाऽऽदीनि, यानि चोत्पलनामानि जलरुहचन्द्रोद्योतप्रमुखानि च, तिलकप्रभृतीनि वृक्षनामानि, यानि पद्मनामानि शतपत्रसहस्रपत्रप्रभृतीनि, यानि च पृथिवीनामानि पृथिवीशर्करावालुकेत्यादीनि यानि च नवानां निधानानां चतुर्दशानां चक्रवर्त्तिरत्नानां क्षुल्लहिमवदादीनां वर्षधरपर्वताऽऽदीनां पद्माऽऽदीनां गङ्गासिन्धुप्रभृतीनां नदीनां कच्छाऽऽदीनां विजयानां माल्यवदादीनां वक्षस्कारपर्वतानां सौधर्माऽऽदीनां कल्पानां शक्राऽऽदीनामिन्द्राणां देवकुरूत्तरकुरुमन्दराणामावासानां शक्राऽऽदिसम्बन्धिनां मेरुप्रत्यासन्नाऽऽदीनां कूटानां क्षुल्लहिमवदादिसम्बन्धिनां नक्षत्राणां कृत्तिकाऽऽदीनां चन्द्राणां सूर्याणां च नामानि तानि सर्वाण्यपि द्वीपसमुद्राणां त्रिप्रत्यवताराणि वक्तव्यानि । तद्यथा-हारो द्वीपो, हारस्समुद्रः हारवरावभासो द्वीपो, हारवरावभासः समुद्र इत्यादिना प्रकारेण त्रिप्रत्यवतारास्तावद्वक्तव्याः यावत्सूर्यो द्वीपः, सूर्यः समुद्रः, सूर्यवरो द्वीपः, सूर्यवरः समुद्रः, सूर्यवरावभासो द्वीपः, सूर्यवरावभासः समुद्रः । उक्तञ्च जीवाभिगमचूर्णौ-" अरुणाई दीवसमुद्दा तिपडोयारा ।" यावत्सूर्यवरावभासः समुद्रः, सूर्यवरावभासपरिक्षेपी देवो द्वीपः , ततो देवः समुद्रः, तदनन्तरं नागो द्वीपो नागः समुद्रः, ततो यक्षो द्वीपो, यक्षः समुद्रः, ततो भूतो, द्वीपो भूतः समुद्रः, स्वयम्भूरमणो द्वीपः स्वयंभूरमणः समुद्रः, एते पञ्च देवाऽऽदयो द्वीपाः पञ्च देवाऽऽदयः समुद्राः, एकरूपा न पुनरेषां त्रिप्रत्यवतारः । उक्तं च जीवाभिगमचूर्णौ-एते पञ्चद्वीपाः पञ्चसमुद्रा एकप्रकारा इति । जीवाभिगमसूत्रेऽप्युक्तम्-"देवे नागे जक्खे, भूए य सयंभुरमणे य । एक्कक्के चेव भाणियव्वो तिपडोयारं नत्थि । " इति ।

पूर्वमाकाशथिग्गलशब्देन लोकः पृष्टः, अधुना लोकशब्देनैव तं पिपृच्छिषुराह—

लोगे णं भंते ! किणा फुडे कइहिं वा काएहिं जहा आगासथिग्गले । अलोए णं भंते ! किणा फुडे कइहिं वा काएहिं पुच्छा ? । गोयमा ! नो धम्मत्थिकाएणं फुडे० जाव नो आगासत्थिकाएणं फुडे , आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे , आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे , नो पुढविकाएणं फुडे ० जाव नो अद्धासमएणं फुडे एगे अजीवपदेसे अगुरुलहुए अणंतेहिं अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे ॥

" लोए णं भंते ! किणा फुडे " इत्यादि पाठसिद्धमलोकसूत्रमपि पाठसिद्धं, नवरमङ्के ( अजीवदव्वदेसे इति ) अलोक एकोऽजीवद्रव्यदेश आकाशास्तिकायस्य देश इत्यर्थः, परिपूर्णस्त्वाकाशास्तिकायो न भवति, लोकाऽऽकाशेन हीनत्वात्, अत एवागुरुलघुकोऽमूर्त्तत्वात्, अनन्तैर्गुरुलघुकगुणैः संयुक्तः प्रतिप्रदेशं स्वपरभेदभिन्नानामनन्तानामगुरुलघुपर्यायाणां भावात् । किं प्रमाणो लोक इति चेदत आह—सर्वाकाशमनन्तभागोनलोकाऽऽकाशभागखण्डहीनं सकलाऽऽकाशप्रमाणमिति भावः । प्रज्ञा०१५ पद १उ० । पं०सं० । क०प्र० । औ० । ( समुद्घातगतानां देशतः स्पर्शाऽऽदि 'समुग्घाय' शब्दे वक्ष्यामि )

फासणाम-स्पर्शननामन्-न० । 'स्पृश' संस्पर्शे । स्पृश्यते इति स्पर्शः । "अकर्त्तरि०" ॥३।३।१४॥ इति घञ्प्रत्ययः । स च कर्कशमृदुलघुगुरुस्निग्धरूक्षशीतोष्णभेदादष्टप्रकारः । तन्निबन्धनं नाम स्पर्शनाम । प्रज्ञा० २३ पद । पं०सं० । कर्म० । अनु० । स्पृश्यते इति स्पर्शः कर्कशाऽऽदिः, तद्धेतुत्वात् कर्मापि स्पर्शनाम । कर्म० १ क्रम० । नामकर्मभेदे , स० ४२ सम० । प्रव० । आ० ।

फासनामे पुच्छा ? । गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा-कक्खडफासनामे०जाव लुक्खफासणामे ॥

तत्र यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु कर्कशः स्पर्शो भवति, यथा

पात्रविशेषाऽऽदीनां तत्कर्कशस्पर्शनाम। एवं शेषाण्यपि स्पर्श- नामानि भावनीयानि । प्रज्ञा० २३ पद । स्पर्शाभिधायके शब्दे, तदपि पूर्ववदष्टधा । अनु० ।

फासपरिणय-स्पर्शपरिणत-त्रि० । स्पर्शतः परिणतः, स्पर्श- रूपतया परिणमन्ति, परिणमिष्यन्तीति स्पर्शपरिणतः । स्पर्श- परिणते स्कन्धाऽऽदिके, प्रज्ञा० १ पद । ( स्पर्शपरिणताना- मष्टविधत्वम् 'परिणाम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६०८ पृष्ठे गतम् )

फासपरिणाम-स्पर्शपरिणाम-पुं० । परिणामभेदे, प्रज्ञा० ।

फासपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा-कक्खडफासपरिणामे० जाव लुक्खफास- परिणामे य । प्रज्ञा० १३ पद । स्था० ।

( अत्र भङ्गविधिः ' पोग्गलपरिणाम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११०८ पृष्ठे दर्शितः )

फासपरियारग-स्पर्शपरिचारक पुं० । परिचरति-सेवते स्त्रि- यमिति परिचारकः, स्पर्शतः परिचारकः स्पर्शपरिचारकः । स्पर्शादेवोपशान्तवेदोपतापे स्पर्शपरिचारणकारके, स्था० ।

दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पण्णत्ता । तं जहा-सणं- कुमारे चेव, माहिंदे चेव । स्था० २ ठा० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

फासपरियारणा-स्पर्शपरिचारणा-न० । वदनचुम्बनस्तनमर्दन बाहुग्रहणजघनोरुप्रभृतिगात्रसंस्पर्शरूपे परिचारणभेदे, " इ- च्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं फासपरियारं करेत्तए । " प्रज्ञा० ३४ पद ।

फासमंत-स्पर्शवत्-त्रि० । स्पर्श-प्रशंसायां मतुप् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । शोभनस्पर्शवति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । " फा- सवंताणि य ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

फासामय-स्पर्शमय-त्रि० । स्पर्शेन्द्रियविषयोपादानरूपे सौ- ख्याऽऽदौ, "फासामयाओ सोक्खाओ फासामएणं दुक्खेणं।" स्था० ६ ठा० ।

फासावेह-स्पर्शावेध-पुं० । स्पर्शस्तत्त्वज्ञानं, तस्याऽऽवेधः सं- स्कारः । तत्त्वज्ञानसंस्कारे, षो० १४ विव० ।

फासिंदिय-स्पर्शेन्द्रिय-न० । त्वगिन्द्रिये, सम्म० ३ काण्ड ।

( संस्थानाऽऽदिवक्तव्यता ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५४८ पृष्ठे गता )

"उउभयमाणसुहेसु य, सविभवहियमणनिव्वुइकरेसु । फासेसु रज्जमाणा, रमंति फासिंदियवसट्टा ॥ १ ॥"

कण्ठ्या, नवरम्-ऋतुषु हेमन्ताऽऽदिषु भज्यमानानि-सेव्य मानानि यानि सुखानि सुखकराणि तानि तथा तेषु, स- विभवानि-समृद्धियुक्तानि, महाधनानि इत्यर्थः । हितकानि प्रकृत्यनुकूलानि , सविभवानां वा श्रीमतां हितकानि यानि तानि तथा, मनसो निर्वृतिकराणि यानि तानि तथा । ततः पदत्रयस्य द्वयस्य वा कर्मधारयोऽतस्तेषु स्रक्चन्दनाङ्गनावस- नतूलपादिषु, स्पर्शेष्विति गम्यते । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

फासिंदियदुद्दंतत्त-णस्स अह एत्तिउ हवइ दोसो ।
जं खणइ रुपं कुंजर-स्स लोहंकुसो तिक्खो ॥ १० ॥

भावना प्रतीतैव ॥ १० ॥

" जितशत्रुर्महाराजो, वसन्तपुरपत्तने ।
सुकुमालतमस्पर्शा, तत्प्रिया सुकुमालिका ॥ १ ॥
तदीयस्पर्शलालस्या-द्राज्यचिन्तां मुमोच सः ।
एवं व्रजति काले च, सर्वैरालोच्य मन्त्रिभिः ॥ २ ॥
तं निःसार्य समं पत्न्या, राज्येऽस्थाप्यत तत्सुतः ।
यातस्य च महाटव्यां, राज्ञी तृष्णाऽऽतुराऽभवत् ॥ ३ ॥
पानीयं प्रार्थयामास, ततः प्रेम्णा नराधिपः ।
बध्वाऽञ्चलेन तन्नेत्रे, मा भैषीरित्युदीर्य च ॥ ४ ॥
कृत्वा पत्रपुटं बाहु-शिरोरक्तेन पूरितम् ।
तदन्तर्मूलिकाऽक्षेपि, येन न स्त्यानतां व्रजेत् ॥ ५ ॥
अपाययत्तादृशं रक्तं, तामथ व्यथितां क्षुधा ।
भोजयित्वोरुमांसानि, रोहिण्याऽऽरोहयद् व्रणम् ॥ ६ ॥
ततः स क्वापि देशेऽगा-द्भूषणैः कृतनीविकः ।
वाणिज्यमकरोत्तत्र , पङ्गुस्तद्रक्षकः कृतः ॥ ७ ॥
पङ्गोर्गीतेन सा क्षिप्ता, तं पतिं कर्तुमैहत ।
गतं गङ्गातटोद्याने , गङ्गायां पतिमक्षिपत् ॥ ८ ॥
द्रव्ये निष्ठां गते शेषे, वहन्ती मस्तकेन तम् ।
गायन्ती तेन सार्द्धं च, भिक्षते स्म गृहे गृहे ॥ ९ ॥
किमेतदिति पृष्टाऽऽख्य-त्पितृभ्यां दत्त ईदृशः ।
स च भर्ता वहन् वाहे, तटमासाद्य निर्ययौ ॥ १० ॥
अथैकत्र पुराऽऽसन्ने , श्रान्तस्तरुतलेऽस्वपीत् ।
तस्योद्यत्पुण्यशेषेण , तच्छाया पर्यवर्त्तत ॥ ११ ॥
तदा पुत्रो मृतः क्ष्माभृ-दश्वराजोऽधिवासितः ।
तमुपेत्य स्थितः सोऽश्वो, हेषते स्म च हर्षतः ॥ १२ ॥
ततश्च हयहेषाभि-र्नृणां जयजयाऽऽरवैः ।
प्रबुद्धोऽश्वं तमध्यास्य, नीत्वा राज्ये न्यवेश्यत ॥ १३ ॥
साऽपि तत्राऽऽगता राज्ञः, केनापि कथिता यथा ।
देव ! देवाङ्गना काऽपि, पङ्गुं शिरसि बिभ्रती ॥ १४ ॥
दृष्टा भिक्षां भ्रमन्त्यत्र, गीतगानपरायणा ।
आनायिता च सा राज्ञा, दृष्टा पृष्टा कथं न्विदम् ॥ १५ ॥
साऽवदद्देव ! दत्तोऽयं, पितृभ्यां पतिरीदृशः ।
ततः पतिव्रतात्वेन, वहाम्येतं शिरःस्थितम् ॥ १६ ॥

राज्ञोक्तम्-

बाहुभ्यां शोणितं पीत-मूरुमांसं च भक्षितम् ।
गङ्गायां वाहितो भर्त्ता, साधु साधु पतिव्रते ! ॥ १७ ॥
ज्ञात्वा नृपं लज्जिता सा, स्वचरित्रेण पापिनी ।
निर्वासिता नरेन्द्रेण, निजोपार्जितभागभूत् ॥ १८ ॥
राज्यभ्रंशाय राज्ञोऽभू-दवश्यं स्पर्शनेन्द्रियम् ।
तस्मादियं तु पापात्मा, दलिता सुकुमालिका ॥ १९ ॥
आ० क० १ अ० । आ० चू० ।

स्पर्शेन्द्रियविषयविपाकोदाहरणे महेन्द्रो राजपुत्रः । तत्कथा चेयम्-

विश्वपुरे धरणीन्द्रो राजा, महेन्द्रः पुत्रः, मदनः श्रेष्ठिपुत्रो मित्रं, मदनस्य चन्द्रवदना भार्या, साऽन्यदा पतिमित्राय महेन्द्राय गृहाऽऽगताय स्वहस्तेन ताम्बूलमर्पयति, तस्या हस्तस्पर्शं सुकुमारं ज्ञात्वा सोऽभ्युपपन्नः । स्पर्शनेन्द्रि- यपरवशतया ततस्तया सह हास्यं करोति, एवं प्रसक्तो- ऽतीचारमपि सेवते स्म । अन्यदा राजा महेन्द्रस्य राज्यं दातुमिच्छति, इतश्च महेन्द्रेण चन्द्रवदनासुकुमारस्पर्शलु- ब्धेन मदनं हन्तुं नियुक्ताः, सेवकाः,ते मदनं प्रहारैर्जर्जरयन्ति

तलारक्षैर्दृष्टा राज्ञः पार्श्वे नीता । राज्ञा पृष्टा नियुक्ता-केन यूयं प्रहिता:? । तेऽप्यूचुः-महेन्द्रकुमारेण । ततो राज्ञा सम्यक् वृत्तान्तं ज्ञात्वा स देशान्निःकाशितः । चन्द्रवदना लात्वा स गतो विदेशान्तरे, मदनो वैद्यैः सज्जीकृतः । राजाऽन्यपुत्राय राज्यं दत्त्वा प्रव्रज्य मोक्षं गतः । मदनोऽपि तथाविधं स्त्रीचरितं दृष्ट्वा संविग्नः प्रव्रज्य वैमानिको देवो जातः । चन्द्रवदनामहेन्द्रौ विदेशे भ्रमन्तौ चौरैर्निगृहीतौ बब्बरकुले विक्रीतौ । तत्र रुधिराऽऽकर्षणवेदनां सहेते, भवमनन्तं भ्रान्तौ । इति स्पर्शनेन्द्रियविषयविपाके महेन्द्रकथा । ग० ३ अधि० ।

फासिंदियणिग्गह-स्पर्शेन्द्रियनिग्रह-पुं० । स्पर्शेन्द्रियस्य निग्रहः-स्वविषयाभिमुखमनुधावतो नियमनं स्पर्शेन्द्रियनिग्रहः । स्पर्शेन्द्रियनियमने, उत्त० २९ अ० ।

फासिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । फासिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागद्दोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६६ ॥

हे भगवन् ! स्पर्शेन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ? । तदा गुरुराह-हे शिष्य ! स्पर्शनेन्द्रियनिग्रहेण जीवो मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु स्पर्शेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति, तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च कर्म निर्जरयति ॥६६॥ उत्त०२९ अ० ।

फासिंदियणिव्वट्टिय-स्पर्शेन्द्रियनिर्वर्तित-त्रि० । स्पर्शेन्द्रियेण निर्वर्त्तितो-निष्पादितः स्पर्शेन्द्रियनिर्वर्त्तितः । स्था०१० ठा० । स्पर्शेन्द्रियनिर्वृत्तिक-त्रि० । स्पर्शेन्द्रियेण निर्वृत्तिर्यस्य स स्पर्शेन्द्रियनिर्वृत्तिकः । स्पर्शेन्द्रियेण निष्पन्नपुद्गलाऽऽदौ, स्था० १० ठा० ।

फासिंदियबल-स्पर्शेन्द्रियबल-न० । स्पर्शेन्द्रियविषयग्रहणसामर्थ्याऽऽत्मके बलभेदे, स्था० १० ठा० ।

फासिंदियमुंड-स्पर्शेन्द्रियमुण्ड-पुं० । स्पर्शेन्द्रियं मुण्डयति-अपनयति स्पर्शेन्द्रियमुण्डः । अपनीतस्पर्शेन्द्रियविषये मुण्डभेदे, स्था० १० ठा० ।

फासिंदियविसय-स्पर्शेन्द्रियविषय-पुं० । स्पर्शेन्द्रियविषयभूते स्त्रीकलेवराऽऽदौ, "फासिंदियविसयतिव्वगिद्धा ।" प्रश्न० ३ आश्र०द्वार ।

फासिंदियसंवर-स्पर्शेन्द्रियसम्वर-पुं० । स्पर्शेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषनिरोधने, प्रश्न० ५ संव०द्वार । ( अस्य विस्तरः 'परिग्गहवेरमण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५६६ पृष्ठे गतः )

फासित्ता-स्पृष्ट्वा-अव्य० । स्पृश-क्त्वा । स्पर्शं कृत्वेत्यर्थे, "सम्मं काएण फासित्ता ।" प्राप्येत्यर्थे च । कल्प०३ अधि० ६ क्षण । आचा० । उत्त० । स्था० । स्पृष्ट्वेत्यर्थे च । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

फासिय-स्पृष्ट-त्रि० । स्पृश-क्त । गृहीते, दशा० ७ अ० । प्राप्ते, प्रव० ४ द्वार ।

स्पार्शित-त्रि० । स्पर्शः संजातोऽस्येति । प्रव० ४ द्वार । गृहीते, दशा०७ अ० । प्राप्ते च । प्रत्याख्यानमधिकृत्य-' सम्मं काएण फासिया ।" स्पृष्टा-प्रतिपत्तिकाले विधिना प्राप्ता । " उचिए काले विहिणा,पत्तं ज फासियं तयं भणियं ।" स्था०७ ठा० । पं०व० । आचा० । प्रा०चू० । स्पृष्टमित्यस्य स्थाने प्राकृते फासियमिति । स्पर्शो वा संजातोऽस्येति इति च स्पर्शितमिति । प्रव० ४ द्वार । आचा० ।

फासिया-स्पर्शिका-आव० ६ अ० । स्त्री० । बिन्दुनिपाते, स० म० ३४ सम० । ज्ञा० । आचा० ।

फासी-स्पर्शी-स्त्री० । जलस्पर्शिकायाम् , व्य० ७ उ० ।

फासुअ-प्रासुक-त्रि० । प्रगता असवः-उच्छ्वासादयः प्राणा यस्मात् स प्रासुकः । स्था० ४ ठा० ४ उ० । दश० । प्रगता असवो-मतुब्लोपादसुमन्तः-सहजसंसक्तिजन्मानो यस्मात्तत्प्रासुकम् । उत्त० १ अ० । स्था० । जीवरहिते , दर्श० ४ तत्त्व । प्रश्न० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । सकलजीवोपाधिरहिते , दर्श० ५ तत्त्व । आधाकर्माऽऽदिदोषरहिते, "फासुयअकयअकारिय , अणणुमयमणुद्दिट्ठभोई य । " दश० १ अ० ।

केरिसयकप्पणे जं , फासुयग फासुयं तु केरिसगं ।
जीवजढं जं दव्वं, तं पि य जं एसणिज्जं तु । पं०भा० १ कल्प ।

" निर्जीवं यच्च यद् द्रव्यं, मिश्रं नैव च जन्तुभिः । तत्प्रासुकमिति प्रोक्तं जीवाजीवविशारदैः ॥ १ ॥ " पं० चू० १ कल्प । "फासुय ति विद्धत्थजोणि त्ति " नि०चू०१उ० । अपक्वफलस्य प्रासुकत्वे जेसलमेरुसंघकृतप्रश्नो यथा-अपक्वफल बीजकर्षणादनु घटिकाद्वयान्तरे प्रासुकं भवति, न वेति प्रश्नः । अत्रोत्तरं यथा—अत्र अग्निलवणाऽऽदिप्रबलसंस्कारैः प्रासुकं भवति, नान्यथेति । १ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

फासुएसणिज्ज-प्रासुकैषणीय-त्रि० । जीवरहिते एषणीये , आहाराऽऽदौ, भ० ।

फासुएसणिज्जं भंते ! भुंजमाणे किं बंधइ ४, ०जाव उवचिणाइ ? । गोयमा ! फासुएसणिज्जं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जहा से संवुडेणं, णवरं आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, सेसं तहेव०जाव वीईवयइ, से केणट्ठेणं०जाव वीईवयइ ? । गोयमा ! फासुएसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नाइक्कमइ, आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढविकायं अवकंखइ ०जाव तसकायं अवकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारेइ ते वि जीवे अवकंखइ से तेणट्ठेणं०जाव वीईवयइ ॥ भ० १ श० ६ उ० ।

फासुयविहार-प्रासुकविहार-पुं० । निर्जीवआश्रये , भ० ।

किं ते भंते ! फासुयविहारं ? । सोमिला ! जं णं आरामेसु उज्जाणेसु देवकुलेसु सभासु पवासु इत्थीपसुपंडगवज्जियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीढफलगसेज्जासंथारगं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, सेत्तं फासुयविहारं । भ० १८ श० १० उ० ।

फिक्की-देशी । हर्षे, दे०ना० ६ वर्ग ८३ गाथा ।

फिट्ट-भ्रंश-अधःपतने, धा० दिवा०-पर० सक०-सेट् । "भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड फुट्ट-चुक्क-भुल्ला " ॥ ८ । ४ । १७७ ॥ इ-

ति प्राकृतसूत्रेण भ्रंशेरेते षडादेशाः । फिडइ । फिट्टइ । फुडइ । फुट्टइ । चुक्कइ । भुल्लइ । पक्षे-भंसइ । प्रा० ४ पाद । भ्रश्यति । अभ्रशीत् । अभ्रंशीत् । वेट् । वाच० ।

फिट्टंत-भ्रश्यत्-त्रि० । व्यतिक्रामति , बृ० १ उ० २ प्रक० । " तेण्पभिइं फिट्टइ । " नि० चू० १ उ० ।

फिड-भ्रंश-धा० । ' फिट्ट ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

फिडिअ-भ्रष्ट-त्रि० । समुदायाच्च्युते , " भट्टं फिडिअं चुक्कं । " पाइ०ना० १६१ गाथा ।

स्फिटित-त्रि० । परिभ्रष्टे, बृ० २ उ० । व्य० । ओघ० । " इमो य गोसालो भगवंतो फिडिओ । " आ० म० १ अ० । " फिडिया भिक्खावेला । " आ०म० १ अ० । ओघ० । विप्रणष्टे, "मग्गफिडिया वा मग्गतो विप्पणट्ठा ।" नि०चू० १ उ० । अतिक्रान्ते , दूरीभूते च । औ० ।

फिड्डी-देशी । वामने , दे०ना० ६ वर्ग ८४ गाथा ।

फिप्प-देशी-वामने, दे०ना० ६ वर्ग ८३ गाथा ।

फिप्फस-फिप्फस-न० । अन्त्रान्तर्वर्तिमांसविशेषरूपे । सूत्र० १ श्रु० ५अ० १ उ० । ) उदरमध्यावयवविशेषे, प्रश्न० १ आ-श्र०द्वार ।

फिप्फिस-फिप्फिस-न० । ' फिप्फस ' शब्दार्थे , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

फिसग-फिसक- पुं० । पुते , उपा० २ अ० ।

फिह-स्पृह-' स्पृह ' इच्छायाम , धा० चुरा०—उभ०—सक० सेट् । " स्पृहः सिहः " ॥ ८ । ४ । ३४ ॥ इति प्राकृत-सूत्रेण स्पृहेर्ण्यन्तस्य सिहाऽऽदेशो वा । प्रा० ४ पाद । "ष्प-स्पयोः फः."॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण फः । प्रा० २ पाद । सिहइ । फिहइ । प्रा० । स्पृहयति । अपस्पृहत् । वाच० ।

फिहयालु-स्पृहयालु-त्रि० । स्पृह-आलुच् । स्पृहाशीले,वाच० । " गुणान्तरेण स्पृहयालुरेव । " स्था० ।

फिहा-स्पृहा-स्त्री० । स्पृह-अङ् । "स्पृहायाम्"॥ ८ । २ । २३॥ इति प्राकृतसूत्रेण संयुक्तस्य वा छः । प्रा० २ पाद । पक्षे-"ष्प-स्पयोः फः"॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण फः । प्रा० २ पाद । इच्छायाम् , अष्ट० ११ अष्ट० ।

फिहावह-स्पृहावह-त्रि० । आशालोलुपे, अष्ट० ११ अष्ट० ।

फी-फी-स्त्री० । सगर्भयोषिति, " सगर्भा योषिता फी स्यात् । " एका० ।

फुंफमा-स्त्री० । गोमयाग्नौ, " फुफमा कोउआ करीसग्गी " पाइ० ना० १५३ गाथा ।

फुंफुआ-देशी-करीषाग्नौ, दे०ना० ६ वर्ग ८४,गाथा ।

फुफुग-फुम्फुक-पुं० । करीषाऽग्नौ,बृ० १ उ० ३ प्रक० । 'फुंफुक'शब्दो देशीरूपत्वात् कारीषवाचकः । जी० २ प्रति० । तं० ।

फुंटा-देशी-केशबन्धने, दे०ना० ६ वर्ग ८४ गाथा ।

फुफुल्लइत्ता-पम्फुलित्वा-अव्य० । अतिशयेन पुनः पुनर्वा फलित्वेत्यर्थे, " गोणाऽऽदयः " ॥ ८ । ३ । १७४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण निपातित. । प्रा० २ पाद ।

फुकरण-फूत्करण-न० । मुखेन धमने, दश० ४ अ० ।

फुकार-फूत्कार-पुं० । फूदित्येवमनुकरणे, वाच० । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

फुक्का-देशी-मिथ्यायाम् , दे०ना० ६ वर्ग ८४ गाथा ।

फुक्की-देशी-रजक्याम् , दे०ना० ६ वर्ग ८४ गाथा ।

फुक्किय-फूत्कृत-त्रि० । फूदित्येवंशब्दिते,वाच० । आव० ५ अ० ।

फुग्ग-फुग्ग-त्रि० । असम्बद्धे, " फुग्गफुग्गाओ त्ति । " पर-स्परासम्बद्धरोमिके, विकीर्णरोमिके इत्यर्थः । उपा० २ अ० ।

फुट्ट-भ्रंश-धा० । ' फिट्ट ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

फुट-स्फुट-' स्फुट ' भेदने, धा०-चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । " स्फुटि-चलेः " ॥ ८ । ४ । २३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणानयो-रन्त्यव्यञ्जनस्य वा द्वित्वम् । फुट्टइ । फुडइ । प्रा० ४ पाद । स्फोटयति । स्फोटयते । अपुस्फुटत् । वाच० ।

स्फुट-त्रि० । स्फुट-कः । विदीर्णे, उपा० २ अ० । नाणेणं पोट्टं फुट्टइ । " आ०म० १ अ० । " सव्वत्थ रज्जे फुट्टं भणइ । " आव० ४ अ० । विकीर्णे, " फुट्टसिर " स्फुटितमबन्धनत्वेन विकीर्णं शिर इति शिरोजातत्वात्केशा यस्य । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । भ० । विपा० । शोधिते, " फुट्टाणं सालीणं । " सूर्या-ऽऽदिना स्फुटाः-स्फुटीकृताः, शोधिता इत्यर्थः । ज्ञा० १श्रु० ७ अ० । निर्मले, चं०प्र० १ पाहु० । " फुडवियडपायडत्थं, वोच्छामी एस णं पत्तो । " स्फुटो निर्मलस्तात्पर्यानवबो-धकश्मलरहितः । पिं० । विशुद्धे, प०चू० १ कल्प । ज्ञा० । अवितथे, उत्त० १६ अ० । ज्ञा० । सप्रकाशे, भ० १ श० २ उ० । व्यक्तः स्पष्टः प्रकटः प्रत्यक्षः । उपा० २ अ० । ज्ञा० । आ० म० । नि०चू० । भ० । प्रति० । विशे० । औ० । उत्त० । प्रश्न० । द्वा० । ज्योतिषोक्तेषु मेषाऽऽदिराशिषु,अंशविशेषस्थि-तेषु सूर्याऽऽदिग्रहेषु,पुं० । तेषां तत्तदंशकलाऽऽदिषु गतौ,स्त्री० । उत्प्रेक्षाया द्योतने, न० । सर्पफणायाम् , वाच० । उपा० २ अ० । अतिकायस्य महोरगेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्र-महिष्या च । स्त्री० । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

स्पृष्ट-त्रि० । स्पृश-क्त । "क्तेनाऽप्फुण्णाऽऽदय." ॥ ८ । ४ । २५८ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशः क्तान्तस्य निपातः । प्रा० । स्था० । भ० । व्याप्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । आश्लिष्टे, उत्त० २ अ० ।

फुड-" विसयं फुडं । " पाइ०ना० २६७ गाथा । ' फिट्ट ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

फुड्डत-फुट्यमान-त्रि० । विदार्यमाणे, प्रश्न० ३ आश्र०द्वार । विपा० । ज्ञा० ।

फुडण-स्फुटन-न० । स्फुट-ल्युट् । विकशने, वाच० । द्वैधी-भावगमने, प्रश्न० १ आश्र०द्वार । विघटने च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

फुडवयण-स्फुटवचन-न० । परिस्फुटवाक्ये, दश० ४ अ० ।

फुडविसय-स्फुटविशद-त्रि० । अत्यन्तव्यक्ते, औ० ।

स्फुटविषय-त्रि० । स्फुटार्थे, औ० । " फुडविसयमहुरगंभी-रगाहियाए । " रा० ।

फुडा-स्फुटा-स्त्री० । अतिकायस्य महोरगेन्द्रस्य च अग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

फुडाडोव-स्फटाऽऽटोप-पुं० । फणाऽऽडम्बरे, उपा०२ अ० ।

फुडिअ-स्फुटित-त्रि० । "फुडिअं फलिर्यं च दूलिअं उद्दारिअं ।" पाइ०ना० १८१ गाथा ।

फुडित्ता-स्फुटित्वा-अव्य० । स्फुटं कृत्वेत्यर्थे, प्रकाशीभूयेत्यर्थे, स्था० ७ ठा० ।

स्फोटयित्वा-अव्य० । विशीर्णं कृत्वेत्यर्थे , स्था० २ ठा० ४ उ० ।

फुडिय-स्फुटित-त्रि० । स्फुट-क्तः । विकशिते, व्यक्तीकृते, परिहासिते, भिन्ने च । वाच० । स्था० ४ ठा० ४ उ० । संजातराजीके, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । आ०म० । "फुडितच्छविविच्छविया ।" स्फुटिता राजिशतसंकुलेति । जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० । विकृते च । "फुडितच्छाविविच्छविया ।" विपादिकाविचर्चिकादिभिर्विकृतत्वचः । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

फुडि(ट्टि)त्ता-स्फोटित्वा-अव्य०। स्था०२ ठा०४उ०। (अर्थस्तु 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६६ पृष्ठे गत )

फुड्डय-फुड्डक-न० । लघुतरगच्छैकदेशे, "फुड्डाफुड्डिं अप्पेगइया वायति ।" फुड्डकं-लघुतरो गच्छदेश एव गणावच्छेदकाधिष्ठित इति । औ० ।

फुत्ति-स्फूर्ति-स्त्री० । स्फुरणे,विकशने,प्रतिभायां च । वाच० । आ०म० १ अ० । प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानकान्तौ च । "मूर्तिस्फूर्तिमती सदा विजयते ।" स्फूर्तिः प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानकान्तिः, सन्निहितप्रातिहार्यश्च वा, तद्वती । प्रति० ।

फुप्फुस-फुप्फुस-न० । उदरान्तर्वर्तिन्यन्त्रविशेषे , प्रश्न० १ आश्र०द्वार । सूत्र० ।

फुम-भ्रम-धा० । चलने, भ्वा०-पर०-सक०-सेट् । "भ्रमेः टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म मम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी परा." ॥८।४।१६१॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रमेः फुमाऽऽदेशः । फुमइ । भ्रमति । प्रा० ४ पाद ।

फुमंत-फुमत्-त्रि० । मुखेन फूत्कुर्वति, दश० ४ अ० । नि० चू० । आचा० ।

फुमण-फूमन-न० । फूत्करणे दश० ४ अ० ।

जे भिक्खू अप्पणो पायं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयत वा मंखेंतं वा साइज्जइ । नि०चू० ३ उ० ।

"हत्थेण वा मुहेण वा फूमेज्ज वा,वीएज्ज वा ।" ( फूमेज्ज वेति ) मुखवायुना शीतीकुर्यात् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ ७ उ० ।

फुमावंत-फुमयत्-त्रि० । फूत्करणे, नि०चू० १७ उ० ।

फुमिज्जंत-फुम्यमान-त्रि० । फूत्क्रियमाणे, नि०चू० ३ उ० ।

फुरंत-स्फुरत्-त्रि० । इतस्ततः स्पन्दमाने, "फुरइ थलविरल्लिओ मच्छो ।" स्फुरति-स्पन्दते । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । प्रश्न० । "पंयंति णं णेरइए फुरते ।" स्फुरन्त इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपन्तः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "फुरंतविज्जुज्जलंतसिहरस्स ।" तं० । उत्त० ।

फुरण-स्फुरण-न० । स्फुर-ल्युट् । ईषत्स्पन्दने, वाच० । स्था० २ ठा० ४ उ० । प्रकम्पने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । वेष्टने, स्था० १ ठा० । "कणी फुरणं ।" पाइ०ना० २७३ गाथा ।

फुरफुरंत-फुरफुरायमाण-त्रि० । प्रकम्पमाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । पीडयोद्वेष्टे च । पिं० । "ताव ण फुरफुरेज्जा ।" महा० १ अ० ।

फुराविंति-देशी-अपहारयतीत्यर्थे. "पव्वइउमणा उ ते फुराविंति ।" "फुराविंति त्ति" देशीपदमेतत् । अपहारयन्ति । व्य० ३ उ० ।

फुरिअ-स्फुरित-न० । स्पन्दिते, "चुलुचुलिअं फंदिअं फुरिअ ।" पाइ०ना० १६० गाथा । निन्दिते, दे०ना० ६ वर्ग ८४ गाथा । स्था० ।

फुरित्ता-स्फुरित्वा-अव्य० । स्फुरणं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ।

स्फोरयित्वा-अव्य० । स्फुरन्त कृत्वेत्यर्थे, स्था० ७ ठा० । स्पन्द कृत्वेत्यर्थे च । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

फुरिय-स्फुरित-त्रि० । स्पन्दिते, स्था० २ ठा० ४ उ० । "चिंतासायरमवगाहमाणस्स फुरिय दाहिणलोयण ।" दर्श०१ तत्त्व । वेष्टिते, न० । स्था० ।

फुलिंग-स्फुलिङ्ग-पु० । स्त्री० । स्फुल-इङ्गच् । स्फु इत्यव्यक्तशब्दो लिङ्गति-गच्छति यस्मात् लिगि घञ् । पृ० वा । अग्निकणे, वाच० । "फुलिंगजालामालासहस्सेहिं ।" भ० ३ श० २ उ० । हिमे च । गुडविकारभेदे, स्त्री० । वाच० ।

फुल्ल-फुल्ल-न० । पुष्पे, दश० ।

पुप्फाणि अ कुसुमाणि अ,फुल्लाणि तहेव होंति पसवाणि ।
सुमणाणि अ सुहुमाणि अ, पुप्फाणं होंति एगट्ठा ॥३६॥

पुष्पाणि कुसुमानि चैव फुल्लानि प्रसवानि च सुमनांसि चैव सूक्ष्माणि' सूक्ष्मकायिकानि चेति ॥ ३६ ॥ दश० १ अ० ।

फुल्लधअ-पुष्पधय-पु० । भ्रमरे, "फुल्लधआ रसाऊ, भिंगा भसला य महुअरा अलिणो । इंदिंदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥ १२ ॥" पाइ०ना० १२ गाथा । भ्रमरे, दे०ना० ।

फुसिअ-स्पृष्ट-त्रि० । उन्मृष्टे "उम्मुट्ठ पुछिअ फुसिअं ।" पाइ०ना० १८८ गाथा ।

फुसित्ता-स्पृष्ट्वा-अव्य० । श्लिष्ट्वेत्यर्थे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

फुसी-स्पर्शी-स्त्री० । 'फासी' शब्दार्थे, स्य० ७ उ० ।

फूअ-देशी-लोहकारे, दे०ना० ६ वर्ग ८५ गाथा ।

फूमंत-फूमत्-त्रि० । 'फुमंत' शब्दार्थे, दश० ४ अ० ।

फूमण-फूमन-न० । 'फुमण' शब्दार्थे, दश० ४ अ० ।

फूमावत-फूमयत्-त्रि० । फूत्करणे, नि०चू० १७ उ० ।

फूमिज्जत-फूम्यमान-त्रि० । 'फुमिज्जत' शब्दार्थे, नि०चू० ३ उ० ।

फेडण-स्फेटन-न० । आच्छोटने, वृ० ।

फेण-फेन-पुं० । "डिंडीरो पुप्फओ फेणो ।" पाइ० ना० १३२ गाथा । बुद्बुदे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

फेणग-फेनक-पुं० । पानीयप्रस्फोटके, उत्त० १६ अ० । रा० । औ० ।

फेणपुंज-फेनपुञ्ज-पुं० । डिण्डीरोत्करे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । प्रश्न० । जं० ।

फेप्फस-फेप्फस-न० । 'फिप्फस' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

फेणवह-देशी-वरुणे, दे० ना० ६ वर्ग ८५ गाथा ।

फेणवंध-देशी-वरुणे, दे० ना० ६ वर्ग ८५ गाथा ।

फेणमालिणी-फेनमालिनी-स्त्री० । जम्बुमन्दरपश्चिमायां शीताया महानद्याः कूलवर्तिन्यां स्वनामख्यातायामन्तर्नद्याम्, स्था० ६ ठा० । "दो फेणमालिणीओ ।" स्था० २ ठा० २ उ० । जम्बूद्वीपस्य महाविदेहे वर्षे वप्रावतीविजयस्थायां नद्यां च । "वप्पावईविजए अवराईया रायहाणी, फेणमालिणी णई ।" जं० ४ वक्ष० ।

फेलाया-देशी-मातुलान्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ८५ गाथा ।

फेल्ल-देशी-दरिद्रे, दे० ना० ६ वर्ग ८५ गाथा ।

फेल्लुसण-देशी-पिच्छलदेशे, दे० ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

फेस-देशी-त्रासद्भावयोः, दे० ना० ६ वर्ग ८७ गाथा ।

फोइय-देशी-मुक्तविस्तारितयोः, दे० ना० ६ वर्ग ८७ गाथा ।

फोक्क-देशी । अग्रे स्थूलोन्नते, उत्त० १२ अ० ।

फोक्कणास-फोक्कनास-त्रि० । "फोक्क त्ति" देशीपदम् । ततश्च फोक्का-अग्रे स्थूलोन्नता च नासाऽस्येति । स्थूलोन्नताग्रनासिके, उत्त० १२ अ० ।

फोड-स्फोट-पुं० । स्फुटत्यर्थो यस्मात् । स्फुट-घञ् । व्याकरणोक्ते वर्णातिरिक्ते पूर्वपूर्ववर्णानुभवसहितचरमवर्णोऽभिव्यङ्ग्यार्थप्रत्यायके अखण्डे शब्दभेदे, वाच० । अत्र वैयाकरणाः प्राऽऽहुः-" यस्मादुच्चरितात् ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिः स शब्दः । " ननु अत्र किं गकारौकारविसर्जनीयाः ककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वेन शब्दव्यपदेशं लभन्ते, आहोस्वित्तद्व्यतिरिक्तः पद-स्फोटाऽऽख्यः ? । तत्र न तावद्वर्णा अर्थप्रत्यायकाः यतस्ते किं समुदिता अर्थप्रतिपादकाः, उत व्यस्ताः ?, यदि व्यस्तास्तदैकैकेनैव वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तिरुत्पादितेति द्वितीयाऽऽदिवर्णोच्चारणमनर्थकं भवेत् । अथ समुदिता अर्थप्रत्यायकाः । तदपि न सङ्गतम्; क्रमोत्पन्नानामनन्तरविनष्टत्वेन समुदायासंभवात् । न च युगपदुत्पन्नानां समुदायप्रकल्पना, एकपुरुषापेक्षया युगपदुत्पत्त्यसंभवात् प्रतिनियतस्थान-करण-प्रयत्नप्रभवत्वात् तेषाम् । न च भिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽप्यर्थप्रतिपादकत्वं दृष्टं, प्रतिनियतक्रमवर्णप्रतिपत्युत्तरकालभावित्वेन शाब्द्याः प्रतिपत्तेः संवेदनात् । न चान्त्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादेऽस्त्यर्थप्रत्यायकः, पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्यनुग्राहकत्वायोगात् यतो नान्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं पूर्ववर्णानां तदुपकारित्वम्, वर्णाद्वर्णोत्पत्तेरभावात्-प्रतिनियतस्थानकरणाऽऽदिसंपाद्यत्वाद् वर्णानां, वर्णाभावेऽपि च वर्णोत्पत्तिदर्शनाच्च वर्णजन्यत्वम् । अथार्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्युपकारकत्वम् । एतदप्ययुक्तम्; अविद्यमानानां सहकारित्वानुपपत्तेः । अत एव प्राक्तनवर्णविज्ञानानामपि सहकारित्वमयुक्तम् न च पूर्ववर्णसंवेदनप्रभवाः संस्काराः तत्सहायतां प्रतिपद्यन्ते, यतः संस्काराः स्वोत्पादकविज्ञानविषयस्मृतिहेतवो नार्थान्तरज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः-न हि घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधद् दृष्टः । न च तत्संस्काररप्रभवा स्मृतयः सहायतां प्रतिपद्यन्ते, युगपद्युगपद्विकल्पानुपपत्तेः । न हि स्मृतीनां युगपदुत्पत्तिः, अयुगपदुत्पन्नानां चाऽवस्थितिरस्ति । न च समस्तसंस्कारप्रभवैका स्मृतिस्तत्सहकारिणी, परस्परविरुद्धानेकपदार्थानुभवप्रभवप्रभूतसंस्काराणामप्येकस्मृतिजनकत्वप्रसक्तेः, न अनेकवर्णसंस्कारजत्वं स्मृतेः संभवतीति कुतोऽस्या अन्त्यवर्णसहकारित्वम् ? । न चान्त्यविषया स्मृतिरन्यत्र प्रतिपत्तिं जनयति, खदिरव्यापृतपरशोः कदिरच्छेदक्रियाजनकत्वप्रसक्तेः । न चान्त्यवर्णनिरपेक्ष एव 'गौः' इत्यत्रान्त्यो वर्णः ककुदादिमदर्थप्रत्यायकः, पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यप्रसक्तेः घटशब्दान्तव्यवस्थितस्याऽपि तत्प्रत्यायकत्वप्रसक्तेश्च । तस्मान्न वर्णाः समस्त-व्यस्ता अर्थप्रत्यायकाः संभवन्ति ।

अस्ति च गवादिशब्देभ्यः ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिरिति तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुः स्फोटाख्यः शब्दो ज्ञायते । श्रोत्रविज्ञाने च वर्णव्यतिरिक्तः स्फोटात्मा निरवयवोऽक्रमः स्फुटमवभातीति तस्याऽध्यक्षतोऽपि सिद्धिः । तथाहि-श्रवणव्यापारानन्तरभाविन्यभिन्नार्थावभासा संविदनुभूयते, नचासौ वर्णविषया, वर्णानां परस्परव्यावृत्तरूपत्वादेकावभासजनकत्वविरोधात् तदजनकस्यातिप्रसङ्गतस्तद्विषयत्वानुपपत्तेः । न चेयं सामान्यविषया, वर्णत्वव्यतिरेकेणापरसामान्यस्य गकारौकारविसर्जनीयेष्वसंभवात् वर्णत्वस्य च प्रतिनियतार्थप्रत्यायकत्वायोगात् । न चेयं भ्रान्ता, अबाध्यमानत्वात् । न चाबाध्यमानप्रत्ययगोचरस्यापि स्फोटाऽऽख्यस्य वस्तुनोऽसत्त्वम्, अवयविद्रव्यस्याप्यसत्त्वप्रसक्तेः । एवमप्यवयव्यभ्युपगमे स्फोटाभ्युपगमोऽवश्यंभावी तत्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । स च वर्णेभ्यो व्यतिरिक्तो नित्यः, अनित्यत्वे संकेतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात् कालान्तरे देशान्तरे च गोशब्दश्रवणात् ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिर्न स्यात्, असङ्केतिताच्छब्दादर्थप्रतिपत्तेरसंभवात् । संभवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद् गवार्थप्रतिपत्तिर्भवेत् । सङ्केतकरणवैयर्थ्यं च प्रसज्येत । तस्मान्नित्यस्स्फोटाख्यश्शब्दो व्यापकश्च, सर्वत्रैकरूपतया प्रतिपत्तेः ।

असदेतदिति वैशेषिकाः । ते ह्याहु:-एकदा प्रादुर्भूता वर्णाः स्वार्थप्रतिपादका न भवन्तीत्यत्राविप्रतिपत्तिरेव । क्रमप्रादुर्भूतानां न समुदाय इत्यत्राप्यविप्रतिपत्तिरेव । अर्थप्रतिपत्तिस्तूपलभ्यमानात्पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णात् । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धं वृन्तफलसंयोगाभावस्येवाऽप्रतिबद्धगुरुत्वविशिष्टफलप्रपातक्रियाजनने, दृष्टं चोत्तरसंयोगं विदधत् प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंसविशिष्टो रक्ततामुत्पादयन् ।

यद्वा-उपलभ्यमानोऽन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः

पदरूपतामासादयन् पदार्थे प्रतिपत्तिं जनयति, प्राक्तनवर्णसं
वित्प्रभवसंस्कारसव्यपेक्षो वा ? न च संस्कारस्य विषयान्तरे
कथं विज्ञानजनकत्वमिति प्रेर्यम् ,तद्भावभावितयाऽर्थप्रतिप
त्तेरुपलब्धेः पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्चान्त्यवर्णसहायतां
पूर्वपूर्वसंस्कारप्रभवतया प्रणालिकया विशिष्ट. समुत्पन्न. स-
न् प्रतिपद्यते । तथाहि—प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानं तेन च
संस्कारो जन्यते, ततो द्वितीयवर्णविज्ञानं तेन पूर्ववर्णविज्ञा-
नाऽऽहितसंस्कारसहितेन विशिष्ट संस्कारो जन्यते, ततस्तृ-
तीयवर्णे ज्ञानं, तेन पूर्वसंस्कारविशिष्टेनापरो विशिष्टतरः
संस्कारो निर्वर्त्यत इति यावदन्त्यः संस्कारोऽर्थप्रतिपत्तिजन-
कान्त्यवर्णसहायः तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वा
ऽन्त्यो वर्णः पदरूप. पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः । अथवा—शब्दार्थो-
पलब्धिनिमित्तादृष्टनियमादविनष्टा एव पूर्ववर्णसंवित्प्रभवाः
संस्कारा अन्त्यसंस्कार विदधति, तस्मात्पूर्ववर्णेषु स्मृतिरुप-
जाता अन्त्यवर्णेनोपलभ्यमानेन सहार्थप्रतिपत्तिमुत्पादयति,
वाक्यार्थप्रतिपत्तौ वाक्यस्याप्ययमेव न्यायोऽङ्गीकर्त्तव्यः । व
र्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनं च सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्त-
सहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्याद्वर्णादर्थप्रतिपत्तिरन्वयव्यति-
रेकाभ्यामुपजायमानत्वेन निश्चीयमाना स्फोटपरिकल्पना नि
रस्यति । तदभावेऽप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सम्भवेऽन्यथानु
पपत्तेः प्रक्षयात् । न हि दृष्टादेव कारणात् कार्योत्पत्तावदृष्ट
तदन्तरपरिकल्पना युक्तिसङ्गता अतिप्रसङ्गात् ॥ किं च यद्युप
लभ्यमाना वर्णा व्यस्त-समस्ता नार्थप्रतिपत्तिजननसमर्थाः,
स्फोटाभिव्यक्तावपि न समर्था भवेयुः । तथाहि-न समस्तास्ते
स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति सामस्त्यासम्भवात् । नापि प्रत्येक वर्णा
न्तरवैफल्यप्रसङ्गादेकेनैव स्फोटाभिव्यक्तेर्जनितत्वात् । न च पू
र्ववर्णै. स्फोटस्य संस्कारेऽन्त्यो वर्णस्तस्याभिव्यञ्जक इति, न व-
र्णान्तरवैयर्थ्यं, अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानवधारणा-
त् । तथाहि-न तावत्तत्र तैः वेगाऽऽख्य संस्कारो निर्वर्त्यते, तस्य
मूर्त्तेष्वेव भावात् । नापि वासनारूप. अचेतनत्वात् । स्फोटस्य त-
च्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोध' । नापि स्थितिस्थापकः त-
स्यापि मूर्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य चामूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।
किं च-असौ संस्कार. स्फोटरूपस्तद्धर्मो वा ?, न तावदाद्यः क-
ल्पः, स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वप्रसक्तेः । नापि द्वितीय., व्यतिरिक्ता-
व्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-असौ धर्म्मः स्फोटाद्व्य-
तिरिक्त , अव्यतिरिक्तो वा ? । यद्यव्यतिरिक्तस्तदा तत्करणे स्फोट
एव कृतो भवेदिति तस्यानित्यत्वप्रसक्ते. स्वाभ्युपगमविरोध. ।
अथ व्यतिरिक्तस्तदा तत्सम्बन्धानुपपत्तिः तदनुपकारकत्वा
त्, तस्योपकाराभ्युपगमे व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्प., त-
त्रापि पूर्वोक्त एव दोषोऽनवस्थाकारी । न च व्यतिरिक्तधर्मसद्भा
वेऽपि स्फोटस्यानभिव्यक्तिस्वरूपव्यवस्थितस्य पूर्ववदर्थप्रतिप
त्तिहेतुत्वम् तत्स्वरूपत्यागे वाऽनित्यत्वप्रसक्ति । अथ न
व्यतिरिक्तसंस्कारकृतमुपकारमपेक्ष्य पूर्वरूपपरित्यागा-
दसावर्थप्रतिपत्तिं जनयति, किं तु—संस्कारसहायोऽविच-
लितरूप एवैककार्यकारित्वस्यैव सहकारित्वाभ्युपगमात् ;
नन्वेवम्—वर्णानामप्यन्यकृतोपकारनिरपेक्षाणामेककार्यनिर्व
र्त्तनलक्षणसहकारित्ववत्सहकारिसहितानामर्थप्रतिपत्तिजनने
किमपरस्फोटकल्पनयाऽप्रमाणिकया कार्यम् ? । किं च-पूर्व
वर्णै. संस्कार' स्फोटस्य क्रियमाण' किमेकदेशे क्रियते, सर्वा
ऽऽत्मना वा ? । यद्येकदेशै., तदा ते ततोऽर्थान्तरभूता., अनर्था-
न्तरभूता वा ? । यद्यर्थान्तरभूतास्तदा तेषां तदनुपकारे संब
न्धासिद्धिः; उपकारे व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पोक्तदोषानु-
षङ्गः । न च समवायादनुपकारेऽपि तेषा तत्संबन्धिता, त-
स्यानभ्युपगमात् । परैरभ्युपगमे च स्वकृतान्तविरोधोऽर्था-
न्तरभूतत्वे चैकदेशाना तेभ्य एवार्थप्रतिपत्ते' न स्फोटस्यार्थ
प्रत्यायकता । अपि च-एकदेशानामर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वाभ्युपगमे
च वर वर्णानामेव तदभ्युपगतम्, एव लोकप्रतीतिरनुसृता भ
वेत् । अथाव्यतिरिक्तास्तदेकदेशास्तदा स्फोटस्यैकेनैव संस्कृ-
तत्वादपरवर्णोच्चारणवैयर्थ्यम् । न च पूर्ववर्णसंवित्प्रभवसं-
स्कारसहितस्तत्स्मृतिसहितो वाऽन्त्यवर्णः स्फोटसंस्कारक.
एवंभूतस्यास्यार्थप्रतिपत्तिजननेऽपि शक्तिप्रतिघाताभावात्
स्फोटपरिकल्पना निरवसरैव ॥ अपि च-स्फोटसंस्कारः स्फोट-
विषयसंवेदनोत्पादनमुताऽऽवरणापनयन ? यद्यावरणापनयनं
तदैकत्रैकदाऽऽवरणापगमे सर्वदेशावस्थितै सर्वदा व्यापिनि
त्यरूपतयोपलभ्येत, तस्य नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामपगताऽऽव-
रणस्य सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात् ; अनुपलभ्यस्वभावत्वे
वा न केनचित् कदाचित् कुत्रचिदुपलभ्येत । अथैकदेशाऽऽवरणा-
पगम. क्रियते, नन्वेवमावृतानावृतत्वेन सावयवत्वमस्यानुष-
ज्येत । अथ निर्विभागत्वादेकत्रानावृत. सर्वत्राऽऽनावृतोऽभ्युप-
गम्यते तदा तदवस्थाऽशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसक्तिर्यथा
च निरवयवत्वादेकत्रानावृत सर्वत्रानावृतस्तथा तत एवैकत्रा-
ऽप्यावृतः सर्वत्रैवावृतः इति मनागपि नोपलभ्येत । किं च-एकदे-
शाः स्फोटादर्थान्तरम् अनर्थान्तरं वा ? । अर्थान्तरत्वेऽपि शब्द-
स्वभावा., अशब्दात्मका वा ? । यद्यशब्दात्मका नार्थप्रतिपत्तिहेत-
व. अथ शब्दस्वभावा , तत्रापि यदि गोशब्दस्वभावास्तदा वा-
त्र गोशब्दानेकत्वप्रसक्ति. । अथ-अगोशब्दस्वरूपा न तर्हि गवा-
र्थप्रत्यायका भवेयु । अथाऽव्यतिरिक्तास्तदा स्फोट एव संस्कृत
इति सर्वदेशावस्थितैर्व्यापिनस्तस्य प्रतिपत्तिप्रसक्तिरिति पू-
र्वोक्तमेव दूषणम् । किञ्च एकदेशाऽऽवरणापाये स्फोटस्य खण्ड-
श. प्रतिपत्ति. प्रसज्येत । अथस्फोटविषयसंवित्पादस्तत्संस्का-
रः; सोऽपि न युक्तः; वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजनन इव स्फोटप्रति-
पत्तिजननेऽपि सामर्थ्याऽसम्भवात् न्यायस्य समानत्वात् । यदि
च-स्फोट उपलभ्यस्वभाव. सर्वदोपलभ्येत, अनुपलभ्यस्वभा-
वत्वे आवरणापगमेऽपि तत्स्वभावानतिक्रमान्मनागपि नो-
पलभ्येत इत्यर्थप्रतिपत्तितः शाब्दव्यवहारविलोपः ।

अनेनैव न्यायेन वायूनामपि तद्व्यञ्जकत्वमयुक्त वायूनाञ्च
व्यञ्जकत्वपरिकल्पने वर्णवैफल्यप्रसक्ति स्फोटाभिव्यक्त्यर्थ-
र्थप्रतिपादने वा तेषामनुपयोगात् । स्थिते च स्फोटस्य वर्णो-
च्चारणात् प्राक् सद्भावे वर्णाना वायूना वा व्यञ्जकत्वं परि
कल्प्येत । न च तत्सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणादवगत इति
न तत्परिकल्पना ज्यायसी । यदपि प्रत्यभिज्ञाज्ञानं स्फोटस्य
नित्यत्वप्रसाधक वर्णोच्चारणात् प्रागप्यस्तित्वमवबोधयति '
इत्यभ्युपगत तदपि-प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य सादृश्यनिबन्धनत्वे
नात्र विषये प्रतिपादितत्वात्-असगतम् ; एकगोव्यक्तौ सङ्के-
तितात् गोशब्दात् गोव्यक्त्यन्तरे अन्यत्रान्यदा च नित्यत्वम-
न्तरेणापि प्रतिपत्तिर्यथा संभवति तथा प्रतिपादितं, प्रति
पादयिष्यते च, नातोऽपि स्फोटस्य प्राग् व्यञ्जकात् सत्व
सिद्धिरिति । "नादैनाऽऽहितबीजाया-मन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां, बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥ ८५ ॥ " इति
भर्तृहरिवचो निरस्तं द्रष्टव्यम् । यदपि ' विभिन्नतनुपु वर्ण-

न्वभिसाऽऽकारं श्रोत्रान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यध्यक्षं स्फोट-सद्भावमवबोधयति' इत्युक्तम् । तदप्यसारम् ; घटाऽऽदिशब्दे-षु परस्परव्यावृत्तानेकवर्णव्यतिरिक्तस्य स्फोटात्मनोऽर्थप्रत्या-यकस्यैकस्याध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् । सभा-भिन्नावभासमात्रादभिन्नार्थव्यवस्था, अन्यथा-दूरादविरला-नेकतरुष्वेकतरुबुद्धेरेकत्वव्यवस्थाप्रसक्तेः । न चाविरलानेक-तरुष्वेकत्वबुद्धेर्बाध्यमानत्वात् । नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्, स्फोटप्रतिभासबुद्धेरपि बाध्यत्वस्य दर्शितत्वात् । न चैकत्वावभासः स्फोटसद्भावमन्तरेणानुपपन्नः, वर्णत्वा-न्त्यवर्णविषयत्वेनाप्येकत्वावभासस्योपपद्यमानत्वान्निरवयव-स्याक्रमस्य नित्यत्वाऽऽदिधर्मोपेतस्य स्फोटस्यैकावभा-सज्ञानेनाननुभवात्, अन्यथाऽवभासस्य चान्यथाभूतार्था-व्यवस्थापकत्वाद्, व्यवस्थापनेऽतिप्रसङ्गात् । अवयवि द्रव्य स्ववयवजन्यत्वेन तदाश्रित्वेन चाध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासत इति न तन्न्यायः स्फोटे उत्पादयितुं शक्यः । तच्च स्फोटाऽऽत्मा शब्दो वर्णेभ्यो व्यतिरिक्तः । अथ तदव्यतिरिक्तोऽसावभ्युपगम्यते, तदा वर्णनानात्वे तन्नानात्वप्रसक्तिः तदेकत्वे वा वर्णानामप्येक-त्वप्रसक्तिः।३२गा०टी०। सम्म०१काण्ड ।(मीमांसकमतोद्धाटन-तन्निरसनाऽऽदिविषयस्तु सम्मतिटीकात एव ज्ञेयो,नेह प्रतायते विस्तरभयात्) स्फोटाऽऽख्ये वर्णभेदे च । वाच०।स्था०१०ठा०।

फोडकम्म-स्फोटकर्मन्-न०।स्फोटः-पृथिव्यादिविदारणम्,एत देव कर्म स्फोटकर्म। ध०२अधि०। स्फोटिर्भूमेः स्फोटनम्,हल-कुद्दालाऽऽदिभि सैव कर्म स्फोटिकर्म। भ० ८ श० ५ उ०। स्फो-टजीविकायाम्, तद्रूपे कर्माऽऽदानभेदे च । ध० २ अधि० । आ० चू० । उपा० । "फोडीकम्मं उडत्तेणं हलेणं वा भूमि-फोडणं ।" आ० । पञ्चा० । ध०र० । आव० । प्रव० । स्फो-टकर्म वापीकूपतडागाऽऽदिखननम् । यद्वा-हलकुद्दालाऽऽदि-ना भूमिदारणं,पाषाणाऽऽदिघट्टनं वा, यवाऽऽदिधान्यानां स क्त्वादिकरणेन विक्रयो वा । यदुक्तम्—

"जवचणया गोहु-ममुग्गमासकरडिप्पभिइधन्नाणं ।
सत्तुअदालिकणिक्का-तंदुलकरणाइँ फोडणयं ॥ १ ॥
अहवा फोडीकम्मं, सीरेणं भूमिफोडणं जं तु ।
उडुसणयं च तहा, य सीलकुट्टत्तयं चेति ॥ ॥ २ ॥"

प्रव० ६ द्वार । एतच्च वर्जनीयम् । उक्तं च-"सरःकूपाऽऽदि-खननं,शिलाकुट्टनकर्मभिः । पृथिव्यारम्भसम्भूतै-र्जीवनं स्फो-टजीविका ॥ १ ॥" अनेन च पृथिव्या वनस्पतिप्रसाऽऽदिज-न्तूनां च घातो भवतीति दोषः स्पष्ट एव । ध० २ अधि० ।

फोडजीविया-स्फोटजीविका-स्त्री० । स्फोटकर्मणि, ध० २ अधि० । ( 'विधि' शब्देऽष्टमभागे स्फोटजीविकानिषेधं वक्ष्यामि । )

फोडण-स्फोटन-न० । स्फुट-ल्युट् । विदारणे, विकाशने च । वाच० । स्था० २ ठा० १ उ० । व्यञ्जनवासनार्थे राजिकाजीर-कादिके वस्तुनि, त्रि० । पिं० ।

फोडय-स्फोटक-पुं० । स्फुट-एवुल् । व्रणभेदे, विदारके च । वाच० । स्था० १० ठा० ।

फोडिअय-देशी-राजिकाधूमितयोः, सिंहाऽऽदिविधौ च । दे० ना० ६ वर्ग ८८ गाथा ।

फोडिय-स्फोटित-त्रि० । भिन्ने,स्था० ५ ठा० १ उ० । विदारि ते, स्था० २ ठा० १ उ० । औ० । जीरकहिङ्गुधूपवासिते व्यञ्ज-नभेदे च । व्य० १ उ० ।

फोटीकम्म-स्फोटीकर्मन्-न० । 'फोडकम्म' शब्दार्थे, ध० २ अधि० । भ० ।

फोफस-फोफस-न० । 'फुप्फुस' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

फोफा-देशी-भीतिपदे शब्दे, दे०ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

फोल्लण-फोल्लण-न० । भक्षणे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

फोस-स्पयस-पुं०।'स्पयस' उत्सर्गे,स्पयसन्ति-पुरीषमुत्सृज-न्त्यनेनेति व्युत्पत्तिः । अपानप्रदेशे, तं० । उद्गमे, दे०ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'अभिधानराजेन्द्रे'
फकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

# बकारः

ब-ब-पुं०। पवर्गमध्यमोऽयं वर्ण औष्ठ्यः।स्पर्शसंज्ञः। बल-ड'। सूचने, तन्तुसन्ताने, वयने, वद्दने, घटे, समुद्रे, यौनौ, जने च। वाच०। विकल्पे, गगने, गिरौ, कलभे, खगगर्भे, पदे, अल्पे, कर्मणि, विभूतिकारे, विन्दौ, बलाऽऽकृष्टे, विमोचने, नले, न०। अमले, त्रि०। वल्ल्याम्, काहलाया, शृङ्खलायां च। स्त्री०। एका०।

"बो दन्त्योष्ठ्यस्तथोष्ठ्योऽपि, वरुणे वारुणे वरे।
शोषणे वपने गन्धे, वासे वृन्दे च वारिधौ ॥ ८७ ॥
वन्दने वदने वादे, वेदनाया च वा स्त्रियाम्।
झञ्झावाते तथा मन्त्रे, सर्वमन्त्रे मृताऽऽत्मके ॥८८॥" एका०।

बइल्ल-बलीवर्द-पुं०।"गोणाऽऽदय" ॥८।२।१७४॥ इति निपात.। प्रा० २ पाद। आ०म०। पुंगवे, तं०। बलीवर्दे, दे०ना० ६ वर्ग ९१ गाथा।

बउल-बकुल-पुं०। बकुलनामके वृक्षे, "केसरो बउलो।" पाइ०ना० २५४ गाथा। "क-ग-०" ॥८।१।१७७॥ इति कलुक्।

बउहारी-देशी-संमार्जन्याम्, दे०ना० ६ वर्ग ९७ गाथा।

बंक-वक्र-त्रि०। कुटिले, स्था०।

बंझ-वन्ध्य-त्रि०। अनियतकार्यकर्त्तरि, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। विफले, षो० १२ विव०। स०। अपत्यफलापेक्षया निष्फलायां स्त्रियाम्, नि० १ श्रु० ३ वर्ग० ३ अ०। ज्ञा०। आ०म०। अर्थशून्ये, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। षट्त्रिंशत्तममहाग्रहे, सू०प्र० २० पाहु०। कल्प०। पूर्वं धीरयति, अपुनर्बन्धकानां कर्मप्रकृतिबन्धश्च अस्मिन् बन्धशब्दे द्रष्टव्यः। प्रज्ञा०।

बंदि-वन्दिन्-पुं०। चारणे, "मंगलपाढय-मागह-चारण वेआलिआ बंदी।" पाइ०ना० ३२ गाथा।

बंध-बन्ध-पुं०। मनुष्यगवादीना रज्जुदामनकाऽऽदिभिः संयमने, ध०र०। आव०। आचा०। ज्ञा०। भृत्ये, दे०ना० ६ वर्ग ८९ गाथा। निगडाऽऽदिभि संयमने,व्य० ६ उ०। आ०। पञ्चा०। रज्ज्वादिबन्धने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। प्रश्न०। जं०। जीवस्य कर्मपुद्गलसंश्लेषे, स० १ सम०। आश्रवनिमित्ते सकषायस्याऽऽत्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः संश्लेषविशेषे सम्म० ३ काण्ड। अष्टप्रकारकर्मपुद्गलैः प्रतिप्रदेशं जीवस्यावष्टम्भे, आचा० २ श्रु० ३ चू० १ अ०। (कर्मपुद्गलानाम्) विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापने, आव० ३ अ०। जीवकर्मसंयोगे, आ०म० १ अ०। आत्मकर्मणोरत्यन्तं संश्लेषे, उत्त० १ अ०। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाऽऽत्मकतया कर्मपुद्गलानां जीवेन सव्यापारतः स्वीकरणे, सूत्र०।

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेव सन्न निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा एवं सन्न निवेसए ॥ १५ ॥

सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। ('अत्थिवाय' शब्दे प्रथमभागे २०५ पृष्ठे व्याख्यातम्) कर्मणामभिनवग्रहणे, पा०। कर्मपुद्गलजीवप्रदेशान्योन्याऽऽगमे, दशा० १० अ०। ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिपुद्गलयोगे, दशा० ४ अ०। जीवकर्मयोगे, दशा० ४ अ०। प०सू०।

बन्धसत्त्वम्—

तत्र च सर्वबन्धास्र(श्र)वनिरोधः, अशेषकर्मपरिक्षयसामर्थ्योपपत्तेः. तदेव च निःशेषभवतु सविटपिदावानलकल्पं साक्षान्मोक्षाकरणं, तद्ध्यानवांश्चायोगिकेवली निःशेषितमलकलङ्कोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्द्धगतिपरिणामस्वाभाव्यात् निवातप्रदेशप्रदीपशिखावदूर्द्ध्वं गच्छत्येकसमयेन आलोकान्तात् विनिर्मुक्ताऽशेषबन्धनस्य प्राप्तनिजस्वरूपस्याऽऽत्मनो लोकान्तेऽवस्थानं मोक्षः। "बन्धवियोगो मोक्ष." इति वचनात्। अत्र च जीवाऽजीवयोरागमादिवाऽध्यक्षानुमानतोऽपि सिद्धि प्रदर्शिता. आश्रवस्याऽपि तथैव, कर्मयोग्यपुद्गलाऽऽत्मप्रदेशानां परस्पराऽनुप्रवेशस्वभावस्य तु बन्धस्याऽनुपलभ्यावप्यध्यक्षतोऽनुमानात्प्रतिपत्तिः। तथा हि—अशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्याऽऽत्मनः स्वविषयेऽप्रवृत्तिर्विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता, पीतहृत्पूरपुरुषस्वविषयज्ञानाऽप्रवृत्तिवत्, यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धकं द्रव्यं तज्ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि वस्तु सत्पुद्गलरूपं कर्म, आत्मनश्च सकलज्ञेयज्ञानस्वभावता स्वविषया प्रवृत्तिश्च छद्मस्थाऽवस्थायां प्राक्प्रदर्शितैव। औदारिकाऽऽद्यशेषशरीरनिबन्धनस्याऽनेकावान्तरभेदभिन्नाऽष्टविधकर्म्माऽऽत्मकस्य कार्मणशरीरस्य सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमात् सिद्धे कथं न ततो बन्धसिद्धिः?; न च-कार्मणशरीरस्य मूर्तिमत्त्वात् सत्त्वे उपलब्धिः स्यात् अनुपलम्भाच्च तदसदिति वाच्यम् यतो न सर्वं मूर्तिमदुपलभ्यते, सौक्ष्म्यात्। पिशाचाऽऽदिशरीरस्येव औदारिकादिशरीरनिमित्ततयोपकल्पितस्याऽनुपलम्भेऽप्यपह्नोतुमशक्यत्वात्। कथमनुपलभ्यमानस्याऽस्तित्व तस्येति चेत्, न; आप्तवादात्तस्य सिद्धेः। न च तदभाव औदारिकाऽऽद्यपूर्वशरीरयोग आत्मनः स्यात्। न हि रज्ज्वाकाशयोरिव मूर्त्ताऽमूर्त्तयोर्बन्धविशेषयोग कार्मणशरीराविनाभूतश्चामुक्ते सदात्मेति तस्य कथञ्चिन्मूर्त्तत्वम्। तदत्र-औदारिकाऽऽदिशरीरसंबन्धो रज्जु—घटयोरिवोपपत्तिमान्। अथ सूक्ष्मशरीरसिद्धावप्याश्रवनिरपेक्षा परमाणवो वाय्वादिसूक्ष्मद्रव्यनिमित्तपरमाणुद्रव्यवद्भविष्यन्तीति न बन्धहेत्वाश्रवसिद्धि', नैतत्; क्रोडीकृतचैतन्यप्रयोजनस्याचेतनस्याऽऽश्रवनिरपेक्षपरमाणुहेतुत्वानुपपत्तेः। नह्यभ्यन्तरीकृतचैतन्यप्रयोजनस्य आकाशद्रव्याऽऽदेर्वाग बुद्धि शरीराऽऽरम्भाऽऽदिनिरपेक्षपरमाणुजन्यता परस्याऽपि सिद्धा अत. तृष्णानुबद्धस्य चैतन्यस्य मनोवाक्कायव्यापारवतः कर्मवर्गणापुद्गलसचिवस्य कार्मणशरीरानुविद्धस्य तथाविधतच्छरीरनिर्वर्तकत्वम्, अन्यथा तथाविधकारणप्रभवतच्छरीराऽभावे आत्मनो बन्धाऽभावत संसारित्वविकलं जगत् स्यादेव। तीर्थान्तरीयैरपि आतिवाहिकाऽऽदिशब्दवाच्यतयाऽभ्युपगम्यमान कार्मणशरीरं सकलदृष्टपदार्थाविसंवादर्हद्वक्त्राऽऽगमप्रतिपाद्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा-सकलदृष्टाऽदृष्टव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग., न च-अचेतनस्य तस्य कथं भवान्तरप्रापकत्वम्?। चेतनाधिष्ठितस्याऽचेतनस्याऽपि देवदत्तव्यापारप्रयुक्तदेशान्तरप्रापणशक्तिमन्नौद्रव्यवत् अचेतनस्याऽपि तत्प्रापकत्वाविरोधात्। न च सदा चैतन्याऽनुपक्तस्य तस्याऽचैतन्यव्यपदेशयोगितेति प्राक् प्रतिपादितत्वात्। तदेवम्-अनुमानाऽऽगमाभ्या बन्धस्य सिद्धि.। (६३। गाथा टी०।) सम्म० ३ काण्ड।

बन्धभेदाः—

एगे बंधे । स्था० १

व्याख्या—बन्धनं बन्धः, सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते यत् स बन्ध इति भावः । स च प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावभेदात् चतुर्विधोऽपि बन्धसामान्यादेकः, मुक्तस्य सत. पुनर्बन्धाभावाद्वा एको बन्ध इति । अथवा—द्रव्यतो बन्धो निगडाऽऽदिभिः,भावत.कर्मणा त योश्च बन्धनसामान्यादेको बन्ध इति । स्था० १ ठा० । बन्धस्यैव स्वरूपमाह—"प्रवाहतोऽनादिमानिति ।" प्रवाहत. परम्परातोऽनादिमान् आदिभूतबन्धकालविकलः । अत्रैवार्थे उपचयमाह-"कृतकत्वेऽप्यतीतकालवदुपपत्तिरिति।" कृतकत्वेऽपि स्वहेतुभिर्निष्पादितत्वेऽपि, बन्धस्यातीतकालस्येवोपपत्तिर्घटनाऽनादिमत्त्वस्य वक्तव्या । किमुक्तं भवति ?—प्रतिक्षणं क्रियमाणोऽपि बन्धः प्रवाहापेक्षयाऽतीतकालवदनादिमानेव । ध० १ अधि० । बन्धप्रकारः—

" बंधो दुविहो—दुपयाणं चउप्पयाणं च अट्ठाए अणट्ठाए य । अणट्ठाए न वट्टइ बंधेउ । अट्ठाए दुविहो-सावेक्खो य, निरवेक्खो य । निरवेक्खो निच्चलं धणिय जं बंधइ, सावेक्खो जं दामगंठिणा जं सक्केइ पलीवणगादिसु मुंचिउं, छिंदिउं वा, तेण संवरपासएणं बंधेयव्वं, एवं ताव चउप्पयाणं । दुपयाणं पि दासो वा, चोरो वा, पुत्तो वा अपढंतगादि जइ बज्झइ तो सविक्कमाणि बंधेयव्वाणि, रक्खियव्वाणि य, जहा अग्गिभयादिसु न विणस्संति, ताणि किर दुपयचोप्पयाणि सावगेण गेण्हियव्वाणि अबद्धाणि चेव अच्छंति, वद्धो वि ।" आव० ६ अ० । आ० चू० । ( इत्यादि 'बह' शब्दे विस्तरतो वक्ष्यते )

द्रव्यबन्धं निरूपयन्नाह—

कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ? । मागंदियपुत्ता ! दुविहे बंधे पण्णत्ते । त जहा-दव्वबंधे य,भावबंधे य । दव्वबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पओगबंधे य, वीससाबंधे य । वीससाबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सादीयवीससाबंधे य, अणादीयवीससाबंधे य ! पओगवीससाबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सिढिलबंधणबंधे य, धणियबंधणबंधे य ।

( कइविहे णमित्यादि ) ( दव्वबंधे य त्ति ) द्रव्यबन्ध आगमाऽऽदिभेदादनेकविध. केवलमिहोभयव्यतिरिक्तो ग्राह्य., स च द्रव्येण स्नेहरज्ज्वादिना द्रव्यस्य वा , परस्परेण बन्धो द्रव्यबन्धः । ( भावबंधे य त्ति ) भावबन्ध आगमाऽऽदिभेदाद् द्वेधा । स चेह नोआगमतो ग्राह्यः, तत्र भावेन मिथ्यात्वाऽऽदिना भावस्य चोपयोगभावव्यतिरेकाज्जीवस्य बन्धो भावबन्धः । ( पओयबंधे त्ति ) जीवव्यापारेण द्रव्याणा बन्धनम् । ( वीससाबंधे य त्ति ) स्वभावत. ( साईयवीससाबंधे य त्ति) अभ्राऽऽदीनाम् । (अणाईयवीससाबंधे य त्ति) धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽदीनाम् । ( सिढिलबंधणबंधे य त्ति ) तृणपूलिकाऽऽदीनाम् ( धणियबंधणबंधे य त्ति ) रथचक्राऽऽदीनामिति ।

भावबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते । त जहा-मूलपगडिबंधे य, उत्तरपगडिबंधे य । णेरइयाणं भंते ! कइविहे भावबंधे पण्णत्ते ? । मागंदियपुत्ता ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-मूलपगडिबंधे य, उत्तरपगडिबंधे य । एवं०जाव वेमाणियाणं । णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कइविहे भावबंधे पण्णत्ते । मागंदियपुत्ता ! दुविहे भावबंधे पण्णत्ते । तं जहा-मूलपगडिबंधे य, उत्तरपगडिबंधे य । णेरइयाणं भंते ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स कइविहे भावबंधे पण्णत्ते ? । मागंदियपुत्ता ! दुविहे भावबंधे पण्णत्ते । तं जहा-मूलपगडिबंधे य, उत्तरपगडिबंधे य । एवं०जाव वेमाणियाणं णाणावरणिज्जेणं जहा दंडओ भणिओ एवं०जाव अंतराइयं भाणियव्वो । ( ६२० ) भ० १८ श० ३ उ० ।

प्रेमद्वेषबन्धौ—

दुविहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा-पेज्जबंधे चेव, दोसबंधे चेव ।

( दुविहेत्यादि ) प्रेम—रागो मायालोभकषायलक्षणो, द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षणः । यदाह-" मायालोभकषाय-श्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम् । क्रोधो मानश्च पुन-द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥१॥" इति । प्रेम्णः प्रेमलक्षणचित्तविकारस्यान्यक-मोहनीयकर्मपुद्गलराशेर्बन्धन जीवप्रदेशेषु योगप्रत्ययः प्रकृतिरूपतया प्रदेशरूपतया च संबन्धनं. तथा कषायप्रत्ययतः स्थित्यनुभागविशेषाऽऽपादनं च प्रेमबन्धः । एवं द्वेषमोहनीयमस्बन्धो द्वेषबन्ध इति । उक्तं हि—" जोगा पयडिपएसं, ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ ॥" इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । वृ० । आतु० ।

जीवप्रयोगानन्तरबन्धपरम्परबन्धाः—

कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा-जीवप्पओगबंधे, अणंतरबंधे, परंपरबंधे । णेरइयाणं भंते ! कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । एवं चेव । एवं ०जाव वेमाणिए । णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा-जीवप्पओगबंधे, अणंतरबंधे, परंपरबंधे । णेरइयाणं भंते ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । एवं चेव । एवं०जाव वेमाणियस्स, एवं०जाव अंतराइयस्स । णाणावरणिज्जोदयस्स णं भंते ! कम्मस्स कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे बंधे पण्णत्ते, एवं चेव । एवं णेरइयाण वि, एवं०जाव वेमाणिए, एवं ० जाव अंतराइओदयस्स । इत्थीवेदस्स णं भंते ! कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । एवं चेव । असुरकुमाराणं भंते ! इत्थीवेदस्स कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । एवं चेव । एवं ० जाव वेमाणिए, णवरं जस्स इत्थिवेदो अत्थि, एवं पुरिसवेदस्स वि एवं चेव । णपुंसगवेदस्स वि ० जाव वेमाणिए । णवरं जस्स जो अत्थि वेदो । दंसणमोहणिज्जस्स णं भंते !

कम्मस्स कइविहे बंधे ? । एवं णिरंतरं ०जाव वेमाणिए । एवं चरित्तमोहणिज्जस्स वि ०जाव वेमाणिए । एवं एए-णं कमेणं ओरालियसरीरस्स ०जाव कम्मगसरीरस्स आ हारसण्णाए ०जाव परिग्गहसण्णाए कण्हलेस्साए०जाव सुक्कलेस्साए सम्मद्दिट्ठीए मिच्छादिट्ठीए सम्मामिच्छ-दिट्ठीए आभिणिबोहियणाणस्स०जाव केवलणाणस्स मइअण्णाणस्स सुअअण्णाणस्स विभंगणाणस्स । एवं आभिणिबोहियणाणविसयस्स णं भंते ! कइविहे बंधे पण्णत्ते,०जाव केवलणाणविसयस्स वि, मतिअण्णा-णविसयस्स सुअअण्णाणविसयस्स विभंगणाणविसयस्स, एएसिं पदाणं तिविहे बंधे पण्णत्ते । सव्वे ते चउवीस-दंडगा भाणियव्वा, णवर जाणियव्वं जस्स ज अ-त्थि०जाव वेमाणिए । विभंगणाणविसयस्स कइविहे बंधे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा-जीवप्प-ओगबंधे, अणंतरबंधे, परंपरबंधे ॥

( कइविहे णमित्यादि ) ( जीवप्पओगबन्धे त्ति ) जीवस्य प्रयोगेण मनःप्रभृतिव्यापारेण बन्धः कर्म्मपुद्गलानामात्मप्रदेशेषु संश्लेषो बद्धस्पृष्टाऽऽदिभावकरणं जीवप्रयोगबन्धः । ( अनंतरबंधे त्ति ) येषां पुद्गलानां बद्धानां सतामनन्तरः समयो वर्त्तते तेषामनन्तरबन्ध उच्यते, येषां तु बद्धानां द्वितीयाऽऽदिः समयो वर्त्तते तेषां परम्परबन्ध इति । ( णाणावरणिज्जोदयस्स त्ति ) ज्ञानाऽऽवरणीयोदयस्य-ज्ञानाऽऽवरणीयोदयरूपस्य कर्मण उदयप्राप्तज्ञानाऽऽवरणीयकर्मण इत्यर्थः । अस्य च बन्धो भूतभावापेक्षयेति । अथवा-ज्ञानाऽऽवरणीयतयोदयो यस्य कर्मणस्तत्तथा । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्म हि किंचित् ज्ञानाऽऽद्यावारकतया विपाकतो वेद्यते किञ्चित्प्रदेशत एव इत्युदयेन विशेषितं कर्म । अथवा-ज्ञानाऽऽवरणीयोदये यद् बध्यते वेद्यते वा, तत् ज्ञानाऽऽवरणीयोदयमेव तस्येत्येवमन्यत्रापि (सम्मद्दिट्ठीएत्यादि) ननु "सम्मद्दिट्ठीए" इत्यादौ कथं बन्धो दृष्टिज्ञानानामपौद्गलिकत्वात्? अत्रोच्यते-नेह बन्धशब्देन कर्मपुद्गलानां बन्धो विवक्षितः, किं तु-सम्बन्धमात्रम्, तच्च जीवस्य दृष्ट्यादिभिर्द्धर्मैः सहास्त्येव जीवप्रयोगबन्धाऽऽदिव्यपदेश्यत्वं च तस्य जीववीर्यप्रभवत्वात्, अत एवाभिनिबोधिकज्ञानविषयस्येत्याद्यपि निरवद्यं, ज्ञानस्य ज्ञेयेन सह सम्बन्धविवक्षणादिति । इह संग्रहगाथे—

" जीवप्पओगबंधे, अणंतरपरंपरे य बोधव्वे ।
पगडी ८ उदये ८ वेदे ३, दंसण मोहे चरित्ते य ॥ १ ॥
ओरालियवेउव्विय—आहारगतेयकम्मए चेव ।
सण्णा४लेसा६दिट्ठी३, णाण५ऽनाणेसु३ तव्विसए ८ ॥ २ ॥"

भ० २० श० ७ उ० ।

चतुर्विधबन्धः—

चउव्विहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा-पगइबंधे, ठिइबंधे अणुभागबंधे, पएसबंधे । स० ४ सम० । स्था० । आ० ।

बन्धव्याख्यान-सम्प्रति यदुक्तम्-' वुच्छं बंधविहसामीय त्ति" तन्निर्वाहणार्थं बन्धविधानं व्याचिख्यासुराह—( बंधो पयइ ठिइरस-पएस त्ति । २१ गाथा ) बन्धशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, रसबन्धः, प्रदेशबन्ध इति अमुना प्रकारेण बन्धश्चतुर्धा भवति । तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः, अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः, कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो, रसबन्ध इत्यर्थः । कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षं दलिकसंख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्धः । उक्तं च—

" ठिइबंध दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ १ ॥ "

अन्यत्राप्युक्तम्—

" प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥ १ ॥ "

कर्म० ५ कर्म० । ( एते प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धाः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २८३ पृष्ठे दर्शिताः )

अथैकैकाध्यवसायगृहीतकर्मपुद्गलद्रव्यस्य यस्मिन् कर्मणि यावन्मात्रो भागो भवतीत्येतदभिधित्सुराह — ( जेवो आउ तदंसो त्ति ) इहाष्टविधबन्धकेन जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन विचित्रतागर्भेण गृहीतं दलिकं तस्याष्टौ भागा भवन्ति, सप्तविधबन्धकस्य सप्त भागाः, षड्विधबन्धकस्य षड् भागाः, एकविधबन्धकस्यैको भागः । तत्र यदायुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितिकत्वेन गृहीतस्य तस्यानन्तस्कन्धाऽऽत्मककर्मद्रव्यस्यांशो-भागः सर्वस्तोकः आयुष्करूपतया परिणमति । ततो नाम्नि गोत्रे च तुल्यस्थितिकत्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि भागः समः । तत आयुष्कभागात्त्वधिको-विशेषाधिक इति ॥७९॥

विग्घाऽऽवरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ।
तस्स फुडत्त न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

विघ्नस्यान्तरायस्य आवरणयोर्ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणयोर्भागः, समः स्वस्थाने त्रयाणामपि तुल्यस्थितिकत्वात् । नामगोत्रापेक्षया त्वधिको—विशेषाधिक इत्यर्थः । ततोऽन्तरायज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणभागान्मोहे-मोहनीये भागोऽधिको विशेषाधिकः । ननु तर्हि वेदनीयस्य किंरूपो भागो भवतीत्याह—सर्वोपरि वेदनीये स्वकर्मभागोपरिष्टाद्विशेषाधिको भागो भवति । इदमुक्तं भवति शेषकर्मापेक्षया तावन्मोहनीयस्योपरि भागः उक्तः, वेदनीयस्य पुनर्मोहनीयभागादपि सकाशाद्बहुतर एव भागः । अत्र विनेयः पृच्छति-किं पुनरिह कारणं येनोक्तक्रमेण कर्मणां भागाऽऽधिक्यं भवतीति । अत्र वेदनीयस्य तावद्भागाऽऽधिक्ये कारणमाह— " तस्स फुडत्त न हवइ त्ति " येन कारणेनाल्पे-स्तोके दलिके सति तस्य वेदनीयस्य कर्मणः स्फुटत्वं—सुखदुःखानुभवव्यक्तिरिति यावत् ( न )-नैव भवति—जायते । एतदुक्तं भवति—सुखदुःखजननस्वभावं वेदनीयं कर्म तद्भावपरिणताश्च पुद्गलाः स्वभावात्प्रचुरा एव सन्तः स्वकार्यं सुखदुःखरूपं व्यक्तीकर्तुं समर्थाः, शेषकर्मपुद्गलाः पुनः स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पादयन्ति । दृश्यते च पुद्गलानां स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृतं सामर्थ्यवैचित्र्यम् । यथा

हि-घृतदध्यादिकदशनं बहुतरमुपभुक्तं तृप्तिलक्षणं स्वकार्यमा-सनोति मृद्वीकाऽऽदिकं स्वल्पमपि भुक्तं तृप्तिमुपकल्पयति । यथा विषं स्वल्पमपि मारणाऽऽदिकार्यं साधयति, लेष्टुकाऽऽदिकं तु प्रचुरमित्येवमिहापि उपनयः कार्यः । तस्मात् प्रभूता वेदनीयपुद्गलाः सुखदुःखे साधयन्तीति सुखदुःख-स्फुटत्वकारणाद्वेदनीयस्य महान् भाग इति स्थितम् । शेषकर्मणां भागस्य हीनाधिकत्वे कारणमाह—( ठिइविसेसेण सेसाणं ति ) वेदनीयाच्छेषकर्मणामायुष्काऽऽदीनां भागस्य हीनत्वमाधिक्यं वा विज्ञेयम् । केनेत्याह-स्थितिविशेषेण हेतुभूतेन यस्य नामगोत्राऽऽदेरायुष्काऽऽद्यपेक्षया महती स्थितिस्तस्य तदपेक्षया भागोऽपि महान्, यस्य त्वसौ हीना तस्य सोऽपि हीन इति भावः । ननु स्थित्यनुरोधेन भागो भवआयुषः सकाशान्नामगोत्रयोर्भाग संख्यातगुणः प्राप्नोति तत्किमित्युक्तं विशेषाधिक इति ?, सत्यमेतत्, किं तु सर्वोऽपि नरकगत्यादिकर्मकलाप आयुष्कोदयमूल, तदुदय एव तस्योदयात्, अत आयुष्कं प्रधानत्वाद्बहुपुद्गलद्रव्यं लभते । यद्येवं तदपेक्षयाऽप्रधानत्वान्नामगोत्रयोर्भागस्य विशेषाधिकत्वमयुक्तमिति, सत्यमेतत्, किं तु नामगोत्रे सततबन्धिनी, ततस्तदपेक्षया बहुद्रव्यमाप्नुतः, आयुष्कं तु कादाचित्कबन्धत्वादल्पद्रव्यमाप्नोति । इदमुक्तं भवति—स्थित्यनुसारेण संख्यातगुणहीनताप्रसावपि शेषकर्मोदयाऽऽक्षेपकत्वेन प्रधानत्वान्नामगोत्रापेक्षया किञ्चिदूनमेव भागमायुष्कं लभते, नामगोत्रे त्वप्रधानतया हीनताप्रसावपि सततबन्धित्वादायुष्कापेक्षया विशेषाधिकमेव भागं लभते । ननु तथापि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यपेक्षया मोहनीयस्य संख्यातगुणो भागः प्राप्नोति, तत्स्थितेर्ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिस्थित्यपेक्षया संख्यातगुणत्वात्, अतः कथं विशेषाधिक उक्तः ? । सत्यं, दर्शनमोहनीयलक्षणाया एकस्या एव मिथ्यात्वप्रकृतेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिरुक्ता, चारित्रमोहनीयस्य तु कषायलक्षणस्य चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीलक्षणैव स्थितिः, अतस्तदनुसारेण विशेषाधिक एव तद्भाग उक्तो न तु संख्यातगुणः । दर्शनमोहनीयद्रव्य तु सर्वमेव चारित्रमोहनीयदलिकात् सर्वघातित्वेनानन्तभाग एव वर्तत इति न किञ्चित्तेन वर्धत इति । युक्तिमात्रं चैतत्, निश्चयस्तु श्रीसर्वज्ञवचनप्रामाण्यादेवातीन्द्रियार्थप्रतिपत्तिः । भवत्येवं तथाऽप्येकस्मिन् समये गृहीतद्रव्यस्य कथमष्टधा परिणामः कथं चैवं भागाऽऽदिकल्पनेति चेदुच्यते—अचिन्त्यत्वाज्जीवशक्तेर्विचित्रत्वाच्च पुद्गलपरिणामस्य जीवव्यतिरिक्तानामपि शक्रेन्द्रधनुरादिपुद्गलानां विचित्रा परिणतिरवलोक्यते किमुत जीवपरिगृहीतानामित्यलं विस्तरेणेति ॥ ८० ॥ कृता मूलप्रकृतीनां भागप्ररूपणा ।

साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां भागप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

**नियजाइलद्धदलिया-णंतसो होइ सव्वघाईणं ।**

**बज्झंतीण विभज्जइ, सेसं सेसाण पइसमयं ॥ ८१ ॥**

यका यकाः प्रकृतयो यस्यां यस्यां मूलप्रकृतौ पठिता विद्यन्ते, तासां सैव प्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यल्लब्धं-प्राप्तं दलिकाग्रं तस्य योऽनन्तांशः-अनन्तभागः सर्वघातिरसयुक्तः स एव सर्वघातिनीनां प्रकृतीनां केवलज्ञानाऽऽवरणकेवलदर्शनाऽऽवरणनिद्रापञ्चकमिथ्यात्वसंज्वलनवर्जद्वादशकषायलक्षणानां विंशतिसंख्यानामपि भवति-जायते । काऽत्र युक्तिरिति चेदुच्यते—इहाष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ये स्निग्धतराः परमाणवस्ते स्तोकाः, ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भागः, त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्याः, तस्मिंश्चानन्ततमे भागे सर्वघातिरसयुक्तेऽपसारिते शेषस्य दलिकस्य देशघातिरसोपेतस्य का वार्तेत्याह—( बज्झंतीण विभज्जइ इत्यादि ) बध्यमानानां न त्वबध्यमानानां विभज्यते—विभागीक्रियते विभज्य विभज्य दीयत इत्यर्थः । शेषं सर्वघातिप्रकृत्यनन्तभागावशिष्टं प्रदेशाग्रम् । कासां बध्यमानानां विभज्यत इत्याह—शेषाणां सर्वघातिप्रकृत्यवशिष्टानाम् । कथमित्याह—प्रतिसमयं—प्रतिक्षणं बन्धनविभजनक्रिययोरुभयोरपि क्रियाविशेषणमिदं योजनीयम् । अयमत्र तात्पर्यार्थः—इह ज्ञानाऽऽवरणस्य पञ्च तावदुत्तरप्रकृतयः तासु चैका केवलज्ञानाऽऽवरणलक्षणा सर्वघातिनि, शेषाश्चतस्रो देशघातिन्यः, तत्र ज्ञानाऽऽवरणस्य भागे यद्दलिकमायाति तस्य यदनन्तभागवर्ति सर्वघातिरसोपेतं द्रव्यं तत्केवलज्ञानाऽऽवरणस्यैव भागतया परिणमति, शेषं तु देशघातिरसोपेतं द्रव्यं चतुर्धा विभज्यते, तच्च मतिज्ञानाऽऽवरणश्रुतज्ञानाऽऽवरणमनःपर्यायज्ञानाऽऽवरणेभ्यो दीयते । दर्शनाऽऽवरणस्य च नवोत्तरप्रकृतयः, तासु च केवलदर्शनाऽऽवरणं निद्रापञ्चकं चेति षट् सर्वघातिन्यः, शेषास्तिस्रो देशघातिन्यः, तत्र दर्शनाऽऽवरणस्य भागे यद् द्रव्यमागच्छति तस्य मध्ये यत्सर्वघातिरसोपेतमनन्ततमभागवर्ति द्रव्यं तत् षड्भिर्भागैर्भूत्वा सर्वघातिप्रकृतिषट्करूपतयैव परिणमति, शेषं तु देशघातिरसयुक्तं द्रव्यं शेषप्रकृतित्रयभागरूपतयेति । वेदनीयस्य पुनः सातरूपाऽसातरूपा वैकैव प्रकृतिरेकदा बध्यते, न युगपदुभे अपि, सातासातयोः परस्परं विरोधात्, अतो वेदनीयभागलब्धं द्रव्यमेकस्या एव बध्यमानायाः प्रकृतेः सर्वं भवति । मोहनीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति तस्यानन्ततमो भागः सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्विधा क्रियते, अर्धं—दर्शनमोहनीयस्यार्धं चारित्रमोहनीयस्य, तत्रार्धं दर्शनमोहनीयसत्कं समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य ढौकते, चारित्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्धं द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादशभागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते, स्वस्थाने तु कषायद्वादशकस्यापि तुल्यं, शेषं तु देशघातिरससमन्वितं द्रव्यं द्विधा क्रियते, तत्रैको भागः कषायमोहनीयस्य, द्वितीयो नोकषायमोहनीयस्य । तत्र कषायमोहनीयस्य भागश्चतुर्धा क्रियते, ते चत्वारोऽपि भागाः संज्वलनक्रोधमानमायालोभानां दीयन्ते । नोकषायमोहनीयस्य पुनर्भागः पञ्चधा क्रियते, ते च पञ्चापि भागा यथाक्रमं त्रयाणां वेदानामन्यस्मै वेदाय बध्यमानाय, हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय, भयजुगुप्साभ्यां च दीयन्ते, नान्येभ्यः, बन्धाभावात् । न हि नवापि नो कषाया युगपद्बन्धमायान्ति, किं तु—यथोक्ताः पञ्चैव । आयुषस्तु भागे यद् द्रव्यमागच्छति तत्सर्वमेकस्या एव बध्यमानप्रकृतेर्भवति, यत आयुष एकस्मिन्काले एकैव प्रकृतिर्बध्यत इति । नामकर्मणो नामभावना कर्म-

प्रकृत्यभिप्रायेण दर्श्यते । तत्रेयं गाथा—

" पिंडपगईसु वज्झ—तिगाण वन्नगंधरसफासाणं ।
सव्वेसिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ १ ॥ "

अस्या अक्षरार्थगमनिका—पिण्डप्रकृतयो-नामप्रकृतयः । य-दुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"पिंडपगईओ नामपगईओ त्ति ।" तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगानि जातिशरीरबन्धनसङ्घातनसंहननसंस्थानाङ्गोपाङ्गानुपूर्वीणां वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघुपराघातोपघातोच्छ्वासनिर्माणतीर्थकराणाम् आतपोद्द्योतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तप्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरादेयानाऽऽदेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतराणां च मूलभागो विभज्य समर्पणीयः । अत्रैव विशेषमाह—(वर्णेत्यादि) वर्णगन्धरसस्पर्शानां प्रत्येकं यद्भागलब्धं दलिकमायाति तत्सर्वेभ्यस्तेषामेवावान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि—वर्णनाम्नो यद्भागलब्धं दलिकं तत्पञ्चधा कृत्वा शुक्लाऽऽदिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते, एवं गन्धरसस्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य संबन्धिनो भागस्य तावद्भागाः कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्याः । तथा संघाते तनौ च प्रत्येकं यद्भागलब्धं दलिकमायाति तत्त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते । तत्रौदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियतैजसकार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि संघातान् वा युगपद्बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि संघातान् वा बध्नता चतुर्धा क्रियते । 'सत्तेक्कारं विगप्पा बंधणनामाण' बन्धननाम्ना भागलब्धं यद्दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पाः—सप्त भेदाः शरीरत्रये, एकादश वा विकल्पाः शरीरचतुष्टये क्रियन्ते । तत्रौदारिकौदारिक—१ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण ४ तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मणकार्मण ७ लक्षणबन्धनानि बध्नता सप्त, वैक्रियचतुष्काऽऽहारकचतुष्कतैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश, अवशेषाणां च प्रकृतीनां यद्भागलब्धं दलिकमायाति तन्न भूयो विभज्यते, तासां युगपद्वान्तरद्व्यादिभेदबन्धाभावात्, तेन तासां तदेव परिपूर्णं दलिकं भवतीति । गोत्रस्य तु यद्भागाऽऽगतं द्रव्यं तदेकस्या एव बध्यमानप्रकृतेः सर्वं भवति, यद्गोत्रस्यैकदा उच्चैर्गोत्रलक्षणा नीचैर्गोत्रलक्षणा वैकैव प्रकृतिर्बध्यते । अन्तरायभागलब्धं तु द्रव्यं दानान्तरायाऽऽदिप्रकृतिपञ्चकतया परिणमति, यत एताः पञ्चापि ध्रुवबन्धित्वात्सर्वदैव बध्यन्त इति । ननु " वज्झंतीण विभज्जइ त्ति " वचनेन बध्यमानानामेवायं भागविधिरुक्तः, यदा च स्वस्वगुणस्थाने बन्धव्यवच्छेदः संपद्यते तदा तासां भागलब्धं द्रव्यं कस्या भागतया भवतीति, अत्रोच्यते—यस्याः-प्रकृतेर्बन्धो व्यवच्छिद्यते तद्भागलब्धं द्रव्यं यावदेकाऽपि सजातीयप्रकृतिर्बध्यते तावत्तस्या एव तद्भवति । यदा पुनः सर्वासामपि सजातीयप्रकृतीनां बन्धो व्यवच्छिन्नो भवति न च मिथ्यात्वस्येवापरा सजातीया प्रकृतिरस्ति तदा तद्भागलब्धं द्रव्यं सर्वमपि मूलप्रकृत्यन्तर्गतानां विजातीयप्रकृतीनामपि भवति । यदा ता-अपि व्यवच्छिन्ना भवन्ति तदा तद्दलिकं सर्वमप्यन्यस्या मूलप्रकृतेः संपद्यते । निदर्शनं चात्र यथा स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदे तद्भागलब्धं द्रव्यं सर्वमपि सजातीययोः निद्राप्रचलयोर्भवति तयोरपि बन्धविच्छेदे सति स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गतानां चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणाऽऽदीनां विजातीयानामपि भवति, तेषामपि च बन्धे विच्छिन्ने उपशान्तमोहाऽऽद्यवस्थायां निःशेषं सातवेदनीयस्यैव भवति । मिथ्यात्वस्य तु बन्धविच्छेदे सति सजातीयाभावात्तद्भागलब्धं दलिकं सर्वं विजातीयानामेव क्रोधाऽऽदीनां द्वादशकषायाणां भवतीत्यनया दिशा तावज्ज्ञेयं यावत्सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने मोहनीयस्य भागलब्धं द्रव्यं बन्धभागतया भवति, तत ऊर्ध्वमुपशान्ताऽऽद्यवस्थायां सर्वथा शेषमूलप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तद्भागलब्धं द्रव्यं सर्वं सातवेदनीयस्यैव भागतया भवतीति । अत्रैव कर्मप्रकृतिटीकाकारोपदर्शितं स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्वं विनेयजनानुग्रहाय प्रदर्श्यते—तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं केवलज्ञानाऽऽवरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानाऽऽवरणस्यानन्तगुणं, ततोऽवधिज्ञानाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततः श्रुतज्ञानाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततो मतिज्ञानाऽऽवरणस्य विशेषाधिकम्, तथा दर्शनाऽऽवरणे उत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रचलायाः प्रदेशाग्रं, ततो निद्राया विशेषाधिकं, ततः प्रचलाऽप्रचलाया विशेषाधिकं, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकं, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकं, ततः केवलदर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततोऽवधिदर्शनाऽऽवरणस्यानन्तगुणं ततोऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततश्चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, ततः सातवेदनीयस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानाऽऽवरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणमायाया विशेषाधिकम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणमानस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणमायाया विशेषाधिकं, ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणलोभस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकं, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम्, ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम्, ततो जुगुप्साया अनन्तगुणं, ततो भयस्य विशेषाधिकम्, ततो हास्यशोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो रत्यरत्योर्विशेषाधिकं, तयोः पुनः स्वस्थाने तुल्यम्, ततः स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु परस्परं द्वयोरपि तुल्यम्, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम्, ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम्, ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकं, ततः संज्वलनलोभस्यासंख्येयगुणम्, तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं (सर्वस्तोकं तिर्यङ्मनुष्याऽऽयुषोः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं, ततो देवनारकाऽऽयुषोरसंख्येयगुणं स्वस्थाने) परस्परं तुल्यम्, नामकर्मण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगतिनर-

कगत्योः सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् , ततो मनुजगतौ विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियाऽऽदिजातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाऽग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं , तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रियशरीरस्य विशेषाधिकं, तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकं, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एवं संघातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाऽऽहारकबन्धननाम्नः, तत आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तत आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकं तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्य, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकं, ततो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकं, तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं, ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः , ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततः शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः , ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र कटुरसनाम्न , ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततः काषायरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽम्लरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततो मधुरसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कर्कशगुरुस्पर्शनाम्नोः, स्वस्थाने द्वयोरपि परस्परं तुल्यं, ततः स्निग्धोष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं देवगतिनरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यं, ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकं , ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम्नः, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो वि-

ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । एवं बादरसूक्ष्मयोः पर्याप्तापर्याप्तयोः प्रत्येकसाधारणयोः स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोः सुभगदुर्भगयोः सुस्वरदुःस्वरयोरादेयानादेययोर्यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योर्वाच्यम् । आतपोद्द्योतयोरुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं , स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । निर्माणोच्छ्वासपराघातोपघातागुरुलघुतीर्थकराणां स्वल्पबहुत्वं नास्ति , यत इदमल्पबहुत्वं सजातीयप्रकृत्यपेक्षया प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा चिन्त्यते, यथा कृष्णाऽऽदिवर्णनाम्नः शेषवर्णापेक्षया, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभगदुर्भगयोः, न चैताः परस्परं सजातीया अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात् , नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसंभवात् । तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं नीचैर्गोत्रस्य , तत उच्चैर्गोत्रस्य विशेषाधिकम् । तथाऽन्तरायकर्मणि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं दानान्तरायस्य , ततो लाभान्तरायस्य विशेषाधिकं, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिकं, तत उपभोगाऽन्तरायस्य विशेषाधिकं , ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम् । तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्राल्पबहुत्वं, संप्रति जघन्यपदे तदभिधीयते-तत्र सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं केवलज्ञानाऽऽवरणस्य, ततो मनःपर्यवज्ञानाऽऽवरणस्यानन्तगुणं, ततोऽवधिज्ञानाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततः श्रुतज्ञानाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततो मतिज्ञानाऽऽवरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनाऽऽवरणस्य सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं निद्रायाः, ततः प्रचलाया विशेषाधिकं, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकं, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकं, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकं, ततः केवलदर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततोऽवधिदर्शनाऽऽवरणस्यानन्तगुणं ततोऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकं, ततश्चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानाऽऽवरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणक्रोधस्य विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणमायाया विशेषाधिकं, ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानाऽऽवरणमानक्रोधमायालोभानामनन्तानुबन्धिमानक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकं वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्यशोकयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रत्यरत्योर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमानक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यङ्मनुष्याऽऽयुषोः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यं, ततो देवनारकाऽऽयुषोरसंख्येयगुणं स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । तथा नामकर्मणि गतौ ( सर्वस्तोकं) जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्गतेः ततो मनुजगतेर्विशेषाधिकं, ततो देवगतेरसंख्येयगुणं, ततो नरकगतेरसंख्येयगुणम् । तथा जातौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं चतुर्णां द्वीन्द्रियाऽऽदिजातिनाम्नां, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमौदारिकशरीरनाम्नः, ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकं ततः कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकम्, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽसंख्येयगुणम् । ततोऽप्याहारकशरीरनाम्नो [illegible]

न्यपदे प्रदेशाग्रमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसंख्येयगुणं, ततोऽप्याहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसंख्येयगुणम्। तथा सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं नरकगति-देवगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यं, ततो मनुजानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम्। तथा सर्वस्तोकं त्रसनाम्नः, ततः स्थावरनाम्नो विशेषाऽधिकम्। एवं बादरसूक्ष्मयोः पर्याप्तापर्याप्तयोः प्रत्येकसाधारणयोश्च शेषाणां तु नामप्रकृतीनामल्पबहुत्वं न विद्यते। तथा सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रयोरपि। अन्तराये पुनर्यथोत्कृष्टपदे तथैवावगन्तव्यमिति ॥ ८१ ॥ प्रतिपादितं मूलोत्तरप्रकृतीनां भागस्वरूपम्।

संप्रति भागलब्धदलिकं प्रभूततरं गुणश्रेणिरचनयैव जन्तुः क्षपयत्यतो गुणश्रेणिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मदरसव्वविरई, अणविसंजोयदंसखवगे य ।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥८२॥

गुणश्रेणय एकादश भवन्तीति संबन्धः। कुत्र कुत्रेत्याह—'सम्मदरसव्वविरइ' इत्यादि, तत्र (सम्मं ति) सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं तल्लाभे एका गुणश्रेणिः। तथा विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धादितरविरतिस्तल्लाभे द्वितीया गुणश्रेणिः। सर्वविरतिः संपूर्णविरतिस्तल्लाभे तृतीया गुणश्रेणिः। (अणविसंजोय त्ति) अनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां चतुर्थी गुणश्रेणिः। (दंसखवगे त्ति) पदैकदेशे पदप्रयोगाद्दर्शनाद्दर्शनस्य—दर्शनमोहनीयस्य क्षपको—दर्शनक्षपकस्तत्र तद्विषया पञ्चमी गुणश्रेणिः। चशब्दः समुच्चये। (मोहसम त्ति) मोहस्य—मोहनीयस्य शमः शमक उपशमकः, स चोपशमश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादर. सूक्ष्मसंपरायश्चाभिधीयते, तत्र मोहशमे षष्ठी गुणश्रेणिः। (संत त्ति) शान्त उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्त्ती तत्र सप्तमी गुणश्रेणिः। (खवगे त्ति) क्षपक. क्षपकश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादर सूक्ष्मसंपरायश्च निगद्यते, तत्र क्षपकेऽष्टमी गुणश्रेणिः। (खीण त्ति) क्षीणस्य-क्षीणमोहस्य नवमी गुणश्रेणिः। (सजोगि त्ति) सयोगिकेवलिनो दशमी गुणश्रेणिः (इतर त्ति) अयोगिकेवलिन एकादशी गुणश्रेणिरिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्-सम्यक्त्वलाभकाले मन्दविशुद्धिकत्वाज्जीवो दीर्घान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामल्पतरप्रदेशाग्रां च गुणश्रेणिमारचयति। ततो देशविरतिलाभे संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां करोति। ततोऽप्यनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विदधाति। ततो दर्शनमोहनीयक्षपकः संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां निर्मापयति। ततोऽपि मोहशमकः संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति। ततोऽप्युपशान्तमोहगुणस्थानकवर्त्ती संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति। ततोऽपि क्षपकः संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति। ततोऽपि क्षीणमोहः संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां कुरुते। ततोऽपि सयोगिकेवली भगवान् संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विधत्ते। ततोऽप्ययोगिकेवली चरमविशुद्धिपङ्क्तिकल्पितः संख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्त्तवेद्यामसंख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां परिकल्पयति। तदेव यथा यथाऽतिविशुद्धिस्तथा तथा ह्रस्वकालबहुप्रदेशाग्रत्वं च गुणश्रेणेर्भवतीति ॥८२॥ निरूपिता गुणश्रेणिरेकादशधा ॥ कर्म० ५ कर्म०। (गुणस्थानम् 'गुणट्ठाण' शब्दे तृतीयभागे ६१४ पृष्ठे गतम्)

सम्प्रति यो जन्तुर्यथाविधः सन्नुत्कृष्टं यथाविधश्च जघन्यं प्रदेशबन्धं विधत्ते इत्येतत् स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह—

अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

अल्पतराश्च ताः प्रकृतयश्चाल्पतरप्रकृतयस्तासां बन्धः स विद्यते यस्यासावल्पतरप्रकृतिबन्धी। यो यो मौलानां मौलतराणां चाल्पप्रकृतिभेदानां बन्धकः स स उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वसद्भावात्। उत्कटयोगी-उत्कटवीर्यवान् सर्वोत्कृष्टयोगव्यापारे वर्त्तमान इत्यर्थः। 'चः' समुच्चये, स च भिन्नक्रमे पर्याप्तश्चेति योक्ष्यते। संज्ञा मनोविकल्पनलब्धिः सा विद्यते यस्यासौ संज्ञी, पर्याप्तश्च समाप्तपर्याप्तिकः, करोति-विदधाति प्रदेशानामुत्कर्ष उत्कृष्टत्वं प्रदेशोत्कर्षस्तमुत्कृष्टप्रदेशमिति यावत्। इह संज्ञीति विशेष्यं, शेषाणि तु विशेषणानि। अत्र च यो मनःपूर्विकां क्रियां विदधाति तस्य सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टा चेष्टा भवति, तयैव चोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवतीति संज्ञिग्रहणम्। संज्ञ्यपि जघन्ययोग्युत्कृष्टयोगी च भवत्यतो जघन्ययोगिव्युदासार्थमुत्कृष्टयोगिग्रहणं तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धात्। संज्ञ्यप्यपर्याप्तको नोत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधातुमल्पवीर्यत्वात् तस्येति पर्याप्तग्रहणम्। एवंविधस्यापि बहुतरप्रकृतिबन्धकस्य भागबाहुल्यात् स्तोकप्रदेशबन्धो लभ्यते इत्यल्पतरप्रकृतिबन्धीत्युक्तम्। तस्मादेवंविधविशेषणविशिष्टो जन्तुरुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विधत्ते इति। तर्हि जघन्यं प्रदेशबन्धं कथं करोतीत्याह—(जहन्नय तस्स वच्चासे त्ति) जघन्य एव जघन्यकः "यावाऽऽदिभ्यः" ॥ ७। ३। १५॥ आकृतिगणोऽयम्। इति स्वार्थे कः प्रत्ययः। तं जघन्यकं प्रदेशबन्धम् इति प्रक्रमः। तस्य पूर्वप्रदर्शितस्य विशेष्यस्य विशेषणकलापकस्य च व्यत्यासे विपर्यये सति जन्तुः करोतीति योगः। अयमर्थः-बहुतरप्रकृतिबन्धको मन्दयोगोऽपर्याप्तकोऽसंज्ञी जीवो जघन्यप्रदेशबन्धं विदधातीति ॥ ८९ ॥ अभिहितः सामान्योत्कृष्टजघन्यप्रदेशबन्धस्वामी।

सम्प्रति मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीश्च प्रतीत्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निरूपयन्नाह—

मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुणविणु मोहि सत्त मिच्छाइ ।
छण्हं सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

(आउ त्ति) आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः पञ्च। तद्यथा—(मिच्छ त्ति) मिथ्यादृष्टिः, (अजयचउ त्ति) अयतेनाविरतसम्यग्दृष्टिनोपलक्षिताश्चत्वारोऽविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तलक्षणाः पञ्चैव जनाः। "अप्पयरपयडिबंधी" इत्यादिभणितगाथासंभवद्विशेषणविशिष्टा आयुष उ

त्कृष्टप्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपूर्वकरणाऽऽद्यश्चाऽऽयुर्न बध्नन्तीति नेह गृहीताः । सास्वादनस्तर्ह्यायुर्बध्नात्येव स किमिति न गृहीत ?, इति चेदुच्यते-तत्रोत्कृष्टप्रदेशनिबन्धनोत्कृष्टयोगाऽभावात् । तथाहि—अनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टौ साद्यध्रुव एव भणिष्यते, यदि तु सास्वादनेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदाऽसावप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नात्येव, अतो यथाऽविरताऽऽदिष्वप्रत्याख्यानाऽऽवरणाऽऽदिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः । प्रदेशबन्धः साऽऽद्याऽऽदिचतुर्विकल्पोऽप्यभिधास्यते तथैवानन्तानुबन्धिनां मिथ्यात्वभागलाभात् सास्वादने उत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्याऽऽदिचतुर्विकल्पोऽपि स्यात्, न चैवं निर्दिश्यते, तस्माज्ज्ञायतेऽल्पकालभावित्वेन तथाविधप्रयत्नाभावादन्यतो वा कुतश्चित्कारणात्सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो नास्ति । किंच-अनन्तरमेवोत्तरप्रकृतिस्वामित्वे मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिप्रकृतीनां प्रत्येकं सूक्ष्मसंपरायाऽऽदिषूत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिधाय भणितशेषप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिमेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनं निर्देक्ष्यति न सास्वादनं, वक्ष्यति-" सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो । " बृहच्छतकेऽप्युक्तम्-"सेसपएसुक्कडं ( क्कोसं ) मिच्छो त्ति ।" अतोऽपि ज्ञायते 'नास्ति सास्वादनस्योत्कृष्टयोगसंभवः ।' अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टप्रदेशस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम् । ( वितिगुणविणु मोहि सत्त मिच्छा इति) मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वे द्वितीयतृतीयगुणौ विना सास्वादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके च वर्जयित्वा शेषाणि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि सप्त गुणस्थानकान्यधिक्रियन्ते । इदमत्र हृदयम्-मिथ्यादृष्ट्यविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्तिनः सप्त जना उत्कृष्टयोगे वर्त्तमानाः सप्तविधबन्धका मोहस्योत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । अन्ये तु—सास्वादनमिश्रावपि संगृह्य " मोहस्स नव उ ठाणाणि त्ति " पठन्ति, तच्च न युक्तियुक्तं, यतः सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते इत्युक्तमेव, मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो न लभ्यते । तथाहि-द्वितीयकषायाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमविरतमेव निर्देक्ष्यति " अजया देसा वितिकसाए " इति वचनात् । यदि तु मिश्रे अप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदा सोऽपि तत्स्वामितया निर्दिश्येत, न च वक्ष्यं मिश्रादल्पतरप्रकृतिबन्धकोऽविरत इत्ययमेव गृहीतो, यतोऽविरतोऽपि मूलप्रकृतीनां सप्तविधबन्धकस्तत्र गृहीष्यते, मिश्रोऽपि सप्तविधबन्धक एव, उत्तरप्रकृतीरपि मोहनीयस्य सप्तदशाविरतो बध्नाति, मिश्रोऽप्येतावतीरेव, तस्मादुत्कृष्टयोगाभावं विहाय नापरं तत्परित्यागे कारणं समीक्षामहे इति । मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगाभावात्सप्तैव मोहोत्कृष्टप्रदेशबन्धका इति स्थितम् । ' छण्हं सतरस सुहुमु त्ति ।' मूलप्रकृतीनां षण्णां ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायलक्षणानाम् । सूक्ष्मसंपरायो हि मोहाऽऽयुषी न बध्नात्यतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणमिति । तथा सप्तदशानां ज्ञानाऽऽवरणपञ्चकदर्शनाऽऽवरणचतुष्टयसातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चलक्षणानामुत्तरप्रकृतीनां सूक्ष्मसंपराय उत्कृष्टयोगे वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति, मोहाऽऽयुषी असौ न बध्नातीत्यत्र तद्भागोऽधिको लभ्यते । । अपरं च—दर्शनाऽऽवरणभागो नामभागश्च सर्वोऽपीह यथासंख्यं दर्शनाऽऽवरणचतुष्कस्य यशःकीर्तेश्चैकस्या भवतीति सूक्ष्मसंपरायस्यैव ग्रहणम् । ( अजया देसा वितिकसाए त्ति ) अयता अविरतसम्यग्दृष्टयः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमाना द्वितीयकषायान् प्रत्याख्यानाऽऽवरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् विदधति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चैते न बध्नन्त्यतस्तद्भागद्वयमधिकं लभ्यत इत्यमीषामेव ग्रहणम् । तथा देशा—देशविरताः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्त्तमानास्तृतीयकषायान् प्रत्याख्यानाऽऽवरणाऽऽख्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् कुर्वते, प्रत्याख्यानाऽऽवरणानामप्यमी अबन्धका अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति कृत्वा ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइ, नराउसुरसुभगतिग विउव्विदुगं ।
समचउरंसमसायं, वइरं मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

( पण त्ति ) पञ्च प्रकृतीः पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयलक्षणा, अनिवृत्तिबादरः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धः करोति । तत्र पुरुषवेदस्य पुंवेदसंज्वलनचतुष्टयाऽऽत्मकं पञ्चविधं बध्नन्नमायुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, हास्यरतिभयजुगुप्साभागो लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । संज्वलनक्रोधस्य निवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलक्रोधाऽऽदिचतुष्टय बन्धन्नुत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं विदधाति, मिथ्यात्वाऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानाऽऽदित्रयं बध्नन्नुत्कृष्टप्रदेशबन्धं मानस्य करोति क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा । स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने मायालोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा । स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नंस्तस्यैवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति एकं द्वौ समयौ, एतच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्य समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणमिति । तथा सुखगति प्रशस्तविहायोगतिः, नरायुः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् सुरत्रिकं सुरगतिसुरानुपूर्वीसुराऽऽयुर्लक्षणं, सुभगत्रिकं सुभगसुस्वराऽऽदेयस्वरूपम्, वैक्रियद्विकम्—वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं, समचतुरस्रसंस्थानम्, असातवेदनीयम्, (वइरं ति) वज्रर्षभनाराचसंहननम्, इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा उत्कृष्टप्रदेशाः करोति । तथाहि-अमूः यथा मिथ्यादृष्टिः सप्तविधबन्धको बध्नाति, तथा सम्यग्दृष्टिरपि सप्तविधबन्धक एवैता बध्नात्यतः प्रकृतिलाघवाऽऽदिविशेषाभावादुत्कृष्टयोगे वर्त्तमानौ द्वावप्यसातमुत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुरुतः, देवमनुष्याऽऽयुषोरप्यष्टविधबन्धकावुत्कृष्टयोगे वर्त्तमानौ द्वावप्यविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुरुतः । देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगसुस्वराऽऽदेयलक्षणा नव नामप्रकृतयो नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकाले एव बन्धमागच्छन्ति, नाधस्तनेषु पूर्वोक्तरूपेषु त्रयो-

विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धेषु । तां चाष्टाविंश-
तिं देवगतिप्रायोग्यां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च बध्नाति ।
तथाहि—देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीरं वै-
क्रियाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतु-
ष्कमगुरुलघुनाम पराघातनाम उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्र-
शस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्र-
त्येकनाम स्थिराऽस्थिरयोरेकतरं शुभाऽशुभयोरेकतरं सु-
भगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेक
तरं निर्माणनामेति देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धसह-
चरिता एता नव प्रकृतीर्निर्वर्तयति । सप्तविधबन्धकौ स-
म्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टी उत्कृष्टयोगे वर्त्तमानावविशेषेणोत्कृष्टप्रदे-
शा विधत्तः,यत एवाऽष्टाविंशतिर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राधि-
रतिदेशविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेया। अष्टाविंश
तेरुपरितनेष्वेकोनत्रिंशदादिबन्धस्थानेष्वप्येता नव प्रकृतयो
बध्यन्ते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो न लभ्यत
इत्यष्टाविंशतिसहचरितत्वेन ग्रहणम् । वज्रर्षभनाराचस्या-
पि सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा सप्तविधबन्धको नाम्नो वज्रर्ष-
भनाराचसहितामेकोनत्रिंशत तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्यौ प-
ञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्म-
णे वज्रर्षभनाराचसंहननं समचतुरस्रसंस्थानं वर्णचतुष्कम्
अगुरुलघु उपघातं पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोग-
तिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिराऽस्थिरयो
रेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम
यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति लक्षणाम् मनुष्यग
तिमनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिका-
ङ्गोपाङ्गे तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराच-
संहननं वर्णचतुष्कमगुरुलघु पराघातम् उपघातनाम उच्छ्वास-
नाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्ये-
कनाम स्थिराऽस्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं सुभगनाम
सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माण-
मिति लक्षणां वा निर्वर्तयन्नुत्कृष्टयोगे वर्त्तमान उत्कृष्टप्रदेशब-
न्धं करोति । एकोनत्रिंशतोऽधस्तनबन्धेष्विदं न बध्यते, त्रिंश-
द्बन्धे तु बध्यते । केवलं भागबाहुल्यान्नोत्कृष्टप्रदेशबन्धो
न लभ्यत इत्येकोनत्रिंशद्बन्धगतस्यैव ग्रहणमिति सम्यग्द-
ष्टिमिथ्यादृष्ट्योरविरोधेन भावितत्रयोदशानामपि प्रकृती-
नामुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध इति ॥ ६१ ॥

> निद्दापयलादुजुयल- भयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
> आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ६२ ॥

निद्रा प्रचला द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं हास्यरत्य-
रतिशोकाऽऽख्यं, भय, ( कुच्छ त्ति ) जुगुप्सा, (तित्थं ति)
तीर्थकरनामेत्येतत्प्रकृतिनवकं,सम्यग्गच्छति ज्ञानाऽऽदिमोक्ष-
मार्गमिति सम्यग्गः सम्यग्दृष्टिः उत्कृष्टयोगे वर्त्तमान उ-
त्कृष्टप्रदेशं बध्नाति । तत्र निद्राप्रचलयोरविरतसम्यग्दृष्ट्याद-
योऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगे वर्त्तमानाः सप्तविधब-
न्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं कुर्वन्ति ।
आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणं,
स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्त्यतस्तद्भागलाभो-
ऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मि-
थ्यादृष्टिसास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह
गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतन्न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्यो-
त्कृष्टयोगो न लभ्यते इति सोऽपि नेहाधिकृतः । हास्य-
रत्यरतिशोकभयजुगुप्सानां तु ये ये सम्यग्दृष्टयोऽविरताऽऽ-
द्यपूर्वकरणान्तानां मध्ये तद्बन्धकास्ते ते उत्कृष्टयोगे वर्त्त-
माना उत्कृष्टं प्रदेशबन्धमभिनिर्वर्तयन्ति मिथ्यात्वभागो
लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनाम्नोऽप्यविरता-
ऽऽद्यपूर्वकरणान्तः सम्यग्दृष्टिर्मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकः दे-
वगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपा-
ङ्गं समचतुरस्रसंस्थानमुच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्त-
विहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम
स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोर्यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योः पृथगन्यत-
र सुभगनाम सुस्वरनामाऽऽदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजसका-
र्मणे अगुरुलघूपघातनाम निर्माणमित्येतामष्टाविंशतिं तीर्थ-
करनामसहितामेकोनत्रिंशतं देवगतिप्रायोग्यामुत्तरप्रकृती-
र्बध्नन्नुत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मि-
थ्यादृष्टिरेतन्न बध्नातीति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकर-
नामसहिताश्च त्रयोविंशत्यादिकाः पूर्वोक्तरूपा नाम्न उत्तर-
प्रकृतयो न बध्यन्ते , त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु पूर्वोक्तनीत्या
तीर्थकरनामसहितौ बध्येते, केवलं तत्र भागबाहुल्यादुत्कृ-
ष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इति शेषपरिहारेणैकोनत्रिंशत्प्र-
कृतिबन्धग्रहणम् । तथा सुयतिः—शोभनसाधुः प्रमत्ताप्र-
मत्तयतिरपूर्वकरणश्च गृह्यते, द्वयोरपि प्रमादरहितत्वेन
सुयतित्वात् । तत्रैतौ द्वावपि देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रि-
यजातिर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानं परा-
घातनामोच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम
पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सु-
स्वरनामाऽऽदेयनाम यशःकीर्तिनाम वर्णचतुष्कं तैजसकार्म-
णे अगुरुलघुनामोपघातनाम निर्माणनामाऽऽहारकशरीरमा-
हारकाङ्गोपाङ्गमित्येतद्देवगतिप्रायोग्यं त्रिंशन्नामोत्तरप्रकृतिक-
दम्बकं बध्नन्तावुत्कृष्टयोगे वर्तमानावाहारकद्विकमाहारक-
शरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुत्कृष्टप्रदेशं बध्नीतः,तीर्थकर
नामसहिते एकत्रिंशद्बन्धेऽप्येतद्बध्यते, किं तु तत्र भागबा-
हुल्यान्न गृह्यते । तथा शेषा भणितचतुःपञ्चाशत्प्रकृतिभ्य
उद्धरिताः-स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्टयस्त्रीवे-
दनपुंसकवेदनारकाऽऽयुष्कतिर्यगायुष्कनरकगतिनरकाऽऽनु-
पूर्वीतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीमनुष्यगतिमनुष्याऽऽनुपूर्व्येकेन्द्रि-
यजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजा-
तिऔदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणप्रथमवर्जसं-
हननप्रथमवर्जसंस्थानवर्णचतुष्काऽगुरुलघूपघातपराघातो-
च्छ्वासाऽऽतपोद्योताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरसू-
क्ष्मपर्याप्तापर्याप्तप्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभाऽशुभदुर्भग-
दुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्माणनीचैर्गोत्राणि चेत्येताः षट्ष-
ष्टिप्रकृतय उत्कृष्टप्रदेशका उत्कृष्टप्रदेशबन्धा (मिच्छो त्ति) मि-
थ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि-मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारि-
कद्विकतैजसकार्मणवर्णचतुष्काऽगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वा-
सत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभायशःकीर्तिनिर्मा-
णलक्षणाः पञ्चविंशतिप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषा एकचत्वारिंशत्स-
म्यग्दृष्टेर्बन्धमेव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चिदुत्ता-

ति परं नस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते अत एता एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्त्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च यथासंभवमल्पतरबन्धक उत्कृष्टप्रदेशाः करोति। या अपि चोक्तस्वरूपा. पञ्चविंशतिप्रकृतयः सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिकतैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातबादरप्रत्येकास्थिराशुभायशःकीर्तिनिर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनामपर्याप्तैकेन्द्रिययोग्यो नाम्नस्त्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्नस्तैजसकार्मणवर्णादिचतुष्काऽगुरुलघूपघातनिर्माणतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्येकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरहुण्डसंस्थानत्रसस्थावरसूक्ष्मैकतरापर्याप्तप्रत्येकसाधारणान्यतरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणो बन्धः तेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते नोत्तरैः पञ्चविंशत्यादिबन्धैः भागबाहुल्यात्। शेषाणां तु मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गपराघातोच्छ्वासत्रसपर्याप्तस्थिरशुभलक्षणानां दशप्रकृतीनां यथासंभवं पर्याप्तैकेन्द्रियापर्याप्तत्रसयोग्यपञ्चविंशतिबन्धेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टः प्रदेशबन्धो लभ्यते नोत्तरैः,षड्विंशत्यादिबन्धैर्भागबाहुल्यादेव। नाप्यधस्तनेन त्रयोविंशतिबन्धेन तत्रैतासां बन्धाभावादेव। तौ च त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिबन्धौ सम्यग्दृष्टेर्न भवतः देवपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात्तस्येत्यत एतासामपि पञ्चविंशतिप्रकृतीनां यथोक्तप्रकारेण त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या च सह बध्यमानानां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगो मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोतीति ॥ ६२ ॥ निरूपितमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम्।

अधुना तासामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमभिधित्सुराह-

सुमुणी दुन्नि असन्नी, निरयतिगसुराउसुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ६३ ॥

सुमुनिः-प्रमादरहितत्वेन प्रधानसाधुः-अप्रमत्तयतिः। ( दुन्नि त्ति ) द्वे प्रकृती आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण जघन्यप्रदेशे बध्नाति । अयमर्थः—परावर्तमानयोगो घोलनयोगीत्यर्थः । अष्टविधबन्धकः स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो नाम्नो देवगतिर्देवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतित्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यश कीर्तिनाम सुभगनाम सुस्वरनामाऽऽदेयनाम वर्णचतुष्कं तैजसकार्मणे अगुरुलघूपघातं निर्माणं तीर्थकरनामाऽऽहारकशरीरमाहारकाङ्गोपाङ्गमित्येवमेकत्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन् प्रमत्तयतिराहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति। त्रिंशद्बन्धेऽप्येते बध्येते परं तत्राल्पा भागा इत्येकत्रिंशद्बन्धग्रहणम्। एतच्च प्रकृतिद्वयमन्यत्र न बध्यत इत्यप्रमत्तयतिग्रहणम्। तथाऽसंज्ञी सामान्योक्तावपि घोलमानयोगः परावर्त्तमानयोग इत्यर्थः । नरकत्रिकं नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकाऽऽयुर्लक्षणं, सुरायु, इत्येताश्चतस्रः प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धा करोति। तथाहि- पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया देवनारकेषूत्पत्त्यभावादेवैताश्चतस्रः प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेहाधिक्रियन्ते । असंज्ञ्यप्यपर्याप्तकस्तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्यभावान्नैता बध्नात्यत' सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्यः । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठमानो गृह्येत तदा तीव्रचेष्टो भवेत् । योगात्तु योगान्तर पुनः संक्रामतः स्वभावादल्पचेष्टो भवतीति परावर्त्तमानयोगग्रहणम्। ततश्च परावर्त्तमानयोगोऽष्टविधं बध्नन्पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये वर्त्तमान' प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैकं चतुरो वा समयान् यावज्जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीति परमार्थः। पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतु'समयावसानत्वादुत्तरत्रापेयेष कालनियमो द्रष्टव्यः। ननु पर्याप्तसंज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टय न बध्नातीति चेदुच्यते—प्रभूतयोगत्वाज्जघन्योऽपि हि पर्याप्तसंज्ञियोगः पर्याप्तासंज्ञ्युत्कृष्टयोगादप्यसंख्येयगुण इति। तथा—( सुरविउव्विदुगं ति ) द्विकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्सुरद्विकं सुरगतिसुरानुपूर्वीरूप, वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं, जिननाम तीर्थकरनामेत्येतत्प्रकृतिपञ्चकम् (सम्मो त्ति) सम्यग्दृष्टिः" व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः।" इति न्यायाद्भवाऽऽद्यसमये वर्त्तमानः ( जहन्न ति ) जघन्यं—जघन्यप्रदेशं करोति। तथाहि—कश्चिन्मनुष्यस्तीर्थकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्नः प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहितां नामप्रकृतिर्त्रिंशतं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थान वज्रऋषभनाराचसंहननं पराघातमुच्छ्वासं प्रशस्तविहायोगतित्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतर सुभगं सुस्वरमादेयं तीर्थकरनाम वर्णचतुष्क तैजसकार्मणे अगुरुलघूपघातं निर्माणमिति लक्षणां बध्नन्मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिः स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्त्तमानस्तीर्थकरनामजघन्यप्रदेशबन्धं करोति। नारकोऽपि श्रेणिकाऽऽदिवदेवं तद्बन्धकः संभवति , परमिह देवोऽल्पयोगत्वादनुत्तरवासी गृह्यते, नारकेषु त्वेवंभूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽतस्तेषु समुत्पन्नो नेह गृहीतः, तिर्यञ्चस्तु तीर्थकरनाम न बध्नन्तीत्युपेक्षिताः, मनुष्यास्तु भवाऽऽद्यसमये तीर्थकरनामसहितां नाम्न एकोनत्रिंशतमेव बध्नन्त्यतस्तत्राल्पा भागा भवन्ति । एकत्रिंशद्बन्धस्तु तीर्थकरनामसहित संयतस्यैव भवति, तत्र च वीर्यमल्पं न लभ्यते, अन्येषु तु नामबन्धेषु तीर्थकरनामैव न बध्यते अतःशेषपरिहारेण त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्यैव ग्रहणं, देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तु बद्धतीर्थकरनामदेवनारकेभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्नो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसस्थानमुच्छ्वासं पराघातं प्रशस्तविहायोगतित्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतर यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्टय तैजसकार्मणे अगुरुलघूपघातं निर्माणं तीर्थकरनामेति लक्षणां देवगतिप्रायोग्यां नाम्नएकोनत्रिंशतं निर्वर्तयन् स्वप्रायोग्य सर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो भवाऽऽद्यसमये वर्तमानो मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति । देवनारका हि तावद्भवप्रत्ययादेवैतत्प्रकृतिचतुष्टय न बध्नन्तीति नेहाधि-

कृताः। तिर्यञ्चः पुनरभोगभूमिजा भवाऽऽद्यसमयेऽपि बध्नन्त्येतत् केवलं ते देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव पूर्वप्रदर्शितस्वरूपां रचयन्ति, नैकान्नत्रिंशदादिबन्धाः तेषां तीर्थकराऽऽहारकरहितत्वात्। निरश्चां तु तद्बन्धकत्वात्। अतस्तेषु भागा अल्पे लभ्यन्ते इति तेऽपीह नाधिक्रियन्ते। मनुष्यस्याऽप्यष्टाविंशतिबन्धकस्य भागा बहवो न लभ्यन्ते. त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु देवगतिप्रायोग्यौ संयतस्य भवतः तत्र च वीर्यमल्पं न लभ्यते। अन्ये तु देवगतिप्रायोग्यबन्धा एव न सन्तीत्यालोच्यैकोनत्रिंशद्बन्धकस्य मनुष्यस्यैव ग्रहणम्। ननु तिर्यक्षु पर्याप्तसंज्ञी देवगतिप्रायोग्यमेतत्प्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति स कस्मादिह नाङ्गीकृतः ?। उच्यते-प्रभूतयोगत्वात्, अपर्याप्तसंज्ञियोगाद्धि पर्याप्तसंज्ञियोगो जघन्योऽप्यसंख्येयगुण इति। ( सुहुमनिगोयाइखणि सेस त्ति ) सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तक आदिक्षणे-भवाऽऽद्यसमये शेषा भणितैकादशप्रकृतिभ्योऽवशिष्टा नवोत्तरशतसंख्याः प्रकृतीराश्रित्य सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तो यथासम्भवं च बह्वीः प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धाः करोति, सर्वासामप्यत्र बन्धसद्भावात्, सर्वजघन्यवीर्यस्य चात्रैव सम्भवादिति ॥ ९३ ॥ निरूपितं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम्।

अधुना प्रदेशबन्धमेव साद्याऽऽदिभङ्गकैर्निरूपयन्नाह—

दंसणछग भयकुच्छा-बितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसिसव्वत्थ ॥ ९४ ॥

दर्शनषट्कं-चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनाऽऽवरणनिद्राप्रचलालक्षणं भयं, जुगुप्सा, ( बितितुरियकसाय त्ति ) कषायशब्दस्य प्रत्येकं योगात् द्वितीयकषाया-अप्रत्याख्यानाऽऽवरणास्तृतीयकषायाः-प्रत्याख्यानाऽऽवरणाः, तुर्याश्चतुर्थाः कषायाः-संज्वलनकषायाः, विघ्नानि पञ्च-दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाऽऽख्यानि, ज्ञानानि-ज्ञानावरणानि मतिज्ञानाऽऽवरणश्रुतज्ञानाऽऽवरणावधिज्ञानाऽऽवरणमनःपर्यायज्ञानाऽऽवरणकेवलज्ञानाऽऽवरणलक्षणानि पञ्च, इत्येतासामुत्तरप्रकृतिषु मध्ये त्रिंशतः प्रकृतीनाम्। तथा (मूलछगे त्ति) मूलप्रकृतिषट्के ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धः। ( चउह त्ति ) चतुर्धा साद्यनादिध्रुवाध्रुवरूपचतुर्विकल्पोऽपि भवतीत्यर्थः। इह तावच्च सर्वबहवः कर्मस्कन्धा गृह्यन्ते स उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धहानिमाश्रित्य यावत्सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं तावत्सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इत्युत्कृष्टानुत्कृष्टप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः संगृहीतः। यत्र सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं स जघन्यः प्रदेशबन्धः। ततः स्कन्धवृद्धिमाश्रित्य यावत्सर्वबहुस्कन्धग्रहणं तावत्सर्वोऽप्यजघन्य इति जघन्याजघन्यप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः संगृहीत इत्यनया परिभाषया दर्शनाऽऽवरणषट्काऽऽदीनामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धः साद्याऽऽदिचतुर्विकल्पो भवतीति। तथाहि-चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणाऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणावधिदर्शनाऽऽवरणकेवलदर्शनाऽऽवरणलक्षणप्रकृतिचतुष्कविषयं क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते। सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीयाऽऽयुःकर्मद्वयं सर्वथा न बध्नाति, दर्शनाऽऽवरणस्याप्येतदेव प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति, न शेषप्रकृतीः, अतो मोहनीयाऽऽयुर्भागयोर्यथास्वमत्र प्रवेशाभिप्रायेणाऽऽस्यभागस्यापि चात्र प्रवेशाद्बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम्। उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उत्कृष्टतया उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम्। उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येकद्विसमयग्रहणम्। एतं चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वोपशान्तमोहावस्थां वाऽऽरुह्य पुनः प्रतिपत्योत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। निद्राप्रचलाद्विकस्य त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगवृत्तयः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणम्। स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्तीत्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम्। मिथ्यादृष्टिसास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ। मिश्रस्त्वेतन्न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः। एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद्बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्यानुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, सम्यक्त्वसहितं चोत्कृष्टयोगमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानामध्रुवो भव्यानामिति। तथा भयजुगुप्सयोः सम्यग्दृष्टिरविरताऽऽदिरपूर्वकरणान्त उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम्। कषायभागः पुनः सजातित्वात्कषायाणामेव भवति, नैतयोः। मिथ्यादृष्टिस्तु मिथ्यात्वं बध्नातीति मिथ्यात्वभागो न लभ्यत इति तस्येहाग्रहणम्। सास्वादनमिश्रयोस्तु लभ्यते मिथ्यात्वभागः केवलमुक्तनीत्या तयोरुत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तावपि नेहाधिकृतौ। अपूर्वकरणोपरिवर्तिनस्तु भयजुगुप्से न बध्नन्तीत्यपूर्वकरणान्तविशेषणम्। एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद्बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्याऽनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदा असौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथाऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चासौ न बध्नात्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम्। मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च सास्वादनस्त्वनन्तानुबन्धिनो बध्नातीति तयोरग्रहणम्। मिश्रस्तु मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते, देशविरताऽऽदयस्त्वप्रत्याख्यानाऽऽवरणान्न बध्नन्तीति शेषव्युदासेनाविरतसम्यग्दृष्टिरेवाधिकृतः। एष चाविरतसम्यग्दृष्टिर्यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधाति तदाऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा प्रत्याख्यानाऽऽवरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगो देशविरतः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति। अप्रत्याख्यानाऽऽवरणानामप्यसावबन्धकोऽतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति। एष च देशविरतो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदा-

ऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादरः पुंवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधाऽऽदिचतुष्टयं बध्नन्नुत्कृष्टयोगे स्थित उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति । मिथ्यात्वाऽऽद्यकषायद्वादशकभागः सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा । संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानाऽऽदित्रयं बध्नन्नुत्कृष्टप्रदेशं करोति क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा । स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने मायालोभौ बध्नन्मायाया उत्कृष्टप्रदेशं करोति मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा । स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेकं बध्नंस्तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशं करोति एकं द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषणं प्रागपि द्रष्टव्यं, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणम् । एवं चानिवृत्तिबादरौ यथा बन्धव्यवच्छेदादनुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति । तथा ज्ञानाऽऽवरणपञ्चकान्तरायपञ्चकयोः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसंपरायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्त्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसंपरायो हि मोहनीयाऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति एतयोर्भागयोरप्यत्र ज्ञानाऽऽवरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च यथास्वं प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसंपरायग्रहणम् । इह चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वोपशान्तमोहावस्थां वाऽऽरुह्य पुनः प्रतिपत्योत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा निरन्तरं बध्यमानत्वात् ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तदेवं त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्याऽऽदिचतुर्विकल्पोऽपि भावितः । शेषत्रयस्य का वार्त्तेत्याह—( दुहा सेसि सव्वत्थ त्ति । शेषे भणितोद्वरिते उत्कृष्टजघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धलक्षणे सर्वत्र त्रिविधेऽपि द्विधा-द्विविकल्पः साद्यध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः । तत्रानुत्कृष्टभणनक्रमेणोत्कृष्टस्त्रिंशतोऽपि प्रकृतीनां सूक्ष्मसंपरायाऽऽदिषु दर्शितः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात्सादिः, सर्वथा बन्धाभावेऽनुत्कृष्टबन्धसंभवे वाऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यः पुनरेतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाऽऽद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते । द्वितीयाऽऽदिसमयेषु पुनरसावसंख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाऽऽद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयाऽऽदिसमयेष्वयमप्यजघन्यं बध्नाति, पुनः संख्यातेनासंख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्याजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसरतामसुमतां द्वावप्येतौ साद्यध्रुवौ भवतः । इति भावितस्त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्धा, उत्कृष्टजघन्याजघन्यप्रदेशबन्धश्च द्विधा । शेषे का वार्त्तेत्याह—“ दुहा सेसि सव्वत्थ त्ति ” पदं भूयोऽप्यनुवर्त्यते । शेषे भणितत्रिंशत्प्रकृत्यवशिष्टे स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कवर्णाऽऽदिचतुष्कतैजसकार्मणाऽगुरुलघूपघातनिर्माणलक्षणे सप्तदशध्रुवप्रकृतिकदम्बके औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गत्रयसंस्थानषट्कसंहननषट्कजातिपञ्चकगतिचतुष्कविहायोगतिद्विकानुपूर्वीचतुष्कतीर्थकरनामोच्छ्वासनामोद्योतनामाऽऽतपनाम पराघातनाम त्रसदशकस्थावरदशकोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रसातासातवेदनीयहास्यरत्यरतिशोकवेदत्रयाऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणत्रिसप्ततिसंख्याध्रुवबन्धिप्रकृतिसमूहे च सर्वत्रोत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यलक्षणे चतुर्विकल्पेऽपि प्रदेशबन्धे द्विधा द्विप्रकारः सादिरध्रुवश्च बन्धो भवति । तथाहि—अध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धित्वादेवोत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यस्तत्प्रदेशबन्धः सर्वोऽपि साद्यध्रुव एव भवति । स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगे वर्त्तमानो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धमेकं द्वौ वा समयौ यावत् करोति, सम्यग्दृष्टिरेताः प्रकृतीर्न बध्नातीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम् । मिथ्यात्ववर्जा एताः प्रकृतीः सास्वादनोऽपि बध्नाति, परं भणितप्रकारेण सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तस्याग्रहणम् । उत्कृष्टयोगस्यैतावानेव काल इत्येकद्विसमयनियमः । उत्कृष्टयोगात् प्रतिपत्य स एवानुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, पुनः स एवोत्कृष्टमित्येवं द्वावप्येतौ साद्यध्रुवौ । जघन्यप्रदेशबन्धं पुनरेतासां सर्वजघन्यवीर्यलब्धिर्भवाऽऽद्यसमये वर्त्तमानः सप्तविधं बध्नन्नपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदः करोति । द्वितीयाऽऽदिसमयेषु च स एवाऽजघन्यं करोति । कालान्तरेण पुनः स एव जघन्यं करोतीत्येतावपि द्वौ साऽऽद्यध्रुवौ भवतः । तथा वर्णचतुष्कतैजसकार्मणाऽगुरुलघूपघातनिर्माणलक्षणस्य प्रकृतिनवकस्याप्युत्कृष्टानुत्कृष्टौ जघन्याजघन्यौ च प्रदेशबन्धौ साद्यध्रुवावेवमेव वक्तव्यौ । नवरमुत्कृष्टयोगो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको नाम्नस्तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानं स्थावरनाम बादरसूक्ष्मयोरन्यतरत् अपर्याप्तक प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिर्वर्णचतुष्कं तैजसकार्मणे अगुरुलघूपघातं निर्माणमित्येवं त्रयोविंशतिमुत्तरप्रकृतीर्बध्नन्मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धको वाच्यः, शेषं तथैव । नाम्नो हि पञ्चविंशत्यादिबन्धग्रहणे बहवो भागा भवन्तीति त्रयोविंशतिबन्धग्रहणम् । इति भाविता उत्तरप्रकृतीराश्रित्योत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यप्रदेशबन्धेषु, साद्याऽऽदिविकल्पाः । सम्प्रति मूलप्रकृतीः प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धादिभङ्गेषु साद्याऽऽदिभङ्गकानभिधित्सुराह-( मूलछगेऽऽणुक्कोसो चउह त्ति ) मूलषट्के मूलप्रकृतिषट्के ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायलक्षणे अनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धश्चतुर्धा साऽऽद्यनादिध्रुवाध्रुवलक्षणश्चतुःप्रकारो भवति । तथाहि-प्रस्तुतकर्मषट्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसंपरायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्त्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसंपरायो हि मोहनीयाऽऽयुःकर्मद्वयं न बध्नाति, किं त्वेतदेव प्रस्तुतकर्मषट्कं बध्नात्यतो मोहनीयाऽऽयुर्भागयोरत्रैव कर्मषट्के प्रवेशो, बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसंपरायग्रहणम्, उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम्, उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येकद्विसमयग्रहणम् । एवं चोत्कृष्टं प्रदेश-

बन्धं कृत्वोपशान्तमोहावस्थां वाऽऽरुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा-निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानाम्, इत्युक्तः षण्णां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्पः। शेषबन्धत्रिके साद्याऽऽदिभङ्गकानाह-( दुहा सेसि सव्वत्थ त्ति ) शेषे-भणितोद्धरिते जघन्याजघन्योत्कृष्टप्रदेशबन्धलक्षणे त्रिके द्विधा-साऽऽद्यध्रुवलक्षणो द्विप्रकारो बन्धो भवति । तत्रानुत्कृष्टभणनप्रसङ्गेनोत्कृष्ट सूक्ष्मसंपराये ऽनन्तरं दर्शितः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात्सादिः, उपशान्ताऽऽद्यवस्थायां पुनरनुत्कृष्टबन्धगमने चावश्यं न भवतीत्यध्रुवः, जघन्यः पुनरमीषां षण्णां कर्मणां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाऽऽद्यसमये लभ्यते । जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम् । स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते, द्वितीयाऽऽदिसमयेषु त्वसावसंख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्द्धत इति भवाऽऽद्यसमयग्रहणम् । द्वितीयाऽऽदिसमयेऽजघन्यं बध्नाति, पुनः संख्यातेनाऽसंख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोगं प्राप्य स एव जघन्यदेशबन्धं करोति, पुनरजघन्यमित्येवं जघन्याजघन्ययोः प्रदेशबन्धयोः संसरतामसुमतां द्वावप्येतौ साद्यध्रुवौ भवत इति । भाविता मूलप्रकृतिषट्कस्योत्कृष्टाऽऽदिबन्धविकल्पाः साद्याऽऽदिभङ्गकैः, अथावशिष्टयोर्मोहाऽऽयुषोरुत्कृष्टाऽऽदिप्रदेशबन्धान् साद्याऽऽदिविकल्पतः प्ररूपयन्नाह-( दुहा सेसि सव्वत्थ त्ति ) शेषे भणितोद्धरिते मोहे आयुषि च सर्वत्रोत्कृष्टेऽनुत्कृष्टे जघन्येऽजघन्ये च प्रदेशबन्धे द्विधा साद्यध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो बन्धो भवति । तत्र मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वाऽनिवृत्तिबादरान्तः सप्तविधबन्धकाले उत्कृष्टयोगे वर्त्तमानो मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, पुनरनुत्कृष्टयोगं प्राप्यानुत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, पुनरुत्कृष्टं, पुनरप्यनुत्कृष्टमित्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टप्रदेशबन्धयोः संसरता जन्तुना मोहस्योत्कृष्टानुत्कृष्टप्रदेशबन्धौ द्वावपि साद्यध्रुवौ भवतः, जघन्याजघन्यौ त्वितरप्रदेशबन्धौ यथा सूक्ष्मनिगोदाऽऽदिषु संसरतामसुमतां कर्मषट्कस्यानन्तरमेव भावितौ तथाऽत्रापि निर्विशेषं भावनीयौ । आयुष्कस्य त्वध्रुवबन्धित्वादेव तत्प्रदेशबन्ध उत्कृष्टाऽऽदिचतुर्विकल्पोऽपि साद्यध्रुव एव भवतीति ॥ ६४ ॥ निरूपितः प्रदेशबन्धः साद्याऽऽदिप्ररूपणतः ।

संप्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं प्रकृतयः प्रदेशाश्च तत्कार्यं प्रवर्त्तन्ते, तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणं स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणम्, अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्ते इति कृत्वा सप्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसाया-णुभागठाणा असंखगुणा ॥ ६५ ॥

योगो-वीर्यं तस्य-स्थानानि वीर्याविभागांशसंघातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्तीत्याह-( सेढिअसंखिज्जंसे त्ति ) श्रेणेरसंख्येयांशः । एतदुक्तं भवति—श्रेणिर्वक्ष्यमाणरूपाया असंख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि । एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते-इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्ययुक्ताः, केचित्तु बहुबहुतरबहुतमवीर्योपेताः । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य संबन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाछेदेन छिद्यमानमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्ते प्रदेशे यद्वीर्यं तदेतेभ्योऽसंख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

"पन्नाए छिज्जंता, असंखलोगाण जत्तिय पएसा ।
तत्तिय वीरियभागा, जीव पएसम्मि इक्किक्के ॥ १ ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि तत्तिया सव्वा ।
तत्तो असंखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥ २ ॥"

भागा-अविभागपलिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्वस्तोकाविभागपलिच्छेदकलितानां लोकाऽसंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरप्रदेशराशिसंख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपलिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा, तत एकेन योगपलिच्छेदेनाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा, एवमेकैकयोगपलिच्छेदवृद्ध्या वर्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाऽऽकाशश्रेणेरसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः । एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते । तत्र जघन्यवर्गणाया जीवप्रदेशा असंख्येयवीर्यभागान्विता अप्यसत्कल्पनया दश भागान्विताः स्थाप्यन्ते । ते च जीवप्रदेशा एकैकस्यां वर्गणायामसंख्येयप्रतरप्रदेशमाना अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते । एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्धक इति कः शब्दार्थः ? । उच्यते-एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत्स्पर्धकम् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते किं तर्हि प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपलिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा लभ्यन्तेऽतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्याऽऽद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीया वर्गणा । एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशमाना वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते, किं तर्ह्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्तेऽतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्धकमारभ्यते, पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्धकानि श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एतेषां चैतावतां स्पर्धकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाऽऽद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितम्, तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोरनेनैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयं, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थमित्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां कालभेदेनैकजीवस्य वा श्रेणेरसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणानि भव-

न्ति। ननु जीवानामनन्तत्वात्तद्भेदाद्योगस्थानान्यनन्तानि क-
स्मान्न भवन्ति ?। नैतदेवं, यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्था-
नेऽनन्ताः स्थावरजीवा वर्तन्ते, त्रसास्त्वेकैकस्मिन् सदृशे
योगस्थानेऽसंख्याता वर्तन्ते, तेषां च सर्वेषामेकमेव विव-
क्षितम्, अतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि
भवन्ति। तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकैकस्मिन् योगस्थानके ए-
कसमयमेवावतिष्ठन्ते, ततः परमसंख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिस-
मयमन्योऽन्ययोगस्थानकेषु संक्रामन्ति। पर्याप्तास्तु सर्वेऽ-
पि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृ-
ष्टतश्चतुरः समयान् यावद्वर्तन्ते। ततः परमन्ययोगस्था-
नकमुपजायते। स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानकेषु तु जघन्यतः
समयमुत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ। मध्यमेषु जघन्यतः सम-
यमुत्कृष्टतस्तु कांश्चित्त्रीन् कांश्चिच्चतुरः कांश्चित्पञ्च कांश्चित्
षट् कांश्चित्सप्त कांश्चिदष्टौ समयान् यावद्वर्तन्ते इति, अयं
चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसहकारिकारणवशात् संज्ञि-
प्य सत्यमनोयोगासत्यमनोयोगसत्यमृषामनोयोगासत्यमृषा
मनोयोगसत्यवाग्योगासत्यवाग्योगसत्यमृषावाग्योगासत्य-
मृषावाग्योगौदारिकमिश्रकाययोगवैक्रियकाययोगवैक्रियमि-
श्रकाययोगाऽऽहारकमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगभेदतः प-
ञ्चदशधा प्रोक्तः, इत्यलं प्रसङ्गेन। एतेभ्यश्च योगस्था-
नेभ्योऽसंख्येयगुणा-असंख्यातगुणिताः ( पयडि त्ति )
भेदशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् प्रकृतिभेदाः ज्ञानाऽऽवर-
णाऽऽदीनां भेदाः। ( असंखगुणं त्ति ) एवमनुभागबन्धस्था-
नानि यावत्सर्वत्र योजनीयम्। इयमत्र भावना-इह ताव-
दावश्यकाऽऽदिष्वत्रावधिज्ञानदर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसं-
ख्यातास्तावद्भेदा भवन्ति ( भणिताः ) ततश्चैतदावरण-
बन्धस्यापि तावत्प्रमाणा भेदाः, संगच्छन्ते, वैचित्र्येण ब-
न्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति। कथं पुनः क्षयोपश-
मवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदत्वं प्रतीयत इति चेदुच्यते-क्षेत्र-
तारतम्येनेति। तथाहि-त्रिसमयाऽऽहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वा-
वगाहनामात्रं जघन्यमवधिज्ञेयस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम्।
यदाह सकलश्रुतपारदृश्वा विर्श्वानुग्रहकाम्यया विहितानेक-
शास्त्रसंदर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी-" जावइयति-
समयाऽऽहा-रगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स। ओगाहणा ज-
हन्ना, ओहिक्खेत्तं जहन्नं तु ॥ १ ॥" उत्कृष्टं तु सर्वबहुतैज-
स्कायिकजन्तूनां सूचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं
स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति। यदाहुः श्रीम-
दाराध्यपादाः-" सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भ-
रिज्जंसु। खेत्तं सव्वदिसागं, परमोहिक्खेत्तनिद्दिट्ठो ॥१॥" इति।
ततो जघन्यात्क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषय-
त्वे सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिज्ञेयस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति,
अतस्तदावारकस्यावधिज्ञेयस्यापि नानाजीवानां क्षेत्राऽऽदि-
भेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चाऽसंख्येयगणभेदत्वम्।
एवं नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनां शेषाणा-
मप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरः-
प्रकृतीनां च तेनाऽऽश्रित्य बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चाऽ-
संख्याता भेदाः संगच्छन्ते इति। उक्तं च-

" अद्धा य ओहिखित्तो, उक्कोसो सव्वबहुयसिहिसूई।
असिदयिबं कुणई, साहसिस्सण्णदसम्मो ॥ १ ॥

तत्तारतम्मभेया, जेण बहुं हुंति आवरणजणिया।
तेणासंखगुणं तं, पयडीणं ओगओ जाण ॥ २ ॥" इति।

एतत्सूत्रानुपूर्वीणां बन्धोदयवैचित्र्येणासंख्याता भेदास्ते
च लोकस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छत-
कचूर्णिकारोक्तो विशेषः। ननु जीवानामनन्तत्वात्तेषां ब-
न्धोदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्मान्न भवन्ति?,
नैतदेवं, सदृशानां बन्धोदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद्विसदृ-
शास्त्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति। ते च भेदाः प्रकृति-
भेदत्वात्प्रकृतय इत्युच्यन्ते। ततश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्यात-
गुणाः प्रकृतयः यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्ना-
नाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो
बध्यन्त इति। तथा तेभ्यः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदाः
स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त्तसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तद्विसमया-
धिकान्तर्मुहूर्त्तत्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्ताऽऽदिलक्षणा असं-
ख्यातगुणा भवन्ति, एकैकस्याः प्रकृतेरसंख्यातैः स्थिति-
विशेषैर्बध्यमानत्वात्। एकमेव हि प्रकृतिभेदं कश्चिज्जीवो-
ऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिद-
न्येन, कदाचिदन्यतरेण कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिभे-
दमेकं च जीवमाश्रित्यासंख्याताः स्थितिभेदा भवन्ति, किं
पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवानाश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्यः स्थिति-
भेदानामसंख्यातगुणत्वमिति, अतः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थिति-
भेदा असंख्यातगुणा भवन्ति इति। तथा स्थितिभेदेभ्यः
सकाशात् स्थितिबन्धाध्यवसायाः पदैकदेशे पदसमुदायो-
पचारात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगुणानि। तत्र
स्थानं-स्थितिः कर्मणोऽवस्थानं तस्या बन्धः स्थितिबन्धः।
अध्यवसानानि-अध्यवसायाः,ते चेह कषायजनिता जीवपरि-
णामविशेषाः। तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि। अध्यव-
साया एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि। स्थितिबन्धस्य
कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्था-
नानि। तानि स्थितिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वजघ-
न्योऽपि स्थितिविशेषोऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणैर-
ध्यवसायस्थानैर्जन्यते, उत्तरेषु तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथो-
त्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्तेऽतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धा-
ध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति। तथा
( अणुभागट्ठाण त्ति ) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादनुभा-
गस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तत्रानु-पश्चाद्ब-
न्धोत्तरकालं भज्यते-सेव्यते-अनुभूयते इत्यनुभागो रसस्त-
स्य बन्धोऽनुभागबन्धः। अध्यवसानान्यध्यवसायास्ते चेह क-
षायजनिता जीवपरिणामविशेषाः। तिष्ठन्ति जीवा येष्विति
स्थानानि। अध्यवसाया एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि।
अनुभागबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानान्यनुभागब-
न्धाध्यवसायस्थानानि। स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्ता-
न्यसंख्येयगुणानि भवन्ति। स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकै-
कमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमुक्तम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकै-
कं जघन्यतः सामयिकमुत्कृष्टतस्त्वष्टसामयिकान्तमेवोक्तम्,
अत एकैकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसाय-
स्थाने तदन्तर्गतानि-नगरान्तर्गतोच्चैर्नीचैर्गृहकल्पानि
नानाजीवान् कालभेदेनैकं जीवं वा समाश्रित्याऽसंख्ये-
यलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थाना-
नि भवन्ति। तथाहि-जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थि-
तिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्य सर्वलघुस्थिति-

कं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देशक्षेत्रकालभावजीवभेदेनासंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते, द्वितीयाऽऽदिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्त इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या, अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानीति ॥ ६५ ॥

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायाओ ॥ ६६ ॥

ततस्तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशाः-कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः प्रत्येकमभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नान् भव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान्मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणा सिद्धा भवन्ति । तथा ( तओ रसच्छेय त्ति ) ततस्तेभ्यः—कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि-इह क्षीरनिम्बरसाऽऽद्यधिश्रयणैरिवानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तण्डुलेष्विव कर्मपुद्गलेषु रसो जन्यते, स चैकस्यापि परमाणोः सम्बन्धी केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणानविभागपलिच्छेदान् प्रयच्छति, यस्माद्भागादतिसूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते. एवंभूताश्चानुभागस्याऽविभागपलिच्छेदा-रसपर्यायाः सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणुसर्वजीवानन्तगुणाः संप्राप्यन्ते । उक्तं च—" गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ । सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ॥ १ ॥ " गुणशब्देनेहाविभागपलिच्छेदा उच्यन्ते, शेषं सुगमम् । कर्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वे अपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव वर्तन्तेऽतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति इति । अत्राऽऽह—ननूक्तो भवद्भिः सप्रपञ्चं प्रदेशबन्धः, परं कस्माद्धेतोरमुं जीवः करोतीति वक्तव्यमिति प्रश्नमाशङ्क्य प्रदेशबन्धस्य प्रसङ्गतः पूर्वोक्तानां प्रकृतिस्थित्यनुभागबन्धानां च हेतुन्निरूपयन्नाह—( जोगा पयडिपएसं, ठिइ अणुभाग कसायाओ त्ति) योगो, वीर्यं, शक्तिः, उत्साहः, पराक्रम इति पर्यायाः । तस्माद्योगात्प्रकरणं प्रकृतिः, कर्मणां ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिस्वभावः, प्रकृष्टाः पुद्गलास्तिकायदेशाः प्रदेशाः कर्मवर्गणान्तःपातिनः कर्मस्कन्धाः । प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृतिप्रदेशं समाहारो द्वन्द्वः । तज्जीवः करोतीति शेषः । प्रकृतिप्रदेशबन्धयोर्योगो हेतुरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति-यद्यपि षडशीतिकशास्त्रे मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव उक्तास्तथाऽप्याद्यकारणत्रयाभावेऽप्युपशान्तमोहाऽऽदिगुणस्थानकेषु केवलयोगसद्भावे वेदनीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थायां तु योगाभावेन बध्यन्ते. इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते प्रकृतिप्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधानं कारणम् । तथा-(ठिइअणुभागं कसायाओ त्ति) स्थानं स्थितिः कर्मणोऽन्तर्मुहूर्त्ताऽऽदिकं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तमवस्थानमित्यर्थः । अनु-पश्चाद्बन्धोत्तरकालं भजनं—स्थितेः सेवनमनुभवनं यस्यासावनुभागो रस इत्यर्थः । स्थितिश्चानुभागश्च स्थित्यनुभागं समाहारो द्वन्द्वः । तज्जीवः करोतीति शेषः । कस्मादित्याह-कषायात्-कषायवशात् । इयमत्र भावना-कषायाः क्रोधमानमायालोभास्तज्जनितो जीवस्याध्यवसायविशेषः कषायशब्देनेहोच्यते । कषाया ह्युदीरणा नानाजीवानां कालभेदेनैकजीवस्य वा सर्वजघन्याया अपि ज्ञानावरणाऽऽदिकर्मस्थितेर्निर्वर्तकान्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यन्तर्मौहूर्तिकान्यध्यवसायस्थानानि जनयन्ति, समयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि तु त एव तेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, द्विसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, त्रिसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, एवं समयोत्तरवृद्धतज्जघन्यस्थितिजनकानि विशेषाधिकानि तावद्वाच्यानि यावत्त एव कषायाः समयोनोत्कृष्टज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्यः सर्वोत्कृष्टतत्स्थितिजनकाध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि निर्वर्तयन्ति, एतानि सर्वाण्यपि मिलितान्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्येव भवन्ति । स्थाप्यमानानि च विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना चेयम्-तदेवमेतैः कषायजनिताध्यवसायैर्जन्यत्वात् कर्मणः स्थितिः कषायप्रत्यया सिद्धा । तथा तेषामेव कषायाणां संबन्धि यद्दलिकमुदयं प्राप्तं तत्र यदनुभागस्थानकमुदेति, तेन जीवस्य योऽध्यवसायो जन्यते तद्वशेन बध्यमानकर्मणामनुभागो निष्पद्यते । तथाहि-इह तावदनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति, तत्र चैकैकस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः—परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानप्येकाधिकान्, अन्यस्तु तानपि द्व्यधिकानित्यादिवृद्धया तावन्नेयं यावदन्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मीलरःशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसांशाना परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते । अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूना समुदायो द्वितीयाऽन्या वर्गणा । अपरेषां द्व्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूना समुदायस्तृतीयावर्गणा । अपरेषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणा सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवाऽत्रोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणेति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट्स्थाप्यन्ते, इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यत इति तेनैव क्रमेण द्वितीयं स्पर्धकमारभ्यते, ततस्तथैव तृतीयमित्यादि यावदनन्तान्यनुभागस्पर्धकान्युत्तिष्ठन्ति । एषां चानुभागस्पर्धकाना सिद्धानन्तभागवर्तिनामभव्येभ्योऽनन्तगुणानां समुदायः प्रथममनुभागस्थानकं भवति । अन्येषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण द्वितीयं तावत्प्रमाणमेवानुभागस्थानकमुत्तिष्ठति । अपरेषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण तृतीय-

अनुभागस्थानकमुत्तिष्ठतीत्येवं सर्वेष्वपि कषायकर्मस्कन्धेष्व संख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागस्थानानि भवन्ति । ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिसमस्तकर्मस्कन्धेष्वप्येतावन्त्येवानुभागस्थानानि भवन्ति,परं तावदिह कषाया एव कारणत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्ताः, तत्र च-जघन्यान्यनुभागस्थानान्युत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावदुदये समागच्छन्ति , मध्यमानि तु कानिचिद् द्वौ समयौ, कानिचित्त्रीन् समयान्, अपराणि चतुरः समयान्, अन्यानि पञ्च समयान् , अन्यानि षट् समयान् , अपराणि सप्त समयान्, अन्यान्यष्टौ समयान् यावदुत्कृष्टत उदये समागच्छन्ति । उत्कृष्टानुभागस्थानान्युत्कृष्टतो द्वौ समयौ यावदुदये समागच्छन्ति, ततः परं सर्वाण्यन्यत् परावर्तते । जघन्यतस्तु सर्वाण्यपि समयस्थितीन्येव भवन्ति; अतस्तज्जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नोऽध्यवसायोऽप्येतावत्कालस्थितिक एव भवति,तेन च जघन्याऽऽदिभेदेनाध्यवसायवैचित्र्येण बध्यमानकर्मानुभागो जघन्याऽऽदिभेदविचित्रो जन्यते, अतः कषायानुभावजनिताध्यवसायवैचित्र्यनिर्वर्त्यत्वात्कर्मणामनुभागः कषायप्रत्ययः सिद्धः । मिथ्यात्वाविरतिकारणद्वयाभावेऽपि कषायसद्भावेऽपि प्रमत्ताऽऽदिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहऽऽदिषु न भवतः, इतीहाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थित्यनुभागबन्धयोः प्रधानं कारणमिति ॥६६॥ कर्म० ५ कर्म० ।

अधुना बन्धस्य मूलहेतून् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

" इगचउपणतिगुणेसु " इत्यादि । इहैवं पदघटना—एकस्मिन्मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके चत्वारो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया-हेतवो यस्य स चतुःप्रत्ययो बन्धो भवति । अयमर्थः—मिथ्यात्वाऽऽदिभिश्चतुर्भिः प्रत्ययैर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकवर्ती जन्तुर्ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्म बध्नाति । तथा चतुर्षु गुणस्थानकेषु सास्वादनमिश्राऽविरतदेशविरतिलक्षणेषु त्रयो मिथ्यात्ववर्जिता अविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया यस्य स त्रिप्रत्ययो बन्धो भवतीति । अयमर्थः-सास्वादनाऽऽदयश्चत्वारो मिथ्यात्वोदयाभावात्तद्वर्जैस्त्रिभिः प्रत्ययैः कर्म बध्नन्ति देशविरतगुणस्थानके यद्यपि देशतः स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति तथापि साऽल्पत्वान्नेह विवक्षिता,विरतिशब्देनेह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति । तथा पञ्चसु गुणस्थानकेषु प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणेषु द्वौ प्रत्ययौ कषाययोगाभिधौ यस्य स द्विप्रत्ययो बन्धो भवति । इदमुक्तं भवति—मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययद्वयस्यैतेष्वभावाच्छेषेण कषाययोगप्रत्ययद्वयेनाऽमी प्रमत्ताऽऽदयः कर्म बध्नन्तीति । यथा त्रिषूपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु एक एव मिथ्यात्वाऽविरतिकषायाऽभावाद्योगलक्षणः प्रत्ययो यस्य स एकप्रत्ययो भवति । अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाऽप्यबन्धक इति ॥ ५२ ॥ भाविता मूलबन्धहेतवो गुणस्थानकेषु ।

संप्रत्येतानेव मूलबन्धहेतून् विनेयवर्गानुग्रहार्थमुत्तरप्रकृतीराश्रित्य चिन्तयन्नाह—

चउ मिच्छमिच्छअविरइ, पच्चइया सायसोलपणतीसा ।
जोगे विणु तिपच्चइया-हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥ ५३ ॥

प्रत्ययशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चतुःप्रत्ययिका सातलक्षणा प्रकृतिः । मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः । मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः । योगं विना त्रिप्रत्ययिका मिथ्यात्वाऽविरतिकषायप्रत्ययिकाऽऽहारकद्विकजिनवर्जाः शेषाः प्रकृतय इति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्-सातलक्षणा प्रकृतिश्चत्वारः प्रत्यया-मिथ्यात्वाऽविरतिकषाययोगा यस्याः सा चतुःप्रत्ययिका । "अतोऽनेकस्वरात्" ॥ ७ । २ । ६ ॥ इति इकप्रत्ययः, मिथ्यात्वाऽऽदिभिश्चतुर्भिरपि प्रत्ययैः सातं बध्यत इत्यर्थः । तथाहि-सातं मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वप्रत्ययं, शेषा अप्यविरत्यादयस्त्रय प्रत्ययाः सन्ति , केवलं मिथ्यात्वस्यैवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात् , तेन तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिताः , एवमुत्तरत्रापि । तदेव मिथ्यात्वाभावेऽप्यविरतिसत्त्वे सास्वादनाऽऽदिषु बध्यत इति अविरतिप्रत्ययम् । तदेव कषाययोगवत्सु प्रमत्ताऽऽदिषु सूक्ष्मसंपरायाऽवसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययम् । योगप्रत्ययस्तु पूर्ववत्तदन्तर्गतो विवक्ष्यते । तदेवोपशान्ताऽऽदिषु केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाऽविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययम् । इत्येवं सातलक्षणा प्रकृतिश्चतुःप्रत्ययिका । तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः । इह यासां कर्मस्तवे-" नरयतिग जाइथावर-चउ हुंडायव छेवट्ठ नपु मिच्छं । सोलंतो " इति गाथाऽवयवेन नारकत्रिकाऽऽदिषोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावन्त उक्तः, ता मिथ्यात्वप्रत्यया भवन्तीत्यर्थः । तद्भावे बध्यन्ते तदभावे तूत्तरत्र सास्वादनाऽऽदिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवासां प्रधानं कारणं, शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति । तथा मिथ्यात्वाऽविरतिप्रत्ययिका पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः । तथाहि-" सासणि निरि थीण दुहग तिगं, अणमज्झागिइ संघयण चउ निउज्जोय कुखगइत्थि " इति सूत्राऽवयवेन तिर्यक्त्रिकप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः । तथा—" वइरनरतियबियकसायाउरलदुगंतो " इति सूत्रावयवेन वज्रर्षभनाराचाऽऽदीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः, एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो मिथ्यात्वाऽविरतिप्रत्ययिका एता. शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणं,तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाऽभावादिति भावः । भणितशेषा आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सर्वा अपि प्रकृतयो योगवर्जा त्रिप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसंपरायावसानेषु यथासंभवं बध्यन्त इति मिथ्यात्वाऽविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धना भवन्तीत्यर्थः उपशान्तमोहाऽऽदिषु केवलयोगवत्सु योगसद्भावेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनमन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्कार्यकारणभावस्येति हृदयम् । आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाऽऽहारकद्विकतीर्थकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः ' सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं" इति वचनात् संयमः-सम्यक्त्वं चाऽभिहित इतीह तद्वर्जनमिति ॥ ५३ ॥ उक्तं प्रासङ्गिकम् ।

इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

पणपन्न पन्ना तिय-छहियचत्त गुणचत्त छ चउ दुगवीसा ।
सोलस दस नव नव,सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवः । सासादने पञ्चाशद् ब-

न्धहेतवः । चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चतुरधिकचत्वारिंशदित्यर्थः, बन्धहेतवो मिश्रगुणस्थानके । षडधिकचत्वारिंशद्बन्धहेतवोऽविरतगुणस्थानके । एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो देशविरतगुणस्थानके । विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् षड्विंशतिबन्धहेतवः प्रमत्तगुणस्थाने । चतुर्विंशतिबन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके । द्वाविंशतिबन्धहेतवोऽपूर्वकरणे । षोडशबन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे । दशबन्धहेतवः सूक्ष्मसंपराये । नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे । नवबन्धहेतवः क्षीणमोहे । सप्तबन्धहेतवः सयोगिकेवलिगुणस्थाने । न तु नैवाऽयोगिन्येकोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाऽभावादेवेति ॥५४॥

अथाऽमूनेव बन्धहेतून् भावयन्नाह—

पणपन्न मिच्छि हारग–दुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुकम्म अण विणु, तिचत्त मीसे अह छ चत्ता ॥५५॥

मिथ्यादृष्टावाहारकाऽऽहारकमिश्रलक्षणद्विकोनाः पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, " आहारकद्विकवर्जन तु संयमवतां तदुदयो नाऽन्यस्य " इति वचनात् । सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्तायाः पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद्बन्धहेतवः सास्वादने द्रष्टव्याः । मिश्रे त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति । कथमित्याह—मिश्रद्विकमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणम्, (कम्म त्ति ) कार्मणशरीरम् (अण त्ति ) अनन्तानुबन्धिनस्तैर्विना । इयमत्र भावना–' न सम्ममिच्छो कुणइ कालं " इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावादौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विकं कार्मणं च न संभवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चाऽस्य निषिद्धत्वादनन्तानुबन्धिचतुष्टयं च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्तायाः पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति । अथाऽनन्तरं षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति ॥ ५५ ॥

सदु मिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसविकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस सहारदु पमत्ते ॥ ५६ ॥

केत्याह अयते–अविरते, कथमित्याह—( सदु मिस्सकम्म त्ति ) द्वयोर्मिश्रयोः समाहारो द्विमिश्रं, द्विमिश्रं च कार्मणं च द्विमिश्रकार्मणं, सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्तते या त्रिचत्वारिंशत् । इयमत्र भावना–अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसंभवात् पूर्वाऽपनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं द्विकं कार्मणं च पूर्वोक्तायां त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते, ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति । तथा देशे–देशविरते एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति । कथमित्याह—अविरतिस्त्रसाऽसंयमरूपा, कार्मणम्, औदारिकमिश्रं, द्वितीयकषायानप्रत्याख्यानाऽऽवरणान् मुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति । अत्रायमाशयः—विग्रहगतावपर्याप्तकावस्थायां च देशविरतेरभावात्कार्मणौदारिकमिश्रद्वयं न संभवति, त्रसासंयमाद्विरतत्वात्त्रसाविरतिर्न जाघटीति । ननु त्रसासंयमात् संकल्पजादेवासौ विरतो न त्वारम्भजादपि तत्कथमसौ त्रसाविरतिः सर्वाऽप्यपनीयते ? । सत्यं, किं तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विवक्षितेत्यदोषः, एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति न स्वमनीषिका परिभावनीया । तथाऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणोदयस्याऽस्य निषिद्धत्वादप्रत्याख्यानाऽऽवरणचतुष्टयं न घटां प्राञ्चति, तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते, तत एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवः शेषा देशविरते । भवन्ति तथा षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्ति ( साहारदु त्ति ) सहाऽऽहारद्विकेनाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रलक्षणेन वर्तत इति साऽऽहारकद्विका ॥५६॥

अविरइ इगार तिकसा–यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारे ॥ ५७ ॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपगमनादेकादशाविरतय इह गृह्यन्ते । तृतीयाः कषायाः त्रिकषायाः प्रत्याख्यानाऽऽवरणास्तद्वर्जास्तद्विरहिता साहारकद्विका च सैवैकोनचत्वारिंशत् षड्विंशतिर्भवति । इदमत्र हृदयम्–प्रमत्तगुणस्थाने एकादशाऽविरतिः प्रत्याख्यानाऽऽवरणचतुष्टयं च न संभवति, आहारकद्विकं च संभवति, ततः पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्तीति । तथाऽप्रमत्तस्य लब्ध्यनुपजीवनेनाऽऽहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति । अपूर्वे—अपूर्वकरणे पुनः सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाऽऽहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो भवन्तीति ॥ ५७ ॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा ।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥५८॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवः 'अछहासा'–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिताः षोडश बन्धहेतवः ( बायरि त्ति ) अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके भवन्ति, हास्याऽऽदिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वादिति भावः । तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाद्वेदत्रिकं स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणं संज्वलनत्रिकं संज्वलनक्रोधमानमायारूपं, तेन विना दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसंपराये भवन्ति । वेदत्रयस्य संज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वात् । त एव दश अलोभाः–लोभरहिताः सन्तो नव बन्धहेतवः । क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभस्तस्य सूक्ष्मसंपराय एव व्यवच्छिन्नत्वात् । सयोगिकेवलिनि पूर्वोक्ताः सप्त योगाः । तथाहि—औदारिकमौदारिकमिश्रं कार्मणं प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति । तत्रौदारिकसयोग्यवस्थायामौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ समुद्घातावस्थायामेव वेदितव्यौ । " मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु । कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥ १ ॥ " इति प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुराऽऽदिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनात् प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनाऽऽदिकाले । अयोगिकेवलिनि न कश्चिद्बन्धहेतुर्योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् ॥५८॥ उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः । कर्म० ५ कर्म० ( बन्धोदयसत्ता संबन्धचिन्ता च गुणस्थानकेषु जीवस्थानेषु च ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागेऽधिका कृता ) ।

प्रशस्ताध्यवसानयुक्तो भव्यो देवेषूपपद्यते—

जीवे णं पसत्थज्झवसाणजुत्ते भविए सम्मद्दिट्ठी तित्थकरनामसहियाओ णामस्स णियमा एगूणतीसं उत्तरपगडीओ निबंधित्ता वेमाणिएसु देवेसु देवत्ताए उववज्जइ।

जीवः प्रशस्ताध्यवसानाऽऽदिविशेषेण वैमानिकेषूत्पत्तुकामो नामकर्मण एकोनत्रिंशदुत्तरप्रकृतीर्बध्नाति। ताश्चेमाः-देवगतिः १, पञ्चेन्द्रियजातिः २, वैक्रियद्वयम् ३-४, तैजसकार्मणशरीरे ५-६, समचतुरस्रं संस्थानम् ७, वर्णाऽऽदिचतुष्कम् ८-९-१०-११, देवानुपूर्वी १२, अगुरुलघु १३, उपघातम् १४, पराघातम् १५, उच्छ्वासम् १६, प्रशस्तविहायोगतिः १७, त्रसम् १८, बादरम् १९, पर्याप्तम् २०, प्रत्येकम् २१, स्थिराऽस्थिरयोरन्यतरत् २२, शुभाऽशुभयोरन्यतरत् २३, सुभगम् २४, सुस्वरम् २५, आदेयानादेययोरन्यतरत् २६, यशःकीर्तिः २७, निर्माणम् २८, तीर्थकरञ्चेति २९। स० २९ सम०।

सूक्ष्मसंपरायस्य—

सुहुमसंपराए णं भगवं सुहुमसंपरायभावे वट्टमाणो सत्तरस कम्मपगडीओ निबंधति। तं जहा-आभिणिबोहियणाणावरणे, सुयनाणावरणे, ओहिनाणावरणे, मणपज्जवनाणावरणे, केवलिनाणावरणे, चक्खुदंसणावरणं, अचक्खुदंसणावरणं, ओहिदंसणावरणं, केवलदंसणावरणं, सायावेयणिज्जं, जसोकित्तिनामं, उच्चागोयं, दाणंतरायं, लाभंतरायं भोगंतरायं, उवभोगंतरायं, वीरिअअंतरायं।

तथा सूक्ष्मसंपराय उपशमकः क्षपको वा सूक्ष्मलोभकषायकिट्टिकावेदको भगवान् पूज्यत्वात् सूक्ष्मसंपरायभावे वर्त्तमानस्तत्रैव गुणस्थानकेऽवस्थितेनातीताऽऽगतसूक्ष्मसंपरायपरिणाम इत्यर्थः, सप्तदश कर्मप्रकृतीर्निबध्नाति, विंशत्युत्तरे बन्धप्रकृतिशते अन्या न बध्नातीत्यर्थः, पूर्वतरे गुणस्थानकेषु बन्धं प्रतीत्यान्यासां व्यवच्छिन्नत्वात्तथोक्ताना सप्तदशाना मध्यादेका साताप्रकृतिरुपशान्तमोहाऽऽदिषु बन्धमाश्रित्याऽनुयाति, शेषाः षोडशैव व्यवच्छिद्यन्ते। यदाह-"नाणं५तराय५दसगं, दंसणचत्तारी ४ उच्च १५ जसकित्ती १६। एया सोलस पयडी, सुहुमकसायम्मि वोच्छिन्ना ॥१॥" सूक्ष्मसंपरायात्परे न बन्धन्तीत्यर्थः। स० १७ सम०। ( संयतानां बन्धः 'संजत' शब्दे वक्ष्यामि ) ( निर्ग्रन्थानां बन्धः 'णिग्गंथ' शब्दे चतुर्थभागे २०४१ पृष्ठे गतः )

जीवलेश्यापाक्षिकदृष्ट्यज्ञानाऽऽदिद्वारैर्बन्धवक्तव्यता—

जीवा य १ लेस्स २ पक्खिय ३, दिट्ठी ४ अणाण ५ णाण ६ सण्णाओ ७। वेय ८ कसाए ९ जोगे १०, उवओगे ११ एक्कारस वि ठाणे ॥ १ ॥" तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे०जाव एवं वयासी।

(जीवा य त्ति) जीवाः प्रत्युद्देशकं बन्धवक्तव्यतायाः स्थानं, तथा लेश्याः, पाक्षिकाः, दृष्टयः, अज्ञानं, ज्ञानं, संज्ञाः, वेदाः, कषाया०, योगः, उपयोगश्च बन्धवक्तव्यतास्थानम्। तदेवमेतान्येकादशाऽपि स्थानानीति गाथार्थः। तत्रानन्तरोत्पन्नाऽऽदिविशेषविरहितं जीवमाश्रित्यैकादशभिरुक्तरूपैर्द्वारैर्बन्धवक्तव्यताम् ( भ० ) अभिधातुमाह—

जीवे णं भंते! पावं कम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ १। बंधी, बंधइ, ण बंधिस्सइ २। बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ ३। बंधी ण बंधइ, ण बंधिस्सइ ?। गोयमा! अत्थेगइए जीवे बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ १, अत्थेगइए जीवे बंधी, बंधइ, ण बंधिस्सइ २, अत्थेगइए जीवे बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ ३। अत्थेगइए जीवे बंधी, ण बंधइ, ण बंधिस्सइ।

( जीवे णं इत्यादि ) ( पावं कम्म त्ति )। अशुभं कर्म बन्धीति बद्धवान्। ( बंधइ त्ति ) वर्त्तमाने ( बंधिस्सइ त्ति ) अनागते इत्येवं चत्वारो भङ्गा बद्धवानित्येतत्पदलब्धाः न बन्धीत्येतत्पदलभ्यास्त्विह न भवन्त्यऽतीतकालेऽबन्धकस्य जीवस्याऽसंभवात्तत्र च बद्धवान् बध्नाति, भंत्स्यति चेत्येष प्रथमः, अभव्यमाश्रित्य बद्धवान् बध्नाति न भंत्स्यतीति द्वितीयः, प्राप्तव्यक्षपकत्वं भव्यविशेषमाश्रित्य बद्धवान्न बध्नाति, भंत्स्यतीत्येष तृतीयो, मोहोपशमे वर्त्तमानभव्यविशेषमाश्रित्य ततः प्रतिपतितस्य तस्य पापकर्मणोऽवश्यं बन्धनात् बद्धवान्न बध्नाति, न भंत्स्यतीति चतुर्थः क्षीणमोहमाश्रित्येति।

लेश्याद्वारे—

सलेस्से णं भंते! जीवे पावं कम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ, बंधी, बंधइ, ण बंधिस्सइ पुच्छा?। गोयमा! अत्थेगइए बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ, अत्थेगइए एवं चउभंगो। कण्हलेस्से णं भंते! जीवे पावं कम्म किं बंधी पुच्छा?। गोयमा! अत्थेगइए बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ, अत्थेगइए बंधी, बंधइ, ण बंधिस्सइ, एवं ०जाव पम्हलेस्से, सव्वत्थ पढमबितिया भंगा सुक्कलेस्से जहा सलेस्से तहेव चउभंगो। अलेस्से णं भंते! जीवे पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा?। गोयमा! बंधी, ण बंधइ, ण बंधिस्सइ।

सलेश्यजीवस्य चत्वारोऽपि स्युः यस्माच्छुक्ललेश्यस्य पापकर्मणोऽबन्धकत्वमप्यस्तीति कृष्णलेश्याऽऽदिपञ्चकयुक्तस्य त्वाद्यमेव भङ्गकद्वयं, तस्य हि वर्त्तमानकालिको मोहलक्षणपापकर्मण उपशमः क्षयो वा नास्तीत्येवमन्त्यद्वयाभावः; द्वितीयस्तु तस्य सम्भवति, कृष्णाऽऽदिलेश्यावतः कालान्तरे क्षपकत्वप्राप्तौ न भंत्स्यतीत्येतस्य संभवादिति, अलेश्योऽयोगिकेवली तस्य च चतुर्थ एव लेश्याभावे बन्धकत्वाभावादिति।

पाक्षिकद्वारम्—

कण्हपक्खिए णं भंते! जीवे पावं कम्मं पुच्छा?। गोयमा! अत्थेगइए बंधी पढमबितिया भंगा। सुक्कपक्खिए णं भंते! जीवे पुच्छा?। गोयमा! चउभंगो भा-

णियव्वो । सम्मद्दिट्ठीणं चत्तारि भंगा, मिच्छादिट्ठीण पढमबितिया, सम्मामिच्छादिट्ठीणं एवं चेव । णाणीणं चत्तारि भंगा । आभिणिबोहियणाणीणं ०जाव मणपज्जवणाणीण चत्तारि भंगा । केवलणाणीणं चरिमो भंगो जहा अलेस्सा । अण्णाणीणं पढमबितिया । एवं मतिअण्णाणीणं सुअअण्णाणीणं विभंगणाणीण वि आहारसण्णोवउत्ताणं ०जाव परिग्गहसण्णोवउत्ताणं पढमबितिया, णोसण्णोवउत्ताणं चत्तारि सवेदगाणं पढमबितिया । एवं इत्थिवेदगा पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगाण वि । अवेदगाणं चत्तारि । सकसायीणं चत्तारि, कोहकसाईणं पढमबितिया भंगा । एवं माणकसायस्स वि । मायकसायस्स वि लोभकसायस्स चत्तारि भंगा । अकसाईणं भंते ! जीवे पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ । अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, ण बंधिस्सइ, सजोगिस्स चउभंगो, एवं मणजोगिस्स वि, वइजोगिस्स वि, कायजोगिस्स वि । अजोगिस्स चरिमो । सागारोवउत्ते चत्तारि; अणागारोवउत्ते वि चत्तारि भंगा ।

कृष्णपाक्षिकस्याऽऽद्यमेव भङ्गकद्वयं वर्त्तमाने बन्धाभावस्य तस्याऽभावात्, शुक्लपाक्षिकस्य तु चत्वारोऽपि, स हि बद्धवान्बध्नाति, भंत्स्यति च, प्रश्नसमयापेक्षयाऽनन्तरे भविष्यति समये तथा बद्धवान्, बध्नाति, न भत्स्यति क्षपकत्वप्राप्तौ, तथा बद्धवान्न बध्नाति च उपशमे भंत्स्यति च तत्प्रतिपाते ३ । तथा बद्धवान्न बध्नाति न च भंत्स्यति क्षपकत्वे इति । अत एवाऽऽह-(चउभंगो भाणियव्वो त्ति) ननु यदि कृष्णपाक्षिकस्य न भत्स्यतीत्यस्य सम्भवात् द्वितीयो भङ्ग इष्टस्तदा शुक्लपाक्षिकस्याऽवश्य सम्भवात्कथं प्रथमभङ्ग इति ?। अत्रोच्यते-पृच्छानन्तरे भविष्यत्कालेऽबन्धकत्वस्य भावात् । उक्तं च वृद्धैरिह साक्षेपपरिहारम्-

‘ बधिसयबीयभंगो, जुज्जइ जइ कण्हपक्खियाईणं ।
तो सुक्कपक्खियाणं, पढमो भंगो कहिं णिज्झो ॥ १ ॥”

उच्यते—

“ पुच्छाणंतरकालं, पइपढमो सुक्कपक्खियाईणं ।
इयरेसिं अविसिट्ठं काल पडुच्चीयओ भंगो ॥ १ ॥ ” इति ।

दृष्टिद्वारे—सम्यग्दृष्टेश्चत्वारोऽपि भङ्गा शुक्लपाक्षिकस्येव भावनीयाः, मिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टीनामाद्यौ द्वावेव वर्त्तमानकाले मोहलक्षणपापकर्मणो बन्धभावेनान्त्यद्वयाभावादत एवाऽऽह—(मिच्छेत्यादि) ज्ञानद्वारे—(केवलणाणीणं चरमो भंगो त्ति) वर्त्तमाने एष्यत्काले बन्धाऽभावात् । ( अण्णाणीण पढमबीय त्ति ) अज्ञाने—मोहलक्षणपापकर्मणः क्षपणोपशमनाभावात्, संज्ञाद्वारे—( पढमबीय त्ति ) आहाराऽऽदिसंज्ञोपयोगकाले क्षपकत्वौपशमकत्वाभावात् । ( नोसण्णोवउत्ताणं चत्तारि त्ति ) नोसंज्ञोपयुक्ता आहाराऽऽदिषु गृद्धिवर्जितास्तेषां च चत्वारोऽपि क्षपणोपशमसम्भवादिति । वेदद्वारे-( संवेयगाणं पढमबीय त्ति) वेदोदये हि क्षपणोपशमौ न स्यातामित्याद्यद्वयम्-( अवेयगाणं चत्तारि त्ति ) स्वकीये वेदे उपशान्ते बध्नाति, भंत्स्यति च मोहलक्षणं पापकर्म यावत्सूक्ष्मसंपरायो न भवति, प्रतिपतितो वा भन्स्यतीत्येवं प्रथम. । तथा वेदे क्षीणे बध्नाति, सूक्ष्मसंपरायाऽऽद्यवस्थाया च न भन्त्स्यतीत्येवं द्वितीयः, तथोपशान्तवेद सूक्ष्मसम्परायाऽऽद्यौ न बध्नाति, प्रतिपतितस्तु भंत्स्यतीति तृतीयः । तथा क्षीणे वेदे सूक्ष्मसंपरायाऽऽदिषु न बध्नाति, न चोत्तरकाल भंत्स्यतीत्येवं चतुर्थः, बद्धवानिति च सर्वत्र प्रतीतमेवेति कृत्वा न प्रदर्शितमिति । कषायद्वारे—( सकसाईणं चत्तारि त्ति ) तत्राऽऽद्यो अभव्यस्य द्वितीयो भव्यस्य प्राप्तव्यमोहक्षयस्य तृतीय उपशमकसूक्ष्मसम्परायस्य चतुर्थः क्षपकसूक्ष्मसम्परायस्य । एवं लोभकषायिणोऽपि वाच्यम् । (कोहकसाईणं पढमबीय त्ति ) इहाऽभव्यस्य प्रथमो द्वितीयो भव्यविशेषस्य तृतीयचतुर्थौ त्विह न, स्तो, वर्त्तमानेऽबन्धकत्वस्याभावात् । ( अकसाईणमित्यादि ) तत्र ( बंधी न बंधइ बंधिस्सइ त्ति ) उपशमिकमाश्रित्य ( बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ त्ति ) क्षपकमाश्रित्येति । योगद्वारे—( सजोगिस्स चउभंगो त्ति ) अभव्यभव्यविशेषोपशमकक्षपकाणा क्रमेण चत्वारोऽप्यवसेयाः । ( अजोगिस्स चरिमो त्ति ) बध्यमानभंत्स्यमानत्वयोस्तस्याभावादिति ।

दण्डकः—

णेरइए णं भंते ! पावं कम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ पुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए बंधी पढमबितिया । सलेस्से णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं एवं चेव । एवं कण्हलेस्से वि णीललेस्से वि काउलेस्से वि । एवं कण्हपक्खिए वि सुक्कपक्खिए वि । सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी णाणी आभिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहीणाणी अण्णाणी मइअण्णाणी सुअअण्णाणी विभंगणाणी आहारसण्णोवउत्ते०जाव परिग्गहसण्णोवउत्ते सवेदए णपुंसगवेदए सकसाई०जाव लोभकसाई सजोगी मणजोगी वइजोगी कायजोगी सागारोवउत्ते अणागारोवउत्ते एए सव्वेसु पदेसु पढमबितिया भंगा भाणियव्वा । एवं असुरकुमारस्स वि वत्तव्वया, णवर तेउलेस्सा इत्थिवेदगा पुरिसवेदगा य अब्भहिया, णपुंसगवेदगा ण भण्णइ, सेसं तं चेव सव्वत्थ पढमबितिया भंगा । एवं०जाव थणियकुमारस्स । एवं पुढवीकाइयस्स वि । आउकायस्स वि०जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स सव्वत्थ पढमबितिया भंगा, णवरं जस्स जा लेस्सा दिट्ठीणाणं अण्णाण वेदो जोगो जस्स जं अत्थि तं तस्स भाणियव्वं, सेसं तहेव । मणूसस्स जच्चेव जीवपदे वत्तव्वया सच्चेव णिरवसेसा भाणियव्वा । वाणमंतरस्स जहा असुरकुमारस्स । जोइसियस्स वेमाणियस्स एवं चेव, णवरं

लेस्साओ जाणियव्वाओ, सेसं तहेव भाणियव्वं ॥
(नेरइए णमित्यादि) (पढमबीय त्ति) । नारकत्वाऽऽदौ श्रेण्युदयाभावात्प्रथमद्वितीयावेव । एवं सलेश्याऽऽदिविशेषितं नारकपदं वाच्यमेवमसुरकुमाराऽऽदिपदमपि । (मणूसस्से-त्यादि) । या जीवस्य निर्विशेषणस्य सलेश्याऽऽदिपदविशेषितस्य च चतुर्भङ्ग्यादिवक्तव्यतोक्ता सा मनुष्यस्य तथैव निरवशेषा वाच्या, जीवमनुष्ययोः समानधर्मत्वादिति । तदेवं सर्वेऽपि पञ्चविंशतिर्दण्डका पापकर्माऽऽश्रित्योक्ताः । एवं ज्ञानाऽऽवरणीयमपि आश्रित्य पञ्चविंशतिर्दण्डका वाच्याः । एतदेवाऽऽह ।

ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिकर्मबन्धाः—

जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ?, एवं जहेव पावकम्मस्स वत्तव्वया भणिया, तहेव णाणावरणिज्जस्स वि वत्तव्वया भाणियव्वा, णवरं जीवपदे मणुस्सपदे य सकसायी०जाव लोभकसायम्मि य पढमबितिया भंगा अवसेसं तं चेव ०जाव वेमाणिए । एवं दरिसणावरणिज्जेण वि दंडगो भाणियव्वो णिरवसेसं । जीवे णं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए बंधी, बंधइ ,बंधिस्सइ; अत्थेगइए बंधी, बंधइ, ण बंधिस्सइ; अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, ण बंधि, बंधइ । सलेस्से वि एवं चेव ततियविहूणा भंगा । कण्हलेस्से ०जाव पम्हलेस्से पढमबितिया भंगा । सुक्कलेस्से ततियविहूणा भंगा । अलेस्से चरिमो भंगो । कण्हपक्खिए पढमबितिए सुक्कपक्खिया ततियविहूणा, एवं सम्मद्दिट्ठिस्स मिच्छादिट्ठिस्स सम्मामिच्छादिट्ठिस्स पढमबितिया । णाणिस्स ततियविहूणा, आभिणिबोहियणाणी ०जाव मणपज्जवणाणी पढमाबितिया । केवलणाणी ततियविहूणा, एवं णो सण्णोवउत्ते अवेदए अकसायी सागारोवउत्ते अणागारोवउत्ते, एएसु ततियविहूणा, अजोगिम्मि य चरिमो, सेसेसु पढमाबितिया । नेरइए णं भंते ! वेदणिज्ज कम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ । एवं नेरइयादीया ०जाव वेमाणिय त्ति जस्स जं अत्थि सव्वत्थ वि पढमबितिया, नवरं मणुस्सेसु जहा जीवे । जीवे णं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ ?। जहेव पावं कम्मं तहेव मोहणिज्जं पि णिरवसेसं०जाव वेमाणिए ।

एतच्च समस्तमपि पूर्ववदेव भावनीयं, यः पुनरत्र विशेषस्तत्प्रतिपादनार्थमाह-नवरमित्यादि । पापकर्मदण्डके जीवपदे मनुष्यपदे च यत्सकषायिपदं लोभकषायिपदं च तत्र सूक्ष्मसम्परायस्य मोहलक्षणपापकर्माऽबन्धकत्वेन चत्वारो भङ्गा उक्ताः, इह त्वाद्यावेव वाच्यावबीतरागस्य ज्ञानाऽऽवरणीयबन्धकत्वादिति, एवं दर्शनाऽऽवरणीयदण्डकाः, वेदनीयदण्डके प्रथमे भङ्गेऽभव्यो द्वितीये भव्यो यो निर्वास्यति, तृतीयो न संभवति, वेदनीयमबद्ध्वा पुनस्तद्बन्धनस्याऽसम्भवात् । चतुर्थे त्वयोगी । (सलेसे वि एवं चेव तइयविहूणा भंग त्ति) इह तृतीयस्याऽभावः पूर्वोक्तयुक्तेरवसेयः । चतुर्थः पुनरिहाभ्युपेतोऽपि सम्यग्नाऽवगम्यते । यतः (-बंधी न बंधति, न बंधिस्सइ) इत्येतदयोगिन एव संभवति, स च सलेश्यो न भवतीति । केचित्पुनराहुरत एव वचनादयोगिता प्रथमसमये घण्टालालान्यायेन परमशुक्ललेश्याऽस्तीति सलेश्यस्य चतुर्थभङ्गकः सम्भवति, तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यमिति । कृष्णलेश्याऽऽदिपञ्चके अयोगित्वस्याभावादाद्यावेव शुक्ललेश्ये जीवे सलेश्यभाविता भङ्गा वाच्याः । एतदेवाऽऽह-( सुक्कलेस्से इत्यादि ) ( अलेस्से इत्यादि ) अलेश्यः—शैलेशीगतः सिद्धश्च तस्य च बद्धवान्न बध्नाति न भंत्स्यतीत्येक एवेत्येतदेवाऽऽह-( अलेस्से चरमो त्ति ) ( कण्हपक्खिए पढमबीयएय त्ति ) कृष्णपाक्षिकस्याऽयोगित्वाऽभावात् । ( सुक्कपक्खिए तइयविहूण त्ति ) शुक्लपाक्षिको यस्मादयोग्यपि स्यादतस्तृतीयविहीनाः शेषास्तस्य स्युरिति । ( एव सम्मदिट्ठिस्स वि त्ति ) तस्याऽप्ययोगित्वसंभवेन बन्धासम्भवात् मिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्ट्याश्चायोगित्वाऽभावेन वेदनीयाऽबन्धकत्वं नाऽस्तीत्याद्यावेव स्याताम् एवाऽऽह-(मिच्छदिट्ठीत्यादि) ज्ञानिनः केवलिनश्चाऽयोगित्वेऽन्तिमोऽस्ति, आभिनिबोधिकाऽऽदिष्वयोगित्वाभावान्नान्तिम इत्यत्र आह-(नाणिस्सेत्यादि) एवं सर्वत्र यत्राऽयोगित्वं सम्भवति तत्र चरमो, यत्र तु तन्नास्ति तत्राऽऽद्यौ द्वावेवेति भावनीयमिति ।

आयुःकर्मदण्डके—

जीवे णं भंते ! आउयकम्मं किं बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ ?। गोयमा ! अत्थेगइए बंधी चउभंगो । सलस्से०जाव सुक्कलेस्से चत्तारि भंगा । अलेस्से चरिमो भंगो । कण्हपक्खिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ । अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ । सुक्कपक्खिए सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी चत्तारि भंगा । सम्मामिच्छादिट्ठी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ । अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, ण बंधिस्सइ । णाणी ०जाव ओहिणाणी चत्तारि भंगा । मणपज्जवणाणी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ । अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ । अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, ण बंधिस्सइ । केवलणाणी चरिमो भंगो । एवं एएणं कमेणं णो सण्णोवउत्ते बितियविहूणो जहेव मणपज्जवणाणे । अवेदए अकसाई य ततियचउत्थो जहेव सम्मामिच्छत्ते । अजोगिम्मि चरिमो सेसेसु पदेसु चत्तारि भंगा ०जाव अणागारोवउत्ते । णेरइए णं भंते ! आउयकम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए चत्तारि भंगा, एवं सव्वत्थ वि णेरइयाणं चत्तारि भंगा ; णवरं कण्हलेस्सेसु कण्हपक्खिए य पढमततिया भंगा, सम्मामिच्छत्ते ततियचउत्थो । असुरकुमारे एवं चेव, णवरं कण्हलेस्सेसु वि चत्तारि भंगा भाणियव्वा, सेसं जहा णेरइयाणं । एवं ०जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं सव्वत्थ

वि चत्तारि भंगा, णवरं कण्हपक्खियपढमततियभंगा। तेउलेस्से पुच्छा ?। गोयमा ! बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ । सेसेसु सव्वत्थ चत्तारि भंगा, एवं आउकाइयवणस्सइकाइयाण वि णिरवसेसं तेउकाइयवाउकाइयाणं सव्वत्थ वि पढमततिया भंगा बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं पि सव्वत्थ वि पढमततिया भंगा, णवरं सम्मत्ते आभिणिबोहियणाणे सुयणाणे ततिओ भंगो । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हपक्खिए पढमततिआ भंगा, सम्मामिच्छत्ते ततियचउत्थो भंगो, सम्मत्ते णाणे आभिणिबोहियणाणे सुअणाणे ओहिणाणे, एएसु पंचसु बितियविहूणा भंगा, सेसेसु चत्तारि भंगा ! मणुस्साणं जहा जीवाणं, णवरं सम्मत्ते ओहियणाणे सुयणाणे ओहियणाणे एएसु बितियविहूणा भंगा, सेसं त चेव । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा । णामगोय अंतराइयं च एयाणि जहा णाणावरणिज्ज सेवं भंते ! भंते ! त्ति०जाव विहरइ ।

( चउभंगो त्ति ) तत्र प्रथमोऽभव्यस्य, द्वितीयो यश्चरमशरीरो भविष्यति तस्य, तृतीयः पुनरुपशमकस्य, स ह्यायुर्बद्धवान् पूर्वमुपशमकाले न बध्नाति, तत्प्रतिपतितस्तु भन्त्स्यति, चतुर्थस्तु क्षपकस्य । स ह्यायुर्बद्धवान्न बध्नाति, न च भन्त्स्यतीति । "सलेसे" इह यावत्करणात्कृष्णलेश्याऽऽदिग्रहः । तत्र यो न निर्वास्यति तस्य प्रथमो, यस्तु चरमशरीरतयोत्पत्स्यते तस्य द्वितीयः, अबन्धकाले तृतीयः, चरमशरीरस्य च चतुर्थः, एवमन्यत्राऽपि । ( अलेस्से चरिमो त्ति ) अलेश्यः—शैलेशीगतः सिद्धश्च, तस्य च वर्तमानभविष्यत्कालयोरायुषोऽबन्धकत्वाच्चरमो भङ्गः, कृष्णपाक्षिकस्य प्रथमस्तृतीयश्च सम्भवति । तत्र च प्रथम प्रतीत एव, तृतीयस्त्वायुष्काबन्धकाले न बध्नात्येवोत्तरकाले तु तद् भन्त्स्यतीत्येव स्यात् । द्वितीयचतुर्थौ तु तस्य नाभ्युपगम्येते कृष्णपाक्षिकत्वे सति सर्वथा तद्भन्त्स्यमानताया अभाव इति विवक्षणात् शुक्लपाक्षिकस्य सम्यग्दृष्टेश्च चत्वारस्तत्र बद्धवान् पूर्वं बध्नाति च बन्धकाले भन्त्स्यति चाबन्धकालस्योपरि इत्येकः, बद्धवान्, बध्नाति, न भन्त्स्यति चरमशरीरत्वे इति द्वितीय । तथा बद्धवान्न बध्नात्यबन्धकाले उपशमाऽवस्थायां वा भन्त्स्यति च पुनर्बन्धकाले प्रतिपतितो वेति तृतीय, चतुर्थस्तु क्षपकस्येति, मिथ्यादृष्टिस्तु द्वितीयभङ्गके न भन्त्स्यति चरमशरीरप्राप्तौ तृतीये न बध्नात्यबन्धकाले, चतुर्थे न बध्नात्यबन्धकाले न भन्त्स्यति च चरमशरीरप्राप्तावपि । ( सम्मामिच्छेत्यादि ) । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्न बध्नाति, चरमशरीरत्वे च कश्चिन्न भन्त्स्यत्यपि इति कृत्वाऽन्त्यावेवेति ज्ञानिना चत्वार, प्राग्वद्भावयितव्या, मन पर्यायज्ञानिनो द्वितीयवर्जा, तत्रासौ पूर्वमायुर्बद्धवानिदानीं तु देवा ऽऽयुर्बध्नाति, ततो मनुष्याऽऽयुर्भन्त्स्यतीति प्रथम, बद्ध्वा न भन्त्स्यतीति न सम्भवत्यवश्यं देवत्वे मनुष्याऽऽयुषो बन्धनादिति कृत्वा द्वितीयो नास्ति । तृतीय उपशमकस्य, स हि न बध्नाति, प्रतिपतितश्च भन्त्स्यति, क्षपकस्य चतुर्थः । एतदेव दर्शयति-( मणपज्जवेत्यादि ) ( केवलनाणे चरमो त्ति ) केवली हि आयुर्न बध्नाति, न च भन्त्स्यतीति कृत्वा, नोसंज्ञोपयुक्तस्य भङ्गकत्रय द्वितीयवर्जं मनःपर्यवज्ञानवद्भावनीयम् । एतदेवाऽऽह-(एवं एएणं इत्यादि) (अवेदए इत्यादि ) अवेदकोऽकषायी च क्षपक उपशमको वा, तयोश्च वर्त्तमानबन्धो नास्त्यायुष उपशमकश्च प्रतिपतितो भन्त्स्यति, क्षपकस्तु नैव भन्त्स्यतीति कृत्वा, तयोस्तृतीययुक्त ४ सवेद १ स्त्रीवेदाऽऽदि ३ सकषाय १ क्रोधाऽऽदिकषाय ४ सयोगि १ मनोयोग्यादि ३ साकारोपयुक्ताऽनाकारोपयुक्तलक्षणेषु चत्वार एवेति । नारकदण्डके—(चत्तारि भंग त्ति ) तत्र नारक आयुर्बद्धवान्, बध्नाति बन्धकाले भन्त्स्यति भवान्तरे इत्येकः, प्राप्तव्यसिद्धिकस्य द्वितीयः, बन्धकालाऽभावं भाविबन्धकालं चापेक्ष्य तृतीय । बद्धपरभविकाऽऽयुषोऽनन्तर प्राप्तव्यचरमभवस्य चतुर्थ, एवं सर्वत्र । विशेषमाह-(नवरमित्यादि ) लेश्यापदे कृष्णलेश्येषु नारकेषु प्रथमतृतीयौ । तथाहि-कृष्णलेश्यो नारको बद्धवान् बध्नाति, भन्त्स्यति चेति प्रथम प्रतीत एव । द्वितीयस्तु नास्ति, यत कृष्णलेश्यो नारकस्तिर्यक्षूत्पद्यते मनुष्येषु वा चरमशरीरेषु, कृष्णलेश्या हि पञ्चमनरकपृथिव्यादिषु भवति, न च ततः उद्वृत्तः सिद्ध्यतीति । तदेवमसौ नारकस्तिर्यगाद्यायुर्बद्ध्वा पुनर्भन्त्स्यति, अचरमशरीरत्वादिति । तथा कृष्णलेश्यो नारक आयुष्काबन्धकाले तन्न बध्नाति, बन्धकाले तु भन्त्स्यतीति तृतीयः । चतुर्थस्तु तस्य नास्ति, आयुरबन्धकावस्थाऽभावादिति । तथा कृष्णपाक्षिकनारकस्य प्रथम प्रतीत एव, द्वितीयो नास्ति, यत कृष्णपाक्षिको नारक आयुर्बद्ध्वा पुनर्न भन्त्स्यतीत्येतन्नास्ति, तस्य चरमभवाऽभावात्, तृतीयस्तु स्यात्, चतुर्थोऽपि नोक्तयुक्तेरेवेति । ( सम्मामिच्छत्ते तइयचउत्थ त्ति ) सम्यग्मिथ्यादृष्टेरायुषो बन्धाभावादिति, असुरकुमारदण्डके-( कण्हलेस्से वि चत्तारि भंग त्ति ) नारकदण्डके कृष्णलेश्यनारकस्य किल प्रथमतृतीयावुक्तावसुरकुमारस्य तु कृष्णलेश्यस्यापि चत्वार एव, तस्य हि मनुष्यगत्यवाप्तौ सिद्धिसम्भवेन द्वितीयचतुर्थयोरपि भावादिति, पृथिवीकायिकदण्डके—( कण्हपक्खिए पढमतइया भंग त्ति ) इह युक्तिः पूर्वोक्तैवानुसरणीया, तेजोलेश्यापदे तृतीयो भङ्गः, कथ ? कश्चिद्देवस्तेजोलेश्यः पृथिवीकायिकेषु उत्पन्न, स चाऽपर्याप्तकाऽवस्थायां तेजोलेश्यो भवति, तेजोलेश्याऽद्धायां चापगतायामायुर्बध्नाति, तस्मात् । तेजोलेश्यः पृथिवीकायिक आयुर्बद्धवान् देवत्वेन बध्नाति, तेजोलेश्याऽवस्थायां भन्त्स्यति च, तस्यामपगतायामित्येवं तृतीयः । (एवं आउकाइयवणस्सइकाइयाण वि त्ति । उक्तन्यायेन कृष्णपाक्षिकेषु प्रथमतृतीयभङ्गौ, तेजोलेश्यायां च तृतीयभङ्गसम्भवस्तेष्वित्यर्थोऽन्यत्र तु चत्वार ( तेउकाइयेत्यादि ) तेजस्कायिकवायुकायिकानां सर्वत्र एकादशस्वपि स्थानकेष्वित्यर्थ, प्रथमतृतीयभङ्गौ भवतस्तेजस्तत उद्वृत्तानामनन्तरं मनुष्येष्वनुत्पत्त्या सिद्धिगमनाऽभावेन द्वितीयचतुर्थाऽसम्भवात् मनुष्येष्वनुत्पत्तिश्चैषा—" सत्तममहिनेरइया, तेऊ वाऊ अणंतरुव्वट्टा । न य पावे माणुस्सं, तहेय संखाऽऽउया सव्वे ॥१॥" इति वचनादिति । ( बेइंदियेत्यादि ) विकलेन्द्रियाणां

सर्वत्र प्रथमतृतीयभङ्गौ, यतस्तत उद्वृत्तानामानन्तर्येण सत्यपि मानुषत्वे निर्वाणाऽभावस्तस्मादवश्यं पुनस्तेषामायुषो बन्ध इति । यदुक्तम्—विकलेन्द्रियाणां सर्वत्र प्रथमतृतीयभङ्गाविति, तदपवादमाह-(णवरं संमत्ते इत्यादि ) सम्यक्त्वे ज्ञाने आभिनिबोधिके श्रुते च विकलेन्द्रियाणां तृतीय एव, यत सम्यक्त्वाऽऽदीनि तेषां सासादनभावेनापर्याप्तकावस्थायामेव तेषु चापगतेष्वायुषो बन्ध इत्यतः पूर्वभवे बद्धवन्त. सम्यक्त्वाऽऽद्यवस्थायां न बध्नन्ति,तदनन्तरञ्च भंत्स्यतीति तृतीय इति । ( पंचिंदियतिरिक्खेत्यादि ) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां कृष्णपाक्षिकपदे प्रथमतृतीयौ कृष्णपाक्षिको हि आयुर्बद्धा अबद्धा वा तद्बन्धकोऽनन्तरमेव न भवति तस्य सिद्धिगमनाऽयोग्यत्वादिति । (सम्मामिच्छत्ते तइयचउत्थि त्ति) सम्यग्मिथ्यादृष्टेरायुषो बन्धभावात् तृतीयचतुर्थावेव, भावित तत् प्रागेवेति । ( संमत्ते इत्यादि ) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यक्त्वाऽऽदिषु पञ्चसु द्वितीयवर्जा भङ्गा भवन्ति । कथम् ?, यदा सम्यग्दृष्ट्यादि पञ्चेन्द्रियतिर्यङायुर्बध्नाति तदा देवेष्वेव, स च पुनरपि भंत्स्यतीति न द्वितीयसम्भवः, प्रथमतृतीयौ तु प्रतीतावेव,चतुर्थे पुनरेवम्-यदा मनुष्येषु बद्धाऽऽयुरसौ सम्यक्त्वाऽऽदि प्रतिपद्यतेऽनन्तरं च प्राप्तव्यचरमभवस्तदैवेति (मणुस्साणं जहा जीवाणं ति) इति विशेषमाह-(णवरमित्यादि ) सम्यक्त्वसामान्यज्ञानाऽऽदिषु पञ्चसु पदेषु मनुष्या द्वितीयविहीनाः। भावना चेह पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रवदवसेयेति । भ० २६ श० १ उ० ।

प्रथमोद्देशके जीवाऽऽदिद्वारैकादशकप्रतिबद्धैर्नवभिः पापकर्माऽऽदिप्रकरणैर्जीवाऽऽदीनि पञ्चविंशतिर्जीवस्थानानि निरूपितानि, द्वितीयेऽपि तथैव तानि चतुर्विंशतिर्निरूप्यन्ते, इत्येवं संबद्धस्याऽस्येदमादिसूत्रम्—

अणंतरोववण्णए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा तहेव ? । गोयमा ! अत्थेगइए बंधी पढमबितिया भंगा । सलेस्से णं भंते अणंतरोववण्णे णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! पढमबितिया भंगा , एवं खलु सव्वत्थ पढमबितिया भंगा , णवरं सम्मामिच्छत्तं मणजोगो वइजोगो य ण पुच्छिज्जइ, एवं ०जाव थणियकुमारा । बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं वइजोगो ण भण्णइ । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वि सम्मामिच्छत्तं ओहिणाणं विभंगणाणं मणजोगो वइजोगो एयाणि पंच ण भण्णंति । मणुस्साणं अलेस्सासम्मामिच्छत्तमणपज्जवणाणकेवलणाणविभंगणाणणोसण्णोवउत्ते अवेदगअकसायी मणजोगी वइजोगी अजोगी एयाणि एक्कारस पयाणि ण भण्णंति । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइयाणं तहेव तिण्णि ण भण्णंति , सव्वेसिं जाणि सेसाणि ठाणाणि सव्वत्थ पढमबितिया भंगा । एगिंदिया सव्वत्थ पढमबितिया जहा पावे । एवं णाणावरणिज्जेण वि दंडओ, एवं आउयवज्जेसु ०जाव अंतराइए दंडओ । अणंतरोववण्णए णं भंते ! णेरइए आउयं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! बंधी, ण बंधइ, बंधिस्सइ । सलेस्से णं भंते ! अणंतरोववण्णए णेरइए आउयं कम्म किं बंधी ?, एवं चेव ततिओ भंगो । एवं०जाव अणागारोवउत्ते सव्वत्थ वि ततिओ भंगो । एवं मणुस्सवज्जं ० जाव वेमाणिया । मणुस्साणं सव्वत्थ ततिओ चउत्थो भंगो, णवरं कण्हपक्खिएसु ततिओ भंगो सव्वेसिं णाणत्ताइं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(अणंतरोववण्णए णमित्यादि ) इहाऽऽद्यावेव भङ्गौ, अनन्तरोत्पन्ननारकस्य मोहलक्षणपापकर्माबन्धकत्वासम्भवात्तद्धि सूक्ष्मसम्परायाऽऽदिषु भवति, तानि च तस्य न संभवन्तीति (सव्वत्थ त्ति) लेश्याऽऽदिपदेषु, एतेषु च लेश्याऽऽदिपदेषु सामान्यतो नारकाऽऽदीना सम्भवन्त्यपि,यानि पदान्यनन्तरोत्पन्ननारकाऽऽदीनामपर्याप्तकत्वेन सन्ति, तानि तेषां न प्रच्छनीयानीति दर्शयन्नाह—( नवरमित्यादि ) अत्र सम्यग्मिथ्यात्वाऽऽद्युक्तत्रयं यद्यपि नारकाणामस्ति तथाऽपीहानन्तरोत्पन्नतया तेषां तन्नास्तीति न प्रच्छनीयमेवमुत्तरत्रापि । आयुःकर्मदण्डके—( मणुस्साणं सव्वत्थ तइयचउत्थ त्ति ) यतोऽनन्तरोत्पन्नो मनुष्यो नायुर्बध्नाति, भन्त्स्यति पुनश्चरमशरीरस्त्वसौ न बध्नाति, न च भन्त्स्यतीति ( कण्हपक्खिएसु तइओ त्ति ) कृष्णपाक्षिकत्वेन न भन्त्स्यतीत्येतस्य पदस्याऽसम्भवात् तृतीय एव । ( सव्वेसिं णाणत्ताइं ताइं चेव त्ति ) सर्वेषां नारकाऽऽदिजीवानां यानि पापकर्मदण्डकेऽभिहितानि नानात्वानि तान्येवाऽऽयुर्दण्डकेऽपीति । भ० २६ श० २ उ० ।

परंपरोववण्णए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए पढमबितिओ एवं जहेव पढमओ उद्देसओ तहेव परंपरोववण्णएहिं वि उद्देसओ भाणियव्वो । णेरइयादीओ तहेव णवदंडगसंगहिओ अट्ठण्ह वि कम्मपगडीणं जा जस्स कम्मस्स वत्तव्वया सा तस्स अहीणमतिरित्ता णेयव्वा ०जाव वेमाणिया, अणागारोवउत्ता सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

( परंपरोववण्णए णमित्यादि ) ( जहेव पढमो उद्देसओ त्ति)जीवनारकाऽऽदिविषय केवलं तत्र जीवनारकाऽऽदिपञ्चविंशतिः पदान्यभिहितानि,इह तु नारकाऽऽदीनि चतुर्विंशतिरेवेत्येतदेवाऽऽह-( णेरइयाईओ त्ति ) नारकाऽऽदयोऽत्र वाच्या इत्यर्थः । ( तहेव नवदंडगसंगहिओ त्ति ) पापकर्मज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिप्रतिबद्धा ये नव दण्डका प्रागुक्तास्तैः संगृहीतोऽयुक्तो य उद्देशकः स तथा । भ० २६ श० ३ उ० ।

एवं चतुर्थाऽऽद्य एकादशाऽन्ता.—

अणंतरोगाढए णं भंते ! णेरइए णं पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! अत्थेगइए एवं जहेव अणंतरोववण्णएहिं

णवदंडगसहिओ उद्देसओ भणिओ तहेव अणंतरोवगाढएहिं वि अहीणमतिरित्तो भाणियव्वो, णेरइयादीए० जाव वेमाणिए । सेव भंते ! भंते ! त्ति । परंपरोवगाढए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी, जहेव परंपरोववण्णएहिं उद्देसो सो चेव णिरवसेसो भाणियव्वो, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । अणंतराऽऽहारए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! एवं जहेव अणंतरोववण्णएहिं उद्देसो तहेव णिरवसेसो, सेव भंते ! भंते ! त्ति । परंपराऽऽहारए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी, पुच्छा ? । गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववण्णएहिं उद्देसो तहेव णिरवसेसो भाणियव्वो, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । अणंतरपज्जत्तए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! एवं जहेव अणंतरोववण्णएहिं उद्देसो तहेव णिरवसेसं, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । परंपरपज्जत्तए णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववण्णएहिं उद्देसो तहेव णिरवसेसो भाणियव्वो, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(अणंतरोवगाढे त्ति) उत्पत्तिसमयापेक्षयाऽनन्तरावगाढत्वमवसेयम्, अन्यथाऽनन्तरोत्पन्नानन्तराऽवगाढयोर्निर्विशेषता न स्यादुक्तः चासौ-"जहेव वाणमंतरोववण्णएहिं" इत्यादिना एवं परम्परावगाढोऽपि (अणंतराऽऽहारए त्ति) आहारकत्वप्रथमसमयवर्ती परम्पराऽऽहारकस्त्वाहारकत्वस्य द्वितीयाऽदिसमयवर्ती (अणंतरपज्जत्तए त्ति) । पर्याप्तकत्वप्रथमसमयवर्ती । स च पर्याप्तिसिद्धावपि तत उत्तरकालमेव पापकर्माऽऽदिबन्धलक्षणकारी भवतीत्यसावनन्तरोपपन्नकवद् व्यपदिश्यते । अत एवाऽऽह- ( एवं जहेव अणंतरोववण्णए इत्यादि )

चरमाऽचरमौ—

चरिमे णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववण्णएहिं उद्देसो तहेव चरिमेहिं णिरवसेसं, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । ० जाव विहरइ । अचरिमे णं भंते ! णेरइए पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए जहेव पढमुद्देसए तहेव पढमबितिओ भाणियव्वो सव्वत्थ ० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं । अचरिमे णं भंते ! मणुस्से पावं कम्मं किं बंधी पुच्छा ? । गोयमा ! अत्थेगइए बंधी, बंधइ, बंधिस्सइ, अत्थेगइए बंधी. बंधइ, ण बंधिस्सइ । अत्थेगइए बंधी, ण बंधइ, ण बंधिस्सइ । सलेस्से णं भंते ! अचरिमे मणुस्से पावं कम्मं किं बंधी, एवं चेव तिण्णि भंगा चरिमविहूणा भाणियव्वा, एवं जहेव पढमुद्देसे, णवर जेसु तत्थ वीससु पदेसु चत्तारि भंगा तेसु इहं आदिल्ला तिण्णि भंगा भाणियव्वा चरिमभंगवज्जा । अलेस्सा केवलणाणी अजोगी य एए तिण्णि वि ण पुच्छिज्जंति, सेसं तहेव । वाणमंतरजोइसियवेमाणिए जहा णेरइए । अचरिमे ण भंते ! णेरइए णाणावरणिज्जं कम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! एवं जहेव पावं णवरं मणुस्सेसु सकसाईसु लोभकसाएसु य पढमबितिया भंगा, सेसा अट्ठारस चरिमविहूणा सेसं तहेव०जाव वेमाणिया । दरिसणावरणिज्जं पि एवं चेव णिरवसेसं । वेयणिज्जे सव्वत्थ वि पढमबितिया भंगा ०जाव वेमाणिया, णवरं मणुस्सेसु अलेस्सकेवली अजोगी य णत्थि । अचरिमे णं भंते ! णेरइए मोहणिज्जं कम्मं किं बंधी पुच्छा ?। गोयमा ! जहेव पावं तहेव णिरवसेसं ०-जाव वेमाणिए । अचरिमे णं भंते ! णेरइए आउयं कम्मं किं बंधी पुच्छा?। गोयमा ! पढमततिया भंगा । एवं सव्वपदेसु वि णेरइयाणं पढमततिया भंगा, णवरं सम्मामिच्छत्ते ततिओ भंगो । एवं ०जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयआउकाइयवणस्सइकाइयाणं तेजोलेस्साए ततिओ भंगो । सेसेसु पदेसु सव्वत्थ पढमततिया भंगा । तेउकाइयवाउकाइयाणं सव्वत्थ पढमततिया भंगा । बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं एवं चेव, णवरं सम्मत्तओहियणाणे आभिणिबोहियणाणे सुअणाणे एएसु चउसु वि ठाणेसु ततिओ भंगो । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं सम्मामिच्छत्ते ततिओ भंगो, सेसपदेसु सव्वत्थ पढमतबिया भंगा, मणुस्साणं सम्मामिच्छत्ते अवेदए अकसाइम्मि य ततियभंगो । अलेस्सकेवलणाणअजोगी य ण पुच्छिज्जति, सेसपदेसु सव्वत्थ पढमततिया भंगा, वाणमंतरजोइसिया वेमाणिया जहा णेरइया । णामं गोयं अंतराइयं च जहेव णाणावरणिज्जं तहेव णिरवसेसं, सेव भंते ! भंते ! त्ति ०जाव विहरइ ॥

( चरिमे णं भंते ! नेरइए त्ति ) इह चरमो यः पुनस्तं भवं न प्राप्स्यति । ( एवं जहेवेत्यादि ) इह च यद्यपि अविशेषेणाऽतिदेशः कृतस्तथापि विशेषोऽवगन्तव्य. । तथाहि-चरमोद्देशक परम्परोपपन्नकोद्देशकवच्चाऽऽत्र इत्युक्तं परंपरोद्देशकश्च प्रथमोद्देशकवत्, तत्र मनुष्यपदे आयुष्कापेक्षया सामान्यतश्चत्वारो भङ्गा उक्तास्तेषु च चरममनुष्यस्याऽऽयुःकर्मबन्धमाश्रित्य चतुर्थ एव घटते, यतो यश्चरमोऽसावायुर्बद्धवान्न बध्नाति, न च भंत्स्यतीति, अन्यथा चरमत्वमेव न स्यादित्येवमन्यत्रापि विशेषोऽवगन्तव्य इति । अचरमो यस्तमेव पुनः प्राप्स्यति, तत्राचरमोद्देशके पञ्चेन्द्रियतिर्यगन्तेषु पदेषु पापकर्माऽऽश्रित्याऽऽद्यौ भङ्गका मनुष्याणां तु चरमभङ्गकवर्जास्त्रयः, यतश्चतुर्थश्चरमस्येति । एतदेव दर्श-

र्यन्ति—( अचरिमे णं भंते ! मणूसे इत्यादि ) ( वीसइ प-एसु त्ति ) तानि चैतानि—जीव १ सलेश्य २ शुक्ललेश्य ३ शुक्लपाक्षिक ४ सम्यग्दृष्टिज्ञानि५-६मतिज्ञान्यादिचतुष्टय १० नोसंज्ञोपयुक्ता ११ वेद १२ सकषाय १३ लोभकषायि १४ सयोगि १५ मनोयोग्यादित्रय १८साकारोपयुक्ता१९ नाकारोपयुक्तलक्षणानि २० । एतेषु च सामान्येन भङ्गकचतुष्कसम्भवेऽप्यचरमत्वान्मनुष्यपदे चतुर्थो नास्ति, चरमस्यैव तद्भावादिति । ( अलेस्से इत्यादि ) अलेश्याऽऽदयश्चाचरमा एव भवन्तीति, ते चेह न प्रष्टव्याः ज्ञानाऽऽवरणीयदण्डकोऽप्येवं, नवरं विशेषोऽयम्-पापकर्मदण्डके सकषायलोभकषायिषु आद्यास्त्रयो भङ्गका उक्ताः, इह त्वाद्यौ द्वावेव , यत एते ज्ञानाऽऽवरणीयमबद्धा पुनर्बन्धका न भवन्ति । कषायिणां सदैव ज्ञानाऽऽवरणबन्धकत्वाच्चतुर्थस्त्वचरमत्वादेव न भवतीति ( वेयणिज्जे सव्वत्थ वि पढमबीय त्ति ) तृतीयचतुर्थयोरसम्भवादेतयोर्हि प्रथमः प्रागुक्तयुक्तेन सम्भवति , द्वितीयस्त्वयोगित्व एव भवतीति । आयुर्दण्डके—( अचरिमे णं भंते ! नेरइए इत्यादि ) ( पढमतातिया भंग त्ति ) तत्र प्रथमः प्रतीत एव , द्वितीयस्त्वचरमत्वान्नास्त्यचरमस्य ह्यायुर्बन्धोऽवश्यं भविष्यत्यन्यथाऽचरमत्वमेव न स्यादेवं चतुर्थोऽपि, तृतीये तु न बध्नात्यायुस्तद्बन्धकाले पुनर्भन्त्स्यत्यचरमत्वादिति, शेषपदानां तु भावना पूर्वोक्तानुसारेण कर्त्तव्येति । भ० २६ श० ११ उ० । (किं कर्मबन्धं कतिकर्मप्रकृतीर्बध्नाति, कति वेदयते, इति ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे उक्तम् )

ज्ञानाऽऽवरणीयं कर्म किं स्त्री बध्नाति, पुरुषो वा इत्यादिवक्तव्यता—

नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, नपुंसओ बंधइ, नो इत्थी नो पुरिसो नो नपुंसओ बंधइ ? । गोयमा ! इत्थी वि बंधइ, पुरिसो वि बंधइ, नपुंसओ वि बंधइ, नो इत्थी नो पुरिसो,नो नपुंसओ सिय बंधइ, सिय नो बंधइ । एवं आउगवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ । आउगं भंते ! कम्मं किं इत्थी बंधइ, पुरिसपुच्छा ? । गोयमा ! इत्थी सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, एवं तिन्नि वि भाणियव्वा । नो इत्थी नो पुरिसो नो नपुंसओ न बंधइ ।

( नाणावरणिज्जे णं भंते ! कम्मं किं इत्थी बंधइ ) इत्यादि प्रश्नस्तत्र न स्त्री न पुरुषो न नपुंसको वेदोदयरहितः , स चानिवृत्तिबादरसंपरायप्रभृतिगुणस्थानकवर्ती भवति,तत्र चाऽनिवृत्तिबादरसंपरायसूक्ष्मसंपरायौ ज्ञानाऽऽवरणीयस्य बन्धकौ सप्तविधषड्विधबन्धकत्वात् उपशान्तमोहाऽऽदिस्त्वबन्धक एकविधबन्धकत्वादत उक्तम्-स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति, इति । ( आउगं णं भंते ! ) इत्यादि प्रश्नस्तत्र स्त्र्यादित्रयमायुः स्याद्बध्नाति, स्यान्न बध्नाति, बन्धकाले बध्नाति, अबन्धकाले न बध्नात्यायुष. सकृदेवैकत्र भवे बन्धात् निवृत्तस्त्र्यादिवेदस्तु न बध्नाति, निवृत्तिबादरसंपरायाऽऽदिगुणस्थानकेष्वायुर्बन्धस्य व्यवच्छिन्नत्वात् ।

संयतः—

णाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं संजए बंधइ, असंजए, एवं संजयाऽसंजए बंधइ, नो संजए नो असंजए नो संजयाऽसंजए बंधइ ? । गोयमा ! संजए सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, असंजए बंधइ, संजयाऽसंजए वि बंधइ, नो संजए नो असंजए नो संजयाऽसंजए न बंधइ । एवं आउगवज्जाओ सत्त वि आउगे हेट्ठिल्ला तिन्नि भयणाए उवरिल्लो न बंधइ । भ० ६ श० ३ उ० ।

दृष्टिसंज्ञा—

नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं सम्मदिट्ठी बंधइ मिच्छदिट्ठी बंधइ, सम्मामिच्छदिट्ठी ? । गोयमा ! सम्मदिट्ठी सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, मिच्छदिट्ठी बंधइ, सम्मामिच्छदिट्ठी बंधइ । एवं आउगवज्जाओ सत्त वि आउए हेट्ठिल्ला दो भयणाए सम्मामिच्छदिट्ठी न बंधइ । नाणाऽऽवरणं किं सन्नी बंधइ,असन्नी बंधइ,नो सन्नी,नो असन्नी बंधइ ? । गोयमा ! सन्नी सिय बंधइ, सिय न बंधइ, असन्नी बंधइ, नो सन्नी नो असन्नी न बंधइ, एवं वेयणिज्जाऽऽउगवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला दो बंधइ, उवरिल्ला भयणाए आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए उवरिल्ले न बंधइ ॥

( सम्मद्दिट्ठी सिय त्ति ) सम्यग्दृष्टिः-वीतरागस्तदितरश्च स्यात्तत्र वीतरागो ज्ञानाऽऽवरणं न बध्नात्येकविधबन्धकत्वादितरश्च बध्नातीति स्यादित्युक्तं, मिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टी तु बध्नीत एवेति ( आउए हेट्ठिल्ला दो भयणाए त्ति ) सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टी आयु. स्याद्बध्नीतः स्यान्न बध्नीत इत्यर्थः । तथाहि-सम्यग्दृष्टिरपूर्वकरणाऽऽदिरायुर्न बध्नाति,इतरस्तु आयुर्बन्धकाले तद्बध्नाति, अन्यदा तु न बध्नात्येवं मिथ्यादृष्टिरपि, मिश्रदृष्टिस्त्वायुर्न बध्नात्येव, तद्बन्धाऽध्यवसायस्थानाभावादिति । संज्ञिद्वारे-( सन्नी सिय बंधइ त्ति ) संज्ञी मनःपर्याप्तियुक्तः, स च यदि वीतरागस्तदा ज्ञानाऽऽवरणं न बध्नाति, यदि पुनरितरस्तदा बध्नाति ततः स्यादित्युक्तम् । ( असन्नी बंधइ त्ति ) मनःपर्याप्तिविकलो बध्नात्येव । ( नोसन्नीनोअसन्नि त्ति ) केवली सिद्धश्च न बध्नाति, हेत्वभावात् । ( वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला दो बंधंति त्ति ) संज्ञी असंज्ञी च वेदनीयं बध्नीत, अयोगिसिद्धवर्जानां तद्बन्धकत्वात् । ( उवरिल्ले भयणाए त्ति ) उपरितनो-नोसंज्ञी नोअसंज्ञी, स च सयोगायोगकेवली सिद्धश्च, तत्र यदि सयोगकेवली तदा वेदनीयं बध्नाति, यदि पुनरयोगकेवली सिद्धो वा, तदा न बध्नाति, अतो भजनयेत्युक्तम् । ( आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए त्ति ) संज्ञी चाऽऽयुः स्याद्बध्नीत, अन्तर्मुहूर्तमेव तद्बन्धात् । ( उवरिल्ले न बंधइ त्ति) केवली सिद्धश्चाऽऽयुर्न बध्नातीति ।

भवसिद्धिद्वारम्-

नाणावरणिज्जं कम्मं किं भवसिद्धिए बंधइ, अभवसिद्धिए, नो भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिए बंधइ ? । गोयमा ! भवसिद्धिए भयणाए अभवसिद्धिए बंधइ, नो भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिए न बंधइ, एवं आउगवज्जा सत्त वि आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए उवरिल्लो न बंधइ ॥

( भवसिद्धिए भयणाए त्ति ) भवसिद्धिको यो वीतरागः स न बध्नाति ज्ञानाऽऽवरणं तदन्यस्तु—भव्यो बध्नातीति

भजनयेत्युक्तम्। (नो भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिए त्ति) सिद्ध' स च न बध्नाति। (आउयं दो हेट्ठिल्ला भयणाए त्ति) भव्योऽभव्यश्चाऽऽयुर्बन्धकाले बध्नातोऽन्यदा तु न बध्नीत इत्यतो भजनयेत्युक्तम्। (उवरिल्ले न बंधइ त्ति) सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः।

दर्शनद्वारे—

नाणाऽऽवरणं किं चक्खुदंसणी बंधइ, अचक्खुदंसणी बंधइ, ओहिदंसणी बंधइ, केवलदंसणी बंधइ? । गोयमा ! हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए उवरिल्ले ण बंधइ, एवं वेयणिज्जवज्जाओ सत्त वि वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला तिण्णि बंधइ केवलदंसणी भयणाए ॥

(हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए त्ति) चक्षुरवधिदर्शनिनो यदि छद्मस्थवीतरागास्तदा न ज्ञानाऽऽवरण बध्नन्ति, वेदनीयस्य च बन्धकत्वात्तेषां सरागास्तु बध्नन्ति अतो भजनयेत्युक्तम्। (उवरिल्ले न बंधइ त्ति) केवलदर्शनी भवस्थ' सिद्धो वा; न बध्नाति हेत्वभावादित्यर्थ'। (वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला तिण्णि बंधइ त्ति) आद्यास्त्रयो दर्शनिनः छद्मस्थवीतरागाः सरागाश्च वेदनीयं बध्नन्त्येव। (केवलदंसणी भयणाए त्ति) केवलदर्शनी—सयोगिकेवली बध्नाति, अयोगिकेवली सिद्धश्च न बध्नातीति भजनयेत्युक्तम्।

पर्याप्तद्वारे—

नाणाऽऽवरणिज्जं कम्मं किं पज्जत्तओ बंधइ, अपज्जत्तओ बंधइ नो पज्जत्तओ नो अपज्जत्तओ बंधइ? । गोयमा ! पज्जत्तए भयणाए अपज्जत्तए बंधइ, नो पज्जत्तए नो अपज्जत्तए न बंधइ, एवं आउगवज्जाओ आउग हेट्ठिल्ला दो भयणाए उवरिल्ले ण बंध० ॥

(पज्जत्तए भयणाए त्ति) पर्याप्तको-वीतरागः सरागश्च स्यात्तत्र वीतरागो ज्ञानाऽऽवरणं न बध्नाति, सरागस्तु बध्नाति, ततो भजनयेत्युक्तम्। (नो पज्जत्तए नो अपज्जत्तए न बंधइ त्ति) सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः। (आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए त्ति) पर्याप्तकाऽपर्याप्तकावायुस्त्वद्बन्धकाले बध्नीतोऽन्यदा नेति भजना। (उवरिल्ले नेति) सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः।

भाषकः—

नाणाऽऽवरणं किं भासए बंधइ, अभासए? । गोयमा ! दो वि भयणाए, एवं वेयणिज्जवज्जाओ सत्त वेयणिज्ज, भासए बंधइ, अभासए भयणाए ॥

भाषको भाषालब्धिमास्तदन्यस्त्वभाषकस्तत्र भाषको वीतरागो ज्ञानाऽऽवरणीयं न बध्नाति, सरागस्तु बध्नाति, अभाषकस्त्वयोगी सिद्धश्च न बध्नाति, पृथिव्यादयो विग्रहगत्यापन्नाश्च बध्नन्तीति। (दो वि भयणाए त्ति) इत्युक्तम्। (वेयणिज्जं भासए त्ति) सयोग्यवसानस्याऽपि भाषकस्य सवेदनीयबन्धकत्वात्। (अभासए भयणाए त्ति) अभाषकस्त्वयोगी सिद्धश्च न बध्नाति, पृथिव्यादिकस्तु बध्नातीति भजना।

परीतद्वारे—

णाणाऽऽवरणं किं परित्ते बंधइ, अपरित्ते बंधइ, नो परित्ते नो अपरित्ते बंधइ? । गोयमा ! परित्ते भयणाए अपरित्ते बंधइ, नो परित्ते नो अपरित्ते न बंधइ, एवं आउगवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ आउए परित्तो वि अपरित्तो वि भयणाए नो परित्तो नो अपरित्तो न बंधइ ॥

(परित्ते भयणाए त्ति) परीत -प्रत्येकशरीरोऽल्पसंसारोवा, स च वीतरागोऽपि स्यात्र चासौ ज्ञानाऽऽवरणीयं बध्नाति, सरागपरीतस्तु बध्नातीति भजना। (अपरित्तबंधइ त्ति) अपरीतः साधारणकायोऽनन्तसंसारः, स च बध्नाति। (नो परित्ते नो अपरित्ते न बंधइ त्ति) सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः। (आउय परित्तो वि अपरित्तो वि भयणाए त्ति) प्रत्येकशरीराऽऽदि आयुर्बन्धकाल एवाऽऽयुर्बध्नातीति न तु सर्वदा ततो भजनेति, सिद्धस्तु न बध्नात्येवेत्यत आह—(णो परित्ते इत्यादि)

ज्ञानद्वारे—

णाणाऽऽवरणं किं आभिणिबोहियनाणी बंधइ सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी केवलनाणी हेट्ठिल्ला चत्तारि भयणाए केवलनाणी न बंधइ, एवं वेयणिज्जवज्जाओ सत्त वि वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला चत्तारि बंधइ केवलनाणी भयणाए णाणाऽऽवरणं किं मतिअण्णाणी बंधइ, सुअअण्णाणी, विभंगणाणी? । गोयमा ! आउगवज्जाओ सत्त वि बंधइ, आउग भयणाए ॥

(हेट्ठिल्ला चत्तारि भयणाए त्ति) आभिनिबोधिकज्ञानिप्रभृतयश्चत्वारो ज्ञानिनो ज्ञानाऽऽवरण वीतरागाऽवस्थाया न बध्नन्ति, सरागावस्थाया तु बध्नन्तीति भजना। (वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला चत्तारि वि बंधतीति) वीतरागाणामपि छद्मस्थानां वेदनीयस्य बन्धकत्वात्। (केवलणाणी भयणाए त्ति) सयोगकेवलिना वेदनीयस्य बन्धनादयोगिना सिद्धानां चाबन्धनाद् भजनेति।

योगद्वारे—

णाणाऽऽवरणं किं मणजोगी ण बंधइ, वइजोगी कायजोगी अजोगी बंधइ? । गोयमा ! हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए अजोगी न बंधइ । एवं वेयणिज्जवज्जाओ वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला बंधइ, अजोगी न बंधइ ॥

(हेट्ठिल्ला तिण्णि भयणाए त्ति) मनोवाक्काययोगिनो ये उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनस्ते ज्ञानाऽऽवरणं न बध्नन्ति, तदन्ये तु बध्नन्तीति भजना। (अजोगी न बंधइ त्ति) अयोगी-अयोगकेवली सिद्धश्च न बध्नातीत्यर्थः। (वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला बधति त्ति) मनोयोग्यादयो बध्नन्ति, सयोगाना वेदनीयस्य बन्धकत्वात्। (अजोगी ण बंधइ त्ति) अयोगिन. सर्वकर्मणामबन्धकत्वादिति।

उपयोगद्वारे—

नाणावरणं किं सागारोवउत्ते बंधइ, अनागारोवउत्ते बंधइ? । गोयमा ! अट्ठसु वि भयणाए ॥

(अट्ठसु वि भयणाए त्ति) साकाराऽनाकारावुपयोगौ सयो

गानामयोगानां च स्यातां; तत्रोपयोगद्वयेऽपि सयोगा ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिप्रकृतीर्यथा योग बध्नन्ति, अयोगास्तु नेति भजनेति।

आहारद्वारे—

नाणाऽऽवरणं किं आहारए बंधइ, अणाहारए बंधइ ?। गोयमा ! दो वि भयणाए, एवं वेयणिज्जाउगवज्जाणं छण्हं वेयणिज्जं आहारए बंधइ, अणाहारए भयणाए आउए आहारए भयणाए अणाहारए न बंधइ ॥

( दो वि भयणाए त्ति ) आहारको वीतरागोऽपि भवति, न चासौ ज्ञानाऽऽवरणं बध्नाति, सरागास्तु बध्नातीति आहारको भजनया बध्नाति, तथा अनाहारकः केवली विग्रहगत्यापन्नश्च स्यात्तत्र केवली न बध्नाति इतरस्तु बध्नातीति अनाहारकोऽपि भजनयेति। ( वेयणिज्जं आहारए बंधइ त्ति ) अयोगिवर्जाना सर्वेषां वेदनीयस्य बन्धकत्वात्। ( अणाहारए भयणाए त्ति ) अनाहारको विग्रहगत्यापन्नः समुद्घातकेवली च बध्नाति, अयोगी सिद्धश्च न बध्नातीति भजना। ( आउए आहारए भयणाए त्ति ) आयुर्बन्धकाल एवाऽऽयुषो बन्धनात्, अन्यदा त्वबन्धनाद्भजनेति। ( अणाहारए ण बंधइ त्ति ) विग्रहगतिगतानामप्यायुष्कस्याऽबन्धकत्वादिति।

सूक्ष्मद्वारे—

णाणाऽऽवरणं किं सुहुमे बंधइ, बादरे बंधइ, नो सुहुमे नो बादरे बंधइ ?। गोयमा ! सुहुमे बंधइ, बादरे भयणाए, नो सुहुमे नो बादरे न बंधइ। एवं आउगवज्जाओ सत्त वि आउए सुहुमे बादरे भयणाए नो सुहुमे नो बादरे न बंधइ।

(बायरे भयणाए त्ति) वीतरागबादराणां ज्ञानाऽऽवरणस्याबन्धकत्वात्सरागबादराणां च बन्धकत्वाद्भजनेति। सिद्धस्य पुनरबन्धकत्वादाह-( नो सुहुमे इत्यादि ) ( आउए सुहुमे बायरे भयणाए त्ति ) बन्धकाले बन्धनादन्यदा त्वबन्धनाद्भजनेति।

चरमद्वारे—

णाणाऽऽवरणं किं चरिमे, अचरिमे बंधइ ?। गोयमा ! अट्ठ वि भयणाए।

( अट्ठ वि भयणाए त्ति ) इह यस्य चरमो भवो भविष्यति स चरमः, यस्य तु नासौ भविष्यति सोऽचरमः, सिद्धश्चाऽचरमः, चरमभवाऽभावात्, तत्र चरमो यथायोगमष्टाऽपि बध्नाति, अयोगित्वे तु नैत्येव भजना, अचरमस्तु संसारी अष्टाऽपि बध्नाति, सिद्धस्तु नेत्येवमत्राऽपि भजनेति।

अथाऽल्पबहुत्वद्वारम्—

एएसि णं भंते ! जीवाणं इत्थिवेयगाणं पुरिसवेयगाणं नपुंसगवेयगाणं अवेयगाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पुरिसवेयगा, इत्थीवेयगा संखेज्जगुणा, अवेयगा अणंतगुणा, नपुंसगवेयगा अणंतगुणा, एएसिं सव्वेसिं पयाणं अप्पबहुगाइं उच्चारियव्वाइं ०जाव सव्वत्थोवा जीवा अचरिमा चरिमा अणंतगुणा। सेवं भंते ! भंते ! त्ति।

( इत्थिवेयगा संखेज्जगुणे त्ति ) यतो देवनरतिर्यक्पुरुषेभ्यः तत्स्त्रियः क्रमेण द्वात्रिंशत्सप्तविंशतित्रिगुणा-द्वात्रिंशत्सप्तविंशतित्रिरूपाधिकाश्च भवन्तीति। ( अवेयगा अणंतगुणा त्ति ) अनिवृत्तिबादरसम्परायाऽऽदयः सिद्धाश्चाऽवेदाः, अतस्तेऽनन्तत्वात् स्त्रीवेदेभ्योऽनन्तगुणा भवन्ति। ( नपुंसगवेयगा अणंतगुणा त्ति ) अनन्तकायिकानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानामिह गणनादिति। ( एएसिं सव्वेसिमित्यादि ) एतेषां-पूर्वोक्तानां संयताऽऽदीनां चरमान्तानां चतुर्दशानां द्वाराणां तद्गतभेदाऽपेक्षयाऽल्पबहुत्वमुच्चारयितव्यम्। तद्यथा-
"एएसि णं भंते ! संजयाणं असंजयाणं संजयाऽसंजयाणं नोसंजयनोअसंजयनोसंजयाऽसंजयाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा थोवा वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा संजयाऽसंजया, असंखेज्जगुणा नोसंजया नोअसंजया नोसंजयाऽसंजया अणंतगुणा, असंजया अणंतगुणा" इत्यादि प्रज्ञापनाऽनुसारेण वाच्यं यावच्चरमाऽऽद्यल्पबहुत्वम्। एतदेवाऽऽह- ( ०जाव सव्वत्थोवा जीवा अचरिमेत्यादि ) अत्राऽचरमा अभव्याश्चरमाश्च ये भव्याश्चरमं भवं प्राप्स्यन्ति, सेत्स्यन्तीत्यर्थः। ते चाऽचरमेभ्योऽनन्तगुणा यस्मादभव्येभ्यः सिद्धा अनन्तगुणा भणिता यावन्तश्च सिद्धास्तावन्त एव चरमा यस्माद्यावन्तः सिद्धा अतीताद्धायां तावन्त एव सेत्स्यन्त्यनागताऽद्धायाम्। भ० ६ श० ३ उ०। प० सं०।

जीवे णं भंते ! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा, एवं ०जाव वेमाणिए पोहुत्तिएहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

"जीवा णं भंते ! हसमाणा वा उस्सुयमाणा वा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि" इत्यादिषु ( जीवेगिंदिएत्यादि ) -जीवपदमेकेन्द्रियपदानि च पृथिव्यादीनि वर्जयित्वाऽन्येषु एकोनविंशतौ नारकाऽऽदिपदेषु त्रिकभङ्गो-भङ्गकत्रयं वाच्यं, यतो जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च बहुत्वाज्जीवानां सप्तविधबन्धकाश्चाऽष्टविधबन्धकाश्चेत्येकैकभङ्गो लभ्यते, नारकाऽऽदिषु तु त्रयम्। तथाहि-सर्व एव सप्तविधबन्धकाः स्युरित्येक। अथवा—सप्तविधबन्धकाश्चाऽष्टविधबन्धकश्चेत्येवमेव द्वितीयः। अथवा-सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्चेत्येवं तृतीय इति। भ० ५ श० ४ उ०।

निद्रायमाणस्य कर्मबन्धः—

जीवे णं भंते ! निद्दायमाणे वा पचलायमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा एवं ०जाव वेमाणिए पोहत्तिएसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो भ० ५ श० ४ उ०।

यतमानस्य पापं कर्म न बध्यते—

अजयं चरमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ १ ॥
अजयं चिट्ठमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ २ ॥
अजयं आसमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ ३ ॥
अजयं सयमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ ४ ॥
अजयं भुंजमाणो य, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ ५ ॥
अजयं भासमाणो अ, पाणभूयाइँ हिंसइ ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥ ६ ॥

अयतं चरन्नयतम् अनुपदेशेनाऽसूत्राज्ञयेति,क्रियाविशेषणमेतत्,चरन्-गच्छन्, तुरेवकारार्थः, अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य, न त्वन्यथा, किमित्याह-प्राणिभूतानि हिनस्ति-प्राणिनो-द्वीन्द्रियादयः, भूतानि-एकेन्द्रियास्तानि हिनस्ति-प्रमादाऽनाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः,तानि च हिंसन् बध्नाति पापं कर्म्म अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं-ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि तत् ( से ) भवति कटुकफलं तत्पापं कर्म्म ( से ) तस्य-अयतचारिणो भवति,कटुकफलमित्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः अशुभफलं भवति, मोहाऽऽदिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवमयतं तिष्ठन्नूर्द्धस्थानेनासमाहितो हस्तपादाऽऽदि विक्षिपन् शेषं पूर्ववत् ॥२॥ एवमयतमासीनो-निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनाऽऽदिभावेन,शेषं पूर्ववत् ॥३॥ एवमयतं स्वपन्नसमाहितो दिवा प्रकामशय्याऽऽदिना वा, शेषं पूर्ववत् ॥४॥ एवमयतं भुञ्जानो निःप्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना वा, शेषं पूर्ववत् ॥ ५ ॥ एवमयतं भाषमाणो गृहस्थभाषया-निष्ठुरमन्तरभाषाऽऽदिना वा,शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

अत्राऽऽह-यद्येवं पापकर्म्मबन्धस्ततः सूत्रम्—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ? ॥ ७ ॥

कथं—केन प्रकारेण चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथमासीत, कथं स्वपेत्, कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

आचार्य आह सूत्रम्—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥

यतं चरेत्-सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः ,यतं तिष्ठेत् समाहितो हस्तपादाऽऽद्यविक्षेपेण यतमासीन-उपयुक्त आकुञ्चनाऽऽद्यकरणेन,यतं स्वपेत्-समाहितो रात्रौ प्रकामशय्याऽऽदिपरिहारेण,यतं भुञ्जानः-सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षिताऽऽदिना, एवं यतं भाषमाणः साधुभाषया मृदु कालप्राप्तं च पापं कर्म्म क्लिष्टम्-अकुशलानुबन्धि ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि न बध्नाति नाऽऽदत्ते, निराश्र(स्र)वत्वाद्विहितानुष्ठानपरत्वादिति ॥ ८ ॥

किं च-सूत्रम्—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइँ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥ ९ ॥

सर्व्वभूतेष्वात्मभूतः सर्वभूताऽऽत्मभूतः, य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः । तस्यैवं सम्यग्वीतरागोक्तेन विधिना भूतानि-पृथिव्यादीनि पश्यतः सतः,पिहिताऽऽश्रवस्य स्थगितप्राणातिपाताऽऽद्याश्रवस्य दान्तस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन पापं कर्म न बध्यते-तस्य पापकर्मबन्धो न भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं सति सर्वभूतदयावतः पापकर्मबन्धो न भवतीति । ततश्च सर्वाऽऽत्मना दयायामेव यतितव्यम्,अलं ज्ञानाऽभ्यासेनाऽपि मा भूत् अव्युत्पन्नविनेयमतिविभ्रम इति तदपोहायाऽऽह—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेअपावगं ॥ १० ॥

प्रथमम्-आदौ ज्ञानं-जीवस्वरूपसंरक्षणोपायफलविषयं ततःतथाविधज्ञानसमनन्तरं दया-संयमस्तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्तेः ,एवम्-अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण तिष्ठति-आस्ते सर्वसंयतः-सर्वः प्रव्रजितः,यः पुनरज्ञानी-साध्योपायफलपरिज्ञानविकलः स किं करिष्यति ?,सर्वत्रान्धतुल्यत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्ताभावात्, किं वा कुर्वन् ज्ञास्यति छेकं-निपुणं हितं-कालोचितं पापकं वा अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ताभावादन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत् । अत एवान्यत्राप्युक्तम्-"गीयत्थो य विहारो बीओ गीयत्थमीसिओ भणिओ । " इत्यादि । अतो ज्ञानाभ्यासः कार्यः ।

तथा चाऽऽह सूत्रम्—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा जं छेयं तं समायरे ॥ ११ ॥

श्रुत्वा-आकर्ण्य ससाधनस्वरूपविपाकं जानाति-बुद्ध्यते कल्याणं कल्यो—मोक्षस्तमणति नयतीति कल्याणं—दयाऽऽख्यं संयमस्वरूपं, तथा श्रुत्वा जानाति पापकम्—असंयमस्वरूपम्, उभयमपि संयमाऽसंयमस्वरूपं श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा,नाऽश्रुत्वा, यतश्चैवमतः इत्थं विज्ञाय यत् छेकं-निपुणं हितं—कालोचितं तत्समाचरेत् कुर्यादित्यर्थः ।

उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह सूत्रम्—

जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥ १२ ॥
जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

यो जीवानपि-पृथिवीकायिकाऽऽदिभेदभिन्नान् न जानाति, अजीवानपि-संयमोपघातिनो मद्यहिरण्याऽऽदीन् न जानाति, जीवाजीवानजानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमं ?, तद्विषय, तद्विषयाज्ञानादिति भावः ॥ १२॥ ततश्च यो जीवानपि अजीवानपि जानाति जीवाजीवान्विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति । प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशार्थाधिकारः । दश० ४ अ० ।

बंधग-बन्धक-पुं० । बध्नात्यनेकप्रकारं कर्म प्रदेशैः स-

इति बन्धकः । बन्धकर्तृजीवेषु जीवस्थानभेदभिन्नेषु , पं० सं० १ द्वार । ( ' जीवट्ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे तद्भेदा दर्शिताः )

**बंधट्ठाण**–बन्धस्थान–न० । बन्धरूपे स्थानभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । ( 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १६६६ पृष्ठे विस्तरः ) ( बन्धनस्थानेषु बन्धोदयसत्तासंवेधमाश्रित्य भङ्गाः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे दर्शिताः )

**बंधण**–बंधन–न० । बध्यन्त इति बन्धनानि । " भुजि पत्यादिभ्यः कर्मापादाने " ॥ ५ । ३ । १२८ ॥ इति कर्मण्यनट् । कर्म० २ कर्म० । बध्यते–जीवप्रदेशैरन्योन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सन्धाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । बन्धाऽऽदिविरचितैर्मयूरबन्धाऽऽदिभिः ( उत्त० १ अ० ) संयमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रज्ज्वादिना यन्त्रणे, औ० । सूत्र० । रज्जुनिगडाऽऽदिभिः संयमने, आव० ४ अ० ।

किं बन्धनं किं वा तत्त्रोटनम्—

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो; किं वा जाणं तिउट्टई ? ॥ १ ॥

(बुध्येतेत्यादि) सूत्रमिदं सूत्रकृताङ्गाऽऽदौ वर्तते । अस्य चाऽऽचाराङ्गेण सहाऽयं संबन्धः । तद्यथा–आचाराङ्गेऽभिहितम्– " जीवो छक्कायपरूवणा य तेसिं वहेण बंधो त्ति " इत्यादि तत्सर्वं बुध्येतेत्यादि, यदि वेह केषांचिद्वादिनां ज्ञानादेव मुक्त्यवाप्तिरन्येषां क्रियामात्रात्, जैनानां तूभाभ्यां निःश्रेयसाधिगम इत्येतदनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते । तत्राऽपि ज्ञानपूर्विका क्रिया फलवती भवतीत्यादौ बुध्येत इत्यनेन ज्ञानमुक्तं, 'त्रोटयेत्' इत्यनेन च क्रियोक्ता । तत्रायमर्थो–बुध्येत–अवगच्छेद् बोधं विदध्यादित्युपदेशः । किं पुनस्तद् बुध्येत तदाह–बन्धनं–बध्यते जीवप्रदेशैरन्योन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनं–ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यष्टप्रकारं कर्म तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाऽविरत्यादयः, परिग्रहाऽऽरम्भाऽऽदयो वा । न च बोधमात्रादभिलषितार्थावाप्तिर्भवतीत्यतः क्रियां दर्शयति–तच्च बन्धनं परिज्ञाय विशिष्टया क्रियया–संयमानुष्ठानरूपया त्रोटयेद्–अपनयेदात्मनः पृथक्कुर्यात्परित्यजेद्वा । एवं चाभिहिते जम्बूस्वाम्यादिको विनेयो बन्धाऽऽदिरूपं विशिष्टं जिज्ञासुः पप्रच्छ–किमाह–किमुक्तवान् बन्धनं वीरस्तीर्थकृत् ?, किं वा जानन्–अवगच्छंस्तद्बन्धनं त्रोटयति ततो वा मुच्यतीति श्लोकार्थः ॥ १ ॥

बन्धनस्वरूपनिर्वचनायाऽऽह—

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥ २ ॥

( चित्तमंतमचित्त वेत्यादि ) इह बन्धनं–कर्म तद्धेतवो वाऽभिधीयन्ते । तत्र न निदानमन्तरेण निदानिनो जन्मेति, निदानमेव दर्शयति–तत्रापि सर्वाऽऽरम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इतिकृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान् । चित्तमुपयोगो ज्ञानं तदिह यस्य तच्चित्तवत्–द्विपदचतुष्पदाऽऽदि । ततोऽन्यदचित्तवत्–कनकरजताऽऽदि, तदुभयरूपमपि परिग्रहं परिगृह्य अल्पमपि–स्तोकमपि तृणतुषाऽऽदिकमपीत्यर्थः । यदि वा–कसनं कसः–परिग्रहग्रहणबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इति यावत् । तदेवं स्वतः परिग्रहं परिगृह्याऽन्यान्वा ग्राहयित्वा गृह्णतो वाऽन्याननुज्ञाय दुःखयतीति दुःखम्–अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वा असातोदयाऽऽदिरूपं तस्मान्न मुच्यत इति, परिग्रहाऽऽग्रह एव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति । तथा चोक्तम्—

" ममाऽहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः,
कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः ॥
यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः,
परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥ १ ॥ "

तथा च—

" द्वेषस्याऽऽयतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधिः,
व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः ।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः,
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥ १ ॥ "

तथा च परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगेऽतृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखाऽऽत्मकाद् बन्धनान्न मुच्यत इति ॥ २ ॥

परिग्रहवतश्चावश्यंभाव्यारम्भस्तस्मिंश्च प्राणातिपात इति दर्शयितुमाह—

सयं तिवायए पाणे, अदुवा अन्नेहिं घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥ ३ ॥

( सय तिवायए पाणे इत्यादि ) यदि वा—प्रकारान्तरेण बन्धनमेवाऽऽह–( सयं तीत्यादि ) स–परिग्रहवानसंतुष्टो भूयस्तदर्जनपरः समर्जितोपद्रवकारिणि च द्वेषमुपगतस्ततः स्वयम्–आत्मना त्रिभ्यो—मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलशरीरेभ्यो वा पातयेत्—च्यावयेत् प्राणान्—प्राणिनः, अकारलोपाद्वा अतिपातयेत् प्राणानिति । प्राणाश्चाऽमी—

"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥१॥"

तथा स परिग्रहाऽऽग्रही न केवलं स्वतो व्यापादयति, अपरैरपि घातयति, घ्नतश्चान्यान् समनुजानीते, तदेवं कृतकारितानुमतिभिः प्राण्युपमर्देन जन्मान्तरशतानुबन्ध्यात्मनो वैरं वर्धयति, ततश्च दुःखपरम्परारूपाद् बन्धनान्न मुच्यते इति । प्राणाऽतिपातस्य चोपलक्षणार्थत्वात् मृषावादाऽऽदयोऽपि बन्धहेतवो द्रष्टव्या इति ॥ ३ ॥

पुनर्बन्धनमेवाऽऽश्रित्याऽऽह—

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले, अन्ने अन्नेहिं मुच्छिए ॥ ४ ॥

(जस्सिमित्यादि) यस्मिन्–राष्ट्रकूटाऽऽदौ कुले जातो, यैर्वा सह पांसुक्रीडितैर्वयस्यैर्भार्याऽऽदिभिर्वा सह संवसेन्नरस्तेषु मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यावयस्याऽऽदिषु ममाऽयमिति–ममत्ववान् स्निह्यन् लुप्यते—विलुप्यते, ममत्वजनितेन कर्मणा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरलक्षणे संसारे भ्रम्यमाणो बाध्यते—पीड्यते । कोऽसौ ? बालः–अज्ञः, सदसद्विवेकरहितत्वादन्येष्वन्येषु च मूर्च्छितो—गृद्धोऽध्युपपन्नो, ममत्वबहुल इत्यर्थः । पूर्वं तावन्मातापित्रोस्तदनु भार्यायां पुनः पुत्राऽऽदौ स्नेहवानिति ॥ ४ ॥

साम्प्रतं यदुक्तं प्राक्—किं वा जानन् बन्धनं त्रोटयतीति अस्य निर्वचनमाह —

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
संखाए जीविअं चेवं, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥ ५ ॥

(वित्तमित्यादि) वित्त-द्रव्यं,तच्च सचित्तमचित्तं वा । तथा-सोदर्या—भ्रातृभगिन्यादय , सर्वमपि चैतद्वित्ताऽऽदिकं संसारान्तर्गतस्याऽसुमतोऽतिकटुका. शारीरमानसीर्वेदनास्समनुभवतो न त्राणाय—रक्षणाय भवतीत्येतत्संख्याय-ज्ञात्वा । तथा जीवितं च प्राणिना स्वल्पमपि तत्संख्याय ज्ञपरिज्ञया । प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु सचित्ताऽचित्तपरिग्रहप्राण्युपघातस्वजनस्नेहाऽऽदीनि बन्धनस्थानानि प्रत्याख्याय कर्मणः सकाशात्त्रुट्यति—अपगच्छत्यसौ, तुरवधारणे,त्रुट्येदेवेति । यदिवा-कर्मणा-क्रियया संयमानुष्ठानरूपया बन्धनात् त्रुट्यति, कर्मणः पृथग्भवतीत्यर्थ. ॥ ५ ॥

अध्ययनार्थाधिकाराभिहितत्वात् स्वसमयप्रतिपादनानन्तर परसमयप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह—

एए गंथे विउक्कम्म , एगे समणमाहणा ।
अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहिँ माणवा ॥ ६ ॥

( एए गंथे विउक्कम्मेत्यादि ) एतान्—अन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य-परित्यज्य स्वरुचिविरचितार्थेषु ग्रन्थेषु सक्ता. सिताः—बद्धा , एके, न सर्वे इति सम्बन्ध. । ग्रन्थातिक्रमश्चैतेषा तदुक्तार्थानभ्युपगमात् , अनन्तरग्रन्थेषु चायमर्थोऽभिहितस्तद्यथा—जीवास्तित्वे सति ज्ञानाऽवरणीयाऽदिकर्मबन्धनं, तस्य हेतवो मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादाऽऽदय परिग्रहाऽऽरम्भाऽऽदयश्च । तत्त्रोटनं च सम्यग्दर्शनाऽऽद्युपायेन,मोक्षसद्भावश्चेत्येवमादिक., तदेवमेके श्रमणा.-शाक्याऽऽदयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च माहणा(ना.)एतानर्हदुक्तान् ग्रन्थानतिक्रम्य परमार्थमजानाना विविधम्—अनेकप्रकारमुत्प्राबल्येन सिता—बद्धा. स्वसमयेष्वभिनिविष्टा. । तथा च शाक्या एव प्रतिपादयन्ति तथा—' सुखदु खेच्छाद्वेषज्ञानाऽऽधारभूतो नास्त्यात्मा कश्चित् , किं तु विज्ञानमेवैक विवर्त्तत ' इति । ' क्षणिकाः सर्वसंस्कारा ' इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । करण्डकाऽऽदिबन्धनरूपे कौतुककर्मणि सू० १ उ० २ प्रक० ।

इह योगैस्तदनुरूपपुद्गलस्कन्धान् गृहीत्वा शरीराऽऽदिरूपतया परिणमयतीत्युक्तं, तत्र तान् पुद्गलान् किं जीवो देशेन गृह्णाति, उत सर्वात्मनेत्येव प्रश्नावकाशमाशङ्क्योत्तरं वितितीर्षुराह—

एगमवि गहणदव्वं, सव्वप्पणयाएँ जीवदेसम्मि ।
सव्वप्पणया सव्व-त्थ वाऽवि सव्वे गहणखंधे ॥ २१ ॥

इह जीवः स्वप्रदेशावगाढमेव दलिकं गृह्णाति, न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशाऽवगाढं, तत्रैकस्मिन् जीवप्रदेशे यदवगाढं ग्रहणद्रव्य—ग्रहणप्रायोग्यं दलिकं तदेकमपि गृह्णाति (सव्वप्पणयाए त्ति ) सर्वाऽऽत्मना गृह्णाति सर्वैरेवाऽऽत्मप्रदेशैर्गृह्णातीत्यर्थः । जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलाऽवयवानामिव परस्परं सम्बन्धविशेषभावात् । तथाहि-एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्राऽवगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते । यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद्द्राह्ये घटाऽऽदिके गृह्यमाणे मणिबन्धकूर्परांसाऽऽदयोऽपि तद्ग्रहणाय अनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्ते,तथा(सव्वत्थ वा वि त्ति)सव्वेत्रापि-सर्वेष्वपि जीवप्रदेशेषु येऽवगाढा-ग्रहणप्रायोग्या. स्कन्धास्तानपि ग्रहणप्रायोग्यान् स्कन्धान् सर्वान् गृह्णाति जीव. सर्वाऽऽत्मना, सर्वैरेवाऽऽत्मप्रदेशैः एकैकस्कन्धग्रहणं प्रति सर्वजीवप्रदेशानामनन्तरपरम्परतया व्याप्रियमाणत्वादिति ॥ २१ ॥

इह पुद्गलद्रव्याणां परस्पर सबन्ध. स्नेहतो भवति । ततोऽवश्यं स्नेहप्ररूपणा कर्तव्या । सा च त्रिधा । तद्यथा—स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा, नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूणा, प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा च । तत्र स्नेहप्रत्ययस्य-स्नेहनिमित्तस्य स्पर्धकस्य प्ररूपणा स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा । तथा शरीरबन्धननामकर्मोदयत परस्परं बद्धानां शरीरपुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा । शब्दार्थश्चायम्-नामप्रत्ययस्य बन्धननामनिमित्तस्य शरीरप्रदेशस्पर्धकस्य प्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा । तथा प्रकृष्टो योग. प्रयोगः, तेन प्रत्ययभूतेन-कारणभूतेन ये गृहीताः पुद्गलास्तेषा स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा । तत्र प्रथमत. स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणार्थमाह—

नेहप्पच्चयफड्डग-मेग अविभागवग्गणा णंता ।
हस्सेण बहू बद्धा, असंखलोगे दुगुणहीणा ॥ २२ ॥

( नेह त्ति ) स्नेहप्रत्ययं-स्नेहनिमित्तम् एकैकस्नेहाऽविभागवृद्धाना पुद्गलवर्गणानां समुदायरूप स्पर्धक स्नेहप्रत्ययस्पर्धकम् , तच्चैकमेव भवति । तस्मिँश्च स्पर्धकेऽविभागवर्गणा एकैकस्नेहाविभागाऽधिकपरमाणुसमुदायरूपा वर्गणा अनन्ता द्रष्टव्या । तत्र ह्रस्वेन-अल्पेन स्नेहेन ये बद्धा-युक्ताः पुद्गलास्ते बहव , अर्वाक्च प्रभूतेन स्नेहेन बद्धा स्तोका । तथा ' असखलोगे दुगुणहीण त्ति ' आदिवर्गणाया परतोऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा वर्गणा अतिक्रम्य याऽनन्तरा वर्गणा तस्या पुद्गला. प्रथमवर्गणागतपुद्गलाऽपेक्षया द्विगुणहीना भवन्ति । पुनरपि ततोऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा वर्गणा अतिक्रम्याऽनन्तराया वर्गणाया पुद्गला द्विगुणहीना भवन्ति । एव तावद्वाच्य यावद्वक्ष्यमाणा संख्येयभागहानिगता चरमा वर्गणा । इयमत्र भावना-इह यः सर्वोत्कृष्टः स्नेहः स केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यते, छिन्ना छित्वा च निर्विभागा भागा पृथक् पृथक् व्यवस्थाप्यन्ते । तत्र जगति ये केचित् परमाणव एकेन स्नेहस्य निर्विभागेन भागेन युक्ता सन्ति, तेषा समुदायः प्रथमा वर्गणा । ये पुनर्द्वाभ्या स्नेहाऽविभागाभ्यां युक्ता परमाणवः सन्ति, तेषा समुदायो द्वितीया वर्गणा । एवं त्रिभि. स्नेहाविभागैर्युक्ताना समुदायस्तृतीया वर्गणा । एवं संख्येयैः स्नेहाऽविभागैर्युक्ताना संख्येया वर्गणा वाच्या. । असंख्येयै स्नेहाऽविभागैर्युक्ताना पुनरसंख्येया वर्गणाः । अनन्तैः स्नेहाऽविभागैर्युक्ताना त्वनन्ता वर्गणा । द्विधा चात्र प्ररूपणा, तद्य-

था-अनन्तरोपनिधया, परम्परोपनिधया च । तत्र तावत्प्रथमतोऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा क्रियते-प्रथमायां वर्गणायामेकस्नेहाविभागयुक्तपुद्गलसमुदायरूपायां यावन्तः पुद्गलास्तदपेक्षया द्वितीयस्या वर्गणाया स्नेहाविभागद्वययुक्तपुद्गलसमूहरूपाया पुद्गला असंख्येयभागहीना भवन्ति । ततोऽपि तृतीयस्या वर्गणायामसंख्येयभागहीनाः । एवं प्रतिवर्गणामसंख्येयभागहान्या पुद्गलास्तावद्वाच्या यावदनन्ता वर्गणा गता भवन्ति । ततोऽनन्तराया पुद्गलाः प्राक्तनवर्गणागतपुद्गलापेक्षया संख्येयभागहीना भवन्ति । ततोऽप्रेतन्यामपि वर्गणायां पुद्गला. संख्येयभागहीना. । एवं सङ्ख्येयभागहान्याऽपि वर्गणा अनन्ता वाच्याः । ततोऽनन्तराया वर्गणाया पुद्गलाः प्राक्तनवर्गणागतपुद्गलापेक्षया संख्येयगुणहीना भवन्ति । ततोऽप्रेतन्यामपि वर्गणायां पुद्गलाः संख्येयगुणहीना. । एवं संख्येयगुणहान्याऽप्यनन्ता वर्गणा वाच्या । ततोऽनन्तराया वर्गणायां पुद्गला. प्राक्तनवर्गणागतपुद्गलापेक्षयाऽसख्येयगुणहीना भवन्ति । ततोऽप्रेतन्यामपि वर्गणायां पुद्गला असंख्येयगुणहीनाः । एवमसंख्येयगुणहान्याऽप्यनन्ता वर्गणा वक्तव्याः । ततोऽनन्तरायां वर्गणाया पुद्गलाः प्राक्तनवर्गणागतपुद्गलापेक्षयाऽनन्तगुणहीना भवन्ति । ततोऽप्रेतन्यामपि वर्गणाया पुद्गला अनन्तगुणहीनाः । एवमनन्तगुणहान्याऽप्यनन्ता वर्गणा वाच्याः यावत्सर्वोत्कृष्टा वर्गणाः । तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा ॥ संप्रति परम्परोपनिधया क्रियते— तत्र प्रथमवर्गणायाः परतोऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा वर्गणा अतिक्रम्य या पराऽन्या वर्गणा तस्या पुद्गलाः प्रथमवर्गणागतपुद्गलापेक्षया द्विगुणहीना भवन्ति, अर्धा भवन्ति इत्यर्थ. । तत. पुनरप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा वर्गणा अतिक्रम्य या परा-अनन्तरा वर्गणा तस्या पुद्गला अर्धा भवन्ति । एवं भूयो भूयस्तावद्वक्तव्य यावदसङ्ख्येयभागहानिगता चरमा वर्गणा । तत. परं सङ्ख्येयभागहानिगता वर्गणाः सङ्ख्येया अतिक्रम्यानन्तरायां वर्गणायां पुद्गला असङ्ख्येयभागहानिगतचरमवर्गणापुद्गलाऽपेक्षयाऽर्धा भवन्ति । ततः पुनरपि सङ्ख्येया वर्गणा अतिक्रम्यानन्तरायां वर्गणायां पुद्गला अर्धा भवन्ति । एवं भूयो भूयस्तावद्वक्तव्यं यावत्सङ्ख्येयभागहानावपि चरमा वर्गणा । उपरितनीषु चतसृषु हानिषु इयं परम्परोपनिधा न सम्भवति । यत. प्रथमायामपि सङ्ख्येयगुणहानिवर्गणायां पुद्गलाः सङ्ख्येयभागहानिसत्कचरमवर्गणान्तर्गतपुद्गलाऽपेक्षया सङ्ख्येयगुणहीनाः प्राप्यन्ते । सङ्ख्येयगुणहीनाश्च जघन्यतोऽपि त्रिगुणहीनाश्चतुर्गुणहीना वा गृह्यन्ते, न तु द्विगुणहीनाः, यतः सङ्ख्येयं प्रायः सर्वत्राप्यजघन्योत्कृष्टं त्रिप्रभृत्येव गृह्यते, न तु द्वौ, नापि सर्वोत्कृष्टं तदुक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ—" सिद्धते य जत्थ जत्थ संखेज्जगगहणं तत्थ तत्थ अजहण्णमणुक्कोसयं दट्ठव्वं ति । " तत इत ऊर्ध्वं द्विगुणहीना न प्राप्यन्ते, किं तु त्रिगुणचतुर्गुणाऽऽदिहीना इति नेयं द्विगुणहान्या परम्परोपनिधा संभवति । तस्मात्सूत्रत आरभ्याप्यधाऽत्र परम्परोपनिधया प्ररूपणा क्रियते—असङ्ख्येयभागहानौ प्रथमान्तिमवर्गणयोरपान्तराले प्रथमवर्गणाऽपेक्षया काश्चिद्वर्गणा असङ्ख्येयभागहीनाः काश्चित्सङ्ख्येयभागहीनाः काश्चित्सङ्ख्येयगुणहीनाः काश्चिदसङ्ख्येयगुणहीना' काश्चिदनन्तगुणहीनाः । एवमसङ्ख्येयभागहानौ प्रथमवर्गणापेक्षया पञ्चापि हानयः संभवन्ति । संख्येयभागहानौ तु पुनरसङ्ख्येयभागहानिवर्जा शेषाश्चतस्रोऽपि हानयः सम्भवन्ति । तद्यथा—सङ्ख्येयभागहानिप्रथमान्तिमवर्गणयोरपान्तराले प्रथमवर्गणाऽपेक्षया काश्चिद्वर्गणाः सङ्ख्येयभागहीना., काश्चित्सङ्ख्येयगुणहीनाः । काश्चिदसंख्येयगुणहीनाः, काश्चिदनन्तगुणहीनाः । सङ्ख्येयगुणहानौ पुनरसंख्येयभागहानिसंख्येयभागहानिवर्जा. शेषास्तिस्रो हानयः संभवन्ति । तद्यथा-संख्येयगुणहानौ प्रथमान्तिमवर्गणयोरपान्तराले प्रथमवर्गणापेक्षया काश्चिद्वर्गणाः संख्येयगुणहीनाः, काश्चिदसङ्ख्येयगुणहीनाः, काश्चिदनन्तगुणहीनाः । असङ्ख्येयगुणहानौ पुनर्द्वे एव हानी, तथाहि-असङ्ख्येयगुणहानौ प्रथमान्तिमवर्गणयोरपान्तराले प्रथमवर्गणापेक्षया काश्चिद्वर्गणा असङ्ख्येयगुणहीनाः काश्चिदनन्तगुणहीनाः । अनन्तगुणहानौ त्वनन्तगुणहानिरेवैका' तदेवं कृता परम्परोपनिधया प्ररूपणा ॥ साम्प्रतमल्पबहुत्वमुच्यते-तत्राऽसंख्येयभागहानौ वर्गणाः स्तोकाः । ताभ्यः सङ्ख्येयभागहानौ वर्गणा अनन्तगुणा । ताभ्योऽपि सङ्ख्येयगुणहानौ वर्गणा अनन्तगुणा । ताभ्योऽप्यसंख्येयगुणहानौ वर्गणा अनन्तगुणा । ताभ्योऽप्यनन्तगुणहानौ वर्गणा अनन्तगुणा' । तथाऽनन्तगुणहानौ पुद्गलाः सर्वस्तोका । तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणहानौ पुद्गला अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि सङ्ख्येयगुणहानौ पुद्गला अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि सङ्ख्येयभागहानौ पुद्गला अनन्तगुणाः । तेभ्योऽप्यसङ्ख्येयभागहानौ पुद्गला अनन्तगुणा. ॥ २२ ॥ तदेवमुक्तं सप्रपञ्चं स्नेहप्रत्ययं स्पर्धकम् ।

इदानीं नामप्रत्ययस्पर्धकप्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणां
चिकीर्षुरिदमाह—

नामप्पओगपच्चय-गेसु वि नेया अनंतगुणणाए ।
धणिया देसगुणा सिं, जहन्नजेट्ठे सगे कट्टु ॥ २३ ॥

( नाम त्ति ) इह नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणायां षडनुयोगद्वाराणि । तद्यथा—अविभागप्ररूपणा १, वर्गणाप्ररूपणा २, स्पर्धकप्ररूपणा ३, अनन्तरप्ररूपणा ४, वर्गणापुद्गलस्नेहाऽविभागसकलसमुदायप्ररूपणा ५, स्थानप्ररूपणा ६ चेति । तत्र प्रथमतोऽविभागप्ररूपणा क्रियते-औदारिकाऽऽदिशरीरपञ्चकप्रायोग्यानां परमाणूनां यो रसः, स केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यते, छित्त्वा च निर्विभागा भागाः क्रियन्ते ते च निर्विभागा भागा गुणपरमाणवो वा भावपरमाणवो वा प्रोच्यन्ते । एषाऽविभागप्ररूपणा । तत्रैकेन स्नेहाविभागेन युक्ता शरीरयोग्याः पुद्गला न भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-औदारिकौदारिकबन्धनाऽऽदीनां पञ्चदशाना बन्धनानामन्यतमस्यापि बन्धनस्य विषया न भवन्तीत्यर्थः । नापि द्वाभ्या स्नेहाविभागाभ्यां युक्ता । नापि त्रिभिर्नापि सङ्ख्येयैर्नाप्यसङ्ख्येयैर्नाप्यनन्तैः, किं त्वनन्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणै, ततस्तेषां पुद्गलानां समुदायः प्रथमा वर्गणा, सा च जघन्या । तत एकेन स्नेहाविभागेनाधिकानां पुद्गलानां समुदायो द्वितीया वर्गणा । द्वाभ्यां

स्नेहाविभागाभ्यामधिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा । ए वमेकैकाविभागवृद्ध्या निरन्तरं तावद् वर्गणा वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भ वन्ति । एतासां च समुदाय एकं स्पर्धकम् । तत इत ऊर्ध्वमेकेन स्नेहाविभागेनाधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः, नापि संख्येयैः, नाप्यसंख्येयैः, ना प्यनन्तैः, किं त्वनन्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैरधिकाः प्राप्यन्ते । ततस्तेषां समुदायो द्वितीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । तस्यां कियन्तः स्नेहाविभागाः ?, इति चेदुच्यते-या वन्तः प्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणायां स्नेहाविभागास्तावन्तो द्विगुणाः । तत एकेन स्नेहाविभागेनाधिकानां परमाणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा । द्वाभ्यां स्नेहाविभागाभ्याम धिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा । एवमेकैकस्नेहाविभा गवृद्ध्या निरन्तरं वर्गणास्तावद्वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्त गुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति । ततस्तासां समु दायो द्वितीयं स्पर्धकम् । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकेन स्नेहा विभागेनाधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः,यावन्नापि संख्येयैः,नाप्यसंख्येयैः,नाप्यनन्तैः,किं त्वन न्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैः । ततस्तेषां परमाणूनां समुदायस्तृतीयस्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । तस्यां कियन्तः स्नेहाविभागा इति चेदुच्यते-यावन्तः प्रथमस्पर्धकसत्क प्रथमवर्गणायां तावन्तस्त्रिगुणाः । तत एकेन स्नेहाविभा गेनाधिकानां परमाणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा । द्वा भ्यां स्नेहाविभागाभ्यामधिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा । एवमेकैकस्नेहाविभागवृद्ध्या निरन्तरं वर्गणास्तावद्वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भव न्ति । ततस्तासां समुदायस्तृतीयं स्पर्धकम् । ततः पुनर प्यत ऊर्ध्वमेकेन स्नेहाविभागेनाधिकाः परमाणवो न प्रा प्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः, यावन्नापि संख्येयैः, नाप्यनन्तैः किं त्वनन्तानन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैरधि काः प्राप्यन्ते । ततस्तेषां समुदायश्चतुर्थस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा । तस्यां कियन्तः स्नेहाविभागाः ?, इति चेदुच्यते— प्रथमस्पर्धकसत्कप्रथमवर्गणायां यावन्तः स्नेहाविभागास्ता वन्तश्चतुर्गुणाः । एवं यतिसंख्यं यतिसंख्यं स्पर्धकं चिन्तयितु मारभ्यते, तद्यथा पञ्चमं षष्ठमं विंशतितमं संख्यातमं तत्त तमं तावत्संख्यागुणिताः प्रथमस्पर्धकसत्कप्रथमवर्गणागताः स्नेहाविभागास्ततिसंख्यस्य ततिसंख्यस्य स्पर्धकस्याऽऽदि वर्गणायां द्रष्टव्याः । तानि च स्पर्धकानि कियन्ति भवन्तीति चेदुच्यते— अभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागक ल्पानि । अनन्तराणि कियन्ति भवन्तीति चेदुच्यते—रूपो नस्पर्धकतुल्यानि । तथाहि-चतुर्णामन्तराणि त्रीण्येव भव न्ति, (नो) नाधिकानि । एवमन्यत्रापि भावनीयम् । वर्गणास्वा नन्तर्येण द्वे वृद्धी भवतः । तद्यथा—एकैकाविभागवृद्धिः, अनन्तानन्तविभागवृद्धिश्च । तत्रैकैकाविभागवृद्धिः स्पर्ध कगतानां वर्गणानां यथोत्तरमनन्तानन्तविभागवृद्धिः पाश्चा त्यस्पर्धकगतचरमवर्गणापेक्षयोत्तरस्पर्धकस्याऽऽदिवर्गणायाः, पारम्पर्येण पुनः प्रथमस्पर्धकसत्कप्रथमवर्गणापेक्षया षडपि वृद्धयोऽवगन्तव्याः । तद्यथा—अनन्तभागवृद्धिः असंख्ये यभागवृद्धिः, संख्येयभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, अस ख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्चेति । तदेवं कृता वर्ग णाप्ररूपणा स्पर्धकप्ररूपणा अनन्तरप्ररूपणा च ॥ सांप्रतं वर्गणागतपुद्गलस्नेहाविभागसमुदायप्ररूपणा क्रियते—तत्र प्रथमस्य शरीरस्थानस्य प्रथमायां वर्गणायां स्नेहाविभागाः स्तोकाः । ततो द्वितीयस्य शरीरस्थानस्य प्रथमवर्गणाया मनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तृतीयशरीरस्थानस्य प्रथमवर्गणा यामनन्तगुणाः । एवमनन्तगुणया श्रेण्या सर्वाण्यपि स्थाना नि नेतव्यानि । शरीरस्थानानि च वक्ष्यमाणस्पर्धकसंख्या प्रमाणानि ॥ संप्रति शरीरपरमाणूनामेव तद्बन्धनयोग्या नामल्पबहुत्वमभिधीयते-तत्रौदारिकौदारिकबन्धनयोग्याः पु द्गलाः सर्वस्तोकाः । तेभ्य औदारिकतैजसबन्धनयोग्या अन न्तगुणाः । तेभ्योऽप्यौदारिककार्मणबन्धनयोग्या अनन्तगु णाः । तेभ्योऽप्यौदारिकतैजसकार्मणबन्धनयोग्या अनन्तगुणाः । तथा वैक्रियवैक्रियबन्धनयोग्याः पुद्गलाः सर्वस्तोकाः । ते भ्योऽपि वैक्रियतैजसबन्धनयोग्या अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि वैक्रियकार्मणबन्धनयोग्या अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि वैक्रिय तैजसकार्मणबन्धनयोग्या अनन्तगुणाः । तथा आहारकाऽऽहा रकबन्धनयोग्याः पुद्गलाः सर्वस्तोकाः । तेभ्योऽप्याहारकतैज सबन्धनयोग्या अनन्तगुणाः । तेभ्योऽप्याहारककार्मणबन्धन योग्या अनन्तगुणाः । तेभ्योऽप्याहारकतैजसकार्मणबन्धन योग्या अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तैजसतैजसबन्धनयोग्या अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तैजसकार्मणबन्धनयोग्या अनन्त गुणाः । तेभ्योऽपि कार्मणकार्मणबन्धनयोग्या अनन्तगुणा इति ॥ सांप्रतं स्थानप्ररूपणावसरः । तत्र प्रथमं स्पर्धकमा दौ कृत्वाऽभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानन्तकल्पैरनन्तैः स्पर्धकैरेकं प्रथमं शरीरप्रायोग्यं स्थानं भवति । ततस्त तिभिरेव स्पर्धकैरनन्तभागवृद्धैर्द्वितीयं शरीरस्थानं भवति । पुनस्ततिभिरेव स्पर्धकैरनन्तभागवृद्धैस्तृतीयं शरीरस्थान म् । एवं निरन्तरं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि अनन्त भागवृद्धानि शरीरस्थानान्यङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगत प्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एतानि च समुदितानि एकं कण्डकमभिधीयते । तस्माच्च कण्डकादुपरि यदन्य च्छरीरस्थानं तत्कण्डकगतचरमशरीरस्थानापेक्षया असंख्येयभागवृद्धम् । तस्मात्पराणि पुनर्यान्यन्यानि शरीरस्था नानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तानि सर्वाण्यपि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्यवसेयानि । ए तानि च समुदितानि द्वितीयं कण्डकम् । तस्माच्च द्विती यात्कण्डकादुपरि यदन्यच्छरीरस्थानं तदपुनरपि द्वितीयक ण्डकगतचरमशरीरस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धम् । ततः पराणि पुनरप्यन्यानि यानि शरीरस्थानानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रा संख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तानि सर्वाण्यपि यथो त्तरमनन्तभागवृद्धान्यवसेयानि । एतानि च समुदितानि तृ तीयं कण्डकम् । तत पुनरप्येकमसंख्येयभागवृद्धम् । ततः पुनरपि कण्डकमात्राणि शरीरस्थानानि यथोत्तरमनन्तभा गवृद्धान्यवसेयानि । एवमसंख्येयभागान्तरितानि अनन्त भागवृद्धकण्डकानि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयभागवृद्धा नामपि स्थानानामनन्तरान्तराभाविनां कण्डकं भवति । क ण्डकं नाम समयपरिभाषया-अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभाग-

तत्प्रदेशराशिप्रमाणा सङ्ख्या अभिधीयते । ततः पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि शरीरस्थानानि वाच्यानि । ततः परमेकं संख्येयभागवृद्धं स्थानम् । ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैवाऽ( तत्रैवाऽ )भिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागवृद्धं स्थानमभिधानीयम् । एवं वक्ष्यमाणक्रमेण षट्स्थानकवृद्ध्या शरीरस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्ता नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा ॥ साम्प्रतं प्रयोगप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा क्रियते-तत्र प्रयोगो-योगः तत्स्थानवृद्ध्या यो रसः कर्मपरमाणुषु केवलयोगप्रत्ययतो बध्यमानेषु परिवर्धते स्पर्धकरूपतया तत्प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकम् । उक्तं च—" होइ पओगो जोगो, तट्ठाणविवड्ढणाए जो उ रसो । परिवड्ढेइ जीवे, पयोगफड्डं तयं बेंति ॥१॥" तस्य पञ्चाऽनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-अविभागप्ररूपणा१, वर्गणाप्ररूपणा२, स्पर्धकप्ररूपणा३, अन्तरप्ररूपणा४, स्थानप्ररूपणा च५, इति । एताश्च यथा नामप्रत्ययस्पर्धके प्रागभिहितास्तथैवात्राप्यवगन्तव्याः । तथाऽत्र प्रथमस्थानसत्कप्रथमवर्गणायां सकलपुद्गलस्नेहाविभागाः सर्वस्तोकाः । तेभ्यो द्वितीयस्थानसत्कप्रथमवर्गणायामनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तृतीयस्थानसत्कप्रथमवर्गणायामनन्तगुणाः । एवं तावद्वेयं यावदन्तिमं स्थानम् । तथा च प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकमेवाधिकृत्यान्यत्राप्युक्तम्-" अविभागवग्गफड्डग, अंतरठाणाइँ एत्थ जह पुव्विं । ठाणाइँ वग्गणाओ, अणंतगुणणाएँ गच्छंति ॥१॥" अत्राऽऽदिशब्दात्कण्डकाऽऽदिपरिग्रहः ॥ इदानीमल्पबहुत्वमुच्यते—स्नेहप्रत्ययस्पर्धकस्य जघन्यवर्गणायां सकलपुद्गलगताः स्नेहाविभागाः सर्वस्तोकाः । ततस्तस्यैव स्नेहप्रत्ययस्पर्धकस्योत्कृष्टवर्गणायामनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि नामप्रत्ययस्पर्धकस्य जघन्यवर्गणायामनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तस्यैवोत्कृष्टवर्गणायामनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकस्य जघन्यवर्गणायामनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तस्यैवोत्कृष्टवर्गणायामनन्तगुणाः । उक्तं च—" तिण्हं पि फड्डगाणं, जहन्न उक्कोसगा कमा ठविउं । णेयाऽणंतगुणाओ, उ वग्गणा णेहफड्डाओ ॥ १ ॥ " सम्प्रति गाथाऽर्थो विव्रियते-नामप्रत्ययेषु प्रयोगप्रत्ययेष्वपि च स्पर्धकेषु अविभागवर्गणाऽऽदयः प्राग्वज्ज्ञेयाः । तथाहि-स्नेहप्रत्ययस्पर्धक इवात्रापि अविभागवर्गणा एकैकस्नेहाऽविभागवृद्धपरमाणुवर्गणा अनन्ताः । तथा स्तोकेन स्नेहेन बद्धाः पुद्गला बहव इतरे स्तोकाः स्तोकतराः । यच्च—" असंखलोगे दुगुणहीणा " इति, तदत्रासंभवान्न सम्बध्यते । स्नेहप्रत्ययस्पर्धकेऽपि हि तत् यथासंभवं स्तोकमेव कालं यावद् योजितम् , न पुनः सर्वत्रापि । तथा ( सिं ति ) एषां स्नेहप्रत्ययनामप्रत्ययप्रयोगप्रत्ययस्पर्धकानां प्रत्येकं स्वके—आत्मीये जघन्योत्कृष्टे वर्गणे बुद्ध्या पृथक् कृत्वा ततः क्रमेण तासु । ( धणिया देसगुण त्ति ) धणिया—निचिता देशगुणा निर्विभागभागरूपाः सकलपुद्गलगतस्नेहाविभागा इत्यर्थः । तेऽनन्तगुणनया—अनन्तगुणिततया ज्ञातव्याः । तदेवं कृता पुद्गलानां परस्परं सम्बन्धहेतुभूतस्य स्नेहस्य प्ररूपणा ॥ सम्प्रति बन्धनकरणसामर्थ्यतो बध्यमानकर्मपुद्गलानां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविभागो मन्दमतीनां सुखावबोधाय मोदकदृष्टान्तेन विभाव्यते—यथा किल कश्चिन्मोदको वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नः प्रकृत्या वातमुपशमयति, पित्तोपशमकद्रव्यनिष्पन्नः पित्तम् , कफाऽपहारिद्रव्यनिष्पन्नः कफमित्येवंस्वरूपा प्रकृतिर्मोदकस्य । तथा तस्यैव स्थितिः कस्यचिद्दिनमेकम् , अपरस्य दिनद्वयम् , अन्यस्य मासाऽऽदिकं कालं यावत् । तथा तस्यैव रसः स्निग्धमधुराऽऽदिः कस्यचिदेकस्थानकोऽपरस्य द्विस्थानक इत्यादि । तथा तस्यैव प्रदेशाः कणिक्काऽऽदिरूपाः कस्यचिदेकप्रसृतिप्रमाणाः कस्यचिद्द्विप्रसृतिप्रमाणा इत्यादि । तथा कर्मणोऽपि किञ्चिज्ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद्दर्शनं, किञ्चित्सुखदुःखे जनयति, किञ्चिन्मोहयतीत्येवंस्वरूपा प्रकृतिः । तथा स्थितिस्तस्यैव कर्मणः कस्यचित्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, अपरस्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा इत्यादि । तथा रसः कस्यचिदेकस्थानकोऽपरस्य द्विस्थानक इत्यादि । तथा प्रदेशाः कस्यचिद्बहुतराः कस्यचिच्च बहुतमा इति ॥ २३ ॥

तत्र प्रकृतिभेदत एव कर्मणां मूलोत्तरविभागो भवति, नान्यथेत्यावेदयन्नाह—

मूलुत्तरपगईणं, अणुभागविसेसओ हवइ भेओ ।
अविसेसियरसपइउ, पगइबंधो मुणेयव्वो ॥ २४ ॥

( मूलु त्ति ) इह प्रकृतिशब्दो भेदपर्यायोऽप्यस्ति । तथा चाऽऽह भाष्यकृत्—" अहवा पयडी भेओ " इति । ततो मूलोत्तरप्रकृतीनां—मूलोत्तरभेदानां कर्मणः सम्बन्धिनामनुभागविशेषतः-स्वभावविशेषतो ज्ञानाऽऽवारकत्वाऽऽदिलक्षणात् भेदो भवतिः, नाऽन्यथा । अनुभागशब्दश्चाऽत्र स्वभावपर्यायोऽवगन्तव्यः । तदुक्तं चूर्णौ—" अनुभागो त्ति सब्भावो " इति । इह बन्धनकरणे प्रकृतिबन्धाऽऽदयः प्रत्येकमुपरि सुप्रपञ्चं वक्तव्याः । प्रकृत्यादयश्च प्रतिकर्म सङ्कीर्णा इति कश्चिद् व्यामुह्येत, अतस्तन्मोहापनोदाय प्रकृतिबन्धं तुशब्दोपलक्षणद्वारेण अन्यांश्च स्थितिबन्धाऽऽदीन् वैविक्त्येन ( ऽयेण ) स्पष्टयन्नाह—( अविसेसियेत्यादि ) रसः स्नेहोऽनुभाग इत्येकार्थाः । तस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिताऽविवक्षिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थित्यादयोऽपि , यस्मिन्स विवक्षितो रसबन्धोऽविशेषितरसप्रकृतिः । प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः , तुशब्दस्याधिकार्थसंसूचनात् अविवक्षितरसप्रकृतिप्रदेशः स्थितिबन्धः , अविवक्षितप्रकृतिस्थितिप्रदेशो रसबन्धः , अविवक्षितप्रकृतिस्थितिरसः प्रदेशबन्ध इत्यपि द्रष्टव्यम् । प्रकृतिबन्धे च यावन्त्यः प्रकृतयो बन्धमायान्ति , यश्च तासां बन्धं प्रति स्वामी , तदेतत्सर्वं शतकादवसेयम् । प्रकृतिप्रदेशबन्धौ च योगतो भवतः " जोगा पयडिपएसं " इति वचनात् । तत्र प्रकृतिबन्ध उक्तः ॥ साम्प्रतं प्रदेशबन्धो वक्तुमवसरप्राप्तः । तत्राष्टविधबन्धकेन जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन चित्रतागर्भेण गृहीतं दलिकं तस्याऽष्टौ भागा भवन्ति, सप्तविधबन्धकस्य तु सप्त भागाः, षड्विधबन्धकस्य षड्भागाः , एकविधबन्धकस्य एको भागः ॥ २४ ॥

सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां भागविभागोपदर्शनार्थमाह—

जं सव्वघाइपत्तं , सगकम्मपएसणंतमो भागो ।

आवरणाण चउद्धा,तिहा य अह पंचहा विग्घे ॥ २५ ॥

( जं ति ) यत्-कर्मदलिकं सर्वघातिप्राप्तं केवलज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिरूपसर्वघातिप्रकृतिषु गतं तत् स्वकर्मप्रदेशानामनन्ततमो भागः स्वकीयाया ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिरूपाया मूलप्रकृतेर्यो मौलो भागस्तस्यानन्ततमो भाग इत्यर्थः। काऽत्र युक्तिरिति चेदुच्यते—इहाष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येक ये स्निग्धतरा. परमाणवस्ते स्तोकाः ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भागः । त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्या इति यत्सर्वघातिप्राप्त तत् स्वस्वमूलप्रकृतिप्रदेशानामनन्ततमो भाग.। तस्मिश्चानन्ततमे भागेऽपसारिते शेषं यद्दलिकं तत्सर्वघातिप्रकृतिव्यतिरिक्तेभ्य. तत्कालबध्यमानेभ्यः स्वस्वमूलप्रकृत्यवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते। तथाहि-(आवरणेत्यादि)आवरणयो.-ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणयो' प्रत्येकं सर्वघातिप्रकृतिनिमित्तमनन्ततमे भागेऽपसारिते सति शेषस्य दलिकस्य यथाक्रमं चतुर्धा त्रिधा च विभाग. क्रियते, कृत्वा च शेषदेशघातिप्रकृतिभ्यो दीयते। तथा विघ्नान्तराये यो मूलभागः स समग्रोऽपि पञ्चधा कृत्वा दानान्तरायाऽऽदिभ्यो दीयते। इयमत्र भावना-ज्ञानाऽऽवरणीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति, तस्याऽनन्ततमो भागः केवलज्ञानाऽऽवरणाय दीयते। शेषस्य चत्वारो भागाः क्रियन्ते ते च मतिज्ञानाऽऽवरणश्रुतज्ञानाऽऽवरणाऽवधिज्ञानाऽऽवरणमन पर्यवज्ञानाऽऽवरणेभ्यो दीयन्ते। दर्शनाऽऽवरणीयस्याऽपि यो मूलभाग आभजति तस्याऽनन्ततमं भागं षोढा कृत्वा निद्रापञ्चककेवलदर्शनाऽऽवरणाभ्या सर्वघातिभ्यां प्रयच्छति ( जीवः) । शेषस्य च त्रयो भागा. क्रियन्ते. ते च चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनाऽऽवरणेभ्यो दीयन्ते । अन्तरायस्य पुनर्यो मूलभाग आभजति स समग्रोऽपि सर्वघात्यवान्तरभेदाऽभावात् पञ्चधा कृत्वा दानाऽन्तरायाऽऽदिभ्यो दीयते ॥ २५ ॥

मोहे दुहा चउद्धा, य पंचहा वा वि बज्झमाणीणं ।
वेयणियाउयगोए-सु बज्झमाणीण भागो सिं ॥ २६ ॥

( मोहे त्ति ) मोहे—मोहनीये स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति तस्याऽनन्ततमो भाग. सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्विधा क्रियते, अर्धे दर्शनमोहनीयस्य, अर्धं चारित्रमोहनीयस्य। तत्राऽर्धं दर्शनमोहनीयस्य सत्कं समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य ढौकते । चारित्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्धं द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादशभागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते॥ सम्प्रति शेषदलिकभागविधिरुच्यते (मोहे दुहेत्यादि) शेषस्य च मूलभागस्य द्वौ भागौ क्रियेते एक. कषायमोहनीयस्य, अपरो नोकषायमोहनीयस्य। तत्र कषायमोहनीयस्य भागः पुनश्चतुर्धा क्रियते, ते च चत्वारोऽपि भागा संज्वलनक्रोधाऽऽदिभ्यो दीयन्ते। नोकषायमोहनीयस्य तु भागः पञ्चधा क्रियते, ते च पञ्चाऽपि भागा यथाक्रम त्रयाणा वेदानामन्यतमस्मै वेदाय बध्यमानाय हास्यरतियुगलाऽरतिशोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय भयजुगुप्साभ्या च दीयन्ते। नाऽन्येभ्यः, बन्धाऽभावात्। न हि नवाऽपि नोकषाया युगपद्बन्धमायान्ति, किं तु यथोक्ताः पञ्चैव। तथा वेदनीयाऽऽयुर्गोत्रेषु यो मूलभाग आभजति स एतेषामेव एकैकस्याः प्रकृतेर्बध्यमानाया ढौकते, द्वित्रप्रकृतीनाममीषां युगपद्बन्धाऽभावात् ॥ २६ ॥

पिंडपगईसु बज्झं-तिगाण वण्णरसगंधफासाणं ।
सव्वासिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ २७ ॥

( पिंड त्ति ) पिण्डप्रकृतयो—नामप्रकृतयः । यदाह चूर्णिकृत्—"पिंडपगईओ नामपगईओ त्ति।" तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगतिजातिशरीरबन्धनसंघातनसंस्थानाङ्गोपाङ्गाऽऽनुपूर्वीणां वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासनिर्माणतीर्थकराणामातपोद्द्योतप्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्ताऽपर्याप्तप्रत्येकसाधारणस्थिराऽस्थिरशुभाऽशुभसुस्वरदुःस्वरसुभगदुर्भगाऽऽदेयाऽनादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतराणां च मूलभागो विभज्य समर्पणीय । अत्रैव विशेषमाह-(वर्णेत्यादि) वर्णरसगन्धस्पर्शानां प्रत्येक यद्भागलब्धं दलिकमायाति तत्सर्वेभ्यस्तेषामवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि-वर्णनाम्नो यद्भागलब्धं दलिकं तत्पञ्चधा कृत्वा शुक्लाऽऽदिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य प्रदीयते। एवं गन्धरसस्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य सम्बन्धिनो भागस्य तति भागाः कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्या.। तथा संघाते तनौ च प्रत्येक यद्भागलब्धं दलिकमायाति तत्त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते। तत्रौदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियतैजसकार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि संघातानि वा युगपद् बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि संघातानि वा बध्नता चतुर्धा क्रियते ॥ २७ ॥

सत्तेक्कारविगप्पा, बंधणनामाण मूलपगईणं ।
उत्तरसगपगईण य, अप्पबहुत्ता विसेसो सिं ॥ २८ ॥

( सत्ते त्ति ) बन्धननाम्ना भागलब्ध यद्दलिकमायाति तस्य विकल्पाः सप्त भेदा एकादश वा विकल्पाः क्रियन्ते। तत्रौदारिकौदारिक१औदारिकतैजस२औदारिकार्मण३औदारिकतैजसकार्मण४तैजसतैजस५तैजसकार्मण६कार्मणकार्मण ७ रूपाणि वैक्रियचतुष्कतैजसत्रिकरूपाणि वा सप्त बन्धनानि बध्नता सप्त। वैक्रियचतुष्काऽऽहारकचतुष्कतैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश। अवशेषाणा च प्रकृतीना यद्भागलब्धं दलिकमायाति, तत्र भूयो विभज्यते, तासा युगपदवान्तरद्वित्र्यादिभेदबन्धाऽभावात्। तेन तासा तदेव परिपूर्णं दलिक भवति। इहैकाध्यवसायगृहीतस्य कर्मदलिकस्य परमाणवो विभागशः कृत्वा मूलप्रकृतिभ्य उत्तरप्रकृतिभ्यश्च दत्ता। तत्र न ज्ञायते जघन्यपदे उत्कृष्टपदे वा कस्या कियान् भागस्ततो विशेषपरिज्ञानार्थमाह—( मूलपगईत्यादि ) आसां मूलप्रकृतीनामुत्तरस्वप्रकृतीनां च परस्पर भागस्य विशेषोऽल्पबहुत्वात् शास्त्रान्तरोक्ताद् द्रष्टव्यः। तत्र मूलप्रकृतीनामल्पबहुत्व दर्श्यते—इह कर्मणां स्थित्यनुसारतो भाग आभजति, यस्य बृहती स्थितिस्तस्य बृहद्भागः, यस्य स्तोका तस्य स्तोक इति। तत्राऽऽयुषो भागः सर्वस्तोक.। तस्य सर्वस्याऽ ( सर्वेभ्योऽ ) प्यन्येभ्य स्तोकस्थितिकत्वात्। तत्स्थितेरुत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात्। ततो नामगोत्रयोर्भागो बृहत्तर.। तयोः स्थितेर्विंश-

तिसागरोपमकोटीप्रमाणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यः, समानस्थितिकत्वात्। ततोऽपि ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणाऽन्तरायाणां बृहत्तमः । तेषां स्थिते- स्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्य एव, तुल्यस्थितिकत्वात् । ततोऽपि मोहनीयस्य बृहत्तमः, तस्य स्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। वेदनीयं यद्यपि ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदिभिः सह समस्थितिकं,तथाऽपि तस्य भागः सर्वोत्कृष्ट एव वेदितव्यः। अन्यथा स्पष्टतरस्वफलसुखदुःखोपदर्शकत्वानुपपत्तेः ॥ इदानीं स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाऽल्पबहुत्वमभिधीयते-तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं केवलज्ञानावरणस्य प्रदेशाऽग्रम् ततो मनःपर्यवज्ञानाऽऽवरणीयस्याऽनन्तगुणम्। ततोऽवधिज्ञानाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम्। ततः श्रुतज्ञानाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम्। ततोऽपि मतिज्ञानाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनाऽऽवरणीये उत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रचलायाः प्रदेशाग्रम्। ततो निद्राया विशेषाधिकम् । ततोऽपि प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम् । ततोऽपि निद्रानिद्राया विशेषाधिकम् । ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्। ततः केवलदर्शनाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । ततोऽवधिदर्शनाऽऽवरणीयस्याऽनन्तगुणम्। ततोऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम्। ततोऽपि चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम्। तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य । ततो विशेषाधिकं सातवेदनीयस्य । तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानाऽऽवरणमानस्य । ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणक्रोधस्य विशेषाधिकम्। ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणमायाया विशेषाधिकम्। ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणलोभस्य विशेषाधिकम्। ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणमानस्य विशेषाधिकम्। ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणक्रोधस्य विशेषाधिकम्। ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणमायाया विशेषाधिकम् । ततः प्रत्याख्यानाऽऽवरणलोभस्य विशेषाधिकम्। ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकम् । ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिकम्। ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकम्। ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्। ततो भयस्य विशेषाधिकम्। ततो हास्यशोकयोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो रत्यरत्योर्विशेषाधिकम्। तयोः पुनः स्वस्थाने तुल्यम् ततः स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्। ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकम्। ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम्। ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम्। ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकम्। ततः संज्वलनलोभस्याऽसंख्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम्। नामकर्मणि उत्कृष्टपदे प्रदेशाऽग्रं गतौ देवगतिनरकगत्योः सर्वस्तोकम् । ततो मनुजगतौ विशेषाधिकम्। ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम्। तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियाऽऽदिजातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्। तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम्। तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य । ततो वैक्रियशरीरनाम्नो विशेषाधिकम् । तत औदारिकशरीरनाम्नो विशेषाधिकम्, ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकम्। ततोऽपि कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकम्। एवं संघातननाम्न्यपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाऽऽहारकबन्धननाम्नः। तत आहारकतैजसनाम्नो विशेषाधिकम्। तत आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। ततो वैक्रियवैक्रियशरीरबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। ततोऽप्यौदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम्। तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम् । ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकम्। ततोऽपि हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः। ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम्। ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम्। तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्। ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः । ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकम्। ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । ततो हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकम्। ततोऽपि शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम्। तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः । ततो विशेषाधिकं दुरभिगन्धनाम्नः । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकं कटुरसनाम्नः । ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकम्। ततः कषायरसनाम्नो विशेषाधिकम् । तत अम्लरसनाम्नो विशेषाधिकम् । ततोऽपि मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम्। तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे कर्कशगुरुस्पर्शनाम्नोः प्रदेशाग्रम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्। ततो मृदुलघुस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् स्वस्थाने तु द्वयोरपि तयोः परस्परं तुल्यम्। ततो रूक्षशीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं,स्वस्थाने तु तयोर्द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्। ततः स्निग्धोष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु तयोरपि द्वयोः परस्परं तुल्यम्। तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं देवगतिनरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम्। ततस्तिर्यगानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकम् उत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्नः। ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः। तथा सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं पर्याप्तनाम्नः। ततो विशेषाधिकमपर्याप्तनाम्नः। एवं स्थिराऽस्थिरयोः शुभाऽशुभयोः सुभगदुर्भगयोः आदेयाऽनादेययोः सूक्ष्मबादरयोः प्रत्येकसाधारणयोर्वाच्यम् । तथा सर्वस्तोकमयशःकीर्तिनाम्नः प्रदे-

शाग्रम् । ततो यशःकीर्तिनाम्नः सङ्ख्येयगुणम् । शेषाणामातपोद्द्योतप्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरदुःस्वराणां परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् । निर्माणोच्छ्वासपराघातोपघाताऽगुरुलघुतीर्थकराणां त्वल्पबहुत्वं नास्ति, यत इदमल्पबहुत्वं सजातीयप्रकृत्यपेक्षया, यथा कृष्णाऽऽदिवर्णनाम्नः शेषवर्णापेक्षं, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभगदुर्भगयोः । न चैता: परस्परं सजातीया अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात् । नाऽपि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात् । तथा-गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं नीचैर्गोत्रस्य । ततो विशेषाधिकमुच्चैर्गोत्रस्य । तथाऽन्तराये स्वस्तोकं दानाऽन्तरायस्य । ततो लाभाऽन्तरायस्य विशेषाधिकम् । ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिकम् । तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिकम् । ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम् । तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्राऽल्पबहुत्वम् ॥ सम्प्रति जघन्यपदे तदभिधीयते-तत्र सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं केवलज्ञानाऽऽवरणीयस्य । ततो मनःपर्यवज्ञानाऽऽवरणीयस्याऽनन्तगुणम् । ततोऽवधिज्ञानाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । ततः श्रुतज्ञानाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । ततोऽपि मतिज्ञानाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनाऽऽवरणीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं निद्रायाः । ततः प्रचलाया विशेषाधिकम् । ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम् । ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम् । ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम् । ततः केवलदर्शनाऽऽवरणस्य विशेषाधिकम् । ततोऽवधिदर्शनाऽऽवरणस्यानन्तगुणम् । ततोऽचक्षुर्दर्शनाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । ततोऽपि चक्षुर्दर्शनाऽऽवरणीयस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानाऽऽवरणमानस्य । ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणक्रोधस्य विशेषाधिकम् । ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणमायाया विशेषाधिकम् । ततोऽप्रत्याख्यानाऽऽवरणलोभस्य विशेषाधिकम् । तत एवमेव प्रत्याख्यानाऽऽवरणमानक्रोधमायालोभाऽनन्तानुबन्धिमानक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकं वक्तव्यम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम् । ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्यशोकयोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु तयोः परस्परं तुल्यम् । ततो रत्यरत्योर्विशेषाधिकम् । स्वस्थाने तु तयोरपि परस्परं तुल्यम् । ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनमानक्रोधमायालोभानां यथोत्तरं विशेषाधिकम् । तथाऽऽयुषि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्मनुष्याऽऽयुषोः । ततो देवनारकाऽऽयुषोरसंख्येयगुणम् । तथा नाम्नि गतौ सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रं तिर्यग्गतेः । ततो विशेषाधिकं मनुजगतेः । ततो देवगतेरसंख्येयगुणम् । ततो निरयगतेरसंख्येयगुणम् । तथा जातौ सर्वस्तोकं चतुर्णां द्वीन्द्रियाऽऽदिजातिनाम्नाम् । तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमौदारिकशरीरनाम्नः । ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकम् । ततः कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकम् । ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽसंख्येयगुणम् । ततोऽप्याहारकशरीरनाम्नोऽसंख्येयगुणम् । एवं संघातननाम्नोऽपि वाच्यम् । अङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकं जघन्यपदे प्रदेशाग्रमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः । ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसंख्येयगुणम् । ततोऽप्याहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसंख्येयगुणम् । तथा सर्वस्तोकं जघन्यपदे नरकगतिदेवगत्यानुपूर्व्योः प्रदेशाग्रम् । ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । ततोऽपि तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकं त्रसनाम्नः । ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । एवं बादरसूक्ष्मयोः पर्याप्ताऽपर्याप्तयोः प्रत्येकसाधारणयोश्च । शेषाणां तु नामप्रकृतीनामल्पबहुत्वं न विद्यते । तथा साताऽसातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रयोरपि । अन्तराये पुनर्यथोत्कृष्टपदे तथैवाऽवगन्तव्यम् । इह यदा जन्तुरुत्कृष्टे योगस्थाने वर्तते, यदा च मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च स्तोकतराणां बन्धकः, तथा यदा संक्रमकाले प्रकृत्यन्तरदलिकानामुत्कृष्टः प्रदेशसंक्रमो भवति तदोत्कृष्टप्रदेशाऽग्रसंभवः । तथाहि-उत्कृष्टे योगे वर्तमानो जीव उत्कृष्टं प्रदेशग्रहणं करोति । तथा स्तोकतराणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च यदा बन्धकस्तदा शेषाबध्यमानप्रकृतिलभ्योऽपि भागस्तासां बध्यमानानामाभजति । तथा प्रकृत्यन्तरदलिकानामुत्कृष्टप्रदेशसंक्रमकाले विवक्षितासु प्रकृतिषु बध्यमानासु प्रभूताः कर्मपुद्गलाः प्रविशन्ति । तत एतेषु कारणेषु सत्सूत्कृष्टप्रदेशाग्रसम्भवो भवति । विपर्यासे तु जघन्यप्रदेशाग्रसंभवः ॥ २८ ॥ तदेवमुक्तौ प्रकृतिप्रदेशबन्धौ ।

सम्प्रति स्थित्यनुभागबन्धप्ररूपणाऽवसरः । तत्र बहुवक्तव्यत्वात् प्रथमतोऽनुभागबन्धस्यैव प्ररूपणा क्रियते । तत्र चतुर्दशाऽनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-अविभागप्ररूपणा १, वर्गणाप्ररूपणा २, स्पर्धकप्ररूपणा ३, अन्तरप्ररूपणा ४, स्थानप्ररूपणा ५, कण्डकप्ररूपणा ६, षट्स्थानप्ररूपणा ७, अधस्तनस्थानप्ररूपणा ८, वृद्धिप्ररूपणा ९, समयप्ररूपणा १०, यवमध्यप्ररूपणा ११, ओजोयुग्मप्ररूपणा १२, पर्यवसानप्ररूपणा १३, अल्पबहुत्वप्ररूपणा १४ । तत्राऽविभागप्ररूपणार्थमाह—

गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएई गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसुं ॥ २९ ॥

(गहण त्ति) इहाऽनुभागस्य कारणं काषायिका अध्यवसायाः, "ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनात् । ते च द्विधा—शुभा, अशुभाश्च । तत्र शुभैः क्षीरखण्डरसोपममाह्लादजननमनुभागं कर्मपुद्गलानामाधत्ते, निम्बघोषातकीरसोपमं चाऽशुभैः । ते च शुभा अशुभा वा काषायिका अध्यवसायाः प्रत्येकम् असङ्ख्येयलोकाऽऽकाशप्रमाणाः, केवलं शुभा विशेषाधिका द्रष्टव्याः । तथाहि-यानेवानुभागबन्धाऽध्यवसायान् क्रमशः स्थापितान् संक्लिश्यमानः क्रमेणाऽधोऽध आस्कन्दति, तानेव विशुध्यमानः क्रमेणोर्ध्वोर्ध्वमारोहति । ततो यथा प्रासादादवतरतो यावन्ति सोपानस्थानानि भवन्ति तावन्त्येवाऽऽरोहतोऽपि, तथाऽत्रापि यावन्त एव संक्लिश्यमानस्याऽशुभाऽध्यवसायास्तावन्त एव विशुध्यमानस्याऽपि शुभाऽध्यवसायाः । उक्तं च—"क्रमशः स्थितासु काषायिकीषु जीवस्य भावपरिणतिषु । अवपतनोत्पतनाऽऽख्ये, संक्लेशाऽऽख्याविशोध्यख्ये ॥ १ ॥" केवलं क्षपको येष्वध्यवसायेषु वर्तमानः क्षपकश्रेणिमारोहति, तेभ्यः पुनर्न निवर्तते, तस्य प्रतिपाताऽभावात्, अतस्तेऽधिका इति तदपेक्षया विशेषाऽधिकाः शुभाऽध्यवसायाः

तत्र शुभेनाऽशुभेन वा एकेन केनचिदध्यवसायेन स्वप्रत्ययत इति स्वस्य-आत्मनः संबन्धिनानुभागबन्धं प्रति प्रत्ययेन-प्रत्ययभूतेन-कारणभूतेन जीवो ग्रहणसमये योग्यपुद्गलाऽऽदानसमय सर्वेषु कर्मप्रदेशेषु एकैकस्मिन् कर्मपरमाणावित्यर्थः। गुणान्-रसस्य निर्विभागान्-भागान् उत्कृष्टस्वरूपान् सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानुत्पादयति। इयमत्र भावना-इह पूर्वं कर्मप्रायोग्यवर्गणाऽन्तःपातिनः सन्तः कर्मपरमाणवो न तथाविधविशिष्टरसोपेता आसीरन्, किं तु प्रायो नीरसा एकस्वरूपाश्च। यदा तु जीवेन गृह्यन्ते, तदानीं ग्रहणसमये एव तेषां काषायिकेणाऽध्यवसायेन सर्वजीवेभ्योऽप्यनन्तगुणा रसाऽविभागा आपद्यन्ते, ज्ञानाऽऽवरणकत्वाऽऽदिविचित्रस्वभावता च। अचिन्त्यत्वात् जीवानां पुद्गलानां च शक्तेः। न चैतदनुपपन्नं, तथादर्शनात्। तथाहि-शुष्कतृणाऽऽदिपरमाणवोऽत्यन्तनीरसा अपि गवादिभिर्गृहीत्वा विशिष्टक्षीराऽऽदिरसरूपतया सप्तधातुरूपतया च परिणम्यन्ते इति॥ २६॥

अत्राऽऽह-ननु तान् रसस्याऽविभागान् किं सर्वेष्वपि कर्मपरमाणुषु तुल्यानुत्पादयति, आहोस्विद्विषमान्?। उच्यते-विषमान्। तथाहि-केषुचित्परमाणुषु स्तोकान्। ताश्च जघन्यतोऽपि सर्वजीवाऽनन्तगुणान्। केषुचित्तेभ्योऽपि प्रभूतान्। केषुचिच्च प्रभूततमान्। तत्र न ज्ञायते केषु कियन्त इति तन्निरूपणार्थं वर्गणाऽऽदिप्ररूपणामाह-

सव्वऽप्पगुणा ते पढ-मवग्गणा सेसिया विसेसूणा ।
अविभागुत्तरियाओ, सिद्धाणमणंतभागसमा ॥३०॥

( सव्व त्ति ) येषां परमाणूनां समस्तान्यपरमाण्वपेक्षया अल्पे गुणाः-स्तोका रसाऽविभागास्ते सर्वाऽल्पगुणाः परमाणव समुदिताः प्रथमा वर्गणा। तस्यां च कर्मपरमाणवोऽतिशयेन प्रभूताः। शेषाश्च वर्गणा विशेषहीनाः कर्मपरमाण्वपेक्षया। तथाहि-प्रथमवर्गणाऽपेक्षया द्वितीयवर्गणायां कर्मपरमाणवो विशेषहीनाः। ततोऽपि तृतीयस्यां वर्गणायां विशेषहीनाः। एवं तावद्वाच्यं यावत्सर्वोत्कृष्टा वर्गणा। एताश्च कथंभूता इत्याह-( अविभागुत्तरियाउ त्ति ) अविभागोत्तरा एकैकस्नेहाऽविभागाधिका इत्यर्थः। तथाहि प्रथमवर्गणापरमाण्वपेक्षया ये परमाणव एकेन रसाऽविभागेनाऽभ्यधिकास्तेषां समुदायो द्वितीया वर्गणा। तेभ्योऽप्येकेन रसाऽविभागेनाऽधिकानां समुदायस्तृतीया वर्गणा। एवमेकैकाऽविभागवृद्ध्या वर्गणास्तावद्वक्तव्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति इति॥ ३०॥ कृता वर्गणाप्ररूपणा।

सम्प्रति स्पर्धकप्ररूपणामाह-

फड्डगमणंतगुणियं, सव्वजिएहिं पि अंतरं एवं ।
सेसाणि वग्गणाणं, समाणि ठाणं पढममित्तो ॥ ३१ ॥

( फड्डग त्ति ) अभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा अनन्ता वर्गणा एकं स्पर्धकम्। एषां स्पर्धकप्ररूपणा॥ संप्रत्यन्तरप्ररूपणा क्रियते-इत ऊर्ध्वमेकेन रसाऽविभागेनाऽभ्यधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः, नापि संख्येयैः, नाप्यसंख्येयैः, नाप्यनन्तैः, किं त्वनन्ताऽनन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैरभ्यधिकाः प्राप्यन्ते। ततस्तेषां समुदायो द्वितीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा। तत एकेन रसाऽविभागेनाऽधिकानां परमाणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा। द्वाभ्यां रसाऽविभागाभ्यामधिकानां परमाणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा। एवमेकैकरसाऽविभागवृद्ध्या वर्गणास्तावद्वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति। ततस्तासां समुदायो द्वितीयं स्पर्धकम्। ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकेन रसाऽविभागेनाभ्यधिकाः परमाणवो न प्राप्यन्ते, नापि द्वाभ्यां, नापि त्रिभिः, नापि संख्येयैः, नाप्यसंख्येयैः, नाप्यनन्तैः किं त्वनन्ताऽनन्तैरेव सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणैः। ततस्तेषां समुदायस्तृतीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमा वर्गणा। ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वं यथोत्तरमेकैकरसाऽविभागवृद्ध्या द्वितीयाऽऽदिका वर्गणास्तावद्वाच्या यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागकल्पा भवन्ति। ततस्तासां समुदायस्तृतीयं स्पर्धकम्। एवं स्पर्धकानि तावद्वाच्यानि यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानि भवन्ति। तेषां समुदाय एकमनुभागबन्धस्थानम्। तथा चाऽऽह-"अणंतगुणियं सव्वजिएहिं पि" इत्यादि। प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणाया द्वितीयस्पर्धकप्रथमवर्गणायाश्चानन्तरमपि सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणितं द्रष्टव्यम्। एषाऽन्तरप्ररूपणा। एवं शेषाण्यपि स्पर्धकान्यन्तराणि च यथोक्तप्रमाणान्यवगन्तव्यानि। तानि च स्पर्धकानि एकानि-एकस्पर्धकसत्कवर्गणानां समानि अभव्येभ्योऽनन्तगुणानि सिद्धानामनन्तभागकल्पानीत्यर्थः। एक प्रथमं सर्वजघन्यमनुभागबन्धस्थानं भवति। अनुभागबन्धस्थानं नामैकेन काषायिकेणाऽध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपरमाणूनां रसस्पर्धकसमुदायपरिमाणम्॥ ३१॥ कृता स्थानप्ररूपणा।

कण्डकप्ररूपणार्थमाह-

एत्तो अंतरतुल्लं, अंतरमणंतभागुत्तरं बिइयमेवं ।
अंगुलअसंखभागो, अणंतभागुत्तरं कंडं ॥ ३२ ॥

(एत्तो त्ति) इतः-प्रथमस्थानादारभ्य द्वितीयस्थानादर्वाक् अन्तरमन्तरतुल्यं प्रागुक्तप्रमाणान्तरतुल्यं द्रष्टव्यम्। इदमुक्तं भवति-यथा प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणाया द्वितीयस्पर्धकाऽऽदिवर्गणायाश्चान्तरं सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणं समुद्दिष्टम् एवमिहाऽपि प्रथमस्थानान्तिमस्पर्धकचरमवर्गणाया द्वितीयस्थानाऽऽद्यस्पर्धकप्रथमवर्गणायाश्चान्तरं सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणमवगन्तव्यम्। तच्च द्वितीयस्थानं स्पर्धकापेक्षयाऽनन्तभागोत्तरमनन्तभागवृद्धम्। यावन्ति प्रथमे स्थाने स्पर्धकानि तावद्भ्योऽनन्तभागाधिकानि द्वितीये स्थाने स्पर्धकान्यवसेयानीत्यर्थः। एवं यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्युपदर्शितप्रकारेण स्थानानि तावद्वाच्यानि यावदङ्गुलाऽसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति। एतेषां च समुदाय एकं कण्डकम् ( अणंतभागुत्तरं ति ) अनन्तभागोत्तरमनन्तभागोत्तरस्थानसमुदायरूपत्वात्कण्डकमप्यनन्तभागोत्तरमुक्तम्। एषां कण्डकप्ररूपणा॥ सम्प्रति षट्स्थानप्ररूपणा क्रियते-तस्मात्-प्रथमात् कण्डकात् परं यदन्यदनुभागबन्धस्थानं भवति तत्स्पर्धकाऽपेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकम्। तस्मात्पराणि तु कण्डकमात्राणि स्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि। ततः परं पुनरप्येकमन्यदनुभागबन्धस्थानमसंख्येयभागाऽधि-

कम् । ततः पुनरपि कण्डकमात्राणि स्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि । ततो भूयोऽप्येकमसंख्येयभागाधिकं स्थानम् । एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः स्थानैर्व्यवहितान्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति । कण्डकं च समयपरिभाषयाऽङ्गुलमात्रक्षेत्राऽसंख्येयभागगतप्रदेशराशिसंख्याप्रमाणमभिधीयते । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकात् स्थानात् पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि स्थानानि वाच्यानि । ततः संख्येयभागाधिकमेकं स्थान वक्तव्यम् । ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति पुनरपि तथैवाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं स्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव वाच्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाऽधिकं स्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । पूर्वपरिपाट्या पुनः संख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽसंख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव पुनरपि वाच्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाऽधिकं स्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि वक्तव्यानि । तत पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । अमूनि चैवम संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । तत पुनरपि मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागभिहितानि तावन्ति पुनरपि तथैव वाच्यानि । ततो भूयोऽप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति स्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि स्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति इति ॥ ३२ ॥

इदानीं सूत्रमनुश्रियते—

एगं असंखभागे-णऽणंतभागुत्तरं पुणो कंडं ।

एवं असंखभागु-त्तराणि जा पुव्वतुल्लाणि ॥ ३३ ॥

( एगं ति ) ततः—प्रथमात् कण्डकादुपरि एकमनुभागबन्धस्थानम् । ( असंखभागेण ) असंख्येयेन भागेनाऽधिकं द्रष्टव्यं पूर्वस्थानगतस्पर्धकापेक्षयाऽसंख्येयभागाधिकैः स्पर्धकैरधिकं द्रष्टव्यमित्यर्थः तत पुनरप्यनन्तभागोत्तरं कण्डं यथोत्तरमनन्तभागवृद्धाना स्थानानां कण्डकम् । ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागाधिकं स्थानम् । एवमनन्तभागवृद्धकण्डकव्यवहितान्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्पूर्वतुल्यानि भवन्ति, कण्डकमात्राणि भवन्तीत्यर्थः । ततः पुनरप्यनन्तभागवृद्धस्थानानां कण्डकमभिधाय ततः परमेकं संख्येयभागोत्तरं संख्येयभागाधिकमेकं स्थानं द्रष्टव्यम् ॥ ३३ ॥

तथा चाऽऽह—

एगं संखेज्जुत्तर-मेत्तो तीयाण तिच्छिया बीयं ॥

ताण वि पढमसमाइ, संखेज्जगुणोत्तरं एक्कं ॥३४॥

( एगं ति ) ( एत्तो त्ति ) इतः—संख्येयभागाधिकात् स्थानात् परतो—मूलादारभ्य यावन्त्यनुभागबन्धस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्त्यतिक्रम्य—गत्वा द्वितीयं संख्येयभागाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । तान्यपि संख्येयभागाधिकानि स्थानान्युपदर्शितप्रकारेण तावद्वाच्यानि यावत्प्रथमसमानि भवन्ति प्रथमकण्डकतुल्यानि भवन्तीत्यर्थं । ततः पूर्वपरिपाट्या । संख्येयभागाधिकस्थानप्रसङ्ग संख्येयगुणोत्तरं—संख्येयगुणाधिकं स्थानमेक वक्तव्यम् ॥ ३४ ॥

एत्तो तीयाणि अइ-च्छियाणि बिइयमवि ताणि पढमस्स ।

तुल्लाणऽसंखगुणियं, एक्कं तीयाण एक्कस्स ॥ ३५ ॥

( एत्तो त्ति ) इतः—संख्येयगुणोत्तरादनुभागबन्धस्थानात् यावन्ति मूलत आरभ्य प्रागतीतानि-अतिक्रान्तान्यनुभागबन्धस्थानानि तावन्त्यतिक्रम्य-द्वितीयं संख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् । तान्यप्येवं तावद्वक्तव्यानि यावत्प्रथमस्याऽनन्तभागवृद्धस्थानकण्डकस्य तुल्यानि भवन्ति । ततः पूर्वपरिपाट्या पुनः संख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गे असंख्येयगुणाधिक स्थानमेकं वक्तव्यम् । ततो मूलत आरभ्य यावन्त्यतीतानि तावन्ति भूयोऽप्यतिक्रम्य-गत्वा द्वितीयकमसंख्येयगुणाधिकं स्थानं वक्तव्यम् ।

बिइयं ताणि समाइं, पढमस्साणंतगुणियमेगं तो ।

तीयाणइच्छियाणं-ताण वि पढमस्स तुल्लाइं ॥ ३६ ॥

( बिइय त्ति ) तान्यप्यसंख्येयगुणाधिकानि स्थानानि प्रथमस्य मूलभूतस्यानन्तभागवृद्धकण्डकस्य समानि—तुल्यानि भवन्ति । तत पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणितम्-अनन्तगुणाधिक स्थानमेकं वक्तव्यम् । ततो मूलत आरभ्य यानि अनुभागबन्धस्थानान्यतीतानि तानि भूयोऽप्यतिक्रम्य-गत्वा द्वितीयमनन्तगुणाऽधिकं स्थानं वक्तव्यम् । एव तान्यप्यनन्तगुणाधिकानि स्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्प्रथमस्यानन्तभागवृद्धस्थानकण्डकस्य तुल्यानि भवन्ति । ततः पूर्वपरिपाट्या पञ्चकवृद्ध्यनन्तर पुनरप्यनन्तगुणाधिक स्थानमुत्पद्यते , किं वा नेति चेदुच्यते—नोत्पद्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । एतत्प्रथमं षट्स्थानकम् ॥ ३६ ॥

अस्मिँश्च षट्स्थानकेऽनन्तभागवृद्धिः , असंख्येयभागवृद्धिः , संख्येयभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः , असंख्येयगुणवृद्धि , अनन्तगुणवृद्धिश्चोक्ता । तत्र कियन्मात्रेणानन्ताऽसंख्येयसंख्येयतमेन भागेन कियन्मात्रेण वाऽनन्ताऽसंख्येयसंख्येयगुणकारेण वृद्धिर्भवतीति तत्परिज्ञानार्थमाह—

सव्वजियाणमसंखे-ज्जलोग संखेज्जगस्स जेट्ठस्स ।

भागो तिसु गुणणा तिसु,छट्ठाणमसंखिया लोगा ॥३७॥

( सप्पे त्ति ) आद्यासु तिसृषु वृद्धिष्वनन्ताऽसंख्येयसंख्येयानां भागो यथाक्रमं सर्वजीवानामसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशानामुत्कृष्टस्य च संख्येयस्य द्रष्टव्यः । उत्तरासु च तिसृषु वृद्धिषु गुणना-गुणकारोऽनन्ताऽसंख्येयसंख्येयानां यथाक्रममेतेषामेव सर्वजीवाऽऽदीनामवगन्तव्या । इदमुक्तं भवति-प्रथमस्याऽनुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं सोऽनन्तभाग इह ग्राह्यः । तेनाऽभ्यधिकं द्वितीयमनुभागस्थानम् । तस्याऽपि सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लब्धं तेनाभ्यधिकं तृतीयमनुभागबन्धस्थानम् । एवं यद्यदनुभागबन्धस्थानमनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत्पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्याऽनुभाबन्धस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लभ्यते तेन तेनाऽनन्ततमेन भागेनाऽभ्यधिकमवगन्तव्यम् । तथाऽसंख्येयभागाधिकं नाम पाश्चात्यस्याऽनुभागबन्धस्थानस्याऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यल्लभ्यते सोऽसंख्येयतमो भागः । तेनाऽसंख्येयतमेन भागेनाभ्यधिकमसंख्येयभागाधिकं द्रष्टव्यम् । तथा संख्येयभागाधिकं नाम पाश्चात्यस्यानुभागबन्धस्थानस्य उत्कृष्टेन सख्येयेन भागे हृते सति यल्लभ्यते स संख्येयतमो भागः । तेन संख्येयतमेन भागेनाभ्यधिकमवगन्तव्यम् । तथा संख्येयगुणवृद्धं नाम पाश्चात्यमनुभागबन्धस्थानमुत्कृष्टसंख्येयकप्रमाणेन राशिना गुण्यते । गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति एतावत्प्रमाणमवगन्तव्यम् । तथाऽसंख्येयगुणवृद्धं नाम पाश्चात्यमनुभागबन्धस्थानमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशसंख्याप्रमाणेन राशिना गुण्यते । गुणिते च सति यावान् राशिर्भवति तावत्प्रमाणमवसेयम् । एवमनन्तगुणवृद्धमपि भावनीयम् । प्रथमस्य षट्स्थानकस्य परिसमाप्तौ सत्यामुपरि यदन्यदनुभागस्थानमुपजायतेऽनन्तभागवृद्धं तत् द्वितीयस्य षट्स्थानकस्य प्रथममवगन्तव्यम् । तदपि च द्वितीयं षट्स्थानक पूर्वक्रमेण सकलमपि वक्तव्यम् । एवं शेषाण्यपि षट्स्थानकानि वक्तव्यानि । तानि च तावद्वक्तव्यानि यावदसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । तथा चाऽऽह-"छट्ठाणमसंखिया लोगा ।" अत्र कश्चित्प्रश्नयति—ननु प्रथमानुभागबन्धस्थानस्य सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागोऽपह्रियते किं रसाविभागापेक्षया, उत-परमाण्वपेक्षया, यद्वा-स्पर्धकाऽपेक्षया ? । तत्र न तावद्रसाविभागापेक्षया, प्रथमस्थानात् द्वितीयस्थानेऽपि रसाऽविभागानां संख्येयाऽऽदिगुणतया प्राप्यमाणत्वात् । तथाहि—प्रथमे स्थाने प्रथमे स्पर्धके प्रथमवर्गणायामनन्ता अपि रसाऽविभागाः किलाऽसत्कल्पनया सप्त । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टौ । तृतीयस्यां नव । चतुर्थ्यां दश । इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं त्वेकोत्तरवृद्ध्या रसाऽविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तदश । एते च द्वितीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टादश । तृतीयस्यामेकोनविंशतिः । चतुर्थ्यां विंशतिः । इदं द्वितीयं स्पर्धकम् । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्ध्या रसाऽविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः । ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तविंशतिः । एते च तृतीयस्य-स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टाविंशतिः । तृतीयस्यामेकोनत्रिंशत् । चतुर्थ्यां त्रिंशत् । इदं तु तृतीयं स्पर्धकम् । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्ध्या रसाऽविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणाभ्यधिकाः । ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तत्रिंशत् । एते चतुर्थस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टात्रिंशत् । तृतीयस्यामेकोनचत्वारिंशत् । चतुर्थ्यां चत्वारिंशत् । इदं चतुर्थं स्पर्धकम् । एतानि च किलाऽसत्कल्पनया प्रथममनुभागबन्धस्थानम् । अत्र च रसाऽविभागाः सर्वसंख्यया षट्सप्तत्यधिकानि त्रीणि शतानि । इत ऊर्ध्वं त्वेकोत्तरवृद्ध्या रसाऽविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणाभ्यधिकाः । ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तचत्वारिंशत् । एते च द्वितीयस्य स्थानस्य प्रथमस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टचत्वारिंशत् । तृतीयस्यामेकोनपञ्चाशत् । चतुर्थ्यां पञ्चाशत् । इदं द्वितीये स्थाने प्रथमं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं त्वेकोत्तरवृद्ध्या रसाऽविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तपञ्चाशत् । एते च द्वितीयस्थाने द्वितीयस्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टपञ्चाशत् । तृतीयस्यामेकोनषष्टिः चतुर्थ्यां षष्टिः । इद द्वितीयस्थाने द्वितीयं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरवृद्ध्या रसाविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवानन्तगुणाधिकाः । ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तषष्टिः । एते च द्वितीये स्थाने तृतीयस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् । ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टषष्टिः । तृतीयस्यामेकोनसप्ततिः । चतुर्थ्यां सप्ततिः । इदं द्वितीये स्थाने तृतीयं स्पर्धकम् । तत इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्ध्या रसाऽविभागा न प्राप्यन्ते, किं तु सर्वजीवाऽनन्तगुणाधिकाः । ते च किलाऽसत्कल्पनया सप्तसप्ततिः । ( एते च द्वितीये स्थाने चतुर्थस्य स्पर्धकस्य प्रथमवर्गणायाम् ) ततो द्वितीयस्यां वर्गणायामष्टसप्ततिः तृतीयस्यामेकोनाऽशीतिः । चतुर्थ्यामशीतिः इदं च द्वितीयस्थाने चतुर्थं स्पर्धकम् । एतानि च किलाऽसत्कल्पनया द्वितीयं स्थानम् । अत्र च रसाऽविभागाः सर्वसंख्यया षोडशाऽधिकं सहस्रम् । तदेवं प्रथमस्थानगतरसाऽविभागापेक्षया द्वितीयस्थाने रसाऽविभागाः संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते । उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिंस्तु स्थाने पूर्वपूर्वस्थानाऽपेक्षया प्रभूताः प्रभूततमा इति न क्वापि रसाविभागाऽपेक्षया पूर्वस्थानादुत्तरस्य स्थानस्याऽनन्तभागाधिकत्वं प्राप्यते । नाऽपि परमाण्वपेक्षयाऽनन्तभागाधिकत्वसम्भवः, यतो यथा यथाऽनुभागो वर्धते तथा तथा पुद्गलाः स्तोकाः स्तोकतराः प्राप्यन्ते । ततः प्रथमस्थानगतपरमाण्वपेक्षया द्वितीये स्थाने परमाणवः किञ्चिदूना एव भवन्ति नानन्तभागाधिकाः । एवमुत्तरेष्वपि स्थानेषु पूर्वपूर्वस्थानाऽपेक्षया हीनहीनतरपरमाणुत्वं द्रष्टव्यम् । नाऽपि स्पर्धकाऽपेक्षया प्रथमस्थानाऽऽदीनां सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागाऽपहारः संभवति, प्रथमस्थानाऽऽदिगतस्पर्धकानामभव्याऽनन्तगुणसिद्धाऽनन्तभागकल्पत्तयाऽतीव स्तोकत्वादिति । अत्रोच्यते—इयं हि षट्स्थानकप्ररूपणा संयमश्रेण्याऽऽदिगतसकलषट्स्थानकव्यापकलक्षणतया प्ररूप्यते

ततो यद्यप्यनन्तगुणवृद्धात् स्थानादर्वाक्तनेषु स्थानेषु सर्वजीवप्रमाणेन राशिना स्पर्धकापेक्षया भागहारो न संभवति. तथाऽप्युत्तरेषु स्थानेष्वन्येष्वपि च द्वितीयाऽऽदिषु षट्स्थानेषु तथा सर्वेष्वपि संयमश्रेण्यादिगतेषु संभवतीति न कश्चिद् विरोधः, बाहुल्येन सर्वत्राऽपि संभवात्, "सर्वजीवप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते" इति वचनाच्च अनन्तगुणवृद्धात् स्थानादर्वागपि पूर्वस्थानेभ्य उत्तरोत्तरस्थानानां सर्वस्तोकाऽनन्तभागाऽधिकत्वमवसेयम् । यद्यपि च पूर्वपूर्वस्थानापेक्षयोत्तरोत्तरस्थानेषु किञ्चिद्धीनहीनतराः परमाणवः प्राप्यन्ते तथाऽपि स्तोकस्तोकतरैः परमाणुभिर्वर्गणाऽऽदीना संभवाद्युक्तस्वरूपस्पर्धकवाहुल्यं न विरुध्यते। तदेवमुक्ता षट्स्थानकप्ररूपणा ॥ साम्प्रतमधस्तनस्थानप्ररूपणा क्रियते-तत्र प्रथमादसंख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्त्यनुभागबन्धस्थानान्यनन्तभागवृद्धानि ? । उच्यते-कण्डकमात्राणि । तथा प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात्स्थानात् अध. कियन्त्यसंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते कण्डकमात्राणि । तथा प्रथमात्संख्येयगुणवृद्धात्स्थानादध. कियन्ति संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकमात्राणि । तथा प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धात् स्थानादध कियन्ति संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकमात्राणि । तथा प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादध कियन्त्यसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकमात्राणि । इयमुत्तरोत्तरस्थानादधोऽध आनन्तर्येण मार्गणा ॥ इदानीमेकान्तरिता मार्गणा क्रियते-तत्र प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात् स्थानादध. कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकवर्ग', कण्डकं च । तथा प्रथमात्संख्येयगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्त्यसंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकवर्ग', कण्डकं च । तथा प्रथमादसंख्येयगुणवृद्धात् स्थानादध. कियन्ति संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते—कण्डकवर्ग', कण्डकं च । तथा प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादध. कियन्ति संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ?। उच्यते—कण्डकवर्ग', कण्डक च । एवमुक्तप्रकारेण द्व्यन्तरिता त्र्यन्तरिता चतुरन्तरिता च मार्गणा स्वधिया परिभावनीया ॥ ३७ ॥ तदेव कृताऽधस्तनस्थानप्ररूपणा ।

साम्प्रतं वृद्धिस्थानप्ररूपणा क्रियते—

वुड्ढी हाणी छक्कं, तम्हा दोण्ह पि अंतमिल्लाणं ।
अंतोमुहुत्तमावलि, असंखभागा उ सेसाण ॥ ३८ ॥

( वुड्डि त्ति ) इह जीवा परिणतिविशेषत. कर्मपरमाणुष्वनुभागस्य षड्विधामुक्तस्वरूपा वृद्धिं हानिं वा कुर्वन्ति । तस्मात् का वृद्धिं कियन्त कालं यावत् कुर्वन्तीत्यवश्य कालप्रमाणमभिधानीयम् । तत्र द्वयोर्वृद्धिहान्योरन्तिमयोरनन्तगुणवृद्ध्यनन्तगुणहानिरूपयोरन्तर्मुहूर्त्तमवगन्तव्यम्। किमुक्त भवति ?—अन्तर्मुहूर्त्तं काल यावन्निरन्तर जीवा. परिणामविशेषतः प्रतिसमयमनुभागान् पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धाननन्तगुणहीनान् वा बध्नन्ति । तथा शेषाणा पञ्चानामाद्याना वृद्धीना हानीना वा आवलिकाया असंख्येयभागमात्र. कालो वेदितव्य. । इदमुक्तं भवति—अनुभागानामाद्या पञ्च वृद्धीर्हानीर्वा आवलिकाया असंख्येयभागमात्रं काल यावन्निरन्तरं जीवा परिणामविशेषत. कुर्वन्ति। एषा च हानिवृद्धिकालप्ररूपणोत्कर्षतोऽवगन्तव्या। जघन्यतस्तु सर्वा अपि वृद्धयो हानयो वा एक द्वौ वा समयौ यावदवगन्तव्याः ॥ ३८ ॥

इदानीमेतेष्वनुभागस्थानेषु बन्धमाश्रित्याऽवस्थाने कालमानमाह—

चउराई जावट्ठग-मेत्तो जावं दुगं तिसमयाणं ।
ठाणाणं उक्कोसो, जहण्णओ सव्वहिं समओ ॥ ३९ ।

(चउराइ त्ति) चत्वार आदिर्यस्या. सा चतुरादि.-वृद्धि' । सा च समयानामवस्थितकालनियामकाना तावद् द्रष्टव्या यावदष्टौ समयाः । इत ऊर्ध्वं पुन समयाना हानिर्वक्तव्या । सा च तावद्वक्तव्या यावत् द्विकम्। सा च वृद्धिर्हानिर्वा चतुरादिका स्थानानामनुभागबन्धस्थानानामुत्कर्षतो द्रष्टव्या। जघन्यतस्तु सर्वेषामपि समय. । इयमत्र भावना· यानि अनुभागबन्धस्थानानि जीवा पुनः पुनस्तान्येव चतुर समयान् यावद् बध्नन्ति तानि चतु सामयिकानि । तानि च मूलादारभ्याऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । तेभ्य उपरितनानि स्थानानि पञ्चसामयिकानि तान्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनानि स्थानानि षट् सामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनानि स्थानानि सप्तसामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनान्यष्टसामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि। तेभ्य उपरितनानि पुन· स्थानानि सप्त सामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि । तेभ्य उपरितनानि षट् सामयिकानि, तान्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि। एव तावद्वाच्य यावद् द्विसामयिकानि ॥ ३९ ॥ तदेव कृता समयप्ररूपणा ।

इदानीं यान्यनुभागबन्धस्थानानि अष्टसामयिकानि तानि यस्या वृद्धौ हानौ वा प्राप्यन्ते तामाह—

दुसु जवमज्झ थोवा-णि अट्ठसमयाणि दोसु पासेसु ।
समऊणियाणि कमसो, असंखगुणियाणि उप्पिं च ।४०।

( दुसु त्ति ) द्वयोर्विकल्पयोरनन्तगुणवृद्ध्यनन्तगुणहानि· रूपयोर्यवमध्य वर्तते । यवस्य मध्यमिव यवमध्यमष्टसामयिकान्यनुभागबन्धस्थानानीत्यर्थ । यथा यवस्य मध्य पृथुलमुभयत. पार्श्वे च हीने हीनतरे, तथाऽत्रापि कालतः पृथुलानि अष्टसामयिकानि अनुभागबन्धस्थानानि, उभयपार्श्ववर्तीनि च सप्तसामयिकाऽऽदीनि कालतो हीनानि हीनतराणि । ततोऽष्टसामयिकानि यवस्य मध्यमिव यवमध्यम्, तानि च प्रथमादष्टसामयिकात् स्थानादारभ्य सर्वाण्यप्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि अनन्तगुणवृद्धौ प्राप्यन्ते । सप्तसामयिकानां हि चरमादनुभागबन्धस्थानात् प्रथममष्टसामयिकं स्थानमनन्तगुणवृद्धम्। तत शेषाण्यपि तदपेक्षयाऽनन्तगुणवृद्धान्येव भवन्ति । तथाऽष्टसामयिकाना चरमादनुभागबन्धस्थानादुपरितनं सप्तसामयिकं स्थानमनन्तगुणवृद्धम् । ततस्तदपेक्षया पाश्चात्यान्यष्टसामयिकान्यनुभागबन्धस्थानानि सर्वाण्यप्यनन्तगुणहीनान्येव भवन्ति । तदेवमष्टसामयिकान्यनन्तगुणवृद्धौ अनन्तगुणहानौ

च प्राप्यन्ते । अष्टसामयिकानि चोपलक्षणं, तेनाऽऽद्यानि चतुःसामयिकानि सर्वान्तिमानि च द्विसामयिकानि चर्ज्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्च सामयिकाऽऽदीनि प्रत्येक- मुक्तप्रकारेणाऽनन्तगुणवृद्धावनन्तगुणहानौ च वेदितव्यानि । आद्यानि पुनः चतुःसामयिकान्यनन्तगुणहानावेव । तथाहि- पञ्चसामयिकमाद्यमनुभागबन्धस्थानं चतुःसामयिकचरमाऽनुभागबन्धस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणवृद्धम् । ततस्तदपेक्षया पाश्चात्यानि चतुःसामयिकानि सर्वाण्यप्यनुभागबन्धस्थानान्यनन्तगुणहानावेव प्राप्यन्ते, द्विसामयिकानि त्वनन्तगुणवृद्धावेव । तथाहि-त्रिसामयिकाना चरमादनुभागबन्धस्थानादाद्यं द्विसामयिकमनुभागबन्धस्थानमनन्तगुणवृद्धं, ततस्तदपेक्षया सर्वाण्यप्यनन्तगुणवृद्धान्येव । कृता यवमध्यप्ररूपणा ॥ साम्प्रत चतुःसामयिकाऽऽदीना स्थानानामल्पबहुत्वमाह-( थोवाणीत्यादि ) सर्वस्तोकानि यवमध्यभूतानि अष्टसामयिकानि स्थानानि । अतिचिरबन्धकालयोग्यानि हि स्थानानि स्तोकान्येव प्राप्यन्ते इति कृत्वा तेभ्योऽसंख्येयगुणानि पूर्वोत्तरलक्षणोभयपार्श्ववर्तीनि सप्तसामयिकानि अल्पतरबन्धकालविषयत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि । तेभ्योऽप्यसख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्तीनि षट्सामयिकानि स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्पर तुल्यानि । तेभ्योऽप्यसख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्तीनि पञ्चसामयिकानि । स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि । तेभ्योऽप्यसख्येयगुणानि उभयपार्श्ववर्तीनि चतुःसामयिकानि । स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्पर तुल्यानि- तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणानि त्रिसामयिकानि । तेभ्योऽप्यसख्येयगुणानि द्विसामयिकानि । ( दोसु पासेसु त्ति ) अष्टसामयिकेभ्योऽनन्तर द्वयोः पार्श्वयोः क्रमशः-क्रमेण समयोनानि समयोनानि सप्त सामयिकाऽऽदीनि स्थानानि असख्येयगुणानि तावद्वक्तव्यानि यावच्चतु सामयिकानि । तेभ्य उपरि च त्रिसामयिकानि द्विसामयिकानि च क्रमशोऽसंख्येयगुणानि वक्तव्यानीति गाथाऽर्थः ॥ ४० ॥

संप्रति सर्वेषामेवाऽनुभागबन्धस्थानानां समुदायमाश्रित्य विशेषसंख्यानिरूपणार्थमाह—

**सुहुमगणिपवेसणया, अगणिकाया य तेसि कायठिई ।**
**कमसो असंखगुणिया-णु(अ)ज्झवसाणाणि चऽणुभागे४१**

( सुहुम त्ति ) सूक्ष्माऽग्नौ—सूक्ष्माग्निकाये प्रवेशनमुत्पादो येषा ते सूक्ष्माग्निप्रवेशनका. । तथाऽग्निकाया-अग्निकायत्वेनाऽवस्थिताः । तथा तेषामग्निकायानां कायस्थिति- कायस्थितिकालः । एते क्रमशः-क्रमेणाऽसंख्येयगुणिताः । तथाऽनुभागे-अनुभागविषयेऽध्यवसानानि, कार्ये कारणोपचारादध्यवसायनिवर्त्यानि यान्यनुभागबन्धस्थानानि , तान्यसंख्येयगुणानि । उक्त च—" सुहुमगणिं पविसंता, चिट्ठंता तेसि कायठिइकालो । कमसो असखगुणिओ, तत्तो अणुभागठाणाइं ॥ १॥ " इयमत्र भावना-ये एकस्मिन् समये सूक्ष्माऽग्निकायेषु मध्ये प्रविशन्ति—उत्पद्यन्ते ते स्तोकाः, ते चाऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः । तेभ्योऽपि येऽग्निकायत्वेनावतिष्ठन्ते तेऽसख्येयगुणा. तेभ्योऽप्यग्निकायस्थितिकालोऽसंख्येयगुण. । ततोऽप्यनुभागबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि ॥ ४१॥ संप्रत्योजोयुग्मप्ररूपणाऽवसरः-तत्र-ओजः-विषमं, समं युग्मं,तत्प्ररूपणा चैवम्-इह कश्चिद्विवक्षितो राशिः स्थाप्यते, तस्य कलिद्वापरत्रेताकृतयुगसंज्ञैश्चतुर्भिर्भागो ह्रियते । भागे च हृते सति यद्येकः शेषो भवति तर्हि स राशिः पूर्वपुरुषपरिभाषया कल्योज उच्यते, यथा त्रयोदश । अथ द्वौ शेषौ तर्हि द्वापरयुग्मः, यथा चतुर्दश । अथ त्रय. शेषास्ततस्त्रेतौजो, यथा पञ्चदश । यदा तु न किञ्चिदवतिष्ठते , किं तु सर्वाऽऽत्मना निर्लेप एव भवति, तदा स कृतयुगो, यथा षोडश । उक्तं च—" चउदस दावरजुम्मा , तेरस कलिओज तह य कडजुम्मा । सोलस तेओजो खलु, पन्नरसेवं खु विन्नेया ॥ १ ॥ " ॥ ४१ ॥

तत्राऽविभागाऽऽदयो यादृग्राशिरूपा वर्त्तन्ते तादृग्राशिरूपमाह—

**कडजुम्मा अविभागा, ठाणाणि य कंडगाणि अणुभागे ।**
**पज्जवमाणमणंतगु-णाओ उप्पिं न (अ)णंतगुणं ॥४२॥**

( कडजुम्मे त्ति ) अनुभागे—अनुभागविषयेऽविभागस्थानानि कण्डकानि च कृतयुग्मानि कृतयुग्मराशिरूपाणि द्रष्टव्यानि । कृतौजोयुग्मप्ररूपणा ॥ सम्प्रति पर्यवसानद्वारमाह— पज्जवसाणेत्यादि ।' अनन्तगुणाद्-अनन्तगुणवृद्धिकण्डकादुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि सर्वाणि स्थानानि गत्वा पुनरनन्तगुणवृद्धं स्थानं न प्राप्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । ततस्तदेव सर्वाऽन्तिम स्थानं षट्स्थानकस्य पर्यवसानमिति ॥ ४२ ॥

सम्प्रत्यल्पबहुत्वप्ररूपणार्थमाह—

**अप्पबहुमणंतरओ, असंखगुणियाणऽणंतगुणमाई ।**
**तव्विवरीयमियरओ, संखेज्जक्खेसु संखगुणं ॥ ४३ ॥**

( अप्प त्ति ) इह द्विधाऽल्पबहुत्वप्ररूपणा—अनन्तरोपनिधया , परम्परोपनिधया च । तत्रैकस्मिन् षट्स्थानकेऽन्तिमस्थानादारभ्य पश्चानुपूर्व्याऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा क्रियते—अनन्तगुणान्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानान्यादौ कृत्वा शेषाण्यसंख्येयगुणितानि वक्तव्यानि । तद्यथा—सर्वस्तोकान्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानानि , कण्डकमात्रत्वात्तेषाम् । तेभ्योऽसख्येयगुणवृद्धानि । स्थानान्यसख्येयगुणानि को गुणकारः ? । भण्यते—कण्डकम् , एककण्डकप्रक्षेपश्च । कुत एतदवसीयत इति चेत् ? उच्यते—इह यस्मादेकैकस्याऽनन्तगुणवृद्धस्य स्थानस्याऽधस्तादसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राणि प्राप्यन्ते । तेन कण्डकं गुणकारः । अनन्तगुणवृद्धस्थानकण्डकाच्चोपरि कण्डकमात्राण्यसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि प्राप्यन्ते , न त्वनन्तगुणवृद्धं स्थानं. तेनोपरितनकण्डकस्याधिकस्य तत्र प्रक्षेप । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्यः संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि संख्येयभागाधिकानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि । तेभ्योऽप्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि । तेभ्योऽप्यनन्तभागवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि । गुणकारश्च सर्वत्रापि कण्डकम् उपरि चैककण्डकप्रक्षेपः । तथाहि—एकैकस्याऽसंख्येयगुणवृद्धस्य स्थानस्याऽधस्तात् संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राणि प्राप्यन्ते । तेन कण्डकं—गुणकार. । असंख्येयगुणवृद्धकण्डकाच्चोपरि कण्डकमात्राणि संख्येयगुणवृद्धानि स्था-

द्धानि प्राप्यन्ते । तदनन्तरं त्वनन्तगुणवृद्धमेव स्थानं भवति, असंख्येयगुणवृद्धम् । प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादर्वाक् असंख्येयगुणवृद्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि लभ्यन्ते । न तत ऊर्ध्वमपि । तेनोपर्येकैकेन कण्डकस्याऽधिकस्य प्रक्षेपः । एवं संख्येयभागवृद्धाऽऽदीनामपि स्थानानामसंख्येयगुणत्वे गुणकारभावना द्रष्टव्या । तदेवं कृता अनन्तरोपनिधया अल्पबहुत्वप्ररूपणा ॥ संप्रति परम्परोपनिधया तां कुर्वन्नाह-(तविवरीयमियरओ त्ति) इतरतः-इतरस्यां परम्परोपनिधायां तद्विपरीत-येन क्रमेणोक्तमनन्तरोपनिधायां तद्विपरीतं द्रष्टव्यम् । इहाऽऽदित आरभ्य वक्तव्यमित्यर्थः । तथाहि-सर्वस्तोकानि अनन्तभागवृद्धानि स्थानानि यस्मादाद्यानुभागबन्धस्थानादारभ्यानन्तभागवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राण्येव प्राप्यन्ते, नाधिकानि । तेभ्योऽप्यसंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि । कथमिति चेद् उच्यते-अनन्तभागवृद्धकण्डकादुपरितन प्रथमसंख्येयभागवृद्धं स्थानं यदि पाश्चात्यकण्डकस्तकचरमस्थानाऽपेक्षयाऽसंख्येयेन भागेनाऽधिकं, तत उपरितनमनन्तभागवृद्धं स्थानं तदपेक्षया सुतरामसंख्येयभागवृद्धं भवति । अनन्तभागवृद्धं हि तत्प्रथमाऽसंख्येयभागवृद्धस्थानापेक्षया । अनन्तभागवृद्धकण्डकस्यकचरमस्थानापेक्षया त्वसंख्येयभागाधिकमेव । तत उपरितनानि स्थानानि विशेषतो विशेषतरतोऽसंख्येयभागाधिकानि तावद् द्रष्टव्यानि यावत्संख्येयभागाधिकं स्थानं न भवति । तदेवं यतः प्रथमादसंख्येयभागवृद्धात् स्थानादारभ्य प्रथमात् संख्येयभागवृद्धात् स्थानादर्वागपान्तराले यानि स्थानानि तानि सर्वाण्यप्यसंख्येयभागवृद्धानि प्राप्यन्ते । तस्मादनन्तभागवृद्धेभ्यः स्थानेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, तेभ्योऽपि संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि संख्येयगुणानि । कुत एतत्सिध्यत इति चेदुच्यते-प्रथमे संख्येयभागवृद्धे स्थाने पाश्चात्यमनन्तरस्थानमधिकृत्य संख्येयभागवृद्धिः प्राप्यते । यद्यपि प्रथमेऽपि संख्येयभागवृद्धे स्थाने संख्येयभागवृद्धिः प्राप्ता, तर्हि तत प्रथमात् स्थानादुत्तरेषामनन्तभागवृद्धाऽसंख्येयभागवृद्धानां स्थानानां सुतरां संख्येयभागवृद्धिर्भवति । यतोऽनन्तभागवृद्धिरसंख्येयभागवृद्धिर्वा पूर्वपूर्वा (न) न्तरस्थानापेक्षया । प्रथमसंख्येयभागवृद्धात्पुनः प्राक्तनमनन्तरं स्थानमधिकृत्य सर्वाण्यप्यनन्तभागवृद्धानि । असंख्येयभागवृद्धानि च स्थानानि यथोत्तरं सविशेषविशेषतरं संख्येयभागवृद्धानि भवन्ति । सविशेषतरसंख्येयभागवृद्धिश्च तावद्वक्तव्या यावन्मौलं । द्वितीयं संख्येयभागाधिकं स्थानं न भवति । द्वितीयं मौलं संख्येयभागाधिकं स्थानं द्वाभ्यां साऽतिरेकाभ्यां संख्येयभागाभ्यामधिकमवगन्तव्यम् । तृतीयं त्रिभिः साऽतिरेकैः । चतुर्थं चतुर्भिः साऽतिरेकैः । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टसंख्येयतुल्यान्यन्तराऽन्तराभावीनि मौलानि संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि भवन्ति । एतावन्ति चाऽन्तराले यावन्ति स्थानानि तावन्ति सर्वाण्यपि संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि, किं त्वेकेन सर्वान्तिमेन स्थानेन न्यूनानि द्रष्टव्यानि । यत उत्कृष्टसंख्यातमसंख्येयभागवृद्धं स्थानं संख्येयगुणं भवति । (द्विगुणत्वात्), ततस्तत्परित्यज्यते । तदिह यावन्ति असंख्येयभागवृद्धानि स्थानान्यनन्तरमुक्तानि तावन्ति एकैकस्मिन्नन्तराऽन्तराभाविनां संख्येयभागवृद्धानां स्थानानामन्तरे प्राप्यन्ते । तानि चाऽन्तराऽन्तराभावीनि मौलानि संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि प्रथमसंख्येयभागवृद्धस्थानकतुल्यानि भवन्ति । केवलं तदेवैकं सर्वान्तिमं संख्येयभागवृद्धं परित्यज्यते । ततोऽसंख्येयभागवृद्धेभ्यः स्थानेभ्यः संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि संख्येयगुणान्येव भवन्ति । तेभ्योऽपि संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि संख्येयगुणानि । कथमिति चेद् उच्यते-प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात् स्थानात् प्राक्तनं यदनन्तरं स्थानं तदधिकृत्योत्तराणि अन्तराऽन्तराभावीनि मौलानि संख्येयभागवृद्धानि स्थानानि उत्कृष्टसंख्यातकतुल्यानि गत्वा चरमं स्थानं द्विगुणं साधिकमुपलभ्यम् । ततः पुनरपि तावन्मात्राण्येव स्थानानि गत्वा चरमं स्थानं सातिरेकं त्रिगुणम् । एवमेव चतुर्गुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टसंख्येयगुणं भवति । ततः पुनरप्युत्कृष्टसंख्यातकतुल्यानि स्थानानि गत्वा चरमं यदेकेन गुणेन वृद्धं भवति, तज्जघन्याऽसंख्येयगुणं भवति । तस्मात्संख्येयभागवृद्धेभ्यः स्थानेभ्यः संख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि संख्येयगुणान्येव भवन्ति । तथा चाऽऽह (संखज्जकखेसु संखगुणं) संख्येयाऽऽख्येषु संख्येयभागवृद्धसंख्येयगुणारूपेषु स्थानेषु संख्येयगुणं संख्येयगुणता वक्तव्या । तेभ्योऽपि संख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि । कथमिति चेद् उच्यते इह यतः प्रागुक्तादनन्तराद् जघन्याऽसंख्येयगुणात् स्थानात् पराणि सर्वाण्यप्यनन्तभागवृद्धाऽसंख्येयभागवृद्धसंख्येयभागवृद्धसंख्येयगुणवृद्धाऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि प्राप्यन्ते, ततः संख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि भवन्ति । तेभ्योऽप्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि । कथमिति चेदुच्यते-इह प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादारभ्य यावत् षट्स्थानकपरिसमाप्तिस्तावत् सर्वाण्यपि स्थानानि अनन्तगुणवृद्धानि । तथाहि-यदि प्रथममनन्तगुणवृद्धं स्थानं पाश्चात्यमनन्तरस्थानमधिकृत्याऽनन्तगुणाधिकं जातम् । तत उत्तराणि अनन्तभागवृद्धाऽऽदीनि स्थानानि तदपेक्षया सुतरामनन्तगुणवृद्धानि भवन्ति । यावन्ति च स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति एकैकस्मिन्ननन्तगुणवृद्धानामन्तराऽन्तराभाविना स्थानानामन्तरे भवन्ति । कण्डकमात्राणि चाप्यन्तराणि । ततः प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्योऽनन्तगुणवृद्धानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति इति ॥ ४३ ॥ तदेवं कृताऽल्पबहुत्वप्ररूपणा । तत्करणाच्चोक्तान्यनुभागबन्धस्थानानि ।

साम्प्रतमेतेष्वनुभागबन्धस्थानेषु निषादकत्वेन यथा जीवा वर्तन्ते तथा प्ररूपणा कर्तव्या । तत्र चाऽष्टावनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-एकैकस्मिन् स्थाने जीवप्रमाणप्ररूपणा १, अन्तरस्थानप्ररूपणा २, निरन्तरस्थानप्ररूपणा ३ नानाजीवकालप्रमाणप्ररूपणा ४, वृद्धिप्ररूपणा ५, यवमध्यप्ररूपणा ६, स्पर्शनाप्ररूपणा ७, अल्पबहुत्वप्ररूपणा ८ च ॥ तत्र प्रथमत एकैकस्मिन् स्थाने नानाजीवप्रमाणप्ररूपणार्थमाह—

थावरजीवाऽणंता, एक्केक्के तसजिया असंखेज्जा ।
लोगा सिमसंखेज्जा, अंतरमह थावरे नत्थि ॥ ४४ ॥

( थावरं त्ति ) एकैकस्मिन् स्थावराणां बन्धं प्रति प्रायोग्येऽनुभागबन्धस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते। त्रसप्रायोग्ये चैकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने जघन्येनैको द्वौ वोत्कर्षतोऽसंख्येया-आवलिकाया असंख्येयभागमात्रास्त्रसजीवाः प्राप्यन्ते ॥ साम्प्रतमनन्तरस्थानप्ररूपणामाह-( लोगासिमेत्यादि) एषां त्रसजीवानामसंख्येया लोका असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धस्थानानि अनन्तरम्, एतावन्ति बन्धं नाऽऽयान्तीत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—त्रसप्रायोग्यानि यानि स्थानानि त्रसजीवानां बन्धं नाऽऽयान्ति, तानि जघन्यपदे एकं द्वे वा उत्कर्षतोऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति ॥ अथ स्थावरे स्थावरप्रायोग्येषु स्थानेषु अन्तरं न विद्यते सर्वाण्यपि स्थावरप्रायोग्याणि स्थानानि सर्वदैव स्थावरजीवैर्बध्यमानानि प्राप्यन्त इत्यर्थः। कथमेवं गम्यत इति चेदुच्यते इह स्थावरजीवा अनन्ताः स्थावराणां बन्धं प्रति प्रायोग्याणि च स्थानानि पुनरसंख्येयानि ततोऽन्तरं न प्राप्यन्ते ॥ ४४ ॥

सम्प्रति निरन्तरस्थानप्ररूपणार्थमाह—

आवलिअसंखभागो, तसा निरंतर अहेगठाणम्मि।
नाणाजीवा एवइ-कालं एगिंदिया निच्चं ॥ ४५ ॥

( आवलि त्ति ) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा। बन्धमाश्रित्य त्रसजीवैर्निरन्तराणि। किमुक्तं भवति ?—त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानानि अनुभागबन्धस्थानानि जघन्येन द्वे त्रीणि वा प्राप्यन्ते, उत्कर्षत आवलिकाया असंख्येयभागमात्राणि। कथमेतदवसेयमिति चेदुच्यते—स्तोकास्त्रसजीवाः स्थानानि पुनस्त्रसप्रायोग्याणि असंख्येयानि, ततो न सर्वाणि त्रसजीवैः क्रमेण निरन्तरं बध्यमानानि प्राप्यन्ते, किं तूत्कर्षतोऽपि यथोक्तप्रमाणान्येव ॥ सम्प्रति नानाजीवकालप्ररूपणार्थमाह ( अहेगठाणम्मीत्यादि ) एकैकमनुभागबन्धस्थानं नानाजीवैर्बध्यमानं कियन्तं कालं यावदविरहितं प्राप्यते ?, इति प्रश्ने सति, उत्तरं दीयते—त्रसप्रायोग्ये एकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने नानारूपास्त्रसा जीवा जघन्येनैकं समयम्, उत्कर्षतः ( एवइकालं ति ) एतावन्तं कालं पूर्वोक्तस्वरूपमावलिकाया असंख्येयभागमात्रं कालं यावदित्यर्थः। निरन्तरं बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते। परतोऽवश्यं तद्बन्धशून्यं भवतीत्यर्थः। इयमत्र भावना-एकैकं त्रसप्रायोग्यमनुभागबन्धस्थानमन्यैरन्यैश्च त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानं जघन्येनैकं समयं द्वौ वा समयौ यावत्प्राप्यते। उत्कर्षतस्त्वावलिकाया असंख्येयभागमात्रं कालम्। ( एगिंदिया निच्चं ति ) स्थावरप्रायोग्य एकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने नानाविधा एकेन्द्रिया नित्यं-सर्वकालमविरहितं बन्धकत्वेन प्राप्यन्ते, न कदाचनापि तद्बन्धनशून्यं भवतीत्यर्थः। अत्रापीयं भावना-एकैकं स्थावरप्रायोग्यमनुभागबन्धस्थानमन्यैरन्यैश्च स्थावरजीवैर्निरन्तरं बध्यमानं सर्वकालमवाप्यते, न तु कदाचनाऽपि बन्धरहितं भवतीति ॥ ४५ ॥ तदेवं कृता नानाजीवानाश्रित्य कालप्ररूपणा।

संप्रति वृद्धिप्ररूपणाऽवसरः। तत्र च द्वे अनुयोगद्वारे। तद्यथा—अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा च।

तत्राऽनन्तरोपनिधामाह—

थोवा जहन्नठाणे, जा जवमज्झं विसेसओ अहिया।



एत्तो हीणा उक्को-सगं ति जीवा अणंतरओ ॥ ४६ ॥

( थोव त्ति ) जघन्येऽनुभागबन्धस्थाने बन्धकत्वेन वर्तमाना जीवाः सर्वस्तोकाः। ततो द्वितीयेऽनुभागबन्धस्थाने विशेषाधिकाः। ततोऽपि तृतीयेऽनुभागबन्धस्थाने विशेषाधिकाः। एवं तावद्वाच्यं यावद् यवमध्यं सर्वमध्यं, सर्वमध्यान्यष्टसामयिकानीत्यर्थः। इत ऊर्ध्वं पुनर्जीवा अनन्तरतः—आनन्तर्येण, क्रमेणेत्यर्थः। विशेषतो हीना विशेषहीना वक्तव्याः। ते च तावद् यावदुत्कृष्टं द्विसामयिकं स्थानमिति ॥ ४६ ॥ गताऽनन्तरोपनिधा।

परम्परोपनिधामाह—

गंतूणमसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव जवमज्झं।
एत्तो य दुगुणहीणा, एवं उक्कोसगं जाव ॥ ४७ ॥

( गंतूणमिति ) जघन्याऽनुभागबन्धस्थानबन्धकेभ्यो जीवेभ्यो जघन्यानुभागबन्धस्थानादारभ्याऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थानान्यतिक्रम्य परं यदनुभागबन्धस्थानं तद्बन्धका जीवा द्विगुणा वद्धा भवन्ति। ततः पुनरपि तावन्ति स्थानान्यतिक्रम्याऽपरस्यानुभागबन्धस्थानस्य बन्धका द्विगुणवृद्धा भवन्ति। एवं द्विगुणवृद्धिस्तावद्वक्तव्या यावद्यवमध्यम्। ततोऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थानान्यतिक्रम्याऽपरस्यानुभागबन्धस्थानस्य ये बन्धका जीवास्तेऽनन्तरमुक्तेभ्यो जीवेभ्यः सकाशात् द्विगुणहीना भवन्ति ततः पुनरपि तावन्ति स्थानान्यतिक्रम्याऽपरस्याऽनुभागबन्धस्थानस्य बन्धका द्विगुणहीना भवन्ति। एवं द्विगुणहानिस्तावद्वक्तव्या यावत्स्वस्वप्रायोग्यं सर्वोत्कृष्टमनुभागबन्धस्थानमिति ॥ ४७ ॥

नाणंतराणि आवलि-य(अ)संखभागो तसेसु इयरेसुं।
एगंतरा असंखिय-गुणाइं ठाणंतराइं तु ॥ ४८ ॥

( नाणंतराणीति ) नानाऽन्तराणि—नानाप्रकाराणि द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यपान्तरालरूपाणि-यानि तानि त्रसेषु—त्रसकायेषु आवलिकाया असंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति। ननु आवलिकाया असंख्येयभागमात्राण्येवानुभागबन्धस्थानानि त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानानि प्राप्यन्ते, एतच्च प्रागेवोक्तम्। तत्कथं त्रसेषु द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यन्तराणि यथोक्तमानानि भवन्ति। एवं ह्येकाऽपि द्विगुणवृद्धिर्द्विगुणहानिर्वा न प्राप्नोतीति भावः। नैष दोषः, यतः प्रागावलिकाऽसंख्येयभागमात्राणि त्रसजीवैर्निरन्तरं बध्यमानतया प्राप्यमाणान्युक्तानि। इह तु यद्यप्यावलिकाया असंख्येयभागमात्रेभ्यः स्थानेभ्यः पराणि स्थानानि बध्यमानानि सम्प्रति न प्राप्यन्त, तथाऽपि कदाचित्प्राप्यन्ते। तेषु च जीवा उत्कृष्टपदे क्रमेण विशेषाधिका लभ्यन्ते। ततो यथोक्तप्रमाणानि द्विगुणवृद्धिद्विगुणहानिस्थानानि न विरुध्यन्ते। तथा इतरेषु स्थावरेषु एकस्माद्द्विगुणान्तरात्त्रसकायस्तरकादसंख्येयगुणानि नानारूपाण्यन्तराणि भवन्ति। किमुक्तं भवति ?—त्रसकायिकाना-

मेकस्मिन् द्वयोर्द्विगुणहान्योर्वाऽपान्तराले यानि स्थानानि तेभ्योऽसंख्येयगुणानि स्थावरकायिकानां द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यन्तराणि । इह त्रसजीवेषु द्विगुणवृद्धिद्विगुणहान्यन्तराणि स्तोकानि एकस्मिन् द्विगुणवृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वाऽपान्तराले यानि स्थानानि तान्यसंख्येयगुणानि; एवं त्रसानाम् । स्थावराणां पुनर्द्वयोर्द्विगुणवृद्ध्योर्द्विगुणहान्योर्वा एकस्मिन्नपान्तराले यानि स्थानानि तानि स्तोकानि, द्विगुणवृद्धिगुणहान्यन्तराणि पुनरसंख्येयगुणानि ॥ ४८ ॥ कृता वृद्धिप्ररूपणा ॥ सम्प्रति यवमध्यप्ररूपणा क्रियते—यवमध्यस्थानानि अष्टसामयिकानि शेषस्थानापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राणि । तथा यवमध्यस्याऽधस्तनानि स्थानानि स्तोकानि । ततो यवमध्यस्योपरितनानि असंख्येयगुणानि । उक्तं च—"जवमज्झ ठाणाइ, असंखभागो उ सेसठाणाणं । हेट्ठम्मि होंति थोवा, उवरिम्मि असंखगुणियाणि ॥ १ ॥" कृता यवमध्यप्ररूपणा ।

सम्प्रति स्पर्शनाप्ररूपणामाह—

फासणकालो तीए, थोवो उक्कोसगे जहन्ने उ ।
होइ असंखेज्जगुणो, य उ कंडगे तत्तिओ चेव ॥ ४९ ॥
जवमज्झकंडगोवरि, हेट्ठो जवमज्झओ असंखगुणो ।
कमसो जवमज्झुवरिं, कंडगहेट्ठा य तावइओ ॥ ५० ॥
जवमज्झुवरि विसेसो, कंडगहेट्ठा य सव्वहिं चेव ।
जीवप्पाबहुमेवं, अज्झवसाणेसु जाणेज्जा ॥ ५१ ॥

( फासणे त्ति ) अतीते काले एकस्य जीवस्योत्कृष्टे द्विसामयिके इत्यर्थः । अनुभागबन्धस्थाने स्पर्शनाकालः स्तोकः । अतीते काले परिभ्रमता जन्तुना द्विसामयिकान्यनुभागबन्धस्थानानि स्तोकमेव कालं स्पृष्टानीत्यर्थः । जघन्ये पुनरनुभागबन्धस्थाने प्राथमिकेषु—चतुःसामयिकेष्वित्यर्थः अतीते काले स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । ( कंडगे तत्तिओ चेव ) कण्डकमुपरितनानि चतुःसामयिकानि स्थानानि तेषु तावन्मात्रः स्पर्शनाकालो यावन्मात्र आद्येषु चतुःसामयिकेषु । ततो यवमध्येषु स्थानेषु अष्टसामयिकेष्वित्यर्थः । स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । ततः कण्डकस्योपरिवर्तिचतुःसामयिकस्थानसंघातरूपस्योपरितनेषु त्रिसामयिकेष्वित्यर्थः । स्पर्शनाकालोऽसंख्येयगुणः । ततो यवमध्यस्याऽधस्तात् पञ्चषट्सप्तसामयिकेष्वसंख्येयगुणः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततः क्रमशः क्रमेण यवमध्यादुपरितनेषु कण्डकाच्चतुःसामयिकस्थानसंघातरूपादधस्तनेषु पञ्चषट्सप्तसामयिकेषु स्थानेषु तावन्मात्र एव स्पर्शनाकालो यावन्मात्रः पाश्चात्येषु पञ्चषट्सप्तसामयिकेषु, ततो यवमध्यस्योपरितनेषु सामयिकपर्यन्तेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु यः स्पर्शनाकालः स विशेषाधिकः । ततोऽपि कण्डकस्य यवमध्यस्योपरिवर्तिचतुःसामयिकस्थानसंघातरूपस्याऽधस्तात् सर्वेष्वपि स्थानेषु जघन्यचतुःसामयिकपर्यन्तेषु स्पर्शनाकालः समुदितो विशेषाऽधिकः । ततोऽपि सर्वेष्वपि स्थानेषु स्पर्शनाकालो विशेषाधिकः । कृता स्पर्शनाप्ररूपणा ॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वप्ररूपणामाह—(जीवप्पाबहु- इत्यादि ) यथा स्पर्शनाकालस्याऽल्पबहुत्वमुक्तम्, एवं जीवानामपि अध्यवसायेषु अनुभागबन्धस्थाननिमित्तभूतेषु वर्तमानानामल्पबहुत्वं जानीयात् । तद्यथा उत्कृष्टेष्वध्यवसायेषु द्विसामयिकानुभागनिबन्धनभूतेषु वर्तमाना जीवाः स्तोकाः । ततो जघन्येषु चतुःसामयिकानुभागबन्धनिबन्धनभूतेष्वसंख्येयगुणाः । एतावन्त एव चोपरिवर्तिचतुःसामयिकाऽनुभागबन्धस्थाननिबन्धनेष्वध्यवसायेषु । ततोऽपि यवमध्यरूपाऽनुभागबन्धस्थाननिबन्धनेष्वसंख्येयगुणाः । ततोऽपि त्रिसामयिकानुभागबन्धस्थाननिमित्तेष्वसंख्येयगुणाः । ततोऽप्याद्यपञ्चषट्सप्तसामयिकानुभागबन्धस्थानहेत्वध्यवसायेषु असंख्येयगुणाः । एतावन्त एवोपरितनपञ्चषट्सप्तसामयिकानुभागबन्धस्थाननिबन्धनेष्वध्यवसायेषु ततो यवमध्योपरिवर्तिनि:शेषानुभागबन्धस्थाननिबन्धनभूतेष्वध्यवसायेषु वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः । ततोऽपि सर्वेऽपि अनुभागबन्धस्थाननिबन्धनेषु विशेषाधिकाः । इति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ तदेवमनुभागबन्धस्थानेषु तन्निबन्धनेषु चाध्यवसायेषु यथा जीवा वर्तन्ते, तथा प्ररूपणा कृता ।

सम्प्रत्येकैकस्मिन् स्थितिस्थानाध्यवसाये नानाजीवाऽपेक्षया कियन्तोऽनुभागबन्धाऽध्यवसायाः प्राप्यन्ते इति तन्निरूपणार्थमाह—

एक्केक्कम्मि कसायो-दयम्मि लोगा असंखिया होंति ।
ठिइबन्धट्ठाणेसु वि, अज्झवसाणाण ठाणाणि ॥ ५२ ॥

( एक्केक्कम्मि त्ति ) एकैकस्मिन् कषायोदये स्थितिस्थाननिबन्धनभूते नानाजीवापेक्षयाऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि " कृष्णाऽऽदिलेश्यापरिणामविशेषरूपाणि सकाषायोदया हि कृष्णाऽऽदिलेश्यापरिणामविशेषा अनुभागबन्धहेतवः " इतिवचनात् असंख्येया लोका भवन्ति, असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः । तथा जघन्यात्स्थितेरारभ्योत्कृष्टां स्थितिं यावद्यावन्तः समयास्तावन्ति स्थितिस्थानानि । तथाहि—जघन्या स्थितिरेकं स्थितिस्थानम् । सैव समयोत्तरा द्वितीयं स्थितिस्थानम् । द्विसमयोत्तरा तृतीयं स्थितिस्थानम् । एवं समयवृद्ध्या तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एवं चाऽसंख्येयानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । तेषु चाऽसंख्येयेषु स्थितिबन्धस्थानेषु प्रत्येकमेकैकस्मिन् स्थितिबन्धस्थानेऽध्यवसायस्थानानि तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतराऽऽदिकषायोदयविशेषरूपाणि असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति ॥ ५२ ॥

सम्प्रत्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानां वृद्धिमार्गणा क्रियते । सा द्विधा—अनन्तरोपनिधया, परम्परोपनिधया च । तत्राऽनन्तरोपनिधया तावद् वृद्धिमार्गणां चिकीर्षुराह—

थोवाणि कसाउदये, अज्झवसाणाणि सव्वडहरम्मि ।
बिइयाइ विसेसहिया-णि जाव उक्कोसगं ठाणं ॥ ५३ ॥

( थोवाणि त्ति ) ( सव्वडहरम्मि त्ति ) सर्वजघन्ये कषायोदये स्थितिबन्धहेतावनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि कृष्णाऽऽदिलेश्यापरिणामविशेषरूपाणि स्तोकानि । ततो द्वितीयाऽऽदौ यथोत्तरं विशेषाधिकानि तावद्वाच्यानि यावदुत्कृष्टं स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानम् । एतदुक्तं भवति—द्वि-

तीये कषायोदये विशेषाधिकानि । ततोऽपि तृतीये विशेषाधिकानि । ततोऽपि चतुर्थे विशेषाधिकानि । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टं कषायोदयरूपं स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानमिति ॥ ५३ ॥ कृताऽनन्तरोपनिधया वृद्धिमार्गणा ।

सम्प्रति परम्परोपनिधया तामभिधित्सुराह—

**गंतूणमसंखेज्जे, लोगे दुगुणाणि जाव उक्कोसं ।**

**आवलिअसंखभागो, णाणागुणवुड्ढिठाणाणि ॥ ५४ ॥**

( गंतूणं ति ) जघन्यात् कषायोदयादारभ्याऽसंख्येयलोकाकाऽऽशप्रदेशप्रमाणानि कषायोदयस्थानानि गत्वा-अतिक्रम्य परं यद्भवति स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि जघन्यकषायोदयस्थानसत्कानुभागबन्धाध्यवसायस्थानाऽपेक्षया द्विगुणानि भवन्ति । पुनरपि तावन्ति । कषायोदयस्थानानि गत्वा यदपरं स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन् द्विगुणानि भवन्ति । एवं भूयो भूयस्तावद् वाच्यं यावदुत्कृष्टं कषायोदयस्थानम् । यानि चाऽन्तराऽन्तरा नानारूपाणि द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति तानि कियन्ति ?, इति चेदुच्यते-आवलिकाया असंख्येयभागः-आवलिकाया असंख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

**सव्वाऽसुभपगईणं, सुभपगईणं विवज्जयं जाण ।**

**ठिइबंधट्ठाणेसु वि, आउगवज्जाण पगडीणं ॥ ५५ ॥**

(सव्व त्ति)सर्वासामशुभप्रकृतीनां ज्ञानाऽऽवरणपञ्चकनवदर्शनाऽऽवरणाऽसातवेदनीयमिथ्यात्वषोडशकषायनवनोकषायनरकायुःपञ्चेन्द्रियजातिवर्जजातिचतुष्टयसमचतुरस्रवर्जसंस्थानपञ्चकवज्रर्षभनाराचवर्जसंहननपञ्चककृष्णनीलवर्णदुरभिगन्धतिक्तकटुरसकर्कशगुरुरूक्षशीतस्पर्शरूपाऽशुभकुवर्णाऽऽदिनवकनरकगतिनरकाऽऽनुपूर्वीतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्यप्रशस्तविहायोगत्युपघातस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणाऽस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्तिनीचैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्ताऽशीतिसंख्यानामेषामनन्तरोक्ताऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानां वृद्धिमार्गणा द्रष्टव्या । ( सुभपगईणमित्यादि ) शुभानां प्रकृतीनां—सातवेदनीयतिर्यगायुर्मनुष्याऽऽयुर्देवाऽऽयुर्देवगतिमनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिशरीरपञ्चकसंघातपञ्चकबन्धनपञ्चदशकसमचतुरस्रसंस्थानाऽङ्गोपाङ्गत्रयवज्रर्षभनाराचसंहननशुभवर्णाद्येकादशकदेवानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीपराघातागुरुलघूच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेययशःकीर्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्रलक्षणानामेकोनसप्ततिसंख्यानां विपर्ययं जानीहि, तद्यथा—उत्कृष्टे कषायोदयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि सर्वस्तोकानि । द्विचरमे कषायोदये विशेषाधिकानि । त्रिचरमे कषायोदये विशेषाधिकानि । चतुश्चरमे कषायोदये विशेषाधिकानि । एवं तावद्वाच्यं यावत्सर्वजघन्यं कषायोदयस्थानम् । इयमनन्तरोपनिधया वृद्धिमार्गणा ॥ परम्परोपनिधया तु वृद्धिमार्गेयम् उत्कृष्टकषायोदयस्थानादारभ्याऽसंख्येयलोकाऽऽकाशात् प्रदेशराशिप्रमाणानि कषायोदयस्थानानि अधोभागेनाऽतिक्रम्य यदपरमधः कषायोदयस्थानं तस्मिन्ननुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि उत्कृष्टकषायोदयसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानाऽपेक्षया द्विगुणानि भवन्ति । पुनरपि तावन्ति कषायोदयस्थानानि, ततः प्रभृत्यधोभागेनाऽतिक्रम्य यदपरमधःकषायोदयस्थानं तस्मिन् द्विगुणानि भवन्ति । एवं भूयो भूयस्तावद्वाच्यं यावज्जघन्यकषायोदयस्थानम् । यानि चाऽन्तराऽन्तरा नानारूपाणि द्विगुणवृद्धिस्थानानि तान्यावलिकाया असंख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति । अमूनि चाऽऽवलिकाया असंख्येयभागमात्राणि शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनां च प्रत्येकं द्विगुणवृद्धिस्थानानि स्तोकानि । एकस्मिन्नपि द्विगुणवृद्धयपान्तराले कषायोदयस्थानानि असंख्येयगुणानि । तदेवं स्थितिबन्धहेतुष्वध्यवसायेषु अनुभागबन्धहेतूनामध्यवसायानां प्ररूपणा कृता ॥ संप्रति स्थितिबन्धस्थानेष्वनुभागबन्धप्ररूपणां चिकीर्षुराह-( ठिइबंधेत्यादि ) स्थितिबन्धस्थानेष्वपि आयुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां कषायोदयेष्वनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानवदनुभागबन्धस्थानानि वक्तव्यानि । तद्यथा-तत्र पूर्वोक्तानामायुर्वर्जानामशुभप्रकृतीनां जघन्यस्थितावनुभागबन्धस्थानान्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि तानि च स्तोकानि । ततो द्वितीयस्थितौ विशेषाऽधिकानि । ततोऽपि तृतीयस्थितौ विशेषाऽधिकानि । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । तथा पूर्वोक्तानामायुर्वर्जानामशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितावनुभागबन्धस्थानान्यसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि, तानि च स्तोकानि । तेभ्यः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ विशेषाधिकानि । एवं तावद्वाच्यं यावज्जघन्या स्थितिः, इति ॥ ५५ ॥ तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया वृद्धिमार्गणा ।

सम्प्रति परम्परोपनिधया तां चिकीर्षुराह—

**पल्लाऽसंखियभागं, गंतुं दुगुणाणि आउगाणं तु ।**

**थोवाणि पढमबंधे, ठिइयाइ असंखगुणियाणि ॥ ५६ ॥**

( पल्ल त्ति ) पूर्वोक्तानामायुर्वर्जानामशुभप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरारभ्य पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राणि स्थितिस्थानान्यतिक्रम्य यदपरं स्थितिस्थानं तस्मिन् अनुभागबन्धस्थानानि जघन्यस्थितिसत्कानुभागबन्धस्थानेभ्यो द्विगुणानि भवन्ति । ततः पुनरपि तावन्ति स्थितिस्थानान्यतिक्रम्य यदपरं स्थितिस्थानं तस्मिन् द्विगुणान्यनुभागबन्धस्थानानि भवन्ति । एवं भूयो भूयस्तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । तथा पूर्वोक्तानामायुर्वर्जानां शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरारभ्य पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राणि स्थितिस्थानान्यतिक्रम्य यदपरमधः स्थितिस्थानं तस्मिन्ननुभागबन्धस्थानान्युत्कृष्टस्थितिस्थानसत्काऽनुभागबन्धस्थानेभ्यो द्विगुणानि भवन्ति । ततः पुनरपि तावन्ति स्थितिस्थानान्यधोऽवतीर्याऽधस्तनं यदपरं स्थितिस्थानं तस्मिन् द्विगुणानि भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावज्जघन्या स्थितिः । एतानि च शुभप्रकृतीनां च प्रत्येकद्विगुणवृद्धिस्थानानि आवलिकाया असंख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति । तथा द्विगुणवृद्धिस्थानानि स्तोकानि, आवलिकाया असंख्येयभागत्वात् । एकस्मिन् द्विगुणवृद्धयोरपान्तराले स्थितिस्थानानि असंख्येयगुणानि, पल्योपमाऽसंख्येयभागगुणत्वात् । तथा चतुर्णामप्यायुषां जघन्यायां स्थितौ सर्वस्तोकान्यनुभागबन्धस्थानानि, ततः समयाधिकायां जघन्यस्थितौ असंख्येयगुणानि । त-

तोऽपि द्विसमयाधिकायामसंख्येयगुणानि, एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः, इति ॥ ५६ ॥

साम्प्रतमनुभागबन्धस्थानानां स्थितिस्थानेष्वनुकृष्टिमनु भागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिमभिधातुकाम आह-

घाईणमसुभवण्ण-रसगंधफासे जहन्नठिइपभिई ।
जाणऽऽकमसो णाइं, तइए तइए य अन्नाइं ॥ ५७ ॥
पल्लाऽसंखियभागो, जावं बिइयस्स होइ बिइयम्मि ।
आ उक्कस्सा एवं, उवघाए या वि अणुकड्ढी ॥ ५८ ॥

( घाईणमिति ) इह प्राणी प्रतिपदं वर्तमानस्याऽऽयु-र्जीवस्य यो जघन्यस्थितिबन्धस्तस्मात् स्थितिवृद्धौ अनु-कृष्टिरभिधीयमानाऽनुसर्तव्या तामपेक्षणीयमनुकृष्टिकरेऽधि-कृतिर्यथोक्तस्वरूपेऽत्र ज्ञातिनामदावरणपञ्चकनवकगुरु-लघुसंस्थानप्रथमवर्जसंहननपञ्चकसंस्थानपञ्चकवर्णचतुष्क-शुभमनुपूर्व्याऽऽदेयद्विकोपघातनामप्रकृतीनामानाम-प्रायोग्यजघन्यबन्धाऽऽरम्भेऽपि अनुसर्तव्या । तत्र घातिनां पञ्चविधज्ञानाऽऽवरणनवविधदर्शनाऽऽवरणमिथ्यात्वषोडश-कषायनवनोकषायपञ्चविधान्तरायलक्षणानां कर्मणामशुभव-र्णपञ्चकस्य च । अत्र वर्णपञ्चके सति । अशुभानां वर्णग-न्धरसस्पर्शानां च इत्यर्थोऽनुवर्तमानप्रतिवस्तु अनुवृत्तेः क-शुभानामेकानां जघन्यस्थितिबन्धे यान्यनुभागबन्धाऽध्य-वसायस्थानानि तेषामेकदेशो द्वितीये स्थितिबन्धेऽनुगतेः, अन्यानि च भवन्ति । इदमुक्तं भवति—जघन्यस्थितिबन्धा-ऽऽरम्भे यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येय-तम भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि द्वितीयस्थितिबन्धाऽऽ-रम्भे प्राप्यन्ते अन्यानि च भवन्ति । द्वितीयस्थितिबन्धाऽऽ-रम्भे च यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येय-तमं भाग मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तृतीयस्थितिबन्धाऽऽ-रम्भे प्राप्यन्ते, अन्यानि च भवन्ति । तृतीयस्थितिबन्धाऽऽर-म्भे च यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येय-तमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि चतुर्थस्थितिबन्धाऽऽ-रम्भे प्राप्यन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं याव-त्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । अत्र जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भे भाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसाय-स्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता । ततोऽनन्तरमुपरितने स्थि-तिबन्धे द्वितीयस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाध्य-वसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमियर्ति । तथा चाऽऽह (बिइयस्स होइ बिइयम्मि) द्वितीयस्य स्थितिबन्धस्य संबन्धि-नामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिर्द्वितीये यत्र ज-घन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्था-नानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता । ततोऽनन्तरे परिनिष्ठा याति तृतीय-स्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविना चाऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्था-नानामनुकृष्टिः ततोऽप्यनन्तरे परिसमाप्तिं याति । एवं तावद्वा-च्यं यावदुक्तप्रकृतीनामात्मीयाऽऽत्मीयोत्कृष्टा स्थितिर्भवति । तथा चाऽऽह-(आ उक्कस्सा एवं) एवम्-अमुना प्रकारेण आ-उत्कर्षादवगन्तव्यम् । तथोपघातेऽप्येवमेवाऽनुकृष्टिरभिधात-व्या, यथा घातिप्रकृतीनामभिहिता अनुकृष्टिरिति, अनुक-र्षणम्-अनुकृष्टिरनुवर्तनमित्यर्थः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

पराघाउज्जोउस्सा-साऽऽयवधुवनामतसचउक्काणं ।
पडिलोमं सायस्स उ, उक्कोसे जाणि समऊणे ॥ ५९ ॥
ताणि य अन्नाणेवं, ठिइबंधो जा जहन्नगस्स भवे ।
हेट्ठुज्जोयसमेवं, परघायाईण उ सुभाणं ॥ ६० ॥

(पराघाय त्ति) पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतानामगुरुलघुवर्जानां ध्रुवबन्धिनां तैजससप्तकशुभवर्णैकादशकनिर्माणलक्षणानां ( तसचउक्काणं त्ति ) त्रसचतुष्कस्य त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकलक्षणस्य च अनुकृष्टिः प्रतिलोमं वक्तव्या । तद्यथा—एतासां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येयं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे प्राप्यन्ते, अन्यानि च भवन्ति, समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे च यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे प्राप्यन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितयोऽधोऽधोऽतिक्रान्ता भवन्ति । तत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानां स्थितिस्थाने स्थितिस्थानेऽसंख्येयभागत्यागेनानुकृष्टिः परिसमाप्ता । ततोऽनन्तरमधस्तने स्थितिस्थाने समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिनिष्ठां याति । ततोऽप्यनन्तरे द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भभाविनामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमियर्ति । एवं तावद्वाच्यं यावदुक्तप्रकृतीनां सर्वासामपि आत्मीया जघन्या स्थितिर्भवति । ( सायस्सेत्यादि ) सा तस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नतो यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि तानि भवन्ति अन्यानि च यानि समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे भवन्ति द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि तानि भवन्ति अन्यानि च । एवं तावद्वाच्यं यावदसातस्य जघन्य स्थितिबन्ध । किमुक्तं भवति ?-यावत्प्रमाणा स्थितयोऽसातस्य जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्याः सातेन च सह परावर्त्य परावर्त्य बध्यन्ते तावत्प्रमाणासु सा तस्य स्थितिषु तानि चान्यानि चेत्येवं क्रमोऽनुसरणीयः । (हेट्ठुज्जोयसम त्ति) अधस्तादुद्योतसमं वक्तव्यं यथा प्रागुद्योतस्याभिहितं तथाऽत्रापि वक्तव्यमित्यर्थः । तद्यथा-असातस्य जघन्यस्थितिबन्धादधस्तने स्थितिस्थाने यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तानि कानिचिदुपरितनस्थितिस्थानसत्कानि कानिचिदन्यानि । तस्मादप्यधस्तने स्थितिस्थाने यानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तानि कानिचित्प्राक्तनस्थितिस्थानसत्कानि, कानिचिदन्यानि । अनेन च क्रमेणाधोमुखं तावन्नेयं यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । तत्र चासातजघन्यस्थितिबन्धतुल्यस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिं याति । एतदुक्तं भवति-असातजघन्यस्थितिबन्धतुल्यस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामधोऽध एकैकस्मिन् स्थितिस्थानेऽसंख्येये भागे व्यवच्छिद्यमाने पल्योपमाऽ-

संख्येयभागमात्रासु स्थितिष्वतिक्रान्तासु सर्वोऽऽत्मना परिस मासिमेवतीति । ततोऽसातजघन्यबन्धतुल्यस्थितिस्थानाद्-धस्तनस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानाना-मनुकृष्टिः पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राद्धःस्थितौ निष्ठा-मेति । एवं तावद्वाच्य यावत्सातस्य जघन्या स्थितिः । ( एवं परित्तमाणीण उ सुभाणं ) यथा सातवेदनीयस्योक्तं, तथा सर्वासां परावर्त्तमानप्रकृतीनां शुभानां मनुजद्विकदे-वद्विकपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंह-ननप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेययशःकी-र्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चदशसंख्यानां नामग्राहमनुकृष्टिरभिधात-व्या इति ॥ ५६ ॥ ६० ॥

इदानीमसातस्योच्यते—

**जाणि असायजहन्ने, उदहिपुहुत्तं ति ताणि अणाणि ।**
**आवरणसमुप्पेवं, परित्तमाणीणमसुभाणं ॥ ६१ ॥**

(जाणि त्ति)असातस्य जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भे यान्यनुभाग-बन्धाध्यवसायस्थितिस्थानानि तानि समयाधिकजघन्यस्थि-तिबन्धाऽऽरम्भेऽपि भवन्ति, अन्यानि च । यानि समयाधिक-जघन्यस्थितिबन्धारम्भेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तानि द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि भवन्ति, अन्यानि च । एवं तावद्वाच्यं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति । यावन्मात्रासु सातवेदनीयस्य स्थितिषु तानि चाऽन्यानि चे-त्येवं क्रमोऽनुकृष्टेरभिहितस्तावत्प्रमाणास्वेवाऽसातवेदनीय-स्थितिष्वपि जघन्यस्थितेरारभ्य तानि चाऽन्यानि चेत्येवम-नुकृष्टिरभिधातव्या । एता एव च स्थितयः सर्वजघन्याऽनु-भागबन्धप्रायोग्याः । यत एतावत्यः स्थितयः सातात्परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते । परावर्त्तमानश्च प्रायो मन्दपरिणामो भव-ति । तत एतासु जघन्यानुभागबन्धसंभवः । इत ऊर्ध्वं त्वसातमेव केवलं बध्नाति । तदपि च तीव्रतरेण परिणामेन । ततो, न तत्र जघन्याऽनुभागबन्धसंभव इति । ( आवरणस-मं उप्पिं ति ) तत उपरितनीनां स्थितीनां यथा ज्ञानाऽऽवर-णीयाऽऽदेरुक्तं तदेकदेशोऽन्यानि चेति तथैवाभिधातव्यम्, तद्यथा-असातस्य जघन्याऽनुभागबन्धप्रायोग्याना स्थितीनां या चरमा स्थितिस्तद्बन्धाऽऽरम्भे यान्यनुभागबन्धाऽध्यवसाय स्थानानि,तेषामेकदेशस्तदुपरितनस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुवर्त-ते,अन्यानि च भवन्ति । ततोऽप्युपरितनस्थितिबन्धाऽऽरम्भे प्रा-क्तनस्थितिस्थानसत्काऽनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामेकदे शोऽनुवर्तते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं याव-त्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । अत्र जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्यचरमस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाऽध्य वसायस्थानानामनुकृष्टि परिसमाप्तिमेति । ततोऽप्युपरित-नस्थितिबन्धे जघन्यानुभागबन्धप्रायोग्यस्थित्यनन्तरस्थि-तिसत्काऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमा-प्तिं याति । एवं तावद्वाच्य यावदसातस्योत्कृष्टा स्थिति-र्भवति ।(एवं परित्तमाणीणमसुभाणं) यथाऽसातवेदनी-यस्योक्तम्, एवं शेषाणामपि परावर्त्तमानप्रकृतीनामशुभा-ना नरकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्जशेषजातिचतुष्टयप्रथमवर्ज-संस्थानप्रथमवर्जसंहननाऽप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मसा-धारणाऽपर्याप्ताऽस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकी-र्तिरूपाणां सप्तविंशतिसंख्यानां प्रत्येकं नामग्राहमनुकृष्टि-रभिधातव्या इति ॥ ६१ ॥

इदानीं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणामनुकृष्टिमभिधातुकाम आह-

**से काले सम्मत्तं, पडिवज्जंतस्स सत्तमाखिईए ।**
**जो ठिइबंधो हस्सो, इत्तो आवरणतुल्लो य ॥ ६२ ॥**
**जा अभवियपाउग्गा,उप्पिमसायसमया उ आ (जा)जेट्ठा ।**
**एसा तिरियगतिदुगे, नीयागोए य अणुकड्ढी ॥ ६३ ॥**

( से त्ति ) सप्तमपृथिव्यां वर्त्तमानस्य नारकस्य ( से का-ले ) अनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपत्तुकामस्य यो ह्रस्वो-जघन्यः स्थितिबन्ध इत ऊर्ध्वं स्थितिबन्धोऽनुकृष्टिमधि-कृत्याऽऽवरणतुल्यो ज्ञातव्यः । स च तावद्यावदभव्यप्रायोग्या जघन्या स्थितिः । तत्र तिर्यग्गतिमधिकृत्य भावना क्रियते-सप्तमपृथिव्यां वर्त्तमानस्य नारकस्य सम्यक्त्व प्रतिपत्तु-कामस्य तिर्यग्गतेर्जघन्यां स्थितिं बध्नतो यान्यनुभागबन्धा-ध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वाऽन्यानि सर्वाण्यपि द्वितीयस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुवर्तन्ते,अन्यानि च भवन्ति । द्वितीयां च स्थितिं बध्नतो यानि अनुभागबन्धा ध्यवसायस्थानानि, तेषामसंख्येयतमं भागं मुक्त्वाऽन्यानि सर्वाण्यपि तृतीयस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुवर्त्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एव तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । अत्र जघन्यस्थितिसत्कानुभागब-न्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमियर्ति । तत उप-रितनस्थितिबन्धाऽऽरम्भे द्वितीयस्थितिस्थानसत्काऽनुभागब-न्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिं याति । ततोऽप्यु-परितनस्थितिबन्धाऽऽरम्भे तृतीयस्थितिसत्काऽनुभागबन्धा-ध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमेति । एवं तावद्वा-च्यं यावदभव्यप्रायोग्यो जघन्यस्थितिबन्ध । ( उप्पिं असा-यसमया उ आ जेट्ठा ) तत उपरिष्टात्—अभव्यप्रायोग्यजघ-न्यस्थितिबन्धादारभ्येत्यर्थः । असातेन समना-तुल्यता ज्ञा-तव्या । ( आजेट्ठ त्ति ) यावज्ज्येष्ठोत्कृष्टा स्थितिः । एतदुक्तं भ-वति-अभव्यप्रायोग्यां जघन्यां स्थितिं बध्नतो यानि अनु-भागबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तानि तत उपरितनस्थितौ सर्वाणि भवन्ति, अन्यानि च । तस्यामपि यानि अनुभा-गबन्धाऽध्यवसायस्थानानि तानि उपरितनस्थितौ सर्वाणि भवन्ति, अन्यानि च । एवं तावद्वाच्यं यावत्सागरोपमशत-पृथक्त्वम् । एताश्च प्रायोऽभव्यप्रायोग्यजघन्याऽनुभागबन्ध-विषयाः स्थितयः । एता हि मनुष्यगतिरूपया प्रतिपक्ष-प्रकृत्या सह परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते । परावृत्य बन्धे च प्रायः परिणामो मन्द उपजायते । तत एता जघन्याऽ नुभागबन्धविषयाः । एतासां चरमस्थितौ यान्यनुभागब-न्धाऽध्यवसायस्थानानि तेषामसंख्येयं भाग मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तदुपरितनस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुवर्त्तन्ते अन्यानि च भवन्ति । तत्रापि यानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थाना-नि, तेषामसंख्येयं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि तत उपरितनस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुवर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्रा. स्थित-यो गता भवन्ति । अत्र जघन्याऽनुभागबन्धविषयचरम-स्थितिसत्कानुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिस-

मासा । तत उपरितने स्थितिबन्धे जघन्याऽनुभागबन्धविषयचरमस्थित्यनन्तरस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिं याति । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । ( एसा तिरियगतिदुगे, नीयागोए य अणुकट्ठी ) एषा-अनन्तरोक्ताऽनुकृष्टिः तिर्यग्गतिद्विके तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीलक्षणे नीचैर्गोत्रे च द्रष्टव्या । तत्र यथा तिर्यग्गतौ भाविता तथा तिर्यगानुपूर्व्यां नीचैर्गोत्रे च स्वयमेव भावनीयेति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

सम्प्रति त्रसाऽऽदिचतुष्कस्याऽनुकृष्टिमभिधातुकाम आह-

तसबायरपज्जत्तग-पत्तेयगाण परघायतुल्लाओ ।
जावऽट्ठारसकोडा-कोडी हेट्ठा य साएणं ॥ ६४ ॥

( तस त्ति ) त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नामनुकृष्टिः पराघाततुल्या पराघातस्येव द्रष्टव्या । सा चोपरितनात् स्थितिस्थानादारभ्याऽधोऽधोऽवतरणेन यावदधस्तादष्टादशकोटीकोट्यः सागरोपमाणां तिष्ठन्ति । ततोऽधस्तात् सातेन तुल्याऽनुकृष्टिरभिधातव्या । तत्र त्रसनाम्नो भाव्यते-तत्र त्रसनाम्न उत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामसङ्ख्येयं भागं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुवर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि च यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामसङ्ख्येय भाग मुक्त्वा शेषाणि सर्वाण्यपि द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि अनुवर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । अत्रोत्कृष्टस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता । ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने समयोनोत्कृष्टस्थितिसत्काऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टि परिसमाप्तिं याति । ततोऽप्यधस्तने स्थितिस्थाने द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिसत्कानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्तिमति । एवमधोऽधोऽवतरणेन तावद्वाच्य यावदधस्तादष्टादशसागरोपमकोटीकोट्यस्तिष्ठन्ति । ततोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीचरमस्थितौ यान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तान्यधस्तनस्थितिबन्धाऽऽरम्भे सर्वाण्यपि भवन्ति, अन्यानि च । यानि चाऽधस्तनस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तानि ततोऽप्यधस्तनस्थितिबन्धाऽऽरम्भे सर्वाण्यपि भवन्ति, अन्यानि च । एवं तावद्वाच्य यावदभव्यप्रायोग्यजघन्याऽनुभागबन्धविषयस्थावरनामसत्कस्थितिप्रमाणाः स्थितयो गता भवन्ति । ततोऽनन्तरमधस्तने स्थितिस्थाने प्राक्तनानन्तरस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामसङ्ख्येयं भाग मुक्त्वा सर्वाण्यपि तान्यनुवर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । ततोऽप्यधस्तनतरे स्थितिबन्धे प्राक्तनानन्तरस्थितिस्थानसत्कानामनुभागबन्धाऽध्यवसायस्थानानामसंख्येय भागं मुक्त्वा शेषाणि तानि सर्वाण्यप्यनुवर्तन्ते, अन्यानि च भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावत् पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । अत्र जघन्यानुभागबन्धविषयस्थावरनामसत्कस्थितिप्रमाणतया निद्दिताना प्रथमस्थितयान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषामनुकृष्टिः परिसमाप्ता । ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने द्वितीयस्थितिस्थानसत्काऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिनिष्ठामेति । एवं तावद्वाच्यं यावज्जघन्या स्थिति । एवं बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नामपि भावना कार्या ॥ ६४ ॥

तणुतुल्ला तित्थयरे, अणुकड्ढी तिव्वमंदया एत्तो ।
सव्वपगईण नेया, जहन्नयाई अणंतगुणा ॥ ६५ ॥

( तणुतुल्ल त्ति ) तीर्थकरनाम्नि अनुकृष्टिर्यथा शरीरनाम्नि प्रागभिहिता यथा द्रष्टव्या । इत ऊर्ध्वमनुभागाना तीव्रमन्दता द्रष्टव्या । तत्र सर्वासां प्रकृतीनामात्मीयाऽऽत्मीयजघन्याऽनुभागबन्धादारभ्य यावदुत्कृष्टोऽनुभागबन्धस्तावत् स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽनन्तगुणा तीव्रमन्दता वक्तव्या यथोत्तरमनन्तगुणोऽनुभागवक्तव्य इत्यर्थः । तत्राप्यशुभप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरारभ्योर्ध्वमुखं क्रमेणानन्तगुणो वक्तव्यः । शुभप्रकृतीनां तूत्कृष्टस्थितेरारभ्याधोमुख यावज्जघन्या स्थिति. । तदियं सामान्यतस्तीव्रमन्दताऽभिहिता ॥ सम्प्रति विशेषत उच्यते—तत्र घातिकर्मणामप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शानामुपघातस्य च जघन्यायां स्थितौ जघन्योऽनुभाग सर्वस्तोक. । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्या स्थितौ जघन्याऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावन्निवर्तनकण्डक भवति । निवर्तनकण्डकं नाम-यत्र जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भाविनामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टि. परिसमाप्ता । तत्पर्यन्ता मूलत आरभ्य स्थितय पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागमात्रप्रमाणा उच्यन्ते । इति ॥ ६५ ॥

निव्वत्तणा उ एक्कि-क्कस्स हेट्ठोवरिं तु जेट्ठियरे ।
चरमठिईणुक्कोसो, परित्तमाणीण उ विसेसो ॥ ६६ ॥

( निव्वत्तण त्ति ) ततो निवर्तनकण्डकस्य चरमस्थितौ जघन्याऽनुभागाज्जघन्यस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । तत कण्डकादुपरि प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो द्वितीयस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण. । तत. कण्डकादुपरि स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुण. । ततोऽधस्तनतृतीयस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽधस्तनादुपरि तृतीयस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । तत. कण्डकादुपरितृतीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकोऽधस्तादुपरि च यथाक्रमं ज्येष्ठ उत्कृष्ट इतरश्च जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वाच्यो यावदुत्कृष्टायां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुण । कण्डकमात्राणा च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽद्याप्यनुक्तस्तिष्ठति । शेष. सर्वोऽप्युक्त । तत सर्वोत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यानुभागात् कण्डकमात्राणा स्थितीनां प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततोऽप्यनन्तरायामुपरितनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण । ततोऽप्यनन्तरायामुपरितनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण । एवं निरन्तरमुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावत्कृष्टा स्थितिः । तथा चाऽऽह—( चरमठिईऽणुक्कोसो ) चरमस्थितीना कण्डकमात्राणां पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागमात्राणामित्यर्थः । उत्कृष्टोऽनुभागो निरन्तरमनन्तगुणतया नेतव्यः ॥ इदानीं शुभप्रकृतीनां तीव्रमन्दताऽभिधानावसरः—तत्र पराघातप्रकृतिमधिकृत्योच्यते-पराघातस्योत्कृष्टाया स्थितौ जघन्यपदे

जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एव तावद्वाच्यं यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितयो गता भवन्ति, निवर्तनकण्डकमतिक्रान्तं भवतीत्यर्थः । तत उत्कृष्टायां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो निवर्तनकण्डकाधः प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो निवर्तनकण्डकादधो द्वितीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एव तावद्वाच्यं यावत्पराघातस्य जघन्यस्थितौ जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽद्याप्यनुक्तास्तिष्ठन्ति । शेष सर्वोऽप्युक्तः । ततो जघन्यस्थितेरारभ्योर्ध्वं कण्डकमात्राः स्थितीरतिक्रम्य चरमायां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततोऽधस्तनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावज्जघन्यस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं शरीरपञ्चकसंघातपञ्चकबन्धनपञ्चदशकाऽङ्गोपाङ्गत्रयप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूच्छ्वासाऽऽतपोद्द्योतनिर्माणतीर्थकराणामपि भावनीयम् । (परित्तमाणीण उ विसेसो) परावर्तमानप्रकृतीनां विशेषो द्रष्टव्यः । स चैवम् यावतीनां तानि चाऽन्यानि चेत्येवमनुकृष्टिरभिहिता, तावतीनां सर्वासामपि जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव द्रष्टव्यः । तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टिविषयाभ्यस्तु परतो जघन्यो यथोत्तरमनन्तगुणस्तावद्वक्तव्यो यावत् कण्डकस्याऽसंख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते ॥ ६६ ॥

तथा चाऽऽह—

ताणन्नाणि त्ति परं, असंखभागाहिँ कंडगेक्काण ॥
उक्कोसियरा नेया, जा तक्कंडकोवरि समत्ती ॥ ६७ ॥

(ताणि त्ति) तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकस्याऽसंख्येयेभ्यो भागेभ्य ऊर्ध्वं कण्डकमात्राणामेकैकस्याश्च स्थितेर्यथासंख्यमुत्कृष्टा इतरे च जघन्या अनुभागा अनन्तगुणा ज्ञेयाः । एतदुक्तं भवति–तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं जघन्योऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणस्तावद्वाच्य यावत् कण्डकमात्राणां स्थितीनामसंख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते । ततो यतः स्थितेरारभ्य तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टिरारब्धा, तत्प्रभृतीनां स्थितीनां कण्डकमात्राणां यथोत्तरमनन्तगुणतयोत्कृष्टोऽनुभागो वक्तव्यः । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागमुक्त्वा निवृत्तस्तत उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणो वाच्यः । एवमेकैक जघन्यानुभागमुत्कृष्टानुभागाना च कण्डक कण्डकं तावद्वदेत् यावज्जघन्यानुभागविषयाणां स्थितीनां तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकं परिपूर्णं भवन्ति । उत्कृष्टाश्चानुभागाः सागरोपमशतपृथक्त्वतुल्या भवन्ति । तत उपरि जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । पश्चादेक उत्कृष्टोऽनुभागः । ततः पुनरप्येको जघन्योऽनुभागः, पुनरप्येक उत्कृष्टोऽनुभागः, एवं तावद्वाच्य यावज्जघन्यानुभागविषयाः स्थितयः सर्वा अपि परिसमाप्ता भवन्ति । उत्कृष्टानुभागविषयाश्च कण्डकमात्राः स्थितयोऽद्याप्यनुक्तास्तिष्ठन्ति । शेषाः सर्वा अप्युक्ताः । ततस्तासां यथोत्तरमुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वाच्यः । तथा चाऽऽह-(जा तक्कंडकोवरि समत्ती) यावत्तेषां जघन्याऽनुभागानां कण्डकस्य चोपरितनस्य परिसमाप्तिः । इदमुक्तं भवति—अनन्तगुणतयाऽभिहितानां जघन्यानुभागविषयाणां स्थितीनां कण्डकादुपरि एकैकोत्कृष्टानुभागान्तरिता जघन्यानुभागास्तावद्वक्तव्या यावत्तेषां सर्वेषामपि परिसमाप्तिरुपजायते । ततो ये कण्डकमात्रा उत्कृष्टानुभागाः केवलास्तिष्ठन्ति, तेऽपि यथोत्तरमनन्तगुणास्तावद्वाच्या यावत्सर्वसमाप्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ तत्र साताऽसाते अधिकृत्य भावना विधीयते-सातस्योत्कृष्टायां स्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । द्विसमयोनायामप्युत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवमधोऽधोऽवतीर्य तावद्वक्तव्यो यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वमतिक्रान्तं भवति । ततोऽधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽप्यधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत् कण्डकस्याऽसंख्येयभागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते । एताश्च स्थितयः संख्येयभागहीनकण्डकमात्राः साकारोपयोगसंज्ञा इति व्यवह्रियन्ते, साकारोपयोगेनैवैतासां बध्यमानत्वात् । तत उत्कृष्टस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमधोऽधोऽवतरणेनोत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणस्तावद् वक्तव्यो यावत्कण्डकमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततोऽधस्तात् स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः पुनरपि प्रागुक्तानामुत्कृष्टानुभागविषयाणां स्थितीनामधस्तात् कण्डकमात्रासु उत्कृष्टोऽनुभागः क्रमेणानन्तगुणो वाच्य । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्यः । ततः पुनरपि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्योऽनुभागः कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वाच्यो यावज्जघन्यानुभागविषयाणामेकैकस्थितीनां तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकं परिपूर्णं भवति । उत्कृष्टानुभागविषयाश्च स्थितयः सागरोपमशतपृथक्त्वमात्राः । तत एकस्याः स्थितेर्जघन्यानुभागोऽनन्तगुणः । ततः सागरोपमशतपृथक्त्वादधस्तनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः पुनरपि प्रागुक्तस्थितिस्थानादधस्तनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः सागरोपमशतपृथक्त्वादधस्तनाद्द्वितीयस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणतया वदन् तावद् व्रजेद् यावत्सर्वजघन्या स्थितिः । कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याऽप्यनुक्तास्तिष्ठन्ति, शेषाः सर्वेऽप्युक्ताः । ततस्तेऽप्यधोऽधः क्रमेणानन्तगुणा वक्तव्या यावत्सर्वजघन्या स्थितिः । एवं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननप्रशस्तविहायोग-

स्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तीनामपि वक्तव्यम् ॥ संप्रत्यसातवेदनीयस्योच्यते—तत्रासातस्य जघन्यस्थितौ जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । तृतीयस्यामपि स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवं तावद्वाच्यं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वं भवति । तत उपरितनस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकस्यासङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते । ततोऽसातस्य जघन्यस्थितावुत्कृष्टपदे उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत् कण्डकमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागं मुक्त्वा निवृत्तस्ततः उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः प्रागुक्तादुत्कृष्टानुभागविषयात्कण्डकादुपरि प्रथमस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्पुनरपि कण्डकमात्राः स्थितयो गता भवन्ति । ततः पुनरपि यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागं मुक्त्वा निवृत्तस्तस्योपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो भूयोऽपि प्रागुक्तकण्डकद्वयादुपरि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यः । एवमेकैकस्याः स्थितेर्जघन्योऽनुभागः कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावज्जघन्यानुभागविषयाणामेकैकस्थितीनां तानि चान्यानि चेत्येवमनुकृष्टेः परं कण्डकं परिपूर्णं भवति । उत्कृष्टानुभागविषयाश्च स्थितयः सागरोपमशतपृथक्त्वमात्राः । तत उपरि एकस्याः स्थितेर्जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणो वाच्यः । ततः सागरोपमशतपृथक्त्वादुपरितनस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः पुनरपि प्रागुक्तात् स्थितिस्थानादुपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः सागरोपमशतपृथक्त्वादुपरि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकैकं जघन्यमुत्कृष्टं चानुभागमनन्तगुणं वदन् तावद् व्रजेद्यावदसातवेदनीयस्य सर्वोत्कृष्टा स्थितिर्भवति । कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ता अवतिष्ठन्ते शेषाः, सर्वेऽप्युक्ताः । ततस्तेऽपि यथोत्तरमनन्तगुणा वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एवं नरकगतिनरकानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवर्जजातिचतुष्टयप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकप्रथमवर्जसंहननपञ्चकाऽप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तीनामपि तीव्रमन्दताऽभिधातव्या ॥ अधुना तिर्यग्गतेस्तीव्रमन्दताऽभिधीयते—सप्तमपृथिव्यां वर्तमानस्य नैरयिकस्य सर्वजघन्ये स्थितिस्थाने जघन्यपदे जघन्योऽनुभागः । सर्वस्तोकः । ततो द्वितीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावन्निवर्तनकण्डकमतिक्रान्तं भवति । ततो जघन्यस्थितावुत्कृष्टपदे उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो निवर्तनकण्डकादुपरि प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो द्वितीयस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः कण्डकादुपरि द्वितीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततस्तृतीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्याधस्तनी स्थितिः । अभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्याधः कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा वक्तव्याः सन्ति, शेषास्तूक्ताः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषये प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । तृतीयस्यामपि स्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवं तावद्वाच्यं यावत्सागरोपमशतपृथक्त्वमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति । एतासां च स्थितीनां पूर्वसूरिभिः परावर्तमानजघन्यानुभागबन्धप्रायोग्या इति नाम कृतम् । ततस्तासामुपरि प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावन्निवर्तनकण्डकस्यासङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते । ततो यतः स्थितिस्थानादुत्कृष्टमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततः उपरितने द्वितीये स्थितिस्थाने उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽप्युपरितने स्थितिस्थाने उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि तृतीये स्थितिस्थाने उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्याधस्तमा स्थितिः । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततः उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषये प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्वितीयस्यां स्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत् कण्डकमात्राः स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततः उपरितने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽप्यभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषये कण्डकादुपरि पुनरपि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यः । एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्यमनुभागं कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टमनुभागं वदता तावन्नेतव्यं यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषये चरमा स्थितिः । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततः उपरितने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धस्योपरि प्रथमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । तत उपरि प्रागुक्तजघन्यानुभागबन्धादुपरि द्वितीयस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः प्रागुक्तादुत्कृष्टानुभागादुपरितने स्थितिस्थाने उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमेकस्याः स्थितेर्जघन्यमेकस्याश्चोत्कृष्टमनुभागं वदता तावन्नेतव्यं यावदुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । कण्डकमात्राणां च स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ताः सन्ति, शेषाश्च सर्वेऽप्युक्ताः । ततस्ते यथोत्तरमनन्तगुणास्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एवं तिर्यगानुपूर्व्या नीचैर्गोत्रस्य च तीव्रमन्दताऽभिधातव्या ॥ साम्प्रतं त्रसनाम्नोऽभिधीयते—त्रसनाम्न उत्कृष्टस्थितौ जघन्यपदे जघन्योऽनुभागः सर्वस्तोकः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽपि द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवमधोऽधो

ऽवतरणेन जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यो यावत्कण्डकमात्रा. स्थितयोऽतिक्रान्ता भवन्ति । ततः उत्कृष्टायां स्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण. । ततः कण्डकादध. प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः। ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः कण्डकादधस्तन्या द्वितीयस्यां स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः ततो द्विसमयोनायामुत्कृष्टस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण । एवं तावद्वाच्य यावदष्टादशसागरोपमकोटीकोटीनामुपरितनी स्थितिः अष्टादशकोटीकोटीनां चोपरि कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टानुभागा अद्याप्यनुक्ताः सन्ति । शेषं सर्वमुक्तम् । ततोऽष्टादशकोटीकोटीनां सत्कायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः समयोनायामुत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । द्विसमयोनायामप्युत्कृष्टस्थितौ जघन्योऽनुभागस्तावन्मात्र एव । एवमधोऽधोऽवतरणेन तावद्वाच्य यावदभव्यप्रायोग्यो जघन्यस्थितिबन्धः । ततोऽधस्तन्यां प्रथमस्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततो द्वितीयस्या स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । एवं तावद्वाच्यं यावत्कण्डकस्यासङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते । ततोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीनामुपरिष्टात् कण्डमात्राणा स्थितीनां चरमस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण । ततो द्विचरमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततस्त्रिचरमस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण. । एवमधोऽधोऽवतरणेन तावद्वाच्यं यावत्कण्डकमतिक्रान्तं भवति, अष्टादशकोटीकोटीनामुपरि अनन्तरा स्थितिरतिक्रान्ता भवतीत्यर्थ. । ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यमनुभागमभिधाय निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुण. । ततः पुनरप्यष्टादशसागरोपमकोटीकोटीना सत्कायाश्चरमस्थितेरारभ्याऽधोऽधः कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुणो वक्तव्य. ततो यत. स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागमभिधाय निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततः पुनरपि प्रागुक्तात्कण्डकादधः कण्डकमात्राणां स्थितीनामधोऽध. क्रमेणोत्कृष्टा अनुभागा अनन्तगुणा वक्तव्या । एवमेकस्या स्थितेर्जघन्यमनुभागं कण्डकमात्राणां स्थितीनामुत्कृष्टाननुभागान् वदता तावद्गन्तव्यं यावदभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषये जघन्या स्थिति ततो यतः स्थितिस्थानाज्जघन्यानुभागमुक्त्वा निवृत्तस्ततोऽधस्तने स्थितिस्थाने जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषयादध प्रथमस्थितौ उत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण. । तत. प्रागुक्ताज्जघन्यानुभागादध. स्थितौ जघन्योऽनुभागोऽनन्तगुणः । ततोऽप्यभव्यप्रायोग्यजघन्यानुभागबन्धविषयादधो द्वितीयस्थितावुत्कृष्टोऽनुभागोऽनन्तगुण । एवमेकस्या. स्थितेर्जघन्यमनुभागमेकस्याश्च स्थितेरुत्कृष्ट वदताऽधोऽधस्तावदवतरीतव्यं यावज्जघन्या स्थिति. । कण्डकमात्राणा च स्थितीनामुत्कृष्टा अनुभागा. अद्याप्यनुक्ता सन्ति, शेषा. सर्वेऽप्युक्ताः । ततस्तेऽप्यधोऽधःक्रमेणानन्तगुणास्तावद्वक्तव्या यावज्जघन्या स्थिति. । एवं यावत्पर्याप्तप्रत्येकनाम्नामपि तीव्रमन्दताऽभिधातव्या । ( विशेषतस्त्वनुकृष्टिस्तीव्रमन्दता च पदस्थापनातोऽवसे-

२०४

या ) साद्यनादिप्ररूपणा । स्वामित्वं घातिसंज्ञा स्थानसंज्ञा शुभाऽशुभप्ररूपणा ( प्रत्ययप्ररूपणा विपाकप्ररूपणा ) च यथा 'शतके' तथाऽवगन्तव्या इति ॥ ६७ ॥ तदेवमुक्तोऽनुभागबन्ध. ।

सम्प्रति स्थितिबन्धाभिधानावसरः । तत्र च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि । तद्यथा—स्थितिस्थानप्ररूपणा १, निषेकप्ररूपणा २, अबाधाकण्डकप्ररूपणा ३, अल्पबहुत्वप्ररूपणा ४, च । तत्र स्थितिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

> ठिइबंधट्ठाणाइं, सुहुमअपज्जत्तगस्स थोवाइं ।
> बायरसुहुमेयर बिति–चउरिंदियअमणसन्नीणं ॥ ६८ ॥
> संखेज्जगुणाणि कमा, असमत्तियरे य बिंदियाइम्मि ॥
> नवरमसंखेज्जगुणा–इँ संकिलेसाइँ (य) सव्वत्थ ॥६९॥

( ठिइ त्ति ) इह जघन्यस्थितेरारभ्योत्कृष्टां स्थितिं यावत् यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि स्थितिस्थानानि । तथाहि–जघन्याया. स्थितेरेकं स्थितिस्थानम् । सैव समयाधिका द्वितीय स्थितिस्थानम् । द्विसमयाधिका तृतीयं स्थितिस्थानम् । एवं तावद्वाच्य यावदुत्कृष्टा स्थितिः । तानि च स्थितिस्थानानि सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य सर्वस्तोकानि । तेभ्योऽपर्याप्तबादरस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपर्याप्तकस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरस्य संख्येयगुणानि । एतानि च पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि द्रष्टव्यानि । ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्याऽसंख्येयगुणानि । कथमेतं गम्यते?, इति चेदुच्यते–द्वीन्द्रियाणामपर्याप्ताना स्थितिस्थानानि पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि, पाश्चात्यानि च पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि । ततः पाश्चात्येभ्योऽमून्यसंख्येयगुणान्येवोपपद्यन्ते । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि तस्यैव पर्याप्तस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य सङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽप्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य संख्येयगुणानि । तेभ्योऽप्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य सङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य सङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य सङ्ख्येयगुणानि । ( असमत्तियरे य त्ति ) असमाप्तानामपर्याप्तानामितरेषां च पर्याप्ताना बादराऽऽदीना स्थितिस्थानानि क्रमेण सङ्ख्येयगुणानि वक्तव्यानीति । नवरमेकेन्द्रियाणा स्थितिस्थानान्यभिधायाऽनन्तरं द्वीन्द्रियस्य प्रथमे भेदेऽपर्याप्तरूपे स्थितिबन्धस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि वक्तव्यानि । तथैव च युक्तिपूर्वं प्रागुक्तानि ( संकिलेसाइं (य) सव्वत्थ ) संक्लेशाश्च सर्वत्र—सर्वेषु स्थानेष्वसङ्ख्येयगुणा वक्तव्या. , आस्ता द्वीन्द्रियस्य, प्रथमभेदेऽपर्याप्तलक्षणे स्थितिस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानीति च-शब्दार्थ । तद्यथा–सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य संक्लेशस्थानानि सर्वस्तोकानि । तेभ्योऽपर्याप्तबादरस्यासङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मस्यासङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरस्यासङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियस्याऽपर्याप्त-

स्याऽसङ्ख्येयगुणानि । एवं पर्याप्तद्वीन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणानि वक्तव्यानि । कथमेवं गम्यते सर्वत्राप्यसंख्येयगुणानि संक्लेशस्थानानीति चेद् उच्यते-इह सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भे यानि संक्लेशस्थानानि तेभ्यः समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भे सङ्क्लेशस्थानानि विशेषाधिकानि । तेभ्योऽपि द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धाऽऽरम्भेऽपि विशेषाधिकानि । एवं तावद्वाच्यं यावत्तस्यैवोत्कृष्टा स्थितिस्तदुत्कृष्टस्थितिबन्धाऽऽरम्भे च संक्लेशस्थानानि जघन्यस्थितिसत्कसङ्क्लेशस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणानि लभ्यन्ते । यदैतदेवं तदा सुतरामपर्याप्तबादरस्य संक्लेशस्थानानि अपर्याप्तसूक्ष्मसत्कसंक्लेशस्थानापेक्षया असंख्येयगुणानि भवन्ति । तथाहि-अपर्याप्तसूक्ष्मसत्कस्थितिस्थानापेक्षया बादरापर्याप्तस्य स्थितिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । स्थितिस्थानवृद्धौ च संक्लेशस्थानवृद्धिः । ततो यदा सूक्ष्मापर्याप्तस्यापि स्थितिस्थानेष्वतिस्तोकेषु जघन्यस्थितिस्थानसत्कसंक्लेशस्थानापेक्षया उत्कृष्टे स्थितिस्थाने संक्लेशस्थानान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, तदा बादरापर्याप्तस्थितिस्थानेषु सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणेषु सुतरा भवन्ति । एवमुत्तरत्रापि असंख्येयगुणत्वं भावनीयमिति ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

एमेव विसोहीओ, विग्घाऽऽवरणेसु कोडिकोडीओ ।
उदही तीसमसाते, अद्धं थीमणुयदुगसाए ॥ ७० ॥

एमेव त्ति—( एमेव विसोहीओ त्ति ) यथा संक्लेशस्थानान्यसंख्येयगुणतया प्रागुक्तानि एवमेव-असंख्येयगुणतयैवेत्यर्थः । विशोधयोऽपि-विशोधिस्थानान्यपि वक्तव्यानि । यतो यान्येव संक्लिश्यमानस्य संक्लेशस्थानानि तान्येव विशुध्यमानस्य सतो विशुद्धिस्थानानि भवन्ति । एतच्च प्रागेव सप्रपञ्चं भावित, नेह भूयो भाव्यते । ततो विशोधिस्थानान्यपि संक्लेशस्थानवत् क्रमेण सर्वत्राप्यसंख्येयगुणानि वक्तव्यानि ॥ साम्प्रतमुत्कृष्टेतरस्थितिप्रतिपादनार्थमाह-(विग्घ त्ति) अनन्तरायमावरण ज्ञानाऽऽवरणं, दर्शनाऽऽवरणं च । तत्र पञ्चानामन्तरायप्रकृतीना पञ्चाना ज्ञानाऽऽवरणप्रकृतीनां नवाना च दर्शनाऽऽवरणप्रकृतीनामसातवेदनीयस्य चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमाणां कोटीकोट्यः । इहद्विधा स्थिति —कर्मरूपतावस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्टप्रमाणाभिधानमिदमवगन्तव्यम् । अनुभवप्रायोग्या पुनरबाधाकालहीना । येषां च कर्मणा यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तेषां तावन्ति वर्षशतानि अबाधाकाल. । तथाहि—मतिज्ञानाऽऽवरणस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरतस्तस्याऽबाधाकालोऽप्युत्कृष्टस्त्रिंशद्वर्षशतान्यवगन्तव्य· । यतस्तन्मतिज्ञानाऽऽवरणमुत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत्त्रिंशद्वर्षशतानि यावन्न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्य बाधामुत्पादयति । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक· एवं श्रुतज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनामप्युक्तप्रकृतीनामबाधाकालोऽबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेको भावनीय । तथा स्त्रीवेदे मनुष्यद्विके मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीरूपे सातवेदनीये च पूर्वोक्तस्य स्थितिप्रमाणस्यार्धमुत्कृष्टस्थितितया द्रष्टव्यं पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्य· स्त्रीवेदाऽऽदीनामुत्कृष्टा स्थितिरवगन्तव्येत्यर्थ· । पञ्चदशवर्षशतान्यबाधाकालोऽबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥ ७० ॥

तिविहे मोहे सत्तरि, चत्तालीसा य वीसई य कमा ।
दस पुरिसे हासरई, देवदुगे खगइचेट्ठाए ॥ ७१ ॥

( तिविहे त्ति ) त्रिविधे त्रिप्रकारे मोहे—मोहनीये मिथ्यात्वलक्षणे दर्शनमोहनीये , षोडशकषायलक्षणे कषायमोहनीये, नपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्सारूपे च नोकषायमोहनीये, यथासंख्यमुत्कृष्टा स्थिति· सागरोपमकोटीकोट्यः सप्ततिः चत्वारिंशत् विंशतिश्च । यथासङ्ख्यमेव च सप्तचत्वारि द्वे च वर्षसहस्रे अबाधाकालः अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । इह पुरुषवेदहास्यरतीनां विशेषतो वक्ष्यमाणत्वात् स्त्रीवेदस्य चोक्तत्वान्नोकषायमोहनीयग्रहणेन नपुंसकवेदारतिशोकभयजुगुप्सानामेव ग्रहणमवगन्तव्यम् । (दस पुरिसेत्यादि) पुरुषे-पुरुषवेदे हास्ये रतौ देवद्विके-देवगतिदेवानुपूर्वीरूपे खगतौ चेष्टाया प्रशस्तविहायोगतौ दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः दशवर्षशतानि चाऽबाधाकालः । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥ ७१ ॥

थिरसुभपंचगउच्चे, चेवं संठाणसंघयणमूले ।
तव्वीयाइ विवुड्ढी, अट्ठारस सुहुमविगलतिगे ॥ ७२ ॥

( थिर त्ति ) स्थिरे, शुभपञ्चके-शुभसुभगसुस्वराऽऽदेययशःकीर्तिरूपे, उच्चैर्गोत्रे च । तथा ( सठाणसंघयणमूले त्ति ) मूले—प्रथमे संस्थाने समचतुरस्रलक्षणे, प्रथमे च संहनने वज्रर्षभनाराचसंज्ञे । एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोत्कृष्टा स्थितिरवगन्तव्या, दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरवगन्तव्येत्यर्थः । दशवर्षशतानि चाबाधा । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक· (तव्वीयाइ विवुड्ढी ) तेषां संस्थानानां संहननानां च मध्ये द्वितीयाऽऽदिषु द्वितीयतृतीयाऽऽदिषु संस्थानेषु संहननेषु च द्विवृद्धिः-द्विकवृद्धिः क्रमेणावसेया । तद्यथा—द्वितीययो·-संस्थानसंहननयोर्द्वादशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षशतानि चाबाधाकालः । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक· । तृतीययोः संस्थानसंहननयोश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, चतुर्दशवर्षशतानि चाबाधाकाल , अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक· । चतुर्थयोः संस्थानसंहननयोः षोडशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, षोडशवर्षशतान्यबाधाकाल अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । पञ्चमयोः संस्थानसंहननयोरष्टादशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, अष्टादशवर्षशतानि चाबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । षष्ठयोः संस्थानसंहननयोर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थिति , द्वे वर्षसहस्रे अबाधाकाल , अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । ( अट्ठारससुहुमविगलतिगे ) सूक्ष्मत्रिके-सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपे, विकलत्रिके—द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिलक्षणे, अष्टादशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, अष्टादशवर्षशतान्यबाधाकाल , अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक· ॥७२॥

तित्थगराऽऽहारदुग, अंतो वीसासनिचनामाणं ।
तेत्तीसुदही सुरना-रयाउ सेसाउ पल्लतिगं ॥ ७३ ॥

( तित्थगर त्ति ) तीर्थकरे, आहारकद्विके आहारकशरीराऽऽहारकाऽङ्गोपाङ्गरूपे अन्तःकोटीकोटी उत्कृष्टा स्थितिः । अन्तर्मुहूर्त्तमबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । ( वीसासनिच्चनामाणं ) शेषाणां नामप्रकृतीनां नरकगतिनरकाऽऽनुपूर्वीतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणौदारिकवैक्रियशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्माणलक्षणानां नीचैर्गोत्रस्य च विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, विंशतिर्वर्षशतानि चाबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । (तेत्तीसुदही सुरनारयाऊ)सुराऽऽयुषो नारकाऽऽयुषश्चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशदुदधयः-सागरोपमाणि पूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानीति शेषः । पूर्वकोटीत्रिभागश्चाबाधाकालः । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । ( सेसाउ पल्लतिग ) शेषाऽऽयुषोर्मनुष्यतिर्यगायुषोः पल्यत्रिकं-त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानीति शेषः । पूर्वकोटीत्रिभागश्चाबाधाकालः । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । एतच्च पूर्वकोट्यायुषश्चतुर्गतिगमनयोग्यान् उत्कृष्टस्थितिबन्धकान् तिर्यङ्मनुष्यान् प्रति द्रष्टव्यम् । तानेवाऽऽश्रित्य यथोक्तरूपाया उत्कृष्टस्थितेः पूर्वकोटित्रिभागरूपाया-श्चाबाधायाः प्राप्यमाणत्वात् ॥ ७३ ॥

साम्प्रतमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽऽदीन् बन्धकानाश्रित्याऽऽयुषामुत्कृष्टां स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

आउचउक्कुक्कोसो, पल्लाऽसंखेज्जभागममणेसु ।
सेसाण पुव्वकोडी, साउतिभागो अवाहा सिं ॥ ७४ ॥

( आउ त्ति ) अमनस्केष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु आयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु चतुर्णामप्यायुषां परभवसम्बन्धिनामुत्कृष्टा स्थितिः, पल्योपमासंख्येयभागमात्रा, पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकेति शेषः । पूर्वकोटित्रिभागश्चाबाधाकालः । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । शेषाणां चैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां चापर्याप्तानामायुष्युत्कृष्टस्थितिबन्धकानां परभवाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्ध पूर्वकोटीस्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिको वेदितव्यः । ( सिं ति ) एषां स्वस्वभवत्रिभागोऽबाधाकालः । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥ ७४ ॥

इदानीमायुर्वर्जानां सर्वकर्मणामबाधाकालपरिमाणप्रतिपादनार्थमाह—

वासमहस्समवाहा, कोडाकोडी दसगस्स सेसाणं ।
अणुवाओ अणुवट्टण-गाउसु छम्मासिगुक्कोसो ॥ ७५ ॥

( वास त्ति ) कोटीकोटीदशकस्य दशानां सागरोपमकोटीकोटीनां वर्षसहस्रं—दशवर्षशतानि अबाधा भवति । शेषाणां—द्वादशचतुर्दशपञ्चदशपञ्चदशाष्टादशविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्सप्ततीनामनुपाताऽनुसारः कर्त्तव्यः, त्रैराशिकमनुसर्त्तव्यमित्यर्थः । तथाहि—यदा दशानां सागरोपमकोटीकोटीनां वर्षसहस्रमबाधा प्राप्यते, तदा द्वादशानां सागरोपमकोटीकोटीनां वर्षसहस्रं शतद्वयं चाऽबाधा भवति, चतुर्दशानां वर्षसहस्रं शतचतुष्टयं च । एवं सर्वत्राप्यनुसर्त्तव्यम् । ( अणुवट्टणगाउसु छम्मासिगुक्कोसो ) अनपवर्त्तनीयाऽऽयुष्केषु देवनारकासंख्येयवर्षाऽऽयुष्कतिर्यङ्मनुष्येषु परभवाऽऽयुष्कोत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु परभवाऽऽयुष उत्कृष्टाऽबाधा षाण्मासिकी—षण्मासप्रमाणा द्रष्टव्या । षण्मासावशेष एव तेषां परभवाऽऽयुर्बन्धकत्वात् । केचित्पुनर्युगलधर्मिणां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणामबाधामिच्छन्ति । तदुक्तम्—" पलियासंखिज्जऽसं, जुगधम्माणं वयंतन्ने " इति ॥ ७५ ॥

तदेवमुक्तोत्कृष्टा स्थितिः ।

सम्प्रति जघन्यामभिधातुकाम आह—

भिन्नमुहुत्तं आवरण-विग्घं दंसण चउक्कलोभंते ।
बारस सायमुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु ॥ ७६ ॥

( भिन्न त्ति ) पञ्चानां ज्ञानाऽऽवरणीयानां पञ्चानामन्तरायाणां चतुर्णां दर्शनाऽऽवरणानां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनाऽऽवरणरूपाणां सर्वान्तिमस्य च लोभस्य संज्वलनसंज्ञस्य भिन्नमुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्या स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । सातवेदनीयस्य जघन्या स्थितिर्द्वादश मुहूर्त्ताः, अन्तर्मुहूर्त्तं चाबाधाकालः, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । इह काषायिक्या एव स्थितेर्जघन्यत्वप्रतिपादनमभिप्रेतम् । अतो द्वादश मुहूर्त्ता इत्युक्तम् । अन्यथा सातवेदनीयस्य जघन्या स्थितिः समयद्वयमात्राऽपि सयोगिकेवल्यादौ प्राप्यते । तथा यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोरष्टौ मुहूर्त्ता जघन्या स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥ ७६ ॥

दो मासा अद्धद्धं, संजलणे पुरिस अट्ठ वासाणि ।
भिन्नमुहुत्तमवाहा, सव्वासिं सव्वहिं हस्से ॥ ७७ ॥

( दो मास त्ति ) संज्वलनानां द्वौ मासौ । अर्धार्धं च जघन्या स्थितिः । एतदुक्तं भवति-संज्वलक्रोधस्य द्वौ मासौ जघन्या स्थितिः । संज्वलनमानस्य मासः । संज्वलनमायाया अर्धमासः । तथा पुरुषे-पुरुषवेदस्याष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थितिः । सर्वत्राऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमबाधा । अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । अबाधाकालप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह-(भिन्नेत्यादि ) सर्वासामपि—प्रकृतीनामुक्तानां वक्ष्यमाणानां च सर्वस्मिन्नपि ह्रस्वे जघन्ये स्थितिबन्धे भिन्नमुहूर्त्तमबाधा द्रष्टव्या । तथैव च प्राक् प्रतिपादिता वक्ष्यते चेति ॥ ७७ ॥

संप्रत्यायुषो जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

खुड्डागभवो आउसु, उववायाउसु समा दस सहस्सा ।
उक्कोसा संखेज्जा, गुणहीणाऽऽहारतित्थयरे ॥ ७८ ॥

( खुड्डागभवो त्ति ) तिर्यगायुषो मनुष्याऽऽयुषश्च जघन्या स्थितिः क्षुल्लकभवः । तस्य किं मानमिति चेदुच्यते—आवलिकानां द्वे शते षट् पञ्चाशदधिके । अपि चैकस्मिन्मुहूर्त्ते घटिकाद्वयप्रमाणे सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि प्राणापानानां हृष्टा नवकल्यजन्तुसत्कानां भवन्ति । एकस्मिंश्च प्राणापाने साधिकाः सप्तदश क्षुल्लकभवाः । सकले च मुहूर्त्ते पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि क्षुल्लकभवानां भवन्ति । अत्रापि " सव्वहिं हस्से " इति

वचनादन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । तथा उपपाताऽऽयुषो देवाना नारकाणां चाऽऽयुषो जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, अन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः ॥ अधुना तीर्थकराऽऽहारकयोर्जघन्यां स्थितिमभिधातुकाम आह—( उक्कोसेत्यादि ) आहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गतीर्थकरनाम्नां योत्कृष्टा स्थितिः प्रागुक्ताऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा सा संख्येयगुणहीना जघन्या स्थितिर्भवति । साऽपि चान्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणैव । ननु तीर्थकरनामकर्म तीर्थकरभवादर्वाक् तृतीये भवे बध्यते । तदुक्तम्—"बज्झइ तं तु भयवओ,तइयभवो ( वे ) सक्कइत्ताणं ।" तत्कथं जघन्यतोऽप्यन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तस्य स्थितिरुपपद्यते ? । तदयुक्तम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् । " बज्झइ तं तु " इत्यादिकं निकाचनापेक्षयोक्तम्, इतरथा तु तृतीयभवादर्वाक्तनरामपि बध्यते । उक्तं च विशेषणवत्याम्—"कोडाकोडीअयरो—वमाणतित्थयरनामकम्मठिई । बज्झइ य तं अणंतर—भवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठ ॥ १ ॥" ततः कथमेतत् परस्परं युज्यते ? । अत्रोत्तरम्—" जं बज्झइ त्ति भणियं, तत्थ निकाइज्जइ त्ति नियमोऽयं । तव्वंझफल नियमा, भयणा अनिकाइया बत्थे ॥ १ ॥" आह—यदि तीर्थकरनाम्नो जघन्याऽपि स्थितिरन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तर्हि तावत्याः स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् तिर्यग्गतावपि तीर्थकरनामसत्कर्मा जन्तु कियन्तं कालं यावद्भवेत् । तथा च सत्यागमविरोधः । आगमे हि तिर्यग्गतौ तीर्थकरनामसत्कर्मा सन् प्रतिषिध्यते । नैष दोषः ' निकाचितस्यैव तीर्थकरनामकर्मणस्तिर्यग्गतौ सतः प्रतिषेधात् । उक्तं च—

" जमिह निकाइयतित्थं, तिरियभवे तं निसेहियं संत ।
इयरम्मि नऽत्थि दोसो, उव्वट्टोवट्टणासऽज्झे ॥ १ ॥ "

अस्या अक्षरगमनिका-इह-अस्मिन् प्रवचने यत्तीर्थकरनामकर्म निकाचितमवश्यवेद्यतया स्थापितं तदेव स्वरूपेण सद्विमानं, तिर्यग्गतौ निषिद्धम् । इतरस्मिन्—पुनरनिकाचिते उद्वर्तनापवर्तनासाध्ये तिर्यग्भवे विद्यमानेऽपि न कश्चिद्दोष इति । अत्रापि चान्तर्मुहूर्त्तमबाधा । तत. परं दलिकरचनायाः संभवादवश्यं प्रदेशोदयसंभव. ॥ ७८ ॥

उक्तशेषाणां प्रकृतीना जघन्यस्थितिप्ररूपणार्थमाह—

वग्गुक्कोसट्ठिईण, मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं ।
सेसाणं तु जहन्नो, पल्लासंखेज्जगेणूणो ॥ ७९ ॥

(वग्गुक्कोस त्ति)इह ज्ञानाऽऽवरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानाऽऽवरणीयवर्ग इत्युच्यते । एवं दर्शनाऽऽवरणप्रकृतिसमुदायो दर्शनाऽऽवरणीयवर्ग । वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्गः । दर्शनमोहनीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनमोहनीयवर्ग । चारित्रमोहनीयप्रकृतिसमुदायश्चारित्रमोहनीयवर्ग । नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्ग. । नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्ग । गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्ग । अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्ग । एतेषां वर्गाणाना याऽऽत्मीयाऽऽत्मीयोत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणा, तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणया भागे हृते सति यल्लभ्यते तत्पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनं सदुक्तशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यास्थितेः परिणाममवसेयम् । तथाहि—दर्शनाऽऽवरणीयवेदनीययोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा , तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति ' शून्यं शून्येन पातयेत् ' इति वचनाल्लब्धास्त्रयः सागरोपमसप्तभागाः, ते पल्योपमासंख्येयभागहीना निद्रापञ्चकासातवेदनीययोर्जघन्या स्थितिः । एव मिथ्यात्वस्य सप्तसप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना, संज्वलनवर्जानां द्वादशकषायाणां चत्वारः सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः । तथा नोकषायमोहनीयस्य नामकर्मणो गोत्रस्य च स्वस्वोत्कृष्टायाः स्थितेर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणाया मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति यौ लब्धौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ , तौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ पुरुषवेदवर्जानामष्टानां नोकषायाणां देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकाऽयशःकीर्तितीर्थकरवर्जशेषनामप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च जघन्या स्थिति.। वैक्रियषट्कस्य देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकाऽनुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाऽङ्गोपाङ्गलक्षणस्य द्वौ सप्तभागौ सहस्रगुणितौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ जघन्या स्थितिः । यतस्तस्य वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति, न न्यूनाम् । तदुक्तम्—

वेउव्विय ( विउव्व ) छक्के तं, सह—स्स ताडियं जं
असण्णिणो तेसिं ।
पलिआसंखंऽसूणं, ठिइ अबाहूणियनिसेगो ॥ १ ॥"

अस्या अक्षरगमनिका—" वग्गुक्कोसठिईणं, मिच्छत्तुक्कोसियाए " इत्यनेन करणेन यल्लब्ध तत् सहस्रताडित-गुणितम् । तत. पल्योपमस्यासंख्येयेनांशेन—भागेन न्यून सत् वैक्रियषट्के—उक्तस्वरूपे जघन्यस्थितेः परिणाममवसेयम् । कुत इत्याह—यद्-यस्मात्कारणात्तेषां वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणा असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितेर्बन्धका' । ते च जघन्या स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति, न न्यूनाम्, अन्तर्मुहूर्तमबाधा , अबाधाकालहीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति ॥ ७९ ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रतिपादनार्थमाह—

एसेगिंदियडहरो, सव्वासिं ऊणसजुओ जेट्ठो ॥
पणवीसा पन्नासा, सयं सहस्स च गुणकारो ॥ ८० ॥
कमसो विगलअसन्नी-ण पल्लसखेज्जभागहा इयरो ।
विरए देसजइदुगे, सम्मचउक्के य सखगुणो ॥ ८१ ॥

(एसे त्ति ) सर्वासा प्रकृतीना वैक्रियषट्काऽऽहारकतीर्थकरवर्जितानामेषोऽनन्तरोक्तः "वग्गुक्कोसठिईण, मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्धं । सेसाण तु जहन्नो, पल्लासखेज्जगेणूणो ।७९ " इत्येवंलक्षण स्थितिबन्धो डहरो—जघन्य एकेन्द्रियाणा द्रष्टव्य । तथाहि ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा , तस्या मिथ्यात्वस्थित्योत्कृष्टया सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भा

गे हृते सति लब्धाः सागरोपमस्य त्रयः सप्त भागाः, ते च पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते, एतावत्प्रमाणां जघन्यां स्थितिं ज्ञानाऽऽवरणपञ्चकदर्शनाऽऽवरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानामेकेन्द्रिया बध्नन्ति, न न्यूनाम्। एवं मिथ्यात्वस्य जघन्यां स्थितिमेकं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागहीनं कषायमोहनीयस्य । चतुरः सागरोपमस्य सप्त भागान् पल्योपमासंख्येयभागहीनान् नोकषायाणाम् । तथा वैक्रियषट्काऽऽहारकाद्विकतीर्थंकरवर्जितानां शेषनामप्रकृतीनां गोत्रप्रकृतिद्वयस्य च द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमाऽसंख्येयभागहीनावेकेन्द्रिया बध्नन्ति (ऊणमंजुत्रो जेट्ठ त्ति) स एव जघन्यः स्थितिबन्ध ऊनेन पल्योपमासंख्येयभागलक्षणेन संयुतः सन्नुत्कृष्टस्थितिबन्ध एकेन्द्रियाणां वेदितव्यः। तद्यथा-ज्ञानाऽऽवरणपञ्चकदर्शनाऽऽवरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः परिपूर्णा उत्कृष्टः स्थितिबन्ध । एवं सर्वत्रापि भावनीयम् । उक्त एकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः ॥ सम्प्रति विकलेन्द्रियाणामाह-(पणवीसेत्यादि) एकेन्द्रियाणां सत्क उत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चविंशत्यादिना गुणकारेण गुणितः सन् क्रमशः क्रमेण विकलानां-विकलेन्द्रियाणां द्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणानामसंज्ञिनां चासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां चोत्कृष्टः स्थितिबन्धो वेदितव्यः । तद्यथा-एकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्धः पञ्चविंशत्या गुणितो द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति । स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चाशता गुणितस्त्रीन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः । शतेन गुणितश्चतुरिन्द्रियाणाम् । सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामिति । (पल्लसंखेज्जभागहा इयरो) स एव द्वीन्द्रियाऽऽदीनामात्मीय आत्मीय उत्कृष्टः स्थितिबन्ध पल्योपमासंख्येयभागहीनः सन् इतरो जघन्यः स्थितिबन्धो वेदितव्यः ॥ सम्प्रति सर्वेषामपि जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धानामल्पबहुत्वमभिधीयते-तत्र सूक्ष्मसम्परायस्य जघन्यस्थितिबन्धः सर्वस्तोकः । ततो बादरपर्याप्तकस्य जघन्यः स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । ततोऽपि सूक्ष्मपर्याप्तकस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽप्यपर्याप्तबादरस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽप्यपर्याप्तसूक्ष्मस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि अपर्याप्तसूक्ष्मस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽप्यपर्याप्तबादरस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि बादरपर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततो द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि तस्यैव द्वीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि द्वीन्द्रियपर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽपि तस्यैव त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि त्रीन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽप्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽप्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि पर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽपि तस्यैवापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि तस्यैवापर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽपि तस्यैव पर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततः संयतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (विरए इत्यादि) विरते—संयते, अत्र च जघन्य उत्कृष्टश्च स्थितिबन्ध उक्त एव । ततो देशयतिद्विके देशविरतद्विके जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धलक्षणे, तथा सम्यक्त्वचतुष्केऽविरतसम्यग्दृष्टौ पर्याप्तेऽपर्याप्ते च प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धके स्थितिबन्धो यथोत्तरं संख्येयगुणो वक्तव्यः । तद्यथा—संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धात् देशविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो देशविरतस्यैवोत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततः पर्याप्ताविरतस्य सम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽप्यपर्याप्ताविरतस्य सम्यग्दृष्टेर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततोऽप्यपर्याप्ताविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः। ततोऽपि पर्याप्ताविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः ॥ ८१ ॥

सन्नीपज्जत्तियरे, अब्भिंतरओ य (उ) कोडिकोडीओ ।
ओघुक्कोसो सन्नि-स्स होइ पज्जत्तगस्सेव ॥ ८२ ॥

( सन्नि त्ति ) अविरतसम्यग्दृष्टेः पर्याप्तस्य सत्कादुत्कृष्टस्थितिबन्धात् संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽपि तस्यैवापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽपि तस्यैवापर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ( अब्भिंतरओ य ( उ ) कोडिकोडीउ त्ति ) संयतस्योत्कृष्टात् स्थितिबन्धादारभ्य यावदपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्ध एष सर्वोऽपि सागरोपमकोटीकोट्या अभ्यन्तर एव द्रष्टव्यः । एकेन्द्रियाऽऽदीनां तु सर्वजघन्यसर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धपरिमाणं प्रागेव प्रत्येकमुक्तम् । संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य पुनरुत्कृष्टः स्थितिबन्धो य एव प्रागोघेन—सामान्येनोक्त उत्कृष्टः स्थितिबन्धः स एव वेदितव्यः ॥ ८२ ॥ तदेवं कृता स्थितिस्थान ( बन्ध ) प्ररूपणा ।

सम्प्रति निषेकप्ररूपणावसरः । तत्र च द्वे अनुयोगद्वारे-अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा च । तत्रानन्तरोपनिधाप्ररूपणार्थमाह—

मोत्तूण सगमबाहं, पढमाए ठिइए बहुतरं दव्वं ।
एत्तो विसेसहीणं, जावुक्कोसं ति सव्वसिं ॥ ८३ ॥

( मोत्तूण त्ति ) सर्वस्मिन्नपि कर्मणि बध्यमाने आत्मीयमबाधाकालं मुक्त्वा—परित्यज्य ऊर्ध्वं दलिकनिक्षेपं करोति । तत्र प्रथमायां स्थितौ समयलक्षणायां प्रभूततरं द्रव्यं कर्मदलिकं निषिञ्चति । ( एत्तो विसेसहीणं ति ) इत प्रथमस्थितेरूर्ध्वं द्वितीयाऽऽदिषु स्थितिषु समयसमयप्रमाणासु विशेषहीनं विशेषहीनं कर्मदलिकं निषिञ्चति ।

तथाहि—प्रथमस्थितेः सकाशात् द्वितीयस्थितौ विशेषहीनम्। ततोऽपि तृतीयस्थितौ विशेषहीनम्। ततोऽपि चतुर्थस्थितौ विशेषहीनम्। एवं विशेषहीनं विशेषहीनं तावद्वाच्यं यावत्तत्समयबध्यमानकर्मणामुत्कृष्टा स्थितिः, चरमसमय इत्यर्थः ॥ ८३ ॥ कृताऽनन्तरोपनिधाप्ररूपणा।

सम्प्रति परम्परोपनिधाप्ररूपणार्थमाह—

पल्लासंखियभागं, गंतुं दुगुणूणमेवमुक्कोसा ।
नाणंतराणि पल्ल-स्स मूलभागो असंखतमो ॥ ८४ ॥

( पल्ल त्ति ) अबाधाकालादूर्ध्वं प्रथमस्थितौ यन्निषिक्तं कर्मदलिकं तदपेक्षया द्वितीयाऽऽदिषु स्थितिषु समयसमयरूपासु विशेषहीनं—विशेषहीनतरं दलिकमारभ्यमाणं पल्योपमासंख्येयभागमात्रासु स्थितिष्वतिक्रान्तासु दलिकं द्विगुणोनं भवति, अर्धं भवतीत्यर्थः । ततः पुनरप्यत ऊर्ध्वमेतदपेक्षया विशेषहीनं विशेषहीनतरं दलिकमारभ्यमाणं पल्योपमासंख्येयभागमात्रप्रमाणासु स्थितिष्वतिक्रान्तासु अर्धं भवति । एवमर्धोऽर्धहान्या तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः, स्थितेश्चरमसमय इत्यर्थः ॥ कियन्ति पुनरेवं द्विगुणहानिस्थानानि भवन्तीत्येतन्निरूपणार्थमाह—( नाणंतराणीत्यादि ) नानाप्रकाराणि यान्यन्तराणि अन्तरान्तराद्विगुणहानिस्थानानि भवन्ति, तान्युत्कृष्टस्थितिबन्धे पल्योपमस्य सम्बन्धिनः प्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च-" पलिओवमस्स मूला, असंखभागम्मि जत्तिया समया । तावइया हाणीओ, ठिइबंधुक्कोसए नेया ॥ १ ॥ " ननु मिथ्यात्वमोहनीयस्योत्कृष्टस्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वादेतावत्यो हानयः सम्भवन्तु, आयुषस्तूत्कृष्टस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसमयमात्रत्वात् कथमेतावत्यो हानयः सम्भवन्तीति ?, उच्यते-इहाऽसंख्येयतमो भागोऽसंख्येयभेदाऽऽत्मकः, असंख्यातस्याऽसंख्यातभेदभिन्नत्वात् । ततः पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमो भाग आयुष्यतीवाल्पतरो गृह्यते इत्यविरोधः । तथा सर्वाणि द्विगुणहानिस्थानानि स्तोकानि । एकस्मिन् द्विगुणहान्योरन्तरे निषेकस्थानानि असंख्येयगुणानि इति ॥ ८४ ॥ कृता निषेकप्ररूपणा ।

सम्प्रत्यबाधाकण्डकप्ररूपणार्थमाह—

मोत्तूण आउगाइं, समए समए अबाहहाणीए ।
पल्लासंखियभागं, कंडं कुण अप्पबहुमेसिं ॥ ८५ ॥

( मोत्तूण त्ति ) आयूंषि चत्वार्यपि मुक्त्वा शेषाणां सर्वेषामपि कर्मणामबाधाहानौ समये समये पल्योपमाऽसंख्येयभागलक्षणं कण्डकमुत्कृष्टस्थितेः सकाशाद्धीनं करोति । तथाहि-उत्कृष्टायामबाधायां वर्तमानो जीवः स्थितिमुत्कृष्टां बध्नाति, परिपूर्णामेकसमयहीनां वा । एवं यावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनां वा । यदि पुनरुत्कृष्टाऽबाधा एकेन समयेन हीना भवेत्ततो नियमात्पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रेण कण्डकेन हीनामेवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति । तामप्येकसमयहीनां वा द्विसमयहीनां वा यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागहीनां वा । यदि पुनर्द्वाभ्यां हीनोत्कृष्टाऽबाधा भवेत्ततो नियमात्पल्योपमाऽसंख्येयभागलक्षणकण्डकद्वयहीनामेवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति । तामप्येकसमयहीनां वा यावत्पल्योपमाऽसंख्येयभागहीनां वा । एवं यतिभिः समयैरूनाऽबाधा भवति, ततिभिरेव कण्डकैः पल्योपमाऽसंख्येयभागलक्षणैरूना स्थितिर्द्रष्टव्या । यावदेकत्र जघन्याऽबाधा भवति, अन्यत्र च जघन्या स्थितिः । तदेवमबाधागतसमयसमयहान्या स्थितेः कण्डकहानिप्ररूपणा कृता ॥ सम्प्रत्यल्पबहुत्वप्ररूपणार्थमाह-( अप्पबहुमेसिं ) एषां वक्ष्यमाणानामल्पबहुत्वं वक्तव्यम् ॥ ८५ ॥

केषामिति चेत्तानेवाऽऽह—

बंधाऽबाहाणुक्कसि-(सइ) यरं कंडकअबाहबंधाणं ।
ठाणाणि एक्कनाणं-तराणि अत्थेण कंडं च ॥८६॥

( बंध त्ति ) ( बंधाबाहाणुक्कसियरं ति ) उत्कृष्टः स्थितिबन्धो जघन्यः स्थितिबन्धः उत्कृष्टाऽबाधा जघन्याऽबाधा । ( कंडकअबाहबंधाणं ठाणाणि त्ति ) कण्डकस्थानानि अबाधास्थानानि स्थितिबन्धस्थानानि च । ( एग ( क्क ) नाणंतराणि त्ति ) एकं द्विगुणहान्योरन्तरं नानारूपाणि चान्तराणि द्विगुणहानिस्थानरूपाणि । ( अत्थेणं कंडं च त्ति ) जघन्याऽबाधाहीनया उत्कृष्टाऽबाधया जघन्यस्थितिहीनाया उत्कृष्टस्थितेर्भागे हृते सति यावान् भागो लभ्यते, तावान् अर्थेन कण्डकमित्युच्यते, इत्याम्नायिका व्याख्यानयन्ति । च' समुच्चये । पञ्चसङ्ग्रहे पुनरेतस्य स्थानेऽबाधाकण्डकस्थानानीत्युक्तम् । तत्र चैवं मूलटीकाकारेण व्याख्या कृता-अबाधा च कण्डकानि चाऽबाधाकण्डकं, समाहारो द्वन्द्वः, तस्य स्थानानि अबाधाकण्डकस्थानानि । तयोर्द्वयोरपि स्थानसंख्येत्यर्थः । एतेषां दशानां स्थानानामल्पबहुत्वमुच्यते-तत्र संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु अपर्याप्तकेषु वा बन्धकेषु आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां सर्वस्तोका जघन्याऽबाधा । सा चाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । ततोऽबाधास्थानानि कण्डकस्थानानि चाऽसंख्येयगुणानि । तानि तु परस्परं तुल्यानि । तथाहि-जघन्यामबाधामादिं कृत्वोत्कृष्टाऽबाधाचरमसमयमभिव्याप्य यावन्तः समयाः प्राप्यन्ते, तावन्त्यबाधास्थानानि भवन्ति । तद्यथा-जघन्याऽबाधा एकमबाधास्थानं सैव समयाधिका द्वितीयम् । द्विसमयाधिका तृतीयम् । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टाबाधाचरमसमयः । एतावन्त्येव चाऽबाधाकण्डकानि, जघन्याबाधात आरभ्य समयं समयं प्रति कण्डकस्य प्राप्यमाणत्वात् । एतच्च प्रागेवोक्तम् । तेभ्य उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, जघन्याबाधायास्तत्र प्रवेशात् । ततो दलिकनिषेकविधौ द्विगुणहानिस्थानानि असंख्येयगुणानि, पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणत्वात् । तत एकस्मिन् द्विगुणहान्योरन्तरे निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि, तेषामसंख्येयानि पल्योपमवर्गमूलानि परिमाणमिति कृत्वा तेभ्योऽपि अर्थेन कण्डकमसंख्येयगुणम् । तस्माज्जघन्यः स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, अन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । संज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि श्रेणिमनारूढा जघन्यतोऽपि स्थितिबन्धमन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमेव कुर्वन्ति । ततोऽपि स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तत्र ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंशद्गुणानि समधिकानि मिथ्यात्वमोहनीयस्यैकोनसप्ततिगुणा

ने समधिकानि । नामगोत्रयोरेकोनविंशतिगुणानि समधिकानि । तेभ्य उत्कृष्टा स्थितिर्विशेषाधिका, जघन्यस्थितेरबाधायाश्च तत्र प्रवेशात् । तथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु वा पर्याप्तकेषु प्रत्येकमायुषो जघन्याऽबाधा सर्वस्तोका । ततो जघन्य स्थितिबन्ध. संख्येयगुणः, स च क्षुल्लकभवरूप. । ततोऽबाधास्थानान्यसंख्येयगुणानि । जघन्याबाधारहितः पूर्वकोटीत्रिभागरहित इति कृत्वा । ततोऽप्युत्कृष्टाऽबाधा विशेषाधिका । जघन्याबाधाया अपि तत्र प्रवेशात् । ततो द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमप्रथमवर्गमूलासंख्येयभागगतसमयप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्येकस्मिन् द्विगुणहान्योरन्तरे निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तत्र युक्तिः प्रागुक्ताऽवगन्तव्या । तत स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । तेभ्योऽप्युत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः, जघन्यस्थितेरबाधायाश्च तत्र प्रवेशात् । तथा पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञिष्वसंज्ञिष्वपर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियबादरसूक्ष्मैकेन्द्रियेषु च पर्याप्तापर्याप्तेषु प्रत्येकमायुष. सर्वस्तोका जघन्याऽबाधा । ततो जघन्यः स्थितिबन्ध. संख्येयगुणः, स च क्षुल्लकभवरूप. । ततोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । ततोऽप्युत्कृष्टाऽबाधा विशेषाधिका । ततोऽपि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । जघन्यस्थितिन्यूनपूर्वकोटिप्रमाणत्वात् । तत उत्कृष्ट. स्थितिबन्धो विशेषाधिकः, जघन्यस्थितेरबाधायाश्च तत्र प्रवेशात् । तथाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियचतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियेषु पर्याप्तापर्याप्तेष्वायुर्वर्जाना सप्ताना कर्मणा प्रत्येकमबाधास्थानानि कण्डकानि च स्तोकानि परस्परं च तुल्यानि, आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणत्वात् । ततो जघन्याऽबाधाऽसंख्येयगुणा, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् । ततोऽप्युत्कृष्टाऽबाधा विशेषाधिका, जघन्याबाधाया अपि तत्र प्रवेशात् । ततो द्विगुणहीनानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि । तत एकस्मिन् द्विगुणहान्योरन्तरे निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि । ततोऽर्थेन कण्डकमसंख्येयगुणम् । ततोऽपि स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणत्वात् । ततोऽपि जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । ततोऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, पल्योपमाऽसंख्येयभागेनाभ्यधिकत्वादिति ॥ ८६ ॥ तदेवमुक्तमल्पबहुत्वम् ।

इदानीं स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानप्ररूपणा कर्त्तव्या । तत्र च त्रीण्यनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-स्थितिसमुदाहार., प्रकृतिसमुदाहार., जीवसमुदाहारश्च । समुदाहार.-प्रतिपादनम् । तत्र स्थितिसमुदाहारेऽपि त्रीण्यनुयोगद्वाराणि । तद्यथा-प्रगणना, अनुकृष्टि., तीव्रमन्दता च । तत्र प्रगणनाप्ररूपणार्थमाह—

ठिइबंधे ठिनिबन्धे, अज्झवसा णाणऽसंखया लोगा ।
हस्सा विसेसवुड्ढी, आऊणमसंखगुणवुड्ढी ॥ ८७ ॥

( ठिइबंधे त्ति ) इह सर्वेषामपि कर्मणा जघन्यस्थितेः परत उत्कृष्टस्थितेश्चरमसमयमभिव्याप्य यावन्त समयास्तावन्ति स्थितिस्थानानि जघन्यस्थितिसहितानि प्रत्येकं भवन्ति । एकैकस्मिंश्च स्थितिस्थाने वध्यमाने तद्बन्धहेतुभूता काषायिका अध्यवसाया नानाजीवाऽपेक्षयाऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा अवगन्तव्याः । अत्र च द्वेधा प्ररूपणा । तद्यथा-अनन्तरोपनिधया, परम्परोपनिधया च । तत्रानन्तरोपनिधया प्ररूपणामाह—( हस्सा विसेसवुड्ढी ) आयुर्वर्जानां कर्मणां ह्रस्वाज्जघन्यात् स्थितिबन्धात् परतो द्वितीयाऽऽदिषु स्थितिस्थानबन्धेषु विशेषवृद्धिः-विशेषाधिका वृद्धिरवसेया । तद्यथा-ज्ञानाऽऽवरणीयस्य जघन्यस्थितौ तद्बन्धहेतुभूता अध्यवसाया नानाजीवाऽपेक्षयाऽसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणाः । ते चान्याऽपेक्षया सर्वस्तोकाः । ततो द्वितीयस्थितौ विशेषाधिकाः । ततोऽपि तृतीयस्थितौ विशेषाधिकाः । एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एवं सर्वेष्वपि कर्मसु वाच्यम् । ( आऊणमसंखगुणवुड्ढी ) आयुषा जघन्यस्थितेरारभ्य प्रतिस्थितिबन्धमसंख्येयगुणवृद्धिर्वक्तव्या । तद्यथा—आयुषो जघन्यस्थितौ तद्बन्धहेतुभूता अध्यवसाया असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणा. । ते च सर्वस्तोकाः । ततो द्वितीयस्थितौ असंख्येयगुणा. । ततोऽपि तृतीयस्थितावसंख्येयगुणाः । एव तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टा स्थिति. ॥ ८७ ॥ तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा ।

संप्रति परम्परोपनिधया ता करोति—

पल्लासंखियभागं, गतुं दुगुणाणि जाव ऊक्कोसा ।
नाणंतराणि अंगुल-मूलच्छेयणमसंखतमो ॥ ८८ ॥

( पल्ल त्ति ) आयुर्वर्जानां सप्ताना कर्मणां जघन्यस्थितौ यान्यध्यवसायस्थानानि, तेभ्यः पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्राः स्थितीरतिक्रम्य परस्मिन्नन्तरे स्थितिस्थाने द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तेभ्योऽपि पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रा. स्थितीरतिक्रम्याऽनन्तरे स्थितिस्थाने द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एवं द्विगुणवृद्धिस्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिरिति । एकस्मिन् द्विगुणवृद्ध्योरन्तरे स्थितिस्थानानि पल्योपमवर्गमूलान्यसंख्येयानि । नानाद्विगुणवृद्धिस्थानानि चाङ्गुलवर्गमूलच्छेदनकाऽसंख्येयतमभागप्रमाणानि । एतदुक्तं भवति—अङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं वर्गमूल तन्मनुष्यप्रमाणहेतुराशिपदप्रतिच्छेदनविधिना तावच्छिद्यते, यावद्भागं न प्रयच्छति । तेषा च छेदनकानामसंख्येयतमे भागे यावन्ति छेदनकानि तावत्सु यावानाकाशप्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि नानाद्विगुणस्थानानि भवन्तीति ॥ ८८ ॥ तदेव कृता प्रगणना ।

साम्प्रतमनुकृष्टिश्चिन्त्यते । सा च न विद्यते । तथाहि-ज्ञानावऽऽरणीयस्य जघन्यस्थितिबन्धे यान्यध्यवसायस्थानानि, तेभ्यो द्वितीयस्थितिबन्धेऽन्यानि, तेभ्योऽपि तृतीयस्थितिबन्धेऽन्यानि, एवं तावद्वाच्य यावदुत्कृष्टा स्थिति. । एवं सर्वेषामपि कर्मणा द्रष्टव्यम् । इदानीं तीव्रमन्दता वक्तुमवसरप्राप्ता, सा स्थाप्या, अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तदेवमभिहित. स्थितिसमुदाहार. ॥ सम्प्रति प्रकृतिसमुदाहार उच्यते-तत्र च द्वे अनुयोगद्वारे । तद्यथा-प्रमाणाऽनुगम, अल्पबहुत्वं च । तत्र प्रमाणाऽनुगमे ज्ञानाऽऽवरणीयस्य सर्वेषु स्थितिबन्धेषु-कियन्त्यध्यवसायस्थानानि ?। उच्यते असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणानि । एवं सर्वकर्मणामपि द्रष्टव्यम् इदानीमल्पबहुत्वमभिधातुकाम आह—

ठिइदीहयाएँ कमसो, असंखगुणियाणऽणंतगुणणाए ।
पढमजहएणुक्कोसं, बितियजहन्नाइया चरमा ॥८९॥

( ठिइदीहयाए त्ति ) स्थितिदीर्घतया क्रमशः—क्रमेणाऽध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि वक्तव्यानि । यस्य यतः क्रमेण दीर्घा स्थितिस्तस्य ततः क्रमेणाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानि वक्तव्यानीत्यर्थः । तथाहि—सर्वस्तोकान्यायुषः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि । तेभ्योऽपि नामगोत्रयोरसंख्येयगुणानि । नन्वायुषः स्थितिस्थानेषु यथोत्तरमसंख्येयगुणा वृद्धिः, नामगोत्रयोस्तु विशेषाधिका, तत्कथमायुरपेक्षया, नामगोत्रयोरसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति ? । उच्यते—आयुषो जघन्यस्थितावध्यवसायस्थानान्यतीव स्तोकानि, नामगोत्रयोः पुनर्जघन्यायां स्थितौ अतिप्रभूतानि, स्तोकानि चाऽऽयुषः स्थितिस्थानानि, नामगोत्रयोस्त्वतिप्रभूतानि,ततो न कश्चिद् दोषः नामगोत्रयोः सकाशात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यो ज्ञानाऽऽवरणीयदर्शनाऽऽवरणीयवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि । कथमिति चेदुच्यते-इह पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रासु स्थितिष्वतिक्रान्तासु द्विगुणवृद्धिरुपलब्धा । तथा च सत्येकैकस्याऽपि पल्योपमस्यान्तेऽसङ्ख्येयगुणानि लभ्यन्ते । किं पुनर्देशसागरोपमकोटीकोट्यन्ते इति तेभ्योऽपि कषायमोहनीयस्य स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि दर्शनमोहनीयस्य स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानि । उक्तः प्रकृतिसमुदाहारः ॥ सम्प्रति स्थितिसमुदाहारे या प्राक् तीव्रमन्दता नोक्ता, साऽभिधीयते—( अणंतेत्यादि ) प्रथमायां स्थितौ जघन्यं स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानम् । ततस्तस्यामेवोत्कृष्टम् । ततो द्वितीयस्थितौ जघन्यम् । एवमादि आ चरमात् उत्कृष्टस्थितौ चरमं स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानं यावत् क्रमेणानन्तगुणतया वक्तव्यम् । तद्यथा-ज्ञानाऽऽवरणीयस्य जघन्यस्थितौ जघन्यस्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानं सर्वमन्दानुभावम् । ततस्तस्यामेव जघन्यस्थितौ उत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणम् । ततोऽपि द्वितीयस्थितौ जघन्यं स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानमनन्तगुणम् । ततोऽपि तस्यामेव द्वितीयस्थितौ उत्कृष्टमनन्तगुणम् । एवं प्रतिस्थिति जघन्यमुत्कृष्टं च स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानमनन्तगुणतया तावद्वक्तव्यं यावदुत्कृष्टायां स्थितौ चरमं स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानमनन्तगुणम् ॥ ८९ ॥ तदेवं स्थितिसमुदाहारोऽपि निरवशेष उक्तः, प्रकृतिसमुदाहारश्च ।

सम्प्रति जीवसमुदाहारमभिधित्सुराह—

बंधंती धुवपगडी, परित्तमाणिगसुभाण तिविहरसं ।
चउ तिग विट्ठाणगयं, विवरीयतिग च असुभाण ॥९० ॥

(बंधंति त्ति) ज्ञानाऽऽवरणीयपञ्चकदर्शनाऽऽवरणीयनवकमिथ्यात्वषोडशकषायभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातनिर्माणान्तरायपञ्चकलक्षणाः सप्तचत्वारिंशत्संख्या ध्रुवप्रकृतीर्बध्नन्ति । परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां सातवेदनीयदेवगतिमनुजगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियाऽऽहारकौदारिकशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननाङ्गोपाङ्गत्रयमनुजानुपूर्वीदेवानुपूर्वीपराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतप्रशस्तविहायोगतित्रसाऽऽदिदशकतीर्थकरनामनरकाऽऽयुर्वर्जशेषाऽऽयुष्कत्रयोच्चैर्गोत्रलक्षणानां चतुस्त्रिंशत्संख्याना त्रिविधं त्रिप्रकारम् । तद्यथा-चतुःस्थानगतं त्रिस्थानगतं द्विस्थानगतं च रसमनुभागं बध्नन्ति । इह शुभप्रकृतीनां रसः क्षीराऽऽदिरसोपमः । अशुभप्रकृतीनां तु घोषातकीनिम्बाऽऽदिरसोपमः । उक्तं च-"घोसाडइनिंबुवमो,असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो" इति । क्षीराऽऽदिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानिक उच्यते । द्वयोस्तु कर्षयोरावर्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षः स द्विस्थानिकः । त्रयाणां कर्षाणामावर्तने कृते सति य उद्धरित एकः कर्षः स त्रिस्थानगतः । चतुर्णां तु कर्षाणामावर्त्तने कृते सति योऽवशिष्टः एकः कर्षः स चतुःस्थानगतः । एकस्थानगतोऽपि रसो जललवबिन्दुचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणाऽऽदिषु प्रक्षेपात् मन्दमन्दतराऽऽद्यसंख्यभेदत्वं प्रतिपद्यते । एवं द्विस्थानगताऽऽदिष्वपि रसेष्वसंख्येयभेदत्वं वाच्यम् । एतदनुसारेण च कर्मणामपि रसेष्वेकस्थानगतत्वाऽऽदि स्वधिया परिभावनीयम् । एकस्थानगताच्च रसात् कर्मणा द्विस्थानगताऽऽदयो रसा यथोत्तरमनन्तगुणा वाच्याः । तदुक्तम्-"अणंतगुणिया कमेणियरे ।" तथा केवलज्ञानाऽऽवरणवर्जानां चतुर्णां ज्ञानाऽऽवरणीयानां,केवलदर्शनाऽऽवरणवर्जानां त्रयाणां चक्षुरादिदर्शनाऽऽवरणीयानां, पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्टयान्तरायपञ्चकानां च सर्वसंख्यया सप्तदशप्रकृतीनां बन्धमाश्रित्य चतुर्धाऽपि रसः सम्भवति । तद्यथा-एकस्थानगतो द्विस्थानगतस्त्रिस्थानगतश्चतुःस्थानगतश्च । शेषाणां तु शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनां वा द्विस्थानगतस्त्रिस्थानगतश्चतुःस्थानगतश्च । न तु कदाचनाऽप्येकस्थानगत इति वस्तुस्थितिः ॥ तत्र शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगताऽऽदिक्रमेण रसस्य त्रैविध्यं प्रतिपाद्य सम्प्रत्यशुभप्रकृतीनां रसस्य त्रैविध्यमाह-( विवरीयतिग च असुभाणं ) ता एव ध्रुवप्रकृतीर्बध्नन्तो यदि परावर्त्तमाना अशुभप्रकृतीर्बध्नन्ति, तदा तासामनुभागं विपरीतत्रिकं विपरीतं त्रिकं यस्य स तथा तं बध्नन्ति । तद्यथा-द्विस्थानगतं त्रिस्थानगतं चतुःस्थानगतं च । इह ध्रुवप्रकृतीनां जघन्यां स्थितिं बध्नन् शुभप्रकृतीनां बन्धमागतानां चतुःस्थानगतं रसं बध्नाति, अशुभप्रकृतीनां तु द्विस्थानगतम् । अजघन्यां ध्रुवप्रकृतीनां स्थितिं बध्नन् शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनां वा यथायोगं बन्धमागतानां त्रिस्थानगतं रसं बध्नाति । उत्कृष्टां च स्थितिं ध्रुवप्रकृतीनां बध्नन् शुभप्रकृतीनां द्विस्थानगतम् अशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतं रसं बध्नाति । ततः शुभप्रकृतिगतरसत्रैविध्यक्रमापेक्षयाऽशुभप्रकृतीनां रसत्रैविध्यक्रमस्य वैपरीत्यमुक्तम् ॥ ९० ॥

अथ के शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतं त्रिस्थानगतं द्विस्थानगतं वा रसं बध्नन्ति ? । उच्यते-

सव्वविसुद्धा बधं-ति मज्झिमा संकिलिट्ठतरगा य ।
धुवपगडि जहन्नठिइं, सव्वविसुद्धा उ बधंति ॥ ९१ ॥
तिट्ठाणे अजहन्नं, विट्ठाणे जेट्ठगं सुभाण कमा ।
सट्ठाणे उ जहन्नं, अजहन्नुक्कोसमियरासिं ॥ ९२ ॥

(सव्व त्ति,ये सर्वविशुद्धा जन्तवस्ते परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्ति । ये पुनर्मध्यमपरिणामास्ते त्रि

स्थानगतं रसं बध्नन्ति । संक्लिष्टतरपरिणामास्तु द्विस्थानगतम् । ये पुनस्तद्योग्यभूमिकाऽनुसारेण सर्वविशुद्धाः परावर्त्तमाना अशुभप्रकृतीर्बध्नन्ति ते तासां द्विस्थानगतं रसं निवर्तयन्ति । मध्यमपरिणामास्त्रिस्थानगतम् । संक्लिष्टतरपरिणामास्तु चतुःस्थानगतम् । ( धुवपगडीत्यादि ) ये सर्वविशुद्धाः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्ति,ते ध्रुवप्रकृतीनां जघन्यां स्थितिं निवर्तयन्ति । ( तिट्ठाणे इति ) षष्ठ्यर्थे सप्तमी, परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानगतस्य रसस्य ये बन्धकास्ते ध्रुवप्रकृतीनामजघन्यां मध्यमां स्थितिं बध्नन्ति । द्विस्थानगतस्य रसस्य ये बन्धकास्ते ध्रुवप्रकृतीनां ज्येष्ठामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति । तथा इतरासां परावर्त्तमानाऽशुभप्रकृतीनां ये द्विस्थानगतं रसं बध्नन्ति, ते ध्रुवप्रकृतीनां जघन्यां स्थितिं स्वस्थाने स्वविशुद्धिभूमिकाऽनुसारेणेत्यर्थः, बध्नन्ति, परावर्तमानाशुभप्रकृतिसत्कद्विस्थानगतरसबन्धहेतुविशुद्ध्यनुसारेण जघन्यां स्थितिं बध्नन्ति, न त्वतिजघन्यामित्यर्थः । जघन्यस्थितिबन्धो हि ध्रुवप्रकृतीनामेकान्तविशुद्धौ सम्भवति, न च तदानीं परावर्तमानाऽशुभप्रकृतीनां बन्धाः संभवन्ति । ये पुन परावर्त्तमानाऽशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानगतस्य रसस्य बन्धकास्ते ध्रुवप्रकृतीनामजघन्यां स्थितिं बध्नन्ति । तथा ये परावर्त्तमानाऽशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्ति ते ध्रुवप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं निवर्तयन्ति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

इह द्विधा प्ररूपणा—अनन्तरोपनिधया, परम्परोपनिधया च । तत्राऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणामाह—

थोवा जहन्नियाए, होंति विसेसाहिओदहिसयाइं ।
जीवा विसेसहीणा, उदहिसयपुहुत्त मो जाव ॥ ६३ ॥

( थोव त्ति ) परावर्तमानानां शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतरसबन्धकाः सन्तो ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदीनां ध्रुवप्रकृतीनां जघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्तमाना जीवाः स्तोकाः । द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः एवं तावद्विशेषाधिका वक्तव्या यावत्प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रान्तानि भवन्ति । ततः परं विशेषहीनास्तावद् वक्तव्या यावद्विशेषहानावपि (उदहिसयपुहुत्तं ति ) प्रभूतानि सागरोपमशतानि भवन्ति । 'मो' इति पादपूरणे । पृथक्त्वशब्दोऽत्र बहुत्ववाची । यदाह चूर्णिकृत्—" पुहुत्तसद्दो बहुत्तवाचीति । " इति ॥ ६३ ॥

एवं तिट्ठाणकरा, विट्ठाणकरा य आ सुभुक्कोसा ।
असुभाणं विट्ठाणे, तिचउट्ठाणे य उक्कोसा ॥ ६४ ॥

( एवं ति ) परावर्तमानानां शुभप्रकृतीनां त्रिस्थानगतं रसं निवर्तयन्तः सन्तो ध्रुवप्रकृतीनां स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्तमाना जीवाः स्तोकाः । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । एवं तावद्वाच्यं यावत्प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति । ततः परं विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वक्तव्या यावद्विशेषहानावपि प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति । तथा परावर्तमानाशुभप्रकृतीनां द्विस्थानगतं रसं निवर्तयन्तो ध्रुवप्रकृतीनां स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्तमाना जीवाः स्तोकाः । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । ततोऽपि तृतीयस्यां (स्थितौ) विशेषाधिकाः । एवं तावद्वाच्यं यावत्प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति । ततः परं विशेषहीनास्तावद्वक्तव्या यावद्विशेषहानावपि प्रभूतानि सागरोपमशतानि प्रयान्ति । परावर्तमानाशुभप्रकृतीनां च द्विस्थानगतरसबन्धका एवं तावद्वक्तव्या यावत्तासां परावर्तमानशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिं उत्कृष्टस्थितिगतद्विस्थानरसबन्धका इत्यर्थः । (असुभाणमित्यादि) अशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनां प्राग्दर्शितक्रमेण प्रथमतो द्विस्थानगतरसबन्धका वक्तव्याः । ततस्त्रिस्थानगतरसबन्धका वक्तव्याः । ततश्चतुःस्थानगतरसबन्धकाः । ते च तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः । इयमत्र भावना-अशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनां जघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्त्तमाना जीवाः स्तोकाः । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्वक्तव्या यावत्प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति । ततः परं विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वक्तव्या यावद्विशेषहानावपि प्रभूतानि सागरोपमशतानि यान्ति । अशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनां त्रिस्थानगतरसबन्धकाः सन्तो ध्रुवप्रकृतीनां स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्त्तमाना जीवाः स्तोकाः ततो द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । एवं प्रागिव तावद्वाच्यं यावद्विशेषहानावपि प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति । तथाऽशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनां चतुःस्थानगतरसबन्धकाः सन्तो ध्रुवप्रकृतीनां स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्त्तमाना जीवाः स्तोकाः । ततो द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । ततोऽपि तृतीयस्यां स्थितौ विशेषाधिकाः । एवं तावद्वाच्यं यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति । ततः परं विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वक्तव्या यावद्विशेषहानावपि प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति । अशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनां च चतुःस्थानगतरसबन्धका एवं विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वक्तव्या यावत्तासामशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति , उत्कृष्टस्थितिगतचतुःस्थानकरसबन्धका इत्यर्थः ॥ ६४ ॥ तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा ।

सम्प्रति परम्परोपनिधया तामाह—

पल्लासंखियमूला-नि गंतु दुगुणा य दुगुणहीणा य ।
नाणंतराणि पल्ल-स्स मूलभागो असंखतमो ॥ ६५ ॥

( पल्ल त्ति ) परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानगतरसबन्धका ध्रुवप्रकृतीनां जघन्यस्थितौ बन्धकत्वेन वर्त्तमाना ये जीवास्तदपेक्षया जघन्यस्थितेः परतः पल्योपमस्यासंख्येयानि वर्गमूलानि पल्योपमस्यासंख्येयेषु वर्गमूलेषु यावन्त समयास्तावत्प्रमाणाः स्थितीरतिक्रम्यापरस्मिन् स्थितिस्थाने वर्त्तमाना जीवा द्विगुणा भवन्ति । ततः पुनरपि पल्योपमासंख्येयवर्गमूलप्रमाणाः स्थितीरतिक्रम्यानन्तरे स्थितिस्थाने द्विगुणा भवन्ति । एवं द्विगुणास्तावद्वक्तव्या यावत्प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति । ततः परं पल्योपमाऽसंख्येयवर्गमूलप्रमाणाः स्थितीरतिक्रम्यापरस्मिन् स्थितिस्थाने विशेषवृद्धिगतचरमस्थितौ बन्धकत्वेन वर्त्त-

माना ये जीवास्तदपेक्षया द्विगुणहीना भवन्ति, अर्धा भवन्तीत्यर्थः। ततः पुनरपि पल्योपमाऽसंख्येयवर्गमूलप्रमाणास्थितीरतिक्रम्यापरस्मिन् स्थितिस्थानेऽर्धा भवन्ति । एवं तावद्वाच्यं यावद् द्विगुणहानावपि प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति । एवं परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानकरसबन्धका द्विस्थानगतरसबन्धकाश्च, अशुभपरावर्त्तमानप्रकृतीनां तु द्विस्थानरसबन्धकास्त्रिस्थानरसबन्धकाश्चतुःस्थानरसबन्धकाश्च वक्तव्याः । एकस्मिन् द्विगुणवृद्ध्यन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा स्थितिस्थानानि पल्योपमस्याऽसंख्येयानि वर्गमूलानि पल्योपमस्यासंख्येयेषु वर्गमूलेषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानीत्यर्थः । नानाऽन्तराणि नानारूपद्विगुणवृद्धिद्विगुणहानि ( लक्षणानि ) स्थानानि पल्योपमस्य सम्बन्धिनः। प्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति। नानाद्विगुणवृद्धिद्विगुणहानिस्थानि स्तोकानि । एकस्मिन् द्विगुणवृद्ध्यन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा स्थितिस्थानानि असंख्येयगुणानि ॥ ६५ ॥

अणगारप्पाउग्गा, विट्ठाणगया उ दुविहपगडीणं ।
सागारा सव्वत्थ वि, हिट्ठा थोवाणि जवमज्झा ॥६६॥
ठाणाणि चउट्ठाणा, संखेज्जगुणाणि उवरिमेवं वि ।
तिट्ठाणे विट्ठाणे, सुभाणि एगंतमीसाणि ॥ ६७ ॥
उवरिं मिस्साणि जह-न्नगो सुभाणं तओ विसेसहिओ ।
होइ सुभाण जहन्नो, संखेज्जगुणाणि ठाणाणि ॥६८॥
विट्ठाणे जवमज्झा, हेट्ठा एगंत मीसगाणुवरिं ।
एवं तिचउट्ठाणे, जवमज्झाओ य डायठिई ॥ ६६ ॥
अंता कोडाकोडी, सुभविट्ठाण जवमज्झओ उवरिं ।
एगंतगा विसिट्ठा, सुभजिट्ठा डायठिइजेट्ठा ॥ १०० ॥

( अणगार त्ति ) द्विविधानामपि—शुभानामशुभानां च परावर्त्तमानप्रकृतीनां रसा अनाकारप्रायोग्या. वन्धं प्रत्यनाकारोपयोगयोग्या बन्धमधिकृत्य तथाविधमन्दपरिणामयोग्या इत्यर्थ । नियमात् द्विस्थानगता एव नान्ये । तुरेवकारार्थ. । उक्तं च—"तु स्याद्भेदेऽवधारणे ।" सकारा. साकारोपयोगयोग्या बन्धमधिकृत्य तीव्रपरिणामयोग्याः । पुनः सर्वत्राऽपि द्विस्थानाऽऽद्यौ प्राप्यन्ते द्विस्थानगतास्त्रिस्थानगताश्चतुःस्थानगताश्च रसा बन्धमाश्रित्य साकारोपयोगयोग्या भवन्तीत्यर्थ. ॥ इदानीं सर्वस्थितिस्थानानामल्पबहुत्वमाह—( हिट्ठा थोवाणीत्यादि ) परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानकरसयवमध्यादध. स्थितिस्थानानि सर्वस्तोकानि। तेभ्यश्चतुःस्थानकरसयवमध्यस्यैवोपरि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानकरसयवमध्यादधः स्थितिस्थानि सख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि त्रिस्थानकरसयवमध्यस्योपरि स्थितिस्थानानि सख्येयगुणानि। ( एवं तिट्ठाणे त्ति) एव संख्येयगुणतयाऽध उपरि च त्रिस्थानेऽपि रसे स्थितिस्थानानि वक्तव्यानीत्यर्थः। तेभ्योऽपि परावर्त्तमानशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकरसयवमध्यादध.-स्थितिस्थानानि एकान्तसाकारोपयोगयोग्यानि संख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि द्विस्थानकरसयवमध्यादध. पाश्चात्येभ्यः ऊर्ध्वं स्थितिस्थानानि मिश्राणि साकाराऽनाकारोपयोगयोग्यानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि द्विस्थानकरसयवमध्यस्योपरि मिश्राणि स्थितिस्थानानि सख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि शुभानां परावर्त्तमानप्रकृतीनां जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततोऽप्यशुभपरावर्तमानप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध. विशेषाधिकः । ततोऽप्यशुभपरावर्तमानप्रकृतीनामेव द्विस्थानकरसयवमध्याद्ध एकान्तसाकारोपयोगयोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि। ततस्तासामेव परावर्तमानाशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकरसयवमध्यादधः पाश्चात्येभ्य ऊर्ध्वं मिश्राणि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि तासामेवाशुभपरावर्तमानप्रकृतीनां द्विस्थानकरसयवमध्यादुपरि स्थितिस्थानानि मिश्राणि सख्येयगुणानि। तेभ्योऽप्युपरि एकान्तसाकारोपयोगयोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि। तेभ्योऽपि तासामेव परावर्तमानाऽशुभप्रकृतीना त्रिस्थानकरसयवमध्यादधः स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि त्रिस्थानकरसयवमध्यस्योपरि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽप्यशुभपरावर्तमानप्रकृतीनामेव चतुःस्थानकरसयवमध्यादध स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि यवमध्यादुपरि डायस्थिति संख्येयगुणा। यतः स्थितिस्थानादपवर्तनाकरणवशेनोत्कृष्टां स्थितिं याति तावती स्थितिर्डायस्थितिरित्युच्यते । ततोऽपि सागरोपमाणामन्तः कोटीकोटी संख्येयगुणा। ततोऽपि परावर्तमानशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकरसयवमध्यस्योपरि यानि मिश्राणि स्थितिस्थानानि तेषामुपर्येकान्तसाकारोपयोगयोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तेभ्योऽपि परावर्तमानशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टःस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ततोऽप्यशुभपरावर्तमानप्रकृतीनां बद्धा डायस्थितिर्विशेषाधिका। यतः स्थितिस्थानात् माण्डूकप्लुतिन्यायेन डायां—फालां दत्त्वा या स्थितिर्बध्यते ततः प्रभृति तदन्ता तावती स्थितिर्बद्धा डायस्थितिरिहोच्यते । सा चोत्कर्षतोऽन्तःसागरोपमकोटीकोट्यूना सकलकर्मस्थितिप्रमाणा वेदितव्या। तथाहि-अन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणं स्थितिबन्ध कृत्वा पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय उत्कृष्टां स्थितिं बध्नातीति नान्यथा। ततोऽपि परावर्तमानाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिक इति।

सम्प्रत्यस्मिन् विषये जीवानामल्पबहुत्वमाह—

सखेज्जगुणा जीवा, कमसो एएसु दुविहपगईणं ।
असुभाणं तिट्ठाणे,सव्वुवरि विसेसओ अहिया ॥१०१॥

( संखेज्ज त्ति ) सर्वस्तोका परावर्तमानशुभप्रकृतीना चतुःस्थानकरसबन्धका जीवाः । तेभ्योऽपि त्रिस्थानकरसबन्धका. संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि द्विस्थानकरसबन्धकाः संख्येयगुणा.। तेभ्योऽपि परावर्तमानाशुभप्रकृतीना द्विस्थानकरसबन्धका संख्येयगुणा । तेभ्योऽपि चतुःस्थानकरसबन्धका. संख्येयगुणा. । तेभ्योऽपि त्रिस्थानकरसबन्धका विशेषाधिका. । तथा चाऽऽह-( असुभाणमित्यादि) अशुभानामशुभप्रकृतीना त्रिस्थाने त्रिस्थानकस्य रसस्य बन्धकाः सर्वेषामुपरि विशेषाधिका वक्तव्या ।

एवं बंधणकरणे, परूविए सह हि बंधसयगेणं ।

बंधविहाणाहिगमो, सुहमभिगंतुं लहुं होइ ॥ १०२ ॥

( एवं ति ) एवम्—उक्तप्रकारेणाऽस्मिन् बन्धकरणे बन्धशतकेन—बन्धशतकाऽऽख्येन ग्रन्थेन सह प्ररूपिते सति । एतेन किल शतककर्मप्रकृत्योरेककर्तृकता आवेदिता द्रष्टव्या । बन्धविधानस्य पूर्वगतस्य सुखमधिगन्तुं—सुखेन ज्ञातुमिष्यमाणस्याधिगमोऽवबोधो लघु—शीघ्रं भवति । क०प्र० २ प्रक० । ( कारुण्यप्रतिज्ञया बन्धननिषेधः ' कालुणपडिया ' शब्दे तृतीयभागे ६८० पृष्ठे गतः ) स्ववशीकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । निर्मापणे, स्था० २ ठा० १ उ० । दुर्वचनैः संयमने, स्था० ८ ठा० । संयोजने, नि०चू० १६ उ० । पुद्गलाऽऽदिविषयसम्बन्धे, भ० ।

प्रयोगविस्रसाबन्धौ—

कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दुविहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा–पओगबंधे य, वीससाबंधे य । वीससाबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–साइयवीससाबंधे य, अणाइयवीससाबंधे य । अणाइयवीससाबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–धम्मत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे, अधम्मत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे, आगासत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे । धम्मत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे णं भंते ! किं देसबंधे, सव्वबंधे ? । गोयमा ! देसबंधे, नो सव्वबंधे । एवं अधम्मत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे वि, आगासत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे वि । अधम्मत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! सव्वद्धं । एवं अधम्मत्थिकायं, एवं आगासत्थिकायं ॥

कइविहे णमित्यादि ) ( बंधे त्ति ) बन्धः—पुद्गलाऽऽदिविषयसम्बन्धः । ( पओगबंधे य त्ति ) जीवप्रयोगकृत. । ( वीससाबंधे य त्ति ) स्वभावसम्पन्न. । यथासत्तिन्यायमाश्रित्याऽऽह-(वीससेत्यादि ) ( धम्मत्थिकायअण्णमण्णअणाइयवीससाबंधे य त्ति ) धर्मास्तिकायस्याऽन्योन्यं प्रदेशाना परस्परेण योऽनादिको विस्रसाबन्ध. स तथा । एवमुत्तरत्राऽपि । ( देसबंधे ति ) देशतो देशापेक्षया बन्धो देशबन्धः यथा सङ्कलिकाकटिकानाम् । (सव्वबंधे त्ति) सर्वत —सर्वाऽऽत्मना बन्धः सर्वबन्धो यथा क्षीरनीरयोर्देशबन्धे ( नोसव्वबंधे त्ति ) धर्मास्तिकायस्य प्रदेशाना परस्परसंस्पर्शेन व्यवस्थितत्वात् देशबन्ध एव न पुन. सर्वबन्धस्तत्र ह्येकस्य प्रदेशस्य प्रदेशान्तरै. सर्वथा बन्धेऽन्योन्यान्तर्भावेन एकप्रदेशत्वमेव स्यान्नासंख्येयप्रदेशत्वमिति । ( सव्व त्ति ) सर्वाऽद्धाम् सर्वकालम् ।

साऽऽदिविस्रसाबन्धः—

साइयवीससाबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–बंधणपच्चइए, भायणपच्चइए, परिणामपच्चइए । से किं तं बंधणपच्चइए ? । बंधणपच्चइए जं णं परमाणुपोग्गला दुपएसिया तिपएसिया० जाव दसपएसिया संखेज्जपएसिया असंखेज्जपएसिया अणंतपएसियाणं खंधाणं वेमायनिद्धयाए वेमायलुक्खयाए वेमायनिद्धलुक्खयाए एवं बंधणपच्चइएणं बंधे समुप्पज्जइ । जहण्णेणं एक्कं समय, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । सेत्तं बंधणपच्चइए । से किं तं भायणपच्चइए ? । भायणपच्चइए जं णं जुण्णसुराजुण्णगुलजुण्णतंदुलाणं भायणपच्चइएणं बंधे समुप्पज्जइ जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण संखेज्जं कालं । सेत्तं भायणपच्चइए । से किं तं परिणामपच्चइए ? । परिणामपच्चइए जं णं अब्भाणं अब्भरुक्खाणं जहा तइयसए ०जाव अमोहाणं परिणामपच्चइएणं बंधे समुप्पज्जइ । जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा । सेत्तं परिणामपच्चइए । सेत्तं साइए वीससाबंधे ॥

( साइयवीससाबंधे त्ति ) सादिको यो विस्रसाबन्धः स तथा–( बंधणपच्चइए त्ति ) बध्यतेऽनेनेति बन्धनं विवक्षितस्निग्धताऽऽदिको गुण', स एव प्रत्ययो—हेतुर्यत्र स तथा । एवं भाजनप्रत्ययः, परिणामप्रत्ययश्च नवरं, भाजनमाधारः, परिणामो—रूपान्तरगमनम् । " जं णं परमाणुपोग्गल " इत्यादौ, परमाणुपुद्गलः परमाणुरेव ( वेमायनिद्धयाए त्ति ) विषमा मात्रा यस्याः सा विमात्रा सा चासौ स्निग्धता चेति विमात्रस्निग्धता तया । एवमन्यदपि पदद्वयम् । इदमुक्तं भवति—

" समनिद्धयाए बन्धो, न होइ समलुक्खयाए वि न होइ ।
वेमायनिद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥ १ ॥

अयमर्थ.—समगुणस्निग्धस्य समगुणस्निग्धेन परमाणुद्व्यणुकाऽऽदिना बन्धो न भवति, समगुणरूक्षस्याऽपि समगुणरूक्षेण यदा पुनर्विषमा मात्रा तदा भवति बन्धः । विषममात्रानिरूपणार्थं चोच्यते—" निद्धस्स निद्धेण दुयाहिएण , लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण । निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥ १ ॥ " इति । ( बंधणपच्चइए ति ) बन्धनस्य—बन्धस्य प्रत्ययो हेतु· रुक्तरूपविमात्रस्निग्धताऽऽदिलक्षणो बन्धनमेव वा, विवक्षितस्नेहाऽऽदिप्रत्ययो बन्धनप्रत्ययस्तेन, इह बन्धनप्रत्ययेनेति सामान्यं, विमात्रस्निग्धतयेत्यादयस्तु तद्भेदा इति । ( असंखेज्जं कालं ति ) असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपम् । ( जुण्णसुरेत्यादि ) तत्र जीर्णसुरायाः स्त्यानीभवनलक्षणो बन्धो जीर्णगुडस्य जीर्णतन्दुलानां च पिण्डीभवनलक्षणः ।

प्रयोगबन्ध.—

से किं तं पओगबंधे ? । पओगबंधे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणाइए वा अपज्जवसिए वा , साइए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से अणाइए अपज्जवसिए से णं अट्ठण्हं जीवमज्झपएसाण तत्थ वि णं तिण्हं तिण्हं अणाइए अपज्जवसिए सेसाणं साइए, तत्थ णं जे से साइए अपज्जवसिए से णं सिद्धाणं ।

( पओगबंधे त्ति ) जीवव्यापारबन्धः । स च जीवप्रदेशानामौदारिकाऽऽदिपुद्गलानां वा " अणाईए " चेत्यादयो द्वितीयवर्ज्जास्त्रयो भङ्गास्तत्र प्रथमभङ्गोदाहरणायाऽऽह-(तत्थ ण जे से इत्यादि ) अस्य किल जीवस्याऽसंख्येयप्रदेशकस्याष्टौ ये मध्ये प्रदेशास्तेषामनादिरपर्यवसितो बन्धो यदाऽपि लोकं व्याप्य तिष्ठति जीवस्तदाऽप्यसौ तथैवेति अन्येषा पुनर्जीवप्रदेशानां विपरिवर्त्तमानत्वाच्चास्त्यनादिरपर्यवसितो बन्ध एतेषामुपर्यन्ये चत्वार एवमेतेऽष्टौ एवं तावत्समुदायतोऽष्टाना बन्ध उक्तोऽथ तेष्वेकैकेनाऽऽत्मप्रदेशेन सह यावतां परस्परेण बन्धो भवति तद्दर्शनायाऽऽह-( तत्थ वि णमित्यादि ) तत्राऽपि तेष्वष्टासु जीवप्रदेशेषु मध्ये त्रयाणा त्रयाणामेकैकेन सहानादिरपर्यवसितो बन्ध', तथा हि-पूर्वोक्तप्रकारेणावस्थितानामष्टानामुपरितनप्रतरस्य य. कश्चिद्विवक्षितस्तस्य द्वौ पार्श्ववर्तिनावेकश्चाधोवर्तीत्येते त्रयः सम्बध्यन्ते शेषस्त्वेक उपरितन', त्रयश्चाधस्तना न सम्बध्यन्ते व्यवहितत्वादेवमधस्तनप्रतराऽपेक्षयाऽपीति चूर्णिकारव्याख्या । टीकाकारव्याख्या तु दुरवगमत्वात्परिहृतेति । ( सेसाणं साइए त्ति ) शेषाणामष्टाभ्योऽन्येषां सादिर्विपरिवर्त्तमानत्वाद्देतेन प्रथमभङ्ग उदाहृत' । अनादि· सपर्यवसित इत्ययं तु द्वितीयो भङ्ग इह न संभवत्यनादिसम्बद्धानामष्टानां जीवप्रदेशानामपरिवर्त्तमानत्वेन बन्धस्य सपर्यवसितत्वानुपपत्तेरिति । अथ तृतीयो भङ्ग उदाह्रियते—( तत्थ णं जे से साइएत्यादि ) सिद्धानां सादिरपर्यवसितो जीवप्रदेशबन्धः, शैलेश्यवस्थायां संस्थापितप्रदेशानां सिद्धत्वे विचलनाभावादिति ।

अथ चतुर्थभङ्गं भेदत आह—

तत्थ णं जे से साइए सपज्जवसिए से णं चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-आलावणबंधे, अल्लियावणबंधे, सरीरबंधे, सरीरप्पओगबंधे । से किं तं आलावणबंधे ?। आलावणबंधे जं णं तणभाराण वा कट्ठभाराण वा पत्तभाराण वा पलालभाराण वा वेल्लभाराण वा वेत्तलयावागवरत्तरज्जुवल्लिकुसदब्भमाइएहिं आलावणबंधे समुप्पज्जइ, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं. उक्कोसेणं संखेज्जं काल । सेत्तं आलावणबंधे। से किं तं अल्लियावणबंधे ?। अल्लियावणबंधे । चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-लेसणाबंधे, उच्चयबंधे, समुच्चयबंधे, साहणणाबंधे । से किं तं लेसणाबंधे ?। लेसणाबंधे ज णं कुड्डाणं कुट्टिमाणं खंभाणं पासायाणं कट्ठाणं चम्माणं घडाणं पडाणं कडाण छुहाचिक्खिल्लसिलेसलक्खमहुसित्थमाइएहिं लेसणएहिं बंधे समुप्पज्जइ, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्ज कालं । से त्तं लेसणाबंधे । से किं तं उच्चयबंधे ?। उच्चयबंधे जं णं तणरासीण वा कट्ठरासीणं वा पत्तरासीण वा तुसरासीण वा भुसरासीण वा गोमयरासीण वा अवगररासीण वा उच्चएणं बंधे समुप्पज्जइ, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं । सेत्तं उच्चयबंधे ।

( तत्थ णं जे से साइए इत्यादि ) ( आलावणबंधे त्ति ) आलाप्यते आलीनं क्रियते एभिरिति आलापनानि रज्ज्वादीनि तैर्बन्धस्तृणाऽऽदीनामालापनबन्ध. । ( अल्लियावणबंधे त्ति ) अल्लियावण—द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण श्लेषाऽऽदिना आलीनस्य करणं तद्रूपो यो बन्धः स तथा ( सरीरबन्धे त्ति ) । समुद्घाते सति यो विस्तारितसंकोचितजीवप्रदेशसंबन्धविशेषवशात्तैजसाऽऽदिशरीरप्रदेशानां बन्ध विशेषः, स शरीरिबन्ध , शरीरबन्ध इत्यन्ये । तत्र शरीरिणः समुद्घाते विक्षिप्तजीवप्रदेशाना सङ्कोचने यो बन्धः स शरीरिबन्ध इति । ( सरीरप्पओगबंधे त्ति ) शरीरस्यौदारिकाऽऽदेर्यः प्रयोगेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमाऽऽदिजनितव्यापारेण बन्धस्तत् पुद्गलोपादानं शरीररूपस्य वा प्रयोगस्य यो बन्धः स शरीरप्रयोगबन्धः । ( तणभाराण व त्ति ) तृणभारास्तृणभारकास्तेषाम् ( वेत्तेत्यादि ) वेत्रलता—जलवंशकम् ( वाग त्ति) वल्को—वरत्रा चर्ममयी, रज्जु· सनादिमयी, वल्ली त्रपुष्याऽऽदिका, कुशा-निर्मूलदर्भा, दर्भास्तु समूलाः, आदिशब्दाच्चीवराऽऽदिग्रहः। (लेसणाबंधे त्ति ) श्लेषणा—श्लथद्रव्येण द्रव्ययोः सम्बन्धन तद्रूपो यो बन्धः स तथा । ( उच्चयबंधे त्ति ) उच्चय-ऊर्द्ध चयन-राशीकरण तद्रूपो बन्ध उच्चयबन्धः । ( समुच्चयबंधे त्ति )। सङ्गत उच्चयापेक्षया विशिष्टतर उच्चयः समुच्चयः स एव बन्धः समुच्चयबन्ध । ( साहणणाबंधे त्ति ) संहननमवयवानां सङ्घातनं तद्रूपो यो बन्धः स संहननबन्धो, दीर्घत्वाऽऽदि चेह प्राकृतशैलीप्रभवमिति । ( कुट्टिमाणं ति ) मणिभूमिकानाम् । ( छुहाचिक्खिल्लेत्यादौ ) ( सिलेस त्ति ) । श्लेषो वज्रलेप. । ( लक्ख त्ति ) । जतु । (महुसित्थ त्ति ) । मदनम् आदिशब्दात्—गुग्गलराजाखल्यादिग्रहः । ( अवगररासीण व त्ति ) कचवरराशीनाम् । ( उच्चएण ति ) ऊर्द्ध चयनेन । ( अगडतलावनई इत्यादि ) । प्रायः प्राग्व्याख्यातमेव । ( देससाहणणाबंधे य त्ति ) । देशेन देशस्य संहननलक्षणो बन्धः सम्बन्ध. शकटाङ्गाऽऽदीनामिवेति देशसंहननबन्धः । ( सव्वसाहणणाबधे य त्ति) । सर्वेण सर्वस्य संहननलक्षणो बन्धः-सम्बन्ध., क्षीरनीराऽऽदीनामिवेति सर्वसंहननबन्धः ।

शरीरबन्धः—

से किं तं समुच्चयबंधे ?। समुच्चयबंधे ज णं अगडतडागनदीदहवावीपुक्खरिणीदीहियाणं गुंजालियाणं सराणं सरपंतियाणं विलपंतियाणं देवकुलसभापव्वयथूभखाइयाणं परिहाणं पागारट्टालगचरियदारगोपुरतोरणाणं पासायघरसरणलेणआवणाणं सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहमाईणं छुहाचिक्खल्लसिलासमुच्चएणं बंधे समुप्पज्जइ, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्ज कालं । सेत्तं समुच्चयबंधे । से किं त साहणणाबंधे ?। साहणणाबंधे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-देससाहणणाबंधे य, सव्वसाहणणाबंधे य । से किं तं देससाहणणाबंधे ?। देससाहणणाबंधे जं णं सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियलोहीलोहकडाहकडुच्छुयआसणसयणखंभभंडमत्तोवगरणमाईणं देससाहण-

णावंधे एवं चेव समुप्पज्जइ, जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसे-
ण संखेज्जं कालं । सेत्तं देससाहणणावंधे । से किं तं सव्वसा-
हणणावंधे ? । सव्वसाहणणावंधे से णं खीरोदगमाईणं ।
सेत्तं सव्वसाहणणाबंधे । सेत्तं अल्लियावणबंधे । से किं तं
सरीरबंधे ?। सरीरबंधे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पुव्वप्पओग-
पच्चइए, पडुप्पण्णप्पओगपच्चए य । से किं तं पुव्वप्पओ-
गपच्चइए ?। पुव्वप्पओगपच्चइए जं णं नेइयाणं संसा-
रत्थाणं सव्वजीवाणं तत्थ तत्थ तेसु तेसु कारणेसु समो-
हणमाणाणं जीवप्पएसाणं बंधे समुप्पज्जइ । सेत्तं पुव्वप्प
ओगपच्चइए ॥ से किं तं पडुप्पण्णप्पओगपच्चइए ? । पडु-
प्पण्णप्पओगपच्चइए जं णं केवलनाणिस्स अणगारस्स के-
वलिसमुग्घाइएणं समोहयस्स तओ समुग्घायाओ पडिनि-
यत्तमाणस्स अंतरा मंथे वट्टमाणस्स तेयाकम्माणं बंधे समु-
प्पज्जइ, किं कारणं ताहे से पएसा एगत्तीगया भवंति । से तं
पडुप्पण्णप्पओगपच्चइए ॥ से तं सरीरबंधे ॥ से किं तं स-
रीरप्पओगबंधे ?। सरीरप्पओगबंधे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-
ओरालियसरीरप्पओगबंधे, वेउव्वियसरीरप्पओगबंधे, आ-
हारगसरीरप्पओगबंधे, तेयासरीरप्पओगबंधे, कम्मासरी-
रप्पओगबंधे । ओरालियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कइ-
विहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं
जहा—एगिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधे ०जाव पंचि-
दियओरालियसरीरप्पओगबंधे । एगिंदियओरालियस-
रीरप्पओगबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पं-
चविहे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरी-
रप्पओगबंधे, एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहा ओगा-
हणसंठाणे ओरालियसरीरस्स तहा भाणियव्वो ०जाव
पज्जत्तगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियओरालियसरीरप्पओ-
गबंधे य, अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्स ०जाव बंधे य ॥

( जं णं सगडरहेत्यादि ) शकटाऽऽदीनि च पदानि प्रा-
ग्व्याख्यातान्यपि शिष्यहिताय पुनर्व्याख्यायन्ते-तत्र च
( सगड त्ति ) गन्त्री । ( रह त्ति ) स्यन्दनः । ( जाण
त्ति ) यानं-लघुगन्त्री । ( जुग्ग त्ति ) युग्यं—गोल्लविषयप्र
सिद्धं द्विहस्तप्रमाणं वेदिकोपशोभितं जम्पानम् । ( गि-
ल्लि त्ति ) हस्तिन उपरि कोल्लरं यन्मानुषं गिलतीव ।
( थिल्लि त्ति ) अड्डपल्लाणं ( सीय त्ति ) शिबिका—कूटा
कारेणाऽऽच्छादितजम्पानविशेषः । ( संदमाणिय त्ति ) पुरु-
षप्रमाणजम्पानविशेषः । ( लोहि त्ति ) । मण्डकाऽऽदिपचन-
भाजनम् । ( लोहकडाहे त्ति ) भाजनविशेष एव । ( कडु-
च्छुय त्ति ) परिवेषणभाजनमासनशयनस्तम्भा. प्रती-
ताः । ( भंड त्ति ) मृन्मयभाजनम् ( मत्त त्ति ) । अमत्रं-
भाजनविशेष । ( उवगरण त्ति ) । नानाप्रकारं तदन्योप
करणमिति । ( पुव्वप्पओगपच्चइए य त्ति ) । पूर्वः
प्राक्कालाऽऽसेवितः प्रयोगो जीवव्यापारो वेदनाकषाया-
ऽऽदिसमुद्घातरूप. प्रत्ययः कारणं यत्र शरीरबन्धे स त-
था स एव पूर्वप्रयोगप्रत्ययिक ( पडुप्पन्नप्पओगपच्चइए य
त्ति ) प्रत्युत्पन्नोऽप्राप्तपूर्वो वर्त्तमान इत्यर्थः, प्रयोगः केव-
लिसमुद्घातलक्षणव्यापारः प्रत्ययो यत्र स तथा स एव प्र-
त्युत्पन्नप्रयोगप्रत्ययिकः ( नेरइयाणमित्यादि ) ( तत्थ तत्थ
त्ति ) अनेन समुद्घातकरणक्षेत्राणां बाहुल्यमाह-( तेसु ते-
सु त्ति ) अनेन समुद्घातकारणानां-वेदनाऽऽदीनां बाहुल्यमु-
क्तम् । ( समोहणमाणाण त्ति ) समुद्घन्यमानानां—समुद्घातं
शरीराद्बहिर्जीवप्रदेशप्रक्षेपलक्षणं गच्छतां ( जीवप्पएसाणं
ति ) इह जीवप्रदेशानामित्युक्तावपि शरीरबन्धाऽधिकारात्
"तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश" इति न्यायेन जीवप्रदेशाऽऽश्रिततैज-
सकार्मणशरीरप्रदेशानामिति द्रष्टव्यं. शरीरबन्ध इत्यत्र तु
पक्षे समुद्घातेन विक्षिप्य संकोचितानामुपसर्जनीकृततैज-
साऽऽदिशरीरप्रदेशानां जीवप्रदेशानामेवेति। ( बंधे त्ति )
बन्धो-रचनाविशेषः ( जं णं केवलेत्यादि ) केवलिसमुद्घातेन
दण्ड१कपाट२मथिकरणा३न्तरपूरण४लक्षणेन समुपहतस्य
विस्तारितजीवप्रदेशस्य तत. समुद्घातात्प्रतिनिवर्त्तमानस्य
प्रदेशान्संहरतः समुद्घातप्रतिनिवर्तमानत्वं च पञ्चमाऽऽ-
दिष्वनेकेषु समयेषु स्यादित्यतो विशेषमाह—( अंतरा
मंथे वट्टमाणस्स त्ति ) निर्वर्तनक्रियाया अन्तरे-मध्येऽवस्थि-
तस्य पञ्चमसमय इत्यर्थो, यद्यपि च षष्ठाऽऽदिसमयेषु
तैजसाऽऽदिशरीरसङ्घातः समुत्पद्यते तथाऽप्यभूतपूर्वत-
या पञ्चमसमय एवाऽसौ भवति, शेषेषु तु भूतपूर्वनयैवेति
कृत्वा "अंतरामंथे वट्टमाणस्स " इत्युक्तमिति । ( तेयाक-
म्माणं बंधे समुप्पज्जइ त्ति ) तैजसकार्मणयोः शरीरयोर्ब-
न्धः-सङ्घातः समुत्पद्यते । ( किं कारणं ति ) कुतो हेतो-
रुच्यते । ( ताहे त्ति ) तदा समुद्घातनिवृत्तिकाले ( से त्ति )
तस्य केवलिनः प्रदेशा-जीवप्रदेशा ( एगत्तीगय त्ति ) एक-
त्वं गताः सङ्घातमापन्ना भवन्ति. तदनुवृत्त्या च तैजसाऽऽदि-
शरीरप्रदेशाना बन्धः समुत्पद्यत इति प्रकृतं, शरीरबन्ध
इत्यत्र तु पक्षे ( तेयाकम्माणं बंधे समुप्पज्जइ त्ति ) तैजस
कार्मणाऽऽश्रयभूतत्वात्तैजसकार्मणा शरीरप्रदेशास्तेषां ब-
न्धस्समुत्पद्यत इति व्याख्येयमिति ।

ओरालियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उद-
एणं ? । गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए पमादपच्चया
कम्मं च जोगं च आउय च भवं च पडुच्च ओरालिय-
सरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं ओरालियसरी-
रप्पओगबंधे । एगिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ?
कस्स कम्मस्स उदएणं ? । एवं चेव । पुढविकाइयएगिंदि-
यओरालियसरीरप्पओगबंधे वि एवं चेव, एवं ०जाव वण-
स्सइकाइया, एवं बेइंदिया, एवं तेइंदिया, एवं चउरिंदि-
या । तिरिक्खजोणियपंचिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधे
णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?। एवं चेव । मणुस्सपंचिं-
दियओरालियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स
उदएणं ?। गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए पमादपच्चया
० जाव आउयं पडुच्च मणुस्सपंचिंदियओरालियसरी-

इयाणं सव्वबंधंतरं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं तिसमयऊणं उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं समयाहियाइं देसबंधंतरं जहएणेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । पंचिंदियतिरिक्खजोणियओरालियपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं तिसमयऊणं पुव्वकोडीसमयाहिया । देसबंधंतरं जहा एगिंदियाणं तहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, एवं मणुस्साण वि णिरवसेसं भाणियव्वं ०जाव उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ॥

( पुढवीकाइएत्यादि ) ( देसबंधंतरं जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तिण्णि समय त्ति ) कथं पृथिवीकायिको देशबन्धको मृतः सन्नविग्रहगत्या पृथिवीकायिकेष्वेवोत्पन्न एकं समयं च सर्वबन्धको भूत्वा पुनर्देशबन्धको जात एवमेकसमययोर्देशबन्धयोर्जघन्येनान्तरम् । तथा पृथिवीकायिको देशबन्धको मृतः संक्लिसमयविग्रहेण तेष्वेवोत्पन्नस्तत्र च समयद्वयमनाहारकस्तृतीयसमये च सर्वबन्धको भूत्वा पुनर्देशबन्धकोऽभूत्, एवं च त्रयः समया उत्कर्षतो देशबन्धयोरन्तरमिति । अथाऽप्कायाऽऽदीना बन्धान्तरमतिदेशत आह—( जहा पुढविकाइयाणमित्यादि ) अत्रैव च सर्वथा समतापरिहारार्थमाह-( नवरमित्यादि ) एवं चातिदेशतो यल्लब्धं तद्दर्श्यते अप्कायिकानां जघन्यं सर्वबन्धान्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनमुत्कृष्टं तु सप्तवर्षसहस्राणि समयाधिकानि देशबन्धान्तरं तु जघन्यमेकः समय उत्कृष्टं तु त्रयः समयाः । एवं वायुवर्जाना तेजःप्रभृतीनामपि , नवरमुत्कृष्टं सर्वबन्धान्तरं स्वकीया स्थितिः समयाधिका वाच्या , अथातिदेशे वायुकायिकवर्जानामित्यनेनातिदिष्टबन्धान्तरेभ्यो वायुबन्धान्तरस्य विलक्षणता सूचितेति , वायुबन्धान्तरं भेदेनाह—( वायुकाइयाणमित्यादि ) तत्र च वायुकायिकानामुत्कर्षेण देशबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्तं कथं वायुरौदारिकशरीरस्य देशबन्धकः सन् वैक्रियमन्तर्मुहूर्तं कृत्वा पुनरौदारिकसर्वबन्धसमयान्तरमौदारिकदेशबन्धं यदा करोति तदा यथोक्तमन्तरं भवतीति ( पचेंदियेत्यादि ) तत्र सर्वबन्धान्तरं जघन्य भावितमेव । उत्कृष्टं तु भाव्यते-पञ्चेन्द्रियतिर्यगविग्रहेणोत्पन्न प्रथम एव च समये सर्वबन्धकस्ततः समयोना पूर्वकोटिं जीवित्वा विग्रहगत्या त्रिसमयया तेष्वेवोत्पन्नस्तत्र च द्वावनाहारकसमयौ तृतीये च समये सर्वबंधकः सम्पन्नोऽनाहारकसमययोश्चैकः समय समयोना या पूर्वकोट्या क्षिप्तस्तत्पूरणार्थमेकस्त्वधिक इत्येवं यथोक्तमन्तरं भवतीति, देशबन्धान्तरं तु यथैकेन्द्रियाणां तथैव जघन्यमेकः समयः कथं देशबन्धको मृत सर्वबन्धसमयानन्तरं देशबन्धको जातः, इत्येवमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं, कथम् औदारिकशरीरी देशबन्धकस्सन् वैक्रियं प्रतिपन्नस्तत्रान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पुनरौदारिकशरीरी जातस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धको द्वितीयाऽऽदिपु तु देशबन्धक इत्येवं देशबन्धयोरन्तर्मुहूर्त्तमन्तरमपीति , एवं मनुष्याणामपीत्येतदेवाऽऽह-( जहा पंचिंदिएत्यादि ) ।

औदारिकबन्धान्तरं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

जीवस्स णं भंते ! एगिंदियत्ते नोएगिंदियत्ते पुणरवि एगिंदियत्ते एगिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधंतरं कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! सव्वबंधंतर जहएणेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं तिसमयऊणाइं, उक्कोसेणं दोसागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं, देसबंधंतरं जहएणेणं खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं दोसागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं । जीवस्स णं भंते ! पुढवीकाइयत्ते नोपुढवीकाइयत्ते पुणरवि पुढवीकाइयत्ते पुढवीकाइयएगिंदियओरालियसरीरप्पओगबंधंतरं कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहएणेणं दोखुड्डागभवग्गहणाइ,एवं चेव उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ , खेत्तओ णं अणंता लोगा असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो , देसबंधंतरं जहएणेणं खुड्डागं भवग्गहणं समयाहियं , उक्कोसेणं अणंतं कालं ०जाव आवलियाए असंखेज्जइभागो जहा पुढविकाइयाणं , एवं वणस्सइकाइयवज्जाणं ०जाव मणुस्साणं वणस्सइकाइयाणं दो खुड्डाइं एव चेव, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा, एवं देसबंधंतरं पि उक्कोसेणं पुढविकालो ॥

( जीवस्सेत्यादि ) " एवं चेव त्ति " करणात् " तिसमयूणाइं ति " दृश्यम् । ( उक्कोसेणं अणतं कालं ति ) इह कालानन्तत्वं वनस्पतिकायस्थितिकालापेक्षयाऽनन्तकालमित्युक्तं तद्विभजनार्थमाह—( अणताओ इत्यादि ) अयमभिप्रायस्तस्याऽनन्तस्य कालस्य समयेष्ववसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयैरपह्रियमाणेष्वनन्ता अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यो भवन्तीति ( कालओ त्ति ) इदं कालापेक्षया मानम् ( खेत्तओ त्ति ) । क्षेत्रापेक्षया पुनरिदम्—(अणता लोग त्ति) अयमर्थस्तस्याऽनन्तकालस्य समयेषु लोकाऽऽकाशप्रदेशैरपह्रियमाणेष्वनन्ता लोका भवन्ति । अथ तत्र कियन्तः पुद्गलपरावर्ता भवन्तीत्यत आह—( असखेज्जेत्यादि ) पुद्गलपरावर्त्तलक्षण सामान्येन पुनरिदम्—दशभिः कोटीकोटीभिरद्धापल्योपमानामेकं सागरोपमं, दशभिः सागरोपमकोटीकोटीभिरवसर्पिण्युत्सर्पिण्यप्येवमेव ता अवसर्पिण्युत्सर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्त्तः , एतद्विशेषलक्षण त्विहैव वक्ष्यतीति, पुद्गलपरावर्तानामेवाऽसंख्यातत्वनियमनायाऽऽह—( आवलिएत्याह ) असख्यातसमयसमुदायश्चावलिकेति । ( देसबंधतरामित्यादि ) भावना त्वेवम्—पृथिवीकायिको देशबन्धकः सम्मृतः पृथिवीकायिकेपु क्षुल्लकभवग्रहणं जीवित्वा मृतः सन् पुनरविग्रहेण पृथिवीकायिकेष्ववोत्पन्नस्तत्र च सर्वबन्धसमयानन्तर देशबन्धको जातः, एव च सर्वबन्धः समयेनाधिकमेकं क्षुल्लकभवग्रहणं देशबन्धयोरन्तरमिति । ( वणस्सइकाइयाणं दोन्नि खुड्डाइं

ति ) वनस्पतिकायिकानां जघन्यतः सर्वबन्धान्तरं द्वे क्षुल्लके भवग्रहणे "एवं चेव त्ति" करणात् त्रिसमयोने इति दृश्यम्, एतद्भावना च-वनस्पतिकायिकस्त्रिसमयेन विग्रहेणोत्पन्नस्तत्र च विग्रहस्य समयद्वयमनाहारकस्तृतीयसमये च सर्वबन्धको भूत्वा क्षुल्लकभवं च जीवित्वा पुनः पृथिव्यादिषु क्षुल्लकभवमेव स्थित्वा पुनरविग्रहेण वनस्पतिकायिकेष्वेवोत्पन्नः प्रथमसमये च सर्वबन्धकोऽसाविति सर्वबन्धयोस्त्रिसमयोने द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे अन्तरं भवत इति । ( उक्कोसेणमित्यादि ) अयं च पृथिव्यादिषु कायस्थितिकाले ( एवं देसबंधंतरं पि त्ति ) यथा पृथिव्यादीनां देशबन्धान्तरं जघन्यमेवं वनस्पतेरपि । तच्च क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकम् । भावना चास्य पूर्ववत् । ( उक्कोसेणं पुढविकालो त्ति ) उत्कर्षेण वनस्पतेर्देशबन्धान्तरं पृथिवीकायस्थितिकालोऽसंख्यातावसर्पिण्यादिरूप इति ।

अथौदारिकदेशबन्धकादीनामल्पत्वादिनिरूपणायाऽह—

एएसि णं भंते ! जीवा णं ओरालियसरीरदेसबंधगाणं सव्वबंधगाण य अबंधगाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओरालियसरीरस्स सव्वबंधगा, अबंधगा विसेसाहिया, देसबंधगा असंखेज्जगुणा ॥

( एएसिमित्यादि) तत्र सर्वस्तोकाः सर्वबन्धकास्तेषामुत्पत्तिसमय एव भावादबन्धका विशेषाधिका यतो विग्रहगतौ सिद्धत्वाऽऽदौ च ते भवन्ति । ते च सर्वबन्धकापेक्षया विशेषाधिका,देशबन्धका असंख्यातगुणा देशबन्धकालस्याऽसंख्यातगुणत्वादेतस्य सूत्रस्य भावनां विशेषतोऽग्रे वक्ष्याम इति ॥

अथ वैक्रियशरीरप्रयोगबन्धनिरूपणायाऽह—

वेउव्वियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! दुविहे पएणत्ते । तं जहा—एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे य, पंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे य । जइ एगिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे, किं वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे, अवाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे य । एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओगाहणसंठाणे वेउव्वियसरीरभेओ तहा भाणियव्वो० जाव पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पाऽतीयवेमाणियदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे य, अपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय०जाव प्पओगबंधे य । वेउव्वियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? । गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए०जाव आउयं वा लद्धिं वा पडुच्च वेउव्वियसरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं वेउव्वियसरीरप्पओगबंधे । वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरप्पओग पुच्छा ? । गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए एवं चेव ०जाव लद्धिं पडुच्च ० जाव वाउकाइयएगिंदियसरीरप्पओगबंधे । रयणप्पभापुढविनेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? । गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए ० जाव आउयं वा पडुच्च रयणप्पभापुढवि ०जाव बंधे, ०जाव अहे सत्तमाए । तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरपुच्छा ? । गोयमा ! वीरिय० जहा वाउकाइयाणं । मणुस्सपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगपुच्छा ? । एवं चेव असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्विय ०जाव बंधे । जहा रयणप्पभापुढविनेरइयाणं एवं ० जाव थणियकुमारा, एवं वाणमंतरा, एवं जोइसिया, एवं सोहम्मकप्पोवगया वेमाणिया, एवं ०जाव अच्चुयगेवेज्जगकप्पातीयवेमाणिया णेयव्वा । अणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणिया एवं चेव । वेउव्वियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे,सव्वबंधे ? । गोयमा ! देसबंधे वि सव्वबंधे वि । वाउकाइयएगिंदिय एवं चेव । रयणप्पभापुढविनेरइया एवं ०जाव अणुत्तरोववाइया । वेउव्वियसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! सव्वबंधे जहएणेणं एक्कं समयं,उक्कोसेणं दो समया, देसबंधे जहएणेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समयूणाइं । वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं,देसबंधे जहएणेणं एक्कं समयं,उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

(वीरियेत्यादि) यावत्करणात् ( पमायपच्चया कम्मं च जोगं च भवं च त्ति ) दृश्यम् ( लद्धिं च त्ति ) वैक्रियकरणलब्धिं वा प्रतीत्य । एतच्च वायुपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यानपेक्ष्योक्तं, तेन वायुकायाऽऽदिसूत्रेषु लब्धिं वैक्रियशरीरबन्धस्य प्रत्ययतया वक्ष्यति, नारकदेवसूत्रेषु पुनस्तां विहाय वीर्यसयोगसद्द्रव्यताऽऽदीन् प्रत्ययतया वक्ष्यतीति । ( सव्वबंधे जहएणेणं एक्कं समयं त्ति ) कथं वैक्रियशरीरिषूत्पद्यमानो लब्धितो वा कुर्वन् समयमेकं सर्वबन्धको भवतीत्येवमेकं समयं सर्वबन्ध इति । ( उक्कोसेणं दो समया त्ति ) । कथमौदारिकशरीरी वैक्रियतां प्रतिपद्यमानः सर्वबन्धको भूत्वा मृतः पुनर्नारकत्वं देवत्वं वा यदा प्राप्नोति तदा प्रथमसमये वैक्रियस्य सर्वबन्धक एवेति एवं वैक्रियशरीरस्य सर्वबन्ध उत्कर्षतः समयद्वयमिति । ( देसबंधे जहएणेणं एक्कं समयं त्ति ) कथमौदारिकशरीरी वैक्रियतां प्रतिपद्यमानः प्रथमसमये सर्वबन्धको भवति । द्वितीयसमये देशबन्धको भूत्वा मृत इत्येवं देशबन्धको जघन्यत एकं समयमिति । ( उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समयूणाइं त्ति ) कथं देवेषु नारकेषु चोत्कृष्टस्थितिषूत्पद्यमानः प्रथमसमये सर्वबन्धको वैक्रियशरीरस्य ततः परं देशबन्धकस्तेन सर्वबन्धसमयेनोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कर्षतो देशबन्ध इति । ( वाउकाइयेत्यादि ) ( देसबंधे जहएणेणं एक्कं समयं त्ति ) कथं वायुरौदारिकशरीरी सन् वैक्रियं गतः प्रथमसमये सर्वबन्धको द्वितीयसमये देशबन्धको भूत्वा मृत इत्येवं जघन्येनैको देशबन्धसमयः । ( उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं त्ति ) वैक्रियशरीरेषु स एव यदाऽन्तर्मुहूर्तमात्रमास्ते तदोत्कर्षतो देशबन्धोऽन्तर्मुहूर्तं लब्धिवैक्रियशरी-

रीरिणो जीवतोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो न वैक्रियशरीरावस्थानमस्ति पुनरौदारिकशरीरस्यावश्यं प्रतिपत्तेरिति ॥

रयणप्पभापुढविनेरइयपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं, देसबंधं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं तिसमयऊणाइं, उक्कोसेणं सागरोवमं समयूणं । एवं ०जाव अहे सत्तमाए, णवर देसबंधे जस्स जा जहण्णिया ठिई सा तिसमयऊणा कायव्वा ०जाव उक्कोसा समयऊणा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहा वाउकाइयाणं असुरकुमारनागकुमार ०जाव अणुत्तरोववाइयाणं जहा नेरइयाणं, णवरं जस्स जा ठिई सा भाणियव्वा ० जाव अणुत्तरोववाइयाणं सव्वबंधे एक्कं समयं, देसबंधे जहण्णेणं एकतीससागरोवमाइं तिसमयऊणाइ । उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं समयऊणाइं ।

(रयणप्पभेत्यादि) (देसबंधं जहण्णेणं दसवाससहस्साइ त्ति) कथं त्रिसमयविग्रहेण रत्नप्रभायां जघन्यस्थितिर्नारकः समुत्पन्नस्तत्र च समयद्वयमनाहारकस्तृतीये च समये सर्वबन्धकस्ततो देशबन्धको वैक्रियस्य तदेवमाद्यसमयत्रयन्यूनं वर्षसहस्रदशकं जघन्यतो देशबन्धः । (उक्कोसेणं सागरोवमं समयूण ति) । कथमविग्रहेण रत्नप्रभायामुत्कृष्टस्थितिर्नारकः समुत्पन्नस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धको वैक्रियशरीरस्य ततः परं देशबन्धकस्तेन सर्वबन्धसमयेनोनं सागरोपममुत्कर्षतो देशबन्ध इति, एवं सर्वत्र सर्वबन्धः समयं, देशबन्धश्च जघन्यो विग्रहसमयत्रयन्यूनो निजनिजजघन्यस्थितिप्रमाणो वाच्यः, सर्वबन्धसमयन्यूनोत्कृष्टस्थितिप्रमाणश्चोत्कृष्टदेशबन्ध इत्येतदेवाऽऽह-(एवं जावेत्यादि) पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियसर्वबन्ध एकं समयं, देशबन्धस्तु जघन्यत एकसमयमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तमेतदेवातिदिशन्नाऽऽह-(पंचिंदियेत्यादि) यच्च-"अंतोमुहुत्त नरएसु होइ चत्तारि तिरियमणुएसु । देवेसु अद्धमासो, उक्कोस विउव्वणाकालो ॥ १ ॥" इति वचनसामर्थ्यादन्तर्मुहूर्त्तं चतुष्टय तेषां देशबन्ध इत्युच्यते, तन्मतान्तरमित्यवसेयमिति । उक्तो वैक्रियशरीरप्रयोगबन्धस्य कालः ।

अथ तस्यैवान्तरं निरूपयन्नाह—

वेउव्वियसरीरप्पओगबंधंतरे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ०जाव आवलियाए असंखेज्जइभागो, एवं देसबंधंतरं पि । वाउकाइयवेउव्वियसरीरपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं । एवं देसबंधंतरं पि । तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरप्पओगबंधंतरपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं । एवं देसबंधंतरं पि । एवं मणुस्स वि ॥

(वेउव्वियेत्यादि) (सव्वबंधंतरं जहण्णेणं एक्कं समयं ति) कथमौदारिकशरीरी वैक्रियं गतः प्रथमसमये सर्वबन्धको, द्वितीये देशबन्धको भूत्वा मृतो देवेषु नारकेषु वा वैक्रियशरीरिष्वविग्रहेणोत्पद्यमानः प्रथमसमये सर्वबन्धक इत्येवमेकः समयः सर्वबन्धान्तरमिति । (उक्कोसेणं अणंतं कालं ति) कथमौदारिकशरीरी वैक्रियं गतो वैक्रियशरीरिषु वा देवाऽऽदिषु समुत्पन्नः, स च प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा देशबन्धं च कृत्वा मृतस्ततः परमनन्तकालमौदारिकशरीरिषु वनस्पत्यादिषु स्थित्वा वैक्रियशरीरवत्सूत्पन्नस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धको जात, एवं च सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं भवतीति । (एवं देसबंधंतरं पि त्ति) जघन्येनैकं समयमुत्कृष्टतोऽनन्तकालमित्यर्थः, भावना चास्य पूर्वोक्तानुसारेणेति । (वाउकाइयेत्यादि) (सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं ति) कथं वायुरौदारिकशरीरी वैक्रियशक्तिमापन्नस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा मृतः पुनर्वायुरेव जातस्तस्य चापर्याप्तकस्य वैक्रियशक्तिर्नाविर्भवतीत्यन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाऽसौ पर्याप्तको भूत्वा वैक्रियशरीरमारभते, तत्र चासौ प्रथमसमये सर्वबन्धको जात इत्येवं सर्वबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्त्तमिति । (उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ति) कथं वायुरौदारिकशरीरी वैक्रियं गतस्तत्प्रथमसमये च सर्वबन्धकस्ततो देशबन्धको भूत्वा मृतस्ततः परमौदारिकशरीरिषु वायुषु पल्योपमाऽसंख्येयभागमतिवाह्यावश्यं वैक्रियं करोति, तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्ध एवं च सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं भवतीति । (एवं देसबंधंतर पि त्ति) । अस्य भावना प्रागिवेति । (तिरिक्खेत्यादि) (सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं ति) कथं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वैक्रियं गतस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धकस्ततः परं देशबन्धकोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, तत औदारिकस्य सर्वबन्धको भूत्वा समयं देशबन्धको जातः पुनरपि श्रद्धेयमुत्पन्ना वैक्रियं करोमीति पुनर्वैक्रियं कुर्वतः प्रथमसमये सर्वबन्ध एवं च सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं भवतीति । (उक्कोसेणं पुव्वकोडिपुहुत्तं त्ति) कथं पूर्वकोट्यायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वैक्रियं गतस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धकस्ततो देशबन्धको भूत्वा कालान्तरे मृतः पूर्वकोट्यायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वेवोत्पन्नः पूर्वजन्मना सह सप्ताष्टौ वारान् तत सप्तमेऽष्टमे वा भवे वैक्रियं गतस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धं कृत्वा देशबन्धं करोतीत्येवं सर्वबन्धयोरुत्कृष्टं यथोक्तमन्तरं भवतीति । (एवं देसबंधंतर पि त्ति) । भावना चास्य सर्वबन्धान्तरोक्तभावनाऽनुसारेण कर्त्तव्येति ।

वैक्रियशरीरबन्धान्तरमेव प्रकारान्तरेण चिन्तयन्नाह—

जीवस्स णं भंते ! वाउकाइयत्ते नो वाउकाइयत्ते पुणरवि वाउकाइयत्ते वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो । एवं देसबंधंतरं पि ।

(जीवस्स इत्यादि) (सव्वबंधंतर जहण्णेण अंतोमुहुत्त ति) कथं वायुर्वैक्रियशरीरं प्रतिपन्नस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा मृतस्ततः पृथिवीकायिकेषूत्पन्नस्तत्राऽपि क्षुल्लकभवमात्रं स्थित्वा पुनर्वायुर्जातस्तत्राऽपि कतिपयान्

क्षुल्लकभवान् स्थित्वा वैक्रियं गतस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धको जातस्ततश्च वैक्रियस्य वैक्रियस्य च सर्वबन्धयोरन्तरं बहवः क्षुल्लकभवास्ते च बहवोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमन्तर्मुहूर्ते, बहूनां क्षुल्लकभवानां प्रतिपादितत्वात् , ततश्च सर्वबन्धान्तरं यथोक्तं भवतीति । [ उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो त्ति ] कथं वायुर्वैक्रियशरीरी भवन् मृतो वनस्पत्यादिष्वनन्तं कालं स्थित्वा वैक्रियशरीर पुनर्यदा लप्स्यते तदा यथोक्तमन्तरं भविष्यतीति । [ एवं देसबंधंतरं पि त्ति ) भावना चास्य प्रागुक्तानुसारेणेति ।

रत्नप्रभासूत्रे—

जीवस्स णं भंते ! रयणप्पभापुढविनेरइयत्ते नोरयणप्पभापुढविपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो, देसबंधंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो एवं ०जाव अहे सत्तमाए, णवरं जा जस्स ठिई जहरिणया सा सव्वबंधंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तमब्भहिया कायव्वा, सेसं तं चेव । पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्साण य जहा वाउकाइयाणं, असुरकुमारनागकुमार ०जाव सहस्सारदेवाणं, एएसिं जहा रयणप्पभापुढविनेरइयाणं, नवरं सव्वबंधंतरं जस्स जा ठिई जहरिणया सा अंतोमुहुत्तमब्भहिया कायव्वा, सेसं तं चेव ।

( सव्वबंधंतरमित्यादि ) एतद्भाव्यते रत्नप्रभानारको दशवर्षसहस्रस्थितिक उत्पत्तौ सर्वबन्धकस्तत उद्वृत्तस्तु गर्भजपञ्चेन्द्रियेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा रत्नप्रभायां पुनरप्युत्पन्नस्तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धक इत्येवं सूत्रोक्तं जघन्यमन्तरं सर्वबन्धयोरिति, अयं च यद्यपि प्रथमोत्पत्तौ त्रिसमयविग्रहेणोत्पद्यते तदाऽपि न दशवर्षसहस्राणि त्रिसमयन्यूनानि भवन्ति अन्तर्मुहूर्त्तस्य मध्यात्समयत्रयस्य तत्र प्रक्षेपाच्च तत्प्रक्षेपेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तत्वव्याघातस्तस्यानेकभेदत्वादिति । ( उक्कोसेणं वणस्सइकालो त्ति ) कथं रत्नप्रभानारक उत्पत्तौ सर्वबन्धकस्तत उद्वृत्तश्चानन्तं कालं वनस्पत्यादिषु स्थित्वा पुनस्तत्रैवोत्पद्यमानः सर्वबन्ध इत्येवमुत्कृष्टमन्तरमिति । ( देसबंधंतर जहएणेणं अंतोमुहुत्तं ति ) कथं रत्नप्रभानारको देशबन्धकस्सन् मृतोऽन्तर्मुहूर्त्ताऽऽयुःपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पद्य मृत्वा रत्नप्रभानारकतयोत्पन्नस्तत्र च द्वितीयसमये देशबन्ध इत्येवं जघन्यं देशबन्धस्यान्तरमिति ।.( उक्कोसेणमित्यादि ) भावना प्रागुक्तानुसारेणेति, शर्करप्रभाऽऽदिनारकवैक्रियशरीरबन्धस्यान्तरमतिदेशतः संक्षेपार्थमाह-(एवं जावेत्यादि)द्वितीयाऽऽदिपृथिवीषु जघन्या स्थितिः क्रमेणैकं त्रीणि सप्तदश सप्तदश द्वाविंशतिश्च सागरोपमाणीति, पञ्चेन्द्रियेत्यस्यौ (जहा वाउकाइयाण त्ति) जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतः पुनरनन्तं कालमित्यर्थोऽसुरकुमाराऽऽदयस्तु सहस्रारान्ता देवा उत्पत्तिसमये सर्वबन्धं कृत्वा स्वकीयां च जघन्यस्थितिमनुपाल्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वेन समुत्पद्य मृत्वा च तेष्वेव सर्वबन्धका जाता एवं च तेषां वैक्रियस्य जघन्यं सर्वबन्धान्तरं जघन्या तत्स्थितिरन्तर्मुहूर्त्ताधिका वक्तव्या; उत्कृष्टं त्वनन्तं कालं यथा रत्नप्रभानारकाणामित्येतद्दर्शयन्नाह-( असुरकुमारेत्यादि) तत्र जघन्यस्थितिरसुरकुमाराऽऽदीनां व्यन्तराणां च दश वर्षसहस्राणि ज्योतिष्काणां पल्योपमाष्टभागः सौधर्माऽऽदिषु तु (पलियं अहियं दोसा रसाहिया सत्तदस य चोद्दसेत्यादि)

आनतसूत्रे—

जीवस्स णं भंते ! आणयदेवत्ते नोआणयदेवत्ते पुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहएणेणं अट्ठारससागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो , देसबंधंतरं जहएणेणं वासपुहत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो, एवं ० जाव अच्चुए, नवरं जस्स जा ठिई सा सव्वबंधंतरं जहएणेणं वासपुहत्तमब्भहिया कायव्वा, सेसं तं चेव । गेविज्जकप्पातीयपुच्छा ? । गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहएणेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो , देसबंधंतरं जहएणेणं वासपुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो ॥

(सव्वबंधंतरमित्यादि) एतस्य भावना-आनतकल्पीयो देव उत्पत्तौ सर्वबन्धकः, स चाष्टादशसागरोपमाणि तत्र स्थित्वा ततश्च्युतो वर्षपृथक्त्वं मनुष्येषु स्थित्वा पुनस्तत्रैवोत्पन्नः प्रथमसमये चाऽसौ सर्वबन्धक इत्येवं सर्वबन्धान्तरं जघन्यमष्टादशसागरोपमाणि वर्षपृथक्त्वाधिकानीति, उत्कृष्टं त्वनन्तं कालम् । कथं स देवस्तस्माच्च्युतोऽनन्तं कालं वनस्पत्यादिषु स्थित्वा पुनस्तत्रैवोत्पन्नः प्रथमसमये चाऽसौ सर्वबन्धक इत्येवमिति । ( देसबंधंतरं जहएणेणं वासपुहुत्त त्ति ) कथं स एव देशबन्धकः संश्च्युतो वर्षपृथक्त्वं मनुष्यत्वमनुभूय पुनस्तत्रैव गतस्तस्य च सर्वबन्धानन्तरं देशबन्ध इत्येवं सूत्रोक्तमन्तरं भवति । इह च यद्यपि सर्वबन्धसमयाधिकं वर्षपृथक्त्वं भवति तथाऽपि तस्य वर्षपृथक्त्वादनर्थान्तरत्वविवक्षया न भेदेन गणनमिति , एवं प्राणताऽऽरणाच्युतग्रैवेयकसूत्राण्यपि, अथ सनत्कुमाराऽऽदिसहस्रारान्ता देवा जघन्यतो नवदिनाऽऽयुष्केभ्य आनताऽऽद्यच्युतान्तास्तु नवमासाऽऽयुष्केभ्यः समुत्पद्यन्त इति जीवसमासे अभिधीयते । ततश्च जघन्यं तत्सर्वबन्धान्तरं तत्तदधिकतज्जघन्यस्थितिरूपं प्राप्नोति । सत्यमेतत् , केवलं मतान्तरमेवेदमिति । अनुत्तरविमानसूत्रे ( उक्कोसेणमित्यादि) उत्कृष्टं सर्वबन्धान्तरं देशबन्धान्तरं च संख्यातानि सागरोपमाणि यतो नानन्तकालमनुत्तरविमानच्युतः संसरति । तानि च जीवसमासमतेन द्विसंख्यानीति ।

अथ वैक्रियशरीरदेशबन्धकाऽऽदीनामल्पत्वाऽऽदिनिरूपणायाऽऽह—

जीवस्स णं भंते ! अणुत्तरोववाइयपुच्छा ? गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहएणेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं सागरोवमाइं, देसबंधंतरं जहएणेणं वासहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं सागरोवमाइं । एतेसि णं भंते ! जीवाणं वेउव्वियसरीर–

स्स देसबंधगाणं सव्वबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो ० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा वेउव्विगसरीरस्स सव्वबंधगा, देसबंधगा असंखेज्जगुणा, अबंधगा अणंतगुणा ।

( एएसीत्यादि ) तत्र सर्वस्तोका वैक्रियसर्वबन्धकास्तत्कालस्याल्पत्वात् देशबन्धका असंख्यातगुणास्तत्कालस्य तदपेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादबन्धकास्त्वनन्तगुणाः । सिद्धाना वनस्पत्यादीनां च तदपेक्षया अनन्तगुणत्वादिति ॥

अथाऽऽहारकशरीरप्रयोगबन्धमधिकृत्याऽऽह—

आहारगसरीरप्पओगबंधे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! एगागारे पण्णत्ते । जइ एगागारे पण्णत्ते किं मणुस्साऽऽहारगसरीरप्पओगबंधे, अमणुस्साऽऽहारगसरीरप्पओगबंधे ? । गोयमा! मणुस्साऽऽहारगसरीरप्पओगबंधे, नोअमणुस्साऽऽहारगसरीरप्पओगबंधे, एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओगाहणसंठाणे ० जाव इड्डिपत्तपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठीपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगगब्भवक्कंतियमणुस्साऽऽहारगसरीरप्पओगबंधे, नोअणिड्डिपत्तपमत्त० जाव आहारगसरीरप्पओगबंधे णं भंते! कस्स कम्मस्स उदएणं? । गोयमा ! वीरियसजोगसद्दव्वयाए० जाव लद्धिं वा पडुच्च आहारगसरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं । आहारगसरीरप्पओगबंधे आहारगसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे, सव्वबंधे ? गोयमा ! देसबंधे वि, सव्वबंधे वि । आहारगसरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! सव्वबंधे एक्कं समयं, देसबंधे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । आहारगसरीरप्पओगबंधंतरेणं, भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । एवं देसबंधंतरं पि ॥

( सव्वबंधे एक्कं समयं ति ) आद्यसमय एव सर्वबन्धभावात् । ( देसबंधे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ति ) कथं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमात्रमेवाऽऽहारकशरीरी भवति, परत औदारिकशरीरस्यावश्यं ग्रहणात्तत्र चान्तर्मुहूर्त्ते आद्यसमये सर्वबन्ध उत्तरकालं च देशबन्ध इति ॥ अथाऽऽहारकशरीरप्रयोगबन्धस्यैवान्तरनिरूपणायाऽऽह-( आहारेत्यादि ) ( सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं ति ) कथं मनुष्य आहारकशरीरं प्रतिपद्यमानस्तत्प्रथमसमये च सर्वबन्धकस्ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा औदारिकशरीरं गतस्तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थितः पुनरपि तस्य संशयाऽऽद्याहारकशरीरकरणकारणमुत्पन्नं, ततः पुनरप्याहारकशरीरं गृह्णाति, तत्र च प्रथमसमये सर्वबन्धकं एवत्येव च सर्वबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं द्वयोरप्यन्तर्मुहूर्त्तयोरेकत्वविवक्षणादिति । ( उक्कोसेणं अणंतं कालं ति ) । कथं यतोऽनन्तकालादाहारकशरीरं पुनर्लभत इति, कालानन्त्यमेव विशेषेणाऽऽह-(अणंताओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अणंता लोग त्ति) एतद्व्याख्यानं प्राग्वत् । अथ तत्र पुद्गलपरावर्त्तपरिमाणं किं भवतीत्याह—( अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ति ) अपार्द्धम्-अपगतार्द्धमर्द्धमात्रमित्यर्थः, पुद्गलपरावर्त्तं प्रागुक्तस्वरूपम् , अपार्द्धमप्यर्द्धतः पूर्णं स्यादत आह-देशोनमिति । एवं ( देसबंधंतरं पि त्ति ) जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेण. पुनरपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनम् । भावना तु पूर्वोक्तानुसारेणेति ।

अथाऽऽहारकशरीरदेशबन्धकाऽऽदीनामल्पत्वाऽऽदिनिरूपणायाऽऽह—

एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगसरीरस्स देसबंधगाणं सव्वबंधगाणं अबंधगाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आहारगसरीरस्स सव्वबंधगा, देसबंधगा संखेज्जगुणा, अबंधगा अणंतगुणा ॥

( एएसीत्यादि ) तत्र सर्वस्तोका आहारकस्य सर्वबन्धकास्तत्सर्वबन्धकालस्याऽल्पत्वाद्देशबन्धकाः संख्यातगुणास्तद्देशबन्धकालस्य बहुत्वादसंख्यातगुणास्तु ते न भवन्ति, यतो मनुष्या अपि संख्याताः किं पुनराहारकशरीरदेशबन्धका अबन्धकास्त्वनन्तगुणा , आहारकशरीरं हि मनुष्याणां तत्राऽपि संयतानाम् , तेषामपि केषांचिदेव कदाचिदेव च भवतीति । शेषकाले ते शेषसत्त्वाश्चाबन्धकास्ततश्च सिद्धवनस्पत्यादीनामनन्तगुणत्वादनन्तगुणास्त इति ॥

अथ तैजसशरीरप्रयोगबन्धमधिकृत्याऽऽह—

तेयासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-एगिंदियतेयासरीरप्पओगबंधे य, बेइंदियतेयासरीरप्पओगबंधे य ० जाव पंचिंदियतेयासरीरप्पओगबंधे य । एगिंदियतेयासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । एवं एएणं अभिलावेणं भेदो जहा-ओगाहणसंठाणे ० जाव पज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पातीयवेमाणियदेवपंचिंदियतेयासरीरप्पओगबंधे य अपज्जत्तासव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइय० जाव बंधे य । तेयासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? । गोयमा ? वीरियसजोगसद्दव्वयाए० जाव आउयं वा पडुच्च तेयासरीरप्पओगणामाए कम्मस्स उदएणं तेयासरीरप्पओगबंधे । तेयासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे, सव्वबंधे, ? । गोयमा ! देसबंधे, णो सव्वबंधे । तेयासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? । गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । तेयासरीरप्पओगबंधंतरे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ । गोयमा ! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अंतरं । एएसि णं भंते ! जीवाणं तेयासरीरस्स देसबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरेहिंतो ० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थो-

वा जीवा तेयासरीरस्स अबंधगा देसबंधगा अणंतगुणा ॥

( तेयेत्यादि ) ( णोसव्वबंधे त्ति ) तैजसशरीरस्यानादित्वान्न सर्वबन्धोऽस्ति तस्य प्रथमत पुद्गलोपादानरूपत्वादिति । ( अणाइए वा अपज्जवसिएत्यादि ) तत्राय तैजसशरीरबन्धोऽनादिरपर्यवसितोऽभव्यानाम्, अनादिः सपर्यवसितस्तु भव्यानामिति । अथ तैजसशरीरप्रयोगबन्धस्यैवान्तरनिरूपणायाऽऽह-( तेयेत्यादि ) ( अणाइयस्सेत्यादि ) यस्मात्संसारस्थो जीवस्तैजसशरीरबन्धनद्वयरूपेणाऽपि सदाऽविनिर्मुक्त एव भवति, तस्माद् द्वयरूपस्याप्यस्य नास्त्यन्तरमिति । अथ तैजसशरीरदेशबन्धकाऽबन्धकानामल्पत्वाऽऽद्विनिरूपणायाऽऽह-( एएसीत्यादि ) तत्र सर्वस्तोकास्तैजसशरीरस्याऽबन्धकाः, सिद्धानामेव तदबन्धकत्वात् , देशबन्धकास्त्वनन्तगुणास्तद्देशबन्धकानां सकलसंसारिणां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वादिति ।

अथ कार्मणशरीरप्रयोगबन्धमधिकृत्याऽऽह—

कम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ?।गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा-णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे ०जाव अंतराइयकम्मासरीरप्पओगबंधे । णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?। गोयमा ! णाणपडिणीययाए णाणणिएहवणयाए णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायएणं णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे ॥

( णाणपडिणीययाए त्ति ) ज्ञानस्य-श्रुताऽऽदेस्तदभेदाज्ज्ञानवतां वा या प्रत्यनीकता सामान्येन प्रतिकूलता सा तथा तया । ( णाणनिण्हवणयाए त्ति ) ज्ञानस्य-श्रुतस्य श्रुतगुरूणां वा या निह्नवता-अपलपनं सा तथा तया-( णाणंतराएणं ति ) ज्ञानस्य श्रुतस्यान्तरायस्तद्ग्रहणाऽऽदौ विघ्नो यः स तथा तेन । ( णाणप्पओसेणं ति )ज्ञाने-श्रुताऽऽदौ ज्ञानवत्सु वा यः प्रद्वेषोऽप्रीतिः स तथा तेन । ( णाणच्चासायणाए त्ति ) ज्ञानस्य ज्ञानिना वा याऽत्याशातना-हीलना सा तथा तया । ( णाणविसंवायणाजोएणं ति ) ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा विसंवादनयोगो व्यभिचारदर्शनाय व्यापारो यः स तथा तेन।एतानि च बाह्यानि कारणानि ज्ञानाऽऽवरणीयकार्मणशरीरबन्धे ।

अथान्तरं कारणमाह—

दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?। गोयमा ! । दंसणपडिणीययाए एवं जहा णाणावरणिज्जं, नवरं दंसणनामधेयव्वं ०जाव दंसणविसंवायणाजोगेणं दंसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगणामाए कम्मस्स उदएणं ०जाव पओगबंधे । सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?। गोयमा ! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए एवं जहा सत्तमसए दुस्समाउद्देसए ०जाव अपरियावणयाए सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं सायावेयणिज्ज ०जाव बंधे । असायावेयणिज्जपुच्छा ?। गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए जहा सत्तमसए दुस्समाउद्देसए ०जाव परितावणयाए असायावेयणिज्जकम्मा ०जाव पओगबंधे । मोहणिज्जकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा ! तिव्वकोहयाए तिव्वमाणयाए तिव्वमायया तिव्वलोहयाए तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए मोहणिज्जकम्मासरीरप्पओग ०जाव पओगबंधे ? । णेरइयाउयकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! महारंभयाए महापरिग्गहियाए पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं णेरइयाउयकम्मासरीरप्पओगणामाए कम्मस्स उदएणं णेरइयाउयकम्मासरीर०जाव पओगबंधे । तिरिक्खजोणियाउयकम्मासरीरपुच्छा ? । गोयमा! माइल्लयाए नियडिल्लयाए अलियवयणेणं कूडतुल्लकूडमाणेणं तिरिक्खजोणियाउयकम्मा ०जाव प्पओगबंधे । मणुस्साउयकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा! पगइभद्दयाए पगइविणीययाए साणुक्कोसणयाए अमच्छरियत्ताए मणुस्साउयकम्मा०जाव पओगबंधे । देवाउयकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा! सरागसंजमेणं संजमाऽसंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामणिज्जराए देवाउयकम्मासरीर०जाव पओगबंधे । सुभनामकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा ! काउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणाजोगेणं सुभणामकम्मासरीर ०जाव पओगबंधे । असुभणामकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा! कायअणुज्जुययाए०जाव विसंवादणाजोगेणं असुभणामकम्मासरीर०जाव पओगबंधे । उच्चागोयकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा ! जातिअमदेणं कुलअमदेणं बलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं लाभअमदेणं सुअअमदेणं इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकमासरीर०जाव पओगबंधे । णीयागोयकम्मसरीरपुच्छा ? । गोयमा ! जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं ०जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयकम्मासरीर ०जाव पओगबंधे । अंतराइयकम्मासरीरपुच्छा ?। गोयमा ! दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगंतराएणं उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पओगणामाए कम्मस्स उदएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पओगबंधे । णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! किं देसबंधे सव्वबंधे?। गोयमा ! देसबंधे, णो सव्वबंधे, एवं ०जाव अंतराइयं । णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणाइए एवं जहेव तेयगस्स संचिट्ठणा तहेव एवं ०जाव अंतराइयकम्मस्स । णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधंतरेणं

भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?। गोयमा ! अणाइयस्स एवं जहा तेयगसरीरस्स अंतरं तहेव ०जाव अंतराइयस्स । एएसि णं भंते ! जीवाणं णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स देसबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरे ०जाव अप्पाबहुगं जहा तेयगस्स एवं आउयवज्जं०जाव अंतराइयं । आउयस्स पुच्छा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आउयकम्मस्स देसबंधगा, अबंधगा संखेज्जगुणा ।

(नाणावरणिज्जमित्यादि) ज्ञानाऽऽवरणीयहेतुत्वेन ज्ञानाऽऽवरणीयलक्षणं यत्कार्मणशरीरप्रयोगनाम तत्तथा तस्य कर्म्मण उदयेनेति । ( दंसणपडिणीययाए त्ति ) इह दर्शनं—चक्षुर्दर्शनाऽऽदि । ( तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए त्ति) तीव्रमिथ्यात्वतयेत्यर्थः । ( तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए त्ति ) कषायव्यतिरिक्तं नोकषायलक्षणमिह चारित्रमोहनीयं ग्राह्यं तीव्रक्रोधतयेत्यादिना कषायचारित्रमोहनीयस्य प्रागुक्तत्वादिति । ( महारम्भयाए त्ति ) अपरिमितकृष्याद्यारम्भतयेत्यर्थः । ( महापरिग्गहयाए त्ति ) अपरिमाणपरिग्रहतया ( कुणिमाहारेणं ति ) मांसभोजनेनेति । ( माइल्लयाए त्ति ) परवञ्चनबुद्धिवत्तया ( नियडिल्लयाए त्ति ) निकृतिः-वञ्चनार्थं चेष्टा, माया प्रच्छादनार्थं मायान्तरमित्येके, अत्याऽऽदरकरणेन परवञ्चनमित्यन्ये । तद्वत्तया ( पगइभद्दयाए त्ति ) स्वभावतः परानुपतापितया । ( साणुक्कोसयाए त्ति) सानुकम्पतया । ( अमच्छरिययाए त्ति ) मत्सरिकः—परगुणानामसोढा, तद्भावनिषेधोऽमत्सरिकता तया [ सुभनामकम्मेत्यादि ] इह शुभनाम देवगत्यादिकम् । [ कायउज्जुयाए त्ति ] कायर्जुकतया परावञ्चनपरकायचेष्टया । [ भावुज्जुययाए त्ति ] भावर्जुकतया परवञ्चनपरमनःप्रवृत्त्येत्यर्थः [ भासुज्जुययाए त्ति ] भाषर्जुकतया भाषार्जवेनेत्यर्थः । [ अविसंवायणजोगेणं ति ] विसंवादनमन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणं तद्रूपो योगो—व्यापारस्तेन वा योगः-सम्बन्धो विसंवादनयोगस्तन्निषेधोऽविसंवादनयोगस्तेनेह च कायर्जुकताऽऽदित्रय वर्त्तमानकालाऽऽश्रयमविसंवादनयोगस्त्वतीतवर्त्तमानलक्षणकालद्वयाऽऽश्रय इति । [ असुभनामकम्मेत्यादि ] इह चाऽशुभनामनरकगत्यादिकम् । [ कम्मासरीरप्पओगबंधे णमित्यादि ] कार्म्मणशरीरप्रयोगबन्धप्रकरणं तैजसशरीरप्रयोगबन्धप्रकरणवज्ज्ञेयम्। यस्तु विशेषोऽसावुच्यते-( सव्वत्थोवा जीवा आउयस्स कम्मस्स देसबंधग त्ति ) सर्वेभ्ये [illegible] आयुर्बन्धाद्धाया. स्तोकत्वाद्बन्धाद्धा[illegible] बहुगुणत्वाद[illegible]बन्धका. संख्यातगुणाः । नन्वसंख्यातगुणास्तदबन्धका कस्माश्नोक्तास्तदबन्धाऽद्धायां असंख्यातजीवितानाश्रित्यासंख्यातगुणत्वात् । उच्यते-इदमनन्तकायिकानाश्रित्य सूत्रम् । तत्र चानन्तकायिकाः संख्यातजीविता एव, ते चाऽऽयुष्कस्याबन्धकास्तद्बन्धकेभ्यः संख्यातगुणा एव भवन्ति । यद्यबन्धका सिद्धाऽऽदयस्तन्मध्ये क्षिप्यन्ते, तथाऽपि तेभ्य संख्यातगुणा एव ते, सिद्धाऽऽद्यबन्धकानामनन्तानामप्यनन्तकायिकाऽऽयुर्बन्धकाऽपेक्षयाऽनन्तभागत्वादिति । ननु यदायुपोऽबन्धका सन्तो बन्धका भवन्ति, तदा कथं न सर्वबन्धसम्भवस्तेषामुच्यते,न ह्यायुःप्रकृतिरसवी सर्वा तैर्निबध्यते । औदारिकाऽऽदिशरीरवदिति न सर्वबन्धसम्भवं इति ।

प्रकारान्तरेणौदारिकाऽऽदि चिन्तयन्नाह—

जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरस्स सव्वबंधे से णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ? । गोयमा ! णो बंधए, अबंधए । आहारगसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ? । गोयमा ! णो बंधए, अबंधए । तेयासरीरस्स किं बंधए, अबंधए ?। गोयमा ! बंधए ! णो अबंधए । जइ बंधए किं देसबंधए, सव्वबंधए ?। गोयमा ! देसबंधए , णो सव्वबंधए । कम्मासरीरस्स किं बंधए, अबंधए?। जहेव तेयगस्स ० जाव देसबंधए णो सव्वबंधए । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स किं बंधए , अबंधए ? । गोयमा ! णो बंधए अबंधए, एवं जहेव सव्वबंधे णं भणियं तहेव देसबंधेण वि भाणियव्वं ० जाव कम्मगस्स । जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स सव्वबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए अबंधए ? गोयमा ! णो बंधए, अबंधए । आहारगसरीरस्स एवं चेव तेयगस्स कम्मगस्स य जहेव ओरालिएणं समं भणियं तहेव भाणियव्वं ०जाव देसबंधे णो सव्वबंधे । जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए , अबंधए ?। गोयमा ! णो बंधए अबंधए, एवं जहेव सव्वबंधे णं भणियं तहेव देसबंधेण वि भाणियव्वं ० जाव कम्मगस्स । जस्स णं भंते ! आहारगसरीरस्स सव्वबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए , अबंधए ? । गोयमा ! णो बंधए अबंधए, एव वेउव्वियस्स वि तेयगकम्माणं जहेव ओरालिएणं समं भणियं तहेव भाणियव्व । जस्स णं भंते ! आहारगसरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स एवं जहा आहारगसरीरस्स सव्वबंधे णं भणियं तहा देसबंधेण वि भाणियव्वं ०जाव कम्मगस्स । जस्स णं भंते ! तेयासरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स किं बंधए, अबंधए ? । गोयमा ! बंधए वा अबंधए वा । जइ बंधए किं देसबंधए, सव्वबंधए ?। गोयमा ! देसबंधए वा सव्वबंधए वा । वेउव्वियसरीरस्स किं बंधए ? । एवं चेव । एवं आहारगस्स वि । कम्मगसरीरस्स किं बंधए , अबंधए ? । गोयमा ! बंधए, णो अबंधए । जइ बंधए किं देसबंधए, सव्वबंधए ?। गोयमा ! देसबंधए , णो सव्वबंधए जस्स णं भंते ! कम्मासरीरस्स देसबंधे से णं भंते ! ओरालियसरीरस्स जहा तेयगस्स वत्तव्वया भणिया तहा कम्मगस्स वि भाणियव्वा ०जाव तेयासरीरस्स ०जाव देसबंधए, णो सव्वबंधए ।

( अस्सेत्यादि ) ( नोबंधए त्ति ) न ह्येकसमये औदारिकवैक्रिययोर्बन्धो विद्यत इति कृत्वा नोबन्धक इति । एवमाहारकस्यापि, तैजसस्य पुनः सदैवाऽविरहितत्वाद्बन्धको देशबन्धेन, सर्वबन्धस्तु नास्त्येव तस्येति । एवं कार्म्मणशरीरस्यापि वाच्यमिति । एवमौदारिकसर्वबन्धमाश्रित्य शेषाणां बन्धचिन्तार्थोऽनन्तरदण्डक उक्तोऽथौदारिकस्यैव देशबन्धमाश्रित्यान्यमाह—( जस्स णमित्यदि ) अथ वैक्रियस्य सर्वबन्धमाश्रित्य शेषाणां बन्धचिन्तार्थोऽन्यो दण्डकस्तत्र च । ( तेयगस्स कम्मगस्स य जहेवेत्यादि) यथौदारिकशरीरसर्वबन्धकस्य तैजसकार्म्मणयोर्देशबन्धकत्वमुक्तमेवं वैक्रियशरीरसर्वबन्धकस्यापि तयोर्देशबन्धकत्वं वाच्यमिति भावः । वैक्रियदेशबन्धदण्डक आहारकस्य सर्वबन्धदण्डको देशबन्धदण्डकश्च सुगम एव, तैजसदेशबन्धदण्डके तु ( बंधए वा अबंधए व त्ति ) तैजसदेशबन्धक औदारिकशरीरस्य बन्धको वा, स्यादबन्धको वा. तत्र विग्रहे वर्त्तमानोऽबन्धकोऽविग्रहस्थः पुनर्बन्धक. स एवोत्पत्तिक्षेत्रप्राप्तिप्रथमसमये सर्वबन्धको, द्वितीयाऽऽदौ तु देशबन्धक इति । एवं कार्मणशरीरदेशबन्धदण्डकेऽपि वाच्यमिति ।

अथौदारिकाऽऽदिशरीरदेशबन्धकाऽऽदीनामल्पत्वाऽऽदिनिरूपणायाऽऽह—

एएसि णं भंते ! सव्वजीवाणं ओरालियवेउव्वियआहारगतेयाकम्मासरीरगाणं देशबंधगाणं सव्वबंधगाणं अबंधगाण य कयरे कयरे ०जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा आहारगसरीरस्स सव्वबंधगा, तस्स चेव देसबंधगा संखेज्जगुणा २ , वेउव्वियसरीरस्स सव्वबंधगा असंखेज्जगुणा ३, तस्स चेव देसबंधगा असखेज्जगुणा ४ , तेयाकम्मगाणं दोण्ह वि तुल्ला अबंधगा अणंतगुणा ५ , ओरालियसरीरस्स सव्वबधगा अणंतगुणा ६ , तस्स चेव अबंधगा विसेसाहिया ७ , तस्स चेव देसबंधगा असंखेज्जगुणा ८ , तेयाकम्मगाणं देसबंधगा विसेसाहिया ९ , वेउव्वियसरीरस्स अबंधगा विसेसाहिया १०, आहारगसरीरस्स अबंधगा विसेसहिया ।

एते हि विग्रहगतिकाः सिद्धाऽऽदयश्च भवन्ति । तत्र च सिद्धाऽऽदीनामत्यन्ताल्पत्वेनेहाऽविवक्षा विग्रहगतिकाश्च वक्ष्यमाणन्यायेन सर्वबन्धकेभ्यो बहुतरा इति । तेभ्यस्तदबन्धका विशेषाधिका इति । तस्यैव चौदारिकस्य देशबन्धकाः असंख्यातगुणा विग्रहाद्धापेक्षया देशबन्धाद्धाया असंख्यातगुणत्वात्तैजसकामणयोर्देशबन्धका विशेषाधिका यस्मात्सर्वेऽपि संसारिणस्तैजसकार्म्मणयोर्देशबन्धका भवन्ति । तत्र च ये विग्रहगतिका औदारिकसर्वबन्धका वैक्रियादिबन्धकाश्च ते औदारिकदेशबन्धकेभ्योऽतिरिच्यन्त इति । ते विशेषाधिका इति । वैक्रियशरीरस्याबन्धका विशेषाधिका यस्माद्वैक्रियस्य बन्धका. प्रायो देवनारका एव, शेषास्तु तदबन्धकाः सिद्धाश्च, तत्र सिद्धास्तैजसाऽऽदिदेशबन्धकेभ्योऽतिरिच्यन्त इति तैर्विशेषाधिका उक्ता । आहारकशरीरस्याऽबन्धका विशेषाधिका यस्मान्मनुष्याणामेवाऽऽहारकशरीर वैक्रियं तु तदन्येषामपि । ततो वैक्रियबन्धेभ्य आहारकबन्धकाना स्तोकत्वेन वैक्रियाऽबन्धकेभ्य आहारकाऽबन्धका विशेषाधिका इति । इह चेयं स्थापना-

| औदारिकस्य सर्वबन्धका अनन्तगुणाः ६, देशबन्धका असंख्यगुणाः ८, अबन्धकाः विशेषाधिकाः ७ | वैक्रियस्य सर्वबन्धका असंख्यगुणाः ३, देशबन्धकाः असंख्यगुणाः ४, अबन्धका विशेषाधिका. १०, | |
|---|---|---|
| आहारकस्य सर्वबन्धकाः सर्वस्तोकाः १ , देशबन्धकाः संख्यगुणाः २ , अबन्धकाः विशेषाधिकाः ११ | तैजसस्य न सन्ति सर्वबन्धकाः, देशबन्धकाः विशेषाधिकाः ९, अबन्धकाः अनन्तगुणाः ५, | कार्मणस्य न सन्ति सर्वबन्धकाः, देशबन्धकाः विशेषाधिकाः ९, अबन्धकाः अनन्तगुणा. ५ , |

इहाल्पबहुत्वाधिकारं वृद्धाः गाथाभिरेवं प्रपञ्चितवन्तः—

" ओरालसव्वबंधा, थोवा अब्बंधया विसेसहिया ।
तत्तो य देसबंधा, असंखगुणिया कहं भेया ? ॥ १ ॥ "

इहौदारिकसर्वबन्धाऽऽदीनामल्पत्वाऽऽदिभावनार्थं सर्वबन्धाऽऽदिस्वरूपं तावदुच्यते—

" पढमम्मि सव्वबंधो, समए सेसेसु देसबंधो उ ।
सिद्धाईण अबंधो, विग्गहगइयाण य जियाण ॥ २ ॥ "

इह ऋजुगत्या विग्रहगत्या चोत्पद्यमानानां जीवानामुत्पत्तिक्षेत्रप्राप्तिप्रथमसमये सर्वबन्धो भवति । द्वितीयाऽऽदिषु देशबन्धः, सिद्धाऽऽदीनामित्यत्राऽऽदिशब्दाद् वैक्रियाऽऽदिबन्धकानां च जीवानामौदारिकस्याबन्ध इति । इह च सिद्धादीनामबन्धकत्वेऽप्यत्यन्ताल्पत्वेनाविवक्षणाद्विग्रहिकानेव प्रतीत्य सर्वबन्धकेभ्योऽबन्धका विशेषा उक्ताः । इत्येतदेवाऽऽह—

" इह पुण विग्गहिय च्चिय, पहुच्च भणिया अबंधगा अहिया ।
सिद्धा अणंतभाग-म्मि सव्वबंधाण वि भवंति ॥ ३ ॥ "

साधारणेष्वपि सर्वबन्धभावात्सर्वबन्धकाः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणा यत एवं ततः सिद्धास्तेषामनन्तभागे वर्त्तन्ते । यदि च—सिद्धा अपि तेषामनन्तभागे वर्त्तन्ते तदा सुतरां वैक्रियबन्धकाऽऽदयः प्रतीयन्त एव. ततस्तान्विहाय एव सिद्धपदमेवेहाधृतमिति । अथ सर्वबन्धकानामबन्धकानां च समताऽभिधानपूर्वकमबन्धकानां विशेषाधिकत्वमुपदर्शयितुमाह—

" उज्जुआ य तेगवंका, दुहओ वंका गई भवे तिविहा ।
पढमाइसव्वबंधा, सव्वे बीया य अद्धं तु ॥ ४ ॥ ,
तइयाइ तइयभागो, लब्भइ जीवाण सव्वबंधाण ।
इह तिन्नि सव्वबंधा, रासी तिन्नेव य अबंधा ॥ ५ ॥
रासिप्पमाणओ ते, तुल्ला बंधा य सव्वबंधा य ।
संखापमाणओ पुण, अबंधगा मुण जहऽब्भहिया ॥ ६ ॥ "

ऋज्व्वायतायां गतौ सर्वबन्धका एवाऽऽद्यसमये भवन्त्येवमेकस्तेषां राशि , एकवक्राया ये उत्पद्यन्ते तेषां ये प्रथमे समये तेऽबन्धका , द्वितीये तु सर्वबन्धका इत्येवं तेषां द्वितीयो राशि', स चैकवक्राभिधानद्वितीयगत्योत्पद्यमानानामर्द्धभूतो भवतीति, द्विवक्रया गत्या ये पुनरुत्पद्यन्ते ते आद्ये समयद्वये अबन्धकास्तृतीये तु सर्वबन्धकाः । अयं च

सर्वबन्धकानां तृतीयो राशिः, स च द्विवक्राभिधानतृतीयगत्योत्पद्यमानानां त्रिभागभूतो भवति, तृतीयसमयभावित्वात्तस्य, एवं च त्रय सर्वबन्धकानां राशयस्त्रय एव चाबन्धकानां समयभेदेन राशिभेदादिति, एवं च ते राशिप्रमाणतस्तुल्या यद्यपि भवन्ति तथापि संख्याप्रमाणयोधिका अबन्धका भवन्ति । ते चैवम्-

" जे एगसमइया ते, एगनिगोयम्मि, छद्दिसिं एंति ।
दुसमइया तिपयरिया, तिसमइया सेसलोगाओ ॥ ७ ॥"

ये एकसामयिका ऋजुगत्योत्पद्यमानका इत्यर्थः । ते एकस्मिन् निगोदे साधारणशरीरे लोकमध्यस्थिते षड्भ्यो दिग्भ्योऽनुश्रेण्या आगच्छन्ति ये पुनर्द्विसमयिका एकवक्रगत्योत्पद्यमाना इत्यर्थः। ते त्रिप्रतरिकाः-प्रतरत्रयादागच्छन्ति, विदिशो वक्रेणागमनात्, प्रतरश्च वक्ष्यमाणस्वरूपः, ये पुनस्त्रिसमयिका समयत्रयेण वक्रद्वयेन चोत्पद्यमानकास्ते शेषलोकात् प्रतरत्रयातिरिक्तलोकादागच्छन्तीति ॥ प्रतरप्ररूपणायाऽऽह-

"तिरियाऽऽययं च चउद्दिसिं, पयरमसंखप्पएसबाहल्लं ।
उड्ढं पुव्वावरदा-हिणुत्तरा जा य दो पयरा ॥ ८॥"

लोकमध्यगतैकनिगोदमधिकृत्य तिर्यगायतश्चतसृषु दिक्षु प्रतर प्रकल्प्यते, असंख्येयप्रदेशबाहल्यो विवक्षितनिगोदोत्पादकालोचितावगाहनाबाहल्य इत्यर्थस्तन्मात्रबाहल्यश्चैव । ( उड्ढं ति ) ऊर्ध्वाधोलोकान्तगतौ पूर्वापरायतो दक्षिणोत्तरायतश्चेति द्वौ प्रतराविति । अथाधिकृतमल्पबहुत्वमुच्यते-

" जे तिपयरिया ते छ-द्दिसिएहिंतो भवतऽसंखगुणा ।
सेसा वि असंखगुणा, खेत्ताऽसंखेज्जगुणियत्ता ॥९॥ "

ये जीवास्त्रिप्रतरिका एकवक्रया गत्योत्पद्यन्ते ते षड्भ्यो दिग्भ्य ऋजुगत्या षड्भ्यो दिग्भ्य आगतेभ्यस्सकाशाद्भवन्त्यसंख्येयगुणाः, शेषा अपि ये त्रिसमयिकाः शेषलोकादागतास्तेऽप्यसंख्येयगुणा भवन्ति । कुतः क्षेत्राऽसंख्यातगुणितत्वाद्यतः षड्दिक्क्षेत्रात् त्रिप्रतरमसंख्येयगुणं, ततोऽपि शेषलोक इति । ततः किमित्याह—

" एव विसेस अहिया अबंधया सव्वबंधएहिंतो ।
तिसमइयविग्गहं पुण, पडुच्च सुत्तं इमं होइ ॥ १० ॥"

वक्रद्वयमाश्रित्येदं सूत्रद्वयमित्यर्थः—

" चउसमयाविग्गहे पुण, सखेज्जगुणा अबंधगा होंति ।
एएसिं निदरिसणं, ठवणारासीहिं वोच्छामि ॥ ११ ॥
पढमो होइ सहस्सं, दुसमइया दो वि लक्खमेक्केक्कं ।
तिसमइया पुण तिन्नि वि, रासी कोडी भवेक्केक्का ॥ १२ ॥"

प्रथम ऋजुगत्युत्पन्नसर्वबन्धकराशिः सहस्र परिकल्पितः, क्षेत्रस्याल्पत्वात्, द्विसमयोत्पन्नाना द्वौ राशी, एकोऽबन्धकानामन्य सर्वबन्धकानां तौ च प्रत्येक लक्षमानौ, तत् क्षेत्रस्य बहुतरत्वात्, ये पुनस्त्रिभिः समयैरुत्पद्यन्ते तेषां त्रयो राशयस्तत्र चाऽऽद्ययोः समययोरबन्धकराशी, तृतीयस्तु सर्वबन्धकराशिस्ते च त्रयोऽपि प्रत्येक कोटीमाना तत्क्षेत्रस्य बहुगतत्वादिति, तदेवं राशित्रयेऽपि सर्वबन्धका सहस्रं लक्ष कोटी चैव सर्वस्तोका., अबन्धकास्तु लक्ष कोटीद्वय चेत्येवं विशेषाधिकास्त इति—

" एएसिं जहसंभव—मत्थोवयण करेज्ज रासीणं ।
एत्तो असंखगुणिया, वोच्छं जह देसबंधा से ॥ १३ ॥
एगो असंखभागो, वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि ।
एगनिगोए निच्चं, एव सेसेसु वि एए वा ॥ १४ ॥
अंतोमुहुत्तमेव, ठिई निगोयाण ज विणिद्दिट्ठा ।
पल्लट्टंति निगोया, तम्हा अंतोमुहुत्तेणं ॥ १५ ॥ "

अनेन च गाथाद्वयेनोद्वर्तनाभणनात् विग्रहसमयसंभवोऽन्तर्मुहूर्त्तान्ते परिवर्त्तनाभणनाच्च निगोदस्थितिसमयमानमुक्तम् । ततश्च—

" तेसिं ठिइसमयाणं, विग्गहसमया हवंति जइ भागे ।
एवं तिभागे सव्वे, विग्गहिया सेसजीवाणं ॥ १६ ॥
सव्वे वि य विग्गहिया, सेसाणं जं असंखभागम्मि ।
तेणासंखगुणा दे-सबंधया अबंधएहिंतो ॥ १७ ॥
वेउव्वियआहारग-तेयाकम्माइं पढियसिद्धाइं ।
इह वि विसेसो जो ज-त्थ नत्थ तं नं भणिहामि ॥ १८ ॥
वेउव्विसव्वबंधा, थोवा जे पढमसमयदेवाई ।
तस्सेव देसबंधा, असंखगुणिया कहं के वा ? ॥ १९ ॥"

उच्यते—

" तेसिं चिय जे सेसा, ते सव्वे सव्वबंधए मोत्तुं ।
होंति अबंधाणंता, तव्वज्जा सेसजीवा जे ॥ २० ॥ "

अयमर्थः-तेषामेव वैक्रियबन्धकानां सर्वबन्धकान्मुक्त्वा ये शेषास्ते सर्वे वैक्रियस्य देशबन्धका भवन्ति, अत्र च सर्वबन्धकान् मुक्त्वेत्यनेन कथमित्यस्य निर्वचनमुक्तं, ये शेषा, इत्यनेन तु के वेत्यस्येति, अबन्धकास्तु तस्याऽनन्ता भवन्ति, ते च के ?, ये तद्वर्जा वैक्रियसर्वदेशबन्धकवर्जाः शेषजीवास्ते चौदारिकाऽऽदिबन्धका देवाऽऽदयश्च वैग्रहिका इति॥२०॥

" आहारसव्वबंधा, थोवा दो तिन्नि पच वा दस वा ।
संखेज्जगुणा देसे, तओ पुहुत्तं सहस्साणं ॥ २१ ॥
तव्वज्जा सव्वजिया, अबंधया ते हवंति णंतगुणा ।
थोवा अबंधया ते-यगस्स ससारमुक्का जे ॥ २२ ॥ "

तद्वर्जा-आहारकबन्धवर्जाः सर्वजीवा अबन्धका इत्याहारकाबन्धकस्वरूपमुक्तं, ते च पूर्वेभ्योऽनन्तगुणा भवन्ति ।

" सेसा य देसबंधा, तव्वज्जा ते भवतऽणंतगुणा ।
एवं कम्मगभेया, वि नवरि नाणत्तमाउम्मि ॥ २३ ॥ "

तत्राऽऽयुर्नानात्वमेवम्—

" थोवा आउयबंधा संखेज्जगुणा अबंधया होंति ।
तेयाकम्मगा स-व्वबंधगा नत्थि णाहत्ता ॥ २४ ॥ "

सख्यातगुणा आयुष्काबन्धका इति यदुक्तं तत्र प्रश्न आह—

" असंखेज्जगुणाउ-गस्स किं अबंधगा न भणति ।
जम्हा असखभागो, उ वट्टइ एगसमएणं ॥ २५ ॥ "

अयमभिप्रायः-एकोऽसख्यभागो निगोदजीवाना सर्वदोद्वर्तते, स च बद्धाऽऽयुषामेव, तदन्येषामुद्वर्तनाभावात्, तेऽसंख्यये शेषास्तेऽबद्धाऽऽयुषस्ते च तदपेक्षयाऽसख्यातगुणा एवेत्येवमसख्यातगुणा आयुष्काबन्धका स्युरिति । अत्रोच्यते—

" भण्णइ एगसमइओ, कालो उव्वट्टणाई जीवाणं ।
बंधणकालो पुण आ-उगस्स अंतोमुहुत्तो उ ॥ २६ ॥ "

अयमभिप्रायः-निगोदजीवबन्धकालाऽपेक्षया तेषामायुर्बन्धकालः सख्यातभागवृत्तिरित्यबन्धका संख्यातगुणा एव ।

एतदेव भाव्यते—

" जीवाण ठिईकाले, आउयबंधऽद्धमाइए लद्ध ।
एगइभागे आउ-स्स बंधया सेसजीवाण ॥ २७॥ "

निगोदजीवाना स्थितिकाल अन्तर्मुहूर्तमानः, स च कल्पनया समयलक्ष, तत्राऽऽयुर्बन्धाद्धाया आयुर्बन्धकालेनान्तर्मुहूर्त्तमानेनैव कल्पनया समयसहस्रलक्षणेन भाजिते सति ए-

ऽर्थ कल्पनया शतरूपं च एतावति भागे वर्तन्ते आयुर्बन्धकाः शेषजीवानां तदबन्धकानामित्यर्थः, तत्र किल लक्षाऽपेक्षया शतं संख्येयतमो भागोऽतो बन्धकेभ्योऽबन्धकाः संख्येयगुणा भवन्तीति । एतदेव भाव्यते—

" जं संखेज्जइभागो ठिइकालस्साऽऽउबंधकालो उ ।
तम्हा संखगुणा से, अबधया बंधएहिंतो ॥ २८ ॥ "
( से त्ति ) आयुषः ।
" संजोगऽप्पाबहुयं, आहारगसव्वबंधगा थोवा ।
तस्सेव देसबंधा, संखगुणा ते य पुव्वुत्ता ॥ २६ ॥
तत्तो वेउव्वियस व्वबंधगा दरिसिया असंखगुणा ।
जमसंखा देवाऽऽइ, उववज्जंतेगसमएणं ॥ ३० ॥
तस्सेव देसबंधा, असंखगुणिया हवंति पुव्वुत्ता ।
तेयगकम्माबंधा—ऽणंतगुणिया य ते सिद्धा ॥ ३१ ॥
तत्तो उ अणंतगुणा, ओरालियसव्वबंधगा होंति ।
तस्सेव तओ बंधा, देसव्बंधा य पुव्वुत्ता ॥ ३२ ॥
तत्तो तेयगकम्मा—ण देसबंधा भवे विसेसऽहिया ।
ते चेवोरालियदे—सबंधगा होंति मेवन्ने ॥ ३३ ॥
जे तस्स सव्वबधा, अबंधगा जे य नेरइयदेवा ।
एएहिं साहिया ते, पुणाइ के सव्वसंसारी ॥ ३४ ॥
वेउव्वियस्स तत्तो, अबधगा साहिया विसेसेण ।
ते चेवइ नेरइया-ई विरहिया सिद्धसंजुत्ता ॥ ३५ ॥
आहारगस्स तत्तो, अबंधगा साहिया विसेसेण ।
ते पुण के सव्वजिया, आहारगलद्धिए मोत्तु ॥ ३६ ॥ "
भ० ८ श० ६ उ० ।

कइविहे णं भंते ! बंधे पण्णत्ते ? । गोयमा ! दुविहे बंधे पण्णत्ते । तं जहा–इरियावहियाबंधे य, संपराइयबंधे य ।

( कइविहेत्यादि ) ( बंधे त्ति ) द्रव्यतो निगडाऽऽदिबन्धो, भावतः कर्मबन्धः । इह च प्रक्रमात्कर्मबन्धोऽधिकृत. । (इरियावहियाबंधेय त्ति) ईर्या-गमन तत्प्रधान. पन्था-मार्गः ईर्यापथस्तत्र भवमैर्यापथिकं, केवलयोगप्रत्ययं कर्म, तस्य यो बन्ध., स तथा स चैकस्य वेदनीयस्य । (संपराइयबंधे य त्ति) संपरेति—संसारं पर्यटति एभिरिति संपरायाः—कषायास्तेषु भवं सांपरायिकं कर्म, तस्य यो बन्धः स सांपरायिकबन्धः, कषायप्रत्यय इत्यर्थः । स चावीतरागगुणस्थानकेषु सर्वेष्विति । भ०८ श०८ उ० । ( 'इरियावहियबंध' शब्दे २ भागे ६२७ पृष्ठ तद्वक्तव्यता । 'संपराइयबंध' शब्दे तद्वक्तव्यता च । )

सहजं तु मलं विद्या–त्कर्मसंबन्धयोग्यताम् ।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि, नायमेनां विना यतः ॥१६४॥

सहजं तु सहजं पुनर्मल विद्याज्-जानीयात् , कामित्याह कर्मसंबन्धयोग्यता—ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मसंश्लेषनिमित्त भावम् । कस्येत्याह-आत्मनो—जीवस्य । कुत इत्याह-अनादिमत्त्वेऽपि बन्धस्य न-नैवायं बन्ध', एनां योग्यतां जीवस्य विनाऽन्तरेण, यत.-यस्मात्कारणात्किलानादिमान् भावो गमनाऽऽदिर्न कञ्चन हेतुं स्वस्वभावलाभे अपेक्षते, बन्धश्च प्रवाहापेक्षयैवाऽनादिमांस्ततो न जीवयोग्यतामन्तरेणैष उपपद्यतेऽन्यथाऽनेकदोषप्रसङ्गात् ।

एतदेव दर्शयति—

अनादिमानपि ह्येष, बन्धत्वं नातिवर्तते ।
योग्यतामन्तरेणाऽपि, भावेऽस्यातिप्रसङ्गता ॥ १६५ ॥

अनादिमानपि हि आदिभूतबन्धकालविकलोऽपि प्रवाहापेक्षया किं पुनर्व्यक्तिमपेक्ष्याऽऽदिमानित्यपिहिशब्दार्थः । एष-बन्धो, बन्धत्वं जीवेन गृह्यमाणकार्म्मणवर्गणापुद्गलरूपतया कृतकत्वम् , नातिवर्तते—अतिक्रामति । ततो यो यो बन्धः स स वक्ष्यमानयोग्यतामपेक्षते, यथा वस्त्रकम्बलाऽऽदीनां मञ्जिष्ठालाक्षाऽऽदिरागरूपः, बन्धश्च जीवस्य कर्म्मणा संयोगस्तस्मादवश्यं तयोर्योग्यतामपेक्षते इति । अत्रैव विपक्षे बाधामाह—योग्यतां योग्यकषायपरिणतिरूपामन्तरेणाऽपि विना किं पुन. प्राच्यप्राच्यतराऽऽदिबन्धमित्यपिशब्दार्थः । भावे-सत्तायामस्य बन्धस्याभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसक्तताऽतिव्याप्ते. सत्त्वमिति ।

इदमेव भावयति—

एवं चानादिमान् मुक्तो, योग्यताविकलोऽपि हि ।
बध्येत कर्मणा न्याया–त्तदन्यामुक्तवृन्दवत् ॥ १६६ ॥

एवं चातिप्रसङ्गे च सति, अनादिमान्मुक्तः सदा शिवरूपः परपरिकल्पित. । किमित्याह-योग्यताविकलोऽपि हि-प्रस्तुतयोग्यतारहित.,किं पुनस्तद्युक्त इत्यपिहिशब्दार्थः। बध्येत पारवश्यमानीयेत, कर्मणाऽदृष्टसंज्ञेन, न्यायात् योग्यतावैकल्याऽऽदिविशेषलक्षणात् । दृष्टान्तमाह-"तदन्यामुक्तवृन्दवत् " तस्मादनादिमतो मुक्ताद्यदन्यदमुक्तवृन्दं संसारिजीवलक्षणं तद्वत् ।

अत्र परः—

तदन्यकर्मविरहा–न्न चेत्तद्बन्ध इष्यते ।
तुल्ये तद्योग्यताभावे,न तु किं तेन चिन्त्यताम् ?॥१६७॥

तदन्यकर्मविरहात्तस्मात्संप्रतिबन्धुमिष्टाद्यदन्यत्प्राक्कालबद्धं कर्म तद्विरहात् , न चेद्यदि, तद्बन्धस्तस्मादनादिमतो मुक्तस्य बन्ध इष्यते अभिमन्यते आचार्य. । तुल्ये-समाने सर्वजन्तुषु,तद्योग्यताभावे कर्मबन्धयोग्यताया विरहः । न त्विति परपक्षाक्षमायाम् । किं प्रयोजनं तेन प्राच्यकर्मबन्धविरहेणोत्तरतया परिकल्पितेन,चिन्त्यतां-परिभाव्यतामेतत् । अयमभिप्रायः-यदि योग्यतामन्तरेणाऽपि शेषसंसारिणां कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते तदाऽनादिमुक्तेऽपि सोऽस्तु, उभयतोऽपि योग्यता विरहाविशेषात् ।

अथोपसंहरन्नाह—

तस्मादवश्यमेष्टव्या, स्वाभाविक्येव योग्यता ।
तस्यानादिमती सा च, मलनान्मल उच्यते ॥ १६८ ॥

तस्माद्-अनादियुक्तकर्मबन्धप्रसङ्गाद्धेतोरवश्यं नियमेनेष्टव्या स्वाभाविक्येव—स्वभावभूतैव योग्यता कर्म्मबन्ध प्रति । तस्याऽऽत्मनोऽनादिमती अनादिकालप्रवृत्ता । सा च योग्यता पुनर्मलनात् जीवस्वभावनिष्कम्मणान्मल उच्यत इति ।

एतामेव तन्त्रान्तरमताऽऽविष्करणेन समर्थयमान आह—

दिदृक्षाभावबीजाऽऽदि–शब्दवाच्या तथा तथा ।
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा, मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ॥ १६९ ॥

पुरुषस्य प्रकृतिविकारान् द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा सांख्याना ,

भवबीजं शैवाना, भ्रान्तिरूपाऽविद्या वैदान्तिकानामनादिक्लेशरूपा वासना सौगतानां, ततो दिदृक्षाभवबीजाऽऽदिभिः शब्दैरुच्यते या सा । तथा तथा तेन तेन दर्शनभेदप्रकारेणेष्टा-चाभिमतैव, अन्यैरप्यस्मद्विलक्षणैः,किं पुनरस्माभिरित्यपिहिशब्दार्थः । एषा कर्मबन्धयोग्यता । मुक्तिमार्गावलम्बिभिर्निर्वृतिपुरपथप्रस्थितैरिति ।

एवं सति यत्सिद्धं तदाह—

एवं चापगमोऽप्यस्याः, प्रत्यावर्त्तं सुनीतितः ।
स्थित एव तदल्पत्वे, भावशुद्धिरपि ध्रुवा ॥ १७० ॥

एवं चास्यां च कर्मबन्धयोग्यतायां सत्याम्, अपगमोऽपि व्यावृत्तिरूपोऽनपगमस्तावदस्त्येवेत्यपिशब्दार्थोऽस्या—योग्यतायाः प्रत्यावर्त्तं प्रति पुद्गलपरावर्त्तं नैकस्मिन्नेव चरमावर्ते इत्यर्थः । सुनीतितो दोषाणां क्रमह्रासलक्षणात्सन्न्यायात्, स्थित एव—प्रनिष्ठित एव, ततस्तदल्पत्वे—मलाल्पत्वे भावशुद्धिरपि परिणतिनिर्मलता, किं पुनः प्रत्यावर्तं मलापगम इत्यपिशब्दार्थो, ध्रुवा—निश्चिता स्थिता, अन्यथा मलापगस्यैवाभावादिति ।

ततः शुभमनुष्ठानं, सर्वमेव हि देहिनाम् ।
विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वेन, तथाबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥ १७१ ॥

ततो भावशुद्धेः सकाशाच्छुभं श्रेयस्कारि अनुष्ठानं धर्मार्थाऽऽदिगोचरं सर्वमेव,हि स्फुटं,देहिनां शरीरभाजाम्,केनेत्याह-विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वेन व्यावृत्तात्यन्तवितथाभिनिवेशभावेन, 'तथाबन्धेऽपि' तत्प्रकाराल्पाऽल्पतरबन्धसद्भावेऽपि किं पुनस्तस्याप्यभाव इत्यपिशब्दार्थः । तत्त्वतो-निश्चयवृत्त्या जायत इति ।

नात एवाणवस्तस्य, प्राग्वत् संक्लेशहेतवः ।
तथाऽन्तस्तत्त्वसंशुद्धे-रुदग्रशुभभावतः ॥ १७२ ॥

न-नैवात एव विनिवृत्ताऽऽग्रहत्वादेवाऽणवो-ज्ञानाऽऽवरणादिकर्माणवस्तस्य चरमपुद्गलपरावर्त्तवर्त्तिनो जन्तोः । प्राग्वत् प्राच्यपरावर्त्तेष्विव । संक्लेशहेतवो मालिन्यनिबन्धना जायन्ते, तथेति हेत्वन्तरसमुच्चये, अन्तस्तत्त्वसंशुद्धेरन्तस्तत्त्वमात्मा तस्य संशुद्धेः स्वभावभूतमलक्षयाद् य उदग्रउत्कटः शुभो भावस्तस्मात् ।

अयं चास्य तथाविधकर्मबन्धो भवन्नपि न तथाविधभयाय संपद्यत इति दर्शयन्नाह—

सत्साधकस्य चरमा, समयाऽपि विभीषिका ।
न खेदाय यथाऽत्यन्तं, तद्वदेतद्विभाव्यताम् ॥ १७३ ॥

सत्साधकस्य तथाविधां विद्यां सम्यग् साधयितुं प्रवृत्तस्य पुंसश्चरमा पर्यन्तवर्त्तिनी समयाऽपि संनिहिताऽपि,किं पुनर्दूरे इत्यपिशब्दार्थो,विभीषिका वेतालाऽऽदिदर्शनरूपा,न खेदाय श्रमाय, यथाऽत्यन्तमतीव, तद्वत् साधकचरमविभीषिकावत्,एतत् चरमाऽऽवर्त्तकर्मबन्धरूपं वस्तु,विभाव्यतां विमृश्यतां,विवेकवता प्रधानाऽनागतवस्तुप्रतिबन्धाच्चेतस इति ।

दृष्टान्तमेवाधिकृत्याऽऽह—

सिद्धेरासन्नभावेन, यः प्रमोदो विजृम्भते ।
चेतस्यस्य कुतस्तेन, खेदोऽपि लभतेऽन्तरम् ? ॥ १७४ ॥

सिद्धेर्विद्याऽऽदिवशीभावस्याऽऽसन्नभावेन-सन्निहितत्वेन, यश्चिन्तयितुमशक्यः, प्रमोदो-हर्षो, विजृम्भते-समुच्छलति, चेतस्यन्तःकरणेऽस्य सत्साधकस्य, कुतः कस्माद्धेतोः, तेन प्रमोदविजृम्भणेन खेदोऽपि यः प्रागत्यन्तरूपतयोक्तः प्रमोदस्तावज्जृम्भत एवेत्यपिशब्दार्थः । लभते प्राप्नोत्यन्तरमवकाशमिति ।

अथ दार्ष्टान्तिकमधिकृत्यैतद्विशेषमाह—

न चेयं महतोऽर्थस्य, सिद्धिरात्यन्तिकी न च ।
मुक्तिः पुनर्द्वयोपेता, सत्प्रमोदाऽऽस्पदं ततः ॥ १७५ ॥

न च-नैवेयं विद्याऽऽदिविषया महतो गरीयसोऽर्थस्य साध्यस्य सिद्धिरुक्तरूपाऽऽत्यन्तिकी अत्यन्तभवा, न च भूत्वाऽपि पुनर्विनाशात् । मुक्तिः पुनर्द्वयोपेता महत्वाऽऽत्यन्तिकभावयुक्ता सत्प्रमोदाऽऽस्पदं सतः सर्वातिशायिनः प्रमोदस्य स्थानं, ततो द्वयोपेतत्वाद्धेतोरिति । यो० विं० । इह द्विधा बन्धो-महाबन्धश्च, इतरश्च । तत्र मिथ्यादृष्टेर्महाबन्धः, शेषस्येतरश्च । यो० विं० ।

सम्प्रति "सते वा पनरसं वणे तिसयं" इति गाथासूचितं बन्धनपञ्चदशकं व्याचिख्यासुराह—

ओरालविउव्वाऽऽहा-रयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नवबंधणाणि इयरदु-सहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥ ३६ ॥

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीराणां नव बन्धनानीति योगः । कीदृशानामित्याह-स्वकतैजसकार्म्मणयुक्तानां प्रत्येकं स्वकतैजसकार्म्मणानां मध्यादन्यतरेण युक्तानामित्यर्थः । (नव त्ति) नवसंख्यानि बन्धनानि—बन्धनप्रकृतयो भवन्तीति । औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाणां त्रयाणामपि प्रत्येकं स्वनाम्ना तैजसेन कार्मणेन च योगाद् द्विकसंयोगनिष्पन्नान्येकैकस्यौदारिकाऽऽदेस्त्रीणि त्रीणि बन्धनानि भवन्ति,तेषां च त्रयाणां त्रिकाणां मीलने नव बन्धनानीति । तथाहि-औदारिकौदारिकबन्धननाम, औदारिकतैजसबन्धननाम, औदारिककार्म्मणबन्धननाम । वैक्रियवैक्रियबन्धननाम, वैक्रियतैजसबन्धननाम, वैक्रियकार्मणबन्धननाम । आहारकाऽऽहारकबन्धननाम, आहारकतैजसबन्धननाम, आहारककार्मणबन्धननाम । तत्र पूर्वगृहीतैरौदारिकशरीरपुद्गलैः सह गृह्यमाणौदारिकपुद्गलानां बन्धो येन क्रियते तदौदारिकौदारिकबन्धननाम । येनौदारिकपुद्गलानां तैजसशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधीयते तदौदारिकतैजसबन्धननाम । येनौदारिकपुद्गलानां कार्मणशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधीयते तदौदारिककार्मणबन्धननाम । एवमनेन न्यायेनान्यान्यपि बन्धनानि वाच्यानि । शेषबन्धननिरूपणायाऽऽह-" इयरदुसहियाणं तिन्नि त्ति " इतरे स्वकीयनामापेक्षयाऽन्ये तैजसकार्मणशरीरे, ततः प्राकृतत्वादन्यथोपन्यासेऽपि द्वे-च ते इतरे च द्वीतरे ताभ्यां सहितानि युक्तानि द्वीतरसहितानि । यद्वा (दु त्ति) द्विकं इतरच्च तद्द्विकं चेतरद्विकं तेन सहितानि इतरद्विकसहितानि तेषां द्वीतरसहितानामितरद्विकसहितानां वा । औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाणामत्रापि योज्यम् । त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । अयमाशयः—प्रत्येकमौदारिकवैक्रियाऽऽहारकाणां तैजसकार्मणाभ्यां युगपत् संयोगे त्रिकसंयोगरूपाणि त्रीणि बन्धनानि भवन्ति । तथाहि-औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम, वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम, आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम । अर्थः पूर्वोक्त एव । न केवलमेषामौदारिकाऽऽदीनामितरद्विकसहितानामेव

त्रीणि बन्धनानि भवन्ति, किं तु—(तेसिं च त्ति) त्री-णीति शब्दो डमरुकमणिन्यायादत्रापि योज्यः। ततोऽयमर्थः-तयोश्चेतरशब्दवाच्ययोस्तैजसकार्मणयोः स्वनाम्ना इतरेण च योगे त्रीणि बन्धनानि भवन्ति। यथा तैजसतैजसबन्धननाम, तैजसकार्मणबन्धननाम, कार्मणकार्मणबन्धननाम। तदेवं नव त्रीणि त्रीणि च मिलितानि पञ्चदश बन्धनानीति। अत्राऽऽह—पञ्चानां शरीराणां द्विकाऽऽदियोगप्रकारेण षड्विंशतिः संयोगा भवन्ति। तत्तुल्यबन्धनानि च कस्मान्न भवन्ति?। उच्यते-औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाणा परस्परविरुद्धानामन्योऽन्यसंबन्धाभावात् पञ्चदशैव भवन्ति, नाधिकानि। आह—यथा पञ्चदश बन्धनानि भवन्ति, एवमनेनैव क्रमेण पञ्चदश सङ्घाता अपि कस्मान्नाभिधीयन्ते, सङ्घातितानामेव बन्धनभावात्। तथाहि—पाषाणयुगमस्य कृतसंघातस्यैवोत्तरकालं वज्रलेपराला(ऽऽ)दिना बन्धनं क्रियते। तदसत् यतो लोके ये स्वजातौ संयोगा भवन्ति-त एव शुभाः, एवमिहापि स्वशरीरपुद्गलानां स्वशरीरपुद्गलैः सह ये संयोगरूपाः संघातास्ते शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव संघाता अभिहिता इति ॥ ३६ ॥ कर्म० १ कर्म०।

बंधणच्चुय-बन्धनच्युत-त्रि०। वृन्ताऽऽदिरूपाद् बन्धनाच्च्युते, "ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउक्खयम्मि तुट्टति।" तालफलं यथा बन्धनात्—वृन्ताच्च्युतः भूमौ पतति एवं जन्तुरपि स्वाऽऽयुःक्षये त्रुट्यति—च्यवते। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

बंधणच्छेयणगइ-बन्धनच्छेदनगति-स्त्री०। बन्धनस्य-कर्मणः सम्बन्धस्य वा छेदनेऽभावे गतिर्जीवस्य शरीरस्य वा जीवाद् बन्धनच्छेदनगतिः। गतिभेदे, भ० ८ श० ६ उ०।

बंधणच्छेयणया-बन्धनच्छेदनता-स्त्री०। एरण्डफलस्येव कर्मबन्धनच्छेदने, भ० ६ श० ७ उ०।

बंधणणाम-बन्धननामन्-न०। बध्यन्ते-गृह्यमाणाः पुद्गलाः पूर्वगृहीतपुद्गलैः सह संश्लिष्टाः क्रियन्ते येन तद्बन्धनं, तदेव नाम बन्धननाम। कर्म० १ कर्म०। यदुदयादौदारिकाऽऽदिपुद्गलाना पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परमन्यशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः। तस्मिन्नामकर्मभेदे, कर्म०। तत्पञ्चधा। तद्यथा—औदारिकबन्धनम्, वैक्रियबन्धनम्, आहारकबन्धनम्, तैजसबन्धनम्, कार्मणबन्धनम्। तत्र यदुदयादौदारिकपुद्गलाना पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्पर तैजसाऽऽदिशरीरपुद्गलैश्च सह संबन्धस्तदौदारिकबन्धनम्। एवं वैक्रियबन्धनम्, आहारकबन्धनं च भावनीयम्। यदुदयात्पुनस्तैजसपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं कार्मणशरीरपुद्गलैश्च सह संबन्धस्तत्तैजसबन्धनम्। यदुदयात् कर्मपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं संबन्धस्तत्कार्मणबन्धनम्। केचित्पुनर्बन्धनस्य पञ्चदश भेदानाचक्षते, ते च पञ्चसंग्रहाऽऽदिग्रन्थतो वेदितव्याः। कर्म०६ कर्म०। पं०सं०। प्रव०।

साम्प्रतं बन्धननामस्वरूपमाह—

ओरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं।
जं कुणइ जउसमं तं, उरलाईबंधणं नेयं ॥ ३४ ॥

औदारिकाऽऽदिपुद्गलानामादिशब्दाद्वैक्रियपुद्गलानामाहारकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानाम्। किंविशिष्टानामित्याह-"निबद्धबज्झंतयाण त्ति।" निबद्धाश्च बध्यमानाश्च निबद्धबध्यमानास्तेषां निबद्धबध्यमानानां पूर्वबद्धानां बध्यमानाना च यत् कर्म संबन्धं परस्परं मीलनं करोति दारूणामिव जतु, अत एव जतुसमं तदौदारिकाऽऽदिबन्धनमादिशब्दाद्वैक्रियबन्धनमाहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनं ज्ञेयम्—ज्ञातव्यमिति गाथाऽक्षरार्थः॥ भावार्थस्त्वयम्-इह पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणानौदारिकपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्माऽन्योन्यसंयुक्तान् करोति, तदौदारिकशरीरबन्धननाम दारुपाषाणाऽऽदीनां जतुरालाप्रभृतिश्लेषद्रव्यतुल्यम्। पूर्वगृहीतैर्वैक्रियपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् वैक्रियपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्माऽन्योन्यसंयुक्तान् करोति, तज्जतुसमं वैक्रियशरीरबन्धननाम। पूर्वगृहीतैराहारकशरीरपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणानाहारकपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति, तज्जतुसममाहारकशरीरबन्धननाम। पूर्वगृहीतैस्तैजसपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणांस्तैजसपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तज्जतुसमं तैजसशरीरबन्धननाम। पूर्वगृहीतैः कार्मणपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् कार्मणपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तज्जतुसमं कार्मणशरीरबन्धननाम। यदि पुनरिदं शरीरपञ्चकपुद्गलानामौदारिकाऽऽदिशरीरनाम्नः सामर्थ्याद् गृहीतानामन्योऽन्यसंबन्धकारि बन्धनपञ्चकं न स्यात्ततस्तेषां शरीरपरिणतौ सत्यामप्यसंबन्धत्वात् पवनाऽऽहतकुण्डस्थितास्तीमितसक्तूनामिवैकत्र स्थैर्यं न स्यादिति ॥३४॥ कर्म०१कर्म०।

बंधणपच्चइय-बन्धनप्रत्ययिक-पु०। बध्यतेऽनेनेति बन्धनं विवक्षितस्निग्धताऽऽदिको गुणः, स एव प्रत्ययो हेतुर्यत्र स तथा। बन्धनजे बन्धे, भ० ८ श० ९ उ०।

बंधणपरिणाम-बन्धनपरिणाम-पु०। पुद्गलानां परस्परं संश्लेषपरिणामे, स्था० १० ठा०।

सर्वत्र बन्धनपरिणामलक्षणं चैतत्—

"समणिद्धयाए बंधो, न होइ समलुक्खयाए वि न होइ।
वेमायनिद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खधाणं ॥ १ ॥"

एतदुक्तं भवति-समगुणस्निग्धस्य समगुणस्निग्धेन परमाण्वादिना बन्धो न भवति, समगुणरूक्षस्याऽपि समगुणरूक्षेणेति यदा विषमा मात्रा तदा भवति बन्धः। विषममात्रानिरूपणार्थमुच्यते-" निद्धस्स निद्धेण दुयाहियेणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहियेणं। निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥१॥" इति। स्था० १० ठा०।

बंधणविमोयणगइ-बन्धनविमोचनगति-स्त्री०। बन्धनविच्युताना विस्तरतया निर्व्याघातेन गमने, प्रज्ञा०।

से किं तं बंधणविमोयणगती?। बंधणविमोयणगती जं णं अंबाण वा अंबाडगाण वा मातुलुंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा भव्वाण वा फणसाण वा दालिमाण वा पारेवताण वा अक्खोडाण वा चाराण वा तंदुलाण वा पक्काणं परियागगताणं बंधणाओ विप्पमुक्काणं वा णिव्वाघाएणं अहे वीसाए गती पवत्तइ। प्रज्ञा० १६ पद।

बंधणुम्मुक्क-बन्धनोन्मुक्त-त्रि०। स्नेहाऽऽत्मकेन कर्माऽऽत्मकेन वा बन्धनेन प्राबल्येन मुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

बंधणोवक्कम-बन्धनोपक्रम-पुं०। बन्धनं कर्मपुद्गलाना जीवप्रदेशानां च परस्पर सम्बन्धनमिदं च सूत्रमात्रबद्धलोहशलाकासबन्धोपममवगन्तव्यं तस्योपक्रम उक्तार्थो बन्धनोपक्रम। आसकलितावस्थस्य वा कर्मणो बद्धावस्थीकरणं संबन्धनम्। तद्वेवोपक्रमो वस्तुपरिकर्मरूपो बन्धनोपक्रम.। उपक्रमभेदे, स्था०।

बंधणोवक्कमे चउव्विहे पएणत्ते। तं जहा-पगइबंधणोवक्कमे, ठिइ बंधणोवक्कमे, अणुभावबंधणोवक्कमे, पएसबंधणोवक्कमे ॥

बन्धनोपक्रमो-बन्धनकरणं चतुर्द्धा, तत्र प्रकृतिबन्धनस्योपक्रमो जीवपरिणामो योगरूपस्तस्य प्रकृतिबन्धहेतुत्वादिति। स्थितिबन्धनस्याऽपि स एव, नवर कषायरूपः स्थिते. कषायहेतुकत्वादिति। अनुभागबन्धनोपक्रमोऽपि परिणाम एव, नवर कषायरूप', प्रदेशबन्धनोपक्रमस्तु स एव योगरूप इति। यत उक्तम्-"जोगा पयडिपएसं, ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ।" इति। प्रकृत्यादिबन्धनानामान्तर्मौहूर्तोनान्तःकोटीकोटीरूपाऽऽरम्भा वा उपक्रमा इति। स्था० ४ ठा० २ उ०।

बंधदसा-बन्धदशा-स्त्री०। दशाध्ययनप्रतिबद्धे श्रुतभेदे स्था०।

बंधदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा-" बंधे मुक्खे य देवड्ढी, दसारे मंडले इय "। आयरियविप्पडिवत्ती उवज्झायविप्पडिवत्ती भावणा विमुत्ती सातोकम्मे।

बन्धदशानामपि बन्धाऽऽद्यध्ययनानि श्रौतेनार्थेन व्याख्यातव्यानि। स्था० १० ठा०।

बंधपय-बन्धपद-न०। देहिना कुवासनाहेतुत्वात्परसमयपदे प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणभेदभिन्नस्य प्रतिपादके, अनु०।

बंधप्पमोक्ख-बन्धप्रमोक्ष-पुं०। बन्धात्सकाशादात्मन पृथग्बन्धने, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

बंधभेय-बन्धभेद-पुं०। मूलप्रकृतिबन्धरूपस्याष्टविधस्योत्तरप्रकृतिबन्धस्वभावस्य च सप्तनवतिप्रमाणस्य प्रज्ञापने, ध० १ अधि०।

बंधमोक्खसिद्धि-बन्धमोक्षसिद्धि-स्त्री०। बन्धमोक्षसिद्धौ, विशे०।

मण्डिकगणधरवक्तव्यता-

किं मन्ने बंधमोक्खा, संति न संति त्ति संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं,न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१८०४॥

मण्डिक! त्वमित्थं मन्यसे-किं बन्ध-मोक्षौ स्तो, न वा? इति। अयं चानुचितस्तव संशय, विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनत्वात्। तथाहि-" स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद।" इत्यादीनि वेदपदानि, तथा-" न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशत।" इत्यादीनि च। एतेषां चार्थं त्वं न जानासि, यतोऽयमेतदर्थस्तव चेतसि वर्त्तते, तद्यथा-स एष-अधिकृतो जन्तुः, विगुणः-सत्त्व-रजस्-तमोगुण-रहितः, विभुः-सर्वगतः, न बध्यते-पुण्य-पापाभ्यां न युज्यत इत्यर्थ', संसरति वा 'न' इत्यनुवर्त्तते, न मुच्यते-न कर्मणा वियुज्यते, बन्धस्यैवाऽभावात्; मोचयति वा नान्यम्, इत्यनेनाऽकर्तृकत्वमाह-नवा एष बाह्यम्-आत्मभिन्न महदहङ्काराऽऽदि, अभ्यन्तरं निजस्वरूपमेव, वेद-विजानाति, प्रकृतिधर्मत्वाज्ज्ञानस्य, प्रकृतेश्चाचेतनत्वात्। ततश्चामूनि किल बन्धमोक्षाऽभावप्रतिपादकानि। तथा, 'न ह वै'-नैवेत्यर्थं .सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्तीति-बाह्याऽऽध्यात्मिकनादिशरीरसन्तानयुक्तत्वात् सुख-दुःखयोरपहति' संसारिणो नास्तीत्यर्थ', अशरीरं वा वसन्तम्-अमूर्त्तमित्यर्थ', प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः, तत्कारणभूतस्य कर्मणोऽभावादित्यर्थ.। अमूनि च बन्धमोक्षाऽभिधायकानीति। अत. संशयः। तत्र " स एष विगुणो विभुः " इत्यादीना नायमर्थ., किन्त्वयं वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ १८०३ ॥

अत्र भाष्यम्—

तं मन्नसि जइ बंधो, जोगो जीवस्स कम्मुणा समयं।
पुव्वं पच्छा जीवो, कम्मं व समं व ते होज्जा?॥१८०५॥

" वेयपयाण य " इत्यत्र चशब्दाद् युक्तिं च त्वं न जानासि। कुत. ?, यस्मादायुष्मन्! मण्डिक! त्वमेवं मन्यसे-जीवस्य बन्धो यदि कर्मणा समकं-सार्धं योगः-संयोगोऽभिप्रेतः स खल्वादिमान्, आदिरहितो वा?। यद्यादिमान्, तत. किं पूर्वं जीव. प्रसूयेत पश्चात् कर्म, पूर्वं वा कर्म पश्चाज्जीवः प्रसूयेत, समं वा युगपद् वा तौ द्वावपि प्रसूयेयाताम्? इति पक्षत्रयमिति ॥ १८०५ ॥

अत्राऽऽद्यपक्षस्य दूषणमाह—

न हि पुव्वमहेउओ, खरसंगं वाऽऽयसंभवो जुत्तो।
निक्कारणजायस्स य,निक्कारणउ च्चिय विणासो॥१८०६॥

'पूर्वं जीव. पश्चात्कर्म' इत्येतदयुक्तम्, यतो न कर्मण. पूर्वं (खरसंगं वायसंभवो जुत्तो) खरशृङ्गस्येवाऽऽत्मन. सम्भवो युक्त, अहेतुकत्वात्, इह यदहेतुकं तद् न जायते, यथा खरशृङ्गम्, यच्च जायते तद् निर्हेतुकमपि न भवति, यथा घट, निष्कारणस्य च जातस्य निष्कारण एव विनाश. स्यादिति ॥ १८०६ ॥

अमुमेव विकल्पं दूषयितुमाह—

अहवाऽणाइ च्चिय सो, निक्कारणओ न कम्मजोगो से।
अह निक्कारणओ सो,मुक्कस्स वि होहिइ स भुज्जो॥१८०७॥

अथ चेत् कर्मणः पूर्वमात्माऽनादिकालसिद्ध एव, इति किं तस्य सहेतुक-निर्हेतुकचिन्तया? इति। अत्रोच्यते-(निक्कारणओ इत्यादि) यद्येवम्, तत (से) तस्य जीवस्य कर्मयोग' कर्मबन्धो न प्राप्नोति, अकारणत्वात्, नभस इव। अथ निष्कारणोऽप्यसौ भवति, तर्हि मुक्तस्याऽपि भूयः स भविष्यति, निष्कारणत्वाऽविशेषात्, ततश्च मुक्तावप्यनाश्वास इति ॥ १८०७ ॥

यदि वा—

होज्ज म निच्च मुक्को, बधाभावम्मि को व से मोक्खो?।

न हि मुक्कव्ववएसो, बंधभावे मओ नभसो । १८०८ ।

अथवा—कर्मयोगाभावाद् नित्यमुक्त एवाऽसौ भवेत् । यदि वा—बन्धाऽभावे कः किल तस्य मोक्षव्यपदेशः ? । न ह्यबद्धस्य नभसः कस्याऽपि मुक्तव्यपदेशो मतः, बन्धपूर्वकत्वाद् मोक्षस्य । तस्माद् न 'पूर्वं जीवः पश्चात् कर्म' इति प्रथमविकल्प इति ॥ १८०८ ॥

अथ 'पूर्वं कर्म पश्चाज्जीवः युगपद् वा द्वावपि' इति पक्षद्वयस्य प्रतिविधानमाह—

न य कम्मस्स वि पुव्वं, कत्तुरभावे समुब्भवो जुत्तो ।
निक्कारणओ सो वि य, तह जुगवुप्पत्तिभावे य । १८०९ ।
न हि कत्ता कज्जं ति य, जुगवुप्पत्तीएँ जीवकम्माणं ।
जुत्तो ववएसोऽयं, जह लोए गोविसाणाणं ॥ १८१० ॥

न च जीवात् प्राक् कर्मणोऽपि समुद्भवो युक्तः, कर्तुर्जीवस्य तदानीमभावात्, अक्रियमाणस्य च कर्मत्वाऽयोगात्, निष्कारणत्वेनासौ कर्मसमुद्भवः स्यात्, ततोऽकारणजातस्याऽकारणत एव विनाशोऽपि स्यादिति । तथा-युगपदुत्पत्तिभावे च 'प्रत्येकपक्षोक्ता दोषाः वाच्याः' इति शेषः—निर्हेतुकत्वात् प्रत्येकवदुभयस्याऽपि समुदितस्याऽनुत्पत्तिरित्यादि । न च युगपदुत्पन्नयोर्जीव-कर्मणोः कर्तृ-कर्मभावो युज्यत इत्येतदेवाऽऽह—'न हीत्यादि' न हि युगपदुत्पन्नयोर्जीव-कर्मणोः 'अयं जीवः कर्ता' 'इदं वा ज्ञानावरणाऽऽदिपुद्गलनिकुरम्बं कर्म' इति व्यपदेशो युज्यते, यथा लोके सव्येतरगोविषाणयोरिति ॥ १८०९ ॥ ॥ १८१० ॥

द्वितीयं मूलविकल्पमधिकृत्याऽऽह—

होज्जाणाईओ वा, संबंधो तह वि न घडए मोक्खो ।
जोऽणाई सोऽणंतो, जीवनहाणं व संबंधो ॥ १८११ ॥

स्यादेतत्, अनादिरेव जीवकर्मणोः सम्बन्धः—संयोगः । ननु तथाऽपि मोक्षो न घटते, यस्माद् योऽनादिः संयोगः सोऽनन्तो दृष्टः, यथा जीवनभसोः । न ह्याकाशेन सह जीवस्य कदाचिदपि संयोगो निवर्तते । एवं कर्मणाऽपि सहाऽसौ न निवर्तेत, तथा च सति मुक्त्यभावप्रसङ्ग इति ॥ १८११ ॥

उपसंहरन्नाह—

इय जुत्तीएँ न घडइ, सुव्वइ य सुईसु बंधमोक्ख त्ति ।
तेण तुह संसओऽयं, न य कज्जोऽयं जहा सुणसु । १८१२ ।

इत्येव युक्तियुक्त्या बन्धो मोक्षश्च न घटते, श्रूयते च श्रुतिषु वेदवाक्येष्वसौ । ततस्तव संशयोऽयम् । यथा चाऽयं न कार्यस्तथा शृणु सौम्य ! इति । उक्तः पूर्वपक्षः ॥ ॥ १८१२ ॥

अत्र प्रतिविधीयते-तत्र यत् तावदुक्तम्-'किं पूर्वं जीवः पश्चात् कर्म, उत व्यत्ययः ?' इत्यादि । तत् सर्वमयुक्तम् । कुतः ? इत्याह—

संताणोऽणाईओ, परोप्परं हेउ-हेउभावाओ ।
देहस्स य कम्मस्स य, मंडिय ! बीयंकुराणं व ॥ १८१३ ॥

शरीर-कर्मणोरनादिः सन्तान इति प्रतिज्ञा, परस्परं हेतु-हेतुमद्भावात्, बीजाङ्कुरवदिति । ततश्च 'किं पूर्वं जीवः पश्चात् कर्म ?' इत्यादि प्लवत एव, अनादित्वात् तत्सन्तानस्येति ॥ १८१३ ॥

एतदेव कर्मसन्तानस्याऽनादित्वं साधयन्नाह—

अत्थि स देहो जो क-म्मकारणं जो य कज्जमण्णस्स ।
कम्मं च देहकारण-मत्थि य जं कज्जमण्णस्स ॥ १८१४ ॥

अस्ति स कश्चिद् देहो योऽग्रेतनस्य कर्मणः कारणम्, यश्चान्यस्याऽतीतस्य कर्मणः कार्यम् । तथा कर्माऽपि समस्ति । किं विशिष्टम् ?, इत्याह-यदग्रेतनस्य देहस्य कारणम्, यच्चान्यस्याऽतीतस्य कार्यमिति । एवमनादौ संसारे न क्वचिद् विश्राम्यति, अतोऽनादिर्देह-कर्मसन्तान इति । आह—ननु बन्धमोक्षाविह साधयितुं प्रस्तुतौ, ततः कर्मसन्तानस्याऽनादित्वसाधनमसंबद्धमिव लक्ष्यते । तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, न ह्यकृतं कर्म सम्भवति 'क्रियत इति कर्म' इति व्युत्पत्तेः, यच्च तस्य करणमसावेव बन्ध इति कथं न तत्सिद्धिः ? ॥ १८१४ ॥

ननु यदि क्रियत इति कर्मोच्यते, तर्हि कोऽस्य देहस्य च कर्ता ?, इत्याह—

कत्ता जीवो कम्म-स्स करणओ जह घडस्स घडकारो ।
एवंचिय देहस्स वि, कम्मकरणसंभवाउ त्ति ॥ १८१५ ॥

कर्ता चाऽत्र कर्मणो जीवः, करणसमेतत्वात्, दण्डाऽऽदिकरणयुक्तकुलालवद् घटस्य, करणं चेह जीवस्य कर्म निर्वर्त्त्यतः शरीरमवगन्तव्यम् । एवं देहस्याऽप्यात्मैव कर्ता, कर्मरूपं करणं कर्मकरणं तत्संभवात्—तद्युक्तत्वात्, दण्डाऽऽदिकरणसमेतकुलालवदिति ॥ १८१५ ॥

अथाऽत्र प्रेर्यं परिहारं चाऽऽह—

कम्मं करणमसिद्धं, च ते मई कज्जओ तयं सिद्धं ।
किरियाफलओ य पुणो, पडिवज्ज तमग्गिभूइ व्व । १८१६ ।

स्यादेतत्, अतीन्द्रियत्वेनासिद्धत्वात् कर्मणः करणत्वमसिद्धम् तदयुक्तम्, यतः कार्यतः-कार्यद्वारेण तत् सिद्धमेव, तथाहि-विद्यमानकरणं शरीराऽऽदि, कृतकत्वात्, घटाऽऽदिवत्, यच्चास्य करणं तत् कर्मैव, तस्मादस्त्येव तत् । अथवा—विद्यमानकरणमेवाऽऽत्मशरीरलक्षणद्वयम्, कर्तृ-कार्यरूपत्वात्, कुलाल-घटाऽऽदिवत् । यच्च कर्तुरात्मनः शरीरमुत्पादयतः करणं तत् कर्मेति कथं न तत्सिद्धिः ? । तथा फलवत्यो दानाऽऽदिक्रियाः, चेतनाऽऽरब्धक्रियारूपत्वात्, यच्च तासां फलं तत् कर्म । इत्यग्निभूतिरिव त्वमपि प्रतिपद्यस्वेति ॥ १८१६ ॥

यच्चोक्तम्—'योऽनादिः संयोगः सोऽनन्तो दृष्टः' इत्यादि । तत्राऽऽह—

जं संताणोऽणाई, तेणाऽणंतोऽवि णायमेगंतो ।
दीसइ संतो वि जओ, कत्थइ बीयंऽकुराईणं ॥ १८१७ ॥

'यद्-यस्माज्जीव-कर्मसंयोगसन्तानोऽनादिस्तेन तस्मादनन्तोऽपि' इति नायमेकान्तः, यतोऽनादिरपि संयुक्तयोर्वस्तुनोः सन्तानः सान्तोऽपि क्वचिद् दृश्यते, यथा बीजाऽङ्कुराऽऽदीनां सन्तान इति ॥ १८१७ ॥

तथाहि-

अण्णयरमणिव्वत्तिय-कज्जं बीयंकुराण जं विहयं ।
तत्थ हओ संताणो, कुक्कुडिअंडाइयाणं च ॥ १८१८ ॥
जह वेह कंचणोवल-संजोगोऽणाइसंतइगओ वि ।
वोच्छिज्जइ सोवायं, तह जोगो जीव-कम्माणं ॥१८१९॥

बीजाऽङ्कुरयोर्मध्येऽन्यतरदनिर्वर्तितकार्यमेव यद् विहित व्यवच्छिन्नं तत्रानयोर्हतो—व्यवच्छिन्नः सन्तानः । एवं कुक्कुट्यऽण्डकयोः, पिता-पुत्रयोरपि च वक्तव्यम् । यथा वा काञ्चनो-पलयोरनादिकालप्रवृत्तसन्तानभावगतोऽपि संयोगः सोपायम्-अग्नितापाऽऽद्युपायाद् व्यवच्छिद्यते,तथा जीव-कर्मणोरपि संयोगोऽनादिसन्तानगतोऽपि तपः-संयमाऽऽद्युपायाद् व्यवच्छिद्यते, इति न मोक्षाभाव इति ॥ १८१८ ॥ १८१९ ॥

अत्र परस्य प्रश्नमुपन्यस्योत्तरमाह—

तो किं जीवनहाण व, अह जोगो कंचणोवलाणं व ? ।
जीवस्स य कम्मस्स य,भण्णइ दुविहो वि न विरुद्धो।१८२०
पढमोऽभव्वाणं चिय, भव्वाणं कंचणोवलाणं व ।
जीवत्ते सामण्णे, भव्वोऽभव्वो त्ति को भेओ ? ॥ १८२१ ॥

आह-जीवस्य कर्मणश्च योऽयं परस्परं योग. सोऽनादिः सन् किं जीव नमसोरिवानन्तः, अथ काञ्चनो-पलयोरिव सान्तोऽपि स्यात् ? , उभयथाऽपि दर्शनात् किमत्र प्रतिपद्यामहे ? । भण्यतेऽत्रोत्तरम्—द्विधाऽप्ययमविरुद्धः, तत्र प्रथमोऽनाद्यनन्तरूपोऽभव्यानां द्रष्टव्यः । यस्तु काञ्चनो पलयोरिवाऽनादिः सान्तोऽसौ भव्यानां विज्ञेय । आह ननु जीवत्वसाम्येऽपि 'अयं भव्यः' 'अयं चाऽभव्यः' इति किं कृतोऽयं विशेषः ? । न च वक्तव्यम्—यथा जीवत्वे समानेऽपि नारक-तिर्यगादयो विशेषास्तथा भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः कर्मजनिता एव नारकाऽऽदिविशेषाः, न तु स्वाभाविकाः, भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदा भवतु को निवारयिता ?, न चैवमिति ॥ १८२० ॥ १८२१ ॥

एतदेवाऽऽह—

होउ व जइ कम्मकओ, न विरोहो नारगाइभेउ व्व ।
भण्णइ य भव्वाऽभव्वा, सभावओ तेण संदेहो ॥१८२२॥

भवतु वा यदि कर्मकृतोऽयं भव्याऽभव्यत्वविशेषो जीवानामिष्यते, नाऽत्र काश्चिद् विरोध., नारकाऽऽदिभेदवत् । न चैतदस्ति, यतो 'भव्याऽभव्याः स्वभावत एव जीवा न तु कर्मतः' इति यूयं भणथ, तेनाऽस्माकं संदेह इति । ॥ १८२२ ॥

परेणैवमुक्ते सत्याह—

दव्वाइत्ते तुल्ले, जीवनहाणं सभावओ भेओ ।
जीवाऽजीवाइगओ, जह तह भव्वेयरविसेसो ॥१८२३॥

यथा जीवनभसोर्द्रव्यत्वसत्व प्रमेयत्व-ज्ञेयत्वाऽऽदौ तुल्येऽपि जीवाऽजीवत्व-चेतनाऽचेतनत्वाऽऽदिस्वभावतो भेदः, तथा जीवानामपि जीवत्वसाम्येऽपि यदि भव्याऽभव्यकृतो विशेष. स्यात्, तर्हि को दोषः ?, इति ॥ १८२३ ॥

इत्थं संबोधितो भव्यत्वाऽऽदिविशेषमभ्युपगम्य दूषणान्तरमाह—

एवं पि भव्वभावो, जीवत्तं पि व सभावजाईओ ।
पावइ निच्चो तम्मि य,तदवत्थे नत्थि निव्वाणं । १८२४।

नन्वेवमपि भव्यभावो नित्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजातीयत्वात्—स्वाभाविकत्वाज्जीवत्ववद्भव्यत्वमिति चेत्, तदयुक्तम्—यतस्तस्मिन् भव्यभावे तदवस्थे नित्यावस्थायिनि नास्ति निर्वाणम्-" सिद्धो न भव्यो नाप्यभव्यः " इति वचनादिति ॥ १८२४ ॥

नैवं कुत इत्याह—

जह घडपुव्वाभावो-ऽनाइसहावो वि सनिहणो एवं ।
जइ भव्वत्ताभावो,भवेज्ज किरियाएँ को दोसो ॥१८२५॥

यथा घटस्य प्रागभावोऽनादिस्वभावजातीयोऽपि घटोत्पत्तौ सनिधनो—विनश्वरो दृष्टः, एवं यदि भव्यत्वस्यापि ज्ञानतपःसंयमचरणक्रियोपायतोऽभावः स्यात्तर्हि को दोषः संपद्यते, न कश्चिदिति ।

आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह—

अणुदाहरणमभावो, खरसिंग पि व मई न तं जम्हा ।
भावो च्चिय स विसिट्ठो,कुंभाणुप्पत्तिमेत्तेणं ॥ १८२६ ॥

स्यान्मतिः परस्य-नन्वनुदाहरणमसौ प्रागभावः, अभावरूपतयैवावस्तुत्वात्, खरविषाणवत् । तत्र, यस्माद्भाव एवाऽसौ घटप्रागभावः, तत्कारणभूतानादिकालप्रवृत्तपुद्गलसंघातरूपः, केवलं घटानुत्पत्तिमात्रेण विशिष्ट इति ॥ १८२६ ॥

भवतु तर्हि घटप्रागभाववद्भव्यत्वस्य विनाशः, केवलमित्थं सति दोषान्तरं प्रसजति । किमित्याह—

एवं भव्वुच्छेओ, कोट्ठागारस्स वा अवचउ त्ति ।
तं नाणंतत्तणओऽ-णागयकालंबराणं व ॥ १८२७ ॥

नन्वेव सति भव्योच्छेदो-भव्यजीवैः संसारः शून्यः प्राप्नोति, अपचयात् । कस्य यथा समुच्छेदः ?, इत्याह-स्तोकस्तोकाऽऽकृष्यमाणधान्यस्य-धान्यभृतकोष्ठागारस्य । इदमुक्तं भवति-कालस्याऽऽनन्त्यात्षण्मासपर्यन्ते चावश्यमेकस्य भव्यस्य जीवस्य सिद्धिगमनात्क्रमेणापचीयमानस्य धान्यकोष्ठागारस्येव सर्वस्याऽपि भव्यराशेरुच्छेद प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न,अनन्तत्वाद्भव्यराशेः, अनागतकालाऽऽकाशवदिति । इह यद् बृहदनन्तकेनानन्तं, तत् स्तोकस्तोकतयाऽपचीयमानमपि नोच्छिद्यते, यथा प्रतिसमयं वर्त्तमानतापत्याऽपचीयमानोऽप्यनागतकालसमयराशि', प्रतिसमयं बुद्धया प्रदेशापहारेणापचीयमान सर्वनभ प्रदेशराशिर्वा, इति न भव्योच्छेदः ॥ १८२७ ॥

कुत.?, इत्याह-

जं चातीताणागय-काला तुल्ला जओ य संसिद्धो ।
एक्को अणंतभागो, भव्वाणमईयकालेणं ॥ १८२८ ॥
एस्सेण तत्तिउ च्चिय, जुत्तो जं तो वि सव्वभव्वाणं ।
जुत्तो न समुच्छेओ,होज्ज मई कहमिणं सिद्धं ॥१८२९॥
भव्वाणमणंतत्तण-मणंतभागो व किह व मुक्को सिं ।

कालादओ व मंडिय !, मह वयणाओ वि पडिवज्ज।१८३०।

यस्मादतीतानागतकालौ तुल्यावेव , यतश्चातीतेनाऽपि कालेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽद्यापि भव्यानां सिद्धः , एष्यताऽपि—भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन् युक्तो घटमानको, न हीनाधिको, भविष्यतोऽपि कालस्यातीततुल्यत्वात् तत एवमपि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः, सर्वेणाऽपि कालेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसंभवोपदर्शनात् । अथ परस्य मतिर्भवेत्-तत्कथमिदं सिद्धं यदुत—अनन्ता भव्यास्तदनन्तभागस्य सर्वेणैव कालेन सेत्स्यतीति ?। अत्रोच्यते—कालाऽऽकाश इवानन्तास्तावद् भव्याः तदनन्तभागस्य च मुक्तिगमनात्कालाऽऽकाशयोरिव, न सर्वेषामुच्छेद इति प्रतिपद्यस्व, मद्वचनाद्वा मण्डिक ! सर्वमेव श्रद्धेहीति ॥ १८२८ ॥ ॥ १८२९ ॥ १८३० ॥

कथं पुनस्त्वद्वचनात्सर्वमेतत् सत्यतया प्रतिपद्यामहे ?, इत्याह—

सब्भूयमिणं गिण्हसु, मह वयणाओऽवसेसवयणं व ।
सव्वण्णुताइओ वा, जाणय मज्झत्थवयणं व ॥१८३१॥
मणसि किह सव्वण्णू, सव्वेसिं सव्वसंसयच्छेया ।
दिट्ठंताभावम्मि वि, पुच्छउ जो संसओ जस्स ॥१८३२॥

सद्भूतमिदमनन्तरोक्तं सर्वमपीति गृहाण त्वं, मद्वचनत्वादपरं त्वत्संशयाऽऽदिविषयमवशेषं मद्वचनं , सर्वज्ञत्वादिभ्यो वा हेतुभ्यः , आदिशब्दाद्वीतरागत्वाऽऽदिपरिग्रहः , ज्ञायकमध्यस्थवचनवदित्ययमत्र दृष्टान्त इति । अथैवं मन्यसे—कथमिव सर्वज्ञस्त्वम् ?, अत्रोच्यते—सर्वेषां सर्वसंशयच्छेदात् । अन्यस्य सर्वसंशयच्छेत्तुः कस्याप्यदर्शनात्कोऽत्र दृष्टान्तो ?, न कश्चिदिति । अत्रोच्यते—किमत्र दृष्टान्तान्वेषणेन ? । तदभावेऽपि हि यो यस्य संशयः स तं सर्वमपि पृच्छतु, येन स्वप्रत्ययसिद्ध एव मयि सर्वज्ञत्वनिश्चयो भवतीति ॥ १८३१ ॥ १८३२ ॥

अत्र प्रेरकः प्राह—

भव्वा वि न सिज्झिस्सं-ति केइ कालेण जइ वि सव्वेण ।
नणु ते वि अभव्व च्चिय, किं वा भव्वत्तणं तेसिं ॥१८३३॥

ननु भव्या अपि सन्तो यदि सर्वेणापि कालेन सर्वेऽपि न सेत्स्यन्ति , तर्हि येषां सिद्धिर्न भविष्यति, अभव्या एव ते किं न व्यपदिश्यन्ते ?, केन वा विशेषेण तेषां भव्यत्वम् ?, इति निवेद्यतामिति ॥ १८३३ ॥

अत्रोत्तरमाह—

भण्णइ भव्वो जोग्गो, न य जोग्गत्तेण सिज्झए सव्वो ।
जह जोग्गम्मि वि दलिए, सव्वम्मि न कीरए पडिमा ॥१८३४॥

भण्यते अत्रोत्तरम्—किम् ? इत्याह—भव्योऽत्र सिद्धिगमनयोग्योऽभिप्रेतो , न तु यः सिद्धिगतिं यास्यत्येव , न च योग्यत्वमस्तीत्येतावतैव सर्वः सिध्यति , किं तु गमनसामग्रीसम्भवे सति । दृष्टान्तमाह—यथा हेममणिपाषाणचन्दनकाष्ठाऽऽदिके योग्येऽपि प्रतिमाऽर्हेऽपि दलिके न सर्वस्मिन् प्रतिमा विधीयते; किं तु यत्रैव तन्निष्पत्तियोग्या सामग्री सम्भवति तत्रैवासौ क्रियते । न च तदसम्भवमात्रेण प्रतिमाविषये अयोग्यता भवति, नियमश्चेह नैवं विधीयते यदुत-प्रतिमायोग्ये वस्तुनि प्रतिमा भवत्येवेति, किं तु यदा तदा वा तद्योग्य एव सा भवति, नान्यत्रेति । एवमिहापि न भव्यः इत्येतावन्मात्रेणैव सर्वः सिद्ध्यति , किं तु सामग्रीसंपत्तौ, न च तदसम्पत्तावपि तस्याभव्यता भवति, किं तु यदा तदा वा भव्यस्यैव मुक्तिर्नाभव्यस्येति ॥ १८३४ ॥

दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा स एव पासा-णकणगजोगो विओगजोग्गो वि ।
न विजुज्जइ सव्वो च्चिय, स विजुज्जइ जस्स संपत्ती ॥१८३५॥
किं पुण जा संपत्ती, सा जोग्गस्सेव न उ अजोग्गस्स ।
तह जो मोक्खो नियमा, सो भव्वाणं न इयरेसिं ॥१८३६॥

यथा वा स एव पूर्वोक्तः सुवर्णपाषाणकनकयोर्योगो वियोगयोग्यताऽन्वितोऽपि सर्वो न वियुज्यते, किं तु स एव वियुज्यते , यस्य वियोगसामग्रीसम्प्राप्तिरिति । किं पुनः ?, एतदृजुमुत्क्षिप्य ब्रूमः—या वियोगसामग्रीसम्प्राप्ति सा वियोगयोग्यस्यैव सुवर्णोपलस्य भवति , न तु तदयोग्यस्य, तथा तेनैव प्रकारेण यः सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः स नियमाद्भव्यानामेव भवति , नेतरेषामभव्यानामिति भव्याऽभव्ययोर्विशेष इति ॥ १८३५ ॥ १८३६ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽऽक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह—

कयगाइमत्तणाओ, मोक्खो निच्चो न होइ कुंभो व्व ।
नो पद्धंसाभावो, भुवि तद्धम्मा वि जं निच्चो ॥१८३७॥
अणुदाहरणमभावो, एसो वि मई न तं जओ नियओ ।
कुंभविणासविसिट्ठो, भावो च्चिय पोग्गलमओ य ॥१८३८॥

ननु मोक्षो नित्यो न भवति , किं त्वनित्यो विनाशी कृतकत्वादादिशब्दात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वाऽऽदिपरिग्रहः , कुम्भवदिति दृष्टान्तः । अत्रोच्यते—अनैकान्तिकता हेतूनां, विपक्षेऽपि गमनाद्यस्मादिह घटादिप्रध्वंसाभावः कृतकाऽऽदिस्वभावोऽपि नित्य एव, तदनित्यत्वे घटाऽऽदेस्तद्रूपतयैवोन्मज्जनप्रसङ्गादिति । अथैवं परस्य मतिर्न केवलं पूर्वोक्तः प्रागभावः किं त्वेषोऽपि प्रध्वंसाभावोऽभावत्वेनावस्तुत्वादनुदाहरणमेव । तदेतन्न, यतो—यस्मान्नियतो-निश्चितः कुम्भविनाशविशेषेण विशिष्टः पुद्गलाऽऽत्मको भाव एवायमपि प्रध्वंसाभावः । अतो युक्तमेतदुदाहरणमिति । एतच्च मोक्षस्य कृतकत्वमभ्युपगम्योक्तम् ॥ १८३७ ॥ १८३८ ॥

यदि वा—न भवत्येव कृतको मोक्ष इति दर्शयन्नाह—

किं वेगंतेण कयं, पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
किं निव्वत्तियमहियं, नभसो घडमेत्तविलयम्मि ? ॥१८३९॥

किमिह पुद्गलमात्रविलये सति समस्तकर्मपुद्गलपरिशाटसमये जीवस्याऽऽत्मनः स्वतत्त्वे वृत्तिमादधत एकान्तेन कृतं-विहितं, येन कृतको-मोक्षः स्यात् ? । एतदुक्तं भवति—इहाऽऽत्मकर्मपुद्गलवियोगो मोक्षोऽभिप्रेतः । तत्र तपःसंयमप्रभावतो जीवात्कर्मणि पृथग्जायमाने किमात्मनः क्रियते येन कृतकत्वादनित्यत्वं मोक्षस्य प्रतिपाद्यते ? । अथ स एवाऽऽत्मकर्मवियोगः क्रियमाणत्वात्कृतकः, ततोऽनित्य इ-

त्याशङ्कयाऽऽह ?-"किं निव्वत्तियमित्यादि" मुद्गराऽऽदिना घटमात्रस्य विलये-विनाशे सति किं नाम नभसोऽभ्यधिकं निर्वर्तितम् ? न किञ्चिदित्यर्थः । एवमिहापि कर्ममात्रविनाशे सति किं जीवस्याधिकं कृतं, येन तदेकाकितारूपस्य मोक्षस्य कृतकत्वेनानित्यत्वं स्यात् ?। स एव कर्मणो विनाशो घटविनाशवत्क्रियमाणत्वात्कृतकस्ततः स चैककर्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽनित्य इति चेत्तदयुक्तं, यतो यथाऽयमेव घटविनाशो यः केवलाऽऽकाशसद्भावो न पुनस्ततो विभिन्नोऽसौ, न चाऽऽकाशस्य किमप्यधिकं क्रियते, तस्य सदाऽवस्थितत्वेन नित्यत्वादेवमिहाप्ययमेव कर्मणो विनाशो यः केवलाऽऽत्मसद्भावो, न त्वात्मनो विभिन्नोऽसौ, न चाऽऽत्मनः किञ्चिदधिकं विधीयते तस्याऽपि नभोवन्नित्यत्वात्तस्मान्न मोक्षस्य कृतकत्वमनित्यत्वं वा । कथञ्चिच्चानित्यत्वे सिद्धसाध्यतैव, द्रव्यपर्यायोभयरूपतया सर्वस्याऽपि वस्तुनो नित्याऽनित्यरूपत्वादिति ॥ १८३९ ॥

आह ननु कर्मपुद्गला ये निर्जीर्य जीवेन परित्यक्तास्ते लोकमेवाभिव्याप्य तिष्ठन्ति, न पुनस्तद्बहिः क्वापि गच्छन्ति, जीवोऽपि च लोकमध्य एव तिष्ठति । ततश्च यथा घटवियुक्तस्याऽप्याकाशस्य तत्कपालपुद्गलसंयोगस्तदवस्थ एव, एवं कर्मवियुक्तस्याऽप्यात्मनो निर्जीर्णतत्पुद्गलसंयोगः समस्त्येव, इति कथं पुनरपि न तस्य सद्बन्ध इत्याशङ्क्याऽऽह-

सोऽणवराहो व्व पुणो, न बज्झए बंधकारणाभावा ।
जोगा य बंधहेऊ, न य सो तस्सासरीरो त्ति ॥१८४०॥

स-मुक्तो जीवः पुनरपि न बध्यते, बन्धकारणाभावात्, अनपराधपुरुषवत् । मनोवाक्काययोगाऽऽदयश्च बन्धहेतवोऽभिधीयन्ते, न च ते मुक्तस्य सन्ति, शरीराद्यभावान्न च कर्मवर्गणागतपुद्गलसंयोगमात्ररूपोऽत्र बन्धोऽधिक्रियते, अतिप्रसङ्गाऽऽदिदोषाऽऽघ्रातत्वात्, किं तु मिथ्यात्वाऽऽदितद्धेतुनिबन्धन इति ॥ १८४० ॥

आह-नन्वयं मुक्ताऽऽत्मा सौगतानामिव भवतामप्यभिप्रायेण पुनरपि भवे प्रादुर्भवति, न वेत्याशङ्क्याऽऽह—

न पुणो तस्स पसूई, बीयाभावादिहंकुरस्से व ।
बीयं च तस्स कम्मं, न य तस्स तयं तओ निच्चो ॥१८४१॥

न तस्य—मुक्तस्य पुनरपि भवप्रसूतिर्जायते, बीजाभावात्-कारणस्यासत्त्वाद्यथाऽङ्कुरस्य तदभावान्न प्रसूतिः बीजं चास्य कर्मैवावगन्तव्यम्, तच्च मुक्तस्य नास्त्येव, ततः पुनरावृत्त्यभावान्नित्योऽसाविति ॥ १८४१ ॥

इतश्च नित्यो मुक्तः । कुतः ?, इत्याह—

दव्वामुत्तत्तणओ, नहं व निच्चो मओ स दव्वतया ।
सव्वगयत्तावत्ती, मइ त्ति तं नाणुमाणाओ ॥ १८४२ ॥

स-मुक्ताऽऽत्मा नित्य इति प्रतिज्ञा, (दव्वामुत्तत्तणउ त्ति) द्रव्यत्वे सति अमूर्तत्वादिति हेतुः । ( दव्वतय त्ति ) यथा द्रव्यत्वे सति अमूर्तं नभ इति दृष्टान्तः । अथैवंभूता मतिः परस्य स्यादनेन हेतुना सर्वगतत्वाऽऽपत्तिरप्यात्मनः सिध्यति । तथाहि-सर्वगत आत्मा, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वान्नभोवत् । ततश्च धर्मविशेषविपरीतसाधनाद्विरुद्धोऽयम् । तदेतन्न । कुतोऽनुमानादनुमानबाधितत्वात्, सर्वगतत्वस्येत्यर्थः, तथाहि-असर्वगत आत्मा, कर्तृत्वात्, कुलालवत् । न च कर्तृत्वमसिद्धं, भोक्तृत्वप्रष्टृत्वाऽऽद्यनुपपत्तेरिति ॥ १८४२ ॥

यदि वा-किमनेनैकान्तिकेन नित्यत्वप्रहेण ?, एकान्ताऽनित्यत्ववादिनिराकरणार्थमेव ह्येवमभिहितं, परमार्थतस्तु सर्वमेव वस्तु जैनानां भवनभङ्गस्थित्यात्मकमेवेति दर्शयन्नाह—

को वा निच्चग्गाहो, सव्वं चिय वि भवभंगट्ठिइमइयं ।
पज्जायंतरमित्त-प्पणादनिच्चाइववएसो ॥ १८४३ ॥

गतार्था । नवरं पर्यायान्तरमात्रस्यार्पणं-प्रधानभावेन विवक्षणं तस्मादनित्याऽऽदिव्यपदेशस्तथाहि-घटः पूर्वेण मृत्पिण्डपर्यायेण विनश्यति, घटपर्यायतया पुनरुत्पद्यते, मृद्रूपतया त्ववतिष्ठते । ततश्च यो विनष्टरूपताऽऽदिपर्यायो यदाऽर्पितः प्रधानभूतो विवक्ष्यते, तदा तेनानित्यत्वाऽऽदिव्यपदेशः । एवमसावपि मुक्तः संसारितया विनष्टः, सिद्धतयोत्पन्नो जीवत्वसोपयोगत्वाऽऽदिभिस्त्ववतिष्ठते, तथा—प्रथमसमयसिद्धतया विनश्यति, द्विसमयसिद्धतयोत्पद्यते, द्रव्यत्वजीवत्वाऽऽदिभिस्त्ववतिष्ठते । ततोऽर्पितपर्यायेणानित्यत्वाऽऽदिव्यपदेश इति ॥ १८४३ ॥

मुक्तस्यावस्थानक्षेत्रनिरूपणार्थमाह—

मुत्तस्स कोऽवगासो, सोम्म ! तिलोगसिहरं गई किह से ।
कम्मलहुया तहागइ परिणामाईहि भणियमिदं ॥१८४४॥

मुक्तस्य-क्षीणसमस्तकर्मणो जीवस्य कोऽवकाशः—क्वावस्थानमिति पृष्टे सत्याह-सौम्य ! त्रिलोकशिखरं लोकान्त इत्यर्थः । ननु कथम् ( से ) तस्याऽकर्मणो जीवस्यैतावद् दूरमितो गतिः प्रवर्तते ? । कर्मनिबन्धना हि जीवानां सर्वाऽपि चेष्टा, ततो विहायोगत्यादिकर्माभावेऽपि गतिचेष्टायामतिप्रसङ्गः प्राप्नोति । अत्रोच्यते-( कम्मलहुय त्ति ) कर्मापगमे सति लाघवात् समयमेकं तद्गतिप्रवृत्तिरित्यर्थः, तथागतिपरिणामात्कर्मक्षये सिद्धत्ववदपूर्वगतिपरिणामलाभादित्यर्थः, यथा हि—समस्तकर्मक्षयादपूर्वं सिद्धत्वपरिणामं जीवः समासादयति तथोर्ध्वगतिपरिणाममपीति भावः । आदिशब्दादपरमपि तद्गतिकारणं समयभणितमिदमवगन्तव्यम् । तद्यथा—"लाउय एरंडफले, अग्गी धूमो य इसु धणुविमुक्को । गइ पुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गई उ ॥ १ ॥" ॥ १८४४ ॥

अथान्यत् प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरति—

किं सकिरियमरूवं, मंडिय ! भुवि चेयणं च किमरूवं ।
जह से विसेसधम्मो, चेयन्नं तह मया किरिया ॥ १८४५ ॥

आह—नन्वाकाशकालाऽऽदयोऽमूर्ता निष्क्रिया एव प्रसिद्धास्ततः किं नाम त्वया रूपममूर्तं सद्वस्तु सक्रियं दृष्टं, येन मुक्ताऽऽत्मनः सक्रियत्वमभ्युपगम्यते ?, ननु निष्क्रिय एव मुक्ताऽऽत्मा प्राप्नोति, अमूर्तत्वादाकाशवदिति भावः । अत्रोच्यते-मण्डिक ! त्वमप्येतत्कथय-भुवि किमरूपं सद्वस्तु चेतनं वीक्षितं, येन मुक्तात्मा चेतनोऽभ्युपगम्यते ?-अमूर्तत्वाद् चेतन एवायं प्राप्नोति, आकाशवदिति । तस्माद्यथा (से) तस्य जीवस्य अरूपेभ्य आकाशाऽऽदिभ्यस्तद्रूपत्वे समानेऽन्योऽपि चैतन्यलक्षणो विशेषधर्मः समस्ति, तथा क्रियाऽपि मता, सक्रियत्वमपि विशेषधर्मोऽस्तु को विरोध इति भावः ? ॥ १८४५ ॥

यदोक्तम्-निष्क्रियो मुक्ताऽऽत्मा, अमूर्त्तत्वात्तदनैकान्तिकमेव, प्रतिबन्धाभावादित्याह । अथवा-मुक्ताऽमुक्तविशेषमपहाय सामान्येनाऽऽत्मनः सक्रियत्वं साधयन्नाह—

**कत्ताइत्तणओ वा, सकिरिओऽयं मओ कुलालो व्व ।**
**देहप्फंदणओ वा, पच्चक्खं जंतपुरिसो व्व ॥१८४६॥**

अथवा—सक्रियोऽयमात्मा, कर्तृत्वात्कुलालवदादिशब्दात् भोक्तृत्वादित्यादि वाच्यम् । अथवा-सक्रिय आत्मा, प्रत्यक्षत एव देहपरिस्पन्ददर्शनाद्यन्त्रपुरुषवदिति ॥ १८४६ ॥

पराऽऽशङ्कां प्रतिविधानं चाऽऽह—

**देहप्फंदणहेऊ, होज पयत्तो त्ति सो वि नाकिरिए ।**
**होज्जादिट्ठो व मई, तदरूवत्ते ननु समाणं ॥१८४७॥**
**रूवित्तम्मि स देहो, वच्चो तप्फंदणे पुणो हेऊ ।**
**पइनिययपरिप्फंदण-मचेयणाणं न वि य जुत्तं॥१८४८॥**

अथैवं ब्रूषे-देहपरिस्पन्दहेतुरात्मनः प्रयत्नो न तु क्रिया, अतो नाऽऽत्मनः सक्रियत्वसिद्धिरित्यभिप्रायः । अत्रोत्तरमाह- सोऽपि प्रयत्नो नभसीवाऽक्रिय आत्मनि न संभवत्यतः सक्रिय एवाऽसौ । अमूर्त्तस्य च प्रयत्नस्य देहपरिस्पन्दहेतुत्वे कोऽन्यो हेतुरिति वाच्यम् ? । अन्यहेतुनिरपेक्षः स्वत एवायं परिस्पन्दहेतुरिति चेत्, यद्येवम्, आत्माऽपि तद्धेतुर्भविष्यति, कमन्तर्गडुना प्रयत्नेन? । अथादृष्टः कोऽपि देहपरिस्पन्दहेतुः,न त्वात्मा, निष्क्रियत्वात् । ननु सोऽप्यदृष्टः किं मूर्त्तोऽमूर्त्तो वा ? । यद्यमूर्त्तस्तर्ह्यात्माऽपि देहपरिस्पन्दहेतुः किं नेष्यते,अमूर्त्तत्वाविशेषात्? ।अथ मूर्त्तिमानदृष्टः,तर्हि स कार्म्मणशरीरलक्षणो देह एव, नान्यः संभवति । तस्यापि च बहिर्दृश्यदेहपरिस्पन्दहेतुतया व्याप्रियमाणस्य परिस्पन्दो द्रष्टव्यः,तस्य चान्यो हेतुर्वाच्यस्तस्याप्यन्यस्तस्याऽपि चान्य इत्यनवस्था। अथ स्वभावादेवाऽदृष्टस्य कार्म्मणदेहस्य परिस्पन्दः प्रवर्त्तते,तर्हि बहिर्दृश्यस्याऽपि देहस्य तत एव तत्प्रवृत्तिर्भविष्यति,किमदृष्टकार्मणदेहपरिकल्पनेन ?। अस्त्वेवमिति चेत्, तदयुक्तम्, अचेतनानामेवभूतप्रतिनियतविशिष्टपरिस्पन्दनस्य स्वभाविकत्वानुपपत्तेः, " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् । " इत्यादिदोषप्रसंगात्तस्मात्कर्म्मविशिष्ट आत्मैव प्रतिनियतदेहपरिस्पन्दनहेतुत्वेन व्याप्रियत इति सक्रियोऽसाविति ॥ १८४७ ॥ १८४८ ॥

भवतु तर्हि भवस्थस्य सकर्म्मणो जीवस्य क्रिया, मुक्तस्य तु कथमसावित्याशङ्क्य परिहरन्नाह—

**होउ किरिया भवत्थ-स्स कम्मरहितस्स किं निमित्ता सा?।**
**ननु तग्गइपरिणामा, जह सिद्धत्तं तहा सा वि ॥१८४९॥**

पूर्वार्द्धेनाक्षेपः, पश्चार्द्धेन तु परिहारः , प्राग् व्याख्याता र्थ एवेति ॥ १८४९ ॥

अपरस्त्वाह—

**किं सिद्धालयपरओ, न गई धम्मत्थिकायविरहाओ ।**
**सो गइउवग्गहकरो, लोगम्मि जमत्थि नालोए ॥१८५०॥**

यद्युक्तन्यायेन मुक्तस्य गतिक्रियया सक्रियत्वमिष्यते , तर्हि सिद्धाऽऽलयात्-सिद्धावस्थितिक्षेत्रात् परतोऽलोकेऽपि किमिति तस्य गतिर्न प्रवर्तते ?। अत्रोच्यते-परतो धर्मास्तिकायविरहात् । तद्विरहोऽपि कुतः ?, इत्याह—यद्यस्माद् सौधर्मास्तिकायो लोक एव समस्ति, नालोके । मा भूद् सोऽलोके, किं तेन प्रस्तुतानुपयोगिना कर्त्तव्यं, तद्विरहेऽपि भवतु मुक्तस्य तत्र गतिः, नियमाभावात् ? । तदयुक्तं, यतो जीवानां पुद्गलानां च गतेर्गमनस्योपग्रहं उपष्टम्भस्तत्कारी स एव धर्मास्तिकायो मान्यस्ततस्तस्याऽलोकेऽभावात्कथं लोकात्परतोऽलोकेऽपि मुक्ताऽऽत्मनां गतिः प्रवर्तते ?, इति ॥ १८५० ॥

कथं पुनरेतदवसीयते यदुत-लोकादन्योऽप्यलोकपदार्थः कश्चिदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

**लोगस्स त्थि विवक्खो, सुद्धत्तणओ घडस्स अघडो व्व ।**
**सघडाइ च्चिय मई, न निसेहाओ तदणुरूवो ॥१८५१॥**

अस्ति लोकस्य विपक्षो, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वादिह यद् व्युत्पत्तिमत्ता शुद्धपदेनाभिधीयते तस्य विपक्षो दृष्टो यथा घटस्याघटः, यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः । अथ स्यान्मतिर्न लोकोऽलोक इति यो लोकस्य विपक्षः स घटाऽऽदिपदार्थानामन्यतम एव भविष्यति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया ? । तदेतन्न, पर्युदासनञा निषेधान्निषेध्यस्यैवानुरूपोऽत्र विपक्षोऽन्वेषणीयः, न लोकोऽलोक इत्यत्र च लोको निषेध्यः, स चाऽऽकाशविशेषः, अतोऽलोकेनाऽपि तदनुरूपेण भवितव्यं, यथेहाऽपण्डित इत्युक्ते विशिष्टज्ञानविकलश्चेतन एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाऽचेतनो घटाऽऽदिः,एवमिहापि लोकानुरूप एवालोको मन्तव्यः । उक्तं च-" नञ्युक्तमिवयुक्तं वा, यद्धि कार्यं विधीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिँ-ल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा ॥१॥ " " नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः । " तस्माल्लोकविपक्षत्वाद्-स्त्यलोक इति ॥ १८५१ ॥

अथालोकास्तित्वादेव धर्म्माधर्म्मास्तिकायौ साधयन्नाह-

**तम्हा धम्माऽधम्मा,लोयपरिच्छेयकारिणो जुत्ता ।**
**इहरागासे तुल्ले, लोगोऽलोगो त्ति को भेओ ?॥१८५२॥**
**लोगविभागाऽभावे, पडिघायाभावओऽणवत्थाओ ।**
**संववहाराभावो, संबंधाभावओ होज्जा ॥ १८५३ ॥**

यस्मादुक्तप्रकारेणास्त्यलोकः, तस्माल्लोकास्तित्वादेवावश्यं लोकपरिच्छेदकारिभ्यां धर्म्माधर्म्मास्तिकायाभ्यां भवितव्यम्, अन्यथाऽऽकाशे सामान्ये सत्ययं लोकोऽयं चालोक इति कुतोऽयं विशेषः स्यात् ? । तस्माद् यत्र क्षेत्रे धर्म्माधर्म्मास्तिकायौ वर्तेते, तल्लोकः, शेषं त्वलोक इति लोकाऽलोकव्यवस्थाकारिणौ धर्म्माऽधर्म्मास्तिकायौ विद्येते इति । (लोगेत्यादि ) यदि हि धर्म्माधर्म्माभ्यां लोकाविभागो न स्यात्ततो लोकविभागाभावेऽविशिष्ट एव सर्वस्मिन्नप्याकाशे गतिपरिणतानां पुद्गलानां च प्रतिघाताभावेन तद्गत्यवस्थानाभावादलोकेऽपि गमनात्तस्य चानन्तत्वाचेषां परस्पर संबन्धो न स्यात् । ततश्च औदारिकाऽऽदिकार्म्मणवर्गणापर्यन्तपुद्गलकृतो जीवानां बन्धमोक्षसुखदुःखसंभवसंसरणाऽऽदिव्यवहारो न स्याज्जीवस्य च जीवेन सहान्योऽन्यमीलनाभावात् तत्कृताऽनुग्रहोपघाताऽदिव्यवहारो न स्यादिति ॥ १८५२ ॥ १८५३ ॥

ततः किमित्याह—

निरणुग्गहत्तणाओ, न गई परओ जलादिव झसस्स ।
जो गमणाणुग्गहिया, सो धम्मो लोगपरिमाणो ॥१८५४॥

ततो लोकात्परतोऽलोके जीवपुद्गलाना न गति, निरनुग्रहत्वात्, तत्र गत्यनुग्रहकर्तुरभावादित्यर्थः । यथा जलात्परतो झपस्य मत्स्यस्य गतिर्न भवत्युपग्राहकाभावादिति । यश्चात्र जीवपुद्गलगतेरनुग्रहकर्त्ता स लोकपरिमाणो धर्मास्तिकाय इति ॥ १८५४ ॥

तत्र प्रयोगमाह—

अत्थि परिमाणकारी, लोगस्स पमेयभावओऽवस्सं ।
नाणं पि व नेयस्सा-लोगत्थित्ते न सोऽवस्सं ॥१८५५॥

अस्ति लोकस्य परिमाणकारि, प्रमेयत्वात्, ज्ञानमिव ज्ञेयस्य । अथवा-जीवाः पुद्गलाश्च लोकोऽभिधीयते, ततोऽस्ति तत्परिमाणकारी, प्रमेयत्वाद्यथा—शाल्यादीना प्रस्थः, यश्चेह परिमाता स धर्मास्तिकाय., स चावश्यमलोकस्यास्तित्व एव युज्यते, नान्यथा, आकाशस्य सर्वत्राऽविशिष्टत्वात्तस्माल्लोकाग्रे सिद्धस्यावस्थानमिति प्रस्तुतम् ॥ १८५५ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाऽऽक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह—

पयणं पसत्तमेत्रं,थाणाओ तं च नो जओ छट्ठी ।
इह कत्तिलक्खणेयं, कत्तुरणत्थंतरं थाणं ॥ १८५६ ॥

ननु स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानमित्यधिकरणसाधनोऽयं शब्दस्ततश्च सिद्धस्य स्थानं सिद्धस्थानमिति समासस्ततश्चैवं सति सिद्धस्य पतनं प्रसक्तं, स्थानात्पर्वतपादपाऽऽद्यग्रस्थितदेवदत्तस्येव,फलस्येव वा । यस्य किल क्वाऽपि पर्वताद्यवस्थान,तस्य कदाचित् कस्याऽपि पतनमपि दृश्यते, अतः सिद्धस्याऽपि तत्कदाचित्प्राप्नोतीति भावः । तच्च न, यतः सिद्धस्य स्थानमितीयं कर्त्तरि षष्ठी । ततश्च सिद्धस्य स्थानमिति कोऽर्थः?-सिद्धः तिष्ठति, न तु तदर्थान्तरभूत स्थानमस्तीति ॥ १८५६ ॥

अथवा—

नहनिच्चत्तणओ वा, थाणविणासपयणं न जुत्तं से ।
तह कम्माभावाओ,पुणक्कियाभावओ वा वि ॥१८५७॥

अर्थान्तरत्वेऽपि स्थानस्य न पतनं सिद्धस्य यतोऽर्थान्तरं स्थानं नभ एव, तस्य च नित्यत्वाद्विनाशो न युक्तस्तदभावे च कुतः पतनं मुक्तस्य ? । कर्म चाऽऽत्मनः पतनाऽऽदिक्रियाकारणं, मुक्तस्य च कर्माभावात् कुतः पतनक्रिया ? । या च समयमेकमस्याप्यूर्द्धं गतिक्रिया, तस्याः कारणम्- " लाउयएरंडफले " इत्यादिना दर्शितमेव । पुनः क्रिया च मुक्तस्य नास्ति, कारणाभावान्निजप्रयत्नप्रेरणाऽऽकर्षणविकर्षणगुरुत्वाऽऽदयो हि पतनकारणम्, तत्सम्भवश्च मुक्तस्य नास्ति, हेतोरभावादिति कुतोऽस्य पतनमिति ? ॥ १८५७ ॥

किं च,स्थानात् पतनमित्यनैकान्तिकमेवेति दर्शयति—

निच्चत्थाणाओ वा, वोमाईणं पडणं पसज्जेज्जा ।
अह न मयमणेगंतो,थाणाओऽवस्सपडणं ति ॥१८५८॥

ननु च स्थानात्पतनमिति स्ववचनविरुद्धमिदम्, अस्थानादेव पतनस्य युज्यमानत्वात् । अथ स्थानादपि पतनमिष्यते, तर्हि नित्यमेव स्थानाद् व्योमाऽऽदीनां पतनं प्रसज्येत । अथ न तत्तेषां मतं, तर्हि स्थानात्पतनमित्यनैकान्तिकमेवेति ॥ १८५८ ॥

अथान्येन प्रकारेण प्रेर्यमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

भवओ सिद्धो त्ति मई, तेणाइमसिद्धसंभवो जुत्तो ।
कालाणाइत्तणओ, पढमसरीरं व तदजुत्तं ॥ १८५९ ॥

अथ स्यान्मतिः परस्य-यतो भवात्संसारात्सर्वोऽपि मुक्ताऽऽत्मा सिद्धस्तेन ततः सर्वेषामपि सिद्धानामादिमत्वादवश्यमेव केनाप्यादिसिद्धेन भवितव्यम् । तदयुक्तम् । यतो यथा सर्वाण्यपि शरीराण्यहोरात्राणि च सर्वाण्यादियुक्तान्येव, अथ च कालस्याऽनादित्वाद् नाद्यशरीरम्, आद्याऽहोरात्रं वा किमपि ज्ञायते, तथा कालस्यानादित्वात्सिद्धोऽपि नाद्यः प्रतीयत इति ॥ १८५९ ॥

अथान्यदपि प्रेर्यं परिहारं चाऽऽह—

परिमियदेसेऽणंता, किह माया मुत्तिविरहियत्ताओ ।
निययम्मि व नाणाई, दिट्ठीओ वेगरूवम्मि ॥ १८६० ॥

आह-परिमितदेशमेव सिद्धिक्षेत्रं, तत्र कथमनादिकालवर्तिनोऽनन्ताः सिद्धा मान्ति ? । अत्रोत्तरमाह-अमूर्तत्वात्सिद्धाः परिमितेऽपि क्षेत्रेऽनन्तास्तिष्ठन्ति, यथा प्रतिद्रव्यमेव अनन्तानि सिद्धानां सम्बन्धीनि केवलज्ञानकेवलदर्शनानि सम्पतन्ति, दृष्टयो वा यथैकस्यामपि नर्त्तक्या सहस्रशः प्रपतन्ति, परिमितेऽपि वाऽपवरकाऽऽदिक्षेत्रे बह्वयोऽपि प्रदीपप्रभा मान्ति, एवमिहाऽमूर्त्ताः सिद्धाः कथं परिमितक्षेत्रेऽनन्ता न मास्यन्ति, मूर्त्तानामपि प्रदीपप्रभाऽऽदीना बहूनामेकत्रावस्थानं दृश्यते, किमुताऽमूर्त्तानामिति भावः ॥ ॥ १८६० ॥

तदेवं युक्तिभिः सप्रसङ्गौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थाप्य वेदवाक्यद्वारेणाऽपि तद्व्यवस्थामाह—

न हवइ ससरीरस्स, प्पियाऽप्पियावहतिरेवमाईणं ।
वेयपयाणं च तुमं, न सदत्थं मुणसि तो संका ॥१८६१॥
तुह बंधे मोक्खम्मि य, सा य न कज्जा जओ फुडो चेव ।
ससरीरेयरभावो, नणु जो सो बंध मोक्खे त्ति ॥ १८६२ ॥

व्याख्या—" न हि वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा वसन्त प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः ।" इत्यादीनां च वेदपदाना सदर्थं त्वं (न मुणसि) न जानासि, ततो बन्धे मोक्षे च तव सौम्य ! शङ्का, सा च न कार्या, यतो ननु यः सशरीरेतरभावः स स्फुट एव बन्धो मोक्षश्चेति कथं शङ्का युज्यते ? । एतदुक्तं भवति-सशरीरस्येत्यनेन बाह्याऽऽध्यामिकानादिशरीरसन्तानस्वरूपो बन्धः प्रोक्तः, तथा अशरीर वा वसन्तमित्यनेन त्वशेषशरीरापगमस्वभावो मोक्ष प्रतिपादित । "तथा स एव विगुणो विभुर्न बध्यते " इत्यादीन्यपि पदानि संसारिजीवस्य बन्धमोक्षाभावप्रतिपादकानि त्वं मन्यसे । तच्चायुक्तम् । मुक्तजीवविषयत्वात्तेषाम् । मुक्तस्य च बन्धाऽऽद्यभावेऽविप्रतिपत्तिरेवेति । तदेवं भगवता छिन्नस्तस्य संशय ॥ १८६१ ॥ १८६२ ॥

ततः किमित्याह—

छिन्नम्मि संसयम्मी, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।

सो संमणो पव्वइओ, अद्धुट्ठिहि सह खंडियसएहिं ॥ १८६३ ॥

अस्याप्यपूर्ववत्, नवरम् अर्द्धचतुर्थैः शिष्यशतैः सह प्रव्रजितोऽयमिति ॥ १८६३ ॥ विशे० । आ० म० । कर्म० । तत्र मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरं निचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीरनीरवद्वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योन्यानुगमभेदाऽऽत्मकः सम्बन्धो बन्धः । कर्म० ५ कर्म० । पं०सं० । साङ्ख्यं प्रति बन्धसिद्धिः-नानाऽऽश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ, संसारश्च, न पुरुषस्येति, तदप्यसारम्, अनादिभवपरम्पराऽनुबद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेकाऽग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भाव स एव चेन्न बन्धस्तदा को नामाऽन्यो बन्धः स्यात् ? । प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तमिति च प्रतिपद्यमानेनाऽऽयुष्मता संज्ञाऽन्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं, तस्य चैवंस्वरूपत्वादचेतनत्वाच्च । यत्तु प्राकृतिकवैकृतिकदाक्षिणभेदात्त्रिविधो बन्धः । तद्यथा-प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः । इष्टाऽऽपूर्ते दाक्षिण. । पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते इति "इष्टाऽऽपूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१॥" इतिवचनात् । स त्रिविधोऽपि कल्पनामात्रं कथञ्चिन्मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगेभ्योऽभिन्नस्वरूपत्वेन कर्मबन्धहेतुष्वेवान्तर्भावात् । बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्बाधः संसार । बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकारणत्वाद्य एव बद्धः स एव मुच्यते इति । स्या० १५ श्लो० ।

**बंधमोक्खोववत्ति**–बन्धमोक्षोपपत्ति–स्त्री० । मिथ्यात्वाऽऽदिहेतुभ्यो जीवस्य कर्मपुद्गलाना च वह्न्यय पिण्डयोरिव वा परस्परमविभागपरिणामेनावस्थानरूपस्य बन्धस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्य कर्मणामत्यन्तोच्छेदलक्षणस्य मोक्षस्य घटनायाम्, ध० १ अधि० ।

**बंधव**–बान्धव–पुं० । मातृपित्रादिषु, उत्त० १८ अ० । सूत्र० । स्वज्ञातिषु भ्रातृपितृव्येषु, "पुत्तदार च बंधवा ।" उत्त० १८ अ० । आचा० । निकटवर्तिषु स्वजनेषु, उत्त० १३ अ० ।

**बंधविहा**–बन्धविधा–स्त्री० । विधानानि विधा–भेदाः, बन्धस्य विधा बन्धविधाः । बन्धस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपेषु, प्रकारेषु कर्म० ५ कर्म० । वृ० ।

**बंधविहि**–बन्धविधि–पुं० । बन्धस्य विधिर्बन्धविधिः । बन्धप्रकारे, पं०सं० १ द्वार ।

**बंधसामित्त**–बन्धस्वामित्व–न० । बन्धकत्वे, (कर्मणां बन्धकत्वम् 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे उक्तम्) ('बन्ध' शब्दे च गत्यादिद्वाराण्यभित्य सूत्राणि प्रदर्शितानि । इह तु सङ्गृह्य प्रदर्श्यते) मार्गणास्थानेषु बन्ध–"सम्यग् बन्धस्वामित्व-देशक वर्द्धमानमानस्य । बन्धस्वामित्वस्य, व्याख्येयं लिख्यते किंचित् ॥ १ ॥" इह स्वपरोपकाराय यथार्थाभिधानं बन्धस्वामित्वप्रकरणमारिप्सुराचार्यो मङ्गलाऽऽदिप्रतिपाऽऽदिकां गाथामाह—

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइआईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥

इह प्रथमार्द्धेन मङ्गलं द्वितीयार्द्धेनाभिधेयं साक्षादुक्तं, प्रयोजनसंबन्धौ तु सामर्थ्यगम्यौ । तत्र बन्धः कर्मपरमाणूनां जीवप्रदेशैः सह संबन्धस्तस्य विधान मिथ्यात्वाऽऽदिभिर्बन्धहेतुभिर्निर्वर्त्तनं बन्धविधानं तेन विमुक्तः स तथा तं बन्धविधानविमुक्तं वन्दित्वा श्रीवर्द्धमानजिनचन्द्रम् । वक्ष्येऽभिधास्ये समासतः-संक्षेपतो न विस्तरेण । किमित्याह—बन्धस्वामित्वं बन्धः कर्माऽणूनां जीवप्रदेशैः सह संबन्धस्तस्य स्वामित्वमाधिपत्यं जीवानामिति गम्यते । केषु ?, (गईयाईसुं ति) गतिरादिर्येषां तानि गत्यादीनि, आदिशब्दादिन्द्रियाऽऽदिपरिग्रहः । तेषु गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु । कर्म० ३ कर्म० । (तानि 'मग्गणाठाण' शब्दे वक्ष्यामि) तत्र बन्धं च प्रतीत्य विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतमधिक्रियते । तथाहि-ज्ञानाऽऽवरणे उत्तरप्रकृतयः पञ्च, दर्शनाऽऽवरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहे सम्यक्त्वमिश्रवर्जा षड्विंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि भेदान्तरसम्भवेऽपि सप्तषष्टिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वमीलने विंशत्युत्तरशतमित्येतच्च प्राक् सविस्तरं कर्मविपाके भावितमेव ।

सम्प्रति विंशत्युत्तरशतमध्यगतानामेव वक्ष्यमाणार्थोपयोगित्वेन प्रथमं कियतीनामपि प्रकृतीनां संग्रहं पृथक्करोति—

जिण सुरविउ वाहारदु, देवाउय नरयसुहुमविगलतिगं ।
एगिंदि थावरायव, नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥ २ ॥
अण मज्झागिइसंघयण, कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं ।
उज्जोय तिरियदुगं, तिरिनराउ नरउरलदुगरिसहं ॥ ३ ॥ (युग्मम्)

जिननाम १ सुरद्विकं-सुरगतिसुरानुपूर्वीरूप २. वैक्रियद्विकं-वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् ५ । आहारकद्विकमाहारकशरीरं तदङ्गोपाङ्गं च ७ । देवाऽऽयुष्कं च ८ । नरकत्रिकं नरकगतिनारकानपूर्वीनरकाऽऽयुष्करूपं ११, सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणम् १४, विकलत्रिकं द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः १७ । एकेन्द्रियजातिः १८, स्थावरनाम १९, आतपनाम २०, नपुंसकवेदः २१, मिथ्यात्वं २२ हुण्डसंस्थान २३ सेवार्त्तसंहननम् २४ (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः २८ मध्याऽऽकृतयो मध्यमसंस्थानानि न्यग्रोधमण्डलं सादि वामनं कुब्जं चेति ३२ मध्यमसंहननानि ऋषभनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका चेति ३६ (कुखग त्ति) अशुभविहायोगतिः ३७ नीचैर्गोत्रं, स्त्रीवेदः ३९ दुर्भगत्रिकं-दुर्भगदुःस्वराऽनादेयरूपं ४२ स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम् ४५ उद्योतनाम ४६ तिर्यग्द्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम् ४८ तिर्यगाऽऽयु. ४९ नराऽऽयु. ५० नरद्विकं-नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणम् ५२ औदारिकद्विकमौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम च ५४ वज्रऋषभनाराचसंहननम् ५५ । इति पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतिसङ्ग्रहः ।

अथैतस्य प्रकृतिसंग्रहस्य यथास्थानमुपयोगं दर्शयन्मार्गणास्थानानां प्रथमं गतिमार्गणास्थानमाश्रित्य बन्धः प्रतिपाद्यते—

सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।

तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपुचउ विणा छनुई ॥४॥

"जिण सुरविउ वाहारदुगेत्यादि" गाथोक्ताः क्रमेण सुरद्विका-ऽऽद्येकोनविंशतिप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषमेकोत्तरशतमोघेन नारका बध्नन्ति । अयमत्राभिप्रायः—एता एकोनविंशतिप्रकृतीर्बन्धाधिकृतकर्मप्रकृतिविंशत्युत्तरशतमध्यान्मुक्त्वा शेषस्यैकोत्तरशतस्य नरकगतौ नानाजीवापेक्षया सामान्यतो बन्धः । सुरद्विकाऽऽद्येकोनविंशतिप्रकृतीनां तु भवप्रत्ययादेव नारकाणामबन्धकत्वात् । सामान्येन नरकगतौ बन्धमभिधाय सम्प्रति तस्यामेव मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयविशिष्टं तं दर्शयति—"तित्थ विणेत्यादि" प्रागुक्तमेकोत्तरशतं तीर्थकरनाम विना मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके शतं भवति । एतच्च शतं नपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसंस्थानसेवार्त्तसंहननप्रकृतिचतुष्कं विना सासादनगुणस्थानके षण्णवतिर्नारकाणां बन्धे ॥ ४ ॥

विणु अणछवीस मीसे, बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउजुया।

इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥ ५ ॥

प्रागुक्ता षण्णवतिरनन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतीर्विना मिश्रगुणस्थाने सप्ततिः । सैव जिननामनराऽऽयुर्युता सम्यग्दृष्टिगुणस्थानके द्विसप्ततिः । इत्येवं बन्धमाश्रित्य भङ्गो, रत्नाऽऽदिषु रत्नप्रभाशर्कराप्रभावालुकाप्रभाभिधानप्रथमनरकपृथिवीत्रये द्रष्टव्यः । पङ्कप्रभाऽऽदिषु पुनरेष एव भङ्गस्तीर्थकरनामहीनो विज्ञेयः । अयमर्थः-पङ्कप्रभाधूमप्रभातमःप्रभासु सम्यक्त्वसद्भावेऽपि क्षेत्रमाहात्म्येन तथाविधाऽध्यवसायाऽभावात्तीर्थकरनामबन्धो नारकाणां नास्तीति । ततस्तत्र सामान्येन शतं, मिथ्यादृशां च शतं, सासादनानां षण्णवतिः, मिश्राणां सप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्ततिः । इह सामान्यपदेऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने च रत्नप्रभाऽऽदिभङ्गस्तीर्थकरनाम्ना हीन उक्तो, मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रेषु त्रिषु गुणस्थानकेषु पुनस्तस्य प्रागेवाऽपनीतत्वात्तदवस्थ एव ॥ ५ ॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्चविणु मिच्छे ।

एगनवइ सासाणे, तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाऽऽदिनरकत्रयसामान्यबन्धाधिकृतैकोत्तरशतमध्यात् जिननाममनुजायुऽऽषी मुक्त्वा शेषा नवनवतिरोघबन्धे सप्तमपृथिव्या नारकाणां भवति । सैव नवनवतिर्नरगतिनराऽऽनुपूर्वीरूपनरद्विकोच्चैर्गोत्रैर्विना षण्णवतिर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने भवति । सैव षण्णवतिस्तिर्यगायुर्नपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसंस्थानसेवार्त्तसंहननवर्जिता एकनवतिः सासादने सप्तम्यां नारकाणाम् ॥ ६ ॥

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।

सतर सओ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

प्रागुक्तैकनवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतिभिर्विरहिता नरद्विकोच्चैर्गोत्राभ्यां च सहिता सप्ततिर्भवति । सा च (मीसदुगे त्ति) मिश्राऽविरतगुणस्थानद्वये द्रष्टव्या । इह सप्तम्यां नराऽऽयुस्तावन्न बध्यते एव, तद्बन्धाभावेऽपि च मिश्रगुणस्थानकेऽविरतगुणस्थानके च नरद्विकं बध्यते । अयमर्थो—नरद्विकस्य नराऽऽयुषः सह नाऽवश्यं प्रतिबन्धो, यतः—यदैवाऽऽयुर्बध्यते तदैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि बध्यते इत्यत्रापि नियमाभावात् । मिथ्यात्वसासादनयोस्तु तदनुगतकषायोदयेन, नरद्विकं न बध्यते । एवं नरकगतौ बन्धस्वामित्वं प्रतिपाद्याऽथ तिर्यग्गतौ तदाह-"सतर सओ" इत्यादि जिननाम आहारकद्विकं च विना शेषं सप्तदशोत्तरशतमोघे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने च पर्याप्ततिर्यञ्चो बध्नन्ति । अयमेव तिरश्चां सत्यपि सम्यक्त्वे भवप्रत्ययादेव तथाविधाध्यवसायाऽभावात्तीर्थकरनाम्नः संपूर्णसंयमाभावादाहारकद्विकस्य च बन्धो नास्तीति हृदयम् ॥ ७ ॥

विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अण एगतीस विणु मीसे ।

ससुराउ सयरि सम्मे, बीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

प्रागुक्तं सप्तदशोत्तरशतं नरकत्रिकाऽऽदिषोडशप्रकृतीर्विना एकोत्तरशतं सासादने पर्याप्ततिरश्चाम् । एतदेवैकोत्तरशतं सुराऽऽयुरनन्तानुबन्ध्याऽऽद्येकत्रिंशत्प्रकृतीश्च विना एकोनसप्ततिः, सा मिश्रगुणस्थाने बध्यते । अयं भावार्थः-"सम्मामिच्छद्दिट्ठी,आउबंधं पि न करेइ।" इति वचनात् सुरनराऽऽयुषोरबन्धः, अनन्तानुबन्ध्यादयश्च पञ्चविंशतिप्रकृतयः सासादनं एव व्यवच्छिद्यन्ते, तथा-मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च मिश्रगुणस्थानकस्था अविरतसम्यग्दृष्टयश्च देवाऽऽयुरेव बध्नन्ति । तेन नरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानामपि बन्धाभावः । एवैव एकोनसप्ततिः सुराऽऽयुषा सहिता सप्ततिः सम्यक्त्वेऽविरतगुणस्थानके भवति । सा सप्ततिर्द्वितीयकषायैरप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभैर्विना षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने बध्यते ॥ ८ ॥

अथ तिर्यग्गतिबन्धाधिकार एव ग्रन्थलाघवार्थं मनुष्यगतावपि बन्धं दर्शयन्ति—

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई ।

जिणएक्कारसहीणं, नवसउ अपज्जत्ततिरियनरा ॥ ९ ॥

यथा पर्याप्ततिरश्चां चतुर्षु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतिगुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशताऽऽदिको बन्ध उक्त इत्येवं पर्याप्तनरा अपि चतुर्षु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतिगुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशताऽऽदिबन्धस्वामिनो मन्तव्याः । परमयता अविरतसम्यग्दृष्टयः पर्याप्तनराः । (सजिण त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिपर्याप्ततिर्यग्बन्धयोग्यसप्ततिर्जिननामसहिता एकसप्ततिस्तां बध्नन्ति, जिननामकर्मणोऽपि बन्धकत्वात्तेषाम् । (ओहु देसाइ त्ति) देशविरताऽऽदिगुणस्थानकेषु गुणस्थानकानाश्रित्य च पर्याप्तनराणां पुनरोघः सामान्यो बन्धोऽवसेयः । स च कर्मस्तवोक्त एव, यतः कर्मस्तवग्रन्थे सामान्यतो गुणस्थानकेषु बन्धः प्रतिपादितो, न पुनः किञ्चन गत्यादिमार्गणास्थानमाश्रित्य । स चात्र बहुषु स्थानेषूपयोगीति मूलतोऽपि दर्श्यते—

" अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं ।

तित्थयराहारगदुग-वज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥ १ ॥

नरयतिगजाइथावर—चउहुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।

सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥२॥

अण मज्झागिइसंघयण चउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति ।

पणवीसंता मीसे, चउसयरि दुआउय अबंधा ॥ ३ ॥

सम्मे सगसयरि जिण-ाउबंधि वइरनरतिगबियकसाया।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तियकसायंतो ॥ ४ ॥
तेवट्ठि पमत्ते सो-गअरइअथिर दुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ५ ॥
गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउ बंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारदुगं बंधे ॥ ६ ॥
अडवन्न अपुव्वाइमि, निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे।

सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तस नव उरल विणु तणुवंगा ॥७॥
समचउर निमिणजिण, वन्नअगुरुलहुचउछलंसि तीसंतो।
चरिमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥ ८ ॥
अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो।
पुम संजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥ ९ ॥
चउदंसणु च्च जस ना-णविग्घदसगं ति सोलस च्छेओ।
तिसु सायबंध छेओ, सजोगि बंधंतुणंतो य ॥ १० ॥"

इत्येतासां दशानामपि गाथानां व्याख्यानं कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्यम्। इत्योघबन्धः। इह कर्मस्तवोक्तगुणस्थानकबन्धान्नरतिरश्चां मिश्राऽविरतगुणस्थानकयोरयं विशेषः-कर्मस्तवे मिश्रगुणस्थानके चतुःसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सप्तसप्ततिः। तिरश्चां पुनर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननरूपप्रकृतिपञ्चकस्य बन्धाभावान्मिश्रगुणस्थानके एकोनसप्ततिः,अविरतसम्यग्दृष्टौ सुराऽऽयुःक्षेपे सप्ततिः। नराणां तु मिश्रे एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ तीर्थकरनामक्षेपे एकसप्ततिः। अस्यां च एकसप्ततौ यदि मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननप्रकृतिपञ्चकं नराऽऽयुष्कं च क्षिप्यते तदा कर्मस्तवोक्ता सप्तसप्ततिर्भवत्यविरतगुणस्थानके। तथा कर्मस्तवे देशविरतगुणस्थानके या सप्तषष्टिरुक्ता सा तिरश्चां जिननामरहिता षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने भवति। प्रमत्ताऽऽदीनि गुणस्थानानि तिरश्चां न संभवन्ति। नराणां तु सर्वगुणस्थानकसंभवेन देशविरताऽऽदिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्त एव सर्वोऽप्यन्यूनाधिक ओघबन्धो वाच्यः। ततश्च पर्याप्तनराणां सामान्येन बन्धे विंशत्युत्तरशतं प्रकृतीनां प्राप्यते १२०, तेषामेव मिथ्यादृशां सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादनानामेकोत्तरशतं १०१, मिश्राणामेकोनसप्ततिः ६९, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्तति' ७१, देशविरतानां सप्तषष्टिः ६७, प्रमत्तानां त्रिषष्टिः ६३, अप्रमत्तानामेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा ५९, ५८, निवृत्तिबादराणां प्रथमे भागेऽष्टपञ्चाशत् ५८, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत् ५६, सप्तमभागे षड्विंशतिः २६, अनिवृत्तिबादराणामाद्ये भागे द्वाविंशतिः १२, द्वितीये एकविंशतिः २१, तृतीये विंशतिः २०, चतुर्थे एकोनविंशतिः१९, पञ्चमेऽष्टादश च १८, सूक्ष्मसंपरायाणां सप्तदश १७, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिनामेका सातलक्षणा प्रकृतिर्बन्धे प्राप्यते, अयोगिनां तु बन्धाभावः। एवमन्यत्राप्योघबन्धः। उक्तस्तिर्यग्नराणां पर्याप्तानां बन्धः। अथ तेषामेवापर्याप्तानां तमाह—" जिण इक्कारसहीणं " इत्यादि। यदेव नराणामोघबन्धे विंशत्युत्तरशतं तदेव जिननामाऽऽद्येकादशप्रकृतिहीनं शेषं नवोत्तरशतमपर्याप्ततिर्यग्नरा ओघतो मिथ्यात्वे च बध्नन्ति। यद्यपि करणाऽपर्याप्तो श्रेणिको मनुष्यो वा जिननामकर्म सम्यक्त्वप्रत्ययेन बध्नाति, तथाऽपीह नराणां लब्ध्याऽपर्याप्तत्वेन विवक्षणान्न जिननामबन्धः ॥ ९ ॥ तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च बन्धस्वामित्वमुक्तम्।

साम्प्रतं देवगतिमधिकृत्य तदुच्यते—

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया।
कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

सुरा अपि नारकवदोघतोऽविशेषतश्च तद्बन्धस्वामिनोऽवगन्तव्याः। नवरमयं विशेषः-ओघे मिथ्यात्वगुणस्थानके च बन्धमाश्रित्य सुरा एकेन्द्रियाऽऽदित्रिकसहिता द्रष्टव्याः। ततोऽयमर्थः-यो नारकाणामेकोत्तरशतरूपः ओघबन्धः स एवैकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनामप्रकृतित्रयसहितः सुराणां सामान्यतो बन्धश्चतुरग्रशतम् १०४, तदेव मिथ्यात्वे जिननामरहितं त्र्युत्तरशतम् १०३, एतदेवैकेन्द्रियजातिस्थावराऽऽतपनपुंसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसेवार्तलक्षणप्रकृतिसप्तकहीनं सासादने षण्णवतिः ९६, षण्णवतिरेवानन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतिसहिता मिश्रे सप्ततिः ७०, सैव जिननामनराऽऽयुष्कयुक्ता द्विसप्ततिस्तामविरतसम्यग्दृष्टयो देवा बध्नन्तीति सामान्येन देवगतिबन्धः। साम्प्रतं देवविशेषनामोच्चारणपूर्वकं तमाह-( कप्पदुगे इत्यादि ) कल्पद्विकेऽपि सौधर्मेशानाऽऽख्यदेवलोके द्वयेऽप्येवं सामान्यदेवबन्धवद्बन्धो द्रष्टव्यः। तथाहि—सामान्येन चतुरग्रशतम् १०४, मिथ्यादृशां त्र्यग्रशतं १०३ सासादनानां षण्णवतिः ९६, मिश्राणां सप्ततिः ७०,अविरतानां द्विसप्ततिः ७२, देवौघो जिननामकर्महीनो ज्योतिष्कभवनपतिव्यन्तरदेवेषु तद्देवीषु च विज्ञेयः, जिनकर्मसत्ताकस्य तेषूत्पादाऽभावेन तत्र तद्बन्धासंभवात्ततः सामान्यतस्त्र्यधिकशतम् १०३, मिथ्यात्वेऽपि त्र्यधिकशतं १०३, सासादने षण्णवतिः, ९६ मिश्रे सप्तति· ७०, अविरते एकसप्ततिः ७१ ॥ १० ॥

रयणु व्व सणंकुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउरहिया।
अप्पज्जतिरिय व्व नवसय मिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥११॥

सनत्कुमाराऽऽद्याः सहस्रारान्ता देवा रत्नप्रभाऽऽदिप्रथमपृथिवीत्रयनारकवत् बन्धमाश्रित्य द्रष्टव्याः। तद्यथा सामान्येनैकाग्रशतं १०१, मिथ्यादृशां शतं १००,सासादनानां षण्णवतिः ९६, मिश्राणां सप्तति· ७०,अविरतानां द्विसप्ततिः ७२। आनताऽऽद्या ग्रैवेयकनवकान्ता देवा अपि उद्योतनामतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगाऽऽयुःप्रकृतिचतुष्करहिता रत्नप्रभाऽऽदिनारकवदेव द्रष्टव्याः, ततः सामान्यतः सप्तनवतिं ते बध्नन्ति ९७, मिथ्यादृशः षण्णवतिं ९६, सासादना द्विनवतिं ९२ मिश्रेऽविरते चोद्योताऽऽदिचतुष्कस्य प्रागेवाऽपनीतत्वात्संपूर्ण एव रत्नप्रभाऽऽदिभङ्गस्ततो मिश्राः सप्ततिं ७०, अविरता द्विसप्ततिं बध्नन्ति ७२, मिथ्यात्वाऽऽदिगुणस्थानत्रयाभावात्पञ्चानुत्तरविमानदेवा एतामेवाऽविरतगुणस्थानसत्कां द्विसप्ततिं ७२, बध्नन्तीत्यनुक्तमपि ज्ञेयम्, इति। उक्तं देवगतौ बन्धस्वामित्वं, तद्भणनाच्च गतिबन्धमार्गणा समाप्ता ॥ साम्प्रतमिन्द्रियेषु कायेषु च तदारभ्यते-( अपज्जेत्यादि ) अपर्याप्ततिर्यग्वन्नवोत्तरशतमेके-

न्द्रियपृथ्वीजलतरुविकलत्रयेषु द्रष्टव्यम्। अयमर्थः-विंशत्युत्तरशतमध्यात् जिननामाऽऽद्येकादश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषं नवोत्तरशतमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः पृथ्वीजलवनस्पतिकायाश्च सामान्यपदिनो मिथ्यादृशश्च बध्नन्ति ॥ ११ ॥

अथैतेषामेव सासादनगुणस्थाने बन्धमाह—

छनवइ सासणि विणु,सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं ।
तिरियनराऊहिं वि-णा तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥ १२ ॥

प्रागुक्तं नवोत्तरशतं सूक्ष्मत्रिकाऽऽदिसूक्ष्मत्रयोदशकं मिथ्यात्वे एव व्यवच्छिन्नबन्धमिति कृत्वा तद्विना षण्णवतिः सासादने एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपृथ्वीजलवनस्पतिकायानां भवति। केचित्पुनराचार्यां ब्रुवते-चतुर्नवतिं,तिर्यग्नराऽऽयुष्काभ्यां विना,यतस्ते एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाऽऽदयः सासादनाः सन्तस्तनुपर्याप्तिं न यान्त्यतस्ते तिर्यग्नराऽऽयुर्बन्धकाः। अयं भावार्थः-तिर्यग्नराऽऽयुषोस्तनुपर्याप्त्या पर्याप्तैरेव बध्यमानत्वात्। पूर्वमतेन शरीरपर्याप्त्युत्तरकालमपि सासादनभावस्येष्टत्वादायुर्बन्धोऽभिप्रेतः। इह तु प्रथममेव तन्निवृत्तेर्नेष्ट इति षण्णवतिः। तिर्यग्नराऽऽयुषी विना मतान्तरेण चतुर्नवतिः ॥ १२ ॥ उक्तः एकेन्द्रियाऽऽदीनां बन्धः।

अथ पञ्चेन्द्रियाणां त्रसकायिकानां च तमाह—

ओहुपणिंदितसे गइ-तसे जिणिक्कार नरतिगुच्चविणा ।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

ओघो विंशत्युत्तरशताऽऽदिलक्षणः कर्मस्तवोक्तः पञ्चेन्द्रियेषु त्रसकायिकेषु चाऽवगन्तव्यः। तद्यथा-सामान्यतो विंशत्युत्तरशतम् १२०, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादने एकोत्तरशतम् १०१, मिश्रे चतुःसप्ततिः ७४, अविरते सप्ततिः ७७, देशे सप्तषष्टिः ६७, प्रमत्ते त्रिषष्टिः ६३ अप्रमत्ते एकोनषष्टिः ५६, अपूर्वस्याष्टपञ्चाशद्वा ५८, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत् ५८, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत् ५६, सप्तमभागे षड्विंशतिः २६, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशतिः २२ द्वितीये एकविंशतिः २१, तृतीये विंशतिः २०, चतुर्थे एकोनविंशति १६, पञ्चमेऽष्टादश १८, सूक्ष्मे सप्तदश १७, शेषगुणस्थानत्रये सातस्यैकस्य बन्ध १, अयोगिनि बन्धाऽभावः। गतित्रसास्तेजोवायुकायास्तेषु जिननामाऽऽद्येकादश प्रकृतीर्नरत्रिकमुच्चैर्गोत्रं च विना विंशत्युत्तरशतं शेषं पञ्चोत्तरशतं बन्धे लभ्यते, सासादनाऽऽदिभावस्तु नैषां सम्भवति। यत उक्तम्-" न हु किंचि लभिज्ज सुहुमतसा।" सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायुकायजीवा इति। एवमुक्तं इन्द्रियेषु कायेषु च बन्धः। सम्प्रति योगेषु तं प्रतिपादयन्नाह-( मणवयजोगे इत्यादि ) सूचकत्वात् सूत्रस्य सत्याऽऽदिमनोयोगचतुष्के तत्पूर्वके सत्यादिवाग्योगचतुष्के च ओघ. बन्धो विंशत्युत्तरशताऽऽदिलक्षणः कर्मस्तवोक्तो ज्ञेयः। तत्र सत्याऽऽदिस्वरूपं त्विदम्-सत्यं यथाऽस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुतत्त्वचिन्तनपरं सत्यम्। विपरीतं त्वसत्यम्। मिश्रस्वभावं सत्यासत्यम्,यथा धवखदिरपलाशाऽऽदिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति विकल्पनापरम्।तथा यन्न सत्यं नापि मृषा तदसत्यामृषा इह विप्रतिपत्तौ सत्यां यद्वस्तु प्रतिष्ठाऽऽशया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते,यथाऽस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि तत्किल सत्यं परिभाषितम्। यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाऽऽशया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते,यथा 'नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेत्यादि' तदसत्यम्। यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठाऽऽशामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं, यथा हे देवदत्त! घटमानय,गां देहि मह्यमित्यादिचिन्तनपरं तदऽसत्यामृषा, इदं स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वान्न यथोक्तलक्षणं सत्यं भवति, नापि मृषेति। इदमपि व्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यम्। निश्चयनयमतेन तु विप्रतारणाऽऽदिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति,अन्यथा तु सत्ये। ( उरले त्ति ) मनोवाग्योगपूर्वके औदारिककाययोगे नरभङ्गः " इह चउगुणेसु वि नरा " इत्यादिना प्रागुक्तस्वरूपः। यथा ओघे विंशत्युत्तरशतम् १२०,मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादने एकोत्तरशतम् १०१, मिश्रे एकोनसप्ततिः ६६, अविरते एकसप्ततिः ७१, इत्यादि मनोरहितवाग्योगे विकलेन्द्रियभङ्गः। केवलकाययोगे त्वेकेन्द्रियभङ्गः ( तम्मिस्से त्ति ) तन्मिश्रे-औदारिकमिश्रयोगे ॥ १३ ॥

सम्प्रति बन्ध उच्यते —

आहारछग विणोहे,चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरियाऊ सुहुमतेर ॥१४॥

विंशत्युत्तरशतमाहारकाऽऽदिप्रकृतिषट्कं विना शेषं चतुर्दशाधिकशतमोघबन्धे प्राप्यते। अयं भावार्थः-औदारिकमिश्रं कार्मणेन सह,तच्चापर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा. उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाऽऽहारयति। ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्तिः केवलिसमुद्घातावस्थाया द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकमिति। अपर्याप्ताऽवस्थायां च माहारकाऽऽदिषट्कं यद्वध्यते इति तन्निषेधः। केवलिसमुद्घातावस्थायां पुनरेकस्य सातस्यैव बन्धोऽभिधास्यते। एतदेव चतुर्दशोत्तरशतमौदारिकमिश्रकाययोगी मिथ्यात्वे जिननामाऽऽदिप्रकृतिपञ्चकहीन शेष नवोत्तरशत बध्नाति। स एव सासादने चतुर्नवतिं बध्नाति, नवोत्तरशतमध्यात् मुक्त्वा नरतिर्यगायुषी सूक्ष्मत्रिकाऽऽदित्रयोदशप्रकृतीश्च नरतिर्यगायुषोरपर्याप्तत्वेन सासादने बन्धाभावात् सूक्ष्मत्रिकाऽऽदित्रयोदशकस्य तु मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्नबन्धतया च ॥ १४ ॥

अणचउवीसाइ विणा,जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं ।
विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ १५ ॥

प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामाऽऽदिप्रकृतिपञ्चकयुता च पञ्चसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रककाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति। तथा सयोगिन औदारिकमिश्रस्थाः केवलिसमुद्घाते द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु सातमेवैकं बध्नन्ति। एवं गुणस्थानकचतुष्क एवौदारिकमिश्रयोगो लभ्यते नान्यत्र। अथ कार्मणयोगाऽऽदिषु बन्ध. प्रतिपाद्यते—( विणु तिरीत्यादि )यथौदारिकमिश्रे बन्धविधिरोघतो विशेषतश्चोक्त., एवं कार्मणयोगेऽपि तिर्यग्नराऽऽयुषी विना वाच्यः,कार्मणकाययोगे तिर्यग्नरायुषोर्बन्धभावात्। कार्मणकाययोगो ह्यपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च जीवस्य मिथ्यात्वसासादनाऽविरत-

स्थानकत्रयोपेतस्य लभ्यते । उक्तं च-" मिच्छे सासा- ण, अविरयसंमम्मि अहव गहियम्मि । जंति जिया प- रभवं, सेसिक्कारसगुणे मुत्तुं ॥ १ ॥" तथा सयोगिनः के- वलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु चेति गुणस्था- नकचतुष्टय एव कार्मणकाययोगो नाऽन्यत्र । ततो विंशत्यु- त्तरशतमध्यादाहारकषट्कतिर्यग्नराऽऽयुःप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्य सामान्येन कार्मणकाययोगे बन्धस्तदेव द्वादशोत्तरशतं जिनाऽऽदिपञ्चकं विना शेषं सप्तोत्तरशतं का- र्मणकाययोगे मिथ्यादृशो बध्नन्ति तदेव सप्तोत्तरशतं सूक्ष्मा- ऽऽदित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषां चतुर्नवतिं कार्मणयोगे सा- स्वादना बध्नन्ति । चतुर्नवतिरेवानन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशति- प्रकृतीर्विना जिननामाऽऽदिप्रकृतिपञ्चकसहिता च पञ्चसप्त- तिस्तां कार्मणयोगेऽविरता बध्नन्ति । सयोगिनस्तु कार्म- णकाययोगे सातमेवैकं बध्नन्ति । तथा आहारककाययोग- श्चतुर्दशपूर्वविदः, आहारकमिश्रकाययोगश्च तस्यैवाऽऽहारक- शरीरस्य प्रारम्भसमये परित्यागसमये च औदारिकेण सह द्रष्टव्यः । तत आहारकद्विक आहारकशरीरतन्मिश्रलक्षणे यो- गद्वये ओघः कर्मस्तवोक्तः प्रमत्तगुणस्थानवर्ती त्रिषष्टिप्रकृ- तिबन्धरूपः । एतत्काययोगद्वयं हि लब्ध्युपजीवनात्प्रमत्तस्यै- व न त्वप्रमत्तस्य ॥ १५ ॥

सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइम विय तिय-कसाय नव दु चउ पंच गुणे ॥ १६ ॥

सुरौघः सामान्यदेवबन्धो वैक्रियकाययोगे द्रष्टव्यः । तद्य- था—सामान्येन चतुरग्रशतम् १०४, मिथ्यात्वे त्र्युत्तरशतं १०३, सासादने षण्णवतिः ९६, मिश्रे सप्ततिः ७०, अविर- ते द्विसप्ततिः ७२ । तथा तन्मिश्रे वैक्रियमिश्रे स एव सुरौ- घस्तिर्यग्नराऽऽयुष्करहितो वाच्यः । इह देवनारका निजाऽऽयु- षण्मासावशेषा एवाऽऽयुर्बध्नन्ति, अतो वैक्रियमिश्रयोगे त्वुत्पत्तिप्रथमसमयादनन्तरमपर्याप्तावस्थासंभविनि आयुर्द्वय- बन्धाऽभावः । तथा चात्रौघे द्व्युत्तरशतं १०२, मिथ्या- त्वे एकोत्तरशतं १०१, सासादने चतुर्नवतिः ९४, अवि- रते एकसप्ततिः ७१ । वैक्रियमिश्रयोगो मिश्रता चास्यात्र कार्मणकायेनैव सह मन्तव्या । अयमपि च मिथ्यात्वसा- स्वादनाऽविरतगुणस्थानकत्रय एव लभ्यते, नान्यत्र । यद्यपि देशविरतस्याम्बडाऽऽदेः प्रमत्तस्य तु विष्णुकुमाराऽऽदेर्वैक्रि- यं कुर्वतो वैक्रियमिश्रवैक्रियसंभवः श्रूयते, परं स्वभाव- स्थस्य वैक्रिययोगस्यात्र गृहीतत्वाद्, अथवा-स्वल्पत्वादन्यतो वा कुतोऽपि हेतोः पूर्वाऽऽचार्यैः स नोक्तः । एवं योगेषु बन्ध- स्वामित्वमुक्तम् ॥ अथ वेदाऽऽदिषु तदभिधित्सुः प्रथमं गु- णस्थानकानि तेष्वाह-( वेयतिगेत्यादि ) वेदत्रिके-स्त्रीवे- दपुंवेदनपुंसकवेदरूपे नवनवसंख्याकानि ( संजलणेत्यादि ) अग्रेतनगाथास्थ'पढमेति'पदस्याऽत्रापि संबन्धात्प्रथमानि मि- थ्यात्वाऽऽदीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि गुणस्थानकानि भव- न्ति, ततः परं वेदानामभावात् । एतेषु यः कर्मस्तवोक्तः सा- मान्यबन्धः । स द्रष्टव्यः । तद्यथा-सामान्यतो नानाजीवापेक्षया विंशत्युत्तरं शतम् १२०, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७ सासादने एकोत्तरशतम् १०१, मिश्रे चतुःसप्ततिः ७४, अविरते सप्तसप्ततिः ७७, देशविरते सप्तषष्टिः ६७, प्रमत्ते त्रिषष्टिः ६३, अप्रमत्ते एकोनषष्टिः ५९, अष्टपञ्चाशद्वा ५८, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत् ५८, भागपञ्चके षट्प- ञ्चाशत् ५६, सप्तमभागे षड्विंशतिः २६, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशतिः २२ । एवमन्यत्रापि गुणस्थानकेषु यथासम्भवं कर्मस्तवोक्तो बन्धो वाच्यः । कषायद्वारे-आ- द्येऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभरूपे कषायचतुष्के द्वे प्र- थमे मिथ्यात्वसास्वादनाऽऽख्ये गुणस्थानके, तत्र तीर्थङ्करब- न्धस्य सम्यक्त्वप्रत्ययत्वादाहारकद्विकबन्धस्य च संयमहेतु- त्वादनन्तानुबन्धिषु तदभावात्सामान्येन सप्तदशोत्तरशतम् ११७, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादने एको- त्तरशतम् १०१, द्वितीयेऽप्रत्याख्यानाऽऽख्ये कषायचतुष्के च- त्वारि प्रथमानि मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राऽविरतनामकानि गु- णस्थानकानि, तत्राऽऽहारकद्विकबन्धाभावेन सामान्येन अ- ष्टादशोत्तरशतम् ११८, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादने एकोत्तरशतम् १०१, मिश्रे चतुःसप्ततिः ७४, अ- विरते सप्ततिः ७७, तृतीये प्रत्याख्यानाऽऽवरणाऽऽख्ये कषा- यचतुष्के पञ्च आद्यानि मिथ्यात्वाऽऽदीनि देशविरतान्तानि गुणस्थानकानि, देशविरते सप्तषष्टिः, शेषाणि तथैव ॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
वारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहक्खाय चरमचऊ ॥ १७ ॥

संज्वलनत्रिके-संज्वलनक्रोधमानमायारूपे नवाऽऽद्यानि गु- णस्थानकानि तत्र सामान्यबन्धानिवृत्तिबादरं यावद्वेदत्रिक- न्यायेन विंशत्युत्तरशताऽऽदिको बन्धः, अनिवृत्तिबादरे तु प्र- थमे भागे द्वाविंशतिः २२, द्वितीये पुंवेदरहिता एकविं- शतिः २१, तृतीये संज्वलनक्रोधरहिता विंशतिः २०, च- तुर्थे संज्वलनमानरहिता एकोनविंशतिः १९, पञ्चमे संज्व- लनमायारहिता अष्टादश १८, संज्वलनलोभस्य तु सूक्ष्म- सम्परायेऽपि भावात्तत्र दश प्रथमानि गुणस्थानानि, तत्र नव तथैव, दशमे तु सूक्ष्मसम्पराये सप्तदश प्रकृतयः । संय- मद्वारे अयतेऽसंयते चत्वारि आद्यानि गुणस्थानानि, तत्र सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टेरपि संगृहीतत्वाज्जिननामदेपा- त्सप्तदशोत्तरशतं जातमष्टादशोत्तरशतम् ११८, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादने एकोत्तरशतम् १०१, मिश्रे चतुःसप्ततिः ७४, अविरते सप्ततिः ७७ । ज्ञानद्वारे-अज्ञा- नत्रिके-मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानविभङ्गरूपे द्वे, मिथ्यात्वासासादने त्रीणि वा गुणस्थानकानि मिश्रेण सह, अयमाशयः-मिश्रे ज्ञानांशोऽज्ञानांशश्चास्ति, तत्र यदाऽज्ञानांशप्राधान्यं विवक्ष्यते तदा—अज्ञानत्रिके गुणस्थानकद्वयमेव, ज्ञानांशप्राधान्यवि- वक्षायां तु तृतीयं मिश्रमपि, तत्रौघे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, सासादने एको- त्तरशतम् १०१, मिश्रे चतुःसप्ततिः ७४ । दर्शनद्वारे-चक्षु- रचक्षुर्दर्शनयोः प्रथमानि द्वादश गुणस्थानानि, परतस्तु च- क्षुरचक्षुषोः सतोरप्यनुपयोगित्वेनाव्यापारात् । तत्रौघे विंश- त्युत्तरशतम् १२० मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम् ११७, इ- त्यादि यावत् क्षीणमोहे. सातबन्धः १ । यथाख्याते चरम- गुणस्थानकचतुष्कं, तत्र सामान्यतः १, उपशान्तमोहे १, क्षीणमोहे १, सयोगिनि १, अयोगिनि, ० ॥ १७ ॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।

केवलिदुगि दो चरमा-जयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

मनःपर्यायज्ञाने सप्त यताऽऽदीनि-प्रमत्तसंयताऽऽदीनि क्षीणमोहान्तानि । तत्र सामान्यत आहारकद्विकसहिता त्रिषष्टिर्जाता पञ्चषष्टिः ६५, प्रमत्ते ६३, इत्यादि यावत् क्षीणमोहे १, केवलसातबन्धः । सामायिकछेदोपस्थापने च चत्वारि यताऽऽदीनि गुणस्थानानि तत्र सामान्यतः पञ्चषष्टिः ६५, प्रमत्ते ६३ त्रिषष्टिरित्यादि प्राग्वत् । सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकाऽऽदौ तु सूक्ष्मसंपरायाऽऽदिचारित्राऽभावात् । तथा द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताप्रमत्तरूपे परिहारविशुद्धिचारित्रे. नोत्तराणि, तस्मिंश्चारित्रे वर्त्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात् तत्र सामान्यतः ६५, प्रमत्ते ६३, अप्रमत्ते ५९, अष्टपञ्चाशद्वा । केवलद्विके-केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे द्वे चरमे-अन्तिमे सयोगिकेवल्ययोगिकेवल्याख्ये गुणस्थानके भवतः । अत्रौघे एकस्य सातस्य बन्धः सयोगिनि च अयोगिनि शून्यं, तथा मतिश्रुतयोरवधिद्विके चावधिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणेऽयताऽऽदीनि अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति । सयोग्यादौ केवलोत्पत्त्या मत्यादेरभावात् तत्रौघतोऽप्रमत्ताऽऽदेर्मत्यादिमत आहारकद्विकस्यापि बन्धसंभवादेकोनाशीतिः ७९, विशेषचिन्तायामविरताऽऽदिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्तः सप्तसप्तत्यादिमितो बन्धो द्रष्टव्यः॥१८॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ।१९॥

इहाऽयताऽऽदीनि पदं सर्वत्र योज्यते । ततोऽयताऽऽदीनि उपशान्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति, तत्र सामान्यत औपशमिकसम्यक्त्वे वर्त्तमानानां देवमनुजाऽऽयुषोर्बन्धाभावात् ७५, अविरतेऽपि ७५, देशे सुराऽऽयुरबन्धात् ६६, प्रमत्ते ६२, अप्रमत्ते, ५८, इत्यादि यावदुपशान्ते १, वेदके क्षायोपशमिकाऽपरपर्यायेऽयताऽऽदीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, तत्रौघे ७९ अविरते ७७ देशे ६७, प्रमत्ते ६३ अप्रमत्ते ५९-५८ वा, अतः परमुपशमश्रेणावौपशमिकं क्षपकश्रेणौ पुनः क्षायिकं, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं तूदीर्णमिथ्यात्वक्षयेऽनुदीर्णमिथ्यात्वोपशमे च भवतीति । उक्तं च-"मिच्छत्तं जमुइण्णं, तं खीणं अणुइयं तु उवसंतं । मीसीभावपरिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥ १ ॥" तथा क्षायिकसम्यक्त्वेऽयताऽऽदीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि । तत्रौघे ७९ अविरते ७७ देशे ६७ इत्यादि यावदयोगिनि शून्यम् । क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपमिदम्-" खीणे दंसणमोहे, तिविहम्मि वि भवनियाणभूयम्मि । निप्पच्चवायमउलं, संमत्तं खाइयं होइ ॥ १ ॥" तथा मिथ्यात्वत्रिके—मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे देसे—देशविरते सूक्ष्मे—सूक्ष्मसम्पराये स्वस्थानं-निजस्थानम् । अयमर्थः-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं सासादनमार्गणास्थाने सासादनं गुणस्थानं मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रगुणस्थानं देशसंयममार्गणास्थाने देशविरतगुणस्थानं सूक्ष्मसंपरायसंयमे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् । अत्र च स्वस्वगुणस्थानीयो बन्धः यथा मिथ्यात्वे ओघतो विशेषतश्च ११७, एवं सासादने १०१, मिश्रे ७४, देशे ६७, सूक्ष्मे १७, आहारकद्वारे त्रयोदश गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवल्यन्तानि आहारके जीवे लभ्यन्तेऽयोगी त्वनाहारकस्तत्रौघतः १२०, मिथ्यात्वे ११७ इत्यादि यावत्सयोगिनि सातरूपैका प्रकृतिर्बन्धे भवति । एवं वेदाऽऽदिषु मार्गणास्थानेषु गुणस्थानकान्युपदर्श्य संप्रति तेषु बन्धातिदेशमाह-(नियनियगुणोहो त्ति) निजनिजगुणौघः एतेषु वेदाऽऽदिषु यानि स्वस्वगुणस्थानानि तेष्वोघः कर्मस्तवोक्तो बन्धो द्रष्टव्य इत्यर्थः, स च यथास्थानं भावित एव ॥१९॥

यच्च प्रागुक्तमष्टौपशमिकसम्यक्त्वे गुणस्थानानीति तत्र कश्चिद्विशेषमाह—

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥ २० ॥

सर्वत्र वेदाऽऽदिषु निजनिजगुणौघो वाच्य इत्युक्तम्, परमौपशमिकेऽयं विशेष-औपशमिके वर्त्तमाना जीवा आयुर्न बध्नन्ति, तेनाऽयतगुणस्थानके देवमनुजाऽऽयुर्भ्यां हीन ओघो वाच्यो, नरकतिर्यगायुषोः प्रागेव मिथ्यात्वसासादनयोरपनीतत्वान्न तद्धीनता । तथा देशाऽऽदिषु देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु पुनरोघः सुराऽऽयुर्विना ज्ञेयः । औपशमिकसम्यक्त्वं तूपशमश्रेण्यां प्रथमसम्यक्त्वलाभे वा भवति जीवस्य । उक्तं च-" उवसामगसेढिगय-स्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं । जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥" ननु क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वयोः, कः प्रतिविशेषः ? । उच्यते-क्षायोपशमिके मिथ्यात्वदलिकवेदनं विपाकतो नास्ति, प्रदेशतः पुनर्वेद्यते । औपशमिके तु प्रदेशतोऽपि नास्तीति विशेषः । उक्तं वेदाऽऽदिषु बन्धस्वामित्वम् ।

अथ लेश्याद्वारमुच्यते—

ओहे अट्ठारसयं, आहारदुगूण आइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

आद्यलेश्यात्रिके—कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रये वर्तमाना ओघे वा सामान्येन विंशत्युत्तरशतमाहारकद्विकोनं जातमष्टादशाधिकशतं तद्बध्नन्ति, आहारकद्विकस्य शुभलेश्याभिर्बध्यमानत्वात् । तदष्टादशाधिकशतं तीर्थकरनामोनं सप्तदशोत्तरशतं मिथ्यात्वगुणस्थानके बध्नन्ति । सासादनाऽऽदिषु गुणस्थानकेषु पुनः सर्वत्र लेश्याषट्केऽप्योघः सामान्यबन्धो द्रष्टव्यः । ततोऽत्र सासादनमिश्राविरतेष्वोघः कर्मस्तवोक्तः ॥ २१ ॥

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का ।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥ २२ ॥

विंशत्युत्तरशतं नरकत्रिकाऽऽदिप्रकृतिनवकोनं तेजोलेश्यायामोघत एकादशोत्तरं शतं बध्यते, कृष्णाऽऽद्यप्रशस्तलेश्याप्रत्ययत्वान्नरकत्रिकाऽऽदिप्रकृतिनवकबन्धस्य । इदमेवैकादशोत्तरशतं जिननामाऽऽहारकद्विकरहितं शेषमष्टोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते । सासादनाऽऽदिषु षट्सु गुणस्थानकेषु ओघः विंशत्युत्तरशतमध्यादुद्योताऽऽदिचतुष्कं नरकत्रिकाऽऽदिद्वादशकं च मुक्त्वा शेषं चतुरुत्तरशतमोघतः शुक्ललेश्यायां बध्यते, उद्योताऽऽदिप्रकृतीनां तिर्यग्नरकप्रायोग्यत्वेन देवनरप्रायोग्यबन्धकैः शुक्ललेश्यावद्भिरबध्यमानत्वात् । एतदेव चतुरुत्तरं शतं जिननामाऽऽहारकद्विकरहितं शेषमेकोत्तरशतं मिथ्या-

त्वे बध्यते। सासादने तदीयैकोत्तरशतरूपौघबन्धादुद्द्योताऽऽदिप्रकृतिचतुष्टयापसारेण शेषा सप्तनवतिर्बध्यते। मिश्राऽऽदिष्वेकादशगुणस्थानकेषु तदवस्थः स्वस्वगुणस्थानीयो बन्धो द्रष्टव्यः। विंशत्युत्तरशतमध्यान्नरकत्रिकाऽऽदिप्रकृतिद्वादशकं विना शेषमष्टोत्तरशतं पद्मलेश्यायामोघतो बध्यते, तल्लेश्यावतां सनत्कुमाराऽऽदिदेवानां तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नतामुद्द्योताऽऽदिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धसंभवाभावात्र तद्बन्धाभावः। एतदेवाष्टोत्तरशतं जिननामाऽऽहारकद्विकरहितं शेषं पञ्चोत्तरशतं मिथ्यात्वे बध्यते, सासादनाऽऽदिषु षट्सु गुणस्थानकेषु यथास्थित एकोत्तरशताऽऽदिरूपः स्वस्वौघबन्धो द्रष्टव्यः। 'अजिणाहारा इमा मिच्छे त्ति' प्रथमलेश्यात्रिकस्य 'ओहे अट्ठारसयं' इत्यादिना निर्धारितत्वेनेमास्तेजःपद्मशुक्ललेश्या मिथ्यात्वगुणस्थानके जिननामाऽऽहारकद्विकरहिता विधेयाः, तेजोलेश्याऽऽदिषु नरकनवकाऽऽद्यूनो यः सामान्यबन्धः प्रतिपादितः स मिथ्यात्वगुणस्थानके जिनाऽऽदिप्रकृतित्रयरहितो विधेय इत्यर्थः। तथा च दर्शितमेव ॥२२॥

संप्रति भव्याऽऽदिद्वाराण्यभिधीयन्ते—

सव्वगुणभव्वसन्निसु, ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व, कम्मणभंगो अणाहारे ॥२३॥

सर्वगुणस्थानकोपेते भव्ये संज्ञिनि च मार्गणास्थाने सर्वगुणस्थानकौघः कर्मस्तवोक्तः। अभव्या असंज्ञिनश्च चिन्त्यमाना मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकसमाः। अयमर्थः–यथा मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतबन्धः कर्मस्तवे उक्तस्तथाऽभव्योऽसंज्ञी च सामान्यतो मिथ्यात्वे च सप्तदशोत्तरशत बध्नाति। सासादने पुनरसंज्ञी संज्ञिवदेकोत्तरशतबन्धक इत्यर्थः। अनाहारके तु मार्गणास्थाने कार्मणकाययोगभङ्गः 'विणु तिरिनराउ कम्मे वि' इत्यादिना योगमार्गणास्थाने प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः। कार्मणकाययोगस्थस्यैव संसारिणोऽनाहारकत्वात्, कार्मणभङ्गश्चायम्–विंशत्युत्तरशतमध्यादाहारकद्विकदेवाऽऽयुर्नरकत्रिकतिर्यग्नराऽऽयुःप्रकृत्यष्टकं मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्यानाहारके सामान्येन बन्धः। तथा जिननाम सुरद्विकं वैक्रियद्विकं च द्वादशोत्तरशतमध्यान्मुक्त्वा शेषस्य सप्तोत्तरशतस्यानाहारके मिथ्यादृष्टौ बन्धः। तथा सूक्ष्माऽऽदित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषायाश्चतुर्नवतेः सासादनस्थेऽनाहारके बन्धः। तथाऽनन्तानुबन्ध्याऽऽदिचतुर्विंशतिप्रकृतीश्चतुर्नवतेर्मध्यान्मुक्त्वा शेषायाः सप्ततेर्जिननामसुरद्विकवैक्रियद्विकयुक्तायाः पञ्चसप्ततेरनाहारके बन्धः। तथा सयोगिनि केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वनाहारक एकस्याः सातप्रकृतेर्बन्धः ॥२३॥

अथ प्राग्यदुक्तं लेश्याद्वारे–' साणाइसु सव्वहिं ओहो त्ति ' सासादनाऽऽदिषु गुणस्थानेषु सर्वत्र लेश्याषट्के ओघो द्रष्टव्य इति. तत्र न ज्ञायत आदिशब्दात्कस्यां लेश्यायां कियन्ति गुणस्थानानि गृह्यन्ते इत्यतो लेश्यासु गुणस्थानकान्युपदर्शयन् प्रकरणसमर्थना, प्रकरणज्ञानोपायं चाऽऽह—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं।
देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥ २४ ॥

तिसृष्वाद्यासु कृष्णनीलकापोतलेश्यासु ' चउ ' इत्यादिना यथाक्रमं सबन्धाश्चत्वारि मिथ्यात्वसासादनमिश्राविरतगुणस्थानानि गुणस्थानानि प्राप्यन्ते। एतद्गुणस्थानचतुष्के परिणामविशेषतः षण्णामपि लेश्यानां भावात्। द्वयोस्तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यात्वाऽऽदीनि सप्त गुणस्थानानि, तयोरप्रमत्तगुणस्थानकान्तमपि यावद्भावात्। शुक्ललेश्यायां त्रयोदश मिथ्यात्वाऽऽदीनि गुणस्थानानि, तस्या मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात्प्रभृति यावत्सयोगिकेवलिगुणस्थानकं तावदपि भावात्। अयोगी त्वलेश्यः। इह च लेश्यानां प्रत्येकमसंख्येयानि लोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि. ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्याऽऽदीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ संभवो न विरुध्यते। तथा कृष्णाऽऽदिलेश्यात्रयं यदिहाविरतगुणस्थानकान्तमुक्तं तद् बृहद्बन्धस्वामित्वानुसारेण, षडशीतिके तु तस्य प्रमत्तगुणस्थानकान्तं यावदभिहितत्वात्। तथाहि–" लेस्सा तिन्नि पमत्तंता, 'तेउ पम्हा उ अप्पमत्तंता। सुक्का जाव सजोगी, निरुद्धलेसो अजोगि त्ति ॥१॥" तत्त्वं तु श्रुतधरा विदन्ति। इति प्रतिपादितं गत्यादिषु बन्धस्वामित्वं तत्प्रतिपादनाच्च समर्थितं बन्धस्वामित्वप्रकरणम्। इतिशब्दः परिसमाप्तौ। बन्धस्वामित्वमेतज्ज्ञेयं–बोद्धव्यं, कर्मस्तवं श्रुत्वा–त्र बहुषु स्थानेषु तदुक्तबन्धातिदेशद्वारेण भणनात्। कर्म० ३ कर्म०।

बंधहेउ–बन्धहेतु–पुं०। कर्मणां बन्धकारणे, कर्म० १ कर्म०।

( बन्धहेतुषु प्रायश्चित्तव्यवस्था ' भय' शब्दे वक्ष्यते )

अथ " कीरइ जिएण हेऊ-हिं जेणं तो भन्नए कम्मं।" इत्यादौ यदुक्तं तद्व्याख्यानार्थं यस्य कर्मणो यद्बन्धहेतवस्तान् क्वचन हेतुद्वारेण क्वाऽपि च हेतुमद्द्वारेण विदर्शयिषुराह—

पडिणीयत्तणनिण्हव–उवघायपओसअंतराएणं।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥५३॥

आवरणद्विकं–ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणरूप जीवो जयति, धातूनामनेकार्थत्वाद्बध्नातीति सम्बन्धः। तत्र ज्ञानस्य मत्यादेर्ज्ञानिनां साध्वादीनां ज्ञानसाधनस्य पुस्तकाऽऽदेः प्रत्यनीकत्वेन तदनिष्टाऽऽचरणलक्षणेन निह्नवेन न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण, उपघातेन मूलतो विनाशस्वरूपेण प्रद्वेषेण आन्तराप्रीतिरूपेण अन्तरायेण भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणलक्षणेन, अत्याशातनया च जात्याद्युद्घट्टनाऽऽदिहीलारूपया ज्ञानाऽऽवरणं कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम्। एतच्चोपलक्षणम्, अतो ज्ञानवर्णवादेनाऽऽचार्योपाध्यायाऽऽद्यविनयेनाकाले स्वाध्यायकरणेन काले च स्वाध्यायाविधानेन प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाविरमणाऽऽदिभिश्च ज्ञानाऽऽवरणं जयतीत्याद्यपि वक्तव्यमिति। एवं दर्शनाऽऽवरणेऽपि वाच्यम्, नवरं दर्शनाभिलापो वक्तव्यः। तथाहि—दर्शनस्य चक्षुर्दर्शनाऽऽदेः दर्शनिनां साध्वादीनां दर्शनसाधनस्य श्रोत्रनयननासिकाऽऽदेः सम्मत्यनेकान्तजयपताकाऽऽदिप्रमाणशास्त्रपुस्तकाऽऽदेर्वा प्रत्यनीकत्वेन तदनिष्टाऽऽचरणलक्षणेन निह्नवेन न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण, उपघातेन मूलतो विनाशेन, प्रद्वेषेण आन्तराप्रीत्यात्मकेन, अन्तरायेण भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणेन, अत्याशातनया च जात्यादिहीलया दर्शनाऽऽवरणं कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम्। उपलक्षणमिदम्। अतो दर्शनिनां दूषणग्रहणेन श्रवणकर्तननेत्रोत्पाटननासाच्छेदजिह्वाविकर्तनाऽऽदिना प्राणिवधानृतभाष

णस्तैन्याब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाविरमणाऽऽदिभिश्च दर्शनाऽऽवरणं जयतीत्याद्यपि वक्तव्यम्। यदवादि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः-"ज्ञानदर्शनयोस्तद्व-त्तद्धेतूनां च ये किल। विघ्ननिह्नवपैशुन्याऽऽ-शातनाघातमत्सराः ॥१॥" ते ज्ञानदर्शनाऽऽचारकर्महेतव आश्रवाः ॥ ५३ ॥ उक्ता ज्ञानावरणदर्शनाऽऽवरणबन्धहेतवः।

इदानीं वेदनीयस्य द्विविधस्याऽपि तानाह—

**गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।**
**दढधम्माई अज्जइ, सायमसायं विवज्जयओ ॥ ५४ ॥**

इह युतशब्दस्य प्रत्येकं योगस्ततो गुरवो मातापितृधर्माऽऽचार्याऽऽदयस्तेषां भक्तिरासनाऽऽदिप्रतिपत्तिर्गुरुभक्तिस्तया युतो गुरुभक्तियुतो-गुरुभक्तिसमन्वितो जन्तुः सातं सातवेदनीयमर्जयति-समुपार्जयतीति सम्बन्धः। क्षान्तियुतः क्षमाऽन्वितः, करुणायुतो-दयापरीतचेताः,व्रतयुतो-महाव्रताऽणुव्रतादिसमन्वितः, योगयुतो-दशविधचक्रवालसामाचार्याद्याचरणप्रगुणः, कषायविजययुतः-क्रोधाऽऽदिकषायपरिभवनशीलः, दानयुतो-दानरुचिः, दृढधर्मा—आपत्स्वपि निश्चलधर्मः, आदिशब्दाद्बालवृद्धग्लानाऽऽदिवैयावृत्यकरणशीलो जिनचैत्यपूजापरायणश्च सातमर्जयति-बध्नाति। यदवाचि-

"देवपूजागुरूपास्ति-पात्रदानदयाक्षमाः।
सरागसंयमो देश-संयमोऽकामनिर्जरा ॥ १ ॥
शौचं बालतपश्चेति, सद्वेद्यस्य स्युराश्रवाः।"

तथा विपर्ययतः सातबन्धविपर्ययेणासातमर्जयति, तथाहि-गुरूणामवज्ञायकः, क्रोधनो, निर्दयो, व्रतयोगविकलः, उत्कटकषायः, कार्पण्यवान्, सद्धर्मकृत्यप्रमत्तः, हस्त्यश्ववलीवर्दाऽऽदिनिर्दयदमनवाहनलाञ्छनाऽऽदिकरणप्रवणः स्वपरदुःखशोकवधतापक्रन्दनपरिदेवनाऽऽदिकारकश्चेति। यदभ्यधायि-"दुःखशोकवधास्ताप-क्रन्दने परिदेवनम्। स्वान्यो भयस्थाः स्युरस-द्वेद्यस्यामी इहाऽऽश्रवाः॥ १ ॥" इति ॥५४॥ उक्ता वेदनीयस्य बन्धहेतवः।

साम्प्रतं मोहनीयस्य द्विविधस्याऽपि तानाह—

**उम्मग्गदेसणाम-ग्गनासणादेवदव्वहरणेहिं।**
**दंसणमोहं जिणमुणि-चेइयसंघाइपडिणीओ ॥ ५५ ॥**

उन्मार्गस्य भवहेतोर्मोक्षहेतुत्वेन देशना कथनमुन्मार्गदेशना, मार्गस्य ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य मुक्तिपथस्य नाशनाऽपलपनं मार्गनाशना, देवद्रव्यस्य चैत्यद्रव्यस्य हरणं भक्षणोपेक्षणप्रज्ञाहीनत्वलक्षणम्। तत उन्मार्गदेशना च मार्गनाशना च देवद्रव्यहरणं च तैर्हेतुभिर्जीवो दर्शनमोहं मिथ्यात्वमोहनीयमर्जयति। तथा जिनमुनिचैत्यसङ्घाऽऽदिप्रत्यनीकः तत्र जिनास्तीर्थकराः, मुनयः-साधवः, चैत्यानि-प्रतिमारूपाणि, सङ्घः-साधुसाध्वीश्रावकश्राविकालक्षणः, आदिशब्दात्-सिद्धगुरुश्रुताऽऽदिपरिग्रहस्तेषां प्रत्यनीकोऽवर्णवादाशातनाऽऽद्यनिष्टनिर्वर्तको दर्शनमोहमर्जयति। यदभाणि-

"वीतरागे श्रुते सङ्घे, धर्मे सर्वसुरेषु च।
अवर्णवादिता तीव्र-मिथ्यात्वपरिणामिता ॥ १ ॥
सर्वज्ञसिद्धदेवाप-ह्नवो धार्मिकदूषणम्।
उन्मार्गदर्शनानर्था-ऽऽग्रहोऽसंयतपूजनम् ॥ २ ॥
असमीक्षितकारित्वं, गुर्वादिष्ववमानना।
इत्यादयो दृष्टिमोह-स्याऽऽश्रवाः परिकीर्तिताः ॥३॥" ॥५५॥

**दुविहं पि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो।**
**बंधइ नरयाउ महा-रंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५६ ॥**

द्विविधमपि—द्विभेदमपि चरणमोहं—चारित्रमोहनीयम् कषायमोहनीयनोकषायमोहनीयरूपं जीवो बध्नातीति सम्बन्धः। किंविशिष्ट इत्याह-कषायहास्याऽऽदिविषयविवशमनाः। तत्र कषायाः—क्रोधाऽऽदय उक्तस्वरूपाः षोडश, हास्याऽऽदयो-हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इति गृह्यन्ते, विषया शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाऽऽख्याः पञ्च। ततः कषायाश्च हास्याऽऽदयश्च विषयाश्च कषायहास्याऽऽदिविषयास्तैर्विवशं विसंस्थुलं पराधीनं मनो मानसं यस्य स कषायहास्याऽऽदिविषयविवशमनाः। इदमत्र हृदयम्—कषायविवशमनाः कषायमोहनीयं बध्नाति, हास्याऽऽदिविवशमनास्तु हास्याऽऽदिमोहनीयं हास्यमोहनीयरतिमोहनीयाऽरतिमोहनीयशोकमोहनीयभयमोहनीयजुगुप्सामोहनीयाऽऽख्यं नोकषायमोहनीयं बध्नाति,विषयविवशमनाः पुनर्वेदत्रयाऽऽख्यं नोकषायमोहनीयं बध्नाति। सामान्यतः सर्वेऽपि कषायहास्याऽऽदिविषया द्विविधस्यापि चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्ति। यत्प्रत्यपादि—

"कषायोदयतस्तीव्रः, परिणामो य आत्मनः।
चारित्रमोहनीयस्य, स आश्रव उदीरितः॥ १ ॥
उत्प्रासनं सकन्दर्पो—पहासो हासशीलता।
बहुप्रलापो दैन्योक्ति—र्हास्यस्यामी स्युराश्रवाः ॥ २ ॥
देशाऽऽदिदर्शनौत्सुक्यं, चित्रे रमणखेलने।
परचित्ताऽऽवर्जनं चे-त्याश्रवाः कीर्तिता रतेः ॥ ३ ॥
असूया पापशीलत्वं, परेषां रतिनाशनम्।
अकुशलप्रोत्सहनं, चारतेराश्रवा अमी ॥ ४ ॥
परशोकाऽऽविष्करणं, स्वशोकोत्पादशोचने।
रोदनादिप्रसक्तिश्च, शोकस्यैते स्युराश्रवाः ॥ ५ ॥
स्वयं भयपरीणामः, परेषामथ भापनम्।
त्रासनं निर्दयत्वं च, भय प्रत्याश्रवा अमी ॥ ६ ॥
चतुर्वर्णस्य संघस्य, परिवादजुगुप्सने।
सदाचारजुगुप्सा च, जुगुप्सायां स्युराश्रवाः ॥ ७ ॥
ईर्ष्या विषादगार्ध्ये च, मृषावादोऽतिवक्रता।
परदाररताऽऽसक्तिः, स्त्रीवेदस्याऽऽश्रवा इमे ॥ ८ ॥
स्वदारमात्रसन्तोषो-ऽनीर्ष्या मन्दकषायता।
अवक्राऽऽचारशीलत्वं, पुंवेदस्याऽऽश्रवा इति ॥ ९ ॥
स्त्रीपुंसानङ्गसेवोग्राः, कषायास्तीव्रकामता।
पाखण्डिस्त्रीव्रतभङ्गः, षण्ढवेदाऽऽश्रवा अमी ॥ १० ॥
साधूनां गर्हणा धर्मो-न्मुखानां विघ्नकारिता।
मधुमांसविरतानाम-विरत्यभिवर्णनम् ॥ ११ ॥
विरताविरतानां चा—न्तरायकरणं मुहुः।
अचारित्रगुणाऽऽख्यानं, तथा चारित्रदूषणम् ॥ १२ ॥
कषायनोकषायाणा-मन्यस्थानामुदीरणम्।
चारित्रमोहनीयस्य, सामान्येनाऽऽश्रवा अमी ॥ १३ ॥"

अभिहिता मोहनीयस्य बन्धहेतवः ॥ सम्प्रति चतुर्विधस्याऽऽयुषस्तानाह-"बंधइ नरयाउ" इत्यादि। बध्नाति-अर्जयति नरकाऽऽयुर्नारकाऽऽयुष्कं जीवः। किंविशिष्ट इत्याह-'महारम्भपरिग्रहरतो' महारम्भरतो महापरिग्रहरतश्चेत्यर्थः। रौद्रो रौद्रपरिणामो गिरिभेदसमानकषायरौद्रध्यानाकुलितचेताः

वृत्तिरित्यर्थः । उपलक्षणत्वात् पञ्चेन्द्रियवधाऽऽदिपरिग्रहः । यन्न्यगादि—

" पञ्चेन्द्रियप्राणिवधो, बह्वारम्भपरिग्रहौ ।
निरनुग्रहता मांस-भोजनं स्थिरवैरता ॥ १ ॥
रौद्रध्यानं मिथ्यात्वान-न्तानुबन्धिकषायता ।
कृष्णनीलकपोताश्च, लेश्या अनृतभाषणम् ॥ २ ॥
परद्रव्यापहरणं, मुहुर्मैथुनसेवनम् ।
अवशेन्द्रियता चेति, नरकाऽऽयुष आश्रवाः ॥ ३ ॥"

इति ॥ ५६ ॥ उक्ता नरकाऽऽयुषो बन्धहेतवः ।

इदानीं तिर्यगायुषस्तानाह—

**तिरियाउ गूढहियओ, सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।**
**पयईइ तणुकसाओ, दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥५७॥**

तिर्यगायुर्बध्नाति जीवः । किंविशिष्ट इत्याह—गूढहृदय उदायिनृपमारकाऽऽदिवत्तथाऽऽत्माभिप्रायं सर्वथैव निगूहति यथा नापरः कश्चिद्वेत्ति । शठो-वचसा मधुरः परिणामे तु दारुणः । सशल्यो-रागाऽऽदिवशाऽऽचीर्णानेकव्रतनियमाति-चारस्फुरदन्तःशल्योऽनालोचितप्रतिक्रान्तः । तथाशब्दा-दुन्मार्गदेशनाऽऽदिपरिग्रहः उक्तं च—

"उन्मार्गदेशना मार्ग—प्रणाशो गूढचित्तता ।
आर्तध्यानं सशल्यत्वं, मायारम्भपरिग्रहौ ॥ १ ॥
शीलव्रते सातिचारो, नीलकापोतलेश्यता ।
अप्रत्याख्यानकषाया-स्तिर्यगायुष आश्रवाः ॥ २ ॥ "

उक्तास्तिर्यगायुर्बन्धहेतव ॥ अथ मनुष्याऽऽयुषस्तानाह-"मणुस्साउ" इत्यादि । मनुष्याऽऽयुर्जीवो बध्नाति । किंविशिष्ट इत्याह-प्रकृत्या-स्वभावेनैव तनुकषायो रेणुराजिसमानकषायः, दानरुचिर्यत्र तत्र वा दानशीलः, मध्यमास्तदुचिताः केचिद् गुणाः क्षमामार्दवाऽऽर्जवाऽऽदयो यस्य स मध्यमगुणः । अधमगुणस्य हि नरकाऽऽयुःसंभवादुत्तमगुणस्य तु सिद्धेः सुरलोकाऽऽयुषो वा सम्भवादिति भावः । चशब्दादल्पपरिग्रहाल्पाऽऽरम्भाऽऽदिपरिग्रहः । उक्ता मनुष्याऽऽयुषो बन्धहेतवः । आह च—

" अल्पौ परिग्रहाऽऽरम्भौ, सहजे मार्दवार्जवे ।
कापोतपीतलेश्यात्वं, धर्मध्यानाऽनुरागिता ॥ १ ॥
प्रत्याख्यानकषायत्वं, परिणामश्च मध्यमः ।
संविभागविधायित्वं, देवतागुरुपूजनम् ॥ २ ॥
पूर्वाऽऽलापप्रियाऽऽलापौ, सुखप्रज्ञापनीयता ।
लोकयात्रासु माध्यस्थ्य, मानुषाऽऽयुष आश्रवाः ॥ ३ ॥ "

इति ॥ ५७ ॥

सम्प्रति देवायुऽऽषस्तानाह—

**अविरयमाइ सुराउं, बालतवोकामनिज्जरो जयइ ।**
**सरलो अगारविल्लो, सुहनामं अन्नहा असुहं ॥ ५८ ॥**

अविरतः-अविरतसम्यग्दृष्टिः सुराऽऽयुर्देवाऽऽयुष्कं जयति बध्नाति । आदिशब्दाद्देशविरतसरागसंयतपरिग्रहः । वीतरागसंयतस्त्वतिविशुद्धत्वादायुर्न बध्नाति, घोलणापरिणाम एव तस्य बध्यमानत्वात् । बालं तपो यस्य स बालतपाः, अनधिगतपरमार्थस्वभावो दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्योऽज्ञानपूर्वकनिर्वर्तिततपःप्रभृतिकष्टविशेषो मिथ्यादृष्टिः, सोऽप्यात्मगुणानुरूपं किञ्चिदसुराऽऽदिकाऽऽयुर्बध्नाति । यदाह भगवान् भाष्यकारः-" बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया । वेरेण य पडिबद्धा, मरिउं असुरेसु जायंति ॥ १ ॥ "

अकामस्यानिच्छतो निर्जरा कर्मविघटनलक्षणा यस्यासावकामनिर्जरः । इदमुक्तं भवति—" अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामसीयायवदंसमसगअण्हाणगसेयजल्लमलपंकपरिग्गहेणं दीहरोगवारगनिरोहबंधणयाए गिरितरुसिहरनिवडणयाए जलजलणपवेसअणसणाईहिं " उदकराजिसमानकषायस्तदुचितशुभपरिणामः कश्चिद् व्यन्तराऽऽदिकाऽऽयुर्बध्नाति । उपलक्षणत्वात् कल्याणमित्रसंपर्कमानसो धर्मश्रवणशील इत्यादिपरिग्रहः । यदाहुः-

" सरागसंयमो देश-संयमोऽकामनिर्जरा ।
कल्याणमित्रसंपर्को, धर्मश्रवणशीलता ॥ १ ॥
पात्रे दानं तपः श्रद्धा, रत्नत्रयाविराधना ।
मृत्युकाले परीणामो, लेश्ययोः पद्मपीतयोः ॥ २ ॥
बालं तपोऽग्नितोयाऽऽदि-साधनोल्लम्बनानि च ।
अव्यक्तसामायिकता, देवस्याऽऽयुष आश्रवाः ॥ ३ ॥ "

उक्ता देवाऽऽयुषो बन्धहेतवः । सम्प्रति नामकर्म यद्यपि द्विचत्वारिंशदादिभेदादनेकधा तथापि शुभाशुभविवक्षया द्विविधमित्यस्य द्विविधस्यापि बन्धहेतूनाह-"सरलो" इत्यादि, सरलः-सर्वत्र मायारहितः । गौरवाणि ऋद्धिरससातलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स गौरववान्, न गौरववान् अगौरववान् " आल्विल्लोल्लालवंतमंतेत्तेरमणामतोः " ॥ ८।२।१५९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने इल्लादेशः । उपलक्षणत्वात् संसारभीरुः, क्षमामार्दवाऽऽर्जवाऽऽदिगुणयुक्तः शुभं देवगतियशः-कीर्तिपञ्चेन्द्रियजात्यादिरूपं नामकर्म बध्नाति । अन्यथोक्तविपरीतस्वभावः । तथाहि—मायावी, गौरववान् , उत्कटक्रोधाऽऽदिपरिणामोऽशुभं नरकगत्ययशःकीर्त्येकेन्द्रियाऽऽदिजातिलक्षणं नामकर्मार्जयतीति । उक्तं च-

" मनोवाक्कायवक्रत्वं, परेषां विप्रतारणम् ।
मायाप्रयोगो मिथ्यात्वं, पैशुन्यं चलचित्तता ॥ १ ॥
सुवर्णाऽऽदिप्रतिच्छन्द-करणं कूटसाक्षिता ।
वर्णगन्धरसस्पर्शा-न्यथोपपादनानि च ॥ २ ॥
अङ्गोपाङ्गच्यावनानि, यन्त्रपञ्जरकर्म च ।
कूटमानतुलाकर्मा-ऽन्यनिन्दाऽऽत्मप्रशंसनम् ॥ ३ ॥
हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्म—महारम्भपरिग्रहाः ।
परुषासभ्यवचनं शुचिवेषाऽऽदिना मदः ॥ ४ ॥
मौखर्याक्रोशौ सौभाग्यो-पघाता कार्मणक्रियाः ।
परकौतूहलोत्पादः, परहास्यविडम्बने ॥ ५ ॥
वेश्याऽऽदीनामलङ्कार-दानं दावाग्निदीपनम् ।
देवाऽऽदिव्याजाद्गन्धाऽऽदि-चौर्यं तीव्रकषायता ॥ ६ ॥
चैत्यप्रतिश्रयाऽऽराम-प्रतिमानां विनाशनम् ।
अङ्गाराऽऽदिक्रिया चेत्य-शुभस्य नाम्न आश्रवाः ॥ ७ ॥
एत एवान्यथारूपा-स्तथा संसारभीरुता ।
प्रमादहानं सद्भावा-र्पणं क्षान्त्यादयोऽपि च ॥ ८ ॥
दर्शने धार्मिकाणां च, संभ्रमः स्वागतक्रिया ।
परोपकारसारत्व-माश्रवाः शुभनामनि ॥ ९ ॥ "

इति ॥ ५८ ॥ उक्ता नाम्नो बन्धहेतवः ।

सम्प्रति गोत्रस्य द्विविधस्याऽपि तानाह—

**गुणपेही मयरहिओ, अज्झयणज्झावणारुई निच्चं ।**
**पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ५९ ॥**

गुणप्रेक्षी—यस्य यावन्तं गुणं पश्यति, तस्य तमेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास्त इत्यर्थः । मदरहितो-वि

शिष्टजातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुताऽऽदिसंपत्समन्वितो ऽपि निरहङ्कारः । नित्यं-सर्वदाऽध्ययनाऽध्यापनारुचिः स्वयं पठतीतरांश्च पाठयति, अर्थतश्च स्वयमभीष्टं विसृशति परेषां च व्याख्यानयति, असतां वा पठनाऽऽदिशक्तौ तीव्र-बहुमानः परानध्ययनाध्यापनपरायणाननुमोदते । तथा जिनाऽऽदिभक्तो-जिनानां-तीर्थनाथानामादिशब्दात्-सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषां च गुणगरिष्ठानां भक्तो बहुमानपरः । प्रकरोति प्रकर्षेण समुपार्जयत्युच्चमुच्चैर्गोत्रम् । नीचं नीचैर्गोत्रमितरथा तु भणितविपरीतस्वभावः । उक्तं च-

" परस्य निन्दाऽवज्ञोप-हासाः सद्गुणलोपनम् ।
सदसद्दोषकथन-मात्मनस्तु प्रशंसनम् ॥ १ ॥
सदसद्गुणशंसा च, स्वदोषाऽऽच्छादनं तथा ।
जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राऽऽश्रवा अमी ॥ २ ॥
नीचैर्गोत्राऽऽश्रवविप-र्यासो विगतगर्वता ।
वाक्कायचित्तैर्विनय, उच्चैर्गोत्राऽऽश्रवा अमी ॥ ३ ॥ "
इति ॥ ५९ ॥ उक्ता गोत्रस्य बन्धहेतवः ।

साम्प्रतमन्तरायस्य ये बन्धहेतवस्तानभिधित्सुः शास्त्रमिदं समर्थयन्नाह—

**जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाऽऽइपरायणो जयइ विग्घं ।**
**इय कम्मविवागोऽयं, लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥ ६० ॥**

जिनपूजाविघ्नकरः सावद्यदोषोपेतत्वात् गृहिणामप्येषाऽविधेयेत्यादिकुदेशनाऽऽदिभिः समया तस्तत्त्वदूरीकृतो जिनपूजानिषेधक इत्यर्थः । हिंसा जीववध आदिशब्दादनृतभाषणस्तैन्याब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाविरमणाऽऽदिपरिग्रहस्तेषु परायणस्तत्परः । उपलक्षणत्वान्मोक्षमार्गस्य ज्ञानचारित्राऽऽदेस्तद्दोषप्रदर्शनाऽऽदिना विघ्नं करोति, साधुभ्यो वा भक्तपानोपाश्रयोपकरणभेषजाऽऽदिकं दीयमानं निवारयति, तेन चैतद्विधता मोक्षमार्गः सर्वोऽपि विघ्नितो भवति, अपरेषामपि सत्त्वानां दानलाभभोगपरिभोगविघ्नं करोति, मन्त्राऽऽदिप्रयोगेण च परस्य वीर्यमपहरति, हठाच्च वधबन्धनिरोधाऽऽदिभिः परं निश्चेष्टं करोति, छेदनभेदनाऽऽदिभिश्च परस्येन्द्रियशक्तिमुपहन्ति । स किमित्याह-जयति धातूनामनेकार्थत्वादर्जयति विघ्नं पञ्चप्रकारमप्यन्तरायकर्म । इति पूर्वोक्तप्रकारेण कर्मविपाकः-कर्मविपाकनामकं शास्त्रमयं संप्रलेय- निगदितस्वरूपो लिखितोऽक्षरविन्यासीकृतो देवेन्द्रसूरिभिः कराल-कलिकालपातालतलावमज्जज्जिनधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकैरिति । कर्म० १ कर्म० ।

बंधाइपसाहग-बन्धाऽऽदिप्रसाधक-त्रि० । बन्धमोक्षाऽऽदिगुणे, पञ्चव० ४ द्वार ।

बंधाबंध-बन्धबन्ध-पुं० । कति प्रकृतीर्बध्नन् कति प्रकृतीर्बध्नातीत्येवं बन्धसमकालिकसत्ताकबन्धे, भ० १६ श० २ उ० ।

बंधिऊण-बध्वा-अव्य० । आबध्येत्यर्थे, " वत्थेणं बंधिऊणं, णासं अहवा जहा समाहीए ।" पञ्चा० ५ विव० ।

बंधु- बंधु -पुं० । भ्रातरि " बंधू सयणो सणाही य । " पाइ० ना० १०१ गाथा ।

बंधुक्किट्ठठिइ-बन्धोत्कृष्टस्थिति-स्त्री० । बन्धमाश्रित्योत्कृष्टायां स्थितौ, क० प्र० २ प्रक० । पं० सं० ।

बंधुजीव-बन्धुजीव-पुं० । द्विप्रहरप्रकाशिपुष्पप्रधाने वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

बंधुदत्त-बन्धुदत्त-पुं० । षड्दर्शनप्रवीणस्य विदुरनाम्न आकृत्याऽऽचार्यस्य पादजयेन प्रव्राजके साधौ, ध ० र० ३ अधि० ६ लक्ष० ।

बंधुमई-बन्धुमती-स्त्री० । वसन्तपुरवास्तिकस्य श्रेष्ठिनो भद्रिलायां सुन्दर्यां जातायां स्वनामख्यातायां दारिकायाम्, पिं० । चम्पाया नगर्यां राजगृहस्य चान्तरा गोबरग्रामे गोशङ्खिनः कुटुम्बिनः स्त्रियाम्, आ० चू० १ अ० । आ० म० । आ० क० । राजगृहे नगरेऽर्जुनस्य मालाकारस्य भार्यायाम्, अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग ३ अ० । ( बन्धुमतीवृत्तम् ' अज्जुणमालगार ' शब्दे १ भागे २६१ पृष्ठे गतम् )

बंधुर-बन्धुर-त्रि० । सुन्दरे, " रुइरं राहं रम्मं, अहिरामं बंधुरं मणुज्जं च । लट्ठं कंतं सुहयं, मणोरमं चारु रमणिज्जं ॥ १ ॥ " पाइ० ना० १४ गाथा ।

बंधुविप्पहूण-बन्धुविप्रहीण-त्रि० । विद्यमानबान्धवविप्रमुक्ते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

बंधुसिरी-बन्धुश्री-स्त्री० । मथुरायां नगर्यां श्रीदामस्य राज्ञो भार्यायां नन्दिषेणमातरि, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

बंधूय-बन्धूक-पुं० । रक्तपुष्पप्रधाने वृक्षभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

बंधव्व-बद्धव्य-त्रि० । बन्धनकर्मीभूते कर्मणि, प० सं० १ द्वार । ( यद्बध्या हि कर्मप्रकृतयः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २५८ पृष्ठे दर्शिताः )

बंधोल्ल-देशी । मेलके, दे० ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

बंभ-ब्रह्मन्-न० । बृहत्त्वाद् ब्रह्म । महति, षो० १६ विव० । परमाऽऽत्मनि, द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपरं च । तत्र-" परं सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म " इति श्रुतिप्रसिद्धम् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । विपा० । आ० म० । मो० सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

भुक्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं ?,
सम्प्रीणिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ? ।
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किं ?,
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥ १ ॥
इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यजातं,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
अत्यन्तनिर्वृतिकरं यदपेतबन्धं,
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनाऽस्ति ॥ २ ॥ " विशे० । अशेषमलकलङ्कविकलयोगिगम्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं विना । शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥ अष्ट० २६ अष्ट० । या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या, बाह्यापेक्षावलम्बिनी । मुनेः परानपेक्षान्त-र्गुणसृष्टिस्ततोऽधिका ॥ ७ ॥ " अष्ट० २० अष्ट० ।

ब्रह्मन्-पुं० । जगत्पितामहे कमलयोनौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । ब्रह्मा हि चतुर्मुखो विष्णुनाभिकमलादुत्पद्य सकलं जगज्जनयामास । स पञ्चमुखः पर्योत्पन्नः पश्चाद् चतुर्मि-

दा' सञ्जात इत्यादिपुराणप्रसिद्धम् । हा०१ अष्ट० । अभिजि-नक्षत्रस्य ब्रह्मा देवता । चं० प्र० १० पाहु० १२ पाहु०पाहु० । अनु० । ब्रह्मलोकाऽभिधानपञ्चमदेवलोकस्येन्द्रे, स० ६०सम० । आव० । स्था० ।

दो बम्हा । स्था० २ ठा० ३ उ० । स० । औ० ।

जम्बूद्वीपे भारते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते द्वितीयबलदेव-वासुदेवमातरि, स० । स्था० । आव० । दशाश्रुतस्कन्धस्य जनहितानाम्नीवृत्तेः कारके स्वनामख्याते सूरौ, दशा० १ अ० । अहोरात्रस्य नवमे मुहूर्त्ते, चं०प्र० १० पाहु० । स० । कल्प० । ज्ञा० । मैथुनविरतौ, जं०२ वक्ष० । स० । उत्त० । कुशलानुष्ठाने, "ब्रह्म सत्यं तपो ब्रह्म, ब्रह्म विप्रः प्रजापतिः ।" आव० ६ अ० ।

ब्रह्मनिक्षेपः—

बंभम्मी य चउक्कं, ठवणाए होइ बंभणुप्पत्ती ।

सत्तण्हं वण्णाणं, नवण्ह वण्णंतराणं च ॥ १८ ॥

तत्र ब्रह्म नामाऽऽदि(भेदात्)चतुर्द्धा, तत्र नामब्रह्म-ब्रह्मेत्यभि-धानम्, असद्भावस्थापना अक्षाऽऽदौ, सद्भावस्थापना प्रति-विशिष्टयज्ञोपवीताऽऽद्याकृतिमृल्लेप्याऽऽदौ द्रव्ये, अथवा-स्थाप-नायां व्याख्यायमानायां ब्राह्मणोत्पत्तिर्वक्तव्या, तत्प्रसङ्गेन च सप्तानां वर्णानां नवानां च वर्णान्तराणामुत्पत्तिर्भणनीयेति ।

यथाप्रतिज्ञातमाह—

एका मणुस्सजाई, रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे ।

तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि ॥ १९ ॥

यावन्नाभेयो भगवान्नाद्यापि राजलक्ष्मीमध्यास्ते, तावदेकै-व मनुष्यजातिः, तस्यैव राज्योत्पत्तौ भगवन्तमेवाऽऽश्रित्य ये स्थितास्ते क्षत्रियाः, शेषाश्च शोचनाद्रोदनाच्च शूद्राः, पुन-रग्न्युत्पत्तावयस्काराऽऽदिशिल्पवाणिज्यवृत्त्या वेशनाद्वैश्याः, भगवतो ज्ञानोत्पत्तौ भरतकाक(कि)णीलाञ्छनाच्छ्रावका एव ब्राह्मणा जज्ञिरे, एते शुद्धास्त्रयश्चान्ये गाथान्तरितगाथया प्रद-र्शयिष्यन्ते ।

साम्प्रतं वर्णवर्णान्तरनिष्पन्नं संख्यानमाह-

संजोगे सोलसगं, सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो ।

एए दो वि विगप्पा, ठवणा बंभस्स णायव्वा ॥ २० ॥

संयोगेन षोडश वर्णाः समुत्पन्नाः, तत्र सप्त वर्णा नव तु वर्णान्तराणि, एतच्च वर्णवर्णान्तरविकल्पद्वयं स्थापना-ब्रह्मेति ज्ञातव्यम् ।

साम्प्रतं पूर्वसूचितं वर्णत्रयमाह । यदि वा-प्रागुद्दिष्टान् सप्त वर्णानाह—

पगई चउक्कगाणं-तरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ ।

आणंतरेसु चरमो, वण्णो खलु होइ णायव्वो ॥ २१ ॥

प्रकृतयश्चतस्रः-ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राऽऽख्या आसामेव चतसृणामनन्तरयोगेन प्रत्येकं वर्णत्रयोत्पत्तिः । तद्यथा-द्विजेन क्षत्रिययोषितो जातः प्रधानक्षत्रियः सङ्करक्षत्रियो वा । एवं क्षत्रियेण वैश्ययोषितो वैश्येन शूद्रयाः प्रधानसङ्करभेदौ च कव्याविव्येवं सप्त वर्णा भवन्ति, अनन्तरेषु भवा आन न्तरास्तेषु योगेषु चरमवर्णव्यपदेशो भवति ब्राह्मणेन क्ष त्रियायां क्षत्रियो भवतीत्यादि, स च स्वस्थाने प्रधानो भवतीति भावः ।

इदानीं वर्णान्तराणां नवानां नामान्याह—

अंबट्ठुग्गनिसाया, य अजोगवं मागहा य सूया य ।

खत्ता य विदेहा वि य, चंडाला नवमगा हुंति ॥ २२ ॥

अम्बष्ठः १, उग्रः २, निषादः ३, अयोगवं ४, मागधः ५, सूतः ६, क्षत्ता ७, विदेहः ८, चाण्डालश्चेति ९ ।

कथमेते भवन्तीत्याह—

एगंतरिए इणमो, अंबट्ठो चेव होइ उग्गो य ।

बिइयंतरिअ निसाओ, परासरं तं च पुण वेगे ॥ २३ ॥

पडिलोमे सुद्दाई, अजोगवं मागहो य सूओ अ ।

एगंतरिए खत्ता, वेदेहा चेवं नायव्वा ॥ २४ ॥

बितियंतरेय नियमा, चंडालो सोऽवि होइ णायव्वो ।

अणुलोमे पडिलोमे, एवं एए भवे भेया ॥ २५ ॥

आसामर्थो यन्त्रकादवसेयः । तच्चेदम्-ब्रह्मपुरुषः वैश्या स्त्री अम्बष्ठः । क्षत्रिय पुरुषः शूद्री स्त्री उग्रः । ब्राह्मण पुरु-षः शूद्री स्त्री निषादः, पारासरो वा । शूद्रः पुरुषः वैश्या स्त्री अयोगवम् । वैश्यपुरुषः क्षत्रिया स्त्री मागधः । क्षत्रियः पुरुषः ब्रह्मस्त्री सूतः । शूद्रः पुरुषः क्षत्रिया स्त्री क्षत्ता । वै-श्यपुरुषः ब्राह्मस्त्री वैदेह । शूद्रपुरुषः ब्राह्मस्त्री चाण्डालः । एतानि नव वर्णान्तराणि ।

इदानीं वर्णान्तराणां संयोगोत्पत्तिमाह—

उग्गेणं खत्ताए, सोवागो वेणवो विदेहेणं ।

अंबट्ठीए सुद्दीएँ, बुक्कसो जो निसाएणं ॥ २६ ॥

सूएण निसाईए, कुक्करओ सो वि होइ णायव्वो ।

एसो बीओ भेओ, चउव्विहो होइ णायव्वो ॥ २७ ॥

अनयोरप्यर्थो यन्त्रकादवसेयः तच्चेदम्—उग्रपुरुषः क्षत्ता स्त्री श्वपाकः । विदेहः पुरुषः क्षत्ता स्त्री वैणवः । निषादः पुरुषः अम्बष्ठी स्त्री, शूद्री स्त्री वा बुक्कसः । शूद्रः पुरुषः नि-षादस्त्री कुक्कुरकः । गतं स्थापनाब्रह्म ।

इदानीं द्रव्यब्रह्मप्रतिपादनायाऽऽह—

दव्वं सरीरभविओ, अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव ।

भावे उ वत्थिसंजम, णायव्वो संजमो चेव ॥ २८ ॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं शाक्यपरिव्राजकाऽऽदीनामज्ञा-नानुगतचेतसां वस्तिनिरोधमात्रं विधवाप्रोषितभर्तृकाऽऽदीना-ना च कुलव्यवस्थाऽर्थं कारितानुमतियुक्तं द्रव्यब्रह्म, भावब्र-ह्म तु साधूनां वस्तिसंयमः अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव, सप्तदशविधसंयमाभिन्नरूपत्वादस्येति । अष्टादश भे-दास्त्वमी-" दिव्यात्कामरतिसुखात्, त्रिविधं त्रिविधेन वि-रतिरिति नवकम् । औदारिकादपि तथा, तद् ब्रह्माऽष्टादश-विकल्पम् ॥ १ ॥"

चरणनिक्षेपार्थमाह—

चरणम्मि होइ छक्कं गइमाहारो गुणो व चरणं च ।

खित्तम्मि जम्मि खित्ते, काले कालो जहिं जो उ ॥ २९ ॥

चरणं नामाऽऽदि षोढा व्यतिरिक्तं द्रव्यचरणं त्रिधा भवति, गतिभक्षणगुणभेदात्, तत्र गतिचरणं गमनमेव, आहारच-रणं मोदकाऽऽदेः, गुणचरणं द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरं च-

लौकिकं यत् द्रव्यार्थं हस्तिशिक्षाऽऽदिकं वैद्यकाऽऽदिकं वा शिक्ष्यन्ते, लोकोत्तरं साधूनामनुपयुक्तचरणमुदायिनृपमारकाऽऽदे-र्वा, क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे गत्याहाराऽऽदि चर्यते-व्यावर्ण्यते वा, शब्दसामान्यान्तर्भावाद्वा शालिक्षेत्राऽऽदिचरणमिति, कालेऽप्येवमेव ।

भावचरणमाह—

भावे गइमाहारो, गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था ।
गुणचरणे पसत्थे-ण बंभचेरा नव हवंति ॥ ३० ॥

भावचरणमपि गत्याहारगुणभेदात् त्रिधा, तत्र गतिचरणं साधोरुपयुक्तस्य युगमात्रदत्तदृष्टेर्गच्छतः, भक्षणचरणमपि शुद्धं पिण्डमुपभुञ्जानस्य, गुणचरणमप्रशस्तं मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्दृष्टीनामपि सनिदानं प्रशस्तं, तेषामेव कर्मोच्छेदनार्थं मूलोत्तरगुणकलापविषयम्, इह चानेनैवाधिकारो, यतो नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमनुशीलयन्ते । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । नि० चू० । ईषत्प्राग्भाराया पृथिव्या तस्याः सकललोकमयत्वात् । स० १२ सम० ।

अष्टादश ब्रह्माणि—

अट्ठारसविहे बंभे पण्णत्ते । तं जहा-ओरालिए कामभोगे णेव सयं मणेणं सेवइ, नावि अन्नं मणेणं सेवावेइ, मणेणं सेवंतं वि अन्नं न समणुजाणइ । ओरालिए कामभोगे नेव सयं वायाए सेवइ, नेव अन्नं वायाए सेवावेइ, वायाए सेवंतं वि अन्नं न समणुजाणइ, ओरालिए कामभोगे नेव सयं काएणं सेवइ, नावि अन्नं काएणं सेवावेइ, काएणं सेवंतं वि अन्नं न समणुजाणइ, दिव्वे कामभोगे नेव सयं मणेणं सेवइ, नावि अन्नं मणेणं सेवावेइ , मणेणं सेवंतं वि अन्नं न समणुजाणइ, दिव्वे कामभोगे नेव सयं वायाए सेवइ , नावि अन्नं वायाए सेवावेइ , वायाए सेवंतं वि अन्न न समणुजाणइ दिव्वे कामभोगे नेव सयं काएणं सेवइ, नावि अन्नं काएण सेवावेइ, काएणं सेवंतं वि अन्नं न समणुजाणइ । स० १८ सम० ।

ब्रह्मन्-न०। बृह मनिन्। "बृंहेर्नोऽच्च।" (उणा०५८५) इति नकारस्याकारत्वम्। वेदे, तपसि, सत्ये, तत्त्वे यथार्थे, तुरीये सर्वगुणातीते विशुद्धे चित्स्वरूपे च । हिरण्यगर्भे, विप्रे, ऋत्विग्विशेषे च । पुं० । उज्ज्वलदन्तेन दन्तोष्ठ्याऽऽदित्वमेव साधितम्। मेदिनीकारेण ओष्ठ्याऽऽदित्वेन कीर्त्तनात्तथात्वमपि, किंतु तन्मूलं मृग्यम् । वाच० । आर्यसुहस्तिनः प्रथमशिष्ये, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

ब्राह्म-पुं० । अलङ्कृत्य कन्यादानरूपे विवाहभेदे, स० ।

षष्ठदेवलोके हि ब्राह्माऽऽदीनि विमानानि—

जे देवा बंभं सुबंभं बंभावत्तं बंभप्पभं बंभकंतं बंभवण्णं बंभलेसं बंभज्झयं बंभसिंगं बंभसिद्धं बंभकूडं बंभुत्तरवर्डिसगं विमाणं देवत्ताए उववन्ना तेसि णं देवाणं एक्कारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । स० ११ सम० ।

बंभउत्त-ब्रह्मोप्त-त्रि० । ब्रह्माऽऽदितबीजोत्पन्ने, "बंभउत्ते अयं लोए ।" ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तो लोक इत्यर्थः । परे एवं व्यवस्थिताः । तथाहि-तेषामयमभ्युपगमः । ब्रह्मा जगत्पितामहः । सचैक एव जगदवासीत् तेन च प्रजापतयः सृष्टास्तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । एषां च मतमयथार्थमीश्वरकृतलोकखण्डनेनास्य दूषितत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

बंभंड-ब्रह्माण्ड-न० । अण्डवद्वृत्ते पौराणिकसंमतलोके, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

बंभंडपुराण-ब्रह्माण्डपुराण-न० । जगतो ब्रह्मकृतत्वप्रतिपादके पुराणे, "भरहो वि चम्मरयणे खंधावारं ठवेऊण उवरिं छत्तरयणं ठावेइ मणिरयणं छत्तरयणवत्थिभाए ठवेइ । ततो पभिइ लोगेण अंडसंभवं जगं पणीयं ति ।" तद् ब्रह्माण्डपुराणम् । ( ३४४ गा० ) आ० म० १ अ० ।

बंभकूड-ब्रह्मकूट-न० । महाविदेहे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, जं० ।

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे बंभकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ? । गोयमा ! णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं महाकच्छस्स पुरत्थिमेणं कच्छावईए पच्चत्थिमेणं एत्थ णं महाविदेहे वासे बं(भ)म्हकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे सेसं जहा चित्तकूडस्स ०जाव आसयंति । बम्हकूडे चत्तारि कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ बम्हकूडे २ महाकच्छकूडे ३ कच्छावइकूडे ४ एवं ०जाव अट्ठो बम्हकूडे इत्थ देवे पलिओवमट्ठिए परिवसइ, से तेणट्ठेण ।

( कहि णमित्यादि ) सर्वं व्यक्तम् । ब्रह्मकूटनामा द्वितीयो वक्षस्कारः चित्रकूटाऽतिदेशेन यावत्पदादायामसूत्राऽऽदिकं भूमिरमणीयसूत्रान्तं च सर्वं वाच्यम् । अथात्र कूटवक्तव्यमाह-( बम्हकूडे चत्तारि कूडा ) इत्यादि व्यक्तं, नवरम् एवं चित्रकूटवक्षस्कारकूटन्यायेन वाच्यं यावत् " समा उत्तरदाहिणेणं परूप्परंति " इत्यादि ग्राह्यम् । अर्थो ब्रह्मकूटशब्दार्थः । " से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ बम्हकूडे इत्यालापकेन उल्लेख्यः । ब्रह्मकूटनामा देवश्चात्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति, तदेतेनार्थोऽतिसुगमः । जं० ४ वक्ष० ।

बंभगिरि-ब्रह्मगिरि-पुं० । नासिक्यपत्तनसमीपवर्तिस्वनामख्याते महादुर्गे. ती० २६ कल्प ।

बंभगुत्ति-ब्रह्मगुप्ति-स्त्री० । ब्रह्मचर्यगुप्तौ, ग० ।

" नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विवित्ताइं सयणाऽऽसणाइं सेवित्ता भवइ,नो इत्थिसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १,नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ ।"नो स्त्रीणा केवलाना कथां धर्मदेशनाऽदिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपाम्२। " नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवति " स्थान निषद्या । ३। 'नो इत्थीणं मणोहराइं मणोरमाइं इंदिआइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४। णो पणीयरसभोई ५। णो पाणभोयणस्स अइमातमाहारए सया भवइ ६। णो पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ ७। णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाई नो सिलोगाणुवाई

८। नो सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ६।" इति ब्रह्मगुप्तिः। ग० १ अधि० । स्था० ६ ठा० । स० । आ० चू० ।

**बंभचेर-ब्रह्मचर्य-** न० । ब्रह्म च-कुशलानुष्ठानं , तच्च तच्चर्यं चाऽऽसेव्यमिति ब्रह्मचर्यम् । स्था० ६ ठा० । "ब्रह्मचर्यतूर्यसौन्दर्यसौण्डीर्ये र्यो रः" ॥ ८ । २ । ६३ ॥ इति र्येस्य रः । प्रा० २ पाद । " ब्रह्मचर्ये चः " । ८ । १ । ५९ ॥ इति ब्रह्मचर्यशब्दे चकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैकारः । प्रा० १ पाद । विशुद्धतपोऽनुष्ठाने, दश० ६ अ० १ उ० । संयमे, स्था० ६ ठा० । अब्रह्मविरमणे, स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० । वस्तिनिरोधे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । मदनपरित्यागे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । मैथुनव्रते, स्था० ६ ठा० । स्त्र्यादिपरिभोगाभावमात्रे , भ० १ श० १ उ० । मैथुनविरतिरूपं ब्रह्मचर्यं द्विधा-सर्वतो, देशतश्च । तत्र सर्वथा-सर्वस्त्रीणां मनोवाक्कायैः सङ्गत्यागः सर्वतो ब्रह्मचर्यम् । तच्चाष्टदशधा"- यतो योगशास्त्रे "दिव्यौदारिककामानां,कृतानुमतिकारितैः । मनोवाक्कायतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥१॥" इति । तदितरद्देशस्तत्रोपाशकः सर्वतोऽशक्तौ देशतस्तत्स्वदारसन्तोषरूपं परदारवर्जनरूपं वा प्रतिपद्यते । ध० २ अधि० ।

किं ब्रह्मचर्यं, कथं कर्तव्यं, के कुर्वन्ति—

जंबू ! एत्तो य बंभचेरं उत्तमतवनियमनाणदंसणचरित्तसम्मत्तविणयमूलं यमनियमगुणप्पहाणजुत्तं हिमवंतमहंततेयमंतं पसत्थगंभीरथिमियमज्झं अज्जवसाहुजणाचरियं मोक्खमग्गं विसुद्धसिद्धिगइनिलयं सासयमव्वाबाहमपुणब्भवं पसत्थं सोम्मं सुहं सिवमचलमक्खयकरं जतिवरसारक्खियं सुचरियं सुभासियं नवरि मुणिवरेहिं महापुरिसधीरसूरधम्मियधितिमंताण य सयाविसुद्धं भव्वं भव्वजणाणुचरियं निस्संकियं निब्भयं नित्तुसं निरायासं निरुवलेवं निव्वुइघरं नियमनिप्पकंपं तवसंजममूलदलियणेम्मं पंचमहव्वयसुरक्खियं समितिगुत्तिगुत्तं झाणवरकवाडसुकयमज्झप्पादिण्णफलिहं सन्नद्धोच्छइयदुग्गतिपहं सुगतिपहदेसगं च लोगुत्तमं च वयमिणं पउमसरतलागपालिभूयं महासगडअरगतुंबभूयं महाविडिमरुक्खक्खंधभूयं महानगरपागारकवाडफलिहभूयं रज्जुपिणद्धो व्व इंदकेऊ विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं संभग्गमहियचुण्णियकुसल्लियपल्लट्टपडियखंडियपरिसडियविणासियं विणयसीलतवनियमगुणसमूहं । ( १ ) ॥

( जंबू इत्यादि ) तत्र जम्बूरित्यामन्त्रणम् । ( एत्तो य त्ति ) इतश्चादत्ताऽऽदानविरमणाभिधानसंवरभणनादनन्तरम् । ( बंभचेरं ति ) ब्रह्मचर्याऽऽभिधानं चतुर्थं संवरद्वारमुच्यते इति शेषः । किं स्वरूपं तदित्याह-उत्तमा -प्रधाना ये तप-प्रभृतयस्ते तथा, तत्र तपः- अनशनाऽऽदि नियमाः-पिण्डविशुद्ध्यादयः, उत्तरगुणाः-ज्ञानं विशेषबोधो, दर्शनं-सामान्यबोधः,चारित्रं सावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं, सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमाऽऽदिसमुत्थो जीवपरिणामः, विनयःअभ्युत्थानाऽऽद्युपचारः, ततः एतेषां मूलमिव मूलम्-कारणं यत्तत्तथा , ब्रह्मचर्यवान् हि तपःप्रभृतीनुत्तमान् प्राप्नोति नाऽन्यथा । यदाह—

" जइ ठाणी जइ मोणी, जइ झाणी वक्कली तवस्सी वा ।
पत्थंतो अ अबंभं, बंभावि न रोयए मज्झ ॥ १ ॥
तो पढियं तो गुणियं तो मुणियं तो य चेइओ अप्पा ।
आवडियपेल्लियामं-तिओ वि न कुणइ अकज्जं ॥ २ ॥ "

यमा-अहिंसाऽऽदयः, नियमा-द्रव्याऽऽद्यभिग्रहाः पिण्डविशुद्ध्यादयो वा, ते च ते गुणाना मध्ये प्रधानाश्च तैर्युक्तं यत्तत्तथा । ( हिमवंतमहंततेयमंत ) हिमवतः पर्वतविशेषात्सकाशान्महत्—गुरुकं तेजस्वि-प्रभाववद्यत्तत्तथा । यथाहि-पर्वतानां मध्ये हिमवान् गुरुकः प्रभावांश्च, एवं व्रतानामिदमिति भावः । आह च—

" व्रतानां ब्रह्मचर्यं हि, निर्दिष्टं गुरुकं मतम् ।
तज्जन्यपुण्यसम्भार-संयोगाद् गुरुरुच्यते ॥ १ ॥"

तन्त्रान्तरीयैरप्युक्तम्—

" एकतश्चतुरो वेदाः, ब्रह्मचर्यं च एकतः ।
एकतः सर्वपापानि , मद्य मांसं च एकतः ॥ १ ॥ "

प्रशस्तं प्रशस्य गम्भीरमतुच्छं स्तिमितं स्थिरं मध्यं देहिनोऽन्तःकरणं यस्मिन् सति तत्तथा, आर्जवै -ऋजुनोपेतैः साधुजनैराचरितमासेवितं मोक्षस्य च मार्ग इव मार्गो यत्तत्तथा । वाचनान्तरे-प्रशस्तैः प्रशस्यैः गम्भीरैरलक्ष्यदैन्याऽऽदिविकारैः स्तिमितैः कायचापलाऽऽदिरहितैर्मध्यस्थैः रागद्वेषानाकलितैः आर्जवसाधुजनैराचरितं मोक्षमार्गस्य यत्तत्तथा, विशुद्धा रागाऽऽदिदोषरहितत्वेन निर्मला या सिद्धिः कृतकृत्यता सैव गम्यमानत्वाद्गतिर्विशुद्धसिद्धिगतिर्जीवस्य स्वरूपं सैव निलय इव निलयः स्वरूपैः सर्वसिद्धानां निलयनाद्विशुद्धसिद्धिगतिनिलयः शाश्वतः साद्यपर्यवसितत्वात् अव्याबाधः क्षुधादिबाधारहितत्वात् अपुनर्भवस्ततः पुनर्भवसम्भवाभावात् प्रशस्त उक्तगुणयोगादेव, सौम्यो रागाऽऽद्यभावात् सुखः सुखस्वरूपत्वात् शिवः सकलद्वन्द्ववर्जितत्वात् अचलः स्पन्दनाऽऽदिवर्जितत्वात् अक्षयश्च तत्पर्यायाणामपि कथञ्चिदक्षयत्वात् अक्षतो वा पूर्णः पौर्णमासीचन्द्रवत् तं करोतीत्येवंशीलं यत्तथा , मकारस्त्विह पाठे आगमिकः, पाठान्तरेण-सिद्धिगतिनिलयं शाश्वतहेतुत्वात् शाश्वतम् , अव्याबाधहेतुत्वादव्याबाधम् , अपुनर्भवहेतुत्वादपुनर्भवम् । अत एव प्रशस्तं सौम्यं च सुखहेतुत्वात्शिवहेतुत्वाच्च सुखशिवम् । अचलनहेतुत्वादचलनम् । अक्षयकरणादक्षयकरणं, ब्रह्मचर्यमिति प्रक्रमः । यतिवरैः मुनिप्रधानैः संरक्षितं-पालितं यत्तत्तथा,सुचरित शोभनं शोभनानुष्ठानं सुचरितत्वेऽपि नाविशेषणोपदिष्ट मुनिभिरिति दर्शयन्नाह-सुसाधितं सुष्ठु प्रतिपादितं "नवरि त्ति"केवलं मुनिवरैर्महर्षिभिः महापुरुषाश्च ते जात्याद्युत्तमाः । धीराणां मध्ये शूराश्चात्यन्तसाहसधनाः, ते च ते धार्मिका धृतिमन्तश्चेति कर्मधारयोऽतस्तेषामेव,चशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात्सदा विशुद्धं निर्दोषम् । अथवा-सदाऽपि सर्वदैव कुमाराद्यवस्थायाम् सर्वासु पील्वर्थं शुद्धं निर्दोषमनेन चैतदपालम् । यदुक्तम्-" अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च । तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, पश्चाद्धर्मं चरिष्यसि ॥१॥" इति । अत एवोच्यते "अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणा-मकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ १ ॥ " भव्य [illegible] कल्याण-

मित्यर्थः । तथा—भव्यजनानुचरितं नि·शङ्कितम्-अशङ्कनीयं ब्रह्मचारी हि जनानां विषयनिस्पृहत्वादशङ्कनीयो भवति। तथा—निर्भयं ब्रह्मचारी हि अशङ्कनीयत्वान्निर्भयो भवति। निस्तुषमिव निस्तुषं विशुद्धतन्दुलकल्पं, निरायासं-न खेदकारणं, निरुपलेपं-स्नेहवर्जितं, तथा निवृत्तेः-चित्तस्वास्थ्यस्य गृहमिव गृहं यत्तत्तथा। आह च—" क यामः क नु तिष्ठामः, किं कुर्मः किं न कुर्महे ? । रागिणश्चिन्तयन्त्येवं, नीरागाः सुखमासते ॥ १ ॥ " नीरागाश्च ब्रह्मचारिण एव. तथा नियमेनाऽवश्यंभावेन निष्प्रकम्पम्-अविचलं निरतिचारं यत्तत्तथा, व्रतान्तरं हि सापवादमपि स्यादिदं च निरपवादमेवेत्यर्थ । आह च—" ण वि किंचि अणुन्नायं , पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। मोत्तुं मेहुणभावं, ण तं विणा रागदोसेहिं ॥ १ ॥ " ततः पदद्वयस्य कर्मधारये निवृत्तिगृहनियमनिष्प्रकम्पमिति भवति, तप·संयमयोर्मूलदलिकं मूलदलमादिभूतद्रव्यं तस्य ( नेमम्मं ति ) निभं-सदृशं यत्तत्तथा, पञ्चानां महाव्रतानां मध्ये सुष्ठु अत्यन्तं रक्षितं रक्षणं पालनं यस्य तत्तथा समितिभिरीर्यासमित्यादिभिर्गुप्तिभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्वसत्यादिभिर्वा नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तं गुप्तं वा यत्तत्तथा, ध्यानवरमेव-प्रधानध्यानमेव कपाटं सुकृतं सुविरचितं रक्षणार्थं यस्य अध्यात्मैव च सद्भावनारूढ चित्तमेव ( दिण्णो त्ति ) दत्तो ध्यानकपाटदृढीकरणार्थं परिघोऽर्गला रक्षणार्थमेव यस्य तत्तथा, सन्नद्ध इव-बद्ध इव अवस्थगित इव ( ओच्छाइय ) आच्छादित इव निरुद्ध इत्यर्थः, दुर्गतिपथ· दुर्गतिमार्गो येन तत्तथा, सुगतिपथस्य देशक दर्शकं यत्तथा, तच्च लोकोत्तम च व्रतमिद दुष्करत्वात् । यदाह-" देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा। बंभचारिं नमंसंति, दुक्कर जं करिंति ते ॥ १ ॥ " ( पउमसरतलागपालिभूयं ति)सरः-स्वतःसंभवो जलाऽऽशयविशेषः तडागश्च स एव पुरुषाऽऽदिकृत इति समाहारद्वन्द्व·। पद्मप्रधानं सरस्तडागं पद्मसरस्तडागमिव मनोहरत्वेनोपादेयत्वात् पद्मसरस्तडागं धर्मस्तस्य पालिभूतं रक्षकत्वेन पालीकल्प यत्तत्तथा,तथा महाशकटारका इव महाशकटारकाः क्षान्त्यादिगुणास्तेषां तुम्बभूतमाधारसामर्थ्यान्नाभिकल्पं यत्तत्तथा, महाविटपवृक्ष इव—अतिविस्तारभूरुह इव महाविटपवृक्षः आश्रितानां परमोपकारत्वसाधर्म्याद्धर्मस्तस्य स्कन्धभूतं तस्मिन् सति सर्वस्य धर्मस्याखिन उपपद्यमानत्वेन नालकल्पं यत्तत्तथा। ( महानगरपागारकवाडफलिहभूयं ति ) महानगरमिव महानगरं विविधसुखहेतुत्वसाधर्म्याद्धर्म· तस्य प्रकार इव कपाटमिव परिघमिव यत् तन्महानगरप्राकारकपाटपरिघभूतमिति, रज्जुपिनद्ध इव इन्द्रकेतु रश्मिनियन्त्रितेवेन्द्रयष्टिर्विशुद्धाऽनेकगुणसंपिनद्धं निर्मलबहुगुणपरिवृतं यस्मिंश्च यत्र च ब्रह्मचर्ये भग्ने-विराधिते भवति सम्पद्यते सहसा अकस्मात् सर्वं सर्वथा संभग्न घट इव मर्दितं मथितं दधीव विलोडितं-चूर्णितं चणक इव पिष्ट कुशल्यितमन्त प्रविष्टतोमराऽऽदिशल्यशरीरमिव सञ्जातदुष्टशल्यं (पल्लट्ट त्ति)पर्वतशिखराद् गण्डशैल इव साऽऽश्रयाच्चलितं पतितं प्रासादशिखराऽऽदे कलशाऽऽदिरिवाधो निपतितं खण्डित दण्ड इव विभागेन छिन्न-परिशटितं कुष्ठाऽऽद्युपहताङ्गमिव विध्वस्त- विनाशित च भस्मीभूतं पवनविकीर्णं दार्विव निस्सत्ताकतां गतम् । पदयां समाहारद्वन्द्वः, कर्मधारयो वा । किमेवंविधं भवतीत्याह-विनयशीलतपोनियमगुणसमूहं विनयशीलतपोनियमलक्षणाना गुणानां वृन्दम्। इह च समूहशब्दस्य छान्दसत्वान्नपुंसकनिर्देशः।

तं बंभं भगवंतं गहगणणक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुपती मणिमुत्तसेलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो वेरुलिओ चेव जहा मणीणं जह मउडो चेव भूसणाणं वत्थाणं चेव खोमजुयलं अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं गोसीसं चेव चंदणाणं हिमवंतो चेव ओसहीणं सीतोदा चेव निन्नगाणं उदहीसु जहा सयंभूरमणो रुयगवरो चेव मंडलिकपव्वयाण पवरे एरावण इव कुंजराणं सीहो व्व जहा मिगाणं पवरे पवगाणं चेव वेणुदेवे धरणो जहा पण्णगइंदराया कप्पाण चेव बंभलोए सभासु य जहा भवे सुहम्मा ठिइसु लवसत्तम व्व पवरा दाणाणं चेव अभयदाणं किमिराओ चेव कंबलाणं संघयणे चेव वज्जरिसभे संठाणे चेव समचउरंसे झाणेसु य परमसुक्कज्झाण नाणेसु य परमकेवलं तु सिद्धं लेसासु य परमसुक्कलेस्सा तित्थकरे चेव जहा मुणीणं वासेसु जहा महाविदेहे गिरिराया चेव मंदरवरे वणेसु जहा णंदणवणं पवरं दुमेसु जहा जंबू सुदंसणा वीसुयजसा जीय नामेण य अयं दीवो तुरगवती गयवती रहवती नरवती जह विस्सुते चेव राया रहिए चेव जहा महारहगते एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कम्मि बंभचेरे । ( २ )।

( तमिति ) तदेवंभूतं ब्रह्मचर्यं भगवन्तं भट्टारकं तथा ग्रहगणनक्षत्रतारकाणां वा यथा उडुपतिश्चन्द्रः प्रवर इति योगस्तथेदं व्रतानामिति शेष । वाशब्द· पूर्वविशेषणापेक्षया समुच्चये। तथा-मणयश्चन्द्रकान्ताऽऽद्या मुक्ता मुक्ताफलानि शिलाप्रवालानि विद्रुमाणि रक्तरत्नानि पद्मरागाऽऽदीनि तेषामाकरा उत्पत्तिभूमयो ये ते तथा तेषां वा, यथा समुद्रः प्रवरस्तथेदं व्रतानामिति शेषः सर्वत्र दृश्य । वैडूर्यं चैव रत्नविशेषो यथा मणीनां मुकुटं चैव भूषणानां वस्त्राणामिव क्षौमयुगलं कार्पासिकवस्त्रस्य प्रधानत्वात्। इह चेवशब्दो यथार्थो द्रष्टव्यः ( अरविंद चेव त्ति ) अरविन्दं पद्मं यथा पुष्पज्येष्ठमेवमिदं व्रतानां ( गोसीसं चेव त्ति ) गोशीर्षाभिधान चन्दनं यथा चन्दनाना ( हिमवन्तो चेव त्ति ) हिमवानिव औषधीनां यथा हिमवान् गिरिविशेष औषधीनामद्भुतकार्यकारिवनस्पतिविशेषाणामुत्पत्तिस्थानमेवं ब्रह्मचर्यमौषधीनामामर्शौषध्यादीनामागमप्रसिद्धानामुत्पत्तिस्थानमिति भावः । ( सीतोदा चेव त्ति ) शीतोदेव निम्नगानां नदीनां, यथा नदीनां शीतोदा प्रवरा तथेदं व्रतानामित्यर्थ·। उदधिषु यथा स्वयंभूरमणोऽन्तिमसमुद्रो महत्त्वे प्रवर एवमिदं व्रताना प्रवरमिति ( रुयगवरे चेव मण्डलिए पव्वयाण पवरे त्ति ) यथा माण्डलिकपर्वताना मानुषोत्तरकुण्डलवररुचकवराऽभिधानाना मध्य रुचकवरः

थोदधीपवर्ती प्रवरः, एवमिदं व्रतानां प्रवरमिति भावः। तथा ऐरावणः शक्रगजो यथा कुञ्जराणां प्रवर एवमिदं व्रतानाम्, सिंहो वा यथा मृगाणामाटव्यपशूनां प्रवरः प्रधानः एवमिदं व्रतानाम्, ( पवगाणं चेव त्ति ) प्लवकाणामिव प्रक्रमात् सुपर्णकुमाराणां यथा वेणुदेवः प्रवरस्तथा व्रतानां ब्रह्मचर्यमिति प्रकृतम्। यथा धरणो पन्नगेन्द्राणां भुजगवराणां नागकुमाराणां राजा पन्नगेन्द्रराजः पन्नगानां प्रवर एवमिदं व्रतानामिति प्रक्रम । कल्पानामिव देवलोकानां यथा ब्रह्मलोकः पञ्चमदेवलोक. तद्देशस्य महत्त्वात्तदिन्द्रस्यातिशुभपरिणामत्वात् प्रवर एवमिदं व्रतानां सभासु च प्रतिभवनविमानभाविनीषु सुधर्मसभा उत्पादसभा अभिषेकसभा अलङ्कारसभा व्यवसायसभा चेत्येवं लक्षणासु पञ्चसु मध्ये यथा सुधर्मा भवति प्रवरा तथेद व्रतानामिति स्थितिषु आयुष्केषु मध्ये लवसप्तमाऽनुत्तरभवस्थितिर्वाशब्दो यथाशब्दार्थ. । ततो यथा प्रवरा प्रधाना तथेदं व्रतानामिति तत्रैकोनपञ्चाशत् उच्छ्वासानां लवो भवति। व्रीह्यादिस्तम्बलवनं वा लवस्तत्प्रमाणः कालोऽपि लवः, ततो लवैः सप्तभि.—सप्तप्रमाणै. सप्तसंख्यैर्विवक्षिता व्यवसायविशेषस्य मुक्तिसम्पादकस्याऽपूर्यमाणैर्या स्थितिर्बध्यते सा लवसप्तमेत्यभिधीयते । तथा ( दाणाणं चेव अभयदाणं ति ) दानानां मध्ये अभयदानमिव प्रवरमिदं, तत्र दानानि ज्ञानधर्मोपग्रहाभयदानभेदात्त्रीणि ( किमिरागो व्व कंबलाणं ति ) कम्बलानां वासोविशेषाणां मध्ये कृमिराग इव कृमिरागरक्तकम्बलमिव प्रवरमिदं व्रतानां तथा ( संहयणे चेव वज्जरिसहे त्ति ) संहननानां षण्णां मध्ये वज्रऋषभनाराचसंहननमिव प्रवरमिदं व्रतानामिति । ( संठाणे चेव चउरंसे त्ति ) शेषसंस्थानानां चतुरस्रसंस्थानमिवेद प्रवरं व्रतानां, तथा ध्यानेषु च परमशुक्लध्यानं शुक्लध्यानचतुर्थभेदरूपं यथा प्रवरमेवमिदं व्रतेष्विति गम्यम् । ( नाणेसु य परमकेवलं तु सिद्धं ति ) ज्ञानेष्वाभिनिबोधिकाऽऽदिषु परमं च न त्केवलं परिपूर्णं विशुद्धं वा मतिश्रुतावधिमन.पर्यायापेक्षया परमकेवलं क्षायिकज्ञानमित्यर्थ, तुरेवकारार्थ', सिद्धं प्रवरतया प्रसिद्धं यथा तथेदमपि व्रतेष्विति गमनीयम्। लेश्यासु च कृष्णाऽऽद्यासु परमशुक्ललेश्या शुक्लध्यानतृतीयभेदवर्तिनी यथा प्रवरा तथेदं व्रतेष्विति गम्यम्। तीर्थकरश्चैव यथा मुनीनां प्रवरस्तथैवेदं व्रतानां,वर्षेषु-क्षेत्रविशेषेषु यथा महाविदेहस्तथेदं व्रतेषु, ( गिरिराया चेव मंदरवरे त्ति ) चेवशब्दस्य यथार्थत्वाद्यथा मन्दरवरो—जम्बूद्वीपमेरुर्गिरिराजस्तथेदं व्रतराजः, वनेषु भद्रशालनन्दनसौमनसपण्डकाभिधानेषु मेरुसम्बन्धिषु यथा नन्दनवनं प्रवरमेवमिदमिति द्रुमेषु तरुषु मध्ये यथा जम्बूः सुदर्शनेति सुदर्शनाभिधाना विश्रुतयशाः विख्याता एवमिदमिति । किंभूता जम्बूः?—यस्या नाम्नाऽयं द्वीप. जम्बूद्वीप इत्यर्थः,तथा तुरगपतिर्गजपतिः रथपतिर्नरपतिर्यथा विश्रुतश्चैव राजा तथेदमपि विश्रुतमिति भावः, रथिकश्चैव यथा महारथगतः पराभिभावी भवतीत्येवमिहस्थः कर्मरिपुसैन्याभिभावी भवतीति निगमयन्नाह—एवमुक्तक्रमेणानेके गुणाः प्रवरत्वविश्रुतत्वाऽऽदयोऽनेकनिदर्शनाभिधेया अहीना प्रकृष्टा अधीना वा स्वाऽऽयत्ता भवन्ति । केत्याह—एकस्मिन् ब्रह्मचर्ये चतुर्थे व्रते ।

जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं, सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइयपारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य तम्हा निहुएण, बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ विसुद्धं जावज्जीवाए ०जाव सेयट्ठिसंजउ त्ति एवं भणियं वयं भगवया । तं च इमं—

" पंचमहव्वयसुव्वयमूलं, समणमणाइलसाहुसुचिण्णं ।
वेरविरामणपज्जवसाणं, सव्वसमुद्दमहोदहितित्थं ॥ १ ॥
तित्थकरेहिँ सुदेसियमग्गं, नरगतिरिच्छविवज्जियमग्गं ।
सव्वपवित्तसुनिम्मियसारं,सिद्धिविमाणअवंगुयदारं । २ ।
देवनरिंदनमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं ।
दुद्धरिसं गुणनायकमेक्कं,मोक्खपहस्स वडिंसगभूयं॥३॥"

तथा—यस्मिंश्च ब्रह्मचर्ये आराधिते पालिते आराधितं पालितं व्रतमिदं निर्ग्रन्थप्रव्रज्यालक्षणं सर्वम्—अखण्डं तथा शीलं समाधानं तपश्च विनयश्च संयमश्च क्षान्तिर्गुप्तिर्मुक्तिर्निर्लोभता-सिद्धिर्वा. तथैवेति समुच्चये, तथा ऐहलौकिकपारलौकिकयशांसि च कीर्त्तयश्च प्रत्ययश्च , आराधिता भवन्तीति प्रक्रमः । तत्र यशः पराक्रमकृतं, कीर्तिर्दानफलभूता । अथवा—सर्वदिग्गामिनी प्रसिद्धिर्यशः एकदिग्गामिनी कीर्तिः , प्रत्ययः साधुरयम् इत्यादिरूपा जनप्रतीतिरिति । यत एवंभूतं तस्मान्निभृतेन स्तिमितेन ब्रह्मचर्य चरितव्यमासेवनीयं, किंभूत? सर्वतो मनःप्रभृतिकरणत्रययोगत्रयेण विशुद्धं निरवद्यं यावज्जीवया प्रतिज्ञया यावज्जीवतया वा आजन्मेत्यर्थः । एतदेवाऽऽह—यावत् श्वेतास्थिसंयत इति श्वेतास्थिता च साधोर्मृतस्य क्षीणमांसाऽऽदिभावे सतीति इतिशब्दो व्यवस्थितवाक्यार्थसमाप्तौ, भङ्ग्यन्तरेण ब्रह्मचर्यं व्रतं स्तोतुं प्रस्तावयति। एवं वक्ष्यमाणेन च वचनेन भणितं व्रतं ब्रह्मचर्यलक्षणं भगवता श्रीमहावीरेण, ( तं च इमं ति ) तच्चेदं वचनं पद्यत्रयप्रभृतिकम्—( पंचमहव्वयसुव्वयमूलं ) पञ्चमहाव्रतनामकानि यानि सुव्रतानि तेषां मूलमिव मूलं यत् । अथवा—पञ्चमहाव्रता' साधवस्तेषां सम्बन्धिनां शोभननियमाना मूलं यत्, अथवा—पञ्चानां महाव्रतानां सुव्रतानां वाऽणुव्रतानां मूलं यत्तथा। अथवा—हे पञ्चमहाव्रत ! सुव्रत ! मूलमिदं ब्रह्मचर्यमिति प्रकृतम्। ( समणमणाइलसाहुसुचिण्ण ) ( समण त्ति ) सभावं यथा भवतीत्येवमनाविलैरकलुषैः शुद्धस्वभावैः साधुभिर्यतिभिः सुष्ठु चरितमासेवितं यत्तथा। ( वेरविरमणपज्जवसाणं ) वैरस्य परस्परानुशयस्य विरमणं विरामकरणमुपशमनयनं निवर्त्तनं पर्यवसानं निष्ठाफलं यस्य तत्तथा। ( सव्वसमुद्दमहोदहितित्थं ) सर्वेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशान्महानुदधिः स्वयंभूरमण इत्यर्थः, तद्वद् दुर्निस्तरत्वेन तत्सर्वसमुद्रमहोदधिस्तथा तीर्थमिव तीर्थं पवित्रताहेतुर्यत्र तत्तथा । अथवा सर्वसमुद्रमहोदधिः संसारोऽतिदुस्तरत्वात्तन्निस्तरणे तीर्थमिव तरणोपाय इव तत्तथेति वृत्तार्थः ॥ १ ॥ ( तित्थकरेहिँ सुदेसियमग्गं ति ) तीर्थकरैर्जिनैः सुदेशितमार्गं सुष्ठु दर्शितं गुप्त्यादि तत्पालनोपायं (निरयतिरिच्छविवज्जियमग्गं) नरकतिरश्चां संबन्धी विवर्जितो निषिद्धो मार्गो गतिर्येन तत्तथा । ( सव्वपवित्तसुनिम्मियसारं ) सर्वपवित्राणि समस्तपावनानि सुनिर्मितानि सुष्ठु विहितानि साराणि

प्रधानानि येन तत्तथा। ( सिद्धिविमाणअवगुयदारं ) सिद्धे-र्विमानानां चाप्रावृतमपगताऽऽवरणीकृतमुद्घाटितमित्यर्थः, द्वारं प्रवेशमुखं येन तत्तथेति वृत्तार्थः॥२॥ (देवनरिंदनमंसियपूयं) देवानां नराणां चेन्द्रैर्नमस्यिता नमस्कृता ये तेषां पूज्यमर्चनीयं यत्तत्तथा। ( सव्वजगुत्तममंगलमग्गं ) सर्वजगदुत्तमानां मङ्गलानां मार्ग उपायोऽग्रं वा प्रधानं यत्तत्तथा ( दुद्धरिस गुणनायकमेक्कं ) दुर्द्धर्षमनभिभवनीयं गुणान्प्रयति प्रापयतीति गुणनायकमेकमद्वितीयमसदृशं (मोक्खपहस्स वडिंसगभूयं ) मोक्षपथस्य सम्यग्दर्शनाऽऽदेरवतंसकभूतं शेखरकल्पं, प्रधानमित्यर्थः। इति दोधकार्थः॥३॥

जेण सुद्धचरिएणं भवति सुबंभणो सुसमणो सुसाहू स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बंभचेरं इमं चरति रागदोसमोहपवड्ढणकरं किं मज्झपमायदोसपासत्थसीलकरणं अब्भंगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्खसीसकरचरणवयणधोवणसंबाहणगायकम्मपरिमद्दणाणुलेवणचुण्णवासधूवणसरीरपरिमंडणबाउसिकहसियभणियनट्टगीयवाइयनडनट्टगजल्लमल्लपेच्छणवेलंबक जाणि य सिंगारागाराणि य अण्णाणि य एवमाइयाणि तवसंजमबंभचेरघातोवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जेयव्वाइं सव्वकालं भावेयव्वो भवति य अंतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं णिच्चकालं किं ते अण्हाणकअदंतधावणसेयमल्लजल्लधारणं मूणवयकेसलोए य खमदमअचेलगखुप्पिवासलाघवसीतोसिणकट्ठसेज्जाभूमिनिसेज्जापरघरपवेसलद्धावलद्धमाणावमाणनिंदणदंसमसकफासनियमतवगुणविणयमादिएहिं जहा से थिरतरकं होइ बंभचेरं इमं च अबंभचेरवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं पेच्चाभाविकं आगमेसिभद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ( ४ )

तथा येन शुद्धचरितेन-सम्यगासेवितेन भवति सुब्राह्मणो यथार्थनामत्वात्, सुश्रमणः सुतपाः सुसाधुर्निर्वाणसाधकयोगसाधकः तथा, ( स इसि त्ति ) स यथोक्तब्रह्मचर्यधावद्वस्तुद्रष्टा य. शुद्धं चरति, ब्रह्मचर्यमिति योग । ( स मुणि त्ति ) स यथोक्तो मुनिर्मन्ता स संयत' संयमवान्, स एव भिक्षु भिक्षणशीलो य' शुद्धं चरति ब्रह्मचर्यमिति अब्रह्मचारी तु न ब्राह्मणाऽऽदिरिति। आह च—

"सकलकलाकलापकलितोऽपि कविरपि पण्डितोऽपि हि,
प्रकटितसर्वशास्त्रतत्त्वोऽपि हि वेदविशारदोऽपि हि॥
मुनिरपि वियति विततनानाद्भुतविभ्रमदर्शकोऽपि हि,
स्फुटमिह जगति तदपि न स कोऽपि हि यदि नाज्ञाणि रक्षति॥"

तथा इद च वक्ष्यमाण पार्श्वस्थशीलकरणमनुचरता ब्रह्मचर्यं वर्जयितव्यानीत्यस्य वक्ष्यमाणपदस्य वचनपरिणामाद्वर्जयितव्यमिति योग.। किंभूत रतिश्च विषयरागो,रागश्च पित्रादिषु स्नेहरागो,द्वेषश्च प्रतीतो, मोहश्चाज्ञानमेषा प्रवर्द्धनं करोति यत्तथा। किं मध्यं यस्य तत्किमध्य किंशब्दस्य क्षेपार्थत्वादसा रमित्यर्थः, प्रमाद एव दोषो यतः तत्तत्प्रमाददोष पार्श्वस्थानां ज्ञानाचाराऽऽदिबहिर्वर्तिना साध्वाभासानां शीलमनुष्ठान निष्कारणं शय्यातरपिण्डपरिभोगाऽऽदिपार्श्वस्थशील,तत. पदद्वयस्य कर्मधारयस्तस्य करणमासेवनं यत्तत्तथा। एतदेव प्रपञ्च्यते-अभ्यञ्जनानि च घृतवसाम्रक्षणाऽऽदिना तैलमज्जनानि च तैलस्नानानि तथा अभीक्ष्णमनवरत कक्षाशीर्षकरचरणवदनाना धावनं च-प्रक्षालन संबाहन गात्रकर्म च हस्ताऽऽदिगात्रचम्पनरूपमङ्गपरिकर्म परिमर्दनं च सर्वतः शरीरमलनमनुलेपनं च विलेपनं चूर्णैः-गन्धद्रव्यक्षोदैर्वासश्च शरीराऽऽदिवासनम् धूपनं चाऽगुरुधूपाऽऽदिभिः शरीरपरिमण्डनं च तनुभूषणं बकुशं कर्बुर चित्र प्रयोजनमस्येति वा कुशिकं नखकेशवस्त्रसमारचनाऽऽदिकं तच्च हसितं च हास भणितं च प्रक्रमाच्छृङ्गारं नाट्य च नृत्तं च गीतं च गान वादितं च पटहाऽऽदिवादन नटाश्च नाटयितारो नर्तकाश्च ये नृत्यन्ति जल्लाश्च वरत्राखेलकाः मल्लाश्च प्रतीताः, एतेषां प्रेक्षणं च नानाविधवंशखेलकाऽऽदिसबन्धि वेलम्बकाश्च विडम्बका विदूषका इति द्वन्द्वः। आन्द्रसत्वाच्च प्रथमाबहुवचनलोपो द्रष्टव्यः । वर्जयितव्या इति योगः। किं बहुना-यानि च वस्तूनि शृङ्गारागाराणि शृङ्गाररसगेहानीवान्यानि चोक्तव्यतिरिक्तानि एवमादिकानि एवंप्रकाराणि तपःसंयमब्रह्मचर्याणां घातश्च देशतः, उपघातश्च सर्वतो विद्यते येषु तानि तपःसंयमब्रह्मचर्यघातोपघातिकानि। किमत आह-अनुचरता आसेवमानेन ब्रह्मचर्यं वर्जयितव्यानि सर्वकालम्, अन्यथा ब्रह्मचर्यव्याघातो भवतीति। तथा भावयितव्यश्च भवत्यन्तरात्मा एभिर्वक्ष्यमाणैः तपोनियमशीलयोगैः -तपःप्रभृतिव्यापारैर्नित्यकाल—सर्वदा किं ते तद्यथा अस्नानकं चादन्तधावनं च प्रतीते। स्वेदमल धारणं च, तत्र स्वेद -प्रस्वेद' मलः-कक्खडीभूत' याति च लाति चेति जल्लो—मलविशेष । एव मौनव्रतं च केशलोचश्च प्रतीतौ, क्षमा च क्रोधनिग्रह , दमश्चेन्द्रियनिग्रहः, अचेलक च वस्त्राभाव', क्षुत्पिपासे च प्रतीते, लाघवं चाल्पोपधित्वं, शीतोष्णे च प्रतीते,काष्ठशय्या च फलकाऽऽदिशयनं, भूमिनिषद्या च भूम्यासनं,तथा परगृहप्रवेशे च शय्याभिक्षाऽऽद्यर्थे लब्धे चाभिमताशनाऽऽदावपलब्धे वेपलब्धेऽलब्धे वा यो मानश्चाभिमान अपमानश्च दैन्य निन्दनं कुत्सनं दंशमशकस्पर्शश्च नियमश्च द्रव्याऽऽद्यभिग्रह' तपश्चानशनाऽऽदि गुणाश्च मूलगुणाऽऽदयः विनयश्चाभ्युत्थानाऽऽदिभिरिति द्वन्द्व'। तत एते आदिर्येषा योगानां ते तथा तैर्भावयितव्यो भवत्यन्तरात्मेति प्रकृतम्। भावना चास्नानाऽऽदीनामासेवा मानापमाननिन्दनदंशाऽऽदिस्पर्शाना चोपेक्षेति कथमेभिर्भावयितव्यो भवत्यन्तरात्मेत्याह-यथा ( से ) तस्य ब्रह्मचारिण. स्थिरतरकं भवति ब्रह्मचर्यम् "इमं च" इत्यादि प्रवचनस्तवनं पूर्ववत्। प्रश्न० ४ संव० द्वार.।

अहावरं चउत्थं महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं मेहुणं से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा णेव सयं मेहुणं गच्छेज्जा तं चेवं अदिण्णादाणवत्तव्वया भाणियव्वा० जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति । तत्थिमा पढमा भावणा—णो णिग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं कह

कहित्तए सिया । केवली बूया--णिग्गंथेणं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेमाणे सति भेदा संति विभंगा संति केवलिपणत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, णो णिग्गंथे णं अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थीणं कहं कहित्तए सिय त्ति पढमा भावणा ॥ १ ॥

चतुर्थव्रतप्रथमायां स्त्रीणां संबन्धिनीं कथां न कुर्यात् । प्रथमा भावना । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

तस्स इमाओ पंचभावणाओ चउत्थव्वयस्स हुंति-अबंभचेरवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पढमं सयणाऽऽसणघरदुवारअंगणआगासगवक्खसालअहिलोयणपच्छवत्थुकपसाहकण्हाणिकाऽवकासा, अवकासा जे य वेसियाणं अच्छंति य जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ ते हु वज्जणिज्जा इत्थिसंसत्तसंकिलिट्ठा अण्णे वि य एवमादी अवकासा ते वि हु वज्जणिज्जा जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणो वा अट्टं रुद्दं च होज्ज झाणं तं तं च वज्जेज्ज ऽवज्जभीरू अणायतणं अंतपंतवासी एवमसंसत्तवासवसहीसमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा आरयमणविरयगामधम्मे जितिंदिए बंभचेरगुत्ते । (५)

( तस्सेत्यादि ) तस्य चतुर्थस्य व्रतस्येमाः पञ्च भावना भवन्ति अब्रह्मचर्यविरमणपरिरक्षणार्थतायै , तत्र ( पढमं ति ) पञ्चानां प्रथमं भावनावस्तु स्त्रीसंसक्ताऽऽश्रयवर्जनलक्षणम् । तच्चैवम्-शयनं शय्या आसनं विष्टरं गृहं गेहद्वारं तस्यैव मुखम् अङ्गणमजिरम् आकाशमनावृतस्थानं गवाक्षो वातायनः शाला भाण्डशालाऽऽदिका अभिलोक्यते अवलोक्यते यत्रस्थैस्तदभिलोकनमुन्नतस्थानम् । (पच्छ वत्थुग त्ति) पश्चाद्वास्तुकं पश्चात् गृहकं तथा प्रसाधकस्य मण्डनस्य स्नानिकायाश्च स्नानक्रियाया येऽवकाशा आश्रयाः ते तथा ते चेति द्वन्द्वः । ततस्ते स्त्रीसंसक्तेन संक्लिष्टा वर्जनीया इति सम्बन्धः । तथा अवकाशा आश्रयाः (जे य वेसियाणं ति) ये च वेश्यानां तथा आसते च तिष्ठन्ति च यत्र येष्ववकाशेषु च स्त्रियः किंभूताः अभीक्ष्णमनवरतं मोहद्वेषस्याज्ञानस्य रतेः कामरागस्य,रागस्य च-स्नेहरागस्य वर्धना वृद्धिकारिका यास्तास्तथा कथयन्ति च प्रतिपादयन्ति कथा बहुविधा बहुप्रकाराः जातिकुलरूपनेपथ्यविषयाः स्त्रीसम्बन्धिनीः पुरुषाः स्त्रियो वा यत्रेति प्रकृतम् । मोहदोषेत्यादिविशेषणं कथास्वपि युज्यते, (ते हु वज्जणिज्ज त्ति) ये च शयनाऽऽदयो ये च वेश्यानामवकाशा येषु वाऽऽसते स्त्रियः कथयन्ति च कथास्ते वर्जनीया । हुर्वाक्यालङ्कारे । किंविधा इत्याह--( इत्थिसंसत्तसंकिलिट्ठ त्ति ) स्त्रीसंसक्तेन स्त्रीसम्बन्धेन संक्लिष्टा ये ते तथा, न केवलमुक्तरूपा वर्जनीयाः । अन्येऽपि चैवमादय अवकाशा आश्रया वर्जनीया इति । किं बहुना--( जत्थेत्यादि ) उत्तरत्र वीप्साप्रयोगादिह वीप्सा दृश्या, ततो यत्र यत्र जायते मनोविभ्रमो वा चित्तभ्रान्तिर्ब्रह्मचर्यमनुपालयामि न वेत्येवंरूपं शृङ्गाररसप्रभवं मनसोऽस्थिरत्वम् । आह च-" यच्चित्तवृत्तेरनवस्थितत्वं शृङ्गारजं विभ्रम उच्यतेऽसौ । " भङ्गो वा ब्रह्मव्रतस्य सर्वभङ्ग इत्यर्थः । भ्रंशना वा देशतो भङ्गः, आर्तम् इष्टविषयसंयोगाऽभिलाषरूपं, रौद्रं वा भवेद्ध्यानं तदुपायभूतहिंसानृतादत्तग्रहणाऽनुबन्धरूपं तत्तदनायतनमिति योगः वर्जयेत् , कोऽसावित्याह--अवद्यभीरुः पापभीरुः वर्ज्यभीरुर्वा वर्ज्यत इति वर्ज्यं पापं, वज्रभीरुर्वा वज्रं च वज्रवद् गुरुत्वात्पापमेवेति, अनायतन साधूनामनाश्रय इति । किंभूतोऽवद्यभीरुः अन्ते इन्द्रियाननुकूले प्रान्ते तत्रैव प्रकृष्टतरे आश्रये वस्तुं शीलमस्येत्यन्तप्रान्तवासीति निगमयन्नाह-एवमनन्तरोक्तन्यायेन असंसक्तः स्त्रीभिरसंबद्धो वासो--निवासो यस्याः सा तथाविधा या वसतिराश्रयस्तद्विषयो यः समितियोगः सत्प्रवृत्तिसम्बन्धः स तथा तेन भावितो भवत्यन्तरात्मा । किंविधः--आरतमभिविधिना आसक्तं ब्रह्मचर्ये मनो यस्य स आरतमनाः विरतो निवृत्तो ग्रामस्येन्द्रियवर्गस्य धर्मो लोलुपतया तद्विषयग्रहणस्वभावो यस्य स तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । अत एवाऽऽह-जितेन्द्रियः ब्रह्मचर्यगुप्त इति । प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

अहावरा दोच्चा भावणा-णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं मणोहराइं इंदियाइं आलोइत्तए अभिक्खणं २ णिज्झाइत्तए सिया । केवली बूया-णिग्गंथेणं इत्थीणं मणोहराइं मणोहराइं इंदियाइं आलोएमाणे णिज्झाएमाणे संति भेया संति विभंगा०जाव धम्माओ भंसेज्जा,णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं मणोहराइं इंदियाइं आलोइत्तए णिज्झाइत्तए सिय त्ति दोच्चा भावणा ॥

द्वितीयायां तु तदिन्द्रियाणि मनोहारीणि नाऽऽलोकयेत् । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

बितियं नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता विब्बोयविलाससंपउत्ता हाससिंगारलोइयकह व्व मोहजणणी न आवाहविवाहवरकहा विव इत्थीणं वा सुभगदुब्भगकहा चउसट्ठिं च महिलागुणा ण वन्नदेसजातिकुलरूवणामनेवत्थपरिजणकहाओ इत्थियाणं अण्णा वि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमबंभचेरघाओवघाइयाओ अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहेयव्वा, न सुणेयव्वा, न चिंतियव्वा, एवं इत्थीकहविरतिसमितिजोगेणं भाविओ भवति अंतरप्पा आरतमणविरयगामधम्मे जितिंदिए बंभचेरगुत्ते । ( ६ )

( बीयं ति ) द्वितीयं भावनावस्तु । किं तदित्याह--नारीजनस्य मध्ये स्त्रीपर्षदोऽन्तः(न) नैव कथयितव्या । केत्याह-कथा वचनप्रबन्धरूपा विचित्रा विविधा विविक्ता वा ज्ञानोपष्टम्भाऽऽदिकारणवर्ज्जा । कीदृशीत्याह-बिब्बोकविलाससंप्रयुक्ता । तत्र बिब्बोकविलासलक्षणमिदम्--

"इष्टानामर्थानां, प्राप्तावभिमानगर्वसंभूतः ।
स्त्रीणामनादरकृतो, बिब्बोको नाम विज्ञेयः ॥ १ ॥ "

विलासलक्षणं पुनरिदम्—

" स्थानाऽऽसनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव ।
उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥ १ ॥"

अन्ये त्वाहुः-"विलासो नेत्रजो ज्ञेयः" इति। तथा हासः प्रहसिकाभिधानो रसविशेषः । शृङ्गारोऽपि रसविशेष एव। तयोश्च स्वरूपमिदम्—

" हास्यो हासप्रकृति—र्हासो विकृताङ्गवेषचेष्टाभ्यः ।
भवति परस्थाभ्य. स च, भूम्ना स्त्रीनीचबालगतः॥ १ ॥ "

तथा—

"व्यवहारः पुंनार्यो—रन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः ।
शृङ्गारः स द्वेधा, सम्भोगो विप्रलम्भश्च ॥ १ ॥ "

एतत्प्रधाना या लौकिकी असंविग्नलोकसम्बन्धिनी कथा-वचनरचना सा तथा सा वा मोहजननी मोहोदीरिका,वाशब्दो विकल्पार्थः। तथा (न) नैव आवाहोऽभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्याऽऽनयनं विवाहश्च पाणिग्रहणं तत्प्रधाना या वरकथा परिणेतृकथा आवाहविवाहवरा वा या कथा सा तथा, साऽपि न कथयितव्येति प्रक्रम. । स्त्रीणां वा सुभगदुर्भगकथा सा,सा च सुभगा दुर्भगा वा ईदृशी वा सुभगा दुर्भगा वा भवतीत्येवंरूपा न कथयितव्येति प्रक्रम'। चतु.षष्टिश्च महिलागुणाः आलिङ्गनाऽऽदीनामष्टानां कामकर्मणां प्रत्येकमष्टभेदत्वेन चतु'षष्टिर्महिलागुणा वात्स्यायनप्रसिद्धा., ते वा न कथयितव्या' । तथा- (न)नैव देशजातिकुलरूपनामनेपथ्यपरिजन कथा वा स्त्रीणां कथयितव्येति प्रक्रम' । तत्र लाटाऽऽदिदेशसम्बन्धिनीना स्त्रीणा वर्णन देशकथा,यथा -लाट्य. कोमलवचना रतिनिपुणा वा भवन्तीत्यादि । जातिकथा । यथा—"धिग् ब्राह्मणीर्धवाभावे,या जीवन्ति मृता इव । धन्या मन्ये जने शूद्री., पतिलक्षेऽप्यनिन्दिताः । १ ।"तथा कुलकथा यथा-अहो चौलक्यपुत्रीणां,साहसं जगतोऽधिकम्। पत्युर्मृत्यौ विसन्त्यग्नौ, या' प्रेमरहिता अपि ॥१॥" इति। रूपकथा यथा-"चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्गी. पीनघनस्तनी। किं लाटी नो मता सास्या-देवानामपि दुर्लभा ॥ १ ॥ " नामकथा-सा सुन्दरीति सत्यं सौन्दर्यातिशयसमन्वितत्वात् । नेपथ्यकथा यथा "धिग् नारीरौदीच्या',वहुवसनाऽऽच्छादिताङ्गलतिकत्वात्। यद्यौवनं न यूना,चक्षुर्मोदाय भवति सदा ॥ १ ॥ " परिजनकथा यथा-" चेटिकापरिवारोऽपि, तस्याः कान्तो विचक्षणः । भावज्ञ' स्नेहवान् दक्षो,विनीतः सत्कुलस्तथा ॥ १ ॥ " किं बहुना ? अन्या अपि च एवमादिका उक्तप्रकारा कथा' स्त्रीसम्बन्धि. कथा' शृङ्गारकरुणाः शृङ्गारसृदव शृङ्गाररसेन करुणाऽऽपादिका इत्यर्थः । तप.संयमब्रह्मचर्यघातोपघातिका अनुचरता ब्रह्मचर्यं न कथयितव्या न श्रोतव्या', अन्यत. न चिन्तयितव्या वा यतिजनेन । द्वितीयभावनानिगमनायाऽऽह—एवं स्त्रीकथाविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मा जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त इति प्रकटमेव । प्रश्न० ४ संव०द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइ सुमरित्तए सिया, केवली बूया-णिग्गंथे णं इत्थीण पुव्वरयाइ पुव्वकीलियाइ सरमाणे संति भेया०जाव भंसेज्जा,णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सिय त्ति तच्चा भावणा। आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

सविियं नारीण हसियभणियं चेट्ठियविप्पेक्खियगतिविलासकीलियं बिब्बोइयनट्टगीयवाइयसरीरसंठाणवण्णकरचरणनयणलावण्णरूवजोव्वणपयोधराऽधरवत्थालंकारभूसणाणि य गुज्झोवकासियाइं अण्णाणि य एवमाइयाइं तवसंजमबंभचेरघाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा न मनसा न वयसा पत्थयव्वाइं पावकम्माइं, एवं इत्थीरूवविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा आरतमणविरयगामधम्मे जितिंदिए बंभचेरगुत्ते। (७)

(तइयं ति) तृतीयं भावनावस्तु स्त्रीरूपनिरीक्षणवर्जनम्। तच्चैवम्-नारीणां-स्त्रीणां हसितं भणितं हास्यं सविकारं भणितं च,तथा चेष्टितं हस्तन्यासाऽऽदि विप्रेक्षितं निरीक्षितं गतिगमनं विलासः पूर्वोक्तलक्षण' क्रीडितं द्यूताऽऽदिक्रीडा,यथा समाहारद्वन्द्वः,विब्बोकितं पूर्वोक्तलक्षणो विब्बोक',नाट्यं नृत्यं,गीतं गानं,वादितं वीणावादनं,शरीरसंस्थानं ह्रस्वदीर्घाऽऽदिकं,वर्णो गौरत्वाऽऽदिलक्षण', करचरणनयनानां लावण्यं स्पृहणीयता,रूपं च आकृतिः,यौवनं तारुण्यं,पयोधरौ स्तनौ, अधरः अधस्तनौष्ठ ,वस्त्राणि वसनानि, अलङ्कारा हाराऽऽदयः, भूषणं च मण्डनाऽऽदिना विभूषाकरणमिति द्वन्द्वः । ततस्तानि च न प्रार्थयितव्यानीति सम्बन्धः । तथा-गुह्यावकाशिकानि भूता लज्जनीयत्वात् स्थगनीया अवकाशा देशाः अवयवा इत्यर्थे । अन्यानि च हासाऽऽदिव्यतिरिक्तानि. एवमादिकान्येवं प्रकाराणि तपःसंयमब्रह्मचर्यघातोपघातिकानि अनुचरताब्रह्मचर्यं न चक्षुषा न मनसा न वचसा प्रार्थयितव्यानीति पापकानि पापहेतुत्वादिति । एवं स्त्रीरूपविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मेत्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तमेवेति। प्रश्न० ४ संव०द्वार ।

अहावरा चउत्था भावणा—णाऽतिमत्तपाणभोयणभोई, से णिग्गंथे न पणीयरसभोयणभोई, से णिग्गंथे केवली बूया—अतिमत्तपाणभोयणभोई से णिग्गंथे पणीयरसभोयणभोई संति भेदा०जाव भंसेज्जा , णातिमत्तपाणभोयणभोई से णिग्गंथे णो पणीयरसभोयणभोइ त्ति चउत्था भावणा । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

चउत्थं पुव्वरयपुव्वकीलियपुव्वसंगंथगंथसंथुया जे ते आवाहवीवाहचोल्लकेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिंगारागारचारुवेसाहिं हावभावपललियविक्खेवविलाससालिणीहिं अणुकूलपेम्मिकाहिं सद्धिं अणुभूया सयणसंपओगा उउसुहवरकुसुमसुरभिचंदणसुगंधिवरवासधूवसुहफरिसवत्थभूसणगुणोववेया रमणिज्जाउज्जगेयपउरनडनट्टयजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबगकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियतालायरपकरणाणि य बहूणि महुरसरगीयसुस्सराइं अण्णाणि य एवमाइयाणि तवसंजमबंभचेरघाओवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न ताइं समणेण लंभा दट्ठुं न

कहेउं नाऽवि य सुमरिउं जे एवं पुव्वरयपुव्वकीलियविरति- समिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमणविरय- गामधम्मे जिंतिंदिए बंभचेरगुत्ते । ( ८ )

( चउत्थं ति ) चतुर्थं भावनावस्तु यत्कामोदयकारिवस्तुदर्श- नभणनस्मरणवर्जनम् । तच्चैवम्-पूर्वरतं गृहस्थावस्थाभाविनी कामरतिः, पूर्वक्रीडितं गृहस्थावस्थाऽऽश्रयं द्यूताऽऽदिक्रीड नं, तथा पूर्वे-पूर्वकालभाविनः सग्रन्थाः श्वशुरकुलसंबन्धसम्ब- द्धाः शालकशालिकाऽऽदयः ग्रन्थाश्च शालकाऽऽदिसम्बन्धा- स्तद्भार्यास्तत्पुत्राऽऽदयः संस्तुताश्च दर्शनभाषणाऽऽदिभिः परिचिता ये ते तथा, तत एतेषां द्वन्द्वः । तत एतेन श्रमणेन लभ्याः न द्रष्टुं न कथयितुं नाऽपि स्मर्तुमिति सम्बन्ध । तथा—( जे ते त्ति ) ये एते वक्ष्यमाणाः केचित्याह— ( आवाहविवाहचोलएसु य त्ति ) आवाहो-वध्वा वरगृहाऽऽ- नयनम्, विवाह-पाणिग्रहणम् । चोलकेति-" विहिणा चूला- कम्मं बालाणं चोलयं नाम " इति वचनाच्चौलकं बालचू- डाकर्म, शिखाधारणमित्यर्थः ततस्तेषु, चशब्दः पूर्ववाक्यापे- क्षया समुच्चयार्थः, तिथिषु मदनत्रयोदशीप्रभृतिषु, यज्ञेषु ना- गाऽऽदिपूजादिषु, उत्सवेषु इन्द्रोत्सवाऽऽदिषु ये स्त्रीभिः सार्द्धं शयनसम्प्रयोगास्ते न लभ्या द्रष्टुमिति योगः । किंभूताभिः ?, शृङ्गारागारचारुवेषाभिः शृङ्गाररसागारभूताभिः, शोभननेप- थ्याभिश्चेत्यर्थः, स्त्रीभिरिति गम्यते । किंभूताभिर्हावभावप्रल- लितविक्षेपविलासशालिनीभिः । तत्र हावाऽऽदिलक्षणम्—

" हावो मुखविकारः स्यात्, भावः स्याच्चित्तसम्भवः ।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥ १ ॥ "

अथवा विलासलक्षणमिदम्—

" स्थानाऽऽसनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव ।
उत्पद्यते विशेषो, यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥ १ ॥"

प्रललितं ललितमेव । तल्लक्षणं चेदम्—

" हस्तपादाङ्गविन्यासो, भ्रूनेत्रो(त्रौ)ष्ठप्रयोजितः ।
सुकुमारो विधानेन, ललितं तत्प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥ "

विक्षेपलक्षणं त्विदम्—

" अप्रयत्नेन रचितो, धम्मिल्लश्लथबन्धनः ।
एकांशदेशधरणै-स्ताम्बूललवलाञ्छनः ॥ १ ॥
ललाटैकान्तलिखितां, विषमां पत्रलेखिकाम् ।
असमञ्जसविन्यस्त-मञ्जनं नयनाब्जयोः ॥ २ ॥
तथाऽनादरबद्धत्वात्, ग्रन्थिर्जघनवाससः ।
वसुधालम्बितप्रान्तः, स्कन्धात् स्रस्तं तथांशुकम् ॥ ३ ॥
अघने हारविन्यासो, रसनायास्तथोरसि ।
इत्यवज्ञाकृतं यस्या-दज्ञानादिव मण्डनम् ॥ ४ ॥
वितनोति परां शोभां, स विक्षेप इति स्मृतः ॥ "

एभिर्याः शालन्ते शोभन्ते तास्तथा ताभिः अनुकूलमप्र- तिकूलं प्रेम—प्रीतिर्यासां ता अनुकूलप्रेमिकास्ताभिः ( स- द्धिं ति ) सार्द्धं सह अनुभूता वेदिता शयनानि च स्वापाः सम्प्रयोगाश्च सम्पर्काः शयनसम्प्रयोगाः, कथंभूताः?, ऋतुसु खानि ऋतुशुभानि वा कालोचितानीत्यर्थः, यानि वरकुसुमा- नि च सुरभिचन्दनं च सुगन्धयो वरचूर्णरूपा वासश्च धूपश्च शुभस्पर्शानि वा सुखस्पर्शानि वा वस्त्राणि च भूषणानि चे- ति द्वन्द्वः, तेषां योगुणस्तैरुपेता युक्तास्ते तथा, तथा रमणी- याऽऽतोद्यगेयप्रचुरनटाऽऽदिप्रकरणानि च न लभ्यानि, द्रष्टुमि- तियोगः । तत्र नटा नाटकानां नाटयितारः नर्तका ये नृत्यन्ति जल्ला वरत्राखेलका मल्लाः प्रतीताः, मौष्टिका मल्ला एव ये मु- ष्टिभिः प्रहरन्ति ( वेलंवग त्ति ) विडम्बका विदूषकाः, क- थकाः प्रतीताः, प्लवका ये उत्प्लवन्ते नद्यादिकं वा तरन्ति, लासका ये रासकान् गायन्ति, जयशब्दप्रयोक्तारो भाण्डा वा इत्यर्थः । आख्यायका ये शुभाशुभमाख्यान्ति, लङ्खा महा- वंशाग्रखेलकाः, मङ्खाश्चित्रफलकहस्ताः भिक्षाकाः, ' तूणइ- ल्ला ' तूणाभिधानवाद्यविशेषवन्तः, तुम्बवीणिका वीणावादकाः, तालाचराः प्रेक्षाकारिविशेषाः, एतेषां द्वन्द्वः, तत एषां यानि प्रकरणानि प्रक्रियास्तानि च तथा बहून्यनेकविधानि ( म- हुरस्सरगीयसुस्सराइं ति ) मधुरस्वराणां—कलध्वनीनां गायकानां यानि गीतानि-गेयानि सुस्वराणि शोभनखड्जा- दिस्वरविशेषाणि तानि तथा । किं बहुना ?-अन्यानि च उक्त- व्यतिरिक्तानि, एवमादिकानि एवंप्रकाराणि तपःसंयमब्र- ह्मचर्यघातोपघातिकानि अनुचरता ब्रह्मचर्यं (न) नैव यानि तानि कामोत्कोचकारीणि श्रमणेन संयतेन ब्रह्मचारिणेति भावः ( लब्भ त्ति ) लभ्यानि उचितानि द्रष्टुं प्रेक्षितुं न कथयितुं नापि च स्मर्तुं ' जे ' इति निपातः, निगमयन्नाह-एवं पूर्वरत- पूर्वक्रीडितविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मा जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त इति । प्रश्न० ४ संव०द्वार ।

अहावरा पंचमा भावणा-णो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडग- संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया, केवली बूया- णिग्गंथे णं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं से- वेमाणे संति भेया ०जाव भंसेज्जा णो णिग्गंथे इत्थी- पसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिय त्ति पंचमा भावणा । ५ एतावया चउत्थे महव्वए सम्मं काएणं फासेइ ०जाव आराहिते यावि भवति, चउत्थं भंते ! महव्वयं । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

पंचमगं आहारपणीयनिद्धभोयणविवज्जए संजए सुसाहू ववगयखीरदहिसप्पिनवणीयतेल्लगुडखंडमच्छंडियमहुमज्ज- मंसखज्जकविगइपरिचत्तकयाहारे न दप्पणं न बहुसो न नि- तिकं न सायसूपाहिकं न खद्धं तहा भोत्तव्वं-जहा से जाया- मायाए भवइ, न य भवति विब्भमो न भंसणा य धम्मस्स, एवं पणीयाहारविरतिसमितिजोगेण भाविओ भवति अंतर- प्पा आरयमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते । (९)

पञ्चमं भावनावस्तु प्रणीतभोजनवर्जनम् । एतदेवाऽऽह-आ- हारोऽशनादिः स एव प्रणीतो-गलत्स्नेहबिन्दुः, स च स्नि- ग्धभोजनं चेति द्वन्द्वः । तस्य विवर्जको यस्स तथा, संयतः संयमवान् सुसाधुः निर्वाणसाधकयोगसाधनपरः, व्यपगता अपगता क्षीरदधिसर्पिर्नवनीततैलगुडखण्डमत्स्यण्डिका य- तः स तथा, मत्स्यण्डिका चेह खण्डशर्करा मधुमद्यमां- सखाद्यकलक्षणाभिः विकृतिभिः परित्यक्तो यः स तथा, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः, स एवंविधः, कृतो भुक्त आहारो येन स

तथा। किमित्याह-(न) नैव दर्पेण दर्पकारकमाहारं, भुञ्जीतेति शेषः। तथा न बहुशो दिनमध्ये न बहुकृत्व इत्यर्थः । (न नियगं ति) न नैत्यिकं न प्रतिदिनमिति यावत् । न शाकसूपाधिकं, शालनकदालप्रचुरमित्यर्थः। (न खद्धं) न प्रभूतं यत आह-" जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ णोवसमं उवेति । एवेंदियग्गी वि पकामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥ १ ॥ " इति। किं बहुना?, तथा तेन प्रकारेण हितमिताऽऽहारित्वाऽऽदिना भोक्तव्यं, यथा (से) तस्य ब्रह्मचारिणो यात्रा संयमयात्रा सैव यात्रामात्रं तस्मै यात्रामात्राय भवति । आह च-" जह अब्भंगण १ लेवो २, सगडक्खवणाण जत्तिओ होइ । इय संजमभरवहणट्टयाए साहूण आहारो ॥ १ ॥ " न च-नैव भवति विभ्रमो धातूपचयेन मोहोदयान्मनसो धर्मं प्रति अस्थिरत्वं भ्रंशनं वा चलनं धर्माद् ब्रह्मचर्यलक्षणात् । निगमनमाह-एवं प्रणीताऽऽहारविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मा जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त इति ।

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिचं आमरणंतं च एसो जोगो णेयव्वो धिइमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ एवं चउत्थं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं (आराहियं) आणाए अणुपालियं भवति,एवं नायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं ॥२७॥ (१०) प्रश्न० ४ संव० द्वार।

न मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ॥ (३१+) ॥

मुण्डिनेन श्रमणो निर्ग्रन्थो न स्यात्। ओंकारेण ॐभूर्भुवःस्वस्तीत्यादिना ब्राह्मणो न स्यात्। उत्त० २५ अ०।

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ॥ (३२+) ॥

समतया-समयत्वेन शत्रुमित्रयोरुपरि समानभावेन श्रमणो भवति ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति, ब्रह्म-पूर्वोक्तमहिंसासत्यचौर्याभावाऽमैथुननिर्लोभरूपं तस्य ब्रह्मणश्चरणमङ्गीकरणं ब्रह्मचर्यं तेन ब्राह्मण उच्यते। उत्त०२५ अ०। (श्रावकाणां ब्रह्मचर्यं स्वदारसन्तोष एवेति 'परदारगमण' शब्दे ५२६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

अथ चतुर्थस्यातिचारानाह—

ब्रह्मव्रतेऽतिचारस्तु, करकर्माऽऽदिको मतः ।
सम्यक् तदीयगुप्तीनां, तथा चाननुपालनम् ॥ ५१ ॥

ब्रह्मव्रते-मैथुनव्रते अतिचारस्तुशब्दो विशेषणार्थः, करकर्माऽऽदिः, तथा च—परिणामवैचित्र्येण तदीयगुप्तीनां तस्य ब्रह्मव्रतस्येमास्तदीयास्ताश्च ता गुप्तयश्च स्त्र्यादिसंसक्तवसतित्यागाऽऽदिरूपास्तासां सम्यक् भावशुद्ध्याऽननुपालनम् अनाचरणं भवतीति संबन्धः। यतः-"मेहुणस्स अइआरो, करकम्माई उ होइ णायव्वो । तग्गुत्तीण च तहा, अणुपालणमो ण सम्मं तु ॥१॥" इत्युक्तास्तुर्यव्रतातिचाराः। ध० ३ अधि०।

ब्रह्मचर्यप्रशंसा-"शक्यं ब्रह्मव्रतं घोरं, शूरैश्च न तु कातरैः। करिपर्याणमुद्वाह्यं, करिभिर्न तु रासभैः॥१॥" किं च "देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिंनरा । बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जं करिंति ते ॥ २ ॥ " संथा० १३ गाथा टी०।

ब्रह्मचर्यप्रतिपादकान्यध्ययनान्यपि ब्रह्मचर्याणि । आचाराङ्गस्य शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययनाऽऽदिष्वध्ययनेषु, ब्रह्मचर्याणि-

नव बंभचेरा पण्णत्ता । तं जहा-सत्थपरिण्णा,लोगविजओ, सीओसणिज्जं,सम्मत्तं,आवंती,धुतं, विमोहायणं, उवहाणसुतं, महपरिण्णा । ९ । (६६२)

तथा कुलानुष्ठानं ब्रह्मचर्यं तत्प्रतिपादकान्यध्ययनानि ब्रह्मचर्याणि तानि चाऽऽचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धप्रतिबद्धानीति । स० ९ सम०। स्था०। सूत्र०।

तेसु चेव बंभचेरं ति बेमि ।

तेष्वेव परमार्थतो ब्रह्मचर्यं नान्येषु नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्यभावात्। यदि वा—ब्रह्मचर्याऽऽख्योऽयं श्रुतस्कन्ध एतद्वाच्यमपि ब्रह्मचर्यं तदेतेष्वेवापरिग्रहवत्सु, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ , ब्रवीम्यहम् । आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ०।

बंभचेरअगुत्ति-ब्रह्मचर्याऽगुप्ति-स्त्री०। ब्रह्मचर्याऽरक्षणे,स०।

नव बंभचेरअगुत्तिओ पण्णत्ता । तं जहा-इत्थीपसुपंडगसंसत्ताणं सिज्जासणाणं सेवणया ०जाव सायासुक्खपडिबद्धे यावि भवइ ॥ स० ९ सम० ।

नव बंभचेरअगुत्तीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-नो विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ, इत्थीसंसत्ताइं पसुसंसत्ताइं पंडगसंसत्ताइं १, इत्थीणं कहं कहेत्ता भवइ, २, इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवइ३, इत्थीणं इंदियाइं मणोरमाइं ०जाव निज्झाइत्ता भवइ ४,पणीयरसभोई ५,पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवइ६, पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ७,सद्दाणुवाई सिलोगाणुवाई ८,०जाव सायासुक्खपडिबद्धे यावि भवइ ९॥ (६६३) स्था० ९ ठा०।

बंभचेरगुत्ति-ब्रह्मचर्यगुप्ति-स्त्री०। ब्रह्मचर्यस्य-मैथुनव्रतस्य गुप्तयो रक्षाप्रकारा ब्रह्मचर्यगुप्तयः । पा०। मैथुनविरतिपरिरक्षणोपाये, स० ८ सम०। स्था०।

ब्रह्मचर्यगुप्तयः—

नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवइ, नो इत्थीसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १, नो इत्थीणं कहं कहेत्ता भवइ २, नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवइ ३, नो इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४, नो पणीयरसभोई भवइ ५, नो पाणभोयणस्स अ-

इमायमाहारए सया भवइ ६, नो पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ ७, नो सद्दाणुवाई नो रूवाणुवाई नो सिलोगाणुवाई भवइ ८, नो सायासुक्खपडिबद्धे आवि भवइ ९ । स्था० ९ ठा० । स० । प्रव० । ध० । आ० चू० । आव० । सूत्र० । ( अनन्तरमेव ' बंभचेरसमाहिट्ठाण ' शब्दे व्याख्यास्यामि )

**बंभचेरपराइय**-ब्रह्मचर्यपराजित-त्रि० । ब्रह्मचर्यं वस्तिनिरोधस्तेन पराजितः । उपस्थसंयमपराभग्ने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

**बंभचेरपोसह**-ब्रह्मचर्यपौषध-पुं० । चरणीयं चर्यम् । " अचो यत् ॥ ३ । १ । ९७ ॥ " इत्यस्याधिकारात् " गदमदचरयमश्चाऽनुपसर्गे ॥ ३ । १ । १०० ॥ " इति यत् । ब्रह्म कुशलाऽनुष्ठानं, तच्च चर्यं चेति तत्पौषधः । आव० ६ अ० । पौषधभेदे, स च देशतो दिवैव रात्रावेव सकृदेव द्विरेव वा स्त्रीसेवां मुक्त्वा ब्रह्मचर्यकरणम् । सर्वतस्तु अहोरात्रं वा ब्रह्मचर्यकरणम् । ध० २ अधि० ।

**बंभचेरभट्ठ**-ब्रह्मचर्यभ्रष्ट-पु० । अपगतब्रह्मचर्ये, ब्रह्मचर्यशब्दो मैथुनविरतिवाचकः । तत्रौघतः संयमवाचकश्च । आव० ३ अ० ।

**बंभचेररय**-ब्रह्मचर्यरत-पु० । ब्रह्मचर्याऽऽसक्ते, " बंभचेररए सया । " उत्त० १६ अ० ।

**बंभचेरवसाऽऽणयण**-ब्रह्मचर्यवशाऽऽनयन-न० । ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिरूपं वशमानयत्यात्माऽऽयत्तं करोति दर्शनाऽऽक्षेपाऽऽदिनेति ब्रह्मचर्यवशाऽनयनम् । ब्रह्मचर्यभ्रंशके, दश० ।

न चरे (ज) वेससामंते, बंभचेरवसाणए ।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसोत्तिआ ॥ ९ ॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते न गच्छेद्गणिकागृहसमीपे । किंविशिष्टे? इत्याह-ब्रह्मचर्यवशाऽऽनये-ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिरूपं वशमानयत्यात्माऽऽयत्तं करोति दर्शनाऽऽक्षेपाऽऽदिनेति ब्रह्मचर्यवशाऽऽनयनं तस्मिन् । दोषमाह-ब्रह्मचारिणः साधोर्दान्तस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां भवेत् । अत्र वेश्यासामन्ते विस्रोतसिका तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमशस्यशोषफला चित्तविक्रियेति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

**बंभचेरवास**-ब्रह्मचर्यवास-पु० । ब्रह्मचर्ये मैथुनविरमणे तेन वा वासो ब्रह्मचर्यवासः । स्था० ५ ठा० १ उ० । ब्रह्मचर्येणाब्रह्मविरमणेन वासो-रात्रौ स्वापः तत्रैव वा वासो निवासो ब्रह्मचर्यवासः । ब्रह्मचर्येणावस्थाने, स्था० २ ठा० १ उ० ।

**बंभचेरविग्घ**-ब्रह्मचर्यविघ्न-पुं० । मैथुनविरमणव्याघाते, प्रश्न० ४ आश्र०द्वार ।

**बंभचेरसमाहिट्ठाण**-ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान-न० । ब्रह्मचर्यस्थैर्यस्य हेतौ, उत्त० १६ अ० ।

दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि । संप्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् ।

तच्चेदम्-

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता । जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥ १ ॥

श्रुतं मयाऽऽयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातं-कथितम् । कथमित्याह-सोपस्कारत्वात् सूत्रस्य यथेति गम्यते, ततो यथेह क्षेत्रे प्रवचने वा ' खलु ' निश्चयेन स्थविरैः गणधरैर्भगवद्भिः परमैश्वर्याऽऽदियुक्तैर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि-प्ररूपितानि । कोऽभिप्रायः-नैषा स्वमनीषिका, किं तु भगवताऽप्येवमाख्यातं मया श्रुतं ततोऽत्र मा अनास्था कृथाः, तान्येव विशिनष्टि-ये इति यानि ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि भिक्षुः श्रुत्वाऽऽकर्ण्य शब्दतो निशम्यावधार्याऽर्थतः (संजमबहुले त्ति) संयमआश्रवविरमणाऽऽदिकं बहुलिति बहुसङ्ख्यं यथा भवत्येवं तानि गृह्णानि । कोऽभिप्रायः ?-विशुद्धविशुद्धतरं पुन पुनः संयमं करोतीति संयमबहुलो,मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः । यदि वा-बहुलः प्रभूतः संयमोऽस्येति बहुलसंयमः । सूत्रे पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद् अत एव संवर आश्रवद्वारनिरोधः तद्बहुलः बहुलसंवरो वा, तत एव समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तद्बहुलो बहुलसमाधिर्वा, गुप्तो मनोवाक्कायगुप्तिभिः, गुप्तत्वादेव गुप्तानि विषयप्रवृत्तितो रक्षितानि इन्द्रियाणि श्रोत्राऽऽदीनि येन स तथा, तत एव गुप्तं नवगुप्तिसेवनात् ब्रह्मेति ब्रह्मचर्यं चरितुम् आसेवितुं शीलमस्येति गुप्तब्रह्मचारी सदा सर्वकालम् अप्रमत्तः प्रमादविरहितो विहरेत् अप्रतिबद्धविहारितया चरेद्, एतेन संयमबहुलत्वाऽऽदि दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानफलमुक्तमेतदविनाभावित्वात्तस्येति सूत्रार्थः ।

कयरे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ? । इमे खलु ते०जाव विहरिज्जा । तं जहा-विवित्ताइं सयणाऽऽसणाइं सेविज्जा से निग्गंथे णो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणाऽऽसणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जेज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ वा भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से णिग्गंथे ॥ २ ॥

कतराणीत्यादि प्रश्नसूत्रमिमानीत्यादि निर्वचनसूत्रं च प्राग्वत् । तान्येवाऽऽह-( तं जहेत्यादि ) तद्यथेत्युपन्यासे, विविक्तानि स्त्रीपशुपण्डकाऽऽकीर्णत्वविरहितानि शय्यते येषु तानि शयनानि च फलकसंस्तारकाऽऽदीनि आस्यते येषु तान्यासनानि च पादपीठपुञ्छनाऽऽदीनि शयनाऽऽसनानि; उपलक्षणत्वात् स्थानानि च सेवेत-भजेत यः स निर्ग्रन्थः

द्रव्यभावग्रन्थाद्विनिष्क्रान्तो भवतीति शेषः। इत्थमन्वयेनाऽभिधायाव्युत्पन्नविनेयाऽनुग्रहायाऽमुमेवार्थं व्यतिरेकेणाऽऽह-( नो ) नैव स्त्रियश्च दिव्या मानुष्यो वा पशवश्च अजैडकाऽऽदयः पण्डकाश्च-नपुंसकानि स्त्रीपशुपण्डकास्तैः संसक्तानि-आकीर्णानि स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनाऽऽसनान्युक्तरूपाणि सेविता उपभोक्ता भवति तदित्यनन्तरमेवोक्तं, कथं केनोपपत्तिप्रकारेण ?, इति चेदेवं यदि मन्यसे, अत्रोच्यते-निर्ग्रन्थस्य खलु निश्चितं स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनाऽऽसनानि सेवमानस्योपभुञ्जानस्य ( बंभयारिस्स त्ति ) अपि-शब्दस्य गम्यमानत्वात् ब्रह्मचारिणोऽपि सतो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा किमेताः सेवे उत नेत्येवंरूपा । यदि वा—ब्रह्मान्येषामिति गम्यते, ततः शङ्का वाऽन्येषामेव यथा किमसावेवंविधशयनाऽऽसनसेवी ब्रह्मचार्युत नेति काङ्क्षा वा स्त्र्याद्यभिलाषरूपा विचिकित्सा वा धर्मं प्रति चित्तविप्लुतिः समुत्पद्यते जायते । अथवा—शङ्का स्त्र्यादिभिरत्यन्तापहृतचित्ततया विस्मृतसकलाऽऽप्तोपदेशस्य-" सत्यं वच्मि हितं वच्मि, सारं वच्मि पुनः पुनः । अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारङ्गलोचना ॥ १ ॥ " इत्यादि कुविकल्पाद् विकल्पयतो मिथ्यात्वोदयतः कदाचिदेतत्परिहार एव न तीर्थकृद्भिरुक्तो भविष्यति, एतदासेवने वा यो दोष उक्तः स दोष एव न भवतीत्येवंरूपः संशय उत्पद्यते काङ्क्षा वा तत एव हेतोः—" प्रियादर्शनमेवास्तु , किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ?। प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणाऽपि चेतसा ॥ १ ॥ " इत्याद्यभिधायकान्यान्यनीलपटाऽऽदिदर्शनाऽऽग्रहरूपा, विचिकित्सा वा धर्मं प्रति किम् एतावत' कष्टाऽनुष्ठानस्य फलं भविष्यति, न वा ?, तद्वरमेतदासेवनमेवाऽस्त्वित्येवंरूपा, भेदं वा विनाशं, चारित्रस्येति गम्यते, लभेत प्राप्नुयात्, उन्मादं वा कामग्रहाऽऽत्मकं प्राप्नुयात् स्त्रीविषयाऽभिलाषातिरेकतस्तथाविधचित्तविप्लवसंभवात्, दीर्घकालिकं वा प्रभूतकालभाविरोगश्च दाहज्वराऽऽदिरातङ्कश्च आशुघाती शूलाऽऽदिर्रोगाऽऽतङ्कं भवेत् स्यात्, संभवति हि स्त्र्याद्यभिलाषाऽतिरेकतोऽरोचकत्व ततश्च ज्वराऽऽदीनि, केवलिप्रज्ञप्तात् धर्मात् श्रुतचारित्ररूपात् समस्ताद् भ्रश्येद्धः प्रतिपतेद्, कस्यचिदतिक्लिष्टकर्मोदयात् सर्वथा धर्मपरित्यागसंभवादत एवं तस्मादित्यादि निगमनवाक्यं प्रकटार्थमेवेति सूत्राऽर्थः ॥ २ ॥ उक्तं प्रथमं समाधिस्थानम् ।

द्वितीयमाह—

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहमिति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बंभयारियस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिंछा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभिज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा,केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा,तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं कहं कहिज्जा ॥ २ ॥

नो स्त्रीणाम् एकाकिनीनामिति गम्यते । कथाः-वाक्यप्रबन्धरूपाः । यदि वा-स्त्रीणां कथा-" कर्णाटी सुरतोपचारचतुरा, लाटी विदग्धप्रिया । " इत्यादिका । अथवा—जातिकुलरूपनेपथ्यभेदाच्चतुर्धा स्त्रीकथा । तत्र—जातिः ब्राह्मण्याऽऽदिः । कुलम्-उग्राऽऽदि, रूपम्-महाराष्ट्रिकाऽऽदि संस्थानम्-नेपथ्यम् तत्तद्देशप्रसिद्धम्, तां कथयिता भवति । ( से निग्गंथे त्ति ) य एवंविधः स निर्ग्रन्थः । शेषं प्रश्नप्रतिवचनाऽभिधायि प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

तृतीयमाह—

नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं संनिसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गंथे । तं कहमिति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं संनिसेज्जागयस्स विहरमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा०जाव भंसेज्जा तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं संनिसेज्जागए विहरइ ॥ ३ ॥

नो स्त्रीभिः सार्द्धं सह सम्यक् निषीदन्त्युपविशन्त्यस्यामिति सन्निषद्या- पीठाऽऽद्यासनं तस्या गतः स्थितः सन्निषद्यागतः सन् विहर्त्ताऽवस्थाता भवति । कोऽर्थः ?-स्त्रीभिः सहैकाऽऽसने नोपविशेदुत्थितास्वपि हि तासु मुहूर्त्तं तत्र नोपवेष्टव्यमिति संप्रदायो, य एवंविधः स निर्ग्रन्थो, न त्वन्य इत्यभिप्रायः,शेषं प्रश्नप्रतिवचनाभिधायि पूर्ववदिति सूत्रार्थः॥

चतुर्थमाह—

णो णिग्गंथे इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाएत्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं मणुण्णाइं ०जाव निज्झाएमाणस्स बंभचारिस्स बंभचेरे ०जाव भंसेज्जा तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं इंदियाइं निज्झाएज्जा ॥ ४ ॥

नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि नयननासिकाऽऽदीनि मनश्चित्तं हरन्ति दृष्टमात्राण्यप्याक्षिपन्तीति मनोहराणि, तथा मनो रमयन्ति इति दर्शनानन्तरमनुचिन्त्यमानान्याह्लादयन्तीति मनोरमाणि, आलोकिता समन्तात् द्रष्टा निर्ध्याता दर्शनानन्तरमतिशयेन चिन्तयिता यथा अहो सलवणत्वं लोचनयोः ऋजुत्वं नासावंशस्येत्यादि । यद्वा-आङ् ईषदर्थे,तत आलोकिता ईषद् द्रष्टा निर्ध्याता प्रबन्धेन निरीक्षिता भवति यः स निर्ग्रन्थोऽन्यत्प्रतीतमेवेति सूत्रार्थः ।

पञ्चममाह—

नो निग्गंथे इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा दूसंतरंसि वा भित्तियंतरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कंदियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणित्ता हवइ से णिग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाऽऽह-इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा दूसंतरंसि वा भित्तियंतरंसि वा ०जाव विलवियसद्दं वा सुणमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा ०जाव धम्माओ भंसेज्जा तम्हा खलु णिग्गंथे णो इत्थीणं कुड्डतरंसि वा ० जाव सुणेमाणे विहरेज्जा ॥ ५ ॥

नो स्त्रीणां कुड्यं खटिकाऽऽदिरचितं तेनान्तरं व्यवधानं कुड्यान्तरं तस्मिन् वा, दूष्यं वस्त्रं तदन्तरे वा, यवनिकान्तर इत्यर्थः। भित्तिः पक्वेष्टकाऽऽदिरचिता तदन्तरे,वाशब्दः सर्वत्र

विकल्पाभिधायी, स्थित्वेति शेषः । कूजितशब्दं वा विविध-विहगभाषया अव्यक्तशब्दं सुरतसमयभाविनं रुदितशब्दं वा रतिकलहाऽऽदिकं मानिनीकृतं गीतशब्दं वा पञ्चमाऽऽदि-हुङ्कृतिरूपं हसितशब्दं वा कहकहाऽऽदिकं स्तनितशब्दं वा रतिसमयकृतम्, क्रन्दितशब्दं वा प्रोषितभर्तृकाऽऽदिकृताऽऽक्रन्दरूपं विलपितशब्दं वा प्रलापरूपं श्रोता यो न भवति स निर्ग्रन्थः । शेषं स्पष्टम् । इति सूत्रार्थः ।

षष्ठमाह—

नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलितं अणुसरित्ता भवइ तं कहं?, इति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अनुसरमाणस्स बंभचारिस्स बंभचेरे संका वा ०जाव भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥ ६ ॥

नो निर्ग्रन्थः पूर्वस्मिन् गृहावस्थालक्षणे काले रतं स्त्र्यादिभिः सह विषयानुभवनं पूर्वरतं पूर्वक्रीडितं वा स्त्र्यादिभिरेव पूर्वकालभावि दुरोदराऽऽदिरमणाऽऽत्मकं, वाशब्दस्य गम्यमानत्वात्, अनुस्मर्ता अनुचिन्तयिता भवति । शेष मा ग्वदिति सूत्रार्थः ।

सप्तममाह—

नो निग्गंथे पणीयं आहारमाहारित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहमिति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स पणीयं पाणभोयणं आहारेमाणस्स बंभचारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा ०जाव भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे पणीयं आहारमाहारेज्जा ॥ ७ ॥

(नो) नैव प्रणीतं-गलद्बिन्दु, उपलक्षणत्वादन्यमप्यत्यन्तधातूद्रेककारिणमाहारमशनाऽऽदिकमाहारयिता-भोक्ता भवति यः स निर्ग्रन्थः, शेष व्याख्यातमेव, नवरं प्रणीतं पानभोजनम् इति पानभोजनयोरेवोपादानम्, एतयोरेव मुख्यतया यतिभिराहार्यमाणत्वादन्यथा खाद्यस्वाद्ये अप्येवंविधे वर्जनीये. एवेति सूत्रार्थः ।

अष्टममाह—

नो निग्गंथे अइमायाए पाणभोयणं आहरित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहमिति चेदायरियाऽऽह-अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभिज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे ०जाव अइमायमाहारेज्जा ॥ ८ ॥

( नो ) नैव अतिमात्रया मात्रातिक्रमेण तत्र मात्रा—परिमाणं, सा च पुरुषस्य—द्वात्रिंशत्कवलाः, स्त्रिया. पुनरष्टाविंशतिः । उक्तं हि-" बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥ १ ॥" अतिक्रमस्तु तदाधिक्यसेवनं, पानभोजनं प्रतीतमेव, आहारयिता भोक्ता भवति यः स निर्ग्रन्थ., शेषं तथैवेति सूत्रार्थः ।

नवममाह—

नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गंथे, तं कहं?, इति चेदायरियाऽऽह-विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थीजणस्स पत्थणिज्जे भवइ, तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बंभचारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा ०जाव भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे विभूसाणुवाई सिया ॥ ९ ॥

( नो ) नैव विभूषणं विभूषा शरीरोपकरणाऽऽदिषु स्नानधावनाऽऽदिभिः संस्कारस्तदनुपाती, कोऽर्थः ?-तत्कर्ता भवति यः स निर्ग्रन्थः, ततः कथमिति चेत् ?, उच्यते-( विभूसावत्तिए त्ति ) विभूषां वर्तयितुम्—विधातुं शीलमस्येति विभूषावर्ती, तच्छीलिको णिन्, स एव विभूषावर्तिकः, स किमित्याह—विभूषितमलंकृतं स्नानाऽऽदिना संस्कृतमिति यावत्, शरीरं-देहो यस्य स विभूषितशरीरः । तथा च-"उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते " इति वचनात् युवतिजनप्रार्थनीयो भवति । आह च सूत्रकारः—" इत्थिजणस्स अहिलसणिज्जे हवइ त्ति।" ततः को दोष.?, इत्याह-ततः स्त्रीजनाभिलषणीयत्वतः, णमिति प्राग्वत्, तस्य निर्ग्रन्थस्य स्त्रीजनेन युवतिजनेनाभिलष्यमाणस्य—प्रार्थ्यमानस्य ब्रह्मचारिणोऽपि ब्रह्मचर्ये शङ्का वा, यथा किमेतास्तावदित्थं प्रार्थयमाना उपभुञ्जे?, आयतौ तु यद्भावि तद्भवतु, उतश्वित् कष्टाः शाल्मलीश्लेषाऽऽदयो नरक एतद्विपाका इति परिहरामीत्येवंरूपः संशयः, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

दशममाह—

नो सद्दाणुवाई रूवाणुवाई रसाणुवाई गंधाणुवाई फासाणुवाई भवेज्जा से णिग्गंथे, तं कहं ?, इति चेदायरियाऽऽह-निग्गंथस्स खलु सद्दरूवरसगंधफासाणुवाइयस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभिज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई भवेज्जा, से निग्गंथे दसमे बंभचेरसमाहिट्ठाणे भवति । भवंति य इत्थ सिलोगा ।

(नो) नैव, शब्दो मन्मनभाषिताऽऽदि, रूपं-कटाक्षनिरीक्षणाऽऽदि चित्राऽऽदिगत वा स्त्र्यादिसम्बन्धि, रसो-मधुरादिरभिबृंहणीयो, गन्धः सुरभिः, स्पर्शः स्पर्शनानुकूलः कोमलमृणालाऽऽदेरेतानभिष्वङ्गहेतून् अनुपतति अनुपातीत्येवंशीलः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवति यः स निर्ग्रन्थः । तत् कथमिति चेदित्यादि सुगमं, दशमं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं भवतीति निगमनम् । इह च प्रत्येकं स्त्र्यादिसंसक्तशयनाऽऽदेः शङ्काऽऽदिदोषदर्शनं तदत्यन्तदुष्टतादर्शकं प्रत्येकमपायहेतुतां प्रति तुल्यबलत्वख्यापक चेति सूत्रार्थः । ( भवंति य इत्थ सिलोग त्ति ) भवन्ति—विद्यन्ते अत्रेति उक्त एवार्थे, किमुक्तं भवति ?—उक्तार्थाभिधायिनः श्लोकाः पद्यरूपाः ।

तं जहा—

जं विवित्तमणाइण्णं, रहियं थीजणेण य ।

बंभचेररस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥
मणपल्हायजणणिं, कामरागविवड्ढणिं ।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥
समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥
अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, सो अगिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥
कुइयं रुइयं गीयं, हसियं थणिय कंदियं ।
बंभचेररओ थीणं, सो अगेज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥
हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसाऽवत्तासियाणि य ।
बंभचेररओ थीणं, णाणुचिंते कयाइ वि ॥ ६ ॥
पणीयं भत्त पाणं च, खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ७ ॥
धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
णाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया ॥ ८ ॥
विभूसं परिवज्जिज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥ ९ ॥
सद्दे रूवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥ १० ॥

तथयेत्युपदर्शने,यो विविक्तो रहस्यभूतस्तत्रैव वास्तव्यस्त्र्या-द्यभावादनाकीर्णः-असकुलस्तत्प्रयोजनाऽऽगतस्त्र्यनाकुल-त्वाद्धितः परित्यक्तोऽकालचारिणा वन्दनश्रवणाऽऽदिनिमि-त्ताऽऽगतेन स्त्रीजनेन,चशब्दात्पण्डकैः षण्डाऽऽदिपुरुषैश्च,प्र-क्रमापेक्षया चैवं व्याख्या,अन्यत्रापि चैवं प्रक्रमाऽद्यपेक्षत्वं भा-वनीयम्। उक्तं हि-"अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गा-दौचित्याद् देशका-लतः । शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते,न शब्दादेव केवलात् ॥१॥"ब्रह्म-चर्यस्योक्तरूपस्य रक्षार्थं पालननिमित्तमालयः आश्रयः, सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत् ,यत्तदोर्नित्यं सम्बन्धात् न,तुः पूरणे,निषे-वते-भजते ॥१॥ मनश्चित्त तस्य प्रह्लादः-अहो ! अभिरूपा एता इत्यादिविकल्पज आनन्दस्त जनयतीति मनःप्रह्लादजन-नी, तामत एव कामरागो विषयाऽभिष्वङ्गस्तस्य विवर्द्ध-नी विशेषेण वृद्धिहेतुः कामरागविवर्द्धनी, ता, शेष स्पष्टम् , नवर स्त्रीकथाम्-" तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा । " इ-त्यादिरूपाम् ॥ २ ॥ समं च सह संस्तव परिचयं स्त्रीभिः निषद्याप्रक्रमादेकाऽऽसनभोगेनेति गम्यते,संकथा च ताभिरे-व समं सन्ततभाषणाऽऽत्मिकामभीक्ष्णं-पुनः पुनः ( णिच्चसो त्ति ) नित्यम् , अन्यत् स्पष्टम् ॥ ३ ॥ अङ्गानि-शिर प्रभृतीनि, प्रत्यङ्गानि-कुचकक्षादीनि, संस्थान कटीनिविष्टकराऽऽदि-सन्निवेशाऽऽत्मकम्,अमीषां समाहारनिर्देशः,अङ्गप्रत्यङ्गयोर्वा संस्थानम्-आकारविशेषोऽङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं,चारु-शोभनमु-ल्लपितं च-मन्मनभाषिताऽऽदि तत्सहगतमुखाऽऽदिविका रोपलक्षणमेतत् , प्रेक्षित च अर्द्धकटाक्षवीक्षिताऽऽदि, उल्ल-पितप्रेक्षितं ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां संबन्धि चक्षुषा गृह्यत इ-ति चक्षुर्ग्राह्यं सद्विवर्जयेत् । किमुक्तं भवति ?-चक्षुषि हि स-ति रूपग्रहणमवश्यं भावि, परं तद्दर्शनेऽपि तत्परिहार एव कर्त्तव्यो न तु रागवशगेन पुनः पुनस्तदेव वीक्षणीयमि-ति । उक्तं हि-" असक्का रूवमद्दट्ठुं चक्खुगोयरमागयं । रा-गदोसे उ जे तत्थ, ते बुहो परिवज्जए ॥ १ ॥ " ॥ ४ ॥ " कुइयं " सूत्रं प्रायो व्याख्यातमेव, नवरं कुड्यान्तरा-ऽऽदिष्विति शेषः ॥ ५ ॥ हाससूत्रमपि तथैव, नवर रतिं दयिताङ्गसङ्गजनितां प्रीतिं, दर्पं मनस्विनीमानदलनोत्थ गर्वं सहसाऽवत्रासितानि च पराङ्मुखदयिताऽऽदेः सह-दि त्रासोत्पादकान्यक्षिस्थगनमर्मघट्टनाऽऽदीनि । पठ्यते च " हस्सं दप्पं रतिं किड्डं, सह भुत्ताऽऽसियाणि य । " अत्र च ( सहेति ) स्त्रीभिः सार्द्धं भुक्तानि च भोजनानि आ-सितानि च स्थितानि भुक्ताऽऽसितानि, शेषं स्पष्टं, नवरं स-र्वत्र पूर्वकृतत्वं प्रक्रमादपेक्षणीयम् ॥ ६ ॥ " पणीयं " सूत्रं निगदसिद्धमेव, नवर मदः-कामोद्रेक इह कथ्यते, तस्य वि-वर्द्धनमतिबृंहकतया विशेषतो वृद्धिहेतुं परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥ धर्मादनपेतं धर्म्यमेषणीयमित्यर्थः, लब्धं-प्राप्तं गृहस्थेभ्य इति गम्यते, न तु स्वयमेवोपस्कृतम् । पठ्यते च-" धम्मलद्धं ति"धर्मेण हेतुनोपलक्षणत्वात् धर्मलाभेन वा न तु कुण्टला-ऽऽदिकरणेन लब्धं धर्मलब्धम् । पठ्यते च-( धम्मलद्धं ति ) धर्मे उत्तमः क्षमाऽऽदिरूपः । यथाऽऽह वाचक -"उत्तमः क्षमा मार्दवाऽऽर्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।" ( तत्त्वार्थे ९ अ० ६ सू० ) इति । तं लब्धुं-प्राप्तु कथं ममायं निरतिचारः स्यादिति । मितम्-" अद्धमसण-स्स " इत्यादि आगमोक्तमानान्वितमाहारमिति गम्यते । काले प्रस्तावे यात्राऽर्थं संयमनिर्वाहणार्थं, न तु रूपाऽऽद्यर्थं प्रणि धानवाञ्चित्तस्वास्थ्योपेतो न तु रागद्वेषवशगो भुञ्जीत, नेति निषेधे मात्रामतिक्रान्तोऽतिमात्रः, अतिरिक्त इत्यर्थः, तम् । यदि वा-"ईषदर्थे,क्रियायोगे,मर्यादायां,परिच्छेदे ।" इत्यादिना मात्राशब्दस्य मर्यादार्थस्यापि दर्शनादतिमात्रमतिक्रान्तम-र्यादं, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् व्यवहितसंबन्धत्वाच्च नैव भु ञ्जीताभ्यवहरेत् ब्रह्मचर्ये रत आसक्तो ब्रह्मचर्यरतः सदा सर्व कालं कदाचित्कारणतोऽतिमात्रस्याप्याहारस्य अदुष्टत्वात् । ॥ ८ ॥ विभूषामुपकरणगतामुत्कृष्टवस्त्राऽद्यात्मिका परिवर्ज्ज येत्परिहरेच्छरीरपरिमण्डनं केशश्मश्रुसमारचनाऽदि ब्रह्मच र्यरतो भिक्षुः शृङ्गारार्थं-विलासार्थं न धारयेन्न स्थापयेन्न कुर्यादिति यावत् ॥ ९ ॥ ( सद्दे त्ति ) स्पष्टमेव, नवरं काम इच्छामदनरूपस्तस्य द्विविधस्यापि गुणाः साधनभूता उप कारका इति यावत् । उक्तं हि-" गुणः साधनमुपकारकम् । " कामगुणास्तानेवंविधान् शब्दाऽदीन् इति सूत्रदशकार्थः ॥१०॥

सम्प्रति यत्र प्राक् प्रत्येकमुक्तं शङ्का वा स्या-
दित्यादि तद् दृष्टान्ततः स्पष्टयितुमाह—

आलवो थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इंदियदरिसणं ॥ ११ ॥
कुइयं रुइयं गीयं, हसियं भुत्तासियाणि य ।
पणीय भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥ १२ ॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ १३ ॥

सूत्रत्रयमपि प्रतीतं, नवरं संस्तवः-परिचय , स चेहाऽपेक्षा-ऽऽसनभोगेनेति प्रक्रमः ॥ ११ ॥ कूजिताऽऽदीनि हसितप-

र्यन्तानि कुड्यान्तराऽऽद्यवस्थितिनिषेधोपलक्षणानि, भुक्ताऽऽसितानि च, स्मृतानीति शेषः। तत्र भुक्तानि भोगरूपाणि आसितानि स्त्र्यादिभिरेव सहावस्थितानि, हास्याऽऽद्युपलक्षणं चैतत् ॥१२॥ गात्रभूषणमिष्टं चेति, चशब्दोऽपिशब्दार्थः, तत इष्टमप्यास्तां विहितं, तथा काम्यन्त इति कामाः, भुज्यन्त इति भोगा, विशेषणसमासः, ते चेष्टा शब्दाऽऽदयः, नरस्योपलक्षणत्वात् स्त्र्यादेश्च आत्मगवेषिण. विषं गरलस्तालपुटं सद्यो घाति यत्रौष्ठपुटान्तर्वर्तिनि तालमात्रकालविलम्बतो मृत्युरुपजायते यथैन्यौपम्ये ततोऽयमर्थः-यथैतद्विपाकदारुणं तथा स्त्रीजनाऽऽकीर्णाऽऽलयाऽऽद्यपि शङ्काऽऽदिकरणतः संयमाऽऽत्मभावजीवितस्येतरस्य च नाशहेतुत्वादिति सूत्रत्रयार्थः ।१३।

सम्प्रति निगमयितुमाह—

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जिज्जा पणिहाणवं ॥ १४ ॥
धम्माऽऽरामे चरे भिक्खू, धिइम धम्मसारही ।
धम्माऽऽरामरए दंते, बंभचेरसमाहिए ॥ १५ ॥

दुःखेन जीयन्त इति दुर्जयास्तान् कामभोगान् उक्तरूपान् ( निच्चसो त्ति ) नित्यं परिवर्जयेत् सर्वप्रकार त्यज्येत् शङ्कास्थानानि चानन्तरोक्तानि, पूर्वत्र चस्य भिन्नक्रमत्वात्सर्वाणि दशापि वर्जयेदन्यथाऽऽज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषसम्भवः, प्रणिधानवान् एकाग्रमनाः। एतद्वर्जकश्च किं कुर्यादित्याह-धर्मं आराम इव पापसन्तापोपतप्तानां जन्तूनां निर्वृतिहेतुतया अभिलषितफलप्रदानतश्च धर्माऽऽरामस्तस्मिंश्चरेत् गच्छेत्प्रवर्त्ततेति यावत्। यद्वा-धर्मे आ समन्ताद् रमत इति धर्माऽऽरामः, संचरेत्संयमाध्वनि यायात् भिक्षुः, आग्वत् धृतिमान् धृतिः—चित्तस्वास्थ्यं तद्वान् । स चैवं धर्मसारथिरिति। "ठिओ उ ठावए परं। " इति वचनादन्येषामपि धर्मे प्रवर्त्तयिता ततः अन्यानपि धर्मे व्यवस्थितानुपलभ्य विशेषतो धर्माऽऽरामे रतः-आसक्तिमान् धर्माऽऽरामरतस्तथा च—दान्त उपशान्तो ब्रह्मचर्ये समाहित —समाधानवान् ब्रह्मचर्यसमाहित इति सूत्रद्वयार्थः।

ब्रह्मचर्यविशुद्ध्यर्थोऽयं सर्वोऽप्युपक्रम इति तन्माहात्म्यम्—

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥ १६ ॥

देवा ज्योतिष्कवैमानिकाः, दानवा भुवनपतयः, गन्धर्वयक्षराक्षसकिन्नरा व्यन्तरविशेषाः, समासः सुकर एव । उपलक्षणं चैतत्—भूतपिशाचमहोरगकिंपुरुषाणामेते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणं ब्रह्मचर्यवन्तं, यतिमिति शेषः। नमस्यन्ति नमस्कुर्वन्ति , दुष्करं कातरजनदुरनुचरम्। ( जे त्ति ) यः करोत्यनुतिष्ठति, तदिति प्रक्रमाद्ब्रह्मचर्यमिति सूत्रार्थः ॥१६॥

सम्प्रति सकलाऽध्ययनार्थमुपसंहारमाह—

एस धम्मे धुए नि (चे) यए, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झिस्संति तहा परे ॥१७॥
त्ति बेमि ।

एष अनन्तरोक्तो धर्मो ब्रह्मचर्यलक्षणो ध्रुवः—स्थिरः परप्रवादिभिरप्रकम्प्यतया, प्रमाणप्रतिष्ठित इति यावत्। नित्यः अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो द्रव्यार्थितया शाश्वतः शश्वदन्यान्यरूपतया उत्पन्न पर्यायार्थितया, यद्वा—नित्यः त्रिकालमपि सम्भवाच्छाश्वतोऽनवरतभवनात् , एकार्थिकानि वा नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुक्तानि , जिनैस्तीर्थकृद्भिर्देशित प्रतिपादितो जिनदेशितः। अस्यैव त्रिकालगोचरफलमाह—सिद्धाः पुरा अनन्तासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु सिद्ध्यन्ति, चः समुच्चये, महाविदेहे, इहाऽपि वा तत्कालाऽपेक्षया अनेनेति ब्रह्मचर्यलक्षणेन धर्मेण सेत्स्यन्ति तथा परे अन्येऽनन्तायामनागताद्धायामिति सूत्राऽर्थः ॥ १७ ॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमि इति पूर्ववत्। उत्त० १६ अ०।

**बंभण**–ब्राह्मण–पुं०। स्त्री०। ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः। ब्रह्मणो मुखजे वर्णे, " बंभणस्स मुहातो विप्पा णिग्गया " इति पुराणम्। नि०चू० १ उ०। " अन्नया उउसमए जमदग्गिणा भणिया—अहं ते चरुं साहेमि। " श्रीऋषभस्य ज्ञानोत्पत्तौ श्रावका एव ब्राह्मणा जज्ञिरे। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विशुद्धब्रह्मचारिणि, द्वा० २७ द्वा०। दश०।

**बंभणगाम**–ब्राह्मणग्राम–पुं०। नन्दोपनन्दपाटकद्वयभूषिते स्वनामख्याते ग्रामे, आ०म० १ अ०। आ०चू०।

**बंभणय**–ब्राह्मणक–न०। ब्राह्मणहिते शास्त्रे, कल्प० १ अधि० १ क्षण। वेदव्याख्यानरूपे शास्त्रे, औ०। आ०चू०।

**बंभणवसिट्ठणाय**–ब्राह्मणवसिष्ठज्ञात–न०। सामान्यग्रहणे प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानज्ञापके उदाहरणे, यथा ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति। दश० ५ अ० १ उ०।

**बंभणाह**–ब्रह्मनाभ–पुं०। आगामिष्यत्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति तीर्थंकरे, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

**बंभणिया**–ब्राह्मणिका–स्त्री०। हालाहले, " हालाहलो य-बंभणिआ। " पाइ०ना० २२६ गाथा।

**बंभणी**–देशी—हालाहले, दे०ना० ६ वर्ग ६० गाथा।

**बंभत्थलय**–ब्रह्मस्थलक–न०। स्वनामख्याते स्थलके, यत्र विश्रान्तिर्भ्राम्यता ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना कृता। उत्त० १३ अ०।

**बंभदत्त**–ब्रह्मदत्त–पुं०। " पारिणामिया " शब्दे अत्रैव भागे ६१७ पृष्ठे उदाहृते वरधनुषाऽमात्येन मोचिते कुमारे, आ० म० १ अ०। आचा०। नं०। दश०। काम्पिल्यनगरजाते स्वनामख्याते अवसर्पिण्यां द्वादशे भरतचक्रवर्तिनि, आ० क० १ अ०। ती०। नि०चू०। स०। ति०। अथ ब्रह्मदत्तहिण्डीमभिदधत् प्रथमं पूर्वभवचरितमाह। उत्त० २ अ०। " साएए चंडवडिंसय—स्स पुत्तो। " इत्यादि। उत्त० १३ अ०। ( ' चित्तसंभूइया ' शब्दे ३ भागे ११८२ पृष्ठे व्याख्यातम् )

जाईपराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीए बंभदत्तो, उववन्नो नलिणगुम्माओ ॥ १ ॥

जातिपराजित इति जात्या प्रस्तावाच्चाण्डालाऽऽख्यया पराजितोऽभिभूत, स हि वाराणस्यां हस्तिनागपुरे च वक्ष्यमाणन्यायतो नृपेण नमुचिनाम्ना च द्विजेन चाण्डाल इति नगरनिष्कासनन्यक्काराऽऽदिना पुरा जन्मन्यपमानित इ-

स्येवमुक्तः, यद्वा-जातिभिर्दासाऽऽदिनीचस्थानोत्पत्तिभिरुप- र्युपरि जाताभिः पराजित इति पराभवं मन्यमानः अहो ! अ- हमधन्यो यदित्थं नीचास्वेव जातिषु पुनः पुनरुत्पन्न इति । खलुर्वाक्यालङ्कारे, स चैवंविधः, किमित्याह—(कासि त्ति ) अकार्षीत्, किमित्याह-निदानं चक्रवर्तिपदावाप्तिर्मम भवेदि- त्येवमात्मकं, तुः पूरणे, क्वेदं कृतवानित्याह-( हत्थिणपुर- म्मि त्ति ) हस्तिनागपुरे चुलन्यां ब्रह्मदत्त• ( उववन्नो त्ति ) उत्पन्न',पद्मगुल्मादिति नलिनगुल्मविमानात्, च्युत्वेति शेषः इति सूत्राक्षरार्थः ॥ भावार्थस्त्वयम्—स हि ब्रह्मदत्तः पूर्वज- न्मनि वाराणस्यां सभूतनामा चाण्डालश्चित्रश्च तज्ज्येष्ठ आ- सीत्, तत्र च नमुचिनामा ब्राह्मणो ममान्त पुरमपधर्षित- मनेनेत्युत्पन्नकोपेन राज्ञा समर्पितो मारणनिमित्तं मात- ङ्गाधिपस्य तत्पितुः, उक्तश्चायमेतेन-यदि मत्सुतौ सकलक- लाकुशलौ विधत्से ततोऽस्ति ते जीवितमन्यथा नेति, प्रा रब्ध च तदर्थिनाऽनेन तद्गृह एवातिगुप्तस्थानस्थितेन त- दध्यापनं, ग्राहितौ तौ व्याकरणवीणापुर'सराः सकला अपि कलाः, अन्यदा च शुश्रूषापराया तन्मातरि मोहोदयादय मुपपतित्वमाजगाम, ज्ञातस्तज्जनकेन, इष्टश्च मारयितुं, ज्ञातं तत्ताभ्यां, ज्ञापितं चास्मै, उपाध्यायोऽयमावयोस्ततो मा भू- दस्याऽऽपदिति, तदवगमाच्च पलायितोऽसौ ततः स्थानात्, प्राप्तो हस्तिनागपुरं, कृतः सनत्कुमारचक्रवर्तिना मन्त्री । इतश्च तौ चित्रसंभूतौ सातिशयगीतकलाऽऽक्षिप्ततरुणीज नात्यासक्तिहेतुतया त्याजितस्पृश्यास्पृश्यविभागौ जनेन राज्ञे निवेदितौ, यथा विनाशित नगरमाभ्यां, निषिद्धस्तेन नगर- स्यान्तस्तत्प्रचार•, कदाचिच्च तावतिकुतूहलतया कौमु- दीमहविलोकनार्थमागतौ, दृष्टौ जनेन, कदर्थितावत्यर्थं, प्र- वव्रजतुश्च तत एवोत्पन्नवैराग्यौ, जातौ विकृष्टतपोनिष्ट- प्तदेहौ, प्राप्ताश्चाभ्या तेजोलेश्याऽऽदिलब्धय , समापतित- श्चाप्रतो हस्तिनागपुरं, प्रविष्टो मासपारणके तत्र भिक्षा- र्थं सम्भूतयतिर्दृष्टश्च नमुचिना, जातोऽस्य चेतसि दुरध्य- वसायो-मद्दुश्चरितमय प्रकाशयिष्यतीति निर्भर्त्सितो धिग् मुण्ड ! चाण्डाल ! क्व नगरस्यान्तः प्रविष्टोऽसीत्यादिभि- श्छुरवचोभि', प्रहत इष्टिकोपलशकलाऽऽदिभिस्तत्परिजनेन, तदनु च समस्तलोकेन, कुपितश्चासौ तेभ्यः समस्तजन- दहनक्षमामसह्यतेजोलेश्यां मोक्तुमुपचक्रमे, तत्र च मुख- विनिर्यद्बहलधूमपटलान्धकारितदिक्चक्रवाले व्याकुलितः सान्तःपुरः सनत्कुमारचक्रवर्ती सकलो नगरलोकश्च स मायातस्तत्पार्श्वं, तद्वृत्तान्तश्रवणतश्चित्रश्च, प्रारब्धस्तैर नेकधा सान्त्वनवचनैरुपशमयितु, तथापि तत्राऽऽस्मानमस्म- रत्यतिकोपवशगे भगवति मा भूदस्माकमकस्मादस्मीभव नमिति स्त्रीरत्नसहितो महीपतिस्तं क्षमयांबभूव, यथा—भ गवन् ! क्षमितव्यमस्माकमिदमिति, अस्मिंश्चान्तरे स्त्री- रत्नकोमलाऽऽलापसमुत्पन्नतदभिलाषो विगलितानुशयश्चा ण्डालजातिरेव ममैवमनेकधा कदर्थनाहेतुरिति चिन्तयँ- श्चित्रयतिना निवार्यमाणोऽपि यदि ममास्य तपसः फलमस्ति तदाऽन्यजन्मनि चक्रवर्तित्वमेव मम भूयाद् ये नाहमप्येवं ललितललनाविलासाऽऽस्पदमुत्तमजातिश्च स्या मीति निदानवशगोऽनशनं प्रपेदे । ततः स तपोऽनुभाव तो नलिनगुल्मविमाने वैमानिकत्वेनाजनि, ततश्च च्युतश्चुलन्यां ब्रह्मदत्तः समुत्पेदे । क ? इत्याह—

( कंपिल्ले संभूओ (२+गाथा)काम्पिल्य इति पाञ्चालमण्डल- स्य तिलक इव काम्पिल्यनाम्नि नगरे संभूत इति पूर्व- जन्मनि संभूतनामा । अमुं पादमतिक्रान्तसूत्रोक्तपादद्वयं चैतदुदितार्थप्रसङ्गायार्थान्तराभिधानद्वारतः स्पृशन् सू- त्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमाह—

> राया य तत्थ बंभो, कडओ तइओ कणेरुदत्तो त्ति ।
> राया य पुप्फचूलो, दीहो पुण होइ कोसलिओ ॥ ३३६ ॥
> एए पंच वयंसा, सव्वे मह दारदरिसणो भोच्चा ।
> संवच्छरं अणूणं, वसंति एकेकरज्जम्मि ॥ ३३७ ॥
> राया य बंभदत्तो, धणुओ सेणावई य वरधणुओ ।
> इंदसिरी इंदजसा, इंदुवसू चुलणिदेवीओ ॥ ३३८ ॥

राजा च तत्र पाञ्चालेषु काम्पिल्ये ब्रह्म इति ब्रह्मनामा काशीजनपदाधिपः कटकस्तृतीयः कुरुषु गजपुराधिपतिः करेणुदत्त इति राजा च अङ्गेषु चम्पास्वामी पुष्पचूलो यः किल ब्रह्मपत्न्याश्चु(ल)लिन्या भ्राता दीर्घ इति दीर्घपृष्ठ' पुनर्भ- वति कौशलिकः साकेतपुराधिपतिः ॥३३६॥ एतेऽनन्तरोक्ताः पञ्च वयस्या' सर्वे-समस्ताः सह दारान्पश्यन्तीत्येवंशीलाः सहदारदर्शिनः । किमुक्तं भवति ?-एककालकृतकलत्रस्वीका- रा' समानवयस इति यावत् । (भोच्च त्ति) भुक्त्वा संवत्सरं वर्षमन्यूनं परिपूर्णं वसन्त्यासते, तत्कालाऽपेक्षया वर्तमा- नता,एकैकराज्ये एकैकसम्बन्धिनि नृपतिस्वे। एष तावद्गाथा- द्वयार्थः ॥३३७॥ तृतीयगाथा तु तात्पर्यतो व्याख्यायते-ब्रह्म- राजस्येन्द्रश्रीप्रमुखाश्चतस्रो देव्यस्तत्र च चुलन्याः पुत्रोऽ- जनि, धनुनाम्नः सेनापतेरपि तत्रैवाहनि सुत समुत्पादि, कृतानि द्वयोरपि मङ्गलकौतुकानि, दत्तानि च दीनानाथे- भ्यो दानानि, विहितं स्वसमये राजपुत्रस्य ब्रह्मदत्त इति नाम, इतरस्य तु वरधनुरिति, कालक्रमेण च जातौ कलाग्र- हणोचितौ,ग्राहितौ सर्वा अपि कलाः, अस्मिन्नन्तरे मरणप- र्यवसानतया जीवलोकस्य मृतो ब्रह्मराजः कृतमौर्ध्वदेहिकम- तिक्रान्तेषु च कतिपयदिनेषु तद्वयस्यैरभिषिक्तो राज्ये ब्रह्म- दत्त', पर्यालोचितं च तैर्यथैष नाद्यापि राज्यधुराभरण- धौरेय इति पालयितुमुचितः कतिचित्संवत्सराणि, निरू- पतस्तैस्तत्र दीर्घपृष्ठ•, गता स्वस्वदेशेषु कटकाऽऽदयो, जा- तश्च सर्वत्राप्रतिहतप्रवेशतया दीर्घपृष्ठस्य सह चुलन्याः संबन्धः, ज्ञातं चैतदन्तःपुरपालिकया, न्यवेदि च तया धनु- र्नाम्नः सेनापतिमन्त्रिण' सकलमपि तत् वृत्तं, निरूपितस्तेन वरधनुर्यथा न कदाचित् कुमारस्त्वया मोक्तव्य इति । आर- ब्धश्चासौ तथैवानुष्ठातुम्, अन्यदा चायं विदितदीर्घपृष्ठचु- लनीवृत्तान्तः केनचिदुपायेनामू निवारयामीति विजाति- शकुनिकसग्रहणकमानीय कुमारायोपनिन्ये,तच्चातिनियमि- तमावायान्तःपुरस्यान्तः किलान्योऽपि य एवं दुष्टशीलः सोऽ- स्माभिरित्थं नियन्त्रणीय इति तौ स्वयं ससहचरैश्च डिम्भैरुद्- घोषयन्तौ प्रतिदिनमितश्चेतश्च भ्रमितुमारब्धौ, उपलब्धं च तत्ताभ्यामनुष्ठीयमानं दीर्घपृष्ठेन कुपितश्चासौ कुमाराय, भणि- ता च चुलनी-यथाऽयमुपायेन केनापि विनाश्यतां,यतो न वि- षकन्दल इवैष उपेक्षितः क्षेमंकरः अस्माक भवितेति, प्रतिपन्नं च तत्तया दुरन्ततया मोहोदयस्य, निरूपितश्च तास्याभुपायो यथाऽस्मै पुष्पचूलमातुलेन स्वदुहिता पुष्पचूला नाम पूर्वदत्ते•

ति तामसौ परिणाय्यते. कार्यते चैतच्छयनाय जतुगृहम् एतच्च तन्मन्त्रितमशेषमपि तथैवान्तःपुररक्षिकया निवेदितं धनोः, तेनापि विनष्टमेतदिति पर्यालोच्य कुमारसंरक्षणाय प्रयत्नः कर्तुमुपचक्रमे, तथाहि-पृष्टोऽसावनेन दीर्घपृष्ठो- यथा वयमिदानीं वृद्धास्तत् किमिदानीमपरेण ?, युष्माभिरनुज्ञाता धर्ममेवैतत्कालोचितं कुर्म., तेनाऽऽलोचितम्-यथैष दुरात्मा दूरस्थो न सुन्दर इति, उक्तश्च-यथैतत्त्वद्गृहितमखिलमपि राज्यं विनश्यत्यत इहैव स्थितो जपहोमदानाऽऽदिभिर्धर्ममुपचिनु। तेन चोक्तम्-यदादिशन्ति भवन्तः इत्युक्त्वा च गतः स्वगृहं, कारित चानेन भागीरथ्यास्तटे स्वनिवासस्थानं, निरूपितं तत्र सत्रं, खानिता च तत्र प्रत्ययिकपुरुषैर्जतुगृहं यावत् सुरङ्गा. ज्ञापिताऽसौ वरधनोः, इतश्च गणितं तत्परिणयनलग्नं, निष्पन्नं च जतुगृहं, प्रेषिता च मन्त्रिवचनतोऽन्यैव कन्यका मातुलेन, समागतो लग्नदिनः, कृतं सर्वसमृद्ध्योपयमनं, शायितश्च रजन्यां जतुगृहे. कुमारः, प्रदीपितं च द्वार एव सुप्तजनायां रजन्यां, ज्ञातं चाऽऽसन्नस्थितेन वरधनुना, उत्थापित. कुमार, दृष्ट च सर्वत' प्रदीप्तमेतेन, उक्तश्च वरधनु. मित्र ! किमिदानीं क्रियतामिति. तेनोक्तम्-मा भैषीः, यतः प्रतिविहितमत्र तातेन, अत्रान्तरे चाऽऽगतं नागकुमारद्वयानुकारि भुवनमुद्भिद्य पुरुषद्वयम्, अभ्यधाच्च तत्-मा भैष्टाम्, आवां हि धनोर्गृहजातौ दासचेडकौ, तत् क्रियतां प्रसादो, निर्गम्यतां सुरङ्गामार्गेण, इत्युक्तौ च तौ गतौ सुरङ्गाद्वार, दृष्टं च तत्र प्रधानमश्वद्वयम्। उक्तं च ताभ्यां चेटकाभ्यामेतावारुह्य देशान्तरापक्रमेणाऽऽत्मानं रक्षता दीर्घपृष्ठाद्भवन्तौ यावत्कचिद्वसरः शुभो भवति, ततस्तद्वचनमाकर्ण्य किं किमेतत् ?, इत्याकुलितचेतसो ब्रह्मदत्तस्य कथितः सर्वोऽपि वरधनुना चुलनीवृत्तान्तः, अभिहितं च-यथेदमेवेदानीं प्राप्तकाल मिति, विनिर्गतौ च तत्प्रधानमश्वयुगलमारुह्येति तृतीय गाथातात्पर्यार्थः । एवं च प्राप्तावसरो ब्रह्मदत्तहिण्डी ।

ततस्तत्र ये कन्यालाभा ये च तत्पितरस्तदुपदर्शनाय गाथापञ्चकमाह—

चित्ते य विज्जुमाला, विज्जुमई चित्तसेणओ भद्दा ।
पंथग णागजसा पुण, कित्तिमई कित्तिसेणो य ॥ ३३९ ॥
देवी य नागदत्ता, जसवइ रयणवइ जक्खहरिलो य ।
वच्छी य चारुदत्तो, उसभो कच्चाइणी य सिला ॥ ३४० ॥
धणदेवे वसुमित्ते, सुदंसणे दारुए य नियडिल्ले ।
पोत्थी पिंगल पोए, सागरदत्ते य दीवसिहा ॥ ३४१ ॥
कंपिल्ले मलयवई वणराई सिंधुदत्त सोमा य ।
तह सिंधुसेण पज्जु-ग्रसेण वाणीर पइगा य ॥ ३४२ ॥
हरिएसा गोदत्ता, कणेरुदत्ता कणेरुपइगा य ।
कुंजरकणेरुसेणा, इसिवुड्ढी कुरुमई देवी ॥ ३४३ ॥

इद च सोपस्कारतया व्याख्यायते-चित्रश्च चित्रनामा जनकस्तद्दुहितरौ विद्युन्माला विद्युन्मती च । तथा-चित्रसेनक' पिता, भद्रा च तद्दुहिता । तथा पन्थक पिना, नागयशाः कन्यका । पुनः समुच्चये, तथा कीर्तिमती कन्या, कीर्तिसेनश्च तत्पिता । तथा-देवी च नागदत्ता यशोमती रत्नवती च, पिना च सर्वासामपि यक्षहरिलः । चः समुच्चये, वच्छी च कन्या, चारुदत्तः पिता, तथा वृषभो जनकः. कात्यायनसगोत्रा तत्सुता शिला नाम । तथा धन-(ण) देवो नाम वणिक्, अपरश्च वसुमित्रः, अन्यश्च सुदर्शनो दारुकश्च निकृतिमान् मायापरः, चत्वारोऽमी कुकुटयुद्धव्यतिकरे मिलिताः, तत्र च पुस्ती नाम कन्यका, तथा पिङ्गला नाम कन्या. पोतश्च तत्पिता, सागरदत्तश्च वणिक्, तदङ्गजा च दीपशिखा । तथा-काम्पिल्यः पिता. मलयवती दुहिता, तथा-धनराजी नाम कन्या. तज्जनकश्च सिन्धुदत्तः, तथा तस्यैवान्या सोमा च नाम कन्या, तथा-सिन्धुसेनप्रद्युम्नसेनयोर्यथाक्रमं वानीरनाम्नी प्रतिकाभिधाना चेति । पठ्यते च-प्रतिभा वेति । द्वे दुहितरौ, तथा-हरिकेशा गोदत्ता करेणुदत्ता करेणुपदिका च, (कुंजरकणेरुसेण त्ति ) सेनाशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् कुञ्जरसेना करेणुसेना च, ऋषिवृद्धिः कुरुमती च देवी सकलान्त.पुरप्रधाना अष्टौ, कुरुमती च स्त्रीरत्नं ब्रह्मदत्तेनावाप्तेति सर्वत्र शेषः । अतिप्रसिद्धत्वाच्च तदेतज्जनकनाम्नामनभिधानमिति गाथापञ्चकाऽर्थ. ।

अधुना येषु स्थानेषु असौ ( ब्रह्मदत्तः ) भ्रान्तस्तान्यभिधातुमाह—

कंपिल्लं गिरितडगं, चंपा हत्थिणपुरं च साएयं ।
समकडगं नंदोसा, वंसीपासाय समकडगं ॥ ३४४ ॥
समकडगाओ अडवी, तणहा वडपायवम्मि संकेओ ।
गहणं वरधणुअस्स य, बंभणमक्कोसणं चेव ॥ ३४५ ॥
सो इम्मई अमच्चो, देहि कुमारं कहिं तु मे नीओ ? ।
गुलियविरेयणपीओ, कवडमओ छड्डिओ तेहिं ॥ ३४६ ॥
त मोऊण कुमारो, भीओ अह उप्पहं पलाइत्था ।
काऊण थेररूवं, देवो वाहेसि य कुमारं ॥ ३४७ ॥
वडपुहग, बंभथलयं, वडथलगं चेव होइ कोसंबी ।
वाणारसि रायगिहं, गिरिपुर महुरा य अहिछत्ता ॥ ३४८ ॥
वणहत्थी य कुमारं, जणयइ आहारण वसण गुणलुद्धो ।
वच्चंतो वडपुरओ, अहिछत्तं अंतरा गामो ॥ ३४९ ॥
गहणं नईकुडंगं, गहणतरागाणि पुरिसहियया णि ।
देहाणि पुप्फपत्तं, पियं खु णो दारओ जाओ ॥ ३५० ॥
सुपइट्ठे कुमकुंडिं, भिकुंडिविचासियम्मि जियसत्तू ।
महुराओ अहिछत्तं, वच्चंतो अतरा लभइ ॥ ३५१ ॥
इंदुपुरे रुद ( भद ) पुरे, सिवदत्तविसाहदत्तधूयाओ ।
वडुअत्तणेण लभई, कन्नाओ दोन्नि रज्जं च ॥ ३५२ ॥
रायगिहमिहिलहत्थिण-पुरं च चंपा तहेव सावत्थी ।
एमा उ नगरहिंडी, बोधव्वा बंभदत्तस्स ॥ ३५३ ॥
रयणप्पया य विजओ, वोधव्वो दीहरोसमुक्खे य ।
संभरण नलिणिगुम्मं, जाईइ पगासणं चेव ॥ ३५४ ॥

गाथा एकादश । आसामपि तथैव व्याख्या, काम्पिल्यं पुरं यत्राऽस्य जन्म, ततोऽसौ गतो गिरितटकं सन्निवेशं तस्माच्चम्पा, ततो हस्तिनापुरं चानन्तरं च साकेतं, साकेतात्समकटक , ततश्च नन्दिनामकं सन्निवेशं, ततोऽवस्थानकं नाम स्थानं , ततोऽपि चाऽरण्यं परिभ्रमन् वंशीति वंशगहन तदुपलक्षितं प्रासादं वंशीप्रासादं, ततोऽपि समकटकम् ॥ ३४४ ॥ समकटकादटवीं . तां च पर्यटतो ब्रह्मदत्तस्य तृडतिशयत· शुष्ककण्ठोष्ठतालुनाऽजनि, ततस्तेनोक्तो वरधनुः- भ्रात· ! बाधते मां तृट् तदुपहर कुतोऽपि जलम् , अत्राऽन्तरे दृष्टोऽनेन निकटवर्ती वटपादप· , शायितस्तत्र शीतलच्छाये तरपल्लवोपरचितस्रस्तरे ब्रह्मदत्तः, कृतश्च वरधनुना तेन सह सङ्केतो-यथा यदि मां कथञ्चिद्दीर्घपृष्ठप्रहितपुरुषाः प्राप्स्यन्ति ततोऽहमन्योक्त्याऽभिज्ञान करिष्ये , तत इतस्त्वया पलायितव्यमिति । गतोऽसौ जलान्वेषणाय, दृष्टं चैकत्र पद्मिनीखण्डमण्डितं सरो,ग्रहीतं च पद्मिनीपत्रपुटके जलम् , प्रत्यावृत्तस्य च ब्रह्मदत्ताऽभिमुखमागन्तुं प्रहण तद्वटाऽऽसन्नदेशे कथञ्चिदुपलब्धनष्टपलायनवृत्तान्तैर्दीर्घपृष्ठप्रहितपुरुषैः अस्तिघोषवद्भिर्वरधनोर्बन्धनं वल्लीवितानेन आक्रोशनं चैव दुष्टवचसा कृतम् ॥ ३४५ ॥ अन्यच्च—स हन्यते मुष्टिप्रहाराऽऽदिभिरमात्यो वरधनुः, भण्यते च-यथा देहीति दौकय कुमारमरे ! दुराचार ! क्व पुनरसौ नीतः त्वया राजपुत्र इति ? । अत्र चाऽन्तरे सङ्केतमनुसरता पठितमिदमनेन—" सहकारमञ्जरीमनु, धावति मधुपो विमुच्य मधु मधुरम् । कमले कलयन् पश्चा-त्संकोचकृता स्वतनुबाधाम् ॥ १ ॥ " ( गुलियविरेयणपीओ त्ति ) प्राकृतत्वात् पीतविरेचनगुलिकः , स हि तैर्ग्रहीतुमुपक्रान्तोऽन्यथाऽऽत्मनो विमुक्तिमनवगच्छन् पूर्वलब्धां विरेचनगुटिका प्रथममेव पयसा पीतवान् , विरक्तश्च , तया जाताश्च मुखे फेनबुद्बुदाः । एव च कपटेन मृत· कपटमृतो मृत इति छर्दितस्त्यक्तस्तै· ॥ ३४६ ॥ इतश्च तत्पठितं श्रुत्वा कुमारो भीत इति त्रस्तः । अथाऽनन्तरम् ( उप्पहं ति) उत्पथेन ( पलाइत्थ त्ति) पलायितवान्,तथा च तं पलायमानमवलोक्य कृत्वा स्थविररूपं देवः किमस्य सत्त्वमस्त्युत नेति परीक्षणार्थम् (वाहेसि य त्ति ) वाहितवान् व्यंसितवानित्यर्थ· कुमारम्॥३४७॥ ततश्च परिभ्रमतो वटपुरकं तस्माच्च ब्रह्मस्थलकं वटस्थलकं चैव भवति विश्रामविषयः कौशाम्बी वाराणसी राजगृहं गिरिपुरं मथुरा अहिच्छत्रा च ॥३४८॥ ततोऽपि गच्छताऽरण्यानीं प्रविष्टेन दृष्टास्तापसाः प्रत्यभिज्ञातश्च तैर्ब्रह्मराजस्यास्मभिजकस्य सुत इति धृतश्चातुर्मासीं तत्र च तापसकुमारकै सह क्रीडतैकास्मिन् दिनेऽवलोकितो वन हस्ती समुत्पन्नं च नृपसुतस्तुलममस्य कुतूहलं, प्रारब्धश्च विविधगजशिक्षाभिरमुं खेदयितुमारूढश्च निष्पन्दीकृत्य तन्त्र प्रवृत्तश्चासौ कुमारापहरणाय वीक्षितश्च कियदपि दूरं गतेनैकस्तरुर्लग्नश्च तदधो व्रजति हस्तिनि विटपैकदेशे कुमारः, अपक्रान्ते च करिणि ततस्तरोरुत्तीर्य विमूढदिग्भागो भ्रमितुमारेभे आस्यंश्चारण्याद्विनिर्गत्य गतो वटपुरं वटपुराच्च प्रस्थितः श्रावस्तीं गच्छश्च प्राप्तस्तथाविधमेकमन्तरा ग्रामम् उपविष्टश्च तन्निकटन्निटापिनि विश्रमितु.दृष्टश्चैकेन तत्रत्यश्रेष्ठिना, नीतश्च तेन स्वगृहं, कृतं चाभ्यागतकर्त्तव्यं,परिणायितश्च नैमित्तिकाऽऽदेशतः सद्दुहितरमुपचारितश्च भुजगनिर्मोकसदृशैर्विविधवसनैर्वज्रेन्द्रनीलाऽऽदिप्रधानमणिभिः, कटककेयूरकुण्डलाऽऽदिभिश्चाऽऽभरणै·, ततस्तद्गुणलुब्धमानस स्थितस्तत्रैव कियत्काल. जनयति तदा तद्दुहितरि कुमारम् ॥३४६॥ इतश्च प्राप्ता कृतान्तानुकारिणो दीर्घपृष्ठप्रहितपुरुषाः, प्रारब्धाः समन्ततस्तमवलोकितुमुपलब्धतद्वृत्तान्तश्च नष्टस्तद्भयात्प्रचलितश्च सुप्रतिष्ठपुराभिमुखं गन्तुं, तत्र च मिलितः कश्चिद्विटः कार्पटिको, दृष्टं चाभिमुखमागच्छत् किञ्चित्तथाविधं मिथुनकं, दृष्ट्वा च तदङ्गनामुदाररूपां कुमारमयमवोचत् यदि युष्मत्प्रसादतः कथञ्चिदेनां कामयेय इति, ततस्तदुपरोधात्तेनोक्तम्-प्रविश तर्हि वंशीकुडङ्गं स्थितः पथि कुमारः, प्राप्तं च मिथुनम् , उक्तस्तत्पतिर्मदीयं कलत्रमिह गर्भशूलाऽऽभ्याहतमास्ते तद्विसर्जय क्षणमेकं स्वकीयपत्नीं, विसर्जिता चासौ तेनानुकम्पापरेण. दृष्टश्च तयाऽसौ, जातस्तस्या अपि तदनुरागः, प्रवृत्तं च तयोर्मोहनकम् एवं च कियतीमपि वेलामतिक्रम्य विनिर्गताऽसौ कुडङ्गात् , उक्तं चाऽऽत्मानं ज्ञापयितुं कुमारं प्रति , यथा-गहनं नदीकुडङ्गं, ततोऽपि गहनतराण्येव गहनतरकाणि पुरुषहृदयानि भवन्ति । अयं चानेन ध्वनितोऽर्थः-यथा वय जानीमः स्त्रीहृदयान्यतिगहनानि, भवद्विधेन च तान्यपि जितानीत्युक्त्वा पतिं प्रस्थापयितुमाह—( देहाणि त्ति ) देहीदानीं पूर्णपात्रम्—अक्षतभृतभाजनं प्रिय खलु नोऽस्माक पद्दारको जात इति, वे इति वक्तव्ये यत्र इत्युक्त तदैक्यं द्योतयितुम् , इत्युक्त्वा च तया धूर्त्या गृहीतं ब्रह्मदत्तोत्तरीयं , गता च पत्यैव सह, ततश्च निर्गतोऽसौ कुडङ्गात्कृतश्च परिहासः,प्रवृत्तो गन्तु प्राप्तः सुप्रतिष्ठम् ॥३५०॥ तत्र च कुसुकुण्डी नाम कन्या ( भिकुंडिवित्तासि यम्मि जियसत्तु त्ति ) आर्षत्वादुभयत्र सुप्व्यत्ययः, भिकुण्डिवित्रासिताद्भिकुण्डिनामनृपतिनिष्कासिताज्जितशत्रोः जितशत्रुनामनृपतेः सकाशान्मथुरातोऽहिच्छत्रा व्रजमन्तरेऽन्तराले लभते—प्राप्नोति ॥ ३५१ ॥ तथेन्द्रपुरे शिवदत्तो नाम ( रुद्रपुरे च ) भद्रपुरे च विशाखदत्ताऽभिधानः, तद्दुहितरौ वटुकत्वेन दीर्घपृष्ठपुरुषभीत्या कृतब्राह्मणवेषेण लभते कन्ये द्व राज्यं च ॥ ३५२ ॥ ततो राजगृह मिथिला हस्तिनापुरं चम्पा तथैव श्रावस्तीम् , अभ्रमीदिति शेषः । एषा त्वनन्तरमुपदर्शिता नगरहिण्डिर्बोद्धव्या ब्रह्मदत्तस्येति ॥ ३५३ ॥ एवं च भ्रमतोऽस्य मिलिताः कटककरेणुदत्ताऽऽदयः पितृवयस्याः, गृहीताः कियन्तोऽपि प्रत्यन्तराजानः, चक्ररत्नं समुत्पन्नं, प्रारब्धस्तदुपदर्शितमार्गेण दिग्विजयः, प्राप्त काम्पिल्ये, निर्गत· तदभिमुखं दीर्घपृष्ठो, लग्नमनयोरायोधनं , विनिपातितोऽसौ ब्रह्मदत्तेन , एव च क्षोभ्यस्तस्य दीर्घपृष्ठविषयरोषमोक्षश्च , अत्रान्तरे मिलिताः परिणीतकन्या· पितर· , समुत्पन्नानि च यथावसर शेषरत्नानि , साधितं षट्खण्डमपि भरतं, प्राप्तश्च नवापि 'नि· धय· परिणत चक्रवर्तिपदम् , एव च सुकृतपुण्यफलमुपभुञ्जनोऽतिक्रान्त कियानपि कालोऽन्यदा चोपनीत देवतया मन्दारदाम, समुत्पन्न तद्दर्शनादस्य जातिस्मरणमनुभूतानि

मयैवंविधकुसुमदामान्यर्हं हि नलिनगुल्मविमाने देवोऽभव- मित्येकादशनिर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥ ३५४ ॥

इत्थं तावत् काम्पिल्ये संभूत. चक्रवर्ती जातश्चित्रस्य तु का वार्त्तेत्याह—

"कंपिल्ले संभूओ, " चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि ।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले, धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥ २ ॥

पादत्रयम् । चित्रः पुनर्जातः पुरिमताले, स हि चित्रनामा महर्षिः, तत्र संभूतिनाम्नि भ्रातरि तथाऽनशनं प्रतिपन्नव- त्यहो दुरन्तो मोहश्चित्रा कर्मपरिणतिश्चञ्चलं चित्तमित्यादि विचिन्त्य चतुर्विधमभ्याहार प्रत्याख्यातवान्, मृत्वा च प ण्डितमरणेन समुत्पन्नस्तत्रैव नलिनगुल्मनाम्नि विमाने, ततस्तत्र स्वस्थितिमनुपाल्योत्पन्नः पुरिमतालपुरे, तत्रापि क्वेत्याह-श्रेष्ठिकुले वणिक्प्रधानान्वये, विशाले विस्तीर्णे पु त्रपौत्राऽऽदिवृद्धिमति, प्राप्तवयाश्च तथाविधस्थविरसन्निधौ धर्मं—यतिधर्मं क्षान्त्यादिकं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य प्रव्रजितः प्रव्र- ज्यां प्रतिपन्नवानिति सूत्रभावार्थः ।

ततः किमित्याह—

कंपिल्लम्मि य नयरे, समागया दो वि चित्तसंभूया ।
सुहदुक्खफलविवागं, कहिंति ते एगमेगस्स ॥ ३ ॥

काम्पिल्ये च नगरे ब्रह्मदत्तोत्पत्तिस्थाने समागतौ मिलितौ द्वावपि चित्रसंभूतौ जन्मान्तरनामतः सुखदुःखफलवि- पाकं सुकृतदुष्कृतकर्मानुभवरूपं ( कहिंति त्ति ) कथयतः स्मेति शेषः । ततश्च कथितवन्तौ तौ चित्रजीवयतिब्रह्मद- त्तौ ( एगमेगस्स त्ति ) एकैकस्य परस्परमिति यावदिति सूत्राक्षरार्थः ।

भावार्थस्तु निर्युक्तिकृतोच्यते—

जाईए पगास निवे-यणं च जाईपगासणं चित्ते ।
चित्तस्स य आगमणं, इड्ढिपरिच्चागसुत्तत्थो ॥ ३५५ ॥

तदा हि ब्रह्मदत्तो जातिस्मरणोपलब्धस्वजातीनां " दा- सा दसण्णए आसी । " इत्यादिना सार्द्धश्लोकेन जनाय प्र- काशनं निवेदनं च—य इमं द्वितीयश्लोकं पूरयति तस्मै रा- ज्यार्द्धमहं प्रयच्छामीति विहितवान्, ततस्तदर्थिना जनेन उ- द्घुष्यते तद्ग्रामनगराऽऽकराऽऽदिषु पठ्यमानं चाऽऽकर्णितं कर्णयोरकर्णयो चित्रजीवयतिना, ततस्तथाविधज्ञानातिशयो- पयोगतः स्वजातीरुपलभ्य जातोऽस्याभिप्रायो यथा गत्वा तं जन्मान्तरनिजभ्रातरं संभूतजीवमवबोधयामि इति , प्र- स्थितस्ततः स्थानात्प्राप्तः क्रमेण काम्पिल्यं, स्थितस्तद्बहिरु- द्याने, श्रुतश्चारघट्टिकपरिपठ्यमानः सार्द्धश्लोकः, पूरितश्चा- नेन द्वितीयश्लोकोऽवधारितश्चारघट्टिकेन, धावितश्चाऽ सौ नृपसकाशं राज्यलोभेन, पठितं चैतेन तत्पुरत., परिपूर्णं श्लोकद्वयं, जातस्तदाकर्णनात्तस्य चित्ताऽऽवेशो, निरुद्धश्च त- ज्जनितमूर्च्छया श्वासमार्गो, निमीलितं लोचनयुगलं लुठितः स आसनात् निपतितो भुवि, किमेतत् किमेतदित्यादिनाऽऽकुलि- तः सर्वोऽपि तत्परिच्छदो, दृष्टश्च तेनारघट्टिक ,ताडित. पा- र्ष्णिप्रहाराऽऽदिभिरारट्टितमेतेन न मयैतत्पूरितं न मयेति. किं त्वन्येनैव भिक्षुणैतत्कलिकन्दलिमूलेनेति । अत्रान्तरे लब्धा चेतना, प्राप्तं च स्वास्थ्यं चक्रवर्तिना । उक्तं च—क्वाऽसौ श्लोकपूरयिताऽऽस्त इति ?। कथितस्तद्व्यतिकरो, यथा-कै- नचिद् भिक्षुणैतत्पूरितं न त्वमुनेति, पृष्टं च पुनरनेन हर्षोत्फु- ल्लनयनयुगलेन—क्व तर्ह्यसाविति, कथितमारघट्टिकेन—दे- व ! मदीयवाटिकायामेतच्चाऽऽकर्ण्य प्रचलितः सबलवाह- न. सकलान्तःपुरसमन्वितश्च तद्दर्शनाय , प्राप्तस्तदुद्या- नं , दृष्टो मुनिः , वन्दितः सबहुमानम् , उपवेशितश्चैकास- ने, पप्रच्छतुः परस्परमनामय, कथयामासतुश्च यथास्वम- नुभूतसुखदुःखफलविपाकं, तत्कथनानन्तरं च वर्णिना निज- समृद्धिश्चक्रवर्तिना, प्ररूपितस्तद्विपाकदर्शनतस्तत्परित्याग- श्चित्रयतिना , एतावानेव प्रस्तुताध्ययनसूत्रस्यार्थोऽभिधे- य इति सूत्रनिर्युक्तिगाथयोर्भावार्थः ।

सम्प्रति यदुक्तं-सुखदुःखफलविपाकं तौ कथयामासतु- रिति, तत्र-चक्रवर्ती यथा कथयामास तथा सम्बन्धपुरःसरमाह—

चक्कवट्टी महिड्ढीओ, बंभदत्तो महाजसो ।
भायरं बहुमाणेण, इमं वयणमब्बवी ॥ ४ ॥
आसि मो भायरो दो वि, अण्णमण्णवसाणुगा ।
अण्णमण्णमणूरत्ता, अण्णमण्णहिएसिणो ॥ ५ ॥
दासा दसण्णए आसी, मिया कालिंजरे णगे ।
हंसा मयंगतीराए, सोवागा कासिभूमिए ॥ ६ ॥
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिआ ।
इमा णो छट्ठिया जाई, अण्णमण्णेण जा विणा ॥ ७ ॥

चक्रवर्ती महर्द्धिको बृहद्विभूतिः ब्रह्मदत्तो महायशा भ्रातरं जन्मान्तरसोदर्यं बहुमानेन मानसप्रतिबन्धेनेदं वक्ष्यमा- णलक्षणं वचनं—वाक्यमब्रवीदुक्तवान्, यथा ( आसिमो त्ति ) अभूवाऽऽवां भ्रातरौ द्वावप्यन्योन्यं—परस्परं वशमा- यत्ततामनुगच्छन्तौ यौ तावन्योऽन्यवशानुगौ, तथा अन्योऽ- न्यमनुरक्तावतीव स्नेहवन्तौ, तथाऽन्योऽन्यहितैषिणौ परस्प- रशुभाभिलाषिणौ, पुनःपुनरन्योऽन्यग्रहणं च तुल्यचित्तताऽ- तिशयख्यापनार्थम् , मकारश्च सर्वत्रालाक्षणिकः , केषु पुन- र्भवेष्वित्थमावामभूवेत्याह—दासौ दशार्णे—दशार्णदेशे (आ- सि त्ति ) अभूव, मृगौ कालिञ्जरे कालिञ्जरनाम्नि नगे, हंसौ मतङ्गतीरे उक्तरूपे, श्वपाकौ चाण्डालौ ( कासिभू- मिए त्ति ) काशीभूम्यां काश्यभिधाने जनपदे , देवौ च देवलोके सौधर्माऽभिधानेऽभूव . ( अम्हे त्ति ) आवां महर्द्धिकौ , न तु किल्बिषिकौ , ( इमा णो त्ति ) इयमावयोः षष्ठ्येव षष्ठिका जातिः । कीदृशी येत्याह- ( अण्णमण्णेण त्ति ) अन्योऽन्येन—परस्परेण या विना, कोऽर्थः ?, परस्परसाहित्यरहिता वियुक्तयोर्यकेति भावः । इति सूत्रचतुष्टयाऽर्थः ।

इत्थं चक्रवर्तिनोक्ते मुनिराह—

कम्मा णिदाणपगडा, तुम्हे राय ! विचिंतिया ।
तेसिं फलविवागेणं, विप्पओगमुवागया ॥ ८ ॥

कर्माणि ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि नितरां दीयन्ते लूयन्ते, दीय- न्ते वा खण्ड्यन्ते तथाविधसानुबन्धफलाभावतस्तपःप्र- भृतीन्यनेनेति निदानं साभिष्वङ्गप्रार्थनारूपं; तेन प्रकर्षेण

कृतानि-विहितानि निदानप्रकृतानि, निदानवशनिबद्धानीति योऽर्थः त्वया राजन् ! विचिन्तितानीति, तद्धेतुभूताऽऽर्त्तध्यानाऽऽदिध्यानतः कर्म्माण्यपि तथोच्यन्ते तेषामेवंविधकर्म्मणां फलं चाऽसौ विपाकश्च शुभाऽशुभजनकत्वलक्षणः फलविपाकस्तेन, यद्वा—कर्म्माण्यनुष्ठानानि ( णियाणपयड त्ति ) निदानेनैव शेषशुभाऽनुष्ठानस्याऽऽच्छादितत्वात् प्राग्वत् प्रकटनिदानानि त्वया राजन् ! विचिन्तितानि कृतानीति यावत् । तेषां फलं क्रमात् कर्म्म तद्विपाकेन विप्रयोगं विरहमुपागतौ प्राप्तौ । किमुक्तं भवति ?— यत्तदा त्वयाऽस्मद्विचारितेनाऽपि निदानमनुष्ठितं तत्फलमेतद्यदावयोस्तथाभूतयोरपि वियोग इति सूत्राऽर्थः ।

इत्थमवगतवियोगहेतुश्चक्री पुनः प्रश्नयितुमाह—

सच्चसोयप्पगडा, कम्मा मए पुरा कडा ।
ते अज्ज परिभुंजामो, किं नु चित्ते वि से तहा ॥ ६ ॥

सत्यं—मृषाभाषापरिहाररूपं, शौचम्—अमायमनुष्ठानं, ताभ्यां प्रकटानि-प्रख्यातानि कर्म्माणि प्रक्रमाच्छुभाऽनुष्ठानानि शुभप्रकृतिरूपाणि वा मया पुरा कृतानि, यानीति गम्यते । तान्यद्य-अस्मिन्नहनि, शेषतद्भवकालोपलक्षणं चैतत् ( परिभुंजामो त्ति ) परिभुञ्जे तद्विपाकोपनतस्त्रीरत्नाऽऽदिपरिभोगद्वारेण वेदये, यथेति गम्यते, किमिति प्रश्ने, नु इति वितर्के, चित्रोऽपि चित्रनामाऽपि, कोऽर्थो ?—भवानपि ( से इति ) तानि तथा परिभुङ्क्ते ?, नैवभुङ्क्ते, भिक्षुकत्वाद्भवतस्तथा च किमिति भवताऽपि मयैव सहोपार्जितानि शुभकर्म्माणि विफलानि जातानीत्याशय इति सूत्राऽर्थः ।

मुनिराह—

सव्वं सुचिन्नं सफलं नराणं,
कडाण कम्माण न मुक्खु अत्थि ।
अत्थेहि कामेहि अ उत्तमेहिं,
आया ममं पुण्णफलोववेओ ॥ १० ॥
जाणाहि संभूय ! महाणुभागं,
महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं,
इड्ढी जुई तस्स वि अ प्पभूया ॥ ११ ॥
महत्थरूवा वयणप्पभूया,
गाहाऽणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया,
इहऽज्जयंते समणोऽम्हि जाओ ॥ १२ ॥

सर्वं निरवशेषं,सुचीर्णं-शोभनमनुष्ठितं,तप प्रभृतीति गम्यते, [illegible] सुचीर्णं प्रोषितमतम् इत्यादि रूढितः साधुत्वं, सह फलेन वर्तते इति सफलं, नराणामित्युपलक्षणत्वादशेषाणामपि प्राणिनां, किमिति ? यतः कृतेभ्योऽर्थादवश्यवेद्यतयोपरचितेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षो मुक्तिरस्तीति, ददति हि तानि निजफलमवश्यमिति भावः । प्राकृतत्वाच्च सुपूव्यत्ययः, स्यादेतत्-त्वय्येव व्यभिचार इत्याह-अर्थैः -द्रव्यैरर्थ्यैर्वा प्रार्थनीयैः,वस्तुभिरिति गम्यते । कामैश्च मनोज्ञशब्दाऽऽदिभिरुत्तमैः-प्रधानैः, लक्षणे तृतीया तत एतदुपलक्षितः सन् आत्मा मम पुण्यफलेन-शुभकर्म्मफलेनोपपेतोऽन्वितः स पुण्यफलोपपेत इति ॥ १० ॥ यथा त्वं जानासि-अवधारयसि संभूत ! पूर्वजन्मनि संभूताभिधान ! महानुभागं बृहन्माहात्म्यं महर्द्धिकं सातिशयविभूतियुक्तमत एव पुण्यफलोपेतं चित्रमपि जानीहि अवबुध्यस्व तथैवाविशिष्टमेव राजन् ! नृप !, किमित्येवमत आह-ऋद्धिः-संपत् द्युतिर्दीप्तिस्तस्याऽपीति जन्मान्तरनामतश्चित्राभिधानस्य, ममापीति भावः । चशब्दो यस्मादर्थे, ततो यस्मात्प्रभूता बह्वीत्यर्थः, यद्वा-आत्मा मम पुण्यफलोपेत इत्यनेन चित्र एवाऽऽत्मान निर्दिशति, तथा जानीहि संभूत इत्यादावात्मेत्यनुवर्त्ततेऽत्रैव शाच्च विभक्तिपरिणामः । ततश्चैवं योज्यते हे सभूत ! यथा त्वमात्मानं महानुभागाऽदिविशेषणविशिष्टं जानासि तथा चित्रमपि जानीहि, चित्रनाम्नो ममापि गृहस्थभावे एवंविधत्वादेवेति भावः । शेषं प्राग्वत् ॥ ११ ॥ यदि तवाप्येवंविधा समृद्धिरासीत्तत्किमिति प्रव्रजित इत्याह—महानपरिमितोऽनन्तद्रव्यपर्यायाऽऽत्मकतया अर्थोऽभिधेयं यस्य तन्महार्थं रूपं—स्वरूपं न तु चक्षुर्ग्राह्यो गुणः, ततो महार्थं रूपं यस्याः सा तथा, महतो वाऽर्थान् जीवाऽऽदितत्त्वरूपान् रूपयति-दर्शयतीति महार्थरूपा, (वयणप्पभूय त्ति) वचनेनाप्रभूता अल्पभूता वा अल्पत्वं प्राप्ता वचनाल्पभूता वचनात् प्रभूता वा स्तोकाक्षरेति यावत्, केयमीदृशीत्याह-गीयत इति गाथा, सा चेहार्थाद्धर्माभिधायिनी सूत्रपद्धतिः, अनुगीता-तीर्थकृद्गणधराऽदिभ्यः पश्चाद्गीता अनुगीता,कोऽर्थ ?, तीर्थकाराऽऽदिभ्य श्रुत्वा प्रतिपादिता,स्थविरैरिति शेषः । अनुलोमं वा गीताऽनुगीता अनेन श्रोत्रानुकूलैव देशना क्रियते इति ख्यापितं भवति । केत्याह-नराणां पुरुषाणां सङ्घः समूहस्तन्मध्ये, गाथामेव पुनर्विशेषयितुमाह—यां गाथां भिक्षवो मुनयः शीलं चारित्रं तदेव गुणो, यद्वा—गुणः पृथगेव ज्ञानं, ततः शीलगुणेन शीलगुणाभ्यां वा चारित्रज्ञानाभ्यामुपेता—युक्ताः शीलगुणोपेताः, इहास्मिन् जगति ( अज्जयंते त्ति ) अर्जयन्ति-पठनश्रवणतदर्थानुष्ठानाऽऽदिभिरावर्जयन्ति । यद्वा—" जं भिक्खुणो " इत्यत्र श्रुत्वेति शेषः । ततो यां श्रुत्वा ( जयंत त्ति ) इहास्मिन् जिनप्रवचने यतन्ते यत्नवन्तो भवन्ति, सोपस्कारत्वात्सा मयाऽप्याकर्णिता, ततः श्रमणस्तपस्वी अस्म्यहं जातो, न तु दुःखदग्धत्वादिति भावः । पठ्यते च—( सुमणो त्ति ) सुमनाः शोभनमना इति सूत्रत्रयार्थः ॥ १२ ॥

इत्थं मुनिनाऽभिहिते ब्रह्मदत्तः स्वस्त्रद्धया निमन्त्रयितुमाह—

उच्चोअए महु कक्के य बंभे,
पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं,
पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥ १३ ॥
नट्टेहिं गीएहि य वाइएहिं,
नारीजणोहिं परिवारयंतो ।
भुंजाहि भोगाइँ इमाइँ भिक्खू,
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥ १४ ॥

उच्चोदयो मधुः कर्कः, चशब्दात् मध्यो, प्रज्ञा च पञ्च प्र धानाः प्रासादाः प्रवेदिताः, मम वर्धकिपुरस्सरैः सुरैरुपनीता इत्यर्थः । आवसथाश्च शेषभवनप्रकारा रम्या रमणीयाः । पाठान्तरतश्च-आवसथा अतिरम्याः सुरम्या वा,एते तु यत्रैव चक्रिणे रोचते तत्रैव भवन्तीति वृद्धाः । किञ्च—इदं प्रत्यक्षं गृहमवस्थितप्रासादरूपं, वित्तं प्रतीतं, तच्च तद्धनं च हिरण्याऽऽदि, तेनोपेतं युक्तं वित्तधनोपेतम् । प- ठन्ति च—( वित्तधणप्पभूयं ति ) तत्र प्रभूतं बहु- चित्रमाश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचि- त्रधनम् । सूत्रे तु प्रभूतशब्दस्य परनिपातः प्राग्वत्, प्रशा- धि प्रतिपालय पञ्चालानां नाम जनपदस्तस्मिन् गुणा इन्द्रियो- पकारिणो रूपाऽऽदयस्तैरुपेतं पञ्चालगुणोपेतम्। किमुक्तं भव ति ?-पञ्चालेषु यानि विशिष्टवस्तूनि तान्यस्मिन् गृहे सर्वा- ण्यपि सन्ति. तदा पञ्चालानामत्युदीर्णत्वात्पञ्चालग्रहण- म्. अन्यथा हि भरतेऽपि यद्विशिष्टवस्तु तत् तद्गृह एव तदाऽऽसीत् ॥ १३ ॥ किं च—( नट्टेहिं ति ) द्वात्रिंशत्पात्रो पलक्षितैर्नाट्यैर्नृत्तैर्वा विविधाङ्गहाराऽऽदिस्वरूपैर्गीतैर्ग्रामस्व- रमूर्छनाललितैः, चस्य भिन्नक्रमत्वात् । ( वाइएहिं ति ) वादि- त्रैश्च मृदङ्गमुकुन्दाऽऽदिभिर्नारीजनान् स्त्रीजनान् परिवारयन् परिवारं कुर्वन् । पठ्यते च-( पवियारयंतो त्ति । ) प्रविचारयन् सेवमानो.(भुञ्जाहि त्ति)भुङ्क्ष्व भोगानिमान् परिदृश्यमानान्, सूत्रत्वात्सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः । भिक्षो ! इह तु यद् गजतुरङ्ग- माऽऽद्यनभिधाय स्त्रीणामेवाभिधानं तत् स्त्रीलोलुपत्वात्तस्य, तासामेव वाऽत्यन्ताऽऽक्षेपकत्वख्यापनार्थं. कदाचिद्भिक्षो वदे- दित्थमेव सुखमित्याह-मह्यं रोचते प्रतिभाति प्रव्रज्या, दुर चभारत्वे, भिन्नक्रमश्च , दुःखमेव न मनागपि सुखं, दुःख- हेतुत्वादिति भावः । इति सूत्रद्वयार्थः ॥ १४ ॥

इत्थं चक्रिणोक्ते मुनिः किं कृतवानित्याह—

तं पुव्वनेहेण कयाणुरायं,
नराहिव कामगुणेसु गिद्धं ।
धम्मस्सिओ तस्स हियाऽणुपेही ,
चित्तो इमं वक्कमुदाहरित्था ॥ १५ ॥

तं ब्रह्मदत्तं पूर्वस्नेहेन जन्मान्तरप्ररूढप्रणयेन कृतानुरागं वि हिताभिष्वङ्गं नराधिप राजानं कामगुणेष्वभिलषमाणशब्दा ऽऽदिषु गृद्धमभिकाङ्क्षाऽन्वितं धर्माऽऽश्रितो धर्मस्थितस्त- स्येति चक्रिणो हित पथ्यमनुप्रेक्षते पर्यालोचयतीत्येव- शीलो हितानुप्रेक्षी-कथं नु नामास्य हित स्यादिति चिन्त- मपरश्चित्रजीवयतिरिदं वाक्यं, पाठान्तरतो-वचनं वा ( उ- दाहरित्थ त्ति ) उदाहृतवानुक्तवानिति सूत्रार्थः ॥१५॥

किं तदुदाहृतवानित्याह—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥ १६ ॥

बालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं ! ।
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥ १७ ॥

सर्वमशेषं विलपितमिव विलपितं निरर्थकतया रुदितयो- नितया च, तत्र निरर्थकतया मत्तबालकगीतवत् रुदित- योनितया च विरहावस्थमृतप्रोषितभर्तृकागीतवत् , कि- मित्याह-गीतं गानं, तथा सर्वं नृत्यं गात्रविक्षेपणरूपं विड- म्बितमिव विडम्बितं, यथा हि यदाऽऽविष्टः पीतमद्याऽऽदि- र्वा यतस्ततो हस्तपादाऽऽदीन् विक्षिपत्येवं नृत्यमपीति, तथा सर्वाण्याभरणानि मुकुटाङ्गदाऽऽदीनि भारास्तत्त्वतो भारस्व- रूपत्वात्तेषां, तथाविधवनिताभर्तृकारितसुवर्णस्थगितशिला- पुत्रकाऽऽभरणवत्, सर्वे कामाः शब्दाऽऽदयो दुःखाऽऽवहाः मृगाऽऽदीनामिवाऽऽयतौ दुःखावाप्तिहेतुत्वात्, मत्सरेर्ष्यावि- षादाऽऽदिभिश्चित्तव्याकुलत्वोत्पादकत्वान्नरकाऽऽदिहेतुत्वाच्चे- ति ॥१६॥ तथा बालानां विवेकरहितानामभिरामाश्चित्ताभिर- तिहेतवो ये तेषु, दुःखाऽऽवहेषूक्तन्यायेन दुःखप्रापकेषु न तत् सुखं कामगुणेषु मनोज्ञशब्दाऽऽदिषु,सेव्यमानेष्विति शेषः । राजन् ! पृथिवीपते ! "विरत्तकामाणं ति" प्राग्वत्, कामवि- रक्तानां-विषयपराङ्मुखानां तप एव धनं येषां ते तपोधना- स्तेषां यत् सुखमिति संबन्धः । भिक्षूणां यतीनां शीलगुणयो र्वा सुरत्वाद्रतानामासक्तानामिति सूत्रद्वयार्थः ॥ १७ ॥ वालै- त्यादिसूत्रं चूर्णिकृता न व्याख्यातं, क्वचित्तु दृश्यत इत्य- स्माभिरुन्नीतम् ।

सम्प्रति धर्मफलोपदर्शनपुरःसरमुपदेशमाह—

नरिंद ! जाई अहमा नराणं,
सोवागजाई दुहओ गयाणं ।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेसा,
वसीय सोवागनिवेसणेसु ॥ १८ ॥
तीसे य जाईइ उ पाविया‌ए,
वुच्छा मु सोवागनिवेसणेसुं ।
सव्वस्स लोगस्स दुगुंछणिज्जा,
इहं तु कम्माइँ पुरेकडाइं ॥ १९ ॥
सो दाणि सिं राय महाणुभागो,
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइँ असासयाइं,
आयाणहेउं अभिनिक्खमाहि ॥ २० ॥

नरेन्द्र ! चक्रवर्तिन् !, जायन्तेऽस्यामिति जातिरधमा नि- कृष्टा नराणां मनुष्याणां मध्ये स्वपाकजातिः चाण्डालजातिः ( दुहओ त्ति ) द्वयोरपि गतयोः प्राप्तयोः । किमुक्तं भवति ?- यदाऽऽवां स्वपाकजातावुत्पन्नौ तदा सर्वजनगर्हिता जातिरा- सीत् , कदाचित्तामवाप्याप्यन्यत्रैवोषितौ स्यातामित्याह-य- स्यां वयं, प्राग्वच्च बहुवचनं सर्वजनस्याशेषलोकस्य द्वेष्याव- प्रीतिकरौ ( वसीय त्ति ) अवसाव उषितौ, केषु स्वपाकानां निवेशनानि गृहाणि स्वपाकनिवेशनानि तेषु, कदाचित्त- त्रापि विज्ञानविशेषाऽऽदिना अहीलनीयावेव स्यातामित्या- ह-तस्यां च जातौ स्वपाकसंबन्धिन्यां च, तु विशेषणे,ततश्च जात्यन्तरेभ्यः कुत्सितत्वं विशिनष्टि, पापैव पापिका तस्यां कुत्सितायां, पापहेतुभूतत्वेन वा पापिका, तस्यां पापिकायां वा नरकाऽऽदिकुगतेरिति गम्यते । ( वुच्छे- ति ) उषितौ, ' मु ' इत्यावां. केषु ?-स्वपाकनिवेशनेषु, की-

इमौ ? सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ हीलनीयौ, इहेत्यस्मिन् जन्मनि, तु· पुनरर्थस्ततः इह पुनः कर्माणि शुभाऽनुष्ठानानि ( पुरेकडाइं इति ) पूर्वजन्मोपार्जितानि विशिष्टजात्यादिनिबन्धनानीति शेषः । तत उत्पन्नप्रत्ययैः पुनस्तदुपार्जन एव यत्नो विधेयो, न तु विषयाऽभिष्वङ्गव्याकुलितमानसैरेवं स्थेयमिति भाव इति । यतश्चैवमतः स इनिय· पुरा संभूतनामा अनगार आसीदिदानीमस्मिन् काले " सि त्ति " पूरणे, यद्वा—(दाणिसिं ति) देशीयभाषयेदानीं राजा महानुभागो महर्द्धिकः पुण्यफलोपेतश्च सन् इमधर्मफलत्वेनाभिनिष्क्रमेति संबन्धः । अथवा सोपस्कारत्वाद्य· स एव त्वमिदानीं राजा महानुभागताऽऽन्वित इह जातस्तत्कर्माणि पुराकृतानीति पूर्वेण संबन्धः । कोऽर्थः ?, पुराकृतकर्मविजृम्भितमेवैतत्, कथमन्यथा तथाभूतस्यैवविधसमृद्ध्यवाप्तिरिति भावः । यतश्चैवमतोऽभिनिष्क्रमेति सब न्ध· । किं कृत्वेत्याह-त्यक्त्वाऽपहाय भुज्यन्त इति भोगा द्रव्यनिचया· कामा वा तानशाश्वतानित्यानादीयते सद्भिर्विवेकैर्गृह्यते इत्यादानश्चारित्रधर्मस्तद्धेतोरभिनिष्क्रमाऽऽभिमुख्ये· न प्रव्रजितो भव, गृहस्थतया हि न सर्वविरतिरूपचारित्रसम्भव इति भावः । पठन्ति च—" आयाणमेवा अणुचिंतया हि " इति । स्पष्टमिति सूत्रत्रयाऽर्थः ।

क एवमकरणे दोष इत्याह—

इह जीविए राय ! असासयम्मि,
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परम्मि लोए ॥ २१ ॥

इह जीविते मनुष्यसम्बन्धिन्यायुषि राजन्नशाश्वतेऽस्थिरे ( धणियं तु त्ति ) अतिशयेनैव न तु ध्वजपटप्रान्ताऽऽद्यन्यास्थिरवस्तुसाधारणतया पुण्यानि पुण्यहेतुभूतानि शुभाऽनुष्ठानान्यकुर्वाणः स इति पुण्यऽनुपार्जक· शोचते दु·खाऽऽर्त· पश्चात्तापं विधत्ते मृत्युरायुःपरिक्षयस्तस्य मुखमिव मुखं मृत्युमुखं शिथिलीभवद्बन्धनाऽऽद्यवस्था तदुपनीतस्तथाविधकर्मभिरुपढौकितो मृत्युमुखोपनीतः सन् धर्मं शुभाऽनुष्ठानमकृत्वाऽननुष्ठाय (परम्मि त्ति) चस्य गम्यमानत्वात् परस्मिंश्च लोके जन्मान्तररूपे गत इति शेषः । नरकाऽऽदिषु हा सह्यासातवेदनाऽर्द्दितशरीरः शशिनृपतिवत् किं न मया तदैव सदनुष्ठानमनुष्ठितमिति खिद्यत एवाधर्मकारीति सूत्राऽर्थः ।

स्यादेतत्, मृत्युमुखोपनीतस्य परत्र वा दुःखाभिहतस्य स्वजनाऽऽदयस्त्राणाय भविष्यन्ति·, ततो न शोचिष्यते इत्याशङ्क्याऽऽह—

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू णरं णेइ हु अंतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंऽसहरा भवंति ॥ २२ ॥
न तस्स दुक्खं विभयंति णायओ,
न मित्तवग्गा ण सुया ण बंधवा ।
एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥ २३ ॥

यथेत्यौपम्ये, इहेति लोके, सिंहो मृगपतिः, वेति पूरणे, यद्वा-वाशब्दोऽयं विकल्पाऽर्थे, ततो व्याघ्राऽऽदिर्वा मृगं कुरङ्गं गृहीत्वोपादाय प्रक्रमात् स्वमुखं परलोकं वा नयतीति सम्बन्धः । एवं मृत्यु· कृतान्तो, नरं पुरुषं, नयति, हुर· वधारणे,ततो नयत्येव, कदा ? अन्तकाले जीवितव्याऽवसानसमये । किमुक्तं भवति?-यथाऽसौ सिंहेन नीयमानो न तस्मै अलमेवमयमपि जन्तुर्मृत्युना, कदाचित् स्वजनस्तत्र साहाय्यं करिष्यत्यत आह-न तस्य मृत्युना नीयमानस्य माता वा पिता वा ( भाय त्ति ) वाशब्दस्येह गम्यमानत्वा· त् भ्राता वा काले तस्मिन् जीवितान्तरूपेंऽशं प्रक्रमाज्जीवितव्यभाग धारयन्ति मृत्युना नीयमान रक्षन्तीत्यंशधराः, यथा हि नृपाऽऽदौ स्वजनसर्वस्वमपहरति स्वद्रविणदानतः स्वजनाऽऽदिभिस्तद्रक्ष्यते नैव स्वजीवितव्यांशदानतस्तज्जीवितं मृत्युना नीयमानम् । उक्तं हि-" न पिता भ्रातरः पुत्राः, न भार्या न च बान्धवाः । न शक्ता मरणात्त्रातुं, शक्ताः संसारसागरे ॥१॥" इति । अथवा—अंशो दु·खभागस्तं हरन्त्यपनयन्ति ये तेंऽशहरा भवन्तीति । इदमेवाभिव्यनक्ति-आद्यव्याख्याने तु स्यादेतत्-जीवितारक्षणेऽपि दुःखांशहारिणो भविष्यन्त्यत आह—न तस्य मृत्युना नीयमानस्य तत्कालभाविना दु·खेनाऽत्यन्तपीडितस्य दुःखं· शारीरं मानसं वा विभजन्ति विभागीकुर्वन्ति ज्ञातयो दूरवर्तिन· स्वजनाः, न मित्रवर्गाः सुहृत्समूहा न सुताः पुत्रा·, न बान्धवाः निकटवर्तिनः स्वजनाः, किं तु एकोऽद्वितीय स्वयमात्मना प्रत्यनुभवति वेदयते दु·खं क्लेशं, किमिति ?, यत· कर्तारमेवोपार्जयितारमेव, अनुयात्यनुगच्छति, किं तत् ?-कर्म, येन तत्कृतं तस्यैव फलमुपनयतीति भाव इति सूत्रद्वयाऽर्थः।

इत्थमशरणत्वभावनामभिधायैकत्वभावनामाह—

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाई,
परं भवं सुंदर पावगं वा ॥ २४ ॥
तमिक्कगं तुच्छसरीरगं से,
चिईगयं दहिउं तु पावगेणं ।
भज्जा य पुत्तो वि य णायओ य,
दायारमन्नं अणुसंकमंति ॥ २५ ॥

त्यक्त्वा-उत्सृज्य, द्विपद च भार्याऽऽदि, चतुष्पदं च हस्त्यादि, क्षेत्रम्-इक्षुक्षेत्राऽऽदि,गृहं धवलगृहाऽऽदि (धण त्ति) धनं कनकाऽऽदि, धान्यं शाल्यादि, चशब्दाद् वस्त्राऽऽदि च, सर्वं निरवशेषं, तत किमित्याह-कर्मैवाऽऽत्मनो द्वितीयमस्येति कर्माऽऽत्मद्वितीयोऽवशोऽस्वतन्त्रः प्रकर्षेण याति प्राप्नोति प्रयाति, क ? परमन्यभवं जन्म ( सुंदर त्ति) बिन्दुलोपात् सुन्दरं स्वर्गाऽऽदि, पापकं वा नरकाऽऽदि स्वकृतकर्मानुरूपमिति भाव· । तत्र किमन्यदर्शनिनामिव सशरीर एव भवाऽन्तरं यात्युताऽन्यथेति ?, उच्यते औदारिकशरीराऽपेक्षयाऽशरीर एव, तर्हि तत् त्यक्त्वेत्यत्र का वार्त्तेत्याह-( तदिति ) यत्तेन त्यक्तम् एकमद्वितीय तद् द्वितीयस्य जन्तोरन्यत्र सङ्क्रमणात् तुच्छमसारमत एव क·

रितं शरीरं शरीरकमनयोस्तु विशेषणसमासः । (से) तस्य भवान्तरगतस्य सम्बन्धि चीयन्ते मृतकदहनाय इन्धनान्यस्यामिति चितिः काष्ठरचनाऽऽत्मिका, तस्यां गतं स्थितं चितिगतं दग्ध्वा, तुः पूरणे, पावकेनाग्निना भार्या च पुत्रोऽपि च ज्ञातयश्च दातारमभिलषितवस्तुसम्पादयितारमन्यत्, अनुसंक्रामन्त्युपसर्पन्ति, ते हि गृहमनेनावरुद्धमास्त इति तद्गृहान्निष्कास्य जनलज्जाऽऽदिना च भस्मसात्कृत्य कृत्वा च लौकिककृत्यान्याक्रन्द्य च कतिचिद्दिनानि पुनः स्वार्थतत्परतया तथाविधमन्यमेवाऽनुवर्तन्ते न तु तत्प्रवृत्तिमपि पृच्छन्ति, आस्तां तदनुगमनमित्यभिप्राय इति सूत्रद्वयाऽर्थः ।

किं च—

उवणिज्जइ जीवियमप्पमायं,
वण्णं जरा हरइ नरस्स राय ! ।
पंचालराया ! वयणं सुणाहि,
मा कासि कम्माणि महालयाणि ॥ २६ ॥

उपनीयते ढौक्यते प्रक्रमात् मृत्यवे तथाविधकर्मभिर्जीवितमायुरप्रमादं प्रमादं विनैव, आवीचिमरणतो निरन्तरमित्यभिप्रायः, सत्यपि च जीविते वर्णं सुस्निग्धच्छायाऽऽत्मकं जरा विस्रसा हरत्यपनयति नरस्य मनुष्यस्य राजन् ! चक्रवर्तिन् !, यतश्चैवमतः पञ्चालराज ! पञ्चालमण्डलोद्भवनृपते !, वचनं वाक्यं शृणवाऽऽकर्णय, किं तत् ?-मा कार्षीः, कानि ?-कर्माण्यसदारम्भरूपाणि ( महालयाणि त्ति ) अतिशयमहान्ति महान्वाऽऽलयः कर्माऽऽश्लेषो येषु तानि, उभयत्र पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणकुणिमभक्षणाऽऽदीनीति सूत्राऽर्थः ।

एवं मुनिनोक्ते नृपतिराह—

अहं पि जाणामि जहेह साहू ! ,
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं ।
भोगा इमे संगकरा भवंति,
जे दुज्जया अज्जो ! अम्हारिसेहिं ॥ २७ ॥

अहमपि न केवलं भवानित्यपिशब्दाऽर्थः । जानाम्यवबुध्ये, तथेतिशेषः, यथा येन प्रकारेण इहास्मिन् जगति साधो ! यत् ( मे ) मम त्वं साधयसि कथयसि, वाक्यमुपदेशरूपं वचः, एतत् यदनन्तरं भवतोक्तम् । तत् किं न विषयान्परित्यजसि ? । अत आह-भोगाः शब्दाऽऽदय इमे प्रत्यक्षाः सङ्गकराः प्रतिबन्धोत्पादका भवन्ति ये, यत्तदोश्च नित्याभिसम्बन्धात्ते दुःखेन जीयन्ते अभिभूयन्ते इति दुर्जया दुस्त्यजा इति यावत् । ( अज्जो त्ति ) आर्य ! अस्मादृशैर्गुरुकर्मभिर्जन्तुभिरिति गम्यते । पठ्यते च—" अहं पि जाणामि जो एत्थ सारो, । " पादत्रयं तदेव, अहमपि जानामि योऽत्र सारः-यदिह मनुजजन्मनि प्रधानं चारित्रधर्माऽऽत्मकं, वस्य गम्यमानत्वाद्यच्च मे त्वं साधयसि, शेषं प्राग्वदिति सूत्राऽर्थः ।

किं च—

हत्थिणपुरम्मि चित्ता !, दट्ठूणं नरवइं महिड्ढीयं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं, नियाणमसुहं कडं ॥ २८ ॥
तस्स मे अपडिकंतस्स, इमं एयारिसं फलं ।
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२६॥

हस्तिनागपुरे (चित्ता इति) आकारोऽलाक्षणिकः, हे चित्र ! चित्रनामन् मुने ! दृष्ट्वा नरपतिं सनत्कुमारनामानं चतुर्थचक्रवर्तिनं महर्द्धिकं सातिशयसंपदं कामभोगेष्वुक्तरूपेषु गृद्धेनाऽभिकाङ्क्षावता निदानं जन्मान्तरे भोगाऽऽशंसाऽऽत्मकमशुभमशुभाऽनुबन्धि कृतं निर्वर्तितमिति ॥२८॥ कदाचित्तत्र कृतेऽपि ततः प्रतिक्रान्तः स्यादत आह—( तस्स त्ति ) सुब्व्यत्ययेन तस्मान्निदानात् (मे) ममाप्रतिक्रान्तस्याप्रतिनिवृत्तस्य, तदा हि त्वया बहुधोच्यमानेऽपि न मच्चेतसः प्रत्यावृत्तिरभूदितीदमेतादृशमनन्तरवक्ष्यमाणरूपं फलं कार्यं ; यत् कीदृगित्याह—( जाणमाणो वि त्ति ) प्राकृतत्वाज्जानन्नप्यवबुध्यमानोऽपि यदहं धर्मं श्रुतधर्माऽऽदिकं, कामभोगेषु मूर्च्छितो गृद्धस्तदेतत्कामभोगेषु मूर्च्छनं मम निदानकर्मणः फलम् , अन्यथा हि ज्ञानस्य फलं विरतिरिति कथं न जानतोऽपि धर्माऽनुष्ठानावाप्तिः स्यादिति भावः । इति सूत्रद्वयाऽर्थः ।

पुनर्निदानफलमेवोदाहरणतो दर्शयितुमाह—

नागो जहा पंकजलाऽवसण्णो,
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा,
ण भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥ ३० ॥

नागो हस्ती , यथेति दृष्टान्तोपदर्शकः , पङ्कप्रधानं जलं पङ्कजलं यत्कलमित्युच्यते , तत्राऽवसन्नो निमग्नः पङ्कजलावसन्नः सन् दृष्ट्वाऽवलोक्य स्थलं जलविकलभूतलं ( न ) नैवाभिसमेति प्राप्नोति तीरं पारमपेर्गम्यमानत्वात्तीरमप्यास्तां स्थलमिति भावः । इत्येवंविधनागवत् , वयमित्यात्मनिर्देशे, कामगुणेषूक्तरूपेषु गृद्धा मूर्च्छिता न भिक्षोः साधोर्मार्गं पन्थानं सदाचारलक्षणम् , अनुव्रजामोऽनुसरामः । अमी हि पङ्कजलोपमाः कामभोगाः, ततस्तत्परतन्त्रतया न तत्परित्यागतो निरपायतया स्थलमिव मुनिमार्गमवगच्छन्नोऽपि पङ्कजलावमग्नगजवद्वयमनुगन्तुं शक्नुम इति सूत्राऽर्थः ।

पुनरनित्यतादर्शनाय मुनिराह—

अच्चेइ कालो तुरंति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा
उवेच्च भोगा पुरिसं चयंती ,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥ ३१ ॥

अत्येति अतिक्रामति, कालो यथाऽऽयु:कालः , किमित्येवमुच्यते ? , अत आह त्वरन्ति शीघ्रं गच्छन्ति रात्रयो रजन्यो , दिनोपलक्षणं चैतत् , ततोऽनेन जीवितस्यानित्यत्वम् । उक्तं हि—" क्षणयामदिवसमास—च्छलेन गच्छन्ति जीवितदलानि । इति विद्वानपि कथमिह , गच्छसि निद्रावशं रात्रौ ? ॥ १ ॥ " अथवा ' अत्येति अतीव याति, कोऽसौ ?-कालो. कुत एतत् ? , यतः त्वरन्ति रात्रयो, न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः शाश्वताः अर्थेभिसक्रमत्वात् केवलं जीवितमुक्तनीतितः न नित्यं , किं तु भोगा अपि . यत
पुरुषाभिप्रायेण भोगाः पुरुषं
न वृक्षं यथा

क्षीणानि विनष्टानि फलानि यस्यासौ क्षीणफलस्तं, वेत्यौपम्ये, उक्तं हि-"मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा" ॥ ८ । २ ।१८२॥ भिन्नक्रमश्चायं ततः पक्षीव विहग इव. फलोपमानि हि पुण्यानि, ततस्तदपगमे क्षीणफलं वृक्षमिव पुरुषं पार्थिवभोगा विमुञ्चन्तीति सूत्रार्थः ।

यत एवमतः—

जईऽसि भोगे चइउं असत्तो ,
अज्जाइँ कम्माइँ करेहि राय ! ।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी ,
तं होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥ ३२ ॥

यदि तावदसि त्वं भोगान् त्यक्तुम् अपहातुम्, अशक्तः असमर्थः, पठ्यते च-( जइ तंसि भोगे चइउं असत्तो त्ति ) यदि चैव तावत् कर्तुमशक्तस्ततः किमित्याह-आर्याणि हेयधर्मेभ्यः आरात् निर्गतानि शिष्टजनोचितानीति यावत्, कर्माण्यनुष्ठानानि कुरु राजन् ! धर्मे प्रक्रमात् गृहस्थधर्मे सम्यग्दृष्ट्यादिशिष्टाऽऽचरिताऽऽचारलक्षणे स्थितः सन् सर्वप्रजानुकम्पी समस्तप्राणिदयापरः, ततः किं फलमित्याह ततः इत्यार्यकर्मकरणाद्भविष्यसि देवो वैमानिक इत इत्यस्मान्मनुष्यभवादनन्तरम् । ( विउव्वि त्ति ) वैक्रियशरीरवानित्यर्थ इति वृद्धाः, गृहस्थधर्मस्यापि सम्यक्त्वदेशविरतिरूपस्य देवलोकफलत्वेन उक्तत्वादिति भावः । इति सूत्रार्थः ।

एवमुक्तोऽपि यदाऽऽसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते तदा तदविनेयतामवधार्य मुनिराह—

न तुज्झ भोए चइऊण बुद्धी ,
गिद्धोऽसि आरंभपरिग्गहेसु ।
मोहं कओ इत्तिउ विप्पलावो ,
गच्छामि रायं ! आमंतिओऽसि ॥ ३३ ॥

नेति प्रतिषेधे, तव भोगान् शब्दाऽऽदीनुपलक्षणत्वादनार्यकर्माणि वा, (चइऊण त्ति) त्यक्तुम्, यद्वा-सोपस्कारत्वाद्भोगाँस्त्यक्त्वा धर्मो मया विधेय इति बुद्धिरवगतिः, किं तु गृद्धो मूर्च्छितोऽसि भवसि, केषु ?, आरम्भपरिग्रहेषु अवद्यहेतुषु व्यापारेषु चतुष्पदद्विपदाऽऽदिस्वीकारेषु च ( मोहं ति ) मोघं निष्फलं यथा भवत्येव, सुव्यत्ययाद्वा मोघो-निष्फलो मोहेन वा पूर्वजन्मनि मम भ्राताऽऽसीदिति स्नेहलक्षणेन कृतो विहितः एतावान् विप्रलापो विविधव्यर्थवचनोपन्यासाऽऽत्मकः, संप्रति तु गच्छामि व्रजामि राजन्नामन्त्रितः संभाषितोऽनेकार्थत्वाद्धातूनां पृष्टो वाऽसि भवसि । अयमाशयः-अनेकधा ज्ञापितानित्यत्वाऽऽदिदर्शनद्वारेणानुशिष्यमाणस्यापि ते न मनागपि विषयविरक्तिरित्यविनेयत्वादुपेक्षैव श्रेयस्करी । उक्तं हि-" मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ।" तत्त्वा०-६ सू०७ अ०) इति सूत्रार्थः ।

इत्थमुक्त्वा गते मुनौ ब्रह्मदत्तस्य यदभूत्तदाह—

पंचालराया वि य बंभदत्तो ,
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे,
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥ ३४ ॥

( पंचालराया वि य त्ति ) अपिः पुनरर्थे, चः पूरणे, ततः पञ्चालराजः पुनर्ब्रह्मदत्तो-ब्रह्मदत्ताभिधानः साधोस्तपस्विनस्तस्यानन्तरोक्तस्य वचनं हितोपदेशदर्शकं वाक्यमकृत्वा वज्रतन्दुलवत् गुरुकर्मतयाऽत्यन्तदुर्भेदत्वादननुष्ठाय अनुत्तरान्सर्वोत्तमान् भुक्त्वा अनुपाल्य कामभोगाननुत्तरेपाननुत्तरे स्थित्यादिभिः सकलनरकज्येष्ठे अप्रतिष्ठान इति यावत्, स ब्रह्मदत्तो नरके प्रतीते प्रविष्टः, तदन्तरुत्पन्नः, तदनेन निदानस्य नरकपर्यवसानफलत्वमुपदर्शितं भवतीति सूत्रार्थः ।

इह चास्य शेषवक्तव्यतासूचिका अपि निर्युक्तिगाथाः पञ्च दृश्यन्ते । तद्यथा—

इत्थीरयणपुरोहिय-भिज्जाणं वुग्गहो विणासम्मि ।
सेणावइस्स भेओ, वक्कमणं चेव पुत्ताणं ॥ ३५५ ॥
संगाम अत्थिभेओ, मरणं पुण चूयपायवुज्जाणे ।
कडगस्स य निब्भेओ,दंडो य पुरोहियकुलस्स ॥३५६॥
जउघरपासायम्मि य, दारे य संवरे य थाले य ।
तत्तो अ आसए ह-त्थिए य तह कुंडए चेव ॥ ३५७॥
कुक्कुडरहतिलपत्ते, सुदंसणो दारुए य नयणिल्ले ।
पत्तच्छिज्जसयंवर, कलाओ तह आसणे चेव ॥३५८॥
कंचुयपज्जुसम्मि य, हत्थी वणकुंजरे कुरुमई य ।
एए कन्नालंभा, बोद्धव्वा बंभदत्तस्स ॥ ३५६ ॥

एतास्तु विशिष्टसंप्रदायाभावान्न विव्रियन्ते ।

सम्प्रति प्रसक्त एव चित्रवक्तव्यतोच्यते—

चित्तो वि कामेहिँ विरत्तकामो,
उदत्तचारित्ततवो महेसी ।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता,
अणुत्तरं सिद्धिगइं गउ त्ति ॥ ३५ ॥ त्ति बेमि ॥

चित्रोऽपि जन्मान्तरनामतश्चित्राभिधानस्तपस्व्यपि, अत्राऽपि अपि, पुनरर्थे, ततश्चित्रः पुनः कामेभ्योऽभिलषणीयशब्दाऽऽदिभ्यो विरक्तः पराङ्मुखीभूतः, कामोऽभिलाषोऽस्येति विरक्तकामः, उदात्तं-प्रधानं चारित्रं च सर्वविरतिरूपं, तपश्च-द्वादशविध यस्य स उदात्तचारित्रतपाः । पाठान्तरे-उदग्रचारित्रतपा वा महेषी महर्षिर्वा, अनुत्तरं सर्वसंयमस्थानोपरिवर्तिनं ( संजम त्ति ) संयममाश्रयोपरमणाऽऽदिकं पालयित्वाऽऽसेव्य अनुत्तरां सर्वलोकाऽऽकाशोपरिवर्तिनीमतिप्रधाना वा सिद्धिगतिं मुक्तिनाम्नीं गतिं गतः प्राप्तः । इति सूत्राऽर्थः । इति परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्ताऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते च पूर्ववत् । उत्त० १३ अ० । सं० । स्था० ।

" ब्रह्मदत्ते मृतिं प्राप्ते, ह्यदशी चक्रवर्तिनि ।
स्त्रीरत्नं तत्सुतोऽवादी-द्भोगान् भुङ्क्ष्व मया सह ॥ २ ॥
तयोक्तं न मम स्पर्शः, सह्यते चक्रिणं विना ।
तं प्रत्याययितुं वाजी, मुक्तापावकर्ता तया ॥ ३ ॥
स्पृष्ट करेण तत्कालं, गलद्भूतः दयाम्भुतः ।
तथाऽप्यप्रत्यये तस्य, कृत्वा लोहमयं नरम् ॥ ४ ॥
परिरेभे तया सोऽपि, द्रवावाप्य स्वर्णभावम् ।

ततोऽभूत्प्रत्ययस्तस्य, इष्टं को वा न मन्यते ? ॥ ५ ॥"
आ०क० १ अ०। तं०। स्था०। अजितस्वामिनः सुव्रतस्वामिनश्च प्रथमभिक्षादायके, आ० म० १ अ०। नि० चू०। स्था०।

बंभदत्ते णं राया चाउरंतचक्कवट्टी सत्तधणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं सत्त य वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे णरए नेरइयत्ताए उववन्ने। स्था० १० ठा०।

तथा चक्षुर्विकलो ब्रह्मदत्तचक्री रात्रौ षण्णवतिसहस्राधिकलत्ररूपाणि करोति, तानि किं चक्षुर्विकलानि, स्वाभाविकानि वेति प्रश्ने, उत्तरम्-ब्रह्मदत्तचक्री यानि रूपाणि विकुर्वति तानि प्रायशश्चक्षुर्विकलानीति। प्र० ४६० सेन० ३ उल्ला०।

बंभदीव-ब्रह्मद्वीप-पुं०। आभीरविषये कृष्णावेणानद्योर्मध्यद्वीपे, नि०चू० १३ उ०। पिं०।

बंभदीवियसीह-ब्रह्मद्वीपिकसिंह-पुं०। ब्रह्मद्वीपिकाशाखोपलक्षिते सिंहनामके आचार्ये, नं०।

बंभदीविया-ब्रह्मद्वीपिका-स्त्री०। ब्रह्मद्वीपे आर्यसमितिसूरीणामन्तिके प्रव्राजितैः पादलिप्तप्रमुखैस्तापसपञ्चशतकैः प्रवलितायां शाखायाम्, कल्प०।

थेरेहिंतो णं अज्जसमिएहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो इत्थ णं बंभदीविया साहा णिग्गया।

आभीरदेशे अचलपुराऽऽसन्ने कन्ना-वेन्नानद्योर्मध्ये ब्रह्मद्वीपे पञ्चशती तापसानामभूत्, तेष्वेकः पादलेपेन भूमाविव जलोपरि गच्छन् जलालिप्तपादो वेन्नामुत्तीर्य पारणार्थं याति, ततः अहो एतस्य तपःशक्तिः जैनेषु न कोऽपि प्रभावीति श्रुत्वा श्राद्धैः श्रीवज्रस्वामिमातुला आर्यसमितसूरय आहूताः, तैरूचे-स्तोकमिदं पादलेपशक्तिरिति। श्राद्धैस्ते स्वगृहे पादपादुकाधावनपुरस्सरं भोजिता। ततस्तैः सहैव श्राद्धा नदीतटमगुः, स च तापसो धार्ष्ट्यमालम्ब्य नद्यां प्रविशन्नेव बुडितुं लग्नः। ततस्तेषामपभ्राजना, इतश्च तत्राऽऽर्यसमितसूरयोऽभ्येत्य लोकबोधनाय योगचूर्णं क्षिप्त्वा ऊचुः वेन्ने ! परम्पारं यास्याम इत्युक्ते कूले मिलिते, बभूव बह्वाश्चर्यम्, ततः सूरयस्तापसाऽऽश्रमे गत्वा तान्प्रतिबोध्य प्राव्राजयन्, ततस्तेभ्यो ब्रह्मद्वीपिका शाखा निर्गता। कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

अचलपुरश्रावकसमुदायकथा चेयम्—

"बहुभद्दसालभावे-ण पउरसोमणससंगयत्तेण।
निज्जिणिय कणयअचलं, अचलपुरं अत्थि वरनयरं ॥ १ ॥
तत्थऽत्थि जइणपवयण-पभावणाकरणपवणमणकरणा।
उस्सग्गऽववायविऊ, बहवे सुमहड्ढिया सड्ढा ॥ २ ॥
कन्नाविन्नानइअं-तरम्मि तत्थेव तावसा बहवे।
निवसिंसु तत्थ एगो, विसारओ पायलेवम्मि ॥ ३ ॥
सो पयलेवबलेणं, निच्चं सवरइ सलिलपूरे वि।
थलमग्गे इव धणियं, जणयंतो विम्हयं लोए ॥ ४ ॥
तं दट्ठु मुद्धजणो, दुस्सहमिच्छत्ततावसं तत्तो।
महिसो विवऽन्नदंसण-पंके निस्सकमणुखुत्तो ॥ ५ ॥
जह पच्चक्खं अम्हा-ण सासणे दीसए गुरुपहावो।
न तहा तुम्हं इय सो, धिट्ठो धरिसेइ सड्ढजणं ॥ ६ ॥
मिच्छत्तथिरीकरणं, मा मुद्धाणं हवेउ इय सड्ढा।
उस्सग्गपयं लीणा, तं दिट्ठीए वि न नियंति ॥ ७ ॥
अह मउलियकुमयपमो-यकइरवो वइरसामिमाउलओ।
सिरिअज्जसमियसूरी, सूरु व्व समागओ तत्थ ॥ ८ ॥
सड्ढिड्ढीए सव्वे, वि सावया ते लहुं समागम्म।
भूमिलितमउलिकमला, गुरुपयकमलं नमंसंति ॥ ९ ॥
वाहजलुल्लियनयणा, सुदीणवयणा, य निययतित्थस्स।
संसंति तावसकय, तामसमसमंजसं सव्वं ॥ १० ॥
अह भणइ गुरू सड्ढा !, अविदड्ढजणं इमो कवडबुद्धी।
केणाऽवि पायलेव-प्पमुहपयोरेण वंचेइ ॥ ११ ॥
न हु काऽवि तवोसत्ती, तवस्सिणो तावसस्स एयस्स।
तं सोउं ते सड्ढा, वंदिय गुरुणो गया सगिहं ॥ १२ ॥
अववायकरणसमयं, नाउं ते सावया विमलमइणो।
अह तं तावसमइओ-दरेण भुत्तु निमंतंति ॥ १३ ॥
सो वि य बहुलोयजुओ, पत्तो एगस्स सावगस्स गिहे।
तं दट्ठुं समयन्नू, सहसा अब्भुट्ठिए सो वि ॥ १४ ॥
उववेसिय भणइ इमं, पक्खालावेसु नियपयपउमं।
न हवइ गुरुएसु धुवं, अत्थीणं पत्थणा विहला ॥ १५ ॥
तस्स अणिच्छंतस्स वि, पाए पाऊए उसिणनीरेण।
तह सो धोयइ जह त त्थ लेवगंधो वि न हु ठाइ ॥ १६ ॥
गरुयपडिवत्तिपुव्वं, तं भुंजावइ न सो पुणो गुणइ।
भोयणआसायं पि हु, भाविविगोवणभएण भिन्नं ॥ १७ ॥
जलथंभकुड्डदंसण-समुस्सुएणं जणेण परियरिओ।
सरियानीरं पुणरवि, जिमिउं सो तावसो पत्तो ॥ १८ ॥
अज्ज वि य लेवअंसो, कोऽवि हविज्ज त्ति चिंतिय पविट्ठो।
नइतीरे वहु बुड्डो, पकुणंतो बुडबुडारावं ॥ १९ ॥
किंचिरमणुणा माया-विणा वयं वंचिय त्ति चिंतंता।
मिच्छत्तिणोऽवि जाया, तयाऽणुरत्ता जइणधम्मे ॥ २० ॥
तक्कालं तुमुलकरे, नयरजणे तहय दत्ततालम्मि।
पत्ता समियाऽऽयरिया, फुरंतबहुजोगसंजोगा ॥ २१ ॥
काउमणा जिणसासण-पभावणं सरिय अंतरालम्मि।
जोगविसेसं खिविउ, लोयसमक्खं इय भणिंसु ॥ २२ ॥
विन्ने ! तुह परतीरे, गंतुं वयमिच्छिमो तओ झ त्ति।
तत्तडदुगं पि मिलियं, सायं, चिंचादलजुगं व ॥ २३ ॥
तत्तो अमंदआणं-दपुन्नचउवन्नसंघपरियरिया।
सिरिअज्जसमियगुरुणो, परतीरभुवं समणुपत्ता ॥ २४ ॥
ते तावसा निएउं, आयरियपयंसियप्पभावं तं।
सव्वे गयमिच्छत्ता, तेसिं समीवे पवज्जिंसु ॥ २५ ॥
ते बंभदीववनिवा-सिणु त्ति तेसिं पहाणवासम्मि।
बंभद्दीवगनामा, समणा सुयविस्सुया जाया ॥ २६ ॥
इय समियकुमयनावा, भविजणमणनयणसिहिपमोयकरा।
नवजलहरसारिच्छा, गुरुणो अन्नत्थ विहरिंसु ॥ २७ ॥
ते सावया वि सुइरं, सिरिजिणवरपवयणं पभाविंता।
परिपालिय गिहिधम्मा, सुगईए भायणं जाया ॥ २८ ॥"
"इत्युत्सर्गापवादद्वयकुशलधियो दग्धमिथ्यात्वकक्षाः,
विस्फूर्जद्धर्मलब्धा अचलपुरवरश्रावकाः सुष्ठु दक्षाः।
श्रीमत्तीर्थेशतीर्थस्वपरहितकरोत्सर्पणायै बभूवुः,
तस्माद्भव्या ! विवेकद्रुमघनसलिलं कौशलं तत्र धत्त ॥२९॥"
ध०र० २ अधि० ६ लक्ष०।

बंभदेवयाग-ब्रह्मदेवताक-न०। ब्रह्माभिधदेवताके, सू०प्र० १० पाहु० १२ पाहु०पाहु०।

**बंभप्पहाण**-ब्रह्मप्रधान-त्रि० । ब्रह्म ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वा, प्रधानमुत्तमं यस्य । ब्रह्मचर्येणोत्तमे, औ० ।

**बंभबंधु**-ब्रह्मबन्धु-पुं० । जातिमात्रब्राह्मणे , पिं० । निर्गुणे , स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

**बंभयारि (ण्)**-ब्रह्मचारिन्-पुं० । ब्रह्मणश्चरणं ब्रह्मचारः, स विद्यते यस्यासौ ब्रह्मचारी । आतु० । मैथुनविरते संयते, आव० ३ अ० । नवविधब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्ते , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । सूत्र० । " जहा बिरालाऽऽवसहस्स मज्झे न मूसगाणं वसही पसत्था । एमेव इत्थीणिलयस्स मज्झे, ण बंभयारिस्स खमो णिवासो ॥ १ ॥ " उत्त० ३२ अ० । पार्श्वनाथस्य चतुर्थगणधरे, स्था० ८ ठा० । स० । प्रश्न० । कल्प० । उत्त० । तथा " जो देइ कणयकोडी, अहवा कारेइ कणयजिणभवणं । तस्स न तत्तिअ पुन्नं, जत्तिअ बंभव्वए धरिए ॥१॥" एतद् ब्रह्मचर्यं किं दिवसमात्रकं, यावज्जीवसम्बन्धि वेति प्रश्ने, उत्तरम्—एतद्ब्रह्मचर्यं मुख्यवृत्त्या यावज्जीवसम्बन्धि, अध्यवसायविशेषेण दिवसाऽऽदिसम्बन्ध्यपीति । ३२ प्र० सेन० ४ उल्ला० ।

**बंभलिज्ज**-ब्रह्मलीय-न० । सुस्थितसुप्रतिबुद्धाभ्यां निर्गतस्य कोटिकगणस्य प्रथमकुले, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

**बंभलोय**-ब्रह्मलोक-पुं० । ब्रह्मनामकेन्द्रपालिते पञ्चमदेवलोके, स्था० १० ठा० । प्रज्ञा० । औ० । द०प० । उपा० । ( तद्वक्तव्यता 'ठाण' शब्दे चतुर्थभागे १७०७ पृष्ठे गता )

" बंभलोए णं कप्पे छ विमाणपत्थडा पण्णत्ता । तं जहा- अरए, विरए नीरए, निम्मले, वितिमिरे, विसुद्धे । " स्था० ६ ठा० । प्रव० । विशे० । अनु० ।

**बंभवं**-ब्रह्मवित्-पुं० । ब्रह्माऽशेषमलकलङ्कविकलयोगिशर्म वेत्तीति ब्रह्मवित् । यदि वा-अष्टादशधा ब्रह्मेति । ब्रह्मवेत्तरि, " धम्मवं बंभवं । " आचा० १ श्रु० ३ अ० ।

**बंभवइ**-ब्रह्मव्रतिन्-पुं० । ब्रह्मणो मोक्षस्य व्रतं ब्रह्मव्रतम् , तदस्यास्तीति । कुशलानुष्ठायिनि , सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ब्राह्मणजातिभक्ते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

**बंभवज्झा**-ब्रह्मवध्या-स्त्री० । ब्रह्महत्यायाम् , ब्रह्मवधजनिते ( नि०चू० १२ उ० ) पापे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

**बंभवडिंसय**-ब्रह्मावतंसक-न० । ब्रह्म बृहत्त्वात्सकलो लोकस्तदवतंसकं मुकुटरूपम् । सिद्धशिलायाम् , स० १२ सम० ।

**बंभवण**-ब्रह्मवन-न० । षष्ठदेवलोकीये स्वनामख्याते विमाने, स० ११ सम० ।

**बंभवय**-ब्रह्मव्रत-न० । ब्रह्मचर्ये नि०चू० १ उ० । " शक्यं ब्रह्मव्रत धार , शूरैश्च न तु कातरैः । करिपर्याणमुद्वाह्यं करिभिर्न तु रासभैः ॥ १ ॥ " स० १ सम० । महा० ।

**बंभवादि (ण्)**-ब्रह्मवादिन्-पुं० । ब्रह्म वदति तच्छीलश्चेति ब्रह्मवादी । ब्रह्माद्वैतवादिनि, सम्म० १ काण्ड । (तन्मतवादश्च 'एगावाइ'शब्दे तृतीयभागे ३५ पृष्ठे दर्शितः । ('आता' शब्दे द्वितीयभागे १६६ पृष्ठे च आत्मभेदप्रस्तावे उपदर्शितः ) लेशतस्त्विह तन्मतं दृश्यते—तत्र हि क्षेत्रज्ञाः परमब्रह्मविस्फुलिङ्गकल्पाः, तेषां च ततः पृथग्भावेन ब्रह्मत्वात एव कश्चिदपरो हेतुरिति , सा तल्लयेऽपि तथाविधैव , तद्वदेव भूयः पृथक्त्वाऽऽपत्तिः, एवं हि भूयो भवभावेन न सर्वथा जितभयत्वं, सहजभवभावव्यवच्छित्तौ तु तत्तत्स्वभावतया भवत्युक्तवत् शक्तिरूपेणापि सर्वथा भयपरिक्षय इति निरुपचरितमेतत् , न सकृद्विघटनस्वभावत्वकल्पनयाऽद्वैतेऽप्येवमेवादोष इति न्याय्यं वचः, अनेकदोषोपपत्तेः । तथाहि-तद्विघटनं शुद्धादशुद्धाद्वा ब्रह्मण इति निरूपणीयमेतत् , शुद्धविघटने कुतस्तेषामिहाशुद्धिः, अशुद्धविघटने तु तत्र लयोऽपार्थकः , न चैवमेकमविभागं च तदिति , अनेकत्वे च परमताङ्गीकरणमेव, तद्विभागानामेव नीत्या आत्मत्वादिति । एतेन यदाह—

" परमब्रह्मण एते, क्षेत्रविदोऽशा व्यवस्थिता वचनात् ।
वह्निस्फुलिङ्गकल्पाः, समुद्रलवणोपमास्त्वन्ये ॥ १ ॥
सादिपृथक्त्वममीषा-मनादि वाऽहेतुकाऽऽदि वा चिन्त्यम् ।
युक्त्या ह्यतीन्द्रियत्वात् , प्रयोजनाऽभावतश्चैव ॥ २ ॥
कूपे पतितोत्तारण-कर्तुस्तदुपायमार्गणं न्याय्यम् ।
ननु पतितः कथमयमिति, हन्त तथादर्शनादेव ॥ ३ ॥
भवकूपपतितसत्त्वो-त्तारणकर्तुरपि युज्यते ह्येवम् ।
तदुपायमार्गणमलं, वचनाच्छेषव्युदासेन ॥ ४ ॥
एवं चाऽद्वैते सति, वर्णविलोपाऽऽद्यसङ्गतं नीत्या ।
ब्रह्मणि वर्णाभावात् , क्षेत्रविदां द्वैतभावाच्च ॥ ५ ॥ "

इत्यादि । एतदपि प्रतिक्षिप्तम्, श्रद्धामात्रगम्यत्वात् , दृष्टेष्टाऽविरुद्धस्य वचनस्य वचनत्वात् , अन्यथा ततः प्रवृत्त्यसिद्धेः, वचनानां बहुत्वात् मिथो विरुद्धोपपत्तेः, विशेषस्य दुर्लक्ष्यत्वात् , एकप्रवृत्तेरपरबाधितत्वात् , तत्यागादिवरप्रवृत्तौ यदृच्छावचनस्याप्रयोजकत्वात् तदनन्तरनिराकरणादिति । न ह्यदुष्टं ब्राह्मणं प्रव्रजितं वाऽश्रमन्यमानो दुष्टं वा मन्यमानः तद्भक्त इत्युच्यते, न च दुष्टेतरावगमो विचारणमन्तरेण , विचारश्च युक्तिगर्भ इत्यालोचनीयमेतत् , कूपपतितोदाहरणमप्युदाहरणमात्रं , न्यायानुपपत्तेः , तदुद्भूताऽऽदेरपि तथादर्शनाऽभावात् , तत्र चोत्तारणे दोषसम्भवात् , तथा कर्तुमशक्यत्वात् , प्रयासनैष्फल्यात् , न चोपायमार्गणमपि न विचाररूपं, तदिहाऽपि विचारोऽनाश्रयणीय एव , दैवाऽऽयत्तं च तत् , अतीन्द्रियं च दैवमिति युक्तेरविषयः, शकुनाऽऽद्यागमयुक्तिविषयतायां तु समान एव प्रसङ्ग इतरत्राऽपि इति, तस्माद्यथाविषयं त्रिकोटिपरिशुद्धविचारशुद्धितः प्रवर्तितव्यम् । ल० ।

**बंभविज्जा**-ब्रह्मविद्या-स्त्री० । परमार्थप्रकारे, आ०म० १ अ० ।

**बंभसंति**-ब्रह्मशान्ति-पुं० । स्वनामख्याते महर्द्धिकयक्षे, जी० १ प्रति० । ती० ।

**बंभसाहण**-ब्रह्मसाधन-पुं० । ब्रह्म ज्ञानं साधनं यस्य स ब्रह्मसाधनः । अथवा-ब्रह्म आत्मा, स एव साधने यस्य सः । ब्रह्मज्ञानसाधनके, आत्मसाधनके च । अष्ट० २८ अष्ट० ।

**बंभसुत्तय**-ब्रह्मसूत्रक-न० । यज्ञोपवीते, आ० म० १ अ० ।

**बंभसेण**-ब्रह्मसेन-पुं० । ऋषभदेवस्य पुत्रशतकान्तर्गते द्विचत्वारिंशत्तमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । वाराणसीवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध०र० ।

"गङ्गाविभूषिता नन्दि-कान्तिना वृषभूषिता ।
शम्भोर्मूर्तिरिवात्रासित, पुरी वाराणसी वरा ॥ १ ॥
दारिद्र्यमुद्रितस्तत्र, ब्रह्मसेनोऽभवद्वणिक् ।
यशोमती च तत्पत्नी, सोऽन्यदाऽगाद् बहिः पुरात् ॥ २ ॥
अत्याना धर्ममाख्यान्तं, दृष्ट्वोद्यानगतं मुनिम् ।
प्रणम्य मुदितः श्रेष्ठी, निषसाद तदन्तिके ॥ ३ ॥
मुनिराख्यदहो भव्याः !, यावज्जीवोऽप्रमेजति ।
तावदाहारमादत्ते, तावत् कर्माणि चार्जयेत् ॥ ४ ॥
ततोऽप्यनन्तदुःखानि, सहते दुःसहान्यसौ ।
तस्मात्सुखैषिणाऽऽहार-गृद्धिस्त्याज्या मनीषिणा ॥ ५ ॥
श्रेष्ठयूचेऽर्थादशक्योऽय-मुपदेशः प्रभो ! ननु ।
मुनिः प्रोचे गृहस्थाना-मस्ति भो ! पौषधव्रतम् ॥ ६ ॥
तथाऽऽहाराङ्गसत्कारा-ऽब्रह्मव्यापारवर्जनम् ।
देशतः सर्वतो वाऽपि, कर्तव्यं द्विविधं त्रिधा ॥ ७ ॥
यावत्कालमिदं धन्यो, बिभर्ति श्रावको व्रतम् ।
तावत्कालं स विज्ञेयो, यत्याचारानुपालकः ॥ ८ ॥
श्रुत्वेत्यत्रान्तरे कश्चि-च्छ्राद्धः क्षेमङ्कराभिधः ।
समाचे पौषधाऽऽख्येन, व्रतेनानेन मे कृतम् ॥ ९ ॥
श्रेष्ठयूचेऽथ मुनिं नत्वा, किं विद्वेषोऽस्य पौषधे ? ।
प्रकृत्या भद्रकस्याऽपि, जातस्य श्रावके कुले ॥ १० ॥
मुनिः स्माऽऽह भवादस्मात्, तृतीयेऽयं भवेऽभवत् ।
नगर्यां किल कौशाम्ब्यां, क्षेमदेवाभिधो वणिक् ॥ ११ ॥
भ्रातरौ तत्र चाऽभूतां, महेभ्यौ श्रावकोत्तमौ ।
जिनदेवाभिधो ज्येष्ठो, धनदेवः कनिष्ठकः ॥ १२ ॥
कुटुम्बभारमारोप्य, जिनदेवोऽन्यदाऽनुजे ।
पौषधं पौषधागारे, प्रत्यहं विधिना व्यधात् ॥ १३ ॥
अन्यदा पौषधस्थस्य, तस्योत्पेदेऽवधिस्ततः ।
ज्ञात्वा ज्ञानोपयोगेन सोऽवादीदनुजं यथा ॥ १४ ॥
वत्सावशिष्टमायुस्ते, नूनं जाने दिनान् दश ।
विधेहि बान्धव स्वार्थे सावधानमना भृशम् ॥ १५ ॥
धनदेवस्ततः कृत्वा, चैत्ये पूजां गरीयसीम् ।
दत्त्वा दानं च दीनाना-मदीनो निर्निदानकम् ॥ १६ ॥
संघं च क्षमयित्वाऽसौ, विधायानशनं सुधीः ।
तृणसंस्तारके तस्थौ, स्वाध्यायध्यानतत्परः ॥ १७ ॥
क्षेमदेवोऽथ तत्रैव-मूचे भो भोः ! कथं भवेत् ?।
गृहस्थस्य ससंगत्वा-दवधिज्ञानमीदृशम् ?॥ १८ ॥
अथैतदपि चेत् सत्यं, भवेद्भद्रं ततो भृशम् ।
अहीप्थे पौषध ज्ञान-भानोः पूर्वाचलोपमम् ॥ १९ ॥
धनदेवोऽथ तत्राह्नि, स्मरन् पञ्चनमस्क्रियाम् ।
विपद्य द्वादशे कल्पे, इन्द्रसामानिकोऽजनि ॥ २० ॥
कलेवरस्य तस्याऽऽशु, यथा संनिहितामरैः ।
गन्धाम्बुपुष्पवृष्ट्याद्यैः श्रक्रे तुष्टैर्महामहः ॥ २१ ॥
क्षेमदेवोऽपि वीक्ष्यैत-द्दीपच्छद्मालतां दधत् ।
पौषधं प्रायशश्चक्रे, धर्मकामो यदा तदा ॥ २२ ॥
कृत्वाऽऽषाढचतुर्मासे, सोऽन्यदा पौषधव्रतम् ।
तपस्विन्या तपस्ताप-क्षुत्तृडार्तो व्यचिन्तयत् ॥ २३ ॥
अहो ! दुःखमहो ! दुःखं, क्षुत्तृड्धर्माऽऽदिसंभवम् ।
एवमार्तोऽतिवर्योऽसौ, पौषधे हि ततो मृतः ॥ २४ ॥
व्यन्तरेषु सुरो भूत्वा, सोऽभूत् क्षेमङ्करो क्षयम् ।
यत्पौषधान्मृतः प्राक् तत्, तस्तोऽद्यापि तदाख्यया ॥२५॥
ब्रह्मसेन इति श्रुत्वा, प्रणिपत्य पुनर्मुनिम् ।
पौषधव्रतमादाय, धन्यंमन्यो ययौ गृहम् ॥ २६ ॥
ततः प्रभृति स श्रेष्ठी, सुखेन प्राप्तजीविकः ।
कियत्कालमतीयाय, कुर्वाणं पौषधव्रतम् ॥ २७ ॥
अन्यदा तत्पुराधीशे, मृतेऽकस्मादपुत्रिणि ।
पुरेऽरिभिर्भज्यमाने, श्रेष्ठ्यसौ शस्तमानुषः ॥ २८ ॥
गत्वा मगधदेशेषु, ग्रामे प्रत्यन्तवर्तिनि ।
कस्मिन्नाजीविकाहेतो-रध्युवास विधेर्वशात् ॥ २९ ॥
एकदा स तु संप्राप्ते, चतुर्मासकपर्वणि ।
धर्मानुष्ठानकरणे, लालसो ध्यानवानिति ॥ ३० ॥
अहो ! मे हीनपुण्यत्व—महो ! मे विधिवक्रता ।
यदहं न्यपतं स्थाने, साधुसाधर्मिकोज्झिते ॥ ३१ ॥
अभविष्यदहं चैत्य-मत्र चेत्तत्तदा मुदा ।
विधिसारमवन्दिष्ये, द्रव्यतो भावतोऽपि च ॥ ३२ ॥
गुरवोऽप्यभविष्यंश्चे-दत्र सर्वत्र निःस्पृहाः ।
अदास्यं द्वादशाऽऽवर्त्तं, वन्दनं तत्तदंह्रिषु ॥ ३३ ॥
एवं विचिन्त्य स श्रेष्ठी, श्रेष्ठश्रीर्गृहकोणके ।
स्वाऽऽयत्तं पौषधं चक्रे, कर्मव्याधिसदौषधम् ॥ ३४ ॥
इतश्च तद्गृहे नित्यं, क्रयविक्रयणच्छलात् ।
चत्वारः पुरुषाः केचि-न्निचेरुर्दुष्टबुद्धयः ॥ ३५ ॥
ततश्च तैर्नरैर्ज्ञातः, श्रेष्ठिनः पौषधक्षणः ।
सत्रहा ब्रह्मसेनोऽपि, कालेऽस्वाप्सीद्यथाविधि ॥ ३६ ॥
निशीथप्रहरादूर्ध्वं, तस्मिन् सुप्तेऽथ ते नराः ।
प्रविश्य तत्र खात्रेणाऽऽ-रेभिरे मोषितुं गृहम् ॥ ३७ ॥
प्रबुद्धः श्रेष्ठ्यथो गेहं, मुष्यमाणं विदन्नपि ।
मनागपि शुभध्याना-न्नाचालीदचलाचलः ॥ ३८ ॥
संवेगातिशयात्सोऽनु-शिष्टिमित्यात्मनो ददौ ।
रे जीव ! धनधान्याऽऽदौ, मा मुहः सर्वथा यतः ॥ ३९ ॥
एतद् बाह्यमनित्यं च, तुच्छं चातुच्छदुःखदम् ।
एतस्माद्विपरीते तु, धर्मे चित्तं दृढं कुरु ॥ ४० ॥
श्रुत्वेत्यात्मानुशिष्टिं ते, तस्कराः श्रेष्ठिनो मुखात् ।
एवं विभावयामासु-र्भावनां भवनाशिनीम् ॥ ४१ ॥
धन्योऽयमेव येनासौ, स्वस्यापि स्वस्य निःस्पृहः ।
अधन्या वयमेवैके, ये परार्थे जिहीर्षवः ॥ ४२ ॥
ततश्च लघुकर्मत्वा-ज्जातिस्मृतिमवाप्य ते ।
सर्वेऽपि देवतादत्त-लिङ्गा आददिरे व्रतम् ॥ ४३ ॥
अथोदयमिते सूर्ये, श्रेष्ठ्यकस्माद् विलोक्य तान् ।
नत्वाऽप्राक्षीत्किमेतद्वः, पूर्वापरविरोधकृत् ? ॥ ४४ ॥
तत्र सुपुण्यकारुण्या-वनयो मुनयोऽभ्यधुः ।
अत्रास्ति वास्तवश्रीभि-र्व्याप्ता तुरुमिणी पुरी ॥४५॥
तस्यामश्यामलस्वान्ताः, केशारिद्विजसूनवः ।
आसन्नाऽऽसन्नकल्याणा-श्चत्वारो विप्रपुङ्गवाः ॥ ४६ ॥
पितर्युपरते स्तोक-शोकशङ्कुनिपीडिताः ।
ते निर्ययुर्भवोद्विग्ना-स्तीर्थदर्शनकाम्यया ॥ ४७ ॥
अद्राक्षुः पथि गच्छन्तो, मुनिमेकं क्षुदादिभिः ।
मूर्च्छां गतं ततो भक्त्या, तं सज्जीचक्रिरे क्षणात् ॥ ४८ ॥
सकर्णा धर्ममाकर्ण्य, तत्पार्श्वे जगृहुर्व्रतम् ।
विहरन्तः समं तेन, पेतुः पूर्वगताऽऽपि ॥ ४९ ॥

कृतजातिमदाः किञ्चित्, कृत्वाऽनशनमुत्तमम् ।
ते चत्वारोऽपि पञ्चत्वं प्राप्याशु, प्रथमं दिवम् ॥ ५० ॥
ततश्च्युत्वा च ते सर्वे-ऽप्यत्रैव भरतावनौ ।
अभवाम वयं जाति-मदतस्तास्करे कुले ॥ ५१ ॥
श्रुण्वन्नथाद्य ते सम्य-गनुशिष्टिश्रुतेस्तव ।
संजातजातिस्मरणाः, अगृह्णीम व्रतं वयम् ॥ ५२ ।
धर्मलाभोऽस्तु तनुभ्य-मभ्यर्थ्याशिवसंपदे ।
विधिप्रधानधर्मानु-ष्ठाननिश्चलचेतसे ॥ ५३ ॥
इत्युदित्वा महाऽऽनन्द-पुरव्रजनसत्वरा ।
सत्वरा अपि तेऽन्यत्र, विहर्तुं मुनयो ययुः ॥ ५४ ॥
सुचिरं ब्रह्मसेनोऽपि, प्रतिपालितसद्व्रत ।
आराधनाविधेर्मृत्वा, पदमव्ययमभ्ययात् ॥ ५५ ॥
एवं ज्ञात्वा शुद्धभावप्रभाव-
प्राप्तब्रह्म ब्रह्मसेनस्य वृत्तम् ।
दत्तस्वान्ता विध्यनुस्यूतधर्मा-
नुष्ठाने तत्सततं सन्तु सन्तः ॥ ५६ ॥ ”
इति ब्रह्मसेनकथा । ध०र० २ अधि० ६ लक्ष० ।

बंभसोय-ब्रह्मशौच-न० । शुचिविषया ब्रह्मचर्याऽऽदिकुशला-नुष्ठानरूपे शौचभेदे, ( इति लोकोत्तरिकाः ) आपोहिष्ठामये ब्रह्मशौचे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

बंभहर-देशी-कमले, दे०ना० ६ वर्ग ९१ गाथा ।

बंभाणगच्छ-ब्रह्माणगच्छ-पुं० । गच्छभेदे, " बंभाणगच्छ-मंडणसिरिजसोभद्दसूरिणो खंभाइत्तनयरोवरि विहरंता । " ती० ११ कल्प ।

बंभाणगपुर-ब्रह्माणकपुर-न० । मरुमण्डले स्वनामख्याते पुरे यत्र सत्यपुरस्थवीरस्वामिपित्तलमयप्रतिमाप्रतिष्ठापको ना-हडो जज्ञे । ती० १६ कल्प ।

बंभादि-ब्राह्म्यादि-पु० । आदिदेवज्येष्ठपुत्रीप्रभृतौ, पञ्चा०१६ विव० ।

बंभादिगुणरयण-ब्रह्माऽऽदिगुणरत्न-न० । ब्रह्मचर्यतपःसंय-मप्रभृतिषु दौर्गत्यदुःखापहारितया रत्नकल्पेषु साधुगुणेषु, षो० १ उ० ३ प्रक० ।

बंभावत्त-ब्रह्माऽऽवर्त्त-पुं० । स्वनामख्याते विमाने, स० ११ सम० ।

बंभिंददेवया-ब्रह्मेन्द्रदेवता-स्त्री० । ब्रह्मलोकेन्द्रे, अङ्कदि-कायां श्रीअजितस्वामिशान्तिदेवताऽवसरः । ती० ४२ कल्प ।

बंभी-ब्राह्मी-स्त्री० । ऋषभदेवस्य सुमङ्गलायां देव्या, भरतेन सह जातायां पुत्र्याम् , ति० । सा च बाहुबलिने भगवता दत्ता प्रव्राजिता प्रवर्तिनी भूत्वा चतुरशीतिपूर्वं शतसहस्राणि सर्वाऽऽयुः पालयित्वा सिद्धा । कल्प० १ अधि० ७ क्षण । प्रव० । पञ्चा० । आ०म० । प्रज्ञा० । आ०चू० । लिपिभेदे, स० ।

बंभीए णं लिवीए अट्ठारसविहे लेक्खविहाणे पण्णत्ते । तं जहा—बंभी, जवणालिया, दोसऊरिया, वरोट्ठिया, खर-साविया, पहाराइया, उच्चत्तरिया, अक्खरपुट्ठिया, भो-गवयत्ता, वेयणतिया, णिण्हइया, अंकलिवि, गणिअलिवि, गंधव्वलिवि, आदंसलिवि, माहेसरलिवि, दामिलिवि, बोलिंदिलिवि ।

( बंभि त्ति ) ब्राह्मी आदिदेवस्य भगवतो दुहिता, ब्राह्मी वा संस्कृताऽऽदिभेदा वाणी तामाश्रितेनैव या दर्शिताऽक्षर-लेखनप्रक्रिया सा ब्राह्मी लिपिस्तस्या ब्राह्म्या लिपेर्णमि-त्यलङ्कारे, लेखो लेखनं तस्य विधानं भेदो लेखविधानं प्रज्ञप्तम् तद्यथा एतत्स्वरूपं न दृष्टमिति न दर्शितम् । तथा यल्लोके यथाऽस्ति यथा वा नास्ति, अथवा—स्याद्वादाभिप्रायस्तदे-वास्ति, नास्ति चेत्येवं प्रवदतीत्यस्तिनास्तिप्रवादं, तच्च-तुर्थं पूर्वं तस्य । स० १८ सम० । " णमो बंभीए लिवीए । " लिपिः पुस्तकाऽऽद्यावक्षरविन्यासः, सा चाष्टादशप्रकाराऽपि श्रीमन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिकाया दर्शिता, ततो ब्राह्मीत्यभिधीयते । आह च-" लेहं लिवी विहाणं, जि-णेण बंभीएँ दाहिणकरेण । " इत्यतो ब्राह्मीति स्वरूपविशेष-णं लिपेरिति । भ० १ श० १ उ० ।

" क्षेत्रे महाविदेहेऽभू-न्नगरी पुण्डरीकिणी ।
वैरनामाभिधस्तत्र, चक्रवर्ती किलाभवत् ॥ १ ॥
वैरसेनाऽभिधानस्य, जिननाथस्य सोऽन्तिके ।
चतुर्भिर्भ्रातृभिर्युक्तः, प्रवव्राज विरागतः ॥ २ ॥
प्राप्तपारः श्रुताम्भोधे-र्नियुक्तो गच्छपालने ।
विजहार महीं सार्धं, साधुभिः पञ्चभिः शतैः ॥ ३ ॥
तद्भ्राता बाहुनामा यो, लब्धिमानुद्यमान्वितः ।
वैयावृत्त्यं चकारासौ, साधूनामशनाऽऽदिभिः ॥ ४ ॥
सुबाहुनामको यस्तु, स साधूनामखिन्नधीः ।
स्वाध्यायाऽऽदिप्रखिन्नानां, सदा विश्रामणां व्यधात् ॥ ५ ॥
अन्यौ पीठमहापीठ-नामानौ तस्य सोदरौ ।
स्वाध्यायाऽऽदिमहारामे, रेमाते रम्यकेऽनिशम् ॥ ६ ॥
कदाचित्सूरिराद्यौ तौ, श्लाघयामास भावतः ।
अहो धन्याविमौ साधू , साधुनिर्वाहणोद्यतौ ॥ ७ ॥
एवं श्रुत्वेतरावेवं , भावयामासतुर्मुनी ।
लौकिकव्यवहारस्थाः, अहो जल्पन्ति सूरयः ॥ ८ ॥
करोति यो हि कार्याणि, स एव श्लाघ्यते जने ।
सुमहानप्यकुर्वाण-स्तृणायाऽपि न मन्यते ॥ ९ ॥
इत्येवं चिन्तया ताभ्यां, स्त्रीकर्म समुपार्जितम् ।
मृत्वा गता विमाने ते, सर्वार्थसिद्धिनामके ॥ १० ॥
च्युत्वा ततोऽपि सञ्जातः, एकः श्रीनाभिनन्दनः ।
अन्ये तु सूनवस्तस्य, तत्रैको भरतोऽभवत् ॥ ११ ॥
अन्यो बाहुबली ब्राह्मी , सुन्दरी चेति जज्ञिरे ।
सर्वे ते कर्मनिर्मुक्ताः, सम्प्राप्ता निर्वृतिश्रियम् ॥ १२ ।
पञ्चा० १६ विव० ।

बक्कर-देशी-परिहासे, दे०ना० ६ वर्ग ८९ गाथा ।

बज्झ-बध्य-त्रि० । " साध्वस-ध्य-ह्यां झः " ॥ ८ । २ । २६ ॥ साध्वसे संयुक्तस्य ध्यह्ययोश्च झः । प्रा० २ पाद मारणार्थं स्थापिते, अष्ट० १३ अष्ट० । व्यापादनीये, विपा० ७ अ० । आव० । प्रश्न० । भ० । आ०म० । हननयोग्ये आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ, अव-ओडगबंधणं उक्खित्तकण्णणासं णेहतुप्पियगत्तं बज्झकरक-डिजुयणियंसियं कंठे गुणरत्तमल्लदामं चुण्णगुंडियगायं चुण्णयं वज्झपाणपीयं तिलं तिलं चेव छिज्जमाणं का-गणिमंसाइं खावियंतं पावं कक्करसएहिं हम्ममाणं ।

( अवओडगबंधणं ति ) अवकोटकेन कृकाटिकाया अधोनयनेन बन्धनं यस्य स तथा तम् । ( उक्खित्तकन्ननासं ति ) उत्पाटितकर्णनासिकम् ( नेहतुप्पियगत्तं ति ) स्नेहस्निग्धशरीरं ( वज्झकरकडिजुयनियंसियं ति ) वध्यश्चासौ करयोर्हस्तयोः ( कडि त्ति ) कटीदेशयुगं युग्मं निवसित इव निवसितश्चेति समासोऽतस्तम् । अथवा—वध्यस्य वत् करकटिकायुगं निन्द्यचीवरिकाद्वयं तन्निवसितो यः स तथा ( कंठे गुणरत्तमल्लदामं ) कण्ठे गले गुण इव कण्ठसूत्रमिव रक्तं लोहितं माल्यदाम पुष्पमाला यस्य स तथा तम् । (चुन्नगुंडियगायं ति)गैरिकक्षोदावगुण्ठितशरीरं (चुन्नयं ति) सन्त्रस्तं ( वज्झपाणपीयं ति ) वद्ध्या बाह्या वा प्राणा उच्छ्वासाऽऽदयः प्रीता· प्रिया यस्य स तथा तं ( तिलं तिलं चेव छिज्जमाणं ति ) तिलशश्छिद्यमानमित्यर्थः । ( कागणिमंसाइं खावियं तं ति) काकिणीमांसानि तद्देहोत्कृत्तह्रस्वम. सखण्डानि खाद्यमानम् । ( पावं त्ति ) पापिष्ठं, खर्खरा· कशाः अश्वत्रासमाय चर्ममया वस्तुविशेषाः, स्फुटितवंशा वा तैर्हन्यमानं ताड्यमानम । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

बाह्य–त्रि० । बहिर्भवो बाह्य· । आतु० । दश० । बहिर्वर्तिनि, पञ्चा० १० विव० ।

बन्ध–पुं० । बन्धनकारणे, रज्जुवागुराऽऽदिबन्धे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । " अहतं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

वज्झंत–वध्यमान–त्रि० । हन्यमाने, आ० । कर्म० ।

बन्ध्यमान–त्रि० । कर्मणि यक् । " वन्धो ज्झः । ८ । ४ । २४७ ॥ " इति बन्धेर्धातोरन्त्यस्य ज्झः । " तत्संनियोगे च क्यस्य लुक् । मण्ह्यमाने, प्रा० ४ पाद ।

वज्झओ–बाह्यतस्–अव्य० । द्वितीयाचतुर्थीपञ्चमीसप्तमीवृत्तौ बाह्यशब्दार्थे, " किं ते जुद्धेण वज्झओ । " आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

वज्झकिरिया–बाह्यक्रिया–स्त्री० । बाह्याऽऽचारप्रतिपत्तौ, अष्ट० ६ अष्ट० ।

वज्झगंथचाग–बाह्यग्रन्थत्याग–पुं० । धनधान्यस्वजनवस्त्राऽऽदित्यागे, षो० १ विव० ।

वज्झतव–बाह्यतपस्–न० । परतीर्थिकैरपि सुज्ञेये तपोभेदे, दश० । " अणसणमूणोयरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ । कायकिलेसो संली-णया य बज्झो तवो होइ " ॥ ४७ ॥ दश० १ अ० । ( अनशनाऽऽदिशब्देषु व्याख्या एषाम् )

वज्झदिट्ठि–बाह्यदृष्टि–त्रि० । संसाररक्ते , अष्ट० ।

बाह्यदृष्टेः सुधासार-घटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षात् , विण्मूत्रपिठरोदरी ॥ ४ ॥
अष्ट० १९ अष्ट० ।

वज्झदूय–वध्यदूत–पुं० । वध्यचिह्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वज्झपट्ट–बद्धपट्ट–पु० । चर्मविशेषपट्टिकायाम् , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वज्झपाणपिय–वध्यप्राणप्रिय–त्रि० । वध्याश्च हन्तव्याः प्राणप्रीताश्च उच्छ्वासाऽऽदिप्राणप्रियाः प्राणप्रीता वा भक्षितप्राणा ये ते तथा । वध्यतां गतत्वेन प्राणाऽऽदावासक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । विपा० ।

वज्झपुरिस–वध्यपुरुष–पुं० । वध्येषु नियुक्ते पुरुषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वज्झप्पण–बाह्याऽऽत्मन्–पुं० । देहमनोवचनाऽऽदिषु आत्मत्वभासनकरे,सर्वपौद्गलिकप्रवर्तनेषु आत्मनिष्ठेषु आत्मत्वबुद्धौ, अष्ट० १५ अष्ट० ।

वज्झप्पियसंबंधणसंजोग–बाह्यार्पितसंबन्धनसंयोग–पुं० । " लेसाकसायवेयण वेदो अन्नाणमिच्छमीसं च । जावइया ओदइया,सव्वो सो बाहिरो जोगो ॥ १ ॥ " इति लेश्याऽऽद्यौदयिकभावैरात्मनः संबन्धे, उत्त० २ अ० । ( ' संजोग ' शब्दो वीक्ष्यः )

वज्झमाण–बध्यमान–त्रि० । पीड्यमाने, उत्त० २३ अ० । " साऽऽमिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं निरामिसं । " उत्त० १४ अ० । आचा० ।

वज्झवग्ग–बाह्यवर्ग–पुं० । पुत्रकलत्राऽऽदिके,अष्ट० ८ अष्ट० ।

वड्ढणी–वर्द्धनी–स्त्री० । वर्द्धयति प्रमार्जयति इति वर्द्धनी । बहुकारिकायाम् , विपा० १ श्रु० १ अ० ।

वढल–वठर -त्रि० । " शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥ ८ । ४ । ४२२ ॥ इति वठरस्थाने वढलाऽऽदेशः । मूर्खे, प्रा० ४ पाद ।

वणिय–वणिज–पुं० । व्यापारोपजीविनि वैश्ये, आ०क० १ अ० । सूत्र० । उत्त० । ज्ञा० । बवाऽऽदीनां करणानामन्यतमे, आ०चू० १ अ० । स्था० । उत्त० । विशे० । बृ० । सूत्र० । जं० । आ०म० । ये आपणस्थिता व्यवहरन्ति ते वणिजः,ये पुनरापणेन विनाऽप्यवस्थिता वाणिज्यं कुर्वन्ति (तेऽपि) वणिजः । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

वणियग्गाम–वणिजग्राम–पुं० । शिवनन्दापतेरानन्दस्याऽऽवासीभूते नगरे, आ०म० १ अ० ।

वणियधम्म–वणिजधर्म–पु० । वाणिग्न्याये, व्य० २ उ० ।

" लौल्येन किञ्चित् कलया च किञ्चित् ,
पापेन किञ्चित्तुलया च किञ्चित् ।
किञ्चिच्च किञ्चिच्च समाहरन्तः,
प्रत्यक्षचौरा वणिजो भवन्ति ॥ १ ॥
अधीते यत्किञ्चित्तदपि मुषितुं ग्राहकजनं,
मृदु ब्रूते यद्वा तदपि विवशीकर्तुमपरम् ।
प्रदत्ते यत् किञ्चित्तदपि समुपादातुमधिकं,
प्रपञ्चोऽयं वृत्तेरहह ! गहनः कोऽपि वणिजाम् ॥ २ ॥ "
ध० २ अधि० ।

बत्तीस–द्वात्रिंशत्–स्त्री० । द्व्यधिकायां त्रिंशति, "बत्तीसं किर-कवला पुरिसस्स आहारो । " नि०चू० १ उ० ।

बत्तीसइबद्धणाडय–द्वात्रिंशद्बद्धनाटक–न० । द्वात्रिंशद्भक्तिनिबद्धे द्वात्रिंशत्पात्रनिबद्धे च नाटके, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

बत्तीसट्ठाण–द्वात्रिंशत्स्थान–न० । गणिसंपत्ति, व्य० ।

बत्तीसाए ठाणेसु, जो होइ अपरिनिट्ठितो ।
नऽलमत्थो तारिसो होइ, ववहारं ववहरित्तए ॥२४०॥
बत्तीसाए ठाणेसु, जो होइ परिणिट्ठितो ।
अलमत्थो तारिसो होइ, ववहारं ववहरित्तए ॥ २४१ ॥
बत्तीसाए ठाणेसु, जो होइ अपतिट्ठितो ।
णऽलमत्थो तारिसो होइ, ववहारं ववहरित्तए ॥२४२॥
बत्तीसाए ठाणेसु, जो होइ सुपतिट्ठितो ।
अलमत्थो तारिसो होइ, ववहारं ववहरित्तए ॥ २४३ ॥

श्लोकचतुष्टयमपि पूर्ववत् ।

सम्प्रति तान्येव द्वात्रिंशतस्थानान्याह—

अट्ठविहा गणिसंपइ, एक्केक्का चउविहा मुणेयव्वा ।
एसा खलु बत्तीसा, ते पुण ठाणा इमे हुंति ॥ २४४॥

गणिन आचार्यस्य संपदष्टविधा अष्टप्रकारा, एकैका च भवति चतुर्विधा ज्ञातव्या । एवं खलु द्वात्रिंशत्स्थानानि भवन्ति । व्य० १० उ० ।

बत्तीसदोस-द्वात्रिंशद्दोष-पुं० । द्वात्रिंशत्संख्यामिते सूत्रदोषे, विशे० । ( 'सुत्ताणुओग ' शब्दे वक्ष्यामि )

बत्तीसपुरिसोवयार-द्वात्रिंशत्पुरुषोपचार-पुं० । कामशास्त्रप्रसिद्धेषु द्वात्रिंशत्संख्याकेषु पुरुषेषु, अनु० । विपा० ।

बत्तीसबत्तीसिया-द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-स्त्री० । द्वात्रिंशता द्वात्रिंशद्गाथापरिमितैर्ग्रन्थैर्निबद्धे यशोविजयोपाध्यायरचिते ग्रन्थविशेषे, द्वा० ।

" प्रतापार्के येषां स्फुरति विहिताऽकब्बरमनः-
सरोजप्रोल्लासे भवति कुमतध्वान्तविलयः ।
विरेजुः सूरीन्द्रास्त इह जयिनो हीरविजया ,
दयावल्लीवृद्धौ जलदजलधारायितगिरः ॥ १ ॥
प्रमोदं येषां सद्गुणगणभृतां बिभ्रति यशः—
सुधां पायं पायं किमिह निरपायं न विबुधाः ।
अमीषां षट्तर्कोदधिमथनमन्थानमतयः,
सुशिष्योपाध्याया बभुरिह हि कल्याणविजयाः ॥ २ ॥
चमत्कारं दत्ते त्रिभुवनजनानामपि हृदि,
स्थितिर्हैमी यस्मिन्नधिकपदसिद्धिप्रणयिनी ।
सुशिष्यास्ते तेषां बभुरधिकविद्याऽर्जितयशः-
प्रशस्तश्रीभाजः प्रवरविबुधा लाभविजयाः ॥ ३ ॥
यदीया दृग्लीलाऽभ्युदयजननी मादृशि जने,
जडस्थानेऽप्यर्कद्युतिरिव जवात् पङ्कजवने ।
स्तुमस्तच्छिष्याणां बलमविकलं जीतविजयाऽ—
भिधानां विज्ञानां कनकनिकषस्निग्धवपुषाम् ॥ ४ ॥
प्रकाशार्थं पृथ्व्यास्तरणिरुदयाद्रेरिह यथा,
यथा वा पाथोभृत्सकलजगदर्थं जलनिधेः ।
तथा वाराणस्यां सविधमभजन् ये मम कृते,
सतीर्थ्यास्ते तेषां नयविजयविज्ञा विजयिनः ॥ ५ ॥
यशोविजयनाम्ना तच्चरणाम्भोजसेविना ।
द्वात्रिंशिकानां विवृतिः क्रियते तत्त्वार्थदीपिका ॥ ६ ॥
महार्थं व्यर्थत्वं क्वचन सुकुमारे च रचने,
बुधत्वं सर्वत्राप्यहह ! महता कुग्रसवितान् ।
मितान्वं मूर्खाणां सदसि करवालैः फलयता,
खलाना साद्गुण्ये कश्चिदपि न दृग्निर्विशते ॥ ७ ॥
अपि न्यूनं दत्त्वाऽभ्यधिकमपि संसील्य सुनयै-
र्वितत्य व्याख्येयं वितथमपि सङ्कोच्य विधिना ।
अपूर्वग्रन्थार्थप्रथनपुरुषार्थोल्लसितां,
सतां दृष्टिः सृष्टिः कविकृतिविभूषोदयविधौ ॥ ८ ॥
अधीत्य सुगुरोरेनां, सुदृढं भावयन्ति ये ।
ते लभन्ते श्रुतार्थज्ञाः, परमानन्दसम्पदम् ॥ ९ ॥
प्रत्यक्षरं ससूत्राया , अस्या मानमनुष्टुभाम् ।
शतानि च सहस्राणि, पञ्चपञ्चाशदेव च ॥ १० ॥"
द्वा० ३२ द्वा० ।

बत्तीसिया-द्वात्रिंशिका-स्त्री० । माणिकाया द्वात्रिंशत्तमभागवर्तित्वादष्टपलप्रमाणा द्वात्रिंशिका । रसमानविशेषे, अनु० ।

बद्ध-बद्ध-त्रि० । वशीकृते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । बन्धनतो ( भ० १३ श० ७ उ० । ) गाढश्लेषे, स्था० १० ठा० । गाढतरमाश्लिष्टे, विशे० । स्था० । यथा तनौ तोयम् । स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । जीवेन सह संयोगमात्रमापन्ने , विशे० । तोयवदात्मप्रदेशैरात्मीकृते, आलिङ्गितानन्तरमात्मप्रदेशैरागृहीते. न० । औ० । उदीरणावलिका प्राप्ते कर्मणि, आ०म० १ अ० । गद्यपद्यरूपतया रचिते, विशे० । आ०म० ।

वर्ध्र-न० । पुं० । चर्मशकले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । बध्रोऽस्त्रुटिततलिकाऽऽदिबन्धनार्थं गृह्यन्ते । ध० ३ अधि० । पं० व० । संदानिते , " बद्ध संदाणिअं निअलिअं च । " पाइ० ना० १६७ गाथा । बद्धे , " बद्ध सगिल्लं । " पाइ०ना० २२१ गाथा । बध्यं, " वज्झो बद्धो । " पाइ०ना० २३६ गाथा ।

बद्धअ-देशी त्रपुपट्टाऽऽख्यकर्णाऽऽभरणविशेषे , दे०ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

बद्धगुय-बद्धगुद-न० । पुरीषोत्सिसृक्षायां सत्यामपि पुरीषावतरणरोधके उदररोगभेदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

बद्धट्ठिय-बद्धास्थिक-न० । सञ्जातास्थिके फले , नि०चू० १५ उ० ।

बद्धपासपुट्ठ-बद्धपार्श्वस्पृष्ट-त्रि० । पार्श्वेन स्पृष्टा देहत्वच्छुप्ता रेणुवत् पार्श्वस्पृष्टाः. ततो बद्धा गाढतरं संश्लिष्टास्तनौ तोयवत् , पार्श्वतः स्पृष्टाश्च ते बद्धाश्चेति राजदन्ताऽऽदित्वात् बद्धपार्श्वस्पृष्टाः । बद्धेषु पार्श्वस्पृष्टेषु च पुद्गलेषु , स्था० २ ठा० १ उ० ।

बद्धफल-बद्धफल-त्रि० । क्षीरकस्य फलतया बन्धनाद् जातफले, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

बद्धमूल-बद्धमूल-त्रि० । यस्य हि मूलं भूम्यादौ बद्धम् । तस्मिन् , " जेणं से तिलथंभए आसत्थे वीसत्थए पच्छा याए बद्धमूले तत्थेव पइट्ठिए । " भ० १५ श० ।

बद्धमुक्क-बद्धमुक्त-त्रि० । द्वन्द्वः । इह जन्मनि जीवनसम्बद्धे , अन्यजन्मनि जीवनोज्झिते, उत्त० १ अ० ।

बद्धरुद्ध-बद्धरुद्ध-त्रि० । रज्ज्वादिसंयमिते, चारकाऽऽदिनिरुद्धे च । प्रश्न० ३ आश्र०द्वार ।

बद्धलक्ख-बद्धलक्ष्य-पुं० । अनुष्ठेयं प्रति अविचलितलक्ष्ये, पं०सू० ४ सूत्र ।

बद्धवम्मिय-बद्धवर्मिक-पुं० । बद्धं वर्म तनुत्राणविशेषो येषां ते बद्धवर्माणस्त एव बद्धवर्मिकाः । तेषु, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

बद्धसुग-बद्धश्रुत-न० । पद्याऽऽत्मके श्रुते , विशे० । " बद्धं तु दुबालसंगं गणिपिडिट्ठ । " बद्धं तु द्वादशाङ्गमाचाराऽऽदि गणिपिटकं गणिनिर्दिष्टं लोकोत्तरं , लौकिकं तु भारताऽऽदि । आ०म० १ अ० ।

बद्धियग-बर्द्धितक-पुं० । नपुंसकभेदे, यस्य बालस्यैव छेदयित्वा द्वौ आनरावपनीतौ । सू० ४ उ० ।

बद्धीसग-बद्धीसक-न० । वाद्यविशेषे , प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

बद्धेल्लग-बद्ध-त्रि० । स्वार्थे इल्लकप्रत्ययः । नद्धे, अनु० ।

बधग-बधक-त्रि० । स्वयं हन्तरि , जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

बप्प-देशी-सुभटे, पितरि चान्ये । दे० ना० ६ वर्ग ८८ गाथा ।

बप्पभट्टिसूरि-बप्पभट्टिसूरि-पुं० । सिद्धसेनसूरिशिष्ये आमराजप्रतिबोधके आचार्ये , विक्रमसम्वत्--८०० मितेऽयं जातः , ८९५ वर्षे स्वर्गतः । जै०इ० ।

बप्पीह-देशी-चातके, दे० ना० ६ वर्ग ९० गाथा । " सारंगो चायओ य बप्पीहो । " पाइ० ना० १२६ गाथा ।

बप्फ-बाष्प-न० । अश्रुणि, " बप्फं बाहो य नयणजलं । " पाइ० ना० ११२ गाथा ।

बप्फाउल-देशी-अत्युष्णे, दे० ना० ६ वर्ग ९२ गाथा ।

बब्बर-बर्बर-पुं० । अनार्यदेशभेदे पश्चे, अनार्यजातिभेदे च । प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । प्रव० । आ० चू० । आचा० । कल्प० । स्था० । जी० ।

बब्बरिया-बर्बरिका-स्त्री० । बर्बरदेशोत्पन्नायां दास्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । भ० । नि० । स० । आवश्यकवृत्तिग्रन्थप्रकरणविशेषे, आव० १ अ० । वरं वृणुनेत्येवमाख्याने बर्बरिका । द्वा० २६ अष्ट० ५ श्लोक ।

बब्बरी-देशी-केशरचनायाम् , दे० ना० ६ वर्ग ९० गाथा ।

बब्बूल- बब्बूल-पुं० । वृक्षभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

बब्भ-देशी-बधे, दे० ना० ६ वर्ग ८८ गाथा ।

बब्भंत -उद्धमान -त्रि० । " ध्मो दुह-लिह वह-रुधामुद्धातः । " ॥ ८ । ४ । २४५ ॥ इत्यन्तस्य कर्मणि बकाराऽऽक्रान्तो भकारः । प्राध्मायमाणे, प्रा० ४ पाद ।

बब्भागम-बह्वागम-पुं० । बहुश्रुते, वृ० ४ उ० ।

बब्भामा-बब्भामा स्त्री० । नदीभेदे , यस्यां हि नद्यां पूरादतिरिच्यमानाया तत्पूरपानीयभावितायां क्षेत्रभूमौ धान्यानि प्रकीर्यन्ते । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

बब्भिअग्गाअण -बाभ्रव्यायण-पुं० । बभ्रुऋषेर्गोत्रापत्ये, जं० ४ वक्ष० । मूलनक्षत्र बाभ्रव्यायणगोत्रम् । नं० ।

बब्भु-बभ्रु-पुं० । नकुल, पञ्चा० १४ विव० । स्वनामख्याते ऋषिभेदे च । पञ्चा० २ विव० ।

बमाल-देशी-कलकले, दे० ना० ६ वर्ग ९० गाथा ।

बम्ह-ब्रह्मन्-न० । " पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः । " ॥ ८।२।७४॥ इति हकाराऽऽक्रान्तमकारस्य मकाराऽऽक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । महति, वृद्धति, षो० १५ विव० । कुशलानुष्ठाने, स्था० १ ठा० । प्रजापतौ, पुं० । श्रवणनक्षत्रस्याधिपतिर्देवता ब्रह्मा । स्था० २ ठा० ३ उ० । श्रीशीतलस्य जिनस्य यक्षे, स च चतुर्मुखस्त्रिनेत्र सितवर्णः पद्माऽऽसनोऽष्टभुजो मातुलिङ्गमुद्गरपाशकाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो नकुलगदाऽङ्कुशाक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचतुष्टयश्च । प्रव० २६ द्वार । " पुंस्यन आणो राजवच्च " ॥ ८ । ३ । ५६ । इति अनस्थाने आणाऽऽदेशः । 'बम्हाणो । बम्हा' । प्रा० ३ पाद ।

बल-बल-न० । शक्त्युपचये, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । शारीरे ( ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ) सामर्थ्ये, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । आचा० । आ० चू० । स्था० । चं०प्र० । विशे० । सू० । आ० म० । उपा० । जी० । " बलं ति वा, सामत्थं ति वा, परक्कमो त्ति वा, थामो त्ति वा एगट्ठा । " नि० चू० १ उ० । जी० । औ० । देहप्राणे, भ० ७ श० ७ उ० । औ० । ज्ञा० । उपा० । बलं द्विविधं-शारीरं,मानसं च । विशे० । संहननविशेषसमुत्थे प्राणे, नि० १ श्रु० ४ वर्ग १ अ० । ज्ञा० । स्था० । दश० । ध० । पं० चू० । अनु० । सू० प्र० ।

चक्रवर्तिप्रभृतीनां बलातिशयप्रतिपादनार्थमाह—

सोलस रायसहस्सा, सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं ।
अंछंति वासुदेवं, अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ ७१ ॥
घेत्तूण संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं ।
भुंजिज्ज विलिंपिज्ज व, महुमहणं ते न चाएंति ॥ ७२ ॥

इह वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमविशेषाद्बलातिशयो वासुदेवस्य प्रदर्श्यते-षोडशराजसहस्राणि सर्वबलेन हस्त्यश्वरथपदातिसंकुलेन सह शृङ्खलानिबद्धं 'अंछंति' देशीवचनमेतत् । आकर्षन्ति वासुदेवं अवटतटे कूपतट स्थितं सन्तं, ततश्च गृहीत्वा शृङ्खलामसौ वामहस्तेन ( अंछमाणाणं ति ) आकर्षतां भुञ्जीत, विलिम्पेद्वा अवज्ञया हृष्टः सन् पुनस्ते मधुमथन न शक्नुवन्त्याक्रष्टुमिति वाक्यशेषः ।

चक्रवर्तिबलप्रतिपादनार्थमाह—

दो सोला बत्तीसा, सव्वबलेण तु संकलनिबद्धं ।
अंछंति चक्कवट्टिं, अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ ७३ ॥
घेत्तूण संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाणाणं ।
भुंजेज्ज विलिंपेज्ज व, चक्कहरं ते न चाएंति ॥ ७४ ॥

द्वौ षोडशकौ द्वात्रिंशत् नतु द्वात्रिंशदित्येव वाच्ये द्वौ षोडशकाविलाभिधानं चक्रवर्तिना वासुदेवात् द्विगुणऋद्धिख्यापनार्थम्, राजसहस्राणीति गम्यते । सर्वबलेन सह शृङ्खलानिबद्धमाकर्षन्ति चक्रवर्तिनम् अवटतटे स्थितं सन्तं गृहीत्वा शृङ्खलामसौ वामहस्तेनाऽऽकर्षतां भुञ्जीत विलिम्पेद्वा , न पुनस्ते चक्रधरं चक्रवर्तिनं शक्नुवन्त्याक्रष्टुमिति वाक्यशेषः ।

संप्रति तीर्थकरबलप्रतिपादनार्थमिदमाह—

जं केसवस्स उ बलं, दुगुणं तं होइ चक्कवट्टिस्स ।

तत्तो बला बलवगा, अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥७५॥

यत् केशवस्य तु बलं तद् द्विगुणं भवति चक्रवर्तिनः, ततः शेषलोकबलाद् बला बलदेवा बलवन्तः, केशवबलापेक्षया त्वर्द्धबला इति प्रतिद्वारमवगन्तव्यम्। तथा-निरवशेषवीर्यान्तरायक्षयादपरिमितं बलं येषां ते अपरिमितबलाः। के ते?, इत्याह -जिनवरेन्द्रास्तीर्थकृत.। तथा-ततश्चक्रवर्तिनो बलाद्बलवन्तो जिनवरेन्द्राः। कियता बलेनेत्याह-अपरिमितेन बलेन बलवन्त इति भावः। आ० म० १ अ०। विशे०। ध०। सू० प्र०। ( द्विविधं बलम्-सम्भवं, सम्भाव्यं चेति "वीरिय" शब्दे वक्ष्यते ) भारवहनाऽऽदिसामर्थ्ये, स्था० ४ ठा० २ उ०। बलवति, प्रश्न० ५ आश्र०द्वार। सारे, व्य० ४ उ०। आचा०। रा०। चतुरङ्गे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। सैन्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। आ० म०। हस्त्यादिवाहने, स्था० ४ ठा० २ उ०। "बलं चउव्विहं-पाइक्कबलं, आसबलं, हत्थिबलं, रहबलं।" नि० चू० ६ उ०। महाविदेहे वर्षे सलिलावतीचक्रवर्तिविजये वीतशोकायां नगर्यां राजनि महाबलस्य पितरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स्वनामख्याते हस्तिनापुरनगरवास्तव्ये गृहपतौ, स च स्थविराणामन्तिके प्रव्रज्य संलेखनया मृत्वा द्विसागरोपमाऽऽयुष्कतया सौधर्मे कल्पे बलविमाने देवत्वेनोपपन्नः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यतीति। नि० १ श्रु० ३ वर्ग ६ अ०। स्वनामख्याते हस्तिनापुरराजे, भ० ११ श० ११ उ०। ऋषभदेवस्य सप्ताशीतितमे ( कल्प० १ अधि० ७ क्षण ) स्वनामख्याते क्षत्रियपरिव्राजे, औ०।

दसविहे बले पण्णत्ते। तं जहा--सोइंदियबले ० जाव फासिंदियबले, णाणबले, दंसणबले, चरित्तबले, तवबले, वीरियबले। स्था० १० ठा०।

ग्रह-धा०। उपादाने, "ग्रहो बल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआः" ॥ ८।४।२०९॥ इति ग्रहे बलाऽऽदेशः। 'बलइ'। प्रा० ४ पाद।

आरुह-धा०। उच्चैर्गमने, आरोहे (पे) र्बलः ॥ ८।४। ४७॥ इति आरुहेर्ण्यन्तस्य बलाऽऽदेशः। 'बलइ। आरोवइ।' प्रा० ४ पाद। "धातवोऽर्थान्तरेऽपि" ॥ ८।४।२५९॥ इति बलः प्राणने पठितः। खादनेऽपि वर्त्तते। 'बलइ' खादति, प्राणनं करोति वा। प्रा० ४ पाद। "थाम सार च बलं।" पाइ०ना० १६४ गाथा। कृष्णभ्रातरि, "रामो सीरी मुसली--उद्दो बलो कामपालो य।" पाइ० ना० २३ गाथा।

बलआ-बलाका-स्त्री०। "वाऽव्ययोत्खाताऽऽदावदातः" ॥ ८।१।६७॥ इत्यादेराकारस्य ह्रस्वः। पक्षिविशेषे, प्रा० १ पाद।

बलआमुह-वडवामुख-पुं०। "डो लः" ॥ ८।१।२०२॥ इति असंयुक्तस्य डस्य लः। प्रा० १ पाद। समुद्रस्थे कालानले, प्रा० १ पाद।

बलआणल-वडवानल-पुं०। "क-ग च ज त-द-प य वां प्रायो लुक्" ॥ ८।१।१७७॥ इति वलुक्। प्रा० १ पाद। "डो लः" ॥ ८।१।२०२॥ इति डस्य लः। प्रा० १ पाद।

बलकूड-बलकूट-न०। मेरोरुत्तरपूर्वस्यां नन्दनवने बलनाम्ना देवेनाधिष्ठिते कूटे, स्था० ६ ठा०। स०।

बलकोट्ट-बलकोष्ठ-पुं०। गङ्गातीरे हरिकेशाधिपे प्राग्दत्तपूर्वभवपितरि चाण्डाले, उत्त० ८ अ०।

बलवल-बलाच्छ-न०। कण्ठाऽऽभरणविशेषे, तच्च ऋद्धिगम्यम्। औ०।

बलगल-वल्कल-न०। तरुत्वचि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

बलण-बलन-न०। बलनेन विशिष्टावस्थाप्रापणे, विशे०।

बलण्णु-बलज्ञ-पुं०। बलज्ञातरि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०।

बलदेव-बलदेव-पुं०। वासुदेवज्येष्ठभ्रातरि, आ० क० १ अ०। अन्त०। ती०। प्रव०। नि०। आ० म०। स०। अनु०। ज्ञा०। प्रज्ञा०। आ० चू०। नि०। ( अवसर्पिण्यां च भरत ऐरवते च नव बलदेवाः 'दसारमंडल' शब्दे चतुर्थभागे २४८५ पृष्ठे व्याख्याताः ) सङ्कर्षणाऽऽख्ये कृष्णवासुदेवज्येष्ठभ्रातरि, आ० म० १ अ०। पा०। ज्ञा०। उत्त०।

बलदेवपडिमा-बलदेवप्रतिमा-स्त्री०। पाषाणाऽऽदिमय्यां बलदेवमूर्तौ, एका प्रतिमाऽऽवर्तग्रामे आसीत्, यन्मन्दिरे एकदा छद्मस्थविहारे श्रीवीरः समवसृतः। आ० म० १ अ०।

बलवलिय-बलवलिक-पुं०। वस्तुरोगविशेषविशिष्टे, महा० ३ अ०।

बलवुड्ढिविवड्ढण-बलवृद्धिविवर्द्धन-न०। शरीरसामर्थ्यस्य मेधायाश्च विवर्धने, ग० २ अधि०।

बलभद्द-बलभद्र-पुं०। भरतपौत्रस्य महायशसः पौत्रे, आ० चू० १ अ०। आव०। राजगृहे मौर्यवंशीये स्वनामख्याते राजनि, उत्त० ३ अ०। आ०म०। येनाऽव्यक्तिकनिह्नवाः प्रतिबोधिताः। विशे०। स्था०। आ० चू०। नि०। सङ्कर्षणबलदेवे, स०। स्वनामख्याते सुग्रीवनगरराजे, यस्य भार्याया मृगावत्या मृगापुत्रनाम्ना विश्रुतः पुत्र आसीत्। उत्त० १९ अ०। ( 'मियापुत्त' शब्दे कथा वक्ष्यते )

बलभाणु-बलभानु-पुं०। बलमित्रराज्ञो, भगिनी भानुश्री। तत्पुत्रे, नि० चू० १० उ०। ( तत्कथा 'पज्जुसवणाकप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४० पृष्ठे गता )

बलभावणा-बलभावना-स्त्री०। देवबलपर्यालोचने, बृ०। अथ बलभावना। तत्र बलं द्विधा-भावबलं, शारीरबलं च। तत्र च भावबलमाह-

भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो व अप्पसत्थो वा।
नेहगुणओ उ रागो, अपसत्थ पसत्थओ चेव ॥५२३॥

भावो नाम अभिष्वङ्गः, स तु द्विधा-प्रशस्त, अप्रशस्तश्च। यः तत्र अपत्यकलत्राऽऽदिषु स्नेहजनितरागः सोऽप्रशस्तः। यः पुनराचार्योपाध्यायाऽऽदिषु गुणबहुमानप्रत्ययो राग स प्रशस्तः। तस्य द्विविधस्यापि भावस्य येन मानसावष्टम्भेनाऽसौ व्युत्सर्गं करोति तद्भावबलं मन्तव्यम्। शारीरमपि बलं शेषजनापेक्षया जिनकल्पार्हस्यातिशायिकमिष्यते। आह-तपोभावनप्रभृतिभिः भावनाभिर्भावयतः कृशतरं शरीरं भवति। ततः कुतोऽस्य शारीरं बलं भवति ?।

उच्यते—

कामं तु सरीरबलं, हायइ तवनाणभावणजुमस्स ।
देहावचए वि संती, जह होइ धिई तहा जयइ ॥५२४॥

कामं तुः—अवधारणे. अनुमतमेवास्माकं यत्तपोज्ञानभावनायुक्तस्य शरीरबलं हीयते, परं देहापचयेऽपि सति यथा धृतिर्मानसावष्टम्भलक्षणा निश्चला भवति तथाऽसौ यतते, धृतिबलेन सम्यगात्मानं भावयतीत्यर्थः ।

आह-इत्थं धृतिबलेन भावयतः को नाम गुणः स्यात् ?,

उच्यते—

कसिणा परीसहचमू, जइ उट्ठिज्जा हि सोवसग्गा वि ।
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥ ५२५ ॥
धिइ धणिय बद्धकच्छो, जो होइ अणाउलो तमब्भहिओ।
बलभावणाएँ धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ ॥ ५२६ ॥

कृत्स्ना संपूर्णा परीषहचमू मार्गात् च्यवते निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः क्षुदादयस्त एव तेषां वा चमूः सेना सा यद्युत्तिष्ठेत सम्मुखीभूय परिभावनाय प्रगुणा भवेत सोपसर्गाऽपि दिव्याऽऽद्युपसर्गैः कृतसहायकाऽपि । तथा दुर्द्धरं दुर्वहं पन्थानं सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपं मोक्षमार्गं करोतीति-दुर्द्धरपथकरस्तथाविधो वेगः प्रसरो यस्याः सा दुर्द्धरपथकरवेगा, भयजननी संत्रासकारिणी अल्पसत्त्वानां कापुरुषाणां तामेवंविधामपि स जिनकल्पप्रतिपत्तुकामो योधयति । कथंभूतो ?—धृतिरेव धणियमत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा अनाकुल औत्सुक्यरहित.. अव्यथितो निष्प्रकम्पनः स बलभावनया तां योधयित्वा धीरः सत्त्वसंपन्नः सन् संपूर्णमनोरथो भवति, परीषहोपसर्गान् पराजित्य स्वप्रतिमां पूरयतीत्यर्थः ।

अपि च—

धिइबलपुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता ।
तं तु न विज्जइ सज्जं, जं धिइमंतो न साहेइ ॥ ५२७ ॥

सर्वा अप्येताः तपःप्रभृतयो भावना धृतिबलपुरस्सरा भवन्ति, न हि धृतिबलमन्तरेण षाण्मासिकतपःकरणाऽऽद्यनुगुणाः तास्तथा भावयितुं शक्यन्ते । किं वा-तत्तु तत्पुनः साध्यं कार्यं जगति न विद्यते, यद् धृतिमान् सात्त्विकः पुरुषो न साधयति ' सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ' इति वचनात्, एतेन "अव्वोच्छित्ती मण" इत्यादिद्वारगाथाया उपसर्गसहं इति यत्पदं तद्भावितं, बलभावनया उपसर्गसहत्वभावादिति । बृ० १ उ० २ प्रक० । बलभावनायां बलं द्विविधम्-शारीर. मानसं च । तत्र शारीरमपि बलं जिनकल्पार्हस्य शेषजनातिशायिकमेवेष्टव्यम्, तपःप्रभृतिभिस्त्वपकृष्यमाणस्य यद्यपि शारीरं बलं तथाविधं न भवति, तथापि धृतिबलेनाऽऽत्मा तथा भावयितव्यो यथा महद्भिरपि परीषहोपसर्गैर्न बाध्यते । विशे० ।

बलभी–वलभी–स्त्री० । गृहाणामाच्छादने,जी० ३ प्रति०४ अधि० । छदिराधारे, जं० २ वक्ष० । चं०प्र० । गुर्जरधरित्र्याः पश्चिमभागे राजधान्यां, तत्रान्तिमो राजा शिलाऽऽदित्यो नाम राजा गजनीपतिना हम्मीरेण संवत् ८४५ वर्षे पराभग्नः, राज्यं च तदैव नष्टम् । ती० १६ कल्प । यत्र पुस्तकाऽऽरूढः सिद्धान्तो जातः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण । " बलहीपुरम्मि नयरे।" (अत्र विस्तरः 'पोत्थग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११२२ पृष्ठे गतः।)



बलभीसंठिय-बलभीसंस्थित–त्रि०।" बलभी चउकोणमीसिदीहाऊ।" यस्य ग्रामस्य चतुर्ष्वपि कोणेषु ईषद्दीर्घा वृक्षा व्यवस्थिताः स बलभीसंस्थितः । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

बलमित्त–बलमित्र–पुं० । वीरमोक्षाच्चतुर्थे शतके जाते भारतप्रधानराजे , ती० २० कल्प । ति० " जं रयणिं सिद्धि गओ अरहा तित्थंकरो महावीरो तं रयणिं अवंतीए अहिसित्तो पालओ राया । " पालगराया सट्ठि , पणसयं ठियाण णंदाणं । मरुयाणं अट्ठसयं , तीसं पुण पूसमित्ताणं ॥ १ ॥ बलमित्तभाणुमित्ता " । ति० ।

बलय-बलय–न० । चक्रवाले, स्था० ५ ठा० १ उ० । कटकविशेषे, औ० । आचा० । स्था० । बृ० । बलयमिव बलयम् । वक्रत्वात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । एकोनविंशे गौणमृषावादे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । येन भावेन बलयमिव वक्रं वचनं चेष्टा वा प्रवर्तते । तस्मिन्, भ० १ श० ६ उ० । स० । मायारूपे , सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वृत्ताऽऽकारनद्यादिजलकुटिलगतियुक्तप्रदेशे , सूत्र० २ श्रु० २ अ० । नद्यादिवेष्टितभूभागे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । यत्रोदकं बलयाऽऽकारेण व्यवस्थितमुदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । तालतमालाऽऽदिषु वनस्पतिभेदेषु, भ० १५ श० । जी० ।

से किं तं बलया ? । बलया अणेगविहा पण्णत्ता तं जहा–
" ताले तमाले तक्कलि, तेयाली सालि सारकल्लाणे ।
सरले जावति केयइ, कंदलि तह धम्मरुक्खे य ॥ १ ॥
भुयरुक्ख हिंगुरुक्खे, लवंगरुक्खे य होइ बोधव्वे ।
पूयफली खज्जूरी, बोधव्वा नालिएरी य ॥ २ ॥ "
जे यावण्णे तहप्पगारा सेत्तं बलया । प्रज्ञा० १ पद ।

आचा० । ज्ञा० ।

पृथिवीनां वेष्टनेषु घनोदधिघनवाततनुवातलक्षणेषु. स्था० २ ठा० ४ उ० ।

बलयमयग-बलन्मृतक–पुं० । बलन्तः संयमाद् भ्रश्यन्तः, अथवा—बुभुक्षाऽऽदिना बलन्तो ये मृतास्ते बलन्मृतकाः । बलन्मरणेन मृतेषु, औ० ।

बलयमरण–बलन्मरण–न० । बलतां संयमान्निवर्तमानानां परीषहाऽऽदिबाधितत्वान्मरणं बलन्मरणम् । मरणभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । " बलयं बलयमाणे जो मरणं मरइ हीणसत्तया, संजमजोगेसु बलंतो हीणसत्तया जो अकामगो मरइ, एय बलयमरणं , गलं वा अप्पणो बलेइ । " नि० चू० ११ उ० ।

बलयामुह–बडवामुख–पुं० । मेरोः पूर्वस्यां दिशि महापाता-

सकलशे प्रव० २ द्वार । म० । आ० म० । जी० । आघ० ।

बलयाऽऽयय-वलयाऽऽयत-त्रि० । वृत्ताऽऽयते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

बलयाविमुक्क-बलयविप्रमुक्त-त्रि० । भाववलयं रागद्वेषौ, ताभ्यां विप्रमुक्तः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । संसारवलयात्-कर्मबन्धनाद् वा विमुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । मायाविमुक्ते, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

बलवट्टी-देशी-सख्याम्, दे० ना० ६ वर्ग० ६१ गाथा ।

बलवं- बलवत् -त्रि० । बलं सामर्थ्यं, तद्यस्यास्तीति बलवान् । रा० । अनु० । अतिशयिनबले; द्वा० २५ द्वा० । बलं शारीरिक मानसिकं च यस्यास्ति स बलवान् । रा० । विद्यामन्त्रचूर्णाऽऽदिबलोपेते, व्य० १ उ० ।

जो जस्सु उवरिं तु पभू, बलियतरो वा वि जस्स जो उवरिं ।
एसो बलवं भणितो, सो गिहपतिसामि-तेणाऽऽदि ।२०६।

यः पुरुषः यस्य पुरुषस्योपरि प्रभुत्वं करोति सो बलवं भण्णति । अहवा-अप्पभू वि जो बलव सो वि बलव भण्णति, सो पुण गृहपतिस्सामिगो वा तेणगादि वा । नि० चू० १ उ० । समर्थे, आचा० २ श्रु० ८ चू० ५ अ० २ उ० । महद्बलयोधिनि, नि० चू० १ उ० । प्रभूतसैन्ये, औ० । निवर्तयितुमशक्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अहोरात्रस्याष्टमसुहूर्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । जं० । च० प्र० ।

बलवाउय-बलव्यापृत-पुं० । सैन्यव्यापारपरायणे, दशा० १६ अ० । औ० ।

बलवाहणकहा-बलवाहनकथा-स्त्री० । राजकथाभेदे , स्था० २ ठा० २ उ० । ( व्याख्या 'रायकहा' शब्दे )

बलवीरिय- बलवीर्य-पुं० । भरतपौत्रस्य महायशसः प्रपौत्रे, आ० चू० १ अ० । आव० ।

बलसंपण्ण- बलसंपन्न-पुं० । संहननसमुत्थेन प्राणेन संपन्ने, औ० । रा० ।

बलसार-बलसार-पुं० । स्वनामख्याते राजर्षौ, तं० ।

बलसिरी-बलश्री-पुं० । स्वनामख्याते अन्तरञ्जिकानगरीराजे, आ० चू० १ अ० । यदग्रतः त्रैराशिकाऽऽचार्येण रोहगुप्ते वन्दनार्थमागते गोष्ठामाहिलेन पोट्टशालो वादी पराजितः । विशे० । स्था० । बलभद्रस्य मृगापुत्रेति प्रसिद्धे पुत्रे उत्त० १८ अ० । ( 'मियापुत्त' शब्दे कथा )

बलसोहिया-बलशोधिका-स्त्री० । तथाविधायां स्त्रियाम्, तं० । " बलसोहिया । " बल पुरुषवीर्यं प्रसङ्गेऽसङ्गे वा शोषयन्ती गालयन्तीत्येवंशीला बलशोधिका । यद्वा-बलेन स्वसामर्थ्यलक्षणेन निशाऽऽदौ जारपुरुषाऽऽदीनां शोधिका शुद्धिकारिका बलशोधिका । यद्वा-बलयोः रलयोरैक्यात् वरशोधिकाः स्वेच्छया पाणिग्रहणकरणत्वात् धम्मिल्लश्रीवृन्दवत् । तं० ।

बलहरण-बलहरण-न० । धारणयोरुपरिवर्तितिर्यगायतकाष्ठे, " मो भ " इति यत्प्रसिद्धम् । भ० १ श० ५ उ० ।

बला- बला-स्त्री० । श्रीकुन्थोरच्युताऽऽख्यायां शासनदेव्याम्, प्रव० २७ द्वार । यस्यामवस्थायां पुरुषस्य बलं भवति सा तद्योगाद् बला । पुरुषस्य त्रिंशत्तमवर्षादनन्तरं चत्वारिंशत्तमवर्षपर्यन्तदशाभेदे, " चउत्थी य बला नाम, जं नरो दसमस्सिओ । समत्थो बलं दरिसेउं, जइ होइ निरुवद्दवो ॥ १ ॥ " स्था० १० ठा० । योगदृष्टिभेदे, द्वा० १ अधि० । बलादृष्टिः काष्ठाग्निकणतुल्या ईषद्विशिष्टोक्तबोधद्वयात्, तदुभाभेनात्र मनाक् स्थितिवीर्ये, अतः पट्वप्राया स्मृतिरिह प्रयोगसमये, तद्भावे चार्थप्रयोगमात्रप्रीत्या यत्नलेशभावादिति । योगदृष्टिभेदे, द्वा० १ अधि० ।

सुखस्थिराऽऽसनोपेतं, बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा, न क्षेपो योगगोचरः ॥ १० ॥

( सुखमिति ) सुखमनुद्वेजनीयं स्थिरं च निष्कम्पं यदासनं तेनोपेत सहितम्, उक्तविशेषणविशिष्टस्यैवाऽऽसनस्य योगाङ्गत्वात् । यत् पतञ्जलि.-" ( तत्र ) स्थिरसुखमासनमिति (२-४६) " । बलाया दृष्टौ दर्शनं दृढं काष्ठाऽग्निकणोद्योतसममिति कृत्वा । परा प्रकृष्टा च तत्त्वशुश्रूषा तत्त्वश्रवणेच्छा जिज्ञासासम्भवात् । न क्षेपो योगगोचरस्तदनुद्वेगे उद्वेगजन्यक्षेपाऽभावात् ॥ १० ॥

असत्तृष्णात्वराऽभावात्, स्थिरं च सुखमासनम् ।
प्रयत्नश्लथताऽऽनन्त्य-समापत्तिबलादिह ॥ ११ ॥

( असदिति ) असत्तृष्णाया असुन्दरलालसायास्त्वराया अन्यान्यफलौत्सुक्यलक्षणाया अभावात् स्थिरं सुखं चाऽऽसनं भवति । प्रयत्नस्य श्लथताऽक्लेशेनैवाऽऽसनं बध्नामीतीच्छायामङ्गलाघवेन तन्निबन्धः, आनन्त्ये चाऽऽकाशाऽऽदिगते समापत्तिरवधानेन मनस्तादात्म्याऽऽपादनं दुःखहेतुदेहाहङ्काराभावफलं तद्बलादिह बलायां दृष्टौ भवति । यथोक्तम्-" प्रयत्नशैथिल्याऽऽनन्त्य (न्त) समापत्तिभ्याम् । " ( २-४७ ) ॥ ११ ॥

अतोऽन्तरायविजयो, द्वन्द्वानभिहतिस्तथा (ऽपरा) ।
इष्टदोषपरित्यागः, प्रणिधानपुरःसरः ॥ १२ ॥

(अत इति ) अतो यथोक्तादासनादन्तरायाणामङ्गमेजयाऽऽदीनां विजयः । द्वन्द्वैः शीतोष्णाऽऽदिभिरनभिहतिर्दुःखाप्राप्तिः परा आत्यन्तिकी, ' ततो द्वन्द्वानभिघातः ' (२-४८) इत्युक्तेः । दृष्टानां च दोषाणां मन स्थितिजननिक्लेशाऽऽदीनां परित्यागः प्रणिधानपुरस्सरः प्रशस्ताऽवधानपूर्वः ॥ १२ ॥

कान्ताजुषो विदग्धस्य, दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।
यूनो भवति शुश्रूषा, तथाऽस्यां तत्त्वगोचरा ॥ १३ ॥

( कान्तेति ) कान्ताजुष कामिनीसहितस्य विदग्धस्य गेयनीतिनिपुणस्य दिव्यस्याऽतिशयितस्य गेयस्य किन्नराऽऽदिसम्बन्धिन श्रुतौ श्रवणे यथा यूनो यौवनगामिन कामिनो भवति शुश्रूषा, तथाऽस्वा बलायां तत्त्वगोचरा शुश्रूषा ॥ १३ ॥

अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थं, बीजन्यास इवोषरे ।
श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः, शुभः कर्मक्षयः पुनः ॥ १४ ॥

( अभाव इति ) अस्या उक्तलक्षणशुश्रूषाया अभावे, श्रुतमर्थश्रवणं व्यर्थम्, ऊषर इव बीजन्यासः । श्रुतेऽभावेऽ-

ज्यर्थश्रवणाऽभावेऽप्यस्या उत्कृष्टशुश्रूषाया भावे पुनः ध्रुवो निश्चितः कर्मक्षयः । अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामियमेव प्रधानफलकारणमिति भावः ॥ १४ ॥

योगाऽऽरम्भ इहाऽऽक्षेपात्, स्यादुपायेषु कौशलम् ।
उपयमाने तरौ दृष्टा, पयःसेकेन पीनता ॥ १५ ॥

( योगेति ) इह बलायामत्तपादन्यत्र चित्ताभ्यामाद्योगाऽऽरम्भे उपायेषु योगसाधनेषु कौशलं दक्षत्वं भवति, उत्तरोत्तरमतिवृद्धियोगादिति भावः । उप्यमाने तरौ पयःसेकेन पीनता दृष्टा, तद्वदिहाऽप्यक्षेपेणैवमतिपीनत्वलक्षणमुपायकौशलं स्यात् । अन्यथा पूर्णपयःसेकं विनोप्तस्य तरोरिव प्रकृताऽनुष्ठानस्य कार्श्यमेवाकौशललक्षणं स्यादिति भावः ॥ १५ ॥ द्वा० २२ द्वा० । बलायां दृष्टौ दृढं दर्शनं स्थिरसुखमासनं परमात्मतत्त्वशुश्रूषायोगगोचरोत्क्षेप स्थिरचित्ततया योगसाधनोपायकौशलं च भवति । ध० १ अधि० । यो०वि० ।

बलागा-बलाका-स्त्री० । बिसकण्टिकायाम् प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अनु० । प्रज्ञा० । "उअ निच्चल णिप्फंदा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ । णिम्मलमरगअभाअण-परिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥ १ ॥" प्रा० २ पाद ।

बलाणग-बलानक-न० । द्वारे, नि०चू० ८ उ० ।

बलामोडी-देशी । हठे, "हढो य मह्णा बलामोडी ।" पाइ० ना० १७४ गाथा । बलात्कारे, दे० ना० ६ वर्ग ६५ गाथा ।

बलाऽबलविचारण-बलाऽबलविचारण-न० । बलं शक्तिः स्वस्य परस्य वा द्रव्यक्षेत्रकालभावकृतं सामर्थ्यमबलमपि तथैव, तयोर्विचारणं पर्यालोचनम् । बलाऽबलपरिज्ञाने, ध० । बल शक्तिः, स्वस्य परस्य वा द्रव्यक्षेत्रकालभावकृतं सामर्थ्यम् । अबलमपि तथैव, तयोर्विचारणं पर्यालोचनम्, बलाबलपरिज्ञाने हि सर्वः सफल आरम्भः, अन्यथा तु विपर्ययः । यदाह-"स्थाने समवतां शक्त्या, व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम् । अयथाबलमारम्भो, निदानं क्षयसंपदः ॥ १ ॥" इति । अत एव च पठ्यते-"कः कालः कानि मित्राणि, को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ । कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥" इति । ध० १ अधि० ।

बलाभिओग-बलाभियोग-पु० । बलं हठप्रयोगस्तेनाभियोगः । ध० २ अधि० । बलात्कारेण नियोजने, आ०म० १ अ० । राजगणव्यतिरिक्तस्य बलवत्पारतन्त्र्यस्य नियोगे, उपा० १ अ० । आ०म० ।

बलायमरण-वलन्मरण-न० । संयमयोगेभ्यश्चलतां भग्नव्रतपरिणतानां व्रतिनां मरणे, स० १७ सम० ।

बलन्मरणमाह—

संजमजोगविसन्ना, मरंति जे तं वलायमरणं तु ( २४ )

संयमयोगाः संयमव्यापारास्तैस्तेषु वा विषण्णाः संयमयोगविषण्णाः, अतिदुश्चर तपश्चरणमाचरितुमक्षमा व्रतं च कुलाऽऽदिलज्जया मोक्तुमशक्नुवन्तः, कथञ्चिदस्माकमिनः कष्टानुष्ठानात् मुक्तिर्भवतु, इति चिन्तयन्तो म्रियन्ते ये च, तद्बलवतां संयमानुष्ठानान्निवर्तमानानां मरणं बलवन्मरणं तुशब्दो विशेषणार्थः, भग्नव्रतपरिणतानां व्रतिनामेवैतदिति विशेषयत्य येषां हि संयमयोगानामेवाऽसम्भवात् कथं तद्विषादः?, तदभावे च कथं तदिति ?। प्रव० १५७ द्वार ।

बलाहग-बलाहक-पुं० । शरत्कालभाविनि मेघे, आ० म० १ अ० । जी० । रा० । भ० । ज्ञा० ।

बलाहगा-बलाहका-स्त्री० । जम्बूद्वीपे विद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वते स्वस्तिककूटवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, स्था० २ ठा० १ उ० । अधोलोकवासिन्यां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ठा० । ऊर्ध्वलोकवासिन्यां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं० ५ वक्ष० । आ० म० । ति० । आ० चू० । आ० क० ।

बलाहय-बलाहक-पुं० । मेघे, "अब्भाइं धूमजोणी, बलाहया जलहरा य जीमूआ ।" पाइ० ना० २७ गाथा ।

बलि-बलि-पुं० । "वेमाऽञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" ॥ ८ । १ । ३५ ॥ इति प्राकृते वा स्त्रीत्वम् । प्रा० १ पाद । देवतानामुपहारे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । प्रश्न० । पञ्चा० । 'बलिं करेंति ।' नगरबलिविहितश्चेतश्च क्षिपन्तीत्यर्थः । यदि वा-कोष्ठबलिं कुर्वन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० 'बलि किज्जउ सुअणस्सु ।" प्रा० ४ पाद । औत्तराहाणामसुरकुमाराणां राजनि, प्रज्ञा० २ पाद । "बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स सट्ठिसामाणियसाहस्सी पण्णत्ता ।" बलेरौदीच्यासुरकुमारनिकायराज, स० ६० सम० । जी० । स्था० । आ०म० । ( अस्योत्पातपर्वतः 'उप्पायपव्वय' शब्दे द्वितीयभागे ८३७ पृष्ठे उक्तः )

बलिस्स णं वइरोयणरण्णो सोमस्स एवं चेव जहा चमरस्स लोगपालाणं ते चेव बलिस्स वि । स्था० १० ठा० ।

कहि णं भंते ! बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ? । गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जे जहेव चमरस्स ०जाव बायालीसं जोअणसहस्साइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णस्स रुयगिंदे णामं उप्पायपव्वए पण्णत्ते सत्तरसएक्कवीसजोयणसए, एवं परिमाणं जहेव तिगिच्छिकूडगस्स पासायवडिंसगस्स वि तं चेव पमाणं सीहासणं सपरिवारं बलिस्स परिवारेणं अट्ठो तहेव, णवरं रुयगिंदप्पभाइं, सेसं तं चेव ०जाव बलिचंचारायहाणीए अन्नेसिं च ० जाव णिच्चे रुयगिंदस्स णं उप्पायपव्वयस्स उत्तरेणं छक्कोडिसए तहेव ० जाव चत्तालीसं जोअणसहस्साइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णस्स बलिचंचा णामं रायहाणी पण्णत्ता, एगं जोअणसयसहस्सं पमाणं तहेव ० जाव बलिपेढस्स उववाओ ० जाव आयरक्खा सव्वं तहेव णिरवसेसं, णवरं साइरेगं सागरोवमं ठिई पण्णत्ता, सेसं तं चेव ० जाव बली वइरोयणिंदे बली, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ० जाव विहरइ ॥

( कहि णमित्यादि ( जहेव चमरस्स त्ति ) यथा चमरस्य द्वितीयशताष्टमोद्देशकाभिहितस्य सुधर्म्मसभास्वरूपाभिधायकं सूत्रं तथा बलेरपि वाच्यम्; तच्च तत एवावसेयम्। ( एवं परिमाणं जहेव त्ति ) (तिगिच्छिकूडस्स त्ति) यथा चमरसत्कस्य द्वितीयशताष्टमोद्देशकाभिहितस्यैव तिगिच्छिकूटाभिधानस्योत्पातपर्वतस्य प्रमाणमभिहितं तथाऽस्यापि रुचकेन्द्रस्य वाच्यं, तदपि तत एवावसेयम्। ( पासायवडिंसगस्स वि तं चेव पमाणं ति ) यत्प्रमाणं चमरसम्बन्धिनस्तिगिच्छिकूटाभिधानोत्पातपर्वतोपरिवर्तिनः प्रासादावतंसकस्य तदेव बलिसत्कस्याऽपि रुचकेन्द्राभिधानोत्पातपर्वतोपरिवर्तिनस्तस्य तदन्यदपि द्वितीयशतकादेवावसेयम्। ( सीहासणं सपरिवारं बलिस्स परिवारेणं ति ) प्रासादावतंसकमध्यभागे सिंहासनं बलिसत्कं, बलिसत्कपरिवारसिंहासनोपेतं वाच्यमित्यर्थः । तदपि द्वितीयशताष्टमोद्देशकविवरणोक्तचमरसिंहासनन्यायेन वाच्यं केवलं तत्र चमरस्य सामानिकाऽऽसनानां चतुःषष्टिः सहस्राऽऽत्मरक्षाऽऽसनानां तु तान्येव चतुर्गुणान्युक्तानि, बलेस्तु सामानिकाऽऽसनानां षष्टिः सहस्राण्यात्मरक्षाऽऽसनानां तु तान्येव चतुर्गुणानीत्येतावान् विशेषः । ( अट्ठो तहेव नवरं रुयगिंदप्पभा इति ) यथा तिगिच्छिकूटस्य नामान्वर्थोऽभिधायकं वाक्यं तथाऽस्याऽपि वाच्य, केवल तिगिच्छिकूटान्वर्थप्रश्नस्योत्तरे यस्मात्तिगिच्छिप्रभाण्युत्पलाऽऽदीनि तत्र सन्ति तेन तिगिच्छिकूट इत्युच्यते इत्युक्तमिह तु रुचकेन्द्रप्रभाणि तानि सन्तीति वाच्यं,रुचकेन्द्रस्तुरत्नविशेष इति। तत्पुनरर्थतः सूत्रमेवमध्येयम्-"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-रुयगिंदे रुयगिंदे उप्पायपव्वए ? गोयमा ! रुयगिंदेणं बहूणि उप्पलाइं पउमाइं कुमुयाइं ० जाव रुयगिंदवण्णाइं रुयगिंदलेसाइं रुयगिंदप्पभाइं से तेणट्ठेणं रुयगिंदे रुयगिंदे उप्पायपव्वए त्ति । " ( तहेव जाव त्ति ) यथा चमरचञ्चाव्यतिकरे सूत्रमुक्तमिहापि तथैव वाच्यम्। तच्चेदम्-"पणपन्नं च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्साइं पन्नासं च सहस्साइं वीईवइत्ता इमं च रयणप्पभं पुढविं ति ।" (पमाणं तहेव त्ति) यथा चमरचञ्चायाः। तच्चेदम्-"एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलसयसहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरसयं अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्त त्ति ।" (जाव बलिपेढस्स त्ति)नगरीप्रमाणाभिधानानन्तरं प्राकारतद्द्वारौपकारिकलयनप्रासादावतंसकसुधर्म्मसभाचैत्यभवनोपपातसभाह्रदाभिषेकसभाऽलङ्कारिकसभाव्यवसायसभाऽऽदीनां प्रमाणं स्वस्वरूपं च तावद्वाच्यं यावद्बलिपीठस्य, तच्च स्थानान्तरादवसेयम्। ( उववाओ त्ति ) उपपातसभायां बलेरुत्पातवक्तव्यता वाच्या। सा चैवम्-" तेणं कालेणं तेणं समएणं बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया अहुणोववण्णमेत्तए समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तभावं गच्छइ । " इत्यादि । ( जाव आयरक्ख त्ति ) इह यावत्करणादभिषेकोऽलङ्कारग्रहणं पुस्तकवाचनं सिद्धाऽऽयतनप्रतिमाऽऽद्यर्च्चनं सुधर्मसभागमनं, तत्रस्थस्य च तस्य सामानिका अग्रमहिष्यः पर्षदोऽनीकाधिपतयः आत्मरक्षाश्च पार्श्वतो निषीदन्तीति वाच्यम्। एतद्वक्तव्यताप्रतिबद्धसमस्तसूत्रातदेशायाऽऽह-(सव्वं तहेव निरवसेसं ति ) सर्वथा साम्यपरिहारार्थमाह-( नवरमित्यादि ) अयमर्थः—चमरस्य सागरोपमस्थितिः प्रज्ञप्तेत्युक्तं, बलेस्तु सातिरेकं सागरोपमस्थितिः प्रज्ञप्तेति वाच्यमिति । भ० १६ श० ६ उ० । षष्ठवासुदेवस्य पुरुषपुण्डरीकस्य प्रतिशत्रौ, आव० १ अ० । ति० । प्रव० । ती० ।

बलिअ-बलिक-पुं०। कठिने, "गाढं बाढं बलिअं, धणियं दढं अइसएण अच्चत्थं।" पाइ०ना० ८० गाथा।

बलिअब्भत्थण-बल्यभ्यर्थन-न०। बलेर्याचने, "बलिअब्भत्थणे महुमहणु, लहुईहुआ सोऽइ । जइ इच्छु वडुत्तणउ, देहु म मग्गहु कोइ ॥ १ ॥ " बलेरभ्यर्थने सोऽपि मधुमथनो नारायणोऽपि लघुकीभूतः। अथ यदीच्छथ बृहत्त्वं गृहत्वं तर्हि परं ददत, कोऽपि मा मार्गय इत्यर्थः। प्रा० ४ पाद।

बलिउट्ठ-बलिपुष्ट-पुं०। काके, "बलिउट्ठा रिट्ठा धु-क्खा य ढंका य करयला काया।" पाइ० ना० ४४ गाथा।

बलिकडा-बलिकृता-स्त्री०। साधुनिमित्तं कूराऽऽदिना विशोधिकोटिं गमितायां वसतौ, स्था० ५ ठा० २ उ० । ग० । यत्र संयतनिमित्तं बलि. कृतः। बृ० १ उ०।

बलिकम्म-बलिकर्मन्-न० । देवताऽऽदिनिमित्ते ( सूत्र० १ श्रु० २ अ० ) लोकरूढे ( उपा० ७ अ० ) उपहारोपढौकने, उपा० ७ अ०।

बलिचंचा-बलिचञ्चा-स्त्री० । वैरोचनेन्द्रस्य बले राजधान्याम्, भ० ३ श० १ उ०।

बलिपाहुडिया-बलिप्राभृतिका-स्त्री०। बलिरूपे प्राभृतिकादोषदुष्टेऽन्ने, " बलिपाहुडिया नाम अग्गिम्मि छुब्भति चउदिसिं वा अच्चणिं न करेति, ताहे साहुस्स देति, तं न वट्टति ।" आ० चू० ४ अ०। आव०।

बलिपेढिया-बलिपीठिका-स्त्री० । प्रतिमापूजनावसरे बलोपढौकनस्थाने, "तीसे णं सानंदाए पोक्खरिणीए उत्तरपुरच्छिमेणं महया बलिपेढिया पण्णत्ता।" रा०।

बलिमादि-बल्यादि-न०। उपहारप्रभृतौ, पञ्चा० ६ विव०।

बलिमुह-बलिमुख-पुं०। "साहामओ बलिमुहो, पवंगमो वाणरो कई पवओ।" कपौ, पाइ०ना० ४२ गाथा।

बलिय-बलिक-त्रि०। बलमस्यास्तीति बलिकः। भ० १२ श० २ उ० । बलवति, सू० ६ उ०। प्राणवति, स्था० ४ ठा० ३ उ०। रा०। अत्यर्थे, सू० २ उ०।

बलित-त्रि०। वलिते, आ० १ श्रु० ८ अ०। बलयः संजातोऽस्य बलित. । जी० ३ प्रति० ४ उ०। प्रश्न०। वृते, रा०। आ०म०।

बलियतर-बलिकतर-न०। गाढतरे, भ० ६ श० ३३ उ०। आ०।

बलियत्त-बलिकत्व-न०। बलमस्यास्तीति बलिकस्तद्भावो बलिकत्वम्। सबलतायाम् केषाञ्चिद् अपापिनां बलिकत्वं, केषाञ्चिद् पापिनां दुर्बलिकत्व साध्विति। भ० १२ श० २ उ०। ('जयंती' शब्दे चतुर्थभागे १४१७ पृष्ठे दर्शितम्)

बलिया-बलिका-स्त्री०। बलवत्याम्, स्था० ४ उ०। उपचितमांसशोणितायाम्, बृ०३ उ०। शूर्पे, दुर्बलिकया कण्डितानां

बलिकया छर्दितानाम् , दुर्बलिकाबलिके उदूखलशूर्पौ सम्भाव्येते । आ० म० १ अ० ।

बलिवइसदेव-बलिवैश्वदेव-न० । बलिना वैश्वानरपूजायाम्, " बलिवइसदेवं करेइ । " बलिना वैश्वानरं पूजयतीत्यर्थः । भ० १२ श० २ उ० । आव० । नि० । आ०म० ।

बलिस-बडिश-न० । डो लः ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इति डस्य लः । ' बडिसं । बलिसं । ' मत्स्यबन्धनवंशयाम्, प्रा० १ पाद ।

बलिस्सह-बलिस्सह-पुं० । स्वनामख्याते महागिरिशिष्ये , कल्प० २ अधि० ८ क्षण । " तत्तो कोसियगुत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ।" तत्र महागिरेर्द्वौ प्रधानशिष्यावभूताम् । तद्यथा बहुलो, बलिस्सहश्च । तौ च द्वावपि यमलभ्रातरौ कौशिकगोत्रौ च , तयोरपि च मध्ये बलिस्सहः प्रवचनप्रधान आसीत्,अतस्तमेव निनंसुराह-ततो महागिरेरनन्तरं कौशिकगोत्रं बहुलस्य सदृशवयसं समानवयसं, तयोरपि यमलभ्रातृत्वाद्वन्दे नमस्करोमि । नं० ।

बलीवद्द-बलीवर्द-पुं० । पुङ्गवे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

बलुल्लड-बल-न० ।"योगजाश्चैषाम्" ॥ ८ । ४ । ४३० ॥ अपभ्रंशे अडडडुल्लानां योगभेदेभ्यो ये जायन्ते डडअ इत्यादयः प्रत्ययास्तेऽपि स्वार्थे भवन्ति, अनेन डुल्लडडप्रत्ययः । डित्वादकारलोपः । सामर्थ्ये उदाहरणम्—"सामिपसाउ सलज्जु पिउ, सीमासंधिहिं वासु । पेक्खिवि बाहुबलुल्लडा, धण मेल्लइ नीसासु ॥ १ ॥ " एवं बाहुबलुल्लडउ । अत्र त्रयाणां योगः । प्रा० ४ पाद ।

बले-अव्य० । "बले निर्धारणनिश्चययो " ॥ ८ । २ । १८५ ॥ बले इति निर्धारणे निश्चये च प्रयोक्तव्यम् । निर्धारणे, " बले पुरिसो धणंजओ खत्तिआणं ।" निश्चये, 'बले सीहो ।' सिंह एवायम् । प्रा० २ पाद ।

बल्ल-वल्ल-पुं० । निष्पावे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० । गुञ्जात्रयपरिमिते प्रतिमानभेदे, "गुञ्जात्रयेण वल्लः स्यात्, गद्याणे ते च षोडश ।" वाच० ।

बल्लई-वल्लकी-स्त्री० । वीणाविशेषे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । रा० ।

बल्लभ-वल्लभ-त्रि० । इष्टे, पञ्चा० २ विव० । दयिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आ० म० । "नारीणं होइ वल्लहो ।" अनु० । "हरे बहुवल्लहो । " प्रा० २ पाद ।

बल्लभराय-वल्लभराज-पुं० । चौलुक्यवंशीये मूलराजादनन्तरे अणहिं(ल)ल्लपट्टनराजे, ती० २२ कल्प ।

बल्लर-वल्लर-न० । क्षेत्रविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । हरितस्थाले, उत्त० १६ अ० । गहने, उत्त० १६ अ० । " वल्लराणि पलीभेज्जा । " आव० ४ अ० ।

बल्लव-बल्लव-पुं० । गोपे, को० ।

बल्लह-वल्लभ-त्रि० । ' वल्लभ ' शब्दार्थे, पञ्चा० २ विव० ।

बल्लहराय-वल्लभराज-पुं० । ' वल्लभराय ' शब्दार्थे , ती० २५ कल्प ।

बल्ली-वल्ली-स्त्री० । त्रपुषी वालुङ्की कोशातकी कालिङ्गी-नागवल्ली-गुडूची-कूष्माण्डी-तुम्बी-पुष्पफलीप्रभृतिषु , जं० २ वक्ष० । वनस्पतिभेदेषु, जी० १ प्रति० ।



भेदाः—

से किं तं वल्लीओ ? । वल्लीओ अणेगविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—

" पूसफली कालिंगी, तुंबी तउसी य एल वालुकी ।
घोसाडई पडोला, पंचंगुलिआ य णाली य ॥ २६ ॥
कंगूलया कडुइया, कंकोडइ कारिल्लई सुभगा ।
कुवहा य वागली प-व्ववल्ली तह देवदाली य ॥ २७ ॥
अप्फोडा अइमुत्तय, नागलया कण्हसूरवल्ली य ।
संघट्ट सुमिणसा वी, जाइसुमिणा कुविंदवल्ली य ॥२८॥
मुद्दिय अंबावल्ली, वीराली जियंति गोवाली ।
पाणी सामावल्ली, गुंजावल्ली य वत्थाणी ॥ २६ ॥
ससवि दुगोत्तफुसिया, गिरिकण्णइ मालुया य अंजणई ।
दहफुल्लइकागणिया, गलोय तह अक्कबोंदी य ॥३०॥"

जे यावन्ने तहप्पगारा सेत्तं वल्लीओ । प्रज्ञा० १ पद । भ० । आचा० । ज्ञा० । सूत्र० । स्था० । जी० ।

लोमसिय तउसि मुद्दिय, तंबोलादी य वल्लीतो ॥ ४२ ॥

लोमशिका त्रपुषिका ---कूलिका इत्येवमादिका वल्ल्यः । व्य० ६ उ० ।

बव्वाड-देशी-दक्षिणहस्ते , दे०ना० ६ वर्ग ८६ गाथा ।

वह-वध-पुं० । हननं वधः । शिरश्छेदाऽऽदिसमुद्भूतपीडायाम् , विशे० । औ० । कस्याऽऽदिघाते, उत्त० १ अ० । यष्ट्यादिताडने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । स० । उत्त० । आव० । आ० । हिंसायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । लकुटाऽऽदिप्रहारे व्य० ६ उ० । भ० । आचा० । प्रश्न० । कृतकारितानुमतिभिरुपमर्दनाऽऽदिके, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पाणिलत्ताकशाऽऽदिभिस्ताडने, आव० ४ अ० । प्राण्युपमर्दे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । मारणे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार । विनाशे , प्रश्न० ५ संव० द्वार । जं० । द्विपदाऽऽदीनां निर्दयताडने, ध० २ अधि० । प्रश्न० । दश० । कशाऽऽदिभिर्हनने , पञ्चा० १ विव० । " कायेण कायको हन्ति , उपभागेन खादकः । घातको वधचित्तेन, इत्येष त्रिविधो वधः ॥ १ ॥ " दश० १ अ० । क्षुधा वध· स्थूलाऽदत्ताऽऽदानविरतेराद्योऽतिचारः । वधः चतुष्पदाऽऽदीनां लगुडाऽऽदिना ताडनम् । स च स्वपुत्राऽऽदीनां विनयग्राहणार्थं क्रियते । ध० २ अधि० । वधो द्विपदानां चतुष्पदानां वा स्यात्, सोऽपि सार्थकोऽनर्थको वा । तत्राऽनर्थकस्तावद्विधातुं न युज्यते, सार्थकः पुनरसौ द्विविध -सापेक्षो, निरपेक्षश्च । तत्र निरपेक्षो निर्दयताडनं, स न कर्तव्यः । सापेक्षः पुनः श्रावकेणाऽऽदित एव भीतपर्षदा भवितव्य, यदि पुन· कोऽपि न करोति विनयं, तदा तं मर्माणि मुक्त्वा लतया दवरकेण वा सकृद् द्विर्वा ताडयेत् । ध० २ अधि० । बलदेवस्य रेवतीकुक्षिसम्भवे पुत्रे , स चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सर्वार्थे उपपद्य सेत्स्यतीति । नि० १ श्रु० ५ वर्ग ४ अ० ।

वहग-वधक-पु० घ्नन्तीति वधकाः । प्राण्युपमर्दकर्तृषु, द० श्रु० १ अ० । स्वयं हन्तृषु , जं० २ वक्ष० । " कुर्याद् वर्षसहस्रं तु , अहन्यहनि मज्जनम् । सागरेणाऽपि कृत्स्नेन, वधको नैव शुध्यति ॥ १ ॥ " उत्त० १२ अ० ।

वहडाइच्चणयर-बृहदादित्यनगर-न० । सरयूसविधे स्वनामख्याते पुरे, " अलावुदीणसुरताणस्स भाणिकेण हेव्वसे नामेणं वहडाइच्चनगराओ । " ती० ३६ कल्प ।

वहता-व्यथता-स्त्री० । ताडनतायाम् , भ० १२ श० ६ उ० ।

वहपरिणय-वधपरिणत-पु० । मारणाध्यवसायवति , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

वहपरीसह-वध ( व्यथ ) परीषह-पुं० । वधो व्यथो वा यष्ट्यादिताडनं तत्परिषहणं च परैर्हि दुरात्मकैः पाणिपार्ष्णिलत्ताकशाऽऽदिभिः प्रद्वेषाऽऽदित. कोपकलुषितान्तःकरणेन क्रियमाणस्य ताडनस्य(प्रव०८६द्वार)क्षान्त्यवलम्बनतः सहने, भ० ८ श० ८ उ० । " हतः सहेतैव मुनिः, प्रतिहन्यान्न साम्यवित् । जीवानाशात् क्षमायोगात् , गुणाऽऽप्तेः क्रोधदोषतः ॥१॥ " आव० १ अ० । " सहेत हन्यमानोऽपि , प्रतिहन्यान्मुनिर्न तु । जीवनाशात्क्रुधो दौष्ट्यात् , क्षमया च गुणार्जनात् ॥ १ ॥ " ध० ३ अधि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा , भिक्खुधम्मं विचिन्तए ॥२६॥

कश्चिदाक्रोशमात्रेणातुष्यन्नधमाधमो वधमपि विदध्यादिति वधपरीषहमाह—हतो यष्ट्यादिभिस्ताडितो न संज्वलेत् कायतः कम्पनप्रत्याहननाऽऽदिना वचनतश्च प्रत्याक्रोशदानाऽऽदिना भृशं ज्वलन्तमिवाऽऽत्मानं नोपदर्शयेत् , भिक्षु. मनश्चित्तं तदपि न प्रदूषयेत् न कोपतो विकृतं कुर्वीत , किं तु तितिक्षां क्षमाम् " धर्मस्य दया मूलं, न चाऽक्षमावान् दया समाधत्ते । तस्माद्यः क्षान्तिपरः, स साधयत्युत्तमं धर्मम् ॥१॥ " इत्यादिवचनत. परमां धर्मसाधनं प्रति प्रकर्षवर्ती ज्ञात्वाऽवगम्य भिक्षुधर्मं यतिधर्मं, यद्वाभिक्षुधर्मं क्षान्त्यादिकं वस्तुस्वरूपं वा चिन्तयेत् , यथा-क्षमामूल एव मुनिधर्मोऽयं चास्माभिरिमं कर्मोपचिनोत्यस्मद्दोष एवायमतो नैनं प्रति कोप उचितः । इति सूत्रार्थः ।

अमुमेव प्रकारान्तरेणाऽऽह—

समणं संजयं दंतं, हणिज्जा कोऽवि कत्थऽवि ।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, ण तं पेहे असाहुवं ॥ २७ ॥

( समण त्ति ) श्रमणं समनसं वा, न तथाविधवधेऽपि धर्मं प्रति प्रहतचेतसं, श्रमणश्च शाक्याऽऽदिरपि स्यादित्याह—संयतं पृथिव्यादिव्यापादननिवृत्तं, सोऽपि कदाचिल्लाभाऽऽदिनिमित्तं बाह्यवृत्त्यैव सम्भवेदत आह-'दान्तम्' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन हन्यात्ताडयेत् , कोऽपीति तथाविधोऽनार्यः कुत्रापि ग्रामाऽऽदौ, तत्र किं विधेयमित्याह—नास्ति जीवस्याऽऽत्मन उपयोगरूपस्य नाशोऽभावः, तत्पर्यायविनाशरूपत्वेन हिंसाया अपि तत्र तत्राऽभिधानादितीत्यस्माद्धेतोर्न तमिति घातकं प्रेक्षेत असाधुमर्हति यत्प्रेक्षणं भ्रुकुटिभङ्गाऽऽदियुक्तं तदसाधुवत्, किं तु रिपुजयं प्रति सहायोऽयमिति धिया साधुवदेव प्रेक्षेतेति भावः । अथवा—अपेर्गम्यमानत्वात् न तं प्रेक्षेताप्यसाधुना तुल्यं वर्तत इत्यसाधुवत्. किं पुनरपकारायोपतिष्ठेत् संक्लिश्नाति वा ?, असाधुर्हि सत्यां शक्तौ प्रत्युपकारायोपतिष्ठते असत्यां तु विकृतया दृशा पश्यति संक्लेशं वा कुरुत इत्येवमभिधानम् । पठ्यते च-"न य पेहे असाहुयं ति" चकारस्यापिशब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वात्प्रेक्षेतापि न चिन्तयेदपि न, कामसाधुतां, तदुपरि द्रोहस्वभावताम् । पठन्ति च-" एवं पेहेज्ज संजओ " इति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥

अधुना " वहे त्ति " द्वारं,तत्र ' हतो(त')संज्वलेत् ' इत्यादि सूत्रमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

सावत्थी जियसत्तू, धारणि देवी य खंदओ पुत्तो ।
धूया पुरंदरजसा, दत्ता सा दंडईरण्णो ॥ १११ ॥
मुणिसुव्वयंतेवासी, खंदगपमुहा य कुंभकारकडे ।
देवी पुरंदरजसा, दंडइ पालग मरुए य ॥ ११२ ॥
पंचसया जंतेणं, वहिया उ पुरोहिएण रुट्ठेणं ।
रागद्दोसतुलग्गं, समकरणं चिंतयंतेहिं ॥ ११३ ॥

श्रावस्ती जितशत्रुर्धारणी देवी च स्कन्दकः पुत्रो -दुहिता पुरन्दरयशा, दत्ता सा दण्डकिराजाय, मुनिसुव्रतान्तेवासिनः स्कन्दकप्रमुखाश्च कुम्भकारकटे देवी पुरन्दरयशा दण्डकिः पालकः मरुकश्च पञ्चशतानि यन्त्रेण घातितानि, तु: पूरणे, पुरोहितेन रुष्टेन पालकेन. रागद्वेषयोस्तुलाग्रमिव तदनभिभाव्यत्वेन रागद्वेषतुलाग्र समकरणं माध्यस्थ्यपरिणामं भावयद्भिः.स्वकार्यं साधितमिति शेषः । इति गाथात्रयाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः । स चायम्-"सावत्थीए नयरीए जितसत्तू राया, धारि(र)णी देवी, तीसे पुत्तो खंदओ नाम कुमारो, तस्स भगिणी पुरन्दरजसा सा कुंभकारकडे नयरे दंडगी नाम राया तस्स दिण्णा, तस्स य दंडकिस्स रण्णो पालगो नाम मरुओ पुरोहिओ । अण्णया सावत्थीए मुणिसुव्वयसामी तित्थयरो समोसरिओ, परिसा निग्गया,खंदओ वि निग्गओ, धम्मं सोच्चा सावगो जाओ । अण्णया सो पालकमरुको दूयत्ताए आगतो सावत्थिं नयरिं, अत्थाणिमज्झे साहूणं अवण्णं वयमाणो खंदएणं निप्पिट्ठपसिणवागरणो कओ, पओसमावण्णो. तप्पभिइं चेव खंदगस्स छिद्दाणि चारपुरिसेहिं मग्गाविंतो विहरति, जाव खंदओ पचहिं जणसएहिं कुमारो लग्गएहिं सद्धिं मुणिसुव्वयसामिसगासे पव्वइओ, बहुस्सुतो जातो,ताणि चेव से पंच सयाणि सीसत्ताए अणुण्णायाणि । अण्णया खंदओ सामिं आपुच्छति-वच्चामि भगिणीसगासं ? । सामिणा भणियं-उवसग्गो मारणंतिओ । भणति-आराहगा विराहगा वा ? । सामिणा भणियं-सव्वे आराहगा तुमं मोत्तुं । सो भणति-एय लट्ठं,जदि एत्तिया आराहगा. गओ कुंभकारकडं, मरुएणं जदिं उज्जाणे ठितो तहिं आउहाणि णूमियाणि । राया बुग्गाहिओ-जहा एस कुमारो परीसहपराजितो एएण उवाएणं तुमं मारेत्ता रज्जं गिण्हिहिति त्ति. जदि ते विपच्चओ उज्जाणं पलोएहि, आउहाणि ओलइयाणि दिट्ठाणि, ते बंधिऊण तस्स चेव पुरोहियस्स समप्पिया, तेण सव्वे पुरिसजंतेण पीलिया तेहिं सम्मं अहि[illegible]

पासे धरिश्रो, लोहियचिरिक्काहिं भरिज्जंतो सव्वश्रो पच्छा जंते पीडितो निदाणं काऊण अग्गिकुमारेसु उववण्णो। तं पि से रयहरणं रुहिरलित्तं पुरिसहत्थो त्ति काउं गिद्धेहिं पुरंदरजसाए पुरश्रो पाडियं, सा वि तद्दिवसं अधिइं करेति जहा साहू न दीसंति, तं च णाए दिट्ठं, पच्चभिन्नाश्रो य कंबलो, णिसिज्जाश्रो छिएणाश्रो, ताए चेव दिएणो, ताए णायं-जहा ते मारिया, ताहे खिंसितो राया-पाव ! विणट्ठोऽसि। ताए चिंतियं-पव्वयामि, देवेहिं मुणिसुव्वयसगासं नीया, तेण वि देवेणं णगरं दड्ढं सजणवयं, अज्ज वि दंडगारएणं ति भएणति। अरएणस्स य वणाक्खाया भवति।"तेन द्वारगाथायां वनमित्युक्तम्। "एत्थ तेहिं साहूहिं बहपरीसहो अहियासितो सम्मं, एवं अहियासियव्वं। न जहा खंदएण नाहियासियं।" उत्त० २ अ०।

वधपरीषहमङ्गीकृत्याऽऽह—

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति, तउ पुट्ठा व पाणिणो ॥ ० ॥

(अप्पेगे इत्यादि)अपिः सम्भावने, एकः कश्चिच्छ्वाऽऽदिः लूषयतीति लूषकः प्रकृत्यैव क्रूरो भक्षकः, क्षुधितं बुभुक्षितं भिक्षामटन्तं भिक्षुं दशति भक्षयति दशनैरङ्गावयवं विलुम्पति। तत्र तस्मिन् श्वाऽऽदिभक्षणे सति मन्दा अज्ञा अल्पसत्त्वतया विषीदन्ति दैन्यं भजन्ते। यथा तेजसाऽग्निना स्पृष्टा दह्यमानाः प्राणिनो जन्तवो वेदनाऽऽर्त्ताः सन्तो विषीदन्ति गात्रं संकोचयन्त्यार्तध्यानोपहता भवन्ति, एवं साधुरपि क्रूरसत्त्वैरभिद्रुत- संयमाद् भ्रश्यत इति, दुःसहत्वाद् ग्रामकण्टकानाम्। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

बहपरीसहविजय-बधपरीषहविजय-पुं०। निशितकृपाणमुद्गराऽऽदिप्रहरणताडनाऽऽदिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतकर्मणामेव फलं,तन्न मे किञ्चिदप्यमी वराकाः कुर्वन्ति। अपि च-विशरारुस्वभावं शरीरमेतैर्बाध्यते, नान्तर्गतानि मम ज्ञानदर्शनचारित्राणीति चिन्तयतो वासीतक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनः यत् सम्यक् बधपीडासहनम्,। तस्मिन्, पं० सं० ४ द्वार।

बहप्फइ-बृहस्पति-पुं०। " बृहस्पतिवनस्पत्योः सो वा " ॥८।२।६९॥ अनयोः संयुक्तस्य सो वा भवति। 'बहस्सई। बहप्फई। भयस्सई। भयप्फई।' प्रा०२ पाद। "बृहस्पतौ बहो भयः" ॥८।२।१३७॥ बृहस्पतिशब्दे बह इत्यस्यावयवस्य भय इत्यादेशो वा भवति। भयस्सई। भयप्फई। भयप्पई। पक्षे-बहस्सई। बहप्फई। बहप्पई। प्रा० २ पाद। "वा बृहस्पतौ" ॥८।१।१३८॥ इतीकारे उकारे च। "ष्पस्पयोः फः" ॥८।२।५३॥ इति फो भवति। बिहप्फई। बुहप्फई। बहप्फई। प्रा० १ पाद। तारकाकारग्रहे ज्योतिष्कदेवभेदे, स्था० ६ ठा०। पुष्यनक्षत्रस्य बृहस्पतिर्देवता। दो बहप्फई। स्था० २ ठा० ३ उ०। जं०। सू० प्र०। चतुश्चत्वारिंशे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०। प्रश्न०। प्रज्ञा०। ज्यो०। कल्प०। अविश्वासगर्भशास्त्राऽऽचार्ये, स्वनामख्याते आचार्ये, " जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिना दयाम्। बृहस्पतिरविश्वासं, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् ॥ १ ॥ " आ० चू० १ अ०।

बहप्फइचरिय-बृहस्पतिचरित-न०। बृहस्पति- शुभाशुभफलप्रदर्श्यन्ते यत्र तादृशे शास्त्रे, सू०प्र० २० पाहु०।

बहप्फइदत्त-बृहस्पतिदत्त-पुं०। महेश्वरदत्तपुत्रे, स्था०। कौशाम्ब्यां बृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणः, स चान्तःपुरव्यतिकरे उदायनेन राज्ञा तथैव कदर्थयित्वा मारितो, जन्मान्तरे चासावासीत् महेश्वरदत्तनामा पुरोहितः, स च जितशत्रो राज्ञः शत्रुजयार्थं ब्राह्मणाऽऽदिभिर्होमं चकार, तत्र प्रतिदिनमेकैकं चातुर्वर्ण्यदारकमष्टम्यादिषु द्वौ चतुर्मास्यां चतुरश्चतुरः षण्मास्यामष्टावष्टौ संवत्सरे षोडश षोडश परचक्राऽऽगमेऽष्टशतमष्टशतं परचक्रं च जीयते, तदेवं मृत्वाऽसौ नरकं जगामेत्येवं ब्राह्मणवक्तव्यतानिबद्धं पञ्चममिति। स्था० १० ठा०।

बृहस्पतिदत्तवक्तव्यता—

जंबू ! ते णं काले णं ते णं समए णं कोसंबी णामं णयरी होत्था रिद्धत्थमियसमिद्धा, बाहिं चंदोत्तरणे उज्जाणे सेयभद्दे जक्खे, तत्थ णं कोसंबीए णयरीए सयाणीए णामं राया होत्था महयाहिमवंत०, तस्स णं सयाणीयस्स रएणो मियावतीए देवीए अत्तए उदयणे णामं कुमारे होत्था अहीणजुवराया। तस्स णं उदयणस्स कुमारस्स पउमावई णामं देवी होत्था। तत्थ णं सयाणीयस्स सोमदत्ते णामं पुरोहिए होत्था रिउव्वेदे यजुव्वेदे सामवेए अथव्वणवेए०। तस्स णं सोमदत्तस्स पुरोहियस्स वसुदत्ता णामं भारिया होत्था। तस्स णं सोमदत्तस्स पुत्ते वसदत्ताअत्तए बहस्सइदत्ते णामं दारए होत्था अहीणसव्वंगे। ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे समोसरिए। ते णं काले णं ते णं समए णं भगवं गोयमे तहेव ०जाव रायमग्गं उग्गाढे तहेव पासइ हत्थी आसे पुरिसमज्झे पुरिसं चिंता तहेव पुच्छइ पुव्वभवं, भगवं वागरेइ। एवं खलु गोयमा ! ते णं काले णं ते णं समए णं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे सव्वओभद्दे णामं णयरे होत्था रिद्धत्थमियसमिद्धे, तत्थ णं सव्वओभद्दे णयरे जियसत्तू णामं राया होत्था। तत्थ णं जियसत्तुस्स रएणो महेसरदत्ते णामं पुरोहिए होत्था रिउवेदे ०जाव अथव्वणकुसले यावि होत्था। तए णं से महेसरदत्ते पुरोहिए जियसत्तुस्स रएणो रज्जबलविवद्धणट्ठयाए कल्लाकल्लिं एगमेगं माहणदारगं एगमेगं खत्तियदारगं एगमेगं वइस्सदारगं एगमेगं सुद्ददारगं गिएहावेइ गिएहावेइत्ता तेसिं जीवंतगाणं चेव हयउडए गिएहावेइ, गिएहावेइत्ता जियसत्तुस्स रएणो संतिहोमं करेइ, करेइत्ता तए णं से महेसरदत्ते पुरोहिए अट्ठमीचउद्दसीसु दुवे दुवे माहणखत्तियवइस्ससुद्दे चउएहं मासाणं चत्तारि चत्तारि छएहं मासाणं अट्ठ अट्ठ संवच्छरस्स सोलस सोलस जाहे वि य णं जियसत्तू णं राया परबलेणं अभिजुज्जइ ताहे तहिं वि य णं से महेसरदत्ते पुरोहिए अट्ठसयं माहणदारगाणं अट्ठसयं खत्तियदारगाणं अट्ठसयं

वइस्सदारगाणं अट्ठसयं सुद्दारगाणं पुरिसेहि गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता तेसिं जीवंताणं चेव हयउडियाओ गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता जियसत्तुस्स रण्णो संतिहोमं करेइ, करेइत्ता तए णं से परबले खिप्पामेव विद्धंसइ वा, पडिसेहिज्जइ वा; तए णं से महेसरदत्ते पुरोहिए एयकम्मे ४ सुबहुपावं ०जाव समज्जिणित्ता तीसं वाससयाइं पर ०कालमासे कालं किच्चा पंचमाए पुढवीए उक्कोसेणं सत्तरसागरोवमट्ठिईए णरएसु उववणे, से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव कोसंबीए णयरीए सोमदत्तस्स पुरोहियस्स वसुदत्ताए भारियाए पुत्तत्ताए उववणे । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं णामधिज्जं करेइ-जम्हा णं अम्हं इमे दारए सोमदत्तस्स पुत्ते वसुदत्ताए अत्तए तम्हा णं होउ अम्हं दारए बहस्सइदत्ते णामेणं । तए णं से बहस्सइदत्ते दारए पंचधाईपरिग्गहिए ०जाव परिवड्ढइ । तए णं से बहस्सइदत्ते णाम कुमारे उम्मुक्कबालभावे जोव्वणविणाए होत्था, उदयणस्स कुमारस्स पियबालवयस्सए यावि होत्था सहजायए सहवड्ढियए सह पंसुकीलयए । तए णं से सयाणीए राया अण्णया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते, तए णं से उदयणे कुमारे बहूहिं राईसर ० जाव सत्थवाहप्पभिईहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे सयाणीयस्स रण्णो महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेइ, करेइत्ता बहूइं लोयाइं मयकिच्चाइं करेइ । तए णं से बहवे राईसर ०जाव सत्थवाहे उदयणं कुमारं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ । तए णं से उदयणे कुमारे राया जाए महया ० । तए णं से बहस्सइदत्ते दारए उदयणस्स रण्णो पुरोहिए उदयणस्स रण्णो अंतेउरे वेलासु य अवेलासु य कालेसु य अकालेसु य राओ य वियाले य पविसमाणे अण्णया कयाइ पउमावईदेवीए सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था । पउमावईदेवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । इमं च णं उदयणे राया ण्हाए ०जाव विभूसिए जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता बहस्सइदत्तं पुरोहियं पउमावईए देवीए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे पासइ, पासइत्ता आसुरुत्ते तिवलियं भिउडिं णिलाडे साहट्टु बहस्सइदत्तं पुरोहियं पुरिसेहिं गिण्हावेइ, गिण्हावेइत्ता ०जाव एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ । एवं खलु गोयमा ! बहस्सइदत्ते पुरोहिए पुरा पोराणाणं ०जाव विहरइ । बहस्सइदत्ते णं भंते ! दारए इओ कालगए कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! बहस्सइदत्ते दारए पुरोहिए चउसट्ठिं वासाइं परमाउं पालयित्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलीभिण्णकए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए संसारो तहेव पुढवी, तओ हत्थिणाउरे णयरे मियत्ताए पच्चाइस्सइ । से णं तत्थ वाउरिएहिं वहिए समाणे तत्थेव हत्थिणाउरे णयरे सेट्ठिकुलंसि पुत्ताए बोहिं सोहम्मे कप्पे महाविदेहे सिज्झिहिति । विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

बहल-देशी-पङ्के, दे० ना० ६ वर्ग ८६ गाथा । दृढे, त्रि० । जं० ३ वक्ष० । बाहल्यविशिष्टे, पञ्चा० ५ विव० । तमिस्रसमूहे, सू० प्र० २० पाहु० ।

बहलिय-बहलिक-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे, तद्देशे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० ।

बहली-बहली-स्त्री० । बहलदेशोत्पन्नायां दास्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । आ० म० । ऋषभपुत्रबाहुबलिराज्ये, बाहुबलेर्बहलीदेशे तक्षशिलायां राज्यं दत्तम् । कल्प० १ अधि० ७ क्षण । आ० चू० । वृशा० ।

बहविरइ-वधविरति-स्त्री० । व्यापादननिवृत्तौ प्रज्ञा० १ पद ।

बहस्सइ-बृहस्पति-पुं० । 'बहप्फइ' शब्दार्थे प्रा० २ पाद ।

बहस्सइचरिय-बृहस्पतिचरित-न० । 'बहप्फइचरिय' शब्दार्थे, सू० प्र० २० पाहु० ।

बहस्सइदत्त-बृहस्पतिदत्त-पुं० । 'बहप्फइदत्त' शब्दार्थे, स्था० १० ठा० ।

बहावह-वधाऽऽवह-पुं० । वधं प्राणुपमर्दमावहतीति वधाऽऽवहः । हिंसके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

बहि-बहिस्-अव्य० । वह-इसुन् । बाह्ये, वाच० । स० ३४ स० । स्था० । रा० ।

बहिविहार-बहिर्विहार-पुं० । बहिः संसाराद् विहारः स्थानं बहिर्विहारः । मोक्षे, उत्त० १४ अ० ।

बहिणी-भगिनी-स्त्री० । "दुहितृ-भगिन्योर्धूआ बहिण्यौ" ॥ ८ । २ । १२६ ॥ इति भगिनीस्थाने बहिणी इत्यादेशः । प्रा० २ पाद । स्वसरि, "भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि ! महारा कंतु ।" प्रा० ४ पाद । "बहिणी ससा ।" पाइ० ना० २५२ गाथा ।

बहिय-बधित-त्रि० । हते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

बहिया-बहिस्-अव्य० । नगराऽऽदेर्बहिस्तादर्थे स्था० ६ ठा० । भ० । चं० प्र० । "चंपाए णयरीए बहिया पुण्णभद्दे चेइए ।" औ० । भ० । आचा० । स्था० । आव० ।

बहियापोग्गलक्खेव-बहिःपुद्गलक्षेप-पुं० । अभिगृहीतदेशाद् बहिः प्रयोजनसद्भावे परेषां प्रबोधनाय लेष्ट्वादिपुद्गलप्रक्षेपे, उपा० १ अ० । "बहिया पोग्गलक्खेवं" (२८ गा०) देशावकाशिकव्रतं हि गृह्यते मा भूद् गमनाऽऽगमनाऽऽदिव्यापारजनित प्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण । स च स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित् फले विशेषः । पञ्चा० १ विव० ।

बहिर-बधिर-पुं० । "ख-घ-थ ध-भाम्" ॥ ८ । १ । १८७ ॥ इ-

ति यस्य ह्रः। प्रा० १ पाद। श्रोत्रशक्तिविकले, प्रश्न० १ आ श्र० द्वार। एवं बधिरत्वमप्यदृष्टवशादनेकशः परिसंवेदयते, तदावृतश्च सदसद्विवेकविकलत्वाद् ऐहिकाऽऽमुष्मिकेष्टफलक्रियाऽनुष्ठानशून्यतां बिभर्तीति। उक्तं च—

"धर्मश्रुतिश्रवणमङ्गलवर्जितो हि,
लोकश्रुतिश्रवणसंव्यवहारबाह्यः।
किं जीवतीह बधिरो भुवि यस्य शब्दाः,
स्वप्नोपलब्धधननिष्फलतां प्रयान्ति ॥ १ ॥
स्वकलत्रबालपुत्रक—मधुरवचःश्रवणबाह्यकर्णस्य।
बधिरस्य जीवितं किं, जीवन्मृतकाऽऽकृतिधरस्य ? ॥ २ ॥"

आचा० १ श्रु० २ अ ३ उ०। "कहिते कहिते कज्ज, भणाति बहिर व्व न सुयं मे।" कथिते २ कार्ये बधिर इव भणति ब्रूते—न मया श्रुतमिति स बधिर इव बधिरः। दुर्व्यवहारिभेदे, व्य० ३ उ०। ( बधिरोल्लापकथा 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे २८६ पृष्ठे गता )

बहिरिय–बधिरित–त्रि०। बधिरीकृते, आ० म० १ अ०।

बहिल्लेस–बहिर्लेश्य–त्रि०। संयमाद् बहिर्निर्गताध्यवसायो यस्य स बहिर्लेश्यः। असंयमाध्यवसिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ०।

बहु–बहु–त्रि०। त्रिप्रभृतिषु, व्य० १ उ०। नि० चू०। प्रश्न०। बृ०। यावदनन्तेषु, सूत्र० २ श्रु० ४ अ०। प्रचुरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ०। सू० प्र०। भूयसि, बृ० २ उ०। स्था०। प्रभूते, भ० २ श० ५ उ०। प्रश्न०। सूत्र०। अत्यर्थे, स० ३० सम०। आचा०। भिन्नजातीये, स्था० ६ ठा०।

बहुनिक्षेपः। नामाऽऽदिभेदाद् बहुश्चतुर्धा—स च नामाऽऽदिः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यतस्तु बह्वभिधातुमाह—

दव्वबहुएण बहुगा, जीवा तह पोग्गला चेव ( ३१० )
भावबहुएण बहुगा, चोद्दस पुव्वा अणंतगमजुत्ता।
भावे खओवसमिए, खइयम्मि य केवलं नाणं ॥ ३११ ॥

( दव्वबहुएणं ति ) आर्षत्वात् द्रव्यतो बहुत्वं द्रव्यबहुत्वं तेन बहुकाः प्रभूता जीवा उपयोगलक्षणाः, तथा पुद्गलाः स्पर्शाऽऽदिलक्षणाश्चशब्दः पुद्गलाश्च जीवापेक्षया बहुत्वं ख्यापयति, ते ह्येकैकस्मिन् संसारिजीवप्रदेशेऽनन्ता एव सन्ति, एवोऽवधारणे, जीवपुद्गला एव द्रव्यबहवः, तत्र धर्माधर्माऽऽकाशानामेकद्रव्यत्वात्, कालस्यापि तत्त्वतः समयरूपत्वेन बहुत्वाभावादिति गाथाऽर्थः ॥ ३१० ॥ ( भावबहुएणं ति ) प्राग्वत्। ( बहुग त्ति ) बहुकानि चतुर्दशसंख्यानि ( पुव्व त्ति ) पूर्वाण्युत्पादपूर्वाऽऽदीनि ( अणंतगमजुत्त त्ति ) अनन्ता अपर्यवसिता गम्यते वस्तुस्वरूपमेभिरिति गमा वस्तुपरिच्छेदप्रकारा नामाऽऽदयस्तैर्युक्तान्यन्वितान्यनन्तगमयुक्तानि पर्यायाऽऽद्युपलक्षणं च गमग्रहणम्। उक्तं हि—"अणंता गमा अणंता पज्जवा अणंता हेतू।" इत्यादि। अनेनैतदात्मकत्वात्पूर्वाणां तेषामप्यानन्त्यमुक्तम्। क्व पुनरमूनि भावे वर्तन्ते येन भावबहून्युच्यन्त इत्याह-भाव इत्यात्मपर्याये क्षायोपशमिके चतुर्दश पूर्वाणि वर्तन्त इति प्रक्रमः। आह-किं न क्षायिके भावे किञ्चिद्भावबहुत्वमस्ती-त्याह-क्षायिके च कर्मक्षयादुत्पन्ने पुनः केवलज्ञानमनन्तपर्यायत्वात् तदपि भावबहुकमिति गाथाऽर्थः। उत्त० ११ अ०।

"बहुदासीदासमहिसगवेलगप्पभूयाइं।" बहवो दासीदासा येषु तानि। ( स्था० ) "बहुधणबहुजायरूवरययाइं।" बहुधनं गणिमधरिमाऽऽदि येषु तानि तथा बहुजातरूपं च सुवर्णं रजतश्च रूप्यं येषु तानि तथा। पश्चात्कर्मधारयः। स्था० ८ ठा०। औ०। भ०। "बहुदव्वजुत्तिसंभारा।" बहुद्रव्ययुक्तिसंभाराः। रा०। सूत्र०। बहूनां द्रव्याणामुपबृंहकाणां युक्तयो मीलनानि तासां संभारः प्राभूत्यं येषु ते बहुद्रव्ययुक्तिसंभाराः। जी० ३ प्रति० ४ उ०। "बहुपहरणाऽऽवरणभरियजुद्धसज्जं।" बहूनां प्रहरणानामावरणानां च स्फुरकङ्कटाऽऽदीनां भृतो युद्धसज्जश्च यः स तथाऽतस्तम्। भ० ७ श० ६ उ०।

बहुअ–बहुक–त्रि०। स्वार्थे कः। "स्वार्थे कश्च वा" ॥ ८ ॥ २ ॥ १६४ ॥ प्रा० २ पाद। अत्यन्ते, रा०।

बहुअट्ठिय–बह्वस्थिक–न०। प्रभूतास्थिके, "बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता।" आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १० उ०। दश०।

बहुअर–बहुतर–त्रि०। "कगचज०" ॥ ८ ॥ १ ॥ १७७ ॥ इत्यादिना तलुक्। अतिशयिते बहुशब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

बहुआगम–बह्वागम–पुं०। बहुरागमोऽर्थपरिज्ञानं यस्यासौ बह्वागमः। प्रभूतसूत्रार्थज्ञातरि, व्य० ३ उ०। तथा बहुरागमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः जघन्येनाऽऽचारप्रकल्पधरो निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थः। जघन्यत आचारप्रकल्पग्रहणादुत्कर्षतो द्वादशाङ्गविदिति द्रष्टव्यम्। व्य० ३ उ०।

बहुओघपय–बह्वोघपद–न०। यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः सामान्येन पदानि क्रूरचौर्याऽऽद्युपसर्गस्थानानि भवन्ति। तादृशे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

बहुओदय–बह्वोदक–पुं०। ग्रामे एकरात्रिकेषु नगरे पञ्चरात्रिकेषु ( औ० ) वानप्रस्थभेदेषु, औ०।

बहुकंटय–बहुकण्टक–पुं०। प्रभूतकण्टके, "बहुकंटयं मच्छयं परिभाएत्ता।" आचा०।

बहुकम्म ( ण् )–बधूकर्मन्–न०। विवाहे कन्यापाणिके कर्मणि, आ० म० १ अ०।

बहुकर्मन्–न०। महाकर्मणि, भ० ६ श० ३ उ०। ( बहुकर्मणः सर्वतः पुद्गला बध्यन्ते इति 'पोग्गल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११०३ पृष्ठे उक्तम् )

बहुकूरकम्म–बहुक्रूरकर्मन्–न०। बहूनि क्रूराणि दारुणान्यनुष्ठानानि यस्य भवन्ति स बहुक्रूरकर्मा। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। जन्मान्तरोपात्तानां क्रूराणां कर्मणामुपभोक्तरि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

बहुकोह–बहुक्रोध–पुं०। बहुः कोधोऽस्येति बहुक्रोधः। प्रभूतकोपकषाये, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

बहुखज्ज–बहुखाद्य–त्रि०। बहुभक्ष्ये, पृथक्करणयोग्ये, आ० चा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०।

बहुगुण–बहुगुण–त्रि०। प्रचुरगुणे, प्रति०। "बहुगुणकुसुमसमिद्धो।" बहवो ये गुणा उत्तरगुणाः शुभफलरूपा-

स्त एव कुसुमानि तै. समृद्धो यः स तथा । प्रश्न० ४ संव०द्वार।

बहुगुणकलिय-बहुगुणकलित-त्रि० । अनेकविज्ञानाऽऽदिगुणसहिते, ग० २ अधि० ।

बहुगुणप्पगप्प-बहुगुणप्रकल्प-न० । बहवो गुणाः स्वपक्षसिद्धिपरपक्षदोषोद्भावनाऽऽदयो माध्यस्थ्याऽऽदयो वा प्रकल्पन्ते प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु तानि बहुगुणप्रकल्पानि। प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनाऽऽदिषु माध्यस्थ्यवचनप्रकारेषु वाऽनुष्ठानेषु, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

बहुजंपिर--बहुवावदूक-पुं० । बहुवक्तरि, "वाउल्लो जंबुल्लो, मुहुलो बहुजंपिरो य वायालो ।" पाइ०ना० ६६ गाथा ।

बहुजण-बहुजन-पुं० । बहवो जनाः साधवो गच्छवासितया संयमसहाया यस्य स बहुजनः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । भ० । गच्छवासिनि साधौ, बहुषु जनेषु, प्रभूतलोकेषु, पश्न० २ विव० । "बहुजणधिक्कारलज्जइया ।" बहुजनधिक्कारशब्देन लज्जायितः प्राप्ता लज्जा येन तथा । प्रश्न० ३ आश्र०द्वार । बहवो जना आलोचनाऽऽचार्या यस्मिन्नालोचने तद् बहुजनम् । आलोचनभेदे, स्था०।"एगस्साऽऽलोइत्ता, जो आलोए पुणो वि अण्णस्स । ते चेव य अवराहे, तं होइ बहुजणं नामं ॥ १ ॥" इति । स्था० १० ठा० ।

बहुजणणमण-बहुजननमन-पुं०। बहुजनैर्नम्यते स्तूयत इति बहुजननमन' । प्रभूतलोकप्रणम्ये,सूत्र० १ श्रु० ३ अ०४उ० ।

बहुजणपाउग्गया-बहुजनप्रायोग्यता-स्त्री०। बहवो जना बहुजनाः प्रस्तावात्साधव. । अथवा—बहुसंख्याको जनो, जानावेकवचनं.तत्रापि स एवार्थः । तस्य प्रायोग्यं योग्यमिति । तस्य भावो बहुजनप्रायोग्यता । मतिसम्पद्भेदे,दशा०४ अ०।

बहुजणविरुद्धसंग-बहुजनविरुद्धसङ्ग-पुं० । बहुजनै. प्रभूतलोकैः सह ये विरुद्धास्तदपकारकत्वेन विरोधवन्तस्तैः सार्द्ध य. सङ्गः सम्पर्कः स तथा । बहुभिर्लोकैर्विरुद्धानां सम्पर्के, ज्यो० १ पाहु० ।

बहुजणसद्द-बहुजनशब्द-पुं० । बहूनां जनानां परस्पराऽऽलापाऽऽदिरूपे शब्दे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

बहुजणसमुइया-बहुजनसमुदिता-स्त्री० । बहूनां जनानां मध्ये गृहीतायां प्रव्रज्यायाम् , "बहुजणसमुत्तियाए, णिक्खमणं होति जंबुणामस्स ।" पं०भा० १ कल्प । "बहुजणसमुत्तियाए जंबूनाम अक्खाणयं ।" पं० चू० १ कल्प।

बहुण-देशी-पुं० । चौरधूर्तयोः, दे०ना० ६ वर्ग ६७ गाथा ।

बहुणंदण-बहुनन्दन-पुं० । बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवन' । मेरौ, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

बहुणड-बहुनट-पुं० । नटवद् योगार्थं बहून्वेषान् विधत्ते इति बहुनटः । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

बहुणाम-बहुनाम-पुं० । बहुकर्मोपशमके, "जे एगं णामे से बहुं णामे, जे बहुं णामे से एगं णामे ।" यो हि प्रवर्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकण्डकः एकम्—अनन्तानुबन्धिनं क्रोधं नामयति क्षपयति स बहूनपि मानाऽऽदीन् नामयति क्षपयत्यप्रत्याख्यानाऽऽदीन् वा स्वभेदान्नामयति, मोहनीयं चैक यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति, यो वा बहून् स्थितिविशेषान्नामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेकं नामयति मोहनीयं वा, तथा ह्येकोनसप्ततिभिर्मोहनीयकोटीकोटिभिः क्षयमुपागताभिर्ज्ञानाऽऽवरणीयदर्शनाऽऽवरणीयवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंशद्भिर्नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभिः शेषकोटीकोट्याऽपि देशोनया मोहनीयक्षपणार्हो भवति, नान्य इत्यतोऽपदिश्यते यो बहुनामः स एव परमार्थत एकनाम इति, नाम इति क्षपकोऽभिधीयते, उपशामको वा उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमता बहुकोपशमता वा वाच्येति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

बहुणिवेस-बहुनिवेश-पुं० । बहुरनर्थसम्पादकत्वेनासदभिनिवेशो यस्य स बहुनिवेश. । असदर्थाभिनिविष्टे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । बह्वाये, ओघ० । आचा० ।

बहुणिव्वट्टियफल-बहुनिर्वर्तितफल--त्रि०। बहूनि निर्वर्तितानि बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा। सञ्जातप्रभूतफलकेषु, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । दश० ।

बहुतरग -बहुतरक-न० । प्रभूततरके, आ०म० १ अ० ।

बहुतरगुणसाहण--बहुतरगुणसाधन-न० । अनल्पतरगुणनिष्पादने, पश्न० १८ विव० ।

बहुत्त-प्रभूत-त्रि० । " प्रभूते व " ॥ ८ । १ । २३३ ॥ इति पस्य व. । वबयोरैक्यात् बहुत्तं। प्रा० १ पाद । तैलाऽऽदित्वाद् द्वित्वम् । प्रा० २ पाद ।

बहुदुक्ख-बहुदुःख-पुं०। बहूनि दुःखानि कर्मविपाकाऽऽपादितानि यस्य जन्तो. स तथा । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । बहु दुःखं प्राप्नुयमनेनेति बहुदु ख । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । नारकाऽऽदिदु खप्राप्तियोग्ये नारकाऽऽदिदुःखकारणत्वात् गौणप्राणवधे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । बहुष्वपि हिंसाऽऽदिषु सर्वेष्वपि दोष प्रवृत्तिलक्षणो बहुदोषः । बहुर्वा बहुविधो हिंसाऽनृताऽऽदिरिति बहुदोष. । रौद्रध्यानस्य द्वितीये लक्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ० । औ० । ग० । आ०चू० ।

बहुदेवसिय-बहुदैवसिक-त्रि० । बहुदिवसपर्युषिते. "अणाहाराऽऽदि कक्केण वासं वासितं, पच्छा एगरातिसवासितं त वि बहुदेवसियं भण्णइ ।" नि० चू० १४ उ० ।

बहुदेसिय-बहुदेश्य-त्रि० । ईषद्बहुके, " बहुदेसिएण सिणाणेण वा जाव पधंसेज्जा । " आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

बहुदोस-बहुदोष-त्रि० । " एक्का पसती दो वा तिण्णि वा पसतीतो दोसा, तेण परेणं बहुदोसा भण्णति । " इत्युक्ते प्रसृतित्रयाधिके, नि० चू० १४ उ० ।

बहुदोसणिवारणत्त-बहुदोषनिवारणत्व-न० अन्योन्यहननधनहरणाऽऽद्यनेकविधानर्थनिषेधकतायाम् , पश्न० ७ विव० ।

बहुधमणी-बहुधमनी-स्त्री० । अनेकशिरासु, तं० ।

बहुपक्खिय-बहुपाक्षिक-पुं० । बहुस्वजने, व्य० ७ उ० ।

बहुपडिपुण्ण-बहुपरिपूर्ण-त्रि० । अतिपरिपूर्णे, स्था० ६ ठा० ।

बहुपडिविरत-बहुप्रतिविरत-त्रि० । केषुचित्प्राणातिपातविरमणाऽऽदिव्रतेषु वर्तमाने, दशा० १० अ० ।

बहुपडिसेवि(ण्)-बहुप्रतिसेविन्-पुं० । बहूनां मासिकस्थानानां प्रतिसेविनि, व्य० १ उ० ।

बहुपमायमूल-बहुप्रमादमूल-न० । बहवः प्रमादा मद्यविकथाऽऽदयस्तेषां मूलं कारणं यत् तत् । बहूनां प्रमादानां कारणे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

बहुपया-बहुपदा-स्त्री० । कर्णशृगाल्यादिकायां बहुचरणायाम्, अनु० ।

बहुपर-बहुपर-न० । बहुत्वेन परं बहुपरम् । परभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० ।

बहुपसम-बहुप्रसन्न-त्रि० । अतिस्वस्थीभूते, पिं० । औ० ।

बहुपाउरण-बहुप्रावरण-न० । तुन्नवृतौ, " बहु पावरणं णासतुणेहिं करेति ।" नि० चू० ३ उ० ।

बहुपुक्खल-बहुपुष्कल-त्रि० । बहुसंपूर्णे,सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रचुरोदकभृते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

बहुपुत्तिया-बहुपुत्रिका-स्त्री० । स्वनामख्यातायां सौधर्मकल्पदेव्याम्, स्था० । बहुपुत्रिका देवी तत्प्रतिबद्धं,सैवाध्ययनमुच्यते । तथाहि-राजगृहे महावीरवन्दनार्थं सौधर्माद्बहुपुत्रिकाऽभिधाना देवी समवततार,वन्दित्वा च प्रतिजगाम । केयम् ?,इति पृष्टे गौतमेन भगवानवादीत्-वाराणस्यां नगर्यां भद्राभिधानस्य सार्थवाहस्य सुभद्राऽभिधाना भार्येयं बभूव । सा च वन्ध्या पुत्रार्थिनी भिक्षार्थमागतमार्यासंघाटकं पुत्रलाभं पप्रच्छ । स च धर्ममचीकथत्, प्राव्राजीच्च सा बहुजनापत्येषु प्रीत्याऽभ्यङ्गोद्वर्तनपरायणा सातिचारा मृत्वा सौधर्ममगमत् । ततश्च्युत्वा च विभेलसंनिवेशे ब्राह्मणीत्वेनोत्पत्स्यते । ततः पितृभागिनेयभार्या भविष्यति, युगलप्रसवा च सा षोडशभिर्वर्षैर्द्वात्रिंशदपत्यानि जनयिष्यति, ततोऽसौ तन्निर्वेदादार्याः प्रक्ष्यति, ताश्च धर्मं कथयिष्यन्ति, श्रावकत्वं च सा प्रतिपत्स्यते, कालान्तरे प्रव्रजिष्यति, सौधर्मे चन्द्रसामानिकतयोत्पद्य महाविदेहे सेत्स्यतीति ॥ स्था० १० ठा० ।

जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं णगरे गुणसिलए चेइए,सेणिए राया,सामी समोसढे,परिसा निग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं बहुपुत्तिया देवी सोहम्मे कप्पे बहुपुत्तियाए विमाणे सभाए सुहम्माए बहुपुत्तियंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसहस्सीहिं चउहिं महत्तरियाहिं जहा सूरियाभे ०जाव भुंजमाणी विहरइ । इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणी आभोएमाणी पासति समणं भगवं महावीरं जहा सूरियाभे ०जाव णमंसित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहा सन्निसन्ना आभियोगा जहा सूरियाभस्स सूसरा घंटा आभिओगियं देवं सद्दावेइ जाणविमाणं जोयणसहस्सविच्छिन्नं, जाणविमाणवन्नओ०जाव उत्तरिल्लेणं निज्जाणमग्गेणं जोयणसहस्सेहिं विग्गहाहिं आगता जहा सूरियाभे धम्मकहा सम्मत्ता । तते णं सा बहुपुत्तिया देवी दाहिणं भुयं पसारेति देवकुमाराणं अट्ठसयं देविकुमारियाणं वामाओ भुयाओ विउव्वइ, तयाणंतरं च णं बहवे दारगा य दारियाओ य डिंभयाओ य विउव्वइ नट्टविहिं जहा सूरियाभो उवदंसित्ता पडिगता भंते त्ति भयवं गोयमं समणं भगवं कूडागारसाला बहुपुत्तियाए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देविड्ढी पुरत्था ० जाव अभिसमन्नागता । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नगरी, अंबसालवणे चेइए, तत्थ णं वाणारसीए नगरीए भद्दे नामं सत्थवाहे होत्था अड्ढे ०जाव अपरिभूते । तस्स णं भद्दस्स सुभद्दा नामं भारिया सुउमाला वंझा अवियाउरा जाणुकोप्परमाता यावि होत्था । तते णं तीसे सुभद्दाए सत्थवाहीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाले कुटुंबजागरियं इमेयारूवे ०जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था । एवं खलु अहं भद्देणं सत्थवाहेणं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरामि, नो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामि, तं धन्नाओ णं ताओ अम्मगाओ ०जाव सुलद्धे णं तासिं अम्मगाणं मणुयजम्मजीवितफले,जासिं मन्ने नियकुच्छिसंभूयगाणं थणदुद्धलुद्धगाइं महुरसमुल्लावगाणि मम्मणजंपियाइं थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणगाणि पण्हयंति पुणो पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊणं उच्छंगनिवेसियाणि देंति समुल्लावए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिए अहं णं अधम्मा अपुन्ना अकयपुन्ना जं ता एगमवि न पत्ता ओहय० जाव झियाति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुव्वताओ णं अज्जाओ इरियासमिताओ भासासमिताओ एसणासमिताओ आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिताओ उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लमल्लपारिट्ठावणसमियाओ मणगुत्ताओ वइगुत्ताओ कायगुत्ताओ गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारिणीओ बहुस्सुयाओ बहुपरिवाराओ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणीओ गमाणुगामं दूइज्जमाणीओ जेणेव वाणारसी नगरी तेणेव उवागयाओ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा०जाव विहरति । तते णं तासिं सुव्वयाणं अज्जाणं एगे संघाडए वाणारसीए नयरीए उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे भद्दस्स सत्थवाहस्स गिहं अणुप्पविट्ठे । तते णं सुभद्दा सत्थवाही ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासति, पासइत्ता हट्ठ तुट्ठ खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छइत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं अज्जाओ ! भद्देणं सत्थवाहेणं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरामि, नो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामि, तं धन्नाओ णं ताओ अम्मगाओ०जाव एगमवि न पत्ता, तं तुब्भे अज्जाओ बहुणायाओ बहुपंडियाओ बहूनि गामागरनगर ०जाव सन्निवेसाइं आहिंडह, बहूणं राईसरतलवर ० जाव सत्थवाहप्पभितीणं गिहाइं अणुपविसह , अत्थि मे ! के वि कहिं वि विज्जापओए

वा मंतपओए वा वमणं वा विरेयणं वा वत्थिकम्मे वा ओसज्झे वा भेसज्जे वा उवलद्धे, जे णं अहं दारगं वा दारियं वा पयाएज्जा । तते णं ताओ अज्जाओ सुभद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ ० जाव गुत्तबंभयारिणीओ णो खलु कप्पति अम्हं एयमट्ठं कणेहिं वि णिसामित्तए, किमंग ! पुण उवदेसित्तए वा समायरित्तए वा, अम्हे णं देवाणुप्पिए ! णं तवविचित्तं केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहेमो । तते णं सुभद्दा सत्थवाही तासिं अज्जाणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा ताओ अज्जाओ तिक्खुत्तो वंदति, नमंसति, एवं वदासी-सद्दहामि णं अज्जाओ ! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि, रोएमि णं अज्जाओ ! निग्गथाओ ! पावयणं एवमेवं अवितहमेयं ० जाव सावगधम्मं पडिवज्जए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं सा सुभद्दा तत्थ तासिं अज्जाणं अंतिए ० जाव पडिवज्जति, पडिवज्जित्ता ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता पडिविसज्जेति । तते णं सुभद्दा सत्थवाही समणोवासिया जाया ० जाव विहरति । तते णं तीसे सुभद्दाए समणोवासियाए अन्नया कदाइ पुव्वरत्त०कुडुंबजागरियं अणमेया ० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु अहं सुभद्दे णं सत्थवाही विउलाइं भोगाभोगाइ ० जाव विहरति, नो चेव णं अहं दारग वा दारियं, तं सेयं खलु ममं कल्ल ० जाव जलंतं ० भद्दस्स आपुच्छित्ता सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए अज्जा भवित्ता अणगारा ० जाव पव्वइत्तए, एवं संपेहति, सपेहेतित्ता कल्लं जणेव भद्दे सत्थवाहे तेणेव उवागते करतल ० एवं वयासी-एव खलु अहं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं सद्धिं बहूइ वासाइं विउलाइं भोगभोगाइं ० जाव विहरामि , नो चेव णं दारगं वा दारियं वा पयामि, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी सुव्वयाणं अज्जाणं० जाव पव्वइत्तए । तते णं से भद्दे सत्थवाहे सुभद्दं एवं वयासी—मा णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! इदाणिं मुंडा ० जाव पव्वयाहि, भुंजाहि ताव देवाणुप्पिए ! मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं ततो पच्छा भुत्तभोई सुव्वयाणं अज्जाणं ० जाव पव्वाहिसि । तते णं सुभद्दा सत्थवाही भद्दस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं नो आढाति, नो परियाणाति, दुच्चं पि तच्चं पि भद्दं सत्थवाहं एव वयासी-इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुम्हेहिं अब्भणुन्नाया समाणी ० जाव पव्वइत्तए । तते णं से भद्दे सत्थवाहे जाहे नो संचाएति बहूहिं आघवणाहि य एवं पन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा ० जाव विन्नवित्तए वा, ताहे अकामए चेव सुभद्दाए निक्खमणं अणुमन्नित्था । तते णं से भद्दे सत्थवाहे विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, मित्तनाति० ततो पच्छा भोयणवेलाए ० जाव मित्तनातिं सक्कारेति, सक्कारेतित्ता सुभद्द सत्थवाहिं ण्हायं ० जाव पायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहेति । ततो सा सुभद्दा सत्थवाही मित्तनाइ० जाव संबंधिसंपरिवुडा सव्विड्ढीए ० जाव रवेणं वाणारसीए मज्झं मज्झेणं जेणेव सुव्वयाणं अज्जाणं उवस्सए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं ठवेति, सुभद्द सत्थवाहिं सीयातो पच्चोरुभति । तते णं भद्दे सत्थवाहे सुभद्दं सत्थवाहिं पुरओ काउं जणेव सुव्वया अज्जा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुव्वआओ अज्जाओ वंदति, नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! सुभद्दा सत्थवाही ममं भारिया इट्ठा कंता ० जाव मणामा मा णं वातियपित्तिय सिंभियसंनिवातिया विविहा रोयातका णो फुसंति, एस णं देवाणुप्पिए ! ससारभउव्विग्गा भीया जम्मणमरणाणं देवाणुप्पियाणं अंतिए मुडा भवित्ता ० जाव पव्वयाति, तं एयं अहं देवाणुप्पियाण सीसिणिं भिक्खं दलयामि, पडिच्छे तुम्हं देवाणुप्पिया ! सीसिणीभिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंध करेह । तते णं सा सुभद्दा सुव्वयाहिं अज्जाहिं एवं वुत्ता समाणी हट्ठा तुट्ठा सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ, सयमेव पचमुट्ठिय लोयं करेति, करेतित्ता जणेव सुव्वयाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सुव्वयाओ अज्जाओ तिक्खुत्तो आयाहिणंपयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एव वयासी-आलित्ते णं भंते ! जहा देवाणंदा तहा पव्वइया ०जाव अज्जा जाया०जाव गुत्तबंभयारिणी । तते णं सा सुभद्दा अन्नदा कदापि बहुजणस्स चेडरूवे समुत्थिता ०जाव अज्झोववन्ना अब्भंगणं च उव्वट्टणं च फासुयं पाणं च अलत्तगं च कंकणाणि य अंजणं च वन्नगं च चुन्नगं च खेल्लगाणि य खज्जगाणि य खीर च पुप्फाणि य गवेसति, गवेसित्ता बहुजणस्स दारए वा दारिया वा कुमारे य कुमारिया तेहिं तेहिं डिंभए य डिंभियाओ अप्पेगइयाओ अब्भंगेति, अप्पेगइयाओ उव्वट्टेति, एवं अप्पेगइया फासुयपाणएणं ण्हावेति, अप्पेगइया पाए रएति, अप्पेगइया उट्ठे रएति, अप्पेगइया अच्छीणि अंजे-

ति, अप्पेगतिया उसुए करेति, अप्पेगइया तिलए करेति, अप्पेगइगा दिगिंदलए करेति, अप्पेगइया पंतियाओ करेति, अप्पेगइया छिज्जाइं करेति, अप्पेगइया वन्नएणं समालभइ, अप्पेगइया चुन्नएणं समालभइ, अप्पेगइया खेलणगाइं दलयंति, अप्पेगइया खज्जगाइं दलयति, अप्पेगइया खीरभोयणं भुंजावेति, अप्पेगइया पुप्फाइं आमुयति, अप्पेगइया पादेसु ठवेति, अप्पेगइया जंघासु करेइ, एवं ऊरूसु उच्छंगे कडीए पिट्टे उरंसि खंधे सीसे अ करतलपुडेणं गहाय हलं ओहलेमाणी ओहलेमाणी आगायमाणी आगायमाणी परिहायमाणी पुत्तपिवासं च धूयपिवासं च नत्तिपिवासं च पच्चणुब्भवमाणी विहरति । तते णं ताओ सुव्वयाओ अज्जाओ सुभद्दं अज्जं एवं वयासी-अम्हे णं देवाणुप्पिए ! समणीओ निग्गंथीओ इरियासमियाओ ०जाव गुत्तबंभचारिणीओ, नो खलु अम्हं कप्पति जातकम्मं करेत्तए; तुमं च णं देवाणुप्पिए ! बहुजणस्स चेडरूवेसु मुच्छिया ० जाव अज्झोववन्ना अब्भंगणं ०जाव नत्तिपिवासं च पच्चणुब्भवमाणी विहरसि । तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि ०जाव पायच्छित्तं पडिवज्जाहि । तते णं सा सुभद्दा अज्जा सुव्वयाणं अज्जाणं एयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणाति, अणाढायमाणी अपरिजाणमाणी विहरति । तते णं ताओ समणीओ निग्गंथीओ सुभद्दं अज्जं हीलेंति, निंदंति, खिंसंति, गरिहंति, अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारेंति । तते णं तीसे सुभद्दाए अज्जाए समणीहिं निग्गंथीहिं हीलिज्जमाणीए ० जाव अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारिज्जमाणीए अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था-जया णं अहं अगारवासे आवसामि, तते णं अहं अप्पवसा, जप्पभिइं च णं अहं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया तप्पभिइं च णं अहं परवसा, पुव्विं च ममं समणीओ निग्गंथीओ आढेंति, परिजाणेंति, इयाणिं नो आढायंति, नो परिजाणंति, तं सेयं खलु मे कल्लं ० जाव जलंते सुव्वयाणं अज्जाणं अंतियाओ परिनिक्खमित्ता पाडिएक्कं उवसगं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं संपेहेति, संपेहेइत्ता कल्लं ०जाव जलंते सुव्वयाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिनिक्खमति, पाडिएक्कं उवस्सयं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तते णं सा सुभद्दा अज्जा अणोहट्टिता अणिवारिता सच्छंदमती बहुजणस्स चेडरूवेसु मुच्छिता ० जाव अब्भंगणं च ० जाव नत्तिपिवासं च पच्चणुब्भवमाणी विहरति । तते णं सा सुभद्दा अज्जा पासत्था पासत्थविहारी,

एवं ओसन्ना कुसीला संसत्ता संसत्तविहारी अहाछंदा अहाछंदविहारी बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणति, अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता छेदित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिकंता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे बहुपुत्तिदेविताए उववन्ना । तते णं सा बहुपुत्तिया देवी अहुणोववन्नमित्ता समाणी पंचविहाए पज्जत्तीए ०जाव भासामणपज्जत्तीए, एवं खलु गोयमा ! बहुपुत्तियाए देवीए सा दिव्वा देवड्ढी ०जाव अभिसमन्नागता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-बहुपुत्तिया देवी बहुपुत्तिया देवी ? । गोयमा ! बहुपुत्तियाणं देवीणं जाहे जाहे सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो उवज्झाइयं करेइ ताहे ताहे बहवे दारए य दारिया य डिंभए य डिंभियाओ य विउव्वइ, जेणेव सक्के देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं उवदंसेति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति- बहुपुत्तिया देवी म०२ । बहुपुत्तियाए णं भंते ! देवीए केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता । बहुपुत्तिया णं भंते ! देवी ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले विभेलसन्निवेसे माहणकुलंसि दारियत्ताए पच्चायाहिति । तते णं तीसे दारियाए अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वितिक्कंते समाणे ०जाव बारसेहिं दिवसेहिं वितिक्कतेहिं अयमेयारूवं नामधिज्जं करेहिंति-होउ णं अम्हं इमीसे दारियाए नामधेज्जं सोमा । तते णं सोमा उम्मुक्कबालभावा विन्नतपरिणयमेत्तं जोव्वणगमणुप्पत्ता रूवेण य जोव्वणेण य लावन्नेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा ० जाव भविस्सति । तते णं तं सोमं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं विन्नाय जोव्वणगमणुप्पत्तं पडिरूविएणं सुक्केणं नियगस्स भायणिज्जस्स रट्ठकूडयस्स भारियत्ताए दलइस्सति । तते णं तस्स भारिया भविस्सति इट्ठा कंता ०जाव भंडकरंडगसमाणा तिल्लकेला इव सुसंगोविता चेलपेडा इव सुसंपरिहिता रयणकरंडगो विव सुसारक्खिया सुसंगोविता मा णं सोमं ०जाव विविहा रोयातंका फुसंतु । तते णं सा सोमा माहणी रट्ठकूडेण सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी संवच्छरे संवच्छरे जुयलगं पयायमाणी सोलसेहिं संवच्छरेहिं बत्तीसं दारगरूवे पयाति । तते णं सा सोमा मा-

हणी तेहिं बहूहिं दारगेहि य दारियाहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य डिंभएहि य डिंभियाहि य अप्पेगइएहिं उत्ताणसेज्जाएहि य अप्पेगइएहिं थणयाएहिं अप्पेगइएहिं पीहणगपाएहिं अप्पेगइएहिं परंगणएहिं· अप्पेगइएहिं परक्कममाणेहिं अप्पेगइएहिं पक्खोलणएहिं अप्पेगइएहिं पूयं मग्गमाणेहिं अप्पेगइएहिं खीरं मग्गमाणेहिं अप्पेगइएहिं तेल्लं मग्गमाणेहिं अप्पेगइएहिं खिज्जणयं मग्गमाणेहिं अप्पेगइएहिं खज्जं मग्गमाणेहिं अप्पेगइएहिं कूरं मग्गमाणेहिं पाणियं मग्गमाणेहिं हसमाणेहिं रूसमाणेहिं अक्कोसेमाणेहिं अक्कुस्समाणेहिं हणमाणेहिं हम्ममाणेहिं विप्पलायमाणेहिं अणुगममाणेहिं रोयमाणेहिं कंदमाणेहिं विलवमाणेहिं कूयमाणेहिं उक्कूयमाणेहिं निद्दायमाणेहिं णिग्घायमाणेहिं पलवमाणेहिं इहहमाणेहिं वममाणेहिं छद्दमाणेहिं मुत्तमाणेहिं मुत्तपुरीसवमियसुलित्तोवलित्ता मइलवसणपुव्वडा० जाव असुई वीभच्छा परमगधा नो संचाएइ रट्ठकूडेणं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरित्तए । तते णं तीसे सोमाए माहणीए अन्नया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं इमेहिं बहूहिं दारगेहि य ०जाव डिंभयाहि य अप्पेगइएहिं उत्ताणिज्जएहि य ०जाव अप्पेगइएहिं सुत्तमाणेहिं दुज्जाएहिं दुज्जमएहिं हयविप्पहयभग्गेहिं एगप्पहारपडिएहिं जेणं मुत्तपुरीसं वमियं सुलित्तोवलित्ता ०जाव परमदुब्भिगंधा नो संचाएमि रट्ठकूडेणं सद्धिं ०जाव विहरित्तए , तं धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ ०जाव जीवियफले, जओ णं वंझाओ णं भवियाओ अवियाओ राओ जाणुकोप्परमायाओ सुरभिसुगंधगंधियाओ विउलाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणीओ विहरंति , अहं णं अधन्ना अपुन्ना नो संचाएमि रट्ठकूडेणं सद्धिं विउलाइं ०जाव विहरित्तए । तेणं कालेणं तेणं समएणं सुव्वयाओ नाम अज्जाओ इरियासमियाओ ०जाव बहुपरिवाराओ पुव्वाणुपुव्विं जेणेव विभेले संनिवेसे अहापडिरूवं उग्गहं ०जाव विहरंति । तते णं तासिं सुव्वयाणं अज्जाणं एगे संघाडए विभेलसन्निवेसे उच्चानीय ०जाव अडमाणे रट्ठकूडस्स गिहं अणुपविट्ठे । तते णं सा सोमा माहणी ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासति, पासइत्ता हट्ठतुट्ठा खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेइत्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, अणुगच्छित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता एव वयासी—एवं खलु अहं अज्जाओ रट्ठकूडेणं सद्धिं विउलाइं० जाव संवच्छरे संवच्छरे जुगलं पयायामि सोलसहिं संवच्छरेहिं बत्तीसं दारगरूवे पयाया, तते णं अहं तेहिं बहूहिं दारएहि य ०जाव डिंभियाहि य अप्पेगइएहिं उत्ताणसेज्जाएहिं० जाव सुत्तमाणेहिं दुज्जातेहिं ०जाव नो संचाएमि विहरित्तए, तमिच्छामि णं अज्जाओ तुम्हं अंतिए धम्मं निसामित्तए । तते णं ताओ अज्जाओ सोमाए माहणीए विचित्तं ०जाव केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहेंति । तते णं सा सोमा माहणी तासिं अज्जाणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठा ०जाव हयहियया ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—सद्दहामि णं अज्जाओ निग्गंथं पावयणं ०जाव अब्भुट्ठेमि णं अज्जाओ निग्गंथं पावयणं, एवमेयं अज्जाओ ०जाव से जहेयं तुब्भे वयह जं नवरं अज्जाओ रट्ठकूडं आपुच्छामि; तते णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा ०जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पिए ! मा पडिबंध करेह । तते णं सा सोमा माहणी ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पडिविसज्जेति । तते णं सा सोमा माहणी जेणेव रट्ठकूडे तेणेव उवागता करतल० एवं वयासी—एवं खलु मए देवाणुप्पिया । अज्जाणं अंतिए धम्मं निसंते, से वि य णं धम्मे इच्छिते० जाव अभिरूविते, तते णं अहं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया सुव्वयाणं अज्जाणं ०जाव पव्वइत्तए । तते णं से रट्ठकूडे सोमं माहणिं एवं वायासी—मा णं तुमं देवाणुप्पिए ! इदाणिं मुंडा भवित्ता ०जाव पव्वयाहि, भुंजाहि ताव देवाणुप्पिए ! मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं, ततो पच्छा भुत्तभोई सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए मुंडा ०जाव पव्वयाहि । तते णं सा सोमा माहणी रट्ठकूडस्स एयमट्ठं पडिसुणेति । तते णं सा सोमा माहणी ण्हाया ०जाव सरीरा चेडियाचक्कवालपरिकिण्णा साओ गिहाओ पडिनिक्खमति, विभेलसन्निवेसं मज्झं मज्झेणं जेणेव सुव्वयाणं अज्जाण उवस्सए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुव्वयाओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, पज्जुवासइ । तते णं ताओ सुव्वयाओ अज्जाओ सोमाए विचित्तं केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहेति, जहा जीवा बुज्झंति, तते णं सा सोमा माहणी सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए० जाव दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता सुव्वयाओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगता । तते णं सा सोमा माहणी समणोवासिया जाया अभिगत०जाव अप्पाणं भावेमाणी विहरति । तते णं ताओ सुव्वयाओ अज्जाओ अन्नदा कयावि विभेलाओ सन्निवेसा·

ओ पडिनिक्खमंती बहिया जणवयविहारं विहरंति । तते णं ताओ सुव्वयाओ अज्जाओ अन्नदा कयाइ पुव्वाणु०जाव विहरंति । तते णं सा सोमा माहणी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठा तुट्ठा ण्हाया तहेव निग्गया०जाव वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता धम्मं सोच्चा ०जाव नवरं रट्ठकूडं आपुच्छामि, तते णं पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पिए ! मा पडिबंधं करेह । तते णं सा सोमा माहणी सुव्वयं अज्जं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता सुव्वयाणं अंतियाओ पडिनिक्खमइ, जेणेव सए गिहे जेणेव रट्ठकूडे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतलपरिग्गहियं तहेव आपुच्छइ०जाव पव्वइत्तए । अहासुहं देवाणुप्पिए ! मा पडिबंधं करेह । तते णं रट्ठकूडे विउलं असणं तहेव ०जाव पुव्वभवे सुभद्दा ० जाव अज्जा जाता इरियासमिया ० जाव गुत्तबंभयारी । तते णं सा सोमा अज्जा सुव्वयाणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहूहिं छट्ठऽट्ठमदुआलस ०जाव भावेमाणी बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता २ मासियाए सलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए २ आलोइय पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो सामाणियदेवत्ताए उववज्जिहिति । तत्थ णं अत्थेगइया णं दो सागरोवमा ठिई पन्नत्ता, तत्थ णं सोमस्स वि देवस्स दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं भंते ! सोमे देवे तातो देवलोगाओ आउक्खएणं ० जाव चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे ०जाव अंतं काहिति । एवं खलु जंबू ! समणेणं ०जाव संपत्तेणं अयमट्ठे पन्नत्ते । नि० १ श्रु० ३ वर्ग० ४ अ० । ग० ।

पूर्णभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । ज्ञा० । स्था० ।

बहुप्पकार–बहुप्रकार–त्रि० । बहवः प्रकारा येषां जातिभेदेन ते बहुप्रकाराः । जी० ३ प्रति० ४ उ० । प्रश्न० । विविधेषु, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

बहुफासुय–बहुप्रासुक–त्रि० । बहुधा प्रासुकं बहुप्रासुकम् । अचिरकालकृतत्वात् विस्तीर्णत्वात् दूरावगाढत्वात् त्रसप्राणबीजरहितत्वाच्चानेकविधेऽचित्ते, भ० ८ श० ६ उ० ।

बहुबीयग–बहुबीजक–पुं० । बहूनि बीजानि फलेषु येषां ते तथा । भ० २२ श० १ वर्ग १ उ० । उदुम्बरकपित्थास्तिकतिन्दुकबिल्वानलकपनसदाडिममातुलिङ्गाऽऽदिषु वृक्षभेदेषु, आचा० १ श्रु० ४ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । भ० । बहूनि बीजानि वर्तन्ते यस्मिंस्तद् बहुबीजं पस्पोटकाऽऽदिकमभ्यन्तरे पु(प)ट्टादिरहितैकैकबीजमयं तस्मिन् फले; तच्च प्रतिबीजं जीवोपमर्दसम्भवाद्वर्जनीयं, यच्चाभ्यन्तरपु(प)ट्टादिसहितबीजमयं दाडिमटिम्बुरुकाऽऽदि तच्चाभक्ष्यतया व्यवहरन्ति । ध० २ अधि० । नि० चू० । ( 'वणस्सइ' शब्दे विस्तरः । )

बहुव्वीहि–बहुव्रीहि–पुं० । अन्यपदार्थप्रधाने समासभेदे, अनु० । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे० " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति रलुक् ।

से किं तं बहुव्वीहिसमासे ? । बहुव्वीहिसमासे–फुल्ला इमम्मि गिरिम्मि कुडयकयंबा सो इमो गिरी फुल्लियकुडयकयंबो । से तं बहुव्वीहिसमासे ॥

अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः; पुष्पिताः कुटजकदम्बा यस्मिन् गिरौ सोऽयं गिरिः पुष्पितकुटजकदम्ब । अनु० ।

बहुवेला–बहुवेला–स्त्री० । बह्वीर्वेला वारा अभीक्ष्णमित्यर्थः, यत्कार्यमुन्मेषनिमेषोच्छ्वासाऽऽदि विधीयते प्रतिवेलं द्रष्टुं न शक्यते तद्बहुवेला अभिधीयते । पञ्चा० १२ विव० । बहुवेलाभाविनि अक्षिभ्रूचालनाऽऽदिसूक्ष्मकार्ये, ध० ३ अधि० ।

बहुभंगिय–बहुभङ्गिक–न० । दृष्टिवादस्थे द्वाविंशतिसूत्रान्तर्गतेऽन्यतमसूत्रे, स० १२ अङ्ग ।

बहुभद्द–बहुभद्र–पुं० । ' भदि ' कल्याणे सुखे चेति वचनात् । बहुसुखे, पं०चू० १ कल्प ।

वंदे त भगवंतं, बहुभद्द सुभद्द सव्वओ भद्दं । पं० भा० १ कल्प । पं०चू० ।

बहुमज्झदेसभाग–बहुमध्यदेशभाग–पुं० । मध्यश्चासौ देशभागश्च देशावयवो मध्यदेशभागः । स चानात्यन्तिक इति बहुमध्यदेशभागः । न प्रदेशाऽऽदिपरिगणनया निष्टङ्कितोऽपि तु प्राय इति । अथवा–अत्यन्तं मध्यदेशभागः । प्रायोऽत्यन्ते वा मध्यदेशभागे , स्था० ४ ठा० २ उ० ।

बहुमय–बहुमत–पुं० । बहु मतो बहुशो बहुभ्यो वाऽन्येभ्यः सकाशात् बहुरिति वा मतो बहुमतः । भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । बहुष्वपि कार्येषु मते, अनल्पतया अस्तोकतया मते च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । आ०क० । तं० । औ० । कल्प० । अतीवाभीष्टे, जी० १ प्रति० ।

बहुमाइ ( ण् )–बहुमायिन्–पुं० । क्रोधाऽऽदिकषायमध्यभूताया मायाया ग्रहणे सर्वेषामेव ग्रहणात् । कषायैः कार्यकषे,आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । कुरुकुचाऽऽदिभिः कल्कतपसा च बहुनिकृतिपरे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

बहुमाण–बहुमान–पुं० । आन्तरे प्रीतिविशेषे, आ०म० १ अ० । ध० । पञ्चा० । षो० । द्वार्दे प्रतिबन्धविशेषे, जीत० । उत्त० । आन्तरभावप्रतिबन्धे, दश० ६ अ० १ उ० । गुणानुरागे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रुचिविषयाऽऽन्तरप्रीतिविशेषे,षो० २ विव० । व्य० । ध० । दर्श० । दश० । ग० । नि० चू० । जी० । पक्षपाते,पञ्चा०३विव० । नि०चू० । द्वा० । प्रव० । बहुमानं प्रीतिस्तद्विषये, यतो बहुमानेनैवान्तरचित्तप्रमोदलक्षणेन पठनाऽऽदि विधेयं, न पुनर्बहुमानाभावेन । प्रव०६द्वार । अचिन्त्यचिन्तामणिकल्पतीर्थकरप्रतिबन्धे , पं०सू० ४ सूत्र । व्य० । अन्तरङ्गप्रीतिविशेषे, यथा–" धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितम् । यैरेष भुवनक्लेशी, काममल्लो निराकृत ॥ १ ॥ " पञ्चा० १ विव० ।

बहुमानविनययोर्विशेषं दर्शयति–

तथा श्रुतग्रहणोद्यतेन गुरोर्बहुमानः कार्यः; बहुमानो ना–

माऽऽन्तरो भावप्रतिबन्धः । एतस्मिन् सत्यन्नेपेणाऽधिकफलं श्रुतं भवति । " विणयबहुमानेसु चउभंगी-एगस्स विणश्रो, न बहुमाणो । अवरस्स बहुमाणो, ण विणश्रो । अन्नस्स विणश्रो वि, बहुमाणो वि । अन्नस्स ण विणश्रो, ण बहुमाणो । इत्थ दोण्ह वि विसेसोपदसणत्थं इमं उदाहरणं-एगम्मि गिरिकंदरे सिवो, तं च बंभणो पुलिंदो य अच्चंति, बंभणो उवलेवणसम्मज्जणोवरिअभिसेयपयश्रो सुईभूश्रो अच्चित्ता थुणति विणयजुत्तो, ण पुण बहुमाणेण । पुलिंदो पुण तम्मि सिवे भावपडिबद्धो गल्लोदएण एहावेति, एहाविऊणं उवविट्ठो सिवो य तेण समं आलावसंकहाहिं अत्थति । अन्नया य तेसिं बंभणेण उल्लावसद्दो सुश्रो, तेण पडियरिऊण उवलद्धो-तुमं एरिसो चिय कडपूयणसिवो, जो एरिसेण उच्छिट्ठएण समं मतेसि, तश्रो सिवो भणति । एसो मे बहुमाणेइ, तुमं पुणो न तहा । अन्नया य अच्छीणि उक्खणिऊण अत्थइ सिवो, बंभणो य आगतुं रडियमुवसतो । पुलिंदो य आगश्रो, सिवस्स अच्छि न पेच्छति तश्रो अप्पयं अच्छि कंडफलेण उक्खणित्ता सिवस्स लाएइ । तश्रो सिवेण बंभणो पत्तियाविश्रो । एवं णाणमंतेसु विणश्रो बहुमाणो य दो वि कायव्वाणि । " दश० ३ अ० ।

भत्तिबहुमानयोर्विशेष इत्थम्—

बहुमाणे भत्ति भवई, नो भत्तीए वि माणे चउ लहुया ।
गिरिणिज्झरे सिव मरुश्रो,भत्तीएँ पुलिंदश्रो माणे ॥१४॥

बहुहा माणणं बहुमाणो, सो य बहुमाणो णाणाइसंजुत्तो कायव्वो । सो दुविहो भवति-भत्ती, बहुमाणं च । को भत्तिबहुमाणाणं विसेसो ? । भण्णति-गाहापच्छद्धं । अब्भुट्ठाणडंडग्गहणपायपुञ्छणाऽऽसणप्पदाणग्गहणाऽऽदीहिं सेवा आ सा भत्ती भवति । णाणदंसणचरित्ततवविणयपभावणातिगुणरंजियस्स जो रसो पीतिपडिबंधो सो बहुमाणो भण्णति । एत्थ चउभंगो कायव्वो-भत्तीणामेगस्स णो बहुमाणो । तत्थ पढमभंगे वासुदेवपुत्तो पालगो । बितियभंगे सेहुश्रो, संबो वा । ततियभंगे गोयमो । चउत्थे कविला कालसोयरिआइ । इदाणि भत्तिबहुमाणाण अण्णोण्णाऽऽरोवणं कज्जति । जश्रो भण्णति—" बहुमाणे भत्ति गाहा । " जत्थ बहुमाणो तत्थ भत्ती भवे, ण वा भत्तीए बहुमाणो । भत्तिश्रो 'बहुकारलोवं काऊण भण्णति'—माणो । भत्ति बहुमाणं वा ण करेंति चउलहुया । अहवा- भत्ति ण करेंति बहुमाण ण करेंति आणाइणो य दोसा भवंति । भत्तिबहुमाणविसेसणत्थं उदाहरण भण्णति-गोरगिरी णाम पव्वश्रो तस्स णिज्झरे सिवो, त च एगो बंभणो पुलिंदश्रो य अच्चेति । बंभणो उवलेवणादि काउं एहवणऽच्चणं करेति । पुलिंदो पुण उग्घारवज्जियं गल्लोल्लपाणिएणं एहावेति; तं च सिवो श्रोणमिऊण पडिच्छइ,आलाव च करेइ । अन्नया बंभणेण अलावसद्दो सुश्रो, पडियरिऊण जहाभूत णातं, उवालद्धो य सो सिवो-तुमं एरिसो कडपूयणसिवो जो एरिसेण उच्छिट्ठएण समं मतेसि । तश्रो सिवो भणइ—एसो मे बहु माणेइ तुम पुण न तहा । अण्णया य अच्छीणि उक्खणिऊण अत्थइ सिवो । बंभणो आगश्रो रडिउमुवसंतो । पुलिंदो आगश्रो अच्छि णऽत्थि ति अप्पणो अच्छी भल्लीए उक्खणिऊण सिवस्स लाएति । बंभणो पतीतो । तस्स बंभणस्स भत्ती पुलिंदस्स बहुमाणो । एवं नाणमंतेसु भत्ती बहुमाणो य कायव्वो । नि०चू० १ उ० ।

बहुमाय-बहुमाय-त्रि० । कपटप्रधाने,सूत्र०१श्रु०२ अ०२ उ० ।

बहुमिलक्खु-बहुम्लेच्छ-त्रि० । बहुमल्यान्तिके, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ० ।

बहुमुल्ल-बहुमूल्य-त्रि० । बहु प्रभूतं धनं द्रव्यं मूल्यं येषां तानि । महाद्रव्येषु, औ० ।

बहुमुह-वधूमुख-न० । दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥८।१।४। इति दीर्घस्य ह्रस्व । वधूवदने, प्रा० १ पाद । दुर्जने, दे० ना० ६ वर्ग ६२ गाथा ।

बहुय-बहुक-न० । बह्वेव बहुकम् । अपरिमिते आलजालरूपे, उत्त० १ अ० । प्रभूते, तं० ।

बहुरय-बहुरजस्-न० । बहुरजस्तुषाऽऽदिकं यस्मिंस्तद् बहुरजः॥ 'बहुरी' इति ख्याते अष्टधान्ये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । पहुके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । प्रभूते कर्मणि, प्रश्न० १ आश्र०द्वार । बहुबध्यमानकर्मणि बहुपापे बहुष्वारम्भाऽऽदिषु रते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । बहुसावद्याऽऽरम्भसक्ते, ध० २ अधि० । बहुषु समयेषु वस्तूत्पत्तिमधिकृत्य रताः सक्ता बहुरता । दीर्घकालं द्रव्यप्रसूतिप्ररूपिषु जमालिप्रवर्तितनिह्नवेषु, आ०म० १ अ० । बहुष्वेव समयेषु क्रियानिष्पत्तिरित्येवमसद्भावं प्रतिपन्नेषु, उत्त० ३ अ० । बहुभिरेव समयैः कार्यं निष्पद्यते नैकसमयेनेत्येवंविधवादिषु जमालिमतानुसारिषु, औ० । विशे० । ( बहुरता जमालेः कदोपपन्नाः । अत्र भावार्थस्तावत्कथानकादवसेयः, तच्च ' जमालि ' शब्दे चतुर्थभागे १४०६ पृष्ठे )

बहुरव बहुरव-पुं० । भूरिशब्दे प्रभूततरयशसि, दश० ६ अ० । स० ।

बहुराणा-देशी-खड्गधारायाम् दे० ना० ६ वर्ग ६१ गाथा ।

बहुरावा-देशी—शिवायाम् दे०ना० ६ वर्ग ६१ गाथा ।

बहुरिया-बहुरिका-स्त्री० । संमार्जन्याम् , वृ० १ उ० २ प्रक० ।

बहुरुण्ण-बहुरुदित-न० । प्रभूतेऽश्रुविमोचने,प्रश्न०१आश्र०द्वार ।

बहुरूव-बहुरूप-त्रि० । नानारूपे नानारूपधरे साधौ, महा० ४ अ० । ( ' पव्वज्जा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७६७ पृष्ठे वक्ष्यता गता )

बहुरूवा-बहुरूपा-स्त्री० । भूतेन्द्रस्य भूतराजस्य सुरूपस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । ज्ञा० । (पूर्वोत्तरजन्मकथा ' अग्गमहिसी ' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ता ।)

बहुरोगि(ण्)- बहुरोगिन् -पुं० । चिरकालं बहुभिर्वा रोगैरभिभूते, दश० १० अ० ।

बहुल-बहुल-त्रि० । व्याप्ते, रा० । प्रचुरे , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० । संथा० । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । अनुपरते, स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रश्न० । ज्ञा० । बहुशब्दार्थे , रा० । औ० । अनेकप्रकारे, आ० म० १ अ० । घने, औ० ।

स्थूले, स्था०४ ठा०२ उ०। "क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" ॥१॥ इत्युक्तरूपे व्याकरणप्रसिद्धे विकल्पे, दश० ४ अ०। श्रीवर्द्धमानस्वामिने प्रथमभिक्षादायके कोल्लागसन्निवेशवासिब्राह्मणे, आ०म० १ अ०। आ०चू०। "कोल्लाए सण्णिवेसे बहुले णामं माहणे परिवसइ।" भ० १५ श०। ('गोसालग' शब्दे तृतीयभागे १०१५ पृष्ठेऽयमधिकार उक्तः।) दृष्टिवादान्तर्गते स्वनामख्याते सूत्रे, स० १२ अङ्ग। कृष्णपक्षे, आ० म० १ अ०। "बहुलो कसणपक्खो।" पाइ० ना० २६८ गाथा।

बहुलदोस-बहुलदोष-त्रि०। बहुर्वा बहुविधो हिंसाऽनृताऽऽदिरिति बहुदोष इति। रौद्रध्यानस्य द्वितीयलक्षणे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

बहुलपक्ख-बहुलपक्ष-पुं०। कृष्णपक्षे, उत्त० २६ अ०। यत्र ध्रुवराहुः स्वविमानेन चन्द्रविमानमावृणोति तेन योऽन्धकारबहुलः पक्षः स बहुलपक्षः। जं० ७वक्ष०। सू०प्र०। ज्यो०।

बहुला-बहुला-स्त्री०। आलभिकापुरीजातचुल्लशतकश्रमणोपासकस्य भार्यायाम्, उपा० ५ अ०। एकवर्णायां गवि, अनु०। बहुलाया गो सुतो बाहुलेयः। आ०म० १ अ०। गवि, "नंदी तंबा बहुला, सिट्ठी गोला य रोहिणी सुरही।" पाइ०ना० ४५ गाथा।

बहुलावण-बहुलावन-न०। मथुरानगरीस्थे लौकिकवने, ती० ८ कल्प।

बहुलिया-बहुलिका-स्त्री०। आनन्दस्य गृहपतेर्गृहदास्याम्, आ० चू० १ अ०। आ०म०। अग्निकसहजातायां चेटकपुत्र्याम्, आ०चू० १ अ०। आ० म०।

बहुलोह-बहुलोभ-पुं०। सर्वमेतदाहाराऽऽदि लोभात्करोतीत्यतो बहुलोभ। अतिलुब्धे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

बहुलोहणिज्ज-बहुलोभनीय-त्रि०। बहून् लोभयन्ति विमोहयन्ति बहुलोभनीयाः। उत्त०पाई० ४ अ०। बहुलोभोत्पादके, उत्त० ४ अ०।

बहुवयण-बहुवचन-न०। बहवोऽर्था उच्यन्तेऽनेनोक्तिर्वेति वचनं, बहूनामर्थानां वचनं बहुवचनम्। स्था० ३ ठा० ४ उ०। बहुत्वप्रतिपादके वचनभेदे, प्रज्ञा० ११ पद। बहुवचनम्-वृत्ता इति। आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ०। ल०।

बहुवाइ(ण्)-बहुवादिन्-पुं०। अनेकधा व्याकर्त्तरि, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०।

बहुवावार-बहुव्यापार-पुं०। सामान्यसाधुषु, पं०व० २ द्वार।

बहुविग्घ-बहुविघ्न-न०। प्रचुरान्तराये, "श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि। अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वाऽपि यान्ति विनायकाः ॥१॥" आ०म० १ अ०।

बहुवित्थर-बहुविस्तर-त्रि०। अनेकभेदे, नि० चू० १३ उ०। दर्श०।



बहुवियप्प-बहुविकल्प-त्रि०। अनेकभेदे, सम्म० १ काण्ड।

बहुविरय-बहुविरत-पुं०। सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणाऽऽदिषु प्रवर्त्तमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। सर्वप्राणिभूतजीवसत्त्वेभ्यस्तत्स्वरूपापरिज्ञानात्तद्वधाद् विरते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

बहुविह-बहुविध-त्रि०। बहवो विधा भेदा यस्य स बहुविधः। स्था० ६ ठा०। अनेकप्रकारे, ध० २ अधि०। प्रश्न०। सूत्र०। विपा०। व्य०। बृ०।

बहुवी-बह्वी-स्त्री०। "तन्वीतुल्येषु ॥८।२।११३॥" इति मध्ये उकारः। स्त्रीत्वविशेषे बहुशब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

बहुसंकप्प-बहुसंकल्प-त्रि०। बहवः संकल्पाः कर्त्तव्याध्यवसाया यस्य स बहुसंकल्पः। बहुकर्त्तव्याध्यवसिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

बहुसंजय-बहुसंयत-पुं०। सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो निवृत्ते सूत्र० २ श्रु० २ अ०। दशा०।

बहुसंपत्त-बहुसंप्राप्त-त्रि०। ईषदूने संप्राप्ते, भ० २ श० १ उ०।

बहुसंपुण्ण-बहुसंपूर्ण-त्रि०। ईषदपरिसमाप्ते, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

बहुसंभूयफल-बहुसंभूतफल-त्रि०। बहूनि संभूतानि पाकातिशयतः ग्रहणकालोचितफलानि येषु ते तथा। तेषु, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०। दश०।

बहुसगड-बहुशकट-त्रि०। बहुरथे, आचा० २ श्रु० २ चू० ४ अ०।

बहुसच्च-बहुसत्य-पुं०। अहोरात्रस्य दशमे, चं०प्र० २० पाहु०। जं०।

बहुसढ-बहुशठ-पुं०। बहुभिः प्रकारैः शठे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

बहुसम-बहुसम-त्रि०। प्रभूतसमे, चं०प्र० २० पाहु०। आचा०। सू०प्र०। अत्यन्तसमे, स्था० ६ ठा०। रा०। वृद्धिहानिवर्जिते, भ० १३ श० ४ उ०। कल्प०।

बहुसमतुल्ल बहुसमतुल्य-न०। समतुल्यशब्दः सदृशार्थे। अत्यन्तसमतुल्ये, स्था० २ ठा० ३ उ०।

बहुसमरमणिज्ज-बहुसमरमणीय-त्रि०। अत्यन्तसमे, रम्ये च। भ० १४ श० ६ उ०। रा०।

बहुसमाइण्ण-बहुसमाकीर्ण-त्रि०। अत्यन्तमाकीर्णे, भ० ५ श० ६ उ०।

बहुसयण-बहुस्वजन-पुं०। बहुपाक्षिके, सू० १ उ० २ प्रक०।

बहुसलिलुप्पीलोदया-बहुशलिलोत्पीलोदका-स्त्री०। प्रतिस्रोतोवाहिताऽपरसरिति, दश ७ अ०।

बहुसालग-बहुशालक-पुं०। स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र शालवने उद्याने स्थितस्य वीरस्य पूतनानाम्नी व्यन्तरी उपसर्गं कृतवती। आ०चू० १ अ०। आ० म०।

बहुसुह-बहुसुख-न० । मोक्षाऽऽख्ये परमार्थसुखे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

बहुसुम-न० । प्रभूतसुखे , आव० ३ अ० ।

बहुसेया-बहुसेया-स्त्री० । बहु सीयन्ते अवबध्यन्ते यस्मिन्नसौ । सेयः-कर्दमः स यस्यां सा बहुसेया । प्रचुरकर्दमायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

बहुश्वेता-स्त्री० । बहुश्वेतपद्मसम्भवात् स्वच्छोदकसम्भवाद् बाहुल्येन श्वेतायां पुष्करिण्याम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

बहुसो-बहुशस्-अव्य० । अनेकवारे , व्य० १ उ० । अनेकश इत्यर्थे , पञ्चा० १ विव० । क०प्र० । ग० । बृ० । आचा० । विशे० । "बहुसो त्ति वा,भुज्जोभुज्जो त्ति वा एगट्ठा ।" नि०चू० २० उ० ।

बहुस्सुईकय-बहुश्रुतीकृत-पुं० । बहुश्रुतत्वेन मते अबहुश्रुतत्वे, भ० १५ श० । वृ० ।

बहुस्सुय-बहुश्रुत-पुं० । आगमवृद्धे, दश० ८ अ० । अष्ट० ।

बहुश्रुतमाह—

बहुसुएँ जुगप्पहाणे, अब्भिंतर बाहिरं सुयं बहुहा ।
होंति चसद्दग्गहणा, चारित्तं पी सुबहुयं पि ॥ २५१ ॥

यस्य बहुधा बहुप्रकारमभ्यन्तरमङ्गप्रविष्टं बाह्यमङ्गबाह्यं श्रुतं भवति विद्यते, तथा स विशुद्धिकर इत्यत्र चशब्दग्रहणात् सुबहुकं चारित्रमपि यस्य स युगप्रधानो बहुश्रुत । व्य० १० उ० । शास्त्रार्थपारगे , सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । बहु प्रचुरं श्रुतमागम सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य उत्कृष्टतः सम्पूर्णदशपूर्वधरे , जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयवस्तुवेदिनि , स्था० ८ ठा० । प्रव० । बहुसूत्रार्थोभयधरे, वृ० ।

तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो ।
आयारपकप्पे क-प्पे णवम दसमे य उक्कोसो ॥४०४॥

त्रिविधः खलु बहुश्रुतः । तद्यथा-जघन्यो, मध्यम, उत्कृष्ट. । तत्राऽऽचारप्रकल्पो निशीथं, तद्धारी जघन्यो बहुश्रुतो, मध्यमः ( 'कप्पे त्ति ) कल्पव्यवहारधरः, उत्कृष्टो नवमदशमपूर्वधरः । बृ० १ उ० १ प्रक० । व्य० । आ०क० । आ०म० । नि०चू० । बहुविधे , उत्त० २ अ० ।

बहुसुत्र-पुं० । बहु कालोचित सूत्रमाचाराऽऽदिकं यस्य स बहुसूत्रः । तस्मिन् , व्य० ३ उ० । दशा० ।

बहुस्सुयपूया-बहुश्रुतपूजा-स्त्री० । बह्वागमस्योचितप्रतिपत्तौ, उत्त० ।

संप्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् , तच्चेदम्—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

संयोगाद्विप्रमुक्तस्यानगारस्य भिक्षोः आचरणमाचार उचितक्रिया, विनय इति यावत् । तथा च वृद्धाः-" आयारो त्ति वा, विणउ त्ति वा एगट्ठ त्ति । " स चेह बहुश्रुतपूजाऽऽत्मक एव गृह्यते, तस्या एवात्राधिकृतत्वात् , तं प्रादुष्करिष्यामि प्रकटयिष्यामि आनुपूर्व्या, शृणुत ( मे ) मम, कथयत इति शेषः । इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

इह च बहुश्रुतपूजा प्रक्रान्ता, सा चाबहुश्रुतस्वरूपपरिज्ञाने एव कर्तुं शक्या, बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञानं तद्विविक्तं सुखेनैव ज्ञायत इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह—

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥२॥

( जे यावि त्ति ) य कश्चित् , चापिशब्दौ भिन्नक्रमौ उत्तरत्र योक्ष्येते, भवति जायते, निर्गतो विद्यायाः सम्यक् शास्त्रावगमरूपाया निर्विद्यः, अपिशब्दसंबन्धात् सविद्योऽपि, यः स्तब्धोऽहङ्कारी,लुब्ध रसाऽऽदिगृद्धिमान्, न विद्यते इन्द्रियनिग्रह.-इन्द्रियनियमनाऽऽत्मको ऽस्येत्यनिग्रहः अभीक्ष्णं पुनः पुन. उत्प्राबल्येनासंबद्धभाषिताऽऽदिरूपेण लपति-वक्ति उल्लपति अविनीतश्च विनयविरहितः ( अबहुस्सुए त्ति ) यच्छब्दो नित्याभिसम्बन्धात् सोऽबहुश्रुतः, उच्यत इति शेषः, स विद्यस्याऽप्यबहुश्रुतत्वं बाहुश्रुत्यफलाभावादिति भावनीयम्, एतद्विपरीतस्त्वर्थाद्बहुश्रुत. । इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

कुत पुनरीदृशमबहुश्रुतत्वं बहुश्रुतत्वं वा लभ्यते ?, इत्याह—

अह पंचहिँ ठाणेहिं, जेहिँ सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽऽलस्सेण य ॥ ३ ॥
अह अट्ठहिँ ठाणेहिं, सिक्खासीलेति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दंते, ण य मम्ममुदाहरे ॥ ४ ॥
नासीले ण विसीले, ण सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥ ५ ॥

अथेत्युपन्यासार्थ , पञ्चभि पञ्चसंख्यैस्तिष्ठन्त्येषु कर्मवशगा जन्तव इति स्थानानि तैर्यैरिति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः शिक्षणं शिक्षा ग्रहणाऽऽसेवनाऽऽत्मिका न लभ्यते नावाप्यते, तैरीदृशमबहुश्रुतत्वमवाप्यत इति शेष' । कैः पुनः सा न लभ्यते ?, इत्याह-स्तम्भान्मानात् क्रोधात् कोपात् प्रमादेन मद्यविषयाऽऽदिना रोगेण गलत्कुष्ठाऽऽदिना आलस्येनानुत्साहाऽऽत्मना, शिक्षा न लभ्यत इति क्रम । चः समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वमेषां द्योतयति ॥ ३ ॥ इत्थमबहुश्रुतत्वहेतूनभिधाय बहुश्रुतत्वहेतूनाह—अथाष्टभि स्थानै. शिक्षायां शीलः स्वभावो यस्य, शिक्षां वा शीलयत्यभ्यस्यतीति शिक्षाशील—द्विविधशिक्षाऽभ्यासकृत् , इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः, उच्यते—तीर्थकृद्गणधराऽऽदिभिरिति गम्यते, तान्येवाऽऽह—( अहस्सिरे त्ति ) "सृज हर " इति प्राकृतलक्षणाद्हसनशील. अहसिता न सहेतुकमहेतुकं वा हसेवाऽऽस्ते, सदा सर्वकाल दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमवान् , (न च) नैव मर्म परापभ्राजनाकारि कुत्सित जात्याद्युदाहरेद् उद्घट्टयेत् ॥ ४ ॥ (न) नैव अशील. अविद्यमानशीलः, सर्वथा विनष्टचारित्रधर्म इत्यर्थः,न विशील विरूपशीलः, अतीचारकलुषितव्रत इति यावत्, न स्यात् न भवेत्, इह पूर्वत्र च संभावने लिङ्, अतिलोलुप , अतीव रसलम्पट , अक्रोधनः अपराधिनि अनपराधिनि वा न कथञ्चित् क्रुध्यति, सत्यम्-अवितथभाषणं तस्मिन् रत -आसक्तः सत्यरत इति, निगमयितुमाह—शिक्षाशील इत्यनन्तरोक्तगुणभागुच्यते , च च

बहुश्रुत एव भवतीति भावः । इह च स्थानप्रक्रमेऽप्येवमभिधानं धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वख्यापनार्थं, विशेषाभिधायित्वाच्च क्वचित् केषाञ्चिदन्तर्भावसम्भवेऽपि पृथगुपादानं, परिहारद्वयमपीदमुत्तरत्रापि भावनीयम् । इति सूत्रत्रयार्थः ॥ ५ ॥ ( उत्त० ) ।

किं च-अबहुश्रुतत्वे बहुश्रुतत्वे वाऽविनयः, विनयश्च मूलकारणम्, तत्वत उक्तहेतूनामप्यनयोरेवान्तर्भावात् ।

विनीतस्थानान्याह—

अह पन्नरसहि ठाणेहिँ, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥ १० ॥
अप्पं च अहिक्खिवइ, पबंधं च न कुव्वइ ।
मित्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥ ११ ॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्सऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥ १२ ॥
कलहडमरवज्जए, बुद्धे अ अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥ १३ ॥

अथ पञ्चदशभिस्स्थानैस्सुष्ठु शोभनो विनीतो विनयान्वितस्सुविनीत इत्युच्यते, तान्येवाह-(णीयावित्ति त्ति) नीचमनुद्धतं यथा भवत्येव नीचेषु वा शय्याऽऽदिषु वर्तत इत्येवंशीलो नीचवर्ती गुरुषु न्यग्वृत्तिमान् । यथाऽऽह-" नीयं सेज्जं गई ठाणं णीयं च आसणाणि य । णीयं च पाए वंदिज्जा, णीअं कुज्जा य अंजलिं ॥ १ ॥ " अचपलः नाऽऽरब्धकार्यं प्रत्यस्थिरः, अथवा-अचपलो गतिस्थानभाषाभावभेदतश्चतुर्द्धा । तत्र गतिचपलः-द्रुतचारी, स्थानचपलः-तिष्ठन्नपि चलन्नेवाऽऽस्ते हस्ताऽऽदिभिः, भाषाचपलः-असदसभ्यासमीक्ष्यादेशकालप्रलापिभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र असदविद्यमानमसभ्यम्—खरपरुषाऽऽद्यसमीक्ष्य-अनालोच्य प्रलपन्तीत्येवंशीला असदसभ्यासमीक्ष्यप्रलापिनस्त्रयः, अदेशकालप्रलापी चतुर्थः अतीते कार्ये यो वक्ति—यदिदं तत्र देशे काले वाऽकरिष्यत् ततः सुन्दरमभविष्यत्, भावचपलः सूत्रेऽर्थे वाऽसमाप्त एव योऽन्यद् गृह्णाति, अमायी न मनोज्ञमाहाराऽऽदिकमवाप्य गुर्वाऽऽदिवञ्चकः, अकुतूहलः न कुहुकेन्द्रजालाऽऽद्यवलोकनपरः, अल्पं च इति स्तोकमेव अधिक्षिपति तिरस्कुरुते । किमुक्तं भवति?—नाधिक्षिपत्येव तावदसौ कञ्चन, अधिक्षिपन् वा कञ्चन कञ्चुककरूपं धर्मं प्रति प्रेरयन्नल्पमेवाधिक्षिपति, अभाववचनो वा अल्पशब्दः । तथा च वृद्धाः—" अल्पशब्दो हि स्तोकेऽभावे च । " ततो नैव कञ्चनाधिक्षिपति, प्रबन्धं चोक्तरूपं न करोति, मित्रीयमाण उक्तन्यायेन भजते मित्रीयितारमुपकुरुते, न तु प्रत्युपकारं प्रत्यसमर्थः कृतघ्नो वा श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति, किं तु मद्दोषपरिज्ञानतः सुतरामवनमति, न च नैव पापपरिक्षेपी उक्तरूपः, न च मित्रेभ्यः कृतज्ञतया कथञ्चिदपराधेऽपि कुप्यति, अप्रियस्यापि मित्रस्य रहसि ( कल्लाण त्ति ) कल्याणं भाषते । इदमुक्तं भवति—मित्रमिति यः प्रतिपन्नः स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते तथाऽप्येकमपि सुकृतमनुस्मरन्न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति । तथा चाऽऽह-" एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः । न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः ॥ १ ॥ " इति । कलहश्च वाचिको विग्रहः, डमरं च-प्राणिघाताऽऽदिभिस्तद्वर्जको बुद्धो बुद्धिमान्, एतच्च सर्वत्रानुगम्यत एवेति न प्रकृतसङ्ख्याविरोधः । ( अभिजाइए त्ति ) अभिजातिः कुलीनता, तां गच्छति उत्क्षिप्तभारनिर्वाहणाऽऽदिनेत्यभिजातिगः, ह्रीः लज्जा सा विद्यतेऽस्य ह्रीमान्, कथञ्चित् कलुषाध्यवसायतायामप्यकार्यमाचरयन् लज्जते, प्रतिसंलीनो गुरुसकाशेऽन्यत्र वा कार्यं विना न यतस्ततश्चेष्टते । प्रस्तुतमुपसंहरन्नाह—सुविनीतः सुविनीतशब्दवाच्य इतीत्येवंविधगुणान्वित उच्यते । इति सूत्राऽष्टकार्थः ॥ १३ ॥

यश्चैवं विनीतः स कीदृक् स्यादित्याह—

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहइ ॥ १४ ॥

वसेत् आसीत्, क?-गुरूणाम्-आचार्याऽऽदीनां कुलम्-अन्वयो-गच्छ इत्यर्थः, गुरुकुलं, तत्र तदाज्ञोपलक्षणं च कुलग्रहणं, नित्यं सदा, किमुक्तं भवति?—यावज्जीवमपि गुर्वाज्ञायामेव तिष्ठेत् । उक्तं हि—" णाणस्स होइ भागी । " इत्यादि । योजनं योगः-व्यापारः, स चेह प्रक्रमाद्धर्मगत एव तद्वान्, अतिशायने मतुप् । यद्वा—योगः समाधिः, सोऽस्याऽस्तीति योगवान्, प्रशंसायां मतुप् । उपधानम्—अङ्गानङ्गाध्ययनाऽऽदौ यथायोगमाचाम्लाऽऽदितपोविशेषस्तद्वान् यद्यस्योपधानमुक्तं न तत् कृच्छ्रभीरुतयोत्सृज्यान्यथा वाऽधीते शृणोति वा, प्रियम्—अनुकूलं करोतीति प्रियङ्करः, कथञ्चित् केनचिदपकृतोऽपि न तत्प्रतिकूलमाचरति, किं तु ममैव कर्मणामयं दोष इत्यवधारयन्नप्रियकारिण्यपि प्रियमेव चेष्टते, अत एव च ( पियं वाइ त्ति ) केनचिदप्रियमुक्तोऽपि प्रियमेव वदतीत्येवंशीलः प्रियवादी, यद्वा—प्रियङ्कर आचार्याऽऽदेरभिमताऽऽहाराऽऽदिभिरनुकूलकारी, एवं प्रियवाद्यप्याचार्याभिप्रायानुवर्तितयैव वक्ता, तथा चाऽस्य को गुणः?, इत्याह—स एवंगुणविशिष्टः शिक्षां शास्त्रार्थग्रहणाऽऽदिरूपां लब्धुमवाप्तुमर्हति योग्यो भवतीति, अनेनैवाविनीतस्त्वेतद्विपरीतः शिक्षां लब्धुं नार्हति इत्यर्थादुक्तं भवति, तथा च यः शिक्षां लभते स बहुश्रुतः, इतरस्त्वबहुश्रुत इति भावः । इति सूत्रार्थः ।

एवं च सविपक्षं बहुश्रुतं प्रपञ्चतोऽभिधाय प्रतिज्ञातं तत्प्रतिपत्तिरूपमाचारं तस्यैव स्तवद्वारेणाऽऽह—

जह संखम्मि पयं निहियं, दुहओ वि विरायइ ।
एवं बहुसुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥ १५ ॥

यथा इति दृष्टान्तोपन्यासे; शङ्खे जलजे पयो दुग्धं निहितं न्यस्तम् ( दुहओ वि त्ति ) द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा, न शुद्धताऽऽदिना स्वसंबन्धिगुणलक्षणेनैकेनैव प्रकारेण, किं तु स्वसंबन्ध्याश्रयसम्बन्धिगुणद्वयलक्षणेन प्रकारद्वयेनापीत्यपिशब्दार्थः, विराजते शोभते; तत्र हि न तत्कलुषीभवति; न चाम्लतां भजते नापि च परिस्रवति एवमनेन प्रकारेण बहुश्रुते ( भिक्खु त्ति ) आर्षत्वाद्भिक्षौ तपस्विनि; धर्मः यतिधर्मः; कीर्तिः श्लाघा; तथेति, धर्मकीर्तिवत् श्रुतम् आगमो विराजत इति संबन्धः । किमुक्तं

भवति?-यद्यपि धर्मकीर्तिश्रुतानि निरुपलेपताऽऽदिगुणेन स्वयं शोभाभाञ्जि,तथाऽपि मिथ्यात्वाऽऽदिकालुष्यविगमतो निर्मलताऽऽदिगुणेन शङ्ख इव पयो बहुश्रुते स्थितान्याश्रयगुणेन विशेषतः शोभन्ते, तान्यपि हि न तत्र मालिन्यम्-अन्यथा भाव हानिं वा कदाचन प्रतिपद्यन्ते , अन्यत्र त्वन्यथाभूतभाजनस्थपयोवदन्यथाऽपि स्युः । वृद्धास्तु व्याचक्षते-यथेत्यौपम्ये, "संखम्मि-संखभायणे पयं-खीरं निहित-ठवितं," न्यस्तमित्यर्थः,"दुहओ उभओ संखो-खीरं च, अहवा-ठवंतओ खीर च, संखेण परिस्सवति ण य अंबीभवति, विरायइ सोभति, एवमुवसंहारे अणुमाणे वा बहुस्सुओ सुत्तत्थविसारओ, जानक इत्यर्थः । तस्स एव भिक्खुभायणे दिंतस्स धम्मो भवति, किती जसो , तथा सुयमाराहियं भवइ, अपत्ते दिंतस्स असुयमेव भवति । अहवा—इहलोए परलोए य सोभति पत्तदाई । अहवा-एवं गुणजाइए भिक्खू बहुस्सुए भवति, धम्मो कित्ती जसो य भवति, सुय से ( सुयमाराहिय ) हवति, अहवा—इहलोए परलोए य विरायइ, अहवा—सीलेण य सुएण य । " इति सूत्रार्थः ।

पुनर्बहुश्रुतस्तवमाह—

**जहा से कंबोयाणं, आइण्णे कंथए सिया ।**
**आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १६ ॥**

यथा येन प्रकारेण स इति प्रतीत. काम्बोजाना कम्बोजदेशोद्भवानां प्रक्रमादश्वानां, निर्द्धारणे षष्ठी, आकीर्णो व्याप्त शीलाऽऽदिगुणैरिति गम्यते,कन्थकः प्रधानोऽश्वो यः किल दृषच्छकलभृतकुतुपनिपतनध्वनेर्न संत्रस्यति, स्यात्भवेदश्वस्तुरङ्गमो, जवेन वेगेन प्रवर प्रधान . एवमित्युपनय, तत ईदृशो भवति बहुश्रुत . जिनधर्मप्रपन्नो हि व्रतिनः काम्बोजा इवाश्वेषु जातिजवाऽऽदिभिर्गुणैरन्यधार्मिकापेक्षया श्रुतशीलाऽऽदिभिर्वरा एव, अयं त्वाकीर्णकन्थकाश्ववत् तेष्वपि प्रवर । इति सूत्रार्थ. ॥ १६ ॥

किंच—

**जहाऽऽइण्णसमारूढे, सूरे दढपरक्कमे ।**
**उभओ नंदिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १७ ॥**

यथा आकीर्णं जात्यादिगुणोपेतं तुरङ्गमं सम्यगारूढोऽध्यासित आकीर्णसमारूढ',सोऽपि कदाचित् कातर एव स्यादत आह-शूरश्चारभटो दृढो गाढ पराक्रम. शरीरसामर्थ्याऽऽत्मको यस्य स तथा, (उभओ त्ति )उभयतो-वामतो,दक्षिणतश्च । यद्वा-अग्रत'.पृष्ठतश्च । नन्दीघोषेण द्वादशतूर्यनिनादाऽऽत्मकेन, यद्वा-आशीर्वचनानि नान्दी-'जीयास्त्वमि' त्यादीनि तद्घोषेण बन्दिकोलाहलाऽऽत्मकेन, लक्षणे तृतीया,एवं भवति बहुश्रुतः, किमुक्त भवति ?—यथैवंविध शूरो न केनचिदभिभूयते न चान्यस्तदाश्रितस्तथाऽयमपि जिनप्रवचनतुरङ्गाऽऽश्रितो दृप्यत्परवादिदर्शनेऽपि चाऽत्रस्तस्तज्जिय च प्रति समर्थ , उभयतश्च दिनरजन्यो. स्वाध्यायघोषरूपेण स्वपक्षपरपक्षयोर्वा चिर जीवत्वसौ येनानेन प्रवचनमुद्दीपितमित्याद्याशीर्वचनाऽऽत्मकेन नान्दीघोषेणोपलक्षित. परतीर्थिभिरतीव मदावलिप्तैरपि नाभिभवितुं शक्य. न चात्र प्रत पक्षेतदाश्रितोऽन्योऽपि कथञ्चिज्जीयते । इति सूत्रार्थ. ॥ १७ ॥

तथा—

**जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे ।**
**बलवंते अप्पडिहए , एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १८ ॥**

यथा करेणुकाभिर्हस्तिनीभिः परिकीर्णः परिवृतो यः स तथा , न पुनरेकाक्येव कुञ्जरो हस्ती षष्टिहायनान्यस्येति षष्टिहायन. षष्टिवर्षप्रमाण., तस्य हि तावत्कालं यावत्प्रतिवर्षं बलोपचयः ततस्तदपचय इत्येवमुक्तम् ; अत एव च ( बलवंते त्ति ) बलं शरीरसामर्थ्यमस्यास्तीति बलवान् सन् अप्रतिहतो भवति , कोऽर्थ. ?—नान्यैर्मदमुखैरपि मतङ्गजै. पराङ्मुखीक्रियते , एवं भवति बहुश्रुत', सोऽपि हि करेणुभिरिव परप्रसरनिरोधिनीभिरौत्पत्तिक्यादिबुद्धिभिर्विद्याभिश्च विविधाभिर्वृतः षष्टिहायनतया चात्यन्तस्थिरमति. , अत एव च बलवत्त्वेनाप्रतिहतो भवति , दर्शनोपहन्तृभिर्बहुरपि न प्रतिहन्तुं शक्यते । इति सूत्रार्थः ॥

अन्यच्च—

**जहा से तिक्खसिंगे, जायक्खंधे विरायइ ।**
**वसहे जूहाहिवई , एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १९ ॥**

यथा स तीक्ष्णे निशिताग्रे शृङ्गे विषाणे यस्य स तथा, जात. अत्यन्तोपचितीभूत , स्कन्ध प्रतीत एवास्येति जातस्कन्धः , समस्ताङ्गोपाङ्गोपचितत्वोपलक्षण चैतत् , तदुपचये हि शेषाङ्गान्युपचितान्येवास्य भवन्ति , विराजते विशेषेण राजते शोभते, वृषभ. प्रतीतो , यूथस्य गवां समूहस्याधिपति स्वामी यूथाधिपति सन् , एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि हि परपक्षभेत्तृतया तीक्ष्णाभ्या स्वशास्त्रपरशास्त्राभ्या शृङ्गाभ्यामिवोपलक्षितो गच्छगुरुकार्यधुराधरणधौरेयतया च जातस्कन्ध इव जातस्कन्ध , अत एव च यूथस्य साध्वादिसमूहस्याधिपतिः आचार्यपदवीं गत. सन् विराजते । इति सूत्रार्थ' ॥

अन्यच्च—

**जहा से तिक्खदाढे, ओदग्गे दुप्पहंसए ।**
**सीहे मियाण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २० ॥**

यथा स तीक्ष्णा निशिता दंष्ट्रा प्रतीता एव यस्य स तीक्ष्णदंष्ट्रः, उदग्र उत्कट. उदग्रवय स्थितत्वेन वा उदग्रः , अत एव ( दुप्पहंसए त्ति ) दु प्रधर्ष एव दु प्रधर्षकोऽन्यैर्दुरभिभवः, सिंह केसरी, मृगाणामारण्यप्राणिना प्रवरः प्रधानो भवति, एवं भवति बहुश्रुत । अयमपि हि परपक्षभेत्तृतया तीक्ष्णदंष्ट्राभिरिव नैगमाऽऽदिनयैः प्रतिभाऽऽदिगुणोदग्रतया च दुरभिभव., इत्यन्यतीर्थाना मृगस्थानीयाना प्रवर एव । इति सूत्रार्थ. ॥

अपर च—

**जहा से वासुदेवे, संखचक्कगदाधरे ।**
**अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २१ ॥**

यथा स वासुदेवो विष्णुः शङ्खश्च पाञ्चजन्य' चक्रं च सुदर्शनं गदा च कौमोदकी शङ्खचक्रगदास्ता धारयति बहतीति शङ्खचक्रगदाधर., अप्रतिहतम् अन्यै स्खलयितुमशक्य बलं सामर्थ्यमस्येत्यप्रतिहतबल. । किमुक्तं भवति ?—एकं सहजसामर्थ्यवानन्यच्च तथाविधायोधान्वित इति

युध्यत इति योधः सुभटो भवति, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि अर्क स्वाभाविकप्रतिभाप्रागल्भ्यवान् अपरं शङ्खचक्रगदाभिरिव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैरुपेत इति, योध इव योधः कर्मवैरिपराभवं प्रति इति सूत्रार्थः ।

अपरं च—

जहा से चाउरंते, चक्कवट्टी महिड्डिए ।
चउदसरयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २२ ॥

यथा स चतसृष्वपि दिक्ष्वन्तः पर्यन्त एकत्र हिमवानन्यत्र च दिक्त्रये समुद्रः स्वसम्बन्धितया अस्येति चतुरन्तः, चतुर्भिर्वा हयगजरथनराऽऽत्मकैरन्तः शत्रुविनाशाऽऽत्मको यस्य स तथा, चक्रवर्ती षट्खण्डभरताधिपो, महती ऋद्धिः समृद्धिरस्येति महर्द्धिकः दिव्यानुकारिलक्ष्मीकश्चतुर्दश च तानि रत्नानि चतुर्दशरत्नानि । तानि चामूनि–" सेणावति गाहवइ, पुरोहिय गय तुरग वड्डइ इत्थी । चक्कं छत्तं चम्मं, मणि कागणि खग्ग दंडो य " ॥ १ ॥ तेषामधिपतिः चतुर्दशरत्नाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि ह्यासमुद्रमहीमण्डलख्यातकीर्तिस्तिसृषु दिक्षु अन्यत्र च वश्यीभूतविद्याधरवृन्द इति दिक्चतुष्टयव्यापिकीर्तितया चतुरन्त उच्यते, चतुर्भिर्वा दानाऽऽदिधर्मैरन्तः कर्मवैरिविनाशोऽस्येति चतुरन्तः, ऋद्धयश्चामर्षौषध्यादयश्चक्रवर्तिनमपि योधयेदित्येवंविधपुलाकलब्ध्यादयश्च महत्य एवास्य भवन्ति, सन्ति चास्यापि चतुर्दशरत्नोपमानि सकलातिशयनिधानानि पूर्वाणीति कथं न चक्रवर्तितुल्यताऽस्येति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च—

जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरंदरे ।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २३ ॥

यथा स सहस्रमक्षीण्यस्येति सहस्राक्षः सहस्रलोचनः, अत्र च संप्रदायः–" सहस्सक्खत्ति पंच मंतिसया देवाणं तस्स, तेसिं सहस्सं अच्छीणं, तेसिं नीईए विक्कमति, अहवा–जं सहस्सेणं अच्छीणं दीसति तं सो दोहिं अच्छीहिं अब्भहियतरागं पेच्छइ त्ति ।" वज्रं वज्राभिधानमायुधं पाणावस्येति वज्रपाणिर्लोकोक्त्या च पूर्दारणात् पुरन्दरः । क ईदृगित्याह–शक्रो देवाधिपतिर्देवानां स्वामी, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि हि श्रुतज्ञानेनाशेषातिशयरत्ननिधानकल्पेन लोचनसहस्रेणेव जानीते, यच्चैवं तच्चैवंविधस्योपलक्षणं वज्रमपि लक्षणं पाणौ संभवतीति वज्रपाणिः, पूश्च शरीरमप्युच्यते, तद्विकृष्टतपोऽनुष्ठानतो दारयतीव दारयतीति पुरन्दरः, शक्रवत् देवैरपि धर्मेऽत्यन्तनिश्चलतया पूज्यत इति तत्पतिरप्युच्यते । तथा चाऽऽह–" देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो । " इति सूत्रार्थः ।

अपि च—

जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठंति दिवायरे ।
जलंते इव तेएणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २४ ॥

यथा सः तिमिरम् अन्धकारं विध्वंसयत्यपनयति तिमिरविध्वंसः, उत्तिष्ठन्नुद्गच्छन् दिवाकरः सूर्यः, स हि ऊर्ध्वं नभोभागमाक्रामन्नतितेजस्वितां भजते, अथवान्तरं तु न तथेत्येवं विशेष्यते, यद्वा–उत्थानं प्रथममुद्गमनं, तत्र चायं न तीव्र इति तीव्रत्वाभावख्यापकमेतत्, अन्यदा हि तीव्रोऽयमिति न सम्यग् दृष्टान्तः स्यात्, ज्वलन्निव ज्वालां मुञ्चन्निव तेजसा महसा, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि ह्यज्ञानरूपतिमिरापहारकः संयमस्थानेषु विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायत उपसर्पंस्तपस्तेजसा च ज्वलन्निव भवति । इति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च—

जहा से उडुवई चंदे, नक्खत्तपरिवारिए ।
पडिपुन्ने पुन्नमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २५ ॥

यथा स उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुरुडुपतिः, क इत्याह–चन्द्रः शशी, नक्षत्रैरश्विन्यादिभिरुपलक्षणत्वात् ग्रहैस्ताराभिश्च परिवारः परिकरः सञ्जातोऽस्येति परिवारितो नक्षत्रपरिवारितः, प्रतिपूर्णः समस्तकलोपेतः, स चेदृक् कदा भवत्यत आह–पौर्णमास्याम् । इह च चन्द्र इत्युक्ते मा भूत्नामचन्द्राऽऽद्यावपि सम्प्रत्यय इत्युडुपतिग्रहणम्, उडुपतिरपि च कश्चिदेकाक्येव भवति, मृगपतिवत् अत उक्तं नक्षत्रपरिवारितः, सोऽप्यपरिपूर्णोऽपि द्वितीयाऽऽदिषु सम्भवतीति परिपूर्णः पौर्णमास्यामित्युक्तम्, एवं भवति बहुश्रुतोऽसावपि हि नक्षत्राणामिवानेकसाधूनामधिपतिस्तथा तत्परिवारितः सकलकलोपेतत्वेन प्रतिपूर्णश्च भवति । इति सूत्रार्थः ।

अपरं च—

जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्नपडिपुन्ने, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २६ ॥

यथा स ( सामाइयाणं ति ) समाजः समूहस्तं समवयन्ति सामाजिकाः । समूहवृत्तयो लोकास्तेषाम्, पठन्ति च–( सामाइयंगाणं ति ) तत्र च श्यामा अतसी तदादीनि च तान्यङ्गानि चोपभोगाङ्गतया श्यामाऽऽद्यङ्गानि धान्यानि तेषाम्–( कोट्ठागारे त्ति ) कोष्ठा धान्यपल्यास्तेषामगारं तदाधारभूतं गृहम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि प्रभूतधान्यस्थानं, यत्र प्रदीपनकाऽऽदिभयाद्धान्यकोष्ठाः क्रियन्ते तत् कोष्ठागारमुच्यते, यदि वा–कोष्ठान् आ समन्तात् कुर्वते तस्मिन्निति कोष्ठाकारः, " अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् " ॥ ३ । ३ । १९ ॥ (पाणि०) इति घञ् । तथा सुष्ठु प्राहरिकपुरुषाऽऽदिव्यापारणद्वारेण रक्षितः पालितो दस्युमूषकाऽऽदिभ्यः सुरक्षितः, स च कदाचिदप्रतिनियतधान्यविषयोऽप्रतिपूर्णश्च स्यादत आह–नाना अनेकप्रकाराणि धान्यानि शालिमुद्गाऽऽदीनि तैः प्रतिपूर्णो भृतो नानाधान्यप्रतिपूर्णः, आर्षत्वात्तु विशेषणे नपुंसकलिङ्गतया नेये, एवं भवति बहुश्रुतः, असावपि सामाजिकलोकानामिव गच्छवासिनामुपयोगिभिर्नानाधान्यैरिवाङ्गोपाङ्गप्रकीर्णकाऽऽदिभेदैः श्रुतज्ञानविशेषैः प्रतिपूर्ण एव भवति, सुरक्षितश्च प्रवचनाऽऽधारतया, यत उक्तम्–" जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खेह । " इत्यादि । इति सूत्रार्थः ।

अपि च—

जहा सा दुमाण पवरा, जंबू नाम सुदंसणा ।
अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २७ ॥

यथा सा द्रुमाणां मध्ये प्रवरा प्रधाना जम्बूर्नाम्ना—अभिधानेन सुदर्शना नाम सुदर्शना न हि यथायममृतोपमफला देवाऽऽद्याश्रयश्च तथा-अन्य· कश्चिद् द्रुमोऽस्ति, द्रुमत्व फलव्यवहारश्चास्यास्तत्प्रतिरूपतयैव, वस्तुतः पार्थिवत्वेनोक्तत्वात्, यच्चैवदूर्याऽऽदिमयानि हि तन्मूलाऽऽदीनि तत्र तत्रोक्तानि, सा च कस्येत्याह—अनादृतस्यानादृतनाम्नो देवस्य जम्बूद्वीपाधिपतेर्व्यन्तरसुरस्य आश्रयत्वेन संबन्धिनी, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि ह्यमृतोपमफलकल्पश्रुतान्वितो देवाऽऽदीनामपि च पूज्यतयाऽभिगमनीय ,शेषद्रुमोपमसाधुषु च प्रधान· । इति सूत्रार्थः ।

अन्यच्च—

जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवंतपहवा, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २८ ॥

यथा सा नदीना सरितां प्रवरा प्रधाना सलिलं जलमस्यामस्तीति, अर्श आदेराकृतिगणत्वादचि, सलिला नदी, सागर समुद्र गच्छतीति सागरङ्गमा समुद्रपातिनीत्यर्थः , न तु क्षुद्रनदीवदपान्तराल एव विशीर्यते, शीता शीतानाम्नी नीलवान् मेरोरुत्तरस्या दिशि वर्षधरपर्वतस्तत प्रभवति , पाठान्तरतः प्रवहति वा नीलवत्प्रभवा , नीलवत्प्रवहा वा एवं शीतानदीवद्भवति बहुश्रुतः , असावपि हि सरितामिवान्यसाधूनामशेषश्रुतज्ञानिना वा मध्ये प्रधानो विमलजलकल्पश्रुतज्ञानान्वितश्च, तथा-सागरमिव मुक्तिमेवाऽसौ गच्छति, तदुचितानुष्ठान एवास्य प्रवृत्तत्वात् , न ह्यन्यदर्शनिनामिव देवाऽऽदिभव एवास्य विवेकिनो वाञ्छा, तथा च—कथमस्य तेषामिव प्रायोऽपान्तरालाव स्थानाम् , नीलवत्तुल्याच्च उच्छ्रितोच्छ्रितमहाकुलादेवास्य प्रसूति , कथमिवान्यथैवंविधयोग्यतासंभवः । इति सूत्रार्थः ।

किं च—

जहा से नगाण पवरे, सुमहं मंदरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २९ ॥

यथा स नगाना पर्वताना मध्ये प्रवरोऽतिप्रधान· सुमहानतिशयगुरुरत्युच्च इति यावत् , मन्दरो मन्दराऽभिधान', क पुनरसौ ?, इत्याह—गिरि किमुक्तं भवति ?—मेरुपर्वत· नानौषधिभि· अनेकविधविशिष्टमाहात्म्यवनस्पतिविशेषरूपाभि प्रकर्षेण ज्वलितो दीप्तो नानौषधिप्रज्वलितः, ता ह्यतिशायिन्य· प्रज्वलन्त्य एवाऽऽसते इति तद्योगाद् सावपि प्रज्वलित इत्युक्तो,यद्वा-प्रज्वलिता नानौषधयोऽस्मिन्निति प्रज्वलितनानौषधि प्रज्वलितशब्दस्य तु परनिपात· प्राग्वद् एव मिति मन्दरवद्भवति बहुश्रुत , श्रुतमाहात्म्येन ह्यसावत्यन्तस्थिर इति शेषगिरिकल्पापरस्थिरसाध्वपेक्षया प्रवर एव भवति, तथाऽन्धकारेऽपि प्रकाशनशक्त्यन्विता आमर्षौषध्याद्य तत्रातिप्रतीता एव । इति सूत्रार्थः ॥

किं बहुना ?—

जहा से सयंभूरमणे, उदही अक्खओदए ।
णाणारयणपडिपुन्ने, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ ३० ॥

यथा स स्वयम्भूरमण· स्वयम्भूरमणाभिधान· उदधिस्समुद्रोऽक्षयमविनाश्युदकं जल यस्मिन् स तथा-नानारत्नैर्नानाप्रकारैर्मरकताऽऽदिभिः प्रतिपूर्णो भृतो नानारत्नप्रतिपूर्ण ,एवं भवति बहुश्रुतोऽयमपि ह्यक्षयसम्यग्ज्ञानोदको नानाऽतिशयरत्नवांश्च भवति, यदि वा-अक्षत उदयः—प्रादुर्भावो यस्य सोऽक्षतोदय' । इति सूत्रार्थ ।

साम्प्रतमुक्तगुणानुवादत फलोपदर्शनतश्च तस्यैव माहात्म्यमाह—

समुद्दगंभीरसमा दुरासया,
अचक्किया केणइ दुप्पहंसया ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥ ३१ ॥

( समुद्दगंभीरसम त्ति) आर्षत्वाद्गाम्भीर्येण अलब्धमध्याऽऽत्मकेन गुणेन समा गाम्भीर्यसमा समुद्रस्य गाम्भीर्यसमाः समुद्रगाम्भीर्यसमा', (दुरासय त्ति) दु खेनाऽऽश्रीयन्ते ऽभिभवबुद्ध्या आसाद्यन्ते वा जेतु सम्भाव्यन्ते केनापीति दुराशया दुरासदा वा,अत एव (अचक्किय त्ति) अचकिता अत्रासिता , केनचिदिति परीषहाऽऽदिना परप्रवादिना वा,तथा दु·खेन प्रधर्ष्यन्ते पराभिभूयन्ते केनापीति दुष्प्रधर्षाः त एव दु·-प्रधर्षका ,के एवंविधा ? इत्याह- (सुयस्स पुण्णा विउलस्स त्ति ) सुब्व्यत्ययात् श्रुतेनाऽऽगमेन पूर्णाः-परिपूर्णा विपुलेन अङ्गानङ्गाऽऽदिभेदतो विस्तीर्णेन तायिनस्त्रायिणो वा एवंविधाश्च बहुश्रुता एव, तानेव फलतो विशेषयितुमाह—क्षपयित्वा विनाश्य कर्म ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदि,गम्यत इति गतिस्तामुत्तमा प्रधाना, मुक्तिमिति यावत्, गताः प्राप्ता उपलक्षणत्वाद्गच्छन्ति गमिष्यन्ति च । इह चैकवचनप्रक्रमेऽपि बहुवचननिर्देशः पूज्यताख्यापनार्थं व्याप्तिप्रदर्शनार्थं च । इति सूत्रार्थ ।

इत्थं बहुश्रुतस्य गुणवर्णनाऽऽत्मिका पूजामभिधाय शिष्योपदेशमाह—

तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा, उत्तमट्ठगवेसए ।
जेणऽप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणिज्जति ॥३२॥
त्ति बेमि ॥

यस्मादमी मुक्तिगमनावसाना बहुश्रुतगुणास्तस्माच्छ्रुतम् आगममधितिष्ठेदध्ययनश्रवणचिन्तनाऽऽदिनाऽऽश्रयेत, उत्तमः प्रधानोऽर्थ· प्रयोजनमुत्तमार्थः, स च मोक्ष एव त गवेषयति अन्वेषयतीति उत्तमार्थगवेषको येन श्रुताऽऽश्रयेण आत्मान स्व पर चान्य तपस्व्यादिकम्, एवोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्च सम्प्रापयेदित्यस्यानन्तर द्रष्टव्य·, तत सिद्धिं मुक्तिगतिम्, ( संपाउणिज्जासि त्ति ) सम्यक् प्रापयेदेव नेह कश्चित्सन्देह· । इति सूत्रार्थ । इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगम· । सम्प्रति नयास्तेऽपि पूर्ववदेव । उत्त० ११ अ० ।

बहुस्सुयया-बहुश्रुतता-स्त्री० । युगप्रधानाऽऽगमतायाम्, उत्त० १ अ० । श्रुतसम्पद्भेदरूपैषा । स्था० ८ ठा० ।

बहुहा-बहुधा--अव्य० । अनेकप्रकारशब्दार्थे,आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पञ्चा० ।

बहू- वधू--स्त्री० । रमण्याम् , को० ।

बहुमुह--बहुमुख--न० । ' बहुमुह ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद ।

बहेडअ-बिभीतक-पुं० । वृक्षविशेषे, " अक्खो बहेडओ । " पाइ० ना० २४१ गाथा ।

बहेडय-बिभीतक-पुं० । "पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत्" ॥ ८ । १ । ८८ ॥ इतोऽत् । प्रा० १ पाद । " एत्पीयूषाऽऽपीड-बिभीतक-कीदृशेदृशे " ॥ ८ । १ । १०५ ॥ इतीत एत् । प्रा० १ पाद । स्वनामख्याते वृक्षभेदे, " आमलकानि हरीतक्यो बिभीतकानि च त्रिफलाशब्देन व्यवह्रियन्ते भिषग्भिः । वाच० ।

बाउल्ली-पुत्तली स्त्री० । पुत्तलिकायाम्, पाइ० ना० ११७ गाथा ।

बाड-बाट-न० । एकधान्यनिष्पन्ने लोकप्रसिद्धे खाद्यभेदे, ध० २ अधि० ।

बाढ-बाढ-त्रि० । घनीभूते, " गाढं बाढं वलियं . घणियं दढं अइसएण अच्चत्थं ।" पाइ० ना० ६० गाथा ।

बाण-देशी । सुभग-पनसयोः, दे० ना० ६ वर्ग ६७ गाथा ।

बाणिज्ज-वाणिज्य-न० । वणिग्जनोचिते, तं० । क्रयविक्रयस्वरूपे, ( प्रव० ६ द्वार । ध० ) व्यापारे, ध० । वणिजां वाणिज्यमेव मुख्यवृत्त्याऽर्थार्जनोपायः श्रेयान् । पठ्यतेऽपि- "महुमहणस्स य वच्छे, न चेव कमलायरे सिरी वसई । किं तु पुरिसाण ववसा—यसायरे तीरसुहडाणं ॥ १ ॥ " वाणिज्यमपि स्वसहायनीवीबलस्वभाग्योदयकालाद्यनुरूपमेव कुर्याद् अन्यथा- सहसा तुट्यापत्तेः । वाणिज्ये व्यवहारशुद्धिश्च द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्द्धा-तत्र द्रव्यत. दवदानकर्म्माऽऽदानाऽऽदि बह्वारम्भाऽऽदिनिदानं भाण्डं सर्वाऽऽत्मना त्याज्यं, स्वल्पाऽऽरम्भ एव वाणिज्ये यतनीयम्, दुर्भिक्षाऽऽदावनिर्वाहे तु यदि बह्वारम्भं खरकर्म्माऽऽद्यप्याचरति, तदाऽनिच्छु. स्व निन्दन् सशूकतयैव करोति ।

यदुक्तं भावश्रावकलक्षणे—

" वज्जइ तिव्वाऽऽरंभं, कुणइ अकामो अनिव्वहंतो उ ।
थुणइ निरारंभजणं, दयालुओ सव्वजीवेसुं ॥ १ ॥
धन्ना य महामुणिणो, मणसा वि करंति जे न परपीडं ।
आरंभपावविरया, भुंजंति तिकोडिपरिसुद्धं ॥ २ ॥ "

अदृष्टमपरीक्षितं च पण्यं न स्वीकार्यं, समुदितं शङ्काऽऽस्पदं च समुदितैरेव ग्राह्यं, न स्वेकाकिना, विषमपाते तथैव सहायकाऽऽद्यभावात् । क्षेत्रतः स्वचक्रपरचक्रमान्द्यव्यसनाऽऽद्युपद्रवरहिते धर्मसामग्रीसहिते च क्षेत्रे व्यवहार्यं, न त्वन्यत्र बहुलाभेऽपि कालतोऽष्टाह्निकात्रयपर्वतिथ्यादौ व्यापारस्त्याज्यः, तथा वर्षाऽऽदिकालविरुद्धोऽपि व्यापारस्त्याज्यः, भावतस्त्वनेकधा क्षत्रियाऽऽदिभिः सायुधैः सह व्यवहार स्वल्पोऽपि प्रायो न गुणाय, उद्धारके च नटविटाऽऽदिविरोधकारिभिः सह न व्यवहार्यं,कलाऽन्तरव्यवहारोऽपि समधिकग्रहणकाऽऽदानाऽऽदिनैवोचितोऽन्यथा तन्मार्गणाऽऽदिहेतुक्लेशविरोधधर्म्महान्याद्यनेकानर्थप्रसङ्गात्, अनिर्वहंस्तु यदि उद्धारके व्यवहरति,तदा सत्यवादिभिरेव सह, कलाऽन्तरमपि देशकालाऽऽद्यपेक्षयैकद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकवृद्ध्यादिरूपं विशिष्टजनानिन्दितमेव ग्राह्यं, स्वयं वा वृद्ध्या धने गृहीते तद्दायकस्याविश्वासाभावे: प्रागेव देयं, आद्ये धनहान्यादिना तथाऽशक्तावपि शनैःशनैस्तदर्पणे एव यतते, अन्यथा विश्वासहान्या व्यवहारभङ्गप्रसङ्गः । ध० २ अधि० । अन्यत्रापि व्यवहारे निजस्वस्याऽस्खलने धर्मार्थमिदमिति चिन्त्यं, धर्मार्थिनाऽतः साधर्मिकैरेव सह मुख्यवृत्त्या व्यवहारो न्याय्यस्तत्पार्श्वे स्थितस्य निजस्वस्य धर्मोपयोगित्वसंभवात्, तथा—परमत्सरमपि न कुर्यात्, कर्मायत्ता हि भूतयः, किं मुधा मत्सरेण भवद्वयेऽपि दुःखकरेण ? , तथा-धान्यौषधवस्त्राऽऽदिवस्तुविक्रयार्थावपि दुर्भिक्षव्याधिवृद्धिवस्त्राऽऽदिवस्तुक्षयाऽऽदि जगद्दु:खकृत्सर्वथा नाभिलषेत् नापि दैवात्सञ्जातमनुमोदेत, मुधा मनोमालिन्याऽऽद्यापत्तेः । तदाहुः—

" उचियं मुत्तूण कलं, दव्वाइकमागयं च उक्करिसं ।
निवडिअमवि जाणंतो, परस्स संतं न गिण्हिज्जा ॥ १ ॥ "

उचित कलाशतं प्रति चतुष्कपञ्चकवृद्ध्यादिरूपा " व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तम् " इत्युक्तेर्द्विगुणद्रव्ये त्रिगुणधान्याऽऽदिरूपा वा तां, तथा-द्रव्यं गणिमधरिमाऽऽदि, आदिशब्दात्सद्गतानेकभेदग्रह', तेषां द्रव्याऽऽदीनां क्रमेण द्रव्यत्वलक्षणेनाऽऽगत. संपन्नो य उत्कर्षोऽर्थवृद्धिरूपस्तं मुक्त्वा शेष न गृह्णीयात्, कोऽर्थः ?, यदि कथञ्चित्पूगफलाऽऽदिद्रव्याणां स्याद् द्विगुणाऽऽदिलाभ. स्यात्तदा तमद्गुणाऽऽशयतया गृह्णाति न त्वेतच्चिन्तयेत्सुन्दरं जातं,यत्पूगफलाऽऽदीनां क्षयोऽभूदिति । तथा निपतितमपि परसत्कं जानन्न गृह्णीयात्, कलाऽन्तराऽऽदौ क्रयविक्रयाऽऽदौ च देशकालाऽऽद्यपेक्षया य उचितः शिष्टजनानिन्दितो लाभः स एव ग्राह्य. । ध० २ अधि० । ( परवञ्चने का हानिरिति ' परवंचण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४४५ पृष्ठे दर्शितम् )

बाणियकम्मंत-वाणिजकर्म्मान्त-न० । यत्र वाणिज्यार्थं बहवो मिलन्ति लोकास्तादृशे स्थाने, दशा० १० अ० ।

बाणियग-वाणिजक-पुं० । वणिजि, प्रश्न० २ आश्र०द्वार । आचा० । सू० । " पिहुडे ववहरंतस्स,वाणियओ देइ धूयरं।" उत्त० २१ अ० । कल्प० । आ०म० ।

बाणियग्गाम-वाणिजग्राम-पुं० । दूतीपलाशकचैत्योपशोभिते मगधदेशीये नगरे, भ० ११ श० ३ उ० । निश्रयाद् द्वादशवर्षारात्रान् ( कल्प० १ अधि० ६ क्षण । आ०चू० ) यत्रोज्झितकपुत्र आसीत् ( स्था० १० ठा० । आ० म० । विपा० ) आनन्दनामा श्रमणोपासकश्चासीत् । उपा० १ अ० आ० चू० ।

बाणियधम्म-वणिग्धर्म-पुं० । वणिग्न्याये, सू० । (' अट्टजाय' शब्दे प्रथमभागे २४१ पृष्ठे एको वणिग्न्याय उदाहृतः)

बाणी-वाणी-स्त्री० । वचने, दश० ७ अ० ।

बादर-वादर-त्रि० । अतिवहलतरे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । भ० । नि०चू० । बादरनामकर्मोदयाच्चक्षुर्ग्राह्यतां गते पृथिवीकायाऽऽदौ, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । पा० । स्थूले, आ० । येषां बादर. परिणामः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अधोलोकाऽऽदिषु बादराः । बादरजीवकायान् प्ररूपयन् सूत्रत्रयमाह—

अहेलोगे णं पंच बादरा पत्पत्ता । तं जहा-पुढविकाइया, आउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, उराला तसा

पाणा । उड्ढलोगे णं पंच बादरा एए चेव । तिरियलोगे णं पंच बायरा पन्नत्ता । तं जहा-एगिंदिया० जाव पंचिंदिया ।

"अहे" इत्यादि सुगमम्, नवरमधऊर्ध्वलोकयोस्तैजसा बादरा न सन्तीति पञ्चैते उक्ताः, अन्यथा षट् स्युरिति, अधोलोकग्रामेषु ये बादरास्तैजसास्तेऽल्पतया न विवक्षिता, ये चोर्द्धकपाटद्वये ते उत्पत्तुकामत्वेनोत्पत्तिस्थानास्थितत्वादिति । ( उराला तस त्ति ) असत्व तेजोवायुष्वपि प्रसिद्धमस्ततद्व्यवच्छेदेन द्वीन्द्रियाऽऽदिप्रतिपत्त्यर्थमोरालग्रहणम्, ओरालाः स्थूला एकेन्द्रियापेक्षयेति, एकमिन्द्रियं करणं स्पर्शनलक्षणमेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्तदावरणक्षयोपशमाच्च येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्याऽऽदयः एवं द्वीन्द्रियादयोऽपि, नवरमिन्द्रियविशेषो जातिविशेषश्च वाच्य इति एकेन्द्रिया इत्युक्तमिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । ( बादराः पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायाः पृथिव्यादिशब्देषु ) असारे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

एयस्स णं भंते ! पुढवीकाइयस्स आउकाइयस्स तेउकाइयस्स वाउकाइयस्स वणस्सइकाइयस्स कयरे काए सव्वबादरे, कयरे काए सव्वबादरतराए ? । गोयमा ! वणस्सइकाइए सव्वबादरे, वणस्सइकाइए सव्वबादरतराए १ । एयस्स णं भंते ! पुढवीकाइयस्स आऊकाइयस्स तेऊकाइयस्स वाउकाइयस्स कयरे सव्वबादरे, कयरे काए सव्वबादरतराए ? । गोयमा ! पुढवीकाइए सव्वबादरे, पुढवीकाइए सव्वबादरतराए २ । एयस्स णं भंते ! आऊकाइयस्स तेऊकाइयस्स वाउकाइयस्स कयरे काए सव्वबादरे, कयरे काए सव्वबादरतराए ? । गोयमा ! आउकाइए सव्वबादरे, आउकाइए सव्वबादरतराए ३ । एयस्स णं भंते ! तेऊकाइयस्स वाउकाइयस्स कयरे काए सव्वबादरे, कयरे काए सव्वबादरतराए ? । गोयमा ! तेऊकाए सव्वबादरे, तेऊकाए सव्वबादरतराए । भ० १९ श० ३ उ० ।

बादरअपज्जत्त--बादराऽपर्याप्त--पुं० । बादरश्चासौ अपर्याप्तावस्थाऽऽपन्नो जीवे, स० १३ सम० ।

बादरणाम-बादरनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जीवा बादरा भवन्ति, बादरत्वं च परिणामविशेषः । कर्म० । न च चक्षुर्ग्राह्यत्वमिदं बादरस्याप्येकैकस्य पृथिव्यादिशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावात्तस्माज्जीवविपाकित्वेन जीवस्यैव कश्चिद्बादरपरिणामं जनयत्येतन्न पुद्गलेषु, किं तु जीवविपाक्यप्येतत् शरीरेष्वपि काञ्चिदभिव्यक्तिं दर्शयति । तेन बादराणां बहुतरसमुदितपृथिव्यादीनां चक्षुषा ग्रहणं भवति, न सूक्ष्माणाम् । 'जीवविपाकिकर्मण' शरीरे स्वशक्तिप्रकटनमयुक्तमिति चेत् । नैवं, जीवविपाक्यपि क्रोधो भ्रूभङ्गत्रिवलीतरङ्गितालिकफल, कम्पाऽऽस्यस्वेदजलकणनेत्राऽऽरक्तताऽत्यपरुषवचनपथुप्रभृतिविकार कुपितनरशरीरेऽपि दर्शयति, विचित्रत्वात्कर्मशक्तेरिति । कर्म० १ कर्म० । प० सं० । प्रव० ।

बादरणिगोयदव्ववग्गणा-बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा-स्त्री० । बादरनिगोदजीवानामौदारिकतैजसकार्मणेषु शरीरनामकर्मसु प्रत्येकं ये जीवानन्तगुणा पुद्गलाः विस्रसापरिणामेनोपचयमायान्ति । तेषु, प० सं० ५ द्वार । क० प्र० ।

बादरबोंदि-बादरबोन्दि-पुं० । बादरा बोन्दिः शरीरं येषां ते बादरबोन्दयः । बादरनामकर्मोदयवर्त्तिषु जीवेषु, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

बादरबोंदिधर-बादरबोन्दिधर-पुं० । पर्याप्तत्वेन स्थूलाऽऽकारधरे, बादराऽऽकारधारिणि, भ० १८ श० ४ उ० । सू० प्र० । स्था० ।

बादरसंपराय-बादरसम्पराय-पुं० । बादरा अकिट्टीकृताः सम्परायाः सञ्ज्वलनक्रोधाऽऽदयो यस्मिन् सः । स्था० ८ ठा० । सङ्ख्येयानि लोभखण्डान्युपशमयति । आ० म० १ अ० । अनिवृत्तिबादराऽऽख्यनवमगुणस्थानवर्त्तिजीवे, स० १४ सम० । उत्त० ।

बायरअपज्जत्त-बादराऽपर्याप्त पुं० । 'बादरअपज्जत्त' शब्दार्थे, स० १३ सम० ।

बायरणाम-बादरनामन्-न० । 'बादरणाम' शब्दार्थे, कर्म० १ कर्म० ।

बायरणिगोयदव्ववग्गणा-बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा-स्त्री० । 'बादरणिगोयदव्ववग्गणा' शब्दार्थे, पं० सं० ५ द्वार ।

बायरबोंदि-बादरबोन्दि-पुं० । 'बादरबोंदि' शब्दार्थे, सू० १ उ० ३ प्रक० ।

बायरबोंदिधर-बादरबोन्दिधर-पुं० । 'बादरबोंदिधर' शब्दार्थे, भ० १८ श० ४ उ० ।

बायरसंपराय-बादरसम्पराय-पुं० । 'बादरसंपराय' शब्दार्थे स्था० ८ ठा० ।

बायालीस-द्वाचत्वारिंशत्-स्त्री० । द्व्यधिकायां चत्वारिंशत्सङ्ख्यायाम्, कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

बार-द्वार-न । "सर्वत्र लवरामव (ब)न्द्रे" ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति क्वचित्पर्यायेण ( ऊर्ध्वमधश्च ) बारं । दारं । बृहत्सुखे, प्रा० २ पाद ।

बारसग-बारत्रक-पुं० । बारत्रकपुरराजस्याभयसेनस्यामात्ये, सू० १ श्रु० १ प्रक० । आ० चू० । नि० चू० । पिं० । ( बारत्रकामात्यस्य प्रव्रज्याग्रहणम् 'छड्डिय' शब्दे तृतीयभागे १३४९ पृष्ठे उक्तम् )

बारत्तगपुर-बारत्रकपुर-न० । बारत्रकामात्याधिष्ठिते, नगरे आव० ४ अ० ।

बारवई-द्वारावती-स्त्री० । सौराष्ट्रदेशराजधान्याम्, यत्र कृष्णो वासुदेव आसीदरिष्टनेमिश्च । नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० । आ० म० । सूत्र० । प्रव० । आ० क० । अन्त० । आ० चू० । ( 'णिसढ' शब्दे चतुर्थभागे २१३६ पृष्ठे वर्णक उक्तः )

बारस-द्वादशन्-त्रि० । द्व्यधिकेषु दशसु, औ० । उत्त० ।

द्वादश-त्रि० । द्वादशसङ्ख्यापूरके, औ० ।

बारसंगी-द्वादशाङ्गी-स्त्री० । द्वादशानामङ्गानां समुदायरूपे प्रवचने, विशे० नैषा द्वादशाङ्गी कदाचिन्नासीत्, न कदाचि-

च भवति, न कदाचिन्न भविष्यति; भूता भवति भविष्यति च ध्रुवा नित्या शाश्वती। दशा० १ अ०।

बारसमसज्जिय-द्वादशसमर्जित-पुं०। एकत्र समये ये समुत्पद्यन्ते तेषां यो राशिः स द्वादशप्रमाणः स्यात् तेषु। उत्पतौ द्वादशवृन्दपिण्डितेषु, भ० २० श० १० उ०।

बारसावत्त-द्वादशावर्त्त-न०।द्वादशाऽऽवर्ताः सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषाः यतिजनप्रसिद्धा यस्मिंस्तद् द्वादशाऽऽवर्तम्। स०१२ सम०। द्वादशभिः कायव्यापारैर्युक्ते कृतिकर्मणि, प्रव० २ द्वार। आव०। ध०।

बारसाह-द्वादशाऽऽरूप-पुं०। द्वादशानामह्नां समाहारे, श्रा०१ श्रु० १ अ०।

बारसाहदिवस-द्वादशा(रुप)हदिवस-पुं०। द्वादशानां पूरणो द्वादशः, स एवाऽऽख्यो यस्य स द्वादशाऽऽख्यः। स चासौ दिवसश्चेति विग्रहः। अथवा-द्वादशं च तदहश्चेति द्वादशाहः। तन्नामको दिवसो द्वादशाहदिवसः। स्था० ६ ठा०। द्वादशाऽऽख्यो दिवसो द्वादशाऽऽख्यदिवसः। अथवा-द्वादशानामह्नां समाहार द्वादशाहस्तस्य दिवसो, येन द्वादशाहः पूर्यते। जन्मदिनाद् द्वादशेऽह्नि "बारसाहदिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करेंति।" स्था० ६ ठा०। भ०।

बारसी-द्वादशी-स्त्री०। पक्षस्य द्वादशेऽहोरात्रे, विशे०। ज्यो० ४०प०। पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी उच्यते। स्था०१ठा०।

बारह-द्वादशन्-त्रि०। "क-ग-च-ज-त-द-प-य-व"॥८।१। १७७॥ इत्यादिना दलुक्। प्रा० १ पाद। " संख्यागद्गदे र " ॥८।१।२१९॥ इति दस्य रः। द्व्यधिकेषु दशसु, प्रा० १ पाद।

बाल-बाल-पुं०। अभिनवप्रत्यग्रे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। अचिरकालजाते, रा०। जन्मत आरभ्याष्टौ वर्षाणि यावद् शिशौ, ध० ३ अधि०। ग०। प्रव०। पिं०। नि०चू०। विशे०। पं०चू०। " आ षोडशाद् भवेद् बालो, यावत्क्षीरान्नवर्त्तकः।" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। सूत्र०।

बालप्रव्रज्या। बाल त्ति दारस्स इमा वक्खाणगाहा-

तिविहो य होति बालो, उक्कोसो मज्झिमो जहन्नो य।
एतेसिं पत्तेयं, तिण्हं पि परूवणं वोच्छं ॥ २२७ ॥

तिविहबालस्स पत्तेयं इमं वक्खाणं—

सत्तऽट्ठगमुक्कोसो, छ प्पण मज्झो तु जा चतु जहन्ने।
एवं वयणिप्फन्नं, भावे उ वयाणुवत्ती वा ॥ २२८ ॥

जम्मणतो सत्तऽट्ठवरिसो जो सो उक्कोसो बालो, छपंचवरिसो मज्झिमो, एगाऽऽदि जाव चउवरिसो एस जहन्नो। एय वा लसं वततो निप्पन्नं प्रायसो भावे वताणुवत्ती भवति, बालहो वयो णाणुवत्तति॥२२८॥ कहं?, जहा बालो सबालभावो। कारणगाहा। अहवासद्दतो णव भेदो-जहन्नजहन्नो, जहन्नमज्झो, जहण्णुक्कोसो। एवं मज्झुक्कोसेसु वि तिन्नि तिन्नि भेदा वत्तव्वा इमं तिविह बालकरण लक्खणं च उक्कोसो गाधा।

उक्कोसो दट्ठूणं, मज्झिमओ वा निवारितो संतो।
जो पुण जहन्नबालो, हत्थोवनितो वि ण वि ठाति॥२२९॥

जं पुण ते वारिता करेंति तं केरिसं?। गाहा—

छिंदंतमछिंदंता, तिण्णि वि हरिताऽऽदि वारिता।
उक्कोसा जति छिंदति,तहावि पुण ठाति तो दिट्ठा॥२३०॥

आदिसद्दातो पुढवादिसु आलिंबणसिंचणनावणधीयणसंघट्टणाऽऽदि दट्ठव्वा। उक्कोसो जति तेसु छेदणाऽऽदिसु पयट्टति तो। गुरुणा अन्नेण वा दिट्ठमेत्तो चेव अवारिओ ठायति। मज्झिमो पुण यदा वारितो तदा ठायति। जहन्नबालो जदा हत्थे घेत्तुं धरितो तदा ठायति, तहा वि वामहत्थेण छिंदति, पादेण वा।

इयाणिं ते केरिसं बाले मेरं करेंति, तिविहं बाललक्खणं च भण्णति—

मंडलगम्मि वि चरितो, एवं वा चिट्ठ चिट्ठति तहेव।
मज्झिमओ मा छिंदसु,ठाइति ठाणं ण हिं चिट्ठे ॥२३१॥

मंडलं मा लिह त्ति मेरं अलंघित्ता एत्थ चिट्ठह त्ति भणितो ठिया निसन्ना निव्विन्ना वा। हरिताऽऽदि वा अछिंदंता उक्कोसो जहेव भणितो तहेव ठितो। मज्झिमो वि हरिताऽऽदि छिंदंतो जदा वारितो तदा चिट्ठति। मंडले वि निरुद्धो मेरं लंघित्तु पासे ण चिट्ठति, इमो जहन्नो।

गाहा—

दाहिणकरम्मि गहितो, वामकरेणं स छिंदति तहावि।
न य ठाति तहिं ठाणे,अह रुब्भति विस्सरं रुयति॥२३२॥

हरिताऽऽदिसु पुव्वद्धं गतार्थं। जहन्नबालो मंडलेणं निरुद्धेणं तम्मि मंडलठाणे ण चिट्ठति, पादेण वा मंडलं भंजेति। अह बालो रुब्भति मंडले तो चडप्फडंतो विस्सरं रोयति॥

एसेवत्थो इमाए गाहाए भण्णति—

जह भणितो तह तु ठिय,पढमो वितिएण फेडियं ठाणं।
ततिओ ण ठाति ठाणे,एस विही होति तिण्हं पि॥२३३॥

कंठा। एस तिण्ह वि बालाणं सरूवे वि परूवणाविही वक्खाओ इमं तिविह बाल जो पव्वावेति तस्स सिक्खावेंतस्स असिक्खावेंतस्स वा इमं पच्छित्तं।

गाहा—

अउणत्तीसा वीसा, एगुणवीसा य तिविहे बालम्मि।
पढमे तवो वितिए मीसो,ततिए तव एव मूलं च॥२३४॥

उक्कोसबाले अउणत्तीसा, मज्झिमे वीसा, जहन्ने एगूणवीसा। पढमे त्ति उक्कोसे जदा सव्वे तवट्ठाणगता तया तेसु चेव ठाणेसु छेदो पयट्टेति, वितिए मज्झिमे तवछेदो जुगवं गच्छति, एवं मीसं भवति। ततिए त्ति जहन्नेण तवो चेव केवलो भवति, पव्वावेंतस्स वा मूलं चेव।

उक्कोसबालस्स अउणत्तीसं ति जं वुत्तं तस्सिमा चारणविही-

एगुणतीसं दिवसे, सिक्खावेंतस्स मासियं लहुयं।
उक्कोसगम्मि बाले,ते चेव असिक्खणे गुरुगा ॥ २३५ ॥

अन्ने अउणत्तीसं,गुरुओ सिक्खमसिक्खे य चउलहुगा।
पुणरवि अउणत्तीसं, लहुगा सिक्खेतग गुरुगा ॥२३६॥

अन्ने वि अउणत्तीसं, गुरुगा सिक्खे असिक्ख छल्लहुगा।
छल्लहुगा सिक्खम्मी,असिक्ख गुरुगा अउणतीस॥२३७॥

एमेव य छेदादी, लहुगा गुरुगा य होंति मासादी।

सिक्खावेंतमसिक्खे, मूलकदुगं तदेक्केकं ॥२३८॥

एतेसिं चउण्हं गाहाणं इमा सवित्थरा वक्खाणभावणा-उक्कोसगवालं पव्वावेंता सिक्खावेंतस्स एगूणतीसं दिवसा मासलहू, असिक्खावेंतस्स मासगुरू, अन्ने एगूणतीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स मासगुरू, असिक्खावेंतस्स चउलहू, अन्ने एगूणतीसं सिक्खावेंतस्स चउगुरू, अन्ने एगूणतीस दिवसे सिक्खावेंतस्स चउगुरू, असिक्खावेंतस्स छल्लहू, अन्ने एगूणतीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स छल्लहू, असिक्खावेंतस्स छग्गुरू, अन्ने एगुणतीस दिवसे सिक्खावेंतस्स छग्गुरू, असिक्खावेंतस्स मासलहू छेदो, अन्ने एगूणतीस दिवसे सिक्खावेंतस्स मासलहू छेदो, असिक्खावेंतस्स मासगुरू छेदो, अन्ने एगूणतीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स मासगुरू छेदो, असिक्खावेंतस्स चउगुरू छेदो। अन्ने एगूणतीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स चउलहू छेदो, असिक्खावेंतस्स चउगुरू छेदो, अन्ने एगूणतीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स चउगुरू छेदो, असिक्खावेंतस्स छल्लहू छेदो, अन्ने एगूणतीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स छल्लहू छेदो, असिक्खावेंतस्स छग्गुरू छेदो २। अन्ने एगूणतीस दिवसे सिक्खावेंतस्स छग्गुरू छेदो, असिक्खावेंतस्स एगदिणे मूलं, ततो सिक्खावेंतस्स एगदिणे मूल, ततो असिक्खावेंतस्स एग दिणं अणवट्ठ, ततो सिक्खावेंतस्स पारंची।

अहवा एसेव गमो, दिणाहि सिक्खेतरवज्जितो होति ।
मासादी तव छेदो, पणगादीए दिणेक्केक ॥२३६॥

अहवा उक्कोसेण बालस्स तवो मासादी चेव छेदो पुण लहुगुरुगो पणगादी ताव णेयव्वा जाव छम्मासे सिक्खासिक्खेसु मूलादिया एक्केकदिणं वट्ठु ।

गाहा—

अहवा एसेव तवो, छेदो पणगादितो लहू गुरुगा ।
जाव च्छम्मासेण उ, तत्तो मूल दुगं चेव ॥२४०॥

अथवा उक्कोस बालं पव्वावेंतस्स अउणतीसं दिवसे मासलहु तवो, अन्ने अउणतीसं दिवसे मासगुरू तवो एवं अउणतीस अछद्देहिं चउलहुगा चउगुरू छल्लहु छग्गुरू छेदा य नेयव्वा, मूलादी एक्केकं दिण, एत्थ सिक्खा असिक्खा वा न कायव्वा।

गाहा—

मज्झिम वीसं लहुगो,सिक्खमसिक्खस्स मासिओ छेदो ।
अण्णे वीसं लहुओ , छेदेतर मासकं चेव ॥ २४१ ॥
अण्णे वीसं सिक्खे, मासं गुरुया व असिक्खे ।
छेदो वा गुरुओ वा, सिक्खम्मी चेव चउलहुगा ॥२४२॥
एवं अद्धोकती, नेयव्वा जाव छग्गुरुच्छेदो ।
तेण परं मूलेक, दुगं च एक्केक्कयं जाण ॥ २४३ ॥
अहवा सिक्खाऽसिक्खे, तवछेदा मासियादि जा लहुगा ।
एवं जा छम्मासा, मूलदुगं वा तहिक्कि ॥ २४४ ॥
दो लहुया दो गुरुया, तव छेदो जाव होंति छग्गुरुगा ।
तेण परं मूलेकं, दुगं च एक्केकयं जाण ॥ २४५ ॥

एतेसिं दोण्ह गाहाण इमा भावणा-मज्झिमं पव्वावेंता वीसं दिवसे, सिक्खावेंतस्स मासलहू तवो, असिक्खावेंतस्स मासलहू छेदो, अन्ने वीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स मासगुरू तवो, असिक्खावेंतस्स मासगुरू छेदो, अन्ने वीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स मासगुरू छेदो, असिक्खावेंतस्स चउलहू छेओ, अन्ने वीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स चउलहू छेदो असिक्खावेंतस्स चउगुरू तवो ॥ एवं अद्धोकतीए तवछेदा णेयव्वा जाव छग्गुरू छेदो, ततो सिक्खाऽसिक्खासु मूलाऽणवट्ठपारंचिया एक्केकदिणं नेयव्वा । अहवा—मज्झिमे अन्ने वीस दिवसे सिक्खावेंतस्स चउलहू तवो, अण्णे वीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स चउलहू तवो, असिक्खावेंतस्स चउलहू छेदो, असिक्खावेंतस्स छल्लहू तवो, अन्नेवीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स छल्लहू तवो, अन्ने वीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स छल्लहू छेदो, असिक्खावेंतस्स एग दिणं मूलं सिक्खावेंतस्स एग दिणं मूल, असिक्खावेंतस्स एग दिणं अणवट्ठो, ततो सिक्खावेंतो एग दिण अणवट्ठो, असिक्खावेंते पारंची, तवो सिक्खावेंते एगं दिणं पारंची ।

इयाणिं जहण्णो वीसं गाहा—

एगुणवीस जहण्णे, सिक्खावेंतस्स मासिओ छेदो ।
सो चेव असिक्ख गुरु, अद्धुकतीएँ जा चरिमं ॥२४६॥
अहवा पढमे छेदो, तद्दिवसं चेव मूलं वा ।
एमेव होइ बितिए, ततिए पुण होइ मूलं तु ॥ २४७ ॥

जहन्न पव्वावेंतो एगूणवीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स मासलहू छेदो, असिक्खावेंतस्स मासगुरू छेदो, अन्ने एगूणवीसं दिवसे सिक्खावेंतस्स मासगुरू छेदो, एवं छेदो अद्धोकतीए णेयव्वो , मूल अणवट्ठ पारंचिया एक्कक्कदिणं णेयव्वा । अहवा—उक्कोसवालं पव्वावेंतस्स छेदो भवति, मूलं वा, एव बितिए वि मज्झिमे, जहन्ने पुण मूलमेव । चोदकाऽऽह-कह छेदो मूलं वा ? । आचार्याऽऽह-यदि चरणसभवो तत' छेदो, चरणाभावे मूलं, जघन्ये पुण चरणाभाव एव, तेन मूल1 तिविध बाल पव्वावेंतस्स आणादिया इमे दोसा उक्का-

हाऽऽदी—

बंभस्स तु चरमफलं, अयगोलो चेव होंति छक्काया ।
राईभत्ते चारय, अयसँऽतराए य पडिबंधा ॥ २४८ ॥

तं बालं दट्ठु अतिसयवयणेण भणति गिहिणो—अहो इमेसि समणाए इहभवे चेव बभचेरस्स फलं दीसति, अहवा—एतेसिं चेव जणिओ त्ति संकाए चउगुरु, निस्संकिते मूल । अयगोलोविव अगणिपक्खित्तो सुभंतो अणिणपरिणतो जतो जतो छिप्पइ ततो ततो डहति, एवं सो वालो अयगोलसमाणो मुक्को जतो जतो हिंडति ततो ततो छक्कायवहो य भवति। सो य राओ भत्त पाणं आभासति, जति राओ देति तो रातीभोयणं विराधित, अध ण देति तो परियावणाणिप्फण्ण । भणति य लोगो —इमस्स बालत्तणे चेव बधणागारं उववन्नो, इमे य समणा चारपालत्तण करेंति, जेण एव बाल निरुभति। अयसो य अध णिरुभति अयसो-णिरणुकंपा समणा, बला य बाले णिरु भंति, अंतरायं भवति, बालपडिबन्धेण य ते ण विहरंति जे णितियवासे दोसा ते वा भवति ।

किंचान्यत् गाहा—

ऊणट्ठ णत्थि चरणं, पव्वावेंतो वि भस्सते चरणा ।

मूलावरोहिणी खलु, णारभती वाणिओ वेधं ॥ २४९ ॥

ऊणट्ठवरिसे बाले चरितं न विज्जति, जो वि य पव्वावेति से णियमा चरित्ता भस्सति । अत्र प्रतिषेधद्वारेण दृष्टान्त. जहा लोभत्थी वणिओ मूलं जेण तुट्टति तारिसं पणणं णो किणाति, जत्थ लाभयं पिच्छति तं किणति; एवं जे च रित्तातो भस्संति ते न पव्वावेइ,जे ण भस्सति तं पव्वावेंति । बाल पव्वावेंतस्स य जम्हा इमं तवोकम्मं भस्सति । तम्हा न पव्वावेति—

उग्घायमणुग्घायं, णाऊणं छव्विहं तवोकम्मं ।

तवगुणलक्खणमेयं, जिणचउदसपुव्विएहिं खु ॥ २५० ॥

लहु उग्घायं, गुरू अणुग्घातं, एतेहिं दोहिं भेदेहिं छव्विधं तवोकम्मं भवति ।

कहं पुण छव्विहं ?,भण्णति । गाहा—

उग्घायमणुग्घाओ, मासो चउमास छव्विह तवो उ ।

एसेव छव्विहो वी, छेओ सेमाण एक्केक्कं ॥ २५१ ॥

मासो उग्घातो, अणुग्घातो २. एवं चतुमासछम्मासादि उग्घाताणुग्घातादि, एवं छव्विहं तवोकम्म, छेदो वि एसो चेव छव्विहो, सेसा मूलादिया एक्केका भवति, नए आत्मको गुणः, तप एव वा गुण. तपोगुणः, तपोगुणस्य लक्षणं तपोलक्षणं, लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, मासेनोपलक्षितः मासिकलक्षणः तपः । एवं चतुर्मासषण्मासेष्वपि, एतदेव षड्विधं तपोगुणलक्षणं बालप्रव्राजने भवति, न पञ्चकाऽऽदिरित्यर्थः ।

बितियपदेण बालो पव्वाविज्जति 'जिणचोद्दसपु- व्वीए दिक्ख त्ति ।' अस्य व्याख्या—

पव्वावेंति जिणा खलु, चोद्दसपुव्वी य जो य अइसेसी ।

एए अव्ववहारी, गच्छगए इत्थिमो नाओ ॥ २५२ ॥

जिणा चोद्दसपुव्वी अतिसेसी वा पव्वावेंति । शिष्याऽऽह—अम्हं एते अव्ववहारी जहा गच्छगता पव्वावेंति तथा मे अक्खह के वा जिणादीहिं पव्वाविता ? अतो भन्नति ।

गाहा—

सत्थाए अइमुत्तो, मणओ सेज्जंभवेण पुव्वविदा ।

पव्वाविओ य वोरो, छम्मासो सीहगिरिणा त्ति ।२५३।

उवसंते व महाकुले, णातीवग्गे वि सण्णिमेज्जतरे ।

अज्जाकारणजाते, अणुण्णाया य पव्वज्जा ॥ २५४ ॥

शास्ता तीर्थकरः, तेण अतिमुत्तकुमारो पव्वावितो, चोद्दसपुव्वविदेण सिज्जंभवेण अत्तणो पुत्तो मणगो पव्वावितो, अवितहणिमित्तं अतिसयट्ठितेण सीहगिरिणा वइरो पव्वावितो, बालपव्वावणे इमं गच्छवासिकारणं उवसंते वि महाकुले नातीवग्गे ।

एतेसिं दोण्ह वि दाराणं इमं वक्खाणं । गाहा—

विपुलकुले अत्थि बालो, णातीवग्गे य छेगमादिमते ।

अव्ववहारवखुए सा- र वेति आसण्णसालाई ॥ २५५ ॥

किं पि विपुलं वित्थिण्णकुलं उवसंतं पव्वज्जापरिणतं, णवरं तत्थ बालपडिबन्धो, जइ अम्हं एतं बालं पव्वावेह तो सव्वे पव्वयामो, ते वत्तव्वा—णियसमीवे बालं ठवेह, तुज्झे पुण पव्वयह, जति न ठवेंति णीया वा ण इच्छंति तो सह बालेण सव्वे पव्वाविज्जति बहुगुणतरं ति काउं, मा तप्पडिबंधेण सव्वाणि अत्थंतु । अहव कस्सवि साधुस्स सयणवग्गो सव्वो असिवादिणा मओ, नवरेक्कं बालं जीवति, न य तस्स कोवि वावारवाहओ अत्थि, ताहे सो साधू अयसवादरक्खओ हेउं तं बाल आसण्णं पुत्तं भातियं पव्वावेत्ता संरक्खति ।

गाहा—

एवं सन्नितराण त्ति, अज्जाए च पडिबंधपडिणीए ।

कज्जं करेमि सचिवो, जदि मे पव्वावयह बालं ॥२५६॥

सम्मद्दिट्ठिसंतियं बालं अणाहयं पि एवं चेव सारवेंति । तरो त्ति-सेज्जातरो, तस्स वि संतियं बालं अणाहं पव्वावेंति । अज्जा पडिणीएण कामातुरेण वा केण वि बाला परिभुत्ता, तस्स य समागुत्ती, तेण डिंडिबंधो जातो, गर्भसंभवेत्यर्थः । सा य संजमत्थी न परिच्चइयव्वा जया परसया तया बाल पव्वावेयव्वं सत्यकिच्च...कारणजत्ते त्ति कुलगणसंघकज्जे अण्णम्मि वा गच्छादिए कज्जे सचिवो मंती सो भणेज्जा-अह वो तुम्हं इमं कज्जं करेमि, जइ मे इमं बालं अलक्खणं मूलनक्खत्तियं वा पव्वावेह, ताहे पव्वावेज्जा । आयसद्दग्गहणातो असिवकंताराऽऽदिसु वि कोवि भणेज्जा-अहं भे तारितप्पामि, जइ मे इमं बालं पव्वावेह, एमादिकारणेहिं अणुण्णाता बालपव्वज्जा ।

गच्छवासीणं पव्वावियाण य तेसि इमा वट्टावणविही । गाहा—

भत्ते पाणे धोवण, सारणे तह वारणे ।

कारणसब्भावातो, गाहेयव्वा पयत्तेणं ॥ २५७ ॥

णिद्धं महुरं रितुक्खमं च से भत्त देंति, पाणं पि से महुरादि इट्ठं दिज्जति, रातो वि भत्तपाणं ठवेंति. धोवणं ति-अब्भंगणुव्वट्टणण्हाणं च से फासुएणं कीरति, कप्पकरणेण च तेयस्सी भवति. लेवाडानि वा सव्वंसे धोवेंति पडिलेहणाऽऽदि पुव्वकहितेसु अत्थेसु पुणो सारणा कज्जति असमायादिकरणं करेंतो हरियाई वा छिंदन्तो खेल्लंतो वा वारिज्जति । चरणकरणेसु य णिउज्जति, सज्झायं च पयत्तेणं गाहिज्जति ।

णिद्धमधुरभत्तगुणा इमे गाहा—

णिद्धमधुरेहिं आ-, पुस्मति देहिंदिया य मेहा य ।

अत्थति जत्थ गज्जा..., सट्ठाऽऽइसु पीढगादीया ॥२५८॥

चोदकाऽऽह-कथमायुष. पुष्टि ?। आचार्याऽऽह-यथा देवकुरूत्तरकुरासु स्नेहस्य स्निग्धगुणत्वादायुषो दीर्घत्वं, सुसमसुसमाया च कालस्य स्निग्धत्वाद् दीर्घत्वमायुषः । तथा इहापि स्निग्धमधुराऽऽहारत्वात् पुष्टिरायुषो भवति.सा च न पुद्गलवृद्धेः किं तु युक्ताग्रासग्रहणात्, क्रमेण भोगेत्यर्थः । देहस्य च पुष्टिरिन्द्रियाणां च पटुत्वं भवति, मेधा च धीगाऽऽदिणा भवति । जत्थ य सो बालो णज्जति-अमुगस्स पुत्तो त्ति,तत्थ गामे नगरे देसे रज्जे वा चन्छंति, जाव महल्लो जातो, सड्ढार-

कुले य अंतरपीणगपीठगादी सव्व से अहाकडं भवति । इत्थी वि बाली एवं चेव । बाले त्ति दारं गयं । नि०चू० ११ उ० । बाल इव बालः । अज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

तदेवमनिभृताऽऽत्मा किंभूतो भवतीत्याह—

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति ।
अलं बालस्स संगेणं, वेर वड्ढति अप्पणो ॥ ३ ॥

हीमयाऽऽदिनिमित्तः चेतोविप्लवो हासस्तमासाद्य अङ्गीकृत्य स कामगृध्नुर्हत्वाऽपि प्राणिनो नन्दीति क्रीडेति मन्यते, वदति च महामोहाऽऽवृतोऽशुभाध्यवसायो यथैते पशवो मृगयार्थं सृष्टाः, मृगया च सुखिनां क्रीडार्थं भवति, इत्येव मृषावादाऽऽदत्ताऽऽदानाऽऽदिष्वप्यायोज्यम्, यदि नामैवं ततः किमित्याह—अलमित्यादि, अलं पर्याप्तं बालस्याज्ञस्य यः प्राणातिपाताऽऽदिरूपः सङ्गो विषयकषायाऽऽदिमयो वा तेनाऽलं, बालस्य हास्याऽऽदिसङ्गेनालं, किमिति चेत् ?, उच्यते-( वेरमित्यादि ) पुरुषाऽऽदिवधसमुत्थं वैरं तद्बालः सङ्गाऽनुषङ्गी सदाऽऽत्मनो वर्द्धयति, तद्यथा—गुणसेनेन हास्यानुषङ्गादग्निशर्माणं नानाविधैरुपायैरुपहसता नवभवानुषङ्गि वैरं वर्द्धितम्, एवमन्यत्राऽपि विषयसङ्गाऽऽदावायोज्यम् ।

एतच्चैवमतः किमित्याह—

तम्हाऽतिविज्जो परमं ति णच्चा,
आयंकदंसी ण करेति पावं ।

यस्माद्बालसङ्गिनो वैरं वर्द्धते तस्मादतिविद्वान् परमं मोक्षपदं सर्वसंवररूपं चारित्रं वा सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं वा, एतत्परमिति ज्ञात्वा किं करोतीत्याह—( आयंक इत्यादि ) आतङ्को नरकाऽऽदिदुःखं, तद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यातङ्कदर्शी, स पापं पापानुबन्धि कर्म न करोति, उपलक्षणार्थत्वान्न कारयति नानुमन्यते । आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० । सूत्र० । रागद्वेषोपवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रागद्वेषोत्कटे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आचा० । रागद्वेषोत्कटचेतसि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । उत्त० । हिताहितप्राप्तिविवेकरहिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हेयोपादेयविकले, उत्त० ८ अ० । सदसद्विवेकविकले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । जी० । उत्त० । कषायकलुषितान्तराऽऽत्मनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ८ उ० । आचा० । बालिशे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । यथा शिशवः सदसद्विवेकवैकल्याद्यत्किञ्चनकारिणो भाषिणो वा भवन्ति तथा ये स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति ते बाला उच्यन्ते । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । दर्श० । मूढे, अष्ट० ३१ अष्ट० । सूत्र० । सं० । स० । उत्त० । विशिष्टविवेकविकले, "बालः पश्यति लिङ्गं, मध्यमबुद्धिर्विचारयति सद्वृत्तम् ।" षो० १ विव० । "तत्र बालो रतो लिङ्गे ।" बालाऽऽदिषु मध्ये लिङ्गे लिङ्गमात्रे रतो बालो लिङ्गमात्रप्राधान्यापेक्षयाऽसदारम्भत्वात् । द्वा० १ द्वा० । द्रव्या० । अज्ञानाविरतिरूपविवेकविकले, आतु० । स० । सर्वविरतिपरिणामाभाववति, आतु० । स्था० । प्रा० । अनु० । असंयते, वृ० ३ उ० ।

एतदेव बालत्वाऽऽदि जीवाऽऽदिषु निरूपयन्नाह—

जीवा णं भंते ! बाला पंडिया बालपंडिया ? । गोयमा ! जीवा बाला वि पंडिया वि बालपंडिया वि । णेरइयाणं पुच्छा ? । गोयमा ! णेरइया बाला णो पंडिया, णो बालपंडिया । एवं चउरिंदियाणं । पंचिंदियतिरिक्खपुच्छा ? । गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया बाला णो पंडिया, बालपंडिया वि, मणुस्सा जहा जीवा, वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया ॥

( जीवा णमित्यादि ) प्रागुक्तानां संयताऽऽदीनामिहोक्तानां च पण्डिताऽऽदीनां यद्यपि शब्दत एव भेदो, नार्थतस्तथाऽपि संयतत्वाऽऽदिव्यपदेशः क्रियाव्यपेक्षः, पण्डितत्वाऽऽदिव्यपदेशस्तु बोधविशेषापेक्ष इति । भ० १७ श० २ उ० । ऊरणिकाऽऽदिलोमनि, अनु० । केशे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सूत्र० । काश्यपगोत्रान्तर्गतगोत्रविशेषप्रवर्तकर्षौ, स्था० ७ ठा० । मूर्खे, "बाला मूढा मन्दा, अयाणया बालिसा जडा मुक्खा ।" पाइ० ना० ७१ गाथा ।

**बालअ**–देशी-वणिक्पुत्रे, दे० ना० ६ वर्ग० ९२ गाथा ।

**बालक**–पुं० । "नादियुज्योरन्येषाम्" ॥ ८ । ४ । ३२७ ॥ इति कस्य गो न चूलिकापैशाचिके । शिशौ, प्रा० ४ पाद ।

**बालउल्ली**–देशी-पञ्चालिकायाम्, दे० ना० ६ वर्ग ९२ गाथा ।

**बालकिच्च**–बालकृत्य–पुं० । बालस्येव कृत्यं यस्य स बालकृत्यः । बालवदनालोचितकारिणि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

**बालकीला**–बालक्रीडा–स्त्री० । द्यूताऽऽदिरूपायां, बालिशजनाऽऽचरितक्रीडायाम्, ध० र० ।

सम्प्रति बालक्रीडापरिहाररूपं पञ्चमं भेदमभिधित्सुर्गाथापूर्वार्द्धमाह—

बालिसजणकीला वि हु, मूलं मोहस्सऽणत्थदंडाओ ।

बालिशजनक्रीडाऽपि बालजनाऽऽचरितक्रीडाऽपि द्यूताऽऽदिरूपा । उक्तं च-"चउरंग-सारि-पट्टिय-वट्टाई, लावयाइजुद्धाई । पएहुत्तर-जमगाई, पहेलियाईहिँ नो रमइ ॥१॥" इति । आसतां सविकारजल्पितानित्यपिशब्दार्थः । हुरलङ्कारे । लिङ्गं चिह्नं मोहस्यानर्थदण्डत्वात् निष्फलप्रायाऽऽरम्भप्रवृत्तेरिहाप्यनर्थजनकत्वेन च जिनदासस्येव । ध० र० २ अधि० २ लक्ष० । ध० ।

**बालकुसुमरासि**–बालकुसुमराशि–पुं० । अचिरकालजातानां कुसुमपत्राणां राशौ, रा० ।

**बालग**–बालक–पुं० । शिशौ, मूर्खे, कामिनि, तं० । गवादिबालनिष्पन्नबालके सुघरिकागृहके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० । गवादिबालधिबालनिष्पन्नबालके, ग० २ अधि० ।

**बालगउवगूहण**–बालकोपगूहन–न० । ६ त० । बालका मूर्खाः, कामिन इत्यर्थः । तेषामुपगूहनानि प्रच्छन्नरक्षणाऽऽदीनि । परपुरुषाणां प्रच्छन्नरक्षणेषु, केशकलापानां रचनासु तं० ।

**बालग्ग**–बालाग्र–न० । केशानामग्रभागे, अष्टभिः रथरेणुभिर्देवकुरूत्तरकुरुमनुष्याणां सम्बन्धिकं बालाग्रं भवति । तैरष्टभिर्हरिवर्षरम्यकमनुष्यबालाग्रं, तैरष्टभिर्हैमवतैरण्यवतमनुष्यबालाग्रं, तैरष्टभिः पूर्वविदेहापरविदेहमनुष्यबालाग्रं, तैरप्यष्टभिर्भरतैरवतमनुष्यबालाग्रम् । इह चैव बालाग्राणां भेदे सत्यपि बालाग्रजातिसामान्यविवक्षया

बालाग्रमिति सामान्येनैकमेव सूत्रे निर्दिष्टमिति' ( १४०८ गाथा ) प्रव० २५४ द्वार । ज्यो० । अनु० । स्था० ।

**बालग्गपोतिया-बालाग्रपोतिका**-स्त्री० । देशीशब्दो बाऽयम्। आकाशे तडागगतमध्यस्थिते क्रीडास्थाने लघुप्रासादे चं० प्र० ४ पाहु० । तडागस्योपरि प्रासादे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० । चं०प्र० । जं० । जलमध्यमन्दिरे , उत्त० ६ अ० । वलभ्याम् , उत्त० ६ अ० ।

**बालचंद-बालचन्द्र**-पुं० । शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रे , आ० १ श्रु० १६ अ० । साकेते नगरे चन्द्रावतंसकस्य राज्ञः प्रियदर्शनायां जाते पुत्रे , आ०म० १ अ० । ऐरवते प्रथमवर्त्तमानतीर्थकरे.प्रव० ७ द्वार । आसडकृतविवेकमञ्जर्या उपदेशकन्दल्याश्चोपरि टीकाकारके , अयं च ग्रन्थकारः विक्रमसंवत्--१३२२ वर्षे आसीत् । जै०इ० ।

**बालचंदाणण-बालचन्द्राऽऽनन**-पुं० । भरतक्षेत्रजर्षभजिनसमकालिके ऐरवतजे प्रथमतीर्थकरे, ति० ।

**बालचावल-बालचापल**-न० । एकान्ताज्ञानरक्तस्य स्वरूपानपेक्षिवचने, अष्ट० १६ अष्ट० ।

**बालजण- बालजन**--पुं० । मूर्खलोके, तं० । सूत्र० । निर्विवेकतयाऽसदनुष्ठानप्रवृत्ते , सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । मूर्खे , उत्त० २० अ० ।

**बालण्ण-बालज्ञ**--पुं० । बलं जानातीति बलज्ञः । छान्दसत्वाद्दीर्घत्वम् । आत्मबलसामर्थ्यज्ञे , यथाशक्त्यनुष्ठानविधायिनि अनिगूहितबलवीर्ये, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

**बालतव-बालतपस्**--न० । बालं तपो यस्य स बालतपाः । अनधिगतपरमार्थस्वभावे दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्याज्ञानपूर्वकनिर्वर्तिततपःप्रभृतिकष्टविशेषे मिथ्यादृष्टौ , कर्म० १ कर्म० । बालतपसालाभे दृष्टान्तः--" वसंतपुरं नगरं, तत्थ सेट्ठिघरं मारीए उच्छाइयं, तत्थ इंदनागो नाम दारओ, सो गिलाणो पाणियं मग्गइ जाव सव्वाणि मयाणि पेच्छइ । दारं पि लोगेण कंटियाए ढक्कियं, ताहे सो सुणइयच्छिड्डएण निग्गंतूण तम्मि नगरे कप्परेण भिक्खं हिंडइ, लोगो से देइ भूयपुव्वे त्ति काउं एवं सो संवड्ढइ । इतो य एगो सत्थवाहो रायगिहं जाउकामो घोसणं घोसावेइ, तेण सुयं , सत्थेण समं पत्थितो, तत्थ तेण सत्थे कूरो लद्धो, सो जिमितो न जिण्णो, बितियदिवसे सत्थवाहेण दिट्ठो चिंतेइ नूणं एस उववासितो, सो य अव्वत्तलिंगी । बिइयदिवसे हिंडं तस्स सेट्ठिणा बहु निद्धं च दिन्नं, सो तेण दुवे दिवसा अजिण्णएण अत्थइ, सत्थवाहो जाणइ-एस छट्ठं छट्ठेण खमइ । तस्स महती आस्था जाता । सो तइयदिवसे हिंडंतो सत्थवाहेण सद्दावितो--कीस कल्लं नागतो ?। तुण्हिक्को अत्थइ, जाणइ । जहा छट्ठं कयं, तहा से दिण्णं. तेणऽवि अण्णे दो दिवसे अत्थावितो, लोको वि परिणतो, अण्णस्स निमित्तं कयं, तस्स वि न गेण्हइ । अन्ने भणंति-एसो एगपिंडितो तेण तं अट्ठाणयं लद्धं, सत्थवाहेण भणितो-मा अन्नस्स कूरं गेण्हिज्जासि, जाव नगरं गमिस्सइ ताव अहं देमि, गया नगरं, तेण से णियघरे मढो कतो, ताहे सीसं मुंडावेइ, कासायाणि चीवराणि गेण्हइ,ताहे विक्खातो, जातो, ताहे जद्दिवसं से पारणयं तद्दिवसं लोगो आणेइ भत्तं, एगस्स पडिच्छइ, ततो लोगो न जाणइ,कस्स पडिच्छियं ति,ताहे लोगेण जाणणानिमित्तं भेरी कया, जो देइ सो ताडेइ, ताहे लोगो पविसइ. एवं वच्चइ कालो, सामी समोसरितो , ताहे साहू संदिसावेंता भणिया-मुहुत्तं अत्थह, अणेसणा, तम्मि जिमिए भणिया-ओयरह, गोयमो भणिओ-मम वयणेणं भणिज्जासि भो अणेगपिंडिया ! एगपिंडितो ते दट्ठुमिच्छई , ताहे गोयमसामिणा भणितो रुट्ठो, तुब्भे अणेगाणि पिंडसयाणि आहारेह, अहं एगं पिंडं भुंजामि, तो अहं चेव एगपिंडिओ, मुहुत्तंतरस्स उवसंतो चिंतेति--ण एते मुसं वदंति, किह होज्जा ?, लद्धा सुती. होमि अणेगपिंडिओ, जद्दिवसं मम पारणयं तद्दिवसं अणेगाणि पिंडसताणि करेंति, एए पुण अकयमकारियं भुंजति. तं सच्चं भणंति, चिंतंतेण जाई संभरिया, पत्तेयबुद्धो जातो, अज्झयणं भासइ, इंदनागेण अरहया उक्तं सिद्धो य । एवं बालतवेण सामाइयं लद्धं तेण ।" आ०म० १ अ० ।

**बालतवस्सि ( ण् )-बालतपस्विन्**-पुं० । लौकिकतापसे ( ४६२ गाथा ) आ० म० १ अ० ।

**बालतवोकम्म--बालतपःकर्मन्**-न० । बाला इव बाला मिथ्यादृशस्तेषां तपःकर्म । मिथ्यादृशां तपःक्रियायाम् , स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**बालदिवायर-बालदिवाकर**-पुं० । प्रथममुद्गच्छति सूर्ये , स हि उदये रक्तो भवतीति बालपदोपादानेन रक्तवस्तूपमानत्वेन वर्ण्यते । जं० १ वक्ष० । रा० । जी० ।

**बालपंडिय--बालपण्डित**-पुं० । अविरतत्वेन बालत्वात् विरतत्वेन च पण्डितत्वात् बालपण्डितः । संयताऽसंयते,स्था० ३ ठा० ४ उ० । देशविरते, अनु० । सूत्र० । वृ० । बालपण्डितोभयव्यवहारानुगतत्वात् देशविरतिसामायिके , विशे० । सर्वविरतिपरिणामाभावात् बाल स्थूलप्राणातिपाताऽऽदिविरमणाच्च पण्डितं बालं तच्च तत्पण्डितं च बालपण्डितं,तद्योगान्मरणमपि बालपण्डितम् ! बालपण्डितमरणे, आतु० ।

**बालपंडियमरण-बालपण्डितमरण**--न० । श्रावकमरणे,प्रव० ।

> जाणाहि बालपंडिय--मरणं पुण देसविरयाणं ।

जानीहि बालपण्डितमरणं मिश्रमरणं.पुनःशब्दः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतनार्थः । देशात्सर्वविरतविषयापेक्षया स्थूलप्राणिव्यपरोपणाऽऽदेर्विरता देशविरतास्तेषां देशविरतानाम् । प्रव० १५७ द्वार ।

> देसिक्कदेसविरओ, सम्मद्दिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।
> तं होइ बालपंडिअ-मरणं जिणसासणे भणियं ।। १ ।।

( देशविरतव्याख्या ' देसिक्कदेसविरय ' शब्दे चतुर्थभागे २६३४ पृष्ठे गता ) तथा सम्यगविपरीता नव--श्रद्धानरूपा दृष्टिर्दर्शनं यस्याऽसौ सम्यग्दृष्टिः, एवंविधो यो जीवः श्रावकसम्बन्धी म्रियते, तदिह मरणं जिनशासने बालपण्डितमरणमिति भवति भणितं, शेषशासनेषु बालमरणाऽऽदिभाषाया एवाभावात्,तत्र सर्वविरतिपरिणामाभावाद्बालं स्थूलप्राणातिपाताऽऽदिविरमणाच्च पण्डितं बाल च तत्पण्डितं च बालपण्डितं,तद्योगात् मरणमपि बालपण्डितमित्यर्थः । जिनशासने च मरणमनेकधा कथितम्-आवीचिमरणाऽऽदिभेदात् । तच्चानेकविधमपि इह पञ्चधा परिकल्पितम् । तद्यथा -मिथ्यादृशां बालं बालमरणमविरतस-

स्यग्दृष्टेर्बालमरणं, देशविरतस्य बालपण्डितमरणं, छद्मस्थयतीनां पण्डितमरणं, केवलिनां पण्डितपण्डितमरणं चेति । आतु० ।

कदा पुनरसौ श्रावको बालपण्डितमरणेन म्रियते ?, इत्याह—

आसुक्कारे मरणे, अच्छिन्नाए य जीवियाऽऽसाए ।
नाएहि वा अमुक्को, पच्छिममंलेहणमकिच्चा ॥ ६ ॥

आशु-शीघ्र, करणं कार आशुकार., अतर्कितो मरणाव-सरस्तेन मरणं, तस्मिन् मरणे अचिन्तितोपस्थिते इत्यर्थ., एवं झटिति प्रत्यासन्नीभूते मरणे बालपण्डितमरणं कुर्यात् । अथवा-अच्छिन्ना इति न छिन्ना त्रुटिता काये जीविताऽऽशा तस्या तया वा क्षामणे च मरणकाले समागतेऽपि संलेखनाऽऽयकृत्वा च यन्म्रियते तद्बालपण्डितमरणम्, स्व ज्ञातैर्वा यस्तैर्न मुक्तो नानुमतः , पश्चिमकालकर्तव्यसलेखना तपःप्रभृतिकाम् अकृत्वा च यन्मरणं करोति तद्बाल-पण्डितमरणमुक्तमित्यभिप्रेतनगाथाया सबन्ध. ॥ ६ ॥

स च कथं गृहे म्रियते ?, इत्याह—

आलोइय निस्सल्लो, सघरे चेवाऽऽरुहित्तु संथारं ।
जइ मरइ देसविरओ, तं वुत्त बालपंडियय ॥ ७ ॥

( आलोइय ) आलोच्य गीतार्थ. सुगुरुसमीपे आलोचनां दत्वा, निर्गतं शल्यं यस्मात् मूलगुणोत्तरगुणविराधनारूप, भावशल्यरहित इत्यर्थ., एवविध. सन् स्वगृहे निजगृहे एवाऽऽरुह्याङ्गीकृत्य संस्तारकमनशनप्रतिपत्तिकालार्हं दर्भप्रस्तरणरूप, सस्तारकविधिसाध्यमनशनमप्युपचारात्संस्तारकमुच्यते, कृतानशन. सन् यदि म्रियते देशविरत. समाधिमान् तदुक्तं बालपण्डितमरणम् ॥ ७ ॥

उक्तेन विधिना विधेयमित्याह—

जो भत्तपरिन्नाए, उवक्कमो वित्थरेण निद्दिट्ठो ।
सो चेव बालपंडिय-मरणे नेओ जहाजुग्गं ॥ ८ ॥

यो भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णके श्रावकस्याऽनशनप्रतिपत्तिं कुर्वत उपक्रम प्रथमत सर्वकृत्यविधिरूपो विस्तरेण " अह दुन्न देसविरओ० २६। अनियाणो० ३०। नियदव्व० ३१ ।" इत्यादिगाथात्रयेणोक्तो, गुरुसङ्घपूजासाधर्मिकस्वजनवात्सल्यदाना-ऽऽदिदानजिनचैत्यकारापणबिम्बनिर्मापणतत्प्रतिष्ठापनसिद्धान्तलेखनतीर्थयात्राविधानजिनशासनप्रभावनाऽऽदिपुण्यानि कृतपूर्व. श्राद्धोऽन्त्यसमये स्वजनमुत्कलापनचैत्यवन्दनगुरुद्वादशाऽऽवर्तवन्दनदानाऽऽलोचनाग्रहणपुन.सम्यक्त्वव्रतोच्चारसर्वजीवक्षामणचतुःशरणप्रतिपत्त्यादिपुरस्सरमनशनमङ्गीकरोतीत्यादिरूप स एवाऽत्राप्यध्ययने बालपण्डित-मरणे वर्णयितव्ये यथायोग्यं ज्ञेय. ॥ ८ ॥

अथ तस्यैवविधाऽऽराधनायुक्तस्य क्वोपपात ?, इति दर्शयति-

वेमाणिएसु कप्पो-वगेसु नियमेण तस्स उववाओ ।
नियमा सिज्झइ उक्को-सएण सो सत्तमम्मि भवे ॥९॥

विमाने भवा वैमानिका', ते च ज्योतिष्का अपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदाय विशेषणमाह-( कप्पोवगेसु ) कल्पान् "सोहम्मी सारण ति अत्था य " इत्यादिभेदेन प्रक्रमाद् सौधर्माऽऽदीन् उपगच्छन्तीति कल्पोपगास्ते न तु कल्पान्ते तेषु श्रावकस्य पूर्वमबद्धाऽऽयुषो जघन्यत. सौधर्मादारभ्य उत्कृष्टतोऽच्युतं यावदेव गमनसंभवात् , नियमेन तस्योपपात । अथ श्राद्धधर्माऽऽराधकोऽप्रतिपतितधर्मा कतमे भवे सिद्धो भवतीत्याह—नियमान्निश्चयेनोत्कृष्टत. सप्तभवानङ्गीकृत्य सप्तमे भवे सिद्ध्यति ।

इय बालपंडियं हो-इ मरणमरिहंतसासणे दिट्ठं ॥

इत्यमुना पूर्वोक्तप्रकारेण पर्यन्तसमयेऽपि सर्वविरतेरनङ्गीकरणं बालम् , अनशनप्रतिपत्तिश्च पण्डितं च, बाल च तत् पण्डितं च बालपण्डितम् , भवति मरणमर्हच्छासने जिनप्रवचने दृष्ट भणितम् । आतु० ।

बालपंडियवीरिय-बालपण्डितवीर्य-न० । देशविरतस्य संयमासंयमविषये वीर्ये, सू० ३ उ० । सूत्र० ।

बालपन्न-बालप्रज्ञ-त्रि० । मूर्खप्राये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

बालब्भवायणा-बालभ्यवाचना-स्त्री० । वलभीपुरजाया वाचनायाम्, ( तां च ' वायणा ' शब्दे दर्शयिष्यामि ) ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता बालभ्य. । ज्यो० २ पाहु० ।

बालममत्त-बालममत्व-न० । लघौ शिष्ये ममत्वकरणे, ध० ३ अधि० ।

बालमरण-बालमरण-न० । बाला इव बाला अविरतास्तेषां मरण बालमरणम् । स० १७ सम० । मिथ्यादृशां मरणे, "अविरयमरण बालं ।" बाला इव बाला अविरतास्तेषां मरणं बालमरणमिति ब्रुवते इति सबन्ध' । प्रव० १५७ द्वार । उत्त० ।

बालमरणानि—

से किं तं बालमरणे ? । बालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते तं जहा-वलयमरणे, वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, गिरिपडणे, तरुपडणे, जलप्पवेसे जलणप्पवेसे विसभक्खणे सत्थोवाडणे, वेहाणसे, गिद्धपिट्ठे । इच्चेएणं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, तिरियमणुयदेवअणाइयं च णं अणवदग्गं दीहद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ, से तं बालमरणेणं मरमाणे वड्ढइ वड्ढइ । से तं बालमरणे ।

( दुवालसविहे ण बालमरणेण ति ) उपलक्षणत्वादस्यान्येनापि बालमरणान्त'पातिना मरणेन म्रियमाण इति । ( वड्ढइ वड्ढइ त्ति ) ससारवर्द्धनेन भृशं वर्द्धते जीव. । इह हि द्विर्वचनं भृशार्थ इति । भ० २ श० १ उ० । स्थ० । आचा० । ( 'भत्तपच्चक्खाण' शब्दे तत्प्रकार वक्ष्यामि ) ( 'मरण' शब्दे काँश्चिद् विधीन् दर्शयिष्यामः )

बालमरणानि प्रशंसति—

जे भिक्खू गिरिपडणाणि वा १ मरुपडणाणि वा २ तरुपडणाणि वा ३ भिगुपडणाणि वा ४ मरु १ तरु २ गिरि ३ भिगु ४ पक्खंदाणि वा जलप्पवेसाईणि वा ६ जलणपवेसाणि वा १० जलपक्खंदाणि वा ११ विसभक्खणाणि वा १२ सत्थुप्पाडणाणि वा १३ वसट्टमरणाणि वा १४ तब्भवमरणाणि वा १५ अंतोसल्लमरणाणि वा १६ वेहाणसमरणाणि वा १७ गिद्धपिट्ठमरणाणि वा १८

बलयमरणाणि वा ०जाव अएणयराणि वा तहप्पगाराणि वा बालमरणाणि वा पसंसइ, पसंसतं वा साइज्जइ ॥१६६॥

एषां व्याख्या ग्रन्थेनैव ।

गाहा—

गिरिपवडणाऽऽदिमरणा, जेत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
तेसिं अएणतराणं, पसंसते आणमादीणि ॥ ५०७ ॥

तेसिं सुत्ताभिहियाणं दुवालसएहं बालमरणाणं अएणतराणं पसंसइ, आणादिया दोसा, चउगुरु च पच्छित्तं ।

गिरिमरुतडभिगूणं चउएहं वि इमं वक्खाणं । गाहा—

जत्थ पवातो दीसति,सो तु गिरी मरु अदिस्समाणो तु ।
नदितडमादी उ भिगू, तरुउ अस्सोयवडमादी ॥५०८॥

गिरिमरूणं विसेसो , जत्थ पव्वए आरूढेहिं अहो पवायणट्ठाणं दीसइ सो गिरी भएणइ, अदीसमाणे मरू । भिगुणदितडा, आदिसद्दातो विज्जू खायं अगडो वा भएणइ, पिप्पलवडमादी तरू एतेहिंतो जो अप्पाणं मुंचइ मरण च ववसिओ तं पवडणं भएणइ । एते चउरो वि पवडणसामएणा एक्को मरणभेदो, एतेसु चेव चउसु पक्खंदणं पवडणं ।

पक्खंदणाण इमे भेदा । गाहा—

पडणं तु उप्पतित्ता, पक्खंदण धाविऊण जं पडति ।
तं पुण गिरिम्मि जुज्जति,नदितडपडणं भिगूहिं वा॥५०६॥

थाणत्थो उड्ढं उप्पइत्ता जो पडइ वक्कडेवने डिंडिकवत् एयं पवडणं, जं पुण अदूरओ धावित्ता पडइ त पक्खदणं । अहवा-ठियणिसएणणिवएणस्स अणुप्पइत्ता पवडमाणस्य पवडणं; उप्पाइय पक्खंदण तं पुण पडण पक्खदणं वा गिरिम्मि जुज्जइ, घडतीत्यर्थ । णदितडभिगूहिं वा पडणं पक्खंदणं च जुज्जइ, तरूसु कहं पक्खदणं जुज्जइ ? ।

अओ भएणइ । गाहा—

ओलंबिऊण संपा-ठियस्स तरुतो पवडणं होति ।
पक्खंदमणुपतित्ता, अंदोलेऊण वा पडणं ॥ ५१० ॥

हत्थेहिं साहाए लग्गिउ ओलंबिउं पडंतस्स पवडणं रुक्खग्गओ वा समपादट्ठियस्स अणुप्पइत्ता पवडमाणस्स पवडणं, रुक्खट्ठियस्स ज उप्पइत्ता पडए तं पक्खदणं, हत्थेहिं वा लंबिउ जं अंदोलइत्ता पडइ तं वा पक्खंदणं, चउरो वि पक्खदणापक्खंदणसमाणसामएणं बिइओ मरणभेदो, जलणपवेसापवेससामएणओ तइओ मरणभेदो , जलजलणपक्खंदणे चउत्थो मरणभेदो, सेसा विसभक्खणाइया अट्ठ पत्तेयभेदो. विसभक्खणं पसिद्धं, सत्थेण अप्पणा अप्पाणं वि वावाएइ।

बलयवसट्टाणं इमं वक्खाणं। गाहा—

बलयं बलायमाणे, जो मरणं मरति हीणसत्ततया ।
सोतिंदियादिविसए, जो मरति वसट्टमरणं तु ॥ ५११ ॥

सजमजोगेसु वलवोहीणऽसत्तमाए जो अकामगो मरइ एयं बलयमरणं. गल वा अप्पणो वलेइ इंदियविसएसु रागदोसे कसायवसट्टो स मरंतो वसट्टमरणं मरइ ।

अंतोसल्लाणं इमं वक्खाणं । गाहा-

तम्मी चेव भवम्मी, मयाण जेसिं पुणो वि उप्पत्ती ।
तं तब्भवियं मरणं, अविगयभावं ससल्लं च ॥ ५१२ ॥

जम्मि भवे वट्टइ तस्सेव भवस्स हेउसु वट्टमाणो आसुयं बंधित्ता पुणो तत्थेव वज्झिउकामस्स जं मरणं तं तब्भवमरणं। एयं मणुयतिरियाण चेव संभवइ । अंतोसल्लमरणं दुविहं-दव्वे, भावे य । दव्वेण-सायाऽऽदिणा सल्लियमरणं, भावे-मूलुत्तराइयारे पडिसेवित्ता गुरुणो अणालोइत्ता पलिउंचमाणस्स वा भावसल्लसल्लियस्स एरिसस्स वियडभावस्स अंतोसल्लमरणं वेहाणसं मरेजए अप्पाणं उड्ढं लंबेइ गिद्धेहिं पुट्ठं, गृध्रैर्भक्षितव्यमित्यर्थः । तं गोमाइकलेवरे अत्ताणं पक्खिवित्ता गिद्धेहिं अप्पाणं भक्खावेइ । अहवा-पेट्टोदराऽऽदिसु अलत्तपुडगं दाउं अप्पाणं गिद्धेहिं भक्खावेइ ।

एते दुवालस बालमरणा पसंसमाणस्स इमे दोसा-

मिच्छत्तथिरीकरणं, सेह परीसहपराइतेक्कतरं ।
णिकिवया सत्तेसु य, होती जे जत्थ ते पडती ॥ ५१३॥

अहो इमो साहू एगंतसुट्ठियप्पा इमे गिरिपवडणाइ मरणे पसंसइ, एते धुवं करणिज्जा नत्थि इत्थ दोसो । एवं मिच्छत्ताइट्ठियाणं मिच्छत्ते थिरीकओ भावो भवइ , पसंसिए बालमरणे सेहो परीसहपराजिओ बारसएहं एगतर पडिवजेज्जा, जे य बालमरणे पसंसिए अप्पाणं अइवाएज्जा तेसु सत्तेसु णिग्घिणया कया भवइ, तव्विराहणाणिप्फएणं च पच्छित्तं भवइ, तम्हा णो पसंसेज्जा ।

इमे य ते कारणा । गाहा—

बितियपदमणप्पज्झे, पसंसिओ कोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वावि पुणो, कज्जेसु चउप्पगारेसु ॥ ५१४ ॥

ते य बहुप्पगारा कज्जा इमे । गाहा—

कयम्मि मोहभेसज्जे, अठायंते तहा वि उ ।
जुंगितु आमए वावि, असज्झं पएणवेंति उ ॥ ५१५ ॥

साहुस्स उदिएणमोहस्स विज्ञादिणा मोहभेसज्जे कए तहाऽवि मोहानि से जा अथायमाणे कएहत्तिना सहसा पादादिजुंगिय वा कुट्ठवाहिणा वा असज्झेण गहियं, गोणसामाइक्खयं वा असज्झ. पंडियमरणे असत्ते एतेण इमेण विहिणा बालमरणेण पएणवेंति ।

गाहा—

तत्थ दसएहं अवाए, आदिल्लाणं मरण दंसेत्ता ।
दोणि पसंसति विऊ, वेहाणमगद्दमट्ठ च ॥ ५१६ ॥

पवडणादीया अंतोसल्लपज्जवसाणे एते दोसा। एतेसिं जीववबरोवणाऽऽदि अवाए दंसेत्ता ते पडिसेहित्ता दोएहं वेहाणसगवसट्टमरणाणं गुणे आगमविऊ पसंसंति, पडियमरणमसत्ते ते वि पत्तव्व इत्यर्थः । भणिय दुवालसविह बालमरणं । नि०चू० ११ उ० । ( अकाममरणम् इति मरण शब्दे विवरिष्यते )

**बालमूलराय**--बालमूलराज--पुं० अणहिल्लपट्टननगरे चौलुक्यवंशे कुमारपालानन्तरे स्वनामख्याते राजनि, ती० २५ कल्प ।

बालय-बालज-न० । बालेभ्य ऊरणिकाऽऽदिलोमभ्यो जात बालजम् । बालनिष्पन्ने सूत्रभेदे, अनु० ।

बालयं पंचविहं पण्णत्तं । त जहा-उणियं, उट्टियं, मियलोमियं, कोतवं, किट्टिसं । से तं बालयं ।

( बालयं पंचविहमित्यादि ) बालेभ्य ऊरणिकाऽऽदिलोमभ्यो जातं बालजं, तत्पञ्चविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-ऊर्णाया इदमौर्णिकम् उष्ट्राणामिदमौष्ट्रिकम् । एते द्वे अपि प्रतीते । ये मृगेभ्यो ह्रस्वका मृगाऽऽकृतयो बृहत्पुच्छा आटविकजीवविशेषास्तल्लोमनिष्पन्नं मृगलोमिकम् , उन्दुररोमनिष्पन्नं कौतवम् , ऊर्णाऽऽदीनां यदुद्धरितं किट्टिसं तन्निष्पन्नं सूत्रमपि किट्टिसम् । अथवा-एतेषामेवोर्णाऽऽदीनां द्विकाऽऽदिसंयोगतो निष्पन्नं सूत्रं किट्टिसम् । अथवा-उक्तशेषपश्वादिजीवलोमनिष्पन्नं किट्टिसं । से तमित्यादि निगमनम् । अनु० । आ० म० । पं०भा० । पं०चू० । सूत्र० । नि०चू० ।

बालया-बालता-स्त्री० । मूर्खतायाम् , आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । अज्ञानतायाम् , आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

बालरज्जु-बालरज्जु-स्त्री० । गवादिबालमय्यां रज्जौ, प्रश्न० ३ 'आश्र०द्वार ।

बालव-बालव-न । कालकरणभेदे,विशे० । बवाऽऽदिष्वन्यतमे, आ०म० १ अ० । आ०चू० । उत्त० । सू०प्र० । सूत्र० ।

बाललोभणिज्ज-बाललोभनीय-त्रि० । अव्यक्तजनलोभनयोग्ये, तं० ।

बालवच्छा-बालवत्सा-स्त्री० । स्तन्योपजीविशिशुकायां स्त्रियाम् , पिं० ।

बालवयणीय-बालवचनीय-त्रि० । प्राकृतपुरुषाणामपि गर्ह्ये, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

बालविहवा-बालविधवा-स्त्री० । बालत्वे रण्डात्वं प्राप्तायां स्त्रियाम् , औ० ।

बालवीयणय-बालवीजनक-न० । चामरविशेषे, आ० १ श्रु० ३ अ० । स्था० । ओघ० । बालैर्मयूरपिच्छैर्वा रचिते व्यजनके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

बालवीरिय-बालवीर्य-न० । मिथ्यादृशामविरतिलक्षणे सामर्थ्ये तच्च अभव्यानामनाद्यपर्यवसितं, भव्याना त्वनादि सपर्यवसितम् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । नि० चू० । ( 'वीरिय' शब्दे एतद् व्याख्यास्यते )

बालवीरियलद्धि-बालवीर्यलब्धि-पुं० । असंयते , भ० ८ श० २ उ० ।

बालहाण बालधान-न० । पुच्छे, आ० १ श्रु० ३ अ० । म० ।

बालहि-बालधि-पुं० । पुच्छे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

बाला-बाला-स्त्री० । बालस्येयमवस्था धर्मधर्मिणोरभेदाद् बाला वर्षशताऽऽयुषो दशवर्षाऽऽदिमिकायां दशायाम् , स्था० १०ठा० ।

जायमित्तस्स जंतुस्स, जा सा पढमिया दसा ।
न तत्थ सुहं दुक्खं वा, न हु जाणंति बालया ॥ १ ॥

जातमात्रस्य जन्तो.—जीवस्य या सा प्रथमिका दशा द शवर्षप्रमाणाऽवस्था ( तत्थ त्ति ) तस्यां प्रथमदशायां प्राये‍ण सुखं दुःखं वा नेति नास्ति, तथाऽन्नमपरेषां सुखं दुःखं नैव जानन्ति बालका जातिस्मरणाऽऽदिज्ञानविकला इति । तं० । " चेडी दिल्लिदिलिआ, य दुसुगंधिअमुही बाला । " पाइ०ना० ५८ गाथा ।

बालग्गणितेयगुण-बालाग्नितेजोगुण-त्रि० । बालोऽभिनवप्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजोऽभितापः स एव गुणो यस्य स तथा । परेण प्रकर्षेण तप्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

बालावबोहण-बालावबोधन-न० । अमन्दमतीनां प्रतारणे, द्रव्या० ६ अध्या० ।

बालि( ण् )-बालिन्-त्रि० । बालप्रधाने, अनु० । सुग्रीवभ्रातरि वानरराजे, बालाः केशास्ते श्यामलनिचितकुञ्चिताऽऽदिगुणोपेता येषां ते बालिन । सुकेशेषु सू० १ उ० ३ प्रक० । स्वनामख्याते ऋषिभेदे च । येन अष्टापदे कृतकायोत्सर्गेण पादाङ्गुष्ठप्रपीडनतोऽष्टापदमुत्तम्भयन् रावणो नम्रीकृत । ती० ४७ कल्प ।

बालिखिल्ल-बालिखिल्य-पुं० । स्वनामख्यातेषु ऋषिगणेषु, सम्यग्दृष्टिराजभेदे च । चम्पापुरस्य शत्रुञ्जये । ती० १ कल्प ।

बालिस-बालिश-त्रि० । अज्ञे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । मूर्खे, " बाला मूढा मंदा, अयाणया बालिसा जडा मुक्खा ॥ " पाइ० ना० ७१ गाथा ।

बाली-बाली-स्त्री० । तृणविशेषे, रा० । आ० चू० ।

बालु-बालु-पुं० । द्वादशे परमाधार्मिके, य कदम्बपुष्पाऽऽकारासु वज्राऽऽकारासु वा वैक्रियबालुकाऽऽकारासु तप्तासु चणकानिव नारकान् पचति । स० १५ सम० । प्रव० । सूत्र० ।

तडतडतडस्स भज्जति, भज्जणे कलंबुबालुगापट्ठे ।
बालूगा णेरइया, लोलंती अंबरतलम्मि ॥ ८१ ॥

बालुकाख्याः परमाधार्मिका नारकानत्राणांस्तप्तबालुकाभृतभाजने चणकानिव ( तडतडि त्ति ) स्फुटतः ( भज्जति ) भृज्जन्ति पचन्ति । केत्याह-कदम्बपुष्पाऽऽकृतिबालुका कदम्बबालुका तस्याः पृष्ठमुपरितलं तस्मिन् पातयित्वा अम्बरतले च लोलयन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । आ० चू० । आव० ।

बालुंक-बालुङ्क-पुं० । चिर्भटविशेषरूपे अनन्तजीववनस्पतिभेदे, आ० १ श्रु० ६ अ० । नि० चू० । आचा० । आ०क० ।

बालुंड-बालुण्ड-पु० । आन्तरशरीरावयवविशेषे, तं० ।

बालुयग्गाम-बालुकाग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे,यत्र म्लेच्छ स्थिकविहारेण भगवान् वीरस्वामी सगोशाल समवसृत । आ०क० १ अ० । आ० चू० । आ० म० ।

बालुयप्पभा-बालुकाप्रभा-स्त्री० । बालुकायाः परुषपांशुरूकररूपाया' प्रभा यस्यां सा बालुकाप्रभा । प्रव० १७४ द्वार । तृतीयनरकपृथिव्याम् , भ० १ श० ४ उ० । प्रज्ञा० । अनु० । स्था० ।

बालुया-बालुका-स्त्री० । सिकतायाम् , प्रज्ञा० १ पद । चं० प्र० । आ० क० । जी० । रा० । रेणुकणेषु , तं० । " बालुया कवले चेव, निस्सारे उ य संजमे ॥ " उत्त० १६ अ० ।

बालुयाजल-बालुकाजल-न० । बालुकाया उपरि वहति जले, ओघ०

बावस्र–द्वापञ्चाशत्–स्त्री०। द्व्यधिकायां पञ्चाशति, स०५२सम०।

बावत्तरि–द्वासप्तति–स्त्री०। द्व्यधिकायां सप्ततौ, "बावत्तरिक-लापण्डिया।" लेखाऽऽद्याः शकुनरुतपर्यन्ता गणितप्रधानाः क-लाः प्रायः पुरुषाणामेवाभ्यासयोग्याः, स्त्रीणां तु विज्ञेया एवे-ति। विपा० १ श्रु० २ अ०। औ०। भ०। प्रज्ञा०। "बावत्तरि-सव्वसुमिणा।" द्विगृद्धिदशानां चतुर्थमध्ययनम्। स्था० १० ठा।

बावल्लि बावल्लि–स्त्री० वल्लिभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

बावीस–द्वाविंशति–स्त्री०। द्व्यधिकायां विंशतौ, द्वाविंशति-संख्येषु, उत्त० २ अ०।

बासट्ठि–द्वाषष्टि–स्त्री०। द्व्यधिकायां षष्टिसंख्यायाम्, रा०।

बाह–बाष्प–पुं०। "बाष्पे होऽश्रुणि" ॥ ८।२।७०॥ बाष्पशब्दे संयुक्तस्य हो भवति। इति ष्पस्य हः। अश्रमभिधेये नेत्रजले, प्रा० २ पाद। अश्रुणि, "बप्फं बाहो य नयणजलं।" पाइ० ना० ११२ गाथा।

बाहगदोस–बाधकदोष–पुं०। यैर्यैर्दोषैरर्थकामरागाऽऽदिभिः स धर्माधिकारी पुरुषो बाध्यते कुशलानुष्ठानतश्च्याव्यते। तेषु, पञ्चा० १ विव०।

बाहगदोसविवक्ख–बाधकदोषविपक्ष–पुं०। बाधकदोषप्रति-पक्षभावनायाम्, पञ्चा० १ विव०।

बाहप्पमोयण–बाष्पप्रमोचन–न०। अश्रुविमोचने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०।

बाहल–बाहल–पुं०। जनपदभेदे, "बाहलविसए एगो दमगो।" आ०म० १ अ०।

बाहल्ल–बाहल्य–न०। बहलस्य भावो बाहल्यम्। पिण्डभावे उत्सेधे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। भ०। प्रज्ञा०। पृथुत्वे, विस्तारे, स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रमाणे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ०।

बाहा–बाधा–स्त्री०। 'बाधृ' लोडने। बाधते इति बाधा। कर्मण उदये, स० ७० सम०। व्यवधाने, स० ५२ सम०। आचा०। आ०म०। जं०प्र०। आक्रमणे, रा०। पीडायाम्, आव० ४ अ०। परस्परं संश्लेषतः पीडने, जं० १ वक्ष०।

बाहु–स्त्री०। "बाहोरात्" ॥ ८। १। ३६ ॥ बाहुशब्दस्य स्त्रियामाकारान्तादेशः। बाहा। बाहू। प्रा० १ पाद। "स्व-राणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे" ॥ ८। ४। ३२९ ॥ इति बाहु-स्थाने बाहा। प्रा० ४ पाद। "बहुया धणुपट्ठाओ अह एगं सो हियाण धणुपट्ठं। जं तत्थ हवइ सेसं, तस्सऽद्धे निद्दिसे बाहं ॥ १ ॥" जं०।

बाहिं–बहिस्–अव्य०। "बहिसो बाहिं–बाहिरौ" ॥ ८।२।१४० ॥ बहिःशब्दस्य बाहिं बाहिर इत्यादेशौ भवतः। बाहिं। बा-हिर।" अनाभ्यन्तरे, प्रा० १ पाद।

बाहिंखरियता–बहिःखरिकता–स्त्री०। नगरबहिर्वर्तिवेश्यात्वे प्राप्तजनवेश्यात्वे भ० १५ श०।

बाहिंसंवुक्का–बहिःसंवुक्का–स्त्री०। गोचरचर्याभेदे, पं०व० २ द्वार।

बाहिज्ज–बाधिर्य–न०। बधिरत्वे, विशे०।

बाहिज्जमाण–बाध्यमान–त्रि०। पीड्यमाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०।

बाहिर–बाह्य–त्रि०। बहिर्भवं बाह्यम्। बहिर्जाते, स्था० २ ठा० १ उ०। अप्रत्यासन्ने, स्था० ८ ठा०। नगराऽऽदेर्बाह्ये कृते स्वाऽऽचारपरिभ्रंशात् विशिष्टजनबहिर्वर्तिनि, विपा० १ श्रु० ३ अ०। "सब्भिंतरबाहिरए, तवोकम्मंसि उज्जुओ।" उ-त्त० १९ अ०। "बहिसो बाहिं बाहिरौ" ॥ ८। २। १४० ॥ इति बाहिराऽऽदेशः। प्रा० २ पाद।

बाहिरणियंसिणी–बाह्यनिवसनी–स्त्री०। साध्व्युपकरणभेदे, "बाहिरगा जा खलुंगो कडीए दोरेण पडिबद्धा।" नि० चू० ४ उ०। बाह्या निवसनी यावत्खलुङ्कस्तावत्कट्या दवर-केण प्रतिबद्धा भवतीति। पं०व० ३ द्वार।

बाहिरतव–बाह्यतपस्–न०। बाह्यमित्यालोक्यमानस्य लौकि-कैरपि तपस्तया ज्ञायमानत्वात्प्रायो बहिः शरीरस्य ता-पकत्वाद् वा तपसि दुनोति शरीरकर्माणि यत्तत् तप इति। स्था० ६ ठा०। पा०। स०। पं०व०। भ०।

बाहिरपुक्खरद्ध–बाह्यपुष्करार्द्ध–न०। मानुषोत्तरपर्वतात् परतः पुष्करद्वीपस्यार्द्धे, सू०प्र० १९ पाहु०।

बाहिरप्प–बाह्याऽऽत्मन्–पुं०। काये, तस्य स्वाऽऽत्मधिया प्रतीयमानस्याहं स्थूलोऽहं कृश इत्याद्युल्लेखेनाधिष्ठायक-त्वात्। द्वा० २० द्वा०।

बाहिरप्पवहा–बहिःप्रवहा–स्त्री०। शरीराद् बहिः पूयाऽऽदि क्षरन्त्यां नाड्याम्, विपा० १ श्रु० १ अ०।

बाहिरभंडमत्तोवगरणोवहि–बाह्यभाण्डमात्रोपकरणोपधि–पुं०। बाह्यो कर्मशरीरव्यतिरिक्ते ये भाण्डमात्रोपकरणे तद्रूपो य उ-पधिः स तथा। तत्र भाण्डमात्रा भाजनरूपा, परि-च्छद उपकरणं च वस्त्राऽऽदीति। उपधिभेदे, भ० १८ श० ७ उ०।

बाहिरवत्ति–बाह्यव्याप्ति–स्त्री०। पक्षीकृत एव विषये साध-नसाध्ययोर्व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिरन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिरिति। व्या-प्तिभेदे, रत्ना० ३ परि०।

बाहिराबाहिराणुओग–बाह्याबाह्यानुयोग–पुं०। अनुयोगभेदे, स्था०। "बाहिराबाहिरे।" बाह्याबाह्यं, तत्र जीवद्रव्यं बाह्यं, चैतन्यधर्मेणाऽऽकाशास्तिकायाऽऽदिभ्यो विलक्षणत्वात्, तथे-वाबाह्यममूर्त्तत्वाऽऽदिना धर्मेणामूर्त्तत्वादुभयेषामपि चैतन्ये-न वाऽबाह्य जीवास्तिकायाच्चैतन्यलक्षणत्वादुभयोरप्यथवा घटाऽऽदि द्रव्यं बाह्यं कर्म चैतन्याऽऽदित्वमबाह्यमाध्यात्मिक-मिति पाद्यादित्येवमन्यो द्रव्यानुयोग इति। स्था० १० ठा०।

बाहिरिया–बाहिरिका–स्त्री०। बहिर्भवा बाहिरिका। "अ-ध्यात्माऽऽदिभ्य इकण्" ॥ ६। ३। ७८ ॥ इति इकण्प्र-

त्यय: । प्राकारबहिर्वर्तिन्या गृहपङ्क्तौ, वृ० १ उ० २ प्रक० । ओघ० ।

बाहु-बाहु-पुं० । स्त्री० । भुजे, स्था० १० ठा० । ऋषभपूर्व-भवजीवस्य महाविदेहे पुण्डरीकिण्यां नगर्यां वैरनाभच-क्रवर्तिनो भ्रातरि, आ०म० १ अ० । पञ्चा० । आ०चू० । ऋषभदेवस्य सुमङ्गलाया जाते पुत्रे, आ० म० १ अ० ।

बभ्रु-पुं० । नकुले, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । भुजायाम्, " भु-आ बाहू । " पाइ० ना० २५१ गाथा ।

बाहुजुद्ध--बाहुयुद्ध-न० । योधप्रतियोधयोरन्योन्यं सारिया-हारवनिर्मसया वल्गने, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । स० ।

बाहुजोहि (ण्)-बाहुयोधिन्-पुं० । बाहुभ्यां युध्यत इति बाहुयोधी । बाहुयुद्धकर्त्तरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

बाहुत्तरण--बाहूत्तरण--न० । भुजाभ्यां पारगमने, पञ्चा०६विव० ।

बाहुत्तरणकप्प--बाहूत्तरणकल्प- पुं० । भुजपारगमनतुल्ये, प-ञ्चा० ६ विव० ।

बाहुपसिण -बाहुप्रश्न -पुं० । बाह्वयो भुजास्तद्विषयाः प्रश्ना यत्र । प्रश्नव्याकरणानां दशमे अध्ययने, प्रश्न० ।

बाहुप्पमद्दि ( ण् )- बाहुप्रमर्दिन्--पुं० । बाहुभ्यां प्रमृद्नाती-ति बाहुप्रमर्दी । बाहुभ्यां प्रमर्दके, औ० । ज्ञा० ।

बाहुबलि-बाहुबलि- पुं० । सुन्दरीसहजे ऋषभदेवपुत्रे, आ० म० १ अ० । कल्प० ।

बाहुबली पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० । आ०म० ।

( स च बाहलीदेशे तक्षशिलायामभिषिक्त इति । ' उसह ' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम् ) ( ' भरह ' शब्दे भरतबाहुबलियुद्ध वीक्ष्यम् ) विमलाद्रौ, ती० १ कल्प । ( वन्दनायागत. प्रभुम् । अदृष्ट्वा धर्मचक्रमकरोदिति कथाशेषं च 'उसभ' शब्दे द्वितीयभागे ११३८ पृष्ठे गतम् । )

बाहुया--बाहुका--स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे , जी० १ प्रति० ।

बाहुलग-बाहु-पुं० । भुजे, तं० ।

बाहुलेय-बाहुलेय-पुं० । बाहुलाया गोरपत्ये , अनु० ।

बाहुवण्ण-बभ्रुवर्ण-त्रि० । पिङ्गले , ज्ञा १ श्रु० १७ अ० ।

बाहुय-बाहुक-पुं० । स्वनामख्याते शीतोदकपरिभोगेऽपि सिद्धे लौकिकमहर्षौ , सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

बिइज्ज-द्वितीय-त्रि० । " वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्जः" ॥ ८ । १ । २४८ ॥ इति यस्य द्विरुक्तो ज्जः । बिइज्जो । बीओ द्वि-त्वसङ्ख्यापूरणे , प्रा० १ पाद । " ज जस्स होइ सरिसं, तं तस्स बिइज्जिय देइ ॥ " आ० म० १ अ० ।

बिइज्जअ-द्वितीय-त्रि० । सहाये, " दुइओ बिइज्जओ अणु-अ-रो सहाओ सहयरो य । " पाइ० ना० ५६ गाथा ।

बिइय-द्वितीय-त्रि० । " पदयोः सन्धिर्वा " ॥ ८ । १ । ५ ॥ इति सन्धिविकल्प. । बिइओ । बीओ । द्वित्वसङ्ख्यापूरणे, प्रा० १ पाद ।

बिइयतर-द्वितीयान्तर-न० । प्रतिवृक्षमूलस्तेभयोरपान्तराल , वृ० १ उ० २ प्रक० ।

बिइयदुय-द्वितीयद्वय-न० । द्वयोः पूरणे द्वयं, दश० १ अ० ।

बिइयपय-द्वितीयपद-न० । उत्सर्गपदापेक्षयाऽपवादपदे, ग० २ अधि० ।

बिइयसमोसरण-द्वितीयसमवसरण-न० । ऋतुबद्धकाले, वृ० ३ उ० ।

बिइया-द्वितीया-स्त्री० । द्वितीयदिवससम्बन्धिन्यां रात्रौ, चं०प्र० १० पाहु० १४ पाहु०पाहु० । अमौदशमिति-वचनप्रत्ययरूपे विभक्तिभेदे, " बिइया उवएसणे । " उपदेशने कर्मणि द्वितीया । यथा—भण इम श्लोकं, कुरु यातं, ददा-ति तं, याति ग्रामम् । स्था० ८ ठा० ।

बिइयाएस-द्वितीयादेश-पुं० । द्वितीये प्रकारे, वृ० १ उ० ३ प्रक० ।

बिउण-द्विगुण-त्रि० । द्वौ गुणौ यस्येति । " सर्वत्र लव रामचन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इति दलुक् । प्रा० २ पाद । " त-द्दिवस बिउणो लाहो । " आव० १ अ० ।

बिंभ-विन्ध्य-पुं० । " साध्वस-ध्य-ह्यां झः " ॥ ८ । २ । २६ ॥ इति ध्यस्य झ । प्रा० २ पाद । " ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने " ॥ ८ । १ । २५ ॥ इत्यनुस्वाराऽऽदेशः । प्रा० १ पाद । "न दीर्घानुस्वा-रात् " ॥ ८ । २ । ९२ ॥ इति झस्य द्वित्वनिषेध । स्वनामख्याते गङ्गादक्षिणकूलस्थे पर्वतविशेषे. दशपुरनगरे आर्यरक्षितसूरेः स्वनामख्याते गणप्रधाने शिष्ये, यस्य अष्ट-मकर्मप्रवादपाठश्रवणतो गोष्ठामाहिलो निह्नवो जात । आ० क० १ अ० । आ०चू० । आ०म० ।

बिंट-वृन्त-न० । बन्धने, "बंधणं विंटं ।" पाइ०ना० २२६ गाथा ।

बिंटसुरा-स्त्री० । मद्ये, " बिंटसुरा पिट्ठखउरिआ मइरा ।" पा-इ०ना० २११ गाथा ।

बिंदुइअ-बिन्दुकित-त्रि० । बिन्दुयुक्ते, " बिंदुइअं कणइअं क-णायअं ।" पाइ०ना० १६५ गाथा ।

बिंब-बिम्ब-न० । पुं० । प्रतिरूपके, वृ० ४ उ० । आव० । ज्ञा० । प्रतिमायाम्, पञ्चा० ६ विव० । (जिनप्रतिमाकारणाऽऽधि-कार 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे दर्शित ) गर्भप्रति-बिम्बे गर्भाऽऽकृतौ आर्त्तवपरिणामे अगर्भे, "अवस्थित लोहि-तमङ्गनाया", वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञा । गर्भाऽऽकृतित्वात्क-टुकोष्णतीक्ष्णैः, श्रुते पुन केवल एव रक्ते" ॥१॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० । फलविशेषे, "गोलहफलं बिम्बं ।" पाइ०ना० २५५ गाथा ।

बिंबइय--देशी-भूषिते, आ० म० १ अ० ।

बिंबपइट्ठा-बिम्बप्रतिष्ठा-स्त्री० । सर्वज्ञप्रतिनिधेस्तद्गुणाध्या-रोपे, जी० १ प्रति० ।

बिंबफल-बिंबफल-न० । बिम्ब्या सत्कं फलं बिम्बफलम् । प्रज्ञा० २ पद । पक्वगोलहाफले, जं० २ वक्ष० । जी० । तं० ।

बिंबभूय--बिम्बभूत--न० । जलचन्द्रवत्तदर्थशून्ये, कूटकार्षापणवद् वाऽसत्ये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

बिंबमुल्ल-बिम्बमूल्य--न० । प्रतिमावेतने, पञ्चा० ८ विव० ।

बिंबवय-न० । भिलावानाम्नि ओषधौ,"बिंबवयं भल्लायं ।" पाइ०ना० १४८ गाथा ।

बिंबी--बिम्बी--स्त्री० । बिम्बफलके गोल्हाऽऽख्ये लताभेदे, आ० क० १ अ० ।

बिंबोवणय -देशी- क्षोभ-विकारोच्छीर्षकेषु, दे०ना० ६ वर्ग ६७ गाथा ।

बिज्जुप्पभ--विद्युत्प्रभ--पुं० । वक्षस्कारपर्वतभेदे, स्था० ।

बिट्टि-पुत्रिका -स्त्री० । "शीघ्राऽऽदीनां वहिल्लाऽऽदयः" ॥८।४। ४२२ ॥ इति पुत्रिकास्थाने बिट्टि आदेशः । प्रा० ४ पाद । तनुजायाम्, "बिट्टिए मइ भणिअ तुहुँ, मा करु वंकी दिट्टि ।" प्रा० ४ पाद ।

बिदल-द्विदल-पुं० । तुवरीफलाऽऽदेरर्द्धभागे,आ०म० १ अ० । आचा० ।

बिदलकड-द्विदलकट-पुं० । द्विदलं वंशदलं, तन्मयः कटो द्विदलकटः । वंशमये कटे, बृ० १ उ० ३ प्रक० । आचा० । वंशशकलकृते कटे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

बिदलचडुलगच्छिन्न-द्विदलचटुलकच्छिन्न-त्रि० । मध्यपाटिते खण्डशश्छिन्ने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

बियवर-द्विजवर-पुं० । ब्राह्मणमुख्ये, पं०व० ४ द्वार ।

बिराली-बिडाली- स्त्री० । मार्जारजातिविशिष्टाया स्त्रियाम्, " मज्जारीआ बिरालीओ ।" पाइ०ना० १५० गाथा ।

बिल-बिल-न० । रन्ध्रे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । भ० । " बिलमिव पन्नगभूए । " बिलं बिलमिव असंस्पर्शनात् नागो हि बिलमसंस्पृशन् आत्मानं तत्र प्रवेशयत्येवं भगवानप्याहारमसस्पृशन् रसोपलम्भानपेक्षः सन्नाहारयतीति । विपा० १ श्रु० ७ अ० । कूपे, रा० ।

बिलकोलीकारग-बिलकोलीकारक-पुं० । परव्यामोहनाय विस्वरवचनवादिनि, विस्वरवचनकारिणि च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

बिलत्थगण-बिलस्थगन-न० । कोलाऽऽदिकृतबिलेष्विष्टकाशकलाऽऽदिप्रक्षिप्योपरि गोमयमृत्तिकाऽऽदिना पिधाने, व्य० ४ उ० ।

बिलधम्म-बिलधर्म--पुं० । बिलाऽऽचारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । एकस्यामेव वसतौ गृहस्थैः समं संवर्त्तैकत्रावस्थाने, बृ० १ उ० ३ प्रक० । ओघ० ।

बिलपंति--बिलपङ्क्ति--स्त्री० । बिलानीव बिलानि कूपास्तेषां पङ्क्तयो बिलपङ्क्तयः । कूपततिषु, जं० १ वक्ष० । रा० । अनु० । जी० ।

बिलमग्ग-बिलमार्ग--पुं० । गुहाऽऽद्याकारेण बिलेन गम्यमाने मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

बिलवज्जिय- बिलवर्जित--त्रि० । दर्पाऽऽदिरहिते,पं०व०२ द्वार ।

बिल्ल- बिल्व--न० । वृक्षविशेषे, "मालूरं सिरिफलं बिल्लं ।" पाइ०ना० १४८ गाथा । बहुबीजफलके वृक्षभेदे, पुं० । प्रज्ञा० १ पद ।

बिस-बिस-न० । कमलनालसूक्ष्मतन्तुषु, " बिस मुणालं । " पाइ०ना० २५६ गाथा ।

बिसरीर-द्विशरीर-त्रि० । द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीराः । द्वितीयभवे सेत्स्यमानेषु, " बिसरीरेसु नागेसु उववज्जेज्जा । " द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीरास्तेषु ये हि नागशरीरं त्यक्त्वा मनुष्यशरीरमवाप्य सेत्स्यन्ति ते द्विशरीराः । भ० १२ श० ७ उ० । दश० । स्था० ।

उड्ढलोए णं चत्तारि बिसरीरा पण्णत्ता । तं जहा-पुढविकाइया, आउकाइया, वणस्सइकाइया, ओरालतसपाणा ।

( उड्ढेत्यादि ) द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीराः, एकं पृथिवीकायिकाऽऽदिशरीरमेव,द्वितीयं जन्मान्तरभावि मनुष्यशरीरं, ततस्तृतीयं केषाञ्चिन्न भवत्यनन्तरमेव सिद्धिगमनात् । ( ओरालतस त्ति ) उदाराः स्थूला द्वीन्द्रियाऽऽदयो न तु सूक्ष्मास्तेजोवायुलक्षणास्तेषामनन्तरभवे मानुषत्वाप्राप्त्या सिद्धिर्न भवतीति शरीरान्तरसम्भवात्तथोदारत्रसग्रहणेन द्वीन्द्रियाऽऽदिप्रतिपादनेऽपीह द्विशरीरतया पञ्चेन्द्रिया एव ग्राह्याः,विकलेन्द्रियाणामनन्तरभवे सिद्धेरभावात् । उक्तं च-"विगला लभेज्ज विरइं, ण हु किंचि लभेज्ज सुहुमतस त्ति ।" लोकसम्बन्धाऽऽयातेऽधोलोकतिर्यग्लोकयोरतिदेशसूत्रे गतार्थे इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

बिसरीरि (ण्)- द्विशरीरिन् पुं० । द्वयोः शरीरयोः समाहारो द्विशरीरं तदेषामस्तीति । शरीरद्वयवत्सु, स्था० २ ठा० २ उ० । ( देवो महर्द्धिको द्विशरीरेषु उपपद्यते , तस्य वक्तव्यता ' उववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ९६८ पृष्ठे गता )

बीअ--द्वितीय-त्रि० । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९॥ इति दलुक्। द्वित्वसंख्यापूरके, प्रा० २ पाद ।

बीअअ- देशी-असनवृक्षे, दे०ना० ६ वर्ग० ९३ गाथा ।

बीअजमण--देशी-बीजमलनखले, दे०ना० ६ वर्ग ९३ गाथा ।

बीअय-बीजक-न० । अशनवृक्षे, " बीअयं असणं । " पाइ० ना० २५८ गाथा ।

बीअवाय--बीजवापक-पुं० । विकलेन्द्रियजीवविशेषे, अनु० ।

बीभच्छ--बीभत्स-त्रि० । द्रष्टुमयोग्यत्वात् । (ज्ञा०१श्रु०८ अ०।) जुगुप्सोत्पादके, भ० ६ श० ३३ उ० । प्रश्न० । दशा० । शुक्रशोणितोच्चारप्रश्रवणाद्यनिष्टे उद्वेजनीये वस्तुनि, तद्दर्शनश्रवणादिप्रभवे जुगुप्साप्रकर्षरूपे रसे, अनु० ।

अथ बीभत्स हेतुतो लक्षणतश्चाह—

असुइ कुणिम दुद्दंसण- संजोगब्भासगंधनिप्फण्णो ।
निव्वेअऽविहिंसा ल-क्खणो रसो होइ बीभच्छो ॥१२॥

अशुचि—मूत्रपुरीषादि वस्तु कुणपं-शवः अपरमपि यद्दुर्दर्शनं गलल्लालादिकरालं शरीरादि तेषां संयोगाभ्यासात्-अभीक्ष्णं तद्दर्शनादिरूपात्तद्गन्धाच्च निष्पन्नो बीभत्सो रसो भवतीति संबन्धः , किंलक्षण इत्याह—निर्वेदश्च अकारस्य लुप्तस्य दर्शनादविहिंसा च तल्लक्षणं यस्य स तथा, तत्र निर्वे-

द्वा-उद्वेगः अविहिंसा जन्तुघातादिनिवृत्तिः इह च शरीरादेरसारतामुपलभ्य हिंसादिपापेभ्य कश्चिन्निवर्तते इत्यविहिंसाऽपि तल्लक्षणत्वेनोक्तेति ।

असुइमलभरिअनिज्झर-सभावदुग्गंधि सव्वकालं पि ।
धण्णाउ सरीरकलिं, बहुमलकलुसं विमुंचंति ॥ १३ ॥

'असुइ' इत्याद्युदाहरणगाथा-इह कश्चिदुपलब्धशरीरासारतास्वरूपः प्राह—कलिः—जघन्यकालविशेषः कलहो वा तत्र सर्वानिष्टहेतुत्वात्सर्वकलहमूलत्वाद्वा शरीरमेव कलिः शरीरकलिस्तं मूर्च्छात्यागेन मुक्तिगमनकाले सर्वथा त्यागेन वा धन्याः केचिद्विमुञ्चन्तीति संटङ्कः । कथंभूतम्—अशुचिमलभृतानि निर्झराणि श्रोत्रादिविवराणि यस्य तथा, सर्वकालमपि स्वभावतो दुर्गन्धं तथा बहुमलकलुषमिति, एवं भावनान्तराण्यपि भावनीयानि । अनु० । तिरश्चां बीभत्साः, कामाः, जुगुप्सात्मका भवन्ति—' जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्सो रस ' इति । अनु० ।

बीभच्छदरिसण-बीभत्सदर्शन-न० । बीभत्सं भयङ्करं दर्शनमाकृतिरवलोकनं वा रोगादिना कृशावस्थायां यस्य वपुषस्तद् बीभत्सदर्शनम् । तं० । भयानकदर्शने, भयङ्करे, तं० ।

बीभच्छदरिसणिज्ज-बीभत्सदर्शनीय-त्रि० । विरूपे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार । भयङ्कररूपे, तं० ।

बीभच्छा-बीभत्सा-स्त्री० । निन्दायाम्, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ० ।

बी( बी ) य-बीज-न० । उत्पत्तिकारणे, सूत्र०२ श्रु० ३ अ० । विशे० । स्था० । शौक्लपुद्गले, शौक्लाः पुद्गलाः । ते च द्विधा चिक्कणाः, अचिक्कणाश्च । तत्राऽचिक्कणा बीजग्रहणेन गृहीताः, चिक्कणाः सस्निग्धा उच्यन्ते । व्य० ६ उ० । उत्त० । अनङ्कुरितावस्थे (श्रु० ४ उ० ) शाल्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । स्था० । आचा० । ज्ञा० । उत्त० । प्रश्न० । बीजं द्विविधं भवति-योनिभूतम्, अयोनिभूतं च । दश० ४ अ० । "बीए जोणिब्भूए जीवो वक्कमइ सो य अन्नो वा" योग्यवस्थे बीजे योनिपरिणाममजहतीत्यर्थः । बीजस्य हि द्विधाऽवस्था योग्यवस्थाऽयोग्यवस्था च । यदा योग्यवस्थां न जहाति बीजमुज्झितं च अमुना तदा योनिभूतमुच्यते, योनिस्तु जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविनष्टमिति, तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो व्युत्क्रामत्युत्पद्यते । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । कुसुमपुरोप्ते बीजे, मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः ॥ १ ॥ " सूत्र० ५ श्रु० ३ अ० । नि०चू० वनस्पतीनां सत्प्रवृत्तवनस्पतीनां नवोद्भिन्ने किशलये, कल्प० ५ अधि० ६ क्षण । सम्यक्त्वे, पं०सू० ४ सूत्र । सम्यग्दर्शनमाधे हेतौ, दर्श० १ तत्त्व ।

बीयंबीयग-बीजंबीजक-पुं० । स्वनामख्याते पक्षिणि, भ० १३ श० ६ उ० ।

बीयकाय-बीजकाय-पुं० । बीजमेव कायो येषां ते तथा । आ०मूलस्कन्धाग्रपर्वबीजेषु वनस्पतिकायेषु, सूत्र० २ श्रु०३ अ० ।

बीयग-बीजक-पुं० । असनवृक्षे, आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ० । प्रज्ञा० । सुवर्णे, व्य० १० उ० । रा० । जं० । जी० ।

बीयगकुसुम-बीजककुसुम-न० असनाख्यवनस्पतिपुष्पे, रा० ।

बीयण्णास-बीजन्यास-पुं० । पुण्याऽनुबन्धिपुण्यस्य सम्यक्त्वस्य वा निक्षेपे, " बीजन्यासः सोऽयं मुक्तौ विनिवेशितः परमः । " षो० ८ विव० ।

बीयपइट्ठिय-बीजप्रतिष्ठित-त्रि० । शाल्यादिबीजगते, आहारशयनाऽऽदौ, दश० ४ अ० ।

बीयबीय-बीजबीज-न० । सम्यक्त्वाऽऽक्षेपकशासनप्रशंसाऽऽदिके, पं०सू० ४ सूत्र ।

बीजबुद्धि-बीजबुद्धि-पुं० । बीजमात्रेणोपलम्भके, आ० चू० १ अ० । बीजमिव विविधार्थाधिगमरूपमहातरुजननात् बुद्धिर्यस्येति (औ०) व्युत्पत्तेः य एकं बीजभूतमर्थपदमनुसृत्य शेषमपि तथैव प्रभूततरमर्थपदनिवहमवगाहते । सू० १ उ० २ प्रक० । "जो अत्थपएणऽत्थं, अणुसरइ स बीयबुद्धी उ ।"पा० । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्यादिवदर्थप्रधानं पदमर्थपदं तेनैकेनापि बीजभूतेनाधिगतेन योऽन्यं प्रभूतमप्यर्थमनुसरति स बीजबुद्धिरिति । विशे० । प्रज्ञा० । नं० । प्रव० । आ०म० ।

बीयभूय-बीजभूत-पुं० । बीजकल्पे हेतौ, पञ्चा० १ विव० ।

बीजभोयण-बीजभोजन-न० । शालितिलाऽऽदिभोजने, औ० ।

बीयभोयणा-बीजभोजना-स्त्री० । बीजानि भोजने यस्या सा बीजभोजना । बीजभोजनवत्यां परिष्ठापनायाम्, आव०४ अ० ।

बीयमित्त-बीजमात्र-बीजस्येव मात्रा परिमाणं यस्य सः । स्वरूपतः स्वरूपे, भ० ७ श० ६ उ० ।

बीयरुइ-बीजरुचि-पुं० । बीजमिव बीजम्, यदेकमप्यनेकार्थप्रतिबोधोत्पादकं वचस्तेन रुचिर्यस्य एकेनापि जीवाऽऽदिना पदेनावगतेनानेकेषु पदार्थेषु रुचिरुपैति स बीजरुचिः । स्था०१०ठा० । प्रज्ञा० । उत्त० । एकेन पदेनानेकपदतदर्थप्रतिसंधानद्वारेणोदके तैलबिन्दुवत् प्रसरणशीला रुचिर्बीजरुचिः । ध० २ अधि० । प्रव० । "निस्सग्गुवदेसरुई, आणारुइ सुत्तबीयरुइ चेव । अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेव धम्मरुई ॥ १ ॥ " प्रज्ञा० १ पद ।

बीयरुह-बीजरुह-पुं० । बीजाद् रोहन्तीति बीजरुहाः । शाल्यादिवनस्पतिषु, दश० ४ अ० । स्था० । आचा० ।

बीयवक्कंति-बीजव्युत्क्रान्ति-स्त्री० । बीजेभ्यो वनस्पतीनामुत्पत्तौ, " वणस्सइकाइयाणं पंचविहा बीयवक्कंती एवमाहिज्जइ " तं० । "अग्गमूलपोरुखंधबीयरुहा छट्ठा वि एगेंदिया संमुच्छिमा बीया ।" सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

बीयसंसत्त-बीजसंसक्त-न० । बीजैः संसक्तं ओदनाऽऽदिके, बीजेषु अपरेण संसक्तेषु चाऽऽसनाऽऽदिषु, दश० ६ अ० ।

बीयसुहुम-बीजसूक्ष्म-न० । शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिकायाम्, लोके तुषमुखमित्युच्यमानायाम्, दश०८ अ० । स्था० । से किं तं बीयसुहुमे ? । बीयसुहुमे पंचविहे पन्नत्ते । तं जहाकिण्हे० जाव सुक्किल्ले । अत्थि बीयसुहुमे कणियासमाणवण्णए नामं पन्नत्ते । जे छउमत्थेणं ० जाव पडिलेहियव्वे भवइ । से तं बीयसुहुमे । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

बीया द्वितीया-स्त्री० । प्रतिपदोऽनन्तरितायां तिथौ, "पा-

डिवए पडिवत्ती, नत्थि विवत्ती भणंति बीयाए।" द०प०।

बीयाव-बीजाप-पुं० । दक्षिणापरस्यां दिशि स्वनामख्याते क्षुद्रविदिग्वाते, आ०म० १ अ० ।

बीयासव-बीजाऽऽसव-पुं०। बीजैर्निष्पाद्ये आसवे,प्रज्ञा०१पद।

बीस-विंशति-स्त्री० । द्विरावृत्तदशसंख्यायाम्, स्था० २ ठा० १ उ० ।

बीसइया-विंशतिका-स्त्री० । हरिभद्रसूरिविरचितविंशतिपद्यमयविंशतिखण्डके ग्रन्थभेदे, प्रति० । ज्य० ।

बीसा-विंशति-स्त्री० ।"इंर्जिह्वा-सिंह-त्रिंशद्-विंशतौ त्या ।" ॥८।१।९२॥ इति विंशतिशब्देकारस्य तिशब्देन सह ईत्वम् । प्रा० १पाद ।"विंशत्यादेर्लुक्" ॥ ८ । १ । २८ ॥ इत्यनुस्वाराऽऽगमः । प्रा० १ पाद ।

बीहि-व्रीहि-पुं० । सामान्यशालौ, भ० ६ श० ६ उ० । प्रज्ञा० । स्था० । षाष्ठि(ष्टि)काऽऽदौ धान्ये, ध० ३ अधि० । जं० ।

बीहिय-भीत-त्रि० । "भियो भा-बीहौ" ॥८।४।५३॥ इति बिभेतेर्बीहाऽऽदेश । संजातभये, प्रा० ४ पाद ।

बुंदिणी-देशी-कुमारीसमूहे, दे०ना० ६ वर्ग ९४ गाथा ।

बुंदी-स्त्री० । शरीरे , " मुत्ती गत्तं बुंदी, संघयणं विग्गहो , तणू काओ।" पाइ०ना० ५६ गाथा । चुम्बन-सूकरयोः , दे० ना० ६ वर्ग ९८ गाथा।

बुंदीर-देशी-महिष-महतोः , दे०ना० ६ वर्ग ९८ गाथा ।

बुंध-बुध्न-न० । " वक्राऽऽदावन्तः"॥ ८ । १ । २६ ॥ इत्यनुस्वाराऽऽगमः । मूले , प्रा० १ पाद ।

बुक्क-गर्ज-धा० । महाशब्दकरणे , " गर्जेर्बुक्कः " ॥ ८ । ४ । ९८ ॥ इति गर्जतेर्बुक्काऽऽदेशः। बुक्कइ। गर्जति। प्रा० ४ पाद ।

बुक्कण-बुक्कण-पुं० । " बलिउट्ठा रिट्ठा बु—क्का ढंका य कायला काया । " पाइ० ना० ४४ गाथा । काके , दे०ना० ६ वर्ग ४४ गाथा ।

बुक्कस-बुक्कस-न० । मुद्गाऽऽदीनां तुषे, उत्त० ८ अ० । वर्णान्तरभेदे , उत्त०पाइ० ३ अ० । यस्य शूद्रः पिता भवति माता ब्राह्मणी तत्पुत्रो बुक्कस इत्युच्यते । उत्त० ३ अ० ।

बुक्का-बुक्का-स्त्री० । " बुक्का मुट्ठी । " पाइ०ना० २२६ गाथा । मुष्टौ, व्रीहिमुष्टौ इत्यन्ये । दे० ना० ६ वर्ग ९४ गाथा ।

बुक्कासार-देशी-भीरौ , दे०ना० ६ वर्ग ९५ गाथा ।

बुज्झमाण-उह्यमान-त्रि० । अभिमुख नीयमाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

बुध्यमान-त्रि० । "त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचित्" ॥ ८ । २ । १५ ॥ इति ध्यस्थाने झ । प्रा० २ पाद । बुज्झा वेति वा पच्चक्खाण त्ति वा एगट्ठा । " आ०चू० १ अ० । अवगच्छति, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

बुज्झिअ-बुद्ध -त्रि० । ज्ञाते, " कलिअं विइअं विण्णा-य अहिगयं बुज्झिअ मुणिअं।" पाइ० ना० ६१ गाथा।

बुत्ती-देशी-अनुमत्याम् , दे०ना० ६ वर्ग ९४ गाथा ।

बुद्ध बुद्ध-पुं० । अवगततत्त्वे, स० । द्वा० । दश० । आचा० । सूत्र० । उत्त० । बुद्धभगवति, "सुद्धोअणी दसबलो,सक्को सुगओ जिणो बुद्धो । " पाइ० ना० २० गाथा । बुध्यते स्म केवलज्ञानेनेति बुद्धः केवलज्ञानेन अवगतवस्तुतत्त्वे, उत्त०पाइ० १ अ० । सूत्र० । आचा० । कल्प० । अनु० । ध० । पा० । प्रव० । आ०म० । विज्ञानवति , आ०चू० ५ अ० । जीवाऽऽदितत्त्वं बुद्धवति, भ० १ श० १ उ० । स० । औ० । स्था० । सूत्र० । केवलज्ञानदर्शनाभ्यां विश्वावगमात् ( आ०म० १ अ० । औ० ) कालत्रयवेदिनि, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । तत्त्वार्थज्ञानवति, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । स्था० । सर्वतत्त्वबुद्धे, कल्प० १ अधि० २ क्षण । बोधिसत्त्वे, द्वा० २६ अष्ट० । बोधिं प्राप्ते,द्वा० २३ अष्ट० । स्वयंबुद्धे तीर्थकरगणधराऽऽदौ, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आचा० । स० । अज्ञाननिद्राप्रसुप्त जगत्यपरोपदेशेन जीवाजीवाऽऽदिरूपं तत्त्वं बुद्धवान् बुद्धः । स्वसंविदितेन ज्ञानेनान्यथा बोधायोगात् ( ल० । आ० म० । ) सर्वज्ञसर्वदर्शिस्वभावबोधरूपे, ल० । रा० । ध० ।

दुविहा बुद्धा पण्णत्ता । तं जहा-णाणबुद्धा चेव, दंसणबुद्धा चेव । '

द्विविधा बुद्धाः, एते च धर्मेत एव भिन्ना न धर्मितया ज्ञानदर्शनयोरन्योन्याविनाभूतत्वादिति । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

तिविहा बुद्धा पण्णत्ता । तं जहा-णाणबुद्धा, दंसणबुद्धा, चरित्तबुद्धा । स्था० ३ ठा० २ उ०

आचार्ये, उत्त० १ अ० । सूत्र० । आ० म० । शाक्यानां तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । यो हि पार्श्वजिनकाले काश्या उत्तरस्यां दिशि कपिलवस्तुसंनिवेशे शुद्धोदनस्य राज्ञो मायादेव्यामग्रमहिष्या जज्ञे, त्रिंशद्वर्षाणि गृहिपर्यायं परिपाल्य जातैकपुत्रः प्रवव्राज, षड् वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य सर्वज्ञतामवाप्य काशिकोशलमगधेषु धर्मचक्रं प्रवर्त्याशीतितमे वर्षे सिद्ध इति ललितविस्तराऽऽदीनां बौद्धग्रन्थानामतिसंक्षेप. । यो०बिं० । सर्वं क्षणिक पञ्चस्कन्धाऽऽत्मक, नित्यानुमेयमप्रत्यक्षं, विज्ञानमात्ररूपं,शून्याऽऽत्मक चेति चतुर्धोपदेशो बुद्धस्य सूत्रान्तिकवैभाषिकयोगाऽऽचारमाध्यमिकसंज्ञैश्चतुर्भिः शिष्यैरभिगृहीतोऽस्माभिः क्षणिकवादविज्ञानवादशून्यवादादिशब्दे निवेशितस्तत्र तत्रैव सप्रत्युत्तरो वेदितव्य. । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नास्तीह कश्चिदभाजन सत्त्व इति सर्वे बुद्धा भविष्यन्तीति, तन्मतेऽभव्या न सन्ति सर्वेषा मुक्त्यर्हत्वात् । ध० २ अधि० ।

अथ बौद्धमतं निरूप्यते—

तत्र हि पदार्था द्वादशाऽऽयतनानि। तद्यथा-चक्षुरादीनि पञ्च रूपाऽऽदयश्च विषयाः पञ्च शब्दाऽऽयतन धर्माऽऽयतन च, धर्मा. सुखाऽऽदयो द्वादशाऽऽयतनपरिच्छेदके प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे । तत्र चक्षुरादीन्द्रियाण्यजीवग्रहणेनैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति, रूपाऽऽदयश्च विषया अजीवोपादानेनोपात्ता न पृथगुपादातव्याः, शब्दाऽऽयतन तु पौद्गलिकत्वाच्छब्दस्याजीवग्रहणेन गृहीतं, न च प्रतिव्यक्ति पृथक् पदार्थता युक्तिसङ्गतेति, धर्माऽऽत्मकं सुखं दु.खं च यद्यसातोदयरूप ततो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भाव. । अथ तत्कारणं कर्म तत. पौद्गलिकत्वादजीव इति । प्रत्यक्षं च तैर्निर्विकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्चयाऽऽत्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्त्योरनङ्गमित्यप्रमाणमेव , तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति, शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति

नेह प्रतन्यते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ( अकिरियावाइ' शब्दे प्रथमभागे १२७ पृष्ठेऽयमर्थ प्रतिक्षिप्तः )

**बुद्धगर-बुद्धकर-पुं०** । पद्विंशतमे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

**बुद्धजागरिया-बुद्धजागरिका-स्त्री०** । व्यपोढाज्ञाननिद्राणां प्रबोधे, " बुद्धा बुद्धजागरियं जागरेंति ।" बुद्धाः केवलावबोधेन ते च बुद्धानां व्यपोढाज्ञाननिद्राणां जागरिका प्रबोधो बुद्धजागरिका, तां जाग्रति कुर्वन्ति । भ० १२ श० १ उ० ।

**बुद्धतत्त-बुद्धतत्त्व-पुं०** । संयते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

**बुद्धपडिमा-बुद्धप्रतिमा-स्त्री०** । शाक्यसिंहाऽऽदिबुद्धमूर्ती, व्य० १ उ० ।

**बुद्धपुत्त-बुद्धपुत्र-पुं०** । बुद्धानामाचार्याणां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः । आचार्याणां शिष्ये, उत्त० १ अ० ।

**बुद्धप्पवाय-बुद्धप्रवाद-पुं०** । आप्तप्रवादे, पंचा० १ द्वार ।

**बुद्धबोहिय-बुद्धबोधित-त्रि०** । आचार्याऽऽदिबोधित, पा० ।

**बुद्धबोहियसिद्ध-बुद्धबोधितसिद्ध-पुं०** । बुद्धबोधिता आचार्याऽऽदिबोधिता सन्तो ये सिद्धास्ते बुद्धबोधितसिद्धाः । सिद्धभेदे पा० । ध० । ल० । श्रा० । न० । प्रज्ञा० । आ० चू० ।

**बुद्धमाणि ( ण् )- बुद्धमानिन्-पुं०** । पण्डितमानिनि, वयमेव प्रतिबुद्धा धर्मतत्त्वमित्येव मन्यमाने, " तमेव अविआणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो । (२५ गाथा) " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

**बुद्धवयण-बुद्धवचन-न०** । भगवततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने, दश० १० अ० । औ० । भगवतामर्हतां वचने सर्वस्वभावाऽनुगते वचने, रा० । ( बुद्धवचनातिशया: 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे ३१ पृष्ठे गताः )

**बुद्धसासण-बुद्धशासन-न०** बौद्धाऽऽगमे, "सूक्ष्मयुक्तिशतोपेतं, सूक्ष्मबुद्धिकरं परम् । सूक्ष्मार्थदर्शिभिर्दृष्टं, श्रोतव्यं बुद्धशासनम् ॥ १ ॥ " स्था० ७ ठा० । " गन्ता च नास्ति कश्चिद्, गतयः षड् बौद्धशासने प्रोक्ताः । गम्यत इति च गतिः स्याच्छ्रुतिः कथं शोभना बुद्धिः ? ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आ० म० । अनु० ।

**बुद्धाइसेस-बुद्धातिशेष-पुं०** तीर्थकृतामतिशये, स० ३४ सम० ।

**बुद्धि-बुद्धि-स्त्री०** । महत्तत्त्वाऽऽख्ये जडानवबोधस्वरूपे, स्या० । " मेहा मई मणीसा, विन्नाणं धी चिई बुद्धी " पाइ० ना० ३१ गाथा । अध्यवसाये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स्था० । मत्यादिपञ्चविधे ज्ञाने, स्था० । उपयोगो ज्ञानमित्येतच्च ज्ञानविशेषः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । तथाविधोहरहिते शब्दार्थश्रवणमात्रजे ज्ञाने, यदाह-"इन्द्रियार्थाऽऽश्रया बुद्धिः । " ज्ञानं तथाविधेन गृहीतार्थतत्त्वपरिच्छेदः । द्वा० २३ द्वा० । बुद्धेः परप्रकाश्यत्वम् । द्वा० ११ द्वा० ।

### बुद्धेः क्षणिकत्वनिराकरणम्—

तथात्वे ( क्षणिकत्वे ) वा तस्याः ( बुद्धेः ) न तनसंस्कारः, तदभावान्न स्मरणं, तदभावाच्च न प्रत्यभिज्ञाऽऽदिव्यवहारः न हि विनष्टात्कारणात् कार्यम्, अन्यथा चिरतरविनष्टादपि ततस्तत्प्रसङ्गात् , अनन्तरस्य कारणत्वे सर्वमनन्तरं तत्कारणमासज्येत । अथैकार्थसमवायिज्ञानमनन्तरं तत्कारणं, न, ज्ञानस्याऽऽत्मनो भेदे समवायस्य सर्वत्राविशेषात्सन्निहितत्वाचैकार्थसमवायी इत्यसिद्धम् वि

नष्टाच्च कारणात्कथमनन्तरं कार्यं, येनाऽऽनन्तर्यं कार्यकारणभावनियमत्वेन कल्प्येत ? न हि तत्कारणं, नापि तत्तस्य कार्यं, तदभाव एव भावात् । न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्तस्य कार्यमितरत्कारणमिति, व्यवस्था, अतिप्रसङ्गात् । विनश्यदवस्थं कारणमिति चेत् । साऽपि विनश्यदवस्था यदि ततो भिन्ना, तर्हि तया तदभिसंबन्धाभावादनुपकारात् विनश्यदवस्थम् इति कुतो व्यपदेशोऽतिप्रसङ्गादेव ? उपकारे वा सोऽपि यदि ततो व्यतिरिक्तोऽतिप्रसङ्गोऽनवस्थाकारी । अव्यतिरेके विनश्यदवस्थैव तेन कृता स्यात्, नापि यथाविनश्यदवस्थमेव कारणमुत्पादयेत्किं प्रकृतेऽपि विनश्यदवस्थाकल्पनेन ?, विनश्यदवस्थं चेत्ता कुर्यादन्या तर्हि ततोऽर्थान्तरभूता विनश्यदवस्था कल्पनीया । तया तदभिसंबन्धाभावः, अनुपकारात् । उपकारे वा तदवस्थः प्रसङ्गोऽनवस्था च । तथा चापरापरविनश्यदवस्थोत्पादनेनोपक्षीणशक्तित्वात्प्रकृतकार्योत्पादनमनवसरं प्रसक्तम् विनश्यदवस्थायास्तत्र समवायात्तद्विनश्यदवस्थमित्यपि वार्तम्, विहितोत्तरत्वात् । अथाऽभिन्ना, तर्हि विनश्यदवस्थाकारणैकसमयसंगता, एवं च विनश्यदवस्थं कारणं कार्यं करोतीति, कोऽर्थः ?-स्वोत्पत्तिकाल एव करोतीत्यर्थः । समायातस्तथा च कार्यकारणयोः सव्येतरगोविषाणवदेककालत्वान्न कार्यकारणभावः, तथाऽपि तद्भावे सकलकार्यप्रवाहस्यैकक्षणवर्तित्वम् । अथ न सौगतस्येवाणोरणन्तरव्यतिक्रमलक्षणेन क्षणेन क्षणिकत्वं येनायं दोषः-किं तु षट्क्षणमयस्थित्यनन्तरनाशित्वं तत् ; ननु कालान्तरस्थायिनि तथा व्यवहारं कुर्वन् सहस्रक्षणस्थायिन्यपि तत्र तं किं न कुर्यात् ? अपि च-पूर्वपूर्वक्षणसत्तातः उत्तरोत्तरक्षणसत्ताया भेदाभ्युपगमे तदेव सौगतप्रसिद्धं क्षणिकत्वमायातम् । अभेदाभ्युपगमे पूर्वक्षणसत्तायामेवोत्तरक्षणसत्तायाः प्रवेशादेकक्षणस्थायित्वमेव, न षट्क्षणस्थायित्वं बुद्धेः परपक्षे संभवति , भेदेतरपक्षाभ्युपगमे चाऽनेकान्तसिद्धिः , षट्क्षणस्थानानन्तरं च निरन्वयविनाशेन ततः किंचित्कार्यं सम्भवतीत्युक्तम् । न चैवं बुद्धिक्षणिकत्ववादिनः क्वचित्कालान्तरावस्थायित्वं सिद्ध्यति, तद्ग्रहणाभावात् । तथाहि-पूर्वकालबुद्धेस्तत्रैव विनाशात्तोत्तरकालेऽस्तित्वमिति न तेन तया साम्यं कस्यचित्प्रतीयते, अतिप्रसङ्गात् । उत्तरबुद्धेश्च पूर्वमसंभवान्न पूर्वकालेन तत्क्षणाऽपि प्रतीयते । उभयत्राऽऽत्मनः सद्भावात्तत्स्तत्प्रतीतिरित्यपि नोत्तरम्, आकाशसद्भावात्तत्प्रतीतिरित्यस्यापि भावात् । तस्याचेतनत्वाच्चेति चेत्, स्वयं चेतनत्वे आत्मनः स येन स्वभावेन पूर्वं रूपं प्रतिपद्यते न तेनोत्तरम्, न हि नीलस्य ग्रहणमेव पीतग्रहणं, तयोरभेदप्रसङ्गात् । अथान्येन स्वभावेन पूर्वमयगच्छति, अन्येनोत्तरमिति मतिस्तथासत्यनेकान्तसिद्धिः । स्वयं चाऽऽत्मनश्चेतनत्वे किमन्यया बुद्ध्या ?, यस्याः क्षणिकत्वं साध्यते ? अथ स्वयं न चेतन आत्मा, अपि तु बुद्धिसंबन्धात् चेतयते इत्यत्राप्यचेतनस्वभावपरित्यागे नित्यताऽऽत्मनोऽन्यबुद्धिकल्पनावैफल्यं च, स्वयमपि तत्संबन्धात् प्रागपि तथाविधस्वभावाविरोधात् । तत्संबन्धेऽपि तत्स्वभावापरित्यागे ' ज्ञानसंबन्धादात्मा चेतयते ' इत्यपि विरुद्धमेव । अथ तत्समवायिकारणत्वात् चेतयते, न स्वयं, चेतनस्वभावोपादानादिति तर्हि येन स्वभावेन पूर्वज्ञानं प्रति समवायिकारणमात्मा तेनैव यद्युत्तरं प्रति, तथा सति पूर्वमेव तत्कार्यं ज्ञानं सफलं भवेत् , न क्षणिक

ऽपि कारणे सति कार्यानुत्पत्तिर्युक्ता, तस्याऽतत्कार्यत्वप्रसङ्गात् । अथ पूर्वं सहकारिकारणाभावान्न तत्कार्यं, किं पुनः स्वयमसमर्थस्याकिञ्चित्करेण सहकारिणा किञ्चित्करत्वेऽपि यदि तत्ततो भिन्नं क्रियते प्रतिबन्धासिद्धिरनवस्था वा अभिन्नस्य करणेऽप्यात्मन एव करणमिति कार्यता । कथञ्चिदभिन्नस्य करणे तद्बुद्धिरपि, ततः कथञ्चिदभिन्नेति न एकान्तेन तस्याः क्षणिकता ( १ गाथा टी० ) सम्म० १ काण्ड ।

( १ गाथा टी० ) बुद्धेर्गुणत्वम्—

तथाहि-गुणो बुद्धिः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात्, यो यः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति सत्तासंबन्धी स स गुणः, यथा, रूपाऽऽदिः, तथा च बुद्धिः, तस्माद् गुणः । न च प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वमसिद्धं बुद्धेः । तथाहि-बुद्धिर्द्रव्यं न भवति, एकद्रव्यत्वात्, यदेकद्रव्यं तत् द्रव्यं न भवति, यथा रूपाऽऽदि, तथा च बुद्धिः, तस्मान्न द्रव्यम् । न चायमसिद्धो हेतुः । तथाहि-एकद्रव्या बुद्धिः सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, यद्यत्सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्येकेन्द्रियप्रत्यक्षं तत्तदेकद्रव्यं, यथा रूपाऽऽदि, तथा च बुद्धिः, तस्मादेकद्रव्या । न च 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः, तस्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वे विवादात् । नापि वायुना, तत्रापि तत्प्रत्यक्षत्वस्य विवादाऽऽस्पदत्वात्, तथापि रूपत्वाऽऽदिना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'सामान्यविशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणोपादानम् । न च रूपस्यान्तःकरणग्राह्यतया द्वीन्द्रियग्राह्यता, चक्षुरिन्द्रियस्यैव 'चक्षुषा रूपं पश्यामि' इति व्यपदेशहेतोः, तत्र करणत्वसिद्धिः, मनसस्त्वान्तरार्थप्रतिपत्तावेवाऽसाधारणकरणत्वात् । अथैकद्रव्या बुद्धिः, सामान्यविशेषवत्त्वे अगुणवत्त्वे च सत्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्, शब्दवत् । तथा, न कर्म बुद्धिः, संयोगविभागाकारणत्वात्, यद्यत् संयोगविभागाकारणं तत्तत्कर्म न भवति, यथा रूपाऽऽदि, तथा च बुद्धिः तस्मान्न कर्म । तस्मात्सिद्धः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावो बुद्धेः । न च सत्तासंबन्धित्वमसिद्धं बुद्धेः, तत्र 'सत्' इति प्रत्ययोत्पादात् । न च सत्ता भिन्ना न सिद्धा, तद्भेदप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि-यस्मिन् भिद्यमानेऽपि यन्न भिद्यते तत् ततोऽर्थान्तरं, यथा भिद्यमाने वस्त्राऽऽदावभिद्यमानो देहः, भिद्यमाने च बुद्ध्यादौ न भिद्यते सत्ता, द्रव्याऽऽदौ सर्वत्र 'सत्सत्' इति प्रत्ययाभिधानदर्शनात्, अन्यथा तदयोगात् । सा च बुद्धिसंबद्धा, ततस्तत्र विशिष्टप्रत्ययप्रतीतेः । तथाहि-यतो यत्र विशिष्टप्रत्ययः स तेन संबद्धः, यथा दण्डो देवदत्तेन, भवति च बुद्ध्यादौ सत्तातस्तत्प्रत्ययः ततस्तया संबद्धेति । 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मत्वात्' इत्युच्यमाने सामान्याऽऽदिना व्यभिचारः तन्निवृत्त्यर्थं "सत्ता-संबन्धित्वात्" इति वचनम् । 'सत्ता-संबन्धित्वात्' इत्युच्यमाने द्रव्य-कर्मभ्यामनेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थं 'प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावे सति इति विशेषणं, तदेवं भवत्यतोऽनुमानाद् बुद्धेर्गुणत्वसिद्धिः, (अस्मदाद्युपलभ्यमानत्वं च बुद्धेस्तदेकार्थसमवेतानन्तरज्ञानप्रत्यक्षत्वान्नासिद्धम् । ( १ गाथा टी० ) सम्म० १ काण्ड । यदपि चिद्रूपत्वाद् बुद्धेर्भेदप्रसाधनाय परैरनुमानमुपन्यस्यते-यद्यदुत्पत्तिमत्त्व-नाशित्वाऽऽदिधर्मयोगि तत्तदचेतनं, यथा रसाऽऽदयः तथा च बुद्धिरिति स्वभावहेतुरिति । तत्राऽपि वक्तव्यम्-किमिदं स्वतन्त्रसाधनम्, आहोस्वित् प्रसङ्गसाधनमिति ? । तत्र स्वतन्त्रसाधनेऽन्यतरासिद्धो हेतुर्यतो यथाविधमुत्पत्तिमत्त्वमपूर्वोत्पादलक्षणं नाशित्वं च निरन्वयविनाशाऽऽत्मकं प्रसिद्धं बौद्धस्य, न तथाविधं सांख्यस्य, तयोराविर्भावतिरोभावरूपत्वेन तेनाङ्गीकरणात्, यथा च सांख्यस्य तौ प्रसिद्धौ न तथा बौद्धस्येति कथं नान्यतरासिद्धता ? । न च शब्दमात्रसिद्धौ हेतुसिद्धिः, वस्तुसिद्धौ वस्तुन एव सिद्धस्य हेतुत्वात् । तदुक्तम्-" तस्यैव व्यभिचाराऽऽदौ, शब्देऽप्य व्यभिचारिणि । दोषवत्साधनं ज्ञेयं, वस्तुनो वस्तुसिद्धितः ॥ १ ॥ " इति । अथ प्रसङ्गसाधनमिति पक्षः तदा साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाप्रदर्शनादनैकान्तिकता, नह्यत्र प्रतिबन्धोऽस्ति चेतनस्योत्पाद-नाशाभ्यां न भवितव्यमिति । यदपि प्रकल्पितम्-"वत्सविवृद्धिनिमित्तं, क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं, तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥१॥" ( साङ्ख्यकारिका ५७ ) इति तदपि न सम्यक् । यतः क्षीरमपि न स्वातन्त्र्येण वत्सविवृद्धिं चेतस्याधाय प्रवर्त्तते, किं तर्हि ? कादाचित्केभ्यः स्वहेतुभ्यः प्रतिनियतेभ्यः समुत्पत्तिमासादयति । तच्च लब्धाऽऽत्मलाभं वत्सविवृद्धिनिमित्ततामुपयातीत्यचेतनमपि प्रवर्त्तत इति व्यपदिश्यते, न त्वेवं प्रधानस्य कादाचित्की प्रवृत्तिर्युक्ता, नित्यत्वात्तस्याप्रच्युतस्वभावाच्च । तथाहि-न तावत्कादाचित्ककारकसंनिधानायत्ता कादाचित्की शक्तिरस्य युक्ता तदभावात् । नापि स्वाभाविकी सदा संनिहिता, अविकलकारणत्वेन सर्वस्याभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणस्य पुरुषार्थस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च बुद्धि-चैतन्ययोरभेदेऽपि चैतन्यस्याऽऽत्मत्वमप्रतिषिद्धमेव, यतो नास्माभिः चैतन्ये आत्मशब्दनिवेशः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि यस्तत्र नित्यत्वलक्षणो धर्मः समारोपितः स एव निषिध्यते, तन्नित्यत्वेऽक्षसंहतेर्वैफल्यप्रसक्तेः, तदुत्पत्त्यर्थत्वात्तस्यानित्यत्वे चोत्पत्तेरसंभवात् । न हि वह्निः सदाऽस्तित्वे तदर्थं जनतेन्धनमाददीत । तन्न नित्यैकरूपं चैतन्यं युक्तिसङ्गतम् । ( ३ गाथा ) । सम्म० १ काण्ड । अवग्रहेहारूपे मतिज्ञानभेदद्वये, नं० । अवग्रहे बुद्धिरपायधारणे मतिः । नं० ।

अष्टौ बुद्धिगुणाः । ते चामी—

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ य ईहए वाऽवि ।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥ ५६१ ॥

विनययुक्तो गुरुमुखात् श्रोतुमिच्छति शुश्रूषते, पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति—तदधीतं श्रुतं निःशङ्कितं करोतीत्यर्थः । तच्चाऽधीतं श्रुतमर्थतः शृणोति । श्रुत्वाऽवग्रहेण गृह्णाति, गृहीत्वा चेहया ईहते पर्यालोचयति-किमिदमित्थम् ? उतान्यथेति ? । वाशब्दः समुच्चार्थः । अपिशब्दात्पर्यालोचयन् किञ्चित्स्वबुद्ध्याऽप्युत्प्रेक्षते । ततस्तदनन्तरमपोहते च-एवमेतद्यदादिष्टं गुरुभिरेवं निश्चिनोति । निश्चिते चार्थे सदैव चेतसि धारयति, करोति च सम्यक्तदुक्तानुष्ठानं, श्रुताऽऽज्ञानुष्ठानस्यापि तदावरणक्षायोपशमगुरुचित्ताऽऽवर्जनाऽऽदिहेतुत्वेन श्रुतप्राप्त्युपायत्वादिति । अथवा-यद्यदाज्ञापयति कार्यजातं गुरुस्तत् तत् सम्यगनुग्रहं मन्यमानः श्रोतुमिच्छति शुश्रूषति । पूर्वनिरूपितञ्च कार्यकरणकाले पुनः पृच्छति प्रतिपृच्छति । इत्थं चाऽऽराधितस्य गुरोरन्तिके सूत्रं, तदर्थं वा सम्यग् शृणोति । श्रुतं चावग्रहेण गृह्णाति इत्यादि पूर्ववत् । अन्ये तु व्याचक्षते-प्रतिपृष्टेन गुरुणा पुनरादिष्टश्च संलग्नः सम्यक् शृणोति, श्रुतं चावग्रहेण सम्यग्गृह्णातीत्यादि तथैव, यावत्करोति च गुरुभणितं सम्यगिति । एवं गुर्वाराधनविषयत्वेनाप्यत्रापि गुणा व्याख्यायन्ते, श्रुताराधने

मूलोपायत्वाद् गुर्वाराधनायाः । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ।

सुस्सूसइ उ सोउं, सुयमिच्छइ सविणओ गुरुमुहाओ ।

पडिपुच्छइ तं गहिय, पुणो वि निस्संकियं कुणइ ।५६२

सुणइ तदत्थमहीउं, गहणेहाऽवायधारणा तस्स ।

सम्म कुणइ सुयाऽऽणं, अन्नं पि तओ सुयं लहइ ॥५६३॥

द्वितीय व्याख्यानमाह—

सुस्सूसइ वा जं जं, गुरवो जपंति पुव्वभणिओ य ।

कुणइ पडिपुच्छिऊण, सुणेइ सुत्तं तदत्थं वा ॥५६४॥

तिस्रोऽपि व्याख्यातार्था एव, नवरं द्वितीयगाथायां शृणोति तदर्थं श्रुतार्थम्, एव च सूत्रतोऽर्थतश्च अधीत्य श्रुत ततस्तस्य श्रुतस्य ग्रहणेहापायधारणा सम्यक्करोतीत्यत्र सम्बध्यते । तथा (सुयाऽऽणं ति) श्रुताऽऽज्ञा श्रुतोक्ताऽनुष्ठानं सम्यक्करोतीत्यावृत्त्याऽत्रापि संबध्यते । एवं च कुर्वाणोऽन्यदपि श्रुतं लभत इति तृतीयगाथायाम्-" सुस्सूसइ पडिपुच्छइ सुणेइ त्ति " एतावान्निर्युक्तिगाथाऽवयवो व्याख्यात. । गृह्णातीत्यादेरर्थ प्राक्कथित स्वयमेव द्रष्टव्य इति ॥ ५६४ ॥ विशे० । ध० । न० । बुद्ध्यतेऽनयेति बुद्धिः । अश्रुतनिश्रुतमतिज्ञाने, स्था० ।

चउव्विहा बुद्धी पण्णत्ता । तं जहा -उप्पइया, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया ।

उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी, न तु क्षयोपशमकारणमस्याः । सत्यं, किं तु स खल्वन्तरङ्गत्वात् सर्वबुद्धिसाधारण इति न विवक्ष्यते, न चान्यच्छास्त्रकर्माभ्यासाऽऽदिकमपेक्षत इति । अपि च-बुद्ध्युत्पादात्पूर्वं स्वयमदृष्टोऽन्यतश्चाश्रुतो मनसाऽप्यनालोचितस्तस्मिन्नेव क्षणे यथावस्थितोऽर्थो गृह्यते यया सा लोकद्वयाविरुद्धैकान्तिकफलवती बुद्धिरौत्पत्तिकीति । यदाह-" पुव्वमदिट्ठमसुयम-वेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था । अव्वाहयफलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया णाम ॥ १ ॥ " इति । नटपुत्ररोहकाऽऽदीनामिवेति । (अत्र विशेष. 'उप्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८०५ पृष्ठे गत ) । तथा विनयो गुरुशुश्रूषा,स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वैनयिकी । अपि च-' कार्यभरनिस्तरणस-मर्था धर्मार्थकामशास्त्राणाम् । गृहीतसूत्रार्थसार-लोकद्वयफलवती चेयम् ॥२॥ ' इति । यदाह-" भरणित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला । उभओ लोगफलवती, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ १ ॥ " इति । नैमित्तिकसिद्धपुत्रशिष्याऽऽदीनामिवेति । ( अत्र विस्तारम् ' वेणइया ' शब्दे वक्ष्यामि ) । अनाचार्यक कर्म, साऽऽचार्यक शिल्पं, कादाचित्क वा कर्म्म, नित्यव्यापारस्तु शिल्पमिति कर्म्मणो जाता कर्म्मजा अपि च-कर्माभिनिवेशोपलब्धकर्म्मपरमार्था कर्म्माभ्यासविचाराभ्या विस्तीर्णा प्रशशा फलवती चेति । यदाह—" उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसगपरिघोलनविसाला । साहुक्कारफलवती, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ १ ॥ " इति । हैरण्यककर्षकाऽऽदीनामिवेति परिणामस्तु दीर्घकाल पूर्वापरार्थावलोकनाऽऽदिजन्य आत्मधर्म स प्रयोजनमस्यास्तत्प्रधाना वेति पारिणामिकी । अपि च-अनुमानकारणमात्रदृष्टान्तै साध्यसाधिका, वयोविपाके च पुष्टीभूताऽभ्युदयमोक्षफला चेति । यदाह-"अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिया ऽवयविवागपरिणामा । हियनिस्सेसफलवई, बुद्धी परिणामिया नाम ॥१॥" इति । अभयकुमाराऽऽदीनामिवेति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । न० । कर्म० । आ०क० । दर्श० । स० । आ० म० । द्वा० । ( अत्र विस्तर' 'परिणामिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१६ पृष्ठे गत. ) । परमातिशये, तिस्रो हि बुद्धय परमातिशयरूपा. प्रवचने प्रतिपाद्यन्ते । तद्यथा-कोष्ठबुद्धि., पदानुसारिणीबुद्धि', बीजबुद्धिश्च । न० । परलोकप्रयणायां बुद्धौ, उत्त० २ अ० । रुक्मिवर्षधरपर्वते महापौण्डरीकह्रददेवतायाम्, स्था० २ ठा० ३ उ० । ज० । बुद्धिसाफल्यकारणत्वात् अष्टिमायाम्, यदाह-"बावत्तरिकलकुसला, पंडियपुरिसा य पंडिया चेव । सव्वकलाणपवर जोधम्मकला न याणति ॥ १ ॥ " धर्मश्चादिमैव । प्रश्न० १ संव० द्वार ।

**बुद्धिंदिय-बुद्धीन्द्रिय-न०** । स्पर्शरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणेषु ज्ञानेन्द्रियेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

**बुद्धिकूड-बुद्धिकूट-न०** । रुक्मिवर्षधरपर्वते महापुण्डरीकह्रदसुरीकूटे. ज० ४ वक्ष० ।

**बुद्धिजुत्त-बुद्धियुक्त-**प्राज्ञे, पं०व० ४ द्वार ।

**बुद्धिपरिसा-बुद्धिपर्षद्-स्त्री०** । बुद्धिमत्पुरुषसमन्वितस्य राज्ञः परवादिप्रवादपरीक्षणार्थे पर्षद्भेदे, बृ० १ उ० १ प्रक० ।

**बुद्धिबोहिय बुद्धिबोधित-त्रि०** । नन्दीवृत्तौ " खित्ते गाहण" गाथाविचारे बुद्धद्वारे सर्वस्तोका स्वयंबुद्धसिद्धा. ,तेभ्योऽपि प्रत्येकबुद्धसिद्धाः संख्येयगुणा:, तेभ्योऽपि बुद्धिबोधितसिद्धा. संख्येयगुणा., तत्कथम् ?, यतो बुद्धिबोधिताना केवलश्राद्धसभाऽग्रे व्याख्यानस्य दशवैकालिकवृत्त्यादौ निषेधदर्शनात्, इति प्रश्ने,उत्तरम्-बुद्धिशब्देन तीर्थकर्य , सामान्यसाध्व्यश्चोच्यन्ते, तत्र तीर्थकरीणामुपदेशे विचार एव नास्ति, सामान्यसाध्वीना तु यद्यपि केवलश्राद्धाना पुरस्तादुपदेशनिषेध', तथाऽपि श्राद्धीमिश्रिताना श्राद्धे केवलाना च पुरस्तादुपदेश संभवत्यपीति न काऽप्यनुपपत्तिरिति । २५४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

**बुद्धिमंत-बुद्धिमत्-त्रि०** । धीमति, पञ्चा० १ विव० । औत्पत्तिक्यादिचतुर्विधबुद्ध्युपेते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । हिताहितविवेकविकले, दर्श० १ तत्त्व । पण्डिते, पञ्चा० ७ विव०

**बुद्धिल-बुद्धिल-पुं०** । परस्य बुद्धिं लात्युपजीवतीति बुद्धिल । परबुद्ध्युपजीविनि स्वयमज्ञे,तस्स पडियमाणिस्स,बुद्धिलस्स दुरप्पणो । मुद्ध पाएण अकम्म,वादी वायुरिवागतो ॥१॥"व्य० १०उ० । ओघ० । स्वनामख्याते कुक्कुटपोषके श्रेष्ठिनि,उत्त० १३अ० ।

**बुद्धिवड्डण बुद्धिवर्द्धन-न०** । बोधो बुद्धिरवगम इत्यर्थ. । बुद्धिं वर्धयतीति बुद्धिवर्धनम् । बुद्धिजनके, पं०चू० १ कल्प ।

**बुद्धिविणीय-बुद्धिविनीत--त्रि०**।बुद्धिचतुष्कोपेते विनीते,व्य० ३ उ० । ( अत्र विस्तर 'आयरिय ' शब्दे द्वितीयभागे ३२१ पृष्ठे गत )

**बुद्धिविण्णाण-बुद्धिविज्ञान-न०** । मतिविशेषभूतौत्पत्तिक्यादिषु, द्विरूपपरिच्छेदे , भ० ११ श० ११उ० ।

**बुद्धिसागर-बुद्धिसागर- पुं०** । अभयदेवसूरिगुरौ, " तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिन., तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि । छन्दोबन्धनिबद्ध-

बन्धुरवचः शब्दाऽऽदिसल्लक्षण, श्रीसविज्ञविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥ १ ॥" श्रा० २ श्रु० २ वर्ग १ अ०। पञ्चा० । स्था० ।

**बुद्धिसिद्ध-बुद्धिसिद्ध-पुं०** । परिनिष्ठितचतुर्विधबुद्धौ सिद्धभेदे , श्रा० म० ।

विपुला विमला सुहुमा, जस्स मई जो चउव्विहाए वा ।
बुद्धीए संपन्नो , स बुद्धिसिद्धो इमा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः । विमला संशयविपर्ययानध्यवसायमलरहिता, सूक्ष्मा अत्यन्तदुरवबोधसूक्ष्मव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था यस्य मतिः स बुद्धिसिद्धः । यदि वा-यश्चतुर्विधया औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया बुद्ध्या सम्पन्नः स बुद्धिसिद्धः । सा च चतुर्विधा बुद्धिः । श्रा० म० १ अ० । ( औत्पत्तिक्यादिबुद्धिविचारः स्व-स्वस्थाने द्रष्टव्यः )

**बुद्धोवघाइ ( ण् )-बुद्धोपघातिन्-पुं०** । आचार्यस्योपघातकारिणि , उत्त० १ अ० । ( अत्र युगप्रधानाऽऽचार्यकुशिष्योदाहरणम् ' विणय ' शब्दे वक्ष्यते )

**बुब्बुअ-देशी-बृन्दे**, दे० ना०६ वर्ग ६४ गाथा ।

**बुब्बुय-बुद्बुद-पुं०** । पानीयप्रस्फोटके, उत्त० १६ अ० । तोयशलाकायाम् , यत्र वर्षे निपतति पानीयमध्ये बुद्बुदास्तोयशलाका रूपा उत्तिष्ठन्ति तस्मिन्वर्षे च । नि० चू० १६ उ० । विशे० । च०प्र० । आव० ।

**बुयाण-ब्रुवाण- त्रि०** । व्यक्तवाचि, "गब्भाइ मिज्जंति बुयाऽबुयाणा,णरा परे पंचसिहा कुमारा । (१०)" सूत्र०१ श्रु० ७ अ० ।

**बुलबुआ-देशी-बुद्बुदे** , दे० ना० ६ वर्ग ६५ गाथा ।

**बुस-बुष-न०** । यवाऽऽदीनां तुषे , स्था० ८ ठा० ।

**बुह-बुध-पुं०** । विशिष्टविवेकसम्पन्ने, पो० १ विव० । विदुषि, पञ्चा०४ विव० । जानाने , सूत्र० १ श्रु० १ अ०२ उ० । अवगतत्वे , अष्ट० २६ अष्ट० । एकचत्वारिंशन्महाग्रहे , स्था० ।

दो बुहा । स्था० २ ठा० ३ उ० । सू०प्र० ।

चन्द्रपुत्रे ज्योतिष्कभेदे, प्रज्ञा० २ पद । स्था० । बुधत्वकार्ययुक्ते, स्था० । " पठकः पाठकश्चैव, ये चान्ये कार्यतत्पराः । सर्वे व्यसनिनो राजन् !, यः क्रियावान् स पण्डितः ॥ १ ॥" स्था०४ ठा०४ उ० "मृगा यथा मृत्युभयस्य भीता , उद्विग्नवासे न लभन्ति निद्राम् । एव बुधा ज्ञानविशेषबुद्धा , संसारभीता न लभन्ति निद्राम् ॥ १ ॥" आ०चू०३ अ० । पण्डिते, " चउरा निउणा कुसला, छेआ विउसा बुहा य पत्तट्ठा । " पाइ० ना० ६० गाथा ।

**बुहजण-बुधजन-पुं०** । समयज्ञलोके , पञ्चा० १६ विव० ।

**बुहप्फइ-बृहस्पति-पुं०** । " स्पस्पयोः फः " ॥ ८ । २ । ५३ ॥ इति स्पस्य फः । सुरगुरौ , प्रा० २ पाद ।

**बुहरूव-बुधरूप-पुं०** । बुध्यते यथाऽवस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविपर्ययविभागविचारणया इति बुधः प्रकृष्टो बुधो बुधरूपः । नैसर्गिकाऽऽधिगमिकान्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनि प्राणिनि , स्था० २ ठा० १ उ० ।

**बुहहियय-बुधहृदय-पुं०** । बुधं हृदयं मनो यस्य स बुधहृदयः । विवेकमनस्के, कार्येष्वमूढलक्ष्ये, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

**बुभुक्खा-बुभुक्षा-स्त्री०** । क्षुधि , स्था० १० ठा० ।

**बूर-बूर-पुं०** । वनस्पतिविशेषे, श्रा० १ श्रु० १ अ० । आ०म० । जी० । कल्प० । औ० । रा० । सू० प्र० । जं० । नि० । भ० । वनस्पतिविशेषावयवविशेषे , भ० २ श० ५ उ० ।

**बूरणालिया-बूरनालिका-स्त्री०** । बूरभृतायां शुषिरवंशाऽऽदिरूपायां नालिकायाम् , भ० २ श० ५ उ० ।

**बे-ब्रू-धा०** । कथने, "स्वराणां स्वराः." ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ इति ऊकारस्थाने एकारः । बेमि । ब्रवीमि । प्रा० ४ पाद । सर्वज्ञोपदेशेनाहमिदं सर्वं पूर्वोक्तं प्रतिपादयामि । प्रश्न० २ संव०द्वार ।

द्वि-त्रि० । " द्वेः दो बे " ॥ ८ । ३ । ११६ ॥ इति द्विशब्दस्य तृतीयाऽऽदौ 'बे' इत्यादेशः । द्वित्वसंख्याभेदे, " दोहिं बेहिं कयं । " प्रा० ३ पाद ।

**बेअड्ड-वैताढ्य-पुं०** । भरताऽऽदिक्षेत्रस्य द्वे अर्द्धे करोतीति वैताढ्यः । पृषोदराऽऽदित्वाद् रूपसिद्धिः । भरताऽऽदिक्षेत्रविभागकारिणि पर्वते, जं० ।

अथ वैताढ्यनाम्नो निरुक्तं पृच्छति—

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ- बेअड्ढे पव्वए,बेअड्ढे पव्वए ? । गोयमा ! बेअड्ढे णं पव्वए भरहं वासं दुहा विभयमाणे विभयमाणे चिट्ठइ । तं जहा-दाहिणड्ढभरहं च, उत्तरड्ढभरहं च । बेअड्ढगिरिकुमारे अ इत्थ देवे महिड्ढीए ०जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-बेअड्ढे पव्वए, बेअड्ढे पव्वए । अदुत्तरं च णं गोअमा ! बेअड्ढस्स पव्वयस्स सासए णामधेज्जे पण्णत्ते । जं ण कयाइ ण आसि, ण कयाइ ण अत्थि, ण कयाइ ण भविस्सइ, भुविं च भवइ अ भविस्सइ अ धुवे णिअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ।

( से केणट्ठेणमित्यादि ) अत्र प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् , उत्तरसूत्रे तु वैताढ्यः पर्वतः , णमिति प्राग्वत्, भारतं वर्षं-भरतक्षेत्रं द्विधा विभजन् द्विधा विभजन् तिष्ठति । तद्यथा-दक्षिणार्द्धभरतं च, उत्तरार्द्धभरतं च । तेन भरतक्षेत्रस्य द्वे अर्द्धे करोतीति वैताढ्यः , पृषोदराऽऽदित्वाद्रूपसिद्धिः । अथ प्रकारान्तरेण नामान्वर्थमाह-अथवा-वैताढ्यगिरिकुमारोऽत्र देवो महर्द्धिको, यावत्करणात् ' महज्जुई " इत्यादिपदसंग्रहः पल्योपमस्थितिकः परिवसति । तेन वैताढ्यः इति नामान्वर्थो विजयद्वारवद् ज्ञेयः, सदृशनामकस्वामिकत्वात् । " अदुत्तरं च ण " इत्यादि प्राग्वत् । जं० ५ वक्ष० । ( अयं सव्याख्यो ' भरह ' शब्दे दर्शयिष्यते ) भरतैरवतयोः कच्छाऽऽदिषु च प्रत्येकमेकैकः । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

जंबू ! सुकच्छे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे सुकच्छ खंडग, माणी वेअड्ढे पुण्ण तिमिसगुहा । सुकच्छे वेसमणे य, सुकच्छकूडाण नामाइं ॥ १ ॥ " एवं ०जाव पुक्खलावइम्मि दीहवेअड्ढे, एवं वच्छे दीहवेअड्ढे एवं ०जाव मंगलावइम्मि दीहवेअड्ढे ॥ जंबू ! विज्जुप्पभे

वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-" सिद्धे य विज्जुनामे, देवकुरा पम्हकणगसोवत्थी । सीओदाए स जले, हरिकूडे चेव बोद्धव्वे ॥१॥ " जंबू ! पम्हे दीहवेअड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे पम्हे खंडग माणी वेअड्ढए" एवं चेव०जाव सलिलावइम्मि दीहवेअड्ढे, एवं वप्पे दीहवेयड्ढे एवं ०जाव गंधिलावइम्मि दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे गंधिल खंडग, माणी वेयड्ढ पुन्न तिमिसगुहा । गंधिलावइ वेसमणे, कूडाणं होंति नामाइं ॥ १ ॥ " एवं सव्वेसु दीहवेयड्ढेसु दो कूडा सरिसनामगा, सेसा ते चेव । जंबू ! मंदरउत्तरेणं नीलवंते वासहरपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-" सिद्धे नीलवएँ विदेहे, सीया कित्ती य नारिकंता य । अवरविदेहे रम्मग-कूडे उवदंसणे चेव ॥१॥" स्था० ६ ठा० । सव्वे वि दीहवेयड्ढपव्वया पणवीसं गोयमा ! उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । स० २५ सम० । सव्वे वि णं वट्टवेयड्ढपव्वया उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । स० १००० सम० । दर्श० । आव० ।

**वेअड्ढकूड**-वैताढ्यकूट-न० । वैताढ्यगिरिनाथदेवनिवासाद् वैताढ्यकूटम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । सर्वेषां वैताढ्यानां स्वनामख्याते कूटे, स्था० ६ ठा० ।

**बेइंदिय**-द्वीन्द्रिय-पुं० । जीवभेदे, उत्त० ।

तत्र तावद् द्वीन्द्रियवक्तव्यतां प्रतिपिपादयिषुराह—

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे । १२६ ।
किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥ १२७ ॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥ १२८ ॥
इति बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥ १२९ ॥
संतइं पप्प ऽणाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १३० ॥
वासाइं बारसेव उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
बेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १३१ ॥
संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्त जहन्नयं ।
बेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १३२ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्त जहन्नयं ।
बेइंदियजीवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥ १३३ ॥
एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १३४ ॥

( बेइंदिया इत्यादि ) सूत्रनवकम्, इदमपि प्रायस्तथैव, नवरं द्वीन्द्रियाभिलापः कर्तव्यः, तथा—कृमयः अशुच्यादिसम्भवाः अलसाः प्रतीताः मातृवाहका. ये काष्ठशकलानि समोभयाग्रतया सम्बध्नन्ति, वास्याकारमुखा वासीमुखाः- " सिप्पिय त्ति " प्राकृतत्वात् शुक्तयः शङ्खाः प्रतीताः शङ्खनकाः तदाकृतय एवात्यन्तलघवो जीवाः वराटकाः कपर्दकाः जलौकसः दुष्टरक्ताकर्षिण्यः चन्दनका अक्षाः, शेषास्तु यथासम्प्रदायं वाच्याः, वर्णादि प्राग्वदेव स्थिति सूत्रनवकार्थः । उत्त० ३६ अ० ।

**वेह**-देशी—नाभि, दे० ना० ६ वर्ग ९५ गाथा ।

**वेड्डा**-देशी—श्मश्रुणि, दे० ना० ६ वर्ग ९५ गाथा ।

**वेयड्ढगिरिणाह**-वैताढ्यगिरिनाथ-पुं० । वैताढ्यपर्वतदेवे, स्था० ९ ठा० ।

**वेली**-देशी-स्थूणायाम , दे० ना० ६ वर्ग ९५ गाथा । " थूणा विअली वेली ।" पाइ० ना० १४३ गाथा ।

**वेल्लग**-वलीवर्द-पुं० । वृषभे, "साहुणो ठिया, तत्थेगो वेल्लगो तस्स कुंभगारस्स । " आ०म० १ अ० ।

**वेह**-वेध-पु० । वेधनं वेधः । विशे० । कुन्तादिना शस्त्रेण भेदने, स० ११ अङ्ग । कीलिकाऽऽदिभिर्नासिकाऽऽदिवेधने, आव० ४ अ० । रन्ध्रोत्पादने, धर्मानुवेधे, वर्धवेधे द्यूतविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

**वेहाइय**-वेधातीत-न० । वेधो धर्मानुवेधस्तस्मादतीतम् । अधर्मप्रधाने , " वेहाइयं च णो वए । " वेधो-धर्मानुवेधः, तस्मादतीतमधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् । यदि वा-वेध इति वर्धवेधो द्यूतविशेषः, तद्गतं वचनमपि नो वदेदास्तां तावत्क्रीडनमिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

**वेहिय**-द्वैधिक-न० । पेशीसंपादनेन द्वैधीभावकरणयोग्ये, द० श० ७ अ० । आचा० ।

द्व्याहिक-त्रि० । द्वाभ्यामहोभ्यां जाते, ज्यो० २ पाहु० ।

**वोंड**-देशी-चूचुके, दे० ना० ६ वर्ग ९६ गाथा ।

**वोंद्र**-देशी-मुखमित्यर्थे, दे० ना० ६ वर्ग ९६ गाथा ।

**वोंदि**-वोन्दि-स्त्री० । शरीरे, औ० । स्था० । तं० । बोन्दिः, तनुः, शरीरमिति पर्यायाः । अनु० । प्रश्न० । ज्ञा० । भ० । आ० म० । अव्यक्तावयवशरीरे, भ० १ श० ६ उ० । पञ्चा० । प्रश्न० । काये, आव० ५ अ० ।

**वोंदिचिय**-वोन्दिचित-पुं० । अव्यक्तावयवं शरीरं बोन्दिः, तया चिता पुद्गला ये ते तथा । भ० १ श० ६ उ० । अव्यक्ताऽवयवशरीररूपतया चितेषु, भ० १० श० ८ उ० ।

**वोंदिधर**-वोन्दिधर-पु० । प्रधानस्वव्यक्तावयवशरीरोपेते, चं० प्र० २० पाहु० ।

**वोंदी**-देशी—रूप-मुख-तनुषु, दे०ना० ६ वर्ग ९६ गाथा ।

**वोकड**-देशी—छागे, दे० ना० ६ वर्ग ९६ गाथा ।

**वोक्कस**-वोक्कस-पुं० । अनार्यदेशभेदे, तत्र जाते म्लेच्छभेदे च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रव० । प्रज्ञा० ।

**वोक्कसालिय**-वोक्कसालिक-पु० । तन्तुवाये, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० ।

**वोगिल्ल**-देशी-भूषिताऽऽटोपयोः , दे० ना० ६ वर्ग ९९ गाथा ।

चित्रले. "फलसं सबलं सारं, किम्मीरं चित्तं च बोगिलं।" पाइ०ना० ६४ गाथा।

बोड--देशी-धार्मिके, तरुणे, इत्यन्ये। दे०ना० ६ वर्ग ६६ गाथा।

बोडघेर--न०। "अलंबुसं बोडघेरं च।" पाइ० ना० २५८ गाथा।

बोडिय--बोटिक--पु०। वीरमोक्षात् षट्शतेषु वर्षेषु गतेषु रथवीरपुरे समुत्पन्ने, निह्नवे, विशे०।

बोटिकनिह्नवानभिधित्सुराह—

छव्वाससयाइँ नवु-त्तराइँ तइआ सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ २५५० ॥

सुबोधार्थो ॥ २५५० ॥

अथ बोटिकोत्पत्तेरेव संग्रहगाथाद्वयमाह—

रहवीरपुरं नयरं, दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य।
सिवभूइस्सुवहिम्मी, पुच्छा थेराण कहणा य ॥२५५१॥
बोडियसिवभूईओ, बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती।
कोंडिन्नकोट्टवीरा, परंपराफासमुप्पन्ना ॥ २५५२ ॥

एतद्भावार्थः कथानकगम्यः। तच्चेदम्-रथवीरपुर नाम नगरम्, तद्बहिश्च दीपकाभिधानमुद्यानम्, तत्र चाऽऽर्यकृष्णनामानः सूरयः समागताः, तस्मिंश्च नगरे सहस्रमल्लः शिवभूतिर्नाम राजसेवकः समस्ति, स च राजप्रसादात् विलासान् कुर्वन् नगरमध्ये पर्यटति, रात्रेश्च प्रहरद्वयेऽतिक्रान्ते गृहमागच्छति, तत एतदीयभार्या तन्मातरं भणति—" निर्वेदिताऽहं त्वत्पुत्रेण, न खल्वेष रात्रौ वेलायां कदाचिदप्यागच्छति, तत उज्जागरकेण बुभुक्षया च बाध्यमाना प्रत्यहं तिष्ठामि। ततस्तया प्रोक्तम्—वत्से! यद्येवं, तर्हि त्वमद्य स्वपिहि, स्वयमेवाहं जागरिष्यामि। तत कृतं वध्वा तथैव इतरस्यास्तु माप्रत्या रात्रिप्रहरद्वयेऽतिक्रान्ते समागत्य शिवभूतिना प्रोक्तम्—' द्वारमुद्घाटयत।' ततः प्रकुपितया मात्रा प्रोक्तम्—' दुर्नयविधे!' यत्रैतस्यां वेलायां द्वाराण्युद्घाटितानि भवन्ति तत्र गच्छ, न पुनरेवं तव पृष्ठलग्नः कोऽप्यत्र मरिष्यति। तत कोपाऽहङ्काराभ्यां प्रेर्यमाणोऽसौ निर्गतः। पर्यटता चोद्घाटितद्वार साधूनामाश्रयो दृष्टः, तत्र च साधवः कालग्रहणं कुर्वन्ति। तेषां च पार्श्वे तेन वन्दित्वा व्रतं याचितम्। तैश्च राजवल्लभः, मात्राऽऽदिभिरमुत्कलितश्च इति न दत्तम्। ततः खेलमल्लकाद् दीक्षा गृहीत्वा स्वयमेव लोचः कृतः। साधुभिर्लिङ्गं समर्पितम्। विहृताश्च सर्वेऽप्यन्यत्र। कालान्तरेण पुनरपि च तत्राऽऽगताः। ततो राज्ञा शिवभूतेर्बहुमूल्यं कम्बलरत्नं दत्तम्। तत आचार्यैः शिवभूतिरुक्तः—' किमनेन तव साधूनां मार्गाऽऽदिष्वनेकानर्थहेतुना गृहीतेन?। ततस्तेन गुर्वप्रतिभासेनाऽपि सङ्गोप्य मूर्च्छया तद् विधृतम्। गोचरचर्याभिक्षाऽऽगतः प्रत्यहं तदसौ संभालयति, न तु कचिदपि व्यापारयति। तत गुरुभिर्मूर्च्छितोऽयमत्र इति ज्ञात्वाऽन्यत्र दिने तमनापृच्छ्यैव बहिर्गतस्य परोक्षे तत् कम्बलरत्नं पाटयित्वा साधूनां पादप्रोञ्छनकानि कृतानि। ततो ज्ञातव्यतिकर कषायितोऽसौ तिष्ठति। अन्यदा च सूरयो जिनकल्पिकान् वर्णयन्ति। तद्यथा ( निशीथनिर्युक्तिद्वितीयोद्देशे )—

" जिणकप्पिया य दुविहा, पाणिपाया पडिग्गहधरा य।
पाउरणमपाउरणा इक्किक्का ते भवे दुविहा ॥ १ ॥
दुग तिग चउक्क पणगं, नव दस एक्कारसेव बारसगं।
एए अट्ठ विगप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स ॥ २ ॥"

इह केषाञ्चिज्जिनकल्पानां, रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेति द्विविध उपधिः, अन्येषां तु कल्पेन सह त्रिविधः, कल्पद्वयेन तु सह चतुर्विधः, कल्पत्रयेण सह पञ्चविधः। केषाञ्चित्तु मुखवस्त्रिका, रजोहरणं च। तथा-(बृ० ३ उ०) "पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया। पटलाइँ रयत्ताणं, च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥" इति सप्तविध पात्रनिर्योग इति। एवं च नवविधः। कल्पेन तु सह दशविधः। कल्पद्वयेन सहैकादशविधः। कल्पत्रयेण तु समं द्वादशविध उपधिः केषाञ्चिज्जिनकल्पिकानामिति। तदेतत् श्रुत्वा शिवभूतिना प्रोक्तम्—यद्येवं तर्हि किमिदानीमौघिक औपग्रहिकश्चैतावानुपधिः परिगृह्यते?, स एव जिनकल्प किं न क्रियते?। ततो गुरुभिरुक्तम्-जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नोऽसौ, संहननाऽऽद्यभावात्, सांप्रत न शक्यते एव कर्तुम्। ततः शिवभूतिना प्रोक्तम्-मयि जीवति स किं व्यवच्छिद्यते?, नन्वहमेव तं करोमि, परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः, किं पुनरनेन कषाय-भयमूर्च्छाऽऽदिदोषविधिना परिग्रहानर्थेन?। अत एव श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तम्, अचेलकाश्च जिनेन्द्राः, अतोऽचेलतैव सुन्दरेति। ततो गुरुणा प्रोक्तम्-हन्त! यद्येवम्, तर्हि देहेऽपि कषाय-भय-मूर्च्छाऽऽदयो दोषाः कस्यापि संभवन्ति, इति सोऽपि व्रतग्रहणानन्तरमेव त्यक्तव्यः प्राप्नोति। यच्च श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तं तदपि धर्मोपकरणेष्वपि मूर्च्छा न कर्तव्या, मूर्च्छाऽभाव एव निष्परिग्रहत्वमवसेयम्, न पुनः सर्वथा धर्मोपकरणस्यापि त्यागः। जिनेन्द्रा अपि न सर्वथैव अचेलकाः, " सव्वे वि एगदूसे-ण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं।" इत्यादि वचनात्। तदेवं गुरुणा स्थविरैश्च यथोक्ताभिर्वक्ष्यमाणाभिश्च युक्तिभिः प्रज्ञाप्यमानोऽपि तथाविधकषायमोहाऽऽदिकर्मोदयाद् न स्वाऽऽग्रहाद् निवृत्तोऽसौ, किं तु चीवराणि परित्यज्य निर्गतः, ततश्च बहिरुद्याने व्यवस्थितस्यास्योत्तरा नाम भगिनी वन्दनार्थं गता। सा च त्यक्तचीवरं तं भ्रातरमालोक्य स्वयमपि चीवराणि त्यक्तवती। ततो भिक्षार्थं नगरमध्ये प्रविष्टा गणिकया दृष्टा। तत इत्थं विवस्त्रां बीभत्सामिमां दृष्ट्वा 'मा लोकोऽस्मासु विरांक्षीत्' इत्यनिच्छन्त्यपि तया वस्त्रं परिधापिताऽसौ। तत एष व्यतिकरोऽनया शिवभूतेर्निवेदित। ततोऽनेन विवस्त्रा योषिद् नितरां बीभत्सा अतिलज्जनीया च भवति इति विचिन्त्य प्रोक्ताऽसौ-निष्प्रतिवस्त्रमपि,न त्यक्तव्यं त्वयैतद् वस्त्रम्। देवतया हि तवेदं प्रदत्तमिति। ततः शिवभूतिना कौण्डिन्य-कोट्टवीरनामानौ द्वौ शिष्यौ दीक्षितौ। गाथाऽक्षरार्थोऽपि किञ्चिदुच्यते—( कोडिन्नेत्यादि ) कौण्डिन्यश्च, कोट्टवीरश्चेति। ' सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति, इति वचनात् कौण्डिन्य-कोट्टवीरम्, तस्मात् कौण्डिन्य-कोट्टवीरात्, परम्परास्पर्शमाचार्य-शिष्यसम्बन्धलक्षणमधिकृत्योत्पन्ना सञ्जाता बोटिकदृष्टिः इत्यध्याहार। इत्येवं बोटिका समुत्पन्नाः ॥ २५५१ ॥ २५५२ ॥ विशे०। (स च शिवभूति बहुविवादं कृतवान् गुरुभिरिति ' सिवभूइ ' शब्दे वक्ष्यामि )

बोड्डुर--देशी श्मश्रुणि, दे० ना० ६ वर्ग ६५ गाथा।

बोड्डिय--कपर्दिकायाम्, "केसरि न लहइ बोड्डिय, सिगयं लक्खेहिँ घेप्पति।" प्रा० ४ पाद।

बोदर--देशी पृथौ, दे० ना० ६ वर्ग ९६ गाथा।

बोद्ध -बौद्ध- त्रि०। सुगतशिष्ये, प्रव० ११६ द्वार। सम्म०।

बोद्रह--पुं०। यूनि, "जुअणो, जुआ जुआणो, पुअंडओ बोद्र हो तरुणो।" पाइ० ना० ६२ गाथा।

बोद्रह देशी-क्षेत्रे, दे० ना० ६ वर्ग ९६ गाथा।

बोर--बदर-पु०। क्ली०। "ओत्पूतर-बदर-नवमालिका-नवफ लिका-पूगफले" ॥ ८। १। १७० ॥ इत्यादेः स्वरस्य परेण स स्वरव्यञ्जनेन । बोर। बोरी। प्रा० १ पाद। प्रज्ञा०। कर्क न्धुवृक्षे, अणु०।

बोरी-बदरी- स्त्री०। "बोरी कक्कंधू।" पाइ० ना० १५४ गाथा।

बोल-गम्--धा०। गतौ, "गमेः अई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कु-साक्कुस-पच्चड्ड-पच्छंद-णिम्मह-णी,-णीण--णीलुक्क-पदअ-रंभ-परिअल्ल-बोल-परिअल-णिरिणास—णिवहावसेहावह राः" ॥ ८। ४। १६२ ॥ इति गमधातोर्बोलाऽऽदेश०। बोलइ। गच्छति। प्रा० ४ पाद।

बोल -पु०। अव्यक्तवर्णे ध्वनौ, भ० ६ श० ३३ उ०। वर्ण व्यक्तिवर्जिते ध्वनौ, विपा० १ श्रु० ३ अ०। ज०। रा०। ज्ञा०। भ०। औ०। बहूनामार्त्तानामव्यक्ताक्षरध्वनिकले, सं० २ पत्त०। आर्त्तानां बहूना कलपूर्वके मेलापके, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। भ०। अव्यक्ताक्षरध्वनिसमूहे, भ० ३ श०७ उ०। मुखे हस्ते दत्त्वा महता शब्देन फूत्करणे, ज० ७ वक्ष०। सू० प्र०। कोलाहले, रा०। वृन्दशब्दे, बृ० १ उ० ३ प्रक०। श्रोपधिविशेषे, गन्धरसप्राणपर्यायौ। है०।

बोलदिलिवि-बोलतिलिपि-स्त्री०। ब्राह्मया लिपेर्भेदे, स० १८ सम०।

बोलमाण-बोलत्-त्रि०। विशेषत उल्लठतीव बुवाणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

बोलंत-बोडयत्-त्रि०। निमज्जयति, सूत्र० १ श्रु०५ अ०१ उ०।

बोल्लणअ-कथयितृ-त्रि०। कथस्थाने बोल्लाऽऽदेशः। णेरनिटि णिलोप०। प्रा०ढुं० ४ पाद। ' तृनोऽणअ० " ॥ ८। ४। ४४३ ॥ इत्यपभ्रंशे तृन्प्रत्ययस्य 'अणअ' आदेश०। वाचके, प्रा०४ पाद।

बोह-बोध-पु०। संवेदने, आभिनिबोधे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। आव०। आ०चू०। अवगमे, प०चू० १ कल्प। पञ्चा०। ज्ञाने, स्था०। पं०। प्रज्ञोन्मीलने, ध० ३ अधि०।

बोहण-बोधन-न०। प्रत्यायने, विशे०। मार्गभ्रष्टस्य मार्गसं स्थापने आमन्त्रणे च। स० ६ अङ्ग।

बोहपरिणइ-बोधपरिणति-स्त्री०। सम्यग्ज्ञानस्थिरतायाम्, ल०।

बोहय-बोधक-पु०। बोद्धरि, अन्यांश्च बोधयन्तीति बोधकाः। ध० २ अधि०। जी०। ल०। अन्येषां बोधके, कल्प० १ अधि० ६ क्षण। जीवाऽऽदितत्त्वस्य परेषां बोधयितरि, भ० १ श० १ उ०। स०।

बोहवुड्डि-बोधवृद्धि-स्त्री०। तत्त्वावगमस्य दीक्षाऽवसरादारभ्य वर्द्धने, पञ्चा० २ विव०।

बोहहर-देशी-मागधे, दे०ना० ६ वर्ग ९७ गाथा।

बोहाणंदपरिक्खय-बोधाऽऽनन्दपरिक्षय-पु०। बोधो ज्ञानं त-स्याऽऽनन्दस्तस्य परिक्षयः। ज्ञानाऽऽनन्दधाराक्षये, अष्ट० ३१ अष्ट०।

बोहारी देशी-संमार्जन्याम्, दे० ना० ६ वर्ग ९७ गाथा।

बोही-स्त्री०। बोधि-पुं०। बोधनं बोधि। औणाऽऽदिक इकन् प्रत्यय०। प्राकृते स्त्रीत्वम्। परमार्थबोधे, विशे०। सम्यक्त्वा-धिगमे, आ०चू० २ अ०। आतु०। जिनप्रणीतधर्मप्राप्तौ, आ०। प्रति०। ल०। दश०। पञ्चा०। प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तौ, ध० २ अधि०। उत्त०। सकलदुःखविवेकभूते जिनशासनावबोधे, आव० ३ अ०। सम्यग्दर्शने, भ० ७ श० १ उ०। स्था०। सम्य-ग्दर्शनावाप्तौ, सूत्र०१ श्रु०२ अ० ३ उ०। ध०। औ०। उत्त०।

दुविहा बोही पण्णत्ता। तं जहा—णाणबोही चेव, दंस-णबोही चेव। स्था० २ ठा० ४ उ०।

( व्याख्या स्वस्व-शब्देऽवसेया )

तिविहा बोही पण्णत्ता। तं जहा—णाणबोही चेव, दंस-णबोही चेव, चरित्तबोही चेव।

( तिविहेत्यादि ) कण्ठ्यं सुबोधं, किं तु बोधि० सम्यग्बोधः इह च चारित्र बोधिफलत्वाद् बोधिरुच्यते। जीवोपयोगरूप त्वाद्वा बोधिविशिष्टा० पुरुषास्त्रिधा ज्ञानाऽऽदय०। स्था० ३ ठा० २ उ०। ( कथं दुर्लभो बोधिर्भवतीति। "दुल्लहबोहिय' शब्दे चतुर्थभागे २५७७ पृष्ठे गतम् )

सुलभबोधि —

से भयवं! किं पुण काऊणं एरिमा सुलहबोही जाया सा सुगहियनामधिज्जा माहणी, जाए एयाव-याणं भव्वसत्ताणं अणंतसंसारघोरदुक्खसंतत्ताणं सद्ध-म्मदेसणाइएहिं तु सासयसुहपदाणपुव्वगमब्भुद्धरणं कयं-ति?। गोयमा! जं पुव्वं पुव्वभवे सच्चभावभवंतरंतरेहिं णं णीसल्ले आजम्माऽऽलोयणं दाऊणं सुद्धभावाए जहोवइट्ठं पायच्छित्तं कयं, पायच्छित्तसत्तीमाए य समाहीए य कालं काऊण सोहम्मे कप्पे सुरिंदग्गमहिसी जाया तमणुभावेणं। से भयवं! किं से णं माहणीजीवे तब्भवंतरम्मि समणी नि-ग्गंथी अहेसि, जे णं णीसल्लमालोइत्ता णं जहोवइट्ठं पाय-च्छित्तं कयं ति?। गोयमा! जे णं से माहणीजीवे से णं त-ज्जम्मे बहुलसिद्धीए जाए महिड्डीए य सयलगुणाऽऽहारभूए उत्तमा सीलाहिट्ठियतणू महतवस्सी जुगप्पहाणे णं समणे अणगारे गच्छाहिवई अहेसि णो णं समणी। महा०२ चू०।

लब्भंति सुरसुहाइं, लब्भंति नरिंदपवररिद्धीओ।
न पुणो सुबोहिरयणं, लब्भइ मिच्छत्ततमहरणं ॥४३॥

सङ्घा०१ अधि०१ प्रस्ता०। सम्यग्बोधे, बोधिफले, चारित्रे, स्था०३ ठा०२ उ०। अहिंसायाम्, तद्गौणनामसु परिगणनात्। तत्र बोधिः सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः अहिंसारूपत्वाच्च तस्याः, अहिं-सा बोधिरुक्ता। अथवा-अहिंसा साऽनुकम्पा, सा च बोधि-कारणमिति बोधिरेवोच्यते। प्रश्न० १ सम्व० द्वार।

बोहिऊण-बुद्ध्वा-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, " बोहिऊणं पव्वइया । " दश० २ अ० ।

बोहिग-बोधिक-पुं० । मालवस्तेने, सू० १ उ० ३ प्रक० । आव० । अनार्यम्लेच्छे, व्य० २ उ० । नि० चू० । सू० ।

बोहिगतेण-बोधिकस्तेन-पुं० । मानुषहारके सू० १ उ० ३ प्रक० । "जमेत्थ माणुसाणि हरंति ते बोहिगतेणा भणंति । " नि०चू० १ उ० ।

बोहित्थ-बोहित्थ-पुं० । पोते, दश० १ चू० । प्रवहणे, दे० ना० ६ वर्ग ६६ गाथा ।

बोहिद-बोधिद-पुं० । बोधिर्जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनरूपा, तां ददातीति बोधिदः । रा० । जी० । सम्यक्त्वदायके, कल्प० १ अधि० १ क्षण । " बोहिदाणं " ( १६ ) इह बोधिर्जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिः, इयं पुनर्यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयव्यापाराभिव्यङ्ग्यमभिन्नपूर्वग्रन्थिभेदतः पश्चानुपूर्व्या प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, विज्ञप्तिरित्यर्थः । ल० । बोधिं ददतीति बोधिदाः । ल० ।

बोहिदुल्लहत्तभावणा-बोधिदुर्लभत्वभावना-स्त्री० । जिनधर्मप्राप्तेर्दौर्लभ्यपर्यालोचने, ध० ३ अधि० । प्रव० ।

अथ बोधिदुर्लभत्वभावना—

"पृथ्वीनीरहुताशवायुतरुषु क्लिष्टैर्निजैः कर्मभिः,
भ्राम्यन् भीमभवेऽत्र पुद्गल-परावर्त्तानन्तानहो ।
जीवः काममकामनिर्जरतया सम्प्राप्य पुण्यं शुभं,
प्राप्नोति त्रसरूपता कथमपि द्वित्रीन्द्रियाऽऽख्यामिह ॥ १ ॥
आर्यक्षेत्रसुजातिसत्कुलवपुर्नीरोगतासम्पदो,
राज्यं प्राज्यसुखं च कर्मलघुताहेतोरवाप्नोत्ययम् ।
तत्त्वाऽतत्त्वविवेचनैककुशलां, बोधिं न तु प्राप्तवान्,
कुत्राप्यक्षयमोक्षसौख्यजननीं, श्रीसर्वविद्दर्शिताम् ॥ २ ॥
बोधिर्लब्धा यदि भवे-देकदाऽप्यत्र जन्तुभिः ।
इयत्कालं न तेषां त-द्भवे पर्यटनं भवेत् ॥ ३ ॥
द्रव्यचारित्रमप्येते-ऽसकृद्वः समवाप्यत ।
सज्ज्ञानकारिणी क्वाऽपि, न तु बोधिं कदाचन ॥ ४ ॥
येऽसिध्यन् ये च सिद्ध्यन्ति, ये सेत्स्यन्ति च केचन ।
ते सर्वे बोधिमाहात्म्या-त्तस्माद् बोधिरुपास्यताम् ॥ ५ ॥ "

प्रव० ६७ द्वार ।

बोहिय-बोधित-त्रि० । विकाशिते, तं० ।

बोहिलाभ-बोधिलाभ-पुं० । सम्यग्दर्शनप्राप्तौ, पञ्चा० ६ विव० । जिनप्रणीतधर्मलाभप्राप्तौ, ल० । प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तौ, प्रति० । आव० । बोधिभेदोऽपि तीर्थकराऽतीर्थकरयोर्न्याय्य एव ; विशिष्टेतरफलयोः परम्पराहेत्वोरपि भेदात् एतदभावे तद्विशिष्टेतरत्वानुपपत्तेः । भगवद्बोधिलाभो हि परम्परया भगवद्भावनिर्वर्त्तनस्वभावो, न त्वन्तकृत्केवलिनोबोधिलाभवत्तत्स्वभावः, तद्धत्ततस्तद्भावासिद्धेरिति, तत्तत्कल्याणाऽऽक्षेपकानादितथाभव्यताभावभाज एते इति । जन्मान्तरे सम्यक्त्वाऽऽदिसद्धर्मप्राप्तौ, पा० । ध० ।

बोहिलाभवत्तिय-बोधिलाभप्रत्यय-पुं० । अर्हत्प्रणीतधर्मावाप्तिनिमित्ते, ध० २ अधि० ।

बोहिसत्त-बोधिसत्त्व-पुं० । बोधिः-सम्यग्दर्शनं, तेन प्रधानः सत्त्वो बोधिसत्त्वः, सम्यग्दर्शनप्रधाने महोदये सद्बोधिस्तीर्थकरपदयोग्यः सत्त्वः, भव्यत्वाद् । भावितीर्थकरे, द्वा० १५ द्वा० । ( अस्य स्वरूपम् ' सम्मद्दिट्ठि ' शब्दे विस्तरतो दर्शयिष्यते )

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्री-
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते ' अभिधानराजेन्द्रे '
बकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

# भकारः

भ–भ–पुं० । भा–कः । पितरि, भ्रातरि, पितृव्ये, अतिभीते, जलदे, भ्रमरे, शूलिनि, भावे, " पितृभ्रातृपितृव्येषु, भोऽतिभीते भ आकुले । " एका० । " भकारः पुंसि जलदे, भ्रमरे भावशूलिनोः । " इति च । एका० । भ्रान्तौ, शुक्राऽऽचार्ये, छन्दोग्रन्थोक्ते अन्त्योपान्त्यलघुयुक्ते वर्णत्रिके च । वाच० । नक्षत्रे, मेषाऽऽदिराशौ, ग्रहे, वाच० । भगे, भोगे, गगने, पुण्ड्रे,चन्द्रे च । न० । " भ नक्षत्रे भगे भोगे । " एका० । "नपुंसके भं नक्षत्रे, गगने पुण्ड्रचन्द्रयोः ।" इति च । एका० ।

भइत्ता–भक्त्वा–अव्य० संसेव्येत्यर्थे, स्था० ६ ठा० ।

भइय–भजित–त्रि० । विकल्पिते, व्य० ६ उ० ।

भक्त–त्रि० । अपवर्तिते, औ० । सेवनीये, बृ० १ उ० १ प्रक० । विकल्पिते च । व्य० ६ उ० ।

भइयव्व–भक्तव्य–त्रि० । विकल्पनीये, विशे० । अनु० ।

भइरव–भैरव–न० भीरोरिदम् अण् । "अइर्दैत्याऽऽदौ च" ॥८।१।१५१॥ इति प्राकृतसूत्रेणैकारस्य 'अइ' इत्यादेशः । प्रा० १ पाद । भये, तद्वति, भयसाधने च । त्रि० । नाट्याऽऽदिप्रसिद्धे भयानके रसे, शङ्करे, तदवतारभेदे, रागभेदे, नदभेदे च । पुं० । भयङ्करे, " घोरा दारुण–भासुर–भइरव–लक्षक–भीम–भीसणया ।" पाइ० ना० ६५ गाथा ।

भए–भजेत–क्रिया । सेवेत गृह्णीयात् इत्यर्थे,बृ० १ उ० २ प्रक ।

भएज्जा–भजेत–क्रिया । गृह्णीयादित्यर्थे, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

भओव्विग्ग–भयोद्विग्न–त्रि० । भयाऽऽकुले,प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

भग–भङ्ग–पुं० । भञ्ज घञ् । पराजये, खण्डे, भेदे, वाच० । भङ्ग, प्रकारो, भेद इत्यर्थः । अनु० । स्था० । प्रव० । नि० चू० । भज्यते विकल्प्यते इति भङ्ग । वस्तुविकल्पे, अनु० । विशे० । द्वयादिसंयोगभङ्गके,भ० १ श० ३ उ० । अनु० । भङ्गा भङ्गका वस्तुविकल्पा. । ते च द्विधा—स्थानभङ्गकाः, क्रमभङ्गकाश्च । तत्राऽऽद्या यथा–द्रव्यतो नामैका हिंसा, न भावत. १ । अन्या भावतो,न द्रव्यतः २ । अन्या भावतो,द्रव्यतश्च ३ । अन्या–न भावत नापि द्रव्यत इति ४ । इतरे तु द्रव्यतो हिंसा, भावतश्च १ । द्रव्यतोऽन्या न भावतः २ । न द्रव्यतोऽन्या भावत. ३ । अन्या न द्रव्यतो न भावत इति ४ । स्था० १० ठा० । क्रमभङ्गा यथा–एक एव जीव , एक एवाजीव इत्यादि स्थापना । स्थानभङ्गास्तु यथा–प्रियधर्मा नामैक., नो दृढधर्मेत्यादि । आव० ४ अ० । विनाशे, स्था० १० ठा० । नद्यादीना कल्लोलविशेषे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण । विच्छित्तौ, रा० । कौटिल्ये, भये, परचनाभेदे, गमने, जलविनिर्गमे, वाच० । आर्यदेशभेदे च , यत्र पापा नगरी, । " पावा भगे य ।" प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । सूत्र० । आव० । ( साधुश्रावकप्रत्याख्यानविषये भङ्गाः 'पंच्चक्खाण' शब्दे दर्शिता. ) (प्रावेशनकभङ्गाः 'पावेसणय' शब्देऽस्मिन्नेवभागे गता. ) (पोषधभङ्गाः 'पोसह' शब्दे) .

भंगय–भङ्गक–पुं० । वस्तुविकल्पे, स्था० १० ठा० । गमे, आ० म० १ अ० । विशे० ।

भगसमुक्कित्तण–भङ्गसमुत्कीर्तन–न० । विभज्यन्ते विकल्प्यन्ते इति कृत्वा विकल्पा भङ्गा उच्यन्ते, तेषा समुत्कीर्तनं समुच्चारणं भङ्गसमुत्कीर्तनम् । तद्भावो भङ्गसमुत्कीर्तनता । प्रत्येकभङ्गाना द्व्यादिसंयोगभङ्गानां च समुच्चारणे, अनु० ।

भगसुहुम–भङ्गसूक्ष्म–न० । भङ्गा भङ्गका वस्तुविकल्पाः तल्लक्षणं सूक्ष्मं भङ्गसूक्ष्मम् । सूक्ष्मभेदे, सूक्ष्मता चास्य भजनीयपदबहुत्वे गहनभावेन सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वादिति । स्था० १० ठा० ।

भंगा–भङ्गा–स्त्री० । अतस्याम् बृ० २ उ० । स्था० । विजयायाम्, वाच० । ङीप् भङ्गी । तत्रैवार्थे, प्रज्ञा० १ पद ।

भंगि–भङ्गि–स्त्री० । भञ्ज इन्.पृषोद०–कुत्वम् वा ङीप् । विच्छेदे, भङ्गिर्विच्छित्तिरिति । व्य० ८ उ० । कौटिल्ये, विन्यासे, कल्लोले, भेदे, व्याजे, च । वाच० । साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे प्रज्ञा० १ पद । नीललेश्यावर्णकमधिकृत्य—"भंगि त्ति वा भंगिरए त्ति वा ।" प्रज्ञा० १७ पद । भङ्गी वनस्पतिशेषस्तस्या रजो भङ्गीरजः ' प्रज्ञा० १७ पद ४ उ० ।

भंगि ( ण् )–भङ्गिन्–पुं० । भङ्गबहुले नं० ।

भंगिय–भाङ्गिक–न० । भङ्गा–अतसी,तन्मयं भाङ्गिकम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । बृ० । नानाभङ्गिकविकलेन्द्रियलालानिष्पन्न भाङ्गिकम् । आचा० १ श्रु० २ चू० ५ अ० १ उ० । वस्त्रभेदे,स्था० ३ ठा० ३ उ० ।"भंगिओ अदसिमाई । " नि०चू० १ उ० । अतसी पुण भगविही होइ णायव्वा ।" नि० चू० १ उ० ।

भंगी–भङ्गी–स्त्री० । ' भंगि ' शब्दार्थे, व्य० ८ उ० ।

भंगुर–भङ्गुर–त्रि० । भञ्ज–घुरच् । कुटिले, नदीना वक्रे, वाच० । भङ्गशीले, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अष्ट० । चले, स्था० ५ ठा० ३ उ० । भग्ने च । औ० । आ०म० । वक्रे, " कुडिल वंकं भंगुर । " पाइ०ना० १७३ ।

भंगोवदंसण–भङ्गोपदर्शन–न० । भङ्गाना प्रत्येकं स्वाभिधेयेनाऽणुकाऽऽद्यर्थेन सहोपदर्शनम् । भङ्गाना स्वविषयभूतेनार्थेन सहोच्चारणे, अनु० ।

भंछा–भस्त्रा–स्त्री० । भस्–ष्ट्रन् । चर्मप्रसेविकायाम्, अग्निसंधुक्षणे चर्मनिर्मिते यन्त्रभेदे,गौ०–ङीप् । अत्रैवार्थे कन् । टाप् न ह्रस्वम् । भस्त्रकाऽप्यत्रैवार्थे, वाच० । "भंछा णिव्वत्तिया ।" भ० १४ श० ८ उ० ।

भज–भञ्ज–धा० । आमर्दने,प्रा० ४ पाद । "भञ्जेर्वेमय मुसुमूर मूर–सूर–सूड–विर–पविरञ्ज–करञ्ज–नीरञ्जा."॥८।४।१०६॥ भञ्जेरेते नवाऽऽदेशा वा भवन्ति । वेमयइ । मुसुमूरइ । मूरइ । सूरइ । सूडइ । विरइ । पविरञ्जइ । करञ्जइ । नीरञ्जइ । भजइ । प्रा० ४ पाद ।

भंजग–भञ्जक–पुं० । वृक्षे," भजगा इव संनिवेसं । " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

भंजण–भञ्जन–न० । भञ्ज–ल्युट् । आमर्दने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । सूत्र० । मोटने, " भजंति अंगमंगाणि ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ' भंजंति बालस्स वहेण पुट्ठी ।" सूत्र०

१ श्रु० ५ अ० ३ उ० । भञ्ज णिच्-ल्युट्-टाप् । विनाशे,स्त्री० । आव० ३ अ० । "विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा ।" नि० चू० १ उ० ।

भंजणहं-भङ्क्तुम्-अव्य० । "तुम एवमणाणहमणहिं च" ॥८। ४ । ४४१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे तुमः स्थाने अणहमा-देशः । मर्दयितुमित्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

भंड-भण्ड-पुं० । भडि-अच् । अश्लीलवाक्यभाषके, वाच० । छिन्नशिरसि, मागधे, मण्डने, सख्याम्, दौहित्रे च । दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा । लासके, ज्ञा० १ श्रु १ अ० । मुखन-यनौष्ठकरचरणभ्रूविकारपूर्विकायाः परिहासाऽऽदिजनिका-या विडम्बनक्रियायाः कारक इति । आव० ६ अ० ।

भण्ड-न० । भा-अण्डच् । भण-डः । स्वार्थे अण् । हिरण्या-ऽऽदिके पण्यवस्तुनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भाण्डानि क्रया-णकानि-लवणाऽऽदीनि । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उपा० । भाण्डं क्रयाणकमिति । औ० । आभरणे,औ० । भ० । ज्ञा० ।तं० । गृहवर्तिनि साधूपाश्रयवर्तिनि च वस्त्राऽऽद्युपकरणे , भ० ८ श० ५ उ० । आतु० । मृण्मयाऽऽदिपात्रे, भ० ८ श० ५ उ० । प्रश्न० । अनु० । साधूना भाजनविशेषे, भाण्डमुपकरणम् , वस्त्राऽऽद्युपकरणम् । मृण्मयादिपात्रं, साधुभाजनविशे-षश्च । स्था० ३ ठा० १ उ० । "भंडं परिग्गहो खलु ।" भाण्ड खलु पतद्ग्रह उच्यते । व्य० १ उ० । भाजने,स्थाने च ।" भं-डाओ भंडं साहरिज्जमाणाणं ।" भाण्डात्-स्थानात् भाण्डं भाजनान्तरमिति । जी० ३प्रति०४ अधि० ।जं० । रा० । उपा० । प्रश्न० ।क्षुरे, क्षुरेण मुण्डने, सू०४उ० । आव० । वणिजा मूलधने, अश्वभूषायाम् , नदीकूलद्वयमध्ये पात्रे च । गर्दभाण्डे वृक्षे, पुं० । भण्डस्य भावः अण् । भण्डचरित्रे, न० । वाच० । वृन्ताके, दे०ना० ६ वर्ग १०० गाथा ।

भंडंत-भण्डमान-त्रि० । कलहयति, व्य० १० उ० ।

भंडकरंडग-भाण्डकरण्डक-न० । आभरणभाजने, भ० २ श० १ उ० ।

भंडकरंडगसमाण-भाण्डकरण्डकसमान-त्रि० । भाण्डम्— आभरणं करण्डकं भाजनम् , तत्समानो भाण्डकरण्डकस-मानः । आदेये, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । तं० । भ० ।

भंडकिरिया-भण्डक्रिया-स्त्री० । कलावादनाऽऽदिके भण्ड-व्यापारे, ध० २ अधि० ।

भंडखाइय-भाण्डखादिक-त्रि० यत्र स्थाप्यते तन्नाशके ल वणाऽऽदिके वस्तुनि, आ०चू० ३ अ० ।

भंडग-भाण्डक-न० । भाण्डमेव भाण्डकम् । पात्राऽऽदिके उपकरणे, उत्त० २६ अ० । आचा० । ज्ञा० । सूत्र० । व्य० । म्लेच्छजातिभेदे, पुं० । प्रश्न० १ आश्र०द्वार ।

भंडगुरु-भाण्डगुरु-त्रि०भाण्डेनोपकरणेन गुरुर्भाण्डकगुरुः । उपकरणेन गुरुके, नि०चू० १८ उ० ।

भंडचालण-भाण्डचालन-न० । भाण्डाऽऽदीनां पिठरकाऽऽ-दीनां पण्यादीनां वा चालनं स्थानान्तरस्थापन भाण्डचाल-नम् । भाण्डाना स्थानान्तरस्थापने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

भंडण-भण्डन-न० । वाक्कलहे, विशे० । ज्ञा० । प्रश्न० । स० । सू० । आ०म० । तं० । नि०चू० । " एगतो भंडिउं पि अ-णुबद्धा । " भण्डित्वाऽपि भण्डनं-कलहस्तमपि कृत्वा । व्य० १ उ० । " वुग्गहो त्ति वा कलहो त्ति वा भंडणं ति वा विवादो त्ति वा एगट्ठा । " नि० चू० १६ उ० । दण्डाऽऽदि-भिर्युद्धे च । भ० १२ श० ५ उ० ।

भंडणाभिलासि ( ण् )-भण्डनाभिलाषिन्-पुं० । कलहा-भिलाषुके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

भंडपडह-भाण्डपटह-पुं० । पणवे, जं० २ वक्ष० ।

भंडमत्तणिक्खेवणासमिय-भाण्डमात्रानिक्षेपणासमित-त्रि० । भाण्डमात्राया—वस्त्रोऽऽद्युपकरणजातस्य । यद्वा-भाण्डस्य वस्त्राऽऽदेर्मृण्मयभाजनस्य वा, मात्रस्य च पात्रविशेषस्य यन्निक्षेपणं-मोचनं तत्र च समितः प्रत्युपेक्ष्य-प्रमार्ज्य मो-चनात् य. स तथा । भाण्डमात्रानिक्षेपणासमितियुते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

भंडल-देशी-कलहे, दे० ना० ६ वर्ग १०२ गाथा ।

भंडवाल-भाण्डपाल-पुं० । भाण्डानि परकीयक्रयाणकवस्तू-नि भाटकाऽऽदिना पालयतीति भाण्डपालकः । क्रयाणकव-स्तूनां भाटकाऽऽदिना पालके, ' गोवालो भंडवालो वा । " उत्त० २६ अ० ।

भंडवेयालिय-भाण्डवैचारिक-पुं० । भाण्डविचारः कर्मास्ये-ति भाण्डवैचारिकः । कर्माऽऽचार्यभेदे, अनु० । प्रज्ञा० ।

भंडसाला-भाण्डशाला-स्त्री० । घटकरकाऽऽदिभाण्डगृहे, बृ० । भाण्डशाला यत्र घटकरकाऽऽदि भाण्डजातं संगो-पितमस्ति । बृ० २ उ० । नि०चू० ।

भंडायरिय भाण्डागारिक-त्रि० । भाण्डारनियुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

भंडार-भाण्डकार-पुं० । शिल्पाऽऽचार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

भंडिया-भण्डिका-स्त्री० । गन्त्र्याम्, बृ० ३ उ० । स्थाल्यां च । स्था० ८ ठा० । नि० चू० ।

भंडी-भण्डी-स्त्री० । भडि-अच् । गौरा० ङीष् । मञ्जिष्ठायाम् , शिरीषे च । वाच० । गन्त्र्याम्, प्रश्न० २ आश्र०द्वार । व्य० । नि० चू० । बृ० । " भंडी सगडी भण्णति । " नि०चू० ३ उ० । "जा भंडि तुब्भला उ. तं तुब्भे वंधहो पयत्तेणं ।" व्य ६ उ० । " भंडीए जोइत्ता । " आ० म० १ अ० । स्वार्थे कन् ह्र-स्वः । तत्रैवार्थे, वाच० । शिरीषवृक्षे,अटव्याम् , असतीस्त्रिया-म्, गन्त्र्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १०१ गाथा ।

भंडीरवड- भण्डीरवट-पुं० । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते व-टे, आ०चू० १ अ० ।

भंडीरवडिंसय-भाण्डीराऽवतंसक-न० । मथुरानगरस्थे स्व. नामख्याते चैत्ये, " महुरा णयरी, भंडीरवडिंसयं चेइ-यं । " आ० चू० १ अ० । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते उद्या-ने च । " महुराए णयरीए भंडीरवडिंसए उज्जाणे " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

भंडीरवण-भाण्डीरवन-न० । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते वने, ती० ८ कल्प । आ०म० । " भण्डीरवनयात्रा-

यां, बाहकेलिकुतूहली।" आ० क० १ अ० । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते चैत्ये च। "तत्थ भंडीरवणं चेइयं।" आ० म० १ अ० ।

भंडु-देशी-मुण्डने, दे० ना० ६ वर्ग १०० गाथा।

भंत-भगवत्-पुं०। भग ऐश्वर्याऽऽदिकः षड्विधो विद्यते यस्य स भगवान्। गुरौ, विशे०। जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०।

भजन्त-पुं०। 'भज' सेवायामिति धातुस्तस्य भजते-सेवते इति भजन्तः। अथवा—सेवते शिवगतीन्-सिद्धगतिप्राप्तान् इति भजन्तः। अथवा—दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं शिवमार्गं भजते इति भजन्तः। अथवा—सेव्यश्च यस्मादसौ मोक्षार्थिनां तस्माद् भज्यते-सेव्यते इति भजन्तः। विशे०।

'भंते त्ति' नेदं भदन्त इत्यामन्त्रणं, किन्तु भजन्त इति, कया व्युत्पत्त्या ?, इत्याह—

अहवा 'भय' सेवाए, तस्स भयंतो त्ति सेवए जम्हा।
सिवगइणो सिवमग्गं, सेव्वो य जओ तदत्थीणं ॥३४४६॥

अथवा 'भज' सेवायामिति भजधातुः, तस्य भजते सेवत इति भजन्तः, तस्य सम्बोधनं हे भजन्त गुरो !। स चेह कस्मात् ?, उच्यते—यस्मात्सेवते, कान् ?-शिवगतीन् सिद्धिगतिं प्राप्तान्, अथवा-दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणं शिवमार्गं मोक्षमार्गम्। अथवा-सेव्यश्च यस्मादसौ तदर्थिनां मोक्षमार्गार्थिनां तस्माद्भज्यते सेव्यते इति भजन्त इत्युच्यते इति॥३४४६॥ विशे०। गुरौ, जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०।

भदन्त-त्रि०। 'भदि, कल्याणे' 'ऋच् न लोपः'। पूजिते, 'भदुङ्' सुखकल्याणयोरिति वचनात् भदेरौणाऽऽदिकाऽन्तप्रत्ययान्तस्य निपातः। परमकल्याणयोगिनि परमसुखयोगिनि च गुरौ, पा०। आतु०। ध्य०। भ०। कल्प०। ध०। आ० चू०। जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०।

तथा च भदन्तशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह—

'भदि' कल्लाण-सुहत्थो, धाऊ तस्स य भदंतसद्दोऽयं।
स भदंतो कल्लाणो, सुहो य कल्लं किलाऽऽरुग्गं ॥३४३६॥
तं तत्थं निव्वाणं, कारणकज्जोवयारओ वा वि।
तस्साहणमणमद्दो, सद्दत्थो अहव गव्वत्थो ॥ ३४४० ॥
कल्लमणइ त्ति गच्छइ, गमयइ व बुज्झइ व बोहयइ व त्ति।
भणइ भणावेइ व जं, तो कल्लाणो स चाऽऽयरिओ॥३४४१॥

'भदि' कल्याणे सुखे च इति भदिधातुः कल्याणार्थः, सुखार्थश्च। तस्य भदिधातोर्भदन्त इत्यौणाऽऽदिकप्रत्यये भदन्तशब्दोऽयं निष्पद्यते। ततः स्थितमिदं स भदन्तः कल्याणः सुखश्च। विशे०।

भयान्त-पुं०। भयस्यान्तो भयान्तः। आ० म० १ अ०। भयस्य भीतेरन्तहेतुत्वात् भयान्तः। जं० १ वक्ष०। सप्तविधभयस्यान्तं गता भयान्ताः। गुरौ, जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०। आ० चू०।

भवान्त-पुं०। भवस्य-संसारस्यान्तहेतुत्वात् भवान्तः। जं० १ वक्ष०। भवस्यान्तं गतो भवान्तः, भवानामन्त इव वर्त्तते भवान्तः। आ० चू० १ अ०। गुरौ, जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०। "कहि णं भंते! जंबुद्दीवे।" (भंते त्ति) गुरोरामन्त्रणम्। एकारो मागधभाषाप्रभवः। ततश्च हे भदन्त ! सुखकल्याणस्वरूप ! 'भदुङ्' सुखकल्याणयोः इति वचनात्। प्राकृतशैल्या वा भवस्य-संसारस्य भयस्य वा-भीतेरन्तहेतुत्वात् भवान्तो भयान्तो वा। जं० १ वक्ष०। "करेमि भंते ! सामाइयं।" भदन्तः सुखवान् कल्याणवांश्च। 'भदुङ्' सुखकल्याणयोः, इति वचनात् औणाऽऽदिकाऽन्तप्रत्ययान्तस्य निपातने रूपम्। अथवा-भवान्त इत्येतस्याऽऽर्षत्वात् मध्यगव्यञ्जनस्य लोपे रूपं भंते इति। "अत एत्सौ पुंसि मागध्याम्" ॥ ८। ४। २८७॥ इत्येकारोऽर्द्धमागधत्वादार्षस्य। ध० २ अधि०।

अधुना 'भंते !' इति द्वितीयद्वारव्याख्यानार्थमाह—

होइ भयंतो भवअं-तगो य रयणा भयस्स छब्भेया।

'भदन्त' इति। 'भदुङ्' कल्याणे सुखे च। अस्मादौणाऽऽदिकोऽन्तप्रत्ययः, औणाऽऽदिकत्वादेव नलोपः भदन्तः कल्याणः सुखश्चेत्यर्थः। प्राकृतत्वादामन्त्रणे 'भंते !' इति भवति। अथवा—प्राकृतशैल्या भवान्त इति द्रष्टव्यम्। भवान्तभवनात् भवान्तो गुरुः। यद्वा—अन्तं करोतीत्यन्तकः, भयस्यान्तको भयान्तकः, तस्य सम्बोधनम्। उभयत्राऽपि प्राकृतत्वात् भन्ते ! इति भवति। आ० म० १ अ०।

एवं सव्वम्मी व-ज्जियम्मि एत्थं तु होइ अहिगारो।
सत्तभयविप्पमुक्के, तहा भयंते भवंते य ॥

एवम्—उक्तेन प्रकारेण सर्वस्मिन्ननेकभेदभिन्ने भयाऽऽदौ वर्णिते सति अत्र प्रकृते भवत्यधिकारः। सप्तभयविप्रमुक्तो यस्तेन भयान्तो, भवान्तश्च भदन्तस्ताभ्यामिति। आ० म० १ अ०।

भान्त-पुं०। 'भा' दीप्तौ, भाति ज्ञानतपोगुणदीप्त्येति भान्तः। विशे०। गुरौ, जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०।

भ्रान्त-पुं०। मिथ्यात्वाऽऽदिबन्धहेतुभ्यो भ्राम्यति अनवस्थितो भवतीति भ्रान्तः। गुरौ, विशे०। जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०।

भ्राजन्त-पुं०। ज्ञानतपोगुणदीप्त्या भ्राजते इति भ्राजन्तः। गुरौ, विशे०। जिनसिद्धाऽऽदिके च। विशे०।

अथवा-भान्तो भ्राजन्तो वा गुरुरुच्यते, कथम् ?, इत्याह—

अहवा 'भा' 'भाजो' वा, दित्तीए होइ तस्स भंतो त्ति।
भाजंतो चाऽऽयरिओ, सो नाणतवोगुणजुईए ॥३४४७॥

अथवा 'भा' धातुः 'भ्राज' धातुर्वा-(दित्तीए त्ति) दीप्तौ पठ्यते। तस्य भान्तो भ्राजन्त इति वा भवति। स चैवम्भूतः कः ? इत्याह-आचार्यः। स च कथं भाति, भ्राजते वा ?, इत्याह ज्ञानतपोगुणदीप्त्येति।

अथवा-भ्रान्तो भगवान् वाऽसाविति दर्शयन्नाह—

अहवा भंतोऽवेओ, ज मिच्छत्ताइबंधहेऊओ।
अहवेसरियाइभगो, विज्जइ से तेण भगवंतो ॥३४४८॥

अथवा—'भ्रम' अनवस्थाने, इत्यस्य धातोः भ्रान्त इत्युच्यते, यस्मादपेतोऽसौ मिथ्यात्वाऽऽदिबन्धहेतुभ्य इति। अथवा-ऐश्वर्याऽऽदिकः षड्विधो भगो विद्यते (से) तस्य तेन भगवान् गुरुरिति ॥ ३४४८ ॥

अथवा-भवान्तो भयान्तो वाऽयमित्यावर्शयन्नाह—

नेरइयाइभवस्स च, अंतो जं तेण सो भवंतो त्ति ।
अहवा भयस्स अंतो, होइ भयंतो भयं तासो ॥३४४६॥

अथवा-यस्मान्नारकाऽऽदिभवस्यान्तहेतुत्वादन्तोऽसौ तेन भवान्त इति । अथवा-भयस्याऽन्तो भयाऽन्तो भवति, भयं च त्रास उच्यत इति । विशे० ।

अथाऽऽन्तशब्दव्युत्पादनार्थमाह—

अम गत्याइसु तस्से-ह अमणंतोऽवसाणमेगत्थं ।
अमइ व जं तेणंऽतो, भयस्स अंतो भयंतो त्ति ॥३४५३॥
अम रोगे वा अंतो, रोगो भंगो विणासपज्जाओ ।
जं भवभयभंगो सो, तओ भवंतो भयंतो य ॥३४५४॥

अम धातुर्गत्यादिषु अर्थेषु पठ्यते,तस्येहान्त इति रूपं भवति, अमनम्, अन्तः, अवसानमित्येकार्थम् । अमतीति वा यस्मात्तेनान्त इति कर्त्तरि साध्यते, भयस्यान्तो भयान्त इति । अथवा-'अम रोगे' रोगो भङ्गः, ततश्चान्तो, रोगो, भङ्गो, विनाश इति पर्यायशब्दा एत इत्यर्थः । एवं च सति यस्माद्भवस्य भयस्य च भङ्गहेतुत्वाद्भङ्गोऽसौ गुरुस्ततो भवान्तो भयान्तश्चेति ।

ननु भवद्भिर्व्युत्पादितानां भदन्ताऽऽदिशब्दानां स्थाने कथं " भंते " इति निष्पद्यत इत्याह—

एत्थ भयंताईणं, पागयवागरणलक्खणगईए ।
सभवओ पत्तेयं, द-य-ग-वगाराऽऽइलोवाओ ॥३४५५॥
इस्सेकारंताऽऽदे-सओ य भंते त्ति सव्वसामन्नं ।
गुरुआमंतणवयणं, विहियं सामाइयाईए ॥ ३४५६ ॥

अत्र भदन्ताऽऽदीनाम्, आदिशब्दाद्भजन्त-भान्त-भ्राजन्त-भ्रान्त-भगवन्त-भवान्त-भयान्त-परिग्रहः, प्राकृतव्याकरणलक्षणगत्या यथासंभवं प्रत्येकं द-य-ग-वकाराऽऽद्यक्षरलोपात्तथा ह्रस्वैकारान्ताऽऽदेशतश्च । ( भंते त्ति ) सर्वसामान्यं पदं, निष्पद्यते इति शेषः । तत्र भदन्त इत्यत्र दकारस्य, भयान्त इत्यत्र यकारस्य, भगवन्त इत्यत्र गवकारयोर्लोपः कर्त्तव्यः । आदिशब्दाद् भजन्त इत्यादिषु यकाराऽऽद्यक्षराणां लोपो द्रष्टव्यः । भान्त इत्यादिषु भाऽऽदीनां ह्रस्वत्वाऽऽदेशः । भन्त इति पदेऽवस्थित अन्ते एकाराऽऽदेशः कर्त्तव्य इति । भन्ते ! इत्येतच्च पदं गुर्वामन्त्रणवचनं सामायिकसूत्रस्याऽऽदौ विहितमिति ।

'भदन्त' इति पदस्याऽऽमन्त्रणवचनतामेव भावयति—

आमंतेउ करेमी, भंते सामाइयं ति सीसोऽयं ।
आहामंतणवयणं,गुरुणो किं कारणमिणं ति ? ॥३४५७॥

' करेमि भंते ! सामाइयं ' इत्येवं शिष्योऽयमामन्त्रयति गुरुम् । आह परः-ननु गुरोरामन्त्रणवचनमिदमादौ विहितम्, इन्यत्र किं कारणम् ? , इत्येतत् कथ्यतामिति॥३४५७॥

सूरिराह—

भणइ गुरुकुलवासे, वसं गहत्थं जहा गुणत्थीह ।
निच्चं गुरुकुलवासी,हविज्ज सीसो जओऽभिहियं ॥३४५८॥

नाणस्स होइ भागी, थिरतरओ दंसणे चरित्ते य ।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ ३४५६ ॥
गीयावासो रई धम्मे, अणाययणवज्जणं ।
निग्गहो य कसायाणं, एयं धीराण सासणं ॥३४६०॥

रूपकत्रयं पाठसिद्धम् ॥ ३४५८ ॥ ३४५६ ॥ ३४६० ॥

अपि च—

आवस्सयं पि निच्चं, गुरुपामूलम्मि देसियं होइ ।
वीसुं पि हु संवसओ, कारणओ जदभिसेज्जाए ॥३४६१॥

विशे० । ( अत्र विस्तरः 'आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४५५ पृष्ठे गतः । )

अथवा नेद गुरोरामन्त्रणम् , किन्त्वात्मन एवेति दर्शयति—

आयामंतणमहवा-ऽवसेसकिरियाविसग्गओ तं च ।
सामाइएगकिरिया, नियामगं तदुवओगाओ ॥३४७०॥

अथवा आत्मन आत्मजीवस्याऽऽमन्त्रणमिदं-हे भो जीव ! सामायिकं करोम्यहम् । कथम् ? , अवशेषक्रियाविसर्गतः, सर्वा अपि क्रिया विसृज्येत्यर्थः । तच्चाऽऽत्माऽऽमन्त्रणं सामायिकैकक्रियाया नियामकं नियमार्थम्;तदुपयोगात् तस्यामेवैकस्यां सामायिकक्रियायामुपयोगादिति ॥ ३४७० ॥

एवं च सति किमुक्तं भवति ? इत्याह—

एवं च सव्वकिरिया-ऽसंपन्नया तदुवउत्तकरणं च ।
वक्खायं होइ निसी-हियाओ किरिओवओगु व्व॥३४७१॥

एवं च सति सर्वासामपि प्रत्युपेक्षणाऽऽदिक्रियाणा परस्परमसम्पन्नताऽन्योन्यमनायायता, तस्यामेव प्रारब्धैकक्रियायामुपयुक्तकरणं चाऽऽत्माऽऽमन्त्रणेन व्याख्यातं विशेषेण कथितं भवति,यथा नैषेधिक्या नैषेधिकरणेन बाह्यक्रियानिषेधतो वसत्यभ्यन्तरक्रियोपयोग एव कथितो भवत्येवमिहापीति ।३४७१।

अथवा जिनसिद्धाऽऽद्यामन्त्रणार्थोऽयं भदन्तशब्द इति दर्शयति—

अहवा जहसंभवओ, भदंतसद्दो जिणाइसक्खीणं ।
आमंतणाभिधाई, तस्सक्खिज्जे थिरव्वयया ॥ ३४७२ ॥
गहिय जिणाइसक्खं, मइ त्ति तल्लज्जगोरवभयाओ ।
सामाइयाइयारे, परिहरओ तं थिर होइ ॥ ३४७३ ॥

अथवा यथासम्भवतो ये केवलातिशयज्ञानिनो जिनसिद्धाऽऽदयः सम्भवन्ति; तेषां जिनाऽऽदीनां साक्षिणामामन्त्रणाऽभिधायी भदन्तशब्दः ' भो भो जिनाऽऽदयो भदन्ता ! युष्मत्साक्षिकं करोम्यहं सामायिकम्' इति । तत्साक्षिकत्वे च सामायिककर्तुः स्थिरव्रतता भवतीति । कथम् ?; इत्याह-जिनाऽऽदिसाक्षिकं गृहीतं मया सामायिकम्, अतः परिपालनीयमेवेदम्,इत्यनया वासनया सामायिकातिचारान् परिहरतस्तस्य तत् सामायिकव्रतं स्थिरं भवति । कुतः ? इत्याह-(तल्लज्जेत्यादि) तेषा-जिनाऽऽदीना सत्का या लज्जा, तेषु च यद् गौरवं-यो बहुमानः यच्च तदीयं भयं तस्मादिति ॥ ३४७२ ॥ ३४७३ ॥ विशे० ।

भ्रान्त-त्रि० । भ्रम-क्त. । मिथ्याज्ञानयुक्ते, वाच० । " भ्रान्त-

भ्रान्तधिया।"भ्रान्तः विपर्य्ययाऽभिभूतपूर्वापरमध्यतात्पर्यानिश्चयात्। प्रति०। भिन्न एवाभेदाध्यवसायेन प्रवर्तमानस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वम्। तथाहि—योऽतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स भ्रान्तः। यथा मरीचिकायां जलप्रत्ययः। सम्म० १ काण्ड। भ्रमणयुक्ते च। धुस्तूरे, पुं०। भावे क्तः। भ्रमणे,न०। दश० ४ अ०। वाच०।

**भंतसंभंत**-भ्रान्तसंभ्रान्त-न०। दिव्ये नाट्यविधिभेदे, "अप्पेगइया भंतसंभंतं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेइ।" रा०।

**भंताभंत**-भ्रान्ताभ्रान्त-न०। स्वनामख्याते दिव्ये नाट्यविधौ, आ० म० १ अ०।

**भंतेसामाइय**-भदन्तसामायिक-न०। भदन्तं च तत्सामायिकं भदन्तसामायिकम्। कल्याणप्रापके सुखावहे च भावसामायिके, विशे०।

अथवा-भदन्तशब्दोऽयं नाऽऽमन्त्रणार्थः, किं तु सामायिकस्यैव विशेषणार्थ इति दर्शयन्नाह—

अहवा भंते च तय, सामइयं चेइ भंतसामइयं।
पत्तमलक्खणमेत्तं, भंतेसामाइयं तं च ॥ ३४७४ ॥

भदन्तं च तत्सामायिकं च भदन्तसामायिकं करोम्यहं कल्याणप्रापकं सुखाऽऽवहं च यत्सामायिकं तदहं करोमि, नाऽन्यदित्यर्थः। "भंतेसामाइय।" इत्यत्र तु यदेवमेकारान्तत्वं तदेतल्लक्षणम्-अलाक्षणिकमतो लुप्यत इति। ( तं च त्ति ) तच्च किमर्थमेवं विशिष्यते ॥ ३४७४ ॥

किमन्यदपि सामायिकं विद्यते ? इत्याह—

नामाऽऽइवुदासत्थं, ननु सो सावज्जजोगविरई उ।
गम्मइ भण्णइ न जओ, तत्थ वि नामाइसब्भावो ।३४७५।

नामस्थापनाऽऽदिसामायिकव्युदासार्थमिदमेवं विशिष्यते, नामाऽऽदिसामायिकानां कल्याणप्रापकत्वसुखाऽऽवहत्वाभावात्, भदन्तविशेषणाद्भावसामायिकमिह गृह्यत इति भावः। आह-नन्वसौ नामाऽऽदिव्युदासः-"सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।" इत्यादिवचनात्सावद्ययोगविरतिर्गम्यते। न हि सावद्ययोगविरतिरूपाणि नामाऽऽदिसामायिकानि भवन्तीति। भण्यतेऽत्रोत्तरम्-(न त्ति) न त्वद्वचो युज्यते, तत्राऽपि सावद्ययोगविरतौ नामस्थापनाऽऽदिरूपसम्भवात्। इदमुक्तं भवति-यदि भावसावद्ययोगविरतिरसौ गृह्यते, तदा भवेत्साध्यसिद्धिः, न चैतदस्ति, नियामकाभावात्; भदन्तविशेषणे तु सामायिकस्येयमपि भावरूपा गम्यते, नामाऽऽदिरूपसावद्ययोगविरतेर्भदन्तसामायिकरूपत्वायोगादिति ॥ ३४७५ ॥

अथवा-'भन्ते' शब्दात् षष्ठी द्रष्टव्येति दर्शयन्नाह—

भंतस्स व सामइयं,भंतेसामाइयं जिणाऽभिहियं।
न परप्पणीयसामा-इयं ति भंतेविसेसणओ ॥३४७६॥

अथवा—" करेमि भंतेसामाइयं " इत्यत्र भदन्तस्य भगवतः सम्बन्धि सामायिकमहं करोमीत्येवं च द्रष्टव्यम्। ततश्च 'भन्ते' इति विशेषणाज्जिनाभिहितं सामायिकं करोम्यहं, न पुनः परप्रणीतं कुतीर्थिकप्ररूपितमिति ॥ विशे०।

**भंभल**-देशी-अप्रिये, दे० ना० ६ वर्ग ११० गाथा। मूर्खे, त्रि०। स्त्री, प्रासगृहे च। दे० ना० ६ वर्ग ११० गाथा।

**भंभसार**-भम्भसार-पुं०। राजगृहनगरोपलक्षस्य चम्पापुरीवास्तव्यस्य कूणिकस्य नृपतेः पितरि श्रेणिकाऽपरनामधेये राजगृहनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, आ०क० ४ अ०। औ०। "तते णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते।" औ०। भम्भा तु श्रेणिकं चक्रे, भम्भसाराऽभिधोऽथ सः।" आ०क० ४ अ०।

खिति चण-उसभ कुसग्गं, रायगिहं चंप-पाडलीपुत्तं।
नंदे सगडाले थू-लभद्दसिरिए वररुची य ॥ १२८४ ॥

"एईए वक्खाणं—अतीतद्धाए खिइपइट्ठियं णयरं, जियसत्तू राया, तस्स णयरस्स वत्थूणि उस्सण्णाणि, अन्नं णयरट्ठाणं वत्थुपाढएहिं मग्गावेइ, तेहिं एगं चणगक्खेत्तं अतीव पुप्फेहिं फलेहि य उववेयं दट्ठुं, चणगपुरं निवेसियं, कालेण तस्स वत्थूणि खीणाणि, पुणो वि वत्थुं मग्गिज्जइ, तत्थ एगो वसहो अन्नेहिं पारद्धो एगम्मि रन्ने अच्छइ, न तीरइ अन्नेहिं वसहेहिं पराजिणिउं, तत्थ उसभपुरं निवेसियं, पुणरवि कालेण उच्छन्नं, पुणो वि मग्गंति, कुसथंबो दिट्ठो अतीव पमाणाकितिविसिट्ठो, तत्थ कुसग्गपुरं जायं, तम्मि य काले पसेणई राया, तं च णयरं पुणो पुणो अग्गिणा डज्झइ, ताहे लोगभयजणणनिमित्तं घोसावेइ—जस्स घरे अग्गी उट्ठेइ सो णगराओ निच्छुब्भइ, तत्थ महाणसियाणं पमाएण रन्नो चेव घराओ अग्गी उट्ठिओ, ते सच्चपइन्ना रायाणो—अहं अप्पगं ण सासयामि तो कहं अन्नं ति निग्गओ णयराओ, तस्स गाउयमित्ते ठिओ, ताहे दंडभडभोइया वाणियगा य तत्थ वच्चंति, भणंति—कहिं वच्चह ?, आह-रायगिहं ति, कओ एह ?, रायगिहाओ, एवं णयरं रायगिहं जायं जया य राइणो गिहे अग्गी उट्ठिओ तओ कुमारा जं जस्स पियं आसो हत्थी वा तं तेण णीणिए सेणिएण भंभा णीणिया, राया पुच्छइ—केण किं णीणियं ति ?, अन्नो भणइ—मए हत्थी, आसो एवमाइ, सेणिओ पुच्छिओ भंभा, ताहे राया भणइ सेणियं—एस ते तत्थ सारो भंभ त्ति ?, सेणिओ भणइ-आमं, सो य रन्नो अबंतपिओ, तेण से णामं कयं-भंभसारो त्ति।" ( १२८४ गाथा ) आव० ४ अ०।

**भंभा**-भम्भा-स्त्री०। तूर्यभेदे, आ० म० १ अ०। औ०। नं०। आ०क०। नि०चू०। तूर्यविशेषे, दे०ना० ६ वर्ग १०० गाथा। "अष्टशतं भम्भानाम्।" 'भम्भा ढक्केति।' रा०। जी०। भम्भा ढक्का नि स्वनानीति सम्प्रदायः। जं० २ वक्ष०। भम्भा भेरीति। भ० १ श० १ उ०। गुञ्जा भम्भेति। आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०। दु:खाऽऽर्त्तगवादिभिः 'भाँ भाँ' इत्यस्य शब्दस्य करणे च। भ० ७ श० ६ उ०।

**भंभाभूय**-भम्भाभूत-पु०। 'भाँ भाँ' इत्यस्य शब्दस्य दुःखाऽऽर्त्तगवादिभिः करणं भम्भोच्यते, तद्भूतो यः स भम्भाभूतः; भम्भा वा भेरी,सा चान्तःशून्या ततो भम्भेव यः कालो अनच्छयाच्छून्यः स भम्भाभूतः। दुःखाऽऽर्त्तगवादिभिः 'भाँ भाँ ' इत्यस्य शब्दस्य करणं प्राप्ते, अनच्छयाच्छून्ये च कालाऽऽदौ, भ० ७ श० ६ उ०।

भंभावायग-भम्भावादक-पुं० । ढक्कावादके, प्रशस्तं भम्भावादकानाम् । रा० ।

भंभी-भम्भी-स्त्री० । नीतिभेदे, व्य० १ उ० । असत्याम्, दे०ना० ६ वर्ग ६६ गाथा ।

भंस-भ्रंश-धा० । अधःपतने, "भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्लाः" ॥ ८ । ४ । १७७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रंशेरेते षडादेशा वा भवन्ति । फिडइ । फिट्टइ । फुडइ । फुट्टइ । चुक्कइ । भुल्लइ । पक्षे-भंसइ । प्रा० ४ पाद । "साहु अकम्मं धम्माओ, जो भंसेइ उवट्ठियं ।" आव० ४ अ० । केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा । " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

भक्ख-भक्ष्य-न० । भक्ष्यते इति भक्ष्यम् । प्रव० ५५ द्वार । खण्डखाद्याऽऽदिके व्यञ्जनभेदे, चं० प्र० २० पाहु० । प्रव० । सू० प्र० । प्रश्न० । स्था० । पञ्चा० । भ० । "भक्खणविहिपरिमाणं करेइ ।" खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यमित्यत्र रूढमिह पक्वान्नमात्रं तद्विवक्षितम् । उपा० १ अ० । भक्ष्याणि मोदकानीति । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । भक्षणयोग्ये, त्रि० । वाच० ।

भक्खग-भक्षक-त्रि० । भक्षणकर्त्तरि, आ०म० १ अ० ।

भक्खणविहि-भक्षणविधि-पुं० । भक्षणविधौ, उपा० १ अ० । ( 'आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठे विधिः )

भक्खणिज्ज-भक्षणीय-त्रि० । भोक्तव्ये, द्वा० १७ अष्ट० ।

भक्खर-भास्कर-पुं० । भासं करोतीति भास्करः । आ० चू० १ अ० । भास्-कृ-टच् । कस्का० सः । सूर्य्ये, आदित्यस्य सविता भास्करो दिनकर इत्यादयः पर्य्यायाः । आ० चू० १ अ० । अग्नौ, वीरे, अर्कवृक्षे, सिद्धान्तशिरोमणिग्रन्थकृत्पण्डिते च । स्वर्णे, न० । वाच० ।

भक्खराभ-भास्कराऽऽभ-पुं० । गौतमगोत्रोत्पन्ने गोत्रप्रवर्त्तके मुनौ, "जे गोयमा ते भक्खराभा ।" स्था० ७ ठा० ।

भग-भग-पुं० । न० । भज्यते इति भगः । भज्-घञ् । समग्रैश्वर्य्याऽऽदिके गुणे, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । आ० म० । ज० । रा० । सूत्र० । विशे० । आव० । पं० सू० । उक्तं च-"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्यार्थस्य यत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥ १ ॥ " स्था० १ ठा० । आ० चू० । नं० । ल० । प्रज्ञा० । विशे० । अणिमाऽऽद्यष्टविधैश्वर्ये, सूर्ये, वीर्ये, यशसि, श्रियाम्, ज्ञाने, वैराग्ये, योनौ, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । इच्छायाम्, माहात्म्ये, यत्ने, धर्मे, मोक्षे, सौभाग्ये, कान्तौ, चन्द्रे च । यदाहुः—भगोऽर्कज्ञानमाहात्म्ययशोवैराग्यमुक्तिषु । रूपवीर्यप्रयत्नेच्छा-श्रीधर्मैश्वर्य्ययोनिषु ॥१॥" कल्प० १ अधि० १ क्षण । पूर्वफल्गुनीनक्षत्राधिष्ठातरि देवभेदे, सू०प्र० १० पाहु० १२ पाहु० पाहु० । स्था० । भगो नामा देवविशेष इति । जं० ७ वक्ष० । तदधिष्ठातृके पूर्वफल्गुनीनक्षत्रे च । अनु० । गुह्यमुष्कयोर्मध्यस्थाने च । पुं० । वाच० । दश० । सू० । नि० चू० ।

दो भगा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

भगंदल-भगन्दर-पुं० । भगं गुह्यमुष्कमध्यस्थानं दारयति । दृ-खश्-मुम् च । गुतसन्धिभवे व्रणविशेषे, बृ० ३ उ० । नि० चू० । जी० । जं० । विपा० । ज्ञा० । "भगंदलं संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा ।" आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० । "अप्पणो गुताधिट्ठाणे भगंदु भिज्जालसंपयं भवति त्ति ।" नि० चू० ३ उ० । विपा० ।

भगंदलि (न्)-भगन्दरिन्-पुं० । भगन्दररोगवति, विपा० १ श्रु० ७ अ० । आव० ।

भगवंत-भगवान्त-पुं० । यस्मात्सुरासुरनरोरगतिर्यग्योनी जीवलोकः कामभोगरतितृषितगृद्धिमूर्छिताध्युपपन्नः स तेन भगवता वान्त इत्यतो भगवान्तः । त्यक्तकामभोगाऽऽदिके जिनाऽऽदिके, पं० चू० १ कल्प ।

भगवत्-पुं० । भगः समग्रैश्वर्य्याऽऽदिलक्षणः, स विद्यते यस्य स भगवान् । विशे० । स्था० । समग्रैश्वर्य्याऽऽदिगुणयुक्ते सर्वज्ञे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । चं० प्र० । उत्त० । पा० । आचा० । अने० । अष्ट० । जं० । स्था० । रा० । दश० । ल० । दशा० । औ० । नं० । आव० । पं० सू० । "इस्सरियाइगुणो भगो सो से अत्थि त्ति तो भगवं ।" पं० भा० १ कल्प । उक्तं च "इस्सरियरूवसिरिजस, धम्मपयत्तामया भगाभिक्खा । ते तेसिमसामण्णा, संति जओ तेण भगवंतो ॥" आ० म० १ अ० । "समग्रं चैश्वर्यं भक्तिनम्रतया त्रिदशपतिभिः शुभानुबन्धिमहाप्रातिहार्यकरणलक्षणं, रूपं पुनः सकलसुरस्वप्रभावविनिर्मिताङ्गुष्ठरूपाङ्गारनिदर्शनातिशयसिद्धं, यशस्तु रागद्वेषपरीषहोपसर्गपराक्रमसमुत्थं त्रैलोक्याऽऽनन्दकार्याकालप्रतिष्ठं, श्रीः पुनर्घातिकर्मोच्छेदविक्रमावाप्तकेवलाऽऽलोकनिरतिशयसुखसंपत्समन्विता परा, धर्मस्तु सम्यग्दर्शनाऽऽदिरूपो दानशीलतपोभावनामयः साऽऽश्रवानाश्रवो महायोगाऽऽत्मकः, प्रयत्नः पुनः परमवीर्यसमुत्थ एकरात्रिक्यादिमहाप्रतिमाभावहेतुः समुद्घातशैलेश्यवस्थाव्यङ्ग्यः समग्र इति । अयमेवंभूतो भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः । ध० २ अधि० । भगवानर्कयोनिवर्जितद्वादशभगशब्दार्थवान् । नन्वन्त्योऽर्थस्तु वर्ज्य एव, परमर्कः कथं वर्ज्यः ? । सत्यम् । उपमानतया अर्को भवति परं, वत्प्रत्ययान्तत्वात् अर्कवानित्यर्थो न लगतीति वर्जितः । कल्प० १ अधि० १ क्षण । जिने, "पयडे भगवतवयणम्मि ।" भगवद्वचने जिनाऽऽगमे । पञ्चा० ६ विव० । प्रश्न० । पूज्ये, भगवानिति महात्मनः संज्ञेति । व्य० ३ उ० । भ० । संस्था० । पा० । साधौ च । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । स्त्रियां ङीप् । "महिलाणं भगवईओ, जिणजणणीओ जयंम्मि, जहा" भगवत्यः पूज्याः । संथा० । "सुयदेवया भगवई" । पा० । प्रा० । आचा० । ज्ञा० । दुर्गायां च । वाच० ।

भगलीअज्झयण-भगल्यध्ययन-न० । अन्तकृद्दशाऽध्ययनप्रथमवर्गस्याष्टमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

भगिणी-भगिनी-स्त्री० । भगं यत्नः पित्रादितो द्रव्याऽऽदाने ऽस्त्यस्या इति । सहजातायाम्, अनु० । जं० । नि० चू० । आ० म० ।

भगीरह-भगीरथ-पुं० । सूर्य्यवंश्ये दिलीपराजपुत्रे राजभेदे येन गङ्गा भूमितलमवतारिता । वाच० । शत्रुञ्जयपर्वते च । एतच्च शत्रुञ्जयपर्वतस्यैकविंशतिगौणनामस्वन्यतमन्नाम । ती० १ कल्प ।

भग्ग-भग्न-त्रि० । भञ्ज-क्त । पराजिते, खण्डिते, वाच० । वि

धर्षिते, आव०४ अ०। ज्ञा०। नि०चू० । मर्दिते, आचा० २ श्रु० १ चू०१ अ०१ उ०। विकृते, उपा० २ अ०। विनाशिते, आव० ५ अ०। असमर्थीभूते च। ज्ञा० १ श्रु० ७ अ०। "रुग्गं भग्गं।" पाइ०ना० २४३ गाथा।

भर्ग-पुं० । भ्रस्ज घञ्--भर्जाऽऽदेशे कुत्वम्। ईश्वरे, गा०। वाच०। शिवे, ज्योति पदार्थे, आदित्यान्तर्गते ऐश्वरे तेजसि, वाच०।

' आदित्यान्तर्गतं वर्चो, भर्गाऽऽख्यं तन्मुमुक्षुभिः ।
जन्ममृत्युविनाशाय, दुःखस्य त्रितयस्य च ॥ १॥
ध्यानेन पुरुषैर्थश्च, द्रष्टव्यं सूर्यमण्डले ।"

इति याज्ञवल्क्यः। तस्य तेजस ईश्वरत्वम्-"यदादित्यगतं तेजो, जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ, तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१॥" इति गीतायामुक्तम्। भावे घञ्। भर्जने, भ्रातरि च। त्रि०। वाच०। लिप्ते, दे०ना० ६ वर्ग ६६ गाथा।

भग्गइ-भग्नजित्-पुं० । क्षत्रियपरिव्राजिके, औ०।

भग्गकडि-भग्नकटि-पुं०। विकृतचक्रपृष्णौ, उपा० २ अ०।

भग्गघर-भग्नगृह-न०। विकृते गृहे, व्य० १ उ०।

भग्गजोग-भग्नयोग-पुं०। भग्नस्य पुनःसंस्करणे, पं०व० ५ द्वार।

भग्गणियम-भग्ननियम-पुं०। नियमभङ्गवति, उपा० ३ अ०।

भग्गपोसह-भग्नपौषध-त्रि०। पौषधभङ्गवति, उपा० ३ अ०।

भग्गव- भार्गव-पुं०। भृगुर्लोकप्रसिद्धऋषिविशेषः, तच्छिष्यो भार्गवः। ब्राह्मपरिव्राजकभेदे, औ०। वाच०। भृगोरपत्यं तद्गोत्रापत्यं वा अण्।शुक्राऽऽचार्ये, परशुरामे, धन्विनि, गजे च। तेन प्रोक्ता तेनाधीता ज्ञाता वा अण्। वेदप्रसिद्धे विद्याभेदे, पार्वत्यां, लक्ष्म्या, दूर्वायां च। स्त्री० । ङीप्। वाच०।

भग्गवय-भग्नव्रत--त्रि०। स्थूलप्राणातिपातविरत्यादिभङ्गवति, उपा० ३ अ०।

भग्गवणिय--भग्नव्रणित--त्रि०। व्रणितः सन् भग्नो भग्नव्रणितः। राजदन्ताऽऽदिदर्शनाद् भग्नशब्दस्य पूर्वनिपातः। व्रणितत्वाद् भग्ने, "भग्गवणिया वि जोहा, जिणंति सत्तुं उदिण्णं वि ॥" व्य० २ उ०।

भग्गवेस--भार्गवेश-पुं०। गोत्रभेदे, "भरणी भग्गवेससगोत्ते।" चं०प्र० १० पाहु० १५ पाहु०पाहु०। सू०प्र०। जं०।

भग्गसामत्थ- भग्नसामर्थ्य--त्रि०। सामर्थ्यरहिते, " णिरणुबंधे वा असुहकम्मे भग्गसामत्थे" पं०सू० १ सूत्र।

भग्गो-भर्गो -पुं०। अवतीति उः-दाहकः, भर्ग ईश्वर उः दाहको यस्य स भर्गो। कामे, गा०।

भग्गोद्-भर्गोद् -पुं० । अवतीति उ -दाहकः, अवतेर्धातुपाठे दाहार्थकया पाठात्। भर्ग ईश्वर उर्दाहको यस्य स भर्गो-काम, तं ददात्याराधकेभ्यो भर्गोद । शिवे, तथा च शिवधर्मोत्तर सूत्रम्- पूजया विपुलं राज्य मग्निकार्येण सम्पदः। तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञान ध्यान च मुक्तिदम् ॥ ७ ॥" गा०। भर्ग ईश्वर, उःरति ब्रह्मा, दयति पालयति जगदिति दो विष्णु, भर्गश्च उश्च दश्चेति द्वन्द्वः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु, लोके हि जगद् ब्रह्मोत्पादयति रजोगुणाऽऽश्रितः, विष्णुः स्थापयति सत्त्वगुणाऽऽश्रितः, ईश्वरः संहरति तामसभावाऽऽश्रितः। गा०।

भग्गोदेव-भर्गोदेव-पुं०। भर्गश्च उश्च तेषामपि देव आराध्यः। परमेश्वरे, गा०। न च वाच्यं न तेषामाराध्य इति, तेषामपि संध्याऽऽदिश्रवणात्। तथाहि—

" अष्टवर्गान्तगं बीजं, कवर्गस्य च पूर्वकम् ।
वह्निनोपरि संयुक्तं, गगनेन विभूषितम् ॥ १ ॥
एतद्देवि ! पर तत्त्वं, योऽभिजानाति तत्त्वतः ।
संसारबन्धनं छित्त्वा, स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ २ ॥"

इति वचनप्रामाण्यात्। गा०।

भचक्क-भचक्र--न०। ज्योतिश्चक्रे, "आहुरन्ये भचक्रस्य विश्वेचारेण या स्थितिः।" ( १२ श्लोक ) द्रव्या० १० अध्या०।

भज्ज--भाज्य--त्रि०। भाज्यते विभाज्यते इति यत्। भाज-कर्मणि यत्। विभजनीये, वाच०। विकल्पनीये, विशे०। अनु०। प्रव०। दश०।

भज्जण--भर्जन--न०। चणकाऽऽदीनां पाकविशेषाऽऽपादने, अनु०। आम्रपचने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। विपा०। सूत्र०। पाके, विपा० १ श्रु० ३ अ०। " भट्ठभज्जणाणि य।" भ्राष्ट्रे अम्बरीषे भर्जन पाकविशेषकरणम्। प्रश्न० १ आश्र०द्वार। भर्जनसाधने पात्रे च। विपा० १ श्रु० ३ अ०।

भज्जा- भार्या-स्त्री०। भ्रियते पोष्यते भर्त्रेति भार्या । उत्त० पाई० १ अ०। भृ-ण्यत्। " द्यय्यर्यां ज " ॥ ८ ॥ २ ॥ २४॥ इति प्राकृतसूत्रेण सयुक्तस्य ज्जः। भज्जा। प्रा० २ पाद। चौर्यसमत्वात् " स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्य-समेषु यात् " ॥ ८ ॥ २ ॥ १०७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण संयुक्तस्य यात्पूर्व इः भवति। भरिआ। प्रा० २ पाद। विधिनोढायां स्त्रियाम्, वाच०। ज० २ वक्ष०। सम्म०। "भज्जा पुत्ता य ओरसा।" भार्या कलत्रम्। सूत्र० १ श्रु०९ अ०। भरणीये, त्रि०। वाच०। " जाया पत्ती दारा, घरिणी भज्जा पुरंधी य ॥ " पाइ०ना० ५७ गाथा।

भज्जिउ-भ्रष्टृ-त्रि०। भ्रस्ज-तृन्। भर्जनकर्तरि, "मय-भडभज्जिउ जति।" प्रा० ४ पाद।

भज्जिज्जमाण-भर्ज्यमान-त्रि० । पच्यमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ०।

भज्जिम -भर्जिम-त्रि०। भर्जनयोग्ये, दश० ७ अ०। पचनयोग्ये च। आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ०।

भज्जिय-भर्जित-त्रि०। आमर्दिते, " असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं।" आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०। अग्निमात्रपक्के, उपा० ८ अ०।

भ्र (भृ) ष्ट--त्रि०। अग्निपक्के, विपा०१श्रु०८ अ०। "निरमज्जियं ति।" अन्त्यर्द्धपक्कमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ०१ उ०। धानायाम्, स्त्री०। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

भज्जिया--भर्जिका-स्त्री० । वास्तुलाऽऽदिशाके, स्था० ३ ठा० १ उ०।

भट्ट--भट्ट--पुं० । भट-तन् । स्तुतिपाठवृत्तिमति जातिभेदे, स्वामित्वे, वेदाभिज्ञे पण्डिते च । वाच० । स्वामिन्याम्, स्त्री० । टाप् । वाच० । दश० ७ अ० ।

भट्टारग--भट्टारक--पुं० । भट-भावणे क्विप् तृ-णिच्--एवुल् नाट्योक्तेः नृपे, वाच० । आचार्ये च । आव० ४ अ० । आ० म० । " भट्टारएण मम आयरिएणं ।" आ० म० १ अ० । " पव्वयाइ भट्टारगस्स पायमूले ।" आव० ३ अ० । " से किमा(हु)उ भंते ! आगमबलिया समणा णिग्गंथा ।" अथ किं भदन्त ! भट्टारका आहुः प्रतिपादयन्तीति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

भट्टि-भर्तृ-पुं० । भृ-तृच् । "गौणाऽऽद्यः" ॥ ८ । २ । १७४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण निपातः । प्रा० २ पाद । स्वामिनि, अधिपतौ, राजनि, पोषके, धारणकर्त्तरि च । त्रि० । डुभृञ् धारणपोषणयोरिति वचनातत् । जं० १ वक्ष० । भ० । आ० म० । स्था० । विपा० । जी० । प्रश्न० । औ० । स० । जी० । " भत्तारं ओ विहिंसइ ।" आव० ४ अ० । ज्ञा० । स० ।

भट्टिअ-देशी-विष्णौ, दे०ना० ६ वर्ग १०० गाथा ।

भट्ठ--भ्रष्ट--त्रि० । भ्रंश-क्तः । च्युते, अधः पतिते च । वाच० । दश० १ चू० । "भट्ठा समाहिजोगेहिं ।" भ्रष्टाः स्खलिताः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । नि० चू० । विनष्टे, ग० १ अधि० । अपेते, आव० ३ अ० । खण्डिते, ग० २ अधि० । दूरतः पलायिते च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । रा० । लिङ्गमात्रोपजीविनि, पुं० । प्रश्न० ।

भ्राष्ट्र-पुं० । अम्बरीषे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार । " भट्ठं फिडिअं चुक्कं ।" पाइ० ना० १६१ गाथा ।

भट्ठचरित्त-भ्रष्टचारित्र-त्रि० । खण्डचरित्रे, " भट्ठचरित्तस्स णिग्गहं विहिणा ।" ग० २ अधि० ।

भट्ठरय-भ्रष्टरजस्-त्रि० । भ्रष्ट वातोद्धूततया दूरतः पलायितं रजो यस्मात् तद् भ्रष्टरजः । रजोरहिते, रा० । जं० । आ०म० ।

भट्ठायार--भ्रष्टाऽऽचार--त्रि० । भ्रष्टः सर्वथा विनष्ट आचारो ज्ञानाऽऽचाराऽऽदिर्यस्य सः । विनष्टाऽऽचारे, ग० ।

> भट्ठायारो सूरी, भट्ठारायाणुविक्खओ सूरी ।
> उम्मग्गठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्गं पणासंति ॥
> ग० १ अधि० ।

भट्ठि-भ्रष्टि-स्त्री । पांश्वादिवर्जितभूमौ, भ० ७ श० ७ उ० ।

भड-भट-धा० । पोषणे, भ्वादि-पर-सक-सेट् । " टो डः " ॥ ८ । १ । १९५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण डः । प्रा० १ पाद । भटति । अभाटीत् । अभटीत् । भाषणेऽयं वटाऽऽदिः । णिचि भाटयति । वाच० ।

भट-पुं० । भट-अच् । योद्धरि, वीरे, वाच० । भटाः शौर्यवन्त इति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । अन्त० । रा० । भ० । आ० म० । महा० । चारभटे, भटाश्चारभटा बलात्कारप्रवृत्तयस्तस्करा इति । औ० । ज्ञा० । भयाभावेनाविचलिते, स्था० ५ ठा० १ उ० । म्लेच्छभेदे, नीचभेदे, राक्षिस्त्रे च । इन्द्रवारुण्याम्, वाच० ।

भडक्खइता-भटखादिता-स्त्री० । भटस्तथाविधबलोपदर्शनलब्धभोजनाऽऽदेः खादिता तस्येव खादितं भक्षणं यस्यां सा भटखादिता । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

भण-भण--धा० । कथने, भ्वादि० पर० सक० सेट् । भणति । अभाणीत् । अभणीत् । चङि वा ह्रस्वः । अबीभणत् । अबभाणत् । वाच० । "व्यञ्जनाददन्ते " ॥ ८ । ४ । २३९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणाकारः । भणइ । प्रा० ४ पाद । भणन्ति--प्ररूपयन्ति । प्रश्न० २ आश्र०द्वार । नि० चू० ।

भण-पुं० । भणति प्रतिपादयतीति भणः । प्रतिपादके, नं० ।

भणंत-भणत्-त्रि० । प्रतिपादयति, उत्त०पाई० ६ अ० ।

भणग--भणक-पुं० । भणति प्रतिपादयतीति भणः, भण एव भणकः । " कश्च । " इति प्राकृतलक्षणात् स्वार्थे कः । प्रतिपादके, " भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं । " नं० ।

भणण-भणन-न० । प्ररूपणे, विशे० ।

भणावण-भाणन-न० । भणनार्थं प्रेरणे, नि०चू० १ उ० ।

भणिइ-भणिति-स्त्री० । भण-क्तिन् । प्रज्ञाऽऽदित्वाविट् । कथने, वाच० । भाषायाम्, अनु० । "वाणी वाया भणिई, सरस्सई भारई गिरा भासा । " पाइ०ना० ५१ गाथा ।

भणिऊण-भणित्वा-अव्य० । कथयित्वेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

भणिय-भणित-त्रि० । प्रतिपादिते, आ० म० १ अ० । प्रव० । औ० । दर्श० । प्रश्न० । नि० चू० । उत्त० । विशे० । सूत्र० । आव० । आचा० । वचने, औ० । समागते प्रयोजने, मर्मभणितपरिहारेण विवक्षितार्थमात्रप्रतिपादने, रा० । भणनाऽऽरम्भे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । स्त्रीणां विकृतभणने, प्रश्न० ४ संव०द्वार । भणितं भणन गम्भीरं मन्मथोद्दीपि चेति । जी० १ प्रति० ४ अधि० । जं० । भणितं-मन्मथोद्दीपिका विचित्रा भणितिरिति । सू०प्र० २० पाहु० । चं०प्र० । रतकूजिते च । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

भत्त-भक्त-पुं० । न० । 'भज' सेवायाम् क्तः । दश० १ अ० । भक्ते, वाच० । ओदनाऽऽदिके, आव० ४ अ० । नरणुसाऽऽदिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । भक्तं-राद्धधान्यं सुखभक्षिकाऽऽदि । ध० २ अधि० । भोजनमात्रे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । अनु० । उत्त० । स० । विपा० । प्रव० । उपा० । पञ्चा० । दश० । औ० । "भत्तट्ठं घिणिंचियं सुद्धो ।" भक्ताऽऽद्यशनपानखाद्यरूपम् । जीत० । " कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा पाहुणगभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियाभत्तेइ वा ।" औ० । भक्तप्रत्याख्याने, कल्प० २ अधि० ८ क्षण । भक्तियुक्ते, तदात्मके विभक्ते च । त्रि० । वाच० ।

भत्तकरण-भक्तकरण-न० । ओदनाऽऽदिकरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

भत्तकहा-भक्तकथा-स्त्री० । भक्तस्य-भोजनस्य कथा भक्तकथा । विकथाभेदे, स्था० ।

भत्तकहा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-भत्तस्स आवावकहा, भत्तस्स णिव्वावकहा, भत्तस्स आरंभकहा, भत्तस्स णिट्ठाणकहा ।

शाकघृताऽऽदीन्येतावन्ति तस्या रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवं रूपा कथा आवापकथा। एतावन्तस्तत्र पक्कापक्वान्नभेदा व्यञ्जनभेदा वेति निर्वापकथा इति। तित्तिराऽऽदीनामियता तत्रोपयोग इत्यारम्भकथा। एतावत् द्रविणं तत्रोपयुज्यत इति निष्ठानकथेति। उक्तं च-" सागघयादावावो, पक्कापक्को य होइ निव्वाओ। आरंभ तित्तिराई, णिट्ठाणं जा सयसहस्स ॥ १२३॥" इति। (नि० चू०) इह चामी दोषाः-"आहारमंतरेण वि, गेहीओ जायए सइंगालं। अजिइंदिय ओदरिया, वाओ अणुण्णदोसा य ॥१२४॥" (नि० चू० १ उ०।) इति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। आव०। दर्श०। ग०। आ० चू०। औ०। स०। इदाणिं भत्तकह त्ति दारं। भत्तस्स कहा चउव्विहा इमो—

आवावं निव्वावं, आरंभं बहुविहं च णिट्ठाणं।
एता कहा कहित्ते, चउ जमला सुक्किला चउरो॥१२२॥

चउ जमला सुक्किला चउरो, वक्खाणं तहेव तवकालम्मि सेसम्मिं, णवरं सुक्किलत्ते आलावो, सुक्किला नाम लहुगा।

अह णिद्देस्स वक्खाणं—

सागघतादावावा, पक्कापक्को य होइ णिव्वाओ।
आरंभ तित्तिरादी, णिट्ठाणं जा सतसहस्स ॥ १२३ ॥

सागो-मूलगाऽऽदि, सागो-घय वा एत्तिय गच्छति, पक्क अपक्कं वा जं परस्स दिज्जति सो णिव्वावो। आरंभो एत्तिया तित्तिरादि मरंति। णिट्ठाणं निप्फत्ती, जा लक्खेण भवति।

आहारकहादोसदरिसणत्थं गाहा—

आहारमंतरेणा- वि गिहिहतो जाइए सइंगालं।
अजितिंदिय ओयरिया,वाओ य अणुण्णदोसा तु।१२४।

अंतर णाम-आहाराभावो, आहाराभावेऽवि अत्थतं गेहिस्स सत जायते सइंगालदोसा। किं चान्यत्-लोके परिवादो भवति-जिइंदिया ण एए,जेण भत्तकहाए करेत्ता चिट्ठंति, रसणिंदियजए य सेसिंदियजओ भवति। ओदरिया णाम जीवियाहेउं पव्वइया, जेण आहारकहाए अत्थंति,ण सज्झायज्झाणजोगेहि। किं चान्यत्-अणुण्णदोसो य त्ति। गेहीओ मातिज्जणा-जहा अतदुट्ठस्स भावपाणातिवातो, एवं एत्थ वि सातिज्जणा, सातिज्जणाओ य छज्जीवकायवहाणुण्णा भवति। वासहाओ भत्तकहापसंगदोसा एसणं ण सोहेति। आहारकह त्ति दारं गतं। नि०चू० १ उ०।

भत्तकाल--भक्तकाल-पुं०। भोजनसमये, उत्त०पाई० १२अ०।

भत्तकिण्हगुलिया--भक्तकृष्णगुलिका-स्त्री०। विद्युन्मालिदेवेन वणिदनावा वीतभयनगरं प्रापितायां देवाधिदेवस्य प्रतिमायां, वीतभयनगरनृपतेर्महिष्या प्रभावत्या स्थापिताया शुश्रूषाकारिण्या स्वनामख्यातायां दास्याम्, नि० चू० १० उ०।

भत्तट्ठ-भक्तार्थ-पुं०। भक्तेन-भोजनेनार्थः—प्रयोजनं भक्तार्थः। भोजनेन प्रयोजने, प्रव० ४ द्वार। "एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा।" भक्तार्थम्-आहारार्थम्। उत्त०१ अ०। भक्तार्थमुदरपूरणमात्रमिति। आ०म०। भोजननिमित्ते भोजनमण्डपादौ, त्रि०। उत्त० पाई० १ अ०। प्रव०।

भत्तट्ठि (ण्)-भक्तार्थिन्-पुं०। भक्तप्रयोजनवति, भक्तार्थिनो ये तस्मिन्नहनि भुञ्जते। प० व० २ द्वार।

भत्तपइण्णा-भक्तप्रकीर्णक--न०। ग्रन्थभेदे, प्रति०। (अस्य व्याख्यानं ' भत्तपरिण्णा ' शब्दे दर्शयिष्यामि)।

भत्तपच्चक्खाण-भक्तप्रत्याख्यान--न०। अनशनभेदे, कल्प०१ अधि० ६ क्षण। उत्त०। (' मरण ' शब्दे विस्तरः) भक्तपरिज्ञाऽऽख्ये मरणभेदे, ध०।

आहारस्य परित्यागा-त्सर्वस्य त्रिविधस्य वा।
भवेद्भक्तपरिज्ञाऽऽख्यं, द्विधा सपरिकर्मणाम्॥ १५१॥

सर्वस्य चतुर्विधस्य वा। अथवा-त्रिविधस्य पानकरहितस्याऽऽहारस्य परित्यागाद्वर्जनाद्धेतोर्भक्तपरिज्ञाऽऽख्यं-भक्तपरिज्ञानामकमुक्तलक्षणं मरणं भवेत्-स्यादिति क्रियाऽन्वयः। तच्च केषां भवतीत्याह-(सपरिकर्मणाम्) वैयावृत्त्यसहितानां, परिकर्म च स्वकृतमिङ्गिनीमरणेऽप्यस्तीत्यत आह-(द्विधेति) द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, स्वयं परेभ्योऽपि च परिकर्मकारिणामित्यर्थः। अयमत्र भावः-यः प्रव्रज्याकालादारभ्य विकटना दत्त्वा पूर्वं शीतलोऽपि परलोकं प्रति पश्चात्काले सञ्जातसंवेगो यथोचितां च संलेखनां कृत्वा गच्छमध्यवर्ती समाश्रितमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीरोपकरणममत्वस्त्रिविधं चतुर्विधं वा आहारं प्रत्याख्याय स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्तिसाधुदत्तनमस्कारो वोद्वर्त्तनापरिवर्त्तनाऽऽदि कुर्वाणः समाधिना कालं करोति तस्य भक्तप्रत्याख्यानम्, अयं च परेभ्यः परिकर्मणा कारयति, यत उत्कर्षतोऽस्याऽष्टचत्वारिंशन्निर्यामका भवन्ति। ध० ३ अधि०।

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-णीहारिमे चेव, अणीहारिमे चेव, णियमं सपडिक्कमे। स्था० २ ठा० ४ उ०।

भत्तपरिण्णाएँ विहिं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥३९४॥

सम्प्रति भक्तपरिज्ञाया विधिमानुपूर्व्या वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

पव्वज्जादी काउ, नेयव्वं ताव जा अवोच्छित्ती।
पंच तुलेऊणऽप्पा,सो भत्तपरिण्ण परिणतो उ॥ ३९५ ॥

प्रव्रज्यामादिं कृत्वा तावन्नेतव्यं यावदव्यवच्छित्तिः। किमुक्तं भवति?-प्रथमतः प्रव्रज्या, तदनन्तरं ग्रहणाऽऽसेवनारूपा शिक्षा, ततः परं पञ्च महाव्रतानि, तदनन्तरमर्थग्रहणं, ततोऽनियतो वासः, ततः परिपूर्णां गच्छस्य निष्पत्तिं कृत्वा,तदनन्तरं "तवेण सत्तेण सुत्तेण,एगत्तेण बलेण य" इत्येवंरूपाभिः पञ्चभिस्तुलनाभिरात्मानं तोलयित्वा भक्तपरिज्ञां प्रति परिणतो भवति।

सपरक्कमे य अपर-क्कमे य वाघाएँ आणुपुव्वीए।
सुत्तत्थजाणएण य, समाहिमरणं तु कायव्वं ॥ ३९६ ॥

भक्तपरिज्ञारूपं नाम मरणं द्विधा-सपराक्रमम्, अपराक्रमं च। तत्र सपराक्रमं द्विविधम्-व्याघातिमम्, निर्व्याघातं च। तत्र सपराक्रमे एकैकस्मिन् व्याघाते कर्मणि यमुपन्याऽऽनयनात् व्याघातिमे, चशब्दान्निर्व्याघाते च समुपस्थिते सूत्रार्थज्ञापकेन समाधिमरणं कर्त्तव्यम्।

एतदेव व्याचष्टे—

भिक्खवियारसमत्थो, जो अन्नगणं च गंतु चाएइ ।
एस सपरक्कमो खलु, तव्विवरीतो भवे इयरो ॥ ३९७ ॥

यः स्वस्य परस्य वा निमित्तं भिक्षायां विचारे च गन्तुं समर्थो, यद्वा-अन्यगणं गत्वा याचयति, स भक्तप्रत्याख्यानं प्रतिपित्सुः सपराक्रमः, तद्विपरीतो-भिक्षाऽऽद्यसमर्थो भवति इतरः-अपराक्रमः, तद्गतं मरणमपि यथाक्रमं सपराक्रमम्, अपराक्रमं च ।

एक्केक्कं तं दुविहं, निव्वाघायं तहेव वाघायं ।
वाघातो वि य दुविहो, कालाऽतियरो व इयरो वा ॥ ३९८ ॥

तत्-सपराक्रमम्, अपराक्रमं च मरणमेकैकं द्विविधम्—निर्व्याघातं, व्याघातं च । तत्र व्याघातो नाम-यथा अच्छभल्लेन कालादष्टौ च खादितौ । अथवा-अन्येन व्याघातः, ततो मरणं प्रतिपद्यते । निर्व्याघातं यथोक्तव्याघातरहितं व्याघातोऽपि च द्विविधः कालातिचारः, इतरश्च । कालमतिचरति अतिक्रामतीति कालातिचारः कालसहो, यतश्चिरेण मरणं यथा पूतिगोनसेन दष्टस्य तं दष्टकालमतीत्य विंशतिरात्रिन्दिवाऽऽदिषु मरणम्, इतरः कालानतिचारो यत्तद्दिवसमेव मर्त्तुकामो भक्तं प्रत्याचष्टे इति ।

तं पुण अणुगंतव्वं, दारेहिँ इमेहिँ आणुपुव्वीए ।
गणनिस्सरणादिएहि य, तेसिं विभागं तु वोच्छामि ॥ ३९९ ॥

तेन पुनर्निर्व्याघातादिभिर्वक्ष्यमाणैर्गणनिःसरणाऽऽदिद्वारैरानुपूर्व्या क्रमेणानुगन्तव्यं, तेषां च द्वाराणां विभागं वक्ष्यामि ।

तमेव वक्तुकाम आह—

गणनिस्सरणे परगणे, सिति संलेह अगीयऽसंविग्गो ।
एगाऽऽभोगण अन्ने, अणापुच्छ परिच्छ आलोए ॥ ४०० ॥
ठाण वसहीए सत्थे, णिज्जवया दव्वदायणा चरिमे ।
हाणी य अपरितंत, निज्जर संथारुव्वत्तणादीणि ॥ ४०१ ॥
सारेवण य कवयं, निव्वाघाएण चिंधकरणं तु ।
अंतो बहि वाघातो, भत्तपरिण्णाए कायव्वो ॥ ४०२ ॥

गणात्-स्वगणाद् निःसरणं वक्तव्यं, तथा परगणगमनं, तथा ( सिति त्ति ) श्रेणिभावरूपा निश्रेणिर्वक्तव्या, तथा संलेखना, तथा अगीतस्य-अगीतार्थस्य समीपे न भक्तं प्रत्याख्यातव्यं, तथा (असंविग्गे त्ति) असंविग्नस्याऽपि समीपे न प्रत्याख्यातव्यम् । तथा ( एग त्ति ) एको निर्यापको न कर्त्तव्यः, किं तु बहवः, परतो वा भक्तं प्रत्याख्यातुकामस्य विषये आभोगनं कर्त्तव्यम् । तथा अन्यो यदि भक्तं प्रत्याख्यातुमुद्यतस्तर्हि यदि निर्यापकाः पूर्यन्ते तदा स प्रतीष्यते, शेषकालं नेति । तथा आचार्येण गच्छस्यानापृच्छया स भक्तप्रत्याख्यानं न प्रतिपादयितव्यः । तथा तेन भक्तं प्रत्याख्यातुकामेन गच्छस्य, गच्छेनाऽपि तस्य परीक्षा कर्त्तव्या । तथा भक्तपरिज्ञां प्रतिपत्तुकामेन नियमत आलोचना दातव्या ॥ ४०० ॥ तथा प्रशस्ते स्थानेप्रशस्तायां वसतौ भक्तपरिज्ञा प्रतिपत्तव्या । तथा निर्यापकगुणसम्पन्ना समर्पणीया । तथा चरमकाले तस्य भक्तप्रत्याख्यातुकामस्य द्रव्यदर्शनं प्रधानतमस्याऽऽहारद्रव्यस्योपदर्शनं विधेयम् । ( हाणि त्ति ) भक्तं प्रत्याख्यातुकामस्य प्रतिदिवसमाहारस्य हानिर्विधेया । तथा अपरिश्रान्ताः सर्वकर्मणि प्रतिचारका वर्त्तन्ते । ( निज्जर त्ति ) निर्जरा वक्तव्या । तथा संस्तारको यादृशो भवति कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य कर्त्तव्यस्तादृशो वक्ष्यते । तथा तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्योद्वर्त्तनाऽऽदीनि यथासमाधि करणीयानि ॥ ४०१ ॥ तथा प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां त्याजितं स्मारयित्वा स्वं स्वरूपमनर्पयित्वाऽऽदिलक्षणं कवचं-कवचभूतमशनं प्रयोक्तव्यम् । तथा जीवयतो मृतस्य च तस्य चिह्नकरणं विधेयम् । एवं निर्व्याघातेन भक्तपरिज्ञाव्याघाताभावेन प्रतिपत्तव्यम् । अथान्तः-ग्रामाऽऽदिषु बहिः-उद्यानाऽऽदिषु भक्तपरिज्ञाया व्याघातः संजातः, ततो गीतार्थानामुपायो भवति कर्त्तव्यः । एष द्वारगाथाऽर्थः ।

साम्प्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमतो (१) गणनिस्सरण-द्वारमाह—

गणनिस्सरणम्मि विही, जो कप्पे वण्णितो समासेणं ।
सो चेव निरवसेसो, भत्तपरिण्णाए दसमम्मि ॥ ४०३ ॥

गणनिस्सरणे यो विधिः कल्पे-कल्पाध्ययने सप्तविधः सप्तप्रकारो वर्णितः, स एव व्यवहारे दशमे उद्देशके भक्तपरिज्ञायां भक्तपरिज्ञाधिकारे निरवशेषो वक्तव्यः ( स च विधिः ' उवसंपया ' शब्दे द्वितीयभागे १००८ पृष्ठादारभ्य दर्शितः । ) गणनिस्सरणद्वारं गतम् ।

इदानीं ( २ ) परगणद्वारम् । परगणे गत्वा भक्तप्रत्याख्यानं कर्त्तव्यम्—

किं कारणं चंकमणं, थेराण इहं तवोकिलंताणं ।
अब्भुज्जयम्मि मरणे, कालुणिया झाणवाघातो ॥ ४०४ ॥

किं कारणं स्वगणादपक्रमणं क्रियते ? । सूरिराह-स्थविराणाम्-आचार्याणां संलेखनातपोभिः क्लान्तानामिह स्वगणे अभ्युद्यते भक्तपरिज्ञालक्षणमरणे समुपस्थितानां शिष्याणाम् आचार्यानुरागेण रोदनक्रन्दनाऽऽदीनि कुर्युः रोदनाऽऽदिकं च तेषामाकर्ण्याश्रुतपातं दृष्ट्वा तेषामुपरि कारुण्यमुपजायते, ततो ध्यानव्याघातः ।

अन्यच्च—

सगणे आणाहाणी, अप्पत्तिय होइ एवमादीयं ।
परगणे गुरुकुलवासो, अप्पत्तियवज्जितो होइ ॥ ४०५ ॥

यो गणधरः स्थापितः तस्याऽऽज्ञा केचित् न कुर्वन्ति, तथा केषाञ्चिदुपकरणनिमित्तमप्रीतिः, आदिशब्दात् गणभेदो, बालाऽऽदीनामुचिताऽऽचरणदर्शनमित्यादिपरिग्रहः । तत एवं स्वगणे आज्ञाहानिरप्रीतिरसेवनाऽऽदिकं ध्यानव्याघातकारणमुपतिष्ठते, ततः परगणे गत्वा भक्तप्रत्याख्यानं प्रतिपद्यते । यत एवं गुरुकुलवास आसेवितो भवति । किंविशिष्ट इत्याह प्रीतिवर्जितोऽप्रीतिश्च समस्ताऽपि परिहृता भवतीति भावः ।

अप्रीत्यादिकं यथा स्वगणे भवति तथा प्रदर्शयति—

उवगरणनिमित्त तु, वुग्गहो हिज्ज चावि गणभेयं ।
बालादी सेहाण य, रुचितादरणम्मि वाघातो ॥ ४०६ ॥

उपकरणनिमित्तं साधूनामाचार्ये कृतभक्तप्रत्याख्याने व्युद्ग्रहः-कलहो भवति । अथवा-स गणभेदं केचित् कुर्वन्ति, ततः इत्यादिपरिग्रहतो गणभेदः, तत एवमुपकरणलोभ-

भित्तं गणभेदं दृष्ट्वा उपलभ्य, तथा बालाऽऽदीनां बालवृद्धाऽसहग्लानाऽऽदीनां स्थविराणां चात्र विकरणे उचितकरणाऽदर्शनेऽप्रीतिरुपजायते, तथा चाप्रीत्या ध्यानव्याघातः।

अयं च परगणे प्रतिपन्ने गुणः—

सिणेहो पेलवो होइ, निग्गते उभयस्स उ।
आहच्च वावि वाघाते, नो सेहादि विउग्गमे ॥ ४०७ ॥

स्वगणान्निर्गतस्योभयस्यापि-गणस्य, आचार्यस्य वा स्नेहः परस्परं पेलवः-प्रतनुर्भवति, अन्यच्च (आहच्च) कादाचित्प्रथमपरीषहेण त्याजितस्य भक्तपरिज्ञा, तस्या यो व्याघातो—विलोपः-स्यात् तस्मिन् व्याघातेन स्वगणाद् शैक्षकाऽऽदीनां व्युद्गमो जायते, आघातपरिज्ञानाभावात्। अथवा-विपरिणामोऽपि स्यात्। तथाहि-स्वगणे स्थितं भग्नप्रतिज्ञं जानन्ति, ज्ञात्वा च सर्वा अपि प्रतिज्ञा एतेषामीदृश्य एवेति विपरिणाम गत्वा संयमं लोपयन्ति।

सम्प्रति (३) 'सिति' द्वारमाह—

दव्वसिती भावसिती, अणुओगधराण जेसिमुवलद्धा।
नहु उक्कुगमणकट्ठा, हेट्ठिल्लपयं पसंसंति ॥ ४०८ ॥
संजमठाणाणं कं--डगाण लेसाठितीविसेसाणं।
उवरिल्लपयक्कमणं, भावसिती केवलं जाव ॥ ४०९ ॥

सितिर्नाम— ऊर्ध्वमधो वा गच्छतः सुखोत्तारावतारहेतुः काष्ठाऽऽदिमयः पन्था'। सा द्विधा-द्रव्ये, भावे च। तत्र द्रव्ये शितिर्निःश्रेणि', सा द्विधा-ऊर्ध्वगमने, अधोगमने च। तत्र ययाऽधस्तात् भूमिगृहाऽऽदिष्ववतीर्यते सा अधोगमने। यया चोर्ध्वपरिमाणे आरुह्यते सा ऊर्ध्वगमने। भावसितिरपि द्विधा—प्रशस्ता, अप्रशस्ता च। तत्र यैर्हेतुभिस्तेषामेव संयमस्थानानां—संयमकण्डकाना लेश्यापरिणामविशेषाणां वा याऽधस्तनेष्वधस्तनेष्वपि संयमस्थानेषु गच्छति साऽप्रशस्ता भावशितिः। यै पुनर्हेतुभिस्तेषामेव संयमाऽऽदिस्थानानामुपरितनेषूपरितनेषु विशेषेष्वध्यारोहति सा प्रशस्तोच्चोपरितन एव क्रमेण भावसितिस्तावद् द्रष्टव्यं यावत् केवलज्ञानम्। तत्र येषामनुयोगधराणामाचार्याणामेवं द्रव्ये भावे च शितिरुपलब्धा भवति ते (न हु) नैव ऊर्ध्वगमने कार्ये कर्तव्ये अधस्तनपदं प्रशंसन्ति, न तासु सपदि गमनायाशुभाध्यवसायप्रवृत्तिमातन्वते, किं तु शुभेष्वध्यवसायेष्वारोहन्ति। गत सितिद्वारम्।

सम्प्रति (४) संलेखनाद्वारमाह—

उक्कोसा य जहन्ना, दुविहा संलेहणा समासेणं।
छम्मासा उ जहण्णा, उक्कोसा बारससमा उ ॥ ४१० ॥

संलेखना समासेन द्विविधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-उत्कृष्टा,जघन्या च। चशब्दात्-मध्यमा च। तत्र जघन्या षण्मासा, उत्कृष्टा द्वादशसमा-द्वादशवर्षा।

चिट्ठउ ताव जहन्ना, उक्कोस तत्थ जाव वुच्छामि।
ज मलिहिऊण मुणी, साहेती अत्तणो अत्थं ॥ ४११ ॥

तत्र तयोर्जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये जघन्या यावत्तिष्ठतु, पश्चाद्वक्ष्यमाणत्वात्, उत्कृष्टां तावद् वक्ष्यामि, यदित्यव्ययं यथा मुनय आत्मानं संलिख्याऽऽत्मनोऽर्थं साधयन्ति।

तमेवाऽऽह—

चत्तारि विचित्ताइं, विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि।
एगंतरमायामे-नातिविगिट्ठे-विगिट्ठे य ॥ ४१२ ॥

चत्वारि वर्षाणि विचित्राणि विचित्रतपांसि करोति। किमुक्तं भवति ?—चत्वारि वर्षाणि यावत्कदाचिच्चतुर्थं कदाचित् षष्ठं कदाचिदष्टममेव दशद्वादशान्यपि करोति, कृत्वा च पारणके सर्वकामगुणितेनाऽऽहारेण पारयति। ततः परमन्यानि चत्वारि वर्षाण्युक्तप्रकारेण विचित्रतपांसि करोति विकृतिनिर्यूहितानि। किमुक्तं भवति ?-विचित्रं तपः कृत्वा पारणके निर्विकृतिकं भुङ्क्ते उत्कृष्टरसवर्जं च, ततः परतोऽन्ये द्वे वर्षे एकान्तरमायामं करोति, एकान्तरं चतुर्थं कृत्वा आयामेन पारयति, एवमेतानि दश वर्षाणि गतानि, एकादशस्य वर्षस्याऽऽद्येशान् नातिविकृष्टं तप कृत्वा आयामेन परिमितं भुङ्क्ते, नातिविकृष्टं नाम तपश्चतुर्थं षष्ठ यावद्वगन्तव्यम्। तत परमन्यान् विकृष्टं तप कृत्वा मा शीघ्रमेव मरण यायासमिति कृत्वा पारणके परिपूर्णं प्राणया आयामं करोति, विकृष्ट नामाऽऽष्टमादिकम्।

साम्प्रतमेतदेव व्याचिख्यासुराह—

संवच्छराणि चउरो, होंति विचित्तं चउत्थमादीयं।
काऊण सव्वगुणियं, पारेइ उ उग्गमविसुद्धं ॥ ४१३ ॥

आदिमानि चत्वारि संवत्सराणि विचित्रं तपश्चतुर्थाऽऽदिकं भवति, तच्च कृत्वा पारयति भुङ्क्ते सर्वगुणित-सर्वगुणेन संयुतमाहारमुद्गमविशुद्धम्।

पुणरवि चउरण्णे तू, विचित्त काऊण विगतिवज्जं तु।
पारेइ सो महप्पा, णिद्धं पणियं च वज्जेइ ॥ ४१४ ॥

पुनरप्यन्यानि चत्वारि वर्षाणि विचित्र तप कृत्वा स महात्मा विकृतिवर्जं पारयति, तत्रापि स्निग्ध प्रणीतं चोत्कृष्टरस वर्जयति।

अन्नाओ दोण्णि समा, चउत्थ काऊण पारि आयामं।
कजीएणं तु ततो, अण्णेक्कसम इमं कुणइ ॥ ४१५ ॥

अन्ये द्वे समे-वर्षे चतुर्थं कृत्वा आयाम पारयति, एव दश वर्षाणि गतानि, तत परमन्यामेका समा-वर्षमिमा वक्ष्यमाणा काञ्जिकेनायामपारणकेन करोति।

कथमित्याह—

तत्थिकं छम्मासं, चउत्थ छट्ठ तु काउ पारेइ।
आयंबिलेण नियमा, बिइए छम्मासिए विगिट्ठं ॥ ४१६ ॥
अट्ठम दसम दुवालम, काऊणाऽऽयंबिलेण पारेइ।
अन्नेकहायण तू, कोडीसहियं तु काऊण ॥ ४१७ ॥

तत्र एकादशे वर्षे, एकमाद्य, षण्मास यावद् चतुर्थं षष्ठ वा कृत्वा नियमादायामेन पारयति, द्वितीये षण्मासे विकृष्टमष्टम दशमं द्वादशं वा कृत्वा आयामाम्लेन पारयति। एवमेकादश वर्षाणि गतानि। अन्यमेक द्वादश हायन कोटीसहित कृत्वा।

किमित्याह—

आयंबिल उसुणोदे-ण पारि हावेंतो आणुपुव्वीए ।
जह दीवे तेल्लवत्ति-क्खओ समं तह सरीराऽऽयू॥४१८॥

आयामेन उष्णोदकेन पारयति । प्रथमत्र संप्रदायः-द्वादशे वर्षे कोटीसहितं प्रत्याख्यानं चतुर्थविषयं कृत्वा प्रथमं पारणकमायामेन उष्णोदकेन करोति, द्वितीयं पारणकं निर्विकृतिकेन, तृतीयं पुनरायामेन यथोक्तरूपेण, चतुर्थं निर्विकृतिकेन । एवमेकान्तरितं पारणकेष्वायामं करोति । कोटीसहितं नाम—प्रथमदिवसे पुनरभक्तार्थं कृत्वा पारयति, एतच्चतुर्थे कोटीसहितं प्रत्याख्यानम् । एवं षष्ठाष्टमाऽऽदिकोटीसहितान्यपि भावनीयानि । अथवा-अयम् अन्यो-द्वितीयः प्रकारः—एकस्मिन् दिने चतुर्थं कृत्वा द्वितीये दिवसे पारयति, तृतीये दिवसे पुनश्चतुर्थं करोति । चतुर्थे दिवसे पारयति । एतच्चतुर्थकोटीसहितं, षष्ठकोटीसहितमेवं षष्ठं कृत्वा पारयति, पुनः षष्ठं करोति, ततः पारयति । एवमष्टमाऽऽदिकोटीसहितान्यपि भावनीयानि । ( हावेंतो आणुपुव्वीए इति ) तस्मिन् द्वादशे वर्षे पारणकेषु यथाक्रममेकैकं कवलं हापयन् पारयति, यावदेकं कवलं. तत. (शेषेषु) शिक्थेषु पारणकेषु क्रमश एकेन सिक्थेनोनमेकं कवलमाहारयति, द्वाभ्यां सिक्थाभ्यां,त्रिभिः सिक्थैरेवं यावदन्ते एकं सिक्थमाहारयति । कस्मादेवं करोतीति चेदत आह—यथा दीपे सममेककालं तैलवर्त्तिक्षय भवति, तथा शरीराऽऽयुषः समकं क्षयः स्यादिति हेतोः ।

पच्छिल्ले हायणे तू ,चउरो धारेत्तु तेल्लगंडूसं ।
निसिरेज्ज खेल्लमल्ले, किं कारण गल्लधरणं तु ? ॥ ४१९ ॥
लुक्खत्ता मुहजंतं, मा हु खुभेज्ज त्ति तेण धारेइ ।
मा हु नमोक्कारस्स, अपच्चलो सो हवेज्जाहि ॥४२०॥

तस्मिन्पश्चिमे द्वादशे हायने ये अन्तिमाश्चत्वारो मासास्तेष्वेकैकस्मिन् पारणके एकान्तरितं तैलगण्डूष चिरकालं धारयति,धारयित्वा खेलमल्लके-सशरे निसृजति-त्यजति ततो वदन प्रक्षालयति॥४१९। किं कारणं गल्ले गण्डूषस्य धारण क्रियते ?। उच्यते-मा मुखयन्त्रं रूक्षत्वाद्वातेन क्षुभ्यते-एकत्र संपिण्डी भूयते, तथा च सति मा स नमस्कारस्य भणने अप्रत्यलः-असमर्थो भवेदिति हेतोर्गल्ले तैलधारणं करोति ।

उक्कोसगा उ एसा, संलेहा मज्झिमा जहन्ना या ।
संवच्छर छम्मासा, एमेव य मासपक्खेहिं ॥४२१॥

एषा-अनन्तरोदिता संलेखा-संलेखना उत्कृष्टा भणिता,मध्यमा संलेखना संवत्सरप्रमाणा, एवं प्रागुक्तेन प्रकारेण द्वादशभिर्मासैः परिभावनीया, जघन्या एषा षण्मासा द्वादशभिः पक्षैः वर्षस्थाने मासान् पक्षांश्च स्थापयित्वा तपोविधिः प्रागिव निरवशेष उभयत्राऽपि भावनीय इति भावः ।

एत्तो एगतरेण, संलेहेणं खवेत्तु अप्पाणं ।
कुज्जा भत्तपरिण्णं, इंगिणि पाओवगमणं वा ॥४२२॥

एतषामुत्कृष्टमध्यमजघन्यानां संलेखनानामेकतरेण सलेखनेनाऽऽत्मान क्षपयित्वा कुर्यात् भक्तपरिज्ञाम्, इङ्गिनीमरणं,पादपोपगमन वा । गतं (४) संलेखनाद्वारम् ।

अधुना (५) अगीतद्वारमाह—

अग्गीयसगासम्मी, भत्तपरिण्णं तु जो करेज्जाहि ।
चतुगुरुगा तस्स भवे, किं कारण जेणिमे दोसा?॥४२३॥

गीतार्थस्य समीपे भक्तं प्रत्याख्यातव्यं, यस्त्वगीतस्य-अगीतार्थस्य सकाशे-समीपे भक्तपरिज्ञां-भक्तप्रत्याख्यानं करोति तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। किं कारणम् ?,उच्यते-येन कारणेन इमे वक्ष्यमाणा दोषास्तेन कारणेन ।

तत्र तानेव दोषानाह—

नासेती अग्गीतो, चउरंगं सव्वलोयसारंग ।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलभं होइ चउरंगं ॥४२४॥

अगीतः-अगीतार्थो निर्यापकस्तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य चतुरङ्गं चतुर्णामङ्गाना समाहारश्चतुरङ्गं वक्ष्यमाणम् । कथंभूतमित्याह-सर्वलोकसाराङ्गम्—अङ्गवरं, प्रधानमित्यनर्थान्तरम्। सर्वेषामपि त्रयाणामपि लोकानां यानि अङ्गानि तेषां सारमिति विशिष्टमङ्गं प्रधानं सर्वलोकसाराङ्गम् । नष्टे च चतुरङ्गे न पुनः सुलभं-सुप्रापं भवति चतुरङ्गं, किं तु चुल्लकाऽऽदिदृष्टान्तैरतिशयेन दुष्प्रापं, ततोऽगीतस्य समीपे भक्तं न प्रत्याख्येयम् ।

किं पुण तं चउरंगं, जं नट्ठं दुल्लभं पुणो होइ ।
माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तवसंजमे विरियं ॥४२५॥

किं पुनः तच्चतुरङ्गं यन्नष्टं सत् पुनर्दुर्लभं भवति?। सूरिराह-मानुष्यं-मानुषत्वं,धर्मश्रुतिः-धर्मश्रवणं,श्रद्धा तपसि संयमे च वीर्यमिति ।

किह नासेति अगीतो, पढमबितिएहिं अद्दितो सो उ ।
ओभासे कालियाए, ते णिद्धम्मो त्ति छड्डेज्जा ॥४२ ॥

कथ-केन प्रकारेण सोऽगीतार्थः तस्य चतुरङ्ग नाशयति ?। सूरिराह—प्रथमद्वितीयाभ्यां क्षुत्पिपासालक्षणाभ्यां परीषहाभ्यामर्दित.-पीडितः स भक्तप्रत्याख्याता कदाचित् कालिकायां रात्रौ भक्तं च पानं च अवभाषेत—याचेत, ततः सोऽगीतार्थो न कल्पते इति कृत्वा न दद्यात्, चिन्तयति च-भक्तं प्रत्याख्याय पुनर्याचते भक्तं, तत्रापि रात्रौ, तत एष निर्धर्मा असंयतीभूत इति कृत्वा तं त्यजेत्, त्यक्त्वा गच्छेत् ।

अंतो वा बाहिं वा, दिवा य रातो व सो विवित्तो उ ।
अट्टदुहट्टवसट्टो, पडिगमणाऽऽदीणि कुज्जा हे ॥४२७॥

अन्तरुपाश्रयस्य वहिरुपाश्रयस्य वा, दिवा रात्रौ वा, तेनाऽगीतार्थेन विविक्तः सन् आर्त्त.-दु.खार्त्त वशार्त्तः सन् प्रतिगमनाऽऽदीनि प्रतिगमनं नाम- प्रतिभञ्जनं, व्रतमोक्षमित्यर्थः । आदिशब्दात् मृत्वा कुगतिविनिपातान् वा कुर्यात् ।

तांश्च कुगतिविनिपातानेवाऽऽह—

मरिऊणऽट्टज्झाणो, गच्छे तिरिएसु वंतरेसुं वा ।
संभरिऊण य रुट्ठो, पडिणीयत्तं करेज्जाहि ॥४२८॥

स आर्त्तध्यानो मृत्वा तिर्यक्षु तिर्यग्योनिषु गच्छेत्, यद्वा-व्यन्तरेषु-वानमन्तरेषु मध्ये स समुत्पद्येत्, तत्र च जाति स्मृत्वा त्यक्तोऽहं तस्यामवस्थायामिति रुष्ट सन् बहुविधं प्रत्यनीकत्व कुर्यात् ।

अहवा वि सव्वरीए, मोय देज्जाहि जायमाणस्स ।
सो दहियाएँ हुज्जा, रुट्ठो साहे निवादीणं ॥४२९॥
कुज्जा कुलादिपत्था-रं सो रुट्ठो व गच्छे मिच्छत्तं ।
तप्पच्चय च दीहं, भमेज्ज संसारकंतारं ॥४३०॥

अथवा-शर्वर्यां पानीयं याचमानस्य रात्रौ पानीयं नास्तीति मोकं-प्रश्रवणं सोऽगीतार्थो दद्यात्,स च दण्डिकाऽऽदीनां सम्बन्धी निष्क्रान्त स्यात् ततः स धातुवैषम्येण रुष्ट सन् अवधावेत्, अवधाव्य च नृपाऽऽदीनां कथयेत्तत. प्रवचनस्य महानुड्डाहः। यदि वा-स राजाऽऽदिस्तत्पक्षपातितः, सोऽपि वा स्वय रुष्टः कुलाऽऽदिप्रस्तारं कुलस्य गणस्य वा विनाशं कुर्यात्। यद्यपि च एवमादयो दोषा न भवन्ति तथाऽपि प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां परितप्यमानोऽसमाधिना मृतो दुष्करमपि कृत्वाऽन्तक्रिया· कल्पविमानोपपत्तिं वा न प्राप्नुयात्, किं तु वाणमन्तराऽऽदिषूत्पद्येत । यदि वा—कषायपीडितो दृष्टिविष· सर्पो जायेत । ( गच्छे मिच्छत्तमिति ) इह भवे वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, तत्प्रत्ययं च· मिथ्यात्वप्रत्ययं च दीर्घं संसारकान्तारं भ्रमेत् ।

सो उ विगिंचिय दिट्ठो, संविग्गेहिं तु अन्नसाहूहिं ।
आसासियमणुसिट्ठो, अब्भुयमरणं वि पडिवन्नं ॥४३१॥

स प्रत्याख्यातभक्तो भक्त याचमानोऽगीतार्थं साधुभिर्विविक्तः परित्यक्तः· अन्यैः सविग्नैः गीतार्थसाधुभिर्दृष्ट· ततस्तैराश्वासित , आश्वास्य च अनुशिष्ट·—अतिशयेन दूरमुत्साहितस्ततो यत् अभ्युद्यतमरण त्यक्तं; तत्पुनरपि तेन प्रतिपन्नं; तत· सुगतिभागी जातः ।

एए अन्ने य तहिं, बहवे दोसा य पच्चवाया य ।
एएहिं कारणेहिं,अगियत्थे न कप्पति परिण्णा ॥४३२॥

यस्मादेते-अनन्तरोदिता अन्ये च-अनुक्ता बहवो दोषा ,-प्रत्यवायाश्च अगीतार्थस्य समीपे भक्तपरिज्ञाप्रतिपत्तौ, तस्मादेतै· कारणैरगीतार्थस्य समीपे परिज्ञा-भक्तपरिज्ञा न कल्पते, सविग्न गीतार्थाना च समीपे बहवो गुणा तस्मात्तन्मार्गणा कर्त्तव्या । सा च द्विधा-क्षेत्रत·, कालतश्च ।

तत्र क्षेत्रतस्तामाह—

पंच छ सत्त सए वा, अहवा एत्तो वि सातिरेगतरे ।
गीयत्थपायमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥ ४३३ ॥

पञ्च षट् सप्त वा योजनशतानि । अथवा-इतोऽपि सातिरेकतराणि योजनशतानि गत्वा सविग्नपादमूलमपरि(श्रा)तान्तोऽनिर्विण्णो मृगयेत । उक्ता क्षेत्रतो मार्गणा ।

कालत आह—

एगं व दो व तिन्नि व, उक्कोसं बारमेव वासाणि ।
गीयत्थपायमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥ ४३४ ॥

एकौ द्वे त्रीणि वा उत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि यावदपरिता(श्रा)न्तोऽनिर्विण्णो गीतार्थपादमूल परिमृगयेत ।

गीयत्थदुल्लभं खलु, पडुच्च कालं तु मग्गणा एसा ।
ते खलु गवेसमाणा, खेत्ते काले य परिमाणं ॥ ४३५ ॥

गीतार्थो दुर्लभो यस्मिन् काले तं गीतार्थदुर्लभं कालं प्रतीत्य-आश्रित्य एषा-अनन्तरोदिता क्षेत्रतः कालतश्च मार्गणाऽभिहिता। न खलु गीतार्थं गवेषयमाणा क्षेत्रविषयं कालविषये च परिमाणमुत्कृष्टमेतावत् कुर्वन्ति ।

तम्हा गीयत्थेणं, पवयणगहियत्थसव्वसारेणं ।
निज्जवगेण समाही, कायव्वा उत्तमट्ठम्मि ॥ ४३६ ॥

यस्मात् क्षेत्रतः कालतश्च गीतार्थमार्गणायामेतावानादर· कृतस्तस्मात्तेन गीतार्थेन प्रवचनगृहीतार्थसर्वसारेण प्रवचनस्य गृहीतोऽर्थस्य सर्वसारो येन स तथा तेन, निर्यापकेण उत्तमार्थे व्यवस्थितस्य तेन समाधि· कर्तव्य ।गतमगीतार्थद्वारम्॥

अथ (६) असंविग्नद्वारमाह—

असंविग्गसमीवे, पडिवज्जतस्स होइ गुरुगा उ ।
किं कारणं तु तहियं, जम्हा दोसा हवंति इमे ॥४३७॥

असंविग्नसमीपेऽपि भक्तपरिज्ञां प्रतिपद्यमानस्य भवन्ति चत्वारो गुरुका प्रायश्चित्तम्। किं कारण तत्र यस्मादिमे वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ।

तानेवाऽऽह—

नासेति असंविग्गो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं ।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलभ होति चउरंगं ॥ ४३८ ॥

नाशयत्यसंविग्नश्चतुरङ्ग-मानुषत्वाऽऽदिरूप सर्वलोकसाराङ्गं सर्वलोकप्रधानतराङ्ग चतुरङ्गे नष्टे (न हु) नैव सुलभ-सुप्राप भवति चतुरङ्गम् ।

कथं नाशयतीत्यत आह—

आहाकम्मिय पाणग, पुप्फा सेया बहुजणे णाय ।
सेज्जा संथारो वि य,उवही वि य होइ अविसुद्धो ॥४३९॥

असंविग्नो बहुजनस्य यथा तथा वा ज्ञात करोति,यथा-एष कृतभक्तप्रत्याख्यान·, तत· स आधाकर्मिकं पानमानयति,पुष्पाणि च ढौकयति, सेचन च चन्दनाऽऽदिना करोति, तथा शय्या-सस्तारक उपधिश्च तेनाऽऽनीत· अविशुद्धो भवति।

एते अन्ने य तहिं, बहवे दोसा य पच्चवाया य ।
एतेण कारणेणं, असंविग्गे न कप्पइ परिन्ना ॥४४०॥

एते-अनन्तरोदिता अन्येऽप्यनुक्ता बहवो दोषा , प्रत्यवायाश्च । तत्र प्रत्यवाया प्राणिवासमाश्रिमरणतो वाणमन्तरेषूत्पादितो,नृपाऽऽदिकथनतो वा वेदितव्या । एतेन कारणेनाऽसंविग्ने-असविग्नस्य समीपे परिज्ञा न कल्पते, किं तु सविग्नस्याऽन्तिके ।

तत क्षेत्रतो कालतश्च मार्गणामाह—

पचे व छ सत्त सया, अहवा एत्तो वि सातिरेगा य ।
संविग्गपायमूलं, परिमग्गिज्जा अपरितंतो ॥ ४४१ ॥

इय क्षेत्रत , कालत आह—

एक्क व दो व तिण्णि व, उक्कोसं बारमेव वासाणि ।
सविग्गपायमूलं, परिमग्गिज्जा अपरितंतो ॥ ४४२ ॥
संविग्गदुल्लभं खलु, कालं तु पडुच्च मग्गणा एसा ।
ते खलु गवेसमाणा, खेत्ते काले य परिमाणं ॥४४३॥

अस्मादेवं चित्रतः कालतश्च मार्गणायामादरः कृतः—

**तम्हा संविग्गेणं, पवयणगहियत्थसव्वसारेणं ।**
**निज्जवगेण समाही, कायव्वा उत्तमट्ठम्मि ॥ ४४४ ॥**

गाथाचतुष्टयमपि प्राग्वत्। गतं संविग्नद्वारम् । इदानीम्-(७) एकद्वारम्। एको निर्यापको न कर्तव्यः। किं तु बहवः, अन्यथाविराधनाऽऽदिदोषप्रसङ्गात्।

तमेवोपदर्शयति—

**एक्कम्मि उ निज्जवए, विराहणा होइ कज्जहाणी य ।**
**सो सेहा वि य चत्ता, पावयणं चेव उड्डाहो ॥४४५॥**

एकस्मिन् निर्यापके संयमविराधना, आत्मविराधना च भवति। तथाहि-कृतभक्तप्रत्याख्याननिमित्तं पानकग्रहणायाऽटन् यदा क्वापि न लभते तदा मा भूत्पश्चात् ग्लानस्यासमाधिरित्याधाकर्मिकमपि तं पानकं गृह्णीयात् इति संयमविराधना, निरन्तरमेकस्य क्लिश्यमानस्याऽऽत्मविराधना, तथा कार्यहानिश्च भवति तथाहि—मरणसमये समाध्युत्पादनाय सोऽपेक्षते, स च कदाचित्समये पानकाऽऽदिनिमित्तमन्यत्र गतो भवेत्, तथा स भक्तप्रत्याख्याता त्यक्तः, शैक्षा अपि च त्यक्ताः, प्रवचनं त्यक्तमुड्डाहश्चोपजायते ।

एतद्विभावनार्थमाह—

**तस्सऽट्ठगतोभासण, सेहादि अदाणे सो परिच्चत्तो ।**
**दाउ व अदाउं वा, भवंति सेहा वि निद्धम्मा ॥४४६॥**

तस्य प्रत्याख्यातृभक्तस्यार्थाय पानकाऽऽदीना मार्गणाय गते निर्यापकस्तस्य समीपे शैक्षकः अपरिणतो वा मुक्तस्तस्य समीपे (ओभासण त्ति) भक्तं याचितं ते च शैक्षकाऽऽदयो न कल्पते एतस्य च भक्तं, कृतप्रत्याख्यानत्वादिति न ददति, अदाने च सोऽसमाधिना मरणं प्राप्नुयादिति स परित्यक्तः । ते च शैक्षा दत्त्वा अदत्त्वा वा निर्धर्माणो भवन्ति । तथाहि-तेषामेव चित्तमुपजायते, यथा स्थापनामात्रं प्रत्याख्यानं, यथा चैतदेवमेव हिंसाऽऽदिप्रत्याख्यानान्यपि, ततः कल्पन्ते हिंसाऽऽदयोऽपीति निर्धर्माणो जायन्ते ।

**कूयइ अदिज्जमाणे, मारेंति बल त्ति पवयणं चत्तं ।**
**सेहा य जं पडिगया, जणे अवण्णं पयासेंति ॥ ४४७ ॥**

तैः-शैक्षकैरेवादीयमाने भक्ते स महता शब्देन कूजति, यथा मामेते बलान्मारयन्ति, इत्येवमुक्तेन-प्रकारेण प्रवचनं त्यक्तं, तथा शैक्षा ये प्रतिगताः-प्रतिभग्नाः सन्तो जने अवज्ञां प्रकाशयन्ति, एष उड्डाहः । गतम् (७) एकद्वारम् ।

अथ (८) आभोगनद्वारमाह—

**परतो सयं व नच्चा, पारगमिच्छति अपारगे गुरुगा ।**
**असती खेमसुभिक्खे, निव्वाघाएण पडिवत्ती ॥ ४४८ ॥**

भक्तं प्रत्याख्यातुकामः कोऽपि समागतस्तत आचार्येणाऽऽभोगः कर्त्तव्यो, यावदस्य भक्तप्रत्याख्यानं समाप्तिमुपयाति तावदशिवाऽद्युपद्रवो नगराऽऽदीना वोत्थानं भविष्यति किं वा नेति, तच्च कथं ज्ञातव्यं?, ते (तत्) स्वयमाचार्यस्यातिशयोऽस्ति तेन ज्ञातव्यं, यदि वा-निमित्तमासोगमीम्, अथवा-स्वयं देवता कथयति, यथा-'कंचणपुर' गाथा (४५०) इत्यादि। अथ स्वतोऽतिशयो निमित्तं वा नास्ति तर्हि येषां ते सूत्र्य. स्वयं मप्रष्टव्याः, एवं स्वतः परतो वा अशिवाऽऽदीनां नगरोत्थानादीनां वा आभवमवबुध्य पुनरिदं ज्ञातव्यं, किमेष प्रत्याख्यानस्य पारगो भविष्यति, किं वा नेति? तत्र यदि पारगतो ज्ञायते ततस्तं पारगमिच्छन्ति । अथ चाऽपारगं नेच्छन्ति तथा अपारगे इष्यमाणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । अथ स्वस्य परस्य वाऽतिशयाऽऽदिर्न विद्यते ततोऽसति-अविद्यमाने आभोगे यदि क्षेमं सुभिक्षं च तदा निर्व्याघातेन प्रतिपत्तिः कारयितव्या, वर्षाकाले प्रतिपत्तिः कार्यते इत्यर्थः ।

एतदेवाऽऽह—

**सयमेव चिरं वासो, वासावासे तवस्सिणं ।**
**तेण तस्स विसेसेण, वासासु पडिवज्जणा ॥ ४४९ ॥**

वर्षारात्रे वर्षोदककर्दमाऽऽदिकारणतश्चतुरः पञ्च षट् वा मासान् ग्रामाऽऽदीनामुत्थानं न भवति, क्षेमं सुभिक्षं च स्वभावेन वर्त्तते, तपस्विनां च वर्षावासे चिरं वासः स्वयमेव प्रवृत्तः, तेन कारणेन तस्य भक्तप्रत्याख्यातुकामस्य विशेषतो भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपादनके कर्त्तव्या ।

पूर्वमिदमुक्तं स्वयं देवता कथयति तन्निदर्शनमाह—

**कंचणपुर गुरु सण्णा, देवयरुयणा य पुच्छ कहणा य ।**
**पारणगखीररुहिरं, आमंतण संघाऽणसणता ॥४५०॥**

कलिङ्गेषु जनपदेषु काञ्चनपुरे नगरे बहुश्रुताः-बहुशिष्यपरिवाराः केचिदाचार्या विहरन्ति, ते अन्यदा शिष्येभ्यः सूत्रपौरुषीम्, अर्थपौरुषीं च दत्त्वा संज्ञाभूमौ गताः, ते च गच्छन्तोऽपान्तरालेऽनिशये महापादपस्याधः काञ्चिद्देवतां स्त्रीरूपेण रुदन्तीं पश्यन्ति, एवं द्वितीयतृतीयदिनेऽपि । ततो गुरुभिर्यातनशङ्कैः पृष्टम्-कस्मात्त्वं रोदिषि?, तस्याः कथनमहमेतस्य नगरस्याधिष्ठात्री, एतच्च सर्वं नगरमचिराज्जलप्रवाहेण विनङ्क्ष्यति, अत्र च बहवः स्वाध्यायवन्तो वर्तन्ते, ततो रोदिमि । कोऽत्र प्रत्यय इति पृष्टे सा प्राऽऽह-अमुकस्य क्षपकस्य पारणके क्षीरं रुधिरं भविष्यति, तच्च यत्र गतानां स्वभावीभूतं भविष्यति, तत्र क्षेमं-वसितव्यमिति । एवमुक्त्वा सा गता । द्वितीयदिने क्षपकस्य पारणके क्षीरं रुधिरीभूतं ततः समस्तस्यापि सङ्घप्रधानवर्गस्याऽऽमन्त्रणं, पर्यालोचनं च, ततोऽनशनं समस्तस्यापि सङ्घस्येति । यदि पुनरशिवाऽऽद्युत्थाने विज्ञाते यदि भक्तं प्रत्याख्यापयति तदा स गच्छः, साधवः, प्रवचनं च तेन त्यक्तम् ।

कथमित्याह—

**असिवादीहिँ वहंता, तं उवकरणं च संजया चत्ता ।**
**उवहिं विणा य छड्डेंति, चत्तो सो पवयणं चेव ॥४५१॥**

यदि अशिवाऽऽद्युपद्रवं ग्रामाऽऽद्युत्थानं च ज्ञात्वा भक्तं प्रत्याख्यापयति, तदा तस्मिन्निर्यापिते एवाशिवाऽऽद्युत्थाने जाते यदि संयतास्तत्प्रतिबन्धतो न निर्गच्छन्ति, गच्छन्तो वा यदि तं कृतभक्तप्रत्याख्यानं, तस्योपकरणं च वहन्ति, तदा ते संयता अशिवाऽऽदिभिः कारणैस्तमुपकरणं च वहन्तस्त्यक्ताः, अथोपधिं विनिर्वहन्ति, त्यक्त्वा वा सर्वथा पलायन्ते, तदा सभक्तप्रत्याख्याता परित्यक्तः, स च त्यक्तः सन् उड्डाहं कुर्यात्, मां त्यक्त्वा ते गता इति तदा प्रवचनस्य महती हीलनेति प्रवचनं त्यक्तं । तस्मादशिवाऽऽद्युत्थाने अपारगे च तस्मिन् ज्ञाते स भक्तं न प्रत्याख्यातयितव्यः । गतम् (८) आभोगनद्वारम् ।

इदानीम् (९) अन्यद्वारमाह—

**एगो संथारगतो, वितिओ संलेहि तइय पडिसेहो ।**
**अपहुव्वंतऽसमाही, तस्स व तेसिं व असतीए ॥४५२॥**

यदि तत्र द्वौ जनावग्रे स्तः । तद्यथा-एकः संस्तारगत' । संस्तारगतो नाम-संलिख्य कृतप्रत्याख्यानः द्वितीयः संलिखति संलेखनां करोति, तथा तृतीयो यद्यन्य उपतिष्ठति तर्हि तस्य-तृतीयस्य प्रतिषेधः कर्त्तव्यः । किं कारणमिति चेत् ?, अत आह (अपहुव्वंतेत्यादि) न प्रभवन्ति-न प्राप्यन्ते अया णामपि योग्या निर्यापका न च संस्तरन्ति, ततोऽप्रभवः-अप्राप्यमाणेषु तेषु संस्तारणस्यास्य वाऽसति तस्य तृतीयस्य, तयोर्वाऽप्रेतनयोस्तेषां वा निर्यापकाणाम् असमाधिरुपजायते, प्रथमं सन्ति यदि बहवो निर्यापकाः, संस्तरन्ति च तदा न कश्चिदन्तरो दोषः प्रसजतीति तृतीयमपि प्रतीच्छन्ति ।

**इवेज्ज जइ वाघातो, वितियं तत्थ ठावए ।**
**चिलिमिली अंतरा चेव, बहिं वंदावए जणं ॥ ४५३ ॥**

यदि तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य भवेत् व्याघात. । व्याघातो नाम प्रत्याख्यानेनाऽसंस्तरणं, स च बहिः सर्वत्र ज्ञातो, दृष्टश्च भूयसा लोकेन एष कृतभक्तप्रत्याख्यान इति, तत एवा यतना कर्त्तव्या-योऽसौ द्वितीयः संलेखना कुर्वन् तिष्ठति स तत्र स्थाप्यते, तस्यान्तरा चिलिमिली कर्त्तव्या, ततो यदि वैलोतो दृष्टः ते वन्दका. समागच्छेयुः, तदा स तेषां न दर्शयितव्यः, किं तु ते भण्यन्ते-बहिः स्थिता यूयं वन्दध्वमिति, एवं बहिः स्थितं जनं वन्दापयेत । गतम् (९) अन्यद्वारम् ।

इदानीम् (१०) अनापृच्छाद्वारमाह—

**अणापुच्छाएँ गच्छस्स, पडिच्छे तं जती गुरू ।**
**गुरुगा चत्तारि विन्नेया, गच्छमणिच्छंते तं पावे ।४५४।**

गच्छस्यानापृच्छया यदि तं भक्तप्रत्याख्यातुकामं गुरुः प्रतीच्छति—अभ्युपच्छति, तदा तस्य-प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका विज्ञेया. । गच्छे चानिच्छति स भक्तप्रत्याख्याता यत्प्राप्नोति असमाधिप्रभृतिक तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्तं ततः गच्छ आपृष्टव्य' । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते स गच्छसाधव. सर्वं परिभ्रमन्तो जानते. यथा-एतस्मिन् क्षेत्रे एतत् सुलभम् एतत् दुर्लभं ततो मुख पृच्छति किमेतस्मिन् क्षेत्रे यानि कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य समाधिकारणानि द्रव्याणि तानि सुलभानि, किं वा दुर्लभानि तत्र यदि सुलभानि ततः भक्तप्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यते । अथ दुर्लभानि तर्हि प्रतिषिध्यते , अन्यत्र गत्वा प्रतिपद्यस्वेति ।

अनापृच्छाया दोषानाह—

**पाणगाऽऽदीणि जोग्गाणि, जाणि तस्स समाहिय ।**
**अलंभे तस्स जा हाणी परिकेसो य जामणे ॥४५५॥**
**असथरे अजोग्गा वा, तत्थ निज्जावगा भवे ।**
**गसणाए परिकेसो, जा वा तस्स विराहणा ॥ ४५६ ॥**

गणस्यानापृच्छायां यानि तस्य-कृतभक्तभक्तप्रत्ययानस्य समाहिते-समाधाननिमित्तानि पानकाऽऽदीनि योग्यानि. आदिग्रहणेन—भक्तपरिग्रहः । तेषामलाभे तस्य-भक्तप्रत्ययख्यातुया हानिः समाधिपरिभ्रंश उपजायते । यश्च गच्छनाधूना योग्यपानकाऽऽदेर्याचने-परिमार्गणे परिक्लेशः ॥ ४५५ ॥ तथा असंस्तरे-संस्तरणाभावे यः परिक्लेशोऽयोग्या वा तत्र निर्यापका भवेयु. । योगवाहिनोऽप्येते—तत्र योगवाहिना समाधिकारकाणि पानकाऽऽदीन्युद्गमानि शुद्धानि मृगयमाणानां य' परिक्लेशः, या वा अयोग्यनिर्यापकसंपर्कत' तस्य कृतप्रत्याख्यानस्य विराधना-अनागाढाऽऽदिपरितापना—असमाधिमरणाऽऽदिकं तत्सर्वं तन्निमित्तमतो गच्छस्य पृच्छा कर्त्तव्या । गतम् (१०) अनापृच्छाद्वारम् ।

अधुना (११) परीक्षाद्वारमाह—

**अपरिच्छणम्मि गुरुगा,दोण्ह वि अणोणयं जहाक्कमसो ।**
**होइ विराहणा दुविहा, एको एक्को व जं पावे ॥४५७॥**

यो भक्तं प्रत्याख्यातुकामस्तेन गच्छसाधवः परीक्षितव्या, किमेते भाविता इति ? गच्छसाधुभिरपि स परीक्षणीयः, किमेष निस्तारको भवेत् , किं वा नेति ? । आचार्येणापि स परीक्षितव्यः । अन्योन्यं पुनर्यथाक्रमशो वक्ष्यमाणक्रमेण-परीक्षणे द्वयोरपि-गच्छस्य, भक्तप्रत्याख्यातुकामस्य च, प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः । तथा अपरीक्षणे भवति द्विविधा विराधना-आत्मविराधना, संयमविराधना च । तत्र गच्छस्यात्मविराधना असमाधिमरणतः प्रत्यवायसंभवात् भक्तप्रत्ययख्यातुः आत्मविराधना असमाध्युत्पादात् संयमविराधना गच्छस्याभावितत्वेन एषणाया असंभवात् (एको एक्को व जं पावे त्ति) एको गच्छे यमनर्थं प्राप्नोति, एको वा-स भक्तप्रत्याख्याता, तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते ।

**तम्हा परिच्छणं तू , दव्वे भावे य होइ दोण्हं पि ।**
**संलेह पुच्छ दायण, दिट्ठंतोऽमच्चकोंकणए ॥ ४५८ ॥**

यत एवमपरीक्षणे प्रायश्चित्त. दोषाश्च, तस्माद् द्वयोरपि परस्परं द्रव्ये भावे च भवति परीक्षणम् । तत्रैवम्—भक्तं प्रत्याख्यातुकामेन परीक्षानिमित्त गच्छसाधवो भणिताः । यथा-आनयत मम योग्यं कलमशालिकूर, क्वथितं क्षीरं, ततो भक्ष्ये । अथवा—अन्यद्भोजनं प्रणीत यत्स्वभावतो रुचिकर तत् आनयतेति याचते । तत्रैव याचने यदि ते हसन्ति कृष्णमुखा वा जायन्ते, तदा ज्ञेयम्-अभाविता एते इति. तेषा समीपे न प्रत्याख्यातव्यम् । अथ ते ब्रुवते-यद्भणसि तत् कुर्मः इति तदा ज्ञेयम्-योग्या एते इति । तथा गच्छसाधुभि. परीक्षानिमित्तं कलमशालिकूरप्रभृतिकमुत्कृष्टं द्रव्यमानेतव्य तस्मिन्नानीते यदि स ब्रूते-अहो सुन्दरमानीतं भुञ्जेऽहमिति तदा ज्ञातव्यमेष आहारलुब्ध इति न निस्तरिष्यति,वक्तव्यश्च सः, यदा-त्वमाहारगृद्धिं त्यक्ष्यसि तदा ते भक्तपरिज्ञाया योग्यता भविष्यति, नान्यदा । अथ स तमुपनीतमाहारं जुगुप्सते-किं ममैतेनाऽऽहारितेन, पर्याप्त, नाहमाहारयामीति तदा ज्ञातव्यमेष निस्तरिष्यति, तस्मिन् वक्तव्य प्रत्याख्याहि वय ते निर्यापका इति । इह तु याचितस्य द्रव्यसंपादनमसंपादन च सा गच्छस्य द्रव्यतः परीक्षा । यत्पुन सकषायित्वमकषायित्व वा ज्ञायते तद्भावपरीक्षणम् । तथा भक्तप्रत्याख्यातुरप्युपनीतं सुन्दरस्य ग्रहणमग्रहण वा द्रव्यत परीक्षणम भावतो गृद्ध्यगृद्धिपरिज्ञानमिति । आचार्यस्य तत्परीक्षणमाह-( संलेहपुच्छ इत्यादि ) यदा स आचार्येणानुपस्थितो भवति भक्तप्रत्याख्यानेनाऽहं तिष्ठामि, तदा

स आचार्येण प्रष्टव्यः—किमत्र संलिखितं त्वया न वेति ततः स चिन्तयति-पश्यति मे अस्थिचर्मावशेषं शरीरं तथाऽपि प्रश्नयति—संलिखितं, न वेति । एवं चिन्तयित्वा क्रोधे दर्शिते क्षिप्रमङ्गुलिं भङ्क्त्वा दर्शयति-पश्य यत्र किञ्चिन्मज्जां (रक्त)मांसं वा द्रक्ष्यसि,भवति संलिखितं किं वा नेति ? एवमुक्ते गुरुराह-न ते द्रव्यसंलेखं पृच्छामि, कृशशरीरं प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानत्वात् किं तु भावसंलेखे, स चायाऽपि न विद्यते इति तं भावसंलेखं कुरु श्रूयतां चाऽत्र दृष्टान्तोऽमात्य. कोङ्कणकविषये ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याख्यातुं गच्छपरीक्षामाह—

कलमोयणपयकढिया-ऽऽदि दव्वे आणेह झत्ति इति उदिते।
भावे कसाइज्जंती, तेसि सगासे ण पडिवज्जे ॥ ४५९ ॥

कलमौदनं-कलमशालिकूरं, पयो-दुग्धं क्वथितम्, आदिशब्दादन्यस्याप्यभीष्टस्य भोजनस्य परिग्रहः । मम योग्यमानयतेति झटिति द्रव्ये उदिते, यदि भावे-भावतः कषायन्ति-कषायं कुर्वन्ति ततस्तेषां समीपे भक्तपरिज्ञां न प्रतिपद्यते, अयोग्यत्वात् ।

अह पुण विरूवरूवे, आणीए दुगुंछिए भणंतेऽन्नं ।
आणेतु झत्ति ववसिए,पडिवज्जति तेसि तो पासे ॥४६०॥

अथ पुनर्विरूपरूपे अनेकप्रकारे आहारे आनीते जुगुप्सिते भणन्ते-भणन्ति अन्यमाहारमानयामः, तथैव चाऽऽनेतुं झटिति व्यवसितस्ततस्तेषां पार्श्वे प्रतिपद्यते, यथाऽभिलषितवस्तुसम्पादकतया तेषां योग्यत्वात् ।

सम्प्रति गच्छस्य तत्परीक्षामाह—

कलमोदणे अ पयसा, अन्नं च सभावअणुमयं जस्स ।
उवणीयं जो कुच्छइ, तं तु अलुद्धं पडिच्छति ॥ ४६१ ॥

कलमौदनं-कलमशालिकूरं पयसा सहोपनीतमिति, अन्यच्चा-यद्-यस्य स्वभावतोऽनुमतं तस्य तदुपनीतं, सत् य । कुत्सते-निन्दति—किं ममैतेन कार्यमिति ?, तमलुब्धमिति ज्ञात्वा प्रतीच्छन्ति । यस्तु कलमौदनाऽऽदिके उपनीते अहो सुन्दरमहं भुञ्जे इति वदति, स लुब्ध इति न प्रत्येषणीयः ।

आचार्यस्य तत्परीक्षामाह—

अज्जो ! संलेहो ते, किं कतो न कवो त्ति एव उदयम्मि ।
भंतुं अंगुलिं दावे, पेच्छह किं वा कतो न कतो ॥४६२॥

आर्य ! त्वया संलेखः किं कृतः, किं वा न कृत इत्येवमुदिते अङ्गुलिं भङ्क्त्वा दर्शयति-प्रेक्षस्व किं कृतः,किं वा न कृत इति।

तत आचार्य आह—

न हु ते दव्वसंलेहं, पुच्छे पासामि ते किसं ।
कीस ते अंगुली भग्गा, भावसलेहमाउरे ॥ ४६३ ॥

(न हु)नैव(ते) तव द्रव्यसंलेखं पृच्छामि,यतः पश्यामि ते कृशं शरीरम्, तस्मात्किमिति त्वया अङ्गुलिर्भग्ना ? । पृच्छामि भावसंलेखं, माऽक्रोधवशादातुरो भव ।

संप्रति " दिट्ठंतोऽमच्चकोंकणए " (४५८ गा० )

इत्येतद्भावयति—

रण्णा कोंकणगोऽमच्चो, दो वि निव्विसया कया ।
दोहिए कज्जियं छोढुं, कोंकणे तच्छणा गतो ॥४६४॥

भंडी वइल्लए काए, अमच्चो जा भरेति उ ।
ताव पुन्नं तु पंचाहं, खलिए खिहणं गतो ॥ ४६५ ॥

केनाऽपि राज्ञा एकः कोङ्कणकोऽपरोऽमात्य एतौ द्वावपि कस्मिंश्चिदपराधे समकमाज्ञप्तौ—यदि पञ्चाहाभ्यन्तरे निर्विषयौ न भवतस्ततोऽवश्य वध्याविति । तत्र कोङ्कणको दोग्धिके-तुम्बके काञ्जिकं—काञ्जिकपयासि क्षिप्त्वा तत्क्षणात् गतः । अमात्यः पुनर्यावत् भण्डीर्ग्रन्थीर्बलीवर्दान् कायान्-कापोतीर्बिभर्ति तावत्पूर्णे पञ्चाहमिति नलिके शूलिकामारोपितो निधनं गतो विनाशं प्राप्त । यथाऽसौ अमात्यः कुटुम्बोपकरणप्रतिबद्धो विनाशमुपगतः, एवं त्वमपि भावप्रतिबद्धो नाऽऽराधनाजीवितं प्राप्स्यसि । तस्मात्—

इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरु ।
न चेयं ते पसंसामो, किसं साहुसरीरगं ॥ ४६६ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, कषायान्-क्रोधप्रभृतीन्, गौरवाणि ऋद्धिगौरवप्रमुखाणि कृशानि कुरु, न चेद् ते साधो. कृश शरीरकं प्रशंसामो, भावसंलेखव्यतिरेकेण द्रव्यसंलेखस्यापि अकिञ्चित्करत्वात् । गतं संलेखनद्वारम् । गत (११) परीक्षाद्वारम् ।

इदानीम् (१२) आलोचनाद्वारमाह—

आयरियपायमूलं, गंतूणं सइ परक्कमे ताहे ।
सव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एस उवएसो ॥ ४६७ ॥

ततो-द्रव्यसंलेखना भावसंलेखनाऽनन्तरं भक्तं प्रत्याख्यातुकामेन सर्वेण स्वयं शोधिं जानता अजानता च सति पराक्रमे आचार्यपादमूले गत्वा शोधिः कर्तव्या, एष तीर्थकृता गणभृता चोपदेशः ।

तत्र शोधिं जानतः प्रत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाहिं ।
वेज्जस्स य सो सोउं, तो पडिकम्मं समारभते ॥ ४६८ ॥

जाणतेण वि एवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो निउणं ।
तह वि य पागडतरयं, आलोएयव्वय होइ ॥ ४६९ ॥

यथा सुकुशलोऽपि वैद्योऽन्यस्याऽऽत्मनो व्याधिं कथयति, सोऽपि वैद्यस्य श्रुत्वा व्याधिकथनं ततः प्रतिकर्म समारभते । एवं प्रायश्चित्तविधिमात्मनो निपुणं जानताऽपि तथाऽपि प्रकटतरमालोचयितव्य भवतीति कृत्वा अन्यस्य समीपे आलोचयितव्यम् ।

ततोऽप्यनेन किं कर्त्तव्यमत आह—

छत्तीसगुणसमन्ना-गएण तेण वि अवस्स कायव्वा ।
परपक्खिया विसोही, सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं ॥४७०॥

तेनाप्यनेनाऽऽचार्येण षट्त्रिंशद्गुणसमन्वागतेन , षट्त्रिंशद्गुणाः " अट्ठविहा गणिसंपय " इत्यादिना प्रागेवाभिहिता । सुष्ठु अपि व्यवहारकुशलेन परपक्षिका—परपक्षे गता विशोधिरवश्यं कर्त्तव्या ।

कथं पुनरात्मनः शोधिजानमप्यालोचयेदित्याह—

जह बालो जपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥ ४७१ ॥

यथा बालो जल्पन् कार्यमकार्यं च ऋजुकम्-अमायं भणति, तथा मायामदविप्रमुक्तस्तत्कार्यमकार्यं वा गुरोः पुरतः आलोचयेत् ।

सम्प्रति मायानिर्घातने उपदेशमाह—

उप्पन्ना उप्पन्ना, माया अणुमग्गतो निहंतव्वा ।
आलोयणनिंदणगरि-हणेहिँ न पुणो अ बितियं तु ॥४७२॥

उत्पन्ना उत्पन्ना माया अनुमार्गतः-पृष्ठतो लग्नेन आलोचनन्दनगर्हणैर्निहन्तव्या । कथमित्याह-न पुनरेवं द्वितीयं वारं करिष्यामीति प्रतिपत्त्या ।

संप्रत्यालोचनायां दत्तायां ये गुणा भवन्ति तानुपदर्शयति—

आयारविणयगुण क-प्पदीवणा अत्तसोहि उजुभावो ।
अज्जवमद्दवलाघव-तुट्ठी पल्हायजणणं च ॥ ४७३ ॥

आलोचनायां दत्तायामाचारः पञ्चविध आसेवितो भवति, विनयगुणश्च प्रवर्तितो भवति,कल्पदीपनानाम-अवश्यमालोचयितव्यः अतीचार इत्यस्य कल्पस्य प्रकाशनम्-अन्येषामुपदर्शनं, ततस्तेऽप्यन्ये एवं कुर्वन्ति । तथा आत्मनो विशोधि-निःशल्यता कृता भवति, तथा ऋजुसंयमस्तस्य भावो-भवनं तत् कृतं भवति, तथा आर्जवमवनमार्यत्वम्, मार्दवम्-अमानत्वम्, लाघवम्-अलोभत्वमेतानि कृतानि भवन्ति । तथा आलोचिते सति निःशल्यीभूतोऽहमिति तुष्टिरुपजायते । तथा अनालोचिते अतीचारे सशल्योऽहमिति या मनस्यधृति-परिदाहस्तस्यापगमात् प्रह्लादजननं-प्रह्लादोत्पादः शीतीभवन भवति ।

कः पुनः सोऽतिचारः, कुतो वा प्रभृत्यालोचयितव्यमत आह—

पव्वज्जमादी आलो-यणा उ तिण्हं चउक्कगविसोही ।
जह अप्पणो तह परे, कायव्वा उत्तमट्ठम्मि ॥ ४७४ ॥

त्रयाणां-ज्ञानदर्शनचारित्राणामतीचारेषु प्रव्रज्याऽऽदेरारभ्य यावदुत्तमार्थाऽभ्युपगमस्तावदालोचना दातव्या । कथमित्याह-चतुष्कविशोध्या-एकैकस्मिन् द्रव्यतः क्षेत्रत कालतो भावतश्चातीचारविशुद्ध्या । पुनःकथमित्याह-यथाऽऽत्मना सम्यग् ज्ञेयतया तिष्ठति तथा परस्मिन् आलोचना कर्त्तव्या । यत्नतः, सर्वतो वा न किञ्चिदपि गूहितव्यमिति भावः ।

उत्तमार्थे-उत्तमार्थप्रतिपत्तौ-कर्त्तव्यतायाम् । तत्र ज्ञाननिमित्तं द्रव्यतोऽतीचाराऽऽलोचनामाह—

नाणनिमित्तं आसे-वियं तु वितहं परूवियं वावि ।
चेयणमचेयणं वा, दव्वं सेसेसु इमगं तु ॥ ४७५ ॥

ज्ञाननिमित्तं-सचित्तम् अचित्तं द्रव्यमुद्गमाऽऽद्यशुद्धं, तथा सचेतनमचेतनं वा वितथं प्ररूपितं भवेत् । तद्यथा-सचित्तमचित्तम् वा सचित्तमिति एतत् द्रव्यतोऽतीचाराऽऽलोचनम् । शेषेषु तु क्षेत्राऽऽदिष्विदमतीचाराऽऽलोचनम् ।

तदेवाऽऽह—

नाणनिमित्तं अद्धा-णमेति ओमे वि अत्थति तदट्ठा ।
नाणं व आगमिस्सं, ति कुणइ परिकम्मणं देहे । ४७६ ।
पडिसेवति विगतीओ, मेज्झे दव्वे व एसता पियता ।
वायंतस्स वि किरिया, कया उ पणगाइहाणीए ॥४७७॥

ज्ञाननिमित्तमध्वानं-पन्थानमेति-प्रतिपद्यते, अध्वानं प्रतिपन्ने च यत्सचित्तमकल्पिकमयतनया यतनया वा तदालोचयति.इदं क्षेत्रतोऽतीचाराऽऽलोचनम्. तथ ऽवमेऽपि-दुर्भिक्षेऽपि तदर्थं ज्ञानार्थं तिष्ठति । तत्र च तिष्ठता यदकल्पिकम् आसेवितमयतनया यतनया वा तदालोचयति । इदं कालतोऽतीचाराऽऽलोचनम् । भावत आह-(नाणं चेत्यादि) ज्ञानमहमागमिष्यामि-ग्रहीष्यामीति हेतोर्देहे-शरीरस्य परिकर्म करोति । यथा व्याख्याप्रज्ञप्ते'-महाकल्पश्रुतस्य वा योगं वोढुकामो घृतं पिबति, प्रणीतं वाऽऽहारमुपभुङ्क्ते तत्र या अयतना कृता । अथवा-कश्चिद्रोग आसीत् नष्टोऽपि मा सः तत्काले उद्रेकं यायादिति परिकर्म करोति तत्र कुर्वता या अयतनाकृता निर्विकृता विकृतीर्वा नानाप्रकारा निरन्तरं प्रतिसेवते,तत्राऽपि या अयतना कृता मेध्यानि द्रव्याणि नाम यैर्मेधा उपक्रियते, तानि द्रव्याणि एषयता-परिमार्गयता पिबता वा या अयतना व्यधायि । तथा वाचयतो-वाचनाऽऽचार्यस्य पञ्चकाऽऽदिहान्या क्रिया कृता ; अपिशब्दात्पञ्चकाऽऽदिहान्यातिक्रमेण वा या कृता क्रिया, तामप्यालोचयन्ति । तदेवं ज्ञाननिमित्तं द्रव्याऽऽद्यतीचाराऽऽलोचनमुपदर्शितम् ।

अधुना दर्शननिमित्तं, चारित्रनिमित्तं चाऽऽह—

एमेव दंसणम्मि वि, सद्दहणा नवरि तत्थ नाणत्तं ।
एसण इत्थीदोसे, वते वि चरणे सिया सेव ॥ ४७८ ॥

एवमेव-अनेनैव ज्ञानगतेन प्रकारेण दर्शनेऽपि दर्शननिमित्तमपि द्रव्याऽऽद्यतीचारजातमालोचयितव्यं नवरं तत्र नानात्वम्, दर्शनं नाम—श्रद्धानं चरणेऽपि-चारित्रेऽपि स्यादियमतीचारता सेविता । तद्यथा-एषणायाम्-एषणाविषये-( स्त्री ) दोषेतवसतिविषये व्रतविषये चेति ।

सम्प्रति "तिण्ह चउक्कगविसोहि" (४७४) इत्यस्यान्यथा व्याख्यातुमाह—

अहवा तिगसालंबे-ण दव्वमादी चउक्कमाहच्च ।
आसेवितं निराल-म्बको व आलोअए तं तु ॥ ४७९ ॥

अथवेति प्रकारान्तरे, त्रिकसालम्बनोपेतेन द्रव्याऽऽदिचतुष्कं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणमाहत्य कदाचित् अकल्पनीयमयतनया यतनया वा आसेवितम् अथवा-निरालम्बको ज्ञानाऽऽद्यालम्बनरहितो द्रव्याऽऽदिचतुष्कमकल्पिकमासेवितवान् । एतेनैतत् ख्यापितं यत्प्रतिसेव्यते किञ्चिदकल्पिकं तद् दर्पतः कल्पतः भावतः परमपरप्रकारान्तरमस्तीति । एतद् आलोचयेत् ।

प्रेकरः पृच्छति—

पडिसेवणाऽतिचारा, जइ वीसरिया कहं नि होज्ज णु ।
तेसु कह वट्टियव्वं, सल्लुद्धरणम्मि समणेणं ? ॥४८०॥

प्रतिसेवनातिचारा यदि कथमपि विस्मृता भवेयुः, तेषु शल्योद्धरणे कर्त्तव्ये कथं श्रमणेन वर्तितव्यम् ? ।

सूरिर्वर्णनप्रकारमाह—

जे मे जाणंति जिणा, अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।
तं तह आलोएउं, उवट्ठितो सव्वभावेण ॥ ४८१ ॥
एवं आलोयंतो, विसुद्धभावपरिणामसंजुत्तो ।
आराहओ तह वि सो, गारवपडिकुंचणारहितो ॥४८२॥

यान्ममापराधान् येषु येषु स्थानेषु जिनाः-केवलिनो-भगवन्तो जानन्ति तानहं सर्वभावेन-सर्वाऽऽत्मना आलोचयितुमुपस्थितः परं न स्मरामीति वचसा च प्रकटीकर्त्तुं शक्नोमि, तस्माज्जिनदृष्टान्तमेव प्रमाणमित्यालोचयितव्यम् ॥ यद्यपि एवं-संमुग्धाऽऽकारमालोचयसि तथापि स गौरवप्रतिकुञ्चनारहितो विशुद्धेन भावपरिणामेन संयुक्त एवमालोचयेत आराधकः, प्रतिकुञ्चनानाम-माया । गतमालोचनाद्वारम् (१२)।

अधुना (१३) प्रशस्तस्थानद्वारमाह—

ठाणं पुण केरिसमं, होति पसत्थं तु तस्स जं जोग्गं ? ।
भणति जत्थ न होज्जा, झाणस्स उ तस्स वाघातो ।४८३।

तस्य-भक्तप्रत्याख्यातुः यत्प्रशस्तं—योग्यं स्थानं तत्कीदृशं भवति ?। सूरिराह-भण्यते, यत्र तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य ध्यानस्य व्याघातो न भवति ।

तानुपदर्शयति—

गंधव्व नट्ट जड्ड-ऽस्स चक्क जंतऽग्गिकम्म फरुसे य ।
णंतिक्करयगदेवड-डोम्बपाडहिगरायपहे ॥ ४८४ ॥
चारग कोट्ठग कल्ला-ल कारॅए पुप्फफलदगसमीवम्मि ।
आरामे अव वियडे, णागघरे पुव्वभणिए य ॥ ४८५ ॥

गन्धर्वशालायां यत्र गान्धर्विकाः संगीतं कुर्वन्ति तत्र, गन्धर्वशालासमीपे वा न स्थातव्यम्, ध्यानव्याघातभावात् । तथा नृत्तशालायां, नृत्तशालासमीपे वा तत्राप्युक्तदोषसंभवात् । तथा जड्डो-हस्ती, अश्वः-तुरङ्गमो, हस्तिशालायां, हस्तिशालासमीपे वा, अश्वशालायां अश्वशालासमीपे वा, हस्तिकाऽऽदिविरूपशब्दश्रवणतो ध्यानव्याघातभावात् । तथा चक्रशाला-तिलपीडनशालायां, तिलपीडनशालासमीपे वा । ( जतंति ) इक्षुयन्त्रशालायाम्, इक्षुपीडनशालासमीपे वा, तिलाऽऽदिदर्शनतः कर्मकरगानशब्दश्रवणतो वा ध्यानभङ्गोपपत्तेः। अग्निकर्मलोहकारकर्मतच्छालायाम्, अग्निकर्मशालासमीपे वा । परुषः—कुम्भकारस्तत्शालायां, कुम्भकारशालासमीपे वा । अग्निपरितापतो लोहकुट्टनाऽऽदिशब्दश्रवणतो वा ध्यानव्याघातसंभवात् । तथा नंतिक्काः—छिपास्तच्छालायाम्, तस्याः समीपे वा । रजकशालायाम्, रजकशालासमीपे वा । देवडशालाया, तच्छालासमीपे वा । जुगुप्सादोषात् । डोम्बा-लंङ्घकास्तेऽपि गायन्ति । अथवा-चण्डालविशेषगायना डोम्बास्तेषां शालायां, तच्छालासमीपे वा, जुगुप्सादोषात् गानशब्दश्रवणतो ध्यानव्याघातभावाच्च । तथा पाडहिकशालायां, पाडहिकशालासमीपे वा, वादित्रशब्दश्रवणतो ध्यानव्याघातः। राजपथे, राजपथसमीपे वा, राज्ञ आगच्छतो गच्छतो वा समृद्धिदर्शने निदानकरणप्रशक्तेः ॥ ४८४ ॥ तथा चारकं गुप्तिगृहं तत्र, तस्य समीपे वा यातनाशब्दश्रवणतो ध्यानव्याघातभावात् । को ( ट्ठ ) ट्ठकानाम-वट्टाना शाला, कोष्ठके, कोष्ठकसमीपे वा, वट्टा अपि गायन्ति विरूपरूपाणि च भाषन्ते, ततो ध्यानव्याघातः । तथा कल्पपालाः-सुराऽऽदिविक्रयकारिणो, मद्यपा वा तेषां शालायां, तच्छालासमीपे वा यतस्तत्र मद्यप्रमत्ता गायन्ति फूत्कुर्वन्ति ततो ध्यानव्याघातसंभवः । तथा क्रकचके-यत्र काष्ठानि क्रकच्यन्ते, तत्र क्रकचशालासमीपे वा । काष्ठक्रकचशब्दश्रवणतः-कारपत्रिकगानशब्दश्रवणतो ध्यानभ्रंशोपपत्तेः ( पुप्फफलदगसमीवम्मि त्ति ) पुष्पसमीपे फलसमीपे उदकसमीपे वा पुष्पाऽऽदिदर्शनतः तद्विषयाभिलाषोपपत्तेः । तथा आरामे, तत्राप्यनन्तरोदितदोषप्रसङ्गात् यथा विकटं नाम—असंगुप्तद्वारं तत्र पानके—पाने कायिक्यादिपरिस्थापने च सागारिक ( दोष ) संभवात् । तथा नागगृहे, उपलक्षणमेतत्, यक्षगृहाऽऽदिषु, तत्रापि भूयसां लोकानां नानाविधविकुर्वितवेषाणामागत्यागत्य गाननर्त्तनकरणात्, तथा च सति ध्याने व्याघातसंभवः । यदि वा नागाऽऽदयोऽनुकम्पया प्रत्यनीकतया, विमर्शेन वा अनुलोमान् प्रतिलोमान् वा उपसर्गान् कुर्युः । पूर्वभणिते च प्राक् कल्पाध्ययनाभिहिते च भक्तप्रत्याख्यातुकामे ।

तदेव भावयति—

पढम विइएसु कप्पे, उद्देसेसु उवस्सया जे उ ।
विहिसुत्ते य निसिद्धा, तव्विवरीए गवेसेज्जा ॥४८६॥

कल्पे—कल्पाध्ययने द्वितीयतृतीययोरुद्देशयोर्विधिसूत्रे च, आचाराङ्गे शय्याध्ययने अवग्रहप्रतिमास्थाननिषीदनके च ये उपाश्रया निषिद्धाः, तेषु न स्थातव्यम्, किं तु तद्विपरीतान् देशान् गवेषयेत् ।

तथा—

उज्जाणॅ रुक्खमूले, सुन्नघर अनिसट्ठ हरियमग्गे य ।
एवंविहे न ठायइ, होज्ज समाहीएॅ वाघातो ॥४८७॥

उद्याने, वृक्षमूले, शून्यगृहे, अनिसृष्टे-अननुज्ञाते, हरिते हरिताऽऽकुले, मार्गे च अन्यस्मिन्नपि च एवंविधे स्थाने न तिष्ठति भक्तप्रत्याख्याता, यतस्तत्र समाधेर्व्याघातो भवति । गतं (१३) प्रशस्तस्थानद्वारम् ।

अधुना (१४) प्रशस्तवसतिद्वारमाह—

इंदियपडिसंचारो, मणसंखोभकरणं जहिं नत्थि ।
चाउस्सालाऽऽइ दुवे, अणुन्नवेऊण ठायंति ॥४८८॥

यत्र इन्द्रियप्रतिसंचारो न भवति । किमुक्तं भवति ?—यत्र अनिष्टा इष्टा वा शब्दा न श्रूयन्ते, नापीष्टाऽनिष्टानि रूपाणि । एवं गन्धाऽऽदिष्वपि भावनीयम् । मनःसंक्षोभकरणं च यत्र नास्ति तत्र चतुःशालाऽऽदिके द्वे वसती अनुज्ञाप्य प्रतिग्राह्ये आदिशब्दात्—त्रिशालद्विशालाऽऽदिपरिग्रहः । वसतिद्वयं च गृहीत्वा एकत्र भक्तप्रत्याख्याता स्थाप्यते ; अपरत्र च गच्छसाधवः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—अशनाऽऽदीनां गन्धेन भक्तप्रत्याख्यातुरभिलाषो माभूदिति हेतोः ।

पाणग जोग्गाहारे, ठवेंति से तत्थ जत्थ ण उवेंति ।
अपरिणया व सो वा, अप्पच्चयगेहि रक्खट्ठा ॥४८९॥

पानकं, योग्यमाहारं च ( से ) तस्य भक्तप्रत्याख्यातुः, तत्र प्रदेशे वृषभाः स्थापयन्ति, यत्र ( न ) नैव अपरिणताः साधवः, स वा भक्तप्रत्याख्याता समागच्छति । किं कारणं तत्र स्थापयन्तीत्यत आह-अप्रत्ययगृद्धिरक्षार्थं, कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य दीयमानं दृष्ट्वा मा भूदपरिणतानामप्रत्ययो, भक्तप्रत्याख्यातुस्तु तद् दृष्ट्वा गृद्धिरिति हेतोः ।

अत्राऽऽह-यदि तेन भावतस्त्यक्त आहारस्ततः कथं तस्य गृद्धिरुपजायते ?, तत आह—

भुत्तभोगी पुरा जो वि, गीयत्थो वि य भाविश्रो ।
संतेसाहारधम्मेसु, सोऽपि खिप्पं तु खुब्भए ॥४६०॥

योऽपि पुरा-पूर्वं भुक्तभोगी गीतार्थो भावितोऽपि च सोऽपि सत्सु आहारधर्मेषु आहारग्रहणधर्मेषु क्षिप्रं-शीघ्रमाहारदर्शनतः क्षुभ्यति—स्वप्रतिज्ञां विलुप्याऽऽहारं याचते।

तथा—

पडिलोमा ऽणुलोमा वा, विसया जत्थ दूरतो ।
ठावेत्ता तत्थ से निच्चं, कहणा जाणगस्स वि ॥४६१॥

यत्र प्रतिलोमाऽनुलोमा वा विषया दूरतस्तत्र तं स्थापयित्वा ( से ) तस्य जानतोऽपि नित्यं कथना भवति। गतं (१४) वसतिद्वारम्।

इदानीं ( १५ ) निर्यापकद्वारमाह—

पासत्थोसन्नकुसी-लठाणपरिवज्जिया उ निज्जवगा ।
पियधम्मऽवज्जभीरू, गुणसपन्ना अपरितंता ॥४६२॥

पार्श्वस्थाऽवसन्नकुशीलस्थानपरिवर्जिता प्रियधर्माणोऽवद्यभीरवो गुणसम्पन्ना अपरि ( श्रा ) तान्ता-अपरिश्रान्ता निर्यापका. ।

अथ पुनस्ते निर्यापकास्तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य किं कुर्वन्ति, कियन्तो वा ते इष्यन्ते ?—

उच्चत्त१ दार२ संथा-
र३ कहग४ वादीअ५ अग्गदारम्मि६ ।
भत्तं७ पाण८ विआरे९-१०,
कहग११ दिसा१२ जे समत्था य ॥४६३॥

ये तं-कृतभक्तप्रत्याख्यानम् उद्वर्त्तयन्ति परावर्त्तयन्ते ते चत्वार १, ये अभ्यन्तरमूले तिष्ठन्ति तेऽपि चत्वारः२, संस्तारकारका अपि चत्वार.३, येऽपि तस्य धर्मं कथयन्ति तेऽपि चत्वारः४, वादिनो लोकस्योत्सुण्ठवचनप्रतिकारिणः तेऽपि चत्वार.५, अग्रद्वारे ये तिष्ठन्ति तेऽपि चत्वार.६, ये योग्यं भक्तमानयन्ति तेऽपि चत्वारः७, पानकस्यापि तद्योग्यस्याऽऽनेतारश्चत्वार.८, उच्चारपरिष्ठापकाश्चत्वार ९, प्रश्रवणपरिष्ठापका अपि चत्वार.१०, बहिर्लोकस्य धर्मकथकाश्चत्वार ११, चतसृष्वपि दिक्षु सहस्रमल्लाश्चत्वार. १२। एते द्वादश चतुष्कका अष्टाचत्वारिंशद्भवन्ति ।

कीदृशा पुनरेते निर्यापका. ?, इत्यत आह—

जो जारिसश्रो कालो, भरहेरवएसु होइ वासेसु ।
ते तारिसया तइया, अडयालीसं तु निज्जवगा ॥४६४॥

यो यादृशः कालो भरतैरवतेषु च वर्षेषु भवति ते तादृशास्तत्कालानुरूपिणो निर्यापका अष्टचत्वारिंशद्दत्तव्या. ।

एए खलु उक्कोसा, परिहायंता हवंति तिन्नेव ।
दो गीयत्था तइए, असुन्नकरणं जहन्नेणं ॥ ४६५ ॥

एते-अनन्तरोदितसङ्ख्याका खलु उत्कर्षा-उत्कृष्टास्तथैककपरिहान्या परिहीयमानास्तावद्भवन्ति यावज्जघन्येन कृतभक्तप्रत्याख्यानेन सह त्रय. । तत्र द्वौ गीतार्थौ निर्यापकौ, तृतीयो भक्तप्रत्याख्याता । तत्रायं विधि -एकस्य गीतार्थस्य भक्तपानमार्गणाय गमन, द्वितीयेन तृतीये तृतीयस्य भक्तप्रत्याख्यातुरशून्यकरणम् . एक' तत्पार्श्वे तिष्ठति, अपरो भक्तपाने मार्गणाय गच्छतीति भाव' । गत(१५) निर्यापकद्वारम्। व्य० १० उ०। ध० । (भक्तप्रत्याख्यानवक्तव्यता 'परिहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६७२ पृष्ठे विरतो गता )

अधुना "दव्वदायणा चरिमे" इत्यस्य(१६) द्वारस्य व्याख्यानार्थमाह—

तस्स य चरिमाऽऽहारो, इट्ठो दायव्वो तण्हछेयट्ठा ।
सव्वस्स चरिमकाले, अतीव तण्हा समुप्पज्जे ॥ ४६६ ॥

भक्तप्रत्याख्यायकस्य सर्वस्यापि चरमकाले अतीव तृष्णा-आहारकाङ्क्षा समुत्पद्यते , तेन तस्य भक्तप्रत्याख्यातुकामस्य तृष्णाच्छेदार्थम्-आहारकाङ्क्षाव्यवच्छेदाय, इष्टश्चरमाऽऽहारो दातव्यः ।

नव विगति सत्त ओयण, अट्ठारस वंजणुच्च पाणं च ।
अणुपुव्विविहारीणं, समाहिकामाण उवहरिउ ॥४६७॥

नव विकृतय.-अनवगाहिमदशमा शाल्यादिभेदनः, सप्तविध ओदनोऽष्टादश व्यञ्जनानि शास्त्रप्रसिद्धानि, उच्चम्-प्रतिप्रशस्य, पानं द्राक्षापानाऽऽदि, एतत्सर्वमनुपूर्वीविहारिणामानुपूर्व्या शनैराहारमोचनेन भक्तप्रत्याख्यान प्रापयतां समाधिकामाना समाधिमभिलषतां समाधिकरणनिमित्तमुपहृत्य दत्वा तस्य तृष्णाव्यवच्छेदः क्रियते ।

अथवा—

कालसहावाणुमतो,पुव्वं जुसितो सुश्रो व दिट्ठो वा ।
झोमिज्जइ सो से तह,जयणाएँ चउव्विहाहारो ॥ ४६८ ॥

कालानुमत., स्वभावानुमतश्च तेन यः पूर्वमाहारो योषितः सेवित.,स कथं साधुभिर्दातव्यः ईदृश एतस्य कालस्वभावानुमत. आहारः,श्रुतो वा कस्यापि कथनतो, दृष्टो वा कदाचित्साक्षाद्दर्शनात् परिज्ञातो यथैतस्य ईदृश आहारो रोचत इति । स चतुर्विधः अशनपानखादिमस्वादिमरूपो यतनया प्रथमत उद्गमाऽऽदिशुद्धस्याऽलाभे पञ्चकपरिहाण्या याचित्वा ( से ) तस्य भक्त प्रत्याख्यातुकामस्य जोषिष्यते-दीयत इत्यर्थः ।

अथ को गुणस्तस्य चरमाहारेण दत्तेनेत्य ?,तत आह—

तण्हाछेयम्मि कए, न तस्स तहियं पवत्तए भावो ।
चरिमं च एस भुंजइ, सद्धाजणणं दुपक्खे वि ॥४६९॥

तेन चरमाऽऽहारेण प्रदत्तेन तृष्णाछेदः-आहारकाङ्क्षाव्यवच्छेदे कृते न भूयस्तत्राऽऽहारविषये तस्य भाव.-इच्छा प्रवर्त्तते, वक्ष्यमाणवैराग्यभावनाप्रवृत्ते. । तथा चरमाहारमेष भुङ्क्ते इति श्रद्धाजनन द्विपक्षेऽपि-भक्तप्रत्याख्यातुर्निर्यापकाणा चेत्यर्थ । तथाहि-भक्तप्रत्याख्याता इदं चिन्तयति—अयमभ्युद्यतमरणसमुद्रस्य तीर प्राप्तो, दुर्लभमेतत् , निस्तीर्णोऽह संसारादिति गाढतरं ध्यानमुपगता भवति । निर्यापका अप्येव चिन्तयन्ति-वयमप्येवमभ्युद्यतमरणस्य तीरे प्राप्ता भविष्यामः। यस्मादेतस्य चरमाहारदाने गुणास्तस्मादवश्य स दातव्य. ।

अथ तृष्णाव्यवच्छेदः केनाऽऽका-
रेण तस्य वैराग्यभावना प्रवर्त्तत इत्याह—

किं वा तन्नोवभुत्तं मे, परिणामाऽसुई तहा ( सुई ) ।
दिट्ठसारो सुहं झाति, चोयणेसेत्र सीयति ॥ ५०० ॥

चरमाऽऽहारे प्रदत्ते तृष्णाव्यवच्छेदे च जाते स एवं वैराग्यमार्गमभिगमयति,किं वा तदस्ति भोज्यं, यत्पूर्वं गृहवासे, प्रव्रज्यापर्याये वा, मया नोपभुक्तं, परं शुद्धयति तत् भुक्तं परिमाणात्-परिणामवशेन अशुचिः सञ्जायते, तथा आहारसंज्ञोपयुक्तो जीवः कर्म्मणां बन्धको भवति, आहारगृद्धेर्निवृत्तः सुखभागी। एवं प्रत्यक्षत आगमतश्च दृष्टसारः-उपलब्धतत्त्वः, सुखं धर्म्मध्यानं ध्यायते। तथा यदि च आहारे प्रदत्ते भूयस्तत्रैवानुबन्धतः प्रसीदति तदेतस्य तदा सीदत एषैवाधिकृतश्लोकार्थरूपा चोदना-प्रज्ञापना कर्त्तव्या ।

" वोसिज्जइ सो से तह जयणाए चउव्विहाऽऽहारो " ( ४६८ ) इत्यस्य व्याख्यानमाह—

तिविहं तु वोसिरेहिइ, ताहे उक्कोसगाइं दव्वाइं ।
मग्गित्ता जयणाए, चरिमाहारं पदंसंति ॥ ५०१ ॥

त्रिविधं-मनसा वाचा कायेन भक्तं प्रत्याख्यातुकाम आहारं व्युत्सृजयति, तत उत्कृष्टानि द्रव्याणि यतनया उद्गमाऽऽदिशुद्धलाभे पञ्चकपरिहाण्या मार्गयित्वा-याचित्वा चरिममाऽऽहारं तस्य प्रदर्शयन्ति ।

पासित्तु ताणि कोइ, तीरप्पत्तस्स किं ममेतेहिं ? ।
वेरग्गमणुप्पत्तो, संविग्गपरायणो होइ ॥ ५०२ ॥

तानि उत्कृष्टानि द्रव्याणि दृष्ट्वा कश्चित्तीरप्राप्तस्याभ्युपगतमरणसमुद्रपारमुपागतस्य ममैतैः किं कार्यमित्येवं वैराग्यमनुप्राप्तः संवेगपरायण: सर्वथा निवृत्ताहाराभिलाषो भवति ।

सव्वं भोच्चा कोई, मणुन्नरसपरिणतो भवेज्जाहि ।
तं चेवऽणुबंधंतो , देसं सव्वं च गेही य ॥ ५०३ ॥

कोऽपि पुनः सर्वमुत्कृष्टं भुक्त्वा मनोज्ञरसपरिणतः उत्कृष्टरसगृद्धो भवति, ततो देशं सर्वं वा ( गेही ति ) गृद्धात् तमेवोत्कृष्टमाहाररसमनुबध्नन्-अभिलषन् तिष्ठति ।

विगतीकयाणुबंधे, आहारऽणुबंधणाएँ वोच्छेदो ।
परिहायमाणेँ दव्वे, गुणवुड्ढिसमाहिअणुकंपा ॥ ५०४ ॥

विकृतिषु कृतो योऽनुबन्धस्तस्मिन् सति, आहाराऽनुबन्धना या च सत्या तस्य विकृत्यनुबन्धस्याऽऽहारानुबन्धस्य च "किं च तन्नोवभुत्त मे,परिणामाऽसुई तहा(५००)"इति प्रकारेण व्यवच्छेद: कर्त्तव्यः १६ ॥ सम्प्रति (१७) हानिद्वारमाह-"परिहायमाणे" इत्यादि । यानि चरमाहारद्रव्याण्यानीतानि तानि तद्विषयमनुबन्धं कुर्वत: परिमाणतो द्रव्यतश्च परिहीयमानानि कर्त्तव्यानि । अथ किं कारणं यदाहारे अनुबन्धं कुर्वन्तो भक्तपानं च दीयते ? । उच्यते-( गुणवुड्ढिसमाहिअणुकंपा इति ) स भक्तं प्रत्याख्यातुकामोऽनुकम्पनीयोऽनुकम्प्यमानस्यासमाधिमरणप्रसङ्के । ततोऽनुकम्पने आहारे प्रदत्ते सति तस्य समाधिरुपजायते, समाधितश्च प्रज्ञापयितु शक्य:. प्रज्ञापितश्चाऽऽहारव्यवच्छेदं करिष्यति, ततोऽभ्युद्यतमरणे गाढं ध्यानोपगतस्य गुणवृद्धिः—कर्म्मनिर्जरा भवति ।

अथ चरमाऽऽहारे द्रव्याणां परिमाणतो द्रव्यतश्च परिहानिः कथ कर्त्तव्येत्यत आह—

दविएँ परिमाणतो वा, हावेंति दिणेँ दिणेँ जाव तिन्नि ।
बेंति न लब्भइ दुलभे,सुलभम्मि उ हो इमा जयणा ।५०५।

चरमाऽऽहारद्रव्याणि द्रव्यतश्चयया परिमाणतश्च दिने दिने यावत्त्रीणि दिनानि, तत्र परिमाणतो दिने दिने स्तोकं स्तोकतरमानयन्ति । द्रव्यपरिहानिः पुनरेवम्-यदि क्षीरं चरमाऽऽहारार्थतया समानीतं ततो द्वितीयदिवसे तन्नाऽऽनयन्ति, किं तु दध्यादिकम् । अथ चरमाऽऽहारार्थतया दध्यानीतं ततो द्वितीयदिने क्षीराऽऽद्यानयन्ति; न तु दधि । एवं द्रव्यपरिहानिस्त्रीन् दिवसान् ; ततः परतः न किञ्चिदानीयते तत्र दुर्लभद्रव्यविषये एवं ब्रुवते-न लभ्यते, सुलभे तु द्रव्ये इयं वक्ष्यमाणा यतना भवति ।

तामेवाऽऽह—

आहारे तत्र छिंदाहि, गेहिं तो णं चइस्ससि ।
जं वा भुत्तं न पुव्वं ते, तीरं पत्तो तमिच्छसि ॥५०६॥

आहारे—आहारविषया तावत् गृद्धिं छिन्धि, तत एतत् शरीरं त्यक्ष्यसि,नान्यथा । यद्वा-पूर्वं त्वया निःस्पृहतया न भुक्तं तदिदानीमभ्युद्यतमरणसमुद्रस्य तीरं प्राप्त इच्छसि । एवमनुशासनेन तस्याऽऽहाराऽऽकाङ्क्षा विनिवर्त्तते । गतम् (१७) हानिद्वारम् ।

इदानीम् (१८) अपरितान्तद्वारमाह—

वट्टंति अपरितंता, दिया य रातो य से य पडिकम्मे ।
पडियरगा गुणरयणा, कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥५०७॥

प्रतिचरकाः गुणरत्ना: कर्मरजो निर्जरयतस्तस्य: कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य प्रतिकर्म्मणि दिवा रात्रौ वा अपरि (त्रा) तान्ता ( अविश्रान्ता ) वर्त्तन्ते ।

जो जत्थ होइ कुसलो,सो उ न हावेइ तं सइ बलम्मि ।
उज्जुत्ता सनियोगे, तस्स वि दीवेंति त सद्धां ॥५०८॥

यो यत्र प्रतिकर्म्मणि भवति कुशल:, स तत्प्रतिकर्म्म सति बले न हापयति , किंतु सर्वेऽपि स्वस्वनियोगे उद्युक्तास्तथा वर्तन्ते. तद् यथा-तस्यापि कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य ताम् अभ्युपगतमरणसमुद्रतीरप्राप्तत्वविषयां श्रद्धां दीपयन्ति ।

देहवियोगो खिप्प, च होज्ज अहवा वि कालहरणेणं ।
दोण्हं पि निज्जरा व-ड्ढमाण गच्छो उ एगट्ठं ॥५०९॥

तस्य: कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य देहवियोग: क्षिप्रं वा भवेत् , अथवा कालहरणेन , तथाऽपि स्वस्वनियोगोद्युक्तैस्तैर्भवितव्यम् । एवं च द्वयानामपि प्रतिचरकाणां प्रतिचर्यस्य च प्रवर्द्धमाना निर्जरा कर्म्मनिर्जरा भवति । गच्छो हितदर्थे-परस्परोपकारेणोभयेषा निर्जरा स्याद्-इत्येवमर्थमासेव्यते । गतम् (१८) अपरि (त्रा) तान्तद्वारम् ।

अधुना (१९) निर्जराद्वारमाह—

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नतरगम्मि जोए, सज्झायम्मी विसेसेण॥ ५१० ॥

स यत्रस्मिन् योगे प्रतिलेखनाऽऽदिरूपे आयुक्त उपयुक्तः

सन् अनुसमयमेव-प्रतिक्षणमेव कर्म्म असंख्येयभवोपार्जितं क्षपयति; कर्म्मणोऽनन्तकालम(न)न्तस्यानाभावादसंख्येयभव-मित्युक्तम्। स्वाध्याये पुनरायुक्त सन् विशेषेण कर्म्म क्षपयति ।

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नतरगम्मि जोगे, काउस्सग्गे विसेसेणं ॥ ५११ ॥
कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नतरगम्मि जोगे, वेयावच्चे विसेसेणं ॥ ५१२ ॥
कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नतरगम्मि जोगे , विसेसओ उत्तमट्ठम्मि ॥ ५१३ ॥

गाथात्रयमपि प्राग्वत्, नवरम्, उत्तमार्थे-उत्तमार्थे प्रतिपन्नस्य वैयावृत्त्ये च विशेषत. कर्म्मनिर्जरा भवतीति विशेषत उभयत्रापि यतितव्यम् । गतम् (१६) निर्ज्जराद्वारम्।

अथ (२०) संस्तारकद्वारमाह—

संथारो उत्तमट्ठे, भूमिसिलाफलगमादि नायव्वो ।
संथारपट्टमादी, दुगवीरातू बहू वा वि ॥ ५१४ ॥

उत्तमार्थे व्यवस्थितस्य संस्तारको दातव्यो भूमिः-भूमिरूपः, शिला वा प्रधानशिलातलरूप., एतौ च द्वावपि-अस्फुटिताविशुषिरौ कर्त्तव्यौ । तत्र स्थितो वा निषण्णो वा यथासमाधि तिष्ठतु, फलकं वा संस्तारको दातव्यः, तच्च फलकमेकादिकमानेतव्यम्,तस्याभावे द्व्यादिफलकाऽऽत्मकः तस्याप्यभावे निरन्तरकम् व्यात्मको दातव्यः । एतत् आदिशब्दस्य व्याख्यानम्। इदानीमास्तरणमाह-संस्तारकोत्तरपट्ट इत्येतत्प्रस्तरणमुत्सर्गत । अपवादत आह-( बहू वा वि ) यदि सोत्तरपट्टसंस्तारकमात्रे तस्य असमाधिरुपजायते तदा बहून्यपि प्रस्तार्यन्ते तस्य कल्पप्रभृतीनि—

तह वि असंथरमाणे, कुसमादीणि तु अझुसिरतणाइं ।
तेमऽसति असंथरणे,झुसिरतणाइं ततो पच्छा ॥५१५॥

अथ कल्पप्रभृतिसंस्तरणेऽपि तस्यासमाधिरुपजायते तदा कुशाऽऽदीनि—दर्भाऽऽदीनि अशुषिराणि तृणानि प्रस्तार्यन्ते, तेषामसति-अभावे असंस्तरणे च सति ततः पश्चात् शुषिराण्यपि तृणान्यानीयन्ते ।

कोद्दव पावारग णवय-तूली आलिंगिणी अ भूमीए ।
एमेव अणहियासे, संथारगमाइ पल्लंके ॥ ५१६ ॥

यदि तृणेष्वपि प्रस्तारितेषु न समाधिस्तदा कोद्रवाऽऽदे-रख्यि प्रस्तार्यते । तत्रापि समाधेरनुत्पादे प्रावारक , तत्राऽप्यसमाधौ नवतं-जीर्णं ( ऊर्णाविशेषमयम्) तत्रापि समाध्यलाभे तूली, आलिङ्गिनी चोभयत प्रस्तार्यते । एतत्सर्वं भूमौ कर्त्तव्यम् । अथैवमपि नाध्यास्ते —न समाधिं प्राप्नोति, तदा संस्तारकाऽदि पूर्वक्रमेण पल्यङ्के प्रस्तारणीयं, यावत्पर्यन्ते तूलिका उभयत आलिङ्गिनी वा। गतं (२०) संस्तारकद्वारम्।

इदानीम् ( २१ ) उद्वर्त्तनाऽऽदिद्वारमाह—

पडिलेहणसंथारं, पाणग उव्वत्तणाइनिग्गमणं ।
सयमेव करेइ सहू , असहुस्स करेंति अन्ने उ ॥५१७॥

यो भक्तप्रत्याख्याता सहः—समर्थः स स्वयमेवाऽऽत्मीयस्योपकरणस्य प्रत्युपेक्षणं संस्तारकम्—संस्तारकप्रदानम्, पानकं—पानकग्रहणम् , उद्वर्त्तनाऽऽदि—उद्वर्त्तनापवर्त्तनं अन्त प्रदेशात् बहि ,बहिःप्रदेशादन्त प्रवेशनं करोति,असहस्य असमर्थस्य पुनरन्ये सर्वं कुर्वन्ति ।

कथमित्याह—

कायोवचितो बलवं, निक्खमणपवेसणं च से कुणइ ।
तह वि य अविसहमाणं, संथारगयं तु संचारे ॥५१८॥

कायेन-शरीरेणोपचितो बलवान् (से)तस्यान्तःप्रदेशाद्बहिर्निष्क्रामणं, बहिःप्रदेशादन्त प्रवेशनं करोति, यद्यप्यन्यच्चोद्वर्त्तनाऽपवर्त्तनाऽऽदिक सञ्चार्यमाणोऽपि सोऽविसहमान सञ्चार्यते । अथ तथाऽपि स न विषहते-न समाधिं प्राप्नोति तदा तं तथाऽप्यविषहमाण संस्तारगतं सञ्चारयन्ति।

संथारो मउओ तस्स, समाहिहेउं तु होइ कायव्वो ।
तह वि य अविसहमाणो, समाहिहेउं उदाहरणं॥५१६॥

समाधिहेतो -समाधेरुत्पादनाय य तस्य संस्तारको मृदुको भवति कर्त्तव्यो यावत्पल्यङ्के तूल्या आलिङ्गनपट्टिकायाश्च समास्तरणमिति । तथाऽपि अविषहमाणे-समाधिमलभमाने समाधिहेतो'-समाधिसम्पादनाय इदम्-वक्ष्यमाणमुदाहरण प्रोत्साहनेऽनन्तरोक्तमुदाहरणम्,प्रोत्साहन कर्त्तव्यम्।

तदेवाऽऽह—

धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्पुरिसनिसेविए परमरम्मे ।
धण्णा सिलातले गया, निरवेयक्खा निवज्जंति ॥५२०॥

धन्या केचन धीरपुरुषप्रज्ञप्ते-तीर्थकरगणधरनिरूपिते,सत्पुरुषनिषेविते-तीर्थकराऽऽदिभिरासेविते,परमरम्ये शिलातले गता-व्यवस्थिता निरपेक्षाः-पराऽपेक्षारहिता. (निवज्जति) निपद्यन्ते-नितरामभ्युद्यतमरणं प्रपद्यन्ते ।

जति ताव सावयाकुल-गिरिकंदरविसमकडगदुग्गेसु ।
साहेंति उत्तिमट्ठं, धितिधणियसहायगा धीरा ॥ ५२१ ॥
किं पुण अणगारसहा-यगेण अण्णोण्णसंगहबलेणं ।
परलोइएन सक्का, साहेउं उत्तिमो अट्ठो ॥ ५२२ ॥

यदि तावत् धृतिरेव केवला धणियम्-अत्यर्थं सहायो येषा ते धृतिधनिकसहायका धीरा स्वापदाऽऽकुलेषु गिरिकन्दरेषु विषमेषु कटकेषु विषमेषु च दुर्गेषु उत्तमार्थं साधयन्ति, किं पुनरनगारसहायकेन-परलोकेन-परलोकार्थिना अन्योन्यसङ्ग्रहबलेन शक्य. साधयितुमुत्तमार्थ इति ।

जिणवयणमप्पमेयं, महुरं कन्नाऽऽहुतिं सुणेंताणं ।
सक्का हु साहुमज्झे, संसारमहोयहिं तरिउं ॥ ५२३ ॥

जिनवचनमप्रमेय मधुर, ललितपदविन्यासाऽऽत्मकत्वात्। कर्णयोराहुतिमिव कर्णाऽऽहुतिं—पावकस्य घृताऽऽहुतिरिव कर्णयोराप्यायकमिति भावः । शृण्वता साधुमध्ये स्थिता-नामक्लेशेन शक्य. संसारमहोदधिस्तरीतुमिति ।

सव्वे सव्वद्धाए, सव्वन्नू सव्वकम्मभूमीसुं ।
सव्वगुरु सव्वमहिया, सव्वे मेरुम्मि अहिसित्ता॥५२४॥
सव्वाहि वि लद्धीहिं, सव्वे वि परीसहे पराइत्ता।

सव्वे वि य तित्थयरा,पाओवगया उ सिद्धिगया ॥५२५॥

सर्वे-सर्वज्ञाः सर्वासु कर्म्मभूमिषु सर्वस्यामद्धायामतीतानागतरूपायां सर्वगुरु च- सर्वमहिता सर्वे मेरावभिषिक्ताः सर्वे आमर्षौषध्यादिभिर्लब्धिभिरुपेताः, सर्वे च तीर्थकरा -तीर्थप्रवर्त्तनशीलाः सर्वान्परीषहान् पराजित्य पादपोपगताः सिद्धिं गताः ।

अवसेसा अणगारा ऽतीयपडुप्पन्नऽणागया सव्वे ।

केई पादोवगया, पच्चक्खाण गिणिं केइ ॥ ५२६ ॥

अवशेषाः-सर्वेऽपि च अनगाराः अतीताः प्रत्युत्पन्ना अनागताश्च केचित्प्रथमसंहननोपेताः पादपोपगताः, केचित्प्रत्याख्यानं-भक्तपरिज्ञा, केचिदिङ्गिनीं प्रतिपन्नाः ।

सव्वाओ अज्जाओ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा ।

सव्वे य देसविरया, पच्चक्खाणेण उ मरंति ॥५२७॥

सर्वा अप्यार्यिकाः, सर्वेऽपि च प्रथमसंहननवर्जाः, सर्वेऽपि च देशविरताः प्रत्याख्यानेन—भक्तपरिज्ञारूपेण म्रियन्ते ।

सव्वसुहप्पभवाओ, जीवियसारा उ सव्वजणयाओ ।

आहाराओ रयणं, न विज्जइ हु उत्तमं लोए ॥५२८॥

सर्वस्य सुखस्य प्रभवः—उत्पादककारणं सर्वसुखप्रभवस्तस्मात्, जीवितसारात् "अन्नं वै प्राणा" इति वचनात्, सर्वस्य यतो जनकः, तस्मात् आहारमन्तरेण कस्याप्युत्पत्तेरभावात्, इत्थंभूतादाहारादन्यदुत्तमं रत्नं लोके न विद्यते, किं त्वाहार एव सर्वोत्तमं रत्नम् ।

रत्नत्वमेवभावयति—

विग्गहगइए सिद्धे, य मोत्तु लोयम्मि जेत्तिया जीवा ।

सव्वे सव्वावत्थं, आहारे हुंति उवउत्ता ॥५२९॥

विग्रहगतीन् विग्रहगत्यापन्नान्, सिद्धांश्च मुक्त्वा शेषा यावन्तो लोके जीवास्ते सर्वे सर्वावस्थं-सर्वास्ववस्थास्वाहारे उपयुक्ता भवन्ति-वर्त्तन्ते, तत आहारः परमरत्नम् ।

तं तारिसयं रयणं, सारं जं सव्वलोअरयणाणं ।

सव्वं परिच्चइत्ता, पादोवगया पविहरंति ॥५३०॥

तत्सर्वलोकरत्नाना मध्ये सारं, तेषु सत्स्वपि तृप्तेरभावात्। आहाररूपं रत्नं तत्तादृशं सर्वं परित्यज्य धन्याः पादपोपगताः प्रविहरन्ति ।

एयं पादोवगमं, निप्पडिकम्मं जिणेहिँ पण्णत्तं ।

जं सोऊणं खमओ, ववसायपरक्कमं कुणइ ॥५३१॥

एतत्पादपोपगमं-मरणं जिनैर्निष्प्रतिकर्म्म प्रज्ञप्तं, यत् श्रुत्वा क्षपको व्यवसायपराक्रमं करोति । गतम् (२१) उद्वर्त्तनाऽऽदिद्वारम् ।

अधुना (२२) " सारे(त्त)ऊण य कवयं " इति द्वारव्याख्यानार्थमाह—

कोई परीसहेहिं वाउलितो वेयणट्टिओ वावि ।

ओहासेज्ज कयाई, पढमं बीअं च आसज्ज ॥५३२॥

कश्चित् प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां व्याकुलितो ध्यानाच्चालितो, यदिवा वेदनया-पीडया आर्दितः-पीडितोऽवभापेत-याचेत्कदाचित्प्रथममशनं द्वितीयं वा पानकमासाद्याधिकृत्य ।

ततः किं कर्त्तव्यमत आह—

गीयत्थमगीयत्थं, सारेउं मतिविबोहणं काउं ।

तं परिबोहिय छट्टे, पढमे पगयं सिया विइए ॥५३३॥

स भक्तप्रत्याख्याता कदाचिद्भ्रान्तया देवतया अधिष्ठितोऽवभाषेत, ततः परिज्ञाननिमित्तं स्मरणं कारयितव्यः । भण्यते-कस्त्वं गीतार्थोऽगीतार्थो वा ? । अथवा-दिवसो वर्त्तते, रात्रिर्वा । तत्र यदि समस्तमवितथं ब्रूते, तदा ज्ञायते—न भ्रान्तदेवतयाऽधिष्ठितः, किं तु परीषहत्याजितो याचते, तदेवं गीतार्थमगीतार्थं चाऽऽत्मानं स्मारयित्वा-स्मरणोत्पादनेन यथावस्थित मतिविबोधनं कृत्वा तं प्रतिबोध्य षष्ठे रात्रिभोजने प्रथमे अशने प्रकृतं स्यात्, द्वितीये वा पानके । किमुक्तं भवति ?-अशने पानके च याचिते तस्य भक्तपानाऽऽत्मकः कवचभूत आहारो दातव्यः ।

अथ किं कारणं प्रत्याख्याय पुनराहारो दीयते ?,

तत आह—

हंदी ! परीसहचमू, जोहेयव्वा मणेण काएण ।

तो मरणदेसकाले, कवयब्भूओ उ आहारो ॥ ५३४ ॥

हन्दीति चोदकाऽऽमन्त्रणे हे चोदक ! परीषहचमूः-परीषहसेना, मनसा कायेन, उपलक्षणमेतत्,वाचा च योधेन-योधयितव्या, ततस्तस्या पराजयनिमित्तं मरणदेशकाले—मरणसमये योधस्य कवचभूत आहारो दीयते ।

एतदेव विभावयिषुरिदमाह—

संगामदुगं महसिल-रहमुसले चेव तप्परूवणया ।

असुरसुरेंदावरणं, चेडय एगो गई सरस्स ॥ ५३५ ॥

चेटकस्य-कोणिकस्य च परस्परं विग्रहे कोणिकपक्षे संग्रामद्वयमसुरेन्द्र -अमरः कृतवान् । तद्यथा-महाशिलाकण्टकं, रथमुशलं च , तस्य प्ररूपणा, यथा व्याख्याप्रज्ञप्तौ तथा कर्त्तव्या ।(विस्तरतः महाशिलाकण्टकसंग्रामस्वरूपम् ' महासिलाकंटय ' शब्दे षष्ठभागे दर्शयिष्यते । रथमुसलसंग्रामस्वरूपं च ' रहमुसल ' शब्दे तस्मिन्नेवभागे उदाहरिष्यते ) असुरेन्द्रेण च शक्रेण कोणिकस्याऽऽवरणं कृतम्, कठिनपञ्जमयप्रतिरूपके स क्षिप्त इत्यर्थः । ततः चेटकस्य एकः शरस्य—कनकप्रहरणविशेषरूपस्य ग्रहं—ग्रहणं कृतवान् । ...थिः कोणिकवधाय

एतदेव स्पष्टयति—

महसिलकंटे तहियं, वट्टते कोणिओ उ रहिएण ।

रुक्खग्गविलग्गेणं, पिट्ठे पहओ उ कणगेणं ॥ ५३६ ॥

उप्फेडिउँ सो कणगो, कवयावरणम्मि तो तओ पडितो ।

तस्स पुण कोणिएणं, सीसं छिन्नं खुरप्पेणं ॥ ५३७ ॥

तत्र महाशिलाकण्टके संग्रामे वर्त्तमाने कोणिकश्चेटकस्य-रथिकेन निरन्तरं शरमोक्षणत आच्छादितः, परं ते सर्वेऽपि शराः कठिनप्रतिरूपकेऽभ्यत्य बहिः पतिताः,ततो वृक्षमारुह्य तद्विलग्नेन कोणिकः पृष्ठे कनकेन प्रहरणविशेषेण प्रहतः, सोऽपि कवचाऽऽवरणे कठिनप्रतिरूपके उत्स्फिट्य तत,

कवचाऽऽवरणात् पतितः ततः कोणिकेन तं तथाऽध्यवसायं वृक्षविलग्नमवलोक्य कोपाऽऽवेशात्तस्य शिरः क्षुरप्रेण छिन्नम् ।

दिट्ठंतस्स उवणओ, कवयत्थाणी इहं तहाऽऽहारो ।
सत्तू परीसहा खलु, आराहण रज्जथाणीया ॥ ५३८ ॥

एषः-अनन्तरोदितो दृष्टान्तोऽयं तस्योपनयः—कवचस्थानीय इह तथारूप आहारः, शत्रवः परीषहाः राज्यस्थानीया आराधना। यथा शत्रुपराजयाय कवचमारोप्यते स ङ्ग्रामे, तथा परीषहजयाय चरमकाले दातव्य आहारः ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा उंचियपादे,पायं काऊण हत्थिणो पुरिसो ।
आरुहइ तह परिण्णी, आहारेणं तु झाणवरं ॥ ५३९ ॥

यथा वा कोऽपि पुरुषो हस्तिनमारोढुमशक्तो हस्तिन पादमाकुञ्चापयति, आकुञ्चाप्य तस्मिन्पादे आत्मीयं पाद कृत्वा हस्तिनमारोहति, तथा परिज्ञी-भक्तपरिज्ञावान् आहारेण ध्यानवरम्-उत्तम ध्यानमारोहति ।

उवकरणेहिँ विहूणो, जह वा पुरिसो न साहए कज्जं ।
एवाऽऽहारपरिण्णी, दिट्ठंता तत्थिमे हुंति ॥ ५४० ॥

यथा पुरुष उपकरणैर्दात्रादिभिर्विहीनो न साधयति लवनाऽऽदिक कार्यम्, एवमाहारमन्तरेण परिज्ञी—भक्तपरिज्ञावान् परीषहपराजयम्। तत्रेमे वक्ष्यमाणा दृष्टान्ता भवन्ति ।

तानेवाऽऽह—

लावए पावए जोहे, संगामे पंथगे वि य ।
आउरे सिक्खए चेव, दिट्ठंतो कवए त्ति य ॥ ५४१ ॥
दातेणं नावाए, आउहपहेणोसहेहिँ च ।
उवकरणेहिँ च विणा, जहसंखमसाहगा सव्वे ॥५४२॥

यथा प्रथमश्लोकोक्ता लावकाऽऽदयः सर्वे यथासङ्ख्यं दात्रादिभिर्द्वितीयगाथोक्तैर्विना न साधकाः।तथाहि—लावको दात्रेण विना लवितुं न शक्नोति । प्लावको नावा विना नद्यादिक लङ्घयितुं न, सङ्ग्रामे योधा आयुधैर्विना शत्रुपराजयं, पथिकः पन्थानं गन्तुम् उपानद्भ्यां विना, आतुरः प्रगुणीभवितुमोषधैर्विना , शिष्यको वादित्रकर्माऽऽदि वादित्रादिभिरुपकरणैर्विना ।

एवाऽऽहारेण विणा, समाहिकामो ण साहएँ समाहिं ।
तम्हा समाहिहेउं, दायव्वो तस्स आहारो ॥ ५४३ ॥

एवं समाधिकाम आहारेण विना समाधिं न साधयति तस्मात्समाधिहेतोस्तस्याऽऽहारो दातव्यः ।

अत्राऽऽक्षेपपरिहारावाह—

सरीरमुज्झियं जेण, को संगो तस्स भोयणे ? ।
समाधिसधणाहेउं, दिज्जए सो उ अंतए ॥ ५४४ ॥

अथ येन शरीरमुज्झितं,को भोजने तस्य सङ्गो येन तत् याचते? उच्यते न च जीविताऽऽशानिमित्तमाहारं याचते, किं तु समाधिमसहमानस्तत एतदस्माभिर्ज्ञात्वा मा तस्य समाधिव्याघातो भूयादिति समाधिसन्धानहेतोराहार, अन्तसमये दीयते ।

केन विधिनेत्यत आह—

सुद्धं एसित्तु ठावेंति, हाणीतो वा दिणे दिणे ।
पुव्वुत्ताए तु जयणाए, तं तु गोवेंति अप्पहिं ॥ ५४५ ॥

शुद्धम्- उद्गमाऽऽदिदोषरहितमेषित्वा—गवेषित्वा स्थापयन्ति हानौ वा शुद्धालाभे दिने दिने पूर्वोक्तया पञ्चकपरिहाणिलक्षणया यतनया गवेषयित्वा तत् अन्यत्र गोपयन्ति, गोपयित्वा यदि प्रतिदिन संशुद्धस्य यतनया वा अलाभे पर्युषितमपि क्रियते, ततो यथावसरं प्रयच्छन्ति २२।

सम्प्रति (२३) चिह्नकरणद्वारमाह—

निव्वाघाएणेवं, कालगएँ विगिंचणा उ विहिपुव्वं ।
कायव्व चिंधकरणं, अचिंधकरणे भवे गुरुगा ॥ ५४६ ॥

एवम् -उक्तेन प्रकारेण निर्व्याघातेन-व्याघाताऽभावेन कालगते तस्य विधिपूर्वं विवेचना-परिष्ठापना कर्त्तव्या । तथा कर्त्तव्यं चिह्नकरणम्, अचिह्नकरणे-चिह्नकरणस्याऽभावे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । तच्च चिह्नकरणं द्विधा-शरीरे, उपकरणे च । 'तत्र शरीरे-भक्तं प्रत्याख्यातुकामेन लोचः कर्त्तव्यो, यदि प्रत्याख्यातेऽपि भक्ते पर जीवतो लोच वर्द्धते तथाऽप्यवश्य लोचं करोति, कारयति वा; उपकरणे रजोहरणमस्य समीपे क्रियते, चोलपट्टश्चाप्रतो, मुखे च मुखपोत्तिका ।

चिह्नकरणाऽभावे दोषानाह—

सरीरे उवगरणम्मि य,अचिंधकरणम्मि सो उ रातिणिओ।
मग्गणगवेसणाए, गामाणं घायणं कुणइ ॥ ५४७ ॥

शरीरे, उपकरणे च अचिह्नकरणे चिह्ने अकृते अयमन्यो दोषः—स कालगतो रत्नाधिक' स्यात् , तं चाकृतचिह्नमद्राक्षीत दृष्ट्वा केचित् गृहस्थाः । चिन्तयन्ति-केनाप्येष गृहस्थो बलात्कारेण मारयित्वा त्यक्त' ततस्तैर्दण्डिकस्य कथितं, सोऽपि दण्डिक' श्रुत्वा कैश्चिन्मारितो भवेदिति तेषा मार्गणगवेषणार्थं तत्प्रत्यासन्नग्रामाणा पञ्चाना दशानां वा घातन दण्डनं कुर्यात् २३ ।

सम्प्रति (२४ अन्तर्वहिर्व्याघात इति द्वारमाह—

न पगासिज्ज लहुत्तं, परीसहउदएण हुज्ज वाघातो ।
उप्पन्ने वाघाते, जो गीअत्थाण उवग्घातो ॥ ५४८ ॥

स भक्तप्रत्याख्याता गृहिणा न प्रकाश्यते यतः कदाचित् परीषहस्योदयेन प्रत्याख्यानस्य व्याघातो विलोप स्यात्, ततः समस्तस्यापि प्रवचनस्य लघुता जायते, उत्पन्ने च व्याघाते यो गीतार्थानामुपाय स प्रयोक्तव्य इति वाक्यशेषः।

को गीयाण उवाओ, संलेहमतो ठविज्जए अन्नो ।
अच्छइ ते जोवऽन्नो, इतरो उ गिलाणपडिक्कमं ॥५४९॥
वसभो वा ठाविज्जति, अप्पस्सासवतीएँ तम्मि संथारे ।
कालगओ त्ति य काउसंझाकालम्मि णीणंति ॥५५०॥

भक्तप्रत्याख्याता द्विविध, एकोऽनेकश्च । ते द्विविधाः,ज्ञाता, अज्ञाताश्च । ज्ञातो नाम-दण्डिकाऽऽदीना, प्राकृतजनाना च विदितस्वरूपो यथा यावज्जीवमेव भक्त प्रत्याख्यातवान्, तद्विपरीतोऽज्ञात । तत्र यदि ज्ञातो भक्तपरिज्ञा न निस्तरति तदा को गीतार्थानामुपाय, प्रयोक्तव्यः? उच्यते तदा स जवनिकान्त-

दितः स्थापितो यो वाऽस्य उत्सहते स स्थाप्यते। इतरस्य तु भक्तपरिज्ञाव्याघातवतो ग्लानपरिकर्म्म क्रियते, अथान्यसंलेखनगतो न विद्यते,नाप्यन्य. कश्चिदुत्सहते,तदाऽन्यस्यासत्य भावे वृषभः स्थाप्यते तस्मिन्पूर्वभक्तप्रत्याख्यायकसत्के संस्तारे। ततो जवनिकान्तरितया लोकवन्दापनाऽऽदियतनया स करोति। यस्तु भक्तपरिज्ञाविलोपवान् सोऽल्पसागारिक एकान्ते म्रियते, मृतस्य च ग्लानपरिकर्म्म तावत् क्रियते यावत् प्रथमालिका करोति, ततोऽत्र जनमध्ये रात्रौ स कालगत इति प्रकाशः, स्वयं गमनेन सहायप्रदानतो वा सन्ध्याकाले तं निष्काशयन्ति।

एतदेव भावयति—

एवं तु नायम्मी, दंडिगमादीहिँ होइ जयणा उ।
सयं गमण पेसणं वा,खिसण चउरो अणुग्घाया ॥५५१॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण दण्डिकाऽऽदिभिर्ज्ञाते भवति यतना कर्तव्या। प्रथमालिकाकरणे स्वयं सर्वेषां साधूनां गमनं भवति। यदि वा-ससहायस्य अन्यत्र तस्य प्रेषणम्। यस्तु तं भक्तपरिज्ञाव्याघातवन्तं खिंसयति—भक्तप्रत्याख्यानप्रतिभग्न एष इति, तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुकाः यस्तु न ज्ञातः स यदि न निस्तरति तथाऽपि न प्रवचनस्योड्डाहः। गतं सपराक्रमं भक्तप्रत्याख्यानम्।

अपराक्रमयाऽऽत्रमाह—

सपरिक्कमे जो उ गमो, नियमा अपरक्कमम्मि सो चेव।
नवरं पुण णाणत्तं, खीणे जंघावले गच्छे ॥ ५५२ ॥

सपराक्रमे भक्तप्रत्याख्याने यो गमोऽभिहितः स एवापराक्रमेऽपि नियमाद्वेदितव्यो, नवरं पुनरिदं नानात्वमपराक्रमे क्षीणे जङ्घाबले भवति स्वगच्छे एव। तथाहि-क्षीणे जङ्घाबले कृशत्वेन मर्तुकामः स्वगच्छे भक्तं प्रत्याचष्टे।

संप्रति व्याघातिममाह—

एमेव आणुपुव्वी, रोगायंकेहिं णवरि अभिभूतो।
बालमरणं पि य सिया, मरिज्जउ इमेहिं हेऊहिं ॥५५३॥

एवमेव-अनेनैव प्रकारेणाऽऽनुपूर्व्या क्रमेण व्याघातिमं प्रतिपत्तव्यं,नवरं रोगाऽऽतङ्कैरभिभूतः स एतत् प्रतिपद्यते। एतावान् विशेषः-यदि पुनरेभिर्वक्ष्यमाणैर्हेतुभिर्म्रियेत् तदा तत् व्याघातिमं बालमरणमपि स्यात्।

तानेव हेतूनाह—

वालऽच्छभल्ल विस विसू-इका य आयंकमग्गि कोसलए।
ऊसास गिद्ध रज्जू, ओमऽसिवे घाएँ संबद्धो ॥ ५५४ ॥

व्यालो-गोनसाऽऽदिः, अच्छभल्ल. प्रतीतौ, विष, विसूचिका च प्रतीता, आतङ्क.-क्षयाऽऽदिव्याधिः, मग्निकोशल के कोशलश्रावके प्रत्यनीके संजाते, उच्छ्वासनिरोधे, गृध्रपृष्ठकरणे रज्ज्वा उत्कलम्बनम्। अवमे-दुर्भिक्षे अशिवे घातो-विद्युदाऽऽदिभिरभिघातः, संबद्धं वा तेन हस्तपादाऽऽदि आसमैतैर्हेतुभिर्व्याघातिमं बालमरणमपि भवति।

कथमित्याह—

वालेण गोणसादी, खदितो हुज्जा सढिउमारद्धो।
अच्छादिणाभिगादी, विभंगिया अऽच्छभल्लेहिं ॥ ५५५ ॥

व्यालेन गोनसाऽऽदिना स खादितो भवेत्ततः शटितुमारब्धवान् बालमरणमपि कुर्यात्। यदि वा-अच्छभल्लेन-ऋक्षेण कर्णौष्ठनासिकाऽऽदीनि विभग्नानि भवेयु, ततो बालमरणमाश्रयेत।

विषाऽऽदिहेतूनाह—

विसलद्धो होज्जा वा, विसूइया वा से उट्ठिया होज्जा।
आयंको वा कोई, खयमादी उट्ठिओ होज्जा ॥ ५५६ ॥
तिण्णि उ वारा किरिया,तस्स कया हवेज्ज नो उ उवसंतो।
जइ वोमे कोसलेणं, सण्णिणा पंच उ सयाइं ॥५५७॥
साहूणं रुद्धाइं, अहं यं भत्तं तु तुज्झ दाहामो।
लाभंतरं च नाउं, लुद्धेणं धन्न विक्कीतं ॥ ५५८ ॥

विषेण वा कश्चित् लब्धो भवेत् वि (सू) शूचिका वा (से) तस्य उपस्थिता, आतङ्को वा कोऽपि क्षयाऽऽदिस्तस्योत्थितो भवेत्, तस्य च त्रीन् वारान् क्रिया कृता, परं नोपशमते, ततो बालमरणं प्रतिपद्यते। तथा च अवमे-दुर्भिक्षे कोशलेन संज्ञिना श्रावकेण, साधूनां पञ्चशतान्यन्यत्र गच्छन्ति निरुद्धानि यथाऽहं भक्तं युष्माकं दास्यामि; तेन च पापीयसा लुब्धेन लाभान्तर-लाभविशेष ज्ञात्वा धान्यं विक्रीतम्।

ततः किमित्याह—

तो णाउ विच्छेयं, ऊसासनिरोहमादीणि कयाइं।
अण्णहीयासे तेहिं, वेयस साहूहिँ ओमम्मि ॥ ५५९ ॥

ज्ञात्वा वृत्तिच्छेदं दुर्भिक्षे वेदनामनध्यासितैरसहमानैरुच्छ्वासनिरोधाऽऽदीनि कृतानि, केचिदुच्छ्वासनिरोधकरणतोऽपरं गृध्रपृष्ठकरणतोऽप्यन्ये रज्ज्वा वैहायसविधानतो बालमरणं प्रतिपन्नवन्तः।

पडिघातो वा विज्जू, गिरि भित्तीकोणयाइ वा हुज्जा।
संबद्ध हत्थपाया-दओ व वातेण होज्जाहि ॥ ५६० ॥

प्रतिघातो विद्युता गिरिभित्ते पतन्त्या गिरिकोणकाद्वा पततो भवेत्, ततो बालमरणम्। अथवा-हस्तपादाऽऽदयो वातेन संबद्धा भवेयु, तत आश्रयते बालमरणम्।

तथा चाऽऽह—

एएहिँ कारणेहिं, पंडियमरणं तु काउमसमत्थो।
ऊमासगिद्धपिट्ठं, रज्जुग्गहणं च कुज्जाहि ॥ ५६१ ॥

एतैरनन्तरोदितैर्व्यालभक्षणप्रभृतिभिः कारणैः पण्डितमरणं यथोक्तप्रत्याख्यानरूपं कर्त्तुमसमर्थः उच्छ्वासनिरोधं गृध्रपृष्ठं रज्जुग्रहणं वा कुर्यु। अथ किमिति ते व्यालभक्षिताऽऽदय आत्मानं घातयन्ति ?।

उच्यते—

अणुपुव्वविहारीणं, उस्सग्गनिवाइयाण जा सोही।
विहरंतए न सोही, भणिया आहारलोवेणं ॥ ५६२ ॥

ये व्यालाच्छभल्लाऽऽदिकृतव्याघातरहितास्तेषामानुपूर्व्याऽनुपदं मासकल्पेन पर्यायासेवनमासकल्पेन विहारिणां तथा उत्सर्गनिपातिनामुत्सर्गेण संयममनुपालयतां या शोधिर्भवति,सा व्यालाच्छभल्लाऽऽदिव्यापादयन्ति विहरन्ति मभ

णिता; शोधिर्न भवतीत्यर्थः कस्मान्न भवतीत्याह—आहार लोपेन, ते हि व्यक्तत्वाऽऽदिना कारणेन न शक्नुवन्ति परिपूर्णा-मुत्तरगुणविशुद्धिं कर्तुं, ततो यथाऽवस्थिताऽऽहारविलोपतो-बालमरणमभ्युपगच्छन्ति । तदेवमुक्तं भक्तप्रत्याख्यानम् । व्य० १० उ० ।

अत्र भक्तपरिज्ञाया च विस्तरतो विधिः सामा—
चारीतोऽवसेय । स चायम्—

" गंधा १ संघो २ चिइ ३ सं-
ति ४ सासणा ५ खित्त ६ भवण ७ सव्वसुरा ८ ।
सक्कत्थय ९ संतिथुताऽऽ १०-
राहणदेवी चउज्जोआ ११ ॥ १ ॥
सोही १२ खामण १३ समं १४,
समइय १५ वय १६ तिन्नि मंगलाऽऽलावा १७ ।
चउसरण १८ नमो १९ अणसण २० ।
वास २१ थुइ २२ ऽणुसट्ठि २३ उववूहा २४ ॥ २ ॥ "

तत्र प्रथमं गुरुरुत्तमार्थाऽऽराधनार्थं वासानभिमन्त्र्य ग्लानस्य शिरसि क्षिपति १, ततः प्रतिमासद्भावचतुर्विधसङ्घ-(२)समन्वितो गुरुर्ग्लानेन समम् अधिकृतदेवस्तुतिभिर्देवान् वन्दते३, ततः शान्तिनाथकायोत्सर्गः४, शासनदेवता ५, क्षेत्रदेवता ६, भवनदेवता ७, समस्तवैयावृत्यकराणा ८, शक्रस्तवपाठ ९,शान्तिस्तवपाठः१०,आराधना देवताऽऽराधनार्थं कायोत्सर्गः 'लोगस्सुज्जोयगरे' चतुष्टयचिन्तनं, पारयित्वा " यस्याः सान्निध्यतो भव्याः, वाञ्छितार्थप्रसाधकाः । श्रीमदाराधनादेवी, विघ्नव्रातापहाऽस्तु वः ॥ १ ॥ " इति स्तुतिदानं११, तदनु गुरुर्निषद्यायामुपविश्य बालकालात् ग्लानमालोचना दापयति ।

तओ—

" जे मे जाणंति जिणा, अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।
ते5हं आलोएउ, उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥४८१॥ (व्य०१०उ०)
छउमत्थो मूढमणो, कित्तियमित्तं पि संभरइ जीवो ।
जं च न समरामि अहं, मिच्छा मे दुक्कडं तस्स ॥ १ ॥
जं जं मणेण बद्धं, जं जं वायाए भासिअं पावं ।
काएण य जं च कयं, मिच्छा मे दुक्कडं तस्स ॥ २ ॥
हा दुट्ठु कयं हा दुट्-ठु कारिअं अणुमयं पि हा दुट्ठं ।
अतो अतो डज्झइ, हिययं पच्छाणुतावेणं ॥ ३ ॥
जं च सरीरं सुद्ध, कुडुंबउवगरणरूवविन्नाणं ।
जीवोपघायजणय, संजायं तं पि निंदामि ॥ ४ ॥
गहिऊण य मुक्काइं, जम्मणमरणेसु जाइँ देहाइं ।
पावेसु पसत्थाइं, वोसिरिआइं मए ताइं ॥ ५ ॥ "
इत्यादि १२ ।

ततः सङ्घक्षमणा—

" साहूण साहुणीण य, सावयसावीण चउविहो संघो ।
जं मणवयकाएहिं, साइओ तं पि खामेमि ॥ १ ॥
आयरिए उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे अ ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केण इ ॥ २ ॥
सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ ३ ॥ "

ततो नमस्कारोच्चारपूर्वम्—" अरिहंतो मह देवो १, इति वार २, १३-१४, एवं सामायिकं वार ३,१५, ततः पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि वारत्रयमुच्चार्यन्ते १६, ततो 'इच्चेयाइ' गाथा " चउसरणगमणदुक्कड-गरिहा सुकडाणुमोअणं कुणसु । सुहभावणं अणसणं, पंचनमुक्कारसरणं च ॥ १ ॥ " "चत्तारि मंगलं" मित्यालापकत्रयं च १७ । ततो " समणस्स भगवओ महावीरस्स उत्तमट्ठे ठाइमाणो पच्चक्खाइ सव्वं पाणाइवायं १, सव्वं मुसावायं २, सव्वं अदिन्नादाणं ३, सव्वं मेहुणं ४, सव्वं परिग्गहं ५, सव्वं कोहं ६, सव्वं माणं ७, सव्वं मायं ८, लोभं ९, पिज्जं १०, दोसं ११, कलहं १२, अब्भक्खाणं १३, अरइरइं १४, पेसुन्नं १५, परपरिवायं १६, मायामोसं १७, मिच्छादंसणसल्लं १८ । इच्चेआइ अट्ठारस पावट्ठाणाइं जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं जाव वोसिरामि । तओ सउणसयणाइसमप्पणं वंदणं दाऊण १८, नमुक्कारपुव्वं १९, गिलाणो अणसणमुच्चरइ । "भवचरिमं पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेण सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरामि ।" अनाकारे तु अन्यथाऽऽकारद्वयरहितं यथा ' भवचरिमं-निराकारं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं सव्वं असणं सव्वं पाणं सव्वं खाइमं सव्वं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं । " द्वयोरपि " अरिहंताइ ५ सक्खिअं वोसिरामि " अथवा—" जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ वेलाए । आहारमुवहि देहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१॥"२०,तओ नित्थारगपारगा होह त्ति"भणन् वासान् शान्त्यर्थं तत्सम्मुखं क्षिपति सङ्घः २१, 'अट्ठावयम्मि उसहो' इत्यादि स्तुतेः "पञ्चानुत्तरसरणा०" इत्यादि स्तोत्रस्य भणन २२, ' जम्मजरामरणजले० ' इत्यादिदेशना च विधत्ते इत्यादि २३। उपबृंहणा च कार्या-तथा संवेगजनकमुत्तराध्ययनाऽऽदि प्रतिदिनं तत्समीपे पठ्यते । " एवं सावयस्स वि, नवरं—सावओ सम्मत्तगाहाठाण सम्मत्तदंडय दुवालस वयाइं उच्चरइ, जहासत्तीए सत्तसु खित्तेसु धणव्वयं करेइ, तओ सामग्गीसब्भावे संथारयदिक्खं पि पडिवज्जइ । " एवं च मरणेन मृतस्य साधोः शरीरमन्यसाधुभिर्विधिना परिष्ठाप्यमिति २४। ध० ३ अधि० ।

ग्लानभावोपगतेन भिक्षुणा भक्तपरिज्ञाऽऽख्यं मरणमभ्युपगन्तव्यमित्येतत्प्रतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनाऽऽया तस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम्—

जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायतइएहिं तस्स णं नो एव भवइ—तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा ०जाव एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं । अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइकंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अहा परिजुन्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमे

व अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजा-
णिया, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो अबलो अहमसि
नालमहमंसि गिहंतरसंकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से ए-
वं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा-
साइमं वा आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउ
संतो ! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं वा पाणं वा
खाइमं वा साइमं वा भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एय-
प्पगारे । ( सू० २१६ )

तत्र त्रिकल्पपर्युषितः स्थविरकल्पिको जिनकल्पिको वा स्यात्, कल्पद्वयपर्युषितस्तु नियमाज्जिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकयथालन्दिकप्रतिमाप्रतिपन्नानामन्यतमः, अस्मिन् सूत्रेऽपदिष्टो यो भिक्षुर्जिनकल्पिकाऽऽदिर्द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितो वस्त्रशब्दस्य सामान्यवाचित्वादेकः क्षौमिकोऽपर और्णिक इत्याभ्यां कल्पाभ्यां पर्युषितः-संयमे व्यवस्थितः, किम्भूताभ्यां कल्पाभ्यां ?-पात्रतृतीयाभ्यां पर्युषित इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयं यावत् ' नालमहमंसि ' त्ति स्पृष्टोऽहं वातादिभी रोगैः ' अबलः ' असमर्थः ' नालं ' न समर्थोऽस्मि गृहाद् गृहान्तरं सङ्क्रमितुं, तथा भिक्षार्थं चरणं-चर्या भिक्षाचर्या तद्गमनाय ' नाल ' न समर्थ इति, तदेवम्भूतं भिक्षुमुपलभ्य स्याद् गृहस्थ एवम्भूतामात्मीयामवस्था वदतः साधोरवदतोऽपि परो गृहस्थाऽऽदिरनुकम्पाभक्तिरसाऽऽर्द्रहृदयोऽभिहृतं-जीवोपमर्दनिर्वृत्तं, किं तद् ?-अशनं पानं खादिमं स्वादिमं चेत्याराहृत्य तस्मै साधवे 'दलएज्ज' त्ति दद्यादिति । तेन च ग्लानेनाऽपि साधुना सूत्रार्थमनुस्मरता जीवितनिष्पिपासुनाऽवश्यं मर्त्तव्यमित्यध्यवसायिना किं विधेयमित्याह-स जिनकल्पिकाऽऽदीनां चतुर्णामप्यन्यतमः पूर्वमेव-आदावेव 'आलोचयेत्' विचारयेत् . कतरेणोद्गमाऽऽदिना दोषेण दुष्टमेतत् ?, तत्राभ्याहृतमिति ज्ञात्वाऽभ्याहृतं च प्रतिषेधयेत्, तद्यथा-आयुष्मन् गृहपते ! न खल्वेतन्माभिहृतमभ्याहृतं च कल्पते अशनं भोक्तुं पान पातुमन्यद्वै तत्प्रकारमाधाकर्माऽऽदिदोषदुष्टं न कल्पते, इत्येवं तं गृहपतिं दानायोद्यतमाज्ञापयेदिति, पाठान्तरं वा " तं भिक्खु केइ गाहावई उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा ! अहन्न तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइम वा अभिहड दलामि, से पुव्वामेव जाणेज्जा आउसंतो गाहावई ! जन्नं तुमं मम अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं चेतेसि, णो य खलु मे कप्पइ एयप्पगार असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा, पायए वा अन्ने वा तहप्पगारे त्ति । " कण्ठ्यं, तदेवं प्रतिषिद्धोऽपि श्रावकसंज्ञिप्रकृतिभद्रकमिथ्यादृष्टीनामन्यतम एवं चिन्तयेत्, तद्यथा—एष तावत् ग्लानो न शक्नोति भिक्षामटितु न चापरं कञ्चन ब्रवीति तदस्मै प्रतिषिद्धोऽप्यहं केनचिच्छद्मना दास्यामीत्येवमभिसन्धायाऽऽहाराऽऽदिक ढौकयति, तत्साधुरनेषणीयमिति कृत्वा प्रतिषेधयेत् ।

किं च—

जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडिन्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अप्पडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु-परिन्न अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १, आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेसे तत्थ वि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं ति बेमि । ( सू० २१७ )

'ण' इति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोः परिहारविशुद्धिकस्य यथालन्दिकस्य वा अयं-वक्ष्यमाण प्रकल्पः आचारो भवति, तद्यथा अहं च खलु ' चः ' समुच्चये ' खलुः ' वाक्यालङ्कारे, अहं क्रियमाणं वैयावृत्यमपरैः ' स्वादयिष्यामि ' अभिलषिष्यामि, किम्भूतोऽहं ?-प्रतिज्ञप्तो-वैयावृत्यकरणायापरैरुक्तः—अभिहितो यथा तव वयं वैयावृत्यं यथोचितं कुर्म इति, किम्भूतैः परै ?—अप्रतिज्ञप्तैः-अनुक्तैः, किम्भूतोऽहं-ग्लानो विकृष्टतपसा कर्त्तव्यताऽशक्तो वाताऽऽदिक्षोभेण वा ग्लान इति, किम्भूतैरपरैः ?-उचितकर्त्तव्यसहिष्णुभि ।, तत्र परिहारविशुधिकस्यानुपाहारिकः करोति कल्पस्थितो वा परो, यदि पुनस्तेऽपि ग्लानास्ततोऽन्ये न कुर्वन्ति, एव यथालन्दिकस्यापीति, केवलं तस्य स्थविरा अपि कुर्वन्तीति दर्शयति निर्जराम् ' अभिकाङ्क्ष्य ' उद्दिश्य ' साधर्मिकैः ' सदृशकल्पिकैरेककल्पस्थैरपरसाधुभिर्वा क्रियामाणं वैयावृत्यमह स्वादयिष्यामि ' अभिकाङ्क्षयिष्यामि यस्याय भिक्षोः प्रकल्पः—आचारः स्यात् स तमाचारमनुपालयन् भक्तपरिज्ञयाऽपि जीवितं जह्यात्, न पुनराचारखण्डनं कुर्यादिति भावार्थः । तदेवमन्यन साधर्मिकेण वैयावृत्यं क्रियमाणमनुज्ञातं । साम्प्रतं स एवापरस्य कुर्यादिति दर्शयितुमाह- च ' समुच्चये, अपिशब्दः पुनःशब्दार्थे स च पूर्वस्माद्विशेषप्रदर्शनार्थः ' खलु ' वाक्यालङ्कारे अहं च पुनरप्रतिज्ञप्तः अनभिहितः प्रतिज्ञप्तस्य-वैयावृत्यकरणायाभिहितस्य अग्लानो ग्लानस्य निर्जरामभिकाङ्क्ष्य साधर्मिकस्य वैयावृत्य कुर्यां, किमर्थम् ?-' करणाय ' तदुपकरणाय तदुपकारायेत्यर्थ , तदेवं प्रतिज्ञां परिगृह्याऽपि भक्तपरिज्ञया प्राणान् जह्यात्, न पुनः प्रतिज्ञामिति सूत्रभावार्थः । इदानीं प्रतिज्ञाविशेषद्वारेण चतुर्भङ्गिकामाह—एकः कश्चिदेवम्भूता प्रतिज्ञा गृह्णाति , तद्यथा—ग्लानस्यापरस्य साधर्मिकस्याऽऽहाराऽऽदिकमन्वेषयिष्यामि , अपरं च—वैयावृत्यं यथोचितं करिष्यामि, तथाऽपरेण च साधर्मिकेणाऽऽहृतमानीतमाहाराऽऽदिकं स्वादयिष्यामि—उपभोक्ष्ये , एवम्भूतां प्रतिज्ञामाहृत्य—गृहीत्वा वैयावृत्यं कुर्यादिति १, तथाऽपरः—आहृत्य—प्र-

तिज्ञां गृहीत्वा यथाऽपरनिमित्तमन्वीक्षिष्ये आहाराऽऽदिकमाहृतं चापरेण न स्वादयिष्यामीति २, तथाऽपर आहृत्य प्रतिज्ञामेवम्भूतां, तद्यथा—नापरनिमित्तमन्वीक्षिष्याम्याहारादिकमाहृतं चान्येन स्वादयिष्यामीति ३, तथाऽपर-आहृत्य प्रतिज्ञामेवम्भूतां, तद्यथा—नान्वीक्षिष्येऽपरनिमित्तमाहाराऽऽदिकं नाप्याहृतमन्येन स्वादयिष्यामीति ४, एवम्भूता च नानाप्रकारा प्रतिज्ञा गृहीत्वा कुतश्चिद् ग्लायमानोऽपि जीवितपरित्यागं कुर्यात्, न पुनः प्रतिज्ञालोपमिति । अमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेण दर्शयितुमाह एवम्-उक्तविधिना 'स' भिक्षुरवगततत्त्व शराऽऽदिनिष्पिपासुः यथाकीर्तितमेव धर्मम्-उक्तस्वरूपं सम्यगभिजानन् आसेवनापरिज्ञया आसेवमानः, तथा लाघविकमागमयन्नित्यादि यच्चतुर्थोद्देशकेऽभिहितं तदत्र वाच्यमिति, तथा 'शान्तः' कषायोपशमाच्छान्तो वा अनादिसंसारपर्यटनात्र विरतः सावद्यानुष्ठानात् शोभना समाहृता-गृहीता लेश्याः—अन्तःकरणवृत्तयस्तैजसीप्रभृतयो वा येन स सुसमाहृतलेश्यः, एवम्भूतः सन् पूर्वगृहीतप्रतिज्ञापालनाऽसमर्थो ग्लानभावोपगतस्तपसा रोगाऽऽतङ्केन वा प्रतिज्ञालोपमकुर्वन् शरीरपरित्यागाय भक्तप्रत्याख्यानं कुर्यात्, 'तत्राऽपि' भक्तपरिज्ञायामपि 'तस्य' कालपर्यायेणानागतायामपि कालपर्याय एव निष्पादितशिष्यस्य संलिखितदेहस्य यः कालपर्यायो-मृत्योरवसरोऽत्राऽपि ग्लानावसरेऽसावेव कालपर्याय इति, कर्मनिर्जराया उभयत्र समानत्वात्, स भिक्षुस्तत्र-ग्लानतयाऽनशनविधाने व्यन्तिकारकः-कर्मक्षयविधायीति। उद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराऽऽह-सर्वं पूर्ववत्। आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

भक्तप्रत्याख्यानफलं प्रश्नपूर्वकमाह—

भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । भत्तपच्चक्खाणेणं जीवे अणेगाइं भवसहस्साइं निरुंभइ ॥ ४० ॥

हे भदन्त ! भक्तप्रत्याख्यानेन—आहारत्यागेन भक्तपरिज्ञादिना जीवः किं फलं जनयति ? । गुरुराह हे शिष्य ! भक्तप्रत्याख्यानेन जीवोऽनेकानि भवसहस्राणि निरुणद्धि । ४० उत्त० २९ अ० । भक्तपरिज्ञामरणमार्यिकाऽऽदीनामप्यस्ति । यत उक्तम्—" सव्वाओ अज्जाओ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा । सव्वे वि देसविरया, पच्चक्खाणेण उ मरंति ॥५२७॥ " (व्य० १० उ०) अत्र च प्रत्याख्यानशब्देन भक्तपरिज्ञैव भणिता, तत्र प्राक् पादपोपगमाऽऽदेरभ्यथाभणनात्। प्रव० (टी०) १५७ द्वार। ( भक्तप्रत्याख्यानवतो वक्तव्यताविशेषः 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७१ पृष्ठे गतः । )

भत्तपरिण्णा—भक्तपरिज्ञा—स्त्री०। भक्तं भोजनं तस्य परिज्ञा। सा द्विधा—ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । ज्ञपरिज्ञया अनेकभेदमस्माभिर्भुक्तपूर्वमनर्थहेतुकं च सर्वमवद्यमिति परिज्ञानम् । प्रत्याख्यानपरिज्ञया च " सव्वं च असणपाणं चउव्विहं जा य बाहिरा उवही । अब्भितरं च उवहिं, जावज्जीवं च वोसिरइ ॥ १ ॥ " इत्यागमवचनाच्चतुर्विधाऽऽहारस्य त्रिविधाऽऽहारस्य वा यावज्जीवमपि परित्यागाऽऽत्मकं प्रत्याख्यानं भक्तपरिज्ञा । उत्त० पाई० ५ अ० । आचा० । प्रव० । स० । अनशनभेदे, प्रव० ६ द्वार । पं० व० । पञ्चा० । आचा० । तत्कार्यभूते भक्तप्रत्याख्यानाऽऽख्ये मरणभेदे च । ध० ३ अधि० । ग्रन्थभेदे, प्रति० ।

भक्तपरिज्ञास्वरूपमिदम्—

नमिऊण महाइसयं, महाऽणुभावं मुणिं महावीरं ।
भणिमो भत्तपरिन्नं, नियसरणट्ठा परट्ठा य ॥ १ ॥
भवगहणभमणरीणा, लहंति निव्वुइसुहं जमल्लीणा ।
तं कप्पदुमकाणण-सुहयं जिणसासणं जयइ ॥ २ ॥
मणुयत्तं जिणवयणं, च दुल्लहं पाविऊण सप्पुरिसा ! ।
सासयसुहिक्करसिए-हिँ नाणवसिएहिँ होयव्वं ॥ ३ ॥
जं अज्ज सुहं भविणो, संभरणीयं तयं भवे कल्लं ।
मग्गंति निरुवसग्गं, अपवग्गसुहं बुहा तेण ॥ ४ ॥
नरविबुहे सुरसुक्खं, दुक्खं परमत्थओ तयं बिंति ।
परिणामदारुणमसा-सयं च जं ता अलं तेणं ॥ ५ ॥
जं सासयसुहसाहण-माणाआराहणं जिणिंदाणं ।
ता तीए जइयव्वं, जिणवयणविसुद्धबुद्धीहिँ ॥ ६ ॥
तं नाणदंसणाणं, चारित्ततवाण जिणपणीयाणं ।
जं आराहणमिणमो, आणाआराहणं बिंति ॥ ७ ॥
पव्वज्जाए अब्भु-ज्जओ वि आराहओ अहासुत्तं ।
अब्भुज्जयमरणेणं, अविगलमाराहणं लहइ ॥ ८ ॥
तं अब्भुज्जयमरणं, अमरणधम्मेहिँ वण्णियं तिविहं ।
भत्तपरिन्ना इंगिणि, पाओवगमं च धीरेहिँ ॥ ९ ॥
भत्तपरिन्नामरणं, दुविहं सवियारमो य अवियारं ।
सपरक्कमस्स मुणिणो, संलिहियतणुस्स सवियारं ॥१०॥
अपरक्कमस्स काले, अपहुत्तम्मी य जं तमवियारं ।
तमहं भत्तपरिन्नं, जहापरिन्नं भणिस्सामि ॥ ११ ॥
धिइबलवियलाणमकाल-मच्चुकलियाणमकयकरणाणं।
निरवज्जमज्जकालिय-जईण जुग्गं निरुवसग्गं ॥ १२ ॥
पसमसुहसप्पिवासो, असोअहासो सजीवियनिरासो ।
विसयसुहविगयरागो, धम्मुज्जमजायसंवेगो ॥ १३ ॥
निच्छियमरणावत्थो, वाहिग्गत्थो गिहत्थो वा ।
भविओ भत्तपरिन्ना-इ नायससारनिग्गुणो ॥ १४ ॥
वाहिजरमरणमयरो, निरतरुप्पत्तिनीरनिउरंबो ।
परिणामदारुणदुहो, अहो दुरंतो भवसमुद्दो ॥ १५ ॥
पच्छा तावपरद्धो, पियधम्मो दोसदूसणसयण्हो ।
अरिहइ पासत्थाइ वि, दोसे दोसिल्लकलिओ वि ॥१६॥
इय कलिऊण सहरिसं, गुरुपामूलेऽभिगम्म विणएण ।
भालयलमिलियकरकम-लसेहरो वंदिउं भणइ ॥१७॥
आरुहिय महसुपुरिस-भत्तपरिन्नापसत्थबोहित्थं ।

निज्जामएण गुरुणा, इच्छामि भवण्णवं तरिउं ॥ १८ ॥
कारुण्णामयनीसं-दसुंदरो सो वि से गुरू भणइ ।
आलोयणवयखामण-पुरस्सरं तं पवज्जेसु ॥ १९ ॥
इच्छामु त्ति भणित्ता, भत्तीबहुमाणसुद्धमंकप्पो ।
गुरुणो विणयावाए, पाए अभिवंदिउं विहिणा ॥२०॥
सल्लं उद्धरिउमणो, सव्वेगुव्वेयतिव्वसद्धाओ ।
जं कुणइ सुद्धिहेउं, सो तेणाऽऽराहओ होइ ॥ २१ ॥
अह सो आलोअणदो-सवज्जियं उज्जुयं जहायरियं ।
बालु व्व बालकाला-उ देइ आलोअणं सम्मं ॥२२॥
ठविए पायच्छित्ते, गणिणा गणिसंपयासमग्गेण ।
सम्ममणुपत्थिय तयं, अपावभावो पुणो भणइ ॥२३॥
दारुण दुहजलयरभी-मभवजलहितारणसमत्थे ।
निप्फन्नतायपोए, महव्वए अम्हओ खिवसु ॥ २४ ॥
जइ वि स खंडियचंडो,अक्खलएडमहव्वओ जई जइ वि ।
पव्वज्जवतुट्ठावण-मुट्ठावणमरिहइ तहावि ॥ २५ ॥
पहुणो सुकयाऽऽणत्तिं,भिच्चा पचप्पिणंति जह विहिणा ।
जावज्जीव पइन्ना-णत्तिं गुरुणो तहा सो वि ॥ २६ ॥
जो साइयारचरणो, आउट्टिय दंड खंडियवओ वा ।
तह तस्स वि सम्ममुव-ट्ठियस्स उट्ठावणा भणिया॥२७॥
तत्तो तस्स महव्व य-पव्वयभारुन्नमंतसीसस्स ।
सीसस्स समारोवइ, सुगुरू वि महव्वए विहिणा ॥२८॥
अह हुज्ज देसविरओ, सम्मत्तरओ रओ अ जिणवयणे ।
तस्स वि अणुव्वयाइं, आरोविज्जंति सुद्धाई ॥ २९ ॥
अनियाणोदारमणो, हरिसवसविसप्पकंचुइयराइ ।
पूएइ गुरुं संघ, साहम्मियमाइ भत्तीए ॥ ३० ॥
नियदव्वमईव जिणि-दभवणजिणबिंबवरपइट्ठासु ।
वियरइ पसत्थपुत्थय-सुतित्थतित्थयरपूआसु ॥ ३१ ॥
जइ से वि सव्वविरई-कयाणुराओ विसुद्धमणकाओ ।
छिन्नसयणाणुराओ, विसयविसाओ विरत्तो अ ॥३२॥
संथारुएँ पव्वज्जं, पडिवज्जइ सो वि नियमनिरवज्जं ।
सव्वविरईपहाणं, सामाइयचरित्तमारुहइ ॥ ३३ ॥
अह सो सामाइयधरो, पडिवन्नमहव्वओ अ जो साहू ।
देसविरओ अ चरिमं,पच्चक्खामि त्ति निच्छइओ ॥३४॥
गुरुगुणगुरुणो गुरुणो, पयपंकयनमियमत्थओ भणइ ।
भयव भत्तपरिन्नं, तुम्हाणुमयं पवज्जामि ॥ ३५ ॥
आगहणाइखेमं, तस्सेव य अप्पणो अ गणिवसहो ।
दिव्वेण निमित्तेणं, पडिलेहइ इहरहा दोसा ॥ ३६ ॥
तत्तो भवचरिमं सो, पच्चक्खाइ त्ति तिविहमाहारं ।
उक्कोसियाणि दव्वा-णि तस्स सव्वाणि दंसिज्जा ॥३७॥
पासित्तु ताणि कोइ, तीर पत्तस्सिमेहिँ किं मज्झ ।
देसं च कोइ भुच्चा, संवेगगओ विचिंतेइ ॥ ३८ ॥
किं चत्तं नोवभुत्तं मे, परिणामासुइं सुइं ।
दिट्ठसारो सुहं झायइ, चोअणे से विसीयओ ॥ ३९ ॥
उदरमलसोहणट्ठा, समाहिपाणं मणुन्नं मे ।
सो वि मर पज्जेयव्वो, मंदं च विरेयणं खमओ ॥ ४० ॥
एलतयनागकेसर-तमालपत्तं ससक्करं दुद्धं ।
पाऊण कढिय सीयल,समाहिपाणं तओ पच्छा ॥ ४१ ॥
महुरविरेयणमेसो, कायव्वो फोफलाइदव्वेहिं ।
निव्वाविओ अ अग्गी, समाहिमेसो सुहं लहइ ॥ ४२ ॥
जावज्जीवं तिविहं, आहारं वोसिरइ इहं खवगो ।
निज्जवगो आयरिओ, संघस्स निवेयणं कुणइ ॥४३॥
आराहणपच्चइयं, खमगस्स य निरुवसग्गपच्चइयं ।
तो उस्सग्गो संघे-ण होइ सव्वेण कायव्वो ॥ ४४ ॥
पच्चक्खाविंति तओ, तं ते खवगं चउव्विहाऽऽहारं ।
संघसमुदायमज्झे, चिइवंदणपुव्वयं विहिणा ॥ ४५ ॥
अहवा समाहिहेउं, सागारं चयइ तिविहमाहारं ।
तो पाणियं पि पच्छा, वोसिरियव्वं जहाकालं ॥४६॥
तो सो नमंतसिरसं, घडंतकरकमलसेहरो विहिणा ।
खामेइ सव्वसंघ, संवेगं संजणेमाणो ॥ ४७ ॥
आयरिएँ उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे य ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ ४८ ॥
सव्वे अवराहपए, खामेमि अहं खमेउ मे भयवं ।
अहमवि खामेमि सुद्धो, गुणसंघायस्स संघस्स ॥४९॥
इय वंदणखामणगरि-हणेहिं भवसयसमज्जियं कम्मं ।
उवणेइ खणेण खयं, मिगावईराइपत्ति व्व ॥ ५० ॥
अह तस्स महव्वयसु-ट्ठियस्स जिणवयणभावियमइस्स ।
पच्चक्खायाहार-स्स तिव्वसंवेगसुहयस्स ॥ ५१ ॥
आराहणलाभाओ, कयत्थमप्पाणयं मुणंतस्स ।
कलुसकलतरणिलट्ठिं, अणुसट्ठिं देइ गणिवसभो ॥५२॥
कुग्गहपरूढमूलं, मूला उच्छिंद वच्छ ! मिच्छत्त ।
भावेसु परमतत्तं, संमत्तं सुत्तनीईए ॥ ५३ ॥
भत्तिं च कुणसु तिव्वं, गुणाणुराएण वीयरायाणं ।
तह पंचनमुक्कारे, पवयणसारे रइ कुणसु ॥५४॥
सुविहियहियनिज्झाए, सज्झाए उज्जुओ सया होसु ।
निच्चं पंचमहव्वय-रक्खं कुण आयपच्चक्खं ॥ ५५ ॥
उज्झसु नियाणसल्लं, मोहमहल्लं सुकम्मनिस्सल्लं ।
दमसु अ मुणिंदसंदा-हनिंदिए इंदियमइंदे ॥ ५६ ॥
निव्वाणसुहावाए, विइन्ननिरयाइदारुणावाए ।
हणसु कसायपिसाए, विसयतिसाए सयसहाए ॥५७॥
काले अपहू संते, सामन्ने सावसेसिए इण्हिं ।

मोहमहारिउदारण-असिलट्ठिं सुणसु अणुसट्ठिं ॥५८॥
संसारमूलबीयं, मिच्छत्तं सव्वहा विवज्जेह ।
संमत्ते दढचित्तो, होसु नमुक्कारकुसलो अ ॥ ५६ ॥
मियतण्हियाहि तोयं, मन्नंति नरा जहा सतण्हाए ।
सुक्खाइं कुहम्माओ, तहेव मिच्छत्तमूढमणो ॥ ६० ॥
न वि तं करेइ अग्गी, नेव विसं नेव किण्हसप्पो वि ।
जं कुणइ महादोसं, तिव्वं जीवाण मिच्छत्तं ॥ ६१ ॥
पावइ इहेव वसणं, तुरुमिणिदत्तु व्व दारुणं पुरिसो ।
मिच्छत्तमोहियमणो, साउपओसाउ पावाओ ॥ ६२ ॥
मा कासि तं पमायं, संमत्ते सव्वदुक्खनासणए ।
जं सम्मत्तपइट्ठा-इँ नाणतवविरियचरणाइं ॥ ६३ ॥
भावाणुरायपिम्मा-णुरायसुगुणाणुरायरत्तो अ ।
धम्माणुरायरत्तो, अ होसु जिणसासणे निच्च ॥ ६४ ॥
दंसणभट्ठो भट्ठो, न हु भट्ठो होइ चरणपब्भट्ठो ।
दंसणमणुपत्तस्स उ, परियडणं नत्थि संसारे ॥ ६५ ॥
दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति ॥६६॥
सुद्धे सम्मत्ते अवि-रओ वि, अज्जेइ तित्थयरनामं ।
जह आगमेसिभद्दा, हरिकुलपहुसेणियाऽऽईया ॥६७॥
कल्लाणपरंपरयं, लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं, नग्घइ ससुरासुरे लोए ॥ ६८ ॥
तेल्लुक्कस्स पहुत्तं, लद्धूण वि परिवडंति कालेणं ।
सम्मत्ते पुण लद्धे, अक्खयसुक्खं लहइ मुक्खं ॥ ६९ ॥
अरिहंतसिद्धचेइय-पवयणआयरियसव्वसाहूसु ।
तिव्वं करेसु भत्तिं, तिगरणसुद्धेण भावेणं ॥ ७० ॥
एगा वि सा समत्था, जिणभत्ती दुग्गइं निवारेउं ।
दुलहाइँ, लहावेउँ, आसिद्धि परंपरसुहाइं ॥ ७१ ॥
विज्जा वि भत्तिमत-स्स सिद्धिं मुवयाइ होइ फलया य ।
किं पुण निव्वुइविज्जा, सिज्झिहि अभत्तिमंतस्स ॥७२॥
तेसिं आराहणना-यगाण, न करिज्ज जो नरो भत्तिं ।
धणियं पि उज्जमतो, सालिं सो ऊसरे ववइ ॥ ७३ ॥
बीएण विणा सस्सं, इच्छइ सो वासमब्भएण विणा ।
आराहणमिच्छंतो, आराहयभत्तिमकरतो ॥ ७४
उत्तमकुलसंपत्तिं, सुहनिप्फत्तिं च कुणइ जिणभत्ती ।
मणियारसिट्ठिजीव-स्स दद्दुरस्सेव रायगिहे ॥ ७५ ॥
आराहणापुरस्सर-मणन्नहियओ विसुद्ध लेसाओ ।
संसारक्खयकरणं, तं मा मुची नमुक्कारं ॥ ७६ ॥
अरिहंतनमुक्कारो, इक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवरेहि दिट्ठो, संसारुच्छेयणसमत्थो ॥ ७७ ॥
मिंठो किलिट्ठकम्मो, नमो जिणाणं ति सुकयपणिहाणो ।
कमलदलक्खो जक्खो, जाओ चोरु त्ति सूलिहिओ ॥७८॥
भावनमुक्कारविव-ज्जियाइँ जीवेण अकयकरणाइं ।
गहियाणि य मुक्काणि य, अणंतसो दव्वलिंगाइं ॥७९॥
आराहणापडागा-गहणे हत्थो भवे नमुक्कारो ।
तह सुगइमग्गगमणे, रहु व्व जीवस्स अपडिहओ । ८० ।
अन्नाणी वि य गोवो, आराहित्ता मओ नमुक्कारं ।
चंपाए सिट्ठिसुओ, सुदंसणो विस्सुओ जाओ ॥ ८१ ॥
विज्जा जहा पिसायं, सुट्ठुवउत्ता करेइ पुरिसवसं ।
नाणं हिययपिसायं, सुट्ठुवउत्तं तह करेइ ॥ ८२ ॥
उवसमइ किण्हसप्पो, जह मंतेण विहिणा पउत्तेणं ।
तह हिययकिण्हसप्पो, सुट्ठुवउत्तेण नाणेण ॥ ८३ ॥
जह मक्कडओ खणमवि, मज्झत्थो अत्थिउं न सक्केइ ।
तह खणमवि मज्झत्थो, विसएहि विणा न होइ मणो॥८४॥
तम्हा उट्ठिउमाणो, मणमक्कडओ जिणोवएसेण ।
काउं सुत्तनिबद्धो, रामेयव्वो सुहज्झाणे ॥ ८५ ॥
सूई जहा ससुत्ता, न नस्सइ कयवरम्मि पडिया वि ।
जीवो तहा ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥ ८६ ॥
खंडसिलोगेहि जवो, जइ ता मरणाउ रक्खिओ राया ।
पत्तो अ सुसामन्नं, किं पुण जिणवुत्तसुत्तेणं ? ॥ ८७ ॥
अहवा चिलाइपुत्तो, पत्तो नाणं तहा सुरत्तं च ।
उवसमविवेगसंवर-पयसुमिरण मेत्तसुयनाणो ॥ ८८ ॥
परिहर छज्जीववहं, सम्ममणवयणकायजोगेहिं ।
जीवविसेसं नाउं, जावज्जीवं पयत्तेणं ॥ ८९ ॥
जह ते न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, इत्तो धम्मेण कुणसु दयं ॥ ९० ॥
तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जयम्मि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि ॥९१॥
सव्वे वि य संबधा; पत्ता जीवेण सव्वजीवेहिं ।
तो मारतो जीवं, मारइ संबधिणो सव्वे ॥ ९२ ॥
जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥ ९३ ॥
जावइयाइँ दुखाइं, हुंति चउगइगयस्स जीवस्स ।
सव्वाइ ताइँ हिंसा-फलाइँ निउणं वियाणाहि ॥ ९४ ॥
जं किंचि सुहमुयारं, पहुत्तण पगइसुंदरं जं च ।
आरुग्गं सोहग्गं, तं तमहिंसाफलं सव्वं ॥ ९५ ॥
पाणो वि पाडिहेरं, पत्तो बूढो वि सुंसुमारदहे ।
एगेण वि एगदिण-ज्जिएण हिंसावयगुणेण ॥ ९६ ॥
परिहर असच्चवयणं, सव्वं पि चउव्विहं पयत्तेण ।
संजमवंतो वि जओ भासादोसेण लिप्पंति ॥ ९७ ॥
हासेण व कोहेण व, लोहेण भएण वा वि तमसच्चं ।

ण भणसु भणसु सच्चं, जीवहियत्थं पसत्थमिणं ॥९८॥
विस्ससणिज्जो माया, व होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स ।
सयणु व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ ॥ ९९ ॥
होउ व जडी सिहंडी, मुंडी वा वक्कली व नग्गो वा ।
लोए असच्चवाई, भणइ पासडचंडालो ॥ १०० ॥
अलियं सयं पि भणियं, विहणइ बहुआइँ सच्चवयणाइं ।
पडिओ नरयम्मि वसू, इक्केण असच्चवयणेण ॥१०१॥
मा कुणसु धीर ! बुद्धिं, अप्पं व बहुं व परधणं घित्तुं ।
दंतंतरसोहणयं, किलिंचमित्तं पि अविदिन्नं ॥ १०२ ॥
जो पुण अत्थं अवहरइ, तस्स सो जीवियं पि अवहरइ ।
जं सो अत्थकएणं, उज्झइ जीयं न पुण अत्थं ॥१०३॥
तो जीवदयापरमं, धम्मं गहिऊण गिएह माऽदिन्नं ।
जिणगणहरपडिसिद्धं, लोगविरुद्धं अहम्मं च ॥ १०४ ॥
चोरो परलोगम्मि वि, नारयतिरिएसु लहइ दुक्खाइं ।
मणुयत्तणे वि दीणो, दारिद्दोवद्दुओ होइ ॥ १०५ ॥
चोरिक्कनिवित्तीए, सावयपुत्तो जहा सुहं लहइ ।
किढिमोरपिच्छचिंतियं-गुड्डी चोराण चलणेसु ॥१०६॥
रक्खाहि बंभचेरं, बंभगुत्तीहिं नवहिं परिसुद्धं ।
निच्चं जिणीहिं कामं, दोसपकामं वियाणित्ता ॥ १०७॥
जावइया किर दोसा, इह परलोए दुहावहा हुंति ।
आवहइ ते उ सव्वे, मेहुणसन्नापणुस्सस्स ॥ १०८ ॥
रइअरइतरलजीहा-जुएण संकप्पउक्कडफणेण ।
विसयविलवासिणा, मदमुहेण बिव्वोअरोसेण ॥१०९॥
कामभुअंगेण दट्ठा, लज्जानिम्मोयदप्पदाढेण ।
नासंति नरा अवसा, दुस्सहदुक्खावहविसेण ॥ ११० ॥
लल्लक्कनरयवियणा-उ घोरसंसारसायरव्वहणं ।
संगच्छई न पिच्छइ, तुच्छत्तं कामियसुहस्स ॥ १११ ॥
वम्महसरसयविद्धो, गिद्धो वणिउ व्व रायपत्तीए ।
पाउक्खालयगेहे, दुग्गंधेऽणेगसो वसिओ ॥ ११२ ॥
कामाऽऽसत्तो न मुणइ, गम्माऽगम्मं पि वेसियाणु व्व ।
सिट्ठी कुवेरदत्तो, नियययसुयासुरयरइरत्तो ॥ ११३ ॥
पडिपिल्लियकामकलिं, कामग्घत्थासु मुयसु अणुबंधं ।
महिलासु दोसविसव-ल्लरीसु पयइं नियच्छंतो ॥११४॥
महिला कुलं सुवंसं, पइं सुयं मायरं व पियरं वा ।
विसयंधा अगणंती, दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥ ११५ ॥
नीयंगमाहिँ सुपओ-हराहिं, उप्पिच्छमंथरगईहिं ।
महिलाहिँ निन्नयाहिँ व, गिरिवरगुरुया वि भज्जंति ११६
सुट्ठु वि जियासु सुट्ठ वि, पियासु सुट्ठु वि परूढपिम्मासु ।
महिलासु अ भुअगीसु अ, विस्संभं नाम को कुणइ ? ॥ ११७॥
विस्संभनिब्भरं पि हु, उवयारपरं परूढपिम्मं पि ।
कयविप्पियं पइं झ-त्ति निंति निहणं हयासाओ ॥११८॥
रमणीयदंसणाओ, सुउमालंगीओ गुणनिबद्धाओ ।
नवमालइमालाओ, व हरंति हिययं महिलियाओ॥११९॥
किं तु महिलाण तासिं, दंसणसुंदरजणियमोहाणं ।
आलिंगणमइरा दे-इ वज्झमालाण व विणासं ॥१२०॥
रमणीपादंसणं चे-व सुंदरं होउ संगमसुहेणं ।
गंधो व्विय सुरहिमा-लईइ मलणं पुण विणासो ॥१२१॥
साकेयपुराहिवई, देवरई रज्जसुक्खपब्भट्ठो ।
पंगुलहेउं बूढो, वूढो य नईइ देवीए ॥ १२२॥
सोयसरी दुरियदरी, कवडकुडी महिलिया किलेसकरी ।
वइरविरोयणअरणी, दुक्खखणी सुक्खपडिवक्खा ।१२३।
अमुणियमाणपरिक्कम्मो, सम्मं को नाम नासिउं तरइ ? ।
वम्महसरपसरोहे, दिट्ठिच्छोहे मयच्छीणं ॥ १२४ ॥
घणमालाउ व दूरु-न्नमंतसुपओहराउ वड्ढंति ।
मोहविसं महिलाओ, आलक्कविसं व पुरिसस्स ॥१२५॥
परिहरसु तओ तासिं, दिट्ठिं दिट्ठीविसस्स व अहिस्स ।
जं रमणिनयणबाणा, चरित्तपाणे विणासंति ॥१२६॥
महिलासंसग्गीए, अग्गी इव जं च अप्पसारस्स ।
मीणं व मणो मुणिणो, वि हत सिग्घं चिय विलाइ ।१२७।
जइ वि परिचत्तसंगो, तवतणुयंगो तहावि परिवडइ ।
महिलासंसग्गीए, कोसाभवणूसिय व्व रिसी ॥ १२८ ॥
सिंगारतरंगाए, विलास वेलाएँ जोव्वणजलाए ।
के के जयम्मि पुरिसा, नारिनईए न बुड्डंति ॥१२९॥
विसयजलमोहकलं, विलासबिब्बोयजलयराइण्णं ।
मयमयरं उत्तिन्ना, तारुन्नमहण्णवं धीरा ॥ १३० ॥
अब्भिंतरबाहिरए, सव्वे संगे तुमं विवज्जेहि ।
कयकारियऽणुमईहिं, कायमणोवायजोगेहिं ॥ १३१ ॥
संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीयं करेइ चोरिक्कं ।
सेवइ मेहुणमित्थं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥ १३२ ॥
संगो महाभओ जं, विहेडिओ सावएण संतेणं ।
पुत्तेण हिते अत्थ-म्मि मुणिवईकुंचिएण जहा ॥ १३३ ॥
सव्वग्गंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो य ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥ १३४ ॥
निस्सल्लस्सेह मह-व्वयाइं अक्खंडनिव्वणगुणाइं ।
उवहम्मंति य ताइं, नियाणसल्लेण मुणिणो वि ॥१३५॥
अह रागदोसगब्भं, च मोहगब्भं च तं भवे तिविहं ।
धम्मत्थं हीणकुला-ई पत्थणं मोहगब्भं तं ॥ १३६ ॥
रागेण गंगदत्तो, दोसेणं विस्सभूइमाईया ।
मोहेण चंडपिंगल-माईया हुंति दिट्ठंता ॥ १३७ ॥
अगणिय जो मोक्खसुहं, कुणइ नियाणं असारसुहहेउं ।

सो कायमणिकएणं, वेरुलियमणिं पणासेइ ॥ १३८ ॥
दुक्खखयं कम्मखयं, समाहिमरणं च बोहिलाभो य ।
एय पत्थेयव्वं, न पत्थणिज्ज तओ अन्नं ॥ १३९ ॥
उज्झिय नियाणसल्लो, निसिभत्तनिवित्तिसमिइगुत्तीहिं ।
पंचमहव्वयरक्खं, कयसिवसुक्खं पसाहेइ ॥ १४० ॥
इंदियविसयपसत्ता, पडंति संसारसायरे जीवा ।
पक्खि व्व छिन्नपक्खा, सुसीलगुणपेहुणविहूणा ॥१४१॥
न लहइ जहा लिहंतो, सुहिल्लियं अट्ठियं रसं सुणओ ।
सोसइ तालुयरसियं, विलिहंतो मन्नए सोक्खं ॥१४२॥
महिलापसंगसेवी, न लहइ किंचि वि सुहं तहा पुरिसो ।
सो मन्नए वराओ, सयकायपरिस्समं सुक्खं ॥ १४३ ॥
सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इंदियविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥१४४॥
सोएण पवसियपिया, चक्खूराएण माहुरो वणिओ ।
घाणेण रायपुत्तो, निहओ जीहाइ सोदासो ॥१४५॥
फासिंदिएण दुट्ठो, नट्ठो सोमालियामहीपालो ।
एक्किक्केण वि निहया, किं पुण जे पंचसु पसत्ता ॥१४६॥
विसयाविक्खो निवडइ, निरविक्खो तरइ दुत्तरभवोहं ।
देवीदीवसमागय-*भाउअगा दुन्नि दिट्ठंता ॥ १४७ ॥
छलिया अवयक्खंता, निरावयक्खा गया अविग्घेणं ।
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेण होयव्वं ॥ १४८ ॥
विसए अवयक्खंता, पडंति संसारसायरे घोरे ।
विसएसु निराविक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥ १४९ ॥
ता धीर ! धिइबलेणं, दुद्दंते दमसु इंदियगइंदे ।
तेणुक्खयपडिवक्खो, हराहि आराहणपडागं ॥ १५० ॥
कोहाईण विवागं, नाऊण य तेसि निग्गहेण गुणं ।
निग्गिण्ह तेण सुपुरिस !, कसायकलिणो पयत्तेणं ॥१५१॥
जं अइतिक्खं दुक्खं, जं च सुहं उत्तिमं तिलोईए ।
तं जाण कसायाणं, वुड्ढिक्खयहेउयं सव्वं ॥ १५२ ॥
कोहेण नंदमाई, निहया माणेण फरसरामाई ।
मायाए पंडरज्जा, लोहेणं लोहणंदाई ॥ १५३ ॥
इयउवएसामयपा-णएण पल्हाइयम्मि चित्तम्मि ।
जाओ सुनिव्वुओ सो, पाऊण व पाणियं तिसिओ ॥१५४
इच्छामो अणुसट्ठिं, भंते ! भवपंकतरणदढलट्ठिं ।
जं जह उत्तं तं तह, करेमि विणयाऽणओ भणइ ॥ १५५ ॥
जइ कह वि असुहकम्मो-दएण देहम्मि संभवे वियणा ।
अहवा तण्हाईया, परीसहा से उदीरिज्जा ॥ १५६ ॥
निद्धं महुरं पल्हा-यणिज्ज हिययंगम अणलियं च ।
तो सेहावेयव्वो, सो खवओ पन्नवंतेण ॥ १५७ ॥
संभरसु सुयण ! जं तं, मज्झम्मि चउव्विहस्स संघस्स ।
छूढा महापइण्णा, अहयं आराहइस्सामि ॥ १५८ ॥
अरहंतसिद्धकेवलि-पच्चक्खं सव्वसंघसक्खिस्स ।
पच्चक्खाणस्स कय-स्स भंजणं नाम को कुणइ ? ॥१५९॥
भालुंकीए करुणं, खज्जंतो घोरवेयणत्तो वि ।
आराहणं पवित्रो, झाणेण अवंतिसुकुमालो ॥१६०॥
मुग्गिल्लगिरिम्मि सुको-सलो वि सिद्धत्थदइयओ भयवं ।
वग्घीए खज्जंतो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ १६१ ॥
गोट्ठे पाओवगओ, सुबंधुणा गोमए पलिवियम्मि ।
डज्झंतो चाणक्को, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ १६२ ॥
अवलंबिऊण सत्तं, तुमं पि ता धीर ! धीरयं कुणसु ।
भावेसु य नेगुण्णं, संसारमहासमुद्दस्स ॥ १६३ ॥
जम्मजरामरणजलो, अणाइमं वसणसावयाइण्णो ।
जीवाण दुक्खहेऊ, कट्ठं रुद्दो भवसमुद्दो ॥ १६४ ॥
धन्नोऽहं जेण मए, अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
भवसयसहस्सदुलहं, लद्धं सद्धम्मजाणमिणं ॥ १६५ ॥
एयस्स पभावेणं, पालिज्जंतस्स सइपयत्तेणं ।
जम्मंतरे वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥ १६६ ॥
चिंतामणी अउव्वो, एयमउव्वो य कप्परुक्ख वि ।
एसो परमो मंतो, एयं परमामयं अत्थ ॥ १६७ ॥
अह मणिमंदिरसुंदर-फुरंतजिणगुणनिरंजणुज्जोओ ।
पंचनमुक्कारसमे, पाणे पणओ विसज्जेइ ॥ १६८ ॥
परिणामविसुद्धीए, सोहम्मे सुरवरो महिड्ढीए ।
आराहिऊण जायइ, भत्तपरिण्णं जहन्न सो ॥ १६९ ॥
उक्कोसेण गिहत्थो, अच्चुयकप्पम्मि जायए अमरो ।
निव्वाणसुहं पावइ, साहू सव्वट्ठसिद्धिं वा ॥ १७० ॥
इय जोईसरजिणवीर-भद्द भणियाणुसारिणीमिणमो ।
भत्तपरिण्णं धन्ना, पढंति भावंति सेवंति ॥ १७१ ॥
सत्तरिसयं जिणाणं, व गाहाण समयक्खित्तपन्नत्तं ।
आराहंतो विहिणा, सासयसोक्खं लहइ मोक्खं ॥१७२॥
इति श्री भत्तपरिन्ना सम्मत्ता ॥

**भत्तपाणपडियाइक्खिय**-भक्तपानप्रत्याख्यात-पुं० । भक्तं च पानं च भक्तपाने प्रत्याख्यायेते येन स तथा । क्तान्तस्य परनिपात, सुखाऽऽदिदर्शनात् । भक्तप्रत्याख्यानवति, व्य० १ उ० । भ० । बृ० । अनशनिनि, कल्प० ३ अधि० २ क्षण ।

भत्तपाणपडियाइक्खियं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे नाइक्कमइ ॥ १२ ॥

अस्य संबन्धमाह—

पच्छित्तं इत्तरिओ, होइ तवो वण्णिओ य जो एस ।
आवकहितो पुण तवो, होति परिण्णा अणसणं तु ॥२०४॥

प्रायश्चित्तरूपं यदेतत् तपोऽनन्तरसूत्रे वर्णितमेतत्तप इत्वरं

* " भाउअजुयल च भणिय च " इति पाठान्तरम् ।

भवति, यत्पुनः परिज्ञारूपं तपोऽनशनं तत् यावत्कथिकम्। तत इत्वरतपःप्रतिपादनानन्तरं यावत्कथिकतपःप्रतिपादनार्थमधिकृतसूत्रम्। अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य (१२ सूत्रस्य) व्याख्या प्राग्वत्, नवरं भक्तपाने प्रत्याख्यायेते यया सा तथोक्ता, क्तान्तस्य परनिपातः सुखाऽऽदिदर्शनात्।'

अत्र भाष्यम्—

अट्ठं वा हेउं वा, समणीणं विरहिते कहेमाणे ।
मुच्छाएऽतिपडिज्जा, कप्पति गहणं परिण्णाए ॥ २०५ ॥

श्रमणीनामन्यासां साध्वीनां विरहिते अशिवाऽऽदिभिः कारणैरभावे एकाकिन्या आर्यिकाया भक्तपानप्रत्याख्याताया अर्थं वा हेतुं वा कथयतो निर्ग्रन्थस्य यदि सा मूर्च्छयाऽतिपतेत् ततो मूर्च्छाऽतिपतितायास्तस्याः ( परिण्णाए त्ति ) परिज्ञायामनशने सति कल्पते ग्रहणम्, उपलक्षणत्वादवलम्बनं वा कर्तुम्।

इदमेव व्याचष्टे—

गीतत्थीणं असती, सव्वाऽसतिए व कारणे परिण्णा ।
पाणगभत्तसमाही, कहणा आलोचधीरवणं ॥ २०६ ॥

गीतार्थानामार्यिकाणामसत्यभावे,यदि वा-अशिवाऽऽदेः कारणतः सर्वासामपि साध्वीनामभावे, एकाकिन्या जाताया परिज्ञा-भक्तप्रत्याख्यानं कृतम्। ततस्तस्याः कृतभक्तपानप्रत्याख्यानायाः सीदन्त्या योग्यपानकप्रदानेन चरमेप्सितभक्तप्रदानेन च समाधिरुत्पादनीयः, कथनीयम् यथाशक्ति स्वशरीरमनाबाधया कर्त्तव्यम्। तथा आलोचम्-आलोचनां साधापयित्वा धिक् कथमपि चिरजीवितेन भयमुत्पद्यते, यथा नाद्यापि म्रियते, किमपि भविष्यतीति न जानीम इति तस्या धीरापना कर्त्तव्या।

जति वा ण णिव्वहेज्जा,असमाही वा वि तम्मि गच्छम्मि।
करणिज्जं अण्णत्थ वि, ववहारो पच्छ सुद्धो वा ॥२०७॥

यदि वा—प्रबलबुभुक्षावेदनीयोदयतया कृतभक्तपानप्रत्याख्याना सा न निर्वहेत यावत्कथिकमनशनं प्रतिपालयितुं क्षमा इति यावत् असमाधिर्वा तस्मिन् गच्छे तस्या वर्त्तते ततोऽन्यत्र नीत्वा यदुचितं तत्तस्याः करणीयमित्यर्थः यावदनशनप्रत्याख्यानभङ्गविषयस्तस्या व्यवहारः-प्रायश्चित्तं दातव्यम्। अथ स्वगच्छाऽसमाधिमात्रेणान्यत्र गता ततः सा मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेण शुद्धेति। बृ० ६ उ०। व्य०। प्रव०।

भत्तपाणपत्थयण-भक्तपानपथ्यदन-न०। भक्तपानरूपं यत्पथ्यदनं, तत्तथा। भक्तपानरूपे शंबले, भ० १५ श०।

भत्तपाणविउस्सग्ग-भक्तपानव्युत्सर्ग-पुं०। द्रव्यव्युत्सर्गभेदे, औ०।

भत्तपाणवोच्छेय- भक्तपानव्यवच्छेद-पुं०। भक्तमशनमोदनाऽऽदि, पानं पेयमुदकाऽऽदि, तयोर्व्यवच्छेदो निषेधोऽप्रदानं भक्तपानव्यवच्छेदः। अन्नपानाप्रदाने तदात्मके स्थूलप्राणातिपातविरमणस्य प्रथमाऽणुव्रतस्य प्रथमेऽतिचारे, उपा० १ अ०। आ०। पञ्चा०। ध०। आव०। भक्तपानव्यवच्छेदो न कस्याऽपि कर्त्तव्यः, तीव्रबुभुक्षो ह्येवं सति म्रियते, स्वभोजनवेलायां तु ज्वरिताऽऽदीन् विना नियमत एवान्यान् विधृतान् भोजयित्वा स्वयं भुञ्जीत, भक्तपाननिषेधोऽपि

सार्थकानर्थकभेदभिन्नो बन्धवत् द्रष्टव्यः। नवरं सापेक्षो रोगचिकित्सार्थं स्यात् अपराधकारिणि च वाचैव वदेदद्य ते भोजनाऽऽदि न दास्यते, शान्तिनिमित्तं चोपवासाऽऽदि कारयेत्। ध० २ अधि०।

भत्तपाणसंकिलेस-भक्तपानसंक्लेश-पुं०। भक्तपानाऽऽश्रितः। संक्लेशो भक्तपानसंक्लेशः। संक्लेशभेदे, स्था० १० ठा०।

भत्तव्वभरण-भर्त्तव्यभरण-न०। भर्त्तव्यानां भर्तुं योग्यानां मातृपितृगृहिण्यपत्यसमाश्रितस्वजनलोकतथाविधभृत्यप्रभृतीनां भरणं पोषणम्। भर्त्तव्यानां मातृपित्रादीनां पोषणे, तत्र श्रीणयवश्यं भर्त्तव्यानि, मातापितरौ, सती भार्या, अलब्धबलानि चापत्यानि। यत उक्तम्—"वृद्धौ च मातापितरौ, सतीं भार्यां सुतान् शिशून्। अप्यकर्मशतं कृत्वा, भर्त्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥" ध० १ अधि०।

भत्तवेयण-भक्तवेतन-न०। भक्तं भोजनलक्षणं वेतनं मूल्यं भक्तवेतनम्। भोजनलक्षणे मूल्ये, उपा० ७ अ०।

भत्ता-भर्तृ-पुं०। पोषणकर्त्तरि, "पई भत्ता।" पाइ०ना० २५३ गाथा।

भत्ति-भक्ति-स्त्री०। भज क्तिन्। सेवायाम्, भक्तिर्विनयः सेवेति। षो० ६ विव०। भक्तिरभिमुखगमनाऽऽसनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिबन्धानुव्रजनाऽऽदिलक्षणेति। प्रव०१४८ द्वार। "अब्भुट्ठाणदंडग्गहणपायपुंछणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा जा सा भत्ती भवइ।" नि०चू० १ उ०। आराधनायाम्, वाच०। उचितप्रतिपत्त्या विनयकरणे, आ० म० १ अ०। विनयवैयावृत्यादिरूपा प्रतिपत्तिर्भक्तिरिति। ध० २ अधि०। यथोचितबाह्यप्रतिपत्तौ, आ० म० १ अ०। ग०। ध०। भक्तिरुचितोपचार इति। दश० ६ अ० १ उ०। अभ्युत्थानाऽऽदिरूपे बहुमाने, उत्त० पाइ० १ अ०। सूत्र०। "भत्ती आयरकरणं, जहोचियं जिणवरिंदसाहूणं।" संथा०। अनुरागे, ध० १ अधि०। अन्तःकरणाऽऽदिप्रणिधाने, आव० २ अ०। दर्श०।

भक्तेस्त्रैविध्यं विचारामृतसंग्रहे—

"सात्त्विकी राजसी भक्ति-स्तामसीति त्रिधाऽथवा।
जन्तोस्तत्तदभिप्राय-विशेषादर्हतो भवेत् ॥ १ ॥
आर्हतसम्यग्गुणश्रेणि-परिज्ञानैकपूर्वकम्।
असुश्रूता मनोरङ्ग-मुपसर्गेऽपि भूयसि ॥ २ ॥
अर्हत्सम्बन्धिकार्यार्थे, सर्वस्वमपि दित्सुना।
भव्याङ्गिना महोत्साहाद्, क्रियते या निरन्तरम् ॥ ३ ॥
भक्तिः शक्त्यनुसारेण, निःस्पृहाऽऽशयवृत्तिना।
सा सात्त्विकी भवेद्भक्ति-र्लोकद्वयफलावहा ॥ ४ ॥"

त्रिभिर्विशेषकम्—

यदैहिकफलप्राप्ति-हेतवे कृतमिच्छया।
लोकरञ्जनवृत्त्यर्थं, राजसी भक्तिरुच्यते ॥ ५ ॥
द्विषदां यत्प्रतीकार-मिदे या कृतमत्सरम्।
दृढाशयं विधीयेन, सा भक्तिस्तामसी भवेत् ॥ ६ ॥
रजस्तमोमयी भक्तिः, सुप्रापा सर्वदेहिनाम्।
दुर्लभा सात्त्विकी भक्तिः, शिवावधिसुखावहा ॥ ७ ॥
उत्तमा सात्त्विकी भक्ति-र्मध्यमा राजसी पुनः।
जघन्या तामसी ज्ञेया,नाऽऽदृता तत्त्ववेदिभिः।८। ध०२अधि०।

भत्तीइ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।
आयरिअनमुक्कारे-ण विज्ज मंता य सिज्झंति ॥१०९७॥

' भक्त्या ' अन्तःकरणप्रणिधानलक्षणया ' जिनवराणां ' तीर्थकराणां सम्बन्धिन्या हेतुभूतया, किं ? , ' क्षीयन्ते ' क्षयं प्रतिपद्यन्ते ' पूर्वसञ्चितानि ' अनेकभवोपात्तानि ' कर्माणि' ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदीनि इत्थं स्वभावत्वादेव तद्भक्तेरिति । अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह। तथाहि-आचार्यनमस्कारेण विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति, तद्भक्तिमत सत्त्वस्य शुभपरिणामत्वात्तत्सिद्धिप्रतिबन्धककर्मक्षयादिति भावनीयम् । इति गाथाऽर्थः ॥ १०९७ ॥

अतः साध्वी तद्भक्तिः, वस्तुतोऽभिलषितार्थप्रसाधकत्वाद्, आरोग्यबोधिलाभाऽऽदेरपि तन्निर्वर्त्यत्वात् ।
तथा चाऽऽह—

भत्तीइ जिणवराणं, परमाए खीणपिज्जदोसाणं ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावंति ॥ १०९८ ॥

भक्त्या जिनवराणां किंविशिष्टया ?-' परमया ' प्रधानया भावभक्त्येत्यर्थः । ' क्षीणप्रेमद्वेषाणां ' जिनानां, किम् ?, आरोग्यबोधिलाभं समाधिमरणं च प्राप्नुवन्ति, प्राणिन इति । इयमत्र भावना—जिनभक्त्या कर्मक्षयः, ततः सकलकल्याणावाप्तिरिति । अत्र समाधिमरणं च प्राप्नुवन्तीत्येतदारोग्यबोधिलाभस्य हेतुत्वेन द्रष्टव्यं, समाधिमरणप्राप्तौ नियमत एव तत्प्राप्तिः। इति गाथाऽर्थः ॥१०९८॥ आव०२ अ०। तदेकाग्रचित्तवृत्तिभेदे, विभागे, गौण्या वृत्तौ, उपचारे, अवयवे, भङ्ग्याम् , वाच० । विच्छित्तौ, विशे० । चं० प्र० । ज्ञा० । रा० । औ० । आ० म० । जी० । भ० । सू०प्र० । प्रकारे, " णिप्फत्ती चेव सव्वभत्तीण । " स्था०९ ठा० । रचनाया च । कल्प० १ अधि० ३ क्षण । वाच० ।

भत्ति ( न् )-भक्तिन्-त्रि० । भक्तं भोजनमस्यास्ति । भोजनवति, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

भत्तिअणुट्ठाण-भक्त्यनुष्ठान-न० । " गौरवविशेषयोगाद् , बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम् । क्रययेतरतुल्यमपि , ज्ञेयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥४॥ " इत्युक्तलक्षणे अनुष्ठानभेदे, षो०१० विव० । पञ्चा० । अष्ट० ।

भत्तिचित्त-भक्तिचित्र-त्रि० । भक्तयो विच्छित्तिविशेषाः, ताभिश्चित्रो भक्तिचित्रः । विच्छित्तिभिरनेकरूपवति , आश्चर्यवति च । सू० प्र० १८ पाहु० । चं०प्र० । ज्ञा० । रा० । स० । जी० । भ० ।

भत्तिचेइय-भक्तिचैत्य-न०। भक्त्या क्रियमाणे जिनायाऽऽतने, जीत० । नित्यपूजार्थं गृहे कारिताऽर्हत्प्रतिमा चैत्यमिति । ध० २ अधि० ।

भत्तिणय-भक्तिनत-त्रि० । बहुमाननम्रे, पञ्चा०६ विव० ।

भत्तिमत-भक्तिमत्-त्रि०। बहुमानवति, " अविरहिय भत्ति मतेहिं । " पञ्चा० ६ विव० । स्था० । प्रा० ।

भत्तिराग-भक्तिराग-पु० । भक्तिपूर्वकेऽनुरागे, " अप्पेगइया जिणभत्तिरागेण । " रा० ।

भत्तोस-भक्तौष-न० । भक्तं च तद् भोजनमोषं च-तदाम्लभक्तौषम् । रूढितः परिभृष्टचणकगोधूमाऽऽदिके,पञ्चा०५ विव० । सुखाऽऽदिकाया च । भक्तौषं सुखभक्षिका भक्षयतीति । अयं च जिनगृहान्तर्भव आशातनाभेद इति । ध० २ अधि० ।

भत्थ-भस्त्र-न० । शरीरे, आव० ५ अ० ।

भदत्त-भदत्त-पुं० । स्वनामख्याते योगिभेदे , भगवत्पतञ्जलिभदत्तभास्कराऽऽदीनां योगिनाम् । द्वा० २० द्वा० ।

भद्द-भद्र-न० । भदि-रक् नलोपः । " द्रे रो न वा " ॥ ८ ॥ २ । ८० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण रस्य वा लुक् । प्रा० २ पाद । कल्याणे, नं० । दशा० । आमलके, दे०ना० ६ वर्ग १०० गाथा । कल्याणे , " भद्द सिवं । " पाइ०ना० २३६ गाथा । सुखे, विशे० । 'भदि' कल्याणे सुखे चेति वचनात् । विशे० । मोक्षप्राप्तौ, स्था० १० ठा० । " भद्दं सव्वजगुज्जोय-गस्स भद्द जिणस्स वीरस्स । भद्दं सुरासुरनम-सियस्स भद्दं धुयरयस्स '॥ ३ ॥ " नं० । ति० । मङ्गले , मुस्तके, स्वर्णे , वाच० । " स्वनामख्याते विमाने, स० १६ सम० । मूठ इति प्रसिद्धे शरासननामके मङ्गलवस्तुनि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । " अट्ठ भद्दाइ । " भ० ११ श० ११ उ० । भद्रासने च । आ० म० १ अ० । स्वनामख्याते तृतीये बलदेवे, स० । आव० । भारते वर्षे आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भवे स्वनामख्याते भविष्यति बलदेवे, स० । ति० । वाराणसीनगरस्थाऽऽम्रशालवनचैत्यस्थे स्वनामख्याते सार्थवाहे, ( तद्वक्तव्यता 'बहुपुत्तिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२६६ पृष्ठे गता ) निरयावलिकोपाङ्गद्वितीयवर्गस्य कल्पावतसकाना दशानामध्ययनाना तृतीयाध्ययनप्रतिबद्धवक्तव्यताके स्वनामख्याते राजदारके, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धे तृतीयेऽध्ययने च । तद्वक्तव्यता महापद्मवत् । नि० १ श्रु० ३ वर्ग १ अ० । ( सा च ' महापउम ' शब्दे ) मानुषोत्तरपर्वतस्थे स्वनामख्याते नागसुवर्णे, द्वी० । तुरिमिणीपुरस्थे स्वनामख्याते द्विजे, आ०क० १ अ० । (तत्कथा ' सम्मावाय ' शब्दे वक्ष्यते ) भद्दिलपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, ध० र० । ( भद्रश्रेष्ठिकथा—' उजुववहार ' शब्दे द्वितीयभागे ७४० पृष्ठे गता । ) कस्मिंश्चिन्नगरस्थिते स्वनामख्याते श्रेष्ठिपुत्रे, तं० । स्वनामख्याते ग्रैवेयकविमानप्रस्तटाना प्रथमे प्रस्तटे, स्था० ३ ठा० । पञ्चशतसाधुपरिवृते स्वनामख्याते आचार्ये, " इहेव भारहे वासे भद्दा नाम आयरिआ । " महा० ६ अ० । कालिकाऽऽचार्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते गौतमगोत्रोत्पन्ने आचार्ये, "गोयमगुत्तकुमारं, सपलिय तह य भद्दय वंदे । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आचार्यशिवभूते शिष्ये काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते आचार्ये, " थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते " । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । " भद्द वदामि कासवं गुत्तं । " कल्प० २ अधि० ८ क्षण । श्रावस्तीवास्तव्ये जितशत्रुनृपते पुत्रे स्वनामख्याते राजकुमारे , उत्त०पाई० २ अ० । ( तद्वक्तव्यता ' तणफासपरीसह ' शब्दे चतुर्थभागे २१७७ पृष्ठे गता ) धीरत्वाऽऽदिगुणयुक्ते हस्तिविशेषे, स्था० ४ ठा० २ उ० । ( भद्रलक्षणम् ' पुरिसजाय ' शब्दे-

जह वज्झंति जिया इह, कम्मेहिँ जहा व मुच्चंति ॥ २३ ॥
इय सो उ भद्दनंदी, नंदियहियओ गहित्तु जिणपासे ।
सम्मत्तमूलमणहं, गिहिधम्मं सगिहमणुपत्तो ॥ २४ ॥
अह पुच्छइ सिरिगोयम-सामी सामियदुह महावीर ।
पहु ! एस भद्दनंदी, कुमरो अमरो इव सुरूवो ॥ २५ ॥
सोमु व्व सोममुत्ती, सोहग्गनिही य सयलजणइट्ठो ।
साहूणं पि विसेसे-ण सम्मओ केण कम्मेण ? ॥ २६ ॥
जंपइ जिणो विदेहे, आसी पुंडरीगिणीइ नयरीए ।
विजओ नाम कुमारो, सणंकुमारो इव सुरूवो ॥ २७ ॥
सो कइआ वि सभवणे, भवणगुरुं गुरुगुणोहकयसोह ।
जुगबाहुं जिणनाहं, भिक्खाइ कए नियइ इंतं ॥ २८ ॥
तो झत्ति चत्तचित्ता-ऽऽसणो गओ समुह सगट्ठपए ।
तिपयाहिणं करित्ता, वंदइ तं भूमिमिलियसिरो ॥ २९ ॥
भणइ य सामिय ! आहा-रगहणओ मह करेसु सुपसायं ।
दव्वाइसु उवउत्तो, जिणो वि पाणी पसारेइ ॥ ३० ॥
अह सो विजयकुमारो, हरिसभरुब्भिन्नबहुलरोमंचो ।
विप्फारियनयणजुओ, वियसंतपसंतमुहकमलो ॥ ३१ ॥
आहारेण वरेण, पडिलाभइ परमभत्तिसंजुत्तो ।
कयकिच्चं अप्पाणं, मन्नंतो मणवइतणूहिँ ॥ ३२ ॥
वित्तं वित्त पत्त, तिन्नि वि एयाइँ लहिय दुलहाइं ।
पडिलाभतेण तया, समज्जियं तेण फलमेय ॥ ३३ ॥
पुन्नाणुबंधि पुन्नं, उत्तमभोगा य सुलहबोहित्त ।
मणुयाउयं च बद्धं, कओ परित्तो य संसारो ॥ ३४ ॥
अन्न च तहिँ तइया, पाउब्भूयाइँ पंच दिव्वाइं ।
पहयाउ दुंदुहीओ, चेलुक्खेवा सुरेहिँ कओ ॥ ३५ ॥
मुक्का हिरन्नबुट्ठी, बुट्ठी कुसुमाण पंचवन्नाणं ।
गयणंऽगयम्मि घुट्ठं, अहो सुदाणं सुदाण ति ॥ ३६ ॥
रायप्पमुहो लोओ, मिलिओ बहुआ य तत्थ तेणावि ।
सो विजओ विजियमणो, पसंसिओ हरिसियमणेण ॥ ३७ ॥
भुत्तूण बहुं कालं, विजओ भोए समाहिणा मरिउं ॥
लोयपियाइगुणजुओ, जाओ सो भद्दनंदि त्ति ॥ ३८ ॥
पुच्छइ मुणिंदभूई, किं एसो गिण्हिही समणधम्मं ? ।
भणइ जिणो गिण्हिस्सइ, समयम्मि समाहिओ सम्मं ॥ ३९ ॥
विहरइ अन्नत्थ पहू, कुमरो वि हु कुणइ सावय धम्म ।
अणुकूलविणीयसुध-म्मसीलपरिवारपरियरिओ ॥ ४० ॥
अह अन्नया कयाइं, अट्ठमिमाईसु पव्वदियहेसु ।
गतु पोसहसाल, पासवणुच्चारभूमीओ ॥ ४१ ॥
पडिलेहिउ पमज्जिय, रइउ संथारयं च दब्भस्स ।
तम्मि दुरूढो अट्ठम-भत्तजुयं पोसह कुणइ ॥ ४२ ॥
कुमरो जिणपयभत्तो, अट्ठमभत्तम्मि परिणमतम्मि ।
पुव्वावरत्तकाले, चिंतिउमेव समाढत्तो ॥ ४३ ॥
धन्ना ते गामपुरा, धन्ना ते खेडकब्बडमडबा ।
मिच्छत्ततिमिरसूरो, वीरजिणो विहरए जत्थ ॥ ४४ ॥
ते च्चिय धन्नसुपुन्ना, रायाणो रायपुत्तमाईया ।
वीरजिणदेसणं निसु-णिऊण गिण्हंति जे चरणं ॥ ४५ ॥
इण्हं पि जइ समिज्जा, वीरो तेल्लुक्कबंधवो अज्ज ।
तोऽहं तप्पयमूले, गिण्हिस्स संजमं रम्मं ॥ ४६ ॥
तम्मणऽभिप्पायं नाउ, गामे वीरो समोसढो तत्थ ।
तो भद्दनंदिमाईओ, पहुनमणत्थं नियो पत्तो ॥ ४७ ॥
नमिय जिणं उवविट्ठा, उचियट्ठाणे नरिंदकुमरवरा ।
तो नवजलहरगज्जिय-गहिरसरो भणइ इय सामी ॥ ४८ ॥
भव्वा ! भवारहट्टे, कम्मजलं गहिय अविरइघडीहिं ।
चउगइदुहविसवल्लिं, मा सिंचह जीवमंडवए ॥ ४९ ॥
तं सुणिय निव्वो पत्तो, सगिहे कुमरो उ जंपए एवं ।
पव्वज्जं गिण्हिस्सं, पियरो पुच्छिय परं सामि ! ॥ ५० ॥
मा पडिबंधं कुणसु, त्ति सामिणा सो पयंपिओ तत्तो ।
पत्तो पिऊण पासे, नमिऊण कयंजली भणइ ॥ ५१ ॥
वीरसगासे रम्मो, धम्मो अज्जेव ! ताय ! निसुओ मे ।
सद्दहिय, पत्तिओ रो-इओ य सो इच्छिओ य मए ॥ ५२ ॥
ते वि अणुकूलहियया, भणंति तं वच्छ ! धन्नकयपुन्नो ।
एवं दुक्ख तच्चं पि, जंपिए जंपए कुमरो ॥ ५३ ॥
तुब्भेहिं अणुन्नाओ, पव्वज्ज संपयं पवज्जिस्स ।
सोउं एयमणिट्ठं, वयणं देवी गया मुच्छं ॥ ५४ ॥
पउणीकया च कलुणं, विलवती भणइ दीणवयणमिणं ।
जाय ! तुमं मह जाओ, बहुओवाइयसहस्सेहिं ॥ ५५ ॥
ता कह ममं अणाहं, पुत्तय ! मुत्तुं गहेसि सामन्नं ।
सोयभरभरियहियया-इ वच्चिही मज्झ जीयं पि ॥ ५६ ॥
ता अत्थह जावऽम्हे, जीवामो तो पउट्टसताणो ।
पच्छा कालगएहिं, अम्हेहिं तुमं गहिज्ज वयं ॥ ५७ ॥
कुमारः—
वसणसयसममिभूए, विज्जुलयाचंचले सुमिणसरिसे ।
मणुयाण जीविए मर-णमग्गओ पत्थओ वा वि ॥ ५८ ॥
को जाणइ कस्स कहं, होही बोही सुदुल्लहो एस ? ।
ता धरिय धीरिमाए, अंब ! तऽऽहं विमुत्तव्वो ॥ ५९ ॥
पितरौ—
जाया ! तुह अंग मिणं, निरुवमलवणिमसुरुवसोहिल्लं ।
तस्सिरिमणुहविऊणं, वूढवओ तयणु पव्वयसु ॥ ६० ॥
कुमारः—
विविहाऽऽहिवाहिगेहं, गेहं पि व जज्जरं इमं देहं ।
निवडणधम्ममवस्सं, इण्हि पि हु पव्वयामि तओ ॥ ६१ ॥
पितरौ—
सुकुलुग्गयाउ लाव-न्नसलिलसरियाउ तुज्झ दइयाओ ।
पंचसयाइँ इमाओ, कह मुंचसि त अणाहाओ ? ॥ ६२ ॥
कुमारः—
विसमीसपायससमे, विसए असुहब्भवे असुहणे य ।
दुक्खतरुवीयभूए, को सेविज्जा सचेयणो ? ॥ ६३ ॥
पितरौ—
पुरिसपरंपरपत्तं, वित्तमिणमणिंदियं तुमं वच्छ ! ।
दाउं भुत्तु पकामं, पच्छा पडिवज्ज पव्वज्ज ॥ ६४ ॥
कुमार —
जलजलणपमुहसाहा-रणम्मि जलनिहितरंगतरलम्मि ! ।
मइमं वित्तम्मि न को-इ इत्थ पडिबंधमुव्वहइ ॥ ६५ ॥
पितरौ—
जह निक्खग्गधारा-इ चिक्कमणं दुक्कर तहा पुत्त ! ।
वयपालणं विसेसा, तुह सरिसाण सुहीणं ॥ ६६ ॥
कुमार —
कीवाण कायराणं, विसयतिसियाण दुक्करं एय ।
उज्जमघणाण धणियं, सव्वं मज्झ तु पडिहाइ ॥ ६७ ॥

सच्चिच्छयमह मुणिउं, राया सिंचेइ एगदेवसिए ।
तं रज्जे तह पभणइ, संपइ तुह वच्छ ! किं देमो ? ॥ ६८ ॥
भणइ कुमारो दिज्जउ, रयहरणं पडिग्गहं च तो राया ।
लक्खदुगेणं दुण्ह वि, आणावइ कुत्तियावणओ ॥ ६९ ॥
लक्खेणं कासवगं, सद्दाविय भणइ कुमरकेसग्गे ।
निक्खमणप्पाओग्गे, कप्पसु सो वि हु करेइ तहा ॥ ७० ॥
देवी पडेण गहिओ, न्हविउं तह उच्चिउं च सियवसणे ।
बंधियरयणसमुग्गे, काउं ते ठवइ उस्सीसे ॥ ७१ ॥
राया पुणो वि कुमरं, कंचणकलसाइएहिं एहविऊण ।
लूहइ सयमंगाइं, गोसीसेणं विलिंपेइ ॥ ७२ ॥
परिहावइ वत्थजुयं, कुमरमलं कुणइ कप्परुक्खु व्व ।
कारइ सिवो विसिट्ठं, सीयं थंभसयसुनिविट्ठं ॥ ७३ ॥
तत्थाऽऽरुहिउ कुमारो, निवसइ सीहासणम्मि पुव्वमुहो ।
दाहिणपासे भद्दा-ऽऽसणम्मि कुमरस्स पुण जणणी ॥ ७४ ॥
घित्तुं रयहरणाई, वामे पासे तहंऽवधाई से ।
छत्तं घित्तुं एगा, वरतरुणी पिट्ठओ य ठिया ॥ ७५ ॥
चामरहत्थाउ दुवे, उभओ पासे तहेव पुव्वाए ।
बीयणगकरा तह हुय-वहाए भिंगारवग्गकरा ॥ ७६ ॥
समरूवजुव्वणाणं, समसिंगाराण हरिसियमणाणं ।
उक्खित्ता अह सीया, रायसुयाणं सहस्सेण ॥७७॥
अह सुत्थियाइं संप-त्थियाइं सेअट्ठमंगलाइं पुरो ।
समलंकियाण हयगय-रहाण पत्तेयमट्ठसयं ॥ ७८ ॥
खत्तिया बहवे असिलट्ठि-कुंतधयचिंधपमुहगाहातो ।
रत्थत्थिया य बहवे, अयजयसद्दं पउंजंता ॥ ७९ ॥
मग्गणजणस्स दिंतो, दाणं कप्पदुमु व्व सो कुमरो ।
दाहिणहत्थेण तहा, अंजलिमाला पडिच्छंतो ॥ ८० ॥
दासिज्जंतो मग्गे, सो अंगुलिमालियासहस्सेहिं ।
पिच्छिज्जंतो य तहा, लोयणमालासहस्सेहिं ॥ ८१ ॥
पत्थिज्जंतो अहियं, हिययसहस्सेहिं तहय थुव्वंतो ।
वयणसहस्सेहिं इमो, संपत्तो जा समोसरणं ॥ ८२ ॥
सीयाओ उत्तरिउं, जिणपयमूलेऽभिगम्म भत्तीए ।
तिपयाहिणी करेउं, वंदइ वीरं सपरिवारो ॥ ८३ ॥
अहिवंदिउ जिणिंदं, भणंति पियरो इमं जहेस सुओ ।
अम्ह एगो इट्ठो, भीओ जरजम्ममरणाणं ॥ ८४ ॥
तो तुम्हं पयमूले, निक्खमिउं एस इच्छइ तओ भे ! ।
देमो सचित्तभिक्खं, पुज्जा पसिऊण गिण्हंतु ॥ ८५ ॥
भणइ पहू पडिबंधं, मा कुव्वह तयणु भद्दनंदी वि ।
गंतुं ईसाणदिसिं, मुंचइ सयमेवऽलकारं ॥ ८६ ॥
लुंचइ केसकलावं, पंचहिं मुट्ठीहिंऽतो तहिं देवी ।
तं च पडिच्छइ हंसग-पडेण अंसूणि मुंचंती ॥ ८७ ॥
भणइ य अंसिस अट्ठे, अज्ज मा पुत्त ! तं पमाइज्जा ।
इय वुत्तुं सट्ठाणे, पत्ता सा अह कुमारो वि ॥ ८८ ॥
गंतुं भणइ जिणिंदं, आलित्तपलित्तयम्मि लोयम्मि ।
भयवं ! जराइमरणे-ण देसु तत्रासणं दिक्खं ॥ ८९ ॥
तो दिक्खिऊण विहिणा, जिणेण एसो इमो समणुसिट्ठो ।
सव्वं पि वच्छ ! किरियं, जयणापुव्वं करिज्जाहि ॥ ९० ॥
" इच्छामु त्ति " भणंतो, थेराण समप्पिओ इमो तेसिं ।
पासे पाढवरणरओ, गिण्हइ इक्कारसंगाई ॥ ९१ ॥
सुचिरं पालिउ वयं, मासं संलेहणं च काऊणं ।
आलोइय पडिकंतो, सोहम्मे सुरवरो जाओ ॥ ९२ ॥
भुत्तूण तत्थ भोए, तत्तो आउक्खए चुओ संतो ।
होऊण उत्तमकुले, मणुओ पालित्तु गिहिधम्मं ॥ ९३ ॥
पव्वज्जं काऊणं होही देवो सणंकुमारम्मि ।
एवं बंभे सुक्के आणयकप्पे य आरणए ॥ ९४ ॥
तो सव्वट्ठे एवं, चउदससु भवेसु नरसुरेसु इमो ।
उत्तमभोए भोत्तुं, महाविदेहे नरो होही ॥ ९५ ॥
पव्वज्जं पडिवज्जिय. खविउं कम्माइ केवली होउं ।
सो भद्दनंदि कुमरो, लहिही अवही विमुक्खसुहं ॥ ९६ ॥ "

" एवं सुपद्मं किल भद्रनन्दी,
निर्विघ्नमाराध्य विशुद्धधर्मम् ।
स्वर्गाऽऽदिसौख्यं लभते स तस्मात् ,
श्राद्धस्य युक्तो गुण एव नित्यम् ॥ ९७ ॥ "

( इति भद्रनन्दिकुमारोदाहरणं समाप्तम् ) ध०र० १ अधि० १४ गुण ।

**भद्दतरपडिमा**-भद्रतरप्रतिमा-स्त्री० । प्रतिमाभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० । (तद्वक्तव्यता 'पडिमा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३३२ पृष्ठे गता )

**भद्दपडिमा**-भद्रप्रतिमा-स्त्री० । यस्यां पूर्वदक्षिणापरोत्तराभिमुखः प्रत्येकं प्रहरचतुष्टयं कायोत्सर्गं करोति । एषा चाहोरात्रद्वयमानेत्युक्तलक्षणे प्रतिमाभेदे, औ० । कल्प० । आ०चू० । " केरिसिया भद्दा पडिमा ?, भण्णइ-पुव्वाभिमुहो दिवसं अत्थइ, पच्छा रत्तिं दाहिणहुत्तो , ततो बीए अहोरत्ते अवरेण, दिवसं उत्तरेणं रत्तिं" पूर्वस्यामेकम् , अपरस्यामेकम् , दक्षिणस्यामेकमुत्तरस्याम् , " पडिमाभद्द " ( ४९६ गा० ) प्रतिमा पूर्वं भगवता भद्रा कृता । (आ० म० ) ४९५ गा० टी० आ० म० १ अ० ।

**भद्दवई**-भद्रवती-स्त्री० । प्रद्योतनृपपुत्र्या वासवदत्ताया दास्याम् , आ०क० ४ अ० ।

**भद्दवय**-भाद्रपद-पुं० । चैत्राऽऽदितः षष्ठे मासे, उत्त० २६ अ० जं० । स० ।

**भद्दवया**-भद्रपदा-स्त्री० । भद्रस्य-वृषस्येव पदं यासाम् पूर्वोत्तरभाद्रपदासु, वाच० । अनु० ।

दो य होंति भद्दवया । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

**भद्दवाइ ( न् )**-भद्रवाजिन्-पुं० । शोभनाश्वे. " भद्दवाइणो दमए । " पं०व० १ द्वार ।

**भद्दबाहु**-भद्रबाहु-पुं० । प्राचीनगोत्रोत्पन्ने यशोभद्राऽऽचार्यशिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, कल्प० १ अधि०७ क्षण । नि०चू० । भद्दबाहुं च पाईणं । " नं० । कल्प० । ( भद्रबाहुवक्तव्यता । 'थविरावली' शब्दे चतुर्थभागे २३९४ पृष्ठे गता ) ( वर्णकः ' पंचकप्प ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतः ) (सक्षीवक्तव्यता च ' कप्पववहार ' शब्दे तृतीयभागे २३५ पृष्ठे उक्ता )

भद्रबाहुचरित्रं यथा—

अत्थि सिरिभरवरिट्ठे सयलट्ठगरिट्ठभरहट्ठे धम्मियजणागिसपुन्नपरिन्नपवणपट्टाणं सिरिपट्टाणं नाम नयरं । तत्थ य-चउद्दसविज्जाठाणपारगो छक्कम्मकम्मविऊ पयईए भद्दबाहुनाम माहणो हुत्था तस्स परमपिम्मभरसरसी वाराहमि-

हिरो सहोयरो । अन्नया तत्थ चउद्दसपुव्वरयणमहोसरो
नवतत्तवरनिहाणपत्तमाहभद्दो सिरिम जसोभद्दसूरिचक्क-
वट्टी उज्जाणवणे समोसढो । तन्नमंसणकए अहमहमिगा-
ए सयलं नयरलोयं गच्छंत पलोइय किंचि संजायपमोओ
वाराहमिहिरेण सद्धिं भद्दबाहू सूरीणं वंदणत्थं गओ, तं
वंदिय कमवि परमाणंदमुव्वहंतो समुचियभूभागे निवि-
ट्ठो तओ सूरीहिं हिया निव्वेयसजणणी देसणा—
" संसारो दुक्खरूवो चउगईविपुलो जोणिलक्खप्पहाणो,
इत्थं जीवाण सुक्ख खणमवि पवरं विज्जए नेव किंचि ।
तम्हा तच्छेयणत्थ जिणवरभणिए उज्जया होह धम्मे,
खंताईणं मुणीण गुणगणकलिए सावयाण च सारे ॥ १ ॥ "
तं सुणिय वेरग्गतरंगरंगिओ आगमेसिभद्दो पणट्ठमो-
हनिद्दामुद्दो भद्दबाहू सहोयरं वराहमिहिर भणइ-वच्छाए
संजायभवविरागो एसि गुरूणं चरणमूले सव्वसंगपरि-
च्चायं करिय अणवज्ज पव्वज्जमायरिस्सं, भवया पुण
घरकज्जे सुसज्जेण होयव्वं । तो वराहमिहिरो तं पइ जपइ-
भाय ! जइ तुम संसारसायरं तरिउमिच्छसि ता कहमहं
भग्गपवहणजणु व्व तत्थ मज्जेमि । जओ—"सक्कारसहिया-
म्भीगी, दियाण जह वल्लहा हवइ अहिया । ता किं सा इयरा-
ण वि, नराण न हु होइ अभिरुइया ॥ १ ॥ " एवं भिक्खाभि-
स जाणिऊण मा एसो भवावडे निवडउ त्ति भद्दबाहुणा अ
णुमन्निओ । तओ दो वि भायरा गुरुपच्चक्खं सावज्ज पच्च
क्खायंति । तओ भद्दबाहू गहियदुविहसिक्खो कमेण गुरु-
वयणकमलाओ भमरु व्व मयरंदं चउद्दसपुव्वसुत्तत्थरहस्सं
पाऊण मुदिओ सुविहियचूडामणी जाओ । इओ य सिरिज
सभद्दसूरीणं तस्स मणं निज्झाठाणो असमाणचरित्ते अज्जसं
भूयविजओ नाम सीससेहरो आसि । अन्नम्मि दिणे सूरि
पयजुग्गा सुयकेवलिणो मुणिसंभूयविजयभद्दबाहुनामगे मु-
णिवरे गणहरपए ठाविऊण सय सिरिजसभद्दसूरिणो संलेहणं
करिय सुरपुरसिरीए अवयसभावमुवगया । तओ ते ससिसूरु
व्व तिमिर गोवित्थरेण हणंता महिमंडले पुढो पुढो विहरंति ।
अह सो वराहमिहिरमुणी अप्पमई चंदसूरपन्नत्तिपमुहे केवि
गंथे मुणिऊण अहंकारनडिओ सूरिपयमहिलसंतो अज्जुग्ग
त्ति गुरूहिं नाणबलेण नाऊण न गणहरपए ठाविओ इय सुय-
वयणं सरंतेहिं-"वूढो गणहरसद्दो,गोयममाईहिं धीरपुरिसे-
हिं । जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥१॥" तओ व
राहमिहिरस्स जिट्ठसहोयरे सिरिभद्दबाहुगणहरे परमा अपीई
जाया । जओ इमेहिं मह माणखंडणा कया अओ इत्थ ठाउ
न जुज्जइ । भणियं च-' माणि पणट्ठइ जइ न तणु, तो देस
डावइज्ज । मा दुज्जणकरपल्लविहिँ, दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥ १ ॥"
तेण पावकम्मोदएण अप्पा गुणपव्वयाऽऽरूढो वि दोसावडे
पाडिओ अहो दुरंतया कम्माणं, जं तिव्वकसाओदएण उव-
समगुणठाणेहिंतो मिच्छत्तगुणठाणे पडिओ, दुवालसवरिसे प
रिपालियचरित्तो चइत्तु जिणमुद्दं पुणरवि सहावसिद्धं माहण-
त्तमुवगओ वराहमिहिरो । भणियं च—" प्रकृत्या शीतलं नी-
र-मुष्णं तद्वह्नियोगत. । पुन किं न भवेच्छीतं, स्वभावो
दुस्त्यजो यतः ॥१॥ " तओ चंदसूरपन्नत्तिपमुहाऽऽगमगंथेहिंतो
किं पि किं पि रहस्सं गहिऊण सनामेण 'वाराहीसंहिय त्ति'
नामयं जोइससत्थं सवायलक्खपमाणं करेइ । तं च सिद्धं-
ताओ उद्धरियं ति पाएण सच्चं होइ, अओ लोएसु पसिद्धं
तं जातं । अन्नं च अंगोवंगेहिंतो दव्वाणुओगाओ मंततंता
इं मुणियं पउंजिऊण य जणमणाइं रंजइ, मिच्छदिट्ठीण
पुरओ नियचरियमेव परूवेइ-जं अहं दुवालसवरिसे दिव्व
रमंडले ठिओ, भयवया वि भाणुणा सगलगहमंडलमुदय-
त्थमणचक्काइयारठिइजोगे विवागाइं पेसिय मह द-
सियं, पेसिओ य अहं महियले, तओ मे इमं जोइससत्थं क-
यं जइ असच्चं ता किं परिमियं भासिज्जइ, मिच्छत्तं वि
यइमइणो विअाइया वज्जपातसरिसं पि तव्वयणं तहेव पडि-
वज्जंति । अहो अन्नाणविलसिया एसिं,जओ-"वच्छले य सि
लाए,खंड बंधित्तु मोयगमिमं ति । धुत्तेहिं भणिएहिं, बाला ल-
हु लोलविज्जंति ॥ १ ॥ " तयणु भूदेवस्सेव तस्स वन्नणमेव-
कुणंता चिट्ठंति-जमेस वराहमिहिरो मोहणनहंगमणाऽऽव-
इरूवाहिं विज्जाहिं दिप्पंतो गहणेहिं सह दुवालसवासाइं
भमिऊण जोइससत्थं च काऊण महियलमोइण्णो चउदसवि-
ज्जाठाणपारगो जाओ,अज्ज वि इय तप्पसिद्धी लोए विप्फुरइ,
पइट्ठाणपुराहिराओ वि वियक्खणु त्ति त पूएइ, जओ लोओ
पूइयपूयगो न परमत्थविऊ, स कायखंडसमो वि इंदनीलम
णि त्ति संगहिऊण रन्ना स पुरोहिओ विहिओ, न य वि
यारसारा हवंति रायाणो, त च रायपसायपत्त मुणिऊण
जणो विसेसेण सम्माणेइ । अह सिरिभद्दबाहुपहू सयलम-
घणिठाणं वयणामएण सिंचंतो पइट्ठाणपुरबाहिरुज्जाणे
समोसरिओ । तत्थाऽऽगयं सूरिसरमायन्निऊण राया पोरप-
रिवओ वंदिउं गओ,रायाणुवित्तीए वराहमिहिरो वि । तम्मि
समए रायादिसमक्खं एगेण पुरिसेण वराहमिहिरो व-
द्धाविओ देव ! संपयं चेव तुम्ह घरे पुत्तो उत्पन्नो , तं सु-
णिय राया हरिसिओ वद्धाविय नरस्स पारिओसिय
दाण दाऊण पुरोहियं वाहरेइ—साहेसु तुमं, एस तुम्ह
पुत्तो केरिसविज्जो कियप्पमाणाऊ अम्ह च पूयणिज्जो
होही, न व त्ति । संपइ सव्वन्नुपुत्तो समसमुमिवो सि-
रिभद्दबाहुसूरी तहा जोइसचक्कनिरिक्खणवियक्खणो तुमं
च । अओ दुवे वि णाणिचूडामणिणो वियारिऊण आइसह ।
तओ वराहमिहिरो सहावचवलमाहणजाइत्तणेण नियनाणु
क्करिसं च जाणावयंतो वागरेइ-महाराय ! मए एयस्स जम्म
काललग्गगहाइयं वियारिय एस सिसू वरिससयपमाणाऊ हु-
इ पुत्तपुत्ताणं च पूइओ अट्ठारसविज्जाठाणपारगामी भवि-
स्सइ, एयम्मि समए जिणसमए निमित्तकहणं निसिद्धं पि
मुणंतो नरिंदाइलोयाओ जिणमयपभावणत्थं कहुओसहपा
ण व रोगच्छेयणकए कीरतं सुद्धमुवजायइ त्ति वियारिऊण
गीयत्थसिरोमणी सिरिभद्दबाहुमहामुणी तस्स दारगस्स स
त्तदिणंते बिडालियाओ मरणमाइसइ । तं वयणमायन्निऊण
कोवेण पज्जलिरो वराहमिहिरो नरवइं पइ जंपइ-देव ! जइ एय
एयाणं वयणमन्नहा होइ ता तुब्भेहिमेयाणं कोवि पयंडो दंडो
कायव्वो । एवं वाहरिऊण रोसारुणनयणो वराहमिहिरो राय-
सहिओ नियघरं गओ । तेण झत्ति गंतूणं स बालो मंदिरऽब्भं-
तरे गुत्तट्ठाणे ठाविओ चउद्दिसिं च वरवाहिं उब्भड-
सुहडा ससत्था निवेसिया, धाई पुण भायणाइसामग्गीस-
हिया अब्भितरे चेव निविडनिविडं कवाडसंपुडं सघ-
ट्टिऊण जागरमाणी बालं रक्खइ, तस्साट्ठिमवणस्स दुवा-

रक्खेसे सयं वराहमिहिरो उववितिय बिडालसंचारं रक्खेइ, संपत्ते सत्तमे दिणे तहेव तेसिं रक्खंताणं उक्किरिय बिडाला महाथूला दुवारग्गला सहसा बालगोवरि पडिया। तग्घाएण य दारगो मओ। धाईए हाहा त्ति बोलो कओ जं णं एस मए रक्खंतीए चेव उच्छंगनिहिओ वि अग्गलेण बालगो निहओ। तं वज्जनिवायसरिसं वयणं सुणिय पुरोहिओ मुच्छानिमीलियच्छो धस त्ति धरणीतले पडिओ, सिसिरोवयारेहिं पुणरवि पत्तचेयणो उग्घाडिऊण कवाडसंपुडं तं सुयं मयं पासिऊण हिययं ताडयंतो रोइउं पयत्तो—" हा हा दुरंतरे दिव्व!, रोविऊण सुरदुमं। समुम्मूलेसि किं पाव!, मत्तदंति व्व मे सुयं ॥ १ ॥ " एयाओ विरहाओ अहियरं दूमेइ खलु व्व मे हिययं नाणाऽसच्चत्तणं। एवं सोयं करंतेण जणो वि रोयाविओ। राया वि विन्नायवइयरो आगंतूण तं पुराणाइभणियसंसाराणिच्चयावयणेहिं पडिबोहेइ, इय साहइ अ-भो वराहमिहिर! सिरिभद्दबाहुसामिनिवेइयं नाणमवितहं जायं, परं बिडालाओ जं तस्स मरणमुवइट्ठं तं असच्चं दीसइ, अओ तम्मरणहेउं धाइं पुच्छइ, धाईए वि सा अग्गला आणेऊण रन्नो दंसिया, तीए अग्गविभागे उक्किरियं बिरालियं दट्ठूण संजायविम्हओ राया सूरिरायगुणकित्तणमुहरिमुहो घज्जरइ— अहो! पिच्छह जाया सेयंवराणं नाणलद्धिलच्छीओ, तं सच्चं चेव सव्वन्नुपुत्तया, जं एवमविसंवायवयणा, एवं चमक्किओ य उट्ठिऊण सिरिभद्दबाहुगुरुं पणमिय पुच्छइ-भयव ! केण हेउणा पुरोहियवयणमसच्चं जाय तओ ?। गुरू भणइ-महाराय! एस गुरुपडिणीओ वयाइं पडिवज्जिउं वि णट्ठमई तुह पुरोहिओ, तेण हेउणा एयस्स वयणं न सच्चं होइ, जं च सव्वन्नुणा पणीय वयणं तं जुगते वि नऽन्नहा होइ। तओ राया नायपरमत्थो जंपेइ—हा मिच्छत्तधत्तूरपाणमोहियमइणा सयलमेव महियलं कणयमयं मन्नमाणेण मए निरत्थयं मणुअजम्मं निग्गमियं, ता भयवं! परिसियं मह सिक्खं देह, जेण कयत्थो होमि। तओ गुरू दुग्गइगमणपडिवक्खं धम्मसिक्खं सहासमक्खं रन्नो वियरइ, सो वि तं से सुद्धा सिरसा पडिच्छइ। अप्पभिइयं मयकलेवरं व पुरोहियमतं चइय राया जिणधम्मं पडिवज्जइ तप्पभिइं च णं लोओ समुवहसइ, सो वि नियतणयमरणेण नाणासच्चत्तणेणं लोयवायाएणं संजायसंसारनिव्वेओ सव्वहा विगयसम्मत्तो संगहियमिच्छत्तो परिव्वायगपव्वज्जं पडिवज्जिय मुणिजणे पओसमावहंतो अन्नाणकट्ठतवाइ सुइरमायरिय अणुट्ठियपावसत्तो मरिऊण अप्पड्ढिओ वंतरो जाओ। अह सो वाणमंतरो विभंगनाणेणं नियपुव्वभवमाभोइत्ता मिच्छत्तोदयवसेण जिणसासणे परमवेरं वहंतो चिंतेइ-कया णं अहं पुव्वभववेरसायरं पवणमंदरणु व्व उल्लंघिय सुहिओ हविस्सं ?। तओ देवकिच्चमकाऊण जिणपवित्ताणं साहूण सावयाईणमुवसग्गं काउकामो नाच्छिद्दाणि गवेसेइ। तओ सया अप्पमत्ताणं आवस्सगविरयाणं साहूणीणं किंचु एव न किं पि पिच्छइ। दूसणं, तंमि व केममवि स मोडियमसमत्थो हरयेण दत्थं मल्लंतो रणोहिं गट्ठे चरंतो मुट्ठिए हिययं माडितो भित्तीए सीसं फोडंतो विवाओ होइया। तओ तप्पुट्ठि घंडियऊण किरियाकला वाविहिवायं समन्नोवासयाईणं छिद्दं लहिऊण स दुट्ठो वाणमंतरो विविहे उवसग्गे कुणइ। तओ सावया सुयमायरसुविहियायरा बुद्धिवियारेण तं वंतरकयमुवसग्गं जाणिय परुप्परं मंतयंति-जहा सिंहं विणा करी न वियारिज्जइ,जहा भाणुं विणा तिमिरपडल न फेडिज्जइ, जहा पवहणं विणा सायरो न लंघिज्जइ, जहा ओसहं विणा वाही न छिंदिज्जइ तहा गुरूहिं विणा एस उवद्दवो न विद्दविज्जइ त्ति। तओ एयस्स अत्थस्स संसूइगा तेसिं सिरिभद्दबाहुसूरीणं पासे पेसिया विन्नत्तिया। तेहिं पि नाणेण वराहमिहिरवंतरस्स दुट्ठचिट्ठियं नाऊण सिरिपाससामिणो उवसग्गहरत्थवणं संघकए पढियं। सव्वेहिं वि तं पढिअं। तओ तप्पभावेण वायपिल्लियवद्दलु व्व विद्दुओ उवद्दवो, कप्पवल्लि व्व मणवंछियत्थजणणी जाया सत्ती, अओ अज्ज वि तं थवणं सप्पभावं पढिज्जमाणं सव्वसमीहियत्थं संपाडेइ। अह जुगप्पहाणाऽऽगमो सिरिभद्दबाहुसामी—आयारंग १ सूयगडग २ आवस्सय ३ दसवेयालिय ४ उत्तरज्झयण ५ दसा ६ कप्प ७ ववहार ८ सूरियपन्नत्तिउवंग ९ रिसिभासियाणं १० दस निज्जुत्तीओ काऊण जिणसासणं पभावेऊणं पंचमसुयकेवलिपयमणुहविऊण य समए अणसणविहाणेण तिदसाऽऽवासं पत्तो त्ति " ॥ ग० २ अधि०। कल्प०।

" सज्जंभवस्स सीसो, जसभद्दो तओ आसि गुणरासी।
सुंदरकुलप्पसूतो, संभूतो नाम तस्सावि ॥ ५ ॥
सत्तमओ थिरबाहू जाणुयसीससुपडिच्छियसुआ (पा)हू।
नामेण भद्दबाहू, विदिओ सो धम्मभद्दो त्ति ॥ ६ ॥
सो पुण चउदसपुव्वी, बारस वासाइ जोगपडिवन्नो।
सुत्तत्थेण निबंधइ अत्थं अज्झयणबंधस्स ॥ ७ ॥
पलिया च अणावुट्ठी, तइया आसी य मज्झदेसस्स।
दुब्भिक्ख विप्पणट्ठा, अन्नं विसयं गता साहू ॥ ८ ॥
केहि वि विराहणाभी--रुएहिं अइभीरुएहिं कम्माणं।
समणेहिँ संकिलिट्ठं, पच्चक्खायाइँ भत्ताइं ॥ ९ ॥
वेयड्ढकंदरासु य, नदीसु सेढीसमुद्दकूलेसु।
इहलोगअपडिबद्धा, य तत्थ जयणाएँ वट्टंति ॥ १० ॥
ते आगया सुकाले, सग्गमणसेसया ततो साहू।
बहुयाणं वासाणं, समणा विसयं अणुप्पत्ता ॥ ११ ॥
ते दाइँ एक्कमिक्कं, गयसेसा चिरस दट्ठूण।
परलोगगमणपच्चा-गयं व मन्नंति अप्पाण ॥ १२ ॥
ते बिंति एक्कमिक्क, सज्झाओ कस्स कित्तिओ धरति।
हंति दुट्ठकालेण, अम्ह नट्ठो हु सज्झाओ ॥ १३ ॥
जं जस्स धरइ कंठे, तं त परियट्टिऊण सव्वेसिं।
तो णेहिँ पिंडिताइ, तहियं एक्कारसंगाइं ॥ १४ ॥
ते बिंति सव्वसार-स्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो।
कह पुव्वगए ण विणा, पवयणसारं धरेहामो ॥ १५ ॥
सम्मस्स भद्दबाहु-स्स नवरि चोद्दसविओ अपरिसेसाइं।
पुव्वाइं अमत्थ उ, न कहिंचि वि अत्थि पडिसारो ॥ १६ ॥
सो वि चउद्दसपुव्वी, बारस वासाइँ जोगपडिवन्नो ॥ १७ ॥
.... ... . ..... ................... . ....... ... ... ।
दिज्ज न वि दिज्ज वा वा-यणं ति वाहिप्पओ ताव ॥ १८ ॥
संघाडएण गंतू-ण आलिओ समणसंघवयणं तं।
सो संघमरणमुहं-दि गदममूढोहिं आमट्ठो ॥ १९ ॥
तं अज्जकालियं जिण-धम्मसंघो तं जाणए मायो।
पुव्वसुयं कम्मस धारए, पुव्वाए वायणं देहि ॥ २१ ॥

सो भणति एव भणिए, असिद्धकिलिट्ठएण वयणाणं ।
न हु ता अहं समत्थो, इयिंह मे वायणं दाउं ॥ २२ ॥
अप्पट्ठे आउस्सा, मज्झ किं वायणाएँ कायव्वं ? ।
एवं च भणियमित्ता, रोसस्स वसं गया साहू ॥ २३ ॥
अह विण्णवंति साहू, इंतेवं पसिणपुच्छणे अम्हं ।
एव भणंतस्स तुह, को दंडो होइ त मुणह ? ॥ २४ ॥
सो भणति एव भणिए, अविसन्नो वीरवयणनियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयनि-एहवो त्ति अह सव्वसाहू अ ॥ २५ ॥
तं एव जाणमाणे, नेव सि ते पाडिपुच्छयं दाउ ।
त ठाणं संपत्तं, कह तं पासेह दाहामो (?) ॥ २६ ॥
बारसविहसंभोगे, विसवए ते य समणसंघे वि ।
जत्ते जाइज्जंतो, न वि इच्छसि वायणं दाउ ॥ २७ ॥
सो भणइ पुव्वभणिए, जसभरिओ अयसभीरुतो वीरो ।
एक्केण कारणेणं, इच्छ मे वायणं दाउ ॥ २८ ॥
अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाणि उज्जुत्तो ।
नेवाहं वाहरियव्वो, अह पि न वि वाहरिस्सामि ॥ २९ ॥
पारियकाउस्सग्गो, भत्तट्ठितो वा अहव सज्झाए ।
नितो व अनितो वा, एवं मे वायणं दाहं ॥ ३० ॥
पाढति समणसंघा, अम्हे अणुयत्तिमो तुहं छंदं ।
देहिय धम्मो वाहं, तुम्ह छंदेण दिच्छामो ॥ ३१ ॥
जे आसी मेहावी, उज्जुत्ता गहणधारणसमत्था ।
ताण पचसयाइं, सिक्खगसाहूणमहियाइं ॥ ३२ ॥
वेयावच्चगरा से, एक्केक्क से चउव्विहा दो दो ।
भिक्खम्मि अप्पडिवुद्धा, दिया य रत्तिं च सिक्खंति ॥३३॥
ते एगसए साहू, वायणपरिपुच्छणाएँ परितंता ।
आहारं अलहंता, तत्थ य ज किंचि असुणंता ॥ ३४ ॥
उज्जुत्ता मेहावी, सिट्ठा उ वायणं अलभमाणा ।
अह ते थोवा थोवा, सव्वे समणा वि निस्सरिया ॥ ३५ ॥"
ति० । ( स्थूलभद्रवृत्तम् ' थूलभद्द ' शब्दे चतुर्थभागे २४१५ पृष्ठे गतम् )

एतेहि नासियव्वं, मए विणा. वि जह सासणे भणियं ।
जं पुण मे अवरद्धं, एव पुण डहनि सव्वग ॥ ६४ ॥
पुच्छम्मि य मयहरया, अणेगया जे मरइ संपती काले ।
गोरविय थूलभद्द-म्मि नासनट्ठाइ पुव्वाइं ॥ ६५ ॥
अह विण्णविंति साहू, सगच्छया करिय अंजलिं सीसे ।
भद्दस्स तावसा इह,इमस्स एक्कावराहस्स ॥ ६६ ॥
रागेण व दोसेण व, ज व पमाएण किंचि अवरद्धं ।
त मे ! सं ( तेसिं ) उत्तरगुणं, अऊणकार खमावेति ॥६७॥
अह सुरकरिकरउवमा-णबाहुणा भद्दबाहुणा भणियं ।
मा गच्छह निव्वेयं, कारणमेय निसामेह ॥ ६८ ॥
रायकुलसरिसभूते, सगडालकुलम्मि एस संभूतो ।
मेहगओ चेव पुणो, विसारओ सव्वसत्थेसु ॥ ६९ ॥
कोसानामगणिया, समिद्धकोसा य विउलकोसा य ।
जायँ घर उ विहारी, रतिसंवेसम्मि वेसम्मि ॥ ७० ॥
वारस वासा वासउ, कोसाएँ घरम्मि सिरिघरसमम्मि ।
सोऊण य पियमरणं, रण्णो वयणेण निग्गच्छा ॥ ७१ ॥
तेगिच्छसरिसवयणं, कोस आपुच्छए सय धणियं ।
खिप्प खु एइ सामिय !, अहय वहुवावराहेहं ॥ ७२ ॥
प्रवणारांहावमुक्को, छिज्जइ चंदो व्व सोमगंभीरो ।

परिमलसिरिं वहंतो, जोण्हानिवहं ससी चेव ॥ ७३ ॥
भवणाउ निग्गओ सो, सा रत्ते परियणेण कड्डिसो ।
मत्तवरवारणगओ, इह एसो राउलं दार ॥ ७४ ॥
अंतेउर अ गइतो, विणीयविणओ परित्तसंसारो ।
काऊणं सो भद्दो. रण्णो पुरओ ठिओ आसि ॥ ७५ ॥
अह भणइ नंदराया, मंतिपयं गिण्हथूलभद्द ! मई ।
पडिवज्जसु ते पयाइँ, तिण्णि नगरागरसयाइं ॥ ७६ ॥
रायकुलसरिसभूए, सगडालकुलम्मि तं सि संभूओ ।
सत्थेसु य निम्माओ, गिण्हसु पिउसंतियं एय ॥ ७७ ॥
अह भणइ थूलभद्दो, गणियापरिमलसमप्पियसरीरो ।
सोमीकयसामत्थो, पुणो वि से विण्णवेस्सामि ॥ ७८ ॥
अह भणति नंदराया, केह सम दाहँ तुज्झ सामत्थं ।
को अण्णं वरतरओ, निम्मातो, सव्वसत्थेसु ? ॥ ७९ ॥
कंबलरयणेण ततो. अप्पाणं सुट्ठु संवरित्ता णं ।
अंसूनि निण्हुयंतो, असोगवणियं अह पविट्ठो ॥ ८० ॥
जित्तियमित्त दिण्णं, तेत्तियमित्त इमं तु भुत्त ति ।
इत्तो नवरि पडामो, झसो व मीणाउलघरम्मि ॥ ८१ ॥
आणा रज्जं भोगा, रण्णो पासम्मि आसणं पढमं ।
पुव्वत्थ इमं न खमे, खमं तु अप्पक्खमं काउं ॥ ८२ ॥
कोसं परिचिंतनो, रायकुलाओ य जे परिकिलेसे ।
निरयेसु य जे केसं, ता लुचति अप्पणो केसे ॥ ८३ ॥
तं चिय परिहियवत्थं, छिन्नूणं कुणइ अग्गओआर ।
कंवलरयणे गुट्ठिं-कारं उस्सोट्ठियं पुरतो ॥ ८४ ॥
एयं मे सामत्थं, भणइ अवणेहि मत्थलो गुट्ठिं ।
तो णं केसविहूणं. केसेहिँ विणा पलोएति ॥ ८५ ॥
अह भणइ नंदराया, वच्चइ गणियाघरं जइ कहिंचि ।
तो तं असच्चवादी. तीसे पुरतो वि वाएमि ॥ ८६ ॥
सो कुलघरस्स सिद्धिं, गणियावरसंतिय च सामिद्धिं ।
पायए पुणो वेउं, णातिणगरा अणवयक्खा ॥ ८७ ॥
जो एवं पुव्वविऊ. एव सज्झायझाणउज्जुत्तो ।
गारवकरणेण हिओ, सीलभरुव्वहणधारणया ॥ ८८ ॥
जह जह एही काले, तह तह अप्पावराहसंरद्धा ।
अणगारा पडणीए, निस्संसयउ वट्टवेहिंति ॥ ८९ ॥
उप्पायणीहिँ अवरे, केई विज्जाए इत्तरणं ।
चउरुणिवहविज्जाहिं, इट्ठाहिं काहि उड्डाहं ॥ ९० ॥
मंतेहि य चुण्णेहि य, कुच्छियविज्जाहि तेण निमित्तेणं ।
काऊण उवज्झाय, भमिही सोऽणंतसंसारे ॥ ९१ ॥
अह भणइ थूलभद्दो. अणं रूवं न किंचि काहामो ।
इच्छामि जाणिउं जे, अहय चत्तारि पुव्वाइं ॥ ९२ ॥
... ............ ' ', सुयमेत्ताइं च गुणहाहिं ति ।
दस पुण ते अणुजाणे, जाण पणट्ठाइँ चत्तारि ॥ ९३ ॥
एतेण कारणेण उ. पुरिसजुगे अट्ठमम्मि वारस्स ।
सयराहेण पणट्ठा इं जाण चत्तारि पुव्वाइं ॥ ९४ ॥
अणवट्ठप्पो य तवो, तवपारंची य दोवि विच्छिन्ना ।
चउद्दसपुव्वधरम्मी. धरंति सेसा उ जा तित्थ ॥ ९५ ॥
तं एवमगवंसो, य नदवंसो मरुयवंसो य ।
सयराहेण पणट्ठा, समयं सज्झायवंसेण ॥ ९६ ॥
पढमो दसपुव्वीणं, सगडालकुलस्स जसकरो धीरो ।
नामेण थूलभद्दो, अविहिं साधम्मभद्दो त्ति ॥ ९७ ॥

नामेण सव्वमित्तो, समणे समणगुणनिउणो चिंतुं ।
होही अपच्छिमो किर, दसपुव्वीधारओ वीरो ॥ ६८ ॥
पयस्स पुव्वसुयसा-यरस्स उदहि व्व अपरिमेयस्स ।
सुणसु जह अत्थकाले, परिहाणी दीसए एत्थ ॥ ६६ ॥
पुव्वसुयजलभरिए, विज्जाए सव्वमित्तदायम्मि ।
धम्मावायनिसिद्धो, होही लोगो सुयनिसिद्धो ॥ १०० ॥"
ति० । कल्प० ।

भद्दबाहुगंडिया-भद्रबाहुगण्डिका-स्त्री० । गण्डिकानुयोग-भेदे, स० १२ अङ्ग ।

भद्दमण-भद्रमनस्-त्रि० । भद्रं मनो यस्य सः । अथवा-भद्रस्येव मनो यस्य स तथा । धीरे, हस्तिभेदे, पुरुषभेदे च । पुं० । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

भद्दमुत्ति-भद्रमूर्त्ति-त्रि० । प्रियदर्शने, "भद्रमूर्तेरमुष्य च ।" द्वा० १२ द्वा० ।

भद्दमुत्थय-भद्रमुस्तक-पुं० । नागरमुस्तके, वाच० । साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे, जी० १ प्रति० ।

भद्दवई-भद्रवती-स्त्री० । भद्राणि पुण्यानि सन्त्यस्याः । मतुप्, मस्य वः, ङीप् । वाच० । उज्जयिनीनगरस्थाया वासवदत्ताया धाऽयाम् , आ० क० ४ अ० । आव० ।

भद्दसालवण-भद्रसालवन-न० । जम्बूद्वीपस्थस्य मेरुपर्वतस्य भूमौ स्थिते स्वनामख्याते वने, जं० १ वक्ष० । जी० । ज्यो० ।

दो भद्दसालवणा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

मेरुमधिकृत्य—

भूमीए भद्दसालवणं । दो भद्दसालवणा । इति च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

भद्रसालवनं स्थानतः पृच्छति—

कहि णं भंते ! मंदरे पव्वए भद्दसालवणे णामं वणे पण्णत्ते? गोअमा ! धरणिअले एत्थ णं मंदरे पव्वए भद्दसालवणे पण्णत्ते । पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे सोमणसविज्जुप्पहगंधमायणमालवंतेहिं वक्खारपव्वएहिं सीआसीओआहि अ महाणईहिं अट्ठभागपविभत्ते मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं बावीसं जोअणसहस्साइं आयामेणं उत्तरदाहिणेणं अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं विक्खंभेणं, तीसे णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, दुण्ह वि वण्णओ भाणिअव्वो किण्हे किण्होभासे० जाव देवा आसयंति ।

गौतम ! धरणीतलेऽत्र मेरोर्भद्रशालवनं प्रज्ञप्तं, प्राचीनेत्यादि प्राग्वत् । सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादनमाल्यवद्भिर्वक्षस्कारपर्वतैः शीताशीतोदाभ्यां च महानदीभ्यामष्टभागप्रविभक्तमष्टधा कृतम् । तद्यथा-एको भागो मेरोः पूर्वतः १, द्वितीयः परतः २, तृतीयो विद्युत्प्रभसौमनसमध्ये दक्षिणतः ३, चतुर्थो गन्धमादनमाल्यवन्मध्ये उत्तरतः ४ तथा शीतोदाया उत्तरतो गच्छन्त्या दक्षिणखण्डं पूर्वे पश्चिमविभागेन द्विधाकृतं, ततो लब्धः पञ्चमो भागः ५, तथा पश्चिमतो गच्छन्त्या पश्चिमखण्डं दक्षिणोत्तरविभागेन द्विधाकृतं, ततो लब्धः षष्ठो भागः ६, तथा शीतया महानद्या दक्षिणाभिमुखं गच्छन्त्या उत्तरखण्डं पूर्वपश्चिमभागेन द्विधाकृतं, ततो लब्धः सप्तमो भागः ७ तथा पूर्वतो गच्छन्त्या पूर्वखण्डं दक्षिणोत्तरविभागेन द्विधाकृतं, ततो लब्धोऽष्टमो भागः ८ । स्थापना मन्दरस्य-पूर्वपश्चिमतोऽत्र द्वाविंशति द्वाविंशतियोजनसहस्राण्यायामेन । कथमिति चेदुच्यते कुरुजीवा त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ५३०००, एकैकस्य च वक्षस्कारगिरेर्मूले पृथुत्वं पञ्च योजनशतानि, ततो द्वयोः शैलयोर्मूलपृथुत्वपरिमाणं योजनसहस्रं, तस्मिन् पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि चतुःपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ५४००० , तस्मान्मेरुव्यासे शोधिते शेषं चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि ४४०००, तथा मध्यद्वाविंशतियोजनसहस्राणि २२०००, पूर्वतः पश्चिमतश्च भवन्ति । अथ चेदमुपपत्स्यन्तरशीतावनमुखं २६२२ योजनानि, अन्तरनदीषट्कम् ७५० योजनानि, वक्षस्काराष्टकम् ४००० योजनानि, शीतोदावनमुखम् २६२२ योजनानि । एतेषां विस्ताराः सर्वाग्रमीलने षट्चत्वारिंसद्योजनसहस्राणि । एतच्च लक्षप्रमाणमहाविदेहजीवायाः शोध्यते, शेषं चतुःपञ्चाशद्योजनसहस्राणि । एतावद्भद्रशालवनक्षेत्रं तच्च मेरुसहितमिति धरणीतलस्थदशयोजनसहस्रशोधने, शेषं चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, तस्यार्द्धे एकैकपार्श्वे द्वाविंशतियोजनसहस्राणि, उत्तरतो दक्षिणतश्चार्द्धतृतीयानि योजनशतानि, विष्कम्भेन दक्षिणत उत्तरतश्च तद्भद्रशालवनमर्द्धतृतीययोजनशतानि, यावद्देवकुरुषु प्रविष्टमित्यर्थः । अत एव देवकुरुमेरूत्तरकुरुव्यासार्द्धे विदेहव्यासे क भद्रशालवनावकाश इति प्रश्नो दूरापास्त इति ।

अथात्र सिद्धाऽऽयतनाऽऽदिवक्तव्यतामाह—

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरच्छिमेणं भद्दसालवणं प(प)ण्णासं जोअणाइं ओगाहित्ता, एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते, पण्णासं जोअणाइं आयामेणं पणवीसं जोअणाइं विक्खंभेणं छत्तीसं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे वण्णओ । तस्स णं सिद्धाययणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता । ते णं दारा अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं, सेआवरकणगथूभिआगा० जाव वणमालाओ भूमिभागो अ भाणिअव्वो, तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिआ पण्णत्ता, अट्ठ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं, सव्वरयणामयी अच्छा, तीसे णं मणिपेढियाए उवरि देवच्छंदए अट्ठ जोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं, अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं ०जाव जिणपडिमावण्णओ । देवच्छंदगस्स ०जाव धूवकडुच्छुआणं मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं भद्दसालवणं पण्णासं, एवं चउद्दिसिं पि मंदरस्स भद्दसालवणे चत्तारि सिद्धाययणा भाणिअव्वा, मंदरस्स णं पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमे णं भद्दसालवणं पण्णासं जोअणाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्ता-

रिं णंदापुक्खरिणीओ पएणत्ताओ । तं जहा-पउमा १ पउमप्पभा २ कुमुदा ३ कुमुदप्पभा ४ । ताओ णं पुक्खरिणीओ पएणासं जोअणाइं आयामेणं पणवीसं जोअणाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं वएणओ । वेइआवणसंडाणं भाणिअव्वो, चउद्दिसिं तोरणा ०जाव तासि णं पुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे ईसाणस्स देविंदस्स देवरएणो पासायवडिंसए पएणत्ते, पंच जोअणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं, अड्ढाइं जोअणसयाइं विक्खंभेणं, अब्भुग्गयमूसिअ एवं सपरिवारो पासायवडिंसओ भाणिअव्वो । मंदरस्स णं एवं दाहिणपुरच्छिमेणं पुक्खरिणीओ-उप्पलगुम्मा १ णलिणा २ उप्पला ३ उप्पलुज्जला ४ । तं चेव पमाणं मज्झे पासायवडिंसओ, सक्कस्स सपरिवारो तेणं चेव पमाणेणं दाहिणपच्चच्छिमेणं वि पुक्खरिणीओ भिंगा १ भिंगनिभा २ अंजणा ३ अंजणप्पभा ४ पासायवडिंसओ सक्कस्स सीहासणं सपरिवारं उत्तरपच्चच्छिमेणं पुक्खरिणीओ-सिरिकंता १ सिरिचंदा २ सिरिमहिआ ३ चेव सिरिलया ४, पासायवडिंसओ ईसाणस्स सीहासणं सपरिवारं ति ॥

मेरोः पूर्वतः पञ्चाशद्योजनानि भद्रशालवनमवगाह्यातिक्रम्यात्रान्तरे महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं पञ्चाशद्योजनान्यायामेन पञ्चविंशतियोजनानि विष्कम्भेण, षट्त्रिंशद्योजनानि ऊर्ध्वोच्चत्वेन, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टमित्यादिकः सूत्रतोऽर्थतश्च वर्णकः प्रागुक्तो ग्राह्यः । अथात्र द्वाराऽऽदिवर्णकसूत्रमाह-( तस्स णं इत्यादि ) प्राग्वत् ( तस्स त्ति । तीसे णं इत्यादि ) सूत्रद्वयम् । अथोक्तरीतिमवशिष्टसिद्धायतनेषु दर्शयति-( मंदरस्स इत्यादि ) मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतो भद्रशालवनं पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्येत्याद्यालापको ग्राह्यः । एवं चतुर्दिक्ष्वपि मन्दरस्य भद्रशालवने चत्वारि सिद्धाऽऽयतनानि भणितव्यानि, यच्च विदिक्ष्वतिदेष्टव्येषु च स्थानेष्वतिदिष्टानि तत्र जम्बूद्वीपद्वारवर्णके च "चत्तारि दारा भाणिअव्वा" इत्येतत्सूत्रव्याख्यानमनुसरणीय । अथैतद्वनपुष्करिण्यो वक्तव्या:-'मंदरस्स' इत्यादि सुगमम् । अथासां प्रमाणाऽऽद्याह-(ताओ णमित्यादि) मेरोरैशान्यां दिशि भद्रशालवनं पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्यात्रान्तरे चतस्रो नन्दा नन्दाभिधानाः शाश्वता पुष्करिण्यः प्रज्ञप्ताः । आसां च प्रादक्षिण्येन नामानि पद्मा पद्मप्रभा कुमुदा कुमुदप्रभा, चैव समुच्चये, ताश्च पुष्करिण्यः पञ्चाशद्योजनान्यायामेन पञ्चविंशतियोजनानि च विष्कम्भेण, दशयोजनान्युद्वेधेनोच्चत्वेन वर्णको वेदिकावनखण्डानां भणितव्यः प्राग्वत्, यावच्चतुर्दिशि तोरणानि । अथैतासां मध्ये यदस्ति तदाह-( तासि णमित्यादि ) तासां पुष्करिणीनां बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महानेकः ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराज्ञः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः । कोऽर्थः त प्रासाद चतस्रः पुष्करिण्यः परिक्षिप्य स्थिता इति पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भेण समचतुरस्त्रत्वादायामेनापि (अब्भुग्गयमूसिआ इत्यादि ) प्रासादवर्णनं प्राग्वत् । एवमुक्ताभिलापानुसारेण सपरिवारं ईशानेन्द्रयोग्यशयनीयसिंहासनना ऽऽदिपरिवारयुक्तप्रासादावतंसको भणितव्यः । अथ प्रादक्षिण्येन शेषविदिग्गतपुष्करिण्यादिप्ररूपणायाऽऽह-(मंदरस्स इत्यादि) प्राग्वत्, नवरं दक्षिणपूर्व्यामिति आग्नेय्यां दिशीत्यर्थः । ताश्चोत्पलगुल्मादयः पूर्वक्रमेण तदेव प्रमाणं ईशानेन्द्रयोग्यशयनीयसिंहासनेनेत्यर्थः । दक्षिणपश्चिमायामपि नैर्ऋत्यां विदिशि पुष्करिण्यः भृङ्गाऽऽद्या प्रादक्षिण्येन प्रासादावतंसकः शक्रस्य सिंहासनं सपरिवारम् उत्तरपश्चिमायां वायव्यां विदिशि पुष्करिण्यः श्रीकान्ताऽऽद्याः प्रासादावतंसकः ईशानस्य सिंहासनं सपरिवारम् । अत्र उत्तरदिक्सम्बद्धत्वेन ऐशानवायव्यप्रासादौ ईशानेन्द्रसत्कौ दक्षिणदिक्सम्बद्धत्वेन आग्नेयनैर्ऋत्यप्रासादौ शक्रेन्द्रसत्काविति । जं० ४ वक्ष० ।

भद्दसिरी-देशी-श्रीखण्डे, दे०ना० ६ वर्ग १०२ गाथा ।

भद्दसेण- भद्रसेन-पुं० । वाराणसीवास्तव्ये स्वनामख्याते जीर्णश्रेष्ठिनि, आव० ४ अ० । आ०क० । धरणस्य नागराजेन्द्रस्य स्वनामख्याते संग्रामानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

भद्दा- भद्रा -स्त्री० । कल्याणकारिण्याम्, औ० । पक्षस्य द्वितीयासप्तमीद्वादशीतिथिषु, चं०प्र० १० पाहु० १४ पाहु० पाहु०, द०प० जं० । सू० प्र० । ज्यो० । प्रथमबलदेवस्य मातरि पोतनपुरस्थस्य प्रजापतेर्भार्यायाम्, आव० १ अ० । स० । " देव्यास्तस्य च भद्राया, बलदेव सुतोऽभवत् । चतुर्भिः सूचितः स्वप्नै-रचलोऽचलसौष्ठव ॥१॥" आ० क० १ अ० । आ०म० । " पुत्तो पयावतिस्स, भद्दा अयलो वि कुच्छिसभूओ । " ति० । आ०चू० । तृतीयचक्रवर्त्तिनो मातरि, स० । आव० । द्वितीयचक्रवर्त्तिनो भार्यायाम्, स० । छत्रानगरीस्थस्य जितशत्रुनृपतेर्भार्यायाम् सप्तमस्य बलदेवस्य नन्दनस्य जनन्याम्, आ०म० १ अ० । आ० चू० । कौशलिकस्य नृपतेर्दुहितरि, " रणो वि ताहे कोसलियस्स धूया , भद्द त्ति नामेण अणिंदियंगी । " उत्त० पाई० १२ अ० । चम्पानगरीस्थस्य माकन्दिसार्थवाहस्य भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । चम्पानगरीस्थस्य जिनदत्तसार्थवाहस्य भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । चम्पानगरीस्थस्य सागरदत्तसार्थवाहस्य भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । राजगृहनगरस्थस्य धनसार्थवाहस्य भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । प्रति० । राजगृहनगरस्थस्य धनावह श्रेष्ठिनो भार्यायाम्, आ० म० १ अ० । क्षितिप्रतिष्ठिते कर्मिमश्रिसगरे स्थितस्य धनश्रेष्ठिनो भार्यायाम्, नि०चू० १० उ० । वसन्तपुरपत्तनस्थस्य धनसार्थवाहस्य भार्यायाम्, आ०क० १अ० । मगधदेशान्तर्गतगोवरग्रामस्थस्य पुष्पशालकौटुम्बिकस्य भार्यायाम्, आ०क० १ अ० । आ०म० । श्रेणिकनृपते स्व नामख्याताया भार्यायाम्, तत्कथा नन्दावत् । अन्त० । पुण्डूवर्द्धनदेशस्थस्य शतद्वारपुरस्थस्य सम्मुदित ( सुमति ) नृपतेर्भार्यायाम्, नी० २० कल्प । भ० । ति० । शोभाञ्जन्यां नगर्यां स्थितस्य सुभद्रसार्थवाहस्य भार्यायाम्, विपा० १श्रु० ४ अ० । ( तत्कथा 'सगड' शब्दे ) चम्पानगरीस्थस्य कामदेव गृहपते स्वनामख्याताया भार्यायाम् उपा० ६ अ० । आ०म० । आ० चू० । तुङ्गिकानगरीस्थायाः कस्याश्चित्स्वनामख्याता-

यां धिग्जातिस्याम्, आ० म० १ अ० । काकन्दीनगरीस्थस्य धनसार्थवाहस्य जनन्याम्, " काकंदीणयरीए भद्दा नाम सत्थवाही परिवसइ । " अणु० । पुरिमतालनगरस्थस्य वग्गुरश्रेष्ठिन. पत्न्याम्, आ०म० १ अ० । मङ्खलिपुत्रस्य गोशालकस्य जनन्याम्, भ० १५ श० । आ० चू० । पश्चिमरुचकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम्, आ० क० १ अ० । द्वी० । अ० । आ०म० । स्था० । आ०चू० । नन्दीश्वरवरद्वीपस्य दक्षिणाऽञ्जनकपर्वतस्योपरिस्थितायां पुष्करिण्याम्, द्वी० । ती० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, आ० चू० १ अ० । भन्दते कल्याणीकरोति देहिनमिति भद्रा । अहिंसायाम्, प्रश्न० १ सम्ब०द्वार । अहोरात्रद्वयमाने प्रतिमाभेदे च । स्था० ४ ठा० १ उ० । " पंचपडिमाया । " प्रथमा प्रतिमा द्विदिनाभ्यां भवति । स्था० ५ ठा० १ उ० । ( व्याख्या ' पडिमा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३३२ पृष्ठे गता ) राजगृहनगरवास्तव्यधनश्रेष्ठिभार्यायाम्, ध० र० ।

धनश्रेष्ठिज्ञात त्विदम्—

" अत्थिऽत्थ मगहदेसे, देसियदंसियमहल्लकोहल्ले ।
रायगिहं केलिगिहं व, भुवणकमलाइवरनयरं ॥ १ ॥
तत्थाऽऽसि रासिकयबहु-मणिरयणो महधणो धणो सिट्ठी ।
समुवज्जियबहुभद्दा, भद्दा नामेण से गिहिणी ॥ २ ॥
धणपालो धणदेवो, धणओ धणरक्खिओ त्ति सुपसिद्धा ।
चउरो चउरायणमा-णणु व्व तेसिं सुया पवरा ॥ ३ ॥
कमसो तेसिं भज्जा, सिरी य लच्छी धणा य धन्ना य ।
निरुवमसुंदेरिमसा-लिणीउ चिट्ठंति सुहियाओ ॥ ४ ॥
कइयावि परिणयवओ, सिट्ठी चिंतइ वयं गहिउकामो ।
एए विहिया सुहिया, तणया मे इच्चिरं कालं ॥ ५ ॥
जइ पुण का वि हु सुण्हा, कुडुंबभारं धरिज्ज अविणट्ठं ।
तो पच्छा वि अइसुही, न मुणंति गयं पि कालमिति ॥ ६ ॥
का पुण इमाण उचिया, गिहचिंताइ त्ति हुं सपुन्ना जा ।
स उण मईइ नेया, पुन्नणुसारेण जं वुद्धी ॥ ७ ॥
जुज्जइ तओ परिक्खा, इमाण सुहिसयणबंधुपच्चक्खं ।
ज संठविय कुडुंबा, कुडुंबिणो हुंति किच्चिपय ॥ ८ ॥
इय चिंतिऊणमुह-डमंडवं ताडिऊण नियगेहे ।
नियमित्तनाइवग्गं, निमंतए भोयणट्ठाए ॥ ९ ॥
भुत्तुत्तर च सम्मा-णिऊण तंबोल कुसुम माईहिं ।
तस्स समक्खं सिट्ठी, हक्कारावेइ बहुआओ ॥ १० ॥
पण पण सालिकणे,अप्पिऊण पभणेइ रक्खिलय व्व त्ति ।
जइया मग्गेमि तया, एए मे अप्पियव्वा य ॥ ११ ॥
एवं ति ताहिँ भणिए, विसज्जिया गउरवेण नियसयणा ।
पत्ता य सयं ठाणं, किमित्थ तत्तं ति सवियक्का ॥ १२ ॥
मग्गिहिइ जया ताओ, जओ तओ गिण्हिउं समप्पिस्सं ।
इय चिंतिय पढमाए, चहुइ ते उज्झिया झ त्ति ॥ १३ ॥
बीयाए तुसभायं, अवणेउं भक्खिया लहुं चेव ।
तइयाए तायसम-प्पिय त्ति अइगउरवपराए ॥ १४ ॥
उज्जलवसणेणं बं—धिऊण पक्खिविय भूसणकरंडे ।
पइदिणतिकालपडिवर-णजोगओ रक्खिया ते उ ॥ १५ ॥
अह धन्नाए नियपिय-गेहओ सद्दिऊण सयणजणो ।
भणिओ जह पइवरिसं, वुहिंमिमे जंति तह कुणह ॥ १६ ॥
तेण वि वरिसारत्ते, पत्ते ते वाविया पयत्तेण ।
खुड्डुम्मि कियारे जल-भरियम्मि परोहमणुपत्ता ॥ १७ ॥
तो सव्वे उक्खणिउं, पुणरवि आरोविया कमेण तओ ।
जाओ पढमे वरिसे, पसत्थओ पत्थओ तेसिं ॥ १८ ॥
बीयम्मि वच्छरे आ-ढगो उ तइयम्मि खारिया जाया ।
तुरिए कुंभो पंचम-वरिसे पुण कुंभसहस्साणि ॥ १९ ॥
अह सिट्ठिणा वि भोयण-पुरस्सर सयमणाइ पच्चक्खं ।
सद्दाविय बहुयाओ, सालिकणा मग्गिया तेउ ॥ २० ॥
किच्छेण सुमरिय सिरी, जओ तओ अप्पए कणे पंच ।
अइ सवहमाविया भण-इ उज्झिया ते मए ताय ! ॥ २१ ॥
एवं लच्छी वि कहे—इ केवल भक्खिया मए ते उ ।
आभरणकरंडाओ, ते गहिय धणा समप्पेइ ॥ २२ ॥
अइधन्ना धन्ना वि, मग्गिया सविणयं भणइ ताय ! ।
ते एवमेव अइभूरि—भावमिरिंह समणुपत्ता ॥ २३ ॥
एवं भवंति एए, सुरक्खिया ताय ! वाविया संता ।
सक्खिक्खाया पुण सु—द्धिभावरहियत्तओ नेव ॥ २४ ॥
संति मम जणयगेहे, बहु कुज्जारेसु संनिखित्ता ते ।
सगडाइवाहणेहिं, तो आणावइ लहुं सिट्ठी ॥ २५ ॥
तो नियऽभिप्पायं कहि-य सिट्ठिणा पुच्छिओ सयणवग्गो ।
किं इत्थ उचियमिरिंह, स आह तुब्भि च्चिइ मुणेह ॥ २६ ॥
जपइ धणो वि उज्झण—सीला पढम त्ति उज्झिया नाम ।
छारछगणाइछड्डण- वावारा वसउ मह गेहे ॥ २७ ॥
रंधण कंडणसोहण—दलणाइ नियोगिणी हवउ वीया ।
नियआयरणवसेणं, भोगवई नाम सुपसिद्धा ॥ २८ ॥
जं सालिकणा जत्ते—ण रक्खिया रक्खियाभिहा तेण ।
मणिकणगरयणमं—डारसामिणी हवउ तइयवहू ॥ २९ ॥
अणइक्कमणिज्जाणा, तुरिया सव्वस्स सामिणी होउ ।
सालिकणारोहणवसा. रोहिणिनामा गरुयपुन्ना ॥ ३० ॥
एवं च दीहदंसि—त्तणेण काउ कुडुंबसुत्थ सो ।
धणसिट्ठी निम्मलध—म्मकम्मआराहगो जाओ ॥ ३१ ॥
अन्नो वि इहो विणओ, छट्ठंगे रोहिणीइ नायम्मि ।
भणिओ सुहम्मपहुणा, बहुप्प किर विरथेरेणवं ॥ ३२ ॥
जह सो धणो तह गुरू, जह नायजणो तहा समणसंघो ।
जह बहुया तह भव्वा, जह सालिकणा वयाइँ तहा ॥ ३३ ॥
जह सा उज्झियनामा, ते सालिकणे समुज्झिउ पत्ता ।
पसणदुक्खं परमं, तह कोइ जिओ कुकम्मवसा ॥ ३४ ॥
सयलसमीहियससि-द्धिकारए तारए भवसमुद्दा ।
उज्झिसु वए मरणा-इआवयाओ उवज्जेइ ॥ ३५ ॥
अन्नो उण बीयवहु, व्व वत्थभोयणजसाइलोभेण ।
भुत्तुं ताइं परलो-यनुक्खलक्खक्खणी होइ ॥ ३६ ॥
तत्तो वि य जो अन्नो, सो ताइं जीवियं व रक्खित्ता ।
रक्खियबहु व्व जायइ, सव्वेसिं गउरवट्ठाणं ॥ ३७ ॥
जो पुण तओ वि अन्नो , रोहिणिवहुय व्व वुड्ढिमाणेइ ।
पंच वि वयाइ स हवइ, संघपहाणो गणहरु व्व ॥ ३८ ॥
अन्नो वि इत्थ दीसइ, धवहारे उवणओ इहं नाए ।
जह किल कस्सइ गुरुणो, सीसा चत्तारि निप्फन्ना ॥ ३९ ॥
आयरियत्तणजुग्गा, पज्जाएणं सुएण य समिद्धा ।
मह चिंतिउं पवत्तो, गुरू समप्पेमि कस्स गणं ॥ ४० ॥
तत्तो तेण परिच्छा-हेउं देसंतरे विहाराय ।
का होइ कस्स सिद्धि, त्ति पेसिया उचियपरियारा ॥ ४१ ॥

घउरोऽवि तश्रो पत्ता, खेमाइगुणन्निएसु देसेसु ।
जो तत्थ सव्वजिट्ठो, सायाबहुलो कडुयवयणो ॥ ४२ ॥
एगताणुवगारी, निव्वेयत्तेण तइय आणीओ ।
सव्वो परिवारो ऊइ, अचिरा तस्सुज्झगो जाओ ॥ ४३ ॥
बीओ वि सायबहुल-त्तणेण नियदेहसठिइ चेव ।
कारेइ सादरं सी-सवग्गमवरं न उण किरिय ॥ ४४ ॥
तइओ पुण सारणवा-रणाइकरणेण निच्चमुज्जुत्तो ।
रक्खइ पमत्तमाव, गच्छंतं तं परीवारं ॥ ४५ ॥
जो पुण तुरिओ सीसो, सयलमहीमंडलोवलद्धजसो ।
जिणसमयामयभेहो, दुक्करसामन्ननिरओ य ॥ ४६ ॥
ओइन्नदेवलोग, व भूरिसंतोसपोसमणुपत्तं ।
निययविहारधरायल-मुवजणयंतो नियगुणेहिं ॥ ४७ ॥
देसन्नू कालन्नू, सुदीहदसी जहेव कालज्जो ।
जाओ पभूयपरिवा-रपरिगओ विहियजणवोहो ॥ ४८ ॥
पत्तो गुरुणो पासे, उवलद्धो तेण तेसि वुत्तंतो ।
तो नियगच्छमेलण-पुव्वो दिन्नो य अहिगारो ॥ ४९ ॥
सच्चित्तमचित्त वा, जं गच्छे छड्डणारिह किंचि ।
पढमेण परिट्ठावण-मिमस्स कज्ज ति संठवियं ॥ ५० ॥
ज भत्त पाणं वा, उवगरण वा गणस्स पाउग्ग ।
तं दुइएणापरित-तएण उप्पाइयव्व ति ॥ ५१ ॥
गुरुथरगिलाणनव-सिसयबालसेहाइयाण य मुणीणं ।
रक्खादक्खवियक्खण-जुग्गा तइयम्मि सठविया ॥ ५२ ॥
जो पुण तेसि कणिट्ठो, गुरुमाया तस्स नियगणो सव्वो ।
बहुपणयपरायणमा-णसेण गुरुणा समुवणीओ ॥ ५३ ॥
एव जहजुग्गनिउ-जणेण आराहण पर पत्तो ।
सो सूरी तह गच्छो, सव्वो गुणभायणं जाओ ॥ ५४ ॥
किर दीहदंसिगुणस-गएण धणसिट्ठिणा इह पगय ।
भवियमइकोवणत्थं, पयपिया उवणयविभासा ॥ ५५ ॥"

" इति फलमकलङ्कश्लोकमस्तोकमेतद्,
गुणिन इह धनाऽऽख्यश्रेष्ठिन. सन्निशम्य ।
गुणममलमुदारं दीर्घदर्शित्वमेव,
श्रयत भविकलोका किं बहु व्याकृतेन ? ॥ ५६ ॥"

इति धनश्रेष्ठिवृत्तकं समाप्तम् । ध०र० १ अधि० ५ गुण । ज्योतिषोक्तासु द्वितीयासप्तमीद्वादशीतिथिषु , स्त्री० । वाच० । काम्पिल्यनगरस्थस्य ब्रह्मदत्तस्य स्वनामख्याताया महिष्याम् , " चित्तसेणओ भद्दा । " उत्त० पाई० १३ अ० । स्वनामख्याताया प्रथमबलदेवस्य मातरि , ति० । शाखाञ्जनीनगरस्थस्य सुभद्राऽऽख्यसार्थवाहस्य स्वनामख्याताया भार्य्यायाम् , स्था० १० ठा० । हस्तिनागपुरवास्तव्यस्य कस्यचित्सार्थवाहस्य स्वनामख्याताया भार्य्यायाम् , स्था० ६ ठा० । ( कथा ' पोट्टिल ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११२० पृष्ठे गता ) आगामिन्यामुत्सर्पिण्या भविष्यस्य प्रथमजिनस्य पद्मनाभस्य जनन्याम् . पुण्ड्रवर्द्धनदेशस्थस्य शतद्वारनगरस्थस्य सम्मुदितनरपते. स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम् , " पुड वद्धणदेसे सयदुवारे पुरे संमुइयनरवइणो भद्दाए देवीए " ती० २० कल्प । रुचकवरद्वीपस्थाया शक्रस्य देवराजस्य सामानिकानामुत्पातपर्वतेभ्यश्च तुर्दिक्षु स्थितासु राजधानीष्वन्यतमस्या स्वनामख्याताया राजधान्याम् , आ०क० १ अ० । ज्योतिषोक्ते ववाऽऽदितःसप्तमे करणे, स्त्री० । न० । उत्त० ।

भद्दाकरी-देशी—प्रलम्बे, दे०ना० ६ वर्ग १०२ गाथा ।

भद्दाणणा-भद्राऽऽनना-स्त्री० । मगधदेशस्थगोवरग्रामस्थस्य पुण्यशालगृहपतेर्भार्य्यायाम् , आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

भद्दावण्ण-भद्रापन्न-न० भद्रकरणे, द० प० ।

भद्दासण-भद्राऽऽसन-न० । भद्राय लोकक्षेमायास्यतेऽत्र । आस-आधारे ल्युट् । नृपाऽऽसने, वाच० । सिंहाऽऽसने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । आसनभेदे, भद्राऽऽसनानि येषामधोभागे पीठिकाबन्ध । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । ज० । रा० । तद्रूपेऽष्टमङ्गलान्तर्गते माङ्गलिकवस्तुभेदे च । आ० चू० १ अ० । आ० म० । जं० । औ० । रा० । वाराणसीवास्तव्ये जीर्णश्रेष्ठिनि च । ती० ३७ कल्प । " भद्दासणाइं सीहासणाइं ।" पाइ० ना० ११८ गाथा ।

भद्दिज्जिया-भद्रेयिका-स्त्री० । भद्रयशस. स्थविरान्निर्गतस्योडुपाटिकगणस्य शाखाभेदे, कल्प० २ अधि० ८ क्षण ।

भद्दिया-भद्रिका-स्त्री० । स्वनामख्याताया नगर्याम् , " एवं विहरंतो भद्दियं नयरिं गया ।" आ० म० १ अ० । आ० चू० । कल्प० । द्वौ भद्रिकाया वर्षारात्रान् कृतवान् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

भद्दिलपुर-भद्रिलपुर-न० । मलयाभिधाऽऽर्यदेशस्थे पुरभेदे, " भद्दिलपुरमेव मलयाए ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अन्त० । आव० । आ० म० । आ० चू० । प्रव० ।

भद्दिला-भद्रिला-स्त्री० । कुल्लाकसन्निवेशस्थस्य धम्मिल्लविप्रस्य भार्य्याया सुधर्म्मस्वामिनो जनन्याम् , कल्प० २ अधि० ८ क्षण । आव० ।

भद्दुत्तरपडिमा-भद्रोत्तरप्रतिमा-स्त्री० । प्रतिज्ञाविशेषे, प्रव० ।

भद्रोत्तरतप. प्राह—

भद्दुत्तरपडिमाए, पण छग सत्तऽट्ठ नव तहा सत्त ।
अड नव पंच छ तहा, नव पण छग सत्त अट्ठेव ॥१५४९॥
तह छग सत्तऽट्ठ नव, पण छ सत्त सत्तऽट्ठा ।
पणहत्तरिसयसंपा-रणगाणं तु पणवीसा ॥ १५५० ॥

प्रतिमानाम-प्रतिज्ञाविशेष , ततो भद्रोत्तरप्रतिमाया भद्रोत्तरतपसि पञ्च षट् सप्ताष्टौ नवेत्याद्या । तथा सप्ताष्टौ नव पञ्च षडिति द्वितीया । नव पञ्च षट् सप्ताष्टाविति तृतीया । षट् सप्ताष्टौ नव पञ्चेति चतुर्थी । अष्टौ नव पञ्च षट् सप्तेति पञ्चमी । इह पञ्चसप्तत्युत्तर शतमभक्तार्थानामुपवासानां , पञ्चविंशतिस्तु पारणकानाम् । एव च भद्रोत्तरतपसि शतद्वयं दिनाना भवति । प्रव० २७१ द्वार । ( अ. त्राधिकारः ' पडिमा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३३२ पृष्ठे गत )

भद्दुत्तरवडिंसग-भद्रोत्तरावतसक-न० । विमानभेदे , स० १९ सम० ।

भप्प-भस्मन्-न० । भस-मनिन् । "भस्माऽऽत्मनो पो वा ।" ८ । २।५१॥ इति प्राकृतसूत्रेणानयो संयुक्तस्य पो वा । प्रा० २ पाद । दग्धगोमयाऽऽदिविकारे , वाच० । अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते ऊनत्रिंशत्तमे महाग्रहे च । पु० । स्था० ।

दो भासा । स्था० २ ठा० ३ उ० । च०प्र० । सू०प्र० । कल्प० ।

भप्पय-भस्मक-न । भस्म करोति । बहुभोजनकारके रोगभेदे, वाच० । भस्मको व्याधिः । स च वातपित्तोत्कटतया श्लेष्मन्यूनतयोपजायते । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । भस्मेव इवार्थे कन् । कलधौते, वाच० ।

भप्परासि-भस्मराशि-पुं० । अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते महाग्रहे, चं०प्र० २० पाहु० ।

दो भासरासी । स्था० २ ठा० ३ उ० कल्प० । सू० प्र० ।

भम-भ्रम-चलने, भ्वादि० पर० सक०-सेट् । " भ्रमेष्टिरिटिल्ल-दुण्दुल्ल-ढण्ढुल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः " ॥ ८।४।१६१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रमेरेतेऽष्टादशाऽऽदेशाः वा । टिरिटिल्लइ । ढुण्ढुल्लइ । ढण्ढल्लइ । चक्कम्मइ । भम्मडइ । भम्माडइ । भमाडइ । तलअण्टइ । झण्टइ । झम्पइ । भुमइ । गुमइ । फुमइ फुसइ । ढुमइ । ढुसइ । परीइ । परइ । भमइ । प्रा० ४ पाद । भ्रमति । अभ्रमत् । अभ्रमीत् । वाच० । भ्रम घञ् । भ्रान्तौ, विपा० १ श्रु० ३ अ० । आकस्मिकभ्रमौ, व्य० ४ उ० । अनवस्थाने, विशे० । विपर्यासे, द्वा० १७ द्वा० । मिथ्याज्ञाने, अन्यथाभूतस्य वस्तुनोऽन्यथारूपेण ज्ञाने, वाच० । " भ्रमोऽन्तर्विप्लवस्तत्र ।" भ्रमोऽन्तर्विप्लवश्चित्तविपर्ययः, शुक्तिकायां रजतमिदमितिवत् अतस्मिंस्तद्ग्रह इति यावत् । द्वा० १७ द्वा० । " अतस्मिंस्तन्मतिर्भ्रमः ।" भ्रमोऽतस्मिंस्तदभाववति तन्मतिः । यदाह विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठमिति । द्वा० १८ द्वा० । जलनिर्गमस्थाने, कुन्दे भ्रमणे, वाच० । पर्यटने च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

भमंत-भ्रमत्-त्रि० । अनवस्थिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

भमण-भ्रमण-न० । पर्यटने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

भमसुह-देशी-आवर्त्ते, दे० ना० ६ वर्ग १०१ गाथा ।

भमर-भ्रमर-पुं० । " भ्रमरे सो वा " ॥ ८।१।२४४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण मस्य सो वा । प्रा० १ पाद । " हरिद्राऽऽदौ लः " ॥ ८।१।२५४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण सर्वत्रियोगे लत्वम् । प्रा० १ पाद । भ्रमति रौतीति भ्रमरः । आव० ६ अ० । भ्रमति रौति च भ्रमरः । आ०म० १ अ० । विशे० । अनु० । व्य० । रामाऽऽवर्ते च । "विसालपीवरभमरोरुपडिपुण्णविमलखंधं । " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जौ० । " मोऽनुनासिको वो वा"॥८।४।३६७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशेऽनादौ वर्त्तमानस्यासंयुक्तस्य मकारस्यानुनासिको वकारो वा । भवँर । भमर । प्रा० ४ पाद । ' फुल्लंधुआ रसाऊ, भिंगा भसला य महुअरा अलिणो । इंदिंदिरा दुरेहा, धुअगाया छप्पया भमरा ॥ १ ॥ " पाइ०ना० ११ गाथा । भ्रमन् रौतीति भ्रमरः । प्रव० ४ द्वार । कालवर्णे सम्पातिनि पुरुषतया लोकव्यवहृते ( प्रश्न० १ आश्र०द्वार ) चतुरिन्द्रियजीवविशेषे , विशे० । " लोगव्ववहारपरो, ववहारो भणइ कालओ भमरो । परमत्थपरो भणइ, निच्छइओ पंचवण्णो त्ति ॥ ३५८६ ॥ " ( अस्या व्याख्या 'णय' शब्दे चतुर्थभागे १८६२ पृष्ठे गता ) विशे० । आचा० । आ० म० । दश० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । प्रश्न० । रा० । ज्ञा० । उत्त० । सूत्र० ।

भमरनिउरंबभूय-भ्रमरनिकुरम्बभूत-त्रि० । भ्रमरनिकुरम्बोपमे, रा० ।

भमरपत्तंगसार-भ्रमरपत्राङ्गसार-पुं० । भ्रमरपत्रान्तर्गते विशिष्टकालिमोपचिते प्रदेशविशेषे, रा० । जी० । आ०म० ।

भमरपत्तसार-भ्रमरपत्रसार-पुं० । भ्रमरस्य पत्रं पक्षस्तस्य सारो भ्रमरपत्रसारः । भ्रमरपत्रान्तर्गते विशिष्टश्यामतोपचिते प्रदेशे, जं० १ वक्ष० ।

भमररुय-भ्रमररुत्-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे तन्निवासभूते अनार्य्यक्षेत्रभेदे च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रव० । प्रज्ञा० ।

भमरावलिया-भ्रमरावलिका-स्त्री० । भ्रमरपङ्क्तौ, रा० । जी० ।

भमरिया-भ्रमरिका-स्त्री० । उदकस्थे जीवविशेषे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

भमली-भ्रमरी-स्त्री० । भ्रम-करन्-गौ०-ङीष् । जतुकायाम् , भ्रमरभार्यायाम्, वाच० । वाद्यविशेषे च । अष्टशतं भ्रमरीवादकानाम् । रा० । आकस्मिक्यां शरीरभ्रमौ, आव० ५ अ० । ध० । ल० । आ०चू० ।

भमस-देशी-धनपाले, दे०ना० ६ वर्ग १०१ गाथा

भमाड-भ्रामि-स्त्री० । भ्रम-चलने-णिच् । भ्रमेस्तालिअण्ट-तमाडौ " ॥ ८।४।३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रमेर्ण्यन्तस्य 'तालिअण्ट-तमाल' इत्यादेशौ वा भवत । तालिअण्टइ । तमाडइ । भामेइ । भमाडेइ । भमावेइ । प्रा० ४ पाद ।

भमास-भ्रमास-पुं० । तृणविशेषे, " वरुओ सामुछुओ भमासो य । " पाइ०ना० १४६ गाथा । इक्षुतुल्यतृणे, दे०ना० ६ वर्ग १०१ गाथा ।

भमि-भ्रमि-स्त्री० । आवर्ते, है० ।

भमिअ-भ्रमित्वा-अव्य० । " क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणाः " ॥ ८। २।१४६ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्त्वास्थाने अदादेशः । भ्रमं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० १ पाद ।

भ्रमित-त्रि० । विस्मययुक्ते, " घोलिअढुंढुल्लिआइं भमिअत्थे । " पाइ०ना० १८५ गाथा ।

भमिर-भ्रमिन्-त्रि० । " शीलाद्यर्थस्येरः " ॥ ८।२।१४५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण शीलाऽऽद्यर्थे विहितस्य प्रत्ययस्येरादेशः । भ्रमशीले, प्रा० २ पाद ।

भमुआ-देशी-शृगाल्याम् , दे०ना० ६ वर्ग १०१ गाथा ।

भमुहा-भ्रू-स्त्री० । नेत्रावयवविशेषे, औ० । " भुमआ भमुहा । " पाइ०ना० २५२ गाथा । भ्रूर्नेत्रार्द्धरोमाणीति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । 'दीहाइं भमुहाइं । " आचा० २ श्रु०२ चू० ६ अ० । " आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइतणुकसिणणिद्धभमुहे । " औ० ।

भम्म-भस्मन्-न० । ' भप्प ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

भम्मय-भस्मक-न० । ' भप्पय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

भम्मरासि-भस्मराशि-पुं० । ' भप्पराशि ' शब्दार्थे, चं०प्र० २० पाहु० ।

भम्ह-भस्मन्-न० । ' भप्प ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद ।

भम्हय-भस्मक-न० । ' भप्पय ' शब्दार्थे प्रा० ४ पाद ।

भम्हरासि-भस्मराशि-पुं० । 'भप्परासि' शब्दार्थे, चं० प्र० २० पाहु० ।

भय-भज-धा०।भोगे, सेवायां च । भ्वादि०-उभ०-सक०-अ-निट् । भजति, भजते । अभाक्षीत् । भेजे । वाच० । विशे० । स्था० ।

भय-न० । बिभेत्यस्मात् । भी-अच् । भयहेतौ, भावे अच् । वाच० । भीतौ, उत्त० १४ अ० । सूत्र० । भय भीतिः परित्रासो ऽकस्मात् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आचा० । प्रा० । प्रश्न० । स्था० । कल्प० । "किंभया पाणा ।" ('किंभय' शब्दे तृतीय भागे ५२६ पृष्ठे विवृतम्) स्था० १० ठा० । त्रासे, स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० । अपायोद्वेगित्वे, नि०चू० १ उ० । मोहनीयप्रकृतिस-मुत्थे आत्मपरिणामे, स्था० ७ ठा० । भयं मोहान्तर्गता नोक-षायरूपा प्रकृतिः । आतु० । भयकारणे दुर्गतिगमनाऽऽदौ "ए-याहिं भयाहिं पेहिया ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सनिमि-त्तमनिमित्तं वा यद्बिभेति तद्भयम् । आभ्यन्तरग्रन्थिभेदे, बृ० १ उ० २ प्रक० । भयस्य निक्षेपः षड्विधः-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-कालभावभेदात् । तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यक्षेत्रकालभया-न्यपि प्रतीतानि । द्रव्याद्भयं द्रव्यभयमित्येव सर्वत्र पञ्चमीत-त्पुरुषसमासाऽऽश्रयणात् । अन्यथा वा यथायोगं भावनीयम् । भावभयं सप्तधा-इहलोकभयं, परलोकभयम्, अत्रादानभयम्, आकस्मिकभयम्, आजीविकाभयम्, अश्लोकभयम्, मरणभयं चेति । तत्र यत् स्वभावात् प्राप्यते यथा मनुष्यस्य मनुष्यात्ति-रश्चस्तिर्यग्भ्य इत्यादि तत् इहलोकभयम् । यत्परभवादवा-प्यते यथा मनुष्यस्य तिरश्चस्तिरश्चो मनुष्यात् परलोकभ-यम् । आजीवनं जीविका, तस्या उच्छेदेन भयमाजीविकाभ-यम् इत्यादि । आ०म० १ अ० । आ० चू० ।

नामाऽऽइ छव्विहं तं, भावभयं सत्तहेहलोगाई ।
इहलोगजं सभवओ, परलोयभयं परभवाओ ॥३४५०॥
किंचणमादाणं त-ब्भयं तु नासहरणाइओ नेयं ।
बज्झनिमित्ताभावा, जं भयमाकम्हियं तं ति ॥३४५१॥
असिलोगभयमजसओ, दुज्जीवमाजीवियाभयं नाम ।
पाणपरिच्चायभयं, मरणभयं नाम सत्तमयं ॥३४५२॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्तत्षड्विध भयम् । तत्रा-ऽऽद्याः पञ्चभेदाः सुव्याख्येयाः । भावभयं तु इहपरलोयाऽऽयाण-मकम्हा आजीवमरणमसिलोए" इति वचनात् सप्तधा भव-ति । तथा चाह-(इहलोगाइ त्ति) तत्रेहलोकजं भयं स्वभावत स्वभवाद्यथा-मनुष्यस्य मनुष्यात्तिरश्चस्तिर्यग्भ्य इत्यादि । पर-लोकभयं तु परभवाद्यथा-मनुष्याऽऽदेस्तिर्यगादिभ्यः । किञ्चन द्रव्यमादानमुच्यते, तद्भयं तु न्यासहरणाऽऽदिभ्यो ज्ञेयम् यत्तु बाह्यनिमित्ताभावादकस्मादेव भवति तदाकस्मिकम् । अश्लोकः-अश्लाघा तद्भयं त्वयश इति । आजीविकाभयं तु दुर्जीविकाभयम् । मरणं तु नाम यत्सप्तमं भयं तत्प्राणप-रित्यागभयमिति । विशे० । उत्त० ।

" इहपरलोयाऽऽदाणे, आजीवसिलोय तह अकम्हा य ।
मरणभयं सत्तमयं, विभासमेयासि वोच्छामि ॥ १ ॥
इहलोगभयं च इम, ज मणुयाइओ सरिसजाईओ ।
बीहेइ जं तु परजा-इयाण परलोयभयमेयं ॥ २ ॥
आयाणत्थो भण्णति, मा हीरिज्ज त्ति तस्स ज बीहे ।
आयाणभय तं तू, आजीवो मे ण जीवेऽह ॥ ३ ॥
असिलोगभयं अयसो, होति अकम्हा भयं तु अणिमित्तं ।
मरियव्वस्स उ भीए, मरणभय होइ एयं तु ॥ ४ ॥"

उत्त० पाई० ६ अ० । कल्प० । प्रश्न० । दर्श० ।

जे भिक्खू अप्पाणं बीभावेइ, बीभावंतं वा साइज्जइ ॥१६७॥
जे भिक्खू परं बीभावेइ, बीभावंतं वा साइज्जइ ॥ १६८ ॥

उभय वा अनन्यभावे आत्मैव आत्माऽपृथग्भावे आत्मव्य-तिरिक्तः परः, आत्मपरव्यपदेशेन भयं भवति, ऐहिकपार-त्रिकं भयोत्पादनं बीभावनं चउगुरु पच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवंति ।

दिव्वमणुयतेरि-च्छयं तु आकम्हिकं च णायव्वं ।
एक्केक्कं पि य दुविहं, संतमसंतं च णायव्वं ॥ ३७ ॥

भयं चउव्विहं उप्पज्जति-पासायादिएहिंतो दिव्वं, तेणादी-एहिंतो माणुस्सं, आउतेउवाउवणस्सयाइएहिंतो य ते-रिच्छं निरयहेतुकं चउत्थं अकस्माद्भयं भवति । एक्केक्कं पु-णो दुविहं संतासंतभेएण । पिसायतेणसिंघाइए दिट्ठेसु जं भयं उप्पज्जति तं संतं, अदिट्ठेसु असंतं । अक-स्माद्भयं संतं आत्मसमुत्थं मोहनीयभयप्रकृत्युदयाद्भव-ति, असंतं अकस्माद्भयं भयकारणसंकल्पिताभिप्रायोत्पन्नम् । चोदकाऽऽह—उण इहलोकभयं, परलोगभयं आदाणभयं, आजीवणाभयं, अकस्माद्भयं, मरणभयं, असिलोकभयं । एव सत्तविहं भयसुत्तं, कहं चउव्विहं भणह ? ।

आचार्याऽऽह—

कामं सत्तविकप्पं, भयं समासेण तं पुणो चउहा ।
तत्थाऽऽदाणं नसमणे-ण होज्ज अहवा वि देहुवही ॥३८॥

कामं शिष्याभिप्रायानुमतार्थे, तदेव सत्तविहं भयं सं-खिप्पमाणं चउव्विधं भवति । कहं पुण संखेप्पति ? । उच्य-ते—इहलोगभयं मणुस्सभये समोतरति । परलोगभयं दिव्वतिरियभएसु समोतरति । आदाणआजीवणमरणअ-सिलोगभयं च ते चउरो वि तिसु दिव्वादीएसु समोत-रंति । कथम् ? , उच्यते—जतो आदाणेण हत्थाइगेण दिव्वमणुयतेरिच्छयाणं बीभेति, आजीवण वित्ती, सा य दिव्वमणुयतेरिच्छियाऽन्यतमा भीतो, मरणं प्राणपरित्या-ग असावपि दिव्यमनुष्यतिर्यगन्यतमभावावस्थस्येति ना-रका किल मरणभयमिच्छन्त्येव । अकस्मात् कारणाद् त्रिविधमेव मरणभयम् । असिलोगो वि दिव्वमणुएसु सं-भवति, संतीसु य पंचेंदियतिरिएसु अकस्माद्भयं सट्ठाणे समोतरति । एवं सत्त भया चउसु भएसु समोतारिता । एत्थ समणस्स आदाणभयं ण होज्ज । अहवा समणे वि देहोवहिं चेव आदाणभयं भवति ।

चोदकाऽऽह—कहं देहुवही आदाणभयं ?, उच्यते-

गाहा—

एगेमि जं भणियं, महब्भयं एतदेव विहिसुत्ता ।
तेणाऽऽदाणं देहो, मुच्छासहियं च उवकरणं ॥३९॥

बभचेरो विभिसुत्त, तत्थ भणियं, एतदेवेगेसि महब्भयं

भवति । एतदेव सरीरं एगोसिं अविरयजीवाणं महंत भयं भवति, तेण कारणेण देहो आदाणं भवति, उवगरणं च मुच्छासहियं आदाणं भवति नासं ।

गाहा—

रक्खसपीसायतणा-इएसु उदयम्मि दुमादीसु ।
तव्विवरीयमकम्हा, जो तेण परं च अप्पाणं ॥४०॥

रक्खसपिसायाऽऽदिकं दिव्वं, तेणाऽऽदिकं माणुसं, उदयग्गिजद्दुमादियं तेरिच्छं, अकस्माद्भय च । एतेण चउव्विहेण जो अप्पाणं परं उभयं वा ।

गाहा—

बीहावेती भिक्खू, संते लहुगा गुरू असंतम्मि ।
आणादी मिच्छत्तं, विराहणा होति सा दुविहा ॥४१॥

संते लहुगा, असंतेसु चउगुरुगा इत्यर्थः । दुविहा आयसंजमविराहणा ।

गाहा—

नाविक्खति अप्पाण, एव परं खेत्तमादिणो दोसा ।
भूएहिं घेप्पेज्जा, भेसेज्ज परं च जं चऽण्णं ॥ ४२ ॥
जह मोहप्पगडीणं, कोहाईणं विवज्जणा सेया ।
तह चउ कारणमुदय,भयं पि ण हु सेवितं सेयं॥४३॥

अप्पाण परं वा वीभावेतो अप्पाणं पर च णावेक्खति. बीहंतो सयं परो वा,खित्तचित्तो भवेज्जा तत्थ मूलं । गिलाणारोवणा य, भीओ वा संतो तं चेव बीभावेना आहाणेज्जा, भीतो वा भूतेण घेप्पेज्जा ग्रहगृहीतो वा परं भीसिज्ज, तत्थ वि बहू पनावणादिया दोसा. जं च अन्यत् खेत्तादि अणवज्जो छकायविराहणा करेज्ज तत्थ से कायणिप्फण्णं जम्हा भए कज्जमाणे एत्थ दोसा तम्हा भयं ण कायव्वं ॥ ४२ ॥ इमं कारणं जह मोहणिज्जस्स कोहादिया उत्तरपगडीणं वज्जणा सेया भवति, तम्हा भयं चउव्विहं, मोहस्स उत्तरपगडी विवज्जेउ श्रेयं भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भय उत्तरपगडीओ,सेसा मोहस्स सूतिया मूले ।
पयडीतो तो जेहिं,पगारेहिं वज्झंति णाणणिण्हवादीहि४४
णिक्कारणम्मि तेसु, व्वट्टंते होति पच्छित्तं ।
कामं आउयवज्जा, णिच्चं वज्झंति सत्तपगडीओ ।
जाव पवत्तइ रागो, तिव्वेसुं तेसु पच्छित्तं ॥४५॥

एयं भय मोहणिज्जस्स उत्तरपगडी सूचियातो भवति । एव सव्वा चेव मोहपगडीगहिया मोहमूलपगडीए सेसा सत्त णाइया मूलपगडीतो सूइया भवति । तो जेहिं पगडीतो इति-अट्ठ मूलपगडीओ पचाणउइं वा उत्तरपगडीतो सम्यक्तनिश्चयो बंधो नास्तीत्येवं पञ्चनवति एयातो, जेहिं बंधहेउप्पगारेहिं बज्झंति तेसु वट्टंतस्स पच्छित्तं भवति । ते य इमे—णाणं जस्स समीवे सिक्खिय तं णिण्हवति, नाणिपुरिसस्स पडिणीओ अत्थेज्जंतो वा अंतरायं करानि, जीवस्स वा णाणोवघायं करेति, णाणिपुरिसे वा पादोसं करेति एवमादिएहिं पञ्चविह णाणावरणं वज्झइ, एतेसु चेव सविसेसेसु णवविधं दंसणावरणं वज्झति, भूताणुकंपया ते वयाणुपालणा, ते खंतिसंपन्नाए दाणरूइ, एए गुरुभत्ती. ते एते हिंमानो वेदणिज्जं वज्झति, विवरीयहेऊहिं असातिं, मोहणिज्जं दुविहं-दसणमोहं . चरित्तमोहं च । तत्थ दसणमोहं अरहंतपडिणीययाए, एव सिद्धचेतियतवस्सिसु य धम्मसंघस्स य पडिणीयत्तं करेतो दंसणमोहं बंधति, तिव्वकसायत्ताए बहुमोहगातो रागदोससंपन्नया, ते चरित्तमोहं बंधति । आउय चउव्विहं तत्थ णिरयाउयस्स इमो हेऊ, मिच्छत्तेणं महारंभया, ते महापरिग्गहा ते कुणिमाहारेणं णिस्सीलया, ते रु,द्दज्झाणेण य णिरयाउयं निबधति । तिरियाउयस्स इमो हेतू—उम्मग्गदेसणा, ते सतमग्गविप्पणासणेण माइल्लया, ते सढसीलता, ते ससल्लमरणेणं । एवमादिएहिं तिरियाआउयं निबंधति । इमे मणुयाउयहेउणो—विरयातिएहो जो जीवो तणुकसातो दाणरते पगतिभद्दयाए मणुयाउयं बंधति । देवाउयहेतू इमे—देसविरतो सव्वविरतो बालतवेण अकामणिज्जराए सम्मदिट्ठियाए य देवाउयं बंधति । णामं दुविह—सुहासुहं । तत्थ सामन्नतो असुभे य इमे हेतू—मणवयकायजोगेहिं वंको मायावी तिहिं गारवेहिं पडिबद्धा , एतेहिं असुभं नामं बज्झति । एतेहिं चेव विवरीएहिं णीयागोय । सामन्नतो पंचविहंतराए इमो हेतू—पाणवहेसु सावते अदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहे य एतेसु रइवधगो जिणपूयाए विग्घकरे मोक्खमग्गं पव्वज्जं तस्स जो विग्घं करेति एतेसु अंतराइयं बंधति । विसेसहेऊ उवउज्ज वएणए—तेसु हेउसु णिक्कारणे वट्टंतस्स पच्छित्त भवति । चोदकाह-जाव घायरसं पारेती ताव सव्वजीवा आउयवज्जातो सत्त कम्मपगडीतो णिच्चकालं सप्पभेदा बंधंति । कहं अपायच्छित्ता भवति, सपायच्छित्तस्स य सोही णत्थि सोही । अभाव य मोक्खो भावो । आचार्योऽऽह—काम गाहा तीव्रेषु प्रवर्त्ततः प्रायश्चित्तं भवति, न मंदेषु शेषं कंठं ।

उत्तरप्रकृतीरधिकृत्योच्यते । गाहा—

अट्ठएहं असुभाओ, उत्तरपगडीउ होति पच्छित्तं ।
अनियाणेण सुभासुं, न होति सट्ठाणपच्छित्तं॥४६॥

अट्ठएहं पगडीण जा असुभाओ, ताणं हेउसु वट्टंतस्स पच्छित्त जहा णाणपदोसादिएसु । जा पुण सुभाओ तासु ण भवति पच्छित्तं, जहा णाणपदोस करेति तित्थगरादिपडिणीएसु वा अनिदाणेण वा सुभं बंधंतस्स पायच्छित्तं न भवति जहा तित्थगरनामगोत्तहेउसु । अरहंतसिद्धकारगगाहा ( १ ) ।

जम्मि भेदे जं पच्छित्तं तं च इमं भणति—

देसपदोसादीसु वि,लोभे अ असरिसे फासे चउगुरुगा॥
लहुओ पच्छित्तं पुण, हासअरतिणिद्दाचउक्कम्मि ॥४७॥

णाणस्स जति देसे पदोसं करोति, आदिग्गहणातो णाणस्स चेव जदि देसे पडिणीयत्तं अंतरायं मच्छर निएहवणं वा करेति, सायावेयणिज्जस्स निदाणादिएहिं अप्पसत्थऽज्झवसाओ जदि हेतुए वट्टनि,लोभकसायस्स य जइ बंधहेउए वट्टति, तो मासलहुं असरिसफासबंधस्स जति हेउए वट्टति, एतेसु सव्वेसु चउलहुगा पच्छित्तं, हास अ-

रती निद्दा निद्दाणिद्दा पयला पयलापयला पयाए छण्हं पग-डीणं जति हेउसु वट्टति तो मासलहुं पच्छित्तं।

गाहा—

सव्वे णाणपदोसा-दिएसु थीणे य होंति चरिमं तु।
निरयाउतुणिमवज्जे, मिच्छे वेदे य मूलं तु ॥ ४८ ॥
तिरियाउ असुभनाम-स्स चेव हेतूसु मासियं गुरुयं।
सेसासु अप्पसत्था-सु होंति सव्वासु चउलहुगा ॥४९॥

णाणस्स जति सव्वस्स पदोसं करेति, पडिणीयादिहेउसु वा वट्टति, थीणगिद्धिणिद्दाए य जति हेऊए वट्टति, तो पारंचियं पच्छित्तं णिरयाउयस्स हेऊहिं सव्वहिं णामस्स जा असुभा पगडीओ ताण य हेउए वट्टति, तो मासगुरुं पच्छित्तं, (सेसासु त्ति) चउरो दंसणभेदा लोभवज्जा, पन्नरस कसाया, हासादिछक्के य हासअरतिवज्जा चउरो भेदा, नीयागोयं पंचविहं च, अनतयाणं पयाण अप्पसत्थाण बंधहेउसु वट्टंतस्स चउलहुगा पच्छित्तं।

चोदकाऽऽह—

सक्का अप्पसत्था-णं तु हेतवो परिहरित्तु पयडीणं।
साहादि पमत्थाणं, कहं णु हेतू परिहरेज्जा ? ॥५० ॥

अप्रशस्तप्रकृतिहेतवो वर्जितुं शक्यन्ते, अशुभाध्यवसायवर्जनात्, कथं नित्यकालशुभाध्यवसितः साधुः शुभप्रकृतिहेतून् वर्जयति, तेषां शुभाध्यवसायबन्धान्।

चोदक एवाऽऽह। गाहा—

जति वा बज्झति सातं, अणुकंपादीसु तो कहं साहू ?।
परमणुकंपाजुत्तो, वच्चति मुक्खसुहणुवधा ॥ ५१ ॥

जति सातं बज्झति भूयाणुकंपया ते, आदिसद्दातो वयसंपन्ना ते, संजमजोगुज्जमेणं खंतिसंपन्ना ते, दाणरुयाए गुरुभत्तिरागेण य तो साहू एतेहिं अणुकंपाएहिं जुत्तो पुन बधा कहं मोक्खं गच्छति, जात पुण मोक्खगमणविग्घाय हवति।

किञ्चान्यत्। गाहा—

सुहमवि अवेदयंतो, अवस्स असुभं पुणो स सादयते।
एवं तु णत्थि मोक्खो, कहं व जयणा भवति एत्थ ? ॥५२॥

सुहं आवेदेंतो अवस्स पावं बंधति, पुण्णपावोदयाय अवस्स संसारो भवति, अतो एव साहुस्स मोक्खो नत्थि। कहं वा एत्थ साहुणा जतियव्वं घटितव्यमित्यर्थ।

गाहा—

अहवा ण चेव बज्झति, पुण्ण नाति असुभोदयं पावं।
सव्व अणिट्ठियकम्मो, उववज्जति केण देवेसु ॥ ५३ ॥
भण्णइ जहा णु कोई, महपल्ले तु सो वयति पच्छं।
पक्खिववति कुंभं तस्स तु, णत्थि खओ होति एव तु ५४
अन्नो पुण पल्लातो, कुंभं सोहयति पक्खिवति पच्छं।
तस्स खओ भवतेवं, इय जे तू संजया जीवा ॥ ५५ ॥
तेसिं अप्पा णिज्जर, वज्झति पाव तेण णत्थि खओ।
अप्पबंधो जया णं, बहुणिज्जरणे तेण मोक्खो तु ॥५६॥

अहवा अणुकंपादिएहिं पुण्ण न बज्झति ण वा पावं सव्वहा अपरिक्खीणकम्मे य पुण्णाभावे देवेसु केण हेउणा उववज्जति ? ।

एवं चोदकेणोक्ते आचार्याऽऽह—

पुव्वतवसंजमा हों-ति रागिणा पच्छिमो अगारस्स।
रागो संगो वुत्तो, संगो कम्मसंभवो तेण ॥ ५७ ॥

पूर्वा इति प्रथमाः, के ते तपःसंयमाश्च। यत्र तप. तत्र नियमात् संयमः, यत्र संयमः तत्रापि नियमात्तपः, उभयोरव्यभिचारप्रदर्शनार्थं तप.संयमग्रहणम्। यथा यत्राऽऽत्मा तत्रोपयोगः, यत्रोपयोगस्तत्राऽऽत्मा इति सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धियं सुहुमसंपरागं च। एते पुव्वतवसजमा एते णियमा रागिणो भवंति, न च अहाख्यात चारित्रमित्यर्थः। अहवा अणसणादिया जाव सुक्कज्झाणस्स आदिमा दो भेया पुहत्तवितक्कं सवियारं, एगत्तवियक्कं अवियारं च। एते पुव्वतवा, सामाइयछेदपरिहारसुहुमं च। एते पुव्वतवसंजमा णियमा रागिणो भवति, सुहुमकिरियानियट्टी वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइ च, एते पच्छिमतवा, अहक्खायचारित्त पच्छिमसंजमो, एते पच्छिमतवसजमा नियमा अरागिणो भवन्ति। एतेहिं पुव्वतवसंजमेहिं देवेहिं उववज्जति, सरागित्वात्; रागो त्ति वा संगो त्ति वा एकार्थं, यतो भणितं रागो संगो वुत्तो, अहवा कम्मजणितो जीवभावो रागो, कम्मुणा सह संजोगं एतो स एव संगो वुत्तो, संगातो राग इति भेदेण णिप्फज्जमाणं कम्मं भवति, तेण कम्मुणा उदिज्जमाणेण भवो भवते संसारेत्यर्थः। ते य सरागसंजता पल्लधण्णक्खेवदिट्ठंतेण बहुसोधगा अप्पबंधा कमेण पच्छिमे तवसजमे पप्प मोक्खं गच्छन्ति। एवं सुभपगडिबंधेसु साधवो जनन्ति जम्हा पगडीहतवेसु पवत्तंतस्स एते दोसा, तम्हा न बीभे, न वा परं बीहाविज्जा।

गाहा—

वितियप्पदमणपज्झे, बीभे अप्पज्झ हीणसत्ते वा।
खेत्ताऽऽदिय सं च परं, पवाति पडिणीय तेणं वा ॥५७॥

अणप्पज्झो खेत्तादिओ सयं वा बीभेति परस्स बीभावेइ, हीणसत्तो वा अप्पज्झो बीसेज्ज खेत्तादियं वा परव्वादिं वा पडिणीयं अणुवसमंत सरीरोवगरणतेणं वा बुविह वा भावेंतो निद्दोसेत्यर्थः। नि० चू० ११ उ०। नाटकप्रसिद्धे रसभेदे, वाच०।

भयरहितस्यैव स्थिरत्वमिति निर्भयत्वमाह—

यस्य नास्ति परापेक्षा, स्वभावाद्वैतगामिनः।
तस्य किं न भयभ्रान्ति-क्लान्तिसन्तानतानवम् ? ॥१॥

यस्येति-स्वभावाद्वैतगामिन. स्वकीयो भावः स्वभावो निजस्वरूपलक्षणस्तस्याद्वैतं—द्विधा इतं भेदं गतं द्वीतं, तदेव द्वैत, न द्वैतमद्वैतमभेदैक्यं, तत्प्रति गच्छतीत्येवंशीलः स्वभावाद्वैतगामी पुनः पुनरभेदस्वभावे प्रवर्तनशीलस्तस्य, यस्य वक्ष्यमाणगुणकदम्बयुक्तस्य। परापेक्षा परेभ्य आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेभ्यो याऽपेक्षा देहविषयाऽऽदिभ्यः सुखाऽऽदेराकाङ्क्षा सा। नास्ति-न विद्यते। तस्य प्रोक्तरूपस्य। भयभ्रान्तिक्लान्तिसन्तानतानवं भयम् इहलोकभयाऽऽदिसप्तविधं भ्रान्तिर्विषयाऽऽदिषु सुखप्राप्त्यादिभ्रमः क्लान्तिः साता

रिकप्रवर्तते आभ्यस्यार्तिः एतेषां द्वन्द्वे कृते, तेषां यः सन्तान परम्पराप्रवाहस्तस्य तानवं तनोर्भावस्तानवं तनुता, स्व ल्पतेति यावत् । किं न भवेत् ?, अपि तु भवेदेवेत्यर्थः ॥ १ ॥

सभयत्वनिर्भयत्वाभ्यां सांसारिकज्ञानसुखयोरसारता-सारते दर्शयन्नाह—

भवसौख्येन किं भूरि-भयज्वलनभस्मना ? ।
सदा भयोज्झितं ज्ञानं, सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥

भवेति-भो भव्य ! भूरिभयज्वलनभस्मना भूरीणि च तानि भयानि च भूरिभयानि इहलोकपरलोकाऽऽदानाऽकस्मादाजी विकाऽपश्लोकमरणरूपाणि, तान्येव ज्वलनाः सुखेन्धनज्वालनसमर्था वह्नयस्तेभ्यो जातं यद्भस्म—रक्षा तेन भयज्व लनज्वालितभस्मरूपेणेति भावः । भवसौख्येन भवे संसारे गतं यत्सुखस्य भावः सौख्यं तेन । (किम्,) किं फलं ?,न कि मपि, भयशोषिनाऽऽनन्दरसत्वेन नि स्वादनीयत्वात् । सदा सर्वकालम् । भयोज्झितं-भयैः पूर्वोक्तैस्त्यक्तम् । यद्वा-भयान्युज्झितानि येन तत् । ज्ञानं निजस्वरूपाऽऽवेदनम् । एव निश्चितं सुखमानन्दरूपं, विशिष्यते सर्वाधिकसुखत्वेन भिद्यते,केवल सुखत्वेनावधार्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

योगिनां भयाभावे हेतून् दर्शयन्नाह—

न गोप्यं क्वापि नाऽऽरोप्यं, हेयं देयं च न क्वचित् ।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं, ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ? ॥ ३ ॥

न गोप्यमिति-मुनेः परमाऽऽत्मभावप्राप्त्युपाये प्रवृत्तस्य सा धोः । क्वापि ग्रामे वने दिवा रात्रौ च । गोप्यं—गोपनीयं कपाटवस्त्राऽऽदिभि स्थगनीयमिति यावत् । न विद्यते केनाप्यपहरणीयधर्मधनत्वात् । आरोप्यमारोपणीयं क्वचित् स्थानान्तरे न्यासत्वेन स्थापनीयमपि तस्य न विद्यते स्व भावधर्मस्यान्यत्र नेतुमशक्यत्वात् । हेयं स्वभावमध्यात्त्याज्यं ,देयं परस्मै स्वरूपस्य दानव्यमपि च न क्वचित् कुत्रचिदपि न विद्यते, अभेदे स्वाऽऽत्मभावे तयोरविषयत्वात् ज्ञेयं ज्ञातुं योग्यं वस्तु । ज्ञानेन स्वानुभवबोधस्वभावेन । पश्यतो विलोकयतः मुने. । भयेन प्रोक्तलक्षणत्रासेन । क्व कुत्र । स्थेयं स्थातव्यम् । तस्य समया स्थितिः क्वास्ति ?। न क्वापीत्यर्थः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तहेतुतो मुनिर्निर्भय एवेत्याह—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्मोहचमूं मुनिः ।
बिभेति नैव संग्राम-शीर्षस्थ इव नागराट् ॥ ४ ॥

एकमिति-मुनिर्धर्मवर्मधारकः साधुः । एकं सर्वपरिहारेणाद्वितीयं , ब्रह्मास्त्रं ब्रह्म जीवस्य निरञ्जनावस्थाऽनुयायि शुद्धज्ञानं तदेव तद्रूपं वा अस्त्रम् अप्रतिहतशक्तिमद् वज्राऽऽदि प्रहरणं तत् आदाय-गृहीत्वा,(मोहचमूम्)मोहो ज्ञान मोहनीयकर्म वा, तस्य उपलक्षणत्वाच्छेषकर्मणामपि या चमूः सैन्य ता, निघ्नन् नितरां ध्वसयन् । ( न बिभेति ) भयं न गच्छति । क इव ?, संग्रामशीर्षस्थः संग्रामो युद्धं तस्य यच्छीर्षं प्रकर्षेणारूढं मस्तकं तत्र स्थितः । नागराट् गजराज इव यथा न बिभेति, तथा मुनिरपि भीमपरीषहोपसर्गसम्पातेऽपि न बिभेति । ब्रह्मस्वरूपध्येयमे संलीनचित्तत्वेन देहपीडां न जानातीत्यर्थः ॥ ४ ॥

सञ्जागरायां ज्ञानदृष्टौ भयमाव एवेत्याह—

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चे-त्प्रसर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भयसर्पाणां, न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥ ५ ॥

मयूर्य्..ति-हे श्लाघ्यशील ! चेद्-यदि मनोवने हृदयरूपाऽऽरामे, ज्ञानदृष्टिः शुद्धचैतन्यस्वरूपानुगामिनी ज्ञानपरिणतिरूपा, मयूरी शिखिनी मयूराणा संहतिर्वा सा । प्रसर्पति पूर्वापूर्वज्ञानपरम्पराऽऽविर्भावरूपया स्वेच्छया विलासं करोति, तदा । आनन्दचन्दने परमप्रमादरूपे श्रीखण्डवृक्षे, भयसर्पाणां भयानि पूर्वोक्तानि तान्येव सर्पा अहयस्तेषां, वेष्टनं स्वशरीराऽऽभोगेन परिवेष्टन भयानां स्वोत्पत्तितया व्यापनं, न भ वति । अयं भावः-ज्ञानेन स्वस्वरूपे अविनाशित्वाऽऽदिना निर्धारिते सति भयकारणाभावः स्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

पुनरप्युक्तार्थमेव विशेषयन्नाह—

कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म बिभर्ति यः ।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसङ्गरकेलिषु ? ॥ ६ ॥

कृतेति-हे शान्तचित्त ! यो ज्ञानी, कृतमोहास्त्रवैफल्यं कृत—रचितं मोहस्य पूर्वोक्तरूपस्य यान्यस्त्राणि कामक्रोध हर्षशोकारत्यज्ञानभयजुगुप्साऽऽदीनि प्रहरणानि तेषा यद्विफलस्य भावः कर्म वा वैफल्यं विगतशक्तित्वं येन तत् । ज्ञानवर्म ज्ञान स्वपरत्वविवेचनसमर्थबोधस्तदेव तद्रूपं वा यद्वर्म तनुत्राण, कवचमिति यावत् तत्, बिभर्ति स्वाङ्गे धारयति-यथार्थज्ञान प्राप्तः । तस्य पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्य, कर्मसङ्गरकेलिषु-कर्मभिर्ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिभिः सह यः सङ्गरो युद्ध तस्मिन् याः केलयो दुःखाऽऽघातरूपाः क्रीडास्तासु, भीर्भयं क्व भवेत् ?, न क्वापि । वा-अथवा भङ्ग -पराजयः, क्व ?, ज्ञानोदयेन निरस्तभयमोहनीयत्वान्न क्वापीत्यर्थः ॥ ६ ॥

- भयकृतपीडाऽज्ञानिनामेवास्तीत्याह—

तूलवल्लघवो मूढाः, भ्रमन्त्यभ्रे भयानिलैः ।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञान-गरिष्ठानां तु कम्पते ॥ ७ ॥

तूलवदिति—हे माध्यस्थ्यभङ्गभीरो !, मूढाः-अज्ञातस्वस्वरूपाः । तूलवल्लघवः तूलमर्कतरूतं, तद्वत्तत्सदृशा लघवोऽल्पा महत्त्वेन रहिताः । भयानिलैर्भयानि पूर्वोक्तानि तान्येवानिला वायवस्तैः । अभ्रे सकललोकाऽऽकाशाऽऽत्मके गगनमण्डले, भ्रमन्ति नानाजन्मरूपस्थानात्स्थानान्तरे वर्तुलाऽऽकारेणाटन्ति तु-पुन., ज्ञानगरिष्ठानां ज्ञानेन-पूर्वोक्तेन गरिष्ठा-गुरुतराः विशालबोधित्वेनातिमहान्त इति यावत् तेषा । तैर्भयानिलैः । एकम् आसतां प्रभूतानि एकमपीत्यपेरर्थः । रोम देहजः सूक्ष्म केश । उपलक्षणतो जीवप्रदेश., तदपि । न कम्पते—नैजन इति ॥ ७ ॥

अथोपसंहारतो निर्भयताया स्थानं दर्शयन्नाह—

चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।
अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् ? ॥ ८ ॥

चित्त इति-हे कल्याणाऽऽचरण ! अकुतोभयं न विद्यते कुतोऽपि कस्मादपि भयं भीतिर्यस्मिंस्तदकुतोभयं , चारित्रं सकलविभावनिवृत्तिपरिणामरूपः संयमः, यस्य भव्यजनस्य, चित्ते—मनसि, परिणतं सकलाऽऽत्मप्रदेशेष्वङ्गाङ्गिभा-

वेन व्याप्तं जात, तस्य पूर्वोक्तरूपस्याखण्डज्ञानराज्यस्य-न खण्डितं न दूषितं मिथ्यात्वविपर्याससंशयाऽऽशंसाऽऽदिभि र्ज्ञानराज्यं ज्ञानं स्वभावानुयायी बोधस्तदेव राज्ञो भावः कर्म वा राज्यं तेजो-ज्ञानप्रकाशो यस्येति यावत् तस्य । सा धोर्योगिन.,कुत. कस्मात्, भय-भीतिर्भवेत्? न कस्मादपि । यदुक्तं प्रशमरतौ-' आचाराध्ययनोक्तार्थ-भावनाचरणगुप्त-हृदयस्य । न तदस्ति कालविवर, यत्र क्वचनाभिभवनं स्यात् ॥ १ ॥ " इति ॥ ८ ॥ अष्ट० १७ अष्ट० ।

भयंकर-भयङ्कर त्रि० । भय करोति कृ अच्-मुम् च । भयजनके, " भयकरा येह परत्र नैव च । " वाच० । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । प्रश्न० । रसभेदे, कुण्डलविहगे च । पु० । वाच० । अप्रशस्तमनोविनयभेदे, ग० १ अधि० । गौणनाम्ना प्राणवधे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

भयंझाण-भयध्यान-न० । भयं मोहान्तर्गता नोकषायरूपा प्रकृतिस्तस्य ध्यान भयध्यानम् । ध्यानभेदे,कृतगजसुकुमारोपसर्गस्य सोमिलस्येव । आतु० ।

भयंत-भजमान-त्रि० । भज-शानच् । न्यायाऽऽगतद्रव्याऽऽदौ विभाजके सेवके च । वाच० । सेवा कुर्वति च । बृ० ३ उ० । आ०चू० । आव० ।

भदंत-पुं० । भट्टारके, उपा० २ अ० । परमकल्याणयोगिनि, " उवयाखिओ भयंतेहिं । " व्य० १ उ० ।

भयान्त-पुं० । भयस्य-भीतेरन्तहेतुत्वात् भयान्त. । भयान्तहर्ता, जं० १ वक्ष० ।

भयंतमित्त-भजमानमित्र-पुं० । भरुकच्छदेशस्थे जिनदेवस्याऽऽचार्यस्य शिष्ये स्वनामख्याते साधौ, आव० ४ अ० ।

भयंतवंदणय-भजमानवन्दनक-न० । भजमान मा भजते सेवायां पतित , अग्रे वा मम भजनं करिष्यति अतोऽहमपि वन्दनलक्ष निहोरकं निवेशयामीति बुद्ध्या वन्दनं भजमानवन्दनकम् । द्वादशे वन्दनकदोषे, ध० २ अधि० । आ०चू० ।

वन्दनकमधिकृत्य द्वादशकं दोषमाह—

भयति भयस्सति व ममं, इइ वदति एडोरग णिवसंतो ।
एमेव य मेत्तीए, गारवसिक्खाविणीतोऽहं ॥

स्मर्तव्यम् आचार्य ! भवन्त वन्दमाना वय तिष्ठाम इत्येवं निहोरक निवेशयन् वन्दते । किमित्याह—एष तावद् जने अनुवर्त्तयति मा. सेवाया पतितो मे वर्त्तत इत्यर्थ । अग्रे वा मम भजन करिष्यत्यसौ ततश्चाहमपि वन्दनकसत्क निहोरक निवेशयामीत्यभिप्रायवानश्च वन्दने तद्भजमानवन्दनकम् । बृ० ३ उ० । आव० । प्रव० । ( उत्तरार्द्धव्याख्या तु ' वंदणगदोस ' शब्दे )

भयंता-भक्तृ-त्रि० । सेवके, उपा० २ अ० । औ० ।

भयंतार-भयत्रातृ-त्रि० । भयात्त्रातरि, उपा० २ अ० । अनुस्वारस्त्वलाक्षणिक । औ० । सूत्र० ।

भयकम्म-भयकर्मन्-न० । यदुदयेन भयवर्जितस्यापि जीवस्येहलोकाऽऽदिसप्तप्रकार भयमुत्पद्यते तद्भयकर्म । नोकषायवेदनीयकर्मभेदे,स्था० ६ ठा० । भयं मोहान्तर्गता नोकषायरूपा प्रकृति । आतु० । भय मोहनीयकर्मभेद इति । आव० ५ अ० ।

भयकारण-भयकारण-न० । भयहेतौ , " भयकारणं तु निविहं । " त्रिविधे वाह्ये भयकारणे दिव्यमनुष्यतिर्यग्भेदभिन्न इति । आव० ५ अ० ।

भयग-भृतक-त्रि० भृ-क्त-स्वार्थे कन् । भ्रियते पोष्यते स्मेति भृतः । स एवानुकम्पितो भृतक । कर्मकरे, स्था० ४ ठा० १ उ० । भृतका मूल्यतः कर्मकरा इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । पिं० । भृतको नियतकालमवधिं कृत्वा वेतनेन कर्मकरणाय धृत । जं० २ वक्ष० । जी० । भृतको वेतनेनोदकाऽऽद्यानयनविधायीति । दशा० ६ अ० । भृत्या धनिना गृहे दिन पाटकाऽऽदिमात्रेण तदादेशकरणाय प्रवृत्तो भृतक । ग० १ अधि० । ध० । " भयगाण त्ति संधाण न कायव्व । " ध० २ अधि० । प्रति० । पोषिते, भ० १२ श० ७ उ० । भृतका आबालत्वात् पोषिता. । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । भृतको भक्तदानाऽऽदिना पोषित. । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्कालाऽऽदौ निश्रिते च । जं० २ वक्ष० ।

स चतुर्विध.—

चत्तारि भयगा पण्णत्ता तं जहा-दिवसभयए, जत्ताभयए, उच्चत्तभयए कव्वाडभयए । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

(व्याख्या 'परिसजाय' शब्देऽस्मिन्नेवभागे १०१६ पृष्ठे गता)

इयाणिं भयगमाह—

दिवसभयए य जत्ता, कव्वाले चेव होति उच्चत्तो ।
भयगो चउव्विहो खलु, न कप्पती तारिसे दिक्खा ॥ ४२५ ॥

भयगो चउव्विहो-दिवसभयगो, जत्ताभयगो, कव्वालभयगो, उच्चत्तभयगो य । एस ताव संखेवतो चउव्विहो वि न कप्पति दिक्खेउ ।

एतेसिं चउण्ह वि सरूवमिमं—

दिवसे दिवसे घेप्पति, छिन्नेण धणेण दिवसें देवसियं ।
जत्ताएँ होति गमणं, उभयं वा एत्तियधणेणं ॥ ४२६ ॥

सव्वदिवस दिणे छिन्ने वा दिणे एत्तिएहिं रूवएहिं तुमे मे कम्मं कायव्व, एव दिणे दिणे भयगो घेप्पति । सो विणे अपुण्णे कप्पति पव्वावेउ । इमो जत्ताभयगो-दस जोयणाणि मम सहायेण एगागिणो वा गतव्वं एत्तिएण धणेण, ततो परतो । ते इच्छा । अन्ने उभय भणति-गतव्व, कम्म च से कायव्व ति ।

इमो कव्वालभयगो—

कव्वाल उड्डमादी, हत्थमित कम्मएत्तियधणेणं ।
एच्चिरकालो व ते, कायव्व कम्म जं वेत्ति ॥ ४२७ ॥

कव्वालो-खितिखणओ उड्डमादी,तस्स कम्ममप्पिणिज्जति-दो तिन्नि वा हत्था खावितव्वा , छिन्नं अच्छिन्नं वा एत्तियं ते धण दाहामिति । इमो उच्चत्ते भयगो-तुमे ममं एच्चिरकाल कम्म कायव्व , जं अह भणामि, एत्तियं ते धणं दाहामि त्ति ।

इमा जणाभयगे पव्वावणविही—

कतजत्तें गहियमोल्ले, गहिते अकयम्मि णत्थि पव्वज्जा ।
पव्वावेंते गुरुगा, गहिते उड्डाहमादीणि ॥ ४२८ ॥

कयाए उत्ताए गहिए मोल्ल अगहिए वा कप्पइ पच्चावेउं । गहिए मुल्ले अकयाए उत्ताए णो कप्पति । सेसं कंठं क ख्वालो वि एवं चेव । उच्चत्तभयगो वि काले अपुन्ने न दिक्खिज्जति ।

इयाणिं कम्मे बद्धभयगाण य जे कप्पति ; न कप्पति वा ते भंगविगप्पेण विसेसिता भण्णंति—

छिण्णमछिण्णे य धणा, वावारिकाल इस्सरो चेव ।

सुत्तऽत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं च णायव्वं ॥४२६॥

पुव्वस्स इमा विभासा—

वावारे कालें धणे, छिण्णमछिण्णे य अट्ठ भंगा तु ।

सावितें गहिते अकए, मोत्तुं सेसेसु दिक्खंति ॥४३०॥

छिण्णो वावारो, छिण्णो कालो, छिण्णं धणं, छिण्णं नाम-अमुगं कम्मं कायव्वं एत्तिएं कालं एत्तिएणं धणेण त्ति । एस पढमभंगो । बितियभग धणं अच्छिण्णं । एव अट्ठ भगा कायव्वा । एतेसिं अट्ठण्हं भंगाणं वावारे छिण्णे अछिण्णे वा काले विछिण्णाछिण्णे सक्खीण पुरतो साविते धणे छिण्णे गहिते अकए य कम्मे ण दिक्खति , सेसेसु दिक्खति, ते य सेसा वि चउत्थछट्ठमभंगा, अधव सेस त्ति अट्ठसु वि भंगेसु सक्खिपुरतो असाविए धणे छिण्णे अछिण्णे वा अगहिते कए अकए वा कम्मे दिक्खंति ।

इयाणिं पुणो एयं चेव विसेसे त्ति—

गहिते य अगहिते वा, छिण्णधणे सावए ण दिक्खेंति ।

अच्छिण्णधणे कप्पति,गहिते वा अगहिते वा वि॥४३१॥

पढमततियपंचमसत्तमे य वावारकालेसु छिण्णाछिण्णेसु सक्खिपुरतो साविते सु गहिते अगहिते वा छिण्णधणे ण दिक्खेंति । किं कारणम् ? उच्यते-सो भणेज्ज-मए सक्खि पुरतो सावितं ति । अन्न च मए अण्णो वि न गहितो तुज्झ अज्झाएति । अच्छिण्ण पुण धणे कप्पति, किं कारणं ?, जम्हा मोल्लस्स परिमाणं न कय, अकते ये परिमाणे ववहारो न लब्भति ।

"इस्सरे त्ति (४२६)" अस्य व्याख्या—

जत्थ पुण होंति छिण्णं, थोवो कालो व होंति कम्मस्स ।

तत्थ अणिस्सरें दिक्खा, ईसरो यंधं वि कारेज्जा ॥४३२॥

धणं च छिण्णं बहुं च कम्मं कयं थ थोवं सेसं, कालो वि थोवो अत्थति । एरिसे कम्मे कप्पति, जदि अणीसरो. तो दिक्खिज्जति , ईसरो पुण थोवं कम्मसेसं चपला थं. धितुं पि कारावेज्ज ।

किं कारणं इस्सरे ण कप्पति, अणीसरे कप्पइ ?, ततो भण्णति—

घेत्तुं समयसमत्थो, रायकुले अत्थहाणि कड्ढंते ।

पेल्लस्स तेण कप्पति, रोद्दोदसवीरिए वा वि ॥ ४३३ ॥

तं पव्वावितं सेसो दरिद्दो सयं अप्पणो घेत्तुमसमत्थो अधमो दरिद्दो रायकुलं गच्छति दूतगेण कड्ढति, तत्थ धणक्खतो भवति, दव्वाभावात्त न करोति , पल्लो—दरिद्दो तस्स तेण कप्पति , इस्सरो पणकबुद्धिअभिणिवेसा उक्कोडं वि दाउं, जो पुण दरिद्दो रोद्द उरस्सेण धापि पलेए छुओ मा बंधोहयणं करेस्सति ते पेल्लस्स वि कप्पति । भयगे त्ति गतं । नि०चू० ११ उ० ।

भयजणणी-भयजननी-स्त्री० । सन्त्रासकारिण्याम् , बृ० १ उ० २ प्रक० ।

भयज्झवसाण-भयाध्यवसान-न० । अध्यवसानभेदे, तच्च यथा गजसुकुमारमारकस्य सोमिलस्य । आ०चू० १ अ० ।

भयट्ट-भयार्त्त-त्रि० । भीते, प्रश्न० २ सम्ब०द्वार ।

भयट्ठाण-भयस्थान-न० । भयं मोहनीयप्रकृतिसमुत्थ आत्मपरिणाम., तस्य स्थानान्याश्रया भयस्थानानि । भयाऽऽश्रये , स्था० ।

तच्च सप्तविधम्—

सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा—इहलोगभए१,परलोगभए २,आदाणभए ३,अकम्हाभए ४,वेयणाभए ५,मरणभए ६, असिलोगभए ७ ।

भयं—मोहनीयप्रकृतिसमुत्थ आत्मपरिणामः, तस्य स्थानान्याश्रया भयस्थानानि, तत्र मनुष्याऽऽदिकस्य सजातीयादन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद्यद्भयं भवति तदिहलोकभयम् । इहाधिकृतभवीमितो जातौ लोक इहलोकस्ततो भयमिति व्युत्पत्तिः । तथा विजातीयादन्यस्मात्तिर्यग्देवाऽऽदेः सकाशात्—मनुष्याऽऽदीनां यद्भयं तत्परलोकभयं. आदीयते इत्यादान धनं तदर्थं चौराऽऽदिभ्यो यद् भयं तदादानभयं अकस्मादेव बाह्यनिमित्तानपेक्ष गृहाऽऽदिष्ववस्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम् । वेदना-पीडा तद्भयं वेदनाभयम् । मरणभयं प्रतीतम् । अश्लोकभयमकीर्तिभयम् । एवं हि क्रियमाणे महदयशो भवतीति तद्भयान्न प्रवर्तते इति । स्था० ७ ठा० ।

उक्तं च—

इहपरलोयाऽऽयाणम-कम्हा आजीव मरणमसिलोए ।

सत्तभयट्ठाणाइं , इमाइं सिद्धंतभणियाइं ॥ १३३४ ॥

भय मोहनीयप्रकृतिसमुत्थ आत्मपरिणामस्तस्य स्थानान्याश्रया भयस्थानानि, तत्र मनुष्याऽऽदिकस्य सजातीयादन्यस्मान्मनुष्याऽऽदेरेव सकाशाद्यद्भयं तदिहलोकभयम् । इहाधिकृतभवीमितो जन्तोर्जातौ यो लोकस्ततो भयमिति व्युत्पत्तेः १। तथा परस्माद्विजातीयात्तिर्यग्देवाऽऽदेः सकाशात् मनुष्याऽऽदीनां यद्भयं तत्परलोकभयं २, तथा आदीयते इत्यादान तदर्थं मम सकाशादयमिदमादास्यतीति यच्चौराऽऽदिभ्यो भयं तदादानभयं ३, तथा अकस्मादेव बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहाऽऽदिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयं ४, तथा धनधान्याऽऽदिहीनोऽहं दुःकाले कथं जीविष्यामीति दुःकालपतनाऽऽद्याकर्णनाद्भयम्, आजीविकाभयं ५, नैमित्तिकाऽऽदिना मरिष्यसि त्वमधुनेत्यादि कथिते भयं मरणभयम् । ६ अकार्यकरणोन्मुखस्य विवेचनायां जनापयादमुत्प्रेक्ष्य भयमश्लोकभयमिति ७ । इमानि सप्त भयस्थानानि सिद्धान्ते भणितानि । प्रव० २३४ द्वार । स० । संथा० । ध० । पा० । आव० ।

भयण-भजन-न०। सेवने, सूत्र०१ श्रु० ६ अ० । का० । भज्यते सर्वथाऽऽत्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजन । लोले, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

भयणा-भजना-स्त्री० । सेवायाम्, छा० १ श्रु० १५ अ० । आ० च० । सेवा च परिभोग इति । नि०चू० १ उ० । विशे० । विकल्पे, भ० १ श० ५ उ० । आव० । नं० । व्य० । पञ्चा० । उत्त० । भङ्गे, नि०चू० १६ उ० । तदात्मके प्ररूपणाभेदे च । आ०चू० १ अ० ।

भयणिज्ज-भजनीय-त्रि० । विकल्पनीये, आ०म० १ अ० ।

भयणिस्सय-भयनिस्सृत-त्रि० । मृषाभेदे, स्था० १० ठा० ।

भयदाण-भयदान-न० । भयाद्दानं तद्भयदानम् । भयनिमित्तत्वाद्वा दानमपि भयमुपचारादिति । "राजारक्षपुरोहित-मधुमुखमावल्लदण्डपाशिषु च । यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं च विज्ञेयम् ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे दानभेदे, स्था० १० ठा० ।

भयपडिसेवणा-भयप्रतिषेवणा-स्त्री० । भयं भीतिर्नृचौराऽऽदिभ्यस्तस्मात्प्रतिषेवणा भयप्रतिषेवणा । प्रतिषेवणाभेदे, यथा राजाऽऽद्यभियोगान्मार्गाऽऽदि दर्शयति, सिंहाऽऽदिभयाद्वा वृक्षमारोहति । उक्तं च—" भयमभिओगेण सीहमाईआ ।" स्था० १० ठा० ।

भयपरीसह-भयपरीषह-पुं० । परीषहभेदे, उत्त० २ अ० ।

भयप्पत्त-प्राप्तभय-त्रि० । भयं प्राप्ते, "भयप्पत्ते भीरू समावदेज्जा मोस वयणाए ।" आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

भयभीरु-भयभीरु-त्रि० । भयेन भीते, " भयं परिजाणइ से णिग्गंथे णो भयभीरुए सिया ।" आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

भयभिण्णसण्ण-भयभिन्नसंज्ञ-त्रि० । भयेन-भीत्या भिन्ना-नष्टा संज्ञा-अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य । भयेन नष्टान्तःकरणवृत्तिके, सू० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

भयभेरव-भयभैरव-त्रि० । भयेन भैरवोऽत्यन्तसाध्वसोत्पादकः । उत्त० १५ अ० । अत्यन्तरौद्रभयजनके, 'भयभेरवसद्दप्पहासे ।" दश० १० अ० । " भीमा भयभेरवा उराला । " उत्त० १५ अ० ।

भयमाण-भजत्-त्रि० । सेवमाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । उपासनां विदधाने, स्था० ६ ठा० । अनुवर्तमाने च । प्रश्न० २ द्वार ।

भयमोहणिज्ज-भयमोहनीय-न० । यदुदयवशात्सनिमित्तमनिमित्तं वा तथारूपं स्वसंकल्पतो जीवस्य सप्तविधं भयं भवति तद्रूपमोहनीयकर्मभेदे, पं०सं० ३ द्वार । कर्म० ।

भयवंदणग-भयवन्दनक-न० । कुलाद् गच्छात् चैत्याद्वा निष्काशयिष्ये अहमिति भयाद्वन्दनकं भयवन्दनकम् । एकादशे वन्दनकदोषे, ध० २ अधि० । प्रव० । आ०चू० । " भय तु निज्जूहणाईयं । " निर्यूहणं-गच्छान्निष्काशनं तदाऽऽदिकं यद्भयं तेन यत्र वन्द्यते तद्भयवन्दनकम् । वृ० ३ उ० । आव० ।

भयवक्क-भयवाक्य-न० । भयोत्पादनार्थमुच्यमाने वाक्ये, यथा नरकगतौ रुधिराऽऽद्यभावेऽपि रुधिराऽऽदिदर्शनम् । दर्श० ३ तत्त्व ।

भयवग्गाम-देशी०-मोढेरके, दे०ना० ६ वर्ग १०२ गाथा ।

भयसण्णा-भयसंज्ञा-स्त्री० । भयं मोहनीयोदयाद् भयोद्भ्रान्तस्य दृष्टिवदनविकाररोमाञ्चोद्भेदाऽऽदिक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति भयसंज्ञा । भ० ७ श० ८ उ० । स्था० । प्रज्ञा० । भयवेदनीयोदयजनितत्रासपरिणामरूपे संज्ञाभेदे, जी० १ प्रति० । दर्श० । स्था० ।

चउहिं ठाणेहिं भयसण्णा समुप्पज्जइ । तं जहा-हीणसत्ताए, भयवेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मईए, तदट्ठोवओगेणं ।

हीनसत्त्वतया सत्त्वाभावेन, मतिभयवार्ताश्रवणभीषणदर्शनाऽऽदिजनिता बुद्धिस्तया, तदर्थोपयोगेन इहलोकाऽऽदिभयलक्षणार्थपर्यालोचनेनेति । स्था० ४ ठा० १ उ० । दर्श० । आ० चू० । प्रज्ञा० । ध० ।

भयाईय-भयातीत-त्रि० । भयादतीतो भयातीतः । भयाद् दूरीभूते, उत्त० २५ अ० ।

भयाउल-भयाऽऽकुल-त्रि० । भयव्यग्रे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

भयाणग-भयानक-पुं० । बिभेत्यस्मात् भी-आनक् । व्याघ्रे, राहौ, वाच० । भयजनकसङ्ग्रामाऽऽदिवस्तुदर्शनाऽऽदिप्रभवे रसभेदे, स चेह रौद्ररसेऽन्तर्भवति । अनु० । भयङ्करे, त्रि० । वाच० । आव० ४ अ० ।

भयाणीय-भयाऽऽनीत-त्रि० । भयमानीतं येन स भयाऽऽनीतः । भयप्रापके, भ० ३ श० २ उ० ।

भयानीक-न० । भयं भयहेतुत्वात् अनीकं भयानीकम् । भयहेतुभूते सैन्ये, भ० ३ श० २ उ० ।

भयाल-भयाल-पुं० । एकोनविंशतितमस्य भारते वर्षे आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यतो यशोधरस्य तीर्थकरस्य पूर्वभवनामधेये, स० ।

भयावह-भयाऽऽवह-त्रि० । भयमावहति । भयप्रापके, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

भर-भर-पुं० । बिभर्तीति भरः । बिभृ-गुण । धारके, पोषके च । गा० ।

भर-पुं० भृ० अप् । अतिशये, वाच० । भारे, अनु० । दुर्निर्वहत्वाद् भर इव भरः । अतिगुरुकार्ये, "भरनित्थरणसमत्था ।" आ०म० १ अ० । आ०चू० । सघाते, "ओसारिए घणभरो ।" आव० ४ अ० । " समभरघडत्ताए चिट्ठइ । " भ० १ श० ६ उ० । "बहुसाधुसमम्मद्दे च । ध० ३ अधि० । आचारे, विशे० । भरणकर्तरि, त्रि० । वाच० । " उप्पंको ओप्पीला उक्केरो पहयरो गणो पयरो । ओहो निवहो संघो, सघाओ संहरो निअरो ॥ १८ ॥ " सदोहो निउरु(र)वो, भरो नियाओ समूहनामाइं । " पाइ० ना० १८-१९ गाथा ।

भरण-भरण-न० । भृ-ल्युट् । पूरणे, छा० १ श्रु० २ अ० । स्था० । वेतने, पोषणे, धारणे च । अश्वन्यवधिके द्वितीये नक्षत्रे, पोषकलतायां च । स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

भरणिज्ज-भरणीय-त्रि० । पोषणीये स्था० १० ठा० ।

भरणी-भरणी-स्त्री० । यमदेवताके अश्वन्यवधिके द्वितीये नक्षत्रे, अनु० । ज्यो० । जं० ।

दो भरणी । (स्था० २ ठा० ३ उ० । च० प्र० ।) भरणीणक्खत्ते तितारे पण्णत्ते । स० ३ सम० । स्था० ।

**भरह**-भरत-पुं० । भरं तनोति तन-डः । "वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः" ॥८।१।२१४॥ इति प्राकृतसूत्रेण तस्य हः । प्रा० १ पाद । 'जडभरत' इति ख्याते मुनिभेदे, नाट्यशास्त्रस्य अलङ्कारशास्त्रस्य च कर्तरि मुनिभेदे, शबरे, तन्तुवाये, क्षेत्रे, केकयीसुते रामानुजे च । भरतेन प्रोक्तं भारतं नाट्यशास्त्रमधीयते अण् । तस्य लुक् । नटेषु, दुष्यन्तेन शकुन्तलायामुत्पादिते नृपभेदे, पुं० । तस्यापत्यानि इञ् । तस्य बहुषु लुक् । भरतवंश्ये नृपे, पुं० । वाच० । नाभिकुलकरस्य पौत्रे आदिजिनस्य ऋषभदेवस्य ज्येष्ठपुत्रे भरतवर्षाधिपे स्वनामख्याते चक्रवर्तिनि, स० । स्था० । प्रश्न० । ति० । आ० म० । कल्प० । पञ्चा० । " भरहो वि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए । " उत्त०पाई० १८ अ० । अयोध्यायां नगर्यां श्रीऋषभदेवपुत्रः पूर्वभवकृतमुनिजनवैयावृत्त्यार्जितचक्रिभोगः प्रथमचक्री भरतनामाऽऽसीत्, तस्य नवनिधानानां चतुर्दशरत्नानां द्वात्रिंशत्सहस्रनरपतीनां द्विसप्ततिसहस्रपुरवराणां षण्णवतिकोटिग्रामाणां चतुरशीतिसहस्रहयगजरथानां षट्खण्डभरतस्य ऐश्वर्यं कुर्वतः स्वसंपत्त्यनुसारेण साधर्मिकवात्सल्यं कुर्वतः स्वयं कारिताष्टापदशिरःसंस्थितचतुर्मुखयोजनाऽऽयामजिनाऽऽयतनमध्यस्थापितनिजनिजवपुःप्रमाणोपेतश्रीऋषभाऽऽदिचतुर्विंशतिजिनप्रतिमावन्दनार्चनं समाचरतः श्रीभरतचक्रिणः पञ्चपूर्वलक्षाण्यतिक्रान्तानि, अन्यदा महाविभूत्या उद्वर्तितदेहः सर्वालङ्कारविभूषितः स भरतचक्री आदर्शभवने गतः । तत्र स्वदेहं प्रेक्षमाणस्य अङ्गुलीयकं पतितं, तच्च तेन न ज्ञातं, आदर्शभित्तौ स्वदेहं पश्यता तेन पतितमुद्रिका स्वकराङ्गुली अशोभमाना दृष्टा ततो द्वितीयाङ्गुलीतोऽपि मुद्रिकाऽपनीता साऽप्यशोभमाना दृष्टा, ततः क्रमात्सर्वाङ्गाऽऽभरणानि उत्तारितानि तदा स्वशरीरमतीवाशोभमानं निरीक्ष्य संवेगमापन्नश्चक्री एवं चिन्तितुं प्रवृत्तः-अहो ! आगन्तुकद्रव्यैरेवेदं शरीरं शोभते, न स्वभावसुन्दरम् । अपि च-एतच्छरीरसङ्गेन सुन्दरमपि वस्तु विनश्यति ।

उक्तं च—

" मणुन्नं असणं पाणं, विविहं खाइम साइमं ।
सरीरसंगमावन्नं, सव्वं पि असुहं भवे ॥ १ ॥
वरं वत्थं वरं पुप्फं वरं गंधविलेवणं ।
विणस्सए सरीरेण, वरं सयणमासणं ॥ २ ॥
निहाणं सव्वरोगाणं, कयग्घमथिरं इमं ।
पंचासुहभूअमयं, अपक्कपरिकम्मणं ॥ ३ ॥ " इति ।

तत एतच्छरीरकृते सर्वथा न युक्तमनेकपापकर्मकरणेन मनुष्यजन्महारणम् । यत उक्तम्-"लोहाय नावं जलधौ भिनत्ति, सूत्राय वैडूर्यमणिं दृणाति । स चन्दनं प्लोषति भस्मराशे-र्यो मानुषत्वं नयतीन्द्रियार्थे ॥ १ ॥ " इत्यादिकं चिन्तयतः तस्य भरतस्य प्राप्तभावचारित्रस्य प्रवर्द्धमानशुभाऽध्यवसायस्य क्षपकश्रेणिं प्रपन्नस्य केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । शक्रस्तत्र समायातः, कथयति च—द्रव्यलिङ्गं प्रपद्यस्व येन दीक्षाया उत्सवं करोमि । ततो भरतकेवलिना स्वमस्तके पञ्चमौष्टिको लोचः कृतः । शासनदेवतया च रजोहरणोपकरणानि दत्तानि । दशसहस्रराजभिः समं प्रव्रजितो भरतः शेषचक्रिणस्तु सहस्रपरिवारेण प्रव्रजिताः । ततः शक्रेण वन्दितोऽसौ ग्रामाऽऽकरनगरेषु भ्रमन् भव्यसत्त्वान् प्रतिबोधयन् एकपूर्वलक्षं यावत् केवलपर्यायं पालयित्वा परिनिर्वृतः । तत्पट्टे च शक्रेण आदित्ययशा नृपोऽभिषिक्तः । उत्त० १८ अ० । ( आदित्ययशोवृत्तान्तः 'आइच्चजस' शब्दे द्वितीयभागे ३ पृष्ठे गतः )



भरहस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ पुरिसजुगाइं अणुबद्धं सिद्धाइ ०जाव सव्वदुक्खप्पहीणाइं । तं जहा-आइच्चजसे, महाजसे, अइबले, महाबले, तेयवीरिए, कित्तवीरिए, दंडवीरिए, जलवीरिए । स्था० ८ ठा० ।

आयंसघरपवेसो, भरहे पडणं च अंगुलीअस्स ।
सेसाणं उम्मुअणं, संवेगो नाणं दिक्खा य ॥ ४३६ ॥

अस्या निर्युक्तिगाथाया भावार्थः कथातो ज्ञेयः—

" निर्वाणं स्वामिनि प्राप्ते, चैत्ये तत्र च कारिते ।
जगाम भरतोऽयोध्या- मल्पशोकः क्रमादभूत् ॥ १ ॥
भोगान् भोक्तुं पुनरपि, प्रावृतच्च ईदृशः ।
तस्य चैवं पञ्चपूर्व-लक्षी याता मुहूर्त्तवत् ॥ २ ॥
अथान्यदाऽगमच्चक्री, सर्वालङ्कारभूषितः ।
द्रष्टुं स्वदर्पणागारं, यत्राङ्गं वीक्ष्यतेऽखिलम् ॥ ३ ॥
तत्र स्वं पश्यतो राज्ञः, पपाताङ्गुलिमुद्रिका ।
न सा ज्ञाताऽथ निःशोभा-मङ्गुलीं वीक्ष्य दध्यिवान् ॥ ४ ॥
भूषणेनैव शोभेयं, सहजा नेति चिन्तया ।
एकैकं भूषणं मुञ्चन्, सर्वाण्यपि मुमोच सः ॥ ५ ॥
निःश्रीकमथ निर्लूना-म्भोजं सर इवाखिलम् ।
पश्यन् स्वाङ्गं विरक्तोऽभू-दङ्गनास्वपि तन्मतिः ॥ ६ ॥
एवं च ध्यायतस्तस्य, शुक्लध्यानमजायत ।
उत्पेदे केवलज्ञानं, गृहिवेषभृतोऽपि हि ॥ ७ ॥
ऊचे शक्रस्तदेवेत्य, द्रव्यलिङ्गं प्रपद्यताम् ।
भरतेन ततो लोचः, प्रचक्रे पञ्चमुष्टिकः ॥ ८ ॥
एतद्रजोहरत्या—द्युपधिं देवताऽऽनयत् ।
प्रवव्राज महाराजः, सहस्रैर्दशभिः सह ॥ ९ ॥
निष्क्रान्ताश्चक्रिणोऽन्ये च, सहस्रैकपरिच्छदाः ।
महिमानं विधायाथ, शक्रो राजर्षिमानमत् ॥ १० ॥
स्थित्वा केवलिपर्याये, पूर्वलक्षं स निर्वृतः ।
चक्रेऽष्टौ पुरुषयुगा न्येषां शक्रोऽभिषेचनम् ॥ ११ ॥ "
आ०क० १ अ० ।

भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था स० ५०० सम० । स्था० ।

(विस्तरेण भरतचक्रवर्तिनो वक्तव्यता भरवर्षवक्तव्यताऽवसरेऽत्रैव निरूपयिष्यते) उज्जयिनीनगरप्रत्यासन्ननटग्रामस्थे स्वनामख्याते नटे, उज्जयिनीमधिकृत्य-"प्रत्यासन्नो नटग्राम-स्तत्राऽऽसीद् भरतो नटः ।" आ० क० १ अ० । न० । आव० । मूर्च्छनानां स्वरविशेषप्रतिपादकशास्त्रकर्तरि स्वनामख्याते आचार्ये च । स्था० ७ ठा० । जम्बूद्वीपस्थे वर्षभेदे, न० । स० ७ सम० । प्रव० । कल्प० । प्रश्न० । जं० । " हिमवंतसागरंतं, वीरा मोत्तूण भारहं वासं " प्रश्न० ४ द्वार । स्था० ।

भरहे णं राया चाउरंतचक्कवट्टी छपुव्वसयसहस्साइं महाराया होत्था । स्था० २ ठा० ३ उ० । रा० ।

भरहेसरचरियं—

" नाभेयनाहस्स फुडं पवित्तं,
पसत्थमेत्थं चरियं विचित्तं ।
अइप्पसिद्धं ति विगप्पिऊणं,
भव्वाण निव्वाणसुहावहं ति ॥ १ ॥
मोत्तूण लेसेण भणामि किं पि,
जम्हाउ तम्मज्झगयं इमं पि ।
नाणापगारं भरहाहिवस्स,
सव्वं पि नेयं चरियं इमाउ ॥ २ ॥
पायं तहा पिऽत्थ सुमज्झभाए,
खित्तस्स एयस्स पुरी विसाला ।
दीहा उ सा बारसजोयणाइं,
वित्थारएणं नवजोयणाइं ॥ ३ ॥
सामिस्स रज्जस्सऽभिसेयकाले,
गया मणूसा जलआणणत्थं ।
सुरेसुरो आसणकंपबुद्धो,
समागओ भ त्ति जिणेसरम्मि ॥ ४ ॥
किरीडसाईभरणाभिरामं,
काऊण कप्पावणिजे च चिट्ठइ ।
सक्को जिणिंदस्स तहोवविट्ठो,
तावाऽऽगया पिंडु जलं घडेहिं ॥ ५ ॥
दट्ठुं जिणं भूसियसित्तगत्तं,
चिंतंति किं काउचियं इयाणिं ।
चिंतित्तु चित्तेण चिरं विणीया,
सिंचंति सामिं चलणोवरिम्मि ॥ ६ ॥
साहू विणीया पुरिस त्ति काउं,
विणीयनामेण पुरी पहाणा ।
पुव्विं कया जा जिणरज्जकज्जे,
तुट्ठेण सक्केण तु देवरम्मा ॥ ७ ॥
रज्जं तहिं पालइ नाहिजाओ,
नरिंददेविंदकयच्चणो य ।
सयं च सामी उसभो जिणिंदो,
सद्धिं सजायाएँ सुमंगलाए ॥ ८ ॥
तहा सुनंदाभरहाऽऽइएहिं,
सुएहिँऽणेगेहिं य सुत्तमेहिं ।
सहाइए कामगुणे विसाले,
गमेइ कालं उवभुंजमाणो ॥ ९ ॥
तिसट्ठिलक्खेहिँ सुहं सुहेणं,
पुव्वाण काऊण मणोभिरामं ।
रज्जं सुरिंदो व्व चियाणिऊण,
पव्वज्जकालं अह देइ दाणं ॥ १० ॥
संवच्छरं जाव किमिच्छियं तु,
वंछाए निव्वाणपयाभिलासी ।
दाऊण भूमिं सयलं सुयाणं,
पहाणरायं भरहं तु काउ ॥ ११ ॥
अन्नाण राईण सहस्सएहिँ,
चउकीहिँ सद्धिं अह लेइ दिक्खं ।
गामाऽऽगराऽऽरामविहारगेसु,
पवज्जमोणो विहरेइ सामी ॥ १२ ॥
किच्चं अकिच्चं च अपुच्छिऊण,
पुव्विं जहा नामि तहा सयं पि ।
काहामो किं वाऽत्थ वियारिऊण,
काऊण लोयं तु सयं पवन्ना ॥ १३ ॥
मागसयालोयकिच्चभावो,
सामी सयं ते वि अयाणमाणा ।
पुच्छंति सामिं न कहेइ किं वि,
समाउला तण्हछुहाभिभूया ॥ १४ ॥
जिणस्स हिंडित्तु कमाणुलग्गा,
केई ठिया मूढमणा उ ताहे ।
चिंति वि अम्हं किमियाणि कज्जं,
कज्जं महाकिच्छमियं भणंति ॥ १५ ॥
भणंति ते मूढमणा जहा भो,
सामिं न पुच्छित्थकिमं पि पुट्ठो ।
तण्हाछुहाबाहियसव्वगत्ता,
गच्छामो गेहं भरहाहिवंतो ॥ १६ ॥
सामिं पमोत्तूण कहं इहाया,
पयणभंगो वि न होइ रन्नो ।
फलासिणो होमो तणेसु सत्थे,
पवत्तई जाव जिणो सुतित्थं ॥ १७ ॥
एयं विचिंतितु गया उ सव्वे,
गंगानईए तडसंठिएसु ।
वणेसु ते वक्कलचीरधारी,
कंदाइ मूलाइ फलाइ खंति ॥ १८ ॥
गया नमी वा विणमी कहं पि,
जिणस्स दिक्खासमए वि दो वि ।
समागया तं पियरं भणंति,
कयं महाकत्थमिणं सुयक्कं ॥ १९ ॥
रज्जं च रट्ठं च पुरं च चित्तं,
काउ विभागी सयणाइ दिन्नं ।
तातायं अम्हाण वि किं विदेहि,
भणति ते नत्थि हु किंचि अम्हं ॥ २० ॥
देवाण जक्खाण य किन्नराणं,
नराण नारीण य खेयराणं ।
सुहाण सव्वाण जिणं पमोत्तुं,
नो अत्थि दाया भुवणेऽखिले वि ॥ २१ ॥
ता आइ तुम्मे तुरियं जिणस्स,
पासे तिसंझं विणयावनम्मा ।
भत्तीएँ राहेहऽचिरेण देही,
रज्जं च रट्ठं च पहाणलोए ॥ २२ ॥
गया तओ दो वि जिणस्स पासे,
पासंति सामिं ठियओवविट्ठं ।
सीयासणाइं करणोवडत्तं,
भिक्खाएँ गेहेसु य रीयमाणं ॥ २३ ॥
सराण आणीय घडेहिं नीरं,
सिंचंति भूमीएँ तलं तिसंझं ।
आजाणुमाणं कुसुमोवयारं,
काउ नमंसंति थुणंति एवं ॥ २४ ॥
तं नाणदाया भुवणेऽखिले वि,

तं नाहनाहोऽसि अणाहयाणं ।
तं सोक्खदाया य सुदुक्खियाणं,
तं कप्परुक्खोऽसि फलत्थियाणं ॥ २५ ॥
तं वंदिओ देव ! सुरासुरेहिं
तं थणिओ अक्खसु किंनरेहिं ।
तं पूइओ दाणव-खेयरेहिं,
तं नाह ! माया भुवणायरस्स ॥ २६ ॥
तं देव ! दाया य किंभिक्खियस्स,
तं सामि ! सामी य असामियस्स ।
तं देहिं अम्हाण विसालवच्छ !,
रज्जं च रट्ठं च सुणिट्ठअच्छा ॥ २७ ॥
अंबराए उ सिवंसि इच्छा,
पच्छा उ आणूकरउत्तिमंगं ।
भूमीए काउं धरणीयलम्मि,
तिक्खुत्तहत्तं अभिवंदिऊण ॥ २८ ॥
पासेसु चिट्ठंति सुखग्गवग्गा,
दिणे दिणे भत्तिसुनिब्भरंगा ।
कुणंति जा के वि दिणे तिसंझं,
एवं ति ता नागपहू पहिट्ठो ॥ २९ ॥
जिणस्स आगच्छइ वंदणत्थं,
ते तम्मि काले कुसुमोवयारं ।
काउं नमंसित्तु पए पहाणे,
भणंति तं सामि ! भवाहि दाया ॥ ३० ॥
भोगाण रज्जस्स जिणायरेण,
ते जायमाणे धरणो सुणेता ।
नागिंदराया पभणेइ सो सो,
सामी असंगो परिचत्तचित्तो ॥ ३१ ॥
ममत्तबुद्धिं न करेइ देहे,
संसं च सामी उ अरंगणिज्जो ।
कुम्मो व गुत्तो सयलिंदिएहिं,
मुणालपत्तं व निरुवलेवो ॥ ३२ ॥
गउ व्व निच्चं अनियत्तगामी,
दव्वे य भावे तह खेत्ते काले ।
असंगबुद्धी समसत्तुमित्तो,
न देइ वा किंचि न फेडईइ ॥ ३३ ॥
सामिस्स सेवा अह लाभहेऊ,
ता देमि तुम्हाण अहं जिणस्स ।
विज्जासहस्से अडयालसीसं,
पण्णत्तिगोरीपमुहेण सग्गा ॥ ३४ ॥
सो आह वेयड्ढनगे विसाले,
तो दाहिणिल्लाए अणुत्तराए ।
सेढीए गंतूण लहुं करेत्ता,
पण्णासरोढी य पुरे पहाणे ॥ ३५ ॥
कारेह काउं रहनेवरं तु,
जहा तुरिज्जे गगणंगवट्टं ।
पुरं निवेसित्तु तहेव विसाले,
बहुं जणं विज्जबलेण नेउं ॥ ३६ ॥
दिवेह रज्जाएं महे सुरो व्व,
एवं ति ते सामिए (क) सप्पसाया ।
नागिंदरिद्धं पडिवज्जयंति,
अपुव्वभत्तीएं पसन्नमाणसा ॥ ३७ ॥ *
गिरिंद्दत्तु सामिस्स कयप्पणामा,
नागिंदरायं अभिवंदिऊण ।
गंतूण सामिस्स कयप्पसायं,
चिंतित्तु रोमंचियसव्वगत्ता ॥ ३८ ॥
विज्जाकयं दिव्वविमानरूढा,
पिऊण पासे उवट्ठंनयंति ।
रिद्धिं च सव्वं पि कहंति वत्तं,
विणीएं गंतुं भरहेसरस्स ॥ ३९ ॥
कहंति सव्वं पि जणस्समूहं,
नेउंऽवलो भित्तु तहा करंति ।
तयप्पमाणे नयरे विसाले,
नेसिं मटीतुं दिसहस्स बिंबं ॥ ४० ॥
करंति भत्तिब्भरनिब्भरंगा,
नमी महप्पा य सुदक्खिणाए ।
सेढीएं इच्छापडिपुन्नभोए,
अह उत्तराए विनमी वि राया ॥ ४१ ॥
भुंजेइ भोए जह देवराया,
सामी वि भिक्खाएं गिहे गिहे य ।
हिंडेइ गामे नगरे य निच्चं,
न पावई भिक्खमणेसणीयं ॥ ४२ ॥
जओ न जाणाइ जणो किम वि ।
गिहागयं दिट्ठु जिणं पहिट्ठो ।
जणोऽभिमंतेइ गयस्सयाइं,
पुप्फेहिं मुत्ताहलदेवदूमे ॥ ४३ ॥
पहाणअस्सेहिं रहेहिं निच्चं,
संवच्छरं जाव उ वीरधारी ।
निरस्सणो हिंडिउ हत्थिणक्खे,
पुरे विसालम्मि गओ महप्पा ॥ ४४ ॥
तत्थऽत्थि सोमप्पभनामराया,
सेयंसनामो कुमरो वरो वि ।
तत्थऽत्थि पुत्तो भरहाहिवस्स,
भणंति सो बाहुबलिस्स अंते ॥ ४५ ॥
विसालकित्ती गुणगामठाणं,
ते दो वि सेढीएं परोप्परं तु ।
कहंति लद्धे सुमिणे पसत्थे,
कहेइ सेयंसु जहा बलंतो ॥ ४६ ॥
मेरू सठाणाउ मयहिं दिट्ठो,
खित्तो य ते उम्मयकुंभसित्तो ।
ठिओ सठाणेहिं य दिप्पमाणे,
सुराउ दिसी बलिया उ ठाणा ॥ ४७ ॥
किया उ ते ठावडिया बलेण,
सेट्ठी जहा कोइ महामहंतो ।
भरो रणे जुज्झइ मंतणत्तो,
सेयंसनामकयपाडिहेरो ॥ ४८ ॥

* निएहंति विरत्ता महसा न ऊण,
पत्ताभ भावा य विगप्पविलो ॥ ३७ ॥

इणेइ सिग्घं सयलं रिऊणं,
पयोप्परं साहिउ लद्धिईओ ।
तयत्थयं ते उ अयाणमाणा,
गया सठाणं सुमिणाइँ ते उ ॥ ४६ ॥
सुहं कुमारस्स परं तु अत्थि,
मेरु व्व सामी वि हु निप्पकंपो ।
गंभीरमातोलियनीरनाहो,
असुच्छिओ चत्तममत्तसंगो ॥ ५० ॥
गेहाणुगेहं अह रीयमाणो,
समागओ रायपहे विसाले ।
गवक्खचक्खू गयदेहमाहो,
निरिक्खिओ सामि भड त्ति चित्तो ॥ ५१ ॥
दिट्ठो कया वेरिसरूवधारी,
अबोहईहाएँ गवेसणाय ।
एवं करंतस्स सुभ्भाण जोगा,
जाईए जायं सरणं तहा उ ॥ ५२ ॥
निमीलिअच्छो अह मुच्छयाए,
खणं तहा चिट्ठियओ परित्ता ।
चिंतेइ देवो जइ एज्ज एत्थ,
तो देमि भिक्खं अह एसणिज्जं ॥ ५३ ॥
जिणस्स भत्तिब्भरखिब्भरंगो,
नागिंददेविंदनरिंदचंद ।
सोक्खाण ठाण सयलाण आसी,
करेमि लोयाण तहा पवित्ति ॥ ५४ ॥
दंसेमि अन्नाणविमोहियाणं,
विगप्पकल्लोलसमाउलस्स ।
सेयंससुद्धासयलोयणस्स,
नरो अहिक्खूपरसस्स कुंभं ॥ ५५ ॥
घेत्तुं समीवे पगहेइ जाव,
तिगुत्तिगुत्तो इरियोवउत्तो ।
गिहं गिहेण अह रीयमाणो,
असुच्छियप्पा सयणे धणे य ॥ ५६ ॥
समागओ सामि कम कमेण,
दट्ठु जिणं किंचिहरिसं नरम्मि ।
विवड्ढमाणोसियरोमकूवो,
आणंदबिंदूजलकिन्नदिट्ठी ॥ ५७ ॥
सग्गं च मत्तं च अयाणमाणे,
वंदित्तु भूमीकयपंचमंगो ।
भणाइ सामी ! रसमेसणीयं
गिहाहि तारेहि भवन्नवाओ ॥ ५८ ॥
तओ पसारेइ जिणे सुपाणी,
विसुद्धलेसे सुविसुद्धबुद्धी ।
पसत्थभावोऽथ भड त्ति देइ
आणंदसंदोहसुधागओ सो ॥ ५९ ॥
धन्नातिधन्न कय किच्चयं ति,
जयम्मि अप्पाण वि मन्नमाणो ।
सामी वि संवच्छरपारणम्मि,
पारित्तु तं इक्खुरसं मणुन्नं ॥ ६० ॥
सुसत्थदेहो सुहपीणियंगो,
अहा जहिच्छं विहरेइ पच्छा ।
सेमागया तत्थ मराऽसुरा वि,
नरा वि नारी हरिसं वहंता ॥ ६१ ॥*
अहो अहो दाणमयं भणंति,
मुंचंति गंधोदयपुप्फमिस्सं ।
उक्किट्ठधारं दविणस्स अ त्ति,
चेलोउक्खेवं तह चुन्नवासं ॥ ६२ ॥
सय च राया य पहाणसिट्ठी,
समागओ सेसजणो वि तत्थ ।
भणंति एसो सुमिणस्स अत्थो,
पाराविओ सामि सवच्छराओ ॥ ६३ ॥
तओ जणो विम्हियमाणसो उ,
पुच्छेइ नाय कहमेयमेत्थ ।
कहेइ सव्व भवमाइकिच्चं,
एयम्मि लोए पुण जाव जाओ ॥ ६४ ॥
जाइस्सराओ सयलं पि नायं,
धम्मं अधम्मं जिणभिक्खदाणं ।
एवं जणा भत्तिभरावनम्मा,
दिज्जाहि भिक्ख जिणनायगस्स ॥ ६५ ॥
करेइ पीढं रयणामयं तु,
भिक्खालया जत्थ ठिण्ण तत्थ ।
सेयंसणामो कुमरो महप्पा,
रम्मं जिणाण गयमोहप्पणं ॥ ६६ ॥
अंचित्तु तं भत्तिभरो वरेहिं,
पुप्फेहि गंधेहि य उत्तमेहिं ।
दिणे दिणे भुंजइ काउमेयं,
पुच्छेइ लोओ किमियं कहेइ ॥ ६७ ॥
जिणो मए जत्थ विओ रसेण,
पाराविओ भत्तिसुनिब्भरेण ।
मा अक्कमेही तु जणो जिणस्स,
पाए परं पीढमिणं कयं मे ॥ ६८ ॥
एवं जिणो पारइ जत्थ जत्थ,
लोगो वि पीढं पगरेइ तत्थ ।
आइच्चपीढं ति परंपराए,
खयं गयं कालवसेण पच्छा ॥ ६९ ॥
जहासुहं हिंडउ गामदेसे,
सहस्समेगं वरिसाण पुन्नं ।
अओ परं घाइकम्मं खवेइ,
पावेइ नाण जिण केवलं तु ॥ ७० ॥
नरेहिं सामिस्स पउत्तिहेउ,
निउत्तएहिं भरहाहिवस्स ।
नाण पहाण कहियं च जायं,
आऊहपालेण वि चक्कवत्ती ॥ ७१ ॥
उग्घोसमाइक्खिय इट्ठसिद्धी,
अअच्चुयं किं पि हि संतरत्तो ।

* दुंदुहीओ गगणंगणम्मि,
समा कुणंती हरिसं वहंता ॥ ६१ ॥

अणुहवंतो मणसा विचिंते,
पूजारिहा दो वि ममेऽत्थ अत्थि ॥ ७२ ॥
न नज्जई कस्स पुणोऽत्थ कज्जा,
पूया जिणिंदस्स व चक्कराइणो ।
णायं जहा चक्कफलं इहेव,
ताईं जिणो सग्गऽपवग्गदाया ॥ ७३ ॥
एवं विचिंतित्तु पवित्तगत्तो,
एहाओ सुई सव्वविलित्तअंगो ।
हारऽद्धहारकडयंगयाई,
किरीडलोलंतलकुंडलंगो ॥ ७४ ॥
सिंदूरपूराऽरुणकुंडकूड-
दाणद्दगंडत्थलभिंभलस्स ।
पेहाइँ घंटाजुयसोहियस्स,
आरोढु कंधे जइ वारणस्स ॥ ७५ ॥
दिक्खापवण्णे जिणणायगम्मि,
झूरेइ देवी मरुदेविनामा ।
सिणेहभावा भरहं भणाइ,
पुत्तो ममं हिंडइ चत्तसंगो ॥ ७६ ॥
तुमं तु राया भरहे नरीसो,
सुहं सुहेणं पकरेह रज्जं ।
तण्हाछुहाओ उसहो सहेई,
दिणे दिणे झूरइ एवमेव ॥ ७७ ॥
अम्मो ! जिणो सव्वज (ग) यस्स नेया,
का एसा रिद्धी मह रज्जमेत्ता ।
चक्खूसु तो झूरइ नीलि जाया,
न सद्दहेई वयणं तयस्स ॥ ७८ ॥
सामिस्स रिद्धिं पभणेइ एहिं,
दसेइ अम्मो ! जइ कोडिअंसं ।
अग्घाइ रिद्धी जइ कायखंडं,
अतम्मईया वयरामणिस्स ॥ ७९ ॥
एवं भणित्ता पुणओ करित्तु,
अउव्व आणंद मणे वहंति ।
देविंदपाहिं अणुगम्ममाणो,
मयप्पवाहद्दकवोलपाईं ॥ ८० ॥
एपहिं चिद्धद्धयआउलेहिं,
सुतूरसावण्णभरियंबरेहिं ।
घंटाटणक्कारमणोहरेहिं,
सुचक्कचिक्कारपरंपरेहिं ॥ ८१ ॥
खुरक्खुरीखुण्णमहीतलेहिं,
चगंतचग्गावलकंधरेहिं ।
आवद्धवेगव्वसतुद्धरेहिं,
हयपहिँ हेसाभरियंबरेहिं ॥ ८२ ॥
पहाणनाणावरगिल्लिथिल्लि—
सुहासणासंदणजाणगेहिं ॥
मयंगलुंगत्तुरगप्पहाण—
सुदंसणारूढमणोण्णगेहिं ॥ ८३ ॥
भंभाइभेरीरवपूरियासो,
मंगल्लगीयज्जयरावरम्मो ।
चिंधद्धयाडोवपडायपंति,
लेलिज्जआयासतलावभाऊ ॥ ८४ ॥
मज्झमज्झेह मज्झण्हे व नीहरित्तु,
रम्मा अउज्झाएँ अहक्कमेण ।
तेणेव सामी सयलुल्लसद्द,
सव्वायरेण अह जाइ राया ॥ ८५ ॥
छत्ताइछत्तं जिणनायगस्स,
पासित्तु देविं भरहो भणाइ ।
पेच्छाहि अम्मा ! नयपुत्तरिद्धिं,
न एरिसा कस्स वि अत्थि लोए ॥ ८६ ॥
एवं सुणित्ता हरिसुल्लसंत-
रोमंचकंचुव्वयचारुगत्ता ।
कारेइ चक्खूजुयमूसलित्तु
ता नीलि नट्ठा तिमिरं व सूरा ॥ ८७ ॥
सुणेइ सद्दं सुह मागहाणं,
भेरीण रावं सुरताडियाणं ।
डकिट्ठिनायं निवयं तु अंतरा,
सुरासुरं जाणविमाणमूढं ॥ ८८ ॥
माणिक्कहेमज्जुणतारफार-
सिप्फारमालत्तणचिंधरम्मं ।
विमाणमालाहिँ नहं पकिन्नं,
निसाएँ तारागणसंकुलं व ॥ ८९ ॥
पासित्तु देवी मनसा विचिंते,
अहो अहं मोहवसा उ खिन्ना ।
जिणो सय एरिसरिद्धिमंतो,
पिहुं पिहु कम्ममिणं जियाण ॥ ९० ॥
जतोऽत्थजुत्तो कुसलो णु धम्मो,
एवं सुहज्झाणवसाणुगा सा ।
अउव्वजीवव्विर उल्लसा उ,
आरोढु सेढिं खवगं कमेण ॥ ९१ ॥
संजायणाणाइतत्था महप्पा,
खवित्तु कम्मं सयलं झडि त्ति ।
पत्ता सिवं सेयसमोक्खरम्मं,
समागया देवऽसुराण संघा ॥ ९२ ॥
कयं ति पूयं पढमो त्ति काउं,
सिद्धो इहं तस्स सरीरगं तु ।
सक्कारिउं खीरसमुद्दमज्झे,
खिवंति खिप्पं भरहाहिवो त्ति ॥ ९३ ॥
गंतुं जिणं पूयइ भत्तिजुत्तो,
सामी वि देवासुरकिंनराणं ।
नराण नारीण य खेयराणं,
कहेइ धम्मं सिवसंगपावगं ॥ ९४ ॥
भवण्णवे पोयसमाणमेयं,
अन्नाणघं पावतरूकुठारं ।
निसम्म धम्मं जिणनायगस्स,
पासे पव्वज्जित्तु सुसावगत्तं ॥ ९५ ॥
अट्ठाहियं काउ अहायरेण,
समागओ चक्किवरो सठाणे ।
गंतुं सठाणे भरहोऽवि राया,
सिंहासणे पुव्वमुहोवविट्ठो ॥ ९६ ॥

कोडुंबिए सद्दिउ आणवेइ,
सव्वं विणीयं वररायहाणिं ।
भो भो ! जहा खिप्पमसेवमेव,
सबाहिरब्भंतरमेव चित्तं ॥ ६७ ॥
आसीयसम्मज्जियओवलित्तं,
मंचाइमंचकलियं करेह ।
कालागरुधूयमहग्घगंध-
सुगंधिगंधप्पवराऽऽदिभूयं ॥ ६८ ॥
सतोरणं मंगलकुंभजुत्तं,
काउं कहेहेह ममे त्ति कट्टु ।
तो चक्कपूयाहिनिविट्ठदिट्ठी,
गंतुं सयं एहाणघरे पयाणे ॥ ६६ ॥
सुवण्णमाणिक्कमए विसाले,
सुनिच्छिरे तो विसई स पीढे ।
सुगंधिसारामललक्खपाय-
सहस्सपागप्पमुहेहि चित्ते ॥ १०० ॥
तिल्लेहिँऽभंगं पढमं तु काउं,
संवाहयंती पुरिसा सुछेया ।
संवाहिउब्बट्टियसव्वयंगो,
विहीए एहाणं पकरेइ पच्छा ॥ १०१ ॥
पसत्थऽवत्थसु पसत्थबुद्धी,
नियसए चंदणचच्चियंगो ।
विचित्तनाणामणिभूसियंगो,
ससि व्व आणंदकरो जणाणं ॥ १०२ ॥
नारीसरो सुयएहाणपुप्फ
सुगंधहत्थो अभिनिक्खमेइ ।
जेणेव चक्कस्स घरे विसालो,
जेणेव चक्के रयणे पसिद्धे ॥ १०३ ॥
तेणेव गंतुं मणसेति नाउं,
तस्सेव रम्मो बहवे विसाले ।
राईसराऽऽरक्खियवमत्थपति,
सामि तु पेसाहि व सत्थवाहं ॥ १०४ ॥
माडंबिकोडुंबियसेट्ठिमाई,
मग्गाणुलग्गा तयणुप्पयाया ।
विचित्तनेवत्थधरा सुवत्था,
विचित्तनाणामणिभूसियंगा ॥ १०५ ॥
विचित्तछत्तज्झयचिंधछत्त-
नईगणा चित्तफलप्पसत्था ।
तओऽत्थ खुज्जाउ सुवामराउ,
बीजतपासोमयसंठियाओ ॥ १०६ ॥
भिंगारहत्था कलसज्जुया उ,
केई सनालिंटसदीविया उ ।
गंधुद्धुरधूपकडुच्छुहत्थ-
धूमोवयारिंतदिसंतराओ ॥ १०७ ॥
कुंदारविन्दुप्पलसारपुप्फ-
मालाऽऽउला आउलमग्गलग्गा ।
विचित्तभासाहिँ मणोहराउ,
विणीयभावाणुगसुंदराउ ॥ १०८ ॥
सव्वाएँ इड्ढीएँ जुईएँ जुत्तो,
वाइत्तगीयाऽऽरवपूरियाऽऽसो ।
एवं समागच्छइ चक्कमेइं,
जेणेव चक्कं अह तेण जाइ ॥ १०६ ॥
तेणेव गंतुं अह आयरेण,
आलोयमित्ते करई पणामं ।
पसत्थहत्थेण तु लोमहत्थं,
परामुसित्ता ण पमज्जई हु ॥ ११० ॥
पवित्तपाणीएँ सुधारयाए,
अब्भुक्खिओ चेव सुचंदणेण ।
पंचंगुलीचारुतलं दलाइ,
दलित्तुमग्गेहिँ वरेहिँ पच्छा ॥ १११ ॥
पुप्फेहिँ इंदीवरउप्पलेहिं,
गंधेहिँ चुण्णेहि य उत्तमेहिं,
गंधट्टियावट्टियचंचरीय,
चलतझंकारमणाहरेहिं ॥ ११२ ॥
अंचित्तु आयं पकरेइ पच्छा,
विचित्तवीणं सुयबाहुरम्मं ।
आरोहणं पुप्फसुमल्लगंध,
धूवाण भूसामरणप्पहाणं ॥ ११३ ॥
मायंगदंतप्पहपंडुरेहिं,
अखंडिएहिं वरसालिजेहिं ।
सच्छेहि तारामयतंदुलेहिं
काउं तओ दप्पणमाइयाइ ॥ ११४ ॥
लिहेइ अट्ठऽट्ठसुमंगलाइ,
मदारइंदीवरकक्खिणारं ।
असोगजायं अवपंचवगं तु,
दमद्धवणं कुसुमोहमासु ॥ ११५ ॥
तओ पुरो मुंचइ चारुचित्तं,
सुवण्णनिप्फन्नकडुच्छुएण ।
वेरुज्जवज्जुज्जलडंडएण,
दलाइ धूवक्कयधूवधूमं ॥ ११६ ॥
तमालतालीदलसम्मलास,
पयाहिणीकाउ तिक्खुत्तमत्तो ।
पच्चोसक्कित्ताइ पयाइँ सत्त,
अट्ठेव अच्चे अह वामजाणुं ॥ ११७ ॥
भूमीए काउ तह दक्खिणं तु,
तिक्खुत्तहुत्तो अह उत्तिमंग ।
इलातले मीलिय ईसिनम्मो,
काउं सिरे तो करकोरयं तु ॥ ११८ ॥
नमेइ चक्कं रयणप्पहाणं,
भत्ताण जं वंछियदायगं परं ।
एवं करित्ता अभिनिक्खमेइ,
चक्काउहागारगमंडवाओ ॥ ११६ ॥
पडिप्पवुद्धाण वरा सुनाला,
तेणेव आगंतु वरे विसाले ।
पुव्वंमुहो तो सुहओवविट्ठो,
अट्ठारस स्सेणिपसेणिया उ ॥ १२० ॥
सद्दाविउं आणमिणं दलाइ,
करेह खिप्पं अ पर तु सव्वं ।

उवसुक्कयं सुक्ककरं अवेज्जं,
अमेज्जसुक्किट्टमरण्णवेसं ॥ १२१ ॥
अखंडिदंडं तु कुदंडवज्जं,
विलासिणीनाडयनट्टरम्मं ।
अणेगवालायरतालरम्मं,
कहाणपाऽऽक्खिन्नजणेहिं किन्नं ॥ १२२ ॥
सुमससमालाउलमग्गसोहं,
पमोयपुरणं नडनट्टरम्मं ।
अट्ठाहियं चारुमहामहेण,
महारिहं चक्कवरस्स सम्मं ॥ १२३ ॥
सम्माणदाणाइमहामहत्थं,
काऊणिमं सव्व ममं कहेह ।
एव त्ति काऊण कहंति जाव,
चक्कं वि तं ताव महामहंते ॥ १२४ ॥
सयाउ गेहा अभिनिक्खमाइ,
तओ तितूराऽऽरवपूरियाऽऽसा ।
गंगानईए अह दाक्खणेणं,
कूलेण जं जक्खसहस्स(जुत्तं)संजुयं ॥१२५॥
पयाइ पुव्वाभिमुहं तु चक्कं,
राया य पिट्ठे भरहाहिवो त्ति ।
सयं सयं साहिउमुज्जयं तु,
छक्खंडखेत्तं भरह इमं ति ॥ १२६ ॥
कयंवपुप्फं पि व कंटयग्गो,
माडविकोडंबिनरे भणेइ ।
सज्जेह भो ! हत्थिरहप्पहाणं,
पाइक्कचक्कं तुरयावकिन्नं ॥ १२७ ॥
चिंधद्धयच्छंतिपरंपराहिं,
आपूरितासेसनहं पि सेन्नं ।
तमालकालं मयगंधलुद्ध—
मुद्धालिझंकाररवाभिरामं ॥ १२८ ॥
सिंदूरपूराअरुणच्छियंगं,
करेह सज्जं अयवारणं पि ।
काऊणिमं किंकरमाणवाण,
आणत्तियं मज्जणगेहमासु ॥ १२९ ॥
तो जाइ पुव्वोइयनीए जाव,
चंदो व्व चक्खूण सुहं जणंतो ।
रहाणगिहातो अभिणिक्खमित्तु,
सेणाए जुत्तो चउरंगिणीए ॥ १३० ॥
मडेहिं सेट्ठीहि य सत्थवाह—
राईसरामच्चतलारएहिं ।
उट्ठाणसालाए बहिब्भवाए,
जेणेव हत्थीरयणं पसत्थं ॥ १३१ ॥
तेणेव चाऽऽगम्म रुहेइ हत्थि,
पुव्वाचलम्मि उदए रवि व्व ।
हारद्धहाराऽऽइविभूसियंगो,
सुकुंडलुज्जोइयचारुअंगो ॥ १३२ ॥
किरीडकूडब्भवचारुचेंच—
माणिक्कमुत्ताकिरणाभिरामो ।
दुहाएँ दिसीएँ जुरंगं जुत्तो,
नगाण नेय व्व विराजमाणो ॥ १३३ ॥
घणो व्व चंदो विव दिप्पयंतो,
सुराण मज्झेऽव पुरंदरो व्व ।
कुरिंटमालाउलछत्तछन्न—
नहग्गणो चामरचारुसोहो ॥ १३४ ॥
मायंगसंघोवगओ सुदित्तो,
चमूए जुत्तो चउरंगिणीए ।
तुरंगहेसारहचक्कचीक्का—
रतुंगमायंगघडाघणाए ॥ १३५ ॥
पाइक्कपुक्कारयखेडखग्ग—
कोयडदंडब्भडभीसणाए ।
खेयारगामागरपट्टणाणं,
दोणामुहाणं णिगमागमाणं ॥ १३६ ॥
मडंवसंवाहयखडयाणं,
पुराण सागण य पट्टणाणं ।
आधारभूयं वसुहं जिणंतो,
कम कमेणं रयणाइँ अग्घं ॥ १३७ ॥
पडिच्छमाणो व पमोयदित्तं,
अम्मंतरोवज्जियपुन्नपावा ।
सुसाहुवेयावडिउत्थपुन्न-
संपुन्नवीरब्भवभाविसारो ॥ १३८ ॥
फले स सं[illegible]इट्ठकाम एव,
गंगाएँ नो दाहिणकूलपत्तो ।
चक्काणुमग्गं अणुगच्छमाणो,
अणेगवासेसु सुहणं ठाउं ॥ १३९ ॥
जेणेव तित्थं अह मागहं तु,
तेणेव गच्छित्तु महानरिंदो ।
काऊण तो जोयण वार दीह,
विच्छारओ वी नव जोअणाइं ॥ १४० ॥
सेणं तओ वड्ढइ आणवेइ,
करेइ मे गेहवरं विसालं ।
सुपोसहं जत्थ करेमि तं पि,
छणं करित्ता पकहेह मज्झ ॥ १४१ ॥
एवं भणित्ता अभिवंदिऊणं,
करित्तु सव्वं पकरेइ पच्छा ।
तओ नरिंदो गयकंधराओ,
पच्चोरुहित्ता स सरीरचिट्ठं ॥ १४२ ॥
करित्तु ता पोसहमंदिरम्मि,
गंतुं पमज्जित्तु विहीएँ पच्छा ।
च्चत्तसेज्जं कुसयत्तणेहिं,
निक्खित्तसत्थो नरबंभयारी ॥ १४३ ॥
कुमारगं मागहतित्थसामिं,
मणे करेत्ता अह ठाइ तत्थ ।
मुणि व्व मुत्तामणिचाउगत्तो,
पसत्थचित्तो सुहझाणजुत्तो ॥ १४४ ॥
चिच्चा दिणे तिन्नि तओ नयंते,
अनंतसूरे अह उट्ठियम्मि ।
निग्गंतु ण्हाणं पिह मंडवाइ-
पवेसणाइं सयलं पि कट्टु ॥ १४५ ॥

रह रुहित्ता वरसेन्नजुत्तो,
चक्काणुमग्गं अणुजाइ पच्छा ।
पाइक्कबुक्कारवसिंहनाय-
सतारघटारवघोसएहिं ॥ १४६ ॥
चक्काणुमग्गेण उ नीरनाहं,
उग्गाहइत्ता इह नाहि जाव ।
ठीओ तहिं मागहतित्थमज्झे,
गिण्हित्तु पत्तो तुरगं पसत्थं ॥ १४७ ॥
पहाणगंडीवसजीवदिव्व,
सुरिंदचावं व मणोभिरामं ।
ओसंसपुंखं रयणामयं तु,
नामंऽकियं चारुफलावलीढं ॥ १४८ ॥
सजीवकोदंडयजीवमज्झे,
परामुसित्ता पकरित्तु सिज्जं ।
विसालठाणं रइउं पहाण-
आइसयाइन्नियचारुठाणो ॥ १४९ ॥
आसन्नदेवासुरजाणणट्ठा,
उदाहरित्था वयणा इमाइं ।
भो भो ! सुणतु प्पवराहिराजे,
देवासुरा किन्नरजक्खसिद्धा ॥ १५० ॥
तहंऽतलिक्खा धरणीएँ जे उ,
महोरगा भूयपिसायजक्खा ।
तुज्झं भयत्ताण इमो नमामि,
बाणस्स सिग्घं गमणं तु होउ ॥ १५१ ॥
एवं करित्ता अभिनिस्सरेइ,
सर पहाण तु सनाभजुत्तं ।
गंतूण सो बारस जोयणाइ,
महानिनायं कयडेइ कट्टु ॥ १५२ ॥
दट्ठूण बाणं पडियं मुहग्गे,
विचिंतई मागहतित्थनेया ।
करलेह कुद्धो खलु कालमच्चू ,
को वा गिहे अंतग जाउकामो ॥ १५३ ॥
दिट्ठ च कालेण व कस्स मूलं,
को वा सयं मच्चुमुहं वि गंता ।
णिहीण पुण्णे य सिरीविहूणा,
अलक्खणे लज्जविवज्जिए य ॥ १५४ ॥
दुरंतपंते अ चउद्दिसे य ,
जो मज्झ गेहे निसिरेइ बाणं ।
किएहाहिदाढाहि व णेइ कड्ढुं,
सुरिंदचावेण जिणाइ सत्तं ॥ १५५ ॥
मा इन्छिया नीरभरेण तिन्नो,
बाणेण वो मे वलिउं सहेइ ।
खणं वि म कट्टु वसंत को वा,
उट्ठित्तु मुंचेइ सरं करेण ॥ १५६ ॥
जा वाचियं नाममिणं सरत्थं,
ता जाणई जाउ जहेत्थ चक्की ।
तिकालभावीण वि जीयमेय,
कुमार तित्थाहियमागहाणं ॥ १५७ ॥
अब्भुट्ठणं जं पकरंति सव्वं,
सव्वाण चक्कीण नरीसराणं ।
एवं विचिंतित्तु सरं गहित्ता,
हार किरीडं तुडिए कडे य ॥ १५८ ॥
सुकुंडले वत्थवरे विचित्ते,
तित्थोदगं आभरणाइ चित्तं ।
माणिक्कमुत्तामणिभूसियंगो,
सकिंकिणीवत्थनियंसयंगो ॥ १५९ ॥
जेणेव चक्की भरहो विसालो,
तेणेव चाऽऽगम्म नहंगणत्थो ।
करंजलिं काउ सिरे पहाण,
जएण तं वा विजएण भत्ते ॥ १६० ॥
वद्धाहि जेसं भरहं समत्थ,
ममऽज्जिए सिद्धमणी नरीस ! ।
अहं तु तुज्झं विसए वसामि,
समुद्दमज्झे निलयं करित्ता ॥ १६१ ॥
आणाएँ तुब्भं च ठिओ सयाऽवि,
पुव्विल्लओ ते अइमंतिवासी ।
हाराइ ते ढोयइ ढोयणीय,
राया वि तं इच्छइ सारवत्थो ॥ १६२ ॥
पच्छा तओ तित्थवई कुमार,
सक्कारिउं अजलि काउ सीसे ।
विसज्जियं एइ सयं सठाणे,
आगंतु पच्चोरुहई रहाओ ॥ १६३ ॥
एहाणाऽऽइय कट्टु तओवयार,
पारेइ सो भोयणमडवंसि ।
सुहासणत्थो विहिएऽट्ठमंते,
उट्ठाणसालाएँ वि हंत गंतु ॥ १६४ ॥
पुव्वक्कमेणेव महामहं तु,
कारावई तस्स सुरस्स राया ।
सयंतिए आउहमडवाओ,
तो दिव्वचक्के वरवज्जतुंबे ॥ १६५ ॥
सुलोहियक्खे तह हेमनेमी,
सुनीलमुत्ताहलभूसियंगे ।
सणंदिघोसे य सखिंखिणीए,
कंकेल्लिगुंजारविमडलाभे ॥ १६६ ॥
नक्खत्तनाणानरुनारिरम्मे,
सुजायहेमामयखिंखिणिहे ।
सव्वोउयपुप्फकआवयारे,
नहत्थजक्खस्ससहस्सेवसंते ॥ १६७ ॥
सतूरसद्दब्भरियंतराले,
निग्गच्छई सो रयणाण जेट्ठो ।
सुदंसणे दाहिणपच्छिमिल्ल,
मज्झेण मज्झेण तु मंगलाणं ॥ १६८ ॥
रायाऽणुगम्मित्तु पयाणमग्गे,
जेणेव रम्मे वरदामतित्थे ।
तेणेव पच्छाउ पयाइ सो त्ति,
चक्की वि चक्काणुपएण गंतुं ॥ १६९ ॥
कमेण तेणेव उ अट्ठमंते,
सन्निहिए आसवरंसि रूढे ।

गंतुं तओ दाहिणकूले विभाए,
विऊ सयं ठावकम्मं करेइ ॥ १७० ॥
कमेण तेयं वरदाममेया,
स पीइदाणं दलयाइ मालं ।
किरीडमुत्ताहलजाल जालं,
विद्धम्मि पमाइ सुरेण हारे ॥ १७१ ॥
विसज्जयंतो वरदाममेयं,
सक्कारसम्माणसुभत्तिपुव्वं ।
सयं सठाणाऽऽगमणं करेइ,
पुव्वोइयासेसमहामहाइं ॥ १७२ ॥
किच्चाऽवसाणे अववत्तरेण,
तहेव गंतुं कडग त्ति वेलं ।
काउं तहा पोसहअट्ठमाइं
तहेव तो जावऽवराहु पत्तो ॥ १७३ ॥
पभासनेया वि तहा गमित्ता,
दलाइ चूडाकडभूसणं तु ।
उरत्थलालंकरणं कडे य,
दाणावसाणे य पभामणे यं ॥ १७४ ॥
विसज्जिउं पुव्वकमेण जाइ,
ठाणे सयं पारिउ अट्ठमंऽते ।
आणत्तियं पुव्वकमेण देइ,
अदंडिमुस्संकुकुदंडिवज्जं ॥ १७५ ॥
करेउ सेस सयलं पि दिट्ठं,
मतोरणं चिंधपए य छत्तं ।
आउज्जगीयज्झुणिपूरियामं,
पभाससामिस्स मह विसालं ॥१७६॥*
तो किंकरा तं सिरसा नमित्ता,
पडिच्छियं कट्टु कहंति झत्ति ।
महावसाणे गयणंगणत्थं,
पयाइ चक्कं तु पहामनिरथा ॥ १७७ ॥
सिंधूए कूले अह दाहिणेणं,
पुव्वामुहे गेहअदूरदेसे ।
चक्की च चक्काणुगमेण गंतुं,
सवाहणामागरमज्झमज्झ ॥ १७८ ॥
काउं निवेसं सिबिरस्स पच्छा
करेइ पुव्वेण कमेण सव्वं ।
आऊसयं अट्ठमभत्तभत्त,
स सिंधुदेवी चलियासणाउ ॥ १७९ ॥
नाणेण नाउं अह चक्कवट्टी,
समागओ एस महामहप्पा ।
तो ओवकप्पं सरिउं गहेउ,
कुंभस्सहस्सं रयणाभिरामं ॥ १८० ॥
महासणे दुन्न विचित्तचित्ते,
हेमम्मए वत्थविभूसणे य ।
आगम्म आगासतलावलीए,
सप्पस्सयं पुव्वकमेण पुव्वं ॥ १८१ ॥
समप्पई अंबरकोसलीयं,
चक्की वि दिट्ठो पणदेइ सव्वं ।
विसज्जणे ठाणगमाइ कट्टु,
पुव्वोइयं सव्वमिणं कमेण ॥ १८२ ॥
अट्ठाहिया वाकमहामहंते,
पयाइ ईसाणदिसाए चक्कं ।
पहाणवेयड्ढनगाहिमुक्खो,
कमेण तो पुव्वविवणिपच्छ ॥ १८३ ॥
सिबं पमोत्तुं नगदाहिणेणं,
तहेव वेयड्ढकुमारमेयं ।
आराहई आसणकंपबुद्धो,
सुरो समागम्म दलाइ दाणं ॥ १८४ ॥
एहाणोवओगी सयलं पि भंडं,
नाणत्तमेयं ति तहेव अन्नं ।
विसज्जणाइं करणावसाणे,
चक्कं तओ पुव्वदिसाए जाइ ॥ १८५ ॥
तत्थऽत्थिसारानि सहं सुहत्थि-
तो तीयनेया किरि मालदेवा ।
पुव्वोइयासेसकमेण सो वि,
समागओ देइ य पीइदाण ॥ १८६ ॥
केऊरमाई तिलगावसाणं,
पहाणइत्थीरयणस्स भूसं ।
अन्नं पि सार तु बहुप्पयारं,
सुभूसणं जा कडए तुडीए ॥ १८७ ॥
महावसाणा भरहेसराया,
सुसेणसेणावइनामयं तो ।
सहिउ एवं वयई महप्पा,
गच्छाहि सिंधूए नइं चरत्थं ॥ १८८ ॥
सुनिक्खुडं सिंधुदहीवसाणं,
अन्नं पि साहे वि समं समं च ।
अग्गातिसारातिपहाणयाई,
अग्घाइ नाणामणिभूसणाइ ॥ १८९ ॥
पडिच्छ इच्छाहि जहिच्छयाए,
सुहंसुहेणं बहुसिण्णजुत्तो ।
खिप्पं करित्ता सयलं कहइ,
ममेयमाणत्तियमेत्थमासु ॥ १९० ॥
तह त्ति एवं विणउत्तमंगो,
पवज्जिउ एति स (म) यम्मि सिबे ।
तओ सुसेणाहिवई महप्पा,
महाबले भारहखित्तखाए ॥ १९१ ॥
महाजसे लक्खणलक्खियंगे,
मिलक्खुभास व्व सुचारुभासी ।
वियाणए भारहनिक्खुडाणं,
निन्नाण दुग्गाण दुरासयाणं ॥ १९२ ॥
कलाऽऽलए सत्थपवित्थरं तु,
सेणावई तो रयणे पहिट्ठे ।
सहिउ माडंबिकुडुंबिलोए,
आणत्तिय देइ अहेह सिग्घं ॥ १९३ ॥
सज्जेह सारं जयवारणम्मि
सेन्न समत्थ गयहंसणाई ।
दाऊण माणत्तिय किंकराणं,

* अट्ठाहियं चारु करेइ खिप्पं,
मणोहरालंकरणेहिं जुत्तं ॥ १७६ ॥

सयं गओ मउवणगेहमज्झ ॥ १६४ ॥
पहाणगिहाओ पडिणिक्खमित्ता,
सामनमाईहऽणुगम्ममाणे ।
पहाणमायंगसुखवरूढो,
पयाइ सिंधु सबलो बलिट्ठो ॥ १६५ ॥
कमेण पत्तो रयणं पहाण,
चम्मं करेण परिसंफुसेइ ।
जं नामभूयं सलिले समुद्दे,
अकयवित्थारविभूसियं तु ॥ १६६ ॥
धन्नाण सव्वाण वि ठावियाणं,
निप्फत्तिहेऊ य दिणेसमज्झे ।
तो पक्खिवे सिंधुनईए मज्झे,
तं वित्थरे बारस जोयणाइ ॥ १६७ ॥
सेन्नं समारोविय तत्थ सव्वं,
सुहं सुहेणं तु नईतरि व्व ।
गामागरावासविहाररम्मं,
मडंबसंबाहसुकोट्टकिण्णं ॥ १६८ ॥
सुसिंहले बब्बर मणीगणेहिं,
सुअं च लाए परमं च रम्मं ।
पहाणमन्नं जवणं व दीवं,
विचित्तनाणामणिहेमकोसं ॥ १६९ ॥
सुयारवेलोमकएलसंडे,
दीवाहिवासी धरनिक्खुडे य ।
कलामुहे जोयणए पयंडे,
अन्ने य धेयच्छुम्मि उत्तराउ ॥ २०० ॥
मेच्छाण जाइ बहुयप्पयार,
चरेण जा सिंधुससागरंतं ।
सव्वं च गच्छ अह ओयवेउ,
सेणाहिवो पाऽखलियप्पयाओ ॥ २०१ ॥
मणोहरे तो य निउत्तिऊण,
बहूसहे भूरमणिज्जभागे ।
तस्सेव गच्छस्स ठिओ पहिट्ठे,
ताहे बहूदेसगणाण दिट्ठा ॥ २०२ ॥
जयट्ठणाणं वरमडलाणं,
खेडाण दोणीमुहआगराणं ।
ते घेत्तु नाणामणिभूसणाइं,
दिव्वाइं अग्घाइं सुपाहुडाइं ॥ २०३ ॥
वत्थाइ नाणारयणाइ चित्त,
ग्घाइ मायगहयाइं सार ।
रायारिहं जं च पवज्जियव्वं,
अन्नं च तं से उवणिंति तस्स ॥ २०४ ॥
कयंजलीओ पुण विन्नविंति,
तुम्हऽत्थ अम्हाण सुसामिय त्ति ।
नेया पहू देव इव प्पणिज्जा,
तुम्हाण अम्हे विसओवभोगी ॥ २०५ ॥
एवं भणता हियए पहिट्ठा,
सम्माणिउ सेणहिवेण सव्वे ।
सएसु गामेसु गयाउ मुक्का,
ताहे सयं घेत्तु सपाहुडाइ ॥ २०६ ॥
अहीणआणीऽखलियप्पयारा,
ठाणे तओ सिन्नसमत्थजुत्तो ।
सुहं सुहेण नरनाहपासे,
पच्चप्पिणाई सयलं तु रिद्धिं ॥ २०७ ॥
पच्चत्तियाण नरनाहसेवा--
पडिच्छगण साहइ भत्तिजुत्तो ।
बहुप्पयारं भरहाहिवेणं,
विसज्जिओ पूइउ नेहसारं ॥ २०८ ॥
तओ सठाणे वरसेन्ननेया,
गंतूण पासायवरीवरिम्मि ।
बत्तीसबद्धाइ सुनाडयाइ,
लीलाए पेच्छं च सओवभुंजे ॥ २०९ ॥
ततो पुणो चक्किकसुसेणनाम-
सेणावइ सहिउ आणवेइ ।
गच्छाहि खिप्पं तिमिसगुहाए,
चारुकवाडं य विहाडएह ॥ २१० ॥
तह त्ति आण पडिवज्जिऊण,
गंतुं सयं पासहमंदिरम्मि ।
निक्खित्तु सत्थेउ सुसंथरम्मि,
ठाउं तओ कासि मुणि व्व संती ॥ २११ ॥
तयंतिए पोसहमंदिराओ-
ऽभिनिक्खमित्ता सुहएहाणरत्तो ।
कप्पूरधूवागुरुगंधपुप्फ-
हत्थेसु चेडीगणगम्ममाणो ॥ २१२ ॥
जत्थ कवाडे अह तेण गतुं
महाविभूईए नरीसरो व्व ।
चक्कस्स वा कट्ट महामहं तु,
दंडाभिहं तो रयणं पगिण्हे ॥ २१३ ॥
ज वासतुल्लं वयरामयं ति,
विणासणं सत्तुगणाण कंतं ।
सेन्नस्सुहो गड्डदरीपवाय-
पब्भारडोलागसमीकर व ॥ २१४ ॥
सुहं च संतिं च हियं मणित्थं,
मणोहराण करणं पसत्थं ।
पच्चोसक्कित्ता य पसत्थ सत्त,
ओहाडए ते य कवाडए उ ॥ २१५ ॥
कुंचारवं चारुमहासरेण,
नरस्सरासारव कुणंते ।
सयाइं ठाणाइं ठिए कवाडे,
एय कहेई नरहाहिवस्स ॥ २१६ ॥
चक्की च हत्थीवरखंधरूढो,
मणि च संगिण्हिउ आमुसेइ ।
रूवाहिए अगुल निम्मि माण,
अणग्घयत्तं सुबलं सयं च ॥ २१७ ॥
अणोवमाभं मणिवेरुलीयं,
दिव्वं सया सव्वजियाण कंतं ।
मुद्धागयं जं सयलं पि दुक्खं,
हरेइ आरोगकरं सया वि ॥ २१८ ॥
तेरिच्छिया दिव्वमणुस्सया वि,

न किंचि दुक्खं उवसग्गया वि ।
करंति सव्वं समरे वि नूणं,
असत्थमज्झे हवई सया वि ॥ २१६ ॥
मणिं पहाणं रयणं धरंतो,
अवट्ठिओ जोव्वणकेसरोमो ।
न होइ होई भयवंवगुत्तो,
घेत्तूण हत्थेण नराहिवो तं ॥ २२० ॥
गयस्स कुंभीए उ दाहिणाए,
खिविउ सार भरहो नरिंदो ।
हारऽद्धहारप्पविरायवच्छो,
सुराहिरायस्समरिद्धिजुत्तो ॥ २२१ ॥
उज्जोइयाऽऽसो य मणिप्पहाए,
चक्काणुमग्गेण पयाइ दित्तो ।
रायासहस्सेहिंऽणुजायमग्गो,
समत्थसेणाणुयओ विसाओ ॥ २२२ ॥
उक्किट्ठिवंदीजयसिंहनाय—
झंकारभेरीरवपूरियाऽऽसो ।
अईइ दारेण उ दक्खिणेणं,
महज्जुई से तिमिसंगुहाए ॥ २२३ ॥
पमाणओ से चउरंगुलं जं,
विसाघहारी परमं पगिट्ठ ।
उज्जोयई बारस जोयणाइं,
चंदो व राईए समत्थसेन्नं ॥ २२४ ॥
न तत्थ सूरो न ससी न अग्गी,
पणासई मे तिमिसंधयारं ।
तं कामिणी दिव्वजुई गहाय,
पुव्विल्लपच्छिल्लयसेत्रयस्स ॥ २२५ ॥
पगासहेउ तिमिसग्गुहाए,
पगूणपण्णासमुमंडलाइं ।
आयामविक्खंभपमाणएण,
घणूण पचस्स य माणयाणि ॥ २२६ ॥
सुकोसई चंदसमे य चक्के,
सुचक्कनेमिस्समसव्वभावो ।
सुभित्तिपज्जोयण अंतरे य,
देविप्पमाणे लहुसु प्पवित्तो ॥ २२७ ॥
सलाहमाणे हलिहेयमाणे,
सुहं सुहेण विसई पविट्ठे ।
जा चक्कवट्टी वरमंडलाइं,
तहेव चिट्ठंति गुहासया वि ॥ २२८ ॥
आलोयउज्जोयजुओ गुहा सा,
जाया पभावेण सुमंडलाणं ।
तीसे गुहाए बहुमज्झदेसे,
जलाउ उम्मग्गनिमग्ग अत्थि ॥ २२९ ॥
तिण्णं व कट्ठं गयअस्सजोहं,
पहाणमाई पढमा तलम्मि ।
पढेइ बीयाउ तलम्मि नेइ,
तो दो वि पुव्विल्लयनिक्खुडाओ ॥ २३० ॥
गया उ जा सिंधुनई समुद्दे,
तेसिंतरिट्ठो पकरेइ दिट्ठो ।
सुवट्टई दक्खमई कलत्तं,
सुसोयवध अचलं अकंपं ॥ २३१ ॥
अणेगखंभूसियचारुरम्म,
सुहप्पवेस सुहनिग्गमं च ।
आएसओ चक्किवरस्स तत्तो,
मिघूए पुव्विल्लवडेण तेहिं ॥ २३२ ॥
सुसंकमेहिं अह उत्तरेणं,
कमेण पतस्स अहुत्तरे वि ।
कुंचारवं चारुसर करंते,
ठिए सठाणे सुवरक्कवाडे ॥ २३३ ॥
तत्तो ससेनो परिनीहरेइ,
अत्रोडिया उत्तरभारहम्मि ।
चिलाइया तेसु पयडदंडा,
अड्ढा य दित्ता धणधन्नजुत्ता ॥ २३४ ॥
सुवण्णमाणिक्कहिरण्णपुण्णा,
विसिथनपासायविसालसेन्ना ।
विसालसेज्जासणजाणजुग्गा,
उइन्नजोहा हयवाहणड्ढा ॥ २३५ ॥
सुदंसणा सिंधुपवारसारा,
गवेलहाम्भोभयसत्तसारा ।
सूरा दढा वीरपक्कमा य,
अणेगसंगामसएसु लद्धा ॥ २३६ ॥
माहप्पविक्खायजसा दुजोहा,
तओ य तेसिं विसए पविट्ठे ।
बलं करे चक्किवतणु सयाइ,
उव्वट्ठ ठाण अवलोइऊण ॥ २३७ ॥
झायंति चिंतोवगया भणंति,
क एस अप्पत्थियपत्थए सो ।
निहीण पुन्ने य हुरतपंते,
अलक्खणे कालकयंतगामी ॥ २३८ ॥
एवंविहोपद्दवकारि अम्हं,
अनन्ननाणोवणना य नत्थ ।
सव्वे गआ मे मिलिया चिलाया,
पासित्तु एव रुसिया भणंति ॥ २३९ ॥
जहा न आगच्छइ एस भूओ,
तहा पयत्तं करिमो ससेन्ना ।
अग्गाणि एनो पहरंति झत्ति,
वाएण मेहब्भवय व सिन्नं ॥ २४० ॥
दिसे दिसिं चक्कतणं तु नीय,
तओ सुसेण रयणे अइस्से ।
चडेइ खग्गं रयणं गहित्तु,
चिलाइए ता सइ आसुरुत्ते ॥ २४१ ॥
भीया पलाइत्तु पहारभग्गा,
उव्विग्गदीणा विमणा अथामा ।
गया सई सिंधुतडे विसाले,
मिलित्तु सव्वेगपए पसत्थे ॥ २४२ ॥
सुवालुगासंथरए रुहति,
पगिण्हिउ अट्ठमभत्तियं तु ।
उत्ताणगा अंबरचीरधारी,
मेहामुहाणं कुलदेवयाणं ॥ २४३ ॥

कुणंति ते नाडगसंतचित्ता,
तेसिं सुराणं अह अट्ठमंते ।
चलंति सिंहासणए विसाले,
नाणेण नाउं अह अंबरत्था ॥ २४४ ॥
भणंति वाहासु करेसु किं पि,
तओ य ते हिट्ठमणसुहा य ।
अप्पए वद्धाविउ दाउ आसं,
सिरंजलिं कट्टु भणंति के से ॥ २४५ ॥
अम्हाण देसे वि सई दुरप्पा,
ता तं निवारेह जहा तहा भो ।
पुणो समागच्छइ दुट्ठचित्तो,
एवं सुणेत्ता कुलदेवयाए ॥ २४६ ॥
भणंति एसो भरहो सुराणं,
न एस सत्थस्स विसस्स सज्झो ।
न एस अग्गीए हिमाण डज्झो,
न एस मंताण व तंतगज्झो ॥ २४७ ॥
सुणेह भो देवपिया ! महप्पा,
सुचक्कवट्टी भरहेसराया ।
ण एस सक्का पुरिसत्तणेण,
णिवारिउं केण व पाणिणत्थ ॥ २४८ ॥
तहा वि तुम्हाणुनरोहओ से,
करेस्सगुवसग्ग महामहंतं ।
एवं भणित्ता य तयंतियाओ,
गच्छंति उप्पं कडगस्स झत्ति ॥ २४९ ॥
कुणंति वासं मुसलप्पमाणं,
मुट्ठिप्पमाणं जलधाराहिं ।
बहलंधयारं घणवायजुत्तं,
सुभीसणं कालकयंतसुल्लं ॥ २५० ॥
ते सत्तरत्तं भरहो तओ से,
परामुसे चम्मरयणं पणिट्ठं ।
पवित्थरे बारह जोयणाइं,
ठियाइ किची परमं पहेयं ॥ २५१ ॥
ससिन्नए तत्थ ठविंतु राया,
परामुसे छत्तरयणं विसालं ।
पवित्थरे चम्म व तं पि उप्पिं,
मणी ठवेइ अह मज्झभागे ॥ २५२ ॥
अहो य चम्म उवरिं च छत्तं,
मज्झे मणिं जोइयसव्वसेसं ।
न तत्थ रागो न भयं न वाही,
सनेवजुत्तस्स नरीसरस्स ॥ २५३ ॥
सव्वाणि धन्नाणि रुहंति तत्थ,
सव्वाइ सागाइ हवंति खिप्पं ।
पुव्वण्हकाले उववेति साली,
मज्झण्हकाले पविसंति लोया ॥ २५४ ॥
न तत्थ राई न दिणं न चंदो
नक्खत्तमाला न गहा न सूरो ।
समुव्वयं सव्वजयं पि जायं,
भएण हीणं सुहसंतिजुत्तं ॥ २५५ ॥
तओ पभिं चेमपुराणगं तं,
सुहं सुहेणं अह सत्तरत्तो ।
जा चिट्ठई तो अभिओगदेवा,
चिंतंति पयाए महाजुईए ॥ २५६ ॥
हट्ठीए दित्तीए पराए रुट्ठो,
सुचक्कवट्टिस्स महामहाए ।
सद्धाए पत्ताए समागयाए,
विवट्टमाणस्स वि देवकम्मा ॥ २५७ ॥
करेंति एवं भरहेसरस्स,
पच्चक्खमत्ताण पराभवं तु ।
पेहितु एवं दस कुम्मइस्स—,
देवाण संवच्छसुवच्छकच्छा ॥ २५८ ॥
नाणाउहा वम्मियदेहधारी,
समा...या नागकुमारपासे ।
भईसु एवं जइ भो न कि वा,
तुब्भे वियाणे अह एस चक्की ॥ २५९ ॥
जाओ महप्पा भरहे विसाले,
विक्खायकित्ती नरदेवमज्झे ।
आणावहा जस्स नरा सुरा वि,
कयं सदेवं भरहं समत्थं ॥ २६० ॥
सयाणव जेण वसे स तुब्भे.
न यावहा कीस खली करेत्ता ।
एवं गए वी पडिसहरेह,
एवं भणिज्ञा जइ किं न सिट्ठं ॥ २६१ ॥
दिव्वोवसग्गं पसमेह खिप्पं,
णो चेव णं पासइ जीवलोयं ।
अज्जेव चित्तं न भवेइ पच्छा,
तुज्झे नओ वं पसमित्तु सव्वं ॥ २६२ ॥
गच्छंति आवाडचिलायपासे,
कहितु तेसिं पि जहा पवित्तं ।
भणंति ता गच्छह गहायगत्ता,
अग्गाइ अग्घाइँ गहाय खिप्पं ॥ २६३ ॥
अन्नं पि जं सारतरं हयाइ,
माणिक्कमुत्तामणिधंसणाई ।
कयंजली सीसकयप्पणामा,
उवेह सामिं भरहं नरीसं ॥ २६४ ॥
न उत्तमा दीणजणम्मि पालु
कुणंति वाहं सरणाऽऽगयाण ।
जहाऽऽगया तं पि गया भणितु,
एवं सुरा तो कुलदेवया ते ॥ २६५ ॥
तहा करित्ता सयलं चिलाया,
पासम्मि गंतुं भरहस्स रन्नो ।
खमाहि णे नायमिणं चिराउ,
तुमं तु नेया भरहस्स अहो ॥ २६६ ॥
चक्काइरज्जप्पमुहाण सामी,
वड्ढिम्मएइ रयणाण दित्तो ।
तुम्हाण अम्हे सरणं पवन्ना,
कया वि एवं न पुणो करिस्सं ॥ २६७ ॥

तओ पडिच्छित्तु नदीसरेण
ममाणुभावाउ न भाइयव्वं ।
सम्माणिउं संगलमेहसारं,
विसज्जिया कुप्पमिणं सुवक्कं ॥ २६८ ॥
सेणाहिवो पुव्वकमेण अंडं,
मनिवत्तुं सिंधुसमागरत्तं ।
पच्छिमय साहिउ पइ पासे,
रण्णो सयं भुंजइ भोय लो(भो)ए ॥ २६९ ॥
अइक्कया चक्कधरक्कयाइं,
पुव्वुम्मुहे खुल्लहिमाचलस्स ।
नितंबभाए अह दक्खिणम्मि,
आवडुमंतस्स कए करेवि ॥ २७० ॥
तयंसिए सोमदिणाए जाइ,
उप्पायगं गव्वयतो निखुत्तो ।
फुसेइ सीसेण रहस्स पच्छा,
हुए निमिविड्ढु खिवेइ उप्पि ॥ २७१ ॥
सरं वरं गंतु विसज्जरिं च,
सो जोयणाण गिरिनायगस्स ।
गेहस्स मेराइ पडेइ भ त्ति,
पुव्वक्कमालोयसएइ सिग्घं ॥ २७२ ॥
तं चेव सव्वं अह उत्तरिल्लो,
दिसाहिव देवपियाण भत्ते ।
सव्वोसहिं देइ य चंदणं च,
त चेव सेसं अह इ कूडे ॥ २७३ ॥
रहम्मि रूढो उसहाचलम्मि,
तो तं तिक्खुत्तो फुसई रहेण ।
रहं ठवित्ता अह कागणीए,
सनामगं पुव्वतडे लिहेइ ॥ २७४ ॥
उस्सप्पिणीए तइयारगस्स,
इमाएँ भागे अह पच्छिमम्मि ।
स चक्कवट्टी पढमो नरीसो,
नामेण एत्थ भरहो अहं तु ॥ २७५ ॥
तओ रहं वालिय खंधवारं,
सयं समागम्म तहेव सेसा ।
समेति जुद्धो गिरिनायगस्स,
देवच्छणा चक्कधरं पयाइ ॥ २७६ ॥
वेयड्डुसं अह दक्खिणाए,
दिसाएँ आगतु महामहेण ॥ × ॥
वेयड्ढवासी विणमी नमिम्मि,
जा कड्ढ विज्जाहरलोयनेयं ।
भत्तट्ठमं पोसहमंदिरम्मि,
तयावसाणे विनमी नरिंदे ॥ २७७ ॥
गुत्तोइए दिव्वमई पइट्ठे,
जीयं ति काउ नरविग्गुत्ते ।
सिग्घं समागच्छइ घेत्तु अग्घं,
पमाणमाणज्जयते य गेहं ॥ २७८ ॥
रुवाहिवं लक्खणलक्खियक्कं,
पवट्टियं जोवणजोएँ मिक्कं ।
सिंगारआगारसुचारुवेसं,
लायण्णलीलाऽलसचारुगत्तं ॥ २७९ ॥
चंदाणणं नीरयपत्तनेत्तं,
कामालयं सव्वसुहाणखेत्तं ।
मणोण्णगं भाग्गयीपवित्तं,
समिच्छियं से नमिखेयरिंदो ॥ २८० ॥
गहाय नाणामणिअंवरत्थो,
जएण वद्धाविउ दो वि ते य ।
भणंति अम्हे भवउव्वसम्मि,
भणंति अम्हे अह * वासराइं ॥ २८१ ॥
* गयाइँ जायं समरं महंतं,
तयंतिए तो अबला अथामा ।
केई करे अट्ठमभत्तमंतो,
घाणं अलंकारियमंडणस्स ॥ २८२ ॥
अण्णं तहा जा महिमं करेमि,
अह अण्णया सेणवई भणाइ ।
साहेह गंगापुरनिक्खुडं सो,
एव त्ति सिंधूएँ गमेण सव्वं ॥ २८३ ॥
पसाहिउं एइ नरीसरस्स,
पासे निवेइत्तु हिओवइट्ठ ।
पच्छा पलोलाएँ सिहाएँ दित्तो,
सिहि व्व दित्तीएँ विराजमाणो ॥ २८४ ॥
गंगासमं भुंजइ भोयभोए,
तओ समेगं वरिसाण पुण्णं ।
पहिट्ठचित्तो भरहो नरीसो,
सह इए सव्वगुणोववेए ॥ २८५ ॥
अहण्णया चक्कहरो भणाई,
सुसेणनाम कडगस्स सामिं ।
खंडप्पवायारकवाडए उ-
ग्घाडेह पुव्विल्लकमेण भ त्ति २८६ ॥
तह त्ति पुव्विल्लकमेण कट्टु,
तहा जहा से तिमिसंगुहाए ।
उग्घाडियं तो कहए निवस्स,
ससेणए जो विसई तहेव ॥ २८७ ॥
तहेव सव्वं नवर विसेसो,
एसो जहा पच्छतडाउ तुत्तो ।
गया उ गंगावइसागरम्मि,
विसेइ खेत्ते ठइ दक्खिणिल्ले ॥ २८८ ॥
ससि व्व मेहम्मवयानि गंतुं,
गंगानईपच्छिमकूलदेसे ।
ठाउं ससेणो निहिलाभहेउं
पगिण्हई पोसहमट्ठमं पि ॥ २८९ ॥
सदेवया तो य नवन्निहाणा,
माणिक्कमुत्तामणिहेमपुण्णा ।
सदेवलोमाणयाणयहा जे
उवेंति पुण्णोवचया तयंते ॥ २९० ॥
नामाइँ तेसाण निहीण एए,
पुव्वप्पवूढ गंथविवसियाई ।
जं जत्थ भण्णो तह तं नहेय,

* दिसाण, * जाताणं

कहेमि गाहाहिं ठियाहिं गच्छे ॥ २६१ ॥
तेसिं सरूवं च सुठाणगाइं,
तन्नायमाणं ·············(?) ।
सव्वं पि आवस्सगचुन्निमज्झे,
तह ट्ठियाइं च जहोवइट्ठं ॥ २६२ ॥
नेसप्पे १, पंडुयए २,
पिंगलए ३, सव्वरयण ४, महपउमे ५ ।
काले य ६, महाकाले ७,
माणवगे ८, महानिही संखे ६, ॥ २६३ ॥
नेसप्पम्मि निवेसा,
गामागरनगरपट्टणाणं च ।
दोणमुहमडंबाणं,
खंधावारावणगिहाणं ( १ ) ॥ २६४ ॥
गणियस्स य उप्पत्ती,
माणुम्माणस्स जं पमाणं च ।
धन्नस्स य बीयाण य,
निप्फत्ती पंडुए भणिया ( २ ) ॥ २६५ ॥
सव्वा आभरणविही,
पुरिसाणं जा य होइ महिलाणं ।
आसाण य हत्थीण य,
पिंगलगनिहिम्मि सा भणिया (३) ॥ २६६ ॥
रयणाइँ सव्वरयणे,
चउदस वि वराइँ चक्कवट्टिस्स ।
उप्पज्जंते एगिं—
दियाइँ पंचिंदियाइं च (४) ॥ २६७ ॥
वत्थाण य उप्पत्ती,
निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं ।
रंगाण य धोव्वाण य,
सव्वा एसा महापउमे (५) ॥ २६८ ॥
काले कालणाणं,
सव्वपुराणं च तिसु वि वंसेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि य,
तिन्नि पयाए हियकराणि (६) ॥ २६६ ॥
लोहस्स य उप्पत्ती,
होइ महाकाले आगराणं च ।
रुप्पस्स सुवन्नस्स य,
मणिमुत्तिसिलप्पवालाणं ( ७ ) ॥ ३०० ॥
जोहाण य उप्पत्ती,
आभरणाणं च पहरणाणं च ।
सव्वा य जुद्धनीई,
माणवगे दंडनीई य ( ८ ) ॥ ३०१ ॥
नट्टविहि नाडगविही,
कव्वस्स य चउव्विहस्स उप्पत्ती ।
संखे महानिहिम्मी,
तुडियंगाणं च सव्वेसिं ( ६ ) ॥ ३०२ ॥
चक्कट्ठपइट्ठाणा,
अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभा ।
बारसदीहा मंजू-
ससंठिया जण्हवीइ मुहे (१०) ॥ ३०३ ॥
वेरुलियमणिकवाडा,
कनकमया विविहरयणपडिपुन्ना ।
ससिसूरचक्कलक्खण,
अणुसमवयणोववत्ती या ॥ ३०४ ॥
पलिओवमट्ठिईया,
निहिसिरिनामा य तेसु खलु देवा ।
जेसिं ते आवासा,
अक्केज्जा आहिवच्चा य ( ११ ) ॥ ३०५ ॥
एए ते नव निहिरयणा,
पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा ।
जे वसमुवगच्छंती,
भरहाहिवचक्कवट्टीणं ( १२ ) ॥ ३०६ ॥
तेसिं निहाणेण महं तहेव,
तयंतिए सेसवई भणाइ ।
गिण्हाहि गंगानइनिक्खुडे वि,
पुव्विल्लए सिंधुनइक्कमेण ॥ ३०७ ॥
तहेव सव्वं पकरित्तु एइ,
जा सव्वमग्गे पडिअप्पईहु ।
सक्कारसम्माणकमेण मुक्को,
सयं च जा भुंजइ भोयभोए ॥ ३०८ ॥
अह ऽन्नया दक्खिणपच्छिमिल्ले,
दिसाएँ मागम्मि पयाइ चक्कं ।
विणीयमामज्ज सरायहाणिं,
नहंगणाऽऽरूढपहं पवत्तं ॥ ३०९ ॥
तत्ताउ राया वि पहट्ठचित्तो,
कोडुम्बिए सद्दिउ आणवेइ ।
सज्जेह भो ! वारणरायभूयं,
हत्थिं मनेसं सबलं सजोहं ॥ ३१० ॥
तओ सयं मज्जणगेहमासु,
विसित्तु न्हाउं सुहसुद्धगत्तो ।
अलंकिओ भूमियमज्झगत्तो,
सुकप्परुक्खं पि व सव्वइट्ठो ॥ ३११ ॥
मणोहरो सव्वजणव्वयारी,
इदो व एरावणमत्थयत्थो ।
सव्वाइ इड्ढीएँ जुईएँ जुत्तो,
चक्काणुमग्गं अणुजाइ जाव ॥ ३१२ ॥
सेट्ठीसहस्सेहिँ पसाहिऊण,
वासाण सव्वं भरहं समिद्धो ।
निहीहिँ सेणारयणेहिँ राय-
सहस्सबत्तीसपमाणएहिँ ॥ ३१३ ॥
तेएण रम्मो पुरओ पविट्ठे,
अट्ठट्ठए दप्पणमंगलाइं ।
तो कुंभभिंगारकयाइछत्ते,
चक्काइए तो निहिणो महंते ॥ ३१४
तो सोलसे देवसहस्सए य,
बत्तीसरायाण सहस्सए य ।
कमेण तो सेवग्गं पविट्ठे,
गाहावई दुब्बुरोहियं च ॥ ३१५ ॥
बत्तीसकल्लाणउदुस्सहस्से,
तोसिंति कल्लाणिअणगयाणं ।

ते चेव छत्तीसनिबद्धनाहा,
तयंतरा तिन्नि सए ससट्ठे ॥ ३१६ ॥
सूयारयाणं परमाण दिट्ठो,
अट्ठारसं सेणिपसेणिओ ।
लक्खे चुलस्सी हयमाइयाणं,
तो कोडिओ छन्नवई नराणं ॥ ३१७ ॥
अन्ने य राईसरसत्थवाह-
माडंबिकोडुंबिनरे बहू य ।
सुसंडिखग्गद्धणुदंडहत्थ-
मयासगारेहिँ सवेसराहिं ॥३१८॥
सचिंधमालाधयधारएहिं,
बहूहिं लोएहणुगम्ममाणे ।
चक्काणुमग्गेण पयाइ राया,
एव सुरिंदोवमरिद्धिसारो ॥ ३१९ ॥
चसं मडंयाइसु अहादित्तो,
सुहं सुहेणं तु कमेण पत्तो ।
सुरायहाणीएँ विणीएँ बाहिं,
किच्चऽट्ठमं पोसहमाइ सव्वं ॥ ३२० ॥
जा देवनाहोऽत्थ गइंदरूढो,
ससिप्पभा सव्वबलोववेओ ।
भोत्तुं निहीमिच्चचओ पविट्ठो,
विसेइ जा तं तु सरायहाणिं ॥ ३२१ ॥
विणीयनामं अमरा पविट्ठा,
कुणंति ते सव्वपएसरम्मं ।
सिन्नोवसिन्नोसियचिंधमालं,
निसम्म रायं नगरं विसंतं ॥ ३२२ ॥
नारीनराणं बहवे सहस्सा,
सकोउगा बद्धजवा समागया ।
छुट्टंतकेसव्वयतुट्टहारा
आबद्धखग्गाउ गलंतगत्ता ॥ ३२३ ॥
चलंतगंडाऽऽहयकुंडलंता,
पीणत्थणंदोलिरतुट्टहारा ।
रहसंतओ सत्तरचारुदेहा,
अणुत्तरीया अचला अहन्ना ॥ ३२४ ॥
अकुंडलाऽऽंडियगंडदेसा,
विलुत्तमुत्ता रसणा निगग्गा ।
अखंडितपीणत्थणदंसियस्स,
अछूढवाहेगम्मियंसकंचू ॥ ३२५ ॥
सनूपुरग्गक्कयपायचारु,
चंचच्चलंतूरविखित्तवच्छा ।
ससद्धरंती बसणाइ रम्मा,
विलोलदिट्ठी वमणऽद्धहारा ॥ ३२६ ॥
चलंति घरंगंति वलंति केई,
खलंति उट्ठंति पडंति केई ।
हसंति रुभंति भणंति केई,
मे मुंच मग्गं सर ओसराहि ॥ ३२७ ॥
सखे ! सखे ! केसयथं इम ते,
सखे ! सखे ! रोयइ डिंभमेयं ।
सखे ! सखे ! गिन्हइ केयमेयं,
सखे ! सखे ! पस्स निवं वयतं ॥ ३२८ ॥
एवं जणे आउलआउलेया,
मिसं चरंते य पहे बएसु ।
जायं असंचारमिणं सयाहिं,
गेहं गिहाओ नयरं समत्तं ॥ ३२९ ॥
एवंविहे तोरणमालसोहे,
मंचाइमंचक्कलिए जणेहिं ।
पासायमालावणवीहिवच्छ-
लिगामरूडण्णहुलोयसोहे ॥ ३३० ॥
सुरिंदपालोपमरिद्धिसार,
पविस्समाणस्स पुरस्स रण्णो ।
अच्छुच्छिया कामुयरूपरिद्धी,
विलोयमाणं मुहए त्थऽलाया ॥ ३३१ ॥
अमत्त खंधागयबाहुदेहा,
अमत्तदायंतभिरामवच्छ ।
अमत्तवत्थुट्ठियवंचलक्खा,
अमत्त दायंतमणोभिरामा ॥ ३३२ ॥
अहो अहो संदणजोहुजोहा,
अहो गयारूढनरिंदसोहा ।
अहो सुवेसो नरनाहु एसो,
अहो सुकेसो य इमो नरीसो ॥ ३३३ ॥
अहो इमं चिंधवरं अपुव्वं,
अहो इमं जाणवरं अपुव्वं ।
अहो इमा संजइया अपुव्वा,
अहो इमा वेसहिया अपुव्वा ॥ ३३४ ॥
भणंति तं राय ! चिरं चियाहि,
भणंति तं राय ! जयं जिणाहि ।
भणंति तं राय ! सुही भवाहि,
भणंति तं राय ! अरी हणाहि ॥ ३३५ ॥
केई भणंती पयरा म माया,
ज ओ जए एस कुलप्पईवो ।
पुत्तो वरो भारहखित्तसामी,
सुरासुराई वढसत्तसारो ॥ ३३६ ॥
अन्नाऽवला रूवविमोहियप्पा,
धन्ना जए एस सयं सनक्खू ।
मिलक्खुग्गामक्खिसविढव्वदिक्खा
गुरू गह कामि करस्स कंतो ॥ ३३७ ॥
सुहस्ससहस्स जुवथुव्वमाणो,
अग्गंजलीओ य पडिच्छमाणो ।
दायजमाणे सप्पसंगुलीहिं,
उवरिज्जमाण नयणंजलीहिं ॥ ३३८ ॥
सुविद्धनारीगणधिक्कविंदा,
आसीसगाबारवपुमकन्नो ।
चंचच्चलच्चीयरचारुपंत-
वज्झयमाणो नयणाभिरामो ॥ ३३९ ॥
इमो तओ चंचलाक्खित्तदिट्ठी,
जयजयारायवरे सुणंतो ।
सुरिंदनाहो व्व विणीए मज्झ,

मज्जणेण सव्वड्डिबलेणवयेणो ॥ ३४० ॥
एवं महाऽड्डिपवित्थरेण,
कमं कमेणं अ पंगणम्मि ।
पत्तो सयं तो परिपूइऊण,
विसज्जिया सेसनरीसदेवा ॥ ३४१ ॥
वीणावुपइं सुयदेयवूल-
उज्जोयसोहाविलसव्वदेसो ।
विचित्तचिंचिसुभत्तिचित्ते,
चवलूभिरामे भवणोऽभिकंतो । ३४२ ॥
माणिक्कमुत्तामणिपुप्फपुंजो-
वयारजुत्ते धयचिंधचित्ते ।
सुपुण्णपुण्णे कलसोवसोहे,
सुवंदणामालकओवयारे ॥ ३४३ ॥
सुरिंदगेहोवमगेहसारे,
चित्ते य पासायवरे विसाले ।
अतेउरं बंधवनायवग्गं,
विसज्जिउं ण्हाणघरं विसित्तु ॥ ३४४ ॥
ण्हाए सयं चंदणलित्तगत्ते,
पवित्तवच्छंसि पसत्थवत्ते ।
चित्तोवयारं जिणनाथगस्स,
भत्तीए पुप्फाइ फलाइएहिं ॥ ३४५ ॥
भुंजेइ तो बंधवनाइवग्गा-
समन्निओऽऽहारमऊवयेयं ।
स मोयणं वंजणभक्खभुज्ज-
नाणारसड्ढं बहुभत्तिचित्तं ॥ ३४६ ॥
भुत्वा सुहासेज्ज खणं करित्तु,
बत्तीसबद्धाइँ सुनाडयाइं ।
पासायमारायविरूढमित्त-
सणाइबंधूजणएऽहरम्मे ॥ ३४७
सुहं सुहेणत्थइ वेहमाणे,
लीलाएँ जा चक्किरके वि राया ।
अहन्नया देवनरीसराया,
रायाभिसेयं कुणिमो भणंति ॥ ३४८ ॥
सो पोमहं कासि स अट्ठमंते
नयाववसाणम्मि सुराभिओगा ।
तेहिं तओ कासि महामहंतं,
सुमंडवं पीढवरं तयंते ॥ ३४९ ॥
वज्जिंदसारामललोहियक्ख—
माणिक्कमुत्ताइलचित्तरम्मं ।
सिंहासणं तस्सुवरिं विसाल ,
पमाइ सव्व पकारेसु देवा ॥ ३५० ॥
ईसाणभागे तिदिसिं सुपाण ,
परंपरागइयसुद्धरम्मे ।
कओ तए पोसहगेहमज्झ ,
विणीहरे पुव्वकमेण जाव ॥ ३५१ ॥
ण्हाओ सुई सिंधुररायरूढो .
सो राएराईसरमाइजुत्तो ।
विणीहरित्ता वरमंडवत्ति ,
पुव्विल्लसोपाणपरंपराया ॥ ३५२ ॥
पयाहिणीकट्टु रुहित्तु पच्छा ,
निसीयई पुव्वमुहो विसालो ।
सिंहासणे तो नरनाह मज्झे
रुहंति सोपाणि अदुत्तरेण ॥ ३५३ ॥
सेणावईय्यड्डरसत्थवाह .
पमाइया इंति महेव तूणं ।
रुहंति भागेण उ दाहिणेण .
महासिंहं तो अभिओगदेवा ॥ ३५४ ॥
रायाभिसेयं पवरं विमाल.
उवक्खडिंता पकरिंति हिट्ठा ।
पसत्थनक्खत्तमुहुत्तवार,
तिहिं तिसारे करणे सुजोए ॥ ३५५ ॥
आईएँ बत्तीस नरीसराणां,
सहस्सया चारु करेंति रम्मं ।
तो सेणावइमाऽऽसुरावसाणा,
भणंति जा देव ! चिरं जियाहि ॥ ३५६ ॥
निव्वत्तिउं बारसवच्छरं तो,
रायाभिसेयं भरहेसरस्स ।
तओ अलंकत्ति सुभूसणेहिं,
सुकप्पवच्छं पि य रम्मदेहं ॥ ३५७ ॥
महामहे बारसवच्छरीए,
गए गइंदे रुहिउं ससेन्नो ।
महाविभूईएँ वहिकमवाओ,
चिसेइ मज्झं सि सुमंदवाओ ॥ ३५८ ॥
सम्माणियासेसनरीसदेवो,
विसज्जिओ बंधुजणस्समेओ ।
सुकम्मजम्मतरुवज्जिए,
भुंजेइ भोए विउले जहिच्छं ॥ ३५९ ॥
चक्कं सुछत्तं असिदंडए य.
गेहम्स सव्वाउहसालजाए ।
चम्मं मणिं कागणियं तयावि,
सिरी निहू णे भरहस्स रणो ॥ ३६० ॥
सुसेणगाहावइवड्डराय—
जाया विणीयाएँ पुरोहिओ य ।
गओ य वेयड्डनगस्स मूले,
सेणीएँ इत्थीरयणुत्तराए ॥ ३६१ ॥
चउद्दसण्ह रयणाहिंहीणं,
नवण्ह बावत्तरि सप्पुराण ।
सहस्सबत्तीस जणव्वयाणं,
कोडीण गामाण उ छन्नऊए ॥ ३६२ ॥
नवनऊ दोणमुहस्सहस्सा,
चालीसअट्ठाहिय पट्टणाणं ।
मडंवयाण चउवीससुन्ना,
सुकव्वडाण पि तहाऽऽगराण ॥ ३६३ ॥
सहस्सवीसं सयसोलसत्ते.
खेडाण संवाह चउद्दसत्ते ।
छक्खंतरद्दीवगयाहि पुन्ना,
पगूणपन्नाएँ कुरज्जयाणं ॥ ३६४ ॥
समुद्दसीमं हिमवंतमेरं,

छक्खंडयं भारहखेत्तमेयं ।
पालेइ पुव्वज्जियपुन्नभावा,
सारेइ एवं सयणे सबंधवे ॥ ३६५ ॥
दिट्ठा तओ, सुंदरि पंडुगंडा,
भणेइ रुट्ठो कि न मज्झ चिज्जे ।
अन्नं च इत्थीगयरूवसोहो,
जिणेरिसा पंडुररूयसोहा ॥ ३६६ ॥
कोडुंबिया भीयमणा भणंति,
अत्थिऽत्थ सामिस्स पयप्पसाया ।
सव्वं करे अंबिल तीहिणाओ,
सामिस्सगासम्मि वयाहिरूढा ॥ ३६७ ॥
तो मुक्करागो पभणे नरीसो,
मुक्काऽसि दिक्खं गह भोगभोए ।
भुंजाहि वा सुंदरि ! मे समाणं,
नमित्तु रायं पगेहइ दिक्खं ॥ ३६८ ॥
पेसेइ दूय अह भाउगाणं,
आणट्ठिया मज्झ करेह रज्जं ।
पुच्छामु तायं पभणंति दिग्नं,
रज्ज जिणेणं भवओ अहं पि ॥ ३६९ ॥
तं सो करेमो पभणेहि ताओ,
जं से तओ सामि ! कमं कमेणं ।
गामाणुगामं विहरं जिणिंदे,
समागओ पव्वयपव्वयम्मि ॥ ३६७० ॥
जिणागमं नाउ कुमारगा ते,
समागया सामिपयस्सगासे ।
वंदित्तु पाए जिणनायगस्स,
कहंति सव्वं भरहोवइट्ठं ॥ ३७१ ॥
अप्पेसु रज्जं पकरेसु तुब्भं,
कहेह णे ताय ! जमम्ह जोग्गा ।
निबं भुवं सव्वसुहप्पगिट्ठं,
सामी तओ संसयमोक्खसोक्खं ॥ ३७२ ॥
तेसिं विबोहट्ठ जिणो कहेइ,
दिट्ठंतमिंगालगदाहगस्स ।
जहा उ कोई पुरिसो अरन्ने,
गओ उ इंगालकएसु गिम्हे ॥ ३७२ ॥
अणेगभाणं भरिय गहाय,
तं तेण पीयं अह गिम्हकाला ।
परिस्समाऽऽयावपगिम्हभावा,
अइत्तिसालंघियसव्वदेहो ॥ ३७४ ॥
मुच्छावसा पीयजलो वि गेहे,
सए गओ चिंतइ कप्पणाए ।
पीआ समुद्दा नइकूववावी—
ऽवडे तडागे सरमाइए य ॥ ३७६ ॥
जुत्ताऽगडे दूर जले खिविजु,
तणाव पूलं जलपाणहेउं ।
सततित्ति मे होहिइ किंच नेहिं,
जीहाए साए पडियाए बिंदू ॥ ३७६ ॥
समुद्दतोयेण य जो न तित्तो,
नईय वावीसरसीसयाणं ।
सतिप्पिही किं न य होज्ज एहिं,
एओवमा माणुसकामभोगा ॥ ३७७ ॥
सिवोवमेऽणुत्तरवासिभोए,
अणेगकोडीकडओवमाणा ।
तित्ती न जाया जइ भुंजिऊण,
एएहिँ होही अह भो किमेच्छ ? ॥ ३७८ ॥
एए उ भोगा मणुयाण तुच्छा,
लहुस्सगा दुक्खकरा असारा ।
अणिच्चया से निरसावसाणा,
पुत्ताऽसुईए बहुके सहेऊ ॥ ३७९ ॥
एवंविहा धम्मकहाणुवच्चं,
सामी सयं साहइ बोहणत्थं ।
सुयाण अट्ठाणउईए तेसिं,
वेयालिया वक्खुऽयाणं (?) महंतं ॥ ३८० ॥
संबुज्झहा किण्ण भवंबुहातो,
असेसया सारभवे निबद्धा ।
जणा सया तेण य मोक्खकज्जे,
समुज्जया होहइ कज्जसज्जा ॥ ३८१ ॥
एकेण कोई दुह वा चऊहिं,
कुमारगा जा सयले पवुद्धा ।
विसं व रज्जं चइउं गाहिंसु,
पव्वज्ज सावज्जविवज्जण त्ति ॥ ३८२ ॥
सुया कया रज्जधुराय तेहिं,
पेसेइ तो बाहुबलिस्स दूयं ।
सो आसुरत्तो भरहं भणाई,
बाला हु ते तुब्भ कए असज्झा ॥ ३८३ ॥
ण दूयगा सामि ! जिणेण दिन्नं,
जुत्तं च जेट्ठस्स व तुब्भ हेउं ।
कणीयसाओ नियभाउगाणं,
रज्जं हरेउं अबलाण तेसिं ॥ ३८४ ॥
ते वा वराका अबला अथामा,
चिट्ठति रज्जे जइ तायदिन्ने ।
किं वा कय तं पि य गिण्हिऊण,
तुब्भो वइंसोउ सुनिट्ठुरं से ॥ ३८५ ॥
सहंति सामिस्स न ते य रिद्धिं,
भुंजाहि रज्जं इह तायदिन्नं ।
आणा इमे पत्तियमेत्तवुत्ता,
परं ससी सव्वजयप्पवित्तो ॥ ३८६ ॥
पीऊसनिस्संदकरोहवासी,
सहंति दंता कमला य दोसा ।
न तस्स नूणं जइ कोऽवराहो,
निसम्म दूयस्सवई सकोवं ॥ ३८७ ॥
भणाइ तो बाहुबली सुरत्तो,
पज्जाहि सिग्घं जइ तं न खित्ते ।
स भक्कमो सव्वबलोवबेओ,
तया गया गंगतडे विसाले ॥ ३८८ ॥
कीडावसा पायतले गहित्तु,
खित्तोऽसि आयामतले मया उ ।
काउं किमं अ कालिओ पडंतो,

अन्नं कहिज्जाहि न एत्थ खेत्ते ॥ ३८६ ॥
जीअंतए किं पि मए अजीयं,
नो एत्थ अन्नो तुह कोइ मन्नो ।
मोत्तुं ममं देव ! नरीसमज्झ,
दूएण सिट्ठे पडियागएण ॥ ३६० ॥
सदेससंधीए भडि त्ति दो वि,
ठिया ससेन्ना सबला सजोहा ।
जुज्झम्मि तो मल्लवरं तु गज्भे,
सणक्खयं बाहुबली भणाइ ॥ ३६१ ॥
दट्ठुं सयं भो किमिणा जणेण,
निरावराहेण विणासिएण ।
जुज्झामु दो वी समगं तुरंगे,
एयं पवत्ते पढमं तु जायं ॥ ३६२
दिट्ठीए जुज्झ तह वायवाह-
मुट्ठीहिँ दंडेहिँ तओ य चक्की ।
सव्वत्थ हारेइ बलिस्स पासे,
चिंतेइ तो एस किमेत्थ चक्की ॥ ३६३ ॥
जस्संतिएऽहं तु बलप्पहीणो,
तो देइ दंडाउह देवमेगो ।
तो धावई दंडमणस्सनेउं,
इत सगव्व इह पासिऊण ॥ ३६४ ॥
ता चिंतई बाहुबली सचिन्तो,
पइन्नमुक्कस्स उ वी न रत्तं ।
चूरेमि एय अह मे न जुत्तं,
धिरत्थु कामेण विसोधमाणे ॥ ३६५ ॥
जेसिं कए जेट्ठगभाउगस्स,
चिंतिज्जई पावमचिंतणीयं ।
मणेण थी किंचि न अत्थि कज्ज,
रज्जेण रट्ठेण व भाउगेहिं ॥ ३६६ ॥
मे सुंदरं जं गहिया सुदिक्खा,
कयंतु गिण्हामि अहं पि भ त्ति ।
तो गिण्हिउं दिक्ख मणे विचिंते,
उप्पन्ननाणाइसया कणिट्ठा ॥ ३६७ ॥
चिट्ठंति तेसिं छउमत्थदिट्ठी,
कहं कहं गतु करे पणामं ।
जेट्ठा भवित्ता नियभउगा वी,
चिट्ठामि ता एत्थ ठिओ सुभाणे ॥ ३६७ ॥
खणं निरुस्सग्गगओ य जाव,
उप्पज्जई नाणवर विसालं ।
समत्थवत्थूणऽवभासग ज,
सव्वण्णुभावज्भवसायजुत्तं ॥ ३६६ ॥
एवं पइन्नागयमाणहत्थि,
सुमत्थयत्थो वरिस अणुणं ।
सीयाऽऽतवक्खीरपवाहपात-
वहिज्जमाणो वि न च प्पकंपे ॥ ४०० ॥
नाउं जिणो सुंदरिबंभनाम,
अज्जाउ पेसेइ य बोहणत्थं ।
वल्लीलयालीढतणुस्स तस्स,
पुव्विं न सम्मं पडिवज्जई इ ॥ ४०१ ॥
नगो व्व वल्लीलयलीढदेहे,
दिट्ठो सुई सत्तममत्तगेहे ।
वंदित्तु वत्ति किल हत्थिकधे,
रूढाण नो होइ हु दिव्वनाणं ॥ ४०२ ॥
विमुक्करज्जस्स सुचूलुयस्स,
विसुद्धलेसस्स असंगयस्स ।
कहं तु हत्थी रुहणं ममऽत्थि,
न एत्थ अज्जा अलियं वयंति ॥ ४०३ ॥
सकज्जमेयं वयणं चिराऊ,
नायं जहा माणगयंदरूढो ।
को माणहेऊ गुणसायराणं,
वदामि पाए नियभाउगाणं ॥ ४०४ ॥
एवं विचिंतित्तु महीतलाओ,
जावेगपायं अह उक्खिवेइ ।
ता घाइकम्मं सयलं दलित्तु,
जाओ सयं केवलनाणधारी ॥ ४०५ ॥
तो जाई पासे जिणनायगस्स,
नमित्तु तित्थ परिसाए मज्झे ।
सुकेवलीण विसई महप्पा,
चक्की महिं भुंजइ एगछत्तं ॥ ४०६ ॥
अहऽन्नया चिंतइ माणसम्मि,
मे भाउगा पव्वइया उ सव्वे ।
न किंचि एयाए सिरीए अत्थि,
अहिं करेउ भरहे फलंति ॥ ४०७ ॥
जओ न पेच्छति सुही पहिट्ठा,
सत्तूण वा जेन जणेइ दुक्ख ।
किं ताए रिद्धीए सुपावराए,
तो देमि भोए नियभाउगाणं ॥ ४०८ ॥
एवं च जा चिंतइ चक्कणाहो,
सामी तहिं एइ सदेवसंघो ।
सीलागुणो चामरछत्तजुत्तो,
समागए नाउ जिणं नरीसो ॥ ४०६ ॥
सव्विड्ढिए गतु जिणं नमित्ता,
भोगेहिँ तो छंदइ छिन्नबुद्धी ।
नेच्छंति ते वत्तममत्तगेहा,
चिंतेइ तो नेच्छहि चत्तसंगा ॥ ४१० ॥
किंपाकभोगोवमभोगसग,
आहारदाणेण करेमि धम्मं ।
सयाणि गड्डाण भरित्तु एव,
अन्नाऽऽहारस्स गओ नरीसो ॥ ४११ ॥
निमंतिउ वंदिउ भत्तिजुत्तो,
कप्पम तओ आहडरायपिंड ।
न कप्पई सामिमिणं भणेइ,
चिंतेइ तो चत्तमह जिणेणं ॥ ४१२ ॥
झियायमाणो मणसा खणद्धो,
जा चिट्ठई पुच्छइ ताव सक्को ।
कइविहो होइ अवग्गहो भो,
सामी ततो साहइ पंचभेओ ॥ ४१३ ॥
इदस्स चक्कीसरमंडलिस्स,

सेज्जायरस्सोहुसुसंजयस्स ।
सक्काइ वाहिज्जइ उत्तरेण,
न कप्पिउं से वसिउं अदिन्ने ॥ ४१४ ॥
सक्को तओ वंदिउ भत्तिजुत्तो,
भणेइ सामिं समणा जिणिंदा ।
मेरुस्स से चेट्ठइ दाहिणेणं,
सयंभु ! जा गिण्हइ जं च कप्पं ॥ ४१५ ॥
खेत्ते मईए य मयाऽणुनाए,
चक्की व हिट्ठो नमिउं जिणिंदं ।
मया अणुन्नायमिणं जहिच्छं,
चिट्ठंति साहू य सुहं समत्थ ॥ ४१६ ॥
कहिं करेमो अह भत्त पाणं,
जमाणिय साहुकए मएह ।
सुरा सुसाहिसु करेमि जत्थ,
भणाइ तो देहि मणुत्तराणं ॥ ४१७ ॥
चिंतेइ तो जाउ कुसीलरत्त—
गुणेहि को होज्ज हिओ ममेह ।
नायं जहाऽणुव्वयधारिणो मे,
गुणाहिया तेसि करेमि पूयं ॥ ४१८ ॥
एवं वियाख्तुि सुसावगाणं,
तं भत्तपाणं दलइत्तु पच्छा ।
दंसेइ सा हाविमप्पणो मा,
सुरिंदरूवं अहवोऽत्र मज्झ ? ॥ ४१६ ॥
महानरो काउमपत्थणाए,
होउ त्ति भंगो कलिओ मणम्मि ।
तो दंसए अगुलिभूसियं सो,
सविम्हयं हिट्ठमणो पलोए ॥ ४२० ॥
तो तीएँ कारावइ हिट्ठचित्तो,
महामहं काउ नरोत्तमो त्ति ।
तमाइ काउ पइवच्छरं तु,
पकीरई इंदमहूसवो त्ति ॥ ४२१ ॥
नं देवदेई इहय नराण,
मेत्ती यय होउ असेसकम्मा ।
खणंतरं झायइ एवमेव,
एवं तु काले अइगच्छमाणे ॥ ४२२ ॥
लोभाभिभूया इयरे जणा वि,
भुंजति भोगा वहुया उयाग ।
भणंति लोगे बहुओ नरीसं,
भणाइ तो खाइ न अत्थि मज्झ ॥ ४२३ ॥
अत्थि त्ति सामिस्स पयप्पसाया,
तो देह किं वात्थ वियारिएण ।
भणंति भग्गा वयमेत्थ नूणं,
भणाइ भो देज्जह पुच्छपुव्वं ॥ ४२४ ॥
एवं तओ पुच्छइ किं भवाण,
महव्वया संति न सावगाणं ।
हवंति ते किं तु अणुव्वयाणि,
पचेव सिक्खावय सत्त होंति ॥ ४२५ ॥
देसिंति तो ते भरहाहिवस्स,
राया वि लच्छेइ य कागिणीए ।
मासाण छण्ह तु पुणो पुणो य,
संभालणा हो इयराण अन्ना ॥ ४२६ ॥
जच्छंति पुत्ताइ जईण ते उ,
कमेण जा एस दिओववत्ती ।
महव्वयाणुव्वयसंतिकम्म,
जिणच्चुई जीयपयत्थखट्ठा ॥ ४२७ ॥
वेया कया सव्वपयत्थगब्भा,
सब्भावहेउ विविहा य तेसिं ।
मिच्छं पवन्नाण जिणंतरे ते,
पभूयकालेणुसहस्स पच्छा ॥ ४२८ ॥
अणज्जवेया सुलसाइजन्न-
वक्कन्नमाईहिँ कया उ पच्छा ।
चक्की जिणं पुच्छइ सामि ! तुब्भे,
तिलोयपुज्जा भरहे अहन्ने ॥ ४२६ ॥
जयप्पईवा कह किंपमाणा,
ममोवमा वा सयलं कहेहि ।
जिणाण चक्कीण व केसवाणं,
वलाण माण सयय कहेह ॥ ४३० ॥
धन्ना य आउं नयरे पियाएँ,
गईएँ जा जस्स जिणो निवस्स ।
एवं जिणो पुव्वसयस्सहस्सं,
एगासण वाससहस्सऊणं ॥ ४३१ ॥
काऊण सब्भूयपयत्थसत्था,
जीवाइतत्ताण पहीइ कम्म ।
सिव गओऽट्ठावयपव्वयम्मि,
सुएहिँ साहूहिँ वहूहिँ सव्वं ॥ ४३२ ॥
चक्की वि कालेण चिरा थिसोउ,
चित्तेण होऊणऽचलाण जेट्ठे ।
अट्ठावयप्पव्वयमत्थयम्मि,
कारेइ सो जोयणमित्तदीहं ॥ ४३३ ॥
तिगाउउस्सेहवरं विसालं,
थभाभिरामं रयणामयं तु ।
सुसेहसेज्जागहणेगखंभ-
सओसियं सिद्धगिहाणुगारिं ॥ ४३४ ॥
वेअड्डसिद्धाययणं जहेव,
विवक्खियं नेयमिणं तहेव ।
पन्नत्तिए जंबुयदीवगस्स,
पेच्छामिहा तोरणजा झया य ॥ ४३५ ॥
चत्तारि चाउद्दिसि/चारु तस्स,
दारे य दारे सुहमंडवे से ।
एगेगतित्तिपमुहे य रम्मे,
तेसिं पुरा पेच्छणमंडवे से ॥ ४३६ ॥
एवं कमेणं मणिपेढिया य,
सव्वं च सव्वन्नुयमेव नेयं ।
तस्सेव णं चेइयमज्झदेसे,
रम्मा सुरूवा मणिपेढिया से ॥ ४३७ ॥
तीसोवरिं देवयछंदए से,
अच्चे सुरूवे विमले विसाले ।
तेसोवरिं वन्नपमाणजुत्ता,

कारेइ नाभेयपमीजिणाणं ॥ ४३८ ॥
जहट्ठिया से पडिमाऽइरम्मा,
भव्वाण निव्वाणसुहावहा य ।
जहा नहा रोमकया य तालु-
जीहाऽहरा नेत्तमुहे तहेव ॥ ४३६ ॥
कारेइ हेमज्जुणरत्तसारा,
मणिम्मया सव्व जहारिहं तु ।
एगेगिए पिट्ठउ तेसि तेसे,
पत्तेययं से पडिमा गहाय ॥ ४४० ॥
छत्तत्तियं कुंदसुतारहार-
नीहारडिंडीरहिमेंदुधवलं ।
कोरिंटमालावरगंधलुद्ध-
मुद्धालिमालारवबद्धगीयं ॥ ४४१ ॥
सुकिंकिणीजुत्तियजाललीढं,
चेट्ठेइ सेय उवरिं धरंती ।
एवं दुवे चामरधारिनेया,
पासेसु दोसुं पुरओ य दो दो ॥ ४४२ ॥
नागाण जक्खस्स य कुड(ल)धारी,
पत्तेययं से रयणामईओ ।
तत्थेव घंटाचउतीसरम्मा,
तम्मत्तिया चंदणसारकुम्भा ॥ ४४३ ॥
भिंगारआदी सयथालमाई,
सव्वं पि नेयं पडिमं पडुच्च ।
तुरंगमाई गनराइकं वा,
चंगेरओ पुप्फसुपल्लवाणं ॥ ४४४ ॥
सुगंधवत्थाऽऽभरणाण रम्मा,
सव्वाण एसि पडिलेयसंथा ।
लोमत्थणासे चउवीसछत्त-
सिंहासणे चामरचारुरम्मा ॥ ४४५ ॥
सिद्धत्थयत्तेल्लसमुग्ग एवं-
पमाणया धूयकडच्छुया य ।
तं चेइयं सेसेसमुप्पगिट्ठ-
खभूसियं मुत्तमणित्तलं च ॥ ४४६ ॥
कुरंगईहामियसिंहअस्स-
नारीनरकुंजररूवरम्मं ।
विज्जाहरकिंनरसिद्धजक्ख-
जुगोवसोहं बहुभत्तिचित्तं ॥ ४४७ ॥
रहंगहंसाहिमऊरमच्छ-
(?) (सु)सप्पनक्कमयरावलीढं ।
आरामवावीनइसिंधुरत्त-
विचित्तचित्तंधुभइचित्तरम्मं ॥ ४४८ ॥
विचित्तमाणिक्क पहापवाह-
उज्जोवियासेसनहावभोयं ।
जालासहस्साहिँ विभूसमाणं,
सुआविमालि व्व कराबलीढं ॥ ४४६ ॥
एवं करित्ता उ गिहं जणाणं,
करेइ धम्मा उसभाउगाण ।
यिंबाइ तेसिं अह अप्पणो य,
कारेइ से पउजवसाणमाणं ॥ ४५० ॥
मा कोइ सेअक्कनिही इमाउ,
कारेइ तो अंतमया नरा उ ।
कोहम्मया रक्खणहेउ तेसिं,
नराउ कालेण सुधुब्भिया उ ॥ ४५१ ॥
होहिंति तो ओयणमिक्खिय-
टंको कओ तुम्ह हो नराणं ।
कालेण कासी स गुरुस्सयासे,
गंगाजलुल्लं परिय विसालं ॥ ४५२ ॥
पुव्वाण तो पंचसयस्सहस्सा,
सहाइए भुंजइ भोयभोए ।
अहऽन्नया न्हाइ सुईवलित्तो,
माणिक्कमुत्तामणिभूसियंगो ॥ ४५३ ॥
हारद्धहारप्पविराइयंसो,
पलंबपालंबकिरीडधारी ।
मंदारसंताणयचारुपुप्फ-
आवद्धवीडो कयसव्वसोहो ॥ ४५४ ॥
विसेइ आयंसगिहे विसाले,
सव्वंगिओ दीसइ जत्थ पाणी ।
पमायओ से भवितव्वयाए,
एगंगुलीए गलिया य मुद्दा ॥ ४५५ ॥
पलोयमाणस्स निय सरीरं,
दिट्ठिं गया सा उ विसोहमाणा ।
तं पेच्छिउ रूवविमुक्कसोहं,
ऽवणेइ हारकडगाइ सव्वं ॥ ४५६ ॥
सदेहओ भूसणजाइरम्मं
विसायव चिंतइ चित्तमज्झे ।
सहावओ देहमिणं न रम्मं,
सोहा उ से कीरइ गंतुगेहिं ॥ ४५७ ॥
माणिक्कहेमम्मणिमाइएहिं,
दव्वेहिँ ऽमेज्झम्गिहसेवणाहिं ।
सहाइया कामगुणा नराणं,
जणेंति संगं विरसे भवे वि ॥ ४५८ ॥
सरीरगं ताण निहाणभूय,
तमेरिसं पेच्छ अहो इ मोहो ।
अणिच्चया कामगुणा दुरंता,
भयावहा से विरसाऽवसाणे ॥ ४५६ ॥
दुक्खंकरा जाय य मुंचमाणा,
आवायमित्तम्महुरावभासा ।
सकन्नविन्नाणजुओ नरो को,
करेज्ज संगं भवहेउएसु ? ॥ ४६० ॥
अणिच्चसेसु अवसाण दुक्ख-
दाणेसु तेसिं विसए समोहो ।
एवंविहब्भावमुपागयाओ,
आउ व्व सेढी कमपत्तयस्स ॥ ४६१ ॥
खणेण जायं परमं तु णाणं,
समत्थवत्थूण गणावभासं ।
सक्को सयं आसणकंपबुद्धो,
तयंतिए एइ तुरंतगत्तो ॥ ४६२ ॥
गिहाहि णं तं मुणिदव्वलिंग,

आराहयंता ववहारसुद्धिं ।
गिराहाहि सव्वं पि सुरोवणीयं,
आयारभंडोवगरं मुणीणं ॥ ४६३ ॥
करेइ पूयं तु पुरंदरो तो,
अन्नं पि कज्जं वरकेवलीणं ।
पहाणराईण सहस्सएहिं,
देसेहिँ सद्धिं अभिनिक्खमाइ ॥ ४६४ ॥
पालित्तु पुव्वाण सयं सहस्सं,
केवल्लिभावं मुणियं पसत्थ ।
कुमारगो ठत्तरियगऊणे,
सुमंडलीओ वरिसस्सहस्सं ॥ ४६५ ॥
नेऊण एय त्ति कमेण सव्व,
आउं चरित्ता चुलसीयलक्खा ।
पत्तो सिवं सव्वकिलेसमुक्को,
सेसा सहस्सेण नरीसराण ॥ ४६६ ॥
सुद्दक्खिणापव्वरथाविसाला,
एगं पसंगा भणियं मुणेज्ज ।
सरूवमेयं जिणमंदिरस्स,
निस्सा अनिस्सा य कडस्स नाउं ॥ ४६७ ॥
गयाणुगामित्तण सुत्तु सव्वं,
अपज्ज एयाणुगमेण भव्वा ! ॥ ( ४६८+ ) ॥
भरहेसरचरियं सम्मत्त । दर्श० । ( इतोऽप्यधिक जि ज्ञासुना ' उसह ' शब्दो द्वितीयभागे वीक्ष्यः )

अथ भरतवर्षस्वरूपं जिज्ञासुः पृच्छति—

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भरहे णामं वासे पण्णत्ते ?। गोयमा ! चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं दाहिणलवणसमुद्दस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे भरहे णामं वासे पण्णत्ते, खाणुबहुले कंटकबहुले विसमबहुले दुग्गबहुले पव्वयबहुले पवायबहुले उज्झरबहुले णिज्झरबहुले खड्डाबहुले दरिबहुले णईबहुले दहबहुले रुक्खबहुले गुच्छबहुले गुम्मबहुले लयाबहुले वल्लीबहुले अडवीबहुले सावयबहुले तेणबहुले तक्करबहुले डिंबबहुले डमरबहुले दुब्भिक्खबहुले दुक्कालबहुले पासंडबहुले किवणबहुले वणीमगबहुले ईतिबहुले मारिबहुले कुवुट्ठिबहुले अणावुट्ठिबहुले रायबहुले रोगबहुले संकिलेसबहुले अभिक्खणं अभिक्खणं संखोहबहुले पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे उत्तरओ पलिअंकसंठाणसंठिए दाहिणओ धणुपिट्ठसंठिए तिधा लवणसमुद्दं पुट्ठे गंगासिंधूहिं महाणईहिं वेअड्ढेण य पव्वएण छब्भागपविभत्ते जंबुद्दीवदीवणउयसयभागे पंचछव्वीसे जोअणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं । भरहस्स णं वासस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते, जे णं भरहं वासं दुहा विभयमाणे विभयमाणे चिट्ठइ । तं दाहिणड्ढभरहं च, उत्तरड्ढभरहं च । ( सूत्र-१० )

प्रच्छकापेक्षया आसन्नत्वेन प्रथमं भरतस्यैव प्रश्नसूत्रम् । क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतं नाम्ना वर्षं प्रज्ञप्तम् ?, भगवाना-ह-गौतम ! ( चुल्लहिमवंतेत्यादि ) चुल्लशब्दो देश्यः क्षुल्लपर्यायस्तेन क्षुल्लो महाहिमवदपेक्षया लघुर्यो हिमवान् वर्षधरपर्वतः क्षेत्रसीमाकारी गिरिविशेषः, तस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि दाक्षिणात्यलवणसमुद्रस्योत्तरस्यां पौरस्त्यलवणसमुद्रस्य पश्चिमायां पाश्चात्यलवणसमुद्रस्य पूर्वस्यां दिशि अत्रावकाशे भरतनाम्ना वर्षं प्रज्ञप्तम् । किं विशिष्टं तदित्याह-स्थाणवः कीलका ये छिन्नावशिष्टवनस्पतीनां शुष्कावयवाः ' ठुण्ठा ' इति लोकप्रसिद्धाः तैर्बहुलं प्रचुरं, व्याप्तमित्यर्थः । अथवा-स्थाणवो बहुला यत्र तत्तथा । एवं सर्वत्र पदयोजना ज्ञेया । तथा—कण्टका बदर्यादिप्रभवाः, विषमं निम्नोन्नतं स्थानं, दुर्गं दुर्गमं स्थानं, पर्वताः क्षुद्रगिरयः,प्रपाता भृगवो यत्र मुमूर्षवो जना झम्पां ददति । अथवा-प्रपाता रात्रिचाराख्यः । अवझरा गिरितटादुदकस्याधःपतनानि,तान्येव सदाऽवस्थायीनि निर्झराः, गर्ताः प्रसिद्धाः, दर्यो गुहाः, नद्यो ह्रदाश्च प्रतीताः, वृक्षा रूक्षा वा सहकाराऽऽदयः । गुच्छा वृन्ताकीप्रभृतयः, गुल्मा नवमालिकाऽऽदयः,लताः पद्मलताद्याः वल्लयः कूष्माण्डीप्रमुखाः, अत्र नदीद्रहवृक्षाऽऽदिवनस्पतिनामशुभानुभावजनितानामेव बाहुल्यं बोध्यम्, न तु एकान्तसुषमाऽऽदिकालभावि, तथाविधशुभानुभावजनितानां तेषां प्रायः प्रज्ञापककालेऽल्पीयस्त्वात् । अटव्यो दूरतः जननिवासस्थाना भूमयः,श्वापदा-हिंस्रजीवाः,स्तेनाश्चौराः,तदेव कुर्वन्तीति निरुक्तितस्तस्कराः सर्वदा चौर्यकारिणः, डिम्बानि स्वदेशोत्थविप्लवाः, डमराणि परराजकृतोपद्रवाः, दुर्भिक्षं भिक्षाचराणां भिक्षादुर्लभत्वं, दुष्कालो धान्यमहार्घताऽऽदिना दुष्टः कालः, पाषण्डं पाषण्डिजनोत्थापितमिथ्यावादः, कृपणाः प्रतीताः, वनीपका याचकाः, ईतिः धान्याऽऽद्युपद्रवकारिशलभमूषिकाऽऽदिः, मारिः मरकः, कुत्सिता वृष्टिः कुवृष्टिः,कर्षकजनानभिलषणीया वृष्टिरित्यर्थः । अनावृष्टिर्वर्षणाभाव इति । राजान आधिपत्यकर्त्तारस्तद्बाहुल्यं च प्रजानां पीडाहेतुरिति । रोगाः संक्लेशाश्च व्यक्ताः । अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं पुनः पुनर्दण्डपारुष्याऽऽदिना संक्षोभाश्चित्तानवस्थितता, प्रजानामिति शेषः इदं च सर्वं विशेषणजातं भरतस्य ,प्रज्ञापकापेक्षया मध्यमकालीनानुभावमेव व्यावर्णितं, तेनोत्तरसूत्रे एकान्तसुषमाऽऽद्यावस्य बहुसमरमणीयत्वाऽतिस्निग्धत्वाऽऽदिकमेकान्तदु:षमादौ— निर्वनस्पतिकत्वाऽराजत्वाऽऽदिकं च वक्ष्यमाणं न विरुध्यत इति । प्रागेव प्राचीनं, स्वार्थे ईन्प्रत्ययः, दिग्विवक्षाया प्राचीनं पूर्वा इत्यर्थः । एवं प्रतीचीनोदीचीने अपि वाच्ये । तेन पूर्वाऽपरयोर्दिशोरायतम्,उदीचीदक्षिणयोर्दिशोर्विस्तीर्णम् । अथवा-प्राचीनप्रतीचीनावयवयोरायतम्, एवमुत्तरत्रापि । अथ तदेव संस्थानतो विशिनष्टि-उत्तरतः उत्तरस्यां दिशि पर्यङ्कस्येव संस्थितं संस्थानं यस्य तत्तथा,दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिशि आरोपितज्यस्य धनुषः कोदण्डस्य पृष्ठं पाश्चात्यभागस्तस्येव संस्थितं संस्थानं यस्य तत्तथा,अत एवास्य धनुःपृष्ठशरजीवाबाहानां सम्भवः, एषां च स्वरूपं स्वस्वावसरे निरूपयि-

ध्यते,त्रिधा पूर्वकोटिधनु पृष्ठापरकोटिभिर्लवणसमुद्रं क्रमेण पूर्वदक्षिणाऽपरलवणसमुद्रावयव स्पृष्ट-धातूनामनेकार्थत्वाद् प्राप्त , ग्रामप्राप्त इत्यादिवत् कर्त्तरि क्तप्रत्यय । अयमर्थः— पूर्वकोट्या पूर्वलवणसमुद्र धनु पृष्ठेन दक्षिणलवणसमुद्रम्, अपरकोट्या पश्चिमलवणसमुद्र संस्पृश्य स्थितमिति । अथे- दमेव षट्खण्डविभजनद्वारा विशिनष्टि-गङ्गासिन्धुभ्यां महा- नदीभ्या वैताढ्येन च पर्वतेन षट्सङ्ख्या भागाः षड्भागा- स्तैर्विभक्तम् । अयमर्थः—अनन्तरोदितैस्त्रिभिर्दक्षिणोत्तरयोः प्रत्येक खण्डत्रयकरणेन भरतस्य षट् खण्डानि कृतानीति । अथ यदि जम्बूद्वीपैकदेशभूतं भरतं तर्हि विष्कम्भतः त- स्य कतितमे भागे तदित्याह—( जंबुद्दीवेत्यादि ) जम्बू- द्वीपद्वीपस्य-जम्बूद्वीपविष्कम्भस्य नवत्यधिकशततमो यो भागस्तस्मिन् इति । अथ नवत्यधिकशततमभागे किय- न्ति योजनानीत्याह—पञ्च षड्विंशत्यधिकानि योजनशतानि, षट् च योजनस्यैकोनविंशतिभागान् । कोऽर्थः ?—या- दृशैरेकोनविंशतिभागैः समुदितैर्योजनं भवति तादृ- शान् षड्भागान् इति विष्कम्भेन—विस्तारेण शरापर- पर्यायेणेति । अत्राङ्कस्थापना यथा—५२६ । ६/१९ अयं भावः—जम्बूद्वीपविस्तारस्य लक्षयोजनरूपस्य नवत्य- धिकशतेन भागे हृते लब्ध ५२६ योजनानि ६/१९ । एतावानेव च भरतविस्तारः । ननु भाजकराशिर्नवत्यधिकशतरूपः, षड्भागास्तु योजनैकोनविंशतिकलारूपा इति विसदृ- शमिव प्रतिभाति । उच्यते—गणितनिपुणाना सर्वं सुज्ञान- मेव । तथाहि-जम्बूद्वीपव्यासस्य योजनलक्ष १००००० मित- स्य नवत्यधिकशतभक्तस्यावशिष्टः षष्टिरूपो राशिर्भागदा- नाऽसमर्थ इति भाज्यभाजकराश्योर्दशाभिरपवर्ते जाता भा- ज्यराशौ षट् ६,भाजकराशौ १९ इति सर्वं सुस्थम् । ननु नवत्य- धिकशतरूपभाजकाङ्कोत्पत्तौ किं बीजमिति ?। उच्यते-एको भागो भरतस्य, द्वौ भागौ हिमवतः, पूर्वक्षेत्रतो द्विगुणत्वात्, चत्वारो हैमवतक्षेत्रस्य, पूर्ववर्षधरतो द्विगुणत्वात्, अष्टौ महाहिमवतः, पूर्वक्षेत्रतो द्विगुणत्वात्, षोडश हरिवर्षस्य, पूर्ववर्षधरतो द्विगुणत्वात्, द्वात्रिंशन्निषधस्य, पूर्वक्षेत्रतो द्वि- गुणत्वात् सर्वे मिलिताः ६३, एते मेरोर्दक्षिणतः, तथोत्तरतो- ऽपि ६३, विदेहवर्षे तु ६४ भागा. सर्वाग्रेण; एतैर्भागैर्दक्षिणोत्त रतो जम्बूद्वीपयोजनलक्षं पूरितं भवति, ततः एतावान् भा- जकाङ्कः १९० नवत्यधिकं शतं भागानामिति । अथ यदुक्तम् "गंगासिंधूहिं महाणईहिं वेयड्ढेण य पव्वएणं छब्भागपविभ- त्ते " इत्यत्र वैताढ्यस्वरूपप्ररूपणाय सूत्रमाह-" भरहस्स णं " इत्यादि । भरतस्य वर्षस्य बहुमध्यदेशभागे वै- जयन्तद्वारात् त्रिकलाधिकसाष्टत्रिंशद्द्विशतयोजनातिक्रमे पञ्चाशद्योजनदीर्घखण्डे अत्र वैताढ्यो नाम पर्वतः प्रज्ञप्तः । यः 'णमिति' प्राग्वत् । भरतं वर्षं द्विधा विभजन् २ समाशतया चक्रवर्तिकाले च समस्वामिकतया तथाऽन्यै- रपि प्रकारैर्द्वयोरपि तुल्यत्वद्योतनार्थमिति ।

तत्राऽऽवासन्नत्वेन दक्षिणार्द्धभरतं क्वास्तीति प्रश्नयति--

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढभरहे णाम वासे पणत्ते ?। गोयमा ! वेयड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणेणं दाहिण- लवणसमुद्दस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच- च्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढभरहे णामं वासे पणत्ते पाई- णपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे अद्धचंदसंठाण- संठिए तिहा लवणसमुद्दं पुट्ठे गंगासिंधूहिं महाणईहिं ति- भागपविभत्ते दोण्णि अट्ठतीसे जोअणसए तिण्णि अ एगूणवीसइभागे जोयणस्स विक्खंभेणं ॥

इदं च सूत्रं पूर्वसूत्रेण समगमकतया विवृतप्रायं, नवरम् अ- र्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितत्वं तु दक्षिणभरतार्द्धस्य जम्बूद्वीपप- ट्टाऽऽद्यालेखदर्शनाद् व्यक्तमेव । तथा त्रिसंख्या भागास्त्रिभा गास्तैः प्रविभक्त, तत्र पौरस्त्यो भागो गङ्गया पूर्वसमुद्र मि- लन्त्या कृतः, पाश्चात्यो भागस्तु सिन्ध्वा पश्चिमसमुद्रं मि- लन्त्या कृतः, मध्यमभागस्तु गङ्गासिन्धूभ्या कृत इति द्वे अ- ष्टत्रिंशदधिके योजनशते, त्रींश्चैकोनविंशतिभागान् योजन- स्य विष्कम्भेन । किमुक्तं भवति ?-षट्कलाधिकषड्विंशपञ्च- शतयोजन ५२६ ६/१९ भरतविस्तारात् वैताढ्यविस्तारे ५० योजन मिते शोधितेऽवशिष्ट चत्वारि योजनशतानि षट्सप्तत्य- धिकानि षट् च कलाः ४७६ । ६/१९ एतदर्द्धे द्वे योजनाना शते अष्टत्रिंशदधिके तिस्रश्चापराः कला २३८ ३/१९ इत्येवं रूप यथोक्तं मानं भवति, एतेनास्य शरप्ररूपणा कृता, शरविष्क- म्भयोरभेदादिति ।

अथ जीवासूत्रमाह—

तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवणस- मुद्दं पुट्ठा पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणस- मुद्दं पुट्ठा पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणस- मुद्दं पुट्ठा नवजोयणसहस्साइं सत्त य अडयाले जोयण- सए दुवालसए एगूणवीसइभाए जोयणस्स आयामेणं -तीसे धणुपुट्ठे दाहिणेणं णवजोयणसहस्साइं सत्तछावट्ठे जोयणसए य इक्कं च एगूणवीसइभागे जोयणस्स किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

( तस्स जीवेत्यादि ) तस्य-दक्षिणार्द्धभरतस्य जीवेव जी- वा ऋज्वीसर्वान्तिमप्रदेशपङ्क्तिः, उत्तरेण-उत्तरस्या मेरोर्दि- शीत्यर्थः, प्राचीने पूर्वस्या प्रतीचीने अपरस्या चायता आ- यामवती द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टा स्पृष्टवती । इममेवार्थं द्योतयति-(पुरच्छिमिल्लाए इति) पूर्वया कोट्याऽग्रभागेन पौ- रस्त्य लवणसमुद्रावयव स्पृष्टा पाश्चात्यया कोट्या पाश्चा- त्य लवणसमुद्रावयवं च स्पृष्टा नवयोजनसहस्राणि अ- ष्टचत्वारिंशानि-अष्टचत्वारिंशदधिकानि सप्तयोजनशतानि द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्याऽऽयामेन ९७४८ १२/१९ यच्च समवायाङ्गसूत्रे-" दाहिणड्ढभरहस्स ण जीवा पाईण- पडीणायया दुहओ लवणसमुद्द पुट्ठा णवजोअणसहस्साइं आयामेणं । " इत्युक्तं, तत्सूत्रामात्रत्वात् सूत्रस्य शेषविव- क्षा न कृता; वृत्तिकारेण तु अयमवशिष्टराशिरूपो विशे- षो गृहीत इति । अत्र सूत्रे अनुक्ताऽपि जीवाऽऽनयनेकरणभा- वना दर्श्यते । तथाहि- जम्बूद्वीपव्यासाद् विवक्षितक्षेत्रेषु शो- ध्यते, ततो यज्जात तत्तेनैवेषुणा गुण्यते, ततः पुनश्चतु-

र्भिर्गुण्यते, इत्थं ससंस्कारो राशिर्विवक्षितक्षेत्रस्य जीवावर्ग इत्युच्यते। अस्माच्च मूले गृह्यमाणे यल्लभ्यते तज्जीवाकलामानं, तस्य चैकोनविंशत्या भागे योजनराशिः, शेषश्च कलाराशिः। तत्र जीवाऽऽदिपरिज्ञानं चेषुपरिमाणपरिज्ञानाविनाभावि, तच्च न परिपूर्णयोजनसङ्ख्याकं किं तु कलाभिः कृत्वा सातिरेकमिति विवक्षिततत्क्षेत्राऽऽदेरिषु . सवर्णनार्थं कलीक्रियते, स च कलीकृतादेव जम्बूद्वीपव्यासात्सुखेन शोधनीय इति मण्डलक्षेत्रव्यासोऽपि १ शून्य ५ रूपः कलीकरणायैकोनविंशत्या गुण्यते, जातः १९ शून्यः ५, ततो दक्षिणभरतार्द्धेषोः साष्टत्रिंशद्द्विशतयोजनमित्यस्य कलीकृतस्य प्रक्षिप्तोपरितनकलात्रिकस्य ४५२५ रूपस्य शोधने जातः १८९५४७५, ततश्च दक्षिणार्द्धेषुणा ४५२५ रूपेण गुण्यते, जातः ८५७७०२४३७५, अयं चतुर्गुणः ३४३०८०९७५०० एष दक्षिणभरतार्द्धस्य जीवावर्गः, एतस्य वर्गमूलाऽऽनयनेन लब्धाः कलाः १८५२२४, शेषं कलांशाः १६७३२४ छेदराशिः ३७०४४८ लब्धकलानां १९ भागे योजनः ९७४७ कलाः१२ इय दक्षिणभरतार्द्धजीवा। एवं वैताढ्याऽऽदिजीवास्वपि भाव्यम्, यावद्दाक्षिणात्यविदेहार्द्धजीवा, एवमुत्तरैरावतार्द्धजीवा यावदुत्तरार्द्धविदेहजीवाऽपीति। अथ दक्षिणभरतार्द्धस्य धनुःपृष्ठं निरूपयति—(तीसे धणुपुट्ठे इत्यादि) तस्या अनन्तरोक्ताया जीवाया दक्षिणतो—दक्षिणस्यां दिशि, लवणदिशीत्यर्थः। धनुःपृष्ठमधिकारात् दक्षिणभरतार्द्धस्येति। यद्वा—प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्यये ( तीसे इति ) तस्य दक्षिणार्द्धभरतस्येति व्याख्येयं, नव योजनसहस्राणि षट्षष्ट्यधिकानि सप्त च योजनशतानि एकं चैकोनविंशतिभागं योजनस्य किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण-परिधिना प्रज्ञप्तम्। अत्र करणभावना यथा—विवक्षितेषौ विवक्षितेषुगुणे पुनः षड्गुणे विवक्षितजीवावर्गयुते च यो राशिः स धनुःपृष्ठवर्ग इति व्यपदिश्यते;तस्माच्च वर्गमूलेन लब्धानां कलानाम् १९ भागे लब्धं योजनानि, अवशिष्टं कलाः। तथाहि—दक्षिणभरतार्द्धेषुकलाः ४५२५, अस्य वर्गः २०४७५६२५, अयं षड्गुणः १२२८५३७५० । अथ दक्षिणभरतार्द्धस्य जीवावर्गः ३४३०८०९७५०० । अनयोर्युतिः ३४४३०९५११२५० धनुःपृष्ठवर्गोऽयम्। अस्य वर्गमूले लब्धं कलाः १८५५५५ शेषकलांशाः २९३२२५ छेदकराशिरभ्यस्तात् ३७१२१० कलाना १९ भागे योजन ९७६६ कला १ ये च वर्गमूलावशिष्टाः कलांशास्तद्विवक्षया च सूत्रकृता कलाया विशेषाधिकत्वमभ्यधायि। आह-एवं जीवाकरणेऽपि वर्गमूलावशिष्टकलांशाना सद्भावात् तत्राप्युक्तकलानां साधिकत्वप्रतिपादनं न्यायप्राप्तं कथ नोक्तमिति? उच्यते—सूत्रगतेर्वैचित्र्यादविवक्षितत्वात् विवक्षाप्रधानानि हि सूत्राणीति। एव वैताढ्याऽऽदिधनुःपृष्ठेष्वपि भाव्य यावद्दाक्षिणात्यविदेहार्द्धधनुःपृष्ठम्। एवमुत्तरत उत्तरैरावतार्द्धधनुःपृष्ठ यावदुत्तरार्द्धविदेहधनुःपृष्ठमपीति, अत्र च दक्षिणभरतार्द्धे बाहाया असंभवः।

अथ दक्षिणभरतार्द्धस्वरूप पृच्छन्निदमाह—

दाहिणड्ढभरहस्स णं भंते ! वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा०जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं तणेहिं उवसोभिए। तं जहा—कित्तिमेहिं चेव, अकित्तिमेहिं चेव।

( दाहिणड्ढेत्यादि ) दक्षिणार्द्धभरतस्य भगवन् ! कीदृशः आकारस्य—स्वरूपस्य भावाः पर्यायास्तेषां प्रत्यवतारः प्रादुर्भावः प्रज्ञप्तः, कीदृशः प्रस्तुतक्षेत्रस्य स्वरूपविशेष ? इति भावः। भगवानाह—गौतम ! भरतस्य बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः। ' से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वेत्यादि " को बहुसमत्ववर्णकः सर्वोऽपि ग्राह्यः यावन्नानाविधपञ्चवर्णैर्मणिभिस्तृणैश्चोपशोभितः। तद्यथेत्युपदर्शने। किंविशिष्टैर्मणिभिस्तृणैश्च कृत्रिमैः क्रमेण शिल्पिकर्षकाऽऽदिप्रयोगनिष्पन्नैः अकृत्रिमैः क्रमाद्रत्नखानिसंभूतानुपसंभूतैरुपशोभितो दक्षिणार्द्धभरतस्य भूमिभागः, अनेनास्य कर्मभूमित्वमभाणि। अन्यथा—हैमवताऽऽद्यकर्मभूमिष्वपि इद विशेषणमकथयिष्यदिति। चकारौ समुच्चयार्थौ। एवकारावधारणार्थौ। अथवा-चैवेत्यखण्डमव्यय समुच्चयार्थम्, अपिचेत्यादिवत्। ननु अनेन सूत्रेण वक्ष्यमाणेनोत्तरभरतार्द्धवर्णकसूत्रेण च सह "खाणुबहुले विसमबहुले कंटगबहुले" इत्यादिसामान्यभरतवर्णकसूत्रं विरुद्धयति। न चैते सूत्रे अरकविशेषापेक्षे, सामान्यभरतसूत्रं तु प्रज्ञापककालापेक्षमिति न विरोध इति वाच्यं मणीनां तृणाना च कृत्रिमत्वाकृत्रिमत्वभणनेनानयोरपि प्रज्ञापककालीनत्वस्यैवौचित्यात्, कृत्रिममणितृणानां तत्रैव संभवात्, प्रज्ञापककालश्चावसर्पिण्यां तृतीयारकप्रान्तादारभ्य वर्षशतोनदुःषमारकं यावदिति चेत्। उच्यते-अत्र "खाणुबहुले विसमबहुले " इत्यादिसूत्रस्य बाहुल्यापेक्षयोक्तत्वेन क्वचिद्देशविशेषे पुरुषविशेषस्य पुण्यफलभोगार्थमुपसंपद्यमानं भूमेर्बहुसमरमणीयत्वाऽऽदिकं न विरुद्धयति, भोजकवैचित्र्ये भोग्यवैचित्र्यस्य नियतत्वात्।

अनेनास्यैकान्तशुभैकान्ताशुभमिश्रलक्षणकालत्रयाऽऽधारकत्वमसूचि, एकान्तशुभे हि काले सर्वे क्षेत्रभावाः शुभा एव, एकान्ताशुभे हि सर्वे अशुभा एव, मिश्रे तु क्वचिच्छुभाः क्वचिदशुभाः, अत एव पञ्चमारकाद् यावद् भूमिभागवर्णकं बहुसमरमणीयत्वाऽऽदिकमेव सूत्रकारेणाभ्यधायि, षष्ठेऽरके तु एकान्ताशुभेन तथेति सर्वं सुस्थम्।

अथ तत्रैव मनुष्यस्वरूपं पृच्छति—

दाहिणड्ढभरहे णं भंते ! वासे मणुयाणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! ते णं मणुआ बहुसंघयणा बहुसंठाणा बहुउच्चत्तपज्जवा बहुआउपज्जवा बहूइं वासाइं आउयं पालेंति, पालित्ता अप्पेगइया णिरयगामी अप्पेगइया तिरियगामी अप्पेगइया मणुयगामी अप्पेगइया देवगामी अप्पेगइया सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। ( सूत्र-११ )

प्रश्नसूत्र प्राग्वत्। निर्वचनसूत्रे भगवानाह-गौतम ! येषां स्वरूपं भवता जिज्ञासितं ते मनुजा बहूनि वज्रऋषभनाराचाऽऽदीनि संहननानि वपुर्दृढीकारकाण्यस्थिनिचयाऽऽत्मकानि येषां ते तथा, तथा बहूनि समचतुरस्राऽऽदीनि संस्थानानि विशि-

णावयवरचनाऽऽत्मकशरीराऽऽकृतयो येषां ते तथा, पहवो नानाविधा उच्चत्वस्य शरीरोच्छ्रयस्य पर्यवाः पञ्चधनुःशतसप्तहस्तमानाऽऽदिका विशेषा येषां ते तथा । बहव आयुषः पूर्वकोटिवर्षशताऽऽदिकाः पर्यवा विशेषा येषां ते तथा, बहूनि वर्षाणि आयुः पालयन्ति, पालयित्वा, अपिः संभावनायाम् । एके केचन निरयगतिगामिनः-नरकगतिगन्तारः एवमप्येकके तिर्यग्गतिगामिनः, अप्येकके मनुजगतिगामिनः, अप्येकके सिद्ध्यन्ति-सकलकर्मक्षयकरणेन निष्ठितार्था भवन्ति, बुध्यन्ते केवलाऽऽलोकन वस्तुतत्त्वं जानन्ति, मुच्यन्ते भवोपग्राहिकर्मांशेभ्य , परिनिर्वान्ति-कर्मकृततापविरहाच्छीतीभवन्ति, किमुक्तं भवति ?-सर्वदु खानामन्तं कुर्वन्ति, इदं च सर्वं स्वरूपकथनम् अरकविशेषापेक्षया नानाजीवानपेक्ष्य मन्तव्यम्, अन्यथा सुषमसुषमाऽऽद्यनुपपत्त स्यात् ।

अथाऽस्य सीमाकारी वैताढ्यगिरि. क्वास्तीति पृच्छति—

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे वेयड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते ? । गोयमा ! उत्तरड्ढभरहवासस्स दाहिणेणं दाहिणभरहवासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पणवीसं जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं छस्सकोसाइं जोअणाइं उव्वेहेणं पण्णास ५० जोअणाइं विक्खंभेणं, तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं चत्तारि अट्ठासीए जोयणसए सोलस य एगूणवीसइभागे जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं पण्णत्ता ।

कहि णं भंते ! इत्यादि । इदं प्रायः पूर्वसूत्रेण समगमकत्वात्करणद्वयम् । नवरम् उत्तरार्द्धभरतदाक्षिणात्यामित्यादिदिक्स्वरूप गुरुजनदर्शितजम्बूद्वीपपट्टाऽऽदेः ज्ञेयम् तथा पञ्चविंशतियोजनान्यूर्ध्वोच्चत्वेन षट्सक्रोशानि योजनान्युद्वेधेन—भूमिप्रवेशेन , मेरुवर्जसमयक्षेत्रवर्तिगिरीणां निजनिजोत्सेधचतुर्थांशेन भूम्यवगाहस्योक्तत्वात् , योजनपञ्चविंशतेश्चतुर्थांशे एतावत एव लाभात् , तथा-पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेनेति । अत्र प्रस्तावादस्य शर प्रदर्श्यते—स चाष्टाशीत्यधिके द्वे शते योजनानां कलात्रयं च-२८८ ३/१९ । अस्य च करणं-दक्षिणभरतार्द्धशरे २३८ । ३/१९-इत्येव रूपे वैताढ्यपृथुत्वे पञ्चाशद् ५० योजनरूपे प्रक्षिप्त यथोक्त मानं भवति । आह—दक्षिणभरतार्द्धवदस्यापि विष्कम्भ एव शरोऽस्तु, मैवं खण्डमण्डलक्षेत्रे आरोपितज्यधनुराकृति प्रादुर्भवति, तत्र चाऽऽयामपरिज्ञानाय जीवापरिक्षेपप्रकर्षपरिज्ञानाय धनुःपृष्ठ , व्यासप्रकर्षपरिज्ञानाय शर, स च धनुःपृष्ठमध्यत एवास्य भवति , प्रस्तुतगिरेश्च केवलस्य धनुराकृतेरभावेन धनुःपृष्ठस्याप्यभावात् शरोऽपि न सम्भवति, तेन दक्षिणधनुःपृष्ठेन सहैवास्य धनुःपृष्ठवत्त्वमिति प्राच्यशरमिश्रित-

पृथुत्वस्य विष्कम्भः शरो भवति, अन्यथा शरव्यतिरिक्तस्याने न्यूनाधिकत्वेन मकरव्यासमाप्तेरेवानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेन । इदमेव शरकरणं दक्षिणविदेहार्द्धे यावद्बोद्धव्यम् । एवमुत्तरतोऽपि ऐरावतवैताढ्यतः प्रारभ्योत्तरविदेहार्द्धे यावदिति । अथास्य बाहे आह—( तस्स बाह त्ति ) तस्य-वैताढ्यस्य बाहा दक्षिणोत्तरायता वक्रा आकाशप्रदेशपङ्क्तिः । ( पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं ति ) समाहारात् पूर्वपश्चिमयो रेकैका अष्टाशीत्यधिकानि चत्वारि योजनशतानि षोडश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य एकस्यैकोनविंशतिभागस्य चार्द्धम्—अर्द्धकला , योजनस्याष्टत्रिंशत्तमं भागमित्यर्थः । आयामेन दैर्घ्येण प्रज्ञप्ता । ऋजुबाहायास्तु पर्वतमध्यवर्तिन्याः पूर्वापरायतायाः मानं क्षेत्रविचाराऽऽदिभ्योऽवसेयम् । अत्र करणं यथा-गुरुधनुःपृष्ठाल्लघुधनुःपृष्ठ विशोध्य शेषस्यार्द्धे कृते बाहा, यथा गुरुधनुःपृष्ठं वैताढ्यसत्कं कलारूपम् २०४१३२ अस्माल्लघुधनुःपृष्ठं कलारूपम् १८५५५५ शोध्यते , जातम् १८५७७, अर्द्धे कृते कलाः ९२८८ , तासामेकोनविंशत्या भागे योजनानि ४८८ कला. १६ कलार्द्धं चेति । एवं यावद्दक्षिणविदेहार्द्धबाहा, एवमुत्तरत ऐरावतवैताढ्यबाहा, यावदुत्तरविदेहार्द्धबाहा तावदिदं करणं भावनीयम् ।

अथाऽस्य जीवामाह—

तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा दस जोअणसहस्साइं सत्त य वीसे जोअणसए दुवालस य एगूणवीसइभागे जोअणस्स आयामेणं तीसे धणुपुट्ठं दाहिणेणं दस जोअणसहस्साइं सत्त य तेआले जोअणसए पण्णरस य एगूणवीसइभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं रुअगसंठाणसंठिए सव्वरययामए अच्छे सण्हे लट्ठे घट्ठे मट्ठे णीरए णिम्मले णिप्पंके णिक्कंकडच्छाए सप्पभे समिरीए पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइयाहिं दोहि य वणसंडेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । ताओ णं पउमवरवेइयाओ अद्धजोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धनुसयाइं विक्खंभेणं पव्वयसमियाओ आयामेणं वण्णओ भाणियव्वो, ते णं वणसंडा देसूणाइं दो जोअणाइं विक्खंभेणं पउमवरवेइआसमगा आयामेणं किण्हा किण्होभासा० जाव वण्णओ ।

*तस्य-वैताढ्यस्य 'जीवा उत्तरेण' इत्यादि प्राग्वत् । नवरं दश योजनसहस्राणि सप्त च विंशानि-विंशत्यधिकानि योजनशतानि द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्याऽऽयामेनेति । अत्र करणभावना यथा-पूर्वोक्तकरणक्रमेण जम्बूद्वीपव्यासकलारूपः १९ शून्यः ५ अस्माद्वैताढ्यशरकलाना ५४७५ शोधने जातम् १८९४५२५ अस्मिन् वैताढ्यशरे ५४७५ गुणे जातम् १०३७२५७४३७५ तस्मिन् पुनश्चतुर्गुणे जातम्—*

४१४६००६७५०० एष वैताढ्यजीवावर्गः अस्य मूले जातं छेदराशिः ४०७३६२ लब्धं कलाः २०३६६१ शेषं कलांशाः ७४०१६ लब्धकलानामेकोनविंशत्या भागे लब्धानि योजनानि १०७२० कलाः ११/१९ शेषकलांशानाम् अर्द्धाऽभ्यधिकत्वात् अर्द्धाभ्यधिके रूप देयमिति एककलाक्षेपे जाताः कलाः द्वादशेति। १२/१९ अथ अस्य धनु पृष्ठमाह-(तोसे धणुपुट्ठं दाहिणेणमिति)गतार्थमेतत्। नवरं दश योजनसहस्राणि सप्त च त्रिचत्वारिंशानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि योजनशतानि पञ्चदश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्येत्यत्र करणं यथा वैताढ्येषु कलारूपः ५४७५ अस्य वर्गः २६६७५६२५ अयं षड्गुण १७९८५३७५० वैताढ्यजीवावर्गश्च ४१४६००६७५०० उभयोर्मीलने जातम् ४१६६६६५१२५० एष वैताढ्यधनुःपृष्ठवर्गः अस्य मूलच्छेदराशिः ४०८२६४ लब्धकलाः २०४१३२ शेषकलांशाः ७७८२६ लब्धकलानामेकोनविंशत्या भागे लब्धं यथोक्तं मानम् १०७४३। १५/१९ अथ किंविशिष्टोऽसौ वैताढ्य इत्याह-(रुअगेत्यादि ) रुचक ग्रीवाऽऽभरणभेदः तत्संस्थानसंस्थितः सर्वाऽऽत्मना रजतमयः । 'अच्छे' त्यादिपदकदम्बकं प्राग्वत्। उभयोः पार्श्वयोर्दक्षिणतः उत्तरतश्च द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वाभ्यां च वनखण्डाभ्यां सर्वतः-समन्तात् सपरिक्षिप्तः। अत्र यत्पद्मवरवेदिकाद्वय तत्पूर्वापरतो जगत्या रुद्धत्वान्निरवकाशत्वेनैकीभवनासम्भवात्, अन्यथा "सव्वओ समता सपरिक्खित्तेति" वचनेनैकैव स्यादिति। ( ताओ णमिति ) सर्वं गतार्थं नवरं पर्वतसमिका आयामेन; वेताढ्यसमाना आयामेनेत्यर्थः ।

अथैतद्गतगुहाद्वयप्ररूपणायाऽऽह—

वेयड्ढस्स णं पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दो गुहाओ पएणत्ताओ, उत्तरदाहिणायायाओ पाईणपडीणविच्छिएणाओ पएणासं५०जोअणाइं आयामेणं दुवालस१२जोअणाइं विक्खंभेणं अट्ठ८जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं वइरामयकवाडोहाडिआओ जमलजुअलकवाडघणदुप्पदेसाओ णिच्चंधयारतिमिसाओ ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसप्पमुहाओ ०जाव पडिरूवाओ। तं जहा-तमिस्सगुहा चेव, खंडप्पवायगुहा चेव। तत्थ णं दो देवा महिड्ढिया महज्जुइआ महाबला महायसा महासुक्खा महाणुभागा पलिओवमट्ठिईया परिवसंति । तं जहा-कयमालए चेव, णट्टमालए चेव ।

( वेयड्ढस्स णमित्यादि ) वैताढ्यस्य पर्वतस्य ( पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं ति ) अत्र सूत्रे पूर्वस्यां दिशः पूज्यत्वात् आर्षत्वाद्वा'पुरच्छिम'इतिशब्दस्य प्राग् निपातेऽपि पश्चिमाया पूर्वस्यामिति व्याख्येयम्, अत्र ग्रन्थे ग्रन्थान्तरे च पश्चिमायां तमिस्रगुहायाः पूर्वस्यां च खण्डप्रपातगुहाया अभिधानात् द्वे गुहे प्रज्ञप्ते, प्राकृतशैल्या च बहुवचनम्। उत्तरदक्षिणयोरायते,एतावता य एव वैताढ्यस्य विष्कम्भः स एवानयोरायाम इति भावः। प्राचीनप्रतीचीनविस्तीर्णे इत्यादर्थतो व्यक्तम्। अत्र च उमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपसमासप्रकरणे गुहाया विजयद्वारप्रमाणद्वारेति विशेषणदर्शनात् चतुर्योजनविस्तृतद्वारा इत्यपि विशेषणं ज्ञेयम्, वज्रमयकपाटाभ्यामवघाटिते आच्छादिते, इत्यर्थः। एते च द्वे अपि चक्रवर्तिकालवर्ज दक्षिणपार्श्वे उत्तरपार्श्वे च प्रत्येकं सदा संमीलितवज्रमयकपाटयुगले स्याताम्। अत एव यमलानि समस्थितानि युगलानि द्वयरूपाणि घनानि निश्छिद्राणि कपाटानि तैः दुष्प्रवेशे, तथा नित्यमन्धकारतमिस्रे द्वौ तुल्यार्थौ प्रकर्षपराविति प्रकृष्टान्धकारं ययोस्ते तथा विशेषणद्वारा । अत्रार्थे हेतुमाह-व्यपगतं ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्राणां ज्योतिर्यतः स एतादृशः पन्था ययोस्ते तत्तथा । अथवा-व्यपगता ग्रहाऽऽदीनां ज्योतिषश्चाग्नेः प्रभा ययोस्ते च तथा यावत्प्रतिरूपे। अत्र यावत्करणात्"पासाईया" इत्यादि विशेषणत्रयम्-"अच्छाओ" इत्यादीनि वा विशेषणानि यथासंभव ज्ञेयानि। ते गुहे नामतो दर्शयति-तद्यथा-तमिस्रा गुहा चेव, खण्डप्रपाता गुहा चेव। चैवशब्दो द्वयोस्तुल्यकक्षताद्योतनार्थौ, तेन पश्चिमभागवर्तिनी तमिस्रा, पूर्वभागवर्तिनी खण्डप्रपाता, इमे द्वे अपि समस्वरूपे वेदितव्ये इति। ( तत्थ णमित्यादि ) सर्वमेतद्विजयदेवसमगमकमिति व्याख्यातप्रायं,नवरं कृतमालकस्तमिस्राधिपतिः, नृत्तमालक खण्डप्रपाताधिपतिरिति।

अथात्र श्रेणिप्ररूपणायाऽऽह-

तेसि णं वणसंडाणं बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ वेअड्ढस्स पव्वयस्स उभओ पासिं दस दस जोअणाइं उड्ढं उप्पइत्ता इत्थ दुवे विज्जाहरसेढीओ पएणत्ताओ,पाईणपडीणायय।ओ उदीणदाहिणविच्छिएणाओ दस दस जोअणाइं विक्खंभेणं पव्वयसमियाओ आयामेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइयाहिं दोहिं वणसंडेहिं संपरिक्खित्ताओ, ताओ णं पउमवरवेइयाओ अद्धजोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं पव्वयसमियाओ आयामेणं वएणओ णेयव्वो वणसंडा वि पउमवरवेइयासमगा आयामेणं वएणओ । विज्जाहरसेढीणं भंते ! भूमीणं केरिसए आयारभावपडोयारे पएणत्ते ? । गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पएणत्ते । से जहा णाम ए आलिंगपुक्खरेइ वा०जाव णाणाविहपंचवएणेहिं मणीहिं तणेहिं उवसोभिए । तं जहा-कित्तिमेहिं चेव,अकित्तिमेहिं चेव। तत्थ णं दाहिणिल्लाए विज्जाहरसेढीए गगणवल्लभपामोक्खा पण्णासं५०विज्जाहरणगरावासा पएणत्ता। उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए रहनेउरचक्कवालपामोक्खा सट्ठिं६०विज्जाहरणगरावासा पएणत्ता। एवामेव सपुव्वावरेणं दाहिणिल्लाए उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए एगं दसुत्तरं विज्जाहरणगरावाससय ११० भवतीतिमक्खायं। ते विज्जाहरणगरा रिद्धत्थिमिअसमिद्धा पमुइअजण जाणवया ०जाव पडिरूवा। तेसु णं विज्जाहरणगरेसु विज्जाहररायाणो परिवसंति महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारा रायवएणओ भाणिअव्वो। विज्जाहरसेढीणं भंते! मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे पएणत्ते ? । गोयमा! ते णं मणुआ बहुसं

घयणा बहुसंठाणा बहुउच्चत्तपज्जवा बहुआउपज्जवा०जाव सव्वदुक्खाणमंत करेंति । तासि णं विज्जाहरसेढीणं बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ वेअड्ढस्स पव्वयस्स उभओ पासिं दस दस जोअणाइ उड्ढं उप्पइत्ता एत्थ णं दुव आभिओगसेढीओ पण्णत्ताओ, पाईणपडीणाययाओ उदीणदाहिणविच्छिण्णाओ दस दस जोअणाइ विक्खंभेणं पव्वयसमियाओ आयामेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइयाहिं दोहि अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्ताओ वण्णओ दोण्ह वि पव्वयसमियाओ आयामेण । अभिओगसेढीणं भंते ! केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ? । गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते,०जाव तणेहिं उवसोभिए वण्णाइं० जाव तणाणं सद्दो त्ति । तासि णं अभिओगसेढीणं तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं ०जाव वाणमंतरा देवा य देवीओ अ आसयंति सयंति ०जाव फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तासि णं आभिओगसेढीसु सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमजमवरुणवेसमणकाइयाणं आभिओगाणं देवाणं बहवे भवणा पण्णत्ता । ते णं भवणा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा वण्णओ ०जाव अच्छरघणसंघविकिण्णा०जाव पडिरूवा । तत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमजमवरुणवेसमणकाइआ बहवे आभिओगा देवा महिड्ढिआ महज्जुइआ ०जाव महासुक्खा पलिओवमट्ठिईया परिवसंति । तासि णं आभिओगसेढीणं बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ वेअड्ढस्स पव्वयस्स उभओ पासिं पंच जोअणाइ उड्ढं उप्पइत्ता एत्थ णं वेयड्ढस्स पव्वयस्स सिहरतले पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दस जोअणाइं विक्खंभेणं पव्वयसमगे आयामेणं । से णं इक्काए पउमवरवेइयाए इक्केण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । पमाणं वण्णगो दोण्हं पि । वेयड्ढस्स णं भंते ! पव्वयस्स सिहरतलस्स केरिसए आगारभावपडोआरे पण्णत्ते ? । गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । से जहा णाम ए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव णाणावि(हे)ह(हिं) पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए० जाव वावीओ पुक्खरिणीओ०जाव वाणमंतरा देवा य देवीओ अ आसयंति सयंति ०जाव भुंजमाणा विहरंति ।

( तेसि णं वणसंडाणमित्यादि ) तयोर्वैताढ्योभयपार्श्ववर्तिनोर्भूमिगतयोर्वनखण्डयोर्बहुसमरमणीयाद्भूमिभागादूर्ध्वं वैताढ्यगिरेरुभयोः पार्श्वयोर्दश दश योजनान्युत्पत्य-गत्वा अत्र द्वे विद्याधरश्रेण्यौ-विद्याधराणामाश्रयभूते प्रज्ञप्ते । एका दक्षिणभागे, एका चोत्तरभागे इत्यर्थः । प्राग्परायते उदग्दक्षिणविस्तीर्णे । उभे अपि विष्कम्भेन दश दश योजनानि । अत एव प्रथममेखलाया वैताढ्यविष्कम्भास्त्रिंशद् योजनानि । पर्वतसामिके आयामेन वैताढ्यवदिमे अति पूर्वापरोदधिस्पृष्टे इत्यर्थः । तथा प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोः द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वाभ्यां च वनखण्डाभ्यां सपरिक्षिप्ते । एवमेकैकस्यां श्रेण्यां द्वे पद्मवरवेदिके, द्वे च वनखण्डे, इत्युभयोः श्रेण्योर्मीलने चतस्रः पद्मवरवेदिकाः, चत्वारि वनखण्डानीति ज्ञेयम् । संवादी चाऽयमर्थः श्रीमलयगिरिकृतबृहत्क्षेत्रसमासवृत्त्या । तथा च तत्रोक्तम्-" एकैका च श्रेणिरुभयपार्श्ववर्तिभ्यां वैताढ्यप्रमाणाऽऽयामाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां वनखण्डाभ्यां समन्ततः परिक्षिप्ता । " इति शेष सूत्रं गतार्थमिति । अथ तयोः श्रेण्योः स्वरूपं पृच्छति—( विज्जाहरेत्यादि ) गतार्थम् , नवरम् अत्र बहुष्वादर्शेषु—" णाणामणिपंचवण्णेहिं मणीहिं " इति पाठो न दृश्यते, परं राजप्रश्नीयसूत्रवृत्त्योर्दृष्टत्वात् संगतत्वाच्च " णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं तणेहिं" इति पाठो लिखितोऽस्तीति बोध्यम् । (जं०२वक्ख०)

मणीनां वर्णकश्चेत्थम्—" नानाविहेहिं पचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए । तं जहा—किण्हेहिं , णीलेहिं , लोहिएहिं, हालिद्देहिं, सुक्किल्लेहि य । तत्थ ण जे ते किण्हा मणी तेसि ण मणीण इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । से जहानामए जीमूतेति वा अंजणेति वा खंजणेति वा कज्जलेइ वा गवलेइ वा गवलगुलियाइ वा भमरेइ वा भमरावलियाति वा भमरपत्तगयसारेइ वा जंबूफलेइ वा अद्दारिट्ठेइ वा पुरिपुट्ठएइ वा गयति वा गयकलभएति वा किण्हसप्पेति वा किण्हकेसरेइ वा आगासथिग्गलेइ वा किण्हाऽसोएइ वा किण्हकरवीरेइ वा किण्हबंधुजीवेइ वा भवे एयारूवे सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। ते णं किण्हा मणी एत्तो इट्ठतराए चेव पियतराए चेव कततराए चेव मणामतराए चेव मणुण्णतराए चेव वण्णेणं पण्णत्ता ॥ जे ते णीला मणी, तेसि णं मणीण इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए भिंगेति वा भिंगपत्तेइ वा सुएइ वा सुयपिच्छेइ वा चासेइ वा चासपिच्छेइ वा नीलाइ वा नीलगुलियाइ वा सामाएति वा उच्चतएति वा वणरातीति वा हलहरवसणेति वा मोरगीवाइ वा पारेवयगीवाति वा अयसीकुसुमेति वा वाणकुसुमेति वा अजणकेसियाकुसुमेइ वा नीलुप्पलेइ वा नीलाऽसोगेइ वा नीलबंधुजीवेइ वा नीलकणवीरेइ वा भवे एयारूवे सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे। तेणं णीला मणी एत्तो इट्ठतरा चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता ॥ तत्थ जे ते लोहिया मणी, तेसि ण इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए उरभरुहिरेइ वा ससरुहिरेइ वा नररुहिरेइ वा वराहरुहिरेइ वा बालइंगोवेइ वा बालदिवाकरेति वा सझब्भरागेइ वा गुंजद्धरागेइ वा जासुणकुसुमेइ वा किंसुयकुसुमेइ वा पालियाकुसुमेति वा जातिहिंगुलेति वा सिलप्पवालेति वा पवालकुरेति वा लोहियक्खमणीति वा लक्खारसगेइ वा किमिरागकंबलेइ वा चीणपिट्ठरासीति वा रत्तुप्पलेइ वा रत्ताऽसोगेइ वा रत्तकणवीरेति वा रत्तबंधुजीवेइ वा, भवे एयारूवे सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे । ते णं लोहिया मणी एत्तो इट्ठयरा चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता ॥ तत्थ णं जे ते हालिद्दा मणी तेसि ण

ठान्तरे-'पमुइयजणुज्जाणजणवया।' तत्र प्रमुदितजनान्युद्यानानि जनपदाश्च यस्यां सा तथा। 'आइराणजणमणुस्सा' मनुष्यजनेनाऽऽकीर्णा—सङ्कीर्णा,मनुष्यजनाकीर्णेति वाच्ये राजदन्ताऽऽदिदर्शनादाकीर्णजनमनुष्येत्युक्तम्, आकीर्णो वा गुणव्याप्तो मनुष्यजनो यस्यां सा तथा। "हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपरणत्तसेउसीमा" हलानां—लाङ्गलानां शतैः सहस्रैश्च शतसहस्रैर्वा-लक्षैः संकृष्टा-विलिखिता विकृष्टं-दूरं यावद् अविकृष्टा वा-आसन्ना लष्टा-मनोज्ञा कर्षकाभिमतफलसाधनसमर्थत्वात्। "पराणत्त त्ति" योग्यीकृता बीजवपनस्य सेतुसीमा मार्गसीमा यस्याः सा तथा, अथवा-संकृष्टाऽऽदिविशेषणानि सेतूनि—कुल्याजलसेकक्षेत्राणि सीमासु यस्याः सा तथा, अथवा—हलशतसहस्राणां संकृष्टेन-संकर्षणेन विकृष्टाः-दूरवर्त्तिन्यो लष्टाः प्रज्ञपिताः—कथिता सेतुसीमा यस्याः सा तथा, अनेन तज्जनपदस्य लोकबाहुल्य क्षेत्रबाहुल्य चोक्तम्। "कुक्कुडसंडेयगामपउरा" कुक्कुटाः-ताम्रचूडाः षण्डेयाः—षण्डपुत्रकाः तैयो ग्रामाः-समूहास्ते प्रचुराः-प्रभूताः यस्यां सा तथा, अनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतं, प्रमुदितो हि लोकः क्रीडार्थं कुक्कुटान् पोषयति षण्डांश्च करोतीति। "उच्छुजवसालिकलिया।" पाठान्तरेण-" उच्छुजवसालिमालिणीया।" एतद्वत्या सेत्यर्थः, अनेन च जनप्रमोदकारणमुक्तम्, न ह्येवंप्रकारवस्तुभावे प्रमोदो जनस्य स्यादिति। "गोमहिसगवेलगप्पभूया।" गवादयः प्रभूता—प्रचुरा यस्यामिति वाक्यम्,गवेलकाः—उरभ्राः। "आयारवंतचेइयजुवइविविहसरिणविट्ठबहुला।" आकारवन्ति-सुन्दराऽऽकाराणि आकारचित्राणि वा यानि चैत्यानि-देवताऽऽयतनानि युवतीनां च-तरुणीनां पण्यतरुणीनामिति हृदय, यानि विविधानि सन्निविष्टानि-सन्निवेशनानि पाटकास्तानि बहुलानि—बहूनि यस्यां सा तथा, "अरिहंतचेइयजणवयविसरिणविट्ठबहुले त्ति" पाठान्तरं, तत्राऽर्हच्चैत्यानां जनानां व्रतिनां च विविधानि यानि सन्निविष्टानि—पाटकास्तैर्बहुलेति विग्रहः। "सुयागचित्तचेइयजूवसरिणविट्ठबहुला" इति च पाठान्तरम्, तत्र च सुयागा'-शोभनयज्ञा' चित्रचैत्यानि—प्रतीतानि, यूपचितयो-यज्ञेषु यूपचयनानि, द्यूतानि वा क्रीडाविशेषाश्रितय. तेषां सन्निविष्टानि—निवेशास्तैर्बहुला या सा तथा। "उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिया।" उत्कोटा—उत्कोचा लञ्चेत्यर्थः। तया ये व्यवहरन्ति ते औत्कोटिकाः गात्रात्—मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशाद् ग्रन्थिम्-कार्षापणाऽऽदिपुट्टलिकां भिन्दन्ति—आच्छिन्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदका। "उक्कोडियगाहगंठिभेय" इति च पाठान्तर व्यक्त, भटा – चारभटाः बलात्कारप्रवृत्तयः, तस्कराः—तदेव – चौर्यं कुर्वन्तीत्येवशीलाः, खण्डरक्षाःदण्डपाशिकाः शुल्कपाला वा, एभी रहिता या सा तथा, अनेन तत्रोपद्रवकारिणामभावमाह। "खेमा" अशिवाभावात्। "निरुवद्दवा" निरुपद्रवा, अविद्यमानराजादिकृतोपद्रवेत्यर्थः। "सुभिक्खा" सुष्ठु मनोज्ञा प्रचुरा भिक्षा भिक्षुकाणां यस्यां सा सुभिक्षा। अत एव पाषण्डिनां गृहस्थानां च "वीसत्थसुहावासा" विश्वस्तानां निर्भयानामनुत्सुकानां वा सुखः—सुखस्वरूप. शुभो वा आवासो यस्यां सा तथा। "अणेगकोडिकुडुम्बियाइरणणिव्वुयसुहा।" अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यानां स्वरूपपरिमाणे वा येषां ते अनेककोटयः तैः कौटुम्बिकैः—कुटुम्बिभिराकीर्णा—सङ्कुला या सा तथा, सा चासौ निर्वृता च—सन्तुष्टजनयोगात्सन्तोषवतीति कर्मधारय., अत एव सा चासौ सुखा च शुभा वेति कर्मधारयः। 'नडनट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलम्बयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुम्बवीणियअणेगतालायराऽणुचरिया।' नटाः—नाटकानां नाटयितारो नर्त्तका ये नृत्यन्ति, अङ्कोल्ला इत्येके, जल्लाः—वरत्राखेलकाः, राज्ञ स्तोत्रपाठका इत्यन्ये, मल्लाः—प्रतीता., मौष्टिका—मल्ला एव ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति, विडम्बका —विदूषकाः, कथकाः प्रतीताः, प्लवकाः ये उत्प्लवन्ते नद्यादिक वा तरन्ति, लासकाः-ये रासकान् गायन्ति, जयशब्दप्रयोक्तारो वा, भाण्डा इत्यर्थः, आख्यायकाः-ये शुभाशुभमाख्यान्ति, लङ्खा.-महावंशाग्रखेलका, मङ्खाः—चित्रफलकहस्ता भिक्षुकाः, 'तूणइल्ला' तूणाऽभिधानवाद्यविशेषवन्तः, तुम्बवीणिकाः—वीणावादकाः, अनेके च ये तालाचराः—तालादानेन प्रेक्षाकारिणस्तैरनुचरिता—आसेविता या सा तथा। "आरामुज्जाणअगडतलायदीहियवप्पिणिगुणोववेया।" आरमन्ति येषु माधवीलतागृहाऽऽदिषु दम्पत्यादीनि क्रीडन्ति 'आरामाः', उद्यानानि—पुष्पाऽऽदिमद्वृक्षसङ्कुलान्युत्सवाऽऽदौ बहुजनभोग्यानि, "अगड त्ति" अवटाः—कूपाः, तडागानि, प्रतीतानि दीर्घिका—सारणी, "वप्पिणि त्ति" केदाराः, एतेषां ये गुणा रम्यताऽऽदयस्तैरुपपेता—युक्ता या सा तथा, उप अप इत इत्येतस्य शब्दत्रयस्य स्थाने शकन्ध्वादिदर्शनादकारलोपे उपपेतेति भवति। क्वचित्पठ्यते—" नंदणवणसन्निभप्पगासा।" नन्दनवनं—मेरोर्द्वितीयवन तत्प्रकाशसन्निभः प्रकाशो यस्यां सा तथा, इह चैकस्य प्रकाशशब्दस्य लोप उष्ट्रमुख इत्यादाविवेति।

मूलम्—" उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला।"

अस्य व्याख्या—" उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा" उद्विद्धम् उच्चैः विपुल—विस्तीर्णं गम्भीरम्—अलब्धमध्य खातम्-उपरि विस्तीर्णम् अध सङ्कट परिखा च-अध उपरि च समखातरूपा यस्या सा। तथा—"चक्कगयभुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसा।" चक्राणि—रथाङ्गानि अरघट्टाङ्गानि वा, गदा —प्रहरणविशेषा, भुसुण्ढ्योऽप्येवम्, अवरोध.—प्रतोलिद्वारेष्ववान्तरप्राकारः सम्भाव्यते, शतघ्न्यो—महायष्टयो महाशिला वा या उपरिष्टात्पातिता सत्य शतानि पुरुषाणां घ्नन्तीति, यमलानि—समसंस्थितद्वयरूपाणि यानि कपाटानि घनानि च निश्छिद्राणि तैर्दुष्प्रवेशा या सा तथा। "धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता।" धनुः कुटिल—कुटिलधनुस्ततोऽपि वक्रेण प्राकारेण परिक्षिप्ता या सा तथा। "कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा।" कपिशीर्षकैर्वृत्तरचितैः—वर्त्तुलकृतैः संस्थितैः —विशिष्टसंस्था

नवद्भिर्विराजमाना—शोभमाना या सा नथा । " अट्टालय-
चरियदारगोपुरतोरणउण्णयसुविभत्तरायमग्गा । " अट्टाल-
काः—प्राकारोपरिवर्त्याश्रयविशेषाः, चरिका—अष्टहस्तप्रमा-
णा नगरप्राकारान्तरालमार्गः, द्वाराणि—प्राकारद्वारिकाः,
गोपुराणि—पुरद्वाराणि, तोरणानि-प्रतीतानि, उन्नतानि—
गुणवन्ति उन्नतानि च यस्यां सा तथा, सुविभक्ताः—विविक्ता
राजमार्गा यस्यां सा तथा, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः ।
'छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला ।' छेकेन—निपुणेनाऽऽ
चार्येण—शिल्पिना रचितो दृढो—बलवान् परिघः—अर्गला
इन्द्रकीलश्च—गोपुरावयवविशेषो यस्यां सा तथा ।

मूलम्—"विवणिवणिच्छेत्तसिप्पियाइण्णणिव्वुयसुहा सिं-
घाडगतिगचउक्कचच्चरपणियावणविविहवत्थुपरिमंडिया सु-
रम्मा नरवइपविइण्णमहिवइपहा अणेगवरतुरगमत्तकुंजरर-
हपहकरसीयसंदमाणीयाइण्णजाणजुग्गा विमउलणवणलिणि-
सोभियजला पंडुरवरभवणसण्णिमहिया उत्ताणणयणपेच्छणि
ज्जा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥' (सूत्र-१)
अस्य व्याख्या—" विवणिवणिच्छेत्तसिप्पियाइण्णणिव्वुयसु-
हा । " विपणीनां-वणिक्पथानां हट्टमार्गाणां, वणिजां च
वाणिजकानां च, क्षेत्रं-स्थानं या सा तथा, शिल्पिभिः—कु-
म्भकाराऽऽदिभिराकीर्णा, अत एव जनप्रयोजनसिद्धेर्जनानां
निर्वृतत्वेन सुखितत्वेन च निर्वृतसुखा च या सा तथा ।
वाचनान्तरे छेत्तशब्दस्य स्थाने छेयशब्दोऽधीयते, तत्र च
छेकशिल्पिकाऽऽकीर्णेति व्याख्येयम् । 'सिंघाडगतिगचउ-
क्कचच्चरपणियावणविविहवत्थुपरिमंडिया । ' शृङ्गाटकं-त्रि-
कोण स्थानं, त्रिकं—यत्र रथ्यात्रयं मिलति, चतुष्कं—रथ्या-
चतुष्कमेलकं, चत्वरं-बहुरथ्यापातस्थानं, पणितानि-भाण्डा-
नि तत्प्रधाना आपणा—हट्टाः, विविधवस्तूनि—अनेकविध-
द्रव्याणि, एभिः परिमण्डिता या सा तथा । पुस्तकान्तरेऽधी-
यते—' सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु पणि-
यावणविविहवेसपरिमंडिया ।' तत्र चतुर्मुखं—चतुर्द्वारं देव-
कुलाऽऽदि, महापथो—राजमार्गः, पन्थाः—तदितरः, ततश्च
शृङ्गाटकाऽऽदिषु पणिताऽऽपणैः विविधवेषैश्च जनैर्विविध-
वेश्याभिर्वा परिमण्डिता या सा तथा । ' सुरम्मा ' अतिरम-
णीया । ' नरवइपविइण्णमहिवइपहा । ' नरपतिना—राज्ञा
प्रविकीर्णो—गमनाऽऽगमनाभ्यां व्याप्तो महीपतिपथो—रा-
जमार्गो यस्यां सा तथा,अथवा-नरपतिना प्रविकीर्णा विक्षि-
प्ता निरस्ताऽन्येषां महीपतीनां प्रभा यस्यां सा तथा । अथवा-
नरपतिभिः प्रविकीर्णा महीपतेः प्रभा यस्यां सा तथा । 'अ-
णेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकरसीयसंदमाणीयाइण्णजाणजु-
ग्गा । ' अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुञ्जरैः "रहपहकर त्ति" रथनिकरैः
शिबिकाभिः स्यन्दमानीभिराकीर्णा-व्याप्ता यानैर्युग्यैश्च या
सा तथा,अथवा-अनेके वरतुरगाऽऽदयो यस्याम् आकीर्णानि
च गुणवन्ति यानाऽऽदीनि यस्यां सा तथा, तत्र शिबिकाः-
कूटाऽऽकारेणाच्छादिता जम्पानविशेषाः,स्यन्दमानिकाः पुरु-
षप्रमाणजम्पानविशेषाः,यानानि-शकटाऽऽदीनि,युग्यानि-गो
ल्लविषयप्रसिद्धानि द्विहस्तप्रमाणानि वेदिकोपशोभितानि
जम्पानान्येवेति । ' विमउलणवणलिणिसोभियजला । ' विमु-
कुलाभिः-विकसितकमलाभिर्नवाभिर्नलिनीभिः—पद्मिनीभिः
शोभितानि जलानि यस्यां सा तथा । ' पंडुरवरभवणस-
ण्णिमहिया ।' पाण्डुरैः—सुधाधवलैः वरभवनैः-प्रासादैः स-
म्यक् नितरां महितेव महिता—पूजिता या सा तथा ।
" उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा । " सौभाग्यातिशयादुत्तानितैः-
अनिमिषितैः नयनैः-लोचनैः प्रेक्षणीया या सा तथा । ' पासा-
दीया ' चित्तप्रसत्तिकारिणी । ' दरिसणिज्जा । ' यां पश्य-
च्चक्षुः श्रमं न गच्छति । ' अभिरूवा ' मनोज्ञरूपा । ' प-
डिरूवा ' द्रष्टारं २ प्रति रूपं यस्याः सा तथेति ॥१॥" (औ०)
अथ कियत्पर्यन्तः स ग्राह्य इत्याह—' पडिरूवा ' इति ।
प्रतिरूपाणि प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपमाकारो येषां तानि
तथा तेषु, णमिति प्राग्वत् । विद्याधरनगरेषु विद्याधररा-
जानः परिवसन्ति । अत्र समासान्तविधेरनित्यत्वान्नादन्तता ।
कथंभूतास्ते इत्याह—महाहिमवान् हैमवतक्षेत्रस्योत्तरतः
सीमाकारी वर्षधरपर्वतः मलयः पर्वतविशेषः सुप्रतीतो
मन्दरो मेरुः माहेन्द्रः पर्वतविशेषः शक्रो वा ते इव साराः
प्रधानाः । " रायवण्णओ भाणियव्वो त्ति । " अत्राऽपि सर्वः
प्रथमोपाङ्गगतो राजवर्णको भणितव्य इति । जं० १ वक्ष० ।

स च इत्थम्—

" तत्थ णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ ,
महयाहिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धदी-
हरायकुलवंससुप्पसूए णिरंतरं रायलक्खणविराइअगमंगे
बहुजणबहुमाणे पूजिए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुइए
मुद्धाहिसित्ते माउपिउसुजाए दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे
खेमकरे खेमधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले ज-
णवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे णरपवरे पुरिसपवरे पुरि-
ससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे पुरिसपुंडरीए पुरि-
सवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविउलभवणस-
यणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरयते आ-
ओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डिअपउरभत्तपाणे बहुदासीदास-
गोमहिसगवेलगप्पभूते पडिपुण्णजंतकोसकोट्ठागाराउहागा-
रे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं निहयकंटयं मलिय-
कंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहयसत्तुं निहयसत्तुं मलियसत्तुं
उद्धिअसत्तु निज्जियसत्तुं पराइयसत्तुं ववगयदुब्भिक्खं मारि-
भयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं रज्जं
पसासेमाणे विहरइ । " ( सूत्र ६ । औ० । ) " विज्जाहरसे-
ढी णमिति " सूत्रं गतार्थम् । अथात्रैव वर्त्तमानामाभियो-
गश्रेणिं निरूपयति—( तासि णमित्यादि ) तयोर्विद्याधर-
श्रेण्योर्बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद्वैताढ्यस्य पर्वतस्योभयोः
पार्श्वयोर्दश दश योजनान्यूर्द्ध्वमुत्पत्य अत्र द्वे श्रा समन्तात्
आभिमुख्येन युज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियो-
ग्याः शक्रलोकपालप्रेष्यकर्मकारिणो व्यन्तरविशेषास्तेषामा-
वासभूते श्रेण्यौ-आभियोग्यश्रेण्यौ प्रज्ञप्ते । शेषं गतार्थं, नव-
रम्-"वण्णओ दोण्ह वि त्ति ।" द्वयोरपि जात्यपेक्षया पद्म-
वरवेदिका—वनखण्डयोर्वर्णको वाच्य इति । ( जं० १ वक्ष० )

स चायम्—

" तीसे णं जगतीए उप्पिं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगा
महई पउमवरवेदिया पण्णत्ता । सा णं पउमवरवेदिया अ-
द्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरय-
णामई जगतीसमिया परिक्खेवेणं सव्वरयणामई० तीसे णं
पउमवरवेइयाए अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा—

वइरामया नेमा, रिट्ठामया पइट्ठाणा, वेरुलियामया खंभा, सुवएणरुप्पमया फलगा, वइरामया संधी, लोहितक्खमईओ सूईओ, णाणामणिमया कलेवरा, नानामणिमया कलेवरसंघाडा, णाणामणिमया रूवा, नाणामणिमया रूवसंघाडा, अंकामया पक्खा, अंकामयाओ पक्खवाहाओ, जोतिरसामया, वंसा, जोतिरसामया वंसकवेल्लुया य, रयणामईओ पट्टियाओ, जातरूवमयीओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुञ्छणीओ सव्वसेए रइयामते साणं छादणे। सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं एगमेगेणं गवक्खजालेणं एगमेगेणं खिंखिणिजालेणं० जाव मणिजालेणं कणयजालेणं रयणजालेणं एगमेगेणं पउमवरजालेणं सव्वरयणामएणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता। ते णं जाला तवणिज्जलंवूसगा सुवएणपयरगमंडिया णाणामणिरयणविविहहारऽद्धहारउवसोभितसमुदया ईसिं अएणमएणमसंपत्ता पुव्वाऽवरदाहिणउत्तरागतेहिं वाएहिं मदागं २ एज्जमाणा २ कंपिज्जमाणा २ लंवमाणा २ पझंझमाणा २ सद्दायमाणा २ तेण ओरालेणं मणुएणेणं कएणमणणिव्वुतिकरेणं सद्देणं सव्वतो समंता आपूरेमाणा सिरीए अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठति। तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा गयसंघाडा नरसंघाडा किएणरसंघाडा किंपुरिससंघाडा महोरगसंघाडा गधव्वसंघाडा वसहसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा सएहा लएहा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्ककडच्छाया सप्पभा समिरिया सउज्जोया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहि बहवे हयपतीओ तहेव० जाव पडिरूवाओ, एव हयवीहीओ० जाव पडिरूवाओ , एवं हयमिहुणाइं० जाव पडिरूवाइं। तीसे ण पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमलयाओ नागलताओ , एव असोगलयाओ चंपगलयाओ चूयवणलयाओ वासंतिलयाओ अतिमुत्तगलयाओ कुंदलयाओ सामलयाओ णिच्च कुसुमियाओ० जाव सुविहितपिंडमंजरिवडिंसकधरीओ सव्वरयणामईओ लएहाओ घट्ठाओ मट्ठाओ णीरयाओ णिम्मलाओ णिप्पंकाओ णिक्कंकडच्छायाओ सप्पभाओ समिरियाओ सउज्जोयाओ पासाइयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ से केणऽट्ठेण भंते ! एव वुच्चइ—पउमवरवेइया पउमवरवेइया ?। गोयमा ! पउमवरवेइयाए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं वेदियासु वेदियाबाहासु वेदियासीसफलगेसु वेदियापुडंतरेसु खंभेसु खंभवाहासु खंभसीसेसु खंभपुडंतरेसु सूईसु सूईमुहेसु सूईफलएसु सूईपुडतरेसु पक्खेसु पक्खवाहासु पक्खपेरंतरेसु बहूइं उप्पलाइं पउमाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं सएहाइं लएहाइं घट्ठाइं मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइं निक्ककडच्छायाइं सप्पभाइं समिरीयाइं सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइं पडिरूवाइं महता २ वासिकच्छत्तसमयाइं पएणत्ताइं समणाउसो !, से तेणऽट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ पउमवरवेदिया २। पउमवरवेइया णं भंते ! किं सासया, असासया ?। गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया ॥ से केणऽट्ठेण भंते ! एव वुच्चइ-सिय सासया, सिय असासया ?। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासता, वएणपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय सासता, सिय असासता। पउमवरवेइया णं भंते ! कालओ केवचिरं होति ?। गोयमा ! ण कया वि णासि, ण कया वि णत्थि, ण कया वि न भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य धुवा नियया सासता अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेदिया। ( सू० १२५ )

वनखण्डवर्णकः—

" तीसे णं जगतीए उप्पिं बाहिं पउमवरवेइयाए एत्थ णं एगे महं वणसंडे पएणत्ते, देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं जगतीसमए परिक्खेवेणं किएहे किएहोभासे० जाव अणेगसगडरहजाणजुग्गपरिमोयणे सुरम्मे पासादीए सएहे लएहे घट्ठे मट्ठे नीरए निप्पंके निम्मले निक्ककडच्छाए सप्पभे समिरीए सउज्जोए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तस्स णं वणसंडस्स अतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पएणत्ते,से जहानामए—आलिंगपुक्खरेति वा मुइंगपुक्खरेति वा सरतलेइ वा करतलेइ वा आयंसमडलेति वा चदमडलेति वा सूरमंडलेति वा उरब्भचम्मेति वा उसभचम्मेति वा वराहचम्मेति वा सीहचम्मेति वा वग्घचम्मेति वा विगचम्मेति वा दीविचम्मेति वा अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते आवडपच्चावडसेढीपसेढीसोतित्थयसोवत्थियपूसमाणवद्धमाणमच्छंडकमकरडकजारमारफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवासंतिलयपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं समिरीएहिं सउज्जोएहिं नाणाविहपचवएणेहिं तणेहिं य मणीहि य उवसोहिए। तं जहा—किएहेहिं० जाव सुकिल्लेहिं। तत्थ णं जे ते किएहा तणा य मणी य, तेसिं ण अयमेतारूवे वएणावासे पएणत्ते, से जहानामए जीमूतेति वा अंजणेति वा खंजणेति वा कज्जलेति वा मसीइ वा गुलियाइ वा गवलेइ वा गवलगुलियाति वा भमरेति वा भमरावलियाति वा भमरपत्तगयसारेति वा जबुफलेति वा अद्दारिट्ठेति वा पुरिपुट्ठएति वा गएति वा गयकलभेति वा कएहसप्पेइ वा कएहकेसरेइ वा आगासथिग्गलेति वा कएहासोएति वा किएहकणवीरेइ वा कएहबंधुजीवएति वा भवे एयारूवे सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, तेसि णं कएहाणं तणाणं मणीण य इत्तो इट्ठयराए चेव कंततराए चेव पियतराए चेव मणुएणतराए चेव मणामतराए चेव वएणेणं पएणत्ते। तत्थ ण जे ते णीलगा तणा य, मणी य तेसिं ण इमेयारूवे वएणावासे पएणत्ते, से जहानामए भिंगेइ वा भिंगपत्ते ति वा चासेति वा चासपिच्छेति वा सुएति वा सुयपिच्छेति वा णीलीति वा णीलीभेएति वा णीलीगुलियाति वा सामाएति वा उच्चतएति वा वणराईइ वा हलहरवसणेइ वा मोरग्गीवाति वा पारेवयगीवाति वा अयसिकुसुमेति वा अंजणकेसिगाकुसुमेति वा णीलुप्पलेति वा णीलासोएति वा णीलकणवीरेति वा णीलबंधुजीवएति वा, भवे एयारूवे सिया ?। णो इणट्ठे समट्ठे। तेसि ण णीलगाण

तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव० जाव वण्णेणं पण्णत्ते । तत्थ जे ते लोहितगा तणा य मणी य तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । से जहाणामए ससकरुहिरेति वा उरब्भरुहिरेति वा णररुहिरेति वा वराहरुहिरेति वा महिसरुहिरेति वा बालिंदगोमएति वा बालदिवायरेति वा संझब्भरागेति वा गुंजद्धरागेति वा जातिहिंगुलएति वा सिलप्पवालेति वा पवालंकुरेति वा लोहितक्खमणीति वा लक्खारसएति वा किमिरागेइ वा रत्तकंबलेइ वा चीणपिट्ठरासीइ वा जासुयणकुसुमेइ वा किंसुअकुसुमेई वा पालियाकुसुमेइ वा रत्तुप्पलेति वा रत्तासोगेति वा रत्तकणयारेति वा रत्तबंधुजीवेइ वा, भवे एयारूवे सिया ? । नो इणट्ठे समट्ठे । तेसि णं लोहियगाणं तणाण य मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव वण्णेणं पण्णत्ते । तत्थ णं जे ते हालिद्दगा तणा य मणी य, तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहा णाम ए-चंपए वा चंपयछल्लीइ वा चंपयभेयइ वा हालिद्दाति वा हालिद्दभेएति वा हालिद्दगुलियाति वा हरियालेति वा हरियालभेएति वा हरियालगुलियाति वा चिउरेति वा चिउरंगरागेति वा वरकणएति वा वरकणगनिघसेति वा सुवण्णसिप्पियति वा वरपुरिसवसणेति वा सल्लइकुसुमेति वा चंपककुसुमेइ वा कुहुडियाकुसुमेति वा कोरंटकदामेइ वा तडउडाकुसुमेति वा घोसाडियाकुसुमेति वा सुवण्णजूहियाकुसुमेति वा सुहरिन्नयाकुसुमेइ वा कोरिंटवरमल्लदामेति वा बीयगकुसुमेति वा पीयासोएति वा पीयकणवीरेति वा पीयबंधुजीएति वा, भवे एयारूवे सिया ? । नो इणट्ठे समट्ठे । ते णं हालिद्दा तणा य मणी य एत्तो इट्ठयरा चेव ०जाव वण्णेणं पण्णत्ता । तत्थ णं जे ते सुक्किल्लगा तणा य मणी य, तेसि णं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । से जहानामए—अंकेति वा संखेति वा चंदेति वा कुंदेति वा कुसुमे ति वा दयरएति वा दहिघणेइ वा खीरेइ वा खीरपूरेइ वा हंसावलीति वा कोंचावलीति वा हारावलीति वा वलायाऽवलीति वा चंदावलीति वा सारदियवलाहएति वा धंतधोयरुप्पपट्टेइ वा सालिपिट्ठरासीति वा कुंदपुप्फरासीति वा कुमुयरासीति वा सुक्कछिवाडीति वा पेहुणमिंजाति वा बिसेति वा मिणालियाति वा गयदंतेति वा लवंगदलेति वा पोंडरीयदलेति वा सिंदुवारमल्लदामेति वा सेतासोएति वा सेयकणवीरेति वा सेयबंधुजीएइ वा, भवे एयारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । तेसि णं सुक्किल्लाणं तणाण मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव वण्णेणं पण्णत्ते । तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसए गंधे पण्णत्ते ? । से जहाणामए-कोट्ठपुडाण वा पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा किरिमेरिपुडाण वा चंदणपुडाण वा कुंकुमपुडाण वा उसीरपुडाण वा चंपगपुडाण वा मरुयगपुडाण वा दमणगपुडाण वा जातिपुडाण वा जूहियापुडाण वा मल्लियापुडाण वा णोमालियपुडाण वा वासंतियपुडाण वा केयतिपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण य णिब्भिज्जमाणाण य कोट्टेज्जमाणाण वा रुविज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाणं ओराला मणुण्णा घाणमणणिव्वुतिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिणिस्सवंति, भवे एयारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । तेसि णं तणाण य मणीण य एत्तो उ इट्ठतराए चेव० जाव मणामतराए चेव गंधे पण्णत्ते ॥ तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसए फासे पण्णत्ते ? । से जहाणामए आईणेति वा रूएति वा बूरेति वा णवणीतेति वा हंसगब्भतूलीति वा सिरीसकुसुमणिचएति वा बालकुमुदपत्तरासीति वा, भवे एतारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । तेसि णं तणाण य मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव फासेणं पण्णत्ते ॥ तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य पुव्वावरदाहिणउत्तरागतेहिं वाएहिं मंदायं मंदायं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं खोभियाणं चालियाणं फंदियाणं घट्टियाणं उदीरियाणं केरिसए सद्दे पण्णत्ते ? । से जहा णाम एसिवियाए वा संदमाणीयाए वा रहवरस्स वा सछत्तस्स सज्झयस्स सघंटयस्स सतोरणवरस्स सणंदिघोसस्स सखिंखिणिहेमजालपेरंतपरिक्खित्तस्स हेमवयखेत्तचित्तविचित्ततिणिसकणगनिज्जुत्तदारुयागस्स सुपिणिद्धारकमंडलधुरागस्स कालायससुकयणेमिजतकम्मस्स आइण्णवरतुरगसुसंपउत्तस्स कुसलणरछेयसारहिसुसंपरिग्गहितस्स सरसतबत्तीसतोरणपरिमंडितस्स सकंकडवडिंसगस्स सचावसरपहरणावरणहरियस्स जोहजुद्धस्स रायंगणंसि वा अंतेपुरंसि वा रम्मंसि वा मणिकोट्टिमतलंसि अभिक्खणं अभिक्खणं अभिघट्टिज्जमाणस्स वा णियट्टिज्जमाणस्स वा परूढवरतुरगस्स चंडवेगाइट्ठस्स ओराला मणुण्णा कण्णमणणिव्वुतिकरा सव्वतो समता सद्दा अभिणिस्सवंति, भवे एतारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से जहाणामए-वेयालियाए वीणाए उत्तरमंदामुच्छिताए अंके सुपइट्ठियाए वंदणसारकोणपडिघट्टियाए कुसलणरणारिसंपग्गहिताए पदोसपच्चूसकालसमयंसि मंदं मंदं एइयाए वेइयाए खोभियाए उदीरियाए ओराला मणुण्णा कण्णमणणिव्वुतिकरा सव्वतो समंता सद्दा अभिणिस्सवति, भवे एयारूवे सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से जहाणामए—किण्णराण वा किंपुरिसाण वा महोरगाण वा गंधव्वाण वा भद्दसालवणगयाण वा नंदणवणगयाण वा सोमणसवणगयाण वा पंडगवणगयाण वा हिमवंतमलयमंदरगिरिगुहासमण्णागयाण वा एगतो सहिताणं संमुहागयाणं समुपविट्ठाणं सनिविट्ठाण पमुदियपक्कीलियाणं गीयरतिगंधव्वहरिसियमणाणं गज्ज पज्ज कत्थं गेय पयबिद्ध पायबिद्धं उक्खित्तयं पवत्तयं मंदाय रोचियावसाणं सत्तसरसमण्णागयं अट्ठारससुसंपउत्त छद्दोसविप्पमुक्कं एकारसगुणालंकारं अट्ठगुणोववेय गुंजंतवंसकुहरोवगूढं रत्तं तित्थाणकरणसुद्धं मधुरं समं सुललियं सकुहरगुंजनवंसतंतीसुसंपउत्तं तालसुसंपउत्त तालसमं रयसुसंपउत्तं गहसुसंपउत्तं मणोहरं मउयरिभियपयसंचार सुरभि सुणति वरचारुरूवं दिव्वं नट्टं सज्ज गेयं पगीयाणं, भवे एयारूवे सिया ? । हंता गोयमा ! एवंभूए सिया ॥ ( सूत्र- १२६ )

तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे खुड्डा खुड्डियाओ वावीओ पुक्खरिणीओ गुंजालिया-

ओ दीहियाओ सरसीओ सरपंतियाओ सरसरपंतीओ विलपंतीओ अच्छाओ सण्हाओ रयतामयकूलाओ वइरामयपासाणाओ तवणिज्जमयतलाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ णवणीयतलाओ सुवण्णसुब्भ ( ज्भ ) रययमणिवालुयाओ सुहोयाराओ सुउत्ताराओ णाणामणितित्थसुबद्धाओ चारुचउक्कोणाओ समतीराओ आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजलाओ संछण्णपत्तभिसमुणालाओ बहुप्पलकुमुयणलिणसुभगसोगंधितपोंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तफुल्लकेसरोवइयाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ अच्छविमलसलिलपुण्णाओ परिहत्थभमंतमच्छकच्छभअणेगसउणमिहुणपरिचरिताओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेदियापरिक्खित्ताओ पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ अप्पेगतियाओ आसवोदाओ अप्पेगतियाओ वारुणोदाओ अप्पेगतियाओ खीरोदाओ अप्पेगतियाओ घओदाओ अप्पेगतियाओ खोदोदाओ अमयरससमरसोदाओ अप्पेगतियाओ पगतीए उदग ( अमय ) रसेणं पण्णत्ताओ पासाइयाओ० ४ । तासि णं खुड्डियाणं वावीणं० जाव विलपंतियाणं तत्थ तत्थ देसे तहिं २ ०जाव बहवे तिसोवाणपडिरूवया पण्णत्ता । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवाण अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा— वइरामया नेमा रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्णरुप्पामया फलगा वइरामया संधी लोहितक्खमइओ सूईओ-णाणामणिमया अवलंबणा अवलंबणवाहाओ । तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरतो पत्तेयं पत्तेयं तोरणा पण्णत्ता । ते णं तोरणा णाणामणिमयखंभेसु उवणिविट्ठसण्णिविट्ठविविहमुत्तंतरोवइता विविहतारारूवोवचिता ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिण्णररुरुसरभचमरकुजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेदियापरिगताभिरामा विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्ता विव अच्चिसहस्समालणीया भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोयणलेसा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासादीया० ४ । तेसि णं तोरणाण उप्पिं बहवे अट्ठट्ठ मंगलगा पण्णत्ता—सोत्थियसिरिवच्छणंदियावत्तवद्धमाणभद्दासणकलसमच्छदप्पणा सव्वरतणामया अच्छा सण्हा० जाव पडिरूवा । तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे किण्हचामरज्झया नीलचामरज्झया लोहियचामरज्झया हारिद्दचामरज्झया सुक्किल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरदंडा जलयामलगंधीया सुरूवा पासाईया० ४ । तेसि णं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्ताइछत्ता पडागाइपडागा घंटाजुयला चामरजुयला उप्पलहत्थया०जाव सयसहस्सवत्तहत्थगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा । तासि णं खुड्डियाणं वावीणं० जाव विलपतियाण तत्थ तत्थ देसे दसे तहिं तहिं बहवे उप्पायपव्वया णियइपव्वया जगतिपव्वया दारुपव्वयगा दगमंडवगा दगमचका दगमालका दगपासायगा ऊसडा खुल्ला खडहडगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा । तेसु ण उप्पायपव्वतेसु० जाव पक्खंदोलएसु बहवे हंसाऽऽसणाइं कोञ्चासणाइं गरुलासणाइं उण्णयासणाइं पणयासणाइ दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं उसभासणाइं सीहासणाइं पउमासणाइं दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणमयाइं अच्छाइ सण्हाइं लण्हाइं घट्ठाइ मट्ठाइं णीरयाइं णिम्मलाइं निप्पंकाइ निक्कंकडच्छायाइ सप्पभाइं सस्सिरीयाइं सउज्जोयाइं पासादीयाइं दरिसणिज्जाइं अभिरूवाइ पडिरूवाइं । तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालिघरा कयलिघरा लयाघरा अच्छणघरा पेच्छणघरा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालघरगा जालघरगा कुसुमघरगा चित्तघरगा गधव्वघरगा आयसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । तेसु णं आलिघरएसु० जाव आयंसघरएसु बहूइ हसासणाइं० जाव दिसासोवत्थियासणाइं सव्वरयणामयाइ० जाव पडिरूवाइं । तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे २ तहिं तहिं बहवे जाइमंडवगा जूहियामडवगा मल्लियामडवगा णवमालियामंडवगा वासंतीमंडवगा दधिवासुयामडवगा सूरिल्लिमडवगा तंबोलीमंडवगा मुद्दियामंडवगा णागलयामडवगा अतिमुत्तमंडवगा अप्फोतामंडवगा मालुयामडवगा सामलयामंडवगा णिच्चं कुसुमिया० जाव पडिरूवा । तेसु ण जातीमंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता । त जहा— हंसाऽऽसणसंठिता कोंचासणसंठिता गरुलासणसठिता उण्णयासणसठिता पणयासणसठिता दीहासणसंठिता भद्दासणसंठिता पक्खासणसंठिता मगरासणसठिता उसभासणसंठिता सीहासणसंठिता पउमासणसठिता दिसासोत्थियासणसठिता पण्णत्ता । तत्थ बहवे वरसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया पण्णत्ता । समणाउसो ! आइणगरूयबूरणवणीततूलफासा मउया सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा । तत्थ णं बहवे वाणमतरा देवा य देवीओ य आसयंति. सयंति, चिट्ठति णिसीदंति, तुयट्टंति, रमंति ललंति, कीलंति, मोहंति, पुरा पोराणाण सुचिराणाण सुपरिक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाण फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तीसे ण जगतीए उप्पिं अंतो पउमवरवेदियाए एत्थ णं एगे मह वणसडे पण्णत्ते, देसूणाइं दो जोयणाइं विक्खंभेणं वेइयासमएण परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे वणसंडवण्णओ मणितणसद्दविहूणो णेयव्वो । तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति सयंति, चिट्ठंति. णिसीयंति, तुयट्टंति, रमंति, ललति. कीडंति, मोहंति पुरा पोराणाण सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं सुभाण कंताणं कम्माण कल्लाणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥ ( सूत्र–१२७ । जी० ३ प्रति० १ उ० )

तथा—( पव्वयसामियाओ आयामेण ति ) पर्वतसमिकाश्चतस्रोऽपि पद्मवरवेदिका आयामेन–दैर्घ्येण अत्र तत्संबन्धानि वनखण्डान्यपि पर्वतसमान्यायामेनेति बोध्यम् । ( आभिओगेत्यादि ) प्रागधस्तनसूत्रे जगती पद्मवरवेदिकं च येनैव गमेन व्यावर्णितं स एवात्र गम इति न पुनर्व्याख्यायते । ( तासि णमित्यादि ) तासु आभियोग्यश्रेणिषु शक्रस्याऽऽसनविशेषस्याधिष्ठाता शक्रस्तस्य दक्षिणार्द्धलोकाधिपतेरित्यर्थः । देवेन्द्रस्य देवानां मध्ये परमैश्वर्ययुक्तस्य देवराजः देवेषु कान्त्यादिगुणैरधिकं राजमानस्य सोम

पूर्वदिक्पालो, यमो दक्षिणदिक्पालो, वरुणः पश्चिमदिक्पालो, वैश्रमण उत्तरदिक्पालः, तेषां कायो निकाय आश्रयणीयत्वेन येषां, ते तथा तेषां शक्रसम्बन्धिसोमाऽऽदिदिक्पालपरिवारभूतानामित्यर्थः । आभियोग्यानां देवानां बहूनि भवनानि प्रज्ञप्तानि, तानि, सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, णमिति प्राग्वत् । भवनानि बहिर्वृत्तानि बहिर्वृत्ताऽऽकाराणि अन्तश्चतुरस्राणि समचतुरस्राणि ( वएणड त्ति ) अत्र भवनानां वर्णको वाच्यः, स च किंपर्यन्त इत्याह—( जाव अच्छरगणसंघविकिएण त्ति ) ततोऽपि कियत्पर्यन्त त्याह—( जाव पडिरूव त्ति ) स च प्रज्ञापनास्थानाख्यऽऽद्वितीयपदोक्तो यथा—" अहे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिया उक्किन्नंतरविउलगंभीरखायफलिहा पागारट्टालयकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा जंतसयग्घिमुसलमुसंढिपरिवारिया अउज्झा सदाजया सदागुत्ता अडयालकोट्ठगरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरा मरदंडोवरक्खिया लाउल्लोइयमहिया गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचंगुलितला उवचितचंदणकलसा चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा पंचवन्नसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिया कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कडज्झंतधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामा सुगंधवरगंधिया गंधवट्टिभूया अच्छरगणसंघसंघिकिन्ना दिव्वतुडियसद्दसंपणादिया सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा सस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । ( सूत्र—४६ प्रज्ञा०२पद )

अत्र व्याख्या—अधस्तनभागे पुष्करकर्णिकासंस्थानस्थितानि तथा उत्कीर्णमिवोत्कीर्णम् अतीव व्यक्तमित्यर्थः, उत्कीर्णमन्तरं यासां खातपरिखाणां ता उत्कीर्णान्तराः । किमुक्तं भवति ?—खातानां च परिखाणां च स्पष्टवविक्तयोन्मीलनार्थमपान्तराले महती पाली समस्तीति उत्कीर्णान्तराः—विपुला—विस्तीर्णा गम्भीरा—अलब्धमध्यभागा खातपरिखा येषां भवनानां परितस्तानि तथा खातपरिखाणामयं विशेषः—परिखा उपरि विशाला अधः सङ्कुचिता, खातं तूभयत्रापि सममिति, तथा प्राकारेषु वप्रेषु प्रतिभवनं अट्टालकाः । प्राकारस्योपरिवर्त्याश्रयविशेषाः कपाटानि—प्रतोलीद्वारसत्कानि, एतेन प्रतोल्यः सर्वत्र सूचिता—अन्यथा कपाटानामसम्भवात्, तोरणानि-प्रतोलीद्वारेषु प्रसिद्धानि, प्रतिद्वाराणि-मूलद्वारापान्तरालवर्तिलघुद्वाराणि, एतद्रूपा देशभागा—देशविशेषा येषु तानि तथा । यन्त्राणि नानाविधानि शतघ्न्यो-महायष्टयो महाशिला वा या उपरिष्टात् पातिताः सत्यः पुरुषाणां शतानि घ्नन्ति, मुसलानि-प्रतीतानि, मुसण्ढ्यः-शस्त्रविशेषास्तैः परिवारितानि—समन्ततो वेष्टितानि, अत एवायोध्यानि—परैर्योद्धुमशक्यानि, अयोध्यत्वादेव 'सदाजयानि' सदा-सर्वकालं जयो येषु तानि सदाजयानि, सर्वकालं जयवन्तीति भावः । तथा सदा-सर्वकालं गुप्तानि प्रहरणैः पुरुषैश्च योद्धृभिः सर्वतो निरन्तरपरिवारिततया परेषामसहमानानां मनागपि प्रवेशासम्भवात्, तथा अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचिता कोष्ठका—अपवरका



रचिताः—स्वयमेव रचनां-प्राप्ता येषु तानि तथा, सुखाऽऽदिदर्शनात् पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । तथा अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविच्छित्तयः कृता वनमाला येषु तानि तथा । अन्ये त्वाभिदधति—'अडयाल' इति देशीशब्दः प्रशंसावाची । ततोऽयमर्थः—प्रशस्तकोष्ठकरचितानि प्रशस्तकृतवनमालानीति, तथा क्षेमाणि—परकृतोपद्रवरहितानि शिवानि-सदामङ्गलोपेतानि, तथा किङ्कराः-किङ्करभूता येऽमरास्तैः दण्डैः कृत्वोपरक्षितानि, सर्वतः समन्ततोऽपि रक्षितानि, तथा लाइअमिव लाइअं-छगणाऽऽदिना भूमेरुपलेपनमिव 'उल्लोइअ' उल्लोइयमिव उल्लोइय सेटिकाऽऽदिना कुड्याऽऽदिषु धवलनमिव ताभ्यां महितानीव-पूजितानीव, तथा गोशीर्षेण—चन्दनविशेषेण सरसेन—रक्तचन्दनेन च दर्दरेण—बहलेन दर्दराभिधानाद्रिजातश्रीखण्डेन वा दत्ताः—न्यस्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला—हस्तका येषु तानि तथा, उपचिता—निवेशिता वन्दनकलशा—माङ्गल्यघटा येषु तानि तथा, वन्दनघटैः—माङ्गल्यकलशैः सुकृतानि—सुष्ठु कृतानि शोभनानीत्यर्थः, यानि तोरणानि तानि प्रतिद्वारदेशभागं—द्वारदेशभागे २ येषु तानि तथा, देशभागाश्च देशा एव, तथा आसक्तो भूमौ लग्न उत्सक्तश्च—उपरि लग्नो, विपुलः—अतिविस्तीर्णो, वृत्तः—अतिनिचिततया वर्तुलो ( वग्घारिअ त्ति )—प्रलम्बितो माल्यदामकलापः—पुष्पमालासमूहो येषु तानि तथा, पञ्चवर्णाः सरसाः सुरभयो ये मुक्ताः—करप्रेरिताः पुष्पपुञ्जास्तैर्य उपचारः—पूजा भूमेस्तेन कलितानि 'कालागरु' इत्यादि विशेषणत्रय प्राग्वत्, अप्सरोगणानां सङ्घः—समुदायः तेन सम्यग्—रमणीयतया विकीर्णानि—व्याप्तानि, तथा दिव्यानां त्रुटितानाम्—आतोद्यानां ये शब्दास्तैः सम्यग्-श्रोतृमनोहारितया प्रकर्षेण-सर्वकालं नदितानि-शब्दवन्ति । 'सव्वरयणामया' इत्यादि पदानि प्राग्वत् । 'तत्थ णं' इत्यादि, गतार्थमेतत् । अथ वैताढ्यस्य शिखरतलमाह-'तासि णं' इत्यादि, तयोराभियोग्यश्रेण्योर्बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद्वैताढ्यस्य पर्वतस्योभयोः पार्श्वयोः पञ्च पञ्च योजनान्यूर्ध्वमुत्पत्य—गत्वा अत्रान्तरे वैताढ्यस्य पर्वतस्य शिखरतलं प्रज्ञप्तं, 'पाईण' इत्यादि प्राग्वत्, तच्च शिखरतलम् एकया पद्मवरवेदिकया तत्परिवेष्टकभूतेन चैकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तम् । अयं भावः—यथा जगतीमध्यभागे पद्मवरवेदिकैव जगतीं दिक्षु विदिक्षु वेष्टयित्वा स्थिता, तथेयमपि सर्वतः शिखरतलं पर्यन्ते वेष्टयित्वा स्थिता, परमेषा आयतचतुरस्राऽऽकारशिखरतलसंस्थितत्वेनाऽऽयतचतुरस्रा बोद्धव्या, अत एवैकसंख्याका, तत्परतो वहिर्वर्ति वनखण्डमप्येकं, न तु वैताढ्यमूलगतपद्मवरवेदिकावत् इव दक्षिणोत्तरविभागेन द्विरूप इति । श्रीमलयगिरिपादास्तु क्षेत्रविचारवृहद्वृत्तौ—"तन्मध्ये पद्मवरवेदिकामपपार्श्वयोर्वनखण्डे" इत्याहुः । प्रमाणं-विष्कम्भाऽऽयामविषय, पर्यङ्कश्च द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः, प्राग्वज्जगतीवत् इत्यपाहार्यम् । अथ शिखरतलस्य स्वरूपं पृच्छति-( वेयड्ढस्स णमित्यादि ) एतस्यैव जगतीगतपद्मवरवेदिकाया इवान्तर्बहुसमभूमिभागवद् व्याख्येयम् । जं० १ वक्ष० । ( पूर्वाग्रन्थना 'कूड' शब्दः तृतीयभागे ६१८ पृष्ठे गता )

अथ दक्षिणार्द्धभरतकूटस्वरूप पृच्छन्नाह—

कहि णं भंते ! वेअड्ढे पव्वए दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ? । गोयमा ! खंडप्पवायकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धाययणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं वेअड्ढपव्वए दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे० पण्णत्ते, सिद्धाययणकूडप्पमाणसरिसे० जाव तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए पण्णत्ते, कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियपहसिए ० जाव पासाईए ४ । तस्स णं पासायवडिंसगस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिया पण्णत्ता, पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई, तीसे णं मणिपेढियाए उप्पिं सिंघासणं पण्णत्तं, सपरिवारं भाणियव्वं । से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—दाहिणड्ढभरहकूडे २ ? । गोयमा ! दाहिणड्ढभरहकूडे णं दाहिणड्ढभरहे णामं देवे महिड्ढीए ० जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसाहस्सीणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं दाहिणड्ढभरहकूडस्स दाहिणड्ढाए रायहाणीए अण्णेसिं बहूणं देवाण य देवीण य ० जाव विहरइ ॥ कहि णं भंते ! दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढा णामं रायहाणी पण्णत्ता ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वीईवइत्ता अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे दक्खिणेणं बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढभरहा णामं रायहाणी भाणिअव्वा जहा विजयस्स देवस्स, एवं सव्वकूडा णेयव्वा ० जाव वेसमणकूडे परोप्परं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, इमेसिं वण्णावासे गाहा—"मज्झे वेअड्ढस्स उ, कणयमया तिण्णि होंति कूडा उ । सेसा पव्वयकूडा, सव्वे रयणामया होंति ॥ १ ॥" माणिभद्दकूडे १, वेअड्ढकूडे २, पुण्णभद्दकूडे ३, एए तिण्णि कूडा कणगामया सेसा छप्पि रयणमया दोण्हं विसरिसणामया देवा कयमालए चेव णट्टमालए चेव, सेसाणं छण्हं सरिसणामया—" जण्णामया य कूडा, तन्नामा खलु हवंति ते देवा । पलिओवमट्ठिईया, हवंति पत्तेअँ पत्तेयं ॥ १ ॥" रायहाणीओ जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरिअं असंखेज्जदीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता, एत्थ णं रायहाणीओ भाणिअव्वाओ विजयरायहाणीसरिसयाओ ( सूत्र १४ ) जं० १ वक्ख० । ( व्याख्या 'कूड' शब्दे तृतीयभागे ६२१ पृष्ठे द्रष्टव्या )

अथ वर्ण्यमानस्यैतद्वर्षस्य नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं पिपृच्छिषुराह—

से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—भरहे वासे २ ? । गोअमा ! भरहे णं वासे वेअड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चोद्दसुत्तरं जोअणसयं एगारस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अबाहाए लवणसमुद्दस्स उत्तरेणं चोद्दसुत्तरं जोअणसयं एक्कारस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अबाहाए गंगाए महाणईए पच्चच्छिमेणं सिंधूए महाणईए पुरच्छिमेणं दाहिणड्ढभरहमज्झिल्लतिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं विणीआ णामं रायहाणी पण्णत्ता, पाईणपडीणाऽऽयया उदीणदाहिणविच्छिण्णा दुवालसजोअणाऽऽयामा णवजोअणविच्छिण्णा धणवइमतिणिम्माया चामीयरपागारा णाणामणिपंचवण्णकविसीसगपरिमंडिआभिरामा अलकापुरीसंकासा पमुइयपक्कीलिआ पच्चक्खं देवलोगभूआ रिद्धित्थिमिअसमिद्धा पमुइअजणजाणवया ० जाव पडिरूवा ॥ ( सूत्र० ४१ )

अथ सम्पूर्णभरतक्षेत्रस्वरूपकथनानन्तरं केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते—भरत वर्ष २ ? । द्विवचनं प्राग्वत् । भगवानाह—गौतम ! भरते वर्षे वैताढ्यस्य पर्वतस्य दक्षिणेन चतुर्दशाधिकं योजनशतमेकादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्याबाधया—अपान्तरालं कृत्वा तथा लवणसमुद्रस्योत्तरेण दक्षिणलवणसमुद्रस्योत्तरेणेत्यर्थः, पूर्वापरसमुद्रयोर्गङ्गासिन्धुभ्यां व्यवहितत्वाच्च तद्विवक्षा, गङ्गाया महानद्याः पश्चिमायां सिन्ध्वा महानद्याः पूर्वस्यां दक्षिणार्द्धभरतस्य मध्यमतृतीयभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र एतादृशे क्षेत्रे विनीता—अयोध्यानाम्नी राजधानी—राजनिवासनगरी प्रज्ञप्ता मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिरिति । साधिकचतुर्दशाधिकयोजनशताङ्कोत्पत्तौ त्वियमुपपत्तिः—भरत क्षेत्रं ५०० योजनानि २६ योजनानि षट् ६ कला योजनैकोनविंशतिभागरूपा विस्तृतम्, अस्मात् ५० योजनानि वैताढ्यगिरिव्यासः शोध्यते, जातम् ४७६ ६/१९ कलाः—दक्षिणोत्तरभरतार्द्धयोर्विभजनयैतस्यार्द्धे २३८ ३/१९ कलाः, इयतो दक्षिणार्द्धभरतव्यासात् "उदीणदाहिणविच्छिण्णा" इत्यादिवक्ष्यमाणवचनाद्विनीताया विस्ताररूपाणि नव योजनानि शोध्यन्ते, जातम् २२९ ३/१९ कलाः, अस्य च मध्यभागेन नगरीस्थर्द्धकरणे ११४ योजनानि अवशिष्टस्यैकस्य योजनस्यैकोनविंशतिभागेषु कलात्रयक्षेपे जाताः २२ तदर्द्धम् ११ कला इति । तामेव विशेषणैर्विशिनष्टि—'पाईणपडीणायया' इत्यादि पूर्वापरयोर्दिशोरायता, उत्तरदक्षिणयोर्विस्तीर्णा, द्वादशयोजनाऽऽयामा नवयोजनविस्तीर्णा धनपतिमत्या—उत्तरदिक्पालबुद्ध्या निर्माता-निर्मिता तस्य निपुणशिल्पिविरचितस्यातिसुन्दरत्वात्, यथा च प्रकर-

तिना निर्मिता तद् ग्रन्थान्तरानुसारेण किञ्चिद् व्यक्तिपूर्वकमुपदर्श्यते—

"श्रीविभो राज्यसमये, शक्राऽऽदेशाद्धनवां पुरीम् ।
धनदः स्थापयामास, रत्नचामीकरोत्करैः ॥ १ ॥
द्वादशयोजनाऽऽयामा, नवयोजनविस्तृता ।
अष्टद्वारमहाशाला, साऽभवत्तोरणोज्ज्वला ॥ २ ॥
धनुषां द्वादशशतान्युच्चै—स्त्वेऽष्टशतं तले ।
व्यायामे शतमेक स, व्यधाद्वप्रं सखातिकम् ॥ ३ ॥
सौवर्णस्य च तस्यार्द्धे, कपिशीर्षावलिर्बभौ ।
मणिजाऽमरशैलस्थ-नक्षत्रालिरिवोद्धता ॥ ४ ॥
चतुरस्त्राश्च त्र्यस्त्राश्च, वृत्ताश्च स्वस्तिकास्तथा ।
मन्दाराः सर्वतोभद्रा, एकभूमा द्विभूमिकाः ॥ ५ ॥
त्रिभूमाऽऽद्याः सप्तभूमं, यावत्सामान्यभूभुजाम् ।
प्रासादाः कोटिशस्तत्रा—भूवन् रत्नसुवर्णजाः ॥ ६ ॥

युग्मम् ।

दिश्यैशान्यां सप्तभूमं, चतुरस्त्रं हिरण्मयम् ।
सवप्रखातिकं चक्रे, प्रासादं नाभिभूपतेः ॥ ७ ॥
दिश्यैन्द्र्यां सर्वतोभद्रं, सप्तभूमं महोन्नतम् ।
वर्तुलं भरतेशस्य, प्रासादं धनदोऽकरोत् ॥ ८ ॥
आग्नेय्यां भरतस्यैव, सौधं बाहुबलेरभूत् ।
शेषाणां च कुमाराणा—मन्तरा ह्यभवत् तयोः ॥ ९ ॥
तस्यान्तराऽऽदिदेवस्य, चैकविंशतिभूमिकम् ।
त्रैलोक्यविभ्रम नाम, प्रासादं रत्नराजिभिः ॥ १० ॥
सद्वप्रखातिकं रम्यं, सुवर्णकलशाऽऽवृतम् ।
पञ्चध्वजपटव्याजा—न्नृत्यन्तं निर्ममे हरिः ॥ ११ ॥

युग्मम् ।

अष्टोत्तरसहस्रेण, मणिजालैरसौ बभौ ।
तावत्सङ्ख्यमुखैर्भूरि, ब्रुवाणमिव तद्यशः ॥ १२ ॥
कल्पद्रुमैर्वृताः सर्वे-ऽभूवन् (से) भरद्वयौकसः ।
सप्राकारा वृहद्वास-पताकामालभारिणः ॥ १३ ॥
सुधर्मसदृशी चारु, रत्नमय्यभवत्पुरी ।
युगाऽऽदिदेवप्रासादात्, सभा सर्वप्रभाऽभिधा ॥ १४ ॥
चतुर्दिक्षु विराजन्ते, मणितोरणमालिकाः ।
पञ्चवर्णप्रभाङ्कुर-पूरडम्बरिताम्बराः ॥ १५ ॥
अष्टोत्तरसहस्रेण, मणिधिष्ण्यैर्विभूषितम् ।
गव्यूतिद्वयमुत्तुङ्गं, मणिरत्नहिरण्मयम् ॥ १६ ॥
नानाभूमिगवाक्षाऽऽढ्यं, विचित्रमणिवेदिकम् ।
प्रासादं जागदीशस्य, व्यधाच्छ्रीदः पुरान्तरा ॥ १७ ॥

युग्मम् ।

सामन्तमण्डलीकानां, नन्द्यावर्त्ताऽऽदयः शुभाः ।
प्रासादा निर्मितास्तत्र, विचित्रा विश्वकर्मणा ॥ १८ ॥
अष्टोत्तरसहस्रं तु, जिनानां भवनान्यभू. ।
उच्चैर्ध्वजाग्रसंलुब्ध-तीक्ष्णांशुतुरगाण्यथ ॥ १९ ॥
चतुष्पथप्रतिबद्धा, चतुरशीतिरुच्चकैः ।
प्रासादाश्चार्हतां रम्याः, हिरण्यकलशैर्बभुः ॥ २० ॥
सौधानि हिरण्यरत्न—मयान्युच्चैः सुमेरुवत् ।
कौबेर्यां सपताकानि, चक्रे स व्यवहारिणाम् ॥ २१ ॥
दक्षिणस्यां क्षत्रियाणां, सौधानि विविधानि च ।
अभूवन् साऽस्त्राऽगाराणि, तेजांस्यवनिवासिनाम् ॥ २२ ॥
तद्वप्रान्तश्चतुर्दिक्षु, पौराणां सौधकोटयः ।
व्यराजन्त घुसद्यान—समानविशदश्रियः ॥ २३ ॥
सामान्यकारुकाणां च, बहिः प्राकारतोऽभवत् ।
कोटिसङ्ख्याश्चतुर्दिक्षु, गृहाः सर्वधनाऽऽश्रयाः ॥ २४ ॥
अवाच्यां च प्रतीच्यां च, कारुकाणां बभुर्गृहाः ।
एकभूमिमुखारूयग्रा-स्त्रिभूमि यावदुच्छ्रिताः ॥ २५ ॥
अहोरात्रेण निर्माय, तां पुरीं धनदोऽकिरत् ।
हिरण्यरत्नधान्यानि, वासांस्याभरणानि च ॥ २६ ॥
सरांसि वापीकूपाऽऽदीन्, दीर्घिका देवताऽऽलयान् ।
अन्यच्च सर्वं तत्राहो-रात्रेण धनदोऽकरोत् ॥ २७ ॥
विपिनानि चतुर्दिक्षु, सिद्धार्थश्रीनिवासके ।
पुष्पाऽऽकारं नन्दनं चा—भवन् भूयांसि चान्यतः ॥ २८ ॥
प्रत्येकं हेमचैत्यानि, जिनानां तत्र रेजिरे ।
पवनाऽऽहृतपुष्पाऽऽलि—पूजितानि द्रुमैरपि ॥ २९ ॥
प्राच्यामष्टापदोऽवाच्यां, महाशैलो महोन्नतः ।
प्रतीच्यां सुरशैलस्तु, कौबेर्यामुदयाचलः ॥ ३० ॥
तत्रैवमभवन् शैलाः, कल्पवृक्षाऽऽलिमालिताः ।
मणिरत्नाऽऽकराः प्रोच्चै—र्जिनाऽऽवासपवित्रिताः ॥ ३१ ॥
शक्राऽऽज्ञया रत्नमयी—मयोध्यापरनामतः ।
विनीतां सुरराजस्य, पुरीमिव स निर्ममे ॥ ३२ ॥
यत्रास्तव्यजना देवे, गुरौ धर्मे च साऽऽदराः ।
स्थैर्यौऽऽदिभिर्गुणैर्युक्ताः, सत्यशौचदयाऽन्विताः ॥ ३३ ॥
कलाकलापकुशलाः, सत्सङ्गतिरताः सदा ।
विशदाः शान्तसद्भावाः, अर्हमिन्द्रा महोदयाः ॥ ३४ ॥

युग्मम्—

तत्पुर्यामृषभः स्वामी, सुरासुरनरार्चितः ।
जगत्सृष्टिकरो राज्यं, पाति विश्वस्य रञ्जनात् ॥ ३५ ॥
अन्वयोध्यमिह क्षेत्र—पुराण्यासन् समन्ततः ।
विश्वसृट्शिल्पिवृन्द-घटितानि तदुक्तिभिः ॥ ३६ ॥" इति ।

संक्षेपेण त्वितत्स्वरूपं सूत्रकारोऽप्याह—' चामीअरपागारे ' त्यादि, चामीकरप्राकारा नानामणिकपिशीर्षपरिमण्डिता अभिरामा अलकापुरी—लौकिकशास्त्रे धनदपुरी तत्सकाशा—तत्सन्निभा प्रमुदितजनयोगान्नगर्यपि 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः ' इति न्यायात् प्रमुदिता, तथा प्रक्रीडिताः—क्रीडितुमारब्धवन्तः क्रीडावन्तःइत्यर्थः, तादृशा ये जनास्तद्योगान्नगर्यपि प्रक्रीडिता, पश्चाद् विशेषणसमासः, प्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्रमाणेन तस्यानुमानाऽऽधिकेन विशेषप्रकाशकत्वात् तज्जन्यज्ञानस्य सकलप्रतिपत्तॄणां विप्रतिपत्त्यविषयत्वात् . देवलोकभूता—स्वर्गलोकसमाना ' ऋद्धस्तिमितसमृद्धे ' त्यादिविशेषणानि प्राग्वत्, इतिः परिसमाप्तौ, नवरं प्रमुदितजनजानपदेतिविशेषणं प्रमुदितप्रक्रीडितेतिविशेषणस्य हेतुतयोपन्यस्तं तेन न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् ।

नन्वेवं प्रस्तुतक्षेत्रस्य नामप्रवृत्तिः कथं जातेत्याह—

तत्थ णं विणीआए रायहाणीए भरहे णामं राया चाउरंतचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था, महया हिमवंतमहंतमलयमंद-

र ०जाव रज्जं पसासेमाणे विहरइ । बिइओ गमो रायवरणगस्स इमो, तत्थ असंखेज्जकालवासंतरेण उप्पज्जए जसंसी उत्तमे अभिजाए सत्तवीरिअपरक्कमगुणे पसत्थवरणसरसारसंघयणतणुगबुद्धिधारणमेहासंठाणसीलप्पगई पहाणगारवच्छायागइए अणेगवयणप्पहाणे तेअआउबलवीरिअजुत्ते अज्झुसिरघणणिचिअलोहसंकलणारायवइरउसहसंघयणदेहधारी झस १ जुग २ भिंगार ३ वद्धमाणग ४ भद्दमाणग ५ संख ६ छत्त ७ वीअणि ८ पडाग ९ चक्क १० णंगल ११ मुसल १२ रह १३ सोत्थिअ१४ अंकुस १५ चंदा १६ इच १७ अग्गि १८ जूय १९ सागर २० इंदज्झय २१ पुहवि २२ पउम २३ कुंजर २४ सीहासण २५ दंड २६ कुम्म २७ गिरिवर २८ तुरगवर २९ वरमउड ३० कुंडल ३१ णंदावत्त ३२ धणु ३३ कोंत ३४ गागर ३५ भवणविमाण ३६ अणेगलक्खणपसत्थसुविभत्तचित्तकरचरणदेसभागे उद्धामुहलोमजालसुकुमालणिद्धमउआवत्तपसत्थलोमविरइअसिरिवच्छच्छण्णविउलवच्छे देसखेत्तसुविभत्तदेहधारी तरुणरविरस्सिबोहिअवरकमलविबुद्धगब्भवण्णे हयपोसणकोससण्णिभपसत्थपिट्ठंतणिरुवलेवे पउमुप्पलकुंदजाइजूहियवरचंपगणागपुप्फसारंगतुल्लगंधी छत्तीसाअहिअपसत्थपत्थिवगुणेहिं जुत्ते अव्वोच्छिण्णातपत्ते पागडउभयजोणी विसुद्धणिअगकुलगयणपुण्णचंदे चंदे इव सोमयाए णयणमणणिव्वुइकरे अक्खोभे सागरो व थिमिए धणवइ व्व भोगसमुदयसद्दव्वयाए समरे अपराइए परमविक्कमगुणे अमरवइसमाणसरिसरूवे मणुअवई भरहचक्कवट्टी भरहं भुंजइ पणट्ठसत्तू । ( सूत्र ४२ )

( तत्थ णमित्यादि ) तत्र विनीतायां राजधान्यां भरतो नाम राजा, स च सामन्ताऽऽदिरपि स्यादत आह चक्रवर्त्ती. स च वासुदेवोऽपि स्यादतश्चत्वारोऽन्ताः-पूर्वापरदक्षिणसमुद्रास्त्रयः चतुर्थो हिमवान् इत्येवंस्वरूपास्ते वश्यतयाऽस्य सन्तीति चातुरन्तः, पश्चाच्चक्रवर्त्तिपदेन कर्मधारयः समुदपद्यत . महाहिमवान् हैमवतहरिवर्षक्षेत्रयोर्विभाजकः कुलगिरिः स इव महान् शेषपृथ्वीपतिपर्वतापेक्षया मलय.-चन्दनद्रुमोत्पत्तिप्रसिद्धो गिरिः, मन्दरो-मेरु , यावत्पदात् प्रथमोपाङ्ग(ग)तः समग्रो राजवर्णको ग्राह्य ,कियत्पर्यन्त इत्याह-राज्य प्रशासयन् पालयन् विहरतीति । नन्वेवमपि शाश्वती भरतनामप्रवृत्ति. कथं ?, तदभावे च 'सेत्तं' इत्यादि वक्ष्यमाण निगमनमप्यसम्भवीत्याशङ्क्या प्रकरान्तरेण तत्तत्कालभाविभरतनामचक्रवर्त्युद्देशेन राजवर्णनमाह-'बिइओ गमो' इत्यादि, द्वितीयो गम.-पाठविशेषोपलक्षितो ग्रन्थो राजवर्णकस्यायं, 'तत्र' तस्यां विनितायामसङ्ख्येयः कालो यैर्वर्षैस्तानि वर्षाणि असङ्ख्येयानी त्यर्थः, तेषामन्तरालेन-विचालेन , अयमर्थः-प्रवचने हि कालस्यासङ्ख्येयता असंख्येयैरेव च वर्षैर्व्यवह्रियते, अन्यथा समयापेक्षयाऽसङ्ख्येयत्वे पेदयुगीनमनुष्याणामसङ्ख्येयाऽऽयुष्कत्वव्यवहारप्रसङ्गः, तेनासंख्येयवर्षाऽऽत्मकासङ्ख्येयकाले गते एकस्माद् भरतचक्रवर्तिनोऽपरो भरतचक्रवर्ती यतः प्रकृतत्वेनास्य भरतेति नाम प्रवर्त्तते स उत्पद्यते इति क्रियाकारकसम्बन्धः, वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत् । आवश्यकचूर्णौ तु," तत्थ य संखिज्जकालवासाउए " इति पाठ.-तत्र च-भरते सङ्ख्यातकालवर्षाणि आयुर्यस्य सः सङ्ख्यातकालवर्षाऽऽयुष्कः, तेनास्य युग्मिमनुष्यत्वव्यवहारो व्यपाकृतो द्रष्टव्यः, तेषामसङ्ख्यातवर्षाऽऽयुष्कत्वादिति । ननु भरतचक्रिणोऽसङ्ख्यातकालेऽतीतेऽपि सगरचक्रयादिमिरिदं सूत्रं व्यभिचारि, तेषां भरतनामकत्वाभावात् उच्यते-नहीदं सूत्रमसङ्ख्येयकालवर्षान्तरेण सकलकालवर्तिनि चक्रवर्त्तिमण्डले नियमेन भरतनामकचक्रवर्त्तिसम्भवसूचकं किन्तु कदाचित्तत्सम्भवसूचकं, यथा आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां भरताऽऽख्यः प्रथमचक्री । यत आह-" भरहे अ दीहदंते, अ गूढदंते अ सुद्धदंते अ । सिरिअदे सिरिभूई, सिरिसोमे अ सत्तमे ॥१॥" इत्यादिसमवायाङ्गतीर्थोद्गारप्रकीर्णकाऽऽदौ, स च कीदृश इत्याह— 'यशस्वी' ति व्यक्तम्, उत्तम. शलाकापुरुषत्वात्, अभिजातः-कुलीनः श्रीऋषभाऽऽदिवंश्यत्वात्, सत्त्वं-साहसं, वीर्यम् आन्तरं बलं, पराक्रमः शत्रुविशासनशक्तिरेतैः गुणा यस्य, एतेन राजन्योचितसर्वातिशायिगुणवत्त्वमाह, प्रशस्ताः-तत्कालीनजनापेक्षया श्लाघनीयाः वर्णः-शरीरच्छविः, स्वरो-ध्वनिः, सारः-शुभपुद्गलोपचयजन्यो धातुविशेषः शरीरदार्ढ्यहेतुः, संहननम्-अस्थिनिचयरूपं तनुक-शरीरं बुद्धिः-औत्पत्त्यादिका,धारणा-अनुभूतार्थवासनया अविच्युति', मेधा-हेयोपादेयधीः, संस्थानं-यथास्थानमङ्गोपाङ्गविन्यासः, शीलम्-आचारः, प्रकृतिः-सहज, ततो द्वन्द्वे, प्रशस्ता वर्णाऽऽद्योऽर्था यस्य स तथा भवन्ति च विशिष्टाः वर्णस्वराऽऽदयः आज्ञैश्वर्याऽऽदिप्रधानफलदाः, प्रधाना-अनन्यवर्त्तिनो गौरवाऽऽद्योऽर्था यस्य स तथा, तत्र गौरव-महासामन्ताऽऽदिकृताभ्युत्थानाऽऽदिप्रतिपत्तिः, छाया-शरीरशोभा,गति.-सञ्चरणमिति, अनेकेषु-विविधप्रकारेषु वचनेषु-वक्तव्येषु प्रधानो-मुख्यः, अनेकधावचनप्रकारश्चाय निजशासनप्रवर्त्तनाऽऽदौ—

" आदौ तावन्मधुरं, मध्ये रूक्षं तत परं कटुकम् ।
भोजनविधिमिव विबुधा., स्वकार्यसिद्ध्यै वदन्ति वच ॥१॥"

अथवा—

" सत्यं मित्रै' प्रिय स्त्रीभि—रलीकमधुरं द्विषा ।
अनुकूल च सत्यं च. वक्तव्यं स्वामिना सह ॥ २ ॥ " इति ।

तेज.-परासहनीय पुण्य'—प्रताप अभेदोपचारेण तद्वान्, 'तेजसां हि न वय समीक्ष्यते' इत्यादिवत्. आयुर्बल-पुरुषाऽऽयुष तद् यावद्वीर्यं तेन युक्त', तेन जरारोगाऽऽदिनोपहतवीर्यत्वं नास्त्येति भावः, पुरुषाऽऽयुषं च तदानीन्तनकाले प्राकृतजनानां पूर्वकोटिसद्भावेऽप्यस्य त्रुटिताङ्गप्रमाणं बोद्धव्य , भरतेयस्यैतावत एवाऽऽयुष सिद्धान्ते प-

णनात्, एतेन भेदः पूर्वविशेषणादस्येति, अशुषिरं— निश्छिद्रम् अत एव घननिचितं—निर्भरभृतं यल्लोहशृङ्खलं तदिव नाराचवज्रऋषभं प्रसिद्ध्या वज्रऋषभनाराच संहननं यत्र त तथाविधं देहं धरन्तीत्येवंशीलः, झषो—मीन १ युगं—शकटाङ्गविशेषः २ भृङ्गारो—जलभाजनविशेषः ३ वर्द्धमानकं ४ भद्राऽऽसनं ५ शङ्खो—दक्षिणाऽऽवर्त्तः ६ छत्रम् प्रतीत ७ व्यजनं—पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् व्यालव्यजनम्। अथवा-'ते लुग्वा' (श्रीसिद्ध० अ० ३ पा० २ सू० १०८) इत्यनेन वालपदलोपः, चामरम्। आर्षत्वात् क्लीत्वं तेन व्यजनीतिनिर्देशः ८ पताका ९ चक्रं १० लाङ्गूलं ११ मुशलं १२ रथः १३ स्वस्तिकम् १४ अङ्कुशः १५ चन्द्रः १६ आदित्या १७ अग्नयः प्रतीताः १८ यूपो—यज्ञस्तम्भः १९ सागरः—समुद्रः २० इन्द्रध्वज २१-पृथ्वी २२-पद्म २३-कुञ्जरा. २४ कण्ठ्याः, सिंहाऽऽसनं-सिंहाङ्कितं नृपाऽऽसन २५ दण्ड २६-कूर्म २७-गिरिवर २८-तुरगवर २९-मुकुट ३०-कुण्डलानि ३१ व्यक्तानि, नन्द्यावर्त्तः—प्रतिदिग् नवकोणक. ३२ स्वस्तिक—धनु'कुन्तौ व्यक्तौ ३३—३४ गागरः स्त्रीपरिधानविशेषः ३५ भवनं-भवनपतिदेवाऽऽवासः विमानं-वैमानिकदेवाऽऽवासः ३६ एतेषां द्वन्द्वः तत एतानि प्रशस्तानि-माङ्गल्यानि सुविभक्तानि-अतिशयेन विविक्तानि यान्यनेकानि-अधिकसहस्रप्रमाणानि लक्षणानि तैश्चित्रो—विस्मयकरः करचरणयोर्देशभागो यस्य स तथा, अत्र पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, तीर्थकृतामिव चक्रिणामप्यष्टाधिकसहस्रलक्षणानि सिद्धान्तसिद्धानि। यदाह निशीथचूर्णौ-पागयमणुआणं बत्तीस लक्खणानि, अट्ठसयं बलदेववासुदेवाण, अट्ठसहस्सं चक्कवट्टितित्थगराणं' ति। ऊर्ध्वं मुखं भूमेरुद्गच्छतामङ्कुराणामिव येषां तानि ऊर्ध्वमुखानि यानि लोमानि तेषां जालं—समूहो यत्र स तथा, अनेन च श्रीवत्साऽऽकारव्यक्तिर्दर्शिता, अन्यथाऽधोमुखैस्तै. श्रीवत्साऽऽकारानुद्भवः स्यात्, सुकुमालस्निग्धानि-नवनीतपिण्डाऽऽदिद्रव्याणि तानीव मृदुकानि आवर्तैः—चिकुरसंस्थानविशेषैः प्रशस्तानि-मङ्गल्यानि दक्षिणाऽऽवर्त्तानीत्यर्थः यानि लोमानि तैर्विरचितो यः श्रीवत्सो-महापुरुषाणां वक्षोऽन्तर्वर्ती अभ्युन्नतोऽवयवः, ततः पूर्वपदेन कर्मधारः, तेन छन्नम्—आच्छादितं विपुलं वक्षो यस्य स तथा, देशे—कोशलदेशाऽऽदौ क्षेत्रे—तदेकदेशभूतविनीतानगर्यादौ सुविभक्तो-यथास्थानविनिविष्टावयवो यो देहस्तं धरतीत्येवशीलः, तत्तत्कालावच्छेदेन भरतक्षेत्रे न भरतचक्रितोऽपरः सुन्दराङ्ग इत्यर्थः। तरुणस्य—उद्गच्छतो रवेर्ये रश्मय.-किरणास्तैर्बोधितं-विकासितं यद्वरकमलं-प्रधानसरोजं हेमाम्बुजमित्यर्थ.। तस्य विबुधो-विकस्वरो यो गर्भो-मध्यभागस्तद्वद्वर्णः-शरीरच्छवि यस्य स तथा, हयपोसनं-'पुस उत्सर्गे' इति धातोरनाट इयाऽपानं, तदेव कोश इव कोश' सुगुप्तत्वात् तत्सन्निभ प्रशस्त पृष्ठस्य-पृष्ठभागस्यान्तः-चरमभागोऽपानं तत्र निरुपलेपो लेपरहितपुरीषकत्वात्, पद्म प्रतीतम्, उत्पलं-कुष्ठ, कुन्दजातियूथिकाः प्रतीताः, वरचम्पको-राजचम्पक', नागपुष्पं नागकेसरकुसुमं, सारङ्गानि-प्रधानदलानि, अथवा—पदैकदेशे पदसमुदायग्रहणात् सारङ्गशब्देन सारङ्गमद.-कस्तूरी, द्वन्द्वे कृते एतेषां तुल्यो गन्धः-शरीरपरिमलो यस्य स तथा, तद्धितलक्षणादिप्रत्ययात् रूपसिद्धिः, षट्त्रिंशता अधिकप्रशस्तै. पार्थिवगुणैर्युक्तः। (जं०)-(ते च पार्थिवगुणाः-'पत्थिव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४३३ पृष्ठे षड्भिः श्लोकैर्दर्शिताः) ते च श्लोकाः पाठसिद्धार्थाः, नवरमौदार्यं-दाक्षिण्यं, तेन दानशौण्डतागुणादस्य भेद., यद्यप्येतेषामेव मध्यवर्त्तिनः केचन गुणाः सूत्रकृता साक्षात् पूर्वसूत्रे उक्ता उत्तरसूत्रे च वक्ष्यन्ते, तथापि षट्त्रिंशत्संख्यामेलनार्थमत्र ते उक्ता इति न दोषः, उपलक्षणाच्च मानोन्मानाऽऽदिवृद्धिकुरवभक्तवत्सलत्वाऽऽदयोऽपि उक्ताऽतिरिक्ता ग्राह्या इति, अव्यवच्छिन्नम्-अखण्डितमातपत्रं—छत्रं यस्य स तथा, एतेन पितृपितामहक्रमाऽऽगतराज्यभोक्तेति सूचितम्, अथवा संयमकालादर्वाग् न केनापि बलीयसा रिपुणा तस्य प्रभुत्वमाच्छिन्नमिति, प्रकटे-विशदावदाततया जगत्प्रतीते उभययोन्यौ-मातृपितृरूपे यस्य स तथा, अत एव विशुद्धं-निष्कलङ्कं यन्निजककुलं तदेव गगनं तत्र पूर्णचन्द्र.-चन्द्र इव सोमया-मृदुस्वभावेन नयनमनसोर्निर्वृतिकरः, आह्लादक इत्यर्थः, अक्षोभो-भयरहितः, सागर. प्रस्तावात् क्षीरसमुद्राऽऽदिः,स इव स्तिमितः-स्थिरश्चिन्ताकल्लोलवर्जितो न पुनर्वेलाऽवसरवर्द्धिष्णुकल्लोललवणोद इवास्थिरस्वभाव इत्यर्थः, धनपतिरिव-कुवेर इव भोगस्य समुदयः-सम्यगुदयस्तेन सह सद् विद्यमानं द्रव्यं यस्य स भोगसमुदयसद्द्रव्यस्तस्य भावस्तत्ता तया, भोगोपयोगिभोगाङ्गसमृद्ध इत्यर्थः, समरे-संग्रामे अपराजितो भङ्गमप्राप्तः परमविक्रमगुण. व्यक्तम्, अमरपतेः समानं सदृशमत्यर्थतुल्यं रूपं यस्य स तथा, मनुजपतिः-नरपतिर्भरतचक्रवर्त्ती, उत्पद्यते इति तु प्राग्योजितमेव। अथोत्पन्न. सन् किं कुरुते इत्याह—(भरहेत्यादि) अनन्तरसूत्रे एव दर्शितस्वरूपो भरतचक्रवर्त्ती भरतं भुङ्क्ते शास्तीति, प्रनष्टशत्रुरिति व्यक्तम्, अत इदं भरतक्षेत्रमुच्यते, इति निगमनमग्रे वक्ष्यते।

अथ प्रस्तुतभरतस्य दिग्विजयाऽऽदिवक्तव्यतामाह—

तए णं तस्स भरहस्स रण्णो अण्णया कयाइ आउहघरसालाए दिव्वे चक्करयणे समुप्पज्जित्था, तए णं से आउहघरए भरस्स रण्णो आउहघरसालाए दिव्वं चक्करयणं समुप्पण्णं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए नंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहिअए जेणामेव दिव्वे चक्करयणे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता करयल ०जाव कट्टु चक्करयणस्स पणामं करेइ, करेत्ता आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता जेणामेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणामेव भरहे राया तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल ०जाव जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिआणं आउहघरसालाए दिव्वे चक्करयणे समुप्पण्णे, तं एअण्णं देवाणुप्पिआणं पिअट्ठयाए पिअं णिवेएमो पिअं मे भवउ। तते णं से भरहे राया तस्स आउहघरिअस्स

अंतिए एयमहं सोचा णिसम्म हट्ठ ०जाव सोमणस्सिए विअसिअवरकमलणयणवयणे पयलिअवरकडगतुडिअके-ऊरमउडकुंडलहारविरायंतरइअवच्छे पालंबपलंबमाणघो-लंतभूसणधरे ससंभमं तुरिअं चवलं णरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पाउआओ ओमुअइ ओमुअइत्ता एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता अंजलिमउलिअग्गहत्थे चक्करयणाभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छइत्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेइत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिहट्टु करयल ०जाव अंजलिं कट्टु चक्करयणस्स पणामं करेइ, करेइत्ता तस्स आउहघरिअस्स अहामालिअं मउडवज्जं ओमोअं दलइ, दलइत्ता विउलं जीविआरिहं पीइदाणं दलइ, दलइत्ता सक्कारेइ, सम्माणेइ, संमाणेइत्ता पडिविसज्जेइ, पडिविसज्जेइत्ता, सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे । तए णं से भरहे राया कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! विणीयं रायहाणिं सब्भिंतरबाहिरिअं आसिअसंमज्जिअसित्तसुइगरत्थंतरवीहिअं मंचाइमंचकलिअं णाणाविहरागवसणऊसिअझयपडागाइपडागमंडिअं लाउल्लोइअमहिअं गोसीससरसरत्तचंदणकलसं चंदणघडसुकय ०जावगंधुद्धुआभिरामं सुगंधवरगंधिअं गंधवट्टिभूअं करेह, कारवेह, करेत्ता कारवेत्ता य एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते कोडुंबिअपुरिसा भरहेणं रण्णा एवं वुत्ता हट्ठ० करयल ०जाव एवं सामित्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता भरहस्स अंतिआओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता विणीअं रायहाणिं ०जाव करेत्ता कारवेत्ता य तमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति । तए णं से भरहे राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता समुत्तजालाकुलाभिरामे विचित्तमणिरयणकुट्टिमतले रमणिज्जे एहाणमंडवंसि णाणामणिरयणभत्तचित्तंसि एहाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुहोदएहिं गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं सुद्धोदएहिं अपुणे कल्लाणगपवरमज्जणविहीए मज्जिए तत्थ कोउअसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासाइअलूहिअंगे सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुडे सुइमालावण्णगविलेवणे अविद्धमणिसुवण्णे कप्पिअहारऽद्धहारतिसरिअपालंबपलंबमाणकडिसुत्तसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जगअंगुलिज्जगललिअगयललिअकयाभरणे णाणामणिकडगतुडिअथंभिअभूए अहिअसस्सिरीए कुंडलउज्जोइआणणे मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकयवच्छे पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे मुद्दिआपिंगलंगुलीए णाणामणिकणगविमलमहरिहणिउणोअविअमिसिमिसिंतविरइअसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठिअपसत्थआविद्धवीरवलए, किं बहुणा ? , कप्परुक्खए चेव अलंकिअविभूसिए णरिंदे सकोरंट०जाव चउचामरवालवीइअंगे मंगलजयजयसद्दकयालोए अणेगगणणायगदंडणायग०जाव दूअसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहणिग्गए इव०जाव ससि व्व पियदंसणे णरवई धूवपुप्फगंधमल्लहत्थगए मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव आउहघरसाला जेणेव चक्करयणे तेणामेव पहारेत्थ गमणाए । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो बहवे ईसरपभिइओ अप्पेगइआ पउमहत्थगया अप्पेगइया उप्पलहत्थगया० जाव अप्पेगइआ सयसहस्सपत्तहत्थगया भरहं रायाणं पिट्ठओ पिट्ठओ अणुगच्छंति । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो बहुईओ—

"खुज्जा चिलाइ वामणि-वडभीओ बब्बरी बउसिआओ।
जोणिअपल्हविआओ, ईसिणिअत्थारुकिणिआओ ॥१॥
लासिअलउसिअदमिली-सिंहलि तह आरबी पुलिंदी अ ।
पक्कणि बहलि मुरुंडी, सबरीओ पारसीओ अ ॥ २ ॥"

अप्पेगइया वंदणकलसहत्थगयाओ चंगेरीपुप्फपडलहत्थगयाओ भिंगारआदंसथालपातिसुपइट्ठगवायकरगरयणकरंडपुप्फचंगेरीमल्लवण्णचुण्णगंधहत्थगयाओ वत्थआभरणलोमहत्थयचंगेरीपुप्फपडलहत्थगयाओ० जाव लोमहत्थगयाओ अप्पेगइआओ सीहासणहत्थगयाओ छत्तचामरहत्थगयाओ-तेल्लसमुग्गयहत्थगयाओ, " तेल्ले कोट्ठसमुग्गे, पत्ते चोए अ तगरमेला य । हरिआले हिंगुलए, मणोसिला सासवसमुग्गे ॥ १ ॥ " अप्पेगइआओ तालिअंटहत्थगयाओ अप्पेगइयाओ धूवकडुच्छुअहत्थगयाओ भरहं रायाणं पिट्ठओ पिट्ठओ अणुगच्छंति । तए णं से भरहे राया सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदयेणं सव्वायरेणं सव्वविभूसाए सव्वविभूईए सव्ववत्थपुप्फगंधमल्लालंकारविभूसाए सव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए ० जाव महया वरतुडिअजमगसमगपवाइएणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिमुरजमुइंगदुंदुहिनिग्घोसणाइएणं जेणेव आउहघरसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता आलोए चक्करयणस्स पणामं करेइ, करेत्ता जेणेव चक्करयणे तेणेव उवागच्छइ , उवागच्छित्ता लोमहत्थयं परामुसइ, परामुसित्ता चक्करयणं पमज्जइ , पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ , अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं अणुलिंपइ, अणुलिंपित्ता अग्गेहिं

वरेहिं गंधेहिं मल्लेहि अ अच्चिणइ , पुप्फारुहणं मल्ल-गंधवएणचुएणवत्थारुहणं आभरणारुहणं करेइ, करित्ता अच्छेहिं सएहेहिं सेएहिं रययामएहिं अच्छरसातंडुलेहिं चक्करयणस्स पुरओ अट्ठऽट्ठमंगलए आलिहइ । तं जहा-सोत्थिय सिरिवच्छ णंदिआवत्त वद्धमाणग भद्दासण मच्छ कलस दप्पण अट्ठमंगलए आलिहित्ता काऊणं करेइ, उवयारंति, किं ते ?, पाडलमल्लिअचंपगअसोगपुण्णागचूअमंजरिणवमालिअबकुलतिलगकणवीरकुंदकोज्जयकोरंटयपत्तदमणयवरसुरहिसुगंधगंधिअस्स कयग्गहगहिअ-करयलपब्भट्ठविप्पमुक्कस्स दसद्धवएणस्स कुसुमणिगरस्स तत्थ चित्तं जाणुस्सेहप्पमाणमित्तं ओहिनिगरं करेत्ता चंदप्पभवइरवेरुलिअविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं च धूमवट्टिं विणिम्मुअंतं वेरुलिअमयं कडुच्छुअं पग्गहेत्तु पयते धूवं दहइ, दहित्ता सत्तऽट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता वामं जाणुं अंचेइ, ० जाव पणामं करेइ, करेत्ता आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सएिणसीअइ , सएिणसित्ता अट्ठारस सेणिपसेणीओ सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! उस्सुक्कं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अभिज्जं अभडप्पवेसं अदंडकोदंडिमं अधरिमं गणिआवरणाडइज्जकलिअं अणेगतालायराणुचरियं अणुद्धुअमुइंगं अमिलायमल्लदामं पमुइअपक्कीलिअसपुरजणजाणवयं विजयवेजइअं चक्करयणस्स अट्ठाहिअं महामहिमं करेइ , करेत्ता ममेअमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणह । तए णं ताओ अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ भरहेणं रन्ना एवं वुत्ताओ समाणीओ हट्ठाओ० जाव विणएणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता भरहस्स रएणो अंतिआओ पडिणिक्खमिंति, पडिणिक्खमित्ता उस्सुक्कं उक्करं०जाव करेंति अ, कारवेंति अ, करेत्ता कारवेत्ता जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता ०जाव तमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति। ( सूत्र—४३ )

( तए णमित्यादि ) ततो—माएडलिकत्वप्राप्तेरनन्तरं तस्य—भरतस्य—राज्ञ अन्यदा कदाचित् माएडलिकत्वं भुञ्जानस्य वर्षसहस्रे गते इत्यर्थ., आयुधगृहशालायां दिव्य चक्ररत्न समुदपद्यत, 'तए णं से ' इत्यादि । तत.—चक्ररत्नोत्पत्तेरनन्तरं स आयुधगृहिको , यो भरतेन राज्ञा आयुधागृहस्य कृतोऽस्तीति गम्यम् । भरतस्य राज्ञ आयुधगृहशालायां दिव्य चक्ररत्न समुत्पन्नं पश्यति, दृष्ट्वा च हृष्टतुष्टम्—अत्यर्थं तुष्टं हृष्ट वा—अहो मया इदमपूर्वं दृष्टमिति विस्मितं, तुष्टं—सुष्ठु जातं यन्मयैव प्रथममिदमपूर्वं दृष्टं यन्निवेदनेन स्वस्वामी प्रीतिपात्रं करिष्यति इति सन्तोषमापन्नं चित्त यत्र तद् यथा भवति तथा आनन्दितः—प्रमोद प्राप्तः । यद्वा—हृष्टतुष्टः—अतीव तुष्टः , तथा चित्तेन आनन्दितः, मकारः प्राकृतत्वात् अलाक्षणिकः ततः कर्मधारयः, नन्दितो—मुखसोमताऽऽदिभावैः समृद्धिमुपागतः-प्रीतिः—प्रीणनं मनसि यस्य स तथा, चक्ररत्ने बहुमानपरायण इत्यर्थः । परमं सौमनस्यं—सौमनस्कत्वं जातमस्येति परमसौमनस्यितः । एतदेव व्यनक्ति—हर्षवशेन विसर्पद्—उल्लसद् हृदयं यस्य स तथा, प्रमोदप्रकर्षप्रतिपादनार्थत्वान्नैतानि विशेषणानि पुनरुक्ततया दुष्टानि, यतः 'वक्ता हर्षेति, "वक्ता हर्षभयाऽऽदिभि-राक्षिप्तमनाः स्तुवन् तथा निन्दन् । यत् पदमसकृद् ब्रूयात् , तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥१॥ " यत्रैव तद्दिव्यं चक्ररत्न तत्रैवोपागच्छति , उपागत्य च त्रिकृत्वः—त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणं—दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणं करोति , त्रिप्रदक्षिणयतीत्यर्थः । तथा कृत्वा च ( करतल त्ति । ) अत्र यावत्पदात् ' करयलपरिग्गहिअं दसणहं सिरसावत्त मत्थए अजलिं त्ति । ' अत्र व्याख्या—करतलाभ्यां परिगृहीतः—अतस्तं दश करद्वयसम्बन्धिनो नखाः समुदिता यत्र तं शिरसि—मस्तके आवर्त्तः—आवर्त्तनं प्रादक्षिण्येन परिभ्रमण यस्य त शिरसाऽप्राप्तमित्यन्ये। मस्तके अञ्जलिं—मुकुलितकमलाऽऽकारकरद्वयरूप कृत्वा चक्ररत्नस्य प्रणाम करोति, कृत्वा च आयुधगृहशालातः प्रतिनिष्क्रामति—निर्याति, प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव 'बाहिरिका'-आभ्यन्तरिकापेक्षया बाह्या उपस्थानशाला-आस्थानमएडपो, यत्रैव च भरतो राजा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च ' करतल ०जाव ' त्ति पूर्ववत् । जयेन-परानभिभवनीयत्वरूपेण विजयेन—परेषामसहमानानामभिभावकत्वरूपेण वर्द्धयति-जयविजयाभ्यां त्वं वर्द्धयस्वेत्याशिष प्रयुङ्क्ते, वर्द्धयित्वा चैवमवादीत् । किं तदित्याह-' एव खलु ' इत्यादि, इत्थमेव यदुच्यते मया, न च विपर्ययाऽऽदिना यदन्यथा भवति , यद्देवानुप्रियाणां—राजपादानाम् आयुधगृहशालायां दिव्य चक्ररत्न समुत्पन्न तदेव तत् , णमिति प्राग्वत्,देवानुप्रियाणां प्रियार्थतायै-प्रीत्यर्थं प्रियम्—इष्ट निवेदयाम. ' एतत् ' प्रियनिवेदनं प्रियं ( भे ) भवतां भवतु, ततो भरतः किं चक्रे इत्याह—' तने ए ' इत्यादि. ततः स भरतो राजा तस्याऽऽयुधगृहिकस्य समीपे एनमर्थं श्रुत्वा—आकर्ण्य कर्णाभ्यां निशम्य—अवधार्य हृदयेन तुष्टो यावत्सौमनस्यितः प्राग्वत् प्रमोदाऽतिरेकाद्ये ये भावा भरतस्य संवृत्तास्तान् विशेषणद्वारेणाऽऽह-विकसितकमलवन्नयनवदने यस्य स तथा, प्रचलितानि—चक्ररत्नोत्पत्तिश्रवण-जनितसम्भ्रमातिरेकात् कम्पितानि वरकटके प्रधानवलये त्रुटिके—बाहुरक्षकौ केयूरे—बाह्वोरेव भूषणविशेषौ मुकुट कुएडले च यस्य स तथा, सिंहावलोकनन्यायेन प्रचलितशब्दो ग्राह्य., तेन प्रचलितहारेण विराजद् रतिदं च वक्षो यस्य स तथा. पश्चात् पदद्वयस्य कर्मधारय । प्रलम्बमान सम्भ्रमादेव प्रालम्बो—झुम्बनक यस्य स तथा , घोलद्-दोलायमानं भूषणम् उरुातिरिक्तं धरति य. स तथा, तत.

पदद्वयस्य कर्मधारयः । अत्र पदविपर्यय आर्षत्वात् , ससम्भ्रमं—सादरं त्वरितं—मानसौत्सुक्यं यथा स्यात्तथा चपल कायौत्सुक्यं यथा स्यात् तथा नरेन्द्रो—भरतः सिंहाऽऽसनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय च पादपीठात्-पदाऽऽसनात् प्रत्यवरोहति—अवतरति प्रत्यवरुह्य च—अवतीर्य पादुके-पादत्राणे अवमुञ्चति भक्त्यतिशयात्, अवमुच्य च एकः शाटो यत्र स तथा, तद्धितलक्षण इकप्रत्ययः । अखण्डशाटकमय इत्यर्थः, एताद्दशमुत्तरासङ्गो-वक्षसि तिर्यग्विस्तारितवस्त्रविशेषस्तं करोति, कृत्वा च अञ्जलिना मुकुलितः-कुड्मलाकारी कृताग्रहस्तौ-हस्ताग्रभागौ येन स तथा, चक्ररत्नाभिमुखः सप्त वा अष्टौ वा पदानि, अनूपसर्गस्य सन्निधिवाचकत्वादनुगच्छति-आसन्नो भवति , दृष्टश्चानुशब्दप्रयोगः सन्निधौ,यथा-"अनुनदि शुश्रुविरे चिरं रुतानि ।" इति, पदानां सङ्ख्याविकल्पदर्शनमेताद्दशभापाव्यवहारस्य लोके दृश्यमानत्वात्, अनुगत्य च वामं जानुम् आकुञ्चयति-ऊर्ध्वं करोतीत्यर्थः, दक्षिणं जानुं धरणीतले निहत्य-निवेश्य 'करतले' त्यादि विशेषणजात प्राग्वत् , अञ्जलिं कृत्वा चक्ररत्नस्य प्रणामं करोति, कृत्वा च तस्याऽऽयुधगृहिकस्य 'यथामालित' यथाधारित यथापरिहितमित्यर्थ , इदं च विशेषणं दानरसातिशयाद्दानं निर्विलम्बेन देयमिति ख्यापनार्थम् । यदाह—

" सव्यपाणिगतमप्यपसव्य-प्रापणावधि न देयविलम्ब' ।
न ध्रुवत्वनियम. किल लक्ष्म्या-स्तद्विलम्बनविधौ न विवेकः१।
अविलम्बितदानगुणात्, समुज्ज्वल मानवो यशो लभते ।
प्रथमं प्रकाशदाना-द्विशद. पक्षोऽपर. कृष्ण. ॥ २ ॥"

अवमुच्यते-परिधीयते य. सोऽवमोचकः-आभरणं, मुकुटवर्ज-मुकुटमन्तरेणेत्यर्थ., अत्र 'उतोऽन्मुकुलाऽऽदिषु' ( श्रीसिद्ध० अ० ८ पा० १ सू० १०७ ) इत्युकारस्याकार , तस्य राजचिह्नाऽलङ्कारत्वेनादेयत्वात् , न कार्पण्याऽऽदिना न ददातीति , एतेनान्यमनुष्याणां मौलिवेष्टनस्य राजचिह्नत्वमभ्युपगच्छन्तो ये केचन जिनगृहाऽऽद्यभिगमविधौ मौलिवेष्टनमपाकुर्वन्ति ते अशुभदर्शनत्वादपशकुनमितीवाभ्युपगच्छता आगमोक्तविध्यनुष्ठानजन्यफलेन दूरतो मुक्ता इति बोध्यं, दत्त्वा चान्यत् किं करोतीत्याह—विपुलं जीवितार्हम्-आजीविकायोग्यं प्रीतिदानं ददाति, सत्कारयति वस्त्राऽऽदिना सन्मानयति वचनबहुमाने, सत्कृत्य सन्मान्य च प्रतिविसर्जयति-स्वस्थानगमनतो ज्ञापयति , प्रतिविसर्ज्य च सिंहाऽऽसनवरगत' पूर्वाभिमुखः सन्निषण्ण उपविष्ट इति । अथ भरतो यत्कृतवान् तदाह—' तए णं ' इत्यादि, निगदसिद्ध, किमवादीदित्याह—( खिप्पामेव त्ति । ) क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिय ! विनीतां राजानीं सद्दाभ्यन्तरेण नगरमध्यभागेन बाहिरिका—नगरबाह्यभागो यत्र तत्तथा-क्रियाविशेषणम्,आसिक्ता ईषत्सिक्ता गन्धोदकच्छटकदानात् समार्जिता-कशवरशोधनात् सिक्ता जलेनात एव शुचिका संमृष्टा-विषमभूमिभञ्जनाद् रथ्या-राजमार्गोऽन्तरवीथी च अवान्तरमार्गो यस्या सा तथा इदं च विशेषणं योजनाया विचित्रत्वात् सम्मृष्टसम्मार्जितासिक्ताशुचिकरथ्यान्तरवीथिकामित्येवं दृश्यं सम्मृष्टाऽऽद्यनन्तरभावित्वाच्छुचिकत्वस्य-मञ्चा-मालका. प्रेक्षणकद्रष्टृजनोपवेशननिमित्तम् अतिमञ्चा-तेषामप्युपरि ये तैः कलिता नानाविधो रागो—रञ्जन येषु तानि कौसुम्भमाञ्जिष्ठाऽऽदिरूपाणि वसनानि—वस्त्राणि येषु ताद्दशा ये ऊर्ध्वीकृता-उच्छ्रता ध्वजाः-सिंहगरुडाऽऽदिरूपकोपलक्षिता बृहत्पट्टरूपाः पताकाश्च-तदितररूपा अतिपताका'—तदुपरिवर्तिन्यस्ताभिर्मण्डिताम् , अत्र च ' लाउल्लोइय ' इत्यादिको ' गंधवट्टिभूअं ' इत्यन्तो विनीताससमारचनवर्णकः प्रागभियोग्यदेवभवनवर्णके व्याख्यात इति न व्याख्यायते , ईदृशविशेषणविशिष्टां कुरुत स्वयं कारयत परैः कृत्वा कारयित्वा च एतामाज्ञप्तिम्-आज्ञां प्रत्यर्पयत-ततस्ते किं कुर्वन्तीत्याह-'तए णं ' इत्यादि । ततो-भरताऽऽज्ञाऽनन्तरं कौटुम्बिकाः-अधिकारिणः पुरुषाः भरतेन राज्ञा एवमुक्ताः सन्तो हृष्टाः करतलेत्यारभ्य यावत्पदमाला पूर्ववत् , एवं स्वामिन् ! यथाऽऽयुष्मत्पादा आदिशन्ति तथेत्यर्थः, इति कृत्वा-इति प्रतिवचनेनेत्यर्थः, आज्ञायाः-स्वामिशासनस्योक्तलक्षणेन नियमेन, अत्र च ' आणाए विणएणं 'इति एकदेशग्रहणेन पूर्णोऽभ्युपगमालापको ग्राह्यः, अशेनांशी गृह्यते; इति ( वयणं पडिसुणंति त्ति ) वचन प्रतिशृण्वन्ति अङ्गीकुर्वन्तीति , ततस्ते किं कुर्वन्तीत्याह—' पडिसुणित्ता ' इत्यादि, प्रतिश्रुत्य तस्यान्तिकात् प्रतिनिष्क्रामन्ति, प्रतिनिष्क्रम्य च विनीतां राजधानीं, यावत्पदेनानन्तरोक्तसकलविशेषणविशिष्टां कृत्वा कारयित्वा च तामाज्ञप्तिं भरतस्य प्रत्यर्पयन्ति । अथ भरतः किं चक्रे ?, इत्याह—' तए णं से भरहे ' इत्यादि । ततः स भरतो राजा यत्रैव मज्जनघरं तत्रैवोपागच्छति , उपागत्य च मज्जनगृहम् अनुप्रविशति,अनुप्रविश्य च समुक्तेन-मुक्ताफलयुतेन जालेन-गवाक्षेणाऽऽकुलो-व्याप्तोऽभिरामश्च यस्मिन् , विचित्रमणिरत्नमयकुट्टिमतलं-बद्धभूमिका यत्र स तथा तस्मिन् , अत एव समभूमिकत्वात् रमणीये स्नानमण्डपे , नानाप्रकाराणा मणीना रत्नानां च भक्त्यो-यथौचित्येन रचनास्ताभिर्विचित्रैः स्नानपीठे-स्नानयोग्ये आसने सुखेन निषण्ण.-उपविष्टस्सन् शुभोदकैः-तीर्थोदकैः सुखोदकैर्वा-नात्युष्णैर्नातिशीतैरित्यर्थः । गन्धोदकैः-चन्दनाऽऽदिरसमिश्रैः पुष्पोदकैः-कुसुमवासितैः, शुद्धोदकैश्च-स्वाभाविकैस्तीर्थान्यजलाशयैरित्यर्थः । ( मज्जिए त्ति) उत्तरसूत्रस्थपदेन सह सम्बन्धः , एतेन कान्तिजननाश्रमज ( ह ) नाऽऽदिगुणार्थं मज्जनमुक्तम् , अथारिष्टविघातार्थमाह-पुनः कल्याणकारिप्रवरमज्जनस्य-विरुद्धग्रहपीडानिवृत्त्यर्थकविहितौषध्यादिस्नानस्य विधिना ' डुमस्जोत् ' शुद्धौ , इत्यस्य शुद्ध्यर्थकत्वेन स्नानार्थकत्वान्मज्जित.-स्नपितोऽन्त पुरवृद्धाभिरिति गम्यं , कैर्मज्जित इत्याह-तत्र स्नानावसरे कौतुकाना रक्षाऽऽदीना शतै ,यद्वा-कौतूहलिकजनै स्वसेवासम्यक्प्रयोगार्थं दर्श्यमानै कौतुकशतै -भाण्डचेष्टाऽऽदिकुतूहलैर्बहुविधै -अनेकप्रकारै , अत्र करणं तु तीर्थेति । अथ स्नानोत्तरविधिमाह-' कल्लाणग ' इत्यादि । कल्याणकप्रवरमज्जनावसाने स्नानानन्तरमित्यर्थ । पक्ष्मलया-पक्ष्मवत्या अत एव सुकुमालया गन्धप्रधानया कषायेण-पीतरक्तवर्णाऽऽश्रयरञ्जनीयवस्तुना रक्ता काषायिका तया कषायरक्तया शाटिकयेत्यर्थ । रूक्षितं-निर्लेपतामापादितम् अङ्ग यस्य स तथा, सरससुरभिगोशीर्षचन्दनानुलिप्तगा-

त्र, अहत-मलमूषिकाऽऽदिभिरनुपद्रुतं प्रत्यग्रमित्यर्थ, सुमहार्घं-बहुमूल्यं यद् दूष्यरत्नं-प्रधानवस्त्र तत्सुसंवृतं—सुष्ठु परिहित येन स तथा, अनेनाऽऽदौ वस्त्रालङ्कार उक्त, अत्र च वस्त्रसूत्र पूर्वं योजनीय, चन्दनसूत्रं पश्चात्, क्रमप्राधान्याद् व्याख्यानस्य, न हि स्नानोत्थित एव चन्दनेन वपुर्विलिम्पतीति विधिक्रमः, शुचिनी-पवित्रे मालावर्णकविलेपने पुष्पस्रग्मण्डनकारिकुङ्कुमाऽऽदिविलेपने यस्य स तथा अनेन पुष्पालङ्कारमाह, अधस्तनसूत्रे वपुःसौगन्ध्यार्थमेव विलेपनमभिहितम्, अत्र तु वपुर्मण्डनार्थेति विशेषः, आविद्धानि-परिहितानि मणिसुवर्णानि येन स तथा, एतेनास्य रजतरीरीमयाऽऽद्यलङ्कारनिषेधः सूचितः, मणिस्वर्णालङ्कारानेव विशेषत आह-कल्पितो-यथास्थान विन्यस्तो हारः-अष्टादशसरिकोऽर्द्धहारो-नवसरिकस्त्रिसरिकं च प्रतीत येन स तथा प्रलम्बमानः प्रालम्बो-भुम्बनकं यस्य स तथा, सूत्रे च पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, कटिसूत्रेण-कट्याभरणेन सुष्ठु कृता शोभा यस्य स तथा, अत्र पदत्रयस्य कर्मधारयः। अथवा-कल्पितहाराऽऽदिभिः सुकृता शोभा यस्य स तथा. पिनद्धानि-बद्धानि ग्रैवेयकाणि-कण्ठाऽऽभरणानि अङ्गुलीयकानि-अङ्गुल्याभरणानि येन स तथा, अनेनाऽऽभरणालङ्कार उक्तः, तथा ललिते—सुकुमालेऽङ्के मूर्द्धाऽऽदौ ललितानि-शोभावन्ति कचाना-केशानाम् आभरणानि-पुष्पाऽऽदीनि यस्य स तथा अनेन केशालङ्कार उक्त। अथ सिंहावलोकनन्यायेन पुनरप्याभरणालङ्कार वर्णयन्नाह-नानामणीनां कटकत्रुटिकै.-हस्तबाह्वाभरणविशेषैर्बहुत्वात् स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ यस्य स तथा. अधिकसश्रीक इति स्पष्टं, कुण्डलाभ्यामुद्द्योतितम् आनन मुख यस्य स तथा, मुकुटदीप्तशिरस्कः स्पष्ट, हारेणावस्तृतम्—आच्छादितं तेनैव हेतुना प्रेक्षकजनानां सुकृतरतिक वक्षो यस्य स तथा. प्रलम्बेन—दीर्घेण प्रलम्बमानेन—दोलायमानेन सुकृतेन-सुष्ठु निर्मितेन पटेन-वस्त्रेन उत्तरीयम् उत्तराऽऽसङ्गो यस्य स तथा, प्राकृतत्वात् पूर्वपदस्य-दीर्घत्वं, मुद्रिकाभि—साक्षराङ्गुलीयकै. पिङ्गला अङ्गुल्यो यस्य स तथा, बहुव्रीहिलक्षण. कप्रत्ययः, नानामणिमय विमलं महार्घं-बहुमूल्यं निपुणेन शिल्पिना 'ओअविअ त्ति।' परिकर्मित 'मिसिमिसेंत त्ति' दीप्यमान विरचित निर्मित सुश्लिष्ट-सुसन्धि विशिष्टम् अन्येभ्यो विशेषवत् लष्टं-मनोहरं संस्थितं संस्थान यस्य तत्, पश्चात् पूर्वपदै. कर्मधारयः. एवविधं प्रशस्तम् आविद्धं—परिहित वीरवलय येन स तथा. अन्योऽपि यः (दि) कश्चिद्वीरव्रतधारी तदाऽसौ मां विजित्य मोचयत्वेतद्वलयमिति स्पर्द्धयन् (यत्) परिदधाति तद्वीरवलयमिति इत्युच्यते, किं बहुना वर्णितेनेति शेषः, 'कप्परुक्खए च्चेव त्ति' अत्र चेवशब्द इवार्थे, तेन कल्पवृक्षक इवालङ्कृतो विभूषितश्च, तत्रालङ्कृतो दलाऽऽदिभिर्विभूषित फलपुष्पाऽऽदिभिः कल्पवृक्षो राजा तु मुकुटाऽऽदिभिरलङ्कृतो विभूषितस्तु वस्त्राऽऽदिभिरिति. नरेन्द्र. 'सकोरंट ०जाव त्ति' अत्र यावत्करणात् 'सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं' इति ग्राह्यम्, तत्र सकोरण्टानि—कोरण्टाभिधानकुसुमस्तवकवन्ति. कोरण्टपुष्पाणि हि पीतवर्णानि



मालान्ते शोभार्थं दीयन्ते, मालायै हितानि माल्यानि—पुष्पाणीत्यर्थः, तेषां दामानि-माला यत्र तत्तथा, एवंविधेन छत्रेण ध्रियमाणेन शिरसि, विराजमान इति गम्यं, चतुर्णाम्—अग्रतः पृष्ठतः पार्श्वयोश्च वीज्यमानत्वाच्चतु सङ्ख्याङ्कानां चामराणा वालैर्वीजितमङ्गं यस्येति, मङ्गलभूतो जयशब्दो जनेन कृत आलोके-दर्शने यस्य स तथा अनेन गणनायका-मल्लाऽऽदिगणमुख्याः दण्डनायका -तन्त्रपाला.। यावत्पदात् 'ईसरतलवरमाडंबिअकोडुंबिअमंति-महामंतिगणगदोवारिअअमच्चचेडपीढमद्दणगरणिगमसेट्ठि-सेणावइसत्थवाह।' इति द्रष्टव्यम्। अत्र व्याख्या-तत्र राजानो-माण्डलिका., ईश्वरा.-युवराजानो मतान्तरेण अणिमाऽऽद्यैश्वर्ययुक्ता, तलवरा.-परितुष्टनृपदत्तपट्टबन्धविभूषिता राजस्थानीया, माडम्बिकाः-छिन्नमडम्बाधिपा., कौटुम्बिका.-कतिपयकुटुम्बप्रभवोऽवलगका मन्त्रिण.-प्रतीताः-महामन्त्रिणो-मन्त्रिमण्डलप्रधानाः, गणका-गणितज्ञा भाण्डागारिका वा, दौवारिका.-प्रतीहारा., अमात्या-राज्याधिष्ठायका, चेटाः—पादमूलिका दासा वा. पीठमर्द्दा—आस्थाने आसन्नासन्नसेवका, वयस्या इत्यर्थः। वेश्याऽऽचार्या वा। नगरं-तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशेन नगरनिवासिप्रकृतय. निगमाः-कारणिका वणिजो वा श्रेष्ठिन -श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टभूषितोत्तमाङ्गा.। अथवा-नगराणा निगमानां च—वणिग्वासाना श्रेष्ठिनो-महत्तरा, सेनापतय.—चतुरङ्गसैन्यनायका., सार्थवाहा—सार्थनायका, दूता अन्येषा राज्यं गत्वा राजाऽऽदेशनिवेदका.,सन्धिपाला-राज्यसन्धिरक्षका। एषां द्वन्द्वस्ततस्तैः, अत्र तृतीयाबहुवचनलोपो द्रष्टव्य., सार्द्धं सह न केवलं तत्सहितत्वमेव, अपि तु—तैः समिति-समन्तात् परिवृत.—परिकरित इति, नरपतिर्मज्जनगृहात् प्रतिनिष्क्रामतीति सम्बन्ध,किम्भूतः?-प्रियदर्शनः, क इव?, धवलमहामेघ.-शरन्मेघस्तस्मान्निर्गत इव. अत्र यावत्पदात्, 'गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे' इति संग्रहः तेन शशिपदाग्रस्थ इवशब्दो ग्रहगणेतिविशेषणेन योज्यः, ततोऽयमर्थ सम्पन्न उपमानिर्वाहाय-यथा चन्द्र शरदभ्रपटलनिर्गत इव ग्रहगणाना दीप्यमानऋक्षाणा-शोभमाननक्षत्राणा तारागणस्य च मध्ये वर्तमान इव प्रियदर्शनो-भवति तथा भरतोऽपि सुधाधवलान्मज्जनगृहान्निर्गतोऽनेकगणनायकाऽऽदिपरिवारमध्ये वर्त्तमान प्रियदर्शनोऽभवत, पुन कीदृशो नृपति प्रतिनिष्क्रामतीत्याह-धूपपुष्पगन्धमाल्यानि पूजोपकरणानि हस्तगतानि यस्य स तथा तत्र धूपो दशाङ्गाऽऽदि, पुष्पाणि-प्रकीर्णककुसुमानि गन्धा-वासा., माल्यानि-ग्रथितपुष्पाणीति। प्रतिनिष्क्रम्य च किं कृतवानित्याह-(जेणेव इत्यादि) यत्रैवाऽऽयुधगृहशाला यत्रैव च चक्ररत्न तत्रैव प्रधारितवान् गमनाय—गन्तुं प्रावर्त्तत इत्यर्थ। अथ भरतगमनानन्तर यथा तदनुचराश्चक्रुस्तथाऽऽह-(तए ण इत्यादि) ततो-भरताऽऽगमनादनु तस्य—भरतस्य राज्ञो बहव ईश्वरप्रभृतय —यावत्पदसङ्ग्राह्यास्तलवरप्रभृतय पूर्ववत्, अपिर्वाढार्थे. एके केचन पद्महस्तगता. एके केचन उत्पलहस्तगता. एव सर्वाण्यपि विशेषणानि वाच्यानि. यावत्पदात्— अप्पेगइआ कुमुअहत्थगया अप्पेगइया नलिणहत्थगया अप्पेगइया सोगंधिअहत्थगया अप्पे-

गइया पुंडरीयहत्थगया अप्पेगइया सहस्सपत्तहत्थगया' इति सग्रहः । अत्र व्याख्या प्राग्वत्, नवरं भरतं राजानं पृष्ठतः पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति,पृष्ठे पृष्ठे परिपाट्या चलन्तीत्यर्थः । सर्वेषामपि सामन्तानामेकैव वैनयिकी गतिरिति ख्यापनार्थं वीप्सायां द्विर्वचन, न केवल सामन्तनृपा एव भरतमनुजग्मुः, किन्तु-किङ्करीजनोऽपीत्याह—( तए णं ' इत्यादि ) तत. सामन्तनृपानुगमनानन्तरं तस्य भरतस्य राज्ञः सम्बन्धिन्यो बह्व्यो दास्यो भरतं राजानं पृष्ठतोऽनुगच्छन्तीति सम्बन्धः। कास्ता इत्याह—कुब्जा.-कुब्जिका वक्रजङ्घा इत्यर्थः, चिलात्य.-चिलातदेशोत्पन्नाः,वामनिका-अत्यन्तह्रस्वदेहा,ह्रस्वोन्नतहृदयकोष्ठा वा, वडभिका—मडहकोष्ठा वक्राध.-काया वा इत्यर्थः । बर्बर्य्यो बर्बरदेशोत्पन्ना., बकुशिका—वकुशदेशजाः, जोनिक्यो-जोनकनामकदेशजा , पह्लविका.-पह्लवदेशजाः ( ईसेणिआ थारुकिणिआओ त्ति ) देशद्वयभवाः ईसिनिकाः थारुकिनिका., लासिक्यो—लासकदेशजा., लकुशिक्यो लकुशदेशजाः , द्राविड्यो द्रविडदेशजाः । सिंहल्यः—सिंहलदेशजाः, आरब्य.—अरबदेशजा. , पुलिन्द्य.—पुलिन्द्रदेशजा. , पक्कण्य.—पक्कणदेशजाः, बहल्यो-बहलिदेशजाः, मुरुण्ड्यो—मुरुण्डदेशजा., शबर्यः—शबरदेशजा., पारसीका.-पारसदेशजाः । अत्र चिलात्यादयोऽष्टादश पूर्वोक्तरीत्या तत्तद्देशोद्भवत्वेन तत्तन्नामिका ज्ञेयाः, कुब्जाऽऽदयस्तु तिस्रो विशेषणभूताः , अथ यथाप्रकारेणोपकरणेन ता अनुययुस्तथा चाऽऽह-अप्येकिका वन्दनकलशा मङ्गल्यघटा हस्तगता यासां तास्तथा, एवं भृङ्गाराऽऽदिहस्तगता अपि वाच्याः, तद्व्याख्यानं तु प्राग्वत् , नवर पुष्पचङ्गेरीत आरभ्य मालाऽऽदिपदविशेषितास्तच्चङ्गेर्य्यो ज्ञातव्याः। लोमहस्तकचङ्गेरी तु साक्षादुपात्ताऽस्ति, अन्यास्तु लाघवार्थकत्वेन सूत्रे साक्षान्नोक्ता. , आद्यन्तग्रहणेन मध्यग्रहणस्य स्वयमेव लभ्यमानत्वात् , एवं पुष्पपटलहस्तगता माल्याऽऽदिपटलहस्तगताश्च वाच्या',अप्येकिका. सिंहाऽऽसनहस्तगताः, अप्येकिकाः छत्रचामरहस्तगता , तथा अप्येकिकाः तैलसमुद्गा.-तैलभाजनविशेषास्तद्धस्तगताः । एव कोष्ठसमुद्गकहस्तगता यावत्सर्षपसमुद्गकहस्तगताः । अत्र समुद्गकसग्रहमाह—'तेल्ले कोट्ठसमुग्गे ' इति सूत्रोक्त , एतदर्थस्तु राजप्रश्नीयवृत्तितोऽवगन्तव्य , अप्येकिकास्तालवृन्तहस्तगता.-व्यञ्जनपाणयः, अप्येकिका धूपकडच्छुकहस्तगता इति। अथ यया समृद्ध्या भरत आयुधशालागृह प्राप तामाह—( तए णं इत्यादि, ) तत. स भरतो राजा यत्रैवाऽऽयुधगृहशाला तत्रैवोपागच्छतीति सम्बन्ध., किम्भूत इत्याह—सर्वर्ध्या—समस्तया आभरणाऽऽदिरूपया लक्ष्म्या युक्त इति गम्यम् । एवमन्यान्यपि पदानि योजनीयानि , नवर युति -मेल परस्परमुचितपदार्थानां तया बलेन-सैन्येन समुदयेन-परिवाराऽऽदिसमुदयेन, आदरेण प्रयत्नेन आयुधरत्नभक्त्युत्थबहुमानेन,विभूषया-उचितनेपथ्याऽऽदिशोभया विभूत्या—विच्छर्द्देन एवंविधविस्तारेण उक्तामेव विभूषां व्यक्त्याऽऽह—'सव्वपुप्फे ' त्यादि, अत्र पुष्पाऽऽदिपदानि प्राग्वत् , नवरम् अलङ्कारो-मुकुटाऽऽदिरेतद्रूपया सर्वेषां त्रुटितानां-तूर्याणां य. शब्दो—ध्वनिर्यश्च स

सङ्गतो निनादः-प्रतिध्वनिस्तेन, अत्र शब्दसन्निनादयोः समाहारद्वन्द्वः । अथ " सर्वमनेन भाजनस्थ घृत पीतम्" इति लोकोक्तेः प्रसिद्धत्वात् सर्वशब्देनाल्पीयोऽपि निर्दिष्ट भवेत्ततश्च न तथा विभूतिर्वर्णिता भवतीत्याशङ्कमान प्रत्याह—' महया इड्ढीए ' इत्यादि। योजना तु प्राग्वदेव, यावत्शब्दात् महायुत्यादिपरिग्रह । महता—बृहता वरत्रुटिताना-नि.स्वनाऽऽदीना तूर्याणां यमकसमक-युगपत्प्रवादितं भावे क्तप्रत्ययविधानात् प्रवादनं ध्वनितमित्यर्थस्तेन, शङ्ख -प्रतीत , पणवो—भाण्डपटहो लघुपटह इत्यन्ये, पटहस्त्वेतद्विपरीत. भेरी—ढक्का झल्लरी—चतुरङ्गुलनालिः करटिसदृशी वलयाऽऽकारा, खरमुखी—काहला, मुरजो—महामर्द्दल , मृदङ्गो—लघुमर्द्दल , दुन्दुभि —देववाद्यम् , एषां निर्घोषनादितेन, तत्र निर्घोषो-महाध्वनिर्नादित च प्रतिरव -एकवद्भावादेकवचन, पूर्वविशेषण तूर्यसामान्यविषयमिद तुतद्व्यक्तिसूचकमित्यनयोर्भेद' । आयुधगृहशालाप्राप्त्यनन्तर विधिमाह—' उवागच्छित्ता ' इत्यादि, तत्रोपागत्य आलोके दर्शनमात्र एव चक्ररत्नस्य प्रणाम करोति , क्षत्रियैरायुधवरस्य प्रत्यक्षदेवतात्वेन सङ्कल्पनात् , यत्रैव चक्ररत्न तत्रैवोपागच्छति, लोमहस्तकं—प्रमार्जनिका परामृशति-हस्तेन स्पृशति, गृह्णातीत्यर्थः , परामृश्य च चक्ररत्नं प्रमार्जयति , यद्यपि न तादृशे रत्ने रज सम्भवस्तथापि भक्तजनस्य विनयप्रक्रियाज्ञापनार्थमयमुपन्यास'—प्रमार्ज्य च दिव्ययोदकधारया अभ्युक्षति—सिञ्चति, स्नपयतीत्यर्थ. । अभ्युक्ष्य च सरसेन गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति , अनुलिप्य च अग्रै.—अपरिभुक्तैरभिनवैर्वरैर्गन्धमाल्यैश्चार्चयति। एतदेव व्यक्त्या दर्शयति—पुष्पाऽऽरोपण माल्याऽऽरोपण वर्णाऽऽरोपण चूर्णाऽऽरोपणं वस्त्राऽऽरोपणं आभरणाऽऽरोपण करोति कृत्वा च अच्छैः—अमलै.,श्लक्ष्णै.—अतिप्रतलैः—श्वेतै. रजतमयैरत एव अच्छो रसो येषा ते अच्छरसा , प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाऽऽधारभूता इवातिनिर्मला इति भाव. एतादृशैस्तण्डुलै —अत्र पूर्वपदस्य दीर्घान्तता प्राकृतत्वात् , स्वस्तिकाऽऽदयोऽष्टाष्टमङ्गलकानि—मङ्गल्यवस्तूनि आलिखति—विन्यस्यति, अत्र चाऽष्टाऽष्टेति वीप्सावचनात् प्रत्येकमष्टाविति ज्ञेयम् , यद्वा—अष्टेति संख्याशब्द' अष्टमङ्गलकानीति चाखण्ड सञ्ज्ञाशब्द , अष्टानामपि मङ्गलकानाम् , अथोक्तानामेव मङ्गलकाना व्यक्तितो नामानि कथयन् पुनर्विध्यन्तरमाह, तद्यथा-स्वस्तिकमित्यादि, व्याख्या तु प्राग्वत् , अत्र द्वितीयालोप. प्राकृतत्वात्, इमान्यष्टमङ्गलकानि आलिख्य आकारकरणेन कृत्वा—अन्तर्वर्णकाऽऽदिभरणेन पूर्णानि कृत्वेत्यर्थ , करोति उपचारम्—उचितसेवामिति, तमेव व्यनक्ति किन्ते इति तद्यथेत्यर्थे,तेन विवक्षित उपचार उपन्यस्त इत्यर्थ , पाटलं-पाटलपुष्प , मल्लिका-विचकिलपुष्प-यल्लोके-'वेलि' इति प्रसिद्धम्,चम्पकाशोकपुन्नागा. प्रतीता ,चूतमञ्जरी आम्रमञ्जरी, वकुल -केसरो य स्त्रीमुखसीधुसिक्तो विकसति तत्पुष्प, तिलको य स्त्रीकटाक्षनिरीक्षितो विकसति तत्पुष्पम् ,कणवीर, कुन्दं च प्रतीते'कुब्जक-'कूवो' इति नाम्ना वृत्तविशेषस्तत्पुष्पं , कोरण्टक प्राग्वत् , पत्राणि—मरुवकपत्राऽऽदीनि, दसनक -स्पष्ट , एतैर्वरसुरभि.-अत्यन्तसुरभिः, त-

था सुगन्धाः-शोभनचूर्णास्तेषां गन्धो यत्र स तथा, तद्धितलक्षण इकप्रत्ययः । पश्चाद्विशेषणद्वयस्य कर्मधारयस्तस्य, तथा कचग्रहो—मैथुनसंरम्भे मुखचुम्बनाऽऽयर्थं युवत्या. पञ्चाङ्गुलिभिः केशेषु ग्रहणं तन्न्यायेन गृहीतस्तथा तदनन्तर करतलाद्विप्रमुक्तः सन् प्रभ्रष्टः, प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः, तत. पूर्वपदेन कर्मधारयस्तस्य, दशार्धवर्णस्य-पञ्चवर्णस्य कुसुमनिकरस्य-पुष्पराशेः. तत्र चक्ररत्नपरिकरभूमौ चित्रम् आश्चर्यकारिण जानूत्सेधप्रमाणेन जानु यावदुच्चत्वप्रमाणं प्रमाणोपेतपुरुषस्य चतुरङ्गुलचरणचतुर्विंशत्यङ्गुलजङ्घोच्चत्वमीलनेनाष्टविंशत्यङ्गुलरूपं तेन समाना मात्रा यस्य स तथा तम्. अवधिना मर्यादया निकरं-विस्तारं कृत्वा चन्द्रप्रभा. चन्द्रकान्ता वज्राणि—हीरका वैडूर्याणि—वालवायजानि तन्मयो विमलो दण्डो यस्य स तथा तं काञ्चनमणिरत्नानां भक्तयो-विच्छित्तयो रचनास्ताभिश्चित्रं, कृष्णागुरुः प्रतीतः, कुन्दुरुक्क-चीडा, तुरुष्कः-सिल्हकः, तेषा यो धूपो गन्धोत्तमः—सौरभ्योत्कृष्ट. अत्र विशेषण. परनिपात. प्राकृतत्वात्, तेनानुविद्धा-मिश्रा व्याप्तेत्यर्थ.। तां, चशब्दो विशेषणसमुच्चये स च व्यवहितसम्बन्धः. तेन धूमवर्त्तिं च—धूमश्रेणिं विनिर्मुञ्चन्तं. वैडूर्यमयं-केवलवैडूर्यरत्नघटितं स्थालकस्थगनकाऽऽद्यवयवेषु दण्डवच्चन्द्रकान्ताऽऽदिरत्नमयत्वे तु अङ्गारधूमससर्गजनिता विच्छायता प्रादुर्भवेत्, 'कडुच्छुक' धूपाऽऽधानक 'प्रागृह्य' गृहीत्वा-प्रयत.' आद्रियमाणो धूपं दहति,धूपं दग्ध्वा च प्रमार्जनाऽऽदिकारणविशेषेण सन्निधीयमानमपि चक्ररत्नम् अत्यासन्नतया मा आशातितं भूयादिति सप्ताष्टपदानि प्रत्यपसर्प्पति पश्चादपसरति प्रत्यपसर्प्य च वाम जानुम् अञ्चति, यावत्करणाद्—' दाहिणं जाणुं धरणिअलंसि निहट्टु करयलपरिग्गहिअं दससहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु ' इति संग्रह., व्याख्या च पूर्ववत्, प्रणाम करोति—समीहितार्थसम्पादकमिदमिति बुद्ध्या प्रीतः प्रणमति, प्रणाम कृत्वा च आयुधगृहशालातः प्रतिनिष्कामति—निर्गच्छतीति. ' पडिणिक्खमित्ता ' इत्यादि, प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव बाह्या उपस्थानशाला यत्रैव सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखः सन्निषीदति—उपविशति, सनिषद्य च अष्टादश श्रेणीः—कुम्भकाराऽऽदिप्रकृतीः प्रश्रेणीस्तदवान्तरभेदान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीदिति । अष्टादश श्रेणयश्चेमाः—

" कुंभार १ पट्टइल्ला २, सुवण्णकारा य ३ सूवकारा य ४।
गधव्वा ५ कासवगा ६, मालाकारा य ७ कच्छकरा ८ ॥१॥
तवोलिआ ६ य एए, नवप्पयारा य नारुआ भणिआ ।
अह ण णवप्पयारे, कारुअवण्णे पवक्खामि ॥ २ ॥
चम्मय रु १ जतपीलग २ गछिअ ३ छिंपाय ४ कसकारे य ५।
सीवग ६ गुआर ७ भिल्ला ८ धीवर ६ वण्णाइ अट्ठदस ॥३॥"

चित्रकाराऽऽदयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति, अथ पौरान् प्रति किमवादीदित्याह-( खिप्पामेव त्ति ) क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाश्चक्ररत्नस्याष्टानाम् अह्नां समाहारोऽष्टाहं तदस्ति यस्या महिमाया सा अष्टाह्निका तां महामहिमां कुरुतेत्यन्वयः, कृत्वा च मम एतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयतेति । अथ क्रमेण विशेषणानि व्याकरोति—कीदृशीं ?-उन्मुक्तं शुल्कं-विक्रेतव्यभाण्डं प्रति राजदेय द्रव्य यस्यां सा तथा ताम्, एवमुत्कराम् उत्कृष्टां च तत्र करो गवादीन् प्रति प्रतिवर्ष राजदेय द्रव्यं, कृष्टं तु-कर्षणं लभ्यग्रहणायाऽऽकर्षणम्, अदेयां विक्रयनिषेधेन अविद्यमानदातव्यां, न केनापि कस्यापि देयामित्यर्थः. अमेयां-क्रयविक्रयनिषेधादेव अविद्यमानमातव्याम् अभटप्रवेशाम् अविद्यमानो भटानां-राजपुरुषाणामाज्ञादायिनां प्रवेश' कुटुम्बिगृहेषु यस्यां सा तथा तां, दण्डलभ्यं द्रव्य दण्डः कुदण्डेन निर्वृत्तं कुदण्डिमं-राजद्रव्यं तन्नास्ति यस्यां सा तथा तां. तत्र दण्डो यथापराध राजग्राह्यं द्रव्यं कुदण्डस्तु कारणिकानां प्रज्ञाऽऽद्यपराधात् महत्यप्यपराधिनोऽपराधे अल्प राजग्राह्यं द्रव्यम्, अधरिमं-न विद्यते धरिमम्-ऋणद्रव्यं यस्य सा तथा ताम्, उत्तमर्णाऽधमर्णाभ्यां परस्पर तद्दणार्थ न विवदनीयं किन्तु अस्मत्पार्श्वे चुम्नं गृहीत्वा ऋणं मुत्कलनीयमित्यर्थः, गणिकावरैः—विलासिनीप्रधानैर्नाटकीयैः नाटकप्रतिबद्धपात्रैः कलिता या सा तथा ताम्, अनेके ये तालाचरा-प्रेक्षाकारिविशेषास्तैरनुचरिताम् आसेविताम्, 'अनुद्धूताम्' आनुरूप्येण यथा मार्दङ्गिकविधि उद्धूतावादनार्थमुत्क्षिप्ता मृदङ्गा यस्यां सा तथा ताम्, अम्लानानि माल्यदामानि—पुष्पमाला यस्या सा तथा ता, म्लाना' पुष्पमाला उत्सार्य नवा नवा आरोपणीया इत्यर्थ, प्रमुदिताहृष्टा. प्रक्रीडिताः प्रक्रीडितुमारब्धाः सपुरजना-अयो व्यावासिजनसहिता. जनपदा.—कोशलदेशवासिनो जना यत्र सा तथा तां, विजयवैजयिकीम्—अतिशयेन विजयो विजयविजयः स प्रयोजन यस्या सा तथा ताम्, इदमायुधरत्नं सम्यगागधितं मदभिप्रेत महाविजय साधयतीत्यर्थ, ' प्रत्यये ङीर्नवा' (श्रीसिद्ध० अ०८ पा० ३ सू० ३१) इति प्राकृतसूत्रेण ङीविकल्पस्तेन 'विजयवेजइयमिति' पाठ, क्वचिद् 'विजयवेजयन्तचक्करयणस्स त्ति' पाठस्तत्र विजयसूचिका वैजयन्तीति विजयवैजयन्ती, साऽस्यास्तीति विजयवैजयन्त विजयग्रहणं किमपि पर न मत्त उत्कृष्टमिति ध्वजबन्धं विधत्ते इत्यर्थ । एतादृश यच्चक्ररत्नं यस्याष्टाहिकामिति प्राग्वदिति । अथ श्रेणिप्रश्रेणयो यच्चक्रुस्तदाह-' तए ण ' इत्यादि सर्व पाठसिद्धम्।

अथाष्टाहिकामहामहिमापरिसमाप्त्यनन्तर किमभूदित्याह-

तए णं से दिव्वे चक्करयणे अट्ठाहिआए महामहिमाए निव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अंतलिक्खपडिवण्णे जक्खसहस्ससंपरिवुडे दिव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं आपूरेंते चेव अंबरतलं विणीआए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ,णिग्गच्छित्ता गंगाए महाणईए दाहिणिल्ले णं कूले णं पुरच्छिमं दिसिं मागहतित्थाभिमुहे पयाते आवि होत्था । तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं गंगाए महाणईए दाहिणिल्ले णं कूले णं पुरच्छिमं दिसि मागहतित्थाभिमुहं पयासतं पासइ,पासित्ता हट्ठतुट्ठ०जाव हियए कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ,सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ!

आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, हयगयरहपवरजोहक-लिअं चाउरंगिणिं सेणं सरणाहेह, एतमाणत्तिअं पच्च-प्पिणह । तए णं ते कोडुंबिअ ०जाव पच्चप्पिणंति । त-ए णं से भरहे राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता समु-त्तजालाभिरामे तहेव ०जाव धवलमहामेहणिग्गए इव स-सि व्व पियदंसणे णरवई मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता हयगयरहपवरवाहणभडचडगरपहकरसं-कुलाए सेणाए पहिअकित्ती जेणेव बाहिरिआ उवट्ठा-णसाला जेणेव आभिसेक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अंजणगिरिकडगसणिणभं गयवइं णरवई दु-रूढे । तए णं से भरहाहिवे णरिंदे हारोत्थए सुकयर-इयवच्छे कुंडलउज्जोइआणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णरवसहे मरुअरायवसकप्पे अब्भहि-अरायतेअलच्छीए दिप्पमाणे पसत्थमंगलसएहिं संथु-व्वमाणे जयसद्दकयालोए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेअवरचामराहिं उद्धुव्व-माणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं जक्खसहस्ससंपरिवुडे वेसमणे चेव धणवई अमरवइसण्णिभाइ इड्ढीए पहिअकित्ती गं-गाए महाणईए दाहिणिल्ले णं कूले णं गामागरणग-रखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसहस्समंडिअं थि-मिअमेइणीअं वसुहं अभिजिणमाणे अभिजिणमाणे अ-ग्गाइं वराइं रयणाइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे तं दिव्वं चक्करयणं अणुगच्छमाणे अणुगच्छमाणे जोअणंतरिआहिं वसहीहिं वसमाणे वसमाणे जेणेव मागहतित्थे तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छित्ता मागहतित्थस्स अदूरसामंते दुवा-लसजोयणायामं णवजोअणवित्थिण्णं वरणगरसरिच्छं विजयखंधावारनिवेसं करेइ, करित्ता वड्ढइरयणं सद्दावेइ, वड्ढइरयणं सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणु-प्पिआ ! ममं आवासं पोसहसालं च करेहि, करेत्ता ममेअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि । तए णं से वड्ढइरयणे भरहेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे ०जाव अंजलिं कट्टु एवं सामी तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ पडिसुणेत्ता भरहस्स रण्णो आवसहं पोसहसालं च करेइ,करेत्ता एअमाणत्तिअं खिप्पा-मेव पच्चप्पिणंति । तए णं से भरहे राया आभिसेक्काओ हत्थिर यणाओ पच्चोरुहइ , पच्चोरुहित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोसहसालं अणुपविसइ अणुपविसित्ता पोसहसालं पमज्जइ, पमज्जित्ता दब्भसंथा-रगं संथरइ, संथरित्ता दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता-मागहतित्थकुमारस्स देवस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगि-ण्हित्ता पोसहसालए पोसहिए बंभयारी उम्मुक्कमणिसुव-ण्णे ववगयमालावण्णगविलेवणे णिक्खित्तसत्थमुसले द-ब्भसंथारोवगए एगे अबीए अट्ठमभत्तं पडिजागरमाणे प-डिजागरमाणे विहरइ । तए णं से भरहे राया अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ , पडिणि-क्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवाग-च्छइ , उवागच्छित्ता कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ , सद्दा-वित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! हयग-यरहपवरजोहकलिअं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह चाउ-ग्घंटं आसरहं पडिकप्पेह त्ति कट्टु मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता समुत्त तहेव ०जाव धवलमहामेहणिग्गए ०जाव मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ , पडिणिक्खमित्ता हयगयरहपवरवाहण ०जाव सेणावइ पहिअकित्ती जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चउग्घंटं आसरहं दुरूढे । ( सूत्र-४४ )

' तए णं से ' इत्यादि, ततस्तद्दिव्यं चक्ररत्नम् अष्टाहि-काया महामहिमाया निर्वृताया-जाताया सत्याम् आयुधगृ-हशालात. प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च अन्तरिक्ष प्र तिपन्नं-नभःप्राप्त, यक्षसहस्रसम्परिवृतं-चक्रधरचतुर्दशर-त्नाना प्रत्येक देवसहस्राधिष्ठितत्वात् , दिव्यत्रुटितशब्दस-न्निनादेन पूर्वव्याख्यातेन आपूरयदिवाम्बरतल-शब्दाद्वैत नभ: कुर्वदिवेत्यर्थ , विनीताया राजधान्या: मध्य मध्यन मध्यभागेनेत्यर्थ , निर्गच्छति, निर्गत्य च गङ्गानाम्न्या महा-नद्या दाक्षिणात्ये कूले, उभयत्र णशब्दो वाक्यालङ्कारे, समु-द्रपार्श्ववर्तिनि तटे इत्यर्थ । अयं भाव:-विनीतासमश्रेणौ हि प्राच्यां वहन्ती गङ्गा मागधतीर्थस्थाने पूर्वसमुद्रं प्रविश-ति, इदमपि मागधतीर्थसिसाधयिषया पूर्वा दिश यियासु: अनुनदीतटमेव गच्छति, तच्च तट दक्षिणदिग्वर्त्तित्वेन दा-क्षिणात्यमिति व्यवह्रियते, अत एव दाक्षिणात्येन कूले न पूर्वां दिश मागधतीर्थाभिमुख प्रयात-चलित चाप्यभ वत, एतच्च प्रयाणप्रथमदिने यावत् क्षेत्रमतिक्रम्य स्थि तं तावद् योजनमिति व्यवह्रियते, तच्च प्रमाणाङ्गुलनि ष्पन्नतया भरतचक्रिण स्कन्धावार स्वशक्त्यैव निर्वह-ति, अन्यथा तु दिव्यशक्त्या इति वृद्धा । तद् किं जा तमित्याह-' तए ण ' इत्यादि, उक्तार्थप्राय, किमवादीदि-त्याह-( खिप्पामेव त्ति ) क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया ! आ भिषेक्यम्-अभिषेकयोग्य हस्तिरत्न पट्टहस्तिनमिति भाव । प्रतिकल्पयत-सज्जीकुरुत हयगजरथप्रवरयोधकलिता च तुरङ्गिणीम् , अत्र चतु शब्दस्याऽऽत्त्व प्राकृतसूत्रेण, उक्तैरेवा-ङ्गैश्चतु प्रकारा सेना सन्नाहयत-सन्नद्धा कुरुत, शेष प्रा ग्वत् , ' तए ण ' इत्यादि , अत्र यावत्शब्दात् ' पुरिसा भरहेण रण्णा एव वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ ' इति ग्राह्यम् , इद चाभ्युपगमसूत्रमिश्रप्राज्ञाकरणसूत्र स्पष्ट-

मिति, अथ भरतो दिग्यात्रायियासया यं विधिमकार्षीत् तमाह-'तए णं' इत्यादि, स्नानसूत्रं पूर्ववत्, 'हये'त्यादि, हयगजरथाः प्रवराणि वाहनानि वेसराऽऽदीनि भटा-योद्धारस्तेषां ( चडगर पहकर त्ति ) विस्तारवृन्दम्, इदं च देशीशब्दद्वयं, तेन संकुलया-व्याप्तया सेनया सार्द्धमिति शेषः। प्रथितकीर्त्तिर्भरतो यत्रैव बाह्योपस्थानशाला यत्रैव चाभिषेक्यं हस्तिरत्नं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च अञ्जनगिरेः कटको-नितम्बभागस्तत्सन्निभमेतावत्प्रमाणमुच्चत्वेनेत्यर्थः । गजपतिं-राजकुञ्जरं नरपतिर्दुरूढे इति-आरूढ इति। आरूढश्च कीदृशया ऋद्ध्या चक्ररत्नोपदर्शितं स्थानं याति ?, तदाह-'तए णं' इत्यादि, ततः स भरताधिपो भरतक्षेत्रपति, न च भरताधिपदेवोऽप्यतो नरेन्द्रः प्रस्तावाद् वृषभसूनुः, चक्री इत्यर्थः। एतेनास्यैवाऽऽलापकस्योत्तरसूत्रे 'नरिंदे त्ति' पदेन न पौनरुक्त्यमिति । 'हारोत्थये' त्यादि, विशेषणत्रयं प्राग्वत्, नरसिंहः शूरत्वात्, नरपतिः स्वामित्वात्, नरेन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्, नरवृषभः स्वीकृतकृत्यभरनिर्वाहकत्वात्, 'मरुद्राजवृषभकल्पः' मरुतो-देवा व्यन्तराऽऽदयस्तेषां राजानः-सन्निहिताऽऽदय इन्द्रास्तेषां मध्ये वृषभाः-मुख्याः सौधर्मेन्द्राऽऽदयस्तत्कल्पः; तत्सदृश इत्यर्थः, अभ्यधिकराजतेजोलक्ष्म्या दीप्यमान इति स्पष्टं, प्रशस्तैर्मङ्गलशतैः-मङ्गलसूचकवचनैः कृत्वा स्तूयमानो बन्दिभिरिति शेषः, 'जयसद्दकयालोए' इति प्राग्वत् । हस्तिस्कन्धवरं गतः-प्राप्तः । केन सहेत्याह-'सकोरंटमाल्यदाम्ना छत्रेण ध्रियमाणेन सह'। कोऽर्थः?-यदा नृपो हस्तिस्कन्धगतो भवति तदा छत्रमपि हस्तिस्कन्धगतमेव ध्रियते, अन्यथा छत्रधरणस्यासङ्गतत्वात् एवं श्वेतवरचामरैरुद्धूयमानैः-वीज्यमानैः सह इति । तेन " गयवई णरवई दुरूढे ". इति पूर्वसूत्रेण सहास्य भेदः, अधिकार्थप्रस्तावनार्थकत्वाद्दस्य,यक्षाणां-देवविशेषाणां सहस्राभ्यां संपरिवृतः, चक्रवर्त्तिशरीरस्य व्यन्तरदेवसहस्रद्वयाधिष्ठितत्वात् । ( वेसमणे चेव धणवई इति ) वैश्रमण इव धनपतिः अमरपतेः सन्निभया ऋद्ध्या प्रथितकीर्त्तिर्गङ्गाया महानद्या दाक्षिणात्ये कूले उभयत्र 'णं' शब्दो प्राग्वत् । अथवा-सप्तम्यर्थे तृतीया, ग्रामाऽऽकराऽऽदीनां-प्राक्प्रथमारकवर्णने युग्मिवर्णनाधिकारे उक्तस्वरूपाणां सहस्रैर्मण्डितां तदानीं वासबहुलत्वाद्भरतभूमेः स्तिमितमेदिनीकां प्रस्तुतनृपस्य प्रजाप्रियत्वात् स्तिमिता-निर्भयत्वेन स्थिरा मेदिनी-मेदिन्याश्रितजनो यस्या सा तथा ता, बहुव्रीहिलक्षणः कप्रत्ययः, अत्र मेदिनीशब्देन 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश' इति न्यायात्तन्निवासी जनो लक्ष्यते, एवंविधां वसुधाम् अभिजयन् अभिजयन्-तत्रत्याधिपवशीकरणेन स्ववशे कुर्वन् स्ववशे कुर्वन् इत्यर्थः, अग्र्याणि वराणि-अत्यन्तमुत्कृष्टानि रत्नानि-तत्तज्जातिप्रधानवस्तूनि आज्ञावशंवदीकृतनत्तद्देशाधिपाऽऽदिप्राभृतीकृतानि प्रतीच्छन् प्रतीच्छन् गृह्णन् गृह्णन् तद्दिव्यं चक्ररत्नमनुगच्छन्, चक्ररत्नगत्यङ्कितमार्गेण चलन्नित्यर्थः। योजनान्तरितामिर्वसतिभिर्विश्रामैर्वसन् वसन् । अयमर्थः-एकस्माद्विश्रामाद्योजनं गत्वा परं विश्राममुपादत्त इति, यत्रैव मागधतीर्थं तत्रैवोपागच्छति, तत्रोपागतः सन् किं करोतीत्याह-'उवागच्छित्ता' इत्यादि उपागत्य च मागधतीर्थस्य दूरं च-विप्रकृष्टं सामन्तं च-आसन्नं दूरसामन्तं ततोऽन्यत्र, नातिदूरे नात्यासन्ने इत्याशयः । द्वादशयोजनाऽऽयामं नवयोजनविस्तीर्णं वरनगरसदृशं विजययुक्तः स्कन्धावारः-सैन्यं तस्य निवेशं-स्थापनां करोति,कृत्वा च वर्द्धकिरत्नं-सूत्रधारमुख्यं शब्दयति शब्दयित्वा च एवमवादीदिति, किमवादीदित्याह-'खिप्पामेव त्ति' क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिय ! मम कृते आवासं पौषधशालां च, तत्र पौषधं-पर्वदिनानुष्ठेयं तप उपवासाऽऽदिः, तदर्थं शाला गृहविशेषः, तां कुरु, कृत्वा मम एतामाज्ञप्तिका प्रत्यर्पयेति । 'तए णं' इत्यादि स्पष्टं, नवरम् 'आवसहं' आवासमिति । अथ भरतः किं चक्रे इत्याह-'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजा आभिषेक्याद् हस्तिरत्नात्, प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य च यत्रैव पौषधशाला तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च पौषधशालामनुप्रविशति, अनुप्रविश्य च पौषधशालां प्रमार्जयति, प्रमार्ज्य च दर्भसंस्तारकं संस्तृणाति, संस्तीर्य्य च दर्भसंस्तारकं दुरूहति-आरोहति, आरुह्य च मागधतीर्थकुमारनाम्नो देवस्य साधनायेति शेषः । अथवा-चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, तेन मागधतीर्थकुमाराय देवाय, अष्टमभक्तं समयपरिभाषयोपवासत्रयमुच्यते । यद्वा-अष्टमभक्तमिति सान्वयं नाम, तच्चैवम्-एकैकस्मिन् दिने द्विवारभोजनौचित्येन दिनत्रयस्य षण्णां भक्तानामुत्तरपारणकदिनयोरेकैकस्य भक्तस्य च त्यागेनाष्टमं भक्तं त्याज्यं यत्र तथा, प्रगृह्णाति, अनेनाऽऽहारपौषधमुक्तं, प्रगृह्य च पौषधशालायां 'पौषधिकः' पौषधवान्, पौषधं नामेहाभिमतदेवतासाधनार्थकव्रतविशेषोऽभिग्रह इति यावत्, न त्वेकादशव्रतरूपः तद्व्रत सांसारिककार्यचिन्तनानौचित्यात् । नन्वेवमेकादशव्रतिकोचितानि तद्वतो ब्रह्मचर्याऽऽद्यनुष्ठानानि सूत्रे कथमुपात्तानि ?, उच्यते-ऐहिकार्थसिद्धिरपि संवरानुष्ठानपूर्विकैव भवतीत्युपायोपेयभावदर्शनार्थम्, अभयकुमारमन्त्रिश्रीविजयराजधर्मिमल्लाऽऽदीनामिव, अतः परमजागरूकपुण्यप्रकृतिकाः संकल्पमात्रेण सिसाधयिषितसुरसाधनसिद्धिनिश्चयं जानाना जिनचक्रिणोऽतिसातोदयिनः कष्टानुष्ठानानऽष्टमाऽऽदौ नोपतिष्ठन्ते, किन्तु मागधतीर्थाधिपाऽऽदिः सुरः प्रभुणा हृदि चिन्तितः सन् गृहीतप्राभृतकः सहसैव सेवार्थमभ्युपैति । यदाहु श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः श्रीशान्तिनाथचरित्रे-

" ततो मागधतीर्थाभि-मुखं सिंहासनोत्तमे ।
जिगीषुरप्यनाबद्ध-विकारो न्यषदत् प्रभुः ॥ १ ॥

ततो द्वादशयोजन्यां, तस्थुषो मागधेशितुः ।
सिंहासनं तदा सद्य, खञ्जपादमिवाऽचलत् ॥ २ ॥"

इत्यादि । यत्तु श्रामण्ये जगद्गुरवो दुर्विषहपरिषहाऽऽदीन्, सहन्ते तत्कर्मक्षयार्थमिति । अनेनैव साधर्म्येण पौषधशब्दप्रवृत्तिरपि, यथा चास्य पौषधव्रतेन साधर्म्यं तथा चाऽऽह-ब्रह्मचारी-मैथुनपरित्यागी, अनेन ब्रह्मचर्यपौषधमुक्तम्, उन्मुक्तमणिसुवर्णं-त्यक्तमणिस्वर्णमयाऽऽभरणः व्यपगतानि मालावर्णकविलेपनानि यस्मात् स तथा, वर्णकं चन्दनम्, अनेन

पदद्वयेन शरीरसत्कारपौषधमुक्तं, निक्षिप्तं-दूरतो विमुक्तं शस्त्र-छुरिकाऽऽदि मुसलं च येन स तथा, अनेनेष्टदेवता-चिन्तनरूपमेकं व्यापारं मुक्त्वाऽपरव्यापारत्यागरूपं पौषधमुक्तं, दर्भसंस्तारोपगत इति व्यक्तम्, एक आन्तरव्यक्रारागादिसहायवियोगात् अद्वितीयस्तथाविधपदात्यादिसहायविरहात्, अष्टमभक्तं प्रतिजाग्रत् प्रतिजाग्रत्-पालयन् पालयन् विहरति-आस्ते इति। 'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजाऽष्टमभक्ते परिणमति-पूर्यमाणे,-परिपूर्णप्राये इत्यर्थः। अत्र वर्त्तमाननिर्देशः आसन्नातीतत्वात् 'सत्सामीप्ये सद्वद्वा। (श्रीसिद्ध० अ० ५ पा० ४ सू० १) इत्यनेन, पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव बाह्योपस्थानशाला तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः! हयगजरथप्रवरयोधकलितां चतुरङ्गिणीं सेना सन्नाहयत, चतस्रोघण्टाश्चतिकैकदिशि तत्सद्भावात् अवलम्बिता चात्र स तथा तं, चकारः समुच्चये, स चाश्वरथमित्यत्र योजनीयः, अश्ववहनीयो रथोऽश्वरथो नियुक्तोभयपार्श्वतुरङ्गमो रथ इत्यर्थः, अनेनास्य साम्रामिकरथत्वमाह, त प्रतिकल्पयत—सज्जीकुरुत इति कृत्वा कथयित्वा आदिश्येत्यर्थः, मज्जनगृहमनुप्रविशतीति, 'अणुपविसित्ता' इत्यादि, अनुप्रविश्य च मज्जनगृहं समुक्ताजालाऽऽकुलाभिरामे इत्यादि, तथैव प्रागुक्ताऽऽस्थानाधिकारगमवदित्यर्थः, यावद् धवलमहामेघनिर्गतो यावन्मज्जनगृहात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च हयगजरथप्रवरवाहनयावत्पदात्-'भडचडगरपहगरसकुल त्ति' ग्राह्यं, 'सेणाए (वई) पहिअकित्ती' इत्यादि प्राग्वत्, अत्र निष्ठितपौषधस्य सतो मागधतीर्थमभियियासोर्भरतस्य यत् स्नानं तदुत्तरकालभाविबलिकर्माऽऽद्यर्थं, यदाह श्रीहेमचन्द्रसूरिपादा आदिनाथचरित्रे-"राजा सर्वार्थनिष्णात-स्ततो बलिविधिं व्यधात्। यथाविधि विधिज्ञा हि, विस्मरन्ति विधिं न हि॥ १॥" इति, अत्र च सूत्रेऽनुक्तमपि बलिकर्म "व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायेन ग्राह्यमिति। (संक्षेपतस्तद्विधिः 'पूया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७२ पृष्ठे गतः)

अथ कृतस्नानाऽऽदिविधिर्भरतो यच्चक्रे तदाह—

तए णं से भरहे राया चाउग्घंटं आसरहं दुरूढे समाणे हयगयरहपवरजोहकलिआए सद्धिं संपरिवुडे महयाभडचडगरपहगरवंदपरिक्खित्ते चक्करयणदेसिअमग्गे अणेगरायवरसहस्साणुआयमग्गे महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं पक्खुभिअमहासमुद्दरवभूअं पिव करेमाणे करेमाणे पुरच्छिमदिसाभिमुहे मागहतित्थेणं लवणसमुद्दं ओगाहइ, ०जाव से रहवरस्स कुप्परा उल्ला। तए णं से भरहे राया तुरगे निगिण्हइ, तुरगे निगिण्हित्ता रहं ठवेइ, रहं ठवित्ता धणुं परामुसइ। तए णं तं अइरुग्गयबालचंदइंदधणुसंकास वरमहिसदरिअदप्पिअदढघणसिंगरइअसारं उरगवरपवरगवलपवरपरहुअभमरकुलणीलिणिद्धधंतधोअपट्टं णिउणोविअमिसिमिसिंतमणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्तं तडितरुणकिरणतवणिज्जबद्धचिंधं दद्दरमलयगिरिसिहरकेसरचामरवालद्धचंदचिंधं कालहरिअरत्तपीअसुक्किल्लबहुण्हारुणिसंपिणद्धजीवं जीविअंतकरणं चलजीवं धणुं गहिऊण से णरवई उसुं च वरवइरकोडिअं वइरसारतोंडं कंचणमणिकणगरयणधोइट्ठसुकयपुंखं अणेगमणिरयणविविहसुविरइयनामचिंधं वइसाहं ठाइऊण ठाणं आयतकण्णायतं च काऊण उसुमुदारं इमाइं वयणाइं तत्थ भाणिअ से णरवई—

"हंदि सुणंतु भवंतो, बाहिरओ खलु सरस्स जे देवा।
णागा सुरा सुवण्णा, तेसिं खु णमो पणिवयामि॥ १॥
हंदि सुणंतु भवंतो, अब्भिंतरओ सरस्स जे देवा।
णागा सुरा सुवण्णा, सव्वे मे ते विसयवासी॥ २॥"

इति कट्टु उसुं णिसिरइ त्ति—

"परिगरणिगरिअमज्झो, वाउद्धुअसोभमाणकोसेज्जो।
चित्तेण सोभए धणु-वरेण इंदो व्व पच्चक्खं॥ ३॥
तं चंचलायमाणं, पंचमिचंदोवमं महाचावं।
छज्जइ वामे हत्थे, णरवइणो तम्मि विजयम्मि॥ ४॥"

तए णं से सरे भरहेणं रण्णा णिसट्ठे समाणे खिप्पामेव दुवालस जोअणाइं गंता मागहतित्थाहिपतिस्स देवस्स भवणंसि निवइए। तए णं से मागहतित्थाहिवई देवे भवणंसि सरं णिवइअं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे चंडिक्किए कुविए मिसिमिसेमाणे तिवलिअं भिउडिं णिडाले साहरइ, साहरित्ता एवं वयासी-केस णं भो एस अपत्थिअपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसे हिरिसिरिपरिवज्जिए जे णं मम इमाए एआणुरूवाए दिव्वाए देविद्धीए दिव्वाए देवजुईए दिव्वेणं दिव्वाणुभावेणं लद्धाए पत्ताए अभिसमण्णागयाए उप्पिं अप्पुस्सुए भवणंमि सरं णिसिरइ त्ति कट्टु सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता जेणेव से णामाहयके सरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं णामाहयंकं सरं गेण्हइ, णामंकं अणुप्पवाएइ, णामंकं अणुप्पवाएमाणस्स इमे एआरूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-उप्पण्णे खलु भो! जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे भरहे णामं राया चाउरंतचक्कवट्टी तं जीअमेअं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं मागहतित्थकुमाराणं देवाणं राईणमुवत्थाणीअं करेत्तए, तं गच्छामि णं अहं पि भरहस्स रण्णो उवत्थाणीअं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता हार मउड कुंडलाणि अ कडगाणि अ तुडिआणि अ वत्थाणि अ आभरणाणि अ सरं च णामाहयकं मागहतित्थोदगं च गेण्हइ, गिण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए

तुरिआए चवलाए जयणाए सीहाए सिग्घाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता अंतलिक्खपडिवन्ने सखिंखिणीआई पंचवण्णाई वत्थाइ पवरपरिहिए करयलपरिग्गहिअं दसणहं सिर० जाव अंजलिं कट्टु भरहं रायं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेत्ता एवं वयासी-अभिजिए णं देवाणुप्पिएहिं केवलकप्पे भरहे वासे पुरच्छिमेणं मागहतित्थमेराए तं अहण्णं देवाणुप्पिआणं विसयवासी अहण्णं देवाणुप्पिआणं आणत्तीकिंकरे अहण्णं देवाणुप्पिआणं पुरच्छिमिल्ले अंतवाले तं पडिच्छतु णं देवाणुप्पिआ ! ममं इमेआरूवं पीइदाणं ति कट्टु हारं मउडं कुंडलाणि अ कडगाणि अ ०जाव मागहतित्थोदगं च उवणेइ। तए णं से भरहे राया मागहतित्थकुमारस्स देवस्स इमेयारूवं पीइदाणं पडिच्छइ, पडिच्छित्ता मागहतित्थकुमारं देवं सक्कारेइ,सम्माणेइ,सम्माणित्ता पडिविसज्जेइ । तए णं से भरहे राया रहं परावत्तेइ, परावत्तित्ता मागहतित्थेणं लवणसमुद्दाओ पच्चुत्तरइ, पच्चुत्तरित्ता जेणेव विजयखंधावारणिवेसे जेणेव वाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता तुरए णिगिण्हइ, णिगिण्हित्ता रहं ठवेइ,ठवेइत्ता रहाओ पच्चोरुहति,पच्चोरुहित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छति,उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ,अणुपविसित्ता०जाव ससिव्व पिअदंसणे णरवईमज्जणघराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता जेणेव भोअणमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भोअणमंडवंसि सुहासणवरगए अट्ठमभत्तं पारेइ, पारेत्ता भोअणमंडवाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे णिसीअइ, णिसीइत्ता अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! उस्सुकं उक्करं०जाव मागहतित्थकुमारस्स देवस्स अट्ठाहिअं महामहिमं करेह, करेत्ता मम एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह। तए णं ताओ अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ भरहेणं रण्णा एवं वुत्ताओ समाणीओ हट्ठ०जाव करेंति, करेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति। तए णं से दिव्वे चक्करयणे वइरामयतुंबे लोहिअक्खामयाऽरए जंबूणयणेमिए णाणामणिखुरप्पथालपरिगए मणिमुत्ताजालभूसिए सणंदिघोसे सखिंखिणीए दिव्वे तरुणरविमंडलणिभे णाणामणिरयणघंटिआजालपरिक्खित्ते सव्वोउअसुरभिकुसुमआसत्तमल्लदामे अंतलिक्खपडिवण्णे जक्खसहस्ससंपरिवुडे दिव्वतुडिअसद्दसण्णिणादेणं पूरेंते चेव अंबरतलं णामेण य सुदंसणे णरवइस्स पढमे चक्करयणे मागहतित्थकुमारस्स देवस्स अट्ठाहिआए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता दाहिणपच्चच्छिमं दिसिं वरदामतित्थाऽभिमुहे पयाए याऽवि होत्था। ( सूत्र-४५ )

'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजा चतुर्घण्टमश्वरथमारूढः सन् हयगजरथप्रवरयोधकलितया, अर्थात् सेनया इति गम्यं, सार्द्धं संपरिवृतः (महया इति) महाभटानां (चडगर त्ति) विस्तारवन्तः (पहगर त्ति)समूहास्तेषा यद् वृन्दं-समूहो विस्तारवत्समूह इत्यर्थ, तेन परिक्षिप्तः परिकरित. चक्ररत्नादेशितमार्ग.,अनेकेषा राजवराणाम्-आबद्ध-मुकुटराज्ञां सहस्रैरनुयातः-अनुगतो मार्ग.-पृष्ठं यस्य स तथा, महता तारतरेण उत्कृष्टि-आनन्दध्वनि. सिंहनादः प्रतीत.,बोलो-वर्णव्यक्तिरहितो ध्वनिः,कलकलश्च-तदितरो ध्वनिस्तल्लक्षणो यो रवस्तेन प्रक्षुभितो-महावायुवशादुत्कल्लोलो यो महासमुद्रस्तस्य रवं 'भूङ् प्राप्तौ' इति सौत्रो धातुरिति वचनाद् भूतं-प्राप्तमिव दिग्मण्डलमिति गम्यते कुर्वन्नपि,चशब्दोऽत्र इवाऽऽदेशो ज्ञातव्य ,पूर्वदिगभिमुखो मागधनाम्ना तीर्थेन-घट्टेन लवणसमुद्रमवगाहते-प्रविशति, कियदवगाहते ?,इत्याह-यावत् (से,तस्य रथवरस्य कूर्पराविव कूर्परौ कूर्पराऽऽकारत्वात् पिञ्जनके इति प्रसिद्धौ रथावयवौ आर्द्रौ स्याताम्, अत एव सूत्रबलादन्यत्र एतदासन्नभूतो रथचक्रनाभिरूपोऽवयवो विवक्ष्यते। यदाह—"रथाङ्गनाभिद्वयसं गत्वा जलनिधेर्जलम्। रथस्तस्थौ रथाग्रस्थ-सारथिस्खलितैर्हयै' ॥ १ ॥" इति। 'तए णं' इत्यादि, तत. स भरतो राजा तुरगान् निगृह्णाति, अत्र तुरगाविति द्विवचनेन हयद्विके व्याख्यायमाने सूत्रार्थसिद्धौ सत्यामपि वरदामसूत्रे हयचतुष्टयस्य वक्ष्यमाणत्वात् बहुवचनेन व्याख्या, निगृह्य च रथं स्थापयति स्थापयित्वा च धनु परामृशति—स्पृशति, अथ यादृशं परामर्शं तादृशं धनुर्वर्णयन्नाह-'तए णं' इत्यादि, ततो-धनुःपरामर्शानन्तरं स नरपतिरिमानि-वक्ष्यमाणानि वचनानि (भाणिअ त्ति) अभाणीदिति सम्बन्धः, किं कृत्वेत्याह-धनुर्गृहीत्वा 'किंलक्षणमि' त्याह-तत्-प्रसिद्धं अचिरोद्गतो यो बालचन्द्रः शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रस्तेन,यत्तु उत्तरसूत्रे'पंचमिचंदोवममिति' तदारोपितगुणस्यातिवक्रताख्यापनार्थमिति, इन्द्रधनुषा च वक्रतया सन्निकाशं-सदृशं यत्तत्तथा , दप्त -दर्पितो द्वयोः समानार्थयोरतिशयवाचकत्वेन सञ्जातदर्पातिशयो यो वरमहिषः-प्रधानसैरिभो, विशेषणपरनिपात' प्राकृतत्वात्,तस्य दृढानि निविडपुद्गलनिष्पन्नानि अत एव घनानि-निश्छिद्राणि यानि शृङ्गाग्राणि तैरचितं सार च यत्तत्तथा, उरगवरो-भुजगवर' प्रवरगवलं-वरमहिषशृङ्गं प्रवरपरभृतो-वरकोकिलो भ्रमरकुलं-मधुकरनिकरा नीलीगुलिका, एतानीव स्निग्ध-कालकान्तिमत् ध्मानमिव ध्मातं च तेजसा ज्वलद्धौतमिव धौत च-निर्मल पृष्ठं-पृष्ठभागो यस्य तत्तथा,निपुणेन शिल्पिना ओपितानाम् उज्ज्वालितानां (मिसिमिसित त्ति)देदीप्यमानानां मणिरत्नघण्टिकानां यज्जालं तेन परिक्षिप्तं-वेष्टित यत्तत्तथा, तडिदिव-विद्युदिव तरुणा -प्रत्यग्राः-किरणा यस्य तत्तथा,एवंविधस्य तपनीयस्य सम्बन्धीनि

बद्धानि चिह्नानि-लाञ्छनानि यत्र तत्तथा, दर्दरमलयाभिधौ यौ गिरी, तयोर्यानि शिखराणि तत्सम्बन्धिनो ये केसराः सिंहस्कन्धकेशाः, चामरवालाः-चमरपुच्छकेशाः, एषां चोक्तगिरिद्वयसत्कानामतिसुन्दरत्वेनोपादानम्, अर्द्धचन्द्राश्च-खण्डचन्द्रप्रतिबिम्बानि चित्ररूपाणि एतादृशानि चिह्नानि यत्र तत्तथा, यस्य धनुषि सिंहकेसराः बध्यन्ते स महान् शूर इति शौर्यातिशयख्यापनार्थं, चमरवालबन्धनम् अर्द्धचन्द्रप्रतिबिम्बरूपं च शोभातिशयार्थमिति, काला-ऽऽदिवर्णाः 'एहारुणि त्ति' स्नायवः शरीरान्तर्धर्मास्ताभिः सम्पिनद्धा-बद्धा जीवा-प्रत्यञ्चा यस्य तत्तथा, जीवितान्तकरणं, शत्रूणामिति गम्यम्, ईदृशधनुर्मुक्तो बाणोऽवश्यं रिपुजयीत्यर्थः, 'चलजीवमिति' विशेषणं त्वेतद्वर्णकवृत्तौ षष्ठाङ्गे श्रीअभयदेवसूरिभिर्न व्याख्यातमिति; न व्याख्यायते, यदि च-भूयस्सु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्राऽऽदर्शेषु दृश्यमानत्वात् व्याख्यातं विलोक्यते तदा टङ्कारकरणक्षणे चला-चञ्चला जीवा यस्य तत्तथा, पुनः किंकृत्वेत्याह-(उसुं च त्ति) इषुं च गृहीत्वा, तमेव विशिनष्टि-वरवज्रमय्यौ कोट्यौ-उभयप्रान्तौ यस्य स तथा, बहुव्रीहिलक्षणः कप्रत्ययः, वरवज्रवत् सारम्-अभेद्यत्वेनाभङ्गुरं तुण्डं-मुखविभागो भल्लीरूपो यस्य स तथा तं, काञ्चनबद्धा मणयः-चन्द्रकान्ताऽऽद्याः कनकबद्धानि रत्नानि-कर्केतनाऽऽदीनि प्रदेशविशेषे यस्य स धौत इव धौतो निर्मलत्वात् इष्टो-धानुष्काणामभिमतः सुकृतो-निपुणशिल्पिना निर्मितः पुङ्खः-पृष्ठभागो यस्य स तथा तम्, अनेकैर्मणिरत्नैर्विविधं-नानाप्रकारं सुविरचितं नामचिह्नं-निजनामवर्णपङ्क्तिरूपं यत्र स तथा तं, पुनरपि किं कृत्वेत्याह-वैशाखं-वैशाखनामकं स्थानं-पादन्यासविशेषरूपं स्थित्वा कृत्वा, वैशाखस्थानकं चैवम्-'पादौ सविस्तरौ कार्यौ, समहस्तप्रमाणतः । वैशाखस्थानके वत्स! कूटलक्ष्यस्य वेधने ॥ १ ॥' इति । भूयोऽपि किं कृत्वेत्याह-इषुमुदारम् उद्भटमायातं-प्रयत्नवद् यथा भवत्येवं कर्णं यावदायातम् आकृष्टं कृत्वा इमानि वचनान्यभाणीदिति, अन्वययोजनं तु पूर्वमेव कृतं,कानि तानि वचनानीत्याह-हदि' इति सत्ये, तेन यथाशयं वदामीत्यर्थः, अथवा-हन्दीति सम्बोधने, शृण्वन्तु भवन्तः, शरस्य-मत्प्रयुक्तस्य बहिस्तात् त्वग्भागे ये देवा अधिष्ठायकास्तद्दार्ढ्याऽऽदिकारिणस्ते इत्यर्थः, खलु वाक्यालङ्कारे, ते के इत्याह-नागा असुराः सुपर्णाः गरुडकुमाराः तेभ्यः 'खु.' निश्चये, नमोऽस्तु विभक्तिपरिणामात् तान् प्रणिपतामि-नमस्करोमि, नम इत्यनेन गतार्थत्वेऽपि प्रणिपतामीति पुनर्वचनं भक्त्यतिशयख्यापनार्थम्, अनेन शरप्रयोगाय साहाय्यकर्तॄणां बहिर्भागवासिनां देवानां सम्बोधनमुक्तम्, अथाभ्यन्तरभागवर्तिदेवानां सम्बोधनायाऽऽह-हन्दीति प्राग्वत्, नवरमभ्यन्तरतो गर्भभागे शरस्य येऽधिष्ठायकास्तद्दार्ढ्याऽऽदिकारिण इत्यर्थः, तेऽत्र सम्बोध्या इत्यर्थः, सर्वे ते देवा मम विषयवासिनो-मम देशवासिन इत्यर्थः । सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात्, इदं च वचनं सर्वे एते देवा मदाज्ञावशवर्तित्वेन मदिष्टस्य शरप्रयोगस्य साहायकं करिष्यन्तीत्याशयेनेति, यथाऽत्राऽऽदिचरित्राऽऽदौ शरस्य पुङ्खमुखरूपं देवाधिष्ठातव्यं स्थानद्वयमधिकमुक्तमस्ति तत्तयोः शरे प्राधान्यख्यापनार्थं ननु यद्येते देवा आज्ञावशंवदास्तर्हि न

मत्कार्यत्वमनुपपन्नम्? उच्यते क्षत्रियाणां शस्त्रस्य नमस्कार्यत्वे व्यवहारदर्शनात् चक्ररत्नस्येव, तेन तदधिष्ठातॄणामपि स्वाभिमतकृत्यसाधकत्वेन नमस्कार्यत्वं नानुपपन्नमिति, इति कृत्वा-निवेद्य इषुं निसृजति-मुञ्चति । अथ भरतस्यैतत्प्रस्तावबर्णनाय पद्यद्वयमाह-(परिगर त्ति) परिकरेण-मल्लकच्छबन्धेन युद्धोचितवस्त्रबन्धविशेषेणेत्यर्थः, निगडितं-सुबद्धं मध्यं यस्य स तथा, वातेन-प्रस्तावात् समुद्रवातेनोद्धूतम्-उत्क्षिप्तं शोभमानं कौशेयं-वस्त्रविशेषो यस्य स तथा, चित्रेण धनुर्वरेण शोभते स भरत इत्यध्याहारः, इन्द्र इव प्रत्यक्ष-साक्षात् तत्प्रागुक्तस्वरूपं महाचापं चञ्चलायमान-सौदामिनीयमानं कान्तिभात्कारेणेत्यर्थः, आरोपितगुणत्वेन पञ्चमीचन्द्रोपमं (छज्जइ त्ति) राजते । 'राजेरग्घछज्जसहरीररेहाः' ॥ ८ । ४ । १०० । इति प्राकृतसूत्रेण रूपसिद्धिः, वामहस्ते नरपतेरिति, तस्मिन् विजये-मागधतीर्थेशसाधने इति । 'तए णं' इत्यादि, ततः स शरो भरतेन राज्ञा निसृष्टः सन् क्षिप्रमेव द्वादश योजनानि गत्वा मागधतीर्थाधिपतेर्देवस्य भवने निपतितः, ततः किं वृत्तमित्याह-'तए णं' इत्यादि, ततः स मागधपतिर्देवो भवने अर्थात्-स्वकीये शरं निपतितं पश्यति, दृष्ट्वा च आशु-शीघ्रं रुष्टः-क्रोधो दयाद्विमूढः, रुष लुष च विमोहने' इति वचनात्, स्फुरितकोपलिङ्गो वा, रुष्ट-उदितक्रोधः चाण्डिक्यितः-सञ्जातचाण्डिक्यः, प्रकटितरौद्ररूप इत्यर्थः, कुपितः-प्रवृद्धकोपोदयः,(मिसिमिसेमाणे त्ति)क्रोधाग्निना दीप्यमान इव, एकार्थिका वैते शब्दाः कोपप्रकर्षप्रतिपादनार्थमुक्ताः, त्रिवलिका-तिस्रो वलयः-प्रकोपोत्थललाटरेखारूपा यस्यां सा तथा तां भृकुटिं-कोपविकृतभ्रूरूपां संहरति-निवेशयति, संहृत्य च एवमवादीत्, किमवादीदित्याह-' केस णं' इत्यादि, (केस त्ति) कः अज्ञातकुलशीलसहजत्वादनिर्दिष्टनामकः, सकारः प्राकृतशैलीभवः ' मणसा वयसा कायसा' इत्यादिवत् 'णमिति' प्राग्वत्,भो इति सम्बोधने,देवानाम् एषः-बाणप्रयोक्ता अप्रार्थितः-केनाप्यमनोरथगोचरीकृतं प्रस्तावात् मरणं तस्य प्रार्थकः-अभिलाषी । अयमर्थः-यो मया सह युयुत्सुः स मुमूर्षुरेवेति, दुरन्तानि-दुष्टावसानानि प्रान्तानि-तुच्छानि-लक्षणानि-यस्य स तथा, हीनाया पुण्यचतुर्दश्यां जातो हीनपुण्यचातुर्दशः, तत्र चतुर्दशी किल तिथिर्जन्माऽऽश्रिता पुण्या पवित्रा, शुभा इति यावत् । भवति, सा च पूर्णाऽत्यन्तभाग्यवतो जन्मनि भवति, अत आक्रोशता इत्थमुक्तः, क्वचित्-' भिन्नपुण्णचाउद्दसे त्ति ' तत्र भिन्ना परतिथिसङ्क्रमेण भेदं प्राप्ता या पुण्यचतुर्दशी तस्यां जात इति, ह्रिया-लज्जया श्रिया-शोभया च परिवर्जितः 'णमिति' पूर्ववत्, मम अस्याः-प्रत्यक्षानुभूयमानाया एतद्रूपाया एतस्मिन्नेव समयान्तरे भङ्गुरत्वाऽऽदिरूपान्तरभाक् रूपं स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्याः दिव्यायाः-स्वर्गसम्भवायाः प्रधानाया वा देवानामृद्धिः-श्रीभवनरत्नाऽऽदिसम्पत् तस्याः,एवं सर्वत्र, नवरं द्युतिः-दीप्तिः शरीराऽऽभरणाऽऽदिसम्पत् तस्याः द्युतिर्वा-इष्टपरिवाराऽऽदिसंयोगलक्षणा तस्याः दिव्येन-प्रधानेन देवानुभावेन-भाग्यमहिम्ना, अथवा-दिव्येन देवसम्बन्धिनाऽनुभावेन अचिन्त्यवैक्रियाऽऽदिकरणमहिम्ना

सह 'पिता पुत्रेण सहाऽऽगतः' इत्यादिवत्, लब्धाया-जन्मान्तरार्जितायाः प्राप्ताया-इदानीमुपस्थितताया अभिसमन्वागतायाः-भोग्यतां गताया उपरि आत्मना उत्सुको-मनसोत्कण्ठुलः परसम्पत्त्यभिलाषी पदव्यत्ययादुत्सुकाऽऽत्मा वा भवनं निसृजति, इतिकृत्वा सिंहासनादभ्युत्तिष्ठतीति । उत्थानानन्तरं यत्कर्त्तव्यं, तदाह—' जेणेव से णाम० ' इत्यादि यत्रैव स नामरूपोऽहतः—अखण्डितः अङ्कः—चिह्नं यत्र स तथा नामाङ्क इत्यर्थः, एवंविधः शरस्तत्रैवोपागच्छति, तं नामाहताङ्कं शरं गृह्णाति नामकम् अनुप्रवाचयति—वर्णानुपूर्वीक्रमेण पठति, नामकमनुप्रवाचयतोऽयं वक्ष्यमाण एतद्रूपो—वक्ष्यमाणस्वरूप आत्मन्यधि अध्यात्म तत्र भव आध्यात्मिकः, आत्मविषय इत्यर्थः । सङ्कल्पश्च द्विधा-ध्यानाऽऽत्मकः, चिन्ताऽऽत्मकश्च । तत्र आद्यः स्थिराध्यवसायलक्षणस्तथाविधदृढसंहननाऽऽदिगुणोपेतानां द्वितीयश्चलाध्यवसायलक्षणस्तदितरेषामिति, तयोर्मध्येऽयं चिन्तितः-चिन्तारूपश्चेतसोऽनवस्थितत्वात्, स चानभिलाषाऽऽत्मकोऽपि स्यादित्यत आह-प्रार्थितः- प्रार्थनाविषयः, अयं मम मनोरथः फलग्रहिर्भूयादित्यभिलाषाऽऽत्मक इत्यर्थः, मनोगतो—मनस्येव यो गतो न बहिर्वचनेन प्रकाशित इति, सङ्कल्पः समुदपद्यत, तमेवाऽऽह-उत्पन्नः खलु-निश्चये भो इत्यामन्त्रणे विचाराभिमुख्यकरणाय स्वात्मन एव, तेनेह मागधकुमारेति योज्यं, जम्बूद्वीपे द्वीपे भरते वर्षे भरतो नाम राजा चातुरन्तचक्रवर्ती तत् तस्माज्जीतमेतत् अतीतप्रत्युत्पन्नानागतानां मागधतीर्थकुमाराणामिति मागधतीर्थस्याधिपति कुमारो मागधतीर्थकुमारः, मध्यपदलोपेन समासः, कुमारपदवाच्यत्वं चास्य नागकुमारजातीयत्वात्, तन्नामकानां देवानां राज्ञां-नरदेवानाम् उपस्थानिकं प्राभृतं कर्त्तुं तद् गच्छामि, णमिति प्राग्वत्, अहमपि भरतस्य राज्ञ उपस्थानिकं करोमि, इतिकृत्वा-इति मनसिकृत्य एवं-वक्ष्यमाणं निजर्द्धिसारं संप्रेक्षते-पर्यालोचयति, ततः किं करोतीत्याह—' सपेहेत्ता ' इत्यादि, सम्प्रेक्ष्य च हाराऽऽदीनि प्रतीतानि, चकारः सर्वत्र समुच्चये, शरं च भरतस्य प्रत्यर्पणाय नामाऽऽहतं नामाऽऽहताङ्कमिति निर्देशे कर्त्तव्ये लाघवार्थमित्थमुपन्यासः, यद्वा-नाम आहत-लक्षणया लिखितं यत्र स तथा तं मागधतीर्थोदकं च राज्याभिषेकोपयोगि एतानि गृह्णातीति सम्बन्धः । तदनन्तरं किं विदधे इत्याह-'गिण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए ' इत्यादि, गृहीत्वा च तया दिव्यया देवगत्या गत्यालापकव्याख्या प्राग्वत्, नवरं सिंहया-सिंहगतिसमानया अतिमहता बलेनाऽऽरब्धत्वात्, यच्च पूर्वम् ऋषभदेवनिर्वाणकल्याणाधिकारे गत्यालापककथनं यावत्पदेन अत्र च तत्कथनं विस्तरेण तद्विचित्रत्वात् सूत्रकारप्रवृत्तेरिति मन्तव्यं, यत्रैव भरतो राजा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य चान्तरिक्षप्रतिपन्नो-नभोगतो देवानामभूमिचारित्वात् सकिङ्किणीकानि-क्षुद्रघण्टिकाभिः सह गतानि पञ्चवर्णानि च वस्त्राणि प्रवरं विधिपूर्वकं यथा स्यात् तथा परिहित -परिहितवान्, यथा पञ्चवर्णानि वस्त्राणि परिहितवान् तथा किङ्किणीरपीत्यर्थः । किमुक्तं भवति ?—किङ्किणीग्रहणेन तस्य नटाऽऽविर्भावत्वेषधारित्वदर्शनेन भृशं तस्य भरते भक्तिः प्रकटिता, अथवा—किङ्किणीसमुत्थशब्देन सर्वजनसमक्षं सेवकोऽस्मि न तु छन्नमिति ज्ञापनार्थं तत्सहित उपागतः, अथवा-सकिङ्किणीकानि—बद्धकिङ्किणीकानि, तद्बन्धश्च शोभातिशयार्थं, करतलपरिगृहीतं दशनखं शिरसावर्त्तं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा भरतं राजानं जयेन विजयेन वर्द्धयति, वर्द्धयित्वा चैवमवादीत्, अत्र प्राग्वद् व्याख्यानमिति । किमवादीदित्याह-' अभिजिए णं ' इत्यादि, अभिजितम्—आज्ञावशंवदीकृतं देवानुप्रियैः—वन्द्यपादैः केवलकल्पं—सम्पूर्णत्वात् केवलज्ञानसदृशं भरतं वर्षं—भरतक्षेत्रं पूर्वस्यां मागधतीर्थमर्यादया-मागधतीर्थं यावत्, तदहं देवानुप्रियाणां विषयवासी—देशवासी अत एवाहं देवानुप्रियाणामाज्ञप्तिकिङ्करः—आज्ञाकारी सेवकः, अहं देवानुप्रियाणां पौरस्त्यः-पूर्वदिक्सम्बन्धी अन्तं-त्वदादेश्यदेशसम्बन्धिनं पालयति-रक्षयति उपद्रवाऽऽदिभ्य इत्यन्तपालः पूर्वदिग्देशलोकानां देवाऽऽदिकृतसमस्तोपद्रवनिवारक इत्यर्थः, ' अहण्णं देवाणुप्पिआणं ' इत्यादिपदानां भिन्नभिन्नप्रकारेण योजनीयत्वादत्र न पौनरुक्त्यं, तत्प्रतीच्छन्तु-गृह्णन्तु देवानुप्रियाः ! मम इदम्-अग्रत उपनीतं एतद्रूपं प्रत्यक्षानुभूयमानस्वरूपं प्रीतिदान-सन्तोषदानं प्राभृतरूपमित्यर्थः, इतिकृत्वा—विज्ञप्य हाराऽऽदिकमुपनयति—प्राभृतीकरोतीति, ' तए णं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा मागधतीर्थकुमारनाम्नो देवस्य इदमेतद्रूपं प्रीतिदानं तत्प्रीत्युत्पादनार्थमलुब्धतया प्रतीच्छति गृह्णाति, प्रतीष्य च मागधतीर्थकुमारं देवं सत्कारयति वस्त्राऽऽदिना, सम्मानयति तदुचितप्रतिपत्त्या, सत्कार्य संमान्य च प्रतिविसर्जयति—स्वस्थानगमनायानुमन्यते । अथ तदुत्तरकर्त्तव्यमाह—' तए णं से भरहे राया रहं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा रथं परावर्त्तयति—भरतवर्षाभिमुखं करोति, परावर्त्य च मागधतीर्थेन लवणसमुद्रात् प्रत्यवतरति, प्रत्यवतीर्य च यत्रैव विजयस्कन्धावारनिवेशो यत्रैव च-बाह्या उपस्थानशाला तत्रैवोपागच्छति उपागत्य च तुरगान् निगृह्णाति निगृह्य च रथं स्थापयति, स्थापयित्वा च रथात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य च यत्रैव मज्जनगृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च मज्जनगृहमनुप्रविशति, अनुप्रविश्य (जाव त्ति) यावत्करणात् संपूर्णः स्नानाऽऽलापको वाच्यः, 'ससि व्व पिअदंसणे' इति विशेषणं यावत्, स च प्राग्वत्, नरपतिर्मज्जनगृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव भोजनमण्डपस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च भोजनमण्डपे सुखाऽऽसनवरगतः सन् अष्टमभक्तं पारयति, पारयित्वा च भोजनमण्डपात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव बाह्योपस्थानशाला यत्रैव च सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च यावत्सिंहाऽऽसनवरगतः पूर्वाभिमुखो निषीदति, निषद्य च अष्टादश श्रेणिप्रश्रेणीः शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीदिति । अत्र सूत्रे यावच्छब्दो लिपिप्रमादाऽऽपतित एव दृश्यते, तद्ग्राहकपदाभावात्, अन्यत्र तद्गमाऽऽद्यदृश्यमानत्वाच्चेति । अथ किमवादीदित्याह-(खिप्पामेव त्ति) सर्वं प्राग्वत्, यथा राजाऽऽज्ञा पौरा विदधुस्तथा चाऽऽह-'तए णं ' इत्यादि, व्यक्तं, ततो मागधतीर्थकुमारदेवविजयाष्टाह्निकामहामहिमानन्तरं चक्ररत्नं, कीदृश् कं च मण्डलमित्याह—' तए णं ' इत्यादि, तत-

स्तद्दिव्यं चक्ररत्नं वज्रमयं तुम्बम्-अरकनिवेशस्थानं यत्र तत्तथा, लोहिताक्षरत्नमया अरका यत्र तत्तथा, जाम्बूनदं-पीतसुवर्णं तन्मयो नेमिः-धारा यत्र तत्तथा, नानामणिमयम् अन्तः क्षुरप्राकारत्वात् क्षुरप्ररूपं स्थालम्-प्रान्तः परिधिरूपं तेन परिगतं यत्तत्तथा, मणिमुक्ताजालाभ्यां भूषितं, नन्दिः-भम्भा मृदङ्गाऽऽदिद्वादशविधतूर्यसमुदायस्तस्य घोषस्तेन सहगतं यत्तत्तथा, सकिङ्किणीकं क्षुद्रघण्टिकाभिः सहितं, दिव्यमिति विशेषणस्य प्रागुक्तत्वेऽपि प्रशस्तताऽतिशयख्यापनार्थं पुनर्वचनं, तरुणरविमण्डलनिभं नानामणिरत्नघण्टिकाजालेन परिक्षिप्तं-सर्वतो व्याप्तं, 'सव्वोउअ' इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत्, नाम्ना च सुदर्शनं नरपते-चक्रिणः प्रथम-प्रधानं, सर्वरत्नेषु तस्य मुख्यत्वाद्वैरिविजये सर्वत्रामोघशक्तिकत्वाच्च चक्ररत्नं, प्रथमशब्दस्य 'पढमे चंदजोगे' इत्यादौ प्रधानार्थकत्वेन प्रयोगदर्शनादक्रमसङ्गतिभाग् व्याख्यानमिति, मागधतीर्थकुमारस्य देवस्य अष्टाह्निकायां महामहिमायां निवृत्तायां सत्याम् आयुधगृहशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च दक्षिणपश्चिमां दिशं नैर्ऋतीं विदिशं प्रतीति शेषः, वरदामतीर्थाभिमुख प्रयातं-चलितं चाप्यभवत् । अयं भावः-शुद्धपूर्वास्थितस्य शुद्धदक्षिणवर्त्तिवरदामतीर्थे व्रजत आग्नेय्याविदिशागमने-प्रतीचीदिशागमने वक्रः पन्थाः तेनैवमुक्तं, यच्च ऋषभचरित्रे-"दक्षिणस्या वरदाम-तीर्थं प्रति ययौ ततः । चक्रं तच्चक्रवर्त्ती च, धातुं प्रादिरिवान्वगात् ॥ १ ॥" इत्युक्तं तन्मूलजिगमिषितदिग्विवक्षणात् । यच्चात्र चक्ररत्नस्य पूर्वत' दक्षिणदिशि गमनं तत्क्रमेण दिग्विजयसाधनार्थम् ।

तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं दाहिणपच्चत्थिमं दिसिं वरदामतित्थाभिमुहं पयात चावि पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठ०कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! हयगयरहपवरचाउरंगिणिं सेण्णं सण्णाहेह, आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह त्ति कट्टु मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता तेणेव कमेणं जाव०धवलमहामेहणिग्गए ० जाव सेअवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं माइअवरफलयपवरपरिगरखेडयवरवम्मकवयमाढीसहस्सकलिए उक्कडवरमउडतिरीडपडागझयवेजयंतिचामरचलंतछत्तंधयारकलिए असिखेवणिखग्गचावणारायकणयकप्पणिसूललउडभिंडिमालधणुहतोणसरपहरणेहि अ कालणीलरुहिरपीअसुक्किलअणेगचिंधसयसण्णिविट्ठे अप्फोडिअसीहणायछेलिअहयहेसिअहत्थिगुलुगुलाइअअणेगरहसयसहस्सघणघणेंतणीहम्ममाणसद्दसहिएण जमगसमगभंभाहोरंभकिणितखरमुहिमुगुंदसंखिअपरिलिवच्चगपरिवाइणिवसवेणुवीपाचिमहतिकच्छभिरिगिसिगिअकलतालकंसतालकरधाणुत्थिदेण महता सद्दसण्णिणादेण सयलमवि जीवलोग पूरयंते बलवाहणसमुदएणं एवं जक्खसहस्सपरिवुडे वेसमणे चेव धणवई अमरपतिसण्णिभाइ इड्ढीए पहिअकित्ती गामागरणगरखेडकब्बड तहेव सेसं०जाव विजयखंधावारणिवेसं करेइ, करित्ता वड्ढइरयणं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! मम आवसहं पोसहसालं च करेहि, ममेअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि ! ( सूत्र ४६ )

'तए णं' इत्यादि ततः स भरतो राजा तद्दिव्यं चक्ररत्न दक्षिणपश्चिमां दिशं प्रति वरदामतीर्थाभिमुखं प्रयात चापि पश्यति, दृष्ट्वा च 'हट्ठतुट्ठ त्ति' आलापकाऽऽदिपदैकदेशग्रहणात् सम्पूर्णाऽऽलापको ग्राह्यः । स चायम्-'हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए' इत्यादिकाः प्रागुक्त एव, कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीति । किमवादीदित्याह-(खिप्पामेव त्ति ) प्राग्व्याख्यातार्थम् । अत्र लाघवार्थमतिदेशवाक्येनाऽऽह-'तेणेव कमेणं' इत्यादि, तेनैव क्रमेण-पूर्वोक्तस्नानाधिकारसूत्रपरिपाट्या तावद् वाच्यं यावद् 'धवलमहामेहणिग्गए' इत्यादि निगमनसूत्रं, तदनु यावच्छ्वेतवरचामरैरुद्धूयमानैरित्यन्तं राजकुञ्जराधिरोहणसूत्रं वाच्यमिति । अथ यथाभूतो भरतो वरदामतीर्थं प्राप्तो यथा च तत्र स्कन्धावारनिवेशमकरोत्तथाऽऽह । अत्र च सूत्रे वाक्यद्वयं, तत्र चाऽऽदिवाक्ये 'तहेव सेसं' मित्यतिदेशपदेन सूचिते ग्रन्थे 'जेणेव वरदामतित्थे तेणेव उवागच्छइ' इत्यनेनान्वययोजना कार्या । सा चैवम्-स भरतो यत्रैव वरदामतीर्थं तत्रैवोपागच्छतीति, द्वितीयवाक्ये च विजयस्कन्धावारनिवेशम् 'करेइ' इत्यनेनेति, किं लक्षण इत्याह-(माइय त्ति ) हस्तपाशितं वरफलक-प्रधानखेटकं यैस्ते तथा प्रवरः परिकर-प्रगाढगात्रिकाबन्ध खेटकं च येषा ते तथा, फलकं दारुमय खेटकं च वंशशलाकाऽऽदिमयमिति न पौनरुक्त्यं, वरवर्मकवचमाढ्य.-सन्नाहविशेषा येषा ते तथा, येषां च विशेष-स्तत्कलाकुशलेभ्यो वेदितव्य., यथा वर्म लोहकुतूहलिकामयम् इत्यादि, तत पदत्रयकर्मधारय., येषा सहस्रैः, वृन्दवृन्दै कलितो य. स तथा, राज्ञा हि प्रयाणसमये युद्धाङ्गानां सह सञ्चरणस्याऽऽवश्यकत्वात्, उत्कटवराणि उन्नतप्रवराणि मुकुटानि प्रतीतानि किरीटानि-तान्येव शिखरत्रयोपेतानि, पताका लघुपटरूपा, ध्वजा-बृहत्पटरूपा, वैजयन्त्य'-पार्श्वतो लघुपताकिकाद्वययुक्ता. पताका एव, चामराणि चलन्ति छत्राणि तेषा सम्बन्धि यदन्धकारं-छायारूप तेन कलित, अत्रान्धकारशब्दान्तसमासपदाग्रे आर्षत्वात् तृतीयैकवचनलोपो द्रष्टव्य., कलित इति च पृथगेव नेन वक्ष्यमाणानन्तरसूत्रे कलितशब्दो योजनीयोऽन्यथा तत्स्थचकारस्य नैरर्थक्याऽऽपत्ते, यद्वा-अत्र समस्तोऽपि कलितशब्दश्चकारकरणबलादेव तत्रापि योजनीय इति । प्रस्तुतविशेषणस्याय भावार्थ-चलतश्चक्रिणो मुकुटाऽऽदिका तत्सैन्यस्य च छत्रव्यतिरिक्ता सामग्री तथा अस्ति यथाऽध्वनि मनागपि आतपक्लेशो नास्तीति, अत्र भरतसैन्यसम्बद्धा छाया भरतस्य विशेषणत्वेन सम्बद्ध्यते, सैन्यकृतो जय. स्वामिन्येवेति व्यवहारदर्शनात् । पुनर्भरतमेव विशिनष्टि-असय.-खड्गविशेषा. क्षिप्यन्ते ईसकगुटिका आभिरिति क्षेपिण्य-हथनालिर-

ति लोकप्रसिद्धा, खड्गाः, सामान्यतः चापाः-कोदण्डाः नाराचाः-सर्वलोहवाणाः कणका-वाणविशेषाः कल्पन्यः-कृपाण्यः,शूलानि-प्रतीतानि,लकुटाः-प्रतीताः, भिन्दिपाला-हस्तक्षेप्याः महाफला दीर्घा आयुधविशेषाः,धनूंषि-वंशमयवाणाऽऽसनानि किरातजनप्राह्याणि,तूणाः-तूणीराः, शराः-सामान्यतो वाणाः इत्यादिभिः प्रहरणैः, अत्र चकारेण पूर्वविशेषणस्थः समस्तोऽसमस्तो वा कलितशब्दो योज्यः, तेन तैः संयुक्त इति, दिग्विजयोद्यतानां राज्ञां हि शस्त्राणि सेनासहचर्चीनि भवन्तीति ज्ञापितं, कथमुक्तप्रहरणैः कलित इत्याह—' कालेत्यादि ' अत्र रुधिरशब्दो रक्तार्थः, तेन कालनीलरक्तपीतशुक्लानि जातितः पञ्चवर्णानि, व्यक्तितस्तु तद्वान्तरभेदादनेकरूपाणि यानि चिह्नशतानि तानि सन्निविष्टानि येषु तद्यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणतया वोध्यं, कोऽर्थः ?-राज्ञां हि शस्त्राऽभ्यस्तास्तत्तज्जातीयतत्तद्देशीयशस्त्राणां निर्विलम्बं परिज्ञानाय शस्त्रकोशेषु उक्तरूपाणि चिह्नानि निवेशयन्ति शस्त्रेषु च तत्तद्वर्णमयान् केशान् कुर्वन्तीत्यर्थः । अथ तूर्यसामग्रीकथनद्वारा भरतमेव विशिनष्टि आस्फोटितं-कराऽऽस्फोटरूपं सिंहनादः-सिंहस्येव शब्दकरणं ( छेलिअ त्ति ) सेण्टितं हर्षोत्कर्षेण सीत्कारकरणं, हयहेषितं-तुरङ्गमशब्दः,हस्तिगुलुगुलायितं गजगर्ज्जितम् ,अनेकानि यानि रथशतसहस्राणि तेषां (घणघणेत त्ति) अनुकरणशब्दस्तथा निहन्यमानानामश्वानां च लोऽऽश्वाऽऽदिजशब्दास्तैः सहितेन, तथा यमकसमकं-युगपत् भम्भा-ढक्का होरम्भा-महाढक्का इत्यादि तूर्यपदव्याख्या प्रागुक्तत्रुटिताङ्गकल्पद्रुमाधिकारतो ज्ञेया नवरं कलो मधुरस्तालो -घनवाद्यविशेषः, कंसताला-प्रसिद्धा करध्मानं-परस्परं हस्तताडनम् एतेभ्य उत्थितः -उत्पन्नो यस्तेन महता शब्दसन्निनादेन सकलमपि जीवलोकं-ब्रह्माण्डं पूरयन् , बलं-चतुरङ्गसैन्यं वाहन—शिविकाऽऽदि एतयोः क्रमेण समुदयो-वृद्धिर्यस्य स तथा, णमिति वाक्यालङ्कारे, अथवा बलवाहनयोः समुदयेन युक्त इति गम्यम्,एवमुक्तेन प्रकारेण भरतचक्रिविशेषणत्वेनेत्यर्थः, मागधतीर्थप्रकरणोक्तानि यक्षसहस्रसम्परिवृत इत्यादीनि विशेषणानि ग्राह्याणि,तत्र सूत्रे साक्षाल्लिखितानीति । अथ प्रथमवाक्ये अत्र— लिखितानि 'तहेव सेसं ' इत्यतिदेशपदेन सूचितानि च विशेषणानि वाचयितॄणां सौकुमार्यायैकीकृत्य लिख्यन्ते, तथा 'जक्खसहस्ससंपरिवुडे वेसमणे चेव धणवई अमरवई सण्णिभाए इड्ढीए पहिआकित्ती गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसहस्समंडिअं थिमिअमेइणीअं वसुहं अभिजिणमाणे अभिजिणमाणे अग्गाइं वराइं रयणाइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे तं दिव्वं चक्करयणं अणुगच्छमाणे अणुगच्छमाणे जोअणंतरिआहिं वसहीहिं वसमाणे वसमाणे जेणेव वरदामतित्थे तेणेव उवागच्छइ त्ति । ' व्याख्या च प्राग्वत् । अथ द्वितीयवाक्येऽपि अत्रोक्तविशेषणसहितो यावत्पदसूचितो ग्रन्थो लिख्यते, यथा-'उवागच्छित्ता वरदामतित्थस्स अदूरसामंते दुवालसजोयणायामं णवजोअणविच्छिण्णं वरणगरसरिच्छं विजयखंधावारणिवेसं करेइ त्ति ' प्राग्वत् । अथ ततः किं चक्रे इत्याह—'करित्ता ' इत्यादि, सर्वंमुक्तार्थम् ।

अथ राजाऽऽज्ञप्त्यनन्तरं कीदृग् वर्द्धकिरत्नं कीदृशं च वैनयिकमाचचारेत्याह—

तए णं से आसमदोणमुहगामपट्टणपुरवरखंधावारागिहावणविभागकुसले एगासीतिपदेसु सव्वेसु चेव वत्थूसु णेगगुणजाणए पंडिए विहिण्णू पणयालीसाए देवयाणं वत्थुपरिच्छाए णेमिपासेसु भत्तसालासु कोट्टणिसु अ वासघरेसु अ विभागकुसले छेज्जे वेज्झे अ दाणकम्मे पहाणबुद्धी जलयाणं भूमियाण य भायणे जलथलगुहासु जंतेसु परिहासु अ कालनाणे तहेव सद्दे वत्थुप्पएसे पहाणे गब्भिणिकण्णरुक्खवल्लिवेढिअगुणदोसविआणए गुणड्ढे सोलसपासायकरणकुसले चउसट्ठिविकप्पवित्थियमई णंदावत्ते य वद्धमाणे सोत्थिअरुअग तह सव्वओभद्दसण्णिवेसे अ बहुविसेसे उइंडिअदेवकोट्ठदारुगिरिखायवाहणविभागकुसले—

" इअ तस्स बहुगुणड्ढे, थवईरयणे णरिंदचंदस्स ।
तवसंजमनिव्विट्ठे, किं करवाणीतुवट्ठाई ॥ १ ॥
सो देवकम्मविहिणा, खंधावारं णरिंदवयणेणं ।
आवसहभवणकलिअं, करेइ सव्वं मुहुत्तेणं ॥ २ ॥ "

करेत्ता पवरपोसहघरं करेइ, करित्ता जेणेव भरहे राया० जाव एतमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणइ, सेसं तहेव०जाव मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता । ( सूत्र–४७ )

'तए णं' इत्यादि. ततस्तद्वर्द्धकिरत्नमहं किं करवाणि आदिशन्तु देवानुप्रिया ! इतिकर्त्तव्यमित्युदित्वोपतिष्ठते, राजानमिति शेषः, राज्ञ आसन्नमायातीत्यर्थः, इत्यन्वययोजनमग्रेतनपदैः सह कार्यं, कीदृशं तद्वर्द्धकिरत्नमित्याह—आश्रमाऽऽदयः प्राग्व्याख्याताार्थाः,नवरं स्कन्धावारगृहाऽऽपणाः प्रतीताः,एतेषा विभागे-विभजने उचितस्थाने तदवयवनिवेशने कुशलम्, अथवा—' पुरभवनग्रामाणां, ये कोणास्तेषु निवसता दोषाः। श्वपचाऽऽदयोऽन्त्यजाता स्तेष्वेव विवृद्धिमायान्ति ॥१॥ ' इत्यादि योग्याऽयोग्यस्थानविभागज्ञम् , एकाशीतिः पदानि- विभागा. प्रतिदेवत विभक्तव्यवास्तुक्षेत्रखण्डानीति यावत्,तानि यत्र तानि तथा एवंविधेषु वास्तुषु- गृहभूमिषु सर्वेषु चैव -चतुःषष्टिपदशतपदरूपेषु वास्तुषु, चैवशब्द समुच्चये. स च वास्त्वन्तरपरिग्रहार्थं अनेकेषां गुणानामुपलक्षणात् दोषाणां च ज्ञायकं, पण्डा जाता अस्येति तारकाऽऽदित्वादिते पण्डितं सातिशयबुद्धिमत् अथ यदि वास्तुक्षेत्रस्यैकाशीत्याद्या विभागास्तर्हि तावता विभागानां विभाजकास्तावत्यो देवता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह—विधिज्ञं पञ्चचत्वारिंशतो देवतानाम् उचितस्थाननिवेशनार्च्चनाऽऽदिविधिज्ञमित्यर्थः । अथ यथा पञ्चचत्वारिंशतोऽपि देवानामेकाशीत्यादिपदवास्तुन्यासस्तथा तच्छिल्पिशास्त्रानुसारेण दर्श्यते, यथा स्थापना—

### एकाशीतिपदवास्तुन्यासः ।

| वर | ई०१ | प०१ \| ज० १ | ई० १ \| सू० १ | स०१ भृ०न० | अ० | वि |
|---|---|---|---|---|---|---|
| की<br>१ | दि०१<br>अ० १<br>गि०१ | अपव २<br>आप २ | अर्यमा ६ | सावित्र २<br>सविता २ | अ०<br>पू०१<br>वि०१ | दारिका<br>२ |
| | सो०१ | पृथ्वीधर ६ | ब्रह्मादेव ६ | विवस्वा ० ६ | गृ०१<br>य०१ | |
| | भ०१<br>मु०१<br>अ०१ | रुद्रराद् २<br>रुद्र २ | मैत्र ६ | इन्द्र २<br>इन्द्रज २ | गं०१<br>भृ०१<br>मृ०१ | |
| पापा<br>४ | रो०१ | य०१ शो०१ | अ०१ ज०१ | पु०१ सु०१<br>दो० १ | पि०१ | पूतना<br>३ |

### चतुःषष्टिपदवास्तुन्यासः ।

| वर | ईश०॥ | प०१ \| ज०१ | ई०१ \| सू०१ | स० भृ १ न १ | अ०॥ | वि |
|---|---|---|---|---|---|---|
| की<br>१ | दि०॥<br>अ०१<br>गि०१ | अपव २<br>आप २ | अर्यमा ४ | सावित्र २<br>सविता २ | पू०॥<br>वि०<br>गृ०१ | दारिका<br>२ |
| | सो०१ | पृथ्वीधर ४ | ब्रह्मा देव ४ | विवस्वा०४ | य०१ | |
| | भ०१<br>मु०१<br>अ०॥ | रुद्रराद् २<br>रुद्र २ | मैत्र० ४ | इन्द्र २<br>इन्द्रज २ | गं०१<br>भृ०१<br>मृ०॥ | |
| पापा<br>४ | रो०॥ | य०१ शो० १<br>अ०१ | ज०१ पु० १ | सु०१ दो० १ | पि०॥ | पूतना<br>३ |

### शतपदवास्तुन्यासः ।

| वर | ई. २॥ | प०१ \| ज० १ | ई०१ \| सू० १ | स १ भृ १ न१ | अ २॥ | वि |
|---|---|---|---|---|---|---|
| की<br>१ | दि. २॥<br>अ१ | अपव २<br>आप २ | अर्यमा ८ | सावित्र २<br>सविता २ | पू० २॥<br>वि१ | दारिका<br>२ |
| | गि १<br>सो १ | पृथ्वीधर ८ | ब्रह्मादेवता ८ | विवस्वा०८ | गृ१<br>य१ | |
| | भ.१<br>मु.१ | रुद्रराद् २<br>रुद्र २ | मैत्र ८ | इन्द्र २<br>इन्द्रज२ | गं१<br>भृ१<br>मृ २॥ | |
| पापा<br>४ | अ. २॥<br>रो॥ | य०१ अ०१ शो१ | ज० १ पु० १ | सु०१ दो०१ | पि २॥ | पूतना<br>३ |

एतत्संवादनाय सूत्रधारमण्डनकृतवास्तुसारोक्तिरपि लिख्यते, यथा–

"चतुःषष्ट्या पदैर्वास्तु, पुरे राजगृहेऽर्चयेत् ।
एकाशीत्या गृहे भाग·,शतं प्रासादमण्डपे ॥ १ ॥
ईशः १ पर्जन्यो २ जये ३ न्द्रौ ४,
सूर्यः ५ सत्यो ६ भृशो ७ नमः ८ ।
अग्निः ९ पूषा १० ऽथ वितथो ११,
गृहक्षत १२ यमौ १३ तत· ॥ २ ॥
गन्धर्वो १४ भृङ्गराज १५ श्च,
मृग· १६ पितृगण १७ स्तथा ।
दौवारिकोऽथ १८ सुग्रीव १९—
पुष्पदन्तौ २० जलाधिपः २१ ॥ ३ ॥
असुर २२ शोष २३ यक्ष्माणौ २४--
रोगो २५० ऽहि २६ र्मुख्य २७ एव च ।
भल्लाट २८ सोम २९ गिरय ३०—
स्तथा बाह्येऽदिति ३१ र्दितिः ३२ ॥ ४ ॥
आपो ३३ऽपवत्सा ३४ वीशेऽन्तः,
सावित्रः ३५ सविता ३६ ऽग्निगौ ।
इन्द्र ३७ इन्द्रजयो ३८ ऽन्यस्मिन्,
वायौ रुद्र ३९ श्च रुद्रराट् ४० ॥ ५ ॥
मध्ये ब्रह्मा ४१ ऽस्य चत्वारो,
देवा· प्राच्यादिदिग्गताः ।
अर्यमाऽऽख्यो ४२ विवस्वा ४३ श्च,
मैत्रः ४४ पृथ्वीधर ४५ क्रमात् ॥ ६ ॥
ईशकोणाऽऽदितो बाह्ये,
चरकी १ च विदारिका २ ।
पूतना ३ पापा ४ राक्षस्यो,
हेतुकाऽऽद्याश्च निष्पदाः ॥ ७ ॥
चतु·षष्टिपदैर्वास्तु,
मध्ये ब्रह्मा चतुष्पद· ।
अर्यमाऽऽद्याश्चतुर्भागा,
द्विवंशा मध्यकोणगा· ॥ ८ ॥
बहि· कोणेष्वर्द्धभाग·, शेषा एकपदाः सुरा ।
एकाशीतिपदे ब्रह्मा, नवार्याऽऽद्यास्तु षट्पदा ॥ ९ ॥
द्विपदा मध्यकोणेऽष्टौ, बाह्ये द्वात्रिंशदेकश ।
शते ब्राह्म एसद्दृष्ट्याशो, बाह्यकोणेषु सार्द्धगौ ॥ १० ॥
अर्यमाऽऽद्यास्तु वस्वशा, शेषा· स्यु· पूर्ववास्तुवत् ।
हेमरत्नाक्षताऽऽद्यैस्तु, वास्तुक्षेत्रऽऽकृतिं लिखेत् ॥ ११ ॥
अभ्यर्च्य पुष्पगन्धाऽऽद्यै-र्बलिदध्याज्यमोदनम् ।
दद्यात् सुरेभ्यः सोङ्कारै—र्नमोऽन्तैर्नामभिः पृथक् ॥ १२ ॥
वास्त्वारम्भे प्रवेशे वा,, श्रेयसे वास्तुपूजनम् ।
अकृते स्वामिनाशः स्यत्, तस्मात्पूज्यो हितार्थिभि· १३ ॥"

अत्र च वराहमिहिरोक्त एकाशीतिपदस्य स्थापनाविधिरयम्''-एकाशीतिविभागे,दश दश पूर्वोत्तराऽऽयता रेखा·। अन्तस्त्रयोदश सुराः, द्वात्रिंशद्बाह्यकोष्ठस्थाः " इति ।, ( )। अत्र अथ प्रकृत प्रस्तूयते—( वत्थुपरिच्छाए त्ति । ) अत्र चशब्दोऽध्याहार्यस्तेन वास्तुपरीक्षायां च विधिज्ञमिति योज्यम्, " गृहमध्ये हस्तमितं, खात्वा परिपूरित पुन श्वभ्रम् । यद्यूनमनिष्ट तत्, समे समं धन्यमधिक चेत् ॥ १ ॥ " इत्यादि । अथवा—वास्तूना परिच्छदे—आच्छादनं—कटकम्बाऽऽदिभिरावरणं तत्र विधिज्ञं यथार्हंकटकम्बाऽऽदिविनियोजनात्, तथा नेमिपार्श्वपु-सम्प्रदायगम्येषु भक्तशालासु-रसवतीशालासु कोट्टनीषु-कोट्ट-दुर्गं स्थायिराजसत्कं नयन्ति· प्रापयन्ति यायिराज्ञामिति व्युत्पत्त्या कोट्टन्यः ·या· कोट्टग्रहणाय प्रतिकोट्टाभिमुख उत्थाप्यन्ते तासु, चशब्दः समुच्च

ये, तथा वासगृहेषु-शयनगृहेषु विभागकुशलं-यथौचित्येन विभाजकं, चः समुच्चये, तथा छेद्यं—छेदनार्हं काष्ठाऽऽदि वेध्यं—वेधनार्हं तदेव चः समुच्चये दानकर्म—अङ्कनार्थं गिरिकरक्तसूत्रेण रेखादानं तत्र प्रधानबुद्धिः, तथा जलगानां जलगतानां भूमिकानां जलोत्तरणार्थकपद्याकरणाय भाजनं-यथौचित्येन विभाजकं, चः समुच्चये, उन्मग्नानिमग्नानद्यादुत्तरे तस्यैतादृशसामर्थ्यस्य सुप्रतीतत्वात् , जलस्थलयोः सम्बन्धिनीषु गुहास्विव गुहासु-सुरङ्गास्वित्यर्थः । तथा यन्त्रेषु घटीयन्त्राऽऽदिषु परिखासु प्रतीतासु च पूर्ववत् कालज्ञाने—चिकीर्षितवास्तुप्रशस्ताप्रशस्तलक्षणपरिज्ञाने, "वैशाखे श्रावणे मार्गे, फाल्गुने क्रियते गृहम् । शेषमासेषु न पुनः, पौषो वाराहसम्मतः ॥ १ ॥ " इत्यादिके, तथैवेति वाच्यान्तरसग्रहे शब्दे—शब्दशास्त्रे सर्वकलाव्युत्पत्तेरतन्मूलकत्वात् वास्तुप्रदेशे—गृहक्षेत्रैकदेशे " ऐशान्यां देवगृहं, महानसं चापि कार्यमाग्नेय्याम् । नैर्ऋत्यां भाण्डोपस्करोऽर्थधान्यानि मारुत्याम् ॥ १ ॥ " इत्यादिगृहावयवविभागे शास्त्रोक्तविधिविधाने प्रधान मुख्यं गर्भिण्यो जातगर्भा डोलाकिता वल्ल्यः फलाभिमुखवल्ल्य इत्यर्थः, कन्या इव कन्याः-अफला, अथवा—दूरफला वा वल्ल्यः वृक्षाश्च वास्तुक्षेत्रप्ररूढा वल्लिवेष्टितानि—भावे क्तप्रत्ययविधानात् वल्लिवेष्टनानि-वास्तुक्षेत्रोद्गतवृक्षेष्वारोहणानि, एतेषां ये गुणदोषास्तेषां विज्ञायकं-विशेषज्ञ, ते चेमे—"गर्भिणी वल्लिर्वास्तुप्ररूढा आसन्नफलदा, कन्या च सा तत्रैव नाऽऽसन्नफला, वृक्षाश्च प्लक्षवटाश्वत्थोदुम्बराः प्रशस्ताः आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदा " इत्यादि, प्रशस्तद्रुमकाष्ठं वा गृहाऽऽदि प्रशस्तं, वल्लिवेष्टितानि प्रशस्तवल्लिसम्बन्धीनि प्रशस्तानि गृहमहीषु न चाप्रशस्तवल्लिसम्बन्धीनि । एनमेवार्थमाह वराह -
" शस्तौषधिद्रुमलतामधुरा सुगन्धा, स्निग्धा समा न शुषिरा च मही नृपाणाम् । अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां, धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु ? ॥ १ ॥ " पुनस्तदेव विशेषयन्नाह—गुणाऽढ्यः-प्रज्ञाधारणाबुद्धिहस्तलाघवाऽऽदिगुणवान् षोडश प्रासादाः—सान्तनस्वस्तिकाऽऽदयो भूपतिगृहाणि तेषां करणे कुशलः, चतुःषष्टिविकल्पा गृहाणां वास्तुप्रसिद्धाः तत्र विस्तृता—अमूढा मतिर्यस्य स तथा, विकल्पाना चतुःषष्टिरेव—प्रमोदविजयाऽऽदीनि षोडश गृहाणि पूर्वद्वाराणि, स्वस्तनाऽऽदीनि षोडश दक्षिणद्वाराणि, धनदाऽऽदीनि षोडश उत्तरद्वाराणि, दुर्भगाऽऽदीनि षोडश पश्चिमद्वाराणि, सर्वमीलने चतुःषष्टिरिति, नन्द्यावर्त्ते गृहविशेषे एवमग्रेतनविशेषणेष्वपि, चः समुच्चये, वर्द्धमाने स्वस्तिके रुचके तथा सर्वतोभद्रसन्निवेशे च बहुर्विशेषः-प्रकारो ज्ञेयतया कर्त्तव्यतया च यस्य तत् तथा, सूत्रे च क्वचित् सप्तमीलोपः प्राकृतत्वात् , नन्द्यावर्त्ताऽऽदिगृहविशेषस्वरूपं वराहोक्तं—

" नन्द्यावर्त्तमलिन्दैः, शालाकुड्यात् प्रदक्षिणान्तगतैः ।
द्वारं पश्चिममस्मिन्, विहाय शेषाणि कार्याणि ॥ १ ॥
द्वारालिन्दोऽन्तगतः, प्रदक्षिणोऽन्यः शुभस्ततश्चान्यः ।
तद्वच्च वर्द्धमाने, द्वारं तु न दक्षिणं कार्यम् ॥ २ ॥
अपरान्तगतोऽलिन्द , प्रागन्तगतौ तदुत्थितौ चान्यौ ।
तदवधिविधृतश्चान्यः, प्राग्द्वारं स्वस्तिकं शुभदम् ॥ ३ ॥
अप्रतिषिद्धालिन्दं, समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम् ।
नृपविबुधसमूहाना, कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि ॥ ४ ॥ "

पुनस्तदेव विशिनष्टि ऊर्ध्वे दण्डे भव उद्दण्डकः, भवार्थः इकः, अर्थात् ध्वजः, देवाः—इन्द्राऽऽदिप्रतिमाः, कोष्ठ—उपरितनगृहं धान्यकोष्ठो वा, दारूणि वास्तूचितकाष्ठानि गिरयो दुर्गाऽऽदिकरणार्थं जनावासयोग्याः पर्वताः, खातानि—पुष्करिण्यादिकानि वाहनानि शिविकाऽऽदीनि एतेषां विभागे कुशलं, ध्वजविभागस्त्वेवम्—" दण्डः प्रकाशे प्रासादे, प्रासादकरसङ्ख्यया । सान्धकारे पुनः कार्यो, मध्यप्रासादमानतः ॥१॥ " शेषं तत्तद्ग्रन्थेभ्योऽवसेयम्, इत्युक्तप्रकारेण बहुगुणाढ्यं तस्य नरेन्द्रचन्द्रस्य भरतचक्रिणः स्थपतिरत्नं वर्द्धकिरत्नम् । तपःसंयमाभ्यां करणभूताभ्यां निर्विष्टं लब्धमिति, किं करवाणीत्यादि तु प्राग्योजितमेव । अथोपस्थितः सन् वर्द्धकिर्यदकरोत्तदाह—' सो देव ' इत्यादि, सः—वर्द्धकिः देवकर्मविधिना देवकृत्यप्रकारेण चिन्तितमात्रकार्यकरणरूपेणेत्यर्थः, स्कन्धावार नरेन्द्रवचनेन आवासा गाश्च गृहाणि भवनानीतरेषां तैः कलितं करोति सर्वं मुहूर्त्तेन निर्विलम्बमित्यर्थः, कृत्वा च प्रवरपौषधगृहं करोति, कृत्वा च भरतो राजा यावत्पदात् 'तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता' इति ग्राह्यम्, एतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयति, 'सेसं तहेव' इत्यादि, सर्वं प्राग्वत् । 'उवागच्छित्ता' उपागत्य च ।

तते णं तं धरणितलगमणलहुं ततो बहुलक्खणपसत्थं हिमवंतकंदरंतरणिवायसंवद्धिअचित्ततिणिसदलिअं जंबूणयसुकयकूवरं कणयदंडियारं पुलयवरिंदणीलसासगपवालफलिहवररयणलेट्ठुमणिविद्दुमविभूसिअं अडयालीसाररइयतवणिज्जपट्टसंगहिअजुत्ततुंबं पघसिअपसिअनिम्मिअनवपट्टपुट्ठपरिणिट्ठिअं विसिट्ठलट्ठणवलोहवद्धकम्मं हरिपहरणरयणसरिसचक्कं कक्केयणइंदणीलसासगसुसमाहिअबद्धजालकडगं पसत्थविच्छिण्णसमधुरं पुरवरं च गुत्तं सुकिरणतवणिज्जजुत्तकलिअं कंकटयणिजुत्तकप्पणं पहरणाणुजायं खेडगकणगधणुमंडलग्गवरसत्तिकोंततोमरसरसयवत्तीसतोणपरिमंडिअं कणगरयणचित्तं जुत्तं हलीमुहवलागगयदंतचंदमोत्तिअतणसोल्लिअकुंदकुडयवरसिंदुवारकंदलवरफेणणिगरहारकासप्पगासधवलेहिं अमरमणपवणजइणचवलसिग्घगामीहिं चउहिं चामराकणगविभूसिअंगेहिं तुरगेहिं सच्छत्तं सज्झयं सघंटं सपडागं सुकयसंधिकम्मं सुसमाहिअसमरकणयगंभीरतुल्लघोसं वरकुप्पर सुचक्कं वरनेमीमंडलं वरधारातोंड वरवइरवद्धतुंबं वरकंचणभूसिअं वरायरिअणिम्मिअं वरतुरगसंपउत्तं वरसारहिसुसंपग्गहिअं वरपुरिसे वरमहारहं दुरूढे आरूढे पवररयणपरिमंडिअं कणयखिंखिणीजालसोभिअं अउज्झं सोआमणिकणगतविअपंकयजासुअणजलणजलिअसुअतोंडरागं गुंजद्धबंधुजीवगरत्तहिंगुलगणिगरसिंदूररुइलकुंकुमपारेवयचलणणयणकोइलदसणावरणरइताऽति-

रेगरत्तासोगकणगकेसुअयतालुसुरिंदगोवगसमप्पभप्पगासं बिंबफलसिलप्पवालउट्ठितसूरसरिसं सव्वोउअसुरहिकुसुमआमत्तमल्लदामं ऊसिअसेअज्झय महामेहरसिअगंभीरणिद्धघोसं सत्तुहिअयकंपणं पभाए अ सस्सिरीअं णामेणं पुहविविजयलंभंति विस्सुतं लोगविस्सुतजसोऽहयं चाउग्घंटं आसरहं पोसहिए णरवई दुरूढे । तए णं से भरहे राया चाउग्घंटं आमरहं दुरूढे समाणे सेसं तहेव ०जाव दाहिणाभिमुहे वरदामतित्थेणं लवणसमुद्दं ओगाहइ० जाव से रहवरस्स कुप्परा उल्ला ०जाव पीइदाणं से,णवरिं चूडामणिं च दिव्वं उरत्थगेविज्जगं सोणिअसुत्तगं कडगाणि अ०जाव दाहिणिल्ले अंतवाले०जाव अट्ठाहिअं महामहिमं करेति करित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणति । तए णं से दिव्वे चक्करयणे वरदामतित्थकुमारस्स देवस्स अट्ठाहिआए महामहिमाए निव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अंतलिक्खपडिवण्णे ०जाव पूरंते चेव अंबरतलं उत्तरपच्चत्थिमं दिसिं पभासतित्थाभिमुहे पयाते यावि होत्था । तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं ०जाव उत्तरपच्चत्थिमं दिसिं तहेव० जाव पच्चत्थिमदिसाभिमुहे पभासतित्थेणं लवणसमुद्दं ओगाहेइ, ओगाहित्ता ०जाव से रहवरस्स कुप्परा उल्ला०जाव पीइदाणं से णवर मालं मउडिं मुत्ताजालं हेमजालं कडगाणि अ तुडिआणि अ आभरणाणि अ सरं च णामाहयंकं पभासतित्थोदगं च गिण्हइ, गि.ण्हित्त० जाव पच्चत्थिमेणं पभासतित्थमेराए अहण्णं देवाणुप्पिआणं विसयवासी० जाव पच्चत्थिमिल्ले अंतवाले, सेसं तहेव ०जाव अट्ठाहिआ निव्वत्ता । ( सूत्र ४६ )

' तते णं ' इत्यादि , णमिति प्राग्वत् , तं प्रसिद्धं वरपुरुषो—भरतचक्री वरमहारथम् आरूढ इति सम्बन्धः । कीदृशमित्याह—धरणितलगमने लघुशीघ्र शीघ्रगामिनमित्यर्थः कीदृशो वरपुरुष इत्याह—ततः—सर्वत्र जयसम्भावनाजनितप्रमोदरसपुलकिततया विस्तीर्ण प्रफुल्लहृदय इत्यर्थ । अथ पुना रथ विशिनष्टि-बहुलक्षणप्रशस्त हिमवत.—क्षुद्रहिमवद्गिरे. निर्वातानि-वातरहितानि यानि कन्दराऽन्तराणि-दरीमध्यानि तत्र संवर्द्धिताश्चित्रा, विविधास्तिनिशा-रथद्रुमास्त एव दलिकानि दारूणि यस्य त, सूत्रे च पदव्यत्यय आर्षत्वात् , जाम्बूनदसुवर्णमयं सुकृतं सुघटितं कूवरं युगन्धर यत्र त, कनकदण्डिका - कनकमयलघुदण्डरूपा, अरा यत्र तं, पुलकानि वरेन्द्रनीलानि सासकानि रत्नविशेषा. प्रवालानि स्फटिकवर रत्नानि—च प्रतीतानि , लेष्टवो विजातिरत्नानि मणय' चन्द्रकान्ताद्याः विद्रुमः—प्रवालविशेष , अनयोश्च वर्णाऽऽदितारतम्यकृतो विशेषो बोध्यः तैर्विभूषितं , रचिताः प्रतिदिशं द्वादश द्वादश सद्भावात् अष्टाचत्वारिंशदरा यत्र ते तथा, विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् , तपनीयपट्टे -रक्तस्वर्णमयपट्टकैर्लोके महलू इति प्रसिद्धै. संगृहीते-दृढीकृते तथा युक्ते उचिते नातिलघुनी नातिमहती इत्यर्थ । ततः पदत्रयस्य कर्मधारय.। एतादृशे तुम्बे यस्य स तथा तम् , प्रघर्षिता.—प्रकर्षेण घृष्टाः प्रसिताः—प्रकर्षेण बद्धाः ईदृशा निर्मिता—निवेशिताः नवाः—अजीर्णाः पट्टा प ट्टिका यत्र तत्तथाविधं यत्पृष्ठं चक्रपरिधिरूप यल्लोके पूठी इति प्रसिद्धं, तत्परिनिष्ठितं—सुनिष्पन्न कार्यनिर्वाहकत्वेन यस्य स तम् । अत्र पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । विशिष्टलष्टे-अतिमनोज्ञे नवे—सद्यस्के लोहवर्ध्रे —अयश्चर्मरज्जुके तयो. कर्म कार्यं यत्र स तम् । अयमर्थ.—तत्र रथ येऽवयवास्ते लोहवर्ध्राभ्या बद्धा इति, हरिः—वासुदेवस्तस्य प्रहरणरत्न—चक्र ' चक्कमुसलजोहि त्ति ' वचनात् तत्सदृशे चक्रे यस्य स तं, कर्केतनेन्द्रनीलशस्यकरूपरत्नत्रयमयं सुष्ठु सम्यगाहितं निवेशितं कृतसुन्दरसंस्थानमित्यर्थ. । ईदृश बद्ध जालकटकं जालकसमूहो यत्र स तथा तम्, अयं भाव'-रथगुप्तौ जालकपदवाच्या सच्छिद्ररचनाविशिष्टा अवयवविशेषा बहवस्तत्र शोभा जनयन्तीति, तथा प्रशस्ता विस्तीर्णा समा अवक्रा धूर्यत्र स त, पुरमिव गुप्तं समन्तत कृतवरूथं, रथे हि प्राय सर्वतो लोहाऽऽदिमयी आवृतिर्भवति, पुरवरदृष्टान्तकथनेनायमर्थ सम्पन्न.-यथा पुर गोपुरभागपरित्यागेन समन्ततो वप्रगुप्तं भवति तथाऽयमप्यारोहस्थानसारथिस्थाने विहाय गुप्त इति, सुकिरणं—शोभमानकान्तिकं यत्तपनीय—रक्त सुवर्णं तन्मयं योक्त्र तेन कलितं, योक्त्रेण हि वोढृस्कन्धे युग वद्ध्यत इति, अत्र च एतत्सूत्राऽऽदर्शेषु ' तवणिज्जजालकलिअ ' इति पाठोऽशुद्ध एव सम्भाव्यते, आवश्यकचूर्णौ अस्यैव पाठस्य दर्शनात्, कङ्कटकाः—सन्नाहास्तेषा नियुक्ता स्थापिता कल्पना--रचना यत्र स तथा त, यथाशोभ तत्र सन्नाहा स्थापिता. सन्तीति भावः, तथा प्रहरणैरनुयातं -भृतमित्यर्थ , एतदेव व्यक्तिन आह खेटकानि प्रतीतानि, कणका-बाणविशेषाः धनूंषि मण्डलाग्रा.-तरवारयः, वरशक्तयः-त्रिशूलानि, कुन्ता-भल्ला. तोमराश्च बाणविशेषाः शराणा शतानि येषु तादृशा ये द्वात्रिंशत्तूणा भस्त्रकास्तैः परिमण्डित-समन्तत शोभित कनकरत्नचित्रं, तथा युक्त तुरगैरित्यनेन सम्बद्ध्यते । किंविशिष्टैरित्याह हलीमुख रूढिगम्यमिति बलाको -बक., गजदन्तचन्द्रौ प्रतीतौ, मौक्तिक मुक्ताफल ' तणसोल्लिअ त्ति ' मल्लिकापुष्प कुन्द -श्वेतः पुष्पविशेष. कुटजपुष्पाणि—वरसिन्दुवाराणि निर्गुण्डीपुष्पाणि कन्दलानि कन्दलवृक्षविशेषपुष्पाणि वरफेननिकरो हारो मुक्ताकलाप' काशा.-तृणविशेषास्तेषा प्रकाशः—औज्ज्वल्यं तद्वद्धवलै अमरा-देवा मनांसि चित्तानि पवनो-वायुस्तान् वगन जयतीति अमरमनः पवनजयिन , अत एव चपलशीघ्रम-अतिशीघ्र गामिनो-गमनशीला., ततः पदद्वयकर्मधारय', तैश्चतुर्भि -चतु. सङ्ख्याकैः तथाः चामरै कनकैश्च भूषितमङ्ग येषा ते तथा तैः, चामरस्य स्त्रीत्वम् आर्षत्वात् । अथ पुना रथ विशिनष्टि-सच्छत्रं सध्वजं सघण्ट सपताकमिति प्राग्वत् , सुकृत-सुष्ठु निर्मित सन्धिकर्म सन्धियोजनं यत्र स त, सुसमाहितः-सम्यग्यथोचितस्थाननिवेशितो यः समरकणकः—संग्रामवाद्यविशेषस्तस्य वीराणा वीररसोत्पादकस्वेन तुल्यो गम्भीरो घोषः—चीत्काररूपो ध्वनिर्यस्य स

तं, पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, वरे कूर्परे पिञ्जनके इति प्रसिद्धे यस्य स तं, सुचक्रं वरनेमीमण्डलं-प्रधानचक्रधारावृतं वरे—शोभमाने धूस्तुण्डे—धूर्व्याकूर्परे यस्य स तं, वरवज्रैर्बद्धे तुम्बे यस्य स तं, वरकाञ्चनभूषितं, वराऽऽचार्यः-प्रधानशिल्पी तेन निर्मितं वरतुरगैः सम्प्रयुक्तं वरसारथिना सुष्ठु संप्रगृहीतं स्वायत्तीकृतमिति। इह च चक्राऽऽदीनां पुनर्वचनं रथावयवेषु प्रधानताख्यापनार्थः, ' वरपुरिसे ' इत्यादि तु पूर्वं योजितं, ' दुरूढे आरूढे ' इत्यत्र समानार्थकं पदद्वयोपादानं सुखाऽऽरूढताज्ञापनार्थम्, अथवा-दुरूढे इत्यस्य सौत्रशब्दस्य विवरणरूपोऽयमारूढशब्द इति, अथार्थान्तराऽऽरम्भार्थे पुनरुक्तिर्न दोषायेति । उक्तमेवार्थं नामप्रकटनाय रथस्याऽऽरोहकालप्रकटनाय चाऽऽह-'पवररयणपरिमंडिअं' इत्यादि, प्रवररत्नपरिमण्डितं कनककिङ्किणीजालशोभितम् अयोध्यमनभिभवनीयमित्यर्थः, सौदामिनी—विद्युत् , तप्तं यत्कनकं तच्चानलोत्तीर्णं रक्तवर्णं भवतीति तप्तशब्देन विशेषितं पङ्कजं—कमलं तच्च सामान्यतो रक्तं वर्ण्यते ' जासुअण त्ति' जपाकुसुम ज्वलितज्वलनो—दीप्ताग्निः। अत्र पदविपर्यास. प्राकृतशैलीभवः, शुकस्य तुण्डं-मुखम् एतेषामिव रागो—रक्तता यस्य स तं, गुञ्जार्द्धं—रक्तिकारागभागः बन्धुजीवकं—द्विप्रहरविकाशिपुष्पं रक्तः—संमर्दितो हिङ्गुलकनिकरः सिन्दूरं—प्रतीतं रुचिरं कुङ्कुमं—जात्यघुसृणं पारापतचलनः प्रतीतः, कोकिलनयने पदव्यत्यय आर्षत्वात् दशनाऽवरणम्-अधरोष्ठं तच्च सामुद्रिकेऽत्यरुणं व्यावर्ण्यते इति रतिदो-मनोहरोऽतिरक्तः-अधिकारुणोऽशोकतरुः ईदृशं च कनकं किंशुकं पलाशपुष्पं तथा गजतालुसुरेन्द्रगोपको-वर्षासु रक्तवर्णः क्षुद्रजन्तुविशेष एभिः समा-सदृशा प्रभा-छविर्यस्य तथा एवंविध प्रकाश.स्तेजःप्रसरो यस्य स तं,बिम्बफलंगोल्हकं 'सिलप्पवालं ति ' अत्र अश्लीलशब्द इव श्रियं लातीति क्रुफिडाऽऽदित्वाल्लत्वे श्लीलम्, एवंविधं यत्प्रवालं श्लीलप्रवालं-परिकर्मितविद्रुमः शिलाप्रवालं वा विद्रुम' उत्तिष्ठत्सूरः—उद्गच्छत्सूर्यस्तेषा सदृशं, सर्वर्तुकानि-षड्ऋतुभवानि सुरभीणि कुसुमानि- अग्रथितपुष्पाणि माल्यदामानि च ग्रथितपुष्पाणि यत्र स तम् , उच्छ्रितः—ऊर्ध्वीकृतः श्वेतध्वजो यत्र स तं, महामेघस्य यद्रसितं-गर्जितं-तद्वद् गम्भीरः स्निग्धो घोषो यस्य स तं, शत्रुहृदयकम्पनं, प्रभाते च-अष्टमतपःपारणकदिनमुखे चतुर्घण्टमश्वरथं पौषधिक.-आसन्नपारितपौषधव्रतो नरपतिरारूढ इति सम्बन्धः, सश्रीकं नाम्ना पृथ्वीविजयलाभमिति विश्रुतम्, अत्राऽऽरूढः पुरुषो भूविजयं लभते इति सान्वर्थनामकमित्यर्थ, कीदृशो नरपतिरित्याह--लोकविश्रुतयशाः, अहतं--कचिदप्यवयवेऽखण्डितं सर्वत्रास्खलितप्रचारं वा रथमित्यर्थः । रथाऽऽरोहानन्तरं भरतः किं चक्रे इत्याह—' तए णं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा चतुर्घण्टमश्वरथमारूढः सन् शेषं तथैवेति, कियत्पर्यन्तमित्याह—' जाव दाहिणाभिमुहे ' इत्यादि, शेषं सूत्रं मागधतीर्थगमानुसारेण ज्ञेयम्। अथोक्तं यावद्दक्षिणाभिमुखो वरदामतीर्थेन वरदामनाम्नाऽवतरणमार्गेण लवणसमुद्रमवगाहते, ' सेसं तहेव त्ति ' वचनात्। 'हयगयरहपवरजोहकलिआए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगरपहगरवंदपरिक्खित्ते चक्करयणदेसिअमग्गे अणेगरायवरसहस्साणु आयमग्गे महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं पक्खुभिअमहासमुद्दरवभूअं पिव करेमाणे करेमाणे ' इत्यन्तं सूत्रं दृश्यं, कियद् दूरं लवणसमुद्रमवगाहते इत्याह-यावत्तस्य रथवरस्य कूर्परावार्द्रौ भवतः। अत्र यावच्छब्दो न संग्राह्यपदसंग्राहकः किन्तु जलावगाहप्रमाणसूचनार्थः। 'जाव पीइदाणं. ति ' अत्रापि मागधदेवसाधनाधिकारोक्तं सूत्रं तावद्वक्तव्य यावत्प्रीतिदानं, ' से ' तस्य तीर्थाधिपसुरस्य प्रीतिदानशब्देनोपचारात् प्रीतिदानार्थकविवक्षितचूडामण्यादि वस्तूच्यते, अत्र तु ' जाव दाहिणिल्ले अंतवाले ' इति सूत्रस्याग्रता न्यासान्यथानुपपत्त्या तस्य ग्रहणं ज्ञेयं न तु दानं, तस्य ' जाव अट्ठाहिअं महामहिमं करेंति त्ति ' सूत्रस्थयावच्छब्देन गृहीतत्वात्, तेनायमर्थः-प्रीतिदाननिमित्तकचूडामण्यादिवस्तुग्रहणप्रतिपादकसूत्र यावद्वक्तव्यमिति। तत्रायं पिण्डार्थः—तुरगनिग्रहणरथस्थापनधनुःपरामर्शशरमोक्षकोपोत्पादकोपापनोदनिजर्द्धिसारसंप्रेक्षणप्रीतिदानसूत्राणि मागधतीर्थसूत्राधिकारवद् ज्ञेयानीति, नवरमयं विशेषः-प्रीतिदाने चूडामणिं च दिव्यं—मनोहरं सर्वविषापहारि शिरोभूषणविशेषम् उरस्य'—वक्षोभूषणविशेषं ग्रैवेयकं-ग्रीवाभरणं श्रोणिसूत्रक कटिमेखलां कटकानि च त्रुटिकानि च, कियद्दूरं वक्तव्यमित्याह—' यावद्दाहिणिल्ले अंतवाले ' इति यावद्दाक्षिणात्योऽहमन्तपाल इति, प्रीतिदानप्राभृतोपढौकनभरतकृततत्स्वीकरणदेवसम्मानविसर्जनरथपरावृत्तिस्कन्धावारप्रत्यागमनमज्जनगृहगमनस्नानभोजनकरणश्रेणिप्रश्रेणिशब्दनादिप्रतिपादकसूत्रं वक्तव्यम् , किमन्तमित्याह- ' अट्ठाहिअं महामहिमं करेंति ' अष्टादश श्रेणिप्रश्रेणयोऽष्टाहिकां महामहिमां प्रकुर्वन्ति, एतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयन्तीति। अथ प्रभासतीर्थाधिपसाधनायोपक्रमते-' तए णं ' इत्यादि, सर्वं प्राग्वत् , नवरम् उत्तरपश्चिमां—वायवीं दिशं शुद्धदक्षिणवर्तिनो वरदामतीर्थत. शुद्धपश्चिमावर्तिनि प्रभासे गमनाय इत्थमेव पथः सरलत्वात् ,अन्यथा वरदामतः पश्चिमाऽऽगमने अनुवारिधिवेलं गमनेन प्रभासतीर्थप्राप्तिर्दूरेण स्यादिति, प्रभासनामतीर्थे यत्र सिन्धुनदी समुद्रं प्रविशति, अथ तादृक् चक्ररत्नं दृष्ट्वा यन्नृपश्चक्रे तदाह-' तए णं ' इत्यादि, सर्वं पूर्ववत् , परं प्रीतिदाने विशेषः, तमेव च सूत्रे दर्शयति--' णवरि त्ति ' नवरं मालां-रत्नमालां मौलिं मुकुटं मुक्ताजालं—दिव्यमौक्तिकराशिं हेमजालं कनकराशिमिति, ' सेसं तहेव त्ति ' शेषम्—उक्तातिरिक्तं प्रीतिदानोपढौकनस्वीकरणसुरसम्माननविसर्जनाऽऽदि तथैवमागधसुराधिकार इव वक्तव्यम् , आवश्यकचूर्णौ तु वरदामप्रभाससुरयोः प्रीतिदानं व्यत्यासेनोक्तमिति।

अथ सिन्धुदेवीसाधनाधिकारमाह—

तए णं से दिव्वे चक्करयणे पभासतित्थकुमारस्स देवस्स अट्ठाहिआए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता ०जाव पूरं ते चेव अंबरतलं सिंधूए महाणईए दाहिणिल्लेणं कूलेणं पुरच्छिमं दिसिं सिंधुदेवीभवणाभिमुहे पयाते आवि होत्था । तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं सिंधूए महाणईए

दाहिणिल्लेणं कूलेणं पुरच्छिमं दिसिं सिंधुदेवीभवणाभिमुहं पयातं पासइ, पासित्ता हट्टतुट्ठचित्त तहेव० जाव जेणेव सिंधूए देवीए भवणं तेणेव उवगच्छइ, उवागच्छित्ता सिंधूए देवीए भवणस्स अदूरसामंते दुवालसजोअणायामं णवजोयणविच्छिण्णं वरणगरसारिच्छं विजयखंधावारणिवेसं करेइ० जाव सिंधुदेवीए अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी० जाव दब्भसंथारोवगए अट्ठमभत्तिए सिंधुदेविं मणसि करेमाणे चिट्ठइ । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि सिंधूए देवीए आसणं चलइ, तए णं सा सिंधुदेवी आसणं चलिअं पासइ,पासित्ता ओहिं पउंजइ,ओहिं पउंजित्ता भरहं रायं ओहिणा आभोएइ, आभोएत्ता इमे एआरूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-उप्पण्णे खलु भो जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे भरहे णामं राया चाउरंतचक्कवट्टी, तं जीअमेअं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं सिंधूणं देवीणं भरहाणं राईणं उवत्थाणिअं करेत्तए, तं गच्छामि णं अहं पि भरहस्स रण्णो उवत्थाणिअं करेमि त्ति कट्टु कुंभट्ठसहस्सं रयणचित्तं णाणामणिकणगरयणभत्तिचित्ताणि अ दुवे कणगभद्दासणाणि य कडगाणि अ तुडिआणि अ० जाव आभरणाणि अ गेण्हइ, गेण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए०जाव एवं वयासी-अभिजिए णं देवाणुप्पिएहिं केवलकप्पे भरहे वासे अहण्णं देवाणुप्पिआणं विसयवासिणी अहण्णं देवाणुप्पिआणं आणत्तिकिंकरी, तं पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिआ ! मम इमं एआरूवं पीइदाणं ति कट्टु कुंभट्ठसहस्सं रयणचित्तं णाणामणिकणगकडगाणि अ ०जाव सो चेव गमो ०जाव पडिविसज्जेइ । तए णं से भरहे राया पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ,पडिणिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ण्हाए कयबलिकम्मे ०जाव जेणेव भोअणमंडवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता भोअणमंडवंसि सुहासणवरगए अट्ठमभत्तं परियादियइ, परियादित्ता० जाव सीहासणवरगए पुरत्थाऽभिमुहे णिसीअइ णिसीइत्ता अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ सद्दावेइ, सद्दावेत्ता ०जाव अट्ठाहिआए महामहिमाए तमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति । ( सूत्र-४० )

'तए णं' इत्यादि, व्यक्तार्थं, नवरं पूर्वां दिशमित्यत्र पश्चिमदिग्वर्त्तिनः प्रभासतीर्थेत आगच्छन् वैताढ्यगिरिकुमारदेवसिसाधयिषया तद्वासकूटाभिमुख यियासुः प्रथमतः अनुपूर्वमेव याति, एतच्च दिग्विभागज्ञानं जम्बूद्वीपपट्टाऽऽदावालेख्यदर्शनाद् गुरुजनसंदर्शिनात् सुबोधं, सिन्धुदेवीगृहाभिमुखं च चक्ररत्नं प्रयातम् । ननु सिन्धुदेवीभवनम् अत्रैव सूत्रे उत्तरभरतार्द्धमध्यमखण्डे सिन्धुकुण्डे सिन्धुद्वीपे वक्ष्यते तत्कथमत्र तत्सम्भवः ? , उच्यते-महर्द्धिकदेवीनां मूलस्थानादन्यत्रापि भवनाऽऽदिसम्भवो नानुपपन्नो यथा सौधर्मेन्द्राऽऽग्रमहिषीणां सौधर्माऽऽदिदेवलोके विमानसद्भावेऽपि नन्दीश्वरे कुण्डले वा राजधान्यः, यथा वाऽस्या एव देव्या असङ्ख्येयतमे द्वीपे राजधानी सिन्ध्वावर्त्तनकूटे च प्रासादावतंसक इति । एवं सिन्धुद्वीपे सिन्धुदेवीभवनसद्भावेऽपि अत एव सूत्रबलादत्रापि तदस्तीति ज्ञायते, तथा च सति 'सिन्धूए देवीए भवणस्स' 'अदूरसामंते' इत्यादिकं 'खंधावारनिवेसं करेइ' इत्यन्तं वक्ष्यमाणसूत्रमप्युपपद्यतेऽन्यथा तदपि विघटतेति । तदनु भरत किं कृतवानित्याह 'तए णं' इत्यादि, 'सुयोधम्—'०जाव सिंधूए' इत्यादि । अत्र यावत्करणात् वर्द्धकिरत्नशब्दापनपौषधशालाविधापनाऽऽदि सर्वं ग्राह्यं, तेन पौषधशालायां सिंधुदेव्या साधनायेति शेषः। अष्टमभक्तं प्रगृह्णाति, प्रगृह्य च पौषधिकः-पूर्वव्याख्यातपौषधव्रतवान् अत एव ब्रह्मचारी '०जाव दब्भसंथारोवगए' इत्यादि,यावद्दर्भसंस्तारकोपगतः । अत्र यावत्करणात् उम्मुक्कमणिसुवर्णं इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं ग्राह्यम् , अष्टमभक्तिकः कृताष्टमतपाः सिन्धुदेवीं मनसि कुर्वन्-ध्यायंस्तिष्ठति । 'तए णं' इत्यादि, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञोऽष्टमभक्ते परिणमति-परिपूर्णप्राये जायमाने सिन्ध्वा देव्या आसनं चलति, ततः सा सिन्धुदेवी आसनं चलितं पश्यति, दृष्ट्वा अवधिं प्रयुनक्ति प्रयुज्य च भरतं राजानम् अवधिना आभोगयति-उपयुङ्क्ते, आभोग्य च स्थितायास्तस्या इत्यध्याहार्यम्,अयमेतद्रूप आध्यात्मिकश्चिन्तितः प्रार्थितो मनोगत सङ्कल्पः समुदपद्यत इत्थमेवान्वयसङ्गतिः स्यात् , अन्यथा भिन्नकर्तृकयोः क्रिययोः क्त्वाप्रत्ययप्रयोगानुपपत्तिः स्यात् भिन्नकर्तृकता चैवम्—सिन्धुदेवी आभोगयित्री सङ्कल्पश्च समुत्पादकः, इयं च सिन्धुदेवी आसनकम्पनाद्दत्तोपयोगा सती स्मृतजातीया स्वत एवानुकूलाऽऽशया सजज्ञे , तेन न शरप्रमोक्षणाऽऽद्यत्र वक्तव्यम् , एवं च कर्मचक्रिणां वैताढ्यसुराऽऽदीनां साधनेऽपि जिन चक्रिणां तु सर्वत्र दिग्विजययात्रायां शरप्रमोक्षणाऽऽदिकमन्तरेणैव प्रवृत्तिः यतस्तत्र तेषां तथैव साध्यसिद्धिरिति। स च कः सङ्कल्प इत्याह-'उप्पण्णे त्ति' उत्पन्नः खलुः-निश्चये जम्बूद्वीपनाम्नि द्वीपे भरतनामनि वर्षे-क्षेत्रे भरतो नाम राजा चतुरन्तचक्रवर्त्ती तज्जीतमेतत्-आचार एष ,अतीतवर्त्तमानाऽनागतानां सिन्धुनाम्नीनां देवीनां भरतानां राज्ञाम्, अत्र बहुवचनं कालत्रयवर्त्तिनां चक्रयर्द्धचक्रिणां परिग्रहार्थम् , उपस्थानिक-प्राभृतं कर्तुं वर्त्तते इति, तद् गच्छामि, एमिति प्राग्वत् अहमपि भरतस्य राज्ञ उपस्थानिकं करोमीति , चिन्तितं हि कार्यं कृतमेव फलदं भवतीत्याह-'इति कट्टु' इत्यादि, इतिकृत्वा-चिन्तयित्वा कुम्भानामष्टोत्तरं सहस्रं रत्नचित्रं नानामणिकनकरत्नानां भक्ति -विविधरचना तया चित्रे च द्वे कनकभद्राऽऽसने श्रृषभचरित्रेतु रत्नभद्राऽऽसने उक्ते, कटकानि च त्रुटिकानि च यावदाभरणानि च गृह्णाति, गृहीत्वा च तयोत्कृष्टयेत्यादियावदेवमवादीदिति । अत्र यावत्पदसंग्रहो व्यक्तः , किमवादीदित्याह- 'अभिजिए णं' इत्यादि व्यक्तं अभिजितं देवानुप्रियैः-श्रीमद्भिः केवलकल्प-परिपूर्णं भरतं वर्षं तेनाहं देवानुप्रियाणां विषयवासिनी-देशवास्तव्या अहं देवानुप्रियाणामाज्ञप्तिकिङ्करी-आज्ञासेविका तत् प्रतीच्छन्तु-गृह्णन्तु देवानुप्रियाः ! ममेदमेतद्रूपं प्रीतिदानमिति , अत्र

'णं' सर्वत्र प्राग्वत्, इति कृत्वा कुम्माष्टाधिकसहस्रं रत्नचित्रं नानामणिकनकरत्नभक्तिचित्रे वा द्वे कनकभद्रासने कट कानि च यावत् स एव मागधसुरगमोऽप्यनुसर्तव्यः ताव यावत्प्रतिविसर्जयति। तत उत्तरविधिमाह—'तए णं' इत्यादि सर्वं प्राग्वत्, नवरं तावत् चक्ररत्नं यावत्तः श्रेणि-प्रश्रेण्योऽष्टाहिकाया महामहिमायास्तामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पय न्ति यथाऽष्टाहिकोत्सवः कृत इति।

अथ वैताढ्यसुरसाधनमाह—

तए णं से दिव्वे चक्करयणे सिंधूए देवीए अट्ठाहिआए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ तहेव ० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसिं वेअड्ढपव्वयाऽभिमुहे पयाए आवि होत्था, तए णं से भरहे राया० जाव जेणेव वेअड्ढपव्वए जेणेव वेअड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वेअड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे दुवालसजोअणायामं णवजोअणविच्छिण्णं वरणगरसरिच्छं विजयखंधावारनिवेसं करेइ, करित्ता०जाव वेअड्ढगिरिकुमारस्स देवस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगिण्हित्ता पोसहसालाए ०जाव अट्ठमभत्तिए वेअड्ढगिरिकुमारं देवं मणसि करेमाणे करेमाणे चिट्ठइ, तए णं तस्स भरहस्स रण्णो अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि वेअड्ढगिरिकुमारस्स देवस्स आसणं चलइ, एवं सिंधुगमो णेअव्वो, पीइदाणं आभिसेक्कं रयणालंकारं कडगाणि अ तुडिआणि अ वत्थाणि अ आभरणाणि अ गेण्हइ, गेण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए ०जाव अट्ठाहिअं ०जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से दिव्वे चक्करयणे अट्ठाहियाए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए ०जाव पच्चच्छिमं दिसिं तिमिसगुहाभिमुहे पयाए आवि होत्था, तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं ०जाव पच्चच्छिमं दिसिं तिमिसगुहाभिमुहं पयातं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्त ०जावतिमिसगुहाए अदूरसामंते दुवालसजोअणाऽऽयामं णवजोअणविच्छिण्णं०जाव कयमालस्स देवस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी ०जाव कयमालगं देवं मणसि करेमाणे करेमाणे चिट्ठइ,तए णं तस्स भरहस्स रण्णो अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि कयमालस्स देवस्स आसणं चलइ,तहेव०जाव वेअड्ढगिरिकुमारस्स णवरं पीइदाणं इत्थीरयणस्स तिलगचोद्दसं भंडालंकारं कडगाणि अ०जाव आभरणाणि अ गेण्हइ, गेण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए ० जाव सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणित्ता पडिविसज्जेइ ०जाव भोअणमंडवे तहेव महामहिमा कयमालस्स पच्चप्पिणंति। ( सूत्रम्-५१ )

'तए णं' इत्यादि, प्राग्व्याख्यातार्थं, नवरम् उत्तरपूर्वां दिशमिति- ईशानकोणं चक्ररत्नं वैताढ्यपर्वताभिमुखं प्रयातं चाप्यभवत्। अयमर्थः-सिन्धुदेवीभवनतो वैताढ्यसुर-साधनार्थं वैताढ्यसुरावासभूत वैताढ्यकूटं गच्छत ईशानदिश्येव ऋजुः पन्थाः, 'तए णं' इत्यादि, उक्तप्रायं सर्वं नवरं वैताढ्यपर्वतस्य दाक्षिणात्ये—दक्षिणार्धभरतपार्श्ववर्तिनि नितम्बे इति, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञोऽष्टमभक्ते परिणमति वैताढ्यगिरौ कुमार इव क्रीडाकारित्वात् वैताढ्यगिरिकुमारस्तस्य देवस्याऽऽसनं चलति, एवं सिन्धुदेव्याः गमः—सदृशपाठो नेतव्यः—स्मृतिपथं प्रापणीय, परं सिन्धुदेवीस्थाने वैताढ्यगिरिकुमारदेव इति वाच्यं, यच्च सिन्धुदेव्या अतिदेशकथनं तदुवाणव्यापारणमन्तरेणैवायमपि साध्य इति सादृश्यज्ञापनार्थमिति, प्रीतिदानम् आभिषेक्यम्—अभिषेकयोग्य राजपरिधेयमित्यर्थः, रत्नालङ्कारं-मुकुटमिति आवश्यकचूर्णौ तथैव दर्शनात्, शेषं तथैव यावच्छन्दाभ्यां ग्राह्यं, तत्र प्रथमो यावच्छन्दः उक्तातिरिक्तविशेषणसहितां गतिं प्रीतिवाक्यं प्राभृतोपनयनग्रहणे सुरसन्माननविसर्जने स्नानभोजने श्रेणिप्रश्रेण्यामन्त्रण सूचयति, द्वितीयस्तु अष्टाहिकाऽऽदेशदानकरणे इति।

अथ तमिस्रागुहाऽधिपकृतमालसुरसाधनार्थमुपक्रमते— 'तए णं' इत्यादि, ततस्तद्दिव्यं चक्ररत्नं अष्टाहिकाया महामहिमाया निवृत्तायां सत्याम् अर्थाद् वैताढ्यगिरिकुमारस्य देवस्य यावत् पश्चिमादिशं तमिस्रागुहाभिमुख प्रयात चाप्यभवत्, वैताढ्यगिरिकुमारसाधनस्थानस्य तमिस्रायाः पश्चिमावर्त्तित्वात्, 'तए णं' इत्यादि, सर्वं प्राग्वत् प्रीतिदानेऽत्र विशेष, स चायं-स्त्रीरत्नस्य कृते तिलकं-ललाटाऽऽभरण रत्नमयं चतुर्दश यत्र तत्तिलकचतुर्दशम् ईदृशम् भाण्डालङ्कार-प्राकृतत्वादलङ्कारशब्दस्य परनिपाते अलङ्कारभाण्डम्, आभरणकरण्डकमित्यर्थः, चतुर्दशाऽऽभरणानि चैवम्-" हार १ ऽद्धहार २ इग ३ कण-य ४ रयण ५ मुत्तावली ६ उ केऊरे ७। कडए ८ तुडिए ९ मुद्दा १०, कुंडल ११ उरसुत्त १२ चूलमणि १३ तिलयं १४॥ १॥" इति। कटकानि च अत्र कटकाऽऽदीनि स्त्रीपुरुषसाधारणानीति न पौनरुक्त्यमित्यादि तावद् वक्तव्यं यावद् भोजनमण्डपे भोजन, तथैव मागधसुरस्येव महामहिमा अष्टाहिका कृतमालस्य प्रत्यर्पयन्त्याज्ञां श्रेणि-प्रश्रेण्य इति।

तए णं से भरहे राया कयमालस्स अट्ठाहिआए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए सुसेणं सेणावइं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं-वयासी-गच्छाहि णं भो देवाणुप्पिआ! सिंधूए महाणईए पच्चत्थिमिल्लं णिक्खुडं ससिंधुसागरगिरिमेरागं समविसमणिक्खुडाणि अ ओअवेहि, ओअवेत्ता अग्गाइं वराइं रयणाइं पडिच्छाहि अग्गाइं० पडिच्छित्ता ममेअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तते णं से सेणावई बलस्स णेआ भरहे वासम्मि विस्सुअजसे महाबलपरक्कमे महप्पा ओअंसी तेअलक्खणजुत्ते मिलक्खुभासाविसारए चित्तचारुभासी भरहे वासम्मि णिक्खुडाणं निण्णाण य दुग्गमाण य दुप्पवेसाण य विआणए अत्थसत्थकुसले रयणं सेणावई सुसेणे भरहेणं रण्णा एवं वुत्ते

समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए०जाव करयलपरिग्गहिअं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं सामी ! तह त्ति आणाए विणएणं वयणं परिसुणेइ,पडिसुणित्ता भरहस्स रण्णो अंतिआओ पडिणिक्खमइ,पडिणिक्खमित्ता जेणेव सए आवासे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ,सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह हयगयरहपवर०जाव चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह त्ति कट्टु जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता एहाए कयबलिकम्मे कयकोउअमंगलपायच्छित्ते सण्णद्धबद्धवम्मिअकवए उप्पीलिअसरासणपट्टिए पिणद्धगेविज्जबद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टे गहिआउहप्पहरणे अणेगगणनायगदंडनायग०जाव सद्धिं संपरिवुडे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मंगलजयसद्दकयालोए मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव आभिसेक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूढे। तए णं से सुसेणे सेणावई हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं हयगयरहपवरजोहकलिआए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महयाभडचडगरपहगरवंदपरिक्खित्ते महया उक्किट्ठिसीहणायबोलकलकलसद्देणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणे करेमाणे सव्विड्ढीए सव्वज्जुईए सव्वबलेणं०जाव निग्घोसनाइएणं जेणेव सिंधू महाणई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चम्मरयणं परामुसइ, तए णं तं सिरिवच्छसरिसरूवं मुत्तातारद्धचंदचित्तं अयलमकंपं अभेज्जकवयं जंतं सलिलासु सागरेसु अ उत्तरणं दिव्वं चम्मरयणं सणसत्तरसाइं सव्वधण्णाइं जत्थ रोहंति एगदिवसेण वाविआइं, वासं णाऊण चक्कवट्टिणा परामुट्ठे दिव्वे चम्मरयणे दुवालस जोअणाइं तिरिअं पवित्थरइ, तत्थ साहिआइं, तए णं से दिव्वे चम्मरयणे सुसेणसेणावइणा परामुट्ठे समाणे खिप्पामेव णावाभूए जाए आवि होत्था, तए ण से सुसेणे सेणावई सखंधावारबलवाहणे णावाभूयं चम्मरयणं दुरूहइ, दुरूहित्ता सिंधु महाणइं विमलजलतुंगवीचिं णावाभूएणं चम्मरयणेणं सबलवाहणे ससेणे समुत्तिण्णे, तओ महाणईमुत्तरित्तु सिंधुं अप्पडिहयसासणे अ सेणावई कहिंचि गामागरणगरपव्वयाणि खेडकब्बडमडंबाणि पट्टणाणि सिंहलए बब्बरए अ सव्वं च अगलोअं बलायालोअं च परमरम्मं जवणदीवं च पवरमणिरयणगकोसागारसमिद्धं आरबके रोमके अ अलसंडविसयवासी अ पिक्खुरे कालमुहे जोणए अ उत्तरवेअड्ढसंसिआओ अ मेच्छजाई बहुप्पगारा दाहिणअवरेण०जाव सिंधुसागरंतो त्ति सव्वपवरकच्छं च ओअवेऊण पडिणिअत्तो बहुसमरमणिज्जे अ भूमिभागे तस्स कच्छस्स सुहणिसण्णे, ताहे ते जणवयाण णगराण पट्टणाण य जे अ तहिं सामिआ पभूआ आगरपती अ मंडलपती अ पट्टणपती अ सव्वे घेत्तूण पाहुडाइं आभरणाणि भूसणाणि रयणाणि य वत्थाणि अ महरिहाणि अण्णं च जं वरिट्ठं रायारिहं जं च इच्छिअव्वं एअं सेणावइस्स उवणेंति मत्थयकयंजलिपुडा, पुणरवि काऊण अंजलिं मत्थयम्मि पणया तुब्भे अम्हेऽत्थ सामिआ देवयं व सरणागया मो तुब्भं विसयवासिणो त्ति विजयं जंपमाणा सेणावइणा जहारिहं ठविअ पूइअ विसज्जिआ णिअत्ता सगाणि णगराणि पट्टणाणि अणुपविट्ठा, ताहे सेणावई सविणओ घेत्तूण पाहुडाइं आभरणाणि भूसणाणि रयणाणि य पुणरवि त सिंधुणामधेज्ज उत्तिण्णे अणहसासणबले, तहेव भरहस्स रण्णो णिवेएइ, णिवेइत्ता य अप्पिणित्ता य पाहुडाइं सक्कारिअसम्माणिए सहरिसे विसज्जिए सगं पडमंडवमइगए, तते णं सुसेणे सेणावई ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउअमंगलपायच्छित्ते जिमिअभुत्तुत्तरागए समाणे०जाव सरसगोसीसचंदणुक्खित्तगायसरीरे उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धेहिं णाडएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणे उवणच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवलालि ( लभि ) ज्जमाणे उवलालि ( लभि ) ज्जमाणे महयाहयणट्टगीअवाइअतंतीतलतालतुडिअघणमुइंगपडुप्पवाइअरवेणं इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे विहरइ। ( सूत्रम् ५२ )

'तए णं' इत्यादि, निगदसिद्धं, नवरं सुषेणनामानं सेनापतिं—सेनानीरत्नमिति, किमवादीदित्याह—'गच्छाहि णं' इत्यादि, गच्छ भो देवानुप्रिय ! सिन्ध्वा महानद्याः पाश्चात्य—पश्चिमदिग्वर्त्तिनं निष्कुटं—कोणवर्त्तिभरतक्षेत्रखण्डरूपम्, एतेन पूर्वदिग्वर्त्तिभरतक्षेत्रखण्डनिषेध कृतो बोध्य', इद च कैर्विभाजकैर्विभक्तमित्याह—पूर्वस्या दक्षिणस्या च सिन्धुर्नदी पश्चिमाया सागर.-पश्चिमसमुद्र उत्तरस्या गिरिर्वैताढ्य, एतैः कृता मर्यादा—विभागरूपा तया सहितम्, एभि कृतविभागमित्यर्थ, अनेन द्वितीयपाश्चात्यनिष्कुटात् विशेषो दर्शित., तत्रापि समानि च समभूमावर्त्तीनि विषमाणि च दुर्गभूमिकानि निष्कुटानि च—अवान्तरक्षेत्रखण्डरूपाणि ततो द्वन्द्वस्तानि च—(ओअवेहि त्ति ) साधय अस्मदाज्ञाप्रवर्त्तनेनात्मवशान् कुरु, अनेन फलनेन प्रथमसिन्धुनिष्कुटसाधनेऽणीयसोऽपि भूभागस्य साधने न गजनिमीलिका विधेयेति ज्ञापितम्, एवमेवापरखण्डपट्खण्डक्षितिनिर्वर्तितघमात. ( ओअवेत्ता) साधयित्वा अग्र्याणि-उत्कृष्टानि वराणि--प्रधानानि रत्नानि स्वस्वजा-

तानुत्कृष्टवस्तूनि प्रतीच्छ--गृहाण, प्रतीष्य च ममैतामाह्न सिकां प्रत्यर्पयेति , ततः सुषेणो यथा चक्रे तथाऽऽह- 'तते णं' इत्यादि , ततो भरताऽऽज्ञानन्तरं स सुषेणः एव स्वामिंस्तथेत्याज्ञया विनयेन वचनं प्रतिशृणोति इति पर्यन्तपदयोजना, व्याख्या त्वस्य प्राग्वत्, किंभूतः सुषेणः?-सेना-हस्त्यादिस्कन्धस्तद्रूपस्य बलस्य नेता-प्रभु स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तकः भरते वर्षे विश्रुतयशाः महतः--अतुच्छस्य बलस्य--सैन्यस्य प्रक्रमात् भरतचक्रवर्त्तिसम्बन्धिनः पराक्रमो यस्मात् तथा, दृष्टं हि बलवति प्रभौ बलं बलवद्भवतीति, एतेन 'ओअंसी ति' पदे; न पौनरुक्त्यं , महात्मा उदा(र)सत्त्वभावः, ओजस्वी आत्मना वीर्याधिकः तेजसा शरीरेण लक्षणैश्च--सत्त्वाऽऽदिभिर्युक्तः, म्लेच्छभाषासु-पारसीआरबीप्रमुखासु विशारदः-पण्डितः, तत्तन्म्लेच्छदेशभाषाज्ञो हि तत्तद्देशीयम्लेच्छान् सामदानाऽऽदिवाक्यैर्बोद्धुं समर्थो भवति, अत एव चित्रं-विविधं चारु-अग्राम्यताऽऽदिगुणोपेतं भाषत इत्येवंशील., भरतक्षेत्रे निष्कुटानां निम्नानां च- गम्भीरस्थानानां दुर्गमानां च--दुःखेन गन्तु शक्यानां दुष्प्रवेशानां--दु.खेन प्रवेष्टुं शक्यानां भूभागानां विज्ञायकस्तत्र तद्वासीव प्रचारचतुरः, अत एवैना योग्यता विभाव्यैतादृशे शासने नियुक्त., अर्थशास्त्रं--नीतिशास्त्राऽऽदि तत्र कुशलः रत्न सेनापतिः--सैन्येशेषु मुख्यः, भरतेन राज्ञा एवमुक्त. सन् हृष्टतुष्टेत्यादि प्राग्वत् , तत. स किं करोतीत्याह--' पडिसुणेत्ता ' इत्यादि, सर्वं चैतत् पाठसिद्धं, नवरं सुषेणविशेषणं सन्नद्धं शरीराऽऽरोपणात् बद्धं कसाबन्धनतः वर्म्म-लोहकसूलाऽऽदिरूपं सञ्जातमस्येति वर्म्मितम् ईदृशं कवचं-तनुत्राणं यस्य स तथा, उत्पीडिताऽऽगाढं गुणाऽऽरोपणाद् दृढीकृता शराऽऽसनपट्टिका-धनुर्दण्डो येन स तथा, पिनद्धं ग्रैवेयं--ग्रीवात्राणं ग्रीवाऽऽभरणं वा येन स तथा बद्धो--ग्रन्थिदानेन आविद्धः परिहितो मूर्द्धवेष्टनेन विमलवरचिह्नपट्टो--वीरातिवीरतासूचकवस्त्रविशेषो येन स तथा, पश्चात्पदद्वयस्य कर्मधारयः, गृहीतान्यायुधानि प्रहरणानि च येन स तथा, आयुधप्रहरणयोस्तु क्षेप्याक्षेप्यकृतो विशेषो बोध्यः, तत्र क्षेप्याणि बाणाऽऽदीनि अक्षेप्याणि खड्गाऽऽदीनि, अथवा--गृहीतानि आयुधानि प्रहरणाय येन स तथेति । ' तए णं ' इत्यादि प्राग्व्याख्यातार्थं, नवरं वाक्ययोजनायां तत. सुषेणश्चर्मरत्नं परामृशति--स्पृशति, इत्यन्तं सम्बन्ध इति, एतत्प्रस्तावाच्चर्म्मरत्नवर्णनमाह--' तएणं तं' इत्यादि, तच्चर्म्मरत्नम् उक्तविशेषणविशिष्टं भवतीत्यन्वयः, ततो--विस्तीर्णो विस्तृतनामक इत्यर्थ , एवंविधः इन --स्वामी चक्रवर्त्तिरूपो यस्य तत् ततेनं, यस्य हस्तस्पर्शतः इच्छया वा विस्तृणाति स स्वामीत्यर्थः. श्रीवत्ससदृशं--श्रीवत्साऽऽकार रूपं यस्य तत्तथा, नन्वस्य श्रीवत्साऽऽकारत्वे चत्वारोऽपि प्रान्ताः समविषमा भवन्ति तथा चास्य किरातकृतवृष्ट्युपद्रवनिवारणार्थं तिर्यग्विस्तृतेन वृत्ताऽऽकारेण छत्ररत्नेन सह कथ सङ्घटना स्यादिति ?, उच्यते--स्वत. श्रीवत्साऽऽकारमपि सहस्रदेवाधिष्ठितत्वाद्यथावसर चिन्तिताऽऽकारमेव भवतीति न काऽप्यनुपपत्तिः,मुक्तानां-मौक्तिकानां ताराणां-तारकाणाम् अर्द्धचन्द्राणां चित्राणि--आलेख्यानि यत्र तत्तथा, अचलं अकम्प--द्वौ सदृशार्थकौ शब्दावतिशयसूचकाविरयत्यन्तदृढपरिणामं चक्रिसकलसैन्याऽऽक्रान्तत्वेऽपि न मनागपि कम्पते, अभेद्यं-दुर्भेदं कवचमिवामेद्यकवचं लुप्तोपमा, वज्रपञ्जरमिव दुर्भेदमित्याशयः, सलिलासु--नदीषु सागरेषु चोत्तरणयन्त्रं पारगमनोपायभूतं दिव्यं-देवकृतप्रातिहार्यं चर्मरत्नं-चर्मसु प्रधानं, अनलजलाऽऽदिभिरनुपघात्यवीर्यत्वात्, यत्र शणं--शणधान्यं सप्तदशं--सप्तदशसङ्ख्यापूरकं येपुतानि शणसप्तदशानि सर्वधान्यानि रोहन्ते--जायन्ते एकदिवसेनोप्तानि, अयं सम्प्रदायः-गृहपतिरत्नेनास्मिंश्चर्मणि धान्यानि सूर्योदये उप्यन्ते अस्तमनसमये च लूयन्ते इति, सप्तदश धान्यानि त्विमानि-" सालि १ जव २ वीहि ३ कुद्दव ४ , रालय ५ तिल ६ मुग्ग ७ मास ८ चवल ९ चिणा १० । तूअरि ११ मसूरि १२ कुलत्था १३ , गोहुम १४ णिप्फाव १५ अयसि १६ सणा १७ ॥ १ ॥ " प्रायो बहूपयोगीनीमानीतीयन्त्युक्तानि, अन्यत्र चतुर्विंश--तिरप्युक्तानि, लोके च क्षुद्रधान्यानि बहून्यपि, पुनरस्यैव गुणान्तरमाह-वर्षे-जलदवृष्टिं ज्ञात्वा चक्रवर्त्तिना परामृष्टं दिव्यं चर्मरत्नं द्वादशयोजनानि तिर्यक् प्रविस्तृणाति-वर्द्धते , तदोत्तरभरतखण्डवर्त्तिकिरातकृतमेघोपद्रवनिवारणाऽऽदिकार्ये साधिकानि-किञ्चिदधिकानि, ननु द्वादशयोजनावधि तस्युपश्चक्रिस्कन्धावारस्यावकाशाय द्वादशयोजनप्रमाणमेवेदं विस्तृत युज्यते किमधिकविस्तारेण?, उच्यते चर्म्मच्छत्रयोरन्तरालपूरणायोपयुज्यते साधिकविस्तार इति । यच्चात्र प्रकरणाद् यच्छब्देनैव विशेष्यप्राप्तौ सूत्रे पुनरपि " दिव्वे चम्मरयणे " इति ग्रहणं तदालापकान्तरव्यवधानेन विस्मरणशीलस्य विनेयस्य स्मारणार्थम् , अथ प्रकृतं प्रस्तूयते--' तए णं ' इत्यादि , ततस्तद्दिव्य चर्म्मरत्नं सुषेणसेनापतिना परामृष्टं-स्पृष्टं सत् क्षिप्रमेव-निर्विलम्बमेव नौभूतं-महानद्युत्ताराय नौतुल्यं जातं चाप्यभवत् , नावाकारेण जातमित्यर्थः, ' तए णं ' इत्यादि, तत.--चर्म्मरत्ननौभवनानन्तरं सुषेण. सेनापति.-सेनानीः स्कन्धावारस्य--सैन्यस्य ये बलवाहने-हस्त्यादिचतुरङ्गशिबिकाऽऽदिरूपे ताभ्या सह वर्त्तते यः स सस्कन्धावारबलवाहनः नौभूतं चर्म्मरत्नमारोहति, सिन्धुमहानदीं विमलजलस्य तुङ्गा-अत्युच्चा वीचयः-कल्लोला यस्यां सा तां नौभूतेन चर्मरत्नेन बलवाहनाभ्या सह वर्त्तते यः स सबलवाहन., एवं सशासनो भरताज्ञासहितः समुत्तीर्ण इति । ' तओ महाणइं ' तत इति कथान्तरप्रस्तावनाया महानदीं सिन्धुमुत्तीर्याऽप्रतिहतशासन.--अखण्डिताऽऽज्ञ सेनापतिः सेनानी. क्वचिद् ग्रामाऽऽकरनगरपर्वतान् , सूत्रे क्लीबत्व प्राकृतत्वात् , 'खेडे'त्यादि,सिंहावलोकनन्यायेन क्वचिच्छन्दोऽत्रापि ग्राह्यस्तेन क्वचित् खेटमडम्बानि क्वचित्पत्तनानि तथा सिंहलकान् सिंहलदेशोद्भवान्, बर्बरकांश्च बर्बरदेशोद्भवान् , सर्वं च अङ्गलोक बलावलोक च परमरम्यम् , इमे च द्वे अपि म्लेच्छजातीयजनाऽऽश्रयभूते स्थाने, यवनद्वीप-द्वीपविशेषम् , अत्र चकारा समुच्चयार्था , एवमग्रेऽपि, त्रयाणामप्यमीषां साधारणविशेषणमाह--प्रवरमणिरत्नकनकानां कोशागाराणि--भाण्डागाराणि तैः समृद्धं-भृशं भृतम्, आरवकान् आरवदेशोद्भवान् रोमकांश्च--रोमकदेशोद्भवान् अलमण्डविषयवासिनश्च पिक्खुरान् कालमुखान् जोनकांश्च म्लेच्छविशेषान् 'ओअवेऊण त्ति ' पदेन योग , अथैतैः साधितैरशेषमपि निष्कुटं साधितमुत नेत्याह-उत्तर -उत्तरदिग्वर्त्ती वैताढ्य. , इह हि दक्षिणसिन्धुनिष्कुटान्तेन, अ-

स्माद्वैताढ्य उत्तरस्या दिशि वर्त्तते इत्यर्थः, तं संश्रिताः-तदुत्पत्तिकायां स्थिताश्च म्लेच्छजातीर्बहुप्रकाराः उक्तव्यतिरिक्ता इत्यर्थः, अत्र सूत्रे क्वचिद् विभक्तिव्यत्ययः प्राकृतत्वात् दक्षिणापरेण—नैर्ऋतकोणेन यावत् सिन्धुसागरान्त इति-सिन्धुनदीसङ्गत' सागर' सिन्धुसागरः, मध्यपदलोपे साधुः, स एवान्तः—पर्यवसानं तावदवधि इत्याशय, सर्वप्रवरं कच्छं च—कच्छदेशं 'ओअवेऊण त्ति' साधयित्वा स्वाधीन कृत्वा प्रतिनिवृत्तः-पश्चाद्वलितो बहुसमरमणीये च भूमिभागे तस्य कच्छदेशस्य सुखेन निषण्णः—सुस्थस्तस्थौ, स सुषेण इति प्रकरणाल्लभ्यते, ततः किं जातमित्याह—' ताहे ते जणवयाण ' इत्यादि, (तहि) तस्मिन् काले ते इति तच्छब्दस्योत्तरवाक्ये ' सव्वे घेत्तूण ' इत्यत्र योजनीयत्वेन व्यवहितः सम्बन्ध आर्षत्वात्, जनपदाना—देशाना नगराणा पत्तनाना च प्रतीतानां ये च ' तर्हि ' तत्र निष्कुटे स्वामिकाः-चक्रवर्त्तिसुषेणसेनान्योरपेक्षया अल्पर्द्धिकत्वेनाज्ञानस्वामिन इत्यज्ञातार्थे कप्रत्यय, ये च प्रभूता—बहव आकराः स्वर्णाऽऽद्युत्पत्तिभुवस्तेषा पतय. मण्डलपतयो—देशकार्यनियुक्ता. पत्तनपतयश्च, ते गृहीत्वा प्राभृतानि—उपायनानि आभरणानि—अङ्गपरिधेयानि भूषणानि—उपाङ्गपरिधेयानि रत्नानि च वस्त्राणि च महार्घाणि च—बहुमूल्यानि अन्यच्च यद्वरिष्ठ-प्रधान वस्तु हस्तिरथाऽऽदिकं राजार्हं-राजप्राभृतयोग्यं यच्च एष्टव्यम्-अभिलषणीयम् एतत्सर्वं पूर्वोक्त सेनापतेरुपनयन्ति—उपढौकयन्ति मस्तककृताञ्जलिपुटाः ततस्ते किं कृतवन्त इत्याह—' पुणरवि ' ते—तत्रत्यस्वामिनः प्राभृतोपनयनोत्तरकाले प्रकृताञ्जलिपरित्यागाभिवर्त्तनावसरे पुनरपि मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वा प्रणता-नम्रत्वमुपागताः यूयमस्माकमत्र स्वामिन. प्राकृतत्वात् स्वार्थे कप्रत्यय, तेन देवतामिव शरणाऽऽगता. स्मो वयं युष्माकं विषयवासिन इति विजयसूचकं वचो जल्पन्त. सेनापतिना यथार्ह-यथौचित्येन स्थापिताः-नगराऽऽद्याधिपत्यादिपूर्वकार्येषु नियोजिता' पूजिता वस्त्राऽऽदिभिः विसर्जिताः-स्वस्थानगमनायानुज्ञाताः-निवृत्ताः-प्रत्यावृत्ता. सन्तः स्वकानि निजानि नगराणि पत्तनानि चानुप्रविष्टाः । विसर्जनानन्तरं सेनापतिर्यच्चकार तदाह-'ताहे सेणावई' इत्यादि, तस्मिन् काले सेनापति सविनयोऽन्तर्धृतस्वामिभक्तिको गृहीत्वा प्राभृतानि आभरणानि भूषणानि रत्नानि च पुनरपि ता सिन्धुनामधेया महानदीमुत्तीर्णः,'अणह'शब्दोऽक्षतपर्यायो देश्यस्तेनाणहम्-अक्षतं क्वचिदप्यखण्डितं शासनम्-आज्ञा बलं च यस्य स तथा,तथैव यथा यथा स्वयं साधयामास तथा तथा भरतस्य राज्ञो निवेदयति निवेदयित्वा प्राभृतानि अर्पयित्वा च अत्र स्थित इति गम्यम्, अन्यथा क्त्वान्तपदेन सह सङ्गतिर्न स्यात्, तत. प्रभुणा सत्कारितो वस्त्राऽऽदिभि. सन्मानितो बहुमानरचनाऽऽदिभिः सहर्षः प्राप्तप्रभुसत्कारत्वात् विसृष्ट'—स्वस्थानगमनार्थमनुज्ञातः स्वकं—निजं पटमण्डपं-दिव्यपटकृतमण्डपं मध्यपदलोपी समास, पटमण्डपोपलक्षितं प्रासादं वा अतिगत.-प्राविशत्, अथ स्वकाऽऽवासप्रविष्टो यथा सुषेणो विललास तथा चाऽऽह-' तते णं ' इत्यादि, ततः स सुषेण. सेनापति. ' ण्हाए ' इत्यादि प्राग्वत्, जिमितो-भुक्तवान् राजभोजनविधिना भुक्त्युत्तरं भोजनोत्तरकाले आगत. सन् उपवेशनस्थाने इति गम्यम्। अत्र यावत्पदादिदं दृश्यम्—' आयंते चोक्खे परमसुइभूए ' इति, अत्र व्याख्या—आचान्त.—शुद्धोदकयोगेन कृतहस्तमुखशौचः चोक्षो-लेपसिक्थाऽऽद्यपनयनेन अत एव परमशुचीभूतः-अत्यर्थं पावनीभूतः, इदं च पदत्रयं योजनायाः क्रमप्राधान्येन ' भुत्तुत्तराए समाणे ' इति पदात् पूर्वं योज्यम्, इत्थमेव शिष्टजनक्रमस्य दृश्यमानत्वात्, अन्यथा भुक्त्युत्तरकाले आचमनाऽऽदिकं पामराणामिव जुगुप्सापात्र स्यात्, पुन सेनापतिं विशिनष्टि-सरसेन गोशीर्षचन्दनेनोक्षिता.—सिक्ता गात्रे शरीरे भवा गात्रा.-शरीरावयवा वक्ष प्रभृतयो यत्र तदेवंविधं शरीर यस्य स तथा, अत्र यच्चन्दनेन सेचनमुक्तं तन्मार्गश्रमोत्थवपुस्तापव्यपोहाय, सिक्तं हि चन्दनमङ्गुलिवापविरहितत्वादतिशीतलस्पर्शं भवतीति, ( उप्पिं ) उपरि प्रासादवरस्य सूत्रे च लुप्तविभक्तिकतया निर्देश आर्षत्वात् गतः-प्राप्त स्फुटद्भिरिव-अतिरभसाऽऽस्फालनवशाद्विदलद्भिरिव मृदङ्गाना मर्दलानां मस्तकानीव मस्तकानि-उपरितनभागा उभयपार्श्वे चर्मोपनद्धपुटानीति तैरुपनृत्यमान इत्यादि योज्यं, अत्र करणे तृतीया, तथा द्वात्रिंशताऽभिनेतव्यप्रकारैः राजप्रश्नीयोपाङ्गसूत्रविवृते पात्रैर्वा बद्धै —उपसम्पन्नैर्नाटकैः प्रतीतैर्वरतरुणीभि -सुभगाभि -र्वाभि. भूभुजङ्गरागेषु परममोहनत्वेन तासामेवोपयोगात् सम्प्रयुक्तै.-प्रारब्धैरुपनृत्यमानो—नृत्यविषयीक्रियमाणस्तदभिनयपुरस्सरं नर्त्तनात्, उपगीयमानस्तद्गुणगानात्, उपलभ्यमानस्तदीप्सितार्थसम्पादनात्, महता इति विशेषणं प्राग्वत् इष्टान्—इच्छाविषयीकृतान् शब्दस्पर्शरसरूपगन्धान् पञ्चविधान् मानुष्यकान्—मनुष्यसम्बन्धिन कामभोगान्—कामाश्च भोगाश्च इति प्राप्तलक्षकान्, तत्र शब्दरूपे कामौ स्पर्शरसगन्धा भोगा इति समयपरिभाषा, भुञ्जान अनुभवन् विहरतीति ।

अथ तमिस्रागुहाद्वारोद्घाटनायोपक्रमते—

तए णं से भरहे राया अण्णया कयाई सुसेणं सेणावइं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—गच्छ णं खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडे विहाडेहि, विहाडेत्ता मम एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि त्ति, तए णं से सुसेणे सेणावई भरहेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए ० जाव करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु० जाव पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता भरहस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सए आवासे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता दब्भसंथारगं संथरइ० जाव कयमालस्स देवस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी ० जाव अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ण्हाए कयबलिकम्मे कयको-

उअमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे धूवपुप्फगंधमल्लहत्थगए मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडा तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तए णं तस्स सुसेणस्स सेणावइस्स बहवे राईसरतलवरमाडंबिअ०जाव सत्थवाहप्पभियओ अप्पेगइआ उप्पलहत्थगया ० जाव सुसेणं सेणावइं पिट्ठओ पिट्ठओ अणुगच्छंति, तए णं तस्स सुसेणस्स सेणावइस्स बहूईओ खुज्जाओ चिलाइआओ ० जाव इंगिअचिंतिअपत्थिअविआणिआउ णिउणकुसलाओ विणीआओ अप्पेगइआओ कलसहत्थगयाओ ०जाव अणुगच्छंतीति । तए णं से सुसेणे सेणावई सव्विड्ढीए सव्वजुईए ० जाव णिग्घोसणाइएणं जेणेव तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आलोए पणामं करेइ, करित्ता लोमहत्थगं परामुसइ, परामुसित्ता तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडे लोमहत्थेणं पमज्जइ, पमज्जित्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितले चच्चए दलइ, दलित्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहि अ मल्लेहि अ अच्चिणेइ, अच्चिणेत्ता पुप्फारुहणं ०जाव वत्थारुहणं करेइ, करेत्ता आसत्तोसत्तविपुलवट्ट०जाव करेइ, करित्ता अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसातंडुलेहिं तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडाणं पुरओ अट्ठऽट्ठमंगलाए आलिहइ, तं जहा—सोत्थियसिरिवच्छ० जाव कयग्गहगहिअकरयलपब्भट्ठचंदप्पभवइरवेरुलिअविमलदंडं ० जाव धूवं दलयइ , दलयित्ता वामं जाणुं अंचेइ अचेत्ता करयल०जाव मत्थए अंजलिं कट्टु कवाडाणं पणामं करेइ, करित्ता दंडरयणं परामुसइ, तए णं तं दंडरयणं पंचलइअं वइरसारमइअं विणासणं सव्वसत्तुसेण्णाणं खंधावारे णरवइस्स गड्डदरिविसमपब्भारगिरिवरपवायाणं समीकरणं संतिकरं सुभकरं हितकरं रण्णो हिअइच्छिअमणोरहपूरगं दिव्वमप्पडिहयं दंडरयणं गहाय सत्तऽट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडे दंडरयणेणं महया महया सद्देण तिक्खुत्तो आउडेइ । तए णं तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडा सुसेणसेणावइणा दंडरयणेणं महया महया सद्देणं तिक्खुत्तो आउडिआ समाणा महया महया सद्देणं कोंचारवं करेमाणा सरसरस्स सगाइं सगाइं ठाणाइं पच्चोसक्कित्था, तए णं से सुसेणे सेणावई तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडे विहाडेइ, विहाडेत्ता जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता०जाव भरहं रायं करयलपरिग्गहिअं जएणं विजएणं वद्धावेइ , वद्धावेत्ता एवं वयासी-विहाडिआ णं देवाणुप्पिआ ! तिमिसगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडा एअमसं देवाणुप्पिआणं पिअं णिवेएमो, पिअं भे भवउ, तए णं से भरहे राया सुसेणस्स सेणावइस्स अंतिए एअमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए० जाव हिअए सुसेणं सेणावइं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, हयगयरहपवर तहेव०जाव अंजणगिरिकूडसन्निभं गयवरं णरवई दुरूढे । ( सूत्रम्-५३ )

'तए णं से भरहे राया अन्नया' इत्यादि, एतच्च निगदसिद्धं, सम्बन्धसन्तत्यव्युच्छित्त्यर्थं संस्कारमात्रेण विव्रियते, ततः स भरतो राजा अन्यदा कदाचित् सुषेणं सेनापतिं शब्दयति-आकारयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्—गच्छ क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिय ! तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ विघाटय—सम्बद्धौ वियोजय उद्घाटयेति यावत्, ममैतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पय, 'तए णं' इत्यादि, अत्र भरताऽऽज्ञाप्रतिश्रवणाऽऽदिकं मज्जनगृहप्रतिनिष्क्रमणान्तं प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं यत्रैव तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ तत्रैव गमनाय प्रधारितवान्—गमनसङ्कल्पमकरोत् 'तए णं' इत्यादि, ततस्तमिस्रागुहागमनसङ्कल्पकरणानन्तरं तस्य सुषेणस्य बहवो राजेश्वराऽऽदयो जनाः सुषेणं सेनापतिं पृष्ठतोऽनुगच्छन्ति, सर्वं चात्र भरतस्य चक्ररत्नार्च्चां चिकीर्षोरिव वाच्यम् , एवं चेटीसूत्रमपि पूर्ववदेव, नवरं किंलक्षणाश्चेत्य ?-इङ्गितेन-नयनाऽऽदिचेष्टयैव आस्तां कथनाऽऽदिभिः चिन्तितं-प्रभुणा मनसि संकल्पितं यच्चप्रार्थितं तत्तत् जानन्ति यास्ताः तथा निपुणकुशलाः-अत्यन्तकुशला तथा विनीता -आज्ञाकारिण्यः अप्येकका वन्दनकलशहस्तगता इत्यादि, 'तए णं' इत्यादि, ततस्तमिस्रागुहाभिमुखचलनानन्तरं स सुषेण. सेनापति सर्व्वर्द्ध्या सर्वयुक्त्या सर्वद्युत्या वा यावन्निर्घोषनादितेन यत्रैव तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च आलोके-दर्शने प्रमाणं करोति , तदनु सर्वं चक्ररत्नपूजायामिव वाच्यं , यावदन्ते पुनरपि कपाटयोः प्रणामं करोति, नमनीयवस्तुन उपचारे क्रियमाणे आद्यावन्ते च प्रणामस्य शिष्टव्यवहारौचित्यात् प्रणाम कृत्वा च दण्डरत्नं परामृशति.अथावसराऽऽगतं दण्डरत्नस्वरूपं निरूपयन् कथां प्रबध्नाति-'तए णं' इत्यादि , ततो-दण्डरत्नपरामर्शानन्तरं तद्दण्डरत्नं-दण्डेषु दण्डजातीयेषु रत्नम्-उत्कृष्टम् अप्रतिहतं-क्वचिदपि प्रतिघातमनापन्नं दण्डनामकं रत्नं गृहीत्वा सप्ताष्टपदानि प्रत्यवष्वष्कते -अपसर्पतीत्यनेन सम्बन्धः, अथ कीदृशं तदित्याह—रत्नमय्यः पञ्चलतिकाः—कम्बलिकारूपा अवयवा यत्र तत्तथा,वज्ररत्नस्य यत्सारं-प्रधानद्रव्यं तन्मय नद्दलिकमित्यर्थः , विनाशनं सर्वशत्रुसेनानां,नरपतेः स्कन्धावारे प्रस्तावात् गन्तुं प्रवृत्ते सति

गर्त्ताऽऽदीनि प्राग्भारान्तपदानि प्राग्वत्, गिरय -पर्वताः, अत्र विशेषणानभिधानेऽपि प्रस्तावात् गिरिशब्देन क्षुद्रगिरयो ग्राह्याः, ये सञ्चरत्सैन्यस्य विघ्नकराः यात्रोन्मुखानां राज्ञां त एवोच्छेद्याः, महागिरयस्तु तेषामपि संरक्षणीया एव, प्रपाता-गच्छज्जनस्खलनहेतवः पाषाणाः भृगवो वा तेषां समीकरणं समभागाऽऽपादकमित्यर्थः, शान्तिकरम्-उपद्रवोपशामकं, ननु यद्युपद्रवोपशामकं तर्हि सति दण्डरत्ने सगरसुतानां ज्वलनप्रभनागाधिपकृतोपद्रवो न कथमुपशशामेति ? । उच्यते—सोपक्रमोपद्रवविद्रावण एव तस्य सामर्थ्यात्, अनुपक्रमोपद्रवस्तु सर्वथाऽनपासनीय एव, अन्यथा विजयमाने वीरदेवे कुशिष्यमुक्ता तेजोलेश्या सुनक्षत्रसर्वानुभूती अनगारौ कथं भस्मता निनाय ?, अत एवावश्यंभाविनो भावा महानुभावैरपि नापनेतुं शक्या इति, शुभकरं-कल्याणकरं हितकरम्-उक्तैरेव गुणैरुपकारि राज्ञः-चक्रवर्तिनो हृदयेप्सितमनोरथपूरकं गुहाकपाटोद्घाटनाऽऽदिकार्यकरणसमर्थत्वात् दिव्यं यक्षसहस्राधिष्ठितमित्यर्थः, अत्र सेनापतेः सप्ताऽष्टपदाऽपसरणं प्रजिहीर्षोर्गजस्येव दृढप्रहारदानायाधिकप्रहारकरणार्थमिति, प्रत्यवष्वष्कणादनु किं चक्रे इत्याह-' पच्चोसक्कित्ता ' इत्यादि, प्रत्यवष्वष्क्य च तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ दण्डरत्नेन महता महता शब्देन त्रिकृत्व —त्रीन् वारान् आकुट्टयति-ताडयति, अत्र इत्थंभावे तृतीया, यथा महान् शब्द उत्पद्यते तथाप्रकारेण ताडयतीत्यर्थः, अत्र गुहाकपाटोद्घाटनसमये द्वादशयोजनावधिसेनानीरत्नतुरगापसरणप्रवादस्तु आवश्यकटिप्पनके निराकृतोऽस्ति, यथा—"यच्चात्र द्वादश योजनानि तुरगाऽऽरूढः सेनापतिः शीघ्रमपसरती" त्यादिप्रवाद सोऽनागामिक इव लक्ष्यते, क्वचिदप्यनुपलभ्यमानत्वादिति, ततः किं जातमित्याह—' तए ण ' इत्यादि, ततः—ताडनादनु तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ सुषेणसेनापतिना दण्डरत्नेन महता महता शब्देनाऽऽकुट्टितौ सन्तौ महता महता शब्देन दीर्घतरनिनादिनः क्रौञ्चस्येव बहुव्यापित्वात् बहुनादितत्वाच्च य आरवः—शब्दस्तं कुर्वाणौ 'सरसरस्स त्ति' अनुकरणशब्दस्तेन तादृशं शब्द कुर्वाणौ कपाटावित्यर्थः, स्वके स्वके स्वकीये स्वकीये स्थानेऽवष्टम्भभूततोङ्करूपे यत्राऽऽगतावचलतया तिष्ठत इति ते यावत् प्रत्यवाष्वष्किपाता-प्रत्यपसर्प्पतुः, ' तए ण ' इत्यादि, इदं च सूत्रमावश्यकचूर्णौ वर्द्धमानसूरिकृताऽऽदिचरित्रे च न दृश्यते, ततोऽनन्तरपूर्वसूत्र एव कपाटोद्घाटनमभिहितं, यदि चैतत्सूत्राऽऽदर्शानुसारेणेदं सूत्रमवश्य व्याख्येयं तदा पूर्वसूत्रे " सगाइं सगाइ ठाणाइ " इत्यत्राऽऽर्षत्वात् पञ्चमी व्याख्येया, तेन स्वकाभ्यां स्वकाभ्या स्थानाभ्या कपाटद्वयसंमीलनाऽऽस्पदाभ्यां प्रत्यवस्तृताविति-किञ्चिद्विकसितावित्यर्थः, तेन विघाटनार्थकमिदं न पुनरुक्तमिति, ततः-कपाटप्रत्यपसर्प्पणादनु स सुषेणः सेनापति तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ विघाटयति उद्घाटयति, ततः किं कृतमित्याह-' विहाडेत्ता ' इत्यादि प्राय. प्राग् व्याख्यातार्थं, नवरं विघाटितौ देवानुप्रियाः ! तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्यस्य द्वारस्य कपाटौ एतद्देवानुप्रियाणां प्रियं निवेदयामः, अत्र निवेदकस्य सेनानीरत्नस्यैकत्वात् क्रियायाम् एकवचनस्यौचित्ये यन्निवेदयाम इत्यत्र बहुवचनं तत्सपरिकरस्यात्मनो निवेदकत्वख्यापनार्थं तच्च बहूनामेकवाक्यत्वेन प्रत्ययोत्पादनार्थम्, एतत् प्रियम्—इष्टम् ( भे )-भवतां भवतु, ततो भरतः किं चक्र इत्याह—' तए णं ' इत्यादि, व्यक्तम् ।

गजाऽऽरूढः सन् यन्नृपतिश्चक्रे तदाह—

तए णं से भरहे राया मणिरयणं परामुसइ, तोतं चउरंगुलप्पमाणमित्तं च अणग्घं तंसिअं छलंसं अणोवमजुइं दिव्वं मणिरयणपत्तिसम वेरुलिअं सव्वभूअकंतं जेण य मुद्धागएणं दुक्खं ण किंचि ०जाव हवइ, आरोग्गे अ सव्वकालं तेरिच्छिअदेवमाणुसकया य उवसग्गा सव्वे ण करेंति तस्स दुक्खं, सगामेऽवि असत्थवज्झो होइ णरो मणिवरं धरेंतो ठिअजोव्वणकेसअवट्ठिअणहो हवइ अ सव्वभयविप्पमुक्को, तं मणिरयणं गहाय से णरवई हत्थिरयणस्स दाहिणिल्लाए कुंभीए णिक्खिवइ, तए णं से भरहाहिवे णरिंदे हारोत्थए सुकयरइअवच्छे ०जाव अमरवइसण्णिभाए इद्धीए पहियकित्ती मणिरयणकउज्जोए चक्करयणदेसिअमग्गे अणेगरायसहस्साणुआयमग्गे महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं समुद्दरवभूअं पिव करेमाणे करेमाणे जेणेव तिमिसगुहाए दाहिणिल्ले दुवारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिमिसगुहं दाहिणिल्लेणं दुवारेणं अईइ ससि व्व मेहंधयारनिवहं । तए णं से भरहे राया छत्तलं दुवालसंसिअं अट्ठकण्णिअं अहिगरणिसंठिअं अट्ठसोवण्णिअं कागणिरयणं परामुसइ त्ति । तए णं त चउरंगुलप्पमाणमित्तं अट्ठसुवण्ण च विसहरणं अउलं चउरंससंठाणसंठिअं समतलं माणुम्माणजोगा जतो लोगे चरंति सव्वजणपण्णवगा, ण इव चंदो ण इव तत्थ सूरे ण इव अग्गी ण इव तत्थ मणिणो तिमिरं णासेंति अंधयारे जत्थ तयं दिव्वं भावजुत्तं दुवालसजोअणाइं तस्स लेसाउ विवद्धंति तिमिरणिगरपडिसेहिआओ, रत्तिं च सव्वकालं खंधावारे करेइ आलोअं दिवसभूअं जस्स पभावेण चक्कवट्टी, तिमिसगुहं अतीति सेण्णसहिए अभिजेत्तुं बितिअमद्धभरहं रायवरे कागणिं गहाय तिमिसगुहाए पुरच्छिमिल्लपच्चच्छिमिल्लेसुं कडएसुं जोअणंतरिआइं पंचधणुसयविक्खंभाइं जोअणुज्जोअकराइं चक्कणेमीसंठिआइ चंदमंडलपडिणिकासाइं एगूणपण्ण मंडलाइ आलिहमाणे आलिहमाणे अणुप्पविसइ, तए णं सा तिमिसगुहा भरहेणं रण्णा तेहिं जोअणंतरिएहिं ०जाव जोअणुज्जोअकरेहिं एगूणपण्णाए मंडलेहिं आलिहिज्जमाणेहिं आलिहिज्जमाणेहिं खिप्पामेव अलोगभूआ उज्जोअभूआ दिवसभूआ जाया यावि होत्था । ( सूत्रम्—५४ )

'तए णं से भरहे राया मणिरयण ' इत्यादि, ततः स भरतो
राजा मणिरत्नं परामृशति, किंविशिष्टम् इत्याह-' वोतं '
इति सम्प्रदायगम्यं चतुरङ्गुलप्रमाणा मात्रा दैर्घ्येण यस्य
तत्तथा. चशब्दाद् द्व्यगुङ्गलपृथुलमिति ग्राह्यं, यदाह· ' च
तुरंगुलो दुअंगुलविहुलो अ मणी " इति, अनर्घितम्· अमू·
ल्यं न केनापि तस्यार्घः कर्त्तुं शक्यते इत्यर्थः, तिस्रोऽ
स्रयः-कोटयो यत्र तत्तथा. ईदृशं सत् षडस्रं-षट्कोटिकं
लोकेऽपि प्रायो वैडूर्यस्य मृदङ्गाऽऽकारत्वेन प्रसिद्धत्वा·
न्मध्ये उन्नतवृत्तत्वेनान्तरितस्य सहजसिद्धस्योभयान्तवर्त्ति·
नोऽस्त्रित्रयस्य सत्वात् । अत्राऽऽह-षडस्रमित्यनेनैव सिद्धे
ऽयषडस्रमिति किमर्थम् ?, उच्यते—उभयोरन्तयोर्निरन्तर·
कोटिषट्कभवनेनापि षडस्रता सम्भवति ततस्तद्व्यवच्छे
दार्थं त्र्यस्रं सत् षडस्रमित्युक्त, तथा अनुपमद्युति दिव्य
मणिरत्नेषु पूर्वोक्तेषु पतिसम सर्वोत्कृष्टत्वात्, वैडूर्यं वैडू·
र्यजातीयमित्यर्थः, सर्वेषां भूनाना कान्तं काम्यम्, इदमेव
गुणान्तरकथनेन वर्णयन्नाह—' जेण य मुद्धागएणं ' इ·
त्यादि, येन मूर्द्धगतेन-शिरोधृतेन हेतुभूतेन न किञ्चिद् दुः
खं जायते आरोग्यं च सर्वकालं भवति, तिर्यग्देवमनु·
ष्यकृताः, चशब्दस्य व्यवहितसम्बन्धादुपसर्गाश्च, सर्वे न कु
र्वन्ति तस्य दुःखं, सङ्ग्रामेऽपि च—बहुविरोधिसमरे आ·
स्तामल्पविरोधिसमरे अशस्त्रवध्यः, अत्र न शस्त्रवध्योऽ
शस्त्रवध्य इति नञ्समासो वा ' अ स्वल्पार्थेऽप्यभावे·
ऽपि ' इत्यनेकार्थवचनात् अ इति पृथगेव नञ्समानार्थनि
पातो वा ज्ञेयस्तेन न शस्त्रैर्वध्यो भवति, नरो मणिवरं
धरन् स्थितं विनश्वरभावमप्राप्तं यौवनं यस्य स तथा,
स्थायियौवन इत्यर्थः, केशैः सदावस्थिना—अवर्द्धिष्णवो न·
खा यस्य स तथा पश्चात् पदद्वयस्य कर्मधारय., भ·
वति च सर्वभयविप्रमुक्त., ' अत्र सर्वं भाजनस्थं जलं पी·
तम ' इत्यदाविव एकदेशेऽपि सर्वशब्दप्रयोगस्य सुप्रसिद्ध
त्वाद्देवमनुष्याऽऽदिप्रतिपक्षोत्थं भयमिह ज्ञेयम्, अन्यथाऽश्लो
काऽऽदिभयानि महतामेव भवेयुरिति. अथैतद् गृहीत्वा नृप
तिर्यच्चकार तदाह-' तं मणिं ति ' तन्मणिरत्नं गृही
त्वा स नरपतिर्भरतो हस्तिरत्नस्य दाक्षिणात्ये कुम्भे नि·
क्षिपति-निबध्नाति, ' कुंभीए ' इत्यत्र स्त्रीत्वं प्राकृतत्वा
त्, ' तए णं ' इत्यादि, ततः स भरताधिपो नरेन्द्रो हा
रावस्तृतेत्यादिविशेषणकदम्बकं प्राग्वत् मणिरत्नकृतोद्यो·
तश्चक्ररत्नदेशितमार्गो यावत् समुद्ररवभूतामिव गुहामि
ति गम्यं कुर्वन् कुर्वन् यत्रैव तमिस्रागुहाया दाक्षिणात्य द्वारं
तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च तमिस्रागुहा दाक्षिणात्येन
द्वारेणात्येति—प्रविशति, शशीव मेघान्धकारनिवहम् । प्रवे·
शानन्तरं यत्कृत्यं तदाह—' तए णं ' इत्यादि, ततः भरतो
राजा काकणीरत्नं परामृशतीत्युत्तरेण सम्बन्धः, किं·
विशिष्टमित्याह—चत्वारि चतसृषु दिक्षु द्वे तूर्ध्वमधश्चेत्येवं
षट्तलक्ष्याकानि तलानि यत्र तत्तथा, तानि चात्र मध्य
खण्डरूपाणि यैर्भूमावविषमतया तिष्ठन्तीति, द्वादश अध
उपरि तिर्यक् चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकं चतसृणामश्रीणा
भावात् अश्रयः—कोटयो यत्र तत्तथा, कर्णिकाः—कोणाः
यत्र अश्रित्रयं मिलति तेषा चाध उपरि प्रत्येकं चतुर्णां स
द्भावादष्टकर्णिकम्, अधिकरणि·—सुवर्णकारोपकरणं तद्वत्

संस्थितं-संस्थानं यस्य तत्तथा, तत्सदृशाऽऽकारं समचतुर·
स्रत्वात्, आकृतिस्वरूपं निरूप्यास्य तौल्यमानमाह—अष्ट·
सुवर्णा मानमस्येत्यष्टसौवर्णिकं, तत्र सुवर्णमानमिदं-च·
त्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षपः, षोडश श्वेतसर्षपा
एकं धान्यमाषफलम्, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गु·
ञ्जा एक. कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषका. एक. सुवर्ण इति,
एतादृशैरष्टभिः सुवर्णैः काकणीरत्नं निष्पद्यते इति, अत्र चा·
धिकारे " एतानि च 'मधुरतृणफलाऽऽदीनि भरतचक्रवर्त्ति·
कालसम्भवीन्येव गृह्यन्ते. अन्यथा कालभेदेन तद्वैषम्यसम्भ
वे काकणीरत्नं सर्वचक्रिणां तुल्यं न स्यात्, तुल्यं चेष्यते त·
त्, " इत्येतस्मादनुयोगद्वारवृत्तिवचनात् एतद्देशीयादेव स्था·
नाङ्गवृत्तिवचनात्, " चउरंगुलो मणी पुण, तस्सऽद्धं चेव·
होइ विच्छिन्नो । चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागणी नेया "
॥१॥ इहाङ्गुलं-प्रमाणाङ्गुलमवगन्तव्यं, "सर्वचक्रवर्त्तिनाम·
पि काकण्यादिरत्नानां तुल्यप्रमाणत्वादिति " मलयगिरि·
कृतबृहत्संग्रहणीबृहद्वृत्तिवचनाच्च केचनास्य प्रमाणाङ्गु·
लनिष्पन्नत्वं, केचिच्च—" एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतच·
क्कवट्टिणो अट्ठसोवण्णिए कागणिरयणे छत्तले दुवालसंसि·
ए अट्ठकण्णिए अहिगरणिसंठाणसंठिए पण्णत्ते, एगमेगा·
कोडी उस्सेहंगुलविक्खंभा तं समणस्स भगवओ महा·
वीरस्स अद्धंगुल " इत्यनुयोगद्वारसूत्रबलादुत्सेधाङ्गुलनि
ष्पन्नत्वं, केऽपि च एतानि सप्तैकेन्द्रियरत्नानि सर्वचक्रव
र्त्तिनामात्माङ्गुलेन ज्ञेयानि. शेषाणि तु सप्त पञ्चेन्द्रियरत्नानि
तत्कालीनपुरुषोचितमानानीति प्रवचनसारोद्धारवृत्तिबला·
दात्माङ्गुलनिष्पन्नत्वमाहुः, अत्र च पक्षत्रये तत्त्वनिर्णयः
सर्वविद्वेद्य', अत्र तु बहु वक्तव्यं तत्तु ग्रन्थगौरवभि·
या नोच्यते इति । अस्य परामर्शानन्तरं यच्चक्रे तदाह-
' तए णं ' इत्यादि, तत.—परामर्शानन्तर तत्काकणीरत्नं
राजवरो गृहीत्वा यावदेकोनपञ्चाशतं मण्डलान्यालिखन्ना·
लिखन् अनुप्रविशतीत्युत्तरेण सम्बन्धः, कथम्भूतमित्याह-
चतुरङ्गुलप्रमाणमात्रम्, अस्यैकैका अश्रिश्चतुरङ्गुलप्रमाण·
विष्कम्भा द्वादशाप्यश्रयः प्रत्येकं चतुरङ्गुलप्रमाणा भवन्ती
त्यर्थः, अस्य समचतुरस्रत्वादायामो विष्कम्भश्च प्र·
त्येकं चतुरङ्गुलप्रमाण इत्युक्तं भवति, यैवाश्रिरूर्ध्वी·
कृता आयामं प्रतिपद्यते सैव तिर्यग्व्यवस्थापिता वि·
ष्कम्भभाग् भवतीत्यायामविष्कम्भयोरेकतरनिर्णयेऽप्यपर·
निर्णयः स्यादेवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव ग्रहणं, तद्ग्रहण
चाऽऽयामोऽपि गृहीत एव समचतुरस्रत्वात्तस्येति, तदेवं स·
र्वतश्चतुरङ्गुलप्रमाणमिदं सिद्धं यत्तु ' तस्स ण एगमेगा
कोडी उस्सेहंगुलविक्खंभा तं च समणस्स भगवओ म·
हावीरस्स अद्धंगुल, ' इत्यनुयोगद्वारसूत्रे उक्तं तन्मतान्त·
रमवसेयं, तथाऽष्टभि· सुवर्णैर्निष्पन्नमष्टसुवर्णम्, अष्टसु·
वर्णमूलद्रव्येण निष्पन्नमित्यर्थः, चकारो विशेषणसमुच्चये
सर्वत्र, तथा विषं जङ्गमाऽऽदिभेदभिन्नं तस्य हरणं, स्व·
र्णाष्टगुणाना मध्ये विषहरणस्य प्रसिद्धत्वात्, अस्य च
तथाविधस्वर्णमयत्वादिति, अतुलं—तुलारहितमनन्य-
सदृशमित्यर्थ, चतुरस्रसंस्थानसंस्थितमिति तु वि-
विशेषण पूर्वोक्ताधिकरणिदृष्टान्तेन भाव्यमिति, ननु अधि-
करणिदृष्टान्ते भाव्यमाने नास्य पूर्वोक्ता चतुरङ्गुलतोपपद्यत

अधिकरणेरधः सङ्कुचितत्वेन विषमचतुरस्राधादित्याह—समतलमिति, समानि न न्यूनाऽधिकानि तलानि षडपि यस्य तत्तथा, अथैतदेव यच्छब्दगर्भितवाक्यद्वारा विशिनष्टि-यतः काकणीरत्नात् मानोन्मान (प्रमाण) योगाः-एते मानविशेषव्यवहारा लोके चरन्ति, प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः, तत्र मानं धान्यमान सेतिकाकुडवाऽऽदि, रसमानं चतु:षष्टिकाऽऽदि, उन्मानं कर्षपलाऽऽदि खण्डगुडाऽऽदिद्रव्यमानहेतुः उपलक्षणात् सुवर्णाऽऽदिमानहेतु. प्रतिमानमपि ग्राह्य गुञ्जाऽऽदि, किंविशिष्टास्ते व्यवहाराः ?—सर्वजनानाम्—अधमर्णोत्तमर्णाना प्रज्ञापकाः, मेयद्रव्याणामियत्तानिर्णायकाः, अयमाशय.-यथा सम्प्रति आप्तजनकृतनिर्णयाङ्कं कुडवाऽऽदिमानं जनप्रत्यायकं व्यवहारप्रवर्तकं च भवति तद्वच्चक्रवर्त्तिकाले कारणिकपुरुषै. काकणीरत्नाङ्कितं तत्तादृशं भवेदित्यर्थः, यच्छब्दगर्भेणैव वाक्येन माहात्म्यान्तरमाह-नापि चन्द्रः तत्र तिमिर नाशयतीति योजनीयं, न वा सूर्य.- अत्र द्वर्वाक्यालङ्कारे, एवं सर्वत्र, नवाऽग्निर्दीपाऽऽदिगतः न वा मणयस्तत्र तिमिर नाशयन्ति; प्रकाशं कर्त्तुमलम्भूष्णव इत्यर्थः, यत्रान्धकारे अन्धकारयुक्तत्वेनाभेदोपचारात् अन्धकारमत्रास्तीति अभ्राऽऽदित्वात्प्रत्ययविधानाद्वा अन्धकारवति गिरिगुहाऽऽदौ तकत्-काकणीरत्न दिव्यं-प्रभावयुक्तं तिमिर नाशयति, अथ यदीदं प्रकाशयति तदा कियत् क्षेत्रं प्रकाशयतीत्याह-द्वादश योजनानि तस्य लेश्याः—प्रभा विवर्द्धन्ते, अमन्दाः सत्य' प्रकाशयन्तीत्यर्थ, किंविशिष्टा लेश्या ?-तिमिरनिकरप्रतिषेधिकास्तमिस्राऽऽदिगुहाया पूर्वापरतो द्वादशयोजनविस्तारयोस्तासां प्रसरणात् ' रत्तिं च त्ति ' प्रथमान्तयच्छब्दाध्याहारादर्थवशाद्विभक्तिपरिणामाच्च यद्रत्नं रात्रौ 'चो' वाक्यान्तराऽऽरम्भार्थः सर्वकालं स्कन्धावारे दिवससदृशं, यथा दिवसे आलोकस्तथा रात्रावपीत्यर्थ., आलोकं करोति, यस्य प्रभावेण चक्रवर्त्ती तमिस्रा गुहाम् अत्येति-प्रविशति सैन्यसहितो द्वितीयमर्द्धभरतमभिजेतुम् उत्तरभरतं वशीकर्तुमित्यर्थः, चात्रान्तरा-यच्छब्दगर्भितवाक्यावतारेण वाक्यान्तरप्रवेशो नाम सूत्रदूषणमिति वाच्यम् आर्षत्वात् तस्यादुष्टत्वेन शिष्टव्यवहारात्, यथा आर्षे छन्दस्सु वर्णाऽऽद्याधिक्याऽऽदावपि न छन्दोभ्रष्टत्वदोषो, महापुरुषोपज्ञत्वेनाचर्यत्वात्, तथैव शिष्टव्यवहारात्, राजवरो-भरत. ' कागणिं ति ' पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् काकणीरत्नं गृहीत्वा—लात्वा तमिस्रागुहाया पौरस्त्यपाश्चात्ययो. कटकयो.—भित्त्यो. प्राकृतत्वाद् द्विवचने बहुवचनं, योजनान्तरितानि प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नयोजनमपान्तराले मुक्त्वा कृतानीत्यर्थः, अवगाहनापेक्षयोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नपञ्चधनु:शतमानविष्कम्भाणि, वृत्तत्वाद् विष्कम्भग्रहणेनाऽऽयामोऽपि तावानेवावगन्तव्य ,उत्सेधाङ्गुलप्रमीयमाणावगाहनाकेन चक्रिणा हस्तात्तकाकणीरत्नेन क्रियमाणत्वान्मण्डलानामयं च मण्डलावगाहः स्वस्वप्रकाश्ययोजनमध्ये एव गण्यते, अन्यथा ४९ मण्डलानामवगाहे पिण्डीक्रियमाणे गुहाभित्त्योरायाम उक्तप्रमाणाधिकप्रमाण. प्रसज्येतेति, अत एव च योजनोद्योतकराणि-योजनमात्रक्षेत्रप्रकाशकानि, यावन्मण्डलान्तरालं तावन्मण्डलप्रकाश्य गुहाभित्तिक्षेत्रमित्यर्थः. चक्रस्य नेमिः-परिधिस्तत्संस्थानानि वृत्तानीत्यर्थः तथा चन्द्रमण्डलस्य प्रतिनिकाशानि-भास्वरत्वेन सदृशानि, एकोनपञ्चाशत मण्डलानि वृत्तहिरण्यरेखारूपाणि, काकणीरत्नस्य सुवर्णमयत्वात्, आलिखन् २ विन्यस्यन् २ अनुप्रविशति गुहामिति प्रकरणाद् ज्ञेयं, वीप्सावचनमाभीक्ष्ण्यद्योतनार्थं, मण्डलाऽऽलिखनक्रमश्चाय- गुहायां प्रविशन् भरतः पाश्चात्यपान्थजनप्रकाशकरणाय दक्षिणद्वारे पूर्वदिक्कपाटे प्रथम योजन मुक्त्वा प्रथम मण्डलमालिखति ततो गोमूत्रिकान्यायेनोत्तरत.पश्चिमदिक्कपाटतोडुके तृतीययोजनाऽऽदौ द्वितीयमण्डलमालिखति,ततस्तेनैव न्यायेन पूर्वदिक्कपाटतोडुके चतुर्थयोजनाऽऽदौ तृतीयं,तत' पश्चिमदिग्भित्तौ पञ्चमयोजनाऽऽदौ चतुर्थं, तत' पूर्वदिग्भित्तौ षष्ठयोजनादौ पञ्चम,तत पश्चिमदिग्भित्तौ सप्तमयोजनाऽऽदौ षष्ठं,तत' पूर्वदिग्भित्तौ अष्टमयोजनादौ सप्तमम्,एव तावद् वाच्यं यावदष्टचत्वारिंशत्तममुत्तरदिग्द्वारसत्कपश्चिमदिक्कपाटे प्रथमयोजनाऽऽदौ एकोनपञ्चाशत्तमं चोत्तरदिग्द्वारसत्कपूर्वदिक्कपाटे द्वितीययोजनाऽऽदावालिखति, एवमेकस्या भित्तौ पञ्चविंशतिरपरस्यां चतुर्विंशतिरित्येकोनपञ्चाशन्मण्डलानि भवन्ति, एतानि च किल गुहाया तिर्यग् द्वादश योजनानि प्रकाशयन्ति, ऊर्ध्वाधोभावेन चाष्टौ योजनानि, गुहाया विस्तरोच्चत्वस्य च क्रमेण एतावत एव भावात्, अग्रत. पृष्ठतश्च योजनं प्रकाशयन्तीति ननु गोमूत्रिकाविरचनक्रमेण मण्डलाऽऽलिखने कथमेषा योजनान्तरित्वं ?,यद्येकभित्तिगतमण्डलापेक्षया तर्हि योजनद्वयान्तरितत्वमापद्येत, अन्यथा द्वितीयमण्डलस्यैकभित्तिगतत्वप्रसङ्ग ,तथा च सति गोमूत्रिकाभङ्ग , अन्यभित्तिगतमण्डलापेक्षया तु तिर्यक् साधिकद्वादशयोजनान्तरितत्वमिति, उच्यते—पूर्वभित्तौ प्रथम मण्डलमालिखति, ततस्तत्सम्मुखप्रदेशापेक्षया योजनातिक्रमे द्वितीयमण्डलमालिखति,ततस्तत्सम्मुखप्रदेशापेक्षया योजनातिक्रमे पूर्वभित्तौ तृतीयमण्डलमालिखतीत्यादिक्रमेण मण्डलकरणात् गोमूत्रिकाऽऽकारत्व योजनान्तरित्व च व्यक्रमेवेति सर्व सुस्थम् , अथ पञ्चाशद्योजनाऽऽयामाया गुहायामेकोनपञ्चाशता मण्डलैर्यत्प्रकाशकरणमुक्तमित्यस्यार्थस्य सुखावबोधाय संक्षेपेण मण्डलपञ्चकस्य स्थापना दर्श्यते, यथा— 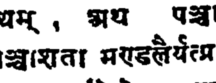 एव षट्कोष्ठकपरिकल्पितषड्योजनक्षेत्रे एकस्मिन् पक्षे त्रीणि अन्यत्र तु द्वे इत्युभयमीलने पञ्च मण्डलानि भवन्ति, एवमनेन गोमूत्रिकामण्डलकविरचनक्रमेण पञ्चाशद्योजनायामाऽऽया गुहायामेकोनपञ्चाशतोऽपि मण्डलकाना स्थापना स्वयं ज्ञेयेति, अन्ये तु पूर्वदिक्कपाटे आदौ योजन मुक्त्वा प्रथमं मण्डल करोति, तत. पश्चिमदिक्कपाटे तत्सम्मुख द्वितीयं, ततः पूर्वदिक्कपाटगतप्रथममण्डलादुत्तरतो योजन मुक्त्वा पूर्वदिक्कपाटतोडुके तृतीय, ततः पश्चिमदिक्कपाटतोडुके तत्सम्मुखं चतुर्थम्, ततः पूर्वदिक्कपाटतोडुके तृतीयान्मण्डलाद्योजन मुक्त्वा पञ्चम,ततस्तत्सम्मुखं पश्चिमदिक्कपाटतोडुके षष्ठ, पुनस्तावतैवान्तरालेन पूर्वदिग्भित्तौ सप्तमं, ततस्तत्सम्मुखं पश्चिमदिग्भित्तौ अष्टमं, ततः पूर्वदिग्भित्तौ सप्तमान्मण्डलाद्योजनान्तरे नवमं, ततः पश्चि-

भभित्तौ अष्टमात् तावतैवान्तरालेन दशममित्येवं पूर्वभित्तौ पश्चिमभित्तौ च मण्डलान्यालिखंस्तावद् गच्छति यावच्चरम मष्टनवतितमं मण्डलमुत्तरद्वारसत्कपश्चिमदिक्कपाटे, एवं चै· कैकस्यां भित्तावेकोनपञ्चाशत् मण्डलानि उभयमीलने चाष्ट नवतिरिति, अत्र चोभयोः पक्षयोर्मध्ये आद्य आवश्यकबृह· द्वृत्तिटिप्पनकप्रवचनसारोद्धारबृहद्वृत्त्यादावुक्तो द्वितीयस्तु मलयगिरिकृतक्षेत्रविचारवृत्त्यादाविति । अथ प्रकृत प्रस्तूय· ते—' तए णं ' इत्यादि, ततो-मण्डलालिखनानन्तरं सा त मिस्रागुहा भरतेन राज्ञा तैर्योजनान्तरितैर्यावद्योजनोद्योत- करैरेकोनपञ्चाशता मण्डलैरालिख्यमानैः क्षिप्रमेवालोक- सौरप्रकाशं भूता—प्राप्ता, एवमुद्योत-चान्द्रप्रकाशं भूता, किं बहुना ? दिवसभूता-दिनसदृशी जाता चाप्यभवत्, चः समुच्चये, अपि· सम्भावनायां, तेन नेयं गुहा मण्डलप्रकाश पूर्णा किन्तु सम्भाव्यते आलोकभूता, एवमग्रेतनपदद्वयम· पि, क्वचिद् ' दिवसभूअ ' इत्यस्य स्थाने ' दीवसयभूया ' इति पाठस्तत्र दीपशतानि भूतेति व्याख्येयम् ।

अथान्तर्गुहं वर्त्तमानयोः परपार जिगमिषूणां प्रतिबन्धकभू- तयोरुन्मग्नानिमग्नानामेकनद्योः स्वरूपम् ( जं० ) ' उम्मग्ग जला शब्दे ' द्वितीयभागे ८४४ पृष्ठे दर्शितम् । ) अथ दुरवगाहे नद्यौ विबुध्य भरतो यच्चकार तदाह-

तए णं से भरहे राया चक्करयणदेसिअमग्गे अणेगराय॰ महया उक्किट्ठसीहणाय॰ जाव करेमाणे करेमाणे सिंधूए महा- णईए पुरच्छिमिल्ले णं कूडे णं जेणेव उम्मग्गजला महाणई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वद्धइरयणं सद्दावेइ, सद्दा वेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! उम्मग्गणि- मग्गजलासु महाणईसु अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे अयलमकंपे अभेज्जकवए सालंबणबाहाए सव्वरयणामए सुहसंकमे करे- हि, करेत्ता मम एअमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणाहि, तए णं से वद्धइरयणे भरहेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमा- णंदिए॰जाव विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता खिप्पामेव उम्मग्गणिमग्गजलासु महाणईसु अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे ॰जाव सुहसंकमे करेइ, करित्ता जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता॰ जाव एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणा- इ,तए णं से भरहे राया सखंधावारबले उम्मग्गणिमग्गज- लाओ महाणईओ तेहिं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठेहिं ॰जाव सुहसंकमेहिं उत्तरइ, तए णं तीसे तिमिसगुहाए उत्तरिल्ल- स्स दुवारस्स कवाडा सयमेव महया महया कोंचारवं क- रेमाणा सरसरस्सगाइं सरसरस्सगाइं ठाणाइं पच्चोस- क्कित्था । ( सूत्रम्-५५ )

' तए णं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा चक्ररत्नदेशि तमार्गः ' अणेगराय ' इत्यादि सूत्रं व्याख्या च प्राग्वत्, सि न्ध्वा महानद्याः पौरस्त्ये कूले-पूर्वतटे उभयत्रापि णंशब्दो वाक्यालङ्कारे, अयमर्थः-तमिस्राया अधो वहन्ती सिन्धु स्तमिस्रापूर्वकटकमवधीकृत्यैवेति, उन्मग्नाऽपि पूर्वकटका न्निर्गताऽस्तीत्युभयोरेकस्थानतासूचनार्थकमिदं सूत्रं, यत्रै· वोन्मग्नजला महानदी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च वर्द्धकि· रत्नं शब्दयति शब्दयित्वा चैवमवादीदिति । यदवादीत् तदा· ह-' खिप्पामेव त्ति ' क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिय ! उन्मग्ननि· मग्नजलयोर्महानद्योः अनेकानि स्तम्भशतानि तेषु सन्नि· विष्टौ-सुसंस्थितौ अत एवाचलौ महाबलाऽऽक्रान्तत्वेऽपि न स्वस्थानाच्चलतः अकम्पौ-दृढौ ' सकम्पसेतुबन्धे तु ति· तीर्षूणां सशङ्कं चलनं स्यादिति दृढतरनिर्माणावित्यर्थः, अथवा—अचलो-गिरिस्तद्वत् अकम्पौ, मकारोऽलाक्षणि· कः, अभेद्यकवचाविवाभेद्यकवचौ अभेद्यसन्नाहाविति, ज- लाऽऽदिभ्यो न भेदं यात इत्यर्थः । नन्वनन्तरोक्तविशेषणाभ्या- मुत्तरतां तदुपरि पातशङ्का न स्यात्तथापि उभयपार्श्वयोर्ज- लपातशङ्का नापनीता भवतीत्याह-साऽऽलम्बने उपरि गच्छ· तामवलम्बनभूतेन दृढतरभित्तिरूपेणाऽऽलम्बनेन सहिते बा· हे-उभयपार्श्वौ ययोस्तौ तथा; सर्वाऽऽत्मना रत्नमयौ आ· दिदेवचरित्रप्रवचनसारोद्धारवृत्त्योस्तु क्रमेण पाषाणमयकाष्ठ· मयौ तावुक्तौ स्त इति, तथा सुखेन संक्रमः-पादविक्षेपो यत्र तौ तथा, ईदृशौ संक्रमौ—सेतू कुरुष्व कृत्वा च मामेतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयेति । अथ स किं चकारेत्याह—' तए णं ' इत्यादि, अनुवादसूत्रत्वात् सर्वं प्राग्वत्, ननु उन्मग्नजला जलस्योन्मज्जकत्वस्वभाव· त्वेन कथं तत्र संक्रमार्थकशिलास्तम्भाऽऽदिन्यासः सुस्थितो भवति ?, स च दीर्घपट्टशालाकारो न च जलोपरिकाष्ठा· ऽऽदिमय· सम्भवति, तस्यासारत्वेन भारासहत्वात्, उच्य· ते-वर्द्धकिरत्नकृतत्वेन दिव्यशक्तेरचिन्त्यशक्तिकत्वात्, अ· नेन चाऽऽचक्रिराज्यपरिसमाप्तेः सर्वोऽपि लोक उत्तरति, गु· हा च तावन्तं कालमपावृतैवाऽऽस्ते मण्डलान्यपि तथैव ति· ष्ठन्ति, उपरते तु चक्रिणि सर्वमुपरमत इति प्रवचनसा- रोद्धारवृत्तेरभिप्राय·, त्रिषष्टीयाजितचरित्रे तु—" उद्घाटि· तं गुहाद्वारं, गुहान्तर्मण्डलानि च । तावत्तान्यपि तिष्ठन्ति, यावज्जीवति चक्रभृत् ॥ १ ॥ " इत्युक्तमस्ति । ' तए णं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा स्कन्धावाररूपबलसहित· स्ताभ्यां संक्रमाभ्यां उन्मग्ननिमग्नजले महानद्यौ उत्तरति परपारं गच्छति, एवं उत्तरतो गच्छति राजराजे उत्तर- द्वारे यज्जातं तदाह-' तए णं ' इत्यादि, ततो-नद्यतिक्र· मणानन्तरं तस्यास्तमिस्रागुहाया उत्तराहस्य द्वारस्य क- पाटौ स्वयमेव सेनानीदण्डरत्नाऽऽघातमन्तरेणेत्यर्थः, 'महया महया ' इति सूत्रदेशेन पूर्वसूत्रस्मरणं तेन 'महया महया सद्देण' मिति बोध्यं क्रौञ्चरवं कुर्वाणौ 'सरस्सर त्ति' कुर्वन्तौ च स्वके स्वके स्थाने प्रत्यवाष्वष्किपातां, व्याख्या तु प्रा· ग्वत्, ननु यदि दाक्षिणात्यद्वारकपाटौ सेनापतिप्रयोगपूर्व· कमुद्घटेते तथा इमावपि कथं न तथा ?, उच्यते-एकशः सेनापतिसत्यापितकपाटोद्घाटनविधिसन्तुष्टगुहाधिपसुरानु- कूलाऽऽशयेन द्वितीयपक्षकपाटौ स्वयमेवोद्घटेते इति ।

अथोत्तरभरतार्द्धविजय विवक्षुस्तत्रत्यविजेतव्यजन—
स्वरूपमाह—

तेणं कालेणं तेणं समएणं उत्तरड्ढभरहे वासे बहवे आ-

वाडा णामं चिलाया परिवसंति अड्ढा दित्ता वित्ता विरिथएणविउलभवणसयणाऽऽसणजाणवाहणाऽऽइएणा बहुधणबहुजायरूवरयया आओगपओगसंपउत्ता विच्छड्डिअपउरभत्तपाणा बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूआ बहुजणस्स अपरिभूआ सूरा वीरा विक्कंता विरिथएणविउलबलवाहणा बहुसु समरसंपराएसु लद्धलक्खा यावि होत्था, तए णं तेसिमावाडचिलायाणं अएणया कयाई विसयंसि बहूइं उप्पाइयसयाइं पाउब्भवित्था, तं जहा-अकाले गज्जिअं अकाले विज्जुआ अकाले पायवा पुप्फंति अभिक्खणं अभिक्खणं आगासे देवयाओ णच्चंति, तए णं ते आवाडचिलाया विसयंसि बहूइं उप्पाइअसयाइं पाउब्भूयाइं पासंति, पासित्ता अएणमएणं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिआ ! अम्हं विसयंसि बहूइं उप्पाइअसयाइं पाउब्भूयाइं । तं जहा-अकाले गज्जिअं अकाले विज्जुआ अकाले पायवा पुप्फंति अभिक्खणं अभिक्खणं आगासे देवयाओ णच्चंति, तं ण णज्जइ णं देवाणुप्पिआ ! अम्हं विसयस्स के मन्ने उवद्दवे भविस्सइ त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा चिंतासोगसागर पविट्ठा करयलपल्हत्थमुहा अट्टज्झाणोवगया भूमिगयदिट्ठिआ झिआयंति, तए णं से भरहे राया चक्करयणदेसिअमग्गे०जाव समुद्दरवभूअं पिव करेमाणे करेमाणे तिमिसगुहाओ उत्तरिल्लेणं दारेणं णीति ससि व्व मेहंधयारणिवहा, तए णं ते आवाडचिलाया भरहस्स रएणो अग्गाणीअं एज्जमाणं पासंति, पासित्ता आसुरुत्ता रुट्ठा चंडिक्किआ कुविआ मिसिमिसेमाणा अएणमएणं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिआ ! केइ अप्पत्थिअपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हीणपुएणचाउद्दसे हिरिसिरिपरिवज्जिए जे णं अम्ह विसयस्स उवरिं विरिएणं हव्वमागच्छइ । तं जहा-णं घत्तामो देवाणुप्पिआ ! जहा णं एस अम्हं विसयस्स उवरिं विरिएणं णो हव्वमागच्छइ त्ति कट्टु अएणमएणस्स अंतिए एअमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता सएणद्धबद्धवम्मियकवआ उप्पीलिअसरासणपट्टिआ पिणद्धगेविज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहिआउहप्पहरणा जेणेव भरहस्स रएणो अग्गाणीअं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भरहस्स रएणो अग्गाणीएण सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था, तए णं ते आवाडचिलाया भरहस्स रएणो अग्गाणीअं हयमहिअपवरवीरघाइअविवडिअचिंधद्धयपडागं किच्छप्पाणोवगयं दिसोदिसिं पडिसेहिंति । ( सूत्रम्-५६ )

'तेणं कालेणं तेणं समएणं' इत्यादि, तस्मिन् काले तृतीयारकप्रान्ते तस्मिन् समये-यत्र भरत उत्तरभरतार्द्ध-विजिगीषया तमिस्रातो निर्याति, उत्तरार्द्धभरतनाम्नि वर्षे-क्षेत्रे आपाता इति नाम्ना किराताः परिवसन्ति, आढ्याः-धनिनः दृप्ता-दर्पवन्तः वित्ताः-तज्जातीयेषु प्रसिद्धाः विस्तीर्णविपुलानि-अतिविपुलानि भवनानि येषां ते तथा शयनाऽऽसनानि प्रतीतानि यानानि-रथाऽऽदीनि वाहनानि अश्वाऽऽदीनि आकीर्णानि-गुणवन्ति येषां ते तथा, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः, बहु-प्रभूतं धनं-गणिमधरिममेयपरिच्छेद्यभेदात् चतुर्विधं येषां तथा, बहु-बहुनी जातरूपरजते-स्वर्णरूप्ये येषां ते तथा, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः आयोगो-द्विगुणाऽऽदिवृद्ध्यर्थं प्रदानं प्रयोगश्च कलान्तरं तौ संप्रयुक्तौ-व्यापारितौ यैस्ते तथा, विच्छर्दिते-त्यक्ते बहुजनभोजनदानेनावशिष्टोच्छिष्टसम्भवात् सञ्जातविच्छर्दे वा सविस्तारे बहुप्रकारत्वात् प्रचुरे-प्रभूते भक्तपाने अन्नपानीये येषां ते तथा, बहवो दासीदासाः गोमहिषाश्च प्रतीताः गवेलका-उरभ्राः एते प्रभूता येषां ते तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः, बहुजनेनापरिभूताः, सूत्रे षष्ठी आर्षत्वात्, सूराः प्रतिज्ञातनिर्वहणे दाने वा वीराः संग्रामे विक्रान्ता भूमण्डलाऽऽक्रमणसमर्थाः विस्तीर्णविपुले-अतिविपुले बलवाहने-सैन्यगवादिके दुःखानाकुलत्वात् येषां ते तथा, बहुषु समरेषु-सम्परायेषु अनेन चातिभयानकत्वं सूचितं समररूपेषु सम्परायेषु युद्धेषु लब्धलक्षाः-अमोघहस्ताः आप्यभवन्, सामान्यतो युद्धेषु च वल्गनाऽऽदिरूपेषु केचन लब्धलक्षा भवेयुः परं तद्व्यवच्छेदाय समरेष्वित्युक्तम्, अथ यत्तेषां मण्डले जातं तदाह-'तए णं' इत्यादि, तत इति-कथान्तरप्रबन्धे तेषामापातकिरातानाम् अन्यदा कदाचित् चक्रवर्त्यागमनकालात्पूर्वम् अत्र तेषामित्येनावतैषोक्तेन प्रकरणाद् विशेष्यप्राप्तौ यदापातकिरातानामित्युक्तं तद्विस्मरणशीलानां विनेयानां व्युत्पादनायेति, विषये-देशे बहूनि औत्पातिकशतानि उत्पातसूचकशतानि, अरिष्टसूचकनिमित्तशतानीत्यर्थः, प्रादुरभूवन्-प्रकटीबभूवुः, तद्यथा-अकाले प्रावृट्कालव्यतिरिक्तकाले गर्जितम् अकाले विद्युतः अकाले स्वस्वपुष्पकालव्यतिरिक्तकाले पादपाः पुष्प्यन्ति अभीक्ष्णम् अभीक्ष्णं-पुनः पुनः आकाशे देवता-भूतविशेषा, नृत्यन्ति । अथ ते किं चक्रुरित्याह-'तए णं' इत्यादि, ततः-उत्पातभवनानन्तरं ते आपातकिराता विषये बहूनि औत्पातिकशतानि प्रादुर्भूतानि पश्यन्ति, दृष्ट्वा चान्योऽन्यं शब्दयन्ति-आकारयन्ति, शब्दयित्वा चैवमवादिषुः, किमवादिषुः किंदृशाश्च तेऽभूवन्नित्याह-'एवं खलु' इत्यादि, एवं-वक्ष्यमाणप्रकारेण खलुर्निश्चये देवानुप्रिया-ऋजुस्वभावा अस्माकं विषये बहूनि औत्पातिकशतानि प्रादुर्भूतानि, तद्यथा-अकाले गर्जितम् इत्यादि प्राग्वत्, तन्न ज्ञायते देवानुप्रिया ! अस्माकं विषयस्य को 'मन्ये' इति वितर्कार्थे निपातः, तेन मन्ये इति सम्भावयामः उपद्रवो भविष्यति इति कृत्वा अपहतमनःसङ्कल्पा-विमनस्काः चिन्तया-राज्यभ्रंशधनापहाराऽऽदिचिन्तनेन यः शोक एव दुस्तरत्वात् सागरस्तत्र प्रविष्टाः करतले पर्यस्तं-निवेशितं मुखं यैस्ते तथा आर्त्तध्यानोपगताः भूमिगतदृष्टिका ध्यायन्ति, आप-

तिते सङ्कटे किं कर्तव्यमिति चिन्तयन्तीति, अथ प्रस्तूयमानं भरतस्य चरितमाह—' तए णं ' इत्यादि, ततस्तेषामुत्पातचिन्तनानन्तरं स भरतो राजा चक्ररत्नादेशितमार्गो यावत् समुद्ररवभूतामिव गुहां कुर्वन् २ तमिस्रागुहातः औत्तराहेण द्वारेण निरेति—निर्याति शशीव मेघान्धकारनिवहात् । ' तए णं ' इत्यादि, ततो गुहातो निर्गमानन्तरं ते आपातकिराता भरतस्य राज्ञः अग्रानीकं सैन्याग्रभागम्-'एज्जमाणं ति' इयत् आगच्छत् पश्यन्ति, दृष्ट्वा च 'आसुरुत्ता' इत्यादि पदपञ्चकं प्राग्वत् अन्योऽन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा चैवमवादिषुरिति । किमवादिषुरित्याह-' तए णं' इत्यादि, एष देवानुप्रियाः ! कश्चिदज्ञातनामकोऽप्रार्थितप्रार्थकाऽऽदिविशेषणविशिष्टो वर्त्तते योऽस्माकं विषयस्य—देशस्योपरि वीर्येणाऽऽत्मशक्त्या 'हव्वं ति' शीघ्रमागच्छति, तत्तस्मात्तथा 'णमिति'—इमं भरतराजानमित्यर्थ. ' घत्तामो त्ति' क्षिपामो दिशो दिशि विकीर्णसैन्यं कुर्म्म इत्यर्थः, यथा एषोऽस्माकं विषयस्योपरि वीर्येण नो शीघ्रमागच्छेत्, सूत्रे सप्तम्यर्थे वर्त्तमानानिर्द्देशः प्राकृतत्वात्, एतस्मिन् समये किं जातमित्याह—' इति कट्टु ' इत्यादि, इति—अनन्तरोदितं कृत्वा—विचिन्त्यान्योऽन्यस्यान्तिके एतमर्थं प्रतिश्रृण्वन्ति-ओमिति प्रतिपद्यन्ते, प्रतिश्रुत्य च सन्नद्धबद्धेत्यादिपदानि प्राग्वत् यत्रैव भरतस्य राज्ञोऽग्रानीकं तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च भरतस्य राज्ञोऽग्रानीकेन सार्धं संप्रलग्नाश्चाप्यभूवन् । योद्धुमिति शेष', युद्धाय प्रवृत्ता इत्यर्थः, अथ ते किं कुर्वन्तीत्याह-' तए णं ते आवाडचिलाया ' इत्यादि, ततो युद्धप्रवृत्त्यनन्तर ते आपातकिराता भरतस्य राज्ञोऽग्रानीकं हताः केचन प्राणत्याजनेन मथिता. केचन मानमथनेन घातिताश्च केचन प्रहारदानेन प्रवरवीराः—प्रधानयोधा यत्र तत्तथा, पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, विपतिताः—स्वस्थानतो भ्रष्टाश्चिह्नप्रधाना ध्वजा गरुडध्वजाऽऽदयः पताकाश्च-तदितरध्वजा यत्र तत्तथा, ततः पदद्वयस्य कर्मधारय., कृच्छ्रेण-महता कष्टेन प्राणान् उपगतं-प्राप्त कथमपि धृतप्राणमिति यावत्, दिश. सकाशादपरदिशि-स्वाभिमतदिक्त्याजनेनापरस्या दिशि प्रक्षिप्य इति शेषः, प्रतिषेधयन्ति-युद्धान्निवर्त्तयन्तीत्यर्थः ।

इतो भरतसैन्ये किं जातमित्याह—

तए णं से सेणावलस्स णेआ वेढो०जाव भरहस्स रण्णो अग्गाणीअं आवाडचिलाएहिं हयमहियपवरवीर ०जाव दिसो दिसं पडिसेहिअं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे चंडिक्किए कुविए मिसिमिसेमाणे कमलामेलं आसरयणं दुरूहइ, दुरूहित्ता (जं०) (अश्वरत्न वक्तव्यता 'आसरयण' शब्दे द्वितीयभागे ४७२ पृष्ठे गता ) सुगपत्तसुवण्णकोमलं मणाभिरामं कमलामेलं णामेणं आसरयणं सेणावई कमेण समभिरूढे कुवलयदलसामलं च रयणिकरमंडलनिभं सत्तुजणविणासणं कणगरयणदंडं णवमालिअपुप्फसुरहिगंधिं णाणामणिलयभत्तिचित्तं च पहोतमिसिमिसिततिक्खधारं दिव्वं खग्गरयणं लोके अणोवमाणं तं च पुणो वंसरुक्खसिंगट्ठिदंतकालायसविपुललोहदंडकवरवइरभेदकं० जाव सव्वत्थ अप्पडिहयं किं पुण देहेसु जंगमाणं-" पण्णासंगुलदीहो, सोलस से अंगुलाइँ विच्छिण्णो । अद्धंगुलसोणीको, जेट्ठपमाणो असी भणिओ ॥ १ ॥ " असिरयणं णरवइस्स हत्थाओ तं गहिऊण जेणेव आवाडचिलाया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आवाडचिलाएहिं सद्धिं संपलग्गे आवि होत्था । तए णं से सुसेणे सेणावई ते आवाडचिलाए हयमहिअपवरवीरघाइअ० जाव दिसो दिसिं पडिसेहेइ । (सूत्र-५७)

'तए णं' इत्यादि, ततः-स्वसैन्यप्रतिषेधनादनन्तरं सेनाबलस्य-सेनारूपस्य बलस्य नेता-स्वामी वेष्टकः-वस्तुविषयवर्णकोऽत्र सेनानीसत्क संपूर्णः पूर्वोक्तो ग्राह्यः यावद् भरतस्य राज्ञोऽग्रानीकम् आपातकिरातैर्यावत्प्रतिषेधितं पश्यति, दृष्ट्वा च आशुरुत्ताऽऽदिविशेषणविशिष्टः कमलाऽऽपीड कमलामेलं वा नामाश्वरत्नमारोहति । अथ प्रस्तावाऽऽगतं तद्वर्णनं ( जं० ) द्वितीयभागे ४७२ पृष्ठे गतम् । )

कमलामेल णामेणं ' इत्यादि, प्राग्वद् व्याख्येयमिति " । ततः स किं कृतवानित्याह—' कुवलय ' इत्यादि, तदसिरत्न नरपतेर्हस्ताद् गृहीत्वा स सेनानीर्यत्रैवाऽऽपातकिरातास्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य चाऽऽपातकिरातै. सार्द्धं सम्प्रलग्नश्चाप्यभूद्योद्धुमिति शेष, तच्छब्दवाक्य यच्छब्दवाक्यमपेक्षत इत्याह्रियते यदिति, यत् किंविशिष्टमित्याह—कुवलयदलश्यामलं नीलोत्पलदलसदृशमित्यर्थः, चः समुच्चये, रजनिकरमण्डलं चन्द्रबिम्बं तस्य निभ—सदृश परिभ्राम्यमाण यद्वर्तुलिततेजस्कत्वेन चन्द्रमण्डलाऽऽकार दृश्यते इत्यर्थ ,अथवा—रजनिकरमण्डलनिभं मुखे इति शेषः, शत्रुजनविनाशनं , कनकरत्नमयो दण्डो-हस्तग्रहणयोग्यो मुष्टिर्यस्य तत्तथा, नवमालिकानामकं यत्पुष्पं तद्वत् सुरभिगन्धो यस्य तत्तथा, नानामणिमय्यो लता बल्ल्याकारचित्राणि तासा भक्तयो—विविधरचनास्ताभिश्चित्रम्-आश्चर्यकृत् , चः विशेषणसमुच्चये , प्रधौता शाणोत्तारेण निष्किट्टीकृता अत एव—' मिसिमिसेंति त्ति ' दीप्यमाना तीक्ष्णा धारा यस्य तत्तथा, दिव्यं खड्गरत्नं-खड्गजातिप्रधान लोकेऽनुपमानम् अनन्यसदृशत्वात्, तच्च पुनर्बहुगुणमस्तीति शेष', कीदृशं ?-वंशा वेणव रूक्षा.-वृक्षाः शृङ्गाणि महिषाऽऽदीनाम् अस्थीनि प्रतीतानि दन्ता हस्त्यादीना कालायसं लोहं विपुललोहदण्डकश्च-वरवज्रं हीरकजातीयं तेषा भेदकम् , अत्र वज्रकथनेन दुर्भेद्यानामपि भेदकत्वं कथितं, किं बहुना ?—यावत्सर्वत्राप्रतिहतं, दुर्भेदेऽपि वस्तुनि अमोघशक्तिकमित्यर्थः, किं पुनर्जङ्गमाना-चराणा पशुमनुष्याऽऽदीनां देहेषु, अत्र यावच्छब्दो न संग्राहकः किन्तु भेदकशक्तिप्रकर्षोक्तयेऽवधिवचनः अथ तस्य मानमाह-पञ्चाशदङ्गुलानि दीर्घो यः षोडशाङ्गुलानि विस्तीर्णः अर्द्धाङ्गुलप्रमाणा श्रोणिः-बाहल्यं पिण्डो यस्य स तथा, ज्येष्ठम्—उत्कृष्टं प्रमाणं यस्य स तथा, एवंविध. सोऽसिर्भणित', यदन्यत्रासेर्द्वात्रिंशदङ्गुलप्रमाणत्वं

श्रूयते तन्मध्यममानापेक्षया। यदाह वराहः-" अङ्गुलशतार्द्धमुत्तम, ऊनः स्यात्पञ्चविंशति' खड्ग' । " एतयोः सङ्ख्ययोर्मध्ये मध्यम इति, उत्तरवाक्ययोजना तु प्राक् कृता. अथ सैन्येशाऽऽयोधनादनन्तर किं जातमित्याह- तए णं ' इत्यादि, तत आयोधनादनन्तर स सुषेण सेनापतिस्ता॰नापातकिरातान् हतमथितेत्यादिविशेषणविशिष्टान् यावत्क॰रणात् " विहडिअचिंधद्धयपडागे किच्छप्पाणोवगए " इति ग्राह्य, दिशो दिशि प्रतिषेधयति ।

अथ ते किं कुर्वन्तीत्याह—

तए णं ते आवाडचिलाया सुसेणसेणावइणा हयमहिआ॰ जाव पडिसेहिया समाणा भीआ तत्था वहिआ उव्विग्गा संजायभया अत्थामा अबला अवीरिआ अपुरिसक्कारपरक्कमा अधारणिज्जमिति कट्टु अणेगाइं जोअणाइं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता एगयओ मिलायंति, मिलायित्ता जेणेव सिंधू महाणई तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता वालुआसंथारए संथरेंति, संथरेत्ता वालुआसंथारए दुरूहंति, दुरूहित्ता अट्ठमभत्ताइं पगिण्हंति, पगिण्हित्ता वालुआसंथारोवगया उत्ताणगा अवसणा अट्ठमभत्तिआ जे तेसिं कुलदेवया मेहमुहा णाम णागकुमारा देवा ते मणसी करेमाणा करेमाणा चिट्ठंति । तए णं तेसिमावाडचिलायाणं अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि मेहमुहाणं णागकुमाराण देवाणं आसणाइं चलंति, तए णं ते मेहमुहा णागकुमारा देवा आसणाइं चलिआइं पासंति, पासित्ता ओहिं पउंजंति, पउंजित्ता आवाडचिलाए ओहिणा आभोएंति, आभोएत्ता अण्णमण्णं सद्दावेंति , सद्दावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिआ ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तरद्धभरहे वासे आवाडचिलाया सिंधूए महाणईए वालुआसंथारोवगया उत्ताणगा अवसणा अट्ठमभत्तिआ अम्हे कुलदेवए मेहमुहे णागकुमारे देवे मणसी करेमाणा २ चिट्ठंति , तं सेअं खलु देवाणुप्पिआ ! अम्हं आवाडचिलायाण अंतिए पाउब्भवित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एअमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता ताए उक्किट्ठाए तुरिआए॰जाव वीतीवयमाणा वीतीवयमाणा जेणेव जंबुद्दीवे दीवे उत्तरद्धभरहे वासे जेणेव सिंधू महाणई जेणेव आवाडचिलाया तेणेव उवागच्छंति , उवागच्छित्ता अंतलिक्खपडिवण्णा सखिंखिणिआइं पंचवण्णाइं वत्थाइं पवरपरिहिआ ते आवाडचिलाए एवं वयासी—हं भो आवाडचिलाया ! जण्णं तुब्भे देवाणुप्पिआ ! वालुआसंथारोवगया उत्ताणगा अवसणा अट्ठमभत्तिआ अम्हे कुलदेवए मेहमुहे णागकुमारे देवे मणसी करेमाणा करेमाणा चिट्ठह, तए णं अम्हे मेहमुहा णागकुमारा देवा तुब्भं कुलदेवया तुम्हं अंतिआणं पाउब्भूआ , तं वदह णं देवाणुप्पिआ ! किं करेमो, के व भे मणसाइए ?। तए णं ते आवाडचिलाया मेहमुहाणं णागकुमाराणं देवाण अंतिए एअमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ॰जाव हिअया उट्ठाए उट्ठेंति, उट्ठेत्ता जेणेव मेहमुहा णागकुमारा देवा तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं॰जाव मत्थए अंजलिं कट्टु मेहमुहे णागकुमारे देवे जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेत्ता एवं वयासी—एस णं देवाणुप्पिए ! केइ अपत्थिअपत्थए दुरंतपंतलक्खणे॰जाव हिरिसिरिपरिवज्जिए जे णं अम्ह विसयस्स उवरिं विरिएणं हव्वमागच्छइ, तं तहा णं घत्तेह देवाणुप्पिआ ! जहा णं एस अम्हं विसयस्स उवरिं विरिएणं णो हव्वमागच्छइ तए णं ते मेहमुहा णागकुमारा देवा ते आवाडचिलाए एवं वयासी—एस णं भो देवाणुप्पिआ ! भरहे णामं राया चाउरंतचक्कवट्टी महिड्ढीए महज्जुईए॰जाव महासोक्खे, णो खलु एस सक्को केणइ देवेण वा दाणवेण वा किंणरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा सत्थप्पओगेण वा अग्गिप्पओगेण वा मंतप्पओगेण वा उद्दवित्तए पडिसेहित्तए वा, तहावि अ णं तुब्भं पिअट्ठयाए भरहस्स रण्णो उवसग्गं करेमो त्ति कट्टु तेसिं आवाडचिलाया णं अंतिआओ अवक्कमंति अवक्कमित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता मेहाणीअं विउव्वंति, विउव्वित्ता जेणेव भरहस्स रण्णो विजयक्खंधावारणिवेसे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता, उप्पिं विजयखंधावारणिवेसस्स खिप्पामेव पतणुतणायंति खिप्पामेव विज्जुयायंति, विज्जुयायित्ता खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठिप्पमाणमेत्ताहिं धाराहिं ओघमेघं सत्तरत्तं वासं वासिउं पवत्ता यावि होत्था । ( सूत्रम्-५८ )

'तए णं ' इत्यादि, ततस्ते आपातकिराता सुषेणसेनापतिना हतमथिता यावत्प्रतिषेधिता सन्तो भीता भयाऽऽकुलाः त्रस्ता-त्रस्ता व्यथिता. प्रहारार्दिता. उद्विग्ना. अथ पुनर्नानेन सार्द्ध युद्ध्यामहे इत्यपुन करणाऽऽशयवन्तः , ईदृशाः कुत इत्याह- सञ्जातभया -सम्यक् प्राप्तभया अस्थामान.—सामन्यतः शक्तिविकला. अबला. शारीरशक्तिविकलाः पुरुषकारः पुरुषाभिमान. स एव निष्पादितस्वप्रयोजनः पराक्रमस्ताभ्या रहिताः अधारणीय-धारयितुमशक्य परबलमिति कृत्वा अनेकानि योजनान्यपक्रामन्ति-अपसरन्ति पलायन्ते इत्यर्थ. ' तत किं कुर्वन्तीत्याह—'अवक्कमित्ता ' इत्यादि, अपक्रम्य ते आपातकिराता एकत —एकस्मिन् स्थाने मेलयन्ति मेलापक कुर्वन्तीत्यर्थः, मेलयित्वा च यत्रैव सिन्धुमहानदी तत्रैवोपागच्छन्ति , उपागत्य च वालुकासंस्तारकान् संस्तृणन्ति-सिकतारूपमयान् संस्तारान् कुर्वन्ति

संस्तीर्य च वालुकासंस्तारकानारोहन्ति, आरुह्य चाष्टमभक्तं
प्रगृह्णन्ति, प्रगृह्य च वालुकासंस्तारोपगता उत्तानकाः—
ऊर्ध्वमुखशायिनः अवसनाः-निर्वस्त्राः, एवं च परमातापना-
कष्टमनुभवन्त इत्युक्तम्, अष्टमभक्तिका-दिनत्रयमनाहारिणः,
ये तेषां कुलदेवताः-कुलवत्सला देवा मेघमुखा नाम्ना नाग·
कुमारा देवास्तान् मनसि कुर्वन्तः २ तिष्ठन्तीति । अथ ते
देवाः किमकुर्वन्नित्याह—'तए णं' इत्यादि, ततः-चेतसि चि·
न्ताऽनन्तरं तेषामापातकिरातानाम् अष्टमभक्ते परिणमति
सति परिपूर्णप्राये इत्यर्थः, मेघमुखानां नागकुमाराणां देवा-
नामासनानि चलन्ति, ततस्ते मेघमुखा नागकुमारा देवा
आसनानि चलितानि पश्यन्ति, दृष्ट्वा चावधिं प्रयुञ्जन्ति,
प्रयुज्य चाऽवधिना आपातकिरातानाभोगयन्ति, आभोग्य
चान्योऽन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा चैवमवादिषुः, किमवा-
दिषुरित्याह-'एवं खलु' इत्यादि, एवम्-इत्थमस्ति खलुः-
निश्चये हे देवानुप्रिया ! किं तदित्याह—जम्बूद्वीपे द्वीपे
उत्तरार्द्धभरते वर्षे आपातकिराताः सिन्ध्वां महानद्यां वालु-
कासंस्तारकान् उपगताः—प्राप्ताः सन्तः उत्तानका अवसना
अष्टमभक्तिका अस्मान् कुलदेवतान् मेघमुखनामकान् नाग
कुमारान् देवान् मनसि कुर्वाणाः २ तिष्ठन्तीति, ततः श्रेयः
खलु भो देवानुप्रिया ! अस्माकमापातकिरातानामन्तिके प्रा
दुर्भवितुं—समीपे प्रकटीभवितुमितिकृत्वा-पर्यालोच्यान्यो·
ऽन्यस्यान्तिके एवमर्थम्-अनन्तरोक्तमभिधेय प्रतिशृण्वन्ति·
अभ्युपगच्छन्ति, परस्परं साक्षीकृत्य प्रतिज्ञातं कार्यं कर्त्त·
व्यमवश्यमिति दृढीभवन्तीत्यर्थः प्रतिश्रवणानन्तरं ते यच्च-
क्रुस्तदाह-'पडिसुणेत्ता' इत्यादि, प्रतिश्रुत्य च ते देवास्त·
योत्कृष्टया त्वरितया गत्या यावद् व्यतिव्रजन्तो २ यत्रैव ज
म्बूद्वीपो द्वीपो यत्रैव चोत्तरभरतार्द्धं वर्षं यत्रैव च सिन्धुर्म
हानदी यत्रैव चाऽऽपातकिरातास्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य
चान्तरिक्षप्रतिपन्नाः सकिङ्किणीकानि पञ्चवर्णानि वस्त्राणि
प्रवराणि परिहितास्तानापातकिरातानेवमवादिषुः किमवा
दिषुरित्याह-'हं भो !' इत्यादि, हं भो ! इति सम्बोधने
आपातकिराताः,यत् 'णं' वाक्यालङ्कारे,सर्वत्र यूयं देवानुप्रि
या ! वालुकासंस्तारकोपगता यावदष्टमभक्तिका अस्मान् कु-
लदेवता मघमुखान् नागकुमारान् देवान् मनसि कुर्वाणा २
तिष्ठत, ततो वयं मेघमुखा नागकुमारा देवा युष्माकं कुल-
देवताः सन्तो युष्माकमन्तिके प्रादुर्भूताः तद्वदत देवानुप्रि
याः ! किं कुर्मः-किं कार्यं विदध्म., किम् आचेष्टामहे-का चेष्टा
कुर्मः-कस्मिन् व्यापारे प्रवर्त्तामहे, किं वा (भे)-भवतां म
नः स्वादितं-मनोऽभीष्टमिति कुलदैवतप्रश्नानन्तरं ते यदुचे
रुन्त तदाह—'तए णं' इत्यादि, ततस्ते आपातकिराता
मेघमुखाना नागकुमाराणां देवानामन्तिके एतमर्थं श्रुत्वा नि·
शम्य च 'हट्ठतुट्ठ' इत्यादि प्राग्वत् । उत्थानम् उत्था-ऊर्ध्वं भव·
नं तया उत्तिष्ठन्ति—ऊर्ध्वीभवन्ति इत्यर्थः, उत्थाय च यत्रैव
मेघमुखा नागकुमारा देवास्तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च
'करयल' इत्यादि प्राग्वत्, मेघमुखान् नागकुमारान् देवान्
जयेन विजयेन वर्द्धयन्ति, वर्धयित्वा चैवमवादिषुरिति, य
दवादिषुस्तदाह-'एस णं' इत्यादि, देवानुप्रिय ! एष कश्चि·
दप्रार्थितप्रार्थकाऽऽदिविशेषणविशिष्टो अस्मद्देशोपर्यागच्छ
ति, तेन तथाप्रकारेण णमिति-एत यत्तेह-प्रतिपत यथा पुन·
र्नोऽऽयातीति पिण्डार्थः । अथ यन्मेघमुखा ऊचुस्तदाह-'तए
णं' इत्यादि, व्यक्तं, किमवोचुस्ते इत्याह-'एस णं' इत्यादि,
हे देवानुप्रिया ! एष भरतो नाम राजा चतुरन्तचक्रवर्त्ती मह·
र्द्धिको महाद्युतिको यावन्महासौख्य. नो खलु एष भरतः श·
क्यः केनचिद्देवेन वा वैमानिकेन दानवेन वा-भवनवासिना
किन्नरेणेत्यादिपदचतुष्कं व्यन्तरविशेषवाचकं तेन वा शस्त्रप्र·
योगेण वा अग्निप्रयोगेण वा मन्त्रप्रयोगेण वा, त्रयाणामप्यु·
त्तरोत्तरबलाधिकता ज्ञेया, शस्त्रेभ्योऽग्निस्तस्मान्मन्त्रो बला·
धिक इति, उपद्रवयितुं वा-उपद्रवं कर्तुं, प्रतिषेधयितुं वा-यु·
ष्मद्देशाऽऽक्रमणरूपपापकर्मतो निवर्त्तयितुमिति,सर्वत्र वाश·
ब्दः समुच्चयार्थः, तथापि इत्थं दुस्साध्ये कार्ये सत्यपि यु·
ष्माकं प्रियार्थतायै-प्रीत्यर्थं भरतस्य राज्ञ उपसर्गं कुर्म इ·
ति कृत्वा तेषामापातकिरातानामन्तिकादपक्रामन्ति—यान्ति
निस्सरन्तीत्यर्थः इति प्रतिज्ञातवन्तः, ततः किं कृतवन्त
इत्याह—'अवक्कमित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं' इत्यादि, अ·
पक्रम्य च-व्रजित्वा वैक्रियसमुद्घातेन-उत्तरवैक्रियार्थकप्र·
यत्नविशेषेण समवघ्नन्ति--आत्मप्रदेशान् विक्षिपन्ति शरी·
राद् बहिर्विकिरन्तीत्यर्थः, समवहत्य च तैरात्मप्रदेशैर्गृहीतैः
पुद्गलैर्मेघानीकम्-अभ्रपटलकं विकुर्वन्ति, विकुर्व्य च यत्रैव
भरतस्य विजयस्कन्धावारनिवेशस्तत्रैवोपागच्छन्ति,उपागत्य
च विजयस्कन्धावारनिवेशस्योपरि क्षिप्रमेवेत्यादि सर्वं पु·
ष्कलसंवर्त्तकमेघाधिकार इव वाच्यं यावद्वर्षितुं प्रवृत्ताश्चा·
प्यभवन्ते देवा इति ।

इति व्यतिकरे यद्भरताधिपः करोति तदाह—

तए णं से भरहे राया उप्पिं विजयक्खंधावारस्स जु-
गमुसलमुट्ठिप्पमाणमेत्ताहिं धाराहिं ओघमेघं सत्तरत्तं वासं
वासमाणं पासइ, पासित्ता चम्मरयणं परामुसइ, तए णं
तं सिरिवच्छसरिसरूवं वेढो भाणिअव्वो॰जाव दुवाल-
सं जोअणाइं तिरिअं पवित्थरइ तत्थ साहिआइं, तए णं
से भरहे राया सखंधावारबले चम्मरयणं दुरूहइ, दुरू·
हित्ता दिव्वं छत्तरयणं परामुसइ, तए णं णवणउइसह-
स्सकंचणसलागपरिमंडिअं महरिहं अउज्झं णिव्वणसुप-
सत्थविसिट्ठलट्ठकंचणसुपुट्ठदंडं मिउरायवट्टलट्ठअरविंद-
कण्णिअसमाणरूवं वत्थिपएसे अ पंजरविराइअं विविहभ-
त्तिचित्तं मणिमुत्तपवालतत्ततवणिज्जपंचवण्णिअधोअरयण-
रूवरइयं रयणमरीईसमप्पणाकप्पकारमणुरंजिएल्लियं रा-
यलच्छिचिंधं अज्जुणसुवण्णपंडुरपच्चत्थुअपट्ठदेसभागं त-
हेव तवणिज्जपट्टधम्मंतपरिगयं अहिअसस्सिरीअं सारयर-
यणिअरविमलपडिपुण्णचंदमंडलसमाणरूवं णरिंदवामप्प-
माणपगइवित्थडं कुमुदसंडधवलं रण्णो संचारिमं विमाणं
सूराऽऽतववायवुट्ठिदोसाण य खयकरं तवगुणेहिं लद्धं-"अ·
हयं बहुगुणदाणं, उऊण विवरीअसुहकयच्छायं । छत्तर·
यणं पहाणं, सुदुल्लहं अप्पपुण्णाणं ॥ १ ॥" पमाणराईण
तवगुणाण फलेगदेसभागं विमाणवासे वि दुल्लहतरं व-

ग्घारिश्रमल्लदामकलावं सारयधवलब्भरययणिगरप्पगासं दिव्वं छत्तरयणं महिवइस्स धरणिअलपुण्णइंदो । तए णं से दिव्वे छत्तरयणे भरहेणं रस्रा परामुट्ठे समाणे खिप्पमेव दुवालस जोअणाइं पवित्थरइ साहिआइं तिरिअं ( सूत्रम्-५६ )

'तए ण ' इत्यादि, ततो-दिव्यवर्षानन्तरं स भरतो राजा स्वसैन्ये उक्तप्रकारेण— सप्तरात्रिप्रमाणकालेन वर्षं वर्षन्तं-मेघवृष्टिं जायमानां पश्यति, दृष्ट्वा च चर्मरत्नं परामृशति, अत्रावसराऽऽगतं चर्मरत्नवर्णकसूत्रमतिदिशन्नाह-'तए णं ' इत्यादि कण्ठ्यम् , अथेदं छत्ररत्नं कीदृशमिति जिज्ञासूनां तत्स्वरूपप्रकटनायाऽऽह-' तए णं ' इत्यादि, तत इति प्रस्तावनावाक्योपन्यासे, छत्ररत्नं महीपतेः—भरतस्य धरणितलस्य पूर्णचन्द्र इव पूर्णचन्द्रो वर्त्तते इति योगः, किंविशिष्टं ?-नवनवतिसहस्रप्रमाणाभिः काञ्चनमयशलाकाभिः परिमण्डितं महार्घं-बहुमूल्यम् ,अथवा-महान्-चक्रवर्त्ती तस्य अर्हं-योग्यम् अयोध्यम् अयोधनीयम् अस्मिन् दृष्टे न हि प्रतिभटानां शस्त्रमुत्तिष्ठते इति भावः, निर्व्रण -छिद्रग्रन्थ्याऽऽदिदोषरहितः सुप्रशस्तो-लक्षणोपेतत्वात् विशिष्टलष्ट -अतिमनोज्ञः,अथवा-विशिष्टः-अतिभारतया एकदण्डेन दुर्वहत्वात् प्रतिदण्डसहितः ईदृशश्च यो लष्टः काञ्चनमयः सुपुष्टोऽतिभारसहत्वात् दण्डो यत्र तत्तथा, मृदु—सुकुमाल घृष्टमृष्टत्वात् राजत-रूप्यसम्बन्धि वृत्त लष्ट यदरविन्द तस्य कर्णिका—बीजकोशस्तेन समानं श्वेतत्वाद्वृत्तत्वाच्च रूपम् आकारो यस्य तत्तथा, बस्तिप्रदेशो नाम छत्रमध्यभागवर्त्ती दण्डप्रक्षेपस्थानरूपस्तत्र , चः समुच्चये, पञ्जरेण पञ्जराऽऽकारेण विराजितं, विविधाभिर्भक्तिभिः-विच्छित्तिभी रचनाप्रकारैश्चित्रं—चित्रकर्म यत्र तत्तथा , एतदेव विशिनष्टिऽऽह—मणयः-प्राग्व्यावर्णितस्वरूपा' मुक्ताप्रवाले प्रतीते, तप्त-मूषोत्तीर्णं यत्तपनीयं—रक्तसुवर्णं पञ्चवर्णिकानि , सूत्रे मत्वर्थीय इकप्रत्ययः, धौतानि शाणोत्तारेण दीप्तिमन्ति कृतानि रत्नानि प्राग्व्यावर्णितस्वरूपाणि तै. रचितानि रूपाणि-पूर्णकलशाऽऽदिमङ्गल्यवस्तूनामाकारा यत्र तत्तथा , पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात्, तथा रत्नानां मरीचिसमर्पणा-समारचना तस्यां कल्पकरा-विधिकारिणः परिकर्मकारिण इत्यर्थ., तैरनुसम्प्रदायक्रमं रञ्जितं, यथोचितस्थान रङ्गदानात् , मकारोऽलाक्षणिकः स्वार्थे इल्लकौ प्रत्ययौ प्राकृतशैलीभवौ, राजलक्ष्मीचिह्नम्—अर्जुनाभिधानं यत्पाण्डुरस्वर्णं तेन प्रत्यवस्तृतः-आच्छादितः पृष्ठदेशभागो यस्य तत्तथा पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात् , तथैवेति विशेषणान्तरप्रारम्भे , ध्मायमान तत्कालध्मातमित्यर्थः यत्तपनीय तस्य पट्टस्तेन, परिगतं—परिवेष्टितं चतुर्ष्वपि प्रान्तेषु रक्तसुवर्णपट्टा योजिता. सन्तीति, पदव्यत्यय पूर्ववत् , अत एवाधिकसश्रीकं शारद·—शरत्कालसत्को रजनिकर —चन्द्रस्तद्वद्विमलं निर्मलं प्रतिपूर्णचन्द्रमण्डलसमानरूपं ततो विशेषणसमासः. नरेन्द्रः—प्रस्तावाद् भरतस्तस्य व्यायामः—तिर्यक्प्रसारितोभयबाहुप्रमाणो-मानविशेषस्तेन प्रमाणेन प्रकृत्या—स्वभावेन विस्तृत, यत्तु चक्रिपरामृष्ट साधिकद्वादशयोजनानि विस्तृणाति तदस्य कारणिकों विस्तार इति सूचित, कुमुदानि—चन्द्रविकाशीनि तेषां खण्डं—वन तद्वद्धवलं राज्ञो-भरतस्य ' संचारिम त्ति ' सञ्चरणशील जङ्गम विमानम् आश्रयिणां सुखाऽऽवहत्वात् सूराऽऽतपवातवृष्टयः प्रतीतास्तासां ये दोषास्तेषां क्षयकरं,यद्वा-सूराऽऽतपवातवृष्टीनां दोषाणां च विषाऽऽदिजन्यानां क्षयकरम् , एतच्छत्रच्छायसमाश्रितानां हि विषाऽऽदिदोषा अपि न प्रभवन्तीति विशेषः,तपोगुणैः -पूर्वजन्माऽऽचीर्णतपोगुणमहिम्ना लब्धं भरतेनेति शेष । अथ गाथाबन्धेन विशेषणान्याह -विचित्रत्वात्सूत्रकारप्रवृत्तेः, अहतं न केनापि योधमन्येन रणे खण्डितमित्यर्थ ,बहूना गुणानाम्-ऐश्वर्याऽऽदीनां दानं यस्य तत्तथा, ऋतूना-हेमन्ताऽऽदीनां विपरीता,अथवा-आर्षत्वात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी व्याख्यानेन ऋतुभ्यो विपरीता उष्णर्त्तौ शीता शीतर्त्तौ उष्णा अत एव कृतसुखा छाया यस्य, सूत्रे क्तान्तस्य परनिपातो ' जातिकालसुखाऽऽदेर्नवा ' ( श्रीसिद्ध०अ०३ पा०१-सू० १५२)इत्यनेन विकल्पविधानात् , छत्रेषु रत्नम्-उत्कृष्ट प्रधान छत्रगुणोपेतत्वात् , सुदुर्लभमल्पपुण्यानामिति , प्रमाणराज्ञा-स्वस्वकालोचितशरीरप्रमाणोपेतराज्ञाम् अष्टसहस्रलक्षणलक्षितत्वात् प्रमाणीभूतराज्ञां वा-षट्खण्डाधिपत्वेन सर्वराजसम्मतत्वात् , एतेन वासुदेवाऽऽदिव्युदासस्तेषां त्रिखण्डभोक्तृत्वात् , चक्रवर्त्तिना तपोगुणाना-सुचरितविशेषाणां फलानाम् एकदेशभागरूपं , सूत्रे क्लीबलिङ्गनिर्देश. प्राकृतत्वात् ,कोऽर्थ. ? चक्राधिपपूर्वार्जिततपसा फलं—सर्वस्व नवनिधानचतुर्दशरत्नाऽऽदिषु विभक्त, तेन तदेकदेशभूतमिद छत्ररत्नं विमानवासेऽपि-देवत्वेऽपि दुर्लभतरं,तत्र चक्रवर्तित्वस्यासम्भवात् , 'वग्घारिअ त्ति' प्रलम्बितो लम्बनयाऽवलम्बितः माल्यदाम्ना पुष्पमालाना कलापः—समूहो यत्र तत्तथा, समन्तत पुष्पमालावेष्टितमिति भाव , शारदानि—शरत्कालभावीनि धवलान्यभ्राणि-वार्दलानि शारदश्च रजनिकर.-चन्द्र तद्वत्प्रकाशो—भास्वरत्वजनित उद्योतो यस्य तत्तथा, दिव्यं—सहस्रदेवाधिष्ठित शेषपदयोजना प्राक् कृतैवास्ति । अथ प्रकृतम्-' तए ण ' इत्यादि, ततस्तद्दिव्यं छत्ररत्न भरतेन राज्ञा परामृष्टं—स्पृष्टं सत्क्षिप्रमेव चर्मरत्नवत् द्वादश योजनानि साधिकानि तिर्यक् प्रविस्तृणाति, साधिकत्वं चात्र परिपूर्णचर्मरत्नपिधायकत्वेन, अन्यथा किरातकृत वृष्ट्युपद्रव. स्वसैन्यस्य दुर्वार. स्यादिति ।

अथ छत्ररत्नप्रविस्तरणानन्तरं यच्चक्रे तदाह—

तए णं से भरहे राया छत्तरयणं खंधावारस्सुवरिं ठवेइ, ठवेत्ता मणिरयणं परामुसइ, वेढो० जाव छत्तरयणस्स वत्थिभागंमि ठवेइ, तस्स य अणातिवर चारुरूवं सिलणिहिअत्थमंतमेत्तसालिजवगोहूममुग्गमासतिलकुलत्थसट्ठिगनिप्फावचणगकोद्दवकोत्थुंभरिकंगुवरगरालगअणेगधण्णावरणहारिअगअल्लगमूलगहलिद्दलाउअतउसतुंबकालिंगकविट्ठअंबअंबिलिअसव्वणिप्फायए सुकुसले गाहावइरयणे त्ति सव्वजणवीसुअगुणे । तए णं से गाहावइरयणे भरहस्स रण्णो तद्दिवसप्पइण्णणिप्फाइअपूइआणं सव्वधण्णाणं अणेगाइं कुंभसहस्साइं उवट्ठवेति, तए णं से भरहे

राया चम्मरयणमारूढे छत्तरयणसमोच्छन्ने मणिरयणकउज्जोए समुग्गयभूएणं सुहंसुहेणं सत्तरत्तं परिवसइ- "ण वि से खुहा ण विलिअं, णेव भयं णेव विज्जए दुक्खं। भरहाहिवस्स रण्णो, खंधावारस्स वि तहेव ॥१॥" ( सूत्रम्-६० )

'तए ण' इत्यादि,तत स भरतः छत्ररत्नं स्कन्धावारस्योपरि स्थापयति, स्थापयित्वा च मणिरत्नं परामृशति, 'वेढो०जाव त्ति' अत्र मणिरत्नस्य वेष्टको-वर्णको यावदिति सम्पूर्णो वक्तव्यः पूर्वोक्त, स च 'तोतं चउरंगुलप्पमाण' इत्यादिकः, परामृश्य च चर्मरत्नछत्ररत्नसम्पुटमिलननिरुद्धसूर्यचन्द्राऽऽद्यालोके सैन्येऽहर्निशमुद्योतार्थं छत्ररत्नस्य वस्तिभागे मणिरत्नं स्थापयति, ननु एवं सति सकलसैन्यावरोधः समजनि, तथा च-तत्र कथं भोजनाऽऽदिविधिरित्याशङ्कमानं प्रत्याह—'तस्स य अणतिवरं' इत्यादि, तस्य भरतस्य राज्ञः, चो वाक्यान्तरद्योतनार्थे, गृहपतिरत्नं-कौटुम्बिकरत्नमस्तीति गम्यते, किंविशिष्टम् ?-इति-अमुना प्रकारेण सर्वजनेषु विश्रुता गुणा यस्य तत्तथा, इतीति किं ? न विद्यते अतिवरम्-अतिप्रधानं वस्तु अपरं यस्मात्तत्तथा, चारुरूपमिति व्यक्तं, तथा शिला इव शिला अतिस्थिरत्वेन चर्मरत्नं तत्र निहितमात्राणाम्-उप्तमात्राणां न तु लौकिकप्रसिद्धभूमिखेटनप्रभूतिकर्मसापेक्षाणाम् 'अत्थमंत त्ति' अर्थवतां प्रयोजनवतां भक्षणाऽऽद्यर्हाणामित्यर्थः शाल्यादीनां निष्पादकं, यद्वा-शिलानिहितानां प्रात इति गम्यं, शाल्यादीनाम् 'अत्थमंतमेत्त त्ति'-अस्तमयति मित्रे-सूर्ये सायमित्यर्थः निष्पादकं, संवादी चायमप्यर्थः, यदुक्तं श्रीहेमाऽऽचार्यकृते ऋषभचरित्रे-" चर्मरत्ने च सुक्षेत्र, इवोप्तानि दिवामुखे। सायं धान्यान्यजायन्त, गृहिरत्नप्रभावतः ॥ १ ॥ " इत्यादि, उभयत्र व्याख्याने पदाना व्यत्ययेन निर्देशः प्राकृतत्वात्, तत्र शालयः-कलमाऽऽद्या. यवा-हयप्रियाः गोधूमा मुद्गा माषास्तिला. कुलत्था. प्रतीता, षष्टिका षष्ट्यहोरात्रैः परिपच्यमानास्तन्दुला निष्पावा-वल्ल[illegible]चणकाः कोद्रवाः प्रतीताः, 'कोत्थुंभरि त्ति' कुस्तुम्भर्यो-धान्यककणा. कङ्गवो-बृहच्छिरस्काः 'वरग त्ति' वरट्टा रालका-अल्पशिरस्का, उपलक्षणात् मसूराऽऽदयोऽन्येऽपि धान्यभेदा ग्राह्या', अनेकानि धान्या इति-धान्यापत्राणि वरणो-वनस्पतिविशेषस्तत्पत्राणि एतत्प्रभृतीनि यानि हरितकानि पत्रशाकानि मेघनादवास्तुलकाऽऽदीनि, पूर्वं च कुस्तुंबरीशब्देन धान्यभेदः संगृहीत', इदानीं तत्पत्राणां भक्ष्यत्वेन पत्रशाकेषु संग्रह इति न पौनरुक्त्यम्, 'अल्लगमूलगहलिद्द त्ति' आर्द्रकहरिद्रे प्रतीते, एते च सूरणकन्दाऽऽद्युपलक्षणभूते, मूलकं-हस्तिदन्तकम्, इद च गृञ्जनाऽऽदिमूलकोपलक्षणम्, एतेन कन्दमूलशाके कथिते, अथ फलशाकान्याह--अलाबु तुम्बं त्रपुष चिर्भटजातीयं तुम्बकलिङ्गकपित्थामाम्लिकाः प्रतीताः इदमपि फलशाकोपलक्षणं तेन जीवन्त्यादिपरिग्रह', अलाबु-तुम्बयोर्लम्बत्ववृत्तत्वकृतो भेद., स च संजातीयबीजकृत इति जनप्रसिद्धि, सर्वशब्देन चोक्तातिरिक्तशाकाऽऽदीनां ग्रह', ननु यदि गृहपतिरत्नमाचिरक्रियया मन्त्रसंस्क्रियया धान्याऽऽदिकं निष्पादयति तर्हि किं चर्मरत्ने बीजवपनेन ?, तन्निरपेक्षतयैव तत् निष्पादयतु, तस्य दिव्यशक्तिकत्वात्। उच्यते—इतरकारणकलापसंघटनपूर्वकत्वेनैव कारणस्य कार्यजनकत्वनियमात्, अन्यथा-सूर्यपाकरसवतीकारा नलाऽऽदय' सूर्यविद्यामहिम्ना रसवती परिपचन्तोऽपि तन्दुलसूपशाकवेषवाराऽऽदिसामग्रीनपेक्षेरन्निति, अत एव सुकुशलम्-अतिनिपुणं निजकार्यविधावतिनिपुणं शेषं प्राग्योजितम्-अथोक्तगुणयोगि गृहपतिरत्नं यदत्रसरोचित चकार तदाह-'तए णं' इत्यादि, ततः चर्मरत्नच्छत्ररत्नसम्पुटसंघटनानन्तरं तद् गृहपतिरत्नं भरतस्य राज्ञः स एव दिवसस्तद्दिवसः—उपस्थानदिवसस्तस्मिन् प्रकीर्णकानाम्-उप्तानां निष्पादितानां परिपाकदशां प्रापितानां पूनानां -निर्बुसीकृतानां सर्वधान्यानामनेकानि 'कुम्भसहस्राणि' कुम्भानां राशिरूपमानविशेषाणां सहस्राणि उपस्थापयति-उपढौकयति; प्राभृतीकरोतीत्यर्थ., कुम्भमानं त्वेवमनुयोगद्वारसूत्रोक्त—" दो असईओ पसई, दो पसईओ सेइआ, चत्तारि सेइआओ कुडओ, चत्तारि कुडया पत्थो, चत्तारि पत्थया आढय, चत्तारि आढया दोणो, सट्ठि आढयाई जहण्णए कुभे, असीति आढयाइ मज्झिमए कुंभे, आढयसयं उक्कोसए कुभे त्ति। ' अत्र व्याख्या—असतिः-अवाङ्मुखहस्ततलरूपा मुष्टिरित्यर्थ, तत्प्रमाणं धान्यमप्यसतिरेवोच्यते. तद्वत्प्रसृति.—नावाकारतया व्यवस्थापिता प्राञ्जलकरतलरूपोच्यते, द्वे प्रसृती सेतिका—मगधदेशप्रसिद्धो मानविशेषो, न तु इह प्रसिद्धा, तस्याः प्रस्थचतुर्गुणत्वात्, चतस्र. सेतिकाः कुडव.-पल्लिकासमानो माप्यविशेषः, चत्वार. कुडवाः प्रस्थो माणकसमानं माप्यम्, चत्वारः प्रस्था आढक.--सेतिकाप्रमाणः, चत्वार आढका द्रोणः-चतु. सेतिकाप्रमाण, षष्ट्या आढकै पञ्चदशभिर्द्रोणैरित्यर्थ, जघन्यः अशीत्या आढकैर्विंशत्या द्रोणैरित्यर्थः, मध्यम. कुम्भः, तथा आढकाना शतेन पञ्चविंशत्या द्रोणैरित्यर्थः, उत्कृष्ट. कुम्भ इति, अत्र च 'सव्वधण्णाण त्ति' सूत्रमुपलक्षणपर तेनान्यदपि यत्सैन्यस्य भोजनोपयोगि तत् सर्वमुपनयति, एवं सति तत्र भरतः कथ कियत्कालं च स्थितवानित्याह-' तए णं ' इत्यादि, ततो गृहपतिरत्नकृतधान्योपस्थापनानन्तर स भरत' चर्मरत्नाऽऽरूढश्छत्ररत्नेन समवच्छन्न -आच्छादितो मणिरत्नकृतोद्योतः समुद्गकसम्पुटं भूत इव-प्राप्त इव सुखंसुखेनेत्यर्थः, सप्तरात्रं-सप्त दिनानि यावत्परिवसति, एतदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-' णवि स खुहा ण ' इत्यादि, न (से)-तस्य भरताधिपस्य राज्ञः क्षुद्-बुभुक्षा, अपिशब्द. पद्यबन्धत्वेन पादपूरणार्थम्, एवकारार्थो वा न व्यलीकं-वैलक्ष्यं दैन्यमित्यर्थ, नैव भयं नैव विद्यत दुःखम्, इयमेव गाथा श्रीवर्द्धमानसूरिकृत ऋषभचरित्रे तु एवं-' ण वि से खुहा ण वि तिसा, णेव भयं० ' शेषं प्राग्वत, ' खंध ' इत्यादि, स्कन्धावारस्यापि तथैव, यथा भरतस्य न क्षुदादि तथा सैन्यस्यापि नेत्यर्थ.।

तत' किं जातमित्याह—

तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सत्तरत्तंसि परिणममाणंसि इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-केस णं भो ! अपत्थियपत्थए दुरंतपंतल

क्खणे ०जाव परिवज्जिए जे णं ममं इमाए एआणुरूवाए० जाव अभिसमणागयाए उप्पिं विजयखंधावारस्स जुगमुसलमुट्ठि० जाव वासं वासइ । तए णं तस्सं भरहस्स रणो इमेआरूवं अज्झत्थिअं चिंतियं पत्थिअं मणोगयं संकप्पं समुप्पण्णं जाणित्ता सोलस देवसहस्सा सण्णज्झिउं पवत्ता यावि होत्था, तए णं ते देवा सण्णद्धबद्धवम्मिअकवया० जाव गहिआउहप्पहरणा जेणेव ते मेहमुहा णागकुमारा देवा तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता मेहमुहे णागकुमारे देवे एवं वया सी-हं भो ! मेहमुहा णागकुमारा ! देवा अप्पत्थिअपत्थगा० जाव परिवज्जिआ किण्णं तुब्भे ण याणह भरहं रायं चाउरंतचक्कवट्टिं महिड्ढिअं०जाव उद्दवित्तए वा पडिसेहित्तए वा तहाऽवि णं तुब्भे भरहस्स रण्णो विजयखंधावारस्स उप्पिं जुगमुसलमुट्ठिप्पमाणमित्ताहिं धाराहिं ओघमेघं सत्तरत्तं वासं वासह , तं एवमवि गते इत्तो खिप्पामेव अवक्कमह , अवह ण अज्ज पासह चित्तं जीवलोगं , तए णं ते मेहमुहा णागकुमारा देवा तेहिं देवेहिं एवं वुत्ता समाणा भीआ तत्था वहिआ उव्विग्गा संजायभया मेघानीकं पडिसाहरंति पडिसाहरित्ता जेणेव आवाडचिलाया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता आवाडचिलाए एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिआ ! भरहे राया महिड्ढीए ०जाव णो खलु एस सक्का केणइ देवेण वा०जाव अग्गिप्पओगेण वा०जाव उवद्दवित्तए वा पडिसेहित्तए वा तहा वि अ णं ते अम्हेहिं देवाणुप्पिआ ! तुब्भं पिअट्ठयाए भरहस्स रण्णो उवसग्गे कए , तं गच्छह ण तुब्भे देवाणुप्पिआ ! ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छित्ता उल्लपडसाडगा ओचूलगणिअच्छा अग्गाइं वराइं रयणाइं गहाय पंजलिउडा पायवडिआ भरहं रायाणं सरणं उवेह पणिवइअवच्छला खलु उत्तमपुरिसा णत्थि भे भरहस्स रण्णो अंतिआओ भयमिति कट्टु , एवं वदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया । तए णं ते आवाडचिलाया मेहमुहेहिं णागकुमारेहिं देवेहिं एवं वुत्ता समाणा उट्ठाए उट्ठेंति, उट्ठेत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छित्ता उल्लपडसाडगा ओचूलगणिअच्छा अग्गाइं वराइं रयणाइं गहाय जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहिअं० जाव मत्थए अंजलिं कट्टु भरहं रायं जएणं विजएणं बद्धाविंति बद्धावित्ता अग्गाइं वराइं रयणाइं उवणेंति, उवणेत्ता एवं वयासी-

"वसुहर गुणहर जयहर, हिरिसिरिधीकित्तिधारकणरिंद ।
लक्खणसहस्सधारक, रायमिदं णे चिरं धारे ॥ १ ॥
हयवइ गयवइ णरवइ, णवणिहिवइ भरहवासपढमवई ।
बत्तीसजणवयसह-स्सरायसामी चिरं जीव ॥ २ ॥
पढमणरीसर ईसर, हिअईसर महिलिआसहस्साणं ।
देवसयसाहसीसर, चोद्दसरयणीसर जससी ॥ ३ ॥
सागरगिरिमेराग, उत्तरवाईणमभिजिअं तुमए ।
ता अम्हे देवाणु-प्पिअस्स विसए परिवसामो ॥ ४ ॥ "

अहो णं देवाणुप्पिआणं इड्ढी जुई जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पिआणं इड्ढी एवं चेव०जाव अभिसमण्णागए, तं खामेमु णं देवाणुप्पिआ ! खमंतु णं देवाणुप्पिआ ! खंतुमरुहंतु णं देवाणुप्पिआ ! णाइ भुज्जो भुज्जो एवंकरणयाए त्तिकट्टु पंजलिउडा पायवडिआ भरहं रायं सरणं उविंति । तए णं से भरहे राया तेसिं आवाडचिलायाणं अग्गाइं वराइं रयणाइं पडिच्छन्ति, पडिच्छित्ता ते आवाडचिलाए एवं वयासी-गच्छह णं भो तुब्भे ममं बाहुच्छायापरिग्गहिया णिब्भया णिरुव्विग्गा सुहंसुहेणं परिवसह, णत्थि भे कत्तो वि भयमत्थि त्ति कट्टु सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ । तए णं से भरहे राया सुसेणं सेणावइं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छाहि णं भो देवाणुप्पिआ ! दोच्चं पि सिंधूए महाणईए पच्चत्थिमं णिक्खुडं ससिंधुसागरगिरिमेरागं समविसमणिक्खुडाणि अ ओअवेहि,ओअवे(हि)त्ता अग्गाइं वराइं रयणाइं पडिच्छाहि, पडिच्छित्ता मम एअमाणत्तिअं खिप्पामेव पच्चप्पिणाहि जहा दाहिणिल्लस्स ओयवणं तहा सव्वं भाणिअव्वं ०जाव पच्चणुभवमाणा विहरंति । ( सूत्रम्-६१ )

'तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सत्तरत्तं ' इत्यादि, ततः समुद्गकभूततयाऽवस्थानानन्तरं तस्य भरतस्य राज्ञः सप्त रात्रे परिणमति सति अयमेतद्रूपो यावत्सङ्कल्पः समुदपद्यत, तमेव प्रादुर्भावयन्नाह-' केस णं ' इत्यादि, क एष भो सैनिका अप्रार्थितप्रार्थकाऽऽदिविशेषणविशिष्टो यो मम अस्यामेतद्रूपाया यावद्दिव्याया देवानामिव ऋद्धिर्देवस्य वा राज्ञ, ऋद्धिर्देवर्द्धिस्तस्यां सत्याम् एवं दिव्याया देवद्युतौ दिव्येन देवानुभावेन देवानुभागेन वा देवानामिव योऽनुभागोऽनुभावो वा-प्रभावस्तेन सह लब्धाया-प्राप्तायामभिसमन्वागताया सत्याम् उपरि स्कन्धावारस्य ' जुगमुसलमुट्ठि जाव त्ति ' युगमुसलमुष्टिप्रमाणमात्राभिर्धाराभिर्वर्षं वर्षति-वृष्टिं करोति, अत्र किरातगृह्याणामेव केषाञ्चिदयमुपद्रवोपक्रम इति सामान्यतो ज्ञानेऽपि ' मानधनाना प्रभूणां गर्वगर्भिता गिरस्त्वङ्कारेकारबहुला एव भवेयुः, इति क एष इत्यादिकं आक्रोशस्तत्र एकवचननिर्देशः यथा उपस्थितेष्वपि बहुषु वैरिषु स को वर्त्तते यो मामुपतिष्ठते इत्यादौ, इति भूपतिभावं परिभाव्य परिभाव्य यद्वा यद्वाकुमुत्तदाह-'तए

णं' इत्यादि, ततश्च उक्तचिन्तासमुत्पत्त्यनन्तरं भरतस्य समेता इश यावत्सङ्कल्पं समुत्पन्नं ज्ञात्वा चतुर्दशरत्नाधिष्ठायकदेव सहस्राणि चतुर्दश द्वे सहस्रे स्वाङ्गाधिष्ठातृदेवभूते इत्येवं षोडशदेवसहस्राः यद्यपि स्कन्धारस्य चैताद्व्यसाधने सम्पद्यमानत्वेन रत्नानां त्रयोदशसहस्रा एव सम्भवेयुस्तथापि सामान्यत एतद्वचनमिति सन्नद्धुं प्रवृत्ताश्चाप्यभवन्-गुणापेक्षता अभूवन्नित्यर्थः, कथमित्याह-' तए णं ' इत्यादि, अनुयानसूत्रवत्प्राग्वत् , किमवोचुस्ते भरतस्य सन्निहिता देवा इत्याह हं भो ! मेघमुखा इत्यादि प्राग्वत् , किमिति गम्नं न जानीथेत्यत्र काकुपाठेन व्याख्येयं, तेन न जानीथ किं यूयम् ?, अपि तु जानीथ, भरत राजानं चतुरन्तचक्रवर्त्तिनं यदेष न कश्चिदपि देवदानवाऽऽदिभिः शस्त्रप्रयोगाऽऽदिभिरुपद्रवयितुं वा प्रतिषेधयितुं वा शक्यते इति, अज्ञानपूर्विका हि प्रवृत्तिर्महतेऽनर्थाय प्रवर्त्तकस्य च यादं वालिशभावोद्भावनाय च भवेदिति भापयन्तस्ते यथा उत्तरवाक्यमाहुस्तथाऽऽह-तथापि-जानत्यजय्यं जानन्तोऽपीत्यर्थः, यूय भरतस्य राज्ञो विजयस्कन्धावारस्योपरि यावद्वर्षं वर्षत तत्-तस्मादेवमविमृष्टकारितया स्थामपि गते अतीते कार्ये किं वह्नु अधिक्षिपामः ?, तस्य क्रियाऽऽन्तराऽऽपादनेन संस्कारानर्हत्वात् इत. क्षिप्रमेवापक्रामत मत्कुणा इवापयात', अथवेति विकल्पान्तरे यदि नापक्रामत तर्हि अद्य साम्प्रतमेव पश्यत चित्र जीवलोकधर्ममागमवादन्यं सर्वं पृथिवीकायिकाऽऽदिकम्. अपमृत्युं प्राप्नुतेत्यर्थः, क्रियादेशोऽत्र पञ्चमीप्रयोग . ननु निरुपक्रमायुऽऽषां देवानामपमृत्योरसम्भवात् सवाधमिद वचनम् , उच्यते—सूत्राणा विचित्रत्वेन भयसूत्रत्वेन विचक्षणाञ्च दोषः । ' तए णं ' इत्यादि, सर्वं प्राग्वत् , नवरं मेघानीकं प्रतिसंहरन्ति—घनघटामपहरन्ति, वृष्ट्युपरमे च तत्र समुद्राधिक्षिप्तं निर्गच्छतुपलक्ष्य लौकिकैरुक्तं ब्राह्मणा स्पृष्टमिदमण्डक तत एयं जगत. प्रसूतिरित्येवं सर्वत्र प्रवादोऽभूत्ताऽपि च ब्रह्माण्डपुराणं नाम शास्त्रमभूदिति प्रसङ्गाद्बोध्यमिति। अथ यदुक्तम् ' एवं वयासि त्ति ' तत्र किमवादिषुरित्याह-'तए णं' इत्यादि, हे देवानुप्रिया ! एष भरतो राजा महर्द्धिको यावत्तो खलु एष शक्यते देवाऽऽदिभिरस्त्रप्रयोगाऽऽदिभिर्वा निषेधयितुं तथाऽपि अस्माभिर्देवानुप्रिया ! युष्माकं प्रीत्यर्थं भरतस्य राज्ञ उपसर्गः कृत. तद्गच्छत देवानुप्रिया ! यूयं स्नानाऽऽदिविशेषणाः आर्द्रा-सद्यःस्नानव शाच्छलाङ्गुलयः पटशाटकाः-उत्तरीयपरिधाने येषा ते तथा, एतेन सेवाविधावविलम्बः सूचितः, अवचूलकम् अर्थात्मुखाञ्चल मुत्कलाञ्चलं यथा भवत्येवं ' निपत्य ' वर्षा न तथा, एतेन परिहितपटशाटकबन्धनकालावधयोऽपि न विलम्बो विधेय इति सूचितम्, अथवाऽनेनापदक्षच्छुरं सूचितं, तदुपदर्शनेन स्वदैन्यं दर्शितमिति, पटकच्छ-पदर्शने हि उत्कटत्वमात्मनो अनवाप्तिदर्शनम्. अवयवाणि वराणि रत्नानि गृहीत्वा प्राञ्जलिपुटाः कृताञ्जलयः पादपतिता -चरणन्यस्ताञ्जलयो भरतं राजानं शरणमुपेत-यात प्रणिपतितवत्सलाः -प्रणाम अहितकारिणः. ननु उत्तमपुरुषाः , नातिक्रम्य सततो भरतस्य राज्ञोऽभिक्राङ्क्षयमिति कृत्वा इति इहैतद्दिदिवसः इष्टा दिशः प्रादुर्भूतास्तामेव दिशं प्रति गता



इति । अथ भरतेन्द्रा म्लेच्छा यदकुर्वन्तदाह-' तए णं ' इत्यादि, सर्वं गतार्थं, नवरं रत्नान्युपनयन्ति-प्राभृतीकुर्वन्तीत्यर्थः, अथ यदुक्तम्-' एवं वयासि त्ति । ' तत्र किमवादिषुरित्याह-'वसुहर ' इत्यादि, हे वसुधर ! द्रव्यधर षट्खण्डवर्त्तिद्रव्यपते इति यावत्, अथवा तेजोधर गुणधर-गुणवान् जयधर-विद्वेषिभिरधर्षणीय ! ह्रीः-लज्जा श्री-लक्ष्मीर्धृतिः सन्तोषः कीर्त्तिः-वर्णवादः, एतेषां धारक नरेन्द्रलक्षणसहस्राणाम् , अनेकलक्षणानां धारक(णो) अस्माकं राज्यमिद चिर धारय-पालय इत्यर्थ . अस्माद्देशाधिपतिर्भव चिरकाल यावदिति प्रथमगाथार्थ ॥ १ ॥ ' हयवइ गयवइ ' इत्यादि, हे हयपते ! गजपते ! हे नरपते ! नवनिधिपते ! हे भरतवर्षप्रथमपते ! द्वात्रिंशज्जनपदसहस्राणां-देशसहस्राणां ये राजानस्तेषां स्वामिन् ! चिरं जीव चिर जीव इति द्वितीयगाथार्थ ॥ २ ॥ ' पढमणरीसर ईसर ' इत्यादि, हे प्रथमनरेश्वर ! हे ऐश्वर्यधर ! हे महिलिकासहस्राणां चतुःषष्टिसहस्राणां हृदयेश्वर-प्राणवल्लभ देवशतसहस्राणां-रत्नाधिष्ठातृमागधतीर्थाधिपाऽऽदिदेवलक्षणमीश्वर ! चतुर्दशरत्नेश्वर ! यशस्विन् इति तृतीयगाथार्थ ॥३॥ तथा ' सागर ' इत्यादि, सागरः पूर्वापरदक्षिणाऽऽख्य. समुद्र' गिरि क्षुद्रहिमाचलस्तयोर्मर्यादा अवधिर्यत्र तत्तथा, उक्तदिक्त्रये समुद्रावधिकमुत्तरतो हिमाचलावधिकम्, उत्तरापाचीनम-उत्तरार्द्धदक्षिणार्द्धभरत परिपूर्णभरतमित्यर्थ , त्वयाऽभिजितं,यद्यत्र भरतस्य हिमवद्गिरिपर्यन्तता व्याख्याता तद्वक्ष्य साधयिष्यमाणत्वेन 'भाविनि भूतवदुपचार. ' इति न्यायात् , अन्यथा नवनिधिपते ! चतुर्दशरत्नेश्वर इत्यादिविशेषणानामप्यनुपपत्तिः, नवनिधीना तथा सम्पूर्णचतुर्दशरत्नानामधिप सम्पत्स्यमानत्वात्, (ना)—तस्मात् वयं देवानुप्रियस्य विषये परिवसामः, युष्माकं प्रजारूपाः स्म इत्यर्थ , इति चतुर्थगाथाऽर्थ ॥ ४ ॥ तथा अहो इति आश्चर्ये, देवानुप्रियाणाम् ऋद्धिर्द्युतिर्यशो बलं वीर्यं पुरुषकार पराक्रम एतपा व्याख्यान प्राग्वत् , ऋद्ध्यादीन्याश्चर्यकारीणि कृत इत्याह-दिव्या-सर्वोत्कृष्टा देवस्येव द्युति , एव दिव्यो देवानुभावो देवानुभागो वा लब्ध.-प्राप्त अभिसमन्वागतो भोग्यतामुपागत इत्यर्थ. परतः

मि प्रतीच्छति-गृह्णाति-प्रतीच्छ्य च तानापातकिरातान् एवमवादीत्-गच्छत भो ! देवानुप्रियाः यूयं, स्वस्थानमिति शेषः, मम बाहुच्छायया परिगृहीताः स्वीकृताः मया शिरसि धृतहस्ताः निर्भया निरुद्विग्ना:-उद्वेगरहिताः सुखं सुखेन परिवसत, अत्र 'छायाया हो कान्तौ वा' इत्यनेन (श्रीसिद्धहे० अ० ८ पा० १ सू० २४९) सूत्रेण वैकल्पिकविधिवाक्य हकारत्वं, नाहिह (भे)-भवता कुतोऽपि भयमिति कृत्वा सत्कारयति, सम्मानयति, सत्कृत्य सम्मान्य च प्रतिविसर्जयति-स्वस्थानगमनायातिदिशति । अथ किरातसाधनोत्तरकालं नरेन्द्रः किं चक्रे इत्याह-' तए णं से भरहे राया सुसेणं ' इत्यादि, ततः-किरातसाधनानन्तरं भरतः सुषेणं सेनापतिं शब्दयति, शब्दयित्वा च एवमवादीत्-गच्छ भो देवानुप्रिय ! द्वितीयम् अपिः समुच्चये, पूर्वसाधितनिष्कुटापेक्षया सिन्ध्वा महानद्याः पश्चिमं पश्चिमभागवर्ति निष्कुटं-प्राग्व्यावर्णितस्वरूपं सिन्धु नदी सागर-पश्चिमाब्धिः उत्तरतः क्षुल्लहिमवद्गिरिर्दक्षिणतो वैताढ्यगिरिश्च तैर्मर्यादा यस्य तत्तथा, एतैः कृतविभागमित्यर्थः, शेषं प्राग्वत्, लाघवार्थमतिदेशसूत्रमाह-' जहा दाहिणिल्ल ' इत्यादि, यथा दाक्षिणात्यस्य सिन्धुनिष्कुटस्य ओअवणं-साधनं तथा सर्वं भणितव्यं, तावद्वक्तव्यं यावत्सेनानीर्भरतनिरुद्धः पञ्चविधान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन् विहरति ।

अथ तदनन्तरं किं जातमित्याह-

तए णं दिव्वे चक्करयणे अन्नया कयाइ आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अंतलिक्खपडिवन्ने० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसिं चुल्लहिमवंतपव्वयाभिमुहे पयाते यावि होत्था । तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं० जाव चुल्लहिमवंतवासहरपव्वयस्स अदूरसामंते दुवालसजोयणायामं० जाव चुल्लहिमवंतगिरिकुमारस्स देवस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हइ,तहेव जहा मागहतित्थस्स०जाव समुद्दरवभूयं पिव करेमाणे करेमाणे उत्तरदिसाभिमुहे जेणेव चुल्लहिमवंतवासहरपव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुल्लहिमवंत वासहरपव्वय ति-क्खुत्तो रहसिरेणं फुसइ, फुसित्ता तुरए णिगिण्हइ, णिगिण्हित्ता तहेव० जाव आयतकण्णायतं च काऊण उसुमुदारं इमाणि वयणाणि तत्थ भाणीअ से णरवई० जाव सव्वे मे ते विसयवासि त्ति कट्टु उड्ढं वेहासं उसुं णिसिरइ, परिगरणिगरिअमज्झे० जाव तए णं से सरे भरहेणं रण्णा उड्ढं वेहासं णिसट्ठे समाणे खिप्पामेव बावत्तरिं जोअणाइं गंता चुल्लहिमवंतगिरिकुमारस्स देवस्स मेराए णिवइए, तए णं से चुल्लहिमवंतगिरिकुमारे देवे मेराए सरं णिवइअं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे० जाव पीइदाणं सव्वोसहिं च मालं गोसीसचंदणं कडगाणि० जाव दहोदगं च गेण्हइ, गेण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव उत्तरेणं चुल्लहिमवंतगिरिमेराए अहण्णं देवाणुप्पिआणं विसयवासी-० जाव अहण्णं देवाणुप्पिआणं उत्तरिल्ले अंतवाले० जाव पडिविसज्जेइ । ( सूत्रम्-६२ )

' तए णं दिव्वे चक्करयणे ' इत्यादि, ततः-औत्तराहसिन्धुनिष्कुटसाधनानन्तरं तद्दिव्यं चक्ररत्नम् अन्यदा कदाचित् आयुधगृहशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च अन्तरिक्षप्रतिपन्नं, यावत्पदात् 'जक्खसहस्ससंपरिवुडे दिव्वतुडिअसहसन्निणाएणं पूरेन्ते चेव अंबरतलं' इति, उत्तरपूर्वस्यां दिशि ईशाने कोणे क्षुद्रहिमवत्पर्वताभिमुखं प्रयातं चाप्यभवत्, ततः शिशिरगिरिवशात् क्षुद्रहिमवद्गिरिसंस्थितायाम् उत्तरपूर्वायां चलनमेव ऋजुमार्गः, ततो नरेन्द्रर्यत्कृतवांस्तदाह-' तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं ' इत्यादि, ततः स भरतस्तद्दिव्यं चक्ररत्नम् अभि क्षुद्रहिमवद्गिरि प्रयातं दृष्ट्वा कौटुम्बिकपुरुषाज्ञापन हस्तिरत्नप्रतिकल्पन सेनासन्नाहन स्नानविधानं हस्तिरत्नाऽऽरोहणं मार्गाऽऽगतपुरनगरदेशाधिपवशीकरणं तत्प्राभृतस्वीकरणं चक्ररत्नानुगमनं योजनान्तरितवसतिगमनं च करोतीत्यादिपिण्डार्थः प्रथमयावत्पदग्राह्य, अथ यावत्पदसंग्राह्यसूत्रलिखने यद्विस्तरः स्यादिति तदुपेक्षा, ततः क्षुद्रहिमवद्गिरिसमीपे द्वादशयोजनायामम् अत्र यावत्पदग्राह्ययोजनविस्तीर्णाऽऽदिविशेषणविशिष्टं स्कन्धावारनिवेशयति, वर्द्धकिरत्नं शब्दयति पौषधशाला विधापयति, पौषधं च करोतीत्यादि ज्ञेयं, क्षुद्रहिमवद्गिरिकुमारस्य देवस्य साधनार्थेति शेषः, कियत्पर्यन्त इत्याह-यावत्समुद्ररवभूतमिव कुर्वाणः कुर्वाण इति, अत्र ' तहेव त्ति ' पदवाच्यमष्टमभक्तप्रतिजागरणं तत्समापन कौटुम्बिकाऽऽज्ञापन सेनासन्नाहनम् अश्वरथप्रतिकल्पनं स्नानविधानम् अश्वरथाऽऽरोहण चक्ररत्नमार्गानुगमनं च करोतीत्यादि ज्ञेयं, सैन्यसमुत्थकलकलरवेण समुद्ररवभूतमिव पृथिवीमण्डलं कुर्वन् २ उत्तरदिगभिमुखो यत्रैव च क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतः तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतं त्रिकृत्वः-त्रीन् वारान् रथशिरसा-रथाग्रभागेन काकमुखेनेत्यर्थः स्पृशति, अतिवेगप्रवृत्तस्य वेगिवस्तुनः पुरःस्थप्रतिबन्धकास्फालनादिसंघट्टने शिरस्ताडनेन वेगपातदर्शनादत्र शिर इत्युक्तं, स्पृष्ट्वा च तुरगान् निगृह्णाति-वेगप्रवृत्तान् वाजिनो रक्षति, तदनु वृत्तं यत्तदाह-' णिगिण्हित्ता ' इत्यादि, तुरगांश्चतुरोऽपि निगृह्य च तथैव मागधतीर्थाधिकारवद्वक्तव्यं, कियद् दूरं यावदित्याह-यावदायतकर्णाऽऽयतं च कृत्वा इषुमुदारमिति अत्र ' तहेव त्ति ' वचनात् रथस्थापनं धनुर्ग्रहणं शरग्रहणं च वक्तव्यं, ततस्तं शरं तथाविधं कृत्वा तत्र इमानि वचनान्यभाणीत् स नरपतिरत्र यावत्पदेन-" हंदि सुणंतु भवंतो " इत्यादि गाथाद्वयं वाच्यम् सर्वे मे ते विषयवासिनः पर्यन्तम् इति कृत्वा-इत्युच्चार्य ऊर्ध्वम् उपरि, एतच्च शुभवर्णीयं स्यात् यथोर्ध्वलोकः शुभलोक इत्यादि अत उक्तम्-विहायसि आकाशे क्षुद्रहिमवद्गिरिकुमारस्य तत्राऽऽवाससम्भवात् इषुं निसृजति, ' परिगरणिगरिअम-ज्झो जाव त्ति ' अत्रावसरे बाणमोक्षप्रकरणार्थातं ' परिगरणिगरिअमज्झो ' इत्यादिपदोपलक्षितं यावच्छब्देन परिपूर्ण गाथाद्वयं वाच्यमिति । ततः किं जातमित्याह-' तए णं से ' इत्यादि, ततः स शरो भरतेन राज्ञा ऊर्ध्वं विहायसि निसृष्टः सन् क्षिप्रमेव द्विसप्ततिं योजनानि यावद् गत्वा क्षुद्रहिमवद्गिरिकुमारस्य देवस्य मर्यादायामुचितस्थाने निपतति, तए णं ' इत्यादि, ततः स क्षुद्रहिमवद्गिरिकुमारो देवो निजमर्यादायां शरं निपतितं पश्यति, दृष्ट्वा च

आसुरुत्तो रुट्ठ इत्यादिविशेषणविशिष्टो यावत्करणात् भृकुटिं करोति अधिक्षिपति, शरं गृह्णाति, नाम च वाचयतीत्यादि ग्राह्यं, प्रीतिदानं सर्वौषधीः-फलपाकान्तवनस्पतिविशेषान् राज्याऽभिषेकाऽऽदिकार्योपयोगिनः माला कल्पद्रुमपुष्पमालां गोशीर्षचन्दनं च हिमवत्कुञ्जमध्ये कटकानि यावत्पदात् त्रुटितानि वस्त्राणि आभरणानि शरं च नामाङ्कमिति ग्राह्यं, द्रहोदकं च-पद्मद्रहोदकं गृह्णाति, गृहीत्वा च तयोत्कृष्टयाऽत्र यावत्पदात् देवगत्या व्यतिव्रजति-भरतान्तिकमुपसर्पति, विज्ञपयति चेति ज्ञेयम्, उत्तरस्यां क्षुद्रहिमवतो गिरेर्मर्यादायाम् अहं देवानुप्रियाणां विषयवासी यावत्पदात् 'अहं देवाणुप्पिआणत्तीकिंकरे' इति ग्राह्यम्, अहं देवानुप्रियाणाम् औत्तराहो लोकपालः, अत्र यावत्पदात् प्रीतिदानमुपनयति तद्, भरतः प्रतीच्छति, देवं सत्कारयति सम्मानयतीति, ग्राह्य, तथा कृत्वा च प्रतिविसर्जयति ।

अथाधिकोत्साहादष्टमभक्तं तपस्तीरयित्वा कृतपारणक एतावधिप्राप्तदिग्विजयाङ्कं कर्तुकाम'श्रीऋषभभूः ऋषभकूटगमनायोपक्रमते—

तए णं से भरहे राया तुरए णिगिण्हइ, णिगिण्हित्ता रहं परावत्तेइ, परावत्तित्ता जेणेव उसहकूडे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उसहकूडं पव्वयं तिक्खुत्तो रहसिरेणं फुसइ, फुसित्ता तुरए निगिण्हइ, निगिण्हित्ता रहं ठवेइ, ठवित्ता छत्तलं दुवालसंसिअं अट्ठकण्णिअं अहिगरणिसंठिअं सोवण्णिअं कागणिरयणं परामुसइ परामुसित्ता उसभकूडस्स पव्वयस्स पुरच्छिमिल्लंसि कडगंसि णामगं आउडेइ-

" ओसप्पिणीइमीसे, तइआए समाइ पच्छिमे भाए ।
अहमंसि चक्कवट्टी, भरहो इअ नामधिज्जेणं ॥ १ ॥
अहमंसि पढमराया, अहयं भरहाहिवो णरवरिंदो ।
णत्थि मह पडिसत्तू, जिअं मए भारहं वासं ॥ २ ॥"

इति कट्टु णामगं आउडेइ, णामगं आउडित्ता रहं परावत्तेइ, परावत्तित्ता जेणेव विजयखंधावारणिवेसे जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ०जाव चुल्लहिमवंतगिरिकुमारस्स देवस्स अट्ठाहिआए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता ०जाव दाहिणिं दिसिं वेअड्ढपव्वयाभिमुहे पयाते यावि होत्था । [ सूत्रम्-६३ ]

'तए णं' इत्यादि । ततो—हिमवत्साधनानन्तरं स भरतो राजा तुरगान् निगृह्णाति-दक्षिणपार्श्वस्थहयावाकर्षति, वामपार्श्वस्थहयौ पुरस्करोति, निगृह्य च रथं परावर्त्तयति, परावर्त्य च यत्रैवर्षभकूटं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च ऋषभकूटं पर्वत त्रिकृत्वो रथशीर्षेण स्पृशति, स्पृष्ट्वा च रथं स्थापयति, स्थापयित्वा च षट्तलं द्वादशास्रिकम् अष्टकर्णिकम् अधिकरणिसंस्थितं सौवर्णिकं-स्वर्णमयमष्टसुवर्णमयत्वात् काकणीरत्नं परामृशति, एतेषां पदानां व्याख्या—ऽग्रे भाव्या, परामृश्य च ऋषभकूटस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये कटके नामैव नामकं स्वार्थे कप्रत्ययः। 'आउडेइ त्ति' आजुडति सम्बद्धं करोति, लिखतीत्यर्थः । कथं लिखतीत्याह-' ओसप्पिणि' इत्यादि । अवसर्पिण्याः, अत्र षष्ठीलोपः प्राकृतत्वात्, अस्यास्तृतीयायाः समायाः—तृतीयारकस्य पश्चिमभागे तृतीये भागे इत्यर्थः अहमस्मि चक्रवर्त्ती भरत इति नामधेयेन—नाम्ना ॥ १ ॥ अहमस्मि प्रथमराजा—प्रधानराजा, प्रथमशब्दस्य प्रधानपर्यायत्वाद्यथा ' पढमे चंदजोगे ' इत्यादौ, एतद्व्याख्यानेन ऋषभे प्रथमराजत्वं नाऽऽगमेन सह विरुध्यते, अहं भरताधिपः—भरतक्षेत्राधिपः, नरवरा-सामन्तास्तेषामिन्द्रः नास्ति मम प्रतिशत्रुः-प्रतिपक्षः जितं मया भारतं वर्षमिति कृत्वा नामक ' आउडेइ त्ति ' लिखति, अस्य सूत्रस्य निगमार्थकत्वान्न पौनरुक्त्यम्, अथ कृतकृत्यो यद् व्यवस्यति तदाह—' णामग आउडित्ता' इत्यादि, नामकं लिखित्वा रथं परावर्त्तयति, परावर्त्य च यत्रैव विजयस्कन्धावारनिवेशो यत्रैव च बाह्योपस्थानशाला तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च, अत्र यावत्पदात् तुरगान्निगृह्णाति, रथं स्थापयति, ततः प्रत्यवरोहति, मज्जनगृहं प्रविशति, स्नाति, ततः प्रतिनिष्क्रामति, भुङ्क्ते, बाह्योपस्थानशालायां सिंहासने उपविशति, श्रेणीप्रश्रेणी' शब्दापयति, क्षुल्लहिमवद्गिरिकुमारदेवस्याष्टाहिकाकरणं सन्दिशति, ताश्च कुर्वन्ति, आज्ञां च प्रत्यर्पयन्तीति ग्राह्यं, ततस्तद्दिव्यं चक्ररत्नं क्षुल्लहिमवद्गिरिकुमारस्य देवस्याष्टाहिकाया महामहिमायां निवृत्तायां सत्यामायुधगृहशालातः प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य च यावच्छब्दादन्तरिक्षप्रतिपन्नाऽऽदिविशेषणग्रहः, दक्षिणां दिशमुद्दिश्य वैताढ्यपर्वताभिमुखं प्रयातं चाप्यभवत् ।

तए णं से भरहे राया तं दिव्वं चक्करयणं ०जाव वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरिल्ले णितंबे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरिल्ले णितंबे दुवालसजोयणायामं ०जाव पोसहसालं अणुपविसइ ०जाव णमिविणमीणं विज्जाहरराईणं अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगिण्हित्ता पोसहसालाए ०जाव णमिविणमिविज्जाहररायाणो मणसी करेमाणे २ चिट्ठइ, तए णं तस्स भरहस्स रण्णो अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि णमिविणमिविज्जाहररायाणो दिव्वाए मईए चोइअमई अण्णमण्णस्स अंतिअं पाउब्भवंति, पाउब्भवित्ता एवं वयासी-उप्पण्णे खलु भो देवाणुप्पिआ ! जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी, तं जीअमेअं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं विज्जाहरराईणं चक्कवट्टीणं उवत्थाणिअं करेत्तए, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिआ ! अम्हे वि भरहस्स रण्णो उवत्थाणिअं करेमो इति कट्टु विणमी णाऊण चक्कवट्टिं दिव्वाए चोइअमई माणुम्माणप्पमाणजुत्तं तेअस्सिं रूवलक्खणजुत्तं ठिअजुव्वणकेसवट्ठिअणहं सव्वरोगणासणिं बलकरिं इच्छिअसीउण्हफासजुत्त

" तिसु तणुअं तिसु तंबं तिवलीगतिउण्णयं तिगंभीरं ।
तिसु कालं तिसु सेअं, तिआयतं तिसु अ विच्छिण्णं ॥ १ ॥"

समसरीर भरहे वासम्मि सव्वमहिलप्पहाणा सुंदरथणजघ-णवरकरचलणणयणसिरसिजदसणजणहिअयरमणमणहरिं सिंगारागार० जाव जुत्तोवयारकुसलं अमरवहूणं सुरूवं रूवेणं अणुहरंति सुभद्दं सुभद्दम्मि जोव्वणे वट्टमाणिं इत्थीरयणं णमी अ रयणाणि य कडगाणि य तुडिआणि अ गेण्हइ,गेण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरिआए० जाव उद्धूआए विज्जाहरगईए जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अंतलिक्खपडिवण्णा सखिंखिणीयाइं०जाव जएणं विजएणं वद्धावेंति वद्धावेत्ता एवं वयासी–अभिजिए णं देवाणुप्पिआ !०जाव अम्हे देवाणुप्पिआणं आणत्तिकिंकरा इति कट्टु तं पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिआ ! अम्हं इमं० जाव विणमी इत्थीरयणं णमी रयणाणि समप्पेइ । तए णं भरहे राया० जाव पडिविसज्जेइ,पडिविसज्जित्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ , अणुपविसित्ता भोअणमडवे० जाव नमिविनमीणं विज्जाहरराईणं अट्ठाहिअमहामहिमा . तए णं से दिव्वे चक्करयणे आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसिं गंगादेवीभवणाभिमुहे पयाए आवि होत्था, सच्चेव सव्वा सिंधुवत्तव्वया० जाव नवरं कुंभट्ठसहस्सं रयणचित्त णाणामणिकणगरयणभत्तिचित्ताणि अ दुवे कणगसीहासणाइं सेसं तं चेव०जाव महिम त्ति । ( सूत्रम्–६४ )

'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजा तद्दिव्यं चक्ररत्नं दक्षिणदिशि वैताढ्यपर्वताभिमुख प्रयानं पश्यति, दृष्ट्वा च प्रमोदादि तावद् वक्तव्यं यावद् भरतो यत्रैव वैताढ्यस्य पर्वतस्योत्तरपार्श्ववर्त्ती नितम्ब –कटकस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च वैताढ्यस्य पर्वतस्योत्तरभागवर्तिनि नितम्बे द्वादशयोजनाऽऽयामं,यावत्पदकरणात् नवयोजनविस्तीर्णमित्यादिक स्कन्धावारनिवेशाऽऽदि वाच्य. पौषधशालामनुप्रविशति भरत ,अत्र यावत्पदात् पौषधविशेषणानि सर्वाणि वाच्यानि , नमिविनम्यो'–श्रीऋषभस्वामिमहासामन्तकच्छमहाकच्छसुतयोर्विद्याधरराज्ञो. साधनायाष्टमभक्तमगृह्णाति,प्रगृह्य च पौषधशालाया यावच्छब्दात् पौषधिकाऽऽदिविशेषणविशिष्टो नमिविनमिविद्याधरराजानौ मनसि कुर्वाणो मनसि कुर्वाणस्तिष्ठति,एते खगा अनुकम्प्याः एतेषामुपरि बाणमोक्षणेन प्राणदर्शन न क्षत्रियधर्म इति सिन्ध्वादिसुरीणामिवानयोर्मनसि करणमात्ररूपे साधनोपाये प्रवृत्तः, तेन न द्वादशवार्षिकयुद्धमप्यत्राभिहित, यत्तु हेमचन्द्रसूरिभिरादिनाथचरित्रे शरमोचनाऽऽदि चूर्णिकृता तु युद्धमात्रं द्वादशवर्षावधि 'अन्ने भणति' इत्युक्त्वा उक्तं तन्मतान्तरमवसेयमिति, अत्रान्तरे यज्जात तदाह– 'तए णं' इत्यादि , तस्य भरतस्याष्टमभक्त परिणमति सति नमिविनमी विद्याधरराजानौ दिव्यया दिव्यानुभावजनितत्वात् मत्या–ज्ञानेन चोदितमती प्रेरितमतिकौ अवधिज्ञानाऽऽद्यभावेऽपि यक्षपोऽभ्यन्तमनोविषयकज्ञानं तत्सौधर्मेशानदेवीना मनःप्रविचारिदेवाना कामानुपक्रमनोज्ञानमिव दिव्यानुभावादवगन्तव्यम् अन्यथा तासामपि स्वविमानचूलिकाध्वजाऽऽधिमात्रविषयकावधिमतीनां तद्विरसाज्ञानासम्भवन सुरतानुकूल चेष्टान्मुखत्वं न सम्भवेदिति , एतादृशावन्योऽन्यस्यान्तिक प्रादुर्भवत. , प्रादुर्भूय च एवमवादिषाता , किमवादिषातामित्याह–' उप्पण्णे खलु ' इत्यादि उत्पन्नः खलु अवधारणं भो देवानुप्रिया ! जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतवर्षे भरतनामा राजा चतुरन्तचक्रवर्त्ती तस्माज्जीतमेतत् कल्प एषोऽतीतवर्त्तमानानागताना विद्याधरराज्ञां चक्रवर्त्तिनामुपस्थानिक–प्राभृतं कर्तुं , तद् गच्छामा देवानुप्रिया ! वयमपि भरतस्य राज्ञ उपस्थानिक कुर्म 'इति कट्टु' इत्यादि इति कृत्वा-इति अन्योऽन्य भणित्वा विनमिरुत्तरश्रेण्यधिपति सुभद्रा नाम्ना स्त्रीरत्नं नमिश्च दक्षिणश्रेण्यधिपतिः रत्नानि कटकानि त्रुटिकानि च गृह्णातीत्यन्वय. । अथ कीदृश. सन् विनमि. किं कृत्वा सुभद्रा कन्यारत्नं गृह्णातीत्याह—दिव्यया मत्या नादितमति' सन् चक्रवर्त्तिन ज्ञात्वा , अत्रानन्तरोक्तसूत्रतश्चक्रवर्त्तित्वे लब्धेऽपि यत् 'णाऊण चक्कवट्टिं' इत्याद्युक्त तत् सुभद्रा स्त्रीरत्नमस्यैवोपयोगीति योग्यताख्यापनार्थं , किंलक्षणा सुभद्रामित्याह–' मानोन्मानप्रमाणयुक्ता ', तत्र मान जलद्रोणप्रमाणता,उन्मान–तुलारोपितस्यार्द्धभारप्रमाणता य श्च स्वमुखानि नव समुच्छ्रित' स प्रमाणोपेत स्यात् । अयमर्थः-जलपूर्णाया पुरुषप्रमाणादीषदतिरिक्ताया महत्या कुण्डिकाया प्रवेशितो य. पुरुषः सारपुद्गलोपचितो जलस्य द्रोणं त्रिदशसौधर्मिकगणनापेक्षया द्वात्रिंशत्सेरप्रमाण निष्काशयति , जलद्रोणोना वा ता पूरयति स मानोपेतः , तथा सारपुद्गलोपचितत्वादेव यस्तुलायामारोपित सन्नर्द्धभार पलसहस्राऽऽत्मक तुलयति स उन्मानोपेत., तथा यद्यस्याऽऽत्मीयमङ्गुल तेनाङ्गुलेन द्वादशाङ्गुलानि मुखं प्रमाणयुक्त अनेन च मुखप्रमाणेन नव मुखानि पुरुष. प्रमाणयुक्त. स्यात् , प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलैर्नवभिर्मुखैरष्टोत्तरशतमङ्गुलाना सम्पद्यते , ततश्चैतावदुच्छ्रयः पुरुषः प्रमाणयुक्त. स्यात् , एव सुभद्राऽपि मानोन्मानप्रमाणयुक्ता, तथा तेजस्विनीं व्यक्तं रूप-सुन्दराऽऽकारो लक्षणानि च-छत्रादीनि तैर्युक्ता, स्थितमविनाशित्वाद्यौवनं यस्या. सा तथा , केशवदवस्थिता–अवर्द्धिष्णवो नखा यस्या सा तथा, तत. पदद्वयकर्मधारये ताम् । अथ भाव.–भुजमूलाऽऽदिरोमाण्यजहद्रोमस्वभावान्येव तस्या. स्युरिति, अन्यथा तत्केशपाशस्य प्रलम्बतया व्याख्यानम् उत्तरसूत्र करिष्यमाणं नोपपद्यते , सर्वरोगनाशनीं , तदीयस्पर्शमहिम्ना सर्वे रोगा नश्यन्तीति , तथा बलकरीं सम्भोगतो बलवृद्धिकरीं नापरपुरन्ध्रीणामिवास्या. परिभोगे परिभोक्तुर्बलक्षय इति भाव । ननु यदि श्रूयते समये हस्तस्पृष्टाश्वगलानिदर्शनेन स्त्रीरत्नस्य स्वकामुकपुरुषविभीषिकोत्पादनं तर्हि कथमेतदुपपद्यते ? । उच्यते—चक्रवर्त्तिनमेवापेक्ष्यैतद्विशेषणद्वयस्य व्याख्यानात् , यत्तु सत्यपि स्त्रीरत्ने ब्रह्मदत्तचक्रभूतो दाहानुपशम. तत्र समाधानमधस्तनग्रन्थे दण्डकथनव्याख्यातोऽवसेयम् , ईप्सितास्तुविपरीतत्वेनेच्छागोच-

१ तस्याः स्पर्शः चक्रवर्तिन. सर्वदोषनाशक इत्यर्थ , न चैवम ब्रह्मदत्ते दाघज्वरोपगते ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनि व्यभिचार , प्रत्यासन्नमृत्योस्तदानीं तत्स्पर्शसहने सामर्थ्याभावात् अवश्यभाविवस्तुत्वाच्च ( ५।० वृत्तौ )

रीकृता ये शीतोष्णस्पर्शास्तैर्युक्ताम् उष्णर्तौ शीतस्पर्शां शीतर्तौ उष्णस्पर्शां मध्यमर्त्तौ मध्यमस्पर्शामिति भावः । त्रिषु स्थानेषु—मध्योदरतनुलक्षणेषु तनुकां कृशां तनुमध्या तनूदरी तन्वङ्गीतिकविप्रसिद्धेः, ननु सामुद्रिकेऽन्यान्यपि दन्तत्वगादीनि तनूनि कथितानि च सति कथं तनूनां त्रिसङ्ख्याकृता युज्यते इति ? । उच्यते—विचित्रत्वात् कविरुचेस्त्रिकसङ्ख्याविशिष्टानुप्रासभासुरं बन्ध निबध्नता ग्रन्थकारेण स्त्रीपुंससाधारणानि यानि त्रिकरूपाणि लक्षणानि तानि तथैव निबद्धानि, यानि तु ऽधिकसङ्ख्याकानि तेभ्योऽत्र रत्नाप्रस्तावात् केवलं स्त्रीजात्युचितानि लक्षणानि समुच्चित्यानुप्रासाभङ्गार्थं त्रिकरूपत्वेन निबद्धानि तेन नेहापरग्रन्थविरोधः, अत एव दन्तत्वगादीनि तनून्यपि तस्या अत्र न विवक्षितानीति,एवमुत्तरत्रापि भाव्यं,त्रिषु—दृगन्ताधरयोनिलक्षणेषु स्थानेषु ताम्रां—रक्तां, दृगन्तरक्तत्वं हि स्त्रीणां दृक्चुम्बने पुरुषस्यातीव मनोहरं भवतीति, त्रयो वलयो—मध्यवर्तिरेखारूपा यस्याः सा तथा ताम्, अत्र द्वितीयैकवचनलोपः। त्रिवलीकत्वं स्त्रीणामतिप्रशस्यं पुंसां तु तथाविधं न, यदाह-" शस्त्रान्तं स्त्रीभोगिन-माचार्यं बहुसुतं यथासङ्ख्यम् । एकद्वित्रिचतुर्भि-र्वलिभिर्विद्यान्नृपं त्ववलिम् ॥ १ ॥ " तथा त्रिषु—स्तनजघनयोनिलक्षणेषु उन्नतां त्रिषु--नाभिसत्त्वस्वरूपेषु गम्भीरां त्रिषु-रोमराजीचूचुककनीनिकारूपेष्ववयवेषु कृष्णां त्रिषु-दन्तस्मितचक्षुर्लक्षणेषु श्वेतां त्रिषु-वेणीबाहुतालोचनेषु आयतां प्रलम्बां त्रिषु—श्रोणिचक्रजघनस्थलीनितम्बबिम्बेषु विस्तीर्णां समशरीरां समचतुरस्रसंस्थानत्वात्, भरते वर्षे सर्वमहिलाप्रधानां, सुन्दरं स्तनजघनवरकरचलननयनं यस्याः सा तथा तां, शिरसिजाः-केशाः दशना-दन्तास्तैर्जनहृदयरमणी-प्रप्लोकचित्तक्रीडाहेतुकम् अत एव मनोहरीं पश्चात् पदद्वयस्य कर्मधारयः, ' सिङ्गारागारा ' इत्यत्र यावत्पदात् "सिङ्गारागारचारुवेसं संगयगयहसिअभणिअचिट्ठिअविलासमंललिअसंलावनिउण इति " संग्रह. । शृङ्गारस्य प्रथमरसस्यागारं—गृहमिव चारुर्वेषो यस्याः सा तथा तां सङ्गता उचिता गतहसितभणितचेष्टितविलासा यस्याः सा तथा, तत्र गतं--गमनं, हसितं-स्मितं, भणितं--वाणी, चेष्टितं च अपुरुषवर्णविलासो—नेत्रचेष्टा तथा सह ललितेन—प्रसन्नतया ये संलापाः-परस्परभाषणलक्षणास्तेषु निपुणा या सा तथा, तथा युक्ताः—सङ्गता ये उपचारा—लोकव्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा, ततः पदत्रयकर्मधारयः तां, अमरवधूनां सुरूपं-सौन्दर्यं रूपेणानुहरन्तीम्-अनुकुर्वतीं भद्रे—कल्याणकारिणि यौवने वर्त्तमानां, शेषं तु प्राग्योजितार्थं, ' गिण्हित्ता ' इत्यादि, गृहीत्वा तयोत्कृष्टया त्वरितया यावदुद्धूतया विद्याधरगत्या यत्रैव भरतो राजा तत्रैवोपागच्छत., उपागत्य चान्तरिक्षप्रतिपन्नो सकिङ्किणीकानि, यावत्पदात् पञ्चवर्णानि वस्त्राणि प्रवरपरिहितौ इत्यादि जयेन विजयेन वर्द्धयतः वर्द्धयित्वा चैवमवदिषाताम्-अभिजितं देवानुप्रियैः, यावत्प्रपदात् सर्वं नागधनमक्षाद्यं, ' भवन्मुत्तरेणं चुल्लहिमवंतगिरिमेराए ' इति ' अम्हे णं देवाणुप्पियाणं विसयवासिणो त्ति ' आवां देवानुप्रियाणां कङ्करावित्यादि यावत् तदस्माकमन्नं देवानुप्रिया ' स्माकमिदं यावच्छब्दादेतद्रूपं प्रीतिदानमितिकृत्वा विनमिः स्त्रीरत्नं नमिश्च रत्नानि समर्पयति । अथ भरतो यत्कार्षीत्तदाह-' तए णं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा यावच्छब्दात् प्रीतिदानग्रहणसत्कारणाऽऽदि ग्राह्यं, प्रतिविसर्जयति, प्रतिविसृज्य च पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च मज्जनगृहमनुप्रविशति, अनुप्रविश्य च स्नानविधिः पूर्णोऽत्र वाच्यः ततो भोजनमण्डपे पारणं वाच्यं, यावच्छब्दादत्र श्रेणिप्रश्रेणिशब्दनम् अष्टाहिकाकरणाज्ञापनमिति, ततस्ता नमिविनम्योर्विद्याधरराज्ञोरष्टाहिकां महामहिमां कुर्वन्तीति शेष., आज्ञां च प्रत्यर्पयन्तीति प्रसङ्गाद् बोध्यमिति, अथ दिग्विजयपरमाङ्गभूतस्य चक्ररत्नस्य को व्यतिकर इत्याह-' तए णं ' इत्यादि, ततो—नमिविनमिखचरेन्द्रसाधनानन्तरं तद्दिव्यं चक्ररत्नमायुधगृहशालातः प्रतिनिष्क्रामतीत्यादिकं प्राग्वत्, नवरमुत्तरपौरस्त्यां दिशम्—ईशानदिशं, वैताढ्यतो गङ्गादेवीभवनाभिमुख गच्छतः ईशानकोणगमनस्य ऋजुमार्गत्वात्, अत्र निर्णेतुकामेन जम्बूद्वीपाऽऽलेख्य द्रष्टव्यं, गङ्गादेवीभवनाभिमुखं प्रयातं चाप्यभवत्. सैव सर्वा सिन्धुदेवीवक्तव्यता गङ्गाभिलापेन ज्ञेया यावत्प्रीतिदानमिति गम्यं, नवरं तत्रायं विशेषः—रत्नविचित्रं कुम्भाष्टाधिकसहस्रं, नानामणिकनकरत्नमयी, भक्तिः—विच्छित्तिस्तया विचित्रे च द्वे कनकसिंहासने, शेषं प्राभृतग्रहणसन्मानदानाऽऽदिकं तथैव, यावदष्टाहिका महिमेति, यच्च ऋषभकूटतः प्रत्यावृत्तो न गङ्गां साधयामास तद्वैताढ्यवर्त्तिविद्याधराणामनात्मसात्करणेन परिपूर्णोत्तरखण्डस्यासाधितत्वात् कथं गङ्गानिष्कुटसाधनायोपक्रमेते इत्यवसेयं, यच्चास्य गङ्गादेवीभवने भोगेन वर्षसहस्रातिवाहनं श्रूयते नाप्रस्तुतसूत्रे चूर्णौ चानुक्रमपि ऋषभचरित्रादवसेयम् ।



अथाग्रतो दिग्यात्रामाह—

तए णं से दिव्वे चक्करयणे गंगाए देवीए अट्ठाहियाए महामहिमाए निव्वत्ताए समाणीए आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता०जाव गंगाए महाणईए पच्चत्थिमिल्लेणं कूलेणं दाहिणदिसि खंडप्पवायगुहाभिमुहे पयाए आवि होत्था, तते णं से भरहे राया०जाव जेणेव खंडप्पवायगुहा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सव्वा कयमालकवत्तव्वया णेअव्वा,णवरि णट्टमालगे देवे पीतिदाणं से आलंकारिअभंडं कडगाणि अ सेसं सव्वं तहेव०जाव अट्ठाहिआ महाम० । तए णं से भरहे राया णट्टमालगस्स देवस्स अट्ठाहिआए म० णिव्वत्ताए समाणीए सुसेणं सेणावइं सद्दावेइ, सद्दावित्ता०जाव सिंधुगमो णेअव्वो, ०जाव गंगाए महाणईए पुरत्थिमिल्लं णिक्खुडं सगंगासागरगिरिमेरागं समविसमणिक्खुडाणि अ ओअवेइ, ओअवेत्ता अग्गाणि वराणि रयणाणि पडिच्छइ, पडिच्छित्ता जेणेव गंगा महाणई तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता दोच्चं पि सक्खंधावारबले गंगं महाणइं वि·

मन्नजलतुंगवीइं णावाभूएणं चम्मरयणेणं उत्तरइ, उत्तरित्ता जेणेव भरहस्स रण्णो विजयखंधावारणिवेसे जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अग्गाइं वराइं रयणाइं गहाय जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहिअं० जाव अजलिं कट्टु भरहं रायं जएणं विजएणं वद्धावेइ वद्धावेत्ता अग्गाइ वराइं रयणाइं उवणेइ । तए णं से भरहे राया सुसेणस्स सेणावइस्स अग्गाइ वराइं रयणाइं पडिच्छइ, पडिच्छित्ता सुसेणं सेणावइं सक्कारेइ, सम्माणेइ, पडिविसज्जेइ , तए णं से सुसेणे सेणावई भरहस्स रण्णो सेसं पि तहेव० जाव विहरइ, तए णं से भरहे राया अण्णया कयाइ सुसेणं सेणावइरयणं सद्दावेइ , सद्दावेत्ता एवं वयासी–गच्छ णं भो देवाणुप्पिआ ! खंडप्पवायगुहाए उत्तरिल्लस्स दुवारस्स कवाडे विहाडेहि, विहाडेत्ता जहा तिमिसगुहाए तहा भाणिअव्वं०जाव पिअं भे भवउ, सेसं तहेव०जाव भरहो उत्तरिल्लेणं दुवारेणं अईइ, ससिव्व मेहंधयारनिवहं तहेव पविसंतो मंडलाइं आलिहइ, तीसे णं खडगप्पवायगुहाए बहुमज्झदेसभाए०जाव उम्मग्गणिमग्गजलाओ णाम दुवे महाणईओ तहेव,णवरं पच्चच्छिमिल्लाओ कडगाओ पवूढाओ समाणीओ पुरच्छिमेणं गंगं महाणइं समप्पेंति, सेस तहेव, णवरिं पच्चच्छिमिल्लेणं कूलेणं गंगाए संकमवत्तव्वया तहेव त्ति, तए णं खंडगप्पवायगुहाए दाहिणिल्लस्स दुवारस्स कवाडा सयमेव महया महया कोंचारवं करेमाणा करेमाणा सरससरस्सगाइं ठाणाइ पच्चोसक्कित्था, तए णं से भरहे राया चक्करयणदेसियमग्गे०जाव खंडगप्पवायगुहाओ दक्खिणिल्लेणं दारेणं णीणेइ ससिव्व मेहंधयारनिवहाओ । ( सूत्रम्- ६५ )

' तए णं ' इत्यादि, ततो गङ्गादेवीसाधनानन्तर तद्दिव्यं चक्ररत्नं गङ्गाया देव्या अष्टाह्निकायां महिमाया निवृत्तायां सत्यामायुधगृहशालात· प्रतिनिष्क्रामति, यावत्पदादन्तरिक्षप्रतिपन्नपदाऽऽदिपरिग्रह·, गङ्गाया महानद्या पश्चिमे कूले दक्षिणदिशि खण्डप्रपातगुहाभिमुखं प्रयात चाप्यभवत्, ततः स भरतो राजा चक्ररत्नं पश्यतीत्यादिकं ताव द्वक्तव्यं यावत्खण्डप्रपातगुहायामागच्छतीति पिण्डार्थः। सर्वा कृतमालवक्तव्यता—तमिस्रागुहाधिपसुरवक्तव्यता नेतव्या ज्ञातव्येत्यर्थः, नवरं नाट्यमालको नृत्तमालको वा देवो गुहाधिपः प्रीतिदानं ' से ' तस्य आलङ्कारिकभाण्डम्—आभरणभृतमाजन कटकानि शेषम्-उक्तविशेषातिरिक्तं सर्वं तथैव-सत्कारसन्मानाऽऽदिकं कृतमालदेवतावद्वक्तव्यं यावदष्टाह्निका, अथ दाक्षिणात्यगङ्गानिष्कुटसाधनाधिकारमाह-'तए णं ' इत्यादि, तत·—खण्डप्रपातगुहापतिसाधनानन्तरं स भरतो राजा नाट्यमालकस्य देवस्याष्टाह्निकाया पूर्णायां सुषेण सेनापतिं शब्दयति, शब्दयित्वा च ' जाव सिन्धुगमो त्ति ' यावत्परिपूर्ण ' एवं वयासी-गच्छाहि णं भो देवाणुप्पिआ ! सिन्धुए ' इत्यादिक सिन्धुगम·—सिन्धुनदीनिष्कुटसाधनपाठो गङ्गाऽभिलापेन नेतव्य यावद् गङ्गाया महानद्याः पौरस्त्यं निष्कुटं-गङ्गायाः पश्चिमतो वहन्त्या· सागरेण पूर्वतः परिक्षेपकारिणा गिरिभ्या दक्षिणतो वैताढ्येन उत्तरतो लघु हिमवता कृता या मर्यादा—व्यवस्था तया सह वर्तते यत्तत्तथा, अन्यत्सर्वं प्राग्वत् सूत्रतो व्याख्यातश्च गङ्गागमेन परिभावनीयम् , अथ नाट्यमालदेवस्य वशीकरणप्रयोजनमाह—' तए णं ' इत्यादि , ततो-गङ्गानिष्कुटसाधनानन्तरं स भरतः सुषेण सेनापतिरत्नं शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीदित्यादिकम् अत्र गुहाकपाटोद्घाटनाज्ञापनाऽऽदिकम् एकोनपञ्चाशन्मण्डलाऽऽलेखनान्त सर्वं तमिस्रागुहायां मिव ज्ञेयम् , अत्र यो विशेषस्तन्निरूपणार्थमाह—' तीसे ण ' इत्यादि, तस्या —खण्डप्रपातगुहायाः बहुमध्यदेशभागे यावत्पदात् ' तत्थ णं ' इति पदमात्रमवसेयम , उन्मग्नजलानिमग्नजले नाम्ना द्वे महानद्यौ स्तः, तथैव—तमिस्रागुहागतोन्मग्नानिमग्नानदीगमेन ज्ञातव्ये , नवरं खण्डप्रपातगुहायाः पाश्चात्यकटकात् प्रव्यूढे सत्यौ पूर्वेण गङ्गा महानदीं समाप्नुत·—प्रविशतः,शेष विस्ताराऽऽयामोद्वेधान्तराऽऽदिकं तथैव-तमिस्रागतनदीद्वयप्रकारेणावसेय, नवरं गङ्गाया· पाश्चात्यकूले संक्रमवक्तव्यता सेतुकरणाऽऽज्ञादानविधानोत्तरणाऽऽदिकं ज्ञेयं, तथैव—प्राग्वद् ज्ञेयमिति, अथैतस्मिन्नवसरे दक्षिणतो यज्जात तदाह—' तए ण ' इत्यादि, प्राग्व्याख्यानार्थम्, अथोद्घाटितयोर्गुहादक्षिणद्वारकपाटयोः प्रयोजनमाह-' तए णं ' इत्यादि, तत· कपाटोद्घाटनानन्तरं स भरतो राजा चक्ररत्नदेशितमार्ग , यावत्करणात् ' अणेगरायवरसहस्साणुआयमग्गे महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेण पक्खुभिअमहासमुद्दरवभूअं पिव करेमाणे ' इति पदानां परिग्रह , खण्डप्रपातगुहातो दक्षिणद्वारेण निरेति शशीव मेहान्धकारनिवहात्, प्राग्व्याख्यातं , ननु चक्रिणा तमिस्रया प्रवेशः खण्डप्रपातया निर्गमः किङ्कारणिक· ?, खण्डप्रपातया प्रवेशस्तमिस्रया निर्गमोऽस्तु, प्रवेश निर्गमरूपस्य कार्यस्योभयत्र तुल्यत्वात् ?, उच्यते-तमिस्रया प्रवेशे खण्डप्रपातानिर्गमे च सृष्टि , तया च क्रियमाणस्य तस्य प्रशस्तोदर्कत्वात्, अन्यथा खण्डप्रपातया प्रवेशे आसन्नोपस्थीयमान ऋषभकूटे चतुर्दिक्पर्यन्तसाधनमन्तरेण नामन्यासोऽपि न स्यादिति ।

अथ दक्षिणभरतार्द्धाऽऽगतो भरतो यच्चके तदाह—

तए णं से भरहे राया गंगाए महाणईए पच्चच्छिमिल्ले कूले दुवालसजोअणायामं णवजोअणविच्छिण्णं ० जाव विजयखंधावारणिवेसं करेइ, अवसिट्ठं तं चेव० जाव निहिरयणाणं अट्ठमभत्तं पगिण्हइ , तए णं से भरहे राया पोसहसालाए० जाव णिहिरयणे मणसि करेमाणे करेमाणे चिट्ठइ त्ति, तस्स य अपरिमिअरत्तरयणा धुअमक्खयमव्वया सदेवा लोकोपचयकरा उवगया णव णिहिओ लोगविस्सुअजसा । तं जहा–

" नेसप्पे१पंडुअए२, पिंगलए३सव्वरयण४महपउमे ५ ।
काले६अ महाकाले७, माणवगे महानिही८संखे ९॥ १ ॥"
"णेसप्पम्मि णिवेसा, गामागरणगरपट्टणाणं च ।
दोणमुहमडंबाणं, खंधावारावणगिहाणं ॥ १ ॥
गणिअस्स य उप्पत्ती, माणुम्माणस्स जं पमाणं च ।
धण्णस्स य बीआण य, उप्पत्ती पंडुए भणिआ ॥ २ ॥
सव्वा आभरणविही, पुरिसाणं जा य होइ महिलाणं ।
आसाण य हत्थीण य, पिंगलगणिहिम्मि सा भणिआ ॥३॥
रयणाइं सव्वरयणे, चउदस वि वराइं चक्कवट्टिस्स ।
उप्पज्जंते एर्गिं-दिआई पंचिंदिआइं च ॥ ४ ॥
वत्थाण य उप्पत्ती, णिप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं ।
रंगाण य धोव्वाण य, सव्वा एसा महापउमे ॥ ५ ॥
काले कालण्णाणं, सव्वपुराणं च तिसु वि वंसेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि अ, तिण्णि पयाए हियकराणि ॥६॥
लोहस्स य उप्पत्ती, होइ महाकालि आगराणं च ।
रुप्पस्स सुवण्णस्स य, मणिमुत्तसिलप्पवालाणं ॥ ७ ॥
जोहाण य उप्पत्ती, आवरणाणं च पहरणाणं च ।
सव्वा य जुद्धणीई, माणवगे दंडणीई अ ॥ ८ ॥
णट्टविही णाडगविही, कव्वस्स य चउव्विहस्स उप्पत्ती ।
संखे महाणिहिम्मी, तुडिअंगाणं च सव्वेसिं ॥ ९ ॥
चक्कट्ठपइट्ठाणा, अट्ठुस्सेहा य णव य विक्खंभा ।
बारसदीहा मंजू-ससंठिआ जण्हवीइ मुहे ॥ १० ॥
वेरुलिअमणिकवाडा, कणगमया विविहरयणपडिपुण्णा ।
ससिसूरचक्कलक्खण, अणुसमवयणोववत्ती या ॥ ११ ॥
पलिओवमट्ठिईआ, णिहिसिरिणामा य तत्थ खलु देवा ।
जेसिं ते आवासा, अक्किज्जा आहिवच्चा य ॥ १२ ॥
एए णव णिहिरयणा, पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा ।
जे वसमुवगच्छंती, भरहाविव चक्कवट्टीणं ॥ १३ ॥ "

तए णं से भरहे राया अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, एवं मज्जणघरपवेसो० जाव सेणिपसेणिसद्दावणया० जाव णिहिरयणाणं अट्ठाहिअं महामहिमं करेइ, तए णं से भरहे राया णिहिरयणाणं अट्ठाहिआए महामहिमाए णिव्वत्ताए समाणीए सुसेणं सेणावइरयणं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छ णं भो देवाणुप्पिआ ! गंगामहाणईए पुरच्छिमिल्लं णिक्खुडं दुच्चं पि सगंगासागरगिरिमेरागं समविसमणिक्खुडाणि अ ओअवेहि, ओअवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि त्ति तए णं से सुसेणे तं चेव पुव्ववण्णिअं भाणिअव्वं ०जाव ओअवित्ता तमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ, पडिविसज्जेइ ०जाव भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

तए णं से दिव्वे चक्करयणे अन्नया कयाइ आउहघरसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अंतलिक्खपडिवण्णे जक्खसहस्ससंपरिवुडे दिव्वतुडिअ ०जाव आपूरेंते चेव विजयक्खंधावारणिवेसं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, दाहिणपच्चच्छिमं दिसिं विणीअं रायहाणिं अभिमुहे पयाए आवि होत्था । तए णं से भरहे राया ०जाव पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठ ०जाव कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पमेव भो देवाणुप्पिआ ! आभिसेक्कं ०जाव पच्चप्पिणंति । ( सूत्रम्—६६ )

'तए ण' इत्यादि, ततो—गुहानिर्गमानन्तरं स भरतो राजा गङ्गाया महानद्याः पश्चिमे कूले द्वादशयोजनाऽऽयामं नवयोजनविस्तीर्णं, यावत्पदात् 'वरणगरसरिच्छं' इति ग्राह्यं, विजयस्कन्धावारनिवेशं करोति, अवशिष्ट-वर्द्धकिरत्नशब्दाऽऽज्ञापनाऽऽदिकं तदेव यन्मागधदेवसाधनावसरे उक्तमिति, यावच्छब्दात्पौषधशालादर्भसंस्तारकसस्तरणाऽऽदि ज्ञेयं, निधिरत्नानामष्टमभक्तं प्रगृह्णाति, तत. स भरतो राजा पौषधशालायां यावत्पदात् 'पोसहि'इत्यादिकम्, 'णवं अवीण' इत्यन्त पदकदम्बक ग्राह्यं'निधिरत्नानि मनसि कुर्वन् रतिष्ठति, इत्थमनुतिष्ठतस्तस्य किं जातमित्याह—'तस्स य' इत्यादि, तस्य—भरतस्य चशब्दोऽर्थान्तराऽऽरम्भे नव निधय उपागता-उपस्थिता इत्यन्वयः, किंभूताः ?-अपरिमितानि रक्तानि उपलक्षणादनेकवर्णानि रत्नानि येषु ते तथा, इद च विशेषणं तन्मतापेक्षया बोध्यं यन्मते निधिष्वनन्तरमेव वक्ष्यमाणाः पदार्थाः साक्षादेवोत्पद्यन्ते इति, अयमर्थ -एतेषां मते नवसु निधिषु कल्पपुस्तकानि शाश्वतानि सन्ति, तेषु च विश्वस्थितिराख्यायते, केषाञ्चित्तु मते कल्पपुस्तकप्रतिपाद्या अर्थाः साक्षादेव तत्रोत्पद्यन्ते इति, एतयोरपरमतापेक्षया ' अपरिमिए ' इत्यादि विशेषणमिति, तथा ध्रुवास्तथाविधपुस्तकवैशिष्ट्य रूपस्वरूपस्यापरिहाणेः अक्षयाः अवयविद्रव्यस्यापरिहाणेः अव्ययाःस्वदारम्भकप्रदेशापरिहाणे., अत्र प्रदेशापरिहाणियुक्तिः समयसंवादिनी पद्मवरवेदिकाव्याख्यासमये निरूपितेति ततोऽवसेया, अत्र पदद्वये मकारोऽलाक्षणिक, तत पदत्रयकर्मधारयः, सदेवा अधिष्ठायकदेवकृतसान्निध्या इति भाव. । लोकोपचयङ्कराः अत्र, " नवा खित्कृदन्ते राश्रे. " ( श्रीसि० अ० ३ पा० २ सू० १२६ ) इति सूत्रे योगविभागेन व्याख्याने तीर्थङ्कराऽऽदिशब्दवत् साधुत्वं ज्ञेयं, यद्वा— देवनागसुवर्णकिंनरगणस्सभूअभावचिए, इत्यादिवदार्षत्वादनुस्वारे लोकोपचयकराः-वृत्तिकल्पकरूपपुस्तकप्रतिपादनेन लोकानां पुष्टिकारका लोकविख्याता यशस्का इति, अथ नामतस्तानुपदर्शयति—तद्यथेत्युपदर्शने नैसर्पस्य देवविशेषस्यायं नैसर्पः, एवमग्रेऽपि भाव्यम्, अथ यत्र निधौ यदाख्यायते तदाह—'णेसप्पे' इत्यादि, नैसर्पनामनि निधौ निवेशा'—स्थापनानि स्थापन विषयो ग्रामाऽऽदीनां गृहपर्यन्तानां व्याख्यायन्ते, तत्र ग्रामा· वृत्त्यावृत' आकरो-यत्र लवणाऽऽद्युत्पद्यते नगरं-राजधानी· पत्तनं-रत्नयोनिर्द्रोणमुख-जलस्थलनिर्गमप्रवेश मडम्बम्-अर्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितं स्कन्धावार -कटकम् आपणो·

हट्टः, गृहं-भवनम् उपलक्षणात् खेटकर्बटाऽऽदिग्रहः ॥१॥ अथ द्वितीयनिधानवक्तव्यतामाह-' गणिअस्स ' इत्यादि, गणितस्य-सङ्ख्येय।प्रधानतया व्यवहर्त्तव्यस्य दीनाराऽऽदेः नालिकेराऽऽदेर्वा,चशब्दात् परिच्छेद्यधनस्य मौक्तिकाऽऽदेरुत्पत्तिप्रकारः,तथा मानं-सेतिकाऽऽदि तद्विषयं यत्तदपि मानमेव धान्याऽऽदि मेयमिति भावः,तथा उन्मानं-तुलाकर्षाऽऽदि तद्विषय यत्तदप्युन्मान खण्डगुडाऽऽदि धरिमजातीय धनमित्यर्थः,ततः समाहारद्वन्द्वस्तस्य च यत्प्रमाणं लिङ्गविपरिणामेन तत्पाण्डुके भणितमिति सम्बन्धः, धान्यस्य-शाल्याऽऽदेर्बीजाना च-वापयोग्यधान्यानामुत्पत्तिः पाण्डुके निधौ भणिता ॥ २ ॥ अथ तृतीयनिधिस्वरूपं निरूप्यते-'सव्वा आभरण ' इत्यादि, सर्वे आभरणविधिर्यः पुरुषाणां यश्च महिलाना तथाऽश्वाना हस्तिना च स यथौचित्येन पिङ्गलकनिधौ भणितः लिङ्गविपरिणामः प्राकृतशैलीभवः ॥ ३ ॥ अथ चतुर्थनिधिः-'रयणाइ ' इत्यादि । रत्नानि चतुर्दशापि वराणि चक्रवर्त्तिनश्चक्राऽऽदीनि सप्तैकेन्द्रियाणि सेनापत्यादीनि च सप्त पञ्चेन्द्रियाणि सर्वरत्नाऽऽख्ये महानिधावुत्पद्यन्ते, तदुत्पत्तिः तत्र व्यावर्ण्यत इत्यर्थः, अन्ये त्वेवमाहु -उत्पद्यन्ते एतत्प्रभावात् स्फातिमद्भवन्तीत्यर्थ ॥ ४ ॥ अथ पञ्चमो निधिः—' वत्थाण य ' इत्यादि, सर्वेषां वस्त्राणां च या उत्पत्तिस्तथा सर्वभक्तीनां वस्त्रगतसर्वरचनानां रङ्गाना च-मञ्जिष्ठाकृमिरागकुसुम्भाऽऽदीनां ' धोव्वाण य त्ति ' सर्वेषां प्रक्षालनविधीनां च या निष्पत्तिः सर्वा एषा महापद्मनिधौ ॥ ५ ॥ अथ षष्ठो निधिः-' काले कालण्णाणं ' इत्यादि, कालनामनि निधौ कालज्ञानं-सकलज्योतिःशास्त्रानुबन्धि ज्ञान तथा जगति त्रयो वंशा वंशः, प्रवाहः, आवलिका इत्येकार्थाः, तद्यथा-तीर्थङ्करवंशश्चक्रवर्त्तिवंशो बलदेववासुदेववंशश्च, तेषु त्रिष्वपि वंशेषु यद्भाव्य यच्च पुराणमतीतमुपलक्षणमेतद्वर्त्तमान शुभाशुभ तत्सर्वमत्रास्ति, इतो महानिधितो ज्ञायत इत्यर्थ , शिल्पशत-विज्ञानशतं घटलोहचित्रवस्त्रनापितशिल्पाना पञ्चाना मपि प्रत्येक विंशतिभेदत्वात् कर्माणि च-कृषिवाणिज्याऽऽदीनि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि त्रीण्येतानि प्रजाया हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात् एतत्सर्वमत्राभिधीयते ॥ ६ ॥ अथ सप्तमो निधिः—' लोहस्स य ' इत्यादि, लोहस्य च नानाविधस्योत्पत्तिर्भवति महाकाले निधौ, तत्र तदुत्पत्तिराख्यायते इत्यर्थः, तथा रूप्यस्य सुवर्णस्य च मणीना चन्द्रकान्ताऽऽदीना मुक्ताना-मुक्ताफलाना शिलाना-स्फाटिकाऽऽदीनां प्रवालाना च सम्बन्धिनाम् आकराणामुत्पत्तिर्भवति,महाकाले निधाविति योगः ॥ ७ ॥ अथाष्टम —' जोहाण य ' इत्यादि, योधाना—शूरपुरुषाणां, चशब्दात् कातराणामुत्पत्तिरभिधीयते , यथा योधत्वं कातरत्व च जायते तथाऽत्राभिधीयते इत्यर्थः , तथा आवरणानां च—खेटकानां सन्नाहानां वा प्रहरणानाम्—अस्त्रादीनां च सर्वा च युद्धनीतिः-व्यूहरचनाऽऽदिलक्षणा सर्वाऽपि च दण्डेनोपलक्षितानीतिर्दण्डनीतिः-सामाऽऽदिश्चतुर्विधा माणवकनाम्नि निधावभिधीयते, तत्र प्रवर्त्तत इति भाव ॥ ८ ॥ अथ नवम ' णट्टविही णाडगविही ' इत्यादि, सर्वोऽपि नृत्यविधिः नाट्यकरणप्रकारः सर्वोऽपि च नाटकविधिः—अभिनेयप्रबन्धप्रपञ्चनप्रकार तथा चतुर्विधस्य काव्यस्य ग्रन्थस्य धर्मा१र्थ२काम३मोक्ष४लक्षणपुरुषार्थनिबद्धस्य, अथवा संस्कृत१प्राकृता२पभ्रंश३संकीर्ण४भाषानिबद्धस्य गद्य१पद्य-२गेय३चौर्ण४पदबद्धस्य वा उत्पत्तिः—निष्पत्तिस्तद्विधिः , तत्राऽऽद्यं काव्यचतुष्कं प्रतीत , द्वितीयचतुष्के संस्कृतप्राकृते सुबोधे, अपभ्रंश —तत्तद्देशेषु शुद्ध भाषित, सङ्कीर्णभाषा-शौरसेन्यादिः , तृतीयचतुष्कं गद्यम्—अच्छन्दोबद्ध शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययनवत् , पद्य-छन्दोबद्ध विमुक्त्यध्ययनवत् , गेयं-गान्धर्व्या रीत्या बद्ध गानयोग्य, चौर्ण-बाहुलकविधिबहुल गमपाठबहुल निपातबहुल निपाताव्ययबहुल ब्रह्मचर्याध्ययनपदवत् . अत्र चेतरयोर्गद्यपद्यान्तर्भावेऽपि यत्पृथगुपादान तद्गानधर्माऽऽधेयधर्मविशिष्टतया विशेषणविवक्षणार्थं , शङ्खे महानिधौ , तथा त्रुटिताङ्गाना च तूर्याङ्गाणां सर्वेषां वा ततातताद्यवाद्यभेदभिन्नानामुत्पत्तिः शङ्खमहानिधाविति ॥९॥ अथ नवानामपि निधीना साधारण स्वरूपमाह—' चक्कट्ठ ' इत्यादि , प्रत्येकमष्टसु चक्रेषु प्रतिष्ठान—अवस्थानम् येषा ते तथा, यत्र यत्र वाह्यन्ते तत्र तत्राष्टचक्रप्रतिष्ठिता एव वहन्ति , प्राकृतत्वादष्टशब्दस्य परनिपातः , अष्टौ योजनानि उत्सेध -उच्चैस्त्व येषा ते तथा, नव च योजनानीति गम्यते, विष्कम्भेण विस्तारेण नवयोजनविस्तारा इत्यर्थः , द्वादशयोजनदीर्घा मञ्जूषावत्संस्थिताः , जाह्नव्या-गङ्गाया मुखे यत्र समुद्र गङ्गा प्रविशति तत्र सन्तीत्यर्थः, " इत्यूचुस्ते वयं गङ्गा-मुखमागधवासिनः । आगतास्त्वा महाभाग !, त्वद्भाग्येन वशीकृता ॥ १ ॥ " इति त्रिषष्टीयचरित्रोक्तेः , चक्रयुत्पत्तिकाले च भरतविजयानन्तर चक्रिणा सह पातालमार्गेण भाग्यवत्पुरुषाणा हि पदाध स्थितयो निधय इति चक्रिपुरमनुयान्ति, तथा वैडूर्यमणिमयानि कपाटानि येषां ते तथा, मयट्प्रत्ययस्य वृत्त्या उक्तार्थता, कनकमया -सौवर्णाः विविधरत्नप्रतिपूर्णाः शशिसूरचक्राऽऽकाराणि लक्षणानि-चिह्नानि-येषा ते तथा , प्रथमाबहुवचनलोपः प्राकृतत्वात् , अनुरूपा समा-अविषमा वदनोपपत्ति -द्वारघटना येषां ते तथा, पल्योपमस्थितिका निधिसदृग्नामान खलु , तत्र च निधिषु ते देवा येषां देवानां त एव निधयः आवासाः—आश्रयाः, किंभूता —अक्रेया —अक्रयणीया . किमर्थमित्याह—आधिपत्याय आधिपत्यनिमित्तं , कोऽर्थः ?—तेषामाधिपत्यार्थी कश्चित्क्रयेण-मूल्यदानाऽऽदिरूपेण तान् न लभते इति किन्तु पूर्वसुचरितमहिम्नैवेत्यर्थ , एते नव निधय प्रभूतधनरत्नसंचयसमृद्धाः ये भरताधिपाना—षट्खण्डभरतक्षेत्राधिपाना चक्रवर्त्तिना वशमुपगच्छन्ति-वश्यता यान्ति एतेन वासुदेवाना चक्रवर्त्तित्वेऽप्येतद्विशेषणव्युदास , निधिप्रकरणे चात्रस्थानाङ्गप्रवचनसारोद्धाराऽऽदिवृत्तिगतानि बहूनि पाठान्तराणि ग्रन्थविस्तरभयादुपेक्ष्यैतत्सूत्रादर्शदृष्ट एव पाठो व्याख्यातः । अथ सिद्धनिधानो भरतो यच्चक्रे तदाह—' तए णं ' इत्यादि व्यक्तम् , अथ षट्खण्डदत्तदृष्टिर्भरतो यथोत्सहते तथाऽऽह—' तए ण ' इत्यादि, इदमपि प्रायो व्यक्तं नवर गङ्गाया महानद्याः पौरस्त्य निष्कुटमित्युक्ते उदीचीनमपि स्यादिति द्वितीयमित्युक्तम् , अवशिष्ट न अस्यैव प्रासमसरत्वात् , गङ्गाया पश्चिमतो वहन्त्याः सागराभ्या—

प्राच्यापाच्यायाम्या गिरिणा—वैताढ्येनोत्तरवर्त्तिना कृता या मर्यादा-क्षेत्रविभागस्तया सह वर्त्तते यत्तत्तथा. अथ सुषेणा वक्तव्ये तदाह—'तए णं ' इत्यादि , ततः—स्वाम्याज्ञप्त्यनन्तर सुषेणस्तं निष्कुटं साधयतीत्यादि. तदेव पूर्ववर्णितं दाक्षिणात्यसिन्धुनिष्कुटवर्णितं भणितव्यम् , कियत्पर्यन्तमित्याह-यावन्निष्कुटं साधयित्वा तामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयति-प्रतिविसृष्टो यावद् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति । अथ साधितखण्डप्रपातखण्डे भरते सति यच्चक्रमुपचक्रमे तदाह—'तए णं ' इत्यादि, ततो-गङ्गादक्षिणनिष्कुटविजयानन्तर तद् दिव्यं चक्ररत्नम् अन्यदा कदाचिदायुधगृहात् प्रतिनिष्क्रामति, विशेषणैकदेशा अशेषविशेषणस्मारणार्थं, तेनान्तरिक्षप्रतिपन्नं यक्षसहस्रसम्परिवृतं दिव्यत्रुटितसन्निनादेनाऽऽपूरयदिवाम्बरतलं विजयस्कन्धावारनिवेशं मध्यंमध्येन-विजयस्कन्धावारस्य मध्यभागेन निर्गच्छति, दक्षिणपश्चिमां दिशि—नैर्ऋतीं विदिशं प्रति विनितां राजधानीमभिकृत्याभिमुखं प्रयात चाप्यभवत् , अयं भावः—खण्डप्रपातगुहाऽऽसन्नस्कन्धावारनिवेशाद् विनीतां जिगमिषोर्नैर्ऋत्यामभिमुखगमनं लाघवायेति भावः , अथाभिविनीत प्रस्थिते चक्रे भरतः किं चक्रे इत्याह—' तए णं ' इत्यादि , ततः चक्रप्रस्थानादनन्तरं स भरतो राजा तद्दिव्य चक्ररत्नमित्यादि यावत्पश्यति. दृष्ट्वा च हृष्टतुष्टाऽऽदिविशेषणः कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति. शब्दयित्वा चैवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया ! आभिषेक्यं, यावत्करणात् हस्तिरत्नं प्रतिकल्पयत. सेना सन्नाहयत, ते च सर्वं कुर्वन्ति. आज्ञां च प्रत्यर्पयन्ति ।

अथोऽक्रमेणार्थे दिग्विजयकालाऽऽयधिकार्थविवक्षया विस्तरवाचनया चाऽऽह—

हाणुपुव्वीए संपट्ठिआ , तयणंतर च णं बत्तीसं रायवरसहस्सा अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तयणंतरं च णं सेणावइरयणे पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिए, एवं गाहावइरयणे वड्ढइरयणे पुरोहिअरयणे , तयणंतरं च णं इत्थिरयणे पुरओ अहाणुपुव्वीए०जाव तयणंतरं च णं बत्तीसं उउकल्लाणिआ सहस्सा पुरओ अहाणुपुव्वीए०जाव तयणंतरं च णं बत्तीसं जणवयकल्लाणिआसहस्सा पुरओ अहाणुपुव्वीए० तयणंतरं च णं बत्तीसं बत्तीसइबद्धा णाडगसहस्सा पुरओ अहाणुपुव्वीए ०जाव तयणंतरं च णं तिण्णि सट्ठा सूअसया पुरओ अहाणुपुव्वीए ०जाव तयणंतरं च णं अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ पुरओ०जाव तयणंतरं च णं चउरासीइं आससयसहस्सा पुरओ०जाव तयणंतरं च णं चउरासीइं हत्थिसयसहस्सा पुरओ अहाणुपुव्वीए ०जाव तयणंतरं च णं छण्णउई मणुस्सकोडीओ पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तयणंतरं च णं बहवे राईसरतलवर ०जाव सत्थवाहप्पभिईओ पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ तयणंतरं च णं बहवे असिग्गाहा लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा फलगग्गाहा परसुग्गाहा पोत्थयग्गाहा वीणग्गाहा कूअग्गाहा हडप्फग्गाहा दीविअग्गाहा सएहिं सएहिं रूवेहिं, एवं वेसेहिं चिंधेहिं निओएहिं सएहिं २ वत्थेहिं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिआ, तयणंतरं च णं बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो

वद्धइरयणं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता० जाव पोसहमालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता विणीआए रायहाणीए अट्ठमभत्तं पगिएहइ, पगिण्हित्ता० जाव अट्ठमभत्तं पडिजागरमाणे २ विहरइ। तए णं से भरहे राया अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता तहेव ०जाव अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवइं णरवई दूरूढे, तं चेव सव्वं जहा हेट्ठा, णवरिं णव महाणिहिओ चत्तारि सेणाओ ण पविसंति, सेसो सो चेव गमो०जाव णिग्घोसणाइएणं विणीआए रायहाणीए मज्झमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव भवणवरवडिंसगपडिदुवारे तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तए णं तस्स भरहस्स रण्णो विणीअं रायहाणिं मज्झमज्झेणं अणुपविसमाणस्स अप्पेगइआ देवा विणीअं रायहाणिं सब्भंतरवाहिरिअं आसिअसम्मज्जिओवलित्तं करेंति, अप्पेगइआ मचाइमंचकलिअं करेंति, एवं सेसेसु विपएसु अप्पेगइआ णाणाविहरागवसणुस्सियधयपडागामंडितभूमिअं, अप्पेगइआ लाउल्लोइअमहिअं करेंति, अप्पेगइआ० जाव गंधवट्टिभूअं करेंति, अप्पेगइआ हिरण्णवासं वासिंति, सुवण्णरयणवइरआभरणवासं वासेंति, तए णं तस्स भरहस्स रण्णो विणीअं रायहाणिं मज्झमज्झेणं अणुपविसमाणस्स सिंघाडग० जाव महापहेसु बहवे अत्थत्थिआ कामत्थिया भोगत्थिआ लाभत्थिआ इड्ढिसिआ किब्बिसिआ कारोडिआ कारवाहिआ संखिया चक्किआ णंगलिआ मुहमंगलिआ पूसमाणया वद्धमाणया लंखमंखमाइआ ताहिं ओरालाहिं इट्ठाहिं कंताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं सिवाहिं धण्णाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीआहिं हिअयगमणिज्जाहिं हिअयपल्हायणिज्जाहिं वग्गूहिं अणुवरयं अभिणंदंता य अभिथुणंता य एवं वयासी-जय जय णंदा! जय जय भद्दा! भद्दं ते अजिअं जिणाहि जिअं पालयाहि जिअमज्झे वसाहि इंदो विव देवाणं चंदो विव ताराणं चमरो विव असुराणं धरणो विव नागाणं बहूइं पुव्वसयसहस्साइं बहूईओ पुव्वकोडिओ बहूईओ पुव्वकोडाकोडीओ विणीआए रायहाणीए चुल्लहिमवंतगिरिसागरमेरागस्स य केवलकप्पस्स भरहस्स वासस्स गामागरणगरखेडकब्बडमडवदोणमुहपट्टणासमसण्णिवेसेसु सम्मं पयापालणोवज्जिअलद्धजसे महया०जाव आहेवच्चं पोरेवच्चं० जाव विहराहि त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति, तए णं से भरहे राया णयणमालासहस्से पिच्छिज्जमाणे पिच्छिज्जमाणे वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे हिअयमालासहस्सेहिं उण्णंदिज्जमाणे उण्णंदिज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे २ कंतिरूवसोहग्गगुणेहिं पिच्छिज्जमाणे पिच्छिज्जमाणे अंगुलिमालासहस्सेहिं दाइज्जमाणे दाइज्जमाणे दाहिणहत्थेणं बहूणं णरणारीसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छेमाणे पडिच्छेमाणे भवणपंतीसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छमाणे तंतीतलतुडिअगीअवाइअरवेणं मधुरेणं मणहरेणं मंजुमंजुणा घोसेणं अपडिवुज्झमाणे अपडिवुज्झमाणे जेणेव सए गिहे जेणेव सए भवणवरवडिंसयदुवारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ, ठवेत्ता अभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता सोलस देवसहस्से सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता बत्तीसं रायसहस्से सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता सेणावइरयणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता एवं गाहावइरयणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता तिण्णि सट्ठे सूअसए सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ सक्कारेइ, सम्माणेइ सम्माणेत्ता अण्णे वि बहवे राईसर०जाव सत्थवाहप्पभिईओ सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ, इत्थीरयणेणं बत्तीसाए उडुकल्लाणिआसहस्सेहिं बत्तीसाए जाणवयकल्लाणिआसहस्सेहिं बत्तीसाए बत्तीसइबद्धेहिं णाडयसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे भवणवरवडिंसगं अईइ जहा कुवेरो व्व देवराया कैलाससिहरिसिंगभूअं ति, तए णं से भरहे राया मित्तणाइणिअगसयणसंबंधिपरिअणं पच्चुवेक्खइ, पच्चुवेक्खित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता०जाव मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव भोअणमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भोअणमंडवंसि सुहासणवरगए अट्ठमभत्तं पारेइ, पारेत्ता उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धेहिं णाडएहिं उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवणच्चिज्जमाणे उवणच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवगिज्जमाणे महया०जाव भुंजमाणे विहरइ। (सूत्रम्-६७)

'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजा अर्जितराज्यो—लब्धराज्यो निर्जितशत्रुरुत्पन्नसमस्तरत्नस्तत्रापि चक्ररत्नप्रधानो नव निधिपतिः समृद्धकोशः—सम्पन्नभाण्डागारः द्वात्रिंशद्राजवरसहस्रैरनुयातमार्गः षष्ट्या वर्षसहस्रैः केवलकल्पं—परिपूर्णं भरतवर्षं साधयित्वा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति, शब्दयित्वा चैवमवादीत्—क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया! आभिषेक्यं 'हत्थि त्ति' हस्तिवर्णकस्मारणं 'हयगयरह त्ति' सेनासन्नाहनस्मारणं तथैव पूर्ववत्, स्नानविधिभूषणविधिसैन्योपस्थितिहस्तिरत्नोपागमनानि वाच्यानि, अञ्जनगिरिशृङ्गसदृशं गजपतिं नरपतिरारूढवान्। अथ प्रस्थिते नरपतौ के पुरतः के पृष्ठतः के पार्श्वतश्च

प्रस्थितवन्त इत्याह—' तए णं ' इत्यादि, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञ आभिषेक्यं हस्तिरत्नमारूढस्य सत इमान्यष्टाष्टमङ्गलकानि पुरतो यथानुपूर्व्या—यथाक्रमं संप्रस्थितानि चलितानि, तद्यथा—स्वस्तिकश्रीवत्स० यावत्पदात् पूर्वोक्तमङ्गलकानि ग्राह्याणि, यद्यप्येकाधिकारप्रतिबद्धत्वेनास्य ग्रन्थस्याधिकारसूत्रस्य लिखनं युक्तिमत्तथापि सूत्रभूयिष्ठत्वेन वृत्तिर्दूरगता वाचयितॄणां सम्मोहाय स्यादिति प्रत्येकाऽऽलापकं वृत्तिर्लिख्यते इति, ' तयणंतरं च णं ' इत्यादि तदनन्तरं च पूर्णजलभृतं ' कलशभृङ्गारं ' कलशः—प्रतीतः भृङ्गारः—कनकालुका, ततः समाहारादेकवद्भावः, इदं च जलपूर्णत्वेन मूर्त्तिमद् ज्ञेय, तेनाऽऽलेख्यरूपाष्टमङ्गलान्तर्गतकलशाद्यं कलशो भिन्नः, दिव्येव दिव्या—प्रधाना, चः समुच्चये. स च व्यवहितसम्बन्धः छत्रविशिष्टा पताका च, यावत्पदात् ' सचामरा दंसणरइअआलोअदरिसणिज्जा वाउद्धूअविजयवेजयंती अब्भुस्सिआ गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए ' इति ग्राह्यम्, अत्र व्याख्या-सचामरा—चामरयुक्ता—दर्शने—प्रस्थातुर्दृष्टिपथे रचिता मङ्गल्यत्वात् अत एवाऽऽलोके—बहिः प्रस्थानभाविनि शकुनानुकूल्याऽऽलोकने दर्शनीया—द्रष्टुं योग्या, ततो विशेषणसमासः. काऽसावित्याह—वातोद्धूता विजयसूचिका वैजयन्ती-पार्श्वतो लघुपताकाद्वययुक्तः पताकाविशेषः प्राग्वत्, उच्छ्रिता-उच्चा गगनतलमनुलिखन्ती अत्युच्चतया, एते च कलशाऽऽदयः पदार्थाः पुरतोयथानुपूर्व्या संप्रस्थिता इति, ' तए णं ' इत्यादि, ततो वैडूर्यमयो ' भिसंत त्ति ' दीप्यमानो विमलो दण्डो यस्मिंस्तत्तथा, यावत्पदात् ' पलम्ब कोरण्टमल्लदामोवसोहिअं चन्दमंडलनिभं समूसिअं विमलं आयवत्त पवरं सिंहासणं च मणिरयणपायपीढ सपाउआजोगसमाउत्त बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअ ति, अत्र व्याख्या-प्रलम्बेन कोरण्टाभिधानवृक्षस्य माल्यदाम्ना, पुष्पमालयोपशोभितं चन्द्रमण्डलनिभं समुच्छ्रितम् ऊर्ध्वीकृतं विमलमातपत्रं-छत्रं प्रवरं सिंहासनं च मणिरत्नमयं पादपीठ—पदासनं यस्मिंस्तत्तथा. स्वः—स्वकीयो राजसत्क इत्यर्थ, पादुकायोगः—पादरक्षणयुगं तेन समायुक्तं, बहव किङ्कराः—प्रतिकर्म पृच्छाकारिण· कर्मकरा -ततोऽन्यथा विधास्ते च ते पुरुषाश्चेति समासः। पादात—पदातिसमूहस्तैः परिक्षिप्तं-सर्वतो वेष्टितं तैर्धृतत्वादेव पुरतो यथानुपूर्व्या संप्रस्थितं, ' तए णं ' इत्यादि, ततः सप्त एकेन्द्रियरत्नानि पृथिवीपरिणामरूपाणि पुरतः संप्रस्थितानि, तद्यथा· चक्ररत्नाऽऽदीनि प्रागभिहितस्वरूपाणि, चक्ररत्नस्य च एकेन्द्रियरत्नखण्डसूत्रपाठादेवात्र भणनं, तस्य मार्गदर्शकत्वेन सर्वतः पुर. संचरणीयत्वात्, अत्र च गत्यानन्तर्यस्य च क्रमुपक्रान्तत्वादिति, ' तयणंतरं च णं णव महाणिहिओ पुरओ ' इत्यादि, ततो नव महानिधयोऽग्रतः प्रस्थिताः पातालमार्गेणेति गम्यम्, अन्यथा तेषां निधिव्यवहार एव न सङ्गच्छते, तद्यथा—नैसर्प. पाण्डुको यावच्छङ्खः सर्वे प्राग्वत्, उक्ता स्थावराणां पुरतो गतिः किङ्करजनधृतत्वेन दिव्यानुभावेन वा। अथ जङ्गमानां गतेरवसर इति ' तयणंतरं च णं सोलस देव ' इत्यादि, ततः षोडश देवसहस्राः पुरतो यथानुपूर्व्या संप्रस्थिताः, ' तयणंतरं च णं बत्तीसं ' इत्यादि, व्यक्तं-' तए णं ' इत्यादि व्यक्तं, नवरं पुरोहितरत्नं-शान्तिकर्मकृत्, रणे प्रहारार्दितानां मणिरत्नजलच्छटया वेदनोपशामकं, हस्त्यश्वरत्नगमनं तु हस्त्यश्वसेनया सहैव विवक्ष्यते तेन नात्र कथनं, ' तए णं ' इत्यादि, ततो द्वात्रिंशत् ऋतुकल्याणिका.-ऋतुषु षट्स्वपि कल्याणिकाः-ऋतुविपरीतस्पर्शत्वेन सुखस्पर्शाः। अथवाऽमृतकन्यात्वेन सदा कल्याणकारिण्यः, न तु चन्द्रगुप्तसहायपर्वतभूपतिपाणिगृहीतमात्रप्राणहारिनन्दनृपनन्दिनीविषकन्यारूपास्तासां सहस्राः पुरतः प्रस्थिताः, समर्थविशेषणाद्विशेष्यं लभ्यते इति लक्षणगुणयोगाद्राजकन्या अत्र ज्ञेयास्तासामेव जन्मान्तरोपाचितप्रकृष्टपुण्यप्रकृतिमहिम्ना राजकुलोत्पन्निवद् यथोक्तलक्षणगुणसम्भवात् जनपदाग्रणीकन्यानामग्रेतनसूत्रेणाभिधानाच्च तासां सहस्राः पुरतो यथानुपूर्व्या-यथाज्येष्ठलघुपर्याय संप्रस्थिताः, तथा द्वात्रिंशत् ' जणवय त्ति ' जनपदाग्रणीनां देशमुख्यानां कल्याणिकानां सहस्रा अग्रे तथैव, अत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराज्जनपदग्रहणेन जनपदाग्रण्यो ज्ञेयाः, न चैवं स्वमतिकल्पितमिति वाच्य, 'तावतीभिर्जनपदा-ग्रणीकन्याभिरावृतः। ' इति श्रीऋषभचरित्रे साम्मत्यदर्शनात्, तदनन्तरं द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशता पात्रै.-अभिनेतव्यप्रकारैर्बद्धाः-संयुक्ता नाटकसहस्राः पुरतो यथानुव्या प्रथम प्रथमोढापितृप्राभृतीकृतनाटकं ततस्तदनन्तरोढानाटकमिति क्रमेण सम्प्रस्थिताः, एतेषां चोक्तसङ्ख्याकता द्वात्रिंशता राजवरसहस्रै स्वस्वकन्यापाणिग्रहणकारणे प्रत्येकं करमोचनसमयसमर्पितैकैकनाटकसद्भावात्, 'तयणंतरं च णं तिण्णि सट्ठा सूयसया ' इत्यादि। ततः त्रीणि सूपानां पूर्ववदुपचारात् सूपकाराणां शतानि षष्टानि—षष्ट्यधिकानि वर्षदिवसेषु प्रत्येकमेकैकस्य रसवतीवारकदानात् ततः कुम्भकाराऽऽद्या अष्टादश श्रेणयः तदवान्तरभेदाः प्रश्रेणयः ततः चतुरशीतिरश्वशतसहस्राः ततश्चतुरशीतिर्हस्तिशतसहस्राः ततः षण्णवतिर्मनुष्याणां पदातीनां कोट्यः पुरतः प्रस्थिताः, ' तयणतर च णं ' इत्यादि, ततो बहवो राजेश्वरतलवराः, यावत्पदात् 'माडबिअकोडुंबिय' इत्यादिपरिग्रहः। सार्थवाहप्रभृतयः पुरत. सम्प्रस्थिता, अर्थ. प्राग्वत्, ' तयणंतर च णं ' इत्यादि, ततो बहवोऽसिः—खड्गः स एव यष्टि.—दण्डोऽसियष्टिस्तद्ग्राहाः—तद्ग्राहिणः, अथवा असिश्च यष्टिश्चेति द्वन्द्वे तद्ग्राहिण इति, एवमग्रेऽपि यथासम्भवमक्षरयोजना कार्या, नवरं कुन्ताश्चामराणि च प्रतीतानि, पाशा-द्यूतोपकरणानि, उत्त्रस्ताश्वाऽऽदिबन्धनानि वा फलकानि-सम्पुटकफलकानि खेटकानि वा अवष्टम्भानि वा धूमोपकरणानि वा पुस्तकानि-शुभाशुभपरिज्ञानहेतुशास्त्रपत्रसमुदायरूपाणि, वीणाग्राहा व्यक्त, कुतप.-तैलाऽऽदिभाजनं,'हडप्फो'-द्रम्माऽऽदिभाजनं, ताम्बूलार्थं पूगफलाऽऽदिभाजनं वा. 'पीढग्गाहा दीविअग्गाहा' इति पदद्वयं सूत्रे दृश्यमानमपि संग्रहगाथायामदृष्टत्वेन न लिखितं, तद्व्याख्यानं त्वेवम्-पीठम्-आसनविशेष· दीपिका च प्रतीतेति, स्वकै· २ स्वकीयैः२-रूपैः-आकारैः, एव स्वकीयै.२इत्यर्थः। वेषै.-रचना लङ्कारकपैः चिह्नै· अभिज्ञानैः नियोगैः-व्यापारै· स्वकीयैर्नेप·

ध्येः—आभरणैः सहिता इति, अथद्दसुत्ते च पदानि न्यूनाधिकान्यपि लिपिप्रमादात् सम्भवेयुरिति तन्नियमार्थं संग्रहगाथा सूत्रबद्धा क्वचिदादर्शे दृश्यते । यथा “ असिलट्ठिकुंतचावे, चामरपासे अ फलगपोत्थे अ । वीणाकूवग्गाहे तत्तो य हडप्फगाहे अ ॥ १ ॥ ” ‘ तय णं ’ इत्यादि, ततो बहवो दण्डिनो दण्डधारिणः मुण्डिनः—अपनीतशिरोजाः, शिखण्डिनः—शिखाधारिणः, जटिनो—जटाधारिणः, पिच्छिनो— मयूराऽऽदिपिच्छवाहिनः, हास्यकारका इति व्यक्तं, खड्डुं- द्यूतविशेषस्तत्कारका, द्रवकारकाः-केलिकराः, चाटुकारकाः- प्रियवादिनः, कान्दर्पिकाः—कामप्रधानकेलिकारिणः, ‘कुक्कुइआ’ इति-कौत्कुच्यकारिणो भाण्डाः, ‘ मोहरिआ ’इति-मुखरा वाचाला असम्बद्धप्रलापिन इति यावत्, गायन्तश्च गेयानि वादयन्तश्च वादित्राणि नृत्यन्तश्च हसन्तश्च रममाणाश्च अक्षाऽऽदिभिः क्रीडयन्तश्च कामक्रीडया शासयन्तश्च परेषा गानाऽऽदीनि शिक्षयन्तः श्रावयन्तश्च-इदं चेदं च पठत् परारि भविष्यतीत्येवंभूतवचांसि श्रवणविषयीकारयन्त. जल्पन्तश्च—शुभवाक्यानि रावयन्तश्च शब्दान् कारयन्तः स्वजल्पितान्यनुवादयन्त इत्यर्थः, शोभमानाश्च स्वय शोभयन्त' परान् आलोकमानाश्च ·राजराजस्यावलोकनं कुर्वन्तः जयजयशब्द च प्रयुञ्जाना· पुरतो यथानुपूर्व्या पूर्वोक्तपाठक्रमेण सम्प्रस्थिताः, इह गमे क्वचिदादर्शे न्यूनाधिकान्यपि पदानि दृश्यन्ते इति,एवमुक्तक्रमेण औपपातिकगमेन··प्रथमोपाङ्गगतपाठेन तावद् वक्तव्य यावत्तस्य राज्ञः पुरतो महाश्वाः· बृहत्तुरङ्गा अश्वधरा अश्वधारकपुरुषाश्च उभयतो··भरतोपवाह्यगजरत्नस्य द्वयोः पार्श्वयोर्नागाः—गजा नागधराः-गजधारकपुरुषाश्च, पृष्ठतो रथा रथसङ्गेल्लीः—रथसमुदायः, देश्योऽय शब्दः, चः समुच्चये, आनुपूर्व्या सम्प्रस्थिताः, अत्र यावत्पदसंग्रहश्चायं ·सवर्णकसेनाङ्गानि, तत्राश्वाः ·‘ तयणंतर च णं तरमल्लिहायणाणं हरिमेलामउलमल्लिअच्छाणं चञ्चुच्चिअललिअपुलिअचलचवलचंचलगईणं लंघणवग्गणधावणधोरणतिवइजइणसिक्खिअगईणं ललंतलामगललायवरभूसणाणं मुहभंडगओचूलगथासगअहिलाणचामरगण्डपरिमण्डिअकडीणं किंकरवरतरुणपरिग्गहिआ अट्ठसयं वरतुरगाण पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअं ति, ’ तदनन्तरं ‘तरमल्लिहायणाण ति ’ तरो-वेगो बलं वा तथा ’ मल्ल मल्लि धारणे’ ततश्च तरोमल्ली-तरोधारको वेगाऽऽदिकृत् हायन.··संवत्सरो वर्त्तते येषा ते तथा, यौवनवन्त इत्यर्थः, अतस्तेषां वरतुरङ्गाणामिति योग., ‘ वरमल्लिभासणाण ति’ क्वचित्पाठः। तत्र प्रधानमाल्यवतामत एव दीप्तिमता चेत्यर्थं, हरिमेला· वनस्पतिविशेषस्तस्या मुकुलं—कुड्मल मल्लिका च··विचकिलस्तद्वदक्षिणी येषा तथा तेषा ते शुक्लाक्षाणामित्यर्थः,'चञ्चुच्चियं ति'प्राकृतत्वेन चञ्चुरितं··कुटिलगमनम्, अथवा चञ्चुः ·शुकचञ्चुस्तद्वद्वक्रतयेत्यर्थ, उच्चितम् ·उच्चाऽऽकरणं पादस्योत्पाटनं चञ्चुच्चितं च तल्ललितं च विलासवद्गति· पुलित च· गतिविशेष. प्रसिद्ध एव, एवरूपा चलो वायुराशुगत्वात् तद्वच्चपलचञ्चला-अतीव चपला गतिर्येषा ते तथा तेषां, शिक्षितम् ·अभ्यस्तं लङ्घनं गर्ताऽऽदेरतिक्रमणं वल्गनं—उत्कूर्दन धावन· शीघ्रगमनं धोरणं··गतिचातुर्यं, तथा त्रिपदी—भूमौ पदत्रयन्यास., पदत्रयस्योत्क्षमन जयिनी--गत्यन्तरजनशीला गतिश्च येषां ते तथा तेषां, प·दव्यत्यय· प्राकृत्वात् . ललना--दोलायमानानि ' लाम त्ति' आर्षत्वाद् रम्याणि गललातानि--कण्ठे न्यस्तानि वरभूषणानि येषा ते तथा तेषा, तथा मुखभाण्डकं मुखाऽऽभरणम् अवचूला -प्रलम्बगुच्छाः स्थासका-दर्पणाऽऽकारा अश्वालङ्कारा., अहिलाणं मुखसंयमनम् एतान्येषा सन्तीति मुखभाण्डकावचूलस्थासकाहिलाणा.,मत्वर्थीयलोपदर्शनादेव प्रयोगः, तथा चमरीगण्डैः-चामरदण्डै· परिमण्डिता कटिर्येषा ते तथा, तत· कर्मधारयस्तेषां, किङ्करभूता ये वरतरुणा--वरयुवपुरुषास्तै· परिगृहीतानां दत्तरक्षितानामित्यर्थः, अष्टोत्तरं शतं वरतुरगाणां पुरतो यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थितम् । अथेभा·-‘ तयणतरं च णं ईसिदंताणं ईसिमत्ताण ईसितुंगाणं ईसिउच्छंगउन्नयविसालधवलदंताण कंचणकोसीपविट्ठदंताणं कंचणमणिरयणभूसिआण वरपुरिसारोहगसंपउत्ताण गयाणं अट्ठसयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिअ’ ति, ईषद्दान्ताना—मनाग्ग्राहितशिक्षाणा गजानामिति योग.ईषन्मत्तानां यौवनाऽऽरम्भवर्त्तित्वात् ईषत्तुङ्गानाम् उच्चाना तस्मादेव उत्सङ्ग इत्योत्सङ्ग —पृष्ठदेशः, ईषदुत्सङ्गे उन्नता विशालाश्च यौवनाऽऽरम्भवर्त्तित्वादेव ते च ते धवलदन्ताश्चे'ति समासोऽनस्तेषा, काञ्चनकोशी—सुवर्णखोला तस्यां प्रविष्टा दन्ता, अर्थ द् विषाणाऽऽख्या येषा ते तथा तेषां, काञ्चनमणिरत्नभूषितानामिति व्यक्त, वरपुरुषा—ये आरोहका निषादिनस्तैः सम्प्रयुक्तानां सज्जितानां गजानागजकलभानामष्टोत्तरं शत पुरतो यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थितम्, अथ रथा·—‘ तयणंतरं च णं सच्छत्ताणं सज्झयाण सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सनंदिघोसाण सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेमवयचित्ततिणिसकणगणिजुत्तदारुगाण कालायससुकयणेमिजंतकम्माणं सुसिलिट्ठवत्तमण्डलधुराणं आइण्णवरतुरगसुसंपउत्ताण कुसलणरच्छेअसारहिसुसंपग्गहिआण बत्तीसतोणपरिमण्डिआण सकंकडवडेंसगाण सचावसरपहरणावरणभरिअजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअं ’ इति, उक्तार्थं चेदं प्राक् पद्मवरवेदिकाधिकारगतरथवर्णने, नवरमत्र विशेषणाना बहुवचननिर्देश कार्य·, तत उक्तविशेषणाना रथानामष्टशत पुरतो यथानुपूर्व्या सम्प्रस्थितम् । अथ पदातय -‘तयणतरं च णं असिसत्तिकुंततोमरसूललउडभिंडमालधणुपाणिसज्जं पाइत्ताणीअं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपत्थिअ ति,’ तत. पदात्यनीकं पुरतः सम्प्रस्थित, कीदृशमित्याह-असयस्त्यादिनि पाणौ हस्ते यस्य तत्तथा, सज्ज च सङ्ग्रामाऽऽदिस्वामिकार्ये, तत्रास्यादीनि प्रसिद्धानि , नवरं शक्तिः-त्रिशूल शूलं तु एकशूलं ' लउड त्ति ' लकुटो भिन्दिपाल. प्रागुक्तस्वरूप इति । अथ भरत प्रस्थितः सन् पथि यथत् कुर्वन् यत्राऽऽगच्छति तदाह—'तए णं' इत्यादि, ततः स भरताधिपो नरेन्द्रो हारावस्तृतसुकृतरतिदवक्षा यावदमरपतिसन्निभया ऋद्ध्या प्रथितकीर्त्तिश्चक्ररत्नोपदिष्टमार्गोऽनेकराजवरसहस्रानुयातमार्गो यावत्समुद्ररवभूतामिव मेदिनीं कुर्वन् २ सर्वद्युत्या सर्वद्युत्या यावन्निर्घोषनादितेन युक्त इति गम्य, ग्रामाऽऽकरनगरखेटकर्बटमडम्बयथावत्स्याद द्रोणमुखपत्तनाऽऽश्रमसम्बाधमहस्रमण्डिता स्तिमितमेदिनीका व

क्षुधामभिजयन् २ अम्याणि-वराणि रत्नानि प्रतीच्छन् २ त दिव्यं चक्ररत्नमनुगच्छन्२ योजनान्तरिताभिर्वसतिभिर्वसन्२ यत्रैव विनीता राजधानी तत्रैवोपागच्छति, तत्राऽऽगतःसन् यदकरोत्तदाह-' उवागच्छित्ता ' इत्यादि, व्यक्तं, नवरं विनीताया राजधान्या अष्टमभक्तमित्यत्र विनीताधिष्ठायकदेव साधनाय विनीतां राजधानीं मनसि कुर्वन् २ अष्टमं परिस मापयतीत्यर्थः नन्विदमष्टमानुष्ठानमनर्थकं, वासनगर्याश्चक्रवर्तिनां पूर्वमेव वश्यत्वात् ?, उच्यते—निरुपसर्गेण वासस्थैर्यार्थमिति। यदाह-' निरुवसग्गपच्चयत्थं विणीअं रायहाणिं मणसी करेमाणे २ अट्ठमभत्तं पगिण्हइ ' इति प्राकृत ऋषभचरित्रे, अथाष्टमभक्तसमाप्त्यनन्तरं भरतो यच्चक्रे त दाह-' तए णं ' इत्यादि, स्पष्टं, ' तहेव त्ति ' पदसंग्रहश्चाऽऽभिषेक्यगजसज्जनमज्जनगृहमज्जनाऽऽदिरूप,अथ विनीता प्रवेशवर्णके लाघवायातिदेशमाह—' तं चेव सव्वं ' इत्यादि तदेव सर्वं वाच्यं यथा 'हेट्ठा'-अधस्तनसूत्रे विनीतां प्रत्यागमने वर्णनं तथाऽत्रापि प्रवेशे वाच्यमित्यर्थः, अत्र विशेषमाह-नवरं महानिधयो नव न प्रविशन्ति, तेषां मध्ये एकैकस्य विनीताप्रमाणत्वात् कुतस्तेषां तत्रावकाशः ?, चतस्रः सेना अपि न प्रविशन्ति, शेषः स एव गमः-पाठो वक्तव्यः, कियत्पर्यन्तमित्याह-यावन्निर्घोषनादितेन युक्तो विनीताया राजधान्या मध्यंमध्येन-मध्यभागेन यत्रैव स्वकं गृहं यत्रैव च भवनवरावतंसकस्य—प्रधानतरगृहस्य प्रतिद्वारं—बाह्यद्वारं तत्रैव गमनाय प्रधारितवान् चिन्तितवान्,प्रवृत्तवानित्यर्थः. प्रविशति चक्रिण्याभियोगिकसुरा यथा २ वासभवनं परिष्कुर्वन्ति तथाऽऽह—' तए णं ' इत्यादि, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञो विनीता राजधानीं मध्यभागेन प्रविशतः अपि—वादम् एके केचन देवा विनीतां साभ्यन्तरबाहिरिकाम् आ सिक्तसम्मार्जितोल्लिप्तां कुर्वन्ति, अप्येकके तां मञ्चातिमञ्चकलितां कुर्वन्ति ... बाहिकाः, कारवाधिना वा शाङ्खिकाऽऽदयः शब्दा श्रीऋषभनिष्क्रमणमहाधिकारे व्याख्याता इति ततो व्याख्येया इति। अथ ते किमवादिषुरित्याह—' जय जय नन्दा !' इत्यादि पदद्वयं प्राग्वत्, भद्रं ते—तुभ्यं भूयादिति शेषः, अजितं प्रतिरिपुं जय जितम-आज्ञावशवर्दं पालय. जितमध्ये-आज्ञावशवदमध्ये वस—तिष्ठ विनीतपरिजनपरिवृतो भूया इत्यर्थः, इन्द्र इव देवानां—वैमानिकानां मध्ये ऐश्वर्यभृत्, चन्द्र इव ताराणां —ज्योतिष्काणां चमर इवासुराणां दाक्षिणात्यानामित्यर्थः, एवं धरण इव नागानामित्यत्रापि ज्ञेयम्, अन्यथा सामान्यतोऽसुराणामित्युक्ते बलीन्द्रस्य नागानामित्युक्ते च भूताऽऽनन्दस्योपमानत्वेनोपन्यासो युक्तिमान् स्यात्, दाक्षिणात्येभ्य उदीच्यानामधिकतेजस्कत्वात्, बहूनि शतसहस्राणि यावत् बह्वीः कोटीः बह्वीः पूर्वकोटाकोटीः विनीताया राजधान्या क्षुल्लहिमवद्गिरिसागरमर्यादाकस्य केवलकल्पस्य भरतवर्षस्य ग्रामाऽऽकरनगरखेटकर्बटमडम्बद्रोणमुखपत्तनाऽऽश्रमसन्निवेशेषु सम्यक् प्रजापालनेनोपार्जितं-सम्लब्धं निजभुजवीर्यार्जितं, न तु नमुचिनेव सेवाऽऽद्युपायलब्धं यशो येन स तथा, ' महया जाव त्ति ' यावत्पदात् ' हयणट्टगीअवाइअतंतीतलतालतुडिअघणमुइंगपडुप्पवाइअरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे ' इति संग्रहः। आधिपत्यं पौरपत्यम्। अत्रापि यावत्पदात्-' सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे त्ति ' ग्राह्यम्, अत्र व्याख्या प्राग्वत्, विचर इति कृत्वा जयजयशब्दं प्रयुञ्जन्ति। अथ विनीता प्रविष्टः सन् भरतः किं कुर्वन् क्वाऽऽजगामेत्याह ' तए णं से भरहे राया णयणमालासहस्सेहिं पिच्छिज्जमाणे पिच्छिज्जमाणे ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा नयनमालासहस्रैः प्रेक्ष्यमाण प्रेक्ष्यमाण इत्यादिविशेषणपदानि श्रीऋषभनिष्क्रमणमहाधिकारे व्याख्यातानीति ततो ज्ञेयानि, नवरम्-' अगुलिमालासहस्सेहिं दा-

कुबेरो-देवराजा धनदो-लोकपालः कैलासं—स्फटिकाचल, किंलक्षण ?-भवनवरावतंसक शिखरिरूढ गिरिशिखरं तद्वत् तत्सदृशमुच्चत्वेनेत्यर्थः, लौकिकव्यवहारानुसारेणायं दृष्टान्त., अन्यथा कुबेरस्य सौधर्मावतंसकनाम्न इन्द्रकविमानादुत्तरतो वल्गुविमाने वासस्य श्रूयमाणत्वादागमेन सह विरुध्यते।

प्रविश्य यच्चक्रे तदाह—

तए णं तस्स भरहस्स रण्णो अण्णया कयाइ रज्जधुरं चिंतेमाणस्स इमेआरूवे ०जाव समुप्पज्जित्था, अभिजिएणं मए णिअगबलवीरिअपुरिसक्कारपरक्कमेण चुल्लहिमवंतगिरिसागरमेराए केवलकप्पे भरहे वासे, तं सेअं खलु मे अप्पाण महया रायाभिसेएणं अभिसेएणं अभिसिंचावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहित्ता कल्लं पाउप्पभाए० जाव जलंते जेणेव मज्जणघरे०जाव पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे णिसीअति, निसीइत्ता सोलस देवसहस्से बत्तीसं रायवरसहस्से सेणावइरयणे०जाव पुरोहियरयणे तिण्णि सट्ठे सूअसए अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ अण्णे अ बहवे राईसरतलवर०जाव सत्थवाहप्पभिअओ सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—अभिजिए णं देवाणुप्पिआ ! मए णिअगबलवीरिअ०जाव केवलकप्पे भरहे वासे तं तुब्भे णं देवाणुप्पिआ ! ममं महयारायाभिसेअं विअरह, तए णं से सोलस देवसहस्सा जावप्पभिइओ भरहेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठकरयलमत्थए अंजलिं कट्टु भरहस्स रण्णो एअमट्ठं सम्मं विणएणं पडिसुणेंति, तए णं से भरहे राया जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ०जाव अट्ठमभत्तिए पडिजागरमाणे विहरइ। तए णं से भरहे राया अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि अभिओगिए देवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! विणीआए रायहाणीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एगं महं अभिसेअमण्डवं विउव्वेह, विउव्वित्ता मम एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह, तए णं ते आभिओगा देवा भरहेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा ०जाव एवं सामि त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता विणीआए रायहाणीए उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोअणाइं दंडं णिसिरंति, तं जहा—रयणाणं ०जाव रिट्ठाणं अहाबायरे पुग्गले परिसाडेंति, पडिसाडित्ता अहासुहुमे पुग्गले परिआदिअंति, परिआदिइत्ता दुच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं ०जाव समोहणंति समोहणित्ता बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वंति, से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा० तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं अभिसेअमंडवं विउव्वंति, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं ०जाव गंधवट्टिभूअं पेच्छाघरमंडववण्णगो त्ति, तस्स णं अभिसेअमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं अभिसेअपेढं विउव्वंति अच्छं सण्हं; तस्स णं अभिसेअपेढस्स तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवए विउव्वंति, तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते ०जाव तोरणा, तस्स णं अभिसेअपेढस्स बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं सीहासणं विउव्वंति, तस्स णं सीहासणस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते ०जाव दामवण्णगं समत्तं ति। तए णं ते देवा अभिसेअमंडवं विउव्वंति, विउव्वित्ता जेणेव भरहे राया ०जाव पच्चप्पिणंति, तए णं से भरहे राया आभिओगाणं देवाणं अंतिए एअमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, पडिकप्पेत्ता हयगय ०जाव सण्णाहेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह०जाव पच्चप्पिणंति, तए णं से भरहे राया मज्जणघरं अणुपविसइ ०जाव अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवइं णरवई दुरूढे, तए णं तस्स भरहस्स रण्णो आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूढस्स समाणस्स इमे अट्ठट्ठमंगलगा, जो चेव गमो विणीअं पविसमाणस्स सो चेव णिक्खममाणस्स वि०जाव अप्पडिबुज्झमाणे विणीअं रायहाणिं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव विणीआए रायहाणीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अभिसेअमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अभिसेअमंडवदुवारे आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठावेइ, ठावेत्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता इत्थीरयणेणं बत्तीसाए उडुकल्लाणिआसहस्सेहिं बत्तीसाए जणवयकल्लाणिआसहस्सेहिं बत्तीसाए बत्तीसइबद्धेहिं णाडगसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे अभिसेअमंडवं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव अभिसेअपेढे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अभिसेअपेढं अणुप्पदाहिणीकरेमाणे अणुप्पदाहिणीकरेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहइ, दुरूहित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे त्ति। तए णं तस्स भरहस्स रण्णो बत्तीसं रायसहस्सा जेणेव अभिसेअमंडवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अभिसेअमंडवं अ-

णुपविसंति , अणुपविसित्ता अभिसेअपेढं अणुप्पयाहिणीकरेमाणा अणुप्पयाहिणीकरेमाणा उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल०जाव अंजलिं कट्टु भरह रायाणं जएणं विजएणं वद्धावेंति , वद्धावेत्ता भरहस्स रण्णो णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा०जाव पज्जुवासंति , तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सेणावइरयणे०जाव सत्थवाहप्पभिईओ तेऽवि तह चेव णवरं दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं०जाव पज्जुवासंति, तए णं से भरहे राया आभिओगे देवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! ममं महत्थं महग्घं महरिहं महारायाअभिसेअं उवट्ठवेह , तए णं ते आभिओगिआ देवा भरहेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठचित्ता०जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्विअसमुग्घाएणं समोहणंति, एवं जहा विजयस्स तहा इत्थ पि० जाव पंडगवणे एगओ मिलायंति, एगओ मिलाइत्ता जेणेव दाहिणद्धभरहे वासे जेणेव विणीआ रायहाणी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता विणीअं रायहाणिं अणुप्पयाहिणीकरेमाणा अणुप्पयाहिणीकरेमाणा जेणेव अभिसेअमंडवे जेणेव भरहे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तं महत्थं महग्घं महरिहं महारायाभिसेअं उवट्ठवेंति , तए णं तं भरहं रायाणं बत्तीसं रायसहस्सा सोभणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्तमुहुत्तंसि उत्तरपोट्ठवयाविजयंसि तेहिं साभाविएहि अ उत्तरवेउव्विएहि अ वरकमलपइट्ठाणेहिं सुरभिवरवारिपडिपुण्णेहिं०जाव महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचंति , अभिसेओ जहा विजयस्स , अभिसिंचित्ता पत्तेअं पत्तेअं०जाव अंजलिं कट्टु ताहिं इट्ठाहिं जहा पविसंतस्स भणिआ०जाव विहराहि त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति । तए णं तं भरहं रायाणं सेणावइरयणे०जाव पुरोहियरयणे तिण्णि अ सट्ठा सूअसया अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ अण्णे अ बहवे०जाव सत्थवाहप्पभिइओ एवं चेव अभिसिंचंति, तेहिं वरकमलपइट्ठाणेहिं तहेव०जाव अभिथुणंति अ सोलस देवसहस्सा एवं चेव णवरं पम्हसुकुमालाए०जाव मउडं पिणद्धेंति , तयणंतरं च णं दद्दरमलयसुगंधिएहिं गंधेहिं गायाइं अब्भुक्खेंति , दिव्वं च सुमणोदामं पिणद्धेंति , किं बहुणा ? , गंठिमवेढिम ०जाव विभूसिअं करेंति, तए णं से भरहे राया महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचिए समाणे कोडुंबिअपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! हत्थिखंधवरगया विणीयाए रायहाणीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चर ०जाव महापहपहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा उस्सुक्कं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अमिज्जं अब्भडपवेसं अदंडकुदंडिमं ०जाव सपुरजणवयं दुवालससंवच्छरिअं पमोअं घोसेह घोसेह, ममेअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह त्ति । तए णं ते कोडुंबिअपुरिसा भरहेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ पीइमणा हरिसवसविसप्पमाणहियया विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता खिप्पामेव हत्थिखंधवरगया ०जाव घोसंति , घोसित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणंति । तए णं से भरहे राया महया महया रायाभिसेएणं अभिसित्ते समाणे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता इत्थिरयणेणं ०जाव णाडगसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे अभिसेअपेढाओ पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अभिसेअमंडवाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव आभिसेक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवइं ०जाव दूरूढे । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो बत्तीसं रायसहस्सा अभिसेअपेढाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सेणावइरयणे ०जाव सत्थवाहप्पभिईओ अभिसेअपेढाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो आभिसेक्क हत्थिरयणं दूरूढस्स समाणस्स इमे अट्ठट्ठमंगलगा पुरओ ०जाव संपत्थिआ, जोऽवि अ अइगच्छमाणस्स गमो पढमो कुबेरावसाणो सो चेव इहं पि कमो सक्कारजढो णेअव्वो ०जाव कुबेरोव्व देवराया केलासं सिहरिं सिंगभूअं ति । तए णं से भरहे राया मज्जणघरं अणुपविसइ , अणुपविसित्ता ० जाव भोअणमंडवंसि सुहासणवरगए अट्ठमभत्तं पारेइ , पारित्ता भोअणमंडवाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं ० जाव भुंजमाणे विहरइ । तए णं से भरहे राया दुवालससंवच्छरिअंसि पमोअंसि णिव्वत्तंसि समाणंसि जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ०जाव मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला ०जाव सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे णिसीअइ, णिसीअइत्ता सोलस देवसहस्से सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणित्ता पडिविसज्जेइ, पडिविसज्जित्ता बत्तीसं रायवरसहस्सा सक्कारेइ, सम्माणेइ , सम्माणित्ता सेणावइरयणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणित्ता ० जाव पुरो-

हियरयणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणित्ता एवं तिरिण सट्ठे सू-आरसए अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ सक्कारेइ,सम्माणेइ,सम्माणित्ता अन्ने अ बहवे राईसरतलवर ०जावसत्थवाहप्पभिइओ सक्कारेइ, सम्माणेइ, सम्माणित्ता पडिविसज्जेति, पडिविसज्जेत्ता उप्पिं पासायवरगए ०जाव विहरइ । ( सूत्रम्-६८ )

'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजा मित्राणि—सुहृदः ज्ञातयः-सजातीयाः निजकाः मातापितृभ्रात्रादयः स्वजनाः—पितृव्याऽऽदयः सम्बन्धिनः-श्वशुराऽऽदयः परिजनो-दासाऽऽदिः, एकवद्भावे क्लने द्वितीया, प्रत्युपेक्षते-कुशलप्रश्नाऽऽदिभिरापृच्छ्य आपृच्छ्य सम्भाषत इत्यर्थः,अथवा चिरमद्दष्टत्वेन मित्राऽऽदीनुत्कण्ठुलतया पश्यति-स्नेहदृशा विलोकयति, प्रत्युपेक्ष्य च यत्रैव मज्जनगृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च, यावच्छब्दात् स्नानविधिः सर्वोऽपि वाच्यः, मज्जनगृहात् प्रतिनिष्क्रामतीत्यादि प्राग्वत् । अत्र च बाहुबल्यादिनवनवति भ्रातृराज्यानामात्मसात्करणपूर्वकं चक्ररत्नस्याऽऽयुधशालायां प्रवेशनमन्यत्र प्रसिद्धमपि सूत्रकारेण नोक्तमिति नोच्यते इति । एवं विहरतस्तस्य यदुदपद्यत तदाह—'तए णं' इत्यादि, ततः तस्य भरतस्य राज्यधुरं चिन्तयतोऽन्यदा कदाचिदयमेतद्रूपः—उक्तविशेषणविशिष्ट सङ्कल्प. समुदपद्यत, स च कः सङ्कल्प इत्याह—'अभिजिए णं' इत्यादि अभिजितं मया निजकबलवीर्यपुरुषकारपराक्रमेण क्षुल्लहिमवद्गिरिसागरमर्यादया केवलकल्प भरतं वर्षं तच्छ्रेयः खलु ममाऽऽत्मान महाराज्याभिषेकेणाभिषेचयितुम्-अभिषेक कारयितुम् इति कृत्वा-भरतं जितमिति विचार्य एवं सम्प्रेक्षते—राज्याभिषेकं विचारयति, अथैतद्विचारोत्तरकालीनकार्यमाह--'संपेहित्ता' इत्यादि व्यक्तम्' सिंहासने निषद्य यच्चक्रे तदाह—'निसीइत्ता' इत्यादि कण्ठ्य , किमवादीदित्याह—'अभिजिए णं—' इत्यादि , अभिजितं मया देवानुप्रिया ! निजकबलवीर्यपुरुषकारपराक्रमेण क्षुद्रहिमवद्गिरिसागरमर्यादया केवलकल्प भरतं वर्षं तद्यूयं देवानुप्रिया ! मम महाराज्याभिषेकं वितरत दत्त. कुरुतेत्यर्थ., आवश्यकचूर्ण्यादौ तु भक्त्या सुरनरास्तं महाराज्याभिषेकाय विज्ञपयामासुर्भरतश्च तदनुमेने , अस्ति हि अय विधेयजनव्यवहारो यत्प्रभूणा समयसेवाविधौ ते स्वय मेवोपतिष्ठन्ते , सत्यप्येवविधे कल्पे यद्भरतस्यात्रानुचरसुराऽऽदीनामभिषेकज्ञापनमुक्तं तद् गम्भीरार्थकत्वादस्मादृशा मन्दमेधसामनाकलनीयमिति । अथ यथा ते अङ्गीचक्रुस्तथाऽऽह-'तए णं' इत्यादि, ततस्ते षोडश देवसहस्राः,यावत् शब्दात् द्वात्रिंशद्राजसहस्राऽऽदिपरिग्रहः यावद्राजेश्वरतलवराऽऽदिसार्थवाहप्रभृतय इति, भरतेन राज्ञा इत्युक्ता. सन्तो 'हट्ठतुट्ठ त्ति' इहैकदेशदर्शनमपि पूर्णतदधिकारसूत्रदर्शकं, तेन हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिआ' इत्यादिपदानि ज्ञेयानि, करतल परिगृहीत दशनख शिरस्यावर्त्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा भरतस्य राज्ञ एतम्-अनन्तरोदितमर्थं सम्यग्—विनयेन प्रतिशृण्वन्ति-अङ्गीकुर्वन्ति, अथ 'जलाक्लन्धाऽऽत्मलाभा कृषिर्जलेनैव वर्द्धते' इति ज्ञातात्तपसाऽऽत्त राज्य तपसैवाभिनन्दतीति चेतसि चिन्तयन् भरतो यदुपचक्रमे तदाह-'तए णं' इत्यादि प्राग्वत्, 'तए णं से भरहे' इत्यादि, ततः स भरतोऽष्टमभक्ते परिणमति सति आभियोग्यान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा च एवमवादीत्, किमवादीदित्याह-'खिप्पामेव त्ति' क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया ! विनीताया राजधान्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे ईशानकोणे इत्यर्थ , तस्यात्यन्तप्रशस्तत्वात्, अभिषेकाय मण्डपः अभिषेकमण्डपस्तं विकुर्वत,विकुर्व्य च मम एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयत, तए णं'इत्यादि, ततस्ते आभियोग्या देवा भरतेन राज्ञा एवमुक्ताः सन्तो, हट्ठतुट्ठाऽऽदिपदानि प्राग्वत्, एवं स्वामिन् ! यथैव यूयमादिशत आज्ञया-स्वामिपादानामनुसारेण कुर्मः इत्येवंरूपेण विनयेन वचन प्रतिशृण्वन्ति-अभ्युपगच्छन्ति, 'पडिसुणित्ता' इत्यादि , प्रतिश्रुत्य च विनीताया राजधान्या उत्तरपौरस्त्यं दिग्भागमपक्रामन्ति-गच्छन्ति, अपक्रम्य च वैक्रियसमुद्घातेन-उत्तरवैक्रियकरणार्थकप्रयत्नविशेषेण समवघ्नन्ति—आत्मप्रदेशान् दूरतो विक्षिपन्ति,तत्स्वरूपमेव व्यनक्ति सङ्ख्येयानि योजनानि दण्ड इव दण्ड.—ऊर्ध्वाधआयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशस्तं निसृजन्ति-शरीराद् बहिर्निष्काशयन्ति, निसृज्य च तथाविधान् पुद्गलान् आददते इति, एतदेव दर्शयति, तद्यथा-रत्नानां—कर्केतनाऽऽदीनां, यावत्पदात् 'वइराणं वेरुलिआणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगन्धिआणं जोईरसाणं अंजणाणं अंजणपुलयाणं जायरूवाणं अंकाण फलिहाण' इति संग्रह , रिट्ठाणमिति साक्षादुपात्तम् , एतपा सम्बन्धिना यथाबादरान्—असारान् पुद्गलान् परिशातयन्ति त्यजन्ति यथासूक्ष्मान्-सारान् पुद्गलान् पर्याददते-गृह्णन्ति, पर्यादाय च चिकीर्षितनिर्माणार्थं द्वितीयमपि वार वैक्रियसमुद्घातेन समवघ्नन्ति, समवहत्य च बहुसमरमणीयं भूमिभाग विकुर्वन्ति । तद्यथा-'से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा' इत्यादि. सूत्रतोऽर्थतश्च प्राग्वत्, ननु रत्नाऽऽदीनां पुद्गला औदारिकास्ते च वैक्रियसमुद्घाते कथ ग्रहणार्हाः , उच्यते- इह रत्नाऽऽदिग्रहण पुद्गलाना सारतामात्रप्रतिपादनार्थं,न तु तदीयपुद्गलग्रहणार्थं, ततो रत्नाऽऽदीनामिवेति द्रष्टव्यम् , अथवा औदारिका अपि ते गृहीता. सन्तो वैक्रियतया परिणमन्ते, पुद्गलाना तत्तत्सामग्रीवशात्तथातथापरिणमन भावादतो न कश्चिद्दोष इति, पूर्ववैक्रियसमुद्घातस्य जीवप्रयत्नरूपत्वेन क्रमक्रममन्दमन्दतरभावाऽऽपन्नत्वेन क्षीणशक्तिकत्वात् इष्टकार्यासिद्धे , अथ समभूभागे ते यच्चक्रुस्तदाह—'तस्स णं' इत्यादि, तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महान्तमेकमभिषेकमण्डपं विकुर्वन्ति, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्ट, यावत्पदात् राजप्रश्नीयोपाङ्गगतसूर्याभदेवयानविमानवर्णको ग्राह्य स च कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद् गन्धवर्त्तिभूतमिति विशेषणम्, अत एव सूत्रकृदेव साक्षादाह-प्रेक्षागृहमण्डपवर्णको ग्राह्य इति, एतत्सूत्रव्याख्ये सिद्धाऽऽयतनाऽऽदिवर्णके प्राग्दर्शिते इति नेहोच्येते । 'तस्स णं' इत्यादि तस्याभिषेकमण्डपस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र-अस्मिन् देशे महान्तमेकमभिषेकपीठ विकुर्वन्ति अच्छम् अरस्तरजस्कत्वात् श्लक्ष्ण सूक्ष्मपुद्गलनिर्मितत्वात् , 'तस्स णं' इत्यादि, वापीत्रिसोपानप्रतिरूपकवर्णकवदत्र वर्णव्यासो ज्ञेय. यावत्तोरणवर्णनम् । अथाभिषेकपी-

ठभूमिवर्णनाऽऽदि प्रतिपादयन्नाह ' तस्स णं ' इत्यादि, तस्याभिषेकपीठस्य बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः, तस्य समभूभागस्य मध्ये एकं महत् सिंहासनं विकुर्वन्ति, तस्य वर्णकव्यासो विजयदेवसिंहासनस्येव ज्ञेयः यावद्दाम्नां वर्णको यत्र तद्दामामवर्णकं सम्पूर्णं समस्तं सूत्र वाच्यमिति शेषः, एतमेवार्थं निगमयन्नाह—' तए णं ' इत्यादि, ततो-भरताऽऽज्ञानन्तरं ते देवा उक्तविशेषणविशिष्टमभिषेकमण्डपं विकुर्वन्ति, विकुर्व्य च यत्रैव भरतो राजा यावत्पदात् ' तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं ' इति ग्राह्य, ' तए णं ' इत्यादि, व्यक्तम, अथैतत्समयोचितं भरतकृत्यमाह—' तए णं ' इत्यादि प्राग्वत्, ' तए णं ' इति, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञ आभिषेक्यं हस्तिरत्नमारूढस्य सत इमान्यष्टावष्टौ मङ्गलकानि पुरत सम्प्रस्थितानीति शेष', अथ ग्रन्थलाघवार्थमातिदिशति—य एव गमो विनीतां प्रतिशतः स एव तस्य निष्कामतोऽपि भरतस्य, कियदन्तमित्याह-यावत्प्रतिबुद्धयन् २ विनीतां राजधानीं मध्येमध्येन निर्गच्छति, शेष व्यक्त, तत किं चक्रे इत्याह—' पच्चोरुहित्ता इत्थीरयणेणं ' इत्यादि, ततः स भरतो राजा स्त्रीरत्नेन सुभद्रया द्वात्रिंशता ऋतुकल्याणिकासहस्रै द्वात्रिंशता जनपदकल्याणिकासहस्रैः द्वात्रिंशता द्वात्रिंशद्बद्धैर्नाटकसहस्रैः सार्द्धं संपरिवृतोऽभिषेकमण्डपमनुप्रविशति, अनुप्रविश्य च यत्रैवाभिषेकपीठ तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य चाभिषेकपीठमनुप्रदक्षिणीकुर्वन् २ स्वामिदृष्टे भक्तजनः प्रमोदतेतराम् ' इति आभियोगिकसुरमनस्तुष्ट्युत्पादनहेतोरित्थमेव सृष्टिक्रमाच्च पौरस्त्येन त्रिसोपानकप्रतिरूपकेण आरोहति, आरुह्य च यत्रैव सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च पूर्वाभिमुख' सन्निषण्ण -सम्यग् यथौचित्येनोपविष्ट', अथानुचरा राजादयो यथापचेरुस्तथाऽऽह-' तए णं ' इत्यादि, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञो द्वात्रिंशद्राजसहस्राणि यत्रैवाभिषेकमण्डपः—तत्रैवोपागच्छतीत्यादि व्यक्त, नवरमभिषेकपीठम् अनुप्रदक्षिणीकुर्वन्त'२ उत्तरत आरोहता प्रदक्षिणाकर्षणेनैव सृष्टिक्रमस्य जायमानत्वात्, ' तए णं ' इत्यादि पाठसिद्धं, ' तए ण ' इत्यादि, तत. स भरतो राजा आभियोग्यान् देवान् शब्दयित्वा एवमवादीत्—क्षिप्रमेव भो देवानुप्रिया ! मम महान् अर्थो-मणिकनकरत्नाऽऽदिक उपयुज्यमानो यस्मिन् स तथा तं महान् अर्घ'—पूजा यत्र स तथा तं महम् उत्सवमर्हतीति महार्हस्तं महाराज्याभिषेकमुपस्थापयत--संपादयत, आज्ञप्तास्ते यच्चक्रुस्तदाह—' तए णं ' इत्यादि, तत आज्ञप्त्यनन्तर ते आभियोग्या देवा भरतेन राज्ञा एवमुक्ताः सन्तो हृष्टतुष्टचित्तेत्यादिरानन्दाऽऽलापको ग्राह्य., यावत्पदात्—' करयलपरिग्गहिअं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अजलिं कट्टु एवं देवो तह त्ति आणाए विणएण वयण पडिसुणेंति पडिसुणेत्ता ' इति ग्राह्यं, व्याख्या च प्राग्वत्, अत्रातिदेशसूत्रमाह-एवम्-इत्थंप्रकारमभिषेकसूत्रं यथा विजयस्य-जम्बूद्वीपविजयद्वाराधिपदेवस्य तृतीयोपाङ्गे उक्तं तथाऽत्रापि ज्ञेयमिति, अत्र च सर्वाभिषेकसामग्री वक्तव्या, सा चोत्तरत्र जिनजन्माधिकारे वक्ष्यते, तत्र तत्सूत्रस्य साक्षाद्दर्शितत्वात् तथापि स्थानाशून्यार्थं तथाशब्दसूचितसंग्रहदर्शनार्थं किञ्चिल्लिख्यते, तदपि लाघवार्थं संस्कृतरूपमेव युक्तमिति तथैव दर्श्यते, अष्टसहस्रं सौवर्णिककलशानां तथा रूप्यमयकलशानां तथा मणिमयकलशानामित्याद्यष्टजातीयकलशानाम् एवं भृङ्गाराणाम् आदर्शानां स्थालानां पात्रीणां सुप्रतिष्ठानां मनोगुलिकानां वातकरकाणां चित्ररत्नकरण्डकानां पुष्पचङ्गेरीणां यावल्लोमहस्तकचङ्गेरीणां पुष्पपटलकानां यावल्लोमहस्तपटलकानां सिंहासनानां छत्राणां चामराणां समुद्गकानां ध्वजानां धूपकडुच्छुकानां प्रत्येकमष्टसहस्रं विकुर्वन्ति, विकुर्व्य च स्वाभाविकान् वैक्रियांश्चैतान् पदार्थान् गृहीत्वा क्षीरोदे उदकमुत्पलाऽऽदीनि च गृह्णन्ति, पुष्करोदे तथैव', ततो भरतैरावतयोर्मागधाऽऽदितीर्थत्रये उदकं मृदं च ततस्तयोर्महानदीषूदकं मृदं च ततः क्षुल्लहिमाद्रौ सर्वतूवरसर्वपुष्पाऽऽदीनि, ततः पद्मद्रहपुण्डरीकद्रहयोरुदकमुत्पलाऽऽदीनि च. एवं प्रतिवर्षं महानद्योरुदकं मृदं च प्रतिवर्षधरं च सर्वतूवरसर्वपुष्पाऽऽदीनि च द्रहेषु च उदकोत्पलाऽऽदीनि वृत्तवैताढ्येषु च सर्वतूवराऽऽदीनि विजयेषु तीर्थोदकं मृद च वक्षस्कारगिरिषु सर्वतूवराऽऽदीन् तथा अन्तरनदीषु उदकं मृदं च, ततो मेरौ भद्रशालवने सर्वतूवराऽऽदीन् ततो नन्दनवने सर्वतूवराऽऽदीन् सरसं च गोशीर्षचन्दन तत. सौमनसवने सर्वतूवराऽऽदीन् सरसं च गोशीर्षचन्दन दिव्यं च समुनोदाम ततः पण्डकवने सर्वतूवरपुष्पगन्धाऽऽदीन् गृह्णन्ति, गृहीत्वा चैकतः एकत्र मिलन्ति, एकत्र मिलित्वा यत्रैव दक्षिणार्द्धभरतवर्षे यत्रैव च विनीता राजधानी तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य च विनीता राजधानीमनुप्रदक्षिणीकुर्वन्त. २ यत्रैवाभिषेकमण्डपो यत्रैव च भरतो राजा तत्रैवोपागच्छन्ति. उपागत्य च तत् पूर्वोक्तं महार्थं महार्घं महार्हं महाराज्याभिषेकोपयोगिक्षीरोदकाऽऽद्युपस्करमुपस्थापयन्ति—उपढौकयन्ति । अथोत्तरकृत्यमाह—' तए णं ' इत्यादि, ततस्तं भरतं राजानं द्वात्रिंशद्राजसहस्राणि शोभने निर्दोषगुणपोषे ' तिथिकरणदिवसनक्षत्रमुहूर्त्ते ' तिथ्यादिपदानां समाहारद्वन्द्वः, तत सप्तम्येकवचनं, तत्र तिथिः—रिक्तार्केन्दुदग्धाऽऽदिदुष्टतिथिभ्यो भिन्ना तिथिः, करणं—विविष्टिव्यतिरिक्तम्, दिवसो दुर्दिनग्रहणोत्पातदिनाऽऽदिभ्यो भिन्नो दिवस', नक्षत्रं—राज्याभिषेकोपयोगि श्रुत्यादित्रयोदशनक्षत्राणामन्यतरत्, यदाह—" अभिषिक्तो महीपाल', श्रुतिज्येष्ठालघुध्रुवै' । मृगानुराधापौष्णैश्च ' चिर शास्ति वसुन्धराम् ॥ १ ॥ " इति, मुहूर्त्त —अभिषेकोक्तनक्षत्रसमानदैवत इति, अत्रैव विशेषमाह-उत्तरप्रोष्ठपदा उत्तरभद्रपदा नक्षत्रं तस्य विजयो नाम मुहूर्त्त'-अभिजिदादयः क्षणस्तस्मिन, अयं भावः-मुहूर्त्तापरपर्याय' पञ्चदशक्षणाऽऽत्मके दिवसेऽष्टमक्षण तल्लक्षणं चेदं ज्योति.शास्त्रप्रसिद्धं-" द्वौ यामौ घटिकाहीनौ, द्वौ यामौ घटिकाधिकौ विजयो नाम योगोऽयं, सर्वकार्यप्रसाधक' ॥ १ ॥ " ततस्तैः पूर्वोक्तैः स्वाभाविकैरुत्तरवैक्रियैश्च वरकमले आधारभूते प्रतिष्ठान स्थितिर्येषां ते तथा तैः सुरभिवरवारिप्रतिपूर्णैः', अत्र ' चंदणकयचच्चएहिं आविद्धकंठे गुणेहिं पउमुप्पलपिहाणेहिं करयलपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्सेणं सोवण्णिअकलसाण०जाव अट्ठसहस्सेणं भोमेज्जाए ' इत्यादिको ग्रन्थो यावत्पदसंग्राह्य उत्तरत्र निन-

जन्माभिषेकप्रकरणे व्याख्यास्यते तत्राऽस्य साक्षाद्दर्शितत्वात्, वाक्यसङ्गत्यर्थं च करणक्रियाविभागो दर्श्यते, उक्तविशेषणविशिष्टैः कलशैः सर्वोदकसर्वमृत्सर्वौषधिप्रभृतिवस्तुभिर्महता २-गरीयसा २ राज्याभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति, अभिषेको यथा विजयस्य जीवाभिगमोपाङ्गे उक्तस्तथाऽत्र वोद्धव्यः, अभिषिच्य च प्रत्येकं २ प्रतिनृपं, यावत्पदात् 'करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए' इति ग्राह्यं, अञ्जलिं कृत्वा ताभिरिष्टाभिः यावदपि 'कताहिं ०जाव वग्गूहिं अभिणंदंता य अभिथुणंता य एवं वयासी-जय जय णंदा जय जय भद्दा ! भद्दं ते अजिअं जिणाहि' इत्यादिको ग्रन्थस्तथा ग्राह्यो यथा विनीतां प्रविशतो भरतस्यार्थार्थिप्रमुखयाचकजनैराशीरित्यर्थात् गम्यं भणिता कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद्विहरेति-कृत्वा जय २ शब्दं प्रयुञ्जन्ति, नन्वत्र सूत्रेऽभिषेकसूत्रं जीवाभिगमगतविजयदेवाभिषेकसूत्रातिदेशेनोक्तं, साम्प्रतीनतदीयाऽऽदर्शेषु च 'अट्ठसयणं सोवण्णिअकलसाणं' इत्यादि दृश्यते, अत्र च वृत्तौ—'अट्ठसहस्सेणं सोवण्णिअकलसाणं' इत्यादि दर्शितं तत्कथमनयोर्न विरोधः ?, उच्यते-जीवाभिगमवृत्तौ तावेव विभागतो दर्शयति, अष्टसहस्रेण सौवर्णिकानां कलशानामष्टसहस्रेण रूप्यमयानां कलशानाम् अष्टसहस्रेण मणिमयानामित्यादिपाठाऽऽशयेनात्र लिखितत्वान्न दोषः, यदि चात्र कलशानामष्टोत्तरशतसङ्ख्या स्यात्तदा तत्रैव सर्वत्र कृष्णा अष्टभिः सहस्रैरित्युत्तरग्रन्थोऽपि नोपपद्येत, किं चइदयमानतासूत्रे विकुर्वणाधिकारे 'अट्ठसहस्सं सोवण्णिअकलसाणं ०जाव भोमेज्जाणं' इत्यादि,अभिषेकक्षणे तु 'अट्ठसयणं सोवण्णिअकलसाणं' इत्यादीन्यपि विचार्यम्। अथ शेषपरिच्छदाभिषेकवक्तव्यतामाह—'तए णं' इत्यादि, ततः-द्वात्रिंशद्राजसहस्राभिषेकानन्तरं भरतं राजानं सेनापतिरत्नं, यावत्पदात् 'गाहावइरयणे वड्ढइरयणे' इति ग्राह्य,गृहपतिवर्द्धकिपुरोहितरत्नानि त्रीणि च षष्टानि—षष्ट्यधिकानि सूपशतानि अष्टादश श्रेणिप्रश्रेणयः, अन्ये च बहवो यावच्छब्दात् राजेश्वराऽऽदिपरिग्रहः, ततो राजेश्वरतलवरमाडम्बिककौटुम्बिकेभ्यः श्रेष्ठिसेनापतिसार्थवाहप्रभृतय एवमेव-राजानमिवाभिषिञ्चन्ति, तैर्वरकमलप्रतिष्ठानैस्तथैव कलशविशेषणाऽऽदिकं ज्ञेयं, यावदभिनन्दन्ति अभिष्टुवन्ति च, ततः षोडश-देवसहस्रा एवमेव-उक्तन्यायेनाभिषिञ्चन्ति, यत्तु आभियोगिकसुराणां चरमोऽभिषेकः तद्भरतस्य मनुष्येन्द्रत्वेन मनुष्याधिकारान्मनुष्यकृताभिषेकानन्तरभाविन्येनेति बोध्यं, यद्वा—देवानां चिन्तितमात्रतदात्वसिद्धिकारकत्वेन पर्यन्ते तथाविधोत्कृष्टाभिषेकविधानार्थमिति, ऋषभचरित्राऽऽदौ तु पूर्वमपि देवानामभिषेकोऽभिहित इति । अत्र यो विशेषस्तमाह—'णवरं' इति, अयं विशेषः—आभियोगिकसुराणामपरेभ्योऽभिषेचकेभ्यः पक्ष्मलया-पक्ष्मवत्या सुकुमारया च, अत्र यावत्पदग्राह्यमिदं 'गंधकासाइआए गायाइं लूहेंति, सरसगोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपति, अणुलिंपित्ता नासाणीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिसजुत्तं हयलालापेलवाइरेगं धवलं कणगखइअंतकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अहयं दिव्वं देवदूसजुअलं णिअंसावेंति, णिअंसावेत्ता हारं पिणद्धेंति, पिणद्धेत्ता एवं अद्धहारं एगावलिं मुत्तावलिं रयणावलिं पालंबं अंगयाइं तुडिआइं कडयाइं दसमुद्दिआणंतगं कडिसुत्तगं वेअच्छगसुत्तगं मुरविं कंठमुरविं कुंडलाइं चूडामणिं चित्तरयणुक्कडं ति।' अत्र व्याख्या—गन्धकाषायिकया सुरभिगन्धकषायद्रव्यपरिकर्मितया लघुशाटिकया इति गम्यं, गात्राणि—भरतशरीरावयवान् रूक्षयन्ति, रूक्षयित्वा च सरसेन गोशीर्षचन्दनेन गात्राण्यनुलिम्पन्ति, अनुलिप्य च देवदूष्ययुगलं निवासयन्ति-परिधापयन्तीति योगः, कथम्भूतमित्याह—नासिकानिःश्वासवातेन वाह्य-दूरापनेयं श्लक्ष्णतरमित्यर्थः, अयमर्थः-आस्तां महावातः नासावातोऽपि स्वबलेन तद्वस्त्रयुगलम् अन्यत्र प्रापयति, चक्षुर्हरं रूपातिशयत्वात्, अथवा चक्षुर्हरं चक्षुरोधकं घनत्वात्, अतिशायिना वर्णेन स्पर्शेन च युक्तं हयलाला-अश्वमुखजल तस्मादपि पेलव-कोमलमतिरेकेण अतिशयेन अतिविशिष्टमृदुत्वलघुत्वगुणोपेतमिति भावः, धवलं प्रतीतं, कनकेन खचितानि विच्छुरितानि अन्तकर्माणि—अञ्चलयोर्वानलक्षणानि यस्य तत् तथा आकाशस्फटिको नाम अतिस्वच्छस्फटिकविशेषस्तत्सदृशप्रभम् अहतं दिव्यं निवास्य च हारं पिनह्यन्ति-ते देवाश्चक्रिणः कण्ठपीठे बध्नन्ति, 'एवं' इति एतेनाभिलापेनार्द्धहाराऽऽदीनि वाच्यानि यावन्मुकुटमिति, तत्र हारार्द्धहारौ प्रतीतौ, एकावली प्राग्वत्, मुक्तावली—मुक्ताफलमयी कनकावली-कनकमणिमयी रत्नावली--रत्नमयी प्रालम्बः—तपनीयमयो विचित्रमणिरत्नभक्तिचित्र आत्मप्रमाण आभरणविशेषः,अङ्गदे त्रुटिके च प्राग्वत्, कटकं प्रसिद्धं दशमुद्रिकानन्तरकं—हस्ताङ्गुलिमुद्रादशकं कटिसूत्रकं-पुरुषकट्याऽऽभरणं वैकक्ष्यसूत्रकम्—उत्तरासङ्ग परिधानीय-शृङ्खलकं मुरवी-मृदङ्गाऽऽकारमाभरणं कण्ठमुरवी—कण्ठाऽऽसन्नं तदेव कुण्डले व्यक्ते चूडामणिः प्राग्वत्, चित्ररत्नोत्कटं—विचित्ररत्नोपेतं मुकुटं व्यक्तम् । 'तयणंतरं च णं दद्दरमलय' इत्यादि, तदनन्तरं दर्दरमलयसम्बन्धिनो ये सुगन्धाः--शोभनवासास्तेषां गन्धः—शुभपरिमलो येषु ते तथा तैर्गन्धैः—काश्मीरकर्पूरकस्तूरीप्रभृतिगन्धवद्द्रव्यैः प्रकरणाद्रसभावमापादितैरभ्युक्षन्ति—सिञ्चन्ति ते देवा भरतं, कोऽर्थः ?--अनेकसुरभिद्रव्यमिश्रघुसृणरसच्छटकान् कुर्वन्ति, भरतवाससीति भावः । क्वचित्, 'सुगंधगंधिएहिं गंधेहिं भुकुडं ति' इति पाठस्तत्र भूफडन्तीति-उद्धूलयन्ति, गन्धैः सुरभिचूर्णैः -सुरभिचूर्णं भरतोपरि क्षिपन्ति दिव्यं, चः समुच्चये, सुमनोदाम—कुसुममालां पिनह्यन्ति, किंबहुना ?, उक्तेनेति गम्यं, 'गढिमवेढिम' यावत्पदात् 'पूरिमसंघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खयं पिव समलंकिय त्ति' ग्राह्यम्, अत्र व्याख्या-ग्रन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमं, भावादिमप्रत्ययः, यत् सूत्राऽऽदिना ग्रथ्यते तद् ग्रन्थिममिति भावः, ग्रथितं सद्वेष्ट्यते यत्तद् वेष्टिमं, यथा पुष्पलम्बूसको गेन्दुक इत्यर्थः, पूरिमं येन वंशशलाकाऽऽदिमयपञ्जराऽऽदि पूर्यते संघातिमं यत्परस्परतो नालं संघात्यते, एवंविधेन चतुर्विधेन माल्येन कल्पवृक्षमिवालङ्कृतविभूषितं भरतचक्रिणं कुर्वन्ति ते देवाः । अथ कृताभिषेको यच्चक्रे तदाह-'तए णं' इत्यादि, ततः स भरतो राजा महता महता अतिशायिना राज्याभिषेकेणाभिषिक्तः सन् कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति,शब्दयित्वा चैवमवादीत् तदेवाऽऽह क्षिप्रमेव

भो देवानुप्रिया ! यूयं हस्तिस्कन्धवरगताः विनीताया राजधान्या शृङ्गाटकत्रिकचतुष्कचत्वराऽऽदिषु प्राग्व्याख्यातेषु आस्पदेषु महता महता शब्देनोद्घोषयन्तो—जल्पन्तो जल्पन्तः, अत्र शत्रन्तस्यापि अविवक्षणान्न कर्मनिर्देशः, आभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनम् उच्छुल्क यावद् द्वादश संवत्सराः कालोमानं यस्यास्तीति द्वादशसंवत्सरिकस्त प्रमोदहेतुत्वात् प्रमोदः—उत्सवस्तं घोषयत, घोषयित्वा च ममैतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयत, उच्छुल्काऽऽदिपदव्याख्या प्राग्वत् , अथ ते आज्ञप्ता यथा प्रवृत्तवन्तस्तथाऽऽह-' तए णं ' इति , ततस्ते कौटुम्बिकपुरुषा भरतेन राज्ञा एवमुक्ताः सन्तो हृष्टतुष्टचित्ताऽऽनन्दिताः ' हरिसवस त्ति ' हर्षवशविसर्पद्धृदयाः विनयेन वचनं प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य च क्षिप्रमेव हस्तिस्कंधवरगताः, यावत्पदात् ' विणीआए रायहाणीए सिंघाडगतिग ' इत्यादि ग्राह्यं, कियदन्तमित्याह—यावद् घोषयन्ति, घोषयित्वा च एतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयन्ति । अथ भरतः किं चक्रे इत्याह—' तए णं ' इति, ततः स भरतो राजा महता महता राज्याभिषेकेणाभिषिक्तः सन् सिंहासनादभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय च स्त्रीरत्नेन यावत् 'बत्तीसाए उडुकल्लाणिआससहस्सेहिं बत्तीसाए जणवयकल्लाणिआसहस्सेहिं बत्तीसाए बत्तीसइबद्धेहिं ' इति ग्राह्यं , द्वात्रिंशता द्वात्रिंशद्बद्धैर्नाटकसहस्रैः सार्द्धं संपरिवृतोऽभिषेकपीठात् पौरस्त्येन त्रिसोपानप्रतिरूपकेण प्रत्यवरोहति , प्रत्यवरुह्य चाभिषेकमण्डपात् प्रतिनिष्क्रामति,प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैवाऽऽभिषेक्यं हस्तिरत्नं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य चाञ्जनगिरिकूटसन्निभं गजपतिं, यावच्छब्दात् 'नरवइ त्ति' ग्राह्यं, नरपतिरारूढः, तदनु अनुचरजनो यथाऽनुवृत्तवांस्तथाऽऽह-' तए ण ' इत्यादि, व्यक्तम्, अथ यया युक्त्या चक्री विनितां प्रतिवेश तामाह-'तए ण' इत्यादि, ततस्तस्य भरतस्य राज्ञ आभिषेक्यं हस्तिरत्नमारूढस्य सत इमान्यष्टाष्टमङ्गलकानि पुरतो यावच्छब्दाद्यथानुपूर्व्या संप्रस्थितानि,अत्र ग्रन्थविस्तरभयादतिदेशमाह-योऽपि चातिगच्छतो—विनीतां प्रविशतः क्रमः—परिपाटीप्रथमोऽधस्तनसूत्रोक्तो भरतविनीताप्रवेशवर्णकः कुबेरदृष्टान्तभाविसूत्रावसानः स एव क्रम इहापि सत्कारविरहितो नेतव्यः । अयं भावः-पूर्वं प्रवेशे षोडशदेवसहस्रद्वात्रिंशद्राजसहस्राऽऽदीनां सत्कारो यथा विहितस्तथा नात्रेति अस्य च द्वादशवार्षिकप्रमोदनिर्वर्त्तनोत्तरकाल एवावसरप्राप्तत्वात् । अथ गृहाऽऽगमनानन्तरं यो विधिस्तमाह-' तए णं से भरहे राया मज्जणघरं ' इत्यादि, निगदसिद्धं प्राग् बहुशो निगदितत्वात्, एवं च प्रतिदिनं नवं नवं राज्याभिषेकमहोत्सवं कारयतस्तस्य द्वादश वर्षाण्यतिक्रान्तानि, शत्रुञ्जयमाहात्म्याऽऽदौ तु ' राज्याभिषेकोत्सवस्थाने राज्याभिषेक एव द्वादशवार्षिकोऽभिहित इति , अथ तदुत्तरकाले यत्कृत्यं तदाह—' तएणं ' इत्यादि प्राग्वत् । ननु सुभूमचक्रवर्त्तिनः पर्शुरामहतक्षत्रियदाढाभृतस्थालमेव चक्ररत्नतया परिणतमिति श्रुतेश्चक्ररत्नानामनियतोत्पत्तिस्थानकत्वं ज्ञायते तेन प्रस्तुतप्रकरणे तेषां क्वोत्पत्तिरित्याशङ्कयाऽऽह अथ चतुर्दशरत्नाधिपतेर्भरतस्य यानि रत्नानि यत्रोदपद्यन्त तत्तथाऽऽह—

भरहस्स रण्णो चक्करयणे १ दंडरयणे २ असिरयणे ३ छत्तरयणे ४ । एते णं चत्तारि एगिंदियरयणे आउहघरसालाए समुप्पण्णा, चम्मरयणे १ मणिरयणे २ कागणिरयणे ३ णव य महाणिहिओ । एए णं सिरिघरंसि समुप्पण्णा , सेणावइरयणे १ गाहावइरयणे २ वद्धइरयणे ३ पुरोहिअरयणे ४ । एए णं चत्तारि मणुअरयणा विणीआए रायहाणीए समुप्पण्णा, आसरयणे १ हत्थिरयणे २ , एए णं दुवे पंचिंदिअरयणा वेअड्ढगिरिपायमूले समुप्पण्णा, सुभद्दा इत्थीरयणे उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए समुप्पण्णे । ( सूत्रम्—६८ )

' भरहस्स रण्णो ' इत्यादि, भरतस्य राज्ञश्चक्राऽऽदीनि चत्वारि एकेन्द्रियरत्नानि आयुधशालायां समुत्पन्नानि-लब्धसत्ताकानि जातानि । एवमुत्तरसूत्रेऽपि बोध्यं , तेन चर्मरत्नाऽऽदीनि नव महानिधयश्च एतानि-श्रीगृहे-भाण्डागारे समुत्पन्नानि-लब्धसत्ताकानि जातानीत्यर्थः । इत्थं च निधयः शाश्वतभावरूपाः कथमुत्पद्यन्ते इत्याशङ्का निरस्ता । ननु इदं सूत्रं ' पादाध स्थितयस्तस्य , नवापि निधयोऽनिशम् । हेमाब्जानीव वृषभ-प्रभोर्विहरतोऽभवन् ॥ १ ॥ ' इति ऋषभचरित्रवचनेन अत्रैव पूर्वसूत्रेण च सह न विरुध्यते ? । उच्यते—राज्ञा यत्र तत्र स्थितमपि कोशद्रव्यं कोश एव कथ्यत इति लौकिकव्यवहारस्य सुप्रसिद्धत्वात् न दोषः , सेनापत्यादिमनुजरत्नानि चत्वारि विनीताया समुत्पन्नानि , अश्वरत्नेहस्तिरत्ने एते द्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्रत्ने वैताढ्यगिरेः पादमूले-मूलभूमौ समुत्पन्ने, सुभद्रा नाम स्त्रीरत्नम् उत्तरस्यां विद्याधरश्रेण्या समुत्पन्नम् ।

अथ षट्खण्डं पालयंश्चक्री यथा प्रवृत्ते तथाऽऽह—

तए णं से भरहे राया चउदसण्हं रयणाणं णवण्हं महाणिहीणं सोलसण्हं देवसाहस्सीणं बत्तीसाए रायसहस्साणं बत्तीसाए उडुकल्लाणिआसहस्साणं बत्तीसाए जणवयकल्लाणिआसहस्साणं बत्तीसाए बत्तीसइबद्धाणं णाडगसहस्साणं तिण्हं सट्ठीणं सूयारसयाणं अट्ठारसण्हं सेणिप्पसेणीणं चउरासीइए आससयसहस्साणं चउरासीइए दंतिसयसहस्साणं चउरासीइए रहसयसहस्साणं छण्णउइए, मणुस्सकोडीणं बावत्तरीए पुरवरसहस्साणं बत्तीसाए जणवयसहस्साणं छण्णउइए गामकोडीणं णवणउइए दोणमुहसहस्साणं अडयालीसाए पट्टणसहस्साणं चउव्वीसाए कब्बडसहस्साणं चउव्वीसाए मडंबसहस्साणं वीसाए आगरसहस्साणं सोलसण्हं खेडसहस्साणं चउदसण्हं संवाहसहस्साणं छप्पण्णाए अंतरोदगाणं एगूणपण्णाए कुरज्जाणं विणीआए रायहाणीए चुल्लहिमवंतगिरिसागरमेरागस्स केवलकप्पस्स भरहस्स वासस्स अण्णेसिं च बहूणं राईसरतलवर ० जाव सत्थवाहप्पभिईणं आहेवच्चं पोरेवच्चं भट्टित्तं सामित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे ओहयणिहएसु कटएसु उ-

ढिअमलिएसु सव्वसत्तुसु णिज्जिएसु भरहाहिवे णरिंदे वरचंदणचच्चिअंगे वरहाररइअवच्छे वरमउडविसिट्ठए वरवत्थभूसणधरे सव्वोउअसुरहिकुसुमवरमल्लसोभिअसिरे वरणाडगनाडइज्जवरइत्थिगुम्म सद्धिं संपरिवुडे सव्वोसहिसव्वरयणसव्वसमिइसमग्गे संपुण्णमणोरहे हयामित्तमाणमहणे पुव्वकयतवप्पभावनिविट्ठसंचिअफले भुंजइ माणुस्सए सुहे भरहे णामधेज्जे त्ति । ( सूत्रम्-६९ )

'तए णं' इति, ततः—षट्खण्डभरतसाधनानन्तरं स भरतो राजा चतुर्दशरत्नाऽऽदीनां साधेश्वाऽऽद्यप्रभृत्यन्तानामाधिपत्याऽऽदिकं कारयन् पालयन् मानुष्यकाणि सुखानि भुङ्क्ते इत्यन्वयः, सर्वं प्राग्वत् व्याख्यातार्थं, नवरं षट्खण्डाश्चातोऽन्तरोद्धकाणां—जलान्तर्वर्तिसन्निवेशविशेषाणां न तु समयप्रसिद्धयुग्मिमनुजाऽऽश्रयभूतानां षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपानां तेषु चक्रवर्त्याधिपत्यस्यासम्भवात्, चक्रोऽनपञ्चाशतः कुराज्यानां—भिल्लाऽऽदिराज्यानामिति, केषु सत्सु सुखानि भुङ्क्ते इत्याह—उपहतेषु—विनाशितेषु निहतेषु च—अपहृतसर्वसमृद्धिषु कण्टकेषु—गोत्रजवैरिषु उद्धृतेषु—देशान्निर्वासितेषु मर्दितेषु च—मानम्लानिं प्रापितेषु सर्वशत्रुषु—अगोत्रजवैरिषु पुनः सर्वं कुतो भवतीत्याह निर्जितेषु—भग्नबलेषु सर्वशत्रुषु उक्तद्विप्रकारवैरिषु. अत्र सर्वशत्रुविशेषि पदं देहलीप्रदीपन्यायेनोभयत्र योज्यं, कीदृशो भरत इत्याह—भरताधिपो नरेन्द्रः चन्दनेन चर्चितं—समण्डनं कृतमङ्गं यस्य स तथा, वरहारेण रचितं द्रष्टृणां नयनसुखकारि वक्षो यस्य स तथा, वरमुकुटविशिष्टकः, चूर्णौ तु 'वरमउडाविद्ध' इति, तत्र आविद्धम् इति आविद्धं परिहितं वरमुकुटम् अनेन स तथा, प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययः, वरवस्त्रभूषणधरः सर्वर्तुकसुरभिकुसुमानां माल्यैः—मालाभिः शोभितशिरस्कः, वरनाटकानि—पात्राऽऽदिसमुदायरूपाणि नाटकीयानि च—नाटकप्रतिबद्धपात्राणि वरस्त्रीणां प्रधानस्त्रीणां गुल्मम्—अव्यक्तावयवविभागवृन्दं तेन तृतीयालोप आर्षत्वात् सार्द्धं सम्परिवृतः सर्वौषधयः—पुनर्नवाऽऽद्याः सर्वरत्नानि—कर्केतनाऽऽदीनि सर्वसमितयः—अभ्यन्तराऽऽदिपर्षदस्ताभिः समग्रः—सम्पूर्णः, अत एव सम्पूर्णमनोरथः हतानां पुनरर्थग्रहणत्वेन जीवन्मुक्तानाम् अमित्राणां—शत्रूणां मानमथनः, कीदृशानि सुखानि भुङ्क्ते इत्याह पूर्वकृततपःप्रभावस्य निविष्टसंचितस्य—निकाचिततया संचितस्य तस्यैव ध्रुवफलत्वात्, पदनिपातः पदस्याऽऽर्षत्वात्, फलानि फलभूतानि, कीदृशो भरतो ?—भरते—अस्मिन् क्षेत्रे प्रथमभरताधिपत्वेन प्रसिद्धं नामधेयं नाम यस्य स तथा, विशेष्यपदं तु 'तए णं से भरहे राया' इत्यत्रैवोक्तम्, अनेनैकवाक्ये द्विर्विशेष्यपदं कथमित्याशङ्का निरस्ता ।

अथास्य नरदेवस्य धर्मदेवत्वप्राप्तिमूलमाह—

तए णं से भरहे राया अण्णया कयाइ जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता० जाव ससि व्व पिअदंसणे णरवई मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव आदंसघरे जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे णिसीअइ, णिसीइत्ता आदंसघरंसि अत्ताणं देहमाणे २ चिट्ठइ । तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं २ ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स तयावरिज्जाणं कम्माणं खएणं कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे । तए णं से भरहे केवली सयमेवाऽऽभरणालंकारं ओमुअइ, ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठिअं लोअं करेइ, करेत्ता आयंसघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अंतेउरमज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता दसहिं रायवरसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे विणीअं रायहाणिं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता मज्झदेसे सुहंसुहेणं विहरइ, विहरित्ता जेणेव अट्ठावए पव्वते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अट्ठावयं पव्वयं सणिअं २ दुरूहइ, दुरूहित्ता मेघघणसण्णिकासं देवसण्णिवायं पुढविसिलावट्टयं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडिआइक्खिए पाओवगए कालं अणवकंखमाणे २ विहरइ । तए णं से भरहे केवली सत्तत्तरिं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसित्ता एगं वाससहस्सं मंडलिअरायमज्झे वसित्ता छ पुव्वसयसहस्साइं वाससहस्सूणगाइं महारायमज्झे वसित्ता तेसीइं पुव्वसयसहस्साइं अगारवासमज्झे वसित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं देसूणगं केवलिपरिआयं पाउणित्ता तमेव बहुपडिपुण्णं सामण्णपरिआयं पाउणित्ता चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउअं पाउणित्ता मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं सवणेणं णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं खीणे वेअणिज्जे आउए णामे गोए कालगए वीइक्कंते समुज्जाए छिण्णजाइजरामरणबन्धणे, सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुडे अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे । इति भरतचक्रिचरितं । ( सूत्रम्-७० )

'तए णं' इत्यादि, ततो—वर्षसहस्रोनषट्पूर्वलक्षावधिसाम्राज्यानुभवनानन्तरं स भरतो राजा अन्यदा कदाचिद् यत्रैव मज्जनगृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च यावच्छशीव प्रियदर्शनो नरपतिर्मज्जनगृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य च स्ववेषलक्ष्मीदर्शनार्थं यत्रैवाऽऽदर्शगृहं यत्रैव च सिंहासनं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य च सिंहासनवरगतः पूर्वाभिमुखो निषीदति, निषद्य चाऽऽदर्शगृहे आत्मानं प्रेक्षमाणः २—तत्र प्रतिबिम्बितं सर्वाङ्गस्वरूपं पश्यन् पश्यंस्तिष्ठति—आस्ते, अत्र च 'व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिः' इत्यर्थे सम्प्रदायो बोध्यः । तद्यथा—

'तत्र च प्रेक्षमाणस्य, स्वं वपुर्भरतेशितुः ।
अङ्गुल्या एकतमस्याः, निपपाताङ्गुलीयकम् ॥ १ ॥

तदङ्गुल्या गलितम-प्यङ्गुलीयं महीपतिः ।
नाज्ञासीद्बर्हिणो बर्ह-भाराद्बर्हमिवैककम् ॥ २ ॥
वपुः पश्यन् क्रमेणैत्तां—चक्रे तां चक्र्यनूर्मिकाम् ।
अङ्गुलीं गलितज्योत्स्नां, दिवा शशिकलामिव ॥ ३ ॥
अहो विशोभा किमसा-वङ्गुलीति विचिन्तयन् ।
ददर्श पतितं भूमा वङ्गुलीयं नरेश्वरः ॥ ४ ॥
किमन्यान्यपि विशोभाः न्यङ्गान्याभरणैर्विना ।
इति मोक्तुं स आरेभे, भूषणान्यपराण्यपि ॥ ५ ॥ '

इति, एवं प्रवृत्तस्य तस्य किमजनीत्याह—' तए णं ' इ-स्यादि, ततो—वपुर्न्यस्तभूषणमोचनानन्तरं तस्य भरतस्य राज्ञः शुभेन परिणामेन—

" अन्तःक्लिन्नस्य विष्ठाऽऽद्यै -र्मलैः स्रोतोभवैर्बहिः ।
चिन्त्यमानं किमप्यस्य, शरीरस्य न शोभनम् ॥ १ ॥
इदं शरीरं कर्पूर-कस्तूरीप्रभृतीन्यपि ।
दूषयत्येव पाथोद -पयांस्यूषरभूरिव ॥ २ ॥
यत्प्रातः संस्कृतं धान्यं, तन्मध्याह्ने विनश्यति ।
तदीयरसनिष्पन्ने, काये का नाम सारता ? ॥ ३ ॥ "

इति शरीरासारत्वभावनारूपया जीवपरिणत्या प्रशस्तैरध्यवसानैः उत्कृष्टरूपैर्मनःपरिणामैः लेश्याभिः शुक्लाऽऽदिद्रव्योपहितजीवपरिणतिरूपाभिर्विशुद्ध्यन्तीभिः-उत्तरोत्तरविशुद्धिमापद्यमानाभिरापद्यमानाभिर्निरावरणवपुर्वैरूप्यविषयकमीहापोहमार्गणागवेषणं कुर्वतस्तदावरणीयानां केवलज्ञानदर्शननिबन्धकानां चतुर्णां घातिकर्मणां क्षयेण सर्वथा जीवप्रदेशेभ्यः तदीयपुद्गलपरिशाटनेन प्राग्व्याख्यातानुत्तराऽऽदिविशेषणविशिष्टं केवलज्ञानदर्शनमुत्पन्नमिति , कीदृशमित्याह—कर्मरजसां विकिरणकरं-विक्षेपकरं , कीदृशस्य भरतस्य ?-अपूर्वकरणम्-अनादौ संसारेऽप्राप्तपूर्वं ध्यानं शुक्लध्यानं प्रविष्टस्य प्राप्तस्येत्यर्थः,अत्र च ईहाऽऽदिपदेषु समाहारद्वन्द्वः, तत्रावग्रहपूर्वकत्वादीहाऽऽदीनां प्रथमं तदुल्लेखः.तथाहि-अये ! इह निरलङ्कारे वपुषि शोभा न दृश्यते इत्यवग्रहः, यथा दूरस्थपुरोवर्तिनि वस्तुनि किमिदमिति भाव , अथ सा शोभा औपाधिकी वा नैसर्गिकी वा इत्यवगृहीतार्थाभिमुखा मतिचेष्टा पर्यालोचनरूपा ईहा, यथा तत्रैव स्थाणुर्वा पुरुषो वा , नन्वियं संशयाऽऽकारतया संशय एव,स च कथमुत्तरकालभाविसम्यग्निश्चयापर्यायस्यापोहस्य हेतुर्भवति, विरुद्धकोट्यवगाहित्वादिति ?। उच्यते—उत्कटकोटिकसंशयरूपत्वेनास्याः सम्भावनारूपाया निश्चयकारणत्वस्याविरुद्धत्वात् , इयमौपाधिक्येव न नैसर्गिकी बाह्यवस्तुसंसर्गजन्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् इति ईहितविशेषनिर्णयरूपोऽपोहः , यथा तत्रैव स्थाणुरेवायं न पुरुष इति,अस्या प्रकर्षापकर्षौ बाह्यवस्तुप्रकर्षापकर्षानुविधायिनावित्यन्वयधर्माऽऽलोचनं मार्गणा यथा स्थाणौ निश्चेतव्य इह वल्ल्युत्सर्पणाऽऽदयो धर्माः सम्भवन्ति,स्वाभाविकत्वे उत्तानदशा भारभूतस्याऽऽभरणस्य वपुषि धारणबुद्धिर्न स्यादिति गवेषणं, यथा तत्रैव इह शिरःकण्डूयनाऽऽदयः पुरुषधर्मा न दृश्यन्ते इति,अत्र वेहाऽऽदीनन्तरेण हानोपादानबुद्धिर्न स्यादिति तद्ग्रहणम् । अथोत्पन्नकेवलः किं करोतीत्याह—' तए णं ' इत्यादि, ततः—केवलज्ञानानन्तरं स भरत. आसनप्रकम्पावधिना शक्रेण केवलिन् ! द्रव्यलिङ्गं प्रपद्यस्व यथाऽहं वन्दे विदधे च नि-



ष्क्रमणोत्सवमित्युक्तः सन् स्वयमेवाऽऽभरणभूतमलङ्कारं वस्त्रमाल्यरूपमवमुञ्चति—त्यजति , अत्र भूषणाऽलङ्कारस्य पूर्वं त्यक्तत्वात् केशालङ्कारस्य च तित्यक्ष्यमाणत्वात् परिशेषात् वस्त्रमाल्यालङ्कारयोरवग्रहः , स्वयमेव पञ्चमुष्टिकं लोचं करोति, कृत्वा च उपलक्षणात् सन्निहितदेवतयाऽर्पितम् * साधुलिङ्गं गृहीत्वा चेति गम्यं, ततः शक्रवन्दितः सन् आदर्शगृहात् प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य च अन्तःपुरमध्यंमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य च दशभी राजसहस्रैः सार्द्धं संपरिवृतो विनीताया राजधान्या मध्यंमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य मध्यदेशे-कोशलदेशस्य मध्ये सुखंसुखेन विहरति । तदनु किं विधत्ते इत्याह—' विहरित्ता जेणेव अट्ठावए ' इत्यादि , विहृत्य च यत्रैवाष्टापदः पर्वतस्तत्रैवोपागच्छति , उपागत्य चाष्टापदं पर्वतं शनैः २ सुविहितगत्या ' दवदवस्स न गच्छिज्जा ' इति वचनात् आरोहति, आरुह्य च घनमेघसन्निकाशं-सान्द्रजलदश्यामं, पदव्यत्ययः प्राकृतत्वात् , देवानां सन्निपातः—आगमनं रम्यत्वात् यत्र स तथा तं, पृथिवीशिलापट्टकः-आसनविशेषस्तं प्रतिलेखयति , केवलित्वे सत्यपि व्यवहारप्रमाणीकरणार्थं दृष्टया निभालयति , प्रतिलिख्य च सिंहावलोकनन्यायेनात्रापि आरोहतीति बोध्यं , संलिख्यते—कृशीक्रियते शरीरकषायाऽऽद्यनयेति संलेखना-तपोविशेषणलक्षणा तस्या जोषणा सेवना, तया जुष्ट—सेवितो भूषितो वा—क्षपितः यः स तथा, प्रत्याख्याते भक्तपाने येन स तथा, क्तान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् , 'पादोपगत.' पादो-वृक्षस्य भूगतो मूलभागस्तस्येवाप्रकम्पतयोपगतम् अवस्थान यस्य स तथा, काल-मरणमनवकाङ्क्षन्-अवाञ्छन् , उपलक्षणाज्जीवितमप्यवाञ्छन् ,अरक्तद्विष्टवाद् विहरति । अथ स भरतो यस्मिन् पर्याये यावन्तं कालमतिवाह्य निर्वृते तथाऽऽह—'तए णं ' इत्यादि , तत. स भरतः केवली सप्तसप्ततिं पूर्वशतसहस्राणि कुमारवासमध्ये--कुमारभावे उषित्वा भरतप्रसवानन्तरमेतावन्तं कालम् ऋषभस्वामिनो राज्यपरिपालनात् एकं वर्षसहस्रं माण्डलिकराजा—एकदेशाधिपतिः भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य माण्डलिकत्वं तन्मध्ये उषित्वा षट् पूर्वसहस्राणि वर्षसहस्रोनानि महाराजमध्ये—चक्रवर्तित्वे उषित्वा त्र्यशीतिं पूर्वशतसहस्राणि अगारवासमध्ये गृहित्वे इत्यर्थ. , उषित्वा एकं पूर्वशतसहस्रम् अन्तर्मुहूर्त्तोन केवलिपर्यायं प्राप्य—पूरयित्वा गृहित्वे एव भावचारित्रप्रतिपत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन केवलोत्पत्तेः , तदेव पूर्वशतसहस्रं बहुप्रतिपूर्णं-सम्पूर्णं , तेनान्तर्मुहूर्त्तेनाधिकमित्यर्थः, भावचारित्रस्यात्र विवक्षा न तु द्रव्यचारित्रस्य, तस्य केवलानन्तरं प्रतिपत्तेः, श्रामण्यपर्यायं—यतित्वं प्राप्य चतुरशीतिं पूर्वशतसहस्राणि सर्वाऽऽयुः परिपूर्य मासिकेन भक्तेन मासोपवासैरित्यर्थः , अपानकेन-पानकाऽऽहारवर्जितेन श्रवणेन नक्षत्रेण योगमुपागतेन चन्द्रेण सहेति गम्यं, क्षीणे वेदनीये आयुषि नाम्नि गोत्रे च भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयक्षये इत्यर्थः , ' कालगए ' इत्यादि पदानि प्राग्वत् , इतिशब्दोऽधिकारपरिसमाप्तिद्योतकः । स चायम्—'से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ-भरहे वासे भरहे वासे' इति सूत्रेण नामान्वर्थं पृच्छतो

* "देवराया रओहरणपडिग्गहादि उवगरणमुवणीय " आ० म० १ अ० ।

गौतमस्य प्रतिवचनाय ' तत्थ णं विणीआए रायहाणीए भ-रहे णामं राया चाउरंतचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था ' इत्यादि सूत्रैर्भरतचरित्रं प्रपञ्चितं, तच्च परिसमाप्तमित्यर्थ, तेन भरतः स्वामित्वेनास्त्यस्येत्यण्ऽऽदित्वादप्रत्यय इति निरुक्तवशाद् भरत क्षेत्रमिति तात्पर्यार्थः ।

अथ प्रकारान्तरेण नामान्वर्थमाह—

भरहे अ इत्थ देवे महिड्ढीए महज्जुईए ०जाव प-लिओवमट्ठिईए परिवसइ, से एएणट्ठेण गोअमा ! एवं वुच्चइ भरहे वासे भरहे वासे इति । अदुत्तरं च णं गोयमा ! भरहस्स वासस्स सासए णामधिज्जे पण्णत्ते जं ण कयाइ ण आसि, ण कयाइ णत्थि, ण कयाइ ण भविस्सइ, भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे णिअए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे भरहे वासे । ( सूत्रम्-७१ )

भरतश्चात्र देवो महर्द्धिको महाद्युतिको, यावत्पदात् ' महायशे ' इत्यादि पदकदम्बकं ग्राह्य, पल्योपमस्थितिक' परिवसति तद् भरतेति नाम, एतेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते, भरतं वर्ष, भरतं वर्ष निरुक्तं तु प्राग्वत् । उक्तं यौगिकयुक्त्या नाम, अथ तदेव रूढ्या दर्शयति-' अदुत्तर ' इति, अथापरं, च समुच्चये, ण वाक्यालङ्कारे, गौतम ! भरतस्य वर्षस्य शाश्वतं नामधेयं निर्निमित्तकमनादिसिद्धत्वादेवलोकाऽऽदिवत् प्रज्ञप्तं, शाश्वतत्वमेव व्यक्त्या दर्शयति यत्र कदाचिन्नासीदित्यादि प्राग्वत्, एतेन भरतनामकक्षियो देवाच्च भरतवर्षनाम प्रवृत्तं, भरतवर्षाच्च तयोर्नाम भरतं स्वकीयेनास्यास्तीति निरुक्तवशेन प्रावर्त्ततेत्यन्योऽन्याऽऽश्रयदोषो दुर्निवार इति वचनीयता निरस्ता ॥ जं० ३ वक्ष० । ( कालचक्रव्यता ' उस्सप्पिणी ' द्वितीयभागे ११६८ पृष्ठे गता ) उत्तरभरतार्द्धविषयको महोपाध्यायश्रीसुमतिविजयगणिशिष्यपण्डितगुणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा दक्षिणभरतार्द्धे श्रीऋषभ इव उत्तरभरतार्द्धे कोऽपि सकलव्यवहारकर्ता समस्ति, न वा ? । आद्ये तन्नामग्रहं प्रसाद्य', अन्त्ये च कथं तत्र तत्तद्व्यवहारप्रवृत्तिः इति प्रश्ने, उत्तरम्—दक्षिणभरतार्द्धे यथाऽऽद्यो नीतिप्रणेता ऋषभदेवस्तथोत्तरभरतार्द्धेऽपि नीतिप्रणेताऽस्ति, अत्रोत्तरभरतार्द्धेऽपि जातिस्मरणाऽऽदिमान् क्षेत्राधिष्ठायकदेवो वा कश्चित्तत्र नीतिप्रणेता, कालानुभावतः स्वतोऽपि वा कियत्नैपुण्यं जायते इति ॥१॥ ह्री०३ प्रका० । भरतक्षेत्रसत्कषट्खण्डनामाविषये पण्डितविष्णुर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा-भरतक्षेत्रसत्कषट्खण्डनामानि प्रसाद्यानीति ? , नवा-"जइआ य होइ पुच्छा, जिणाण मग्गम्मि उत्तर तइया । इक्कस्स निगोअस्स य, अणंतभागो उ सिद्धिगओ ॥ ७ ॥ अत्रोत्तरम्-भरतस्य दक्षिणार्द्धे गङ्गासिन्धुनद्योरन्तर्वर्तिनो देशस्य गङ्गानिष्कुटखण्डमित्यभिधानं २ गङ्गातः पूर्वदिग्वर्त्तिनो देशस्य गङ्गानिष्कुटखण्डमित्यभिधानं सिन्धुनदीत पश्चिमदिग्वर्त्तिनो देशस्य सिन्धुनिष्कुटखण्डमित्यभिधानम् ३, एवम् उत्तरार्द्धे चैतान्येव त्रीणि नामानि ज्ञातव्यानि इति । ७ प्र० । ह्री० ३ प्रका० । भरतकूटस्थे स्वनामख्याते देवे, पु० । स्था० ६ ठा० । जं०

दो भरहाहिं । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

ब्राह्मी-सुन्दरीभ्यां पाणिग्रहणं कृतं,न वा ?,केचन कथयन्ति भरतेन सुन्दरी,बाहुबलिना ब्राह्मी परिणीता, नहि बाहुबलेर्वैकायोत्सर्गान्ते ताभ्यां भ्रातर्गजात्तुत्तरेत्युक्तं तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-भरतबाहुबलिभ्यां विपरीततया पाणिग्रहणं कृतमित्यक्षराणि आवश्यकमलयगिरिवृत्तौ सन्ति, यत्तु ताभ्यां भ्रातर्गजात्तुत्तरेत्युक्तं तत्प्राक्तनभ्रातृसबन्धात् द्वाभ्यां समुदिताभ्यां कथनात् यतितया च युक्तिमदेवेति । ७२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । चतुरशीतिलक्षपूर्वायुषा श्रीऋषभदेवेन सार्द्धे मोक्षं गतानां भरतस्याष्टनवतिभ्रातॄणामायुरपवर्तनं कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्—बाहुबलेरिव यदि तेषामायुश्चतुरशीतिलक्षपूर्वप्रमाणं क्वापि ग्रन्थे प्रोक्तं स्यात्तदा तदपवर्तनस्य हरिवंशकुलोत्पादयुगलिकाऽऽयुरपवर्तनाऽऽदिवदाश्चर्यान्तर्भावात्र दोष इति । १२२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० । सार्द्धत्रिकोट्यः पुत्रपौत्रा कृष्णस्य, भरतस्य तु सपादा कोटि', तत्र कालस्तु पतनशीलोऽस्ति, तत्कथमाश्रित्य संजाघटीति प्रश्ने, उत्तरम्—द्वारकानगर्यां सार्द्धत्रिकोट्य कुमाराः प्रोक्ताः सन्ति, ते चानेकेषां यदुवंशीयानां पुत्रा न त्वेकस्यैव कृष्णस्य भरतस्य, तु सपादकोटि पुत्रा इति न काऽप्यघटमानतेति । ३७१ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

भरहकूड-भरतकूट-न० । भरतदेवप्रासादावतंसकोपलक्षितं कूटं भरतकूटम् । जम्बूमन्दरदक्षिणभरतस्थदीर्घवैताढ्यपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, स्था० ६ ठा० । जम्बूद्वीपस्थक्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे कूटे, जं० ४ वक्ष० । जम्बूद्वीपस्थहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

भरहवास-भरतवर्ष-न० । भारते वर्षे, वाच० । स्था० १० ठा० । रा० । " हिमवंतसागरत धीरा मोत्तूण भरहवास । " प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

भरहाहिव-भरताधिपति-पुं० । भरताऽऽदिके चक्रवर्तिनि, प्रव० २०८ द्वार ।

भरहेसर-भरतेश्वर-पु० । वैरस्वामिगुरौ शालिभद्रशिष्ये । जै० इ० ।

भरिअ-भृत-त्रि० । स्मृते, " भरिअ लद्धिअं सुमरिअं । " पाइ० ना० १६४ गाथा ।

भरिउल्लट्ट-त्रि० । विकसिते " भरिउल्लट्टं च वोसट्टं । " पाइ० ना० १८५ गाथा ।

भरिम-भरिम-त्रि० । भरणक्रियया निष्पादिते पूरिमे पित्तलाऽऽदिमयप्रतिमाऽऽदिके, अनु० । पृष्ठ्याम्, दे० ।

भरिय-भृत-त्रि० । व्याप्ते, " निरंतर जतिय भरिजंतु । " विशे० । पूरिते, परिपूर्णे, रा० । प्रश्न० । जी० । औ० । न० । आव० । ध० । भरणेन पिण्डिते, औ० ।

भरियकलस-भृतककलश-पुं० । जलपूर्णे घटे, " भरिओ कलसोऽत्थ सुंदरा पुरिसा । " ध० २ अधि० ।

भरियमेहवण्ण-भृतमेघवर्ण-पु० । जलपूर्णमेघसमानवर्णे, ( कालवर्णे ) तद्वति, त्रि० । उपा० २ अ० ।

भरिली-भरिली-स्त्री० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

भरुयच्छ-भरुकच्छ-न०। जलस्थलनिर्गमप्रवेशे पत्तनभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। "भरुकच्छपुरेऽत्राऽऽसीद्, भूपतिर्नरवाहनः।" आ० क० ४ अ०। आव०। आ० म०।

भरोच्छय-देशी-तालफले, दे० ना० ६ वर्ग १०२ गाथा।

भल-स्मृ-धा०। चिन्तायाम्, "स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः" ॥ ८। ४। ७४ ॥ इत्यादि प्राकृतसूत्रेण स्मरतेर्भलाऽऽदेशः। 'भलइ।' प्रा० ४ पाद०।

भलत-देशी-प्रस्खलति, दे० ना० ६ वर्ग १०२ गाथा।

भलुंका-भलुङ्का-स्त्री०। जन्तुविशेषे, "भलुंका उद्विग्ग विकड्ढंति।" संथा०।

भल्ल-भल्ल-धा०। दाने, वधे, निरूपणे च। भ्वादि०-पर०-सक०-सेट्। भल्लति। अभल्लीत्। वाच०। पुं०। न०। वाच०। "चोरो त्ति काऊण भल्लयणाऽऽहया।" आ० म० १ अ०। स्वार्थे कन्। भल्लके, पुं०। वा गौरा०-ङीष्। तत्रैव स्वार्थे कन्। भल्लकाऽप्यत्र।

भल्लाड-भल्लात-पुं०। भल्लं भल्लास्त्रमिवातति स्पर्शिनम्। अत अच्। एकास्थिके वृक्षभेदे, स्वार्थे कन्। वाच०। भल्लातको यस्य भिल्लातकाभिधानानि फलानि लोकप्रसिद्धानि। प्रज्ञा० १ पद। गौ० ङीष्। भल्लातकाऽप्यत्र। वाच०।

भल्लाय-भल्लात-न०। भिलावानाम्नि औषधे, "बिबवय भल्लाय।" पाइ० ना० १४८ गाथा।

भल्ली-भल्ली-स्त्री०। कुन्ताऽऽख्ये शस्त्रविशेषे, त्रिशूलाऽऽख्ये शस्त्रविशेषे च। उत्त० १६ अ०। रा०। नि० चू०। "अप्पणो अच्छी भल्लीए उक्खणिऊण।" नि० चू० १ उ०।

भल्लुंकी-देशी-शिवायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १०१ गाथा।

भव-भव-पुं०। भवनं भवः। भू-भावे अप्। उत्पत्तौ, स्था० ४ ठा० २ उ०। प्रश्न०। स्थापनायाम्, प्राप्तौ च। वाच०। भवन्ति कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति। भव। "तुदादिभ्यो णक्"—इत्यधिकारे "अचित्तो वा" इति अप्रत्ययः। आ० म० १ अ०। नारकाऽऽदिजन्म "पुन्नाम्नि०-" ॥५।३।१३०॥ इत्यधिकरणे घः। न०। नारकाऽऽदिजन्मनि, आ० म० १ अ०। ज्ञा०। स्था०। संथा०। प० व०।

चउव्विहे भवे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयभवे०जाव देवभवे। स्था० ४ ठा० २ उ०।

भवसूत्रं कण्ठ्यं, केवलं भवनं भव उत्पत्तिर्निरये भवो मनुष्येषु मनुष्याणां वा भवो मनुष्यभव एवमन्यावपि। स्था० ४ ठा० २ उ०। भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः इति भवः। संसारे पं० सू० १ सूत्र "भवभाव ओ य तारेइ।" भव संसारस्तत्र भवनं भावस्तस्मादित्यर्थः। विशे०। उत्त०। स्था०। दर्श०। अष्ट०। स्था०। प्रश्न०। दश०। पं० व०। आव०। आ० चू०। आतु०। स्था०। द्वा०। "भवनिक्षेपो यथा—" भवो चउव्विहो नामादि, दव्वभवो एगभवियादी भावभवो चउव्विहो संसारो।" आ० चू० १ अ०

भवोद्वेगश्चावश्यं मुमुक्षुणा विधेयः। अथ भवोद्वेगाष्टकम्-कर्मविपाकोद्विग्नभावात् संसाराद् उद्विजति, अतः भवोद्वेगाष्टकं लिख्यते, तत्र नामभवः स्फुटाऽऽदिः, अथवा—तन्नाम भवोऽज्ञापकरूपं स्थापनाभवः श्लोकाऽऽकारः तदाकारो वा, द्रव्यभव० भवभ्रमणे हेतुरूपधनस्वजनाऽऽदि०, भावभव० चतुर्गतिरूपः जन्ममरणाऽऽदिलक्षणः, नयस्वरूपं च-द्रव्यनिक्षेपे यावत् नयचतुष्टयं, भावनिक्षेपे शब्दाऽऽदिनयत्रयं ज्ञेयम्। अत्र च भवमग्नानां जीवानां न धर्मेच्छा, इन्द्रियसुखाऽऽस्वादलीना मत्ता इव निर्विवेका भ्रमन्ति, दुःखोद्विग्ना इतस्ततः दुःखापनोदार्थम् अनेकोपायचिन्तनव्याकुला भ्रमन्ति शूकरा इव, इति महामोघभवाम्भोधौ किमन्यत् सर्वसिद्धिकरं श्रीमद्वीतरागवन्दनाऽऽदिकं कुर्वन्ति, इन्द्रियसुखार्थं च तपउपवासनाऽऽदिकष्टानुष्ठानमाजन्मकृतं हारयन्ति निदानदोषेण, गणयन्ति मोहहेतुरूपजैनशासनदेवाऽऽदि सुखहेतुरूप व्यामुह्यन्ति ऐश्वर्याऽऽदिषु भवाब्धिमत्स्या इव मिथ्यावासिता जीवाः, तेन भवोद्वेग एव करणीयः।

यत्राऽऽत्मसुखहानिः तस्य कोऽभिलाषः सतामिति?

इत्येवोपदिशति—

यस्य गम्भीरमध्यस्या-ऽज्ञानवज्रमयं तलम्।
रुद्धा व्यसनशैलौघैः, पन्थानो यत्र दुर्गमाः ॥ १ ॥
पातालकलशा यत्र, भृताः तृष्णामहानिलैः।
कषायश्चित्तसङ्कल्प-वेलावृद्धिं वितन्वते ॥ २ ॥
स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्त-र्यत्र स्नेहेन्धनः सदा।
यो घोररोगशोकाऽऽदि-मत्स्यकच्छपसंकुलः ॥ ३ ॥
दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहै-र्विद्युद्दुर्वातगर्जितैः।
यत्र सांयात्रिका लोकाः, एतन्त्युत्पातसंकटे ॥ ४ ॥
ज्ञानी तस्माद्भवाम्भोधे-र्नित्योद्विग्नोऽतिदारुणात्।
तस्य सन्तरणोपायं, सर्वयत्नेन काङ्क्षति ॥ ५ ॥

यस्येति १ पातालेति २ स्मरौर्वेति ३ दुर्बुद्धीति ४ ज्ञानीति ५ श्लोकपञ्चकं व्याख्यायते। ज्ञानी तस्य भवसमुद्रस्य सन्तरणोपायं पारगमनोपायं सर्वयत्नेन 'काङ्क्षति' इच्छति इत्यर्थः, तस्य कस्य?, यस्य गम्भीरं मध्यं यस्य स गम्भीरमध्यस्तस्य अप्राप्तमध्यस्य भवार्णवस्य अज्ञानं जीवाजीवविवेकरहितं तत्त्वबोधशून्यं मिथ्याज्ञानं, तदेव वज्रमयं तलं दुर्भेदं यत्र भवाम्भोधौ, व्यसनशैलौघैः कष्टपर्वतसमूहैः रुद्धाः पन्थानः—मार्गाः सद्गतिगमनप्रचारा दुर्गमा-गन्तुमशक्या भवन्ति, इत्यनेन अज्ञानतलातिगम्भीरमध्यस्य संसारपारावारस्य रोगशोकवियोगाऽऽदिकष्टपर्वतैः रुद्धमार्गस्य जन्तोः सह गमनमशक्यं भवति। पुनः यत्र भवसमुद्रे कषायाः—क्रोधमानमायालोभरूपाः पातालकलशाः तृष्णा विषयपिपासा तद्रूपैः महानिलैः भृताः, चित्तं—मन तस्य सङ्कल्पा अनेकजल्पसमूहाः तद्रूपा वेला—जलप्रवाहरूपा तस्याः वृद्धिं वेलागमनं 'वितन्वते,' विस्तारयन्ति, इत्यनेन कषायोदयात् तृष्णापवनप्रेरणया विकल्पवेला वर्द्धयन्ति, भवजलधौ संसारसमुद्रौ इति ॥ २ ॥ यत्र जन्ममरणसमुद्रे स्मरः—कन्दर्पः तद्रूप अन्तर्मध्ये और्वाग्निः-वाडवानल ज्वलति, यत्राग्नौ स्नेहेन्धनः स्नेहो—राग. स एव इन्धन—ज्वलनयोग्यकाष्ठसमूहः यस्मिन् अन्यत्र वडवाग्नौ जलेन्धनम् इति, किंभूतः रागः? य रागः घोररोगशोकाऽऽदयो मत्स्यकच्छपाः तैः सङ्कुलः व्याप्त इत्यनेन रागाग्नि०

मज्वलनरोगशोकतापितप्राणिगण एवंरूपो भवाब्धिः पुनः यत्र सांयात्रिकाः—प्रवहणस्था लोकाः, अत्रापि मननियमाऽऽदिपोतस्था जीवा उत्पातसंकटे कष्टे पतन्ति, कैः ? दुष्टा बुद्धि मत्सर· असद्धनसयुक्ताहङ्कारः, द्रोहः कापट्यम् इत्यादय एव विद्युद्दुर्घोनगर्जितानि तैः दुर्बुद्धिविद्युता मत्सरदुर्धोतेन द्रोहगर्जितेन व्रताऽऽदिपोताः प्रवर्त्तमाना अपि पङ्कस्खलनाऽद्युत्पातान् लभन्ते, इत्यनेन महाभववारिधौ एते महाव्याघाताः सन्मार्गघातौ तस्मात् अतिदारुणात् महाभयात् नित्योद्विग्नः सदोदासीनः तस्य सन्तरणोपायं सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं काङ्क्षति—अभिलषति, इति तीव्रभवभीत इव तिष्ठति, चिन्तयति च—मम शुद्धज्ञानमयस्य, परमतत्त्वरमणचारित्रपवित्रस्य, रागद्वेषक्षयसमुत्थपरमशमशीतलस्य, अनन्ताऽऽनन्दसुखमग्नस्य, सर्वज्ञस्य, परमदक्षस्य, शरीराऽऽहारसङ्गमुक्तस्यामूर्तस्य, कथं शरीराऽऽदिव्यसनसमूहभारभुग्नता भुग्नस्वशक्तित्वं युज्यते ? नाहं सशरीरा सपुद्गला सकर्मा सजन्ममरणा चेतना मम कथमयं महामोहाऽवर्त्तः ? इत्युद्विग्ना स्वरूपभासनरमणैकत्वमनोहरं. सम्यग्दर्शनप्रतिष्ठान क्षान्त्यादिधर्माष्टादशशीलाङ्गसहस्रविचित्रफलकनिबिडघटनाविराजितं, सम्यग्ज्ञाननिर्यामकान्वित, सुसाधुसंसर्गकाथसूत्रनिबिडबन्धनबद्धं.संवरकीलप्रभग्ननि·शेषाऽऽश्रवद्वारं, सूत्रितसामायिकच्छेदोपस्थापनीयभेदविभिन्नरम्यभूमिकाद्वयं, तदुपकल्पितसाधुसमाचारकरणमण्डपं, समन्ततो गुप्तित्रयप्रस्तरगुप्तम्, असंख्यशुभाध्यवसायसन्नद्धदुर्योधं, योधसहस्रदुरवलोकं, सर्वतो निवेशितसद्गुरूपदेशवल्लीनिकुरम्बमध्यमवस्थापितस्थिरतरानिशलसद्बोधकूपस्तम्भनद्धिन्यस्तप्रकृष्टशुभाध्यवसायसितपटं, तदग्रसमारूढप्रौढदुपयोगपञ्जरदौवारिकं, तद्दववज्राप्रमादनगरानिकरसमायुक्तसर्वाङ्गसंपूर्णतया प्रवहण चारित्रयानपात्रं तेन चारित्रमहायानपात्रेण संतरणोपायं कुर्वन्ति ॥ ५ ॥

तैलपात्रधरो यद्वत्, राधावेधोद्यतो यथा ।
क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद्, भवभीतस्तथा मुनिः ॥६॥

तैलपात्रधर इति—यथा तैलपात्रधर मरणभयभीतः अप्रमत्तः तिष्ठति, तथा मुनिः स्वगुणघातभयभीतः संसारे अप्रमत्तस्तिष्ठति । कथा केनचित् राज्ञा कश्चन पुरुष सदोषोपेतं वधाय अनुज्ञापितं, तदा सभाजनै· विज्ञप्त· स्वामिन् ? क्षमस्वमपराधं, मा मारय एनं, तेन सभ्योक्तेन राज्ञा निवेदितं, यदा महास्थाल तैलपूर्णं सर्वनगरचतुष्पथे अनेकनाटकवाद्यतूर्याऽकुले तैलबिन्दुमपतन्तं सर्वतो भ्रामयित्वा आयाति तदा न मारयामि, यदि च तैलबिन्दुपातः तदाऽस्य तस्मिन्नवसरे प्राणापहारः करणीयः, इत्युक्तोऽपि स पुरुषस्तत्कार्यं स्वीचकार तथैवानेकजनसंकुले मार्गे तैलस्थालं शिरसि धृत्वा सापेक्षयोग· अपतिततैलबिन्दु समागतः । तद्वन्मुनि· अनेकदुःखदु ख्याकुले भवेऽपि स्वसिद्ध्यर्थे प्रमादरहित प्रवर्त्तते, पुनः दृष्टान्तयति, यथा—स्वयंवरे कन्यापरिणयनार्थे राधावेधोद्यतः स्थिरोपयोगतया लघुतालाघविक· स्थिरचित्तः भवति, तथा मुनिः भवभीतः ससारसंसरणगुणाऽऽवरणाऽऽदिमहादुःखात् भीतः क्रियासु समितिगुप्तिकरणसत्तिकरणरूपासु अनन्यचित्त भवति । न अन्यत्र अपरभावे चित्तं मनो यस्य स अनन्यचित्तः स्यात् एकाग्रमानसः भवति । उक्तं च—

" गाइज्जंति सुरसुंदरीहिँ", वाइज्जंतावि वीणमाईहिं ।
तह वि हु समसत्ता वा, चिट्ठंति मुणी महाभागा ॥ १ ॥

पव्वयसिलायलगया, भावसिप्पीहिं कडुअफासेहिं ।
उज्जलवेयणपत्ता, समचित्ता हुंति निग्गथा ॥ २ ॥

आमिसलुद्धेण वणे, सीहेण य दाढयकसंगहिआ ।
तह वि हु समाहिपत्ता, संवरजुत्ता मुणिवरिंदा ॥ ३ ॥ " ६ ॥

कथमीदृग्विपाके निर्भया निर्ग्रन्थाः ? इत्युपदिशन्नाह—

विषं विषस्य वह्निश्च, वह्नेरेव यदौषधम् ।
तत्सत्यं भवभीताना—मुपसर्गेऽपि यन्न भीः ॥ ७ ॥

विष विषस्य इति यथा—कश्चित् विषयाऽऽर्त्तः विषस्य औषधं विषमेव करोति, यथा-सर्पदष्टः निम्बाऽऽदिचर्वणेन विभ सति, अथवा—कश्चित् अग्निदग्धः पुनरपि अग्निदाहपीडावारणाय पुनः अग्नितापम् अङ्गीकरोति, इति तत्सत्य यत् यस्मात्कारणात् भवभीताना मुनीनाम् उपसर्गेऽपि भयं न । कर्मक्षपणोद्यतस्य उपसर्गे बहुकर्मक्षपणत्वं मन्वानः साधु तदुपचय विदन् न भयवान् भवति, साध्यकार्यस्य निष्पद्यमानत्वात् इति ॥ ७ ॥

स्थैर्यं भवभयादेव, व्यवहारे मुनिर्व्रजेत् ।
स्वाऽऽत्माऽऽरामसमाधौ तु, तदप्यन्तर्निमज्जति ॥ ८ ॥

स्थैर्यं भवेति—मुनि' तत्त्वज्ञानी ' भवभयात् ' नरकनिगोददु खोद्वेगात् एव व्यवहारे एषणाऽऽदिक्रियाप्रवृत्तौ स्थैर्यं व्रजेत् गच्छेत्, लभेत स्वाऽऽत्माऽऽरामसमाधौ स्वकीयाऽऽत्माऽऽरामःस्वचेतनः,तस्य समाधौ ज्ञानाऽऽनन्दाऽऽदिषु तत् भवभयम् अन्तर्मध्ये निमज्जति लयीभवती, स्व एव विनश्यति आत्मध्यानलीलालीनानां सुखदु खे समानावस्थानां भयाभाव एव भवति, इत्यनेन संसारोद्विग्न· प्रथमज्ञानदर्शनचारित्राऽऽचाराभ्यासतो दृढीकृतयोगोपयोग· स्वरूपानन्तस्याद्वादतत्त्वैकत्वसमाधिस्थः सर्वत्र समावस्थो भवति, " मोक्षे भवे च सर्वत्र, नि·स्पृहो मुनिसत्तमः ।" इति । एवं स्वरूपलीनसमाधिमग्नानां निर्भयत्वम् इति वस्तुस्वरूपावधारणेन विभावोत्पन्नकर्मोदयलक्षणे संसारे परसंयोगसमवे आत्मसत्ताभिन्ने निर्वेदः कार्य· ॥ ८ ॥ इति व्याख्यात भवोद्वेगाष्टकम् ॥ २२ ॥ अष्ट० २२ अष्ट० । भवत्यस्मात् अपादाने अप । जलमूर्त्तिधरे महादेवे, जलस्य पृथिवीहेतुत्वेन तद्रूपस्य शिवस्य जन्महेतुत्वम् । वाच० ज्यो० । पुष्करवरद्वीपस्थमानुषोत्तरपर्वतस्य कूटस्थे स्वनामख्याते नागसुवर्णे, द्वी० । कर्त्तरि अच् । भव्ये, वाच० । विशे० । वृक्षविशेषे, मङ्गले च । वाच० । शिवे, " सूली सिवो पिणाई, थाणू गिरिसो भवो संभू । " पाइ० ना० २१ गाथा ।

भवं(त)—भवत्—त्रि० । भा—डवतु । युष्मदर्थे, सर्वनामता चास्य । भवान्, भवत्याः पुत्रो भवापुत्रः । वाच० । प्रा० । भा० । "कहिं भव वसति ।" अनु० । "भवद्भगवतो." ॥ ८ । ४ । २६५ ॥

इति सूत्रेण शौरसेन्यामनयोः सौ परे नस्य मः । "किं पत्थ भवं हिदपण चिंतेदि ।" प्रा० ४ पाद । भू-शतृः । वर्त्तमानकालार्थे , भवनकर्त्तरि च । स्त्रियामुभयत्र ङीप् । वाच० । शत्रन्तस्य तुम् । वाच० ।

भवंत-भवान्त-पुं० । भवस्य संसारस्यान्तो भवान्तः । भवनाशे, जं० १ वक्ष० । भवस्य संसारस्यान्तहेतुत्वाद् भवान्तः । भित्तौ, 'भवन्तयात्संसारनाशात्'। द्वा०२७द्वा०। "नेरइयाइभवस्स वि अंतो जं तेण सो भवंतो" स्था० ३ ठा० १ उ० । ( भवं खिवंतो भवंतो य ) भवं संसारं क्षपयन् भवान्तो भवति । दश०१० अ० । नि० चू० ।

भवंतर-भवान्तर-न० । जन्मान्तरे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । कल्प० । "पच्छित्तं भवंतरकडाणं ।" जन्मान्तरोपात्तानामिति । पञ्चा० ६ विव० । "वेपइ भवंतरे जीवो" पं० व० ४ द्वार ।

भवंतिय-भवान्तिक--न० । मरणे , "अहवा उक्कसिते भवंतिए ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

भवकंतार--भवकान्तार-न० । संसारारण्ये, " भवकंतार इय भणीतो ।" पञ्चा० ११ विव० । दर्श० ।

भवकारण--भवकारण--न० । संसारहेतौ, द्वा० १४ द्वा० ।

भवक्खय-भवक्षय-पुं० । भवनिबन्धनभूतानां कर्मणां गत्यादीनां निर्जरणे, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ० । भ० । औ० । विपा० । स्था० । कल्प० ।

भवगहण--भवगहन-पुं० । जन्मनाऽतिदुस्तरे संसारे, चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

भवगुण -भवगुण--पुं० । भवत्यापद्यते तेषु तेषु स्थानेष्विति नारकाऽऽदिर्भवः , तत्र तस्य वा गुणो भवगुणः । गुणभेदे, स च जीवविषयः । तद्यथा-नारकास्तीव्रतरवेदनासहिष्णवस्तिलशश्छिन्नसन्धानिनोऽवधिमन्तश्च भवगुणादेव भवन्ति, तिर्यञ्चश्च सदसद्विवेकविकला अपि सन्तो गगनगमनलब्धिमन्तो गवादीनां च तृणाऽऽदिकमप्यशनं शुभानुभावेनाऽऽपद्यते, मनुजानां वाऽशेषकर्मक्षयो, देवाना च सर्वशुभानुभावो भवगुणादेव । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

भवग्गहण-भवग्रहण -न० । भवस्य जन्मनो ग्रहणमुपादानं भवग्रहणम् । स० १ सम० । जन्मोपादाने , भ० २५ श० ६ उ० । क्षुल्लक भवग्रहणप्रमाणकालः 'बन्धण'शब्देऽस्मिन्नेव भागे १२२६ पृष्ठे गाथाभिर्निरूपितः ) ?

भवचक्कपुर-भवचक्रपुर-न० । भवचतुर्गतिरूपचक्राऽऽत्मिकायामनादिस्वकृतकर्मपरिणामनृपस्य राजधान्याम् , "भवचक्रपुरस्थोऽपि , न मूढः प्रतिखिद्यते ।" अनादिस्वकृतकर्मपरिणामनृपराजधानीरूपभवचतुर्गतिरूपचक्रोद्गतः । अष्ट० ४ अष्ट० ।

भवजलहि- भवजलधि--पुं० । संसारसमुद्रे, "भवजलहिपोयभूयं ।" संसारसमुद्रबोधिस्थकल्पम् । पं० व० १ द्वार ।

भवट्ठ--भवार्थ--पुं० । भव एवार्थो भवार्थः । भवरूपे प्रयोजने, भ० १२ श० ४ उ० ।

भवट्ठिइ--भवस्थिति--स्त्री० । भव एव रूपा या स्थितिर्भवस्थितिः । भवकालाऽऽत्मके स्थितिभेदे, जी० २ प्रति० । दोएहं भवट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा-देवाणं चेव । नेरयियाणं चेव ॥

देवनारकाणां भवस्थितिरेव , देवाऽऽदेः पुनर्देवाऽऽदित्वेनानुत्पत्तिरिति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

भवट्ठिइकाल-भवस्थितिकाल-पुं० । भवे एकस्मिन् स्थितिर्भवस्थितिस्तस्याः कालो भवस्थितिकालः । कालभेदे, पं० स० २ द्वार ।

भवट्ठिइणिरूवण--भवस्थितिनिरूपण-न० । संसारस्थितिपर्यालोचने, " भवट्ठिइनिरूवणे वा " पञ्चा० १ विव० ।

भवण-भवन-न० । भू भावे ल्युट् । भावे, जन्मनि , वाच० । भवनं जन्मोत्पादः । अने० ३ अधि० । सत्तायाम् , विशे० । आवासे, " भवणं घरमावासो निलयो वसही निहेलणं अगारं ।" पाइ० ना० ४६ गाथा । आधारे ल्युट् । गृहे, आचा० २ श्रु० ३ चू० । तं० । रा० । स्था० । शान्त्यादिविशेषिते चतुःशालाऽऽदिके गृहविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । स्था० । भवनप्रासादयोः को विशेषः?, उच्यते-भवनमायामापेक्षया किञ्चिन्न्यूनोच्छ्रायमानं भवति । प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्राय इति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । असुराऽऽदीनां दशाना भवनपतिदेवविशेषाणां भवनभूमिकारूपे आवासविशेषे, आव० ४ अ० । भवनानामावासानां चायं विशेषः—भवनानि बहिर्वृत्तान्यन्तःसमचतुरस्राणि अधः कर्णिकासंस्थानानि । आवासास्तु कायमानस्थानीया महामण्डपा विचित्रमणिरत्नप्रभाभासितसकलदिक्चक्रा इति । प्रव० १६४ द्वार । भवनान्यसुराऽऽदीनां विमानानीति । स० ३ अङ्क । भ० । प्रज्ञा० । दर्श० । जं० ।

भवनवासिना भवनसंख्यामाह—

सत्तेव य कोडीओ, हवंति बावत्तरी सयसहस्सा ।
एसो भवणसमासो,भवणवईणं वियाणिज्जा ।।११६१।

'भवनवासिनां' देवानां दशस्वपि निकायेषु सम्पिण्ड्य चिन्त्यमानानि सर्वाण्यपि भवनानि सप्त कोट्यो द्वासप्ततिश्च शतसहस्राणि लक्षा । एष भवनपतिना भवनसमासो भवनसर्वसङ्ख्या इति विजानीयात् , एतानि च अशीतिसहस्राधिकलक्षयोजनबाहल्यायां रत्नप्रभायामधः उपरि च प्रत्येकं योजनसहस्रमेकं मुक्त्वा सर्वत्रापि यथासम्भवमावासा इति । शेषेऽष्टसप्ततिसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणे मध्यभागेऽवगन्तव्यानि । अन्ये त्वाहुर्नवयोजनसहस्राणामधस्ताद् भवनानि । अन्यत्र च उपरितनमधस्तनं च । योजनसहस्रं मुक्त्वा सर्वत्रापि यथासम्भवमावासा इति ।

सम्प्रति भवनवासिनामेव प्रतिनिकायं
भवनसङ्ख्यामाह—

चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराण होइ चुलसीई ।
बावत्तरि कणगाणं,वाउकुमाराण छन्नउई ।।११६२।।
दीवदिसाउदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियअग्गीणं ।
छएहं पि जुअलयाणं,छवत्तरिमो सयसहस्सा।।११६३।

असुराणामसुरकुमाराऽऽदीनां दक्षिणोत्तरदिग्भाविनां सर्वसङ्ख्यया भवनानि चतुःषष्टिशतसहस्राणि लक्षा भवन्ति । एवं नागकुमाराणां चतुरशीतिलक्षा' । कनकानां सुवर्ण

कुमाराणां छिसप्ततिलक्षाः, वायुकुमाराणां षण्णवतिर्लक्षाः, द्वीपकुमारदिक्कुमारोदधिकुमारविद्युत्कुमारस्तनितकुमाराग्नि कुमाराणां षण्णामपि दक्षिणोत्तरदिग्वर्तिलक्षणयुग्मरूपाणां प्रत्येकं षट् सप्ततिः षट्सप्ततिर्लक्षा भवन्ति भवनानाम्। एषां च सर्वेषामप्येकत्र मीलने प्रागुक्ताः सङ्ख्या भवन्ति। प्रव० १६५ द्वार।

उक्तं च—

जोअणसहस्समेगं, ओगाहित्तूणा भवणनगराइं।
रयणप्पभाइ सव्वे, इक्कारस जोअणसहस्सा॥ ३२॥
अंतो चउरंसा खलु, अहियमणोहरसभावरमणिज्जा।
बाहिरओ वि य वट्टा, निम्मलवइरामया सव्वे॥ ३३॥
उक्किन्ननगरफलिहा, अब्भिंतरओ भवणवासीणं।
भवणनगरा विरायं-ति कणगसुसिलिट्ठपागारा॥३४॥
वरपउमकण्णियामं-डियाहिं हिट्ठा सहावलट्ठेहिं।
सोहिंति पइट्ठाणे-हिँ विविहमणिभत्तिचित्तेहिं॥३५॥
चंदणपयट्टिएहि य, आसत्तोसत्तमल्लदामेहिं।
दारेहिँ पुरवरा खलु, पडागमालाउरा रम्मा॥ ३६॥
अट्ठेव जोयणाइं, उव्विद्धा हुंति ते दुवारवरा।
धूमघडियाउलाइ, कंचणदामोवणिद्धाणि॥ ३७॥
जहिँ देवा भवणवई, वरतरुणीगीयवाइयरवेणं।
निच्चसुहिया पमुइया, गयंपि कालं न याणंति॥३८॥ द०प०।

तन्निवासिनि देवविशेषे, पुं०। आव० ४ अ०।

भवणगिह-भवनगृह-न०। कुटुम्बिवसनगृहे, भ० ३ श० ७ उ०। आचा०। भवनगृहं यत्र। कुटुम्बिनो वास्तव्या भवन्ति। स्था० ५ ठा० १ उ०।

भवणच्छिद्द-भवनच्छिद्र-न०। भवनानामवकाशान्तरे, प्रज्ञा० २ पद।

भवणणिक्खुड-भवननिष्कुट-पुं०। गवाक्षाऽऽदिकल्पे कस्मिंश्चिद् भवनप्रदेशे, प्रज्ञा० २ पद।

भवणपत्थड-भवनप्रस्तट-पुं०। भवनपतिनिकायाऽऽवासस्थापान्तराले, प्रज्ञा० २ पद।

भवणवइ-भवनपति-पुं०। भवनानां पतयः तन्निवासित्वात्स्वामिनो भवनपतयः। प्रव० १९४ द्वार। असुराऽऽदिकेषु देवालयविशेषनाथेषु देवविशेषेषु, पञ्चा० २ विव०। स्था०।

ते च दश, तानेवाऽऽह—

असुरा १ नागा २ विज्जू ३,
सुवण्ण ४ अग्गी अ ५ वाउ ६ थणिया य ७।
उदही ८ दीव ९ दिसा वि य १०,
दस भेया ११ भवणवासीणं॥ ४१॥

भवनवासिनामवान्तरजातिभेदमधिकृत्य दश भेदा भवन्ति। तद्यथा- ( असुरा इति ) पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् असुरकुमाराः। एवं नागकुमारा इत्याद्यपि भावनीयम्। अथ कस्मादेते कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते ?। उच्यते—कुमारवच्चेष्टनात्। तथाहि—सर्वे एवैते कुमारा इव शृङ्गाराभिप्रायकृतविशिष्टोत्तरोत्तररूपक्रियासमुद्धतरूपवेषभाषाऽऽभरणप्रहरणावरणयानवाहना अत्युल्बणरागाः क्रीडनपराश्च, ततः कुमारा इव कुमारा इति। गाथाऽनुबन्धाऽऽनुलोम्याऽऽदिकारणाच्च कुतश्चिदेते एवं पठिताः। प्रज्ञापनाऽऽदौ त्वमुनैव क्रमेण पठ्यन्ते। तथाहि-"असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी अ दीव उदही अ। दिसि पवणथणिअनामा, दसहा एए भवणवासी॥१॥" प्रव० १९४ द्वार।

"एएसिणं दसविहाणं भवणवासीणं देवाणं दसचेइयरुक्खा पण्णत्ता। तं जहा--अस्सुट्ठसत्तिवण्णे, सामलिउंबरसिरीसदहिवण्णे। वंजुलपलासवप्पा-यए य कणियाररुक्खे य॥१॥" स्था० १० ठा०।

अनेन क्रमेणाश्वत्थाऽऽदयश्चैत्यवृक्षाः ये सिद्धायतनाऽऽदिद्वारेषु श्रूयन्ते इति। स्था० १० ठा०।

भवणवर-भवनवर-न०। गृहश्रेष्ठे, " भवणवरवडिंसगपडिदुवारे।" भवनवरेषु भवनश्रेष्ठेषु अवतंसक इव मुकुट इव भवनवरावतंसकस्तस्य प्रतिद्वारम्। कल्प० १ अधि० ३ क्षण। उत्त०।

भवणवासि(ण्)-भवनवासिन्-पुं०। भवनेषु अधोलोकदेवाऽऽवासविशेषेषु वस्तुं शीलमस्येति भवनवासी। असुराऽऽदिके देवभेदे स्था० २ ठा० ३ उ०। (ते च 'भवणवइ' शब्देऽनन्तरमेव दर्शिताः)(एतेषां भवनाऽऽदिवक्तव्यता 'ठाण'शब्दे चतुर्थभागे १७०२ पृष्ठे गता) (द्वीपकुमाराऽऽदयः सर्वे समाहारा इत्यादिवक्तव्यता 'दीवकुमार' शब्दे चतुर्थभागे २५४२ पृष्ठे उक्ता)

भवणावास-भवनावास-पुं०। भवनेषु भवनवास्यादिदेवानामावासस्थानेषु आवासो भवनाऽऽवास। भवनवास्यादिभवनान्तर्वर्तिन्यावासे, स० ३४ सम०। प्रज्ञा०। ( भवनाऽऽवासयोर्विशेषो ' भवण ' शब्देऽत्रैव भागे १४७९ पृष्ठे उक्तः )

भवणिव्वेय-भवनिर्वेद-पुं०। संसारविरागे, पञ्चा० ४ विव०। ल०। न हि भवादनिर्विण्णो मोक्षाय यतते, अनिर्विण्णस्य तत्प्रतिबन्धात्। " भयवं भवणिव्वेओ।" ध० २ अधि०।

भवण्णव-भवार्णव-पुं०। संसारसागरे, "भवण्णवतरंडतुल्लाणि णियमेण।" पंचा० १ विव०।

भवतंतु-भवतन्तु-पुं०। तन्यते भवोऽनेनेति भवतन्तुः। भवतृष्णायाम्, उत्त० १३ अ०।

भवत्थ-भवस्थ-त्रि०। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः नारकाऽऽदिजन्म। भवे तिष्ठतीति भवस्थः। "स्थाऽऽदिभ्यः०-"॥५।३।८२॥ इति कः। संसारस्थे, नं०। उत्त०।

भवत्थकेवलनाण-भवस्थकेवलज्ञान-न०। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकाऽऽदिजन्म, तत्रेह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः, अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्। भवे तिष्ठतीति भवस्थ। "स्थादिभ्यः कः"॥५।३।८२॥ इति कः प्रत्ययः। तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम्। केवलज्ञानभेदे, नं०। (अस्य भेदाऽऽदि 'केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे६५७ पृष्ठे गतम्)

"भवत्थकेवलनाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव,अजोगिभवत्थकेवलणाणे चेव।" स्था० २ ठा० १ उ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

भवत्थजीव-भवस्थजीव-पुं० । भवन्ति कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवस्तत्र तिष्ठतीति भवस्थः, स चासौ जीवश्चेति विशेषणसमासः । उत्त० ४ अ० । संसारिजीवे, "पायं बंधो भवत्थजीवाणं ।" पञ्चा० १६ विव० ।

भवदंड-भवदण्ड-पुं० । संसारभ्रमणे, जी० २० । अधि० । परभवे हस्तच्छेदनाऽऽदिके दण्डे, यस्तीर्थकरगणधराऽऽदीनामाज्ञां भनक्ति तस्य परभवे हस्तच्छेदनाऽऽदीनि भवन्तीति । व्य० ६ उ० ।

भवदित्त-भवदत्त-पुं० । स्वनामख्याते साधौ, स्था०१० ठा०।

भवदेव-भवदेव-पुं० । जम्बूस्वामिनः पूर्वभवनामधेये, दर्श०३। तत्त्व । ध० र० । स्वनामख्याते आचार्ये, ( तत्कथा 'पुरिसोत्तम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०५२ पृष्ठे गता

भवधारणिज्ज-भवधारणीय-त्रि० । भवे धार्यते तदिति तं वा भव धारयतीति भवधारणीयम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । भवधारणं निजजन्मातिवाहनं प्रयोजनं यस्य तद्भवधारणीयम्। आजन्मधरणीये , भ० १ श० ५ उ० । जन्मतो मरणावधि धारणीये, स्था० ४ ठा० ४ उ० । भवे नारकाऽऽदिपर्यायलक्षणे आयुःसमाप्तिं यावद् ध्रियते या सा भवधारणीया सहशरीरगता । अनु० । यया भवो धार्यते सा भवधारणीया बहुलवचनात् करणेऽनीयप्रत्ययः । शरीरावगाहनाभेदे । स्त्री० । ङीप् । जी० १ प्रति० ।

भवधारणिज्जसरीर-भवधारणीयशरीर-न० । भवं जन्मापि यावद्धार्यते भवं वा धारयतीति भवधारणीयं, तच्च तच्छरीरं च भवधारणीयशरीरम् । शरीरभेदे, स्था० २ ठा०१उ०।

भवपच्चइय-भवप्रत्ययिक-न० । भवन्ति कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकाऽऽदिजन्म। "पुन्नाम्नि"-॥ ५।३।१३० ॥ इति अधिकरणे घञ्प्रत्ययः । भव एव प्रत्ययः कारणं यस्य तद् भवप्रत्ययम् अवधिज्ञानभेदे, नं०। 'भवपच्चइए त्ति।' क्षयोपशमस्यापि भवप्रत्ययत्वेन तत्प्राधान्येन भवे प्रत्ययो यस्य तद्भवप्रत्ययमिति व्यपदिश्यते । स्था० २ ठा० १ उ० ।

भवपज्जाय-भवपर्याय-पुं० । भवः संसारस्तस्य पर्यायो भवपर्यायः । संसारभावे, " भवपर्यायतां विना ।" सूत्र्या० ५ अध्या० ।

भवपडिबद्ध-भवप्रतिबद्ध-त्रि०। संसारानुपक्ते, पञ्चा०४ विव०

भवपरंपरा-भवपरम्परा-स्त्री०। संसारपरिपाट्याम्, " भवइ भवपरंपरा । " ग० १ अधि० ।

भवपल्ली-भवपल्ली-स्त्री० । भवः संसारः बहुप्राण्युपमर्दो यत्र सा पल्ली भवपल्ली । संसारपल्लयाम् , नि० चू० १ उ० ।

भवब्भंति-भवभ्रान्ति-स्त्री० । दीर्घसंसारभ्रमणे, "भवभ्रान्तो न बाधकम् ।" द्वा० १४ द्वा० ।

भवभंग-भवभङ्ग-पुं० । भवविलोपे, स्था० ।

भवभमण-भवभ्रमण-न० । संसारभ्रमणे, दर्श० ४ तत्त्व ।

भवभय-भवभय-न० । संसारभीतौ, "णो विम्हओ ण भवभयं ।" पञ्चा० ३ विव० । अष्ट० ।

भवभयहर-भवभयहर-पुं० । स्तम्भनकतीर्थस्थे जिने , ती० ४३ कल्प० ।

भवभवविगमणिवंधण-भवभवविगमनिबन्धन-न० । संसारमोक्षयोः कारणे, " भवभवविगमनिबन्धन-मालोच्यं शान्तचेतोभिः । " षो० १६ विव० ।

भवभवविगमविभेय-भवभवविगमविभेद-पुं० । संसारमोक्षयोर्भेदे, " भवभवविगमविभेद-स्तदा कथं युज्यते मुख्यः ?। " षो० १६ विव० ।

भवमंडल-भवमण्डल-न० । संसारमण्डले, " भवमंडलसमणदुक्खपरिमुक्कं । " मण्ड० ।

भवमग्ग-भवमार्ग-पुं० । संसारपथे, "तिन्नि हुंति भवमग्गा ।" दर्श० ३ तत्त्व ।

भवरोग-भवरोग-पुं० । संसाराऽऽमये , " भवरोगसदौषधं यद्नपायम् । " षो० ६ विव० ।

भवलोय-भवलोक-पुं० । भव एव लोकः । लोकभेदे , आ० म० २ अ० ।

अधुना ( भाष्य ) भवमभिधित्सुराह—

नेरइयदेवमणुया, तिरिक्खजोणीगया य जे सत्ता ।
तम्मि भवे वट्टंता, भवलोगं तं वियाणाहि ॥ २०१ ॥

नैरयिकदेवमनुष्यास्तिर्यग्योनिगताश्च ये सत्त्वाः प्राणिनस्तस्मिन् भवे वर्त्तमाना यदनुभावमनुभवन्ति तं भवलोकं जानीहि । आ० म० २ अ० ।

भववक्कंति-भवव्युत्क्रान्ति-स्त्री० । जन्मत्यागे , कल्प० १ अधि० १ क्षण ।

भववारि-भववारि-न० । संसारसमुद्रे, " भववारि तर्तुमपटुः । " प्रति० ।

भववाहि-भवव्याधि-पुं० । संसाराऽऽमये, " यस्मादेते महात्मानो, भवव्याधिभिषग्वराः ॥ " द्वा० २३ द्वा० ।

भवविजय-भवविचय-पुं० । प्रेत्य स्वकृतकर्मफलोपभोगार्थं पुनः पुनः प्रादुर्भावो भवः, स चारघट्टघटीयन्त्रवत् मूत्रपुरीषान्त्रतन्त्रनिबद्धदुर्गन्धजठरपुटकोटराऽऽदिष्वजस्रमावर्त्तनम्, तस्य विचयः पर्यालोचनम् भवविचयः न चात्र किञ्चिज्जन्मो। स्वकृतकर्मफलमनुभवतश्चेननमचेतनं वा सहायभूतं शरणतां प्रतिपद्यते । इत्यादिभवसंक्रान्तिदोषपर्यालोचने, सम्म० ३ काण्ड ।

भवविज्ज-भववैद्य-पुं० । संसाररोगभिषग्वरे, " चित्रा गीर्भववैद्यानाम् । " द्वा० २३ द्वा० ।

भवविडवि ( न् )-भवविटपिन्-पुं० । संसारवृक्षे, " भवविडविनिबंधणेसु विसएसु । " प० ग० १ द्वार ।

भवविभत्ति-भवविभक्ति-स्त्री० । विभक्तिभेदे, सा नारकतिर्यङ्नरमनुष्यामरभेदाच्चतुर्धा । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

भवविरत्तचित्त-भवविरक्तचित्त-त्रि० । संसारविरक्तचित्ते, "पव्वज्जा भवविरत्तचित्ताणं।" पं० व० १ द्वार।

भवविरय-भवविरजस्-न०। नरकाऽऽदिभवरूपे विरजसि, "भवविरयं अग्गीतो।" व्य० ३ उ०।

भवविरह-भवविरह-पुं० । संसारवियोगे मोक्षे, "भावा, भवविरहसिद्धिफलाः।" षो० १६ विव०। पञ्चा०। "भवविरहफलं जहा होइ।" पञ्चा० ६ विव०। "भवविरहबीयभूओ जायइ चारित्तपरिणामो।" पञ्चा० १ विव०। "भवविरहं इच्छमाणस्स।" पञ्चा० ५ विव०।

भवविवाग-भवविपाक-पुं० । भवे नारकाऽऽदिरूपे स्वस्वयोग्ये विपाकः फलदानाभिमुखता भवविपाकः। आयुष्कर्मणो नारकाऽऽदिभवे फलदानाभिमुखतायाम्, कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०।

भवविवागि (ण्)-भवविपाकिन्-त्रि० भवे नारकाऽऽदिरूपे स्वस्वयोग्ये विपाकः स विद्यते यस्य तत् भवविपाकि। आयुष्कर्मप्रकृतौ, निबद्धमप्यायुर्यावत्स्वायापि सर्वभवत्तयेण स्वयोग्यो भवः प्रत्यासन्नो भवति तावन्नोदयमायाति ह्यतो भवविपाकीति। पं० सं० ३ द्वार। (यथाऽऽयुष्कर्मप्रकृतीनामेव भवविपाकित्वं नान्यासां तथा विपाकतः कर्मप्रकृतीनां भेददर्शनावसरे 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६७ पृष्ठे निरूपितम्)

भवबीय-भवबीज-न० । संसारकारणे, "छित्ता भवबीजं वा।" द्वा० १२ द्वार।

भववीरिय-भववीर्य-न० । वीर्यभेदे, नि० चू० १ उ०। (स्वरूपं 'वीरिय' शब्दे वक्ष्यते)

भववुड्ढि-भववृद्धि-स्त्री०। संसारवर्द्धने, पञ्चा० १७ विव०।

भवसंकड-भवसंकट-न० । भवगहने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

भवसंसरण-भवसंसरण-न०। संसारसंसृतौ, "जइ भवसंसरणाओ, निव्विण्णो रे तुमं जीव!।" जी० १ अधि०।

भवसमुद्द-भवसमुद्र-पुं०। संसारार्णवे, दर्श० ५ तत्त्व। "दुक्खमणुअत्तणं भवसमुद्दे।" पं० व० १ द्वार।

भवसम्म-भवशर्मन्-न०। विषयसुखे, "भवाभिनन्दिनां साच, भवशर्मोत्कटेच्छया॥" भवशर्मणो विषयसुखस्योत्कटेच्छया। द्वा०।

भवसागर-भवसागर-पुं०। संसारसमुद्रे, "परीतिभवसागरमणंतं।" पं० व० २ द्वार। "भीमे भवसायरम्मि दुक्खत्ते।" दर्श० ५ तत्त्व।

भवसिद्धिय-भवसिद्धिक-पुं० । भवे भवैर्वा सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिकः। आ० म० १ अ०। रा०। भविष्यतीति भवा भाविनी सा सिद्धिर्निर्वृत्तिर्यस्य स भवसिद्धिकः॥ स्था०१ठा०। ज्ञा०। विशे०। भव्ये, नं०। स०। "सम्मद्दसणलंभं; भवसिद्धिया वि न लहंति।" आह-सर्वेषामेव भवे सति सिद्धिर्भवति, ततः किं भवग्रहणेन?, सत्यमेतत्, केवलं भवग्रहणादिह तद्भवो गृह्यते इति। आ० म० १ अ०। स्था०। भ०। "सव्वे वि णं भंते! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति" इत्यादि-('जयंती' शब्दे चतुर्थभागे १४१६ पृष्ठे विस्तरतो गतम्।)

भवसिद्धिए णं भंते! नेरइए,नेरइए भवसिद्धिए?। गोयमा! भवसिद्धिए सिय नेरइए, सिय अ नेरइए, नेरइए वि य सिय भवसिद्धिए, सिय अभवसिद्धिए, एवं दंडओ ०जाव वेमाणियाणं। भ० ६ श० १० उ०।

संतेगइया भवसिद्धिया जे जीवा ते एगेणं भवग्गहणेणं सिज्झिस्संति,बुज्झिस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति?। सन्ति विद्यन्ते 'एगइया' एके केचन (भवसिद्धिय त्ति) भवा भाविनी सिद्धिर्मुक्तिर्येषां ते भवसिद्धिका भव्याः (भवग्गहणेणं ति) भवस्य मनुष्यजन्मनो ग्रहणमुपादानं भवग्रहणं तेन सेत्स्यन्ति अष्टविधमहर्द्धिप्राप्त्या भोत्स्यन्ते केवलज्ञानेन तत्त्वं मोक्ष्यन्ते कर्मराशेः परिनिर्वास्यन्ति कर्मकृतविकाराच्छीतीभविष्यन्ति। किमुक्तं भवति?-सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्तीति। स० १ सम०।

एवं क्रमशः आह-

अत्थेगइया भवसिद्धिया जीवा जे दोहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, मुच्चिस्संति,बुज्झिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति॥ २॥ (स० २ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सति॥ ३॥ (स० ३ सम०) अत्थेगइया भवसिद्धिया जीवा जे चउहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति ०जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्सति॥४॥ (स० ४ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे पंचहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति ०जाव अंतं करिस्संति॥ ५॥ (स० ५ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे छहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति ०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति॥ ६॥ (स० ६ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे सत्तहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति ० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति॥ ७॥ (स० ७ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे अट्ठहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति ० जाव अंतं करिस्संति॥ ८॥ (स० ८ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे नवहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति ०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सति॥ ९॥ (स० ९ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे दसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति॥ १०॥ (स० १० सम०) संतेगइआ भवसिद्धिया जीवा एक्कारसहिं भवग्गहणेहिं सि-

ज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ ११ ॥ ( स० ११ सम० संतेगइया भवसिद्धिआ जीवा जे बारसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १२ ॥ (स० १२ सम०) संतेगइया भवसिद्धिआ जीवा जे तेरसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १३ ॥ ( स० १३ सम० ) संतेगइआ भवसिद्धिआ जीवा जे चउदसहिं भवग्गहणेहिं, सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १४ ॥ ( स० १४ सम० ) संतेगइआ भवसिद्धिया जीवा जे पन्नरसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १५ ॥ ( स० १५ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिआ जीवा जे सोलसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १६ ॥ ( स० १६ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिआ जीवा जे सत्तरसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १७ ( स० १७ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे अट्ठारसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १८ ॥ (स० १८ सम०) संतेगइआ भवसिद्धिआ जीवा जे एगूणवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ १९ ॥ ( स० १९ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे वीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२०॥ (स० २० सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एक्कवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२१॥ ( स० २१ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे बावीसं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२२॥ (स० २२ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तेवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२३॥ (स० २३ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे चउवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२४॥ (स० २४ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे पणवीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२५॥ (स० २५ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे छव्वीसहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥२६॥ (स० २६ सम०) संतेगइआ भवसिद्धिया जीवा जे सत्तावीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ २७ ॥ ( स० २७ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे अट्ठावीस भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।२८। (स० २८ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एगूणतीसं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।२९। (स० २९ सम०) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ ३० ॥ ( स० ३० सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे एक्कतीसेहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ ३१ ॥ ( स० ३१ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे बत्तीसाए भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ ३२ ॥ ( स० ३२ सम० ) संतेगइया भवसिद्धिया जीवा जे तेत्तीसं भवग्गहणेहिं सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥३३॥ ( स० ३३ सम० ) ।

भवाउय-भवायुष्-न० । तस्मात्भवमात्रं कालमुत्कर्षतोऽनुवर्तत इति, तथा भवप्रधानमायुर्भवायुर्यद्भवात्ययेऽपगच्छति एव भवान्तरमनुयाति यथा देवाऽऽयुरिति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

"भवा उआ । दुविहा पन्नत्ता । तं जहा--देवाणं चेव नारयाणं चेव ।

भवायुर्भवस्थितिः । आयुष्कर्मभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

भवाणी--भवानी-स्त्री० । भवस्य पत्नी; भव ङीप् आनुक् च । वाच० । शिवपत्न्याम् , " दक्खायणी भवाणी, सेलसुआ पव्वई उमा गौरी । अज्जा दुग्गा काली, सिवा य कच्चायणी चंडी ॥ ३ ॥ " पाइ० ना० ३ गाथा ।

भवातिस-भवादृश-त्रि० । भवत इवैव संस्थानमस्य । भवत् दृश-क्विप् ठक् क्स वा । " यादृशाऽऽदेर्दुस्तिः " ॥ ८ । ४ । ३१७ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पैशाच्यां यादृशाऽऽदेर्दृ इत्यस्य

स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद । "दशेः क्विप्टक्सकः" ॥८। १। १४२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण क्विप्टक्सक् इत्यनदन्तस्य दृशेर्धातो रिरादेशः । प्रा० १ पाद । भवप्रदृशे जने, वाच० ।

भवादेस-भवादेश-पुं० । भवप्रकारे, " भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं । " भ० २३ श० १ उ० ।

भवाभिणंदि(ण्) भवाभिनन्दिन्-पुं० "असारोऽप्येष संसारः, सारवानिव लक्ष्यते । दधिदुग्धाम्बुताम्बूल-पुण्यपण्याङ्गनाऽऽदिभिः ॥१॥" इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दनशीले द्वा० । तथा च द्वात्रिंशिकायाम्—

क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्या-न्निष्फलाऽऽरम्भसंगतः ॥५॥

क्षुद्रः कृपणः, लोभरतिर्याञ्चाशीलः, दीनः सदैवादृष्टकल्याणः, मत्सरी परकल्याणदुःस्थितो भयवान्नित्यं भीतः शठो मायावी, अज्ञो मूर्खो भवाभिनन्दी-" असारोऽप्येष संसारः, सारवानिव लक्ष्यते । दधिदुग्धाम्बुताम्बूल-पुण्यपण्याङ्गनाऽऽदिभिः ॥१॥" इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दनशीलः स्यात् निष्फलाऽऽरम्भसङ्गतः सर्वत्रातत्त्वाभिनिवेशादुन्यथाक्रियासम्भवः । द्वा०१० द्वा० । पं०सू० । यो०बि० । पं०व० । दर्श० ।

भवाभिरय-भवाभिरत-त्रि० । संसाराऽऽसक्ते, "कहिंति धम्मं भवाभिरया । " जीवा० । २४ अधि० ।

भवाभिस्संग-भवाभिष्वङ्ग-पुं० । संसारसुखाभिलाषे, द्वा० १३ द्वा० ।

भवारिस-भवादृश-त्रि० । 'भवादिस'शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

भवासंग-भवासङ्ग-पुं० । संसारप्रतिबन्धे " भवासङ्गो न हीयते ।" द्वा० १४ द्वा० ।

भवाहम-भवाधम-पुं० । भवानां मध्येऽधमो भवाधमः । मत्स्यबन्धलुब्धकाऽऽदीनां भवे सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

भविता-भूत्वा-अव्य० भू क्त्वा । भवनं कृत्वेत्यर्थे, स्था०८ठा० ।

भविय-भव्य-त्रि० । "स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्" ॥८। २। १०७॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्यादादिषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इद् भवति । प्रा० २ पाद । भविष्यतीति भव्यः । भाविनि, वाच० । "जो जीवो भविओ खलु ।" यः कश्चित् प्राणधारणलक्षणो जीवो भविष्यतीति भव्यम् । भावकर्मणोः प्रासयोः "भव्यगेय०" ॥५।१।७॥ इत्यादिनिपातनात्कर्तरि यत् । आव०१ अ० । वर्तमानकालभाविनि कल्प० १ अधि०२ क्षण । विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यः । विवक्षितपर्यायार्हे तद्योग्ये, अनु० । दशा० । पञ्चा० । विशे० । भवति परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः सिद्धिगमनयोग्यः । 'भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्यं नवा" ॥५।१।७॥ इतिकर्तरि यत्प्रत्ययः । कर्म० ४ कर्म० । तथाऽनादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्ये, पं० सं० १ द्वार । कर्म० । नं० । यो०बि० । विशे० । सू० । पं०सू० । जी० । प्रज्ञा० । ध० । "विबोहए पुंडरीयाणं । " भव्यपुण्डरीकाणां मुक्तियोग्यप्राणिनाम् । जीवा० । २७ अधि० ।

भव्यस्वरूपमाह—

भव्वा जिणेहिँ भणिया,इह खलु जे सिद्धिगमणजोग्गा उ ।
ते पुण अणाइपरिणा-मभावओ हुंति नायव्वा ॥६६॥

भव्या जिनैर्भणिता इह खलु ये सिद्धिगमनयोग्यास्त इह लोके य एव सिद्धिगमनयोग्याः , खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् इहशब्दाऽप्यवधारणार्थःयोग्या एव । न तु सर्वे सिद्धिगामिन एव । " भव्वा वि न सिज्झिस्संति केइ ।" इत्यादि । भव्यत्वे निबन्धनमाह-ते पुनरनादिपरिणामभावतो भवन्ति ज्ञातव्याः । अनादिपारिणामिकभव्यभावयोगाद्भव्या इति ।

विवरीया उ अभव्वा,ण कयाइँ भवण्णवस्स ते पारं ।
गच्छिंसु जं ति व तहा,तत्तो चिय भावओ णवरं ॥६७॥

विपरीतास्त्वभव्यास्तदेव विपरीतत्वमाह-न कदाचिद्भवार्णवस्य संसारसमुद्रस्य ते पारं पर्यन्तं गतवन्तो यांति वा वाशब्दस्य विकल्पार्थत्वात् यास्यन्ति वा तथैवेति । कुतो निमित्तादित्याह-तत एव भवात् तस्मादेव अनादिपरिणामिकादभव्यत्वभावादिति भावः । नवरमिति साभिप्रायकम अभिप्रायश्च नवरमेतावता वैपरीत्यमिति । श्रा० । विशे० । ननु जीवत्वसाम्येऽप्ययं भव्योऽयं चाभव्य इति किंकृतोऽयं विशेषो ?, न च वक्तव्यं यथा जीवत्वे समानेऽपि नारकतिर्यगादयो विशेषास्तथा भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः कर्मजनिता एव नारकाऽऽदिविशेषाः,न तु स्वाभाविकाः भव्याभव्यत्वविशेषाः, तथा भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदा भवतु, को निवारयिता ?, न चैवमिति । विशे० । ( ' संभमे.कालसिद्धि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १६५२ पृष्ठे वक्तव्यता गता )

अवस्थितताऽऽत्मरूपस्या-ऽऽविर्भावाद्भव्यमिष्यते ।
सदा अपरं भाव-मभवन्निरतः स्वतः ॥ २४ ॥

अवस्थितात्मभावस्य अनेककार्यकारणशक्तिरूपस्यावस्थितद्रव्यं तस्यावस्थितद्रव्यस्य आविर्भावात् क्रमिकविशेषान्ताऽऽविर्भावात् अभिव्यक्तेर्द्रव्यं भव्यस्वभावमिष्यते । अथ सदा त्रिकाले परं भावं परद्रव्यानुगतित्वं अयन् परस्वभावेन परिणमन् यः स्यात् तत्स्वतः स्वभावतः इतरः अभव्यस्वभाव इति कथ्यते । गाथा—" अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलंता वि य णिच्चं, सगसगभावं ण विजहंति ॥ १ ॥ " इति भव्यस्वभावार्थो ज्ञेयः ॥ २४ ॥

शून्यत्वं कूटकार्येषु, भव्यभावं विना भवेत् ।
अभव्यत्वं विना द्रव्या न्तरता द्रव्ययोगतः ॥ २५ ॥

भव्यभावं विना भव्यस्वभावमन्तरेण कूटकार्येण असत्कार्येण योगशून्यत्वं भवेत् , किं तु परभावे भवेन्न हि स्वभावे च भवेत्तदा भव्यत्वं स्यात् इति । अथ पुनः अभव्यत्वं विना अभव्यस्वभावानङ्गीकारे द्रव्ययोगेन द्रव्यस्य संयोगात् द्रव्यान्तरता द्रव्यान्यत्वं जायते यस्मात् धर्माधर्माऽऽदीनां जीवपुद्गलयोः एकावगाहनाऽवगाढकारणेन कार्यसंकरः—अभव्यस्वभावेनैव न भवेदिति तत्तद् द्रव्याणां तत्तत्कार्यहेतुत्वकल्पनमप्यभव्यत्वस्वभावगर्भितमेवाऽऽस्ते आत्माऽऽदेः स्वद्रव्यानन्तकार्यजननशक्त्या भव्यत्वमस्माकं कालसमवधानेन तत्तत्कार्योपधायकताशक्तिश्च तथाभव्यत्वेनैवेति तथाभव्यत्वैवातिप्रसङ्ग इति तु हरिभद्राऽऽचार्याः । २५ । द्रव्या० ११ अध्या० । " भवियजणविबुहकरेण । " भव्यजनस्य निर्वृतिकरो भव्यजननिर्वृतिकरस्तेन । आह—भव्यग्रहणमन-

व्यवच्छेदार्थमन्यथा तस्य नैरर्थक्यप्रसङ्गात्, नत इदमापतितं-भव्यानामेव सम्यग्दर्शनाऽऽदिकं करोति नाभव्यानां, न चैतदुपपन्नम्, भगवतो वीतरागत्वेन पक्षपातासम्भवात्, नैतत्सारम्, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, भगवान् हि सवितेव प्रकाशमविशेषेण प्रवचनार्थमातनोति, केवलमभव्याना तथास्वाभाव्यादेव तामसखगकुलानामिव सूर्यप्रकाशो न प्रवचनार्थ उपदिश्यमानोऽपि उपकाराय प्रभवति । तथा चाऽऽह वादिमुख्यः—" सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, य ल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन । तन्नाद्भुतं खगकुलेषु हि तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ १ ॥ " ततो भव्यानामेव भगवद्वचनादुपकारो जायते इति भव्यजननिर्वृतिकरेणेत्युक्तम् । प्रज्ञा० १ पद । स्था० । ( भव्यानां करणानि ' करण ' शब्दे तृतीयभागे ३७१ पृष्ठे गतानि ) अनेकगुणसंभावनीये च । " अज्जेण भव्वेण विजाणएण । " व्य० उ० १ । " भव्व भव्वजणाणुचरियं । " प्रश्न० ४ संव० द्वार । शुभे, सत्यफलभेदे, मङ्गले च । न० । तद्वति, त्रि० । कर्मरङ्ग, गजपिप्पल्याम्, वाच० । रुचकवरद्वीपस्थरुचकपर्वतस्य पश्चिमदिशि स्थिते कूटे वर्त्तमानायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्यां च । स्था० । द्वी० ।

**भवियंगि ( ण् )**-भव्याङ्गिन्-पुं० । आसन्नसिद्धिके प्राणिनि, " भव्याङ्गिनेत्रामृतम् । " प्रति० ।

**भवियजण**-भव्यजन-पुं० । भव्यस्तथाविधानादिपरिणामिकत्वभावात् सिद्धिगमनयोग्यः, स चासौ जनश्च भव्यजनः, तथाविधानादिपरिणामिकत्वभावात् । सिद्धिगमनयोग्ये जने, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । " भवियजणपयहिययाभिनंदियाणं । " भव्यजनानां भव्यप्राणिनां प्रजा लोको भव्यजनप्रजा, भव्यजनपदो वा, तस्यास्तस्य वा हृदयैश्चित्तैरभिनन्दितानाम् । स० ५ अङ्ग० ।

**भवियदव्वणेरइय**-भव्यद्रव्यनैरयिक-पुं० । भाविनारकपर्यायोग्ये नैरयिकभेदे, भ० ।

अत्थि णं भंते ! भवियदव्वणेरइया भवियदव्वणेरइया ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—भवियदव्वणेरइया भवियदव्वणेरइया ? । गोयमा ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा णेरइएसु उववज्जित्तए से तेणट्ठेणं एवं ० जाव थणियकुमारा ॥

( भवियदव्वनेरइय त्ति ) द्रव्यभूता नारका द्रव्यनारकास्ते च भूतनारकपर्यायनयाऽपि भवन्तीति भव्यशब्देन विशेषिता भव्याश्च ते द्रव्यनारकाश्चेति विग्रहः । ते चैकभविकबद्धाऽऽयुष्काभिमुखनामगोत्रभेदा भवन्ति ।

अत्थि णं भंते ! भवियदव्वपुढविकाइया भवियदव्वपुढविकाइया ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! ? । गोयमा ! जे भविए तिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवे वा पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए से तेणट्ठेणं । आउकाइयवणस्सइकाइया णं एवं चेव । तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदियाण य जे भविए तिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जे भविए णेरइए वा तिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवे वा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए, एवं मणुस्सा वि । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं । भवियदव्वणेरइयस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । भवियदव्वअसुरकुमारस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं० जाव थणियकुमारस्स । भवियदव्वपुढवीकाइयस्स णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं । एवं आउकाइयस्स वि । तेउवाऊ जहा णेरइयस्स । वणस्सइकाइयस्स जहा पुढवीकाइयस्स । बेइंदियतेइंदियचउरिंदियस्स जहा णेरइयस्स । पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । एवं मणुस्सा वि । वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा असुरकुमारस्स ।

( भवियदव्वनेरइयस्सेत्यादि ) अंतोमुहुत्तं ति ) संज्ञिनमसंज्ञिनं वा नरकगामिनमन्तर्मुहूर्त्ताऽऽयुषमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्त्तस्थितिरुक्ता । ( पुव्वकोडि त्ति ) मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चं चाऽऽश्रित्येति भव्यद्रव्यासुराऽऽदीनामपि जघन्या स्थितिरित्थमेवोत्कृष्टा तु—( तिण्णि पलिओवमाइं ति ) उत्तरकुर्वादिमिथुनकनराऽऽदीनाश्रित्योक्ता यतस्ते मृता देवेषूत्पद्यन्ते इति द्रव्यपृथ्वीकायिकस्य ( साइरेगाइं दो सागरोवमाइं ति ) ईशानदेवमाश्रित्योक्ता द्रव्यतेजसो द्रव्यवायोश्च । ( जहा नेरइयस्स त्ति अन्तर्मुहूर्त्तमेकाऽन्या च पूर्वकोटी देवाऽऽदीनां मिथुनकानां च तत्रानुत्पादादिति, पञ्चेन्द्रियतिरश्चः । ( उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं त्ति ) सप्तमनरकपृथिवीनारकापेक्षयोक्तम् । भ० १८ श० ६ उ० । भव्यद्रव्यनैरयिकाऽऽदीनां स्थितौ, पण्डितनगर्षिगणिकृतप्रश्नो यथा—"भवियदव्वनेरइयस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडि त्ति ।" तथा "भवियदव्वअसुरकुमारस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमाइं ति ।" तत्कथं स जीवो जन्मभवनानन्तरमेवाऽऽयुर्बध्नाति, किं वाऽन्यभवान्तरितः ?, आयुर्बन्धे तु त्रिभागाऽऽदिव्यवस्थानियामिदं दृश्यते इति निर्णयः प्रसाद्य इति प्रश्ने, उत्तरम्-"भवियदव्वनेरइयस्स णं भंते ! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडि त्ति ।" 'एग' भवियए बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए अ । एए तिन्नि वि देसा, दव्वंमि य पुंडरीअस्स ॥ १४६ ॥" इति श्रीसूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धनिर्युक्तिवचनात् योऽनन्तरे आगामिभवे नारको भावी, स बद्धाऽऽयुरपि पूर्वभवे द्रव्यनारकोऽभिधीयते, तथा च पूर्वकोटिपर्यन्त. युतयं संभवतीति न कश्चिद्दोषाऽवकाशः । एव·

म्–" भवियदव्वअसुरकुमारस्स णं भंते ! केवतिअं कालं ठिई पन्नत्ता ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं । " इत्यत्रापि भावनीयम् ॥ १८ । द्वी० ३ प्रका० ।

भवियदव्वदेव–भव्यद्रव्यदेव–पुं० । भव्यो भाविदेवपर्याय योग्योऽत एव द्रव्यभूत , स चासौ देवश्च भव्यद्रव्यदेव' । वैमानिकाऽऽदिके देवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–भवियदव्वदेवा, भवियदव्वदेवा ?। गोयमा ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिए वा मणुस्से वा देवेसु उववज्जित्तए से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—भवियदव्वदेवा भवियदव्वदेवा ।

( भवियदव्वदेव त्ति ) द्रव्यभूता देवा द्रव्यदेवा' , द्रव्यता चाप्राधान्याद् भूतभावित्वाद् भाविभावत्वाद्वा । तत्राप्राधान्याद्देवगुणशून्या देवा द्रव्यदेवा यथा साध्वाभासा द्रव्यसाधवः, भूतभावपक्षे तु भूतस्य देवत्वपर्यायस्य प्रतिपन्न कारणा भावादेवत्वात् च्युता द्रव्यदेवाः भाविभावपक्षे तु भाविनो देवत्वपर्यायस्य योग्या देवतयोत्पत्स्यमाना द्रव्यदेवास्तत्र भाविभावपक्षपरिग्रहार्थमाह–भव्याश्च ते द्रव्यदेवा श्चेति । भ० १२ श० ६ उ० । ( जे भविए इत्यादि ) इह जातावेकवचनमतो बहुवचनार्थे व्याख्येयं, ततश्च ये भव्या योग्या' पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका वा मनुष्या वा देवेषूत्पत्तुं ते यस्माद्भाविदेवभावा इति गम्यम् । अथ तेनार्थेन तेन कारणेन हे गौतम ! तान् प्रत्येवमुच्यते–भव्यद्रव्यदेवा इति । भ० १२ श० ६ उ० ।

भवियपुक्खरावट्टग–भव्यपुष्करावर्त्तक–पुं० । वाराणस्यां दण्डखाततीर्थस्थे देवे, वाराणस्या दण्डखाते भव्यपुष्करावर्त्तक· । ती० ४३ कल्प ।

भवियसत्त–भव्यसत्त्व–पुं० । भव्यप्राणिनि , प० व० ५ द्वार । " स एव भव्वसत्ताणं । " मोक्षगमनयोग्यजन्तूनाम् । ग० १ अधि० । पं० व० ।

भवियसरीरदव्व–भव्यशरीरद्रव्य–न० । विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यो विवक्षितपर्यायाईस्तद्योग्य इत्यर्थः । तस्य शरीरम् । अनु० । भव्यो योग्यो य शब्दार्थं ज्ञास्यति न तावद्विजानाति तस्य शरीरं भव्यशरीरम् , तदेव द्रव्यं शरीरद्रव्यम् । स्था० ३ ठा० ६ उ० । यो जीव शब्दार्थमागामिनि काले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते । तज्जीवाधिष्ठिते शरीरद्रव्ये, अनु० ।

अथ किं तद्भव्यशरीरद्रव्याऽऽवश्यकमिति प्रश्ने सत्याह—

से किं तं भविअसरीरदव्वावस्सयं भविअसरीरदव्वावस्सयं ?, जे जीव जोणिजम्मणनिक्खते इमेणं चेव आत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणोवदिट्ठेणं भावेणं आवस्सएत्तिपयं सेअकाले सिक्खिस्सति न ताव सिक्खइ, जहा को दिट्ठंतो ?, अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सइ, सेत्तं भविअसरीरदव्वावस्सयं । अनु० ।

( व्याख्या ' आवस्सय ' शब्दे द्वितीयभागे ४४६ पृष्ठे गता )

भवियहिय–भव्यहित–त्रि० । जीवविशेषपथ्ये, "भव्वहियट्ठाय पयडत्थं । " जीवविशेषपथ्यप्रयोजनार्थम् । पञ्चा० १८ विव० । " भव्वहियट्ठाय लेसेणं । " भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां हितं श्रेयः स एवार्थः प्रयोजनम् भव्यहितार्थस्तस्मै । पञ्चा० २ विव० ।

भवियालि–भव्यालि–पुं० । भवायार्हो भव्यः, स एवालिर्भ्रमरो भव्यालिः । भव्यभ्रमरे, द्रव्या० ।

ज्ञानाऽऽख्यमेतन्मकरन्दमिष्टं,
भव्यालयो वीतभया निपीय ।
अर्हत्क्रमाम्भोजभवं सुगन्धं,
स्वभावसौहित्यमवाप्नुवन्ति ॥ २० ॥

भव्यालय-भवाय अर्हा भव्यास्त एवालयो भ्रमरा एतदुत्कृष्ट ज्ञानाऽऽख्य मकरन्दं मरन्दं निपीय पीत्वा स्वभावसौहित्यं स्वस्य आत्मनो भाव परमभावस्तद्रूपं सौहित्यं तृप्तिस्तदवाप्नुवन्ति प्राप्नुवन्ति । कीदृशा भव्यालय· वीतभया वीतं गत भयं येषां ते वीतभया दिवानिशमाकस्मिकसाध्वसरहिता' . कीदृक् मकरन्दमिष्टं वल्लभं भवविपाकत्वेन परमरुचिप्रदम् । पुन कीदृक् मकरन्दमर्हत्क्रमाम्भोजभवमर्हता श्रीतीर्थङ्कराणां क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तेभ्यो भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्क्रमाम्भोजभवं जिनेश्वरचरणपङ्कजसम्भवम् । पुन· कीदृक् सुगन्धं शोभनो गन्ध आमोदो यस्य तत्सुगन्धमिति पद्यार्थ । यथाऽलयोऽम्भोजभव सुगन्धमिष्टं मकरन्दं निपीय सौहित्यमवाप्नुवन्ति । तथा भव्या एतद् ज्ञानाऽऽख्य परमभावमिष्टं निपीय स्वभावमवाप्नुवन्ति । अन्यद्विशेषणैस्तुल्यत्वं ज्ञेयम् । भव्यानामलिसादृश्यं ज्ञानस्य च मकरन्दसादृश्यं च गुरूपमानत्वं, जिनक्रमे कमलोपमानत्वं साधर्म्यतया चेत्यपि बोध्यम् । आसन्नसिद्धिकाः परमरुचिपरा इहामुत्रफलविरागा इन्द्रियमात्रविषयावशा नित्यसंवेगशान्तहृदया विपाकलब्धनिसर्गबोधोदयेन परमभावेन ज्ञानेनाशेषकलुषकर्मसन्तानतिर्नाशनप्रकटितशुद्धशुक्लध्याननैर्मल्यविधूनशेषशुभकर्मप्रकृतितयाऽकर्माणो , निजमावमनन्तचतुष्टयाऽऽत्मकसौहित्यसपूरितमनन्त शिवाऽऽवासमासादयन्तीति भावः ॥ २० ॥ द्रव्या० ५ अध्या० ।

भविस्स–भविष्य(त्)–पुं० । भू "लृट सद्वा" ॥३।३।१४॥ शतृस्य इट् च पृ० वा । तलोप । भाविनि काले, वाच० । "एष्यंश्च नाम स भवति,य प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम् ।" पं०सू० ५ सूत्र । तत्कालवर्तिनि पदार्थे, त्रि० । वाच० । भविष्य आगामिकालभावी । कल्प० १ अधि० २ क्षण । अनागते , विशे० । स्त्रियां ङीप् नुम् च । " अव्याक्षेपो भविष्यन्त्या' । " इति रघु । तलोपपक्षे क्लीबता । भविष्यमधिकृत्य कृते पुराणभेदे, न० । वाच० ।

भवोदहि–भवोदधि–पुं० । संसारसमुद्रे, " योगचित्तं भवोदधौ । " द्वा० २१ द्वा० ।

भव्व–भाव्य–त्रि० । भू–एयत् । भावनाविषये, द्वा० २० द्वा० ।

भविष्यति, विशे०। आ० म०। भाविकालभवे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

भव्व-त्रि०। 'भविय' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद। भागिनेये, दे० ना० ६ वर्ग १०० गाथा।

भव्वंगि-(ण्)-भव्याङ्गिन्-पुं०। 'भवियंगि (न्)' शब्दार्थे, प्रति०।

भव्वजण-भव्यजन-पुं०। 'भवियजण' शब्दार्थे, प्रज्ञा० १ पद।

भव्वपुक्खरावट्टग-भव्यपुष्करावर्त्तक-पुं०। 'भवियपुक्खरावट्टग' शब्दार्थे, ती० ४३ कल्प।

भव्वसरीरदव्व-भव्यशरीरद्रव्य-न०। 'भवियसरीरदव्व' शब्दार्थे, अनु०।

भव्वालि-भव्यालि-पुं०। 'भवियालि' शब्दार्थे द्रव्या० ५ अध्या०।

भस-भुक्-धा०। कुक्कुरशब्दे, भ्वादि०-पर०-सक० सेट्। "भषेर्भुक्कः" ॥८।४।१८६॥ इति प्राकृतसूत्रेण भषेर्भुक्काऽऽदेशः। 'भुक्कइ।' 'भसइ।' प्रा० ४ पाद। भषति। अभषीत। अभाषीत्। वाच०।

भसग-भसक-पुं०। वनवासिनगरवास्तव्ये वासुदेवज्येष्ठभ्रातुर्जरत्कुमारस्य पौत्रे जितशत्रोः पुत्रे स्वनामख्याते कुमारे, यस्य भगिनी सुकुमारिका ताभ्यां सह प्रव्रजिता। नि० चू० ८ उ०। (तत्कथा 'पलिस्सयण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे पृष्ठे ७२७ गता)

भसण-भषण-न०। कुक्कुरस्य शब्दकरणे, प्रा० ४ पाद। शुनि, पुं०। तं०। प्रा०॥ "साणा भसणा इंदमहकामुआ मंडला कविला।" पाइ० ना० ४१ गाथा।

भसणय-भषणक-पुं०। शुनके, प्रा० ४ पाद।

भसल-भ्रमर-पुं०। भ्रमरे, "फुल्लंधुआ रसाऊ, भिंगा भसला य महुअरा अलिणो। इंदिंदिरा दुरेहा, धुअगाया छप्पया भमरा॥ १॥" पाइ० ना० ११ गाथा।

भसुआ-भषिका-स्त्री०। शृगाल्याम्, "भुल्लुंकि य भसुआ महासद्दा।" पाइ० ना० १२७ गाथा।

भसोल-भसोल-न०। नाट्यविधिभेदे, जं० ५ वक्ष०। रा०।

भस्तालिया-भट्टारिका-स्त्री०। "ट्टष्ठयोः स्टः" ॥८।४।२६०॥ इति प्राकृतसूत्रेण द्विरुक्तस्य टकारस्य मागध्यां सकाराऽऽक्रान्तः टकारः। प्रा० ४ पाद। भट्टिन्याम्, प्रा० ४ पाद।

भस्टिणी-भट्टिनि-स्त्री०। "ट्टष्ठयोः स्टः" ॥८।४।२६०॥ इतिप्राकृतसूत्रेण मागध्यां सकाराऽऽक्रान्तः टकारः। प्रा० ४ पाद। भट्टायाम्, प्रा० ४ पाद।

भस्स-भस्मन्-न०। 'भप्प' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

भा-भा-धा०। दीप्तौ, अदा०पर०अक०-अनिट्। भाति। अभासीत्। वाच०। "भा भाजो वा दित्ती।" विशे०। स्था०। भी-धा०। भये, जु० पर०अक०अनिट्। "भियो भाबीहौ" ॥८।४।५३॥ इति प्राकृतसूत्रेण बिभेतेरेतावादेशौ वा। भाइ। बीहइ। प्रा० ४ पाद।

भाअ-भाग-पुं०। अंशे, "अंसो भाओ।" पाइ० ना० २३३ गाथा। ज्येष्ठभगिनीपतौ, दे० ना० ६ वर्ग १०२ गाथा।

भाइ-भ्रातृ-पुं०। भ्राज-तृच्। पृ०। "उदृत्वादौ" ॥८।१।१३१॥ इतिप्राकृतसूत्रेण उत्वम्। प्रा० १ पाद। एकपितृजाते। स्वस्रा सहोक्तौ भ्रातृभगिन्योरिव। वाच०। ध० २ अधि०। "सहोदरः, सहाध्यायी, मित्रं वा रोगपालकः। मार्गे वाक्यसहायस्तु, पञ्चैते भ्रातरः स्मृताः॥ ३॥" भ्रातृभिश्च मिथो धर्मकार्यविषये स्मारणाऽऽदि सम्यक्कार्यम्। यतः— "भवगिहमज्झम्मिपमा—यजलणजलिअम्मि मोहनिद्दाए। उट्ठवइ जो सुअंतं, सो तस्स जणो परमबंधू॥ १॥" ध० २ अधि०। जं०। प्रश्न०। उत्त०। औ०। सूत्र०।

भाइ (न्)-भाजिन्-पुं०। शोभमाने, अष्ट० २६ अष्ट०।

भाइजाया-भ्रातृजाया-स्त्री०। भ्रातुः पत्न्याम्, भ० १२ श० २ उ०। आ० म०।

भाइणिज्ज-भागिनेय-पुं०। भगिन्या अपत्यं ढक्। स्वसृपुत्रे, तत्कन्यायाम्, स्त्री०। ङीप्। वाच०। नि० चू० १ उ०। आ० म०। दश०।

भाइणेज्ज-भागिनेय-पुं०। 'भाइणिज्ज' शब्दार्थे, नि०चू० १ उ०।

भाइय-भ्रातृक-पुं०। सहजे, आ० म० १ अ०। आव०।

भाजित-त्रि०। अर्पिते, "भाइयपुणाणियाणं" भाजिता ईश्वराऽऽदिगृहेषु वीननार्थमर्पिता। आ० म० १ अ०।

भाइयबीयापव्व-भ्रातृद्वितीयापर्व-कार्त्तिकशुक्लद्वितीयायाम्, 'नंदिवद्धणनरिंदो सामिणो जिट्ठभाया भयवंतं सिद्धिगयं सुओ अईवासोगं कुणंतो पाडिवए य कयाववासो कत्तिअसुद्धबीयाए संबोहित्ता निअघरे आमंतित्ता सुदंसणाए भगिणीए भोइओ तंबोलवत्थाऽऽदिइ एयं, तप्पभिइ भाइयबीयापव्वं रूढं।" ती० २० कल्प।

भाइल्ल-भागवत्-पुं०। भागो विद्यते यस्य स भागवान्, शुद्धचातुर्थिकाऽऽदिके पुरुषभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ०। (व्याख्या "पुरिस" शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०१५ पृष्ठे गता) हालिके, दे० ना० ६ वर्ग १०४ गाथा।

भाइल्लग-भागिक-त्रि०। अंशग्राहिणि, जं० २ वक्ष०। ज्ञा०। भागिको यः षड्भांशाऽऽदिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते। दशा० ६ अ०। भागिका ये लाभस्य चतुर्भागाऽऽदिकं लभन्ते। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। भागिको नाम द्वितीयांशस्य तृतीयांशस्य चतुर्थांशस्य ग्राहकः। जी० ३ प्रति०। भ०। जं०। प्रा०।

भाइसमाण-भ्रातृसमान-पुं०। अल्पतरप्रेमत्वात् तत्त्वविचाराऽऽदौ निष्ठुरवचनादप्रीतेः तथाविधप्रयोजनेष्वत्यन्तवत्सलत्वाच्च भ्रातृसमानः। श्रमणोपासकभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

भाईरही-भागीरथी-स्त्री०। भगीरथेन निर्वृता आनीता तत्संबन्धिनी वा अण्। गङ्गायाम्, वाच०। "गंगा भागीरही य जण्हुसुया।" पाइ० ना० ३१ गाथा। "तत्थ भागीरही महाणई पवित्तवारिपूरा परिवहइ" ती० १५ कल्प।

भाउ-भ्रातृ-पुं०। 'भाइ' शब्दार्थे प्रा० १ पाद।

भाउअ-देशी-न०। आषाढीयर्गौर्युत्सवविशेषे, दे० ना० ६ वर्ग १०३ गाथा।

भाउज्जा-देशी—भ्रातृजायायाम्, दे० ना० ६ वर्ग १०३ गाथा।

भाउबीयापव्व-भ्रातृद्वितीयापर्व्व-न०। 'भाइबीयापव्व' शब्दार्थे, ती० २० कल्प।

भाउय-भ्रातृक-पुं०। 'भाइय' शब्दार्थे, आ० म० १ अ०।

भाग-भाग-पुं०। भज-भावे घञ्। भजने, वाच०। भज्यते भुज्यते सेव्यते इति भागः। भाज्ये, भ० ११ श० १२ उ०। कल्प०। सेवनीये, स्था० ६ ठा०। अंशे, आ० चू० १ अ०। औ०। अनु०। ज्ञा०। विभागे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। भागा अविभागपलिच्छेदा इति वार्थान्तरम्। कर्म० ५ कर्म०। द्रव्यवस्तुनोऽर्द्धे एकदेशे, वाच०। "अट्टालयचरियदारगोउरकवाडतोरणपडिदुवारदेसभागा।" देशो भागश्चानेकार्थस्ततोऽन्योन्यमनयोर्विशेष्यविशेषणभावो दृश्यते। स०। आकाशे, सू० प्र० १० पाहु० ३ पाहु० पाहु०। अवसरे, विशे०। पूज्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। प्रभावे "वंदामि महाभागं।" भागः किलाचिन्त्या शक्तिः प्रभाव इति यावत्। विशे०। भाग्ये, वाच०। प्रकारे, भागो भङ्गो विकल्प. प्रकारः। अनु०। "त्रिंशांशकस्तथा राशेर्भाग इत्यभिधीयते। इति ज्योतिषोक्ते राशेस्त्रिंशांशके च। वाच०। जम्बूमन्दरस्योत्तरस्यां दिशि स्थितायां रक्तवत्यां महानद्यां सम्मिलितायां महानद्याम्, स्त्री०। टाप्। स्था० १० ठा०।

भागवय-भागवत-त्रि०। भगवतो भगवत्या इदम् सोऽस्य देवता अण्। भगवतो भगवत्या वा भक्ते परतीर्थिकभेदे, सूत्र १ श्रु० ७ अ०। आचा०। भगवतो वा भक्तिगृहोपाख्यानात्। आचा०१ श्रु० २ अ० ६ उ०। भगवन्तो ब्रुवते-पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्ष. सर्वव्याप्यात्मा निष्क्रियो निर्गुणश्चैतन्यलक्षणो निर्विशेषं सामान्यं तत्त्वमिति। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। तत्सम्बन्धिनि च, तयोः संबन्धिनि गुणवर्णने पुराणे, उपपुराणे च। "न यैः श्रुतं भागवतं पुराणम्।" वाच०।

भागहेय-भागधेय-न०। भाग्ये, "पुण्णं सुकयं च भागहेयं च।" पाइ० ना० १६७ गाथा।

भागीरही-भागीरथी-स्त्री०। गङ्गायाम्, "मंदाइणी सुरणई, गंगा भागीरही य जण्हुसुआ॥" पाइ० ना० ३१ गाथा।

भाडी-भाटी-स्त्री०। भाटके "सोऽववद् द्विगुणा भार्टी, दास्ये ब्रूहि यथातथम्।" आ० क० १ अ०।

भाडीकम्म-भाटीकर्म-न०। शकटवृषभकरभमहिषखरवेसराश्वाऽऽदेर्भाटकनिमित्तं भारवाहनं भाटीकर्म। "शकटोक्षलुलायोष्ट्र-खराश्वतरवाजिनाम्। भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटकजीविका॥ १॥" इत्युक्तलक्षणे कर्म्माऽऽदानभेदे, ध० २ अधि०। भाटककर्म्म यत्स्वकीयगन्त्र्यादिना परकीयभाण्डं भाटकेन वहति अन्येषा वा बलीवर्दशकटाऽऽदीन् भाटकेनैवार्पयति। यदाहुः—" नियपणुवगरणेणं, परकीयं भाडएण जो वहइ। त भाडकम्ममहवा, वसहाइसमप्पणेऽसेसि॥ १॥" प्रव० ६ द्वार। आ० चू०। उपा०।

भाण-भाजन-न०। भाज्यतेऽनेन भाजनम्। भाज-ल्युट्। "लुग् भाजनदनुजराजकुले जः सस्वरस्य न वा" ॥ ८। १। २६७॥ इति प्राकृतसूत्रेणैषु सस्वरजकारस्य लुग् वा। प्रा० १ पाद। पात्रे, पं० व० २ द्वार। भ०। पिं०। आचा०। ध०। प्रश्न०। [illegible]०। आव०। भाजनान्यमत्राणि सौवर्णाऽऽदीनि। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। भाजनमिव भाजनम्। आधारे, विशे०। ध०। प्रव०। भ०। योग्ये, वाच०। "जो जस्सिअस्स अत्थस्स, भायणं तस्स तस्सिअं होइ। वुट्टे वि दोणमेहे, न डुंगरे पाणिअं ठाइ॥४३॥" संथा० १ अधि० १ प्रस्ता०। भजनाद्विश्वस्याऽऽश्रयणाद् भाजनम्। आकाशे, भ० २० श० २ उ०। दाने च। आ० म० १ अ०।

भाणदेस-भाजनदेश-पुं०। भाजनाऽऽधारभूते देशे, यस्मिन् देशे भाजनानि सन्ति। व्य० ८ उ०।

भाणधरण-भाजनधरण-न०। सपानभोजनानां भाजनानां धारणे, बृ० १ उ०।

भाणियव्व-भणितव्य-त्रि०। कथनीये, स्था० २ ठा० १ उ०।

भाणिया-भाणिका-स्त्री०। अनन्तकायाऽऽत्मके वनस्पतिकायभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

भाणु-भानु-पुं०। भा-नुः। सूर्य्ये, अर्कवृक्षे, किरणे, प्रभौ, राजनि, वाच०। धर्मनाथजिनस्य पितरि, प्रव० ११ द्वार। स०। ती०। भगवत ऋषभस्यैकोनपञ्चाशत्तमे पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। अयोध्यानगरीस्थस्य धवलश्रावकस्य मित्रे स्वनामख्याते श्रावके, दर्श० ३ तत्त्व।

भाणुमित्त-भानुमित्र-न०। मल्लिजिनेन सार्द्धं प्रव्रजिते इक्ष्वाकुवंशोद्भवे स्वनामख्याते राजकुमारे, ति०। महावीरनिर्वाणानन्तरं विक्रमाऽऽदित्यात् प्रागुत्पन्ने स्वनामख्याते भारतवर्षस्य महाराजे, ती० २० कल्प।

भाणुमई-भानुमती-स्त्री०। विक्रमाऽऽदित्यनृपतेः पत्न्याम्, वाच०। सिंहपुरस्थस्य ऋषभश्रेष्ठिनः सुतायाम्, "उसभसेट्ठिसुया भाणुमई।" दर्श० ३ तत्त्व।

भाणुसिरी-भानुश्री-स्त्री०। बलभिलभिन्याम्, नि० चू० १० उ०। ('एज्जुसणा' शब्दे २४ पृष्ठे कथा)

भाम-भ्रम-धा०। अनवस्थाने, "भ्रमेस्तालिअण्ट—तमाडौ" ॥ ८। ४। ३०॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रमेरेतावादेशौ वा। पक्षे 'भामेइ।' प्रा० ४ पाद।

भामर-भ्रामर-त्रि०। मधुभेदे, न०। आव० ६ अ०।

भामा-भामा-स्त्री०। एकदेशेन समुदायावगमात् सत्यभामायाम्, प्रव० १ द्वार। आचा० आ० म०।

भामिणी-भागिनी-स्त्री०। "पुन्नागभागिन्योर्गो मः॥८। १। १९०॥ इत्यनयोर्गस्य मः। भागवत्याम्, प्रा० १ पाद।

भामुंडणा-भामुण्डना-स्त्री०। चारित्रभ्रंशनायाम्, बृ० ३ प्रक० १ उ०।

भाय-भाज-धा० पृथक्करणे, भाजयति। वाच० लब्धद्रव्यविभागान्। कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

भायण-भाजन-न०। पात्रे, "पत्ताइं भायणाइं।" पाइ० ना० २१८ गाथा।

भायल-भ्राजल-पुं०। जात्ये अश्वविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १

अ० । " जच्चं तुरगं भायलं । " पाइ० ना० २०५ गाथा। जात्यतुरङ्गमे, दे० ना० ६ वर्ग १०४ गाथा।

भायलसामिगढ–भ्राजलस्वामिगृह–न० । एकाशीतिजिनतीर्थे-ष्वन्यतमे तीर्थे, यत्र देवाधिदेवो जिनः । " भायलस्वामिगढे देवाधिदेवः । " ती० ४३ कल्प।

भाया-भ्रातृ–पुं० । भर्तरि, " सहोअरो भाया । " पाइ० ना० २५३ गाथा।

भार–भार–पुं० । भृ–घञ् । गुरुत्वपरिमाणे, वाच० । गुरुताकारणत्वात्परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । कर्म्मणि, " जहा कडं कम्म तहाऽसि भारे । " तथाविधं कर्म तादृग्विधभूत एव तेषां तत्कर्मविपाकाऽऽदितो भारः । प्राचुर्ये, विशे० । चये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । भरणं भारः । पूगफलाऽऽदेः स्कन्धपृष्ठादिष्वारोपणे, आव० ६ अ० । " घटीभिर्दशभिस्ताभि–रेको भारः प्रकीर्तितः । " इत्युक्तलक्षणे उन्मानविशेषे, तं० । ज्यो० विंशत्या पलशतैर्भारो भवतीति । स्था० ६ ठा० । नि० चू० । अनु० । भारक इति प्रसिद्धे पुरुषोत्क्षेपणीये च । स्था० ६ ठा० । भारो भारकः पुरुषोद्वहनीयो विंशतिपलशतप्रमाणो वा । भ० १५ श० ।

भारई–भारती–स्त्री० । भृ-अतच् स्वार्थे प्रज्ञाऽऽद्यण् । वाक्ये, वाच० । आव० ५ अ० । तदधिष्ठातृदेवतायां सरस्वत्याम्, वाच० । "वक्कं वयणं च गिरा । सरस्सई भारई य गो वाणी ।" दश० ७ अ० । द्वा० । " ऐन्द्रवृन्दविनताङ्घियामलं, यामलं जिनपतिं समाश्रिताम् । योगिनोऽपि विनमन्ति भारतीं, भारती मम ददातु सा सदा ॥ १ ॥ " पक्षिभेदे, " भारती संस्कृतप्रायो, वाग्व्यापारो नराश्रयः " इति । अलङ्कारोक्ते वृत्तिभेदे च । वाच० । " वाणी वाया भणिई, सरस्सई भारई गिरा भासा । " पाइ० ना० ५१ गाथा।

भारंड–भार(रु)ण्ड–पुं० । चर्मपक्षिभेदे, प्रश्न० १ संव० द्वार । प्रज्ञा० । औ० । आ० म० । जी० । " भारंडपक्खी व चरेऽपमत्तो । " भार (रु) एडश्चासौ पक्षी च भार (रु) एडपक्षी । उत्त० पाई०४ अ० । भारण्डपक्षिणोः किलैकं शरीरं पृथग्ग्रीवं त्रिपादं च भवति, तौ चात्यन्तमप्रमत्ततयैव निर्वाहं लभेते इति । स्था० ६ ठा० । सूत्र० । " एकोदराः पृथग्ग्रीवाः, अन्योन्यफलभक्षिणः । प्रमत्ता इव नश्यन्ति, यथा भारुण्डपक्षिणः ॥ १ ॥ " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । जीवद्वयरूपा भवन्ति, ते च सर्वदा चकितचित्ता भवन्तीति । " एकोदराः पृथग्ग्रीवास्त्रिपदा मर्त्यभाषिणः । भारुण्डपक्षिणस्तेषां, मृतिर्भिन्नफलेच्छया १ ॥ " कल्प० १ अधि० ६ क्षण । " गतस्य तव शैलोऽयं, भारुण्डाः पञ्चशैलतः । द्विजीवास्त्र्यङ्घयो द्यास्याः, पश्यन्त्येकोदराः खगाः ॥ १४ ॥ " आ० क० १ अ० ।

भारकाय–भारकाय–पुं० । भारश्चासौ कायश्च भारकायः । कापोत्याम् भारकायश्चात्र क्षीरभृतकुम्भद्वयोपेता कापोती भण्यते अन्ये तु भारकाय- कापोत्येवोच्यते इति आव० ५ अ० । आ० चू० ।

भारक्कंत–भाराऽऽक्रान्त–त्रि० । भारेण कुटुम्बाऽऽदिभारेण पोट्टलिकाऽऽदिभारेण वाऽऽक्रान्तः पराभग्नो भाराऽऽक्रान्तः । कुटुम्बाऽऽदिभारेण पराभग्ने, " भारक्कंता अलसगा । " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

भारग–भारक–पुं० । भारे, स्था० ६ ठा० । आव० । भ० ।

भारग्ग–भाराग्र–न० । विंशत्या पलशतैर्भारो भवति । अथवा पुरुषोत्क्षेपणी भारो भारक इति यः प्रसिद्धः अग्रं परिमाणं भार एवाग्रं भाराग्रम् । भारपरिमाणे, स्था० ६ ठा० । भ० ।

भारणमिय–भारनमित–त्रि० । भाराऽऽक्रान्ते, आव० ४ अ० ।

भारदाय–भारद्वाज–पुं० । भरद्वाजस्य गोत्रापत्यम् अण् । गौतममूलगोत्रान्तर्गतस्य गोत्रभेदस्य प्रवर्त्तके मुनिभेदे, स्था० ७ ठा० । चं० प्र० । सू० प्र० । ति० । कल्प० । तद्गोत्रोत्पन्ने, भ० १५ श० । आ० म० । द्रोणाचार्य्ये, अगस्त्यमुनौ, व्याघ्राटविहगे, बृहस्पतिपुत्रे, वाच० । श्वेताम्ब्यां नगर्य्यामुत्पन्ने स्वनामख्याते ब्राह्मणे, आ० म० १ अ० । आ० चू० । स च प्रथमभवे मरीचिनामा भरतपुत्रः, द्वादशे भवे श्वेताम्ब्यां नगर्यां भारद्वाजनामा ब्राह्मणो भूत्वाऽष्टादशे भवे पोतनपुरे त्रिपृष्ठनामा वासुदेवो भूत्वा त्रयोविंशे भवे मूकायां राजधान्यां प्रियमित्रनामा चक्रवर्ती भूत्वा सप्तविंशे भवे वर्द्धमानस्तीर्थकरोऽभूदिति । कल्प० १ अधि० ८ क्षण । वनकार्पास्याम्, स्त्री० । ङीप् । पुं० । भारद्वाजीत्यप्यत्र । वाच० ।

भारपच्चोरुहणया–भारप्रत्यवरोहणता–स्त्री० । भारो नाम गच्छभारस्तस्य प्रत्यारोहणता भारप्रत्यरोहणता शिष्याणामाचार्य्यस्य कर्तव्ये विनयप्रतिपत्तिभेदे, दशा० ।

साम्प्रतं भारप्रत्यारोपणतां विपृच्छिषुरिदमाह—

से किं तं भारपच्चोरुहणता ? । भारपच्चोरुहणता चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–असंगहियं परिजणं संगाहिता भवति, सेहं आयारगोचरं संगाहिता भवति, साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठिता भवति, साहम्मियाणं अधिकरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सितोवसितो अपक्खग्गाही मज्झत्थभावभूते सम्मं ववहरमाणे तस्स अधिकरणस्स खामणविउसमणताए सया समियं अब्भुट्ठेत्ता भवति, कहं नु साहम्मिया अप्पसद्दा अप्पझंझा अप्पकलहा अप्पतुमतुमा संजमबहुला संवरबहुला समाहिबहुला अप्पमत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा णं एवं च णं विहरेज्जा, सेत्तं भारपच्चोरुहणता ।

( से किं तं इत्यादि ) आचार्ये आह—भारप्रत्यारोहणता चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-असंगृहीतं परिजनं संग्राहयिता भवति १, शैक्षमाचारगोचरं संग्राहयिता भवति २, साधर्मिकस्य ग्लायमानस्य यथास्थानं वैयावृत्ये अभ्युत्थाता भवति ३, साधर्मिकाणां परस्परं कलहे उत्पन्ने उपशामकतया अभ्युत्थाता भवति ४, असंगृहीतं नाम क्रोधाऽऽदिना गणाऽऽदेर्बहिर्गच्छन्तं परिजनं शिष्याऽऽदिकं संग्राहयिता मृदुवचनाऽऽदिना पुनः सङ्घाटके रक्षयिता भवति १, शिष्यमभ्युत्पन्नमभिनवदीक्षितं वा (आयार त्ति) आचारः श्रुतज्ञानाऽऽदिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनाऽऽदि गोचरो भिक्षाऽटनम् ।

एतयोः समहारद्वन्द्वः । तं संग्राहिता भवति २। साधर्मिकस्य समानधर्मसामाचारीकस्य ग्लायमानस्य गाढागाढकारणे समुत्पन्ने आहाराऽऽदिना विना सीदतः यथास्थाम यथाशक्त्या वैयावृत्त्ये उद्वर्त्तनभक्तपानाऽऽनयनदानैरथोक्तौषधकरणसंस्तारकप्रस्तरणप्रतिलेखनरूपे अभ्युत्थाता आदरपरो भवति ३, समानधार्मिकाणां साधूनाम् ( अहिगरणंसि त्ति )विरोधे उत्पन्ने, तत्र साधर्मिकेषु निश्रितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-निश्रितमाहाराऽऽदिलिप्सा उपाश्रितं शिष्यकुलाऽऽद्यपेक्षा, तद्वर्जितो यः सोऽनिश्रितोपाश्रितः, न पक्षं शास्त्रबोधितं गृह्णातीत्यपक्षग्राही । अत एव मध्यस्थभावभूतः प्रयोजनस्य तथा स भवेदिति शेषः। ( सम्म त्ति ) सम्यक् व्यवहारं श्रुताऽऽदिकं तत्र व्यवहरन् प्रवृत्तिं विदधन् न्यायान् व्यवहरन् न्यायव्यवहारे वा व्यवहरन् तस्योत्पन्नस्याधिकरणस्य विरोधस्य मर्षणव्युपशमनार्थतया सदा सर्वकालमभ्युत्थाता भवति ४। कथं केन प्रकारेण, नु वितर्के साधर्मिकाः साधवोऽल्पशब्दा विगतरागाऽऽदिकाः, अत्राल्पशब्दो भाववचनः,अल्पदण्डा विगतदण्डा तथाविधाशुभवचनाः , अल्पतुमतुमाः अविद्यमानत्वंत्वमन्तः स्वल्पापराधिनि अपित्वमेवं पुरा कृतवान् त्वमेवं सदाऽपि करोषीत्यादि न पुनः पुनः प्रलपनं येषां ते तथा वा, विगतक्रोधकृतमनोविकारविशेषाः , भविष्यन्तीति शेषः। इति भावयन्तो महामुनयः संयमबाहुल्या संयमाऽऽश्रवविरमणाऽऽदिकं बहुविधं बहुसंख्यं यथा भवत्येवं शान्ति गृह्णन्ति स्वाभिप्रायो विशुद्धशुद्धतरं पुनः पुनः संयमं कुर्वन्तीति संयमबहुला, मयूरव्यंसकाऽऽदित्वात्समासः। यदि वा—बहुलः प्रभूतः संयमो येषां ते बहुलसंयमाः , सूत्रे पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वादत एव संवर आश्रवनिरोधस्तेन बहुलाः बहुलसंवरा वा, तत एव समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं, तद्बहुलाः , बहुलसमाधयो वा , प्रमत्ता मदाऽऽदिप्रमादयुक्ताः, न प्रमत्ता अप्रमत्ताः ( संजमेणं ति ) संवरेण ( तवस त्ति ) तपसा अनशनाऽऽदिना , चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः । संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थः, प्रधानत्वं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन , तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति वाऽभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणात् सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति। " अप्पाणं भावेमाणा । " आत्मानं वासयन्तः, एव पूर्वोक्तप्रकारेण , विहरेयुरिति ( सेवमित्यादि ) व्यक्तम् । दशा० ६ अ० ।

**भारवह–भारवह**–त्रि० । भारं वहतीति भारवहः। पोट्टलिका वाहके, उत्त० १२ अ० । नि० चू० । वृ०।

**भारवाहग–भारवाहक**–पुं०। भारं वहति ण्वुल्।"भारवाहिनि," " हिंडगा भारवाहगा। (२) "। अनु० ।

**भारह–भारत**–न०। भरतान् भरतवंश्यानधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अण् । भारः वेदाऽऽदिशास्त्रेभ्योऽतिसारांशः अस्त्यस्य ते वा। वाच०। वेदव्यासप्रणीते लक्षश्लोकाऽऽत्मकग्रन्थरूपे लौकिकश्रुतविशेषे, स्था० ६ ठा०। भारताऽऽदिश्चिदानींतन पुरुषाणामशक्तावपि कस्यचित् पुरुषस्य व्यासाऽऽदेः शक्तिः श्रूयते। सं०। " पुव्वण्हे भारहं अवरण्हे रामायणं । " भारतरामायणयोर्वाचन श्रवणं वा पूर्वाह्णापराह्णयोरेव रूढं, विपर्यये दोषदर्शनात् । भरतेन चिह्नितं तस्येदं वा अण् । " हिमाद्रेः दक्षिणं वर्षं भरताय ददौ पिता । तस्माच्च भारतं वर्षम् " इत्युक्ते जम्बूद्वीपान्तर्गते वर्षभेदे, वाच० । भारतं भरतक्षेत्रम् । दश० ६ अ० १ उ० । चं० प्र०। उत्त० । विशे० । भरतेन मुनिना प्रोक्तम् । अणु० । भरतकृते नाट्यशास्त्राऽऽदौ च । तदधीते अण् । नटे, अग्नौ, भरतस्य गोत्रापत्यम्। भरतनृपस्य वंश्ये, वाच०। भरतदेश प्रकाशकत्वात् भारतः भरतवर्षस्थे सूर्ये च । पुं०। चं० प्र० १ पाहु०। भरते जातः, भरतेवाऽस्य निवासः " तत्र जातः सोऽस्य निवास " इति वाऽण्। भरतवर्षोत्पन्ने, तन्निवासिनी च । त्रि० । अनु० । स्था० ।

**भारहर–भारधर**–पुं०। भारं धरतीति भारधरः । भारधारके, उत्त० १२ अ० ।

**भारिय–भारिक**–पुं० । भार वहति । भार ठक् । भारवाहके, वाच० । भारवति, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । दुर्निर्वाहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

**भाल–भाल**–न० । ललाटे, " भालं अलिअं निडालं । " पाइ० ना० ११२ गाथा ।

**भाव–भाव**–पुं०। सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबन्धजन्तुषु, है० । ( १ ) भावयति चिन्तयति पदार्थान् । भू अच् । नाट्योक्तौ, नानापदार्थचिन्तके पण्डिते, भावयति ज्ञापयति हृदयगतम् । भू-णिच् अच् । हृद्गतावस्थाऽऽवेदके मानसविकारे स्वेदकम्पाऽऽदौ व्यभिचारिभावे, वाच०। अभिप्राये, सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। भावश्चित्ताभिप्रायः। आचा०१ श्रु० २ अ० ५ उ०। दश०। सं०। अनु०। " भावो वत्थु पयत्थो। " पाइ० ना० १५५ गा- था। मानसिके परिणामे, पिं० । भावोऽन्तःकरणस्य परिणतिविशेषः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । प्रश्न० । आव० । भावस्य मोक्षहेतुत्वेन मोक्षे व्यवस्थितम् । आव० । स्यान्तःपरिणामस्येति । द्वा० १० द्वा०। अन्तःकरणे, जी० १ अधि० । हृदये, षो० १६ विव० । आत्मनि, योनौ , भावाभिस्या. पञ्चस्वभावसत्ताऽऽत्मयोन्यभिप्रायाः । अनु० । सच्छ्रद्धानाध्यवसाये, पञ्चा० ४ विव । धर्मश्रवणनच्छ्रद्धानचारित्राऽऽवरणकर्मक्षयोपशमाऽऽहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साह – लक्षणो भाव इति। सूत्र० १ श्रु० २ अ०। क्षीणा चेष्टाविशेषे, भावविसससमुद्भवः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न । रा० । द्रव्या० । दश० । घटपदाऽऽदिके वस्तुनि, विशे० । आव० । भ० । रा० । आ० म० । षो० । नं० ।

भावानां सिद्धिं प्रतिपिपादयिषुर्व्यक्तगणधरेण जिनस्य संशयाद्युपदर्शयन् प्रथमं सर्वशून्यताशङ्कमतमाह—

जइ किर न सओ परओ, नोभयओ नावि अन्नओ सिद्धी ।
भावाणमवेक्खाओ, वियत्त ! जह दीहहस्साणं । १६९२ ।

व्यक्त ! भवतोऽयमभिप्रायो–यथा किल न स्वतः न परतो, न चोभयतो, नाप्यन्यतो भावानां सिद्धिः सम्भाव्यते । कुत. ?, इत्याह अपेक्षातः-कार्यकारणाऽऽदिभावस्यापेक्षिकत्वादित्यर्थः ह्रस्वदीर्घव्यपदेशवत् । तथाहि-यत्किमपि भावजातमस्ति तेन सर्वेणापि कार्येण वा भवितव्यं, कारणेन वा ।

तत्र कार्यं कारणेन क्रियत इति कारणाऽऽयत्त एव तस्य कार्यत्वव्यपदेशो, न तु कार्यस्य कार्यत्वं स्वतः सिद्धं किमप्यस्ति । एवं कारणमपि कार्यं करोतीति कार्याऽऽयत्त एव तस्य कारणत्वव्यपदेशो, न तु तस्य कारणत्वं स्वतः सिद्धं किञ्चिदस्ति । तदेव कार्याऽऽदिभावः स्वतो न सिध्यति । यच्च स्वतो न सिद्धं तस्य परतोऽपि सिद्धिर्नास्ति, यथा खरविषाणस्य । ततश्च न स्वतः कार्याऽऽदिभावो, नापि परतः । स्वपरोभयतस्तर्हि तस्य सिद्धिरिति चेत् । तदयुक्तम्, व्यस्तादुभयतस्तत्सिद्धेरभावात्तत्समुदायेऽपि तदयोगात् । न हि सिकताकणेषु प्रत्येकमसत्तैलं तत्समुदाये प्रादुर्भवति । अपि च-उभयत सिद्धिपक्ष इतरेतराऽऽश्रयदोषः प्राप्नोति । यावद्धि कार्यं न सिद्ध्यति न तावत्कारणसिद्धिरस्ति, यावच्च कारणं न सिध्यति न तावत्कार्यं सिद्धिमासादयति । अत इतरेतराऽऽश्रयदोषः । तस्मान्नोभयतोऽपि कार्याऽऽदिभावसिद्धिः । नाप्यन्यत.-अनुभयत इत्यर्थः स्वपरोभयव्यतिरेकेणाऽन्यस्य वस्तुनोऽसत्त्वेन निर्हेतुकत्वप्रसाङ्गाद् एवं ह्रस्वदीर्घलक्षणे दृष्टान्तेऽपि अपेक्षात इत्यस्य ह्रस्वदीर्घत्वासिद्धिलक्षणेन साध्येनान्वयो भावनीयः । तथाहि-प्रदेशिन्या अङ्गुष्ठमपेक्ष्य दीर्घत्वं प्रतीयते, मध्यमां त्वपेक्ष्य ह्रस्वत्वं,, परमार्थेन त्वियं स्वतो न ह्रस्वा, नापि दीर्घा । तदेवं न स्वतो ह्रस्वदीर्घत्वयोः सिद्धिः ततः स्वतः परतः उभयत, अनुभयतश्च-तत्सिद्ध्यभावो यथोक्तवद्भावनीयः तदुक्तम्—

" न दीर्घेऽस्तीह दीर्घत्वं, न ह्रस्वे नापि च द्वये ।
तस्मादसिद्धं शून्यत्वा-त्सदित्याख्यायते क हि ? ॥ १ ॥
ह्रस्वं प्रतीत्य सिद्धं, दीर्घं दीर्घं प्रतीत्य ह्रस्वमपि ।
न किञ्चिदस्ति सिद्धं, व्यवहारवशाद्वदन्त्येवम् ॥२॥" ॥१६६२॥

इतश्च सर्वं जगच्छून्यता, कुतः ? , इत्याह—

अत्थित्तघडेगाणे-गया व सव्वे गयाइदोसाओ ।
सव्वेऽणभिलप्पा वा, सुण्णा वा सव्वहा भावा ॥१६६३॥

नन्वस्तित्वघटयोरेकत्वम्, अनेकत्वं वा ? । यद्येकत्वं, तर्हि सर्वैकता प्राप्नोति—यो योऽस्ति स स घट इत्यस्तित्वे घटस्य प्रवेशात्सर्वस्य घटत्वप्रसङ्गः स्यात् । न पटाऽऽदिपदार्थान्तरम् । घटो वा सर्वसत्त्वाव्यतिरेकात्सर्वाऽऽत्मकः स्यात् । अथवा—यो घटः स एवास्तीति घटमात्रेऽस्तित्वं प्रविष्टं, ततोऽन्यत्र सत्त्वाभावात् घटस्य सर्वस्याप्यभावप्रसक्तो घट एवैकः स्यात् । सोऽपि वा न भवेद्, अघटव्यावृत्तो हि घटो भवति, यदा च तत्प्रतिपक्ष भूतोऽघट एव नास्ति, तदा किमपेक्षोऽसौ घट स्यात् ?, इति सर्वशून्यत्वमिति । अथ घटसत्त्वयोरन्यत्वमिति द्वितीयो विकल्पः । तर्हि सत्त्वरहितत्वादसन् घट., खरविषाणवदिति । अपि च सतो भाव. सत्त्वमुच्यते, तस्य च स्वाऽऽधारभूतेभ्यो घटाऽऽदिभ्यः सद्भ्योऽन्यत्वेऽसत्त्वमेव स्याद्, आधारादन्यत्वे आधेयस्याप्यनुपपत्ते. । तदेवमस्तित्वेन सह घटाऽऽदीनामेकत्वान्यत्वविकल्पाभ्यामुक्तन्यायेन सर्वैकताऽऽदिदोषप्रसङ्गात्सर्वेऽपि भावा अनभिलप्या वा भवेयु ,सर्वथा शून्या वा स्यु.,सर्वथैव तेषामभावो वा भवेदित्यर्थ. । अपि च-यन्नोत्पद्यते तत्तावन्निर्विवादं खरविषाणवदसदेव, इति निवृत्ता तत्कथा यदप्युत्पत्तिमल्लोकेऽभ्युपगम्यते, तस्यापि जाताऽजाताऽऽदिविकल्पयुक्तिभिरुत्पादो न घटते, इति शून्यतैव युक्ता इति।१६६३।

एतदेऽऽवाह—

जायाऽजाओभयओ, न जायमाणं व जायए जम्हा ।
अणवत्थाऽभावोभय--दोसाओ सुन्नया तम्हा ॥१६६४॥

इह तावन्न जातं जायते, जातत्वादेव, निष्पन्नघटवद् । अथ जातमपि जायते, तर्ह्यनवस्था, जातत्वाविशेषेण पुनः पुनर्जन्मप्रसङ्गात् । अथाजातं जायते ; तत्रोत्तरमाह—( आभवत्ति ) सूचकत्वात्सूत्रस्य , तर्ह्यभावोऽपि खरविषाणलक्षणो जायताम्—अजातत्वाविशेषात् अथ जाताजातरूपं जायते । तदप्ययुक्तम् । कुत इत्याह-उभयदोषात्प्रत्येकोभयपक्षोक्तदोषाऽऽपत्तेरित्यर्थः । किञ्च एतज्जाताजातलक्षणमुभयमस्ति वा, न वा?, यद्यस्ति तर्हि जातमेव तन्न पुनरुभयं,तत्र चोक्तो दोषः। अथ नास्ति तथाऽपि नोभयं तत्किं त्वजातमेव, तत्राप्यभिहितमेव दूषणम् । नापि जायमानं जायते, सर्वोक्तविकल्पद्वयानतिवृत्तेः । तथाहि-तदपि जायमानमस्ति, न वा ? । यद्यस्ति, तर्हि जातमेव तत् , नास्ति चेत् तर्हि जातमेव । पक्षद्वयेऽपि चास्मिन्नभिहित एव दोष. । उक्तं च ,"गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते । गतागतविनिर्मुक्तं , गम्यमान न गम्यते ॥ १ ॥ " इत्यादि । यस्मादेवं, तस्मादनवस्थाऽऽदिदोषप्रसङ्गेन वस्तूनामुत्पादायोगाज्जगतः शून्यतैव युक्तेति ॥ १६६४ ॥

प्रकारान्तरेणापि वस्तूत्पत्त्ययोगतः
शून्यतासाधनार्थमाह—

हेऊपच्चयसाम-ग्गिवीसु भावेसु नो व जं कज्जं ।
दीसइ सामग्गिमयं, सव्वाभावेण सामग्गी ॥१६६५॥

हेतव उपादानकारणानि, प्रत्ययास्तु निमित्तकारणानि,तेषां हेतुप्रत्ययानां या सामग्री तस्याविष्वग्भावेषु पृथगवस्थासु यत्कार्यं न दृश्यते,दृश्यते च सामग्रीमयं सपूर्णसामग्र्यवस्थायां पुनर्दृश्यत इत्यर्थः । एवं च सति कार्यस्य सर्वाभाव एव युक्त इति शेषः । सर्वाभावे च न सामग्री, नैव सामग्रीसद्भावः प्राप्नोतीत्यर्थ. । तत' सर्वशून्यतैवेति भावः इदमत्र हृदयम्-हेतवश्च प्रत्ययाश्च स्वजन्यमर्थं किमेकैकश. कुर्वन्ति संभूय वा ? । न तावदेकैकशस्तथाऽनुपलब्धेः । तत एकैकस्मात्कार्यस्याभावात्सामग्र्यामपि तदभाव एव स्यात्सिकताकणतैलवदिति । इत्थं च सर्वस्यापि कार्यस्योत्पत्त्यभावे सामग्रीसद्भावो न प्राप्नोति, अनुत्पन्नायाः सामग्र्या अप्ययोगात् । ततश्च सर्वशून्यतैव जगतः । उक्तं च—

" हेतुप्रत्ययसामग्री, पृथग्भावेष्वदर्शनात् ।
तेन तेनाभिलप्या हि, भावा. सर्वे स्वभावतः ॥ १ ॥
लोके यावत्संज्ञा, सामग्र्यामेव दृश्यते यस्मात् ।
तस्मान्न सन्ति भावा , भावे सति नास्ति सामग्री ॥ २ ॥"
इत्यादि ।

अस्य च व्याख्या—पृथग्भावेष्वदर्शनात्कार्यस्येति शेषः । तेन ते घटाऽऽदयो भावाः सर्वेऽपि स्वभावत' स्वरूपतो नाभिलाप्याः पृथगेकैकावस्थायां कार्यस्यानुत्पादात् उत्पत्तिमन्तरेण च घटाऽऽदिसंज्ञाऽप्रवृत्ते., संज्ञाऽभावे चाभिलप्तुमशक्यत्वादिति कुत पुनः पृथगवस्थाया संज्ञाऽप्रवृत्तिः ? , इत्याह लोके यावदित्यादि । लोके यावत् संज्ञा घटोऽयमित्यादिसंज्ञाप्रवृत्तिस्तावत्संपूर्णं कार्यं सम्पूर्णसामग्र्यामेव यस्माद् दृश्यते पृथग-

भावे च सामग्र्यामप्यभावात्सिकतातैलवन्न सन्त्येव भावाः, भावसत्त्वे च कुत सामग्रीसद्भाव इति ॥ १६९५ ॥

प्रकारान्तरेणापि शून्यतासिद्ध्यर्थमाह—

परभागादरिसणओ, सव्वाराभागसुहमयाओ य ।
उभयाणुवलंभाओ, सव्वाणुवलद्धिओ सुसं ॥ १६९६ ॥

इह यत् तावदद्दश्य, तदसदेव, अनुपलम्भात् खरविषाणवदिति निवृत्ता तद्वार्त्ता । दृश्यस्यापि च स्तम्भकुम्भकुड्याऽऽदेः परमध्यभागयोरसत्त्वमेव अर्वाग्भागान्तरितत्वेन तयोरप्यदर्शनात्, आराद्भागस्यापि च सावयवत्वात्पुनरन्यः खल्वाराद्भागस्तस्याप्यन्यः पुनस्तस्याप्यन्य इत्येव तावद्यावत्सर्वारातीयभागस्य, परमाणुप्रतरमात्रत्वेनातिसौक्ष्म्यात्पूर्वेषां चाराद्भागानामन्यस्यान्येनान्तरितत्वेनानुपलब्धे.। ततश्चोक्तन्यायेन परभागसर्वारातीयभागलक्षणोभयभागानुपलम्भात्सर्वस्यापि वस्तुजातस्यानुपलब्धेः शून्यं जगदिति । उक्तं च— "यावद् दृश्यं परस्ताव—द्भाग. स च न दृश्यते । तेन तेनाभिलाप्या हि, भावाः सर्वे स्वभावत. ॥ १ ॥" तदेवमुक्तयुक्त्या सर्वस्यापि भूताऽऽदेरभावः प्राप्नोति, श्रूयते च श्रुतौ भूताऽऽदिसद्भावोऽपीति संशय इति पूर्वपक्षः ।

(३) अथ भगवान् प्रतिविधानमाह—

मा कुरु वियत्त ! संसय—मसइ न संसयसमुब्भवो जुत्तो ।
खकुसुमखरसिंगेसु व, जुत्तो सो थाणुपुरिसेसु ।१६९७।

आयुष्मन् व्यक्त मा कृथा. संशयं मा भूताभावं बुध्यस्व, यतोऽसति भूतकदम्बके संशय. खकुसुमखरविषाणयोरिव न युक्तः, अपि त्वभावनिश्चय एव स्यात्, सत्स्वेव च भूतेषु स्थाणुपुरुषाऽऽदिष्विव संशयो युक्त. । यदि पुनरसत्यपि वस्तुनि सन्देहः स्यात्तदाऽविशेषेण खरविषाणाऽऽदिष्वपि स्यादिति भाव. ।

एतदेव भावयति—

को वा विसेसहेऊ, सव्वाभावे वि थाणुपुरिसेसु ।
सङ्का न खपुप्फाइसु, विवज्जओ वा कहं न भवे ? । १६९८।

को वाऽत्र विशेषहेतुरुच्यता यत्सर्वाभावे सर्वशून्यतायामविशिष्टायामपि स्थाण्वादिषु संशयो भवति, न खपुष्पाऽऽदिषु ?। ननु विशेषहेत्वभावादविशेषेण सर्वत्र संशयोऽस्तु, नियामकाभावात् । विपर्ययो वा भवेत्, खपुष्पाऽऽदिषु संशय स्याद् न स्थाण्वादिषु इति भाव ।

अपि च—

पच्चक्खओऽणुमाणा—दागमओ वा पसिद्धिरत्थाणं ।
सव्वप्पमाणविसया—भावे किह ससओ जुत्तो ? ।१६९९।

यदा हि प्रमाणैरर्थानां प्रसिद्धिर्जाता भवेत्तदा कथञ्चित्कचिद्वस्तुनि संशयो युज्येत । यदा च सर्वेषा प्रमाणानां सर्वेषा च तद्विषयाणामभावस्तदा कथ संशयोऽस्तु, संशयस्य ज्ञातृज्ञेयाऽऽद्यर्थसामग्रीजन्यत्वात् ? । सर्वशून्यत्वे च तदभावान्न संशयोद्भूति., निर्मूलत्वादिति भाव. ॥ १६९९ ॥

एतदेव समर्थयति—

जं संसयादओ ना—णपज्जया तं च नेयसंबद्धं ।
सव्वन्नेयाभावे, न संसओ तेण ते जुत्तो ॥ १७०० ॥

यस्मात्संशयविपर्ययानध्यवसायनिर्णया विज्ञानपर्यायाः, तच्च ज्ञेयनिबन्धनमेव, सर्वशून्यतायां न ज्ञेयमस्ति, तस्मान्न तव संशयो युक्तः । सति च संशयेऽनुमानसिद्धा एव भावाः ॥ १७०० ॥

कथमित्याह—

संति च्चिय ते भावा, संसयओ सोम्म ! थाणुपुरिसु व्व ।
अहदिट्ठंतमसिद्धं, मन्नसि ननु संसयाभावो ॥ १७०१ ॥

सौम्य ! सन्ति भवतोऽपि भावाः, संशयसमुत्थानात्, इह यत्संशय्यते तदस्ति, यथा स्थाणुपुरुषौ; यच्चासद् न तत्संशय्यते, यथा खपुष्पखरविषाणे । अथ स्थाणुपुरुपलक्षणं दृष्टान्तमसिद्धं मन्यसे त्वं, सर्वेषामपि स्थाणुपुरुषाऽऽदिभावानामविशेषेणैवासत्त्वाभ्युपगमात्, तदयुक्तं, यतो ननु सर्वभावासत्त्वे संशयाभावं एव स्याद्, इत्युक्तमेवेति ॥ १७०१ ॥

अथ परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

सव्वाभावे वि मई, संदेहो सिमिणए व्व नो तं च ।
जं सरणाइनिमित्तो, सिमिणो न उ सव्वहा भावो ।१७०२।

स्यान्मतिः परस्य सर्वाभावेऽपि स्वप्ने दृष्टः संशयो, यथा किल कश्चित्पामरो निजगृहाङ्गणे किमयं द्विपेन्द्रो महीध्रो वेति संशेते, न च तत्तत्र किञ्चिदप्यस्ति, एवमन्यत्र सर्वभावाभावेऽपि संशयो भविष्यति । तच्च न, यद्यस्मात्स्वप्नेऽपि पूर्वदृष्टानुभूतस्मरणाऽऽदिनिमित्तःसंदेहो, न तु सर्वथा भावाभावेऽसौ क्वापि प्रवर्त्तते । अन्यथा हि यत्षष्ठभूताऽऽदिकं क्वचिदपि नास्ति तत्रापि संशयः स्याद्विशेषाभावादिति । ननु किं स्वप्नोऽपि निमित्तमन्तरेण न प्रवर्त्तते ?, एवमेतत् । ॥ १७०२ ॥

कानि पुनस्तन्निमित्तानीत्याह—

अणुभूयदिट्ठचिंतिय—सुयपयइवियारदेवयाऽणूया ।
सिमिणस्स निमित्ताइं, पुण्णं पावं च नाभावो ॥१७०३॥

स्नानभोजनविलेपनाऽऽदिकमन्यदाऽनुभूतं स्वप्ने दृश्यते, इत्यऽनुभूतोऽर्थ. स्वप्नस्य निमित्तम् । अथवा—करितुरगाऽऽदिकोऽन्यदा दृष्टोऽर्थस्तन्निमित्त विचिन्तितश्च प्रियतमालाभाऽऽदिः । श्रुतश्च स्वर्गनरकाऽऽदिः । तथा, वातपित्ताऽऽदिजनित प्रकृतिविकार. स्वप्नस्य निमित्तम् । तथा, अनुकूला प्रतिकूला वा देवता तन्निमित्तम् । तथाऽनूपःसजलप्रदेशः । तथा पुण्यमिष्टस्वप्नस्य निमित्तं, पाप चानिष्टस्य तस्य निमित्त, न पुनर्वस्त्वभावः । किं च. स्वप्नोऽपि तावद्भाव एव, ततस्तस्यापि सत्त्वे कथ शून्य जगदिति भवता प्रतिज्ञायते ? ॥१७०३॥

कथं पुनः स्वप्नस्य भावत्वम् ?' इत्याह—

विण्णाणमयत्तणओ, घडविण्णाणं व सुमिणओ भावो ।
अहवा विहियनिमित्तो, घडो व्व नेमित्तियत्ताओ ।१७०४।

भावः स्वप्न इति प्रतिज्ञा, विज्ञानमयत्वादिति हेतुः, घटविज्ञानवदिति दृष्टान्तः । अथवा भाव. स्वप्नो, नैमित्तिकत्वात्, निमित्तैर्निष्पन्नो नैमित्तिकस्तद्भावस्तत्त्वं, तस्मादित्यर्थः घटवदिति । कथं पुन. स्वप्नो नैमित्तिकः ? इत्याहयतो विहितनिमित्तः, विहितानि "अणुहूयदिट्ठचिंतिय" इत्यादिना प्रतिपादितानि निमित्तानि यस्यासौ विहितनिमित्त इति ॥१७०४॥

सर्वशून्यतायां चेष्यमाणायां स्वप्नास्वप्नाऽऽदिव्यवहाराभावप्रसङ्ग एवेति दर्शयन्नाह—

सव्वाभावे च कओ,सुमिणोऽसुमिणो त्ति सच्चमलियं ति।
गंधव्वपुरं पाडलि-पुत्तं तत्थोवयारो त्ति ? ॥ १७०५ ॥
कज्जं ति कारणं ति य, सज्झमिणं साहणं ति कत्त त्ति ।
वत्ता वयणं वच्चं, परपक्खोऽयं सपक्खोऽयं ?॥१७०६॥
किं चेह थिरदवोसिणचलया-अरुवित्तणाइँ निययाइं ।
सद्दादओ य गज्झा, सोत्ताईयाइँ गहणाइं ?॥१७०७॥
समया विवज्जओ वा, सव्वागहणं व किं न सुण्णम्मि ।
किं सुन्नया व सम्मं, सग्गहो किं व मिच्छत्तं?॥१७०८॥
किह सपरोभयबुद्धी, कहं च तेसिं परोप्परमसिद्धी ।
अह परमईए भण्णइ, सपरमइविसेसणं कत्तो? ॥१७०९॥

सर्वाभावे च सर्वशून्यतायां चाभ्युपगम्यमानायां स्वप्नोऽयम् अस्वप्नोऽयमिति कुतः किंकृतोऽयं विशेषः ?, इत्यर्थः। तथा सत्यमिदम् अलीकं वा; तथा गन्धर्वपुरमेतत् पाटलीपुत्राऽऽदि चेदं; तथा—" तत्थोवयारो त्ति " अयं तथ्यो निरुपचरितो मुख्यश्चतुष्पदविशेषः सिंहः, अयं त्वौपचारिके मनुष्यविशेषो माणवकः ; तथा कार्यमिदं घटाऽऽदि, कारणं चेदं मृत्पिण्डाऽऽदि, तथा साध्यमिदमनित्यत्वाऽऽदि, साधनं कृतकत्वाऽऽदि, कर्त्ता घटाऽऽदेः कुलालाऽऽदिः,तथा अयं वक्ता वादी, वचनं चेदं त्र्यवयवं पञ्चावयवं वा, इदं च वाच्यमभिधेयमस्य शब्दसन्दर्भस्य, तथाऽयं स्वपक्षः, अयं च परपक्ष इति सर्वशून्यत्वे कुतोऽसौ विशेषो गम्यते ?। ' किं चेह थिरेत्यादि । ' पृथिव्याः स्थिरत्वम्, अपां द्रवत्वं, वह्नेरुष्णत्वं, वायोश्चलत्वम्, आकाशस्यारूपित्वमित्यादयो नियताः सर्वदैवैकस्वभावा विशेषाः सर्वशून्यतायां कुतो गम्यन्ते ?। तथा शब्दाऽऽदयो ग्राह्या एव इन्द्रियाणि च श्रोत्रादीनि ग्राहकाण्येवेति कुतो नियमसिद्धिः। ( समयेत्यादि) ननु सर्वशून्यतायां स्वप्नास्वप्नसत्यालीकाऽऽदीनां विशेषनिबन्धनाभावात् समतैव कस्मान्न भवति यादृशः स्वप्नः, अस्वप्नोऽपि तादृश एव, यादृशश्चास्वप्नः स्वप्नोऽपि तादृश एवेत्यादि ?। अथवा-विपर्ययः कुतो न भवति-यः स्वप्नः सोऽस्वप्नो, यस्त्वस्वप्नः स स्वप्नः इत्यादि ?। यदि वा सर्वेषामपि स्वप्नास्वप्नाऽऽदीनां सर्वथा शून्यत्वेऽग्रहणमेव कस्मान्न भवति ?। भ्रान्तिवशादेव स्वप्नाऽस्वप्नाऽऽदिग्रहणमिति चेत् । तदयुक्तं देशकालस्वभावाऽऽदिनैयत्येन तद्ग्राहकज्ञानोत्पत्तेः। किं च-इयं भ्रान्तिः किं विद्यते, न वा ?। यदि विद्यते तर्ह्यभ्युपगमविरोधः । अथ न विद्यते, तर्हि भ्रान्तेरसत्त्वाभावग्राहकज्ञानस्य निर्भ्रान्तत्वात् सन्त्येव सर्वे भावाः, न पुन शून्यतेति।अथवा अन्यत्पृच्छामो भवन्तं ननु सर्वशून्यत्वे शून्यतैव सम्यक्त्वं सतां भावानां ग्रहणं सद्ग्रहो, भावसत्त्वग्रहणं पुनर्मिथ्यात्वमित्यत्र कस्ते विशेषहेतुः ?। यदुक्तं न स्वतो भावाना सिद्धिरित्यादि तत्प्रतिविधानार्थमाह—( किह सपरोभयेत्यादि ) ननु कथं ह्रस्वदीर्घोभयविषये इदं ह्रस्वमिदं दीर्घम्, एतत्तु तदुभयमित्येवंभूता स्वपरोभयबुद्धिर्युगपदाश्रीयते भवता ?, कथं च तेषां ह्रस्वदीर्घोभयानां परस्परमसिद्धिरुद्घुष्यते ?-पूर्वापरविरुद्धत्वान्नैतद्युक्तं युज्यत इत्यर्थः।

अयमत्र भावार्थः—न खल्वापेक्षिकमेव वस्तूनां सत्त्वं, किं तु स्वविषयज्ञानजननाऽऽद्यर्थक्रियाकारित्वमपि । ततश्च ह्रस्वदीर्घोभयान्यात्मविषयं चेज्ज्ञानं जनयन्ति,तदा सन्त्येव तानि, कथं तेषामसिद्धिः ?। यदप्युक्तम्-मध्यमाङ्गुलिमपेक्ष्य प्रदेशिन्यां ह्रस्वत्वमसदेवोच्यते इति । तदप्ययुक्तम्,यतो यदि मध्यमामपेक्ष्य प्रदेशिन्या स्वतः सर्वथाऽसत्यामपि ह्रस्वत्वं भवति, तदा विशेषाभावात् खरविषाणेऽपि तद्भवेदतिदीर्घेष्विन्द्रयष्ट्यादिष्वपि च तत्स्यात् । अथ वा प्रदेशिन्याः स्वापेक्षया स्वात्मन्यपि ह्रस्वत्वं स्यात्,सर्वत्रासत्त्वाविशेषात्। न चैवम् ।तस्मात्स्वतः सत्यामेव,प्रदेशिन्यां वस्तुतोऽनन्तधर्माऽऽत्मकत्वात् तत् सहकारिसन्निधौ तत्तद्रूपाभिव्यक्तेस्तत्तज्ज्ञानमुत्पद्यते,न पुनरसत्यामेव तस्यामपेक्षामात्रत एव ह्रस्वज्ञानमुपजायते । एवं दीर्घोभयाऽऽदिष्वपि वाच्यम्। अथेदं ह्रस्वमिदं दीर्घमेतच्चोभयमित्यादि स्वपरोभयबुद्धिः परमत्या पराभ्युपगमेनोच्यते, न पुनः स्वतः सिद्धं स्वविषयज्ञानजनकं ह्रस्वाऽऽदिकं किञ्चिदस्त्यतो न कश्चित् पूर्वापरविरोध इत्यत्राऽऽह-ननु सर्वशून्यत्वे इदं स्वमतम्, एतच्च परमतमित्येतदपि स्वपरभावेन विशेषणं कुतो ?,न कुतश्चिदित्यर्थः,स्वपरभावेऽपि"समयाविवज्जओ वा" इत्याद्येवावर्त्तत इति भावः । स्वपरभावाऽऽद्यभ्युपगमे च शून्यत्वाभ्युपगमहानिरिति ॥ १७०५ ॥ १७०६ ॥ १७०७ ॥ १७०८ ॥ १७०९ ॥

अपि च—

जुगवं कमेण वा ते, विण्णाणं होज्ज दीहहस्सेसु ।
जइ जुगवं काऽवेक्खा,कमेण पुव्वम्मि काऽवेक्खा? १७१०
आइमविण्णाणे वा, ज बालस्सेह तस्स काऽवेक्खा ।
तुल्लेसु व काऽवेक्खा,परोप्परं लोयणदुगे व्व ? ॥१७११॥

ननु मध्यमा प्रदेशिन्यादिह्रस्वदीर्घयोस्तवाभिप्रायेण स्वाऽऽकारप्रतिभासि ज्ञानं किं युगपदेव भवेत्, क्रमेण वा ? ।यदि युगपत्तर्हि परानपेक्षं द्वयोरपि युगपदेव स्वप्रतिभासिनि ज्ञाने प्रतिभासात्कस्य किल काऽपेक्षा ? । अथ क्रमेण, तदापि पूर्वमेव स्वप्रतिभासिना ज्ञानेन परानपेक्षमेव ह्रस्वस्य प्रदेशिन्यादेर्गृहीतत्वादुत्तरस्मिन् मध्यमाऽऽदीके दीर्घे काऽपेक्षा ? । तस्माच्चक्षुरादिसामग्रीसद्भावे परानपेक्षमेव स्वकीयविविक्तरूपेण सर्वभावाना स्वज्ञाने प्रतिभासात्स्वत एव सिद्धिः । अथवा—बालस्य तत्क्षणमेव जातस्य शिशोर्यदिह नयनोन्मेषानन्तरमेवाऽऽद्यं विज्ञानं , तत्किमपेक्ष्य प्रादुरस्ति ?। यदि वा-ये न ह्रस्वे नापि दीर्घे, किं तु परस्परं तुल्ये एव वस्तुनी , तयोर्युगपदेव स्वप्रतिभासिना ज्ञानेनैव गृह्यमाणयोः का अन्योन्यापेक्षा ?, न काचित्, यथा तुल्यस्य लोचनयुग्मस्य । तस्मादङ्गुल्यादिपदार्थानां नान्यापेक्षमेव रूप, किं तु स्वप्रतिभासवता ज्ञानेनान्यनिरपेक्षा एव ते स्वरूपतोऽपि गृह्यन्ते । उत्तरकाल तु तत्तद्रूपजिज्ञासायां तत्प्रतिपक्षस्मरणाऽऽदिसहकारिकारणान्तरवशाद्दीर्घह्रस्वाऽऽदिव्यपदेशा प्रवर्त्तन्ते,इति स्वतः सिद्धा एव सन्ति भावा इति ॥ १७१० ॥ १७११ ॥

अपि च—

किं हस्साओ दीहे, दीहाओ चेव किं न दीहम्मि ।
कीस व न खपुप्फाओ, किं न पुखप्फे खपुप्फाओ ? १७१२

हन्त यदि सर्वशून्यता, ततः किमिति ह्रस्वादेव प्रदेशिनी प्रभृतिद्रव्याद्दीर्घे मध्यमाऽऽदिद्रव्ये दीर्घज्ञानाभिधानव्यवहारः प्रवर्त्तते । दीर्घापेक्ष एव दीर्घेन ज्ञानाभिधानेन व्यवहारः किं न प्रवर्त्तते, असत्त्वाविशेषादिति भावः । एवं "किं दीहाओ हस्से, हस्साओ चेव किं न हस्समि ॥ " इत्येतदपि द्रष्टव्यम् । तथा किमिति वा न खपुष्पाद् दीर्घे ह्रस्वे वा तज्ज्ञानाभिधानव्यवहृतिर्विधीयते ! तथाऽसत्त्वाविशेषत एव किमिति खपुष्पात्खपुष्प एव ह्रस्वदीर्घज्ञानाऽऽदिव्यवहारो न प्रवर्त्तते ?। न चैव, तस्मात्सन्त्येव भावा , न तु शून्यता जगत इति ॥ १७१२ ॥

अपि च—

किं वाऽवेक्खाए चिय, होज्ज मई वा सभाव एवाय ।

सो भावो त्ति सभावो, वञ्झापुत्ते न सो जुत्तो॥१७१३॥

अथवा-सर्वस्यापि असत्त्वे ह्रस्वाऽऽदेर्दीर्घाऽऽद्यपेक्षयाऽपि किं कर्त्तव्यम् , शून्यताप्रतिकूलत्वात्तस्याः, घटाऽऽद्यर्थसत्त्ववद् ?। अथ परस्य मतिर्भवेत् स्वभावादेवापेक्षयैव ह्रस्वदीर्घाऽऽदिव्यवहारः प्रवर्त्तते । न च स्वभाव पर्यनुयोगमर्हति-तथा चोक्तम्—"अग्निर्दहति नाऽऽकाश, कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ॥" इति । हन्त इत्थमपि हतोऽसि, यतः स्वो भाव स्वभावस्ततः स्वपरभावाभ्युपगमात् शून्यताऽभ्युपगमहानि । न च वन्ध्यापुत्रकल्पानामर्थानां स्वभावपरिकल्पना युक्तेति । भवतु वाऽपेक्षा तथापि शून्यतासिद्धि ॥ १७१३ ॥

कुतः ? इत्याह—

होज्जावेक्खाओ वा, विन्नाणं वाऽभिहाणमेत्तं वा ।

दीहं ति व हस्स ति व,न उ सत्ता सेसधम्मा वा॥१७१४॥

अथवा स्वतः सिद्धे वस्तुन्यपेक्षातो भवेत् किम् ? , इत्याह—विज्ञानमभिधानमात्रं वा । केनोल्लेखेन ? , इत्याह-दीर्घमिति वा , ह्रस्वमिति वेति । किं पुनर्न भवेदित्याह—न त्वन्यापेक्षया वस्तुना सत्ता भवति , नाप्यापेक्षिकह्रस्वदीर्घत्वाऽऽदिधर्मेभ्य शेषा रूपरसाऽऽदयो धर्मा अन्यापेक्षया सिध्यन्ति । उत्पद्यन्ते च वस्तुसत्ताग्राहकाणि, रूपाऽऽदिधर्मग्राहकाणि च ज्ञानानि । अतोऽन्यापेक्षा भावत कथ स्वत सिद्धस्य वस्तुसत्ताऽऽदेरभाव ?, तत्सद्भावे च कथं शून्यता जगत० ?, इति ॥ १७१४ ॥

कथं पुन सत्ताऽऽदयोऽन्यापेक्षा ?, इत्याह—

इहरा हस्साभावे, सव्वविणासो हवेज्ज दीहस्स ।

न य सो तम्हा सत्ता-दयोऽणविक्खा घडाईणं।१७१५।

इतरथा यदि घटाऽऽदीना सत्ताऽऽदयोऽप्यन्यापेक्षा भवेयु , तदा ह्रस्वाभावे ह्रस्वस्य सर्वविनाशे दीर्घस्यापि वस्तुनः सर्वविनाश स्यात्, ह्रस्वसत्ताऽपेक्षित्वात् दीर्घसत्ताऽऽदीनाम् न चैवमसौ दीर्घस्य सर्वविनाशो दृश्यते, तस्मान्निश्चीयते-सन्त्यन्यानपेक्षा एव घटाऽऽदीना सत्तारूपाऽऽदयो धर्माः, तत्सत्त्वे चापास्ता शून्यतेति ॥ १७१५ ॥

यदुक्त न स्वतो नापि परतो नापि चोभयतो भावाना सिद्धि , अपेक्षत इत्यादि । अत्रापेक्षात इति विरुद्धो हेतु ,विपक्ष एव सत्त्वादिति दर्शयन्नाह—

जमवि अविरलाऽविरल्लाण - मणिक्खणोऽणिक्खणिज्जविक्खा।

सा न मया सव्वेसु वि,संतेसु न सुन्नया नाम ॥ १७१६ ॥

याऽपीयं ह्रस्वाऽऽदेर्दीर्घाऽऽद्यपेक्षा साऽप्यपेक्षणं क्रियारूपं, तथा अपेक्षकं कर्त्तारमपेक्षणीय च कर्मानपेक्ष्य न मता न विदुषां सम्मता । तत किमित्याह—एतेषु चापेक्षणापेक्षकापेक्षणीयेषु सर्वेषु वस्तुषु सत्सु न काचिच्छून्यता नाम, अतोऽपेक्षकाऽऽदिसत्त्वलक्षणे विपक्ष एवापेक्षालक्षणस्य हेतोर्वृत्तत्वाद्विरुद्धत्वमिति ॥ १७१६ ॥

तस्मात्स्वतः, परत उभयतश्च भावानां सिद्धिरस्त्येव व्यवहारतो, निश्चयतस्तु स्वत सिद्धा एव सर्वे भावा इति दर्शयति—

किंचि सओ तह परओ,तदुभयओ किंचि निच्चसिद्धं पि ।

जलओ घडओ पुरिसो, तह ववहारओ नेयं ॥ १७१७ ॥

निच्छयओ पुण वाहिर-निमित्तमेत्तोवओगओ सव्वं ।

होइ सओ जमभावो,न सिज्झइ निमित्तभावे वि।१७१८।

इह किञ्चित्स्वत एव सिद्धयति, यथा कर्तृनिरपेक्षस्तत्कारणद्रव्यसंघातविशिष्टपरिणामरूपो जलदः । किं चितु परतो, यथा कुलालकर्तृको घट । किं चिदुभयतो, यथा मातापितृभ्यां स्वकृतकर्मतश्च पुरुषः । किं चिन्नित्यसिद्धमेव, यथा आकाशम् । एतच्च व्यवहारनयापेक्षया द्रष्टव्यम् निश्चयतस्तु बाह्यं निमित्तमात्रमेवाऽऽश्रित्य सर्वं वस्तु स्वत एव सिद्धयति, यद्यस्माद् बाह्यनिमित्तसद्भावेऽपि खरविषाणाऽऽदिरूपोऽभाव कदाचिदपि न सिद्धयति । उभयनयमत च सम्यक्त्वमिति ॥ १७१७ ॥ १७१८ ॥

अथ यदुक्तम्—" अत्थित्तघडेगाणेगया व " इत्यादि, तत्प्रतिविधातुमाह—

अत्थित्तघडेगाणे-गया य पज्जायमेत्तचिंतेयं ।

अत्थि घडे पडिवन्ने, इहरा सा किं न खरसिंगे?।१७१९।

इहास्ति घटो न तु नास्तीत्येव प्रतिपन्ने सति तदनन्तरमेवास्तित्वघटयोः किमेकताऽनेकता वेत्यादिना घटास्तित्वयोरेकत्वानेकत्वलक्षणपर्यायमात्रचिन्तैव भवता कृता भवति न तु तयोरभाव सिद्धयति । अन्यथा ह्यभावरूपा विशेषात् यथा घटास्तित्वयो., एव खरविषाणवन्ध्यापुत्रयोरप्येकत्वानेकत्वचिन्ता भवत किं न प्रवर्तते इति ॥ १७१९ ॥

किं च ?, यथा घटास्तित्वयोरेकत्वानेकत्वविकल्पौ त्वं विधत्से, तथा घटशून्यतयोरपि तौ विधातु शक्येते । कथम् ?, इत्याह—

घडसुन्नयन्नयाए, वि सुन्नया का घडाहिया सोम्म ! ।

एगत्ते घडओ चिय, न सुन्नया नाम घडधम्मा । १७२० ।

ननु घटशून्यतयोरप्यन्यताऽनन्यता वा ? । यद्यन्यता, तर्हि ( सुन्नया का घडाहिया सोम्म त्ति ) सौम्य व्यक्त ! शून्यता का घटाऽऽदिका नाम ? ननु घटमात्रमेव पश्यामो, न पुन कश्चिच्छून्यता घटादधिका समीक्ष्यते । अथाऽनन्यता, तथाऽपि सति सघटशून्यत्वयोरेकत्वे घट एवासौ युज्यते,प्रत्यक्षतएवोपलभ्यमानत्वात्, न तु शून्यत्वं नाम कश्चित्तद्धर्मः, सर्वप्रमाणैरनुपलब्धेरिति ॥ १७२० ॥

अपि च—

विण्णाणवयणवाईण-मेगया तो तदत्थिया सिद्धा ।

अमुत्ते अमाणी, निव्वयणो वा कहं वाई ? ॥ १७२१ ॥

शून्यं सर्वमेव विश्वत्रयमित्येवंभूतं यद्विज्ञानं वचनं च तेन सह शून्यवादिनो भवत एकत्वमनेकत्वं वा ? । यद्येकत्वं ततस्तदस्तिता वस्त्वस्तितता सिद्धेति कुतः शून्यता, वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिवैकत्वस्य वस्तुत्वात् ? । अन्यत्वे तु विज्ञानवचनयोरज्ञानी निर्वचनश्च वादी कथं शून्यतां साधयेत् । शिलासंघातवदिति ॥ १७२१ ॥

यच्च घटसत्त्वयोरेकत्वविकल्पेऽभ्यधायि, यो घटः स एवास्तीति घटमात्रेऽस्तित्वस्य प्रवेशाद् घट एवास्ति । यदि वा प्रतिपक्षाभावात्सोऽपि नास्तीति तत्राऽऽह—

घडसत्ता घडधम्मो, तत्तोऽणण्णो, पडाइओ भिण्णो ।

अत्थि त्ति तेण भणिए,को घड एवेति नियमोऽयं १७२२

घटास्तित्वलक्षणा घटसत्ता घटस्य धर्मः, स च ततो घटादनन्योऽभिन्नः पटाऽऽदिभ्यस्तु सर्वेभ्योऽपि भिन्नः । तेन ततो घटोऽस्तीति भणिते घट एवेति घट एवास्ति इति कोऽयं नियमः, निजनिजसत्तायाः पटाऽऽदिष्वपि भावात्, तेऽपि सन्त्येवेति भाव ॥ १७२२ ॥

तथाऽस्मिन्नेव घटास्तित्वयोरेकत्वविकल्पे यदुक्तं-यो योऽस्ति स स घट इति सर्वस्य घटत्वप्रसङ्गः, घटस्य वा सर्वसत्त्वात्मकत्वमिति । तदपि सर्वं घटसत्ता घटधर्मः, इत्यादिनैव परिहृतम्, अत एवाऽऽह—

जं वा जदत्थि तं तं-घडो त्ति सव्वघडयापसंगो को ? ।

भणिए घडोत्थि व कहं,सव्वत्थित्तावरोहो त्ति ? ।१७२३।

यद्वा प्रोक्तं 'यद्यदस्ति तत्तत्सर्वं घट ' इति,तत्र कोऽयं सर्वघटताप्रसङ्गः ? । तथा यो घट स एवास्तीत्यप्युक्ते कथं सर्वास्तित्वावरोध -कथं घटस्य सर्वाऽऽत्मकत्वम् ?, इत्यर्थः । यदा हि घटसत्ता घट एवास्ति नान्यत्र,तदा यत्र यत्र घटास्तित्वं तत्र तत्र घट इति न कश्चित्सर्वेषां घटताप्रसङ्गः, 'तथा घटसत्त्वेन घट एवास्ति' इत्येतस्मिन्नप्युक्ते न किञ्चिद् घटस्य सर्वात्मकत्वं प्रतीयत इति भाव. ॥ १७२३ ॥

तदेवं प्रस्तुतं परपक्षमपाकृत्य स्वपक्षस्य भावार्थमाह—

अत्थि त्ति तेण भणिए, घडोऽघडो वा घडो उ अत्थेव।

चूओ चूओ व दुमो,चूओ उ जहा दुमो नियमा ।१७२४।

येन कारणेन घटसत्ता घटधर्मत्वाद् घट एवास्ति पटाऽऽदिभ्यस्तु भिन्ना, तेन तस्मादस्तीत्युक्ते घटोऽघटो वा पटाऽऽदिर्गम्यते,निजनिजसत्त्वस्य सर्वेषु पटाऽऽदिष्वपि भावात् (घडो उ अत्थेव त्ति )-घट इति तु प्रोक्ते अस्त्येवेति गम्यते,निजसत्त्वस्य नियमेन घटे सद्भावात् । अत्र यथासंख्यमुदाहरणद्वयम् । यथा द्रुमः,इत्युक्ते चूतोऽचूतो वा निम्बाऽऽदिर्गम्यते, द्रुमत्वस्य सर्वत्र भावात् । चूत इति तु निगदिते द्रुम एव गम्यते, अद्रुमस्य चूतत्वायोगादिति ॥ १७२४ ॥

यदुक्तं—यदेतज्जातं न जायते, नाप्यजातं, न च जाताजातं, नापि जायमानमित्यादि । तत्रोत्तरमाह—

किं तं जायं ति मई, जायाऽजाओभयं पि जदजायं ।

अह जायं पि न जायं,किं न खपुप्फे वियारोऽयं ?।१७२५

प्रष्टव्योऽत्र देवानांप्रियः कथय किं तद्वस्तुजातमिति प्रतिपद्यते तव मतिः, यज्जाताऽजातोभयाऽऽदिप्रकारैरजातं साध्यते । यस्य जाताजाताऽऽदिप्रकारैर्जन्म त्वया निषिध्यते इत्यर्थः । यदि हि जातं किमपि वस्तु तव सिद्धं, तर्हि तत्सत्त्वेनैव प्रतिहता शून्यता, अतः "किं तज्जातं जायते ?, किं तदजातं जायते ?, किं तज्जाताऽजातं वा जायते ?", इत्यादयः शून्यतासिद्ध्यर्थमुपन्यस्यमाना निरर्थका एव विकल्पा इति प्रच्छकाभिप्रायः । अथ तदपि जातं जाताऽजातादिविकल्पाऽऽश्रयभूतं जातत्वेन भवतो न सिद्धं, किं त्वजातमेव तत्; ननु स्ववचनविरुद्धमिदं-जातमप्यजातमिति । किं च-अजातस्यासत्त्वे निराश्रयत्वाज्जाताजाताऽऽदिविकल्पा निरर्थका एव । अथैतदाश्रयभूतं जाताऽऽख्ये वस्तुन्यसिद्धेऽपि 'न जातं जायते, इत्यादिविकल्पविचारः प्रवर्तते तर्हि खपुष्पेऽप्यसौ किं न विधीयते, असत्त्वाविशेषेण "समया विवज्जओ वा" इत्यादिव्यक्तदोषप्रसङ्गात् ? । न च यत्कश्चित्परेषां सिद्धं जातमुररीकृत्य विकल्पा विधीयन्ते, स्वपरभावाभ्युपगमे शून्यताहानिप्रसक्तेरिति ॥ १७२५ ॥

अपि च—

जइ सव्वहा न जायं, किं जम्माणंतरं तदुवलंभो ।

पुव्वं वाऽणुवलंभो, पुणो वि कालंतरहयस्स ॥१७२६॥

यदि सर्वैरपि प्रकारैर्घटाऽऽदि कार्यं न जातमिति शून्यवादिना प्रतिपाद्यते, तर्हि मृत्पिण्डाऽऽद्यवस्थायामनुपलब्धं कुलालाऽऽदिसामग्रीनिर्वर्तितजन्मान्तरं किमिति तस्मात्तदुपलभ्यते ?। पूर्वं वा जन्मतः किमिति तस्यानुपलम्भः ?। पुनरपि कालान्तरे लगुडाऽऽदिना हतस्य किमिति तस्यानुपलम्भः ? । अजातस्य गगननलिनस्येव सर्वदैव घटाऽऽदेरनुपलम्भ एव स्यात्, यस्तु कदाचिदुपलम्भ, कदाचित्तु नोपलम्भोऽसौ जातस्यैवोपपद्यते इति भावः ॥ १७२६ ॥

किं च—

जइ सव्वहा न जायं, जायं सुण्णवयणं तहा भावा ।

अह जायं पि न जायं,पयासिया सुन्नया केण ? ॥१७२७॥

शून्यं सर्वं जगदित्येवंभूतं यच्छून्यताविषयं विज्ञानं वचनं च तद्यथा जाताऽजाताऽऽदिप्रकारैः सर्वथा जातमप्यजातमपि सत्केनापि प्रकारेण तावज्जातं, तथा भावा अपि घटपटाऽऽदयो जाता एष्टव्याः, इत्यतो न शून्यं जगत् । अथ शून्यताविज्ञानवचनद्वयं जातमप्यजातमिष्यते, तर्हि तद्विज्ञानवचनाभ्यां विना केनाऽसौ शून्यता प्रकाशिता ?—न केनचिदिति शून्यताऽनुपपत्तिरिति ॥ १७२७ ॥

यदप्युक्तं-'न जातं जायते नाप्यजातम्।' इत्यादि तदप्ययुक्तं, यतो विवक्षया सर्वैरपि प्रकारैर्यथासम्भवं वस्तु जायते, किंचित्तु सर्वथा न जायते, इति दर्शयति—

जायइ जायमजायं, जायाजायमह जायमाणं च ।

कज्जमिह विवक्खाए, न जायए सव्वहा किंचि ।१७२८।

रूवि त्ति जाइ जाओ, कुंभो संठाणओ पुणरजाओ ।

जायाजाओ दोहि वि, तस्समयं जायमाणो त्ति।१७२९।

पुव्वकओ उ घडतया, परपज्जाएहिँ तदुभएहिं च ।

जायंतो य पडतया, न जायए सव्वहा कुंभो ॥१७३०॥

वोमाइ निच्चजायं, न जायए तेण सव्वहा सोम्म ! ।
इय दव्वतया सव्वं, भयणिज्जं पज्जवगईए ॥ १७३१ ॥

इह कार्यं घटाऽऽदिकं विवक्षया किमपि जातं जायते, किञ्चिदजातं, किञ्चिज्जाताजातं, किञ्चिज्जायमानं, किञ्चित्तु सर्वथा न जायत इति । अथ यथाक्रममुदाहरणानि—( रूवीत्यादि) रूपितया घटो जातो जायते, मृद्रूपतायाः प्रागपि भावात्, तद्रूपतया जात एव घटो जायत इत्यर्थः । संस्थानतया आकारविशेषेण पुन. स एवाजातो, जायते, मृत्पिण्डाऽऽद्यवस्थायामाकारस्यासम्भवात्, मृद्रूपतया, आकारविशेषेण चेति द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां जाताजातो जायते । तदनर्थान्तरभूतत्वाद् घटस्य । तथा अतीतानागतकालयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नत्वात् क्रियाऽनुपपत्तेर्वर्तमानसमय एव क्रियासद्भावात्तत्समयं वर्तमानसमयं जायमानो जायते । किञ्चित्तु सर्वथा जाताऽजाताऽऽदिप्रकारैर्न जायते । किं पुनस्तदित्याह—(पुव्वकओ उ इत्यादि ) पूर्वकृतस्तु पूर्वनिष्पन्नो घटो घटतया जाताजाताऽऽदिविकल्पाना मध्यादेकेनापि प्रकारेण न जायते, पूर्वमेव जातत्वात्, किं घटतयैव न जायते ?। नेत्याह-( परपज्जाएहिं ति ) तथा पटाऽऽदिगतैः परपर्यायैश्च घटो न जायते, स्वपर्यायाणां पूर्वमेव जातत्वात्, परपर्यायैश्च कदाचित् कस्याप्यभवनात् । स्वपरपर्यायैः पूर्वकृतघटो न जायते, जाताऽजातपटखरविषाणवदिति भावः । तथा जायमानोऽपि वर्त्तमानक्रियाक्षणसमये पटतया घटो न जायते, पररूपतया कस्याऽप्यभवनात् । किं पूर्वकृतो घट एवेत्थं न जायते, आहोस्विदन्यदपि किञ्चिन्न जायते ?। इत्याह—( वोमाईत्यादि ) न केवलं पूर्वकृतो घटो घटतया न जायते, तथा व्योमाऽऽदि च तेन कारणे सौम्य ! सर्वथा जाताऽऽदिभिः सर्वैरपि प्रकारैर्न जायते, येन किमित्याह-येन नित्यजात सर्वदाऽवस्थितं हेतुद्वारेण विशेषणमिदं नित्यजातत्वान्न जायत इत्यर्थः । उक्तस्यैवार्थस्योपसंहारव्याजेन तात्पर्यमुपदर्शयन्नाह-(इयेत्यादि) इत्युक्तप्रकारेण सर्वमपि घटपटव्योमाऽऽदिक वस्तु द्रव्यतया द्रव्यरूपेण 'न जायते' इतीहापि संबध्यते,तद्रूपतया सदाऽवस्थितत्वादिति भाव'।पर्यायगत्या पर्यायचिन्तया पुनः सर्वं भजनीय विकल्पनीयम् । पूर्वजातं घटाऽऽदिकं रूपाऽऽदिभिः स्वपर्यायैरपि न जायते, पूर्वजातत्वादेव, अजात तु तत्स्वपर्यायैर्जायते,परपर्यायैस्तु किञ्चिदपि न जायते, इत्येवं पर्यायचिन्तायां भजना । एतच्च प्रायोदर्शितमेवेति ॥ ॥ १७२८ ॥ १७२९ ॥ १७३० ॥ १७३१ ॥

अथ यदुक्तं-'सर्वं सामग्रीमयं दृश्यते, सर्वाभावे च कुतः सामग्री ?,' तत्र प्रतिविधानमाह-

दीसइ सामग्गिमयं, सव्वमिह त्थि न य सा नणु विरुद्धं ।
घेप्पइ व न पच्चक्खं, किं कच्छपरोमसामग्गी । १७३२।

इह यदुक्तं-"सर्वमपि कार्यं सामग्र्यात्मकं दृश्यते, सर्वाभावे च नास्ति सामग्री ।" इति । तदेतद्विरुद्धमेव, प्रस्तुतार्थप्रतिपादकत्वात्, वचोजनककण्ठौष्ठताल्वादिसामग्र्या प्रत्यक्षत एवोपलब्धेः । अथ ब्रूषे-अविद्योपप्लवाद्विद्यमानमपि दृश्यते । यत् उक्तम्—"कामस्वप्नभयोन्मादै-रविद्योपप्लवात्तथा । पश्यन्त्यसन्तमप्यर्थं, जनाः केशेन्दुकाऽऽदिवत् ॥ १ ॥ इति ॥ यद्येवं, तर्ह्यसत्त्वे सामान्येऽपि कच्छपरोमजनकसामग्री किमिति प्रत्यक्षत एव नोपलभ्यते ? , समताविपर्ययो वा कथ न स्यादिति वाच्यमिति ? ॥ १७३२ ॥

किं च—

सामग्गिमओ वत्ता, वयणं चत्थि जइ तो कओ सुण्णं ।
अह नत्थि केण भणियं,वयणाभावे सुयं केण ? ।१७३३।

सामग्री उरःशिरःकण्ठौष्ठतालुजिह्वाऽऽदिसमुदायाऽऽत्मिका तन्मयः सामग्र्यात्मको वक्ता, तद्वचनं चास्ति न वा ?। यद्यस्ति, तर्हि कुतो जगच्छून्यत्वं, तद्वक्तृवचनसत्त्वेनैव व्यभिचारात् ?। अथ तद्वक्तृवचने न स्तस्तर्हि वक्तृवचनाभावे केन भणित शून्यं जगत् ?, न केनचित् । सर्वशून्यत्वे च प्रतिपाद्य स्याप्यभावात् केन तत् शून्यवचः श्रुतमिति ? ॥ १७३३ ॥

अत्र परभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

जेणं चेव न वत्ता, वयणं वा तो न संति वयणिज्जा ।
भावा तो सुण्णमिदं, वयणमिदं सच्चमलियं वा ?॥१७३४॥
जइ सच्चं नाभावो, अहालियं न प्पमाणमेयं ति ।
अब्भुवगयं ति व मई, नाभावे जुत्तमेयं ति ॥१७३५ ॥

येनैव न वक्ता, नापि च वचनं, ततस्तेनैव न सन्ति वचनीया भावा इत्यतः शून्यमिदं जगदिति । अत्रोच्यते-यदेतद्वक्तृवचनवचनीयानां भावानामभावप्रतिपादकं वचनं तत्सत्यमलीकं वा ?। यदि सत्य, तर्ह्यस्यैव सत्यवचनस्य सद्भावादभावः सर्वभावानाम् । अथालीकमिदं वचनं, तर्ह्यप्रमाणमेतत् अतो नातः शून्यतासिद्धि । अथ यथा तथा वाऽभ्युपगतमस्माभि शून्यताप्रतिपादकं वचनम् अतोऽस्मद्वचनप्रामाण्यात् शून्यतासिद्धिरिति तव मति ।नैवं यतः "सत्यम् , अलीक वा भवेदमभ्युपगतम् ?" इत्यादि पुनस्तदेवाऽऽवर्त्तते । किं च-अभ्युपगन्ताऽभ्युपगमोऽभ्युपगमनीयं चेत्येतत्त्रयस्य सद्भावेऽभ्युपगमोऽप्येष भवतो युज्यते, न च सर्वभावानामभावे एतत्त्रय युक्तमिति ॥ १७३४ ॥ १७३५ ॥

अपि च—

सिकयासु किं न तेल्लं,सामग्गीओ तिलेसु वि किमत्थि ? ।
किं व न सव्व सिज्झइ,सामग्गीओ खपुप्फाणं॥१७३६॥

सर्वभावानामसत्त्वे सर्वोऽपि प्रतिनियतो लोकव्यवहार. स उच्छिद्यते तथाहि-भावाभावस्य सर्वत्राविशिष्टत्वात्किमिति सिकताकणसामग्रीतस्तैलं न भवति तिलाऽऽदिसामग्र्यां वा तत्किमस्ति?। किं वा खपुष्पसामग्रीत. सर्वमपि कार्यजात न सिध्यति ?। न चैवं,तस्मात्प्रतिनियतकार्यकारणभावदर्शनाभावसामग्रीतः किमप्युत्पद्यते, किं तु यथास्वभावसामग्रीत ,तथा च सति न शून्य जगदिति ॥ १७३६ ॥

किं च—

सव्वं सामग्गिमयं, नेगंतोऽयं जओऽणुरपएसो ।
अह सो वि सप्पएसो,जत्थावत्था स परमाणू॥१७३७॥

सर्वं सामग्रीमय सामग्रीजन्य वस्त्वित्ययमपि नैकान्त , यतो द्व्यणुकाऽऽदयः स्कन्धा. सप्रदेशत्वाद्द्व्यादिपरमाणुजन्यत्वाद्भवन्तु सामग्रीजन्याः परमाणुः पुनरप्रदेश इति न केनचिज्जन्यते,इति कथमसौ सामग्रीजन्यः स्यात् ?। अस्ति चासौ, कार्यलिङ्गगम्यत्वात् । उक्त च-"मूर्तैरणुरप्रदेशः, कारणमन्त्यं

भवेत्तथा नित्यः। एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥१॥" अथायमपि सप्रदेशः, तर्ह्येतत्प्रदेशोऽणुर्भविष्यति, तस्यापि सप्रदेशत्वे तत्प्रदेशोऽणुरित्येव तावद्यावद्यत्र क्वचिन्निःप्रदेशतया भवद्बुद्धेरवस्थानं भविष्यति, स एव परमाणुः, तेनापि च सामग्रीजन्यत्वस्य व्यभिचार इति ॥ १७३७ ॥

न सन्त्येव ते परमाणवः, सामग्रीजन्यत्वाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—

दीसइ सामग्गिमयं, न याणवो संति नणु विरुद्धमिदं ।
किं वाणूणमभावे, निप्फन्नमिणं खपुप्फेहिं ? ॥१७३८॥

"सामग्रीमयं सर्वं दृश्यते" इति भवतैव प्रागुक्तम् । 'अणवश्च न सन्ति' इत्यधुना ब्रूषे, ननु विरुद्धमिदं, यथा सर्वमप्यनृतं वचनमिति ब्रुवतः स्ववचनविरोधः, तथाऽत्रापीत्यर्थः । यदेव हि सामग्रीमयं किमपि दृश्यते भवता, तदेवाणुसङ्घाताऽऽत्मकम्, अतः स्ववचनेनैव प्रतिपादितत्वात्कथमणवो न सन्तीति भावः। किं च अणूनामभावे इदं सर्वमपि घटाऽऽदिकार्यजातं किं खपुष्पैर्निष्पन्नं, परमाण्वभावे तज्जनकमृत्पिण्डाऽऽदिसामग्र्यभावात् ?, इति भावः । तस्माद्यस्मात्सामग्रीमयं दृश्यत इति प्रतिपद्यते भवता, तद्वदेव परमाणव इति ॥ १७३८ ॥

यदुक्तम्—"परभागादरिसणओ, सव्वाराभागसुहुमयाओ य" इत्यादि । तत्र प्रतिविधानमाह—

देसस्साराभागो, घेप्पइ न य सो त्ति नणु विरुद्धमिणं ।
सव्वाभावेऽपि न सो, घेप्पइ किं खरविसाणस्स ? ॥१७३९॥

यदुक्तम्—दृश्यस्यापि वस्तुनः परभागस्तावन्न दृश्यते, आराद्भागस्तु गृह्यते, परं सोऽप्यन्यान्यपरभागकल्पनया प्रागुक्तयुक्तितो नास्तीति । ननु विरुद्धमिदं—गृह्यते असौ, न च समस्तीति । सर्वाभावाद्भ्रान्त्याऽसौ गृह्यत इति चेत् । तदयुक्तम् । यतः-सर्वाभावे तुल्येऽपि किमिति खरविषाणस्य संबन्धी आराद्भागो न गृह्यते ? । समता विपर्ययो वा कथं न भवतीति ॥ १७३९ ॥

किं च—

परभागादरिसणओ, नाराभागो वि किमणुमाणं ति ।
आराभागग्गहणे, किं व न परभागसंसिद्धि ? ॥१७४०॥

"परभागमात्रादर्शनादाराद्भागोऽपि नास्ति" इत्यत्र किमनुमानं भवत ?। एतदुक्तं भवति-यत्प्रत्यक्षेण सकललोकप्रसिद्धं तदग्नेरौष्ण्यमिव कथमनुमानेन बाध्यते ?। आराद्भागस्य हि आपेक्षिकत्वात् तदन्यथाऽनुपपत्तेः परभागानुमानं तावद्यापियुज्यते । यस्तु परभागादर्शनमात्रेणैव तन्निह्नवः, सोऽसंबद्ध एव, सत्स्वपि देशाऽऽदिविप्रकृष्टेषु मेरुपिशाचाऽऽदिष्वदर्शनसंभवात् । तस्मान्न परभागादर्शनमात्रेणाराद्भागोऽपह्नोतव्यः। किञ्च-आराद्भागग्रहणे परभागानुमानं युज्येतापीति भाष्यकारोऽप्याह-( आराभागेत्यादि ) आराद्भागग्रहणे कथं न परभागसंसिद्धिरिति ?, अपि तु तत्संसिद्धिरेव । तथाहि-दृश्यस्य वस्तुनः परभागोऽस्ति, तत्संबन्धिभूतस्याऽऽराद्भागस्य ग्रहणाद्, इह यत्संबन्धिभूतो भागो गृह्यते तत्समस्ति, यथा नभसः पूर्वभागे गृहीते तत्सबन्ध्यपरभागः, गृह्यते च घटाऽऽदेराराद्भागोऽतस्तत्संबन्धिभूतः परभागोऽप्यस्ति । यच्चोक्तम् "आराद्भागस्याप्यन्य आराद्भागः कल्पनीयः, तस्याप्यन्य इत्यादि तावत् यावत्सर्वाऽऽरातीयभागः ।" इति । अत्रापि परभागस्यासत्वे सर्वाऽऽरातीयभागपरिकल्पनमनुपपन्नमेव-स्यात् । तस्मादस्ति परभाग इति ॥ १७४० ॥

अपि च—

सव्वाभावे वि कओ, आरापरमज्झभागनाणत्तं ।
अह परमईए भण्णइ, सपरमइविसेसणं कत्तो ? ॥ १७४१ ॥
आरपरमज्झभागा, पडिवण्णा जइ न सुण्णया नाम ।
अप्पडिवण्णेसु वि का, विगप्पणा खरविसाणस्स ? ।१७४२।
सव्वाभावे वाऽऽराभागो, किं दीसए न परभागो ।
सव्वागहणं व न किं, किं वा न विवज्जओ होइ ? ॥१७४३॥

तिस्रोऽपि प्रतीतार्था एवेति ॥ १७४१ ॥ १७४२ ॥ १७४३ ॥
किं च यदि परभागादर्शनाद्भावानाम सत्वं प्रतिपाद्यते, नर्हि स्फटिकाऽऽदीनां तन्न स्यादिति दर्शयन्नाह—

परभागदरिसणं वा, फलिहाईणं ति ते धुवं संति ।
जइ वा ते वि न संता, परभागादरिसणमहेऊ ॥१७४४॥
सव्वादरिसणओ च्चिय, न भण्णए कीस भणइ तन्नाम ।
पुव्वब्भुवगयहाणी, पच्चक्खविरोहओ चेव ॥१७४५॥

ननु येषां स्फटिकाभ्रपटलाऽऽदीना भावानां परभागदर्शनमस्ति ते तावद् ध्रुवं सन्त्येवेति 'परभागादर्शनात्' इत्यनेन हेतुना सर्वभावानामसत्वं न सिद्ध्यति । अथ स्फटिकाऽऽदयोऽपि न सन्ति तर्हि 'परभागादर्शनात्' इत्ययमहेतुः, त्वदभिप्रेतस्य सर्वभावासत्वस्यासाधकत्वाद् । अतोऽव्यापकममुं हेतुं परित्यज्य 'सर्वादर्शनान्न सन्ति भावाः' इत्ययमेव व्यापको हेतुः कस्मान्न भण्यते ?। ( भण्णइ तन्नामत्ति ) अत्र पर उत्तरं भणति । किमित्याह-तन्नामास्तु सर्वादर्शनादित्ययं हेतुस्तर्हि भवत्वित्यर्थः, यथा तथा शून्यतैवास्माभिः साधयितव्या, सा च सर्वादर्शनादित्यनेनापि हेतुना सिध्यतु, किमनेनाऽऽग्रहेणाऽऽस्माकम् ?, इति भावः। अथ सूरिराह-(पुव्वेत्यादि) नन्विदानीं सर्वादर्शनादिति ब्रुवतो भवतः "परभागादरिसणओ" इति पूर्वाभ्युपगतस्य हानिः प्राप्नोति । किं च-ग्रामनगरसरित्समुद्रघटपटाऽऽदीनां प्रत्यक्षेणैव दर्शनात् सर्वादर्शनलक्षणस्य हेतोः प्रत्यक्षविरोधः । ततः प्रत्यक्षविरोधतश्च सर्वादर्शनादित्येतदयुक्तमिति । अत्र कश्चिदाह-ननु सपक्षस्य सर्वस्याव्यापकोऽपि विपक्षात्सर्वथा निवृत्तो हेतुरिष्यत एव, यथा "अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् ।" इति न ह्यनित्योऽर्थः सर्वोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकः विद्युद्घनकुसुमाऽऽदिभिर्व्यभिचारात् तद्वदिहापि यद्यपि सर्वेष्वपि भावेषु परभागादर्शनं नास्ति, यथाऽपि बहुषु तावदस्ति, अतस्तेषु शून्यता साधयन्नसौ सम्यग् हेतुर्भविष्यति । तदयुक्तम् । यतस्तत्र 'यदनित्यं न भवति तत्प्रयत्नानन्तरीयकमपि न भवति' यथा "आकाशम् ।" इत्येवं व्यतिरेकः सिध्यति । इह तु यत्र शून्यता नास्ति, किं तर्हि ?, वस्तुनः सत्वं, परभागादर्शनमपि तत्र नास्ति, किं तु परभागदर्शनं यथा क ?, इति भवतः सर्वासत्त्वादितो व्यतिरेकः क्वचिदपि न सिध्यति अतोऽहेतुरेवायमिति॥ १७४४ ॥ ॥ १७४५ ॥

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

नत्थि परमज्झभागा, अप्पच्चक्खत्तओ मई होज्जा ।

णणु अक्खऽऽत्थावत्ती, अप्पच्चक्खत्तहाणी वा ॥१७४६॥

अथ स्यान्मतिः—परमध्यभागौ न स्तः, अप्रत्यक्षत्वात् ,खरविषाणवत् । तदसत्त्वे च तदपेक्षया निर्दिश्यमान आराद्भागोऽपि नास्त्यतःसर्वशून्यतेत्यभिप्रायः। तदयुक्तम् , यतोऽक्षमक्षमिन्द्रियमिन्द्रियं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षोऽर्थः, न प्रत्यक्षोऽप्रत्यक्षः, तद्भावोऽप्रत्यक्षत्वं , तस्मादप्रत्यक्षत्वादित्युच्यमाने नन्वक्षाणामर्थस्य चाऽऽपत्ति सत्ता प्राप्नोति,तदापत्तौ च शून्यताऽभ्युपगमहानिः। शून्यताया वाऽप्रत्यक्षत्वलक्षणस्य हेतोर्हानिः , अक्षार्थानामभावे प्रत्यक्षाप्रत्यक्षव्यपदेशानुपपत्तेरिति भावः ॥ १७४६ ॥

अपि च-अप्रत्यक्षत्वादित्यनैकान्तिको हेतुरिति दर्शयन्नाह-

अत्थि अपच्चक्खं पि हु, जह भवओ संसयाइविन्नाणं ।

अह नत्थि सुण्णया का, कास व केणोवलद्धा वा ॥१७४७॥

नन्वप्रत्यक्षमप्यस्ति किञ्चिद्वस्तु, यथा भवतः संशयाऽऽदिविज्ञानमन्येषामप्रत्यक्षमप्यस्ति , ततो यथैतत्तथा परमध्यभागावप्रत्यक्षौ भविष्यत इत्यनैकान्तिको हेतु। अथ भवत्संशयाऽऽदिविज्ञानमपि नास्ति तर्हि का नाम शून्यता ? , कस्य वाऽसौ ?, केन वोपलब्धा ?। भवत एवेह तत्र किल संशयः,सचेन्नास्ति, तर्हि कस्यान्यस्य ग्रामनगराऽऽदिसत्त्वे विप्रतिपत्तिः ?, इति भावः ॥ १७४७ ॥ विशे०।

(४)भवति भविष्यति भूतवांश्चेति भावः।अथवा-भवनमस्मिन् स्वागता उत्पादविगमध्रौव्याऽऽख्या परिणामविशेषा इति भावः । अस्तिकाये, दश० १ अ० । वस्तुधर्मे, विशे० । क्षा० । भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । शुक्लाऽऽदिके वस्तुपर्याये , दर्श० १ तत्त्व । विशे० । आव० । अनु० । उत्त० । कर्म० । स्था० । आ० म० । नि० चू० । सम्म० । द्रव्यस्य विशिष्टावस्था भाव इति । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । भवन्ति विशिष्टहेतुभिः स्वतो वा जीवाना तत्तद्रूपतया भवनं भावः । भवन्त्येभिरुपशमाऽऽदिभिः पर्य्यायैरिति भावः ।कर्म० ४ कर्म० । प्रव० । तेन रूपेण भवन भावः । अथवा—तेन तेन रूपेण भवतीति भावः। यद्वा—भवन्ति तेभ्य , तेषु वा भवतीति भावः । यद्वा—भवन्ति तेभ्यस्तेषु वा सत्सु प्राणिनस्तेन तेन रूपेणेति भाव । औदयिकाऽऽदिके वस्तुपरिणामविशेषे, अनु० । दश०। भावशब्दो बह्वर्थः । क्वचिद् द्रव्यवाचकः। तद्यथा-"णासओ भुवि भावस्स, सद्दो हवति केवलो । "भावस्य द्रव्यस्य वस्तुन इति गम्यते । क्वचिच्छुक्लाऽऽदिष्वपि वर्त्तते । 'ज जं जे जे भावे परिणमइ ।" इत्यादि। यान् यान् शुक्लाऽऽदीन् भावानिति गम्यते, क्वचिदौदयिकाऽऽदिष्वपि वर्त्तते यथा-' ओदयिए उवसमिए ।"इत्याद्युक्त्वा। ' छव्विहो भावलोगो उ।" औदयिकाऽऽदय एव भावा लोक्यमानत्वाद्भावलोक इति, तदेवमनेकार्थवृत्ति सन्नौदयिकाऽऽदिष्वेव वर्त्तमान इह गृहीत इति , भवनं भावः ,भवन्त्यस्मिन्निति वा भावः । दश० १ अ०। ( भावाना पाड्गुण्यत्वम् ' आणुपुव्वी ' शब्दे द्वितीय भागे १५३ पृष्ठे गतम् )

( ५ ) भावद्वार व्याचिख्यासुराह—

उवसमखयमीसोदय-परिणामा दु नवऽट्ठार इगवीसा ।

तियभेय संनिवाइय, सम्म चरण पढमभावे ॥ ६४ ॥

इह किल पञ्चभावा भवन्ति । विशिष्टहेतुभिः स्वतो वा जीवाना तत्तद्रूपतया भवनानि भवन्त्येभिरुपमशमाऽऽदिभिः पर्यायैरिति वा भावाः । किंनामान पुनस्ते ?, इत्याह ( उवसमखयमीसोदयेत्यादि ) अत्र सूचकत्वात् सूत्रस्यैवं प्रयोगः । (उवसमि त्ति) औपमशमिको भावः। (खय त्ति) क्षायिको भावः।( मीस त्ति ) क्षायौपशमिको भावः । ( उदय त्ति ) औदयिको भावः। ( परिणाम त्ति ) पारिणामिको भावः । ( ६४ गाथा ) ( कर्म० ४ कर्म० ) द्विभेद औपशमिको भाव , नव-भेदः क्षायिकः, अष्टादशभेदः क्षायोपशमिकः, एकविंशतिभेद औदयिकः, त्रिभेदः पारिणामिकः । सर्वेऽपि भावपञ्चकभेदास्त्रिपञ्चाशदिति ॥ ६६ ॥

प्ररूपित सप्रभेदं भावपञ्चकम् । अधुना सान्निपातिकाऽऽख्यषष्ठभावभेदप्ररूपणायोपक्रम्यते तत्र च यद्यप्यौपशमिकाऽऽदिभावाना पञ्चानामिति द्विकाऽऽदिसंयोगभङ्गाः षड्विंशतिर्भवन्ति । तद्यथा—औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिक इति भावपञ्चकं पट्टकाऽऽदावालिख्यते, ततो दशद्विकसंयोगा अक्षसञ्चारणया लभ्यन्ते-दशैव त्रिकसंयोगाः, पञ्च चतुष्कसंयोगाः, एक पञ्चकसयोग इति, तथापि षडेव संयोगा जीवेष्वविरुद्धाः सम्भवन्ति, शेषास्तु विंशतिसंयोगभङ्गाः प्ररूपणामात्रभावित्वेनासम्भविन एव, अत सम्भविषड्भेदद्वारेण गत्याश्रिता यावन्त सान्निपातिकभावभेदाः सम्भवन्ति यावन्तश्च न सम्भवन्ति तदेतत्प्रकटयन्नाह-

चउ चउगईसु मीसग-परिणामुदएहिँ चउ सखइएहिँ ।

उवसमजुएहिँ वा चउ-केवलिपरिणामुदयखइए॥६७॥

चत्वारो भङ्गाश्चतसृषु गतिषु चिन्त्यमानासु भवन्ति । कैः कृत्वेत्याह--मिश्रकपारिणामिकौदयिकौदयिकैर्भावैर्व्यावर्णितस्वभावैः । इयमत्र भावना—गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमान क्षयोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षण एकोऽप्ययं त्रिकसंयोगरूपः सान्निपातिको भावश्चतुर्द्धा भवति। तथाहि—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि पारिणामिकं जीवत्वाऽऽदि, औदयिकी नरकगतिः, इत्येको नरकगत्याश्रितस्त्रिकसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या । इत्येव चतुर्विधां गतिं प्रतीत्य त्रिकसयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिताः। सम्प्रति चतुःसयोगेन चतुरो भेदानाह—( चउ सखइएहिँ ति ) चत्वारो भेदा भवन्ति,कैरित्याह-सह क्षायिकेण वर्तन्ते ये क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकेलक्षणा भावास्ते सक्षायिकास्तैः सक्षायिकैः। अयमर्थ -गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमान क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकक्षायिकलक्षण एकोऽप्ययं चतुष्कसयोगरूपः सान्निपातिका भावश्चतुर्द्धा भवति । तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि,पारिणामिक जीवत्वाऽऽदि, औदयिकी नरकगतिः, क्षायिकं सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रित चतुष्कसयोग । एव तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या । इत्येव चतुर्विधा गतिं प्रतीत्यैकप्रकारेण चतुष्कसयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिताः।

अधुना प्रकारान्तरेण चतुष्कसयोग एव चतुरो भेदानाह—( उवसमजुएहिँ वा चउ त्ति ) वाशब्दोऽथवाशब्दार्थे । अथवा क्षायिकभावाभाव औपशमिकेन प्रदर्शितस्वरूपेण

भावेन युतैः कलितैः पूर्वोक्तैः क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकैरेव निष्पन्नस्य सांनिपातिकभावस्य गतिचतुष्कं प्रतीत्य चत्वारश्चतुःसंख्या भेदा भवन्तीति शेषः । तद्यथा-क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वम्, औदयिकी नरकगतिः, औपशमिकं सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितः चतुष्कसंयोगः । एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गा अन्येऽपि वाच्याः । तदेवमभिहिता गतिचतुष्टयमाश्रित्यैकेन त्रिकसंयोगेन द्वाभ्यां चतुष्कसंयोगाभ्यां द्वादश विकल्पाः । संप्रति शुद्धसंयोगत्रयस्वरूपं शेषं भेदत्रयं निरूपयिषुराह-( केवलिपरिणामुदय खइय त्ति ) केवली केवलज्ञानी पारिणामिकौदयिकक्षायिके सांनिपातिकभेदे त्रिकसंयोगरूपे वर्तते । यतस्तस्य पारिणामिकं जीवत्वाऽऽदि औदयिकी मनुजगति, क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तदेवमेकस्त्रिकसंयोगः केवलिषु संभवतीति ।

खयपरिणामिसिद्धा, नराण पण जोगुवसमसेढीए ।
इय पन्नर संनिवाइय-भेया वीसं असंभविणो ॥ ६८ ॥

सिद्धा निर्दग्धसकलकर्मेन्धनाः क्षायिकपारिणामिके सांनिपातिकभेदे द्विकसंयोगरूपे वर्तन्ते । तथाहि—सिद्धानां क्षायिकं ज्ञानदर्शनाऽऽदि, पारिणामिकं जीवत्वमिति द्विकसंयोगो भवति । नराणां मनुष्याणां पञ्चकसंयोगः सांनिपातिकभेद उपशमश्रेण्यामेव प्राप्यते, यतो यः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्मनुष्य उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्यौपशमिकं चारित्रं, क्षायिकं सम्यक्त्वं, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, औदयिकी मनुजगतिः, पारिणामिकं जीवत्वं, भव्यत्वं चेति । इत्यमुना दर्शितप्रकारेण गत्यादिषु संयोगषट्कचिन्तनलक्षणेन परस्परविरोधाभावेन संभविनः पञ्चदश सांनिपातिकभेदाः षड्भावविकल्पाः प्ररूपिता इति शेषः । ( वीसं असंभविणो त्ति ) विंशतिसंख्याः संयोगाः असंभविनः प्ररूपणामात्रभावित्वेन न जीवेषु तेषां संभवोऽस्तीति । ननु षड्विंशतिर्भेदा' प्राक् प्रदर्शिताः, इह तु पञ्चदशानां विंशतेश्च मीलने पञ्चत्रिंशत्संख्या भेदाः प्राप्नुवन्तीति कथं न विरोधः ? । अत्रोच्यते-ननु विस्मरणशीलो देवानांप्रियो यतोऽनन्तरमेवोदितं गत्यादिद्वारेणैव ते चिन्त्यमानाः पञ्चदश भवन्ति, मौला द्व्यादिसंयोगास्तु षडेव तथा ह्येको द्विकसंयोगः द्वौ त्रिकसंयोगौ, द्वौ चतुष्कसंयोगौ, एकः पञ्चकसंयोग इति षण्णां विंशत्या मीलने षड्विंशतिसंख्यैवोपजायते इति नात्र कश्चन विरोध इति ॥ ६८ ॥ अभिहिताः सप्रभेदा जीवानामौपशमिकाऽऽदयो भावा ।

( ६ ) साम्प्रतमेतानेव कर्मविषये चिन्तयन्नाह-

मोहे व समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा ।
धम्माइपारिणामिय-भावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥

मोहे एव षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् यथा वृक्षे शाखा वृक्षस्य शाखा, मोहनीयस्यैव कर्मण. शम उपशमोऽनुदयावस्था भस्मच्छन्नाग्नेरिव न तु समस्तानां कर्मणां ( मीसो चउघाइसु त्ति ) मिश्र. क्षयोपसमस्तत्र क्षय उदयावस्थस्यात्यन्ताभावस्तेन सहोपशमोऽनुदयावस्था दरविध्यातवह्निवत् क्षयोपशमः, चतुर्षु चतुःसंख्येषु घातिषु ज्ञानाऽऽदिगुणघातकेषु कर्मस्विहयुत्तरोक्तमत्रापि संबन्धनीयम्, ततः ज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणमोहनीयान्तरायलक्षणानां घातिकर्मणामेव क्षयोपशमो भवति, न त्वघातिकर्मणामिति । अष्टकर्मसु ज्ञानाऽऽवरणाऽऽद्यन्तरायावसानेषु चः पुनरर्थे । अष्टसु कर्मसु पुनः शेषा औदयिकक्षायिकपारिणामिकभावा भवन्ति । तत्रोदयो विपाकानुभवनं, क्षयोऽत्यन्ताभावः, परिणामस्तेन तेन रूपेण परिणमनमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-मोहनीयकर्मणः पञ्चापि भावाः प्राप्यन्ते, मोहनीयवर्जितज्ञानाऽऽवरणदर्शनाऽऽवरणान्तरायलक्षणानां तु त्रयाणां घातिकर्मणामुदयक्षयक्षयोपशमपरिणामस्वभावाश्चत्वार एव भावा भवन्ति न पुनरुपशमः । शेषाणां वेदनीयाऽऽयुर्नामगोत्रस्वरूपाणां चतुर्णामप्यघातिकर्मणामुदयक्षयपरिणामलक्षणास्त्रय एव भावा भवन्ति, न तु क्षयोपशमोपशमाविति । प्रतिपादिता जीवेषु तदाश्रितकर्मसु च पञ्चापि भावाः। अधुना तानजीवेषु विभणिषुराह-(धम्माइ इत्यादि) इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् धर्मास्तिकायः,अधर्मास्तिकायः,आकाशास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, कालद्रव्यं चेति परिग्रहः । (कर्म० ४ कर्म०) (धर्मास्तिकायव्याख्या 'धम्मत्थिकाय' शब्दे चतुर्थभागे १७१८ पृष्ठे गता ) (अधर्मास्तिकायव्याख्या 'अधम्मत्थिकाय' शब्दे प्रथम भागे ५६७ पृष्ठे गता)(आकाशास्तिकायः 'आगासत्थिकाय' शब्दे द्वितीय भागे ६८ पृष्ठे गतः )(पुद्गलास्तिकायः'पोग्गलत्थिकाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११०६ पृष्ठे गतः ) (कालद्रव्यम्-' कालदव्व ' शब्दे तृतीय भागे ४६१ पृष्ठे निरूपितम् ) ततो धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायपुद्गलास्तिकायकालद्रव्याणि पारिणामिके तेन तेन रूपेण परिणमनस्वभावे पर्यायविशेषे,वर्तन्त इति शेषः।तथाहि-धर्माधर्माऽऽकाशास्तिकायानामनादिकालादारभ्य जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थित्युपष्टम्भावकाशदानपरिणामेन परिणतत्वादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वं, कालरूपसमयस्याप्यपरापरसमयोत्पत्तितयाऽऽवलिकाऽऽदिपरिणामपरिणतत्वादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वमेव, द्व्यणुकाऽऽदिस्कन्धानां सादिकालात्तेन तेन स्वभावेन परिणामात् सादिपारिणामिकत्वमेवानादिस्कन्धानांत्वनादिकालात्तेन तेन रूपेण परिणामादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वं चेति। आह-किं सर्वेऽप्यजीवाःपारिणामिक एव भावे वर्त्तन्ते, आहोस्वित् केचिदन्यस्मिन्नपीत्याह-(खंधा उदये वि त्ति ) स्कन्धा अनन्तपरमाण्वात्मका न तु केवलाणवः, तेषां जीवेनाग्रहणात् । औदयिकेऽप्यौदयिकभावेऽपि न केवलं पारिणामिक इत्यपिशब्दार्थः । तथाहि-शरीरादिनामोदयजनित औदारिकाऽऽदिशरीरत्वयौदारिकाऽऽदीना स्कन्धानामेवोदय इति भावः । उदय एवौदयिक इति व्युत्पत्तिपक्षे तु कर्मस्कन्धलक्षणेष्वजीवेष्वौदयिकभावो भवतीति भावः । तथाहि-क्रोधाऽऽद्युदये जीवस्य कर्मस्कन्धानामुदयस्तेषामेवौदयिकत्वमिति । नन्वेवं कर्मस्कन्धाऽऽश्रिता औपशमिकाऽऽदयोऽपि भावा अजीवाना संभवन्त्यतः तेषामपि भणनं प्राप्नोति। सत्यं तेषामविवक्षितत्वात्, अत एव कैश्चिदजीवानां पारिणामिक एव भावोऽभ्युपगम्यत इति ॥ व्याख्याता अजीवाऽऽश्रिता अपि भावाः । कर्म० ४ कर्म० । प्रव० ।

( ७ ) द्विविधभावमाह—

दुविहो य होइ भावो, लोइय लोउत्तरो समासेणं ।
एक्केको वि य दुविहो, पसत्थओ अप्पसत्थो य ।४६४।

द्विविधो भवति भावः-लौकिको लोकोत्तरश्चेति । समासतःपुन. एकैको द्विविध.-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । लौकिक' प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, एवं लोकोत्तरोऽपि । तत्रोदाहरणमुच्यते-" एगम्मि सन्निवेसे दो भाउया वाणिया, ते य परोप्परं विरिक्का । तत्थ एगो गामे गंतूण करिसणं करेइ, अन्नो वि तहेव । तत्थ एकस्स सुमहिला,अन्नस्स य दुम्महिला । या सा दुम्महिला सा गोसे उट्ठिया मुहोदगदंतपक्खालणअद्दागफलिहमाईहिं मंडती अत्थइ, कम्मारगाईणं ण किञ्चि वि जोगक्खेमं वहति, कलेउयं च करेइ । अन्नस्स य जा सा सुमहिला कम्मारमाईण जोगक्खेमं वहइ. अप्पणो य सकज्जं मंडणादि करेइ । तत्थ जा सा अप्पणो चेव मंडणे लग्गा अत्थइ, तीए अचिरेणं कालेणं घरं परिक्खीणं, इयरीए घरं धणधन्नेणं समिद्धं जाय । एवं च जो साहू वन्नहेउ रूवहेउ वा आहारं आहारेइ, ण वि आयरिए णवि वालवुड्ढगिलाणदुब्बले पडियग्गति, अप्पणो य गहाय पज्जत्तं णियत्तति, एवं सो अप्पपोसओ, जहा सा चुक्का हिरण्णाईणं, एवं सो वि निज्जरालाभो तस्स चुक्किहिति; पसत्थो इमो—जो णो वन्नहेउं रूवहेउं वा आहारं आहारेइ, वालादीणं दाउं पच्छा आहारेइ, सो णाणदंसणचरित्ताणं आभागी भवति । एवं पसत्थेण भावेण आहारेयव्वो सो पिंडो । "

(८) इदानीमेनमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह-

सज्झिलगा दो वणिया, गामं गंतूण करिसणाऽऽरंभो ।
एगस्स देहमंडण-वाउसिआ मारिया अलसा ॥ ४६५ ॥
मुहधोवणं दंतवण, अद्दागाईण कल्ल आवास ।
पुव्वण्हकरणमप्पणा, उक्कोसयरं च मज्झण्हे ॥ ४६६ ॥
तणकट्ठहारगाणं, न देइ न य दासपेसवग्गस्स ।
न य पेसणे निउंजइ,पलाणि हिय हाणि गेहस्स ॥४६७॥
बिइयस्स पेसवग्गं, वावारे अत्तपेसणे कम्मे ।
काले देहाऽऽहारं, सयं च उवजीवई इड्ढी ॥ ४६८ ॥

सुगमाः, नवर ' वाउसिआ ' 'विहूसणसीला' ॥ ४६५ ॥ मुखधावन करोति, तथा ( कल्ल त्ति ) कल्यपूपकम् आवश्यकं पूर्वाण्हे करोत्यात्मना चोत्कृष्टतरं च घृतपूर्णाऽऽदि मध्याह्ने भक्षयत्येकाकिनी ॥ ४६६ ॥ तृणकाष्ठहारकाणा न किञ्चिद्ददाति दासवर्गस्य तथा प्रेष्यो यः कश्चित्प्रेष्यते तद्वर्गस्य च न किञ्चिद्ददाति , न च प्रेषणे कार्ये नियुङ्क्ते कर्मकरान्, ततश्च भोजनाऽऽदिना विना (पलाणा) नष्टाः, हृतं च यत्किञ्चिद् गृहे रिक्थमासित , एवं हानिर्जाता गेहस्य, तत्राऽयं लौकिकोऽप्रशस्तो भावः ॥ ४६७ ॥ इदानीं लौकिकप्रशस्तभावप्रतिपादनायाऽऽह-द्वितीयस्य या भार्या सा प्रेष्यवर्गं व्यापारयित्वा प्रेषणाकार्यें कर्मणि च विविधे काले च तेषामाहारं ददाति,स्वयं च काले आहारमुपजीवति । अयं च लौकिकोऽप्रशस्तो भाव उक्त ॥ ४६८ ॥

इदानीं लोकोत्तराप्रशस्तभावप्रतिपादनायाऽऽह—

वण्णबलरूवहेउ, आहारे जो उ लाभि लभंते ।
अइरेगं ण उ गिण्हइ, पाउग्गगिलाणमादीणं ॥ ४६६ ॥

वर्णबलरूपहेतुमाहारयति यश्च लाभे क्षीराऽऽदौ लभ्यमाने सति प्रायोग्य ग्लानाऽऽदीनामतिरिक्तं न गृह्णाति ॥ ४६६ ॥

जह सा हिरण्णमाइसु, परिहीणा होइ दुक्खआभागी ।
एवं तिगपरिहीणो, साहू दुक्खस्स आभागी ॥ ५०० ॥

यथा सा गृहस्थाहिरण्याऽऽदिपरिहीनासञ्जाता,दुःखभागिनि च जाता, एवं साधुरपि त्रिकेण ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणेन हीनो दुःखस्य भागी भवति । उक्तो लोकोत्तरोऽप्रशस्तः ।

इदानीं लोकोत्तरप्रशस्तभावप्रदर्शनायाऽऽह—

आयरियगिलाणट्ठा, गिण्हइ वा महंति एव जो साहू ।
णो वण्णरूवहेउं, आहारे एस उ पसत्थो ॥ ५०१ ॥

आचार्योऽऽदीनामर्थाय गृह्णाति न ममेदं योग्यं कित्वाचार्योऽऽदे.,एवं यः साधुर्गृह्णाति, शेषं सुगमम् । उक्तो लोकोत्तरः प्रशस्तो भावः । ओघ० । स्था० । सूत्र० । अनु० । विशे० । आ० म० । ( भावप्ररूपणाय दृष्टान्ताऽऽदिसूत्रद्वयम् ' पुरिसजाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०२४ पृष्ठे गतम् ) ( गुणस्थानकेषु भावाः ' गुणट्ठाण ' शब्दे तृतीयभागे ६२३ पृष्ठे गता. ) ( जीवस्थानकेषु भावाः ' जीवट्ठाण ' शब्दे चतुर्थभागे १५५२ पृष्ठे गता. ) भवनं भावः, भवन्त्यस्मिन्निति वा भावः । कर्मविपाके, दश० १ अ० । परमार्थे , सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " सुद्धबुद्धि भावओ गणंतेणं । " भावतः परमार्थतः । पञ्चा० ८ विव० । स्वरूपे, आ० म० १ अ० । नं० । आव० । स्वभावे, अनु० । सत्तायाम् , विशे० । सूत्र० । स० । नं० । पञ्चा० । अने० । आ० म० । सम्म० । विधौ, " भावाभावमणंता , पन्नत्ता एत्थमंगंसि । " भावा विधयोऽभावा निषेधाः । भ० ४१ श० १६६ उ० । विज्ञाने, सम्म० ३ काण्ड । "णाणं ति वा संवेयणं ति वा अहिगमो त्ति वा वेयणि त्ति वा भावो त्ति वा एगट्ठा । " आ० चू० १ अ० । ज्ञानाऽऽत्मके निक्षेपभेदे च । उपयोगो भावनिक्षेप इति वचनात् । पिं० ।

" भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।
सर्वज्ञैरिन्द्राऽऽदिव-दिहेन्दनाऽऽदिक्रियाऽनुभावात् ॥ १ ॥ " इति ।

अत्रायमर्थः-भवन विवक्षितरूपेण परिणामनं भावः । अथवा-भवति विवक्षितरूपेण संपद्यत इति भावः । कः पुनरयम् ?,इत्याह-वक्तुर्विवक्षिता इन्दनज्वलनजीवनाऽऽदिका या क्रिया तस्या अनुभूतिरनुभवनं तया युक्तो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्त',सर्वज्ञै. समाख्यातः। क इवेत्याह-इन्द्राऽऽदिवत्स्वर्गाधिपाऽऽदिवत् । आदिशब्दात् ज्वलनजीवाऽऽदिपरिग्रहः। सोऽपि कथ भाव इत्याह-इन्दनाऽऽदिक्रियाऽनुभवादिति,आदिशब्देन ज्वलनजीवनाऽऽदिक्रियास्वीकारः। विवक्षितेन्दनाऽऽदिक्रियाऽन्वितो लोके प्रसिद्धः पारमार्थिकपदार्थो भाव उच्यते । विशे० । अनु० । आ० म० । ( द्रव्याऽऽवश्यकं भावस्य ' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे ३४३ पृष्ठे गतम् )

भावविषयसूची—

( १ ) भावनिर्वचनम् ।
( २ ) भावानां सिद्धिप्रतिपादने सर्वशून्यतावादिमतम् ।
( ३ ) तत्प्रतिविधानम् ।
( ४ ) प्रकारान्तरेण भावव्याख्यानम् ।
( ५ ) भावद्वारम् ।
( ६ ) औपशमिकभावानामेव कर्मविषये चिन्तनम् ।
( ७ ) लौकिकलोकोत्तरयोरपि प्रशस्ताप्रशस्तवर्णनम् ।
( ८ ) तत्र वणिग्द्वयदृष्टान्तः ।

भावइया—देशी । धर्मपत्न्याम् , दे० ना० ६ वर्ग १०४ गाथा ।

भावकप्प—भावकल्प—पुं० । "दंसणणाणचरित्ते,तवपवयणपं-

बसमितिहिं गुत्तो । हतरागदोसणिम्मम-समदमणियमट्ठितो णिच्चं ॥१॥" इत्युक्तलक्षणे कल्पभेदे. पं० भा० १ पं० चू० ।

....................,भावे कप्पं अतो वोच्छं ।

दंसणणाणचरित्ते, तवपवयणपंचसमितितिहिं गुत्तो ।
हतरागदोसनिम्मम-समदमणियमट्ठिओ निच्चं ॥
अणगूहियबलविरिओ, परकमति जो जहुत्त साउत्तो ।
अचट्ठकरणजुत्तो, गुणभावणभावणिकंपो ॥

एयाओ दारगाहाओ ।

रिद्धीहिं कुलिंगीणं, ण य देववतीहिं जस्स तु भावो ।
दंसणविगले जायति, दंसणमाराहियं तेण ॥
णाणं दुवालसंगं, तं चेव य पवयणं तु संघो वा ।
गहणम्मि उज्जतो पा-रतो व्व तह वच्छलो यावि ॥
चरणे णिज्जुत्तो मू-लगुणेसुं सउत्तरगुणेसुं ।
ण य अतियारं कुणती, पच्छित्तेणं व सोहिकतं ॥
तववारसंगजुत्तो, समितीसहितो तिगुत्तिगुत्तो य ।
रागद्दोसनिहंता, णिममो णियए सरीरे वि ॥
कोहं जिणति खमाए, मद्दवमादीहिं सेसकलुसो वि ।
दमणियमा दो वेकं इंदिय णोइंदिया होंति ॥
णाणाऽऽदिएहिं अणगू-हितो तु कम्मस्स निजरट्ठाए ।
उज्जमति परक्कमती, घडइ चि य होति एगट्ठा ॥
जह सुत्ते णिद्दिट्ठो, तह कुव्वति जो तु अप्पसाएंतो ।
सो तु जहुत्ताऽऽउत्तो, एवं मतिमं वियाणेजा ॥ (दारं)
अचट्ठा मोक्खट्ठा, ण तु इहलोगाऽऽदिहेतुगं कुणति ।
करणं जोगतिएणं, जयणाजुत्तो त्ति अववादे ॥
गुणमूलउत्तरे जा, भावणा पणुवीस णिच्चयादी य ।
मेत्तीपमोदकारुण-मज्झत्थादीहिं निकंपो ॥ (दारं)
एसो तु भावकप्पो, अहवा णाणादितो पुणो तिविहो ।
दंसणपढमं भण्णति, णाणचरित्ता तदायत्ता ॥ पं० भा० १ कल्प । नि० चू० ।

भावकम्म-भावकर्मन्-न० । अबाधामुल्लङ्घ्य स्वोदयेनोदीरणाकरणेन चोदीर्णाः पुद्गलाः प्रदेशविपाकेभ्यो भवन्तेत्र पुद्गलजीवेष्वनुभावं ददतो भावकर्मशब्देनोच्यन्ते, इत्युक्तलक्षणे कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

भावकाय-भावकाय-पुं० । भावानां कायो भावकायः । कायभेदे, आव० ।

भावकायप्रतिपादनायाऽऽह—

दुग तिग चउरो पंच व, भावा बहुआ व जत्थ विज्जंति ।
सो होइ भावकाओ, जीवमजीवे विभासाओ ॥१४४६॥

द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च वा भावा औदयिकाऽऽदयः प्रभूता वाऽन्येऽपि यत्र सचेतनाचेतने वस्तुनि विद्यन्ते स भवति भावकायः । भावानां कायो भावकाय इति । ( जीवमजीवे विभासाओ ) जीवाजीवयोर्विभाषा खल्वागमानुसारेण कार्येति गाथाऽर्थः ॥ १४४६ ॥ आव० ५ अ० ।

भावकाल-भावकाल-पुं० । भावानामौदयिकाऽऽदीनां स्थितिःकालो भावकालः । कालभेदे, विशे० ।

अथ भावकालमाह—

साई सपज्जवसिओ, चउभंगविभागभावणा एत्थं ।
ओदइयाईयाणं, तं जाणसु भावकालं तु ॥ २०७५ ॥

इहौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकभावानां या स्थितिरसौ भावकालः । अत एवाऽऽह—सादिः सपर्यवसित इत्यादीनां वक्ष्यमाणस्वरूपाणां चतुर्णां भङ्गकानां याऽसौ विभागभावना क्व भावे को भङ्गः संभवति, को वा न संभवति ?, इत्येवं विषयविभागेन स्थापना । केषामित्याह-औदयिकाऽऽदिभावानाम् । तं चतुर्भङ्गविभागभावनाविषयं पुनर्भावकालं जानीहीति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥२०७५॥

अथ के ते औदयिकाऽऽदिभावानां प्रत्येकं चत्वारो भङ्गाः । का च तेषां विभागभावना ?, इत्याह भाष्यकारः—

साई संतोऽणंतो, एवमणाई वि एस चउभंगो ।
ओदइयाईयाणं , होइ जहाजोगमाउज्जो ॥ २०७६ ॥

सादिर्भावः सान्तः, तथा सादिरनन्तः । एवमनादिरपि सान्तोऽनन्तश्च वाच्य इति । एवमेते चत्वारो भङ्गा औदयिकाऽऽदिभावानां यथायोगं यथासंभवमायोजनीयाः । यो यत्र भावो नरकाऽऽदिगतिमाश्रित्य संभवति स तत्र वाच्यः, शेषस्तु निषेधनीय इति ॥ २०७६ ॥

अत एवैतेषां भङ्गकानामौदयिकाऽऽदिभावेषु विभागभावना विषयविभागस्थापनां चिकीर्षुराह—

जो नारगाइभावो, तह मिच्छत्ताऽऽदओ वि भव्वाणं ।
ते चेवाभव्वाणं, ओदइओ वितियवज्जोऽयं ॥२०७७॥

औदयिको भावः सादिरपर्यवसितो न क्वचित्संभवत्यत एव द्वितीयभङ्गकवर्जोऽयं द्रष्टव्यः । तत्र यो नारकाऽऽदिभावो नारकातिर्यङ्नरामरनतिलक्षणो य औदयिको भाव इत्यर्थः, स सादिः सपर्यवसान इति द्रष्टव्यम् । नारकाऽऽदीनां प्रत्येकं सर्वेषामपि सादित्वात्सान्तत्वाच्चेति सादिरपर्यवसान इति द्वितीयो भङ्गः शून्यः । तथा मिथ्यात्वाऽऽदयोऽपि भव्यानां तृतीयः, इदमुक्तं भवति—मिथ्यात्वं, कषाया. वेदत्रयम् अज्ञानासंयतत्वासिद्धत्वानि, लेश्याश्चेत्येवं यः सप्तदशविध औदयिको भावः स भव्यानाश्रित्य अनादिसपर्यवसानः अभव्यानाश्रित्य पुनः स एवानादिरपर्यवसानश्चेति ॥ २०७७ ॥

औपशमिकाऽऽदीनाश्रित्याऽऽह—

सम्मत्तचरित्ताइं, साई संतो य ओवसमिओऽयं ।
दाणाइलद्धिपणगं,चरणं पि य खाइओ भावो ॥२०७८॥
सम्मत्तनाणदंसण-सिद्धत्ताइं तु साईओऽणंतो ।
नाणं केवलवज्जं, साई संतो खओवसमो ॥ २०७९ ॥
मइअन्नाणाईया, भव्वाभव्वाण तइयचरमोऽयं ।
सव्वो पोग्गलधम्मो, पढमो परिणामिओ होइ॥२०८०॥
भव्वत्तं पुण तइओ, जीवाऽभव्वाइँ चरमभंगो उ ।
भावाणमयं कालो, भावावत्थाणओऽणण्णो ॥२०८१॥

सम्यक्त्वचारित्रे समाश्रित्य सादिः सपर्यवसान इति प्रथमभङ्ग एवौपशमिको भावः संभवति,प्रथमसम्यक्त्वलाभकाले उपशमश्रेण्यां चौपशमिकसम्यक्त्वक्षायोपशमश्रेण्यां तु चारित्रस्यौपशमिकस्य लाभात् तयोश्चावश्यं सादिसपर्यवसितत्वात् । ततः शेषास्त्रयो भङ्गा इह शून्या एव । न केवलमौपशमिकतया,

[illegible] भावा [illegible] इति [illegible] ... "सिद्धे णो चरित्ती णो अचरित्ती" इति [illegible] । [illegible] भावः [illegible] इति [illegible] । [illegible] इति [illegible] ॥ २०७८ ॥ २०७९ ॥ २०८० ॥ २०८१ ॥ विशे० । आ० म० ।

भावकुसल-भावकुशल-पुं० । भावकुशलमति, दर्श० । भावकुशलो यथा सभवशया मनोभावमुपलभ्य तथा प्रवर्त्तते यथा अभिग्रहधर्मश्रद्धावतो भावबुद्धिरुपजायते । दर्श० ३ तत्त्व । तीर्थकरे च । नि० चू० १ उ० ।

भावकेउ-भावकेतु-पुं० । अष्टाशीतितमे महाग्रहे, "दो भावकेऊ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

भावग-भावक-पुं० । भाव स्वार्थे कन् । मानसविकारे, पदार्थचिन्तके च, उत्पादके, त्रि० । वाच० । पाटलाऽऽदिके गन्धद्रव्ये, आ० चू० ३ अ० ।

भावगइ-भावगति-स्त्री० । भवन्ति भविष्यन्ति भूवन्तश्चेति भावाः। अथवा-भवन्त्येतेषु इत्यागता उत्पादविगमध्रौव्याऽऽख्याः परिणामविशेषा इति भावा अस्तिकायास्तेषां गतिस्तथापरिणामप्रवृत्तिर्भावगतिः । अस्तिकायानां गतिपरिणामप्रवृत्तौ , दश० १ अ० ।

भावगुण-भावगुण-पुं० । भावा औदयिकाऽऽदयस्तेषां गुणो भावगुणः । गुणभेदे, स च द्विविधो जीवाजीवविषयभेदात् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । ( ते च 'गुण' शब्दे तृतीयभागे ९०६ पृष्ठे दर्शिताः )

भावग्ग-भावाग्र-न० । भाव एवाग्रं भावाग्रम् । अग्रभेदे, स त्रिविधः-प्रधानाग्रं, प्रभूताग्रं, उपकाराग्रं च । ( तानि च 'अग्ग' शब्दे प्रथमभागे १५४ पृष्ठे गतानि ) आचा०, नि० चू० १ उ० । आचा० । भावगुणतया भावाग्रम् । अग्रभेदे, नि० चू० १ उ० ।

भावचूला-भावचूडा-स्त्री० । चूडाभेदे, आचाराङ्गचूलिकाश्च, नि०चू० भावचूडा क्षायोपशमिकभावप्रचूलिकाः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ० । नि० चू० ।

भावच्छन्न-भावच्छन्न-पुं० । भावच्छन्नरूपे छन्नभेदे । वृ० १ उ० । ( 'छन्न' शब्दे चतुर्थभागे १०६१ पृष्ठे दर्शिता गता )

भावजुत्त-भावयुक्त-पुं० । [illegible] पञ्चा० ८ विव० । प्रति० ।

इत्थं पौदोऽधिकन्याना-न्यदारम्भः कृताशिषः ।
सत्यद भावद्वयाऽऽदौ-भावपदः प्रकीर्तितः ॥ ९ ॥

( [illegible] ) इत्त च [illegible] च, [illegible] प्रकर्ष आरम्भ०, [illegible] । कृताभिषः [illegible] , प्राक्ट प्रतिविम्बं, भावदृष्ट्या [illegible] भावपदो भावपूजाकरः प्रकीर्तितः । तथाह- "[illegible] भावपदः ।" इति । न चैवं द्रव्यस्तवव्यपदेशानुपपत्तिः , द्रव्यभावयोरप्यन्यतरस्यावयवेऽपि द्रव्यप्राधान्येन तदुपपत्तदर्शितिरिति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥ द्वा० ५ द्वा० ।

भावजोगि ( ण् )-भावयोगिन्-पुं० । सात्त्विकगुणशालिनि , "विसुद्धं भावयोगिसु ।" द्वा० २१ द्वा० ।

भावण-भावन-न० । भू-णिच्-ल्युट् । फलभेदे, भावे ल्युट् । चिन्तायाम्, अधिवासने, ध्याने, पर्यालोचनायाम्, वाच० । अभ्यासे, द्वा० २४ द्वा० । वैद्यकोक्ते औषधसंस्कारभेदे, स्त्री० । वाच० ।

भावणज्झयण-भावनाऽध्ययन-न० । अष्टदशानां सप्तमेऽध्ययने , स्था० १० ठा० । पञ्चमहाव्रतभावनाना प्रतिपादके आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चदशेऽध्ययने, आचा० २ श्रु० ३ चू० । आव० ।

भावणय-भावनय-पुं० । नयभेदे , उत्त० १ अ० । भावनय आह-" सम्यग्विवेच्यमानोऽयं, भाव एवावशिष्यते । पूर्वापरविविक्तस्य , यतस्तस्यैव दर्शनम् ॥ १ ॥ " तथाहि-भावः पर्याय०, तदात्मकमेव च द्रव्यं , तदतिरिक्तमूर्तिकं हि तद् उपलभ्यं वा ? । यदि दृश्य,नास्ति तद्व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, खरविषाणवत्, न हि चलितमीलितपटीकृतत्रुटितसंघटिताऽऽदिविचित्रभवनबहिर्भूतमिह तन्त्वाऽऽदिद्रव्यमुपलभ्यमस्ति अदृश्यमपि नास्ति, तत्साधकप्रमाणाभावात्, प्रभूतवत्, ततः प्रतिसमयमुदयव्ययाऽऽत्मकं केवलं भवनमेव भावाऽऽख्यमस्ति । उत्त० १ अ० ।

भावनय प्राऽऽह—

भावत्थंतरभूअं, किं दव्वं नाम भाव एवायं ।
भवन पइक्खणं चिय, भावावत्ती विवत्ती य ॥६६॥

आविभ्यः पर्यायेभ्योऽर्थान्तरभूतं भिन्नं किं नाम द्रव्यम् ?, येनोच्यते-'दव्वपरिणामभिन्नमित्यादि'?। वस्तु यथा यथाऽयं यदिदं दृश्यते भिन्नुधीऽपि वस्तुनिकुरम्बमिति। यदि हि किञ्चिदनादिकालीनमवस्थितं सद् वस्तु पर्यन्तान्तराऽऽरम्भे स्यमियेत, तदा स्याद्व्या स्यादियं कल्पना, यावता प्रतिक्षणं भवनमेवाऽनुभूयते। किमुक्तं भवति ?, इत्याह-भावस्यैकस्य पर्यायस्याऽऽपत्तिरुत्पत्तिः, अपरस्य तु विपत्तिर्विनाशः। "न निव्वाणगया भग्गा, पुञ्जो नत्थि अणागए। निब्बुया नेव चिट्ठंति, आरग्गे सरसवोवमा"॥१॥ इति वचनात् पूर्वस्य क्षणस्य निवृत्तिः, अपरस्य तूत्पत्तिरित्यर्थः॥ इति गाथाऽर्थः॥ ६९॥

आह—ननु ये भावस्याऽऽपत्ति-विपत्ती प्रोच्यते,ते तावद्धेत्वन्तरमपेक्ष्य भवतः, यच्च हेत्वन्तरमपेक्षते तदेवाऽवस्थितं कारणं, तदेव द्रव्यम्, अतो 'भावत्थंतरभूअं किं दव्वम्' इत्यादिनाऽयुक्तमेव द्रव्यमपाक्रियते, इत्याशङ्क्याऽऽह—

न य भावो भावंतर-मवेक्खए किंतु हेउनिरवेक्खं।
उप्पज्जइ तयणंतर-मवेइ हमहेउअं चेव॥ ७०॥

न च भावो घटाऽऽदिरुत्पद्यमानो भावान्तरं मृत्पिण्डाऽऽदिकमपेक्षते, किन्तु निरपेक्ष एवोत्पद्यते। अपेक्षा हि विद्यमानस्यैव भवति। न च मृत्पिण्डाऽऽदिकारणकाले घटाऽऽदि कार्यमस्ति, अविद्यमानस्य चाऽपेक्षायां खरविषाणस्याऽपि तथाभावप्रसङ्गात्। यदि चोत्पत्तिक्षणात् प्रागपि घटाऽऽदिरस्ति, तर्हि किं मृत्पिण्डाऽद्यपेक्षया ?, तस्य स्वत एव विद्यमानत्वात्। अथोत्पन्नः सन् घटाऽऽदिः पश्चाद् मृत्पिण्डाऽऽदिकमपेक्षते। हन्त ! तदिदं मुण्डितशिरसो दिनशुद्धिपर्यालोचनम्, यदि हि स्वत एव कथमपि निष्पन्नो घटाऽऽदिः,किं तस्य पश्चाद् मृत्पिण्डाऽऽद्यपेक्षया ?। अथोत्पद्यमानताऽवस्थायामसौ तमपेक्षते; केयं नामोत्पद्यमानता ?, न तावदनिष्पन्नावयवता, सर्वथाऽनिष्पन्नस्य खरविषाणस्येवाऽपेक्षाऽयोगात्। नापि निष्पन्नावयवता,स्वयं निष्पन्नस्य परापेक्षावैयर्थ्यात्। नाप्यर्द्धनिष्पन्नाऽवयवता,वस्तुनः सांशताप्रसङ्गात्,तत्र चाऽवयविकल्पनाऽऽद्यनेकदोषोपनिपातसम्भवात्। किञ्च—सांशतायामपि किमनिष्पन्नोंऽशः कारणमपेक्षते,निष्पन्नो वा, उभयं वा ?,न तावदाद्यपक्षद्वयम्, निष्पन्नाऽनिष्पन्नयोरपेक्षायाः प्रतिषिद्धत्वात्।उभयपक्षोऽपि न श्रेयान्,उभयपक्षोक्तदोषप्रसङ्गात्। तस्माद् मृत्पिण्डाऽऽद्युत्तरकालं भवनमेव घटाऽऽदेस्तदपेक्षा, मृत्पिण्डाऽऽदेरपि कार्यत्वाभिमताद् घटाऽऽदेः प्राग्भावित्वमेव कारणत्वम्,न पुनर्घटाऽऽदिजन्मनि व्याप्रियमाणत्वम्। व्यापारो हि तद्वतो भिन्नः, अभिन्नो वा ?। यदि भिन्नः, तर्हि तस्य निर्व्यापारताप्रसङ्गः। अथाऽभिन्नः, तर्हि व्यापाराभावः। कारणव्यापारजन्यं जन्माऽपि जन्मवतो भिन्नम्, अभिन्नं वा ?। भेदे जन्मवतोऽजन्मप्रसङ्गः। अभेदे तु जन्माभावः। तस्मात् पूर्वोत्तरकालभावित्वमात्रेणैवाऽयं कार्यकारणभावो वस्तूनां लोके प्रसिद्धः, न जन्यजनकभावेन। यदपि मृत्पिण्डघटाऽऽदीनां पूर्वोत्तरकालभावित्वम्, तदप्यनादिकालात् तथाप्रवृत्तक्षणपरम्पराऽऽरूढम्, न पुनः कस्यचित् केनचिद् निर्वर्तितम्, इति न कस्यचित् भावस्य कस्यापि सम्बन्धिन्यपेक्षा। ततो हेत्वन्तरनिरपेक्ष एव सर्वो भावः समुत्पद्यत इति स्थितम्। विनश्यति तर्हि कथम् ?, इत्याह—'तयणंतरमित्यादि।' तदनन्तरमुत्पत्तिसमनन्तरमेवाऽपैति विनश्यति भावः। तदपि च विनाशनमहेतुकमेव। मुद्गरोपनिपाताऽऽदिसव्यपेक्षा एव घटाऽऽदयो विनाशमाविशन्तो दृश्यन्ते, न निर्हेतुकाः, इति चेत्। नैवम्, विनाशहेतोरयोगात्। तथाहि- मुद्गराऽऽदिना विनाशकाले किं घटाऽऽदिरेव क्रियते, आहोस्वित् कपालाऽऽदयः, उत तुच्छरूपोऽभावः ?, इति त्रयी गतिः। तत्र न तावद् घटाऽऽदिः, तस्य स्वहेतुभूतकुलालाऽऽदिसामग्रीत एवोत्पत्तेः। नापि कपालाऽऽदयः, तत्करणे घटाऽऽदेरतदवस्थत्वप्रसङ्गात्, न ह्यन्यस्य करणेऽन्यस्य निवृत्तिर्युक्तिमती, एकनिवृत्तौ शेषभुवनत्रयस्याऽपि निवृत्तिप्रसङ्गात्,नापि तुच्छरूपोऽभावः खरशृङ्गस्येव नीरूपस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्, करणे वा घटाऽऽदेस्तदवस्थताप्रसङ्गात् अन्यकरणेऽन्यनिवृत्त्यसम्भवात्। घटाऽऽदिसम्बन्धेनाऽभावो विहितस्तेन घटाऽऽदेर्निवृत्तिः, इति चेत्। न, सम्बन्धस्यैवाऽनुपपत्तेः, तथाहि-किं पूर्वं घटः पश्चादभावः, पश्चाद् वा घटः पूर्वमभावः, समकालं वा घटाभावौ ?, इति विकल्पत्रयम्। तत्राऽऽद्यविकल्पद्वयपक्षे सम्बन्धानुपपत्तिरेव, सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वेन भिन्नकालयोस्तदसम्भवात्, अन्यथा भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्यादीनामतीतैः सगराऽऽदिभिरपि सम्बन्धप्राप्तेः। तृतीयविकल्पपक्षेऽपि घटाऽभावयोर्यदि क्षणमात्रमपि सहावस्थितिरभ्युपगम्यते, तर्ह्यासंसारमप्यसौ स्यात्, विशेषाभावात्, तथा च सति स एव घटाऽऽदेस्तादवस्थ्यप्रसङ्गः। घटाऽऽद्युपमर्देनाऽभावो जायते, अतो घटाऽऽदिनिवृत्तिः, इति चेत्। ननु कोऽयमुपमर्दो नाम ?।न तावद् घटाऽऽदिः,तस्य स्वहेतुत एवोत्पत्तेः। नापि कपालाऽऽदयः, तद्भावे घटाऽऽदेस्तादवस्थ्यप्रसङ्गात्। नापि तुच्छरूपोऽभावः, एवं हि सति घटाऽऽद्यभावेन घटाऽऽद्यभावो जायत इत्युक्तं स्यात्, न चैतदुच्यमानं हास्यं न जनयति, आत्मनैवाऽऽत्मभवनानुपपत्तेः। तस्माद् मुद्गराऽऽदिसहकारिकारणवैसदृश्याद् विसदृशः कपालाऽऽदिक्षण उत्पद्यते घटाऽऽदिस्तु क्षणिकत्वेन निर्हेतुकःस्वरसत एव निवर्तते, इत्येतावन्मात्रमेव शोभनम्। अतो हेतुव्यापारनिरपेक्षा एव समुत्पन्ना भावाः क्षणिकत्वेन स्वरसत एव विनश्यन्ति, न हेतुव्यापारात्, इति स्थितम्। तस्माज्जन्मविनाशयोर्न किञ्चित् केनचिदपेक्ष्यते, अपेक्षणीयाभावाच्च न किञ्चित् कस्यचित् कारणम्। तथा च सति न किञ्चित् द्रव्यम्, किन्तु पूर्वापरीभूताऽपरापरक्षणरूपाः पर्याया एव सन्त इति। अत्र बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताभयात्, सुगतशास्त्रेषु विस्तरेणोक्तत्वाच्च इति गाथाऽर्थः॥ ७०॥

यदपि द्रव्यवादिना 'पिंडो कारणमिट्ठं, पयं च परिणामओ' इत्याद्युक्तम्, तत्राऽस्माभिरप्येतद् वक्तुं शक्यत एवेति किम् ?, इत्याह—

पिंडो कज्जं पइसम-यभावाउ जह दहिं तहा सव्वं।
कज्जाभावाउ नत्थि, कारण खरविसाणं व॥ ७१॥

मृदादिपिण्डः कार्यमेव, न तु कारणम्। कुतः ?, इत्याह—प्रतिसमयमपरापरक्षणरूपेण भावात्, दध्यादिवदिति। प्रतिसमयमपरापरक्षणभवनमसिद्धमिति चेत्। न, वस्तूना पुराणाऽऽदिभावाऽन्यथाऽनुपपत्तेः। उक्तं च—

"प्रतिसमयं यदि न भवे-दपरापररूपतेह वस्तूनाम्।
न स्यात् पुराणभावो, न युवत्वं नापि वृद्धत्वम्॥ १॥
जन्मानन्तरसमये, न स्याद् यद्यपररूपताऽर्थानाम्।
तर्हि विशेषाभावाद्, न शेषकालेऽपि सा युक्ता॥ २॥"

किं पिण्ड एव कार्यम् ?। न, इत्याह-तथा सर्वं, यथा प्रतिसमयं भावात् पिण्डः कार्यं तथा सर्वमपि घटपटाऽऽ-

दिकं वस्तुनिकुरम्बम्, तत एव हेतोः कार्यत्वमपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । अनभिमतप्रतिषेधमाह—' कज्जाभावाउ ' इत्यादि पराभ्युपगतं कारणं कारणाऽऽख्यं वस्तु नास्ति । कुतः ?, इत्याह—कार्याभावात् तत्र कार्यत्वाऽभ्युपगमाभावात् प्रतिसमयभवनानभ्युपगमादित्यर्थः । इह यत् प्रतिसमयमपरापररूपेण न भवति तद् वस्तु नास्ति, यथा खरविषाणम्, प्रतिसमयमभवन्तश्चाऽभ्युपगम्यन्ते परैर्मृत्पिण्डाऽदयः, तस्माद् न सन्तीति भावः । इति गाथाऽर्थः ॥ ७१ ॥ विशे० ।

भावणा—भावना—स्त्री० । परिकर्मणि, सू० । परिकर्मेति वा भावनेति वा एकार्थमिति । सू० १ श्रु० २ प्रक० । विशे० वासनायाम्, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । भावना वासनेत्यनर्थान्तरमिति । आव० ४ अ० । विशे० । आचा० । अध्यवसाये, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । आ० म० । पो० । (१) भाव्यतेऽनयेति भावना । परिच्छेदे, आव० ४ अ० । भाव्यत इति भावना । अभ्यासक्रियायाम्, आव० ४ अ० । सम्यक्क्रियाऽभ्यासे, उत्त० १४ अ० । द्वा० । पुनः पुनश्चिन्तने, संथा० १ अधि० १ प्रस्ता० । प० व० । अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य पुनः पुनस्तदनुष्ठानरूपा भावनेति । अनु० । आलोचनायाम्, प्रश्न० ५ संव० द्वार । अनुप्रेक्षायाम्, ध० ३ अधि० । आत्मगुणभेदे, सम्म० । भावनासंज्ञः पुनरात्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च दृष्टानुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानकार्योन्नीयमानसद्भावः । सम्म० ३ काण्ड । अन्तःकरणवृत्तिभेदे च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । अध्यात्मानुवर्तने, द्वा० । "अभ्यासो वृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगतः । निवृत्तिरशुभाभ्यासात्—ज्ञावृद्धिश्च तत्फलम् ॥ ६ ॥ द्वा० १८ द्वा० । पौनःपुन्येनानित्यत्वाऽऽदिप्रकारतो भावनैर्गुण्यपरिभावनायाम्, विशे० । भाव्यन्ते मुमुक्षुभिरभ्यस्यन्ते इति भावना । अनित्यत्वाऽऽदिके, ओघ० । प्रव० । ध० । ग० । आव० । सूत्र० । आचा० ।

(२) भावनायां नामाऽऽदिचतुर्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्याऽऽदिनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

दव्वं गंधंगतिला—इएसु सीउण्हविसहणाईसु ।
भावम्मि होइ दुविहा, पसत्थ तह अप्पसत्था य ॥ ३२७ ॥

तत्र द्रव्यमिति द्रव्यभावना नोआगमतो व्यतिरिक्ता गन्धाङ्गैः—जातिकुसुमाऽऽदिभिर्द्रव्यैस्तिलाऽऽदिषु द्रव्येषु या वासना सा द्रव्यभावनेति । तथा शीतेन भावितः शीतसहिष्णुः उष्णेन वा उष्णसहिष्णुर्भवतीति । आदिग्रहणाद् व्यायामक्षुण्णदेहो व्यायामसहिष्णुरित्याद्यन्येनापि द्रव्येण द्रव्यस्य या भावना सा द्रव्यभावनेति । भावे तु—भावविषया प्रशस्ता प्रशस्तभेदेन द्विरूपा भावनेति ।

तत्राप्रशस्ता भावभावनामधिकृत्याऽऽह—

पाणिवहमुसावाए, अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।
कोहे माणे माया, लोभे य हवंति अपसत्था ॥ ३२८ ॥

प्राणिवधाऽऽद्यकार्येषु प्रथमं प्रवर्त्तमानः साशङ्कः प्रवर्तते पश्चात्पौनःपुन्यकरणतया निःशङ्कः प्रवर्तते । तदुक्तम्—

कारोत्यादौ तावत्सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं,
द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते ।
तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत् प्रकुरुते,
ततः पापाभ्यासात्सततमशुभेषु प्रमते ॥ १ ॥

प्रशस्तभावनामाह—

दंसणणाणचरित्ते, तववेरग्गे य होइ उ पसत्था ।
जा य जहा ता य तहा, लक्खण वोच्छं सलक्खणओ ॥ ३२९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोवैराग्याऽऽदिषु या यथा च प्रशस्तभावना भवति तां प्रत्येकं लक्षणतो वक्ष्ये इति ।

दर्शनभावनार्थमाह—

तित्थगराण भगवओ, पवयणपावयणिअइसइड्ढीणं ।
अहिगमणनमणदरिसण—कित्तणसंपूयणाथुणणा ॥ ३३० ॥

तीर्थकृतां भगवतां प्रवचनस्य च द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिनामाचार्याऽऽदीनां युगप्रधानानां, तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां केवलिमनःपर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां तथाऽऽमर्षौषध्यादिप्राप्तर्द्धीनां यदभिगमनं गत्वा च दर्शनं तथा गुणोत्कीर्तनं सम्पूजनं गन्धाऽऽदिना स्तोत्रैः स्तवनमित्यादिका दर्शनभावना, अनया हि दर्शनभावनयाऽनवरतं भाव्यमानया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ।

किं च—

जम्माभिसेयणिक्खम—णचरणणाणुप्पया य णिव्वाणे ।
दिअलोअभवणमंदिर—णंदीसरभोमणगरेसुं ॥ ३३१ ॥
अट्ठावयमुज्जिंते, गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।
पासरहावत्तणगं, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३३२ ॥

तीर्थकृतां जन्मभूमिषु तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु तथा देवलोकभवनेषु तथा मन्दिरेषु तथा नन्दीश्वरद्वीपाऽऽदौ भौमेषु च पातालभवनेषु यानि शाश्वतानि चैत्यानि तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथायामन्ते क्रियेति । एवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ 'गजाग्रपदे' दशार्णकूटवर्तिनि तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथावर्ते पर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतं यत्र च श्रीमद्वर्द्धमानमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम्; एतेषु च स्थानेषु यथासम्भवमभिगमनवन्दनपूजनगुणोत्कीर्तनाऽऽदिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ।

किं च—

गणियं णिमित्त जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं इमं णाणं ।
इय एगंतमुवगया, गुणपच्चइया इमे अत्था ॥ ३३३ ॥
गुणमाहप्पं इसिणा—मकित्तणं सुरणरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाणि य, इइ एसा दंसणे होइ ॥ ३३४ ॥

प्रवचनविदाममी गुणप्रत्ययिका अर्था भवन्ति । तद्यथा—गणितविषये बीजगणिताऽऽदौ परं पारमुपगतोऽयं, तथा अष्टाङ्गस्य निमित्तस्य पारगोऽयं, तथा दृष्टिपातोक्ता नानाविधा युक्तीर्द्रव्यसंयोगान् हेतूंश्च वेत्ति, तथा सम्यग्विपरीता दृष्टिर्दर्शनमस्य त्रिदशैरपि चालयितुमशक्या तथा अवितथमस्येदं ज्ञानं यथैवायमाह तत्तथैवेत्येवं प्रावचनिकस्याऽऽचार्याऽऽदेः प्रशंसां कुर्वतो दर्शनविशुद्धिर्भवतीति, एवमन्यद

पि गुणमाहात्म्यमाचार्याऽऽदेर्वर्णयतस्तथा पूर्वमहर्षीणां च नामोत्कीर्तनं कुर्वतस्तेषामेव च सुरनरेन्द्रपूजाऽऽदिकं कथयतस्तथा चिरंतनचैत्यानि पूजयत इत्येवमादिकां क्रियां कुर्वतस्तद्वासनावासितस्य दर्शनविशुद्धिर्भवतीत्येषा प्रशस्ता दर्शनविषया भावनेति ।

ज्ञानभावनामधिकृत्याऽऽह-

तत्तं जीवाऽजीवा, णायव्वा जाणणा इहं दिट्ठा ।
इह कज्जकरणकारग-सिद्धी इह बंधमोक्खो य ॥३३५॥
बद्धो य बंधहेऊ, बंधणबंधप्फलं सुकहियं तु ।
संसारपवंचो वि य, इहयं कहिओ जिणवरेहिं ॥३३६॥
णाणं भविस्सई ए-वमाइया वायणाइयाओ य ।
सज्झाए आउत्तो, गुरुकुलवासो य इय णाणे ॥३३७॥

तत्र ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावना-एवंभूतं मौनीन्द्रं ज्ञानं प्रवचनं यथाऽवस्थिताशेषपदार्थाऽऽविर्भावकमित्येवंरूपेति, अनया च प्रधानमोक्षाङ्गं सम्यक्त्वमाधिगमिकमाविर्भवति । यतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, तत्त्वं च जीवाजीवाऽऽदयोऽनव पदार्थाः,ते च तत्त्वज्ञानार्थिना सम्यग्ज्ञातव्याः, तत्परिज्ञानमिहैवाऽऽर्हते प्रवचने दृष्टम्-उपलब्धमिति, तथेहैवाऽऽर्हते प्रवचने कार्यं परमार्थरूपं मोक्षाऽऽख्यं तथा करणं क्रियासिद्धो प्रकृष्टोपकारकं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि,कारकः साधु सम्यग्दर्शनाऽऽद्यनुष्ठाता,क्रियासिद्धिरिहैव मोक्षावाप्तिलक्षणा,तामेव दर्शयति-बन्ध-कर्मबन्धनं तस्मान्मोक्षः कर्मविघटनलक्षणोऽसावपीहैव,नान्यत्र शाक्याऽऽदिकप्रवचने भवतीति,इत्येवं ज्ञानं भावयतो ज्ञानभावना भवतीति । तथा बद्धोऽष्टप्रकारककर्मपुद्गलैः प्रतिप्रदेशमवष्टब्धो जीवः, तथा बन्धहेतवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, तथा बन्धनमष्टप्रकारकर्मवर्गणारूपं तत्फलं चतुर्गतिसंसारपर्यटनसातासाताऽऽद्यनुभवनरूपमिति,एतत्सर्वमत्रैव सुकथितम् अन्यत्र यत्किञ्चित् सुभाषितं तदिहैव प्रवचने अभिहितमिति ज्ञानभावना । तथा विचित्रसंसारप्रपञ्चोऽत्रैव जिनेन्द्रैः कथित इति ॥ तथा ज्ञानं मम विशिष्टतरं भविष्यतीति ज्ञानभावना विधेया, ज्ञानमभ्यसनीयमित्यर्थः। आदिग्रहणादेकाग्रचित्तताऽऽदयो गुणा भवन्तीति,तथैतदपि ज्ञाने भावनीयं,यथा-"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ" इत्यादि, तथैभिश्च कारणैर्ज्ञानमभ्यसनीयं, तद्यथा-ज्ञानसंग्रहार्थं निर्जरार्थम् अव्यवच्छित्त्यर्थं स्वाध्यायार्थमित्यादि, तथा ज्ञानभावनया नित्यं गुरुकुलवासो भवति । तथा चोक्तम्-
"णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥१॥" इत्यादिका ज्ञानविषया भावना भवतीति ।

चारित्रभावनामधिकृत्याऽऽह—

साहुमहिंसाधम्मो, सच्चमदत्तविरई य बंभं च ।
साहुपरिग्गहविरई, साहु तवो वारसंगो य ॥ ३३८ ॥
वेरग्गमप्पमाओ, एगत्ता भावणा य परिसंगं ।
इय चरणमणुगताओ, भणिया एत्तो तवो वोच्छं ॥३३९॥

साधु शोभनोऽहिंसाऽऽदिलक्षणो धर्म इति प्रथमव्रतभावना। तथा सत्यमस्मिन्नेवाऽऽर्हते प्रवचने साधु शोभनं नान्यत्रेति। द्वितीयव्रतस्य, तथा अदत्तविरतिरत्रैव साध्वीति तृतीयस्य, एवं ब्रह्मचर्यमप्यत्रैव नवगुप्तिगुप्तं पाल्यत इति । तथा परिग्रहविरतिरिहैव साध्वीति, एवं द्वादशाङ्गं तप इहैव शोभनं नान्यत्रेति, तथा वैराग्यभावना सांसारिकसुखजुगुप्सारूपा, एवमप्रमादभावना मद्याऽऽदिप्रमादानां कर्मबन्धोपादानरूपाणामनासेवनरूपा, तथैकत्वभावना—"एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ । सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १ ॥" इत्यादिका भावनाश्चरणमुपगताश्चरणाऽऽश्रिताः इत ऊर्ध्वं तपोभावनां वक्ष्ये अभिधास्य इति ।

किह मे हविज्जऽवंझो, दिवसो किं वा पहू तवं काउं ? ।
को इह दव्वे जोगो, खेत्ते काले समयभावे ॥ ३४० ॥

कथं केन निर्विकृत्यादिना तपसा मम दिवसोऽवन्ध्यो भवेत् ?, कतरद्वा तपोऽहं विधातुं प्रभुः शक्तः ?, तच्च कतरत्तपः कस्मिन् द्रव्याऽऽदौ मम निर्वहतीति भावनीयम् । तत्र द्रव्ये उत्सर्गतो वल्लचणकाऽऽदिके क्षेत्रे स्निग्धरूक्षाऽऽदौ काले शीतोष्णाऽऽदौ भावेऽग्लानोऽहमेवंभूतं तपः कर्तुमलमित्येवं द्रव्याऽऽदिकं पर्यालोच्य यथाशक्ति तपो विधेयम् । "शक्तितस्त्यागतपसी" ( तत्त्वार्थे-६ अ० २३ सूत्र० दर्शन० ) इति वचनादिति ।

किं च—

उच्छाहपालणाए, इति तवे संजमे य संघयणे ।
वेरग्गेऽणिच्चादि, होइ चरित्ते इहं पगयं ॥ ३४१ ॥

तथा अनशनाऽऽदिके तपस्यनिगूहितबलवीर्येणोत्साहः कर्त्तव्यो, गृहीतस्य च प्रतिपालनं कर्त्तव्यमिति । उक्तं च-
"तित्थयरो चउनाणी, सुरमहिओ सिज्झियव्वयधुवम्मि ।
अणिगूहियबलविरिओ, सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥ १ ॥
किं पुण अवसेसेहिं, दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं ।
होइ न उज्जमियव्वं, सपच्चवायम्मि माणुस्से" ॥ २ ॥
इत्येवं तपसि भावना विधेया । एवं संयमे इन्द्रियनोइन्द्रियनिग्रहरूपे,तथा संहनने वज्रर्षभाऽऽदिके तपोनिर्वाहनासमर्थे भावना विधेयेति । वैराग्यभावना त्वनित्यत्वाऽऽदिभावनारूपा तदुक्तम्—
"भावयितव्यमनित्य—त्वमशरणत्वं तथैकताऽन्यत्वे।
अशुचित्वं संसारः, कर्माऽऽश्रवसंवरविधिश्च ॥ १ ॥
निर्जरणलोकविस्तर—धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ता च ।
बोधेः सुदुर्लभत्वं, च भावना द्वादश विशुद्धाः" ॥ २ ॥
इत्यादिका अनेकप्रकारा भावना भवन्तीति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

( ३ ) भावनापरिसंख्यानम्—

पढममणिच्च १ मसरणं २,
संसारो ३ एगया य ४ अन्नत्तं ५ ।
असुइत्तं ६ आसव ७ सं—
वरो ८ य तह निज्जरा ९ नवमा ॥ ७९ ॥
लोगसहावो १० बोहिय—
दुल्लहा ११ धम्मसाहओ अरहा १२ ।

एयाइँ हुंति बारस,
जहकम्मं भावणीयाओ ॥ ८० ॥

तत्र प्रथममनित्यभावना १, द्वितीया अशरणभावना २, तृतीया संसारभावना ३, चतुर्थी एकत्वभावना ४, पञ्चमी अन्यत्वभावना ५, षष्ठी अशुचित्वभावना ६, सप्तमी आश्रवभावना ७, अष्टमी संवरभावना ८, तथा नवमी निर्जराभावना ९, दशमी लोकस्वभावभावना १०, एकादशी बोधिदुर्लभभावभावना ११, द्वादशी धर्मकथकोऽर्हन्निति १२। एतास्तु भावना द्वादश भवन्ति, यथाक्रमं भणितक्रमेण भावनीया अहर्निशमभ्यसनीया इति, एतासां च स्वरूपं किञ्चिन्निरूपयामः।

तत्रैवमनित्यभावना—

" प्रत्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽप्यनित्यत्वरक्षसा।
किं पुनः कदलीगर्भ-निःसारा नेह देहिनः ॥ १ ॥
विषयसुखं दुग्धमिव, स्वादयति जनो बिडाल इव मुदितः।
नोत्पाटितलकुटमिवो-त्पश्यति यममहह किं कुर्मः ? ॥ २ ॥
धराधरधुनीनीर-पूरपारिप्लवं वपुः।
जन्तूनां जीवितं वात-धूतध्वजपटोपमम् ॥ ३ ॥
लावण्यं ललनालोक-लोचनाञ्चलचञ्चलम्।
यौवनं मत्तमातङ्ग-कर्णतालचलाचलम् ॥ ४ ॥
स्वाम्यं स्वप्नावलीसाम्यं, चपलाचपलाः श्रियः।
प्रेम द्वित्रिक्षणस्थेम, स्थिरत्वविमुखं सुखम् ॥ ५ ॥
सर्वेषामपि भावानां, भावयन्नित्यनित्यताम्।
प्राणप्रियेऽपि पुत्राऽऽदौ, विपन्नेऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
सर्ववस्तुषु नित्यत्व-ग्रहग्रस्तस्तु मूढधीः।
जीर्णतार्णकुटीरेऽपि, भग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥ ७ ॥
ततस्तृष्णाविनाशेन, निर्ममत्वविधायिनीम्।
शुद्धधीर्भावयेन्नित्य-मित्यनित्यत्वभावनाम् ॥ ८ ॥ " ॥ १ ॥

अथाशरणभावना—

" पितुर्मातुर्भ्रातुस्तनयदयिताऽऽदेश्च पुरतः,
प्रभूताधिव्याधिव्रजनिगडिताः कर्मचरटैः।
रटन्तः क्षिप्यन्ते यममुखगुहान्तस्तनुभृतो,
हहा कष्टं लोकः शरणरहितः स्थास्यति कथम् ? ॥ १ ॥
ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविसरं ये मन्त्रतन्त्रक्रिया-
प्रावीण्यं प्रथयन्ति ये च दधति ज्योतिःकलाकौशलम्।
तेऽपि प्रेतपतेरमुष्य सकलत्रैलोक्यविध्वंसन-
व्यग्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागल्भ्यमाबिभ्रति ॥ २ ॥
नानाशस्त्रपरिश्रमोद्भटभटैराबेष्टिताः सर्वतो,
गत्युद्दाममदान्धसिन्धुरशतैः केनाप्यगम्याः क्वचित्।
शक्रश्रीपतिचक्रिणोऽपि सहसा कीनाशदासैर्बला—
दाकृष्टा यमवेश्म यान्ति इह हा निस्त्राणता प्राणिनाम् ॥३॥
छत्रं दण्डं ननु सुरगिरिं पृथ्वीं पृथुच्छत्रसाद्,
ये कर्तुं प्रभविष्णवः क्षणमपि क्लेशं विनैवाऽऽत्मनः।
निःसामान्यबलप्रपञ्चचतुरास्तीर्थङ्करास्तेऽप्यहो,
नैवाशेषजनौघघस्मरमपाकर्तुं कृतान्तं क्षमाः ॥ ४ ॥
कलत्रमित्रपुत्राऽऽदि-स्नेहग्रहनिवृत्तये।
इति शुभमतिः कुर्या-दशरणत्वभावनाम् ॥ ५ ॥ ॥" ॥ २ ॥

अथ संसारभावना—

श्रीमतिरमतिः श्रीमानश्रीः सुखी सुखवर्जितः,
सुतनुरतनुः स्वाम्यस्वामी प्रियः स्फुटमप्रियः।
नृपतिरनृपः स्वर्गी तिर्यङ्नरोऽपि च नारकः,
तदिति बहुधा नृत्यत्यस्मिन् भवी भवनाटके ॥ १ ॥
बद्ध्वा पापमनेककल्मषमहारम्भाऽऽदिभिः कारणैः,
गत्वा नारकभूमिषूत्कटतमःसङ्घट्टनध्वस्तु।
अङ्गच्छेदनभेदनप्रदहनक्लेशाऽऽदिदुःखं महत्—
ज्जीवो यत्सहते तदत्र गदितुं सहस्रापि जिह्वाऽक्षम ॥ २ ॥
मायाऽऽर्त्यादिनिबन्धनैर्बहुविधैः प्राप्तस्तिरश्चां गतिं,
सिंहव्याघ्रमतङ्गजैणवृषभच्छागाऽऽदिरूपस्पृशाम्।
क्षुत्तृष्णावधबन्धताडनरुजा वाहाऽऽदिदुःखं सदा।
यज्जीवः सहते न तत्कथयितुं केनाप्यहो शक्यते ॥ ३ ॥
खाद्याखाद्यविवेकशून्यमनसो निर्ह्रीकताऽऽलिङ्गिताः,
सेव्यासेव्यविधौ समीकृतधियो निःशूकतावल्लभाः।
तत्राऽऽनार्यनरा निरन्तरमहाऽऽरम्भाऽऽदिभिर्दुस्सहं,
क्लेशं सङ्कलयन्ति कर्म च महादुःखप्रदं चिन्वते ॥ ४ ॥
मर्त्याः क्षत्रियवाडवप्रभृतयो येऽप्यार्यदेशोद्भवा—
स्तेऽप्यज्ञानदरिद्रताव्यसनिताद्यैर्भार्यरोगाऽऽदिभिः।
अन्यप्रेष्यणमानभञ्जनजनावज्ञाऽऽदिभिश्चानिशं,
दुःखं तद्विषहन्ति यत्कथयितुं शक्यं न कल्पैरपि ॥ ५ ॥
रम्भागर्भसमः सुखी शिखिशिखावर्णाभिरुच्चैरयं,
सूचीभिः प्रतिरोमभेदितवपुस्तारुण्यपुण्यः पुमान्।
यद् दुःखं लभते तदष्टगुणितं स्त्रीकुक्षिमध्यस्थितौ,
सम्पद्येत तदप्यनन्तगुणितं जन्मक्षणे प्राणिनाम् ॥ ६ ॥
बाल्ये मूत्रपुरीषधूलिलुठनाऽऽज्ञानाऽऽदिभिर्निन्दिता,
तारुण्ये विभवार्जनेष्टविरहानिष्टाऽऽगमाऽऽदिव्यथा।
वृद्धत्वे तनुकम्पदृष्टिपटुता श्वासाऽऽद्यसुस्थाऽऽत्मता,
तत्का नाम दशाऽस्ति सा सुखमिह प्राप्नोति यस्यां जनः ॥७॥
सम्यग्दर्शनपालनाऽऽदिभिरथ प्राप्ते भवे त्रैदशे,
जीवाः शोकविषादमत्सरभयस्वल्पर्द्धिकत्वाऽऽदिभिः।
ईर्ष्याकाममदक्षुधाप्रभृतिभिश्चात्यन्तपीडाऽर्दिताः,
क्लेशेन क्षपयन्ति दीनमनसो दीर्घं निजं जीवितम् ॥ ८ ॥
इत्थं शिवफलाधायि—भववैराग्यवीरुधः।
सुधावृष्टिं सुधीः कुर्या—देनां संसारभावनाम् ॥९॥" ॥ ३ ॥

अथैकत्वभावना—

" उत्पद्यते जन्तुरिहैक एव, विपद्यते चैकक एव दुःखी।
कर्माऽर्जयत्येकक एव चित्र मासेवते तत्फलमेक एव ॥ १ ॥
यज्जीवेन धनं स्वयं बहुविधैः कष्टैरिहोपार्ज्यते,
तत्सम्भूय कलत्रमित्रतनयभ्रात्रादिभिर्भुज्यते।
तत्तत्कर्मवशाच्च नारकनरस्वर्वासितिर्यग्भवे—
ष्वेकः सैष सुदुःसहानि सहते दुःखान्यसङ्ख्यान्यहो ॥ २ ॥
जीवो यस्य कृते भ्रमत्यनुदिशं दैन्यं समालम्बते,
धर्माद् भ्रस्यति वञ्चयत्यतिहितान् न्यायादपक्रामति।
देहः सोऽपि सहाऽऽत्मना न पदमप्येकं परस्मिन् भवे—
गच्छत्यस्य ततः कथं वदत भोः साहाय्यमाधास्यति ? ॥३॥
स्वार्थैकनिष्ठं स्वजनस्वदेह-मुख्यं ततः सर्वमवेत्य सम्यग्।
सर्वत्र कल्याणनिमित्तमेकं धर्मं सहायं विदधीत धीमान् ॥४॥

अथान्यत्वभावना—

" जीवः कायमपि व्यपास्य यदहो लोकान्तरे याति य—
द्भिन्नोऽसौ वपुषाऽपि कैव हि कथा द्रव्याऽऽदिवस्तुव्रजे।

तस्माल्लिम्पति यस्तनुं मलयजैर्यो हन्ति दण्डाऽऽदिभि—
र्यः पुष्णाति धनाऽऽदि यश्च हरते तत्राऽपि साम्यं श्रयेत् ॥१॥
अन्यत्वभवनामेवं, यः करोति महामतिः ।
तस्य सर्वस्वनाशेऽपि, न शोकांऽशोऽपि जायते ॥२॥" ॥५॥

अथाशुचित्वभावना—

"लवणाऽऽकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।
काये तथा मलाः स्यु-स्तदसावशुचिः सदा कायः ॥ १ ॥
कायः शोणितशुक्रमीलनभवो गर्भे जरावेष्टितो,
मात्राऽऽस्वादितखाद्यपेयरसकैर्वृद्धिं क्रमात्प्रापितः ।
क्लिन्नद्धातुसमाकुलः कृमिरुजागण्डूपदाऽऽद्यास्पदं,
कैर्मन्येत सुबुद्धिभिः शुचितया सर्वैर्मलः कश्मलः ? ॥ २ ॥
सुस्वादं शुभगन्धिमोदकदधिक्षीरेक्षुशाल्योदन—
द्राक्षापर्पटिकाऽमृताघृतपुरस्वर्गच्युताम्राऽऽदिकम् ।
भुक्तं सत्सहसैव यत्र मलसात्सम्पद्यते सर्वत—
स्तं कायं सकलाशुचिं शुचिमहो मोहान्धिता मन्वते ॥ ३ ॥
अम्भःकुम्भशतैर्वपुर्ननु बहिर्मुग्धाः शुचित्वं कियत्—
काल लम्भयथोत्तमं परिमलं कस्तूरिकाऽऽद्यैस्तथा ।
विष्ठाकोष्ठकमेतदङ्गकमहो मध्ये तु शौचं कथं—
कारं नेष्यथ सूत्रयिष्यथ कथंकारं च तत्सौरभम् ? ॥४॥
दिव्याऽऽमोदसमृद्धिवासितदिशः श्रीखण्डकस्तूरिका-
कर्पूरागुरुकुङ्कुमप्रभृतयो भावा यदाश्लेषतः ।
दौर्गन्ध्यं दधति क्षणेन मलतां चाऽऽबिभ्रते सोऽप्यहो,
देहः कैश्चन मन्यते शुचितया वैधेयतां पश्यत ॥ ५ ॥
इत्यशौचं शरीरस्य, विभाव्य परमार्थतः ।
सुमतिर्ममतां तत्र, न कुर्वीत कदाचन " ॥ ६ ॥

अथाऽऽस्रवभावना-

"मनोवचोवपुर्योगैः, कर्म येनाशुभं शुभम् ।
भविनामास्रवेन्त्येते, प्रोक्तास्तेनाऽऽस्रवा जिनैः ॥ १ ॥
मैत्र्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
माध्यस्थ्येनाविनीतेषु, कृपया दुःखितेषु च ॥ २ ॥
सततं वासितं स्वान्तं, कस्यचित्पुण्यशालिनः ।
वितनोति शुभं कर्म; द्विचत्वारिंशदात्मकम् ॥ ३ ॥
रौद्राऽऽर्त्तध्यानमिथ्यात्व-कषायविषयैर्मनः ।
आक्रान्तमशुभं कर्म, विदधाति द्व्यशीतिधा ॥ ४ ॥
सर्वज्ञगुरुसिद्धान्तं, सङ्घासद्गुणवर्णकम् ।
ऋतं हितं च वचनं, कर्म सञ्चिनुते शुभम् ॥ ५ ॥
श्रीसङ्घगुरुसर्वज्ञ-धर्मधार्मिकदूषकम् ।
उन्मार्गदेशिवचन-मशुभं कर्म पुष्यति ॥ ६ ॥
देवार्चनगुरूपास्ति-साधुविश्रामणाऽऽदिकम् ।
वितन्वती सुगुप्ता च, तनुर्वितनुते शुभम् ॥ ७ ॥
मांसाशनसुरापान—जन्तुघातनचौरिकाः ।
पारदार्याऽऽदि कुर्वाण—मशुभं कुरुते वपुः ॥ ८ ॥
एवमास्रवभावनामविरतं यो भावयेद्भाववा—
स्तस्यानर्थपरम्परैकजननाद् दुष्टाऽऽस्रवौघाऽऽत्मनः।
व्यावृत्याऽखिलदुःखदावजलदे निःश्रेयशमोवली-
निर्माणप्रवणे शुभाशुभगणे नित्यं रतिः पुष्यति ॥ ९ ॥" ॥७॥

अथ संवरभावना—

आस्रवाणां निरोधो यः, संवरः स प्रकीर्तितः ।
सर्वतो देशतश्चेति, द्विधा स तु विभज्यते ॥ १ ॥
अयोगिकेवलिष्वेव, सर्वतः संवरो मतः ।
देशतः पुनरेकद्वि-प्रभृत्यास्रवरोधिषु ॥ २ ॥
एकमपि स द्वेधा, द्रव्यभावविभेदतः ।
यत्कर्मपुद्गलाऽऽदान-मात्मन्यास्रवतो भवेत् ॥ ३ ॥
एतस्य सर्वदेशाभ्यां, छेदनं द्रव्यसंवरः ।
भवहेतुक्रियायास्तु, त्यागोऽसौ भावसंवरः ॥ ४ ॥
मिथ्यात्वकषायाऽऽदीना-मास्रवाणां मनीषिभिः ।
निरोधाय प्रयोक्तव्या, उपायाः प्रतिपन्थिनः ॥ ५ ॥

यथा—

मिथ्यात्वमार्त्तरौद्राऽऽख्य-कुध्याने च सुधीर्जयेत् ।
दर्शनेनाकलङ्केन, शुभध्यानेन च क्रमात् ॥ ६ ॥
क्षान्त्या क्रोध मृदुत्वेन, मानं मायामृजुत्वत ।
सन्तोषेण तथा लोभं, निरुन्धीत महामतिः ॥ ७ ॥
शब्दाऽऽदिविषयानिष्टा-निष्टांश्चापि विषोपमान् ।
रागद्वेषप्रहाणेन, निराकुर्वीत कोविदः ॥ ८ ॥
य एतद्भावनासक्तो, सौभाग्यं भजते नरः ।
इति स्वर्गापवर्गश्री-रवश्यं तस्य वश्यताम् ॥ ९ ॥" ॥ ८ ॥

अथ निर्जराभावना—

" संसारहेतुभूतायाः, यः क्षयः कर्मसन्ततेः ।
निर्जरा सा पुनर्द्वेधा, सकामाकामभेदतः ॥ १ ॥
श्रमणेषु सकामा स्या-दकामा शेषजन्तुषु ।
पाकः स्वत उपायाच्च, कर्मणां स्याद्यथाऽऽम्रवत् ॥ २ ॥
कर्मणां न क्षयो भूया-दित्याशयवतां सताम् ।
वितन्वता तपस्याऽऽदि, सकामा शमिनां मता ॥ ३ ॥
एकेन्द्रियाऽऽदिजन्तूनां, सद्ज्ञानरहिताऽऽत्मनाम् ।
शीतोष्णवृष्टिदहन-च्छेदभेदाऽऽदिभिः सदा ॥ ४ ॥
कष्टं वेदयमानानां, यः शाटः कर्मणां भवेत् ।
अकामनिर्जरामेना-मामनन्ति मनीषिणः ॥ ५ ॥
तपःप्रभृतिभिर्वृद्धिं, व्रजन्ती निर्जरा यतः ।
ममत्वं कर्म संसारं, हन्यात्तां भावयेत्ततः ॥ ६ ॥ " ॥ ९ ॥

अथ लोकस्वभावभावना—

"वैशाखस्थानस्थित-कटिस्थकरयुगनराऽऽकृतिर्लोकः ।
भवति द्रव्यैः पूर्णः, स्थित्युत्पत्तिव्ययाऽऽक्रान्तैः ॥ १ ॥
ऊर्ध्वतिर्यगधोभेदैः, स त्रेधा जगदे जिनैः ।
रुचकादष्टप्रदेशा-न्मेरुमध्यव्यवस्थितात् ॥ २ ॥
नवयोजनशत्यूर्ध्व-मधोभागेऽपि सा तथा ।
एतत्प्रमाणकस्तिर्य-ग्लोकश्चित्रपदार्थभृत् ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वलोकस्तदुपरि, सप्तरज्जुप्रमाणकः ।
एतत्प्रमाणसंयुक्त-श्चाधोलोकोऽपि कीर्तितः ॥ ४ ॥
रत्नप्रभाप्रभृतयः, पृथिव्यः सप्त वेष्टिताः ।
घनोदधिघनवात-तनुवातैस्तमोघनाः ॥ ५ ॥
तृष्णाक्षुधावधाऽऽघात-भेदनच्छेदनाऽऽदिभिः ।
दुःखानि नारकास्तत्र, वेदयन्ते निरन्तरम् ॥ ६ ॥
प्रथमा पृथिवी पिण्डे, योजनानां सहस्रकाः ।
अशीतिर्लक्षमेकं च, तत्रोपरि सहस्रकम् ॥ ७ ॥
अधश्च मुक्त्वा पिण्डस्य, शेषस्याभ्यन्तरे पुनः ।
भवनाधिपदेवानां, भवनानि जगुर्जिनाः ॥ ८ ॥
असुरा नागास्तडितः, सुपर्णा अग्नयोऽनिलाः ।
स्तनिताब्धिद्वीपदिशः, कुमारान्ता दशेति ते ॥ ९ ॥
व्यवस्थिता पुनः सर्वे, दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः ।
तत्रासुराणां चमरो, दक्षिणावासिनां विभुः ॥ १० ॥
उदीच्यानां बलिर्नाग-कुमाराऽऽदेर्यथाक्रमम् ।
धरणो भूतानन्दश्च, हरिर्हरिसहस्तथा ॥ ११ ॥

वेणुदेवो वेणुदाली, चाग्निशिखाग्निमाणवौ ।
वेलम्ब· प्रभञ्जनश्च, सुघोषमहाघोषकौ ॥ १२ ॥
जलकान्तो जलप्रभ-स्ततः पूर्णो विशिष्टकः ।
अमितो मितवाहन, इन्द्राऽऽम्नेया द्वयोर्दिशोः ॥ १३ ॥
अस्या एव पृथिव्या, उपरितने मुक्तयोजनसहस्रम् ।
योजनशतमध उपरि च, मुक्त्वाऽष्टसु योजनशतेषु ॥ १४ ॥
पिशाचाऽऽद्यष्टभेदानां, व्यन्तराणां तरस्विनाम् ।
नगराणि भवन्त्यत्र, दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः ॥ १५ ॥
पिशाचा भूता यक्षाश्च, राक्षसा किन्नरास्तथा ।
किंपुरुषा महोरगा, गन्धर्वा इति तेऽष्टधा ॥ १६ ॥
दक्षिणोत्तरभागेन, तेषामपि च तस्थुषाम् ।
द्वौ द्वाविन्द्रौ समाम्नातौ, यथासङ्ख्यं सुबुद्धिभिः ॥ १७ ॥
कालस्ततो महाकालः, सुरूप· प्रतिरूपक· ।
पूर्णभद्रो माणिभद्रो, भीमो भीमो महाऽऽदिकः ॥ १८ ॥
किन्नरकिंपुरुषौ स-त्पुरुषमहापुरुषनामकौ तदनु ।
अतिकायमहाकायौ, गीतरतिश्चैव गीतयशाः ॥ १९ ॥
अस्या एव पृथिव्या, उपरि च योजनशतं हि यन्मुक्तम् ।
तन्मध्यादध उपरि च, योजनदशकं परित्यज्य ॥ २० ॥
मध्येऽशीताविह यो—जनेषु तिष्ठन्ति वनचरनिकायाः ।
अप्रज्ञप्तिकमुख्या अष्टावल्पर्द्धिकाः किञ्चित् ॥ २१ ॥
अत्र प्रतिनिकायं च, द्वौ द्वाविन्द्रौ महाद्युती ।
दक्षिणोत्तरभागेन, विज्ञातव्यौ मनीषिभिः ॥ २२ ॥
योजनलक्षोन्नतिना, स्थितेन मध्ये सुवर्णमयवपुषा ।
मेरुगिरिणा विशिष्टे, जम्बूद्वीपे भवन्त्यत्र ॥ २३ ॥
वर्षाणि भारताऽऽदीनि, सप्त वर्षधरास्तथा ।
पर्वता हिमवन्मुख्याः, षट् शाश्वतजिनाऽऽलयाः ॥ २४ ॥
योजनलक्षप्रमिता-ज्जम्बूद्वीपात्परो द्विगुणमान· ।
लवणसमुद्रः परत·-स्तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः ॥ २५ ॥
बोधव्या धातकीखण्ड-कालोदाऽऽद्या असङ्ख्यका· ।
स्वयम्भूरमणान्ताश्च, द्वीपवारिधयः क्रमात् ॥ २६ ॥
प्रत्येकरससम्पूर्णाश्चत्वारस्तोयराशयः ।
त्रयो जलरसा अन्ये, सर्वेऽपीक्षुरसाः स्मृताः ॥ २७ ॥
सुजातपरमद्रव्य—हृद्यमद्यसमोदक ।
वारुणीवरवार्धि स्यात्, क्षीरोदजलधि· पुनः ॥ २८ ॥
सम्यक्क्वथितखण्डाऽऽदि—मुग्धदुग्धसमोदक ।
घृतवर· सुतापित—नव्यगव्यघृतोदकः ॥ २९ ॥
लवणाब्धिस्तु लवणा·ऽऽस्वादपानीयपूरित· ।
कालोद· पुष्करवर·, स्वयम्भूरमणस्तथा ॥ ३० ॥
मेघोदकरसा· किन्तु, कालोदजलधेर्जलम् ।
कालं गुरुपरिणामं, पुष्करोदजल पुन· ॥ ३१ ॥
हितं लघुपरिणामं, स्वच्छस्फटिकनिर्मलम् ।
स्वयम्भूरमणस्याऽपि, जलधेर्जलमीदृशम् ॥ ३२ ॥
त्रिभागाऽऽवर्तचतु—र्जातकेक्षुरसोपमम् ।
शेषाऽसङ्ख्यसमुद्राणां, नीरं निगदितं जिनै· ॥ ३३ ॥
समभूमितलादूर्ध्वं, योजनशतसप्तके ।
गते नवतिसंयुक्ते, ज्योतिषां स्यादधस्तल· ॥ ३४ ॥
तस्योपरि च दशसु, योजनेषु दिवाकरः ।
तदुपर्यशीतिसङ्ख्ये योजनेषु निशाकरः ॥ ३५ ॥
तस्योपरि च विंशत्या, योजनेषु ग्रहाऽऽदयः ।
स्यादेवं योजनशतं, ज्योतिर्लोको दशोत्तरम् ॥ ३६ ॥
जम्बूद्वीपे भ्रमन्तौ च, द्वौ चन्द्रौ द्वौ च भास्करौ ।
चत्वारो लवणाम्भोधौ, चन्द्राः सूर्याश्च कीर्तिता· ॥ ३७ ॥
धातकीखण्डके चन्द्राः, सूर्याश्च द्वादशैव हि ।
कालोदे द्विचत्वारिंश-च्चन्द्रा सूर्याश्च कीर्तिताः ॥ ३८ ॥
पुष्करार्द्धे द्विसप्तति—श्चन्द्राः सूर्याश्च मानुषे ।
क्षेत्रे द्वात्रिंशमिन्दूनां, सूर्याणां च शतं भवेत् ॥ ३९ ॥
मानुषोत्तरतः पञ्चा—शद्योजनसहस्रके ।
चन्द्रैरन्तरिता· सूर्याः, सूर्यैरन्तरिताश्च ते ॥ ४० ॥
मानुषक्षेत्रचन्द्रार्क—प्रमाणार्धप्रमाणकाः ।
तत्क्षेत्रपरिधिर्वृद्ध्यो, वृद्धिमन्तश्च सङ्ख्यया ॥ ४१ ॥
स्वयम्भूरमणं व्याप्य, घण्टाकारा असंख्यकाः ।
शुभलेश्या मन्दलेश्या—स्तिष्ठन्ति सततं स्थिराः ॥ ४२ ॥
समभूमितलादूर्ध्वं, सार्धरज्जौ व्यवस्थितौ ।
कल्पावनल्पसम्पत्ती, सौधर्मेशाननामकौ ॥ ४३ ॥
सार्धरज्जुद्वये स्याता, समानौ दक्षिणोत्तरौ ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रौ, देवलोकौ मनोहरौ ॥ ४४ ॥
ऊर्ध्वलोकस्य मध्ये च, ब्रह्मलोक· प्रकीर्तित· ।
तदूर्ध्वं लान्तक· कल्पो, महाशुक्रस्ततः परम् ॥ ४५ ॥
देवलोकः सहस्रारो-ऽथाष्टमो रज्जुपञ्चके ।
एकेन्द्रौ चन्द्रवद्वृत्ता-वानतप्राणतौ ततः ॥ ४६ ॥
रज्जुषट्के नत· स्याता—मेकेन्द्रावारणाच्युतौ ।
चन्द्रवद्वर्तुलावेवं, कल्पा द्वादश कीर्तिताः ॥ ४७ ॥
ग्रैवेयकास्त्रयोऽधस्त्या-स्त्रयो मध्यमकास्तथा ।
त्रयश्चोपरितना· स्यु-रिति ग्रैवेयका नव ॥ ४८ ॥
अनुत्तरविमानानि, तदूर्ध्वं पञ्च तत्र च ।
प्राच्यां विजयमपाच्यां, वैजयन्तं प्रचक्षते ॥ ४९ ॥
प्रतीच्यां तु जयन्ताऽऽख्य-मुदीच्यामपराजितम् ।
सर्वार्थसिद्ध तन्मध्ये, सर्वोत्तममुदीरितम् ॥ ५० ॥
स्थितिप्रभावलेश्याभि-र्विशुद्ध्यवधिदीप्तिभिः ।
सुखाऽऽदिभिश्च सौधर्मा-द्यावत्सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ ५१ ॥
पूर्वपूर्वत्रिदशेभ्य स्तेऽधिका उत्तरोत्तरे ।
हीनहीनतरा देह·-गतिगर्वपरिग्रहैः ॥ ५२ ॥
घनोदधिप्रतिष्ठाना·, विमाना· कल्पयोर्द्वयो· ।
त्रिषु वायुप्रतिष्ठाना·स्त्रिषु वायूदधिस्थिता· ॥ ५३ ॥
ते व्योमविहितस्थानाः, सर्वेऽप्युपरिवर्तिनः ।
इत्यूर्ध्वलोकविमान·प्रतिष्ठानविधि· स्मृतः ॥ ५४ ॥
सर्वार्थसिद्धात् द्वादश, योजनेषु हिमोज्ज्वला ।
योजनपञ्चचत्वारिं· शल्लक्षाऽऽयामविस्तरा ॥ ५५ ॥
मध्येऽष्टयोजनपिण्डाश्च, शुद्धस्फटिकनिर्मिता· ।
सिद्धशिलेषत्प्राग्भारा, प्रसिद्धा जिनशासने ॥ ५६ ॥
तस्या उपरि गव्यूत त्रितयेऽतिगते सति ।
तुर्यगव्यूतिषड्भागे, स्थिता सिद्धा निरामया· ॥ ५७ ॥
अनन्तसुखविज्ञान—वीर्यसद्दर्शना· सदा ।
लोकान्तस्पर्शिनोऽन्योन्या वगाढाः शाश्वताश्च ते ॥ ५८ ॥
एवं भव्यजनस्य लोकविषयामभ्यस्यतो भावनां,
संसारैकनिबन्धने न विषयग्रामे मनो धावति ।
किन्त्वन्यान्यपदार्थभावनसमुन्मीलत्प्रबोधोद्धुरं,
धर्मध्यानविधाविह स्थिरतरं तज्जायते सन्ततम् ॥ ५९ ॥"
( 'बोधिदुर्लभत्वभावना' 'बोहिदुल्लहत्तभावणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३३३ पृष्ठे गता । )

अथ धर्मकथकोऽर्हन्निति भावना—

" अर्हन्तःकेवलाऽऽलोका-ऽऽलोकिताऽऽलोकलोककाः ।
यथार्थं धर्ममाख्यातु, पटिष्ठा न पुनः परे ॥ १ ॥
वीतरागा हि सर्वत्र, परार्थकरणोधताः ।
न कुत्राप्यनृतं ब्रूयु-स्ततस्तद्धर्मसत्यता ॥ २ ॥
क्षान्त्यादिभिर्दशैर्धर्मं च. दशधा जगदुर्जिनाः ।
यं कुर्वन् विधिना जन्तु-र्भवाब्धौ न निमज्जति ॥ ३ ॥
पूर्वापरविरुद्धानि, हिंसाऽऽदेः कारकाणि च ।
वचांसि चित्ररूपाणि, व्याकुर्वद्भिर्निजेच्छया ॥ ४ ॥
कुतीर्थिकैः प्रणीतस्य. सद्गतिप्रतिपन्थिनः ।
धर्मस्य सकलस्यापि, कथं स्वाख्यातता भवेत् ? ॥ ५ ॥
यच्च तत्समये क्वापि, दयासत्याऽऽदिपोषणम् ।
दृश्यते तद्वचोमात्रं, बुधैर्ज्ञेयं न तत्त्वतः ॥ ६ ॥
यत्रोद्दाममदान्धसिन्धुरघटं साम्राज्यमासाद्यते,
यन्निःशेषजनप्रमोदजनकं सम्पद्यते वैभवम् ।
यत्पूर्णेन्दुसमद्युतिर्गुणगणः सम्प्राप्यते यत् परं,
सौभाग्यं च विजृम्भते तदखिलं धर्मस्य लीलायितम् ॥ ७ ॥
यन्न प्लावयति क्षितिं जलनिधिः कल्लोलमालाऽऽकुलो,
यत्पृथ्वीमखिलां धिनोति सलिलाऽऽसारेण धाराधरः ।
यच्चन्द्रोष्णरुची जगत्युदयतः सर्वान्धकारच्छिदे,
त निःशेषमपि ध्रुवं विजयते धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ ८ ॥
अबन्धूनां बन्धुः सुहृदसुहृदां सम्यगगदो,
गदार्त्तिक्लान्तानां धनमधनभावार्त्तमनसाम् ।
अनाथानां नाथो गुणविरहितानां गुणनिधिः,
जयत्येको धर्मः परमिह हितव्रातजनकः ॥ ९ ॥
अर्हता कथितो धर्मः, सत्योऽयमिति भावयन् ।
सर्वसम्पत्करे धर्मे, धीमान् दृढतरो भवेत् ॥ १० ॥ " ॥ १२ ॥
" एकामप्यमलामिमासु (?) सततं यो भावयेद्भावनां,
भव्यः सोऽपि निहन्त्यशेषकलुषं दत्तासुखं देहिनाम् ।
यस्त्वभ्यस्तसमस्तजैनसमयस्ता द्वादशाप्यादरा-
दभ्यस्येल्लभते स सौख्यमतुलं किं तत्र कौतूहलम् ? ॥ १ ॥ "
प्रव० ६७ द्वार ।

(४) आत्मभावना द्विधा—द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्य-
तस्तावदाह—

सरवेहआमहत्थी-पवगाईया उ भावणा दव्वे ।
अब्भास भावणा त्ति य, एगट्ठं तत्थिमा भावे ॥ ४६२ ॥

इह धानुष्को यदभ्यासविशेषात्प्रथमं स्थूलद्रव्यं, ततो बाल-
ग्रं कपर्दिकां, ततः सुनिमां, ततः स्वरेणाऽपि लक्ष्यस्य वे
धं करोति । यच्चाश्व शीघ्रं शीघ्रतरं धावमानः शिक्षावि-
शेषाद् महदपि गर्त्ताऽऽदिकं लङ्घयति, हस्ती वा शिष्यमाण'
प्रथम काष्ठानि , ततः क्षुल्लकान् पाषाणान् , ततो गोलिकां,
तदनु बाणान्, तदनन्तर सिद्धार्थानप्यभ्यासातिशयाद् गृ
ह्णाति । प्लवको वा प्रथम वंशे विलग्नः सन् प्लवते, ततः प-
श्चादभ्यस्यन्नाकाशेऽपि तानि तानि करणानि करोति । आ
दिशब्दाच्चित्रकराऽऽदिपरिग्रहः, एताः सर्वा अपि द्रव्यभा
वनाः । अभ्यास इति वा भावनेति वा एकार्थम् । तत्रैता
वक्ष्यमाणलक्षणा भावना भावे मन्तव्या ॥ ४६२ ॥

ता एवाऽऽह—

दुविहा उ भावणाओ, असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य ।
मुत्तूण संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठाएँ भावेति ॥ ४६३ ॥

द्विविधा भावतो भावना —असंक्लिष्टाः शुभाः, संक्लिष्टा-
श्चाशुभाः । तत्र मुक्त्वा संक्लिष्टभावनाः असंक्लिष्टाभिर्भाव-
नाभिर्भावयति जिनकल्पं प्रतिपित्सुरिति ॥ ४६३ ॥

अथ कास्ता संक्लिष्टभावना इत्याशङ्काऽपनोदाय तत्-
स्वरूपमभिधित्सुराह—

संखा य परूवणया, होइ विवेगो य अप्पसत्थासु ।
एमेव पसत्थासु वि, जत्थ विवेगो गुणा तत्थ ॥ ४६४ ॥

अप्रशस्तभावनानां संख्या पञ्चेतिलक्षणा निरूपणीया ,
प्ररूपणा च तासां कर्त्तव्या, तासां चाऽप्रशस्तानां विवेक.
परिहारो भवति । एवमेव प्रशस्तास्वपि तपःप्रभृतिभावना-
सु संख्या प्ररूपणा च वक्तव्या; नवरं ( जत्थ विवेगो त्ति )
यत्र विवेक इति पदं तत्राप्रशस्ता एव भावना द्रष्टव्या-
स्ता विवेक्तव्याः परित्याज्या इति भाव्या. ( गुणा नत्थि त्ति )
यासु प्रशस्ता भावनाः तासु भाव्यमानासु गुणाः खेदविनो-
दाऽऽदय. प्रागुक्ता भवन्तीति चूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यानम् ।
विशेषचूर्ण्यभिप्राय पुनरयम्-यत्र च प्रशस्तेऽपि वस्तुनि
विवेकपरित्यागोऽस्य घटते तत्र गुणा भवन्ति, यथाऽऽचार्या-
ऽऽदीनामवर्णभाषणश्रावणे औदासीन्यमवलम्बमानस्याप्य-
स्य गुण एव भवति , न पुन. स्थविरकल्पिकस्येव यथाशक्ति
तन्निवारणमकुर्वतो दोष इति ॥ ४६४ ॥

अथाप्रशस्तभावनानां नामग्राहं गृहीत्वा संख्यामाह—

कंदप्पदेवकिब्बिस-अभिओगा आसुरा य संमोहा ।
एसा य संकिलिट्ठा, पंचविहा-भावणा भणिया ॥वृ०॥

एषाऽप्रशस्ता पञ्चविधा भावना तत्स्वभावाभ्यासरूपा भ-
णिता ॥ ४६५ ॥

(५) अथासामेव फलमाह

जो संजओ वि एआ-सु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥४६६॥

यः संयतोऽपि व्यवहारतः साधुरप्येताभिरप्रशस्ता—
भिर्भावनाभि. , गाथाया तृतीयाऽर्थे सप्तमी । भावनमा-
त्मनो वसनं करोति , स तद्विधेषु तादृशेषु कान्द—
र्पिकाऽऽदिषु सुरेषु गच्छति, यस्तु चरणरहित' सर्वथा
चारित्रसत्ताविकलो द्रव्यचरणहीनो वा स भाज्य. त—
द्विधेषु वा देवेषूत्पद्यते , नरकतिर्यग्मनुष्येषु वा ॥ ४६६ ॥
वृ० १ उ० २ प्रक० ।

अथाऽऽसां भावनानां सामान्यत. फलमाह—

एआओ ˘ भावणाओ, भावित्ता देवदुग्गइं जंति ।
तत्तो वि चुया संता, पर्यंरिति भवसागरमणंतं ॥ ५२६ ॥

एता भावना भावयित्वा अभ्यस्य देवदुर्गतिं कान्दर्पिकाऽऽ-
दिदेवगतिरूपां यान्ति संयता अपि, ततोऽपि देवदुर्गतेश्च्यु-
ता. सन्त पर्यटन्ति भवसागरं संसारसमुद्रमनन्तमिति ।
उक्ता अप्रशस्ता भावना ।

सम्प्रति प्रशस्तभावना अभिधित्सुराह--

तवेण सुत्तेण, एगत्तेणं बलणे य ।

तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ ।।५२०।। बृ० १ उ० २ प्रक०। विशे०। व्य०। पं० व०। ध०। ( व्याख्या 'जिणकप्प' शब्दे ४भागे १४६६ पृष्ठे गता )

( ६ ) मैत्र्यादिकाश्चतुर्विधा अपि भावनाः—

इति चेष्टावत उच्चै-र्विशुद्धभावस्य सद्यतेः क्षिप्रम् ।

मैत्रीकरुणामुदितो-पेक्षाः किल सिद्धिमुपयान्ति।।७।।

इत्येवमुक्तप्रकारेण चेष्टावतः साधुचेष्टायुक्तस्य उच्चैरत्यर्थं विशुद्धभावस्य विशुद्धाध्यवसायस्य सद्यतेः सत्साधोः क्षिप्रमचिरेणैव मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाः पूर्वोक्ताश्चतस्रो भावनाः किल सिद्धिमुपयान्ति, किलेत्याप्ताऽऽगमवादो, निष्पत्तिं प्रतिलभन्ते ॥ ७॥ षो० १३ विव०।

( ७ ) अथ भवान० पञ्चविंशतिः। तद्यथा—

इरियासमिए १ सया जए य,

उवेहि भुंजेज्ज व पाणभोयणं २ ।

आयाणनिक्खेवदुगंछ ३ संजए,

समाहिए ४ संजयए मणो वई ॥ ५ ॥ ॥ ४३ ॥

अहस्स सच्चे ६ अणुवीय भासए ७,

जे कोह८लोह९भयमेव१०वज्जए ।

से दीहरायं समुपेहिया सया ,

मुणी हु मोसं परिवज्जए सिया ॥ ११ ॥ ॥ ४४ ॥

सयमेव ओग्गहजायणे घडे ,

मइमम्मि सम्मा १२ सइ भिक्खुउग्गहं १३

अणुन्नवि यं भुंजीय पाणभोयणं १४ ,

जाइत्तु साहम्मियाण भोयणं ॥ १५ ॥ ॥ ४५ ॥

आहारगुत्तो १६ अविभूसियप्पा १७ ,

इत्थिं न निज्झाए १८ न संथवेज्जा १९ ।

बुद्धे मुणी खुड्डकहं न कुज्जा २० ,

धम्माणुप्पेही संधए बंभचेरं ॥ ४६ ॥

जे सद्द २१ रूव २२ गंध २३ मागए २४ ,

फासे य संपप्प मणुण्णपावए २५ ।

गेहिप्पओसं न करेज्ज पंडिए ,

से होइ दंते विरए अकिंचणे ॥ ४७ ॥

प्राणातिपाताऽऽदिविनिवृत्तिलक्षणमहाव्रतानां दार्ढ्याऽऽपादनार्थं भाव्यन्तेऽभ्यस्यन्ते इति भावना ,अनभ्यस्यमानाभिर्भावनाभिरनभ्यस्यमानविद्यावन्मलीमसीभवन्ति महाव्रतानीति। ताश्च प्रतिमहाव्रतं पञ्च पञ्च भवन्ति। तत्र प्रथममहाव्रतस्य ताः कथ्यन्ते-ईरणं ईर्या गमनं, तत्र समित उपयुक्तः, असमितो, हि प्राणिनो हिंस्यादिति प्रथमा भावना। तथा सदा सर्वकालं यत० सम्यगुपयुक्तः सन् ' उवेहि त्ति ' अवलोक्य भुञ्जीत, वाशब्दाद् गृह्णीत वा, पानभोजनम् । अयमर्थः—प्रतिगृहं पात्रमध्यपतितः पिण्डश्चक्षुराद्युपयुक्तेन तत्समुत्थाऽऽगन्तुकसत्त्वरक्षणार्थं प्रत्यवेक्षणीयः, आगत्य च वसतौ पुन० प्रकाशवति प्रदेशे स्थित्वा सुप्रत्युपेक्षितं पानभोजनं विधाय प्रकाशप्रदेशावस्थितेन भोक्तव्यम् , अनवलोक्य भुञ्जानस्य हि प्राणिहिंसा सम्भवतीति द्वितीया । तथा आदाननिक्षेपौ पात्राऽऽदेर्ग्रहणमोक्षावागमप्रतिषिद्धौ जुगुप्सति न करोतीति आदाननिक्षेपजुगुप्सकः, आगमानुसारेण प्रत्यवेक्षणप्रमार्जनपूर्वमुपयुक्तः सन्नुपधेरादाननिक्षेपौ करोतीत्यर्थः। जुगुप्सको हि सत्त्वव्यापादनं विदध्यादिति तृतीया। तथा संयतः साधुः समाहितः समाधानपरः सन् संयतते प्रवर्तयत्यदुष्टं मनो, दुष्टं हि मनः क्रियमाणं कायसंलीनताऽऽदिकेऽपि सति कर्मबन्धाय सम्पद्यते। श्रूयते हि प्रसन्नचन्द्रो राजर्षिर्मनोगुप्त्यभाविताऽहिंसाव्रतो ,हिंसामकुर्वन्नपि सप्तमनरकपृथ्वीयोग्यं कर्म निर्मितवानिति चतुर्थी । एवं वाचमप्यदुष्टां प्रवर्तयेत् , दुष्टा प्रवर्तयन् जीवान् विनाशयेदिति पञ्चमी । तत्त्वार्थे तु अस्याः स्थाने एषणासमितिलक्षणा भावना भणिता । इति प्रथमव्रतभावनाः पञ्च।

अथ द्वितीयमहाव्रतभावना भण्यन्ते-अत्र हास्यं परिहरति सत्य० सत्यवाक् , हास्येन ह्यनृतमपि ब्रूयादिति प्रथमा । तथा अनुविचिन्त्य सम्यग्ज्ञानपूर्वकं पर्यालोच्य भाषको वक्ता, अनालोचितभाषी हि कदाचिन्मृषाऽप्यभिदधीत, तत्राऽऽत्मनो वैरपीडाऽऽद्यः सत्त्वोपघातश्च भवेदिति द्वितीया। तथा यः क्रोधं लोभं भयमेव वा वर्जयेत् परिहरेत् स एव मुनिर्दीर्घरात्रं मोक्षं समुपेक्षिता सामीप्येन मोक्षावलोकनशीलः सन् सदा सर्वकालं ' हु ' निश्चयेन 'मोसं' ति अनृतस्याऽऽलाक्षणिकत्वान्मृषापरिवर्जक० ' सिया ' स्यात्। अयमर्थ० क्रोधपरवशो हि वक्ता स्वपरनिरपेक्षो यत्किञ्चन भाषी मृषाऽपि भाषते । अत० क्रोधस्य निवृत्तिरनुत्पादो वा श्रेयानिति तृतीया ३ । तथा लोभाभिभूतचित्तोऽप्यर्थकाङ्क्षया कूटसाक्षित्वाऽऽदिना वितथभाषी भवति, अत्र सत्यव्रतमनुपालयता लोभः प्रत्याख्येय इति चतुर्थी ४। तथा भयार्त्तः प्राणाऽऽदिरक्षणेच्छया सत्यवादिता व्यभिचरति, अतो निर्भयवासनाऽऽधानमात्मनि विधेयमिति पञ्चमी ५। इति द्वितीयमहाव्रतभावना। अथ तृतीयमहाव्रतभावना० प्रोच्यन्ते-तत्र स्वयमेवाऽऽत्मनैव , न तु परमुखेन साधुः प्रभुं प्रभुसन्दिष्टं वा सम्यक्परिज्ञाय अवग्रहस्य देवेन्द्रराजगृहपतिशय्यातरसाधर्मिकभेदभिन्नस्य याचने याञ्चायां प्रवर्त्तते, परमुखेन हि याचनेऽस्वामियाचने च परस्य विरोधेन च अकाण्डघटनाऽऽदयोऽदत्तपरिभोगाऽऽदयश्च दोषा इति प्रथमा १। तथातत्रैवानुज्ञापितावग्रहे तृणाऽऽदिग्रहणार्थं मतिमान् घटेत चेष्टेत निशम्याऽऽकर्ण्यावग्रहप्रदातुस्तृणाऽऽद्यनुज्ञावचनम् , अन्यथा तददत्तं स्यादिति द्वितीया २ । तथा सदा सर्वकालं भिक्षुरवग्रहस्पष्टमर्यादया याचेत् । अयमर्थ-सकृद्दत्तेऽपि स्वामिनाऽवग्रहे भूयो भूयोऽवग्रहयाचनं कर्त्तव्यम् । पूर्वलब्धेऽवग्रहे ग्लानाऽऽद्यवस्थाया मूत्रपुरीषोत्सर्गपात्रकचरणप्रक्षालनस्थानानि दायकचित्तपीडापरिहारार्थं याचनीयानीति तृतीया ३। तथा ऽनुज्ञाप्य गुरुमन्य वा भुञ्जीत पानभोजनम् । अयमर्थः-सूत्रोक्तेन विधिना प्रासुकमेषणीय च लब्धमानीयाऽऽलोचनापूर्वं गुरवे निवेद्य गुरुणाऽनुज्ञातो मण्ड-

स्यामेकको वाऽश्नीयात्, उपलक्षणमेतत्, अन्यदपि यत्किञ्चिदौधिकोपग्रहिकभेदमुपकरणं धर्मसाधनं तत्सर्वं गुरुणाऽनुज्ञातमेव भोक्तव्यम्, अन्यथा दत्तमेव परिभुक्तं स्यादिति चतुर्थी ४। तथा समानो धर्मः सधर्मस्तेन चरन्तीति साधर्मिकाः प्रतिपन्नैकशासनाः संविग्नाः साधवः, तेषां पूर्वपरिगृहीतक्षेत्राणामवग्रहं मासाऽऽदिकालमाने पञ्चक्रोशाऽऽदिक्षेत्ररूपं याचित्वा स्थानाऽऽदि भोजनं वा कार्यं,तदनुज्ञातं हि तत्र उपाश्रयाऽऽदि समस्तं गृह्णीयात्, अन्यथा चौर्यं स्यादिति पञ्चमी ५। एतास्तृतीयव्रतभावनाः पञ्च । इदानीं चतुर्थव्रतभावनाः प्रतिपद्यन्ते—तत्र आहारे गुप्तः स्यात्, न पुनः स्निग्धमतिमात्रं भुञ्जीत, यतो निरन्तरस्निग्धस्निग्धमधुररसप्रीणितः प्रधानधातुपरिपोषणेन वेदोदयादब्रह्मापि सेवते, अतिमात्राऽऽहारस्य तु न केवलं ब्रह्मव्रतविलोपविधायित्वाऽऽदर्शनं, कायक्लेशकारित्वादपीति प्रथमा १। तथा अविभूषिताऽऽत्मा विभूषाविरहितः, देहस्नानविलेपनाऽऽदिविविधविभूषानिरतो हि नित्यमुद्रिक्तचित्ततया ब्रह्मविराधकः स्यादिति द्वितीया २। तथा स्त्रियं न निरीक्षेत, तद्व्यतिरेकात्तदङ्गान्यपि वदनस्तनप्रभृतीनि सस्पृहं न प्रेक्षेत, निरन्तरमनुपमवनिताऽवयवविलोकने हि ब्रह्मबाधासम्भव इति तृतीया ३। तथा स्त्रियं न संस्तुवीत, स्त्रीभिः सह परिचयं न कुर्यात्, तत्संसक्तवसतितदुपभुक्तशयनाऽऽसनाऽऽदिसेवनेन, अन्यथा ब्रह्मव्रतभङ्गः स्यादिति चतुर्थी ४। तथा बुद्धोऽवगततत्त्वो मुनिः क्षुद्रामप्रशस्यां ब्रह्मचर्यप्रस्तावात् स्त्रीविषयां कथां न कुर्यात्, तत्कथाऽऽसक्तस्य हि मानसोन्मादः सम्पद्येत इति पञ्चमी ५। एताभिः पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितान्तःकरणो धर्मानुप्रेक्षी धर्मसेवनतत्परः साधुः सन्धत्ते सम्यक्पुष्टिं नयति ब्रह्मचर्यमिति चतुर्थव्रतभावना ४। अथ पञ्चमव्रतभावना निगद्यन्ते-तत्र यः साधुः शब्दरूपरसगन्धान् आगतान् इन्द्रियविषयीभूतान्, मकारोऽयमलाक्षणिकः, स्पर्शांश्च सम्प्राप्य समासाद्य मनोज्ञान् मनोहारिणः पापकान् विरूपान् इष्टानिष्टांश्चेत्यर्थः, गृद्धिमभिष्वङ्गलक्षणं, प्रद्वेषं चाप्रीतिलक्षणं यथाक्रमं न कुर्यात् पण्डितो विदितत्त्वः सन्, स दान्तो जितेन्द्रियो विरतः सर्वसावद्ययोगेभ्यो भवत्याकिञ्चनः किञ्चनबाह्याऽऽभ्यन्तरपरिग्रहभूतं नास्यास्तीति व्युत्पत्त्या परिग्रहविरतिव्रतवानित्यर्थः। अन्यथा शब्दाऽऽदिषु मूर्च्छाऽऽदिसद्भावात् पञ्चमव्रतविराधना स्यादिति पञ्चसु विषयेष्वभिष्वङ्गप्रद्वेषवर्जनात् पञ्चमव्रतस्य पञ्च भावनाः, मिलितास्तु पञ्चविंशतिरिति। एताश्च समवायाङ्गतत्त्वार्थाऽऽदिषु किञ्चिदन्यथाऽपि दृश्यन्ते इति ॥ ४७ ॥ प्रव० ७२ द्वार।

इदानीम् 'असुहाओ पणवीसं ति' त्रिसप्ततं द्वारमाह-

> कंदप्पदेव १ किव्विस २,
> अभिओगा ३ आसुरी ४ य सम्मोह ५
> एसा हु अप्पसत्था,
> पंचविहा भावणा तत्थ ॥ ४८ ॥

कन्दर्पः कामस्तत्प्रधाना निरन्तरं निर्मर्यादनिरन्तरतया विटप्राया देवविशेषाः कन्दर्पास्तेषामियं कान्दर्पी। एवं देवानां मध्ये किल्बिषाः पापा अत एवास्पृश्याऽऽदिधर्मका देवाश्च,ते किल्बिषाश्च ते देवाः किल्बिषदेवास्तेषामियं किल्बिषी। आ- समन्तात् आभिमुख्येन युज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानीया देवविशेषास्तेषामियमाभियोगी। असुरा भवनवासिदेवविशेषास्तेषामियमासुरी। सम्मुह्यन्तीति सम्मोहा मूढाऽऽत्मानो देवविशेषास्तेषामियं सम्मोही। एषा हु स्फुटं पञ्चविधा पञ्चप्रकारा अप्रशस्ता सङ्क्लिष्टा भावना तत्तत्स्वभावाभ्यासरूपा, भणितेति शेषः। आसां च मध्ये संयतोऽपि सन् यो यस्यां भावनायां वर्त्तते कथञ्चित्सद्भावमान्द्यात् स तद्विधेष्वेव कन्दर्पाऽऽदिप्रकारेषु देवेषु गच्छति, चारित्रलेशप्रभावात्। उक्तं च "जो संजओ वि एया—सु अप्पसत्थासु वट्टइ कहिं चि। सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥ १ ॥" इति। यः पुनः सर्वथाऽपि चारित्ररहितः स भाज्यो विकल्पनीयः, कदाचित्तद्विधेष्वपि सुरेषूत्पद्यते,कदाचिच्च नारकतिर्यक्त्वमानुषेष्विति। एताश्च पञ्चापि भावनाः प्रत्येकं पञ्चविधाः।

> कंदप्पे १ कुक्कुइए २,
> दुस्सीलत्ते य ३ हासकरणे ४ य।
> परविम्हियजणणे वि य ५,
> कंदप्पोऽणेगहा तह य ॥४६॥

(प्रव०) (अस्या गाथायाः व्याख्या 'कंदप्प-भावणा' शब्दे तृतीयभागे १७७ पृष्ठे गता।)

(८) अथ दैवकिल्विषीं भावनां पञ्चविधामाह-

> सुयनाण १ केवलीणं २,
> धम्मायरियाण ३ संघ ४ साहूणं ५।
> माई अवण्णवाई,
> किव्विसिणं भावणं कुणइ ॥ ५० ॥

श्रुतज्ञानस्य द्वादशाङ्गीरूपस्य, केवलिनां केवलज्ञानवतां, धर्माऽऽचार्याणां धर्मोपदेष्टॄणां, सङ्घस्य साधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमुदायरूपस्य, साधूनां यतीनाम्, अवर्णवादी मायी च स्वशक्तिनिगूहनाऽऽदिना मायावान्, दैवकिल्विषीं भावनां करोति। तत्र अवर्णः- अश्लाघा, असद्दोषोद्घट्टनमिति यावत्। स चैवं श्रुतज्ञानस्य-पृथिव्यादयः कायाः षड्जीवनिकायामपि व्यावर्ण्यन्ते, शस्त्रपरिज्ञाऽध्ययनाऽऽदिष्वपि बहुशस्त एव। एवं व्रतान्यपि प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि तान्येव पुनः पुनस्तेषु सूत्रेषु प्रतिपाद्यन्ते। तथा त एव प्रमादा मद्याऽऽदयः, अप्रमादाश्च तद्विपक्षभूता भूयो भूयश्च तत्र तत्र कथ्यन्ते, न पुनरधिकं किञ्चनापीति पुनरुक्तदोषात्, यच्च मोक्षार्थं घटयितव्यमिति कृत्वा किं सूत्रे सूर्यप्रज्ञप्त्यादिना ज्योतिःशास्त्रेण ?, तथा मोक्षार्थमभ्युद्यतानां यतीनां किं योनिप्राभृतोपनिबन्धेन ?, भवहेतुत्वाज्ज्योतिर्योनिप्राभृतप्रभृतीनामिति। उक्तं च—" काया वया य तच्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य। मोक्खाहिगारियाण, जोइसजोणीहिं किं कज्जं ? ॥ १ ॥" केवलिनामवर्णवादो यथा-किमेतौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः, उत युगपत् ?, तत्र यदि क्रमेणेति पक्षः कक्षीक्रियते, तदा ज्ञानकाले न दर्शनं, दर्शन-

काले च न ज्ञानमिति परस्परा॒ऽऽवरणतैव प्राप्ता । अथ युगपदिति द्वितीय पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, यत एककालत्वाद् द्वयोरप्येकताऽऽपत्तिः प्राप्नोति । उक्तं च-" एगतरसमुप्पाए, अन्नोन्नाऽऽवरणया दुवेराहं पि । केवलदंसणणाणाणमेगकाले य एगत्त ॥१॥ " धर्माऽऽचार्याणामवर्णवादो यथा-न शोभनैतेषा जातिः, नैते लोकव्यवहारकुशला., न चैते औचित्य विदन्तीत्यादि विविधं गुरून् प्रतिभाषते, न चैतेषां विनयवृत्त्या वर्त्तते । तथा अहिताश्छिद्राण्यन्वेषयन् सर्वसमक्षं गुरूणामेवासतोऽपि दोषान् वदति, सर्वदैव च तेषां प्रतिकूलतामाचरतीति । उक्तं च-" जच्चाईहिँ अवन्नं, विभासइ वट्टइ न यावि उववाए । अहिओ छिद्दप्पेही, पगासवाई अणणुकूलो ॥ १ ॥ " सङ्घस्यावर्णवादो यथा—बहवश्च पशुशृगालाऽऽदीना सङ्घाः, तत्कोऽयमिह सङ्घो भवतामाराध्य इत्यादि वदति । साधूनामवर्णवादो यथा—नामी साधव परस्परमपि सहन्ते, अत एव देशान्तरं परस्परस्पर्धया परिभ्रमन्ति, अन्यथा एकत्रैव संहत्या तिष्ठेयु.। मायावितया सर्वदैव लोकाऽऽवर्जनाय मन्दगामिनः, महतोऽपि च प्रकृत्यैव निष्ठुरोः, तदैव रुष्टास्तदैव तुष्टाश्च । तथा गृहिभ्यस्तैस्तैश्चाटुवचनैरात्मानं रोचयन्ति, सर्वदा सर्ववस्तुसञ्चयपराश्च ।

उक्तं च—

" अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवित्ती य अवि गुरूणं पि ।
खणमित्तपीइरोसा, गिहिवच्छलगा य संजयगा ॥ १ ॥ "

अन्यैरप्युक्तम्—

" अनित्यताशब्दमुदाहरन्ति,
भग्ना च तुम्बीं परिशोधयन्ति ।
यथा तथाऽन्यं च विकत्थयन्ति,
हरीतकीं नैव परित्यजन्ति ॥ १ ॥

अन्यत्र तु ' सव्वसाहूणं नि ' पठित्वा ' मायीती ' भिन्नैव पञ्चमी भावना प्रतिपादिता । यथा—" गूहइ आइसहावं, छायइ य गुणे परस्स संते वि । चोरो व्व सव्वसंकी, गूढाऽऽयारो हवइ माई ॥ १ ॥ "

अथ आभियोगी भावना पञ्चभेदामाह—

कोउए १ भूईकम्मे २,
पसिणेहिं ३ तह य पसिणपसिणेण ४ ।
तह य निमित्तेणं ५ चिय,
पंचवियप्पा भवे सा य ॥ ५१ ॥

अत्र सप्तमी तृतीयाऽर्थे, ततः कौतुकेन १ ' भूतिकर्मणा २ ' प्रश्नेन ३, प्रश्नाप्रश्नेन ४, निमित्तेन ५ च पञ्चविकल्पा पञ्चभेदा भवेत् सा च आभियोगिकी भावना । तत्र बालाऽऽदीना रक्षाऽऽदिकरणनिमित्तं स्नपनकरभ्रमणाऽऽभिमन्त्रणधूपक्षरणधूपदानाऽऽदि यत्क्रियते तत्कौतुकम् । उक्तं च-" विम्हवणहोमसिरपरि—रया य खारडहणाइँ धूवेइ । असरिसवे......दण, अवतासणउब्भमणबंधो ॥ १ ॥ " तथा च सति शरीरभाण्डकरक्षाऽर्थं भस्मसूत्राऽऽदिना यत्परिवेष्टनकरण तद् भूतिकर्म । उक्तं च-" भूईए मट्टियाए, व सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु । वसहीसरीरभंडय—रक्खाअभिओगमाईया ॥ १ ॥ " तथा यत्परस्य पार्श्वे लाभालाभाऽऽदि पृच्छ्यते, स्वयं वा अङ्गुष्ठदर्पणखड्गतोयाऽऽदिषु दृश्यते स प्रश्नः । उक्तं च—" पण्हो य होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं । अंगुट्ठउच्चिट्ठपए, दप्पणअसितोयकुड्डाई ॥ १ ॥ " तथा स्वप्ने स्वयं विद्यया कथितं, घण्टिकाऽऽद्यवतीर्णदेवतया वा कथितं सत् यदन्यस्मै शुभाशुभजीवितमरणाऽऽदि परिकथयति स प्रश्नाप्रश्नः । उक्तं च-" पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिद्धं कहेइ अन्नस्स । अहवा आइंखणिया-घंटियसिट्ठ परिकहेइ ॥ १ ॥ " तथा निमित्तमतीतानागतवर्तमानवस्तुपरिज्ञानहेतुर्ज्ञानविशेषः । उक्तं च—" तिविह होइ निमित्तं, तीयपडुप्पन्नऽणागयं चेव । तेण विणा वि न नेयं, नज्जइ तेण निमित्तं तु ॥ १ ॥ " एतानि च कौतुकभूतिकर्माऽऽदीनि गौरवाऽऽदिनिमित्तं कुर्वाणः साधुरभियोगनिर्वृत्तं कर्मावबध्नाति, अपवादपदेन तु गौरवरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निःस्पृहवृत्त्या यदाऽसौ करोति तदाऽसौ आराधक एव, उच्चं च—गोत्रं बध्नातीति तीर्थोन्नतिकरणात् । उक्तं च-" एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधे । बीयं गारवरहिओ, कुव्वइ आराहगुच्चं च ॥ १ ॥ "

अथ आसुरीं भावना पञ्चभेदामाह—

सइविग्गहसीलत्तं १,
संसत्ततवो २ निमित्तकहणं च ३ ।
निक्किविया वि य ४ अवरा,
पंचमगं निरणुकंपत्तं ५ , ॥ ५२ ॥

सदा विग्रहशीलत्वं १ संसक्ततप २ निमित्तकथनं च ३ निष्कृपताऽपि चापरा, पञ्चम च निरनुकम्पत्वमिति । तत्र सदा सर्वकाले विग्रहशीलत्वं , पश्चादननुतापितया क्षमणाऽऽदावपि प्रसत्त्यप्राप्त्या च विरोधानुबन्ध. । यदाह-"निच्चं विग्गहसीलो, काऊण य नाणुतप्पई पच्छा । न य खामिओ पसीयइ , सपक्ख परपक्खिओ वावि ॥ १ ॥ " तथा संसक्तस्य आहारोपधिशय्याऽऽदिषु सदा प्रतिबद्धभावस्य, आहाराऽऽद्यर्थमेव च तपोऽनशनाऽऽदितपश्चरणं संसक्तप. । यदाह—" आहारउवहिसेज्जा, जस्स य भावओ उ निच्चसंसत्तो । भावोवहओ कुणइ, तवोवहाण तु दिट्ठीए । १। " तथा त्रैकालिकस्य लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणविषयस्य निमित्तस्य कथनमभिमानाभिनिवेशाद् व्याकरणम् । यदाह-"तिविहनिमित्तं एक्केकं- छव्विहं जं तु वन्निय पुव्व । अभिमाणा भिनिवेसा, वागरिय आसुरं कुणइ ॥ १ ॥ " तथा स्थावराऽऽदिसत्त्वेष्वजीवप्रतिपत्त्या गतघृणः कार्यान्तरव्यासक्तः सन् गमनाऽऽसनाऽऽदि यः करोति, कृत्वा च नानुतप्यते केन विधुक्तः सन् स निष्कृपः, तद्भावो निष्कृपतया । यदाहुः-"चंकमणाईजुत्तो, सुनिक्किवो थावराइसत्तेसु । काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ॥ १ ॥" तथा यः कृपापात्रं कुतश्चिद्भैनोः कम्पमानमपि पर दृष्ट्वा क्रूरतया कठिनभावः सन्नानुकम्पाभाग्भवति स निरनुकम्पः, तस्य भावो निरनुकम्पत्वम् । यदाह-" जो उ पर कंपंतं,दट्ठूण न कंपए कढिणभावो । एसो य निरणुकंपो, पन्नत्तो वीयरागेहिं ॥ १ ॥ "

अथ सांमोही भावनां पञ्चविधामाह—

उम्मग्गदेसणा १ म-
ग्गदूसणं २ मग्गविपडिवत्ती य ३ ।

मोहो य ४ मोहजणणं ५,
एवं सा हवइ पंचविहा ॥ ५३ ॥

उन्मार्गदेशना१ मार्गदूषणं २ मार्गविप्रतिपत्तिः३ मोहः ४ मोहजननं च ५। एवं सा साम्मोही भावना भवति पञ्चविधा। तत्र पारमार्थिकानि ज्ञानाऽऽदीन्यदूषयन्नेव तद्विपरीतं धर्ममार्गं यदुद्दिशति सा उन्मार्गदेशना। आह च-" नाणाऽऽदि अदूसितो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं। उम्मग्गदेसगो ए- स आयअहिओ परेसिं च ॥ १ ॥" तथा पारमार्थिकं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं भावमार्गं, तत्प्रतिपन्नांश्च साधून् परिडतमानी स्वमनीषानिर्मितैर्जातिदूषणैर्यद् दूषयति तन्मार्गदूषणम्। आह च—" नाणाइतिहामग्गं, दूसइ जो जे य मग्गप डिवन्ना। अबुहो जाईए खलु, भणइ सो मग्गदूस त्ति ॥ १॥" तथा तमेव ज्ञानाऽऽदिमार्गमसद्दूषणैर्दूषयित्वा जमालिवद्देशत उन्मार्गं यत्प्रतिपद्यते सा मार्गविप्रतिपत्तिः। आह च—" जो पुण तमेव मग्गं, दूसित्ता अपंडिओ स तक्काए। उम्मग्गं पडिवज्जइ, विप्पडिवत्ती स मग्गस्स ॥ १॥" तथा निकाममुपहतमतिः सन्नतिगहनेषु ज्ञानाऽऽदिविचारेषु यन्मुह्यति, तच्च परतीर्थिकसम्बन्धिनीं नानाविधां समृद्धिमालोक्य मुह्यति स मोहः। आह च—" तह तह उवहयमइओ, मुज्झइ नाणचरणंतरालेसु। इड्ढीओ य बहुविहा, दट्ठुं जत्तो तओ मोहो ॥ १॥" तथा स्वभावेन कपटेन वा दर्शनान्तरेषु परस्य मोहमुत्पादयति तन्मोहजननम्। आह च—" जो पुण मोहेइ परं, सब्भावेणं कइतवेण वा। संमोहभावणा सो, पकरेइ अबोहिलाभाय ॥ १॥" एताश्च पञ्चविंशतिरपि भावनाः सम्यक्चारित्रविघ्नविधायित्वादशुभा इति यतिभिः परिहर्तव्याः। यदुक्तम्—"एयाउ विसेसेणं, परिहरइ चरणविग्घभूयाओ। एयानिरोहो उ चिय, सम्मं चरणं पि पावंति ॥१॥" इति। प्रव० ७३ द्वार।

भावणाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं ॥

भावनाभिर्महाव्रतसम्बन्धिनीभिः पञ्चविंशतिसंख्याभिः, अथवा अनित्यत्वाऽऽदिभिर्द्वादशप्रकाराभिरिति। उत्त० १९ अ०। आचा०। आ० चू०। स०। प्रश्न०। ध०। आव०।

( ९ ) सद्भावनाभावितस्य यद् भवति तद्दर्शयितुमाह-

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ ५ ॥

भावनाभिर्योगः सम्यक्प्रणिधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा-अन्तरात्मा यस्य स तथा, स च भावनायोगशुद्धाऽऽत्मा सन् परित्यक्तसंसारस्वभावो नौरिव जलोपर्यवतिष्ठते संसारोदन्वत इति। नौरिव-यथा जले नौरनिमज्जनत्वेन प्रख्याता एवमसावपि संसारोदन्वति न निमज्जतीति। यथा चासौ निर्यामिकाधिष्ठिताऽनुकूलवातेरिता समस्तद्वन्द्वापगमात्तीरमास्कन्दत्येवमायतचारित्रवान् जीवपोतः सदागमकर्णधाराधिष्ठितस्तपोमारुतवशात् सर्वदुःखाऽऽत्मकात् संसारात्त्रुट्यत्यपगच्छति मोक्षाऽऽख्यं तीरं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपमवाप्नोतीति ॥ ५ ॥

अपि च—

तिउट्टई उ मेधावी, जाणं लोगंमि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥ ६ ॥

स हि भावनायोगशुद्धाऽऽत्मा नौरिव जले संसारे परिवर्तमानस्त्रिभ्यो मनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यस्त्रुट्यति। यदिवा-अतीव सर्वबन्धनेभ्यस्त्रुट्यति मुच्यते अतिवर्तते संसारादतिवर्तेत, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वाऽस्मिन् लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके भूतग्रामलोके वा यत्किमपि पापकर्म सावद्यानुष्ठानरूपं तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्म तत् ज्ञपरिज्ञया जानन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तदुपादानं परिहरन् नतस्त्रुट्यति, तस्यैव लोकं कर्म वा जानतो नवानि कर्माण्यकुर्वतो निरुद्धाऽऽश्रवद्वारस्य विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वसंचितानि कर्माणि त्रुट्यन्ति, निवर्तन्ते वा, नव च कर्माकुर्वतोऽशेषकर्मक्षयो भवतीति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। तत्प्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चदशेऽध्ययने च। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स०। प्रश्न०।

भावनाविषयसूची-



भावणाजोग-भावनायोग-पुं०। योगभेदे. यो० बिं०। अष्ट०।

भावणाणाण-भावनाज्ञान-न०। भावनामयं ज्ञानं भावनाज्ञानम्। ज्ञानभेदे. षो० ११ विव०। ( तद्वक्तव्यता ' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १९८९ पृष्ठे गता )

भावणाभाविय-भावनाभावित-त्रि०। भावनाऽऽलोचना तया भावितो वासितः। प्रश्न० ५ संव० द्वार। आलोचनया वासिते. भावनयाऽभ्यासरूपया भावितो वासितः। अभ्यासेन वासिते, "सामग्गे विणयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया। अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्संतमुवागया ॥ ५२ ॥" उत्त० १४ अ०।

भावितभावन-त्रि०। भाविता भावना येनासौ भावितभावनः। पूर्वोत्तरनिपातस्यातन्त्रत्वात्। वासितेऽभ्यासे, उत्त० १४ अ०। प्रव०। अनु०।

भावणिसीह-भावनिशीथ-न०। भवनं भावः,निशीथमप्रकाशं, भाव एव निशीथं भावनिशीथम्। निशीथभेदे,नि० चू०१ उ०।

भावण्णु-भावज्ञ-पुं०। भावश्चित्ताभिप्रायस्तं जानातीति भावज्ञः। चित्ताभिप्रायज्ञातरि, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

भावतित्थ-भावतीर्थ-न०। संघे, विशे०। ( तस्य च यथा भावतीर्थत्वं तथा ' तित्थ ' शब्दे चतुर्थभागे २२४३ पृष्ठे उक्तम् )

भावत्थ-भावार्थ-पुं०। अभिप्रेतार्थे, आ०।

भावत्थव-भावस्तव-पुं०। भावः शुभपरिणामः प्रधानं यत्र स्तवे स भावस्तवः। यद्वा-भावेनान्तरप्रीत्या तथाविधक्षमेयोपशमापेक्षया सर्वविरतिदेशविरतिप्रतिपत्तिस्वभावेन स्तवो भावस्तव.। दर्श० ३ तत्त्व। शुभाध्यवसायेन स्तु-

तौ, आ० म० २ अ० । सयमे, प्रति० । परमार्थपूजायाम्, अध्यात्मपूजायाम्, चरणप्रतिपत्तौ च ।।" भावत्थवो चरणपडिवत्ती।" पञ्चा० ६ विव० । "भावत्थयाणुभावं, असेसभवभयक्खयकरं नाउं।" महा० ३ अ० । तद्रूपे स्तवभेदे च । प्रति० । दर्श० । पं० व० ।

भावत्थसंगय-भावार्थसंगत-त्रि० । भावस्तत्त्वमैदम्पर्यं तेन तद्रूपो वाऽर्थोऽभिधेयो भावार्थः । तेन संगतो युक्तः । भावार्थोपेते, पञ्चा० १ विव० ।

भावत्थिरकरण-भावस्थैर्यकरण-न० । चित्तस्थिरतासम्पादने, ध० । भावेन वा आशीर्वचनहेतुभूतेन प्रतिष्ठास्थैर्यकरणम् । भावहेतुकप्रतिष्ठायाम्, ध० २ अधि० ।

भावथेज्जकरण-भावस्थैर्यकरण-न० । 'भावत्थिरकरण' शब्दार्थे, ध० २ अधि० ।

भावदेव-भावदेव-पुं० । भावेन देवगत्यादिकर्मोदयजातपर्यायेण देवो भावदेवः । देवभेदे, भ० १२श० ९उ० । भावदेवा देवाऽऽयुष्कमनुभवन्तो वैमानिकाऽऽदयः । स्था० ५ठा० १उ० । पार्श्वनाथचरित्रकालिकाऽऽचार्यकथानकयोः कर्तरि आचार्ये, जै० इ० ।

भावपणिहि-भावप्रणिधि-पुं० । भावरूपप्रणिधौ, दश० ८अ० । (अत्र विस्तर 'पणिहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८१ पृष्ठे गत )

भावपण्णत्ति-भावप्रज्ञप्ति-स्त्री० । प्रज्ञप्तिभेदे, जं० १ वक्ष० । (अस्या वक्तव्यता 'पण्णत्ति' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८४ पृष्ठे गता )

भावपय-भावपद-पु० । भावरूपे पदे दश० २ अ० । ( भेदाः 'पय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०२ पृष्ठे गताः )

भावपवित्ति-भावप्रवृत्ति-स्त्री० । सारक्रियायाम्, पञ्चा० १८विव० ।

भावपहाण-भावप्रधान-त्रि० । परमार्थसारे, "बुधस्य भावप्रधान तु।" षो० १ विव० । शुभाऽध्यवसायकारे, पञ्चा० १४विव० । संवेगसारे, पञ्चा० १५ विव० । भाव आत्मपरिणामः प्रधानः साधकतमो यस्मिन् सः । शुभभावसाध्ये, पञ्चा० ४ विव० ।

भावपाण-भावप्राण-पु० । ज्ञानाऽऽदिषु, प्रज्ञा० १ पद । (अत्र विस्तरः 'पण्णवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८८ पृष्ठे गतः )

भावपिंड-भावपिण्ड-पु० । भावरूपे द्विविधे पिण्डे, पिं० । ( व्याख्या 'पिंड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ९१८ पृष्ठे गता )

भावपुरिस-भावपुरुष-पु० । पू: शरीरम् । पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः । भावतः पुरुषो भावपुरुषः । पारमार्थिकः पुरुषः । द्रव्याभिलापपुरुषाऽऽदिसर्वोपाधिरहिते शुद्धे जीवे, विशे० । आ० म० ।

भावपूया-भावपूजा-स्त्री० । पूजाभेदे, ध० २ अधि० । ( भावपूजाष्टकम् 'पूया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७३ पृष्ठे व्याख्यातम् )

भावपोग्गलपरियट्ट-भावपुद्गलपरावर्त्त-पुं० । पुद्गलपरावर्त्तभेदे, प्रव० १६२ द्वार० । प० सं० । कर्म० । ( तद्वक्तव्यता 'पोग्गलपरियट्ट' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १११३ पृष्ठे गता )

भावप्पमाण-भावप्रमाण-न० । भवनं भावो वस्तुनः परिणामो ज्ञानाऽऽदिश्च, प्रमितिः प्रमीयते अनेन प्रमीयते स इति वा प्रमाणम् । भाव एव प्रमाणं भावप्रमाणम्, भावसाधनपक्षे प्रमितिर्वस्तुपरिच्छेदस्तद्धेतुत्वाद् भावस्य प्रमाणता । प्रमाणभेदे, अनु० । ('से किं तं पमाणे?' इत्यादि सूत्रम् 'पमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४७२ पृष्ठे व्याख्यातम् )

भावप्पमाणणाम-भावप्रमाणनामन्-न० । भावो युक्तार्थकरणाऽऽदिको गुणः, स एव तद्द्वारेण वस्तुनः परिच्छिद्यमानत्वात् प्रमाणम्, तेन निष्पन्नं तदाश्रयेण निवृत्तं नाम भावप्रमाणनाम । नामभेदे, अनु० ।

से किं तं भावप्पमाणे ? । भावप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-सामासिए, तद्धियए, धाउए, निरुत्तिए ।

भावो युक्तार्थत्वाऽऽदिको गुणः स एव तद्द्वारेण वस्तुनः परिच्छिद्यमानत्वात् प्रमाणं तेन निष्पन्नं तदाश्रयेण निर्वृत्तं नाम सामासिकाऽऽदि चतुर्विधं भवतीति परमार्थः । अनु० ।

भावप्पडिवत्ति-भावप्रतिपत्ति-स्त्री० । भावेनान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्धः । भावानुबन्धे, ध० १ अधि० ।

भावबंध-भावबन्ध-पुं० । भावेन मिथ्यात्वाऽऽदिना भावस्य चोपयोगभावव्यतिरेकाज्जीवस्य बन्धो भावबन्धः । बन्धभेदे, भ० १८ श० ३ उ० । ( भावबन्धः 'बंध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११६५ पृष्ठे गतः )

भावब्भास-भावाभ्यास-पुं० । भावाना सम्यग्दर्शनाऽऽदीना भवोद्वेगेन भूयो भूयः परिशीलनम् । सम्यग्दर्शनाऽऽदीना भूयो भूयः परिशीलने, ध० १ अधि० ।

भावभेय-भावभेद-पु० । परिणामविशेषे, पञ्चा० ३ विव० ।

भावमल-भावमल-न० । कर्मसम्बन्धयोग्यतायाम्, द्वा० १३ द्वा० ।

भावरहिय-भावरहित-त्रि० । भावापेते, विशे० ।

भावलेस्सा-भावलेश्या-स्त्री० । अन्तरपरिणामे, भ० १२ श० ५ उ० ।

भावलोग-भावलोक-पुं० । औदयिकाऽऽदय एव भावा लोक्यमानत्वाद् भावलोकः । औदयिकाऽऽदिके, दश० १ अ० । स० ।

भावलोकमुपदर्शयति—

ओदइए उवसमिए, खइए य तहा खओवसमिए य ।
परिणामे सन्निवाए, य छव्विहो भावलोगो उ ।।

कर्मण उदयेन निर्वृत्त औदयिकः, तथा उपशमेन, कर्मण इति गम्यते, निर्वृत्त औपशमिक', क्षायेण निर्वृत्तः क्षायिकः, तथा क्षयेण कर्मांशस्य क्षयेण अनुदितस्योपशमेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिक, परिणाम एव पारिणामिकः, सन्निपातो द्वित्रिभावाना संयोगः, सन्निपाते भवः सान्निपातिकः, स च ओघतोऽनेकभेदोऽवसेय । अवरुद्धास्तु पञ्चदश भेदाः ।

उक्तं च—

"ओदइयं खओवसमे, परिणामे क्केक्को गतिचउक्के वि ।
खयजोगेण वि चउरो, तदभावो उवसमेणं ति ।। १ ।।
उवसमसेढी एक्को, केवलिणो वि य तहेव सिद्धस्स ।
अविरुद्धसन्निवाइय, भेदा एमेव पन्नरस ।। २ ।।"

एवमनेन प्रकारेण षड्विध षट्प्रकारो भावलोकः भाव एव लोको भावलोकः ।

तिव्वो रागो य दोसो, य उदितो जस्स जंतुणो ।
जाणीहि भावलोगं-मणंतजिणदेसिय सम्म ।।

तीव्र उत्कटो रागोऽभिष्वङ्गलक्षणो, द्वेषोऽप्रीतिलक्षणो यस्य जन्तो प्राणिन उदीर्यन्त प्राणिनं तेन भावेन लोक्य-

स्यात् जानीहि भावलोकमनन्तजिनदेशितमेकवाक्यतया अनन्तजिनकथितं सम्यक् अवैपरीत्येन । आ० म० २ अ० ।

भाववण-भावव्रण-पुं० । चरणातिचाररूपे क्षते, " भाववणतिगिच्छाए । " पञ्चा० १६ विव० ।

भावविजय-भावविजय-पुं० । विमलहर्षवाचकस्य वंशपरम्परायां भवे स्वनामख्याते आचार्य्ये , कल्प० । तथा च कल्पसूत्रवृत्तौ—

"समशोधयंस्तथैनां, पण्डितसंविग्नसहृदयवतंसाः ।
श्रीविमलहर्षवाचक—वंशे मुक्तामणिसमानाः ॥ १३ ॥
धिषणानिर्जितधिषणाः, सर्वत्र प्रसृतकीर्त्तिकर्पूराः ।
श्रीभावविजयवाचक-कोटीराः शास्त्रवस्तुनिकषाः ॥१४ ॥ "
कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

भावविज्ज-भाववैद्य-पुं० । तात्त्विकवैद्ये, " तह वि पुण भावविज्जा , तेसिं अवणिंति तं वाहिं ।" पं० व० ४ द्वार ।

भावविणिवेस-भावविनिवेश-पुं० । सदन्तःकरणविनिवेशे , षो० ८ विव० ।

भावविण्णत्ति-भावविज्ञप्ति-स्त्री० । भावः सत्ता तल्लक्षणं स्वं स्वमसाधारणं स्वरूपं तस्य विशेषेण ज्ञापना विज्ञप्तिर्विज्ञानं परिच्छेदः । भावपरिच्छेदे , " भावविण्णत्तिकारणमनंतं । " नं० । आ० म० ।

भावविभत्ति-भावविभक्ति-स्त्री० । विभक्तिभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ( तद्भेदान् ' विभत्ति ' शब्दे वक्ष्ये )

भावविसोहि-भावविशोधि-स्त्री० । अरक्तद्विष्टबुद्धौ, ( भावशुद्धया प्रवर्त्तमानस्य न कर्मबन्ध इत्यस्य निराकरणं ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे ३३१ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ) " एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ ३ उ० । परिणामविशुद्धौ , " भावविसुद्धिसमेया ।" पञ्चा० १२ विव० । भावस्याऽऽत्मपरिणामस्य जलमिव वस्त्रस्य विशोधिकारणत्वात् भावविशोधिः । महाव्रतोच्चारणे, ध० ३ अधि० । पा० । प्रत्याख्यानशुद्धिभेदे च । आव० ६ अ० । ( तत्स्वरूपं 'भावसुद्धि ' शब्दे वक्ष्यते )

भावसंथव-भावसंस्तव-पुं० । संस्तवभेदे, नि० चू० ५ उ० । ( वक्तव्यता 'संथव' शब्दे )

भावसंधय-भावसंधक-पुं० । भावो मोक्षस्तत्संधकः । आत्मनो मोक्षाऽऽसन्नकारिणि दश० ६ अ० ४ उ० ।

भावसंवर-भावसम्वर-पुं० । भावेन तत्त्ववृत्त्या सम्वरो भावसम्वरः । तत्त्ववृत्त्या सम्वरे, सू० ।

अथ भावसम्वरमाह—

नाणेण सव्वभावा, नज्जंते जे जहिं जिणक्खाया ।
नाणी चरित्तगुत्तो, भावेण उ संवरो होइ ॥

ज्ञानेन सर्वेऽप्यशेषा हिताहितरूपा भावा ज्ञायन्ते ये यत्रोपयोगिनो जिनैराख्याताः , अत एव ज्ञानी चारित्रगुप्तो भावेन तत्त्ववृत्त्या सम्वरो भवति, गुणगुणिनोरभेदविवक्षयादेवं निर्देशः । सू० १ उ० २ प्रक० ।

भावसच्च-भावसत्य-न० । शुद्धान्तराऽऽत्मतारूपे पारमार्थिकावितथत्वे, भ० १७ श० ३ उ० । प्रश्न० । उत्त० । भावलिङ्गशुद्धिरूपे अनगारगुणभेदे, आव० ४ अ० ।

भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ, भावविसोहीए वट्टमाणे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अरिहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥ ५० ॥

भावसत्येन शुद्धान्तराऽऽत्मतारूपेण पारमार्थिकावितथत्वेन भावविशुद्धिं विशुद्धाध्यवसायाऽऽत्मिकां जनयति, भावविशुद्धौ वर्त्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्म्मस्याऽऽराधनयाऽनुष्ठानेनाभ्युत्तिष्ठते मुक्त्यर्थमुत्सहते । यदि वा आराधनायै-आवर्जनार्थमभ्युत्तिष्ठते, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्म्मस्याराधनयाऽऽराधनायै वाऽभ्युत्थाय परलोके भवान्तररूपे धर्म्मःपरलोकधर्म्मस्तस्य, पाठान्तरतः-परलोके वाऽऽराधको भवति, प्रेत्य जिनधर्मावाप्त्या विशिष्टभवान्तरप्राप्त्या चेति भावः ५० । उत्त० २९ अ० । भावभूयिष्ठेशुक्लाऽऽदिपर्य्यायमाश्रित्य सत्यं भावसत्यम् । सत्यभेदे, यथा सत्यपि पञ्चवर्णसंभवे शुक्लवर्णस्योत्कटत्वाच्छुक्ला बलाकेति । स्था० १० ठा० । भावतो वर्णाऽऽदिरूपात् सत्या भावसत्या, यत्र यो भावो वर्णाऽऽदिरुत्कटस्तेन सत्येति यावत् । भाषाभेदे, स्त्री० । यथा सत्यपि पञ्चवर्णसम्भवे शुक्लवर्णस्योत्कटत्वाच्छङ्खः शुक्ल इत्यादि । ध० ३ अधि० ।

भावसम्मत्त-भावसम्यक्त्व-न० । जीवाऽऽदिसकलतत्त्वपरिशोधनरूपज्ञानाऽऽत्मकं भावसम्यक्त्वम् । सम्यक्त्वभेदे, ध० २ अधि० । पं० व० ।

भावसमोसरण-भावसमवसरण-न० । भावानामौदयिकाऽऽदीनां समवसरणमेकत्र मेलको भावसमवसरणम् । औदयिकाऽऽदिभावनामेकत्र मेलके, " भावसमोसरणे पुण, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि ।" सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

भावसल्ल-भावशल्य-न० । " सम्मं दुच्चरिअस्सा—परसक्खिअमप्पगासणं जं तु । एवं च भावसल्लं, पणत्तं वीयरागेहिं ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे स्वकृतदुश्चरितस्य सम्यक् परसाक्षिकाप्रकाशनरूपे शल्यभेदे, ध० २ अधि० ।

भावसागर-भावसागर-पुं० । स्वनामख्याते आचार्य्ये, " सद्गच्छपुष्करदिवाकरभीपु * तुल्याः श्रीभावसागरबुधप्रथिताभिधानाः । " द्रव्या० ११ अध्या० । अञ्चलगच्छे श्रीसिद्धान्तसूरिशिष्ये , अयं वैक्रमीये १५१० वर्षे जातः, १५८३ वर्षे च स्वर्गतः । जै० इ० ।

भावसार-भावसार-पुं० । भावगर्भे, पञ्चा० ६ विव० । प० सू० ।

भावसावग-भावश्रावक-पुं० । यथार्थाभिधानश्राद्धे, ध० र० ।

कयवयकम्मो तह सी-लवं च गुणवं च उज्जुववहारी ।
गुरुसुस्सूसो पवयण-कुसलो खलु सावगो भावे ॥ ३३ ॥

कृतमनुष्ठितं व्रतविषयं कर्म कृत्यं वक्ष्यमाणं येन स कृतव्रतकर्मा १, तथा शीलवानपि व्याख्यास्यमानस्वरूपः २,गुणवान् विवक्षितगुणोपेतः ३, चकारः समुच्चये, भिन्नक्रमश्च । तत ऋजुव्यवहारी च सरलमनाश्च ४, गुरुशुश्रूषो गुरुसेवाकारी ५, प्रवचनकुशलो जिनमततत्त्ववित्, खलुरवधारणे-



* भीपुरिति चिन्त्यम्; भभीपुशब्दस्य किरणाऽर्थकत्वात् , भानुरित्येतेऽवाप्योरेवापमर्गयो रल्लोपविधानाच्च ।

एवंविधः श्रावको भवति भावे भावविषये भावश्रावक इति गाथाऽक्षरार्थः ॥ ३३ ॥ ध० र० २ अधि० १ लक्ष० ।

एसो पवयणकुसलो, छब्भेत्रो मुणिवरेहिँ निद्दिट्ठो ।
किरियागयाइँ छ च्चिय, लिंगाइं भावसड्ढस्स ॥ ५५ ॥

एष उक्तस्वरूपःप्रवचनकुशलः षड्भेदः षट्प्रकारो मुनिवरैः पूर्वाऽऽचार्यैः निर्दिष्टस्ततश्चावसितं भावश्रावकलिङ्गषट्प्रकरणमित्येतद्दर्शयन्नाह- क्रियागतानि क्रियोपलक्षणानि ' चिय ' शब्दस्यावधारणार्थत्वात् षडेव, लिङ्गानि लक्षणान्यग्नेर्धूमवत्भावश्राद्धस्य यथार्थाभिधानश्रावकस्येति ।

ननु किमन्यान्यपि लिङ्गानि, सन्ति, येनैवमुच्यते क्रियागतानि, सत्यं सन्त्येव । यत आह —

भावगयाइं सतरस, मुणिणो एयस्स विंति लिंगाइं ।
जाणियजिणमयसारा, पुव्वायरिया जओ आहु ॥ ५६ ॥

भावगतानि भावविषयाणि सप्तदश मुनयः सूरय एतस्य प्रकृतश्रावकस्य ब्रुवते प्रतिपादयन्ति लिङ्गानि चिह्नानि ज्ञातजिनमतसारा इति व्यक्तं, पूर्वाचार्या यतो यस्मदाहुः ब्रुवते इत्यनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह ।

किं तदाहुरित्याह—

इत्थिदियत्थ संसार विसय आरंभ गेह दंसणओ ।
गड्डरिगाइपवाहे, पुरस्सरं आगमपवित्ती ॥ ५७ ॥
दाणाइँ जहासत्ती, पवत्तणं विहिर रत्तदुट्ठे य ।
मज्झत्थमसंबद्धे, परत्थकामोवभोगी य ॥ ५८ ॥
वेसा इव गिहवासं, पालइ सत्तरसपयनिबद्धं तु ।
भावगय भावसावग-लक्खणमेयं समासेणं ॥ ५९ ॥

स्त्री चेन्द्रियाणि चार्थश्चेत्यादि द्वन्द्वः, तत स्त्रीन्द्रियार्थसंसारविषयाऽऽरम्भगेहदर्शनानि, तेष्विति, आद्यादिभ्य इत्याकृतिगणत्वात्तसि कृते स्त्रीन्द्रियार्थसंसारविषयाऽऽरम्भगेहदर्शनत इति भवति । ततश्चैतेषु भावगतं भावश्रावकलक्षण भवतीति तृतीयगाथाया संबन्धः। तथा गड्डरिकाऽऽदिप्रवाहविषये तथा पुरस्सरमागमप्रवृत्तिरिति, प्राकृतत्वाच्छन्दोभङ्गभयाच्च पूर्वापरनिपातः। ततश्चाऽऽगमपुरस्सरं प्रवृत्तिः. चैत्यं,धर्मकार्येष्विति गम्यते। प्रस्तुत लिङ्गमिति। तथा दानाऽऽदि यथाशक्ति प्रवर्त्तनमिति स्पष्टं,प्राकृतत्वाच्च दीर्घत्वं, तथा निर्व्रीको धर्मानुष्ठानं कुर्वन्न लज्जते, तथाऽरक्ताद्विष्टश्च सांसारिकभावेषु भवति, मध्यस्थो धर्मविचारे न रागद्वेषाभ्यां बाध्यते, असंबद्धो धनस्वजनाऽऽदिभावप्रतिबन्धरहितः,परार्थकामोपभोगी परार्थं परोपरोधादेव कामाः शब्दरूपस्वरूपा उपभोगा गन्धरसस्पर्शलक्षणा विद्यन्ते प्रवृत्तितया यस्य स परार्थकामोपभोगी,समासः प्राकृतत्वात्। वेश्येव पण्याङ्गनेव, कामिनर्मिति गम्यते, गृहवासं पालयत्यद्य श्वो वा परित्याज्येनमिति भावयन्निति सप्तदशविधपदनिबद्धं, तुः पूरणे, भावगतं परिणामजनितरूपमिति, जानावेकवचनमनुस्वारलोपश्च प्राकृतत्वात् भावश्रावकलक्षणमेतत्समासेन सूचामात्रेणेति गाथात्रयाक्षरार्थः । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० ।
आह-स्त्रीन्द्रियविषयाणामरक्तद्विष्टमध्यस्थासंबद्धानां गेहगेहवासयोश्चैकविषयाणां भेदो नोपलभ्यते, तत्कथं न पुनरुक्तदोष इति ?। सत्यम् । देशविरतेश्चित्ररूपत्वादेकस्मिन्नपि विषये परिणामनानात्वमेकस्यापि परिणामस्य विषयभेदेऽपि सम्भवतीति सर्वमेतन्निषेधार्थत्वात्प्रपञ्चस्य न पौनरुक्त्यमिति व्याख्यानगाथाभिः प्रकाशितमेवातः सूक्ष्मधियाऽऽलोच्य समाधानान्तरमपि विधेयमिति ॥ ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० ।

**भावसाहु- भावसाधु-**पुं० । पारमार्थिकयतौ, पञ्चा० ६ विव० । पं० व० ।

तथा च भावश्रावकान् प्रतिपादयति-

इय सत्तरसगुणजुत्तो, जिणाऽऽगमे भावसावगो भणिओ ।
एस उण कुसलजोगा, लहइ लहु भावसाहुत्तं ॥ ७७ ॥

इत्युक्तप्रकारेण सप्तदशगुणयुक्तो जिनाऽऽगमे भावश्रावको भणित इति प्रकटार्थम्। एष एवंविधः,पुनःशब्दो विशेषणार्थः किं विशिनष्टि द्रव्यसाधुस्तावदेष भणित एवाऽऽगमे । यदुक्तम्-" मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावओ तह य दव्वसाहु त्ति। साहू य दव्वदेवो, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं ॥१॥" एवंविधपरिणामोपार्जितकुशलयोगात्पुनर्लभतेऽवाप्नोति लघु शीघ्रं भावसाधुत्वं यथावस्थितयतित्वमिति । ध० र० २ अधि० ६ लक्ष० ।

कीदृशः पुनर्भावसाधुर्भवतीति ?, उच्यते—
" निर्वाणसाधकान् योगान्, यस्मात्साधयतेऽनिशम् ॥
समश्च सर्वभूतेषु, तस्मात्साधुरुदाहृतः ॥ १ ॥
क्षान्त्यादिगुणसंपन्नो, मैत्र्यादिगुणभूषितः ॥
अप्रमादी समाचारे, भावसाधुः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥ " इति ।
कथं पुनश्छद्मस्थैरयं ज्ञायते ?, लिङ्गैः, कानि पुनस्तानीत्याह—

एयस्स उ लिंगाइं, सयला मग्गाणुसारिणी किरिया ।
सद्धा पवरा धम्मे, पन्नवणिज्जत्तमुज्जुभावा ॥ ७८ ॥
किरियासु अप्पमाओ, आरंभो सक्कणिज्जऽणुट्ठाणे ।
गुरुओ गुणाणुराओ, गुरुआणाऽऽराहणं परमं ॥ ७९ ॥

एतस्य पुनर्भावसाधोर्लिङ्गानि चिह्नानि सकला समस्ता मार्गानुसारिणी मोक्षाध्वानुपातिनी क्रिया प्रत्युपेक्षणाऽऽदिका चेष्टा १, तथा श्रद्धा करणेच्छा प्रवरा प्रधाना धर्मे संयमविषये २, तथा प्रज्ञापनीयत्वमसदभिनिवेशत्यागित्वमृजुभावादकौटिल्येन ३, तथा क्रियासु विहितानुष्ठानेऽप्रमादोऽशैथिल्य ४, तथाऽऽरम्भः प्रवृत्तिः शकनीये शक्यनुरूपे अनुष्ठाने तपश्चरणाऽऽदौ ५ तथा गुरुर्महान् गुणानुरागो गुणपक्षपातः ६, तथा गुर्वाज्ञाऽऽराधन धर्माऽऽचार्याऽऽदेशवर्तित्वं, परमं सर्वगुणप्रधानमिति सप्तलक्षणानि भावसाधोः । ध० र० ३ अधि० १ लक्ष० ।

**भावसिणाण-भावस्नान-**न०। "ध्यानाम्भसातु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् । मलं कर्म समाश्रित्य, भावस्नानं तदुच्यते ॥ १ ॥ " इत्युक्तलक्षणे शुभध्यानरूपे स्नानभेदे,ध०२अधि०।

**भावसुण्ण-भावशून्य-**न० । बहुमानशून्ये, पञ्चा० ६ विव० ।

**भावसुद्ध-भावशुद्ध-**त्रि० । भावेन सदन्तःकरणलक्षणेन शुद्धं भावशुद्धम् । अन्तःकरणेन शुद्धे, पो० ७ विव० । प्रत्याख्यानभेदे, न० ।

भावशुद्धमाह—

रागेण व दोसेण व, परिणामेण व न दूसियं जं तु ।

तं खलु पच्चक्खाणं, भावविसुद्धं मुणेअव्वं ॥ १ ॥ ”
आव० ६ अ० ।

( 'पच्चक्खाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०१ पृष्ठे गता व्याख्या )

भावसुद्धि-भावशुद्धि-स्त्री० । भावस्तदावरणक्षयोपशमसमुत्थ आत्मपरिणामविशेषस्तस्य शुद्धिः स्वच्छता प्रकर्षो, भावशुद्धिः । ध० ३ अधि० । चित्तप्रसादे, आव० ४ अ० । सूत्र० । पञ्चा० । यमनियमाऽऽदिषु मनसोऽसंक्लिश्यमानतायाम्, द्वा० ६ द्वा० ।

अथ विरुद्धदानाऽऽदावपि भावशुद्धेर्धर्म एव, न तु तद्व्याघात इत्यत आह—

भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्गानुसारिणी ।
प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यर्थं, न पुनः स्वाऽऽग्रहाऽऽत्मिका ॥ १ ॥

भावशुद्धिर्मनसोऽसंक्लिश्यमानता या परैर्विरुद्धदानाऽऽदौ धर्मव्याघातपरिहारनिबन्धनतया कल्पिता, साऽपि न केवलं धर्मव्याघात एव ज्ञेयम्, इत्यपिशब्दार्थः । ज्ञेया ज्ञातव्या, या एषा वक्ष्यमाणस्वरूपा, नान्या । तामेवाऽऽह—मार्गं जिनोक्तं ज्ञानाऽऽदिकं मोक्षपथमनुसरत्यनुगच्छतीत्येवंशीला मार्गानुसारिणी । अथ परो ब्रूयात् सैषा ममेत्यत्राऽऽह प्रज्ञापना आगमार्थोपदेशनं सा प्रिया वल्लभा यस्यां भावशुद्धौ सा प्रज्ञापनाप्रिया, अत्यर्थमतिशयेन । उक्तस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह न नैव, पुनःशब्दः पूर्वोक्तार्थापेक्षया प्रकृतार्थविलक्षणताप्रतिपादनार्थः, स्वः स्वकीयो न तु शास्त्रीयः, स चासावाग्रहश्चार्थाभिनिवेशः स्वाऽऽग्रह एवाऽऽत्मा स्वभावो यस्याः सा स्वाऽऽग्रहाऽऽत्मिकेति ॥ १ ॥

अथ कस्मात् स्वाऽऽग्रहाऽऽत्मिकाऽपि भावशुद्धिर्न भवतीति ?।

अत्रोच्यते-भावशुद्धिविपर्ययभूतभावमालिन्यरूपत्वात् स्वाग्रहस्येत्येतत्श्लोकत्रयेण दर्शयन्नाह-

रागो द्वेषश्च मोहश्च, भावमालिन्यहेतवः ।
एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो, हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥ २ ॥

रागोऽभिष्वङ्गलक्षणो, द्वेषोऽप्रीतिरूपो, मोहश्चाज्ञानलक्षणः, चशब्दौ समुच्चयार्थौ, ते त्रयोऽपि भावमालिन्यहेतवः, आत्मपरिणामाशुद्धिनिबन्धनानि स्वाऽऽग्रहाऽऽदिभावकारणानीति गर्भः । एतेषां रागाऽऽदीनामुत्कर्ष उपचय एतदुत्कर्षः, तत एतदुत्कर्षतो, ज्ञेयो ज्ञातव्यो, हन्तेति प्रत्यवधारणार्थः, कोमलाऽऽमन्त्रणार्थो वा, उत्कर्ष उपचयः, अस्य भावमालिन्यस्य स्वाऽऽग्रहाऽऽदिरूपस्य, तत्त्वतः परमार्थवृत्त्येति ॥ २ ॥

ततः किमित्याह—

तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन्, शुद्धिर्वै शब्दमात्रकम् ।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्प-निर्मितं नार्थवद्भवेत् ॥ ३ ॥

तथा तेन प्रकारेण रागाऽऽद्युत्कर्षलक्षणेन उत्कृष्टे उत्कटे, चशब्दः पुनरर्थे, सति भवति, अस्मिन् रागाऽऽदिहेतुके स्वाऽऽग्रहाऽऽदिरूपे भावमालिन्ये, शुद्धिः शुद्धत्वं, भावस्येति गम्यते, वैशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । शब्द एवाभिधानमेव शब्दमात्रं, तदेव कुत्सितं शब्दमात्रकं, निरभिधेयमित्यर्थः । मालिन्योत्कर्षे सति नास्ति भावशुद्धिर्मालिन्यस्य, तद्विपक्षरूपत्वात्, अग्निसद्भावे शीतवदिति भावना । अथ मालिन्ये सत्यपि शुद्धिरिष्यते, तत कथं शब्दमात्रकत्वमस्य इत्यत्राऽऽह स्वबुद्ध्या प्रमाणापरतन्त्रया मत्या कल्पना क्लृप्तिः, सैव शिल्प चित्राऽऽदिकौशलं, तेन निर्मितं विरचितं, स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितं यच्छब्दरूपं तदिति गम्यं, न नैव, अर्थवत्साभिधेयं, भवेज्जायेतेति ॥ ३ ॥

अथ स्वाऽऽग्रहस्य भावमालिन्यरूपतां स्पष्टयन्नाह—

न मोहोद्रिक्तताऽभावे, स्वाऽऽग्रहो जायते क्वचित् ।
गुणवत्पारतन्त्र्यं हि, तदनुत्कर्षसाधनम् ॥ ४ ॥

न नैव मोहस्याज्ञानस्य, उपलक्षणत्वात् रागद्वेषयोश्चोद्रिक्तता उद्रेकस्तस्या अभावः अविद्यमानता मोहोद्रिक्तताभावस्तत्र मोहोद्रिक्तताभावे, स्वाऽऽग्रहो नाऽऽगमिकार्थाभिनिवेशो भावशुद्धिविपर्ययलक्षणो, जायते भवति, क्वचित् कुत्रचिदपि वस्तुनि । इदमुक्तं भवति—मोहोत्कर्षजन्यत्वात् स्वाऽऽग्रहो भावमालिन्यं, मोहोत्कर्षजन्यत्वं चास्य रागो द्वेषश्चेत्यादिवचनप्रामाण्यात्, तदेवं स्वाऽऽग्रहस्य भावमालिन्यरूपत्वाद्भावशुद्धिर्न तदात्मिकेति स्थितम् । अथ मोहह्रासस्य स्वाऽऽग्रहाभावहेतोः क उपायः ?,

इत्याह-गुणवतां विद्यमानसम्यग्ज्ञानक्रियागुणानां पारतन्त्र्यमधीनत्वं गुणवत् पारतन्त्र्यमधीनत्वं गुणवत्पारतन्त्र्यम्, हिशब्दः पुनरर्थः, गुणवत्पारतन्त्र्यं पुनस्तस्य मोहस्यानुत्कर्षो ह्रासस्तस्य साधन कारणं तदनुत्कर्षसाधनम् । दृश्यते ह्यागमस्याऽऽगमविदां वा पारतन्त्र्यान्मोहानुत्कर्ष इति ॥ ४ ॥

गुणवत्पारतन्त्र्यस्य मोहानुत्कर्षसाधकत्वमागमज्ञावसितेन समर्थयन्नाह—

अत एवाऽऽगमज्ञोऽपि, दीक्षादानाऽऽदिषु ध्रुवम् ।
क्षमाश्रमणहस्तेने-त्याह सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥

यत एव कारणात् गुणवत्पारतन्त्र्यं मोहानुत्कर्षस्य साधकमत एव एतस्मादेव कारणादागमज्ञोऽपि आत्मप्रवचनवेद्यपि सन्नास्तामनागमज्ञः, दीक्षादानाऽऽदिषु प्रव्रज्यावितरणप्रभृतिषु, आदिशब्दादुद्देशसमुद्देशाऽऽदिषु, कर्मस्विति योगः । ध्रुवं निश्चितं क्षमाश्रमणहस्तेन सद्गुरुकरेण, न स्वातन्त्र्येण, इत्येवंरूपमभिलापमाह ब्रूते दीक्षाऽऽदिदाता मोहानुत्कर्षार्थमेव सर्वेषु समस्तेषु कर्मसु व्यापारेष्विति तस्मात् गुणवत् पारतन्त्र्यादेव मोहानुत्कर्षलक्षणा भावशुद्धिर्नान्यथेति ॥ ५ ॥

एतदेवाह—

इदं तु यस्य नास्त्येव, स नोपायेऽपि वर्तते ।
भावशुद्धेः स्वपरयो-र्गुणाऽऽग्रहस्य सा कुतः ? ॥ ६ ॥

इदमनन्तरोदितं गुणवत्पारतन्त्र्यं, तुशब्दः पुनरर्थे, यस्य प्राणिनो, नास्त्येव न विद्यत एव, स प्राणी, न नैव, उपायेऽपि हेतावपि, आस्तां भावशुद्धौ, गुणवत्पारतन्त्र्यस्यैव तदुपायत्वात्, कस्या उपायेऽपि वर्त्तते इत्याह-भावशुद्धेः परिणामशुद्धेः, कुत एतदित्याह—यस्मात् स्वपरयोरात्मपरयोर्विषये गुणाऽऽग्रहस्य गुणपक्षपातभिक्षस्य, सा भावशुद्धिः, कुतः, न कुतोऽप्यस्तीत्यर्थः । अयमभिप्राय —यो हि गुणवत्पारतन्त्र्ये न वर्तते स गुणवदगुणान् स्वगतगुणदोषांश्च जानाति, कथमन्यथा गुणवत्पारतन्त्र्यं न भवति, यश्च तान् जानाति तस्य मोहोत्कर्षबुद्धिरवाप्ता, तेन भावशुद्धिः, तस्या मोहानुत्कर्षरूपत्वादिति ॥ ६ ॥

अथ यादृश्यां भावशुद्धौ धर्मव्याघातो न भवति तां लक्षयितुमाह—

तस्मादासन्नभव्यस्य, प्रकृत्या शुद्धचेतसः ।
स्थानमानान्तरज्ञस्य, गुणवद्बहुमानिनः ॥ ७ ॥
औचित्येन प्रवृत्तस्य, कुग्रहत्यागतो भृशम् ।
सर्वत्राऽऽगमनिष्ठस्य, भावशुद्धिर्यथोदिता ॥ ८ ॥

यस्मात् गुणदोषानभिज्ञस्य स्वभावशुद्धिर्न भवति तस्मात्कारणात्, अथवा-तस्माद् गुणवत्पारतन्त्र्यादासन्नो मुक्तेर्निकटवर्ती, स चासौ भव्यश्च मुक्तिगमनयोग्य आसन्नभव्यस्तस्य, भावशुद्धिरिति संबन्धः । तथा प्रकृत्या सद्भावेनैव शुद्धचेतसोऽसंक्लिश्यमानसस्य रागाऽऽदीनामपचीयमानत्वात्, तथा स्थानं त्वाऽऽचार्योपाध्यायाऽऽदिकंगुणाऽऽस्पदं, मानश्चैतस्यैव पूजा, स्थानमानौ,तयोः स्वजात्यपेक्षया अन्तरं विशेषस्तं जानातीति तज्ज्ञस्तस्य स्थानमानान्तरज्ञस्य । इदमुक्तं भवति-आचार्योपाध्यायाऽऽदिकस्य स्थानस्य च तथा तद्विषये मानस्य च यो विशेष उत्तमोत्तमतरमहाफलमहाफलतराऽऽदिलक्षण इदमस्योचितमिदं चास्येत्येवंरूपस्य तज्ज्ञस्य, अत एव गुणवद्बहुमानिनः सद्गुणपक्षपातिनः, तथा स्थानमानान्तरज्ञस्य गुणवद्बहुमानिनोऽपि सत औचित्येन यथागुणं यथायोग्यमिति यावत्, प्रवृत्तस्य व्यापृतस्य,विधेयानुष्ठानेषु कुग्रहत्यागतो मिथ्यावासनाव्यपोहेन, भृशमत्यर्थं, सर्वत्र समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु विधिषु, आगमनिष्ठस्य आप्तवचनप्रमाणस्य, किमित्याह-भावशुद्धिःपरिणामशुद्धता, यथोदिता पारमार्थिकी भवति, यथा धर्मव्याघातो न भवति, उक्तविशेषणाभावे तु या सा पुनरयथोदितेति ॥ ७ ॥ ८ ॥ हा० २२ अष्ट० ।

भावाएस-भावाऽऽदेश-पुं० । एकगुणकालकत्वाऽऽदिके भावप्रकारे, भ० ५ श० ८ उ० ।

भावाभिग्गहचरय-भावाभिग्रहचरक-पुं० । भावाभिग्रहस्तु गानहसनाऽऽदिप्रवृत्तपुरुषाऽऽदिविषयः, तेन चरति भिक्षामटति, भावाभिग्रहं वा चरत्यासेवते भावाभिग्रहचरकः । भिक्षुभेदे, औ० । रा० ।

भावारोग्ग-भावाऽऽरोग्य-न० । भावरूपमारोग्यं भावाऽऽरोग्यम् । सम्यक्त्वे, षो० ४ विव० ।

भावावस्सय-भावावश्यक-पुं० । आवश्यकभेदे, अनु० । (व्याख्या 'आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४५१ पृष्ठे गता)

भावि (न्) भाविन्-त्रि० । भू-णिनिः । भविष्यत्कालवर्तिनि, स्त्रियां ङीप् । वाच० । प्रव० ४ द्वार० । आ० म० । ज्ञा० । भावो हृदयचेष्टाभेदोऽस्त्यस्या इति । स्त्रीभेदे, स्त्रीमात्रे च । वाच० ।

भाविअ-देशी—गृहीते, दे० ना० ६ वर्ग० १०३ गाथा ।

भाविज्जंत-भाव्यमान-त्रि० । पर्यालोच्यमाने, पञ्चा० २ विव० ।

भाविजिण-भाविजिन-पुं० । भविष्यजिने, ती० २ कल्प० ।

भाविय-भावित-त्रि० । भू-णिच्-क्तः । वासिते, " किं पुण निघसितेहिं, भाविययाणं भवे खज्ज ।" व्य० १ उ० । भावितो द्रव्यान्तरसम्पर्कतो वासित इति । स्था० १० ठा० । आ० चू० । विपा० । प्रश्न० । आव० । उत्त० । सूत्र० । अनु० । बृ० । भाविता द्विविधाः—सुरभिपाटलाकुसुमपटवासाऽऽदिप्रशस्तवस्तुभिर्भाविताः प्रशस्तभाविताः,सुरातैलाऽऽद्यप्रशस्तवस्तुभाविताास्त्वप्रशस्तभाविताः । प्रशस्तभाविता पुनरपि द्विविधाः-तद्भावं वमयितुं शक्या वाम्याः,तद्विपरीतास्त्ववाम्याः । एवमेवाप्रशस्तभाविता अपि वाम्याऽवाम्यभेदद्वयादेव द्विविधाः । विशे० । रक्षिते, " पुव्वं भावणभाविया ।" उत्त० १४ अ० । परिणतजिनवचने, बृ० १ उ० ३ प्रक० । प्रसक्ते, दश० १० अ० । प्राप्ते, शुद्धे, चिन्तिते मिश्रिते, च । वाच० ।

भाविक-न० । विमानभेदे, स० १७ सम० ।

भावियकुल-भावितकुल-न० । शङ्काऽऽदिदोषरहिते कुले, बृ० १ उ० २ प्रक० ।

भावियतर-भावितर-त्रि० । चरित्रधर्मे प्रसक्ततरे, दश० १० अ० ।

भावियत्था-भावितस्ता-स्त्री० । जम्बूमन्दरदक्षिणस्यां दिशि स्थितायां सिन्धुमहानद्यां संमिलितायां स्वनामख्यातायां महानद्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

भावियप्पा-भाविताऽऽत्मन्-पुं० । भाविता धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ भाविताऽऽत्मा । सूत्र० १ श्रु० १ ३ अ० । सद्भावनाभावितचित्ते, पञ्चा० १८ विव० । संयमभावनया वासितान्तःकरण इति । भ० १४ श० ६ उ० (अनगारस्य भाविताऽऽत्मनःकर्मलेश्यावच्छरीरज्ञानाऽऽदिवक्तव्यता 'अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७१ पृष्ठे गता ) अहोरात्रभवे त्रयोदशे स्वनामख्याते मुहूर्त्ते, चं० प्र० १० पाहु० १४ पाहु० पाहु० । ज्यो० । स० । अष्टादशमे मुहूर्त्ते, स० ३८ सम० । अष्टादशमजिनस्य रक्षितापरनामधेयायां स्वनामख्यातायां जनन्याम्, " भावियप्पा य रक्खी य ।" स० ।

भावियमइ-भावितमति-त्रि० । सदागमवासितमनसि, पञ्चा० १६ विव० ।

भावियाभावियाणुओग-भाविताभावितानुयोग-पुं० । भावितं वासितं द्रव्यान्तरसंसर्गतोऽभावितमन्यथैव यथा जीवद्रव्यं भावितं किञ्चित्सच्च प्रशस्तभावितमितरभावितञ्च तत्र प्रशस्तभावितं संविग्नभावितमप्रशस्तभावितं चेतरभावितं, तद्द्विविधमपि वामनीयमवामनीयं च । तत्र वामनीयं यत्संसर्गजं गुणं दोषं वा संसर्गान्तरेण वमति, अवामनीयं त्वन्यथा, अभावितं त्वसंसर्गप्राप्तं प्राप्तसंसर्गं वा वज्रतन्दुलकल्प न वासयितु शक्यमिति । एवं घटाऽऽदिद्रव्यमपि,ततश्च भावितं चाभावितं च भाविताभावितम् । भाविताभावितस्यानुयोगो भाविताभावितानुयोगः । द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० १० ठा० ।

भावुग-भावुक-त्रि० । वासके, विशे० । भाव्यते प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापाद्यते इति भावुकम् । अथवा-प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशील भावुकम् । "लषपतपद०-" ॥३।२।१५४॥ इत्यादिना उकञ्-ताच्छीलिकत्वात् । वेल्लुकाऽऽदिके द्रव्यभेदे, पं० व० ।

भावुग अभावुगाणि अ,लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि ।
वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥ ३४ ॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापाद्यन्त इति भावुकानि वेल्लुकाऽऽदीनि,प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते । अथ-

वाप्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथाभवनशीलानि भावुकानि "लषपतपदस्थाभूवृष०-" ॥३।२।१५४॥ (पा०) इत्यादिना उकञ्–ताच्छीलिकत्वादिति। तद्विपरीतानि अभाव्यानि चलनाऽऽदीनि लोके द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणि वस्तूनि, वैडूर्यस्तत्र मणिः अभाव्योऽन्यद्रव्यैः काचाऽऽदिभिरिति गाथार्थः। पं० व० ३ द्वार। आव०। मङ्गले, न०। तद्वति, त्रि०। " मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।" इति। वाच०।

भावुज्जुयया-भावर्जुकता-स्त्री०। भावस्य मनस ऋजुकता भावर्जुकता मनसो। यथावस्थितार्थप्रत्यायनार्थाया प्रवृत्तौ, तद्रूपे सत्यभेदे च। स्था० ४ ठा० १ उ०। भ०।

भावेऊण-भावयित्वा-अव्य०। वासयित्वेत्यर्थे, पञ्चा० १० विव०।

भावेमाण-भावयत्-त्रि०। वासयति, स्था० ६ ठा०।

भावोवक्कम-भावोपक्रम-पुं०। भावस्य परकीयाभिप्रायस्योपक्रमणं परिज्ञान भावोपक्रमः। उपक्रमभेदे,अनु०। नि० चू०। ( नन्द्रादाऽऽदिवक्तव्यता 'उवक्कम' शब्दे द्वितीयभागे ८७९ पृष्ठे गता)

भावोवयार-भावोपकार-पुं०। सम्यक्त्वाऽऽदिके,ध०२ अधि०।

भावोवहयमइ-भावोपहतमति-त्रि०। भावेन शङ्काऽऽदिपरिणामेन हता दूषिता मतिर्यस्य स भावोपहतमतिकः। शङ्काऽऽदिकलुषिताध्यवसाये, बृ० १ उ० २ प्रक०।

भास-भिस-धा०। दीप्तौ, भ्वादि०-आत्म०। अक०। " भासेर्भिसः" ॥ ८।४।२०३ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण भासेर्भिसाऽऽदेशः। भिसइ। भासइ। प्रा० ४ पाद। भासते, अभासिष्ट। चङि वा ह्रस्वः। अबीभसत्। अबभासत्। वाच०।

भास-पुं०। भास-घञ् अच् वा। प्रकाशे, स०। गोष्ठे, कुक्कुरे, शुके, वाच०। पक्षिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। भासः शकुन्त इति। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

भस्मन्-न०।'भप्प' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

भाष-धा०। वचने, भ्वादि०-आत्म०-द्विक०-सेट्। भाषते। अभाषिष्ट। चङि ह्रस्व.। वाच०। भाषते तु व्यक्तवचनैरिति। विपा० २ श्रु० १ अ०। एकोनविंशत्तमे महाग्रहे, " दो भासा।" स्था० २ ठा० ३ उ०।

भाष्य-न०। गाथानिबद्धे, सूत्रव्याख्यानरूपे बृहद्भाष्यव्यवहारभाष्याऽऽदिके ग्रन्थविशेषे,सद्ध० १ अधि० १ प्रस्ता०। विशे०। स्था०। परैः श्रूयमाणे जपभेदे, यस्तु परैः श्रूयते स भाष्य इति। ध० २ अधि०। कथनीये, त्रि०। वाच०।

भासंत-भाषमाण-त्रि०। व्यक्तं कथयति,व्य० १ उ०। सूत्र०। विपा०। औ०। दश०। स्था०।

भासमान-त्रि०। शोभमाने, भ० ८ श० ८ उ०। औ०।

भासत्-पुं०। महोरगभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

भासग-भाषक-पुं०। भाषत इति भाषकः। भाषणक्रियाविशिष्टे, आ० म० १ अ०। वक्तरि, प्रव० ७२ द्वार। सूत्र०। भाषालब्धिसम्पन्ने, आ० म० १ अ०। स्था०। विज्ञातविशेषरूपस्य सव्युत्पत्तिविशेषकनाममात्रकथनेन व्यक्तिमात्रकारके व्याख्यातृभेदे विशे०।

साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तभाषाऽऽदिप्रतिपादनार्थं निर्युक्तिकृदाह-

कट्ठे पोत्थे चित्ते, सिरिघरिए वोंड देसिए चेव।
भासग विभासए वा, वत्तीकरए य आहरणा ॥ १३५ ॥

काष्ठ इति काष्ठविषयो दृष्टान्तः, यथा काष्ठे कश्चित् तक्षकारः खल्वाकारमात्रं करोति, कश्चित् स्थूलावयवनिष्पत्तिं,कश्चित्पुनरशेषाङ्गोपाङ्गाऽऽद्यवयवनिष्पत्तिम्,एवं काष्ठकल्पं सामायिकाऽऽदिसूत्रम्, तत्र भाषक परिस्थूरमर्थमात्रमभिधत्ते, यथा समभाव सामायिकमिति, विभाषकस्तु तस्यैवानेकधा अर्थमभिधत्ते, यथा समभाव. सामायिकं, समानां वा ज्ञानदर्शनचारित्राणां य आयः स समायः, समाय एव सामायिकं, स्वार्थिकण् प्रत्यय इत्यादि। तथा व्यक्तीकरणशीलो व्यक्तिकर., यः खलु निरवशेषव्युत्पत्तिरतिचारानतिचारफलाऽऽदिभेदभिन्नमर्थं भाषते स व्यक्तिकर इति भावः। स च निश्चयनः चतुर्दशपूर्वधर एव, इह भाषकाऽऽदिस्वरूपात् व्याख्यानात् भाषाऽऽदय एव प्रतिपादिता द्रष्टव्या., भाषाऽऽदीना तत्प्रभवत्वात्। उक्तं च विशेषावश्यके-

" पढमो रूवाऽऽगारं, थूलावयवोपदेसणं बीओ।
तइओ सव्वावयवो, निद्दोसो सव्वहा कुणइ ॥ १४२६ ॥
कट्ठसमाणं सुत्तं, तदत्थरूवेगभासणं भासा।
थूलट्ठाणविभासा, सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥ १४२७ ॥ "

सम्प्रति पुस्तविषयो दृष्टान्त.-यथा पुस्ते कश्चिदाकारमात्रं करोति, कश्चित्परिस्थूलावयवनिष्पत्तिं, दार्ष्टान्तिकयोजना पूर्ववत्। इदानीं चित्रविषयो दृष्टान्त -यथा चित्रकर्मणि कश्चिद्वर्त्तिकाभिराकारमात्रं करोति, कश्चित् हरितालाऽऽदिवर्णोद्भेद, कश्चित्स्वशेषपर्यायैर्निष्पादयति। दार्ष्टान्तिकयोजना पूर्ववत्। श्रीगृहिकोदाहरणम्-श्रीगृहं भाण्डागारं तदस्यास्तीति"अतोऽनेकस्वरात्॥७।२।६॥" इति इकप्रत्ययः। तद्दृष्टान्तभावना इयम्-कश्चिद् रत्नाना भाजनमेव वेत्ति, इह भाजने रत्नानि सन्तीति, कश्चिज्जातिमात्रमेव अपि, कश्चित्पुनर्गुणानपि, एव प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पभाषकाऽऽदयो द्रष्टव्याः। तथा—वोंडमिति पद्म, तद्यथा—ईषद्विकसमर्द्धभिन्न, विकसितरूपमिति त्रिधा भवति, एव भाषकाऽऽद्यपि क्रमेण योजनीयम्। इदानीं देशिकविषयमुदाहरणम्-देशन देश, कथनमित्यर्थ., सोऽस्यास्तीति देशिकः-यथा कश्चिद्देशक पन्थान पृष्ट सन् दिग्मात्रमेव कथयति, कश्चित्तदुभयव्यवस्थितग्रामनगराऽऽदिभेदेन, कश्चित्पुनस्तदुत्थगुणदोषभेदेन कथयति। एवं भाषकाऽऽदयोऽपि क्रमेण योजनीया। तदेवं तावद्विभाग उक्त ॥ १३५ ॥ आ० म० १ अ०। अनुयोगाऽऽचार्येण यद् भणित तस्मादून यऽन्यस्य भाषते स भाषक उच्यते। विशे०। " एगपगारं अत्थं बुवाणो भासगो त्ति।" आ० चू० १ अ०। बृ०। भाषकः परिस्थूरमर्थमात्रमभिधत्त इति। आ० म० १ अ०।

नैरयिकाऽऽदिजीवाना भाषकाऽभाषकत्वं दण्डकेन निरूपयन्नाह—

दुविहा नेरइया पन्नत्ता, तं जहा—भासगा चेव।
अभासगा चेव एवं, एगिंदियवज्जा सव्वे ॥ १० ॥

भाषादण्डके भाषका भाषापर्याप्त्युदये, अभाषकास्तदपर्याप्तकावस्थायामिति। एकेन्द्रियाणा भाषापर्याप्तिर्नास्तीत्यत आह-एवमित्यादि। स्था० २ ठा० २ उ०।

जीवा णं भंते ! किं भासगा, अभासगा ? । गोयमा ! जीवा भासगा वि , अभासगा वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवा भासगा वि, अभासगा वि ? । गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-समारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य । तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अभासगा । तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सेलेसीपडिवन्नगा य, असेलेसीपडिवन्नगा य । तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवन्नगा ते णं अभासगा । तत्थ णं जे ते असेलेसीपडिवन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदिया य, अणेगिंदिया य । तत्थ णं जे ते एगिंदिया ते णं अभासगा। तत्थ णं जे ते अणेगिंदिया ते दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं अभासगा। तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते णं भासगा। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ--जीवा भासगा वि, अभासगा वि। नेरइया णं भंते ! किं भासगा,अभासगा? । गोयमा ! नेरइया भासगा वि अभासगा वि । से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चति-नेरइया भासगा वि,अभासगावि ? । गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं अभासगा । तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते णं भासगा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ--नेरइया भासगा वि, अभासगा वि । एवं एगिंदियवज्जाणं निरंतरं भाणियव्वं । ( १६६-सूत्र ) प्रज्ञा० ११ पद ।

भासगर-भाषाकर-त्रि० । वचनपटुत्वमाधुर्याऽऽदिगुणकारके, त० ।

भासज्जाय-भाषाजात-न० । जातमुत्पत्तिधर्मकं, तच्च व्यक्तिवस्तु, अतो भाषाया जातम् । न० । व्यक्तिवस्तु भेदः प्रकारो भाषाजातम् । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चत्तारि भासज्जाया पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमेगं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चमोसं, चउत्थं असच्च-मोसं ॥२३८॥

तत्र सन्तो मुनयो गुणाः पदार्था वा तेभ्यो हित सत्यमेकं प्रथमं सूत्रक्रमापेक्षया भाष्यते सा तया वा भाषणं वा भाषा—काययोगगृहीतवाग्योगनिसृष्टभाषाद्रव्यसंहतिस्तस्या जातं प्रकारो भाषाजातमस्त्यात्मेत्यादिवत् । द्वितीयं सूत्रक्रमादेव ( मोसं ति ) प्राकृतत्वात् मृषा अनृत नास्त्यात्मेत्यादिवत् । तृतीयं सत्यमृषा तदुभयस्वभावमात्माऽऽत्मकर्तेत्यादिवत् । चतुर्थमसत्यामृषा अनुभयस्वभाव देहीत्यादि वदिति । भवतश्चात्र गाथे—

" सच्चा हिया सतामिह, संतो मुणओ गुणा पयत्था वा । तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥ १ ॥ अणहिगया जा तीसु वि, सद्दो च्चिय केवलो असच्चमुसा । एया सभेयलक्खण, सोदाहरणा जहा सुत्ते ॥ २ ॥ " इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । प्रज्ञा० । आचा० ।

भासज्जायज्झयण-भाषाजाताध्ययन-न० । आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थे अध्ययने,अस्य च भाषाजाताध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमे भाषाजातशब्दयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-

जह वक्क तह भासा,जाए छक्क च होइ नायव्वं ।( ३१३ )

यथा वाक्यशुद्ध्यध्ययने वाक्यस्य निक्षेपः कृतस्तथा भाषाया अपि कर्त्तव्यः, जातशब्दस्य तु षट्कनिक्षेपोऽयं ज्ञातव्यो नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपः । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० । इह त्वधिकारो द्रव्यभाषाजातेन, द्रव्यस्य प्राधान्यविवक्षया द्रव्यस्य तु विशिष्टावस्था भाव इति कृत्वा भावभाषाजातेनाप्यधिकार इति ।

उद्देशार्थाधिकारार्थमाह—

सव्वेऽवि य वयणविसो-हिकारगा तह वि अत्थि उ विसेसो । वयणविभत्ती पढमे, उप्पत्ती वज्जणा बीए ॥ ३१४ ॥

यद्यपि द्वावप्युद्देशकौ वचनविशुद्धिकारकौ तथाऽप्यस्ति विशेष , स चायम्—प्रथमोद्देशके वचनस्य विभक्तिर्वचनविभक्तिरेकवचनाऽऽदिषोडशविधवचनविभागस्तथैवंभूत भाषणीयं नैवभूतमिति व्यावर्ण्यते, द्वितीयोद्देशके तूत्पत्तिः क्रोधाऽऽद्युत्पत्तिर्यथा न भवति तथा भाषितव्यम् । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

भासज्झयण--भाषाध्ययन-न० । आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थेऽध्ययने, स० १ अङ्ग० । आचा० । आव० । ( तद्वक्तव्यता ' भासज्जायज्झयण ' शब्देऽनुपदमेव गता )

भासण-भाषण-न० । वाग्योगेन व्यक्तवचने , स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० । ज्ञा० । सूत्र० । आ० म० । कल्प० । प्ररूपणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । प्रतिपादने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

भासरासि-भासराशि-पु० । भासाना प्रकाशाना राशिर्भासराशि । आदित्ये, " भासरासिवण्णाभा । " स० ।

भस्मराशि-पु० । महाग्रहभेदे, कल्प० १ अधि० ६ क्षण । "भासरासिनाममहागहे स दोवाससहस्सट्ठिई । " भस्मराशिनामा त्रिंशत्तमो महाग्रहो भगवतो जन्मनक्षत्रं सङ्क्रान्तः, किंभूतोऽसौ द्विसहस्रवर्षस्थितिः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

भासल-देशी-दीप्तौ, दे० ना० ६ वर्ग १०३ गाथा ।

भासवं-भाषावत्-त्रि० । शोभनभाषायुक्ते,सूत्र०१ श्रु०१३ अ० ।

भासवण्ण-भस्मवर्ण-त्रि० । भस्माऽऽभे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

भासवर्ण-त्रि० । भासः पक्षिविशेषः, तद्वद्वर्णो यस्य सः । भासाऽऽभे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

भासा-भाषा-स्त्री० । भाषणं भाषा । सू० १ उ०१ प्रक० । दर्श० । कर्म० । उत्त० । स्था० । भाष्यते प्रोच्यते इति भाषा । वचने, ' भाष ' व्यक्तायां वाचि इति वचनात् । भ० १३ श० ४ उ० । औ० । स्था० । प्रव० । आ० । वाण्याम, "वाणी वाया भणिई सरस्सई भारई गिरा भासा । " पाइ० ना० ५१ गाथा ।

( दो भासा । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

( १ ) तथा च वाक्यस्यैकार्थिकान्यधिकृत्य—

वक्क वयण च गिरा, सरस्सई भारही य गो वाणी। भासा पन्नवणी दे-सणी य वयजोग जोगे य ॥ २७० ॥

वाक्यं वचनं च गी सरस्वती भारती च गौर्वाक् भाषा प्रज्ञापनी देशनी च वाग्योगो योगश्च , एतानि निगदसिद्धान्येवेति गाथार्थः । दश० ७ अ० २ उ० । संस्कृतप्राकृताऽऽदिके वाक्ये , उत्त० ७ अ० । " न चित्ता तायए भासा । " चित्राः प्राकृतसंस्कृताऽऽद्याः षड्भाषाः । अथवा—अन्या अपि देशविशेषात् नानारूपा भाषा इति । उत्त० ६ अ० । वक्तृशब्दतयोत्सृज्यमानाया द्रव्यसंततौ , न० । विशे०।भाषानिक्षेपो वाक्यनिक्षेपवत्।आचाराङ्गनिर्युक्तौ ' जह वक्कं तह भासा । ( ३१३ ) " यथा वाक्यशुद्ध्यध्ययने वाक्यस्य निक्षेपः कृतस्तथा भाषाया अपि कर्त्तव्यः। आचा० २ श्रु० १ चू०४ अ० १ उ० ।

( २ ) द्रव्याऽऽदिभाषामाह—

दव्वे तिविहा गहणे, य निसिरणे तह भवे पराघाए ।
भावे दव्वे य सुए, चरित्तमाराहणी चेव ॥ २७१ ॥

द्रव्य इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यभाषा त्रिविधा—ग्रहणे च निसर्गे तथा भवेत् पराघाते । तत्र ग्रहणं भाषाद्रव्याणां काययोगेन यत् सा ग्रहणद्रव्यभाषा, निसर्गस्तेषामेव भाषाद्रव्याणां वाग्योगेनोत्सर्गक्रिया , पराघातस्तु निसृष्टभाषाद्रव्यैस्तदन्येषां तथापरिणामाऽऽपादनक्रियावत्प्रेरणम्,एषा त्रिप्रकाराऽपि क्रिया द्रव्ययोगस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वात् द्रव्यभाषेति । भाव इति द्वारपरामर्शः, भावभाषा त्रिविधैव, द्रव्ये च श्रुते चारित्रे इति; द्रव्यभावभाषा, श्रुतभावभाषा, चारित्रभावभाषा च, तत्र द्रव्यं प्रतीत्योपयुक्तैर्या भाष्यते सा द्रव्यभावभाषा । एवं श्रुताऽऽदिष्वपि वाच्यम्, इयं त्रिप्रकाराऽपि वक्त्रभिप्रायस्तद्द्रव्यभावप्राधान्यापेक्षया भावभाषा, इयं चौघत एवाऽऽराधनी चेवेति, द्रव्याऽऽराधनात्, चशब्दाद्विराधना चोभयं चानुभयं च भवति, द्रव्याऽऽराधनाऽऽदिभ्य इति । आह–इह द्रव्यभाववाक्यस्वरूपमभिधातव्यं, तस्य प्रस्तुतत्वात्, तत् किमनया भाषयेति ? । उच्यते-वाक्यपर्यायत्वाद्भाषाया न दोषः, तत्त्वतस्तस्यैवाभिधानादिति गाथासमुदायार्थः । अवयवार्थं तु वक्ष्यति ।

( ३ ) तत्र द्रव्यभावभाषामधिकृत्याऽऽराधन्यादिभेदयोजनामाह—

आराहणी उ दव्वे, सच्चा मोसा विराहणी होइ ।
सच्चामोसा मीसा, असच्चमोसा य पडिसेहा ॥ २७२ ॥

आराध्यते परलोकाऽऽपीडया यथावदभिधीयते वस्त्वनयेत्याराधनी तु 'द्रव्य' इति-द्रव्यविषया भावभाषा सत्या, तुशब्दात् द्रव्यतो विराधन्यपि काचित् सत्या, परपीडासंरक्षणफलभावाऽऽराधनादिति,मृषा विराधनी भवति, तद्द्रव्यान्यथाऽभिधानेन तद्विराधनादिति भावः।सत्यामृषा मिश्रा,मिश्रेत्याराधनी विराधनी च,असत्यामृषा च प्रतिषेध इति न आराधनी नापि विराधनी, तद्वाच्यद्रव्ये तथोभयाभावादिति । भासा च स्वरूपमुदाहरणैः स्पष्टीभविष्यतीति गाथाऽर्थः ।

तत्र सत्यामाह-

जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच सच्चे अ ।
ववहारभावजोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य ॥ २७३ ॥

सत्यं तावद्वाक्यं दशप्रकार भवति , जनपदसत्याऽऽदिभेदात्, तत्र जनपदसत्य नाम नानादेशभाषारूपमप्यविप्रतिपत्त्या यदेकार्थप्रत्यायनव्यवहारसमर्थमिति, यथाऽदःकार्थे कोङ्कणकाऽऽदिषु पयः पिच्चं नीरमुदकमित्याद्यदुष्टविवक्षाहेतुत्वात् नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात् व्यवहारप्रवृत्तेः सत्यामेतदिति, एवं शेषेष्वपि भावना कार्या । सम्मतसत्यं नाम कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समाने पङ्कसंभवे गोपाऽऽदीनामपि सम्मतमरविन्दमेव पङ्कजमिति । स्थापनासत्यं नाम-अक्षरमुद्राविन्यासाऽऽदिषु यथा मासकोऽयं कार्षापणोऽयं शतमिदं सहस्रमिदमिति । नामसत्यं नाम-कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन इत्युच्यते,धनमवर्द्धयन्नपि धनवर्द्धन इत्युच्यते, अयक्षश्च यक्ष इति । रूपसत्यं नाम—अतद्गुणस्य तथारूपधारणं रूपसत्यं, यथा प्रपञ्चयते' प्रव्रजितरूपधारणमिति । प्रतीत्यसत्यं नाम—यथा अनामिकाया दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेति । तथाहि—अस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणसन्निधानेन तत्तद्रूपमभिव्यज्यत इति सत्यता । व्यवहारसत्यं नाम-दह्यते गिरिर्गलति भाजनमनुदरा कन्या अलोमा एडकेति गिरिगततृणाऽऽदिदाहे व्यवहारः प्रवर्तते तथोदके च गलति सति तथा सम्भोगजबीजप्रभवोदराभावे च सति तथा लवनयोग्यलोमाभावे सति । भावसत्यं नाम—शुक्ला बलाका, सत्यपि पञ्चवर्णसम्भवे शुक्लवर्णोत्कटत्वात् । शुक्ला इति । योगसत्य नाम—छत्रयोगात् छत्री, दण्डयोगात् दण्डी इत्येवमादि । दशममौपम्यसत्यं च, तत्रौपम्यसत्यं नाम—समुद्रवत्तडाग इति गाथाऽर्थः । उक्ता सत्या ।

अधुना मृषामाह—

कोहे माणे माया, लोभे पेज्जे तहेव दोसे य ।
हासभए अक्खाइय, उवघाए निस्सिया दसमा ॥२७४॥

क्रोध इति क्रोधानिःसृता, यथा क्रोधाभिभूतः पिता पुत्रं, महा-न त्वं मम पुत्रः, यद्वा क्रोधाभिभूतो वक्ति तदाशयविपत्तितः सर्वमेवासत्यमिति । एवं माननिःसृता मानाध्मातः कश्चित्केनचिदल्पधनोऽपि पृष्ट आह-महाधनोऽहमिति । मायानिःसृता-मायाऽऽकारप्रभृतय आहुः-नष्टो गोलक इति, लोभनिःसृता-वणिक्प्रभृतीनामन्यथाक्रीतमेवत्थमिदं क्रीतम् इत्यादि । प्रेमनिःसृता अतिरक्तानां दासोऽहं तवेत्यादि । द्वेषनिःसृता-मत्सरिणां गुणवत्यपि निर्गुणोऽयमित्यादि । हास्यनिःसृता कान्दर्पिकानां किञ्चित् कस्यचित्संबन्धि गृहीत्वा पृष्टानां न दृष्टमित्यादि । भयनिःसृता तस्कराऽऽदिगृहीतानां तथा तथा असमञ्जसाभिधानम्, आख्यायिकानिःसृता तत्प्रतिबद्धोऽसत्प्रलापः । उपघातनिःसृता अचौरे चौर इत्यभ्याख्यानवचनमिति गाथार्थः । उक्ता मृषा ।

साम्प्रतं सत्यामृषामाह—

उप्पन्नविगयमीसग, जीवमजीवे य जीवअजीवे ।
तहऽणतमीसगा खलु, परित्त अद्धा य अद्धद्धा॥२७५॥

उत्पन्नविगतमिश्रकेति—उत्पन्नविषया सत्यामृषा यथैकं नगरमधिकृत्यास्मिन्नद्य दश दारका उत्पन्ना इत्यभिदधतस्तदून्यूनाधिकभावे, व्यवहारतोऽस्याः सत्यामृषात्वात्, श्वस्ते शतं दास्यामीत्यभिधा पञ्चाशत्स्वपि दत्तेषु लोके मृषात्वादर्शनात्, अनुत्पन्नेष्वेवादत्तेष्वेव च मृषात्वसिद्धेः, सर्वथा क्रियाभावेन सर्वथा व्यत्ययादिष्वेवं विगताऽऽदिष्वपि भावनीयमिति ।

तथा च विगतविषया सत्यामृषा यथैकं ग्राममधिकृत्याऽस्मिन्नद्य दश वृद्धा विगता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे; एवं मिश्रका सत्यामृषा उत्पन्नविगतोभयसत्यामृषा, यथैकं पत्तनमधिकृत्याऽद्यास्मिन्नद्य दश दारका जाता दश च वृद्धा विगता इत्याभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे,जीवामिश्रा जीवविषया सत्यामृषा यथा जीवन्मृतकृमिराशौ जीवराशिरिति। अजीवमिश्रा च—अजीवविषया; सत्यामृषा यथा तस्मिन्नेव प्रभूतमृतकृमिराशावजीवराशिरिति। जीवाजीवमिश्रेति जीवाजीवविषया सत्यामृषा यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणनियमेनैतावन्तो जीवन्त्येतावन्तश्च मृता इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकभावे। तथाऽनन्तमिश्रा खल्विति अनन्तविषया सत्यामृषा यथा मूलकन्दाऽऽदौ परीतपत्राऽऽदिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः, परीतमिश्रा-परीतविषया सत्यामृषा यथाऽनन्तकायलेशवति परीतम्लानमूलाऽऽदौ परीतोऽयमभिदधतः। अद्धामिश्रा-कालविषया सत्यामृषा यथा कश्चित्कश्चित्प्रयोजने सहायाँस्त्वरयन् परिणतप्राये वासर एव रजनी वर्तत इति ब्रवीति। अद्धद्धमिश्रा च दिवसरजन्येकदेशः अद्धद्धोच्यते, तद्विषया सत्यामृषा यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने त्वरयन् प्रहरमात्र एव मध्याह्न इत्याह। एवं मिश्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते इति गाथार्थः। उक्ता सत्यामृषा।

साम्प्रतमसत्यामृषामाह-

आमंतणि आणवणी, जायणि तह पुच्छणी य पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य ॥ २७६ ॥

आमन्त्रणी यथा हे देवदत्त! इत्यादि,एषा किलाप्रवर्तकत्वात् सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतस्तथाविधदलोत्पत्तेरसत्यामृषेति एवमाज्ञापनी यथेदं कुरु,इयमपि तस्य करणाकरणभावतः परमार्थेनैकत्राप्यनियमात्तथाप्रतीतेः अदुष्टविवक्षाप्रसूतत्वादसत्यामृषेति। एवं स्वबुद्ध्याऽन्यत्रापि भावना कार्येति याचनी यथा-भिक्षां प्रयच्छेति,तथा प्रच्छनी यथा कथमेतदिति,प्रज्ञापनी यथा हिंसाप्रवृत्तो दुःखिताऽऽदिर्भवति,प्रत्याख्यानी भाषा यथा अदित्सेति भाषा। इच्छानुलोमा च यथा केनचित् कश्चिदुक्तः साधुसकाशं गच्छाम इति। स आह-शोभनमिदमिति गाथाऽर्थः।

अणभिग्गहिआ भासा,भासा य अभिग्गहम्मि बोधव्वा।
संसयकरणी भासा, वायड अव्वायडा चेव ॥ २७७ ॥

अनभिगृहीता भाषा अर्थमनभिगृह्य योच्यते डित्थाऽऽदिवत्, भाषा चाभिग्रहे बोधव्या-अर्थमभिगृह्य योच्यते घटाऽऽदिवत्,तथा च संशयकरणी च भाषा-अनेकार्थसाधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्। व्याकृता—स्पष्टा प्रकटार्था देवदत्तस्यैष भ्रातेत्यादिवत्। अव्याकृता चैव-अस्पष्टा अप्रकटार्था बालकाऽऽदीना थपनिकेत्यादिवदिति गाथार्थः। उक्ता असत्यामृषा।

( ४ ) साम्प्रतमोघत एवास्याः प्रविभागमाह—

सव्वा वि अ सा दुविहा, पज्जत्ता खलु तहा अपज्जत्ता।
पढमा दो पज्जता, उवरिल्ला दो अपज्जत्ता ॥२७८॥

सर्वाऽपि च 'सा' सत्याऽऽदिभेदभिन्ना भाषा द्विविधाऽपर्याप्ता खलु, तथा अपर्याप्ता। पर्याप्ता या एकपक्षे निक्षिप्यते सत्या वा मृषा वेति तद्व्यवहारसाधनी, तद्विपरीता पुनरपर्याप्ता,अत एवाऽऽह-प्रथमे द्वे भाषे सत्यामृषे पर्याप्ते, तथा स्वविषयव्यवहारसाधनात्, तथा उपरितने द्वे सत्यामृषाऽसत्यामृषाभाषे अपर्याप्ते, तथा स्वविषयव्यवहारासाधनादिति गाथार्थः। उक्ता द्रव्यभावभाषा।

( ५ ) साम्प्रतं श्रुतभावभाषामाह—

सुयधम्मे पुण तिविहा, सच्चा मोसा असच्चमोसा य।
सम्मद्दिट्ठी उ सुओ-वउत्तु सो भासई सच्चं ॥ २७९ ॥

श्रुतधर्मे इति श्रुतधर्मविषया पुनस्त्रिविधा भावभाषा भवति। तद्यथा-सत्या, मृषा, असत्यामृषा चेति। तत्र सम्यग्दृष्टिस्तु सम्यग्दृष्टिरेव,श्रुतोपयुक्त इत्यागमे यथावदुपयुक्तो यः स भाषते, सत्यम् आगमानुसारेण वक्तीति गाथार्थः।

सम्मद्दिट्ठी उ सुयम्मि, अणुवउत्तो अहेउगं चेव।
जं भासइ सा मोसा, मिच्छादिट्ठी वि अ तहेव ॥२८०॥

सम्यग्दृष्टिरेव सामान्येन श्रुते आगमे अनुपयुक्तः प्रमादात् यत्किञ्चित् अहेतुकं चैव युक्तिविकलं चैव यद्भाषते तन्तुभ्यः पट एव भवतीत्येवमादि सा मृषा,विराधनाऽऽदेरपि तत एव भावादिति। मिथ्यादृष्टिरपि तथैवेत्युपयुक्तोऽनुपयुक्तो वा यद्भाषते सा मृषैव, घुणाक्षरन्यायसंवादेऽपि सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवदिति गाथार्थः।

हवइ उ असच्चमोसा, सुयम्मि उवरिल्लए तिनाणम्मि।
जं उवउत्तो भासइ, उत्तो वोच्छं चरित्तम्मि ॥ २८१ ॥

भवति तु असत्यामृषा श्रुते आगम एव परावर्तनाऽऽदि कुर्वतस्तस्याऽऽमन्त्रण्यादिभाषारूपत्वात् तथा उपरितने अवधिमनःपर्यायकेवललक्षणे, त्रिज्ञान इति ज्ञानत्रये यदुपयुक्तो भाषते सा असत्यामृषा, आमन्त्रण्यादिवत् तथाविधाध्यवसायप्रवृत्तेः, इत्युक्ता श्रुतभावभाषा। अत ऊर्ध्वं वक्ष्ये चारित्र इति-चारित्रविषया भावभाषामिति गाथार्थः।

पढमबिइआ चरित्ते, भासा दो चेव होंति नायव्वा।
सचरित्तस्स उ भासा, सच्चामोसा उ इअरस्स ॥२८२॥

प्रथमद्वितीये सत्यामृषे, चारित्र इति चारित्रविषये भाषे,द्वे एव भवतो ज्ञातव्ये; स्वरूपमाह-सचरित्रस्य चारित्रपरिणामवतः,तुशब्दात् तद्वृद्धिनिबन्धनभूता च भाषा द्रव्यतस्तथाऽन्यथाभावेऽपि सत्या, सतां हितत्वादिति। मृषातु इतरस्य अचारित्रस्य तद्वृद्धिनिबन्धनभूता चेति गाथार्थः। दश० ७ अ० २ उ०। भ०। प्रव०। स्था०। स०। सू०। आव०। दर्श०। न०।

प्रतिविभागोपदर्शनं भाषाविशेषान् भाषणीयत्वेन प्रदर्शयितुमाह-

अह भंते! आसइस्सामो सइस्सामो चिट्ठिस्सामो निसीइस्सामो तुयट्टिस्सामो।

"आमंतणि आणवणी,जायणि तह पुच्छणी य पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य ॥ १ ॥
अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा।
संसयकरणी भासा, वोयडमव्वोयडा चेव ॥ २ ॥"

पन्नवणी णं एसा न एसा भासा मोसा ?। हंता! गोयमा!

मा ! आसइस्सामो तं चेव ०जाव न एसा भासा मोसा । ( सूत्रम्-४०३ )

' अह भंते ! ' इत्यादि, अथेति परिप्रश्नार्थः ' भंते ! त्ति भदन्त ! ' इत्येवं भगवन्तं महावीरमामन्त्र्य गौतमः पृच्छति-( आसइस्सामो त्ति ) आश्रयिष्यामो वयमाश्रयणीयं वस्तु ( सइस्सामो त्ति ) शयिष्यामः ' चिट्ठिस्सामो त्ति ' ऊर्द्धस्थानेन स्थास्याम', ' निसीइस्सामो त्ति ' निषेत्स्याम उपवेक्ष्याम इत्यर्थः । ' तुयट्टिस्सामो त्ति ' संस्तारके भविष्याम इत्यादिका भाषा किं प्रज्ञापनी ? इति योगः ॥ अनेन चोपलक्षणपरवचनेन भाषाविशेषाणामेवंजातीयानां प्रज्ञापनीयत्वं पृष्टमथ भाषाजातीनां तत्पृच्छति—' आमंतणि गाहा '-तत्र आमन्त्रणी-हे देवदत्त ! इत्यादिका, एषा च किल वस्तुनोऽविधायकत्वादनिषेधकत्वाच्च सत्याऽऽदिभाषात्रयलक्षणवियोगतश्चासत्यामृषेति प्रज्ञापनाऽऽद्यावुक्ता, एवमाज्ञापन्यादिकामपि, ' आणवणि त्ति ' आज्ञापनी कार्ये परस्य प्रवर्त्तनी यथा घटं कुरु ' जायणि त्ति ' याचनी-वस्तुविशेषस्य देहीत्येवं मार्गणरूपा, तथेति समुच्चये ' पुच्छणी य त्ति ' प्रच्छनी—अविज्ञातस्य संदिग्धस्य वाऽर्थस्य ज्ञानार्थं तदभियुक्तप्रेरणरूपा, ' पएणवणि त्ति ' प्रज्ञापनी विनेयस्योपदेशदानरूपा यथा—" पाणवहाउ नियत्ता, भवंति दीहाउया अरोगा य । एमाई पन्नवणी, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥ १ ॥ " ' पच्चक्खाणीभास त्ति ' प्रत्याख्यानी याचमानस्याऽदित्सा मे अतो मां मा याचस्वेत्यादिप्रत्याख्यानरूपा भाषा ' इच्छाणुलोम त्ति ' प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा—तदनुकूला इच्छानुलोमा यथा कार्ये प्रेरितस्य एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतदिति वचः । ' अणभिग्गहिया भासा गाहा ', अनभिगृहीता—अर्थानभिग्रहेण योच्यते डित्थाऽऽदिवत् ' भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा ' भाषा चाभिग्रहे बोद्धव्या—अर्थमभिगृह्य योच्यते घटाऽऽदिवत्, ' संसयकरणीभास त्ति । ' याऽनेकार्थप्रतिपत्तिकरी सा संशयकरणी यथा सैन्धवशब्दःपुरुषलवणवाजिषु वर्त्तमान इति ' वोयड त्ति ' व्याकृता लोकप्रतीतशब्दार्था, ' अव्वोयड त्ति ' अव्याकृता-गम्भीरशब्दार्था मन्मनाक्षरप्रयुक्ता वाऽनाविर्भावितार्था, ' पन्नवणी णं ति ' प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी अर्थकथनी वक्तव्येत्यर्थः, ' न एसा मोस त्ति ' नैषा मृषानार्थानभिधायिनी नावक्तव्येत्यर्थः, पृच्छतोऽयमभिप्रायः—आश्रयिष्याम इत्यादिका भाषा भविष्यत्कालविषया सा चान्तरायसम्भवेन व्यभिचारिण्यपि स्यात्, तथैकाऽर्थविषयाऽपि बहुवचनान्ततयोक्तेत्येवमयथार्था, तथा आमन्त्रणीप्रभृतिका विधिप्रतिषेधाभ्यां न सत्यभाषावद्वस्तुनि नियतेत्यतः किमिय वक्तव्या स्यात् ? इति, उत्तरं तु ' हंता ' इत्यादि । इदमत्र हृदयम्-आश्रयिष्याम इत्यादिकाऽनवधारणत्वाद्वर्त्तमानयोगेनेत्येतद्विकल्पगर्भत्वादात्मनि गुरौ चैकार्थत्वेऽपि बहुवचनस्याऽनुमतत्वात्प्रज्ञापन्येव तथाऽऽमन्त्रण्यादिकाऽपि वस्तुनो विधिप्रतिषेधाविधायकत्वेऽपि या निरवद्यपुरुषार्थसाधनी सा प्रज्ञापन्येवेति । भ० १० श० ३ उ० ।

सत्याऽऽदिभाषा—

से नूणं भंते ! मएणामीति ओहारिणी भासा चिंतेमीति ओहारिणी भासा, अह मण्णामीति ओहारिणी भासा अह चिंतेमीति ओहारिणी भासा तह मण्णामीति ओहारिणी भासा तह चिंतेमीति ओहारिणी भासा ? । हंता ! गोयमा ! मण्णामीति ओहारिणी भासा चिंतेमीति ओहारिणी भासा अह मण्णामीति ओहारिणी भासा अह चिंतेमीति ओहारिणी भासा तह मण्णामीति ओधारिणी भासा तह चिंतेमीति ओधारणी भासा ।

' से णूणं भंते ! मण्णामि इति ओहारणी भासा ' इत्यादि, ' से ' शब्दोऽथशब्दार्थः, स च वाक्योपन्यासे, नूनमुपमानावधारणतर्कप्रश्नहेतुषु इहावधारणे, भदन्त ! इत्यामन्त्रणे, मन्ये-अवबुध्ये इति—एवं, यदुत अवधारणी भाषा अवधार्यते-अवगम्यतेऽर्थोऽनयेत्यवधारणी—अवबोधबीजभूता इत्यर्थः, भाष्यते इति भाषा, तद्योग्यतया परिणामितनिसृज्यमानद्रव्यसंहतिः, एष पदार्थः, वाक्यार्थः पुनरयम् अथ भदन्त ! एवमहं मन्ये; यदुतावश्यमवधारिणी भाषेति, न चैतत् सकृदनालोच्यैव मन्ये, किं तु चिन्तयामि युक्तिद्वारेणाऽपि परिभावयामीति—एवं यदुत अवधारणीयं भाषेति, एवमात्मीयमभिप्रायं भगवते निवेद्याधिकृतार्थविनिश्चयनिमित्तमेवं भगवन्तं पृच्छति-(अह मण्णामी इइ ओहारिणी भासा इति ) ' अथशब्दः प्रक्रियाप्रश्नाऽऽनन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु, ' इह प्रश्ने, काक्का चास्य सूत्रस्य पाठस्ततोऽयमर्थः-अथ भगवन्नेवमहं मन्ये एवमहं मननंकुर्यां, यथा अवधारिणी भाषेति द्वितीयाभिप्रायनिवेदनमधिकृत्य प्रश्नमाह-(अह चिंतेमि ओहारिणी भासा इति)अथ भगवन् ! एवमहं चिन्तयामि एवमहं चिन्तनं कुर्यां, यदुतावधारिणी भाषेति निरवद्यमेतदित्यभिप्रायः, सम्प्रति पृच्छासमयात् यथा पूर्वं मननं चिन्तनं वा कृतवानिदानीमपि पृच्छासमये तथैव मननं चिन्तनं वा करोमि नान्यथेति भगवतो ज्ञानेन संवादयितुकामः पृच्छति—( तह मन्नामी इति ओहारिणी भासा तह चिंतेमीति ओहारिणी भासा इति ) ' तथेति समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रश्नेषु ' इह निर्देशे, काक्का चास्यापि पाठः, ततः प्रश्नार्थत्वावगतिः, भगवन् ! यथा पूर्वं मतवानिदानीमप्यहं तथा मन्ये इति—एवं यदुत अवधारिणी भाषेति । किमुक्तं भवति? नेदानीन्तनमननस्य पूर्वमननस्य च मदीयस्य कश्चिद्विशेषोऽस्त्येतत् भगवन्निति ; तथा यथा पूर्वं भगवन् ! चिन्तितवान् इदानीमप्यह तथा चिन्तयामि इति-एवं यदुत अवधारणी भाषेति, अस्त्येतदिति ?, एवं गौतमेनाभिप्रायनिवेदने प्रश्ने च कृते भगवानाह—' हंता गोयमा ! मन्नामी इति ओहारिणी भासा ' इति, ' हन्तेति सम्प्रेषणप्रत्यवधारणविवादेषु ' इह प्रत्यवधारणे, मन्नामी इत्यादीनि क्रियापदानि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च युष्मदर्थेऽपि प्रयुज्यन्ते, ततोऽयमर्थः-हन्त गौतम ! मन्यसे त्वं यदुत अवधारणी भाषेति जानाम्यह केवलज्ञानेनेदमित्यभिप्रायः, तथा चिन्तयसि त्वमित्येवं यदुतावधारिणी भाषेति इदमप्यहं वेद्मि केवलित्वात्, (अह मन्नामी इति ओहारिणी भासा इति) अथेत्यानन्तर्ये मत्संमतत्वात् ऊर्द्धं निःशङ्कं मन्यस्व, इति एवं यदुतावधारिणी भाषेति । अथ इत ऊर्द्धं निःशङ्कं चिन्तय इति एवं

यदुतावधारिणी भाषेति,अतीवेदं साध्वनवद्यमित्यभिप्राय', तथा तथा अविकलं परिपूर्णं मन्यस्व इत्येवं यदुतावधारणी भाषेति यथा पूर्वं मतवान् । किमुक्तं भवति ?, यथा त्वया पूर्वं मनन कृतमिदानीमपि मत्संमतत्वात् सर्वं तथैव मन्यस्व मा मनागपि शङ्का कार्षीरिति, तथा तथा अविकलं परिपूर्णं चिन्तय इति एवं यदुतावधारिणी भाषेति, यथा पूर्वं चिन्तितवान्, मा मनागपि शङ्किष्ठा इति, तदेवं भाषा अवधारिणीति निर्णीतम् ।

इदानीमियमवधारिणी भाषा सत्या उत
मृषेत्यादिनिर्णयार्थं पृच्छति—

ओहारिणी णं भंते ! भासा किं सच्चा मोसा सच्चामोसा असच्चामोसा ? । गोयमा ! सिय सच्चा, सिय मोसा, सिय सच्चामोसा, सिय असच्चामोसा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–ओहारिणी णं भासा सिय सच्चा, सिय मोसा, सिय सच्चामोसा, सिय असच्चामोसा ? । गोयमा ! आराहिणी सच्चा विराहिणी मोसा आराहणविराहिणी सच्चामोसा जा णेव आराहणी णेव विराहिणी णेवाऽऽराहणविराहिणी सा असच्चामोसा नामं सा चउत्थी भासा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–ओहारिणी णं भासा सिय सच्चा, सिय मोसा, सिय सच्चामोसा, सिय असच्चामोसा । ( सूत्रम्–१६१ )

'ओहारिणी ण भंते !' इत्यादि, अवधारिणी अवबोधबीजभूता, णमिति प्राग्वत्, भदन्त ! भाषा किं सत्या, मृषा, सत्यामृषा, असत्यामृषा ? इति । तत्र सन्तो मुनयस्तेषामेव भगवदाज्ञासम्यगाराधकतया परमशिष्टत्वात् सद्भ्यो हिता–इहपरलोकाऽऽराधकत्वेन मुक्तिप्रापिका सत्या, गुणाऽऽदिपाठाभ्युपगमात् य' प्रत्ययः, यद्वा–यो यस्मै हितः स तत्र साधुरिति सत्सु साध्वी सत्या । 'तत्र साधौ' ॥७।१।१५॥ इति यः प्रत्ययः, यदि वा–सन्तो मूलोत्तरगुणास्तेषामेव जगति मुक्तिपदप्रापकतया परमशोभनत्वात्, अथवा सन्तो विद्यमानास्ते च भगवदुपदिष्टा एव जीवाऽऽदयः पदार्थाः, अन्येषा कल्पनामात्ररचितसत्ताकतया तत्त्वतोऽसत्त्वात् तेभ्यो हिता तेषु साध्वी वा यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्ररूपणेन सत्या, विपरीतस्वरूपा मृषा, उभयस्वभावा सत्यामृषा, या पुनस्तिसृष्वपि भाषास्वनधिकृता—तल्लक्षणायोगतस्तत्रानन्तर्भाविनी सा आमन्त्रणाऽऽज्ञापनाऽऽदिविषया असत्यामृषा । उक्तं च—"सच्चा हिया सयामिह, संतो मुणयो गुणा पयत्था वा । तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥१॥ अणहिगया जा तीसु वि, सद्दो च्चिय केवलो असच्चमुसा ॥" इति । भगवानाह—'गौतम ! सिय सच्चा' इत्यादि, स्यात् सत्या सत्याऽपि भगवतीत्यर्थः, एवं स्यादसत्या स्यात्सत्यामृषा स्यादसत्यामृषेति । अत्रैवार्थे प्रश्नमाह–'से केणट्ठेणं भते !' इत्यादि, सुगमम् । भगवानाह—गौतम ! आराधनी सत्या, इह विप्रतिपत्तौ सत्या वस्तुप्रतिष्ठापनबुद्ध्या या सर्वज्ञमतानुसारेण भाष्यते अस्त्यात्मा सदसन्नित्या नित्याऽऽद्यनेकधर्मकलापाऽऽलिङ्गित इत्यादि सा यथावस्थितवस्त्वभिधायिनी आराध्यते मोक्षमार्गोऽनयेत्याराधिनी, आराधिनीत्वात् सत्येति, विराधिनी मृषेति, विराध्यते मुक्तिमार्गोऽनयेति विराधिनी, विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठाऽऽशया सर्वज्ञमतप्रातिकूल्येन या भाष्यते यथा नास्त्यात्मा एकान्तनित्यो वेत्यादि तथा सत्याऽपि परपीडोत्पादिका सा विपरीतवस्त्वभिधानात् परपीडाहेतुत्वाद्वा मुक्तिविराधनाद्विराधिनी विराधिनीत्वाच्च मृषेति, या तु किञ्चन नगरं पत्तनं वाऽधिकृत्य पञ्चसु दारकेषु जातेष्वेवमभिधीयते, यथाऽस्मिन् अद्य दश दारका जाता इति सा परिस्थूरव्यवहारनयमतेन आराधनाविराधिनी, इयं हि पञ्चाना दारकाणां यज्जन्म तावतांऽशेन संवादनसम्भवादाराधिनी, दश न पूर्यन्ते इत्येतावतांऽशेन विसंवादसम्भवात् विराधिनी, आराधिनी चासौ विराधिनी च आराधनविराधिनी, कर्मधारयत्वात् पुम्वद्भाव', आराधनविराधिनीत्वाच्च सत्यामृषा, या तु नैवाऽऽराधनी तल्लक्षणविगमात् नापि विराधिनी विपरीतवस्त्वभिधानाभावात् परपीडाहेतुत्वाभावाच्च नाप्याराधनविराधिनी एकदेशसंवादविसंवादाभावात्, हे साधो ! प्रतिक्रमण कुरु स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षस्वेत्यादिव्यवहारपतिता आमन्त्रण्यादिभेदभिन्ना सा असत्यामृषा नाम चतुर्थी भाषा, 'से एएणट्ठेणं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ॥

इह यथावस्थितवस्तुतत्त्वाभिधायिनी भाषा आराधिनीत्वात् सत्येत्युक्तं, ततः संशयाऽऽपन्नस्तदपनोदाय पृच्छति—

अह भंते ! गाओ मिया पसू पक्खी पन्नवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ? । हंता गोयमा ! जा य गाओ मिया पसू पक्खी पन्नवणी णं एसा भासा, [पन्नवणी] ण एसा भासा मोसा । अह भंते ! जा य इत्थीवऊ जा य पुरिसवऊ जा य णपुंसगवऊ पन्नवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ! हंता गोयमा ! जा य इत्थीवऊ जा य पुमवऊ जा य नपुंसगवऊ पन्नवणी णं एसा भासा न एसा भासा मोसा । अह भंते ! जा य इत्थीआणमणी जा य पुमआणमणी जा य नपुंसगआणमणी पन्नवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ? । हंता गोयमा ! जा य इत्थीआणवणी जा य पुमआणवणी जा य नपुंसगआणवणी पन्नवणी णं एसा भासा न एसा भासा मोसा । अह भंते ! जा य इत्थिपन्नवणी जा य पुमपन्नवणी जा य नपुंसगपन्नवणी पन्नवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ? । हंता गोयमा ! जा य इत्थिपन्नवणी जा य पुमपन्नवणी जा य नपुंसगपन्नवणी, पन्नवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा । अह भंते ! जा जातीति इत्थिवऊ जातीइ पुमवऊ जातीति णपुंसगवऊ पन्नवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ? । हंता ! गोयमा ! जातीति इत्थिवऊ जाईति पुमवऊ जातीति णपुंसगवऊ

पण्णवणी णं एसा भासा न एसा भासा मोसा । अह भंते ! जा जातीइ इत्थियाणवणी जाइत्ति पुमआणवणी जातीति णपुंसगाणवणी पण्णवणी णं एसा भासा न एसा भासा मोसा ? । हंता ! गोयमा ! जातीति इत्थिआणमणी जातीति पुमआणवणी जातीति णपुंसगाणमणी पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा । अह भंते ! जातीति इत्थिपण्णवणी जातीति पुमपण्णवणी जातीति णपुंसगपण्णवणी पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ? । हंता ! गोयमा ! जातीति इत्थिपण्णवणी जाईति पुमपण्णवणी जाईति णपुंसगपण्णवणी पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा । ( सूत्रम्-१६२ )

' अह भंते ! गाओ मिया ' इत्यादि, अथ भदन्त ! गावः प्रतीताः, मृगा अपि प्रतीताः, पशवः—अजाः, पक्षिणोऽपि प्रतीताः, प्रज्ञापनी प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी, किम् अर्थप्रतिपादनी ?, प्ररूपणीयेति यावत्, णमिति वाक्यालङ्कारे, एषा भाषा सत्या नैषा भाषा मृषेति । इयमत्र भावना-गाव इति भाषा गोजातिं प्रतिपादयति,जातौ च त्रिलिङ्गा अप्यर्था अभिधेयाः, लिङ्गत्रयस्याऽपि जातौ सम्भवात्,एवं मृगपशुपक्षिष्वपि भावनीयम्, न चैते शब्दास्त्रिलिङ्गाभिधायिनस्तथाप्रतीतेरभावात् किन्तु पुंलिङ्गगर्भास्ततः संशयः किमियं प्रज्ञापनी, किं वा नेति? । भगवानाह-'हंता गोयमा !' हन्तेत्यवधारणे गौतम ! इत्यामन्त्रणे,गाव इत्यादिका भाषा प्रज्ञापनी, तदर्थकथनाय प्ररूपणीया, यथावस्थितनार्थप्रतिपादकतया सत्यत्वात्, तथापि जात्यभिधायिनीयं भाषा, जातिश्च त्रिलिङ्गार्थसमवायिनी, ततो जात्यभिधानेन त्रिलिङ्गा अपि यथासम्भवं विशेषा अभिहिता भवन्तीति भवति यथावस्थितार्थाभिधानादियं प्रज्ञापनी भाषेति । यदप्युक्तम्-किन्तु पुंलिङ्गगर्भा इति, तत्र शब्दे लिङ्गव्यवस्था लक्षणवशात्, लक्षणं च—' स्त्रीपुंनपुंसकसहोक्तौ परं ' तथा ' ग्राम्याशिशुद्विखुरसङ्घे स्त्री प्राय. ' इत्यादि, ततो भवेत् क्वचित् शब्दे लक्षणवशात् स्त्रीत्वं, क्वचित् पुंस्त्वं, क्वचित् नपुंसकत्वं वा । परमार्थतः पुनः सर्वोऽपि जातिशब्दस्त्रिलिङ्गानप्यर्थान् तत्तद्देशकालप्रस्तावाऽऽदिसामर्थ्यवशादभिधत्ते इति न कश्चिद्दोषः न चेयं परपीडाजनिका, नाऽपि विप्रतारणाऽऽदिदुष्टविवक्षासमुत्था ततो न मृषेति प्रज्ञापनी । ' अह भंते ! जा य इत्थिवऊ ' इत्यादि अथेति प्रश्ने भदन्त ! इत्यामन्त्रणे, या च स्त्रीवाक् स्त्रीलिङ्गप्रतिपादिका भाषा खट्वा लतेत्यादिलक्षणा, या पुरुषवाक् घट. पट इत्यादिरूपा, या च नपुंसकवाक् कुड्य काण्डमित्यादिलक्षणा प्रज्ञापनीय भाषा नैषा भाषा मृषेति ? , किमत्र संशयकारणं येनेत्थं पृच्छति ?, इति चेत्, उच्यते-इह खट्वाघटकुड्याऽऽदयः शब्दाः यथाक्रमं स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गाभिधायिन । स्त्रीपुंनपुंसकाना च लक्षणमिदम्—

" योनिमृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धता क्लीवता स्तनौ ।
पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता ।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥ २ ॥
स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदि—भावाभावसमन्वितम् ।
नपुंसकं बुधाः प्राहु—र्मोहानलसुदीपितम् ॥ ३ ॥ "

तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—

" स्तनकेशवती स्त्री स्या—ल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च, तत्र भावे नपुंसकम् ॥ १ ॥ "

न चैवंरूपाणि स्त्र्यादिलक्षणानि खट्वाऽऽदिषूपलभ्यन्ते । तथाहि—यद्येकैकावयवपृथक्करणेन सम्यग् निभालनं क्रियते तथापि न तेषां स्त्र्यादिलक्षणानां तत्रोपलम्भोऽस्ति, ततः प्रज्ञापनीयं भाषा न वेति जातसंशयः तदपनोदाय पृच्छति । अत्र भगवानाह-' हंता गोयमेत्यादि 'अक्षरगमनिका प्राग्वत् । भावार्थस्त्वयम्-नेह शब्दप्रवृत्तिचिन्तायां यथोक्तानि स्त्र्यादिलक्षणानि स्त्रीलिङ्गाऽऽदिशब्दाभिधेयानि, किन्त्वभिधेयधर्मा इयमयमिदंशब्दव्यवस्थाहेतवः गुरूपदेशपारम्पर्यगम्याः स्त्रीलिङ्गाऽऽदिशब्दाभिधेयाः, नचैते कल्पनामात्रं, वस्तुतस्तत्तच्छब्दाभिधेयतया परिणमनभावात्, तेषामभिधेयधर्माणां तत्त्वतस्ताविकत्वात् । आह च शकटसूनुरपि-" अयमियमिदमितिशब्दव्यवस्थाहेतुरभिधेयधर्मं उपदेशगम्यः स्त्रीपुंनपुंसकत्वानीति " । व्यवस्थापितश्चायमर्थो विस्तरकेण स्वोपज्ञशब्दानुशासनविवरण इति, ततःशाब्दव्यवहारापेक्षया यथावस्थितार्थप्रतिपादनात् प्रज्ञापनीयं भाषा, दुष्टविवक्षातः समुत्पत्तेरभावात् परपीडाहेतुत्वाभावाच्च न मृषेति । 'अह भंते !' इत्यादि , अथ भदन्त ! या च स्त्र्याज्ञापनी आज्ञाप्यते· आज्ञासम्पादने प्रयुज्यतेऽनया सा आज्ञापनी स्त्रिया आज्ञापनी स्त्र्याज्ञापनी, स्त्रिया आदेशदायिनीत्यर्थः या च पुमाज्ञापनी नपुंसकाऽऽज्ञापनी, प्रज्ञापनीयं भाषा नैषा भाषा मृषेति ? । अत्रेद संशयकारणम्—किल सत्या भाषा प्रज्ञापनी भवति , इयं च भाषा आज्ञासम्पादनक्रियायुक्ताभिधायिनी, आज्ञाप्यमानश्च यादिः तथा कुर्याच्च वा ? , ततः संशयमापन्नो विनिश्चयाय पृच्छति । अत्र भगवानाह-'हंता गोयमा ! ' इत्यादि , अक्षरगमनिका सुगमा । भावार्थस्त्वयम्-आज्ञापनी भाषा द्विधा—परलोकाबाधिनी, इतरा च । तत्र या स्वपरानुग्रहबुद्ध्या शाठ्यमन्तरेण आमुष्मिकफलसाधनाय प्रतिपन्नैहिकाऽऽलम्बनप्रयोजना विवक्षितकार्यप्रसाधनसामर्थ्ययुक्ता विनीतस्त्र्यादिविनेयजनविषया सा परलोकाबाधिनी , एषैव च साधूना प्रज्ञापनी, परलोकाबाधनात्, इतरा त्वितरविषया, सा च स्वपरसङ्क्लेशजननात् मृषेत्यप्रज्ञापनी साधुवर्गस्य । उक्तंच-"अविणीयमाणवंतो, किलिस्सई भासई मुसं तह य । घंटालोहं नाउं, को कडकरणे पवत्तेज्जा ? ॥ १ ॥ " क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यमित्यभिप्रायः । ' अह भंते ! जाय इत्थिपण्णवणी ' इत्यादि । अथ भदन्त ! या च भाषा स्त्रीप्रज्ञापना-स्त्रीलक्षणप्रतिपादिका, ' योनिमृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धता ' इत्यादिरूपा । या च पुंप्रज्ञापनी-पुरुषलक्षणप्रतिपादिका—' मेहनं खरता दार्ढ्यं ' इत्यादिरूपा । या च नपुंसकप्रज्ञापनी—नपुंसकलक्षणाभिधायिनी 'स्तनाऽऽदिश्मश्रु-लकप्रज्ञापनी—नपुसकलक्षणभिधायिनी 'स्तनाऽऽदिश्मश्रुकेशाऽऽदि भावाभावसमन्वितम् ।' इत्यादि लक्षणा, प्रज्ञापनीयं

भाषा नैषा भाषा मृषेति ?। कोऽत्राभिप्राय इति चेत्, उच्यते—इह स्त्रीलिङ्गाऽऽदयः शब्दाः शाब्दव्यवहारबलादन्यत्रापि प्रवर्त्तन्ते, यथा खट्वाघटकुट्याऽऽदयः खट्वाऽऽदिष्वर्थेषु न खलु तत्र यथोक्तानि स्त्र्यादिलक्षणानि सन्ति यथोक्तं प्राक्, ततः किमियमव्यापकत्वात् स्त्र्यादिलक्षणप्रतिपादिका भाषा न वक्तव्या, आहोस्वित् वक्तव्येति संशयाऽऽपन्नः पृच्छति। अत्र भगवानाह—' हंता गोयमेत्यादि । ' अक्षरगमनिका सुप्रतीता। भावार्थस्त्वयम्-इह स्त्र्यादिलक्षणं द्विधा शाब्दव्यवहारानुगतं, वेदानुगतं च । तत्र यदा शाब्दव्यवहाराऽऽश्रितं प्रतिपादयितुमिष्यते तदेवं न वक्तव्यमव्यापकत्वात्, यथा चाव्यापकता तथा प्रागेव लेशतो दर्शिता, विस्तरतस्तु स्वोपज्ञशब्दानुशासनविवरणे। तत इयं तदधिकृत्य प्रज्ञापनी, यदा तु वेदानुगतं प्रतिपादयितुमिष्यते तदा यथाऽवस्थितार्थाभिधानात् प्रज्ञापन्येव, न मृषेति।' अह भंते ! जा जातीति इत्थिवऊ ' इत्यादि। अथ भदन्त ! या जातिस्त्रीवाक् जातौ स्त्रीवचनं सत्तेति, या जातौ पुंवाक् पुवचन भाव इति, या च जातौ नपुंसकवाक् सामान्यमिति, प्रज्ञापनी एषा भाषा नैषा भाषा मृषेति ?। कोऽत्राभिप्रायः?, इति चेत्, उच्यते-जातिरिह सामान्यमुच्यते, सामान्यस्य च न लिङ्गसंख्याभ्यां योगो, वस्तूनामेव लिङ्गसंख्याभ्यां योगस्य तीर्थान्तरीयैरभ्युपगमात्, ततो यदि परं जातावौत्सर्गिकमेकवचनं नपुंसकलिङ्गं चोपपद्येत न त्रिलिङ्गता, अथ च त्रिलिङ्गाभिधायिनोऽपि शब्दाः प्रवर्त्तन्ते यथोक्तमनन्तरं ततः संशयः-किम् एषा भाषा प्रज्ञापनी, उत नेति ?। अथ भगवानाह—' हंता गोयमा ! ' इत्यादि । अक्षरार्थः सुगमः । भावार्थस्त्वयम्—जातिर्नाम सामान्यमुच्यते, सामान्यं च न परिकल्पितमेकमनवयवमक्रियं, तस्य प्रमाणबाधितत्वात्, यथा च प्रमाणबाधितत्वं तथा तत्त्वार्थटीकायां भावितमिति ततोऽवधार्यम्, किन्तु समान परिणामो "वस्तुन एव समानः, परिणामो यः स एव सामान्यम्।" इति वचनात्, समानपरिणामश्चानेकधर्म्माऽऽत्मा, धर्माणां परस्पर धर्मिणोऽपि च सहान्योऽन्यानुवेधाभ्युपगमात् तथा प्रमाणेनोपलब्धे ,ततो घटते जातेरपि त्रिलिङ्गतेति प्रज्ञापन्येषा भाषा, नैषा भाषा मृषेति। ' अह भंते ! ' इत्यादि । अथ भदन्त ! या जातिस्त्र्याज्ञापनी जातिमधिकृत्य स्त्रिया आज्ञापनी यथा अमुका ब्राह्मणी क्षत्रिया वा एव कुर्यादिति। एवं जातिमधिकृत्य पुमाज्ञापनी नपुंसकाऽऽज्ञापनी, प्रज्ञापनी एषा भाषा नैषा भाषा मृषेति ?। अत्रापि संशयकारणमिदम्-आज्ञापनी हि नाम आज्ञासम्पादनक्रियायुक्तस्त्र्याद्यभिधायिनी, स्त्र्यादिश्चाऽऽज्ञाप्यमानस्तथा कुर्यान्नवेति संशयः, किमियं प्रज्ञापनी, किं वाऽन्येति ?। अत्र निर्वचनमाह—' हंता गोयमा ! ' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्-आज्ञापनी हि नाम परलोकाबाधिनी सा प्रोच्यते या स्वपरानुग्रहबुद्ध्या विवक्षितार्थसम्पादनसामर्थ्योपेत विनीतस्त्र्यादिविनेयजनविषया, यथा अमुका ब्राह्मणी साध्वी शुभं नक्षत्रमवेत्यमुकमङ्गं श्रुतस्कन्धं च पठेत्यादि सा प्रज्ञापन्येव, दोषाभावात्, शेषा तु स्वपरपीडाजननान्मृषेत्यप्रज्ञापनीति । ' अह भंते ! ' इत्यादि । अथ भदन्त ! या जातिस्त्रीप्रज्ञापनी जातिमधिकृत्य स्त्रिया स्त्रीलक्षणस्य प्रतिपादिका, यथा स्त्रीः स्वभावात् तुच्छा भवति गौरवबहुला चलेन्द्रिया दुर्बला च धृत्येति । उक्तं च—"तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धीईए। " इत्यादि । या च जातिमधिकृत्य पुम्प्रज्ञापनी पुरुषलक्षणस्य स्वरूपनिरूपिका, यथा पुरुषः स्वभावात् गम्भीराऽऽशयो भवति महत्यामपि चाऽऽपदि न क्लीबतां भजते इत्यादि। या च जातिमधिकृत्य नपुंसकप्रज्ञापनी नाम-नपुंसकजातिप्ररूपिका, यथा नपुंसकः स्वभावात् क्लीबो भवति, प्रबलमोहानलज्वालाकलापज्वलितश्चेत्यादि प्रज्ञापन्येषा भाषा नैषा भासा मृषेति अत्रापीदं संशयकारणं वर्ण्यते खलु जातिगुणाः एवंरूपाः परं क्वचित् कदाचित् व्यभिचारोऽपि दृश्यते । तथाहि—रामाऽपि काचित् गम्भीराऽऽशया भवति धृत्या चातीव बलवती, पुरुषोऽपि च कश्चित्तुच्छप्रकृतिरूपो लभ्यते स्तोकायामपि चापदि क्लीबतां भजते , नपुंसकोऽपि कश्चिन्मन्दमोहानलो दृढसत्त्वश्च, ततः संशयः—किमेषा प्रज्ञापनी , किं वा नेति ?। अत्र भगवानाह—' हंता ! गोयमा ! ' इत्यादि । अक्षरार्थः सुगमः, परं भावार्थस्त्वयम्—इह जातिगुणप्ररूपणं बाहुल्यमधिकृत्य भवति न समस्तव्यक्त्याक्षेपेणात एव जातिगुणान् प्ररूपयन्तो विमलधियः प्रायः शब्दं समुच्चारयन्ति , प्रायेणेद द्रष्टव्यं , यत्रापि न प्रायः , शब्दश्रवण तत्रापि स द्रष्टव्यः प्रस्तावात्, ततः कश्चित्क्वाचित्क व्यभिचारेऽपि दोषाभावात् प्रज्ञापन्येषा भाषा न मृषेति । इह भाषा द्विधा दृश्यते-एका सम्यगुपयुक्तस्य द्वितीया त्वितरस्य, तत्र यः पूर्वापरानुसन्धानपाटवोपेतः श्रुतज्ञानेन पर्यालोच्यार्थान् भाषते स सम्यगुपयुक्तः, स चैवं जानाति-अहमेतद्भाषे इति, यस्तु करणापटिष्ठतया बालाऽऽदिर्नोपहतधनन्यकतया वा पूर्वापरानुसन्धानविकलो यथाकथञ्चित् मनसा विकल्प्य भाषते स इतरः , स चैवमपि न जानाति—यथा अहमेतत् भाषे इति।

बालाऽऽदयोऽपि च भाषमाणा दृश्यन्ते, ततः संशयः-किमेते जानन्ति यद्वयमेतत् भाषामहे इति, किं वा न जानन्तीति पृच्छति—

अह भंते ! मदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणति बुयमाणा अहमेसे बुयामीति ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थ सण्णिणो । अह भंते ! मदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणइ आहारं आहारेमाणे अहमेसे आहारमाहारेमि त्ति ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थ सण्णिणो। अह भंते ! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणति अयं मे अम्मापियरो ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थ सण्णिणो । अह भंते ! मंदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणति अय मे अतिराउले अयं मे अइराउले त्ति ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थ सण्णिणो। अह भंते ! मदकुमारए वा मंदकुमारिया वा जाणति अयं मे भट्टिदारए अयं मे भट्टिदारिय त्ति ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थ सण्णिणो । अह भंते ! उट्टे गोणे खरे घोडए अए एलए जाणति बुयमाणे अहमेसे बुयामि ?। गोयमा ! णो इणट्ठे

समट्ठे, णऽएणत्थ सण्णिणो। अह भंते! उट्टे ०जाव एलए जाणति आहारं आहारेमाणे अहमेसे आहारेमि ?। गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे ०जाव णऽएणत्थ सण्णिणो। अह भंते! उट्टे गोणे खरे घोडए अए एलए जाणति अयं मे अम्मापियरो ?। गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे ०जाव णऽएणत्थ सण्णिणो। अह भंते! उट्टे ०जाव एलए जाणति अयं मे अतिराउले त्ति ?। गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे० जाव णऽएणत्थ सण्णिणो। अह भंते! उट्टे ०जाव एलए जाणति अयं मे भट्टिदारए भट्टिदारिया ?। गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे०जाव णऽएणत्थ सण्णिणो। ( सूत्रम्-१६३ )

'अह भंते! मंदकुमारए वा' इत्यादि। अथ भदन्त! मन्दकुमारकः-उत्तानशयो बालकः, मन्दकुमारिका—उत्तानशया बालिका, भाषमाणा—भाषायोग्यान् पुद्गलानादाय भाषात्वेन परिणमय्य विसृजती एवं जानाति—यथाऽहमेतद् ब्रवीमि इति ? भगवानाह—गौतम! नायमर्थः समर्थः—युक्त्युपपन्नो, यद्यपि मनःपर्याप्त्या पर्याप्तस्तथापि तस्याद्यापि मनःकरणमपटु अपटुत्वाच्च मनःकरणस्य क्षयोपशमोऽपि मन्दः, श्रुतज्ञानाऽऽवरणस्य हि क्षयोपशमः प्रायो मनः करणपटिष्ठतामवलम्ब्योपजायते, तथा लोके दर्शनात्, ततो न जानाति मन्दकुमारो मन्दकुमारिका वा भाषमाणा यथाऽहमेतत् ब्रवीमीति। किं सर्वोऽपि न जानातीत्यत आह—'नऽएणत्थ सण्णिणो' इति, अन्यत्रशब्दोऽत्र परिवर्जनार्थः, इह चान्यत्रापि परिवर्जनार्थो यथा—'अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां, सर्वे योधाः पराङ्मुखाः।' इति, द्रोणभीष्मौ वर्जयित्वा इत्यर्थः। संज्ञी-अवधिज्ञानी जातिस्मरः सामान्यतो विशिष्टमनःपाटवोपेतो वा तस्मादन्यो न जानाति, संज्ञी तु यथोक्तस्वरूपो जानीते। एवमाहाराऽऽदिविषयाण्यपि चत्वारि सूत्राणि भावनीयानि, नवरमतिराउले इति देशीपदं, एतत् स्वामिकुलमित्यर्थः। 'भट्टिदारए' इति भर्त्ता-स्वामी तस्य दारकः-पुत्रो भर्तृदारकः। एवमुष्ट्राऽऽदिविषयाण्यपि पञ्च सूत्राणि भावयितव्यानि, नवरमुष्ट्राऽऽदयोऽप्यतिबालावस्थाः परिग्राह्याः न जरठाः, जरठावस्थाया हि परिज्ञानस्य सम्भवात्।

सम्प्रत्येकवचनाऽऽदिभाषाविषयसंशयापनोदार्थं पृच्छति-

अह भंते! मणुस्से महिसे आसे हत्थी सीहे वग्घे विगे दीविए अच्छे तरच्छे परस्सरे सियाले विराले सुणए कोलसुणए कोकंतिए ससए चित्तए चिल्ललए, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा एगवऊ ?। हंता गोयमा! मणुस्से०जाव चिल्ललए, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा एगवऊ। अह भंते! मणुस्सा०जाव चिल्ललगा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा बहुवऊ ?। हंता गोयमा! मणुस्सा० जाव चिल्ललगा सव्वा सा बहुवऊ। अह भंते! मणुस्सी महिसी वलवा हत्थिणिया सीही वग्घी विगी दीविया अच्छी तरच्छी परस्सरा रासभी सियाली विराली सुणिया कोलसुणिया कोकंतिया ससिया चित्तिया चिल्ललिया, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा इत्थिवऊ ?। हंता गोयमा! मणुस्सी ०जाव चिल्ललिगा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा इत्थिवऊ। अह भंते! मणुस्से! ०जाव चिल्ललए जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा पुमवऊ ?। हंता गोयमा! मणुस्से महिसे ०जाव चिल्ललए, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वा सा पुमवऊ अह भंते! कंसं कंसोयं परिमंडलं सेलं थूभं जालं थालं तारं रूवं अच्छिपव्वं कुंडं पउमं दुद्धं दहिं णवणीतं असणं सयणं भवणं विमाणं छत्तं चामरं भिंगारं अंगणं णिरंगणं आभरणं रयणं, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वं तं णपुंसगवऊ ?। हंता गोयमा! कंसं ०जाव रयणं जे यावन्ने तहप्पगारा तं सव्वं णपुंसगवऊ। अह भंते! पुढवी इत्थिवऊ, आउ त्ति पुमवऊ, धण्णित्ति नपुंसगवऊ, पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ?। हंता गोयमा! पुढवि त्ति इत्थिवऊ। आउ त्ति पुमवऊ, धण्णित्ति नपुंसगवऊ, पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा। अह भंते! पुढवीति इत्थिआणमणी, आउत्ति पुमआणमणी, धण्णेत्ति नपुंसगाणमणी, पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ?। हंता गोयमा! पुढवि त्ति इत्थिआणमणी, आउ त्ति पुमआणमणी, धण्णे त्ति नपुंसगाणमणी पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ?। अह भंते! पुढवीति इत्थिपण्णवणी, आउ त्ति पुमपण्णवणी, धण्णेत्ति णपुंसगपण्णवणी, आराहणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसा ?। हंता! गोयमा! पुढवीति इत्थिपण्णवणी, आउ त्ति पुमपण्णवणी, धण्णेति नपुंसगपण्णवणी, आराहणी णं एसा भासा, न एसा भासा मोसा। इच्चेवं भंते! इत्थिवयणं वा पुमवयणं वा नपुंसगवयणं वा वयमाणे पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ?। हंता गोयमा! इत्थिवयणं वा पुमवयणं वा णपुंसगवयणं वा वयमाणे पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा॥ [ सूत्रम्-१६४ ]

अथ भदन्त! मनुष्यो महिषोऽश्वो हस्ती सिंहो व्याघ्रो वृक एते प्रतीताः। द्वीपी—चित्रकविशेष, ऋक्षः अच्छभल्ल', तरक्षो-व्याघ्रजातिविशेषः, परस्सरो-गण्ड', शृगालो-गोमायुः, बिडालो-मार्जार, शुनको-मृगदंशः, कोलशुनको-मृगयाकुशलः श्वा, शशकः—प्रतीतः, कोकंतिया लुङ्कड़ी, चित्रकः—प्रतीत', चिल्ललक' आरण्य. पशुविशेष। 'जे यावन्ने तहप्पगारा' इति। येऽपि चान्ये तथा प्रकारा एकवचनान्ता इत्यर्थः, सर्वा सा एकवाक्—एकत्वप्रतिपा-

दिका वाणी, अयमत्र प्रश्नहेतुरभिप्रायः-इह वस्तु धर्मधर्मिसमुदायाऽऽत्मकं, धर्माश्च प्रतिवस्त्वनन्ताः, मनुष्य इत्याद्युक्तौ च सकलं वस्तु धर्मधर्मिसमुदायाऽऽत्मकं परिपूर्णं प्रतीतये, तथा व्यवहारदर्शनात्, एकस्मिंश्चार्थे एकवचनं, बहुषु बहुवचनम्। अत्र बहवो धर्मा अभिधेयाः, ततः कथमेकवचनम्?। अथ च दृश्यते लोके एकवचनेनापि व्यवहार इति पृच्छति-सर्वा सा एकत्वप्रतिपादिका वाग् भवति?। काक्वा चेदं पठ्यते ततः प्रश्नार्थत्वावगतिः। भगवानाह—'हंता गोयमा!' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्-शब्दप्रवृत्तिरिह विवक्षाऽधीना, विवक्षा च तत्तत्प्रयोजनवशात् वक्तुः कचित् कदाचित् कथञ्चित् भवतीत्यनियता। तथाहि स एवैकः पुरुषो यदाऽयं मे जनक इति पुत्रेण विवक्ष्यते तदा जनक इत्यभिधीयते, स एव यदा तेनैव मामध्यापयतीति विवक्ष्यते तदा तूपाध्याय इति, तत्र यदा उपसर्जनीभूतधर्मा धर्मी प्राधान्येन विवक्ष्यते तदा धर्मिण एकत्वात् एकवचनं, धर्माश्च धर्मिण्यन्तर्गता इति परिपूर्णवस्तुप्रतीतिर्यथा त्वमिति, यदा तूपसर्जनीभूतधर्मिणो धर्माः पाण्डित्यपरोपकारित्वमहादानदातृत्वाऽऽदयः प्राधान्येन विवक्ष्यन्ते तदा धर्माणां बहुत्वादेकस्मिन्नपि बहुवचनं यथा यूयमिति, तत्र इहापि मनुष्य इत्यादावुपसर्जनीकृतधर्मा धर्मी प्राधान्येन विवक्षित इति भवति, सर्वाऽप्येवंजातीया एकत्वप्रतिपादिका वाक्। 'अह भंते! मणुस्सा' इत्यादि, अक्षरगमनिका प्राग्वत्, अत्रापीदं संशयकारणम्—मनुष्याऽऽदयः शब्दा जातिवाचकाः, जातिश्च सामान्यं, सामान्यं चैकम् 'एकं नित्यं निरवयवमक्रियं सर्वगं च सामान्यम्' इतिवचनात्, ततः कथमत्र बहुवचनम्?। अथ च दृश्यते बहुवचनेनाऽपि व्यवहार इति पृच्छति--सर्वा सा बहुत्वप्रतिपादिका वाक् भवति?, काक्वा पाठात् प्रश्नार्थत्वावगतिः। अत्र भगवानाह-'हंता गोयमा!' इत्यादि। अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्-यद्यपि नामैते जातिवाचकाः शब्दाः तथाऽपि जातिरभिधीयते समानपरिणामः, समानपरिणामश्चासमानपरिणामाविनाभावी, अन्यथैकत्वाऽऽपत्तितः समानत्वयोगात्, ततो यदा समानपरिणामोऽसमानपरिणामसंवलितः प्राधान्येन विवक्ष्यते तदाऽसमानपरिणामस्य प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वात् तदभिधाने बहुवचनं, यथा घटा इति, यदा तु स एव एकः समानपरिणामः प्राधान्येन विवक्ष्यते इतरस्त्वसमानपरिणाम उपसर्जनीभूतस्तदा सर्वत्राऽपि समानपरिणामस्य एकत्वात् तदभिधाने एकवचनं, यद्वा-सर्वोऽपि घटः पृथुबुध्नोदराऽऽद्याकार इति अत्राऽपि मनुष्या इत्यादौ समानपरिणामोऽसमानपरिणामसंवलितः प्राधान्येन विवक्षित इति, तस्यानेकत्वभावात् बहुवचनम्। 'अह भंते! मणुस्सी' इत्यादि। अत्रेदं संशयकारणम्-इह सर्वं वस्तु त्रिलिङ्गं, तथाहि मृद्रूपोऽयमिति पुंलिङ्गता मृत्परिणतिरियं घटाऽऽकारापरिणतिरियमिति स्त्रीलिङ्गता, इदं वस्त्विति नपुंसकलिङ्गता, तत्रैवं शबलरूपे वस्तुनि व्यवस्थिते कथमेकलिङ्गमात्राभिधायी शब्दस्तदभिधायी भवति, न खलु नरसिंहे सिंहशब्दो नरशब्दो वा केवलस्तदभिधायी भवति, अथ च दृश्यते तदाभिधायितयाऽपि लोके व्यवहारस्ततः पृच्छति 'सव्वा सा इत्थिवउ' इति। सर्वा सा एवंप्रकारा स्त्रीवाक्—स्त्रीलिङ्गविशिष्टार्थप्रतिपादिका वाक् भवति?। काक्वा पाठात् प्रश्नार्थत्वावगतिः। भगवानाह—'हंता! गोयमा!' इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थस्त्वयम्—यद्यपि नाम शबलरूपं वस्तु तथाऽप्येष शाब्दो न्यायः—येन धर्मेण विशिष्टः प्रतिपादयितुमिष्यते स तं प्रधानीकृत्य तेन विशिष्टं न्यग्भूतशेषधर्माणं धर्मिणं प्रतिपादयति, यथा पुरुषत्वे शास्तृत्वे दातृत्वे भोक्तृत्वे जनकत्वेऽध्यापयितृत्वे च युगपद् व्यवस्थितेऽपि पुत्रः समागच्छन्तमवलोक्य पिता आगच्छतीति ब्रूते, शिष्यस्तु उपाध्याय इति, एवमिहापि यद्यपि मानुषीप्रभृतिकं सर्वं त्रिलिङ्गाऽऽत्मकं तथापि योनिर्मृदुत्वमस्थैर्याऽऽदिलक्षणं स्त्रीत्वमत्र प्रतिपादयितुमिष्टमिति तत्प्रधानीकृत्य तेन विशिष्टं न्यग्भूतशेषधर्माणं धर्मिणं प्रतिपादयतीति भवति सर्वा सा स्त्रीवाक्, एवं पुंवाग्नपुंसकवाचावपि भावनीये। 'अह भंते! पुढवी' इत्यादि, सुगमं, नवरं 'आउ' इति पुंलिङ्गता प्राकृतलक्षणवशात्, संस्कृते तु स्त्रीत्वमेव। 'अह भंते! पुढवीति इत्थीआणवणी' इत्यादि, अथ भदन्त! पृथिवीं कुरु पृथ्वीमानयेत्येवं स्त्रियां—स्त्रीलिङ्गे पृथिव्या आज्ञापनी, एवमाऊ इति पुमाज्ञापनी, धान्यमिति नपुंसकाज्ञापनी, प्रज्ञापन्येषा भाषा, नैषा भाषा मृषेति?। भगवानाह—'हंता गोयमा!' इत्यादि, सुगमम्। 'अह भंते' इत्यादि, अथ भदन्त! पृथिवी इति स्त्रीप्रज्ञापनी—स्त्रीत्वस्वरूपस्य प्ररूपणी, एवं आऊ इति पुंप्रज्ञापनी, धान्यमिति नपुंसकप्रज्ञापनी, आराधनी-मुक्तिमार्गाप्रतिपन्थिनी एषा भाषा, नैषा भाषा मृषेति?। किमुक्तं भवति?—नैवं वदतो मिथ्याभाषित्वप्रसङ्गः। भगवानाह—आराधनी एषा भाषा, नैषा भाषा मृषेति, शाब्दव्यवहारापेक्षया यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्ररूपणात्, इह कियत् प्रतिपदं प्रष्टुं शक्यते, ततोऽतिदेशेन पृच्छति—'इच्चेव भंते!' इत्यादि, इतिः—उपदर्शने, एवंशब्दः प्रकारे, उपदर्शितेन प्रकारेणान्यदपि स्त्रीवचनं पुंवचनं नपुंसकवचनं वा वदति साधुस्तदा तस्मिन्नेव वदति या भाषा सा प्रज्ञापनी भाषा, नैषा भाषा मृषेति?। भगवानाह-प्रज्ञापनी एषा भाषा, शाब्दव्यवहारानुसरणतो दोषाभावात्, अन्यथा स्थिते हि वस्तुन्यन्यथा भाषणं दोषः, यदा तु यद्वस्तु यथावस्थितं तत् तथा भाषते, तदा को दोष इति?। तदेवं भाषाप्रतिपादनविषया ये केचन सन्देहास्ते सर्वेऽप्यपनीताः।

(६) सम्प्रति सामान्यतो भाषाया कारणाऽऽदि विपृच्छिषुराह-

भासा णं भंते! किमादीया किंपवहा किंसंठिया किंपज्जवसिया?। गोयमा! भासा णं जीवादीया सरीरप्पभवा वज्जसंठिया लोगंतपज्जवसिया पण्णत्ता। तं जहा—

"भासा कओ य पभवति, कतिहिं व समएहिं भासती भासं।
भासा कतिप्पगारा, कति वा भासा अणुमया उ ॥ १ ॥
सरीरप्पभवा भासा, दोहि य समएहिँ भासती भासं।
भासा चउप्पगारा, दोण्णि य भासा अणुमता उ ॥२॥"

कतिविहा णं भंते! भासा पण्णत्ता?। गोयमा! दुविहा भासा पण्णत्ता। तं जहा--पज्जत्तिया य, अपज्जत्ति-

णं य । पज्जत्तिया णं भंते ! भासा कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—सच्चा, मोसा य । सच्चा णं भंते ! भासा पज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं-जहा-जणवयसच्चा १ सम्मयसच्चा २ ठवणसच्चा ३ नामसच्चा ४ रूवसच्चा ५ पडुच्चसच्चा ६ ववहार-सच्चा ७ भावसच्चा ८ जोगसच्चा ९ ओवम्मसच्चा १०। "जणवय १ संमत २ ठवणा ३, नामे ४ रूवे ५ पडुच्चसच्चे ६ य । ववहार ७ भाव ८ जोगे ९, दसमे ओवम्मसच्चे य १० ॥ १ ॥ " मोसा णं भंते ! भासा पज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा—कोहणिस्सिया १ माणनिस्सिया २ मायानिस्सिया ३ लोहनिस्सिया ४ पेज्जणिस्सिया ५ दोसनिस्सिया ६ हासणिस्सिया ७ भयणिस्सिया ८ अक्खाइयाणिस्सिया ९ उवघाइयणिस्सिया १०—"कोहे माणे माया, लोभे पिज्जे तहेव दोसे य । हास भए अक्खाइय, उवघाइयणिस्सिया दसमा ॥१॥" अपज्जत्तिया णं भंते ! कइविहा भासा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चामोसा असच्चामोसा य । सच्चामोसा णं भंते ! भासा अपज्जत्तिया कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता । तं जहा-उप्पण्णमिस्सिया १ विगतमिस्सिया २ उप्पण्णविगतमिस्सिया ३ जीवमिस्सिया ४ अजीवमिस्सिया ५ जीवाजीवमिस्सिया ६ अणंतमिस्सिया ७ परित्तमिस्सिया ८ अद्धामिस्सिया ९ अद्धद्धामिस्सिया १० । असच्चामोसा णं भंते ! भासा अपज्जत्तिया कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुवालसविहा पण्णत्ता । तं जहा-

"आमंतणि १ आणमणी २ ",
जायणि ३ तह पुच्छणी य ४ पण्णवणी ५ ।
पच्चक्खाणी ६ भासा, इच्छाणुलोमा ७ य ॥ १ ॥
अणभिग्गहिया भासा ८, भासा य अभिग्गहम्मि बोद्धव्वा ९ ।
संसयकरणी भासा १० वोगड ११ अव्वोगडा चेव १२ ।
२ " ( सूत्रम्-१६५ )

'भासा णं भंते ! किमाइया ' इत्यादि । भासा अवबोधबीजभूता, णमिति वाक्यालङ्कारे, किमादिका—उपादानकारणव्यतिरेकेण किमादिः—मौलं कारणं यस्याः सा किमादिका । तथा किंप्रभवा—कस्मात् प्रभव—उत्पादो यस्याः सा किम्प्रभवा, सत्यपि मौले कारणे पुनः कस्मात् कारणान्तरादुत्पद्यते इति भावः । तथा किंसंस्थितेनि-केनाऽऽकारेण संस्थिता किंसंस्थिता, कस्येव संस्थानमस्या इति भाव. । तथा किम्पर्यवसिता इति-कस्मिन् स्थाने पर्यवसिता—निष्ठां गता किम्पर्यवसिता ? । भगवानाह—गौतम ! 'जीवाऽऽदिका' जीव आदिः-मौलं कारणं यस्याः सा जीवाऽऽदिका जीवगततथाविधप्रयत्नमन्तरेणावबोधबीजभूतभाषाया असम्भवात्, आह च भगवान् भद्रबाहुस्वामी-" तिविहम्मि सरीरम्मी ,;जीवपएसा हवंति जीवस्स । जेहि उ गेण्हइ गहणं, तो भासइ भासओ भासं ॥ १ ॥ " ' किंपभवा ' इत्यस्य निर्वचनमाह-'शरीरप्रभवा ' औदारिकवैक्रियाऽऽहारकान्यतमशरीरसामर्थ्यादेव भाषाद्रव्यविनिर्गतेः, तथा किं संस्थिता इत्यस्य निर्वचनं-' वज्रसंस्थिता ' वज्रस्येव संस्थानं यस्याः सा वज्रसंस्थिता, भाषाद्रव्याणि हि तथा-विधप्रयत्ननिसृष्टानि सन्ति सकलमपि लोकमभिव्याप्नुवन्ति लोकश्च वज्राऽऽकारसंस्थित इति साऽपि वज्रसंस्थिता, किं पर्यवसिता, इत्यत्र निर्वचनं लोकान्तपर्यवसिता, परतो भाषा, द्रव्याणां गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावतो गमनासम्भवात्, प्रज्ञप्ता मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिः ॥ पुनरपि प्रश्नमाह—' भासा कतो य पभवा ' इत्यादि, भाषा कुतो-योगात् प्रभवति-उत्पद्यते काययोगाद्वाग्योगाद्वा ?। तथा कतिभिः समयैर्भाषा भाषते ?। किमुक्तं भवति ? कतिभिः समयैर्निसृज्यमानद्रव्यसंहत्यात्मिका भाषा भवति, तथा भाषा कतिप्रकारा-कतिप्रभेदा ? कति वा भाषाः साधूनां वक्तुमनुमता-अनुज्ञाताः ?। अत्र निर्वचनं—'सरीरप्पभवा ' इत्यादि, अत्र शरीरग्रहणेन शरीरयोगः परिगृह्यते, शरीरमात्रप्रभवत्वस्य प्रागेव निर्णीतत्वात्, शरीरप्रभवा इति कोऽर्थः ?-काययोगप्रभवा । तथाहि-काययोगेन भाषायोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्य वाग्योगेन निसृजति, ततः काययोगबलाद्भाषा उत्पद्यते इति काययोगप्रभवेत्युक्तम् । आह च भगवान् भद्रबाहुस्वामी—" गिण्हइ य काइएणं, निसरइ तह वाइएण जोगेण । " इति । ' कइहि व समएहिं भासई भासं ' इत्यस्य निर्वचनं द्वाभ्यां समयाभ्यां भाषते भाषां , तथाहि-एकेन समयेन भाषायोग्यान् पुद्गलान् गृह्णाति, द्वितीये समये भाषात्वेन परिणमय्य विसृजतीति । ' भासा कइप्पगारा ' इत्यस्य निर्वचनं भाषा सत्याऽऽदिभेदाच्चतुःप्रकारा, ते च सत्याऽऽदयो भेदाः प्रागेव भाविता इति, ' कइ वा भासा अणुमया य ' इत्यस्य निर्वचनं सत्याऽऽदी द्वे भाषे साधूनां वक्तुमनुमते, तद्यथा-सत्या, असत्यामृषा च , अर्थात् ये मृषासत्यामृषे ते नानुज्ञाते, तयोरयथावस्थितार्थप्रतिपादनपरतया मुक्तिप्रतिपन्थित्वात् । पुनः प्रश्नयति-' कइविहा णं' इत्यादि, ' पज्जत्तिया अपज्जत्तिया ' इति, पर्याप्ता नाम या प्रतिनियतरूपतया अवधारयितुं शक्यते सा पर्याप्ता , सा च सत्या मृषा वा द्रष्टव्या, उभयोरपि प्रतिनियतरूपतयाऽवधारयितुं शक्यत्वात् , या तु मिश्रतया उभयप्रतिषेधाऽऽत्मकतया वा न प्रतिनियतरूपतयाऽवधारयितुं शक्यते सा अपर्याप्ता, सा च सत्यामृषा असत्यामृषा वा द्रष्टव्या , उभयोरपि प्रतिनियतेन रूपेणावधारयितुमशक्यत्वात् । ' पज्जत्तिया णं भंते ! ' इत्यादि, भावितं, नवरं सत्या मृषा चेत्युक्तमतः सत्याभेदावगमाय प्रश्नमाह—'सच्चा णं भंते ! भासा पज्जत्तिया कइविहा-पण्णत्ता ।' इति पाठसिद्धम् । भगवानाह -' गोयमा ! ' इत्यादि 'जणवयसच्चा ' इति तं तं जनपदमधिकृत्येष्टार्थप्रतिपत्तिज-

सकतया व्यवहारहेतुत्वात् सत्या जनपदसत्या यथा कोङ्कणाऽऽदिषु पयः पिच्चमित्यादि १, सम्मतसत्या या सकललोकसम्मतत्वेन सत्यतया प्रसिद्धा कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समानेऽपि पङ्कसंभवत्वे गोपालानामपि अरविन्दमेव पङ्कजं सम्मतं, न शेषमिति अरविन्दे पङ्कजमिति सम्मतसत्या २, स्थापनासत्या या तथाविधमङ्काऽऽदिविन्यासं मुद्राविन्यासं चोपलभ्य प्रयुज्यते यथा एकक पुरतो बिन्दुद्वयसहितमुपलभ्य शतमिदमिति, बिन्दुत्रयसहितं सहस्रमिदमिति, तथा तथाविधं मुद्राविन्यासमुपलभ्य मृत्तिकाऽऽदिषु मासोऽयं कार्षापणोऽयमिति, तथा नामतः सत्या नामसत्या यथा कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्धन इति, तथा रूपतः सत्या रूपसत्या, यथा दम्भतो गृहीतप्रव्रजितरूपः प्रव्रजितोऽयमिति, तथा प्रतीत्य-आश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्या प्रतीत्यसत्या तथा अनामिकाया कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्वं मध्यमामधिकृत्य ह्रस्वत्वं, न च वाच्यं कथमेकस्या ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च तात्त्विकं ?, परस्परविरोधादिति, भिन्ननिमित्तत्वेन परस्परविरोधासम्भवात् । तथाहि—तामेव यदि कनिष्ठां मध्यमां वा एकामङ्गुलिमधिकृत्य ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च प्रतिपाद्येत ततो विरोधः स्यात्, एकनिमित्तपरस्परविरुद्धकार्यद्वयासम्भवात्, यदा त्वेकामधिकृत्य ह्रस्वत्वमपरामधिकृत्य दीर्घत्वं तदा सदसत्त्वयोरिव भिन्ननिमित्तत्वान्न परस्परं विरोधः, अथ यदि तात्त्विके ह्रस्वत्वदीर्घत्वे तत ऋजुत्ववक्रत्वे इव कस्मात् परनिरपेक्षे न प्रतिभासेते ?, तस्मात् परोपाधिकत्वात् काल्पनिके इमे इति, तदयुक्तं, द्विविधा हि वस्तुनो धर्माः सहकारिव्यङ्ग्यरूपा इतरे च, तत्र ये सहकारिव्यङ्ग्यरूपास्ते सहकारिसम्पर्कवशात् प्रतीतिपथमायान्ति, यथा पृथिव्यां जलसम्पर्कतो गन्धः, इतरे त्वेवमेवापि यथा कर्पूराऽऽदिगन्धः, ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि च सहकारिव्यङ्ग्यरूपे, ततस्ते तं सहकारिणमासाद्याभिव्यक्तिमायात इत्यदोषः । तथा व्यवहारो-लोकविवक्षा, व्यवहारतः सत्या व्यवहारसत्या, यथा गिरिर्दह्यते, गलति भाजनम्, अनुदरा कन्या, अलोमिका एडका, लोका हि गिरिगततृणाऽऽदौ तृणाऽऽदिना सह गिरेरभेदं विवक्षित्वा गिरिर्दह्यते इति ब्रुवन्ति, भाजनादुदके श्रवति उदकभाजनयोरभेदं विवक्षित्वा गलति भाजनमिति, संभोगबीजप्रभवोदराभावे अनुदरा इति, लवनयोग्यलोमाभावे अलोमिकेति । ततो लोकव्यवहारमपेक्ष्य साधोरपि तथा ब्रुवतो भाषा व्यवहारसत्या भवति, तथा भावो वर्णाऽऽदिर्भावतः सत्या भावसत्या, किमुक्तं भवति ?-यो भावो वर्णाऽऽदिर्यस्मिन्नुत्कटो भवति तेन या सत्या भाषा ( सा ) भावसत्या, यथा सत्यपि पञ्चवर्णसम्भवे बलाका शुक्लेति, तथा योगः—सम्बन्धः तस्मात् सत्या योगसत्या, तत्र छत्रयोगात् विवक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य सम्भवात् छत्री, एवं दण्डयोगात् दण्डी, औपम्यसत्या यथा समुद्रवत्तडागः ॥ अत्रैवार्थे विनेयजनानुग्रहाय सङ्ग्रहणिगाथामाह—'जणवयसम्मयठवणा, ' इत्यादि भावितार्था । मृषाभाषा दशविधा । तद्यथा—'कोहनिस्सिया ' इत्यादि । क्रोधान्निःसृता क्रोधाद्विनिर्गता इत्यर्थः, एवं सर्वत्रापि भावनीयं । तत्र क्रोधाभिभूतो विसंवादनबुद्ध्या परप्रत्यायनाय यत्सत्यमसत्यं वा भाषते तत्सर्वं मृषा, तस्य हि आशयोऽतीव दुष्टस्ततो यदपि

घुणाक्षरन्यायेन सत्यमापतति तथाप्यशुभाशयतया मृषं भाषते यदाऽप्याभाषते दृष्टोऽसि मृतोऽसि ?, मानानिःसृता यत् पूर्वमननुभूतमप्यैश्वर्यमात्मोत्कर्षख्यापनायानुभूतमस्माभिस्तदानीमैश्वर्यमित्यादि वदतः २, मायानिःसृता यत् परवञ्चनाऽभिप्रायेण असत्यमसत्यं वा भाषते ३, लोभनिःसृता यल्लोभाभिभूतः कूटतुलाऽऽदि कृत्वा यथोक्तप्रमाणमिदं तुलाऽऽदीति वदतः ४, प्रेमनिःसृता यदतिप्रेमवशाद्दासोऽहं तवेत्यादि वदतः ५, द्वेषनिःसृता यत्तीर्थकराऽऽदीनामप्यवर्णं भाषते ६, हास्यनिःसृता यत्केलिवशतोऽनृतभाषणं ७, भयनिःसृता तस्कराऽऽदिभयेनासमञ्जसभाषणम् ८, आख्यायिकानिःसृता यत् कथास्वसम्भाव्याभिधानम् ९, उपघातनिःसृता चौरस्त्वमित्याद्यभ्याख्यानम् १० । अत्रापि सङ्ग्रहणिगाथामाह-'कोहे माणे ' इत्यादि भावितार्था । सत्यामृषा दशविधा । तद्यथा-' उप्पन्नमिस्सिया' इत्यादि, उत्पन्ना मिश्रिता अनुत्पन्नैः सह संख्यापूरणार्थं यत्र सा उत्पन्नमिश्रिता, एवमन्यत्रापि यथायोगं भावनीयं, तत्रोत्पन्नमिश्रिता यथा कस्मिंश्चित् ग्रामे नगरे वा ऊनेष्वधिकेषु वा दारकेषु जातेषु दश दारका अस्मिन्नद्य जाता इत्यादि १ . एवमेव मरणकथने विगतमिश्रिता २ , तथा जातानां मृतानां च कृतपरिमाणस्याभिधाने विसंवादेन चोत्पन्नविगतमिश्रिता ३, तथा प्रभूतानां जीवतां स्तोकानां च मृतानां शङ्खशङ्खनकाऽऽदीनामेकत्र राशौ दृष्टे यदा कश्चिदेवं वदति-अहो महान् जीवराशिरयमिति तदा सा जीवमिश्रिता, सत्यामृषात्वं चास्या जीवत्सु सत्यत्वात् मृतेषु मृषात्वात् ४, तथा यदा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्खाऽऽदिष्वेवं वदति—अहो महानयं मृतो जीवराशिरिति तदा सा अजीवमिश्रिता, अस्या अपि सत्यामृषात्वं मृतेषु सत्यत्वात् जीवत्सु मृषात्वात् ५, तथा तस्मिन्नेव राशौ एतावन्तोऽत्र जीवन्त एतावन्तश्च मृता इति नियमेनावधारयतो विसंवादे जीवाजीवमिश्रिता ६, तथा मूलकाऽऽदिकमनन्तकायं तस्यैव सत्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनापि प्रत्येकवनस्पतिना मिश्रमवलोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति वदतोऽनन्तमिश्रिता ७, तथा प्रत्येकवनस्पतिसङ्घातमनन्तकायिकेन सह राशीकृतमवलोक्य प्रत्येकवनस्पतिरयं सर्वोऽपीति वदतः प्रत्येकमिश्रिता ८, तथाऽद्धा, कालः-स चेह प्रस्तावाद् दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, स मिश्रितो यया साऽद्धामिश्रिता, यथा कश्चित् कञ्चन त्वरयन् दिवसे वर्त्तमान एव वदति-उत्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्त्तमानायामुत्तिष्ठोद्गतः सूर्य इति ९, तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽद्धाद्धा, सा मिश्रिता यया सा अद्धाऽद्धा मिश्रिता यथा प्रथमपौरुष्यामेव वर्त्तमानायां कश्चित्कञ्चन त्वरयन् एवं वदति चल मध्याह्नीभूतमिति । असत्यामृषा द्वादशविधा, तद्यथा-( आमंतणि इति ) तत्र आमन्त्रणी हे देवदत्त ! इत्यादि एषा प्रागुक्तसत्याऽऽदिभाषात्रयलक्षणविकलत्वान्न सत्या नापि मृषा नापि सत्यामृषा, केवलं व्यवहारमात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा १, एवं सर्वत्र भावना कार्या, आज्ञापनी कार्येषु परस्य प्रवर्त्तनम् यथेदं कुर्विति २, याचनी कस्यापि वस्तुविशेषस्य देहीति मार्गणम् ३, पृच्छनी अविज्ञातस्य संदिग्धस्य कस्यचिदर्थस्य परिज्ञानाय तद्विद पार्श्वे चोदना ४, प्रज्ञापनी विनीतविनेयस्य विनेयजनस्योपदेशदानं यथा प्राणिवधान्निवृत्ता भवन्ति भवान्तरे प्राणिनो दीर्घाऽऽयुष इत्यादि । उक्तं च—

"पाणिवहाउ नियत्ता , हवंति दीहोउया अरोगा य । पसमाई पन्नत्ता, पन्नवणी वीयरागेहिं ॥ १ ॥ " ५, याचमानस्य प्रतिषेधवचनं प्रत्याख्यानी ६, इच्छानुलोमा नाम यथा कश्चित् किंचित् कार्यमारभमाणः कञ्चन पृच्छति, स प्राह-करोतु भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति ७। अनभिग्रहा यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणं, यथा बहुषु कार्येष्ववस्थितेषु कश्चित्कञ्चन पृच्छति-किमिदानीं करोमि?, स प्राह-यत्प्रतिभाषते तत्कुर्विति ८, अभिगृहीता प्रतिनियतार्थाऽवधारणं, यथा इदमिदानीं कर्त्तव्यमिदं नेति ९, संशयकरणी या वाक् अनेकार्थाऽभिधायितया परस्य संशयमुत्पादयति यथा सैन्धवमानीयतामित्यत्र सैन्धवशब्दोऽलवणवस्त्रपुरुषवाजिषु १०, व्याकृता या प्रगटार्था ११, अव्याकृता अतिगम्भीरशब्दार्था अव्यक्ताक्षरप्रयुक्ता वा अभावितार्थत्वात् १२। शेषं सुगमम्। प्रज्ञा० ११ पद। ( नैरयिकादीनां भाषकत्वाभाषकसूत्रम्- १६६, 'भासग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम् )

जीवानां सत्यादिभाषा निरूपयन्नाह—

**जीवा णं भंते ! किं सच्चं भासं भासंति मोसं भासं भासंति सच्चामोसं भासं भासंति असच्चामोसं भासं भासंति ?, गोयमा ! जीवा सच्चं पि भासं भासंति० जाव असच्चा मोसं पि भासं भासंति । नेरइया णं भंते ! किं सच्चं भासंति० जाव असच्चामोसं भासं भासंति ? । गोयमा ! नेरइया णं सच्चं पि भासं भासंति० जाव असच्चा मोसं पि भासं भासंति । एवं असुरकुमारा० जाव थणियकुमारा, बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया य नो सच्चं नो मोसं नो सच्चामोसं भासं भासंति, असच्चामोसं भासं भासंति । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! किं सच्चं भासं भासंति० जाव किं असच्चामोसं भासं भासंति ?, गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णो सच्चं भासं भासंति, नो मोसं भासं भासंति नो सच्चामोसं भासं भासंति एगं असच्चा मोसं भासं भासंति णण्णत्थ सिक्खापुव्वगं उत्तरगुणलद्धिं वा पडुच्च सच्चं पि भासं भासंति मोसं पि भासं भासंति, सच्चामोसं पि भासं भासंति असच्चा मोसं पि भासं भासंति। मणुस्सा ० जाव वेमाणिया, एते जहा जीवा तहा भाणियव्वा। ( सूत्रम्-१६७ ) ।**

'जीवा णं भंते ! किं सच्चं भासमास ति' इत्यादि, सुगमं नवरं द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु सत्यादिभाषात्रयप्रतिषेधः तेषां सम्यक् परिज्ञानपरवञ्चनाद्यभिप्रायासम्भवात् तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया अपि न सम्यक् यथावस्थितवस्तुप्रतिपादनाभिप्रायेण भाषन्ते नापि परविप्रतारणबुद्ध्या किं तु यदा भाषन्ते । तदा कुपिता अपि परं मारयितुकामा अप्येवमेव भाषन्ते ततस्तेषामपि भाषा असत्यामृषा, किं सर्वेषामपि तेषामसत्यामृषा ?, नेत्याह—" नन्नत्थेत्यादि " सत्यादिकां भाषा न भाषन्ते शिक्षादेरन्यत्र, शिक्षापूर्वकं पुनः शुकसारिकादयः संस्कारविशेषास्तथा कुतश्चित्तथाविधक्षयोपशमविशेषाज्जातिस्मरणरूपा विशिष्टव्यवहारकौशलरूपा वा लब्धिप्र-तीत्य सत्याऽऽदिका चतुर्विधामपि भाषां भाषन्ते शेषं। सुगमम्। प्रज्ञा० ११ पद।

( ७ ) भाषाऽऽत्मस्वरूपाऽनात्मस्वरूपा वेतिनिरूपणम्-

**आया भंते ! भासा, अन्ना भासा ?, गोयमा ! णो आया भासा , अन्ना भासा ।**

( आया भंते ! भास त्ति ) षत्येकाक्षाऽध्येयम् । आत्मा जीवो भाषा, जीवस्वभावा भाषेत्यर्थः । यतो जीवेन व्यापार्यते जीवस्य च बन्धमोक्षार्थां भवति, ततो जीवधर्मत्वाज्जीव इति व्यपदेशार्हा ज्ञानवदिति, अथान्या भाषा न जीवस्वरूपा श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वेन मूर्त्ततयाऽऽत्मनो विलक्षणत्वादिति शङ्का अतः प्रश्न., अत्रोत्तरम्-(नो आया भास त्ति ।) आत्मरूपा नासौ भवति, पुद्गलमयत्वादात्मना च निसृज्यमानत्वात्तथाविधलोष्ठाऽऽदिवत् अचेतनत्वाच्चाऽकाशवत् । यच्चोक्तम्—जीवेन व्यापार्यमाणत्वाज्जीवः स्याज्ज्ञानवत्तदनैकान्तिकं, जीवव्यापारस्य जीवादत्यन्तं भिन्नस्वरूपेऽपि तत्रादौ दर्शनादिति ।

**रूविं भंते ! भासा, अरूविं भासा ? । गोयमा ! रूविं भासा, णो अरूविं भासा ॥**

( रूविं भंते ! भास त्ति ) रूपिणी भदन्त ! भाषा श्रोत्रस्यानुग्रहोपघातकारित्वात् तथाविधकर्णाऽऽभरणाऽऽदिवत्, अथाऽरूपिणी भाषा चक्षुषाऽनुपलभ्यमानत्वाद्धर्मास्तिकायाऽऽदिवदिति शङ्काऽतः प्रश्नः, उत्तर तु रूपिणी भाषा , यच्च चक्षुरग्राह्यत्वमरूपित्वसाधनायोक्तं तदनैकान्तिकं, परमाणुवायुपिशाचाऽऽदीनां रूपवतामपि चक्षुरग्राह्यत्वेनाभिमतत्वादिति ।

( ८ ) अनात्मरूपाऽपि सचित्ताऽसौ भविष्यति जीवच्छरीरवदिति पृच्छन्नाह—

**सचित्ता भंते ! भासा, अचित्ता भासा ! । गोयमा ! णो सचित्ता भासा, अचित्ता भासा ॥**

( सचित्तेत्यादि ) उत्तरं तु नो सचित्ता जीवनिसृष्टपुद्गलसंहतिरूपत्वात्तथाविधलेष्टुवत् ।

तथा—

**जीवा भंते ! भासा, अजीवा भासा ? । गोयमा ! णो जीवा भासा, अजीवा भासा ॥**

( जीवा भंते ! इत्यादि ) जीवनीति जीवा प्राणधारणस्वरूपा भाषा, उतैतद्विलक्षणेति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्-'नोजीवा' उच्छ्वासाऽऽदिप्राणाना तस्या अभावादिति ।

( ९ ) इह कैश्चिदभ्युपगम्यते, अपौरुषेयी वेद-भाषा, तन्मतं मनस्याधायाऽऽह—

**जीवाणं भते ! भासा, अजीवाण भासा ? । गोयमा ! जीवाण भासा, णो अजीवाणं भासा ॥**

( जीवाणमित्यादि ) उत्तरं तु जीवानां भाषा, वर्णानां ताल्वादिव्यापारजन्यत्वात्ताल्वादिव्यापारस्य च जीवाऽऽश्रितत्वात् , यद्यपि चाजीवेभ्यः शब्द उत्पद्यते, तथापि नाऽसौ भाषा , भाषापर्याप्तिजन्यस्यैव शब्दस्य भाषात्वेनाभिमतत्वादिति ।

तथा—

**पुव्विं भंते ! भासा भासिज्जमाणी भासा, भासासमयवीइक्कंता भासा ? । गोयमा ! णो पुव्विं भासा भासिज्जमाणी भासा, णो भासासमयवीइक्कंता भासा ।**

( पुव्विमित्यादि ) अत्रोत्तरम्—नो पूर्वं भाषणाद्भाषा भवति, मृत्पिण्डावस्थायां घट इव, भाष्यमाणा निसर्गावस्थायां वर्त्तमाना भाषा घटावस्थाया घटस्वरूपमिव, ' नो ' नैव भाषासमयव्यतिक्रान्ता—भाषासमयो—निसृज्यमानावस्थातो यावद्भाषापरिणामसमयस्त व्यतिक्रान्ता या सा तथा भाषा भवति, घटसमयातिक्रान्तघटवत् कपालाद्य—स्थ इत्यर्थः ।

**पुव्विं भंते ! भासा भिज्जइ, भासिज्जमाणी भासा भिज्जति, भासासमयवीइक्कंता भासा भिज्जइ ? । गोयमा ! णो पुव्विं भासा भिज्जइ, भासिज्जमाणी भासा भिज्जइ णो भासासमयवीइक्कंता भासा भिज्जइ ।**

( पुव्विं भंते ! इत्यादि ) अत्रोत्तरम्—नो नैव पूर्वं निसर्गसमयाद्भाषाद्रव्यभेदेन भाषा भिद्यते, भाष्यमाणा भाषा भिद्यते । अयमत्राभिप्रायः-इह कश्चिन्मन्दप्रयत्नो वक्ता भवति, स चाभिन्नान्येव शब्दद्रव्याणि निसृजति, तानि च निसृष्टान्यसङ्ख्येयाऽऽत्मकत्वात्परिस्थूरत्वाच्च विभिद्यन्ते, विभिद्यमानानि च सङ्ख्येयानि योजनानि गत्वा शब्दपरिणामत्यागमेव कुर्वन्ति, कश्चित् तु महाप्रयत्नो भवति, स खल्वादाननिसर्गप्रयत्नाभ्यां भित्त्वैव निसृजति, तानि च सूक्ष्मत्वाद्बहुत्वाच्च अनन्तगुणवृद्ध्या वर्द्धमानानि षट्सु दिक्षु लोकान्तमाप्नुवन्ति; अत्र च यस्यामवस्थाया शब्दपरिणामस्तस्यां भाष्यमाणताऽवसेया इति । ( नो भासासमयवीइक्कंते त्ति ) परित्यक्तभाषापरिणामेत्यर्थः, उत्कृष्टप्रयत्नस्य तदानीं निसृष्टत्वादिति भावः । भ० १३ श० ७ उ० ।

(१०) आह-ननु "पुट्ठं सुणेइ सद्दं" इत्युक्तं भवद्भिः, तत्र च किं शब्दप्रयोगोत्सृष्टान्येव केवलानि शब्दद्रव्याणि शृणोति, उतान्यान्येव तद्वासितान्याहोस्विन्मिश्राणि ? इति । अत्रोच्यते-केवलानि तावन्न शृणोति, वासकस्वभावत्वाच्छब्दद्रव्याणां तद्योग्यद्रव्याऽऽकुलत्वाच्च लोकस्य, मिश्राणि तु श्रूयेरन् वासितानि वाऽन्यानि । यत आह-

**भासासमसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसिअं सुणइ ।**
**वीसेढी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पराघाए ॥ ३५१ ॥**

भाष्यत इति भाषा, वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः, तस्या समाः प्राञ्जला श्रेणय. आकाशप्रदेशपङ्क्तयो भाषासमश्रेणयः, समग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थं, भाषासमश्रेणिषु इतो गतः स्थित इत्यनर्थान्तरं, भाषासमश्रेणित. । इदमुक्तं भवति-भाषकस्य, अन्यस्य वा भेर्यादेः समश्रेणिव्यवस्थितःश्रोता य शब्दं, पुरुषभेर्यादिसम्बन्धिनं ध्वनिं शृणोति, तं मिश्रकं शृणोतीत्यवगन्तव्यं भाषकादुत्सृष्टशब्दद्रव्याणि, तद्वासिताऽपान्तरालस्थद्रव्याणि च, इत्येवं मिश्रं शब्दद्रव्यराशिं शृणोति, न तु वासकमेव, वास्यमेव वा केवलमित्यर्थः । ( वीसेढी पुणेत्यादि ) " भञ्जा क्रोशन्ति" इति न्यायाद्विश्रेणिव्यवस्थितः श्रोताऽपि विश्रेणिरुच्यते, सविश्रेणिः पुनः श्रोता शब्दं नियमान्नियमेन पराघाते वासनाया सत्या शृणोति । इदमुक्तं भवति—यानि भाषकोत्सृष्टानि, भेर्यादिशब्दद्रव्याणि वा तैः पराघाते वासनाविशेषे सति यानि वासितानि समुत्पन्नशब्दपरिणामानि द्रव्याणि तान्येव विश्रेणिस्थः शृणोति, न तु भाषकाऽऽद्युत्सृष्टानि, तेषामनुश्रेणिगामित्वेन विदिग्गमनासंभवात् । न च कुड्याऽऽदिप्रतिघातस्तेषां विदिग्गतिनिमित्तं संभवति, लेष्ट्वादिबादरद्रव्याणामेव तत्संभवात्, एषां च सूक्ष्मत्वात् । न च वक्तव्यं-द्वितीयाऽऽदिसमयेषु तेषां स्वयमपि विदिक्षु गमनसंभवात्तत्स्थस्यापि मिश्रशब्दश्रवणसंभव इति, निसर्गसमयानन्तर समयान्तरेषु तेषां भाषापरिणामेनानवस्थानात् "भाष्यमाणैव भाषा, भाषासमयानन्तरं भाषा अभाषैव" इति वचनात् । यदपि- "-चउहिं समएहिं लोगो भासाए निरंतरं तु होइ फुडो ।" इति वक्ष्यति, तत्रापि द्वितीयाऽऽदिसमयेषु भाषाद्रव्यैर्वासितत्वात्तेषां भाषात्वं द्रष्टव्यम् । अत्राऽऽह-ननु यदि वक्तृनिसृष्टानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमये दिक्ष्वेव गच्छन्ति, समयानन्तर च नावतिष्ठन्ते, तर्हि तद्वासितद्रव्याणि द्वितीयसमये विदिक्षु गच्छन्ति, ततश्च दिग्विदिग्व्यवस्थितयोः समयभेदेन शब्दश्रवणं प्राप्नोति, अविशेषेणैव सर्वोऽपि शब्दं शृण्वन्नुपलभ्यते । नैष दोषः, समयाऽऽदिकालभेदस्याऽतिसूक्ष्मत्वेनालक्षणादिति । भवत्येवं, तथाऽपि "भाष्यमाणैव भाषा" इति वचनाद् निसर्गसमयवर्त्तिन्येव भाषा, ततो विश्रेणिस्थो द्वितीयसमयेऽभाषा शृणोतीत्यायातम् । नैतदेवं, भाषाद्रव्यैर्वासितानामपि द्रव्याणां तद्विशेषत्वाद्भाषात्वं न विरुध्यते । अत एव-"वीसेढी पुण सद्द" इत्यत्र पुनरपि यच्छब्दग्रहणं तत्पराघातवासितद्रव्याणामपि तथाविधशब्दपरिणामख्यापनार्थं कृतमिति तावद्वयमवगच्छाम ; तत्त्वं तु बहुश्रुताऽऽदयो विदन्तीति । घ्राणाऽऽदीन्यपीन्द्रियाणि गन्धाऽऽदिद्रव्याणि मिश्राण्यादते, तेषां चानुश्रेणिगमननियमो नास्ति, बादरत्वात्, वातायनोपलभ्यमानरेणुवदिति बृहट्टीकाकारः । इति निर्युक्तिगाथाऽर्थः ॥ ३५१ ॥

अत्र भाष्यम्-

**सेढी पएसपंती, वदतो सव्वस्स छद्दिसिं ताओ ।**
**जासु विमुक्का धावइ, भासा समयम्मि पढमम्मि ॥३५२॥**

इह श्रेणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिरभिधीयते, लोकमध्ये च वदतो भाषमाणस्य सर्वस्य वक्तुः ताः पूर्वापरदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोरूपासु षट्स्वपि दिक्षु सन्त्येव । भाषकेण विमुक्ता निसृष्टा सती भाषा यासु प्रथमसमयेऽपि लोकान्तमनुधावति ॥३५२॥

तत. किम् ?, इत्याह-

**भासासमसेढि * ठिओ, तब्भासामीसियं सुणइ सद्दं ।**
**तद्दव्वभाविआइं अण्णाइं सुणइ विदिसत्थो ॥ ३५३ ॥**

भाषासमश्रेणीत इति, किमुक्तं भवति ?, इत्याह-भाषासमश्रेणिस्थित । स किमित्याह-तस्य भाषकस्य शङ्खभेर्यादेर्वा भाषा तद्भाषा तद्रूपेणोत्सृष्ट' पुद्गलसमूहस्तन्मिश्रित शब्दं शृणोति विदिग्व्यवस्थित. पुन श्रोता तद्द्रव्यभावितान्यपराण्येव द्रव्याणि शृणोति, न पुनस्तानि ॥ ३५३ ॥

* ' ठीओ ' ( ३५३ ) इदमपि युक्तं प्रतिभाति ।

कुतः ? , इत्याह-

अणुसेढीगमणाओ, पडिघायाभावओ निमित्ताओ ।
समयंतराणवत्था-णओ य मुक्काइँ न सुणेइ ॥ ३५४ ॥

तेषामनुश्रेणिगमनात्, अनुश्रेणिगमने प्रवृत्तानामपि प्रतिघा-ताद्विश्रेणिगमनं भविष्यतीति चेदित्याह-प्रतिघातस्य स्खल-नस्याभावात्, एतदपि कुतः?, इत्याह-अनिमित्तात्कुड्याऽऽदे-स्तन्निमित्तस्यासंभवात्, बादरद्रव्याणामिव तस्संभवात्, एषां च सूक्ष्मत्वादिति भावः । न च वक्तव्यं-द्वितीयाऽऽदिसमयेषु तेषां स्वयमपि विदिक्षु गमनात्तस्थस्यापि मिश्रशब्दश्रवण-संभव इति । कुतः?, इत्याह-( समयंतरेत्यादि ) निसर्गसम-यानन्तरं द्वितीयाऽऽदौ समयान्तरे श्रवणसंस्कारजनकशक्ति-संपन्नतया तेषां भाषकाऽऽयुत्सृष्टद्रव्याणामनवस्थानादिति प्रागुक्तमेव । इति मुक्तानि भाषकाऽऽयुत्सृष्टानि द्रव्याणि वि-दिग्व्यवस्थितो न शृणोतीति गाथात्रयार्थः ॥ ३५४ ॥

आह—केन पुनर्योगेनाऽमीषां वाग्द्रव्याणामादानमुत्सर्गो वा कथम् ? , इत्याह—

गिण्हइ य काइएणं, निसिरइ तह वाइएण जोएणं ।
एगंतरं च गिण्हइ,निसिरइ एगंतरं चेव ॥ ३५५ ॥

कायेन निर्वृत्तः कायिकः, योजनं योगो व्यापारः, कर्म क्रि-येत्यनर्थान्तरम् । तत्र सर्व एव वक्ता कायिकेन योगेन शब्दद्र-व्याणि गृह्णाति । चशब्दस्त्वेवकारार्थः, तस्य च व्यवहितसं-बन्धात् कायिकेनैवेति द्रष्टव्यम् । निसृजति, उत्सृजति, मुञ्च-तीति पर्यायाः । तथेति ग्रहणानन्तरमित्यर्थः । उक्तिर्वाक् तया निर्वृत्तो वाचिकस्तेन वाचिकेन योगेन निसृजति । किमनुसमय मेव गृह्णाति , निसृजति वा; उताऽन्यथेत्याशङ्क्याऽऽह—एका-न्तरमेव गृह्णाति,निसृजत्येकान्तरं चैव । अयमत्र भावार्थः प्रति-समयं गृह्णाति , मुञ्चति च । कथम् ?, यथा ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामान्तरं, पुरुषाद्वाऽन्यः पुरुषो निरन्तरोऽपि सन् पुरुषान्तरमेवमेकैकस्मात् समयादेकैक एवैकान्तरोऽनन्तरस-मय एवेत्यर्थः । इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्तु भाष्यादवसेयः ॥ ३५५ ॥

तत्रेदम्—

गिण्हिज्ज काइएणं, किं निसिरइ वाइएण जोएणं ।
को वाऽयं जोगो किं, वाया कायस्स संरम्भो ॥ ३५६ ॥
वाया न जीवजोगो,
पोग्गलपरिणामओ रसाइ व्व ।
न य ताए निसिरिज्जइ,
स चिय निसिरिज्जए जम्हा ॥ ३५७ ॥
अह सो तणुसंरंभो,
निसिरइ तो काइएण वत्तव्वं ।
तणुजोगविसेस च्चिय ,
मणवइजोग त्ति जमदोसो ॥ ३५८ ॥

अत्र परः प्राऽऽह-ननु"गिण्हइ य काइएणं" इति यदुक्तं तद् मन्यामहे , यतो गृह्णीयात् कायिकेन योगेन वाग्द्रव्याणि भाषकः , नेदमयुक्तम् , कायव्यापारमन्तरेण तद्ग्रहणाऽयो-गात् । यत्पुनरुक्तम्-"निसिरइ तह वाइएण जोएणं" इति तदे-तन्नावगच्छामो,यतः कथं नाम निसृजति वाचिकेन योगेन ?,गृ-ह्यमाणाया वाचो जीवव्यापाररूपयोगाभावात्तेतत् घटत इत्य-र्थः । इति संक्षेपेणोक्त्वा विस्तराऽभिधित्सयाप्राऽऽह-"को वा-ऽयमित्यादि"वेत्यथवा,किमनेन संक्षेपेण?,विस्तरेणापि पृच्छा-मः-कोऽयं नाम वाग्योगो, येन निसृजतीत्युक्तम् ? "किं वाय त्ति" वागेव निसृज्यमानभाषापुद्गलसमूहरूपा वाग्योगः, किं-वाकायसंरम्भः कायव्यापारस्तन्निसर्गहेतुर्वाग्योगः?,इति वि-कल्पद्वयम् । तत्र प्रथमविकल्पपक्षं निराकुर्वन्नाह-"वाया न जीवजोगो ।"इत्यादि । योगोऽत्र शरीरजीवव्यापारः प्रस्तुतः स च वाक् न भवति, पुद्गलपरिणामत्वात्तस्याः, रसगन्धाऽऽदिवत्; यस्तु जीवव्यापाररूपो योगः स पुद्गलपरिणामोऽपि न भवति यथा जीवाऽधिष्ठितकायव्यापारः । अपि च,-"न य ताए त्ति" न च तया वाचा किञ्चिन्निसृज्यते,तस्या एव निसृज्यमानत्वात्; न च कर्मैव करणं भवति,अतो वागेव वाग्योग इति प्रथमविक-ल्पो न घटते । अथ द्वितीयमधिकृत्याऽऽह-(अहेत्यादि) अथा-सौ वाग्योगस्तनुसंरम्भ कायव्यापारस्ततः "कायिकेन निसृ-जति"इत्येवमेव वक्तव्यं स्यात्,अतः किमुक्तम् ?-"निसिरइ तह वाइएण जोएणं" इति ? । अत्रोत्तरमाह-"तणु इत्यादि" ननु द्वितीयविकल्प एवात्राङ्गीक्रियते, केवलमविशिष्टः काययोगो वाग्योगतया नाऽस्माभिरिष्यते , किं तु तनुयोगविशेषावेव कायव्यापारविशेषावेव मनोवाग्योगाविष्येते यद्यस्मात्; ततो-ऽयमदोषः । न हि कायिको योगः कस्याञ्चिदप्यवस्थायां शरी-रिणां जन्तूनां निवर्तते, अशरीरिणां सिद्धानामेव तन्निवृत्ते रिति, अतो वाग्निसर्गाऽऽदिकालेऽपि सोऽस्त्येवेति भावः । ॥ ३५६ ॥ ३५७ ॥ ३५८ ॥ विशे० ।

अथ "एगंतरं च गिण्हइ" इत्यादि व्याचिख्यासुराह—

जह गामाओ गामो, गामंतरमेवमेग एगाओ ।
एगंतरं ति भण्णइ, समयाओऽणंतरो समओ ॥ ३६५ ॥

यथा एकस्मात् ग्रामादन्यो ग्रामोऽनन्तरितोऽपि लोकरूढ्या ग्रामान्तरमुच्यते पुरुषाद्वाऽन्यः पुरुषोऽनन्तरोपि पुरुषा-न्तरमभिधीयते, एवमिहापि एकस्मात् समयात् योऽय-मन्यः समयः सोऽयमनन्तरोऽपि सन्नेकान्तरमित्यभिधीयते । ततः किमुक्तं भवति ?, इत्याह-एकस्मात्समयादनन्तरः समय एकान्तरमिति, एवं चानुसमय एव गृह्णाति, मुञ्चति चेति पर्यवसितं भवति ॥ ३६५ ॥

अन्ये त्वेकान्तरमित्येकैकेन समयेनान्तरितं ग्रहणं, निसर्गं चेच्छन्तीति दर्शयति—

केई एगंतरियं, मण्णंते गंतरं ति तेसिं च ।
विच्छिन्नावलिरूवो, होइ धणी सुयविरोहो य ॥३६६॥

इह केचिद् व्याख्यातारो मन्यन्ते ग्रहणं, निसर्जनं चैकैकेन समयेनान्तरितमेकान्तरमुच्यते । एतच्चाऽयुक्तम्, यतस्तेषामेवं व्याख्यातॄणामन्तरान्तरविच्छिन्नरत्नावलीरूपो ध्वनिः प्राप्नो-ति,अन्तरान्तरग्रहणसमयेषु सर्वेष्वप्यश्रवणात् । तथा श्रुत-विरोधश्च एते उक्तं श्रुते-"अणुसमयमविरहियं निरंतरं गि-ण्हइ " इति , तथाहि—इदं सूत्र प्रतिसमयग्रहणप्रतिपादक-

त्वात् प्रतिसमयनिसर्गप्रतिपादकमपि द्रष्टव्य, गृहीतस्य द्वितीयसमयेऽवश्यं निसर्गादिति ।

अत्र पर. प्राह—

आह सुए च्चिअ निसिरइ,संतरियं न उ निरंतरं भणिअं ।
एगेण जओ गिण्हइ, समएणेगेण सो मुयइ ॥ ३६७ ॥

ननु यथा स्वपक्षसमर्थकं सूत्रं त्वया दर्शितं,तथा श्रुत एवास्मत्पक्षसमर्थकमपि तद्भणितमेव । किं तत् ?, इत्याह—(निसिरइ इत्यादि) इदं प्रज्ञापनोक्तसूत्रं गाथायामुपनिबद्धम् । तच्चेदम्—" सतरं निसिरइ, नो निरन्तरं निसिरइ ; एगेण समएणं गेण्हइ,एगेण समएणं निसिरइ । " इत्यादि । तदनेन सूत्रेण निसर्गस्य सान्तरस्योक्तत्वात् मद्व्याख्यानमुपपन्नमेवेति परस्याऽभिप्रायः ॥ ३६७ ॥

अत्रोत्तरमाह-

अणुसमयमणंतरियं,
गहणं भणियं जओ विमोक्खो वि ।
जुत्तो निरन्तरो च्चिय,
भणइ कह संतरो भणिओ ? ॥ ३६८ ॥

आचार्यः प्राह—हन्त ! तावद् ग्रहणमनुसमयमनन्तरितमव्यवहितं प्राक्तनसूत्रेण भणितं प्रतिपादितमिति भवतोऽपि प्रतीतम् । यत एवम् अतो विमोक्षोऽपि निसर्गोऽपि निरन्तर एव युक्तः, गृहीतस्याऽवश्यमेवानन्तरसमये निसर्गादिति । प्रेरक. पुनरपि भणति । किम् ?, इत्याह—( कह सतरो भणिओ त्ति ) इदमुक्तं भवति—अहमपि जानामि यतः सूत्रे ग्रहणं निरन्तरमुक्तं,परं यस्तत्रैव निसर्गः सान्तर उक्तः स कथ नीयते ?.इति भावानपि निवेदयतु । सत्यं, किंतु विषयविभागोऽत्र द्रष्टव्य. ॥ ३६८ ॥

कः पुनरयम् ?, इति गुरुराह—

गहणावेक्खाएँ तओ ,
निरंतरं जम्मि जाइँ गहिआइं ।
न वि तम्मि चेव निसिरइ ,
जह पढमे निसिरणं नत्थि ॥ ३६९ ॥

तकोऽसौ निसर्गो ग्रहणाऽपेक्षया भाषाद्रव्योपादानापेक्षया पूर्वे पूर्वे ग्रहणमपेक्ष्येत्यर्थ., सान्तर उक्त , इति शेष । ननु समयाऽपेक्षया तस्य नैरन्तर्येणैव प्रवृत्तेः कथ पुनर्ग्रहणापेक्षया सान्तरत्वम् ?, इत्याह-'निरन्तरमित्यादि'यतो यस्मिन् प्रथमाऽऽदिसमये यानि भाषाद्रव्याणि गृहीतानि,न तानि तस्मिन् एव ग्रहणसमये नैरन्तर्येण नि.सृजति किं तु ग्रहणसमयादनन्तरसमय निसृजति, यथा प्रथमसमयगृहीतानां न तस्मिन्नेव समये निसर्जन निसर्गः किं तु द्वितीयसमये, एवं द्वितीयसमयगृहीतानां तृतीयसमये,तृतीयसमयगृहीतानां चतुर्थसमये निसर्ग इत्यादि सर्वसमयेष्वपि भावनीयम् । तदेवं ग्रहणाऽपेक्षया निसर्गः सान्तर एव, अगृहीतानां निसर्गायोगात् । समयाऽपेक्षया त्वसौ निरन्तर एव द्वितीयाऽऽदिषु सर्वेष्वपि समयेषु निरन्तरं तद्भावादिति ॥ ३६९ ॥

आह—यद्येवं, ग्रहणमपि निसर्गापेक्षया सान्तरमेवाऽस्तु, नैव ग्रहणस्य स्वतन्त्रत्वात्, निसर्गस्य तु ग्रहणपरतन्त्रत्वात् । कुत ?, इत्याह—

निसिरिज्जइ नागहियं,
गहणंतरियं ति संतरं तेणं ।
न निरन्तरं न समगं,
न जुगवमिह होंति पज्जाया ॥ ३७० ॥

नागृहीत कदापि निसृज्यत इति नियम एवायम् । ( संतरं तेणं ति ) तेन कारणेन निसर्जनं प्रज्ञापनायां सान्तरमुक्तम् । कुत इत्याह-( ग्रहणंतरियं ति ) ग्रहणान्तरितमिति कृत्वा । 'नानिसृष्टं गृह्यते' इत्ययं तु नियमो नास्ति, प्रथमसमये निसर्गमन्तरेणापि ग्रहणसद्भावात् ; अत. स्वतन्त्रं ग्रहणं, परतन्त्रस्तु निसर्ग , इत्ययमेव सान्तर उक्त इति भाव । तदेवम्-" संतरं निसिरइ । " इति प्रज्ञापनाया सूत्रावयवो विषयविभागे व्यवस्थापित । अथ 'नो निरन्तरं निसिरइ" इति तदवयवस्यैव भावार्थमाह—" न निरंतर त्ति ।" इत्यादि । किमुक्तं भवति ?—न निरन्तरं निसृजति, न समकं, न युगपदिति पर्यायाः । ततश्च किमिह तात्पर्यमिति ?। उच्यते—न ग्रहणसमकालं निसृजति । किं तर्हि ?, पूर्वं पूर्वं गृहीतमुत्तरोत्तरसमयेषु निसृजतीति । " ननु एगेणं समएणं गिण्हइ, एगेणं समएणं निसिरइ । " इत्येतस्य भावार्थो नाद्याप्युक्त.। सत्यं, किं तूक्तानुसारेण स्वयमप्ययमवगन्तव्यः-तत्राऽऽद्येनैकेन समयेन गृह्णात्येव, न निसृजति, द्वितीयाऽऽदिसमयादारभ्यैव निसर्गस्य प्रवृत्तेः;पर्यन्तवर्तिनात्वेकेन समयेन निसृजत्येव, न तु गृह्णाति, भाषाऽभिप्रायोपरमादिति; मध्यमसमयेषु तु ग्रहणनिसर्गाविति । अथवा-एकेन पूर्वपूर्वसमयेन गृह्णाति , एकेनोत्तरोत्तरसमयेन निसृजति , इत्यादि स्वधिया भावनीयम् । तदेवं समस्तमपि सूत्रं व्यवस्थापितं विषये ॥ ३७० ॥

( ११ ) अथ ग्रहणाऽऽदेर्जघन्यमुत्कृष्ट च कालमानमाह-

गहणं मोक्खो भासा, समयं गहनिसिरणा च दो समया ।
होंति जहन्नंतरओ, त तस्स च बीयसमयम्मि ॥ ३७१ ॥

गहणं मोक्खो भासा, गहणविसग्गा य होंति उक्कोसं ।
अंतोमुहुत्तमित्तं , पयत्तभेदेण भेओ सिं ॥ ३७२ ॥

इह वाग्द्रव्याणां ग्रहणं तथा तेषामेव गृहीतानां मोक्षो निसर्ग एवोच्यते, भाष्यत इति भाषा, एतानि त्रीण्यपि जघन्यत. प्रत्येकमेव समय भवन्ति , ग्रहणनिसर्जनलक्षण तूभयमनन्तरदर्शितन्यायेन ग्रहणसमयात् द्वितीयसमये निसर्गं कृत्वा म्रियमाणस्य , तिष्ठतो वा वचनव्यापारादुपरतस्य जघन्यतो द्वौ समयौ भवत । आह-ननु मोक्षो निसर्ग एवाच्यते, भाष्यत इति भाषाऽपि निसर्ग एवाऽभिधीयते, ततः किमिति मोक्षात् पृथक् भाषाया. कालमानाभिधानार्थमुपादानम् ?। सत्य, किं त्वनेनैव भाषाया पृथग्ग्रहणेन ज्ञापयति, यदुत भाष्यमाणैव भाषा निसर्गमात्रमेव भाषेत्यर्थ. तस्यैव जघन्यत समयमानत्वाद्, न तूभय भाषा, तस्य जघन्यतो द्विसमयमानत्वात् , ग्रहणमात्र तु केवल भाष्यत इति भाषा, इति व्युत्पत्त्यर्थस्यैवाघटनाद्भाषा न भवत्येवेति । यदि चेह भाषा पृथक् न गृहीता स्यात् , तदोभयस्यापि कश्चित्

षात्वं प्रतिपद्येत, ग्रहणेऽपि योग्यतया भाषात्वसद्भावात्, ततश्च "भासिज्जमाणा भासा" इत्यागमविरोधः स्यात्; तर्हि मोक्षग्रहणमपनीय तत्स्थाने भाषैव चोपादीयतां,भाषामोक्षयोरेकार्थत्वादिति चेत्। सत्यं, किं तु 'निसर्गस्य कालमानं नोक्तम्, इति मन्दधीः प्रतिपद्येत, इति तदनुग्रहार्थमिह मोक्षभाषयोः पृथक्ग्रहणम्। इत्यलं विस्तरेण। इति ग्रहणं, मोक्षो, भाषा इत्येतानि त्रीणि, तथा ग्रहणनिसर्गोभयं च सर्वाण्यप्युत्कृष्टतः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं भवन्ति, परतो योगान्तरमुपगच्छति, म्रियते वा इति भावः। एतेषां च ग्रहणाऽऽदीनामन्तर्मुहूर्त्तस्य प्रयत्नभेदेन भेदो भवतीति महाप्रयत्नस्य तदेवान्तर्मुहूर्त्तं लघु भवति, अल्पप्रयत्नस्य तु तदेव बृहत् प्रमाणं भवतीति ॥ ३७१ ॥ ॥ ३७२ ॥

तदत्र प्रथमसमये यत्केवलं ग्रहणमेव, पर्यन्तवर्त्तिनि तु समये यः केवलो निसर्गः पूर्वमुक्तः, स भवतु, मध्यमसमयेषु तु यौ ग्रहणनिसर्गौ, तयोरयुक्तत्वमुत्पश्यन्नाह परः—

गहणविसग्गपयत्ता, परोप्परविरोहिणो कहं समए ?।
समए दो उवओगा,न होज्ज किरियाण को दोसो ?॥३७३॥

निरन्तरग्रहणे, विसर्गे चेष्यमाणे द्वितीयसमयादारभ्योपान्त्यसमयं यावत् ग्रहणविसर्गप्रयत्नौ प्रतिसमयं युगपदापततः। एतौ च परस्परविरोधिनौ कथमेकस्मिन्समये युक्तौ ?, नैव युक्तावित्यर्थः। अत्रोच्यते-ग्रहणविसर्गयोर्विरोध एवात्र तावदसिद्धः। यदि हि येषामेव द्रव्याणां ग्रहणम्, तेषामेव तस्मिन्नेव ग्रहणसमये निसर्ग इष्येत, तदा स्यादसौ, एतच्च नास्ति, प्राक् समयगृहीतानामेवाग्रेतनसमये निसर्गात्, तत्र चाऽपूर्वाणामेव ग्रहणात्। अथाविरोध्यपि युगपदेकत्र समये उपयोगद्वयवत् क्रियाद्वयं नेष्यते; तदाह—" समये दो " इत्यादि। एकस्मिन् समये द्वौ उपयोगौ न भवेतामिति युक्तम्। "जुगवं दो नत्थि उवओगा" इति वचनात् तयो रागमे निषेधात्। क्रियाणां बह्वीनामप्येकस्मिन् समये को दोषः ?, न कश्चिदित्यर्थः। तथा हि आगमे—" भंगियसुयं गणंतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि।" इत्यादिवचनात् वाङ्मनःकायक्रियाणामेकत्र समये प्रवृत्तिरभ्युपगतैव। तथाऽङ्गुल्यादिसंयोगविभागक्रिययोः, सङ्घातपरिशाटक्रिययोः, उत्पादव्ययक्रिययोश्चैकत्र समयेऽनेकस्थानेषु तत्राऽनुज्ञा विहितैवेति को दोषः ?। तथा वामहस्तेन घण्टिकां चलयति, दक्षिणेन धूपमुद्ग्राहयति, दृशा तीर्थकरप्रतिमाऽऽदिवदनं लोकते, मुखेन वृत्तं पठति, इत्यादि बह्वीनामपि क्रियाणां युगपत् प्रवृत्तिरध्यक्षतोऽपि वीक्ष्यते। इति गाथानवकार्थः ॥ ३७३ ॥

( १२ ) "गृह्णाति कायिकेन" इत्युक्तं, तत्र यद्यप्यौदारिकाऽऽदिशरीरपञ्चकभेदात्कायः पञ्चविधः, तथाऽपि त्रिविधेनैव कायेन वाग्द्रव्यग्रहणमवसेयम्, इति दर्शयन्नाह—

तिविहम्मि सरीरम्मी, जीवपएसा हवंति जीवस्स।
जेहि उ गिण्हइ गहणं,तो भासइ भासओ भासं॥३७४॥

औदारिकाऽऽदिशरीराणां मध्यात्त्रिविधे त्रिप्रकारे शरीरे जीवस्याऽऽत्मनः प्रदेशा जीवप्रदेशा भवन्ति, नान्यत्र। एतावति चोच्यमाने " भिक्षोः पात्रम् " इत्यादौ षष्ठया भेदेऽपि दर्शनान्मा भूज्जीवात्प्रदेशानां भेदसंप्रत्यय इत्यत आह-जीवस्येति, त्रिविधेऽपि शरीरे जीवप्रदेशा जीवस्याऽऽत्मभूता भवन्ति, न तु भेदिन इत्यर्थः। तदनेन निष्प्रदेशाऽऽत्मवादनिराकरणमाह—निष्प्रदेशत्वस्य युक्त्यऽनुपपत्तेः। तथाहि-पादतलसंबद्धानां जीवप्रदेशानां शिरः संबद्धजीवदेशैः सह भेदोऽभेदो वा ?, इति वक्तव्यम्। यदि भेदस्तर्हि कथं न सप्रदेशो जीवः ?। अथाभेदस्तर्हि सर्वेषामपि शरीरावयवानामेकत्वप्रसङ्गः, अभिन्नैर्जीवप्रदेशैः संबन्धेनैकत्र क्रोडीकृतत्वादित्यादि तर्कशास्त्रेभ्योऽनुसरणीयम्। यैर्जीवप्रदेशैः किं करोति ?, इत्याह-यैस्तु गृह्णाति। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि ?-न सर्वदैव गृह्णाति, किं तु भाषणाभिप्रायाऽऽदिसामग्रीपरिणामे सति। किं पुनर्गृह्णाति ?, इत्याह—गृह्यत इति कर्मणि ल्युट्प्रत्यये ग्रहणं वाग्द्रव्यनिकुरम्बमित्यर्थः। ततो भाषको भाषां भाषते, न त्वभाषकोऽपर्याप्तावस्थायाम्, इच्छाऽऽद्यभावतो वेति। 'भाषको भाषते' इत्यनेनैव गतार्थत्वात् " भाष्यमाणैव भाषा, न पूर्वं, नापि पश्चात् " इति ज्ञापनार्थमेव भाषाग्रहणमिति ॥ ३७१ ॥ ३७४ ॥

आह—ननु कतमत्तत्त्रिविधं शरीरं, यद्गतैर्जीवप्रदेशैर्वाग्द्रव्याणि गृहीत्वा भाषको भाषते ?, इत्याह—

ओरालियवेउव्विय-आहारओ गिण्हइ मुयइ भासं।
सच्चं सच्चामोसं, मोसं च असच्चमोसं च ॥ ३७५ ॥

इहौदारिकशब्देन शरीरतद्वतोरभेदोपचारात्, मत्वर्थीयलोपाद्वा औदारिकशरीरवान् जीव एव गृह्यते, एवं वैक्रियवान् वैक्रियः, आहारकवानाहारकः। तदयमेवौदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीरी जीवो गृह्णाति, मुञ्चति च भाषां पुद्गलसंहतिरूपाम्, भाषा कथंभूताम् ?, इत्याह-सत्यां, सत्यामृषाम्, मृषां च,असत्यमृषां च। इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥ ३७५ ॥

अत्र विषमपदव्याख्यानाय भाष्यम्—

सच्चा हिया सयामिह, संतो मुणओ गुणा पयत्था वा।
तव्विवरीया मोसा, मीसा जा तदुभयसहावा ॥ ३७६ ॥
अणहिगया जा तीसु वि,सद्दो च्चिय केवलो असच्चमुसा।
एया सभेयलक्खण-सोदाहरणा जहा सुत्ते ॥ ३७७ ॥

इह सद्भ्यो हिता आराधिका यथावस्थितवस्तुप्रत्यायनफला च सत्या भाषा प्रोच्यते। तत्र के सन्त उच्यन्ते येषां सा हिता ?, इत्याह-सन्त इह मुनयः साधव उच्यन्ते,तेभ्यो हिता- इहपरलोकाऽऽराधकत्वेन मुक्तिप्रापिकेत्यर्थः। अथवासन्तो मूलोत्तरगुणरूपा गुणाः,पदार्था वा जीवाऽऽदयः प्रोच्यन्ते, तेभ्योऽसौ हिता-अविपरीतयथावस्थितस्वरूपप्ररूपणेन सत्या; विपरीतस्वरूपा तु मृषा भाषा अभिधीयते; मिश्रा तु सत्यामृषा। का ?, इत्याह-या तदुभयस्वभावा सत्यामृषाऽऽत्मिकेति। या पुनः सत्यामृषोभयाऽऽत्मकासु उक्तलक्षणासु तिसृष्वपि भाषास्वऽनधिकृता तल्लक्षणानन्तर्भाविनी, आमन्त्रणाऽऽज्ञापनाऽऽदिविषयो व्यवहारपतितःशब्द एव केवल, सा असत्यमृषा चतुर्थी भाषा। एताश्चतस्रोऽपि भाषाः सभेदाः सलक्षणा सोदाहरणाश्च यथा दशवैकालिकसूत्रनिर्युक्त्यादिकसूत्रे आगमे भणित स्तथा तत्रैव बोद्धव्याः। इह तु भाषाद्रव्यग्रहणनिसर्गाऽऽदिविचारस्यैव प्रस्तुतत्वादिति गाथाद्वयार्थ ॥ ३७६ ॥ ३७७ ॥

(१३) औदारिकाऽऽदिशरीरवान् भाषां गृह्णाति, मुञ्चति चेत्युक्तम् । सा पुनर्मुक्ता सती कियत् क्षेत्रं व्याप्नोति ?, इति वक्तव्यम् । उच्यते-समस्तमपि लोकम् । आह-यद्येवम्—

कइहिँ समएहिँ लोगो, भासाएँ निरन्तरं तु होइ फुडो ।
लोकस्स य कइभाए, कइभाओ होइ भासाए ॥ ३७८ ॥

अथवा द्वादशभ्यो योजनेभ्यः परतो न शृणोति शब्दं मन्दपरिणामत्वाद् द्रव्याणामित्युक्तम् । तत्र किं परतोऽपि शब्दद्रव्याणामागतिरस्ति ?, यथा च विषयाभ्यन्तरे नैरन्तर्येण तद्वासनासामर्थ्यम्, एवं बहिरप्यस्ति, उत न ?, इति । उच्यते-अस्ति केषाञ्चित्कृत्स्नलोकव्याप्तेः । आह—यद्येवम्, कइहिं० इत्येवं संबन्धद्वयसमायातेयं गाथा व्याख्यायते-लोक्यत इति लोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकः क्षेत्रलोकोऽत्र परिगृह्यते । स कतिभिः कियत्संख्यैः समयैर्भाषया भाषाद्रव्यैर्निरन्तरमेव भवति, स्पृष्टो व्याप्तः ?, तस्य च लोकस्य कतिभागे कतिभागो भवति भाषाद्रव्याणामिति ? ॥ ३७८ ॥

अत्रोच्यते—

चउहिँ समएहिँ लोगो, भासाएँ निरन्तरं तु होइ फुडो ।
लोगस्स य चरिमंते, चरिमंतो होइ भासाए ॥ ३७९ ॥

चतुर्भिः समयैर्लोको भाषया कस्यचित्संबन्धिन्या निरन्तरमेव पूर्णो भवति । लोकस्यच चरमान्त-पर्यन्तवर्ती भागोऽसंख्येयभाग इत्यर्थः, तस्मिंश्चरमान्ते असख्येयभागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्याश्चरमान्तोऽसंख्येयभागो भवतीति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥ ३७९ ॥

आह-किं सर्वस्या अपि भाषा लोकं व्याप्नोति ?, नैतदेवमिति दर्शयन्नाह भाष्यकारः-

कोई मंदपयत्तो, निसिरइ सयलाइँ सव्वदव्वाइं ।
अन्नो तिव्वपयत्तो, सो मुंचइ भिंदिउं ताइं ॥ ३८० ॥

कोऽप्युरःक्षताऽऽद्युपेतत्वेन मन्दप्रयत्नो वक्ता सर्वाण्यपि भाषाद्रव्याणि प्रथमं सकलानि संपूर्णानि अखण्डान्यभिन्नानीति यावत्, निसृजति मुञ्चति; अन्यस्तु नीरोगताऽऽदिगुणयुक्तस्तीव्रप्रयत्नो भवति, स पुनस्तान्यादाननिसर्गप्रयत्नाभ्या भित्त्वैव खण्डशः कृत्वा सूक्ष्मखण्डीकृत्य मुञ्चति ।

तत्रोभयेषामप्यग्रतो यद्भवति, तद्दर्शयन्नाह-

गंतुमसंखेज्जाओ, अवगाहणवग्गणा अभिन्नाइं ।
भिज्जंते धंसंति य, संखिज्जे जोयणे गंतुं ॥ ३८१ ॥
भिन्नाइँ सुहुमयाए, अणंतगुणवड्ढियाइँ लोगंतं ।
पावंति पूरयंति य, भासाएँ निरंतरं लोगं ॥ ३८२ ॥

अवगाहोऽवगाहना एकैकस्य भाषाद्रव्यस्कन्धस्याऽऽधारभूताऽसंख्येयप्रदेशाऽऽत्मकक्षेत्रविभागरूपा तासामवगाहनानामनन्तभाषाद्रव्यस्कन्धाऽऽश्रयभूतक्षेत्रविशेषरूपाणां वर्गणाः समुदायः ता अवगाहनावर्गणाः असंख्येया गत्वा ततो मन्दप्रयत्नवक्तृनिसृष्टान्यभिन्नानि भाषाद्रव्याणि भिद्यन्ते खण्डीभवन्ति । संख्येयानि च योजनानि गत्वा ध्वंसन्ते शब्दपरिणामं विजहतीत्यर्थः । उक्तं च प्रज्ञापनाया भाषापदे-" जाइं अभिन्नाइं निसिरइ, ताइं असंखेज्जाओ ओगाहणाओ गन्ता भेयमावज्जति, संखेज्जाइं जोयणाइं गत्ता विद्धंसमागच्छंति ।" यानि तु महाप्रयत्नो वक्ता प्रथमत एव भिन्नानि निसृजति तानि सूक्ष्मत्वाद्बहुत्वाच्चानन्तगुणवृद्ध्या वर्द्धमानानि षट्सु दिक्षु लोकान्तमाप्नुवन्ति, शेषं तु तत्पराघातवासनाविशेषाद्वासितया भाषया उत्पन्नभाषापरिणामद्रव्यसंहतिरूपया सर्वं लोकं निरन्तरमापूरयन्ति " चतुर्भिः समयैः" इति वाक्यशेषः । उक्तं च-"जाइं भिन्नाइं निसिरइ, ताइं अणंतगुणपरिवड्ढीए परिवड्ढमाणाइं लोयंतं फुसंति ।" ॥ ३८१ ३८२ ॥ ('केवलि समुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे ६६३ पृष्ठेऽत्र विशेषः ।)

यद्येवम्, अचित्तमहास्कन्धजीवयोगत्वाभावेऽपि कथं द्वितीयसमये कपाटमात्रस्यैव भावात् प्रज्ञापनाऽऽदिषु चतुःसमयता प्रोक्ता, इत्याशङ्क्याऽऽह—

खंधो वि वीससाए, न पराघाओ य तेण चउसमओ ।
अह होज्ज पराघाओ, हविज्ज तो सो वि तिसमइओ ॥ ३८४ ॥

स्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धः सोऽपि विश्रसया केवलेन विश्रसापरिणामेव भवति, न तु जीवप्रयोगेण । विश्रसापरिणामश्च विचित्रत्वान्न पर्यनुयोगमर्हति । किं च—न तत्र पराघातोऽस्ति—नान्यद्रव्याणामात्मपरिणाममसौ जनयतीत्यर्थः, किं तु स निजपुद्गलैरेव लोकं पूरयति । ततोऽसौ चतुःसमयो भवति । अथ तत्रापि पराघातो भवेत्, ततः सोऽपि त्रिसामायिको भवेत्-त्रिभिरेव समयैर्लोकमापूरयेदित्यर्थः । न चैवम्, सिद्धान्ते चतुःसमयत्वेन तस्योक्तत्वात । तस्मान्नास्ति तत्र पराघातः अत्र त्वस्त्यसौ, इति वैषम्यमिति ॥ ३८४ ॥

अथानादेशप्रस्तावादपरमपि मतमुपन्यस्य दूषयति-

एगदिसमाइसमये, दंडं काऊण चउहिँ पूरेइ ।
अन्ने भणंति तं पि य, नाऽऽगमजुत्तिक्खमं होइ ॥ ३८५ ॥

अन्ये केचिद्भाषन्ते-आदिसमये एकदिकं दण्डं कृत्वा चतुर्भिः समयैर्लोकमापूरयन्ति । एतदुक्तं भवति-प्रथमसमये तावदूर्ध्वदिशि दण्डं करोति, द्वितीयसमये तत्र मन्थानम्, अधोदिशि पुनर्दण्डं, तृतीयसमये ऊर्द्धदिश्यन्तरालपूरणमधोदिशि तु मन्थानं करोति, चतुर्थसमये तु तत्राप्यन्तरालपूरणात्समस्तमपि लोकं भाषाद्रव्यैः पूरयति । तदेतदपि नागमक्षमं, क्वचिदप्यागम एवमश्रवणात् । नापि युक्तिक्षमम् । का ह्यत्र युक्तिः, यदनुश्रेणिगमनस्वभावानां पुद्गलानामेकया दिशा गमनं भवति, नान्यया ?, वक्तृमुखताल्वादिप्रयत्नप्रेरणमत्र युक्तिरिति चेत् । नैवं, यतो वक्ता कदाचिद्विश्रेण्याऽभिमुखस्तदभिमुखानपि भाषापुद्गलान् प्रेरयेत्, ततश्च विदिश्यपि तेषा गमनप्रसङ्गः । किं चैवं सति पटहाऽऽदिशब्दपुद्गलाना चतुःसमयानियम एव स्याद्वक्तृप्रयत्नस्य तेष्वभावात् । तस्माद्युक्त्यागमविरुद्धत्वादुपेक्षणीयमेवेदमिति ॥ ३८५ ॥ विशे० । आ० म० । न० ।

सम्प्रति भाषाद्रव्यग्रहणाऽऽदिविषयसंशयापनोदार्थमाह—

जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गिण्हति, ताइं किं ठियाइं गेण्हति, अठियाइं गेण्हति ?। गोयमा ! ठियाइं गिण्हति, नो अठियाइं गिण्हति । जाइं भंते ! ठियाइं गिण्हति, ताइं किं दव्वतो गिण्हति, खेत्तो गिण्हति, कालतो गिण्हति, भावतो गिण्हति ?। गोयमा ! दव्वओ वि गिण्हति,

खेत्तओ वि कालओ वि भावओ वि गिरहति । जाइं भंते ! दव्वओ गेरहति, ताइं किं एगपदेसियाइं गिरहति,दुपदेसियाइं गिरहइ०जाव अणंतपदेसियाइं गेरहति ?। गोयमा! नो एगपदेसियाइं गेरहति०जाव नो असंखिज्जपदेसियाइंगिरहइ, अणंतपदेसियाइं गेरहति । जाइं खेत्तओ गेरहति,ताइं किं एगपएसोगाढाइं गेरहति, दुपएसोगाढाइं गेरहति ०जाव असंखेज्जपएसोगाढाइं गेरहति ?। गोयमा ! नो एगपएसोगाढाइं गेरहति०जाव नो संखेज्जपएसोगाढाइं गेरहति, असंखेज्जपएसोगाढाइं गेरहति । जाइं कालतो गेरहति, ताइं किं एगसमयट्ठिईयाइं गेरहति दुसमयट्ठिईयाइं गिरहति, ०जाव असंखिज्जसमयट्ठिईयाइं गेरहति ? । गोयमा ! एगसमयट्ठितीयाइं पि गेरहति, दुसमयट्ठितीयाइं पि गेरहति ०जाव असंखेज्जसमयट्ठितीयाइं गेरहति जाइं । भावतो गेरहति, ताइं किं वरामंताइं गेरहति, गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं गेरहति ? । गोयमा ! वरामंताइं गिरहइ०जाव फासमंताइं गेरहति । जाइं भावओ वरामंताइं गेरहति,ताइं किं एगवराइं गेरहति ०जाव पंचवराइं गेरहति ? । गोयमा ! गहरादव्वाइं पडुच्च एगवराइं पि गेरहति ०जाव पंचवराइं पि गेरहति , सव्वगहरां पडुच्च णियमा पंचवराइं गेरहति । तं जहा-कालाइं नीलाइं लोहियाइं हालिदाइं सुकिल्लाइं । जाइं वरातो कालाइं गेरहति , ताइं किं एगगुणकालाइं गेरहति ०जाव अणंतगुणकालाइं गिरहति ? । गोयमा ! एगगुणकालाइं पि गिरहति ०जाव अणंतगुणकालाइंपि गेरहति । एवं०जाव सुकिल्लाइं पि । जाइं भावतो गंधमंताइं गिरहति, ताइं किं एगगंधाइं गिरहति,दुगंधाइं गिरहइ?। गोयमा ! गहरादव्वाइंपडुच्चएगगंधाइं पिगिरहइ दुगंधाइं पि गिरहति । सव्वगहरां पडुच्च नियमा दुगंधाइं गिरहति । जाइं गंधतो सुब्भिगंधाइं गिरहति, ताइं किं एगगुणसुब्भिगंधाइं गिरहति०जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं गिरहति ? गोयमा ! एगगुणसुब्भिगंधाइं पि ०जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइं पि गेरहइ । एवं दुब्भिगंधाइं पि गेरहइ । जाइं भावतो रसमंताइं गेरहति , ताइं किं एगरसाइं गेरहति०जाव किं पंचरसाइं गेरहति ?। गोयमा ! गहरादव्वाइं पडुच्च एगरसाइं पि गेरहति०जाव पंचरसाइं पि गेरहति । सव्वगहरां पडुच्च नियमा पंचरसाइं गेरहति । जाइं रसओ तित्तरसाइं गेरहति, ताइं किं एगगुणतित्तरसाइं गिरहति०जाव अणंतगुणतित्ताइं गिरहति ? । गोयमा ! एगगुणतित्ताइं पि गिरहइ ०जाव अणंतगुणतित्ताइं पि गिरहति । एवं ०जाव महुरो रसो । जाइं भावतो फासमंताइं गेरहति, ताइं किं एगफासाइं गेरहइ०जाव अट्ठफासमंताइं गिरहति?। गोयमा ! गहरादव्वाइं पडुच्च णो एगफासाइं गेरहति , दुफासाइं गिरहइ ०जाव चउफासाइं गेरहति, णो पंचफासाइं गेरहति०जाव नो अट्ठफासाइं पि गेरहति । सव्वगहरां पडुच्च नियमा चउफासाइं गेरहति । तं जहा-सीतफासाइं गेरहति , उसिणफासाइं निद्धफासाइं लुक्खफासाइं गेरहति । जाइं फासतो सीताइं गिरहति, ताइं किं एगगुणसीताइं गेरहति०जाव अणंतगुणसीताइं गेरहति ?। गोयमा ! एगगुणसीताइं पि गेरहति ०जाव अणंतगुणसीताइं पि गेरहति। एवं उसिणणिद्धलुक्खाइं०जाव अणंतगुणाइं पि गिरहति । जाइं भंते ! ०जाव अणंतगुणलुक्खाइं गेरहति, ताइं किं पुट्ठाइं गेरहति, अपुट्ठाइ गेरहति ? । गोयमा ! पुट्ठाइं गेरहति, नो अपुट्ठाइं गेरहति । जाइं भंते ! पुट्ठाइं गेरहति, ताइं किं ओगाढाइं गेरहति,अणोगाढाइ गेरहति ?। गोयमा ! ओगाढाइं गेरहति, नो अणोगाढाइं गेरहति । जाइं भंते ! ओगाढाइं गेरहति, ताइं किं अणंतरोगाढाइं गेरहति, परंपरोगाढाइं गेरहति ? । गोयमा ! अणंतरोगाढाइं गिरहति, नो परंपरोगाढाइं गेरहति । जाइ भंते ! अणंतरोगाढाइं गेरहति, ताइं भंते ! किं अणूइं गेरहति, बायराइं गेरहति ? । गोयमा ! अणूइं पि गेरहति, बायराइं पि गेरहति । जाइं भंते ! अणूइं पि गेरहति,बायराइं पि गिरहइ ताइं किं उड्ढं गेरहति, अधे गेरहति, तिरियं गेरहति ? । गोयमा ! उड्ढं पि गेरहति , अधे वि गेरहति , तिरियं पि गेरहति । जाइं भंते ! उड्ढं पि गेरहति, अधे वि गेरहति, तिरियं पि गेरहति, ताइं किं आदिं गेरहति, मज्झे गेरहति, पज्जवसाणे गेरहति ? । गोयमा ! आदिं पि गेरहति, मज्झे वि गेरहति,पज्जवसाणे वि गेरहति । जाइं भंते ! आदिं पि गिरहति,मज्झे वि गेरहति, पज्जवसाणे वि गिरहति, ताइं किं सविसए गिरहति अविसए गिरहति ?। गोयमा ! सविसए गेरहति,नो अविसए गेरहति । जाइं भंते ! सविसए गेरहति, ताइं किं आणुपुव्विं गेरहति , अणाणुपुव्विं गेरहति ? । गोयमा ! आणुपुव्विं गेरहति,नो अणाणुपुव्विं गेरहति। जाइं भंते ! आणुपुव्विं गेरहति,ताइं किं तिदिसिं गेरहति ०जाव छद्दिसिं गेरहति ? । गोयमा ! नियमा छद्दिसिं गेरहति ।
" पुट्ठोगाढ अणंतर, अणू य तह बायरे य उड्ढमहे । आदिविसयाणुपुव्विं , णियमा तह छद्दिसिं चेव ॥ १ ॥ "
( सूत्रम् १६८ ) जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेरहति, ताइं किं संतरं गेरहति, निरंतरं गेरहति ? । गोयमा ! संतरं पि गेरहति, निरंतरं पि गेरहति, संतरं गिरहमाणे जहरणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं समयं अंतरं कट्टु गेरहति,निरंतरं गेरहमाणे जहरणेणं दो समए,

उक्कोसेणं असंखेज्जसमए, अणुसमयं अविरहियं निरंतरं
गेण्हति । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गहि-
याइं णिसिरइ, ताइं किं संतरं निसरइ, निरंतरं निसरइ ?।
गोयमा ! संतरं निसरइ, नो निरंतरं निसरइ, संतरं नि-
सरमाणे एगेणं समएणं गेण्हति एगेणं समएणं निसरइ,
एतेणं गहणनिसरणोवाएणं जहन्नेणं दुसमइयं उक्कोसेणं,
असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तिगं गहणनिसरणोवायं क-
रेति । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए ग-
हियाइं णिसिरति, ताइं किं भिण्णाइं णिसरति, अभिण्णाइं
णिसरति?।गोयमा ! भिन्नाइं पि निसरइ, अभिन्नाइं पि नि-
सरइ, जाइं भिण्णाइं णिसरति, ताइं अणंतगुणपरिवुड्ढीए णं
परिवुड्ढमाणाइं २ लोयंतं फुसन्ति; जाइं अभिण्णाइं निस-
रइ, ताइं असंखेज्जाओ ओगाहणवग्गणाओ गंता भेदमा-
वज्जंति, संखेज्जाइं जोअणाइं गंता विद्धंसमागच्छंति ।
( सूत्रम्-१६६ )

'जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गिण्हइ ' इत्यादि,
सुगमं, नवरं 'ठियाइं ' स्थितानि,न गमनक्रियावन्ति, द्रव्य-
तश्चिन्तायामनन्तप्रादेशिकानि-अनन्तपरमाण्वात्मकानि गृ-
ह्णाति, नैकपरमाण्वाद्यात्मकानि, तेषां स्वभावत एव जीवा-
नां ग्रहणायोग्यत्वात्, क्षेत्रचिन्तायामसङ्ख्यातप्रदेशावगा-
ढानि,एकप्रदेशाऽऽद्यवगाढानां तथा स्वभावतया ग्रहणायोग्य
त्वात्, कालतश्चिन्तायामेकसमयस्थितिकान्यपि यावदस-
ङ्ख्येयसमयस्थितिकान्यपि गृह्णाति , पुद्गलानामसङ्ख्येय-
मपि कालं यावदवस्थानसम्भवात् । तथा चोक्तं व्याख्या-
प्रज्ञप्तौ सैजनिरेजपुद्गलावस्थानचिन्तायाम्-' अणंतपएसिए
णं भंते ! खंधे केवइकालं सेए ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं
समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं; निरेए
जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ' इति । तेषां
च गृहीतानां ग्रहणानन्तरसमये अवश्यं निसर्ग इति स्वभा-
वस्थानन्तरसमये ग्रहणं प्रतिपत्तव्यम् । अन्ये तु व्याचक्षते-
एकसमयस्थितिकान्यपीति आविर्भावपरिणामापेक्षया द्र-
ष्टव्यं, विचित्रो हि पुद्गलानां परिणामः, तत एकप्रयत्नगृही-
तमुक्ता अपि ते केचिदेकं समयं भाषात्वेनावतिष्ठन्ते, केचिद्
द्वौ समयौ, यावत् केचिदसङ्ख्येयानपि समयानिति । तथा
'गहणदव्वाइं ' इति गृह्यन्ते इति ग्रहणानि, ग्रहणानि च
तानि द्रव्याणि च ग्रहणद्रव्याणि । किमुक्तं भवति ?-
यानि ग्रहणयोग्यानि द्रव्याणि तानि कानिचित् वर्ण-
परिणामेन एकेन वर्णेनोपेतानि,कानिचित् द्वाभ्यां,कानिचित्
त्रिभिः, कानिचित् चतुर्भिः, कानिचित्पञ्चभिः, यदा
पुनरेकप्रयत्नगृहीतानामपि सर्वेषां द्रव्याणामपि समुदायो
विवक्ष्यते तदा नियमात् पञ्चवर्णानि गृह्णाति, एवं
गन्धरसेष्वपि भावनीयं, स्पर्शतः चिन्तायामेकस्पर्शप्रति-
षेधः, एकस्यापि परमाणोरवश्यं स्पर्शद्वयभावात् । तथा चो-
क्तम्—" कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमा-
णुः । एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ " द्वि-
स्पर्शानि-मृदुशीतानि मृदूष्णानीत्यादि, '० जाव चउफासा'
इति । यावच्छब्दकरणात् त्रिस्पर्शपरिग्रहः । ततस्त्रिस्पर्शान्ये-
वं—कानिचित् द्रव्याणि किल मृदुशीतस्पर्शानि, कानिचित्
मृदुस्निग्धस्पर्शानि,तत्र मृदुस्पर्शो मृदुस्पर्श एवान्तर्भूत इत्ये-
कस्पर्शः, शीतस्निग्धरूपौ तु द्वावन्यौ स्पर्शाविति समुदायम-
धिकृत्य त्रिस्पर्शानि एवं स्पर्शान्तरयोगेऽपि त्रिस्पर्शानि भा-
वनीयानि । कानिचिच्चतुःस्पर्शानि, तत्र चतुःस्पर्शेषु मृदुलघु-
रूपौ द्वौ स्पर्शावस्थितौ, सूक्ष्मस्कन्धेषु तयोरसम्भवात्, अ-
न्यौ तु द्वौ स्पर्शौ स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ रूक्षोष्णौ रूक्ष-
शीतौ, सर्वसमुदायमपेक्ष्य नियमात्तानि चतुःस्पर्शानि गृह्णा-
ति । तत्र यौ द्वौ मृदुलघुरूपौ स्पर्शाववस्थितौ तावस्थित-
त्वादेव व्यभिचाराभावान्न गण्येते, ये त्वन्ये स्निग्धाऽऽदयश्च-
त्वारस्ते किल वैकल्पिका इति तानधिकृत्य सूत्रमाह । त-
द्यथा—' सीयफासाइं गेण्हइ ' इत्यादि सुगमं, यावत् 'जा-
इं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं गेण्हइ ।' इह किल चरमसू-
त्रमनन्तरमिदमुक्तम्-' अणंतगुणलुक्खाइं पि गिण्हइ ' ततः
सूत्रसम्बन्धवशादिदमुक्तम्-'जाइं भंते ! ० जाव अणंतगुणलु-
क्खाइं गेण्हइ ' इति । यावता-' जाइं भंते ! एगगुणकाल-
वण्णाइं ' इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्, ' ताइं भंते ! किं पुट्ठाइं ' इ-
त्यादि, तानि भदन्त ! किं स्पृष्टानि-आत्मप्रदेशसंस्पृष्टानि
गृह्णाति, उतास्पृष्टानि ?। भगवानाह—गौतम ! स्पृष्टानि-
आत्मप्रदेशैः सह संस्पर्शमागतानि गृह्णाति, नास्पृष्टानि इ-
हाऽऽत्मप्रदेशैः संस्पर्शनमात्मप्रदेशावगाढक्षेत्राद् बहिरपि
सम्भवति ततः प्रश्नयति-' जाइं भंते ! ' इत्यादि । अवगाढा
नि—आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावस्थितानि गृह्णाति, नान-
वगाढानि । ' जाइं भंते ! ' इत्यादि, अनन्तरावगाढानि
अव्यवधानेनावस्थितानि गृह्णाति, न परम्परावगाढानि । किं-
मुक्तं भवति ?—येष्वात्मप्रदेशेषु यानि भाषाद्रव्याण्यवगा-
ढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येव गृह्णाति, न त्वेकद्व्यात्मप्रदेश-
व्यवहितानि । ' जाइं भंते ! अणंतरोगाढाइं ' इत्यादि । अ-
णून्यपि—स्तोकप्रदेशान्यपि गृह्णाति, बादराण्यपि—प्रभूत-
प्रदेशोपचितान्यपि, इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेव भाषायोग्या-
नां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकबाहुल्यापेक्षया व्याख्याते, मूलटी-
काकारेण तथा व्याख्यानात् । 'जाइं भंते ! अणूइं पि गेण्हइ'
इत्यादि, ऊर्ध्वमपि, अधोऽपि, तिर्यगपीति, इह जीवस्य या-
वति क्षेत्रे ग्रहणयोग्यानि भाषाद्रव्याण्यवस्थितानि ताव-
त्येव क्षेत्रे ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं द्रष्टव्यम् । ' जाइं भंते ! उ-
ड्ढं पि गेण्हइ ।' इत्यादि, यानि भाषाद्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं याव-
त् ग्रहणोचितानि तानि ग्रहणोचितकालस्य उत्कर्षतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तप्रमाणस्याऽऽदावपि—प्रथमसमये गृह्णाति, मध्येऽपि-
द्वितीयाऽऽदिष्वपि समयेषु गृह्णाति, पर्यवसानेऽपि-पर्यवसा-
नसमयेऽपि गृह्णाति । ' जाइं भंते ! आइं पि गेण्हइ ' इत्यादि,
स्वविषयान् स्वगोचरान् स्पृष्टावगाढानन्तरावगाढाऽऽद्या-
न् गृह्णाति, न त्वविषयान् स्पृष्टाऽऽदिव्यतिरिक्तान् । ' जाइं
भंते ! सविसए गेण्हइ ' इत्यादि । आनुपूर्वी नाम ग्र-
हणापेक्षया यथासन्नत्वं, तद्विपरीता अनानुपूर्वी, तथानु-
पूर्व्या गृह्णाति, न त्वनानुपूर्व्या । ' जाइं भंते ! आणु-
पुव्विं गेण्हइ ' इत्यादि ' तिदिसिं ' ति । त्रिदिशि गृह्णाति,
तिसृभ्यो दिग्भ्य आगतानि गृह्णाति । एवं चतुर्दिशि पञ्चदिशि

षड्दिशि च । एवमुक्ते भगवानाह—गौतम ! नियमात् षड्-
दिशि गृह्णाति-षड्भ्यो दिग्भ्य आगतानि गृह्णाति , भाषको
हि नियमात् त्रसनाड्यामन्यत्र त्रसकायासम्भवात् , त्रस-
नाड्यां च व्यवस्थितस्य नियमात् षड्दिगागतपुद्गलसम्भवा-
त्। एतेषामेवार्थानां सङ्ग्रहणिगाथामाह-'पुट्ठोगाढअणंतरं ।'
इत्यादि प्रथमतः स्पृष्टविषयं सूत्रं, तदनन्तरमवगाढसूत्रम्, त-
तोऽनन्तरावगाढसूत्रम्,ततोऽणुबादरविषयं सूत्रम्,तदनन्तर
मूर्द्धाध प्रभृतिविषयं सूत्रं, तत 'आइ' इति । उपलक्षणमेतत्
आदिमध्यावसानसूत्रं,ततो विषयसूत्र , तदनन्तरमानुपूर्वीसू
त्रं,ततो नियमात् षड्दिशीतिसूत्रम् । (१६८) 'जीवा णं भंते !
जाइं दव्वाइं ' इत्यादि । जीवो ' ण ' मिति वाक्यालङ्कारे,
भदन्त ! यानि द्रव्याणि भाषात्वेन गृह्णाति तानि किं सा-
न्तरं-सव्यवधानं गृह्णाति, किं वा निरन्तरं—निर्व्यवधानम् ?।
भगवानाह-सान्तरमपि गृह्णाति, निरन्तरमपि । उभयथाऽपि
ग्रहणसम्भवात् । तत्र सान्तरनिरन्तरग्रहणयोः प्रत्येकं का
लमानं प्रतिपादयति-' संतर गिराहमाणे ' इत्यादि । सा-
न्तरं गृह्णन् जघन्यत एकं समयमन्तर कृत्वा गृह्णाति,
एतच्च जघन्यत एकं समयमन्तरं सततं भाषाप्रवृत्तस्य
भाषमाणस्यावसेयम्। तच्चैवम् -कश्चिदेकस्मिन् समये भाषा-
पुद्गलान् गृहीत्वा तदनन्तरं मोक्षसमये अनुपादानं कृत्वा-
पुनस्तृतीय समये गृह्णात्येव, न मुञ्चति, द्वितीये समये प्रथ-
मसमयगृहीतान् पुद्गलान् मुञ्चति , अन्यानादत्ते, अथान्येन
प्रयत्नविशेषेण ग्रहणमन्येन च प्रयत्नविशेषेण च निसर्गः ,
तौ च परस्पर विरुद्धौ , परस्पराविरुद्धकार्यकरणात् , ततः
कथमेकस्मिन् समये तौ स्याता ?, तदयुक्तं, जीवस्य हि
तथास्वाभाव्यात् द्वावुपयोगावेकस्मिन् समय न स्याता, ये
तु क्रियाविशेषास्ते बहवोऽप्येकस्मिन् समये घटन्त एव ,
तथादर्शनात्। तथाहि-एकाऽपि नर्त्तकी भ्रमणाऽऽदि नृत्तं वि-
दधाना एकस्मिन्नपि समये हस्तपादाऽऽदिगता विचित्राः क्रि-
याः कुर्वती दृश्यते,सर्वस्यापि वस्तुनः प्रत्येकमेकस्मिन् समये
उत्पादव्ययावुपजायेते,एकस्मिन्नेव च समये सङ्घातपरिशा-
टावपि, ततो न कश्चिद्दोष. । आह च भाष्यकृत्—" गहण-
निसग्गपयत्ता, परोप्परविरोहिणो कहं समये ? । समए दो
उवओगा, न होज्ज किरियाण को दोसो ? ॥ १ ॥ " इति ।
तृतीये पुन. समये तानेव द्वितीयसमयोपात्तान् पुद्गलान्
मुञ्चति , न पुनरन्यानादत्ते , उत्कर्षेण त्वसङ्ख्येयान् याव-
न्निरन्तरं गृह्णाति । तथा चाऽऽह-उत्कर्षेणासङ्ख्येयान् सम-
यान् गृह्णाति इति योगः , कदाचित्परोऽसङ्ख्येयैः समयै-
रेकं ग्रहण मन्येत, तत आह—' अनुसमय ' प्रतिसमयं गृ
ह्णाति । तदपि कदाचिद्विरहितमपि व्यवहारतोऽनुसमयमि
त्युच्येत, ततस्तदाशङ्क्य व्यवच्छेदार्थमाह—अविरहितम ,
एवं निरन्तरं गृह्णाति, तत्राऽऽद्ये समये ग्रहणमेव, न निसर्ग',
'अगृहीतस्य निसर्गाभावात्, पर्यन्तसमये च मोक्ष एव,भाषा
ऽभिप्रायोपरमतो ग्रहणासम्भवात् शेषेषु द्वितीयाऽऽदिषु
समयेषु ग्रहणनिसर्गौ युगपत्करोति । ' जीवा ण भंते '
जाइ दव्वाइं भासत्ताए गहियाइ निसरइ ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं
सुगमम्, निर्वचनमाह—सान्तर निसृजति , नो निरन्तरम् ,
इयमत्र भावना—इह तावत् ग्रहण निरन्तरमुक्तं , तथा
चानन्तरसूत्रम् ' अणुसमयमविरहियं निरंतर गेएहइ '
इति, ततो निसर्गोऽपि प्रथमवर्जेषु शेषेषु समयेषु निरन्तरं
प्रतिपत्तव्यो , गृहीतस्यावश्यमनन्तरसमये निसर्गात् । ततो
यदुक्तम्-' सान्तरं निसृजति नो निरन्तरमिति ', तत्र ग्रह-
णापेक्षया द्रष्टव्यम् । तथाहि-यस्मिन् समये यानि भाषाद्र-
व्याणि गृह्णाति न तानि तस्मिन्नेव समये मुञ्चति , यथा
प्रथमसमये गृहीतानि न तस्मिन्नेव प्रथमसमये मुञ्चति,किन्तु
पूर्वस्मिन् २ समये गृहीतानि उत्तरस्मिन् २ समये. ततो ग्रह
णपूर्वो निसर्गोऽगृहीतस्य निसर्गायोगात् इति सान्तरं निस
र्ग उक्तः, आह च भाष्यकृत्—

" अणुसमयमणंतरियं, गहण भणियं ततो विमोक्खोऽवि ।
जुत्तो निरन्तरो वि य, भणइ कह संतरो भणिओ ? ॥ १ ॥
गहणावेक्खाए तओ, निरंतरं जम्मि जाइं गहियाइं ।
न उ तम्मि चेव निसरइ, जह पढमे निसिरणं नत्थि ॥ २ ॥
निसिरिज्जइ नागहिय, गहणंतरियं ति संतरं तेण । " इति ।

एतदेव सूत्रकृदपि स्पष्टयति—' संतरं निसरमाणे एगेणं
समएणं गेएहइ, एगेणं समएणं निसरइ ' इति । एकेन-पूर्व-
पूर्वरूपेण समयेन गृह्णाति, एकेन-उत्तरोत्तररूपेण समयेन
निसृजति । अथवा-ग्रहणापेक्षं निसर्गाभावात् एकेन आद्ये-
न समयेन गृह्णात्येव न निसृजत्यगृहीतस्य निसर्गाभावात् ,
तथा एकेन-पर्यवसानसमयेन निसृजत्येव, न गृह्णाति,भाषा-
ऽभिप्रायोपरमतो ग्रहणासम्भवात् , शेषेषु तु द्वितीयाऽऽदि-
षु समयेषु युगपद् ग्रहणनिसर्गौ करोति , तौ च निरन्तरं
जघन्यतो द्वौ समयौ, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयान् समयान् । एतदे-
वाऽऽह-' एतेण गहणनिसरणोवाएणं जहन्नेणं दुसमइयं, उ-
क्कोसेण असंखज्जसमइय अंतोमुहुत्तं गहणणिसिरण करेइ '
इति । ' जीवे ण जाइ दव्वाइं ' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमं ' भ-
गवानाह-गौतम ! भिन्नान्यपि निसृजति, अभिन्नान्यपि । इय-
मत्र भावना-इह द्विविधो-वक्ता-मन्दप्रयत्नस्तीव्रप्रयत्नश्च । त-
त्र यो व्याधिविशेषतोऽनादरतो वा मन्दप्रयत्नः स भाषाद्रव्या-
णि तथाभूतान्येव स्थूलखण्डाऽऽत्मकानि निसृजति,यस्तु नी-
रोगताऽऽदिगुणयुक्तस्तथाविधाऽऽदरभावतस्तीव्रप्रयत्न. स
भाषाद्रव्याणि आदाननिसर्गप्रयत्नाभ्या खण्डशः कृत्वा निसृ
जति । आह च भाष्यकृत्-"कोई मंदपयत्तो,निसिरइ सकलाइं
सव्वदव्वाइं । अन्नो तिव्वपयत्तो,सो मुंचइ भिंदिउं नाइं ॥१॥ "
तत उक्तम्-' भिन्नाइं पि निसिरइ,अभिन्नाइं पि निसिरइ,जाइं
भिन्नाइं निसिरइ ' इत्यादि । यानि तीव्रप्रयत्नो वक्ता प्रथमत
एव भिन्नानि निसृजति तानि सूक्ष्मत्वात् बहुत्वाच्च प्रभूता-
न्यन्यानि द्रव्याणि वासयन्ति, तदन्यद्रव्यवासकत्वादेव चा-
नन्तगुणवृद्ध्या परिवर्द्धमानानि षट्सु दिक्षु लोकान्तं स्पृश-
न्ति , लोकान्तं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ । उक्तं च—" भिन्नाइं सुहु-
मयाए, अणंतगुणवड्ढियाइँ लोगंतं । पावंति पूरयंति य, भा-
साए निरतर लोग ॥ १ ॥ " यानि पुनर्मन्दप्रयत्नो वक्ता य-
थाभूतान्येव प्राक् भाषाद्रव्याण्यासीरन् तथाभूतान्येव सक-
लान्यभिन्नानि भाषात्वेन परिणमय्य निसृजति, तान्यसङ्ख्येया
अवगाहनावर्गणा गत्वा,अवगाहना —एकैकस्य भाषाद्रव्य-
स्याऽऽधारभूता असङ्ख्येयप्रदेशाऽऽत्मकक्षेत्रविभागरूपास्ता-
सामवगाहनानां वर्गणाः-समुदायास्ता असङ्ख्येया अतिक्रम्य

भेदमापद्यन्ते, विशरारुभावं बिभ्रति इत्यर्थः । विशरारुभाव बिभ्राणानि च संख्येयानि योजनानि गत्वा विध्वंसमागच्छन्ति, शब्दपरिणामं विजहतीत्यर्थः । उक्तं च—" गंतुमसंखेज्जाओ, अवगाहणवग्गणा अभिन्नाइ । भिज्जंति धंसमेंति य, संखिज्जे जोयणे गंतु ॥ १ ॥ " भिन्नान्यपि निसृजतीत्युक्तम् ।

( १४ ) तत्र कतिविधः शब्दद्रव्याणां भेद इति पृच्छति —

एतेसि णं भंते ! दव्वाणं कतिविहे भेए पण्णत्ते ?। गोयमा! पञ्चविधे भेदे पण्णत्ते । तं जहा-खंडाभेदे,पयरभेदे,चुण्णियाभेदे,अणुतडियाभेदे,उक्करियाभेदे । से किं तं खंडाभेदे ?। खंडाभेदे जण्णं अयखंडाण वा तउखंडाण वा तंबखंडाण वा सीसखंडाण वा रययखंडाण वा जातरूवखंडाण वा खंडएण भेदे भवति, से तं खंडाभेदे ।१। से किं तं पयराभेदे ?। पयराभेदे जण्णं वंसाण वा वेत्ताण वा नलाण वा कदलीथंभाण वा अब्भपडलाण वा पयरेणं भेदे भवति,से तं पयराभेदे।२। से किं तं चुण्णियाभेदे ?। चुण्णियाभेदे जण्णं तिलचुण्णाण वा मुग्गचुण्णाण वा मासचुण्णाण वा पिप्पलीचुण्णाण वा मरियचुण्णाण वा सिंगवेरचुण्णाण वा चुण्णियाए भेदे भवति से तं चुण्णियाभेदे ।३। से किं तं अणुतडियाभेदे ?। अणुतडियाभेदे जण्णं अगडाण वा तडागाण वा दहाण वा नदीण वा वावीण वा पुक्खरिणीण वा दीहियाण वा गुंजालियाण वा सराण वा सरसराण वा सरपंतियाण वा सरसरपंतियाण वा अणुतडियाभेदे भवति,से तं अणुतडियाभेदे ।४। से किं तं उक्करियाभेदे ?। उक्करियाभेदे जण्णं मूसाण वा मंडूसाण वा तिलसिंगाण वा मुग्गसिंगाण वा माससिंगाण वा एरंडबीयाण वा फुडिता उक्करियाभेदे भवति, से तं उक्करियाभेदे ।५। एएसि णं भंते ! दव्वाणं खंडाभेएणं पयराभेदेणं चुण्णियाभेदेणं अणुतडियाभेदेणं उक्करियाभेदेण य भिज्जमाणाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवाइं दव्वाइं उक्करियाभेदेणं भिज्जमाणाइं अणुतडियाभेएणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, चुण्णियाभेदेणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, पयराभेदेणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, खंडाभेदेण भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं ॥ ( सूत्रम्-१७० ) नेरइए णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति, अठियाइं गेण्हति ? । गोयमा ! एवं चेव, जहा जीवे वत्तव्वया भणिया, तहा नेरइयस्स वि०जाव अप्पाबहुयं । एवं एगिंदियवज्जो दंडओ ०जाव वेमाणिया ॥ जीवा णं भंते ! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गेण्हंति,ताइं किं ठियाइं गेण्हंति,अठियाइं गेण्हंति ?। गोयमा ! एवं चेव पुहुत्तेण वि णेतव्वं० जाव वेमाणिया । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सच्चभासत्ताए गेण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति अठियाइं गेण्हति ?। गोयमा ! जहा ओहियदंडओ तहा एसोऽवि, णवरं विगलिंदिया ण पुच्छिज्जंति, एवं मोसाभासाए वि,सच्चामोसाभासाए वि, असच्चामोसाभासाए वि एवं चेव, नवरं असच्चामोसाभासाए विगलिंदिया पुच्छिज्जंति इमेणं अभिलावेणं–विगलिंदिए णं भंते ! जाइं दव्वाइं असच्चामोसाभासाए गिण्हइ,ताइं किं ठियाइं गेण्हइ,अठियाइं गेण्हइ ?। गोयमा ! जहा ओहियदंडओ,एवं एए एगत्तपुहुत्तेणं दस दंडगा भाणियव्वा । [सूत्रम्-१७१]। जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सच्चभासत्ताए गिण्हति,ताइं किं सच्चभासत्ताए निसिरइ, मोसभासत्ताए निसिरइ सच्चामोसभासत्ताए निसिरति,असच्चामोसभासत्ताए निसिरइ?। गोयमा ! सच्चभासत्ताए निसिरइ, नो मोसभासत्ताए निसिरति,नो सच्चामोसभासत्ताए निसिरति,नो असच्चामोसभासत्ताए निसिरइ। एवं एगिंदियविगलिंदियवज्जो दंडओ ०जाव वेमाणिया, एवं पुहुत्तेण वि । जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं मोसभासत्ताए गिण्हति , ताइं किं सच्चभासत्ताए निसिरति , मोसभासत्ताए सच्चामोसभासत्ताए असच्चामोसभासत्ताए निसिरइ ? , गोयमा ! नो सच्चभासत्ताए निसिरति,मोसभासत्ताए निसिरति,णो सच्चामोसभासत्ताए निसिरति, णो असच्चामोसभासत्ताए निसिरति । एवं सच्चामोसभासत्ताए वि, असच्चामोसभासत्ताए वि एवं चेव, नवरं असच्चामोसभासत्ताए विगलिंदिया तहेव पुच्छिज्जंति, जाए चेव गिण्हति ताए चेव निसिरति,एवं एते एगत्तपुहुत्तिया अट्ठ दंडगा भाणियव्वा॥ ( सूत्रम्-१७२ ) ॥ कतिविहे णं भंते ! वयणे पण्णत्ते ?, गोयमा ! सोलसविहे वयणे पण्णत्ते । तं जहा-एगवयणे दुवयणे बहुवयणे इत्थिवयणे पुमवयणे णपुंसगवयणे अज्झत्थवयणे उवणीयवयणे अवणीयवयणे उवणीयावणीयवयणे अवणीयोवणीयवयणे अतीतवयणे पडुप्पन्नवयणे अणागयवयणे पच्चक्खवयणे परोक्खवयणे । इच्चेयं भंते ! एगवयणं वा ०जाव परोक्खवयणं वा वदमाणे पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ?। हंता ! गोयमा ! इच्चेयं एगवयणं वा ०जाव परोक्खवयणं वा वदमाणे पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसा ॥ ( सूत्रम्-१७३ ) ॥

'एतेसि णं भंते ! दव्वाणं' इत्यादि, तत्र खण्डभेदो लोहखण्डाऽऽदिवत् , प्रतरभेदोऽभ्रपटलभूर्यपत्राऽऽदिवत् , चूर्णिकाभेदः तिलपिष्टवत्, अनुतटिकाभेद इक्षुत्वगादिवत्, उत्कटि-

काभेदः स्तुत्यावर्षवत् । एतानेव भेदान् व्याख्यातुकामः प्रश्न निर्वचनसूत्राण्याह—' से किं तं खंडभेदे ? ' इत्यादि पाठसिद्धं, नवरमनुतटिकाभेदे अवटाः-कूपाः, तडागानि-प्रतीतानि, ह्रदा अपि प्रतीताः, नद्यो—गिरिनद्यादयः, वाप्यः—चतुरस्राऽऽकाराः, ता एव वृत्ताऽऽकाराः पुष्करिण्यः दीर्घिकाः-ऋज्व्यो नद्यः वक्रा नद्यो गुञ्जालिकाः बहूनि केवलकेवलानि पुष्पप्रकरवत् विप्रकीर्णानि सरांसि तान्येव एकैकपङ्क्त्या व्यवस्थितानि सरःपङ्क्तयः येषु सरस्सु पङ्क्त्या व्यवस्थितेषु कूपोदकं प्रणालिकया सञ्चरति सा सरःसरःपङ्क्तिः, अप्रतीता भेदा लोकतः प्रत्येतव्याः, अल्पबहुत्वं सूत्रप्रामाण्यात् तथेति प्रतिपत्तव्यं, युक्तेरविषयत्वात्, शेषं सूत्रं सर्वमपि पाठसिद्धं, ' जाव कतिविहे णं भंते ! वयणे पण्णत्ते ' इति । तत्रैकवचनं पुरुष इति, द्विवचनं पुरुषाविति, बहुवचनं पुरुषा इति, स्त्रीवचनमियं स्त्री, पुरुषवचनमयं पुमान्, नपुंसकवचनमिदं कुण्डम्, अध्यात्मवचनं यदन्यच्चेतसि निधाय विप्रतारकबुद्ध्याऽन्यद् विभणिषुरपि सहसा यच्चेतसि तदेव ब्रूते । उपनीतवचनं—प्रशंसावचनं यथा रूपवतीयं स्त्री, अपनीतवचनं—निन्दावचनं यथेयं कुरूपा स्त्री, उपनीतापनीतवचनं--यत्प्रशस्य निन्दति, यथा रूपवतीयं स्त्री परं दुःशीला, अपनीतोपनीतवचनं—यन्निन्दित्वा प्रशंसति यथेयं कुरूपा परं सुशीलेति, अतीतवचनमकरोदित्यादि, प्रत्युत्पन्नवचनं-वर्त्तमानकालवचनं करोतीत्यादि, अनागतकालवचन-करिष्यतीत्यादि, प्रत्यक्षवचनम्--अयमित्यादि, परोक्षवचनं-स इत्यादि । एतानि च षोडशापि वचनानि यथावस्थितवस्तुविषयाणि, न काल्पनिकानि ततो यदैतानि सम्यगुपयुज्य वदति तदा सा भाषा प्रज्ञापनी द्रष्टव्या । तथा चाऽऽह-' इच्चेयं भंते ! एगवयणं दुवयणं ' इत्यादि भावितार्थम्, अक्षरार्थः प्रतीत एव ।

सम्प्रति प्रागुक्तमेव सूत्रं सूत्रान्तरसम्बन्धनार्थं भूयः पठति-

कति णं भंते ! भासज्जाया पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि भासज्जाया पण्णत्ता । तं जहा--सच्चमेगं भासज्जायं बितियं मोसं भासज्जातं तइयं सच्चामोसं भासज्जातं चउत्थं असच्चामोसं भासज्जातं, इच्चेइयाइं भंते ! चत्तारि भासज्जायाइ भासमाणे किं आराहते विराहते ? । गोयमा ! इच्चेइयाइं चत्तारि भासज्जायाइं आउत्तं भासमाणे आराहते, नो विराहते, तेण परं असंजतअविरयअपडिहतअपच्चक्खायपावकम्मे सच्चं भासं भासंतो मोसं वा सच्चामोसं वा असच्चामोसं वा भासं भासमाणे नो आराहते, विराहते । ( सूत्रम्-१७४) ।

' कइ णं भंते ! भासज्जाया पण्णत्ता ' इत्यादि सुगमं, नवरं 'आउत्त भासमाणे' इति सम्यक् प्रवचनमालिन्याऽऽदिरक्षणपरतया भाषमाणः । तथाहि--प्रवचनोड्डाहरक्षणाऽऽदिनिमित्तं गुरुलाघवपर्यालोचनेन मृषाऽपि भाषमाणः साधुराराधक एवेति । 'तेण परं ' इत्यादि, तत आयुक्त भाषमाणात्परोऽसंयतो-मनोवाक्कायसंयमविकलोऽविरतो विरमति स्म विरतो न विरतोऽविरत. सावद्यव्यापारादनिवृत्तमना इत्यर्थः, अत एव न प्रतिहतं—मिथ्यादुष्कृतदानप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना न नाशितमतीतं तथा न प्रत्याख्यातं भूयोऽकरणतया निषिद्धमनागतं पापकर्म येनासावप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्मा, शेषं पाठसिद्धम् । प्रज्ञा० ११ पद ।

गओ वा ठिओ वा केणइ पुट्ठो निउणं महुरं थोवं कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं निद्दोसं सयलजणमणाणंदकारयं इहपरलोगसुहावहं वयणं ण भासेज्जा, अवंदे जइ णं नाभिग्गहिओ सोलसदोसविरहियं पि स सावज्जं भासेज्जा, उवट्ठावणं बहु भासे उवट्ठावणं कसाए हिंसिज्जा, अवंदे कसाएहिं समुइत्तेहिं भुंजे रयणिं वा परिवसेज्जा मासं ० जाव मुणव्वए, अवंदे य उवट्ठावणं च परस्स वा कस्सइ कसाएसु मुइरेज्जा, अकसायस्स वा कसायबुद्धिं करेज्जा, मम्मं वा किंचि वालेज्जा, एतेसु गच्छबज्झो फरुसं भासे दुवालसं कक्कसं भासे दुवालसं खरफरुसकक्कसनिट्ठुरमणिट्ठुरं भासे उवट्ठावणं दुव्वोलं देइ खामणं कलिकिंचं कलहं झंझडमरं वा करेज्जा गच्छबज्झो, मगारं जगारं वा वोले खमणं वीयवाराए अवंदे वहंते संघबज्झो, हणंतो संघबज्झो । एवं खणंतो भंजंतो हसंतो लडितो जलितो जालावंतो पयंतो पेयावंतो, एतेसु सव्वेसु पत्तेगं संघबज्झो ॥ महा० १ चू० ।

(१५) शिष्यस्य वाग्विनयमाह—

मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणिं वए ।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ॥ २४ ॥

मृषेत्यसत्यं भूतनिह्नवाऽऽदि परिहरेत् सर्वप्रकारमपि त्यजेत्, भिक्षुर्न च नैव, अवधारणीं गम्यमानत्वाद्वाचं गमिष्याम एव वक्ष्याम एवेत्येवमादि अवधारणाऽऽत्मिकां वदेद्भाषेत, किं बहुना ?, भाषादोषमशेषमपि वाग्दूषणं सावद्यानुमोदनाऽऽदिकं परिहरेत्, न च कारणोच्छेदं विना-कार्योच्छेद इत्याह—मायां, चशब्दात् क्रोधाऽऽदींश्च तद्धेतून् वर्जयेत् सदा सर्वकालम्, इति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

किञ्च—

न लविज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा ॥ २५ ॥

न लपेन्न वदेत्, पृष्ट इति पर्यनुयुक्तः, सावद्यं सपापं, न निरर्थम् अर्थविरहितं दशदाडिमाऽऽदि, एष वन्ध्यासुतो यातीत्यादि वा, न नैव, म्रियते अनेन राजाऽऽदिविरुद्धेनोच्चारितेनेति मर्म तद्गच्छति वाचकतयेति मर्मगं, वचनमिति सर्वत्र शेषः । अतिसंक्लेशोत्पादकत्वात्तस्याः । अत्राऽऽह च (दश०७अ०)

" तहेव काणं काण त्ति, पडगं पंडग त्ति वा ।
वाहियं वावि रोगि त्ति, तेण चोरे त्ति नो वए ॥ १२ ॥
एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मई ।
आयारभावदोसण्णू, न तं भासेज्ज पण्णव ॥ १३ ॥ "

आत्मार्थमात्मप्रयोजनं, परार्थं वा परप्रयोजनम् ( उभयस्स त्ति) आत्मनः परस्य च,प्रयोजनमिति गम्यते । ( अंतरेण वं त्ति ) विना वा प्रयोजनमित्युपस्कारः,भाषादोषं परिहरेदित्यनेनैव गते पृथग्विषयत्वादस्याः पौनरुक्त्यं, यद्वा—भाषादोषो जकारमकाराऽऽदिरेव तत्र गृह्यते इति न दोषः, सूत्रद्वयेन चानेन वागुप्त्यभिधानतश्चारित्रविनय उक्त इति सूत्रार्थः । उत्त० पाई० १ अ० । ( अन्यैर्भाषमाणोऽपि न कटुका भाषा वदेदिति 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २७०४ पृष्ठे गतम् )

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं ।

दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ॥ १ ॥

चतसृणां खलु भाषाणां, खलुशब्दोऽवधारणे, चतसृणामेव, नातोऽन्या भाषा विद्यत इति,भाषाणां सत्याऽऽदीनां परिसंख्याय सर्वैः प्रकारैः ज्ञात्वा,स्वरूपमिति वाक्यशेषः । प्रज्ञावान् प्राज्ञो बुद्धिमान् साधुः, किमित्याह-द्वाभ्यां सत्याऽसत्यामृषाभ्यां,तुरवधारणे,द्वाभ्यामेवाभ्यां,विनयं शुद्धप्रयोगं, विनीयतेऽनेन कर्मेति कृत्वा, शिक्षेत् जानीयात्, द्वे असत्यासत्यामृषे न भाषेत, सर्वशः सर्वैः प्रकारैरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

विनयमेवाऽऽह—

जा य सच्चा अवत्तव्वा,सच्चामोसा य जा मुसा ।

जा य बुद्धेहिँ णाइन्ना, न तं भासेज्ज पन्नवं ॥ २ ॥

या च सत्या पदार्थतत्त्वमङ्गीकृत्य अवक्तव्या अनुच्चारणीया सावद्यत्वेन, अमुत्र स्थिता पल्लीति कौशिकभाषावत्, सत्यामृषा वा यथा-दश दारका जाता इत्येवंलक्षणा,मृषा च संपूर्णैव, चशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः,या च बुद्धैस्तीर्थकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा अविधिपूर्वकं स्वराऽऽदिना प्रकारेण,नैनां भाषेत नेत्थंभूतां वाचमुदाहरेत्, प्रज्ञावान् बुद्धिमान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ यथाभूता अवाच्या भाषा तथाभूतोक्ता ।

साम्प्रतं यथाभूता वाच्या तथाभूतामाह—

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं ।

समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३ ॥

असत्यामृषाम् उक्तलक्षणा, सत्यां चोक्तलक्षणामेव, इयं च सावद्याऽपि कर्कशाऽपि भवत्यत आह-असावद्यामपापाम्, अकर्कशामतिशयोक्त्या ह्यमत्सरपूर्वां संप्रेक्ष्य स्वपरोपकारिणीति बुद्ध्याऽऽलोच्य असंदिग्धां स्पष्टामस्तेपेण प्रतिपत्तिहेतुं गिरं वाचं भाषेत् ब्रूयात्, प्रज्ञावान् बुद्धिमान् साधुरिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

साम्प्रतं सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह—

एअं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं ।

स भासं सच्चमोसं पि, तं पि धीरो विवज्जए ॥ ४ ॥

'एअं च त्ति' सूत्रम् । 'एतं चार्थम्' अनन्तरप्रतिषिद्धं सावद्यकर्कशविषयम् 'अन्य वा' एवंजातीयं, प्राकृतशैल्या 'यस्तु नामयति शाश्वत' य एव कश्चिदर्थो नामयति—अननुगुणं करोति शाश्वतं—मोक्षं तमाश्रित्य 'सः' साधुः पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषां 'सत्यामृषामपि' पूर्वोक्ताम्, अपिशब्दात्सत्याऽपि या तथाभूता तामपि 'धीरो' बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्' न ब्रूयादिति भावः ।

आह—सत्यामृषाभाषाया ओघत एव प्रतिषेधात्सत्याविषसत्यायाश्च सावद्यत्वेन गतार्थं सूत्रमिति । उच्यते-मोक्षपीडाकरं सूक्ष्ममप्यर्थमङ्गीकृत्याप्यतरभाषाभाषणमपि न कर्त्तव्यमित्यतिशयप्रदर्शनपरमेतददुष्टमेवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

साम्प्रतं मृषाभाषासंरक्षणार्थमाह—

वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।

तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए ? ॥ ५ ॥

तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ ।

अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ॥ ६ ॥

एवमाइ उ जा भासा, एस कालम्मि संकिआ ।

संपयाइअमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए ॥ ७ ॥

'वितहं पि त्ति' सूत्रं, 'वितथम्' अतथ्यं 'तथामूर्त्यपि' कथञ्चित्तत्स्वरूपमपि वस्तु, अपिशब्दस्य व्यवहितः सबन्धः-एतदुक्तं भवति—पुरुषनेपथ्यस्थितवनिताऽऽद्यप्यङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः, इयं स्त्री आगच्छति गायति वेत्यादिरूपा, 'तस्माद्' भाषणादेवंभूतात्पूर्वमेवासौ वक्ता भाषणाभिसंधिकाले 'स्पृष्टः पापेन' बद्धः कर्मणा, किं पुनर्यो मृषा वक्ति भूतोपघातिनीं वाचं ?, स सुतरा बद्ध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥ 'तम्ह त्ति' सूत्रं, यस्माद्वितथं तथामूर्त्यपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बद्ध्यते, तस्माद्गमिष्याम एव श्व इतोऽन्यत्र, वक्ष्याम एव अस्तत्तदेवमनिमित्तमिति, अमुकं वा नः कार्यं वसत्यादि भविष्यत्येव, अहं चेदं लोचाऽऽदि करिष्यामि नियमेन, एष वा साधुरस्माक विश्रामणाऽऽदि करिष्यत्येवेति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ 'एवमाइ त्ति' सूत्रम्, एवमाद्या तु या भाषा आदिशब्दात् पुस्तकं ते दास्याम्येवेत्येवमादिपरिग्रहः, 'एष्यत्काले' भविष्यत्कालविषया, बहुविघ्नत्वात् मुहूर्ताऽऽदीनां 'शङ्किता' किमिदमित्थमेव भविष्यत्युतान्यथेत्यनिश्चितगोचरा, तथा साम्प्रतातीतार्थयोरपि या शङ्किता, साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एव पुरुष इति, अतीतार्थेऽप्येवमेव बलीवर्दत्वस्याद्यनिश्चये तदाऽत्र गौरस्माभिर्दृष्ट इति । याऽप्येवंभूता भाषा शङ्किता तामपि धीरो विवर्जयेत्, तथाभावनिश्चयाभावेन व्यभिचारतो मृषात्वोपपत्तेः, विघ्नतोऽगमनाऽऽदौ गृहस्थमध्ये लाघवाऽऽदिप्रसङ्गात्, सर्वमेव सावसरं वक्तव्यम्, इति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

किंच-

अईअम्मि अ कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए ।

जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअं ति नो वए ॥ ८ ॥

अईअम्मि अ कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए ।

जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअं ति नो वए ॥ ९ ॥

अईयम्मि अ कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए ।

निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे ॥ १० ॥

'अईयम्मि त्ति' सूत्रम्, अतीते च काले तथा 'प्रत्युत्पन्ने' वर्तमानेऽनागते च यमर्थं तु न जानीयात् सम्यगेवमयमिति, तमङ्गीकृत्य एवमेतदिति न ब्रूयादिति सूत्रार्थः । अयमज्ञातभाषणप्रतिषेधः ॥ ८ ॥ तथा-'अईयम्मि त्ति' सूत्रम्, अतीते

च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते यत्रार्थे शङ्का भवेदिति तमप्य-र्थमाश्रित्यैवमेतदिति न ब्रूयादिति सूत्रार्थः, अयमपि विशे-षतः शङ्कितभाषणप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ तथा—' अईयम्मि त्ति ' सूत्रम्, अतीते च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते निःशङ्कितं भवेत्, यदर्थजातं तुशब्दादनवद्यं, तदेवमेतदिति निर्दिशेत् । अन्ये पठन्ति—' स्तोकस्तोकमिति, ' तत्र परिमितया वाचा निर्दिशेदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥ दश० ७ अ० २ उ० । ( परुषवचनविषयकम्—' तहेव फरुसा भासा ' ( ११ ) इत्यादिसूत्रम्-' फरुसवयण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११४३ पृष्ठे गतम् )

( १६ ) अवाच्याभाषामाह—

तहेव काणं काण त्ति, पंडगं पंडग त्ति वा ।
वाहिअं वावि रोगि त्ति, तेणं चोर त्ति नो वए ॥१२॥
एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ ।
आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥ १३ ॥
तहेव होले गोलि त्ति, साणे वा वसुलि त्ति अ ।
दमए दुहए वावि, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ १४ ॥
अज्जिए पज्जिए वावि, अम्मो माउसिअ त्ति अ ।
पिउस्सिए भायणिज्ज त्ति, धूए णत्तुणिअ त्ति अ ॥१५॥
हले हलि त्ति अन्नि त्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुलि त्ति, इत्थिअं नेवमालवे ॥ १६ ॥
नामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ १७ ॥
अज्जए पज्जए वावि, बप्पो चुल्लपिउ त्ति अ ।
माउलो भाइणिज्ज त्ति, पुत्ते णत्तुणिअ त्ति अ ॥ १८ ॥
हे भो हलि त्ति अन्नि त्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ ।
होल गोल वसुलि त्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥ १९ ॥
नामधिज्जेण णं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २० ॥

' तहेव त्ति ' सूत्रं, तथैवेति पूर्ववत् । ' काणं त्ति ' भि-न्नाक्षं काण इति, तथा ' पण्डकं ' नपुंसकं पण्डक इति वा, व्याधिमन्तं वापि रोगीति, स्तेनं चौर इति नो वदेत्, अ-प्रीतिलज्जानाशस्थिररोगवृद्धिविराधनाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति गाथाऽर्थः ॥१२॥ ' एएण त्ति ' सूत्रम्, एतेनान्येन वाऽर्थेनो-क्तेन सता परोयेनोपहन्यते, येन केनचित्प्रकारेण । आचारभा वदोषज्ञो यतिर्न तं भाषेत प्रज्ञावांस्तथैमिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ ' तहेव त्ति ' सूत्रं, तथैवेति पूर्ववत्, होलो गोल इति श्वा वा वसुल इति वा द्रमको वा दुर्भगश्चापि नैवं भाषेत प्रज्ञावान् । इह होलाऽऽदिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्याऽऽदिवाचका अतस्तत्प्रतिषेध इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥ एवं स्त्रीपुरुषयोः सामान्येन भाषणप्रतिषेधं कृत्वाऽधुना स्त्रियमधिकृत्याऽऽह-' अज्जिए त्ति ' सूत्रम्, आर्जिके प्रार्जिके वाऽपि अम्ब, मातृष्वसः इति च, पितृष्वसः, भागिनेयीति, दुहितः, नप्त्रीति च । एता-



न्यामन्त्रणवचनानि वर्तन्ते, तत्र मातुः पितुर्वा माताऽऽर्यिका, तस्या अपि याऽन्या माता सा प्रार्यिका, शेषाभिधानानि प्रकटार्थान्येवेति सूत्रार्थः ॥१५॥ किं च-' हले हले त्ति ' सूत्रम्, हले हले इत्येवमन्ने इत्येवं तथा भट्ट, स्वामिनि, गोमिनि । तथा होले, गोले, वसुले इति, एतान्यपि नानादेशापेक्षया आमन्त्रणवचनानि गौरवकुत्साऽऽदिगर्भाणि वर्तन्ते, यतश्चैव-मतः स्त्रियं नैवं हलाऽऽदिशब्दैरालपेदिति, दोषाश्चैवमालपने कुर्वतः सङ्गगर्हातत्प्रद्वेषप्रवचनलाघवाऽऽदय इति सूत्रार्थः१६। यदि नैवमालपेत्, कथं तर्ह्यालपेदित्याह-' नामधिज्जेणं त्ति ' सूत्रं, ' नामधेयेनेति ' नाम्नैव एनां ब्रूयात्स्त्रियं क्वचित्का-रणे यथा देवदत्ते ! इत्येवमादि । नामास्मरणाऽऽदौ गोत्रेण वा पुनर्ब्रूयात् स्त्रियं यथा काश्यपगोत्रे ! इत्येवमादि, ' यथार्हं ' यथायथं वयोदेशैश्वर्याऽऽद्यपेक्षया ' अभिगृह्य ' गुणदोषानालो-च्य ' आलपेल्लपेद्वा ' ईषल्लकृद्वा लपनमालपनमतोऽन्यथा ल-पनं, तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यदिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघात इति सूत्रार्थः ॥१७॥ उक्तः स्त्रियमधिकृत्याऽऽलपनप्रतिषेधो विधि-श्च । साम्प्रतं पुरुषमाश्रित्याऽऽह-' अज्जए त्ति ' सूत्रम् । " आर्यकः प्रार्यकश्चापि, बप्पश्चुल्लपितेति च । तथा मातुल भागिनेयेति पुत्र नप्त इति च, इह भावार्थः स्त्रियामिव द्रष्टव्यः, नवरं चुल्लबप्पः पितृव्योऽभिधीयत इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ किं च-' हे भो त्ति ' सूत्रं, हे भो हले ति । ' अन्ने त्ति ' भर्तः ! स्वामिन् गोमि-न् होल गोल वसुल इति पुरुषं नैवमालपेदिति । अत्रापि भा-वार्थः पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥ यदि नैवमालपेत्, कथं तर्ह्यालपेदित्याह-' नामधिज्जेण त्ति ' सूत्रं, व्याख्या पूर्ववदे-व, नवरं पुरुषाभिलापेन योजना कार्येति ॥ २० ॥

पंचिंदिआण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणिज्जा, ताव जाइ त्ति आलवे ॥२१॥
तहेव माणुसं पसुं, पक्खिं वावि सरीसवं ।
थूले पमेइले वज्झे, पायमि त्ति अ नो वए ॥ २२ ॥
परिवूढ त्ति णं बूआ, बूआ उवचिअ त्ति अ ।
संजाए पीणिए वावि, महकाय त्ति आलवे ॥ २३ ॥
तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहग त्ति अ ।
वाहिमा रहजोगि त्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २४ ॥
जुवं गवि त्ति णं बूआ, धेणुं रसदय त्ति अ ।
रहस्से महल्लए वावि, वए संवहणि त्ति अ ॥ २५ ॥

उक्तः पुरुषमप्याश्रित्याऽऽलपनप्रतिषेधो विधिश्च । अधुना प-ञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतं वाग्विधिमाह-' पंचिंदिआण त्ति ' सूत्रं, ' पञ्चे-न्द्रियाणां ' गवादीनां प्राणिनां ' क्वचित् ' विप्रकृष्टदेशावस्थि-तानामेषा स्त्री गौरयं पुमान् बलीवर्दः, यावदेतद्विशेषेण न वि-जानीयात्, तावन्मार्गप्रश्नाऽऽदौ प्रयोजने उत्पन्ने सति जातिमि-ति जातिमाश्रित्याऽऽलपेत्, अस्माद्गोरूपजातात्कियद्दूरेणेत्ये-वमादि, अन्यथा लिङ्गव्यत्ययसंभवान्मृषावादाऽऽपत्तिः, गोपा-लाऽऽदीनामपि विपरिणाम इत्येवमादयो दोषाः, आक्षेपपरि-हारौ तु वृद्धविवरणादवसेयौ । तच्चेदम्-" जइ लिंगवच्चए

दोसो ता कीस पुढवादि नपुंसगत्ते वि पुरिसित्थिनिद्देसो पयट्टइ , जहा पत्थरो मट्टिआ करओ उस्सा मुम्मुरो जाला वाओ वाउली अंबओ अंबिलिआ किमिओ ज-लूया मक्कोडओ कीडिआ भमरओ मच्छिआ इच्चेवमादि ? । आयरिओ आह—जणवयसच्चेण ववहारसच्चेण य एवं पयट्टइ त्ति, ण एत्थ दोसो, पंचिंदिएसु पुण ण पयमंगीकीरइ, गोवालाऽऽईण वि ण सुहिट्ठधम्म त्ति विपरिणामसंभवाओ , पुच्छिअसामायारिकहणे वा गुणसंभवादित्ति-" । इति सूत्राऽर्थः ॥ २१ ॥ किंच—' तहेव त्ति ' सूत्रं , ' तथैव ' यथोक्तं प्राक् ' मनुष्यम् ' आर्याऽऽदिकम् ' पशुम् ' अजाऽऽदिकम् 'पक्खिणं वावि' हंसाऽऽदिकम् 'सरीसृपम्' अजगराऽऽदिकं 'स्थूलः' अत्यन्तमांसलोऽयं मनुष्याऽऽदिः,तथा ' प्रमेदुरः ' प्रकर्षेण मेदःसम्पन्नः, तथा ' वध्यो ' व्यापादनीय पाक्य इति च नो वदेत् । ' पाक्यः ' पाकप्रायोग्यः , कालप्राप्त इत्यन्ये, ' नो वदेत्, ' न ब्रूयात् , तदप्रीतितद्वध्यापत्त्याशङ्काऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति सूत्राऽर्थः ॥ २२ ॥ कारणे पुनरुत्पन्न एवं वदेदित्याह—' परिवूढ त्ति ' सूत्रं , परिवृढ इत्येनं—स्थूलं मनुष्याऽऽदिं ब्रूयात् , तथा ब्रूयादुपचित इति च, संयातः प्रीणितश्चापि महाकाय इति चाऽऽलपेत्, परिवृढं, पत्तोपचितं परिहरेदित्यादाविति सूत्राऽर्थः ॥ २३ ॥ किं च—' तहेव त्ति ' सूत्रं , तथैव गावो ' दोह्या ' दोहार्हा दोहसमय आसां वर्त्तत इत्यर्थः, ' दम्या ' दमनीयाः, गोरथका इति च, गोरथकाः—कल्होडाः , तथा वाह्याः सामान्येन ये केचित्तानाश्रित्य रथयोग्याश्चैत इति नैवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुः , अधिकरणलाघवाऽऽदिदोषादिति ॥ २४ ॥ प्रयोजने तु कचिदेवं भाषेतेत्याह—'जुवं ति' सूत्रं, युवा गौरिति—दम्यो गौर्युवेति ब्रूयात् , धेनुं गा रसदेति ब्रूयात् , रसदा गौरिति, तथा ह्रस्व महल्लकं वापि गोरथकं ह्रस्वं वाह्यं महल्लकं वदेत् , संवहनमिति रथयोग्यं संवहनं वदेत्,क्वचिद्दिगुपलक्षणाऽऽदौ प्रयोजन इति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ ।
रुक्खा महल्ल पेहाए,नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ २६ ॥
अलं पासायखंभाणं, तोरणाण गिहाण अ ।
फलिहऽग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥ २७ ॥
पीढए चंगबेरे [रा] अ, नंगले मइयं सिआ ।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अलं सिआ ॥ २८ ॥
आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥२९॥
तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ ।
रुक्खा महल्ल पेहाए,एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३० ॥
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा, वए दरिसणि त्ति अ ॥ ३१ ॥
तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइँ नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं,वेहिमाइ त्ति नो वए ॥ ३२ ॥
असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमाफला ।
वइज्ज बहुसंभूआ, भूअरूव त्ति वा पुणो ॥ ३३ ॥
तहेवोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ ।
लाइमा भज्जिमाउ त्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥ ३४ ॥
रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढा वि अ ।
गब्भिआओ पसूआओ, संसाराउ त्ति आलवे ॥ ३५ ॥

' तहेव त्ति ' सूत्रं, तथैवेति पूर्ववत्, गत्वा ' उद्यानं ' जनक्रीडास्थानं तथा पर्वतान् प्रतीतान् गत्वा, तथा वनानि च, तत्र वृक्षान् ' महतो ' महाप्रमाणान् ' प्रेक्ष्य ' दृष्ट्वा नैवं भाषेत ' प्रज्ञावान् ' साधुरिति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥ किमित्याह-' अलं ति ' सूत्रम्, ' अलं ' पर्याप्ता एते वृक्षाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्रैकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तम्भ एव, तयोरलम् , तथा ' तोरणानां ' नगरतोरणाऽऽदीनां 'गृहाणां च' कुटीरकाऽऽदीनाम् , अलमिति योगः, तथा ' परिघाऽर्गलानावां वा'तत्र नगरद्वारे परिघः, गोपुरकपाटाऽऽदिष्वर्गला, नौः प्रतीतेति , आसामलमेते वृक्षाः, तथा उदकद्रोणीनाम् अलम् , उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥ तथा ' पीढए त्ति ' सूत्रं , पीठकायालमेते वृक्षाः, पीठकं प्रतीतं तदर्थम्, ' सुपां सुपो भवन्तीति ' चतुर्थ्यर्थे प्रथमा, एवं सर्वत्र योजनीयं,तथा 'चङ्गबेरायेति' चङ्गबेरा-काष्ठपात्री, तथा 'नंगले त्ति ' लाङ्गलं-हलं, तथा अलं मयिकाय स्यात् , मयिकम्-उप्तबीजाऽऽच्छादनं, तथा यन्त्रयष्टये वा, यन्त्रयष्टिः प्रतीता, तथा नाभये वा , नाभि. शकटरथाङ्गं , गण्डिकायै वाऽलं स्युरेते वृक्षा इति , नैव भाषेत प्रज्ञावानिति वर्त्तते , गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी ( अहिगरणी ) स्थापनी भवतीति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ तथा ' आसणं ति ' सूत्रम् , ' आसनम् ' आसन्दकाऽऽदि 'शयनं' पर्यङ्काऽऽदि 'यानं' युग्याऽऽदि भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये-वसतावन्यद्-द्वारपात्राऽऽद्येतेषु वृक्षेष्विति ' भूतोपघातिनीं ' सत्त्वपीडाकारिणीं भाषां नैव भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति सूत्रार्थः । दोषाश्चात्र तद्वनस्वामी व्यन्तराऽऽदिः कुप्येत् , सलक्षणो वा वृक्ष इत्यभिगृह्णीयात् , अनियमितभाषिणो लाघवं चेत्येवमादयो योज्याः ॥ २९ ॥ अत्रैव विधिमाह—' तहेव त्ति ' सूत्रं , वस्तुतः पूर्ववदेव , नवरमेव भाषेत ॥ ३० ॥ ' जाइमंत त्ति ' सूत्रं, ' जातिमन्त ' उत्तमजातयोऽशोकाऽऽदयः अनेकप्रकाराः 'एते' उपलभ्यमानस्वरूपा वृक्षा ' दीर्घवृत्ता महालयाः ' दीर्घा नालिकेरीप्रभृतयः वृत्ता नन्दिवृक्षादय महालया वटादयः ' प्रजातशाखा ' उत्पन्नडाला ' विटपिनः ' प्रशाखवन्तो वदेद्दर्शनीया । इति च । एतदपि प्रयोजन उत्पन्ने विश्रमणतदासन्नमार्गकथनादौ वदेन्नान्यदेति सूत्रार्थः ॥ ३१ ॥ ' तहा फलाणि ' त्ति सूत्र, तथा ' फलानि ' आम्रफलादीनि ' पक्कानि ' पाकप्राप्तानि तथा, पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनीति गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति नो वदेत् । तथा ' वेलोचितानि ' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि , अतः परं कालं न विषहन्तीत्यर्थः , ' टालानि ' अबद्धास्थीनि कोमलानीति तदुक्तं भवति , तथा ' द्वैधिकानी ' ति पेशीसम्पादनेन द्वै-

धीभावकरणयोग्यानीति नो वदेत्। दोषाः पुनरत्रात ऊर्ध्वं नाश एवामीषां न शोभनानि वा प्रकारान्तरभोगेनेत्यवधार्य गृहिप्रवृत्तावधिकरणादय इति सूत्राऽर्थः ॥ ३२ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवं वदेदित्याह—'असंथड' त्ति सूत्रम्, असमर्था 'एते' आम्राः 'अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, आम्रग्रहणं प्रधानवृक्षोपलक्षणम्, एतेन पक्वार्थ उक्तः, तथा 'बहुनिर्वर्तितफलाः' बहूनि निर्वर्तितानि—बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः, वदेद् 'बहुसम्भूताः, बहूनि सम्भूतानि—पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचिता (थ) र्थ उक्तः, (दश० टी०) तथा भूतरूपा इति वा पुनर्वदेत्, भूतानि रूपाणि—अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षित इति सूत्राऽर्थः ॥३३॥ (दश०टी०) 'तहेव' त्ति सूत्रं, तथा 'ओषधयः' शाल्यादिलक्षणाः, पक्वा इति, तथा नीलाश्छवय इति वा वल्लचवलकादिफललक्षणाः तथा 'लवनवत्यो' लवनयोग्या 'भर्जनवत्य' इति भर्जनयोग्याः तथा 'पृथुकभक्ष्या' इति पृथुकभक्षणयोग्याः नो वदेदिति सर्वत्राभिसम्बध्यते, पृथुका अर्धपक्वशाल्यादिषु क्रियन्ते, अभिधानदोषाः पूर्ववदिति सूत्राऽर्थः ॥ ३४ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवमालपेदित्याह—'रूढ' त्ति सूत्रं, 'रूढाः' प्रादुर्भूताः 'बहुसम्भूता' निष्पन्नप्रायाः 'स्थिरा' निष्पन्नाः 'उत्सृता' इति उपघातेभ्यो निर्गता इति वा, तथा 'गर्भिता' अनिर्गतशीर्षकाः 'प्रसूता' निर्गतशीर्षकाः 'संसाराः' सञ्जाततन्दुलादिसारा इत्येवमालपेत्, पक्वाद्यर्थयोजना स्वधिया कार्येति सूत्राऽर्थः ॥ ३५ ॥

वाग्विधिप्रतिषेधाधिकारेऽनुवर्तमान इदमपरमाह—

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जंति नो वए ।
तेणगं वावि वज्झि त्ति, सुतित्थि त्ति अ आवगा॥३६॥
संखडिं संखडिं बूआ, पणिअट्ठि त्ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं विआगरे ॥ ३७ ॥

'तहेव' त्ति सूत्रं, तथैव 'संखडिं ज्ञात्वा' सङ्खण्ड्यन्ते, प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा सङ्खडी तां ज्ञात्वा, 'करणीये' ति पित्रादिनिमित्तं कृत्यैवैषेति नो वदेत्, मिथ्यात्वोपबृंहणदोषात्, तथा स्तेनकं वापि बध्य इति नो वदेत्, तदनुमतत्वेन निश्चयाऽऽदिदोषप्रसङ्गात्, सुतीर्था इति च, चशब्दाद् दुस्तीर्था इति वा 'आपगा' नद्यः केनचित्पृष्टः सन्नो वदेत, अधिकरणविघाताऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति सूत्राऽर्थः ॥ ३६ ॥ प्रयोजने पुनरेवं वदेदित्याह—'संखडिं ति' सूत्रम्, सङ्खडिं सङ्खडिं ब्रूयात्, साधुकथनाऽऽदौ सङ्कीर्णा सङ्खडीत्येवमादि, पणितार्थ इति स्तेनकं वदेत्, शैक्षकाऽऽदिकर्मविपाकदर्शनाऽऽदौ, पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थः, प्राणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थः, तथा बहुसमानि तीर्थानि 'आपगानां' नदीनां व्यागृणीयात् साध्वादिविषय इति सूत्राऽर्थः ॥ ३७ ॥

वाग्विधिप्रतिषेधाधिकार एवेदमाह—

तहा नईओ पुण्णाओ, कायतिज्ज त्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाउ त्ति, पाणिपिज्ज त्ति नो वए ॥३८॥
बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुविस्थडोदगा आवि, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ३९ ॥
तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठा अ निट्ठिअं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ॥ ४० ॥

'तहा नईउ त्ति' सूत्रं, तथा नद्यः 'पूर्णा' भृता इति नो वदेत्, प्रवृत्तश्रवणनिवर्तनाऽऽदिदोषात्, 'तथा कायतरणीयाः' शरीरतरणयोग्या इति नो वदेत्, साधुवचनतोऽविघ्नमिति प्रवर्तनाऽऽदिप्रसङ्गात् तथा नौभिः द्रोणीभिस्तरणीयाः तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, अन्यथा विघ्नशङ्कया तत्प्रवर्तनात्, तथा 'प्राणिपेयाः' तटस्थप्राणिपेया नो वदेदिति, तथैव प्रवर्तनाऽऽदिदोषादिति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ प्रयोजने तु साधुमार्गकथनाऽऽदावेवं भाषेतेत्याह—'बहुवाहड त्ति' सूत्र, बहुभृताप्रायशो भृता इत्यर्थः, तथा 'अगाधा इति' बहगाधाः प्रायोगम्भीराः, तथा 'बहुसलिलोत्पीलोदकाः' प्रतिस्रोतोवाहितापरसरित इत्यर्थः, तथा 'विस्तीर्णोदकाश्च' स्वतीरप्लावनप्रवृत्तजलाश्च, एव भाषेत प्रज्ञावान् साधुः, न तु तदाऽऽगतपृष्टो न वेद्म्यहमिति ब्रूयात्, प्रत्यक्षमृषावादित्वेन तत्प्रद्वेषाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थ. ॥३९॥ वाग्विधिप्रतिषेधाधिकार एवेदमाह—'तहेव त्ति' सूत्रं, तथैव 'सावद्यं' सपापं 'योगं' व्यापारमधिकरणं सभाऽऽदिविषयं 'परस्यार्थाय' परनिमित्तं 'निष्ठितं' निष्पन्नं तथा 'क्रियमाणं वा' वर्तमानं, वाशब्दाद्भविष्यत्कालभाविनं वा ज्ञात्वा 'सावद्यं नाऽऽलपेत्', सपापं न ब्रूयात् 'मुनि.' साधुरिति सूत्रार्थः ॥४०॥

तत्र निष्ठितं नैवं ब्रूयादित्याह—

सुकडि त्ति सुपक्कि त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ४१ ॥
पयत्तपक्क त्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्तलट्ठि त्ति व कम्महेउअं, पहारगाढ त्ति व गाढमालवे॥४२

'सुकडि त्ति' सूत्रं, 'सुकृत' मिति सुष्ठु कृतं सभाऽऽदि 'सुपक्व' मिति सुष्ठु पक्वं सहस्रपाकाऽऽदि, 'सुच्छिन्न' मिति सुष्ठु छिन्नं तद्वनाऽऽदि 'सुहृत' मिति सुष्ठु हृत क्षुद्रस्य वित्तं 'सुमृत' इति सुष्ठु मृतः प्रत्यनीक इति, अत्रापि सुशब्दोऽनुवर्तते, 'सुनिष्ठित' मिति सुष्ठु निष्ठितं वित्ताभिमानिनो वित्तं 'सुलट्ठि त्ति' सुष्ठु सुन्दरा कन्या इत्येवं सावद्यमालपनं वर्जयेद् मुनिः, अनुमत्यादिदोषप्रसङ्गात्, निरवद्यं तु न वर्जयेत्, यथा—'सुकृत' मिति सुष्ठु कृतं वैयावृत्यमनेन 'सुपक्व' मिति सुष्ठु पक्वं ब्रह्मचर्यं साधोः 'सुच्छिन्न' मिति सुष्ठु छिन्नं स्नेहबन्धनमनेन, 'सुहृत' मिति सुष्ठु हृत शिक्षकोपकरणमुपसर्गे 'सुमृत' इति सुष्ठु मृतः पण्डितमरणेन साधुरिति, अत्रापि सुशब्दोऽनुवर्तते, 'सुनिष्ठित' मिति सुष्ठु निष्ठितं कर्माप्रमत्तसंयतस्य 'सुलट्ठि' त्ति सुष्ठु सुन्दरा साधुक्रियेत्येवमादीति सूत्रा·

र्थः ॥४१॥ उक्तानुक्तापवादविधिमाह—'पयत्त त्ति' सूत्रं, 'प्रयत्नपक्व' मिति वा प्रयत्नपक्वमेतत् 'पक्वं' सहस्रपाकाऽऽदि ग्लानप्रयोजन एवमालपेत्, तथा 'प्रयत्नच्छिन्न' मिति वा प्रयत्नच्छिन्नमेतत् 'छिन्नं' वनाऽऽदि साधुनिवेदनाऽऽदौ एवमालपेत्, तथा 'प्रयत्नलष्टे' ति वा प्रयत्नसुन्दरा कन्या दीक्षिता सती सम्यक् पालनीयेति 'कर्महेतुक' मिति सर्वमेव वा कृताऽऽदि कर्मनिमित्तमालपेदिति योगः, तथा 'गाढप्रहार' मिति वा कञ्चन गाढमालपेत् गाढप्रहारं ब्रूयात् क्वचित्प्रयोजने, एवं हि तदप्रीत्यादयो दोषाः परिहृता भवन्तीति सूत्रार्थः॥४२॥

(१७) क्वचिद् व्यवहारे प्रक्रान्ते पृष्टोऽपृष्टो वा नैव ब्रूयादित्याह—

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नऽत्थि एरिसं ।
अविक्किअमवत्तव्वं, अचिअत्तं चेव नो वए ॥४३॥
सव्वमेअं वइस्सामि, सव्वमेअ ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं ॥४४॥
सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जमेव वा ।
इमं गिण्ह इमं मुंच, पणीअं नो विआगरे ॥ ४५ ॥
अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा ।
पणिअट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं विआगरे ॥ ४६ ॥

'सव्वुक्कसं' ति सूत्रम्, एतन्मध्य इद 'सर्वोत्कृष्टं' स्वभावेन सुन्दरमित्यर्थः, 'परार्घं वा' उत्तमार्घं वा महार्घं क्रीतमिति भाव। अतुल नास्तीदृशमन्यत्रापि क्वचित, 'अविक्किअं ति' असंस्कृतं सुलभमीदृशमन्यत्रापि, 'अवक्तव्य' मित्यनन्तगुणमेतत् अचिअत्तं वा'-अप्रीतिकर चैतदिति नो वदेत्, अधिकरणान्तरायाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः॥ ४३॥ किं च—'सव्वमेअं ति' सूत्रं, 'सर्वमेतद्वक्ष्यामी' ति केनचित् कस्यचित् संदिष्टे सर्वमेतत्त्वया वक्तव्यमिति सर्वमेतद्वक्ष्यामीति नो वदेत्, सर्वस्य तथास्वरव्यञ्जनाऽऽद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तथा सर्वमेतदिति नो वदेत्, कस्यचित्संदेशं प्रयच्छन् सर्वमेतदित्येव वक्तव्य इति नो वदेत्, सर्वस्य तथा स्वरव्यञ्जनाऽऽद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात् असंभवाभिधाने मृषावाद, यतश्चैवमतः—'अनुविचिन्त्य' आलोच्य सर्वं वाच्यं 'सर्वत्र' कार्येषु यथा असभवाऽऽद्यभिधानाऽऽदिना मृषावादो न भवत्येवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति सूत्रार्थः। ॥४४॥ किं च—'सुक्कीअं व त्ति' सूत्रं, 'सुक्रीतं वेति' किञ्चित् केनचित् क्रीतं दर्शितं सत्सुक्रीतमिति न व्यागृणियात् इति योगः, तथा 'सुविक्रीत' मिति किञ्चित्केनचिद्विक्रीतं दृष्ट्वा पृष्टः सन् सुविक्रीतमिति न व्यागृणीयात्, तथा केनचित् क्रीते पृष्टः 'अक्रेयं' क्रयार्हमेव न भवतीति न व्यागृणीयात्, तथैवमेव 'क्रेयमेव वा' क्रयार्हमेवेति, तथा 'इद' गुडाऽऽदि गृहाणाऽऽगामिनि काले महार्घं भविष्यति, तथा 'इद' मुञ्च घृताऽऽद्यागामिनि काले समर्घं भविष्यतीतिकृत्वा 'पणित' पण्य नैव व्यागृणीयात्, अप्रीत्यधिकरणाऽऽदिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः॥ ४५॥ अत्रैव विधिमाह-'अप्पग्घे व त्ति' सूत्रम्, अल्पार्घे वा महार्घे वा, कस्मिन्नित्याह-क्रये वा विक्रयेऽपि वा 'पणितार्थे' पण्यवस्तुनि समुत्पन्ने केनचित् पृष्ट सन् 'अनवद्यम्' अपापं व्यागृणीयात् यथा नाधिकारोऽत्र तपस्विनां व्यापाराभावादिति सूत्रार्थः॥ ४६॥

किं च—

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा ।
सय चिट्ठ वयाहि त्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ॥ ४७ ॥
बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहु साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे॥४८॥
नाणदंसणसपन्नं, संजमे अ तवे रयं ।
एवंगुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥ ४९ ॥

'तहेव त्ति' सूत्रम्, तथैव 'असयतं' गृहस्थम् 'धीर' संयतः आस्वेहैव, एहीतोऽत्र, कुरु चेदं-सञ्चयाऽऽदि, तथा शेष्व निद्रया, तिष्ठोर्ध्वस्थानेन, व्रज ग्राममिति नैवं भाषेत प्रज्ञावान् साधुरिति सूत्राऽर्थः ॥४७॥ किञ्च—'बहवे त्ति' सूत्रम्, बहवः 'एते' उपलभ्यमानस्वरूपा आजीवकाऽऽदयः असाधवः निर्वाणसाधकयोगापेक्षया 'लोके तु' प्राणिसङ्घाते उच्यन्ते साधवः सामान्येन, तत्र नाऽऽलपेदसाधु साधुं, मृषावादप्रसङ्गात्, अपि तु साधुं साधुमित्यालपेत् न तु तमपि नाऽऽलपेत्, उपबृंहणातिचारदोषप्रसङ्गादिति सूत्राऽर्थः॥४८॥ किंविशिष्टं साधुं साधुमित्यालपेदित्यत आह-'नाण त्ति' सूत्रम्, ज्ञानदर्शनसंपन्नं--समृद्धं संयमे तपसि च रतं यथाशक्ति एवं--गुणसमायुक्तं संयतं साधुमालपेत्, न तु द्रव्यलिङ्गधारिणमपीति सूत्रार्थः॥ ४९॥

किञ्च—

देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे ।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥५०॥
वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवं ति वा ।
कया णु हुज्ज एआणि, मा वा होउ त्ति नो वए ॥ ५१ ॥
तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देवदेव त्ति गिरं वएज्जा ।
समुच्छिए उन्नए वा पओए, वइज्ज वा वुट्ठवलाहय त्ति ।५२।
अंतलिक्ख त्ति णं बूआ, गुज्झाणुचरिअ त्ति अ ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतं ति आलवे ॥ ५३ ॥
तहेव सावज्जऽणुमोअणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणोऽवि गिरं वइज्जा ॥ ५४ ॥

'देवाणं ति' सूत्रम्, 'देवाना' देवासुराणा 'मनुजाना' नरेन्द्राऽऽदीना 'तिरश्चा' महिषाऽऽदीना च 'विग्रहे' संग्रामे सति 'अमुकाना' देवाऽऽदीना जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेत्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गादिति सूत्राऽर्थः॥ ५०॥ किञ्च—'वाउ त्ति' सूत्रम्, 'वातो' मलयमारुताऽऽदिः, 'वृष्ट वा' वर्षण, शीतोष्ण प्रती·

तं 'क्षेमं' राजविड्वरशून्यं ध्मातं' सुभिक्षं, 'शिव' मिति चोपसर्गरहितं कदा नु भवेयुरेतानि, घाताऽऽदीनि, मा वा भवेयुरिति धर्माऽऽद्यभिभूतो नो वदेत्। अधिकरणाऽऽदिदोषप्रसङ्गात्, वाताऽऽदिषु सत्सु सत्त्वपीडाऽऽपत्तेः तद्वचनतस्तथाभवनेऽप्यार्तध्यानभावादिति सूत्रार्थः ॥५१॥ 'तहेव त्ति' सूत्रं, तथैव मेघं वा नभो वा मानवं वाऽऽश्रित्य नो 'देवदेव त्ति' गिरं वदेत्, मेघमुन्नतं दृष्ट्वा उन्नतो देव इति नो वदेत्, एवं 'नभ' आकाशं 'मानवं' राजानं वा देवमिति नो वदेत्, मिथ्यावादलाघवाऽऽदिप्रसङ्गात्। कथं तर्हि वदेदित्याह—उन्नतं दृष्ट्वा संमूर्छित उन्नतो वा पयोद इति, वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति सूत्रार्थः ॥ ५२ ॥ नभ आश्रित्याऽऽह-'अंतलिक्ख त्ति' सूत्रम्, इह नभोऽन्तरिक्षमिति ब्रूयाद्गुह्यानुचरितमिति वा, सुरसेवितमित्यर्थः, एवं किल मेघोऽप्येतदुभयशब्दवाच्य एव। तथा-'ऋद्धिमन्तं' संपदुपेतं नरं दृष्ट्वा, किमित्याह-'रिद्धिमंत' मिति ऋद्धिमानयमित्येवमालपेत्, व्यवहारतो मृषावादाऽऽदिपरिहारार्थमिति सूत्रार्थः ॥५३॥ किंच—'तहेव त्ति' सूत्रं, तथैव सावद्यानुमोदिनी 'गीः' वाग् यथा सुष्ठु हतो ग्राम इति, तथा 'अवधारिणी' इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा, या च परोपघातिनी यथा-मांसमदोषाय 'से' इति तामेवंभूतां क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमाऽऽदीनामुपलक्षणमेतत्, 'मानवः' पुमान् साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वादिति सूत्रार्थः ॥ ५४ ॥

(१८) वाक्यशुद्धिफलमाह-

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिअं अदुट्ठे (ट्ठं) अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥ ५५ ॥
भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ,
तीसे अ दुट्ठे परिज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ५६ ॥
परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए,
चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
से निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं,
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ५७ ॥ त्ति बेमि।

'सवक्क त्ति' सूत्रं, सद्वाक्यशुद्धिं, स्ववाक्यशुद्धिं वा, सवाक्यशुद्धिं वा, सतीं शोभनां, स्वामात्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं 'संप्रेक्ष्य' सम्यग् दृष्ट्वा 'मुनिः' साधुः गिरं तु 'दुष्टां' यथोक्तलक्षणां परिवर्जयेत् सदा, किं तु 'मितं' स्वरतः परिमाणतश्च, 'अदुष्टं' देशकालोपपन्नाऽऽदि 'अनुविचिन्त्य' पर्यालोच्य भाषमाणःसन् 'सतां' साधूनां मध्ये 'लभते प्रशंसनं' प्राप्नोति प्रशंसामिति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥ यतश्चैवमत:-'भासाइ त्ति' सूत्रं, 'भाषाया' उक्तलक्षणाया दोषांश्च गुणांश्च 'ज्ञात्वा' यथावदवेत्य तस्याश्च दुष्टायाः भाषायाः परिवर्जकः सदा, एवंभूतः सन् षड्जीवनिकायेषु संयतः, तथा 'श्रामण्ये' श्रमणभावे चरणपरिणामगर्भे चेष्टिते 'सदा यतः' सर्वकालमुद्युक्तः सन् वदेद् बुद्धो 'हितानुलोमं' हितं—परिणामसुन्दरम् अनुलोमं-मनोहारीति सूत्रार्थः ॥ ५६ ॥ उपसंहरन्नाह-'परिक्ख त्ति' सूत्रं, 'परीक्ष्यभाषी' आलोचितवक्ता तथा 'सुसमाहितेन्द्रियः' सुप्रणिहितेन्द्रिय इत्यर्थः, 'अपगतचतुष्कषायः' क्रोधाऽऽदिनिरोधकर्तेति भावः, 'अनिश्रितो' द्रव्यभावनिश्रारहितः, प्रतिबन्धविमुक्त इति हृदयम्। स इत्थंभूतो 'निर्धूय' प्रस्फोट्य 'धून्नमलं' पापमलं 'पुराकृतं' जन्मान्तरकृत, किमिति?—'आराधयति' प्रगुणीकरोति लोकम् 'एनं' मनुष्यलोकं वाक्संयतत्वेन, तथा 'परं' मिति परलोकमाराधयति निर्वाणलोकं, यथासंभवमनन्तरं पारम्पर्येण वेति गर्भः। ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयाः पूर्ववदेव ॥ ५७ ॥ दश० ७ अ० २ उ०।

वाक्प्रणिधिमाह—

अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥ ४७ ॥
अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ॥ ४८ ॥
दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥ ४९ ॥
आयारपन्नत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वायविक्खलिअं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥

'अपुच्छिओ त्ति' सूत्रम्, अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत, भाषमाणस्य चान्तरेण न भाषेत, नेदमित्थं किं तर्ह्येवमिति, तथा 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपं 'न खादेत्' न भाषेत, 'मायामृषां' मायाप्रधाना मृषावाचं विवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ ४७ ॥ किं च—'अप्पत्तिअं' ति सूत्रम्, अप्रीतिर्येन स्यादिति प्राकृतशैल्या येनेति—यया भाषया भाषितया अप्रीतिरित्यप्रीतिमात्रं भवेत् तथा 'आशु' शीघ्रं 'कुप्येद्वा परो' रोषकार्यं दर्शयेत्, 'सर्वशः' सर्वावस्थासु 'ताम्' इत्थंभूतां न भाषेत भाषाम् 'अहितगामिनीम्' उभयलोकविरुद्धामिति सूत्रार्थः ॥४८॥ भाषणोपायमाह-'दिट्ठं ति,' सूत्रं, 'दृष्टां' दृष्टार्थविषयां 'मितां' स्वरूपप्रयोजनाभ्याम् 'असंदिग्धाम्' निःशङ्कितां 'प्रतिपूर्णां' स्वराऽऽदिभिः 'व्यक्ताम्' अलक्षां 'जितां' परिचिताम् 'अजल्पनशीला' नोच्चैर्लग्नविलग्नाम् 'अनुद्विग्नां' नोद्वेगकारिणीमेवंभूतां भाषां 'निसृजेद्' ब्रूयाद् 'आत्मवान्' सचेतन इति सूत्रार्थः ॥ ४९ ॥ प्रस्तुतोपदेशाधिकार एवेदमाह-'आयार त्ति' सूत्रम्, आचारप्रज्ञप्तिधरमित्याचारधरः स्त्रीलिङ्गाऽऽदीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवंभूतम्। तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपाऽऽगमवर्णविकारकालकारकाऽऽदिवेदिनं 'वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा' विविधम्-अनेकैः प्रकारैर्लिङ्गभेदाऽऽदिभिः स्खलितं विज्ञाय न 'तम्' आचाराऽऽदिधरमुपहसेन्मुनिः, अहो नु खल्वा-

चाराऽऽदिधरस्य वाचि कौशलमित्येवम् इह च दृष्टिवादम-धीयानमित्युक्तमत इदं गम्यते--नाधीतदृष्टिवादं, तस्य ज्ञानप्रमादातिशयतः स्खलनाऽसंभवात्, यद्येवंभूतस्यापि स्खलितं सम्भवति न चैनमुपहसेदित्युपदेशः, ततोऽन्यस्य सुतरां संभवति, नासौ हसितव्य इति सूत्रार्थः ॥ ५० ॥

किं च-

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं ॥ ५१ ॥

'नक्खत्तं त्ति' सूत्रं, गृहिणा पृष्टः सन्नक्षत्रम्--अश्विन्यादि 'स्वप्नं' शुभाशुभफलमनुभूताऽऽदि 'योगं' वशीकरणाऽऽदि 'निमित्तम्' अतीताऽऽदि 'मन्त्रं' वृश्चिकमन्त्राऽऽदि 'भेषजम्' अतीसाराऽऽद्यौषधं 'गृहिणाम्' असंयतानां तद् नाऽऽचक्षीत, किंविशिष्टमित्याह-भूताधिकरणं पदमिति भूतानि--एकेन्द्रियाऽऽदीनि संघट्टनाऽऽदिनाऽधिक्रियन्तेऽस्मिन्निति, ततश्च तदप्रीतिपरिहारार्थमित्थं ब्रूयात्—अनधिकारोऽत्र तपस्विनामिति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥ दश० ८ अ० २ उ०।

( १६ ) भाषावक्तव्यता—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इमाइं वयायाराइं सोच्चा णिसम्म इमाइं अणायाराइं अणायरियपुव्वाइं जाणेज्जा जे कोहा वा वायं विउंजंति जे माणा वा ०जे मायाए वा० जे लोभा वा वायं विउंजंति जाणओ वा फरुसं वयंति अजाणओ वा फरुसं वयंति सव्वमेतं सावज्जं वज्जेज्जा विवेगमायाए, धुवं चेदं जाणेज्जा अधुवं चेदं जाणिज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा लभिय णो लभिय भुंजिय णो भुंजीय अदुवा आगतो अदुवा णो आगतो अदुवा एति अदुवा णो एति अदुवा एहिति अदुवा णो एहिति इत्थ वि आगते इत्थ वि णो आगते इत्थ वि एति इत्थ वि णो एति इत्थ वि एहिति इत्थ वि णो एहिति ॥ अणुवीइ णिट्ठाभासी समियाए संजयए भासं भासेज्जा । तं जहा-एगवयणं १, दुवयणं २, बहुवयणं ३, इत्थिवयणं ४, पुरिसवयणं ५, णपुंसगवयणं ६, अज्झत्थवयणं ७, उवणीतवयणं ८, अवणीयवयणं ९, उवणीयअवणीयवयणं १०, अवणीयउवणीयवयणं ११, तीयवयणं १२, पडुप्पन्नवयणं १३, अणागतवयणं १४, पच्चक्खवयणं १५, परोक्खवयणं १६; से एगवयणं वदिस्सामीति एगवयणं वएज्जा ०जाव परोक्खवयणं वइस्सामीति परोक्खवयणं वदेज्जा, इत्थी वेस पुरिसो वेस णपुंसग वेस एयं वा चेयं अण्णं वा चेय अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासेज्जा, इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म ॥ अह भिक्खू जाणेज्जा चत्तारि भासज्जायाइं । तं जहा--सच्चमेगं पढमं भासज्जायं १, बीयं मोसं २, तइयं सच्चामोसं ३, जं णेव सच्चं णेव मोसं णेव सच्चामोसं असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥ ४ ॥ से बेमि जे अतीता जे य पडुप्पन्ना जे अणागता अरहंता भगवंतो सव्वे ते एयाणि चेव चत्तारि भासज्जायाइं भासिंसु वा, भासंति वा, भासिस्संति वा, पण्णविंसु वा, पण्णविंति वा, पण्णविस्संति वा, सव्वाइं च णं एयाणि अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि रसमंताणि फासमंताणि चओवचइयाइं विप्परिणामधम्माइं भवंतीति समक्खायाइं । ( सूत्रम्-१३२ )

स भावभिक्षुरिति भाविरित्यन्तःकरणनिष्पन्नान्, इमः प्रत्यक्षाऽऽसन्नवाचित्वात् समनन्तरं वक्ष्यमाणान् वाचि आचारा वागाचाराः वाग्व्यापारास्तान् श्रुत्वा, तथा निशम्य ज्ञात्वा भाषासमित्या भाषा भाषेतोत्तरेण संबन्ध इति । तत्र यादृग्भूता भाषा न भाषितव्येति तत्तावद्दर्शयति—इमान्वक्ष्यमाणान् अनाचारान् साधूनामभाषणयोग्यान् पूर्वसाधुभिरनाचीर्णपूर्वान् साधुर्जानीयात् । तद्यथा-ये केचन क्रोधाद्वा वाचं वियुञ्जन्ति विविध व्यापारयन्ति भाषन्ते यथा चौरस्त्व दासस्त्वमित्यादि, तथा मानेन भाषन्ते यथोत्तमजातिरहं हीनस्त्वमित्यादि, तथा मायया यथा ग्लानोऽहमपरसदेशकं वा सावद्यकं केनचिदुपायेन कथयित्वा मिथ्यादुष्कृतं करोति, सहसा ममैतदायातमिति, तथा लोभेनाहमनेनाऽऽत्मेनातः किञ्चिल्लप्स्य इति, तथा कस्यचिद्दोषं जानानास्तद्दोषोद्घटनेन पुरुषं वदन्त्यजानाना वा; सर्वं चैतत्क्रोधाऽऽदिवचनं सहावद्येन पापेन गर्ह्येण वा वर्तते इति सावद्यं तद्वर्जयेद्विवेकमादाय-विवेकिना भूत्वा सावद्य वचनं वर्जनीयमित्यर्थः । तथा केनचित्सार्द्धं साधुना अल्पता नैव सावधारणं वचो वक्तव्यं, यथा-ध्रुवमेतन्निश्चितं वृष्ट्यादिकं भविष्यतीत्येवं जानीयादध्रुवं वा जानीयादिति । तथा कश्चित्साधु भिक्षार्थं प्रविष्टं ज्ञातिकुलं वा गतं चिरयन्तमुद्दिश्यापरे साधव एवं ब्रुवीरन्, यथा-भुङ्क्ष्महे वयं स तत्राऽऽसनाऽऽदिकं लब्ध्वैव समागमिष्यति, यदि वाऽभ्रियते तदर्थं किञ्चिन्नैवासौ तस्माल्लब्धलाभ समागमिष्यति, एवं तत्रैव भुक्त्वा अभुक्त्वा वा समागमिष्यतीति सावधारणं न वक्तव्यम्, अथ चैवभूतां सावधारणां वाचं न ब्रूयात्, यथा-आगतः कश्चिद्राजाऽऽदिर्नो वा समागतः, तथा आगच्छति न वा समागच्छति, एवं समागमिष्यति न वेति। एवमत्र पत्तनमठाऽऽदावपि भूताऽऽदिकालत्रय योज्य, यमर्थं सम्यग्न जानीयात् तदेवमेवैतदिति न ब्रूयादिति भावार्थः । सामान्येन सर्वत्रग.साधोरयमुपदेशो, यथा-अनुविचिन्त्य विमार्थ सम्यग्निश्चित्यातिशयेन श्रुतोपदेशेन वा प्रयोजने सति निष्ठाभाषी सावधारणभाषी सन् समित्या भाषासमित्या समतया वा रागद्वेषाकरणलक्षणया षोडशवचनविधिज्ञो भाषा भाषेत । यादृग्भूता च भाषा भाषितव्या ता षोडशवचनविधिगता दर्शयति—तद्यथेत्ययमुपप्रदर्शनार्थः, एकवचनम्-वृक्षः, द्विवचनम्—वृक्षौ, बहुवचनम्—वृक्षा इति, स्त्रीवचनम्—वीणा कन्या इत्यादि, पुंवचनम्-घटः पट इत्यादि, नपुंसकवचनम्—पीठं देवकुलमित्यादि, अध्यात्मवचनम्—आत्मन्यधि अध्यात्म हृदयगत तत्परिहारेणान्यद् भणिष्यतस्तदेव सहसा पतितम् । उपनीतवचनं प्रशंसावचनं यथा-रू-

पवती स्त्री, तद्विपर्ययेणापनीतवचनम्--यथेयं रूपहीनेति, उपनीतापनीतवचनम्--कश्चिद् गुणः प्रशस्यः कश्चिनिन्द्यो, यथा रूपवतीयं स्त्री किं त्वसद्वृत्तेति अपनीतोपनीतवचनम्-अरूपवती स्त्री किं तु सद्वृत्तेति, अतीतवचनम्--कृतवान्, वर्तमानवचनम्--करोति, अनागतवचनम्-करिष्यति, प्रत्यक्षवचनम्--एष देवदत्तः, परोक्षवचनम्--स देवदत्तः। इत्येतानि षोडश वचनानि अमीषां स भिक्षुरेकार्थविवक्षायामेकवचनमेव ब्रूयाद् यावत्परोक्षवचनविवक्षायां परोक्षवचनमेव ब्रूयाद्, इति। तथा स्त्र्यादिके दृष्टे सति स्त्र्येवैषा पुरुषो वा नपुंसकं वा, एवमेवैतदन्यथैनत्, एवम् अनुविचिन्त्य निश्चित्य निष्ठाभाषी सन् समित्या समतया संयत एव भाषां भाषेत, तथा इत्येतानि पूर्वोक्तानि भाषागतानि वक्ष्यमाणानि वा आयतनानि दोषस्थानान्युपातिक्रम्यातिलङ्घ्य भाषां भाषेत। अथ स भिक्षुर्जानीयाच्चत्वारि भाषाजातानि चतस्रो भाषाः। तद्यथा-सत्यमेकं प्रथमं भाषाजातं यथार्थम् अवितथम्। तद्यथा--गौर्गौरेवाश्वोऽश्व एवेति १। एतद्विपरीता तु मृषा द्वितीया, यथा-गौरश्वोऽश्वो गौरिति २। तृतीया भाषा सत्यामृषेति, यत्र किञ्चित्सत्यं किञ्चिन्मृषेति, यथा--अश्वेन यान्तं देवदत्तमुष्ट्रेण यातीत्यभिदधाति ३। चतुर्थी तु भाषा योच्यमाना न सत्या, नापि मृषा, नापि सत्यामृषा आमन्त्रणाऽऽज्ञापनाऽऽदिका साऽसत्याऽमृषेति ४। स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह--(से बेमीति) सोऽहं यदेतद् ब्रवीमि तत्सर्वैरेव तीर्थकृद्भिरतीतानागतवर्तमानैर्भाषितं भाष्यते भाषिष्यते च। अपि चैतानि सर्वाण्यप्येतानि भाषाद्रव्याण्यचित्तानि च वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति चयोपचयिकानि विविधपरिणामधर्माणि भवन्तीति, एवमाख्यातं तीर्थकृद्भिरिति। अत्र च वर्णाऽऽदिमत्त्वाऽऽविष्करणेन शब्दस्य मूर्त्तत्वमावेदितं,न ह्यमूर्तस्याऽऽकाशाऽऽदेर्वर्णाऽऽदयः संभवन्ति,तथा चयोपचयधर्माणीत्यनेन तु शब्दस्यानित्यत्वमाविष्कृतं, विचित्रपरिणामत्वाच्छब्दद्रव्याणामिति।

(२०) साम्प्रतं शब्दस्य कृतकत्वाऽऽविष्करणायाऽऽह--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा-पुव्विं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयवितिक्कंता च णं भासिया भासा अभासा ॥

स भिक्षुरेवंभूतं शब्दं जानीयात्, तद्यथा-भाषाद्रव्यवर्गणानां वाग्योगनिस्सरणाद् 'पूर्वं' प्राग् भाषा 'भाष्यमाणैव' वाग्योगेन निसृज्यमानैव भाषा, भाषाद्रव्याणि भाषा भवति; तदनेन ताल्वोष्ठाऽऽदिव्यापारेण प्रागसतः शब्दस्य निष्पादनात्स्फुटमेव कृतकत्वमावेदितं, मृत्पिण्डे दण्डचक्राऽऽदिनेव घटस्येति, सा चोच्चरितप्रध्वंसित्वाच्छब्दानां भाषणोत्तरकालमप्यभावैव, यथा कपालावस्थायां घटोऽघट इति, तदनेन प्रागभावप्रध्वंसाभावौ शब्दस्याऽऽवेदिताविति ॥

इदानीं चतसृणां भाषाणामभाषणीयामाह--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा- जा य भासा सच्चा १, जा य भासा मोसा २, जा य भासा सच्चामोसा ३, जा य भासा असच्चामोसा ४, तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेदणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूतोवघाइयं अभिकंख णो भासेज्जा ॥

स भिक्षुर्यां पुनरेवं जानीयात्,तद्यथा-सत्यां, मृषां,सत्यामृषाम्,असत्यामृषाम्। तत्र मृषा सत्यामृषा च साधूनां नाभाषा वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशाऽऽदिगुणोपेता सा न वाच्या, तां च दर्शयति--सहावद्येन वर्तत इति सावद्या, ता सत्यामपि न भाषेत, तथा सह क्रियया अनर्थदण्डप्रवृत्तिलक्षणया वर्त्तत इति सक्रिया तामिति, तथा कर्कशां चर्वितात्वरां, तथा कटुकां चित्तोद्वेगकारिणीं, तथा निष्ठुरां हक्काप्रधानां परुषां मर्मोद्घाटनपराम् (अण्हयकरिं ति) कर्माऽऽश्रवकरीम्। एवं छेदनभेदनकरीं यावदपद्रावणकरीमित्येवमादिकां भूतोपघातिनीं प्राण्युपतापकारिणीमभिकाङ्क्ष्य मनसा पर्यालोच्य सत्यामपि न भाषेतेति।

भाषणीयां त्वाह--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा जा य भासा सच्चा सुहुमा, जा य भासा असच्चामोसा, तहप्पगारं भासं असावज्जं ० जाव अभूतोवघाइयं अभिकंख भासं भासेज्जा ॥ ( सूत्रम्-१३३ )

स भिक्षुर्यां पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा--या च भाषा सत्या सूक्ष्मेति कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोच्यमाना मृषाऽपि सत्या भवति यथा सत्यपि मृगदर्शने लुब्धकाऽऽदेरपलाप इति। उक्तञ्च--" अलियं न भासियव्वं, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्वं। सच्चं पि होइ अलियं, जं परपीडाकरं वयणं ॥ १ ॥" या चासत्यामृषा आमन्त्रणी आज्ञापनाऽदिका ता तथाप्रकारां भाषामसावद्यामक्रिया यावद् भूतोपघातिनीं मनसा पूर्वम् अभिकाङ्क्ष्य पर्यालोच्य सर्वदा साधुभाषां भाषेतेति ॥ १३३ ॥

किञ्च--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिते वा अपडिसुणेमाणे णो एवं वदेज्जा-होलेति वा गोलेति वा वसुलेति वा कुपक्खेति वा घडदासेति वा साणेति वा तेणेति वा चारिएत्ति वा माईति वा मुसावादीति वा,इयाई तुमं ते जणगा वा, एतप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं ०जाव भूओवघाइअं अभिकंख णो भासेज्जा ॥

स भिक्षुः पुमांसमामन्त्रयन्नामन्त्रितं वा अशृण्वन्तं नैवं भाषेत, तद्यथा-होल इति वा गोल इति वा एतौ च देशान्तरे अवज्ञासंसूचकौ, तथा वसुलेति वृषलः कुपक्षः कुत्सितान्वयः घटदास इति वा श्वेति वा स्तेन इति वा चारिक इति वा मायीति वा मृषावादीति वा, इत्येतानि अनन्तरोक्तानि त्वमसि तव जनकौ वा मातापितरावेतानीति, एवप्रकारां भाषा यावन्न भाषेतेति।

एतद्विपर्ययेण च भाषितव्यमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणे एवं वदेज्जा-अमुगे त्ति वा आउसो त्ति वा आउसंतारो त्ति वा सावको त्ति वा उपासगे त्ति वा धम्मिए त्ति वा धम्मपिए त्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं ० जाव अभिकंख भासेज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिते य अप्पडिसुणेमाणे णो एवं वदेज्जा--होलीति वा गोलीति वा इत्थीगमेणं णेतव्वं ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पडिसुणेमाणे एवं वदेज्जा-आउसो त्ति वा भइणीति वा भोईति वा भगवतीति वा साविगेति वा उवासिए त्ति वा धम्मिए त्ति वा धम्मप्पिएत्ति वा, एतप्पगारं भासं असावज्जं०जाव अभिकंख भासेज्जा ॥ ( सूत्रम्-१३४ )

स भिक्षुः पुमांसमामन्त्रयन्नामन्त्रितं वा शृण्वन्तमेवं ब्रूयात् । तद्यथा-अमुक इति वा, आयुष्मन्निति वा, आयुष्मन्त इति वा तथा श्रावक धर्मप्रिय इति, एवमादिका भाषा भाषेतेति । एवं स्त्रियमधिकृत्य सूत्रद्वयमपि प्रतिषेधविधिभ्यां नेयमिति ॥ १३४ ॥

पुनरप्यभाषणीयामाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा णो एवं वदेज्जा---णभोदेवेति वा गज्जदेवेति वा विज्जुदेवेति वा पवुट्ठदेवेति वा निवुट्ठदेवेति वा पडउ वा वासं मा वा पडउ णिप्फज्जउ वा सस्स मा वा णिप्फज्जउ विभाउ वा रयणी मा वा विभाउ उदेउ वा सूरिए मा वा उदेउ सो वा राया जयउ वा मा जयउ वा, णो एतप्पगार भासं भासेज्जा । पण्णवं से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अंतलिक्खेति वा गुज्झाणुचरिएत्ति वा संमुच्छिए वा णिवइए वा पओ वदेज्जावुट्ठवलाहगेति वा, एय खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥ ( सूत्रम्-१३५ )

स भिक्षुरेवंभूतामसयतभाषा न वदेत् । तद्यथा-नभोदेव इति वा, गर्जति देव इति वा तथा विद्युद्देव., प्रकृष्टो देवः, निवृष्टो देवः, एवं पततु वर्षा मा वा निष्पद्यतां शस्य मेति वा, विभातु रजनी मेति वा, उदेतु सूर्यो मा वा, जयत्वसौ राजा मा वेति एवप्रकारा देवाऽदिकां भाषा न भाषेत् । कारणजाते तु प्रज्ञावान् संयतभाषया अन्तरिक्षमित्यादिकया भाषेत, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगइयाइं रूवाइं पासेज्जा तहा वि ताइ नो एवं वदेज्जा । तं जहा—गंडी गंडीति वा, कुट्ठी कुट्ठीति वा ० जाव महुमेहुणि त्ति वा हत्थच्छिण्णं हत्थच्छिण्णेति वा, एवं पादच्छिण्णेत्ति वा णक्कछिण्णेत्ति वा कण्णछिण्णेति वा उट्ठछिण्णेत्ति वा, जे यावण्णे तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं वुइया २ कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख णो भासेज्जा ।

स भिक्षुर्यद्यपि ( एगइयाइ ति ) कानिचित् रूपाणि गण्डीपदकुष्ठयादीनि पश्येत्तथाऽप्येतानि स्वनामग्राहं तद्विशेषणविशिष्टानि नोच्चारयेदिति । तद्यथेत्युदाहरणोपप्रदर्शनार्थः, गण्डी गण्डमस्यास्तीति गण्डी, यदि वोच्छूनगुल्फपादः स गण्डीत्येवं न व्याहर्त्तव्यः, तथा कुष्ठयपि न कुष्ठीति व्याहर्त्तव्यः, एवमपरव्याधिविशिष्टो न व्याहर्त्तव्यो, यावत् मधुमेहीति मधुवर्णमूत्रान्वरतप्रश्रावीति । अत्र च धूताध्ययने व्याधिविशेषाः प्रतिपादिताः, तदपेक्षया सूत्रे यावदित्युक्तम्, एवं छिन्नहस्तपादनासिकाकर्णौष्ठाऽऽदयस्तथाऽन्ये च तथाप्रकाराः काणकुण्टाऽऽदयस्तद्विशेषणविशिष्टाभिर्वाग्भिरुक्ता उक्ता. कुप्यन्ति मानवास्तास्तथाप्रकारास्तथा-प्रकाराभिर्वाग्भिरभिकाङ्क्षय नो भाषेतेति ।

यथा च भाषेत तथाऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगइयाइं रूवाइं पासेज्जा तहावि ताइं एवं वदेज्जा । तं जहा-ओयंसी ओयंसीति वा तेयंसी तेयसीति वा जसंसी जसंसीति वा वच्चंसी वच्चंसीइ वा अभिरूयंसि अभिरूयंसीइ वा पडिरूवंसी पडिरूवंसीति वा पासादियं पासादिएइ वा दरिसणिज्ज दरिसणीएति वा, जे यावण्णे तहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाहिं वुइया वुइया णो कुप्पति माणवा ते यावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख भासेज्जा ।

स भिक्षुर्यद्यपि गण्डीपदाऽऽदिव्याधिग्रस्तं पश्येत्तथाऽपि तस्य य कश्चिद्विशिष्टो गुण ओजस्तेज इत्यादिकस्तमुद्दिश्य सनि कारणे वदेदिति, केशववत् कृष्णश्वशुक्लदन्तगुणोद्घाटनवत् गुणग्राही भवेदित्यर्थ. ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगइयाइ रूवाइं पासिज्जा । तं जहा—वप्पाणि वा ०जाव गिहाणि वा, तहा वि ताइं नो एवं वइज्जा । तं जहा—सुकडेइ वा सुट्ठुकडेइ वा साहुकडेइ वा कल्लाणेइ वा करणिज्जेइ वा, एयप्पगारं भासं सावज्ज ० जाव नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा । तं जहा-वप्पाणि वा०जाव गिहाणि वा तहा वि ताइं एवं वइज्जा । तं जहा-आरभकडेइ वा सावज्जकडेइ वा पयत्तकडेइ वा पासाइयं पासाइए वा दरिसणीयं दरिसणीयं ति वा अभिरूवं अभिरूव ति वा पडिरूवं पडिरूवं ति वा एयप्पगारं भासं असावज्ज ०जाव भासिज्जा ॥ ( सूत्रम्-१३६ )

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए तहावि तं णो एवं वदेज्जा । तं जहा-सुकडेति वा सुट्ठुकडेति वा साहुकडेति वा कल्लाणेति वा करणिज्जेति वा एयप्पगारं भासं सावज्ज०जाव णो भासेज्जा॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा ०२ जाव उवक्खडियं पेहाए एवं वदेज्जा । तं जहा–आरंभकडेति वा सावज्ज कडेति वा पयत्तकडेति वा भद्दयं भद्दएति वा ऊसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ एयप्पगारं भासं असावज्जं०जाव भासेज्जा ॥ ( सूत्रम् १३७ )

स भिक्षुर्यद्यप्येतानि रूपाणि पश्येत् । तद्यथा–वप्राः प्राकारा यावद् गृहाणि , तथाऽप्येतानि नैवं वदेत् । तद्यथा–सुकृतमेतत्सुष्ठु कृतमेतत्साधु शोभनं कल्याणम् एतत्, कर्तव्यमेवैतदेवंविधं भवद्विधानामिति , एवंप्रकारामन्यामपि भाषामधिकरणानुमोदनाद्यो भाषेतेति ॥ पुनर्भाषणीयामाह–स भिक्षुर्वप्राऽऽदिकं दृष्ट्वाऽपि तदुद्देशेन न किञ्चिद् ब्रूयात, प्रयोजने सत्येवं संयतभाषया ब्रूयात् , तद्यथा–महारम्भकृतमेतत्सावद्यकृतमेत्तथा प्रयत्नकृतमेतत् , एवं प्रसादनीयदर्शनाऽऽदिकां भाषामसावद्यां भाषेतेति ॥ एवमशनाऽऽदिगतप्रतिषेधसूत्रद्वयमपि नेयमिति,नवरं ( ऊसढं ति) उच्छ्रितं वर्णगन्धाऽऽद्युपेतमिति ।

पुनरभाषणीयामाह–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलयरं वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए णो एवं वदेज्जा–थुल्लेति वा, पमेतिलत्ति वा, वट्टेति वा वज्झेति वा,पादिमेति वा,एयप्पगारंभासं सावज्जं ०जाव णो भासिज्जा ॥

स भिक्षुर्गवादिकं परिवृद्धकायं पुष्टकायं प्रेक्ष्य नैतद्वदेत् । तद्यथा–स्थूलोऽयं प्रमेदुरोऽय,तथा वृत्तस्तथा वध्यो वहनयोग्यो वा, एवं पचनयोग्य देवताऽऽदेः पातनयोग्यो वेत्येवमादिकामन्यामप्येवंप्रकारां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ।

( २१ ) भाषणविधिमाह–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा ० जाव जलयरं वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वदेज्जा–परिवूढकाए त्ति वा उवचितकाए त्ति वा थिरसंघयणे त्ति वा चियमंससोणिए त्ति वा बहुपडिपुण्णइंदिए त्ति वा , एयप्पगारं भासं असावज्जं ०जाव भासेज्जा ।

स भिक्षुर्गवादिकं परिवृद्धकायं प्रेक्ष्यैवं वदेत् । तद्यथा–परिवृद्धकायोऽयमित्यादि सुगममिति ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा विरूवरूवाओ गाओ पेहाए णो एवं वदेज्जा । तं जहा—गाओ दोज्झाओ त्ति वा दम्मे त्ति वा गोरह त्ति वा वाहिम त्ति वा रहजोग्ग त्ति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं ०जाव णो भासेज्जा ।

स भिक्षुर्विरूपरूपा नानाप्रकारा गाः समीक्ष्य नैतद्वदेत् । तद्यथा–दोहनयोग्या एता गावः,दोहनकालो वा वर्तते, तथा दम्यो दमनयोग्योऽयं गोरहकः कल्होटक एवं वाहनयोग्यो रथयोग्यो वेति,एवंप्रकारां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ।

( २२ ) सति कारणे भाषणविधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा विरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वदेज्जा । तं जहा–जुवंगवे त्ति वा धेणु त्ति वा रसव त्ति वा हस्सेति वा महल्लएति वा महव्वए त्ति वा संवहणे त्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं० जाव अभिकंख भासेज्जा ।

स भिक्षुर्नानाप्रकारागाः प्रेक्ष्य प्रयोजने सत्येवं ब्रूयात् । तद्यथा–'जुवंगवे त्ति ।' युवाऽयं गौः धेनुरिति वा रसवतीति वा । ह्रस्वः, महान् , महाव्ययो वा, एवं संवहन इति,एवंप्रकारामसावद्यां भाषा भाषेतेति ।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहेव गंतुमज्जाणाइं पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ले पेहाए णो एवं वदेज्जा । तं जहा–पासायजोग्गा ति वा तोरणजोग्गा ति वा गिहजोग्गा ति वा फलिहजोग्गा ति वा अग्गलाजोग्गाइ वा णावाजोग्गाइ वा उदगजोग्गाइ वा दोणजोग्गाइ वा पीढचंगवेरणंगलकुलियजतलट्ठीणाभिगंडीआसणजोग्गाइ वा सयणजाणउवस्सयजोग्गाइ वा, एयप्पगारं भासं णो भासेज्जा ।

स भिक्षुरुद्यानाऽऽदिकं गत्वा महतो वृक्षान् प्रेक्ष्य नैवं वदेत् । तद्यथा-प्रासादाऽऽदियोग्या अमी वृक्षा इति । एवमादिकां सावद्या भाषा नो भाषेतेति ।

यत्तु वदेत्तदाह–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहेव गंतुमुज्जाणाइं वा पव्वयाणि वा वणाणि वा रुक्खा महल्ला पेहाए एवं वदेज्जा । तं जहा–जातिमंताति वा दीहवट्टाति वा महालयाति वा पयायसालाति वा विडिमसालाइ वा पासाईयाइ वा० जाव पडिरूवाति वा, एयप्पगार भासं असावज्जं०जाव अभिकंख भासेज्जा ॥

स भिक्षुस्तथैवोद्यानाऽऽदिकं गत्वैवं वदेत् । तद्यथा-जातिमन्त सुजातय इत्येवमादिका भाषामसावद्या संयत एव भाषेतेति ।

किञ्च–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूता वणफला पेहाए तहावि ते णो एवं वदेज्जा । तं जहा-पक्काति वा पायखज्जाति वा वेलोचिताति वा टालाति वा वेहियाति वा , एयप्पगार भासं सावज्जं० जाव णो भासेज्जा ।

स भिक्षुः बहुसम्भूतानि वृक्षफलानि प्रेक्ष्य नैवं वदेत् । तद्यथा एतानि फलानि पक्वानि पाक प्राप्तानि तथा पाक खाद्यानि बद्धास्थीनि गर्त्ताप्रक्षेपकोद्रवपलालाऽऽदिना विपच्य भक्षणयोग्यानीति, तथा वेलोचितानि पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं काल न विपहन्तीत्यर्थः । टालान्यनवबद्धास्थीनि कोमलास्थीनीति । यदुक्तं भवति—तथा द्वैधिकानीति पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि वेति , एवमादिका भाषा फलगतां सावद्या नो भाषेत् ।

यदभिधानीयं तदाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूया वणफला अंबा पेहाए एवं वइज्जा । तं जहा–असंथडाइ वा बहुनिवट्टिम

फलाइ वा बहुसंभूयाइ वा भूयरूवि त्ति वा, एयप्पगारं भासं नो भासिज्जा असावज्ज ।

स भिक्षुर्बहुसंभूतफलानाम्रान् प्रेक्ष्यैवं वदेत्। तद्यथा-असमर्था अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, एतेन पक्कार्थ उक्तः, तथा बहुनिर्वर्तितफला बहूनि निर्वर्तितानि फलानि येषु ते तथा, एतेन पाकखाद्यार्थ उक्तः, तथा बहुसंभूता बहूनि संभूतानि पाकातिशयतः ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः, तथा भूतरूपा इति वा भूतानि रूपाण्यनवबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाऽऽद्यर्थ उपलक्षितः, एवंभूता एते आम्राः, आम्रग्रहणं प्रधानोपलक्षणम्, एवंभूतामनवद्यां भाषां भाषेतेति।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि ताओ णो एवं वदेज्जा । तं जहा-पक्काइ वा नीलीयाति वा छवीइयाइ वा लाइमाइ वा भज्जिमाइ वा बहुखज्जाइ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं०जाव णो भासेज्जा ।

स भिक्षुर्बहुसंभूता ओषधीर्वीक्ष्य तथाप्येता नैतद्वदेत्। तद्यथा-पक्का नीला आर्द्रा छविमत्यः लायिमाः लाजायोग्याः रोपणयोग्या वा, तथा ( भज्जिमाउ त्ति ) पचनयोग्या भर्जनयोग्या वा ( बहुखज्ज त्ति) बहुभक्ष्याः पृथुककरणयोग्या वेति, एवंप्रकारा सावद्या भाषा नो भाषेत ।

यथा च भाषेत तदाह —

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि एवं वदेज्जा । तं जहा-रूढा ति वा बहुसंभूता ति वा थिरा त्ति वा ऊसढा ति वा गब्भिया ति वा पसूता ति वा ससारा ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं ०जाव नो भासेज्जा ॥ १३८ ॥

स भिक्षुर्बहुसंभूता ओषधी प्रेक्ष्यैतद् ब्रूयात् । तद्यथा-रूढा इत्यादिकामनवद्यां भाषां भाषेत ।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहप्पगाराइं सद्दाइं सुणेज्जा तहा वि एयाइं णो एवं वदेज्जा । तं जहा-सुसद्दे त्ति वा दुसद्दे त्ति वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं णो भासेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहा वि ताइ एवं वदेज्जा । तं जहा-सुसद्दं सुसद्दे ति वा दुसद्दं दुसद्दे ति वा, एयप्पगारं असावज्जं ०जाव भासेज्जा, एवं रूवाइं किण्हे ति वा ५, गंधाइं सुरभिगंधे त्ति वा २, रसाइं तित्ताणि वा ५, फासाइं कक्खडाणि वा ८ ॥ ११६ ॥

स भिक्षुर्यद्यप्येतान् शब्दान् शृणुयात्तथापि नैवं वदेत्। तद्यथा-शोभनः शब्दोऽशोभनो वा, माङ्गलिकोऽमाङ्गलिको वेत्ययं न व्याहर्तव्यः । विपरीतं त्वाह—यथावस्थितशब्दप्रज्ञापनाविषये एतद्वदेत् । तद्यथा—( सुसद्द त्ति ) शोभनशब्दं शोभनमेव ब्रूयात् , अशोभनं त्वशोभनमिति । एवं रूपाऽऽदिष्वपि नेयम् ।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीयि णिट्ठाभासी निसम्मभासी अतुरियभासी विवेगभासी समियाए संजते भासं भासेज्जा ५ । एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥ १४० ॥

स भिक्षुः क्रोधाऽऽदिकं वान्त्वैवंभूतो भवेत्। तद्यथा-अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी निशम्यभाषी अत्वरितभाषी विवेकभाषी भाषासमित्युपेतो भाषां भाषेत, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यम्। आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० । ( वचनगुप्तिमाश्रित्य साध्वाचारः 'अज्ञा' शब्दे प्रथमभागे १२१-१२२ पृष्ठे गतः ) ( अलोकाऽऽद्यवचनभाषणनिषेधः 'अवयण' शब्दे प्रथमभागे ७६५ पृष्ठे गतः )

अनुयोगस्यैकार्थिकान्यधिकृत्य 'अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव ।' इति भाषापर्यायशब्दैः स्वरूपकथनम्। आ० म० १ अ० । आ० चू० ।

(२३) सम्प्रति प्रतिश्रुतदृष्टान्तोपेतं भाषाद्वारमाह—

पडिसद्दगस्स सरिसं, जो भासइ अत्थमेगु सुत्तस्स ।
सामइय बाल पंडिय, साहु जईमाइया भासा ॥

यथा गिरिकुहरकन्दराऽऽदिषु यादृशः शब्दः क्रियते तादृशः प्रतिशब्द उत्तिष्ठते , एवं यो यादृशं सूत्रं तस्य तादृशमर्थमेकं भाषते , तस्य तद्भाषणं भाषा, यथा समभावः सामायिकं, द्वाभ्यां बुभुक्षया तृषा वा लगितो बालः, पापात् डीनः पलायितः पण्डितः । अथवा—पण्डा बुद्धिः सा सञ्जाताऽस्येति पण्डितः, साधयति मोक्षमार्गमिति साधुः यतते सर्वाऽऽत्मना संयमानुष्ठानेष्विति, आदिशब्दात्तपतीति तपन इत्यादिपरिग्रहः। बृ० १ उ० १ प्रक० । व्यवहारे प्रतिज्ञासूचकमवाक्ये, "यदावेदयते राज्ञे,तद्भाषेत्यभिधीयते ।" इति स्मृतिः। वाच०"सच्चोवा पयरो भावा, चिंसं वा परिमत्तओ । भासयं बाहिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥१॥" बृ० प्रकाशे , "आलोओ उज्जोओ, दित्ती भासा पहा पयासो य ।" पाइ० ना० ५८ गाथा ।

विषयसूची—

(११) अथ ग्रहणाऽऽदेर्जघन्यमुत्कृष्टं च कालमानम् ।
(१२) यद्यप्यौदारिकाऽऽदिशरीरपञ्चकभेदात्कायः पञ्चविधः, तथाऽपि त्रिविधेनैव कायेन वाग्द्रव्यग्रहणमिति समर्थनम् ।
(१३) औदारिकाऽऽदिशरीरवता भाषां गृह्णता मुञ्चता वा मुक्ता सती भाषा कियत् क्षेत्रं व्याप्नोति ?, इति प्ररूपणम् ।
(१४) तत्र शब्दद्रव्याणां भेदः ।
(१५) शिष्यस्य वाग्विनयविधानम् ।
(१६) अवाच्या भाषा ।
(१७) कश्चित् व्यवहारे प्रक्रान्ते पृष्टोऽपृष्टो वा कथं ब्रूयात् कथं वा नेति निरूपणम् ।
(१८) वाक्यशुद्धिफलम् ।
(१९) भाषावक्तव्यता षोडशवचनविधिगता च भाषा ।
(२०) शब्दस्य कृतकत्वाऽऽविष्करणम् ।
(२१) भाषणविधिनिरूपणम् ।
(२२) सति कारणे भाषणविधिः ।
(२३) प्रतिश्रुतदृष्टान्तोपेतं भाषाद्वारम् ।

भासागुण-भाषागुण-पुं० । हितमितदेशकालासंदिग्धभाषणाऽऽदिके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

भासाचंचल-भाषाचञ्चल-पुं० । भाषातश्चञ्चले चञ्चलभेदे, सू० १ उ० १ प्रक० । ( चञ्चलव्याख्या 'चंचल' शब्दे तृतीयभागे १०३२ पृष्ठे गता )

भासाजड्ड-भाषाजड-पुं० । भाषारहिते जडभेदे, " भासाजड्डो तिविहो जल मम्मण एलमूओ य । " आव० ४ अ० । ध० ।

भासाणुगामि (ण्)-भाषाऽनुगामिन्-त्रि० भाषा आर्य्यानार्य्यामरवाचः, अनुगच्छत्यनुकरोति तद्भाषाभावित्वात् स्वभाषायैव वा लब्धिविशेषात्तथाविधप्रत्ययजननात् आर्य्यार्य्याऽऽदिवागनुकरणशीले भाषाः संस्कृतप्राकृतमागधाऽऽद्याः अनुगमयति व्याख्यातीति एवं शीलः । संस्कृतप्राकृताऽऽदिभाषाव्याख्यातरि, औ० ।

भासाणिव्वत्ति-भाषानिर्वृत्ति-स्त्री० । भाषानिष्पत्तौ, भ० ।

कइविहा णं भंते ! भासाणिव्वत्ती पण्णत्ता । गोयमा ! चउव्विहा भासाणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-सच्चभासाणिव्वत्ती, मोसभासाणिव्वत्ती, सच्चामोसभासाणिव्वत्ती, असच्चामोसभासाणिव्वत्ती, एवं एगिंदियवज्जं जस्स जा भासा ०जाव वेमाणियाणं । भ० १९ श० ८ उ० ।

भासादोस-भाषादोष-पुं० । सावद्यानुमोदनाऽऽदिके, उत्त० १ अ० । असत्यसत्यमृषाकर्कशासभ्यशब्दोच्चारणाऽऽदिके च । " भासादोसं च तारिसं । " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

भासापज्जत्ति-भाषापर्याप्ति-स्त्री० । यया भाषाप्रायोग्यवर्गणादलिकामादाय भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्तिरित्युक्तलक्षणे पर्याप्तिभेदे, नं० । प्रव० । प्रज्ञा० । कर्म० । पं० सं० ।

भासापय-भाषापद-न० । भाषावक्तव्यताप्रतिबद्धे प्रज्ञापनाया एकादशे पदे, प्रज्ञा० ११ पद० ।

भासारहस्स-भाषारहस्य-न० । भाषावक्तव्यताप्रतिबद्धे ग्रन्थभेदे, प्रति० । ध० ।

भासारिय-भाषाऽऽर्य-पुं० । भाषाऽऽर्ये, प्रज्ञा० १ पद । (तेषां भेदाः 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३३६ पृष्ठे गताः )

भासालद्धिय-भाषालब्धिक-पुं० । भाषालब्धिमति, विशे० ।

भासावग्गणा-भाषावर्गणा-स्त्री० । भाषाप्रायोग्यवर्गणायाम्, प० सं० ५ द्वार ।

भासाविजय-भाषाविचय-पुं० । भाषा सत्याऽऽदिका तस्या विचयो निर्णयो भाषाविचयः । भाषानिर्णये, भाषानिर्णयोपेते दृष्टिवादे च । स्था० १० ठा० ।

भाषाविजय-पुं० । भाषाया वाचो विजयः समृद्धिर्यस्मिन् स भाषाविजयः । दृष्टिवादे, स्था० १० ठा० ।

भासाविसारय-भाषाविशारद-पुं० । संस्कृतप्राकृताऽऽदिभाषानिपुणे, " अट्ठारसदेसीभासाविसारए । " औ० ।

भासासद्द-भाषाशब्द-पुं० । भाषापर्याप्तिनामकर्मोदयाऽऽपादितो जीवःशब्दःभाषाशब्दः । तस्मिन्, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

" भासासद्दे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अक्खरसंबद्धे चेव, नोअक्खरसंबद्धे चेव । " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

( स्वस्वस्थाने व्याख्या ) " मितमहुरगीताऽऽदिभासासद्दे विलवियं ति भण्णति । " नि० चू० १ उ० ।

भासासमय-भाषासमय-पुं० । भाषाया निसृज्यमानावस्थातः परिणामावस्थापर्यन्ते समये, " भासासमयविइक्कंता । " भ० १३ श० ७ उ० ।

भासासमिइ-भाषासमिति-स्त्री० । भाषणं भाषा तद्विषया समितिर्भाषासमितिः । आव० ४ अ० । भाषणं भाषा तस्यां सम्यगितिर्भाषासमितिः । ध० ३ अधि० । पा० । निरवद्यवचनप्रवृत्तिरूपे समितिभेदे, स० ५ सम० । स्था० । नि० चू० ।

सम्प्रति भाषासमितिमाह—

कोहे माणे य माया य, लोभे य उवउत्तया ।
हासे भय मोहरिए, विगहासु तहेव य ॥ ९ ॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजओ ।
असावज्जं मितं काले, भासं भासेज्ज पण्णवं ॥ १० ॥

क्रोधे माने च मायायां लोभे चोपयुक्तता क्रोधाऽऽद्युपयोगपरता, तदेकाऽऽयतनेति यावत्, हास ( भय त्ति ) भये मौखर्ये विकथासु तथैवोपयुक्ततेति संबन्धः । तत्र क्रोधे यथा कश्चिदतिकुपितःपिता प्राह-" न त्वं मम पुत्रः, पार्श्ववर्त्तिनो वा प्रति प्राह—बध्नीत बध्नीत एनमित्यादि, माने यथा—कश्चिदभिमानाऽऽध्मातचेता न कश्चिद् मम जात्यादिभिस्तुल्य इति वक्ति । मायायां यथा-परव्यसनार्थमपरिचितस्थानवर्त्ती सुताऽऽदी भणति-नायं मम पुत्रो, न चाहमस्य पितेत्यादि । लोभे यथा कश्चिद्वणिक् परकीयमपि भाण्डाऽऽदिकमात्मीयमभिधत्ते । हास्ये यथा-केलीकिलतया कञ्चन तथाविधं कुलीनमप्यकुलीनमित्युल्लपति । भये यथा—तथाविधमकार्य-

माचर्य स त्वं येन तसदाचरितमिति पृष्ट प्राह—नाहं तदाऽस्मिन् देशे एवाभूवमित्यादि, मौखर्ये यथा-मुखरतया यत्तत्परपरिवादादि वदन्नास्ते। विकथासु स्त्र्यादिकथासु अ हो कटाक्षविक्षेपास्तस्या इत्यादिकमाह। पठ्यते च-" कोहे य माणे य माया, य लोभे य तहेव य। हासभयमोहरीए वि- कहा य तहेव य ॥१॥" गतार्थमेव। एतान्यनन्तरमुक्तरूपाण्य- ष्टौ स्थानानि परिवर्ज्य परिहृत्य संयतः, किमित्याह-असाव- द्यां निर्दोषां तामपि मितां स्तोकां यावत्युपयुज्यते तावतीमे- व काले प्रस्तावे भाषा वाचं भाषेत वदेत प्रज्ञा बुद्धिस्तद्वा- न् इति सूत्रद्वयार्थः ॥ ६-१० ॥ उत्त० २४ अ०।

अत्राप्युदाहरणम्-

कोई साहू भिक्खट्ठा नगरे रोहए निग्गंतुं बाहिरकडए हिं- डंतो केणइ पुट्ठो, जहा-

" केयइय आसहत्थी, तह निचओ दारुधन्नमाईणं।
निविवक्खाऽनिविवक्खा, नागरगा बेहि मं समिओ ॥ १ ॥
बेइ न जाणामोत्ती, सज्झायज्झाण जोगवक्खित्ता।
हिंडंता न वि पेच्छह, न वि सुणह य किह णु तो वेइ ॥ २॥
बहु सुणेहि कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ ३ ॥" पा०।

भासासमिय-भाषासमित-पुं०। भाषासमितिमति, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। औ०।

भासिज्जमाण-भाष्यमाण-त्रि०। अभिधीयमाने, स० ३४ सम०। वाग्योगेन निसृज्यमाने, आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ०।

भासिणा-देशी-दले, दे० ना० ६ वर्ग १०४ गाथा।

भासित्तए-भाषितुम्-अव्य०। वक्तुमित्यर्थे, भ० १६ श० ५ उ०।

भासित्ता-भाषित्वा-अव्य०। भाषणं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

भासिय-भाषित-त्रि०। भाष-क्तः। प्रतिपादिते, स० १० अ- ङ्ग०। आतु०। भ०। सूत्र०। प्रज्ञापिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। भावे क्तः। भाषणे, न०। आ० म० १ अ०।

भासियव्व-भाषितव्य-त्रि०। प्रतिपादनीये,भ० १२ श० ६ उ०।

भासुंडी-देशी-नि.सरणे, दे० ना० ६ वर्ग १०३ गाथा।

भासुज्जुयया-भाषर्जुकता-स्त्री०। भाषाऽऽर्जवे, भ० ८ श० ६ उ०। वाचो यथावस्थितार्थप्रत्यायनार्थाय प्रवृत्तौ, स्था० ४ ठा० १ उ०।

भासुर-भासुर-त्रि०। भास्वरे, दीप्तिमति, " भासुरवरबोंदि- धरो, देवो वेमाणिओ जाओ" आ० क० ४ अ०। स्था०। रा०। आ० म०। नि० चू०। उपा०। जी०। घोरे, " घोरा दारुण- भासुर—भइरव—भीम—भीसणया। " पाइ० ना० ६५ गाथा। " भासुरबोंदीपलंबवणमालधरा " प्रश्न० २ पद। स्फटिके च। वीरे, पु०। कुष्ठौषधौ, न०। वाच०। स्व- नामख्याते विमाने च। स० ७ सम०। कल्प०।

भिइ भृति-स्त्री०। भृ—क्तिन्। " उदत्वादौ " ॥ ८ ॥ १ ॥ १३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणेत्वम्। प्रा० १ पाद। भरणे, पोषणे च। वाच०। स्था०। करणे क्तिन्। वेतने,मूल्ये च। वाच०। भृतिः पदात्यादीनां वृत्तिरिति। अनु०।

भिउ-भृगु-पुं०। भ्रस्ज-कु० पृ०। लोकप्रसिद्धे स्वनामख्याते ऋषिविशेषे, औ०। शिवे, शुक्रग्रहे, पर्वतसानौ, जमदग्नौ, उच्चप्रदेशे च। भृगुः प्रणतस्थानम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। भृगोर्गोत्रापत्यम् अण्। " बहुषु लुक् " ॥। ॥ भृगोर्वंश्ये च। वाच०। श्लक्ष्णायां राजौ, वृ० १ उ० १ प्रक०। श्लक्ष्णभूरे- खा जलशोषानन्तरं जलकेदाराऽऽदिषु स्फुटितायां दालौ, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

भिउकच्छ-भृगुकच्छ-पुं०। लाटदेशस्थे स्वनामख्याते पुरे, ती० ४५ कल्प। विशे०। आ० क०।

भिउच्च-भार्गव-पुं०। भृगुर्लोकप्रसिद्ध ऋषिविशेषस्तस्य शि- ष्यो भार्गवः। परिव्राजकभेदे, औ०।

भिउडि-भ्रु ( भ्रू ) (भ्रु) कुटि-स्त्री०। भ्रुवः कुटिर्भङ्गिः-पृ० वा ह्रस्वः संप्रसारणं वा ङीप्। वाच०। " इर्भ्रुकुटौ " ॥ ८ । १ । ११० ॥ इति इति प्राकृतसूत्रेण भ्रुकुटावादेरुत इ। प्रा० १ पाद। भ्रूविकारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। भ्रुकुटिः कोपकृत- भ्रूविकारः। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। "करेति भिउडिं मुहे।" भ्रू- कुटिरविशवशकृत भ्रूविक्षेप। उत्त० २७ अ०। लो- चनविकारविशेषे, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०। विपा०। आव०। त्रिवलीतरङ्गिते ललाटे च। " भिउडीविडंबियमु- हा। " त्रिवलीतरङ्गितललाटरूपया भ्रूकुटया विडम्बितं वि- कृतं मुखं यस्य सः। अनु०। भ्रुकुटिर्नयनललाटविकारवि- शेषः। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। श्रीचन्द्रप्रभजिनस्य स्वनाम- ख्याताया देव्याम्, प्रव०। श्रीचन्द्रप्रभस्य ज्वाला, मता- न्तरेण—भृकुटिर्देवी पीतवर्णा वरालकाऽऽख्यजीवविशे- षवाहना चतुर्भुजा खड्गमुद्गरभूषितदक्षिणकरद्वया फल- कपरशुयुतवामपाणिद्वया च। प्रव० २७ द्वार०। श्रीनमिजि- नस्य स्वनामख्याते यक्षे, पुं०। प्रव०। श्रीनमिजिनस्य- भृकुटिर्यक्षश्चतुर्मुखस्त्रिनेत्र सुवर्णवर्णो वृषभवाहनोऽष्टभुजो बीजपूरकशक्तिमुद्गराभययुक्तदक्षिणकरचतुष्टयो नकुलपरशु- वज्राक्षसूत्रयुक्तवामकरचतुष्टयश्च। प्रव० २६ द्वार।

भिउडिदोस-भ्रु ( भ्रू ) भृकुटिदोष-पुं०। कायोत्सर्गदोषभेदे, व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् कायोत्सर्गे तिष्ठति भृकुटिदोष। प्रव० ४ द्वार।

भिउडिय-भृकुटित-त्रि०। कृतभ्रुकुटिके,ज्ञा० ३ श्रु० ८ अ०।

भिउपक्खंदण-भृगुप्रस्कन्दन-न०। भृगुप्रपतने, नि० चू० ४ उ०।

भिउपुर-भृगुपुर-न०। लाटदेशस्थे स्वनामख्याते पुरे, " आ स्ते भृगुपुरं तत्र, लाटदेशललाटिका।" आ० क० १ अ०।

भिउर-भिदुर-त्रि०। भिद्-कुरच्। पवौ, वाच०। स्वयमेव भिद्यते इति भिदुरम्। प्रतिक्षणं विशरारौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। "भिदुरेसु ण रज्जेज्जा।" भेदनशीला भिदुराः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ०।

भिउरधम्म-भिदुरधर्म--पुं०। स्वत एव भिद्यते इति भिदुरम्, स एव धर्मः स्वभावो यस्य स भिदुरधर्म्मः। आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। प्रतिक्षणं विशरारुशीले, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०। "भिउरधम्मं विद्धंसणधम्मं।" आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। स्था०।

भिंग-भृङ्ग--पुं०। भृ—गन् कित् नुट् च। चतुरिन्द्रिये नील वर्णे पद्मले पक्षिविशेषे, प्रज्ञा० १७ पद। आ० म०। जी०। तं०। रा०। प्रश्न०। अष्ट०। ज्ञा०। अङ्गारविशेषे, औ०। भृङ्गो भृङ्गाभिधानः कीटविशेषः, विदलिताङ्गारो वा। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। कल्पवृक्षभेदे, संज्ञाशब्दत्वात् भृङ्गाराऽऽदिविविधभाजनसम्पादका भृङ्गाः। स्था० ७ ठा०। कलिङ्ग-विहगे, भृङ्गराजे, जारे, भृङ्गरोले च। अभ्रके, गुडत्वचि, न०। वाच०। भ्रमरे, "फुल्लंधुआ रसाऊ, भिंगा भसला य महुअरा अलिणो। इंदिंदिरा दुरेहा, धुअंगया छप्पया भमरा॥ ११॥" पाइ० ना० ११ गाथा।

भृताङ्ग--पुं०। भृतं भरणं तत्राङ्गं कारणं भृताङ्गम्। भाजने, तत्सम्पादके कल्पवृक्षभेदे, "मतंगया य भिंगा।" भृतं भरणं पूरणं तत्राङ्गानि कारणानि भृताङ्गानि भाजनानि, न हि भरणक्रिया भरणीयं भाजनं विना भवतीति तत्सम्पादकत्वात् वृक्षा अपि भृताङ्गाः, प्राकृतत्वाच्च 'भिंगा' उच्यन्ते। स्था० १० ठा०। प्रव०। जं०। आ० म०। कृष्णे, दे० ना० ६ वर्ग १०४ गाथा।

भिंगंगय-भृताङ्गक -पुं०। स्वनामख्याते द्रुमे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

भिंगणिभा--भृङ्गनिभा--स्त्री०। जम्बूसुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां दिशि स्थितायां स्वनामख्यातायां नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

भिंगपत्त- भृङ्गपत्र--न०। भृङ्गस्य पक्षिविशेषस्य पत्रं पक्ष्म भृङ्गपत्रम्। भृङ्गपक्ष्मणि, प्रज्ञा० १७ पद ४ उ०। आव०। स०। जी०। रा०।

भिंगप्पभा--भृङ्गप्रभा--स्त्री०। जम्बूसुदर्शनाया अपरदक्षिणस्या दिशि स्थितायां स्वनामख्याताया नन्दापुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष०।

भिंगा-भृङ्गा--स्त्री०। जम्बूसुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां दिशि स्थितायां स्वनामख्यातायां पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष०। जी०।

भिंगाइजीव-भृङ्गाऽऽदिजीव--पुं०। जीवविशेषे, राजप्रश्नीये एवंगमकेनेऽनेकपक्षिणः, तथा भृङ्गाऽऽदिजीवा उक्ताः, स्थानपदे च ते निविष्टाः, तत्र किं तत्त्वमिति प्रश्ने, उत्तरम्—राजप्रश्नीयोक्ता भृङ्गाऽऽदिजीवाः पृथ्वीपरिणामरूपा ज्ञेयाः, ये तु स्थानपदे निविष्टास्ते त्रसरूपा इति॥ १२१॥ प्र०। सेन० १ उल्ला०।

भिंगार-भृङ्गार-पुं०। बिभर्ति जलं भृ-आरन्। "इत्कृपाद्यौ" ८।१।१२८॥ इतीत्वम्। प्रा० १ पाद। स्वर्णमयजलपात्रे, भृङ्गार: कनकालुका। जं० २ वक्ष०। जलभाजनविशेषे, सा० म० दे०।

१ अ०। औ०। जं०। जी०। रा०। "अप्पेगइया भिंगारकलसहत्थगया।" जी० ३ प्रति० ४ अधि०। पक्षिविशेषे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। ज्ञा०। प्रश्न०। औ०। भृङ्ग इव ऋच्छति ऋ—अच्। भृङ्गराजे, लवङ्गे, सुवर्णे च। न०। "झिल्लीनामके कीटे, स्त्री०। गौरा० ङीप्। स्वार्थे कन्। तत्रैवार्थे, वाच०।

भिंगारी- भृङ्गारी-स्त्री०। "भिंगारी झिल्लिआ चीरी।" पाइ० ना० १२४ गाथा। चीर्याम्, मशक इत्यन्ये, दे० ना० ६ वर्ग १०५ गाथा।

भिगुलेण- भृगुलयन--न०। भृगुः शुष्कभूरेखा जलशोषानन्तरं जलकेदाराऽऽदिषु स्फुटिता दालिरित्यर्थः। तदेव लयनं भृगुलयनम्। लयनभेदे, कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

भिंडिमाल-भिन्दिपाल--पुं०। 'भिदि' विदारणे इन्। भिन्दिं भेदनं पालयति, पाल अण्। हस्तक्षेप्ये नालिकास्त्रे, हस्तप्रमाणेऽस्त्रे च। वाच०।

भिन्दिमाल-पुं०। शस्त्रजातिविशेषे, जी०। भिन्दिमालः शस्त्रजातिविशेष०। जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। प्रश्न०।

भिण्डिमाल-पुं०। प्रहरणविशेषे, जी०। भिण्डिमालः प्रहरणविशेषः। जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०। प्रश्न०। भिण्डिमालं रूढिगम्यम्। औ०।

भिंडया-भिण्डिका-स्त्री०। पोत्कारे, "भिंडिआ उक्कोडिओ पोक्काओ त्ति वुत्तं भवति।" नि० चू० १ उ०।

भिंदइत्ता-भित्त्वा-अव्य०। ऊर्द्धपाटनेन शाटकाऽऽदिकमिव विदार्येत्यर्थे, "भिंदिय भिंदिया च णं वा पक्खिवेज्जा।" भ० १४ श० ८ उ०। प्रश्न०।

भिंदिय-अव्य०। स्फोटयित्वेत्यर्थे, भ० १५ श०। विपा०। रा०।

भिंभा-भिम्भा (म्भी)-स्त्री०। भेर्याम्, दशा० १० अ०। ढक्कायाम्, स्था० ६ ठा०।

भिंभासार-भिम्भासार--पुं०। राजगृहनगरस्थे श्रेणिकराजे, भिम्भा भेरी सैव सारा प्रधाना यस्यासौ। भिम्भासारः दशा० १० अ०। "भिंभि त्ति ढक्का" सा सारो यस्य स भिम्भसारः। राजगृहनगरस्थे श्रेणिके राजनि, स्था०। तेन किल कुमारत्वे प्रदीपनके जयढक्का गेहान्निष्काशिता ततः पित्रा भिंभिसार उक्त इति। स्था० ६ ठा०। आव०। "जया य रायगिहे अग्गी उट्ठिओ, तनो कुमारा जं जस्स पियं-आसो, हत्थी तं तेण णीयं, सेणिएण भिंभा णीता, राया पुच्छइ—केण कं णीणियं ति, अन्नो भणइ-मए हत्थी आसो एवमादी। सेणिओ भणति-भिंभा। ताहे राया भणइ सेणियं, एस तव सारो भिंभि त्ति सो भणति—आमं। सो य रण्णो अभंतपिओ, तेण से नामं कयं भिंभिसारो।" आव० ४ अ०। दशा०।

भिक्ख-भिक्ष-धा०। भिक्षायां लाभेऽलाभे च। भ्वादि०। आत्म०। सेट्। भिक्षते। अभिक्षिष्ट। वाच०।

भैक्ष-न०। भिक्षैव स्वार्थे अण्। भिक्षायाम्, भिक्षास-मूहे च। वाच०। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

भिक्खग्गहण-भिक्षाग्रहण-न०। उपविष्टस्य सतः भिक्षाया ग्रहणे, पृ० १ उ० २ प्रक०।

भिक्खा-भिक्षा-स्त्री०। भिक्ष्यते भिक्षा। भिक्ष—अ। टाप्।

नायाम् । वाच० । कवले, पञ्चा० १६ विव० । विधिना पिण्डाऽऽनयने, ग० २ अधि० ।

भिक्षाशब्दार्थमुपदर्शयन्नाह—

भिक्खासद्दो चेवं, अणियतलाभविसउ त्ति एमादी ।
सव्वं चिय उववन्नं,किरियावंतम्मि उ जतिम्मि ॥ ३३ ॥

भिक्षाशब्दोऽपि भिक्षेति ध्वनिरपि । एवमिति पिण्डशब्द इव विशेषविषय इत्यर्थः । विशेषविषयत्वमेवाऽऽह-अनियतलाभविषयोऽप्रतिनियतभक्ताऽऽदिप्राप्तिगोचर । यतो गुणवद्वरेषाऽनियतो लाभः स्यात् । इतिरुपप्रदर्शने । एवमादि एवंप्रभृतिकं (सव्वं चिय त्ति) "संपत्ते भिक्खुकालम्मि" इत्यादि सूत्रेषु यो भिक्षाशब्दोऽनियतलाभार्थो व्याख्यात.,आदिशब्दाच्चान्यदप्येवंप्रायमुक्तं, तत्सर्वमेव समस्तमेव । उपपन्नं युक्तम् । केत्याह- क्रियावति सुसाधुक्रियायुक्त एव; यतौ साधौ , तदन्यत्र ह्यनियतलाभाऽऽदेरर्थस्यानवश्यंभावित्वादिति गाथाऽर्थः॥३३॥ पञ्चा० १० विव० । ( भिक्षायाः सर्वसम्पत्कर्याद्या भेदाः 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे १००६ पृष्ठे गताः ) ( भिक्षायाः सर्वोऽधिकारः ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीय-भागे ६६७ पृष्ठादारभ्यावलोकनीयः ) भिक्षा च नवकोटिपरिशुद्धा ग्राह्या । स्था० ।

तथा च—

समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं नवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे पन्नत्ते । तं जहा—ण हणइ,ण हणावेइ, हणंतं नाणुजाणइ; न पयइ, ण पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ; न किणइ, न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ ।

नवभिः कोटिभिः विभागै. परिशुद्धं निर्दोष नवकोटिपरिशुद्धं, भिक्षाणां समूहो भैक्ष प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—न हन्ति साधुः स्वयमेव गोधूमाऽऽदिदलनेन, न घातयति परेण गृहस्थाऽऽदिना, घ्नन्तं नानुजानाति अनुमोदनेन तस्य वा दीयमानस्याऽप्रतिषेधनेन 'अप्रतिषिद्धमनुमतम् ।' इति वचनात्, हननप्रसङ्गजननाच्चेति । आह च-" कामं सयं न कुव्वइ, जाणंतो पुण तहावि तग्गाही । वड्ढेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १ ॥ " इति । तथा हतं पिष्टं सत् गोधूमाऽऽदि मुद्गाऽऽदि वा, अहतमपि सन पचति स्वय, शेषं प्राग्वत् सुगमं च । इह चाऽऽद्याः षट् कोट्योऽविशोधिकोट्यामवतरन्ति, आधाकर्माऽऽदिरूपत्वात् । अन्यास्तु तिस्रो विशोधिकोट्यामिति । उक्तं च-" सा नवहा दुह कीरइ,उग्गमकोडी विसोहिकोडी य । छसु पढमा ओयरइ, कीयतीयम्मी विसोधीओ ॥ १ ॥ " इति । स्था० ६ ठा० ।

भिक्षा च ऋषभस्वामिसमय एव प्रवृत्ता—

दत्तिं व दाणमुसभ, दिन्नं दट्ठुं जणम्मि वि पयत्तं ।
जिणभिक्खादाणं पि य, दट्ठु भिक्खा पयत्ता उ ॥

अथवा-दत्तिर्नाम दानं,तच्च भगवन्तम् ऋषभस्वामिनं सांवत्सरिकं दानं ददतं दृष्ट्वा लोके अपि प्रवृत्तम् । यदि वा—दत्तिर्नाम भिक्षादानं, तच्च जिनस्य भिक्षादानं प्रपौत्रेण कृतं दृष्ट्वा लोकेऽपि भिक्षा प्रवृत्ता, लोका अपि भिक्षां दातु प्रवृत्ता इति भाव. । आ० म० १ अ० ।

भिक्खाग-भिक्षाक-त्रि० । भिक्ष—षाकन् । भिक्षाकारके, वाच० । भिक्षणशीलो भिक्षणधर्मा भिक्षणे साधुर्वा भिक्षाकः । स्था० ४ ठा० १ उ० । आचा० । भिक्षणवृत्तिके साधौ, स्था० ।

ते चतुर्विधाः—

चत्तारि घुणा पन्नत्ता । तं जहा-तयक्खाए, छल्लिक्खाए, कट्ठक्खाए,सारक्खाए । एवामेव चत्तारि भिक्खागा पन्नत्ता । त जहा-तयक्खायसमाणे०जाव सारक्खायसमाणे । तयक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स सारक्खायसमाणे तवे पन्नत्ते । सारक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स तयक्खायसमाणे तवे पन्नत्ते । छल्लिक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स कट्ठक्खायसमाणे तवे पन्नत्ते । कट्ठक्खायसमाणस्स णं भिक्खागस्स छल्लिक्खायसमाणे तवे पन्नत्ते ( सूत्रम्-२४१ )

त्वचं बाह्यवल्कं खादतीति त्वक्खादः, एवं शेषा अपि, नवरम् ( छल्लि त्ति ) अभ्यन्तरं वल्कं, काष्ठं प्रतीतं, सारः काष्ठमध्यमिति दृष्टान्त , एवमेवेत्याद्युपनयसूत्रं, भिक्षणशीला भिक्षणधर्माणो भिक्षणे साधवो वा भिक्षाकाः, त्वक्खादेन घुणेन समानोऽत्यन्तं सन्तोषितया आयामाम्लाऽऽदिप्रान्ताऽऽहारभक्षकत्वात् त्वक्खादसमान. । एवं छल्लीखादसमानोऽलेपाऽऽहारकत्वात्, काष्ठखादसमानो निर्विकृतिकाऽऽहारतया सारखादसमानः, सर्वकामगुणाऽऽहारत्वादिति । एतेषा चतुर्णामपि भिक्षाकाणां तपोविशेषाभिधानसूत्रम्-" तयक्खाए " इत्यादि सुगमं, केवलमयं भावार्थ —त्वक्कल्पासाराभ्यवहर्तुर्निरभिष्वङ्गत्वात्कर्मभेदमङ्गीकृत्य वज्रसार तपो भवतीत्यतोऽपदिश्यते—( सारक्खायसमाणे तवे त्ति ) सारखादघुणस्य सारखादत्वादेव समर्थत्वात वज्रतुण्डत्वाच्चेति, सारखादसमानस्योत्कलक्षणस्य साभिष्वङ्गतया त्वक्खादसमानं कर्मसारभेद प्रत्यसमर्थ तपः स्यात्, त्वक्खादकघुणस्य हि त्वक्खादत्वादेव सारभेदनं प्रत्यसमर्थत्वादिति, तथा छल्लीखादघुणसमानस्य भिक्षाकस्य त्वक्खादघुणसमानापेक्षया किञ्चिद्विशिष्टभोजित्वेन किञ्चित्साभिष्वङ्गत्वात् सारखादकाष्ठखादघुणसमानापेक्षया स्वसारभोजित्वेन निरभिष्वङ्गित्वाच्च कर्मभेदं प्रति काष्ठखादघुणसमानं तप' प्रज्ञप्तं, नातितीव्रं, सारखादघुणवज्राप्यतिमन्दाऽऽदि, त्वक्छल्लीखादघुणवदिति भावः । तथा काष्ठखादघुणसमानस्य साधोः सारखादघुणसमानापेक्षया स्वसारभोजित्वेन निरभिष्वङ्गत्वात् त्वक्छल्लिखादघुणसमानापेक्षया सारतरभोजित्वेन साभिष्वङ्गत्वाच्च छल्लीखादघुणसमान तपः प्रज्ञप्त कर्मभेदं प्रति न सारखादकाष्ठखादघुणवदतिसमर्थाऽऽदिनाऽपि त्वक्खादघुणवदतिमन्दमिति भावः । प्रथमविकल्पे प्रधानतरं तपो,द्वितीये अप्रधानतर, तृतीये प्रधानं,चतुर्थे अप्रधानमिति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चत्तारि पक्खी पन्नत्ता । तं जहा—णिवइत्ता णाममेगे णो परिवइत्ता, परिवइत्ता णाममेगे णो णिवइत्ता, एगे णिवइत्ता वि परिवइत्ता वि एगे णो णिवइत्ता णो परिवइत्ता २७ । एवामेव चत्तारि भिक्खागा पन्नत्ता । तं जहा—णिवइत्ता

णामेगे णो परिवइत्ता, परिवइत्ता णाममेगे णो णिवइत्ता, एगे णिवइत्ता वि परिवइत्ता वि, एगे णो णिवइत्ता णो परिवइत्ता । ३८ । ( सूत्रम् ३५१ )

निपातिता नीडादवतरीता अवतरीतुं शक्तो नाभेकः पक्षी धृष्टत्वादबलत्वाद्वा, न तु परिव्राजिता न परिव्रजितुं शक्तो बालत्वादित्येकः, एवमन्यः परिव्रजितुं शक्तः पुष्टत्वान्न तु निपतितुं भीरुत्वादन्यस्तूभयथा चतुर्थस्तूभयप्रतिषेधवानतिबालत्वादिति ।३७। निपतिता भिक्षाचर्यायामवतरीता भोजनाऽऽर्थित्वान्न तु परिव्रजिता परिभ्रमको ग्लानत्वादलसत्वाल्लज्जालुत्वाद्वेत्येकः, अन्यः परिव्राजिता परिभ्रमणशील आश्रयाभिर्गतः सन्न तु निपतिता भिक्षार्थमवतरीतुमशक्तः सूत्रार्थाशक्तत्वाऽऽदिना, शेषौ स्पष्टौ ।३८। (३५१)। स्था०४ ठा०४ उ०।

चत्तारि भिक्खागा पण्णत्ता । तं जहा-अणुसोयचारी, पडिसोयचारी, अंतचारी, मज्झचारी ॥ २३ ॥

भिक्षाकः साधुर्यो ह्यभिग्रहविशेषादुपाश्रयसमीपात् क्रमेण कुलेषु भिक्षते सोऽनुश्रोतश्चारी मत्स्यवदनुश्रोतश्चारी प्रथमः, यस्तूत्क्रमेण गृहेषु भिक्षमाण उपाश्रयमायाति स द्वितीयः, यस्तु क्षेत्रान्तरेषु भिक्षते स तृतीयः, क्षेत्रमध्ये चतुर्थः ॥२३॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

पंच मच्छा पण्णत्ता । तं जहा---अणुसोयचारी पडिसोयचारी अंतचारी मज्झचारी सव्वचारी। एवमेव पंच भिक्खागा पण्णत्ता । तं जहा--अणुसोयचारी० जाव सव्वचारी॥

तत्र मत्स्यः प्राग्वत् भिक्षाकस्तु अनुश्रोतश्चारी प्रतिश्रयादारभ्य भिक्षाचारी स च प्रथमः प्रतिश्रोतश्चारी दूरादारभ्य प्रतिश्रयाभिमुखचारीत्यर्थः, स च द्वितीयः अन्तचारी पार्श्वचारीति तृतीयः, शेषौ प्रतीतौ । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

भिक्खागकुल-भिक्षाककुल-न० । भिक्षणवृत्तिके कुले, स्था० ८ ठा० । " भिक्खागकुलेसु वा । " भिक्षाकास्तालचाराः । तेषु, कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

भिक्खाड-भिक्षाट--पुं० । भिक्षामटतीति भिक्षाटः भिक्षणशीले साधौ, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । भिक्षाटो भिक्षाभोजीति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

भिक्खादोस-भिक्षादोष-पुं० । आधाकर्मादिके, ते च षोडशोद्गमदोषाः षोडशोत्पादनादोषाः दशैषणादोषाः । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

भिक्खाभायण--भिक्षाभाजन-न० । भिक्षापात्रे भिक्षाभाजनमिव भिक्षाभाजनम् । भिक्षोर्निर्वाहकरणे च । " जोव्वणगमणुप्पत्ते, तव मम भिक्खा भायणे भविस्सइ " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

भिक्खामत्तवित्ति-भिक्षामात्रवृत्ति-त्रि० । भिक्षामात्रेण सर्वोपाधिशुद्धेन वृत्तिरस्य । भिक्षामात्रेण वृत्तिं कुर्वति, दश० १० अ० ।

भिक्खायर--भिक्षाचार--पुं० । भिक्षुके, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । द० प० ।

भिक्खायरिया--भिक्षाचर्या--स्त्री० । भिक्षार्थं चर्या चरणमटनं भिक्षाचर्या । स्था० ६ ठा० । आचा० । आव० । भिक्षाटने सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । भिक्षाचर्या भिक्षानिमित्तं विचरणमेति । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । ग० । वृत्तिसंक्षेपे, स्था० ६ ठा० । तद्रूपे अनशनभेदे, भिक्षाचर्या तपो निर्जराङ्गत्वादनशनवत् । स्था० ६ ठा० । विपा० ।

तद्भेदाः—

से किं तं भिक्खायरिया ? । भिक्खायरिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा--दव्वाभिग्गहचरए, खेत्ताभिग्गहचरए, कालाभिग्गहचरए, भावाभिग्गहचरए, उक्खित्तचरए, णिक्खित्तचरए , उक्खित्तणिक्खित्तचरए , णिक्खित्तउक्खित्तचरए, वट्टिज्जमाणचरए , साहरिज्जमाणचरए, उवणीअचरए, अवणीअचरए, उवणीअअवणीअचरए, अवणीयउवणीअचरए, संसट्ठचरए, असंसट्ठचरए तज्जातसंसट्ठचरए, अण्णायचरए, मोणचरए, दिट्ठलाभिए, अदिट्ठलाभिए,पुट्ठलाभिए,अपुट्ठलाभिए, भिक्खालाभिए,अभिक्खालाभिए, अण्णगिलायए, ओवणिहिए,परिमितपिंडवाइए, सुद्धेसणिए,संखायतिए । से तं भिक्खाय(द)रिया । ( सूत्र-१९ )

(दव्वाभिग्गहचरए त्ति) द्रव्याऽऽश्रिताभिग्रहेण चरति भिक्षामटति द्रव्याऽऽश्रिताभिग्रहं वा चरत्यासेवते यः स द्रव्याभिग्रहचरकः इह च भिक्षाचर्यायां प्रक्रान्तायां यद् द्रव्याभिग्रहचरक इत्युक्तं तद्धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षणात् । द्रव्याभिग्रहश्च लेपकृताऽऽदिद्रव्यविषयः । क्षेत्राभिग्रहः स्वग्रामपरग्रामाऽऽदिविषयः।कालाभिग्रहः पूर्वाह्णाऽऽदिविषयः,भावाभिग्रहस्तु गानहसनाऽऽदिप्रवृत्तपुरुषाऽऽदिविषयः।(उक्खित्तचरए त्ति ) उत्क्षिप्तं स्वप्रयोजनाय पाकभाजनादुद्धृतं तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीत्युत्क्षिप्तचरकः । एवमुत्तरत्रापि । ( निक्खित्तचरए त्ति ) निक्षिप्तं पाकभाजनादनुद्धृतम् ( उक्खित्तनिक्खित्तचरए त्ति ) पाकभाजनादुत्क्षिप्य निक्षिप्तं तत्रैवान्यत्र वा स्थाने यत्तदुत्क्षिप्तनिक्षिप्तम् । अथवोत्क्षिप्तं च निक्षिप्तं च यश्चरति स तथोच्यते ( निक्खित्तउक्खित्तचरए त्ति) निक्षिप्तं भोजनपात्र्यामुत्क्षिप्तं च स्वार्थं तत एव निक्षिप्तोत्क्षिप्तम्, ( वट्टिज्जमाणचरए त्ति ) परिवेष्यमाणचरकः ( साहरिज्जमाणचरए त्ति) यत् कूराऽऽदिकं शीतलीकरणार्थं पटाऽऽदिषु विस्तारितं तत्पुनर्भाजने क्षिप्यमाणं संह्रियमाणमुच्यते, ( उवणीयचरए त्ति ) उपनीतं केनचित्कस्यचिदुपढौकितं प्रहेणकाऽऽदि, ( अवणीयचरए त्ति ) अपनीतं देयद्रव्यमध्यादपसारितमन्यत्र स्थापितमित्यर्थः । (उवणीयावणीयचरए त्ति) उपनीतं विनीतं ढौकितं सत् प्रहेणकाऽऽद्यपनीतं स्थानान्तरस्थापितम्,अथवोपनीतं चापनीतं च यश्चरति स तथा ।अथवा-उपनीतं दायकेन वर्णितगुणम्; अपनीतं निराकृतगुणम्, उपनीतापनीतं यदेकेन गुणेन वर्णितं गुणान्तरापेक्षया तु दूषितं यथाऽहो शीतलं जलं केवलं क्षारमिति , यत्तु क्षारं, किं तु—शीतलं तदपनीतोपनीतमुच्यते इति । अत आह—( अवणीयउवणीयचरए त्ति ) ( संसट्ठचरए त्ति ) संसृष्टेन खरण्टितेन हस्तादिना दीयमानं संसृष्टमुच्यते, तच्चरति यः स तथा । (असंसट्ठचरए त्ति) तद्विपरीतः ( तज्जायसंसट्ठचरए त्ति ) तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत् संसृष्टं हस्ताऽऽदि तेन दीयमानं यश्चरति स तथा । (अण्णायचरए त्ति) अज्ञातः अनुपदर्शितसौजन्याऽऽदि·

भावः संश्चरति य. स तथा ( मोणचरए त्ति ) व्यक्तम् ( दिट्ठलाभिय त्ति ) दृष्टस्यैव भक्ताऽऽदेर्दृष्टाद्वा पूर्वोपलब्धात् दायकाल्लाभो यस्यास्ति स दृष्टलाभिकः , ( अदिट्ठलाभिए त्ति ) तत्रादृष्टस्यापि अपवारकाऽऽदिमध्यान्निर्गतस्य श्रोत्राऽऽदिभिः कृतोपयोगस्य भक्ताऽऽदेरदृष्टाद्वा पूर्वमनुपलब्धात् दायकाल्लाभो यस्यास्ति स तथा (पुट्ठलाभिए त्ति) पृष्टस्यैव हे साधो ! किं ते दीयत इत्यादि प्रश्नितस्य यो लाभ· स यस्यास्ति स तथा ( अपुट्ठलाभिए त्ति ) उक्तविपर्ययादिति ( भिक्खालाभिए त्ति ) भिक्षेव भिक्षा तुच्छमविज्ञातं वा तल्लाभो प्राप्तत या यस्यास्ति स भिक्षालाभिकः । ( अभिक्खालाभिए त्ति ) उक्तविपर्ययात् (अन्नगिलायए त्ति) अन्नं भोजन विना ग्लायति अन्नग्लायकः, स चाभिग्रहविशेषात् प्रातरेव दोषान्नभुगिति । ( ओवणिहिए त्ति ) उपनिहितं यथाकथञ्चित् प्रत्यासन्नीभूत तेन चरति यः स औपनिहितिकः , उपनिधिना वा चरतीत्यौपनिधिकः। (परिमियपिंडवाइए त्ति) परिमित पिण्डपातः अर्द्धपोषाऽऽदिलाभो यस्यास्ति स तथा । (सुद्धेसणिए त्ति ) शुद्धैषणाशङ्काऽऽदिदोषरहितता शुद्धस्य वा निर्व्यञ्जनस्य कूराऽऽदेरेषणा यस्यास्ति स तथा । ( संखायत्तिए त्ति ) सङ्ख्याप्रधाना दत्तयो यस्य स तथा दत्तिश्च एकक्षेप भिक्षालक्षणा । औ० । भ० ।

भिक्षाचर्यामाह—

**अट्ठविहं गोयरग्गं तु , तहा सत्तेव एसणा ।**
**अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥ २५ ॥**

भिक्षाचर्या वृत्तिसंक्षेपापरनामिका बाह्या तपस्या आख्याता अष्टविधो गोचराग्रः प्राकृतत्वादष्टविधोऽग्रगोचर इति-पाठ. । अग्रप्रधानो गोचरः, अष्टविधश्चासौ अग्रगोचरश्च अष्टविधाग्रगोचरः, अष्टौ अग्रगोचरगा भेदा इत्यर्थः । पेटा १, अर्द्धपेटा २, गोमूत्रिका ३, पतङ्गवीथिका ४, अभ्यन्तरशम्बूकावर्त्ता ५, बाह्यशम्बूकावर्त्ता ६ च, आयतगन्तुप्रत्यागमा ७, ऋजुगतिः ८, एवमष्टौ भेदा ऋजुगनिवक्रगतिक्षेपणात् ज्ञेयाः। सप्त एषणा· संसृष्टाऽऽदय·-"संसट्ठा १, असंसट्ठा २, उद्धड३, अप्पलेपिका ४, उग्गहीता ५, पग्गहीता ६, उज्झियधम्मा ८" एषा सप्तविधा एषणा ज्ञेया, चः-पुनरन्ये ये अभिग्रहा. सन्ति अभिग्रहा यथा द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽदिचिन्तनेन भिक्षाग्रहणरूपाः द्रव्यतो मण्डकाऽऽदिकं क्षेत्रतो गृहाऽऽदौ देहलिकातो मध्ये बहिर्वा कालतो भिक्षाचरेषु निर्वर्त्तितेषु , भावतो रुदन् हसन् वा दास्यति तदाहारो ग्राह्य इति चिन्तनेन भिक्षाग्रहणम्। एव भिक्षाचर्यया भेदास्तीर्थकरैराख्याता· कथिता इत्यर्थ. ॥ २५ ॥ उत्त० ३० अ० । " जिणसासणस्स मूलं भिक्खायरिया जिणेहिं पसत्था। इत्थपरितप्पमाण, तं जाणसु मंदसद्धीयं ॥ १ ॥ " ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० ।

भिक्खालस्सिय-भिक्षाऽऽलस्यिक-पुं० । भिक्षायामालस्यिक· आलस्यवान् भिक्षाऽऽलस्यिकः । उत्त० २७ अ० । भिक्षाया-मालस्ययुक्ते, " भिक्खालसिए एगे । " उत्त० २७ अ० ।

भिक्खालाभिय-भिक्षालाभिक-पुं० । भिक्षेव भिक्षा तुच्छमवज्ञातं वा तल्लाभो प्राप्ततया यस्यास्ति स भिक्षालाभिकः । भिक्षाचरकभेदे, औ० ।

भिक्खावित्तिय-भिक्षावृत्तिक-पुं० । भिक्षया भक्ताऽऽदेः परतो याचनेन वृत्तिर्वर्त्तनं धर्मसाधककायपालन यस्यासौ भिक्षावृत्तिकः भिक्षया कायपालके, ध० ३ अधि० । पा० ।

भिक्खाविसोहि- भिक्षाविशोधि-स्त्री० भिक्षाया विशोधिर्भिक्षाविशोधिः । भिक्षासम्बन्धिसावद्यपरिहारे, दश० १ अ० ।

भिक्खु-भिक्षु-पुं० भिक्ष-उः भिक्षया याच्ञायाम् । यमनियमव्यवस्थितः कृतकारितानुमोदितपरिहारेण भिक्षते इत्येवंशीलो भिक्षुः " सन् भिक्षाशंसे " ॥ ५।२।३३ ॥ इत्युप्रत्ययः। यदि वा नैरुक्ता च शब्दव्युत्पत्तिः, क्षुधुबुभुक्षायाम्, क्षुध्यति बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति चतुर्गतिकमपि संसारमस्मादिति सम्पदादित्वात् अष्टप्रकारं कर्म , तद् ज्ञानदर्शनचारित्रतया भिनत्तीति भिक्षुः, " पृषोदराऽऽदयः "॥३।२।१५५॥ इति रूपनिष्पत्तिः। व्य०१उ०। आचा०। सूत्र०। नि० चू०। दश०। भिक्षणं शीलं धर्म्मस्तत्साधुकारिता वा यस्य स भिक्षुर्भिनत्ति वा क्षुधमिति भिक्षु·। स्था०३ ठा०३ उ०। भिक्षाभोगी वा भिक्षुः। नि० चू०२० उ०। आरम्भत्यागाद्धर्मकायपरिपालनाय भिक्षणशीलो भिक्षु । दश० ४ अ० । पा०। पचनपाचनसावद्यानुष्ठानरहिततया निर्दोषाऽऽहारभोजिनि साधौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उत्त०। आव०।

साम्प्रतं भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमधिकृत्याह—

**एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते सुद्धप्पा सुद्धदविए वोसट्ठकाए य संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धाऽऽदाणे सम्मुट्ठाणेण उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे ॥ ३ ॥**

'अत्रापीति ' ये ते पूर्वमुक्ताः पापकर्मविरत्यादयो माहनशब्दप्रवृत्तिहेतवोऽत्रापि भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्ते त एवावगन्तव्याः, अमी चान्ये । तद्यथा—न उन्नतोऽनुन्नत ,तत्र द्रव्योन्नत· शरीरेणोच्छ्रितः , भावोन्नतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरामदमपि न विधत्ते । विनिताऽऽत्मतया प्रश्रयवान् यतः, एतदेवाऽऽह-विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतेऽन्यदा वाऽऽत्मानं नामयतीति नामकः-सदा गुर्वादौ प्रह्वो भवति, विनयेन वाऽष्टप्रकारं कर्म नामयति , वैयावृत्त्योद्यतोऽशेषं पापमपनयतीत्यर्थः । तथा ' दान्त ' इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्या, तथा ' शुद्धाऽऽत्मा ' शुद्धद्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया ' व्युत्सृष्टकायश्च ' परित्यक्तदेहश्च यत्करोति तद्दर्शयति—सम्यक् ' विधूय ' अपनीय ' विरूपरूपान् ' नानारूपाननुकूलप्रतिकूलान् -उच्चावचान् द्वाविंशतिपरीषहान् तथा दिव्याऽऽदिकानुपसर्गांश्चेति, तद्विधूननं तु यत्तेषां सम्यक् सहनं—तैरपराजितता परीषहोपसर्गांश्च विधूयाध्यात्मयोगेन-सुप्रणिहितान्त·करणतया धर्मध्यानेन शुद्धम्-अवदातमादान-चारित्रं यस्य स शुद्धाऽऽदानो भवति। तथा सम्यगुत्थानेन-सच्चारित्रोद्यमेनोत्थित· तथा । स्थितो—मोक्षाध्वनि व्यवस्थितः परीषहोपसर्गैरप्यधृष्य आत्मा यस्य स स्थिताऽऽत्मा, तथा ' संखाए ' परिज्ञायासारता संसारस्य, दुष्प्रापतां कर्मभूमेर्बोधे· सुदुर्लभत्व चावाप्य च सकला संसारोत्तरणसामग्रीं, सत्संयमकरणोद्यतः परैः-गृहस्थैरात्मार्थं निर्वर्तितमाहारजातं, तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी, स एवगुणकलितो भिक्षुरिति वाच्यः ॥ ३ ॥ सूत्र०१ श्रु० १६ अ० ।

इदानीं भिक्षुमभिधातुकाम आह—

**भिक्खुस्स य निक्खेवो, निरुत्त एगट्ठिआणि लिंगाइं ।**

अगुणट्ठिओ न भिक्खू, अवयवा पंच दाराइं ॥ ३३२ ॥

भिक्षोर्निक्षेपो नामाऽऽदिलक्षणः कार्यः, तथा निरुक्तं वक्तव्यं भिक्षोरेव, तथा एकार्थिकानि पर्यायशब्दरूपाणि वक्तव्यानि, तथा लिङ्गानि संवेगाऽऽदीनि, तथा अगुणस्थितो न भिक्षुरपि तु गुणस्थित एवेत्येतदपि वाच्यम् , अत्र चावयवाः पञ्च प्रतिज्ञाऽऽदयो वक्ष्यमाणा इति, द्वाराण्येतानीति गाथासमासार्थः ॥ ३३ ॥ दश० १० अ० ।

यथाक्रमं (भाष्य-५ गाथां ) व्यासार्थमाह—

नामंठवणाभिक्खू, दव्वभिक्खू य भावभिक्खू य ।
दव्वे सरीर भविओ, भावेण य संजओ भिक्खू ॥ ५ ॥

भिक्षुशब्दस्य निक्षेपश्चतुष्कः(नामं ति)भिक्षुशब्दस्यात्रापि संबन्धात् नामभिक्षुः,स्थापनाभिक्षुः,द्रव्यभिक्षुः भावभिक्षुश्च चशब्दौ स्वस्वगतानेकभेदसूचकौ, तत्र यस्य पुरुषस्य भिक्षुरिति नाम स नाम्ना भिक्षुर्नामभिक्षुः,यदि वा-'नामनामवतोरभेदोपचारात्'नाम चासौ भिक्षुश्च नामभिक्षुरिति व्युत्पत्तेर्नामभिक्षुः, स्थापनया आकारमात्रेण असत्कल्पनया भिक्षुः स्थापनाभिक्षुः चित्रकर्माऽऽदिलिखितो बुद्धिकल्पितो वाऽक्षाऽऽदिः । द्रव्यभिक्षुर्द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमतो ज्ञाता,तत्र च"अनुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमिति"वचनात् । नोआगमतश्च त्रिविधः तद्यथा-ज्ञशरीरं,भव्यशरीरं,तद्व्यतिरिक्तश्च । तत्र भिक्षुपदार्थज्ञस्य यत् शरीरं व्यपगतजीवितं तत् ज्ञशरीरं द्रव्यभिक्षुर्भूतभावत्वात् । यस्तु बालको नेदानीं भिक्षुशब्दार्थमवबुध्यते, अथवा आयत्या अनेनैव शरीरेण भोत्स्यते,तस्य यत् शरीरं तत् भव्यशरीरं द्रव्यभिक्षुः, भाविभावत्वात् । तद्व्यतिरिक्तस्त्रिधा । तद्यथा एकभविकं, बद्धाऽऽयुष्कः, अभिमुखनामगोत्रश्च । तत्र-एकभविको नाम-यो नैरयिकस्तिर्यङ्मनुष्यो, देवो वा अनन्तरभवे भिक्षुर्भावी बद्धाऽऽयुष्को नाम-येन भिक्षुपर्यायनिमित्तमायुर्बद्धम् । अभिमुखनामगोत्रो-यस्य भिक्षुपर्यायप्रवर्त्तनाभिमुखे नामगोत्रकर्मणी, स चाऽऽर्यक्षेत्रे मनुष्यभवभाविभिक्षुपर्याये समुत्पद्यमानः । यदि वा-स्वजनधनाऽऽदि परित्यज्य गुरुसमीपे प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यर्थं स्वगृहात् बहिर्गच्छन् । तथा चाऽऽह- ( दव्वे सरीरभविओ त्ति ) द्रव्ये इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यभिक्षुर्नोआगमतो इति गम्यते इति । ( सरीर त्ति ) शरीरग्रहणेन-ज्ञशरीरं, 'भव्यशरीरं च परिगृहीतम् । (भविय त्ति ) भव्यो, भावीत्यनर्थान्तरं, भावी च त्रिविधपर्याय इति तद्ग्रहणे एकभविकाऽऽदित्रिभेदपरिग्रहः० । व्य० १ उ० ।

भेयओ भेयणं चेव, भिंदिअव्वं तहेव य ।
एएसिं तिण्हं पि अ, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ ३३४ ॥

भेदकः पुरुषः,भेदनं चैव परश्वादि, भेत्तव्यं तथैव च काष्ठाऽऽदीति भावः । एतेषां त्रयाणामपि भेदकाऽऽदीना प्रत्येकं पृथक् पृथक् प्ररूपणा वक्ष्ये इति गाथाऽर्थः ॥३३४॥

एतदेवाऽऽह—

जह दारुकम्मगारो, भेअणभित्तव्वसंजुओ भिक्खू ।
अन्ने वि दव्वभिक्खू, जे जायणगा अविरया य ॥३३५॥

यथा दारुकर्मकरो वर्द्धक्यादिः भेदनभेत्तव्यसंयुक्तः सन् क्रियाविशिष्टविदारणाऽऽदिद्वारुसमन्वितो द्रव्यभिक्षुः, द्रव्यं भिनत्तीति कृत्वा,तथा अन्येऽपि द्रव्यभिक्षवः-अपारमार्थिकाः। क इत्याह—ये याचनका भिक्षणशीला अविरताश्च अनिवृत्ताश्च पापस्थानेभ्य इति गाथाऽर्थः ॥३३५॥

एते च द्विविधा.-गृहस्थाः , लिङ्गिनश्चेति,

तदाह—

गिहिणो ऽवि सयारंभग-उज्जुप्पन्नं जणं विमग्गंता ।
जीवणिअ दीणकिविणा,ते विज्जा दव्वभिक्खु त्ति ।३३६।

गृहिणोऽपि सकलत्रा अपि सदारम्भकाः नित्यमारम्भकाः षण्णां जीवनिकायानामृजुप्रज्ञं जनमनालोचकं विमृगयन्तः अनेकप्रकारं द्विपदाऽऽदि भूमिदेवा वयं लोकहितायावतीर्णा इत्यभिधाय याचमाना द्रव्यभिक्षणशीलत्वाद् द्रव्यभिक्षव , एते च धिग्वर्णाः । तथा ये च ' जीवनिकायै ' जीवनिकानिमित्तं दीनकृपणाः कार्पटिकाऽऽदयो भिक्षामटन्ति तान्विद्यात् विजानीयात् द्रव्यभिक्षूनिति , द्रव्यार्थं भिक्षणशीलत्वादिति गाथाऽर्थः॥३३६॥ उक्ता गृहस्थद्रव्यभिक्षवः ।

लिङ्गिनोऽधिकृत्याऽऽह—

मिच्छादिट्ठी तसथा-वराण पुढवाइबिंदिआईणं ।
निच्चं वहकरणरया, अबंभयारी अ संचइया ॥ ३३७ ॥

शाक्यभिक्षुप्रभृतयो हि मिथ्यादृष्टयः-अतत्त्वाभिनिवेशिनः प्रशमाऽऽदिलिङ्गशून्याः,त्रसस्थावराणा प्राणिनां पृथिव्यादीनां द्वीन्द्रियाऽऽदीनां च । अत्र पृथिव्यादय. स्थावरा द्वीन्द्रियाऽऽदयः त्रसाः, नित्यं वधकरणरताः सदा एतदतिपाते सक्ताः कथमित्यत्राऽऽह—अब्रह्मचारिणः सञ्चयिनश्च यतः, अतोऽप्रधानत्वाद् द्रव्यभिक्षवः, चशब्दस्य व्यवहित उपन्यास इति गाथाऽर्थः ॥ ३३७ ॥

एते चाऽब्रह्मचारिण संचयादेवेति। सञ्चयमाह—

दुपयचउप्पयधणध-न्नकुविअतिअतिअपरिग्गहे निरया ।
सच्चित्तभोइ पयमा-णगा य उद्दिट्ठभोई अ ॥ ३३८ ॥

द्विपदं दास्यादि, चतुष्पदं गवादि, धनं हिरण्याऽऽदि, धान्यं शाल्याऽऽदि,कुप्यमलिञ्जराऽऽदि,एतेषु द्विपदाऽऽदिषु क्रमेण मनोजल्पणाऽऽदिना करणत्रिकेण त्रिकपरिग्रहे कृतकारितानुमतपरिग्रहे निरताःसक्ता.,न चैतदनार्षम्-" विहारान् कारयेद्रम्यान्, वासयेच्च बहुश्रुतान् ।" इति वचनात् । सद्भूतगुणानुष्ठायिनो नेत्थंभूता इत्याशङ्क्याऽऽह—सचित्तभोजिनः तेऽपि मांसाप्कायादिभोजिनः,तदप्रतिषेधात्, पचन्तश्च स्वयं पचास्तापसाऽऽदयः उद्दिष्टभोजिनश्च सर्व एव शाक्याऽऽदयः, तत्प्रसिद्ध्या तपस्विनः अपि पिण्डविशुद्ध्यपरिज्ञानाद् । इति गाथाऽर्थः ॥ ३३८ ॥

त्रिकत्रिकपरिग्रहे निरता इत्येतद् व्याचि—

ख्यासुराह—

करणतिए जोअतिए, सावज्जे आयहेउपरउभये ।
अट्ठाणट्ठपवत्ते, ते विज्जा दव्वभिक्खु त्ति ॥ ३३९ ॥

करणत्रिक इति-" सुपा सुपो भवन्तीति " करणत्रिकेण मनोवाक्कायलक्षणेन , योगत्रितय इति-कृतकारितानुमतिरूपे, सावद्ये सपापे , आत्महेतोः- आत्मनिमित्त-देहाऽऽद्युपचयाय , एवं परनिमित्तं-मित्राऽऽद्युपभोगसाधनाय एवमुभयनिमित्तमुभयसाधनार्थम् , एवमर्थाय आत्माद्यर्थम्, अ-

नर्थाय वा विना प्रयोजनेनाऽऽर्त्तध्यानाचिन्तनखराऽऽदिभाषणलक्ष्येवधनाऽऽदिभिः प्राणातिपाताऽऽदौ प्रवृत्तान् तत्परान् तानेवंभूतान् विद्याद्विजानीयात् द्रव्यभिक्षून् इति , प्रवृत्ताश्चैवं शाक्याऽऽदयः, तद्द्रव्यभिक्षव इति गाथार्थः ॥ ३३६ ॥

एवं स्त्र्यादिविषयेऽगात् विशुद्धतपोनुष्ठानभावाच्चाब्रह्मचारिण एते इत्याह—

इत्थीपरिग्गहाओ, आणादाणाइभावसंगाओ ।
सुद्धतवाभावाओ, कुतित्थियाऽबंभचारि त्ति ॥ ३४० ॥

स्त्रीपरिग्रहादिति दास्यादिपरिग्रहात्,आज्ञादानाऽऽदिभावसङ्गाच्च परिणामाशुद्धेरित्यर्थः, न च शाक्या भिक्षवः, शुद्धतपोऽभावादिति शुद्धस्य तपसोऽऽभावात्,तापसाऽऽदयःकुतीर्थिका अब्रह्मचारिण इति, ब्रह्मशब्देन शुद्धं तपोऽभिधीयते, तद्वारिणः इति गाथाऽर्थः। उक्तो द्रव्यभिक्षुः। दश० १० अ०। भावभिक्षुर्द्विधा-आगमतो , नोआगमतश्च । आगमतो भिक्षुशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, "उपयोगो भावनिक्षेपः" इति वचनात् ।नोआगमतःसंयत. ।तथा चाऽऽह-"भावेण उ संजतो भिक्खू ।" भावेन भिक्षुः, तुशब्दो विशेषणार्थः, स चामुं विशेषं द्योतयति-नोआगमतः सयत सम्यक् त्रिविधं त्रिविधेन समस्तसावद्यादुपरतः। ( ५ गा० टी० ) अत्रैव नोआगमतो भावभिक्षु. भिक्षणशीलो भिक्षुरिति व्युत्पत्तिमधिकृत्याऽऽक्षेपपरिहारावभिधित्सुराह भाष्यकारः—

भिक्खणसीलो भिक्खू, अण्णे वि न ते अणण्णवित्तिता।
निप्पिसिएणं नायं, पिसियालंभेण सेसाओ ॥ ६ ॥

ननु यदेतत् त्वयोक्तम् भिक्षणशीलो भिक्षु.,इति तदसमीचीनम् ,अतिव्याप्तिदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-भिक्षणशीलो भिक्षुरित्युच्यमानेऽन्येऽपि रक्तपटाऽऽदयो, नोआगमतो भावभिक्षवः प्राप्नुवन्ति तेषामपि भिक्षाजीवितया भिक्षणशीलत्वात् , न चैतदिष्यते, तस्मादतिव्याप्ति.भाव भिक्षुलक्षणस्य दोषः। अत्र सूरिराह-न ते शेषा रक्तपटप्रभृतयो भिक्षवः।कुतः?, इत्याह-अनन्यवृत्तित्वात् , न विद्यते अन्या भिक्षामात्रत्वात् व्यतिरिक्ता वृत्तिर्वर्त्तनं येषा ते अनन्यवृत्तयस्तद्भावस्तत्त्व तस्मात् , अनन्यगतिकत्वादित्यर्थः। किमुक्तं भवति?—यदा आधाकर्मिकमौद्देशिकमभ्याहृतं वा न लभन्ते तदा अनन्यगतिकतया भिक्षापरिभ्रमणशीलास्ततो न ते भिक्षवः। इयमत्र भावना-द्वे शब्दस्य निमित्ते । तद्यथा-व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्त च । यथा गोशब्दस्य तथाहि-गोशब्दस्य । व्युत्पत्तिनिमित्तं गमनक्रिया, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादनात् तेन च गमनेनैकार्थसमवायितया यदुपलक्षितं सास्नाऽदिमत्त्वं तत्प्रवृत्तिनिमित्तं तेन च गच्छति वाऽगच्छति वा गोपिण्डे गोशब्द' प्रवर्तते, उभय्यामप्यवस्थायां प्रवृत्तिनिमित्तभावात् , अश्वाऽऽदौ तु न प्रवर्तते । यथोक्तरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य तत्राभावात् । एवमत्रापि भिक्षुशब्दस्य द्वे निमित्ते-व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च। तत्र भिक्षणं व्युत्पत्तिनिमित्त भिक्षते इत्येवं शीलो भिक्षुरिति व्युत्पत्ते ,तेन च भिक्षणेनैकार्थसमवायितया यदुपलक्षितमिहपरलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ततया यमनियमेषु व्यवस्थितत्वं तत्प्रवृत्तिनिमित्त, तेन भिक्षमाणे अभिक्षमाणे वा भिक्षौ भिक्षुशब्द.प्रवर्त्तते, उभय्यामपि अवस्थायां प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्,रक्तपटाऽऽदौ तु न प्रवर्त्तते,नवकोट्यपरिशुद्धाऽऽहारभोजितया तेषु यथोक्तरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्याभावात्, अत्रार्थे ज्ञातम्-उदाहरण कर्त्तव्य, पिशिताऽलाभेन यो निष्पिशितस्तेन, यथा कोऽपि ब्रूयात् यावद् मांसं न लभे, तावदहं निष्पिशितः पिशितव्रती।

अविहिंस बंभयारी, पोसहिय अमज्जमंसिया चोरा।
सति लंभे परिचाई, हुंति तदक्खा न सेसा उ ॥ ७ ॥

कोऽपि भाषेत-अहमहिंसावृत्तिःयावत् मृगाऽऽदीन्नपश्यामि। अन्यः कोऽप्येवं ब्रूयात्-अहं ब्रह्मचारी यावन्मम स्त्री न संपद्यते। अथवा-कोऽप्येवमाह-अहमाहारपौषधी यावन्मम आहारो न संपद्यते। यथा वा कोऽपि वदेत्-अहमद्यमांसवृत्तिः यावन्मद्यमांसे न लभे यथा वा कोऽपि नियमं प्रतिपद्यते अचौरवृत्तिरहं यावत् परस्य छिद्रं न पश्यामीति। एते यथा पिशिताद्यऽलाभेन निःपिशिताऽऽदयो नाम-पिशितवृत्त्याऽऽदयः। अतं च सति असति वा वस्तुनि तदिच्छापरित्यागतस्तन्निवृत्तिः निष्पिशिताऽदीनां तु पिशिताऽऽदिष्विच्छासततानुबन्धिनी ततो न ते पिशितव्रत्यादयःअतिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभावात्। तथा चाह-(सति लंभे इत्यादि )सति विवक्षितस्य पिशिताऽदेर्वस्तुनो लाभेऽपि तत्परित्यागिनस्ते तदाख्या-पिशितव्रत्याख्या भवन्ति। सत्यपि वस्तुनो लाभे तत्परित्यागतः, सति असति वा वस्तुनि तद्विषयेच्छापरित्यागात्, शेषास्त्वनन्तरोदिता निष्पिशिताऽऽदयो न तदाख्याः पिशिताद्यलाभेऽपि तद्विषयेच्छानिवृत्त्यभावात्। एवं रक्तपटाऽऽदयोऽपि न भिक्षवः पचनपाचनाऽऽदिनवकोटीविषयेच्छानिवृत्त्यभावात्तदभावश्चाधार्मिकाऽऽदिष्वपि प्रवृत्तेः तदेवं निष्पिशिताऽऽदिदृष्टान्तोपन्यासेन रक्तपटाऽऽदिषु यथोक्तरूपप्रवृत्तिनिमित्ताऽभावतो भिक्षुशब्दप्रवृत्त्यभाव उक्तः। अथवा-किमेतैरुपन्यस्तैर्दृष्टान्तैर्भिक्षुवृत्ते. जगत्प्रसिद्धायास्तेषु साक्षादभावः दर्शनत एव भिक्षुशब्दप्रवृत्त्यभावस्य सिद्धत्वात्।

तथा चाऽऽह—

अहवा एसणासुद्धं, जहा गेण्हंति साहुणो।
भिक्खं नेव कुलिंगत्था, भिक्खजीवि वि ते जदि ॥ ८ ॥

अथवेति-प्रकारान्तरद्योतने, तच्च प्रकारान्तर पातनिकायामेव भावितं, यद्यपि ते रक्तपटाऽऽदयो भिक्षाजीविनस्तथापि यथा साधव.एषणाशुद्धाम् एषणादोषै.-शङ्किताऽऽदिभिः, उपलक्षणमेतत्-उद्गमदोषै.-आधाकर्माऽऽदिभि. उत्पादनादोषैः-धात्रीदूत्यादिभिः परिशुद्धा भिक्षा गृह्णन्ति, नैवम्-अमुना प्रकारेण कुलिङ्गस्थाः-कुत्सितलिङ्गधारिणो रक्तपटाऽऽदयः ततो भिक्षुवृत्तेर्जगत्प्रसिद्धायास्तेष्वभावतो न ते भिक्षवः।

तथा चाऽऽह—

दगमुद्देसियं चेव, कंदमूलफलाणि य ।
सयं गाहा परतो य, गेण्हंता कहं भिक्खुणो ॥ ६ ॥

दकम्-उदकं सचित्तं तडागाऽऽदिगतम्, उद्देशिकम्-उद्दिश्यकृतकर्मभेदम् उपलक्षणमेतत् आधाकर्माऽऽदि च तथा कन्दमूलफलानि च स्वयम्-आत्मना गृह्णन्तीति स्वय ग्राहाः। "वा ज्वलाऽऽदिदुनीभूग्रहास्रोर्णः" ॥ ५ ॥ १ ॥ ६२ ॥ इति वैकल्पिको णप्रत्यय.। स्वय गृह्णन्त इत्यर्थः। परतश्च गृह्णन्तः कथ भिक्षव , भिक्षावृत्तेरभावात्।

अथ का सा जगत्प्रसिद्धा भिक्षुवृत्तिर्यदभावान्न ते भिक्षव इति भिक्षुवृत्तिमुपदर्शयति—

अचित्ता एसणिज्जा य, मिया काले परिक्खिया।

जहा लद्धा विसुद्धा य, एसा वित्ती य भिक्खुणो ॥१०॥

अचित्ता-प्रासुका न तु सचित्ता, भिक्षा वा एषणीया आधाकर्मादिदोषरहिता, मिता एकत्रिंशदादिकवलप्रमाणतः परिमिता, काले-दिवा, अथवा—तृतीयस्यां पौरुष्यां परीक्षदायकाऽऽदिदोषविशुद्धा यथा लब्धा संयोजनाऽऽदिदोषरहिताविशुद्धा-परिभोगकाले रागद्वेषाऽकरणतोऽङ्गाराऽऽदिदोषरहिता, एवं रूपा या सदा भिक्षा एषा भिक्षूणां वृत्तिः, सा च रक्तपटाऽऽदिषु सर्वथा नाऽस्तीति, तेषु भिक्षुत्वाभावतो नातिप्रसङ्गः, तदेवं भिक्षणशीलो भिक्षुरिति व्युत्पत्तौ यदतिप्रसङ्गाऽऽपादनं परेण कृतं, तत् अपाकृतम् क्षुधं भिनत्ति इति भिक्षुरिति निर्वचने तु परस्याऽनवकाश एव, केवलं किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति ।

तद्विवक्षुराह—

दव्वे य भाव भेयग, भेयण भेत्तव्वयं च तिविहं तु ।
नाणाऽऽइ भावभेयण-कम्मखुहेगट्ठयं भेज्ज ॥ ११ ॥

क्षुधं भिनत्तीति भिक्षुरिति व्युत्पत्त्याभिक्षुर्भेदक उक्तो भेदकोनाम भिदि क्रियाकर्ता, भिदिक्रिया च सकर्मिका, सकर्मिकायाश्च क्रियायाः कर्तृ करणकर्मव्यतिरेकेण न भवतीति तद्ग्रहणेन भेदनं, भेत्तव्यमिति च द्वयं सूचितम् । एतच्च भेदकभेदनभेत्तव्यरूपं वस्तुनिकुरम्बं त्रिविधमपि, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः; त्रिभेदमपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-( दव्वे य भावे त्ति ) चशब्दो भिन्नक्रमः द्रव्यतो, भावतश्चेत्यर्थः । तथाहि भेदको द्विधा-द्रव्यस्य भावस्य च । भेदनमपि द्विधा-द्रव्यस्य भावस्य च, भेत्तव्यमपि द्विधाद्रव्यरूपं, भावरूपं च । तत्र भेदको-रथकाराऽऽदिः, भेदनं परश्वादिद्रव्यं, भेत्तव्यं काष्ठम् भावस्य भेदको भिक्षुर्भावस्य भेदनानि ज्ञानाऽऽदीनि, भावभेत्तव्यं कर्म । तथा चाऽऽह-(नाणादीत्यादि) ज्ञानाऽऽदि आदिशब्दात् दर्शनचारित्रपरिग्रहः। भावभेदनं भेद्यं भावत इति च संबध्यते, कर्मकर्मक्षुध् इत्येकार्थम् । तथा चोक्तम्-"कम्मं ति वा खुहति वा । कलुसं ति वा वज्जंति वा वेरंति वा पंको त्ति वा मलो त्ति एएगट्ठिया" इति । व्य० १ उ० । नि० चू० । उत्त० ।

"जो भिंदेइ खुहं खलु, सो भिक्खू भावतो होइ ॥३७५॥

यो 'भिनत्ति' विदारयति क्षुधं, खलुः अवधारणे, भिन्नक्रमश्च, ततः स एव भिक्षुर्भावतो भवतीति ।

'इह च भिनत्तीत्युक्तमतः कर्तृकरणकर्मभिः प्रयोजनं, सकर्मकत्वाद्भिदेः अत आह—

भेत्ता य भेयणं वा, नायव्वं भिंदियव्वयं चेव ।
एक्किक्कं पि य दुविहं, दव्वे भावे य नायव्वं ॥ ३७६ ॥
रहगारपरसुमाइ, दारुगमाई य दव्वओ हुंति ।
साहू कम्मऽट्ठविहं, तवो य भावम्मि नायव्वो ॥ ३७७ ॥
रागद्दोसा दंडा, जोगा तह गारवा य सल्ला य ।
विकहाओ सन्नाओ, खुहं कसाया पमाया य ॥ ३७८ ॥

भेत्ता च कर्ता यो भिनत्ति, भेदनं करणं येन भिनत्ति वा समुच्चये, ज्ञातव्यं-बोद्धव्यं भेत्तव्यमेव भेत्तव्यक कर्म यक्रियते, चः-समुच्चये, एवेति पूरणे, एकैकमपि चेति भेत्ता भेदनं भेत्तव्यकं च द्विविधं-द्विभेदं द्रव्ये भावे च । विचार्यमाणे ज्ञातव्यम्-अवगन्तव्यम् । तत्र द्रव्ये (रहकारपरसुमाइ त्ति) आदिशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धाद्रथकारः तक्षकस्तदादिर्द्रव्यतो भेत्ता आदिशब्दादयस्काराऽऽदिपरिग्रहः परशुः-कुठारस्तदादिर्द्रव्यतो भेदनम्, आदिशब्दाद्-घनाऽऽदयो गृह्यन्ते । ( दारुगमाई य त्ति ) दारुकं काष्ठ तदादि च द्रव्यतो भेद्यम्, आदिशब्दाल्लोहाऽऽदिपरिग्रहः, भवन्तीति सर्वापेक्षं बहुवचनम् । साधुः-तपस्वी कर्म-ज्ञानाऽऽवरणाद्यष्टविधम् अष्टप्रकारं तपश्च-अनशनाऽऽदि भावे विचार्ये भेत्ता भेत्तव्यं भेदनं च क्रमेण ज्ञातव्यम् । "इत्थं जो भिंदई खुहं खलु" इति ग्रहणकवाक्यं गतं, भिनत्तीति व्याख्याय क्षुधं व्याख्यातुमाह-रागद्वेषौ उक्तरूपौ, दण्डा-मनोदण्डाऽऽदयो, योगाः करणकारणानुमतिरूपाः। पठन्ति च-"रागद्दोसा छुहं दंडा।" अत्र च 'छुह ति' क्षुध् बुभुक्षा उच्यते, तथा गौरवाणि च ऋद्धिगौरवाऽऽदीनि, शल्यानि च-मायाशल्याऽऽदीनि, विकथाः-स्त्रीकथाऽऽदयः, संज्ञाः-आहारसंज्ञाऽऽदय(खुहं ति)एतद्भावभावित्वादष्टविधकर्मरूपायाः क्षुध एतान्यपि क्षुदित्युच्यन्ते, प्राकृतत्वाच्च तथानिर्देशः, कषायाः-क्रोधाऽऽदयः, प्रमादाश्च-मद्याऽऽदय., क्षुदिति सम्बन्धनीयमिति गाथात्रयार्थः ।

उपसंहर्तुमाह—

एयाइं तु खुहाइं, जे खलु भिंदंति सुव्वया रिसओ ।
ते भिन्नकम्मगंठी, उवेंति अयरामरं ठाणं ॥ ३७९ ॥

एतानि रागाऽऽदीनि ( खुहाइ ति ) क्षुच्छब्दवाच्यानि ये खलु भिन्दन्ति, विदारयन्ति, खलुशब्द एवकारार्थो भिन्दन्त्येवेति शोभनान्यतिचारतया व्रतानि प्राणातिपातविरत्यादीनि येषां ते सुव्रताः ऋषयः मुनयः, ते किमित्याह—भिन्न कर्मैवातिदुर्भेदतया ग्रन्थिः कर्मग्रन्थिर्यैस्ते तथाविधा उपयान्ति प्राप्नुवन्ति, अजरामरं स्थानं—मुक्तिपदमिति गाथार्थः । उत्त० पाई० १५ अ० ।

स भावभिक्षुर्भेत्तृत्वा-दागमस्योपयोगतः ।
भेदनेनोग्रतपसा, भेद्यस्याशुभकर्मणः ॥ १७ ॥

स इति-स भावभिक्षुर्भण्यते । उग्रतपसा भेदनेनाऽशुभकर्मणो भेद्यस्याऽऽगमोपयोगतो भेत्तृत्वात् । तदुक्तम्—" भेत्तागमोवउत्तो, दुविहतवो भेअणं च भेत्तव्वं । अट्ठविहं कम्मखुहं, तेण निरुत्तं स भिक्खु त्ति ॥ १ ॥ " ॥१७॥ " भिक्षामात्रेण वा भिक्षुः ।" ( १८ ) भिक्षामात्रेण वा सर्वोपाधिशुद्धभिक्षावृत्तिलक्षणेन भिक्षुः । द्वा० २७ द्वा० ।

भेत्ताऽऽगमोवउत्तो, दुविह तवो भेअणं च भेत्तव्वं ।
अट्ठविहं कम्मखुहं, तेण निरुत्त स भिक्खु त्ति ॥ ३४२ ॥

भेत्ता भेदकोऽत्राऽऽगमोपयुक्तः साधुः। तथा द्विविधं बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदेन तपो भेदनं वर्तते । तथा-भेत्तव्यं विदारणीयं चाष्टविधं कर्म च-अष्टप्रकारं ज्ञानाऽऽवरणीयाऽऽदि कर्म, तच्च क्षुदादिदुःखहेतुत्वात् क्षुध्शब्दवाच्यं, यतश्चैवं तेन निरुक्तं यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुरिति गाथाऽर्थः ३४२

किं च—

भिंदंतो य जह खुहं, भिक्खू जयमाणओ जई होइ ।
संजमचरओ चरओ, भवं खिवंतो भवंतो उ ॥ ३४३ ॥

भिन्दंश्च विदारयंश्च यथा क्षुधं कर्म भिक्षुर्भवति, भावतः यतमानस्तथा तथा गुणेषु स एव यतिर्भवति नान्यथा,

एवं संयमचरकः सप्तदशप्रकारसंयमानुष्ठायी चरकः एव भवं संसारं क्षपयन् परीतं कुर्वन् स एव भवान्तो भवति, नान्यथेति गाथार्थः ॥ ३४३ ॥

प्रकारान्तरेण निरुक्तमेवाऽऽह—

जं भिक्खमत्तवित्ती, तेण व भिक्खू खवेति जं व अणं ।
तवसंजमे तवस्सि, त्ति वावि अन्नो वि पज्जाओ ॥३४४॥

यद्यस्माद्भिक्षामात्रवृत्तिर्भिक्षामात्रेण सर्वोपधाशुद्धेन वृत्तिरस्येति समासः, तेन वा भिक्षुः भिक्षणशीलो भिक्षुरिति कृत्वा, अनेनैव प्रसङ्गेन अन्येषामपि तत्पर्यायाणां निरुक्तमाह-क्षपयति यद्यस्मात् वा ऋणं कर्म तस्मात् क्षपणः, क्षपयतीति क्षपण इति कृत्वा, तथा संयमतपसीति संयमप्रधानं तपः संयमतपः, तस्मिन् विद्यमाने तपस्वीति वाऽपि भवति । तपोऽस्यास्तीति कृत्वा अन्योऽपि पर्यायः इत्यन्योऽपि भेदोऽर्थतो भिक्षुशब्दनिरुक्तस्येति गाथार्थः ।३४४।उक्तं निरुक्तद्वारम्।

अधुनैकार्थिकद्वारमाह-

तिन्ने ताई दविए, वई य खंते य दंतविरए अ ।
मुणितावसपन्नवगुज्जु-भिक्खू बुद्धे जइ विऊ य ॥३४५॥

तीर्णवत्तीर्णःविशुद्धसम्यग्दर्शनादिलाभाद्भवार्णवमितिगम्यते । तायोऽस्यास्तीति तायी, ताय-सुदृष्टमार्गोक्तिः सुपरिज्ञातदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थः । द्रव्य रागद्वेषरहितः, व्रती च हिंसाऽऽदिविरतश्च क्षान्तश्च क्षाम्यति क्षमां करोतीति क्षान्तः, बहुलवचनात् कर्तरि निष्ठा । एवं दाम्यतीन्द्रियाऽऽदि दमं करोतीति दान्तः, विरतश्च विषयसुखनिवृत्तश्च, मुनिर्मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, तप-प्रधानःतापसः, प्रज्ञापकःअपवर्गमार्गस्य प्ररूपकः, ऋजुर्मायारहितः संयमवान् वा, भिक्षु पूर्ववत्, बुद्धोऽवगततत्त्वो, यतिरुत्तमाऽऽश्रमी प्रयत्नवान् वा, विद्वांश्च पण्डितश्चेति गाथार्थः ॥ ३४५ ॥

तथा—

पव्वइए अणगारे, पासंडी चरग बंभणे चेव ।
परिवायगे य समणे, निग्गंथे संजए मुत्ते ॥ ३४६ ॥

प्रव्रजित- पापाभिष्क्रान्तः, अनगारो द्रव्यभावागारशून्यः, पाखण्डी पाशाद्दीनः, चरकः पूर्ववत्, ब्राह्मणश्चैव विशुद्धब्रह्मचारी, चैव, परिव्राजकश्च पापवर्जकश्च, श्रमणः पूर्ववत्, निर्ग्रन्थ- संयतो मुक्त इत्येतदपि पूर्ववदेवेति गाथार्थः ॥३४६॥

तथा—

साहू लूहे अ तहा, तीरट्ठी होइ चेव नायव्वो ।
नामाणि एवमाई-णि होंति तवसंयमरयाणं ॥ ३४७ ॥

साधुः रूक्षश्च तथेति निर्वाणसाधकयोगसाधनात्साधु, स्वजनाऽऽदिषु स्नेहविरहाद्रूक्षः, तीरार्थी चैव भवति ज्ञातव्य इति तीरार्थी भवार्णवस्य, नामान्येकार्थिकानि पर्यायाभिधानान्येवमादीनि यथोक्तलक्षणानि भवन्ति । केषामित्याह—तपःसंयमरतानां भावसाधूनामिति गाथार्थः ॥ ३४७ ॥ दश० १० अ० । प्रतिपादितमेकार्थिकद्वारम् ।

भिदोरपिशक्रपुरन्दरवदशून्येकार्थिकानि भिक्षुः यतिः तपस्वी भवान्त इति । तथा चैनेषां व्युत्पत्तिमाह—

भिंदंतो यावि खुहं, भिक्खू जयमाणगो जई होइ ।
तवसंजमे तवस्सी, भवं खिवंतो भवंतो य ॥ १२ ॥

क्षुधम्- अष्टप्रकारं कर्म्म भिन्दानो भिक्षुः, यते-प्रयत्ने संयमयोगेषु यतमानः प्रयत्नवान् यतिः, तपःसंयमे-तपःप्रधानसंयमे वर्त्तमानस्तपस्वी, तपोऽस्यास्तीति तपस्वीति व्युत्पत्तेः । भवं-नारकाऽऽदिभवं क्षपयन् भवान्तः, भवमन्तयति भवस्याऽन्तं करोतीति इति व्युत्पत्तेः । व्य० १ उ० ।

इदानीं लिङ्गद्वारं व्याचिख्यासुराह—

संवेगो निव्वेगो, विसयविवेगो सुसीलसंसग्गो ।
आराहणा तवो ना-णदंसणचरित्तविणओ अ ॥३४८॥

संवेगो मोक्षसुखाभिलाषः, निर्वेदः संसारविषयः, विषयविवेको विषयपरित्यागः, सुशीलसंसर्गः शीलवद्भिः सम्बन्धः, तथा—आराधना चरमकाले निर्यापकरूपा, तपो यथाशक्त्यनशनाऽऽद्यासेवनं, ज्ञानं यथावस्थितपदार्थविषयमित्यादि, दर्शनं नैसर्गिकाऽऽदि, चारित्रं सामायिकाऽऽदि, विनयश्च ज्ञानाऽऽदिविनय इति गाथार्थः ॥ ३४८ ।

तथा—

खंती य मद्दवऽज्जव, विमुत्तया तह अदीणय तितिक्खा ।
आवस्सगपरिसुद्धी, य होंति भिक्खुस्स लिंगाइं ॥३४९॥

क्षान्तिश्चाऽऽक्रोशाऽऽदिश्रवणेऽपि क्रोधत्यागश्च मार्दवाऽऽर्जवविमुक्ततेति जात्यादिभावेऽपि मानत्यागान्मार्दवं, परस्मिन्निकृतिपरेऽपि मायापरित्याग आर्जवं, धर्मोपकरणेष्वप्यमूर्च्छा विमुक्तता, तथा अशनाऽऽद्यलाभेऽपि अदीनता, क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि तितिक्षा, तथा आवश्यकपरिशुद्धिश्चाऽऽवश्यककरणीययोगनिरतिचारता च. भवन्ति भिक्षोर्भावसाधोर्लिङ्गान्यनन्तरोदितानि संवेगाऽऽदीनीति गाथार्थः ॥ ३४९ ॥ व्याख्यातं लिङ्गद्वारम् ।

अवयवद्वारमाह—

अज्झयणगुणी भिक्खू, न सेस इइ णो पइन्न को हेऊ ? ।
अगुणत्ता इइ हेऊ, को दिट्ठंतो ? सुवन्नमिव ॥ ३५० ॥

'अध्ययनगुणी' प्रक्रान्ताध्ययनोक्तगुणवान् 'भिक्षुः' भावसाधुर्भवतीति, तत्स्वरूपमेतत्, 'न शेष' तद्गुणरहित इति । 'न प्रतिज्ञा' अस्माकं पक्षः, 'को हेतु ?,' कोऽत्र पक्षधर्म इत्याशङ्क्याऽऽह—'अगुणत्वादिति हेतुः' अविद्यमानगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मादित्ययं हेतुः, अध्ययनगुणशून्यस्य भिक्षुत्वप्रतिषेध साध्य इति, 'को दृष्टान्तः ?,' किं पुनरत्र निदर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—'सुवर्णमिव' यथा सुवर्णं स्वगुणरहितं सुवर्णं न भवति तद्वदिति गाथार्थः ॥

सुवर्णगुणानाह—

विसघाइ रसायण मं-गलत्थ विणिए पयाहिणावत्ते ।
गुरुए अडज्झऽकुत्थे, अट्ठ सुवन्ने गुणा भणिआ ॥३५१॥

'विषघाति' विषघातनसमर्थं, 'रसायनं' वयस्तम्भनकर्तृ, 'मङ्गलार्थं' मङ्गलप्रयोजनं, 'विनीतं' यथेष्टकटकाऽऽदिप्रकारसम्पादनेन प्रदक्षिणाऽऽवर्त्तं, तप्यमानं प्रादक्षिण्येनाऽऽवर्त्तने, 'गुरु' सारोपेतम् 'अदाह्यं' नाग्निना दह्यते, 'अकुथनीयं' न कदाचिदपि कुथतीत्येतेऽष्टावनन्तरोदिताः 'सुवर्णे' सुवर्णविषया गुणा भणितास्तत्स्वरूपज्ञैरिति गाथार्थः ।

उक्ताः सुवर्णगुणाः साम्प्रतमुपनयमाह—

चउकारणपरिसुद्धं, कसछेअतावतालणाए अ ।

जं तं विसघाइरसा-यणाइगुणसंजुअं होइ ॥ ३५२ ॥

'चतुष्कारणपरिशुद्धं' चतुःपरीक्षायुक्तमित्यर्थः, कथमित्याह—कषच्छेदतापताडनया चेति कषेण छेदेन तापेन ताडनया च, यदेवंविधं तद्विषघातिरसायनाऽऽदिगुणसंयुक्तं भवति, भावसुवर्णं स्वकार्यसाधकमिति गाथाऽर्थः ॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

तं कसिणगुणोवेअं, होइ सुवन्नं न सेसयं जुत्ती ।
नहि नामरूवमेत्ते-ण एवमगुणो हवइ भिक्खू ॥३५३॥

'तद्' अनन्तरोदितं 'कृत्स्नगुणोपेतं' सम्पूर्णगुणसमन्वितं भवति सुवर्णं यथोक्तं, न 'शेषं' कषाऽऽद्यशुद्धं, युक्तिरिति वर्णाऽऽदिगुणसाम्येऽपि युक्तिसुवर्णमित्यर्थः, प्रकृते योजयति—यथैतत्सुवर्णं न भवति, एवं न हि नामरूपमात्रेण-रजोहरणाऽऽदिसन्धारणाऽऽदिना 'अगुणः' अविद्यमानप्रस्तुताध्ययनोक्तगुणो भवति भिक्षुः भिक्षामटन्नपि न भवतीति गाथाऽर्थः ॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

जुत्तीसुवन्नगं पुण, सुवन्नवन्नं तु जइ वि कीरिज्जा ।
न हु होइ तं सुवन्नं, सेसेहि गुणेहिँ संतेहिं ॥ ३५४ ॥

युक्तिसुवर्णं कृत्रिमसुवर्णमिह लोके 'सुवर्णवर्णं तु' जात्यसुवर्णवर्णमपि यद्यपि क्रियेत पुरुषनैपुण्येन तथाऽपि नैव भवति तत् सुवर्णं परमार्थेन 'शेषैर्गुणैः' कषाऽऽदिभिः 'असद्भिः' अविद्यमानैरिति गाथाऽर्थः ॥

एवमेव किमित्याह—

जे अज्झयणे भणिआ, भिक्खुगुणा तेहि होइ सो भिक्खू ।
वन्नेण जच्चसुवन्न-गं व संते गुणनिहिम्मि ॥ ३५५ ॥

येऽध्ययने भणिता भिक्षुगुणा अस्मिन्नेव प्रक्रान्ते जिनवचने चित्तसमाध्यादयः तैः करणभूतैः सद्भिर्भवत्यसौ भिक्षुर्नामस्थापनाद्रव्यभिक्षुव्यपोहेन भावभिक्षुः, परिशुद्धभिक्षावृतत्वात् । किमिवेत्याह—'वर्णेन' पीतलक्षणेन 'जात्यसुवर्णमिव' परमार्थसुवर्णमिव 'सति गुणनिधौ' विद्यमानेऽन्यस्मिन् कषाऽऽदौ गुणसंघाते, एतदुक्तं भवति-यथाऽन्यगुणयुक्तं शोभनवर्णं सुवर्णं भवति तथा चित्तसमाध्यादिगुणयुक्तो भिक्षणशीलो भिक्षुर्भवतीति गाथाऽर्थः ॥

व्यतिरेकतः स्पष्टयति—

जो भिक्खू गुणरहिओ, भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू ।
वन्नेण जुत्तिसुवन्न-गं व असई गुणनिहिम्मि ॥ ३५६ ॥

यो भिक्षुः 'गुणरहित' चित्तसमाध्यादिशून्यः सन् भिक्षामटति न भवत्यसौ भिक्षुर्भिक्षाटनमात्रेणैव, अपरिशुद्धभिक्षावृत्तित्वात् । किमिवेत्याह—वर्णेन युक्तिसुवर्णमिव, यथा तद्वर्णमात्रेण सुवर्णं न भवत्यसति 'गुणनिधौ' कषाऽऽदिक इति गाथाऽर्थः ॥

किं च—

उद्दिट्ठकयं भुंजइ, छक्कायपमद्दओ घरं कुणइ ।
पच्चक्खं च जलगए, जो पियइ कह नु सो भिक्खू ॥३५७॥

उद्दिश्य कृतं भुङ्क्ते इत्यौद्देशिकमित्यर्थः, षट्कायप्रमर्दकः यत्र क्वचन पृथिव्याद्युपमर्दकः, गृहं करोति संभवत्येवैतर्णीयालये मूर्च्छया वसतिं भाटकगृहं वा, तथा 'प्रत्यक्षं' च उपलभ्यमान एव 'जलगतान्' अप्कायाऽऽदीन् यः पिबति तत्त्वतो विनाऽऽलम्बनेन, कथं त्वसौ भिक्षुः, नैव भावभिक्षुरिति गाथाऽर्थः ॥



उक्त उपनयः, साम्प्रतं निगमनमाह—

तम्हा जे अज्झयणे, भिक्खुगुणा तेहिँ होइ सो भिक्खू
तेहि अ सउत्तरगुणे-हि होइ सो भाविअतरो उ ॥३५८॥

यस्मादेतदेवं यदनन्तरमुक्तं तस्माद् येऽध्ययने प्रस्तुत एव 'भिक्षुगुणा' मूलगुणरूपा उक्तास्तैः करणभूतैः सद्भिर्भवत्यसौ भिक्षुः, तैश्च 'सोत्तरगुणैः' पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणसमन्वितैर्भवत्यसौ 'भावितरः' चारित्रधर्मे तु प्रसन्नतर इति गाथाऽर्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः ।

साम्प्रतं सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नस्यावसर इत्यादिचर्चः पूर्ववत्तावद्यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलिताऽऽदिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे,
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ।
इत्थीण वसं न आवि गच्छे,
वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ १ ॥

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पिआवए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ २ ॥

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीआणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ ३ ॥

वहणं तसथावराण होइ,
पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं ।
तम्हा उद्देसिअं न भुंजे,
नोऽवि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ ४ ॥

रोइअ नायपुत्तवयणे,
अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचाऽऽसवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ५ ॥

'निष्क्रम्य' द्रव्यभावगृहात् प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थः 'आज्ञया' तीर्थकरगणधरोपदेशेन योग्यतायां सत्यां, निष्क्रम्य किमित्याह—'बुद्धवचने' अवगततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने 'नित्यं' सर्वकाल 'चित्तसमाहितः' चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः । व्यतिरेकतः समाधानोपायमाह—'स्त्रीणां' सर्वोत्तरकार्यनिबन्धनभूतानां 'वशं' तदायत्ततारूपं न चापि गच्छेत्, तद्गतो हि नियमतो वान्तं प्रत्यापिबति, 'वान्तो इत्र-

वचनचित्तसमाधानतः सर्वथा स्त्रीवशत्यागात् . अनेनैवोपायेनान्योपायासंभवात् , 'वान्तं ' परित्यक्तं सद्विषयजम्बालं ' न प्रत्यापिवति ' न मनागप्याभोगतोऽनाभोगतश्च तत्सेवते यः स ' भिक्षु '-भावभिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ तथा—'पृथिवीं' सचेतनाऽऽदिरूपां न खनति स्वयं, न खानयति परैः , एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति खनन्तमप्यन्यं न समनुजानाति , एवं सर्वत्र वेदितव्यम् । ' शीतोदकं ' सचित्तं पानीयं न पिबति स्वयं , न पाययति परानिति, अग्निः षड्जीवघातकः, किंवदित्याह—' शस्त्रं ' खड्गाऽऽदि यथा ' सुनिशितम् ' उज्ज्वालितं तद्वत् , तं न ज्वालयति स्वयं , न ज्वालयति परैः, य इत्थंभूतः स भिक्षुः । आह—षड्जीवनिकायाऽऽदिषु सर्वाध्ययनेष्वयमर्थोऽभिहित किमर्थं पुनरुक्त इति ? , उच्यते , तदुक्तार्थानुष्ठानपर एव भिक्षुरिति ज्ञापनार्थं, ततश्च न दोष इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ तथा ' अनिलेन ' अनिलहेतुना चेलकर्णाऽऽदिना न वीजयत्यात्माऽऽदि स्वयं, न वीजयति परैः । ' हरितानि' शस्याऽऽदीनि न छिनत्ति स्वयं, न छेदयति परैः ' बीजानि' हरितफलरूपाणि व्रीह्यादीनि, ' सदा ' सर्वकाल विवर्जयन् संघट्टनाऽऽदिक्रियया, सचित्त नाऽऽहारयति यः कदाचिदप्युपुष्टाऽऽलम्बन' स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥३॥ औद्देशिकाऽऽदिपरिहारेण त्रसस्थावरपरिहारमाह—'वधनं' हननं ' त्रसस्थावराणा ' द्वीन्द्रियाऽऽदिपृथिव्यादीनां भवति कृतौद्देशिके , किंविशिष्टानाम् ?—' पृथिवीतृणकाष्ठनिश्रिताना ' तथासमारम्भात् , यस्मादेवं तस्मादौद्देशिक कृताऽऽद्यन्यच्च सावद्यं न भुङ्क्ते, न केवलमेतत् , किं तु ? नापि पचति स्वयं, न पाचयति अन्यैर्न पचन्तमनुजानाति यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥ किंच—' रोचयित्वा ' विधिग्रहणभावनाभ्या प्रिय कृत्वा किं तदित्याह—' ज्ञातपुत्रवचनं ' भगवन्महावीरवर्धमानवचनम् ' आत्मसमान् ' आत्मतुल्यान् मन्यते ' षडपि कायान् ' पृथिव्यादीन् , ' पञ्च चे ति ' चशब्दोऽप्यर्थः पञ्चापि, ' स्पृशति ' सेवते महाव्रतानि ' पञ्चाऽऽस्रवसंवृतश्च ' द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतश्च यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

चत्तारि वमे सया कसाए ,
धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूवरयए ,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ६ ॥
सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे ,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं ,
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ ७ ॥
तहेव असणं पाणगं वा ,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा ,
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥ ८ ॥
तहेव असणं पाणगं वा ,
विविहं खाइमसाइमं लभित्ता ।
छंदिअ साहम्मिआण भुंजे ,
भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ ९ ॥
न य वुग्गहिअं कहं कहिज्जा ,
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजमे धुवं जोगेण जुत्ते ,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

किं च-चतुरः क्रोधाऽऽदीन् वमति तत्प्रतिपक्षाभ्यासेन 'सदा ' सर्वकाल कषायान्, ध्रुवयोगी च उचितनित्ययोगवांश्च भवति, बुद्धवचन इति तृतीयार्थे सप्तमी, तीर्थकरवचनेन करणभूतेन, ध्रुवयोगी भवति यथागममेवेति भावः, ' अधनः ' चतुष्पदाऽऽदिरहितः ' निर्जातरूपरजतो ' निर्गतसुवर्णरूप्य इति भावः , ' गृहियोगं ' मूर्च्छया गृहस्थसंबन्धं ' परिवर्जयति ' सर्वैः प्रकारैः परित्यजति यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ तथा—' सम्यग्दृष्टि ' भावसम्यग्दर्शनी सदा ' अमूढः ' अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते-अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याऽऽभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलकल्पं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः, इत्थं च दृढभावस्तपसा धुनोति पुराणपापं भावसारया प्रवृत्त्या ' मनोवाक्कायसंवृतः ' तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तो यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥ ' तथैव ति ' पूर्वविधिविधानेन ' अशन पानं च ' प्रागुक्तस्वरूपं तथा ' विविधम् ' अनेकप्रकारं ' खाद्यं स्वाद्यं च ' प्रागुक्तस्वरूपमेव ' लब्ध्वा ' प्राप्य, किमित्याह—भविष्यति ' अर्थः ' प्रयोजनमनेन श्वः परश्वो वेति ' तद् ' अशनाऽऽदि ' न निधत्ते ' न स्थापयति स्वय, तथा ' न निधापयति ' न स्थापयत्यन्यैः, स्थापयन्तमन्य नानुजानाति, यः सर्वथा संनिधिपरित्यागवान् स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥ किं च—तथैवाशनं पानं च विविधं खाद्यं स्वाद्यं च लब्ध्वेति पूर्ववत्, लब्ध्वा किमित्याह—' छन्दित्वा ' निमन्त्र्य ' समानधार्मिकान् ' साधून् भुङ्क्ते, स्वाऽऽत्मतुल्यतया तद्वात्सल्यसिद्धेः, तथा भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च यः, चशब्दाच्छेषानुष्ठानपरश्च यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ भिक्षुलक्षणाधिकार एवाऽऽह—न च ' वैग्रहिकीं ' कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति, सद्वादकथाऽऽदिष्वपि न च कुप्यति परस्य, अपि तु ' निभृतेन्द्रियः ' अनुद्धतेन्द्रियः ' प्रशान्तो ' रागाऽऽदिरहित एवाऽऽस्ते, तथा ' संयमे ' पृथ्व्यादि ' ध्रुवं ' सर्वकालं ' योगेन ' कायवाङ्मनःकर्मलक्षणेन युक्तो योगयुक्तः , प्रतिभेदमौचित्येन प्रवृत्तेः , तथा ' उपशान्तः ' अनाकुल कायचापलाऽऽदिरहित. ' अविहेठकः ' न क्वचिदुचितेऽनादरवान्, क्रोधाऽऽदीना विक्षेपक इत्यन्ये, य इत्थंभूतः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ अ ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे,समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ११

एतदेव स्पष्टयति—

पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे ,
नो भीयए भयभेरवाइं दिस्स ।

विविहगुणतवोरए अ निच्चं,
न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥ १२ ॥
असइं वोसट्ठचत्तदेहे,
अक्कुट्ठे व हए लूसिए वा ।
पुढविसमे मुणी हविज्जा,
अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥ १३ ॥
अभिभूअ काएण परीसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ १४ ॥
हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥ १५ ॥

'प्रतिमां' मासाऽऽदिरूपां 'प्रतिपद्य' विधिनाऽङ्गीकृत्य 'श्मशाने' पितृवने 'न बिभेति' न भयं याति 'भैरवभयानि दृष्ट्वा' रौद्रभयहेतूनुपलभ्य वैतालाऽऽदिरूपशब्दाऽऽदीनि 'विविधगुणतपोरतश्च नित्यं' मूलगुणाऽऽधनशनाऽऽदिसक्तश्च सर्वकालं, न शरीरमभिकाङ्क्षते निःस्पृहतया वार्त्तमानिकं भावि च, य इत्थम्भूतः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥१२॥ न सकृदसकृत्सर्वदेत्यर्थः, किमित्याह 'व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः' व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः-'शरीरं येन स तथाविधः, आक्रुष्टो वा यकाराऽऽदिना हतो वा दण्डाऽऽदिना लूषितो वा खड्गाऽऽदिना भक्षितो वा श्वशृगालाऽऽदिना 'पृथिवीसमः' सर्वसहो मुनिर्भवति, न च रागाऽऽदिना पीड्यते, तथा 'अनिदानो' भाविफलाऽऽशंसारहितः, अकुतूहलश्च नटाऽऽदिषु, य एवम्भूतः स भिक्षुरिति सूत्राऽर्थः ॥१३॥ भिक्षुस्वरूपाभिधानाधिकार एवाऽह-'अभिभूय' पराजित्य 'कायेन' शरीरेणापि, न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनानभिभवे तत्त्वतस्तदनभिभवात्, 'परीषहान्' क्षुदादीन्, 'समुद्धरति' उत्तारयति 'जातिपथात्' संसारमार्गादात्मानं, कथमित्याह-'विदित्वा' विज्ञाय जातिमरणं संसारमूलं 'महाभयं' महाभयकारणं, 'तपसि रतः' तपसि सक्तः, किम्भूत इत्याह-'श्रामण्ये' श्रमणानां सम्बन्धिनि, शुद्ध इति भावः, य एवम्भूतः स भिक्षुरिति सूत्राऽर्थः ॥१४॥ तथा हस्तसंयतः पादसंयत इति कारणं विना कूर्मवल्लीन आस्ते, कारणे च सम्यग्गच्छति, तथा वाक्संयतः अकुशलवाग्निरोधकुशलवागुदीरणेन, 'संयतेन्द्रियो' निवृत्तविषयप्रसरः, 'अध्यात्मरतः' प्रशस्तध्यानाऽऽसक्तः, 'सुसमाहिताऽऽत्मा ध्यानाऽऽपादकगुणेषु, तथा सूत्रार्थं च यथावस्थितं विधिग्रहणशुद्धं विजानाति यः सम्यग्यथाविषयं स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

तथा—

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसंनिहिओ विरए,
सव्वसंगावगए अ जे स भिक्खू ॥ १६ ॥
अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे,
उंछं चरे जीविअ नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारणपूअणं च,
चए ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ १७ ॥
न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा ।
जाणिअ पत्तेअं पुण्णपावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ १८ ॥
न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥
पवेअए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं ।
न आवि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥ २० ॥
तं देहवासं असुइं असासयं ।
सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागम गइं ॥ २१ ॥ ति बेमि ॥

'उपधौ' वस्त्राऽऽदिलक्षणे 'अमूर्च्छित' तद्विषयमोहत्यागेन 'अगृद्धः' प्रतिबन्धाभावेन, अज्ञातोञ्छं चरति भावपरिशुद्धं, स्तोकं स्तोकमित्यर्थः, 'पुलाकनिष्पुलाक' इति संयमासारताऽऽपादकदोषरहितः, 'क्रयविक्रयसन्निधिभ्यो विरतः' द्रव्यभावभेदभिन्नक्रयविक्रयपर्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्तः; 'सर्वसङ्गापगतश्च यः, 'अपगतद्रव्यभावसङ्गश्च यः, स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ किंच—अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपरो 'भिक्षुः' साधुः न रसेषु गृद्धः, प्राप्तेष्वप्यप्रतिबद्ध इति भावः, उञ्छं चरति भावोञ्छमेवेति पूर्ववत्, नवरं तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह-त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यं, तथा जीवितं नाभिकाङ्क्षते, असंयमजीवितं, तथा 'ऋद्धिं च' आमर्षौषध्यादिरूपां सत्कारं वस्त्राऽऽदिभिः पूजनं च स्तवाऽऽदिना त्यजति, नैतदर्थमेव यतते, स्थिताऽऽत्मा ज्ञानाऽऽदिषु, 'अनिभ' इत्यमायो यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १७ ॥ तथा न 'परं' स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तं वदति अयं कुशीलः, तदप्रीत्यादिदोषप्रसङ्गात्, स्वपक्षविनेयं तु शिक्षाग्रहणबुद्ध्या वदत्यपि, सर्वथा येनान्यः कश्चित् कुप्यति न तद् ब्रवीति दोषसद्भावेऽपि, किमित्यत आह-ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं, नान्यसंबन्ध्यन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्, एवं सत्स्वपि गुणेषु नाऽऽत्मानं समुत्कर्षति-न स्वगुणैर्गर्वमायाति यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥ मदप्रतिषेधार्थमाह-न जातिमत्तो यथाऽहं ब्राह्मण, क्षत्रियो वा, न च रूपमत्तो यथाऽहं रूपवानादेयः, न लाभमत्तो यथाऽहं लाभवान्, न श्रुतमत्तो यथाऽहं पण्डितः,

अनेन कुलमदाऽऽदिपरिग्रहः, अत एवाऽऽह--मदान् सर्वान् कुलाऽऽदिविषयानपि ' परिवर्ज्य ' परित्यज्य ' धर्मध्यानरतो ' यो यथाऽऽगमं तत्र सक्तः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ किं च—' प्रवेदयति ' कथयति ' आर्यपदं ' शुद्धधर्मपदं परोपकाराय ' महामुनिः ' शीलवान् ज्ञाता एवंभूत एव वस्तुतो नान्यः , किमित्येतदेवमित्यत आह—धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि श्रोतारं, तत्राऽऽदेयभावप्रवृत्तेः, तथा निष्क्रम्य वर्जयति कुशीललिङ्गम् ,आरम्भाऽऽदि कुशीलचेष्टितं, तथा ' न चापि हास्यकुहको ' न हास्यकारिकुहकयुक्तो यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ २० ॥ भिक्षुभावफलमाह—' तं देहवासं ' इत्येवं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं चारकरूपं शरीराऽऽवासम् अशुचिं शुक्रशोणितोद्भवत्वाऽऽदिना अशाश्वतं प्रतिक्षणपरिणत्या सदा त्यजति ममत्वानुबन्धत्यागेन, क इत्याह' नित्यहिते ' मोक्षसाधने सम्यग्दर्शनाऽऽदौ ' स्थिताऽऽत्मा ' अत्यन्तसुस्थितः , स चैवंभूतश्छित्वा ' जातिमरणस्य ' संसारस्य ' बन्धनं ' कारणम् ' उपैति ' सामीप्येन गच्छति ' भिक्षुः ' यतिः ' अपुनरागमां ' पुनर्जन्माऽऽदिरहितामित्यर्थः, गतिमिति-सिद्धिगतिं ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥ उक्तोऽनुगमो नयाः पूर्ववत् इति । दश० १० अ० ।

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं,
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे,
अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥ १ ॥

मुनेः कर्म मौनं, तच्च सम्यक् चारित्रं, ' चरिस्सामो त्ति ' सूत्रत्वात् चरिष्यामि आसेविष्ये इत्यभिप्रायेणेत्युपस्कारः, ' समेत्य ' प्राप्य ' धर्मं ' श्रुतचारित्रभेदं दीक्षामित्युक्तं भवति, ' सहितः ' सम्यग्दर्शनाऽऽदिभिरन्यसाधुभिर्वेति गम्यते, स्वस्मै हितः स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणतः, कश्चैवम् ?- ऋजुः—संयमस्तत्प्रधानं ऋजु वा—मायात्यागतः कृतम्-अनुष्ठानं यस्येति ऋजुकृतः, ईदृक इत्याह—निदान—विषयाभिष्वङ्गाऽऽत्मकं, यदि वा-' निदान बन्धने ' ततश्च करणे ल्युट्, निदानं प्राणातिपाताऽऽदिकर्मबन्धकारणं छिन्नम्-अपनीतं येन स तथा , क्तान्तस्य परनिपातः प्राग्वत्प्राकृतत्वात् , छिन्ननिदानो वा अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः , ' संस्तव ' पूर्वसंस्तुतैर्मातादिभिः पश्चात्संस्तुतैश्च श्वश्र्वादिभिः परिचयं ' जह्यात् ' त्यजेत् , ' शकि च लिङ् ' ( शकि लिङ् च- पा-३-३-१७२ ) इत्यनेन शक्यार्थे लिङ् , ततः संस्तवं हातुं शक्तो य इति, एवं लिङर्थभावना सर्वत्र कार्या, तथा कामान्—इच्छाकाममदनकामभेदान् कामयते—प्रार्थयते यः स कामकामो न तथा अकामकामः , यद्वाऽकामो—मोक्षस्तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेस्तं कामयते यः स तथा, अत एव अज्ञातः—तपस्विताऽऽदिभिर्गुणैरनवगतः, एषयते प्राणाऽऽदिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी ' परिव्रजेद् ' अनियतविहारितया विहरेत् ' स भिक्खु त्ति ' यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् य एवंविधः स भिक्षु , अनेन सिंहतयैव विहरणं भिक्षुत्वनिबन्धनमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥

तच्च सिंहतया विहरणं यथा स्यात् तथा विशेषत आह—

राओवरयं चरिज्ज लाढे,
विरए वेद वियाऽऽय रक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
जे कम्हि वि न मुच्छिए स भिक्खू ॥ २ ॥

राग.—अभिष्वङ्गः, उपरतो—निवृत्तो यस्मिंस्तद्रागोपरतं यथा भवत्येवं ' चरेद् ' विहरेत् , क्तान्तस्य परनिपातः प्राग्वत् , अनेन मैथुननिवृत्तिरुक्ता , रागाविनाभावित्वान्मैथुनस्य, यद्वाऽऽवृत्तिन्यायेन ' रातोवरयं ति ' राज्युपरतं ' चरेत् ' भक्षयेदित्यनेनैव रात्रिभोजननिवृत्तिरप्युक्ता, ' लाढे त्ति ' सदनुष्ठानतया प्रधानो विरतः—असंयमान्निवृत्तः , अनेन च संयमस्याऽऽक्षेपात्प्राणातिपातनिवृत्तिः सावद्यवचननिवृत्तिरूपत्वाद् वाक्संयमस्य मृषावादनिवृत्तिश्चाभिहितावेदितव्या, वेद्यतेऽनेन तत्त्वमिति वेदः—सिद्धान्तस्तस्य वेदनं वित्तया आत्मा रक्षितो—दुर्गतिपतनात्त्रातोऽनेनेति वेदविदात्मरक्षितः, यद्वा—वेद वेत्तीति वेदवित् , तथा रक्षिता आयाः—सम्यग्दर्शनाऽऽदिलाभा येनेति रक्षिताऽऽयः, रक्षितशब्दस्य परनिपातः प्राग्वत् , ' प्राज्ञः ' हेयोपादेयबुद्धिमान् ' अभिभूय ' पराजित्य परीषहोपसर्गानिति गम्यते, ' सर्वं ' समस्तं गम्यमानत्वात्प्राणिगणं पश्यति-आत्मवत्प्रेक्षत इत्येवंशीलः, अथवा—अभिभूय रागद्वेषौ सर्वं वस्तु समतया पश्यतीत्येवंशीलः सर्वदर्शी, यदि वा—सर्वं दशति—भक्षयतीत्येवंशीलः सर्वदंशी । उक्तं हि—" पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए । दुग्गधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे ण छड्डए ॥ १ ॥ " अत एव यः कस्मिंश्चित्सचित्ताऽऽदिवस्तुनि न मूर्च्छितः—प्रतिबद्धः, एतेन परिग्रहे निवृत्तेरभिधानमप्रतिबद्धश्च कथमदत्तमाददीत ?, इत्यदत्ताऽऽदाननिवृत्तेश्च,तथा च य एवं मूलगुणान्वितः स भिक्षुरित्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः।

अन्यच्च-

अक्कोसवहं विदित्तु धीरे,
मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जो कसिणं अहिआसए स भिक्खू ॥ ३ ॥

आक्रोशनमाक्रोशः--असभ्याऽऽलापो वधो--घातस्ताडनं वा, अनयोः समाहारद्वन्द्वे आक्रोशवधं,तद्विदित्वा स्वकृतकर्मफलमेतदिति मत्वा ' धीर ' अक्षोभ्यः सम्यक् सोढेति यावत् ' मुनिः ' यतिः ' चरेत् ' पर्यटेद् , अनियतविहारतयेति गम्यते, ततश्चानेनाऽऽक्रोशवधचर्यापरीषहसहनमुक्तं, ' लाढे त्ति ' प्राग्वत् ' नित्यम् ' इति सदा ' आत्मा ' शरीरम्, आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात् , उक्तं हि-" धर्मधृत्यग्निधीन्द्वर्कं स्वकृतस्वस्वार्थदेहिषु । शीलानिलमनोयत्नैः कवीयैस्त्वात्मनः स्मृतिः ॥ १ ॥ " इति , तेन गुप्त आत्मगुप्तो-न यतस्ततः करणचरणाऽऽदिविक्षेपकृत् , यद्वा-गुप्तो रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा, अव्यग्रम्-अनाकुलमसमञ्जसचिन्तोपरमतो मनः—चित्तमस्येत्यव्यग्रमना न संप्रहृष्टः असम्प्रहृष्टः-आकाशाऽऽदिषु न प्रहर्षवान्, यथा कश्चिदाह-" कश्चित् पुमान् क्षिपति मा परुषवाक्यैः , श्रीमत्त्वमाऽऽभरणमेत्य मुदं व्रजामि ।" इत्यादि । प्रकृतोपसंहारमाह-यः ' कृत्स्नम् ' उत्कृष्टाऽऽदिभेदतः समस्तमाक्रोशवधम् ' अध्यास्ते ' सहते समतयेति गम्यते , स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ।

किं च—

पंतं सयणाऽऽसणं भइत्ता,
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे अ पहिट्ठे,
जो कसिणं अहिआसए स भिक्खू ॥ ४ ॥

'प्रान्तम्' अधमं शयनं च संस्तारकाऽऽदि आसनं च पीठकाऽऽदि शयनाऽऽसनम्, उपलक्षणत्वाद्भोजनाऽऽच्छादनाऽऽदि च 'भुक्त्वा' सेवित्वा शीतं चोष्णं च शीतोष्णम्-उक्तरूपं, तस्य गम्यमानत्वात्तच्च सेवित्वा 'विविधं च' नानाप्रकारं दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकं, प्राग् व्याख्यातमेव, प्राप्येति शेषः, मत्कुणाऽऽद्युपलक्षणं चैतत्, अव्यग्रमना असंप्रहृष्टो यः कृत्स्नमप्येतत् स भिक्षुरिति प्राग्वत्। इह च प्रान्तं शयनाऽऽसनं भुक्त्वेति अतिसात्त्विकतादर्शनार्थं, प्रान्तशयनाऽऽदितायां हि मुदुःसहाः शीताऽऽदयः, अनेन शीतोष्णदंशमशकपरीषहसहनमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥

अपरं च-

नो सक्कियमिच्छई न पूअं,
नो वि य वंदणगं कुओ पसंसं ?।
से संजए सुव्वए तवस्सी,
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥ ५ ॥

'नो' निषेधे 'सत्कृतं' सत्कारमभ्युत्थानानुगमाऽऽदिरूपम् 'इच्छति' अभिलषति, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे दीर्घनिर्देशः, न 'पूजां' वस्त्रपात्राऽऽदिभिः सपर्यां, 'नो अपि च' इति नैव च 'वन्दनकं' द्वादशाऽऽवर्ताऽऽदिरूपं, कुतः 'प्रशंसां' निजगुणोत्कीर्तनरूपां ?, नैवेच्छतीत्यभिप्रायः, 'सः' एवंविधः सम्यग् यतते सदनुष्ठानं प्रतीति संयतोऽत एव च सुव्रतः, सुव्रतत्वाच्च 'तपस्वी' प्रशस्यतपाः, तथा च सहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां, यद्वा-सह हितेन—आयतिपथ्येन अर्थात्तदनुष्ठानेन वर्त्तत इति सहितः, तत एव चाऽऽत्मानम्—कर्मविगमाच्छुद्धस्वरूपं गवेषयति—कथमयमित्थंभूतो भवेदित्यन्वेषयते यः स आत्मगवेषकः, यद्वा-आयः—सम्यग्दर्शनाऽऽदिलाभः सूत्रत्वादायतो वा—मोक्षस्तं गवेषयतीत्यायगवेषकः, आयतगवेषको वा यः स भिक्षुरिति, सूत्रार्थः ॥

अनेन सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनमुक्तं, सम्प्रति स्त्रीपरीषहसहनमाह—

जेण पुणो जहाइ जीवियं,
मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
नरनारिं पयहे सया तवस्सी,
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥ ६ ॥

येन हेतुना, पुनः शब्दोऽस्य सर्वथा संयमघातित्वविशेषद्योतकः, 'जहाति' त्यजति 'जीवितं' संयमजीवितं 'मोहं वा' मोहनीयं वा कषायनोकषायाऽऽदिरूपं 'कृत्स्नं' समस्तं कृत्स्नं वा शुद्धाऽऽशयविनाशकतया 'नियच्छति' बध्नाति तदेवंविधं नरश्च नारी च नरनारि 'प्रजह्यात्' परित्यजेत् च 'सदा' सर्वकालं तपस्वी, न च 'कुतूहलं' अभुक्तभोगतायां रूपादिविषयं कौतुकम्, उपभुक्तत्वाद्भुक्तभोगतायाः स्मृतिं च, 'उपैति' गच्छति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥

इत्थं परीषहसहनेन भिक्षुत्वसमर्थनात् सिंहविहारित्वमुक्त्वा तदेव पिण्डविशुद्धिद्वारेणाऽऽह—

छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं,
सुविणं लक्खणं दंड वत्थुविज्जं ।
अंगवियार सरस्सविजयं,
जो विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥ ७ ॥

छेदनं छिन्नं वसनदशनदारादीनां, तद्विषयशुभाशुभनिरूपिका विद्याऽपि छिन्नमित्युक्ता एवं सर्वत्र । "देवेसु उत्तमो लाभो" इत्यादि, तथा 'सरं ति' स्वरस्वरूपाभिधानं, "सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसभं सरं । हंसो रवति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलए ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा—"सज्जेण लहइ वित्तिं, कयं च न विणस्सई । गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होइ वल्लहो ॥ १ ॥ रिसहेण उ ईसरियं, सेणावच्चं धणाणि य । " इत्यादि । तथा भूमिः—पृथ्वी भूमौ भवं भौमं-भूकम्पाऽऽदिलक्षणं, यथा—" शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते । सेनापतिरमात्यश्च, राजा राष्ट्रं च पीड्यते ॥ १ ॥ " इत्यादि । तथा अन्तरिक्षम्—आकाशं तत्र भवम् आन्तरिक्षं—गन्धर्वनगराऽऽदिलक्षणं, यथा—

" कपिलं शस्यघाताय माञ्जिष्ठं हरणं गवाम् ।
अव्यक्तवर्णं कुरुते, बलक्षोभं न संशयः ॥ १ ॥
गन्धर्वनगरं स्निग्धं, सप्राकारं सतोरणम् ।
सौम्यां दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयङ्करम् ॥२॥" इत्यादि-

तथा-' स्वप्नं ' स्वप्नगतं शुभाशुभकथनं, यथा—"गायने रोदनं ब्रूयात्-नर्त्तने वधबन्धनम् । हसने शोचनं ब्रूयात्पठने कलहं तथा ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा 'लक्षणं' स्त्रीपुरुषयोर्यथा—" चक्खुसिणेहे सुहिओ, दंतसिणेहे य भोयणं मिट्ठं । तयणेहेण य सोक्खं, णहणेहे होइ परमधणं ॥ १ ॥" इत्यादि । गजाऽऽदीनां च यथायथं वालुकाप्यादिविहितम् । तथा 'दंड त्ति' 'दण्डः' यष्टिस्तत्स्वरूपकथनम्, "एकपर्वं पसंसंति' दुपव्वा कलहकारिया "इति, इत्यादि । तथा 'वास्तुविद्या' प्रासादाऽऽदिलक्षणाभिधायिशास्त्राऽऽदिर्यथा-

" कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका द्वन्द्वजास्तथा ।
लतिनो नागराश्चैव, प्रासादाः क्षितिमण्डनाः ॥ १ ॥
सूक्ष्माः पदविभागेन, कर्ममार्गेण सुन्दराः ।
फलावाप्तिकरा लोके, भक्तिभेदयुता विभोः ॥ २ ॥
अण्डकैस्तु विविक्ताग्रैः, निर्गमैश्चारुरूपकैः ।
चित्रपत्रैर्विचित्रैश्च, विविधाऽऽकाररूपकैः ॥३॥" इत्यादि ।

तथा 'अङ्गविकारः' शिरःस्फुरणाऽऽदिस्तत्शुभाशुभसूचकं शास्त्रमप्यङ्गविकारो यथा—'दक्षिणाक्षिस्पन्दने प्रियं भविष्यति' इत्यादि । तथा स्वरः पोदकीशिवाऽऽदिरुतरूपस्तस्य विषय-स्तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्यासः, यथा—" गमिष्यतो दक्षिणो वामः, पादस्थः शुभदः स्मृतः । विपरीतः प्रवेशे तु, स एवाभीष्टदायकः ॥ १ ॥" तथा-"दुर्गास्वरद्वयं स्याज्ज्ञातव्यं शाकुनैर्नैपुण्यात् । चिलिचिलिशब्दः सफलः, सुसुशब्दश्च निष्फलः ॥ १ ॥" इत्यादि । तदेवं एताभिर्विद्याभिर्न जीवति नैता एव जीविकाः शुभाशुभाः प्रकल्प्य प्राणान् धारयति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥

न पूर्वसङ्ख्याविरोधः,एवं दश १०,एकादशी अहोरात्रप्रमाणा अहोरात्रिकी ११,एकरात्रिन्दिवा एकरात्रिप्रमाणा,अत्र रात्रिन्दिवाशब्दादपि रात्रिरेव ग्राह्या,अन्यथा एकरात्रिकी इत्यस्याऽविरोधात्, पूर्वं तु अहोरात्रिका इत्यस्याऽभिधानात् ।१२।

इति संक्षेपतो द्वादशभिक्षुप्रतिमाणां स्वरूपमाभिधाय-
सम्प्रति प्रत्येकमाचारविधिमभिधित्सुराह—

मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स,निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे,जे केई उवसग्गा उप्पज्जंति । तं जहा–दिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्खजोणिया वा ते उप्पन्ने सम्मं सहति, खमति, तितिक्खति, अहियासेति ।

मासिकीं भिक्षुप्रतिमां प्रतिपन्नस्य भिक्षोः,अयमाचारो भवति इति शेषः । तद्यथा-( निच्चं वोसट्ठकाए त्ति ) नित्यमनवरतं व्युत्सृष्टकायः परिकर्मवर्जनात्,प्रीत-प्रीतिकारीति,उक्ताऽनेकपरीषहसहनादिह येन स त्यक्तप्रीतदेहः;व्यत्ययः प्राकृतत्वात् । ये केचन उपसर्गा उत्पद्यन्ते । तद्यथा-दैवा देवकृताः,मानुष्या मनुष्यकृताः' तिर्यग्योनिकास्तिर्यक्कृता. । ( ते इति ) तान् परीषहान् उत्पन्नान् सम्यग् यथा भवति मुखाऽऽद्यविकारकरणेन सहते सभयाभावेन, ( खमति त्ति ) क्षमति क्रोधाऽभावेन, तितिक्षते दैन्यानवलम्बनेन अचलकायतया ।

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति एगा दत्ती भोयणस्स पडिग्गाहित्तए, एगा पाणस्स, अण्णाउत्थं सुद्धं उवहडं णिज्जूहित्ता बहवे दुपयचउप्पयसमणमाहणअतिहिकिविणवणीमए कप्पति से एगस्स भुंजमाणस्स पडिग्गाहेत्तए,णो दोण्हं,णो चउण्हं,णो पंचण्हं,नो गुव्विणीए,नो बालवच्छाए,णो दारगं पेज्जमाणीए, णो अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, णो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, एगं पादं अंतो किच्चा एगं पादं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एवं दलयति, एवं से कप्पति पडिग्गाहित्तए,एवं से नो दलयति, एवं णो कप्पति पडिग्गाहित्तए ।

( अणगारस्स त्ति ) द्रव्यभावभेदभिन्नागारद्वयवर्जितस्य कल्पते युज्यते एका दत्तिर्भोजनस्याशनस्य प्रतिग्रहीतुं केवलं कामतया । अत्र पानीयस्य दत्तिप्रमाणम्—( 'दत्ति' शब्दे चतुर्थभागे २४४६ पृष्ठे ( १०६।११० ) गाथाभ्या निरूपित. ) ( अण्णाउत्थंति ) अज्ञातोञ्छं परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् उञ्छं द्रव्यगृहस्थप्रग्रहोद्धरितं भावतोऽन्यभिक्षुकवत्तथाविधप्रतिपत्तिं विना दत्तं न तु ज्ञातं तद् बहुमतमिति, एतदपि शुद्धम् उद्गमाऽऽदिदोषरहितं न तु तद्विपरीतम् । अथवा शुद्धं मलापहृतं ( उवहडमिति ) अन्यस्य भोक्तुकामस्य कृते उपनीतं,भिक्षाचरस्य वा कृते उपनीतं, तेन च नेप्सितं दत्तशेषं वा ( णिज्जूहित्ता इति ) निवर्त्य बहून् द्विपदचतुष्पदश्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकान् यथैतेषामन्तरायदोषो न भवति तथैव ते परिहर्तव्याः । तत्र द्विपदा मनुष्यपक्षिण', चतुष्पदा गोमहिष्यादय , श्रमणाः निर्ग्रन्थशाक्यतापसगैरिकाऽऽजीविका इति,ब्राह्मणा भोजनकालोपस्थायिन., अतिथयस्त्वेवम्-( 'अइहि' शब्दे प्रथमभागे ३३ पृष्ठे दर्शिताः ) कृपणा दरिद्राः, ( ते च 'किवण' शब्दे तृतीयभागे ५६१ पृष्ठे दर्शिताः ) वनीपका वन्दिप्रायाः, एकस्य भुञ्जानस्योपनीतं प्रतिग्रहीतुं कल्पते,न द्वयोः, न त्रयाणां, न चतुर्णां न पञ्चानाम् । उपलक्षणं चैतद् बहूनामेतेषामप्रीतिर्भवेदिति । नो गुर्विण्या गर्भवत्याः, यतस्तस्या हस्ते आहारग्रहणे गर्भस्य पीडा भवति,जिनकल्पिकप्रतिमाप्रतिपन्नास्तु गर्भवतीं ज्ञात्वा परिहरन्ति,गच्छवासिनस्तु अष्टमनवममासयोःपरिहरन्ति । नो बालवत्साया हस्ते आहारो ग्रहीतुं कल्पते, नोदारकं बालकं पाययन्त्याः, क्षीरमिति गम्यम । ( णो अंतो त्ति ) नोऽन्तर्मध्ये एलुकस्यापवरकस्य द्वावपि पादौ संहृत्य ददत्याः । एवं बहिरेलुकस्य । कथं तर्हि कल्पते ?, इत्याह-(एगमित्यादि ) एकं पादम्, अन्तर्मध्ये एकं च बहिरपवरकस्य(एलुयं विक्खंभयित्ता)विष्कभ्य ददाति,एवं अमुनैव विधिना ( से ) तस्य साधोः कल्पते प्रतिग्रहीतुं एवं चेव ददाति तदा न कल्पते ।

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स तओ गोयरकाला पण्णत्ता । तं जहा–आदिं, मज्झे,चरिमे । आदिं चरेज्जा णो मज्झे णो चरिमे चरेज्जा, मज्झे चरेज्जा नो आदिं चरेज्जा णो चरिमे चरेज्जा, चरिमं चरेज्जा णो आदिं चरेज्जा णो मज्झे चरेज्जा ॥

( मासियं णमित्यादि ) मासिकीं भिक्षुप्रतिमा प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य त्रयस्त्रिसङ्ख्यया गोचरकालाः गोरिव चरस्तस्य कालाः प्रस्तावाःप्रज्ञप्ता. । तद्यथा–आद्यो,मध्य ,चरम. । तेषु एवम् अनन्तरोक्तविभागेन चरेत् , यथावत्, स क ?, रूपवत्याः स्त्रियो रूपाऽऽदिषु अमूर्छितो विचरति,किंतु तदानीताऽऽहाराऽऽदिष्वेव निविष्टचेता. तथाऽयमपि भगवान् अद्धाऽऽदिष्वमूर्छित.तृतीयपौरुष्यामटति । पूर्वमाद्यमङ्गकस्वरूपं यथा यत्र भिक्षावेलाया भिक्षाचरानायान्ति भिक्षार्थं तत्र साधुः पूर्वमेव चरति भिक्षार्थम्, अयमाद्यः, द्वितीयस्तु यत्र भिक्षावेलातः पश्चादायान्ति भिक्षुका पूर्वमप्यायान्ति तत्र साधुना मध्यकाले गन्तव्यं, यत्र च पूर्वकाले मध्ये च भिक्षवो यान्ति भिक्षार्थे तत्र साधुना चरमकाले गन्तव्यम् । तथा चोक्तम्—

" पुव्व व चरति तेसिं, निययवारेसु वा अडति पच्छा ।
जत्थ दोण्णि भवे काला, चरता तत्थ अतिरिथए ॥ १ ॥ "
अण्णारद्धे व, अपत्ते मज्झे चरति संजतो ।
गेण्हंत दैतयाण तु, वज्जेय नो अपत्तिय ॥ २ ॥ "

" जति अपत्ते भिक्खायरा मज्झे अडंति तो सो पुव्वं भिक्खं अडति । अहवा संणियट्टेसु भिक्खायरेसु पच्छा अडति, जत्थ दो भिक्खवेलाओ तत्थ पढमभिक्खवेले अतिक्कंते बितिए भिक्खवेले अप्पत्ते हिंडति । " एवं ( दो मासि यं णं ति ) इत्यादि व्यक्तम् ।

मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स छव्विधा गोयरचरिया पण्णत्ता । तं जहा पेला,अद्धपेला,गोमुत्तिया,पयंगविधिया,संबुक्काऽऽवट्टा,गंतु पच्चागता । मासिय णं भिक्खुपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थ णं केइ जाणइ कप्पति से तत्थेगराइयं वसित्तए, एत्थ णं केइ न जाणति कप्पति से तत्थ एगरातियं वा दुराइयं वा वत्थए, णो

स कप्पति एगरातो वा दुरातो वा परं वत्थए, जं तत्थ एगरातातो वा परिवसति सेसतरा छेदे वा परिहारे वा । मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तं जहा-जायणी, पुच्छणी, अणुण्णवणी, पुट्ठस्स वागरणी । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ उवस्सया पडिलेहित्तए । तं जहा—अहे आरामगिहंसि वा, अधे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्खमूलगिहंसि वा । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ उवस्सया अणुण्णवित्तए । तं जहा-अधे आरामंसि वा अधे वियडगिहंसि वा अधे रुक्खमूलगिहंसि वा । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ उवस्सया उवाइणावित्तए, सेसं तं चेव । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ संथारगा पडिलेहित्तए-पुढविसिलं वा, कट्ठसिलं वा,अधे संवुडमेव । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति, तओ संथारगा अणुण्णावित्तए, सेसं तं चेव । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति तओ संथारगा उवाइणावित्तए, सेसं तं चेव । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स इत्थिउवस्सयं हव्वं उवागच्छेज्जा , से इत्थिए व पुरिसे णो कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स उवस्सयं अगणिकाएण झामेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमेत्तए वा पविसित्तए वा ।

(गोचरचर्यायाः प्रकारः 'गोयरभूमि' शब्दे तृतीयभागे १०१०पृष्ठे गतः) (जत्थ णं केइ जाणइ इत्यादि)यत्र णमिति वाक्यालङ्कारे, कोऽपि गृहस्थाऽऽदिको जानाति प्रत्यभिजानाति यथाऽय प्रतिमां प्रतिपन्नः । क्वेत्याह-(गामंसि वा ) ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः । यदि वा-गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशानां कराणामिति तस्मिन् । यावत्करणात् नकराऽऽदिपदकदम्बकपरिग्रहः । नात्र करोऽष्टादशप्रकारोऽस्तीति नकरं, तस्मिन्, निगमः प्रभूततरवणिग्वर्गावासः तस्मिन्, तथा पांशुप्राकारवेष्टितं खेटं क्षुल्लप्राकारवेष्टितं कर्वटं कुत्सितनगरं वा । पट्टनं,पत्तनं वा,उभयत्रापि प्राकृतत्वेन निर्देशस्य समानत्वात् । तत्र यन्नौभिरेव गम्यं तत्पत्तनं, यथा सिंहलः । यत्पुन. शकटैर्घोटकैर्नौभिर्वा गम्यते तत् पट्टनं, यथा भरुकच्छम् । उक्तं च-" पट्टनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च । नौभिरेव तु यद्गम्यं,पत्तनं तत्प्रचक्षते ॥ १ ॥ " द्रोणमुखं बाहुल्येन जलनिर्गमप्रवेशम्, आकरो हिरण्याऽऽकराऽऽदिः । आश्रमस्तापसावसथोपलक्षित आश्रयः, संबाधो यात्राऽऽगतप्रभूतजननिवेशः, राजानो धीयन्तेऽस्याम् इति राजधानी राज्ञ. पीठिकास्थानमित्यर्थः । अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामान्तररहित मडम्बं, तस्मिन् इति सर्वत्र योज्यम् । ( तत्थ त्ति ) तत्र (एगराइ त्ति) रात्रिग्रहणात् दिवसमपि उषितु (जत्थ त्ति)यत्र नकोऽपि प्रत्यभिजानीते तत्रैकरात्रिं वा द्विरात्रिं वा उषितुं ततः परं न ( से ) तस्य कल्पते, शेषं व्यक्तम् । ( सेसंतरा छेदे व त्ति ) कियत्कालान्तरे पुनस्तत्रोषितुं कल्पते । ( परिहारे व त्ति ) यत्र स्थितास्तत्स्थानिपरिहारे वा त्यागे तत्र कल्पते(चत्तारि भासाउ त्ति) चतस्रो भाषा भाषयितुं कल्पन्ते । तद्यथा-याचनी—कस्यापि वस्तुविशेषस्य देहीतिमार्गणं पृच्छनी-अविज्ञातस्य संदिग्धस्य कस्यचिदर्थस्य परिज्ञानाय तद्विदः पार्श्वे । अनुज्ञापनी-उच्चारपरिष्ठापनतृणडगलभस्मप्रभृतीनाम् । पृष्टस्य व्याकरणी—यथा कस्त्वं कौतस्कुत्य , किमर्थमागमः , प्रतिमाप्रतिपन्नोऽन्यो वा इत्यादिपृष्टस्य व्याकरणी प्रत्युत्तरप्रदानरूपा इति । ( उवस्सया इति) उपाश्रया वसतय इत्यर्थः । प्रतिलेखयितुमारामस्याध इति अध आरामम् ,आरामं च तद् गृहं चेति कर्मधारयः, तस्मिन् तथा; एवं विकटगृहं , विकटगृहं नाम—ग्रामाद्बहिर्वृक्षानामधो , वृक्षमूले इति वृक्षनिकटतरप्रदेशे इति । ( अणुण्णावित्तए इति ) अनुज्ञापयितुं प्रतिलेखनानन्तरमनुज्ञां मार्गयितुं ( उवायणावित्तए त्ति) उपग्रहीतुं स्थायित्वेनाङ्गीकर्तुम् इति । संस्तारकः प्राग्व्याख्यातस्वरूपः, पृथिवीशिलां शिलारूपं काष्ठशिलेति बृहत्तरकाष्ठपिण्डरूपां यथा संस्कृतं चतुष्किकाऽऽदि , एतदूर्द्धं शेषं प्राग्वत् । (इत्थि त्ति) स्त्री वा पुरुषो वा परिचारणार्थं वसत्यन्तरं वोद्दिश्योपाश्रयं प्रति ( हव्वं ति ) शीघ्रम् उपागच्छेत् ( तं पडुच्च त्ति ) तं स्त्रीपुंयुगलं प्रतीत्य आश्रित्य नैव कल्पते निष्क्रमितु वसतेर्बहिः, प्रवेष्टु बहिर्भूतप्रदेशादन्तरमिति । ( केइ त्ति ) कोऽपि उपाश्रयमग्निकायेनाग्निना ध्मायेत् तथापि (नो से कप्पइ त्ति) व्यक्तम् । इति स्थानविधिरुक्तः ।

साम्प्रतं गमनस्थानविधिमाह—

तत्थ णं केइ वधाए गहाय आगच्छे०जाव णो से कप्पति । तं जहा-अवलंबित्तए वा पडिलंबित्तए वा, कप्पति से आहारियं रीयत्तए मीसियं वा कप्पति से आहारियं रियत्तए । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नं भिक्खायरियं पायंसि खाणुं वा कंटए वा हीरए वा सक्कराए वा अणुप्पवेसेज्जा , णो से कप्पति नीहारित्तए वा विसोहित्तए वा, कप्पति से आहारियं रीयत्तए । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्न भिक्खायरियं अच्छिंसि पाणाणि वा बीयाणि वा रए वा परियावज्जेज्जा , णो से कप्पति नीहारित्तए वा विसोहित्तए वा , कप्पति से आहारियं रीइत्तए । मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्न भिक्खायरियं जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा तत्थेव जलंसि वा थलंसि वा दुग्गंसि वा णिन्नंसि वा विसमंसि वा पव्वतंसि वा पव्वतदुग्गंसि वा गड्डाए वा दरीए वा कप्पति से त रयणिं तत्थेव उवातिणावित्तए, नो से कप्पति पदमवि गमित्तए, कप्पति से कल्लं पाउप्पभाताए०जाव तेजसा जलंते पाईणाभिमुहस्स वा पडीणाभिमुहस्स वा दाहिणाभिमुहस्स वा उत्तराभिमुहस्स वा आहारियं रीइत्तए । मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नं भिक्खाय—

रियं णो से कप्पति अणंतरहिताए पुढवीए णिद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, केवली बूया–आदाणमेयं, से तत्थ निद्दायमाणे वा पयलायमाणे वा हत्थेहिं भूमिं परामुसेज्जा अधाविधिमेव ठाणं ठाइत्तए वा निक्खमित्तए वा उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जा, णो से कप्पति ओगिण्हित्तए वा परिट्ठावित्तए वा कप्पति से पुव्वपडिलेहिते थंडिले उच्चार पासवणं वा परिट्ठवित्तए,तं से उवस्सयं आगम्म ठाणं ठाइत्तए, मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नं भिक्खायरियं णो कप्पति ससरक्खेणं काएणं गाहावतिकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,अध पुणरेव जाणिज्जा ससरक्खे सेअत्ताए वा जल्लत्ताए वा मल्लत्ताए वा पंकत्ताए वा विद्धत्थे,से कप्पति गाहावतिकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नं भिक्खायरियं नो कप्पति सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पादाणि वा दंताणि वा अच्छीणि वा मुहं वा अच्छोलित्तए वा,पधोवित्तए वा, णण्णत्थ लेवालेवेण वा भत्तामासेण वा। मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नं भिक्खायरियं णो कप्पति आसस्स वा हत्थिस्स वा महिसस्स वा कोलसुणगस्स दुट्ठस्स आपदमाणस्स पदमवि पच्चोसक्कित्तए अदुट्ठस्स आवदमाणस्स कप्पति जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए। मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नं भिक्खायरियं णो कप्पति छायातो सीयं ति नो उण्हं एत्तए उण्हातो उण्हं ति नो छायं एत्तए,जं जत्थ जयासि वा तं तत्थ अधियासए। एवं खलु एसा मासिया भिक्खुपडिमा, अधासुत्तं अधाकप्पं अधामग्गं अधातच्चं अधासमं काएण फासिता पालिता सोहिता तीरिता पूरिता किट्टिता आराधिता आणाए अणुपालेत्ता भवति।

( तत्थ णं ति ) तत्र मार्गे वसत्यादौ वा कश्चिद्वधार्थी वधनिमित्त (गहाय त्ति) गृहीत्वा,खड्गाऽऽदिकमिति शेषः। आगच्छेत् (अवलंबित्तए वा) अवलम्बयितुम् आकर्षयितुं , प्रत्यवलम्बयितु पुनः पुनरवलम्बयितुं , यथेर्याम् ईर्यामनतिक्रम्य गच्छेत्, एताश्वता छिद्यमानोऽपि यं नातिशीघ्रं प्रयायादिति। ( पायंसि त्ति ) पादे,उपलक्षणत्वादुपधिहस्ताऽऽदौ वा,स्थाणुर्नाम ठुण्ठ उच्यते, कण्टकः प्रतीतः हीरको नाम सकोणः कर्करिकाविशेषः, शर्करा वा न प्रविशेयुः ( नीहरित्तए त्ति ) निष्कासयितु विशोधयितु शेषावयवाऽपनेतुं,शेष प्राग्वत्। ( अच्छिसि व त्ति ) अक्ष्णोर्नेत्रयोः ( पाणाणि व त्ति ) प्राणा लघुतरका मशकाऽऽदय., नपुंसकत्व प्राकृतत्वात्। बीजानि तिलाऽऽदीनि,रज सूक्ष्मं धूलीरूपम्। ( परियावज्जेज्ज त्ति ) पर्यापतेत् लगेत् , तथापीत्यध्याहार्यम् ( णो सि त्ति ) प्राग्वत्,(नीहरित्तए त्ति)निष्कासयितुमुद्धर्तुं,विशोधयितुं जलाऽऽदिभावनेनापनेतु,शेषं प्राग्वत्। ( जत्थेव सूरिए त्ति)यत्रैव, यत्कारोऽवधारणे, नान्यत्रेत्यर्थः। वसतिप्रदेशे अरण्ये वाऽऽदौ वा सूर्योऽस्तमेमि अस्तं प्राप्नोति ( तत्थेव त्ति) तत्रैव वसेदित्याह- ( जलंसि वा इत्यादि ) जले जलविषये, न तु जले एव, कथमस्तसमये ( कप्पति ) उपयोगवच्चात्तेषाम्, उच्यते अत्र जलशब्देन नद्यादिजलं न गृह्यते, किं तु यत्र तृतीयो यामो दिवसस्य संपूर्णो भवति तत्र तेषां जलमेवोच्यते इति समयरीतिः, विशिष्टाभिग्रहवत्त्वात्तेषाम्। स्थविरकल्पिकाना तु न तथेति, अन्नायकालिकं स्थलंजलमेव भवति यत्रावश्यायः पतति। तथा चोक्तं पञ्चमाङ्गे-" अत्थि णं भंते! सदासमितं सुहुमे सिणेहकाए पवडति ?। हंता! अत्थि। से भंते! किं उद्धं पवडति, अहे पवडति, तिरिए पवडति ?। गोयमा! उड्ढे वि पवडति, अहे वि पवडति, तिरिए वि पवडति, जहा से बादरतेआउआए अन्नजणसमाउत्ते चिरं पि दीहकाल चिट्ठइ तहा णं से वि। णो इणट्ठे समट्ठे, से णं खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ।" सूक्ष्मस्नेहकाय इति अप्कायविशेष., तत्रापि चाल्पस्य स्निग्धेतरभागमपेक्ष्य बहुत्वमल्पत्वं चावसेयम्। यदाह-"पढमचरिमाउ सिसिरे, गिम्हे अद्ध तु तासि वज्जेत्ता,पायं वा वि सिणेहा-इरक्खणट्ठा पवेसे वा॥१॥"लेपितपात्रमपि न बहि· स्थापयेत्, तत्स्नेहाऽऽदिरक्षणायेति। अत उक्तम्—" जलंसि " न तु नद्यादिपानीये, वाशब्दोऽपरापरभेदसंग्रहार्थम्। (थलंसि त्ति) स्थलं नाम अटवी,तत्र (दुग्गंसि त्ति ) दुर्गशब्देन ग्रहणं. निम्नं गर्ताऽऽदिकं,विषमं निम्नोन्नतं, पर्वत· प्रसिद्ध , पर्वतदुर्ग· पर्वतनिकटगहन नितम्बा वा, गर्ता खड्डा, दरी गुहा, पर्वतकन्दरेति यावत्। तत्र कल्पते ता रजनीम्-( उवातिणावित्तए त्ति ) तत्रैवातिक्रमितुं, परं (नो) नैव (से) तस्य प्रतिमावतः साधो , कल्पते पदमपि गन्तुं, तत अग्रे इत्यध्याहार., अपिग्रहणात् अर्द्धपदमपि। (कप्पति से इति ) तस्य ( कल्ल पाउप्पभायाए त्ति ) श्वः प्रादुः प्राकाश्ये तत· प्रकाशप्रभाताया रजन्या, यावत्करणात् " फुल्लुप्पलकमलकोमल " इत्यादिपदकदम्बकं समग्रा· त्र द्रष्टव्यम्। तत्र फुल्लोत्पलकमलकोमलोन्मीलिते, फुल्लं विकसित, तच्च तदुत्पलं, च फुल्लोत्पल, तच्च कमलश्च हरिणविशेषः, फुल्लोत्पलकमलौ, तयो कोमलकठोरमुन्मीलितदलाना नयनयोरुन्मीलनं यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन्, अथेति रजनीविभातानन्तरं पाण्डुरे प्रभाते रक्ताशोकप्रकाशेन किंशुकशुकस्य गुञ्जार्द्धस्य रागेण सदृशयो स तथा तस्मिन्, तथा कमलाकरा ह्रदाऽऽदयस्तेषु खण्डानि नलिनीखण्डानि तेषा बोधको यः स कमलाकरखण्डबोधकस्तस्मिन्, उत्थिते अभ्युद्गते,कस्मिन्नित्याह-सूरे। पुनः कथंभूते ?, इत्याह-( सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे )सहस्ररश्मौ दिनकरे,तेजसा ज्वलति देदीप्यमाने (पाईणेत्यादि )प्राची नाम पूर्वा,तदभिमुखस्य,प्रतीचि नाम पश्चिमा तस्या पश्चिमायामित्यर्थः,निद्रायितुं शयनं कर्तुं, प्रचला, निद्रा, तां कर्तुम्, उलङ्घयितुं वा यत केवली ब्रूयात्, केवल्येव तद्दोषान् ज्ञातुं वक्तु वा,समर्थ., आदान दोषाणाम्। अथवा-कर्मबन्धहेतुत्वादादानमेतत्कर्मोपादानमेतदिति। कथ कर्मोपादानमिति दर्शयति-स प्रतिमाधारकः साधुस्तत्र निद्रा कुर्वाण. प्रचलायमानो वा हस्ताभ्यां भूमिं परामृशेत्, तर्हि किं कुर्यादित्याह-( अधाविधिमिति ) यथाविधिमेव स्थान विधिमनतिक्रम्य यथाविधि, निष्क्रमितुम् उच्चारप्रस्रवणा-

स्यामुद्वाध्यते कदाचित्तथा ( से ) तस्य यत्र तत्रा— वमहीतुं परिष्ठापयितुं च प्रस्रवणाऽऽदिकं, किं तु कल्पते ( से ) तस्य पूर्वानुज्ञाते पूर्वप्रतिलिखिते स्थण्डिले उच्चार प्रस्रवणं वा परिष्ठापयितुं, रजः स्वेदतया जल्लतया मल्लतया पङ्कतया (विद्धत्थे ति) विध्वस्तो विनाशं प्राप्तोऽपि परिणतो- ऽचित्तीजात इति यावत्, तदा ( से ) तस्य कल्पते गृहपति- कुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रमितुं प्रवेशयितुमिति। तत्र स्वेदो नाम प्रस्वेदः, जल्लो नाम मलःकठिनीभूतः, मल्लो हस्ता- ऽऽदिघर्षितः स एव मलो यदा स्वेदेनाऽऽर्द्रो भवति तदा पङ्क इत्युच्यते इति। ( सीओदगवियडेण ति ) शीतं च तदुदकं च शीतोदकं तदेव विकटं विगतजीवमेवमुष्णोदकविकटं, वाशब्दो विकल्पसूचकः ( हत्थाणि व त्ति ) हस्तौ च, बहुत्व नपुंसकत्व च प्राकृतत्वात्, एवं पादौ, दन्ताः, अक्षि- णी, मुखं वा उच्छोलनया अयतनया धावयितुं प्रकर्षेण यत- नयाऽपि धावयितु प्रधावयितुं,नाऽन्यत्र वदयमाणादन्यत्रेत्यर्थः। "लेवालेवेण वा" लेपस्य उदकेन पात्रादिधावनरूपस्य आसम- न्तात् लेपेन आर्द्रतालक्षणेन शरीरे वा शुच्यादिलेपेन। अथवा- शकुनकाऽऽदिना मुखेन वा नयनेन वा(?)हस्ताऽऽदिस्पर्शे कृते हस्ताऽऽदिव्याघाते, एतस्मादन्यत्र तथाविधकारणमन्तरा न धावये(?)दाहाराऽऽदिकम्(आससस्सेत्यादि)सुबोधं,दुष्टस्याऽऽ- पतत आगच्छतोवधाऽऽद्यर्थं न कल्पते पदमपि प्रत्यवसर्पितु- म्, अपिग्रहणादर्द्धपदमपि, इति अदुष्टस्याश्वाऽऽदेः स्वभावत एवाऽऽगच्छतः कल्पते युगमात्रं प्रत्युपसर्पितुं, माऽयमुन्मार्गो- गत्या हरिताऽऽदिमर्दनं करिष्यतीति कृत्वा स्वयमेव प्रत्यवस- र्प्पते। (छायातो त्ति)छायातःशीतकाले शीतमिति कृत्वा,उष्णे आतपे स्थाने गन्तुम् आगन्तुम्, एवमुष्णकाले उष्णमिति कृ- त्वा शीतमिति। यद्येवं न करोति तदा किं कुर्यादित्याह-'ज ज- त्थ' इत्यादि। यद्यत्र यदा शीतादि तत्त तः शीताऽऽदिक तत्र त- स्मिन्नेव स्थाने तदा तस्मिन्नेव शीताऽऽद्यवसरे अध्यासते। ए- वमित्यादि एवमनन्तरोक्तप्रकारेण, खुरवधारणे, सा एषाऽन्त- रोक्ता मासिकी भिक्षुप्रतिमा। ( अहासुत्तं ति ) सामान्यसूत्रा- नतिक्रमेण (अहाकप्पं ति) प्रतिमाकल्पानतिक्रमेण तत्कल्पव- स्त्वनतिक्रमेणवा (अहामग्गं ति) ज्ञानाऽऽदिमोक्षमार्गानतिक्र- मेण क्षयोपशमकभावानतिक्रमेण वा (अहातच्चं ति) यथातत्त्वं तत्त्वानतिक्रमेण मासिकी भिक्षुप्रतिमेति शब्दार्थानतिलङ्घने- नेत्यर्थः। ( जहासम्म त्ति ) यथासमं समभावानतिक्रमेण ( काएणं फासिय त्ति ) कायेन शरीरेण न पुनर्मनोरथमात्रेण स्पृष्ट उचितकाले विधिना ग्रहणात्, ( पालिय त्ति ) पालितः, असकृदुपयोगेन प्रतिजागरणात् (सोहिया इति) पारणकदिने गुर्वादिदत्तशेषभोजनकरणात्, शोधिता वा अतीचारपङ्कक्षा- लनात् ( तीरिय इति ) तीरिता पूर्णेऽपि तदवधौ स्तोकका- लावस्थानात् ( पूरिय त्ति ) सम्पूर्णेऽपि तदवधौतत् कृत्यप- रिमाणपूरणात् (किट्टिय त्ति) कीर्त्तिता पारणकदिने इदं च दिने कृत्य तच्च मया कृतमित्येवं कीर्तनात् (अणुपालेत्त त्ति) तत्स- माप्तौ तदनुमोदनात्। किमुक्तं भवतीत्याह आज्ञया आराधि- ता आज्ञया अनुपालिता भवति। इत्युक्तं प्रथमप्रतिमास्वरूपम्।

साम्प्रतं क्रमप्राप्तं द्वितीयाऽऽदिप्रतिमास्वरूपमुच्यते—

दोमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्सानगारस्स निच्चं वोस- ट्ठकायं चेव ०जाव दो दत्तीओ, तिमासियं तिन्नि दत्तीओ, चउमासियं चत्तारि दत्तीओ, पंचमासियं पंच दत्तीओ, छम्मासियं छ दत्तीओ, जति मासिया तति दत्तीओ। पढमा सत्तरातिंदियाणि भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए ०जाव अधियासेति, कप्पति से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामंसि वा ०जाव रायहाणीए वा उत्ताणगस्स वा पासेल्लगस्स वा नेसज्जियस्स वा ठाणं ठाइत्त- ए, तत्थ णं दिव्वमाणुस्सातिरिक्खजोणिया उवसग्गा उप्प- ज्जेज्जा, ते णं उवसग्गा पयलिज्ज वा पवडिज्ज वा, णो से कप्पति पयलित्तए वा, पवडित्तए वा, तत्थ से उच्चार- पासवणं ओघाविज्जा, णो से कप्पति उच्चारपासवणं ओगिण्हित्तए वा, कप्पति से पुव्वपडिलेहियंसि थंडि- लंसि उच्चारपासवणं परिट्ठवित्तए, अधावि घम्मेऽवट्ठाणं ठाइत्तए, एव खलु पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं ० जाव आणाए अणुपालित्ता भवति। एवं दोच्चा सत्तरातिंदिया वि, नवरं दंडातियस्स वा लगंड- साइयस्स वा उक्कुडयस्स वा ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं चेव ०जाव अणुपालित्ता भवति। एवं तच्चा सत्तरातिंदिया वि भवति,नवरं गोदोहियाए वा वीरासणियस्स वा अंबखु- ज्जस्स वा ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं चेव० जाव अणुपालित्ता भवति, एवं अहोरातिया वि, णवरं छट्ठेण भत्तेणं अपाण- एणं बहिया गामस्स वा० जाव रायहाणिस्स वा ईसिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठावित्तए, सेसं तं चेव० जाव अणुपालित्ता यावि भवति। एगरातियं णं भि- क्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाएणं ०जाव अधियासेति, कप्पति से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाण- एणं बहिया गामस्स वा ० जाव रायहाणी ईसिपब्भार- गतेणं काएणं एगपोग्गलट्ठिताए दिट्ठीए अणिमिसनयणे अहापणिहितेहिं गातेहिं सव्विंदिएहिं गुत्ते दो विपाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए० जाव अ- धाविधिमेव ठाइत्तु एगरातियं णं भिक्खुपडिमं अणु- पालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए असु- हाए अक्खमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति, उम्मायं वा लभिज्जा,दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, एगरातिंदियं णं भि- क्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हिताए०जाव आणुगामियत्ताए भवति। तं जहा—ओ- हिनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा,मणपज्जवनाणे वा से समुप्पज्जे- ज्जा,केवलनाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा,एव ख-

लु एसा एगराइया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासमं काएणं फासिता सोहिता तीरिता किट्टिता आराहिता आणाए अणुपालिता यावि भवति,एताओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पन्नत्ताओ ।

( दोमासियमित्यादि) शेषं प्राग्वत्, नवरं द्वे दत्ती भोजनस्य, द्वे पानकस्य, एवमेकैकदत्तिवृद्ध्या यावत्सप्तमासिकी सप्तभोजनपानरूपा प्रत्येकम् ( पढमा सत्तराइंदिय त्ति ) प्रथमा सप्तरात्रिन्दिवानि अहोरात्राणि यस्या सा सप्तरात्रिन्दिवा,शेषं पूर्ववत्। ( से चउत्थेणं भत्तेणमित्यादि ) चतुर्थभक्तेन अपानकेन पानीयपरिवर्जनेन बहिः ग्रामस्येत्यादि, या वक्करणान्नगराऽऽदिपदकदम्बकपरिग्रहः। (उत्ताणयस्स त्ति) उत्तानिकस्योत्तानशायिनः ( पासेल्लयस्स ) पार्श्वशायिनः, ( णेसज्जियस्स त्ति ) निषद्याविकलस्य स्थान स्थातुं ( तत्थेत्यादि ) प्राग्वत् ( ते णं ति ) ते णमिति वाक्यालङ्कारे ( पयालेज्ज त्ति)प्रचलेयुः,स्थानात् प्रपतेयुरधः पातनेन एव पूर्ववत्, यावदाराधिता भवति एवं द्वितीया सप्तरात्रिन्दिवा, नवरं षष्ठेन तपसा पानकेन दण्डायति कस्य लगण्डशायिन उत्कुटुकस्य सस्थातुं,शेषं तथैव। एवं तृतीयाऽपि नवरमष्टमेन तपसा पानकेन गोदोहिकाऽऽसनिकस्य वीराऽऽसनिकस्य आम्रकुब्जस्य स्थान स्थातुम्, एव महोरात्रिन्दिवाऽपि भवति,नवर षष्ठेन भक्तेन, अपानकेन(ईसिंमिति)ईषत् द्वावपि पादौ ( साहट्टु त्ति)संहृत्य संहृतौ कृत्वा, जिनमुद्रयेत्यर्थः (वग्घारितपाणिस्स त्ति)प्रलम्बितभुजस्य स्थानं कायोत्सर्गलक्षणं स्थातुम् (एगराइय ति)एकरात्रिकीं भिक्षुप्रतिमामित्यादि शेष कण्ठ्यम्( ईसिं पब्भारगएणं काएण ति)ईषत्प्राग्भार' अग्रतो मुखमवनतत्वम ( एगपोग्गलेत्यादि ) एक एव पुद्गल एकपुद्गलस्तत्र स्थिता दृष्टिर्यस्यासावेकपुद्गलस्थितदृष्टि, तस्यैकपुद्गलस्थितदृष्टे (अहापणिहितेहिं गातेहिं ति ) यथाप्रणिहितैर्यथास्थितैर्गात्रैः सर्वेन्द्रियैर्गुप्त , शेष कण्ठ्यम्। ( अणुपालेमाणस्स त्ति) अनुपालयतः अनगारस्याऽगाररहितस्य इमानि त्रीणि स्थानानि , पुंस्त्व प्राकृतत्वात्। (अहियाए त्ति ) अहिताय , भावप्रधानोऽय निर्देशः,अहितत्वाय परिणामासुन्दरतायै,असुखायाशर्मणे, अक्षमाय भावप्रधानो निर्देश असङ्गतत्वाय अनिःश्रेयसाय अनिश्चितकल्याणाय , अनानुगामिकतायै परम्पराऽशुभानुबन्धासुखाय भवन्ति । तद्यथा-उन्माद वाऽऽप्नुयात्, आहारविषयाऽऽद्यभिलाषातिरेकतस्तथाविधाचित्तविप्लवसभवात्, वाशब्दाः अपरापरभेदसूचका । ( दीहकालियं ति) दीर्घकालिक स्यात् सामर्थ्यात् अन्यथा ब्रह्मणा मनसैव प्रजनने निषेकाऽऽदिकमपि कल्पेत स्मृतिरपि केवलेन हि गौर्यो गावः खगा मृगा ,अन्ये वा दीर्घकाल प्रभूतकालभावि रोगश्च दाहज्वराऽऽदिः आतङ्कश्चाशुघातिशूलाऽऽदिरोगान्तङ्क भवेत्स्यात् ,सभवति हि अतिबाधया अशनाऽऽदिरूपया आहारविषयाऽऽद्यभिलाषाऽनिरेकतो रोचकत्वं ततश्च ज्वराऽऽदीनि केवलिप्रज्ञप्ताद्वा धर्मात् श्रुतचारित्ररूपात्समास्तनात् भ्रश्येदध प्रतिपतेत् , कस्यचिदिति निकृष्टकर्मोदयात्सर्वथा धर्मपरित्यागसंभवादिति । एव त्रीणि स्थानानि हितायेत्यादि प

दध्याख्या प्राग्वत्। अवधिज्ञानं वा [ से ] तस्य समुत्पद्यत एवं मनःपर्यायकेवले अपि, शेषं व्यक्तम् । दशा० ७ अ० ।

" चउभत्तेहिं जइउं, छट्ठेहिं अट्ठमेहिं दसमेहिं ।
बारस चोद्दसमेहि य , धीरा वि इमं तुलिंतप्प ॥ १ ॥
एक्केक्कं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी न होइ जइया , वि होइ छम्मासुवस्सग्गे ॥ २ ॥ "

सत्वतुलना तु पञ्चभि प्रतिमाभिर्भवति, कायोत्सर्गैरित्यर्थ ।

ताश्चैवम्—

पढमा उवस्सयम्मी, बीया बाहिं तइय चउक्कम्मि ।
सुण्णहरम्मि चउत्थी, तह पंचमिया मसाणम्मि ॥ १ ॥
अप्पं थाव थोवं ; पुव्वपवत्तं जिणेइ सो निद्दं ।
मूसगफासाइ तहा, भय च सहसुब्भवं अजिय ॥ २ ॥ "

सूत्रतुलना तु यत्सूत्राण्यतिपरिचितानि करोति ।

उक्त च—

" अह सुत्तभावणं सो, एगग्गमणो अणाउलो भयव ।
कालपरिमाणहेउं, सव्वत्थ सव्वहा कुणइ ॥ १ ॥
मेहाइच्छन्नेसुं , उभओ कालमहव उवसग्गे ।
पेहाइ भिक्खपथे , जाणइ कालं विणा छाय ॥ २ ॥

एकत्वतुलना त्वेवम्—

" एगत्तभावण तह, गुरुमाइसु दिट्ठिमाइपरिहारा ।
भावइ छिण्ण ममत्तो, तत्त हिययम्मि काऊणं ॥ १ ॥
एगो आया संजो—गिय तु सेस इमस्स पाएणं ।
दुक्खनिमित्तं सव्वं, हिओ य मज्झत्थभावो सो ॥ २ ॥ "

बलतुलना तु द्विविधा—शरीरमानसबलभेदात् । तत्र शारीरबल कायोत्सर्गकरणसामर्थ्य, मानसबल तु धृतिरिति । आह च—" इह एगत्तसमेओ , सारीर मानस च दुविहं पि । भावइ बल महप्पा , उस्सग्गठिइसरूव तु ॥ १ ॥ " इदं चाभ्यासाद्भवति । आह च—" एमेव य देहबलं , अभिक्खआसेवणाए तं होइ। लंखगमल्लउवमा आसकिसोरे व जोगविए ॥ १ ॥ " इति । कथं भाविताऽऽत्मेत्याह—सम्यग्यथाऽऽगमम् , अनुज्ञात इत्येतस्य चेद विशेषणम् । तथा गुरुणाऽऽचार्येण, अनुज्ञातोऽनुमतः,अथ गुरुरेव प्रतिपत्ता तदा व्यवस्थापिताऽऽचार्येण गच्छेन वेति ॥ ४ ॥

गच्छे च्चिय णिम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असपुण्णा ।
णवमस्स तइयवत्थू , होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥ ५ ॥

गच्छ एव साधुसमुदायमध्य एव तिष्ठन् , निर्मान् प्रतिमाकल्पपरिकर्मणि आहाराऽऽदिविषये परिनिष्ठित । आह च—" पडिमाकप्पियतुल्लो , गच्छे च्चिय कुणइ दुविह परिकम्म । आहारोवहिमाइसु , तहेव पडिवज्जए कप्पं ॥ १ ॥" आहाराऽऽदिप्रतिकर्म दर्शयिष्यते । परिकर्मपरिमाण चैवम्–आसामाद्यासु सप्तसु या यावत्परिमाणा तस्यास्तत्प्रमाणमेव प्रतिकर्म । तथा-वर्षासु नैता प्रतिपद्यते । न च प्रतिकर्म करोति । तथा-आद्यद्वयमेकत्रैव वर्षे, तृतीयचतुर्थ्यो चैकैकस्मिन् वर्षे, अन्यासा—तु तिसृणामन्यत्र वर्षे प्रतिकर्म, अन्यत्र च प्रतिपत्तिः । तदेव नवभिर्वर्षैराद्याः सप्त समाप्यन्ते इति । अथ तस्य कियान् श्रुताधिगमो भवतीत्याह—यावत्पूर्वाणि दशेति प्रतीतम्। असम्पूर्णानि किञ्चिदूनानि । सपूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वाद्धर्मदेशनया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात् प्रतिमाऽऽदिकल्प न

प्रतिपद्यते, भवेत्स्यात् श्रुताधिगम इति योगः । उत्कृष्टश्चायं, जघन्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अथ जघन्यमेवाऽऽह-नवमस्य पूर्वस्य प्रत्याख्याननामधेयस्य, तृतीयवस्तु आचाराऽऽख्यं, तद्भागविशेषं यावदिति वर्तते । भवति स्यात्, जघन्योऽल्पीयान्, श्रुताधिगमः श्रुतज्ञानं, सूत्रतोऽर्थतश्च, एवच्छ्रुतविकलो हि निरतिशयज्ञानत्वात्कालाऽऽदि न जानातीति ॥ ५ ॥

वोसट्ठचत्तदेहो , उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी ।
एसण अभिग्गहीया, भत्तं च अलेवडं तस्स ॥ ६ ॥

व्युत्सृष्टः परिकर्माभावेन, त्यक्तो ममत्वत्यागेन, देहः कायो येन स तथा । यतः—

" अन्नो देहाउ अहं, नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं ।
सो किंचि आहिरिक्कं, न कुणइ देहस्स भङ्गे वि ॥ १ ॥ "

'आहिरिक्कं ति' प्रतीकारम् । उपसर्गसहो दिव्याऽऽद्युपद्रवसोढा । यथैव यद्वदेव । जिनकल्पी जिनकल्पिकः, तद्वदुपसर्गसह इत्यर्थः । ( पञ्चा० १८ विव० । ) भक्तं चान्नं पुनः, अलेपकृतमलेपकारकं वल्लचणकाऽऽदि, तस्य प्रतिमाप्रतिपत्तुकामस्य परिकर्म कुर्वतः , चशब्दादुपधिश्च अस्य स्वकीयैषणाद्वयलब्ध एव, तदभावे यथाकृतोऽप्युचितप्राप्ति यावत् स्यात्, जाते तूचिते तं व्युत्सृजति । उक्तं च—

" उवगरणं सुद्धेसण-माणजुयं जमुचियं सकप्पस्स ।
त गिरहइ तयभावे, अहागडं जाव उचियं तु ॥ १ ॥
जाए उचिए य तयं, वोसिरइ अहागडं विहाणेणं ।
इय आणाविरयाऽसिहइ, विसेयं तं पि तेण समं ॥ २ ॥ "

कल्पोचित चोपधिमुत्पादयति स्वकीयैषणाद्वयेन । एतद्वेषणाचतुष्टयेऽन्तिममेषणाचतुष्टयं पुनरिदं कार्पासिकाऽऽद्युद्दिष्टमेव वस्त्रं ग्रहीष्यामि, प्रेक्षितमेव, परिभुक्तप्रायमेवोत्तरीयाऽऽदि, तदप्युज्झितधर्मकमेव । इति गाथात्रयार्थः । पञ्चा० १८ विव० ।

इहैव प्रतिमाकल्पे परमतमुपदर्शयन् गाथाचतुष्टयमाह—

आह ण पडिमाकप्पे, सम्मं गुरुलाघवाइचिंत त्ति ।
गच्छाउ विणिक्खमणा-इ ण खलु उवगारगं जेण ॥ २१ ॥

आह—ब्रूते परः । किं नदित्याह-( न ) नैव । प्रतिमाकल्पे प्रागुक्तरूपे सम्यग्यथावत्, गुरुलाघवाऽऽदिचिन्ता " गच्छवासो गुरुः, स्वपरोपकारहेतुत्वात्, निर्गमस्तु लघुः, स्वोपकारमात्रहेतुत्वात् " इत्यादि विचारः । आदिशब्दात्तपः—प्रभृत्युभयत्राऽपि तुल्यमित्येतद्ग्रहः, अस्तीति गम्यते । इतिः प्रतिज्ञार्थसमाप्तौ । अत्रोपपत्तिमाह—गच्छात्साधुसमूहात्, विनिष्क्रमणाऽऽदिनिर्गमप्रभृति , आदिशब्दाद्धर्मानुपदेशनाऽऽदिग्रहः, न खलु नैव , उपकारकं गुणावहम् , येन यस्माद्धेतोरिति ॥ २१ ॥

कथं नोपकारकमित्याह—

तत्थ गुरुपारतंतं, विणओ सज्झाय सारणा चेव ।
वेयावच्चं गुणवु-ड्डि तह य णिप्पत्ति संताणो ॥ २२ ॥

तत्र गच्छे, गुरुपारतन्त्र्यमाचार्याऽऽयत्तता निखिलानर्थनिबन्धनस्वैरताप्रतिपन्थिनी , विनयस्तदुचितविषये विनीतत्वं मानगिरि-कुलकुलिशकल्पम् । तथा स्वाध्यायो वाचनाऽऽदिपञ्चप्रकारो मतिनयननिर्मलताञ्जनोपमानः , स्मारणा विस्मृतार्थोऽनुस्मारणं,विस्मृतशास्त्रशत्रुप्रारब्धपुरुषार्थोमोघशस्त्रसमारणकल्पा । अथवा-स्वाध्यायसारणा स्वाध्यायनिर्वाहणेत्येकमेव । चैवेति समुच्चये । तथा वैयावृत्यं व्यावृत्तभावस्तत्कर्म वा भक्ताऽऽदिभिरुपष्टम्भनं तीर्थकरत्वाऽऽदि सत्फलनिमित्तविशिष्टपुण्यमहातरुनिरुपहतबीजकल्पम् । तथा गुणवृद्धिः स्वगतज्ञानाऽऽदिगुणवर्द्धनमनुपमानन्दरसदानदक्षेक्षुयष्टिपुष्टिप्रायम् । तथा चेति समुच्चये । निष्पत्तिः सद्गुणत्वेन शिष्यसंसिद्धिःफलसन्तानसाधनसमर्थधान्यनिष्पत्तितुल्यः । तत सन्तानः शिष्यप्रशिष्याऽऽदिवंशः संसारगर्तगताङ्गिवर्गस्य निर्गमनसोपानपरम्परारूपः । न चैते गुणा गच्छनिर्गम इति ॥ २२ ॥

दत्तेगाइग्गहो वि हु, तह सज्झायावभावओ ण सुहो ।
अंताइणो वि पीडा, ण धम्मकायस्स सुसिलिट्ठं ॥ २३ ॥

( दत्तेगाइ त्ति ) प्राकृते पूर्वापरनिपातोऽतन्त्रमिति कृत्वा एकाऽऽदिदत्तिग्रहोऽपि एकद्व्यादिभिक्षाविशेषग्रहणमपि उक्तन्यायेनाभिग्रहं रूपम् । न शुभ इति योगः । अपिः समुच्चये । हुर्वाक्यालङ्कारे । कुत इत्याह-तथा स्वाध्यायाऽऽद्यभावतस्तथाप्रकारस्य निरन्तरस्य स्वाध्यायध्यानाऽऽदेरसद्भावात् । स्वाध्यायाऽऽदयश्च निराबाधा गच्छावास एव अनेकदत्त्यादिग्रहणेन सावष्टम्भकायतया सम्यग्भवन्तीति हृदयम् । न शुभो न श्रेयान्, तथाऽन्ते भवमन्त्यं जघन्यं वल्लचणकाऽऽदि, तदनु भोक्तुं शीलमस्येत्यन्त्यादी तस्यान्त्यादिनोऽपि सतःप्रतिमास्थस्य, पीडा बाधा धर्मकायस्य धर्मसाधनशरीरस्य, भवतीति शेषः । धर्मकायपीडाभवनं भवनं न च नैव , सुश्लिष्टं सङ्गतं, वर्जनीयत्वात् । यदाह—" भावियजिणवयणाणं, ममत्तरहियाण णत्थि उ विसेसो । अप्पाणम्मि परम्मि य, तो वज्जे पीड मुभओ वि ॥ १ ॥ " इति ॥ २३ ॥

ततश्च—

एवं पडिमाकप्पो, चिंतिज्जंतो उ निउणदिट्ठीए ।
अंतरभावविहूणो, कह होइ विसिट्ठगुणहेऊ ? ॥ २४ ॥

एवमुक्तन्यायेन , प्रतिमाकल्पोऽनन्तरोक्तः , चिन्त्यमानो विचार्यमाणः, तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, निपुणदृष्ट्या तु सूक्ष्मबुद्ध्यैव , आन्तरभावविहीनः परमार्थवियुक्त एव , कथं?, न कथञ्चिदित्यर्थः । भवति स्यात् , विशिष्टगुणहेतुः पारमार्थिकोपकारनिमित्तम् । प्रयोगश्चात्र—यदान्तरभाववियुक्तं तद्विशिष्टगुणहेतुर्न भवति , यथा पञ्चाग्नितपःप्रभृति , आन्तरभाववियुक्तश्चायम् । इति गाथाचतुष्कार्थः ॥ २४ ॥

अत्रोत्तरमाह—

भण्णइ विसेसविसओ, एसो ण उ ओहओ मुणेयव्वो ।
दसपुव्वधराईणं, जम्हा एयस्स पडिसेहो ॥ २५ ॥

भण्यते अभिधीयते, समाधिः विशेषविषयः पुरुषविशेषगोचरः, एष प्रतिमाकल्पः , न तु न पुनः, , ओघतः सामान्यतः ( मुणेयव्वो त्ति ) ज्ञातव्यः । कुत एतदेवमित्याह-दशपूर्वधराऽऽदीनां दशैकादशाऽऽदिपूर्वधराणाम् , यस्माद्यत , एतस्य प्रतिमाकल्पस्य , प्रतिषेधोऽस्ति । तन्निषेधश्च—" गच्छे च्चिय निम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असपुण्णा " इति वचनात् । दशपूर्वधराऽऽदयो हि गच्छ एव वसन्तः उपकारकारकाः, अतः प्रतिमाकल्पे गुरुलाघवाऽऽदिचिन्ता नास्तीत्ययुक्तम् । इति गाथाऽर्थः ॥ २५ ॥

एतदेव स्पष्टयन्नाह-

पत्थुयरोगचिगिच्छा-वत्थंतरतव्विसेससमतुल्लो ।
तह गुरुलाघवचिंता-सहिओ तक्कालवेक्खाए ॥ २६ ॥

प्रस्तुताऽधिकृता या रोगचिकित्सा व्याधिप्रतिक्रिया, तस्यां यदवस्थान्तरं रोगिणो रोगान्तरकृत कष्टतरपर्यायविशेषः, तत्र यस्तद्विशेषश्चिकित्सान्तरं, तेन समतुल्योऽत्यन्तसदृशो यः प्रस्तुतरोगचिकित्सावस्थान्तरतद्विशेषसमतुल्यः, अथवा—तुल्यशब्दपर्यायो वा समतुल्यशब्दोऽस्ति, यथा "समतुल्यं पराक्रमे ।" इति । अथवा-प्रस्तुतरोगचिकित्साया यदवस्थान्तरमधिकृतरोगस्यैवच्छद्मरूपं,तत्र यस्तद्विशेषो रोगान्तरं यस्य. सः, तस्य यः शम. शमनोपायश्चिकित्सेत्यर्थः । तत्तुल्यो यः स तथा । प्रतिमाकल्प इति प्रकृतम् । तथा तेन प्रकारेण उक्तदृष्टान्तसाधर्म्यरूपेण, गुरुलाघवचिन्ता सारेतराऽऽलोचन, तया सहितो युक्तो य. स तथा । कथमित्याह—तत्कालाऽपेक्षया प्रतिपत्त्यवसरमालम्ब्य, विहितसमस्तस्थविरकल्पकार्यस्य हि समाश्रयणीयतर एव प्रतिमाकल्पोऽतस्तदा गुरुकोऽसौ, इतरस्तु लघु । अन्यदा तु स्थविरकल्प एव गुरुतर इति सुष्ठूक्तं तत्कालापेक्षया गुरुलाघवचिन्तासहित इति गाथाऽर्थः ॥ २६ ॥

उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-

णिवकरलूयाकिरिया-जयणाए हंदि जुत्तरूवाए ।
अहिदट्ठाइसु छेया-इ वज्जयंतीह तह सेसं ॥ २७ ॥

नृपकरे राजहस्ते लूतावातिको रोगविशेषो नृपकरलूता, तस्या उपशमाय क्रिया चिकित्सा मन्त्रापमार्जनाऽऽदिका, तस्यां या यतना प्रयत्न. सा तथा तस्या नृपकरलूताक्रियायतनायाम् । हन्दीत्युपप्रदर्शने । किंविधायामित्याह—युक्तरूपायां सङ्गतायां, प्रस्तुतायामिति शेषः । अहिदष्टाऽऽदिषु सर्पदंशनप्रभृतिषु अधिकृतक्रियाया असाध्येषु सद्योघातिषु सत्सु, आदिशब्दाद्विषूचिकाऽऽदिग्रहः; नृपस्येति गम्यम् । छेदाऽऽदि अहिदंशप्रदेशे कर्त्तनदहनप्रभृति तज्जन्यानर्थनिवर्तनक्षमं चिकित्साविशेषम्, कुर्वन्तीति शेषः । वर्जयन्ति परिहरन्ति वैद्याः । इह सर्पदष्टाऽऽदौ । तथेति समुच्चये, शेषा मन्त्रप्रमार्जनाऽऽदिका लूताक्रियामधिकृतामपीति गाथाऽर्थः ॥ २७ ॥

कुतस्तामधिकृतां वर्जयन्तीत्याह—

एवं चिय कल्लाणं, जायइ एयस्स इहरहा ण भवे ।
सव्वत्थावत्थोचिय-मिह कुसलं होइऽणुट्ठाणं ॥ २८ ॥

एवमेवाधिकृतक्रियावर्जनेनैव छेदाऽऽदिक्रियाविशेषकरणेनैव च, कल्याणं श्रेय आरोग्यमित्यर्थ, जायते स्यात्, एतस्य नृपस्य, छेदाऽऽद्यकरणे मन्त्रापमार्जनामात्रात्, न भवेन्न स्यात् कल्याणम्, अहिदष्टतया मरणप्राप्तेः । अथाऽधिकृतक्रियात एव कस्मात्कल्याणं न स्यादित्यत आह—सर्वत्र देशे काले पुरुषे वा, अवस्थोचितं भूमिकाऽनुरूप, इह लोके, कुशलं कल्याणहेतुः, भवति स्यात्, अनुष्ठानं कर्त्तव्यम्, अतः सर्पदष्टाऽऽदौ छेदाऽऽदिविधानमेव कल्याणहेतु । इति गाथाऽर्थः ॥ २८ ॥

अथ " अहिगयरोगचिगिच्छ " इत्यादिप्रथमव्याख्याऽनुसारेण दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह—

इय कम्मवाहिकिरियं, पव्वज्जं भावओ पवन्नस्स ।
सइ कुणमाणस्स तहा, एयमवत्थंतर णेयं ॥ २९ ॥

इत्येवं लूताऽऽदिक्रियावत्, कर्मव्याधिक्रियां कर्मरोगचिकित्सां, कामित्याह-प्रव्रज्यां दीक्षां लूताऽऽदिक्रियाकल्पाम्, भावतो भावेन, प्रपन्नस्याभ्युपगतवतः, सकृत् सदा, कुर्वाणस्य तामेव विदधतः, तथेति समुच्चये, तेन वा प्रकारेण स्थविरकल्पोचिततत्त्वलक्षणेन, एतदिदम्, अवस्थान्तरं पर्यायान्तरं मन्त्रापमार्जनाऽऽदिकल्पस्थविरकल्पासाध्यमहिदष्टाऽऽदिकल्पं तीव्रतरकर्मविपाकरूपं छेददाहाऽऽदिचिकित्साविशेषतुल्यप्रतिमाकल्पस्यैव साध्यम्, ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । इति गाथाऽर्थ ॥ २९ ॥

पुनरपि गुरुलाघवचिन्तासहितत्वमस्य दर्शयन्नाह-

तह सुत्तवुड्ढिभावे, गच्छे सुत्थम्मि दिक्खभावे य ।
पडिवज्जइ एयं खलु, ण अण्णहा कप्पमवि एवं ॥ ३० ॥

तथेति युक्त्यन्तरसमुच्चये, सूत्रवृद्धिभावे सूत्रार्थवृद्धौ सत्याम्, क्व ?, गच्छे साधुगणे बहुश्रुतसाध्वधिष्ठितत्वात् । अथवा—अकारप्रश्लेषात् सूत्रावृद्धिभावे किञ्चिदूनदशपूर्वाधिकतरश्रुतग्रहणशक्त्यभावे इत्यर्थः । तथा—गच्छे साधुगणे, सुस्थेऽनाबाधे सति बालवृद्धग्लानाऽऽद्यभावात्तत्प्रतिचारकभावाद्गच्छपालनोद्यताऽऽचार्याऽदिसद्भावाच्च, तथा दीक्ष्यस्य प्रव्राज्यस्याभावो दीक्ष्याभावस्तत्र । चशब्द. समुच्चये । प्रतिपद्यतेऽभ्युपगच्छति, एतं प्रतिमाकल्पम्, खलुरवधारणे, ततश्च न नैव, अन्यथोक्तवस्तुत्रयाभावे, कल्पमप्युचितमपि । कथमित्याह—एवं प्रागुक्तसंहननवृत्त्यादियोगेन । अथवा-कल्पमपि जिनकल्पमपि, एवं पूर्वोक्तवस्तुत्रयसद्भावे प्रतिपद्यते, नान्यथेत्यर्थः । अत. कथमयं गुरुलाघवचिन्तारहितः । इति गाथाऽर्थ ॥३०॥

विपर्यये दोषमाह—

इहरा ण सुत्तगुरुया, तयभावे ण दसपुव्विपडिसेहो ।
एत्थं सुजुत्तिजुत्तो, गुरुलाघवचिंतवइरित्तम्मि ॥ ३१ ॥

इतरथा गच्छस्य सूत्रवृद्ध्यभावे स्वस्य वा श्रुतवृद्धिसम्भवे सति प्रतिमाप्रतिपत्तावित्यर्थः । ( न ) नैव, सूत्रगुरुता श्रुतगौरवं कृत स्यात् । अथवा—गौरव्यमेव तदित्यत्राऽऽह—तदभावे श्रुतगौरव्यत्वाभावे, ( न ) नैव, दशपूर्विप्रतिषेधो दशाऽऽदिपूर्वधरस्य प्रतिषेधो निषेधः । अत्र प्रतिमाकल्पे प्रतिपत्तव्ये, सुयुक्तियुक्तः सन्न्यायसङ्गतः । तस्य हि श्रुतनिर्व्यूहणाऽऽदिसमर्थतया प्रवचनोपकारित्वात्प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तिनिषेधोऽस्तीति । किंविधे तत्रेत्याह—गुरुलाघवचिन्तायाश्च परमतेन सारेतरविभागाऽऽलोचनविरहिते, ततोऽसौ न गुरुलाघवचिन्तारहित. । इति गाथाऽर्थ ॥ ३१ ॥

अप्पपरिच्चाएणं, बहुतरगुणसाहणं जहिं होइ ।
सा गुरुलाघवचिंता, जम्हा णाओववण्ण त्ति ॥ ३२ ॥

अल्पपरित्यागेन स्वल्पतरगुणपरिहारेण, बहुतरगुणसाधनमनल्पतरगुणनिष्पादनम्, यत्र चिन्तायाम्, भवति स्यात्, सा चिन्ता, गुरुलाघवचिन्ता सारेतरपर्यालोचना, यस्माद्धेतो., न्यायोपपन्ना नीतिसङ्गता, तस्मात्तत्सहितोऽयं कल्प इति प्रकृतम् । इतिशब्द. समाप्तौ, इति गाथाऽर्थः ॥ ३२ ॥

सूत्रवृद्धिभावे एवायं कल्पः कृत्य इत्युक्तमथ गच्छे सुस्थ एवेति दर्शयन्नाह-

वेयावच्चुचियाणं, करणणिसेहणमंतरायं ति ।
तं पि हु परिहरियव्वं, अइसुहुमो होउ एसो त्ति ॥३३॥

वैयावृत्योचितानां भक्ताऽऽद्युपष्टम्भयोग्यानां गच्छाऽऽश्रितबालग्लानाऽऽदीनाम्, अन्तराय इति योग.। कथं?, करणनिषेधेन वैयावृत्यकरणसमर्थसाधूनां प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तितो वैयावृत्यकरणप्रतिषेधेन, प्रतिपन्ना हि वैयावृत्यं न कुर्वन्ति, अन्तरायो वैयावृत्यव्याघात. स्यात्। प्राकृतत्वाच्च नपुंसकनिर्देशः। इतिकृत्वा बालाऽऽदिसौस्थ्येन गच्छसुस्थत्व एवासौ विधेयः, स्यादिति प्रकृतम्। अथ भवत्वन्तराय इति चेन्न, यतः (तं पि त्ति) सोऽपि बालाऽऽदिवैयावृत्यान्तराय., अपिशब्दात्तदन्योऽपि, परिहर्त्तव्यः परिहरणीयः, कुत एतदेवमित्याह—अतिसूक्ष्मोऽतिनिपुणोऽतिसूक्ष्मदोषपरिहारात्, भवतु जायताम्, एष प्रतिमाकल्पः, इति कृत्वा, अतिसूक्ष्म एव ह्ययमन्तरायदोषो मनोदोषरहितत्वात् प्रतिमाप्रतिपत्तु., इति गाथाऽर्थः ॥ ३३ ॥

ता तीए किरियाए, जोग्गयं उवगयाण णो गच्छे ।
हंदि उविक्खा णेया, अहिगयरगुणे असंतम्मि ॥ ३४ ॥

यस्माद् गच्छगतग्लानाऽऽद्यन्तरायः परिहर्त्तव्यस्तत्तस्मात्। तस्याः सूत्रदानार्थदानग्लानप्रतिचरणाऽऽदिकायाः, क्रियाया गच्छसुस्थताहेतोरनुष्ठानस्य, योग्यतां सम्पादनसमर्थताम्। 'उवगयाण ति' षष्ठ्या. सप्तम्यर्थत्वादुपगतेषु गच्छसाधुषु सत्सु (नो) नैव, गच्छे साधुगणविषया, हन्दीत्युपप्रदर्शने। उपेक्षाऽवधीरणा, ज्ञेया ज्ञातव्या । प्रतिमाप्रतिपत्तृसाधोः । अनुपेक्षक एवासावित्यर्थः। किं सर्वथैव ?, नेत्याह—अधिकतरगुणे प्रकृष्टतरगुणे, असत्यविद्यमाने, साधनीयतया। यदि हि विशिष्टतरगुणे सुसाध्ये सम्भवति सति (तं) गच्छस्यासम्पाद्यप्रतिमाः प्रतिपद्यते, तदोपेक्षैव गच्छस्य कृता स्यात्, तत्परिहाराच्च कल्पप्रतिपत्तौ गुरुलाघवचिन्तासहित एव कल्पः। इति गाथाऽर्थः ॥ ३४ ॥

अथ दीक्षणीयाभाव एव कल्पं प्रतिपद्यत इति दर्शयन्नाह-

परमो दिक्खुवयारो, जम्हा कप्पोचियाण वि णिसेहो ।
सइ एयम्मि उ भणिओ, पयडो च्चिय पुव्वसूरीहिं॥३५॥

परम प्रकृष्टः उपकारान्तरापेक्षया। दीक्षोपकारो भव्यसत्त्वस्य दीक्षादानेनानुग्रहो, निर्वाणसुखहेतुत्वात् तस्य, तदन्यस्य पुनरन्यथाभूतत्वादपि, कस्मादेवमित्याह—यस्माद्यतः, कल्पोचितानामपि सहननश्रुताऽऽदिसंपदुपेतत्वेन प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तियोग्यानामपि, आस्तामितरेषाम् निषेधो निवारणा प्रतिमाकल्पप्रतिपत्तेरिति गम्यते । सति विद्यमाने, एतस्मिन् दीक्षोपकारे, तुशब्दः पूरणे । भणित उक्त, प्रकट एव स्फुट एव, तदभिधायकगाथायाः प्रकटत्वात्, पूर्वसूरिभिःपूर्वाऽऽचार्यैर्भद्रबाहुस्वास्यादिभिःकिल प्रतिपन्ने कल्पे, दीक्षा न दीयते, ततः कल्पप्रतिपत्त्यवसरे समुपस्थितस्य ता विमुच्याऽपि दीक्षा दीयते, कल्पप्रतिपत्तेः सकाशाद्दीक्षादानस्य गुरुतरत्वात्, परमोपकारकं हितदिति भावेन। इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

कथं प्रकट इत्याह—

अब्भुज्जियमेगयरं, पडिवज्जिउकामो सो वि पव्वावे ।
गणिगुणसलद्धिओ खलु, एमेव अलद्धिजुत्तो वि ॥३६॥

अभ्युद्यतं प्रयतम्, एकतरं द्वयोरन्यतरत् मरणं वा विहारं वा, तत्राभ्युद्यतमरणं पादपोपगमनाऽऽदिकम्, अभ्युद्यतविहारश्च प्रतिमाकल्पजिनकल्पाऽऽदिरिति। प्रतिपत्तुकामोऽभ्युपगन्तुमना यः साधुः, सोऽप्यसावपि, आस्तामितरः, प्रव्राजयति दीक्षयति, कल्पाऽऽदिप्रतिपत्त्यवसरे दीक्षोपस्थितं योग्यम्। किंभूतः सन्नित्याह—गणिनो गुणा यस्य, स्वा च स्वकीया च लब्धिर्यस्य स गणिगुणस्वलब्धिकः यः प्रव्राजितुमुपग्रहीतुं शक्नोतीत्यर्थः। खलुर्वाक्यालङ्कारे, इतरस्य का वार्त्तेत्याह—एवमेवेत्थमेव प्रव्राजयत्येवेत्यर्थः। अलब्धियुक्तोऽपि स्वकीयलाभविहीनोऽपि लब्धिमदाचार्यनिश्रितो यः। इति गाथार्थ. ॥ ३६ ॥

तदेवं गुरुलाघवचिन्तासहितोऽसाविति समर्थितम्, अथ यत्कर्मव्याधिक्रियां प्रव्रज्यां प्रतिपन्नस्यावस्थान्तरमुक्तं तत्कुतः स्यादिति दर्शयन्नाह—

तं चावत्थंतरमिह, जायइ तह संकिलिट्ठकम्माओ ।
पत्थुयनिवाहि दट्ठा-इ जह तहा सम्ममवसेयं ॥ ३७ ॥

(तं च त्ति) यस्यावस्थान्तरस्य चिकित्साविशेषतुल्यः कल्प उक्तस्तत्पुनरवस्थान्तरमवस्थाविशेषः साधोरिह प्रव्रज्यायामधिकृतायां, जायते स्यात्, तथेति तथाप्रकारात् प्रतिमाकल्पलक्षणविशिष्टक्रियात एव क्षपणीयस्वभावात् संक्लिष्टकर्मणोऽशुभकर्मतः सकाशात्। किंवदित्याह-प्रस्तुतोऽधिकृतो दृष्टान्ततया प्राग्गाथाया लूतागृहीतो यो नृपाऽऽदिर्नरपत्यमात्यप्रभृतिस्तस्य यद्दष्टाऽऽदि सर्पदंशाग्निदाहप्रभृतितत्प्रस्तुतनृपाऽऽदिदष्टाऽऽदि, पाठान्तरे-प्रस्तुतनृपस्य यदहिदष्टाऽऽदि तत्तथा। यथा यद्वत् तथा तद्वत्, सम्यग्यथावत्, अवसेयं ज्ञेयम् । इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

अथावस्थान्तरस्य तज्जनककर्मणो वा स्वरूपोपदर्शनद्वारेण तस्यैव प्रतिमाकल्पक्षपणीयतामाह—

अहिगयसुंदरभाव-स्स विग्घजणगं(गम)ति संकिलिट्ठं च ।
तह चेव तं खविज्जइ, एत्तो च्चिय गम्मए एयं ॥ ३८ ॥

अधिकृतसुन्दरभावस्य प्रस्तुतशोभनपरिणामस्य सामान्यप्रव्रज्यानुपालनस्येत्यर्थः । विघ्नजनकं व्याघातकारकम्, इतिशब्दो हेत्वर्थो भिन्नक्रमश्च, संक्लिष्टमशुभं सुन्दरभावव्याघातकत्वात्। अतिसंक्लिष्टमिति पाठान्तरम्। चशब्दः समुच्चये इति कृत्वा, तथैव प्रतिमाकल्पप्रतिपत्त्यैव, तदवस्थान्तरं तज्जनकं वा कर्म, क्षप्यते निराक्रियते, प्रतिमाकल्पस्य महावीर्योल्लासत्वात् क्षपणीयत्वाच्च तदवस्थस्येति। अथ कथमिदमवगम्यते-यदुत प्रव्रज्यां परिपालयतोऽवस्थान्तरं भवति तज्जनकं वा क्लिष्टं कर्मास्ति, तच्च प्रतिमाकल्पादेव क्षप्यत इत्यत आह—(एत्तो च्चिय त्ति) इत एवाऽऽप्तोपदिष्टप्रतिमाकल्पात्, गम्यतेऽवसीयते। एतदिदमवस्थान्तरं तज्जनकक्लिष्टकर्म वा करणाच्च तत्क्षपणम्। नह्याप्ता निरर्थकं किञ्चिदुपदिशन्ति, आप्तताहानिप्रसङ्गात्। इति गाथार्थ. ॥ ३८ ॥

तदेवं गच्छविनिष्क्रमाऽऽदि नोपकारकमित्यादि यदुक्तं दूषणं तत्सर्वं परिहृतमवगन्तव्यम् । यच्चोक्तम्—आअन्त्यादिनोऽपि धर्मकायपीडा न सुश्लिष्टेति तत्परिहरन्नाह-

एत्तो अईव णेया, सुमिलिट्ठा धम्मकायपीडा वि ।
अंताइणो सकामा, तह तस्स अदीणचित्तस्स ॥ ३६ ॥

( एत्तो त्ति ) यतोऽयमवस्थान्तरहेतोः क्लिष्टकर्मणः क्षपणहेतु प्रतिमाकल्पोऽतो हेतोः, अतीवातिशयेन, ज्ञेया अवसेया, सुश्लिष्टाऽत्यन्तसङ्गता । काऽसावित्याह—धर्मकायपीडाऽपि धर्मसाधनशरीरवेदनाऽपि, अपीडा तावत्सङ्गतैवेत्यभिधानार्थोऽपिशब्दः । किंभूतस्य सतो या स्यादित्याह-अन्ते भवमान्त भुक्तावशेषम्, उपलक्षणत्वाच्चास्य प्रान्ताऽऽदिग्रहः । तत्र प्रान्तं तदेव पर्युषिताऽऽदि । तदाऽन्तमत्तीत्येवंशील आन्ताऽऽदि तस्य, कुतः सा सुश्लिष्टेत्याह-सकामा समनोरथा, यत स्वकामाद्धा स्वाभिलाषात्, तथेति हेत्वन्तरसमुच्चये, तस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य, अदीनचित्तस्यादैन्यवन्मानसस्य, अदीनमानसत्वादित्यर्थ । इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ कथमदीनचित्ततेत्याह—

न हु पडइ तस्स भावो, संजमठाणाउ अवि य वड्ढेइ ।
ण य कायपायओ वि हु,तयभावे कोइ दोसो त्ति ॥४०॥

'न हु' नैव, पतति भ्रस्यति, तस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य साधोः, भावोऽध्यवसायः, संयमस्थानादाश्रितचरणशुद्धिविशेषात् पीडासद्भावे, अपि चेत्यभ्युच्चये, वर्धते वृद्धिं याति । ननु यद्यपि भावपातो न पीडासद्भावे भवति तस्य, तथापि कायपातो भविष्यतीत्यत आह—न च नैव, कायपाततोऽपि शरीरपातादपि, हुर्वाक्यालङ्कारे । तदभावे भावपाताभावे, कोऽपि कश्चिदपि, दोषो दूषणम्, इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ।

अथोपायान्तरेणापि कर्मक्षपणसंभवे किं कायपीडावद्प्रतिमाकल्पेनेत्यत आह—

चित्ताणं कम्माणं, चित्तो च्चिय होइ खवणुवाओ वि ।
अणुबंधछेयणाई, सो उण एवं ति णायव्वो ॥ ४१ ॥

चित्राणामक्लिष्टक्लिष्टतरक्लिष्टतमतया विचित्ररूपाणा, कर्मणा ज्ञानावरणाऽऽदीनाम् । चित्र एव स्थविरकल्पप्रतिमाकल्पाऽऽदिरूपतया विचित्र एव, भवति स्यात्, क्षपणोपायोऽपि निर्जरणहेतुरपि, कर्माणि तावच्चित्राण्येवेत्यपिशब्दार्थः । कथमित्याह—अनुबन्धच्छेदनाऽऽदेर्निरनुबन्धताऽऽपादनाऽऽदेः, आदिशब्दात् क्रियतोऽपि सर्वथा क्षपणग्रहः । लुप्तपञ्चम्येकवचनं चैतत् । अथवाऽनुबन्धं छिनत्तीत्यनुबन्धछेदनस्तदादि । स पुनर्विचित्रकर्मक्षपणोपाय एव कायपीडाऽऽदिसहनरूपप्रतिमाकल्पाऽऽदिविधानेन भवति । इति समाप्तौ भिन्नक्रमश्च । ज्ञातव्योऽवसेय इति । अत कायपीडा सुश्लिष्टा । इति गाथाऽर्थः ॥ ४१ ॥

अथ कथमिदमवसितमिति चेदत आह—

इहरा उ णाभिहाणं, जुज्जइ सुत्तम्मि हंदि एयस्स ।
एयम्मि अवसरम्मी, एसा खलु तत्तजुत्ति त्ति ॥ ४२ ॥

इतरथा त्वन्यथा पुनरधिकृतकल्पं विनैव विचित्रकर्मक्षपणे सतीत्यर्थः । ( न ) नैव, अभिधानं भणनम्, युज्यते संगच्छते, सूत्रे प्रवचने, हंदीत्युपप्रदर्शने । एतस्य प्रतिमाकल्पस्य, एतस्मिन्ननन्तरोक्तेऽवसरे स्थविरकल्पानुष्ठाननिष्ठाप्राप्तिरूपप्रस्तावे, अतोऽत्रावसरे आप्तोपदिष्टत्वादस्य कर्मक्षपणहेतुत्वमवसितमिति । एषाऽनन्तरोक्ता, खलुरलङ्कारे, तत्त्वयुक्तिः शास्त्रीयोपपत्ति प्रतिमाकल्पानवद्यतानिर्णय इति । अत आन्तरभावविहीनप्रतिमाकल्प इत्यपि परिहृतम् । इति गाथाऽर्थः ॥ ४२ ॥

मतान्तरेणप्रतिमाकल्पस्याऽऽन्तरभावविहीनता परिहरन्नाह-

अन्ने भणंति एसो, विहियाणुट्ठाणमागमे भणिओ ।
पडिमाकप्पो सिट्ठो, दुक्करकरणेण विन्नेओ ॥ ४३ ॥

अन्येऽपरे सूरयः, भणन्ति अभिदधति प्रतिमाकल्पदूषणपरिहारम् । यदुत एषोऽनन्तरोक्तो विहितानुष्ठानमुचितक्रिया, आगमे सिद्धान्ते, भणित उक्तः, प्रतिमाकल्पः प्रतीतः । श्रेष्ठोऽतिशयेन प्रशस्यः । कथं ?, दुष्करकरणेन स्थविरकल्पापेक्षया दुष्कराऽऽसेवनेन हेतुना । विज्ञेयो ज्ञातव्यः । इति गाथाऽर्थः ॥ ४३ ॥

अनेनोत्तरेणारञ्जित· सूरिराह—

विहियाणुट्ठाणं पि य, सदागमा एस जुज्जई एवं ।
जम्हा ण जुत्तिवाहिय-विसओ वि सदागमो होई ॥४४॥

विहितानुष्ठानमपि चोचितकृत्यरूपोऽपि च । अपि चेत्यभ्युपगमार्थः, कुत इत्याह—सदागमादाप्तोपदेशात्, एषः प्रतिमाकल्पो, युज्यते घटते । एवमस्मदुक्तन्यायेन " पत्थुयरोगचिगिच्छा-वत्थंतरतव्विसेससमतुल्लो " इत्यादिना । कस्मादेवमित्याह—यस्माद्यतो, न चैव, युक्तिबाधितविषयोऽपि उपपत्तिनिराकृतगोचरोऽपि सन् । युक्त्यबाधितार्थ एव सदागमो भवतीति प्रदर्शनार्थोऽपिशब्द· । सदागमः शोभनसिद्धान्तः, भवति स्यात् । युक्तिबाधितार्थस्य दुरागमत्वात् । युक्त्युपपन्नता त्वस्माभिरागमोक्तस्य कल्पानुष्ठानस्याऽऽवेदिता नागमोक्तत्वमात्रमेवेति सुन्दरतरः प्राक्तनः परिहार । इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

नाऽऽगममात्रमेवार्थप्रतिपत्तिहेतुर्भवतीति दर्शयन्नाह—

जुत्तीए अविरुद्धो, सदागमो सा वि तयविरुद्ध त्ति ।
इय अन्नोन्नाणुगयं, उभयं पडिवत्तिहेउ त्ति ॥ ४५ ॥

युक्त्योपपत्त्या, अविरुद्धोऽबाधित· , सदागमः सत्सिद्धान्तो भवति , साऽपि युक्तिरपि , तदविरुद्धासिद्धान्ताविरुद्धा , स्यात्तदन्या त्वयुक्तिरेव । इतिर्वाक्यार्थसमाप्तौ । इत्येवम् , अन्योऽन्यानुगतं परस्परानुयायि , उभयं युक्तिसदागमरूपं द्वयम् , प्रतिपत्तिहेतुरर्थप्रतिपत्तिकारणम् , इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

अथ प्रतिमाकल्पशेषप्रतिपादनायाऽऽह—

कयमेत्थ पसंगेणं, झाणं पुण णिच्चमेव एयस्स ।
सुत्तत्थाणुसरणमो, रागाइविणासणं परमं ॥ ४६ ॥

कृतं पर्याप्तम्, अत्र प्रतिमाकल्पदूषणपरिहारे , प्रसङ्गे-

नानुषङ्गिकभणनेन, ध्यानमेकाग्रचित्ततालक्षणम्, पुनरिति विशेषणार्थः। नित्यमेव सर्वदैव, एतस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य साधोः, सूत्रार्थानुस्मरणं सूत्रार्थयोरनुचिन्तनम्। ओकारः पूरणार्थः। सूत्रार्थानुस्मरणत इति क्वचित् पाठः, स च व्यक्त एव। रागाऽऽदिविनाशनं रागद्वेषमोहापहम्। परमं प्रधानं मोक्षहेतुत्वात्। तच्च धर्म्यं शुक्लं वा। क्वचिद्रम्यमिति पाठो व्यक्तश्च। इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

अथ प्रतिमागतमेवोपदिशन्नाऽऽह—

एया पवज्जियव्वा, एयासिं जोग्गयं उवगएणं।
सेसेण वि कायव्वा, केइ पइण्णाविसेस त्ति ॥ ४७ ॥

[ एय त्ति ] अनन्तरोक्तभिक्षुप्रतिमाः [ पवज्जियव्व त्ति ] प्रतिपत्तव्याः। [ एयासिं ति ] एतासां प्रतिमानाम्, [ जोग्गयं ति ] योग्यताम्। [ उवगएणं ति ] प्राप्तेन साधुना, तदन्यस्य को विधिरित्याह—[ सेसेण वि त्ति ] तदन्येनापि [ कायव्व त्ति ] विधेयाः [ केइ त्ति] केचित् [ पइण्णाविसेस त्ति ] अभिग्रहविशेषाः। इतिः समाप्तौ। इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

तानेवाऽऽह—

जे जम्मि जम्मि काल-म्मि बहुमया पवयणुण्णइकरा य।
उभओ जोगविसुद्धा, आयावणठाणमाईया ॥ ४८ ॥

[ जे त्ति ] ये प्रतिज्ञाविशेषाः [ जम्मि जम्मि त्ति ] यस्मिन् यस्मिन् [ कालम्मि त्ति ] अवसरे। [ बहुमय त्ति ] बहुमता गीतार्थानाम्। ( पवयणुन्नइकरा य त्ति ) शासनप्रभावनाहेतवोऽद्भुतभूतत्वेन श्लाघानिबन्धनत्वात्। [ उभओ त्ति ] उभाभ्यां प्रकाराभ्यां, क्रियाया भावतश्चेत्यर्थः। [ जोगविसुद्ध त्ति ] विशुद्धयोगा निरवद्यव्यापाराः। [ आयावणठाणमाईय त्ति ] आतापना शीताऽऽदिसहनं, स्थानमुत्कटुकाऽऽदिकम्। आदिशब्दाद् विविधद्रव्याऽऽद्यभिग्रहः। इति गाथार्थः ॥४८॥

एतदकरणे दोषमाह—

एएसिं सइ विरिए, जमकरणं मयप्पमायओ सो उ।
हो अइयारो सो पुण, आलोएयव्वओ गुरुणो ॥४९॥

[ एएसिं ति ] एतेषां प्रतिज्ञाविशेषाणाम्। [ सइ त्ति ] विद्यमाने [ विरिए त्ति ] वीर्ये [जमकरणं ति] यदविधानम्। कथम्? [मयप्पमायओ त्ति] गर्वाऽऽलस्याभ्याम्। [सो उ त्ति] सपुनः [होयइयारो त्ति] जायतेऽतिक्रमश्चरणस्य। [सो पुण त्ति ] सोऽतिचारः पुनः [ आलोएयव्वओ त्ति ] निवेदनीयः शुद्धयर्थम्। [ गुरुणो त्ति ] आलोचनाऽऽचार्यस्य। इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

उक्तार्थफलभणनेन प्रकरणमुपसंहरन्नाह—

इय सव्वमेवमवितह-माणाए भगवओ पकुव्वन्ता।
सयसामत्थणुरूवं, अइरा काहिंति भवविरहं ॥५०॥

[ इय त्ति ] एतदभिग्रहजातम्, [ सव्वं ति ] समस्तम, [ एवं ति ] एवमुक्तन्यायेन, [ अवितहं ति ] अविपरीतम्। कथम्?, [ आणाए त्ति ] आदेशेन न स्वमत्या, कस्येत्याह—[ भगवओ त्ति ] आप्तस्य [ पकुव्वन्त त्ति ] प्रकुर्वाणाः। कथमित्याह—( सयसामत्थणुरूवं ति ) नि-



जशक्त्यनुसारेण। ( अइर त्ति ) शीघ्रम्, ( काहिंति त्ति ) विधास्यन्ति, ( भवविरहं ति ) संसारक्षयम्। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ पञ्चा० १८ विव०। स्था०। ( सप्तसप्तमिकया-ष्टाष्टमिकीनवनवमिकीदशदशमिकयादीनाम् भद्रासुभद्रामहाभद्रासर्वतोभद्राभद्रोत्तराणां च भिक्षुप्रतिमाणां वक्तव्यता स-स्वच्छन्दे। )

भिक्खुपडिया–भिक्षुप्रतिज्ञा–स्त्री०। साधुमुद्दिश्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

भिक्खुप्पिय–भिक्षुप्रिय–न०। पलाण्डुनि, बृ० ५ उ०। ( 'पुलागभत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६१ पृष्ठे विस्तरो गतः )

भिक्खुभाव–भिक्षुभाव–पुं०। भिक्षोर्यथावस्थितस्य भावो भिक्षुभावः। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, तृतीयव्रताऽऽदिके च। भिक्षुभावो ज्ञानदर्शनचारित्राणि तृतीयव्रताऽऽदिकं वा, तत्रैव भिक्षुशब्दस्य परमार्थत्वेन रूढत्वात्। बृ० ३ उ०। व्य०। " चरणं तु भिक्खुभावो। " व्य० ६ उ०। सारणावारणाप्रतिचोदनासु, व्य०।

भिक्खुभावो सारणवारणपरिचोयणा जहा पुव्विं।

भिक्षुभावो नाम–सारणावारणाप्रतिचोदनाः, एताभिर्यथावस्थितो भिक्षुभाव उपजायते, ततः कारणे कार्योपचारादेता एव भिक्षुभावः। व्य० ४ उ०। प्रव्रज्यायां च। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

भिक्खुवासअ–भिक्षूपासक–न०। दृष्टान्तभेदे, पिं०।

भिक्खुसमय–भिक्षुसमय–पु०। शाक्याऽऽगमे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

भिक्खेसणासुद्धि–भिक्षैषणाशुद्धि–स्त्री०। उद्गमाऽऽदिके, दश० ५ अ० २ उ०।

भिच्च–भृत्य–पुं०। भृ—क्यप् तुक् च। दासे, वाच०। भृत्यः सेवक इति। ग० १ अधि०। पञ्चा०। प्रेष्ये, " भृत्यानुपरोधतो महादानम्। " षो० ५ विव०। दर्श०। " तुल्यार्थं तुल्यसंबन्धं, मर्मज्ञं व्यवसायिनम्। अर्द्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥ १ ॥ " दर्श० ५ तत्त्व। " अणुजीवी सेवओ भिच्चो। " पाइ० ना० १०२ गाथा।

भर्त्तव्य–त्रि०। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। भृतौ पोषणे साधुर्भृत्यः। पोषणे, साधौ च। विपा० १ श्रु० ७ अ०। भावे क्यप्। भरणे, स्त्री०। ङीप् " कुमारभृत्याकुशलैः। " इति रघु०। वाच०।

भिच्चोवयार–भृत्योपचार–पु०। स्त्रीणां चतुष्पष्टिकलाऽन्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

भिज्ज–भेद्य–त्रि०। भिद्–ण्यत्। विदार्ये, विशेष्ये च। " त्रिद्वेषां भेद्यगामि यत्। " वाच०। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। पुरुषमारणाऽऽद्यपराधमाश्रित्य कौटुम्बिकान् प्रति भेदेनोद्ग्राह्यमाणे ग्रामाऽऽदिषु निपतिते दण्डद्रव्ये च। यानि पुरुषमारणाऽऽद्यपराधनाऽऽदिषु दण्डद्रव्याणि निपतन्ति कौटुम्बिकान् प्रति च भेदेनोद्ग्राह्यन्ते तानि भेद्यानि। विपा० १ श्रु० १ अ०।

भिज्जमाण–भिद्यमान–त्रि०। वियुज्यमाने, स्था० २ ठा० ३ उ०।

भिज्जा-भिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमभिध्या , अभिध्यानत्या विषयाणां ध्यानं तदेकाग्रत्वमभिध्या, पिधानाऽऽदिवदकारलोपः । लोभे,स० ५२ सम० । स्था० । भ० ।

भिज्जानियाणकरण-भिध्यानिदानकरण-न० । भिध्या लोभो गृद्धिस्तेन निदानकरणमेतस्मात्तपःप्रभृतेश्चक्रवर्त्यादित्वं मे भूयादिति निकाचनकरणे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

" भिज्जाणिदाणकरणे, मोक्खमग्गस्स पलिमथू । " [ भिज्ज त्ति ] लोभस्तेन यन्निदानकरणं चक्रवर्तीन्द्राऽऽदिसमृद्धिप्रार्थनम् । स्था० ६ ठा० ।

भिज्जिय-भिध्यित-त्रि० । भिध्या लोभः संजाता यत्र स भिध्यित. । लोभवति, भ० ६ श० ३ उ० ।

भिणिभिणिभणंतकायकलि-भिणिभिणिभणत्काककलि-त्रि० । भिणिभिणि त्ति शब्दं [ भणत त्ति] भणन भृश कथयन् काककलिर्वायसग्रामो यत्र स. । भिणिभिणि त्ति शब्दं भणता काकसमूहेनोपेते , तं० ।

भिणिभिणिभणंतसद्द-भिणिभिणिभणच्छब्द-त्रि० । भिणिभिणि त्ति [भणत त्ति] धातूनामनेकार्थत्वात् उत्पद्यमानः शब्दो यत्र स भिणिभिणिभणच्छब्द. । मक्षिकाऽऽदिभिर्गणगणायमाने, तं० ।

भिण्ण-भिन्न-त्रि० । भिद्-क्त विदारिते, उत्त० ३२ अ० । संथा० । अन्ये, वाच० । परस्परासंकीर्णे, विशे० । [क्रमकालभेदाऽऽदिभिर्विसदृशोऽनुयोग.'अणुओग'शब्दे प्र०भा० ३४३पृष्ठे दर्शित.] विसदृशे,स्था० १० ठा० । खण्डिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । चूर्णिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । स्फुटिते , स्था० ४ ठा० ४ उ० । स्फोटिते, स्था० ५ ठा १ उ० । नष्टे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उज्झिते , " भिन्न त्ति वा उज्झिय त्ति वा एगट्ठं । " आव० ४ अ० । नि० चू० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अथ भिन्नपदनिक्षेपव्याचिख्यासयाऽऽह—

नामं ठवणा भिन्नं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
दव्वम्मि घडपडाई, जीवजढं भावतो भिन्न ॥ ५१ ॥

नामभिन्नं , स्थापनाभिन्नं, द्रव्यभिन्नं , भावभिन्न च भवति बोद्धव्यं, नामस्थापने सुगमे द्रव्यभिन्नं घटपटाऽऽदिकं वस्तु यद्भिन्नं विदारित, भावतो भिन्नं तु यज्जीवेन [ जढं ]परित्यक्तं तन्मन्तव्यम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० ।

भिण्णकहा-भिन्नकथा-स्त्री० । रहस्याऽऽलापे , " आणवयंति भिन्नकहाहिं । " भिन्नकथाभी रहस्याऽऽलापैर्मैथुनसबद्ध वचोभिः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

भिण्णगंठि-भिन्नग्रन्थि-पु० । सम्यग्दृष्टौ, द्वा० ६ द्वा० । मोक्षे, " भिन्नग्रन्थेस्तु भावतः । " भिन्नग्रन्थेर्विदारितातितीव्ररागद्वेषपरिणामस्य । द्वा० १४ द्वा० । यो० विं० । भिन्नग्रन्थे अपूर्वकरणबलेन कृतग्रन्थिभेदस्य । षो० ३ विव० ।

अथ ग्रन्थिभेदमेव व्याचष्टे—

भेदोऽपि चास्य विज्ञेयो , न भूयो भवनं तथा ।
तीव्रसंक्लेशविगमात्, सदा निःश्रेयसाऽऽवहः ॥ २८२ ॥

भेदोऽपि च न केवलं भेद आनन्द इत्यपिचशब्दार्थः । अस्य भिन्नग्रन्थेर्विज्ञेयः । किमित्याह-न भूयः पुनर्भवनं भावस्तथा यथा प्राक्, कुतः ?, इत्याह-तीव्रसंक्लेशविगमात् अतिदृढकषायोदयविरहात्, सदा सर्वकालं, निःश्रेयसावहो निर्वाणहेतुः ॥ २८२ ॥ यो० विं० ।

भिण्णदेह-भिन्नदेह-पुं० । भिन्नो देहो यस्य सः । चूर्णिताङ्गोपाङ्गे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

भिण्णपिंडवाइय-भिन्नपिण्डपातिक-पुं० । भिन्नस्य स्फोटितस्य पिण्डस्य सक्तुकाऽऽदिसंबन्धिनः पातो लाभो यस्यास्ति स भिन्नपिण्डपातिक. । स्फोटितपिण्डलाभवति , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

भिण्णमास-भिन्नमास-पुं० । मासभेदे , इह समयभाषया दिनपञ्चविंशतिरूपो भिन्नमासोऽभिधीयते । जीत० ।

भिण्णमुहुत्त-भिन्नमुहूर्त-न० । अन्तर्मुहूर्ते, आव० ४ अ० । " भिण्णमुहुत्तो नाम—ऊणो मुहुत्तो त्ति वुत्तं भवति । " आ० चू० १ अ० ।

भिण्णरहस्स-भिन्नरहस्य-त्रि० । भिन्नं रहस्यं येन सः । रहस्यभेदके , " भिन्नरहस्सो रहस्स न धारयति । " नि० चू० १ उ० । व्य० ।

भिण्णसण्ण-भिन्नसञ्ज-त्रि० । भिन्ना नष्टा संज्ञाऽऽन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स. । नष्टसंज्ञे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । नि० चू० ।

भिण्णसद्द-भिन्नशब्द-पुं० । शब्दविशेषे, स च कुष्टाऽऽद्युपहतशब्दवत् । स्था० १० ठा० ।

भिण्णागार-भिन्नागार-न० । देशतः पतितशटिते गृहे, नि० चू० ८ उ० ।

भिण्णुत्तमंग-भिन्नोत्तमाङ्ग-त्रि० । चूर्णितशिरसि , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

भित्त-भित्त-न० । भिद्—क्तः । खण्डे, वाच० । " अंबभित्तगं वा । " आम्रार्द्धम् । आचा० २ श्रु० १ चू० ७ अ० २ उ० ।

भित्तर-देशी-द्वारे, दे० ना० ६ वर्ग १०५ गाथा ।

भित्ति-भित्ति-स्त्री० । भिद्-क्तिन् । गृहाऽऽदीना कुड्ये, वाच० । दर्श० ३ तत्त्व । विशे० । उत्त० । अनु० नद्यादितटयाम् , दर्श० ८ अ० । कुड्यभित्योः कः प्रतिविशेष ?, उच्यते—इष्टकाऽऽदिरचिता भित्तिः, मृत्पिण्डाऽऽदिरचितं कुड्यम् । बृ० २ उ० । उत्त० ।

भित्तिकड-भित्तिकृत-त्रि० । भित्तिसंश्रिते, स च भित्तिनिश्रया स्थापित इति । बृ० २ उ० ।

भित्तिगुलिया-भित्तिगुलिका-स्त्री० । भित्तिसम्बद्धा गुलिका पीठिका भित्तिगुलिका । भित्तिसम्बद्धगुलिकायाम् , जी० ३ प्रति ४ अधि० । रा० ।

भित्तिमूल-भित्तिमूल-न० । कुड्यैकदेशे , दर्श० ३ तत्त्व ।

भित्तिय-भित्तिक-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

भिचिरूव-देशी-टङ्कच्छिन्ने, दे० ना० ६ वर्ग १०५ गाथा।

भित्तिल-भित्तिपत्-न०। विमानविशेषे, स० २ सम०।

भित्तुं-भेत्तुम्-अव्य०। द्विधा कर्तुमित्यर्थे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण। "जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे।" दश० ६ अ०१ उ०।

भिन्द-भिद्-धा०।द्विधाकरणे,विशेषकरणे च। रुधा०-उभ०-सक०-अनिट्। "छिदिभिदो न्दः" ॥ ८ । ४ । २१६॥ इति प्राकृतसूत्रेण भिदेरन्त्यस्य नकाराऽऽक्रान्तो दकारः।' भिन्दइ।' प्रा० ४ पाद। भिनत्ति भिन्ते। अभिदत्। अभैत्सीत्। अभित्त। वाच०।

भिन्दंत-भिन्दत्-त्रि०। भेदनं कुर्वति, "भिंदंतो जो वि खुहं।" व्य० १ उ०।

भिन्न-भिन्न-त्रि०। पृथक्कृते, "सीरिओ भिन्नो।" पाइ० ना० २६२ गाथा।

भिप्फ-भीष्म-पुं०। "भीष्मे ष्मः" ॥ ८ । २ । ५४ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण ष्मस्य फः। प्रा० २ पाद। भयानकरसे, भयहेतौ, त्रि०। गङ्गागर्भजे शन्तनुसुते स्वनामख्याते कुरुवंशीये क्षत्रिये, पुं०। वाच०।

भिप्फय-भीष्मक-पुं०। कौण्डिन्यपुरस्थे रुक्मिण्याः पितरि स्वनामख्याते नृपे, "कोंडिण्णणगरे तत्थ णं तुरुमिणि भिप्फयसुयं करयल०।" ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

भिब्भल-विह्वल-त्रि०। विह्वल-अच्। "वा विह्वले वौ वश्च" ॥ ८। २। ५८॥ इति प्राकृतसूत्रेण विह्वले ह्वस्य भो वा, तत्संनियोगेन च विशब्दे वा वस्य भः। प्रा० २ पाद। भयाऽऽदिना व्याकुले, विलीने च। वाच०।

भिब्भिसमाण-बिभासमान-त्रि०। अतिशयेन दीप्यमाने, भ० ६ श० ३३ उ०। जं०। रा०।

भिमोर-हिमोरस्-न०। हिमस्योरो मध्यं हिमोरः। "गोणाऽऽदयः" ॥ ८। २। १७४॥ इति प्राकृतसूत्रेण निपातनाद् हस्य भः। हिममध्यभागे, प्रा० २ पाद।

भिय-भृत-त्रि०। पूरणे, आव०४ अ०। सूत्र०। भावे क्तः। पूरणे, न०। स्था० १० ठा०।

भियग-भृतक-त्रि०। भृ-क्तः। स्वार्थे कन्। वेतनेन कर्मकरे वाच०। "भियगाणइसंधाणं।" दर्श० १ तत्त्व। पञ्चा०। अनु०।

भिलिंग-भिलिङ्ग-पुं०। मसूरे, पञ्चा० १० विव०। कल्प०।

भिलिंगंत-अभ्यञ्जत्-त्रि०। अभ्यङ्गं कुर्वति, "भिलिङ्गेज्ज वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ"(सूत्र१८)नि०चू०१७ उ०। "मंखेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा णो तं सातिए आयं जयंतं वा" तथा लोध्राऽऽदिनोद्वर्त्तनाऽऽदि कुर्वन्तमिति। आचा०२ श्रु०२ चू०६ अ०।

भिलिंगसूव-भिलिङ्गसूप-पुं। मसूराऽऽख्यद्विदलधान्यपाकविशेषे, पञ्चा० १० विव०। भिलिङ्गसूपो मसूरदालिरिति कल्प० ३ अधि० ६ क्षण।

भिलिंगावंत-अभ्यञ्जयत्-त्रि०। अभ्यङ्गं कारयति, "भिलिंगावेज्ज वा, भिलिंगावंतं वा साइज्जइ।" नि० चू० १७ उ०।

भिलिंजण-अभ्यञ्जन-न०। उद्वर्तने, आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ०। "तेल्लं मुदभिलिंजाए भिलिंजए त्ति।" अभ्यङ्गाय ढौकयस्व। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

भिलुगा-भिलुका-स्त्री०। स्फुटितकृष्णभूराज्याम्, आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ०। सुषिरभूमिराज्याम्, दश० ६ अ० २ उ०। भिलुगाणि श्लक्ष्णभूमिराजय इति। आचा० २ श्रु० २ चू० ३ अ०।

भिल्ल-भिल्ल-पु०। भिल-लक्। म्लेच्छदेशभेदे, तन्निवासिनि म्लेच्छजातिभेदे च। वाच०। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। प्रव०।

भिस-बिस (श)-न०। पद्मिनीकन्दे, आव० ६ अ०। जं०। रा०। जी०। आचा०। आ० म०। "एगो जीवो भिसमुणाले।" प्रज्ञा० १ पद। बिसानि पद्मिनीमूलानि। ज्ञा० १ श्रु० ४ अ०। बिशं पद्मकन्दमूलमिति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ०।

भास-दीप्तौ, भ्वादि०-आत्म०-अक०-सेट्। वाच०। "भासेर्भिसः" ॥ ८। ४। २०३॥ इति प्राकृतसूत्रेण भासेर्भिसः इत्यादेशो वा। "भिसइ, भासइ।" प्रा० ४ पाद। भासते अभासिष्ट। चङि-वा ह्रस्वः। अबीभसत्। अबभासत्। वाच०।

भृश-न०। भृश-कः। अतिशये,तद्वति, त्रि०। वाच०। भृशमत्यर्थमिति। विशे०। सूत्र०।

भिसअ-भिषज्-पु०। भिषति चिकित्सते। भिष-अजिक्। "शरदादेरत्" ॥ ८। १। १८॥ इति प्राकृत सूत्रेणान्त्यव्यञ्जनस्याऽत्॥ प्रा० १ पाद। वैद्ये, रोगप्रतीकारे च। वाच०। नि० चू०। मल्लिजिनेन्द्रस्य प्रथमे गणधरे च। प्रव० ८ द्वार। ज्ञा०। ति०।

भिसंत-भासमान-त्रि०। दीप्यमाने, आ० म० १ अ०। भ०। औ०। रा०। ज्ञा०। जं०। अनर्घे,दे० ना० ६ वर्ग १०५ गाथा।

भिसमाण-भासमान-त्रि०। दीप्यमाने, आ० म० १ अ०।

भिसर-अभिसर-पुं०। मत्स्यबन्धनविशेषे,विपा०,१ श्रु०८ अ०।

भिसिआ-देशी-वृष्याम्, दे० ना० ६ वर्ग १०५ गाथा।

भिसिणी-बिसिनी-स्त्री०। "बिसिन्यां भः" ॥ ८। १। २३८॥ इति प्राकृतसूत्रेण बस्य भः। प्रा० १ पाद। पद्मिन्याम्, "भिसिणिपत्ते हियरे।" आ०म० १ अ०। भिसिणीपुक्खलपलाससरिसो वा।" बृ० १ उ० २ प्रक०। "भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।" प्रा० २ पाद। "भिसिणी नलिणी कमलिणी य।" पाइ० ना० १४६ गाथा।

भिसी-बृ (षी) सी-स्त्री०। आसनविशेषे, स्वार्थे कन्। स्त्रियां टाप्, अत इत्वम्। बृ (षि) सिका। भ० २ श० १ उ०। ज्ञा०। आचा०। "भिसिगं वा।" बृषीमासनमिति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। (भिसियाओ त्ति) बृषिका उपवेशनपट्टिकेति। औ०। "अट्ठसोवण्णिआओ भिसिआओ।" (भिसिआओ त्ति) आसनविशेषान्। भ० ११ श० ११ उ०। "भिसी सारी।" पाइ० ना० २१५ गाथा।

भिसोल-भिसोल-न०। नाट्यभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

भी–भी–धा० । भये, जु०-पर०-अक०-अनिट् । बिभेति । अबैभीत् । बिभयामास । बिभाय । वाच० " भियो भा-बीही " ८।४।५३॥ इति प्राकृतसूत्रेण बिभेतेरेतावादेशौ वा । भाइ । बीहइ । बाहुलकाधिकारात्क्वचित् । भीतः । प्रा० ४ पाद ।

भी–स्त्री० । भी–सम्प० क्विप् । भये, वाच० । भीतौ, स्त्री० । एका० ।

भीअ–भीत–त्रि० । अत्रस्ते, " भीओ छिरथो । " पाइ ना० २६० गाथा ।

भीइ–भीति–स्त्री० । भी–क्तिन् । भये, कम्पे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । स्था० । भयं भीतिर्नृपचौराऽऽदिभ्य इति । स्था० १० ठा० ।

भीइयव्व–भेतव्य–न० । बिभेये, भये, प्रश्न० २ सम्ब०द्वार ।

भीम–भीम–त्रि० । बिभेत्यस्मात् । भी–मक् । भयहेतौ, वाच० । रौद्रे, नि० १ श्रु० १ वर्ग ३ अ० । प्रश्न० । "भीमे उत्तासणए ।" भ० ६ श० ५ उ० । संथा० । ज्ञा० । आव० । " मए सोढाणि भीमाणि, जम्माणि मरणाणि य ।" भीमानि भयदानि । उत्त० १६ अ० । "भीमगम्भीरलोमहरिसहरिसणेसु ।" प्रश्न० १ आश्र० द्वार । भयानकरसे, महादेवे, भीमसेने, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । ज्ञा० म० । नि० चू० । राक्षसभेदे, प्रज्ञा० १ पद । स्वनामख्याते राक्षसानामिन्द्रे ।

दो रक्खसिन्दा पण्णत्ता-भीमे चेव, महाभीमे चेव । स्था० २ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । " भीमे तहा महाभीमे । " प्रज्ञा० २ पद । भ० ।

हस्तिनागपुररस्थे स्वनामख्याते कूटग्राहे, ( तद्वक्तव्यता 'गोत्तास' शब्दे तृतीयभागे ६५४ पृष्ठे गता ) अयोध्यानगरीस्थे धवलश्रावकस्य मित्रे स्वनामख्याते श्रावके, दर्श०३ तत्त्व । तद्वक्तव्यता-" इहेव भारहे वासे अउज्झाए नयरीए चंदकेऊ नाम राया । तत्थ य नयरीए तिण्णि भायरो धवलभीमभाणुनामाणो अवरोप्परं बद्धाणुराया समाणव्वया सहसंववहारिणो परिवसंति वयधम्मं परिवालिंति । अन्नया साहुविहारेण विहरन्ता समागया अजियसेणनाम सूरिणो, समोसढा नंदणुज्जाणे, जाओ नयरीए पवाओ-पयारिसा सूरिणो समागया, निग्गओ राया सह नायरलोएणं वंदणपडियाए, चेव धवलभीमभाणुनामाणो विनिग्गया, वंदिय निविट्ठा सट्ठाणे सव्वे वि, पत्थुया देसणा ।" दर्श०३ तत्त्व । भाविनि स्वनामख्याते प्रतिवासुदेवे, ति० । ती० । अम्लवेतसे च । पुं० । दुर्गायाम्, स्त्री० । "भीमादेवीति विख्यातं, तन्मे नाम भविष्यति ।" वाच० । " घोरा दारुण–भासुर–भइरव लल्लक–भीम–भीसणया ।" पाइ० ना० ६५ गाथा ।

भीमकम्म–भीमकर्मन्–पुं० । भीमं कर्म क्रिया यस्य । कर्मशब्दः क्रियावचकः 'गन्धर्वा रञ्जिताः सर्वे, सद्ग्रामे भीमकर्मणा ।" इति वचनात् । रौद्रक्रियाकर्तरि, आव० ३ अ० ।

भीमकुमार–भीमकुमार–पुं० । कमलपुरवास्तव्यस्य हरिवाहनस्य राज्ञः सुते स्वनामख्याते राजकुमारे, ध० र० ।

तत्कथा—

" कपिशीर्षकवलकलितं, जिनभुवनसुकेशरं श्रिया श्लिष्टम् ।
किन्तु जडसंगमुक्तं, इहाऽस्ति कमलं व कमलपुरं ॥ १ ॥
तत्राभवदरिपार्थिव–करटिघटाविघटनप्रकटवीर्यः ।
णयकाणणकयवासो, हरि व्व हरिवाहणो राया ॥ २ ॥
प्राणेशा तस्य बभू—व मालती मालतीसुरभिशीला ।
निस्सीमअसीमपरो—वयारसारो सुओ भीमो ॥ ३ ॥
अतिशुद्धबुद्धिबुद्धिल–मन्त्रिसुतः प्रेमवारिवारिनिधिः ।
भीमकुमरस्स जाओ, वरमित्तो बुद्धिमयरहरो ॥ ४ ॥
अन्येद्युः स वयस्यः, प्रशस्यविनयो नयोज्ज्वलः स्वगृहात् ।
कुमरो पभायसमए, संपत्तो रायपयमूले ॥ ५ ॥
अनमन्नृपपदकमलं, तेन निजाङ्के दृढं परिष्वज्य ।
संठविओ पच्छा पुण, उवविट्ठो उचियठाणम्मि ॥ ६ ॥
नरनाथ चरणयुगलं, सप्रणयं निजकमङ्कमारोप्य ।
संवाहइ नयवाई, मिउल्लप्पलकोमलकरेहिं ॥ ७ ॥
भक्तिभरनिर्भराङ्गः, शृणोति जनकस्य शासनं यावत् ।
उज्जाणपालगेणं, ता विन्नत्तो निवो एवं ॥ ८ ॥
देव ! नृपदेवपवित्र—पदारविन्दोऽरविन्दमुनिराजः ।
भूरिविनेयसमेओ, पत्तो कुसुमाकरुज्जाणे ॥ ९ ॥
तद् श्रुत्वा भूभर्त्ता, दत्वा दानं महत् मुदा तस्मै ।
बहुमतिकुमारजुओ, पत्तो गुरुचरणनमणत्थं ॥ १० ॥
विधिना प्रतितितिसहितं, यतिपतिमभिवन्द्य नृपतिरासीनः ।
दुंदुभिउद्दामसरं, गुरू वि एवं कहइ धम्मं ॥ ११ ॥
विफलं पशोरिवाऽऽयु–र्नरस्य नित्यं त्रिवर्गशून्यस्य ।
तत्रापि वरो धर्मो, यत्तमृते स्तो न कामार्थौ ॥ १२ ॥
स रजः कनकस्थाले, क्षिपति स कुरुतेऽमृतेन पदशौचम् ।
गृह्णाति काचशकलं, चिन्तारत्नं स विक्रीय ॥ १३ ॥
वाहयति जम्भगुम्भन–कुम्भिनमिन्धनभरं स मूढाऽऽत्मा ।
स्थूलामलमुक्ताफल–मालाविदलयति सूत्रार्थम् ॥ १४ ॥
उन्मूल्य स कल्पतरुं, धत्तूरं वपति निजगृहेऽल्पमतिः ।
नावं स जलधिमध्ये, भिनत्ति किल लोहकीलाय ॥ १५ ॥
भस्मकृते स दहति चा–रुचन्दनं यो मनुष्यजन्मेदम् ।
कामार्थार्थे नयते, सततं सद्धर्मपरिमुक्तः ॥ १६ ॥
( चतुर्भिः कलापकम् )
सत्संगत्या जिनपति—नत्या गुरुसेवया सदा दयया ।
तपसा दानेन तथा, तत् सफलं तद् बुधैः कार्यम् ॥ १७ ॥
यतः—
पुष्णाति गुणं मुष्णा–ति दूषणं सन्मतं प्रबोधयति ।
शोधयते पापरजः, सत्सङ्गतिरङ्गिना सततम् ॥ १८ ॥
सद्यः फलन्ति कामाः, वामाः कामा भयाय न यतन्ते ।
न भवति भवभीतितति–र्जिनपतिनतिमतिमतः पुंसः ॥१९॥
गुरुसेवाकरणपरो, नरो न रोगैरभिद्रुतो भवति ।
ज्ञानसुदर्शनचरणै–राद्रियते सद्गुणगणैश्च ॥ २० ॥
प्रौढस्फूर्त्तिर्निरुपम–मूर्त्तिः शरदिन्दुकुन्दसमकीर्त्तिः ।
भवति शिवसौख्यभागी, सदा दयाऽलङ्कृतः पुरुषः ॥२१॥
जलमिव दहनं स्थलमिव, जलधिर्मृग इव मृगाधिपस्तस्य ।
इह भवति येन सततं, निजशक्त्या तप्यते सुतपः ॥ २२ ॥
तं परिहरति भवार्त्तिः, स्पृहयति सुगतिर्विमुञ्चते कुगतिः ।
यः पात्रशात् कुरुते, निजकं न्यायार्जितं वित्तम् ॥ २३ ॥
इति गुरुवचनं श्रुत्वा, नरनाथः प्रमुदितः सुताऽऽदियुतः ।
गिण्हइ गिहत्थधम्मं, सम्मं संमत्तसंजुत्तं ॥ २४ ॥

शमिनां स्वामिनमान-म्य मेदिनीशो जगाम निजधाम ।
भवियजणबोहणत्थं, गुरू वि अन्नत्थ विहरेइ ॥ २५ ॥
आसन्नाऽऽसीनसखं, निजभवनस्थं कुमारमन्येद्यु. ।
सूरिगुणे वन्नंतं, नमिउं विन्नवइ इय वित्ती ॥ २६ ॥
देव ! नरुण्डमाला-कलितः कापालिको वलिष्ठाङ्गः ।
तुह दंसणं समीहइ, तो कुमरेणं मुंच इय भणिए ॥ २७ ॥
तेनासौ परिमुक्तो, दत्त्वाऽऽशीर्वादमुचितमासीनः ।
पत्थावं लहिय भणे-इ देहि मह कुमर ! भ त्ति रहं ॥ २८ ॥
त तु भ्रूक्षेपवशाद्, दूरस्थे परिजने जगौ योगी ।
भुवनक्खोहिणीनामा, कुमार ! मह अत्थि वरविज्जा ॥२९॥
तस्याश्च पूर्वसेवां, द्वादश वर्षाण्यकार्षमधुना तु ।
तं कसिणचउद्दसिदिणे, साहिउमिच्छामि पेयवणे ॥ ३० ॥
उत्तरसाधकभावं, त्वं देहि विधेहि मे श्रमं सफलम् ।
आमं ति भणइ कुमरो, परोवयारिक्करसियमणो ॥ ३१ ॥
अद्यदिनाद्दशमदिने, सा रजनी भाविनी ततो भद्र ! ।
गच्छ तुमं संठाणं, इय भणिओ सो कुमारेण ॥ ३२ ॥
योग्यूचे तव पार्श्वे, स्थास्यामि कुमार ! आख्यदित्यस्तु ।
तो अणुदिणं स कुमर-स्स अंतिए कुणइ सयणाई ॥ ३३ ॥
तद्वीक्ष्य सचिवसूनुः,प्रोचे पापण्डिसंस्तववशेन ।
मित्त ! नियं संमत्तं, करेसि किं साइयारं ति ? ॥ ३४ ॥
तत आह नृपतितनय-स्त्वयेदमावेदि सत्यमेव सखे ! ।
किं तु मए दक्खिन्ना, परिसमेयस्स पडिवन्नं ॥ ३५ ॥
प्रतिपन्ने निर्वहणं, सत्पुरुषाणां महाव्रतं ह्येतत् ।
किं मुयइ ससी ससयं, नियदेहकलङ्ककारिं पि ॥३६॥
किं कुरुतेहि कुसङ्गो, नरस्य निजधर्मकर्मसुदृढस्य ? ।
विसहरसिरे वि वसिओ,किं न मणी हरइ विसमविसं॥३७॥
इतरः स्माऽऽह यदि भवान्, प्रतिपन्नं सत्यमेव निर्वहति ।
निव्वहउ तओ पुव्व-ंगीकयसुविसुद्धसंमत्तं ॥ ३८ ॥
अतिमणिरभावुकं द्र-व्यमत्र जीवस्तु भावुकं तस्मात् ।
चिंतिज्जंतो संमं, दिट्ठंतो एस जं किंचि ॥ ३९ ॥
एवं सुयुक्तयुक्तिभि-रुक्तोऽपि च तेन नृपतितनुजन्मा ।
नं लिङ्गि आलिङ्गिय-हियओ मग्गेण न चएइ ॥ ४० ॥
प्राप्ते च तत्र दिवसे, वञ्चित्वा परिजनं गृहीताऽसिः ।
काबालिएण सह निसि, पत्तो कुमरो सुसाणम्मि ॥ ४१ ॥
आलिख्य मण्डलमसा-वर्चित्वा मन्त्रदेवतां सम्यक् ।
अह काउं सिहबंधं, कुमरस्स समुट्ठिओ जाव ॥ ४२ ॥
तावदुवाच कुमारः, स त्वं निजमेव मे शिखाबन्धः ।
नियकज्जं चिय पकुणसु,मा धरसु मणे भयं ति तओ ॥ ४३ ॥
तस्यावुद्यतखङ्ग-स्तत्पार्श्वेऽसौ कपालयथो दध्यौ ।
कुमरसिरगहणसिहव-न्धबहुलिया विहलिया ताव ॥४४॥
तदमुष्य शिरो ग्राह्यं, स्वविक्रमेणैव मनसि कृत्वैवम् ।
गरुयगिरिसिहरलंघण-पवणं काउं निय रूवं ॥ ४५ ॥
कूपसमकर्णकुहर-स्तमालदलकालकर्तिकाहस्तः ।
दिक्करडिरडियपडिमं, लग्गो धड्हडिउमइवियडं ॥ ४६ ॥
तद्दुर्विलसितमिति वी-क्ष्य नृपसुतः केसरीव करियूथम् ।
अक्खुहियमणो जा म-ंडलग्गमुग्गं स पउणेइ ॥ ४७ ॥
तावदुवाच स पापो, रे बालक ! तव शिरःसरोजेन ।
पूएउ अज्ज नियगु-त्तदेवयं होमि सुकयत्थो ॥ ४८ ॥
तत आख्यत् क्षितिपसुतो, रे रे पाषण्डिपाश ! पापिष्ठ ! ।
चंडालदुव्वचिट्ठिय-निट्ठियकल्लाण ! अन्नाण ! ॥ ४९ ॥
विश्वसितानां येषां, त्वया कपालैर्विनिर्ममे माला ।
ताण वि वइरं वाले-मि अज्ज गहिउं तुह कवालं ॥ ५० ॥
मुक्तोऽथ कर्त्तिकायाः, घातः कुपितेन तेन भीमोऽपि ।
तं खलिय खग्गदंडे-ण खिप्पमारुहइ तक्खंधं ॥ ५१ ॥
दध्यौ च कमललावं, लुनामि किं मौलिमस्य खड्गेन ।
सेवमिमं पडिवन्नं, हणेमि कह कइयवेणऽहवा ? ॥ ५२ ॥
यदि कथमपि जिनधर्मं, बहुशक्तियुतः प्रपद्यते चायम् ।
तो पवयणं पभावइ, इय हणइ सिरंसि मुट्ठीहिं ॥ ५३ ॥
यावत्तं हन्तुमना, दोर्दण्डाभ्यां प्रहीष्यते योगी ।
तावऽऽस वणस्संतो, पचिसइ करकलियकरवालो ॥ ५४ ॥
तं प्रजहार कुमारः, खरनखरैः पौत्रवन् महीपीठम् ।
सो सुंडादंडपवि-इटसरडकरडि व्व कह रडइ ॥ ५५ ॥
कृच्छ्रेण कर्णकुहरात्, करेण निःसार्य नृपसुतं योगी ।
धरिउं चरणे कंदु, व्व दूरमुच्छालए गयणे ॥ ५६ ॥
स तु निपतन् गगनतलाद्, दैववशात् प्रापि यक्षिणीदेव्या।
करसरसरुहसंपुडए, काउं नीओ य नियभवणे ॥ ५७ ॥
वीक्ष्य च तत्राऽऽत्मानं, मणिमयसिंहासने समासीनम् ।
अहियं विम्हियहियओ, जाव किमेयं ति चिंतेइ ॥ ५८ ॥
तावद्योजितहस्ता, तस्य पुरोभूय यक्षिणी प्राऽऽह ।
भद्द ! इमो विंझगिरी, तन्नामेणं इमा अडवी ॥ ५९ ॥
विन्ध्याद्रिकन्दराऽन्त, र्गतमतिसंगतमिदं त्रिदशसद्म ।
अहमित्थ सामिणी ज-क्खिणी य नामेण कमलक्खा ॥६०॥
अद्याष्टापदवलिता, कपालिनोत्क्षिप्तमन्तरिक्षतलात् ।
तं निवडंतं पिक्खि-त्तु घित्तु पत्ता इहं हिट्ठा ॥ ६१ ॥
संप्रति दुर्मथमन्मथ-शितशरनिकरप्रहारविधुराङ्गी ।
तुह सरणमहं पत्ता, सुपुरिस ! मं रक्ख रक्ख तओ ॥६२॥
तदनु विहस्य स ऊचे, हे विबुधे ! विबुधनिन्दितानेतान् ।
वंतासवे य पित्ता-सवे य तुच्छे अणिच्चे य ॥ ६३ ॥
नरकपुरसरलसरणि-प्रायानायासनिवहसंसाध्यान् ।
अंते कयरणरणए, जणए बहुदुक्खलक्खाणं ॥ ६४ ॥
आपातमात्रमधुरान्, विषवत् परिणामदारुणान् विषयान्।
भवतरुमूलसमाणे, माणेइ सचेयणो को णु ? ॥ ६५ ॥
शाम्यन्ति नैव विषयाः, हि सेवया प्रत्युत प्रवर्द्धन्ते ।
कररुहकंडुयणेणं, पामा इव पामरजियाणं ॥ ६६ ॥

उक्तं च—

न जातु कामः कामाना-मुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते ॥ ६७ ॥
तद् दुःखलक्खहेउं, गिद्धिं विसयेसु मुञ्च भवभीरु ।
सिरिजिणनाहे तदे-क्कचित्तिम्मि भत्तिं सया कुणसु ॥ ६८ ॥
इति तद्वचनामृतमा-प्य यक्षिणी शान्तविषयसंतापा ।
संजोडियकरकमला, कमलक्खा जंपए कुमरं ॥ ६९ ॥
स्वामिंस्तव प्रसादात्, सुलभं खलु मे परत्र विशदपदम् ।
नीसेसदुहाभोए, भोए संमं चयंतीए ॥ ७० ॥
त्वयि सुदृढो भक्तिभरो, राग इव सुपाशितेऽशुके मेऽस्तु ।
जो पुज्जो तुह वि सया, सो मह देवो जिणो होउ ॥ ७१ ॥
इति यावद् गुरुभक्तिं ,साऽन्यदपि भणिष्यति स्फुटं किञ्चित्।
ता सुणिउं महुरझुणिं, कुमरो पुच्छइ तयं देविं ॥ ७२ ॥
अतिबन्धुरबन्धसमृ-द्धशुद्धसिद्धान्तसारवचनेन ।

के इह कुणंति सज्झा-यमसरिसं सा तओ भणइ ॥ ७३ ॥
सन्तीह गिरौ मुनयो, मासचतुष्काद्य पारयन्ति विभो ! ।
तेसिं सिज्झायपरा-ण एस सुव्वइ महुरसद्दो ॥ ७४ ॥
अथ नृपतिसूनुरुचे, हिमे शिखी शेषतमसि मणिद्रीपः ।
जं इत्थ वि पुसेहिं, सुसाहुसंगो महं जाओ ॥ ७५ ॥
तदहमिदानीं रजनी-शेषममीषां समीपमुपगम्य ।
गमिहिं ति तओ नीओ, सो दुवीए मुणीणंते ॥ ७६ ॥
प्रातः सपरिजनाऽहं, मुनीन् प्रणंस्यामि सेति जल्पित्वा ।
सट्ठाणं संपत्ता, सुमरंती कुमरउवएसं ॥ ७७ ॥
इतरोऽपि गुहाद्वार-प्रत्यासन्नस्थितं ननाम गुरुम् ।
उवलद्धधम्मलाहो, उवविसए सुद्धमहिपीढे ॥ ७८ ॥
विस्मितहृदयोऽपृच्छत्, भगवन् ! कथमिह सुभीषणे देशे ।
तुम्हे चिट्ठह अभया, असहाया निरसणा तिसिया ॥ ७९ ॥
एवं कुमारपृष्टो, यावत् प्रतिभणति किञ्चन मुनीशः ।
ता निवइ निवडतणओ, गयणे इंतं भुयं एगं ॥ ८० ॥
दीर्घतरा गवलरुचि , साऽवनरन्ती नभोगणाच्छुशुभे ।
महलच्छीए वेणि-व्व लंबिरा लडहलावन्ना ॥ ८१ ॥
तरलतरभीषणाऽऽकृति-रतिकठिना रक्तचन्दनोल्लिप्ता ।
भूमीए पडिलग्गा,जमस्स जीह व्व सा सहइ ॥ ८२ ॥
अथ विस्मयभयजननी, समागता झगिति तत्प्रदेशे सा ।
भयरहियाणं ताणं, मुणिकुमराणं नियताणं ॥ ८३ ॥
आगत्य तदनु सहसा, क्षितिपतितनयस्य मण्डलाग्रं सा ।
मुट्ठीइ गहिय सुदिढं, वलिया पच्छामुहं झ त्ति ॥ ८४ ॥
कस्य भुजेयं किं वा, करिष्यतेऽनेन मम कृपाणेन ।
पिच्छामि सयं गंतुं, इय कुमरो उट्ठिओ सहसा ॥ ८५ ॥
प्रणिपत्य सूरिचरणे, पश्चास्य इवातिकौतुकवशेन ।
उच्छलिउं छेयवरो, आरूढो तीइ बाहाए ॥ ८६ ॥
हरगलगवलसुनीलिम—भुजाधिरूढो व्रजन् गगनमार्गे ।
कालियपुट्ठाऽऽरूढो विण्हु व्व विरायए कुमरो ॥ ८७ ॥
स्थूरस्थिरभुजफलको-परि स्थितो विपुलगगनजलराशिम् ।
वणिओ व्व भिन्नपोओ, तरमाणो सहइ निवइसुओ ॥ ८८ ॥
बहुनरतरुवरगिरिगण-गिरिसरितो याति याधदभिपश्यन् ।
भीमो अइसयभीमं, ता पिच्छइ कालियाभवणं ॥ ८९ ॥
तद्गर्भगृहाऽऽसीना, प्रहरणयुक्त महिषवाहनाऽऽसीना ।
तेणं दिट्ठा नरकं-डमंडिया कालियापडिमा ॥ ९० ॥
तस्याश्चाग्रे ददृशे, स पूर्वकापालिकस्तथा तेन ।
वामकरेणं एगो, पुरिसो केसेसु परिगहिओ ॥ ९१ ॥
यस्यां किल बाहाया—मागच्छति नृपसुतः समारूढः ।
सा तस्स दुट्ठजोगि-स्स संतिया दाहिणी बाहा ॥ ९२ ॥
तं केशेषु गृहीतं, दृष्ट्वा परिचिन्तितं कुमारेण ।
किं एस कुपासंडी, काही एयस्स पुरिसस्स ? ॥ ९३ ॥
तद् प्रच्छन्नो भूत्वा, तावत् पश्यामि चेष्टितममुष्य ।
पच्छा जं कायव्वं, त काह इय चिंतिउं ॥ ९४ ॥
तस्याशुतीर्य भुजा-न्निभृतस्तस्यैव योगिनः पश्चात् ।
अणिज्जं कुमरखग्गं, सट्ठाणं सा भुया लग्गा ॥ ९५ ॥
त नरमथ योग्यूचे, स्मरेष्टदेवं कुरुष्व भोः शरणम् ।
तुह सिरमिमिणा असिणा, जं छिज्जु पुट्ठइ देविं ॥ ९६ ॥
स प्राह परमकरुणा-रसनीरनिधिर्जिनेश्वरो देवः ।
सव्वावत्थगएण वि, सरियव्वो मज्झ न हु अ नो ॥ ९७ ॥
दृढजिनधर्मधुरीणो, भीमाऽऽख्यो निजसखः कुलस्वामी ।
केण वि कत्थ वि नीओ, कुलिङ्गिणा सो उ मे सरणं ॥ ९८ ॥
योग्यूचे रे पूर्वं, स तव स्वामी भयेन मे नष्टः ।
अमइ सिरेण तस्से—व कालियं देविमर्च्चितो ॥ ९९ ॥
तदभावे तत्पूजा, तव शिरसाऽपि हि मयाऽद्य कर्त्तव्या ।
ता तुज्झ कहं सरणं, सो होही मूढ ! कापुरिसो ? ॥ १०० ॥
रे रे स तव स्वामी, ममाधुनाऽऽसि कालिकादेव्या ।
विंझगुहासन्ने, पासे किर सेयभिक्खूणं ॥ १०१ ॥
करवालोऽयं तस्यै—व निशित आनायितो मया पश्य ।
इमिण च्चिय तुह सीसं, छिज्जिहिई इण्हि निब्भंतं ॥ १०२ ॥
उभयाऽऽलापान् श्रुत्वा, दध्यौ भीमः सुदु-सलामर्षम् ।
हा कह पावो वि नडइ, मह मित्तं बुद्धिमयरहर ॥ १०३ ॥
इक्कयति स्म ततस्तं, रे योगि ध्रुव ! भवाधुना पुरुषः ।
गिण्हसु तुज्झ मउलिं,मिउलेमि जयस्स वि दुहाइ ॥ १०४ ॥
त नरमपास्य योगी, कुमारमभिधावितस्ततस्तेन ।
दारकवाडपहारे-ण पाडिओ से कराउ असी ॥ १०५ ॥
धृत्वा कचेषु भूमौ, निपात्य दध्वोरसि क्रमं भीमः ।
जा लुणिही से सीसं, ता काली अंतरे होउ ॥ १०६ ॥
प्रीताऽऽह वीर ! मैनं, वधीहि मम वत्सलं छलितलोकम् ।
जो नरसिरकमलेहिँ, करेइ मह पूयमइभत्तो ॥१०७॥
भो अष्टशतं पूर्णं, मौलीनां मोलिनाऽमुनाऽद्य स्यात् ।
पायडियनिययरूवा, अहं च एयस्स सिज्झंती ॥ १०८ ॥
तावत् त्वमसमकरुणा-पण्याऽऽपणआगम क्षितिपतनय ! ।
तुह पउरपउरिसेणं, तुट्ठा मग्गसु वरं कइय ॥ १०९ ॥
परहितमतिः स ऊचे, तुष्टा यदि मम ददासि वरमिष्टम् ।
तो तिगरणपरिसुद्धं, जीववहं लहु विवज्जेहि ॥ ११० ॥
तव सुतप शीलाभ्यां, विकलायाः का हि धर्मसंप्राप्तिः ।
एलेव तुज्झ धम्मो, चएसु तसजीववहमेय ॥ १११ ॥
यद्वदिह नाऽऽत्मलाभं, लभते किल पादपो विना मूलम् ।
तह धम्मो वि जियाणं, न होइ नूणं दयाइ विणा ॥ ११२ ॥
मा भद्रे ! स्वस्य पुरो, जीववधमचीकरः कदाचिदपि ।
तह मा तूससु भवदुह-पयाणसज्जेण भज्जेण ॥ ११३ ॥
कारुण्यमय सम्यक्, यद्यकरिष्य पुरा हि जिनधर्मम् ।
तो नेव पावंती, कुदेवजोणीइ देवत्तं ॥ ११४ ॥
तत्त्यज जीववधं त्वं, त्वद् भक्ता अपि भवंतु करुणाऽर्द्राः ।
पूयसु जिणपडिमाओ, धरसु जिणुत्त च सम्मत्तं ॥ ११५ ॥
जिनमार्गसंस्थितानां, कुरु सान्निध्यं च सर्वकार्येषु ।
जं लहिउ नरजम्मं, त भद्दे ! लहिहिसि लहु सिद्धिं ॥ ११६ ॥
अद्यप्रभृति समस्तान्, जीवान्निजजीववद् निरीक्षिष्ये ।
अइय त्ति भणिय काली, सहसेव अदंसणं पत्ता ॥ ११७ ॥
अथ मन्त्रिसुतो भीम,प्रणनामाऽऽलिङ्ग्य सोऽपि त प्राह ।
कह मित्त ! मुणंतो वि हु,गओ वसमिमस्स पावस्स ॥११८॥
सचिवतनूजोऽप्यूचे, मित्र ! प्रथमेऽद्य यामिनीयामे ।
वासगिहे तुह मज्झा, पत्ता अनिए वि तं तत्थ ॥ ११९ ॥
संभ्रान्तनयनयुगला, साऽपृच्छद् यामिकास्ततस्तेऽपि ।
पभणंति अहो छलिया,जग्गतो वि हु कहं अम्हे ॥ १२० ॥
सर्वत्र मार्गितोऽपि च, यदा न दृष्टोऽसि तदनु भूभर्त्तुः ।
कहियं केण वि हरिओ,कुमरो निसि पढमजाममिम ॥१२१॥
श्रुत्वेद तव जनको, जननी लोकश्च विलपितु लग्नः ।
अह ओयरिउं पच्चे, जपइ कुलदेवया एवं ॥ १२२ ॥

नृप! सुस्थो भव तव सू नुरपहृतो योगिनाऽधमेन निशि ।
उत्तरसाहगमिलओ, कुमरस्स सिरं गहिस्स त्ति ॥ १२३ ॥
यक्षिण्या निजगेहे, नीतश्चेत्यादि सस्फुटं प्रोच्य ।
भणियं थोवदिणेहिं, इह एही गुरुविभूईए ॥ १२४ ॥
अथ सा स्वस्थानमगात्, संवादयितुं वचस्त्वह तस्याः ।
अवसो इ जोयणत्थं, विणिग्गओ नियगभवणाओ ॥ १२५ ॥
तावत् सहसा केनाऽ-प्युक्तं पुरुषेण मुदितचित्तेन ।
मणचिंतियत्थसिद्धी, तुह भद्द ! इमा हवउ सिग्घं ॥१२६॥
इत्येवं शुभशब्दे-न रञ्जितो यावदस्मि चालितमना ।
तो गयणगणिमिणा, उक्खिविओ इत्थ आणीओ ॥१२७॥
पुण्यभरप्राप्याणां, भवतामसुनैव मेलितोऽस्मि ततः ।
परमुवयारिस्स इम-स्स धम्ममुवइसमु वरमित्त ! ॥१२८॥
प्रीतः प्राह स योग्यपि, यः काल्या शिश्रिये प्रवरधर्मः ।
सो मह सरणं तद्दे-सओ य देवो तह जिणु त्ति ॥ १२९ ॥

किं च—

अपकार्युपकारपर-स्य बुद्धिमकरगृह ! तव नतोऽस्मि पदौ ।
गुणरयणरोहणगिरिं, सामि ! कुमारं च पडिवन्नो ॥ १३० ॥
इति यावत्से मुदिता, जल्पन्ति हि तावदुद्गते सूर्ये ।
पत्तो तत्थ जवक्खो, हत्थी अइथोरथिरहत्थो ॥ १३१ ॥
कृत्वा करेण भीमं, सचिवं चाऽऽस्थाप्य निजकपृष्ठेऽसौ ।
कालीभवणाउ तओ, लहु नहमग्गे समुप्पइओ ॥ १३२ ॥
अथ विस्मितः कुमारः, प्रोचे हे मित्र ! मनुजलोकेऽत्र ।
करिरयणमेरिसं किं, दीसइ किं वा समुप्पइ य ? ॥१३३॥
जिनवचनभावितमतिः, स्पष्टमभाषिष्ट मन्त्रिसूर्मित्रम् ।
तं नत्थि संविहाणं, संसारे जं न संभवइ ॥ १३४ ॥
किन्तु तव पुण्यभार-प्रणोदितः कोऽपि सुर वरो ह्येषः ।
ता जाउ जत्थ तत्थ व, इत्तो न मणं ऽपि भयमत्थि ॥१३५॥
इति जल्पतोस्तयोः स, क्षणेन नभसोऽवतीर्य शून्यपुरे ।
एकम्मि मंडलिदारे, ते मुत्तु करी कहिं वि गओ ॥१३६॥
भीमो मित्तं मुक्त्वा, नगरस्य बहिः स्वयं विवेशैकः ।
पुरमज्झे ता पिच्छइ, नरसिंहसमागिइं जीवं ॥१३७॥
तेन च मुखे गृहीतः, सुरूप एको नरो रसन् विरसम् ।
मा मम हरेसु पाणे, पुणो पुणो इय पयंपंतो ॥ १३८ ॥
तं दृष्ट्वा क्षितिपतिभू--रहो इदं किमपि दारुणं कर्म ।
इय चिंतिय तं सविणय--मिय पत्थइ मुंच पुरिसमिमं ॥१३९॥
उन्मीलिताक्षियुगले—न तेन संवीक्ष्य नृपतिसुतवदनम् ।
स नरो मुहाउ मुत्तुं, संठविओ सुट्ठु पयहिट्ठे ॥ १४० ॥
स्मित्वेति वाचमूचे, मुञ्चे कथमेतक प्रसन्नमुख ! ।
जं अज्ज मए एसो, लद्धो छुहिएण भक्खं ति ॥ १४१ ॥
आह कुमारस्त्वं कुन—वैक्रियरूप इव लक्ष्यसे भद्र ! ।
तो कह तुह भक्खमिणं, जमकवलाहारिणो अमरा ॥१४२॥
अबुधो यद्वा तद्वा, करोति युक्तं हि न पुनरेतत् ते ।
सतुहं पलवताणं, सत्ताणं घायणं विबुह ! ॥ १४३ ॥
यः खलु यथा तथा वा, देहभृतो हन्ति विरसमारसतः ।
सो दुक्खलक्खरिंछोलि-कवलिओ भमइ भीमभवे ॥ १४४ ॥
स प्राह सत्यमेतत्, किं त्वमुनाऽदर्शि मम पुरा दुःखम् ।
तह जह सयसोहणिय,विमम्मि नहु समइ मह कोहो ।१४५।
अत एव बहुकदर्थनं पूर्वमिमं पूर्वशत्रुमतिदुःखम् ।
मारिस्सामि अह अह, निवतणओ भणइ भो भद्द ! ॥१४६॥
अपकारिणि यदि कोप., कोप कोपे ततो न किं कुरुषे? ।
सयलपुरिसत्थहणए, जणए नीसेसदुक्खाणं ॥ १४७ ॥
तन्मुञ्च दीनमेनं, करुणारसकारणं कुरु सुधर्मम् ।
मुक्खं दुक्खविमुक्खं, लहेसि जं अन्नजम्मे वि ॥ १४८ ॥
इति बहु भणितोऽपि यदा, न मुञ्चते तं नरं स दुष्टात्मा ।
चिंतेइ कुमारवरो, न सामसज्झो इमु त्ति तओ ॥ १४९ ॥
कोपाऽऽविष्टं धृष्टं, तं सहसा प्रेर्य नृपतितनुजन्मा ।
नियपट्ठीए ठावइ, तं पुरिसं सो तओ कुविओ ॥ १५० ॥
भीमं स भीममूर्त्ति-र्निगरीतुमधावत प्रसृतवदनः ।
तं धरिय खुरे कुमरो, लग्गो भामेउ सिर उवरिं ॥ १५१ ॥
तदनु स सूक्ष्मो भूत्वा, निर्गत्य कुमारहस्तमध्यतलात् ।
कुमरगुणरंजियमणो, अदिस्सो ठाइ तत्थेव ॥ १५२ ॥
तस्मिन्नदृश्यमाने, नृपतनयस्तस्य नागरनरस्य ।
बाहुविलग्गो कोउग-भरेण पविसेइ नियभवणे ॥ १५३ ॥
तत्र च सप्तमभूमि-स्तम्भाऽऽश्रितसालभञ्जिकाभिरिदम् ।
जोडियकराहि भणियं, सागयमिह भीमकुमरस्स ॥ १५४ ॥
त्वरितं त्वरितं च ततः, स्तम्भोपरिभागत. समवतीर्य ।
ताहिं बहुमाणेणं, दिन्नं कणगाऽऽसणं तस्स ॥ १५५ ॥
तेन पुरुषेण सार्द्धं, नृपाऽऽत्मजस्तत्र यावदासीनः ।
ता मज्जणसामग्गी, सव्वा पत्ता नहाउ तहिं ॥ १५६ ॥
पाञ्चालिकाः प्रमुदिता., प्रोचुः परिधाय पोतिकामेनाम् ।
अम्होवरि पसिऊणं, करेउ न्हाणं कुमारवरो ॥ १५७ ॥
धरणीधवभव ऊचे, मम मित्रं नगरपरिसरोद्याने ।
चिट्ठइ त हक्कारह, आणीओ ताहिं लहु सो वि ॥ १५८ ॥
ताभिर्मित्रसमेतो, भीमः संस्नाप्य भोजितो भक्त्या ।
जा पल्लंके पल्ल-क्कविम्हओ चिट्ठइ सुहेण ॥ १५९ ॥
तावदुवाच समक्ष, कृताञ्जलिर्निर्जरः कुमारवरम् ।
तुह असमविक्कमेणं, परितुट्ठोऽहं वरेसु वरं ॥ १६० ॥
जगदे जगतीशभुवा, यदि तुष्टस्त्वमसि मम तत. कथय ।
को तं को उवयारो, किं पुरमिणमुव्वसंजायं ? ॥ १६१ ॥
प्रोचे सुरः पुरमिदं, कनकपुरं कनकरथनृपोऽत्राभूत् ।
जो रक्खिओ तए सो, अहमासि पुरोहिओ चंडो ॥ १६२ ॥
सर्वस्य जनस्योपरि, सदाऽपि चास्थात् क्रुधा ज्वलंस्तदनु ।
सव्वो वि जणो जाओ,मह वइरी कोऽवि न हु सुयणो॥१६३॥
अयमपि नृप प्रकृत्या, क्रूरमनाः कर्णदुर्बलः प्रायः ।
संकाइ वि अवराह-स्स कारए दंडमइचंडं ॥ १६४ ॥
केनचिदपरेद्युर्मयि, मत्सरभरपूरितेन नृपपुरतः ।
अलियं कहियमिणं जह, सह दुवीए इमो वुत्थो ॥ १६५ ॥
कालं च मार्गयन्न-प्यविचार्य शरेण वेष्टयित्वाऽहम् ।
छुंटावेउं तिल्लि-ण जालिओऽणेण विरसंतो ॥ १६६ ॥
तदनु स दुःखं मृत्वा, जातोऽहमकामनिर्जरावशतः ।
नामेणं सव्वगिलु, त्ति रक्खसो सरिय अह वइरं ॥ १६७ ॥
इह च समेत्य मया भो., सर्वोऽपि तिरोहितो नगरलोकः ।
एस निवो संगहिओ, निम्मियनरसिंघरूवेण ॥ १६८ ॥
करुणाऽलङ्कृतपौरुष-गुणमणिरत्नाऽऽकरेण मोचयता ।
एवं तुमए सुमए, चमक्किय मह मणं गाढं ॥ १६९ ॥
एष समग्रोऽपि मया, तवोपचारो ह्यदृश्यरूपेण ।
मज्जणमाई विहिओ, भत्तीए दिव्वसत्तीए ॥ १७० ॥
तव चरितमुदिमनसा, प्रकटीचक्रे मयैष पुरलोकः ।
अह नियइ वलियदिट्ठी, कुमरो सयलं नयरलोयं ॥ १७१ ॥

अत्रान्तरे कुमारः, प्रैक्षिष्ट विशिष्टविबुधपरिवारम् ।
इतं गयणपहेणं, ओयरिउं चारणमुणिंदं ॥ १७२ ॥
यत्र किल मन्त्रिपुत्रः, कुमारमुक्त स्थितोऽभवत्तत्र ।
सुररइयकणगकमले, ठिओ गुरू कहइ धम्मकहं ॥ १७३ ॥
अथ भीमप्रेरणया, सर्वंगिलो मन्त्रिसूनुकनकरथौ ।
सव्वो वि नयरलोओ, पत्तो गुरुपायनमणत्थं ॥ १७४ ॥
क्षितितलविनिहितशिरसः, प्रमुदितमनसः प्रनष्टहृत्तमसः ।
पणमेउं मुणिनाहं, सुणंति ते देसणं एयं ॥ १७५ ॥
क्रोधः सुकृततरुपरशुः, क्रोधो वैरानुबन्धकन्दघनः ।
संतावकरो कोहो, कोहो तवनियमवणदहणो ॥ १७६ ॥
कोपाऽऽटोपविसंस्थुल-देहो देही करोति विविधानि ।
वहमारणअब्भक्खा-णदाणमाईणि पावाणि ॥ १७७ ॥
तत ऊर्जस्वलमतिबहु, सुदारुण कर्मजालमर्जित्वा ।
भमइ भवभीमरन्ने, निस्सामन्ने दुहक्कंतो ॥ १७८ ॥
तद् भो भव्या भव्यं, पदमिच्छन्तो विहाय कोपभरम् ।
पयडियसिवपयसम्मे, जिणधम्मे उज्जमं कुणह ॥ १७९ ॥
श्रुत्वेयं सर्वंगिलो, नत्वा मुनिपतिपदौजगादेति ।
कावो कणगरहनिवे, अज्जप्पभिई मए मुक्को ॥ १८० ॥
अत्र च भीमकुमारे, धर्मगुराविव ममास्तु दृढभक्तिः ।
अह तत्थ गज्जगज्जंतो, समागओ करिवरो एगो ॥ १८१ ॥
तद्दर्शने च सहसा, सा पर्षद् भृशमुपागमत् क्षोभम् ।
तो कुमरो तं करिणं, वप्पुक्कारेउ धीरचित्रो ॥ १८२ ॥
अविहस्तो निजहस्तं, हस्ती संकोच्य तदनु शान्तमनाः ।
काउं पयाहिणं ए-रिसस्स गुरुणो तओ नमइ ॥ १८३ ॥
अथ यतिपतिना जगदे, मतङ्गजो स्मावहो महायक्ष ।
भीमं अणुसरिय इहं, तमागओ करिवरो होउं ॥ १८४ ॥
काली भवनाद्भवता, पूर्वमसौ क्षितिपतनय आनिन्ये ।
इहयं नियपाडिपुन्नय-कणगरहनरिंदरक्खाए ॥ १८५ ॥
संप्रति निजनगरं प्रति, नेतुं भीमं भृश त्वमुत्सहसे ।
तं मायविहियकरिवर-रूवं तो झ त्ति संहरइ ॥ १८६ ॥
भास्वदलङ्कृतियुक्तं, प्रत्यक्षं यक्षरूपमाधाय ।
पभणइ नाणमहोदहि ! मुणिंद ! एवं चिय इमं ति ॥१८७॥
विज्ञाप्य किं त्वेतत्, पूर्वं कक्षीकृतेऽपि सम्यक्त्वे ।
मह ! मणभवणे लग्गा, कुलिंगिसंसग्गओ अग्गी ॥ १८८ ॥
तेनाशु दारुदाहं, साऽदाहि विशुद्धदर्शनसमृद्धिः ।
तो हत्थी अप्पिड्ढी-यगेसु जक्खो अहं जाओ ॥ १८९ ॥
तस्मात् प्रसद्य भगव-न्नारोपय मम विशुद्धसम्यक्त्वम् ।
कणगरहरक्खसाई-हि भणियमम्हं पि इय होउ ॥ १९० ॥
अथ गुरुणा सम्यक्त्वं, दत्तं नृपयक्षराक्षसाऽऽदीनाम् ।
कुमरो कुलिंगिसंगा-इयारमालोयए गुरुओ ॥ १९१ ॥
अतिनिर्मलसम्यक्त्वो, भीमो मुनिपुङ्गवं नमस्कृत्य ।
कणगरहरायभवणे, रक्खसमाईहिं सह पत्तो ॥ १९२ ॥
कनकरथोऽपि नरेन्द्रः, प्रभूतसामन्तमन्त्रिपरिकलितः ।
नमिउं भणेइ कुमरं, सव्वमिणं तुह पसाउ त्ति ॥ १९३ ॥
यज्जीव्यते यदेतत्, राज्यं प्राज्यं यदेष पुरलोकः ।
जं एयस्स अतुच्छा, लच्छी किर जं च संमत्तं ॥ १९४ ॥
तदयं लोकस्तव ना-थ ! किङ्करः समुचिते ततः कार्ये ।
तह वावारेयव्वो, जह होइ मिसं अणुग्गहिओ ॥ १९५ ॥
स प्राह जननमरणे, अन्योन्यनिबन्धने यथाऽसुमताम् ।
तह संपयाऽऽवयाओ, य के इह हेउणो अन्नो ॥ १९६ ॥
एत्र पुनर्व्यापारो, भव्यानां सुकुलसम्भवाना व ।
जिणधम्मे अइदुलहे, न हु कायव्वो पमाओ त्ति ॥ १९७ ॥
सोदरभावः साध-र्मिकेषु सेवा सुसाधुवर्गस्य ।
परहियकरणे जत्तो, तुम्भेहि सया विहेयव्वो ॥ १९८ ॥
अथ विहिताञ्जलस्ते,व्यभाषिरे नाथ ! कतिपयान् दिवसान् ।
इह चिट्ठसु जेण मह वि, जिणधम्मे होइ कोसल्लं ॥१९९॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा, यावत् प्रतिवक्ति किञ्चिदपि भीमः ।
ता डमडमंतडमरुय-सहसमुत्तासियनियलोया ॥ २०० ॥
विंशतिबाहा काली, सा कापालिकयुताऽगमत्तत्र ।
रायसुयं नमिऊणं, उवविट्ठा कुमरनिद्दिट्ठा ॥ २०१ ॥
अभणच्च कुमार ! तदा,त्वयि करिणा नीयमान इह सखे ।
ओहीइ नाउ तुह हिय-मिमं न चलिया य एयं पि ॥ २०२ ॥
तत्र जनकः पुरलोकः, स्मृत्वा तव गुणगणं रुदन्नधुना ।
कज्जवसेणं तहियं, गयाइ मे कह वि संठविउं ॥२०३॥
विश्वधे पुरतस्तेषां, मया प्रतिज्ञा यथा दिनयुगान्ते ।
इह मे आणेयव्वो, भीमकुमारो स मित्तजुओ ॥ २०४ ॥
कथितं च यथा भीमो, व्यतिष्ठिपद् बहुजनं जिनेन्द्रमते ।
रक्खिस्तथा बहुलोयं, मारिज्जंत च गुरुकरुणो ॥ २०५ ॥
अतिहितनिजसखसहित स्तिष्ठति कुशलेन कनकपुरनगरे ।
ता भो पमोयठाणे, मा हु विसायं कुणह तुब्भे ॥ २०६ ॥
श्रुत्वैवमुत्सुकमना, यावत् प्रस्थास्यते वरकुमारः ।
ता गयणयले भेरी-भंभाइरवो समुच्छलिओ ॥ २०७ ॥
चञ्चद्विमानमाला—मध्यविमानस्थिता कमलवदना ।
दिट्ठा एगा देवी, दसदिसि निन्नासियतमोहा ॥ २०८ ॥
अथ किमिति भणन् रजनी-चरः करे मुद्गरं दधद् यक्षः ।
करकलियदित्तकत्ती, झ त्ति समुट्ठेइ काली वि ॥ २०९ ॥
भीमो भीमवदभयो, यावत्तिष्ठति च तावदित्युच्चैः ।
जय जीव नंद नंदण, हरिवाहणनिवइणो कुमर ! ॥ २१० ॥
इति जल्पन्तो देवा, देव्यश्चायुः कुमारवरपार्श्वे ।
साहति जक्खिणीए, कमलक्खाए य आगमणं ॥ २११ ॥
अथ साऽपि वरविमानं, मुक्त्वा मुदिता कुमारपद्मकमलम् ।
नमिऊण उचियठाणे, उवविट्ठा विन्नवइ एवं ॥ २१२ ॥
सम्यक्त्वं मम दत्त्वा, विन्ध्यगुहाया तदा सुमुनिसविधे ।
तं सि ठिओ निसि गोसे,सपरियणा तत्थऽहं पत्ता ॥२१३॥
प्रणता मुनयो यूयं, न तत्र दृष्टास्ततो मयाऽवधिना ।
कारिज्जंता मज्जण-विहिमिह दिट्ठा सुहिट्ठाए ॥ २१४ ॥
अथ वलिताऽहं स्खलिता, स्तोकं कालं च गुरुककार्येण ।
सपइ तुमं महायस !, दिट्ठोऽसि सुपुण्णजोएण ॥ २१५ ॥
यत्नेण विमानमथो, विरचय्य क्षितिपसूनुरित्युक्तः ।
आरुहह नाह ! सिग्घ, गंतव्व कमलपुरनयरे ॥ २१६ ॥
तत उत्तस्थौ भीमः, प्रीतं सबोध्य कनकरथराजम् ।
आरूढो य विमाणं, सह बुद्धिलमतिपुत्तेण ॥ २१७ ॥
तस्य व्रजतो देवा, गायन्तः केपि केऽपि नृत्यन्तः ।
गयणम्मि हयहेसिं, तप्पुरओ केऽवि कुव्वंता ॥ २१८ ॥
भेरीभम्भाऽऽदिरवै, समस्तमम्बरतलं बधिरयन्तः ।
कुमरेण सम पत्ता, कमलपुराऽऽसन्नगाममिम ॥ २१९ ॥
तत्र च भीमश्चैत्येऽ—गमत् ततो यक्षराक्षसप्रमुखैः ।
पणमेवि जिणवरिंदं, दिट्ठो दावइ स मइरथ ॥ २२० ॥

अथ पटहभेरिझल्लरि-कंसालकमुखतूर्यशब्दौघः ।
कमलपुरे अत्थाण-ट्ठिपण सुणिश्रो नरिंदेण ॥ २२१ ॥
तदनु नृपो मन्त्रिजनं, पप्रच्छ किमद्य कस्य जिनमुनेः ।
घरनाणं उप्पन्नं, ज सुव्वइ अमरतूररवो ॥ २२२ ॥
यावद् विमृश्य सम्यक्, मन्त्रिजनः प्रतिवचः किमपि दत्ते ।
तग्गामसामिणेवं, राया वद्धाविश्रो ताव ॥ २२३ ॥
बहुदेवीदेवयुतः, प्राप कुमारः प्रभो मम ग्रामे ।
तेणं जिण्णिवभवणे, महूसवो एस पारद्धो ॥ २२४ ॥
दत्त्वा निजाङ्गलग्ना-मलङ्कृतिं मुकुटवर्जितां तस्मै ।
वुत्तो वित्ती रन्ना, भणेसु सामंतमाइजणं ॥ २२५ ॥
संवहति येन सर्वैः, प्रगे कुमारस्य सम्मुखं गन्तुम् ।
कारेसु हट्टसोहं, च सो वि तह कारए सव्वं ॥ २२६ ॥
प्रातश्च प्रीतमनाः, सपरिजनः सम्मुखं ययौ राजा ।
आगच्छंतो कुमरो, दिट्ठो गयणम्मि इंदु व्व ॥ २२७ ॥
उत्तीर्य वरविमाना-च्चनाम भीमो नृपस्य पदकमलम् ।
जणणीपमुहजणस्स य, अन्नाण वि कुणइ जहजुग्गं ॥२२८॥
जनकाऽऽदेशात् करिवर-मध्याऽऽरूढोऽथ बुद्धिलसुतोऽपि ।
नियनियपिउपभिइंए, जहोचियं कुणइ सव्वेसिं ॥ २२६ ॥
इत्थेन सचिवसूनु-र्भीमोऽश्वस्य पृष्ठतोऽध्यासि ।
श्रह सह पिउणा पत्तो, धवलहरे भीमवरकुमरो ॥ २३० ॥
भुक्तोत्तरं च राजा, भीमस्याप्राक्षि चरितमतिरुचिरम् ।
जं जह वित्तं तं तह, साहइ सव्वं पि मंतिसुश्रो ॥ २३१ ॥
अत्रान्तरे च कथितं, हरिवाहननरपतेः कृताञ्जलिभिः ।
उज्जाणपालएहिं, अरविंदमुणिंदआगमणं ॥ २३२ ॥
अथ सपरिकरो राजा, तत्र ययौ प्रमुदितो गुरुन्नत्वा ।
निसियइ उचियट्ठाणे, तो धम्मं परिकहइ सूरी ॥ २३३ ॥
भो भव्या एष भवः, श्मशानतुल्यः सदाऽप्यशुचिरूपः ।
विलसिरमोहपिसाओ, परिभमिरकसायगिद्धउलो ॥२३४॥
दुर्जयविभवपिपासा-परिसर्पत्सततशाकिनीसंघ ।
अइउग्गरोगपावग—डज्झंतपभूयजणदेहो ॥ २३५ ॥
दुर्द्धरमारविकार-ज्वालामालाकरालदिक्चक्रः ।
परसमयपसप्पिरगुरु-पओसधूमेण दुप्पिच्छो ॥ २३६ ॥
मिथ्यात्वभुजगसंस्थिति-रशुभाध्यवसायभीषणकरङ्कः ।
निद्दियबहुनेहथंभो, भमंतसुमहंतभूयगणो ॥ २३७ ॥
सर्वत्र लोककलह-स्फुटदुच्चैः स्थालिकासमूहश्च ।
सुव्वंतविविहउव्वे-यजणगकंदन्नसरो ॥ २३८ ॥
स्थानस्थाननिवेशित-धनसंचयभस्मकूटसंछन्नः ।
किण्हाइअसुहलेसी, सुद्दगिद्धिसियालिविकरालो ॥ २३६ ॥
अतिदुस्सहविविधाऽऽप-त्रिपतदूबहुशकुनिकानिकररौद्रः ।
निजकरणरंतदुजण-रिद्धो अन्नाणमायंगो ॥ २४० ॥
विषयविषपङ्कमग्न , प्राणिगणस्तद् भवश्मशानेऽत्र ।
पज्झियाणं जीवाण , कत्तो सुमिणे वि अत्थि सुहं ॥ २४१ ॥
यदि तु सुचरित्रसुतपो, ज्ञानसुदर्शनमहाभटांश्चतुरः ।
उत्तरसाहगरूवे—ण ठाविउं चउदिसिं कमसो ॥ २४२ ॥
धृत्वा सुसाधुमुद्रां, जिनशासनमण्डले समुपविश्य ।
झाउ पयत्तेण दढं, दुभेयसिक्खासिद्धावयं ॥ २४३ ॥
मोहपिशाचप्रभृती-नपास्य सर्वानभीष्टविघ्नकृतः ।
अवरुद्धियमाणसेहिं, निरुद्धइंदियपयारेहिं ॥ २४४ ॥
[illegible], सामाचारीविचित्रकुसुमभरैः ।

सिद्धंतमंतजावो, कीरइ विहिणा तहेव तश्रो ॥ २४५ ॥
मनईप्सितान्यसुमतां, संपद्यन्ते समस्तसौख्यानि ।
पगरिसपत्ते य जसे, सा लब्भइ निव्वुई परमा ॥ २४६ ॥
इति हरिवाहननृपति-र्भावार्थयुतं विबुध्य गुरुवचनम् ।
भीसणसंसारसुसा-णवासश्रो सुबहु बीहंतो ॥ २४७ ॥
साम्राज्यं भीमसुते, विन्यस्यानेकलोकसंयुक्तः ।
भवपेयवणुव्विग्गण-पवणं दिक्खं पवज्जेइ ॥ २४८ ॥
एकादशाङ्गधारी, सुचिरं परिपालितामलचरित्रः ।
सो रायरिसी पत्तो, तिहुणसिहरट्ठियं ठाणं ॥ २४६ ॥
भीमनरेन्द्रेऽपि चिरं, कुर्वन् जिनशासनोन्नतीः शतशः ।
परहियकरणिक्करई, नीईइ पसाहए रज्जं ॥ २५० ॥
अन्येद्युर्भवकारा-गारादुद्विग्नमानसः पुत्रम् ।
रज्जे ठविउं गिण्हिय, दिक्खं भीमो गश्रो मुक्खं ॥ २५१ ॥"

"इति हि भीमकुमारसुवृत्तकं,
मनसिकृत्य चमत्कृतिकारकम् ।
परहितार्थकृतः कृतिनो मुदा,
भवत भावितजैनमताः सदा ॥ २५२ ॥"

ध० र० १ अधि० २० गुण ।

भीमट्टहास-भीमाट्टहास-पुं० । रौद्रे अट्टहासे,आ० क० १ अ० ।

भीमदरिसणिज्ज-भीमदर्शनीय-त्रि० । भीमं यथा भवतीत्ये- वं दृश्यते यः स भीमदर्शनीयः । रौद्रं यथा भवति तथा दृष्- व्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

भीमदेव-भीमदेव-पुं० । चालुक्यवंशोद्भवे अणहिलपाटनप- त्तनस्थे स्वनामख्याते गुर्जरधरित्रीनाथे, तद्राज्यकाल एव मालवराजेन पार्श्वनाथप्रतिमा भग्ना, ततो रामदेवश्रावकेण पुनरुद्धृत्य स्थापिता कोकापार्श्वनाथ इति प्रसिद्धिं गता। ती० ३६ कल्प ।

भीममुक्कट्टहास-भीममुक्ताट्टहास-पुं० । भयावहकृताट्टहासे , उपा० २ अ० ।

भीमरूव-भीमरूप-त्रि० । रौद्राऽऽकारे, " भीमरूवेहिं अक्क- मित्ता । " प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

भीमसेण-भीमसेन-पुं० । युधिष्ठिरानुजे पाण्डुसुते,आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । अतीतायामुत्सर्पिण्यां जम्बू- द्वीपभारतवर्षभवे स्वनामख्याते कुलकरे,स्था० १० ठा० । स० । भाविनि स्वनामख्याते प्रतिवासुदेवे,स० । वैयाकरणभेदे च । कल्प० १ अधि० १ क्षण । कर्पूरभेदे च । वाच० ।

भीमसोम-भीमसोम-पुं० । द्वित्व० । मणिमन्दिरनगरस्थयोः स्वनामख्यातयोः कुमारयोः, ध० र० ।
( भीमसोमयोः कथा 'अब्भुदय' शब्दे प्रथमभागे ६५० पृष्ठे गता । )

भीमागार-भीमाकार-त्रि० । भयजनकाकृतौ, भ० ३ श०२उ०।

भीमासुर-भीमासुर-न० । लौकिकश्रुतभेदे, अनु० ।

भीय-भीत-त्रि० । भी-क्त । जातभये,भ० ३ श० १ उ० । प्रश्न० । अं० । प्रश्न० । भीतो भयाऽऽर्त्तः । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "भि- क्खू भीएण तरोण । उत्त० १६ अ० । प्रा० । अं० ।

भीतस्य च यद्भवति तच्चतुर्थभावनामधिकृत्याऽऽह—

**न भाइयव्वं, भीयं खु भया अइंति लहुयं, भीओ अबितिज्जओ मणूसो, भीओ भूतेहिं वि घेप्पेज्जा, भीओ अन्नं पि हु भेसेज्जा, भीओ तवसंजमं पि हु मुएज्जा, भीओ य भरं न नित्थरेज्जा, सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं, तम्हा न भातियव्वं, भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा अन्नस्स वा एवमादियस्स एवं धेज्जेण भावितो भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो ॥ ४ ॥**

न भेत्तव्य न भयं विधेयमिति, यतः भीतं भयार्त्तं प्राणिनं खुरिति वाक्यालङ्कारे, भयानि विविधा भीतयः ( अइंति त्ति ) आगच्छन्ति , किंभूतं भीतम् ? , ( लहुयं ति ) लघुकं सत्त्वसारवर्जितत्वेन तुच्छं , क्रियाविशेषणं चेदं, तेन लघुकं शीघ्रं, तथा भीतोऽद्वितीयः, सहायो न भवतीत्यर्थः । मनुष्यो नरः, तथा भीतो भूतैर्वा प्रेतैर्गृह्यते अधिष्ठीयते, तथा भीतोऽन्यमपि भेषयेत्, तथा भीतःतपःप्रधानं संयमस्तपस्संयमस्तमपि, हुरलङ्कारे,मुञ्चेत् त्यजेत् , अलीकमपि ब्रूयादिति हृदयम् । अहिंसाऽऽदिरूपत्वात् संयमस्य, तथा भीतश्च भरं न निस्तरेत्, तथा सत्पुरुषनिषेवितं च मार्गं धर्माऽऽदिपुरुषार्थोपायं भीतो न समर्थोऽनुचरितुमासेवितुं, यत एवं तस्मात् , ( न भाइयव्व त्ति ) न भेत्तव्यं ( भयस्स व त्ति ) भयहेतोर्बाह्यात् दुष्टतिर्यग्मनुष्यदेवाऽऽदेः, तथा आत्मोद्भवादपि, नेत्याह (वाहिस्स व त्ति) व्याधेः क्रमेण प्राणापहारिणः कुष्ठाऽऽदेः रोगाद्वा शीघ्रतरप्राणापहारकाच्च, ज्वराऽऽदेः जराया वा मृत्योर्वा अन्यस्माद्वा तादृशाद्भयोत्पादकत्वेन व्याध्यादिसदृशादिष्टवियोगादिकस्मादिति । वाचनान्तरे इदमधीतम्-अन्यस्माद्वा । एवमादीति । एतन्निगमनायाऽऽह-एवं धैर्येण सत्त्वेन भावितो भवत्यन्तरात्मा जीवः । किंविध इत्याह-(संययेत्यादि) पूर्ववत् ॥ ४ ॥ प्रश्न० २ संव० द्वार । भीतमुत्त्रस्तमानसं यद् गीयते तद् भीतम् । गेयदोषभेदे, अनु० । किमुक्तं भवति—यदुतत्रस्तेन मनसा गीयते तद्गीतपुरुषनिबन्धनात् तद्धर्मानुवृत्तत्वात् भीतमित्युच्यते । जी० ३ प्रति० ४ अधि० । जं० ।

भीयपरिस-भीतपर्षत्—त्रि० । भीता चकिता पर्षद् यस्य स भीतपर्षद् । बृ० १ उ० २ प्रक० । उग्रदण्डे, व्य० १ उ० । आज्ञैकसारतया यस्य भृकुटिमात्रमपि दृष्ट्वा परिवारः सर्वोऽपि भयेन कम्पमानस्तिष्ठति, न च क्वचिदन्याये प्रवृत्तिं करोति । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

भीरु-भीरु-त्रि० । भी-क्रुः । भयशीले, स्था० ४ ठा० २ उ० । आचा० । ध० । बृ० । दर्श० । सूत्र० । ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायेभ्यस्त्रसनशीले च, स हि कारणेऽपि सति न निश्शङ्कमधर्मे प्रवर्त्तते । प्रव० २३९ द्वार । ध० ।

भीरुगुणा धर्मरत्ने यथा-

इहपरलोयावाए, संभावंतो न वट्टए पावे ।
बीहइ अजसकलंका-तो खलु धम्मारिहो भीरू ॥१३॥

इह लोकापायान् राजनि—ग्रहप्रभृतीन् , परलोकापायान् नरकगमनाऽऽदीन् सभावयन् भाविनो मन्यमानो वर्तते न प्रवर्त्तते, पापे हिंसाऽनृताऽऽदौ, तथा बिभेत्युत्त्रस्यत्ययशःकलङ्कान्निजकुलमालिन्यहेतोरतोऽपि कारणात् पापेन वर्त्तते, ततस्तस्मात्कारणात्, खलुरवधारणे-स चोपरिष्टात्संभत्स्यते, ततो धर्मार्हो धर्मयोग्यो भीरुरेव, विमलवत् । ध० र० । (तत्कथा 'विमल' शब्दे) शतावर्याम्, शतपदिकायाम्, छायायाम्, योषिति च । औ० । भययुक्तायां योषिति, वाच० ।

भीरुय-भीरुक-त्रि० । भयशीले, " एगे ओमाणभीरुए । " उत्त० २७ अ० । "संगामम्मि व भीरुया ।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

भीसणय-भीषणक-त्रि० । भयकारके वस्तुनि, " घोरा दारुण-भासुर-भइरव—भीलुक्क—भीम—भीसणया । " पाइ० ना० ६५ गाथा ।

भीसय -भीष्मक-पुं० । ' भिप्फय ' शब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

भुंजण-भोजन-न० । समुद्देशने, बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

भुंजमाण-भुञ्जान-त्रि० । भोजनं कुर्वति. प्रा० ४ पाद । आचा० । सूत्र० । पिं० । प्रश्न० । अनुभवति च । जं० १ वक्ष० । स्था० ।

भुञ्जत्-त्रि० । पालयति, दश० ५ अ० १ उ० ।

भुंजिऊण-भुक्त्वा-अव्य० । भोजनं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न०५ आश्र० द्वार । "ससागरं भुंजिऊण वसुहं ।" प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

भुंजित्ता-भुक्त्वा-अव्य० । भुक्त्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० । " भुंजित्ता खलु तहा अभुंजित्ता । " स्था० ३ ठा० २ उ० ।

भुंजिय-भुक्त्वा-अव्य० । भोजन कृत्वेत्यर्थे , स्था० ३ ठा० २ उ० ।

भुंजियव्व-भोक्तव्य-त्रि० । भोजनीये वस्तुनि, " एवं भुंजियव्वं ।" भ० २ श० १ उ० ।

भुंड-देशी—शूकरे, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा ।

भुंडीर-देशी—शूकरे, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा ।

भुभल-भुम्भल-न० । मद्यस्थाने, कर्म० १ कर्म० ।

भुंभलय-भुम्भलक-पुं० । शेखरके, उपा० २ अ० ।

भुअ-भुज-पुं० । बाहौ, "भुआ बाहू ।" पाइ०ना० २५१ गाथा ।

भुअंग-भुजङ्ग-पुं० । सर्प्पे, पाइ० ना० ३१ गाथा ।

भुअंगम-भुजङ्गम-पुं० । नागे, पाइ० ना० ३१ गाथा ।

भुअमूल-भुजमूल-न० । हस्तमूले, "कक्खा भुअमूलं ।" पाइ० ना० २५१ गाथा ।

भुअय-भुजग-पुं० । नागे, " उरओ अही भुअंगो , भुअंगमो पन्नओ फणी भुअयो । " पाइ० ना० ३१ गाथा ।

भुकुंडण-भूकुण्डन-न० । उद्धूलने, "गायाइं भुकुंडेति ।" उद्धूलयति । भ० ६ श० ३३ उ० ।

भुक्कण-देशी-मद्यादिमानयोः, दे० ना० ६ वर्ग ११० गाथा ।

भुक्किअ-बुक्कित-न० । श्वाऽऽदिशब्दे, "उन्नुइअं भुक्किअं जाण ।" पाइ० ना० १८२ गाथा ।

भुक्खा-देशी-क्षुधि, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा ।

भुक्खिअ-बुभुक्षित-त्रि० । बुभुक्षा संजाता अस्य तार०इतच् । क्षुधायुक्ते, "बुभुक्षितः किं द्विकरेण भुङ्क्ते ।" इत्युद्भटः । वाच० । विपा० १ श्रु० २ अ० । नि० । ज्ञा० ।

बुभुक्षाऽऽर्त्त-त्रि० । क्षुधा पीडिते, नि०चू० ११ उ० । क्षुधाऽऽर्ते, "छुहाइअं भुक्खिअं छायं ।" पाइ० ना० १८३ गाथा ।

भुग्ग-भुग्न-त्रि० । भुज-मोटने, क्तः । रोगाऽऽदिना कुटिलीकृते, वाच० । प्रश्न० १ आश्र०द्वार । वक्रे उपा० २ अ० । भग्ने च । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

भुग्गभग्ग-भुग्नभग्न-त्रि० अतीव वक्रे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

भुज्ज-भोज्य-त्रि० । भुज-ण्यत् । भक्षणार्थत्वान्न कुत्वम् । भुज्यत इति भोज्यम् । शाल्योदनाऽऽदिके, प्रव० १ द्वार । खण्डखाद्याऽऽदिके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भक्षणीये द्रव्यमात्रे, वाच० । संखड्याम्, आह चूर्णिकृत-" भुज्ज त्ति वा संखडि त्ति वा एगट्ठ ।" बृ० १ उ० ३ प्रक० । स्त्रीणां चतुःषष्टिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण ।

भुज्जयर-भूयस्तर-त्रि० । प्रभूततरे, " अप्पतरो भुज्जतरो वा ।" आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । सूत्र० ।

भुज्जरुक्ख-भूर्जवृक्ष-पुं० । भूर्जतरौ, भ० ८ श० ३ उ० । "भुज्जपत्ते लेहो लिहिऊण छूढो ।" आ० म० १ अ० । आव० ।

भुज्जविहि-भोज्यविधि-पुं० । भोज्यप्रकारे, आव० ६ अ० ।

भुज्जाभुज्ज-भोज्याभोज्य-त्रि० । द्वि० व० । भक्षणीयाभक्षणीययोः, सं० नि० ।

यथा च संसक्तनिर्युक्तौ—

समणाए संजमट्ठा, णाणादेसेसु विहरमाणाणं ।
भुज्जाभुज्जं निच्चं, नायव्वं सव्वदेसेसु ॥ ३ ॥
असणाणि य चउसट्ठी, कूरे जाणेह एगतीसं तु ।
तह चेव पाणगाइं, तीसं पुण खज्जगा हुंति ॥४॥ सं०नि० ।

( 'अकप्पिय' शब्दे प्रथमभागे ११८ पृष्ठे विस्तरः )

भुज्जो-भूयस्-अव्य० । भुवे भावाय वा यस्यति । यस्-भावे क्विप् । पुनरर्थे, वाच० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आ० म० । अन्त० । आचा० । कल्प० । प्रश्न० । स्था० । " भुज्जो भुज्जो त्ति वा पुणो पुणो त्ति वा एगट्ठं ।" नि० चू० २० उ० । स्था० । सूत्र० ।

भुत्त-भुक्त-त्रि० । भुजेः कर्मणि क्तः । भक्षिते, वाच० । सेविते, उत्त० १४ अ० । प्रा० । कल्प० । भागे, उत्त० १६ अ० । " भुत्तासिपाणिय ।" भुक्तभोग इति । उत्त० १६ अ० । भोजने च । उत्त० १६ अ० । यच्च भुक्तं सत् पीडयति तद् भुक्तम् । स्थावरे विषभेदे, स्था० ६ ठा० ।

भुत्तभोग-भुक्तभोग-पुं० । भोगान् भुक्त्वा प्रव्रजिते, "जे इत्थिभोगा भुंजिउं पव्वइया ते भुत्तभोगा ।" नि०चू०१उ० ।

भुत्तसेस-भुक्तशेष-त्रि० । भुक्तोद्धृते, "भुत्तसेसं पडिच्छए ।" दश० ५ अ० १ उ० ।

भुत्ति-भुक्ति-स्त्री० । भुज-क्तिन् । भोजने, भोगे च । " आगमो निष्फलस्तत्र, भुक्तिः स्तोकाऽपि यत्र नो ।" इति स्मृतिः । वाच० । ध० १ अधि० । द्वा० ।

भुत्तुत्तर-भुक्तोत्तर-त्रि० । भोजनानन्तरे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । रा० । "भुत्तुत्तरागए वि य णं ।" भुक्तोत्तरं भोजनोत्तरकालम् । भ० ३ श० १ उ० । कल्प० । विपा० ।

भुत्तूण-देशी-भृत्ये दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा ।

भुमया-भ्रू-स्त्री० । भ्रमतीति-भ्रूः । भ्रम-डुः । अकारमकारयोर्लोपः । अनु० । "भ्रुवो मया डमया" ॥८।२।१६७॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रूशब्दात्स्वार्थे मया डमया इत्येतौ प्रत्ययौ । प्रा० २ पाद । "उर्भ्रूहनूमत्कण्डूयवातूले" ॥८-१।१२१॥ इतिप्राकृतसूत्रेणोकारस्योत्वम् । प्रा० १ पाद । नेत्रयोरूर्द्धस्थायां रोमराजौ, वाच० उपा० । " भुमया भमुहा ।" पाइ० ना० २५१ गाथा ।

भुय-भुज-पुं० । स्त्री० । भुज्यतेऽनेन । भुज-घञर्थे कः । बाहौ, उपा० २ अ० । प्रज्ञा० । " भुयाहिं तिसं ।" भुजाभ्यां बाहुभ्याम् । स्था० १० ठा० । रा० । करे, त्रिकोणचतुष्कोणाऽऽदिक्षेत्रस्य लीलावत्यादौ प्रसिद्धे रेखाविशेषे, वाच० ।

भुयंग-भुजङ्ग-पुं० । भुग्नः सन् गच्छति । गम-खच्-डिच्च । सर्पे, आचा० २ श्रु०४ चू० । ज्ञा० । स० । उत्त० । "जहा पमोई तणुयं भुयंगो ।" भुजङ्गः सर्पः । उत्त० १४ अ० । "उरओ अही भुयङ्गो ।" पाइ० ना० २६ गाथा । जारे, वाच० । विशे० । श्लेषानक्षत्रे च । वाच० ।

भुयंगम-भुजङ्गम-पुं० । भुजः कुटिलीभवन् सन् गच्छति । गम-खच्-मुम् । सर्पे, वाच० । " भुयंगमो पन्नओ फणी भुयगो ।" पाइ० ना० २६ गाथा । " भुयंगमो जुन्नतयं जहा जहे ।" आचा० । तं० ।

भुयग-भुजग-पुं० । भुजः कुटिलीभवन् सन् गच्छति सर्पे, प्रज्ञा० २ पद । । पो० । आ० म० । औ० । ज्ञा० । पाइ० ना० । महोरगभेदे, प्रज्ञा० १ पद । औ० । श्लेषानक्षत्रे च । वाच० ।

भोजक-पुं० । अर्चके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

भुयगकंचुय-भुजगकञ्चुक-न० । भुजगत्वचि, षो० १ विव० ।

भुयगवइ-भुजगपति-पुं० । महोरगाधिपे, औ० । जी० ।

भुयगवई-भुजगवती-स्त्री० । अतिकायस्य व्यन्तरेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । ( भवान्तरकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गता )

भुयगवर-भुजगवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । स च रुचकवराद् द्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा भुजगवरो नाम द्वीपः । अनु० ।

भुयगा-भुजगा-स्त्री० । अतिकायस्य व्यन्तरेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । ( भवान्तरकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे गता )

भुयगावई-भुजगवती-स्त्री०। ' भुयगवई ' शब्दार्थे, भ० १० श० ५ उ०।

भुयगीसर-भुजगेश्वर-पुं०। नागराजे, तं०। " भुयगीसरविपुलभोगआदाणफलिहउच्छूढदीहवाहू।" औ०। जी०।

भुयगेसर-भुजगेश्वर-पुं०। ' भुयगीसर ' शब्दार्थे, औ०।

भुयपरिसप्प-भुजपरिसर्प-पुं०। भुजाभ्यां परिसर्पन्तीति भुजपरिसर्पाः। अहिनकुलाऽऽदिके,अनु०। स्था०। जी०। प्रज्ञा०।

अधुना भुजपरिसर्पानभिधित्सुराह—

से किं तं भुयपरिसप्पा ?। भुयपरिसप्पा अणेगविहा पएणत्ता। तं जहा-णउला, सेहा, सरडा, सल्ला, सरंठा, सारा, खोरा, घरोइला, विस्संभरा, मूसा, मंगुसा, पइलाइया, छीरविरालिया, जहा चउप्पाइया, जे यावन्ने तहप्पगारा, ते समासओ दुविहा पएणत्ता। तं जहा—संमुच्छिमा य, गब्भवक्कंतिआ य। तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे नपुंसगा, तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया, ते णं तिविहा पएणत्ता। तं जहा-इत्थी, पुरिसा, नपुंसगा। एएसि णं एवमाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं भुयपरिसप्पाणं नव जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा हवंतीति मक्खायं। सेत्तं भुयपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिया। ( सूत्र-३५ ) प्रज्ञा० १ पद। जी०।

भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिय-भुजपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-पुं०। भुजाभ्यां परिसर्पतीति भुजपरिसर्पः, स चासौ स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकश्च भुजपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः। भुजपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। जी०।

भुयपरिसप्पिणी-भुजपरिसर्पिणी-स्त्री०। गोधिकानकुल्यादिके, जी०।

से किं तं भुयपरिसप्पिणीओ ?। भुयपरिसप्पिणीओ अणेगविधाओ पएणत्ताओ। तं जहा-गोहीओ, णउलीओ,सेधाओ, सेलाओ, सेरडीओ,सेरिंधीओ, सावाओ, खाराओ, पंचलोइयाओ, चतुप्पइयाओ, मूसियाओ,मुंसुसियाओ, घरोलियाओ, गोल्हियाओ, जोल्हियाओ, विरचिरालियाओ। सेत्त भुयपरिसप्पिणीओ। जी २ प्रति०।

भुयमोयग-भुजमोचक-पुं०। नीलवर्णे रत्नविशेषे, भ० १ श० १ उ०। " भुयमोयगइंदनीले य।" प्रज्ञा०१ पद०। जी०। त०। औ०। प्रश्न०।

भुरुकुडिअ-देशी—उद्धूलिते, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा।

भुरुकुंडिअ-देशी—उद्धूलिते, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा।

भुल्ल-भ्रंश-धा०। अधः पतने,प्रा०। "भ्रंशेः फिडफिट्टफुडफुट्टचुक्कभुल्लाः " ॥८।४।१७७॥ इति प्राकृतसूत्रेण भ्रंशेर्भुल्लाऽऽदेशः। भुल्लइ। भंसइ। प्रा०४ पाद।

भुल्लुंकी-भल्लुकी-स्त्री०। शृगाल्याम्, " भुल्लुंकी य भसुआ महालइ्ढा।" पाइ० ना० १२७ गाथा।

भुव-भुवर्-अव्य०। भू-असु वुन् किच्च। भुवर्लोके, तिर्यग्लोके, गा०। वाच०।

भुवण-भुवन-न०। भवत्यत्र। भू-क्युन्। जगति. जले, आकाशे, चतुर्दशसंख्यायां च। वाच० जलतत्त्वे, गा०।

भुवणगुरु-भुवनगुरु-पुं०। त्रिभुवननायके, पञ्चा० २ विव०। त्रिभुवनबान्धवे, पञ्चा० २ विव०। जगज्ज्येष्ठे, पञ्चा० ६ विव०। त्रिभुवनानुशासके, दर्श० ३ तत्त्व। " भुवणगुरूण जिणाणं, विसेसओ एयमेव दट्ठव्वं।" पञ्चा० ४ विव०। तीर्थकरे, "भुवणगुरुणोवगारा,पमाययं नावगच्छंति।" पंच० ५ द्वार। "भुवणगुरुजिणिंदगुणापरिणाए।" पञ्चा० ७ विव०।

भुवणचंद-भुवनचन्द्र-पुं०। चैत्रगच्छभवे स्वनामख्याते आचार्ये, " श्रीभुवनचन्द्रसूरि-र्गुरुरुदियाय प्रवरतेजाः।" ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष०।

भुवणच्छेरग-भुवनाऽऽश्चर्य-त्रि०। भुवनाद्भुते, " भुवणच्छेरयभूया, " भुवनाऽऽश्चर्यभूता भुवनाद्भुतभूतः। पञ्चा० ६ विव०।

भुवणणाण-भुवनज्ञान-न०। सप्तलोकज्ञाने, "सूर्ये च भुवनज्ञानम्।" सूर्ये च प्रकाशमये संयमाद् भुवनानां सप्तानां लोकानां ज्ञानम्। तदुक्तम्—" भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। " द्वा० २६ द्वा०।

भुवणणाह-भुवननाथ-पुं०। त्रिजगत्त्रातरि, दर्श० १ तत्त्व।

भुवणतिलय-भुवनतिलक-पुं०। कुसुमपुरस्थस्य धनदनृपतेः पुत्रे स्वनामख्याते राजकुमारे, ध० र०।

तत्कथानकम्—

" सुहवाणियं सुपत्तं, कुसुमं व समत्थि इत्थ कुसुमपुरं।
धणओ विव भूरिधणो, धणओ नामेण तत्थ निवो॥ १॥
आसि पउमेसयस्स व, पउमा पउमावई पिया तस्स।
पुत्तो य भुवणतिलओ, तिलओ इव सेसपुरिसाणं॥२॥
तस्स य रूवाइगुणा-ण अह वि उवमापए इमे हुआ।
मयणाइणो पसिद्धा, विणयगुणे अणुवमो तह वि॥३॥
सो कालम्मि सुहेणं, उवज्झायमहत्तमाउ गिएहेइ।
विणओ णओ कलाओ, जलपडलीओ जलहरु व्व॥४॥
तेण य विणयगुणेणं, जणिओ विज्जागुणो उ सो तस्स।
जो अमरसुंदरीण वि, मुहाइँ मुहलाइँ कासी य॥ ५॥
अन्नदिणे सो राया, अत्थाणसभाइ जाव आसीणो।
चिट्ठेइ ताव दिट्ठे, ण विसिणा एय विन्नत्तो। ६॥
सामिय! रयणत्थलपुर—पहुणो सिरिअमरचंदनरवइणो।
चिट्ठइ पहाणपुरिसो, बाहिं को तस्स आएसो?।७॥
लहु मुचसु इय रन्ना, मुत्तो सो विसिणा समाणीओ।
नमिय निवं उवविट्ठो, समए इय भणिउमारद्धो॥ ८॥
देव! सिरिधणय ' नरवर!, तुम्ह पए जंपए अमरचंदो।
अम्ह पहू! अत्थि मह, परधूया जसमई नाम॥ ६॥
सा तुह सुयस्स विमलं, गुणनिवहं खेयरीहिं गिज्जंतं।
आयन्निऊण सुइरं, अच्चत्तं तम्मि अणुरत्ता॥ १०॥

किं च तयं चिय मित्तं, व कमलिणी निच्चमेव झायंती ।
परिचत्तकुसुमतंबो-लमाइ कह कह वि गमइ दिणे ॥ ११ ॥
जा अज्ज वि सा बाला, तणुं च न हु चयइ जीवियं निययं ।
ता तुम्भेहिं नरवर!, पुव्वसिणेहाभिवुड्ढिकए ॥ १२ ॥
सहसा किज्जउ अम्हा—ण पत्थणा पेसिउं नियं तणयं ।
तीए गिण्हाविज्जउ, वरलक्खणलक्खिओ पाणी ॥ १३ ॥
अह मइविलासवरमं-तिवयणमवलोयए निवो सो वि ।
विणएण भणइ सामिय !, जुत्तमिणं कीरउ पमाणं ॥ १४ ॥
जं भणइ तयं कुणिमु, त्ति निवइणा जंपिए पहाणनरो ।
सो पत्तो निवदिने, आवासे फुरियगुरुहरिसो ॥ १५ ॥
तो रन्नाऽणुन्नाओ, अणेयसामंतमंतिमाइजुओ ।
सो कुमरो संचलिओ, अखलियचउरङ्गबलकलिओ ॥ १६ ॥
संपत्तो अइदूरं, पइम्मि सिद्धउरनयरबाहिम्मि ।
मुच्छामीलीयनयणो, सो पडिओ रहवरुच्छंगे ॥ १७ ॥
अह मज्झिमखंधारे, सहसा कोलाहले समुच्छलिए ।
मिलिओ अग्गिमपच्छिम-खंधारजणो तहिं सव्वो ॥ १८ ॥
तो मंतिमाइणो तं, महुरालावेहिँ आलवंति भिसं ।
कट्ठं व विगयचिट्ठो, न किं पि पडिजंपए कुमरो ॥ १९ ॥
आदन्ना ते सव्वे, विविहोसहमंततंतमाणिपमुहे ।
पकुणंति बहुवयारे, न य से जायइ गुणो को वि ॥ २० ॥
किं तु पवड्ढइ अहियं, वियणा विलयंति सयलअंगाइं ।
तो मंतिमाइलोओ, करुणसरं पलवए एवं ॥ २१ ॥
हा गुणरयणमहोदहि !, हा निरुवमविणयकणयकणयगिरे !।
हा पणयकप्पपायव !, कुमार ! पत्तोऽसि किमवत्थं ? ॥२२॥
सुयवच्छलस्स देव—स्स किं तु गंतुं वयं कहिस्सामो ? ।
इय जा पलवेइ जणो, सिद्धपुरवहिट्ठिउज्जाणे ॥ २३ ॥
ता सुरकिन्नरसेवि-ज्जमाणचरणो अणेगसमणजुओ ।
नामेण सरयभाणू , वरनाणी आगओ तत्थ ॥ २४ ॥
अमरकयकणयकमला-ऽऽसीणो धम्मं कहेइ अह तत्थ ।
सो मंतिप्पमुहजणो, गओ गुरुं नमिय उवविट्ठो ॥ २५ ॥
अह कंठीरवसामं—तपुच्छिओ कुमरदुक्खवुत्तंतं ।
तेसिं आउलभावा, समासओ कहइ इय सूरी ॥ २६ ॥
धायइसंडे दीवे, भरहे भवणागरम्मि नयरम्मि ।
विहरंतो संपत्तो, इक्को गच्छो सुगुरुकलिओ ॥ २७ ॥
तत्थ य एगो साहू, वासवनामा सुवासणारहिओ ।
गुरुगच्छपच्चणीओ, अइअविणिओ किलिट्ठमणो ॥ २८ ॥
सो कइया वि गुरूहिं, भणिओ भो भद्द ! होसु विणयपरो ।
जम्हा विणएणं चिय, कल्लाणपरंपरा होइ ॥ २९ ॥"

उक्तं च-

"विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरति-र्विरतिफलं चाऽऽश्रवनिरोधः ॥ ३० ॥
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ३१ ॥
योगनिरोधाद्भवस-न्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात् कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ३२ ॥"

तथा—

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।
साहप्पसाहा वि रुहंति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो य ॥ ३३ ॥
एवं धम्मस्स विणओ, मूलं से परमं सुसं ।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥ ३४ ॥
इय गुरुवयणं पवणं, व वणदवो एए सए इव क्रूरो ।
कोवेण धगधगंतो, सो अहिययरं समुज्जलिओ ॥ ३५ ॥
सो अन्नया अकज्ज-म्मि कत्थई चोइओ मुणिहिं पि ।
जाओ भिसं पउट्ठो, इह परलोए य निरविक्खो ॥ ३६ ॥
सव्वेसि घायणत्थं, तालउडविसं खिवित्तु जलमज्झे ।
सो एगदिसाहुत्तो, सयं पणट्ठो उभयभीओ ॥ ३७ ॥
गच्छाणुकंपियाए, य देवयाए तयं कहेऊण ।
तप्परिभोगपवत्ता, निवारिया साहुणो सव्वे ॥ ३८ ॥
सो वच्चंतोऽरन्ने, कत्थ वि वणदवपलित्तसव्वंगो ।
मरिऊण समुप्पन्नो, परमाऊ अप्पइट्ठाणे ॥ ३९ ॥
तो मच्छेसुं पुणरवि, नरए तिरिए पुणो वि नरयम्मि ।
सव्वत्थ दहणछिंदण-भिंदणवियणाहिँ संतत्तो ॥ ४० ॥
भमिओ भूरि भवेसुं, अन्नाणतवं करित्तु किं पि पुरा ।
जाओ धणयनरिंद—स्स एस अइवल्लहो पुत्तो ॥ ४१ ॥
रिसिघायपरिणएणं , जं च तया अज्जियं असुहकम्मं ।
तस्सेस वसा इण्हिं, एयमवत्थं गओ कुमरो ॥ ४२ ॥
तो भीएणं कंठी-रवेण पणमित्तु पभणियं नाह !।
कह होइ गुणो एसो ?, पउणो पडिभणइ मुणिनाहो ॥ ४३ ॥
खीणप्पायं कम्मं, इमस्स संपइ विमुच्चमाणो य ,
चिट्ठइ वियणाहिं इहा-ऽऽगओ विमुच्चिहिइ सव्वत्तो ॥४४॥
इय सोउ मंतिपमुहा, लोया हरिसियमणा कुमरपासं ।
संपत्ता अहदिट्ठो, पउणप्पाओ तओ तेहिं ॥ ४५ ॥
कहिओ केवलिकहिओ, पुव्वभवाई य वइयरो तस्स ।
तो सो भीओ पमुइय-मणो य पत्तो सुगुरुपासे ॥ ४६ ॥
नमिउं सूरिं कंठी- रवाइबहुलोय सजुओ कुमरो ।
निर मिभीमभवभय—भीओ दिक्खं पवज्जेइ ॥ ४७ ॥
इय सुणिय जलमई वि हु , तत्थाऽऽगंतूण गिण्हए दिक्खं ।
सेसजणो पुण वलिउं, धणयनिवस्साऽऽह तं चरियं ॥ ४८ ॥
पुव्वकयअविणयफलं, सुमिरन्तो माणसे कुमरसाहू ।
अइसयविणयपहाणो, जाओ अचिरेण गीयत्थो ॥ ४९ ॥
विणए वेयावच्चे, सो तह दढऽभिग्गहो समुप्पन्नो ।
जह तग्गुणतुट्ठेहिं, अमरेहि वि संथुओ बहुसो ॥ ५० ॥
त उववूहंति गुरू, अभिक्खणं महुरनिउणवयणेहिं ।
धन्नोऽसि भो महायस !, तुह सहलं जम्म जीय च ॥ ५१ ॥
परिचत्तरायरिसिणा, दमगमुणीसु वि पउत्तविणएण ।
वेयावच्चपरेण य, सच्चवियं ते इमं वयणं ॥ ५२ ॥
पणमंति य पुव्वयरं, कुलया न नमंति अकुलया पुरिसा ।
पणओ पुव्विं इहजई-जणस्स जह चक्कवट्टिमुणी ॥ ५३ ॥
इय उववूहिज्जंतो , सो केवलिणा वि फुरियमज्झत्थो ।
पालइ वयमकलंकं, वावत्तरिपुव्वलक्खाइं ॥ ५४ ॥
सव्वाउ पुव्वलक्खे, असिइं परिपालिऊण पज्जंते ।
पडिवन्नपायवगमो , अज्झीणज्झाणलीणमणो ॥ ५५ ॥
उप्पन्नविमलनाणो, विलीणनीसेसकम्मसंताणो ।
सो भुवणतिलयसाहू, भुवणोवरिमं पयं पत्तो ॥ ५६ ॥"

" इति विनयगुणेन प्राप्तनिःशेषसिद्धे—
धनदनृपतिसूनोर्वृत्तमुच्चैर्निशम्य।
सकलगुणगरिष्ठे लब्धविश्वप्रतिष्ठे,
सुगुण इह विधत्त स्वान्तमश्रान्तभावाः ॥ ५७ ॥"
ध० र० १ अधि० १८ गुण।

भुवणत्तियबंधु--भुवनत्रिकबन्धु-पुं०। जगत्त्रयबान्धवे, जीवा० १ अधि०।

भुवणमल्ल--भुवनमल्ल-पुं०। कुसुमपुरनृपस्य हेमप्रभस्य सुते स्वनामख्याते राजकुमारे, सङ्घा०। (भुवनमल्लनरेन्द्रकथा 'चेइयवंदण' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे गता।)

भुवणवइ-भुवनपति-पुं०। भुवनाधिपे, सेन०। सौधर्म्मसुरस्वपदव्यपेक्षया यथा ईशानसुरस्वपदवी अधिका, तथा भुवनपतिज्योतिष्कव्यन्तराणामप्यन्योन्यं का पदवी न्यूना, का च अधिकेति प्रश्ने, उत्तरम्—व्यन्तरज्योतिष्कभवनपतीना यथोत्तरं बाहुल्येन महर्धिकत्वमिति पदव्यधिकताऽपि तथैवेति। २६३ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। भुवनपतीनां भवनानि कुत्र सन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्—रत्नप्रभाया उपरिअधश्चैकं योजनसहस्रं मुक्त्वा विचाले सर्व्वत्र भवनानि सन्तीति ज्ञायते, यतोऽनुयोगद्वारसूत्रवृत्तिमध्ये भुवनपतिभवनानि नरकावासकपार्श्वे कथितानीति बोध्यम्। १४३ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

भुवणसुंदर-भुवनसुन्दर-पुं०। तपागच्छभवे सोमसुन्दरसूरेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, ग० ३ अधि०।

भुवणिंदसूरि-भुवनेन्द्रसूरि-पुं०। चैत्रगच्छभवे स्वनामख्याते आचार्ये, "तत्र श्रीभुवनेन्द्रसूरिसुगुरुः।" बृ० ६ उ०।

भुस-बुष (स)-न०। बुस्यते उत्सृज्यते 'बुस' उत्सर्गे; कः। पृ० वा षत्वम्। तुच्छधान्ये, फलरहितधान्ये, वाच०। आ० म० २ अ०।

भुसगर-बुसकर-पुं०। करभेदे, आ० म० २ अ०।

भुसडाहट्ठाण-बुसदाहस्थान-न०। बुसदाहाऽऽधारे गृहे, "जत्थ भुसं डहंति तं भुसडाहट्ठाणं।" नि० चू० ३ उ०।

भुसुंढ-भुशुण्ड-न०। शस्त्रभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। स्त्रियां ङीप्। भुशुण्डी। तत्रैवार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

भू-भू-स्त्री०। भू सत्ता०—क्विप्। पृथिव्याम्। गा०। कल्प०। अष्ट०। कर्म्म०। दश०। एकसङ्ख्यायाम्, वाच०।

भूअ-भूत-पुं०। पिशाचे, "ढयरा पुणाइणो पि-प्पया परेया पिसल्लया भूआ।" पाइ० ना० ३० गाथा। जन्तुसामान्ये, "जन्तू सत्ता भूआ य" पाइ० ना० १५२ गाथा। यन्त्रवाहे, दे० ना० ६ वर्ग १०७ गाथा।

भूअल-देशी—कृष्णलयष्टे, दे० ना० ६ वर्ग १०७ गाथा।

भूइ-भूति-स्त्री०। भू—क्तिन्। भवने, भस्मनि, बृ० ४ उ०। विभूतौ, संथा०। पं० व०। रा०। वृद्धौ, मङ्गले, रक्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अणिमाऽऽद्यष्टविधैश्वर्ये, शिवाङ्गभस्मनि, भूतये, सम्पत्तौ, जात्याम्, वृद्धिनामौषधे च। वाच०।

भूइंद-भूतेन्द्र-पुं०। सुरूपाऽऽख्ये भूतानामिन्द्रे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

भूइकम्म-भूतिकर्म्मन्-न०। भूत्या भस्मनोपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण कर्म्म रक्षार्थं वसत्यादिपरिवेष्टनं भूतिकर्म्म; ग० २ अधि०। वसतिशरीरभाण्डकरक्षार्थं भस्मसूत्राऽऽदिना परिवेष्टनकरणे, प्रव० ७३ द्वार। तद्रूपे आभियोगिकभावनाभेदे च। ध० ३ अधि०। ज्ञा०। भूतिकर्म्म नाम यत् ज्वरिताऽऽदीनामभिमन्त्रितेन क्षारेण रक्षाकरणम्।" जरियाइभूइदाणं, भूईकम्मं विणिद्दिट्ठं।" इति वचनात्। व्य० १ उ०। आव०। स्था०।

अथ भूतिकर्म्म व्याचष्टे—

भूईएँ मट्टियाए, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु।
वसहीसरीरभंडग-रक्खा अभियोगमाईया ॥ ५१२ ॥

भूत्या भस्मभूतया विद्याभिमन्त्रितया मृदा वा पांशुलक्षणया सूत्रेण वा तन्तुना यत्परिवेष्टनं तद्भूतिकर्मोच्यते। किमर्थमेवं करोतीत्याह-वसतिशरीरभाण्डकाना स्तेनाऽऽद्युपद्रवेभ्यो रक्षा तन्निमित्तम्। अभियोगो वशीकरणम्, आदिशब्दात् ज्वराऽऽदिस्तम्भनपरिग्रहः। बृ० १ उ० २ प्रक०। तत्र प्रायश्चित्तं यथा-" भूतीकम्मे लहुओ (२६१ गाथा)।" भूतिकर्म्मकरे प्रायश्चित्तं मासलघु। व्य० १ उ०। ज्वराऽऽदिरक्षानिमित्त भूतिदानं भूतिकर्म्म तत्रनिपुणस्तथा। निपुणपुरुषभेदे, पुं०। स्था० ६ ठा०।

भूइकम्मिय-भूतिकर्म्मिक-पुं०। भूतिकर्म्म ज्वरितानामुपद्रवरक्षार्थमस्ति यस्य सः। भूतिकर्म्मकारके, औ०।

भूइग्गहण-भूतिग्रहण-न०। विभूतिलाभे, भस्माऽऽदाने च। संथा०।

भूइपण्ण-भूतिप्रज्ञ-त्रि०। भूतिः सर्वजीवरक्षा, तत्र प्रज्ञा यस्य। सर्वजीवरक्षाज्ञे, उत्त० १२ अ०। प्रवृद्धप्रज्ञे, अनन्तज्ञानवति, मङ्गलप्रज्ञे, भूतिशब्दो वृद्धौ मङ्गले, रक्षाया च वर्तते। भूतिप्रज्ञ- प्रवृद्धप्रज्ञः। अनन्तज्ञानवान्। तथा भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाभूतिज्ञः। एव सर्वमङ्गलभूतिप्रज्ञ-। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "नाणेण सीलेण य भूइपण्णे।" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। प्रज्ञया श्रेष्ठे च। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

भूइल-भूतिल-पुं०। तोसलिग्रामस्थे स्वनामख्याते इन्द्रजालिके, येन तत्रस्थदेवेन क्षुद्ररूप विकुर्व्य संधिच्छेदे कृते गृहीतेन देवेन निवेदित- स्वामी बद्धो मोचितः। "मोएइ इंदजालिय, तत्थ महाभूतिलो नाम।" आ० चू० १ अ०।

भूउत्तम-भूतोत्तम-पुं०। भूतभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

भूगोल-भूगोल-पुं०। भूर्गोल इव। गोलाऽऽकारे भूमण्डले, "मध्ये समन्तादण्डस्य, भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति। बिभ्राण- परमा शक्तिं, ब्रह्मणो धारणाऽऽत्मिकाम् ॥ १ ॥" इति सूर्यसिद्धान्त-। वाच०।

भूगोलस्य चलाचलत्वमाचाराङ्गे यथा—

इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति, ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि समणुजाणमाणा, अदुवा अदिन्नमाययंति, अदुवा वायाउ विउज्जंति तं जहा-अत्थि लोए१, नत्थि लोए२, धुवे लोए

३, अधुवे लोए ४, साइए लोए ५, अणाइए लोए ६, सपज्जवसिए लोए ७, अपज्जवसिए लोए ८, सुकडे त्ति वा दुक्कडे त्ति वा कल्लाणे त्ति वा पावे त्ति वा साहु त्ति वा असाहु त्ति वा सिद्धि त्ति वा असिद्धि त्ति वा निरए त्ति वा अनिरए त्ति वा जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थ वि जाणह अकस्मात् ॥

'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'एकेषां' पुरस्कृताशुभकर्मविपाकानामाचरणमाचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषयः, नो सुष्ठु निशान्तः परिचितो भवति, ते चापरिणताऽऽचारगोचरा यथाभूताः स्युः तथा दर्शयितुमाह-'ते' अनधीताऽऽचार गोचरा भिक्षाचरिऽया स्नानस्वेदमलपरिषहवर्जिताः सुखविहारिभिः शाक्याऽऽदिभिरात्मसात्परिणामिताः 'इह' मनुष्यलोके आरम्भार्थिनो भवन्ति, ते वा शाक्याऽऽदयोऽन्ये वा कुशीलाः सावद्याऽऽरम्भार्थिनः, तथा विहाराऽऽरामतडागकूपकरणोद्देशिभोजनाऽऽदिभिर्धर्म्मं वदन्तो ऽनुवदन्तः, तथा जहि प्राणिन इत्येवमपरैर्घातयन्तो, घ्नतश्चापि समनुजानन्तः, अथवा अदत्तं परकीयं द्रव्यमगणितविपाकास्तिरोहितशुभाध्यवसायाः 'आददति' गृह्णन्तीति । किंच-तत्र प्रथमतृतीयव्रते अल्पवक्तव्यत्वात् पूर्वं प्रतिपाद्य ततो बहुतरवक्तव्यत्वात् द्वितीयव्रतोपन्यास इति, 'अथवेति' पूर्वस्मात् पक्षान्तरोपक्षेपकः, तद्यथा-अदत्तं गृह्णन्ति,अथवा-वाचो विविधं-नानाप्रकारा युञ्जन्ति. तद्यथेत्युपक्षेपार्थः । अस्ति 'लोकः' स्थावरजङ्गमाऽऽत्मकः, तत्र नवखण्डा पृथ्वी सप्तद्वीपा वसुन्धरेति वा । अपरेषां तु ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती, अपरेषां तु प्रभूतान्येवम्भूतानि ब्रह्माण्डान्युदकमध्ये प्लवमानानि संतिष्ठन्ते, तथा सन्ति जीवाः स्वकृतफलभुजः, अस्ति परलोकः, सतो बन्धमोक्षौ, सन्ति पञ्चमहाभूतानि, इत्यादि १ । तथाऽपरे चार्वाका आहुः-नास्ति लोको, मायेन्द्रजालस्वप्नकल्पमेवैतत्सर्वं, तथा ह्यविचारितरमणीयतया भूताभ्युपगमोऽपि तेषामतो नास्ति परलोकानुयायी जीवो, नस्तः शुभाशुभे, किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् भूतेभ्य एव चैतन्यमित्यादिना सर्वं मायाऽऽकारगन्धर्वनगरतुल्यम्, उपपत्त्यक्षमत्वादिति । उक्तं च—

"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ? ॥ १ ॥
भौतिकानि शरीराणि, विषया. करणानि च ।
तथापि मन्दैरन्यस्य, तत्त्वं समुपदिश्यते ॥ २ ॥"

इत्यादि २ । तथा साङ्ख्याऽऽदय आहु-'ध्रुवो' नित्यो लोकः, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पादविनाशयोः, असतोऽनुत्पादात् सतश्चाविनाशात्, यदि वा—ध्रुवः निश्चलः, सरित्समुद्रभूभृधराणां निश्चलत्वात् ३ । शाक्याऽऽदयस्त्वाहु.-अध्रुवो लोकोऽनित्यः, प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावत्वात्, विनाशहेतोरभावात् नित्यस्य च क्रमयौगपद्याभ्याम् अर्थक्रियायामसामर्थ्यात् । यदि वा "अध्रुव. चलः, तथाहि-भूगोलः केषाञ्चिन्मतेन नित्यं चलन्नेवाऽऽस्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव, तत्राऽऽदित्यमण्डलं दूरत्वाद्ये पूर्वतः पश्यन्ति तेषामादित्योदयः, आदित्यमण्डलाधोव्यवस्थितानां मध्याह्नः, ये तु दूरातिक्रान्तत्वान्न पश्यन्ति तेषामस्तमित इति । ('दिसा' शब्दे चतुर्थभागे २५२३ पृष्ठे दिग्विभागप्ररूपणाऽवसरे "जस्स जओ आइच्चो उदेइ सा भवति तस्स पुव्वदिस्सा" (४७) इत्यादिगाथाभिः भद्रबाहुस्वामिभिरपीत्थं सिद्धान्ति तत्वात्) ४ । अन्ये पुन. सादिको लोक इति प्रतिपन्नाः; तथा चाऽऽहु —

"आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।
अचिन्त्याऽऽत्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तस्य तत्र शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पद्मे तु भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न—स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसङ्घानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥ ६ ॥
कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता तु नागजातीनाम् ।
सुरभिश्चतुष्पादना-मिला पुनस्सर्वबीजानाम् ॥७॥" इत्यादि

६। अपरे तु पुनरनादिको लोक इत्येवं प्रतिपन्नाः, यथा शाक्या एवमाहुः—अनवदग्रोऽयं भिक्षवः ! संसारः, पूर्वा च कोटी न प्रज्ञायते, अविद्या निरावरणाना सत्त्वानां न विद्यते न च सत्त्वोत्पाद इति, तथा सपर्यवसितो लोको, जगत्प्रलये सर्वस्य विनाशसद्भावात् ७ । तथाऽपर्यवसितो लोकः, सतः आत्यन्तिकविनाशासम्भवात्, "न कदाचिदनीदृशं, जगद्" इति वचनात्, तत्र येषां सादिकस्तेषां सपर्यवसितो, येषां त्वनादिकस्तेषामपर्यवसित इति, केषाञ्चित्तूभयमपीति, तथा चोक्तम्—"द्वावेव पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥" इत्यादि ८ । तदेवं परमार्थमजानाना अस्तीत्याद्यभ्युपगमेन लोकं विवदमानाः नानाभूता वाचो नियुञ्जन्ति, तथाऽऽत्मानमपि प्रति विवदन्ते, तद्यथा-सुष्ठु कृतं सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति चेत्येवं क्रियावादिनः सम्प्रतिपद्यन्ते, तथा सुष्ठु कृतं यद् सर्वसङ्गपरित्यागतो महाव्रतमग्राहि; तथाऽपरे दुष्कृतं भवता यदसौ मुग्धमृगलोचना पुत्रमनुत्पाद्योज्झितेति, तथा य एव कश्चित्प्रव्रज्योद्यतः कल्याण इत्येवमभिहित स एवापरेण पाखण्डिकविप्रलब्धः क्लीबोऽयं गृहाऽऽश्रमपालनासमर्थोऽनपत्यः पाप इत्येवमभिधीयते, तथा साधुरिति वा असाधुरिति वा स्वमतिविकल्पितरुचिभिरभिधीयते, तथा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा नरक इति वा, अनरक इति वा, एवमन्यदप्यात्थित्य स्वाग्रहग्रहिणो विवदन्त इति दर्शयति, 'यदिदं विप्रतिपन्ना' यत्पूर्वोक्तं लोकाऽऽदिकं तदिदमाश्रित्य विविधं प्रतिपन्ना विप्रतिपन्नाः, तथा चोक्तम्—

"इच्छन्ति कृत्रिमं सृ-ष्टिवादिनः सर्वमेवमितिसिद्धम् ।
कृत्स्नं लोकं माहे—श्वराऽऽदयः सादिपर्यन्तम् ॥ १ ॥
नारीश्वरजं केचित्, केचित्सोमाग्निसम्भवं लोकम् ।
द्रव्याऽऽदिषाड्विकल्पं, जगदेतत्केचिदिच्छन्ति ॥ २ ॥

ईश्वरप्रेरितं केचित्—केचिद् ब्रह्मकृतं जगत् ।
अव्यक्तप्रभवं सर्वं , विश्वमिच्छन्ति कापिलाः ॥ ३ ॥
यादृच्छिकमिदं सर्वं, केचिद् भूतविकारजम् ।
केचिच्चानेकरूपं तु , बहुधा संप्रधावितः ॥ ४ ॥" इत्यादि ।

तदेवमनवगाहितस्याद्वादोदन्वतामेकांशावलम्बिनां मतिभेदाः प्रादुष्ष्यन्ति । तदुक्तम्—"लोकक्रियाऽऽत्मतत्त्वे, विवदन्ते वादिनो विभिन्नार्थम् । अविदितपूर्वं येषां , स्याद्वादविनिश्चितं तत्त्वम् ॥ १ ॥" येषां तु पुनः स्याद्वादमतं निश्चितं तेषामस्तित्वनास्तित्वाऽऽदेरर्थस्य नयाभिप्रायेण कथञ्चिदाश्रयणात् विवादाभाव एवेति, अत्र च बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयात्, अन्यत्र च सूत्रकृताऽऽदौ विस्तरेण सुविहितत्वादिति । ते च विवदन्तः परस्परतो विप्रतिपन्नाः 'मामकम्' इत्यात्मीय धर्मं प्रज्ञापयन्तः स्वतो नष्टाः परानपि नाशयन्ति । तथाहि-केचित्सुखेन धर्ममिच्छन्ति, अपरे दुःखेन, अन्ये स्नानाऽऽदिनेति,तथा मामक एवैको धर्मो मोक्षायानिर्वाच्यश्च नापर इत्येवं वदन्तोऽपुष्टधर्माणोऽविदितपरमार्थान् प्रतारयन्ति , तेषामुत्तरं दर्शयति—' अत्रापि अस्ति लोको नास्ति वेत्यादौ जानीत यूयम्, 'अकस्मादिति ' मागधदेशे आगोपालाद्याऽऽदिना संस्कृतस्यैवोच्चारणादिहापि तथैवोच्चारित इति , कस्मादिति हेतुर्न कस्मादकस्माद् हेतोरभावादित्यर्थः , तत्रास्ति लोक इत्युक्तेऽप्येवं जानीत यथा न भवत्येवमकस्मात् , हेतोरभावादिति । तथाहि—यद्येकान्तेनैव लोकोऽस्ति,ततोऽस्तिना सह समानाधिकरण्याद्यदस्ति तल्लोकः स्यात् , एवं च तत्प्रतिपक्षोऽप्यलोकोऽस्तीति कृत्वा लोक एवालोक स्यात् , व्याप्यसद्भावे व्यापकस्यापि सद्भावादलोकाभावः, तदभावे च तत्प्रतिपक्षभूतस्य लोकस्य प्रागेवाभावः सर्वगतत्व वा लोकस्य स्यादिति, अथवा 'लोकोऽस्ति । न च लोको भवति, लोकोऽपि नामास्ति, न च लोकोऽलोकाभाव इत्येवं स्यात्, अनिष्ट चैतत् , किं च—अस्तेर्व्यापकत्वे लोकस्य घटपटाऽऽदेरपि लोकत्वप्राप्तिः, व्याप्यस्य व्यापकसद्भावनान्तरीयकत्वात् , किं च-अस्ति लोक, इत्येषाऽपि प्रतिज्ञा लोक इति कृत्वा हेतोरप्यस्तित्वात् , प्रतिज्ञाहेत्वोरेकत्वावाप्ति , तदेकत्वे हेत्वभाव , तदभावे किं केन सिद्ध्यतीति ?, उतास्तित्वादन्यो लोक इत्येवं च प्रतिज्ञाहानि स्यात् , तदेवमेकान्तेनैव लोकास्तित्वेऽभ्युपगम्यमाने हेत्वभावः प्रदर्शितः , एवं नास्तित्वप्रतिज्ञायामपि वाच्यम् , तथाहि-नास्ति लोक इति ब्रुवन् वाच्यः-किं भवानस्त्युत नेति ?, यद्यस्ति किं लोकान्तर्वर्त्ती, नवेति, यदि लोकान्तर्गत कथं नास्ति लोक इति ब्रवीषि ?, अथ बहिर्भूतस्तत खरविषाणवदसद्भूत एवेति कस्य मयोत्तरं दातव्यम्, इत्यनया दिशैकान्तवादिन स्वयमभ्यूह्य प्रतिक्षेप्तव्या इति, एवमिति यथाऽस्तित्वनास्तित्ववादस्तेषामाकस्मिकोनिर्युक्तिक , एव ध्रुवाध्रुवाऽऽदयोऽपि वादा निर्युक्तिका एवेति ।

अस्माक तु स्याद्वादवादिना कथञ्चिदभ्युपगमान्न यथोक्तदोषानुषङ्ग , यत स्वपरसत्ताव्युदासोपादानाऽऽपाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम् , अत स्वद्रव्यक्षेत्रकालस्वभावतोऽस्ति परद्रव्याऽऽदिचतुष्टयान्नास्तीति । उक्त च-"सदेव सर्वं को नेच्छेत् , स्वरूपाऽऽदि चतुष्टयात् ?। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥" इत्यादि, अलमतिप्रसङ्गेनाक्षरगमनिकार्थत्वात् प्रयासस्य, एवं ध्रुवाध्रुवाऽऽदिष्वपि पञ्चावयवेन दशावयवेन वाऽन्यथा वैकान्तपक्षं विक्षिप्य स्याद्वादपक्षोऽभ्यूह्याऽऽयोज्य इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । ( चन्द्रादिगोलविमानानां व्याख्या स्वस्वस्थाने ) ( अत्र विस्तरः 'णिगोय' शब्दे चतुर्थभागे गतः। ) ( 'लोय' शब्दे च वृद्धोक्त गाथाभिर्दर्शयिष्यते )

भूण-भ्रूण-पु० । स्त्रीणां गर्भे, बालके च । वाच० । सू० १ उ० ३ प्रक० ।

भूणग्घ-भ्रूणघ्न-त्रि० । भ्रूणं गर्भं हन्ति हन्—कः गर्भघातके, बालघातके च । वाच० । सू० १ उ० ३ प्रक० ।

भूतणग-भूतृणक-न० । शष्पसङ्घाते, विशे० । हरिते वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

भूदाण-भूदान-न० । भूमिदाने, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । (भूदानस्य शुभफलोदयजनकत्वनिराकरणम् ' पुढवीकाइय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ९७८ पृष्ठे गतः )

भूपाल-भूपाल-पुं० । भुवं पालयति । पाल-अण् । भूपतौ, वाच० । स्था० ६ ठा० ।

भूभिय-भूभृत्-पुं० । भुवं बिभर्ति धारयति पालयति वा । भू—क्विप् । पर्वते; भूपाले च । वाच० । आ० क० १ अ० ।

भूभुय-भूभुज-पुं० । भुवं भुङ्क्ते भुनक्ति पालयति वा । भुज्-क्विप् । भूपाले, वाच० । आ० क० १ अ० ।

भूमणया-देशी-स्थगने, "भूमणया पलिउंचणं । " भूमणयेति, देशीपदमेतत्, स्थगनमित्यर्थः । व्य० १ उ० ।

भूमह-भूमह-पुं० । अहोरात्रभवेषु त्रिंशन्मुहूर्तेषु स्वनामख्याते सप्तविंशतितमे मुहूर्ते, स० ३० सम० ।

भूमि-भूमि-स्त्री० । भवन्त्यस्मिन् भूतानि । भू-मिक्, वा ङीप् । पृथिव्याम् , वाच० । रा० । क्षेत्रे, ध० २ अधि० । पञ्चा० । स्थण्डिले, उपा० १ अ० । पदव्याम् , स्था० ३ ठा० २ उ० । काले, स्था० ३ ठा० ४ उ० । स्थानमात्रे , जिह्वायाम् , योगशास्त्रोक्ते योगिनां चित्तस्यावस्थाभेदे , एकसङ्ख्याया च । वाच० । " थलि भूमि । " पाइ० ना० २६४ गाथा ।

भूमिउदय-भूम्युदक-न० । भूम्या उदक भूम्युदकम् । नद्यादिजले, नि० चू० १ उ० ।

भूमिकंप-भूमिकम्प-पु० । "शब्देन महता भूमि-र्यदा रसति कम्पते । सेनापतिरमात्यश्च, राजा राज्यं च पीड्यते ॥ १ ॥" इत्युक्तलक्षणे महानिमित्तभेदे , स्था० ८ ठा० । ( भूमिकम्पन हेतु ' पुढवी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ९७२ पृष्ठे गतः )

भूमिकम्म-भूमिकर्मन्-न० । समविषमाया भूमेः परिकर्मणि, सू० १ उ० २ प्रक० । ग० । व्य० । आव० । "भूमीए समविसमाए परिकम्मणं भूमीकम्मं।" नि० चू० ५ उ० ।

भूमिघर-भूमिगृह-न० । गृहभेदे, आव० ६ अ० । प्रश्न० । स्था० ।

भूमिट्ठ--भूमिष्ठ-त्रि० । भूमौ तिष्ठति । स्था-कः । अस्व-षत्वम् । भूपृष्ठस्थे, वाच० । नि० चू० १ उ० ।

भूमितुंडय--भूमितुण्डक--पुं० । वैताढ्यपर्वतस्थे विद्याधरभेदे, भूमितुंडगविज्जाहिपतयो भूमितुण्डकाः । आ० चू० १ अ० ।

भूमित्थ- भूमिष्ठ--त्रि० । 'भूमिट्ठ' शब्दार्थे, नि० चू० १ उ० ।

भूमिदेव- भूमिदेव -पुं० । ब्राह्मणे, पिं० । "लोयाणुग्गहकारिसु, भूमीदेवेसु बहुफलं दाणं । अवि नाम बंभबंधुसु, किं पुण छक्कम्मनिरयाण ॥ १ ॥ " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

भूमिपिसाअ-भूमिपिशाच-पुं० । भूमौ पिशाच इव । तालवृक्षे, वाच० । दे० ना० ६ वर्ग १०७ गाथा ।

भूमिपेहण-भूमिप्रेक्षण-न० । भूमेर्भुवः प्रेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणम् । भुवश्चक्षुषा निरीक्षणे, पञ्चा० ४ विव० ।

भूमिभाग-भूमिभाग-पुं० । भूमिदेशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । जी० । दश० ।

तस्स णं वणसंडस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । से जहा णाम ए आलिंगपुक्खरेइ वा ०जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं तणेहिं उवसोभिए ।

तस्य, णमिति पूर्ववत् ,वनखण्डस्यान्तः-मध्ये बहु अत्यन्तं समो बहुसमः,स चासौ रमणीयश्चस तथा, भूमिभागः प्रज्ञप्तः। कीदृश इत्याह- से' इति, तत् सकललोकप्रसिद्धम्,यथेति दृष्टान्तोपदर्शने, नामेति शिष्याऽऽमन्त्रणे, 'ए' इति वाक्यालङ्कारे, आलिङ्गो—मुरजो वाद्यविशेषः, तस्य पुष्करं चर्मपुटकं, तत्किलात्यन्तसममिति, तेनोपमा क्रियते, इतिशब्दाः सर्वेऽपि स्वस्वोपमाभूतवस्तुसमाप्तिद्योतकाः । वा शब्दाः समुच्चये, यावच्छब्देन बहुसमत्ववर्णको मणिलक्षणवर्णकश्च ग्राह्य इति । स चायम्—"मुइंगपुक्खरेइ वा सरतलेइ वा करतलेइ वा चंदमंडलेइ वा सूरमंडलेइ वा आयंसमंडलेइ वा उरब्भचम्मेइ वा वसहचम्मेइ वा वराहचम्मेइ वा सीहचम्मेइ वा वग्घचम्मेइ वा छगलचम्मेइ वा दीवियचम्मेइ वा अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते आवत्तपच्चावत्तसेढिपसेढिसोत्थियसोवत्थियपूसमाणवद्धमाणगमच्छंडकमगरंडकजारमारफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवासंतीपउमलयभत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीइएहिं सउज्जोएहिं" इति । अत्र व्याख्या—मृदङ्गो लोकप्रतीतो मर्दलः,तस्य पुष्करं मृदङ्गपुष्करं तथा परिपूर्ण-पानीयेन भृत तडागं-सरस्तस्य तलम्-उपरितनो भागः सरस्तलम्, 'अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति निर्वात जलपूर्ण सरो ग्राह्यम्, अन्यथा वातोद्धूयमानतयोच्चावचजलत्वेन विवक्षितः समभावो न स्यादित्यर्थः,करतल प्रतीतं,चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलं च यद्यपि वस्तुगत्या उत्तानीकृतार्धकपित्थाऽऽकारपीठप्रासादापेक्षया वृत्तालेख्यमिति तद्गतो दृश्यमानो भागो न समतलस्तथापि प्रतिभासते समतल इति तदुपादानम्, आदर्शमण्डलं सुप्रसिद्धम्' उरब्भचम्मेइ वा' इत्यादि । अत्र सर्वत्रापि, 'अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते ' इति पदं योजनीयम् । उरभ्रः-ऊरणः, वृषभवराहसिंहव्याघ्रच्छगलाः प्रतीताः , द्वीपी-चित्रकः, एतेषां प्रत्येकं चर्म अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः कीलकसहस्रैर्यतो महद्भिः कीलकैस्ताडित प्रायो मध्ये क्षामं भवति न समतलं , तथारूपताडासम्भवात् , अतः शङ्कुग्रहणं, विततं-विततीकृतं ताडितमिति भावः , यथाऽत्यन्त बहुसमं भवति तथा तस्यापि वनखण्डस्यान्तर्बहुसमो भूमिभागः । पुनः कथंभूत इत्याह—' णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं तणेहिं ( मणितणेहिं ) उवसोभिए ' इति योगः । नानाविधा-जातिभेदा नानाप्रकारा ये पञ्चवर्णा मणयस्तृणानि च तैरुपशोभितः , कथंभूतैर्मणिभिरित्याह—आवर्त्ताऽऽदीनि-मणीनां लक्षणानि तत्र आवर्त्तः प्रतीतः, एकस्याऽऽवर्त्तस्य प्रत्यभिमुखः आवर्त्तः प्रत्यावर्त्तः श्रेणिः तथाविधबिन्दुजाताऽऽदेः पङ्क्तिः तस्याश्च श्रेण्यां विनिर्गताऽन्या श्रेणिः सा प्रश्रेणि',स्वस्तिकः-प्रतीतः, सौवस्तिकपुष्यमाणवौ च लक्षणविशेषौ लोकात् प्रत्येतव्यौ, वर्द्धमानकं शरावसंपुटं, मत्स्याण्डकमकराण्डके जलचरविशेषाण्डके प्रसिद्धे, 'जारमारे ति ' लक्षणविशेषौ सम्यग्मणिलक्षणवेदिनो लोकाद्वेदितव्यौ , पुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरङ्गवासन्तीलतापद्मलताः प्रतीताः,तासां भक्त्या-विच्छित्त्या चित्रम्-आलेखो येषु ते तथा, किमुक्त भवति ?-आवर्त्ताऽऽदिलक्षणोपेतैः, तथा सती शोभनाच्छाया-शोभा येषां ते तथा तैः, 'सप्पभेहिं' इत्यादि विशेषणत्रयं प्राग्वत् । एवं भूतैः नानावर्णैः पञ्चवर्णैः मणिभिस्तृणैश्चोपशोभितः । जं० १ वक्ष० ।

भूमियर--भूमिचर--पुं० । सरीसृपाऽऽदिके तिरश्चि , सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

भूमिरुह--भूमिरुह--पुं० । भूम्यां भूमौ वा रोहति । रुह—कः । वृक्षे , वाच० । छत्राके , भूमीरुहाणि छत्राकाणि वर्षाकाल भावीनि भूमिस्फोटकानीति प्रसिद्धानि । ध० २ अधि० । प्रव० । भूरुहाऽऽदयोऽप्यत्र । वाच० ।

भूमिलिहण-भूमिलिखन--न० । भूमौ पदाऽऽदिनाऽक्षरविलेखने " भूमिलिहणविलिहणेहिं । " तं० ।

भूमिसिरि- भूमिश्री--पुं० । भारतवर्षभवे भाविनि स्वनामख्याते चक्रवर्त्तिनि , ति० ।

भूमिसेज्जा-भूमिशय्या-स्त्री० । श्रमणधर्मभेदे, स्था० ६ ठा० ।

भूमुउड-भूमुकुट-न० । स्वनामख्याते नगरे, "पुरं भूमुकुटं नाम, भूदेव्याः मुकुटोपम् " आ० क० १ अ० ।

भूय-भूत-न० । न्याय्ये , उचिते , वाच० । अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि । पृथिव्याद्येकेन्द्रियेषु , " जम्हा भुवं भवंति भविस्संति य तम्हा भूतेतिं वत्तव्वा । " आ० चू० ४ अ० । सर्वदा भवनाद् भूत' । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आचा० । भूतानि पृथिवीजलज्वलनपवनवनस्पतय । पा० । आव० । सूत्र० । विशे० । दश० ।

किं मन्ने पंच भूया, अत्थी नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थ, न याणसी तेसिमो अत्थो ।१६८६।

किं पञ्च भूतानि पृथिव्यादीनि सन्ति , किं वा न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत् । अयं च संशय' तव विरुद्धवे-

दपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि चाऽमूनि वेदपदानि-" स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय " इत्यादि । तथा " द्यावापृथिवी " इत्यादि । तथा " पृथिवी देवता आपो देवता " इत्यादि । तेषां च वेदपदानामयमर्थः तव प्रतिभासते—स्वप्नोपमं स्वप्नसदृशं, वै निपातोऽवधारणे, सकलमशेषं जगदित्येष ब्रह्मविधिः परमार्थप्रकारः, अञ्जसा प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो ज्ञातव्यः, एवमादीनि वेदपदानि भूतनिह्नवपराणि । "द्यावापृथिवी" इत्यादीनि तु सत्ताप्रतिपादकानि । ततः संशय । तथा एवं ते चित्तविभ्रमो यथा भूताभाव एव समीचीनः, तेषा प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि-चक्षुरादिविज्ञानस्याऽऽलम्बनं परमाणवो वा स्युः, परमाणुसमूहो वा, अवयवी वा । तत्र न तावत्परमाणव , तेषामिन्द्रियविज्ञाने प्रतिभासाभावात् न खलु चाक्षुषे विज्ञाने परस्परविश्कलिताः परमाणव. प्रतिभासन्ते; नापि समूहः, समूहो हि नाम द्वित्राऽऽदिपरमाणूनां संयोगः, स चानुपपन्न एव, विकल्पद्वयानतिक्रमात् । तथाहि-परमाणूना सयोगो देशतो वा स्यात्, सर्वाऽऽत्मना वा । तत्र न तावद्देशेन,परमाणोर्देशाभावादन्यथा परमाणुत्वक्षतेः, परमोऽणुः परमाणुरिति व्युत्पत्ते । अथ सर्वाऽऽत्मनेति पक्ष , तर्हि परमाणौ प्रवेशादणुमात्रप्रसक्तिः । तथा च पठन्ति—" सजोगो वि य तेसिं, देसेण सव्वहा व होज्जाहि । देसेण कहमणुत्तं, अणुमित्तं सव्वहा भवणे ॥ " अथ ब्रूषे-परस्परं प्रत्यासन्नत्वमात्रमेवात्र संयोगः समूहो, न देशेन, न सर्वाऽऽत्मना वा, ततो न कश्चिद्दोषः तथा च सम्यक् प्रत्येकमिव समुदितानामपि तेषामग्रहणप्रसङ्गात् स्वस्वरूपावस्थितानां तेषामिन्द्रियगम्यत्वाभावात् , न च परस्परप्रत्यासन्नत्वमप्युपपन्नम्, तद्भावश्च दिग्भेदतो भवति, दिग्भेदे च देशभेदसंभवादणुत्वव्याघात । आह च-" हाणी अणुयत्तस्स उ, दिसिभेदातो न अन्नहा चेव । तेसिमहो पच्चासन्न त्ति परिफग्गुमेयं ति ॥१॥" अथ वाऽवयवीति पक्ष., सोऽप्ययुक्तः, अवयविन एवासंभवात्, तस्यावयवेषु व्यत्यययोगात् । तथाहि-सोऽवयवी देशेन वा प्रत्येकमवयवेषु वर्तते, सर्वात्मना वा ?। न तत्र तावद्देशेन, अवयविनो देशाभावात्, अन्यथा तेष्वपि देशेषु देशेन वर्तते, तत्रापि स एव प्रसङ्ग इत्यनवस्था । अथ सर्वात्मना, तर्हि यावन्तोऽवयवास्तावन्तोऽवयविन इत्यवयविबहुत्वप्रसङ्ग । अथ न ब्रूमो देशेन वर्तते,सर्वात्मना वा, किन्तु वर्त्तते इत्येवम्, तत उक्तदोषाप्रसङ्ग । तदप्यश्लीलम्, उक्तरूपप्रकारद्वयव्यतिरेकेणान्यस्य वृत्तिप्रकारस्यासम्भवात् । अथ समवायलक्षणेन सम्बन्धेन वर्त्तते इति मन्येथा, तदप्ययुक्तम्, समवायस्य वाऽसिद्धत्वात्, न खलु वस्तुद्वयापान्तरालवर्ती तत्सम्बन्धनिबन्धनभूतो जन्तुकल्प. कश्चित् समवायो नाम पदार्थ प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणविषयोऽस्ति, तत कथ तमस्तित्वेन मन्यामहे ? । अन्यच्च-सोऽपि समवायिषु कथ वर्त्तते इति वाच्यं, तदन्यसमवायबलादिति चेत, तत्तु तत्रापि स एव प्रसङ्ग इत्यनवस्थाप्रसक्ति । अथ स्वपरोभयसम्बन्धनस्वभाव समवायो, यथा स्वपरप्रकाशधर्मा प्रदीप, तेनाऽऽत्मान स्वसमवायिभि सह सम्बन्धयति, स्वसमवायिनश्च परस्परमिति । तदप्यमनोरमम्, विकल्पयुगलानतिक्रमात् । तौ हि स्वभावौ समवायाद्भिन्नौ वा स्यातामभिन्नौ वा ?। यद्याद्य पक्ष ,ततो न समवायस्य तौ,सम्बन्धाभावात् वस्त्वन्तरधर्मवत् । अथाभिन्नौ, ततः समवाय एव तौ, तद्व्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, तत कुतः स्वभावद्वयकल्पनेति भूतविषयप्रमाणाभाव । एवं विभ्रमे स्फुटीकृते भगवानुत्तरमाह—वेदपदानामर्थ न जानासि, चशब्दात् युक्तिभावार्थं च । तत्र तव संशयनिबन्धनाना वेदपदानामयमर्थ.—"स्वप्नोपम वै सकलम् " इत्यादीनि अध्यात्मचिन्तायां मणिकनकाङ्गनाऽऽदिसंयोगस्यानियतत्वात् ,अस्थिरत्वात् ,विपाककटुकत्वात् आस्थानिवृत्तिपराणि, न तु तदत्यन्ताभावप्रतिपादकानि । द्यावापृथिवीत्यादीनि तु भूतसत्ताप्रतिपादकानि भवतोऽपि प्रतीतानि, ततो वेदसिद्धा भूतानां सत्ता । यदयुक्तम्-भूताभाव एव समीचीन., तेषा प्रमाणेनाग्रहणादित्यादि।तदप्यसम्यक् । भूतानां प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणसिद्धत्वात् । तथाहि—द्विविधं परमाणूना रूपं-साधारणमसाधारण च । तत्र यदसाधारणं रूपं, तेन ( न ) चाक्षुषे विज्ञाने प्रतिभासन्ते, साधारणेन तु रूपेण प्रतिभासन्ते एव । न च वाच्यं साधारणं रूपं नास्त्येव, तदभावे खल्वेकपरमाणुव्यतिरेकेणान्येषामपरमाणुत्वप्रसङ्गात् । परमाणुत्वेनापि तुल्यरूपत्वाभावात् ।अन्यथाऽस्मदभ्युपगमप्रसक्ते ।अथ यदेतत्परमाणुत्वेन तुल्यरूपत्वम् । तत्तदन्यव्यावृत्तिमात्रपरिकल्पितसत्ताक, यथाऽयमपिपरमाणुरपरमाणोर्व्यावृत्तोऽयमथ परमाणोर्व्यावृत्त इति । न तु पारमार्थिकम् । तदेतदयुक्तम् ।स्वतस्तुल्यरूपत्वाभावे तदन्यथावृत्तेरपि साधारणाया असंभवात् । न खलु यथाऽघटात् व्यावृत्तिस्तथा पटस्यापि घटेन सह, पटस्य तुल्यरूपत्वाभावात् । अथ सर्वं स्वलक्षण सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तिस्वभावं, तत समानरूपत्वाभावेऽपि विजातीयव्यावृत्ते. समानता । तदपि न युक्तिक्षमम् । विजातीयेभ्यो व्यावृत्तौ परमाणुत्वस्येव सजातीयेभ्योऽव्यावृत्तापरमाणुत्वप्रसङ्गात्, न्यायस्य समानत्वात्, भवन्मतेन सजातीयव्यावृत्तताऽपि वस्तुन उपपद्यते, अनेकस्वभावेन सर्वेभ्यो व्यावृत्तिः, तेषा सर्वेषामपि व्यावृत्तिविषयाणामेकरूपताप्रसक्ते । तथाहि-घटाद्यथावर्तते पटो, घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्त्तते, तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपतानुषक्ति, अन्यथा ततस्तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्, तस्मादवश्यं परमाणूना द्वे रूपे प्रतिपत्तव्ये-तुल्यमतुल्य च । तत्र तुल्यरूपेण चाक्षुष विज्ञाने समुदिता परमाणव प्रतिभासन्त इति भूताना प्रत्यक्षविषयता यदपि । समूहपक्षेऽभिहितम्—परमाणूना सयोगो देशतो वा स्यात्, सर्वात्मना वा इत्यादि । तत्र पक्षद्वयेऽप्यदोषः । परमाणूना विचित्रपरिणमनशक्तिसमन्विततया कदाचिद्देशत., कदाचित्सर्वात्मना सम्बन्धभावात् । न च वाच्यम्-देशाभ्युपगमे परमाणोरपरमाणुप्रसक्तः । परमाणुर्हि स उच्यते,यतो नान्यदल्पतर.परमोऽणुः परमाणुरिति व्युत्पत्ते । न च विवक्षितात् परमाणोरन्यदल्पतरमस्ति,नापरमाणुत्वाव्याघातः तथा च सति देशकालाऽऽदिसामग्रीविशेषसपादितपरिणामविशेषपरिकल्पिताना परमाणूना परस्परं यत् प्रत्यासन्नत्वमेव परमाणुसमूह एव एव च देशतः परमाणूना सम्बन्ध. ।

तथा चोक्तम्—

" जं चेव खलु अणूणं, पच्चासन्नत्तणं मिहो एत्थ ।
त चेव उ सबधो, विसिट्ठपरिणामभावेणं ॥
देसेण तु सबधो, इह देसे सति कहमणुत्त पि ।

अप्पतराभावातो, न अप्पतरायं ततो अत्थि ॥ "

अथ दिग्भेदतो यो भेदः, स एवाल्पदल्पतरमस्तीति कथं न परमाणुत्वव्याघातः । तदप्ययुक्तम् । सम्यक्तत्त्वापरिज्ञानात् । परमोऽणुर्हि स उच्यते, यो द्रव्यतोऽशक्यभेदः । न च विवक्षितस्य परमाणोर्द्रव्येण शस्त्राऽऽदिना भेद आपादयितुं शक्यते । तथा चोक्तम्—" सत्थेण सुतिक्खेण वि, छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का । तं परमाणुं सिद्धं, वयंति आइप्पमाणाणं ॥ " ततोऽन्यस्य पृथग्द्रव्यरूपस्याल्पतरस्याभावाद् व्याहतं षड्दिग्भेदेऽपि परमाणुत्वम् । उक्तं च—"दिसि भेदातो च्चिय, सव्वभेदतो कह न अप्पतरगं ति । दव्वेण सव्वभेयं, विवक्खियं ता कुतो तमिह ? ॥१॥" योऽपि सर्वात्मपक्षे दोष उक्तो यथा परमाणुत्वमात्रप्रसङ्ग इति । सोऽप्ययुक्तः । यतो न परमाणोः परमाणुर्विनाशकः, सतः सर्वथा विनाशायोगात् , ततो द्वावपि परमाणू तथाविधपरिणामविशेषतः सर्वात्मना सम्बन्धमापद्यमानौ सत्तोपचयविशेषात् स्थूलद्व्यणुकरूपतामेव प्राप्नुतो,न परमाणुमात्रमित्यदोषः। उक्तं च—"न य अणुमेत्तं जत्तं, सत्तातो सव्वहा वि संभागे । थायरतुल्लत्ताणा, सभावतो उवचयविसेसो ॥१॥" अवयाविपक्षोक्तदूषणमनवकाशपृथग्द्रव्यान्तररूपस्यावयविनोऽस्माभिरनभ्युपगमात्। य एव हि परमाणूनां तथाविधदेशकालाऽदिसामग्रीविशेषसापेक्षाणा विवक्षितजलधारणाऽऽदिक्रियासमर्थः समानः परिणामविशेषः सोऽवयवी,तत.कुतो देशकालवृत्तिविकल्पदोषावकाशः, शेषं तु समवायपक्षोक्तमनभ्युपगमात्र ततः क्षतिमावहति । आ० म० १ अ० । वनस्पतौ, उत्त० १ अ० । औ० । "भूतास्तु तरवः स्मृताः ।" आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । ज्ञा० । स्था० । जी० । प्राणिनि,आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आव० । प्रश्न० । उत्त० । सूत्र० । जीवे, आतु० । उत्त० । आव० । सूत्र० । जन्तुषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । एकार्थिकानि चैतानि-" पाणाणं भूया णं जीवा णं सत्ता णं" एकार्थिकानि चैतानि । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । जीवो जन्तुरसुमान् प्राणी सत्त्वो भूत इति पर्यायाः । विशे० । आव० । स० । सूत्र० । स्था० । चतुर्दशभूतग्रामे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । "भूतानां जगई ठाणं ।" भूतानां स्थावरजङ्गमानाम् । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । तत्त्वानुसंधाने, "छलं निरस्य भूतेन ।" इति स्मृतिः । वाच० । अवस्थायां च । " जोणिब्भूए बीए ।" योन्यवस्थे बीज इति । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । व्यन्तरभेदे, औ० । जं० । स्था० । अनु० । ज्ञा० । प्रव० । जी० । भूता नवविधाः । तद्यथा—सुरूपाः १ , प्रतिरूपाः २, अतिरूपाः ३, भूतोत्तमाः ४, स्कन्धाः ५, महास्कन्धा ६, महावेगाः ७, प्रतिच्छन्नाः ८, आकाशगाः ९ । प्रज्ञा० १ पद । प्रेते , प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । पिशाचे , स्या० । ( ते च 'पिसाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ९३९ पृष्ठे दर्शिताः ) कुमारे, योगीन्द्रे, कृष्णपक्षे, वाच० । यक्षसमुद्रानन्तरभवे स्वनामख्याते द्वीपे, भूतद्वीपानन्तरभवे स्वनामख्याते समुद्रे च । पुं० । प्रज्ञा० १५ पद । यत्र भूतवरमहाभूतवरौ देवौ, सू० प्र० १९ पाहु० । अतीते, पश्चात्कृते, विशे० । आ० म० । कल्प० । जाते, विपा० १ श्रु० ९ अ० । उत्पन्ने, आ० म० १ अ० । विद्यमाने , विशे० । प्राप्ते , नि० १ श्रु० ३ वर्ग । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । उपमार्थे, आतु० । रा० । ज्ञा० । स्था० । तादर्थ्ये, प्रकृत्यर्थे , स्था० ५ ठा० १ उ० । " उम्मत्तगभूए । " उन्मत्तक इवोन्मत्तकभूतो, भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात् । उन्मत्तक एव वा उन्मत्तकभूतः भूतशब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वात् । स्था० ५ ठा० ५ उ० । " ओवम्मे तादत्थे व होज्ज एसित्थ भूयसद्दो त्ति । " (१२४) आ० । "ओवम्मे देसो खलु,एसो सुरलोयभूय मो एत्थ " (१२५) औपम्ये , उपमानार्थभूतशब्दप्रयोगो यथा-देशः खल्वेष लाटदेशाऽऽदिकृष्णाऽऽदिगुणोपेतत्वात्सुरलोकोपम । आ० । "तादत्थे पुण एसो, सीयीभूयमुदगं ति निद्दिट्ठो।" (१२७) तादर्थ्ये पुनस्तदर्थभावे पुनरेष भूतशब्दप्रयोगः,शीतीभूतमुदकमुष्णं सत्पर्यायान्तरमापन्नमिति निर्दिष्टः । आ० । सूत्र० । न्याय्ये, उचिते, वृत्ते, सत्ये, यथार्थे , वास्तविके च । त्रि० । "भूतमप्यनुपन्यस्तं, हीयते व्यवहारतः ।" इति स्मृति । वाच० । आव० ४ अ० । सूत्र० । स्था० ।

भूयक्कार–भूयस्कार–पुं० । प्रकृतीनां बन्धभेदे, तत्रैकविधाऽऽद्यल्पतरबन्धको भूत्वा यत्र पुनरपि षड्विधाऽऽदिबहुबन्धको भवति स प्रथमसमये भूयस्कारबन्धः । कर्म० ५ कर्म० । " एगादहिगे भूओ । " एकाऽऽदिभिरेकाद्व्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे (भूय त्ति) भूयस्कारनामबन्धो भवति, यथैकां बध्वा षड् बध्नाति, षट् बध्वा सप्त बध्नाति, सप्त बध्वा अष्टौ बध्नातीति । कर्म० ५ कर्म० । क० प्र० । पं० सं० ।

भूयगवई–भूजगवती–स्त्री० । स्था० ४ ठा० १ उ० । ( व्याख्या 'भुजगा' शब्देऽन्तरं द्रष्टव्या ।)

भूयगा–भूजगा–स्त्री० । अतिकायस्य महोरगेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

भूयगुह-भूतगुह–न० । अन्तरञ्जिकानगरीस्थे स्वनामख्याते व्यन्तरचैत्ये, " अंतरंजिया नयरी, तत्थ भूतगुहं नाम चेइयं" उत्त० ३ अ० । कल्प० । स्था० । आ० म० । आ० चू० ।

भूयगुहा–भूतगुहा–स्त्री० । मथुरानगरीस्थे स्वनामख्याते व्यन्तरगृहे, विशे० । आ० म० ।

भूयगुहोज्जाण–भूतगुहोद्यान–न० । अन्तरञ्जिकानगरीस्थे उद्याने ," तत्र भूतगुहोद्याने , तस्थुः श्रीगुप्तसूरयः । " आ० क० १ अ० ।

भूयग्गह–भूतग्रह–पुं० । ग्रहभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

भूयग्गाम–भूतग्राम–पुं० । भूतानि जीवास्तेषां ग्रामः समूहो भूतग्रामः । जीवसमूहे, स० ।

चउद्दस भूयग्गामा पण्णत्ता । तं जहा–सुहुमा अपज्जत्तया, सुहुमा पज्जत्तया , बादरा अपज्जत्तया , बादरा पज्जत्तया, बेइंदिया अपज्जत्तया, बेइंदिया पज्जत्तया, तेइंदिया अपज्जत्तया, तेइंदिया पज्जत्तया , चउरिंदिया अपज्जत्तया , चउरिंदिया पज्जत्तया , पंचिंदिआ असन्नि अपज्जत्तया , पंचिंदिआ असन्नि पज्जत्तया , पंचिंदिया सन्नि अपज्जत्तया , पंचिंदिया सन्नि पज्जत्तया ।

तत्र चतुर्दश भूतग्रामाः—भूतानि जीवाः , तेषां ग्रामाः समूहाः भूतग्रामाः , तत्र सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तित्वात् ,

पृथिव्यादय एकेन्द्रियाः। किंभूता ?। अपर्याप्तकाः तत्कर्मोदया दपरिपूर्णस्वकीयपर्याप्तय इत्येको ग्रामः । एवमेते एव पर्याप्तकास्तथैव परिपूर्णस्वकीयपर्याप्तय इति द्वितीयः । एवं बादराबादरनामकर्मोदयात् पृथिव्यादय एव, तेऽपि पर्याप्तेतरभेदाद् द्विधा, एवं द्वीन्द्रियाऽऽदयोऽपि, नवरं पञ्चेन्द्रियाः संज्ञिनो मनःपर्याप्त्युपेता इतरे त्वसंज्ञिन इति । स० १४ सम० । ध० । सूत्र० । अथवा चतुर्दशभूतग्रामाः चतुर्दश गुणस्थानकानि । आ० चू० ४ अ० ।

भूयणिण्हव–भूतनिह्नव–पुं० । असत्यभेदे,भूतनिह्नवो यथानास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि । ध० २ अधि० ।

भूयदिएण–भूतदत्त–पुं० । नागार्जुनमहर्षेः शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, न० ।

> भूयहियप्पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
> भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ३६ ॥

भूतहितप्रगल्भान् अनेकधा सकलसत्त्वहितोपदेशदानसमर्थान् भवभयव्यवच्छेदकरान् सदुपदेशाऽऽदिना संसारभयव्यवच्छेदकरणशीलान् नागार्जुनऋषीणां नागार्जुनमहर्षिसूरीणां शिष्यान् भूतदिन्ननामकानाचार्यान् अहं वन्दे । सूत्रे च भूतदिन्नशब्दान्मकारोऽलाक्षणिकः ॥ ३६ ॥ न० ।

भूयदिएणा–भूतदत्ता–स्त्री० । आचार्यसंभूतविजयस्य शिष्यायां नवमनन्दस्य महापद्मापरनाममात्यस्य शकटालस्य दुहितरि स्थूलभद्रस्य भगिन्यां स्वनामख्यातायां आर्यिकायाम् , आ० चू० ४ अ० । आव० । कल्प० । ( 'थूलभद्द' शब्दे चतुर्थभागे २४१५ पृष्ठे कथोक्ता ) राजगृहनगरस्थस्य श्रेणिकस्य राज्ञः स्वनामख्याताया भार्यायाम् , तद्वक्तव्यता नन्दावत् । अन्त० ।

भूयपडिमा–भूतप्रतिमा–स्त्री० । भूतप्रतिकृतौ, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

भूयपुव्व–भूतपूर्व–त्रि० । वृत्तपूर्वे, आ० म० १ अ० ।

भूयबलि–भूतबलि–पुं० । पत्रपुष्पफलाक्षताऽऽद्यैःसुरभिगन्धोदकोन्मिश्रे सिद्धान्नप्रक्षेपरूपे प्रेतोपहारे , ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

भूयभद्द–भूतभद्र–पुं० । भूतद्वीपस्थे देवे, चं० प्र० २० पाहु० ।

भूयभाव–भूतभाव–त्रि० । पश्चात्कृतो भावः पर्यायो यस्य । ' अनुभूतपर्याये द्रव्ये, भूतभावं द्रव्यम् । अनुभूतघृताऽऽधारत्वपर्यायातिरिक्तघृतघटवत् । विशे० ।

भूयभावण–भूतभावन–त्रि० । भूतं सत्यं भाव्यतेऽनेनेति । सत्यसाधने , आव० ४ अ० । दर्श० । भूतानि पृथिव्यादीनि भावयन्ति जनयति, भू णिच् । ल्युट् । भूता सत्या यथार्था भावना यस्य वा । विष्णौ , बटुकभैरवे च । पु० । वाच० ।

भूयभावणा–भूतभावना–स्त्री० । भूतस्य यथावस्थितवस्तुनो भावनाऽनेकान्तपरिच्छेदः । यथाऽवस्थितवस्तुनोऽनेकान्तपरिच्छेदे,आव०४ अ० ।दर्श०। भूतानां सत्त्वानां भावना वासना भूतभावना । सत्त्वानां वासनायाम् , दर्श० ४ तत्त्व । आव० ।

भूयमंडलपविभत्ति–भूतमण्डलप्रविभक्ति–न० । नाट्यविधिभेदे , रा० ।

भूयरूव–भूतरूप–त्रि० । कोमलरूपे, "भूयरूवि त्ति वा पुणो ।" भूतानि रूपाण्यबद्धाऽस्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा । दर्श० ४ तत्त्व । " भूतरूपाणि वा । " आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० २ उ० ।

भूयलया–भूतलता–स्त्री० । लताभेदे, रा० ।

भूयवडिंसिया–भूतावतंसिका–स्त्री० । रतिकरपर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि स्थितायां शक्रस्य देवेन्द्रस्याग्रमहिष्याम् , अप्सरसः स्वनामख्यातायां राजधान्याम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० । " भूया भूयवडिंसा,पया,पुव्वेण दक्खिणेण भवइ" द्वी० ।

भूयवर–भूतवर–पुं० । भूतोदसमुद्रस्थे देवे , चं० प्र० २० पाहु० । सूत्र० ।

भूयवाइय–भूतवादिक–पुं० । व्यन्तरनिकायभेदे , तन्निवासिनि व्यन्तरजातिभेदे च । प्रव० १६४ द्वार । गन्धर्वभेदे , प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० । औ० । बार्हस्पत्यमतानुसारिणि चार्वाके , तैर्हि भूतव्यतिरिक्तं नाऽऽत्माऽऽदि किञ्चिन्मन्यत इति । सूत्र० १श्रु० १ अ० १ उ० ।

भूयवाय –भूतवाद–पुं० । भूताः सद्भूताः पदार्थास्तेषां वादो भूतवादः । स्था० १० ठा० । अशेषविशेषान्वितस्य समग्रवस्तुस्तोमस्य भूतस्य सद्भूतस्य वादो भणनं यत्राऽसौ भूतवादः । अथवा–अनुगतव्यावृत्ताऽपरिशेषधर्मकलापान्वितानां सभेदप्रभेदानां भूतानां प्राणिनां वादो यत्राऽसौ भूतवादः । विशे० । दृष्टिवादे, कर्म० ६ कर्म० ।

भूयविगम–भूतविगम–पुं० । भूतानां पृथिव्यादीनां विगम आत्यन्तिको वियोगो भूतविगमः । पृथिव्यादीनामात्यन्तिके वियोगे , पो० १६ विव० ।

भूयविज्जा–भूतविद्या–स्त्री० । भूताऽऽदीनां निग्रहार्थं विद्या तन्त्रं भूतविद्या । आयुर्वेदभेदे , सा हि देवासुरगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचनागग्रहाऽऽद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिकरणाऽऽदिग्रहोपशमनार्थमिति । स्था० ८ ठा० । विपा० ।

भूयसग्ग–भूतसर्ग– पुं० । भूतानां सृष्टौ, स्था० । ब्राह्मप्राजापत्यसौम्यैन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपिशाचभेदादष्टविधो दैव सर्गः।पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात्पञ्चविधस्तैर्यग्योनः । ब्राह्मणत्वाऽद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो मानुषः । इति चतुर्दशधा भूतसर्गः । स्या० ।

भूयसिरी– भूतश्री– स्त्री० । चम्पानगरीस्थस्य सौमदेवब्राह्मणस्य भार्यायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० । ( तद्वक्तव्यता ' दुवई ' शब्दे चतुर्थभागे २५७७ पृष्ठे गता )

भूयसिहा–भूतशिखा–स्त्री० ।विराटविषयस्थसिंहपुरनगरस्थस्य धर्मनामकग्रामेयकस्य भार्यायाम् , दर्श० २ तत्त्व ।

भूयहिय–भूतहित–त्रि० । भूताः प्राणिनस्तेषां हित पथ्यो भूतहितः । प्राणिनां पथ्ये, दर्श० ४ तत्त्व ।

भूया-भूता-स्त्री०। आर्यसंभूतविजयस्य शिष्यायां महापद्मपतेर्नवमनन्दस्य मन्त्रिणः शकटालस्य दुहितरि स्थूलभद्रस्य भगिन्याम्, आ० चू० ४ अ०। आ० क०। ति०। आव०। कल्प०। रतिकरपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि स्थितायां शक्रस्य देवेन्द्रस्यामलाया अग्रमहिष्याः स्वनामख्यातायां राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। द्वी०। राजगृहनगरस्थस्य सुदर्शनस्य गृहपतेः प्रियायां भार्यायामुत्पन्नायां स्वनामख्यातायां दारिकायाम्, नि०। (तद्वक्तव्यता 'सिरिदेवी' शब्देऽन्तिमभागे भविष्यति)

भूयाणंद-भूतानन्द-पुं०। स्वनामख्याते नागकुमारेन्द्रे, स्था० ६ ठा०। स०। आ० चू०। जीवा०। प्रज्ञा०। भ०। राजगृहनगरस्थस्य कूणिकराजस्य स्वनामख्याते हस्तिनि, भ० १७ श० १।

भूयाणंदे णं भंते! हत्थिराया कश्रोहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता?, भूयाणंदे एव जहेव उदायी ० जाव अंतं काहिति। भ० १७ श० १ उ०।

भूयाणंदप्पह-भूतानन्दप्रभ-पुं०। अरुणोदसमुद्रस्थे स्वनामख्याते भूतानन्दस्योत्पातपर्वते, स्था० १० ठा०।

भूयाभिसंक-भूताभिशङ्क-त्रि०। भूतान्यभिशङ्कन्ते बिभ्यति यस्मात्स तथा। भूतानां भयङ्करे, स्था० ७ ठा०।

भूयाभिसंका-भूताभिशङ्का-स्त्री०। भूतेषु जन्तुषूपमर्दशङ्का भूताभिशङ्का। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवं बुद्धौ, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

भूयावाय-भूतावाद-पुं०। 'भूयवाय' शब्दार्थे, विशे०।

भूयोवघाय-भूतोपघात-त्रि०। भूतानां सत्त्वानामुपघातो यस्मिन् सः। सत्त्वोपघातके, "भूयोवघायाइवयणपरिहारं।" भूतोपघातं-छिन्धि, भिन्धि, व्यापादयेत्यादि। आव० ४ अ०।

भूयोवघाइय-भूतोपघातिक-त्रि० भूतान्येकेन्द्रिया., तानर्थेन उपहन्तीति भूतोपघातिक। स० २० सम०। भूतानामुपहन्तरि, आ० चू० ४ अ०। आचा०। भूतोपघातिकाः प्रयोजनमन्तरेण ऋद्धिरससातागौरवैर्वा भूषा निमित्तं वा आधाकर्माऽऽदिकं वा पुष्टाऽऽलम्बनेऽपि समाददानः अन्यद्वा तादृशं किञ्चित् भाषते वा करोति येन भूतोपघातो भवति। दशा० १ अ०।

भूयोवरोह-भूतोपरोध-पुं०। भूतानि पृथिव्यादीनि तेषामुपरोधस्तत्सङ्घट्टनाऽऽदिलक्षणो भूतोपरोधः। पृथिव्यादीनां सङ्घट्टनाऽऽदिके, "भूयोवरोहरहिश्रो, सो देसो भायमाणस्स।" आव० ४ अ०।

भूर-भूर्-अव्य०। भूलोके, गा०।

भूरि-भूरि-पुं०। भू-क्रिन्। विष्णौ, शिवे, इन्द्रे च। स्वर्णे, न०। प्रचुरे, त्रि०। वाच०। अष्ट० १७ अष्ट०। ध०। सूत्र०।

भूरुहिया-देशी-शृगालयाम्, दे० ना० ६ वर्ग० १०१ गाथा।

भूरिवण्ण-भूरिवर्ण-त्रि०। अनेकवर्णे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

भूसण-भूषण-न०। भूष्यतेऽनेन भूष.। करणे, ल्युट्। आभरणे, औ०। जी०। "आहरणं भूसणं अलंकारो।" पाइ० ना० ११६ गाथा। प्रज्ञा०। नूपुराऽऽदिके, स्था० २ ठा० ३ उ०। आभरणान्यङ्गपरिधेयानि भूषणान्युपाङ्गपरिधेयानीति। कल्प० १ अधि० २ क्षण। भावे ल्युट्। शोभाकरणे, उत्त० १६ अ०। मण्डनाऽऽदिना विभूषाकरणे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार।

भूसिय-भूषित-त्रि०। भूष-क्तः। अलङ्कृते, वाच०। अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०।

भे-युष्मत्-त्रि०। भवति, "भे तुब्भे।" पाइ० ना० २३१ गाथा। "भे तुब्भे तुज्झ तुम्ह तुय्हे उय्हे जसा" ॥ ८। ३। ६१ ॥ प्रा० ३ पाद।

भेइल्ल-भेदवत्-त्रि०। मत्वर्थे इल्लप्रत्ययः प्राकृतलक्षणवशात्। भिन्ने, पं० सं० ४ द्वार।

भेग-भेक-पुं०। भी-कन्, कस्य नेत्वम्। जन्तुभेदे, मेघे। स्त्रियां ङीप्। "भेकी पादेन घातिता।" आ० क० १ अ०। मण्डूकपर्ण्यां च। वाच०।

भेज्ज-देशी-भीरौ, दे० ना० ६ वर्ग १०७ गाथा।

भेज्जलअ-देशी-भीरौ, दे० ना० ६ वर्ग १०७ गाथा।

भेंडी-भिण्डी-स्त्री०। गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

भेंडियालिंग-भिण्डिकालिङ्ग-न०। अभ्राश्रयविशेषे, जी० ३ प्रति० १ अधि० २ उ०।

भेड-भेर-पुं०। "किरिभेरे रो डः" ॥ ८। १। २५१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणास्य डः। प्रा० १ पाद। मिश्रीकरणे, स्था० ६ ठा०। भीरौ, दे० ना० ६ वर्ग १०७ गाथा।

भेत्तव्व-भेत्तव्य-त्रि०। भेदनीये, नि० चू० २० उ०।

भेत्ता-भेत्तृ-त्रि०। शूलाऽऽदिना भेदनकर्तरि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। आचा०।

भेत्तुं-भित्त्वा-अव्य०। भेदनं कृत्वेत्यर्थे, व्य०। प्रा० २ पाद।

भेत्तुआण-भित्त्वा-अव्य०। 'भेत्तुं' शब्दार्थे, व्य०। प्रा० २ पाद०।

भेय-भेद-पुं०। भिद्-घञ्। पृथक्करणे, "भेदो वियोजनमिति।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। नि० चू०। भेदो विघटनमिति। आ० म० १ अ०। विशे०। सम्म०। छेदे, रा०। ज्ञा०। विदारणे, आव० ४ अ०। अनु०। द्वैधीभावोत्पादने, दर्श० ४ तत्त्व। स्फोटने, स्था० ५ ठा० १ उ०। चूर्णने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। नाशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। स०। भिद्यते परस्परमिति भेद। विशे०। आ०। विशेषो भेदो व्यक्तिरित्यनर्थान्तरम्। स्था० २ ठा० १ उ०। विशे०। आ० म०। विशेषाः भेदा पर्यायाः। विशे०। भङ्गे, भ० २ श० १ उ०। भङ्गः प्रकारो भेद इति। अनु०। "भेदो त्ति वा, विकप्पो त्ति वा, पगारो त्ति वा एगट्ठा।" आ० चू० १ अ०। भेदा विकल्पा अंशा इति। नं०। प्रकृतिरंशो भेद इति पर्यायाः। आव० ४ अ०। "पयडीओ त्ति वा, पज्जाओ त्ति वा, भेद त्ति वा एगट्ठा।" आ० चू० १ अ०। दर्श०। आव०। सूत्र०। स्था०। उत्त०। प्रव०। विजिगीषितशत्रुपरिवारस्य स्वाम्यादिस्नेहापनयनाऽऽदिके नीतिभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। आ० म०। नायकसेवकयोश्चित्तभेदकरण भेद इति। विपा० १ श्रु० ४

अ० । स्वामिनः पदातिषु, पदातीनां च स्वामिन्यविश्वासोत्पादनं भेद इति । विपा० १ श्रु० ३ अ० । तद्रूपे अर्थयोनिभेदे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० । उक्तं च-" स्नेहरागापनयनं, संघर्षोत्पादनं तथा । संतर्जनञ्च भेदस्ते-भेदस्तु त्रिविधः स्मृत. ॥ ४ ॥ " संघर्षः स्पर्द्धा, सतर्जनं चास्यास्मन्मित्रविग्रहस्य परित्राणं मत्तो भविष्यतीत्यादिरूपमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । न्यायमतोक्ते अन्योन्याभावे च । यथा घटात् पटस्य भेदः तादात्म्येनाभावः । वाच० । भेदा नाम गृहीतचापाऽऽदिका रात्रौ च जीवहिंसाऽऽदिपरा म्लेच्छविशेषाः । विशे० ।

भेयइत्ता-भेदयित्वा-अव्य० । भेदं कारयित्वेत्यर्थः । स्था० । ६ ठा० ।

भेयकर-भेदकर-त्रि० । भेदनकारिणि, औ० । आचा० । येन कृतेन गच्छस्य भेदो भवति तत्तदातिष्ठत इति । दशा० १ अ० ।

भेयग-भेदक-त्रि० । भिद्-एवुल् । रेचके, विदारके, भेदकारके, विशेषणे च । वाच० । व्य० १ उ० । नि० चू० । ( ' भिक्खु ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५६४ पृष्ठे व्याख्या गता )

भेयण-भेदन-त्रि० । भेदयति । भिद्-णिच्-ल्युः । विरेचने, विशेषणे च । हिङ्गौ, अम्लवेतसे च । पुं० । न० । भिद् भावे-ल्युट् । विदारणे, वाच० । व्य० १ उ० । द्वैधीभावोत्पादने, दश० ८ अ० । नि० चू० । प्रश्न० । अनु० । " एगे भेयणे ।" भेदनं कुन्ताऽऽदिना, अथवा-भेदनं रसघात इत्येकता च विशेषाऽविवक्षणादिति । स्था० १ ठा० । ज्ञा० । स्फोटने, स्था० ५ ठा० १ उ० । ' कुवणयमादी भेदो । ' ' कुवणओ । ' लगुडस्तेन, आदिशब्दादुपलभेदकाऽऽदिभिर्वा घटाऽऽदिभेदो भेदनम् । बृ० ४ उ० । चूर्णने च । न० । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

भेयपरिणाम-भेदपरिणाम-पुं० । परिणामभेदे, सूत्र० । भेदपरिणामः खण्डप्रतरचूर्णकाऽनुतटिकोत्करिकाभेदेन पञ्चधैव । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । स्था० । ( खण्डाऽऽदिस्वरूपप्रतिपादकं गाथाद्वयम् ' पोग्गलपरिणाम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११०८ पृष्ठे गतम् )

भेयविमुत्तिकारग-भेदविमूर्तिकारक-पुं० । भेदश्चारित्रभेदो, विमूर्तिश्च विकृतनयनवदनाऽऽदित्वेन विकृतशरीराऽऽकृतिः, तयोः कारकः चारित्रभेद. । विकृतशरीराऽऽकृत्यो. कर्त्तरि, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

भेदविमुक्तिकारक-त्रि० । विमुक्तेर्मोक्षमार्गस्य भेदकारकः । विमुक्तिभेदकारक इति वाच्ये राजदन्ताऽऽदिषु दर्शनाद् भेदविमुक्तिकारकः । मोक्षमार्गस्य भेदकारके, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

भेयसमावण्ण-भेदसमापन्न-त्रि० । मतेर्द्वैधीभावं प्राप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । उपा० ।

भेरंड-भेरण्ड-पुं० । देशभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

भेरंडिक्खु-भेरण्डेक्षु-पुं० । भेरण्डदेशोद्भवे इक्षुभेदे, जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

भेरव-भैरव-न० । भीरोरिदम् अण् । सिंहाऽऽदिसमुत्थे भये, जं० २ वक्ष० । कल्प० । भयानके, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । आ० म० । सूत्र० । ज्ञा० । भैरवा अत्यन्तसाध्वसोत्पादकाः । उत्त० १५ अ० । " भेरवं भयानकं, तं दुविधं-ओविआओ, चारित्ताओ वा ववरोविह ।" नि० चू० १६ उ० । भयसाध्ये च । त्रि० । नाट्याऽऽदिप्रसिद्धे भयानके रसे, शङ्करे, तदवतारभेदे, रागभेदे च । वाच० ।

भेरि-भेरि-स्त्री० । ढक्कायाम्, जं० ३ वक्ष० । रा० । जी० । आ० म० । कल्प० । आचा० । आ० चू० । महाढक्कायाम्, भ० ५ श० ४ उ० । ढक्काऽऽकृतिके वाद्यविशेष, रा० । महाकाहलायाम्, औ० । दुन्दुभ्याम्, दर्श० १ तत्त्व । प्रश्न० । पटहे, " रवः प्रगल्भाऽऽहतभेरिसम्भवः ।" " ततः शङ्खाश्च भेर्य्यश्च । " वाच० ।

भेरी-भेरी-स्त्री० । ' भेरि ' शब्दार्थे, जं० ३ वक्ष० ।

भेरुंड-भेरुण्ड-पुं० । निर्विषे सर्पभेदे, उत्त० । " भद्दए नेव होयव्व, पावइ भद्दाणि भद्दओ । सविसो हम्मई सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चई ॥ १ ॥ " उत्त० १२ अ० । चित्रके, दे० ना० ६ वर्ग १०८ गाथा । भारुण्डपक्षिणि, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा ।

भेरुताल-भेरुताल-पुं० । वृक्षविशेषे, " तत्थ तत्थ बहवे भेरुतालवणाइं ।" जं० २ वक्ष० ।

भेलइत्ता-भेलित्वा-अव्य० । स्वपातिभिर्मिश्रान् कारणिकान् कृत्वेत्यर्थे, स्था० ६ ठा० ।

भेली-देशी-आज्ञावेढाचेटीषु, दे० ना० ६ वर्ग ११० गाथा ।

भेसज्ज-भैषज्य-न० । भेषजमेव, भिषजः कर्म्म वा, ष्यञ् । औषधे, ग० २ अधि० । व्य० । पथ्ये, आहारविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । रा० । उपा० । " ओसहभेसज्जभत्तपाणएण पडियारं करेमाणे विहरइ ।" ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । औषधमेकद्रव्यरूपं, भेषजं द्रव्यसंयोगरूपम् । अथवा-औषधमेकानेकद्रव्यरूपं, भेषजं तु पथ्यम् । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । आ० म० । औषधमेकद्रव्याऽऽश्रयं, भैषज्यं तु द्रव्यसमुदायरूपम् । अथवा-औषधं तृफलाऽऽदि, भैषज्य पथ्यम् । औ० । दशा० । विपा० । औषधानि केवलद्रव्यरूपाणि बहिरुपयोगीनि वा, भैषज्यानि सायोगिकानि अन्तर्भोग्यानि वा । ग० १ अधि० । ज्ञा० ।

भेसज्जगण-भैषज्यगण-पुं० । औषधसमूहे " किं पुण भेसज्जगणो, घेत्तव्वो गिलाणरक्खट्ठा ।" व्य० ५ उ० ।

भेसज्जदाण-भैषज्यदान-न० । पथ्यवितरणे, औषधदाने च । पञ्चा० ४ विव० ।

भेसण-भीषण-न० । विभीषणे, बृ० ३ उ० । " तुरियं से भेसणट्ठाए ।" भीषणार्थम् । आ० म० १ अ० ।

भेसणग-भीषणक-त्रि० । भयजनके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

भेसय-भेषज-न० । भेष-घञ् । भेषं रोगभयं जनयति । औषधे, वाच० । नि० चू० १ उ० । विशे० ।

भेसिय-भेषित-त्रि० । भयं प्रापिते, आव० ६ अ० ।

भो—भोस्—अव्य० । सम्बोधने , वाच० । " इति भो इ-ति भो त्ति ते अप्पमत्तस्स किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभ-वमाणा विहरइ ।" इत्येतत्काव्यमस्ति । भोशब्दश्चाऽऽमन्त्रणे इति । भो इति भो त्ति ति परस्पराऽऽलापानुकरणम् । भ० ३ श० १ उ० । आचा० । आ० चू० । व्य० । सूत्र० । ल० । दश० । रा० । ध० । उत्त० । ज्ञा० । भोरित्या—मन्त्रण इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रश्ने , वि-षादे च । वाच० ।

भोअ-भोग-पुं० । सर्पफणायाम् , " भोओ फणा फणत्थे ।" पाइ० ना० १५१ गाथा । भाटी, दे० ना० ६ वर्ग १०६ गाथा ।

भोइअ-भोगिक-पुं० । ग्रामप्रधाने , " गामणी भोइओ य गामवई ।" पाइ० ना० १०४ गाथा । दे० ना० ।

भोइ( ण् )-भोगिन्-पुं० । भोग अस्त्यर्थे इनिः । सर्पे, नृपे, ग्रामाध्यक्षे, नापिते च । भोगयुक्ते, त्रि० । भोगवद्द्वयः । सर्पे, भोगयुक्ते, त्रि० । वाच० । कामिनि, द्वा० १५ द्वा० । यो० विं० ।

भोजिन्-पुं० । भुङ्क्ते, इत्येवंशीलो भोजी । भ० २ श० १ उ० । भोक्तरि, आव० ४ अ० । राजनि , व्य० ५ उ० । ग्रामस्वामि-नि, व्य० ७ उ० ।

भोइकुल-भोजिकुल-न० । राजकुले, व्य० ५ उ० ।

भोइग-भोगिक-पुं० । भोगेन विशिष्टनेपथ्याऽऽदिना चरति भोगिकः । नृपतिमान्ये प्रधानपुरुषे, उत्त० १५ अ० । ग्रामस्वा-मिनि, बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । भोग इन् कः । भोगवं-शोद्भवे च । विषयभोक्तरि, त्रि० । उत्त० १५ अ० । बृ० ।

भोइणी-भोगिनी-स्त्री० स्वामिन्याम् , नि० चू० १० उ० ।

भोइत्ता-भोजयित्वा-अव्य० । भोजन कारयित्वेत्यर्थे, उत्त० ६ अ० । स्था० ।

भोइया-भोजिका-स्त्री० । भोजयति भर्तारमिति भोजिका । बृ० १ उ० २ प्रक० । भार्यायाम् ग० २ अधि० । व्य० । बृ० । महिलायां च । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

भोज्या-स्त्री० । वेश्यायाम् , व्य० ७ उ० ।

भोई-भवती-स्त्री० । भा—डवतुः । ङीप् । युष्मदर्थे , " जहा य भोई तणुयं भुयगो ।" उत्त० १४ अ० ।

भोऊण-भुक्त्वा-अव्य० । भोजनं कृत्वेत्यर्थे, " त्व-ध्व—द्व-ध्वां चछजझाः क्वचित् " ॥ ८ । २ । १५ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण तस्य चादेशः । प्रा० २ पाद । " रुदभुजमुचां तोऽन्त्यस्य " ॥ ८ । ४ । २१२ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणैषामन्त्यस्य नः त्वातुमृतव्येषु । प्रा० ४ पाद । उत्त० । सूत्र० । पञ्चा० ।

भोग-भोग-पुं० । भावे-घञ् । भोजने, स्था० ३ ठा० ३ उ० । वि-पाके, पञ्चा० । विषयेषु भोगक्रियायाम्, स्था० १० ठा० । भोग-स्तदुपयोगेन सफलीकरणमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । भोग इन्द्रियार्थसम्बन्ध इति । द्वा० २४ द्वा० । मदनकामे, का-मा इच्छारूपा मदनकामास्तु भोगाः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । शब्दाऽऽदिविषयाभिलाषे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । सुखे, सुखदुःखाऽऽद्यनुभवे, पण्यस्त्रीणां भाटकाऽऽदिरूपे वेतने, पालने , ज्योतिषोक्ते ग्रहाणां तत्तद्राशिस्थितौ भूम्यादिषूप-भुक्तव्यविनियोगे, यथेष्टविनियोगे च । " बन्धूनामविभक्तानां, भोगं नैव प्रदापयेत् ।" इति स्मृतिः । वाच० । योगशास्त्रोक्ते सत्त्वपुरुषयोरभेदाध्यवसाये च । तदुक्तम्—" सत्त्वपुरुषयो-रत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थः स्वार्थसंयमा-त्पुरुषज्ञानमिति ।" द्वा० २६ द्वा० । भुज्यते इति भोगः । इन्द्रि-यमनोऽनुकूले शब्दाऽऽदिके विषये, यो० विं० । सूत्र० । उत्त० । पञ्चा० । चं० प्र० । स्था० । ध० । जं० । विपा० । दश० । प्रज्ञा० । कल्प० । भ० । आ० म० । स० । स्पर्शाऽऽदिके विषये, उत्त० ५ अ० । आव० । जी० । कामौ शब्दरूपे, भोगा गन्धरस—स्पर्शाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० । औ० । तं० । " भोगे-हिं संवुडे । " भोगा गन्धरसस्पर्शाः, तेषु मध्ये संवृद्धो वृद्धि-मुपगतः । भ० ६ श० ३३ उ० । आतु० । आऽ चू० ।

कइविहा णं भंते ! भोगा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा भोगा पण्णत्ता । तं जहा-गंधा, रसा, फासा ।

भुज्यते सकृदुपयुज्यत इति भोगः । सकृदुपभोग्ये पुष्पाऽऽ-हाराऽऽदिके विषये, भ० ७ श० ७ उ० ।

रूवी भंते ! भोगा अरूवी भोगा ?। गोयमा ! रूवी भोगा नो अरूवी भोगा । सचित्ता भंते ! भोगा, अचित्ता भोगा ?। गो-यमा ! सचित्ता वि भोगा, अचित्ता वि भोगा । जीवा णं भंते ! भोगा पुच्छा ?। गोयमा ! जीवा वि भोगा, अजीवा वि भोगा । जीवाणं भंते ! भोगा , अजीवाणं भोगा ? । गोयमा ! जीवाणं भोगा, नो अजीवाणं भोगा ।

( रूविमित्यादि ) भुज्यन्ते शरीरेण उपभुज्यन्ते इति भो-गा विशिष्टगन्धरसस्पर्शद्रव्याणि , ( रूविं भोग त्ति ) रूपि-णो भोगा नो अरूपिणः, पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्त्तत्वादिति । (सचित्तेत्यादि) सचित्ता अपि भोगा भवन्ति गन्धाऽऽदिप्रधान-जीवशरीराणां केषाञ्चित्समनस्कत्वात् । तथा अचित्ता अपि भोगा भवन्ति, केषाञ्चिद्गन्धाऽऽदिविशिष्टजीवशरीराणाममन-स्कत्वात्, ( जीवा वि भोग त्ति ) जीवशरीराणां विशिष्टगन्धा-ऽऽदिगुणयुक्तत्वात् , ( अजीवा वि भोग त्ति ) अजीवद्रव्या-णां विशिष्टगन्धाऽऽदिगुणोपेतत्वादिति । भ० ७ श० ७ उ० । उक्तं हि—" सति भुञ्जति त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमा-ईओ । " उत्त० ३३ अ० । कर्म० । पं० स० । स्था० । प्रज्ञा० । भो-गा० स्रक्चन्दनवादित्राऽऽदय० । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । भोगोऽत्र माल्यताम्बूलविलेपनोद्वर्त्तनस्नानपानाऽऽदि० । ध० २ अधि० । भुज्यन्ते शरीरेणोपभुज्यन्ते इति भोगाः । विशिष्टगन्धरसस्पर्श-द्रव्येषु, भ० ७ श० ७ उ० । आधारे घञ् । भोगाऽऽधारभूते वस्तुनि, स्त्री० । शरीराऽऽदौ, आ० १ श्रु० १ अ० । जं० ।

छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से जे भविए अन्नयरेसु देवलो-एसु देवत्ताए उववज्जित्तए, से णूणं भंते ! से खीणभोगी णो पभू उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए । से णूणं भंते ! एयमट्ठं एवं वयह ? । गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, पभू णं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण

वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अण्णयराइं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए, तम्हा भोगी भोगे परिच्चयमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ। आहोहिए णं भंते ! मणुस्से जे भविए अण्णयरेसु देवलोएसु एवं चेव जहा छउमत्थे० जाव महापज्जवसाणे भवइ। परमाहोहिए णं भंते ! मणुस्से जे भविए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए० जाव अंतं करित्तए ?। से णूणं भंते ! से खीणभोगी सेसं जहा छउमत्थस्स वि। केवली णं भंते ! मणुस्से जे भविए तेणेव भवग्गहणेणं एवं जहा परमाहोहिए० जाव महापज्जवसाणे भवइ। (सूत्र-२६१)

"छउमत्थेणं" इत्यादि सूत्रचतुष्कं,तत्र च-(से णूणं भंते ! से खीणभोगि त्ति) (से त्ति) असौ मनुष्यो नूनं निश्चितं भदन्त ! (से त्ति) अयमर्थः, अथशब्दश्च परिप्रश्नार्थः। (खीणभोगि त्ति) भोगा जीवस्य यत्रास्ति तद्भोगि शरीरं तत्क्षीणं तपोरोगाऽऽदिभिः यस्य स क्षीणभोगी क्षीणतनुर्दुर्बल इति यावत्। (णो पभु त्ति) न समर्थः (उट्ठाणेणं ति) ऊर्द्ध्वीभवनेन (कम्मेणं ति) गमनाऽऽदिना (बलेण त्ति) देहप्रमाणेन (वीरिएणं ति) जीवबलेन पुरिसक्कारपरक्कमेण ति) पुरुषाऽभिमानेन, तेनैव च साधितस्वप्रयोजनेनेत्यर्थः। (भोगभोगाइं ति) मनोज्ञशब्दाऽऽदीन् (से णूणं भंते ! एयमट्ठं एवं वयह) अथ निश्चितं भदन्त एतमनन्तरोक्तमर्थम् एवमुनैव प्रकारेण वदथ यूयमिति प्रश्नः। पृच्छतोऽयमभिप्रायः-यद्यसौ न प्रभुस्तदाऽसौ भोगभोजनासमर्थत्वान्न भोगी, अत एव नो भोगत्यागीत्यतः कथं निर्जरावान्। कथं वा देवलोकगमनपर्यवसानोऽस्तु ?, उत्तरं तु-(नो इणट्ठे समट्ठे त्ति) कस्मात् ?, यतः (पभू णं से त्ति) स क्षीणभोगी मनुष्यः (अन्नतराइं ति) एकतरान् कांश्चित्क्षीणशरीरसाधूचितान्, एवं चोचितभोगभुक्तिसमर्थत्वाद्भोगित्वं तत्प्रत्याख्यानाच्च तत्यागित्वं, ततो निर्जरा, ततोऽपि च देवलोकगतिरिति। (आहोहिएणं ति) आधोऽवधिकः नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी (परमाहोहिएणं ति) परमाधोवधिकज्ञानी, अयं च चरमशरीर एव भवतीत्यत आह—(तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए इत्यादि) भ० ७ श० ७ उ०।

भोगापेक्षा दुःखाय भवति। तथा चोक्तम्-

"भोगे अवयक्खंता, पडंति संसारसागरे घोरे।
भोगेहिँ निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं॥१॥" इति।
सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

उक्तं च-

"धर्मादपि भवन् भोगः, प्रायोऽनर्थाय देहिनाम्।
चन्दनादपि संभूतो, दहत्येव हुताशनः॥६॥" द्वा० २३ द्वा०।
(व्याख्या 'थिरा' शब्दे चतुर्थभागे २४११ पृष्ठे गता)

भोगेभ्यो निवृत्तिश्चावश्यं कार्या। तथा च सूत्रम्—

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमियऽप्पणो॥३४॥

अध्रुवम् अनित्यं मरणाऽऽशङ्कि, जीवितं सर्वभावनिबन्धनं ज्ञात्वा, तथा सिद्धिमार्गं सम्यग् दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं विज्ञाय विनिवर्तेत भोगेभ्यो बन्धैकहेतुभ्यः, तथा ध्रुवमप्यायुः परिमितं संवत्सरशताऽऽदिमानेन विज्ञायाऽऽत्मनो विनिवर्तेत भोगेभ्य इति सूत्रार्थः। दश० ८ अ० २ उ०। घने, देहे, वाच०। भोग. शरीरमिति। जं० २ वक्ष०। तं०। औ०। ज्ञा०। सर्पफणे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। अर्शं आद्यच्। सर्पे, वाच०। भोगार्हत्वाद् भोगः। कल्प० १ अधि० ७ क्षण। आदिराजेन ऋषभदेवेन गुरुत्वेन व्यवस्थापिते कुलाऽऽर्यभेदे, तद्वंशजे च। अनु०। स्था०। भोगा भगवतो नाभेयस्य राज्यकाले ये गुरव आसन्, तद्वंशजा अपि तद्व्यपदेश्याः। स्था० ३ ठा० १ उ०। "भोगकुलाणि वा।" भोगा राज्ञः पूज्यस्थानीया इति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०। ज्ञा०। ज्ञा० म०। प्रश्न०। भ०। प्रज्ञा०। कल्प०। चू०। औ०। उपयोगे, बृ० १ उ० २ प्रक०।

भोगअइरियत्ता-भोगातिरिक्तता-स्त्री०। भोगाऽऽधिक्ये, ध० २ अधि०।

भोगंकरा-भोगङ्करा-स्त्री०। अधोलोकवास्तव्याया स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्य्याम्, आ० म० १ अ०। ति०। जं०। आ० क०। स्था०। आ० चू०।

भोगंग-भोगाङ्ग-न०। रूपाऽऽदिके, "अङ्गाभावे यथा भोगोऽतात्त्विको मानहानितः।" अङ्गानां भोगानां रूपवयोवित्ताऽऽत्म्यत्वाऽऽदीनां वात्स्यायनोक्तानामभावे सति यथो भोगोऽतात्त्विकोऽपारमार्थिकः। द्वा० १४ द्वा०। यथोक्तम्-"रूपवयोवैचक्षण्यसौभाग्यमाधुर्यैश्वर्य्याणि भोगसाधनम्।" यो० बिं०। पं० सं०।

भोगंतराय-भोगान्तराय-न०। यदुदयवशात्सत्यपि विशिष्टाऽऽहाराऽऽदिसंभवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा केवलकार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायमित्युक्तलक्षणे अन्तरायकर्मभेदे, प्रज्ञा० २३ पद। कर्म०। पं० सं०। स०।

भोगकामि-भोगकामिन्-पुं०। भोगाभिलाषिणि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

भोगकिरिया-भोगक्रिया-स्त्री०। भोगकरणे, "भोगकिरियासु रूवाइकप्पं।" पं० सू० ४ सूत्र०।

भोगकुल-भोगकुल-न०। राज्ञः पूज्यस्थानीये कुले, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ०।

भोगत्थ-भोगार्थ-न०। भोगकृते, "भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

भोगद्धि(न्)-भोगार्थिन्-त्रि०। मनोज्ञगन्धरसस्पर्शार्थिनि, नि० चू० १६ उ०। औ०। ज्ञा०।

भोगपव्वइय-भोगप्रव्रजित-पुं०। भोगो य आदिदेवेन गुरुत्वेन व्यवहृतस्तद्वंशजश्च भोगः, भोगः सन् प्रव्रजितो भोगप्रव्रजितः। भोगवंशजे प्रव्रजिते, औ०।

भोगपाय-भोगपात-पुं०। भोगनाशे, स्था० ५ ठा० २ उ०।

भोगपुत्त-भोगपुत्र-पुं०। आदिदेवस्थापितगुरुवंशजे कुमारे, औ०।

भोगपुर-भोगपुर-न०। स्वनामख्याते पुरे, यत्रत्येन महेन्द्रेण

क्षत्रियेण महावीरस्वामिन उपद्रवे कृते सनत्कुमारो देवेन्द्रः प्रादुर्भूय तं निर्धाटितवानिति । आ० म० १ अ० । आ० चू० । ध० र० ।

भोगपुरिस-भोगपुरुष-पुं० । भोगप्रधानः पुरुषो भोगपुरुषः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।('पुरिस'शब्देऽस्मिन्नेव भागे१०१२ पृष्ठे व्याख्या ) भोगपुरुषः संप्राप्तसमग्रविषयसुखभोगोपभोगसमर्थश्चक्रवर्तिवत् । आ० म० १ अ० । अन्यैरुपार्जितानामर्थानां भोगकारिणि नरे, भ० १२ श० ७ उ० ।

भोगभूमि-भोगभूमि-स्त्री० । भोगस्यैव भूमिः स्थानम् । देवकुर्वादिकायामकर्मभूमौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० ।

भोगभूरिया-भोगभूरिता-स्त्री० । स्नानपानभोजनचन्दनकुङ्कुमकस्तूरीकावस्त्राऽऽभरणाऽऽदेः स्वकीयकुटुम्बव्यापारणापेक्षयाऽधिकत्वे. ध० २ अधि० ।

भोगभोग-भोगभोग-पुं० । भुज्यन्त इति भोगाः स्पर्शाऽऽदयः, भोगार्हा भोगा भोगभोगाः । भ० २५ श० ७ उ० । विपा० । प्रश्न० । जी० । आ० म० । रा० । स्था० । कल्प० । मनोज्ञेषु शब्दाऽऽदिविषयेषु, स० ३० सम० । भ० । चं० प्र० । जं० । अथवा-भोगेभ्य औदारिककायभाविभ्योऽऽतिशायिनो भोगा भोगभोगाः । जं० १ वक्ष० । अतिशयवत्सु शब्दाऽऽदिविषयेषु, नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० । सूत्र० । स्त्रीभोगे सत्यवश्य शब्दाऽऽदयो भोगा भोगभोगाः । स्त्रीभोगाऽऽसुपयोगिषु शब्दाऽऽदिविषयेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

जाहे णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजिउकामे भवति से कहमियाणिं पकरेंति ? । गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया एगं महं नेमिपडिरूवगं विउव्वति, एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं ०जाव अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं, तस्स णं नेमिपडिरूवस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते ०जाव मणीणं फासे , तस्स णं नेमिपडिरूवगस्स बहुमज्झदेसभागे तत्थ णं महं एगं पासायवडेंसगं विउव्वति , पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसियवन्नओ ०जाव पडिरूवे, तस्स पासायवडिंसगस्स उल्लोए पउमलयभत्तिचित्ते ०जाव पडिरूवे , तस्स णं पासायवडेंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे ०जाव मणीणं फासो मणिपेढिया अट्ठजोयणिया जहा वेमाणियाणं, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं महं एगे देवसयणिज्जे विउव्वइ सयणिज्जवन्नओ ० जाव पडिरूवे , तत्थ णं से सक्के देविंदे देवराया अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं दोहि य अणिएहिं नट्टाणिएण य गंधव्वाणिएण य सद्धिं महया हयनट्ट ०जाव दिव्वाइ भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।। जाहे ईसाणे देविंदे देवराया दिव्वाइं जहा सक्के तहा ईसाणे वि निरवसेसं , एवं सणंकुमारे वि , नवरं पासायवडेंसओ छ जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण तिन्नि जोयणसयाइं विक्खंभेणं मणिपेढिया तहेव अट्ठजोयणिया, तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगं सीहासणं विउव्वइ सपरिवारं भाणियव्वं , तत्थ णं सणंकुमारे देविंदे देवराया बावत्तरीए सामाणियसाहस्सीहिं ०जाव चउहिं बावत्तरीहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं य बहूहिं सणंकुमारकप्पवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महया ०जाव विहरइ । एव जहा सणंकुमारे तहा ०जाव पाणओ अच्चुओ, नवरं जो जस्स परिवारो सो तस्स भाणियव्वो, पासायउच्चत्तं जं सएसु सएसु कप्पेसु विमाणाणं उच्चत्तं अद्धद्धं वित्थारो ०जाव अच्चुयस्स नव जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धपंचमाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, तत्थ णं गोयमा ! अच्चुए देविंदे देवराया दसहिं सामाणियसाहस्सीहिं ०जाव विहरइ । ( सूत्र-५२० )

( जाहे णमित्यादि ) ( जाहे त्ति ) यदा " भोगभोगाइं ति " भुज्यन्त इति भोगाः- स्पर्शाऽऽदयः भोगार्हा भोगा भोगभोगाः मनोज्ञस्पर्शाऽऽदय इत्यर्थः,तान् "से कहमियाणिं पकरेइ त्ति, " अथ' कथं 'केन प्रकारेण तदानीं प्रकरोति ? प्रवर्त्तत इत्यर्थः, 'नेमिपडिरूवग त्ति ' नेमि.-चक्रधारा, तद्योगाच्चक्रमपि नेमि -तत्प्रतिरूपकं-वृत्ततया तत्सदृशं, स्थानमिति शेष. । 'तिन्नि जोयणेत्यादौ ' यावत्करणादिदं दृश्यम्-' सोलस य जोयणसहस्साइं दो य सयाइं सत्तावीसाहियाइं कोसतियं अट्ठावीसाहियं धणुसयं तेरस य अंगुलाइं ति ।' 'उवरिं ति ' उपरिष्टात् ' बहुसमरमणिज्जे त्ति ' अत्यन्तसमो रम्यश्चेत्यर्थ. । ' जाव मणीणं फासो त्ति ' भूमिभागवर्णकस्तावद्वाच्यो यावन्मणीनां स्पर्शवर्णक इत्यर्थ., स चायम्-"से जहा नाम ए आलिंगपोक्खरेइ वा, मुइंगपोक्खरेइ वा ।" इत्यादि, आलिङ्गपुष्करं मुरजमुखपुटं मर्द्दलमुखपुटं तद्वत्सम इत्यर्थ. । तथा-" सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीइहिं सउज्जोएहिं नाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोहिए तं जहा किण्हेहिं ५।" इत्यादि,वर्णगन्धरसस्पर्शवर्णको मणीना वाच्य इति । " अब्भुग्गयमूसियवन्नओ त्ति । " अभ्युद्गतोच्छ्रिताऽऽदिः प्रासादवर्णको वाच्य इत्यर्थ., स च पूर्ववत् , ' उल्लोए त्ति ' उल्लोक. उल्लोचो वा-उपरितलं ' पउमलयाभत्तिचित्ते त्ति ' पद्मानि लताश्च पद्मलता ,तद्रूपाभिर्भक्तिभि विच्छित्तिभिश्चित्रो य. स तथा, यावत्करणादिदं दृश्यम्-'पासादिए दरिसणिज्जे अभिरूवे त्ति' 'मणिपेढिया अट्ठजोयणिया जहा वेमाणियाणं ति' मणिपीठिका वाच्या । सा चाऽऽयामविष्कम्भाभ्यामष्टयोजनिका यथा वैमानिकाना सम्बन्धिनी, न तु व्यन्तराऽऽदिसम्बन्धि, तस्यान्यथा स्वरूपत्वात् । सा पुनरेवम्-" तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगं मणिपेढियं विउव्वइ , सा णं मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं

आयामविक्खंभेणं पन्नत्ता चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं स-व्वरयणामई अच्छा० जाव पडिरूव त्ति ।" ( सयणिज्जव-न्नओ त्ति ) शयनीयवर्णको वाच्य । स चैवम्—' तस्स णं देवसयणिज्जस्स इमेयारूवे वन्नावासे पत्ते ।' वर्ण-कव्यासः—वर्णकविस्तर, ' तं जहा-णाणामणिमया पडिपा-या सोवन्निया पाया णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं ।' इत्या-दिरिति । ' दोहि य अणिएहिं ति ' अनीकं सैन्यं ' नट्टाणीए-ण य त्ति ' नाट्यम्-नृत्यं तत्कारकमनीकं-जनसमूहो ना-ट्यानीकम्, एवं गन्धर्वानीकं, नवरं गन्धर्वं-गीतं, ' मह-येत्यादि ।' यावत्करणादिदं दृश्यम्-' महया हयनट्टगीयवा-इयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं ति ।' व्या-ख्या चास्य प्राग्वत्, इह च यत् शक्रस्य सुधर्मसभाल-क्षणभोगस्थानसद्भावेऽपि भोगार्थं नेमिप्रतिरूपकाऽऽदिविकु-र्वणं तज्जिनास्थ्नामाशातनापरिहारार्थं, सुधर्मसभायां हि माणवके स्तम्भे जिनाऽऽस्थीनि समुद्गकेषु सन्ति,तत्प्रत्यास-त्तौ च भोगानुभवने तद्बहुमान. कृतः स्यात्, स चाऽऽशा-भवतनेति । 'सिंहासणं विउव्वइ त्ति ।' सनत्कुमारदेवेन्द्र' सिं-हासनं विकुरुते, न तु शक्रेशानाविव देवशयनीयं, स्पर्शमा-त्रेण तस्य परिचारकत्वान्न शयनीयेन प्रयोजनमिति भावः । ' सपरिवारं ति । ' स्वकीयपरिवारयोग्याऽऽसनपरिकरित-मित्यर्थः, ' नवरं जो जस्स परिवारो सो तस्स भाणियव्वो त्ति ।' तत्र सनत्कुमारस्य परिवार उक्तः , एवं माहेन्द्रस्य तु सप्तति. सामानिकसहस्राणि चतस्रश्चाङ्गरक्षसहस्राणां सप्ततयः, ब्रह्मणः षष्टिः सामानिकसहस्राणां, लान्तकस्य पञ्चाशत्, शुक्रस्य चत्वारिंशत्, सहस्रारस्य त्रिंशत्, प्राण-तस्य विंशति, अच्युतस्य तु दश सामानिकसहस्राणि । स-र्वत्रापि च सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षा इति । ' पासा-यउच्चत्तं ज' इत्यादि । तत्र सनत्कुमारमाहेन्द्रयो. षड्यो-जनशतानि प्रासादस्योच्चत्वं, ब्रह्मलान्तकयो. सप्त, शुक्रस-हस्रारयोरष्टौ, प्राणतेन्द्रस्याच्युतेन्द्रस्य च नवेति । इह च स-नत्कुमाराऽऽदय सामानिकाऽऽदिपरिवारसहितास्तत्र नेमि-प्रतिरूपके गच्छन्ति, तत्समक्षमपि स्पर्शाऽऽदिप्रतिचारणा-या अविरुद्धत्वात्, शक्रेशानौ तु न तथा सामानिकाऽऽ-दिपरिवारसमक्ष कायप्रतिचारणाया लज्जनीयत्वेन विरुद्ध-त्वादिति ॥ भ० १४ श० ६ उ० ।

भोग्गभोग-पुं० । भोग्या ये भोगास्ते भोग्यभोगाः । भोगार्हे-षु शब्दाऽऽदिविषयेषु, उत्त० १४ अ० ।

भोगमालिणी-भोगमालिनी-स्त्री० । अधोलोकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम्, आ० क० १ अ० । जं० । आ० म० । ति० । आ० चू० । सा च जम्बूद्वीपमाल्यवत्पर्वत-रजतकूटस्थादेवी । स्था० ६ ठा० । जम्बूद्वीपमाल्यवत्पर्वत-स्थकूटानधिकृत्य रजतकूटं षष्ठम्, अत्र भोगमालिनी दिक्कुमा-री सुरी । जं० ४ वक्ष० ।

भोगरइ-भोगरति-स्त्री० । भोगाः शब्दाऽऽदयस्तेषु रतिराश-क्तिः । शब्दाऽऽदिविषयाऽऽशक्तौ, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

भोगरय-भोगरजस्-न० । भोगलक्षणं रजो भोगरज । भोगा-ऽऽत्मके रजसि, " भोगरएणं नोऽवलिप्पइ त्ति ।" औ० । भ० ।

भोगरत-न० । भोगानुरागे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

भोगराय-भोगराज-पुं० । भोगवंश्ये नृपे, "अहं च भोगरायस्स, तं च अंधगवण्हिणो । " दश० २ अ० । उत्त० ।

भोगलक्खण-भोगलक्षण-न० । भोगसूचकं लक्षणं भोगलक्षण-म् । भोगसूचके स्वस्तिकाऽऽदिके लक्षणे, "भोगलक्खणभोगल-क्खणधरा । " भोगसूचकानि लक्षणानि स्वस्तिकाऽऽदीनि धारयन्तीति भोगलक्षणधराः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । तं० ।

भोगवइ-भोगवती-स्त्री० । भोगः सर्पशरीरं भूम्नाऽस्त्यस्या मतुप् । मस्य वः । पातालगङ्गायाम्, वाच० । अधोलोकवा-स्तव्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्ष० । आ० क० । ति० । आ० म० । स्था० । आ० चू० । दक्षिणरुचकवास्त-व्यायां स्वनामख्याताया दिक्कुमार्याम्, चं० प्र० १८ पाहु० । ति० । आवश्यकचूर्णिस्थानाङ्गावश्यककथादौ तु शेषवतीति दृश्यते । राजगृहनगरस्थधनसार्थवाहसुतस्य धनदेवस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । पक्ष-स्य पञ्चदशसु रात्रिषु द्वितीयाया सप्तम्यां द्वादश्यां च रा-त्रौ, भोगवती भद्रातिथिरात्रिरिति । जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । सू० प्र० । ज्यो० ।

भोगवइया-भोगवतिका-स्त्री० । ब्राह्म्यालिपेर्लेख्यविधानभे-दे, प्रज्ञा० १ पद । स० ।

भोगविगम-भोगविगम-पुं० । भोगवियोगे, पञ्चा० ५ विव० ।

भोगविस-भोगविष-पुं० । भोगः शरीरं तत्र विष यस्य सः । प्रज्ञा० १ पद । भोग' शरीरं स एव विषं यस्य सः । ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । सर्पभेदे, वाच० ।

भोगसमत्थ-भोगसमर्थ-पुं० । भोगाः शब्दाऽऽदयस्तेषु समर्थो भोगसमर्थ । आ० म० १ अ० । भोगानुसमर्थे, औ० ।

भोगसस्सिरीय-भोगसश्रीक-त्रि० । भोगैः सश्रीकः । भोगैः शोभे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

भोगसालि ( ण् )-भोगशालिन्-पुं० । महोरगभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

भोगसाहण-भोगसाधन-न० । रूपाऽऽदिके भोगाङ्गे, पं० सू० ४ सूत्र० । यो० विं० ।

भोगसुह-भोगसुख-न० । शब्दाऽऽदिविषयसेवायाम्, द्वा० १४ द्वा० । यो० विं० ।

तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेय सायं, भोगा मे व अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं ॥ ( सूत्र—८२ )

तत इति—कामानुषङ्गात्कर्मोपचयस्ततोऽपि पञ्चत्वं, तस्मा-दपि नरकमथो, नरकान्निर्गत्य कललार्बुदपेशीव्यूहगर्भप्रस-वाऽऽदिर्जातस्य च रोगाः प्रादुष्यन्ति । (से) तस्य कामानु-

पक्कमनस एकदेश्यसातावेदनीयविपाकोदये 'रोगसमुत्पादा' इति-रोगाणां शिरोऽर्तिशूलाऽऽदीनां समुत्पादाः प्रादुर्भावाः समुत्पद्यन्ते आविर्भवन्ति, तस्यां च रोगावस्थायां किंभूतो भवत्यसावित्यत आह—( जेहिं इत्यादि ) यैर्वा सार्द्धमसौ संवसति, त एव एकदा निजाः पूर्वं परिवदन्ति, स वा तान्निजान् पश्चात्परिवदेन्नालं ( ते ) तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा इति ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं च स्वकृतकर्मफलभुजः सर्वेऽपि प्राणिन इति मत्वा रोगोत्पत्तौ न दौर्मनस्यं भावनीयम्, न भोगाः शोचनीया इति । आह च—( भोगा मे इत्यादि ) भोगाः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषयाभिलाषास्तानेवानुशोचयन्ति-कथमस्यामप्यवस्थायाम् वयं भोगान् भुञ्ज्महे ?, एवंभूतान् वाऽस्माकं दशाऽभूद्येन मनोज्ञा अपि विषया उपनता नोपभोगायेति । ईदृक्षश्चाध्यवसायः केषाञ्चिदेव भवतीत्याह—इहैव संसारे एकेषामनवगतविषयविपाकाना ब्रह्मदत्ताऽऽदीनां मानवानामेवंभूतोऽध्यवसायो भवति, न सर्वेषा,सनत्कुमाराऽऽदिना व्यभिचारात् । तथाहि-ब्रह्मदत्तो मारणान्तिकरोगवेदनाऽभिभूतः सन्तापातिशयात् स्पृशन्तीं प्रणयिनीमिव विश्वासभूमिं मूर्छा बहु मन्यमानः तथा हस्तीकृतो विहस्ततया विषयीकृतो वैषम्येण गोचरीकृतो ग्लान्या दृष्टो दुःखासिकया क्रोडीकृतः कालेन पीडितः पीडाभिर्निरूपितो नियत्या आदित्सितो दैवेन अन्तिके अन्त्योच्छ्वासस्य मुखे महाप्रवासस्य द्वारि दीर्घनिद्राया जिह्वाग्रे जीवितेशस्य वर्तमानः विरलो वाचि विह्वलो वपुषि प्रचुरः प्रलापे जितो जृम्भिकाभिरित्येवंभूतामवस्थामनुभवन्नपि महामोहोदयाद्भोगाभिकाङ्क्षितुः पार्श्वोपविष्टां भार्यामनवरतवेदनावेशविगलदश्रुरक्तनयनां कुरुमति ! कुरुमतीत्येवं ता व्याहरन्नधस्सप्तमीं नरकपृथिवीमगमत्तत्राऽपि तीव्रतरवेदनाऽऽभिभूतोऽप्यविगणय्य वेदनां तामेव कुरुमतीं व्याहरतीत्येवंभूतो भोगाभिष्वङ्गो दुस्त्यजो भवति केषाचित्, न पुनरन्येषां महापुरुषाणामुदारसत्वानाम्,आत्मनोऽन्यच्छरीरमित्येवमवगततत्वानां सनत्कुमाराऽऽदीनामिव यथोक्तरोगवेदनासद्भावे सत्यपि मयैवैतत् कृतं सोढव्यमपि मयैवेत्येवं जातनिश्चयानां कर्मक्षपणोद्यतानां न मनसः पीडोत्पद्यते इति । उक्तं च—

"उप्तो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्माऽऽलवालोऽशुभो,
रागद्वेषकषायसन्ततिमहानिर्विघ्नबीजस्त्वया ।
रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्मद्रुमः साम्प्रतं,
सोढा नो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरधोगामिभिः ॥ १ ॥
पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्त्वयाऽयं,
न खलु भवति नाशः कर्मणा सञ्चितानाम् ।
इति सह गणयित्वा यद्यदायाति सम्यग्,
सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्त्यः ? ॥ २ ॥"

अपि च—भोगानां प्रधान कारणमर्थोऽतस्तत्—
स्वरूपमेव निर्दिदिक्षुराह—

तिविहेण जावि से तत्थ मत्ता भवति, अप्पा वा बहुगा वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठति, भोयणाए, तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवति, तं पि से एगया दायादा विभयंति, अदत्तहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुंपंति,णस्सइ वा से विणस्सइ वा से,अगारदाहेण वा से डज्झति इति, से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति (सूत्र—८३)

( तिविहेणेत्यादि ) त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्रार्थमात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा, ( से ) तस्यामर्थमात्रायां गृद्धस्तिष्ठति, सा च भोजनाय किल भविष्यति, ततस्तस्यैकदा विपरिशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्यैकदा दायादा विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा विलुम्पन्ति, नश्यति वा विनश्यति वा, अगारदाहेन वा दह्यते इति, स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति, एतच्च प्रागेव व्याख्यातमिति, नेह प्रतायते ।

तदेवं दुःखविपाकान् भोगान् प्रतिपाद्य यत्कर्तव्यं तदुपदिशतीत्याह—

आसं च छंदं च विगिंच धीरे !, तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु, जेण सिया तेण णो सिया, इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाइं आयतणाइं से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए णरगातिरिक्खाए, सततं मूढे धम्मं णाभिजाणाति, उदाहु वीरे,अप्पमादो महामोहे,.अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए भेउरधम्मं संपेहाए, णालं पास अलं ते एएहिं । ( सूत्र०—८४ )

आशां भोगाऽऽकाङ्क्षां, चः समुच्चये, छन्दनं छन्दः परानुवृत्त्या भोगाभिप्रायस्त च, चशब्द· पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः, तावाशाछन्दौ,'विविङ्ग्ध'पृथक्कुरु त्यज धीर ! धीर्बुद्धिस्तया राजत इति, भोगाशाछन्दापरित्यागे च दुःखमेव केवलं, न तत्प्राप्तिरिति । आह च-(तुमं चेव इत्यादि) विनेय उपदेशगोचराऽऽपन्न आत्मा वा उपदिश्यते-त्वमेव तद्भोगाऽशाऽऽदिकं शल्यमाहृत्य स्वीकृत्य परमशुभमादत्से, न तु पुनरुपभोगं, यतो भोगोपभोगो यैरेवार्थाऽऽद्युपायैर्भवति, तैरेव न भवतीत्याह-"जेण सिया तेण णो सिया।" येनैवार्थोपार्जनाऽऽदिना भोगोपभोगः स्यात्, तेनैव विचित्रत्वात् कर्मपरिणतेः न स्याद्, अथ वा येन केनचिद्धेतुना कर्मबन्धः स्यात्तन्न कुर्यात्तत्र न वर्तेतेत्यर्थः, यदि वा—येनैव राज्योपभोगाऽऽदिना कर्मबन्धो येन वा निर्ग्रन्थत्वाऽऽदिना मोक्षः स्याद्भवेत्तेनैव तथाभूतपरिणामवशान्न स्यादिति । एतच्चानुभवावधारितमपि मोहाभिभूता नावगच्छन्तीत्याह—( इणमेव इत्यादि ) इदमेव हेतुवैचित्र्यं न बुध्यन्ते न संजानते, के ?, ये जना मौनीन्द्रोपदेशविकला मोहेनाऽज्ञानेन मिथ्यात्वोदयेन वा प्रावृताः छादितास्तत्त्वविपर्यस्तमतयो मोहनीयोदयाद् भवन्ति । मोहनीयस्य च तद्धेतुकामाना च स्त्रियो गरीयः कारणमिति दर्शयति—( थीभि इत्यादि ) स्त्रीभिरङ्गनाभिः भ्रूक्षेपाऽऽदिविभ्रमैरसौ लोक आशाछन्दाभिभूताऽऽत्मा क्रूरकर्मविधायी नरकविपाकफलं

शल्यमाहृत्य तत्फलमबुध्यमानो मोहाऽऽच्छादितान्तराऽऽत्मा प्रकर्षेण व्यथित' प्रव्यथितः पराजितो वशीकृत इति यावत् । न केवलं स्वतो विनष्टा अपरानपि असकृदुपदेशदानेन विनाशयन्तीत्याह—( ते भो इत्यादि ) ते स्त्रीभिः प्रव्यथिता'भो'इत्यामन्त्रणे, एतद्वदन्ति-यथैतानिस्त्र्यादीन्यायतनानि उपभोगाऽऽस्पदभूतानि वर्त्तन्ते, एतैश्च विना शरीरस्थितिरेव न भवतीति । एतच्च प्रव्यथनमुपदेशदानं वा तेषामपायाय स्यादित्याह—( से इत्यादि ) तेषा 'से' इत्येतत् स्त्रीप्रव्यथनमायतनभणनं वा दुःखाय भवति—शारीरमानसाऽसातवेदनीयोदयाय जायते । किंच-( मोहाए ) मोहनीयकर्म्मबन्धनाय, अज्ञानाय वेति । तथा—( माराए ) मरणाय,ततोऽपि-( नरगाए ) नरकाय नरकगमनार्थम् , पुनरपि—( नरगतिरिक्खाए ) ततोऽपि नरकादुद्धृत्य तिरश्चेनत्प्रभवति तिर्यग्योन्यर्थं तत्स्त्रीप्रव्यथनं भोगाऽऽयतनवदनं वा सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । स एवमङ्गनाऽपाङ्गविलोकनाऽऽक्षिप्तस्तासु तासु योनिषु पर्यटन्नात्महितं न जानातीत्याह—( सययमित्यादि ) सततमनवरत दुःखाभिभूतो मूढो धर्मं क्षान्त्यादिलक्षणं दुर्गतिप्रसृतनिषेधकं न जानाति न वेत्ति । एतच्च तीर्थकृदाहेति दर्शयति—( उदाहु इत्यादि ) उत्प्राबल्येनाऽऽह उदाह उक्तवान् , कोऽसौ ?, वीरः अपगतसंसारभयस्तीर्थकृदित्यर्थः । किमुक्तवान् ?, तदेव पूर्वोक्त वाचा दर्शयति—अप्रमादः कर्त्तव्य., क ?—महामोहे अङ्गनाभिष्वङ्ग एव, महामोहकारणत्वान्महामोहः, तत्र प्रमादवता न भाव्यम् । आह च—( अलमित्यादि ) अलं पर्याप्तं, कस्य ?, कुशलस्य निपुणस्य सूक्ष्मेक्षिणः, केनालं ?, मद्यविषयकषायनिद्राविकथारूपेण पञ्चविधेनापि प्रमादेन , यतः प्रमादो दुःखाऽऽयभिगमनायोक्त इति । स्यात् किमालस्य प्रमादेनालमिति ?, उच्यते-'सन्ति' इत्यादि, शमनं शान्तिरशेषकर्मापगमोऽतो मोक्ष एव शान्तिरिति, म्रियन्ते प्राणिनः पौन.पुन्येन यत्र चतुर्गतिके संसारे स मरणः संसारः, शान्तिश्च मरणं च शान्तिमरणं, समाहारद्वन्द्व., तत्संप्रेक्ष्य पर्यालोच्य, प्रमादवतः संसारानुपरमस्तत्परित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदयम् , स च कुशल. प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमादं न विदध्याद् , अथ वा शान्त्या उपशमेन मरणं मरणावधि यावत्तिष्ठतो यत् फलं भवति तत्पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति । किं च—( भिउर इत्यादि ) प्रमादो हि विषयकषायाभिष्वङ्गरूप शरीराधिष्ठान. तच्च शरीर भिदुरधर्मं, स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं, स एव धर्म. स्वभावो यस्य तद्भिदुरधर्म्मम् । एतत्समीक्ष्य पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति सम्बन्धः । एते च भोगा भुज्यमाना अपि न तृप्तये भवन्तीत्याह—( णालमित्यादि ) नालं न समर्था अभिलाषोच्छित्तये यथेष्टावाप्तावपि भोगा एतत्पश्य जानीहि, अतोऽलं तव कुशल ! एभिः प्रमादमयैर्दुःखकारणस्वभावैर्विषयैरुपभोगैरिति , न चैते बहुशोऽप्युपभुज्यमाना उपशमं विदधतीति । उक्त च—

" यल्लोके व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्व—मिति मत्वा शमं कुरु ॥ १ ॥ "

तथा—

"उपभोगोपायपरो, वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम् ।
धावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्ने निजच्छायाम् ॥ २ ॥ "

तदेवं भोगलिप्सूनां तत् प्राप्तावप्राप्तौ च दुःखमेवेति दर्शयति।

**एयं पस्स मुणी ! महब्भयं, नाइवाइज्ज कंचणं , एस वीरे पसंसिए, जे न निव्विज्जइ आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज्जा थोवं लद्धुं न खिंसए , पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि ( सूत्र-८५ ) त्ति बेमि ॥**

(एयं पस्सेत्यादि)एतत्प्रत्यक्षमेव भोगाऽऽशामहाज्वरगृहीतानां कामदशाऽवस्थाऽऽत्मकं महद्भयं भयहेतुत्वाद् दुःखमेव महाभयं तच्च मरणकारणमिति महदित्युच्यते , एतन्मुनेः पश्य सम्यगैहिकाऽऽमुष्मिकापायाऽऽपादकत्वेन जानीहीत्युक्त भवति यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह-( णाइवाएज्ज इत्यादि ) यतो भोगाभिलषण महद्भयमतस्तदर्थं नातिपातयेन्न व्यथयेत् कञ्चन कमपि जीवमिति, अस्य च शेषव्रतोपलक्षणार्थत्वान्न प्रतारयेत् कञ्चनेत्याद्यप्यायोज्यम्, भोगनिरीह प्राणातिपाताऽऽदिव्रताऽऽरूढश्च कं गुणमवाप्नोतीत्याह-(एस इत्यादि) एष इति भोगाऽऽशाछन्दविवेचकोऽप्रमादी पञ्चमहाव्रतभाराऽऽरोहणोन्नामितस्कन्धो वीरः कर्म्मविदारणात् प्रशंसितः स्तुतो देवराजाऽऽदिभि , क एष वीरो नाम योऽभिष्टूयत इत्यत आह- (जे इत्यादि) यो न निर्विद्यते न खाद्यते न जुगुप्सते,कस्मै ?,आदानाय आदीयते गृह्यतेऽवाप्यते आत्मस्वतत्त्वमशेषाऽऽवारककर्म्मक्षयाऽऽविर्भूतसमस्तवस्तुग्राहिज्ञानाबाधसुखरूपं येन तदादानं संयमानुष्ठानं तस्मै न जुगुप्सते,तद्वा कुर्वन् सिकताकेवलचर्वणदेशीयं क्वचिदलाभाऽऽदौ न खेदमुपयातीति,आह-(न मे इत्यादि)ममायं गृहस्थ. संभृतसंभारोऽप्युपस्थिते अपि दानावसरे न ददातीति कृत्वा न कुप्येन्न क्रोधवशगो भूयाद्भावनीयं च ममैवैषा कर्म्मपरिणतिरित्यलाभोदयोऽयम्,अनेन चालाभेन कर्म्मक्षयायोद्यतस्य मे तत् क्षपणसमर्थं तपो भावीति न किञ्चित् क्षूयते । अथाऽपि कथञ्चित् स्तोकं प्रान्तं वा लभेत, तदपि न निन्देदित्याह-( थोवं इत्यादि ) स्तोकम्, अपर्याप्तं, लब्ध्वा न निन्देत् दातार दत्तं वा, तथाहि-कतिचित् शिक्थाऽऽनयनेन ब्रवीति सिद्ध ओदनो भिक्षामानय लवणाऽऽहारो वा अस्माकं नास्तीत्यर्थ ददस्वेत्येवम् अत्युद्दृप्तच्छात्रवन्न विदध्यात् किं च-( पडिसेहिओ इत्यादि)प्रतिषिद्धोऽदित्सितस्तस्मादेव प्रदेशात्परिणमेन्निवर्त्तेत, क्षणमपि न तिष्ठेन्न दौर्मनस्य विदध्यान्न रुदन्नपगच्छेन्न ता सीमन्तनीमपवदेत् धिक्ते गृहवासमिति। उक्तं च"दिट्ठासि कसेरुमति,अणुभूयासि कसेरुमइ ! पीयंचियते पाणियय,वरि तुहनाम न दंसण॥१॥"इत्यादि । यद्यते च(पडिलाभिओ परिणमेज्जा )प्रतिलाभित.प्राप्तभिक्षाऽऽदिलाभः सन् परिणमेत् , नोच्चावचाऽऽलापैस्तत्रैव संस्तवं विदध्यात् , वैतालिकवद्दातारं नोत्प्रासयेदिति । उपसंहरन्नाह-(एय इत्यादि ) एतत्प्रव्रज्यानिर्वेदरूपम्—अदानाकोपनं स्तोकाऽजुगुप्सनं प्रतिषिद्धनिवर्तनं मुनेरिदं मौनं मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितं त्वमप्यवाप्तानेकभवकोटिदुरापसंयम सन् समनुवासयेः सम्यग् विधत्स्वानुपालयेति विनेयोपदेश आत्मानुशासनं वा । आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

**भोगा**-भोगा-स्त्री० । जम्बूद्वीपमाल्यवत्पर्वतासिद्धकूटस्थायां स्वनामख्याताया देव्याम् , स्था० ६ ठा० ।

**भोगाभिस्संग**-भोगाभिष्वङ्ग-पुं० । भोगाऽऽसक्तौ , आचा० १

सू० २ श्र० ४ उ०।

भोगामिस- भोगाऽऽमिष-न०। भुज्यन्ते इति भोगाः मनोज्ञश-ब्दाऽऽदयः,ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगाऽऽमि-षम्। शब्दाऽऽदिविषयाऽऽत्मके आमिषे, उत्त०।

भोगामिसदोसविस-न्ने हिअणिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मू-ढे वज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥५॥

भुज्यन्त इति भोगा मनोज्ञाः शब्दाऽऽदयः,ते च ते आमिषं चा-त्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषं,तदेव दूषयत्यात्मानं दु खलक्ष-णविकारकरणेन भोगाऽऽमिषदोषस्तस्मिन् विशेषेण सन्नो नि मग्नो भोगाऽऽमिषदोषविषण्णः, यद्वा-भोगाऽमिषस्य दोषा भोगाऽऽमिषदोषास्ते च तदासक्तस्य विचित्रक्लेशा अपत्यो-त्पत्तौ च तत्पालनोपायपरतया व्याकुलत्वाऽऽदयस्तैर्विषण्णो विषाद गतो भोगाऽऽमिषदोषविषण्णः। आह च—

"जया य कुकुडुंबस्सा, कुतत्तीहिं विहम्मइ।
हत्थीव बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पति ॥१॥
पुत्तदारपरिक्किन्नो, मोहसंताणसंतओ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥२॥"

(हीअनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थ त्ति) हित एकान्तपथ्यो निःश्रेयसो मोक्षोऽनयोः कर्मधारये हितनि श्रेयसः। यद्वा हितो यथाभिलषितविषयावाप्त्याऽभ्युदयो निश्रेयसः स एव तयोर्द्वन्द्वः,ततश्च तत्र तयोर्वा बुद्धिस्तत्प्राप्त्युपायविषया म-तिस्तस्यां विपर्यस्तो विपर्ययवान् सा वा विपर्यस्ता यस्य स हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः विपर्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिर्वा, विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत्। यद्वा-विपर्यस्ता हिते निःश्रेषा बुद्धिर्यस्य स तथा, बालश्चाज्ञः (मंदिए त्ति) सूत्रत्वान्मन्दो धर्मकार्यकरणं प्रत्यनुद्यतो मूढो मोहाऽऽकुलि तमानसः स एवविधः। किमित्याह—बध्यते श्लिष्यतेऽर्थात् ज्ञानाऽऽवरणाऽऽदिकर्मणा मक्षिकेव खेले श्लेष्मणि,रजखेति गम्यते,इदमुक्तं भवति-यथाऽसौ तत्स्निग्धतागन्धाऽऽदिभि-राकृष्यमाणा तत्र मज्जति मग्ना च रेणवादिना बध्यते,एवं ज-न्तुरपि भोगाऽऽमिषे मग्नः कर्मणेति सूत्रार्थः। उत्त०८ अ०।

भोगासंसप्पओग-भोगाऽऽशंसाप्रयोग-पुं०। भोगा गन्धरस-स्पर्शादयेषु मनोज्ञा मे भूयासुरिति भोगाऽऽशंसाप्रयोगः। स्था०१० ठा०। जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्यां वासुदेवो महामाण्ड-लिकस्सुभगो रूपवानित्यादि भोगाऽऽशंसाप्रयोगः। आशंसा-प्रयोगभेदे, आव० ६ अ०।

भोगासा-भोगाऽऽशा-स्त्री०। गन्धाऽऽदिप्राप्तिसंभावनायाम्, भ० १२ श० ५ उ०। स०।

भोगिड्डि-भोगर्द्धि-स्त्री०। "सा भोगिड्डी गिज्झइ,शरीरभोग-म्मि जाइ उवभोगो।" इत्युक्तलक्षणे ऋद्धिभेदे,ध० २ अधि०।

भोगुत्तम-भोगोत्तम-पुं०। भोगैरुत्तमो भोगोत्तमः। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार। सर्वोत्तमभोगभोक्तरि, तं०।

भोगुत्तमगयलक्खण-उत्तमभोगगतलक्षण-न०। उत्तमाश्च ते भोगाः चोत्तमभोगा,उत्तमशब्दस्य विशेषणस्याऽपि परनि-पातः प्राकृतत्वात्। तद्गतं तत्संसूचकं लक्षणं तथा। उत्त-मभोगसूचके स्वस्तिकाऽऽदिके लक्षणे, उत्तमभोगसूचकस्व-स्तिकाऽऽदिलक्षणोपेते च। त्रि०। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

भोगोपभोगपरिमाण-भोगोपभोगपरिमाण-न०। सकृद् भु-ज्यत इति भोग —अन्नमाल्यताम्बूलविलेपनोद्वर्त्तनस्नान-पानाऽऽदि। मुहुर्मुहुर्भुज्यत इत्युपभोगः-वनितावस्त्रालङ्कार-गृहशयनाऽऽसनवाहनाऽऽदि। भोगश्चोपभोगश्च भोगोपभोगौ, तयोर्भोगोपभोगयो. परिमाणं संख्याविधानं यत्तथा। द्वितीये गुणव्रते, ध०।

भोगोपभोगयोः संख्या-ऽभिधानं यत्स्वशक्तितः।
भोगोपभोगमानाऽऽख्यं, तद् द्वितीयं गुणव्रतम् ॥२१॥

सकृद्भुज्यत इति भोगः—अन्नमाल्यताम्बूलविलेपनोद्वर्त्तन-स्नानपानाऽऽदि,पुनः पुनर्भुज्यत इति उपभोगः-वनितावस्त्रा-लङ्कारगृहशयनाऽऽसनवाहनाऽऽदि, (ध०) भोगश्चोपभोगश्च भोगोपभोगौ, तयोर्भोगोपभोगयोः यत् संख्याविधानं परि-माणकरणं भवति, कुत ?, स्वशक्तितः निजशक्त्यनुसारेण तद्भोगोपभोगमानाऽऽख्यं भोगोपभोगपरिमाणनामकं द्वितीयं गुणव्रतं ज्ञेयम्। आवश्यके त्वेतद्व्रतस्योपभोगपरिभोगव्रत-मिति नामोच्यते। तथा च सूत्रम्—" उवभोगपरिभोगवए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—भोअणओ कम्मओ अ त्ति।" एत-द्वृत्तिर्यथा-उपभुज्यत इत्युपभोगः, उपशब्दः सकृदर्थे च र्वते, सकृद्भोग उपभोगः, अशनपानाऽऽदेः, अथवा—अन्त-र्भोग उपभोगः आहाराऽऽदे., उपशब्दोऽन्तर्वचनः। परि-भुज्यत इति परिभोगः। परिशब्दोऽसकृदवृत्तौ वर्त्तते, पुनः पुनर्भोगः परिभोगो वस्त्राऽऽदेः, बहिर्भोगो वा परिभोगो व-स्त्रनालङ्काराऽऽदेः,अत्र परिशब्दो बाह्यवाचक इति। एतद्विषयं व्रतम् उपभोगपरिभोगव्रतम्। तथा च प्रकृते निपाता-नामनेकार्थत्वात् उपभोगशब्दः परिभोगार्थस्तत्समभिव्या-हारेण च भोगशब्दस्योपभोगे निरूढलक्षणेति न कश्चिद्विरोध इति ध्येयम्। इदं च द्विविधं—भोजनतः, कर्मतश्च। उपभो-गपरिभोगयोरासेवां विषययोर्वस्तुविशेषयोरुपार्जनोपायभू-तकर्मणा चोपचारादुपभोगाऽऽदिशब्दवाच्यानां व्रतमुपभो-गपरिभोगव्रतमिति व्युत्पत्तेः। ध० २ अधि०।

( तदतिचारा 'उवभोगपरिभोग' शब्दे द्वितीयभागे ६०२ पृष्ठे गताः। ) अथ तान्येव नामतः श्लोकद्वयेनाऽऽह—

वृत्तयोऽङ्गारविपिना-नोभाटीस्फोटकर्मभिः।
वणिज्याका दन्तलाक्षा-रसकेशविषाऽऽश्रिताः ॥५२॥
यन्त्रपीडनकं निर्ला-ञ्छनं दानं दवस्य च।
सरःशोषोऽसतीपोष-श्चेति पञ्चदश त्यजेत् ॥ ५३ ॥

कर्मशब्दः प्रत्येकं संबध्यते; अङ्गारकर्म विपिनकर्म अन.-कर्म भाटीकर्म स्फोटकर्मेति, तैर्वृत्तय आजीविका अङ्गारक-र्माऽऽदिवृत्तयः, तत्र कर्मक्रिया करणमिति यावत्। ध० २ अधि०।

भोच्चा-भुक्त्वा-अव्य०। 'भोऊण' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।

भोत्तए-भोक्तुम्-अव्य०। भोजनं कर्तुमित्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

भोत्तव्व-भोक्तव्य-त्रि०। भोजनीये, प्रा० ४ पाद।

भोत्ता- भोक्तृ-त्रि०। भोजनकर्त्तरि, आव० ४ अ०।

भोत्तूण-भुक्त्वा-अव्य०।' भोऊण ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।
भोदूण-भुक्त्वा-अव्य०।' भोऊण ' शब्दार्थे, प्रा० २ पाद।
भोम-भौम-न०। भूमौ भव भौमम्। भूमिसंबन्धिनि विशिष्टे स्थाने, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। रा०। नगराऽऽकारे विशिष्टे स्थाने, स० ३३ सम०। भौमानि विशिष्टस्थानानि नगराऽऽकाराणीत्यन्ये, भ० २ श० ८ उ०। पातालभवने, आचा० २ श्रु० ३ चू०। निर्घातभूकम्पाऽऽदिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। उत्त०। भूमिकम्पाऽऽदिविज्ञाने, कल्प०१ अधि० ३ क्षण। भूमिकम्पाऽऽदिभिर्विकारैः शुभाशुभं यद् ज्ञायते तद् भौमम्। निमित्तभेदे, प्रव० २५७ द्वार। कल्प०। उत्त०। भौमं भूमिविकारदर्शनादेव स्यादिदमित्यादिविषयमिति। आव० ४ अ०। भौमं भूमिविकारफलाभिधानप्रधानम्। भूमिविकारफलप्रतिपादकनिमित्तशास्त्राऽऽत्मके पापश्रुतभेदे, स्था० ८ ठा०। स०। सूत्र०।

भोमे तिविहे पण्णत्ते। सुत्ते,वित्ती,वत्तिए। स० २९सम०। अहोरात्रभवे सप्तविंशतितमे मुहूर्त्ते,ज्यो० २ पाहु०। कल्प०। चं०प्र०।जं०। भूमेरपत्यं तस्या इदं वा अण्। (न) नरकासुरे, "त्वयि भौमं गते जेतुम्।" इति माघ.। मङ्गलग्रहे च। पुं०। भूमिभवे,त्रि०। वाच०। भूमिविकारे घटाऽऽदौ च। "अट्ठसय भोमेज्जाणं कलसाणं।" भ० ६ श० ३३ उ०। भौमानां पार्थिवानामित्यर्थः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। "अंगारो य भोमो।" पाइ० ना० ६६ गाथा। औ०। भौमानां मृण्मयानामिति। भ० ६ श० ३३ उ०। प्रज्ञा०। रा०। भूमिसम्बन्धिनि च। त्रि०। भौम इव भूदेश इव। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। जी०।
भोमालीय-भौमालीक-न०। भूमिसम्बन्ध्यलीकाऽऽत्मके स्थूलमृषावादभेदे, स्थूलमृषावादविरमणव्रतस्य तृतीयेऽतिचारे च। प्रश्न० २ आश्र० द्वार। भूम्यलीकं परसत्कामप्यात्मसत्कामात्मादिसत्कामपि परसत्काम्, ऊषर वा क्षेत्रमनूपरम्, अनूपरं चोषरमित्यादि वदतः। इदं चाशेषापद्द्रव्यविषयाऽऽलोकस्योपलक्षणम्। ध० २ अधि०। एतदेव प्रमादसहसाकारानाभोगैरभिधीयमानमतिचार आकुट्या च भङ्गः। उपा० १ अ०। ध०।
भोमेज्ज-भौम-न०। 'भोम' शब्दार्थे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।
भोय-भोज-पु०। भुज्-अच्। स्वनामख्याते देशभेदे, धारापुरस्य नृपभेदे च। "धन्यः श्रीभोजराजस्त्रिभुवनविजयी०।" इत्युद्भटः। वाच०। द्रव्यानुयोगतर्कणारचयितरि स्वनामख्याते आचार्ये, द्रव्या० ११ अध्या०। योगसूत्रवृत्तिकारके आचार्ये च। द्वा० ६ द्वा०।
भौत-पुं०। परतीर्थिकभेदे, "अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाणि वंदित्ता।" यथा भौतपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकाल्यादीनि बोटिकपरिगृहीतानि वा। आव० ६ अ०।
भोयग-भोजक-त्रि०। भर्तरि, बृ० १उ० ३ प्रक०।
भोयडा भोयडा-स्त्री०। नेपथ्यभेदे, "णेवत्थ भोयडादीयं।" णेवत्थ भोयडादीयं भवति। भोयडा णाम-जा लाडाणं कच्छा सा मरहट्ठाणं भोयडा भणति। नि० चू० १ उ०।

इयाणिं वेसकहा—

छंदं विधी विकप्पं, णेवत्थं बहुविहं जणवयाणं।
एता कथा कधिंते, चतजमला सुकिला चउरो ॥१२५॥

गाहा पच्छद्धं तहेव, अग्गदस्स इमा वक्खा—

छंदो गम्माऽगम्मा, विधि रयणा भुंजते य जं पुव्विं।
सारणिकूवविकप्पो, णेवत्थं भोयडादीयं ॥ १२६ ॥

छंदो आयारो गम्मा-जहा लाडाणं माउलदुहिया,माउसस्स धूया अगम्मा विही नाम विरचणा,रयणा णाम जहा कोसलाविसए आहारभूमीहरितोवलित्ता कज्जति, पउमिणिपत्ताइएहिं भूमी अच्छरिज्जति ततो पुप्फोवयारो कज्जति, तओ पत्ती ठविज्जति,ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगामं कुयासिप्पीओ य ठविज्जति, 'भुज्जने य ज पुव्व' जहा कोंकणे पेया, उत्तरावहे सत्तुया, अन्नेसु वा विसएसु जं दाऊण पच्छा अन्नेगमक्खणगारा दिज्जति। सारणीकूवाइओ विकप्पो भवति। णेवत्थं भोयडादीयं भवति। भोयडा णाम-जा लाडाणं कच्छा, सा मरहट्ठाणं भोयडा भण्णति,तं च बालप्पभिति इत्थिया ताव बंधंति जाव परिणीया जाव य आवण्णसत्ता जाया तओ भोयणं कज्जति सयणं मेलेऊण पडओ दिज्जइ तप्पभिइ फिट्टइ भोयडा। नि० चू० १ उ०।
भोयण-भोजन-न०। भुज्-ल्युट्। अभ्यवहारे, दर्श० १ तत्त्व। ध०। कठिनद्रव्यस्य गलविलाधःसंयोजने, वाच०। उपभोगे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। भुज्यत इति भोजनम् " कृद्बहुलम् " इति वचनात् कर्मण्यनट्। बृ० ४ उ०। ओदनाऽऽदिके आहारविशेषे, आव० ४ अ०। स्था०। प्रश्न०। उत्त०। भोजन तन्दुलदाल्यादि। उत्त० १५ अ०। स्था०। सूत्र०। उपा०।

श्रावकस्य कृतप्रत्याख्यानिनो भोजनम्—

विहिणा पडिपुण्णम्मी, भोगो विगए य थेवकाले उ।
सुहधाउजोगभावे, चित्तेणमणाकुलेण तहा ॥ ३६ ॥

विधिना-विधानेन-प्रतिपत्तिसमनन्तरं सततमुपयोगतः प्रतिचरणलक्षणेन। प्रतिपूर्णपौरुष्याद्यवधिके प्रत्याख्यान इति प्रक्रमो, भोगो भोजनं भवति कार्यः। अनेनाऽस्य पालितत्वमुक्तम्। उपलक्षणत्वाच्चास्य स्पृष्टत्वमप्यस्योक्रमवगन्तव्यम्। लक्षणं चेदमनयोः-"उचिते काले विहिणा,पत्तं जं फासियं तयं भणिय। तह पालियं तु असइं,सम्म उवओगपडियरियं॥१॥" इति। किं पूर्णमात्र एव ?,नेत्याह-विगते चातिक्रान्ते च पौरुष्याद्यवधेरुपरि। स्तोककाले तु अल्पवेलायामेव। अनेन च तीरितत्वमस्योपदिष्टम्। तल्लक्षणं चेदम्—"पुण्णे वि थेवकालावत्थाणा तीरियं होइ।" तथा शुभाना सुन्दराणा धातूना वातपित्तकफानां योगाना कायाऽऽदिव्यापाराणा भाव. सत्ता शुभधातुयोगभावस्तस्मिन्। धातूना च शुभत्व स्तोककालातिक्रमेण भिक्षाऽटनाऽऽदिजन्यश्रमविनोदनेन समत्वमत एव योगानामपीति। तथा-चित्तेन मनसा अनाकुलेनाव्याक्षिप्तेन। व्याकुलचित्तेन हि भोजने दोषसंभवात्। यदाह-"ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन, लुब्धेन रुग्दैन्यविपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमान-मन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥ १ ॥" तथेति समुच्चये। इति गाथाऽर्थः॥ ३६ ॥

भोगविधिमेव विशेषयन्नाह—

काऊण कुसलजोगं, उचियं तक्कालगोयरं णियमा।
गुरुपडिवत्तिप्पमुहं, मंगलपाढाइयं चेव ॥ ३७ ॥

कृत्वा-विधाय कुशलयोगं शोभनव्यापारम्, भुङ्क्ते धर्मरता इति योगः। उचितं स्वभूमिकार्हम्, तत्कालगोचरं भो-

अनावसरविषयम् । नियमादवश्यन्तया । किंभूतमित्याह—गुरूणां मातापितृधर्म्माऽऽचार्यदेवतालक्षणानां, प्रतिपत्तिरुचितपूजाप्रमुखाद्या यस्य परिवारग्लानप्रतिचारणाऽऽदेः, स तथा तम् । अनेन च शोभितत्वं प्रत्याख्यानस्योक्तम् । यदाह—" गुरुदाणसेसभोयण—सेवणयाए उ सोहियं जाण ।" तथा—मङ्गलपाठाऽऽदिकं चैव पञ्चनमस्कारपठनप्रभृतिकमेव च, आदिशब्दाद्धर्म्ममङ्गलाऽऽदिप्रशस्तश्रुतपरिग्रहः । इति गाथाऽर्थः ॥ ३७ ॥

तथा—

सरिऊण विसेसेणं, पच्चक्खायं इमं मए पच्छा ।
तह संदिसाविऊणं, विहिणा भुंजंति धम्मरया ॥ ३८ ॥

स्मृत्वा-अनुचिन्त्य, विशेषेण भोजनकालात्प्राचीनसामान्यस्मरणापेक्षया विशेषतः । किं तदित्याह—प्रत्याख्यातमभ्युपगतम्, इदं नमस्कारसहिताऽऽदिकम्, मयेत्यात्मनिर्देशे । कदा प्रत्याख्यातमित्याह-पश्चात्पूर्वकाले भोजनकालापेक्षया, अनेन चास्य कीर्तितत्वमुक्तम् । आह च—" भोयणकाले अमुगं, पच्चक्खायंति भुंज किट्टिययं । " तथेति क्रियान्तरसमुच्चये । संदेश्य संदिशन्तमनुजानन्तमाचार्यमनुप्रयुज्य संदिशत यूयं मां येन पारयामीत्येवमनुज्ञाप्येत्यर्थः । विधिनाऽनेनैवोक्तरूपेण भोजनविधिना वा स्थानविशेषाऽऽश्रयणाऽऽदिना । तद्यथा—" ठाण दिसि पगासणया, भायण पक्खेवणा य गुरु भावे । सत्तविहो आलोओ, सया वि जयणा सुविहियाणं ॥ १ ॥ " भुञ्जतेऽश्नन्ति, धर्मरताश्चारित्रधर्मोऽऽसक्तचित्ता इति गाथाऽर्थः ॥३८॥ उक्तं भोगद्वाम् । पञ्चा० ५ विव० । तथा-काले बुभुक्षोदयावसरलक्षणे सात्म्यात् " पानाऽऽहाराऽऽदेया यस्या-ऽविरुद्धाः प्रकृतेरपि । सुखित्वाय च कल्प्यन्ते तत्सात्म्यमिति गीयते ॥ १ ॥ " इत्येवं लक्षणादलौल्यतश्च, चकारो गम्यः, आकाङ्क्षातिरेकादधिकभोजनलक्षणलौल्यत्यागात् भुक्तिर्भोजनम् । अयमभिप्राय.—आजन्मसात्म्येन भुक्तं विषमपि पथ्यं भवति, परमासात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यप्राप्तमप्यपथ्यं, सर्वं बलवतः पथ्यमिति मन्वानः कालकूटं खादन् सुशिक्षितो हि विषतन्त्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात्, सात्म्यमपि च लौल्यपरिहारेण यथाग्निबलमेव भुञ्जीत, अतिरिक्तभोजनं हि वमनविरेचनमरणादिना न साधु भवति, " यो हि मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते ।" अक्षुधितेन ह्यमृतमपि भुक्तं भवति विषं, तथा क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति, विध्यातेऽग्नौ किं नामेन्धनं कुर्यादिति ॥१७॥ ( १० श्लोक ) ध० १ अधि० । ( आहारग्रहणस्य संपूर्णोऽधिकारः ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे १००३ पृष्ठे गत. )

इह तत आगतस्य भोजनविधि. । इदानी स्थानविशोधिं व्याख्यानयन्नाह—

उवरिं हेट्ठा य पम-ज्जिऊण लट्ठिं ठवेज्ज सट्ठाणे ।
पट्टं उवहिस्सुवरिं, भायणवत्थाइँ भाणेसु ॥ २६४ ॥

उपरि कुड्यस्थाने अधस्ताच्च भुवं प्रमृज्य पुनश्च स्वस्थाने यष्टिं स्थापयेत्, पुनश्च पट्टकं चोलपट्टकम् उपधेरुपरि स्थापयेत्, मुञ्चति भाजनवस्त्राणि च, पटलानि भाजनेषु पात्रोपरि स्थापयति

जइ पुण पासवण से, हवेज्ज तो उग्गहं सपच्छागं ।
दाउं अन्नस्स स चो-लपट्टओ काइयं णिसिरे ॥२३५॥

यदि पुनस्तस्य साधो' प्रश्रवणं कायिकाऽऽदिर्भवति ततश्च अवग्रहं पतद्ग्रहं संपच्छागं सपटलं दातुं समर्प्य अन्यस्य साधोः पुनश्च सह चोलपट्टकेन चोलपट्टकद्वितीय. कायिकां व्युत्सृजति, कायिकां व्युत्सृज्य कायोत्सर्गं करोति ।

तत्र च को विधिरित्यत आह—

चउरंगुलमुहपोत्ती, उज्जुयए वामहत्थिरयहरणं ।
वोसट्ठचत्तदेहो, काउस्सग्गं करेज्जाहि ॥ ५१० ॥

चतुर्भिरङ्गुलैर्जानुनोरुपरि चोलपट्टकं करोति नाभेश्च अधश्चतुर्भिरङ्गुलैः पादयोश्चान्तरं चतुरङ्गुलं कर्त्तव्यं, तथा—मुखवस्त्रिकामुज्जुगे दक्षिणहस्तेन गृह्णाति वामहस्तेन च रजोहरण गृह्णाति, पुनरसौ व्युत्सृष्टदेहः प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेहः सर्पाऽऽद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गम्, अथवा—व्युत्सृष्टदेहः दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभङ्गं करोति, त्यक्तदेह. अक्षिमलदूषिकामपि नाऽपनयति, स एवंविध. कायोत्सर्गं कुर्यात् ।

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

चउरंगुलमप्पत्तं, जाणुगहेट्ठा छिवोवरिं णाभिं ।
उभओ कोप्परधरियं, करेज्ज पट्टं च पडलं वा ॥२६६॥

चतुर्भिरङ्गुलैरधोजानुनी अप्राप्त चोलपट्टको यथा भवति तथा नाभिं च उपरि चतुर्भिरङ्गुलैर्यथा न स्पृशति, उभयतो बाहुकूर्पराभ्यां धृतं करोति, पट्टकं—चोलपट्टकं पडलं वा उभयकूर्परधृतं करोति, यदा चोलपट्टक. सच्छिद्रो भवति तदा पटल गृह्णाति ।

पुव्वुद्दिट्ठे ठाणे, ठाउं चउरंगुलंतरं काउं ।
मुहपोत्ति उज्जुहत्थे, वामम्मि य पादपुंछणयं ॥५११॥

पूर्वोद्दिष्टमेव कायोत्सर्गस्थानं तस्मिन् स्थित्वा तथा पादस्य चान्तर चतुरङ्गुलं कृत्वा मुखवस्त्रिका च दक्षिणहस्ते कृत्वा वामहस्ते पादपुञ्छनक-रजोहरण कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति ।

काउस्सग्गम्मि ठिओ, चिंते समुयाणिए अईयारे ।
जा णिग्गमप्पवेसो, तत्थ उ दोसे मणे कुज्जा ॥ ५१२॥

पुनश्च कायोत्सर्गेण व्यवस्थितः चिन्तयेत् ' सामुदानिकानतीचारान् ' भिक्षातिचारानित्यर्थ. । कस्मादारभ्य चिन्तयत्यतिचारान् ?—निर्गमादारभ्य यावत्प्रवेशो वसतौ जातः, अस्मिन्नन्तराले तत्र दोषा ये जातास्तान् मनसि करोति स्थापयति चेतसि ।

ते उ पडिसेवणाए, अणुलोमा होंति वियडणाए य ।
पडिसेववियडणाए, एत्थ नु चउरो भवे भंगा ॥५१३॥

तांश्चातिचारान् प्रतिसेवनाऽनुलोम्येन यथैव प्रतिसेवितास्तेनैवानुक्रमेण कदाचिच्चिन्तयति, तथा ( वियडणाए त्ति ) विकटना आलो० ना तस्या चानुलोमतेव चिन्तयति । एतदुक्तं भवति-" पढम लहुओ दोसो पडिसेविओ पुणो पच्छा बहुतरो, चिंतेइ एवमेव " ततश्च प्रतिसेवनाया अनुकूलम्, आलोचनायामपि अनुकूलतेव, यत. प्रथमं लघुको दोषः आलोच्यते पुनर्बृहत्तर दुर्बृहत्तम इति एव

प्रथमो भङ्गकः । " अन्नो पडिसेवणाए अणुकूलो न उण वियडणाए । " एतदुक्तं भवति—" आसेविय पढमं वडुं, पुणो लहुयं पुणो वडुं पुणो वडुयरं चिंतेइ । " एवमेव, ततश्च प्रतिसेवनाया अनुकूलम्, न त्वालोचनाया., यतस्तत्र प्रथम लघुतर आलोच्यते, पुनर्बृहत्तरः, पुनर्बृहत्तमः, इति एष द्वितीयो भङ्ग. । "अन्नो पडिसेवणाए णाणुकूलो आलोयणाए पुण अणुकूलो । " एतदुक्तं भवति-" अडुवियडुं पडिसेविया चिंतेइ पुण आलोयणाणुकूलेणं, एस तइओ भंगो, अन्ने उण पडिसेवणाए वि अणणुकूलो आलोयणाए वि अणणुकूलो ।" एतदुक्तं भवति—" पढमं वड्डो पडिसेविओ पुणो लहुओ पुणो वड्डो वडुयरो, चिंतेति पुण जं जहा संभरइ, पढमं वड्डो पुणो लहुओ पुणो वड्डो पुणो वडुयरो, एवं अडुवियडुं चिंततस्स ण पडिसेवणाणुकूलो णालोयणाणुकूलो, एस चउत्थो, एसो य वज्जेयव्वो । " इदानीममुमेवार्थं गाथाद्धेनोपसंहरन्नाह—" पडिसेवणवियडणाए, होंति एत्थं पि चउभङ्गा । " इदं व्याख्यातमेवेति ।

इदानीं सामुदानिकानतीचारानालोचयति, यदि व्याक्षेपाऽऽदिरहितो गुरुर्भवति, अथ व्याक्षिप्तो गुरुर्भवति तदाऽनालोचयति, एतदेवाऽऽह—

वक्खित्तपराहुत्ते, पमत्ते मा कयाइ आलोए ।
आहारं च करेंतो, णीहारं वा जइ करेइ ॥ ५१४ ॥

व्याक्षिप्तो धर्मकथाऽऽदिना स्वाध्यायेन( पराहुत्तो त्ति )पराङ्मुखः अन्यतोऽभिमुखः, प्रमत्त इति विकथयति, एवंविधे गुरौ न कदाचिदालोचयेत, तथा आहार कुर्वति सति, तथा नीहार वा यदि करोति ततोऽनालोचयति ।

इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

कहणाईवक्खित्ते, विगहाइ पमत्त अन्नओ व मुहे ।
अंतरमकारए वा, णीहारे संक मरणं वा ॥ २६७ ॥

धर्मकथाऽऽदिना वा व्याक्षिप्तः कदाचिद्गुरुर्भवति, विकथाऽऽदिना वा प्रमत्तोऽन्यतोऽभिमुखो वा भवति, भुञ्जानोऽपि नाऽऽलोचनीय. किं कारणम् ?-( अंतरं ति ) अन्तराय वा भवति यावदालोचनां शृणोति, अकारकं वा शीतलं भवति यावदालोचनां शृणोति, तथा नीहारमपि कुर्वतो नाऽऽलोचनीयं, किं कारणम् ?, यत आशङ्कया साधुजनितया न कायिकाऽऽदिर्निर्गच्छति, अथ धारयति ततो मरणं वा भवति, यस्मादेते दोषास्तस्मात्—

अवक्खित्ताउत्तं, उवसंतमुवट्ठियं च नाऊणं ।
अणुन्नवेत्तु मेहावी, आलोएज्जा सुसंजए ॥ ५१५ ॥

धर्मकथाऽऽदिनाऽव्याक्षिप्ते गुरौ आलोचयेत, आयुक्तमुपयोगतत्परम्, उपशान्तम्-अनाकुल गुरुं दृष्ट्वा उपस्थितम् उद्यतं च ज्ञात्वा, एवविधं गुरुमनुज्ञाप्य मेधावी आलोचयेत् सुसंयत —साधु' ।

इदानीमेतामेव गाथा व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह—

कहणाइ अवक्खित्ते, कोहाई अणाउले तदुवउत्ते ।
संदिसह त्ति अणुन्न, काऊण विदिसमालोए ॥ २६८ ॥

धर्मकथाऽऽदिना व्याक्षिप्ते क्रोधाऽऽदिभिरनाकुले तदुपयुक्ते भिक्षाऽऽलोचनोपयुक्ते च (संदिसह त्ति) "अणुन्नं काऊण संदिसत " आलोचयामीत्येयमनुज्ञां कृत्वा मार्गयित्वेत्यर्थः ।

( विदिसि त्ति ) आचार्येण विदिशायामनुज्ञायां भवत इत्येव लक्षणायां तत आलोचयेत् । तेन च साधुना आलोचयता एतानि वर्जनीयानि ।

दारगाथा—

णट्टं वलं चलं भासं, मूयं तह ढड्ढरं च वज्जेज्जा ।
आलोएज्ज सुविहिओ, हत्थं मत्तं च वावारं ॥ ५१६ ॥

नृत्यन्नालोचयति वलन्नालोचयति अङ्गानि चलयन्नालोचयति, तथा भाषमाणो गृहस्थभाषया नालोचयति, किं तर्हि ?, संयतभाषया आलोचयति, तद्यथा—" सुयारियाओ " इत्येवमादि, तथा आलोचयन् मूकेन स्वरेण नालोचयति मिणिमिणंतं, तथा ढड्ढरेण च स्वरेण उच्चैर्नालोचयति, एवंविधं स्वरं वर्जयेत् । किं पुनरसावालोचयती त्येतदाह—आलोचयेत् सुविहितः हस्तमुदकस्निग्धं, तथा मात्रकं गृहस्थसत्कं कडुच्छुकाऽऽदि उदकाऽऽर्द्राऽऽदि, तथा-गृहस्थया कतमं व्यापारं कुर्वत्या भिक्षा दत्तेत्यालोचयति ।

इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह—

करपायभमुहसीसऽ-च्छिउट्ठमाईहि णट्टियं णाम ।
वलणं हत्थसरीरे, चलणं काए य भावे य ॥ २६९ ॥

करस्य तथा पादस्य भ्रुवः शिरसः अक्ष्णः ओष्ठस्य च, एवमादीनामङ्गानां सविकारं चलनं नर्त्तनं नाम, एतत् कुर्वन्नालोचयति, वलनं हस्तस्य शरीरस्य कुर्वन्नालोचयति, तथा चलनं कायस्य करोति, मोटनं तत्कुर्वन्नालोचयति, तथा भावतश्चलनमन्यथा गृहीतमन्यथाऽऽलोचयति " अडुवियडुं " आलोचयन् ।

गारत्थियभासाओ, य वज्जए मूय ढड्ढरं च सरं ।
आलोए वावारं, संसट्ठियरे व करमत्ते ॥ २७० ॥

गृहस्थभाषया न आलोचयति, यथा " सुग्गीवो लंगणीओ लद्धाओ मएवया लद्धा " इत्येवमादि, किं तु—संयतभाषया आलोचनीयं " सुयारियाओ " इत्येवमादि, मूकस्वरे मनाक् ढड्ढरं च महान्तं स्वरं वर्जयित्वा आलोचयति, किमालोचयति?—व्यापार गृहस्थयोः संबन्धिनं, तथा—' संसृष्टम् ' उदकार्द्राऽऽदि, इतरम् असंसृष्टं, किं तत् ?-कर संसृष्टमसंसृष्टं च उदकेन, तथा—मात्रकं गृहस्थसत्कं कुण्डलिकाऽऽदि उदकसंसृष्टमसंसृष्टं चेति, एतदालोचयेत् ।

एयद्दोसविमुक्क, गुरुणा गुरुसम्मयस्स वाऽऽलोए ।
जं जह गहियं तु भवे, पढमाओ जा भवे चरिमा ॥ ५१७ ॥

एभिर्दोषैर्विप्रमुक्तमनन्तरोक्तैर्भैतमालोचयेत् गुरोः समीपे वा यो गुरोः संमतो बहुमतस्तस्य समीपे आलोचयेत्, कथमालोचनीयं ?, यद्यथा गृहीत भवेत् येन क्रमेण यत् गृहीतं प्रथमभिक्षाया आरभ्य यावच्चरमा पश्चिमा भिक्षा तावदालोचयेदिति । एष तावदुत्सर्गेणाऽऽलोचनविधिः ।

यदा तु पुनरेतानि कारणानि भवन्ति तदा ओघत आलोचयतीत्येतदेवाऽऽह—

काले अ पहुप्पंते, उच्चाओ वाऽवि ओहमालोए ।
वेला गिलाणगस्स व, अइच्छइ गुरू व उच्चाओ ॥ ५१८ ॥

यदा तु पुनः काल एव न पर्याप्यते यावदनेन क्रमेणाऽऽलोचयति तावदस्तं गच्छत्यादित्यस्तदा तस्मिन् काले ओघत आलोचयति, यदि वा-श्रान्तः कदाचिद्भवति तदाऽपि ओघत

एवाऽऽलोचयति, वेला वा ग्लानस्यातिक्रामति यावत्क्रमेणाऽऽलोचयति अत ओघत आलोचयति. अथवा-गुरुः'उ-आतो' श्रान्तः, कुलाऽऽदिकार्येण केनचित् तत ओघत आलोचयत्येव कारणैरिति ।

का चासावोघाऽऽलोचना ?-

पुरकम्मपच्छकम्मे, अप्पेऽसुद्धे य ओहमालोए ।
तुरियकरणम्मि जं से, न सुज्झई तत्तिअं कहए ॥ ५१९ ॥

आकुलत्वे आपन्ने सत्येवमोघाऽऽलोचनयाऽऽलोचयति— पुरःकर्म पश्चात्कर्म च अल्प-नास्ति किञ्चिदित्यर्थः. 'अ-सुद्धे य त्ति ' अशुद्धं चाल्पम् . अशुद्धमाधाकर्माऽऽद्यभिधीयते तदल्प—नास्तीति, एवमोघतः-सङ्क्षेपेणाऽऽलोचयेत । 'तुरियकरणम्मि त्ति ' त्वरिते कार्ये जाते सति यन्न शुद्ध्यति उक्तेन प्रकारेण तावन्मात्रमेव कथयति , एषा ओघाऽऽलोचनेति ।

आलोइत्ता सव्वं, सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता ।
उड्डमहो तिरियम्मि, पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥ ५२० ॥

एवमेषा मानसी आलोचना वाचिकी वाऽऽलोचनोक्ता , इदानीं कायिकी आलोचना भण्यते—आचार्यस्य भिक्षा दर्श्यते, एव मनसा वाचा वाऽऽलोचयित्वा ' सर्वं निरवशेषम्, तथा मुखवस्त्रिकया शिरः प्रमृज्य पतद्ग्रह च सपटलं प्रमृज्य 'ऊर्ध्व' पीठीः 'अधो' भुवि तिर्यक् तिरश्चीनं 'प्रत्युपेक्षेत ' निरूपयेत् ' सर्वतः' समन्ताच्चतसृष्वपि दिक्षु सर्वं—नैरन्तर्येण. ततः पतद्ग्रह हस्ते कृत्वा भक्ताऽऽदि गुरोर्दर्शयतीति वक्ष्यति भाष्यकृत् ।

इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृदाह. तत्र गुरुदोषत्वात्प्रथममूर्ध्वाऽऽदीनि त्रीणि पदानि व्याख्यानयन्नाह भाष्यकार.-

उड्ढं पुप्फफलाई, तिरियं मज्जारिसाणडिंभाई ।
खीलगदारुगआवड-णरक्खणट्ठा अहो पेहे ॥ २७१ ॥

उद्यानाऽऽदौ आवासिताना सतां पुष्पफलाऽऽदिपातमूर्ध्वं निरूप्य ततो गुरोर्दर्शयति. तिर्यङ् मार्जारश्वडिम्भानालोकयाऽऽलोचयति. मा भूते आगच्छन्तस्तत्पात्रमुत्प्रेर्य्य पातायिष्यन्ति आदिशब्दात्काण्ड वा केनचिद्विक्षिप्तमायाति, अतस्तिर्यग ' निरूप्येत, तथाऽधो निरूपयति , किमर्थं ? , कदाचित्कीलको भवति, तत्राऽऽपतनम्—आस्खलन मा भूदिति. अतो-ऽधो निरूप्य ततो भक्ताऽऽदि दर्शयति ।

इदानीं ' सीस सपडिग्गह पमज्जेत्त त्ति ' व्याख्यानयति-

ओणमओ पवडेज्जा, सिरओ पाणा सिरं पमज्जेज्जा ।
एमेव उग्गहम्मि वि, मा संकुडणे तसविणासो ॥२७२॥

हस्तस्थे पतद्ग्रहेऽवनमतः शिरसः प्रपतेयुः प्राणिन. कदाचिदतः, शिरः-प्रथममेव प्रमार्जयेत् , एवमेव पतद्ग्रहं प्रमार्जनं कृत्वा प्रदर्शयेद्भक्ताऽऽदि. किं कारणं ?-'मा संकुडणे तसविणासो त्ति ।' मा भूत्सङ्कोचने सति पटलानां त्रसाऽऽदिविनाशो भविष्यत्यतः प्रमृज्य पतद्ग्रह भक्त प्रदर्शयतीति ।

काउं पडिग्गहं कर-यलम्मि, अद्धं च ओणमित्ताणं ।
भत्तं वा पाणं वा पडिदंसिज्जा गुरुसगासे ॥ २७३ ॥

कृत्वा पतद्ग्रह करतले अर्ध च शरीरस्यावनम्य पुनर्भक्त वा प्रदर्शयेत् गुरुसकासे इति ।

ताहे य दुरालोइय,भत्तपाणे एसणमणेसणाए उ ।
अट्ठुस्सासे अहवा, अणुग्गहादी उ झाएज्जा ॥ २७४ ॥

ततः कदाचिद् दुरालोचित भक्तपानं भवति. ' नट्टं वलं चलं ' इत्येवमादिना प्रकारेण. तथैषणादोषः कदाचित् सूक्ष्मः कृतो भवति. अनेषणादोषो वा कश्चिदजानता, ततश्चैतेषां विशुद्ध्यर्थमष्टोच्छ्वास नमस्कार ध्यायेत् , अथवा—' अनुग्रहादीति ' अथवाऽनुग्रहाऽऽदि ध्यायेत् , " जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ । " इत्येवमादि गाथाद्वय कायोत्सर्गस्थो विशुद्धयर्थ ध्यायेत् , उत्सार्य च कायोत्सर्गं तत. स्वाध्याय प्रस्थापयेत् ।

एतदेवाऽऽह—

विणएण पट्ठवित्ता, सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तागं ।
पुव्वभणिया य दोसा, परिस्समाई जढा एवं ॥ ५२१ ॥

विनयेन प्रस्थाप्य स्वाध्याय योगविधाविव ततः स्वाध्यायं मुहूर्तमात्र करोति, जघन्यतो गाथात्रयं पठति, उत्कृष्टतश्चतुर्दशापि सूत्त्माणप्राणलब्धिसपन्नोऽन्तर्मुहूर्त्तेन परावर्त्तयति, एवं च कुर्वता पूर्वभणिता दोषा धातुक्षोभे मरणमित्येवमादय. तथा परिश्रमाऽऽदयश्च दोषाः ' जढाः ' त्यक्ता भवन्तीति ।

दुविहो य होइ साहू, मंडलिउवजीवओ य इयरो य ।
मंडलिमुवजीवंतो, अच्छइ जा पिंडिया सव्वे ॥ ५२२ ॥

स च साधुर्द्विप्रकारो मण्डल्युपजीवकः, इतरश्च अमण्डल्युपजीवक., तत्र यो मण्डल्युपजीवकः साधुः सो हिण्डित्वा भिक्षां तावत् प्रतिपालयति यावत् पिण्डिताः एकीभूताः सर्वेऽपि साधवो भवन्ति. पुनश्च स तैः सह भुङ्क्ते ।

इयरोऽवि गुरुसगासं, गंतूण भणइ संदिसह भंते ! ।
पाहुणगखवग अतरं-तबालवुड्ढाणसेहाणं ॥ ५२३ ॥

इतरोऽपि अमण्डल्युपजीवकः, तत्र यो मण्डल्युपजीवकः स साधुः गुरुसकाशं गत्वा तमेव-गुरु भणति—यदुत हे आचार्य. ' सदिशत ददत यूयमिद भोजनं प्राघूर्णकक्षपकाऽतरन्तबालवृद्धशिक्षकेभ्य. साधुभ्य इति ।

पुनश्च—

दिन्ने गुरुहिं तेसिं, सेसं भुंजेज्ज गुरुअणुन्नायं ।
गुरुणा संदिट्ठो वा, दाउं सेसं तओ भुंजे ॥ ५२४ ॥

एवमुक्तेन सता गुरुणा दत्ते सति तेभ्य —प्राघूर्णिकाऽऽदिभ्यः यच्छेष तद्भुञ्जीत गुरुणा अनुज्ञात सन्. यदि वा-गुरुणा संदिष्ट उक्त., यदुत त्वमेव प्राघूर्णकाऽऽदिभ्यः प्रयच्छ, एवमसौ साधुर्भणितः सन् दत्त्वा प्राघूर्णकाऽऽदिभ्यः ततः शेषं यद् भक्त तद् भुङ्क्ते. एव न केवलमसौ प्राघूर्णकाऽऽदिभ्यो ददाति अन्यानपि साधून्निमन्त्रयति. तत्र याव ते गृह्णन्ति ततो निर्जरा । अथ न गृह्णन्ति तथाऽपि विशुद्धपरिणामस्य निर्जरैवेति ।

एतदेवाऽऽह—

इच्छिज्ज न इच्छिज्ज व, तह वि य पयओ निमंतए साहू ।

परिणामविसुद्धीए, अ निज्जरा होअगहिए वि ॥५२५॥

इच्छेत् कश्चित् साधुर्नेच्छेद् वा तथाऽपि प्रयत्नेन सद्भावेन निमन्त्रयेत् साधून् एव सद्भावेन निमन्त्रयतः परिणामविशुद्ध्या चित्तनैर्मल्याद् निर्जरा भवति कर्म्मक्षयलक्षणा अगृहीते अपि भक्ते ।

अथावज्ञया निमन्त्रयति ततश्चायं दोषः—

भरहेरवयविदेहे, पन्नरस वि कम्मभूमिगा साहू ।

इक्कम्मि हीलियम्मि य, सव्वे ते हीलिया होंति ॥५२६॥

सुगमम् । यदा पुनरादरेण निमन्त्रयति तदाऽयं महान् गुणः—

भरहेरवयविदेहे, पन्नरस वि कम्मभूमिया साहू ।

इक्कम्मि पूइयम्मि य, सव्वे ते पूइया हुंति ॥ ५२७ ॥

सुगमा ।

अत्राऽऽह परः—

अह को पुणाइ नियमो, एक्कम्मि वि हीलियम्मि ते सव्वे ।

होंति अवमाणिया पूइ-ए य संपूइया सव्वे ॥ ५२८ ॥

अथ कः पुनरयं नियमः?, यदुत एकस्मिन्नवमानिते सति सर्वे एवापमानिता भवन्ति, तथा एकस्मिन् सपूजिते सति सर्वे एव संपूजिता भवन्ति, न चैकस्मिन् सपूजिते सर्वे सपूजिता भवन्ति, न हि यज्ञदत्ते भुक्ते देवदत्तो भुक्तो भवतीति ।

आचार्य आह—

नाणं व दंसणं वा, तवो य तह संयमो य साहुगुणा ।

इक्के सव्वेसु वि ही-लिएसु ते हीलिया हुंति ॥ ५२९ ॥

ज्ञान दर्शनं च तपः तथा संयमश्च. एते साधुगुणा वर्त्तन्ते, एते च गुणा यथैकस्मिन् साधौ व्यवस्थिता एव सर्वेष्वपि, एकरूपत्वात्तेषां, यतश्चैवमत एकस्मिन् साधौ हीलिते-अपमानिते सर्वेषु वा साधुषु हीलितेषु ते ज्ञानाऽऽदयो गुणा हीलिता अपमानिता भवन्ति ।

एवमेव पूईयम्मि वि, एक्कम्मि वि पूईया जइगुणा उ ।

थोवं बहूनिवेसं, इति णच्चा पूयए मइमं ॥ ५३० ॥

एवमेकस्मिन् पूजिते पूजिता यतिगुणाः सर्व्वे भवन्ति, यस्मादेवं तस्मात् स्तोकमेतद्भक्तपानाऽऽदि बहुनिवेसं बह्वायमित्यर्थः, निर्जराहेतुरिति, तस्मादेव ज्ञात्वा पूजयेत् साधून्मतिमानिति, यतश्चैवमत एवमेव कर्त्तव्यम् ।

एतदेवाऽऽह—

तम्हा जइ एस गुणो, एक्कम्मि वि पूइयम्मि ते सव्वे ।

भत्तं वा पाणं वा, सव्वपयत्तेण दायव्वं ॥ ५३१ ॥

सुगमा ।

वेयावच्चं नियमं, करेह उत्तरगुणे धरिंताणं ।

सव्वं किल पडिवाई, वेयावच्चं अपडिवाई ॥ ५३२ ॥

वैयावृत्त्य नियत सतत कुरुत, केषाम् ?,-उत्तरगुणान् धारयतां साधूनां कुरुत, शेष सुगमम् ।

किं च—

पडिभग्गस्स मयस्स व, नासइ चरणं सुयं अगुणणाए ।

न हु वेयावच्चचियं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥ ५३३ ॥

प्रतिभग्नस्य उन्निष्क्रान्तस्य मृतस्य वा नश्यति चरणं श्रुतमगुणनया न तु वैयावृत्त्यचित्तं बद्धं शुभोदय नश्यति कर्म ।

किंच—

लाभेण जोजयंतो, जइणो लाभंतराइयं हणइ ।

कुणमाणो य समाहिं, सव्वसमाहिं लहइ साहू ॥५३४॥

लाभेन प्राप्त्या घृताऽऽद्यैः योजयन् घृताऽऽदिलाभेन योजयन्, कान् ?, यतीन् लाभान्तराय कर्म्म हन्ति । तथा पादप्रक्षालनाऽऽदिना कुर्वन् समाधिं सर्वसमाधिं मनसः स्वस्थतां वचो माधुर्याऽऽदिक कायस्य निरुपद्रवताम् , एव कुर्वन् त्रिरूपमपि सर्वसमाधिं लभते ।

भरहो बाहुबली वि य, दसारकुलनंदणो य वसुदेवो ।

वेयावच्चाहरणा, तम्हा पडितप्पह जईणं ॥ ५३५ ॥

सुगमा, नवरम् ( पडितप्पह त्ति ) वैयावृत्त्य कुरुत ।

किंच—

होज्ज व ण होज्ज लंभो, फासुयआहारउवहिमाईणं ।

लंभो य निज्जराए, नियमेण अओ उ कायव्वं ॥५३६॥

भवेद् वा न वा लाभः, केषां प्रासुकानाम् आहारोपध्यादीनां तथाऽपि तस्य वैयावृत्त्यर्थमभ्युद्यतस्य साधोर्विशुद्धपरिणामस्य लाभ एव निर्जराया अवश्यम् , अलाभेऽपि सति निर्जरा भवति, यस्मादेव तस्मात्कर्त्तव्य वैयावृत्त्यम् ।

वेयावच्चे अब्भु-ट्ठियस्स सद्धाएँ काउकामस्स ।

लाभो चेव तवसि-स्स होइ अदीणमणसस्स ॥५३७॥

सुगमा, नवरं वैयावृत्ये अभ्युत्थितस्य उद्यतस्य श्रद्धया कर्त्तुकामस्य लाभ एव । ओघ० । ( ग्रासैषणा ' एसणा ' शब्दे तृतीयभागे ७० पृष्ठे प्रतिपादिता )

उवजीवि अणुवजीवि, मंडलिं पुव्ववण्णिओ साहू ।

मंडलिअसमुद्दिसगा-ण ताण इणमो विहिं वोच्छं ।५४७।

तत्र मण्डल्युपजीवी साधुरनुपजीवी च पूर्वमेव द्विविधो व्यावर्णितः साधुरेकः, इदानीं बहूनां मण्डल्यामसमुद्दिशकानां यो विधिः भवति तं वक्ष्ये ।

ते च कथ मण्डल्यामसमुद्देशका भवन्ति ?,

अत आह—

आगाढजोगवाही, णिज्जूढलद्धिया व पाहुणगा ।

सेहा सपायछित्ता, बाला वुड्ढेवमादीया ॥ ५४८ ॥

आगाढयोगो गणियोगः तद्युक्ता ये ते मण्डलीं नोपजीवन्ति, ( निज्जूढ त्ति ) अमनोज्ञाः कारणान्तरेण तिष्ठन्ति ते पृथक् भुञ्जते , तथा आत्मार्थिकाश्च पृथक् भुञ्जते , प्राघूर्णकाश्च, यतस्तेषां प्रथममेव प्रायोग्य पर्याप्त्या दीयते , ततस्तेऽपि एकाकिनो भवन्ति, शिक्षका अपि सागारिकत्वात् पृथक् भोज्यन्ते, सप्रायश्चित्ताश्च पृथक् भोज्यन्ते, यतस्तेषां शबल चारित्रं, शबलचरित्रैः सह न भुज्यते, बालवृद्धा अप्यसहिष्णुत्वात् प्रथममेव भुञ्जते, अतस्तेऽप्येकाकिन इति, एवमाद्या मण्डल्यामसमुद्दिशका भवन्ति, आदिग्रहणात् कुष्ठव्याध्याद्युपद्रुता इति ।

ते च भुञ्जानाः सन्त आलोके भुञ्जते। स चाऽऽ-
लोको द्विविधो भवतीत्याह—

**दुविहो खलु आलोगो, दव्वे भावे य दव्वि दीवाई।**
**सत्तविहो पुण भावे-आलोगं तं परिकहेह ५४९ ॥**

द्विविध आलोकः-द्रव्याऽऽलोको भावाऽऽलोकश्च। तत्र द्रव्या-
ऽऽलोकः प्रदीपाऽऽदि, भावे भावविषयः पुनरालोकः सप्तविधः,
तं कथयाम्यहम्, तत्र भावाऽऽलोकस्येयं व्युत्पत्तिः—आलो-
क्यत इत्यालोकः स्थानदिगादिनिरूपणमित्यर्थः।

तं च सप्तविधमपि प्रतिपादयन्नाह—

**ठाणदिसिपगासणया, भायणपक्खेवणे य गुरुभावे।**
**सत्तविहो आलोओ,सया वि जयणा सुविहियाणं॥५५०॥**

तैश्च श्रमणमण्डलिसमुद्दिशकैः निष्क्रमणप्रवेशवर्जिते स्थाने
भोक्तव्यं, तथा कस्यां दिशि आचार्यस्योपवेष्टव्यमित्येतद्वक्ष्य-
ति, तथा सप्रकाशे स्थाने भोक्तव्यम्, भाजने च विस्तीर्णमु-
खे भोक्तव्यं, प्रक्षेपणं च कवलानां कुक्कुट्यण्डकमात्राणां क-
र्त्तव्यं, तथा गुरोश्चक्षुःपथे भोक्तव्यं, तथा भावो ज्ञानाऽऽदिः त-
त् संवहनार्थं भोक्तव्यमित्येतद्वक्ष्यति, एवमयं सप्तविध आ-
लोकः, सदाऽपि च यतना तस्मिन् सप्तविधेऽप्यालोके यतना
सुविहितानाम्।

इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति,
तत्राऽऽद्यावयवव्याचिख्यासुराह—

**निक्खमपवेसमंडलि-सागारियठाणपरिहियट्ठाइ।**
**माहकासणभंगो, अहिगरणं अंतरायं वा ॥ २७५ ॥**

निष्क्रमप्रवेशौ वर्जयित्वा भोजनार्थमुपविशन्ति, तथा
मण्डलीप्रवेशं च वर्जयन्ति, तथा सागारिकस्थानं च परि-
हृत्य भुञ्जते माभूत्सागारिके प्राप्ते सति एकाशनभङ्गः स्या-
दिति, अधिकरणं रादिर्वा भवति अन्येन प्रव्रजितेन गदा-
स्थाने उपविष्टस्य भुञ्जतोऽन्तरायं च भवति, कथं ?, स सा-
धुरन्यस्य सत्के स्थाने भुङ्क्ते उपविष्टः, सोऽपि साधुरागतः
प्रतीक्षमाण आस्ते, एवं च अन्तरायं कर्म बध्यते।

इदानीं दिशाद्वारप्रतिपादनायाऽऽह—

**पच्चुरसि परंमुहप-ट्ठिपक्खि एया दिसा विवज्जित्ता।**
**ईसाणगेईय व, ठाएज्ज गुरुस्स गुणकलिओ ॥२७६॥**

उरसोऽभिमुखं प्रत्युरसं गुरोरभिमुखं वर्जयित्वेत्यर्थः। परा-
ङ्मुखश्च नोपविशति गुरोः, तथा पृष्ठतश्च गुरोर्नोप-
विशति, पक्षके च नोपविशति, एवमेता दिशो वर्जयि-
त्वा ऐशान्यां दिशि गुरोः आग्नेय्यां दिशि वा तिष्ठेत् उप-
विशेद् भोजनार्थं गुणकलितः साधुर्यः।

इदानीं " पगासणय त्ति " व्याख्यायते—

**मक्खियकंटगठाई-ण जाणणट्ठा पगासभुंजणया।**
**अट्ठियलग्गगलदोसा, वग्गुलिदोसा जहा एवं ॥ २७७ ॥**

कथं नु नाम मक्षिका ज्ञायते-दृश्यते तथा कण्टको वा
कथं नु नाम दृश्येत, अस्थि वा उपलभ्येत ?, एवमर्थं 'प्रका-
शे' सोद्द्योतस्थाने भुज्यते, आदिग्रहणाद्वालाऽऽदिपरिग्रहः,
तच्च दृश्यते, एवं च प्रकाशे भुञ्जानेन योऽसौ गलकाऽऽदौ
अस्थिलग्नदोषः, तथा कण्टकलग्नदोषश्च गलकाऽऽदौ स प-
रिहृतो भवति, तथा अन्धकारे मक्षिकाभक्षणजनितो यो
वल्गुलिव्याधिदोषः स परिहृतो भवति।

इदानीं " भायणं त्ति " द्वारमुच्यते—

**जे चेव अंधयारे, दोसा ते चेव संकडमुहम्मि।**
**परिसाडी बहुलेवा-डणं च तम्हा पगासमुहे ॥ २७८ ॥**

य एव अन्धकारे भुञ्जानस्य 'दोषाः' मक्षिकाऽऽदिजनिता
भवन्ति त एव दोषाः सङ्कटमुखे भाजने कमठाऽऽदौ भुञ्जतः,
अयमपरोऽधिको दोषः ( परिसाडी ) परिशाटी भवति
पार्श्वे निपतति, तथा ( बहुलेवाडणं च ) " बहुं चिक्कं खर-
डिज्जति हत्थस्स उवरिं पि भुंजतस्स संकडे " तस्मात्
'प्रकाशमुखे' विपुलमुखे भाजने भुज्यत इति।

पक्खेवणाविही भण्णइ—

**कुक्कुडिअंडगमित्तं, अविगियवयणो उ पक्खिवे कवलं।**
**अइखद्धकारगं वा, जं च अणालोइयं होज्जा ॥ २७९ ॥**

कुक्कुट्या अण्डकं कुक्कुट्यण्डकं तत्प्रमाणं कवलं प्रक्षिपेत्
वदने, मुखे, किंविशिष्टः सन् ?, अविकृतवदनः नात्यन्तनि-
र्घाटितमुखः प्रक्षिपेत् कवलम्।

दारम्-'गुरु त्ति' व्याख्यायते-(अतिखद्ध त्ति) गुरोरालोके
भोक्तव्यं, यदि पुनर्गुरोरदर्शनपथे न भुङ्क्ते, ततः कदाचित्सा-
धुः अतिखद्धं अतिप्रचुरं भक्षयेत् निःशङ्कः सन्, स च स-
व्याजशरीरः कदाचिद् गुरोरदर्शनपथे अकारम् अपथ्य-
मपि भुञ्जीत निशङ्कः सन् कदाचिद्वा भिक्षामटताऽनेन
स्निग्धद्रव्यं लब्धं भवेत्, तच्चाऽनालोच्यैव भक्षयेदेका-
न्ते, मा भूज्जामाऽऽचार्यो निवारयिष्यति।

अतः—

**एएसि जाणणट्ठा, गुरु आलोए तओ उ भुंजेज्जा।**
**नाणाइसंधणट्ठा, ण वण्णबलरूवविसयट्ठा ॥ २८० ॥**

एतेषां प्रचुरभक्षिताऽऽदीनां दोषाणां ज्ञानार्थं गुरोरालोके
चक्षुर्दर्शनपथे भुञ्जीत, येन गुरुः समीपस्थः भुञ्जानं दृष्ट्वा प्रचुरं
भक्षयन्तं निवारयति, तथा अकारकं भक्षयन्तं निवारयति,
तथा अनालोचितं चोरितं खादन्तं निवारयति, मा भूव-
न्वारणे अपाटवजनिताः दोषाः स्युः। इदानीं " भावे त्ति "
व्याख्यायते-( णाणाऽऽदि ) ज्ञानाऽऽदिर्भावः ज्ञानं दर्शनं चा-
रित्रं च एतत्त्रज्ञानाऽऽदिभावत्रयमभुज्यमाने त्रुट्यति व्युच्छिद्य-
ते,अत एतेषां ज्ञानाऽऽदीनां त्रुट्यतां संधानार्थम् अविच्छिन्नप्र-
वाहार्थं भुज्यते, न वर्णार्थं भुज्यते, न वर्णो मम गौरः
स्यादित्येवमर्थं, तथा बलं मम भूयादित्येवमर्थमपि न
भुज्यते, रूपं मम भूयात् बुभुक्षया क्षीणक्षणगण्डपार्श्वः
सन् मांसोपचयेन पूरितगण्डपार्श्वः रूपवान् भविष्यामी-
ति, नैवमर्थं भुङ्क्ते, नापि विषयार्थं मैथुनाऽऽसेवनार्थं भु-
ङ्क्ते।

**सो आलोइयभोई, जो एए जुंजए पए सव्वे।**
**गविसणगहणग्घासे-सणाइ तिविहाइ वि विसुद्धं॥५५१॥**

स साधुर्गुरोरालोचितं भुङ्क्ते, य एतानि पदान्यनन्तरोदि-
तानि 'युनक्ति' प्रयुङ्क्ते करोति स्थामाऽऽदीनि, स च ग-
वेषणैषणया ग्रहणैषणया ग्रासैषणया, अनया त्रिविधयाऽ-

ष्येषणया शुद्धं भुङ्क्ते य एतानि पदानि प्रायुङ्क्त इति ।

**एवं एगस्स विही, भोत्तव्वे वन्निओ सुमासेणं ।**
**एमेव अणेगाण वि, जं नाणत्तं तयं वोच्छं ॥ ५५२ ॥**

एवमेकस्य साधोः भोक्तव्ये विधिर्वर्णित समासेन संक्षेपेण, एवमेव अनेकेषामपि साधूनां भोजने विधिः, यत्तु पुनर्नानात्वं भवति यो भेदो यदतिरिक्तं भवति तदहं वक्ष्ये ।

आह-किं पुनः कारणं मण्डली क्रियते ?, उच्यते—

**अतरंतवालवुड्ढा, सेहाएसा गुरू असहुवग्गो ।**
**साहारणोग्गहाऽल-द्धिकारणा मण्डली होइ ॥ ५५३ ॥**

अतरन्तः अतिग्लानः तत्कारणात्तन्निमित्तं मण्डली भवति, यतस्तस्य ग्लानस्य यद्येकः साधु वैयावृत्यं करोति ततस्तस्य तत्रैवाक्षणिकस्य सूत्रार्थहानिर्भवति, मण्डलीवन्धे तु कश्चित्किञ्चित्करोति, एतदर्थं मण्डली क्रियते येन बहवः प्रतिजागरका भवन्तीति । बालोऽपि भिक्षामटितुमसमर्थः, स च बहूनां मध्ये सुखेनैव कथं नु नाम वर्तेत ?, ततो मण्डली भवति, वृद्धोऽप्येवमेव, सेहः शैक्षकः, स चैकः सन् भिक्षाविशुद्धिं न जानाति, ततस्तस्याऽऽनीय दीयते, 'आएसो' प्राघूर्णकस्तस्य चाऽऽगतस्य सर्वे एवोपकुर्वन्ति, स चोपकारः सर्वैरेव मिलितैः कर्तुं शक्यते न त्वेकेन, गुरोश्च सर्वैरेवोपकर्तुं शक्यते, न त्वेकेन, सूत्रार्थपरिहाने· तथा (असहुवग्ग त्ति) असमर्थो राजपुत्राऽऽदिः, स च भिक्षामटितुं सुकुमारत्वान्न शक्नोति, ततश्च सर्वे एव मिलिता उपकुर्वन्ति, तस्मात् 'साधारणोग्गहो' साधारणश्चासावुपग्रहश्च साधारणोपग्रहः, तस्मात्साधारणोपग्रहात्कारणात् मण्डली कर्त्तव्या, अथवा-मण्डलीविशेषणमेतद्, उपगृह्णाति इति उपग्रहः भक्ताऽऽदिस्स साधारणस्तुल्यो यस्या सा साधारणोपग्रहा मण्डली भवति (अलद्धिकारणा मण्डली होइ त्ति) कदाचित्कश्चित्साधुरलब्धिमान् भवति, ततश्च ते अन्ये साधव तस्मै आनीय प्रयच्छन्ति, अत एतत्कारणात् मण्डली भवति ।

इदानीं भिक्षागताना साधूनां यो वसतिरक्षपालस्तेन किं कर्त्तव्यमित्यत आह-

**णाउ णियट्टणकालं, वसहीपालो उ भायणुग्गाहे ।**
**परिसंठिअच्छदवगे-एहणट्ठया गच्छमासज्जा ॥ ५५४ ॥**

ज्ञात्वा भिक्षागतानां निवर्त्तनकाल वसतिपाल भाजन नन्दीपात्रं तत्प्रत्युपेक्ष्योद्ग्राहयति, संघट्टितेन आस्ते इत्यर्थः, किमर्थं ?, परिसंस्थिताऽच्छद्रवग्रहणार्थम्, एतदुक्तं भवति-तत्राऽऽनीयसाधवः पानकं पक्षिपन्ति, पुनश्च तत्र परिसंस्थित-स्वच्छीभूत सत् तस्मादन्यत्र पात्रकं क्रियते येन तत् स्वच्छमार्यादीना योग्य भवति, पात्रकाऽऽदिप्रक्षालन च क्रियते, (गच्छमासज्ज त्ति) गच्छमासाद्य गच्छस्य प्रमाणं ज्ञात्वा पात्रकमुद्ग्राहयन्ति, एतदुक्तं भवति यदि महान् गच्छस्ततः पानकगालनार्थं महाप्रमाण पात्रकमुद्ग्राहयति, तथा द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्चाऽऽदीनि यावत् ।

**असई य भियत्तेसुं, एक्कं चउरंगुलूणभाणेसुं ।**
**पक्खिवयि पडिग्गहगं, तत्थऽच्छदवं तु गालेज्जा । ५५५ ।**

अथ तत्र रक्षपालः समर्थो नास्ति यः पात्रमुद्ग्राहयति, अथवा-(असती य त्ति) यदि नन्दीपात्रं नास्ति यत्रोदकमानीतं स्वच्छीकरणार्थं क्रियते, ततः असति तस्मिन् नन्दीपात्रे तदेक पतद्ग्रह प्रक्षिप्य, क्व ?, अत आह-(चउरंगुलूणभाणेसु) चतुर्भिरङ्गुलैरूनानि यानि भाजनानि, तेषु प्रक्षिप्य पतद्ग्रह पुनस्तस्मिन् क्षणीभूते स्वच्छं द्रवं गालयेत्, अत्र चाय नियमो द्रष्टव्यः-यदुत भिक्षां तावत् साधवः पर्यटन्ति यावत्पात्रकं चतुर्भिरङ्गुलैरूनमास्ते, इति ।

आह-किं पुनः कारणं तद्द्रवगलनं क्रियते ?, उच्यते-

**आयरियअभावियपा-णगट्ठया पायपोसधुवणट्ठा ।**
**होइ य सुहं विवेगो, सुह आयमणं च सागरिए ॥ ५५६ ॥**

आचार्यपानार्थमभावितसेहाऽऽदिपानार्थं च गलनं क्रियते । तथा पादधावनार्थं (पोस त्ति) अधिष्ठान, तत्प्रक्षालनार्थं, तथा भवति च सुखेन विवेकः त्यागोऽतिरिक्तस्य तस्य पानकस्य, तथा सुखेन वा आचमनं सागारिकस्याग्रतः क्रियते, एवमर्थं गलन क्रियत इति ।

कियन्ति पुनः पात्रकाणि गलितद्रवस्य ध्रियन्ते ?, इत्यत आह-

**एक्कं व दो व तिन्नि व, पाए गच्छप्पमाणमासज्ज ।**
**अच्छदवस्स भरेज्जा, कसट्ठवीए विगिंचिज्जा ॥ ५५७ ॥**

एकं द्वे त्रीणि वा पात्रकाणि ध्रियन्ते, गच्छप्रमाणं ज्ञात्वा चतुष्प्रभृतीन्यपि ध्रियन्ते स्वच्छद्रवस्य, तत्र च गलिते सति कसट्ट कचवर बीजानि च गोधूमाऽऽदीनि विगिञ्चेत् परित्यजेत्, एवं तावत्पात्रकर्णेनापि उदकमपवृत्य पानकगलनं क्रियते ।

अथ पुनस्तत्र कीटिकामर्कोटिकाऽऽदयः प्लवमाना दृश्यन्ते, ततस्तत्र गलिते को विधिरित्यत आह-

**मुइंगाईमक्को-डयेहिँ संसत्तगं च नाऊणं ।**
**गालेज्ज छव्वएणं, सउणीघएण व दवं तु ॥ ५५८ ॥**

मुइङ्गा कीटिका मर्कोटकाश्च तैः संसक्तं ज्ञात्वा गालयेत् (छव्वएण) वंशपिटकेन शकुनिगृहकेण वा गालयेत् तद् द्रवम् ।

**इय आलोइयपट्ठवि-यगालिए मंडलीइ सट्ठाणं ।**
**सज्झायमंगलं कुण-इ जाव सव्वे पडिनियत्ता ॥ ५५९ ॥**

(इय त्ति) पूर्वोक्तविधिना आलोचिते सति प्रस्थापिते स्वाध्याये गलिते च पानके पुनश्च मण्डल्यां स्वस्वस्थाने उपविश्य स्वध्यायमङ्गलं करोति, स्वाध्याय एव मङ्गलं स्वाध्यायमङ्गलं तत्करोति यावत्सर्वे साधवः प्रतिनिवृत्ता भवन्तीति ।

एव यदि सहिष्णव ततो यौगपद्येन भुञ्जते, अथासहिष्णवस्तत्र केचिद्भवन्ति ततः को विधिरित्यत आह—

**कालपुरिसे व आस-ज्ज मत्तए पक्खिवित्तु तो पढमा ।**
**अहवा वि पडिग्गहगं, भुयंति गच्छं समासज्ज । ५६० ।**

स चासहिष्णुः ग्रीष्मकालाऽऽद्यधीकृत्य भवति, तत एव वा पुरुष कदाचित्तु क्षुधाऽऽर्त्तो भवति, तमाश्रित्य मात्रके

प्रक्षिप्य भक्तं प्रथमालिका तावद्दीयते, अथ बहवो क्षुधालवः ततः पतद्ग्रहकं मुच्यते, तेभ्यो रक्षणार्थं गच्छं ( समासज्ज त्ति ) गच्छमल्पं बहुं वा ज्ञात्वा तदनुरूपं पतद्ग्रह मुञ्चति। पुनश्च मिलितेषु साधुषु मण्डलीस्थविरः प्रविशति। किं कृत्वेत्यत आह—

चित्तं बालाऽऽईणं, गहाय आपुच्छिऊण आयरियं।
जमलजणणीसरिच्छो, निवेसई मंडलीथेरो ॥ ५६१ ॥

चित्तं बालाऽऽदीनां गृहीत्वा पृष्ट्वा आचार्यं मण्डलीस्थविरः प्रविशति,किंविशिष्टः?,इत्यत आह-( जमलजणणीसरिच्छो णिवेसइ त्ति ) उपविशति मण्डलीस्थविर इति, स च मण्डलीस्थविरः गीतार्थः रत्नाधिकः अलुब्धश्च भवति।

अनेन च पदत्रयेण अष्टौ भङ्गाः सूचिता भवन्ति, तत्र तेषां मध्ये ये शुद्धा अशुद्धाश्च तान् प्रदर्शयन्नाह—

जइ लुद्धो राइणिओ,होइ अलुद्धो वि जो वि गीयत्थो।
ओमो वि हु गीयत्थो, मंडलिराइणि अलद्धो उ ॥५६२॥

यद्यसौ मण्डलीस्थविरः लुब्ध रत्नाधिकश्च ततस्तिष्ठति न प्रविशति, अनेन च लुब्धपदेन द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमा भङ्गका अशुद्धाः प्रदर्शिता भवन्ति ( अलुब्धो वि जो वि गीयत्थो ओमो वि हु त्ति ) अलुब्धोऽपि यदि गीतार्थ ओमः लघुपर्याय. स मण्डल्यां परिविशति, अनेन च ग्रन्थेन तृतीयभङ्गकः कथितो भवति। अयञ्च प्रथमभङ्गकाभावे भवति, अत्र च भङ्गके गीतार्थपदग्रहणेन यत्र यत्र भङ्गके अगीतार्थपदं स सर्वो दुष्टो ज्ञातव्यः। ( गीयत्थो मंडलिराइणि अलुद्धो त्ति ) यस्तु पुनः गीतार्थो रत्नाधिकोऽलुब्धश्च स मण्डल्यामुपविशति,अनेन ग्रन्थेन च प्रथमो भङ्गकः शुद्धः प्रदर्शितो भवति, सर्वथा यत्र यत्र लुब्धपदमगीतार्थपदं च स परिहार्यः, " ओमराइणिओ " पदं च यदि अगीतार्थः लुब्धपदं च न भवति तत. अपवादे शुद्धं भवति,प्रथमं तु शुद्धमेव।

इदानीं ते मिलिताः सन्त आलोके भुञ्जते, स चाऽऽलोको द्विविध.-द्रव्यतो, भावतश्च। तत्र द्रव्यतः प्रदीपाऽऽदिः। भावतः सप्तप्रकारः, तं दर्शयन्नाह—

ठाणदिसिपगासणया, भायणपक्खेवणा य भावगुरू।
सो चेव य आलोगो, नाणत्तं तद्दिसा ठाणे ॥ ५६३ ॥

स्थानं वक्तव्यम् उपविशने दिग् वक्तव्या। प्रकाशमुखे भाजने भोक्तव्यं, भाजनक्रमो वक्ष्यमाणः, प्रक्षेपण वदने वक्तव्यं भावाऽऽलोको वक्तव्य., गुरुर्वक्तव्य.,स एवाऽऽलोक. पूर्वोक्तो नानात्व त्वत्र यदि परं दिशः स्थानस्य च, अत्र दिक्पदमन्यथा वक्ष्यति स्थानं च।

इदानीं ( भाष्यकारः )स्थाननानात्वं दर्शयति,तत्र स्थानव्याख्यानायाऽऽह—

निक्खमपवेस मोत्तुं, पढमसमुद्दिस्सगाण ठायंति।
सज्झाए परिहाणी, भावासन्नेवमाईया ॥ २८१ ॥

प्रथमसमुद्दिष्टानां ग्लानाऽऽदीनां निर्गमप्रवेशौ मुक्त्वा उपविशन्ति किमर्थम्?, तत्र यदि ते मार्गे स्था मण्डल्यां तिष्ठन्ति ततः पूर्वोक्तानां स्वाध्यायपरिहाणिर्भवति, तथा भावाऽऽसन्नस्य संज्ञाऽऽदिवेगधारणाऽसहिष्णोः पीडा भवति। एवमादयोऽन्येऽपि दोषाः।

दिग्द्वारप्रतिपादनायाऽऽह भाष्यकार.—

पुव्वमुहो राइणिओ, एको य गुरुस्स अभिमुहो ठाइ।
णिण्हइ य पणामेई, व अभिमुहो इहरहाऽवन्ना ॥२८२॥

पूर्वाभिमुखो रत्नाधिक उपविशति मण्डल्यां, तस्यां च मण्डल्यामेकः साधुर्गुरोरभिमुख उपविशति, किमर्थं ?, कदाचित्किञ्चिद् गुरोरतिरिक्तं भवति तद् गृह्णाति, दातव्यं वा किञ्चिद्भवति तद्ददाति मण्डलीस्थविरेणार्पितम्, एवमर्थमभिमुख उपविशति, इतरथा-यद्यभिमुखो नोपविशति ततोऽवज्ञा—परिभवः कृतो भवति. पृष्ठयादि दत्त्वोपविशति ततोऽप्यवज्ञाऽऽदिकृता दोषा भवन्ति।

निर्युक्तिः—

जो पुण हवेज्ज खमओ,अतिउच्चाओ व सो बहिं ठाइ।
पढमसमुद्दिट्ठो वा, सागारियरक्खणट्ठाए॥ ५६४ ॥

यस्तु पुनः क्षपकोऽर्द्धमासाऽऽदिना भवेद् अतिश्रान्तो वा प्राघूर्णकाऽऽदि. स बहिर्मण्डल्यास्तिष्ठति, प्रथमसमुद्दिष्टो वा साधु.—शीघ्रतरेण येन भुक्तं स सागारिकरक्षणार्थं बहिस्तावन्मण्डल्यास्तिष्ठति।

एक्केक्कस्स य पास-म्मि मल्लयं तत्थ खेलमुग्गाले।
कट्ठट्ठिए व छुब्भइ, मा लेवकडा भवे वसही॥ ५६५ ॥

तत्र च साधूनां भुञ्जानानामेकैकस्य साधोः पार्श्वे मल्लकं भवति, तत्र खेलश्लेष्म उद्गालयेत्—तस्मिन् मल्लके श्लेष्मनिष्ठीवनं कुर्वन्ति, तथा तत्र भुञ्जतः कदाचित्कण्टकोऽस्थिखण्डं वा भवति स तत्र क्षिप्यते, अथ तु भुवि क्षिप्यतेऽस्थिकण्टकाऽऽदि ततो वसनिर्लेपकृता-अनायुक्ता भवति, अतस्तत्परिहारार्थं मल्लकेषु क्षिप्यते।

तथाऽमुमपरं भुञ्जानानां विधिं प्रतिपादयन्नाह—

मंडलिभायणभोयण, गहणं सोही य कारणुव्वरिते।
भोयणविही उ एसो, भणिओ तेल्लुक्कदंसीहिं॥ ५६६ ॥

मण्डली यथारत्नाधिकतया कर्त्तव्या, भाजनानि च पूर्वम् 'अहाकडाइ भुंजति' भोजनं च स्निग्धमधुरं पूर्वं भोक्तव्यं, ग्रहणं च पात्रकात् कुक्कुट्यण्डकमात्र कवलं गृह्णाति, तथा ग्रहणस्यैव शुद्धिर्वक्तव्या, अथवा—शुद्धिर्भुञ्जानस्य यथा भवति तथा वक्तव्यं, कारणे भोक्तव्यं, तथा 'उव्वरिए त्ति' अतिरिक्ते विधिर्वक्तव्य। अयं भाजनविधि' सुगम.। इदानीं भाष्यकार. प्रतिपदं व्याख्यानयति।

तत्राऽऽद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह भाष्यकारः-

मंडलि अह राइणिआ, सामायारी य एग जा भणिआ।
पुव्वं तु अहाकडगा, मुंचंति तओ कमेणियरे॥ २८३ ॥

मण्डली कथमुपविशति ?, अत आह—यथारत्नाधिकतया सामाचारी चात्र कार्या, एवा योक्ता भणिता। कतमा ?, " ठाणदिसिपगासणया " इत्येवमादिका. माऽत्रापि तथैव द्रष्टव्या। उक्तं मण्डलीद्वारम्। इदानीं भाजनद्वारप्रतिपादना-

था ऽऽह—' पुव्वं तु अहाकडगा ' ' पूर्वं प्रथम ' ' यथाकृता-नि ' प्रतिकर्मगृहितानि लब्धानि यानि तानि समुद्देशनार्थं मुच्यन्ते, एतदुक्तं भवति-प्रथममप्रतिकर्मा प्रतिग्रहको आ-श्यते, ततः क्रमेण ' इतरे ' अल्पपरिकर्मबहुपरिकर्माणि च मुच्यन्ते । ' भायण त्ति ' गयम् ।

इदानीं ' भोयण त्ति ' व्याख्यायते—

**निद्धमहुराणि पुव्वं, पित्ताईपसमणट्ठया भुंजे ।**

**बुद्धियलवड्ढणट्ठा, दुक्खं खु विगिंचिउं निद्धं ॥ २८४ ॥**

प्रथमार्द्धं सुगमं , किमर्थं स्निग्धमधुराणि पूर्वं भक्ष्यन्ते ?, यतो बुद्धेर्बलस्य च वर्द्धने भवति, तथा चाऽऽह-" घृते-न वर्द्धते मेधा " इत्यादि, बलवर्द्धनं च प्रसिद्धमेव, थ-लेन च युक्तेन वैयावृत्याऽऽदि शक्यते कर्तुं, दुःखं परिस्था पयितुं स्निग्धं घृताऽऽदि भवति यतोऽसंयमो भवतीति ॥

**अह होज निद्धमहुरा-णि अप्पपरिकम्मसपरिकम्मेहिं ।**

**भोत्तूण निद्धमहुरे, फुसिय करे मुंचऽहागडए ॥ २८५ ॥**

अथ भवेत् स्निग्धानि मधुराणि च द्रव्याणि अल्पपरिक-र्मसु बहुपरिकर्म अमिलेषु च पात्रकेषु ततः को विधि-रित्यत आह—तान्येव भुक्त्वा स्निग्धमधुराणि ततः क-रान् प्रोञ्छयति, प्रोञ्छयित्वा च करान् ( मुंच अहागडए त्ति ) यथाकृतानि—अपरिकर्माणि पात्रकाणि समुद्देश-नार्थं मुच्यन्ते । ' भायण त्ति ' गय ।

इदानीं ग्रहणद्वारप्रतिपादनायाऽऽह—

**कुक्कुडिअंडगमेत्तं, अहवा खुड्डागलंबणासिस्स ।**

**लंबणतुल्ले गेण्हइ, अविगियवयणो य राइणिओ ॥२८६॥**

ततः पात्रकात्कवलं गृह्णन् कुक्कुट्यण्डकमात्रं गृह्णाति । अथवा-( खुड्डागलंबणासिस्स ) क्षुल्लकेन लम्बनकेन हस्तेन अशितुं शील यस्य क्षुल्लकलम्बनाशी तत्तुल्यान् कव-लान् गृह्णाति । स्वभावेनैव लघुकवलाशिनस्तुल्यान् कवलान् गृह्णाति । ( अविगियवयणो य राइणिओ ) अविकृतव-दनो रत्नाधिकः, न भावदोषेण मुखमत्यर्थं बृहत्कवलप्रक्षे-पार्थम् निर्वाहयति, किं तर्हि ?, स्वभावस्थेनैव मुखेनेति ।

अथवाऽयं ग्रहणविधिः—

**गहणे पक्खेवम्मि अ, सामायारी पुणो भवे दुविहा ।**

**गहणे पायम्मि भवे, वयणे पक्खेवणा होइ ॥ २८७ ॥**

' ग्रहणे ' कवलाऽऽदाने प्रक्षेपे च सामाचारी पुनरपि भव-ति द्विविधा, तत्र ग्रहणं पात्रकविषये भवेत् पात्रकात्कव-लोत्क्षेपः, वदनविषयं च प्रक्षेपणं कवलस्य भवति । तत्र पा-त्रकात्कथं भक्षयन्निर्गृह्णाते ? ।

इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

**कडपयरच्छेएणं, भोत्तव्वं अहव सीहखइएणं ।**

**एगेहि अणेगेहि वि, वज्जेन्ता धूमइंगालं ॥ २८८ ॥**

तत्र कटकच्छेदेन भोक्तव्यं यथा कलिञ्जस्य खण्डलकं छि-त्वाऽपनीयते, एवमत्रापि भुङ्क्ते, तथा प्रतरच्छेदेन वा भोक्तव्यं तरिकाछेदेनेत्यर्थः, अथवा—सिंहभक्षितेन, सिंहो हि किल एकदेशादारभ्य तावद्भुङ्क्ते यावत्समस्तं भोजनं नि-ष्ठित तच्चैकेन बहुभिर्वा भोक्तव्यं, वर्जयित्वा धूमाङ्गारक, द्वेषरागौ वर्जयित्वेत्यर्थः ।

इदानीं वन्दनप्रक्षेपणशोधिं दर्शयन्नाह—

**असुरसुरं अचवचवं, अदुयमविलंबिअं अपरिसाडिं ।**

**मणवयणकायगुत्तो, भुंजइ अह पक्खिवणसोहिं ॥२८९॥**

असुरसुर भुङ्क्ते 'सरडसरड अकरितो' 'अचवचवं' वल्क लमिव चर्वयन् न चवचवावेइ, तथा ' अद्रुतम् ' अत्वरितं तथा ' अविलम्बितम् ' अमन्थरम् अपरिशाटि मनोवाक्काय-गुप्तो भुङ्क्ते, न मनसा विरूपमिति चिन्तयति, वाचा नैव वक्ति, यदुत—" को इमं भक्खेइ ?, जो अम्हारिसो न होइ, कायेण उक्खोसेहिं मुहेण ण देइ ।" एवं त्रिगुप्तस्य भुञ्जा-नस्य प्रक्षेपणशोधिर्भवति ।

निर्युक्तिः—

**उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं ।**

**साहारणं अजाणंतो, साहू होइ असारओ ॥ ५६७ ॥**

उद्गमशुद्धम् उत्पादनाशुद्धम् एषणादोषवर्जितं ' साधारण सामान्यं गुडाऽऽदि अजानानः-अतिमात्र दुष्टेन भावेन आ-ददानः योऽसौ पतद्ग्रहो भ्रमति तस्मात् साधुः ' असार-क' ' अप्रधानज्ञानदर्शनचारित्राण्येकीकृत्यासारः स भवति ।

तथा—

**उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं ।**

**साहारणं वियाणंतो, साहू होइ ससारओ ॥ ५६८ ॥**

उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं साधारणमेतद्द्रव्यमि-त्येवं जानानोऽदुष्टेनान्तराऽऽत्मना कवलं गुडाऽऽदेराददानः साधुर्भवति ससारः ज्ञानदर्शनचारित्रैस्सारवान् भवति ।

कथं पुनरसारः साधुर्भवति ?, अत आह—

**उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं ।**

**साहारणं अयाणंतो, साहू कुणइ तेणियं ॥ ५६९ ॥**

उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितम् , साधारणमेतद् गु-डाऽऽदिद्रव्यमित्येवमजानानो दुष्टेन भावेनाऽऽददानः साधु-स्तैन्यं करोति ततोऽसारोऽसौ ।

स कथं पुनः ससारो भवति ?—

**उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं ।**

**साहारणं वियाणंतो, साहू पावइ निज्जरं ॥ ५७० ॥**

उद्गमोत्पादनाशुद्धम् , एषणादोषवर्जितं साधारणं तुल्यमेत-त्सर्वेषां गुडाऽऽदीत्येवं जानानोऽदुष्टान्तराऽऽत्मा स्वल्पमाद-दान साधुर्निर्जरां करोति अतः ससारः ज्ञानदर्शनचारित्रैरि-ति । इदानीं ससारः कदचित् भोजनार्थमुपविशन् भवति कदाचिदुपविष्टः कदाचिदुत्थितः, एतत्प्रदर्शनायाऽऽह—

**अंतंतं भोक्खामि-त्ति वेसए भुंजए य तह चेव ।**

**एस ससारनिविट्ठो, ससारओ उट्ठिओ साहू ॥ ५७१ ॥**

अन्त्य प्रत्यवर वल्लचणकाऽऽद तदपि अन्त्य पर्युषितं चण-काऽऽदि अन्त्यमप्यन्त्यमन्त्यान्त्य भक्षयिष्यामि । एवंविधेन प रिणामेनोपविष्टो मण्डल्यामुपभुङ्क्ते यस्त्वेवं साधुः शुभ-परिणामत्वात् ससार उपविष्ट ससारश्चोत्थित , तस्य शुभ-परिणामस्याप्रतिपतितत्वात् ।

एमेव य भंगतियं, जोएयव्वं तु सारणाणाई ।

तेण सहिओ ससारो, समुद्दवणिएण दिट्ठंतो ॥ ५७२ ॥

एवमेव भङ्गत्रितयं योजनीयं, तत्र प्रथमो भङ्गः "ससारो निविट्ठो ससारो उट्ठिओ १,ससारो णिविट्ठो असारो उट्ठिओ विइओ भङ्गो २। असारो णिविट्ठो ससारो उट्ठिओ तइओ३, असारो निविट्ठो असारो उट्ठिओ एस चउत्थो ४।" सारश्चात्र ज्ञानादिः आदिग्रहणाद्-दर्शनं चारित्रं चेति, तेन ज्ञानादिना सहितो यः साधुः स ससारो भण्यते, अत्र च समुद्रवणिजा दृष्टान्तः। "एगो समुद्दवणिओ वोहित्थं भंडस्स भरिउ ससारो गओ,ससारो य पउरं हिरण्णाइ विढवेऊण आगओ। अन्नो पुण ससारो भंडं गेण्हेऊण गओ णिस्सारो आगओ कवड्डियाए वि रहिओ,तं पि पुव्वेल्लयं हारेऊण आगओ। अन्नो असारो अंगवितिओ णिहिरण्णो गओ ससारो आगओ वहुय विढवेऊण। अन्नो पुण असारो हिरन्नरहिओ गओ असारो चेव आगओ कवड्डियाए वि रहिओ।" एव साधोरपि साराऽसारयोजना कर्त्तव्या वणिग्न्यायेन।

एव तेषां भुञ्जानानां यदि पतद्ग्रहको भ्रमन्नेवार्द्धपथे निष्ठां याति तदा को विधिरित्यत आह—

जत्थ पुण पडिग्गहगो, होज्ज कडो तत्थ छुब्भए अन्नं ।

मत्तगगहिउव्वरियं, पडिग्गहे जं असंसट्ठं ॥ ५७३ ॥

यत्र पुनः भुञ्जतां पतद्ग्रहकः भवेत् ( कडो त्ति ) निष्ठितभक्तो जातः साधुपर्यन्तमप्राप्त एव, तत्र किं कर्त्तव्यमित्यत आह—तत्र तस्मिन्निष्ठितभक्ते पतद्ग्रहके अन्यत् भक्तं प्रक्षिप्यते, ततश्च यस्मिन् साधौ स निष्ठितः पतद्ग्रहः तस्मादारभ्य तेनैव क्रमेण पुनः भ्राम्यते, मात्रके वा यद्बालाऽऽदीनां प्रायोग्यं गृहीतमासीत तदिदानीमुद्धरितं तदसंसृष्टं पतद्ग्रहे क्षिप्त्वा पतद्ग्रहो यस्मिन् साधौ निष्ठितः तस्मादारभ्य पुनर्भ्राम्यते।

जं पुण गुरुस्स सेसं, तं छुब्भइ मंडलीपडिग्गहगे ।

बालाईण व दिज्जइ, ण छुब्भई सेसगाणाहियं ॥ ५७४ ॥

यत् पुन. गुरो. शेष भुञ्जानस्य जात तत्संसृष्टमपि प्रक्षिप्यते मण्डलीपतद्ग्रहके, बालाऽऽदीनां वा दीयते तदाचार्योद्धरितं यत्पुनराचार्यव्यतिरिक्तानामुद्धरितम्—अधिकं जातं तन्न प्रक्षिप्यते मण्डलीपतद्ग्रहे ससृष्टं सत्।

किं च—

सुक्कोल्लपडिग्गहगे, विजाणिया पक्खिवे दवं सुक्के ।

अभत्तट्ठियाण अट्ठा, बहुलंभे जं असंसट्ठं ॥ ५७५ ॥

( सुक त्ति ) एकः शुष्केण भक्तेन पतद्ग्रहकः, अपरः (उल्ल त्ति) आर्द्रेण भक्तेन पतद्ग्रहः. एवं विज्ञाय ततः प्रक्षिपेद् द्रवं शुष्कभक्तपतद्ग्रहे, येन तोयप्रक्षेपेण सञ्जातबन्धं तद्भक्त सुखेनैव कवलैर्गृह्यते, अथ बहुलाभः सञ्जातः प्रचुरं लब्ध गुडाऽऽदि ततोऽससृष्टमेव ध्रियते, किमर्थम् ?, अभक्तार्थिकानामर्थे येन मनोज्ञ भवेत्। उक्ता ग्रहणशोधिः। इदानीं भुञ्जानस्य शोधिरुच्यते, सा च चतुर्द्धा।

एतदेवाऽऽह—

गोही चउक्कभावे, विगइंगालं च विगयधूमं च ।

रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं होइ ॥ ५७६ ॥

शुद्धौ चतुष्कक भवति नामस्थापनाद्रव्यभावरूपम् , तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यशोधिः पूर्ववत् , भावविषया पुन. शोधिः विगताङ्गारं विगतधूमं च भुञ्जानस्य भावशोधिर्भवति, कथं सागारं कथं वा सधूमं भवतीत्येतदेवाऽऽह— "रागेण " इत्यादि सुगमम्।

जत्तासाहणहेउं, आहरेंति जमणट्ठया जइणो ।

छायालीसं दोसे–हि सुपरिसुद्धं विगयरागा ॥ ५७७ ॥

'चारित्रयात्रासाधनार्थं धर्म्मसाधननिमित्तमाहारयन्ति यापनार्थं शरीरसंधारणार्थं मुनयः षट्चत्वारिंशद्दोषैः सुपरिशुद्धमाहारयन्ति, के च ते ?,षोडशोद्गमदोषाः,षोडशोत्पादना दोषाः,दशैषणादोषाः, "संजोयणापमाणं सइंगालं सधूमगं च " इत्येते षट्चत्वारिंशद् , एभिर्विशुद्धं सद् विगतरागा आहारयन्ति।

हियाऽऽहारा मियाऽऽहारा, अप्पाऽऽहारा य जे नरा ।

ण ते विज्जा तिगिच्छंति,अप्पाणं ते तिगिच्छगा।५७८।

श्लोकः सुगमः। उक्तो भुञ्जनविधिः। ओघ०। पं० व०। दश०। व्य०। ध०।

भोजनसमये हनुसंचालं न कुर्यात्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा आसाएमाणे,दाहिणाओ हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे, से असायमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेवं अभिसमिच्चा सव्वतो सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥ २२० ॥

'स' पूर्वव्यावर्णितो 'भिक्षु' साधुः साध्वी वा अशनाऽऽदिकमाहारमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं प्रत्युत्पन्न ग्रहणैषणाशुद्ध च गृहीत सदाङ्गारिताभिधूमितवर्ज्जमाहारयेत् , तयोश्चाङ्गारिताभिधूमितयो रागद्वेषौ निमित्तं, तयोरपि सरसनीरसोपलब्धि.. करणाभावे च कार्याभाव इति कृत्वा रसोपलब्धिनिमित्तपरिहार दर्शयति–स भिक्षुराहारमाहारयन्नो वामतो हनुतो दक्षिणां हनु रसोपलब्धये सञ्चारयेदास्वादयन्नशनाऽऽदिक,नापि दक्षिणतो वामा सञ्चारयेदास्वादयन् ,तत्सञ्चाराऽऽस्वादनेन हि रसोपलब्धौ रागद्वेषनिमित्ते अङ्गारितत्वाभिधूमितत्वे स्यातामतो यत्किञ्चिदप्यास्वादनीयं नाऽऽस्वादयेत् , पाठान्तरं वा–'आढायमाणे' आदरवानाहारे मूर्च्छितो गृद्धो न सञ्चारयेदिति, हन्वन्तरसङ्क्रमवदन्यत्रापि नाऽऽस्वादयेदिति दर्शयति–स ह्याहारं चतुर्विधमप्याहारयन् रागद्वेषौ परिहरन्नास्वादयेदिति, तथा कुतश्चिन्निमित्ताद्धन्वन्तरं सञ्चारयन्नप्यनास्वादयन् सञ्चारयेदिति। किमिति ?, यत आह— आहारलाघवमागयमयन आपादयन् नो आस्वादयेदित्यास्वादनिषेधेन चान्तप्रान्ताऽऽहाराभ्युपगमोऽभिहितो भवति, एवं च तप 'से' तस्य भिक्षोरभिसमन्वागतं भवतीत्यादिगतार्थं यावत् 'से' सम्मत्तमेव समभिजाणिय त्ति'। आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

पाहुडियं आलोइत्ता सज्झायं पट्ठावित्तु तिसएहं धम्मो मंगलाई कड्डेज्जा चउत्थधम्मो मंगलगेहिं च णं अपयट्टिएहिं चेइयं साहूहिं अवंदिएहिं पारावेज्जा पुरिमड्ढं । महा० १ चू० ।

( तत्र विधिः 'उग्गाल' शब्दे द्वितीयभागे ७३० पृष्ठे उक्तः ) ( संसक्तग्रहणं, संसक्तभोजनं च 'ससत्त' शब्दे ) ( पात्रे उदकबिन्दुः पतेत्तत्र भोजनं 'परिट्ठवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७२ पृष्ठे उक्तम् ) ( पर्युषितान्नभोजननिषेधो 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६६७ पृष्ठे गतः ) ( उदकतीरे भोजननिषेधः 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे २४४२ पृष्ठे गतः ) ( कालातिक्रान्तक्षेत्रातिक्रान्तपानभोजने 'गोयरचरिया' शब्दे तृतीयभागे ६७७ पृष्ठे गते )

भोजनगृद्धो न चरेत्—

न य भोयणम्मि गिद्धे, चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुयं न भुंजिज्जा, कीयमुद्देसियाऽऽहडं ॥ २३ ॥

न च भोजने गृद्धः सन् विशिष्टवस्तुलाभायेश्वराऽऽदिकुलेषु मुखमङ्गलिकया चरेत्, अपि तु उञ्छं भावतो ज्ञाताज्ञातमजल्पनशीलो धर्मलाभमात्राभिधायी चरेत्, तत्राप्यप्रासुकं सचित्तं सन्मिश्राऽऽदि कथञ्चिद् गृहीतमपि न भुञ्जीत, तथा क्रीतमौद्देशिकाऽऽहृतं प्रासुकमपि न भुञ्जीत, एतद्विशोध्य विशोधिकोट्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० २ उ० । ( भोजनाभोजनकारणानि 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५१६ पृष्ठे उक्तानि ) ( भोजनप्रमाणं तद्दोषाश्चापि 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५२१ पृष्ठे उक्ताः ) ( रात्रिभोजनं 'राइभोयण' शब्दे वक्ष्यते ) ( दुरभिं परिस्थाप्य सुरभिं भुङ्क्ते इति 'परिट्ठवणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५८४ पृष्ठे गतम् ) ( उपभोगपरिभोगः 'वय' शब्दे वक्ष्यते )

श्रावकस्याभोज्यानि द्वाविंशतिः—

चतुर्विकृतयो निन्द्या, उदुम्बरकपञ्चकम् ।
हिमं विषं च करका, मृज्जाती रात्रिभोजनम् ॥ ३२ ॥
बहुबीजाज्ञातफले, संधानानन्तकायिके ।
वृन्ताकं चलितरसं, तुच्छं पुष्पफलाऽऽदि च ॥ ३३ ॥
आमगोरससंपृक्त–द्विदलं च विवर्जयेत् ।
द्वाविंशतिमभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासितः ॥ ३४ ॥

त्रिभिः विशेषकम् । जैनधर्मेणाऽऽर्हतधर्मेणाऽधिवासितो भाविताऽऽत्मा पुमान् । ध० २ अधि० । ( उदुम्बरपञ्चकाऽऽदीनि च स्वस्वस्थाने व्याख्यातानि )

अशनाऽऽदिगुणसपदुपेतः पिण्डो विशुद्धः शुद्धिकारक इत्युक्तम्, स च शुद्धिकारकः प्रकटभोजने न सम्भवतीति प्रच्छन्नं भोजनं यतिना विधेयमित्युपदिशन्नाह—

सर्वाऽऽरम्भनिवृत्तस्य, मुमुक्षोर्भाविताऽऽत्मनः ।
पुण्याऽऽदिपरिहाराय, मतं प्रच्छन्नभोजनम् ॥ १ ॥

मुमुक्षोर्मतं प्रच्छन्नभोजनम् इति क्रिया, किंविधस्येत्याह–सर्वे निर्विशेषा मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभेदा ये आरम्भाः पृथिव्यादिजीवसङ्घट्टपरितापातिपातरूपास्तेभ्यो निवृत्तो यः स तथा तस्य, एतस्य हि प्रकटं भुञ्जानस्य दीनाऽऽदिकाय याचमानाय तद्दाने तत्पोषणत आरम्भप्रवृत्तिहेतुत्वेन सर्वाऽऽरम्भनिवृत्तिक्षतिर्भवतीति तत्परिहारार्थमेतेन प्रच्छन्नमेव भोक्तव्यमित्युपदेष्टुं सर्वाऽऽरम्भनिवृत्तस्येत्युक्तम्, अनेन चेह तदन्यस्य व्यवच्छेदः, तस्य हि प्रकटभोजनेऽपि न सर्वाऽऽरम्भनिवृत्तेः क्षतिः, तदभावादिति । कस्यैवंभूतस्येत्याह–भोक्तुं न मोचयितुं कर्म्मबन्धनादात्मानमिच्छतीति मुमुक्षुर्दीक्षितस्तस्य, अनेन चामुमुक्षोर्व्यवच्छेदः, तस्य हि पुण्यबन्धस्यानुज्ञातत्वादिति । पुनः किंभूतस्य ? भावितो वासितः स्वपरोपकारकरणधर्मतया प्रशमवाहितया जिनाऽऽज्ञया वा आत्मा अन्तःकरणं येन स तथा तस्य, एतेन हि साधुसामाचार्यां यत् प्रकटभोजनं तज्जन्यो यः प्रवचनोपघातः स्वपरानर्थनिबन्धनभूतोऽप्रशमाऽऽवहो जिनाऽऽज्ञाभङ्गरूपः, सोऽवश्य परिहार्य इत्यावेदितं भवति, निषिद्धं च जिनाऽऽगमे प्रकटभोजनम् । यदाह–" छक्कायदयावंतो, विसजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे य ॥१॥" किमर्थमित्याह–पुण्यं शुभकर्म, आदिशब्दाद्याचकाप्रीत्यादिदोषः, पापमसंयतपोषणद्वाराऽऽयाताऽऽरम्भप्रवर्तनं, प्रवचनोपघातश्च परिगृह्यते, अतः पुण्याऽऽदीनां परिहारो वर्जनं पुण्याऽऽदिपरिहारस्तस्मै पुण्याऽऽदिपरिहाराय मतं सम्मतं विदुषां प्रच्छन्नभोजनम्–अप्रकटजेमनमिति ॥ १ ॥

कथमप्रच्छन्नभोजने पुण्यबन्ध इत्याह—

भुञ्जानं वीक्ष्य दीनाऽऽदि–र्याचते, क्षुत्प्रपीडितः ।
तस्यानुकम्पया दाने, पुण्यबन्धः प्रकीर्त्तितः ॥ २ ॥

भुञ्जानमभ्यवहरन्तं, मुमुक्षुमिति गम्यते । वीक्ष्य दृष्ट्वा, क इत्याह–दीनाऽऽदिर्दीनो दैन्यवान्, आदिशब्दादनाथवनीपकाऽऽदिपरिग्रहः । याचते मृगयते, किंविधः सन् ?, क्षुत्प्रपीडितः क्षुधाऽत्यन्तबाधितः, अपीडितस्य हि याचनेन तथाविधानुकम्पोत्पाद इत्यसौ विशेषितः । तस्येत्थंभूतस्य दीनाऽऽदेरिह च सम्प्रदानेऽपि षष्ठी, सम्बन्धस्यैव विवक्षितत्वादिति । अनुकम्पया करुणया दाने भोजनस्य वितरणे पुण्यबन्धः शुभकर्म्मोपादानं प्रकीर्त्तितमागमेऽभिहितं, यदाह—" भूयाणुकंपवयजोगउज्जओ खंतिदाणगुरुभत्तो । बंधइ भूआसाय, विवरीयं बंधए इयरो ॥ १ ॥ " इति कथं प्रकटं मुमुक्षुर्भुञ्जीतेति ॥ २ ॥

भवतु पुण्यबन्धः, का नो हानिरिति चेदत आह—

भवहेतुत्वतश्चाऽयं, नेष्यते मुक्तिवादिनाम् ।
पुण्यापुण्यक्षयान्मुक्ति–रिति शास्त्रव्यवस्थितेः ॥ ३ ॥

भवहेतुत्वतः संसारकारणत्वात्, चशब्दः पुनरर्थे अयमनन्तरोद्दिष्टः पुण्यबन्धो नेष्यते, आश्रयणीयतया नानुमन्यते, प्रवचनप्रणेतृभिः, केषामित्याह–मुक्तिः सकलकर्म्मनिर्मोक्षः स्वकीयस्यानुष्ठानविशेषस्य फलतया वदितुं शीलं येषां ते मुक्तिवादिनस्तेषां, मोक्षार्थिनामिति हृदयम् । अथवा–मुक्तिवादिनामित्येतत्पदं शास्त्रव्यवस्थितेरित्यनेन सम्बन्धनीयं नेष्यते इति कुतोऽवसितमिति चेदत आह–पुण्याऽपुण्यक्षयात् शुभाशुभकर्माऽऽत्यन्तिकप्रलयादेव मुक्तिर्मोक्षो जीवस्य स्वरूपेऽवस्थानं, भवतीति गम्यते, इत्येवंप्रकाराया शास्त्रव्यवस्थितेः–शास्त्रगीताऽऽगमव्यवस्थाया इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ दीनाऽऽदेर्याचमानस्याऽपि न दास्यत इति कुतः पुण्यबन्धो भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह—

प्रायो न चानुकम्पावां-स्तस्यादत्त्वा कदाचन ।
तथाविधस्वभावत्वा-च्छक्नोति सुखमासितुम् ॥ ४ ॥

यदि न ददाति तदा न भवति पुण्यबन्धो,न च न पुनरनुकम्पावान् करुणापरायणान्तःकरणः प्रायो बाहुल्येन तस्य याचमानस्य दीनाऽऽदेरदत्त्वा दानमकृत्वा कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले शक्नोति समर्थो भवति सुखममनःपीडं यथा भवतीत्येवमासितु स्थातुं कुत एतदेवमित्याह-तथाविधस्तत्प्रकारो याचमानदीनदाननिबन्धनभूतः स्वभावः स्वरूपं यस्यानुकम्पावतः स तथा, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्तथाविधस्वभावत्वादिति। हेतुप्रयोगश्चैवम्—यद्वस्तु यत्करणस्वभावं तत्तदकृत्वा नाऽऽसितुं शक्नोति,यथा मद्यं पुरुषस्य घूर्णाऽऽदिकं विकारं, दीनदानस्वभावश्चानुकम्पावांस्तस्माददत्त्वा सुखमासितुं न शक्नोतीति ॥ ४ ॥

अथ पुण्यबन्धभीरुतया दृढचित्ततां विधाय न दास्यतीति कथं पुण्यबन्धः ?, इत्याशङ्कयाऽऽह। अथवा पुण्याऽऽदिपरिहारार्थमिहाऽऽदिशब्दोपात्ता याचकाऽप्रीत्यादिदोषप्रतिपादनायाऽऽह—

अदानेऽपि च दीनाऽऽदे-रप्रीतिर्जायते ध्रुवम् ।
ततोऽपि शासनद्वेष-स्ततः कुगतिसंततिः ॥ ५ ॥

अपि चेति पुनःशब्दार्थः, ततो दाने पुण्यबन्धो भवत्यदाने ओदनाऽऽद्यवितरणे पुनर्दीनाऽऽदेर्दीनानाथाऽऽदेरर्थिनोऽप्रीतिश्चित्तोद्वेगो जायते-भवति, तस्यैव ध्रुवमवश्यंभावेन, भवतु सा को दोष ?, इति चेदत आह-ततोऽपि, अपिशब्दः पुनःशब्दार्थः,ततस्तस्याः पुनरप्रीतेः सकाशाच्छासनद्वेषः आप्तवचनं प्रतिमत्सरस्तस्यैव,ततोऽपि किमित्याह-ततः शासनप्रद्वेषात् कुगतीनां नारकतिर्यक्कुनरकुदेवत्वलक्षणदुर्गतीनां संततिः सन्तानः प्रवाहः कुगतिसन्ततिर्जायते,दीनाऽऽदेरिति प्रक्रम इति। यदि नाम मिथ्यात्वोपहतबुद्धेस्तस्य स्वदोषादप्रीत्यादयः सञ्जायन्ते ततः किमस्माकमसंक्लेशवन्मानसानामित्याशङ्कयाऽऽह।

अथवा पुण्याऽऽदिपरिहारार्थमिहाऽऽदिशब्दोपात्तपापबन्धप्रदर्शनायाऽऽह—

निमित्तभावतस्तस्य, सत्युपाये प्रमादतः ।
शास्त्रार्थबाधनेनेह, पापबन्ध उदाहृतः ॥ ६ ॥

शास्त्रार्थबाधनेन पापबन्धस्तस्योदाहृत इति संबन्धः । शास्त्रार्थबाधमेव कुतः ?,इत्याह-निमित्तभावतो दीनाऽऽद्यप्रीतिशासनद्वेषकुगतिसन्ततीनां कारणत्वेन परेषामप्रीत्यादिवर्जनं हि शास्त्रार्थस्तस्येति प्रकटभोजकयतेः । नन्वेवं महामुनीनामपि पापबन्धप्रसङ्गः,तेषामपि महामिथ्यात्वोपहतेष्वप्रीत्यादिनिमित्तत्वादित्याशङ्कयाऽऽह-सति विद्यमाने उपाये प्रच्छन्नभोजनलक्षणे दीनाऽऽद्यप्रीत्याद्युत्पत्तिपरिहारस्य हेतौ महामुनीनां तु पराप्रीतिपरिहारोपायाभावे तत्परिहारार्थं च प्रयत्ने सति परिणामविशुद्धेः पापबन्धाभाव इति । नन्वेवं हठाद्दीनाऽऽदिना भुञ्जानस्य साधोर्दर्शने उक्तदोषप्रसङ्ग इत्यत आह—प्रमादतः प्रमादेनाऽऽलस्योपहततया, अप्रमत्तस्य पुनरप्रीत्यादिहेतुत्वेऽपि शास्त्रार्थाबाधनान्नास्ति पापबन्धोऽहिंसकस्येव। यदाह—" आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एस । जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥१॥" शास्त्रार्थस्याऽऽप्ताऽऽगमार्थस्य बाधनमन्यथाकरणं शास्त्रार्थबाधनं तेन हेतुना; महानर्थनिबन्धनं हि शास्त्रार्थबाधनम्। यदाह—" यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्त्तते कामचारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥ १ ॥ " शास्त्रं च पराप्रीतिपरिहारप्रयत्नप्रतिपादनपरमेव व्यवस्थितम् । तद्यथा—

" अणुमित्तो वि न कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ ।
तह वि हु जयंति जइणो, परिणामविसोहिमिच्छंता ॥१॥ "

तथा—

"इय सव्वेण वि सव्वं, सक्कं अप्पत्तियं जइजणस्स ।
नियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तचिंताओ ॥ २ ॥ "

इहेति प्रकटभोजने पापबन्धो अशुभकर्मोपादानमुदाहृतोऽभिहितस्तत्त्ववेदिभिरिति ॥ ६ ॥

भवतु शास्त्रार्थबाधेति चेन्नेत्याह—

शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन, यथाशक्ति मुमुक्षुणा ।
अन्यव्यापारशून्येन, कर्त्तव्यः सर्वदैव हि ॥ ७ ॥

शास्त्रस्य दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धाऽऽगमस्यार्थोऽभिधेयं शास्त्रार्थः,चशब्दः पुनरर्थे एवकारार्थो वा, तेन शास्त्रार्थः पुनः कर्त्तव्यः शास्त्रार्थ एव वा कर्त्तव्यः। कथं ?, प्रयत्नेन महता आदरेण, अनादरकरणे हि विवक्षितफलासिद्धेः कृषीवलानामिव । ननु शास्त्रार्थस्य संहननाऽऽदिहीनेन समग्रस्य दुष्करत्वादशक्यानुष्ठानोऽयमुपदेश इत्याह—यथाशक्ति शक्तेः शरीरबलस्यानतिक्रमो यथाशक्ति तेन, एवं ह्याराधनोक्ता । यदाह-"अनिगूहितो विरियं, न विराहेइ चरणं तवसुएसु। जइ संजमे वि विरियं, न निगूहिज्जा न हाविज्जा ॥ १ ॥" चरणं न हापयेदित्यर्थः, केनेत्याह-मुमुक्षुणा मोक्षेप्सुना, अनन्योपायत्वान्मोक्षस्य। यदाह-" जम्हा न मोक्खमग्गे,मुत्तूणं आगमं इह पमाणं । विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥ १ ॥ " किंभूतेनान्यव्यापारशून्येन शास्त्रार्थकरणव्यतिरिक्तलोकयात्राऽऽदिकर्त्तव्यविरहितेन, व्यापारान्तरेण हि शास्त्रार्थकरणबाधा भवतीति कर्त्तव्यो विधेयः, किं प्रतिनियतं कालं, नेत्याह-सर्वदैव सदैवाऽऽजन्मापीत्यर्थः , हिशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः , यस्मादर्थो वा, ततश्च यस्माच्छास्त्रार्थ एव कर्त्तव्यस्तस्मात् प्रच्छन्नमेव भोजनं विधेयमिति प्रक्रम इति ॥ ७ ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह—

एवं ह्युभयथाऽप्येतद् , दुष्टं प्रकटभोजनम् ।
यस्मान्निदर्शितं शास्त्रे, ततस्त्यागोऽस्य युक्तिमान् ॥८॥

एवं हि अनेनैवानन्तरोक्तेन प्रकारेण, उभयथा दीनाऽऽदेर्दानादानलक्षणाभ्यां वर्णितस्वरूपाभ्यां प्रकाराभ्यां, न केवलमेकेनैव प्रकारेण, अपि तूभयथाऽपीत्यपिशब्दार्थः । अथवा—इहलोकापेक्षया, तत्र परलोकापेक्षया प्रकटभोजनस्य दुष्टत्वमुपदर्शितमनन्तरमेव। इहलोकापेक्षया त्वमुतो नीतिश्लोकादवगन्तव्यम्—"प्रच्छन्नं किल भोक्तव्यं, दरिद्रेण विशेषतः। पश्य भोजनदौर्बल्याद्, घटः सिंहेन नाशितः ॥ १ ॥"

एतदनन्तरोक्तं प्रकटभोजनं दुष्टं दोषवत् यस्माद्यतो हेतोर्निदर्शितं—प्रतिपादितं शास्त्रे—आगमे ततस्तस्मात्त्यागः परिहारोऽस्य प्रकटभोजनस्य युक्तिमान् उपपत्तियुक्तः, अतो हे कुतीर्थिका यदि यूय मुमुक्षवस्तदा भवतामपि प्रच्छन्नमेव भोजनं कर्तुं युज्यत इति गतार्थ इति। हा०७ अष्ट०।

उपस्थापिताय भोजनं दत्वा भुञ्जीत—

निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गाहिए सिया, अत्थि आई य केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए,कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा,नऽत्थि आई इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए, ता नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावियव्वे सिया ॥ १३ ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

आहार एव पगतो, तस्स उ गहणम्मि वणिया सोही।
आहच्च पुण असुद्धे, अचित्तगहिए इमं सुत्तं ॥ ४३० ॥

आहार एवानन्तरसूत्रे प्रकृतस्तस्य चाऽऽहारस्य ग्रहणे शोधिर्वर्णिता, यथा शुद्ध आहारो ग्रहीतव्यस्तथा भणितमिति भावः। 'आहच्च' कदाचित्पुनरशुद्धोऽचित्ताऽहारो गृहीतो भवेत्, तत्र को विधिरित्यस्यां जिज्ञासायामिदं सूत्रमारभ्यते।

अहव ण सचित्तदव्वं, पडिसिद्धं दव्वमादिपडिसेहा।
इह पुण सचित्तदव्वं, वारेति अणेसियं एसो ॥ ४३१ ॥

अथवा पूर्वतरसूत्रेषु तत्र "नो कप्पति पव्वाविसए।" इत्यादि तु सचित्तद्रव्यं द्रव्याऽऽदिप्रतिषेधेन—द्रव्य मण्डलाऽऽदिकं तदाश्रित्य प्रतिषेधो द्रव्यप्रतिषेधस्तेन, आदिशब्दात् "बुद्धे मूढे" इत्यादिषु च भावप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धम्। इह पुनः प्रकृतसूत्रे सचित्तद्रव्यमनेषणीयं वारयति एषः ॥ ४३१ ॥

अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य ( सूत्रस्य—१३ ) व्याख्या—निर्ग्रन्थेन गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टेन ( अन्नतरे त्ति ) उद्गमोत्पादनैषणादोषाणामन्यतरेण दोषेणादुष्टमनेषणीयमशुद्धमचित्तं निर्जीवं पानभोजनमनाभोगेन प्रतिगृहीतं स्यात्, तच्चोत्कृष्ट नयतस्ततः परित्यक्तं न शक्यते, अस्ति चात्र कश्चित् शैक्षतरको लघुतरोऽनुपस्थापितकः अनारोपितमहाव्रतः, कल्पते, (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य तस्मै शैक्षाय दातुमनुप्रदातुं वा, तत्र दातुं प्रथमतः, अनुप्रदातुं तेनान्यस्मिन्नेषणीये दत्ते सति पश्चात्प्रदातुम्। अथ नास्त्यत्र कोऽपि शैक्षतरकोऽनुपस्थापितकस्ततो नैवाऽऽत्मना भुञ्जीत, न वा अन्येषां दद्यात्, किं तु एकान्ते बहुप्रासुके प्रदेशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च परिष्ठापयितव्यं स्यादिति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः—

अन्नतरऽणेसणिज्जं, आउट्टिय गिण्हणे तु जं जत्थ।
अणाभोगगहिते जयणा,अजतणदोसा इमे होंति॥४३२॥

अन्यतर दुग्धाऽऽदीनामेकतरदोषदुष्टमनेषणीयमाकुट्टिकया यो गृह्णाति आकुट्टिका नाम-स्वयमेव भोक्ष्ये, शैक्षस्य वा दास्यामि, यमुपेत्य ग्रहणं येन दोषेणाशुद्धं तमापद्यते। यच्च यत्र दोषे प्रायश्चित्तं तत्तस्य भवति, अथानाभोगेन गृहीतं ततो यतनया शैक्षस्य दातव्यम्।

अयतनया ददाति तत इमे दोषा भवन्ति—

मा सव्वमेयं मम देह-मज्झं,
उक्कोसएणं च अलाहि मज्झं।
किं वा ममं दिज्जति सव्वमेयं,
इच्चेव वुत्ते तु भणाति कोइ ॥ ४३३ ॥

तेनानेषणीयमिति कृत्वा शैक्षो ब्रूयात्-मा सर्वमेतदन्नं भक्तं मम दत्त, अथोत्कृष्टमिति कृत्वा मे दीयते, तत्र उत्कृष्टेन भक्तेन ममालं, किं वा सर्वमेतत् मम दीयते इति ?। एव शैक्षेणोक्ते कश्चिद्भणति—

एयं तुब्भं अम्हं, ण कप्पती चउगुरुं च आणादी
संका व आभिउग्गे, एगेण व इच्छियं होज्जा ॥ ४३४ ॥

एतत्तव कल्पते, अस्माकं तु न कल्पते, एवं भणतश्चतुर्गुरुकम्, आज्ञाऽऽदयश्च दोषाः, शङ्का वा, तस्य शैक्षस्याभियोगः कार्मणः, तद्विषया भवति, एकेन वा केनचिद् दीयमानमीप्सितं भवेत्, तस्य च ग्लानत्वे यथाभावेन ज्ञाते सति द्वितीयशैक्ष उड्डाहं कुर्यात्।

इदमेव भावयति-

कम्मोदएँ गेलण्णे, दट्ठूण गतो करेज्ज उड्डाहं।
एगस्स वाऽवि दिण्णे,गिलाण वमिऊण उड्डाहो ॥४३५॥

कर्म्मोदयाद्यथाभावेनैव ग्लानत्वे जाते सति स चिन्तयेत्—एतैर्मे व्रतदेयं प्रतिभुञ्जतामिति कृत्वा ममाभियोग्य दत्तम्, एवं दृष्ट्वा ज्ञात्वा स भूयो गृहवासं गत उड्डाहं कुर्यादेतैः कार्मणं मम दत्तमिति, एकस्य वा दत्ते सति यदा ग्लानत्वं जातं तदा द्वितीयशैक्षः व्रतं वमित्वा प्रभूतजनसमक्षमुड्डाहं कुर्यात्।

किं पुनश्चिन्तयित्वा स व्रतं वमतीत्याह-

मा पडिगच्छति दिण्णं, से कम्मण तेण एस आगल्लो॥४३६॥
जाव ण दिज्जति अम्हा, वि हु दाणि पलामि ता तुरियं ॥

मा प्रतिगमिष्यतीति बुद्ध्या कार्मणमस्य दत्तं,तेनायमागल्लो ग्लानः सञ्जातः, अतो यावदस्माकमपि कार्मणं न दीयते तावत्त्वरितमिदानीमहमपि पलाये।

अथवा कश्चिदिदं ब्रूयात्—

भत्तेण मे ण कज्जं, कल्लं भिक्खं गतो व भोक्खामि।
अण्णं व देह-मज्झं, इय अजते उज्झिमगदोसा ॥४३७॥

भक्तेन [ मे ] मम न कार्यं, कल्य वा भिक्षां गतो वा भोक्ष्ये अन्यद्वा भक्तं मह्यं प्रयच्छत ( इय ) एवमयतनया दीयमाने उज्झनिका पारिष्ठापनिका भवेत्, तस्यां च दोषाः कीटिकामक्षिकाऽऽदिविराधनारूपा मन्तव्याः।

अथवा-एकस्य ग्लानत्वे जाते अपरश्चिन्तयेत्-

ह णु ताव असंदेहं, एस मओऽहं तु ताव जीवामि।
वग्घा हु चरंति इमे, मिगचम्मसंवुता पावा ॥ ४३८ ॥

( 'ह णु त्ति ) ह इति खेदे, नुरिति वितर्के, एष तावदसन्देहं मृतोऽहं तु तावदिदानीं जीवामि, इमे च पापाः श्रमणका मृगचर्मसंवृता व्याघ्राश्चरन्ति, बहिः साधुवेषच्छन्ना हिंसका अमी इति भावः। अतो यावदेते संजीवितान्न व्यपरोपयन्ति, तावत्प्रतिगच्छामीति।

किंच—

अभिओगपरज्झस्स हु, को धम्मो किं च तेण नियमेणं ?।
अधियकरग्गाहीण व, अभिजोयंताण को धम्मो?॥४३९॥

अभियोगेन कार्म्मणेन ( परज्झस्स त्ति ) परवशीकृतस्य मम को नाम धर्मो भविष्यति, किं वा तेन नियमेन-मम कार्ये, तथा अधिककरग्राहिणामिवामीषामप्येवमभियोजयतां धर्मो, न कश्चिदित्यर्थः।

एव विचिन्त्य गृहवासं भूयोऽपि कुर्यात्, यो ग्लानीभूय प्रव्रजितः स प्रव्रजन्तमित्थं विपरिणमयेत्—

किच्छा हि जीवितोऽहं, जति मरणं इच्छसी तहिं वच्च।
एस तु भणामि भाउगा!,विसकुंभा ते महुपिहाणा॥४४०॥

कृच्छ्रादतिदुःखेनाहं तावज्जीवितः, अतो यदि त्वमपि मर्तुमिच्छसि तदा तत्र तेषां साधूनामन्तिकं व्रज, येन भवतोऽप्येवं संपद्यत इति भावः। अपि च-हे भ्रातरेषोऽहमेकान्तहितो भूत्वा भवन्तं भणामि, ते साधवो विषकुम्भा मधुपिधानाः सन्ति, मुखेन जीवदयाऽऽद्युपदेशकं मधुरं च जल्पन्ति, चेतसा तु विषवत् परव्यपरोपकारिदारुणपरिणामा इति हृदयम्। एवं विपरिणामितोऽसौ प्रव्रज्यामप्यनिष्पद्यमानः षट्कायविराधनाऽऽदिकं करोति, तन्निष्पन्नमयतनादायिनः प्रायश्चित्तम्।

किंच—

वातादीणं खोभे, जहण्णकालुत्थिए विसाऽऽसंका।
अवि हुज्जति अवविसे,णेव य संकाविसे किरिया॥४४१॥

तस्याऽशुद्धाऽऽहारदानानन्तरं वाताऽऽदीनां क्षोभे जघन्यकालान्तरक्षणादेवोत्थित विषाऽऽशङ्का भवति—किं विषममीभिर्मम दत्तं येनैव सहसैव धातुक्षोभः समजनि, एवं चिन्तयतस्तस्याचिरादेव मरणं भवेत्। कुत इत्याह—( अवि इत्यादि ) अपिः संभावनायां, संभाव्यतेऽयमर्थः—यदन्यस्य सर्वस्यापि विषमन्त्राऽऽदिक्रिया युज्यते, शङ्का, विषस्य तु क्रिया चिकित्सा नैव भवति, मानसिकत्वेन तस्य प्रतिकर्तुमशक्यत्वात्। यत एते दोषा अतो नायतनया दातव्यम्।

अत्र परमतमुपन्यस्य दूषयति-

केइ पुण साहियव्वं, अस्समणोऽहं ति पडिगमो होज्जा।
दायव्वं जतणाए, अणुलोभणा ण उड्डाहो ॥ ४४२ ॥

केचित्पुनराचार्या ब्रुवते-स्फुटमेव तस्य कथयितव्यं भवत एवेदं कल्पते, एतच्च न युज्यते, यत एवमुक्ते कदाचिदसौ ब्रूयात्—यत् श्रमणानां न कल्पते तन्मम यदि कल्पते तत एवमहमश्रमणो—न श्रमणो भवामि, अश्रमणस्य च निरर्थक तुण्डमुण्डनमिति विचिन्त्य प्रतिगमनं कुर्यात्, यत एवमतो यतनया दातव्यम्, यतनया च दीयमाने यदि ज्ञातं भवति तदा वक्ष्यमाणैव वा तैरनुलोमना प्रज्ञापना तथा कर्त्तव्या यथा तस्य चेतसि समाधानं भवति उड्डाहो न स्यात्।

प्रज्ञापनाविधिश्चायम्—

अभिनवधम्मोऽसि अभा-वितोऽसि बालोऽसि तं अणुकंपो
तव चेवऽट्ठा गहितं, भुंजेज्जा तो परं छंदा ॥ ४४३ ॥
कप्पो चिय सेहाणं,पुच्छतु अण्णे वि एस हु जिणाऽऽणा।
सामाइयकप्पठिती, एसा सुत्तं चिमं बेंति ॥ ४४४ ॥

अभिनवधर्मा अधुनैव गृहीतप्रव्रज्योऽसि,अत एवाभावितोऽसि, नाद्यापि भैक्ष्यभोजनेन भावितः, बालश्च त्वमसि, अत एवानुकम्प्योऽनुकम्पनीयः, तत इदमुत्कृष्टद्रव्यमशुद्धमपि तवैवार्थाय गृहीतम्, अतः परं छन्दात् स्वच्छन्देन भुञ्जीथाः॥ अपि च—कल्प एवैष शैक्षाणां यदनेषणीयमपि भोक्तुं कल्पते, यदि भवतो न प्रत्ययस्ततः पृच्छान्यानपि गीतार्थसाधून्, तेऽपि तेन पृष्टाः सन्तो ब्रुवते—एषा, हुर्निश्चितं, जिनाऽऽज्ञा तीर्थकृतामुपदेशः, सामायिककल्पस्य चैषैव स्थितिः, सूत्रं च ते साधव इदं प्रस्तुतम्-" अत्थियाइं च केइ सेहतराए " इत्यादिरूपं ब्रुवते इत्यादीति भावः।

कदाचन कुक्षिक्रयाऽपि दद्यात्कथमित्याह—

परतित्थियपूयाओ, पासिय विविहाउ संखडीओ य।
विप्परिणमेज्ज सेहे, कक्खडचरियापरिस्संतो ॥ ४४५ ॥

क्वापि क्षेत्रे परतीर्थिकानां पूजाः सादरस्निग्धमधुरभोजनाऽऽदिरूपास्तदुपासकैर्विधीयमाना दृष्ट्वा, विविधाश्च सङ्खडीरवलोक्य शैक्षः कर्कशचर्यापरिश्रान्तः सन् विपरिणमेत।

नाऊण तस्स भावं, कप्पति जतणाएँ ताहे दाउं जे।
संथरमाणा देंती, लग्गइ सट्ठाणपच्छित्तं ॥ ४४६ ॥

ज्ञात्वा तस्य शैक्षस्य भाव स्निग्धमधुरभोजनविषयमभिप्रायमेषणीयालाभे यतनया तस्याऽनेषणीयमपि दातुं कल्पते, अथ संस्तरन्तोऽपि ददति ततः स्वस्थानप्रायश्चित्तं लगति, येन दोषेणाशुद्धं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमापद्यत इति भावः।

सेहस्स व संबंधी, तारिसमिच्छंते वारणा णऽत्थि।
कक्खडे व महिड्ढीए, वितियं अद्धाणमादीसु ॥४४७॥

शैक्षस्य वा संबन्धिनः केऽपि स्नेहातिरेकत उत्कृष्टं भक्तमानीय दद्युः, तस्य च तादृशं भोक्तुमिच्छतो वारणा प्रतिषेधो नास्ति, (कक्खडे व त्ति) कर्कशो मदस्योदयः, तत्रासंस्तरणा, अशुद्धं शैक्षस्य दातव्यं, शुद्धमात्मनो भोक्तव्यम्, (महिड्ढीए त्ति ) महर्द्धिको राजाऽऽदिः प्रव्रजितः स यावन्नाद्यापि भावितस्तावत्तत्प्रायोग्यमनेषणीयं दीयते, (बिइयं अद्धाणमादीसु त्ति ) अध्वादिकारणेषु द्वितीयपदं भवति, स्वयमप्यनेषणीयं भुञ्जानः शुद्ध इति भावः। एषा पुरातनी गाथा।

साम्प्रतमेनामेव विवृणोति-

नीया व केई तु विरूवरूवं,
आणेज्ज भत्तं अणुवद्वियस्स।
सेहाऽऽदि पुच्छेज्ज जदा तु थेरे,

तदा ण वारेंति णमा-गुरूगा ॥ ४४० ॥

विरूपं मोदकशाकवर्त्तिशाल्योदनप्रभृतिकमुत्कृष्टं भक्तमनुपस्थितस्य शैक्षस्यार्थाया ऽऽनयेयुः, स च तैर्निमन्त्रितो यदा स्थविरानाचार्यान् पृच्छेत्—गृह्णाम्यहमिद, न वेति, तदा गुरवो ( णमिति ) तं शैक्षं न वारयन्ति । कुत इत्याह— चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तं भवेत् ।

किमर्थं पुनर्मेवायान्त इत्याह—

लोलुव सिणेहतो वा, अण्णहभावो व तस्स वा तेसिं ।

गिण्हह तुज्झ वि बहुं, पुरिमड्ढी णिव्विगितिए मो॥४४६॥

लोलुपतया, स्वज्ञातिस्नेहतो वा तद् भक्तं भोक्तुमभिलषेत्, ततो यदि वार्यते तदा तस्य शैक्षस्य तेषां च स्वज्ञातिकानामन्यथाभावो विपरिणमनं भवेत् । अज्ञातकश्च यदि साधूनां मन्त्रयते चहेतद्भक्तमतो यूयमपि गृह्णीत, ततो वक्तव्यम्-( मो इति ) वयं पूर्वार्द्धप्रत्याख्यायिनो निर्विकृतिकाश्च ।

अथ ते स्वज्ञातिका प्रवीरन्-

मंदक्खेण ण इच्छति, तुज्झे से देह वेह वा तुज्झे ।

किं वा वारेमु वयं, गिण्हतु छंदेण तो विंति ॥ ४५० ॥

एष युष्माभिरननुज्ञातो मन्दाक्षेण लज्जया न ग्रहीतुमिच्छति,ततो यूयं तस्य प्रयच्छत,ब्रूत वा यूयं गृह्णाणेति । तत्र ब्रुवते- किं वयं वारयामो, गृह्णातु स्वयमेव छन्देन यदि रोचते ।

अथ 'कक्खडे व महड्ढीए त्ति' पदद्वयं व्याख्याति-

वीसुं वोमे घेत्तुं, दिंति व से संथरे व उज्झंति ।

भाविंतो विड्ढिमंतो, दलंति जा भावितोऽणेसिं ॥४५१॥

अवमे दुर्भिक्षे यदन्नका ऽऽदिकमनेषणीय विष्वक् पृथग् गृहीत्वा शैक्षस्यार्थाय नीतं तत् तस्यैव प्रयच्छन्ति, संस्तरन्तो वा उज्झन्ति वा, ऋद्धिमान् प्रव्रजितः, तं भावयन्तो भैक्षभोजनभावनां ग्राहयन्तो यावद्भावितो न भवति तावदाधेन, तेन वा दोषेणानेषणीयं प्रायोग्यं लब्ध्वा ददति, यद्येवं गृहिस्तत्प्रव्रजितं नानुवर्त्तयति ततश्चतुर्गुरुकम् ।

कुतः नानुवर्त्तयति, ततश्चतुर्गुरुक च कुत इति चेदुच्यते-

तित्थविवड्ढी य पभा-वणा य ओभावणा कुलिंगीणं ।

एमादी तत्थ गुणा, अकुव्वतो भारिया चतुरो ॥४५२॥

ऋद्धिमति प्रव्रजिते तीर्थविवृद्धिर्भवति-यदीदृशा अप्येतेषां सकाशे प्रव्रजन्ति, ततो वयं द्रमकप्राया. किम् ?, एव भूयांस प्रव्रजन्ति ततो वयं द्रमकप्राया किमेव गृहवासमधिवसाम इति बुद्ध्या भूयांस. प्रव्रजन्तीति भावः। प्रभावना च प्रवचनस्य भवति कुलिङ्गिनां चापभ्राजना भवति, तेषां मध्ये ईदृशामृद्धिमतामभावात्, एवमादयस्तत्र राजाऽऽदिप्रव्रजिते यतो गुणा भवन्ति अतस्तस्यानुवर्त्तनं कुर्वतश्चत्वारो भारिका मासा' प्रायश्चित्तम् ।

अथ द्वितीयपदमाह—

अद्धाणासिवओमे, रायदुट्ठे अमंथरंता उ ।

सयमवि अ भुंजमाणा, विसुद्धभावा अपच्छित्ता॥४५३॥

अध्वाशिवावमे राजद्विष्टेऽप्यसस्तरन्त' स्वयमप्यनेषणीयं पिण्डमभावाद् भुञ्जाना अप्रायश्चित्ता मन्तव्याः। बृ० ४ उ० ।

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकृत्प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राऽऽद्यावयवं व्याचिख्यासुराह—

णऽत्थि छुहाए सरिसया, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा ।

छाओ वेयावच्चं, ण तरइ काउं अओ भुंजे ॥ ५७६ ॥

नास्ति क्षुधः सदृशी वेदना, अतो भुञ्जीत तत्प्रशमनार्थं, भुक्षितः वैयावृत्यं कर्त्तुं न शक्नोत्यतः भुङ्क्ते ।

इरियं ण वि सोहेई, पेहाईयं च संजमं काउं ।

थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥६८०॥

ईर्यापथिकां बुभुक्षितो न शोधयति यतोऽतस्तच्छोधनार्थं भुङ्क्ते, तथा ( पेहाईयं व त्ति ) 'पेहपमज्जण' इत्यादिक संयमं बुभुक्षितः कर्त्तुं न शक्नोति यतोऽतो भुङ्क्ते, 'थामो वा' प्राणस्तस्य परिहाणिर्भवति, यदि न भुङ्क्ते अतस्तदर्थं भुङ्क्ते । तथा गुणनं पूर्वपठितस्य, अनुपेक्षा चिन्तनं ग्रन्थार्थयोः, एतदसौ कर्त्तुमसमर्थः सन् भुङ्क्ते ।

अहव ण कुज्जाऽऽहारं, छहिँ ठाणेहिँ संजए ।

पच्छा पच्छिमकालम्मि, काउ अप्पक्खमं खमं ॥४८१॥

अथवा न कुर्यादेवाऽऽहारमेभि. षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणल क्षणैः । तत्र निर्युक्तिकार एव षष्ठं पदं व्याख्यानयन्नाह-( पच्छा पच्छिमकालम्मि ) पश्चिमकाले सलेखनाकाले आत्मक्षमाम्-आत्महितां, क्षमां क्षान्तिमुपशमं कृत्वा ततः पश्चात् शरीरपरिकर्म्मानन्तरं सर्व्वाऽऽहारं मुञ्चतीति ।

इदानीं भाष्यकार एवैतानि षट् स्थानानि प्रदर्शयन्नाह-

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीए ।

पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ २८२ ॥

आतङ्को ज्वराऽऽदिर्वक्ष्यते,तथा उपसर्ग' राजाऽऽदिजनितः, एतेषां तितिक्षार्थं सहनार्थं न भोक्तव्य, तथा ब्रह्मचर्यगुप्त्यर्थं च न भोक्तव्यं, तथा प्राणिदयार्थं, तपोऽर्थं शरीरव्यवच्छेदार्थं च न भोक्तव्यमिति ।

इदानीं भाष्यकृत् प्रतिपदं व्याख्यानयति । तत्राऽऽद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह-

आयंको जरमाई, राया सन्नायगा व उवसग्गा ।

बंभवयपालणट्ठा, पाणदया वासमहियाई ॥ २६३ ॥

आतङ्को ज्वराऽदि', आदिग्रहणादन्यो व्याधिर्यत्र भोजनं न पथ्य, तदर्थं न भुङ्क्ते । दारं । राज्ञा राजकुलधारणाऽऽदिरूपो यद्युपसर्ग' कृतः, ( सण्णायगा वा ) स्वजना यदि उन्निष्क्रमणार्थमुपसर्गं करोति ततो भुङ्क्ते । दारं । ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुङ्क्ते, यतो बुभुक्षितस्योन्मादो न भवति । दारं । तथा प्राणदयार्थं न भुङ्क्ते, यदि वर्षति महिका वा निपतति ।

तवहेउ चउत्थाई, जाव छम्मासिओ तवो होइ ।

छट्ठं सरीरवोच्छे-यणट्ठया होइ अणहारो ॥ २६४ ॥

तपोऽर्थं न भुङ्क्ते, तपश्चतुर्थाऽऽदि यावत् षण्मासाः तावत्तपो भवति, तदर्थं न भुङ्क्ते । दारं । षष्ठं शरीरस्य व्यवच्छेदार्थममाहार. साधुर्भवतीति ।

एएहिँ छहिँ ठाणेहिं, अणाहारो उ जो भवे।
धम्मं नाइकमे भिक्खू, झाणजोगरओ भवे ॥ ५८२ ॥

एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिः स्थानैरनाहारो यो भवति स धर्मं नातिक्रामति भिक्षुरतो ध्यानयोगरतेन भवितव्यमिति। अथेदमुक्तं षड्भिः कारणैराहार आहारयितव्यः, षड्भिश्च कारणैर्नाहारयितव्यः, ततः किमेतत् भोजनमपवादपदम्?, उच्यते-अपवादपदमेवैतत्।

यतः—

भुञ्जंतो आहारं, गुणोवयारं सरीरसाहारं।
विहिणा जहोवइट्ठं, संजमजोगाण वहणट्ठा ॥ ५८३ ॥

भुञ्जन् आहारं, किंविशिष्टं?-गुणोपकारं ज्ञानदर्शनचारित्रगुणानामुपकारकं, तथा शरीरस्य साधारकमाहारं भुञ्जन् विधिना ग्रासैषणाविशुद्धं 'यथोपदिष्टम्' आधाकर्माऽऽदिरहितं संयमयोगानां संयमव्यापाराणां वहनार्थं भुञ्जन् अपवादपदस्थ एव भुङ्क्ते, नान्यथा। इदानीं समुद्देष्टे सति संलि(ख)हनकल्पः कर्त्तव्यः भिक्षाभक्तविलिप्तानां पात्रकाणां संलि(ख)हनं कर्त्तव्यमित्यर्थः।

तथा चाऽऽह—

भत्तट्ठियावसेसो, तिलंबणा होइ संलिहणकप्पो।
अपहुप्पंते अन्नं, छोढुं ता लंबणे ठवए ॥ ५८४ ॥

भुक्तानामवशेषो यः स संलिखनकल्पः कर्त्तव्यः, स चावशेषो न ज्ञायते कियत्प्रमाणः?, अत आह-त्रिलम्बनः त्रिकवलः कवलत्रयप्रमाणो भुक्तावशेषः सलिखनकल्पः कर्त्तव्यः, यदा तु त्रिकवलप्रमाणः संलिखनकल्पो न भवति, तदा अपर्याप्यमाणे अन्यदपि तस्मिन् पात्रके भक्तं प्रक्षिप्य ततः त्रीन् कवलान् स्थापयति।

संदिट्ठा संलिहिउं, पढमं कप्पं करेंति कलुसेणं।
तं पाउं मुहमासे, विइअच्छदवस्स गिण्हंति ॥५८५॥

सन्दिष्टाः भुक्ता सन्तः संलिह्य पात्रकाणि पुनश्च प्रथमं कल्पं ददति कलुषोदकेन, पुनश्च तत्पीत्वा (मुहमासो त्ति) मुखस्य परामर्शः प्रमार्जनं कुर्वन्तीति, पुनश्च द्वितीयकल्पार्थमच्छस्य द्रवस्य ग्रहणं कुर्वन्तीति। गृहीत्वा च कल्पार्थमच्छद्रवं मण्डल्या उत्थाय बहिः पात्रकप्रक्षालनार्थं गच्छन्ति।

दाऊण वितियकप्पं, बहिया मज्झट्ठिओ उ दवहारी।
तो देइ तइयकप्पं, दोण्हं दोण्हं तु आयमणं॥ ५८६ ॥

तत्र दत्त्वा द्वितीयकल्पं बाह्यतः पात्रकप्रक्षालनभूमौ, ते च मण्डल्याकारेण तत्रोपविशन्ति, तेषां मध्ये स्थितो द्रवधारी भवति, स च पात्रकप्रक्षालनं सर्वेषामेव प्रयच्छतीति, ततो ददाति ते साधवः पात्रकाणां तृतीयं कल्पं, पुनश्च पात्रकप्रक्षालनानन्तरम्-(दोण्हं दोण्हं तु आयमणं ति) द्वयोर्द्वयोः साध्वोः मात्रकेषु आचमनार्थं निर्लेपनार्थम्, उदकं प्रयच्छतीति। यत्र चाचरन्नुद्धरितं भक्तं तिरिक्तं।



यदा तु पुनरुद्धरितं भक्तं तदा को विधिरित्यत आह—

होज्ज सिया उव्वरियं, तत्थ य आयंबिलाइणो होज्जा।
पडिदंसि य संदिट्ठो, वाहरइ तओ चउत्थाई ॥ ५८७ ॥

भवेत् स्यात् कदाचिदुद्धरितं तत्र च साधूनां मध्ये कदाचित्केचिदाचाम्लाऽऽदयो भवन्ति। आदिग्रहणादभक्तार्थिको वा कश्चिद्भवेत्ततस्तदुद्धरितं भक्तं रत्नाधिक आचार्याय दर्शयति, पुनश्च प्रदर्शिते भक्ते गुरुणा च संदिष्ट उक्तः यदुत-आह्वयाचाम्लाऽऽदीन् साधून् येन तेभ्यो दीयते, पुनश्चाऽसौ रत्नाधिकः सन्दिष्टः सन् चतुर्थाऽऽदीन् साधून् व्याहरति।

स च व्याहरन्नेतान्न व्याहरति—

मोहचिगिच्छ विगिट्ठं, गिलाण अत्तट्ठियं च मोत्तूण।
सेसे गंतुं भणई, आयरिआ वाहरंति तुमं ॥ ५८८ ॥

मोहचिकित्सार्थं य उपवासिकः स्थितस्तं न व्याहरति, तथा विकृष्टतपसं साधुं न व्याहरति, विकृष्टतपश्च अष्टमादारभ्य भवति, तस्य च कदाचिद्देवता प्रातिहार्यं करोति, अतस्तस्य न दीयते, ग्लानस्य ज्वराऽऽदिना तं च न व्याहरति, आत्मलब्धिकं च न व्याहरति, एताननन्तरोदितान् साधून् मुक्त्वा शेषान् गत्वा भणति, यदुत—आचार्या व्याहरन्ति युष्मान्।

तेषां च मध्ये यश्चतुर्थादिक आकारितः, स आकर्ण्य किं करोति?, इत्याह—

अपडिहणंतो आगं-तु वंदिउं भणइ सो उ आयरिए।
संदिसह भुंज जं सर-इ तत्तियं सेस तस्सेव ॥ ५८९ ॥

अनतिलङ्घयन् गुरोराज्ञाम् आगत्य वन्दित्वा भणति तमाचार्यं, यदुत-सन्दिशत यूयम्। आचार्योऽपि भणति, भुञ्जीत, सोऽपि भणति—"जं सरइ तत्तियं भुंजामि" शेषं यदुद्धरितं तत्तस्यैव यस्य सत्कः प्रतिग्रहकः, पुनश्च स एव परिष्ठापयतीति।

अभणंतस्स उ तस्से-व सेसओ होइ सो विवेगो उ।
भणिओ तस्स उ गुरुणा, एसुवएसो पवयणस्स ॥५९०॥

अथाऽसौ साधुरेव न भणति—यदुत "जं सरति तत्तियं" ततस्तस्य एवमभणतः तस्यैव यत् शेषं भक्तमुद्धरितं तद्भवति, स एव विवेचकः परिष्ठापक इत्यर्थः, भणिते तु एवं "यावइय सरइ तावइयं सरामि त्ति।" ततस्तस्यैव साधोर्यस्य सत्कः पतद्ग्रहकस्तस्यैव गुरुणा पतद्ग्रहकः समर्पितस्य पुनः स एव कल्पं ददाति। अयं प्रवचनस्य पूर्वोक्त उपदेशः।

सुत्तम्मि पढमकप्पं, करेमि तस्सेव देंति तं पायं।
जावतियंतिय भणिए, तस्सेव विगिंचणं सेसं ॥५९१॥

अथ यदुद्धरितं तत्सर्वं भुङ्क्ते, ततस्तस्मिन् भुक्ते सति तस्य पात्रकस्य प्रथमकल्पं ददाति। इति च तस्मिन् प्रथमकल्पे तस्यैव साधोर्यस्य सत्कः पतद्ग्रहकस्तस्यैव तत्पात्रकं ददाति समर्पयतीत्यर्थः। भणितश्च एवं यदुत—'जावइयं

सरइ तावइयं सारेमि त्ति ।" ततः "जावतियं ति" अभणिते सति तस्यैव साधोर्यः परिष्ठापनिकभोक्ता तस्यैव यदुद्धरितं शेष तत्परित्याज्यं भवति । इदं च पूर्वोक्तस्यैव व्याख्यानं द्रष्टव्यं, न तु पुनरुक्तमिति ।

किंविधं पुनः चतुर्थोपवासिकाऽऽदेः परिष्ठापनिकं कल्पते ?, अत आह—

विहिगहियं विहिभुत्तं, अइरेगं भत्तपाण भोत्तव्वं ।
विहिगहिए विहिभुत्ते, एत्थ य चउरो भवे भंगा ॥ ५६२ ॥

विधिना उद्गमदोषाऽऽदिरहितं सारासारविभागेन च यत्र कृतं पात्रके तद्विधिगृहीतं, तथा विधिभुक्तं कटकच्छेदेन प्रतरच्छेदाऽऽदिना वा यद्भुक्तं तद्विधिभुक्तमुच्यते, तदेवंविधं विधिगृहीतं विधिभुक्तं च यदतिरिक्तं सञ्जातं भक्तं पानकं वा तद्भोक्तव्यं परिष्ठापनकं कल्पते । अत आह—प्रकारान्तरेण—अत्र च विधिगृहीते विधिभुक्ते च अस्मिन् पदद्वये चत्वारो भङ्गका भवन्ति । तद्यथा—"विहिगहियं विहिभुत्तं एगो भंगओ, विहिगहियं अविहिभुत्तं बीओ भंगो, अविहिगहियं विहिभुत्तं तइओ भंगओ, अविहिगहियं अविहिभुत्तं चउत्थो भंगओ ।

इदानीं भाष्यकृद्विधिगृहीताविधिगृहीतयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उग्गमदोसाइजढं, अहवा बीयं जहिं जहापडियं ।
इइ एसो गहणविही, असुद्धपच्छायणे अविही ॥ २६ ॥

उद्गमदोषाऽऽदिभि (जढं) त्यक्तं यत् तद् विधिगृहीतम्, अथवा यद्वस्तु मण्डकाऽऽदि यथैव यस्मिन् स्थाने पतित भवति तं तथैवाऽऽस्ते, न तु स मारयति, इत्येष ग्रहणविधिः । ओघ० ।

गृहामत्रे भोजन न कर्त्तव्यम्—

जे भिक्खू गिहिमत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

गिहिमत्तो थंडिकरगादि, तत्थ जो असणादी भुंजति तस्स चउलहु ।

गाहा—

जे भिक्खू गिहिमत्ते, तसथावरजीवदेहणिप्फण्णे ।
भुंजेज्जा असणादी, सो पावति आणमादीणि ॥ ७७ ॥

सो गिहमत्तो दुविधो—थावरजीवदेहनिप्फण्णो वा, तसजीवदेहनिप्फण्णो वा । सेस कंठं ।

ते य इमे—

सव्वे वि लोहपाया, दंते सिंगे य पक्कभोमे य ।
एते तसणिप्फण्णा, दारुगतुंबाइया इतरे ॥ ७८ ॥

सुवण्णरययतंबकंसादिया सव्वे लोहपाया हत्थिदंतमया महिसादिसिंगेहिं वा कय कयेल्लियादि वा पक्कभोम, एतं सव्वं तसणिप्फण्णं, (इतर त्ति) थावरणिप्फण्णं तं दारुयतुंबघडियं भवइ, मणिमय वा, एतेहिं जो भुंजति तस्स चउलहुं, आणादिया इमे दोसा ।

गाहा—

पुव्विं पच्छा कम्मे, ओसक्कऽहिसक्कणे य उक्काया ।
आगमणणयणपवाहणा, दरभुत्ते हरिय वोच्छेदो ॥ ७९ ॥

जे भद्दया गिही ते पुव्वं चेव संजयट्ठा धोवेतु उप्पज्जा, पंतो पच्छाकम्म करेति, जाव संजयाण णं भोयणवेला ताव न भुंजामो त्ति ओसक्कणा, भुंजेसु संजयएसु भुंजीहामो त्ति पुणो णिमज्जणाणिमज्जणोव्वहणायमाणेसु छक्कायविराहणा, आणिज्जतं णिज्जत वा भिज्जेज्जा, अवहंतं अन्नं पवहावेज्जा, साधूण वा दरभुत्ते भज्जति । तत्थ अदेंतस्स अंतरायदोसा, देंतस्स सकज्जहाणी, साधूहिं वा आणीतं हीरेज्ज, पच्छा जा तणफलएसु अवहडेसु विराधणा वुत्ता सा इह गेहिमत्ते भाणियव्वा । सकज्जहाणीए रुट्ठो भणेज्ज—मा पुणो संजयाण देह त्ति वोच्छेदो, जम्हा एए दोसा तम्हा गिहिमत्ते ण भुंजियव्वं ।

कारणे भुंजति । गाहा—

बितियपदं गेलण्णे, असती य अभाविते व खेत्तम्मि ।
असिवादी परलिंगे, परिक्खणट्ठा व जतणाए ॥ ८० ॥

सुवेज्जट्ठा गिलाणट्ठा वा गिहिमत्ता घेप्पंति, भायणस्स वा असती तथा दिक्खितो, अभावियस्सट्ठा वा सगच्छे वा उवग्गहट्ठा, असिवं वा सपक्खपताए, परलिंगकरणे घेप्पति, सेहो सहहति ण व त्ति तप्परिक्खणट्ठा घेप्पति, जयणाए त्ति जहा पुव्वभणिया पच्छाकम्मादिया दोसा ण भवति तहा घेप्पति । नि० चू० १२ उ० । तथोद्वाहाऽऽदिजेमनवारगृहे यथा यतीनां विहर्त्तुं न कल्पते, तथैव पौषधिकसत्कजेमनवारगृहे, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्—विवाहजेमनवारवत्पौषधिकजेमनवारगृहेऽपि मुनीनां विहर्त्तुं न कल्पते इति ॥ २०४ ॥ तथा—रात्रिराद्ध पूपिकाऽऽदि केषाञ्चिद्रात्रिभोजनविरतिमतां गृहिणामपि न कल्पते, तथा यतिजनानां तदपि कल्पते, न वेति, प्रश्ने, उत्तरम्—तेषां रात्रिराद्धाऽऽद्यग्रहणं तु बहुजीवविराधनासम्भवाद्रात्रिप्रथमप्रहरकृतराद्धपूपलिकाद्विदलाऽऽदिषु पर्युषितत्वशङ्कासम्भवाच्च, न तु रात्रिराद्धाग्रहणे रात्रिभोजनविरतिभङ्ग इति, यतिभिस्तु पर्युषितत्वसम्भावनायां तन्न ग्राह्यम्, अन्यथा तु यथावसरं ग्रहणीयं, तेषां परार्थकृतत्वग्राहित्वेन विराधनाया अभावादिति ॥ २०५ ॥ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

भोयणओ—भोजनतस्—अव्य० । भोजनीयवस्त्वाश्रित्येत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

भोयणकहा—भोजनकथा—स्त्री० । भक्तकथायाम्, ध० १० ।

तत्कथा—

" अहो क्षीरस्याक्तः मधुरमधुरमाज्यमण्डाञ्चितं वेद्र रसः श्रेष्ठो दध्नो मुखसुखकरं व्यञ्जनेभ्यः किमन्यत् ।
न पक्वाखाद्यन्यद्रमयति मनः स्वादुताम्बूलमेकं—
परित्याज्याः प्राज्ञैरशनविषया. सर्वदैवेति वार्त्ता ॥ ३५ ॥ "

ध० १० १ अधि० १३ गुण ।

भोयणपडिकूलया—भोजनप्रतिकूलता—स्त्री० । प्रकृत्यनुचितभोजनतायाम्, स्था० ६ ठा० ।

भोयणपरिणाम—भोजनपरिणाम—पुं० । बुभुक्षायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० । आहारविशेषस्य स्वभावे, स्था० ।

छव्विहे भोयणपरिणामे पण्णत्ते । तं जहा—मणुण्णे, रसिए, पीणणिज्जे, विंहणिज्जे, दीवणिज्जे, दप्पणिज्जे ॥

भोजनस्येत्याहारविशेषस्य परिणामः पर्यायः स्वभावो धर्म इति यावत्। तत्र [मणुन्ने त्ति] मनोज्ञमभिलषणीयं भोजनमित्येकस्तत्परिणामः, परिणामवता सहाभेदोपचारात्, तथा–रसिकं माधुर्याऽऽद्युपेतं, तथा प्रीणनीयं रसाऽऽदिधातुसमताकारि, बृंहणीयं धातूपचयकारि, दीपनीयम् अग्निबलजनकम् । पाठान्तरे तु–मदनीयं मदनोदयकारि, दर्प्पणीयं बलकरमुत्साहवृद्धिकरमित्यन्य इति । अथवा—भोजनस्य परिणामो विपाकः, स च मनोज्ञः शुभत्वान्मनोज्ञभोजनसम्बन्धित्वाद्वेत्येवमन्येऽपि। स्था० ६ ठा० ।

भोयणविहि–भोजनविधि–पुं० । भोजनप्रकारे, उपा० १ अ० । (' आणंद ' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रम् )

भोयय–भोजक–पुं० । भोक्तरि, भर्तरि च । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

भोल–देशी–सरलचित्ते, "वासुपुज्जस्स य तित्थे, भोला कालगलुच्छवी। मेघमालिज्जिया आसी, गोयमा ! मणुब्वला ॥ १ ॥" महा० ६ अ० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्री–
विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते ' अभिधानराजेन्द्रे '
भकाराऽऽदिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

तत्समाप्तौ च–

## ॥ समाप्तश्चायं पञ्चमो भागः ॥